आठवाँ परिच्छेद

वैष्णव और शैव-शाक्त (तांत्रिक) योग

अभी तक विद्वानों ने कबीरादि संतों के योग सम्बन्धी विचारों की समीक्षा करते हुए जो निष्कर्ष निकाले हैं, उनसे यही प्रकट हुआ है कि संतों की योग-पद्धति अधिकांशतः नाथों की योगपद्धति का अनुसरण करती है तथा उन्हीं की शब्दावली का प्रयोग करती है। उन शब्दों का प्रयोग भी अधिकांशतः उन्हीं अर्थों और रूपों में करती है। अभी तक वैष्णव भक्ति की परंपरा में प्राप्त योगपद्धति के प्रकाश में संतों की योगपद्धति का विचार नहीं किया गया है। इस वैष्णव परंपरा में प्राप्त योग का व्यवस्थित विवरण भी अभी उपलब्ध नहीं है। अतः यहाँ संक्षेप में वैष्णव भक्ति के साथ प्राप्त होनेवाले योगतत्व का विवेचन कर आगे शैव और शाक्त (तांत्रिक) योग का परिचय दिया गया है जिससे इस नई पद्धति और नये प्रकाश में व्यवस्थित रूप से नाथों और संतों की योगपद्धति का तुलनात्मक अध्ययन उपस्थित किया जा सके।

भक्ति संबंधी विवेचन के प्रसंग में संत-साधना तथा विचारसरणि के स्पष्टीकरण के लिये पांचरात्र साहित्य का महत्व भली भांति उद्घाटित किया जा चुका है। पांचरात्रों का संहिता साहित्य योग की दृष्टि से भी विचारणीय है। विष्णु संहिता में षडङ्ग योग का विवेचन मिलता है और कहा गया है कि योगपद्धति का प्रयोग भक्तिप्राप्ति के लिये किया जा सकता है। भक्ति की उत्पत्ति के लिये प्रयुक्त योग को वहाँ भागवत योग कहा गया है। कहीं कहीं अष्टांग योग का भी विधान मिलता है। इसी प्रकार के संहिता साहित्य में जयाख्य आदि की भी गणना की जा सकती है। जयाख्य संहिता ने भक्त को योगी कहा है। इसने चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिये दो मार्ग बताये हैं—(१) लयात्मक समाधि, (२) मंत्रध्यानाभ्यास। योग प्रक्रिया के विवरण में कहा गया है कि योगी को पूर्ण इंद्रियसंयम करना चाहिए तथा सभी जीवों के प्रति घृणारहित होना चाहिए। चित्त-संयम के लिये, विनम्र होकर, एकांत स्थान में, प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। प्राणायाम की तीन क्रियाओं के साथ प्रत्याहार, ध्यान और धारणा का भी विवेचन किया गया है। योग को तीन प्रकार का बताया गया है—प्राकृत, पौरुष और ऐश्वर्य। इनका अर्थ

अधिक स्पष्ट नहीं है । ऐसा प्रतीत होता है कि इनका प्रयोग क्रमशः, प्रकृति के चरम सिद्धान्तों का ध्यान, या पुरुष का ध्यान या विभूति की प्राप्ति के लिये योग के अर्थ में किया गया है । चार प्रकार के आसन बताये गये हैं—पर्यंक, कमल, भद्र और स्वस्तिक । चित्त-संयम ही योग का मुख्य लक्ष्य बताया गया है । संयम दो प्रकार का होता है—(१) परिस्थिति से उत्पन्न वृत्तियों का संयम, (२) चित्त की तात्विक वृत्तियों का संयम । चित्त के सत्वगुण की वृद्धि से ही वह किसी वस्तु पर स्थिर हो सकता है । दूसरे प्रकार के विभाजन में तीन प्रकार का योग बताया गया है—(१) सकल, (२) निष्कल और (३) विष्णु या शाब्द, व्योम और सविग्रह । सकल या सविग्रह योग में देवता की स्थूल मूर्ति का ध्यान किया जाता है । क्रमशः अभ्यस्त होने पर चमकती हुई वृत्ताकार तश्तरी पर ध्यान केंद्रित करना चाहिए । इस प्रकार के ध्यान की परिपक्वता के परिणामस्वरूप ब्रह्मरन्ध्रपथ योगी के लिये खुल जाता है । निष्कल योग में योगी परम तत्व का ध्यान करता है, जिसके परिणामस्वरूप उसका ब्रह्मवत् स्वरूप उसे साक्षात्कृत होता है । इस प्रकार क्रमशः तश्तरी, मटर, अश्वकेश, नरशीर्षकेश, रोम आदि के ध्यान में स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर जाने की वृत्ति प्रकट होती है । तृतीय योग मंत्रध्यान है । इससे भी योगी को परम तत्व का साक्षात्कार होता है । योगक्रिया से योगी अंततः ब्रह्मरन्ध्रपथ से विचरण करता हुआ, उससे भी अतीत हो जाता है और शरीर का त्याग कर देता है । इसके बाद परमतत्व वासुदेव से एकात्म प्राप्त कर लेता है ।[1]

इसी प्रकार विष्णु संहिता में जिस भागवत योग का विवेचन मिलता है उसमें शारीरिक और नैतिक संयम का वर्णन है तथा उसमें लोभ, क्रोध आदि का संयम, एकांत स्थान में ध्यानाभ्यास, भगवान् पर निर्भरता की भावना का विकास और आत्मालोचन का भी समावेश कर लिया गया है । जब इसके परिणामस्वरूप चित्त शुद्ध और सांसारिक पदार्थों से पराङ्मुख हो जाता है तब उसमें सत्-असत् के बौद्धिक और नैतिक विवेक का उदय होता है तथा इससे भक्ति की उत्पत्ति होती है । प्राणायाम को, जिसमें अनेक प्रकार के ध्यानों का विधान किया गया है, भगवान् से एकात्म प्राप्त करने के लिये स्वीकृति दी गई है । यह एकात्म मुक्ति की एक अवस्था है । यहाँ भक्ति का अर्थ है, उपासना की प्रवृत्ति । इस भक्तिफल के लिये साधन योग है । भागवतों का भक्तिमत योग से इस प्रकार प्रभावित था कि भक्त के लिये योगी होना आवश्यक

---

[1] ए हि० इं० फि०, दासगुप्त, वा० ३, पृ० २४, ३०-३१ ।

माना गया था क्योंकि केवल भक्ति मुक्ति के लिये पूर्ण समर्थ साधन नहीं समझी जाती थी। इसी प्रकार परम संहिता में भी ब्रह्म और परम के संवाद में योग-पद्धति का विवेचन किया गया है। वहाँ योगलब्ध ज्ञान को अन्य साधनों से प्राप्त ज्ञानों से श्रेष्ठ बताया गया है। जब बिना योग-ज्ञान के कोई कर्म किया जाता है तब इच्छित फल की प्राप्ति नहीं होती। योग का अर्थ है, किसी पदार्थ विशेष के साथ चित्त का शांतिमय एकात्म। इसी प्रकार कर्मयोग और ज्ञान-योग की भी व्याख्या की जाती है। समाधि उस ज्ञानमयी अवस्था को कहा गया है जिसमें चित्त धैर्यपूर्वक परमात्मा में स्थिर रहता है। जब इंद्रियाँ वैराग्य की सहायता से अपने विभिन्न विषयों से पराङमुख हो जाती हैं, तब उन्हें दृढ़तापूर्वक परमात्मा में स्थिर करना चाहिए। इसी को योग कहते हैं। इस साधन में उसे किसी ऐसी क्रिया में नहीं लगना चाहिए जो शरीर के लिये कष्ट-कर हो। इस प्रकार के अभ्यास के बाद भक्ति का अभ्युदय होता है।[१]

पहले बतलाया जा चुका है कि पांचरात्र का आधार अंशतः वैदिक है और अंशतः तांत्रिक। इसलिये पांचरात्र मंत्रों की आंतरिक शक्तियों में विश्वास रखता है। यह भी कहा गया है कि सभी प्रकार की शक्तियाँ सुदर्शन की अभिव्यक्तियाँ हैं। शुद्ध चिन्मय विष्णु की शक्ति के रूप में मंत्रों को भी माना गया है। इस शक्ति की प्रथम अभिव्यक्ति नाद है जो केवल महायोगियों द्वारा ही श्रव्य है। इसकी दूसरी स्थिति विंदु है जो नाम और उसके द्वारा बोधित वस्तुगत शक्ति का एकात्म है। इसके बाद की स्थिति नाभ्युदय की है जिसे शब्दब्रह्म भी कहते हैं। अहिर्बुध्न्य संहिता ने स्वरों और व्यंजनों का विकास इसी विंदुशक्ति से बतलाया है। चतुर्दश यत्नों से, विष्णु की कुंडली शक्ति के नृत्य के माध्यम से चतुर्दश स्वरों की उत्पत्ति होती है। अपनी द्विविध सूक्ष्म शक्तियों से यह सृष्टि और संहार का कारण है। यह शक्ति मूलाधार में उदित होती है। जब यह नाभि तक आती है, तब इसे पश्यंती कहते हैं और केवल योगियों द्वारा ही साक्षात्कृत होती है। तत्पश्चात् यह हृदयकमल से होकर कंठ तक श्रव्य नाद के रूप में पहुँचती है। यह शक्ति, स्वरों की शक्ति के रूप में सुषुम्ना नाड़ी के मध्य में प्रवेश करती है। इसी प्रकार विभिन्न व्यंजन विश्वशक्ति की विभिन्न अभिव्यक्तियों के मूल रूप माने गये। ये विभिन्न प्रकार के देवताओं या शक्ति के अधिष्ठाताओं के प्रतीक माने गये। विभिन्न क्रमों और वर्गों में इन वर्णों के समूहों को कमल या चक्र कहते हैं। ये विभिन्न प्रकार की शक्तियों के समूहों का भी बोध कराते हैं। इन चक्रों का ध्यान

---

[१] वही, पृ० ३२-३३ पर उद्धृत परम संहिता।

और पूजा विभिन्न प्रकार की पदार्थगत शक्तियों की प्राप्ति कराती हैं। इस प्रकार विभिन्न देवता विभिन्न मंत्रों और चक्रों से संबद्ध हैं। इन इतर देवताओं की पूजा, उपासना, मन्दिर-मूर्ति-निर्माणादि के विधानों से पांचरात्र साहित्य समृद्ध है।[१]

अहिर्बुध्न्य संहिता में तांत्रिक ग्रंथों की तरह ही शरीर की नाड़ी-व्यवस्था का विवरण मिलता है। सभी नाड़ियों का कांड नाभि के ऊपर है। यह अंडाकार है। नाभि के नीचे शरीर का मध्यदेश है। यह चतुष्कोणात्मक है जिसे आग्नेयमंडल भी कहते हैं। कांड को नाभिचक्र भी कहते हैं जिसके १२ दल हैं। इस नाभिचक्र को चारों ओर से आवृत किये हुए अष्टमुखी कुंडली है, जो अपने शरीर से सुषुम्ना के ब्रह्मरंध्र नामक छिद्र को बंद किये रहती है। तंत्रों के अनुसार कुंडलिनी शक्ति शरीर के मध्य के नीचे अवस्थित रहती है। संहिता के अनुसार नाभिचक्र के मध्य में अलंबुषा और सुषुम्ना नाम की दो नाड़ियाँ हैं। सुषुम्ना की विभिन्न दिशाओं में कुहू, वरुणा, यशस्विनी, पिंगला, पूषा, पयस्विनी, सरस्वती, शंखिनी, गांधारी, इड़ा, हस्तिजिह्वा, विश्वोदरा नाम की नाड़ियाँ हैं। किंतु शरीर में कुल मिलाकर ७२००० नाड़ियाँ हैं। इनमें इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना महत्वपूर्ण हैं। इनमें भी सुषुम्ना जो मस्तिष्क के मध्य में पहुँचती है अति महत्वपूर्ण है। जैसे एक मकड़ी अपने जाल में रहती है, उसी प्रकार आत्मा भी प्राणसमन्वित होकर इस नाभिचक्र में रहती है। सुषुम्ना के पाँच मुख हैं, जिनमें से चार से रक्त प्रवाहित होता है, जबकि मुख्य द्वार कुंडली के शरीर से बंद रहता है। अन्य नाड़ियाँ, जो तुलना में इससे छोटी हैं, शरीर के अन्य भागों से संबद्ध हैं। इड़ा और पिंगला शरीर के सूर्य और चन्द्र के समान मानी जाती हैं।[२]

प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कुकर, देवदत्त और धनंजय नाम के दस वायुओं का भी वर्णन है। प्राणवायु का अवस्थान नाभिचक्र में है किन्तु इसकी अभिव्यक्ति हृदयप्रदेश, मुख और नासिका में होती है। अपान वायु गुदा, 'शिश्न' (पेनिस), जंघा, पैर, उदर, अंडकोश, कटिप्रदेश (लिवर) में, अंतड़ी और वस्तुतः संपूर्ण नीचे के अंगों में क्रियाशील रहता है। व्यान आदि की भी इसी प्रकार स्थितियाँ तथा क्रियाएँ बताई गई हैं। इस वायु-साधन के विषय में बताया गया है कि १ से १६ तक की गणना करने के समय

---

[१] ए हि० इं० फि०, वा० ३, पृ० ५७-५८।

[२] वही, पृ० ५८-५९, अहिर्बुध्न्य संहिता, ३२.११।

में इड़ा नाड़ी से प्राण वायु को खींचने से नाड़ियों की शुद्धि होती है। १ से ३२ तक की गणना की अवधि में, वायु को स्थिर करने के समय में किसी प्रकार के ध्यान का अभ्यास किया जा सकता है। तब योगी को पुनः प्राण-वायु को, इसी प्रकार भीतर की ओर पिंगला से खींचना चाहिए और उसे भी उसी प्रकार कुंभित रखना चाहिए। तब उसे वायु को इड़ा से बाहर निकालना चाहिए। इसी प्रकार ३ मास तक दिन में तीन बार करना चाहिए। इस प्रकार के अभ्यास से उसकी नाड़ियाँ शुद्ध हो जाएँगी तथा योगी अपने संपूर्ण शरीर पर, सभी वायुओं पर, अपने चित्त को केंद्रित करने में समर्थ होगा। प्राणायामक्रिया में योगी को इड़ा से वायु को इतनी अवधि में आकर्षित करना चाहिए कि १ से १६ तक की गणना पूरी हो सके। तब श्वास को यथासंभव कुंभित रखे और फिर विशिष्ट मंत्र का ध्यान करे। तत्पश्चात् श्वास को पिंगला से उतनी ही अवधि में निकाले। पुनः वह पिंगला से श्वास खींचे तथा इड़ा से निकाले। धीरे-धीरे उस धारणा की अवधि को बढ़ाया जाय, जिसे कुंभक कहते हैं। दिन भर में वह इस प्राणायाम की क्रिया को १६ बार करे। इसी को प्राणायामक्रिया कहते हैं। इसके परिणामस्वरूप वह समाधि की दशा को प्राप्त कर सकता है जिससे सभी प्रकार की सिद्धियों की प्राप्ति होती है। इस वायुपरिचय में ध्यान देने योग्य है कि अहिर्बुध्न्य संहिता में विभिन्न वायुओं की जो स्थितियाँ तथा क्रियाएँ बताई गई हैं वे आयुर्वेद और शाक्त तंत्रों में प्राप्त विवरण से भिन्न हैं।[१]

किन्तु इस प्रकार की प्राणायाम (नाड़ी शोधन) की प्रक्रिया का आरंभ करने के पूर्व विभिन्न आसनों का अभ्यास करना चाहिए। ये आसन हैं-- चक्र, कूर्म, पद्म, मयूर, कुक्कुट, वीर, स्वस्तिक, भद्र, सिंह, मुक्त और गोमुख। अहिर्बुध्न्य संहिता में इनका वर्णन मिलता है। इन आसनों से योगी को उच्च स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है। किन्तु ये शारीरिक अभ्यास निरर्थक हैं जब तक वह योग के आध्यात्मिक पक्ष की ओर अभिमुख नहीं होता। जीवात्मा और परमात्मा का संयोग ही योग है। अहिर्बुध्न्य संहिता में परमोच्च सत्ता के साक्षात्कार के लिये दो मार्ग बताये गये हैं— (१) ध्यान के माध्यम से किया हुआ आत्मसमर्पण या हृद्योग। यह ध्यान परमोच्च सत्ता की कुछ शक्तियों का होता है और मंत्राभ्यास से विशिष्ट देवताओं का होता है। (२) योग। अहिर्बुध्न्य का प्रथम प्रकार के मार्ग पर विशेष आग्रह है। आत्मा दो प्रकार

---

[१] ए हि० इं० फि०, वा० ३, पृ० ५९-६०।

की मानी गई है—प्रकृति प्रभावान्तर्गत तथा प्रकृत्यातीत। कर्म और योग के माध्यम से परमोच्च सत्ता से एकात्म संभव है। परमात्मा को सूक्ष्म, सर्वग, सर्वभृत, ज्ञानरूप, अनादि-अनंत, अविकारिन्, नामरूपातीत, अवर्ण, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, स्वयंप्रकाश, सर्वरक्षक आदि कहा गया है। जिस योग से जीवात्मा और परमात्मा का एकात्म संभव है, उसके आठ अंग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। यम में सत्य, दया, धृति, शौच, ब्रह्मचर्य, क्षमा, आर्जव, मिताहार, अस्तेय और अहिंसा की गणना की गई है। नियम में सिद्धान्तश्रवण (वेदादिकों का श्रवण), दान, मति, ईश्वर-पूजन (विष्णुपूजन), संतोष, तप आस्तिक्य, ह्री, जप, व्रत (गुरूपदिष्ट मार्ग का व्रत) का विधान है। यद्यपि यहाँ जीवात्मा-परमात्मा के एकात्म को ही योग कहा गया है, तथापि अहिर्बुध्न्य संहिता का रचयिता पतंजलि के योगानुशासन से परिचित है, जिसमें योग को चित्तवृत्तिनिरोध कहा गया है। यम-नियम का जो विवरण अहिर्बुध्न्य में मिलता है, वह पतंजलि के विवरण से भिन्न है।[1] दशांग यम-नियम का विधान इसका वैशिष्ट्य है।

वैष्णव पुराण साहित्य में पद्मपुराण और नारदीय पुराण हमारे विवेचन की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। पद्मपुराण में ब्रह्मभक्ति को तीन प्रकार का बतलाया गया है—कायिक, वाचिक और मानसिक अथवा लौकिकी, वैदिकी और आध्यात्मिकी। इस आध्यात्मिकी भक्ति को भी दो प्रकार का बताया गया है—सांख्य भक्ति और योगभक्ति। २४ तत्वों का ज्ञान तथा परमतत्व पुरुष से उनका भेदज्ञान, पुरुष-प्रकृति तथा जीव का परस्पर संबंधज्ञान—इसे ही सांख्य भक्ति कहा गया है। प्राणायाम का अभ्यास तथा परब्रह्म का ध्यान योगभक्ति है। यहाँ भक्ति का विशेष अर्थ में प्रयोग किया गया है। नारदीय पुराण में योग को ब्रह्मलय कहा गया है। मन ही बंधन और मोक्ष का कारण है। बंधन का अर्थ है—इंद्रियविषयों का संभोग तथा मुक्ति का अर्थ है—उनसे विमुक्ति। जब चुंबक की तरह आत्मा मन को भीतर की ओर आकर्षित करती है तथा उसकी क्रियाओं को आन्तरिक दिशा की ओर प्रेरित करती है तथा अन्ततः ब्रह्म से एकात्म को स्थापित करती है, तभी योग सिद्ध होता है। इसी को योग कहते हैं।[2]

[1] वही, पृ० ६०-६२, 'संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः।' 'यद्वा भगवते तस्मै······हविः स्वयम्॥'—अहिर्बुध्न्य संहिता।

[2] ए हि० इं० फि०, वा० ३, पृ० ५०७, ५०९। 'आत्मप्रयत्नसापेक्ष विशिष्टा या मनोगतिः। तस्या ब्रह्मणि संयोगो योग इयभिधीयते। 'नारदीय पुराण'।

पांचरात्र साहित्य में नारद पंचरात्र की क्या स्थिति और महत्व है, इसका थोड़ा सा परिचय, भक्ति की दृष्टि से दिया जा चुका है। वैष्णव योग की दृष्टि से भी नारद पंचरात्र का महत्व है। अहिर्बुध्न्य और जयाख्य संहिता की तरह ही इसमें भी वैष्णव योग का, वैष्णव भक्ति में योग के स्थान का विवेचन मिलता है। नारद पंचरात्र में विवेचित भक्ति का परिचय पहले दिया जा चुका है। इसमें नारद ने पाँच प्रकार का ज्ञान बताया है जिसमें योगज्ञान भी एक है। सभी प्रकार के ज्ञानों के विषय में कहा गया है कि वही ज्ञान ज्ञान है जिससे हरिभक्ति उत्पन्न हो। गुरु भी वही है जो ज्ञानोद्‌गिरण करे। वह ज्ञान मंत्र और तंत्र का होता है। वे ही मंत्र और तंत्र सफल हैं जो भक्ति के उपकारक हों।[1] व्यास ने पंचरात्र में ही नारद को वेद, वेदांग, सिद्धविद्या, शिल्पविद्या, पुराण आदि के अतिरिक्त योग शास्त्र में भी निष्णात कहा है। नारद ने गुरु की महिमा पहले ही बतलाई थी। योगज्ञान को भी उन्होंने सिद्धिदायक बतलाया है।[2] अन्यत्र इसकी व्याख्या में कहा गया है कि सिद्धियाँ १७ प्रकार की होती हैं—अणिमा, लघिमा, व्याप्ति, प्राकाम्य, महिमा, ईशित्व, वशित्व, कामावसायिता, दूरश्रवण, इष्टार्थसाधन, सृष्टिपत्तन, मनोयायित्व, परकायप्रवेश, प्राणदान, प्राणापहरण, कायव्यूह, वाक्‌सिद्धि। किंतु कृष्णभक्ति के बिना इनकी वांछा भक्त लोग नहीं करते। कृष्ण के बिना ये सब वासनाएँ हैं। इसके बाद विस्तार से चक्रों और नाड़ियों का परिचय दिया गया है। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा—ये छ चक्र हैं। ये कुंडलिनी शक्ति से युक्त होकर अपने-अपने स्थान पर स्थिर रहते हैं। मेध्या, इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, चंचला, सुस्थिरा—ये छ नाड़ियाँ हैं। मन से युक्त होने पर ये क्रमशः सुनिद्राजननी, क्षुद्विवर्द्धिनी, तृष्णाजननी, निद्रा भंग करने वाली, संभोगेच्छाविवर्द्धिनी, विचेतनी होती हैं। क्रम से मन इन छः नाड़ियों में भ्रमण करता है, किन्तु मन स्वेच्छाधीन और चंचल है। मूलाधार का स्थान योनि-शिश्न के ऊपर है। स्वाधिष्ठान नाभिदेश में तथा मणिपूर वक्ष में स्थित है। अनाहतचक्र उसके ऊपर है विशुद्ध का स्थान कंठदेश में है। दोनों चक्षुओं के मध्य में आज्ञा का स्थान है। मूलाधार में इड़ा, स्वाधिष्ठान में पिंगला, मणिपूर में सुषुम्ना, अनाहत में सुस्थिरा, विशुद्ध में चंचला और मेध्या नाड़ियों का स्थान

---

[1] नारद पंचरात्र, १.९.६-७, १४, पृ० ६२-६३। 'गुरोश्च ज्ञानोद्‌गिरणात् ज्ञानं स्यान्मन्त्रतन्त्रयोः······भक्तिरधोक्षजे' ॥१४॥

[2] वही, १.१०.३-४, ९-१०, पृ० ६७; १.९.६-७, पृ० ६३।

है। वायु नाड़ीयुक्त चक्रों में सदैव संचरण किया करता है। आज्ञा नामक चक्र में जब वायु बद्ध हो जाती है तब प्राणियों की मृत्यु हो जाती है। वायु को धारण करने से योगी बद्धनिश्वासवाला होता है। ऐसे योगी की मृत्यु नहीं होती, क्योंकि उसके लिये वायु साध्य हो जाती है। वायु उसके वश में रहती है। इस प्रकार का योगी वह्नि, जल, मृत्तिका, मन, वायु आदि को बहुत प्रकार से स्तंभित करना जानता है।[1]

इन सभी चक्रों के ऊपर सहस्रदलपद्म है। इसकी स्थिति सभी के मस्तक में है। उस मस्तकस्थ सहस्रार में ही सदैव सूक्ष्मरूपेण गुरु का निवास रहता है। संसार में नररूप में जो गुरु दिखाई पड़ते हैं, वे उस सहस्रारस्थ गुरु के ही प्रतिबिम्ब हैं। शिष्यों की हितकामना से स्वयम् श्रीकृष्ण ही गुरुरूप में अवतरित होते हैं। गुरु के संतुष्ट होने से हरि संतुष्ट होते हैं। हरि के संतुष्ट होने से तीनों जगत् संतुष्ट हो जाते हैं। वह गुरु ही ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर है। वही परात्पर, पूज्य, परब्रह्म है। यदि हरि रुष्ट हो जायँ और गुरु तुष्ट रहें तो गुरु ईश्वर से रक्षा करने में समर्थ होता है। किंतु गुरु के रुष्ट होने पर रक्षा करने में कोई समर्थ नहीं होता। ऐसा गुरु ज्ञान का उद्गिरण करने के कारण ही गुरु कहलाता है। वह ज्ञान तंत्र-मंत्र का है। वही तंत्र-मंत्र वास्तविक है जिससे कृष्णभक्ति उत्पन्न हो। वह गुरु ही माता-पिता, बंधु, भ्राता, पति, पुत्र आदि है। वह सभी संबंधों का समाहार है क्योंकि वही कृष्णवर्त्म का दर्शन कराता है। यह संपूर्ण सचराचर विश्व जल बुद्बुदवत् है। हृदयस्थ हरि सहस्रदलपद्म में स्वयम् रूप में निवास करते हैं।[2] इस प्रकार योगज्ञान का सविस्तर वर्णन नारदपंचरात्र में मिलता है।

यह योगज्ञान भक्तिज्ञान का उपकारक है। बताया गया है कि भक्तों के लिये भक्तिज्ञान है तथा योगियों के लिये योगज्ञान है। योगिजन ज्योतिरूप सनातन का ध्यान करते हैं। वे उस निर्गुण का शरीर नहीं मानते, क्योंकि जितने भी शरीर हैं, सभी प्राकृत हैं तथा निर्गुण तत्व प्रकृति से परे हैं। गुण से सज्जित देह निर्गुण कथमपि नहीं हो सकता। इस प्रकार का वर्णन योगशास्त्रों में मिलता है किंतु कुमारादि वैष्णव उसे नहीं मानते। वैष्णव लोग उस तत्व को तेजस्वियों का भी तेज मानते हैं। कृष्ण नित्य हैं और शरीरी हैं। उनका

---

[1] वही, २.८.२-१८, पृ० १५६-१५७।

[2] वही, २.८.१९-२७, पृ० १५७-१५८। 'सहस्रदलपद्मञ्च सर्व्वेषां··· सहस्रदलपद्मे च हृदयस्थो हरिः स्वयम्।'

तेज ही सदैव वर्तमान रहता है। सभी तेजों के अन्तर्गत वही सनातन कृष्णमूर्ति है। उस तेज का योगिजन भक्तिपूर्वक ध्यान करते हैं। यथासमय, उनकी भक्ति के भलीभाँति परिपक्व होने पर वे योगी ही वैष्णव हो जाते हैं। इस प्रकार सभी तेजों के अभ्यंतर में उस तत्व का ध्यान वैष्णव लोग करते हैं। बिना देह के (ईश्वर के तेजस् शरीर के) दास के दास्य की कोई सत्ता नहीं है।[१] पहले ही बताया जा चुका है कि तंत्र और मंत्र वे ही सफल हैं जो भक्ति उत्पन्न करने में सहायक हों। इन तंत्र-मंत्रों का ज्ञान गुरु देता है। आगे बताया गया है कि मंत्रसाधन का संबंध योग से है। इस प्रकार योगज्ञान भक्ति का उपकारक सिद्ध होता है।

व्यास ने कहा है कि दशार्ण मंत्र का जप रेचकादि प्राणप्रयोग के साथ करना चाहिए। दक्षिण नासिका से वायु का रेचन करना चाहिए तथा पुनः वाम नाड़ी से पूरक करना चाहिए। तत्पश्चात् मध्य नाड़ी से धारण करना चाहिए। इस प्रकार प्राणायाम का अपने शरीर में विधान कर योगपीठ की कल्पना करनी चाहिए।[२] व्यास द्वारा दिये गये उस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि नारद पंचरात्र के अनुसार प्राणायाम और मंत्रसाधन का अति घनिष्ठ संबंध है। इस ग्रंथ में अन्यत्र भी बड़े विस्तार से शरीर का, दूसरे शब्दों में पिंड का वर्णन मिलता है जिसका परवर्ती संतों के योग की दृष्टि से महत्व है। नारद पंचरात्र के अनुसार शरीर में १५ करोड़ नाड़ियाँ हैं। उनमें दश मुख्य हैं। उनमें भी तीन प्रधान हैं। ये नाड़ियाँ चन्द्र सूर्य और अग्निरूपिणी हैं। शक्तिरूपा नाड़ी साक्षादमृतविग्रहा है। दक्षिण भाग में सूर्यविग्रहा और पुंरूपा नाड़ी है, जिसे पिंगला कहते हैं। मेरुमध्य में मूलदा, ब्रह्मविग्रहा, सर्व्वतेजोमयी सुषुम्ना नाम की नाड़ी है। इसके भी बीच में शुभा एवम् अमृतप्लाविनी विचित्रा नाम की नाड़ी है। वह सर्व्वदेवमयी और योगियों की हृदयंगमा है। वह विंदु से विसर्ग तक तत्वतः व्याप्त होकर स्थित रहती है।[3] मूलाधार के इच्छाजालक्रियात्मक त्रिकोण के मध्य में कोटिसूर्यप्रभावाला स्वयम्भू लिंग है। उसके ऊपर कामबीज है तथा उसके ऊपर शिखा के आकार की ब्रह्मविग्रहा कुंडली है। उसके

---

[१] वही, २.८.२९-३६, पृ० १५८-१५९। 'भक्तिज्ञानञ्च भक्तानां योगज्ञानञ्च योगिनां······कुतो दास्यं विना देहेन नारद।'

[२] वही, ३.२.२५-२७। अष्टाविंशतिसंख्य···धारयेदीरितं रेचकादित्रयं स्यात्।

[3] वही, ५.१०.३-८।

बाहर हेमवर्ण के चार दल हैं। इस प्रकार के पद्म की विभावना वहाँ करनी चाहिए। इसके भी ऊपर अग्निसम, षड्दल एवम् हीरे की प्रभावाले कमल की कल्पना करनी चाहिए। इसके छ दलों पर, क, ख, ग, घ, ङ, तथा च वर्ण अंकित हैं। षट्कोण मूल को धारण करने के कारण उसे मूलाधार कहते हैं तथा 'स्व' अर्थात् लिंग को धारण करने के कारण इसे स्वाधिष्ठान कहते हैं। उसके ऊपर नाभिदेश में महाप्रभापूर्ण मणिपूर पथ है। यह मेघाभ तथा अति तेजोमय है। मणिवत् आलौकिक रहने के कारण इसे मणिपूर कहते हैं। चंदन की सुगंधि से युक्त दश दलोंवाले इस कमल में 'ड' से 'फ' तक के वर्ण हैं। शिखा से अधिष्ठित यह कमल विश्वलोक का एकमात्र कारण है। उसके ऊपर उदित आदित्य के समान आदित्य की आभावाला एक पद्म है जिसके दलों पर क से लेकर ठ तक के १२ वर्ण हैं। उसके बीच सूर्य की आभावाला वाण लिंग है। यह शब्दब्रह्ममय होता है। इसी से इसे अनाहतपद्म कहते हैं। उसके ऊपर विशुद्ध नाम का पद्म है जो आनंदसदन है तथा पुरुष से आवेष्ठित है। इसमें १६ दल हैं। उसके ऊपर आज्ञा चक्र है। वहीं गुरु की आज्ञा का संक्रमण होता है। इसके ऊपर सहस्रारांबुज विंदुस्थान है।[१] पहले पूरक योग से आधार (मूलाधार) में मन को नियोजित करना चाहिए। गुदा और मेढ़्र के बीच की शक्ति को प्रवुद्ध करना चाहिए। लिंगभेद के क्रम से विंदुचक्र (सहस्रार) की प्राप्ति करनी चाहिए और शंभु तथा पराशक्ति का एकीभाव से चिंतन करना चाहिए। उससे उत्थित होनेवाले द्रुत लाक्षारस के समान अमृतरस को योग-सिद्धि देनेवाली कृष्णा नाम की शक्ति को पिला कर षट्चक्रस्थित देवताओं को समर्पित करना चाहिए।[२] धारणा-ध्यान के विषय में कहा गया है कि दिक्-काल से अनवच्छिन्न कृष्ण में चित्त का विधान कर साधक तन्मय हो जाता है। यदि समस्त चित्त से शीघ्र सिद्धि नहीं मिलती तब अवयवों के संयोग से योगी को अभ्यास करना चाहिए। ये अवयव श्रीकृष्ण के शरीर के हैं, यथा—उरुद्वय जंघाद्वय आदि।[3]

प्रकारान्तर में 'शारदा' (शारदातिलक या शारदातंत्र) को उद्धृत किया गया है। तीन नाड़ियाँ मुख्य बताई गई हैं। वाम भाग में इड़ा तथा दक्षिण

---

[१] वही, ५. १०. ९–२३।

[२] वही, ५. १०. २४–२७। 'इत्येतत् कथितं सर्व्वं योगमार्गमनुत्तमम्। आदौ पूरकयोगेन···षट्चक्रदेवतास्तत्र सन्तर्प्यामृतधारया।'

[3] वही, ५. १०. ३१–३७।

भाग में पिंगला की स्थिति मानी गई है। उन दोनों के बीच सुषुम्ना नाड़ी है। इड़ा में चन्द्र, पिंगला में दिवाकर तथा सुषुम्ना में योगनिद्रा की स्थिति रहती है।[1] आधारकन्द के बीच अतिसुन्दर त्रिकोण है। वहाँ विद्युल्लता के आकार की परदेवता कुंडली का निवास है। सुप्त सर्पाकृतिवाली वह सर्वात्मा को परिस्फुरित करती है। आत्माहंस को कुंडली धारण करती है। हंस प्राणाश्रित है। प्राण नाड़ीपथ के आश्रित हैं। आधार से ऊपर, सभी देही लोगों में, वायु नाड़ियों से प्रयाण करता है। द्वादश अंगुल के परिमाण का यह प्राण होता है।[2]

प्राणायाम की क्रिया के विषय में कहा गया है—करणों में समाहित कर अँगुलियों को दृढ़तापूर्वक बाँधकर, दोनों अँगूठों को दोनों कानों में, तर्जनियों को नेत्रों पर, मध्यमाओं को नासरन्ध्रों में तथा अन्य से वदन को दृढ़तापूर्वक बाँध लेना चाहिए। इस प्रकार आत्मा, प्राण और मन को एक में बाँधकर अनुस्मरण करते हुए सम्यक् प्रकार से वायु को धारण करना चाहिए। इसी को योग कहते हैं। इसका क्रम से अभ्यास करने से नाद उत्पन्न होते हैं। सबसे पहले भृंगी के गीत के समान, फिर क्रमशः वंशी, घंटा, घनमेघ की ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं। अव्यय हंस के क्षेपण से ज्ञान उत्पन्न होता है।[3]

इसी प्रकार अन्य वैष्णव भक्तिग्रंथों में भी योग का परिचय मिलता है। किंतु वहाँ योग का ज्ञान और भक्ति के साधन क्षेत्र में स्थाननिर्देश मात्र ही मिलता है। शांडिल्य के सूत्रों में कहा गया है कि योग, ज्ञान और भक्ति दोनों का अंग है। अर्थात् योग, ज्ञान और भक्ति दोनों का साधनांग है।[4] नारद ने परा भक्ति को कर्म, ज्ञान और योग से भी अधिक कहा है।[5] उनके इस सूत्र की विभिन्न प्रकार की व्याख्याओं में इन तीनों शब्दों का क्रमशः कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग का अर्थ लिया गया है। यहाँ राजयोग का कोई भी संदर्भ नहीं है क्योंकि मधुसूदन सरस्वती ने अपने भक्तिरसायन में

---

[1] वही, ५. ११. २–३, ७। इडा वामे स्थिता नाडी पिंगला दक्षिणे मता। तयोर्मध्यगता नाडी सुषुम्ना तत्समाश्रिता ॥···इडायां संचलेच्चन्द्रः पिंगलायां दिवाकरः। जातौ तु योगनिद्रायां सुषुम्नायाञ्च तावुभौ ॥

[2] वही, ५. ११. ८–१२।

[3] वही, ५. ११. १४–१९।

[4] शांडिल्य भक्तिसूत्र, सू० सं० १९।

[5] ना० भ० सू०, सू० सं० २५। 'सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा।'

बताया है कि राजयोग ज्ञानयोग का ही एक अंग है। अथवा यह भी संभव है कि शांडिल्य के अनुसार योग केवल ध्यानसाधन होने के कारण इन तीनों का अंग हो। भगवद्गीता के श्लोकों से भी इसकी पुष्टि होती है। कुछ भी हो, किंतु इतना निश्चित है कि राजयोग या अन्य ध्यानसाधन को भक्ति की तुलना में, भक्ति के इन आचार्यों ने गौण स्थान दिया है। किंतु इसकी आवश्यकता का अनुभव भी सभी ने किया।[१] इससे अधिक शांडिल्य और नारद में योग का परिचय नहीं मिलता।

इस प्रकार वैष्णव साहित्य एवं संप्रदाय में योग और उसके अभ्यास के अनेक संकेत, विवरण और तथ्य मिलते हैं। अडगिय वैष्णव आचार्यों में नाथमुनि योगी थे तथा उन्होंने योगरहस्य नामक एक ग्रंथ भी लिखा था। उन्होंने अष्टांग योग का साधन किया था। इनके विषय में कहा जाता है कि ये अपने आरंभिक काल में शैव थे तथा बाद में वैष्णव मत में दीक्षित हुए। वैष्णव होने पर इन्होंने अष्टांग योग की शिक्षा ली। इनके भक्तिसार ग्रंथ में अष्टांग योगसाधन का विधान है। कुलशेखर के विषय में इसी प्रकार कहा जाता है कि उन्होंने योगाभ्यास किया था।[२] नाथमुनि के द्वादश शिष्यों में से कुरुकानाथ के विषय में कहा जाता है कि उन्होंने नाथमुनि की तरह ही योग-साधन से शरीर का त्याग किया था। इसी प्रकार उन शिष्यों में पुंडरीकाक्ष भी कुरुकानाथ से प्रभावित थे।[३] राममित्र के शिष्य यामुनाचार्य ने अपने गुरु से आदेश पाया था कि वे कुरुकानाथ से अष्टांगयोग की शिक्षा लें।[४] रामानुज और उनके अनुयायियों ने तीन प्रकार के प्रमाण माने थे—प्रत्यक्ष, अनुमान और शास्त्र। प्रत्यक्ष वह है जो बिना किसी माध्यम और साधन के ही ज्ञान प्रदान करे। इसका भेदक लक्षण यह है कि यह कोई ऐसा ज्ञान नहीं है जो अन्य ज्ञान से प्राप्त हो। यह प्रत्यक्ष तीन प्रकार का बताया गया है—(१) ईश्वरप्रत्यक्ष, (२) योगिप्रत्यक्ष, (३) लोकप्रत्यक्ष। योगिप्रत्यक्ष में ही मानसप्रत्यक्ष की गणना की गई है, या इसी में ऋषियों का भी प्रत्यक्ष अन्तर्गणित है। यह योगिप्रत्यक्ष योगाभ्यास के विशेष प्रकाश के कारण होता है।[५]

---

[१] ना० भ० सू०, (अँगरेजी अनुवाद सहित), स्वामी त्यागीशानंद, पृ० १२१–१२२।

[२] ए हि० इं० फि०, वा० ३, पृ० ९६।

[३] वही, पृ० ९६–९७।

[४] वही, पृ० ९८।

[५] वही, पृ० २२०।

इनके अतिरिक्त हम साधन की दृष्टि से वैष्णवमताब्जभास्कर की महत्ता की ओर पहले ही संकेत कर चुके हैं। 'भास्कर' के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि योग (राजयोग, हठयोग, तांत्रिक योगादि) भक्ति के साधन हैं, भक्ति ही साध्य है, फलरूप है। विवेक आदि को भक्ति की सात भूमियाँ बताकर यमादि अष्टांगों को उस भक्ति का अवयव कहा गया है।[१] ध्येय के अनवच्छिन्न चिन्तन को ही ध्यान कहा गया है। यह ध्यान नित्य आत्मरत रहने वाले जितप्राण तथा जितेंद्रिय लोगों द्वारा किया जाता है।[२] सायुज्य मुक्ति का निर्वचन करते समय कहा गया है कि न्यास या शरणागति से भगवान् की दया प्राप्त होती है। उस दया से माया या अविद्या का नाश होता है। फिर सुषुम्ना नाड़ी द्वारा जीव शरीर से निकल कर अर्चिमार्ग को प्राप्त होता है। इसके बाद की यात्रा का जो वर्णन है, वह कालातीत होने या अमर होने की क्रिया के समान प्रतीत होता है जिसमें वह सभी कालमार्गों का अतिक्रमण कर लेता है।[३] 'भास्कर' के इस सुषुम्ना मार्ग के परिचय से प्रतीत होता है कि 'भास्कर' यमनियमादि से युक्त ध्यानसाधन को स्वीकार करते हुए भी सुषुम्नासाधन के महत्व को जानता है, जिससे कालातीत अवस्था या अमरता की अवस्था की प्राप्ति होती है, यद्यपि इसका कोई स्पष्ट संकेत 'भास्कर' में नहीं मिलता। सुषुम्नासाधन का, निश्चय ही, तांत्रिक योग और हठयोग से संबन्ध है। रामानंद की हिंदी रचनाओं से इस पर अधिक प्रकाश पड़ेगा। इतना निश्चित है कि 'भास्कर' भी सुषुम्ना नाड़ी को मोक्षप्रदायिका मानता है (भास्कर के १६८ वें श्लोक में सन्नाड़ी शब्द आया है जिसका अर्थ भाषा टीकाकार और डा० बड़थ्वाल ने सुषुम्ना नाड़ी किया है)।[४]

ऊपर के परिचय से स्पष्ट है कि वैष्णवों के भी साहित्य में एक ऐसे साधन का विधान है जिसमें यमनियमादि चक्र-नाड़ी-कुंडलिनी आदि एवम् प्राणायाम-साधन का समन्वय मिलता है। इन्हें हम पातंजलयोग (राजयोग), तांत्रिक योग, हठयोग आदि कह सकते हैं। वैष्णव ग्रंथों में इनका सूक्ष्म एवं विस्तृत वर्णन बहुत कम मिलता है। आगे हम इनका पारिभाषिक ढंग से

---

[१] वैं० म० भा०, श्लो० ६६।

[२] वही, श्लो० ५४।

[३] वही, श्लो० १६८-१७१।

[४] वही, हिन्दी टीका सहित, पृ० १५५; रा० हिं० र०, भूमिका—डा० बड़थ्वाल, पृ० १३।

परिचय देना चाहते हैं जिससे हम शैवों और वैष्णवों, नाथों एवं संतों के योग का एक परंपरा के प्रकाश में स्पष्टतया विचार कर सकें। इन योगों का विश्लेषण आगे के विवेचन को अधिक स्पष्ट कर सकेगा।

इन योगों में सर्वाधिक प्राचीन राजयोग माना जाता है। पतंजलिकृत योगसूत्रों में अष्टांग योग और समाधियोग का विवेचन है। धीरे-धीरे, ऐसा माना जाता है, पातंजलयोग का विकास तांत्रिक योग, हठयोगादि में हुआ यद्यपि उसके इन विकसित रूपों ने पातंजल योग का त्याग नहीं किया। विभिन्न परवर्ती उपनिषदों की परीक्षा करने से स्पष्ट होता है कि योगसाधन ने विभिन्न मतों में विभिन्न रूपों को प्राप्त किया। शैवों और शाक्तों के संपर्क में आकर, उनकी प्रकृति के अनुकूल विशिष्ट प्रकार के मंत्रयोग, के रूप में यह विकसित हुआ। इसी योग का विकास हठयोग के रूप में हुआ जिससे विभिन्न प्रकार की रहस्यमयी सिद्धियों की तथा स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है। योगतत्व उपनिषद् के अनुसार योग के चार प्रकार हैं—मंत्रयोग, ज्ञानयोग, हठयोग और राजयोग। इन सबका तंत्र के विकास पर भी प्रभाव पड़ा है।[१]

पातंजल योग का अर्थ है चित्तवृत्तिनिरोध। यहाँ आत्मा और परमात्मा या किसी परमतत्व का मिलन अर्थ नहीं है। अर्थात् पतंजलि के अनुसार योग का लक्ष्य है आत्मा या पुरुष को चित्त की विभिन्न वृत्तियों की अभिन्नता से निरुद्ध करना। यह तब तक संभव नहीं जब तक चित्त की वृत्तियाँ चंचल हैं तथा आत्मा चित्त से विवेकज्ञान नहीं प्राप्त कर सका है।[२] ये वृत्तियाँ पाँच प्रकार की हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति। इनमें से प्रत्येक के क्लिष्ट और अक्लिष्ट भेद होते हैं। चित्त की सभी वृत्तियों का निरोध अभ्यास तथा वैराग्य से होता है।[3] इस प्रकार के निरोध से जिस समाधि की अवस्था की प्राप्ति होती है, उसे संप्रज्ञात समाधि कहते हैं। इसके भी विकासक्रम से चार अवांतर भेद हैं—वितर्क, विचार, आनंद और अस्मिता।[४] अभ्यास और वैराग्य के अतिरिक्त एक तीसरा उपाय 'ईश्वर प्रणिधान' या ईश्वरभक्ति या ईश्वर में शरणागति को बताया गया है। यह ईश्वर क्लेश

---

[१] ए हि० इं० फि०, वा० १, पृ० २२८-२२९।

[२] ऐन इंट्रोडक्शन टु इंडियन फिलासफी—दत्त और चटर्जी, पृ० ३०३-३०४, योगसूत्र, २-४।

[3] योगसूत्र, २-४।

[४] वही, सूत्र १७।

कर्मविपाक और आशय—इन सभी से असंबद्ध या इन सभी के सम्बन्धों से मुक्त है। यह समस्त पुरुषों से उत्तम है। वह सर्वज्ञता का कारण है, निरतिशय है। काल से अनवच्छिन्न है। इसका वाचक प्रणव है। ओंकार का जप ही उसके अर्थस्वरूप का भावन करना है। इस साधन से अंतराय (विघ्न) तथा उनके सहजन्मा विघ्नों का अभाव हो जाता है। चित्तविक्षेप या अंतराय ९ हैं—व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रांति-दर्शन, अलब्धभूमिकत्व, अवस्थितत्व। इनके साथ-साथ होनेवाले विक्षेप ५ हैं—दुःख, दौर्मनस्य, अंगमेजयत्व, श्वास, प्रश्वास। ये सभी असमाहित चित्त में होते हैं। इन्हें दूर करने के उपाय हैं—एकतत्वाभ्यास, मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा से चित्त का प्रसादन, प्राण-वायु का अभ्यास, वीतरागता, ध्यान आदि। इस संप्रज्ञात समाधि के बाद सवितर्क समापत्ति, निर्वितर्का, निर्विचारा, सबीज, निर्बीज, समाधि का वर्णन किया गया है।[1] पतंजलि ने पुनः साधनपाद में क्रियायोग के अन्तर्गत तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान की गणना की है। अष्टांगयोगसाधन से अशुद्धि का नाश होता है तथा विवेकख्याति से ज्ञानदीप्ति का प्रकाश होता है।[2] आठ अंग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। नियम के अन्तर्गत शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान की गणना की गई है। स्पष्ट ही तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान को क्रियायोग कहा जा चुका है। प्रथमपाद में ही पतंजलि ने ईश्वरप्रणिधान को समाधि के उपाय के रूप में स्वीकार किया है। साधनपाद में स्पष्टतया कहा गया है कि ईश्वरप्रणिधान से समाधिसिद्धि होती है। वाचस्पति मिश्र के व्यासभाष्य में ईश्वरप्रणिधान को भक्ति विशेष कहा गया है। भोजवृत्ति के अनुसार यहाँ भक्ति का अर्थ है—मानसिक, वाचिक, कायिक पक्ष को अभिमुख करना।[3] साधनपाद में आये हुये 'प्रणिधान' की व्याख्या में वाचस्पतिमिश्र ने उसे परमगुरु में सभी कर्मों का अर्पण कहा है।[4] प्रथम पाद में ही श्वास-प्रश्वास को पंचविक्षेपों में गिना गया है तथा साथ ही प्राणवायु के अभ्यास को समाधि का एक उपाय बताया गया है। साधनपाद में प्राणायाम को योगांग कह कर उसकी विवृति की गई है।

---

[1] वही, सूत्र २३-३५, ३७, ३९, ४० तथा आगे।

[2] वही, पाद २, सूत्र १, २८ (आनन्दाश्रमसंस्करण)।

[3] वही, पाद १, सूत्र २३ (आ० सं०)।

[4] वही, पाद २, सूत्र ३२। 'ईश्वरप्रणिधानं तस्मिन्परमगुरौ सर्वकर्मार्पणम्।'

विभूतिपाद नाम के तीसरे पाद में पतंजलि ने अंतिम तीन अंगों का वर्णन किया है। वास्तव में प्रारंभिक पाँच अंग अंतिम तीन अंगों के लिये साधक में योग्यता उत्पन्न करते हैं। ये तीनों ही चैतसिक साधन है। किसी भी देश में चित्त को आबद्ध करना या ठहराना धारणा है। जहाँ किसी पदार्थ में चित्त स्थिर कर दिया गया है, वहाँ वृत्तियों की एकतानता ही ध्यान है। समाधि में केवल ध्येयमात्र की ही प्रतीति होती है, चित्त का निजस्वरूप शून्य-वत् हो जाता है। यही समाधि की अवस्था है। धारणा, ध्यान और समाधि का एकत्र ही संयम है। पतंजलि ने स्पष्ट ही इन तीनों को अंतरंग कहा है तथा निर्बीज समाधि के अन्य अंग बहिरंग साधन हैं। इसके बाद समाधि की प्रकृति का विवेचन कर पतंजलि ने विस्तार से विभूतियों या सिद्धियों का वर्णन किया है। सूर्य, चन्द्र, नाभिचक्र, कंठकूप, कूर्माकार नाड़ी, मूर्धा, हृदय आदि पर ध्यान करने से अनेक प्रकार की सिद्धियों की प्राप्ति बताई गई है। इसी प्रकार उदान और समान वायुओं के साधन से प्राप्त सिद्धियों का अलग वर्णन किया गया है। कैवल्यपाद में जन्म, औषधि, मंत्र, तप और समाधि से सिद्धियों की प्राप्ति कही गई है। ये पाँचों विभिन्न प्रकार की रुकावटों को दूर करती हैं। विभिन्न चित्तों में से एक चित्त प्रधान होता है। वह ध्यानज या समा-धिज होता है, अनाशय होता है। कहा गया है कि धर्ममेघसमाधि से क्लेशकर्म-निवृत्ति होती है, सर्वावरणविहीन अनंत ज्ञान होता है तथा गुणों के परिणामचक्र की समाप्ति हो जाती है। कर्तव्यों के अशेष हो जाने पर गुण अपने कारण में विलीन हो जाते हैं। यही कैवल्य या स्वरूपप्रतिष्ठा है।

इस प्रकार पातंजल योग का लक्ष्य कैवल्य या स्वरूपप्रतिष्ठा है। इसकी प्राप्ति के लिये मंत्र, तप, औषधि आदि जितने भी उपाय हैं उनमें से पातंजल मार्ग केवल समाधि या अष्टांगसाधन को ही श्रेयस्कर मानता है। इस कैवल्य के लिये बहिरंग और अंतरंग दो प्रकार के साधन बताये गये हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार के अंतर्गत या साथ ही वैराग्य, ईश्वरप्रणिधान आदि की गणना की गई है। जब इनसे चित्त के क्लेश, कर्म, विपाक आदि विक्षेप, सभी दूर हो जाते हैं, तब क्रमश: सवितर्क, निर्वितर्क, आनंद और अस्मिता सबीज समाधियाँ प्राप्त होती हैं। ध्यान, धारणा, समाधि से असंप्रज्ञात समाधि की प्राप्ति होती है जिसमें अंतत: विवेकज्ञान, धर्ममेधा और कैवल्य की प्राप्ति होती है। यही निर्बीज या असंप्रज्ञात समाधि है। यही कैवल्य या स्वरूप-प्रतिष्ठा है। विशेषता यह है कि यहाँ पातंजल योग में ईश्वर की एक ऐसी विशिष्ट कल्पना है जिसमें प्रणिधान करने से समाधिप्राप्ति संभव बताई गई

है। यह प्रकृति-पुरुष दोनों से परे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि पातंजल योग जीवन्मुक्ति के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए भी सिद्ध की ऐसी मुक्ति स्वीकार नहीं करता जिसमें वह इच्छानुसार शरीर त्याग कर सके। उन्होंने जिन सिद्धियों का विवेचन किया है, उसमें कायसिद्धि का वर्णन नहीं है। कायसंपत् में भी रूपलावण्य, बल, वज्रसंहनन का ही वर्णन मिलता है। इसमें जो विभिन्न बहिरंग-अंतरंग साधनों का विवेचन किया गया है, उन्हीं का क्रमशः विकाश आगे दिखाई पड़ता है। अंतरंग साधनों को प्रायः सभी साधन-संप्रदाय किसी न किसी रूप में महत्व देते हैं किंतु बहिरंग साधनों को कुछ महत्व देते हैं कुछ नहीं। वस्तुतः परवर्ती योगपद्धति को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि संपूर्ण योग का विभाजन दो बृहत् समूहों में होता है—हठयोग और राजयोग। हठयोग शरीर साधन या बहिरंगसाधन पर विशेष जोर देता है, जबकि राजयोग मानसिक या अंतरंग साधन या चित्त के केंद्रीकरण या ध्यान और समाधि पर जोर देता है। पतंजलि के उपर्युक्त साधन में दोनों का समन्वय है।[1]

तंत्र और योग का अति घनिष्ठ संबंध है। वास्तव में जैसे पातंजलयोग-दर्शन का मूलाधार सांख्य दर्शन है, उसी प्रकार तांत्रिक दर्शन का मूलाधार उपनिषदों के पूर्णाद्वैत और पुराणों के द्वैतवाद या विशिष्टाद्वैत का समन्वित दर्शन है। तंत्रों में वैदिक कर्मकांड, एकेश्वरवादी दर्शन, पुराणों द्वारा उपदिष्ट भक्तितत्व, पतंजलि द्वारा उपदिष्ट योग, अथर्ववेद का मंत्र तत्व—ये सभी समन्वित साधन के रूप में मिलते हैं। तांत्रिक साधन में योग, भक्ति, मंत्र, ज्ञान, होम, कर्म—इन सबका समन्वय मिलता है।[2] संपूर्ण तांत्रिक साधन की प्रमुख विशेषता यह है कि यह भुक्ति-मुक्ति, अभ्युदय-निःश्रेयस्, दोनों प्रदान करता है। दूसरे भक्तिमत से यह इस बात में भिन्न है कि यह मुक्ति प्राप्त होने पर जीव और शिव में तनिक भी भेद नहीं मानता। कुंडलिनी शक्ति ही जीव और शिव वा जीवात्मा और परमात्मा की अद्वैतोपलब्धि कराती है। यह पूर्णत्व संभव करती है। इस पूर्णत्व का आगम कहीं अन्यत्र से नहीं होता, अपितु यह जीव के लिये स्वाभाविक और नैसर्गिक है। इस पूर्णत्व का शनैः शनैः साक्षात्कार होता है। साधक के यत्न तथा गरुकृपा से यह कुंडलिनी शक्ति जाग्रत होती है तथा सहस्रारस्थित शिव से योग प्राप्त करती है। यह कुंडलिनी शक्ति तंत्र के अनुसार जीव की आध्यात्मिक शक्ति है। इस साक्षात्कार के

---

[1] फिलासफी आव हिंदू साधना, पृ० १३४।

[2] वही, पृ० २७५।

विषय में तंत्र का मत है कि यह साक्षात्कारसिद्धि क्रिया और भावना, दोनों के योग से होती है। इस सिद्धि के लिये, जैसा ऊपर बताया गया है, तंत्र वैदिक कर्मकाण्ड, भक्तिपद्धति, पूजा, प्राणायाम योग आदि की सहायता लेता है।[१]

ऊपर कहा गया है कि पातंजल योग के अनुसार चित्तवृत्तियों का निरोध ही योग है। इसीसे विवेकख्याति और तत्पश्चात् कैवल्य की प्राप्ति होती है। किंतु तांत्रिक योग का लक्ष्य भिन्न है। उसकी परिभाषा भी भिन्न है। तांत्रिक ग्रंथ शारदातिलक के अनुसार जीवात्मा और परमात्मा का ऐक्य ही योग है। इससे सहज ही अनुमेय है कि तांत्रिक योग के अनुसार अनैक्य का ऐक्य में विकास ही योग है। यह अनैक्य या भिन्नता या द्वैत की वस्तुतः सत्ता नहीं है। इसकी प्रतीति केवल बंधन के कारण होती है। सर्वाधिक शक्तिमान् बंधन माया है। इस बंधन के विनाश का महत्तम साधन योग है। इस योगसंपादन में ज्ञान सर्वाधिक सहायक है तथा इसमें सबसे बड़ा बाधक या शत्रु अहंकार है। तत्वज्ञान के लिये योग सर्वाधिक आवश्यक है। कर्मफल के रूप में यह पशुशरीर या पिंड प्राप्त होता है। इस शरीर से कर्मों का संपादन होता है। कर्म और कर्मफल से पशु या जीव अनवरत रूप से जन्म-मृत्यु-चक्र में पड़ा रहता है। इससे भिन्न योगफल है। पूर्ण योगफल की प्राप्ति चिर, नित्य और अपरिवर्तनशील जीवन की प्राप्ति है।[२] कुछ दर्शनवेत्ता पातंजल योग के 'योग' को आत्मा और परमात्मा का योग नहीं मानते।[3] कुछ विद्वान् ऐसे हैं जिनका कथन है कि योग को चाहे कुलकुंडलिनी और परमशिव का ऐक्य कहा जाय या जीवात्मा-परमात्मा का संयोग कहा जाय या चित्त की एक ऐसी अवस्था कहा जाय या चन्द्र और सूर्य (इड़ा और पिंगला) का संयोग कहा जाय या प्राण और अपान का या नाद और विंदु का ऐक्य कहा जाय, सब एक ही तात्पर्य का बोध कराते हैं।[४]

इस प्रकार के विचार व्यक्त करने का एक आधार प्रतीत होता है। पातंजल योगसूत्र को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि पतंजलि ने अपने योग-

---

१ वही पृ० २७५-२७७।

२ इंट्रोडक्शन टु तंत्रशास्त्र, सर जान उडरफ, पृ० १२३–१२४; घेरंड संहिता, १.२, ४.७।

3 ऐन इंट्रोडक्सन टु इंडियन फिलासफी—दत्त एण्ड चटर्जी, पृ० ३०३-३०४।

४ इं० तं० शा०, पृ० १२६।

सूत्र में केवल विभिन्न प्रकार के योगों को एकत्रित कर योग से संबद्ध किये जाने योग्य विविध विचारों का कथन ही नहीं किया अपितु सांख्य तत्वविज्ञान से तदनुकूलतः उन्हें संबद्ध भी कर दिया। इस प्रकार उन विभिन्न योगों और तत्संबन्धी विचारों को वह रूप दिया। इस प्रकार उन विभिन्न योगों और तत्संबंधी विचारों को वह रूप दिया जिसमें वह आज हमें प्राप्त है।[1] ऊपर पातंजल योगसूत्रों का जो संक्षिप्त परिचय दिया गया है उससे भी यही बात स्पष्ट होती है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि तांत्रिक योग प्रकृति-मुक्त एवम् निरुद्धवृत्तिवाले चित्त की सामाधिक कैवल्य अवस्था को लक्ष्य के रूप में स्वीकार नहीं करता। किंतु जैसा आगे के विवेचन से स्पष्ट होगा, वह पातंजल योग के आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान आदि को स्पष्टतया स्वीकार करता है। तांत्रिक साधन में योग का सामान्य विवरण तो मिलता ही है तथा उसमें भी षट्चक्रभेद का जो विस्तृत और सविशेष विवरण मिलता ह, उससे यही ज्ञात होता है कि आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान आदि षट्चक्रसाधन के उपकारक साधन हैं तथा इस योग का चरम लक्ष्य अद्वैतावस्था की प्राप्ति है। यह अद्वैतावस्था, वस्तुतः, पातंजल योग से तांत्रिक योग को पृथक् करनेवाला एक तत्व है। यद्यपि पातंजल योग में ईश्वरप्रणि-धान की बात अवश्य कही गई है तथापि पातंजल योग में ईश्वर का जो स्वरूप उपस्थित किया गया है, उसमें वह शैवों और तंत्रों के "परमशिवस्थानीय" होते हुए भी उससे भिन्न है। परम शिव में शिव-शक्ति का अभिन्न भाव गृहीत है तथा निमित्तोपादानकारणता भी उसमें लक्षित की जाती है। यह पातंजल योग के ईश्वर में कथमपि नहीं है। इससे यह प्रतीत होता है कि पातंजल योग प्रकृतिमुक्त आत्मा की कैवल्यस्थिति (या मुक्तपुरुष की स्थिति) को मुक्ति के रूप में स्वीकार करता है जब कि तांत्रिक योगसाधन में पूर्णाद्वैत की स्थिति ही लक्ष्य है।

इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये तांत्रिक योग अनेक योगांगों का प्रयोग करता है। इन योगांगों को तथा इनकी व्याख्या को भी देखकर पातंजल और तांत्रिक योगों के परस्पर भेद का अनुमान किया जा सकता है। यद्यपि विभिन्न प्रकार के योग बताये जाते हैं तथापि हठयोग और समाधियोग नाम के दो सरल भेद स्वीकार किये जाते हैं। उडरफ ने राजयोग को समाधियोग का ही एक प्रकार बताया है। घेरंड संहिता के अनुसार हठयोग से ही राजयोग की सिद्धि

[1] ए हि० इं० फि०, वा० १, पृ० २२९।

होती है। यह आवश्यक नहीं है कि हठयोग की सभी क्रियाएँ राजयोग की सिद्धि में सहायक हों। विशिष्ट अवस्था, आवश्यकता और आचार के अनुसार ही इनका विचार किया जाता है। उडरफ ने योग का विचार करने के लिये घेरंड संहिता को आधार ग्रंथ के रूप में उद्धृत किया है। घेरंड ने इस साधन को घटस्थसाधन कहा है। यह घटस्थयोग है। इस योग के सात साधन बताये गये हैं---शोधन, दृढ़ता, स्थैर्य, धैर्य, लाघव, प्रत्यक्ष, निर्लिप्ति। ये क्रमशः षट्कर्म, आसन, मुद्रा, प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान और समाधि से प्राप्त होते हैं। अन्त में समाधियोग के भी छ भेद बताये गये हैं—ध्यानयोगसमाधि, नादयोगसमाधि, रसानंदसमाधि, लयसिद्धिसमाधि, भक्तियोगसमाधि, राजयोग-समाधि। इनमें से लयसिद्धिसमाधि के साधन के लिये योनिमुद्रा का विशेष वर्णन मिलता है।[१] इन सप्त साधनों में से प्रथम चार तो शारीरिक और बाह्य साधन हैं। तथा अंतिम तीन आन्तरिक साधन हैं।

इन सप्त साधनों में प्रथम स्थान षट्कर्म का है जिसके अन्तर्गत धौति, बस्ति, नेति, लौलिकी, त्राटक, कपालभाति की गणना की गई है। इनसे शरीर का शोधन किया जाता है जिससे साधक योगांगों का अनुसरण करने में समर्थ होता है। इनमें से अनेक के कई भेद बताये गये हैं। दूसरा स्थान आसन का है। आसन केवल बैठना ही नहीं है। ये आसन शरीर के विभिन्न अंगों को ध्यान में रखकर किये जाते हैं। इनके करने से विभिन्न अंगों, यथा उदर, पृष्ठभाग, बाहु आदि को दृढ़ता प्राप्त होती है। कहा जाता है कि आसनों की संख्या जीवों की योनियों के समान ही ८४ लाख है जिसमें १६०० मुख्य हैं। इनमें ३२ प्रधान हैं। मुक्तपद्मासन, बद्धपद्मासन, मुंडासन, चितासन, शवासन आदि की गणना उनमें की जाती है। पतंजलि ने इन आसनों का नाम न देकर इतना संकेत किया है कि आसन के मुख्य लक्षण हैं–स्थिरता, सुखदायित्व। तीसरा स्थान मुद्रा का है, जिसका कोई भी संकेत पातंजल योग में नहीं है। तंत्रों में स्थिरता की प्राप्ति मुद्रा से मानी गई है। घेरंड संहिता के अनुसार मुख्य मुद्राएँ हैं–योनिमुद्रा, काकिनी मुद्रा, अश्विनी मुद्रा, शक्तिचालन मुद्रा आदि। हठयोग के ग्रंथों में शरीर की विभिन्न स्थितियों को मुद्रा कहा गया है।[२] शारदातिलक की टीका में राघवभट्ट ने मुद्रा की कई

---

[१] इं० तं० शा०, पृ० १२६, घे० सं०, १. २,९–११, ७. ५–६, १२; ३. ३२–३७।

[२] इं० तं० शा०, पृ० १२७–१२९।

व्याख्याएँ की हैं। वह मोद देती है, इसीलिए उसे मुद्रा कहते हैं। उनके दर्शन से देवता लोग हर्षित होते हैं। इसकी व्याख्या में कहा गया है कि अंगुष्ठादि पाँच अँगुलियाँ आकाश, वायु, अग्नि सलिल और भू रूप हैं। उनके संयोग से देवता प्रगुणीभावपूर्वक मोद को प्राप्त करते हैं। इनके स्वरूपभेद मात्र से उनसे प्राणियों पर कोप और हर्ष उत्पन्न होता है। विभिन्न मुद्राओं के विभिन्न सांप्रदायिक दृष्टियों से विभिन्न पक्ष हैं।[1] घेरंड संहिता में इन्हें स्वास्थ्य देनेवाली तथा मृत्यु और रोग से रक्षा करनेवाली कहा गया है। ये जल और वायु से रक्षा करती हैं। इनसे उत्पन्न कर्म और स्वास्थ्य चित्त को प्रभावित करते हैं। पूर्ण चित्त और शरीर से सिद्धि की प्राप्ति होती है। चौथा स्थान प्रत्याहार का है। पातंजल योग में प्रत्याहार को प्राणायाम के बाद पंचम स्थान दिया गया है। वहाँ प्रत्याहार का अर्थ है —इंद्रियों का विषयरहित चित्त से तदाकार हो जाना। इससे इंद्रियों की वश्यता प्राप्त होती है किंतु तांत्रिक योग में इससे धैर्य की प्राप्ति मानी गई है। कहा गया है कि इससे इंद्रियों का निरोध तथा चित्त की विघ्नों से मुक्ति होती है। वह पूर्णतया आत्माश्रित हो जाता है। इससे छ प्रकार के पापों का नाश बताया गया है। शारदातिलक के अनुसार इंद्रियों का उनके विषयों से बलात् आहरण प्रत्याहार है।[2]

इसके बाद प्राणायाम का विधान है जिससे लाघव की प्राप्ति होती है। यहाँ लाघव का अर्थ है "हल्कापन"। प्रत्येक प्राणी अजपा गायत्री का जप करता है। यह जप एक दिन (२४ घंटे) में २१६०० बार होता है। निःश्वास (साँस निकालना) में 'हं'—कार का तथा आश्वास (साँस लेना) में 'स'—कार का उच्चारण होता है। सामान्यतः श्वास का विस्तार १२ अंगुल होता है, किंतु गायन, भोजन, विचरण, शयन, मैथुन में इसका विस्तार क्रमशः १६, २०, २४, ३० तथा ३६ अंगुल हो जाता है। प्रबल साहसी कार्यों में इसका विस्तार और बढ़ जाता है और अधिकतम विस्तार ९६ अंगुल होता है। जब श्वास सामान्य विस्तार में रहेगा तो जीवन विस्तृत होगा और

---

[1] शारदातिलक, पृ० ५१०, श्लो० १०६—११० तथा इन श्लोकों की टीका। शारदातिलक की यह व्याख्या तांत्रिकों के तीन प्रकारों में से केवल एक की ओर संकेत करती है जिसका उपर्युक्त योग की मुद्रा से कोई संबंध नहीं है।

[2] इं० तं० शा०, पृ० १३०।

इसका विस्तार जितना ही अधिक होता जायेगा, जीवन भी, उतना ही संकुचित होता जायेगा। पूरक क्रिया श्वास लेना या आश्वास है और रेचक क्रिया निःश्वास है। कुंभक इन दोनों के बीच श्वास का धारण है। घेरंड संहिता के अनुसार कुंभक आठ प्रकार का है—सहित, सूर्यभेद, उज्जायी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा, केवली। प्राणायाम श्वास तथा अन्य वायुओं का नियंत्रण है। इससे शक्ति जाग्रत होती है, रोग मुक्ति होती है, विरक्ति होती है, आनंदोत्पत्ति होती है। इसकी भी कई कोटियाँ हैं। २० परिमाण का उत्तम, १६ परिमाण का मध्यम तथा १२ परिमाण का अधम प्राणायाम होता है। मध्यम प्राणायाम मेरुदण्ड में कंपन उत्पन्न करता है। अधम प्राणायाम प्रस्वेद उत्पन्न करता है, क्योंकि इनमें प्राणवायु अशुद्ध नाड़ियों में प्रवेश नहीं करता। इसलिये अशुद्ध नाड़ियों को शुद्ध करने के लिये प्राणायाम की आवश्यकता होती है। प्राणायाम से नाड़ी शुद्धि या तो समनु विधि से हो सकती है या निरमनु विधि से। समनु का अर्थ है बीजसहित तथा निरमनु का अर्थ है बीजरहित। दोनों प्रकार की पद्धतियों में से समनु का विस्तृत विचार उनके बीजों के साथ मिलता है। यहाँ बीजों की संख्या श्वास की तीनों स्थितियों में निश्चित कर दी गई है, साथ ही इड़ा आदि नाड़ियों का संबंध भी उन स्थितियों में निश्चित कर दिया गया है। इस प्राणायामसाधन के लिये विभिन्न आचार बताये गये हैं जिनके पालन से प्राणायाम सुकर और सफल होता है।[1]

कहा गया है कि योगी को कुशासन, मृगचर्म या हरित तृण पर बैठना चाहिए। या तो वह पूर्वाभिमुख रहे या उत्तराभिमुख। इस प्रकार की स्थिति में ही प्राणायाम करना चाहिए। नाड़ीशुद्धि के साथ ही उचित स्थान, काल और भोजन का भी विचार करना चाहिए। स्थान इतनी दूर नहीं होना चाहिए कि वह चिन्ता उत्पन्न करे। उसे उजाड़ जंगल या अति व्यस्त स्थान में भी स्थित नहीं होना चाहिए जिससे व्याकुलता उत्पन्न हो। भोजन शुद्ध निरामिष होना चाहिए। वह अति उष्ण और अति शीतल भी नहीं होना चाहिए। वह उत्तेजक खट्टा, नमकीन या कड़वा भी न हो। उपवास, दिन में केवल एक बार भोजन तथा इसी प्रकार के अन्य कार्य, निषिद्ध हैं। भोजन हल्का पौष्टिक हो। दूरगामी विचरण या इसी प्रकार के अन्य परिश्रमी कार्यों से भी बचना चाहिए। आरंभ योगी के लिए, निश्चय ही, मैथुन भी

[1] इं० तं० शा०, पृ० १३०–१३३।

निषिद्ध है। केवल आधा पेट भोजन करना चाहिए। इस योग का साधन वसन्त में या शरद् ऋतु में करना चाहिए। इस प्राणायाम के भी कई भेद कहे जाते हैं।[१]

पातंजल योग के अनुसार श्वास और प्रश्वास की गति का विच्छेद ही प्राणायाम है। यहाँ भी इसकी बाह्य, आभ्यंतर और स्तम्भ नाम की तीन वृत्तियाँ बताई गई हैं। इनसे भिन्न एक चतुर्थ प्रकार का प्राणायाम बतलाया गया है जिसमें बाह्य और आभ्यंतर विषयों (या श्वास प्रश्वास) का त्याग हो जाता है। इस प्राणायाम के अभ्यास से ज्ञान या प्रकाश के आवरणस्वरूप कर्म का नाश होता है। इससे चित्त में धारणा की योग्यता भी आ जाती है।[२] इस प्रकार तांत्रिक योग में प्राणायाम मंत्रात्मक है अर्थात् मंत्रसाधन तथा नाड़ीशोधन दोनों ही इससे सिद्ध होते हैं। पातंजल योग में ये क्रियाएँ नहीं हैं।

ध्यान से प्रत्यक्ष होता है। यह ध्यान तीन प्रकार का बताया गया है—स्थूल, ज्योति और सूक्ष्म।[3] प्रथम में देवता की मूर्ति का ग्रहण होता है। इसमें अमृतसागर, मणिद्वीप, कदम्बवन, कल्पवृक्ष, उसकी चार शाखाएँ, अनेक दिव्य भ्रमरों तथा कोयलों की सुमधुर ध्वनि, उसके दिव्य फल-पुष्प, दिव्य विशाल और सुंदर शैय्या पर स्थित इष्टदेवता की गणना की जाती है। गुरु ही उस देवता के वाहन, रूप, वस्त्र, देवोपाधि आदि का निर्देश करता है। ज्योतिर्ध्यान इसके बाद की विकास की अवस्था है। इसमें देवता के इस कल्पित रूप में अग्नि और तेज की प्रतिष्ठा की जाती है। ज्योतिर्ध्यान उसके तेजोमय रूप का ध्यान है। सूक्ष्म ध्यान में ब्रह्मस्थानीय परदेवता कुंडली का ध्यान किया जाता है। मूलाधार में मोमबत्ती की शुंडाकृति शिखा के रूप में जीवात्मा निवास करती है। इस ध्यान में साधक तेजोमय ब्रह्म के प्रणवात्मक रूप का ध्यान भ्रूमध्य में करता है। वस्तुतः दूसरे शब्दों में, इस सूक्ष्म ध्यान में शांभवी मुद्रा के साथ उत्थित कुंडलिनी का ध्यान किया जाता है। इस योग से आत्मसाक्षात्कार होता है।[४] इस योग का अंतिम तत्व है समाधि,

---

[१] वही, पृ० १३२; घे० सं०—५. २—३०। इस विधान के लिये पंचमोपदेश अध्येय है।

[२] पा० यो० सू०—२. ५१-५३, सैक्रेड बुक्स आव दि हिन्दूज़, वा० ४, पृ० १७२-१७६।

[3] घे० सं०-६.१, 'स्थूलं ज्योतिस्तथा सूक्ष्मं ध्यानस्य त्रिविधं विदुः।'

[४] इं० तं० शा०, पृ० १३३-१३४ तथा पादटिप्पणी।

जिसमें निर्लिप्तत्व की प्राप्ति होती है और तत्पश्चात् मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है। समाधि चित्त की सघन एकाग्रता है जिसमें सभी संकल्पों से मुक्ति हो जाती है। संसार से राग नहीं रहता। ममत्व से मुक्ति मिल जाती है। इस प्रकार के साधन के परिणाम को ही जीवात्मा-परमात्मा का अद्वयभाव कहते हैं।[1]

घेरंड संहिता के अनुसार यह समाधियोग छ प्रकार का बताया गया है। ध्यानयोगसमाधि शांभवी मुद्रा से प्राप्त होती है जिसमें विन्दुब्रह्म पर ध्यान करने तथा आत्मसाक्षात्कार करने को कहा गया है। अन्ततः यह आत्म-साक्षात्कार महाकाश में स्थिर हो जाता है। द्वितीय समाधियोग नादयोग है जो खेचरी मुद्रा से प्राप्त होता है जिसमें जिह्वा का तलभाग काट दिया जाता है और उसे इतना बढ़ाया जाता है कि वह भ्रूमध्यावकाश तक पहुँच जाती है। तब वह उलटकर मुँह में लाई जाती है। तीसरा समाधियोग रसानंदयोग है जो कुंभक के द्वारा प्राप्त होता है। इसमें साधक एक नीरव स्थान में स्थित होकर अपने दोनों कर्णरन्ध्रों को बन्द कर लेता है तथा तब तक पूरक और कुंभक करता है जब तक वह नाद नहीं सुन लेता है। ये नाद अपनी सघनता के अनुसार विभिन्न प्रकार के होते हैं। इसके नित्य अभ्यास से अनाहत ध्वनि सुनाई पड़ती है तथा चित्त से ज्योति का दर्शन होता है। इस ज्योति का अंत में परविष्णु में लय होता है। चौथा समाधियोग लयसिद्धियोग है जिसका साधन योनिमुद्रा से होता है। साधक अपने को शक्ति तथा परमात्मा को पुरुष समझते हुए, अपने और शिव के संगम का अनुभव करता है तथा उसके साथ उस आनन्द का अनुभव करता है जो शृंगार रस है और अन्त में वह स्वयम् आनन्द हो जाता है या ब्रह्म हो जाता है। पाँचवाँ योग भक्तियोग है जिसमें इष्टदेवता का ध्यान भक्ति के साथ तब तक किया जाता है जब तक आनन्दाश्रुसंहित दिव्य आनन्दावस्था नहीं प्राप्त हो जाती। छठाँ राजयोग है जिसका साधन मनोमूर्च्छाकुंभक से किया जाता है। इसमें चित्त को सांसारिक विषयों से विरक्त करके भ्रूमध्य के आज्ञाचक्र में स्थिर कर दिया जाता है और कुंभक क्रिया की जाती है। चित्त और आत्मा के एकात्म से, जिससे ज्ञानी सर्वश्रेष्टा हो जाता है, राजयोगसमाधि की प्राप्ति होती है।[2]

---

[1] वही, पृ० १३४, षट्चक्रनिरूपण; श्लो० ५१ तथा उसकी विस्तृत टीका, पृ० ६५-६८।

[2] इं० तं० शा०, पृ० १३४-१३५; घेरंड संहिता, ७. ५-६; ७.७-२३; ३.२३-२५; ५.७७-८२।

इसके अतिरिक्त सर्वाधिक विस्तार से वर्णित होनेवाला योगसाधन षट्चक्र-भेद है। इस साधन के सूक्ष्म विवरण केवल गुरु से ही प्राप्य हैं किन्तु इतना कहा जा सकता है कि इस योगसाधन से व्यक्ति-जीवन या व्यष्टि-जीवन, विश्व-जीवन या समष्टि-जीवन के स्तर तक उत्थित हो सकता है। यह विश्व-जीवन या चित् तत्व केवल सहस्रार में ही इस प्रकार साक्षात्कृत हो सकता है। जीवात्मा अपने सूक्ष्म शरीर में पंचप्राण, चित्त के तीन रूप—मनस्, अहंकार और बुद्धि, पंचकर्मेन्द्रिय का आश्रय है। वह कुलकुंडलिनी से एकात्म प्राप्त करता है। मूलाधार में अपानवायु के एक प्रकार का, जिसे कंदर्प वायु या कामवायु कहते हैं, निवास है। इसे बाँई दिशा की ओर प्रेरित किया जाता है तथा इस प्रकार उस अग्नि को उद्दीप्त किया जाता है जो कुंडलिनी के चारों ओर व्याप्त रहती है। बीज 'हूं' और इस प्रकार उद्दीप्त की हुई अग्नि के ताप से सुषुप्त कुंडलिनी जाग्रत की जाती है। वह कुंडलिनी, जो स्वयम्भू-लिंग को चारों ओर से सार्द्धत्रितय वलयों से आवृत कर लिपटी रहती है तथा ब्रह्मद्वार के छिद्र को बन्द किये रहती है, इस प्रकार जाग्रत किये जाने पर, उस द्वार में प्रवेश करती है तथा जीवात्मा से समन्वित होकर ऊपर की ओर उत्थित होती है।[1]

इस प्रकार ऊर्ध्वमुख गतिशीलता के होने पर ब्रह्मा, सावित्री, डाकिनी शक्ति, देवगण बीज और वृत्ति—ये सभी कुंडलिनी के शरीर में लीन हो जाते हैं। महीमंडल या पृथिवी बीज 'लं' में परिवर्तित होकर उसके शरीर में लीन हो जाती है। जब कुंडलिनी शक्ति मूलाधार से उत्थित होती है तो वह पद्म जो उसके जागरण के समय विकसित हो गया था तथा ऊर्ध्वमुख हो गया था, पुनः मुकुलित और अधोमुख हो जाता है। जैसे ही कुंडलिनी स्वाधिष्ठान चक्र को पहुँचती है, वह स्वाधिष्ठानस्थित पद्म विकसित हो जाता है तथा उसके दल भी ऊर्ध्वमुख हो जाते हैं। कुंडलिनी का प्रवेश होने पर महाविष्णु, महालक्ष्मी, सरस्वती, राकिनी शक्ति, देव, मातृकाएँ, वृत्ति, वैकुंठ धाम, गोलोक और उनमें निवास करने वाले देव-देवीगण, सभी कुंडलिनी के शरीर में लीन हो जाते हैं। पृथ्वी का बीज 'लं' जल में तथा जल बीज 'वं' में परिवर्तित हो जाने पर कुंडलिनी के ही शरीर में स्थित रहता है। जब देवी मणिपूरचक्र को पहुँचती है, तब जो कुछ भी उस चक्र में रहता है, वह सब

[1] इं० तं० शा०, पृ० १३५–१३६। इसका विस्तृत विवरण पूर्णानंद-स्वामी कृत षट्चक्रनिरूपण में मिलता है।

उस कुंडलिनी शरीर में लीन हो जाता है। वरुण का बीज 'वं' अग्नि में मिश्रित हो जाता है और देवी शरीर में बीज 'रं' के रूप में रहता है। इस मणिपूरचक्र को ब्रह्मग्रंथि कहते हैं। इस चक्र का भेदन होने से बहुत पीड़ा हो सकती है, शारीरिक अव्यवस्था हो सकती है, कोई व्याधि उत्पन्न हो सकती है। इसीलिये एक अनुभवी गुरु की आवश्यकता होती है और इसीलिये अन्य प्रकार के उचित और अनुकूल योग भी बताये गये हैं, क्योंकि इस प्रकार की अवस्थाओं में क्रियाशक्ति सीधे उच्चतर केंद्रों में उत्थित होती है। उच्चतर केन्द्रों या चक्रों तक पहुँचने के लिये सदैव निम्नतर केन्द्रों या चक्रों का भेदन होना आवश्यक नहीं है। इसके बाद कुंडलिनी अनाहतचक्र में प्रवेश करती है, जिसमें वहाँ जो कुछ भी रहता है, सब देवी शक्ति के शरीर में लीन हो जाता है। तेजस् का बीज 'रं' वायु में लीन हो जाता है तथा वायु का बीज 'यां' में परिवर्तित होकर कुंडलिनी के शरीर में लीन हो जाता है। इस चक्र को विष्णुग्रंथि कहते हैं। कुंडलिनी भारती या सरस्वती के निवासस्थान विशुद्धचक्र को पहुँचती है। उसमें प्रवेश करने पर अर्द्धनारीश्वर शिव, शाकिनी, षोडश स्वर, मंत्र आदि कुंडलिनी के शरीर में लीन हो जाते हैं। वायु का बीज 'यां' आकाश में लीन हो जाता है तथा वह स्वयं भी बीज 'हं' में परिवर्तित होकर कुंडली देवी के शरीर में लीन हो जाता है। ललनाचक्र का भेदन कर कुंडलिनी आज्ञाचक्र को पहुँचती है जहाँ परमशिव, सिद्धकाली, देव, गुण तथा उस चक्र में निवास करने वाले सब उसके शरीर में लीन हो जाते हैं। आकाश का बीज 'हं' मनसचक्र में लीन हो जाता है तथा मन स्वयं परादेवता के शरीर में लीन हो जाता है। आज्ञाचक्र को रुद्रग्रंथि कहते हैं। इस चक्र के भेद के बाद कुंडलिनी अपनी ही गति से परमशिव से एकात्मलाभ करती है। जैसे ही यह द्विदल पद्म से ऊपर की ओर उत्थित होती है, निरालंबपुरी, प्रणव, नाद आदि सभी उसके शरीर में लीन हो जाते हैं।[1]

इस प्रकार कुंडलिनी अपने ऊर्ध्वमुख उत्थान में पंचभूततत्वों से आरम्भ कर अन्त तक २४ तत्वों को अन्तर्लीन कर लेती है और तब परमतत्व से एकात्म प्राप्त कर अद्वयावस्था को प्राप्त कर लेती है। यह सात्विक पंचतत्वों का मैथुन है। इस प्रकार के अद्वय से जो अमृतस्राव होता है वह संपूर्ण क्षुद्र ब्रह्मांड या मानव शरीर को आपूर कर देता है। तभी साधक इस संसार

[1] वही, पृ० १३६–१३७।

का विस्मरण कर अनिर्वचनीय आनंद में लीन हो जाता है। यही साधक की सर्व्वोच्च अवस्था है।

तदनन्तर साधक वायु बीज 'यां' का चिन्तन करते हुए बायें नासिकारंध्र की वायु को इड़ा में प्रेरित करते हुए, उस बीज का १६ बार जप करता है। इसी प्रकार पूरक, कुंभक और रेचक आदि के साथ ही विभिन्न बीजों का ध्यान कर इड़ा-पिंगला आदि के साथ प्राणायाम का विधान करते हुए बताया गया है कि इससे अंततः कायनिर्माण, कायदृढ़ता आदि की प्राप्ति होती है। अंत में 'सोऽहं' मंत्र के जप के साथ साधक जीवात्मा को हृदय में स्थापित करता है। इस प्रकार कुंडलिनी, जो परमशिव के साथ अपने अद्वय का उपभोग कर चुकी है, अपने परावर्तनमार्ग की ओर उन्मुख होती है। यह वही मार्ग है जिससे उत्थित होकर वह अद्वय को प्राप्त कर सकी थी। इस परावर्तन-क्रिया में वह चक्रों से अपने में लीन किये हुए तत्वों को पुनः उन्हीं में स्थित कर देती है। इस प्रकार वह पुनः मूलाधार में पहुँचती है और ऐसी अवस्था में वे सभी तत्व तत्तत् चक्रों में पूर्ववत् स्थित हो जाते हैं, जैसे वे कुंडलिनी जागरण के पूर्व थे।

इस साधन में गुरु के उपदेश केवल आज्ञाचक्र तक जाने में सहायक होते हैं। इस चक्र के भेदन के बाद साधक ब्रह्मस्थान की प्राप्ति, बिना किसी सहायता के ही कर लेता है। शिव के सप्तम मुख के नीचे गुरु और शिष्य के संबंध निरुद्ध हो जाते हैं। सप्तम आम्नाय के उपदेश अप्रकाशित रहते हैं।[१] ऊपर हम कह चुके हैं कि लयसिद्धि-समाधि के अंतर्गत षट्चक्रभेद की गणना होती है। इस प्रकार षट्चक्रभेद लययोग है।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट होता है कि पातंजल योग और तांत्रिक योग का परस्पर घनिष्ठ संबंध है। इस तांत्रिक योग के अन्तर्गत ही लययोग, ध्यानयोग, हठयोग, मंत्रयोग आदि का विनियोग हो गया है। सामान्यतया योग के जो प्रकार बताये जाते हैं, वे हैं—मंत्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग। ये विभिन्न प्रकार की साधनाएँ हैं जो चित्त की विभिन्न प्रकार की वृत्तियों को नियंत्रित करती हैं तथा विभिन्न मार्गों से ब्रह्मसाक्षात्कार कराती हैं। इनमें से सभी योग अष्टांगयोग को स्वीकार करते हैं। सबका एक ही लक्ष्य है—

---

[१] वही, पृ० १३८-१३९; दि सर्पेंट पावर—आर्थर एवेलेन, पृ० २४१। शारदातिलक—पृ० ५४८, २५ वाँ पटल, पृ० ४४९, ४५०-४५१।

ब्रह्मसाक्षात्कार का अनुभव। वे केवल साधन में तथा परिणाम की मात्रा में भेद करते हैं। मंत्रयोग की समाधि महाभाव है, हठयोग की समाधि महाबोध है, लययोग की समाधि महालय है तथा राजयोग और ज्ञानयोग की समाधि कैवल्यमुक्ति है।[1]

इन योगों के आधारस्वरूप कुछ बातें अति महत्वपूर्ण हैं। योग और ज्ञान का घनिष्ठ संबंध है, ऐसा कहा जा चुका है। योग, ज्ञान और मुक्ति का इन विभिन्न प्रकार के योगों के साथ क्या संबंध है, इसका भी निर्देश किया जा चुका है। इन योगों में विभिन्न प्रकार की क्रियाएँ साधक को सहायता पहुँचाती हैं। सामान्यतया, साधनक्षेत्र में, दो प्रकार का ज्ञान स्वीकार किया जाता है—स्वरूपज्ञान और क्रियाज्ञान। स्वरूपज्ञान सद्यःमुक्ति प्रदान करता है। योग तो शारीरिक और मानसिक साधन है। इसका उपयोग मानवशक्तितत्व के उद्घाटन के लिये किया जाता है। यह मूल शक्तितत्व ही चैतन्य परमतत्व है। अद्वैत वेदांत की दृष्टि से शुद्ध चित् तत्व सभी जीवों का मूल तत्व है। यह सदैव मुक्त रहता है, किंतु वह बंधन में है, ऐसा प्रतीत होता है। इस प्रकार मुक्ति या मोक्ष सभी जीवों में स्वभावतया वर्तमान रहता है। जीव का परमात्मा से सदैव अभिन्नत्व रहता है किंतु इस अभिन्नत्व का अनुभव माया के आवरण के कारण नहीं होता जिससे जीवात्माएँ भिन्न-भिन्न प्रतीत होती हैं। परमात्मा के ऐक्य का अज्ञान अविद्या के कारण है। इस अभिन्नत्व का प्रत्यक्ष या साक्षात्कार विद्या या ज्ञान से होता है। यह प्रत्यक्ष करानेवाला ज्ञान स्वरूपज्ञान है। शुद्ध चित् तत्व की प्राप्ति योग का लक्ष्य है। यह ज्ञान स्वयं शुद्ध चित् है। दूसरे प्रकार का ज्ञान क्रियाज्ञान है। इन क्रियाओं का ज्ञान इससे अभिप्रेत है जिनकी सहायता से स्वरूपज्ञान होता है। द्वितीय अर्थ में जब ज्ञान शब्द का प्रयोग होता है तब उसका अर्थ एक प्रकार की मानसी क्रिया होती है अर्थात् उससे ब्रह्म और अब्रह्म का विवेक होता है। यह ज्ञान, क्रिया और रूप में, ब्रह्म को सच्चे अर्थ में समझना है तथा तब तक उस समझे हुए पर ध्यान स्थिर करना है, जब तक ब्रह्म चित्त को पूरी तरह से अधिकृत न कर ले, जिससे अन्य सबका चित्त से अनवस्थान हो जाय। तब चित्त शुद्ध चित्त के रूप में ब्रह्म में लीन हो जाता है। यही स्वरूपज्ञान है। यह ज्ञान सद्यःमुक्ति प्रदान करानेवाला है। योग की क्रियाओं का जो ज्ञान है, वह क्रममुक्ति के अंतर्गत है। सिद्ध ज्ञानयोगी या जीवन्मुक्त जो कुछ इस जीवन

---

[1] दि स० पा०, पृ० १८५-१८६।

में प्राप्त कर लेता है, वही बाद में ब्रह्मसायुज्य में पूर्ण होता है। किन्तु मनुष्य केवल बुद्धिमान् ही नहीं है, उसमें भावना और भक्ति भी है। उसे शरीर भी प्राप्त है। अतः साधना की पूर्णता के लिये क्रियाओं का भी समन्वय किया जाता है, जैसे उपासना, हठयोग आदि की सूक्ष्म एवं स्थूल क्रियाएँ।[१]

इन योगसाधनों में जो क्रियाएँ साधक द्वारा संपादित की जाती हैं वे भी दो प्रकार की हैं। ऊपर के योग के विवेचन से स्पष्ट है कि योग वह क्रिया है जिससे मानसिक प्रतिभा, चित्तवृत्ति और प्राण को प्रथमतः नियमित तथा तदुपरान्त स्थिर किया जाता है।[२] चित्त, वृत्ति और प्राण के स्थिर कर दिये जाने पर ही चित् तत्व या परमात्मा का साक्षात्कार होता है। इस प्रकार योग में भावात्मक और अभावात्मक (पाजिटिव और निगेटिव) दो प्रकार की क्रियाएँ सम्मिलित हैं। अभावात्मक क्रिया भावात्मक क्रिया की सहायिका है। योग भावात्मक चित् या चैतन्य अवस्था की ओर प्रेरित वह क्रिया है जिसके साधनमार्ग में अचित् तत्वों के दूरीकरण की क्रिया भी सम्मिलित है। इन शक्तियों को क्रमशः निबोधिका और निरोधिका शक्तियाँ कह सकते हैं। प्रथम शक्ति ज्ञान देनेवाली है तथा दूसरी इंद्रियों के माध्यम से विषयानुकूल संसार के प्रति क्रियाशील चित्त को निरुद्ध करती है। इस प्रकार के संस्कारों के निरोध से ही चित् तत्व का अभ्युदय होता है। इस चिदवस्था का अभ्युदय ही समाधि की अवस्था है जिसमें जीवात्मा-परमात्मा की अभिन्नता का साक्षात्कार होता है। यह अनुभूति तभी होती है जब प्राण और मन का लय हो जाता है तथा सभी संकल्पों और संस्कारों का निरोध हो जाता है। तभी समरसत्व की उपलब्धि होती है। यही अवस्था आत्मा की सहजावस्था है। समाधि की अवस्था साधक की उस अवस्था के समान है, जिसमें उसका मन नमक के ढेले के समान आत्मा में गल कर एक हो जाता है। यह वह ध्यानावस्था है जिसमें न 'यहाँ' है, न 'वहाँ' है, न 'तू' है, न 'मैं' है। इसमें किसी विशाल समुद्र की प्रभा और शांति है।[3] हठयोगप्रदीपिका में इस अवस्था के पर्यायों की एक लंबी सूची दी हुई है।[४]

---

[१] वही, पृ० १८१-१८२।

[२] वही, पृ० १८३, कुब्जिका तंत्र—९.४०।

[3] दि० स० पा०, पृ० १८३-१८४, हठयोगप्रदीपिका—४.५-७।

[४] ह० प्र०, ४.३-४, 'राजयोग : समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी। अमरत्वं लयस्तत्वं······चैत्येकवाचकाः।'

इन योगों के साध्य भिन्न-भिन्न हैं तथापि इन सबका परस्पर घनिष्ठ संबंध है। यह सिद्धान्त प्रायः सभी प्रकार के योगों में स्वीकार किया जाता है कि मन, प्राण और वीर्य—तीन में से किसी एक को नियंत्रित और अधिकृत कर लेने से शेष भी अधिकृत हो जाते हैं। इसलिये मन पर अधिकार करना अन्य दो पर अधिकार करना कहा जाता है। इसी प्रकार प्राण पर अधिकार करने से मनस् और वीर्य स्वतः नियंत्रित और साधन में सहायक हो जाते हैं। पुनश्च, यदि वीर्य नियंत्रित हो जाय और वह पदार्थ, जो कामवासना के प्रभाव से स्थूल शुक्र में परिवर्तित हो जाता है, ऊर्ध्वमुख कर दिया जाय तो मनस् और प्राण पर नियंत्रण प्राप्त किया जा सकता है। प्राणायाम से शुक्र सूख जाता है। शुक्र-शक्ति, प्रथमतः ऊर्ध्वगति होने पर, मिलन के पश्चात् शिवशक्ति के अमृत के रूप में अवतरित होती है। प्राण संबंधी इस अभ्यास को प्राणायाम नाम से अभिहित करते हैं। यह प्रायः सभी प्रकार के योगों का एक अंग स्वीकार किया जाता है। किंतु मंत्र, लय और राजयोग में जहाँ यह एक सहायक के रूप में प्रयुक्त किया जाता है, वहीं हठयोगी इसे प्रधानतया मोक्षोत्पादक मानता है। यह मोक्ष तो प्रायः सभी योगों का लक्ष्य है किंतु हठमार्ग यह मानता है कि चित्त-वृत्तियाँ सदैव प्राण का अनुसरण करती हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए वह यह मानता है कि 'ह' और 'ठ' के सुषुम्ना में योग से तथा दोनों संयुक्त प्राणों को ब्रह्मरन्ध्र तक ले जाने से समाधि की प्राप्ति होती है।[१]

यहाँ जिन योगों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है, उनमें से जिन योगों का हमारे विषय से अति घनिष्ठ सम्बन्ध है, तथा जिन्हें तांत्रिक साधन में भी अति महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हैं, वे हैं—हठयोग और षट्चक्रभेद। इनका हम विशेष विस्तार से विवेचन करना उचित समझते हैं, क्योंकि नाथयोग और संत-योग, दोनों में ही, इन्हें किसी न किसी रूप में अवश्य स्वीकार किया गया है। षट्चक्रों का परिचय हम पहले ही दे चुके हैं। इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध क्या है, भेद क्या है तथा इसी प्रकार मंत्रयोग और राजयोग से भी इनका क्या सम्बन्ध है, इसकी ओर भी संकेत किया गया है; क्योंकि प्रथमतः तो इन दोनों का हठ और लय से भी सम्बन्ध है तथा साथ ही संतों की भक्तिसाधना से इनका विलक्षण सामंजस्य मिलता है। वैष्णव योग के विवरण में इसकी ओर संकेत किया जा चुका है।

---

[१] दि स० पा०, पृ० १९९-२००।

हठयोग के साधन में शरीरसाधन पर अधिक जोर दिया जाता है। इस शरीरप्रधान साधन में प्राणायाम भी एक है। हठयोग क्रियाज्ञान है। वह कुंडलिनी की सहायता से ज्ञान प्राप्त करता है। कुंडलिनी का शिव से जो मिलन होता है, उससे स्वरूपज्ञान की प्राप्ति होती है। इससे स्पष्ट है कि हठयोग कुंडलिनीयोग का उपकारक साधन है।[१] हठयोग स्थूल शरीरप्रधान साधन है। स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर से संबद्ध होता है क्योंकि वह सूक्ष्म शरीर का बाह्य आवरण होता है। यह स्थूल शरीर का संयम सूक्ष्म शरीर तथा उसके भाव, विचार और वासना को प्रभावित करता है। इस स्थूल शरीर का निर्माण सूक्ष्म शरीर की प्रकृति के अनुकूल ही होता है। दोनों ही एकात्म हैं तथा परस्परावलम्बी हैं। अर्थात् स्थूल शरीर का नियंत्रण सूक्ष्म शरीर को प्रभावित करता है। इस योग की शारीरिक क्रियाएँ विशिष्ट स्वभाववाले साधकों के लिये विहित हैं जिससे उनके स्थूल शरीर के प्रथमतः नियंत्रित होने पर सूक्ष्म शरीर अपनी सभी चित्तवृत्तियों के साथ ही नियंत्रित हो जाता है। ये शुद्ध स्थूल शारीरिक क्रियाएँ, दूसरी क्रियाओं के लिये सहायक हैं क्योंकि कुलार्णवतंत्र का कथन है कि न कमलासन पर और न नासिका पर ध्यान लगाना योग है, अपितु, वस्तुतः आत्मा और परमात्मा का मिलन ही योग है।[२] इस हठयोग में योग्यता का निर्णय शरीर की दृष्टि से किया जाता है तथा इसमें नियमों का विधान भी शरीर की रक्षा, वृद्धि तथा उसकी रोगमुक्ति के लिये किया जाता है। इस योग में ज्योति का ध्यान किया जाता है, जिससे महाबोध समाधि की प्राप्ति होती है। इस समाधि की प्राप्ति का साधन प्राण और अन्य वायुओं का नियमन है। वायुनियमन से चित्तनियमन होता है क्योंकि चित्त और उसकी वृत्तियाँ वायु का अनुसरण करती हैं।[३]

'हठ' शब्द 'ह' और 'ठ' वर्णों के योग से बना है जिसका अर्थ है सूर्य और चन्द्र, अर्थात् प्राणवायु और अपानवायु। आर्थर एवेलेन ने षट्चक्रनिरूपण के आधार पर बतलाया है कि हृदयस्थ प्राण मूलाधारस्थ अपान को आकर्षित करता है तथा अपान प्राण को आकर्षित करता है। ये दोनों अपनी विषम गति के कारण एक दूसरे को शरीर छोड़ने से रोकते हैं किंतु जब इनकी समगति होती

---

[१] दि स० पा०, पृ० १८६।

[२] वही, पृ० १९७।

[३] वही, पृ० १९८।

है तब वे दोनों शरीर को छोड़ देते हैं। इन दोनों का सुषुम्ना में योग तथा इस योग की स्थिति तक ले जानेवाली क्रिया प्राणायाम कही जाती है। इस प्रकार हठयोग या हठविद्या प्राणशक्तिविज्ञान है। यहाँ 'प्राण' का अर्थ विभिन्न प्रकार की उन वायुओं से है जिनमें प्राण विभाजित होता है। यह प्राण मानव शरीर या पिंड में विश्वप्राण का एक अंश है। इस विश्वप्राण को महाप्राण भी कहते हैं। इसलिये सर्वप्रथम प्रयत्न इस पिंडप्राण या व्यष्टिप्राण को ब्रह्माण्ड-प्राण या समष्टिप्राण के साथ समरसत्व प्रदान करना है। इससे शक्ति और स्वास्थ्य दोनों की उपलब्धि होती है। इस समरस प्राण के नियमन से चित्त नियमित और स्थिर होता है। इस प्राण और चित्त की समरसता का परिणाम है ध्यान या एकाग्रता।[१] बताया जा चुका है कि सिद्धि की प्राप्ति के लिये साध्य तीन हैं—मन, प्राण और शुक्र। अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव की दृष्टि से प्राण अधिभूत है।[२] इस दृष्टि से प्राणायाम या हठयोग आधि-भौतिक साधना है। इस स्थूल शारीरिक अभ्यास के अंतर्गत बड़े विस्तार से निवासस्थान, जीवनचर्या, जैसे—भोजन, पान, मैथुन आदि का विचार मिलता है। घेरंड संहिता में प्राणायाम का तो विस्तार से विवेचन मिलता है साथ ही उससे संबद्ध आचारों का और शारीरिक संयम का जो विस्तार से वर्णन मिलता है वह नाथयोग और संतयोग दोनों दृष्टियों से अति महत्वपूर्ण है।[३] इस प्राणायाम के साथ जो अन्य अभ्यास एवं साधन बताये गये हैं उनमें नाड़ीशुद्धि प्रधान है।[४] इस नाड़ीशुद्धि का संक्षिप्त परिचय हम पहले ही दे चुके हैं। इस प्रकार इस परिचय से स्पष्ट है कि प्राणायाम श्वास के ऊपर अधिकार प्राप्त करने की प्रारंभिक पद्धति है। यह वह निम्नद्वार है जिसमें प्रवेश करने की आवश्यकता प्रवीण या सिद्ध व्यक्ति को नहीं होती।[५]

हठयोग से संबद्ध किन्तु भिन्न प्रकार का योग लययोग है। इसे कुंडलिनी-योग, षट्चक्रभेद, भूतशुद्धि आदि नामों से भी अभिहित करते हैं।[६] कुंडलिनी-योग शब्द से स्पष्टतः संकेत कुंडलिनी शक्ति की ओर होता है। यह कुंडलिनी-

---

[१] वही, पृ० १९८–१९९।

[२] वही, पृ० १९९।

[३] द्रष्टव्य, घेरंड संहिता, पंचम उपदेश, श्लोक १-३१।

[४] घे० सं०, ५·३२-३७।

[५] दि स० पा०, पृ० २२३-२२४।

[६] षट्चक्रनिरूपण—फोरवर्ड, पृ० ४-५, दि स० पा०, पृ० १।

शक्ति जीव को शरीर में निसर्गतः प्राप्त होती है। यह जीव की सामान्य अवस्था में, मूलाधार में सुषुप्त एवं कुंडलित सर्प के रूप में रहती है। इसके जागरण से योग की प्राप्ति होती है। इसीलिये इसे कुंडलिनीयोग कहते हैं। जाग्रत किये जाने पर यह सूक्ष्म शरीर के छ चक्रों का भेदन करती है, इसीलिये इसे षट्चक्रभेद कहते हैं। इस क्रिया से आश्चर्यजनक शक्ति और जीवन का संपूर्ण मनोशारीरिक काया में उदय होता है। इस क्रिया से शरीर के तत्वों का शोधन भी होता है। इसलिये इसे कभी-कभी भूतशुद्धि भी कहते हैं।[१] इस साधन में कुंडलिनी की ऊर्ध्वगति होने पर, अंततः सभी भूततत्वों, अन्य पिण्डगत सृष्टितत्वों का कुंडलिनी के साथ सहस्रारस्थित परमशिव चैतन्य में लय हो जाता है। इसीलिये इसे लययोग कहते हैं।[२] इसकी विस्तृत और सप्रमाण व्याख्या आगे की गई है। षट्चक्रभेद का संक्षिप्त परिचय ऊपर दिया जा चुका है। यहाँ केवल सिद्धांतगत विचारों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

ऊपर हम यह कह चुके हैं कि तंत्र के अनुसार योग आत्मा और परमात्मा का ऐक्य है। योग वह क्रिया भी है जिससे व्यष्टिचैतन्य या पिंडचैतन्य, परमात्मा या समष्टिचैतन्य या ब्रह्माण्डचैतन्य से अपने सच्चिदानंदमय रूप में एकात्म प्राप्त करता है। ऊपर हम यह भी कह चुके हैं कि तांत्रिक साधन अद्वैतवाद का ही क्रियारूप है। वेद के अनुसार 'यह सब ब्रह्म' है तथा परमात्मा स्वयं अमृत, अनंत तथा आनन्दस्वरूप है। जीवात्मा यद्यपि उसी का अंश है, तथापि वह अज्ञान, अपूर्णता और दुःख से ग्रस्त प्रतीत होता है। इसकी व्याख्या में तांत्रिक ग्रन्थों में कहा गया है कि ब्रह्मगत माया की आवरण और विक्षेप शक्तियों से यह द्वैतात्मक प्रपंच सत्तावान् होता है जिससे आत्मा का स्वरूप कंचुकित होता जाता है तथा अपूर्णता की भावना उसमें जाग्रत होती है। इस प्रकार पूर्ण अपूर्ण प्रतीत होता है। यह सब माया शक्ति से होता है। कुंडलिनीयोग की सहायता से व्यक्ति आत्मा को कंचुकित करनेवाली शक्ति माया के भेदन में समर्थ होता है। इस योग का मुख्य सिद्धान्त है कि जीवात्मा की प्रातिभासिक अपूर्णता का साक्षात्कार केवल जीवात्मा और परमात्मा के अभिन्नत्व के साक्षात्कार से संभव है। जब जीवात्मा में अपनी असमर्थता का ज्ञान उदित होता है, तथा आनन्द के लिये

---

[१] ष० नि०, फोरवर्ड, पृ० ५; दि स० पा०, पृ० १।

[२] दि स० पा०, पृ० ४८।

प्रवृत्ति और इच्छा की उत्पत्ति होती है तब यह लक्षित होता है कि सृष्टिक्रिया में आबद्ध जीवात्मा स्वयं अपने में अस्थायी और प्रातिभासिक अपूर्णता का प्रत्यक्ष कर रहा है। यह प्रत्यक्ष या अनुभव ही उसे सच्चिदानंदरूप के साक्षात्कार के लिये प्रयत्नशील करता है। इस प्रकार के बंधन से मुक्त करना सभी योगों का लक्ष्य है। कुंडलिनी, जो मूलाधार में कुंडलित अवस्था में रहती है तथा अपने मुख से सुषुम्ना नाड़ी के ब्रह्मद्वार नाम के प्रवेशद्वार को बंद किये रहती है, स्वयं शब्दब्रह्म ही है। सभी मंत्र उसके प्रकाश हैं तथा वर्ण मातृकाएँ हैं। यह कुंडलिनी ही महाकुंडलिनी के रूप में जीव की सृष्टि करती है, शरीर को बंधन में डालती है और पुनः यही मुक्ति प्रदान करनेवाली क्रिया का तथा तत्वज्ञान का प्रकाश कर बंधन का नाश करती है। मंत्र ब्रह्म कुंडलिनी के ही प्रकाश हैं तथा साथ ही कुंडलिनी जागरण के प्रभावकारी साधन हैं।[1]

यह कुंडलिनी शुद्ध चैतन्य है तथा सहस्रारस्थ होने पर यह पशु-भाव की हानि करने वाली है। यही परा संवित् के ज्ञान से दिव्य स्थिति का साक्षात्कार करानेवाली है। इस अवस्था में यह कुण्डलिनी सामरस्यावस्था में परम शिव से एकात्म की उपलब्धि कर महाकुंडलिनी पद को प्राप्त करती है। जब उचित रीति से इस योग का साधन किया जाता है, तब साधक यह अनुभव करता है कि उसका जीवन तथा मानसिक, शारीरिक आदि सभी प्रकार की क्रियाएँ जगज्जननी या विश्वमाता की दिव्य क्रियाओं के ही अंश हैं। उस विश्वमाता का ही प्रकाशन विशिष्ट व्यष्टि मानव शरीर से हो रहा है। यह शरीर भी अदिव्य नहीं होता। संसार और उसकी भोग्य वस्तुएँ घृणास्पद नहीं हैं, क्योंकि सभी वस्तुएँ उसी चित् शक्ति से उत्पन्न हैं। सभी उसी एक दिव्य विश्वमाता के प्रकाश हैं। जब साधक इस अद्वैतभाववृत्ति को प्राप्त कर लेता है तथा सभी प्रकार के द्वैतभाव का त्याग कर देता है, शुद्ध-अशुद्ध के विचार का लोप हो जाता है, तब कहा जाता है कि उसने वीर साधक की स्थिति को प्राप्त कर लिया है। पशुभाव या द्वैतभाव पर विजय प्राप्त करने के कारण ही उसे वीर कहते हैं।[2]

कहा गया है कि पशुभाव की हानि करनेवाली तथा वीरभाव की उपलब्धि करानेवाली कुंडलिनी से संबन्धित इस साधना को कुंडलिनीयोग कहते हैं।

[1] ष० नि०, फोरवर्ड, पृ० ६-७।

[2] वही, पृ० ७-८।

यमनियमादि के साधनों में सिद्ध होने पर तथा उनसे प्राप्त होनेवाले गुणों को प्राप्त कर लेने पर साधक इस साधन को करने का अधिकारी होता है। प्राणायामविधि तथा विशिष्ट मंत्रोच्चार की सहायता से जाग्रत कुंडलिनी ब्रह्म नाड़ी से होती हुई, क्रम से लिंगत्रय का भेदन करती हुई, अंत में सहस्रार से स्रवित होनेवाले कुलामृत का पान करती है। बाद में आनन्दमग्न होकर मूलाधार चक्रस्थित कुलस्थान को परावृत होती है। इस प्रकार इस मार्ग में वह लिंगत्रय (मूलाधारस्थित स्वयंभूलिंग, अनाहतस्थित बाणलिंग, आज्ञास्थित इतर लिंग) का भेदन कर वह क्रमशः स्थूल रूप से सूक्ष्म रूप की ओर गतिशील होती है। शब्द के चार (परा, पश्यंती, मध्यमा, वैखरी) रूपों में से वह स्वयंभूलिंग में वैखरी अवस्था में, बाण लिंग में मध्यमा अवस्था में तथा भ्रूमध्यस्थित आज्ञाचक्रान्तर्गत इतरलिंग में पश्यंती भाव को प्राप्त करती है। यहाँ 'हंस' या जीवात्मा, 'सोऽहं' या परमात्मा या परमहंस में लीन हो जाता है। जैसे ही कुंडलिनी परमशिव को प्राप्त करती है तथा उनसे एकात्मस्थिति को प्राप्त करती है, उसके महाकुंडलिनी रूप या विशुद्ध सत्त्व का प्रकाशन होता है जिससे नित्यानन्द रूप मुक्ति का उदय होता है।[१] इस प्रकार कुंडलिनी की आरोहण और अवरोहण की दो प्रकार की क्रियाएँ होती हैं। अपनी अवरोहण क्रिया में, जिसका वर्णन पहले हो चुका है तथा जिसमें वह अपने में अन्तर्लीन सभी भूततत्वों, देवताओं, देवियों, शक्तियों आदि को तत्तत् चक्रों में यथास्थान पुनः अधिष्ठित करती है, वह पुनः कुलस्थान मूलाधारचक्र को लौटती है। प्रथम क्रिया को लयक्रम और द्वितीय क्रिया को सृष्टिक्रम कहते हैं। ये लयक्रम और सृष्टिक्रम की विपरीत क्रियाएँ हैं। जिस क्रम से सृष्टि होती है, उसी के विपरीत क्रम से लयक्रिया होती है, जिसे इस रूप में उपस्थित किया जा सकता है।

> अहंकार → महत्तत्व → बुद्धितत्व → मनस्तत्व → प्रकृतितत्व → जीवतत्व → नियति तत्व → काल तत्व → राग तत्व → कला तत्व → अविद्या तत्व → माया तत्व → शुद्ध विद्या तत्व → ईश्वर तत्व → सदाशिव तत्व → शक्ति तत्व → शिव तत्व → परम शिव तत्व।

इस अवस्था में कुंडलिनी को 'कवलीकृत निःशेष तत्वग्रामस्वरूपिणी' कहा गया है। वह सभी ३६ तत्वों को संहृत कर लेती है तथा अन्त में केवल 'एक' भाव में रहती है।[२] यही पूर्ण लयक्रम है।

---

[१] वही, पृ० १४-१६।

[२] वही, पृ० १६, १९।

इस प्रकार की कुलकुंडलिनी का साधन करनवाले कुंडलिनी के पथ या कुलपथ से भलीभाँति परिचित होते हैं। इस पथ में पड़ने वाले जो तीन लिंग हैं वे क्रमशः स्थूल, सूक्ष्म और कारण के प्रतीक हैं। इनसे अतीत तुरीय है जिसे भावातीत अवस्था भी कहते हैं। वही गुरु या परम शिव का स्थान है। यह भावाभावविनिर्मुक्त अवस्था तीन भावों—पशुभाव, वीरभाव, दिव्यभाव से अतीत जाने पर ही प्राप्त होती है। तंत्रशास्त्र के आदेशानुसार यह भाव सप्ताचार का साधन करने के उपरान्त प्राप्त होता है। ये सप्ताचार सूक्ष्म शरीर के सात चक्रों तथा वेदान्त दर्शन की सप्तभूमियों से समता रखते हैं।[१]

इस लययोग की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं। लययोग के ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि यह योग अति संवेदनशील पीठों या चक्रों का निरूपण तथा अभ्यास करता है। ये पीठ विभिन्न देवताओं, देवियों के आसन हैं। इन आसनों का आरम्भ सहस्रार से होता है तथा इनका विस्तार मूलाधार तक है। सहस्रार में निर्लिप्त सच्चिदानंदमय परमात्मा का आसन है तथा मूलाधार में प्रकृति शक्ति का अवस्थान है। इस प्रकृतिशक्ति को ही योगशास्त्र में कुलकुंडलिनी कहते हैं। लययोग में बताये हुए क्रियाविधान के सतत अभ्यास से जब प्रकृतिशक्ति जाग्रत कर दी जाती है, तब ऊर्ध्वगति होने पर इसका प्रतिबिंब भ्रूमध्य में प्रकाश के रूप में उदित होता है। जब यह ध्यान और अधिक अभ्यास से स्थिर कर दिया जाता है, तब यही प्रकाश बिंदुध्यान का विषय बन जाता है। इस साधन में यमादि स्थूल शारीरिक साधनों के अभ्यास के उपरांत प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान (बिंदु-ध्यान) का अभ्यास किया जाता है। ये चार सूक्ष्म क्रियाएँ हैं। इसके साथ ही इस लययोग की जो अपनी विशेषताएँ हैं, उनमें स्वरोदय (नाड़ीविज्ञान), पंचतत्व, चक्र, सूक्ष्म प्राण तथा इसी प्रकार की अन्य क्रियाएँ हैं। इस प्रकार अंततः नादबिंदु के माध्यम से होनेवाली लययोग की क्रिया को महालय कहते हैं। कुंडलीसाधन विशेष रूप से धारणा को ग्रहण करता है क्योंकि इसी से उसका जागरण संभव होता है। धारणा और ध्यान लययोग के प्रधान तत्व हैं।[२]

यह कहा जाता है कि अनंत (शेष) संपूर्ण विश्व का आधार है, उसी प्रकार कुंडलिनी भी, जो शरीर का आधार है, सभी योगसाधनों का भी आधार है। जैसे एक व्यक्ति कुंचिका से बलात् द्वार को खोल देता है, उसी प्रकार योगी को

---

[१] वही, पृ० १७।

[२] दि स० पा०, पृ० २२२-२२३।

चाहिए कि वह मोक्ष के द्वार को कुंडलिनी की सहायता से खोल दे। इस कुंडलिनी को कई नामों से पुकारा जाता है—शक्ति, ईश्वरी, कुटिलांगी, भुजंगी, अरुंधती आदि। यह शक्ति मानव शरीर में परा शक्ति है जिसमें सभी शक्तियाँ संनिहित हैं। वह विभिन्न रूपों को धारण करती है। इसी प्रकार एक कामशक्ति भी है जिसका उपयोग इस योग में किया जाता है। स्थूल शुक्र को तरल के रूप में अवतरित करने के स्थान पर सूक्ष्म शक्ति के रूप में सुरक्षित किया जाता है तथा प्राण के साथ शिव तक उत्थित किया जाता है। इस प्रकार इस शारीरिक मृत्युस्रोत को आध्यात्मिक जीवनस्रोत में रूपांतरित किया जाता है। इस कामवासना के निर्वापन के साथ ही चित्त सबसे अधिक शक्तिशाली बंधन से मुक्त हो जाता है।[1]

इस कुलकुंडलिनी का सारतत्व मंत्र है। यह प्रत्येक जीव के मूलाधार में विद्युत् प्रभा की तरह प्रकाशित रहती है। वेद और मंत्र भी इसी के तत्व हैं। यह सूर्य, चन्द्र और अग्नि नाम की तीन शक्तियों की जननी है तथा स्वयं शब्द ब्रह्म है। इसलिये कुंडलिनी मानवशरीर में क्रियाशक्ति की सर्वाधिक शक्तिशाली अभिव्यक्ति है। कुंडली शब्द ब्रह्म है, अर्थात् वह आत्मा की शक्ति के रूप में अभिव्यक्ति है। शिव का निवास सहस्रार में है। यह चक्र ऊर्ध्वतम श्रीचक्र है तथा अन्य छ चक्र निम्नचक्र हैं। तब भी शिवशक्ति एक हैं। इसलिये कुंडलिनी का शरीर आठ अंगों का है—छ चक्र, शक्ति और सदाशिव। कुंडलिनी सहस्रार में परमात्मशक्ति में लीन हो जाती है। कुंडलिनी महाप्राणदेवता है, नादात्मा है। यदि प्राण को मध्यम पथ सुषुम्ना के मध्य से ब्रह्मरन्ध्र की ओर आकर्षित किया जाय तो अवश्य ही यह शक्ति उत्थित होकर मार्ग में पड़नेवाले चक्रों का भेदन करेगी। कुंडलिनी प्राणशक्ति है। यदि कुंडलिनी उत्थित की जाती है तो प्राण भी उत्थित होता है।[2] इस प्रकार प्राणायाम और कुंडलिनी-जागरण का सघन संबंध सिद्ध होता है। प्राणायाम के लिये तथा कुंडलिनी के उद्बोधन के लिये विभिन्न प्रकार के आसनों, कुंभकों, बंधों, मुद्राओं आदि का प्रयोग किया जाता है। इससे इड़ा-पिंगला से आकर्षित किया हुआ प्राण सुषुम्ना या शून्य में प्रवेश करने पर शक्ति या ओज के रूप में ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करता है। परिणामतः शेष शरीर निष्प्राण हो जाता है। तब प्राण की संपूर्ण धारा मेरुदण्ड में प्रेरित कर दी जाती है। प्राण के लय से मनोन्मनी अवस्था का उदय

---

[1] वही, पृ० २२४।

[2] वही, पृ० २२७-२२८।

होता है क्योंकि इसके बाद मन का लय होता है। सुषुम्ना में नित्य ही प्राण-धारा को प्रेषित करने से अन्य नाड़ियों में प्राण की गति क्षीण हो जाती है तथा मन स्थिर हो जाता है। इस समकालिक क्रिया का कारण यह है कि जब प्राण में परिस्पंदन होता है तो मन भी चंचल रहता है अर्थात् सांसारिक विषयों का भोग करता है।[१]

जब प्राण सुषुम्ना में रहता है, तब न तो रात रहती है, न दिन रहता है क्योंकि सुषुम्ना काल को निगीर्ण कर लेती है। जब प्राण में स्पंदन होता है तब चित्तवृत्ति चंचल रहती है, निरुद्ध नहीं रहती। योगवाशिष्ठ के अनुसार जब तक प्राण का अस्तित्व रहता है, तब तक न तत्वज्ञान होता है और न वासना का क्षय होता है क्योंकि तत्वज्ञान से चित्त और वासना दोनों का क्षय होता है। श्वासनिरोध शुक्र को स्थिर और अचंचल करता है। शुक्र तब तक चंचल रहता है, जबतक प्राण चंचल रहता है। शुक्र के स्थिर न रहने पर मन भी स्थिर नहीं रहता। मन के अभ्यस्त किये जाने पर मन ही अपने को संसार से विरक्त कर लेता है। ये विभिन्न परिणाम कुंडलिनी जागरण से तथा उन अन्य क्रियाओं से होते हैं जिनके लिये कुंडलिनी कुंचिकावत् है।[२] प्राण के साथ कुंडलिनी का यह उत्थान और अन्ततः लय के लिये यह गतिक्रम क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म की ओर गतिक्रम है। लयक्रम स्थूल से सूक्ष्म की ओर होता है।[३] मानसध्यान तथा अन्य वर्णित साधनों से स्थूल तत्व सूक्ष्म तत्व में लीन हो जाते हैं। प्रत्येक अपने कारण में लीन होते हैं और अन्ततः सभी चिदात्मा में लीन हो जाते हैं। सामरस्य का अर्थ पुमान् और स्त्री के सामरस्य से उत्पन्न भोगज्ञान है। इसी प्रकार साधक लयसिद्धियोग में अपने को शक्ति के रूप में भावित कर तथा परमात्मा की पुरुष के रूप में भावना कर अपनी संगमावस्था का अनुभव करता है। यह अनुभव श्रृंगार रस का होता है। यह रस नौ रसों में प्रथम है या प्रेमरस या आनंद है। यह आदिरस या श्रृंगार सत्वगुणोत्पन्न, अखंड, स्वप्रकाश, आनंद तथा चिन्मय होता है। यह वेद्यान्तरस्पर्शशून्य ब्रह्मास्वादसहोदर होता है। अन्य सभी आनंद इसी ब्रह्मानंद के अंश हैं या उसकी छाया हैं।[४] साधक के शरीर में शिव-शक्ति का यह मिलन सात्विक पंचभूततत्वों का मैथुन है जिसके

[१] वही, पृ० २२८-२२९।

[२] वही, पृ० २२९।

[३] वही, पृ० २३६।

[४] वही, पृ० २३८-२३९।

विषय में योगिनी तंत्र का कथन है—यह उन लोगों के लिये सभी मैथुनों से श्रेष्ठ है जिन्होंने वासनाओं का नियंत्रण कर लिया है। इस प्रकार वे यतिपद प्राप्त करते हैं।[1]

सामान्य कुंडलीसाधन में यह मिलनस्थिति या शिवशक्तिमैथुन की स्थिति दीर्घकालिक या स्थायी नहीं होती। कुंडलिनी का जागरण, इस योग में अति निम्न कोटि की सिद्धि है। महत्वपूर्ण सिद्धि उस कुंडलिनी का शिव से एकात्मावस्था में स्थिर रहना है। उसकी यह दीर्घकालिक या नित्य स्थिति योगी की अभ्यासशक्ति पर निर्भर करती है। इसका कारण यह है कि कुंडलिनी में जब तक कुलस्थान में प्रत्यावर्तित होने के अविमलीकृत-संस्कार शेष रहते हैं, तब तक वह बार-बार प्रत्यावर्तित होती रहती है तथा सामान्य योगी के लिये सहस्रार में उसका स्थिर रखना कठिन हो जाता है। कुंडलिनी, योगी के प्रयत्नों से या अभ्यास से, जितने ही अधिक समय तक सहस्रार में मिलनावस्था में स्थिर रखी जा सकेगी, साधक उतना ही अधिक नित्य एकात्मावस्था के निकट हो सकेगा। इस प्रकार कुंडलिनी को केवल सहस्रार तक ले जाना ही मुक्ति नहीं है और न सहस्रार के नीचे के किसी चक्र में उसे स्थिर करना ही मुक्ति है। मुक्ति की प्राप्ति तभी होती है, जब कुंडली अपना स्थायी निवास सहस्रार में स्थिर कर लेती है तथा उसका अवतरण केवल सिद्ध योगी की इच्छा पर ही निर्भर करता है। यह कहा जाता है कि सहस्रार में कुछ समय तक स्थिर करने के बाद, कुछ योगी लोग कुंडलिनी को हृदय तक ले जाते हैं, तथा वहीं उसकी पूजा करते हैं। किंतु इस प्रकार की क्रिया केवल उन लोगों द्वारा संपादित की जाती है जो वहाँ सहस्रार में स्थिर रहने में असमर्थ रहते हैं। यदि वे हृदय से भी नीचे कुंडलिनी का अवतरण करते हैं, अर्थात् उसकी पूजा अनाहत से नीचे के तीन चक्रों में से किसी एक में करते हैं, तो कहा जाता है कि वे समयसमाज के अन्तर्गत ग्राह्य नहीं हैं।[2] इस प्रकार कुंडलिनी का जागरण या कुंडलीयोग जीवशक्ति का परमात्मशक्ति में या व्यष्टिचैतन्य का समष्टिचैतन्य में लय है या दो का एकात्म है। यह सभी भारतीय योगों का एक लक्ष्य है।[3]

---

[1] वही, पृ० २४०।

[2] वही, पृ० २४४।

[3] वही, पृ० २४६।

समय आगमों में कहा गया है कि पिंडांड के ये चक्र ब्रह्मांड के लोकों से समतुल्यता रखते हैं। इनमें से प्रत्येक के अपने गुण तथा अधिष्ठातृ देवता हैं। जब शिष्य चक्र-प्रतिचक्र आरोहण करता है तो वह ब्रह्माण्ड के स्तर पर समतुल्य लोकों का अतिक्रमण करता है। नीचे की सारणी से समतुल्य लोकों, चक्रों, गुणों, अधिष्ठाता देवताओं का परिचय मिलता है—

चक्र	लोक	गुण	अधिष्ठाता देवता
१—मूलाधार (जब शक्ति जाग्रत होती है)	भुवर्लोक	तमस्	अग्नि
२—स्वाधिष्ठान	स्वर्लोक		
३—मणिपूर	महर्लोक	रजस्	सूर्य
४—अनाहत	जनलोक		
५—विशुद्धि	तपोलोक	सत्व	चन्द्र
६—आज्ञा	सत्यलोक		

यदि कोई साधक उनमें से किसी अवस्था को पहुँचकर शरीरपात करता है, तब वह पुनः पहले की अवस्थाओं की समस्त उपलब्धियों को लेकर पुनः जन्म लेता है। इस प्रकार कोई साधक, उदाहरणतः, यदि शक्ति को अनाहत तक ले जाने के उपरान्त शरीरपात करता है तो अपने दूसरे जन्म में वह पुनः वहीं से आरम्भ करता है और अनाहत से ऊपर शक्ति का उत्थान करता है। किंतु यह ध्यान में रखना चाहिए कि साधक को शुद्ध सत्त्व की प्राप्ति तब तक नहीं होती, जब तक वह सहस्रार में नहीं पहुँच जाता। जब यह कुंडली जाग्रत होती है, तब वह कुमारी की अवस्था में होती है। अनाहत में पहुँच कर यह योषित की अवस्था को प्राप्त करती है। जब वह सहस्रार में पहुँचती है, तब वह पतिव्रता होती है।[1] जब कुंडलिनी पतिव्रता की अवस्था में स्थायी रूप से सहस्रार में निवास करती है तब वह साधक जीवन्मुक्त या शुद्ध सत्व होता है। वह आत्मा के भौतिक बंधन का अनुभव नहीं करता। वह सर्वानंदमय रहता है और स्वयम् नित्य रहता है।[2]

इस प्रकार यहाँ राजयोग, मंत्रयोग, हठयोग, लययोग का संक्षिप्त परिचय दिया गया। मंत्रयोग का संबंध शरीर से बाहर की वस्तुओं से है और उसमें बाह्य वस्तुओं से संबद्ध क्रियाविधानों पर विशेष जोर दिया जाता है।

---

[1] वही, पृ० २४८-२४९।

[2] वही, पृ० २५०।

इसमें वर्णाश्रम धर्म के विधान पर भी ध्यान दिया जाता है। इसी प्रकार इसमें नर और नारी के कुलधर्मों का भी विचार किया जाता है। माना जाता है कि स्त्री को दिया गया मंत्र पुरुष को नहीं दिया जा सकता। इसी प्रकार ब्राह्मण को दिया गया मंत्र शूद्र के उपयुक्त नहीं हो सकता। इसमें मनन के विषय हैं—देवता, देवी तथा उनकी विभिन्न अभिव्यक्तियाँ, विभिन्न प्रतीक। समाधि को महाभाव कहा जाता है जिसकी प्राप्ति नामरूप के मनन से ही हो सकती है।[१] सामान्य हठयोग का संबंध शारीरिक क्रियाओं से है। यह सूक्ष्म शरीर को स्थूल शरीर के माध्यम से प्रभावित करता है। इसकी तुलना में मंत्रयोग का संबंध उन शक्तियों या तत्वों से है जो शरीर से बाहर हैं, यद्यपि ये शरीर को प्रभावित करते हैं।[२] निर्विकल्प समाधि की प्राप्ति केवल राजयोग से हो सकती है। मंत्रयोग की समाधि में महाभाव की प्राप्ति होती है जिसके लक्षण हैं—स्थैर्य और अनिर्वचनीयता। हठयोग की समाधि में श्वासक्रिया निरुद्ध हो जाती है और जीवित रहने के कोई भी लक्षण प्रकट नहीं रहते। शरीर तब शववत् हो जाता है। लययोगसमाधि में योगी की बाह्य चेतना नहीं रहती और वह आनंद-सागर में निमग्न हो जाता है। राजयोग की समाधि पूर्ण चित्स्वभावा है और निर्विकल्प मुक्ति है।[३]

इन संपूर्ण योगप्रकारों को देखने से स्पष्ट होता है कि योग की दो धाराएँ हैं—ध्यानयोग या भावना योग और कुंडलिनी योग। इन दोनों में भेद है। प्रथम धारा के योग में समाधि की प्राप्ति ध्यान के क्रियाज्ञान से होती है। किसी ध्यानयोगी को अपने शरीर की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। मानव मनस् और भूततत्त्व, दोनों से बना हुआ है। ये दोनों ही एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। इनकी उपेक्षा से या नाश से अव्यवस्थित कल्पना की उत्पत्ति, आध्यात्मिक अनुभव के स्थान पर होती है। ध्यानयोगी हठयोगी की तरह स्थूल शरीर से संबंधित नहीं रहता। एक सफल ध्यानयोगी होते हुए भी वह शरीर और स्वास्थ्य से क्षीण, दुर्बल, अल्पायु और रोगी भी हो सकता है। उसकी मृत्युका निश्चय वह स्वयं नहीं, अपितु उसका शरीर करता है। वह अपनी इच्छा से शरीरत्याग नहीं कर सकता। हर्षोन्माद, जिसे वह मुक्ति के रूप में स्वीकार करता

---

[१] वही, पृ० १९७-१९८।

[२] वही, पृ० २२२। विशेष विस्तार के लिये श्री मोहनलाल भगवानदास झवेरी की 'मंत्रशास्त्र' पर लिखी पुस्तक द्रष्टव्य।

[३] वही, पृ० २४५-२५५।

है, वास्तविक मुक्ति नहीं है। वह सांसारिक और शरीरिक पीड़ाओं से मुक्ति केवल मृत्यु होने पर ही प्राप्त कर सकता है। उसकी समाधि केवल ध्यान के प्रकार की होती है। वह चित्तिवृत्तिनिरोध से भावनासमाधि को प्राप्त करता है। इसमें शरीर की केंद्रीय शक्ति के अभ्युत्थान की क्रिया नहीं होती। वह चित्त की ही सहायता से चित्त को नियंत्रित करता है। वस्तुतः चित्त या मनस् प्रकृति-शक्ति कुंडलिनी से उत्पन्न है। ध्यानयोगी के प्रयत्न से मनस्, चित्तवृत्तियाँ और तृष्णाएँ शांत हो जाती हैं जिससे चैतन्य के ऊपर से मनस् की क्रियाओं से उत्पन्न आवरण हट जाता है। लययोग में जब योगी कुंडलिनी को जाग्रत करता है, तब वह कुंडलिनी ही ज्ञानस्वरूपा होने के कारण योगी को ज्ञान प्राप्त कराती है। फिर प्रश्न यह हो सकता है कि इतनी कठिन और कष्टसाध्य कुंडलिनी-साधना का कष्ट क्यों उठाया जाय, जबकि अन्य सरल साधनाएँ उपलब्ध हैं। उत्तर यह है कि इस साधन से सफलता निश्चित हो जाती है और साक्षात्कार सरल हो जाता है। कारण यह है कि कुंडलिनी स्वयम् ज्ञानरूपा है, ज्ञानरूपा शक्ति है। इस साधन में, बीच में, विभिन्न प्रकार की सिद्धियाँ भी मिलती हैं, जो भोगस्वरूप हैं। इसे तंत्र के मूल सिद्धान्त के रूप में विकसित और व्याख्यात किया जा सकता है।[१]

शाक्त तन्त्र भुक्ति और मुक्ति दोनों प्रदान करने की प्रतिज्ञा करते हैं। इस प्रतिज्ञा का मूलाधार एक सिद्धान्त है। एक ही परमतत्व दो रूपों में स्थित है। प्रथम है, सभी प्रकार के रूपों से मुक्ति के रूप में आत्मा का अचल मौन आनंदोपभोग। दूसरा है, विषयों का क्रियात्मक उपभोग। ये दोनों रूप शुद्ध शक्ति और भूत शक्ति के रूप में प्रकट हैं। उसके इन दोनों रूपों में एकात्म होना आवश्यक है। यदि भली भाँति विधिवत् अभ्यास किया जाय तो यह सिद्धान्त सत्य सिद्ध होगा कि मनुष्य को दोनों लोकों का सर्वोत्तम उपयोग करना चाहिए। दोनों लोकों में, वस्तुतः, कोई विषमता नहीं प्रतीत होगी यदि विमर्श या शक्ति के ब्रह्मांडीय नियमों के अनुकूल क्रिया की जाय। वह एकमात्र शिव ही परमानन्दानुभव है। वही सुख-दुःख से पूर्ण मानव के रूप में प्रकट होता है। यदि जीवन की प्रत्येक क्रिया में दोनों प्रकार के शिवों की अभिन्नता का साक्षात्कार कर लिया जाय तो दोनों प्रकार के आनन्दों की प्राप्ति इसी जीवन में तथा इसके बाद भी हो सकती है। यह तभी संभव है

[१] वही, पृ० २८७-२९०।

जब निरपवाद रूप से, साधक, अपनी प्रत्येक क्रिया को यज्ञ और पूजा की क्रिया समझे।[1]

इस साधन में व्यष्टिजीवन और समष्टिजीवन दोनों एक समझे जाते हैं। इस भावना से भावित होकर जब साधक भोजन, पान या अन्य प्रकार की शारीरिक क्रिया के संपादन में प्रवृत्त होता है तो यह विश्वास करते हुए और अनुभव करते हुए उन्हें संपादित करता है कि "मैं शिव हूँ", "मैं भैरव हूँ", "मैं देवी शक्ति हूँ" (शिवोऽहं, 'भैरवोऽहं' "साऽहं")। वह यह अनुभव करता है कि क्रिया संपादित करनेवाला व्यक्ति या भोग करनेवाला व्यक्ति भिन्न व्यक्ति नहीं है अपितु यह शिव ही है जो इस प्रकार की क्रिया में प्रवृत्त हो रहा है या किसी के माध्यम से भोग कर रहा है। उसका जीवन तथा उसकी सभी प्रकार की क्रियाएँ उस तत्व से अभिन्न रहती हैं। कोई भी क्रिया या भावना ऐसी नहीं होती जो अहंकार के साथ उदित हुई हो। उसके जीवन की सत्ता तथा उसकी क्रियाओं की सत्ता, मनुष्य में अभिव्यक्त और क्रियाशील होनेवाली देवी क्रिया के अंश के रूप में होती है। वह अपने हृदय के कंपन में उस संगीत को सुनता है जो ब्रह्मांडीय जीवन में सदैव स्पंदित होता रहता है। इस साधन के अनुसार, शरीर की आवश्यकताओं की उपेक्षा करना या उसका नाश करना ही उसको अदिव्य मानना है और इस प्रकार उस महत्तर जीवन को अस्वीकार करना तथा उसकी उपेक्षा करना है जिसका यह व्यष्टिजीवन एक अंश है इससे भूत और चित् के एकात्म के सिद्धान्त की भी असिद्धि होती है। इन उपर्युक्त विचारों और भावनाओं से अनुशासित और प्रेरित होने पर निम्नतम शारीरिक आवश्यकताएँ भी ब्रह्माण्डीय प्रकृति को धारण कर लेती हैं। यह शरीर ही शक्ति है। इसकी आवश्यकता शक्ति की आवश्यकता है। जब साधक भोग करता है तब वस्तुतः शक्ति उसके माध्यम से भोग करती है। जब वह देखता है, तब मातृशक्ति देखती है, जब वह कर्म संपादित करता है तब शक्ति क्रियाशील होती है। उसके हाथ, उसकी आँखें मातृशक्ति के हाथ और आँखें हैं। उसका संपूर्ण शरीर और उसकी सभी क्रियाएँ उस शक्ति की अभिव्यक्तियाँ हैं। साधक का इस प्रकार साक्षात्कार करना, स्वयम् अपने को पूर्ण बनाना है। वह सारे संसार को परस्पर संबद्ध तथा उसी एक सर्वव्यापक चैतन्य तत्व के विभिन्न पक्ष मानता है। जब कर्म उचित भाव से किये जाते हैं तो वे मुक्ति प्रदान करते हैं और पुनः पुनः अनुभूत और संपादित वे भाव और

---

[1] वही, पृ० २९०-२९१।

कर्म स्थायी और परिपक्व होने पर तत्वज्ञान प्रदान करते हैं। यह तत्वज्ञान ही मुक्ति है। जब मातृशक्ति का सभी वस्तुओं में साक्षात्कार होता है तब वही, बाद में, सर्वातीत रूप में साक्षात्कृत होती है।[१]

जिस योग का वर्णन ऊपर किया गया है, वह इन्हीं सिद्धान्तों का प्रयोग-पक्ष है। कहा गया है कि इससे भुक्ति और मुक्ति दोनों की प्राप्ति होती है। सामान्यतया यह कहा जाता है कि जहाँ योग है, वहाँ भोग नहीं है किंतु कौलोपदेश के अनुसार योग भोग है और भोग ही योग है। इस दृष्टि से यह संसार ही मुक्तिस्थान है। कुंडलिनीयोग में भोग और सिद्धियाँ प्रत्येक चक्र में प्राप्त हो सकती हैं, जहाँ अपनी यात्रा में कुंडलिनी का आवास होता है। इस साधन के सतत ऊर्ध्वाभ्यास से, सबसे अंत में, उस भुक्ति की प्राप्ति होती है, जिसे मुक्ति कहते हैं।[२] हठयोग की निम्न क्रियाओं से सिद्धदेह की प्राप्ति होती है। मानस साधना के लिये यह सिद्धदेह सर्वाधिक उपयुक्त और उचित माध्यम हो सकता है। हठयोग एक ऐसे शरीर की प्राप्ति कराता है जो वज्रलौह के समान कठोर, स्वस्थ, रोगमुक्त और दीर्घायु होता है। हठयोगी शरीर का स्वामी होते हुए भी जीवन और मृत्यु, दोनों का स्वामी होता है। उसका प्रकाशित रूप सदैव नित्य यौवनशक्ति का उपभोग करता है। उसकी मृत्यु इच्छामृत्यु होती है। जब वह संहारमुद्रा करता है, तब वह बड़ी ही महिमा के साथ प्रयाण करता है। इसीलिये यह कहा जा सकता है कि हठयोगी न तो रुग्ण होता है और न मृत्यु को प्राप्त होता है।[३]

ध्यानयोग में समाधि की प्राप्ति संसार के प्रति विरक्ति और मानस ध्यान से होती है। ये दोनों ही क्रियाएँ चित्तवृत्तियों को शून्यता की ओर ले जाती हैं या चित्त के आवरणों को बाधा से सर्वथा मुक्त, शुद्ध, चैतन्य के उदय की ओर ले जाती हैं। चैतन्य के अनावरण की मात्रा साधक की ज्ञानशक्ति के ऊपर तथा विरक्ति के विस्तार पर निर्भर करती है। ध्यानयोग की समाधि में कुण्डलिनीशक्ति का जागरण, लय तथा आनन्दप्राप्ति तथा उसके साथ सिद्धियों की प्राप्ति नहीं होती। ध्यानयोगी भुक्ति की उपलब्धि भी नहीं कर पाता। दूसरी ओर कुंडलिनीशक्ति सर्वशक्तिमयी है। वह स्वयं ज्ञानशक्ति-

---

[१] वही, पृ० २९१-२९३।

[२] वही, पृ० २९३।

[३] वही, पृ० २९३-२९५।

मयी है। जाग्रत होने पर वह योगी को पूर्ण तत्वज्ञान प्रदान करती है। कुंडलिनी-योग में केवल ध्यान से समाधि की प्राप्ति नहीं होती, अपितु जीव की केंद्रीय शक्ति से होती है। यह वह शक्ति है जो शरीर और मनस्, दोनों की शक्तियों के सहयोग से गतिशील होती है। वे दोनों कुंडलिनी शक्ति के साथ रहती हैं। केवल मानस सहयोग से जो योग प्राप्त होता है, उसकी तुलना में यह योग अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण होता है। यद्यपि दोनों में शारीरिक चेतना लुप्त हो जाती है तथापि कुंडलिनीयोग की समाधि में केवल मनस् ही नहीं अपितु शरीर का भी, जिसका प्रतिनिधित्व कुंडलिनी के माध्यम से होता है, मिलन शिव से से होता है। इस योग से भुक्ति और मुक्ति, दोनों की उपलब्धि होती है।[1]

वैष्णव योग, पातंजल योग और तांत्रिक योग के इस संक्षिप्त परिचय से हम कुछ निष्कर्षों पर पहुँच सकते हैं। प्रायः सभी विवेचित वैष्णव ग्रंथ प्राणायाम और ध्यान को साधन के आवश्यक अंग के रूप में स्वीकार करते हैं। प्राणायाम से संपन्न होनेवाली नाड़ीशुद्धि की क्रिया को, भक्ति की उत्पत्ति के लिये लाभकर माना गया है। जयाख्य, अहिर्बुध्न्य, विष्णु आदि संहिता ग्रंथों, पद्म और ब्रह्म जैसे पुराण ग्रंथों, नारद पंचरात्र जैसे पांचरात्र ग्रंथों में उपर्युक्त सभी साधनों का उपयोग भक्ति की उत्पत्ति एवं विकास के लिये किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि अहिर्बुध्न्य संहिता, नारद पंचरात्र आदि में नाड़ी-शुद्धि, कुंडलिनीयोग आदि का जो प्रयोग भक्ति के उपकारक साधनों के रूप में स्वीकार किया गया है, उनका संबंध स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर, बाह्य साधन तथा आन्तरिक साधन से है। प्राणायाम का प्रयोग चित्तवृत्तिनिरोध और नाड़ीशोधन के लिये किया गया प्रतीत होता है। इसी प्रकार कुंडलिनीयोग का प्रयोग पंचमहाभूतों की शुद्धि के लिये किया गया प्रतीत होता है। लयक्रम का स्पष्ट निरूपण इन वैष्णव ग्रंथों में नहीं मिलता। सुषुम्ना को मोक्षप्रदायिका प्रायः सभी मानते हैं। नारद पंचरात्र ग्रंथियों का विवेचन करता है। ये ग्रंथ चक्रों की संख्या छ मानते हैं तथा सर्वोपरि चक्र सहस्रार की भी कल्पना करते हैं जिसमें गुरुपद का निवास मानते हैं। प्रायः सभी कुंडलिनी के महत्व को स्वीकार करते हैं। तंत्रों में नाड़ियों की संख्या ७२००० मानी गई है किन्तु नारद पंचरात्र में नाड़ियों की संख्या १५ करोड़ बताई गई है। इसी प्रकार चक्रस्थ वर्णों में भी कुछ और अंतर मिलता है। उदाहरणार्थ नारद पञ्चरात्र में बताया गया है कि स्वाधिष्ठान चक्र के ६ दलों में क, ख, ग, घ, ङ और च ६ वर्ण

[1] वही, पृ० ३१४-३१५।

हैं। इससे भिन्न तंत्रग्रंथों में इसके वर्ण हैं—ब, भ, म, य, र, ल।[१] इसी प्रकार अन्य भेदक तत्वों का भी तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है। नारद पंचरात्र का यह कथन अति महत्वपूर्ण है कि सेवा, पूजा, उपासना, भक्ति के लिये सेवक या शिष्य या साधक का शरीर से पुष्ट होना आवश्यक है। ऐसा प्रतीत होता है कि नारद पंचरात्र 'शारदातिलक' या 'शारदातंत्र' नामक तांत्रिक ग्रंथ से परिचित है। उसने कुंडलिनी, नाड़ी आदि के विवेचन के प्रसंग में 'शारदा' को उद्धृत किया है। इस शब्द से 'शारदातिलक' या शारदातंत्र नामक ग्रंथ का अनुमान किया जा सकता है। तंत्र और पांचरात्र मत का क्या संबंध है, इसका विचार हम पहले ही कर चुके हैं। इसीलिये तांत्रिक योग तथा उसके मूल में निहित सिद्धान्तों का प्रमाणग्रंथों के आधार पर इतने विस्तार से परिचय दिया गया है।

यहाँ तांत्रिक योग का तथा उसमें निहित कुछ सिद्धान्तों का विस्तृत परिचय इसलिये दिया गया है कि जिससे आगे के विवेचन में नाथयोग कुछ अधिक स्पष्ट रूप से सामने आ सके। यहाँ तांत्रिक योग के विभिन्न उपांगों का वर्णन किया गया है, उससे यह नहीं समझना चाहिए कि ये सभी साधन स्वयं अपने में भी पूर्ण हैं अथवा स्वयं ही लक्ष्य हैं। ऊपर बतलाया गया है कि मंत्रयोग का संबंध शरीर से बाहर बाह्य शक्तियों, दिव्य अभिव्यक्तियों तथा उनके प्रतीकों से है। उसी प्रकार हठयोग या प्राणसाधन का संबंध शरीरस्थ नाड़ियों के शोधन, शरीर में स्थित विभिन्न प्रकार के वायुओं के नियंत्रण और संयमन से है। यह क्रिया भी स्थूल देह में स्थित तत्वों का साधन है। लययोग या कुंडलिनीयोग या षट्चक्रभेद का संबंध सूक्ष्म शरीर से है जिसमें विभिन्न चक्रों में स्थित शक्तियों, देवियों, देवताओं, मातृकाओं और भूततत्वों की शुद्धि, नियमन, नियंत्रण तथा उनके सूक्ष्म आत्मशक्ति में लय की क्रियाएँ प्रधान मानी जाती हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म की ओर, ये योग साधक को गतिशील करते हैं। इनमें क्रमशः ऊर्ध्व और सूक्ष्मतर प्रगति की क्रिया है। तांत्रिक योग में यह माना जाता है कि राजयोग सर्वोपरि है तथा योगोत्तमोत्तम है। ये सभी योग राजयोग या ज्ञानयोग या समाधियोग के लिये साधक को अधिकारी बनाते हैं। जो विवेचन अभी तक उपस्थित किया गया है, उसमें स्पष्टतया संकेत किया गया है कि कुंडलिनीजागरण या कुंडलिनीयोग, पातंजलयोग के धारणांग के अन्तर्गत हैं। इसके बाद ही ध्यान और

---

[१] वही, पृ० ३६५, चित्र संख्या ३ द्रष्टव्य।

समाधि की अवस्थाएँ आती हैं। वस्तुतः पातंजल योग में पूर्वांग, परांग के लिये साधक को अधिकार प्रदान करते हैं। इसी प्रकार धारणांग ध्यान के लिये, जो समाधि की ही पूर्वक्रिया या प्राथमिक क्रिया है, तथा समाधि जिसकी पूर्ण परिपक्वावस्था है, अधिकार प्रदान करता है। धारणावस्था में पूर्णता के बाद पातंजल योगी ध्यान के क्षेत्र में अग्रसर होता है। लययोग या कुंडलिनी-योग में अंतिम चक्र या पद्म आज्ञा है जो भ्रूमध्य में स्थित है। यहाँ मनस् का लय होता है अर्थात् यहाँ मनस् तत्व आत्माधिकार में आ जाता है या आत्मानुकूल होकर अद्वैतावस्था की प्राप्ति के लिये अग्रसर होता है। दूसरी दृष्टि से इसे ही हम उसकी निरुद्धावस्था कह सकते हैं। इस प्रकार ध्यान या उसकी परिपक्वावस्था समाधि को ही प्रधानता देनेवाला पातंजलयोग यहाँ से समाधि-योग या ध्यानयोग की उपाधि प्राप्त कर लेता है।

यों लययोग में ध्यानक्रिया तो प्रायः प्रत्येक चक्र में करनी पड़ती है किंतु मानसलय होने पर ही पूर्ण ध्यान करने की सामर्थ्य साधक में आती है। तात्पर्य यह कि पातंजलयोग के चित्त की पूर्ण धारणावस्था ओर लययोग का आज्ञाचक्रावस्थान ये दोनों ही समतुल्य अवस्थाएँ प्रतीत होती हैं। इसके बाद ही पातंजल योग के समाधियोग का, जिसके अन्तर्गत समाधि की सभी अवस्थाएँ आ जाती हैं, अभ्यास हो जाता है। इस प्रकार क्रमशः मंत्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग की ऊर्ध्वगति क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म की ओर गति है। प्रथम तीन योग अंतिम के लिये अधिकार प्रदान करते हैं। योगसाधन को विभिन्न प्रकार से साधन के रूप में व्यवहृत करने वाले मार्ग इन प्रथम तीन में से ही किसी एक का विशेष साधन करते हैं अथवा उन पर उनका विशेष आग्रह होता है। उदाहरणतः तांत्रिकों की शक्ति की उपासना के अनुकूल षट्चक्रभेद या कुंडलिनीयोग है। इसलिये इस पर वे विशेष आग्रह करते हैं तथा इसका विस्तृत विवेचन करते हैं। दूसरी ओर नाथयोगी हठयोग या प्राणायामाभ्यास पर विशेष आग्रह करते हैं तथा उसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म विस्तृत विवरणों और क्रियाओं के साधन को अति महत्व देते हैं। यद्यपि सभी योगसाधन इन तीनों का किसी न किसी रूप में साधन अवश्य करते हैं तथा उनमें से एक को प्रधानता देते हैं तथापि सभी यह मानते हैं कि ये साधन राजयोग या समाधियोग या ज्ञानयोग के उपकारक हैं तथा साधक को इसके साधन का अधिकार प्रदान करते हैं। इस संबंध में हठयोगप्रदीपिका के ये वाक्य महत्वपूर्ण हैं—

प्रणम्य श्रीगुरुं नाथं स्वात्मारामेण योगिना।
केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते ॥२॥

भ्रांत्या बहुमतध्वांते राजयोगमजानताम् ।
हठप्रदीपिकां धत्ते स्वात्मारामः कृपाकरः ॥३॥[१]

मूलभाव यह है कि हठयोग का फल राजयोग है तथा राजयोग का फल कैवल्य है, हठयोग स्वयम् फल नहीं है। हठयोग से सिद्धियाँ मिलती हैं किंतु पातंजल योग में इन सिद्धियों या विभूतियों को उपसर्ग (वाधा) कहा गया है। अतएव कैवल्य ही हठयोग का भी चरम प्राप्तव्य है। इस कैवल्य या मुक्ति की व्याख्या प्रत्येक संप्रदाय और साधनसंप्रदाय अपनी अपनी प्रकृति और दर्शन के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार से करते हैं। हठयोग के विवेचन में बताया जा चुका है कि हठयोग कायसिद्धि या काया पर पूर्णाधिकार को अपना लक्ष्य मानता है, यद्यपि उसका चरम लक्ष्य मानससिद्धि या चित्तसिद्धि के उपरान्त प्राप्त होनेवाला कैवल्य है।

—:०००:—

---

[१] हठयोगप्रदीपिका—प्र० उ०, श्लो० २, ३ तथा टीका, 'केवलं राजयोगाय राजयोगार्थं हठविद्योपदिशत इत्यन्वयः ।'

नौवाँ परिच्छेद

नाथपंथी संस्कृत ग्रंथों में नाथों का योग

नाथसंप्रदाय और नाथयोग, दोनों का, तांत्रिक योग से घनिष्ठ संबंध है। नाथयोगी शैव थे, इसके संबन्ध में हम विस्तार से पहले ही विचार कर चुके हैं। यद्यपि ये पाशुपत शैव माने जाते हैं, तथापि आगमिक शैवों में भी इन्हें पर्याप्ति सम्मान प्राप्त था। इसके प्रमाण में तंत्रालोक में अभिनवगुप्तपादाचार्य द्वारा मच्छन्दविभु का किया हुआ स्तवन उद्धृत किया जाता है। आगमिक शैवों में अभिनवगुप्त की महत्ता सर्वमान्य है। उन आगमिक शैवों में तांत्रिक साधना प्रचलित थी तथा साथ ही अभिनवगुप्त ने स्वयं तंत्रालोक जैसे बृहत् ग्रंथ की रचना की थी। नाथों में शिवपत्नी शक्ति या गौरी की पूजा प्रचलित है। इसलिये योगियों को कुछ लोग शाक्त मानते हैं। योनि-लिंग की पूजा भी उनमें प्रचलित है। तंत्रों में ये दोनों शक्ति और शिव के प्रतीक हैं। योगियों में शाक्तों के दक्षिण और वाम, दोनों मार्गों का प्रवाह मिलता है। पहाड़ी प्रदेशों के योगी तांत्रिक क्रियाएँ करते हैं।[1] साधन की दृष्टि से योगियों ने आसन को भी महत्त्व दिया है। उनके मुद्रा और बंध में भी आसन के तत्त्व मिलते हैं। इनका संबंध प्राणायाम के विभिन्न प्रकारों से भी जोड़ा गया है। योगियों के विभिन्न आसनों से पूर्णतया भिन्न तांत्रिकों के कुछ आसन हैं जिनमें मुण्डासन, चितासन, शवासन आदि की गणना की जा सकती है। संभवत: ये नाथयोगियों में स्वीकृत नहीं हैं। ब्रिग्स का मत है कि १२वीं ई० शताब्दी के गोरक्ष रचित गोरक्षशतक के उपदेशों में योग और तंत्र का मिश्रण है।[2] डा० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त के अनुसार पहले शैवों के अपने सिद्धान्तों के अनुसार योगसाधन का विकास हुआ। उन क्रियाओं का एक विकास मंत्रयोग के रूप में तथा दूसरा विकास, दूसरी दिशा में, हठयोग के रूप में हुआ। इस दूसरे विकास में प्राण-नियमन को प्रधानता दी गई तथा शरीर के अंगों के नियंत्रण के विभिन्न अभ्यास भी उसमें संमिलित किये गये। मंत्रयोग, लययोग, हठयोग, राजयोग आदि ने,

---

[1] गो० क० यो०, ब्रिग्स, पृ० १६२-१६३, १७१-१७२।

[2] वही, पृ० ३२७, २५७।

उनके मत से, तांत्रिक पूजा-उपासना-साधन के विकास को प्रभावित किया हैं।[1] योगियों का अपना विशेष हठयोग है। इस साधन में आसन, मुद्रा, प्राणायाम, धौति, चक्र, नाड़ी, कुंडलिनी आदि से संबंधित अभ्यास गृहीत हैं। ये साधन अत्यधिक विस्तृत रूप में तांत्रिक ग्रंथों में वर्णित मिलते हैं। गोरखनाथियों के उपदेश में तांत्रिक तत्त्व प्रधान है। आसाम और बंगाल के नाथयोगियों में शक्ति या शिवपत्नी की पूजा तांत्रिक विधान से ही होती है। म० म० डा० गोपीनाथ कविराज इस तथ्य को स्पष्टतया घोषित करते हुए कहते हैं अभिनव-गुप्त शाक्त साधन के प्राण थे। वे एक प्रसिद्ध कौल भी थे। उनका 'तंत्रालोक' वस्तुतः शैव और शाक्त दर्शन का विश्वकोषतुल्य ग्रंथ है। अभिनवगुप्त के बाद दूसरे महत्त्वपूर्ण नाम हैं—गोरक्ष, पुण्यानंद, नटनानंद, स्वतंत्रानंद, और भास्करराय। गोरक्षनाथ, जिन्हें महेश्वरानंद भी कहा जाता है, महार्थमंजरी के लेखक थे। वे अभिनवगुप्त के संप्रदाय के अति घनिष्ठ अनुयायी थे।[2]

नाथों के संस्कृत साहित्य के आधार पर योग का निरूपण बड़े विस्तार से विद्वानों ने किया है। अतः पुनः उस निरूपण को यहाँ उद्धृत करना निरर्थक है। पूर्ववर्ती परिच्छेद के प्रकाश में हमें जो कुछ कहना है, उसे संक्षेप में उप-स्थित करेंगे। पुर्वोल्लिखित तांत्रिक साधना के प्रभाव की पुष्टि नाथयोगियों के प्रमाणग्रंथों से होती है। अपने सिद्धान्तों को पुष्ट करने के लिये गोरक्ष-सिद्धान्तसंग्रह ने विभिन्न तांत्रिक ग्रंथों को प्रमाणरूप में उद्धृत किया हैं। नाथमत योगसाधन को तथा योगी को सर्वश्रेष्ठ मानता है। इसकी पुष्टि में उसने तंत्रमहार्णव को उद्धृत कर बताया है कि योगी ब्रह्मा, विष्णु तथा देवदेव महेश है। वही पूर्ण मोक्ष है। वही सृष्टिकर्ता और हर्ता है।[3] नाथपद की महत्ता के निर्वचन और व्याख्या में गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह ने शक्तिसंगमतंत्र की सहायता ली है।[4] शाबरतंत्र ने नवनाथों की नामगणना की है।[5] नाथों के अनुसार सभी शैव-शाक्त मार्ग तंत्रानुसारी हैं। तंत्रों के भी उपदेशक नाथ ही

---

[1] वही, पृ० २७२ पर उद्धृत।

[2] वही, पृ० २७४; हिस्ट्री आव फिलासफी : इस्टर्न ऐंड वेस्टर्न, वा १, डा० राधाकृष्णन्, 'शैव शाक्त स्कूल—शाक्त फिलासफी'—डा० गोपीनाथ कविराज, पृ० ४०३-४०४।

[3] गो० सि० सं०, पृ० ९।

[4] वही, पृ० ११।

[5] वही, पृ० १८।

हैं। नाथ ने तंत्रों की रचना की है। इसकी पुष्टि षोडशनित्यातंत्र को उद्धृत कर की गई है। कहा गया है कि तंत्रों की कल्पना नवनाथों ने की है। इसी प्रकार षट्शांभवरहस्य को उद्धृत कर बताया गया है कि तांत्रिक अनुष्ठानों का भी फल योग ही है। अन्तर यह है कि तांत्रिकों का अनुष्ठान बहिरंग होता है। इसके पश्चात् वे अवधूत पद को प्राप्त करने के लिये योगियों के अंतरंगपूजन या सूक्ष्म शक्ति कुंडलिनी की पूजा करते हैं। इस प्रकार तांत्रिकों का भी तात्पर्य अवधूत पद बतलाया गया है।[1] नाथमत के अनुसार सभी लोग सांसारिकी प्रक्रिया को मानते हैं। नाथ मत पारमार्थिकी प्रक्रिया को मानता है। यह प्रक्रिया तंत्रानुमोदित है। पुराणों के अनुसार ही लोग ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र की इस प्रक्रिया या क्रम को स्वीकार करते हैं। किन्तु तंत्रों के अनुसार शिव, भैरव, श्रीकण्ठ, सदाशिव, ईश्वर, रुद्र, विष्णु, ब्रह्मा के क्रम को स्वीकार किया जाता है। यही योगसम्प्रदाय की भी रीति है। यह पारमार्थिकी प्रक्रिया योग से ही आई है। सबका कारण योग ही है।[2]

इस प्रकार यद्यपि नाथ लोग पाशुपत शैवों की परंपरा में थे तथा दूसरे मत के अनुसार पाशुपत शैवों की तथा नाथों की साधना में सादृश्य था तथापि उनका सम्बन्ध तंत्रों से भी था। इसलिये नाथ धर्म को तंत्र और शैव तत्त्व का सम्मिश्रण कहना चाहिए। मूलतः नाथ लोग शैव थे। तंत्र के पिण्ड और ब्रह्माण्ड के एकत्व की अनुभूति का साधन तथा शक्तिपूजा नाथों में प्रचलित थी। शारदातिलक नामक तंत्रग्रंथ में यंत्र, मंत्र, चक्र, कुंडली और पाशुपत दर्शन का वर्णन पाया जाता है। मुक्ति का प्रथम तत्त्व 'प्रसाद' है। इसे नाथ और काश्मीर शैवाद्वैत मत में शक्तिपात कहा जाता है। तंत्रों में दिव्य साधक को कौल कहा जाता है। कौल के लिये लाभ-हानि, पाप-पुण्य समान हैं। विष से विषक्षय करने का उनका सिद्धान्त है। इस मार्ग को वे लोग अति दुर्गम मानते हैं। इसी मार्ग का अवलंबन कर वे शिवत्व का लाभ करते हैं। यह कौल नीति नाथनीति है क्योंकि नाथ लोगों को कौल नाम से भी पुकारा जाता है।[3] इस सम्पूर्ण विवरण से यही सिद्ध होता है कि नाथों का तंत्र से घनिष्ठ सम्बन्ध था। केवल इतना ही नहीं, शैवों, तांत्रिकों और नाथों का परस्पर संबन्ध सैद्धान्तिक ही नहीं साधनात्मक भी था।

---

[1] वही, पृ० १९-२०।

[2] वही, पृ० ५८-५९।

[3] नाथ सम्प्रदायेर इतिहास दर्शन ओ साधनाप्रणाली—पृ० १६४-१६५।

इस परिच्छेद में दो बातें विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं। पहली बात तो यह है कि नाथमत अधिकांशतः तांत्रिक साधन और सिद्धान्त का अनुसरण करता है। केवल यत्र-तत्र विवरणों में भेद मिलता है। दूसरी बात यह है कि राजयोग या ज्ञानयोग या समाधियोग के साथ साथ हठयोग और कुंडलिनी योग का विचार और समन्वय नाथों में भी मिलता है। नाथों को हठयोगी कहा जाता है किन्तु इससे एक भ्रम उत्पन्न होता रहा है कि नाथयोगी केवल हठयोगी हैं। पिछले विवेचन से स्पष्ट है कि केवल हठयोग आध्यात्मिक साधन की दृष्टि से निरर्थक है तथा राजयोग का उपकारक होने में ही उसकी उपयोगिता है। यही बात कुंडलिनीयोग के विषय में भी कही जा सकती है।

योगसाधन के पिछले विवरण से स्पष्ट है कि इस सम्पूर्ण साधन में गुरु की महत्ता और आवश्यकता को वैष्णव, शैव, शाक्त सभी सम्प्रदायों ने स्पष्टतया स्वीकार किया है। तंत्रों में तो गुरु देववत् स्वीकार्य हैं।[१] गुरुशिष्यवाद के साथ तंत्रों का तथा अन्य साधनापद्धतियों का जो दूसरा सिद्धान्त संलग्न है, वह अधिकारभेदवाद है। इन सिद्धान्तों में सिद्धावस्था या सिद्ध के लक्षण भी अन्तर्गर्भित हैं। नाथों के साधन का आरंभ गुरुतत्व से होता है। इस गुरु-तत्व का थोड़ा सा परिचय हम भक्ति के विवेचन में भी दे चुके हैं। गुरु तत्व का योगसाधन से भी अति घनिष्ठ संबंध स्वीकार किया जाता है। कारण यह है कि साधक को इसमें अनेकानेक रहस्यमय, अपरिचित तथा कठिन मार्गों पर चलना पड़ता है जिनमें आंशिक असावधानी तथा अज्ञान से शिष्य के रुग्ण होने या उसकी प्राणहानि होने तक की आशंका रहती है। नाथों के योगसाधन में, सिद्धसिद्धान्तपद्धति के अनुसार, पिंड के समरसीकरण को स्वीकार किया गया है। यह परमपद में समरसीकरण गुरु की कृपा से होता है। वही पिंडपद और परमपद का ज्ञान कराता है। शास्त्रज्ञान या ऊहापोह से इनका ज्ञान नहीं होता। इस परमपद को स्वसंवेद्य भी कहा गया है। गुरु-चरणों में रत रहने से इस स्वसंवेद्य परमपद की सिद्धि संभव बतलाई गई है। केवल इसी साधन से योगियों को स्वकीय पिंड के निरुत्थान का अनुभव होता है तथा तत्पश्चात् समरसीकरण की सिद्धि होती है।[२] कहा गया है कि

---

[१] इं० तं० शा०, पृ० ६५-६७।

[२] सि० सि० प० अ० ना० यो०, क० मल्लिक, सि० सि० पद्धति, ५.१-१२।

अशौच, उदकक्रिया, स्वभावज्ञान, अभ्यास, आसन, वैराग्य, अनाहार, प्राणधारण, मुद्रा, कायक्लेश, जप, तप, ध्यान, तीर्थसेवन, देवार्चन, भक्ति, आश्रमपालन, षड्दर्शन, केशधारण, मुंडन आदि दैहिक साधनों से परमपद की प्राप्ति कदापि नहीं होती। सिद्ध पुरुष अदैहिक साधनों का आश्रयण कर परमपद की प्राप्ति करते हैं। अदैहिक साधनों में स्थिति गुरु के दृक्पात से होती है। यह स्थिति या तो गुरु के कथन या उपदेशकथन या शक्तिपात या पादावलोकन या गुरु की कृपा से होती है तथा फलस्वरूप परमपद की प्राप्ति होती है। इसलिये गुरु से बड़ा कोई नहीं है। वह अपनी करुणा के खड्गपात से पशु (साधक) के आठों प्रकार के पाशों का छेदन करता है। उसकी इस प्रकार की क्रिया से साधक सम्यक् आनंद में मग्न हो जाता है। उसकी यह कृपा विश्रांतिकारक होती है। बिना स्वात्मगत विश्रांति के पिंडपद का समरसीकरण नहीं होता। शास्त्र, अनुमान, तर्क आदि से भ्रांत करनेवाला गुरु गुरु नहीं है। उपर्युक्त गुणों, धर्मों से समलंकृत गुरु को प्राप्त कर शिष्य जन्म और संसार के बंधन से मुक्त हो जाता है तथा परानंदमय होकर निष्कल शिवत्व की उपलब्धि करता है।[१]

प्रकृति के सभी विकारों का अवधूनन करने वाला सिद्ध ही अवधूत है। अवधूत योगी ही सद्गुरु पद को प्राप्त कर सकता है।[२] सिद्धसिद्धान्तपद्धति में सिद्ध योगी अवधूत को अत्याश्रमी, योगी, सिद्धयोगी, जितेन्द्रिय आदि कहा गया है।[3] गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह ने इसे प्रमाण रूप में उद्धृत किया है।[४] संग्रह-कार द्वारा उद्धृत षोडशनित्यातंत्र के उद्धरणों में गुरुरूप में भगवान् शिव को नमस्कार किया गया है। कुलार्णवतंत्र के उद्धरण में बताया गया है कि श्रीगुरु से श्रेष्ठ कोई दूसरा देवता नहीं है। उपायस्वरूप गुरु के साधन का महान् कष्ट भी स्वल्प हो जाता है और उसकी कृपा से स्वल्पकल्पमात्र से सहज सिद्धि प्राप्त होती है। बिना प्रयत्न के वायुस्थैर्य, बिना दृश्य के दृष्टिस्थैर्य, बिना अवलम्ब के चित्तस्थैर्य उसकी कृपा से संभव हैं।[५] इस गुरु को ३६ लक्षणों से सम्पन्न होना चाहिए। अधिक तत्त्व से गुरु कहा जाता है। शिष्य

---

१ वही, ५.५४-८१।

२ वही, ६.१, २१।

३ सि० सि० प० का संपूर्ण षष्ठ उपदेश।

४ गो० सि० सं०, पृ० ३१-३२।

५ वही, पृ० ४५, ४६, १४, ४०।

के गुरु से चार लक्षण कम होते हैं अर्थात् उसमें ३२ लक्षण आवश्यक माने गये हैं। इनसे कम लक्षणों से युक्त सिद्ध व्यक्ति को गुरु रूप में स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए। ३२ से कम लक्षणों से युक्त व्यक्ति को शिष्य भी नहीं बनाना चाहिए। बनाने पर गुरु पाप का भागी होता है। अतः अधिक शिष्य बनाना भी वर्जित है। शिष्य के इन ३२ लक्षणों के लिये आठ परीक्षाएँ स्वीकार की गई हैं। सिद्धसिद्धान्तपद्धति में इन लक्षणों का वर्णन नहीं है। गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह में बताया गया है कि ये गुण या लक्षण अवधूत संप्रदाय के अनुसार हैं—

१—ज्ञान परीक्षा—निरालम्ब, निर्मम, निवासी, निशब्द। २—विवेक परीक्षा—निर्मोह, निर्बंध, निःशंक, निर्विषय। ३—विवेक परीक्षा या परीक्षा-वमेक—सर्वंगी, सावधान, सन्, सारग्राही। ४—निरालम्ब परीक्षा—निष्प्रपंच, निस्तरंग, निर्द्वन्द्व, निर्लेप। ५—संतोष परीक्षा—अयाचिक, अवांछक, अमान, अस्थिर। ६—शील परीक्षा—शुचि, संयमी, शांत, श्रोता। ७—सहज परीक्षा—सहज, शीतल, सुखद, स्वभाव। ८—शून्य परीक्षा—लय, लक्ष्य, ध्यान, समाधि।

गोरक्षसिद्धान्तसंग्रहकार ने गुरु में कौन-कौन से लक्षण अधिक हैं यह नहीं बतलाया।[1] पहले यह बतलाया जा चुका है कि अवधूत मत में नादक्रम, शिष्यक्रम, महागायत्री या योगशास्त्र तथा तदुत्पन्न तंत्रशास्त्र का क्रम और शिक्षा चलती है जिसमें उपर्युक्त शिष्यलक्षण या गुरुलक्षण पर ध्यान रख कर या उसे आधार मानकर उपदेश प्राप्त करने या साधन क्षेत्र में प्रवेश करने का अधिकार प्रदान दिया जाता है।[2]

तंत्रों में, साधन करते समय, विशेषकर षट्चक्रसाधन में बताया गया है कि आज्ञा चक्र तक साधक को गुरु की आवश्यकता होती है, तत्पश्चात् वह अपनी अभ्यासशक्ति और आत्मशक्ति से, आज्ञाचक्र में मनोलय के बाद, अग्रसर होता है। तब गुरु और शिष्य में भेद नहीं रहता। इस प्रकार का कोई भी विचार नाथों के संस्कृत के योगग्रंथों में दिखाई नहीं पड़ता। नाथ साहित्य में ३२ और ३६ लक्षणों का जो निर्वचन मिलता है, वह शारदातिलक जैसे तांत्रिक ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं। किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि तंत्रों में जैसे गुरु परम-तत्वस्थानीय माने गये हैं, उसी प्रकार नाथ साहित्य में और उसी प्रकार वैष्णव-

[1] वही, पृ० ५६-५७।
[2] वही, पृ० ७२।

साहित्य में भी उसको माना गया है। विशेषकर नारदपंचरात्र में इस प्रकार का जो विवरण मिलता है, वह पहले ही विवेचित हो चुका है।[१]

इसी गुरुशिष्यवाद से संबद्ध साधन का दूसरा तत्व अधिकारभेदवाद है। सभी साधनाओं में साधक के ऊर्ध्वगमन के कुछ क्रम होते हैं और क्रमानुसार ही वह साधक अग्रसर होता है। तांत्रिकों में भावत्रय और सप्ताचार की व्यवस्था है। नाथों में सप्ताचार-सी कोई व्यवस्था नहीं दिखाई पड़ती किन्तु भावत्रय के संबंध में यत्र-तत्र कुछ संकेत अवश्य मिलते हैं। पशु, वीर और दिव्य नामों का प्रयोग अवश्य मिलता है किन्तु उनके लक्षण और व्याख्याएँ उपलब्ध नहीं हैं। ऊपर गुरु-शिष्य और अवधूत के लक्षणों का जो परिचय दिया गया है, उसके आधार पर नाथों के अधिकारभेदवाद का कुछ अनुमान किया जा सकता है। गोरक्षसिद्धांतसंग्रह में शिष्य की परीक्षाओं का जो क्रम दिया गया है, उसमें अंतिम दो परीक्षाएँ अत्यधिक कठिन प्रतीत होती हैं। प्रथम ६ परीक्षाओं में जिन २४ गुणों की परीक्षा की बात बताई गई है वे नाथसाधनान्तर्गत संयमों के समान ही हैं। उनमें यम-नियम के अन्तर्गत आने वाले कई संयम, आचार और अभ्यास भी यत्किंचित गृहीत प्रतीत होते हैं। सातवीं परीक्षा के गुण प्रथम ६ परीक्षाओं के गुणों को आयत्त कर लेने के बाद ही प्राप्त हो सकते हैं। जैसे शून्य परीक्षा में ऐसा प्रतीत होता है कि शिष्य की योग्यता समाधि के अनुकूल है या नहीं, इसका ध्यान रखा गया है। शिष्य क्रमशः ३२ लक्षणों से युक्त होकर साधनक्षेत्र में अग्रसर होता है तथा अन्ततोगत्वा स्वयम् ३६ लक्षणों से सम्पन्न होकर अवधूत योगी के पद को प्राप्त करने में समर्थ होता है। इस पद को प्राप्त करने वाला व्यक्ति ही पूर्ण अधिकारी होता है। तभी वह पूर्ण तत्त्व का, नाथमत के स्वीकृत लक्ष्य का साक्षात्कार करता है। इस प्रकार शिष्य, अवधूत योगी तथा गुरु के लक्षणों के निर्णय और विश्लेषण के आधार पर नाथ-मत-संमत अधिकारभेदवाद का अनुमान किया जा सकता है।[२]

साध्य या लक्ष्य के स्वरूप का निर्णय हो जाने पर तदनुकूल साधनपद्धति का विचार किया जा सकता है। नाथमार्ग का परमपद 'नाथ' है। गोरक्षसिद्धान्तसंग्रहकार ने 'नाथस्वरूपेणावस्थानम्' को ही लक्ष्य के रूप में स्वीकार

---

[१] विशेष विवरण के लिये इं० तं० शा०, उडरफ, पृ० ६५-६७।

[२] विशेष विवरण के लिये—ना० सं० इ० द० सा० प्र०, पृ० ५५३—५५८।

किया है।[1] यह ग्रंथ अधिकांशतः सिद्धसिद्धान्तपद्धति के सिद्धान्तों तथा साम्प्रदायिक रीतियों का अनुसरण करता है। सिद्धसिद्धान्तपद्धति में कहा गया है कि समरसीकरण के लिये, गुरुकृपा से पिडंसंवित्ति के लिये शुद्ध या दिव्य देह की आवश्यकता है। बिना गुरुकृपा और शुद्ध देह के इस लक्ष्य की सिद्धि नहीं हो सकती। इसीलिये नाथ मार्ग में यह कायसिद्धि आवश्यक मानी गई है जिसका लक्ष्य समरसीकरण है।

निराकार-साकार, निर्गुण-सगुण, द्वैत-अद्वैत आदि से परे, सर्वातीत, स्वसंवेद्य केवल अनुभवगम्य तत्त्व ही नाथपद है। इस पद को अनिर्वाच्य तथा स्वात्म-प्रकाशरूप कहा गया है। वह निश्चल, निर्मल, शांत, सर्वातीत, निरामय है। अहंकारयुक्त, सुख-दुःख-युक्त, जीवनभावनाकुल, काम-क्रोध, लोभ-भय-चिन्ता, मोह, मद, जरा-मृत्यु, कार्पण्य, शोक, निद्रा, क्षुधा, तृषा, द्वेष, हर्ष-विषाद, जागर्ति-स्वप्न-सुषुप्ति, शंका, गर्व आदि दोषों से सर्वथा मुक्त शिवतत्व ही होता है। जीव इन दोषों से युक्त होता है।[2] अन्यत्र नाथमतानुसार मोक्ष वह अवस्था मानी गई है जिसमें समाधि के क्रम से मन द्वारा मन का अवलोकन किया जाता है। इसी को आगे जीवन्मुक्ति पद कहा गया है।[3] परमात्मा को तीन प्रकार की शक्तियों से समलंकृत, चित् दर्पण में प्रतिबिम्ब समान, विविध भाव-कलाकलित, संसार की चेष्टाओं के अवलोकन में कुशल कहा गया है। वह जलचन्द्रवत् दिखाई पड़ता है। यह सर्वव्यापी, चतुर्दशविधभूतग्राम-कर्ता है।[4]

पिंडवर्णन नाथों का, तथा तांत्रिकों का भी, प्रिय विषय है। नाथों तथा तंत्रों को पिंडब्रह्माण्डएकत्ववाद का सिद्धान्त मान्य है। पिछले अध्याय के लययोग के प्रसंग में इस सिद्धान्त का थोड़ा सा परिचय उपस्थित किया गया है।[5] नाथों के उपर्युक्त लक्ष्य की प्राप्ति के लिये पिंडज्ञान आवश्यक है। सिद्धसिद्धांत-पद्धति में कहा गया है कि योगी को पिंडगत नवचक्र, षोडश आधार, तीन लक्ष्य, पंच व्योम अवश्य जानने चाहिएँ।[6] अन्यत्र गोरक्ष ने कहा है कि जो

---

[1] गो० सि० सं०, पृ० १०, 'परम पुरुषार्थस्तु·········सदानन्द देवता।'

[2] योगबीजम्—श्लोक १०, ११, १३-१७।

[3] अमरौघशासनम्—पृ० ९।

[4] वही, पृ० १२-१३।

[5] विस्तार के लिये—इं० तं० शा०, पृ० ३४-३५।

[6] सि० सि० प०, २·३१।

योगी पिंडगत एक स्तम्भ, नव द्वार, पंचदेवता आदि को नहीं जानता वह सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता ।[1] जो व्यक्ति या योगी पिंड में सम्पूर्ण चराचर का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, उसे 'पिंडसंवित्ति' कहते हैं ।[2] पिण्ड के अन्तर्गत जो कुछ भी है, वह संपूर्ण ब्रह्माण्ड का संक्षिप्त रूप या प्रतीक है । इसमें देवता, परमतत्व, पाताल, ब्रह्माण्ड, कलाएँ, वर्ण, उपवर्ण, द्वीप, समुद्र, खण्ड, पर्वत, उपपर्वत, नदियाँ, उपनदियाँ, कुल्य, उपकुल्य, नक्षत्र, राशियाँ, नौ ग्रह, तिथियाँ, तारामंडल, दानव, यक्ष, राक्षस, पिशाच, भूत, प्रेत, कुलनाग, सनकादि मुनि, मातृशक्तियाँ, उग्र देवता, मेघ, तीर्थ, अनन्त सिद्ध, चन्द्र, सूर्य, वृक्ष-लता-गुल्म-तृण, कृमि-कीट-पतंग, सुख, दु:ख, मुक्ति, शान्ति आदि सभी निवास करते हैं । इन सब वर्णनों का समाहार गोरक्षनाथ ने इस एक वाक्य में कर दिया है—'इस प्रकार सभी शरीरों में विश्वस्वरूप परमेश्वर चित्स्वरूपी परमात्मा अखण्ड स्वभाव से घट-घट में स्थित रहता है । इस प्रकार पिंडसंवित्ति होता है ।'[3]

उपर्युक्त समरसीकरण के लिये योगबीज योगरहित ज्ञान और ज्ञानरहित योग की निरर्थकता बतलाते हुए योगयुक्त ज्ञान को ही मोक्षोपाय के रूप में स्वीकार करता है ।[4] दो प्रकार के देहियों में से अपक्व देही योगहीन होते हैं । अपक्व देह शीतोष्ण, सुख, दु:ख, आदि व्याधियों से पीड़ित रहता है । उसका मारुत चंचल रहता है, क्षुब्ध रहता है । ऐसा देही देहावसान के समय जिसकी-जिसकी विभावना करता है, उसी-उसी में वह आगे जन्म लेता है । यही उसके जन्म लेने का कारण है । यदि अहंकार का नाश कर दिया जाय तो वह व्याधियों से पीड़ित रहने वाला शरीर भी नष्ट हो जायगा ।[5] अहंकार, व्याधियों और दोषों से पीड़ित रहनेवाला देही शरीर से विजित रहता है । इस शरीर के जय का एकमात्र उपाय योग है । योगाग्नि से सप्तधातुमय तथा महाभूत-निर्मित शरीर दग्ध हो जाता है । इस प्रकार स्थूल से भी स्थूल, जड़ से भी जड़ शरीर सूक्ष्मातिसूक्ष्म हो जाता है ।[6] ऐसा योगसाधनबल से परिपक्व देही मृत्यु को प्राप्त नहीं करता । विरक्त ज्ञानी अंत में शरीर द्वारा ही विजित हो जाते

---

[1] गो० सं०, १.१३-१४ । गो० प०, १.१३-१४ ।

[2] सि० सि० प०, ३.१ ।

[3] वही, ३.२–१४ ।

[4] यो० बी०, श्लोक १८-१९ ।

[5] वही, ३४-३५, ३७-४०, ४४-४७ ।

[6] वही, ४९-५३ ।

हैं। किंतु ज्ञान के बिना भी योग सिद्ध नहीं होता।[1] इस प्रकार नाथयोगी का लक्ष्य होता है ऐसे शरीर की प्राप्ति जिसका पतन न हो, जिसके बाहर प्राण न जाता हो। इनका लक्ष्य वह अवस्था है जिसमें शरीर भी ब्रह्मत्व को प्राप्त करता है। शरीर चिन्मय हो जाता है और फिर अनन्यता की प्राप्ति होती है।[2] यह पिंडसिद्धि परमपद की प्राप्ति का अनिवार्य सोपान है। संक्षेप में नाथों का लक्ष्य है जीवन्मुक्तियुक्त सिद्ध देह से नाथरूप में अवस्थान या पिंडपद का परमपद में समरसीकरण।

परिपक्व देह या सिद्ध देह की प्राप्ति के लिये योग ही उपाय है। इस नाथयोग का तांत्रिक योग से घनिष्ठ संबंध है। नाथयोगी हठयोग को प्रधानता देते हैं। योगतत्त्वोपनिषद् के अनुसार चार प्रकार के योगों में से हठयोग भी एक है। योगों के स्थूल और सूक्ष्म नाम के दो भेदों को स्वीकार करने पर हठयोग को स्थूल और तथा समाधियोग को सूक्ष्म भेदों के अन्तर्गत रखा जा सकता है। हठयोग से राजयोग की सिद्धि होती है। घेरंडसंहिता में प्राणायाम से, जिसका प्राणायाम में अधिकतम महत्त्व है ऐसे लाघव की प्राप्ति मानी गई है। इससे नाड़ीशुद्धि भी बतलाई गई है। प्राणायाम साधन के लिये बहुत विस्तार से संयम और आचार का उपदेश दिया गया है। तांत्रिकों के षट्चक्रभेद में हठयोग का भी विनियोग है। यह भी बताया गया है कि मन, प्राण और वीर्य में से किसी एक को नियंत्रित कर लेने से शेष भी नियंत्रित हो जाते हैं। प्राण के चंचल होने से मन चंचल होता है और मन के चंचल होने से शुक्र चंचल होता है। अतः प्राणसंयम आवश्यक है। मंत्रयोग, लययोग और राजयोग में प्राणायाम एक सहायक के रूप में स्वीकार किया जाता है किंतु हठयोगी इसे प्रधानरूप से मोक्षोत्पादक मानता है। यह हठयोग कुंडलिनी योग या लययोग या पंचभूतशुद्धि का सहायक साधन है। स्थूल शरीर का संयम सूक्ष्म शरीर तथा उसके भाव, विचार और वासना को प्रभावित करता है। प्राण अधिभूत तत्त्व है। इस प्रकार प्राणायाम या हठयोग आधिभौतिक साधन है। सभी योगसाधनों की समीक्षा करने से यह स्पष्ट होता है कि योग की दो धाराएँ हैं—ध्यानयोग या भावनायोग और कुंडलिनीयोग। इन दोनों में भेद है। प्रथम में समाधि की प्राप्ति ज्ञान के क्रियाज्ञान से होती है किंतु ध्यानयोगी हठयोगी की तरह स्थूल शरीर से संबंधित नहीं रहता। एक सफल ध्यानयोगी शरीर और

---

[1] वही, ५६, ५९-६०, ६८-७०।

[2] वही, १८३-१८७।

स्वास्थ्य से क्षीण, दुर्बल, अल्पायु और रोगी हो सकता है। उसकी मृत्यु का निश्चय वह स्वयं नहीं, अपितु उसका शरीर करता है। वह अपनी इच्छा से शरीरत्याग नहीं कर सकता। वह सांसारिक और शारीरिक पीड़ाओं से मुक्ति केवल मृत्यु होने पर ही प्राप्त कर सकता है। हठयोग की सामान्य क्रियाओं से सिद्धदेह या परिपक्व देह की प्राप्ति होती है। मानससाधना के लिये यह सिद्ध देह सर्वाधिक उपयुक्त और उचित माध्यम हो सकती है। हठयोग एक ऐसे शरीर की प्राप्ति कराता है जो वज्रलौह के समान कठोर, स्वस्थ, रोगमुक्त और दीर्घायु होता है। हठयोगी शरीर का स्वामी होते हुए भी जीवन और मृत्यु दोनों का स्वामी होता है। उसकी मृत्यु इच्छामृत्यु होती है। विद्वानों ने परीक्षा कर निश्चय किया है कि नाथयोगियों ने हठयोग को या उससे प्राप्त सिद्धियों को कभी भी लक्ष्य के रूप में स्वीकार नहीं किया।[1] हठयोग के अति प्रसिद्ध और मान्य ग्रंथ हठयोगप्रदीपिका में कहा गया है कि राजयोग में आरूढ़ होने के लिये हठयोगविद्या का अभ्यास करना चाहिए। टीका में कहा गया है कि राजयोग सर्ववृत्तिनिरोध करता है तथा उसे असंप्रज्ञात योग भी कहते हैं।[2]

तांत्रिकों के समान ही नाथसाधन भी पिंडब्रह्माण्डवाद को स्वीकार करता है और इस साधन के लिये, पिंड और ब्रह्माण्ड या व्यष्टि और समष्टि के ज्ञान के लिये, इनके समरसत्त्व के लिये गुरु के महत्त्व को भी पूर्णतया स्वीकार करता है। षट्चक्रसाधन और नाड़ी-साधन से इस सिद्धांत का विशेष सम्बन्ध है। चक्रों, नाड़ियों, वायुओं आदि का वर्णन वस्तुतः पिंडवर्णन है। इस वर्णन के विवरण में यद्यपि सभी मत भिन्न है तथापि पिंड और ब्रह्माण्ड या व्यष्टि और समष्टि की एकता के विषय में सभी एकमत हैं। इस एकत्वसिद्धान्त का अनुभव कराने के लिये ही हठयोग से समन्वित कुंडलिनी योग या लययोग का अभ्यास आवश्यक है।[3] प्राणायाम साधन तथा तत्पश्चात् कुंडलिनीयोग-साधन पातंजल योग के क्रमशः प्राणायाम और धारणा अंग के अंतर्गत आते हैं। पातंजल योग की इसके बाद क्रमशः प्रक्रियायें हैं—ध्यान, समाधि। अतः हठ-योग को, जैसा पिछले परिच्छेद में बताया गया है, नाथयोग के अनुसार भी धारणा, ध्यान और समाधि की अवस्थाओं तक पहुँचने के लिये सोपानवत् सम-झना चाहिए।

---

[1] नाथयोग—अक्षयकुमार बनर्जी, पृ० १९।

[2] हठयोगप्रदीपिका—१.१ तथा टीका, श्लोक २ तथा टिप्पणी।

[3] इस विवरण से संबंधित विवेचन के लिये द्रष्टव्य—इं० त० शा०, उडरफ, पृ० ३४-३५, ४२-५७।

इस योगाभ्यास के आरम्भ के लिये संयम का विधान नाथाचार्यों ने किया है। घेरंड संहिता की तरह ही स्वात्माराम रचित हठयोगप्रदीपिका में भी हठयोग के अभ्यास का आरम्भ करने के पूर्व आहार, अपथ्य, पथ्य, भोजन आदि से संबंधित संयमों के पालन का उपदेश दिया गया है। कहा गया है कि ब्रह्मचारी और मिताहारी योगी शीघ्र ही सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। कहा गया है कि योगाभ्यास के समय वह्निसेवन, स्त्रीसेवन तथा मार्गसेवन नहीं करना चाहिए। गोरक्ष के वचन को उद्धृत कर कहा गया है कि इनके साथ ही दुर्जन प्रान्तों का त्याग करना चाहिए तथा प्रातः स्नान, उपवासादि कायक्लेश की विधियों को भी त्याग देना चाहिए।[१] योगाभ्यास के प्रतिबंधकों के विवरण में कहा गया है कि अत्याहार, परिश्रम, प्रजल्पन (या बहुभाषण), यमग्रह (स्नान, रात्रि में ही भोजनग्रहण, फलाहारादि का नियमग्रहण), जनसंगम, चंचलता, ये छ योगाभ्यास के प्रतिबंधक हैं। इसी तरह योगसाधकों के विवरण में उत्साह, साहस, धैर्य, तत्वज्ञान, निश्चय, जगसंगपरित्याग, इन छ की गणना की गई है।[२] इसके बाद यम और नियम का वर्णन (प्रक्षिप्त रूप में) किया गया है। बताया गया है कि यम में मिताहार मुख्य है तथा नियम में अहिंसा मुख्य है। योगी का आत्माध्यायी और मिताहारी दोनों होना आवश्यक बताया गया है।[३] (किंतु ह० यो० प्र० के यम-नियम संबंधी प्रक्षिप्त श्लोकों में अहिंसा और मिताहार दोनों ही यम में अन्तर्गणित हैं।)

ये यम और नियम पतंजलि के प्राचीन अष्टांग योग में भी अन्तर्गणित हैं। नाथयोगी अपने योग को षडङ्ग योग कहते हैं जिसके अन्तर्गत आसन, प्राणसंरोध (प्राणायाम), प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि की गणना है।[४] इन साधनों के अलग-अलग फल भी बताये गये हैं। आसन से मरुत् का हनन, प्राणायाम से पातक का नाश, प्रत्याहार से मानसविकारों का नाश, धारणा से मानस धैर्य की प्राप्ति तथा समाधि से मोक्ष की प्राप्ति बताई गई है।[५] घेरंड संहिता में बताये गये तांत्रिक सप्तांग योग के अंगों और उसके साधन से प्राप्त होनेवाले फल उपर्युक्त अंगों और फलों से भिन्न हैं। वे अंग

[१] ह० यो० प्र०, १.५७-६३।

[२] वही, १. १५, १६।

[३] वही, १. ३८, ४०।

[४] गो० सं०, १.७; योगमार्त्तण्ड—श्लो० २।

[५] यो० मा०, श्लो० १०२।

हैं—षटकर्म, आसन, मुद्रा, प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान, समाधि। इनसे क्रमशः शोधन, दृढ़ता, स्थिरता, धैर्य, लाघव, प्रत्यक्ष, निर्लिप्त और मुक्ति की प्राप्ति बताई गई है।[१] इसमें यम-नियम सम्मिलित नहीं हैं। नाथसावन में उनकी अनुपस्थिति के संबन्ध में श्री बनर्जी के विचार हैं कि नाथों ने पातंजल योग के यम-नियय के अन्तर्गत गिनाये गये संयमों को सभी सामान्य व्यक्तियों के लिये अनिवार्य माना है। अतः वे उन्हें अंगों के रूप में स्वीकार नहीं करते। ये नैतिक ब्रह्मचर्य संबंधी आचार और संयम योग में दीक्षित-अदीक्षित सभी व्यक्तियों के लिये आवश्यक हैं।[२] डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने नाथयोग के अंगों की संख्या के सम्बन्ध में दो विधियों की ओर संकेत किया है। पहली विधि गोरक्षनाथ की पूर्ववर्तिनी है जिसका उपदेश मृकण्डुपुत्र (मार्कण्डेय) आदि ने किया था और दूसरी विधि गोरक्ष आदि द्वारा उपदिष्ट है। म० म० पं० गोपीनाथ कविराज का मत है कि पहली विधि उन सभी आठ अंगों को स्वीकार करती है जिन्हें पातंजल योग के आठ अंगों के रूप में स्वीकार किया गया है। गोरक्षनाथ आदि की विधि केवल अन्तिम ६ अंगों को स्वीकार करती है।[३] किन्तु डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है कि यह भेद बहुत अधिक मान्य नहीं है। हठयोग के ग्रन्थों में अष्टांग योग की भी बात आती है और षडङ्ग योग की भी। गोरक्ष-शतक में षडंग योग की बात है और सिद्ध-सिद्धांतसंग्रह में अष्टांग योग की।[४] इस विवाद में पहले उद्धृत श्री अक्षय-कुमार बनर्जी का मत ध्यान देने योग्य है।

यद्यपि सिद्धसिद्धान्तसंग्रह में यम और नियम सहित अष्टांग योग की बात कही गई है किन्तु उसमें यम-नियम का विस्तृत विवरण नहीं है। हमने पहले षडङ्ग योग के लिये जिन ग्रन्थों का विचार किया है, वे सभी गोरखनाथ रचित माने जाते हैं किन्तु सिद्धसिद्धांतसंग्रह गोरक्ष रचित नहीं है। गोरक्षनाथ के नाम से प्रसिद्ध सिद्धसिद्धान्तपद्धति में जिस अष्टांग योग का परिचय दिया गया है, उसमें यम-नियम की गणना कर ली गई है, जिससे यह प्रकट होता है कि गोरक्षनाथ की दृष्टि में योग के लिये यम-नियम आधारस्वरूप हैं। किंतु यम-नियम के जो लक्षण यहाँ मिलते हैं वे पातंजल योग के लक्षणों से भिन्न

---

१ घे० सं०, श्लो० ९-११।

२ ना० यो०, पृ० १८।

३ सरस्वती भवन स्टडीज, भाग ६, कविराज जी का लेख।

४ नाथ संप्रदाय,—पृ० १२४; सि०सि०सं०,—पृ० १६, १७ श्लो० २.४९-५८।

हैं।[1] यम-नियम का विस्तृत परिचय हठयोगप्रदीपिका में मिलता है। उसमें यम के दस प्रकार माने गये हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, क्षमा, धृति, दया, आर्जव, मिताहार, शौच। इसी प्रकार नियम के दस प्रकार हैं—तप, संतोष, आस्तिक्य, दान, ईश्वरपूजन, सिद्धान्तवाक्यश्रवण, ह्री, मति, जप, होम।[2] श्री बनर्जी ने प्रदीपिका के इन श्लोकों के आधार पर अनुमान किया है कि यद्यपि नाथयोगी लोग अपने षडंग योग में यम-नियम को नहीं गिनते तथापि वे लोग हठयोगसाधन के प्रारम्भिक अभ्यास के लिये इन्हें बहुत अधिक महत्त्व देते हैं। वे पतंजलि द्वारा बताये गये पाँच प्रकार के यम तथा पाँच प्रकार के नियमों के स्थान पर दस यम और दस नियमों को स्वीकार करते हैं।[3] छान-बीन करने पर पता चला कि ये दशांग यम-नियम तांत्रिकों को ग्राह्य हैं। शारदातिलक में वे सभी श्लोक मिल जाते हैं जिन्हें हठयोगप्रदीपिका में उद्धृत किया गया है। उन श्लोकों में भी दशांग यम-नियम का वर्णन है। आगे इसकी चर्चा की गई है।

यम-नियम के अभ्यास के बाद हठयोग का वास्तविक आरम्भ होता है। यद्यपि हठयोग का मूल तत्त्व प्राणायाम है पर आसन स्थिर और सिद्ध हो जाने के बाद ही प्राणायाम का विधान है। इस हठ शब्द की कई प्रकार से व्याख्या की गई है। हठयोगप्रदीपिका में उद्धृत सिद्धसिद्धान्तपद्धति के अनुसार 'हठ' शब्द के दो अक्षरों में से 'ह' का अर्थ सूर्य तथा 'ठ' का अर्थ चन्द्र बतलाया गया है। सूर्य-चन्द्र योग के कारण इसे हठयोग कहते हैं। प्रदीपिका के टीकाकार ने इसी प्रकार 'ह' और 'ठ' को प्राण-अपान का वाचक मानकर प्राणायाम को ही हठयोग कहा है।[4] इसी प्रकार टीकाकार ने अन्यत्र भी सूर्य को सूर्य नाड़ी तथा चन्द्र को चन्द्र नाड़ी का वाचक माना है। सूर्य नाड़ी को दक्षिणांग

---

[1] सि० सि० प०, २.३२, ३३।

[2] ह० यो० प्र०, प्रथम उपदेश में १६-१७ वें के बीच में उद्धृत श्लोक। इस प्रसिद्ध ग्रन्थ के भाषा टीकाकार ने इस विषय के ढाई श्लोकों को प्रक्षिप्त माना है। उन्हें उद्धरणचिन्हों के अन्तर्गत रखा गया है तथा इन श्लोकों की गणना भी मूल ग्रन्थ के श्लोकों में नहीं की गई है। इन श्लोकों पर संस्कृत टीका भी नहीं है। अतः ह० यो० प्र० को भी अष्टांग योग स्वीकार है, इसमें सन्देह है।

[3] नाथयोग—बनर्जी, पृ० १९।

[4] ह० यो० प्र०, १.१ तथा उसकी टीका।

में तथा चन्द्र नाड़ी को वामाङ्ग में बताया गया है। सूर्य नाड़ी को पिंगला भी कहा गया है। अतः चन्द्र नाड़ी को इड़ा समझना चाहिए। इस प्रकार इन दोनों के योग को हठयोग कहते हैं।[१] योगबीज में योग की कई परि-भाषाएँ मिलती हैं। कहा गया है कि अपान और प्राण का योग रजस् और रेतस् का योग, सूर्य-चन्द्र का योग, जीवात्मा और परमात्मा का योग, योग है। इस प्रकार द्वन्द्वजाल का संयोग ही योग है।[२] कुछ मतों के अनुसार इस योग से हठात् सिद्धि मिलने के कारण इसे हठयोग कहते हैं।[३]

हठयोगप्रदीपिका तथा अन्य ग्रन्थों के उक्त कथनों से यह स्पष्ट होता है कि हठयोग प्राणायाम प्रधान होता है। किंतु ऊपर के और विवरणों को देखने पर नाथयोगियों के षडङ्ग योग में सर्वप्रथम स्थान आसन को ही दिया गया प्रतीत होता है।[४] गोरक्ष संहिता तथा अन्य योगग्रन्थों में आसनों की संख्या उतनी ही बताई गई है जितनी जीवजातियाँ हैं। इनमें ८४ आसन विशेष हैं तथा उनमें भी सर्वोत्तम दो हैं—सिद्धासन और कमलासन। गोरक्षनाथ के प्रसिद्ध ग्रन्थों में केवल उपर्युक्त दो का विस्तृत विवरण है। हठयोगप्रदीपिका तथा तांत्रिक ग्रंथों में स्वस्तिक, गोमुख, वीर, कूर्म, कुक्कुट, उत्तान, धनु, मत्स्येन्द्र, पश्चिमोत्तान, मयूर, शव, सिंह, भद्र, पद्म, आदि मुख्य आसनों का वर्णन मिलता है। हठयोगप्रदीपिका में भी सिद्धासन को अति महत्त्वपूर्ण आसन माना है। उसी को वज्रासन, मुक्तासन, गुप्तासन आदि नामों से भी अभिहित करते हैं। इनमें से प्रत्येक आसन के अलग-अलग गुण हैं किंतु सभी आसनों का सामान्य गुण है आरोग्य और अंगलाघव प्रदान करना।[५]

षडंग योग का दूसरा अंग प्राणायाम है, जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। प्राणायाम का घनिष्ठ सम्बन्ध नाड़ीशोधन से है। पिंड में मेढ़्र से ऊपर तथा नाभि के नीचे पक्षी के आकार की कंदयोनि है, जहाँ से नाड़ियाँ उत्पन्न होती हैं। इन नाड़ियों की संख्या ७२ हजार बताई गई है जिनमें ७२ मुख्य हैं तथा इनमें भी १० नाड़ियाँ प्राणवाहिनी एवम् प्रधान हैं। उनके नाम हैं—इड़ा

---

[१] वही, ३. १५ तथा उसकी सं० टीका।

[२] योगबीम्—१. ८९-९०।

[३] नाथ संप्रदाय—ह० प्र० द्विवेदी, पृ० १०३।

[४] ह० यो० प्र०, १. १७।

[५] गो० सं०, १.१-१०, यो० मा०, २-५; गो० सं०, २.१२; ह० यो० प्र० १.१७-५७।

पिंगला, सुषुम्ना, गांधारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलंबुषा, कुण्ड तथा शंखिनी । इड़ा नाड़ी वाम भाग में, पिंगला दक्षिण में, सुषुम्ना मध्य देश में, गान्धारी वाम चक्षु में, हस्तिजिह्वा दक्षिण चक्षु में, पूषा दक्षिण कर्ण में, यशस्विनी वाम कर्ण में, अलंबुषा आनन में, कुंड लिंगदेश में तथा शंखिनी मूल स्थान में स्थित मानी गई हैं। इस प्रकार दस द्वारों का आश्रयण कर ये नाड़ियाँ इस पिंड में स्थित रहती हैं। अमरौघशासनम् में 'कुण्ड' के स्थान पर 'कुहू' नाड़ी का नाम दिया हुआ है।[१] दस द्वार हैं—दो नासिका छिद्र, दो लोचनरन्ध्र, दो कर्णरन्ध्र, दो मुखरन्ध्र दो उत्सर्गरन्ध्र।[२] गोरक्षसंहिता में दस द्वारों का स्पष्ट वर्णन नहीं है। उसमें आगे बताया गया है कि इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना प्राणमार्ग का आश्रयण करती हैं। इनके देवता क्रमशः हैं—सोम, सूर्य, अग्नि। सिद्धसिद्धान्तपद्धति में केवल नौ नाड़ियाँ प्रधान मानी गई हैं।[३] अन्यत्र बतलाया गया है कि इड़ा और पिंगला दो नासाद्वारों में बहती हैं। सुषुम्ना तालुमार्ग से ब्रह्मरंध्रपर्यन्त प्रवाहित होती है। सरस्वती मुखद्वार से बहती है। पूषा और अलंबुषा चक्षु द्वारों से बहती हैं। इसी प्रकार गांधारी और हस्तिजिह्वा दोनों कर्णरन्ध्रों में बहती हैं। कुहू को गुदाद्वार में तथा शंखिनी को लिंगद्वार में प्रवाहित बतलाया गया है। यह शंखिनी दण्डमार्ग से ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त प्रवाहित रहती है।[४] सिद्धसिद्धान्तपद्धति का यह नाड़ी वर्णन गोरक्षसंहिता से कुछ भिन्न है। इन सभी नाड़ियों में सुषुम्ना सर्वश्रेष्ठ है। वह सुषुम्ना मोक्षमार्ग है, विश्वधारिणी है। यहाँ चन्द्र और सूर्य का निबंधन होने से काल ही निर्जित हो जाता है।[५] इसी प्रकार तंत्रों में भी सुषुम्ना को काल का भक्षण करनेवाली कहा गया है।

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि सभी नाड़ियों में इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना महत्वपूर्ण हैं। इन्हीं को क्रमशः चन्द्रनाड़ी, सूर्यनाड़ी और अग्निनाड़ी कहते हैं। प्राणायाम के साथ जैसे नाड़ियों का संबंध घनिष्ठ है, उसी प्रकार विंदु का भी है। प्राणायाम के लिये विन्दुरक्षा अति आवश्यक है। विंदु

---

[१] गो० सं०, १.२४-३१; अमरौघशासनम्, पृ० ६। गो० सं० में मुद्रण-त्रुटि प्रतीत होती है।

[२] अमरौघशासनम्, पृ० ७।

[३] गो० सं०, १.३२; सि० सि० प०, ३.११।

[४] सि० सि० प०, १.६७।

[५] योगबीजम्, १३१-१३२।

को दो प्रकार का बतलाया गया है—पाण्डुर और लोहित। शुक्र पांडुर होता है तथा महारज को लोहित कहा गया है। सिन्दूर के द्रव के समान महारज रविस्थान में रहता है। उसी प्रकार पाण्डुर शुक्र शशिस्थान में रहता है। इन दोनों का ऐक्य दुर्लभ है। पाण्डुर विंदु शिव और लोहित विंदु शक्ति है। पाण्डुर विन्दु इन्दु और लोहित विन्दु महारज रवि है। इन दोनों के संगम से परमपद की प्राप्ति होती है। वायु द्वारा शक्तिचालन से जब महारज प्रेरित किया जाता है तब रवि और इन्दु के सहैकत्व से शरीर दिव्य हो जाता है। शुक्र चन्द्र के साथ तथा रज सूर्य के साथ संयुक्त है। इन दोनों के समरसैकत्व के ज्ञान से ही योगी योगी होता है।[१] अधोमुख चन्द्र अमृत वर्षा करता है तथा रवि उसका ग्रास कर लेता है। अतः पीयूषपान की विधि जाननी चाहिए। नाभि के ऊपर सूर्य तथा तालु के नीचे शशि है। इसके लिये विपरीतकरण जानना चाहिए। योगमार्तण्ड में चन्द्र को अधोमुख तथा सूर्य को ऊर्ध्वमुख कहा गया है।[२]

प्राणायाम के साधन की व्याख्या में सिद्धसिद्धान्तपद्धति में कहा गया है कि प्राणायाम प्राण की स्थिरता है। रेचक, कुंभक और संघट्टकरण इसके चार लक्षण हैं।[3] गोरक्षसंहिता का कथन है कि जिस प्रकार भुजदण्ड से उक्षिप्त किया हुआ कंदुक उछलता है, उसी प्रकार प्राण से समाक्षिप्त जीव भी स्थिर नहीं रहता। प्राण और अपान के वशीभूत जीव ऊपर-नीचे दौड़ता है। वाम और दक्षिण मार्ग से चंचलता के कारण वह दिखाई नहीं पड़ता। जिस प्रकार रज्जु से बँधा हुआ श्येन (बाज) पुनः लौटा लिया जाता है, उसी प्रकार गुणबद्धजीव प्राणापान से छिन्न नहीं हो पाता। अपान प्राण को तथा प्राण अपान को आकृष्ट करता है। इन दोनों की अधः और ऊर्ध्व की स्थिति को जो जानता है, वही योग का जानकार है। प्राण 'हंकार' के साथ बाहर जाता है तथा 'सकार' के उच्चारण के साथ पुनः वह प्रवेश करता है। 'हंस' 'हंस'—इस मंत्र का जप जीव सदैव करता रहता है।[४] रात और दिन मिला

---

[१] गो० सं०, १.७३-७७। योगमार्तण्ड (सि० सि० प० अ० व० ना० यो०), ६०-६४।

[२] गो० सं०, २.३३-३५; योगमार्तण्ड (सि० सि० प० अ०…), १२१-१२३।

[3] सि० सि० प०, २.३५।

[४] गो० सं०, १.३८-४२। योगमार्तण्ड (सि० सि० प० अ० व० ना० यो०), २७-३१।

कर कुल वह २१६०० बार जप करता है। इसी को अजपा नाम की गायत्री कहते हैं जो मोक्षदायिनी होती है।[१] योगी को स्थाणुत्व की प्राप्ति करने के लिये वायु का निरोध करना चाहिए। जब तक वायु शरीर में है, तब तक ही जीवन माना जाता है। जब वायु शरीर में बाँध लिया जाता है तभी चित्त निरामय होता है। जब सभी नाड़ीचक्र शुद्ध हो जायँ तभी समझना चाहिए कि योगी प्राणसंग्रह में सक्षम हो गया है।[२] जब पद्मासनबद्ध योगी प्राण से चन्द्र नाड़ी को प्रपूरित करता है तथा सूर्य का रेचन करता है, तब वह इस प्रकार अमृत, दधि, गोक्षीरतुल्य धवल चंद्रबिंब का ध्यान कर सुखी होता है। इस प्रकार की प्राण और नाड़ी संबन्धी अन्य क्रियाओं के अभ्यास से नाड़ियाँ शुद्ध हो जाती हैं। वायु के यथेष्ट धारण से अनल का प्रदीपन, नाद की अभिव्यक्ति तथा नाड़ीशोधन होते हैं।[३] द्वादशमात्रासंयुक्त प्रणवात्मक (सामान्य) प्राणायाम रेचक, पूरक और कुंभक भेद से तीन प्रकार का होता है। उपदेश किया गया है कि पूरक को १२ मात्रा का, कुंभक को १६ मात्रा का तथा रेचक को दस ओंकार का करना चाहिए। इसे ही प्राणायाम कहते हैं। १२ मात्राओं का प्राणायाम अधम, उसका द्विगुण मध्यम तथा त्रिगुण उत्तम प्राणायाम कहा जाता है।[४] प्राणायामाभ्यासी योगी को बद्धपद्मासन होकर शिवरूप गुरु को नमस्कार कर केवल नासाग्र में दृष्टि लगाकर प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। उस अपान को ऊपर की ओर खींच कर उसे प्राण में नियोजित कर देना चाहिए। शक्ति से उसे ऊपर की ओर लाना चाहिए। इस प्रकार का प्राणायाम पातकनाशक होता है।[५] प्राणायाम के अभ्यास से यदि पवन को गगन में प्रेरित किया जाय तो घंटा, प्रकृष्ट वाद्यादिकों की ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं तथा सिद्धि की प्राप्ति की संभावना होती है। जैसे प्राणायाम के उचित अभ्यास से सर्वरोगक्षय होता है, उसी प्रकार अनुचित अभ्यास से सभी प्रकार के रोग भी उत्पन्न हो सकते हैं।[६] वायु के युक्तरूपेण त्याग

---

[१] यो० मा० (स० सि० प० अ०···), ३२-३३।

[२] यो० मा० (स० सि० प० अ०···), ७८-८०।

[३] गो० सं०, १.९६-१००; यो० मा०, ८४-८९।

[४] गो० सं०, २.३,५,६।

[५] वही, २.८, ९।

[६] वही, २.१८-२०, यो० मा०, १०८।

और ग्रहण का भी उपदेश किया गया है। इस प्रकार आसन और प्राणायाम से संयुक्त होकर धारणा के अभ्यास का विधान किया गया है।[1]

योगबीज ने तीन मुख्य बंधों से भी प्राणायाम का संबंध जोड़ा है। बंध तीन हैं—मूलबंध, उड्डीयानबंध और जालंधरबंध। इनमें से प्रत्येक के अभ्यास में प्राणाकर्षण की आवश्यकता बतलाई गई है। उड्डीयान को कुंभक और रेचक के अन्त में करने का उपदेश दिया गया है। इससे सुषुम्ना में बद्ध होने के कारण प्राण उड़ता है। इसीलिये इसे उड्डीयान कहते हैं। इसी प्रकार पूरक के अन्त में जालंधरबंध करने का उपदेश किया गया है।[2] इस प्रकार गुरु के प्रसाद से जो मरुत् को साधता है उसका चित्त पवन से साधित हो जाता है। यदि मरुत् के होते हुए भी चित्त भी नष्ट हो जाय तो प्रतीति और मरुत् भी नष्ट हो जाते हैं। ऐसे व्यक्ति के लिये न शास्त्र है, न आत्मप्रतीति है, न गुरु है, न मोक्ष है।[3] इन बताई विधियों से रेचक और पूरक करने से वायु स्थिर होता है, विभिन्न प्रकार के नाद उत्पन्न होते हैं, चन्द्रमण्डल में स्राव होता है।[4] नाड़ी, बंध आदि के अतिरिक्त कुंडलिनीसाधन से भी प्राणायाम का घनिष्ठ संबंध है जिसका विवरण कुंडलिनी के प्रसंग में दिया गया है। इस प्रकार विभिन्न ग्रंथों के आधार पर प्रस्तुत प्राणायामसाधन के विवरण से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि नाड़ीशोधन के लिये, पिंड को रोगरहित बनाने के लिये, पातकहानि के लिये प्राणायाम का साधन किया जाता है। यह क्रिया कुंडलिनीजागरण तथा चित्त की स्थिरता, दोनों में सहायक होती है क्योंकि तांत्रिकों के समान ही नाथयोगियों का भी मत है कि प्राण की चंचलता से चित्त चंचल होता है तथा चित्त के चांचल्य से विंदु चंचल होता है। अतः दोनों की स्थिरता के लिये प्राणायाम आवश्यक है। इन उद्देश्यों को ध्यान में रख कर प्राणायाम का विधान मिलता है।

ऊपर बतलाया गया है कि प्राणायाम का महत्व विन्दुधारण तथा विन्दु-स्थैर्य के लिये भी है। लम्बिका (अमरौघशासनम् में लम्पिका) के ऊपर जो विवर को खेचरी से मुद्रित कर लेता है, कामिनी-संगम से उसका बिंदु क्षरित नहीं होता। जब तक बिंदु शरीर में स्थित है तब तक मृत्यु का भय नहीं

---

[1] गो० सं०, २.२१,५२।

[2] योगबीजम्, ११५, ११८, ११९, १२१।

[3] वही, १३७-१३८।

[4] वही, १४१।

होना चाहिए। नभोमुद्रा का साधन करने पर विंदु का क्षरण नहीं होता। लोहित और पांडुर विंदु का वर्णन पहले ही किया जा चुका है। बताया गया है कि वायु के द्वारा शक्तिचारण से जब रज प्रेरित किया जाता है तथा जब विन्दु के साथ एकत्व को प्राप्त करता है तब शरीर को दिव्यत्व की प्राप्ति होती है। इस प्रकार विन्दुस्थैर्य में प्राणायामसहित मुद्रा सहायक होती है। बन्ध और वेध भी आसनक्रियाओं से समानता रखते हैं। वस्तुतः चैतसिक साधन का आरम्भ प्राणायाम के बाद से ही होता है। यम से प्राणायाम तक का साधन स्थूल शरीरसाधन से घनिष्ठरूपेण संबद्ध है। इन साधनों में प्राणायाम के सहायक के रूप में तथा बाद में कुंडलिनीसाधन के भी सहायक के रूप में मुद्रा, बंध और वेध का वर्णन हठयोग के ग्रंथों में मिलता है। ये सभी साधन घनिष्ठरूपेण एक दूसरे से संबद्ध हैं।

मुद्रा, बंध और वेध का सविस्तर वर्णन तांत्रिक ग्रंथों में मिलता है किंतु नाथ साहित्य में इनका इतना सविस्तर वर्णन उपलब्ध नहीं है। मुद्रा, बंध और वेध वस्तुतः स्थूल शरीर के साधन हैं। विभिन्न योगग्रंथों में इनका वर्णन किसी क्रम से नहीं किया गया है। अधिकांश ग्रंथों में आसन के बाद इनका वर्णन किया गया है। मत्स्येन्द्र ने योगविषय में इनकी कोई चर्चा नहीं की है। गोरक्षनाथ ने भी सिद्धसिद्धांतपद्धति में उनका अपने साधनपथ के रूप में उल्लेख नहीं किया है। उनके नाम से प्रसिद्ध इतर ग्रंथों में इन तीनों का वर्णन मिलता है। गोरक्षसंहिता में महामुद्रा, नभोमुद्रा, खेचरी मुद्रा, योनि-मुद्रा तथा उड्डीयान बंध, जालंधरबंध और मूलबंध का वर्णन किया गया है।[1] घेरंड संहिता की तरह इनका अति विस्तृत विवरण हठयोगप्रदीपिका में मिलता है। गोरक्ष के नाम से प्रसिद्ध ग्रंथों में गोरक्षपद्धति को यद्यपि स्पष्टतः उसे गोरक्षसंहिता से संबद्ध माना गया है, तथापि जिन षट्कर्मों, मुद्रा, बंध, वेध का विस्तृत वर्णन गोरक्षपद्धति में उपलब्ध है, वह गोरक्षसंहिता में नहीं है। हठयोगप्रदीपिका में षट्कर्मों को उपकारक माना गया है। कहा गया है कि प्राणायाम का अभ्यास षट्कर्मों को कर लेने के बाद करना चाहिए। मतान्तर उपस्थित कर यह कहा गया है कि प्राणायाम करने से ही संपूर्ण मल शुष्क हो जाते हैं, इसलिये कुछ आचार्यों का ऐसा मत है कि प्राणायाम के अतिरिक्त

[1] गो० सं०, १.५७–७१, १.७७–७८,७९–८२। 'बिन्दुः शिवो रजः शक्तिः बिन्दुरिन्दु रजो रविः। उभयोः संगमादेव प्राप्यते परमं पदम्।' यो० मा०, ५९–६४।

जो षट्कर्म हैं वे सम्मत नहीं हैं ।[1] मुद्रा, बंध और वेध संबंधी विवरणों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि इन तीन साधनों में मुद्रा स्पष्टतः आसन की कोटि की है । आसन और मुद्रा के अभ्यास से देह की दृढ़ता और स्थिरता की प्राप्ति होती है । इन सबके बाद प्राणायाम और प्रत्याहार के द्वारा साधक क्रमशः आत्मप्रत्यक्ष की ओर अग्रसर होता है । मुद्राओं में अनेक ऐसी हैं जिनका उपयोग शक्तिजागरण में किया जाता है—उदाहरण के लिये शक्तिचालिनी-मुद्रा । लययोगादि के लिये योनिमुद्रा उपकारक बताई गई है । इसी प्रकार अमृतपान के लिये या वारुणीपान के लिये खेचरी मुद्रा का विधान है । मुद्रा का साधन स्थूल शरीर से होता है, सूक्ष्म शरीर से नहीं । अतः उन्हें भी आसन की ही कोटि में रखना चाहिए । वारुणीपान, वीर्यरक्षाभ्यास, कुंडलिनी-जागरण आदि विभिन्न क्रियाओं से मुद्राओं का संबंध है । इसलिये, जहाँ तक उपयोग का प्रश्न है, नाथयोगी ग्रन्थों में तथा अन्यत्र भी इनका भिन्न-भिन्न प्रसंगों में वर्णन मिलता है । इसी प्रकार बन्ध के विषय में भी (जिनका कुछ वर्णन पहले प्राणायाम के प्रसंग में हो चुका है) अनुमान किया जा सकता है । प्रायः सभी बन्धों का सम्बन्ध प्राणायाम से है । ये शरीर के विभिन्न अंगों की ऐसी स्थितियाँ या अवस्थाएँ है जिनमें प्राणायाम के अभ्यास में पर्याप्त सुविधा एवं सहायता मिलती है । अतः ये भी आसन के अभ्यास के बाद एवं प्राणायाम के पूर्व किये जाने चाहिएँ । इस प्रकार यह प्रकट होता है कि हठ-योग में यम, नियम, आसन, मुद्रा, बंध आदि स्थूल शरीर के साधन हैं । वेध भी बन्ध की तरह ही प्राणसाधन और नाड़ीसाधन से संबन्ध रखते हैं । नाथ-पंथी षडंग साधन में धारणा, ध्यान और समाधि, ये तीन सूक्ष्म शरीर के साधन हैं । इनका सम्बन्ध चित्त से है । पातंजल योग में भी इनका यही स्थान है ।

प्राणायामसाधन से ओंकारसाधन का घनिष्ठ सम्बन्ध है । वस्तुतः इसे प्राणायामसाधन का उपांग कहना चाहिए । ओंकारसाधन और अजपा-जाप दोनों ही प्राणायाम में अन्तर्भूत हैं । प्राणायाम अधम, मध्यम और उत्तम होता है । यह निर्णय मात्रा के आधार पर किया जाता है । यह मात्रा "ओंकार" की गणना से जानी जाती है । इसके जप के विधान में बतलाया गया है कि पद्मासन में स्थित होकर शरीर, शिर और उदर को सम करके, नासाग्र भाग में दृष्टि को एकाग्र करके अव्यय तत्व ओंकार का जप करना

[1] हठयोगप्रदीपिका, २.३६–३७ ।

चाहिए। इस प्रणव के अ, उ, म् तीन वर्ण क्रमशः भूर्लोक, भुवर्लोक और स्वर्लोक के वाचक हैं। ये सोम, सूर्य्य और अग्नि नाम के देवताओं के भी वाचक हैं। इसी प्रकार ये तीन वर्ण, तीन काल, तीन वेद, तीन लोक, तीन स्वर के भी वाचक हैं। इन्हें क्रिया, इच्छा और ज्ञान या ब्राह्मी, रौद्री और वैष्णवी नाम की शक्तियों का भी बोधक कहा जाता है।[1] मत्स्येन्द्रनाथ ने इन तीनों वर्णों को ग्रंथियों से भी संबद्ध कर दिया है। उन्होंने अकार को वह्निदेश में, जहाँ ब्रह्मग्रंथि है, संस्थित माना है। उकार हृद्देश में, जहाँ विष्णु ग्रंथि है, स्थित है। उसी प्रकार मकार को भ्रूमध्य में जहाँ रुद्रग्रंथि है, स्थित माना गया है। तदनुसार ही अकार को ब्रह्मा, उकार को विष्णु तथा मकार को शिव कहा गया है।[2] गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह में ब्रह्म को पक्षपातविनिर्मुक्त कह कर उसे प्रणव से अभिन्न कहा गया है। बताया गया है कि स्वर (अ,उ) से तो योगसाधन करना चाहिए तथा अस्वर (म्) से परमतत्व की भावना करनी चाहिए। यही निष्कल निर्विकल्प निरंजन ब्रह्म है। इस प्रकार सरलता से निश्चय ही ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है।[3] योगविषय के अनुसार भी 'म्' शिवपद और रुद्रग्रंथि का वाचक है। इस प्रकार स्वर साधन से अस्वर शिव की सिद्धि कही गई है। वास्तव में ओंकारसाधन मंत्रसाधन है। इस मंत्र-साधन से गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह में अद्वयानुभव या अद्वयज्ञान की प्राप्ति का प्रतिपादन किया गया है। एक ऐसी अवस्था भी आती है, जब ओंकार को भी साधन के रूप में व्यवहृत नहीं किया जाता। ओंकार शिवस्थान या रुद्रस्थान तक पहुँचने के लिये रथस्थानीय साधन के समान है।[4] इस संग्रहकार ने बड़े विस्तार से नाथमतानुमोदित प्रभाव का प्रतिपादन उसी प्रकार किया है जिस प्रकार शिवोपनिषद्, बृहदारण्यकोपनिषद्, छन्दोग्योपनिषद् आदि में मिलता है। बताया गया है कि नाथमत या योगिमत के अनुसार योगियों का स्थूलवेद से कोई भी प्रयोजन नहीं है। उनका प्रयोजन और तात्पर्य केवल सर्ववेदमूलभूत ओंकार से है। यह वेदों का सार है। यह प्रणव ही वेद है।[5]

डा० कल्याणी मल्लिक ने बहुत विस्तार से प्रणव की बहुविध व्याख्या की

---

[1] गो० सं०, १. ८३,८६; योगमार्तण्ड, ७२-७७।

[2] योगविषय, १६-१८।

[3] गो० सि० सं०, पृ० २।

[4] वही, पृ० २।

[5] वही, पृ० २६-२८।

है। उसे उद्धृत करने की आवश्यकता नहीं।[१] ओंकारसाधन की उपयोगिता मनोलय में बतलाई गई है। कहा गया है कि यह अजपा गायत्री कुंडलिनी से समुद्भूत होती है। इसे प्रणव विद्या भी कहते हैं। अजपा गायत्री के उच्चारण के साथ प्रणव वायु की भी क्रिया होती है। इसीलिये इसे प्राण की तारयित्री भी कहते हैं। कुंडलिनी शक्ति द्वारा इसकी परिपुष्टि होती है।[२] इस प्रणव को एकाक्षर नाम भी कहा जाता है। इस नाथसाधन को ही प्राचीन आगम-शास्त्र में शब्दयोग या वाक्योग कहा गया है। यही वस्तुतः नाद-विन्दु-साधन है। यह मंत्र हंसयोग का बीज है।[3] जैसा कहा जा चुका है, नाथ मत के अनुसार सूक्ष्मा सृष्टि प्रणव या महागायत्री है तथा स्थूला सृष्टि वेदत्रयी। प्रणव-साधन करनेवाला योगशास्त्र भी सूक्ष्मा सृष्टि के अन्तर्गत है। यह प्रणव कुंड-लिनी का स्पन्दन है। नाथगण जिस प्रणवतनु की चर्चा करते हैं, उसकी प्राप्ति कुंडलिनी के जागरण में होती है। इसी को ओंकारदेहलाभ भी कहते हैं। यह प्रणवतनु या ओंकारदेह चन्द्रामृतपान से अजरत्वलाभ करता है। इस प्रकार का देहधारी योगी जीवित रहते हुए भी मुक्त रहता है और संसार की दृष्टि में मृत रहता है। इसे ही नाथयोगियों के अनुसार 'सिद्धदेह' कहते हैं।[४] यह ओंकारसाधन सिद्धमत की विशेषता है। यह साधन ही नाथ मत का नाद-विंदुसाधन है। यही शिवशक्तिसाधन है।[५]

इस ओंकारसाधन का, प्राणायाम और नादानुसंधान से घनिष्ठ संबन्ध है। हठयोग के विभिन्न ग्रन्थों में ओंकारसाधन को ही नादानुसंधान कहा गया है। प्राणवायु जब ब्रह्मरंध्र में स्थिर हो जाता है तब क्षुद्रघंटिका, वंशी, वीणा भ्रम-रादि के नाद की तरह सूक्ष्मतर नाद सुनाई पड़ते हैं। नादानुरक्त मन क्रमशः इन नादों का भी त्याग अन्त में करके समाधि में लीन होता है। गोरक्ष-सिद्धान्तसंग्रह में नाद की चार अवस्थाओं का वर्णन मिलता है। विद्वानों ने इन अवस्थाओं का चार शून्यों से भी सम्बन्ध स्थिर किया है। चौथी अवस्था

---

[१] ना० इ० द० सा० प्र०, पृ० ४७५, ४७८ तथा गोरक्ष संहिता—५. ८, १०, १२, १३।

[२] ना० इ० द० सा० प्र०, पृ० ४७९ तथा गोरक्ष संहिता ५. २९, १.३८, ४०।

[3] ना० इ० द० सा० प्र०, पृ० ४८०-४८२।

[४] वही, पृ० ३२७-३२८।

[५] वही, पृ० २७२।

में प्राण ब्रह्मरन्ध्र में स्थिर हो जाता है। चित्त एकविषयीभूत हो जाता है। यह विशुद्ध शून्यावस्था या परम शून्यावस्था है।[1] यही पूर्ण समाधि की अवस्था बताई गई है। इसी अवस्था में योगी जीवन्मुक्त होता है।[2]

प्रणव मंत्र और अजपागायत्री ये दोनों ही मंत्र हैं। मंत्रशास्त्र के अनुसार मंत्र परब्रह्म या उपास्य का नादमयविग्रह है। इसलिये उसमें श्रद्धा, विश्वास और भक्ति के साथ उसके जप का विधान मिलता है। इस जप के साथ अर्थभावना करने से भक्ति, श्रद्धा, विश्वास और प्रेम की वृद्धि स्वीकार की गई है। आदर्श जप तो वह है कि जिसमें दिव्य नाम और दिव्य शक्ति का स्मरण प्रत्येक श्वास में हो। वस्तुतः सिद्धमतानुसार प्राणायाम की रेचक क्रिया, जिसमें श्वास बाहर निकालती है, जीवात्मा का बाहर निकल कर जगत् में विश्वात्मा से एकात्म स्थापित करना है। उसी प्रकार पूरक क्रिया विश्वात्मा का जीवात्मा में ग्रहण और पूरण कर एकात्म स्थिर करने की क्रिया है।[3] इसी प्रकार कुंभक क्रिया इस एकात्म को अधिक से अधिक समय तक स्थिर रखने की क्रिया है। इन क्रियाओं में हंस मंत्र या अजपागायत्री का उपयोग इस स्थिरता को अधिक सरस और गंभीर बनाने के लिये किया जाता है। इस रूप में प्राणायाम की, जागरण, सुषुप्ति, स्वप्न, सभी अवस्थाओं में स्वाभाविक रूप से होनेवाली ये क्रियाएँ जीवात्मा-परमात्मा, आन्तर और बाह्य, अपूर्ण और पूर्ण, बद्ध और मुक्त के पूर्ण एकात्म को संपन्न करनेवाली क्रियाएँ हैं जिन्हें योगतत्व से अपरिचित व्यक्ति नहीं जानता। उनका कोई उपयोग वह नहीं कर पाता।[4] ओंकार आदि नाद है। यह अनाहत और अखण्ड है। यह अन्य नादस्रोतों का कारण है, मूल है। किन्तु अंतर यह है कि विश्व के सभी नाद खंडित हैं या सखण्ड है और यह अखण्ड है। इसका ही अनुसंधान नादानुसंधान नाम से अभिहित होता है जिसका विवरण पहले दिया गया है। यह नाद साधक के अंतस् में निसर्गतः विद्यमान रहता है। अंतस् में इसकी सत्ता ही ब्रह्म की अंतस् में सत्ता है। उसे ही नाद ब्रह्म कहते हैं। इसका अनुसंधान ब्रह्मानुसंधान है। साधक को इसी नाद पर ध्यान केंद्रित करना चाहिए। किन्तु यह नाद मनुष्य को सामान्य सांसारिक दशा में अनुभूत और

---

[1] गो० सि० सं०, पृ० ३७३; ना० इ० द० सा० प्र०, पृ० ४६३-४६५।

[2] ना० इ० द० सा० प्र०, पृ० ४६६-४६७।

[3] नाथयोग, अक्षयकुमार बनर्जी, पृ० ५८-६०।

[4] वही, पृ० ६०-६१।

श्रव्य नहीं हो सकता। इसके लिये प्रणवजप को आरंभिक अवस्था में उपाय रूप में स्वीकार किया जाता है। आगे की अवस्थाओं में महत्वपूर्ण अवस्था वह है जिसमें इस नाद का ध्यान अनाहत चक्र में किया जाता है। अन्तिम अवस्था में विभिन्न चक्रों को अतिक्रांत कर नाद सहस्रार में साधक को साक्षात्कृत होता है। यही शिव-शक्ति की आनन्दमयी मिलनभूमि है। यहीं नादानुसंधान की क्रिया समाप्त होती है, उसके लक्ष्य की प्राप्ति होती है।[1]

प्राणायाम के बाद षडंग योग में प्रत्याहार का स्थान आता है। चैतन्य तरंगों का प्रत्याहरण, नाना प्रकार के विकारों से चित्त के ग्रस्त हो जाने के कारण उत्पन्न विकारों से भी निवृत्ति प्रत्याहार का लक्षण है।[2] भिन्न भिन्न ग्रंथों में प्रत्याहार की परिभाषा भिन्न भिन्न शब्दों में मिलती है। गोरक्षसंहिता में चक्षु आदि अपने विषयों में विचरण से आहरण प्रत्याहार कहा गया है। जिस प्रकार तृतीय काल में रवि अपनी प्रभा का प्रत्याहरण करता है, उसी प्रकार इस तृतीयांग प्रत्याहार में आकर योगी अपने मानस को विकारों से प्रत्याहृत करता है। कूर्म जैसे अपने अंगों को अपने अंगों में ही संकुचित कर लेता है, उसी प्रकार योगी अपनी इन्द्रियों का प्रत्याहरण करता है। योगी जो-जो अपने कानों से सुनता है, तथा इंद्रियों के प्रिय विषयों को ग्रहण करता है, उनसे-उनसे, वह उन्हें परिज्ञात कर उन इंद्रियों को प्रत्याहृत करता है। इसी प्रकार नासिका, चक्षु, चर्म, जिह्वा के प्रत्याहरण को भी बतलाया गया है।[3] प्रत्याहरण से योगी मानस विकारों का मोचन करता है।[4] इस प्रकार प्रत्याहार का सर्वमान्य लक्षण है—मानस का सभी विकारों से प्रत्याहरण। आसन से जहाँ शरीर के रोगमुक्ति की बात कही जाती है, वहीं प्राणायाम से नाड़ीमंडल का शोधन स्वीकार किया गया है। तीसरे प्रत्याहार में चित्त विभिन्न विकारों से प्रत्याहृत होता है। इस अंग के साधित होने पर चित्त सर्वथा विकारमुक्त हो जाता है।

षडंग योग में चतुर्थ अंग धारणा है। धारणा में बाह्य और अंतस् के एकमात्र निजतत्व स्वरूप का अन्तःकरण से साधन किया जाता है। जो कुछ उत्पन्न होता है, उसे निराकार में धारण, जीवात्मा का निर्वात दीप की तरह धारण

---

[1] वही, पृ० ६१-६४।

[2] सि० सि० प०, २.३६।

[3] गो० सं०, २.२३-३१; योगमार्त्तण्ड, ११३-११९।

[4] गो० सं०, २.१२।

ये धारणा के लक्षण हैं।[1] धारणा से मानस स्थैर्य की प्राप्ति बताई गई है।[2] आसन से समायुक्त करके तथा प्राणायाम से संयुक्त करके धारणा का अभ्यास करना चाहिए। हृदय में पंचभूतों के पृथक्-पृथक् धारण तथा मानस के निश्चलत्व के धारण के कारण ही इसे धारणा कहते हैं। यह धारणा पाँच प्रकार की बताई गई है—क्षितिधारणा, वारुणी धारणा, वैश्वानरी धारणा, वायवी धारणा और नभोधारणा।[3] इन पाँच प्रकार की धारणाओं के नाम से ही स्पष्ट है कि इनका पंचभूततत्वों (पृथ्व्यप्तेजोवाय्वाकाश) से संबंध है। अंततः, धारणाओं के बाद, सिद्धसिद्धान्तपद्धति के अनुसार, चित्त का निराकार निजतत्व में एकत्व तथा आत्मा का निर्वातदीपत्व सिद्ध होना चाहिए। संक्षेप में ये धारणा के लक्षण हैं।

घेरंड संहिता में भी ये पाँच प्रकार की धारणाएँ बतलाई गई हैं किन्तु उन्हें 'पंचधारणामुद्रा' के अन्तर्गत वर्णित किया गया है।[4] पहले जो तांत्रिक योग का विवरण दिया गया है, उसमें धारणा से ही कुंडलिनीयोग या षट्चक्र भेद या लययोग का संबंध बतया गया है। घेरंड संहिता में कुंडलिनीसाधन के लिये मुद्राओं का अभ्यास आवश्यक बताया गया है। कहा गया है कि लयसिद्धिसमाधि के लिये योनिमुद्रा का अभ्यास करना चाहिए।[5] उडरफ ने बतलाया है कि अष्टांगसाधन की धारणा से कुंडलिनीयोग का संबंध है। इसी प्रकार तांत्रिक योग में कुंडलिनीयोग को लययोग इसलिये कहते हैं कि इस साधन में शब्द ब्रह्म कुंडलिनी के शरीर में पंचभूतों का लय होता है तथा वे अंततः कुंडलिनी के साथ ही परम शिव से सहस्रार में लय प्राप्त करते हैं। तांत्रिक योग में धारणा से संबद्ध पंचधारणा मुद्रा है। ऐसा प्रतीत होता है कि तांत्रिकों के कुंडलिनीयोग में कुंडलिनीजागरण के लिये शक्तिचालनीमुद्रा, पंचभूतलयक्रिया के लिये पंचधारणा मुद्रा तथा लयसमाधि के लिये योनिमुद्रा का अभ्यास क्रमशः स्वीकार किया गया है। यद्यपि ग्रंथों में इस प्रकार का कोई क्रमबद्ध वर्णन नहीं मिलता तथापि अध्ययन से इस अनुक्रम पर पहुँचा जा सकता है। नाथों के यहाँ यद्यपि पाँच प्रकार की धारणा अवश्य स्वीकार की गई है

---

[1] सि० सि० प०, २.३७।

[2] गो० सं०, २.१३।

[3] गो०सं०, २.५२-५८। यो० मा०, १४१-१५४।

[4] घे० सं०, ३.६३-७६।

[5] वही, ३.३२–३७; ७.१२–१३; ३.४४–४५।

तथापि उसे मुद्रा के रूप में विवेचित नहीं किया गया है, ऐसा ऊपर के विवरण से स्पष्ट होता है।

संस्कृत भाषा में उपलब्ध नाथ साहित्य में कुंडली और कुंडलीजागरण का विस्तृत विवरण उपलब्ध है। विभिन्न ग्रंथों में इस साधन के परिचय के लिये आसन, नाड़ी, प्राणायाम आदि का भी समायोग आवश्यक माना गया है। इस साधन के परिचय के लिये षट्चक्रों का ज्ञान सबसे अधिक आवश्यक है। मत्स्येन्द्र-नाथ ने अपने 'योगविषय' में कुंडलिनीयोग को मुख्यता प्रदान की है तथा उसके अनुकूल ही षट्चक्र, सूर्यचक्र, अग्नि, ओंकार, ग्रंथि, कुंडलिनी, शंखिनी आदि के साधन, देवतार्चन, ईश्वरार्चन तथा उसकी सामग्री का वर्णन किया है। आसन से लेकर प्रत्याहार तक, धीरे धीरे, जैसा पिछले विवरण से विदित है, साधक स्थूल तत्वों से सूक्ष्म तत्वों के साधन की ओर या शारीरिक साधन से चैतसिक साधन की ओर अग्रसर होता हुआ प्रतीत होता है। कुंडलिनीसाधन भूत-जय और भूतलय दोनों है और जैसा पहले बतलाया गया है, कुंडलिनी की यात्रा में पड़नेवाले विभिन्न पाँच चक्रों में क्रमशः पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश की स्थिति भी मानी गई है। इस प्रकार कुंडलिनी की यात्रा पृथ्वी की आकाश तक की यात्रा आध्यात्मिक यात्रा के रूप में कल्पित की जा सकती है। इन विचारों को ध्यान में रखकर नाथयोगियों के कुंडली और कुंडली-साधना संब्रंधी विवरण को उपस्थित किया गया है। विभिन्न ग्रंथों में तत्संबंधी विवरण भिन्न भिन्न मिलते हैं।

मत्स्येन्द्र ने छ चक्र माने हैं—आधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत विशुद्धि और आज्ञा। इनकी क्रमशः गुदा, लिंग, नाभि, हृदय, कण्ठदेश तथा भ्रूमध्य में स्थिति मानी गई है। निरंजन की स्थिति इन चक्रों से परे मानी गई है। ओंकार में अ, उ, म् तीन वर्ण हैं। अकार वह्निदेश या नाभिदेश में, उकार हृदयस्थान में तथा मकार भ्रूमध्य में स्थित है। तीन ग्रन्थियाँ हैं—सबसे नीचे आधार में ब्रह्मग्रंथि, हृदय में विष्णुग्रंथि तथा भ्रूमध्य में रुद्रग्रंथि की स्थिति मानी गई है। इस प्रकार अकार ब्रह्मा, उकार विष्णु तथा मकार रुद्र हैं। योगविषय की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें आज्ञा के ऊपर भी नौ चक्रों का वर्णन किया गया है। ये चक्र हैं—त्रिकूट, त्रिहट, गोल्लाट, शिखर, त्रिशिख, वज्र, ओंकार, ऊर्ध्वनाख और भ्रुवोर्मुख।[1] कुंडलिनीशक्ति के आठ

---

[1] योगविषय, श्लो० ८-१०, २०; सि० सि० प० अ० व० ना०—'समरीज' पृ० ४३।

कुंडलों के आठ नाम बताये गये हैं—प्रणवा, गुदनाला, नलिनी, सर्पिणी, बंकनालि, क्षया, शौरी और कुंडली । प्राण द्वारा कुंडली का चालन करने से शशिमंडल का भेदन हो जाता है और द्वार बन्द हो जाते हैं और वज्रगुम्भ की स्थिति प्राप्त होती है ।[1] ब्रह्मस्थान में नाद का श्रवण होता है, तब शंखिनी नाम की नाड़ी अमृत वर्षा करती है और इससे छ चक्रों का पवित्रीकरण हो जाता है । इससे ही ज्ञानदीप का प्रकाश होता है । इस ज्ञानदीप से योगी ईश्वर का साक्षात्कार करता है । वह तब अपने मानसरूपी पुष्प को उस ईश्वर को अर्पित करे और इस प्रकार ईश्वर की अर्चना करे ।[2] कुंडलिनी के जागरण के लिये बतलाया गया है कि कंठसंकोच करके दोनों नाड़ियों को दृढ़तापूर्वक स्तंभित कर देना चाहिए । रसना का निपीड़न करने से षोडश (षोडशी=कुंडलिनी ?) ऊर्ध्वगामिनी होती है ।[3]

सिद्धसिद्धांतपद्धति में पिंडोत्पत्ति का वर्णन करते समय बतलाया गया है कि स्वयं अनादि, सिद्ध, एकमेव अनादिनिधन (परमतत्व) की इच्छामात्र से ही धर्मिणी और अधर्मिणी बनने वाली निजा शक्ति है । उसके उन्मुख होने मात्र से परा शक्ति उत्थित होती है । परा शक्ति के स्पंदन मात्र से अपरा शक्ति उत्थित होती है । तब अहन्ता की अर्द्ध मात्रा से सूक्ष्मा शक्ति तथा उसमें से वेदनशीला कुंडलिनी शक्ति उद्गत होती है । इस तरह पाँच प्रकार की शक्तियों में सर्वान्तिम से वेदनशीला कुंडलिनी शक्ति उत्पन्न होती है । 'पद्धति' में इसी प्रकार पाँच शक्तियों, उनके गुणों, पिंडों, मूर्त्यष्टक, २५ गुण, कुल-पंचक, इनके गुण, पाँच प्रत्यक्षकरण, सूर्य, चन्द्र और अग्नि की कलाओं, नाड़ियों, दस द्वारों, दश वस्तुओं आदि का विस्तार से वर्णन मिलता है ।[4] इन पिंडों, भूततत्वों आदि का कुंडलिनीसाधन की दृष्टि से महत्व है । कुंडलिनी जिन चक्रों का भेदन करती है, उनमें भूत तत्वों और सात ऊर्ध्व लोकों की कल्पना की जाती है । इसी प्रकार कुंडलिनीसाधन इन सब भूततत्वों, पिंडों, लोकों का जय कर उनसे परे जाकर सहस्रारस्थ परम शिव से मिलन प्राप्त करने का साधन है । स्पष्ट ही पिंडब्रह्माण्ड के एकत्व का सिद्धांत इसका सहयोगी है । तांत्रिक योग के प्रसंग में इस विषय पर कुछ विचार किया गया है ।

---

[1] योगविषय, श्लो० २२-२३ ।

[2] वही, श्लो० २४-२६ ।

[3] वही, श्लोक १९ ।

[4] सि० सि० प०, १·४,५,६ ७-३०, ३६, ४२-६६, ६८ ।

पिंडविचार में चक्र, आधार, त्रिलक्ष्य और व्योम का वर्णन किया गया है। ये भी पिंड में विद्यमान हैं। योगमार्त्तण्ड तथा घेरंड संहिता से भिन्न सिद्धसिद्धांतपद्धति नौ चक्रों को मानती है। नीचे से ऊपर तक उनका क्रम इस प्रकार है—ब्रह्मचक्र, स्वाधिष्ठान, नाभिचक्र, हृदयचक्र, कंठचक्र, तालुचक्र, भ्रूचक्र, ब्रह्मरन्ध्र, निर्वाण चक्र और आकाशचक्र। अन्तिम षोडशदल आकाशचक्र में पूर्णगिरिपीठ की स्थिति मानी गई है।[1] चक्रवर्णन में यद्यपि गोरक्ष-संहिता तथा योगमार्त्तण्ड के विवरण अधिक स्पष्ट नहीं है तथापि 'संहिता' के अनुसार, ऐसा प्रतीत होता है, छ चक्र मुख्य हैं और सातवाँ चक्र सहस्रार है। प्रथम चक्र आधार है, जिसमें चार दल हैं। दूसरा चक्र स्वाधिष्ठान छ दलों का है। नाभिचक्र में दस दल हैं। हृदयचक्र में बारह दल हैं। कंठस्थ चक्र में सोलह दल हैं तथा भ्रूमध्यचक्र में दो दल हैं। सहस्रदलकमल विख्यात ब्रह्मरन्ध्र महापथ है।[2]

म० म० पं० गोपीनाथ कविराज ने एक चित्र तथा विराट पुराण के एक हस्तलेख के आधार पर नाथसंप्रदायानुमोदित चक्रों का वर्णन किया है। कुल चक्रों की गणना करने से उनकी संख्या २५ से भी अधिक हो जाती है। कविराजजी ने प्रारंभ में ही बतलाया है कि चक्रों का यह विवरण हठयोग मत और तंत्र, दोनों से भिन्न है। विवरण को देखने से प्रतीत होता है कि मूलाधार से सहस्रार तक के जो ७ चक्र माने जाते हैं, उनमें से प्रत्येक के बीच में अनेक चक्रों या कमलों की कल्पना की गई है। यहाँ तक कि सहस्रदलकमल के भी ऊपर कई कमलों की स्थिति बतलाई गई है। कविराज जी ने ही यह भी कहा है कि चित्र के अति प्राचीन और अस्पष्ट होने से तथा हस्तलेख में भी अनेक चक्रों या कमलों का विवरण अस्पष्ट होने के कारण अनेक स्थलों पर कथित चक्रों का स्पष्ट बोध नहीं हो पाता। चक्र संबंधी जो विवरण दिया गया है, वह तंत्रगत चक्र-विवरण से अनेक अंशों में भिन्न है। चक्रों की संख्या के संबंध में उनका कथन है कि ललितासहस्रनाम के भास्करराय रचित भाष्य में दिये गये विवरण के अनुसार चक्रों की संख्या ३२ है। आर्थर एवेलेन के अनुसार अद्वैत-मार्त्तण्ड में भी कुछ ऐसी ही बात है। इस प्रकार के संख्यागत वैभिन्य के कारण भी स्पष्ट हैं। बहुत से ऐसे गुप्त चक्र हैं जिनकी साधारणतया गणना नहीं की गई है तथा कुछ ऐसे चक्र भी हैं जो अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण हैं फिर भी वे

---

[1] वही, २·१-९।

[2] गो० सं०, १·१५-१६।

संपूर्ण चक्रमंडल के निर्माण में सहयोग करते हैं। विभिन्न साधनपथों में इनकी संख्या की विभिन्नता के कारण की व्याख्या के लिये कुछ और बातें भी कही जा सकती हैं। किसी चक्र का यथार्थ वर्णन किसी विद्यार्थी के अध्ययन में सहायक हो सकता है किंतु कुछ ऐसी सीमाएँ हैं जिनसे एकरूप यथार्थ वर्णन नहीं हो पाता। उदाहरण के लिये एक निश्चित चक्र का अनुभव सभी साधकों का, एक ही प्रकार का नहीं हो सकता। अभ्यासी और उसके गुरु के व्यक्तिगत संकल्प भी इस वैभिन्य को उत्पन्न करने में सहायक हो सकते हैं।[१] अतः अब इतना निश्चित हो गया कि नाथयोगियों में चक्रों की संख्या तथा उनके विवरणों के संबंध में पर्याप्त मतभेद है।

जो कुंडलिनी इन चक्रों का भेदन करती है, वह तीन प्रकार की बताई गई है—ऊर्ध्व, मध्य और अधः। कहा जाता है कि मध्यशक्ति के प्रबोधन से, अधः शक्ति के निकुंचन से तथा उर्ध्वशक्ति के निपात से परमपद की प्राप्ति होती है। यथार्थतः शक्ति एक ही है, किंतु प्रभेदमात्र से वह तीन रूपों में दिखाई पड़ती है। अधःशक्ति बाह्येन्द्रिय व्यापारवाली तथा नाना प्रकार की चिन्ताओं से पूर्ण होती है। अतएव मूलाधार के बंधन से योगी लोग इसका आकुंचन करते हैं। मूलाधार से सचराचर चित्-अचिदात्मक यह जगत् उद्भूत होता है। जिस शक्ति के प्रसार और संकोच से जगत् की सृष्टि और संहृति होती है, उसे मूल कहते हैं। वृथा भ्रमण करनेवाली तथा तरंगित स्वभाव-वाली आत्मा को अपने प्रकाश में अपने स्वरूप से जो शक्ति धारण करने में समर्थ होती है वह मध्या कुंडलिनी शक्ति है। यह शक्ति स्थूल-सूक्ष्म के भेद से दो प्रकार की होती है। स्थूला मध्या कुंडलिनी शक्ति निखिल ग्राह्याधार और ग्राह्यस्वरूपा होते हुए भी पदार्थों के अंतर्गत भ्रमण करती है। इस रूप में कुंडलिनी साकार और स्थूला कही जाती है। पुनः जब यही अपने प्रसारचातुर्य से, वर्तमान रहते हुए भी, परानंदरूपा होकर योगियों को साक्षात्कृत होती है, तब इसे सूक्ष्मा, निराकारा मध्या कुंडलिनी शक्ति कहते हैं। स्थूला शक्ति लोकव्यापिका होती है तथा सूक्ष्मा शक्ति सर्वगा, सूक्ष्मा तथा व्याप्तिव्यापकवर्जिता होती है। सभी तत्वों से अतीत होते हुए भी ऊर्ध्वशक्ति निर्नाम होती है। परमपद ऊर्ध्व नाम से भी प्रसिद्ध है। उस

[१] संस्कृत भवन स्टडीज़, वा० २, पृ० ८३-९०, म० म० डा० गोपीनाथ कविराज का 'दि सिस्टम आव चक्रज़ एकार्डिंग टु गोरक्षनाथ' शीर्षक लेख।

परमतत्व के, स्वसंवेदन से, नाना प्रकार से, साक्षात्कार की सूचना देनेवाली शक्ति ऊर्ध्व शक्ति के नाम से प्रसिद्ध है। इस शक्ति के निपात का अर्थ है—अपने स्वरूप के द्विधाभास का निरास। यह निरास अपने स्वरूप के अखंडत्व से होता है। यह कहा गया है कि चन्द्र और चंद्रिका के समान ही शिव और शक्ति में अभेद है। ऊर्ध्वशक्ति के निपात से महासिद्ध योगी इसी परमपद की प्राप्ति करते हैं।[1] कुंडलिनी प्रबुद्ध और अप्रबुद्ध भेद से दो प्रकार की बताई गई है। अप्रबुद्धा रूप में वह कुंडलिनी पिंडों में, स्वभाव से ही चेतनरूपा होते हुए भी, नाना चिन्ता-व्यापार-उद्यम-प्रपंचरूपा होती है। इसी से वह कुटिल स्वभावा कुंडलिनी कही जाती है। वही योगियों के विभिन्न प्रकार के विकारों के निवारण के उद्यमस्वरूप प्रबुद्धा कुंडलिनी के रूप में ऊर्ध्वगामिनी होती है।[2] संक्षेप में, इस कुंडलिनी शक्ति को संपूर्ण प्रकृति पिंड का आधार माना जा सकता है। सिद्धसिद्धान्तपद्धति का संपूर्ण चतुर्थ उपदेश इसी तथ्य पर आधारित है।

पहले यह बताया गया है कि प्राणधारिणी गायत्री का उदय कुंडलिनी से होता है। जैसे गायत्री के समान कोई जप या ज्ञान या विद्या नहीं है, उसी तरह प्राणविद्या को महाविद्या कहा गया है। गायत्री का उदय करनेवाली यह कुंडलिनी शक्ति कंद के ऊपर आठ कुंडलों को धारण करनेवाली के रूप में सुखपूर्वक ब्रह्मद्वार का आच्छादन कर स्थित रहती है। निरामय ब्रह्मद्वार को जानेवाले मार्ग के रन्ध्र को सुखपूर्वक आच्छादित किये हुए कुंडलिनी प्रसुप्त रहती है। उसको वह्नियोग से तथा मानस और मरुत् के सहकार से प्रबुद्ध किया जाता है। इस प्रकार प्रबुद्ध होकर वह सूई के आकार को प्राप्त कर सुषुम्ना के मार्ग से उत्थित होती है। प्रारंभिक अवस्था में यह सुषुप्त रहती है। वह्नियोग से जाग्रत किये जाने पर पद्मतन्तुनिभा कुंडलिनी सुषुम्ना के मार्ग से ऊपर की ओर उत्थित होती है। जिस प्रकार कुंजी से हठात् कपाट उद्घाटित कर दिया जाता है उसी प्रकार कुंडलिनी से योगी मोक्ष-द्वार का प्रभेदन करता है।[3] योगबीज के अनुसार मरुत् को गाढ़भाव से निरुद्ध कर लेने पर शक्ति-चालन की युक्ति से अष्टधाकुंडली को ऋजु करना चाहिए। कुंडलिनी के चालन के लिये भानु का आकुंचन करना चाहिए। वज्रासन में स्थित होकर वायु से प्रज्वलित अग्नि से कुंडलिनी का दहन करे। अग्नि में संतप्त नाड़ी

---

[1] सि० सि० प०, ४.१६-२७।

[2] वही, ४.१४।

[3] गो० सं०, १.४२-५१, योगमार्त्तण्ड—३१—४०।

से वह त्रैलोक्यमोहिनी शक्ति पहले वज्रदण्ड में तत्पश्चात् सुषुम्नामुख में प्रवेश करती है। इस प्रकार वह वायु और वह्नि के साथ ब्रह्मग्रंथि का भेदन करती है। तत्पश्चात् वह विष्णुग्रंथि का भेदन कर रुद्रग्रंथि में स्थित हो जाती है।[१] योगमार्त्तण्ड और गोरक्षसंहिता के अनुसार यही कन्दोर्ध्व अष्टधा कुंडलिनी शक्ति मूढ़ों के लिये बंधनकारिणी है तथा योगियों के लिये मोक्षदायिनी है।[२] बताया जा चुका है कि ओंकार के अकार से युक्त ब्रह्मग्रंथि आधार में, उकार से युक्त विष्णुग्रंथि अनाहत में तथा मकार से युक्त रुद्रग्रंथि भ्रूमध्यस्थ आज्ञा में स्थित हैं। कुंडलिनी जाग्रत और ऊर्ध्वमुख होकर क्रमशः इनका भेदन करती है। इनके क्रमशः भेदन से क्रमशः सघनता, शान्ति और विराम साधक को मिलते हैं और अन्ततः परम शांत परम शिव से यह मिलन प्राप्त करती है।[3]

इस प्रकार तांत्रिक कुंडलिनीसाधन और नाथयोगी कुंडलिनीसाधन में कुंडलिनी का पंचभूतों से घनिष्ठ संबंध स्वीकार किया गया है। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि तांत्रिक साधन में मूलाधार से लेकर विशुद्धि तक के चक्रों या कमलों में पंचमहाभूतों की स्थिति मानी गई है। पहले बताया गया है कि जैसे-जैसे कुंडलिनी ऊर्ध्वमुख होकर सहस्रार की ओर अग्रसर होती है तथा क्रमशः चक्रों का भेदन करती है, वैसे-वैसे चक्रस्थ महाभूत भी उसके शरीर में लीन होते जाते हैं। इस प्रकार हठयोग की विभिन्न क्रियाओं से सर्वथा दर्पणवत् निर्मल शरीर के पंचमहाभूतों तथा सूक्ष्म शरीर (प्राण, मन, जीवात्मा आदि एवं सूक्ष्म शरीर के अन्य तत्वों) को धारण करनेवाली कुंडलिनी आज्ञाचक्र पहुँचती है। इस रूप में वह पंचमहाभूतग्रामधारिणी होती है। पाँच प्रकार की धारणा तांत्रिक तथा नाथपंथी ग्रंथों में किंचित् भिन्न रूपों में स्वीकार की गई है, जिसकी ओर संकेत पहले ही किया जा चुका है। दोनों में ही बतलाया गया है कि इस धारणा से चित्त सर्वथा स्थिर हो जाता है क्योंकि महाभूतों से उत्पन्न विकारों से वह प्रत्याहृत हो जाता है। इस स्थिति में चित्त को निर्वात दीप की तरह अचंचल कहा गया है। वस्तुतः पंचज्ञानेन्द्रियों का उनके विषयों तथा तज्जन्य विकारों से पूर्णतया प्रत्याहृत हो जाने के बाद तथा पंचमहाभूतों के भी दिव्य शक्ति कुंडलिनी में लीन हो जाने से चित्त का अचंचल

---

१ योगबीज–९३-९८।

२ योगमार्त्तण्ड–४५; गो० सं०, १.५६।

3 योगविषय–१७-१८।

हो जाना स्वाभाविक है। पंचज्ञानेन्द्रियों के बाद छठी इन्द्रिय मन है जिसका लय शेष रह जाता है। इसकी लयक्रिया तांत्रिक पद्धति के अनुसार आज्ञाचक्र में होती है। आज्ञाचक्र में मनोलय के साथ ही उन्मनी अवस्था की सिद्धि स्वीकार की गई है। इस प्रकार का महाभूतों तथा मन के लय का स्पष्ट वर्णन यद्यपि नाथपंथी संस्कृत ग्रंथों में नहीं मिलता तथापि पंचमहाभूत संबंधी उपर्युक्त साधनाओं को समान रूप से स्वीकार करने के कारण हमें अनुमान करने का अवसर मिलता है कि नाथपंथियों को तांत्रिकों की यह लयपद्धति और क्रम स्वीकार है। यद्यपि चक्रक्रम, चक्रसंख्या और चक्रविवरण में पर्याप्त भेद मिलता है तथापि इतना सत्य है कि नाथों ने अपने चक्रमंडल में तांत्रिकों के अति प्रसिद्ध षट्चक्रों को स्वीकार कर लिया है।

धारणान्तर्गत कुंडलिनीयोग के बाद षडंग योग में ध्यान की गणना की गई है। ध्यान के लक्षण में कहा गया है कि यह परमाद्वैतभाव है। आत्मा, जिन-जिन तत्वों या पदार्थों का स्फुरण होता है, उनकी अपने ही स्वरूप के अनुसार भावना करती है। इस प्रकार ध्यान में सभी भूतों में समदृष्टि हो जाती है।[1] ध्यान से अद्भुत ऐश्वर्य की प्राप्ति बतलाई गई है।[2] इस ध्यान-साधन में चित्त पूर्णरूप से निश्चल रहता है। यह ध्यान दो प्रकार का बताया गया है—सगुण और निर्गुण। सगुण ध्यान विभिन्न वर्णों (रंगों) वाला होता है तथा निर्गुण ध्यान केवल (ज्ञानात्मक-अनुभूत्यात्मक)।[3] गोरक्षपद्धति में ध्यानयोग्य विंदु निम्नलिखित रूप में बतलाये गये हैं—गुदा (मूलाधार), मेढ़ (स्वाधिष्ठान), नाभि (मणिपूर), हृत्पद्म (अनाहत), तदूर्ध्व (विशुद्धि), घंटिकामूल लंबिकास्थान, भ्रूमध्य (आज्ञाचक्र), नभोविल (शून्यस्थान)।[4] घेरंड संहिता में बड़े विस्तार से ज्ञानयोग का वर्णन किया गया है। उसमें ध्यान के दो भेद बताये गये हैं—स्थूल और सूक्ष्म। स्थूल ध्यान के बाद तेजोध्यान या ज्योतिर्ध्यान और सूक्ष्म ज्ञान का वर्णन किया गया है। नाथ-पंथी हठयोगी ग्रंथों में जिन चक्रस्थानों या चक्रों पर ध्यान लगाने के लिये कहा गया है, वे यहाँ उपलब्ध नहीं हैं।[5] ये ध्यान क्रमशः श्रेष्ठतर हैं।

---

[1] सि० सि० प०, २. ३८।

[2] योगमार्तण्ड—१०२।

[3] वही, १५७।

[4] गो० प०, २. ६५-७५; तुलना के लिये—योगमार्तण्ड १५६-१६९।

[5] घे० सं०, ६. २-२२।

ध्यान के बाद समाधि है। समाधि एक ऐसी स्थिति है जिसमें सभी तत्वों की सम अवस्था रहती है, निरुद्यमत्व और अनायास की स्थिति रहती है।[1] समाधि से मोक्ष की प्राप्ति होती है जिसमें शुभ-अशुभ कर्मों का त्याग हो जाता है, विश्वतोमुख अनन्त परम ज्योति का साक्षात्कार होता है। इससे क्रिया, कर्म, आवागमन आदि कुछ की भी सत्ता नहीं रहती।[2] जीवात्मा-परमात्मा का ऐक्य ही सभी प्रकार के द्वन्द्वों का ऐक्य है। इस अवस्था में समस्त संकल्पों का नाश हो जाता है। जब प्राण सम्यक् प्रकार से क्षीण हो जाते हैं तथा मानस भी लय को प्राप्त हो जाता है, जब समरसत्व की प्राप्ति हो जाती है, तब कहा जाता है कि समाधि की अवस्था प्राप्त हो गई। इस अवस्था में रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द की स्थिति सिद्ध योगी के लिये नहीं रहती। उस समय अपना-पराया कुछ भी नहीं रहता।[3] हठयोगप्रदीपिका में इस समाधि-स्थिति के विभिन्न नाम बताये गये हैं। ये शब्द समाधि के ही वाचक हैं—राजयोग, समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी अमरत्व, लय, तत्व, शून्याशून्यपरमपद, अमनस्क, अद्वैत, निरालम्ब, निरंजन, जीवन्मुक्ति, सहजा, तुर्या। इन सब शब्दों की अलग-अलग व्याख्या की गई है। जिस प्रकार जल का संयोग प्राप्त कर नमक उसमें मिल कर पूर्ण समत्व को प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार आत्मा और मन का ऐक्य जब हो जाय तब समाधि की प्राप्ति कही गई है। इस समाधि के और लक्षणों में कहा गया है कि जब प्राण भली प्रकार क्षीण हो जाता है और मन का भी लय हो जाता है उस समय (मन और प्राण की) जो समरसता उत्पन्न होती है उसे समाधि कहते हैं। राजयोग की सहायता से अपरोक्षानुभव या आत्मस्वरूप के ज्ञान से जो मुक्ति या निर्विकारस्वरूप में जो अवस्थिति होती है उसे राजयोगसमाधि कहते हैं। इसी प्रकार सहजा समाधि को 'प्रदीपिका' के टीकाकार ने 'तुर्यावस्था' कहा है। लयसमाधि में विविध आसनों, कुंभकों एवं विचित्र करणों या हठयोगी क्रियाओं से जब पराशक्ति कुंडलिनी प्रबुद्ध हो जाती है, तब प्राण का शून्य में या ब्रह्मरन्ध्र में लय हो जाता है। सहजा समाधि या सहजावस्था में कुंडलिनी शक्ति का बोध हो जाता है तथा संपूर्ण कर्मों का त्याग हो जाता है। इन दोनों के होने पर सहजावस्था स्वयमेव उत्पन्न होती है। जब प्राण सुषुम्ना में प्रवाहित होने लगता है तब

---

[1] सि० सि० प०, २. ३९।

[2] गो० सं०, २. १३, १६।

[3] गो० सं०, २. ८५-८८; यो० मा०, १७६-१७८।

मनोन्मनी सिद्ध होती है। मन का लय होने पर पवन का लय होता है अथवा पवन का लय होने पर मन का लय होता है। इस प्रकार पवन का जब प्रवेश सुषुम्ना में होता है तब मन भी उसमें प्रवेश करता है जिससे मनोन्मनी की सिद्धि होती है।[१]

इस षडंग योग या अष्टांग योग के दो उद्देश्य बताये जा चुके हैं—प्रथम गौण उद्देश्य है सिद्धदेह या दिव्यदेह की प्राप्ति तथा दूसरा मुख्य उद्देश्य है द्वैताद्वैतविवर्जित नाथरूप में अवस्थान या पिंडपद का परमपद में समरसीकरण। संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर उपस्थित किये हुए इस नाथयोग में दो प्रधान साधन हैं—हठयोग और लययोग। इसी प्रकार दो कार्य हैं—विन्दुरक्षा और नादानुसंधान। नाथयोगसाधना का मुख्य तत्व है प्राणायाम। प्राणायाम से ही विंदुरक्षा और नादानुसंधान दोनों ही साधित होते हैं। विन्दुरक्षा या विंदुस्थैर्य का संबन्ध अजरामरता, दिव्यदेह या ओंकारदेह की प्राप्ति से है। प्राण के साधित होने पर मन स्थिर और अचंचल हो जाता है और मन के अचंचल होने पर विन्दुरक्षा या विंदु साधित होता है। परिणामतः कालजय की सिद्धि होती है। नादानुसंधान प्राण-नाड़ी-चक्र-साधना से संबन्धित है। मन्त्रसाधन भी इसमें समन्वित है। इस मन्त्रसाधना में ओंकार और अजपा गायत्री दोनों ही गृहीत हैं। इन दोनों का संबंध प्राणसाधना से है। कुंडलिनी का जागरण प्राण की प्रेरणा से होता है। सुषुम्ना में प्राण का प्रवेश कुंडलिनी का सुषुम्ना में प्रवेश है। प्राणसाधन से संपूर्ण नाड़ीजाल का शोधन होता है। उसी के द्वारा जाग्रत की हुई कुंडलिनी से पंचमहाभूत शुद्ध होते हैं तथा अन्ततोगत्वा उनका कुंडलिनी की काया में लय होने पर, आगे ऊर्ध्वक्रम में, वे कुंडलिनी के शरीर के साथ परम शिव के साथ समरसत्व को प्राप्त करते हैं। पंचभूतों का लय पंचभूतात्मक शरीर के सारतत्वों का कुंडलिनी शरीर में, जो इस पिंड का आधार है, लय है। इस क्रिया की व्याख्या के लिये, तांत्रिक या शैव शाक्त योग के कुंडलिनीयोग के लययोग में विवेचित संपूर्ण सिद्धान्त को दृष्टिगत रखा जा सकता है। नाथसिद्ध कहते हैं कि यह स्थूल शरीर भी मुक्ति को प्राप्त करता है।

ऊपर बताया गया है कि गौण लक्ष्य ओंकारदेह प्राप्ति है जिसकी उपलब्धि बिना विन्दुरक्षा के संभव नहीं। एक दूसरा उपाय भी इस अजरामरता के साधन के लिये है। इसे संक्षेप में 'अमृत साधन' कह सकते हैं। हठयोग के

---

[१] हठयोगप्रदीपिका, ४. ३-१२, २०, २१-२५।

ग्रंथों में स्थूल हठयोगी क्रियाओं के रूप में इसका विस्तृत वर्णन मिलता है। योगमार्तण्ड में चन्द्रामृतपान का विस्तृत वर्णन उपलब्ध है। उसे वहाँ प्रत्याहार साधन के अन्तर्गत वर्णित किया गया है। यहाँ प्रत्याहार की, हठयोग के अनुसार परिभाषा करते हुए कहा है कि चन्द्रामृतमयी धारा का भास्कर से प्रत्याहरण ही प्रत्याहार है। विशुद्धिचक्र सोमकलात्मक है। इसके ऊपर के मार्ग से, रवि के मुख का वर्जन कर जल (सोमजल) स्रवित होता है। प्राणापान के विधान से रसनातालु के मूल से जो योगी सतत भाव से प्राण का पान करता है, वह निर्जर हो जाता है। इस अमृत को सोमकलाजल कहा गया है।[१] इसी को शब्दान्तर से खेचरी मुद्रा, अमरवारुणीपान, गोमांसभक्षण आदि कहते हैं।

संस्कृत ग्रंथों के आधार पर विवेचित नाथयोग के विभिन्न प्रसंगों में अनेक बार समता-विषमता के संकेत के साथ यह कहा गया है कि तांत्रिक योग और नाथयोग में अति घनिष्ठ संबंध है। नाथयोग और तांत्रिक योग दोनों ही षट्कर्म, प्राणायाम, मुद्रा, आसन, लययोग, ध्यान, समाधि को साधन के रूप में स्वीकार करते हैं। तांत्रिक ग्रंथों में स्पष्टतया वैन्दव देह या सिद्ध देह या दिव्य देह तथा अद्वैतोपलब्धि को लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया गया है। इसका कारण यह है कि तंत्रशास्त्र क्रियाप्रधान होता है तथा वह वस्तुतः अद्वैतवाद का ही क्रियापक्ष है। परमतत्व परमशिव स्वयम् शक्तियुक्त है जिसके विषय में ऐसी शैवाचार्यों की स्थापना है कि इकाररूप शक्ति के अभाव में शिव शव हैं। शक्ति के बिना वे कुछ भी करने में समर्थ नहीं हैं। नाथ-पंथियों के नाथ स्वयम् परमतत्व और नाथों के उपास्य हैं तथा सृष्टि-संहार के कार्य से उनका कोई संबंध नहीं है। नाथ लोग इस नाथरूप से अवस्थान या पिंडपद का परमपद में समरसीकरण अपना लक्ष्य मानते हैं। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि नाथयोग म विंदुरक्षा और विन्दुस्थैर्य का अत्यधिक महत्व है। उसी प्रकार तांत्रिक योग में प्रारंभिक अवस्था में ब्रह्मचर्य आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य माना गया है। पंचमकारों के वीराचारगत अर्थों पर विचार करने से प्रतीत होता है कि उस अवस्था में विंदुप्रयोग का साधनात्मक महत्व स्वीकार किया गया है। वीर साधक और उसकी मुद्रा से संबंधित मैथुन पर पर्याप्त भ्रम लोगों में फैला है; कारण तद्गत साधन का रहस्य केवल कुछ जनों तक ही सीमित है। नाथमत के अनुसार 'ऊर्ध्वरेतस्' होना सिद्ध का

---

[१] यो० मा०, ११९-१३१; गो० सं०, २.४३-५१।

एक लक्षण माना गया है। नाथमत के ब्रह्मचर्यपरायण योगसाधन में, उसमें गृहीत वज्रोली, सहजोली, अमरौली आदि साधनाओं को देखकर, संदेह प्रकट किया गया है। तांत्रिक साधन योगभोगप्रदाता है। भोग का आध्यात्मिक क्षेत्र में इंद्रियोपभोग अर्थ नहीं किया जाना चाहिए। हमारी दृष्टि में भोग का यहाँ अर्थ विश्वैश्वर्य का भोग होना चाहिए। यह ऐश्वर्य या विभूति भी योगोपलब्ध है। इसकी उपलब्धि सिद्ध केवल लोककल्याण के लिये निसर्गतः अनायास ही कर लेता है। किन्तु इन सबका स्वामी होते हुए भी वह इनसे सर्वथा निर्लिप्त रहता है। कुछ विद्वानों ने नाथयोग के अन्तर्गत योग और भोग के तत्व को एक साथ स्वीकार करते हुए भोग का संभवतः ऐसा अर्थ किया है जिससे इन्द्रियोपभोग की ओर संकेत होता है। कहा गया है, यह कहा नहीं जा सकता कि गोरक्षनाथ के साथ उपदिष्ट योगमार्ग का जो रूप आजकल उपलब्ध है उसमें योग और भोग को साथ ही साथ पा लेने की साधना एकदम लुप्त हो गई है। वज्रयान और सहजयान का प्रभाव रह ही गया है।[1] महीधर शर्मा ने गोरक्षपद्धति नामक ग्रन्थ प्रकाशित कराया है। इसमें किसी और ग्रन्थ से वज्रोली और सहजोली मुद्राएँ संगृहीत हैं। ये दोनों ही निश्चित रूप से वज्रयानी और सहजयानी साधनाओं के अवशेष हैं।[2] द्विवेदीजी ने बताया है कि गोरक्षसंहिता के अनुसार इस मुद्रा के लिये केवल दो वस्तुएँ आवश्यक हैं—वशवर्तिनी स्त्री और प्रचुर दूध। इस साधन में योग-साधन के नियमों के बिना पालन के ही सिद्धि मिलती है। यह साधन भोग के आनंद को देकर भी मुक्ति देता है। एक दूसरी बात जो द्विवेदीजी ने लक्षित की है, वह यह है कि मूल गोरक्षपद्धति में ये श्लोक अन्तर्भुक्त नहीं हैं और कहाँ से लिये गये हैं, यह भी नहीं बतलाया गया है। 'यहाँ केवल इतना ही निर्देश कर दिया गया है कि इस मार्ग में उक्त साधनाएँ रेंगती हुई और सरकती हुई घुस आई हैं या फिर हटाने के अनेक प्रयत्नों के बावजूद भी छिपी हुई रह गई हैं। गोरक्षपद्धति में डा० द्विवेदी द्वारा बताये गये श्लोकों के प्रसंग का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि टीकाकार ने स्वयम् प्रक्षिप्त श्लोकों को मुद्राओं, वेधों, करणों आदि की विशेष 'प्रकटता' के लिये ग्रंथांतर से उपस्थित किया है।

---

[1] द्रष्टव्य तां० बौ० सा० सा० में युगनद्ध और मैथुन का विवेचन जिसके अनुसार यह पूर्णतया आध्यात्मिक साधन है, आधिभौतिक या आधिदैविक नहीं।

[2] नाथ संप्रदाय, डा० द्विवेदी, पृ० ७२।

दूसरी बात जो वज्रोली आदि जैसी साधनाओं के संबंध में ज्ञातव्य है, वह है प्राणायाम की। वज्रोलीसाधन में यद्यपि स्त्रीसंग विहित है तथापि वीर्यचंचलता को उसमें भी उपसर्ग ही माना गया है। विंदुपात पर भी प्राण से विंदु और रज के मिश्रित द्रव के आकर्षण का विधान किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है ऊर्ध्वरेतस्साधन में ही यह एक सोपान है जिसमें भोग का सामान्य अर्थ बिल्कुल ही नहीं लिया जा सकता। हम अपना मत पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं। वीराचारसाधन में मैथुन में इस प्रकार का बंधन है। वस्तुतः तांत्रिकों के इस साधन में शक्तिशिवाद्वैत ही लक्ष्य है जब कि नाथों में रसेश्वर-साधन के प्रभाव से कालजय प्रमुख है। इस साधन के लिये जो मुख्य बातें बताई गई हैं उनमें मुख्य तो यह है कि बिना प्राणजय के इसका साधन नहीं हो सकता। कालजय इस साधन का मुख्य लक्ष्य है। स्त्रीसंग ऊर्ध्वरेता होने के लिये, विन्दुस्थैर्य के लिये ही विहित है। इस साधन में भी अनिवार्य आदर्श विंदु-रक्षा ही है क्योंकि वही संपूर्ण नाथयोग का मेरुदण्ड है। बिना उसके सिद्ध देह की उपलब्धि असंभव है। इतिहास और परंपरा के शोध के आग्रह से यहाँ बौद्धों के साधन का संक्रमण ढूँढ़ना निरर्थक है। मूल बात तो यह है कि जिस रूप में गोरक्षपद्धति के प्रक्षिप्त श्लोकों में यह साधन वर्णित है, उस रूप में तांत्रिक योगग्रंथों में भी इस नाम का कोई साधन नहीं है। संभवतः बौद्धों में भी इस प्रकार की कोई मुद्रा और साधना नहीं है। अनुमान यह है कि टीकाकार ने ही उपाय-प्रकार-भेद उपस्थित करने की दृष्टि से उन श्लोकों को उद्धृत किया है! गोरक्षसंहिता, सिद्धसिद्धान्तपद्धति, अमरौघशासनम् आदि ग्रंथों में इस साधन का इस रूप में वर्णन नहीं मिलता। ऐसे साधन नाथयोगियों के योगसाधन की प्रकृति से मेल नहीं खाते। यहाँ इस प्रबंध में हमारा लक्ष्य तांत्रिक योग और नाथ योग का तुलनात्मक अध्ययन उपस्थित करना नहीं है। अतः केवल कुछ स्थूल संकेत कर विषय को स्थगित कर दिया गया है। तांत्रिक योग के उन्हीं विवरणों को प्रमुखता दी गई है जिनका नाथयोग से कुछ न कुछ संबंध प्रतीत होता है। तांत्रिक साधनगत सिद्धान्त उसी रूप में नाथयोगी ग्रंथों में विस्तृत नहीं मिलते। अतः उनका विस्तृत परिचय तांत्रिक योग के ही प्रसंग में दे दिया गया है। इस संपूर्ण विवेचन को पढ़ते समय उन सिद्धान्तों को दृष्टि में रखना आवश्यक है अन्यथा यहाँ सिद्धान्त के अभाव का अनुभव होगा। आगे के विवेचनों में भी ये व्याख्याएँ और सिद्धांत भी आवश्यक होंगे।

नाथयोग की सर्वप्रमुख विशेषता है ब्रह्मचर्य पालन और विंदुरक्षा। प्रारंभ में संयमपूर्ण जीवन व्यतीत करने का ही उपदेश है किन्तु बाद में निर्लिप्तत्व प्राप्त कर लेने पर भोगयुक्त संसार में योगानुभव करने का उपदेश दिया गया है। 'भोग में योग', 'भोग से योग' और 'भोग और योग साथ-साथ' में से नाथपंथी लोग 'भोग में योग' के सिद्धान्त को स्वीकार करते प्रतीत होते हैं। तांत्रिक लोगों में ये तीनों सिद्धान्त क्रमशः पशु, वीर और दिव्य साधन में गृहीत प्रतीत होते हैं। नाथ सिद्ध भी अपनी पूर्णावस्था में तृतीय सिद्धान्त को स्वीकार करता है। उसका जीवन उसका उच्चतम निदर्शन है किन्तु द्वितीय सिद्धान्त 'भोग से योग' उसे बिलकुल स्वीकार नहीं है।

दसवाँ परिच्छेद

नाथपंथी हिंदी रचनाओं में नाथ योग

१—नाथयोग की भूमिका

अभी तक नाथयोग के परिचय के लिये अनेक ग्रंथों में तथा शोधप्रबंधों में बहुत कुछ लिखा जा चुका है, किन्तु इन सबके अध्ययन से यह बात अधिक स्पष्ट हो गई है कि उनमें दो प्रकार की न्यूनताएँ दिखाई पड़ती हैं—(१) उनमें या तो केवल संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर विवेचन कर विषय को छोड़ दिया गया है या नाथपंथी संस्कृत ग्रंथों में विवेचित योग के साथ उसको स्पष्ट करने वाले तांत्रिक योग का मिश्रण कर दिया गया है। यद्यपि यह स्पष्ट है कि तांत्रिक योग और नाथयोग का घनिष्ठ संबंध है तथा तांत्रिक योग ने नाथयोग को पर्याप्त रूप से प्रभावित किया है तथापि इन दोनों में कुछ भेद भी है, जिनकी ओर किंचित संकेत उचित प्रसंग में किया जा चुका है। अतः इन दोनों योगों का पृथक् पृथक् विवेचन पहले ही उपस्थित कर दिया गया है और उसके प्रकाश में, तदनुक्रम में, नाथयोग का परिचय केवल उसके संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर पूर्णतया पृथक् रूप से दिया गया है। (२) दूसरी बात, जिस पर विशेष सूक्ष्मता और विस्तृत अध्ययन के साथ परम्परा को ध्यान में रखते हुए विचार नहीं किया गया है, वह हिन्दी रचनाओं के आधार पर नाथयोग का निरूपण है। इसी प्रकरण में यह बात भी प्रायः छूट सी जाती रही है कि बहुचर्चित संस्कृत ग्रंथों के नाथयोग की परंपरा में हिन्दी ग्रंथों के नाथयोग का क्या स्थान है। प्रायः हमारे मन में यह प्रश्न उठता रहा है कि क्या हिंदी ग्रंथों का नाथयोग संस्कृत ग्रंथों के नाथयोग की परम्परा में स्थान रखता है या नहीं! क्या उसकी क्रियाएँ, विचार और आदर्श उससे भिन्न हैं! इन प्रश्नों अभावों, उपेक्षाओं को ध्यान में रखकर यहाँ हिन्दी ग्रंथों में उपलब्ध नाथयोग, का, संस्कृत ग्रंथों में विवेचित योगक्रम के अनुसार परिचय उपस्थित किया जा रहा है। यह अध्ययन केवल उन्हीं नाथयोगी रचनाओं के आधार पर दिया गया है जिनका परिचय हम द्वितीय परिच्छेद में दे चुके हैं।

पहले ही कहा गया है कि तंत्र क्रियाप्रधान साधन है अर्थात् शास्त्र अथवा शास्त्रीय ज्ञान का इसमें महत्व नहीं है। इसमें साधक के क्रियापक्ष की प्रधा-

नता है जिससे देवता चैतन्य होकर साधक के लक्ष्य की सिद्धि करता है। लक्ष्य है अद्वयोपलब्धि। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिये साधक पशु, वीर और दिव्य भावों और सप्ताचारों के क्रम से होकर अद्वयभाव को प्राप्त करता है। मकारों के अर्थ भावों के अनुसार भिन्न-भिन्न हैं। पशुभाव के साधकों के लिये नियमित आचारों और नैमित्तिक आचारों और संयमों का तंत्रों में प्रतिपादन मिलता है। इसमें साधनाक्षेत्र में अग्रसर होने के लिये, अधिकार की उपलब्धि के लिये क्रमशः इन आचारों का पालन आवश्यक माना गया है तथा साथ ही उस जीव के मलापसारण में, जो तत्वतः और निसर्गतः शुद्ध होता है, कंचुकों के निकृन्तन में, ये आचार सहायक भी होते हैं। इसी प्रकार हिन्दी के नाथ साहित्य में योग के प्रारम्भिक साधकों के लिये आचार और संयम आवश्यक माने गये हैं। संपूर्ण हिन्दी नाथ साहित्य को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि इस तत्व की ही इसमें प्रधानता है। संस्कृत ग्रंथों के नाथयोग में इन आचारों को तो प्रारंभ में आवश्यक माना ही गया है किन्तु उसके बाद की क्रियाओं का अपेक्षाकृत अधिक सविस्तर वर्णन उपलब्ध है। दूसरी बात यह है कि ये हिन्दी की नाथ-योगी रचनाएँ किसी एक विषय के शास्त्रीय और व्यवस्थित विवेचन-प्रतिपादन के लिये नहीं लिखी गई हैं। ये फुटकर या मुक्तक रचनाएँ हैं जिनमें नाथ-योगियों ने क्रियाओं की ओर एक इंगित कर अपने योगात्मक अनुभवों, सिद्धियों, परिणामों, उपलब्धियों का परिचय दिया है। अतः किसी एक साधनांग का पूरा विवेचन करने के लिये संपूर्ण साहित्य को देखना आवश्यक हो जाता है। अतः नाथपंथियों के हठयोगी ग्रंथों में जहाँ क्रियाओं का विस्तृत विवेचन और फलों की महत्ता का परिचय दिया गया है, वहाँ हिन्दी रचनाओं में केवल उनकी ओर एक संकेत भर मिल जाता है। इसका कारण यह है कि संस्कृत नाथयोगी ग्रंथ साधकों के लिये लिखे गये हैं जब कि हिन्दी रचनाएँ सामान्य दीक्षित-अदीक्षित व्यक्तियों को दिये गये उपदेश या योगमाहात्म्य का परिचय देनेवाली रचनाओं के रूप में उपस्थित की गई प्रतीत होती हैं। संक्षेप में, संस्कृत ग्रंथ शास्त्रग्रंथ या योगशास्त्र या योगविद्या ग्रंथ हैं तथा हिन्दी रचनाएँ योगसाधन की परम्परा में उपदेशप्रधान रचनाएँ हैं। उनके आधार पर एक पूरे साधनक्रम की व्यवस्था को उपस्थित करने के लिये संस्कृत ग्रंथों में दिये गये नाथयोग को ध्यान में रखना पड़ता है। तात्पर्य यह है कि हिन्दी रचनाओं में विधान का विस्तृत उपस्थापन प्रधान नहीं है, प्रधान है योगप्रधान आचार, साधन के संकेत तथा उनका माहात्म्य एवं फल।

किन्तु इसका अर्थ यह कथमपि नहीं कि हिन्दी रचनाओं के नाथयोग में योग के क्रियाप्रधानपक्ष का बिलकुल वर्णन नहीं मिलता। उनमें उपदेशों की प्रधानता है। इसीलिये डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इनकी नैतिक उपदेशात्मकता के सम्बन्ध में कहा है—'संस्कृत में योगियों के जो भी ग्रंथ उपलब्ध हैं, वे आधारण तौर पर साधना मार्ग के ही व्याख्यापरक ग्रंथ हैं। उनसे योगियों के दार्शनिक और नैतिक उपदेशों का आभास बहुत कम मिलता है। हिन्दी में गोरखनाथ के नाम से जो अनेक पद और सबदी आदि प्रचलित हैं, उनमें भी साधनमार्ग की व्याख्या की गई है पर उनमें योगियों के धार्मिक विश्वास, दार्शनिक मत और नैतिक स्वर का परिचय अधिक स्पष्ट भाषा में मिलता है। इस दृष्टि से इन हिन्दी रचनाओं का विशेष महत्व है।'[1] द्विवेदी जी के इन वाक्यों के सभी विचारों से सहमत होना यद्यपि कठिन है तथापि इतना सर्वथा स्वीकार्य है कि हिन्दी रचनाओं में धार्मिक विश्वास और नैतिक स्वर प्रबल हैं। इन विचारों को ध्यान में रखकर यहाँ हम हिन्दी रचनाओं के आधार पर नाथयोग को उपस्थित करेंगे। इस विवेचन में नाथयोग के प्राप्य या लक्ष्य और षडंग-अष्टांग योग के पूर्व विवेचन को अवश्य ही ध्यान में रखना चाहिए।

संस्कृत ग्रंथों में जिस प्रकार नाथयोग के अन्तर्गत चार प्रकार के हठ, मंत्र, लय और राजयोग नाम के योगों का वर्णन मिल जाता है, उसी प्रकार हिन्दी रचनाओं के योग में द्वैत का अद्वैत में परिवर्तन कर उससे भी अतीत होना स्वीकार किया गया है। नाथयोग का लक्ष्य केवल शिवशक्तियोग नहीं, अपितु इस अद्वययोग से भी अतीत द्वैताद्वैत-विवर्जित अवस्था है जिसके लिये चार प्रकार के योगों से समन्वित योग को, जिसमें प्राणायाम प्रधान है, साधन के लिये स्वीकार किया गया है। इस योग से सिद्धदेह और उसी में निर्वाण पद की प्राप्ति आवश्यक स्वीकार की गई है। योग का मूल है दया और दान। सिद्ध देह, जिसमें जरा नहीं आती, जिसकी मृत्यु नहीं होती, जिसके विंदु का पात नहीं होता, पिंडपात नहीं होता, को प्राप्त करने के लिये नाथयोगी किसी कष्ट-साधन को स्वीकार नहीं करते। कष्टदायक योग उनकी दृष्टि में निरर्थक है। इससे मूल तत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। उनके अभीप्सित योग के साधन के लिये स्वांग की, बाह्य 'भेष' धारण करने की कोई आवश्यकता नहीं। जो लोग स्वांग में तो पूरे हैं और ज्ञान में अधूरे हैं, जिनका पेट हमेशा खाली रहता है या हमेशा भूखे रहते हैं तथा दंभ में ही अपनी शूरता समझते हैं, वे पाखंडी

[1] नाथ संप्रदाय, डा० द्विवेदी, पृ० १८२।

हैं, वे योगसाधन नहीं कर सकते। उन्हें शरीर का तरल सारतत्व सुरक्षित रखना चाहिए। निस्सार शरीर से योगसिद्धि नहीं मिलती। इसके लिये कथनी-बदनी या वाद-विवाद भी निरर्थक है।[१] इससे स्पष्ट है कि नाथ-योगियों की हिन्दी रचनाओं में योग का जो रूप है, वह सदाचार और ब्रह्मचर्य-प्रधान है। दूसरी बात जो स्पष्ट होती है, और आगे भी जिसकी व्याख्या की गई है, वह यह कि इन रचनाओं में भी नाथयोगी केवल हठयोगी नहीं हैं। उनका लक्ष्य है शरीर में ही निर्वाणपद, परमपद, नाथपद या द्वैताद्वैतविर्वाजित पद प्राप्त करना। अतः हठयोग को ही ये चरम साधन के रूप में स्वीकार नहीं करते। हठयोग स्वयं समाधियोग का साधक है।

२—गुरुशिष्यवाद और अधिकारभेदवाद—

नाथों के इस साधन में 'निगुरा' या गुरुहीन होकर या बिना दीक्षा के प्रवेश नहीं किया जा सकता। अतः इनके साधन का प्रथम तत्व सद्गुरु ही है। गुरु ज्ञान का पूर्ण सत्य रूप होता है। वह (ब्राह्मी) संपत्ति का अक्षय भंडार है। गुरु के ज्ञान के वाण से ही निहत होकर शिष्य का अति चंचल और अति बलशाली मन स्ववश होता है। वही एकमात्र ज्ञान का प्रदाता है, वह ज्ञानस्रोत है। शिष्य को अन्यत्र कहीं शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। अनेक प्रकार के दोषों से भरे ऊबड़-खाबड़ भवमार्ग में गुरु ही एक-मात्र प्रकाश देनेवाला है।[२] योगसाधन में निष्णात होने पर जब सर्वतोभावेन सम्यक् योग सिद्ध हो जाता है तब गुरु अपनी कृपा से निर्वाण-समाधि की रक्षा करता है। यह समाधि स्वानुभूतिगम्य सत्य है। गुरु इस सत्य का पूर्ण साक्षात्कार करता है और दूसरों की इस प्रकार की अनुभूति की भी उसी को प्रतीति होती है।[3] त्रिगुणात्मिका माया को, जो विभिन्न प्रकार के रूपों को धारण कर जीवों के चित्त को विमूढ़ कर देती हैं, केवल गुरु ही दिखाने में, उसके रहस्य को समझाने में, सत्य और माया का विवेक कराने में समर्थ हो सकता है। स्वानुभूतिगम्य सत्य के वाचक शब्द का केवल गुरु ही प्रत्यक्ष करा सकते हैं, उनकी अनुभूति करा सकते हैं। यह गुरु तत्व ही नाथ तत्व है जो मायाविमूढ़, सुषुप्त जगत् के लिये नित्य जाग्रत रहता है क्योंकि बिना

---

[१] गो० बा०, पृ० १२६, १६४, १५, ६४, ८७, १३९।

[२] गो० बा०, पृ० ६४, ३०, १२६, १२८, १५४।

[3] वही, पृ० ७४, १०।

उनकी कृपा के ब्रह्मसाक्षात्कार या परमपद की प्राप्ति असंभव है।[१] ज्ञान का उद्गिरण होने पर शिष्य का पार्थिव संबंध छूट जाता है, प्रपंचयुक्त पृथ्वी से उसका संबंध नहीं रहता। इस प्रकार की ग्रंथि का भेदन ही ब्रह्मग्रंथि का भेदन है। इस ग्रंथि का स्थान मूलाधार है जिसमें महाभूत पृथ्वी तत्व की स्थिति मानी जाती है। ब्रह्मा की पार्थिवी सृष्टि से संबंधविच्छेद का कार्य गुरु ही करता है। भिन्न शब्दों में यह पाशविमोचन या कुंडलिनी का जागरण है। प्रकारान्तर से इसे साधनमार्ग में प्रवेश या दीक्षा भी कहा जाता है। दीक्षा एक ही बार नहीं होती। यद्यपि संस्कृत-हिंदी नाथ साहित्य में इस दीक्षा तत्व का स्पष्ट और विस्तृत विवेचन नहीं मिलता तथापि तीन ग्रंथियों की क्रियाओं से, जो आज्ञाचक्र तक समाप्त हो जाती हैं, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। इसी प्राथमिक आवश्यकता को अति महत्वपूर्ण मानते हुए गोरखनाथ ने ऐसे गुरु के आराधन का उपदेश दिया है जो ब्रह्मग्रंथि से जीवशक्ति को छुड़ा दे।[२]

यहाँ अधिकारभेदवाद की भी थोड़ी चर्चा कर लेनी चाहिए। इन ग्रंथियों का भेदन हो जाने के बाद गुरु का कार्य समाप्त हो जाता है। तब शिष्य या साधक गुरु के बिना भी अपना साधन-क्रम अग्रसर कर सकता है। पिछले योग संबंधी विवेचनों से यह बात स्पष्ट है कि गुरु और शिष्य का प्रत्यक्ष संबंध केवल आज्ञाचक्र तक ही सीमित है। जब शिष्य तीन ग्रंथियों से, जिन्हें कभी-कभी तीन गुणों का विषम बंधन भी कहते हैं, मुक्त हो जाता है, तब वह अपनी अर्जित शक्ति और संस्कार से अग्रसर होता है। किन्तु आज्ञाचक्र तक साधक के लिये गुरु अनिवार्य तत्व है। आज्ञाचक्र के बाद की स्थिति में गुरु और शिष्य की काया एक ही रहती है। उसमें वे ही ३६ तत्व रहते हैं, जो गुरु में सामान्यतया होते हैं।[३] किन्तु इसके पूर्व की स्थितियों में अधिक तत्व और न्यून तत्व के आधार पर गुरु-शिष्य का संबंध स्थिर रहता है। गोरक्षसिद्धान्त-संग्रह में स्पष्टतया कहा गया है कि गुरु में ३६ तत्व और शिष्य में ३२ तत्व होने चाहिएँ। अर्थात् अधिक तत्वों से संपन्न होने पर गुरु तथा न्यून तत्वों से संपन्न होने पर शिष्य कहा गया है। अंतर के चार तत्वों को आयत्त कर लेने पर शिष्य साधनक्षेत्र में अकेले भी रमण कर सकता है।[४] चार तत्वों

---

[१] वही, पृ० १६६, १३७, १४९।

[२] वही, पृ० १५०-१५१।

[३] वही, पृ० १९५।

[४] वही, पृ० ५५।

को उपलब्ध कर शिष्य परमतत्व की ओर निर्बाध भाव से अग्रसर होता है। ओंकार निराकार परमतत्व या परमपद की उपलब्धि हो जाने पर, उस स्थिति में, न गुरु रहता है न चेला, सभी एकरस हो जाते हैं।[१] सामान्य जन किस प्रकार साधक पद को प्राप्त करें तथा उससे अग्रसर हों, इसके लिये आठ परीक्षाएँ नाथयोगी आचार्यों ने निश्चित की हैं। शिष्य के ३२ तत्वों की इनमें परीक्षा ली जाती है। इनका वर्णन गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह के आधार पर पहले ही किया जा चुका है। अधिक तत्व और 'हींण' (हीन, न्यून) तत्व का होना इसका मूल सिद्धान्त है। शेष चार तत्व कौन-कौन से हैं, इनका वर्णन न तो संस्कृत ग्रंथों में उपलब्ध है न हिन्दी ग्रंथों में। ३२ लक्षणों या तत्वों का वर्णन हिन्दी की नाथपंथी रचनाओं में इस प्रकार है—

१—ग्यान पारछ्या—निरलोभी, निहचल, निरबासीक (निवासी), निःशब्द।

२—विचार पारछ्या—निरमोही, निरबंध, निसंक, निरवांन।

३—बमेक (विवेक) पारछ्या—सरबंगी, सावधांन, सति, सारग्राही।

४—संतोष पारछ्या—अजाचीक, अवांछीक, अमांनीक, अस्थिर।

५—निरबल (निरालंब) पारछ्या—निहितरंग, निहिपरपंच, निरदुंदी, निरलोप।

६—सहज पारछ्या—सुमती, सुहृदी, सीतल, सुषदाई।

७—सील पारछ्या—सुचि, संजम, सति (?), श्रोता।

८—सुंनि पारछ्या—ल्यौ, लषि (लक्ष्यम्), ध्यांन, समाधि।

संस्कृत ग्रंथों में दिये गये पुरुष के ३२ लक्षणों के साथ तुलना करने पर इनके क्रम तथा तत्वों में अंतर दिखाई पड़ता है। गोरक्षसिद्धांतसंग्रह के अनुसार क्रम इस प्रकार है—ज्ञान, विचार, विवेक, निरालंब, संतोष, शील, सहज, शून्य। तत्वों की दृष्टि से ज्ञान परीक्षा में, गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह में निरलोभी के स्थान पर 'निरालंब' दिया गया है। विचार परीक्षा में 'निरवान' के स्थान पर निर्विषय है। विवेक परीक्षा में 'सति' के स्थान पर 'सत्' है। निरालंब परीक्षा में 'निर्लोप' के स्थान पर 'निर्लेप' है। इसी प्रकार शील परीक्षा में 'सति' के स्थान पर शांत तथा सहज परीक्षा में 'सुमती' के स्थान पर 'स्वभाव' लिखा गया है। हस्तलेखों में इसे 'अष्ट परिछ्या' और 'बत्तीस लछन' दोनों कहा गया है। दूसरी महत्वपूर्ण बात जो इस 'बतीस लछन' में कही गई है, वह यह है कि इन परी-

[१] वही, पृ० १३०।

क्षाओं को अष्टांग योग की परीक्षा कहा गया है तथा इन लक्षणों को भक्ति का लक्षण कहा गया है।[१] इन दोनों उक्तियों के विषय में स्पष्ट रूप से कुछ भी कहना कठिन है, क्योंकि नाथों में पांतजल योग का अष्टांग बिलकुल उसी रूप में स्वीकार नहीं किया गया है। दूसरे, नाथों में गुरुभक्ति तथा प्रकारान्तर से नाथभक्ति भी मिलती है, किन्तु भक्ति इनका मुख्य साधन नहीं है। इस प्रकार की कोई भी उक्ति गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह में नहीं है। इन लक्षणों से चार अधिक लक्षण जिस अवधूत योगी में मिलें केवल उसे ही गुरुरूप में स्वीकार करने का उपदेश मिलता है। यदि ऐसा गुरु न मिले तो उनसे कम लक्षण-वाला गुरु नहीं करना चाहिए। अधूरे गुरु को लेकर अपने कुल का नाश नहीं करना चाहिए।[२]

नाथयोग का गौण लक्ष्य पिंडसिद्धि या कायसिद्धि या सिद्धदेहप्राप्ति है। गुरु के मिलने पर, साधनक्षेत्र में अग्रसर होने पर ही, पिंडसिद्धि होती है, पुनः शरीरपात नहीं होता। यदि पूरे गुरु के मिलने पर भी पिंडपात हो तो गुरु को लज्जित होना चाहिए। यह पिंडपात ही गुरु का अधूरापन या असफलता है।[3] गुरु के, इस प्रकार तीन कार्य दिखाई पड़ते हैं—प्रथम पूरण, द्वितीय पोषण और तृतीय बोधन। नाथपंथी हिन्दी रचनाओं में गुरु जहाँ एक ओर शिष्य की जीवात्मशक्ति (कुंडलिनी) को ब्रह्मग्रंथि से मुक्त करता है वहीं वह उसे सांसारिक प्रपंचों से भी मुक्त करता है। दूसरी ओर अग्रसर होने पर वह 'चार तत्वों' की, जो शिष्य में कम होते हैं, पूर्ति भी करता है। तीसरा कार्य वह ज्ञान प्रदान करके संपन्न करता है। संस्कृत ग्रंथों में ये कार्य स्पर्श, दृक्पात आदि के द्वारा साध्य बताये गये हैं। ज्ञानोद्गिरण ही शिष्य का बोधन है और चार तत्वों की आप्ति ही शिष्य का पूरण कार्य है। शिष्य की शक्तियों को उज्जीवित रखना भी गुरु का ही कार्य है। इसे ही हम पोषण कार्य कह सकते हैं।

नाथपंथी हिन्दी रचनाओं में गुरुमुख, कामिनीमुख, मनमुख आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। नाथयोगियों को केवल गुरु ही श्रेय है। गोरखनाथ ने स्पष्टतया कहा है कि साधक या मनुष्य के लिये केवल दो ही मार्ग हैं; या

---

[१] वही, पृ० २४९।

[२] वही, पृ० ११५।

[3] वही, पृ० ६०; पृ० १२ भी द्रष्टव्य।

तो वह गुरु की ओट में रहकर अपना उद्धार करे या कामिनी की क्रोड़ में रहकर अपना विनाश करे। इसी प्रकार गुरुमुख (गुरु की ओर उन्मुखता) की महत्ता भी विस्तार से प्रतिपादित की गई है। संस्कृत ग्रंथों के समान ही हिन्दी रचनाओं में पिंडपरिचय के लिये गुरुमुख की शरण में जाने को कहा गया है। मनमुख को पिंड का परिचय नहीं होता। इसलिये मनमुख (मन की ओर जीव की या जीवशक्ति की उन्मुखता) गुरुमुख का विरोधी है। योगसाधन के क्षेत्र में अग्रसर होने के लिये मनमुख का त्याग तथा गुरुमुख का आश्रयग्रहण करना चाहिए। वस्तुतः गोरक्ष के अनुसार मन की चार स्थितियाँ होती हैं—आशा, उदासीनता, गुरु और कमिनी। इन चार में से मन सदैव किसी न किसी एक के आश्रय में रहता हैं।[१] स्पष्ट ही उदासीनता और गुरु का आश्रय प्रधान साधनानुकूल उपाय हैं। बिना गुरुमुख के आशारूप आपत्ति तथा संदेहरूप शोक, जो दोनों ही रोग हैं, दूर नहीं होते। इसके लिये गुरुमुख में 'जरणा' (जलना, शुद्ध होना) आवश्यक है। यह तबतक संभव नहीं है जबतक गुरुमुख का अभिज्ञान न हो। अभिज्ञान हो जाने पर ही 'जरणा' होता है, और तत्पश्चात् अनेक प्रकार की विपत्तियाँ और रोग नष्ट हो जाते हैं। (तदुपरान्त ही आत्मपरिचय या पिंडपरिचय होता है)। इसी गुरुमुख से अलक्ष्य पुरुष का अभिज्ञान होता है। उसी की सहायता से साधक अजर और अमर स्कंधवाला होता है। उसी से साधक में संतोष की उत्पत्ति होती है। उसी की प्रेरणा से साधक में विचारशक्ति जागरूक होती है तथा उसी से ध्यान सफल होता है।[२]

गोरक्ष के अतिरिक्त अन्य नाथपंथियों की रचनाओं से भी गुरु संबंधी इन्हीं विचारों की पुष्टि होती है। मीड़कीपाव ने परिशुद्ध कंचन के समान काया और शुद्ध भावों तथा विचारोंवाले कस्तूरी के समान विशिष्ट मन को गुरु के चरणों में समर्पित कर देने का उपदेश दिया है जिससे अखंड मंडल उस साधक की मढ़ी के रूप में परिवर्तित हो जायगा तथा पिंड या काया जरामरण से क्षीण नहीं होगी।[3] चरपटनाथ ने अपनी सबदी में बतलाया है कि त्रिभुवन के प्राणी इस शरीर से प्रेम करते हैं। उससे अलग उनकी दृष्टि जाती ही नहीं।

---

[१] वही, पृ० ५८, ६१, ५७।

[२] वही, पृ० ७४ छं० २२५, पृ० ५ छं० १३, पृ० १५ छं० ३८, पृ० १२३ छं० १, पृ० १९४ छं० ६४, पृ० १९३ छं० ८८।

[3] नाथ सिद्धों की बानियाँ, पृ० ११८ छं० ७०६।

इसीलिये उन्हें मृत्यु प्राप्त होती है। इन मोहान्ध प्राणियों में केवल एक वही व्यक्ति उद्धार पाता है जो गुरुमुख में सचेत होता है।[१] संसार की श्रेष्ठतम वस्तुओं का निर्वचन करते समय देवल जी ने पारख (परीक्षा लेनेवाले) और सबदी को अतुलनीय और अनुपम बतलाया है।[२] यह परीक्षा की क्रिया अति गुह्य है। विरले ही इस क्रिया को जानते हैं। साधु की परख भी इसी प्रकार हीरे की परख की तरह ही कठिन होती है।[३]

गुरु-शिष्य संबंधी जो परिचय ऊपर दिया गया है, उसमें गुरुमुख, जरणा और पारख शब्द अत्यधिक महत्वपूर्ण एवं व्याख्येय हैं। जिन प्रसंगों में गुरु-मुख शब्द का प्रयोग गोरखबानी में मिलता है, वहाँ डा० बड़थ्वाल ने उसका अर्थ क्रमशः 'गुरु का मुख' 'गुरु की ओर अभिमुख' (मनमुख का विपरीत), 'गुरु के मुख से मिली शिक्षा', 'गुरु के मुख से निकले वचन', 'गुरु के मुख से निकली शिक्षा', 'गुरु के मुख से प्राप्त ज्ञानोपदेश', 'गुरु का मुख' आदि किया है।[४] इसी प्रकार गोरखबानी में 'मुख'—संयुक्त कुछ अन्य शब्द भी व्यवहृत हुए हैं, जैसे—मनमुख, आशामुख, ऊर्ध्वमुख, ज्ञानमुख, गगनमुख, चित्तमुख, निराशमुख, पवनमुख, सुरतिमुख, सहजमुख, शक्तिमुख आदि। इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शब्द 'मनमुख' है। डा० बड़थ्वाल ने 'मनमुख' का अर्थ 'मन की ओर' किया है। 'गुरुमुख' शब्द के जितने अर्थ हैं उनमें 'गुरु के मुख से निकले, मिले या प्राप्त उपदेश, शिक्षा या ज्ञान' का अर्थ प्रधान है। अन्य अर्थ 'गुरु का मुख' और 'गुरु की ओर अभिमुख' हैं। आजकल सामान्य सांप्रदायिक क्षेत्रों में 'गुरुमुख' होने का अर्थ गुरु से दीक्षा लेना या मंत्र लेना हुआ करता है। हमारी दृष्टि में इन सभी अर्थों पर विचार करने के बाद 'गुरु की ओर' अर्थ सामान्यरूपेण उचित प्रतीत होता है। लक्षणा की सहायता से 'गुरु की ओर उन्मुख होना' या 'अभिमुख होना' या 'गुरु के उपदेशों की ओर अभिमुख होना' अर्थ लिया जा सकता है। इस सामान्य अर्थ की पुष्टि 'मनमुख' शब्द के, डा० बड़थ्वाल के अर्थ से भी होती है। इसी प्रकार अन्य 'मुखांत' शब्दों के अर्थों को भी उद्घाटित किया जा सकता है जिसके लिये पर्याप्त स्थान की

---

[१] वही, पृ० ३४ छं० २००।

[२] वही, पृ० ६३ छं० ४१३।

[३] वही, पृ० ७९ छं० ५०२।

[४] गो० बा०, पृ० ५७ छं० १६८, ६१. १८०, ७४. २३५, ५. १३, १५. ३८, २३. ६४, १०१. २, १२३. १।

आवश्यकता है। यहाँ हम केवल 'मनमुख' और 'गुरुमुख' शब्दों के अर्थ बता कर अन्य 'मुखान्त' शब्दों के अर्थ की दिशा की ओर संकेत कर देना चाहते हैं।

इस प्रसंग में दूसरा महत्त्वपूर्ण शब्द 'जरणा' है। 'जरणा' शब्द का गोरखबानी में जिन-जिन स्थलों में प्रयोग हुआ है, वहाँ डा० बड़थ्वाल ने क्रमशः 'पचानेवाला या जीर्ण करनेवाला', 'जीर्ण करना', 'पचना', 'पूर्ण रूप से स्वायत्त करना' अर्थ किया है।[१] किंचित समान ध्वनियुक्त एक अन्य शब्द 'जारणा' है जिसका प्रयोग 'सिद्धसिद्धांतसंग्रह' में 'मलमूत्र के जारण' या 'जलाना' के अर्थ में किया गया है।[२] 'जारण' शब्द शुद्ध संस्कृत शब्द प्रतीत नहीं होता। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'जरणा' शब्द का अर्थ, डा० बड़थ्वाल के समान ही 'जीर्ण होना' किया है।[3] इस शब्द के अभी तक के प्राप्त प्रयोगों में यह शब्द प्रायः 'गुरुमुख' शब्द के सप्तम्यंत रूप के साथ ही आया है। अतः इस प्रसंग में इस शब्द का अर्थ गुरु के उपदेशों या दिये गये मंत्र में साधक या शिष्य का अपने को जीर्ण कर देना, अपने अहं को जीर्ण कर देना, लीन कर देना, एकरस हो जाना हो सकता है। यह एक प्रकार से लयसाधन या गुरु के मंत्रों या उपदेशों के साथ अभेद स्थापित करने का साधन है। इस प्रकार के अर्थग्रहण से कहीं भी असंगति प्रतीत नहीं होती। 'गुरुमुख होना' और 'जरणा' में एक क्रम दिखाई पड़ता है। 'जरणा' वस्तुतः एक ऊर्ध्वस्थिति है। जिसमें गुरु के मंत्र का श्रवण-ग्रहण नहीं अपितु साक्षात्कार या उपलब्धि होती है। इस जरणा का सीधा संबंध 'रहनी' से है।

इस गुरु-शिष्य प्रकरण से ही संबद्ध एक तीसरा शब्द 'पारख' है। गोरख बानी में एक स्थान पर 'पारिषा' शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ टीकाकार डा० बड़थ्वाल ने 'परख' (या पहचान) किया है।[४] अन्य नाथसिद्धों ने 'पारख', 'पारिख' और 'परख'—इन तीन शब्दों का प्रयोग किया है। डा० द्विवेदी ने 'पारख' का संबंध 'परीक्षा' से बताया है।[५] अन्यत्र 'परष' से सम्बन्धित शब्दों को देखने से 'परख', परीक्षक, पारखी आदि अर्थ ही उचित प्रतीत होते हैं। इस प्रकार 'परष' या 'पारष' शब्द का सीधा सम्बन्ध 'परीक्षा'

---

[१] गो० बा०, पृ० ७८ छं० २५२, ५.१३।

[२] सिद्धसिद्धांतसंग्रह—द्वितीयोपदेश, श्लो० १९।

[3] नाथ संप्रदाय, पृ० १८४।

[४] गो० बा०, पृ० ८९।

[५] ना० सि० बा०, पृ० ६३ छं० ४११, ४१३; ७९. ५०२-५०५।

शब्द से प्रतीत होता है। 'पारष' और 'पारिष' शब्दों का जहाँ प्रयोग है, वहाँ सीधा अर्थ परीक्षक या परीक्षा लेनेवाला अर्थ संगत प्रतीत होता है। नाथों के सिद्धांत के अनुसार परीक्षकत्व गुरु का एक विशेष लक्षण माना गया है। ऊपर ३२ लक्षणों से संबंधित जो परिचय दिया गया है उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि गुरु परीक्षक, पूरक और बोधक तीनों है। इसके अतिरिक्त भव-रोगनाशक, शिष्य के लिये मंगलदायक, परमकल्याणमय, दिव्यदृष्टिदाता आदि के रूप में भी उसे स्मरण किया गया है। ऐसा पिछले परिचय से स्पष्ट है। पहले बतलाया गया है कि नाथमत केवल सूक्ष्मवेद प्रणव को मानता है क्योंकि वही नाद-परंपरा है। अन्य शास्त्र, वेद, पुराण आदि विन्दु-परम्परा में हैं, इसलिये वे उन्हें मान्य नहीं। इस सूक्ष्मवेद का अनुभव करानेवाले योग-शास्त्र, जो स्वयं नादपरंपरा में है, की युक्ति बतलानेवाला गुरु ही है। इसलिये नाथमत गुरुकृपा को ही स्वीकार करता है, शास्त्रकृपा या आत्मकृपा को नहीं। नाथमत मानता है कि कोई भी साधक बिना गुरु की कृपा को प्राप्त किये, केवल स्वतंत्र आत्मशक्ति से साधनक्षेत्र में प्रवेश नहीं कर सकता। नाथों में गुरुकृपा ही ईश्वरकृपा या नाथकृपा है। इन दोनों में अभेद है।[१]

ऊपर संस्कृत ग्रंथों के आधार पर योग का विवेचन करते समय नाथपंथी अधिकारभेदवाद का अनुमान किया गया है। जिन तथ्यों के आधार पर वहाँ यह सिद्धान्त अनुमित है, वे ही हिन्दी ग्रन्थों में भी मिलते हैं। तांत्रिकों में जैसे पशु और वीर भाव के साधन इस वाद विशेष के आधार पर निर्णीत होते हैं उसी प्रकार नाथों की हिन्दी रचनाओं में भी परीक्षाओं के आधार पर अधिकार-निर्णय होता है। इन्द्रियपाशों से बँधे मनमुख तथा योगमार्ग में आरूढ़ न होनेवाले जीवों को पशु तथा काया गढ़ को जीत कर, काया को पूर्ण रूप से परिशुद्ध कर उसे अपने अधिकार में रखने वाले साधक को शूर-वीर कहा गया है। जैसे तंत्र के पशुपति पाशच्छेदन कर कृपा से उसे साधनयोग्यता प्रदान करते हैं, उसी प्रकार साधक नाथरूप सद्‌गुरु की कृपा से साधनक्षेत्र में प्रवेश का अधिकारी हो जाता है। यह रज्जुच्छेदन ही वास्तव में दीक्षा, गुरुमुख, शक्तिपात आदि है। जहाँ-जहाँ साधन-क्रम में अग्रसर होने के लिये दीक्षा का विधान है, प्रत्येक उच्चतर साधन के लिये साधक की परीक्षा या अधिकार आदि का बन्धन है, वहीं इस वाद की सत्ता स्वीकार की जा सकती है। नाथों की संस्कृत रचनाओं में परीक्षा के ३२-३६ तत्वों के अतिरिक्त नाद की जो चार

---

१ गो० बा०, पृ० ११५।

क्रमिक अवस्थाएँ स्वीकार की गई हैं, वे ही हिन्दी रचनाओं में भी मिलती हैं। हिन्दी रचनाओं में विशेषता यह है कि उन्हें योगी की साधन की अवस्थाओं से संबद्ध कर दिया गया है। गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह में जिस प्रकार आरंभ, घट, परिचय और निष्पत्ति नाम की चार अवस्थाएँ मानी गई हैं, उसी प्रकार गोरखबानी में भी; किन्तु यहाँ स्पष्टतया 'आरम्भ जोगी', 'घट जोगी', 'परचा जोगी' और 'निसपत्ती जोगी' का विवेचन मिलता है।[१] चार प्रकार के योगियों के अतिरिक्त, अन्यत्र, चार प्रकार के शून्यों का भी कल्पना है।[२] तात्पर्य यह है कि नाथमत के साधनक्रम में क्रमशः विकाश को ध्यान में रखकर साधक की विभिन्न परीक्षाएँ तथा साधना की विभिन्न अवस्थाएँ बतलाई गई हैं। साथ ही, तदनुसार, विकासक्रम को ध्यान में रखते हुए योगियों के चार प्रकार बतलाये हैं तथा उनका संबंध नादों एवं शून्यों से भी स्पष्ट होता है।

नाथपंथी संस्कृत ग्रंथों के आधार पर हमने गुरूशिष्यवाद और अधिकारभेदवाद का निरूपण कर यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि बिना इन दोनों का अनुपालन किये साधक का साधनक्षेत्र में प्रवेश असम्भव है। सांसारिक लक्ष्य--धर्म, अर्थ, काम की प्राप्ति के लिये 'अधिकार' की अपेक्षा नहीं रहती। विलक्षण अलौकिक पद की उपलब्धि के लिये सामान्य जन योग्य नहीं हैं। इसीलिये गुरु परीक्षा कर अधिकार प्रदान करता है। गुरुशिष्यविवेचन में ही यह स्पष्ट कर दिया गया है कि गुरु ही परम तत्व का ज्ञान कराता है, शिष्य को साधनमार्ग में अग्रसर करता है। इस साधनमार्ग या नाथों के योगमार्ग का लक्ष्य निश्चित कर साधक की साधनसंपत्ति का विचार कर गुरु शिष्य को अधिकार प्रदान करता है। साधक की साधनसंपत्ति का संक्षिप्त परिचय पहले, विभिन्न परीक्षाओं के प्रसंग में दिया जा चुका है।

नाथयोग का लक्ष्य—

नाथों के योग के लक्ष्य का निर्वचन यहाँ किया जा रहा है। पहले ही बताया गया है कि नाथों का योग योगयुक्त ज्ञान को स्वीकार करता है अर्थात्

---

[१] गो० बा०, पृ० ४७-४८, इं० १३६-१३९।

[२] इस प्रसंग के लिये निम्न स्थल देखे जा सकते हैं—गो० बा० १७७. १८, ४०. ११४, ६२. १८३, ७१. २१६; नरवै बोध; आत्मबोध—१७४. ५; मच्छीन्द्र गोरषबोध—१८६. २; ना० सि० बा० ७०. ४४०-४४१, ७१. ४४५, ९६. ५८८।

योग की सहायता से उपलब्ध ज्ञान को स्वीकार करता है। मूल बात यह है कि नाथों के योग में केवल कायासाधन ही नहीं, मानसिक या चैतसिक साधन भी है। प्रथम द्वितीय का साधनोपाय है। दूसरे शब्दों में आधिभौतिक और आधिदैविक साधन का लक्ष्य आध्यात्मिक साधन है। आगे इसे प्रकाशित किया गया है।

नाथयोग का चरम लक्ष्य या परमतत्व विलक्षण है। पहले बौद्ध नागार्जुन ने परमतत्व को 'शून्य' शब्द से संकेतित किया था। यह तत्व चतुष्कोटि-(न वह सत् है, न वह असत् है और न वह सत्-असत् दोनों नहीं है आदि) विनिर्मुक्त माना गया था। विद्वानों ने नागार्जुन की परमतत्व के निर्वचन की इस पद्धति को उपनिषदों की नेति-नेति से तुलित करते हुए इस पद्धति को अति प्राचीन बताया है। उपनिषद् के ऋषियों की अनुभूतिप्रधान इस पद्धति का पालन गोरख ने भी किया था और कहा था कि वह न सत् है और न असत् है, वह न असत् है और न सत्। ऐसा साधन वे इसलिये कहते हैं कि वह तत्व प्रत्यक्ष करणों की पहुँच के बाहर है और दूसरे हमारी कोई भी इन्द्रिय उसे ग्रहण नहीं कर सकती। यदि उसका कोई ध्वन्यात्मक प्रत्यक्ष होता है तो केवल गगनशिखर सहस्रार में। अतः ऐसे तत्व का, जिसका केवल ध्वन्यात्मक प्रत्यक्ष होता है, जो अगम है, अगोचर है उसका नाम भला कैसे रखा जा सकता है। इसका कारण यह है कि 'असत्' वस्तु का कोई रूप नहीं हो सकता, अतः इसका नाम भी नहीं रखा जा सकता। यह 'सत्' भी नहीं है क्योंकि वह अगम और अगोचर है। जो वस्तु गोचर है, उसका कोई रूप होगा और उस रूप का बोधक कोई नाम भी रखा जा सकता है एवं उसका वर्णन भी किया जा सकता है। अर्थात् नाथों का परम तत्व सत्-असत् विवर्जित अनिर्वचनीय एवं निर्नाम है।[1]

नाथों का साधन इसी अदृष्ट परमतत्व का दर्शन और उसी में चित्त का आधारण है। उसकी सत्ता-असत्ता-अनिर्वचनीयता, नामरूपराहित्य के निर्वचन का प्रयत्न करते हुए गोरख ने कहा है कि वह परमतत्व यहाँ ही सत्तावान् है और यहीं वह असत्तावान् भी है। सत्तावान् तो इसलिये है कि यहीं उसने तीनों लोकों की रचना की है। वह अगोचर है, इसलिये वह लुप्त कहा गया है एवं असत्तावान् प्रतीत होता है। उसकी सत्ता इससे सिद्ध है कि वह साथ ही रहता है और चूँकि वह हमसे लिप्त नहीं होता, इसलिये वह 'अलग' कहा

[1] गो० बा०, पृ० १ छं० १।

गया है। ऐसे विलक्षण तत्व के लिये साधना कर साधक योगेश्वर हो गये।[1] वह एक ऐसा तत्व है जिसका उचित रूप में निर्वचन वेद, धर्मग्रंथ तथा अन्य धार्मिक वाणियों के समूह भी नहीं कर सके। उन सबने उसे आडंबर में ढँक लिया। उसे कोई प्रकाशित नहीं करता, वह स्वयं अपने को शब्द के रूप में प्रकाशित करता है जिसका ग्रहण या साक्षात्कार केवल अलक्ष्य तत्व के जानकार ही कर सकते हैं। उस अलक्ष्य तत्व का ज्ञान वेद, शास्त्र, किताब (धर्मग्रंथ) कुरान या अन्य पुस्तकों से नहीं हो सकता। ये सब बंधन में डालनेवाले एवं अज्ञान उत्पन्न करनेवाले हैं। इस परमपद या तत्व का ज्ञानी विरला योगी ही हो सकता है।[2] गोरख के अनुसार प्रत्येक शरीर ब्रह्मसाक्षात्कार के लिये बनाया गया है जिसमें ब्रह्मबीज का प्रस्फोट हो सके। जिस क्यारी में ब्रह्मसाक्षात्कार का बीज प्रस्फुटित हो जाता है या जो घट इस प्रस्फोट से निष्पन्न हो जाता है वह गोरक्षकाया या सिद्धकाया है। यह बात गोरख ने प्रत्येक घट के लिये कही है कि कच्चे शरीर में या कमजोर क्यारी में ब्रह्म साक्षात्कार के बीज को प्रस्फुटित करनेवाला ज्ञानजल नहीं टिक सकता।[3] अतः ज्ञानजल को ग्रहण करने के लिये परिपक्व शरीर की आवश्यकता है जिसका एकमात्र साधन योग है। इस प्रकार नाथपद के साक्षात्कार के लिये ज्ञान तथा चिर ज्ञान के लिये योग से उपलब्ध परिपक्व शरीर की आवश्यकता बतलाई गई है।

गोरख ने पहले ही बतलाया है कि परम विलक्षण अनिर्वचनीय तत्व का साक्षात्कार नाद रूप में गगनशिखर में होता है। अर्थात् उसकी अनुभूति इस शरीर में ही होती है। संसार प्रपंचयुक्त है, द्विविधा और द्वैत से ग्रस्त है। परमतत्व इन सबसे मुक्त है। जो इसे प्राप्त कर लेता है, वह अपने को संसार से मुक्त कर लेता है। उसकी प्राप्ति योगयुक्त ज्ञान से होती है। इस साधन से ही उस निर्वाण पद परमतत्व का साक्षात्कार इस पिंड में होता है।[4] इस प्रकार साधक के शरीर की महत्ता स्वीकार की गई है। क्योंकि परम तत्व नाथपद का साक्षात्कार इस पिंड के गगनशिखर में नादरूप में होता है, अतः

---

[1] गो० बा०, पृ० २, छं० २-३।

[2] वही, पृ० २ छं० ४; पृ० ३ छं० ६।

[3] वही, पृ० १४ छं० ३७।

[4] गो० बा०, पृ० १६४–'जोग जुक्त जब पाओ ग्याना। काया षोजौ पद नृबाना।'

इस पिंडगत गगनशिखर की जब तक स्थिति है तब तक साक्षात्कार स्थिर है। अतः इस काया की रक्षा होनी चाहिए। योग से शरीर को शुद्ध करना, योग से ही शरीर की रक्षा करना और उसी से परमपद का गगनशिखर में साक्षात्कार करना, नाथमत के अनुसार, योगी के लिये आवश्यक है। इसलिये नाथों के योग में कायासाधन और देहविजय का इतना निर्वचन मिलता है। काया संबंधी जितने भी वर्णन गोरखबानी में मिलते हैं, उनमें सर्वत्र यही एक ध्वनि सुनाई पड़ती है कि काया का जय अति कठिन है, इसे जीतने पर ही सिद्धि की प्राप्ति हो सकती है।[१] यह जय तबतक कठिन है जबतक पिंडज्ञान न हो जाय। साधक के लिये दो तत्व मुख्य हैं—पिंड और ब्रह्मांड। ब्रह्मांड से पिंड का संबंध साधक को जानना ही चाहिए साथ ही, पिंड में क्या है? इसका भी पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। पहले हम नाथपंथी संस्कृत ग्रंथों के योग के विवरण में बतला चुके हैं कि नाथों का लक्ष्य नाथस्वरूप से अवस्थान या पिंडपद का परमपद में समरसीकरण है। ये सिद्धान्त हिन्दी रचनाओं में भी मिलते हैं।

योगी के साध्य में तथा अन्य साधकों के साध्य में अन्तर है। योगियों का साध्य विलक्षण, अनिर्वचनीय एवं केवल योगगम्य है। वह सत् असत्, द्वैत-अद्वैत से विवर्जित तो है ही, साथ ही वह मस्जिद-मंदिर से भी परे है, अतीत है। उसका साक्षात्कार पंडितों का अधकचरा ज्ञान नहीं करा सकता और आसन-प्राणायामादि के उपद्रव से भी वह अनुभवगम्य नहीं हो सकता। उस परमात्मा का दर्शन आत्मा में जलमध्यगत चंद्रबिंब की तरह होता है। उसकी प्राप्ति शून्य-स्थान सहस्रार में ही होती है। वह अतीत शून्यस्थान में ही समाविष्ट रहता है।[२] यही परमपद है। उसे कई बार निरंजन भी कहा गया है क्योंकि वह अंजन से सदैव निर्लिप्त रहता है। माया अंजन है। निरंजन को प्राप्त करने के लिये अंजन का त्याग करना चाहिए। इस निरंजन का साक्षात्कार गगनशिखर में होता है। नाथ तत्व ही निरंजन तत्व है। उस परमपद में न उदय है न अस्त, न रात न दिन। वह सबमें निरन्तर भाव रखता है, चराचरमयी सृष्टि में अभिन्न भाव से रहता है। उसकी न

---

[१] गो० बा०, पृ० ९५ सं० १, ११४.२, ११५.३, ११६.१, १३४.१, १३३.८, १३५.४, १३८.३, १७१.८ आदि।

[२] गोरखबानी, पृ० २५, सं० ६८, ४७.१३४, ४४.१२४, १२४.४, १९३.६१।

कोई डाल है न मूल, न वह स्थूल है न सूक्ष्म। उस निरंजन रूप की प्राप्ति का उपाय है उन्मनी समाधि।[१] यह ओंकार परब्रह्म निराकार है जिसका सेवन दशमद्वार नें पहुँचकर योगी करता है। अहंकार इस मार्ग में बाधा-स्वरूप है।[२] अर्थात् अहंकार का त्याग कर देने पर योगी दशम द्वार में पहुँच कर निराकार ओंकार परब्रह्मतत्व का साक्षात्कार करता है। दशम द्वार, ब्रह्मरन्ध्र, सहस्रार, केदार, कैलाश, गगनशिखर आदि सभी इस पिंड में हैं और साधक उस अवस्था में पहुँच कर पिंड में ही आत्मा में परमात्मा, परमपद, ब्रह्म निराकार निरंजन नाथ का साक्षात्कार करता है। उसी में जीव लीन हो जाता है, समत्व प्राप्त कर लेता है, नाथस्वरूप हो जाता है। इस ब्रह्म के रूप को कहीं-कहीं अचिन्त्य भी बतया गया है।[३]

यह तत्व पिंड और ब्रह्मांड, दोनों, में समान रूप से व्याप्त है। किन्तु जीव प्रपंचनिरत रहते हुए इन दोनों में समान रूप में एक ही तत्व की व्याप्ति को नहीं जानता। अतः पिंडगत और ब्रह्मांडगत परमात्मा के एकत्व या समरसत्व या समत्व का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। यह जानना चाहिए कि पिंड और ब्रह्मांड में कोई अन्तर नहीं है। पिंडज्ञान से ही ब्रह्मांडज्ञान होता है। उसी को दूसरे शब्दों में कहा जाता है कि अपने को, अपनी आत्मा को, अपने पिंड को पहिचानो, उससे परिचय प्राप्त करो, सारे ब्रह्माण्ड का ज्ञान हो जायगा, कुछ भी अपरिचित नहीं रहेगा, सभी परिचित लगेंगे। इसी को गोरख ने 'पिंड में ब्रह्माण्ड की खोज' कहा है जिससे सभी सिद्धियों की उपलब्धि होती है।[४] पिंड और ब्रह्मांड के एकत्वज्ञान या पिंडब्रह्मांडवाद के संबंध में संस्कृत ग्रंथों में विवेचित योग का परिचय देते समय भी इस प्रकार के विचार व्यक्त किये गये हैं। प्रकृत विषय से संबद्ध जो दूसरी बात यहाँ कहनी है, वह यह है कि संस्कृत ग्रंथों में नाथों के साधन का लक्ष्य पिंडपद का परमपद में समरसीकरण बतलाया गया है। ऊपर कहा गया है कि परमपद या ब्रह्म का साक्षात्कार गगनशिखर या सहस्रार में होता है। गोरखबानी में ब्रह्मांड शब्द का प्रयोग दो अर्थों में हुआ प्रतीत होता है—१. बाह्य चराचर सृष्टि,

---

[१] गो० बा०, ६८.२०७, ७३.२३०, १६.४४, ११६. टेक, ३९.११, ८८.३।

[२] गो० बा०, ३९.११३, १२७.२, १२९. टेक।

[३] गो० बा०, २०२.१२४।

[४] गो० बा० १०१.२, ११६. १. २३।

२. गगनमण्डल जहाँ शिव का निवास है। जीव का पिंडगत केन्द्रविन्दु मूलाधार में है जहाँ जीवशक्ति कुंडलिनी निवास करती है। विभिन्न संस्कृत ग्रंथों से हमें यह मालूम है कि जब कुंडलिनी उत्थित होकर सहस्रार की ओर अग्रसर होती है तब जीवात्मा भी उसके साथ अग्रसर होकर अन्ततोगत्वा एकत्व प्राप्त कर शिवस्वरूप हो जाती है। कहा गया है कि निराकार परमतत्व पिंड और ब्रह्माण्ड (सृष्टि) में समानरूपेण व्याप्त है। पिंडगत और ब्रह्माण्डगत परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है। जब कुंडलिनी शक्ति उलट कर ब्रह्मांड में पहुँचकर शिव से मिलन प्राप्त करती है तव कहा जा सकता है यह पिण्डशक्ति कुंडलिनी ब्रह्मांडगत महाकुंडलिनी पद को प्राप्त हो गई अथवा जीव शिवपद को प्राप्त हो गया। यही समरसीकरण है। इसी को, दूसरे शब्दों में पाताल की गंगा को ब्रह्माण्ड में चढ़ाना कहते हैं।[1]

इस प्रकार इस लक्ष्य संबंधी विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि नाथ लोग निरंजन निराकार सत्-असत्-विवर्जित नाथ तत्व का साक्षात्कार या नाथरूप से अवस्थान अपना मुख्य लक्ष्य मानते हैं। इसे ही दूसरे शब्दों में पिंडपद को परमपद या ब्रह्मपद में समरसीकरण भी कहते हैं। इस मुख्य लक्ष्य की प्राप्ति के लिये योगयुक्त ज्ञान का आश्रय लेना चाहिए तथा इस शरीर में भी उस परमतत्व का साक्षात्कार करना चाहिए। यह पिण्ड ही उस परमतत्व का परम पवित्र मंदिर है। गगनशिखर में उसका साक्षात्कार होता है। अतः पिण्डरक्षा भी आवश्यक है जिससे इस पिंड में साक्षात्कार स्थिर हो तथा चिर ज्ञान उपलब्ध हो। इसके लिये परिपक्व देह की आवश्यकता बतलाई गई है। इस प्रकार मुख्य लक्ष्य की सिद्धि के लिये गौण लक्ष्य के रूप में कायसिद्धि या परिपक्व देह को स्वीकार किया गया है।

ये दोनों लक्ष्य अन्य नाथसिद्धों की रचनाओं में भी मिलते हैं। पहले के विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि नाथों की दृष्टि में 'नाथ' ही परमतत्व है। नाथ लोग उन्हें 'परमानंदमय' और विश्वगुरु मानते हैं। वे निरंजन और विश्वव्यापक हैं। इस तत्व के विवेचन में आगे कहा गया है कि वह सृष्टि के आदि में था फिर भी उसके आदि के विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इसीलिये वह तत्व अनादि है। वह महानन्दरूप है। न वह साकार है न निराकार। वह इन दोनों के अतीत है। यदि उसे निराकार कहा जाय तो वह आकार धारण करने की इच्छा (सिसृच्छा) के विरुद्ध बात हो सकती

[1] गो० बा०, ७१. २१७, २. २, १७४. ५।

है। यदि उसें साकार कहा जाय तो उसकी व्यापकता की हानि होती है। इसीलिये कर्ता वही है जो द्वैताद्वैतरहित अनिर्वचनीय सदानंद नाथ है।[१] क्रम से उस कर्ता ने इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया शक्तियों को प्रकट किया। क्रियाशक्ति से ही, तत्पश्चात् पिंड-ब्रह्मांड की उत्पत्ति हुई। इन पिंड-ब्रह्माण्डों में ही अव्यक्त निर्गुण तत्व स्वरूप से व्यापक हो गया। इस प्रकार व्यक्त आनन्द-विग्रहस्वरूप पिण्ड-ब्रह्माण्डों में विहार करने लगा। वह तत्व पहले द्वैताद्वैत-रहित नाथ था। बाद में व्यवहार के लिये वह अद्वैत निर्गुण नाथ हुआ और पुनः उसने द्वैत रूप आनन्द विग्रहात्मक नाथ रूप को ग्रहण किया। यह द्वैताद्वैत-रहित नाथ तत्व महासिद्धों का लक्ष्य है।[२] इस तत्व को गोपीचन्द्र ने गोरख की तरह ही अचिन्त्य पद कहा है। उसे उन्होंने अमरौघशासनम् की तरह जलचन्द्रबिम्ब एवं दर्पणछाया से उपमित किया है।[३] इस प्रकार नाथ-सिद्धों का मुख्य लक्ष्य नाथपद प्राप्त करना है किन्तु पिण्डसिद्धि को अन्य नाथ रचनाकार उपेक्षणीय नहीं मानते। उनके अनुसार पिण्डसिद्धि, पिण्डरक्षा, पिण्डशुद्धि तथा उसका परमपद में समरसीकरण भी योगी के लिये आवश्यक है। उनका कहना है कि पिण्ड में जरा नहीं आनी चाहिए। जरा पिण्ड का सबसे बड़ा शत्रु है। इसी प्रकार योगी का सबसे प्रधान लक्षण उसका दृढ़-स्कन्धत्व है। इसीलिये वे रचनाओं में स्कन्धरक्षा के लिये बार-बार सचेत करते हैं तथा पिण्डपात के कारणों पर पुष्कल प्रकाश डालते हैं।[४]

अतः नाथों के योग में उन उपायों को महत्व दिया गया है जिनसे अजरा-मरता प्राप्त होती है। बिना उन उपायों का उपयोग किये पिण्डपात होना अवश्यंभावी है।[५] इस तरह गोरख के समान ही अन्य नाथसिद्ध भी यही मानते हैं कि जीवन के चरम लक्ष्य के रूप में नाथपद को स्वीकार करना चाहिए तथा उसकी पूर्ति के लिये पिण्डसिद्धि और पिण्डरक्षा परमावश्यक है। यह पिण्डसिद्धि स्वयं अपने में कोई लक्ष्य नहीं है। पिण्डपद के परमपद के समरसीकरण को, जैसा संस्कृत ग्रंथों में स्वीकार किया गया है, उसी प्रकार

---

[१] सि० सि० प० अ० व० ना० यो०, पृ० ७२, ७२-७३।

[२] वही, पृ० ७३, ७२।

[३] ना० सि० बा०, पृ० १९ छं० १०८।

[४] सि० सि० प० अ० व०, पृ० ७७, ८० ७८. २१; ना० सि० बा०, २९. १६७, १०१. ६१७।

[५] ना० सि० बा०, पृ० ३१-३२. १८५-१८६, ५१. ३५०।

गोरखवानी की तरह नाथपंथियों की अन्य रचनाओं में भी उसे स्वीकृत दी गई है। सिद्ध की स्थिति में पहुँचने पर, अजयपाल ने बतलाया है, पिण्ड से ब्रह्मांड हुआ या ब्रह्माण्ड से पिण्ड हुआ, कुछ कहा नहीं जा सकता। यदि पिण्ड और ब्रह्माण्ड को सम कर ले अथवा समरस कर ले तो पिण्ड में ही ब्रह्माण्ड समाविष्ट हो जाय।[१] इससे यह स्पष्ट होता है कि पिण्ड और ब्रह्माण्ड में इतनी समता है कि इन दोनों में कौन किससे उत्पन्न हुआ, यह निश्चयतः कहना कठिन हो जाता है। इन दोनों की समता संबंधी इन विचारों का निष्कर्ष यह है कि इन दोनों में समरसत्व या एकत्व स्थापित कर पिण्ड में ही ब्रह्माण्ड का साक्षात्कार किया जाय। हम पहले ही बतला चुके हैं कि ब्रह्माण्ड शब्द का लक्ष्यार्थ परमपद भी है। पिंडगत ब्रह्माण्ड परम तत्व के साक्षात्कार का स्थान है। अनन्त व्यापक परमतत्व समुद्र के समान है जिसमें यह पिंड उसकी एक क्षुद्र बूँद के समान है। पिंड और ब्रह्माण्ड में जिस प्रकार की एकता है, उसी प्रकार की एकता, समता, समतत्वता बूँद तथा समुद्र में है। एक ही परमानन्दमय ब्रह्माण्ड में परम स्वच्छन्द आनन्दमय अनन्त पिण्डों की क्रीड़ा नाथों का अभीष्ट है। अनन्त ब्रह्माण्ड में, पिंड की लीनता, एकत्व, समरसत्व, परमानन्दमयी क्रीड़ा नाथों का श्रेय है। ब्रह्माण्ड का पिंड में दर्शन तथा ब्रह्माण्ड में पिंड की क्रीड़ा वस्तुतः पिंड ब्रह्माण्ड की रसक्रीड़ा है, लीला है। मीड़कीपाव के अनुसार संसार में और सब कुछ गड़बड़ है, केवल यह क्रीड़ा ही सारवती है।[२] दूसरे शब्दों में यह 'घर' (पिंड, मूलाधार, पृथ्वी) और 'अघर' (ब्रह्माण्ड, सहस्रार, आकाश) का परस्पर परिचय है, संवाद है, प्रगाढ़ भावस्थापन है।[3]

४—पिंडब्रह्माण्डवाद

इस क्रीड़ा के लिये सबसे पहले यह आवश्यक है कि साधक अपना ही ज्ञान प्राप्त करे। लोग अपने को नहीं जानते और सारे संसार को जानने दौड़ते हैं या उसके जानने का दावा करते हैं। सिद्धों का मत है कि पहले अपने को जानो। अन्तस्साधन या अध्यात्मिक साधन के मूल स्रोत उपनिषदों में 'आत्मानं विद्धि' जैसे वाक्य कह कर इसी तथ्य की ओर संकेत किया गया है। इसे तंत्रों ने, नाथसिद्धों ने अपने अनुकूल ग्रहण किया है और कहा है कि यह

---

[१] वही, पृ० ७-८ छं० ४७ तथा उसका पाठभेद।

[२] वही, पृ० ११८, छं० ७०७।

[3] गो० बा०, पृ० १०२-१०३, ३४।

पिंड ही सारे रहस्यों का बीज है। ब्रह्मांडगत सम्पूर्ण रहस्यों का स्रोत यही है। इसलिये वे बार-बार पिंडज्ञानी योगी के लक्षणों को दुहराते हैं। संस्कृत ग्रंथों में 'पिंडसंवित्ति' का बड़े विस्तार से वर्णन किया गया है। नाथपंथी हिन्दी रचनाओं में भी पिंडज्ञान का वर्णन मिलता है। पिंडब्रह्मांडवाद के सिद्धान्त के पूर्ण निर्वचन के लिये पिंडवर्णन सर्वथा आवश्यक है। पिंड के परमपद में समरसीकरण अर्थात् पिंड में ही ब्रह्मांड के साक्षात्कार के लिये इस साढ़े तीन हाथ के ही शरीर में भ्रमण करने की आवश्यकता है। इस शरीर को विभिन्न स्थलों पर नगर, पाटण, गढ़, कोट आदि शब्दों से अभिहित किया गया है और यह भी कहा गया है कि नगर या पाटण के मार्गों या वीथियों का जबतक ज्ञान न हो जाय तबतक उस पर विजय नहीं प्राप्त की जा सकती। जो इस पाटण में भलीभाँति भ्रमण करता है, वह वस्तुतः शिवपुरी में संचरण करता है।[1] योगसाधन के लिये, शरीर के रहस्यमार्गों, गुह्यस्थानों का जिनमें पतन की प्रतिक्षण शंका बना रहती है, ज्ञान होना अत्यावश्क है। योगसाधन और कायविजय या कायसिद्धि के लिये यह भी जानना आवश्यक है कि इस कायानगर या गढ़का निर्माण कैसे और किन-किन तत्वों से हुआ ? इस पिंड में क्या-क्या है ? गोरख के अनुसार इस शरीर में गुरुदेव और देवता शंभु निवास करते हैं। यह उनका मंदिर है। इसका सर्वोत्तम देवता आत्मा है। इसके नवद्वारों में नवनाथ, त्रिवेणी में जगन्नाथ तथा दशम द्वार ब्रह्मरंध्र में केदार हैं जो शंभुस्थान या शिवस्थान है। इसी दशमद्वार में योगी ध्यान लगाता है तथा उसी कायागढ़ में वह उपास्य नाथ, उनका देवालय सहस्रार तथा उनकी पवित्र पुरी काशी का साक्षात्कार करता है। वहीं वह उस अविनाशी तत्व का साक्षात्कार करता है।[2]

इस पिंड का सविस्तर वर्णन, जैसा सिद्धसिद्धांतपद्धति के तृतीय उपदेश में मिलता है, वैसा 'प्राणसंकली' नाम की नाथपंथी हिन्दी रचनाओं में मिलता है। गोरखनाथ के नाम से एक 'प्राणसंकली' गोरखबानी में संग्रहीत है। डा० बड़थ्वाल ने दो हस्तलेखों के आधार पर प्राणसंकल का अर्थ 'प्राणश्रृंखला' किया है। उन्होंने बताया है कि एक हस्तलेख में 'प्राणसंकली' के स्थान पर 'आत्मबोध' शीर्षक दिया गया है। फिर भी उन्होंने 'प्राणश्रृंखला', अर्थ को ही

---

[1] गो० बा०, १६.४३, ११६.१-३, १२०-१२१.१-६, १३४.१-४; ना० सि० बा०, १२.७१, १२०.७१६।

[2] गो० बा०, ९४-९५.१-२, ११६.१-३।

उचित और अंतिम माना है।[1] प्राणसंकली की प्रथम पंक्ति में ही 'आत्मब्रह्म' के लक्षित होने की बात कही गई है। हम पहले ही कह चुके हैं कि गुरु ही पिंडपरिचय कराता है तथा पिंडपात होना ही गुरु के लिये लज्जा की बात है। 'पिंडपरिचय' और 'पिंडपात' शब्दों का परस्पर घनिष्ठ संबंध प्रतीत होता है। 'प्रागसंकली' की विषयसामग्री को देखने से यह बात स्पष्ट होती है कि इसमें पिंडवर्णन प्रधान है। इस पिंडवर्णन की विशेषता यह है कि इसमें ब्रह्माण्ड-गत विभिन्न तत्वों का पिंडगत स्थाननिरूपण है। इसमें पिंडगत विभिन्न तत्वों के रूप, गुण, क्रिया, उत्पत्ति आदि का वर्णन है। इसमें स्पष्ट ही कहा गया है कि पिंडज्ञान या आत्मज्ञान से ब्रह्माण्डदर्शन होता है।[2] यह ज्ञान गुरु के निर्देश से प्राप्त योगसाधन से उपलब्ध होता है। इससे ही इस शरीर में निर्वाणपद की प्राप्ति होती है। शरीर के रहते ही इस निर्वाणपद की प्राप्ति होती है। यह निरंजन निर्वाणपद सप्तद्वीप, नौ खण्ड, ब्रह्मांड, धरती, आकाश, देवता, रवि, चन्द्र, त्रिलोक—सबसे अतीत है।[3] वहाँ दिवस, रात्रि, मास, वर्ष कुछ भी नहीं। उस कैलासस्थित निर्वाणपद में सदैव मेघस्वन होता रहता है। यह निर्वाणपद उस शरीररूपी गढ़ में स्थित है जिसका निर्माण पृथ्वी, जल, तेज और वायु से हुआ है। इसमें तेरह द्वार हैं जिनमें से ३ गुप्त और केवल योगिगम्य हैं तथा अन्य प्रकट हैं। दस द्वारों में नौ रन्ध्र हैं एवं दशम द्वार ब्रह्मरन्ध्र है। इस कायागढ़ में (७२००० नाड़ियों में से १० प्रधान हैं तथा उनमें सुषुम्ना को छोड़कर शेष) नौ नाड़ियाँ हैं। पचास (निम्नाभिमुख एवं अविद्ध षट्चक्रों के कमलदल), २५ (प्रकृतियाँ) तथा ५ (पाँच तत्व) के समूहों में चोर रहते हैं। ३६० चीरा (हड्डियों-पत्थरों) से यह गढ़ बना है। नाड़ियों की ग्रंथियाँ ही नौ सौ खाइयाँ हैं।[4] बहत्तर नदियाँ (नाड़ियाँ) इसमें प्रवाहित रहती हैं जिसमें मकर मत्स्य रूपी अहंकारादि सदैव क्रीड़ा किया करते हैं। साढ़े तीन करोड़ रोम ही वनस्पतियों की मालाएँ हैं। पाँच इंद्रियाँ (पाँच कोतवाल) ही महर्षि हैं। इन कोतवालों की एक ही स्त्री मनसा बड़ी बलवती एवं युद्धकुशल है। शरीर के पाँच तत्वों

---

[1] गो० बा०, पृ० १६४ की पादटिप्पणी।

[2] गो० बा०, पृ० १६४, छं० १।

[3] गो० बा०, पृ० १६४, छं० २, ३।

[4] गो० बा०, पृ० १६४-१६५, छं० ४-६। डा० बड़थ्वाल के अनुसार ये ७२ कोठे ही ७२ नाड़ियाँ हैं।

में विष और अमृत दोनों निवास करते हैं।[१] अर्थात् अशुद्ध शरीर के पाँच तत्व विषोत्पादक हैं तथा शुद्ध पक्व शरीर के पाँच तत्व अमृतकारक हैं। इस प्रकार की 'प्राणसंकली' रचना नाथों और संतों, दोनों में मिलती है। इसमें गोरख ने पिंड का रूपकात्मक वर्णन किया है। इसमें बीच-बीच में साधनक्रम की ओर निर्देश भी कर दिये गये हैं।

इसी प्रकार चौरङ्गीनाथ के नाम से एक 'प्राणसंकली' का प्रकाशन हुआ है। देखने से मालूम होता है कि यह गद्यरचना है। इसमें सिद्ध चौरंगी ने कई स्थानों पर पिंड में प्राण के परिचय अथवा उसके संधान की ओर संकेत किया है। इस परिचय से जो लोग उद्बुद्ध हो जाते हैं, उनकी मुक्ति हो जाती है। वे परदुःख को स्वदुःख के रूप में अनुभव करते हैं।[२] इस संकेत से प्राणसंकली का यह अर्थ ध्वनित होता है कि प्राण एक प्रकार की रक्षा करनेवाली 'शृंखला' है जिसका ज्ञान पिंडज्ञान से होता है। पिंड में स्थित रहनेवाली प्राण की शृंखला पिंड की ही रक्षा करती है तथा शरीर रहते ही ऐसी मुक्ति प्राप्त कराती है जिसमें परदुःख-स्वदुःख में कोई भेद नहीं रहता। इस अर्थ की और भी व्याख्या की जा सकती है। 'प्राणसांकली' से बाहर और भीतर की भ्रांतियाँ नष्ट हो जाती हैं तथा पिंड और प्राण मुक्त हो जाते हैं। यह 'प्राण सांकली' शरीर-विचार ही है। इसी से पिंड और ब्रह्मांड का ज्ञान होता है।[3] इस 'संकली' का मूल सिद्धांत है--'जो ब्रह्मांड में है, वही पिंड में है।' इसकी सिद्धि के लिये बतलाया गया है कि इसी शरीर में त्रिभुवन, चतुर्दश लोक, दस वायु, त्रिवेणी, अष्ट गिरि, सप्त सरिता, सप्त समुद्र, रात-दिन, पंचतीर्थ, पंचभूत, पचीस प्रकृति, चार खानि (स्वेदज, अण्डज, पिंडज, उद्भिज), विभिन्न नदियाँ, सप्तवार, नवग्रह, सत्ताइस नक्षत्र, चार वेद, चार युग, विभिन्न चक्र, दो पक्ष (पिंड-ब्रह्मांड)–सब विभिन्न रूपों में निवास करते हैं।[४] इस प्रकार 'प्राण संकली' शरीर-विचार या पिंडविचार है जिसमें प्राणतत्व प्रधान है। पिंड रक्षा के लिये, पिंडशुद्धि के लिये, प्राण को सर्वोत्तम तत्व के रूप में नाथों ने स्वीकार किया है। अतः प्राण को 'सांकल' (शृंखला) के रूप में स्वीकार करना, जिससे यह शरीर पूर्ण नियंत्रण में रह सके, सर्वथा उचित ही है। इसी प्रकार सृष्टि-

---

[१] गो० बा०, १६५. ६-७।

[२] ना० सि० बा०, ३७. २१५, २२२, २२३।

[3] ना० सि० बा०, ३७. २२४-२२५।

[४] ना० सि० बा०, पृ० ३८-४४।

क्रम में पिंड की उत्पत्ति किस प्रकार हुई तथा पिंड के तत्व कौन-कौन से हैं तथा इनका उत्पत्तिक्रम और लयक्रम क्या है, इनका वर्णन गोरख के नाम से प्रकाशित 'महादेव गोरख गुष्टि' तथा 'गोरष गणेश गुष्टि' में भी मिलता है। ऊपर वर्णित प्रायः सभी रचनाओं में सिद्धसिद्धान्तपद्धति की पिंडवर्णनपद्धति और सामग्री का अनुसरण तथा प्रयोग स्पष्ट प्रतीत होता है। अन्तस्साधना को स्वीकार करनेवाले प्रायः सभी साधनसंप्रदाय इस पिंडसिद्धांत को अति महत्व देते हैं।

नाथों की दृष्टि में साधन के लिये 'काया' से श्रेष्ठ और कोई क्षेत्र नहीं हो सकता। आत्मपरिचय (आत्मबोध, पिंडसंवित्ति, प्राणसंकली) से बढ़कर और कोई परिचय नहीं हो सकता। जब गोरख 'कच्चे भांड की बात करते हैं तो उनका अर्थ होता है कि अपक्व शरीर में ज्ञान जल स्थिर नहीं रह सकता।'[१] उन्होंने परमतत्व को बालरूप बतलाया है जिसमें राग-द्वेष-प्रपंच, दोष, वासना आदि का लेश नहीं रहता, सदैव आनन्दनिमग्नता रहती है। उन्होंने साधन के लक्ष्य को यदि कायसिद्धि के रूप में स्वीकार कर लिया है तो उनका मन्तव्य है कि वे इसी बालरूप परमपद का ग्रहण चाहते हैं। अमर, निर्जर, दिव्य और त्रिदशात्मक जीवन ही वे ग्रहण करना चाहते हैं जिसमें आनन्द की धारा बहती हो। इसीलिये वे बार-बार घोषणा करते हैं कि जंजाल का त्याग कर, अमृत-पान कर बालक हो जाना चाहिए।[२] वे बार-बार शरीर को अजर-अमर बनाने की चेतावनी देते हैं।[३] संस्कृत ग्रंथों में जहाँ यह घोषित किया गया है कि नाथों की योगपद्धति से साधन कर योगी मुक्त आत्मा और पक्व शरीर के साथ परमपद की प्राप्ति करता है, वहीं हिन्दी ग्रन्थों में भी गोरख कहते हैं कि आते समय आत्मा इस संसार में शरीर के साथ आती है किन्तु जाते समय वह अकेले जाती है। इसलिये गोरख ने जंजाल का त्याग कर राम में रमण करने का निश्चय किया और योग का आश्रय लिया।[४] निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है, जैसा संस्कृत ग्रंथों में कहा गया है, आत्मा की मुक्ति के साथ-साथ, गोरखनाथ आदि सिद्ध शरीर की भी मुक्ति चाहते हैं।

---

[१] गो० बा०, पृ० २३६, १४.३७, ५४.१५६-१५८।

[२] गो० बा०, १.१, ३१.८७।

[३] गो० बा०, १४७.१।

[४] गो० बा०, ३०.८३, ३१.८८, १३०.१, ३१.८७, १४७.१, १४८.१-३; ना० सि० बा०, ५९.३८६, ५६.५९९।

भरथरी की दृष्टि में जरा ही इस शरीर का सबसे बड़ा शत्रु है। जो योगी नहीं होता वह जरा से ग्रस्त हो जाता है तथा सामान्य व्यक्तियों की तरह वह भी मृत्यु को प्राप्त होता है।[१] अर्थात् योगी स्थिर, दृढ़ और अपरिवर्तन शील स्कंधवाला होता है, उसके शरीर पर काल का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता। जरा और मृत्यु के आगमन तथा स्कंधविनाश के कारणों के संबंध में भरथरी ने बताया है कि माया, स्त्री, धन, यौवन, द्रव्य, राजा, कनक, कामिनी इन सबके लिये गर्व नहीं करना चाहिए। इन्हीं से स्कंधविनाश होता है।[२] उनकी दृष्टि में संसार में दो ही मार्ग हैं—कामिनी मार्ग और नाथ मार्ग (जबकि गोरख ने कामिनी मार्ग और गुरु मार्ग नाम के दो मार्ग बतलाये हैं)। भरथरी के अनुसार कामिनी मार्ग में बाघिन का संसर्ग प्राप्त होने से मृत्यु होती है तथा नाथ मार्ग का अनुसरण करने से नाथतत्व की प्राप्ति होती है जिसमें स्कंधरक्षा भी होती है। भरथरी की तरह ही चरपट ने भी मद्य, मांस, अज्ञान, भोग-विलास का परिणाम स्कंधविनाश बतलाया है। इनसे बचना ही स्कंधरक्षा है। यदि जरा और रोग शरीर में बिल्कुल न हों तो शरीर भी सर्वथा सिद्ध हो जाय।[3] इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि नाथों के योग का लक्ष्य है परम-पद नाथ की प्राप्ति या पिंड का परमपद ब्रह्मांड में समरसीकरण, जिसके लिये वे परिपक्व शरीर को आवश्यक मानते हैं। यही कारण है कि उनके साहित्य में पिंडवर्णन बड़े विस्तार से मिलता है। एक संकेत यह भी दिया जा चुका है कि इस साध्य के लिये साधन योगयुक्त ज्ञान है। इस योगयुक्त ज्ञान के स्वरूप पर नीचे विचार किया जा रहा है।

५—योगयुक्त ज्ञान

गोरखरचित 'प्राणसंकली' के योगयुक्त ज्ञान के उपदेश का विस्तार से विचार करने पर उपर्युक्त सत्य के लिये नाथमतानुमोदित साधन का परिचय मिल सकता है। इतना स्पष्ट है कि नाथसाधन में योग और ज्ञान दोनों ही साधक के लिये आवश्यक हैं। 'योगयुक्त ज्ञान' पद में योग शब्द प्रथम है। अंतिम-पद-प्राधान्य की दृष्टि से तथा संपूर्ण नाथयोग साधन पर विचार करने से ऐसा प्रप्रीत होता है कि नाथसिद्धों को ज्ञान तो अंततोगत्वा अभीष्ट है किन्तु वे उसके साथ सिद्ध काया को भी आवश्यक मानते हैं। संस्कृत ग्रंथों में

---

[१] सि० सि० प० अ० व०, पृ० ७७, ८०।

[२] ना० सि० बा०, १०१. ६१७।

[3] वही, पृ० ७९, ३०-३१.१८५-१८६।

'गोरक्षसिद्धान्त संग्रह' का यह मत है कि वेदों में कर्मकांड विभाग प्रधान है एव वेदान्त में योग भाग प्रधान है तथा यही योग भाग नाथसिद्धों को भी स्वीकार्य है। इसका तात्पर्य यह है कि योगियों को साधन के रूप में योग ही मुख्य रूप से ग्राह्य है।[१] किन्तु योगबीज नामक संस्कृत ग्रंथ 'ज्ञानयुक्त योग' को स्वीकार करता है। इसके विपरीत गोरख की रचना में भी 'योगयुक्त ज्ञान' को स्वीकार किया गया है। वस्तुतः संस्कृत ग्रंथों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि उसमें इन दोनों को परस्परावलंबी के रूप में स्वीकार किया गया है। यह ज्ञान केवल आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान तक ही सीमित नहीं है, पिंडज्ञान से लेकर ब्रह्मज्ञान तक विस्तृत है। किसी समय किसी अधिकारी की अवस्था विशेष के अनुसार योग प्रधान सहायक हो जाता है और कभी-कभी ज्ञान को वह पद प्राप्त हो जाता है। किन्तु इतना निःसंदिग्ध है कि जब तक शरीर शुद्ध न हो जाय तबतक ज्ञानोदय संभव नहीं है और बिना पिंडज्ञान के शरीर का शोधन नहीं हो सकता, व्यक्ति योगी नहीं हो सकता। तात्पर्य यह कि चरमान्त में प्राप्त होनेवाले परम ज्ञान के लिये शुद्ध शरीर आवश्यक है तथा शुद्ध शरीर के लिये पिंडज्ञान आवश्यक है। इस प्रकार पिंडज्ञान, योगक्रिया से शरीर शुद्धि, सिद्ध काया फिर क्रमशः परम ज्ञान और समरसीकरण संभव होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि 'योगयुक्त ज्ञान' में 'ज्ञान' परमज्ञान का बोधक है तथा 'ज्ञानयुक्त योग' में यह 'पिंडज्ञानादि' का बोधक है। ऐसी व्याख्या समीचीन प्रतीत होती है। इस व्याख्या के आधार पर यह कहा जा सकता है कि केवल ज्ञानी से, साधन साधक और साध्य की तीनों दृष्टियों से, नाथों को विशिष्ट लक्षित कराने के लिये कायसिद्धिप्रधान यह ज्ञान पर्याप्त है। जहाँ एक ओर शांकर मतवादी, शैव, शाक्त आदि अद्वैतवादी हैं, वहीं दूसरी ओर नाथमत न तो द्वैतवादी है न अद्वैतवादी है। वह द्वैताद्वैतविवर्जितवाद का समर्थक है। इसी प्रकार अपने लक्ष्य के साधन में भी वह योग से उपलब्ध कायसिद्धि को आवश्यक मानता है जो शांकरमतवादियों को स्वीकार नहीं है। इस प्रकार शुद्ध ज्ञानवादियों से नाथसिद्धों का वैलक्षण्य सिद्ध हो जाता है। हिन्दी की नाथपंथी रचनाओं में योग और ज्ञान संबंधी इस प्रकार के विस्तृत विचार मिलते हैं।

---

[१] ना० सं० इ० द० सा० प्र० में पृ० ४०५ पर गो० सि० सं० के पृ० ५२ के एक कथन पर विचार व्यक्त किया गया है। वस्तुतः यह कथन गो० सि० सं० के पृ० २८ पर है।

डा० कल्याणी मल्लिक ने बतलाया है कि नाथमत योगसाधन को ही प्रधानता देता है।[१] नाथयोगी को बार बार उपदेश दिया गया है कि वह वास्तविक रूप में अवधूत बने। योगी की जिन विशेषताओं का निर्वचन किया गया है, उससे उसकी कायसिद्धि के पक्ष पर ही अधिक प्रकाश पड़ता है। गोरख के अनुसार योगी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह कभी भी वृद्ध नहीं होता। उसमें निश्चलता एवं गम्भीरता होती है। 'जरणा' उसके जीवन की विशेषता है। उसके साधन का सार संयम है। वह वाद-विवाद से विरक्त पवनज्ञानी होता है। वह मस्जिद-मंदिर से अतीत परमतत्व का ध्यान करता है। वर्ष में तीन बार काया को पलटना उसके लिये आवश्यक है। वह मनको नियंत्रित रखता है। वह वारुणी का पान करता है।[२] वह मद्य, मांस और भाँग का सेवन नहीं करता। अजपाजाप में सदैव रत रहता है। स्वप्न में भी वह कामग्रस्त नहीं होता। मन-पवन के साधन से वह शरीर को स्ववश रखता है। वह जरा का विपरीतकरण कर निर्जर शरीर की प्राप्ति करता है।[३] उनकी दृष्टि में यदि जप-तप का मूल तत्व संयम है तो योग का मूल तत्व है दया-दान। बिना इनके योग संभव नहीं। इस योग के लिये स्वाँग की आवश्यकता नहीं, शुद्ध ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। इसके लिये संयम की आवश्यकता है, पाषंड की नहीं। अग्निसाधन इस योग का आवश्यक अंग है। इस योग के आरम्भ के लिये सबसे पहले विंदुरक्षा की आवश्यकता है। इसमें क्रिया, कर्तव्य, संयम की आवश्यकता है, कथनी-बदनी की नहीं। बनखंड के भ्रमण से योग साधन नहीं होता।[४]

गोरख की तरह अन्य नाथसिद्धों ने भी योग के इस रूप की पुष्टि की है। भरथरी के अनुसार जगत् के प्रपंच निस्सार हैं। उनसे संलग्न होने से अनेक प्रकार के रोगों की वृद्धि होती है। इसलिये जागतिक प्रपंचों और रोगों से मुक्ति प्राप्त करने के लिये योग ही मधुर औषधि है।[५] चरपट इस योग के लिये काया और चित्त की दृढ़ता एवं स्थिरता आवश्यक मानते हैं। इन दोनों

---

[१] ना० सं० इ० द० सा० प्र०, पृ० ४०५।

[२] गो० बा०, ६९.२१०, ७३.२३१, ७८.२५२-२५३, ६.१४, २०.५६, २५.६८, ३२.९२, ३५.१२, ४८.१३७।

[३] गो० बा०, ५६.१६४, १६४. टेक. २४, १६६.१२, १७४.४, २०२.१२७।

[४] गो० बा०, १२६.३२, ६४.१९०, ६४.१९१, ८७.४, १३९.४४, १३३.७।

[५] सि० सि० प० अ० व०, ८०.३८।

के लिये कायशुद्धि आवश्यक है। वायु के ६४ संधियों में भ्रमण से कायशुद्धि होती है। विषयों के साथ होनेवाले संबंध को रुद्ध कर अमरवारुणी के पान से प्राणशक्ति सदैव समर्थ रहती है तथा पिंडपात नहीं होता। उनके अनुसार योग से बुभुक्षा पर नियंत्रण, निद्रामारण, विंदुरक्षा, पिंडस्थैर्य एवं पूर्ण आरोग्य सिद्ध होता है। इन्हीं के लिये नाथों के योग का साधन किया जाता है। नाथों के इस योग में काया का विपरीतकरण और उसके फल के रूप में रोग-नाश को भी स्वीकार किया गया है।[१] गोपीचन्द ने स्पष्ट रूप से, संस्कृत रचनाओं के समान ही, बताया है कि मन की चंचलता से पवन चंचल होता है तथा पवन की चंचलता से विन्दु अस्थिर रहता है। विंदु के चंचल हो जाने से पिंडपात होता है। जलंधरि ने सबसे अधिक जोर संयत आहार, वायु आहार, सिद्धासन, नादानुसंधान, जिह्वास्वादत्याग, भोग से वैराग्य, मन-पवन-साधन पर विशेष रूप से दिया है।[२] गरीबनाथ अपने जीवन-यापन की अति क्षुद्र वस्तुओं का भी त्याग आवश्यक समझ कर कंथानाश, डीबी (पात्र) के खंडित होने को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि में केवल 'आत्मरक्षा' (आत्म-तत्व की रक्षा) ही आवश्यक है, शेष सब त्याज्य हैं। वे विशेष एवं निश्चित निवासस्थान का भी त्याग कर, वृक्ष-कांतार आदि में रह कर साधन में लीन रहना चाहते हैं।[3]

योगी और योग संबंधी इन लक्षणों और परिचयों से यह सिद्ध हो जाता है कि नाथों के योग का सर्वप्रथम लक्ष्य पिंडरक्षा और पिंडस्थैर्य है। इसके लिये उन्होंने मन-पवन और विंदु की रक्षा आवश्यक समझी है। इन तीनों को अचंचल कर देने से काया भी स्थिर और दृढ़ हो जाती है। इस बात को केवल गोरख ने ही नहीं प्रायः सभी नाथसिद्धों ने स्वीकार किया है। काय-स्थैर्य और उसकी सिद्धि तो सभी नाथसिद्ध चाहते हैं किंतु उनमें कुछ भेद भी है। उदाहरण के लिये संस्कृत रचनाओं में कहा गया है कि यद्यपि मन, पवन और विंदु में से किसी एक की स्थिरता से शेष दो स्थिर और अचंचल हो जाते हैं किन्तु नाथयोगियों ने पवन की स्थिरता को प्राथमिकता दी है और उसी के स्थैर्य से मन और विंदु के स्थैर्य को साध्य माना है। किन्तु ऐसा भी हो सकता है कि भिन्न-भिन्न नाथसिद्ध विंदु या मन के स्थैर्य को प्राथमिकता दें। आगे इस संबंध में विचार किया गया है। यहाँ ज्ञान का इस योग से क्या संबंध है, यह स्थिर करना है।

---

[१] वही, ८४.२३-२५, ८४.२९, ८५.३४।

[२] वही, ८९.१९, ९०.६।

[3] ना० सि० बा, १२.२.७२।

गोरख ने केवल योग को साधनरूप में स्वीकार नहीं किया है। उनके अनुसार चित्त को योगमार्ग में आरूढ़ करने के लिये ज्ञान ही सबसे बड़ा गुरु है। जहाँ ज्ञान की सत्ता है वहाँ वाद-विवाद आदि की सत्ता नहीं रहती। साधनक्षेत्र में अग्रसर होने के लिये ज्ञान सबसे बड़ा सहायक है। उसी के निर्देशों से साधक दिशा प्राप्त करता है। इस प्रकार जब योग से युक्त ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है तभी इस पिंड में परमपद की खोज संभव है।[१] ज्ञान के प्राप्त होने पर पंचतत्वों में वैषम्य नहीं रहता। ये तत्वज्ञान की प्राप्ति में समान भाव से सहायक हो जाते हैं। योगी के लिये ज्ञान अधारी है, अर्थात् ज्ञान के आधार के बिना योगसाधन निष्कंटक भाव से चल नहीं सकता। यद्यपि यह सत्य है कि परमपद की प्राप्ति हो जाने पर ज्ञान की भी संज्ञा नहीं रहती तथापि साधनकाल में बिना इसकी सहायता के योगी परमपद तक पहुँच भी नहीं सकता।[२] यद्यपि नाथयोगी को वाद-विवाद, कथनी-बदनी से दूर रहने के लिये कहा गया है तथापि यह भी कहा गया है कि यदि कथनी करनी भी हो तो केवल ज्ञान का कथन करना चाहिए। यह ज्ञान गुरुमुख से मिलता है। इसी से मन का मारण संभव होता है। पाँचों इंद्रियों को सम्हाले रखने में ज्ञान सहायक होता है। उसी की सहायता से योगी शरीर के सभी द्वारों पर विषयरूपी शत्रुओं से युद्ध करता है।[३] इस प्रकार के ज्ञान से ही विशिष्ट ज्ञान या विज्ञान (परमपदज्ञान, तत्वज्ञान, आत्मज्ञान) संभव होता है। अज्ञानी व्यक्ति योगसिद्ध नहीं हो सकता। यह ज्ञान केवल पिंडज्ञान, ब्रह्मांडज्ञान या आत्मज्ञान नहीं है, वस्तुतः यह योगी का अपना विचार या विवेक ही है जो धीरे धीरे इन रूपों में विकसित होता है। इस ज्ञान का उदय होने पर मन चैतन्य रहता है, चैतन्य तत्व की ओर उन्मुख रहता है, उसमें जड़ता नहीं रहती और न वह जड़ता की ओर उन्मुख ही रहता है। इसी ज्ञान से त्रिभुवन में आतमभाव की स्थिरता रहती है। इस ज्ञान की रक्षा के लिये नारीसंग त्याज्य है क्योंकि इससे ज्ञानरत्न और प्राण का हरण होता है। नारीसंग से ज्ञाननाश और योगनाश होता है। इसलिये जो वास्तविक ज्ञानी है, अर्थात् योगयुक्तज्ञान को धारण करनेवाला है, वह राक्षसिन से अपनी रक्षा कर लेता है।[४] षट्चक्रभेद

[१] गो० बा०, ६४. १८९, ६५. १९५, १६४. २।

[२] गो० बा०, १८८. १६, १७. ४८, १३०. ३, ३८. ११०।

[३] गो० बा०, ५६. १६६, १२६. ३, १७५. ८-९।

[४] गो० बा०, १९५. ७४, ६७. २०१, ६४. १९०, १९७. ८६, १९९.१०६ २०१. १२२, ९१. ४, १४३. १।

की दृष्टि से विचार करने पर छठाँ चक्र (आज्ञाचक्र) ही ज्ञान चक्र है, जहाँ योगी को विश्राम मिलता है। दूसरे शब्दों में ज्ञान में ही योगी को विश्राम मिलता है। जो केवल योगी है, वह ब्रह्मज्ञानी नहीं हो सकता। वह नाद का बोध भी प्राप्त नहीं कर सकता।[1]

अन्य नाथसिद्धों ने ज्ञानतत्व का उतना परिचय नहीं दिया है जितना ज्ञान के व्यावहारिक पक्ष का उद्घाटन किया है। उनकी दृष्टि में बिना ज्ञान और योग का समन्वित साधन किये कोई सिद्ध नहीं हो सकता। चरपट ने बतलाया है कि जीवन में बिना ज्ञान को उतारे जो लोग ज्ञान का बखान करते हैं, उनका ज्ञान निस्सार है। इंद्रियभोग के साथ ध्यान नहीं किया जा सकता।[2] जो तापस या योगी इंद्रियोपभोग करता है, अपक्व शरीरवाला है और उस पर भी ध्यान करता है तो उसमें ज्ञानोत्पत्ति असंभव है। दया, धर्म, सत्य से जिनका चित्त दूर रहता है तथा योगी को देखकर निंदाभाव से जो मन ही मन हँसता है, ज्ञान का बखान करता है, फिर भी जिसके जीवन में ज्ञान तनिक भी अवतीर्ण नहीं होता, समझना चाहिए कि कलियुग (तामस तत्व) ने इस पर अपना पूरा प्रभाव डाल दिया है। जिन व्यक्तियों के पास ज्ञान से उपलब्ध सुख नहीं है, उनका संग भी, पृथ्वीनाथ की दृष्टि में, त्याज्य है।[3] सामान्यतया लोग कहते हैं कि आगे चित्र या मूर्ति रखकर मानसपूजा करना, माला फेरना, मंत्रपाठ करना, ध्यान करना, ताली पीट कर नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि एकाग्र करना ही ज्ञान है किन्तु पृथ्वीनाथ इन सबको फोकट (निस्सार, जिनका जीवन में कोई अनुभव न हो) ज्ञान कहते हैं। भरथरी ने बताया है कि संपूर्ण ब्रह्मांड में एक तत्व सत्तावान् है। यदि ज्ञानदृष्टि से देखा जाय तो हरि ही सब घटों में वर्तमान हैं। ज्ञानदृष्टि से सर्वव्यापक ब्रह्म का साक्षात्कार संभव है। संपूर्ण साधनक्रम में ज्ञान के स्थान के विषय में वे कहते हैं कि सर्वप्रथम गुरु से ज्ञान की प्राप्ति होती है और फिर उससे विवेक-बुद्धि उदित होती है। इस विवेक-बुद्धि या परिशुद्ध मन से ही अकल परमपद का प्रकाश होता है। इसी परम ज्ञान से हरिपद का स्पर्श संभव है।[4]

---

[1] गो० बा०, १९२. ५४, २१६. ३५।

[2] सि० सि० प० अ० व०, ८३. १८; ना० सि० बा०, १८. १६५।

[3] सि० सि० प० अ० व०, ८३. १९; ना० सि० बा०, २८. १६४, २९. १६८, ७३. ४६२।

[4] ना० सि० बा०, ८५. ५४२, ११२. ६७६, ११३. ६७९।

योगी, योग, ज्ञान आदि के इस परिचय से उनकी एक स्थूल रूपरेखा तो स्पष्ट हो जाती है तथा साथ ही उनका परस्पर संबंध भी स्पष्ट हो जाता है। योग और ज्ञान संबन्धी विवेचन के पूर्व जितनी बातें इनके संबंध में कही गई थीं, वे इनसे सिद्ध हो जाती हैं। नाथमत में इनकी परस्परावलम्बिता सिद्ध है किन्तु कायसिद्धिप्रधान योग नाथों के योग का वैलक्षण्य है। संस्कृत ग्रंथों में जैसे योगहीन ज्ञान एवं ज्ञानहीन योग दोनों का तिरस्कार किया गया है तथा मोक्षोपकारक नहीं माना गया है, उसी प्रकार विवेक और ज्ञान से परिपुष्ट योग को ही मोक्षोपकारक कहा गया है। तात्पर्य यह है कि नाथों को केवल कथनी का ज्ञान ग्राह्य नहीं है। जो ज्ञान योग के क्रियापक्ष के अनुकूल नहीं है, उसे नाथ लोग तिरस्कार्य ही मानते हैं। इसी प्रकार नाथतत्व के सर्वघटव्यापकत्व के दर्शन में भी ज्ञान ही सहायक है। इसीलिये यह ज्ञान नाथों के लिये गुरुस्थानीय है। इससे नाथों के ज्ञान संबंधी दृष्टिकोण का ज्ञान हो जाता है।

६—अध्यात्मयोग

नाथों के योगसाधन के इस रूप की ओर संकेत करने के साथ ही गोरख ने दो-तीन स्थानों पर अध्यात्म या अध्यात्मयोग की ओर भी संकेत किया है। पहले हमने वैष्णव, शैव एवं शाक्त योग के विवरण में योगगत आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक साधनों की ओर भी संकेत किया है। वहाँ बताया गया है कि स्थूल शरीर संबंधी साधन, जिसमें प्राणायाम विशेष है, आधिभौतिक साधन है। वहाँ विंदुसंबंधी साधन को आधिदैविक और मन एवं चित्त संबंधी साधन को आध्यात्मिक साधना बताया गया है। आध्यात्मिक साधन और अध्यात्मयोग का सम्बन्ध है। स्थूल कर्मकाण्डगत साधन भी आधिभौतिक साधन हैं। इसकी वेदों के पूर्वभाग में प्रधानता है। वेदान्तभाग में ज्ञानकांड प्रमुख है। कभी-कभी वेदान्तविद्या को आध्यात्मविद्या कहते हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि जीवन की चेतन सत्ता आत्मा ही सर्वशक्तिमान है। यही सच्चिदानन्द है। व्यक्ति के उत्थान का मूल विंदु यही है। शरीर इसी चेतन सत्ता का अनुसरण करता है। पाश्चात्य विचारकों के 'स्पिरिचुअलिज्म' या 'स्पिरिटिज्म' के अनुसार यह वाद, जिसका अनुवाद हिन्दी में 'अध्यात्मवाद' किया जाता है, एक प्रकार की विशेष धारणा या विश्वास है जो व्यक्तिशक्ति का विभिन्न मृत व्यक्तियों या शक्तियों या अलक्ष्य शक्तियों से संवाद स्वीकार करता है। इसके अनुसार व्यक्ति उन शक्तियों से अभिन्नता का अनुभव करता

है। यह सिद्धांत यह मानता है कि शक्ति या आत्मा विश्वव्यापक है। प्राण तत्व भी शक्ति है और विश्वव्यापक है। यह भी विश्वास किया जाता है कि यह शक्ति शरीर से अलग भी की जा सकती है तथा वह शरीरधारी की सुषुप्तावस्था में या सामाधिक अवस्था में संपूर्ण विश्व में या पितरों तक यात्रा भी कर सकती है। फिर भी इस शक्ति को इस वाद के अनुसार, किसी व्यक्ति के रूप में स्वीकार नहीं किया जाता। ऐसा शक्तिमान् व्यक्ति स्थूल शरीरधारियों और सूक्ष्म विश्वगत शक्तियों के बीच संवाद का माध्यम भी हो सकता है। इन संवादों की अभिव्यक्ति भी वह सामान्य भाषा संकेतों से न करके कुछ विशिष्ट अलौकिक संकेतों से करता है। इसी तरह अध्यात्मवाद के दो पक्ष भी माने गये हैं। प्रथम है शारीरिक तथा दूसरा मानसिक। शारीरिक पक्ष में मानस-निर्देश से शरीर क्रियाशील होकर इन विश्वासों को चरितार्थ करता है तथा मानसिक पक्ष में केवल मानस ही शरीर का अतिक्रमण कर, विना शरीर के सहयोग के ही, विभिन्न शक्तियों के साथ संवादों में संलग्न होता है।[१]

भारतीय या हिन्दू अध्यात्मविद्या को कुछ लोग 'साधन' कहते हैं। जीवात्मा व्यक्तिशक्ति है तथा परमात्मा विश्वशक्ति। इन दोनों के संवाद में आध्यात्मवाद विश्वास करता है। यह संवाद कैसे संभव है? इसके उपाय को ही 'साधन' कहते हैं। डा० महादेवन जैसे विवेचकों ने इन उपायों में केवल कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग की गणना की है।[२] इन तीनों ही शब्दों में 'योग' शब्द संयुक्त है। इस योग के अर्थ हैं—आत्मा एवं परमात्मा का एकात्म और उपाय। उन्होंने चित्तवृत्तिनिरोधात्मक एवं शरीरसाधनसंयुक्त ज्ञानयोग का अर्थ यहाँ ग्रहण किया है। सामान्यतया इसमें चार उपायों की गणना की जाती है—कर्म, ज्ञान, भक्ति और योग। 'आत्मपरमात्मएकात्म' के अर्थ में योग को प्रायः सभी लोग किसी न किसी रूप में स्वीकार करते हैं। पूर्व के विवेचन से यह स्पष्ट है कि गोरक्ष ने इस अध्यात्मविद्या के योगोपाय को स्वीकार किया है। गोरक्षसिद्धांतसंग्रह के विवेचनों को ध्यानपूर्वक देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि नाथपंथी आचार्यगण शंकराचार्यादि की तरह ही श्रुतिवाक्यों को अपने मतानुकूल ग्रहण कर उनकी व्याख्या करते हैं। श्रुतिवाक्यों के वे प्रबल समर्थक प्रतीत होते हैं। इस प्रकाश में यदि नाथयोगसाधन को अध्यात्मविद्या

---

[१] इं० रे० ए०, वा० ११, पृ० ८०५-८०६।

[२] आउटलाइंस आव हिन्दुइज्म—डा० टी० एम० पी० महादेवन, पृ० ८३।

के अन्तर्गत ग्रहण किया जाय तो कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए; क्योंकि जहाँ तक देहगत शक्तियों के विश्वगत शक्तियों के साथ संवाद का प्रश्न है, वे सर्वथा सहमत हैं। वे स्वयं पिंड को ब्रह्मांड से अभिन्न अनुभव करने के लिये साधन करते हैं। पिंडब्रह्मांडलीला का सांकेतिक परिचय हम पहले ही दे चुके हैं। सिद्ध शरीरिक पक्ष से अनेक प्रकार की सिद्धियों में निष्णात हो जाता है तथा साथ ही शुद्ध और प्रबुद्ध मन से वह शरीर को नियंत्रित रखकर, शरीर से अप्रभावित भी रहता है। जीवात्मशक्ति कुंडलिनी ब्राह्मांडशक्ति महा-कुंडलिनी से एकात्म प्राप्त करती है। यह जीवात्मशक्ति साधक की ही चेतन शक्ति है जिसके साथ उसका मानस परिशुद्ध एवं उद्‌बुद्ध भाव से आरोहण करता है। तांत्रिक मत मानता है कि वस्तुतः प्राणायाम में पिंडप्राण और ब्रह्मांड-प्राण का मिलन ही साध्य है। स्वयं गोरख ने भी ऐसे संकेत दिये है। वस्तुतः आध्यात्मसिद्धि चेतन तत्व का जड़तत्व पर विजयोद्‌घोष है। गोरख पिंडगत पवन पुरुष का उत्थान होने पर स्थूल जागतिक जीवन की प्रतीक मनसा (इच्छा) को अपने व्यापार बाँधने या समेटने की चेतावनी देते हैं। यह प्राणपुरुष का जागरण ही योगी की शक्ति का जागरण है। इससे चैतन्य प्राणपुरुष संपूर्ण कायानगर में संचरण कर उसे परिशुद्ध और शुद्ध कर देता है।[1] वे सुषुप्त और अप्रबुद्ध स्थूल जगत् में फँसे योगी का प्रबोधन कर कहते हैं कि 'तुम्हें अब अध्यात्मसाधन में लगना चाहिए जिससे तुम्हारे मूल का, तुम्हारे जीवन की मूल शक्ति का ह्रास न हो, विनाश न हो; वह तुम्हारे हाथ से निकल न जाय। तुम इन प्रपंचों में फँसे हो, जड़ता के पीछे दौड़कर निस्सार वस्तुओं को एकत्रित कर रहे हो। तुम्हारी इस जड़क्रिया को तुम्हारे ही भीतर बैठी परमात्मशक्ति निरखा-परखा करती है। इस कमाई में तुम अपने मूल गँवा रहे हो, सचेत हो जाओ।'[2] इन उद्धरणों से स्पष्ट ही यह संकेत होता है कि गोरख के अनुसार अध्यात्मयोग में व्यक्ति की मूल शक्ति की रक्षा आवश्यक है जिसमें शरीररक्षा, विंदुरक्षा, पिंडप्राण-विश्वप्राण-एकात्म आदि सम्मिलित हैं। शरीर-रक्षा, विंदुरक्षा, शरीरशोधन, वायुसाधन, आदि इसलिये आवश्यक है कि इससे पिंडशक्ति तथा विश्वशक्ति का संवाद संभव होता है। योगप्रधान इस अध्यात्मवाद का विस्तृत परिचय गोरखबानी में प्रत्यक्ष एवं स्पष्ट रूप से नहीं मिलता। अन्य नाथसिद्धों की रचनाओं में भी यह प्रत्यक्ष रूप में उपलब्ध नहीं।

[1] गो० बा०, ९५. टेक।

[2] गो० बा०, पृ० १५१।

पिंडब्रह्मांडवाद और लययोग या कुंडलिनीसाधन संबंधी विवरणों के आधार पर इस अध्यात्मवाद का अनुमान हो सकता है ।

विंदु की अचंचलता की ओर कोई संकेत नहीं किया गया है । नाथों के योग में बार-बार मन-पवन-साधन की ओर योगी के ध्यान को आकृष्ट किया गया है । मन और पवन के संबंध के विषय में दो मत हो सकते हैं । पहला यह कि मानसनियंत्रण से पवन स्वतः नियंत्रित हो जाता है । दूसरा यह कि पवन-नियंत्रण या प्राणायाम से मानस स्वयं, नियंत्रित हो जाता है । संस्कृत की रचनाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि नाथयोग में प्रारंभ में हठयोग को, जो प्राणायामप्रधान है, महत्ता प्रदान की गई है । अर्थात् प्राण से शरीरशोधन होता है तथा प्राण के नियंत्रित होने पर मन और विंदु भी स्थिर हो जाते हैं । यह आवश्यक नहीं कि सभी नाथयोगी इस मत को मानते हों । गोरख ने बताया है कि जब योगी मन को पवन से तथा पवन को मन से बाँध लेता है तभी वस्तुतः साधन में पूर्ण समर्थ होता है । वह इन दोनों के समन्वित साधन से उन्मनी अवस्था को प्राप्त करता है । उन्हीं दोनों के योग से उसे अगम एवं पूर्ण प्रकाशित ज्योति का दर्शन होता है । योगी के लिये ये दो ही संपत्तियाँ हैं जिनसे वह साधनक्षेत्र में अग्रसर होता है ।[1] इन दोनों के दो दिशाओं में, चंचल दशा में होने पर, गतिशील होने पर साधना नहीं चल सकती । यहाँ इड़ा-पिंगला के परस्पर विरोध और द्वैत को मिटाकर सुषुम्ना में प्रेरित करने की क्रिया स्वीकृत है । मन-पवन को क्रमशः चन्द्र और सूर्य या शब्दान्तर से इड़ा-पिंगला कहा जाता है । योगी इन दोनों को एक साथ समन्वित कर योगलीन रहता है । मन, प्राण और मनसा इन तीनों की संधि सहस्रार में संपन्न होती है । ऐसा तभी संभव है, जब मन और पवन दोनों स्थिर हो जायँ । जब गोरख कहते हैं कि योगी वहाँ ध्यान लगाकर रहता है, जहाँ तक मन-पवन का गम नहीं हैं, तो उसका अर्थ है, जैसा ज्ञान और योग के संबन्ध में कहा है, उस स्थिति में पहुँचने पर ये साधन सत्तावान् नहीं रहते ।[2]

इस परिचय से स्पष्ट है कि गोरख की दृष्टि में मन और पवन दोनों के साधन या आध्यात्मिक और आधिभौतिक दोनों प्रकार के साधन समन्वित होकर साधक को सिद्धि दिलाते हैं । कुछ नाथयोगी ऐसे भी हैं जिनकी हिन्दी रचनाओं में विंदुरक्षा से प्राण-मन-नियंत्रण या मानससंयम से प्राण-विन्दु-नियंत्रण

[1] गो० बा०, ८१. २६५, १३. ३४, ९७. १, १२०. १, १२५. २ ।

[2] गो० बा०, १८८. १६, १७६. ११, १७७. १५, ८१. २६५ ।

को दोनों प्रकार से साध्य बतलाया गया है। विंदुरक्षा या उसकी स्थिति का सम्बन्ध ब्रह्मचर्य से है। बताया गया है कि मन या तो गुरु के आश्रम में रहे या कामिनी के क्रोड़ में।[1] कामिनी के क्रोड़ में विन्दुरक्षा नहीं हो सकती। विन्दुस्थैर्य से कायसिद्धि होती है। सीप्रकार मानस-नियमन-संयम से काय-सिद्धि होती है। गोपीचंद ने स्पष्टतया घोषणा भी की है कि मन की चंच-लता से ही पवन चंचल होता है तथा पवन के चंचल होने से विन्दु चंचल होता है। विन्दु की चंचलता ही स्कंधपात का कारण है। गोपीचंद के जीवन से संबद्ध कथाओं से भी उनके इस मत की पुष्टि की जा सकती है। मन, पवन, विन्दु में से किसका प्रथम साधन आवश्यक है, इसके सम्बन्ध में नाथयोगियों में वैमत्य की संभावनाएँ हैं तथापि नाथयोग अपने संपूर्ण रूप में बिना इन तीनों के साधन के सिद्धि को असंभव मानता है। जब तक मन, पवन और वायु चंचल हैं तब तक विन्दुरक्षा नहीं हो सकती।[2] कई बार संकेत किया गया है कि मन-पवन भी नाड़ियों के दो पक्ष के समान हैं। उसी प्रकार विन्दु के दो रूप भी इड़ा–पिंगला, शिव-शक्ति के रूप में स्वीकार किये गये हैं।

७—नाथों के योग का स्वरूप : यम

इस प्रकार स्पष्ट है कि मन-पवन-विन्दु के साधन से कायसिद्धि या परिपक्व शरीर की प्राप्ति होती है जिसका लक्ष्य, नाथपद प्राप्त करना है। जीवशक्ति का चरम विकास केवल कायसिद्धि से नहीं होता। इसके लिये कुछ अन्य साधन भी हैं। बताया गया है, योग में मंत्र, हठ, लय और राजयोग की गणना की गई है। मंत्र का अजपा गायत्री और ओंकार से सम्बन्ध है। इसी प्रकार हठयोग का प्रधानतया प्राणसाधन से सम्बन्ध है। लययोगसाधन का कुण्डलिनी से सम्बन्ध है एवं राजयोग का ध्यान और समाधि से। नाथयोग-साधन में यद्यपि इन सभी प्रकार के योगों का समन्वय है तथापि हठयोग या प्राणायाम की प्रधानता है, ऐसा संस्कृत रचनाओं के विवेचन में कहा गया है। हिन्दी रचनाओं में प्रायः सभी योग समन्वित रूप में मिलते हैं जिसका परिचय आगे दिया जा रहा है। प्रश्न यह है कि क्या संस्कृत रचनाओं की तरह ही नाथपंथियों की हिन्दी रचनाएँ भी राजयोग को चरम साधन के रूप में स्वीकार करती हैं? यदि मन-पवन को भी इड़ा-पिंगला या चन्द्र-सूर्य या शिव-शक्ति के रूप में स्वीकार कर लें तो कहना पड़ेगा कि नाथयोगसाधन

---

[1] गो० बा०, ५८. १०२।

[2] ना० सि० बा०, ७१. ४४५, ९१. ५८०, १९. ११०, ३२. १९२।

का वैलक्षण्य कायसिद्धिप्रधान हठयोग में है, इसीलिये वे हठयोगी भी कहे जा सकते हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वे ध्यानसमन्वित समाधियोग या राजयोग को स्वीकार नहीं करते। नाथ लोग भी ताली, ध्यान और समाधि को, जो सूक्ष्म योगसाधन के अंग हैं, पर्याप्त महत्व देते हैं।[१] वे बार बार ऐसी अवस्था का वर्णन करते हैं जहाँ, योग, ज्ञान, ध्यान, जप, तप, पूजा आदि बिलकुल नहीं रहते। इसकी ओर प्रामाणिक संकेत किये जा चुके हैं। आगे नाथयोगसाधन का एक विस्तृत परिचय हिन्दी रचनाओं के आधार पर तथा संस्कृत रचनाओं के योग को ध्यान में रखते हुए उपस्थित किया जा रहा है।

पतंजलि के अष्टांग योग में यम, नियम आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा ध्यान और समाधि गृहीत हैं। नाथपंथी संस्कृत ग्रंथों में इन अंगों का नाथ-पंथी साधन के अनुसार परिचय मिलता है। हिन्दी रचनाओं में, जो शास्त्रनिरूपक रचनाएँ नहीं हैं, इन अंगों के संकेत मिलते हैं। हमने नाथयोग का जो विवरण दिया है, उसमें पातंजल योग के अंतर्गत ही मंत्र, हठ, लय और राज-योग का वर्णन किया है, इसी प्रकार यहाँ भी किया जा रहा है। हिन्दी रचनाओं में अष्टांग और षडंग शब्दों का प्रयोग तो अवश्य मिलता है किन्तु अर्थ की दृष्टि से इतने अधिक संदिग्ध प्रयोग मिलते हैं कि उनके आधार पर किसी सिद्धान्त का निरूपण भ्रान्तिकारक भी हो सकता है। पातंजल योग में कहीं भी नाड़ियों और कोठों का स्पष्ट वर्णन नहीं मिलता। किन्तु गोरक्ष ने शरीर की नौ नाड़ियों तथा बहत्तर कोठों के ज्ञान को अष्टांग योग कहकर झूठा बतलाया है।[२] 'गोरक्ष उपनिषद्' में, जो 'गोरक्षोपनिषद्' नाम के संस्कृत ग्रंथ का उल्था सा प्रतीत होता है, अष्टांग ओर षडंग योग शब्दों का प्रयोग मिलता है। उल्थाकार कई स्थानों पर भ्रान्त हो गया सा प्रतीत होता है या अर्थों को ठीक ढंग से व्यक्त नहीं कर सका है। इसके संभव अर्थ हो सकते हैं—'योग मत (तो) अष्टांग योग है (जिसमें) मुख्यकर षडंग योग है। (इसे) अकुल योग कहते हैं, (उसी को) अवधूत योग कहते हैं। (इसी) योग से अष्टांग योग (का) साधन होता है।' इससे इतना निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अवधूतयोगसाधन या अकुलयोगसाधन षडंग योग है।

---

[१] उद्धरण के लिये द्रष्टव्य गो० बा०, ३२. ९०, १२६. १, १७४. १, ४. ८, ५६. १६५, ११०. १, १२२. २, १२४. १, १३०. ३, १९२. ५४, १९९. १०४, १९४. ६४, २०२. १२६, १९२. ५४।

[२] गो० बा०, ४६. १३३।

२२

किन्तु यह भी ध्यान रखना चाहिए कि यह निष्कर्ष संदिग्ध पाठ के आधार पर निकाला गया है।[1] पातंजल योग के प्रथम दो अंगों, यम-नियम को उसी रूप में संभवत: संस्कृत ग्रंथों में भी नाथयोग में स्वीकार नहीं किया गया है। हिन्दी रचनाओं में इनका नाम तक नहीं मिलता। गोरख उपनिषद् में षडंग योग और अष्टांग योग का रूप क्या है तथा उसमें कौन-कौन से अंग किस-किस रूप में गृहीत हैं, इसका कोई भी संकेत नहीं है। ऐसी अवस्था में ऐसा अनुमान संभव है कि हिन्दी रचनाओं के नाथयोग में पातंजल योग के यम और नियम गृहीत नहीं है। यम-नियम में जिन आचारों, संयमों का सन्निवेश मिलता है, उनका नाथवाणियों में अति विस्तार से बार-बार वर्णन मिलता है।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के उद्धरण देकर हम इस तथ्य को पुष्ट रूप में उपस्थित कर चुके हैं कि नाथवाणियों में नैतिक-ब्रह्मचर्य का स्वर ही प्रधान है। उसका यत्किंचित परिचय भक्ति के प्रसंग में भी दिया जा चुका है। नाथ-पंथियों के योग से संबद्ध इस नैतिक स्वर का अत्यधिक मूल्य है क्योंकि नाथवाणी और उसकी विचारपरम्परा में आनेवाली अन्य रचनाओं के इन विचारों ने भक्तिकालीन अन्य संप्रदायों तथा उनके साहित्यों से इनको विलक्षण और पृथक् सिद्ध कर दिया है। पहले ही हम संस्कृत रचनाओं का विचार करते समय बतला चुके हैं कि प्राणायाम तथा तत्संबंधी अन्य साधनों की नाथयोग में प्रधानता होने के कारण सदाचार, ब्रह्मचर्य और नैतिकता का विस्तृत विवेचन यहाँ मिलता है। जैसा कहा गया है, ये हिन्दी रचनाएँ शास्त्रनिरूपक रचनाएँ नहीं हैं। इनमें सामान्य योगी या अन्य सामान्य व्यक्तियों को नीति के उपदेश दिये गये हैं। शुद्ध सात्विक जीवन व्यतीत करना योगी के लिये अत्यन्त आवश्यक है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि सामान्य जन इसका तिरस्कार करें। इसलिये हिन्दी रचनाओं में सदाचारपरायण सात्विक जीवन का उपदेश मिलता है। जैसे पातंजल योग के अभ्यास के लिये प्रारंभ में क्रमशः यम-नियम का साधन आवश्यक है, उसी प्रकार नाथयोगसाधन के प्रारंभ के लिये इन सदाचार संबंधी नियमों का पालन आवश्यक है।

जैसा पहले बताया गया है, हठयोगप्रदीपिका में उद्धृत श्लोकों के अनुसार यम में निम्नलिखित गृहीत हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, क्षमा, धृति, दया, आर्जव, मिताहार, शौच। इसी प्रकार नियम में तप, संतोष, आस्तिक्य, दान, ईश्वरपूजन, सिद्धान्तवाक्यश्रवण, ह्री, मति, जप, होम गृहीत हैं। प्रायः

---

[1] सि० सि० प० अ० व०, पृ० ७५।

ये सभी किसी न किसी रूप में नाथपंथी हिन्दी रचनाओं में विवृत हैं। इन सब में अहिंसा का स्थान सर्वप्रथम है। इसका थोड़ा सा परिचय भक्तिविवेचन के प्रसंग में दिया जा चुका है। यहाँ इसके सविस्तर वर्णन की आवश्यकता इसलिये है कि पं० रामचन्द्र शुक्ल ने 'इतिहास' में एक महत्वपूर्ण विचार इस सम्बन्ध में व्यक्त किया है। उन्होंने कहा है कि 'आगे चलकर भक्तिकाल में निर्गुण संत संप्रदाय किस प्रकार वेदान्त के ज्ञानवाद, सूफियों के प्रेमवाद तथा वैष्णवों के अहिंसावाद और प्रपत्तिवाद को मिलाकर सिद्धों और योगियों द्वारा बनाये हुए इस रास्ते पर चल पड़ा, यह आगे दिखाया जायगा।'[१] इससे स्पष्ट है कि यह अहिंसा तत्व संतों को नाथों से नहीं मिला था, उन्हें वैष्णवों से मिला। शुक्लजी ने यह स्पष्ट नहीं किया कि नाथों में अहिंसा तत्व बिलकुल नहीं था और दूसरे यह भी संभव है कि यदि नाथों में अहिंसा तत्व रहा भी हो तो वैष्णवों की अहिंसा से भिन्न रहा होगा, किन्तु इसका भी कोई उल्लेख नहीं किया गया है। शुक्लजी के वाक्य से यह प्रतीत होता है कि नाथों से उन्हें अहिंसा तत्व नहीं मिला। किन्तु नाथवाणियों का अध्ययन करने से यह मालूम होता है कि अहिंसा तत्व वैष्णवों और नाथों दोनों की साधानाओं में वर्तमान था। नाथपंथियों का अहिंसा तत्व उनके प्राणायाम प्रधान योग का उपकारक है। गोरख ने योग का मूल तत्व दया और दान माना है। अहिंसा इस दया का व्यवहार पक्ष है। हिंसा करने से योग के मूल तत्व की हानि होती है। हिंसा कार्य में रत रहकर पशुहत्या करनेवाले मोहम्मद के अनुयायियों को भी उन्होंने फटकारा और उनके इस मतवाद का खंडन किया कि मोहम्मद स्वयं पशुहत्या के समर्थक थे। वस्तुतः इस्लाम धर्म के अनुयायियों ने अपने धर्मप्रवर्तक को समझा ही नहीं। उस मोहम्मद की छूरी लोहे या फौलाद की गढ़ी हुई नहीं थी जिससे जीवहत्या होती है। मुसलमान ही नहीं योगी भी भ्रांत हो जाते हैं। वे योगी जो मांसभक्षण करते हैं वे अन्य सामान्य जनों की तरह नरक में जाते हैं। मांस के भक्षण से दया और धर्म दोनों का नाश होता है। इस प्रकार के उपदेश के पीछे नाथपंथियों का अपना सिद्धांत भी है। पिंडब्रह्मांडवाद के प्रारम्भ में बताया गया है कि नाथपंथी सिद्ध पिंड और ब्रह्मांड में, प्रत्येक घट में, उस परमतत्व का साक्षात्कार करते हैं। उनकी दृष्टि उन सब में समत्वदर्शन की है। इसलिये वे उपदेश करते हैं कि जीव और शिव दोनों का एक साथ ही निवास रहता है। इसलिये पशुहत्या कर

[१] हिं० सा० इ०, शुक्ल जी, पृ० २०-२१।

रुधिर-मांस का सेवन नहीं करना चाहिए।[१] पिंड को धारण करनेवाले जीव की हत्या से कोई लाभ नहीं। उससे दया की ही हानि होती है। यदि मारना ही है तो मनमृग को शब्द के अत्यधिक तेज खांडे से ही मारना चाहिए जिसका प्रयोग मुहम्मद ने भी किया था। इस मनमृग के वर्ण, रक्त, मांस नहीं हैं, फिर भी यह योगी की बुद्धिवाटिका का सदैव नाश किया करता है। यह मन योगी के साधन के विरुद्ध विद्रोह किया करता है।

गोरख के अतिरिक्त अन्य नाथपंथियों ने भी इस सिद्धांत को स्वीकार किया है। चरपट ने कहा है कि जो लोग जीवहत्या करते हैं और पूजा करते हैं, उनकी पूजा निरर्थक है। यह पंडितों का ही ज्ञान है जो इस प्रकार जीव-हत्या कर पूजा करने को मानता है। मद्य-मांस का भक्षण करनेवालों की, चरपट की दृष्टि में, स्कंधरक्षा नहीं हो सकती। इसलिये चौरंगीनाथ, गोरक्ष नाथ की तरह ही, केवल मतवाले मन को ही मारने का उपदेश देते हैं। भरथरी ने इस अहिंसासिद्धान्त की थोड़े विस्तार से व्याख्या की है। उनके अनुसार इस संसार में उस परमतत्व को छोड़कर दूसरे किसी की सत्ता नहीं है। यह दर्शन ज्ञानदृष्टि से संभव है कि हरि ही सभी घटों में विद्यमान हैं। जल-थल में जितने भी जीव हैं, उन सबमें वही हरि विद्यमान है, अतः उन पर दया करनी चाहिए। चूंकि सभी घटों में वह एक ब्रह्म विद्यमान है, इसलिये किसी भी जीव की हत्या नहीं करनी चाहिये। वे केवल जीवित प्राणी की ही हत्या का निषेध नहीं करते, मृतक प्राणियों पशुओं के मांसभक्षण का भी निषेध करते हैं। भरथरी के विचार इस सम्बन्ध में, अन्य नाथपंथियों की तुलना में, अधिक स्पष्ट और व्यापक हैं।[२]

यम-नियम के अन्य तत्वों में से सत्य और अस्तेय का कोई स्पष्ट वर्णन नाथपंथी रचनाओं में नहीं मिलता। नाथयोगसाधन सदाचारप्रधान है। इसमें ब्रह्मचर्य का अत्यधिक महत्व है। वस्तुतः नाथयोगी संप्रदाय कंचन और कामिनी, जैसा उसकी रचनाओं से पता लगता है, दोनों का विरोधी है। दोनों का निषेध करता है। उनके नारी सम्बन्धी विचार ब्रह्मचर्य से संबद्ध हैं। संक्षेप में उनके विचारों के अनुसार कामिनीसंग से विन्दुपात होता है और विन्दुपात से ब्रह्मचर्य का नाश होता है, स्कंध या पिंड का पतन होता है।

---

[१] गो० बा०, १२६.४, ४.९, ५६.१६४-१६५, ७३.२२७, १२६. टेक।

[२] ना० सि० बा०, ४.१०, ८१.२६४, १२६.१-४, २७.१५५, २९.१६७, ४८.३४४, ११२.११३।

फलत: कायसिद्धि नहीं होती तथा शुद्ध ज्ञान या परमज्ञान की उपलब्धि भी नहीं होती। ब्रह्मचर्य का पालन न करने से प्राणायाम सिद्ध नहीं होता। बिना प्राणायाम के मन चंचल होता है। मन की चंचलता से विन्दु चंचल होता है और परिणाम में स्कंधनाश होता है। इसलिये मूल बात यह है कि योगारम्भ के लिये ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक है, इसलिये यम में ही उसे प्राय: लोगों ने स्थान दिया है। इस प्रकार ब्रह्मचर्य से नारी, विन्दुरक्षा, कायसिद्धि सभी संबद्ध हैं। गोरखबानी की रचनाओं को देखने से प्रतीत होता है कि उसमें इनसे सम्बद्ध विचार या उपदेश ही प्रधान हैं।

पहले ही बताया जा चुका है कि नाथमार्ग अकुलमार्ग है (कुछ आधुनिक विवेचक इसे कुलेगार्ग कहते हैं। संभवत: उनकी दृष्टि में मत्स्त्येन्द्र और उनके योगिनीकौल मत की परंपरा है।) तथा यह भी संकेत किया गया है कि इसे ही अवधूत मार्ग या नाद मार्ग भी कहा गया है। विवेचनों में यह स्पष्ट करने की कोशिश की गई है कि कुलमार्ग या विंदुमार्ग सांसारिक मार्ग हैं। जैसे शक्ति के प्रबुद्ध और अप्रबुद्ध रूप स्वीकार किये गये हैं उसी प्रकार नाथसिद्धों ने भी नारी के दो रूपों की कल्पना की है। एक रूप कामिनी रूप है तथा दूसरा मातृरूप है। शक्ति का या विन्दु का वह रूप जो सृष्टिप्रक्रिया में विभिन्न भेदों, रूपों, वर्णों में निरन्तर रूप में विभाजित होने में गतिशील है, जिसमें क्रमश: उसके मूल रूप से भेद भी बढ़ता जाता है, किसी भी प्रकार से नाथों को ग्राह्य नहीं।" ऐसी शक्ति निरन्तर प्रपंच की वृद्धि कर व्यक्ति को साधन की ओर उन्मुख नहीं होने देती। व्यक्ति को, आध्यात्मिक दृष्टि से सुषुप्त तथा सांसारिक दृष्टि से जाग्रत व्यक्ति की शक्ति को काम की ओर प्रेरित करती है। कभी-कभी इसी प्रकार मातृरूप और कामिनी-रूप में शक्ति या नारी की कल्पना मिलती है। कभी-कभी जाग्रत व्यक्ति-शक्ति को 'सुन्दरी' शब्द से अभिहित किया गया है। कभी-कभी नारी के 'कामिनी' वाले रूप को केवल 'भग' शब्द से संबोधित कर दिया गया है। भग शब्द स्वयं अनेक अर्थोंवाला है। यही वह तत्व है जिससे समग्र सृष्टि का उदय करनेवाला तत्व शक्तिधर भगवान् नाम से अभिहित होता है। इस प्रकार वही शक्ति जननी है माता भी है।

गोरख ने शक्ति के इस कामिनी रूप का त्याग करने का कई बार उपदेश किया है। उनका कहना है कि चित्त की रुझान भी कामिनी की ओर न होनी चाहिए। कामिनी के प्रवाह में बहनेवाले व्यक्ति को योगसिद्धि नहीं

मिलती। उसके संग से शांति नहीं मिलती। उसके संग में जो व्यक्ति रहता है, उसकी स्थिति पूर्णिमा के चन्द्र की तरह होती है जो क्रमशः क्षीण होता ही जाता है। योगानुकूल न होने से नारी गुणहीन है। ऐसी नारी से स्नेह नहीं करना चाहिए क्योंकि उसी में वह रात-दिन बिता देता है। माया भी निर्गुण निराकार है, फिर भी उसके पीछे सारा संसार रात-दिन गँवाता रहता है।[1] गोरख ने प्रतीक रूप में नारी को 'भग' शब्द में भी संबोधित किया है। उसे वे 'भग राक्षसिन' कहते हैं। इस राक्षसिन की विशेषता यह है कि यह बिना दांत के ही सारे संसार का भक्षण करती है। यह बाघिन है। दिन में यह सोई रहती है तथा रात्रि में संपूर्ण शरीर का शोषण करती है। विषयानंद में लुब्ध नर अज्ञानी होकर अपने घरों में ही ऐसी बाघिन का पोषण करते हैं। वस्तुतः निरानन्द कामिनीभोग से नर का शरीर दिन-प्रतिदिन क्षीण होता जाता है। विलक्षणता तो यह है कि बाघिन ही शरीर को उत्पन्न करती है, वही उसका पालन करती है, वही यमराज के पार्श्व में खड़ी होकर दहाड़ती है। ऐसी बाघिन या राक्षसिन नारी वस्तुतः माया ही है। यह विभिन्न रूपों को धारण करती है तथा देखने में बड़ी भोली भाली मालूम पड़ती है। उसके क्रोध में पड़कर नर संपूर्ण जीवनरस खो देता है। व्यक्ति उसमें अनुरक्त होकर अपनी संपूर्ण (साधन-) संपत्ति का नाश कर देता है। उसके संग में पड़कर व्यक्ति की स्थिति नदी के किनारे के पेड़ की तरह हो जाती है जिसका किसी भी क्षण गिर कर नष्ट हो जाना संभावित रहता है। इस प्रकार स्कंधविनाश या पिंडपात होता है।[2] यह माया या कामिनी साँपिन है जो संपूर्ण त्रिभुवन को डँसती है। यह माया ही भग का जाल फैलाकर संपूर्ण लोक को उसमें फँसा लेती है, उससे कोई बचता नहीं है। मैथुनक्रिया से यह शरीर जराग्रस्त हो जाता है। योगी भी राक्षसिन के फेर में पड़कर अपना योगनाश करता है। इसलिये गुरु ने नारी, सारी और किंनरी—इन तीनों का त्याग कर दिया है।[3]

अन्य नाथसिद्धों ने भी नारी के इस कामिनी रूप का उद्घाटन किया है। चरपट ने बतलाया है कि कामिनी जीवन और विंदु दोनों का शोषण करती है, जिसके परिणामस्वरूप दिन-दिन काया क्षीण होती है। भरथरी ने इसी से स्कंध-

---

[1] गो० बा०, ३५.१०२, ७.१९, ८८.१, ६९.२१०, ९१.४, १५३.टेक।

[2] गो० बा०, १४४.१-३, १४४. टेक, ८७.३, १३७. टेक, १।

[3] गो० बा०, १३९-१४०. टेक—४; १३७. टेक, १; ३४.९९, १३.३५, १७३.१४, १७८.१९।

विनाश बतलाया है। भरथरी ने भी, जैसा गोरख ने कहा है, 'चमड़ी' (भग), 'ममड़ी' (ममता), 'दमड़ी' (कनक) इन तीन वस्तुओं का त्याग कर दिया है। इतना ही नहीं, उन्होंने सुस्पष्टतया नारी, चोरी और पर-स्त्री-प्रेम का त्याग करने को कहा है।[१] इस त्याग का कारण यह है कि वे भी गोरख की तरह ही देखते हैं कि नारी 'बाघिन' है। वह प्रेम कर घट में प्रवेश करती है और नौ नाड़ियों का शोषण करती है। उसकी सुन्दर काया मोहित कर लेती है तथा जीवन और विंदु दोनों का शोषण कर लेती है। जीवन-मार्ग में अचानक आक्रमण कर वह व्यक्ति के जीवनधन को बरबस लूट लेती है।[२] इन रूपों में नारी साधन की विपरीत दिशा में व्यक्ति को ले जाती है। अग्निकुंडसम नारी में पड़कर घृतकुंडसम पुरुष सर्वथा नष्ट हो जाता है। इसलिये नाथसिद्धों ने उसके प्रति घृणाभाव का प्रदर्शन किया है। इस विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि माया और कामिनी दोनों ही समान हैं। दोनों का त्याग करना चाहिए। कामिनी माया की क्रियाशीलता का माध्यम है। 'माया' और 'माय' शब्द समध्वन्यात्मक है। इसी का विकृत रूप 'माई' में भी मिलता है। अनेक स्थानों में, बौद्ध सिद्धों की रचनाओं में भी, इस शब्द का इस प्रकार प्रयोग मिलता है। कभी-कभी, इसे 'प्रपंचों की जननी' भी कह दिया गया है। नारी के कामिनी रूप के प्रति इस प्रकार का घृणाभाव स्कंधरक्षा या पिंडरक्षा के लक्ष्य के कारण है।

संपूर्ण नारी जाति के प्रति गोरक्ष में अवहेलना और तिरस्कार का भाव नहीं है। उसका कारण यह है कि नारी का कल्याणमय शिव रूप भी उन्होंने देखा है। दूसरे शब्दों में उन्होंने नारी में मातृरूप का भी दर्शन किया है। इन विचारों को देखते समय जो सबसे अधिक आवश्यक बात ध्यान में रखनी पड़ती है, वह यह है कि ये नाथसिद्ध नारी को साधना की ही दृष्टि से देखते हैं। जहाँ तक उसके कामिनी रूप का प्रश्न है, वह तो नाथसाधन के प्रसंग में विद्वानों द्वारा बहुचर्चित है किंतु उसके सर्वथा कल्याणकारक रूप का दर्शन, मातृरूप का उद्घाटन, अभी तक आलोचकों ने नहीं किया है। नाथों की रचनाओं में ही इस मातृरूप का दर्शन नहीं होता, उनके जीवन से संबद्ध कथाओं से भी उसकी पुष्टि होती है। यथोचित प्रसंग में विद्वानों ने उन कथाओं की ओर संकेत किया है। जैसे बौद्धों के साधन में गृहीत प्रत्येक वस्तु के सांवृतिक

---

[१] ना० सि० बा०, २८.१६०; १०१.६१७, १०४.६३१, १०४.६३१, ६३२।

[२] ना० सि० बा०, १२५. टेक, १२७.४७९, ११९.७१०।

और पारमार्थिक अर्थ भिन्न-भिन्न होते हैं, उसी प्रकार नाथसाहित्य में भी दिखाई पड़ता है। कुंडलिनी की जाग्रत और सुषुप्त दो अवस्थाएँ होती हैं। सुन्दरी या कामिनी के भी दो रूप माने गये हैं—प्रथम शरीर को क्षीण करनेवाली कामिनी का रूप तथा दूसरा शरीर को पुष्ट एवं परिपक्व करनेवाली सुषुम्ना के माध्यम से सहस्रार तक पहुँचानेवाली का रूप, जिसे सुषुम्नासुन्दरी कहा गया है। यह 'सुषुम्नासुन्दरी' जाग्रत और उद्बुद्ध कुंडलिनी का ही दूसरा नाम है। शक्ति नारी है जो कामना के जाल में भी फँसाती है तथा वही 'सहस्रार' में जीवात्मा का परमशिव से मिलन भी कराती है। माया शब्द भी, जिसका रूपांतर 'माई' या 'माय' के रूप में मिलता है, दो अर्थों में मिलता है। नीचे प्रमाण सहित नारी या शक्ति के पारमार्थिक अर्थ का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा ह। नारी का यह पक्ष ब्रह्मचर्य की रक्षा करनेवाला या सहायक है।

गोरख के हृदय में नारी के 'जननी' रूप के प्रति आदर भाव है। वे उन व्यक्तियों को धिक्कारते हैं जिन्होंने मातृरूप धारण करनेवाली नारी को भोग की सामग्री बना लिया है। जिस स्त्री ने जन्म दिया है, वह आदरणीय है और इसलिये संपूर्ण नारी जाति आदरणीय है। गोरखनाथ के संबंध में एक कथा प्रसिद्ध है जिससे उनके इस विचार का अच्छी तरह पोषण होता है। यह कथा इसलिये महत्त्वपूर्ण है कि इससे गोरखनाथ के स्त्री-संग-त्याग की तथा उसके मातृ-रूप-ग्रहण की पुष्टि जनप्रवाद से होती है। पार्वती ने नवनाथों की परीक्षा लेते समय गोरख को जिस कामिनी का रूप दिखाया उसे गोरख ने 'माता' के रूप में स्वीकार कर अपनी दृढ़ता प्रदर्शित की। गोरक्ष भिक्षाटन में भी स्त्रियों को मातृरूप में संबोधित करते हैं तथा उनसे बालक के रूप में ग्रहण करने तथा उसका योगानुकूल पोषण करने का आग्रह करते हैं।[1] गोपीचन्द्र जब सर्वप्रथम भिक्षाटन आरम्भ करते हैं तब वे अपनी रानियों को भी 'माई' शब्द से संबोधित करते हैं तथा अपने को 'परदेशी' कहते हैं। इस सम्बन्ध में वे रानियों से वाद-विवाद भी करना पसंद नहीं करते। योगी हो जाने पर गृहत्याग के बाद गोपीचंद में परिवर्तन हो जाता है। संपूर्ण विलास-सामग्री के प्रति उनके विचार परिवर्तित हो जाते हैं। रानियाँ उनके लिये कन्या हो जाती हैं। वे 'माई' और 'बहन' कह कर भिक्षा माँगना आरम्भ

---

[1] गो० बा०, १४४-१४५.टेक.४; कथा के लिये देखिये—नाथ संप्रदाय-डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ४५-४६।

कर देते हैं। स्पष्ट ही इन विचारों का संबंध उनके जीवन की घटनाओं से है। इस संबन्ध में उनके जीवन की अनेक कथाओं को देखा जा सकता है।[१]

जब इस प्रकार सब नाथसिद्ध कामिनीसंग के त्याग और उसके मातृरूप के ग्रहण का उपदेश देते हैं तो साधन के क्षेत्र में परावृत शक्ति को न्यस्त करने के लिए बार-बार वे नारीशक्ति को धारण करने के लिये भी कहते हैं। कभी कभी बौद्ध अपभ्रंश रचनाओं में तथा नाथपंथी रचनाओं में 'नाड़ी शक्ति' शब्द का प्रयोग 'अवधूतिका' या सुषुम्ना के लिये किया गया है। इसी को नाथसिद्ध लालजी 'सुंदरि सुषमनि' कहते हैं। इसी के भोग में योगी सदैव रत रहता है। इस सुंदरी की रुचि शून्य शिखर सहस्रार में है। गोरखनाथ भी योगी को, इसी दृष्टि से भोगी ही कहते हैं क्योंकि योगिनी, जो 'सुषुम्ना सुंदरी' से भिन्न नहीं कही जा सकती, या जिसे शब्दान्तर से मध्य सुषुम्ना मार्ग में गमन करने वाली जाग्रत कुण्डलिनीशक्ति कहते हैं, के संग का कभी त्याग नहीं करता। इस जाग्रत कुण्डलिनी नारी का, जिसे कई बार 'सर्पिणि' कहा गया है, भोग करने का बार-बार उपदेश मिलता है। यही शक्ति ब्रह्मांड में पहुँच कर शिव से मिलन प्राप्त करती है।[२] इस विवेचन से इतना स्पष्ट हो गया कि नाथयोगियों के ब्रह्मचर्यरक्षायुक्त साधन में केवल निषेध ही नहीं है, उसमें यह विधान भी किया गया है कि इस प्रकार की परावृत शक्ति को किस प्रकार संयमित किया जाय। यह भी स्पष्ट हो गया है कि इस साधन में जहाँ नारी का सामाजिक दृष्टि से आदर किया गया है, वहीं उसकी आध्यात्मिक साधना में, अन्तस्साधना में, महत्ता स्वीकार की गई है और बताया गया है कि 'नारी' भोग का नहीं योग का साधन है।[3] नारी के प्रति इस प्रकार

---

[१] ना० सि० बा०, १७-१८. १०१; सि० सि० प० अ० व०, ८९. १२-१४, ना० सि० बा०, १६.८८; ना० सं०, पृ० १६८-१७२।

[२] ना० सि० बा०, १२१.७२१; गो० बा०, १०५. टेक; गो० बा०, १९२. ५२, ३०. ८४।

[3] गोपीचंद आदि के प्रसंग से यह भी स्पष्ट है कि साधक के दृष्टिभेद से कामिनी ही साधिका या शाधनशक्ति के रूप में परिवर्तित हो सकती है तथा शोषिका ही पोषिका बन सकती है। कामिनी का कन्या या जननी के रूप में दर्शन ही यह परिवर्तन है। यही भोग का योग में परिवर्तन है। यह तांत्रिक सिद्धांत "साधन के क्षेत्र में प्रमाता या उसकी दृष्टि ही सब कुछ है। प्रमेय का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं

की दृष्टि नाथयोगियों ने क्यों स्वीकार की इसके सम्बन्ध में लोग सांप्रदायिक परिस्थितियों की गवेषणा कर बतलाते हैं कि बौद्धों के भोगपरक या नारी-संग-परक साधन के विकृत रूप के विरोध में नाथमत निवृत्तिवादी हो गया। किन्तु 'तांत्रिक बौद्ध साधन में भी भोगपरक जीवन व्यतीत करते थे।' हमें अभी इसमें ही संदेह है। इस सम्बन्ध में हम अन्यत्र पर्याप्त विस्तार से लिख चुके हैं।

ब्रह्मचर्य में मुख्य तत्त्व नारी-संग-त्याग ही है। यह नारी-संग-त्याग विंदु-रक्षा के लिये है क्योंकि विन्दुरक्षा कायसिद्धि या परिपक्व देह की प्राप्ति के लिये आवश्यक है। किन्तु यदि इसके साथ विंदुस्थैर्य के लिये भी प्रयत्न न किया जाय तो भी ब्रह्मचर्य स्थिर नहीं रह सकता। इसलिये विंदुसाधन का विधान नाथयोग में मिलता है। यह विंदु क्या है तथा मनुष्य-शरीर-निर्माण में इसका क्या स्थान है इसके ज्ञान के लिये तांत्रिकों के विंदु शब्द का दार्शनिक परिचय भी आवश्यक है जिससे इसका साधनात्मक रूप स्पष्ट हो सके। संस्कृत नाथसाहित्य में विन्दुविचार का प्रायः अभाव सा है। डा० कल्याणी मल्लिक ने विभिन्न प्रकार से इस विंदुतत्त्व की विस्तार से व्याख्या की है।[1] तांत्रिक साधन में कामकला, वीरयोग, सामरस्य, कुमारीपूजा का इस प्रसंग में विस्तार मिलता है।[2]

इस प्रकार विन्दु, नाद और कामकला का शक्तितत्व से संबंध है। मत्स्येन्द्रविरचित कौलज्ञाननिर्णय में शिव या महालिंग की शक्ति को विंदु कहा गया है। यह विन्दु आत्मशक्ति द्वारा ही भेद्य रहता है। विन्दु ही अमृत है। इससे जरा और वार्द्धक्य का अपसारण होता है। इसकी ज्योति से सभी वस्तुएँ विशुद्ध होती हैं तथा यही कामकला होकर अमृत प्रदान करता है। यही सहजावस्था की चरम परिणति है। यह निर्मल मणि, मुक्ताफल, खद्योत, आकाश की तारकराजि की तरह उज्वल है। यह सित, रक्त, कृष्ण, धूम्र, पीत वर्ण का होता है। यह सृष्टि-संहार-कारक है। गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह में नाद और विन्दु संबंधी जो विवरण मिलता है उसे पहले ही बताया जा चुका है। उसमें इस प्रसंग के अनुकूल जो आवश्यक बात है वह यह कि नाथयोगसाधन

है"—यहाँ स्पष्टतः चरितार्थ होता दिखाई देता है। इस सिद्धांत की सर जान उडरफ ने अपने ग्रंथों में कई स्थानों पर व्याख्या की है।

[1] ना० सं० इ० द० सा० प्र०, पृ० ४९०, ५०१, ४९८।

[2] वही, पृ० ५००।

में विन्दु, इन्दु, शिव को एक ही कहा गया है। इसी प्रकार रज, रवि और शक्ति को एक कहा गया है। इन दोनों के संगम से परमपद की प्राप्ति होती है। इस विन्दु का शरीर में साधन कर लेने पर मृत्युभय नहीं रहता, परम पद की प्राप्ति भी हो जाती है। नभोमुद्रा की सहायता से इस विन्दु का धारण करने को कहा गया है।[1]

इस परिचय से स्पष्ट है कि विन्दु कायसिद्धि के लिये अति महत्वपूर्ण है। इस विन्दु को अमृत भी कहा गया है। यह शिव और चन्द्र भी है। यह सृष्टि और संहार (व्यष्टि और समष्टि दोनों के लिये) दोनों का मूल कारण है। इसलिये नाथसिद्ध इसकी रक्षा को अति आवश्यक मानते हैं। विन्दु की रक्षा और धारणा या स्थैर्य के लिये नारी-संग-त्याग को आवश्यक पहले ही बताया जा चुका है। निम्नाभिमुख विन्दु को ऊर्ध्वमुख करना वे आवश्यक मानते हैं। नाद और विन्दु दोनों ही जिस साधक के शरीर में जलते हैं, सिद्ध होते हैं, वही व्यक्ति सिद्ध होता है। प्रायः माना जाता है कि गृहस्थ व्यक्ति विन्दुरक्षा नहीं कर सकता। अतएव उसी व्यक्ति को वास्तविक घरबारी कहा गया है जो घर का पूरा परिचय प्राप्त कर बहिर्मुख विन्दु को अंतर्मुख करे। नाथसिद्ध भी विन्दु से जीवन मानते हैं। जहाँ विन्दु है वहीं जीवन है। इसी विन्दु की स्थिति सुषुम्ना नाड़ी में पवन की स्थिरता से होती है जिसे कुंभक कहते हैं। वज्रोली करते हुए अमरोली की रक्षा तथा अमरोली करते हुए वायु की रक्षा कठिन है। इस प्रकार रक्त के सारतत्व शुक्र या विन्दु का भोग करते समय या वज्रोलीसाधन के समय भी भग में पतन न होने दे तो सिद्धि प्राप्त होती है।[2] वास्तविक बात यह है कि जो लोग नारीभग के संसर्ग से वज्रोलीसाधन करते हैं उनके लिये सबसे अधिक आवश्यक है विन्दुस्थैर्य। वज्रोलीसाधन में उपक्रिया के रूप में अमरोली साधन है जिसमें विन्दु की मध्य धारा का रक्षण होता है। किन्तु इस प्रकार की क्रियाओं को करते समय वायु स्थिर नहीं रह पाता। क्योंकि मैथुन में श्वास की गति अति तीव्र हो जाती है, जैसा तांत्रिक प्राणायाम के विवेचन से स्पष्ट है। अतः इसका निष्कर्ष यह है कि जिस व्यक्ति का प्राण स्थिर है तथा जो प्राणायामकुशल है, वही व्यक्ति वज्रोली साधन में प्रवृत्त हो सकता है। दूसरे, किसी प्रकार विन्दुपात हो भी गया तो भग से विंदु की मध्यधारा का आकर्षण अति कठिन

---

[1] वही, पृ० ४९७-४९८, ५०९-५१०।

[2] गो० बा०, ७.१७, ७.१९, १६.४४, २१.५७, ४९.१४१।

कार्य है। प्रायः इस स्थिति में प्राण अस्थिर हो उठता है। इस आकर्षण के लिये सशक्त प्राणस्थैर्य आवश्यक है। गोरख ने इस तथ्य को ध्यान में रखकर प्राणायामाभ्यासी या हठयोगी को भगमुक्ति या नारीसंगत्याग के लिये बार-बार चेतावनी दी है क्योंकि इससे प्राण की गति अत्यधिक बढ़ जाती है तथा साथ ही मन चंचल होता है और विन्दु भी पतित होता है। वे कहते हैं कि जैसे रसायनक्रिया में अग्निसमूह में पारे (जिसे रसेश्वर मत में शिवांबु भी कहते हैं) की रक्षा कठिन हो जाती है उसी प्रकार भग में विंदु की रक्षा कठिन है। इसलिये वे अपरिपक्व या योग से हीन साधकों को ललकारते भी हैं। विंदु की इस महत्ता को स्वीकार करते हुए ही उन्होंने कहा कि यह विंदु ही योग, भोग, रोग, सब कुछ है। इसे ही मानव जीवन या साधनात्मक जीवनव्यापार का मूल मानकर उसे सदैव अपने अधिकार में, सुरक्षित रखने के लिये सचेत करते हैं।[१] यह विंदु वह अमूल्य रस है जिसका बाघिन शोषण कर लेती है जिसके क्षीण हो जाने पर योगसिद्धि कदापि नहीं मिल सकती। किन्तु यह भी निश्चित है कि शरीर के इस महत्वपूर्ण तरल पदार्थ से सिद्धि सरल हो जाती है। गोरख ने इसे अमूल्य रत्न कहा है, क्योंकि जब तक यह शरीर में स्थिर रहता है तबतक स्कंधपात नहीं होता। इसे वे मत्स्येन्द्र के उपर्युक्त विचारों की ही तरह मत्स्येन्द्र से निवेदन करते हैं—"यह विंदु अमृत महारस है। मन की क्षणिक चंचलता से मेरु के समान आधार विन्दु क्षीण हो जाता है और परिणामतः स्कंधविनाश होता है। इसका आध्यात्मिक जीवन के लिये उतना ही महत्व है जितना ब्रह्म का। इसलिये वे केवल उसी व्यक्ति को अवधूत कहने को तैयार हैं जो इस ब्रह्म को क्षीण होने से रोकता है।[२]

अन्य नाथसिद्ध भी गोरख से भिन्न विचार नहीं रखते। भरथरी भी विन्दुपात की ब्रह्महत्या से तुलना करते हैं तथा ऐसे विंदुपात करनेवालों को दुराचारी तथा अशौच से ग्रस्त कहते हैं। चरपट की दृष्टि में जिन लोगों का किये हुए भोजन का सार स्थिर नहीं रहता, उनकी वाणी भी सत्य नहीं होती। इसलिये प्रत्येक विन्दु के पतन पर वे बार बार मरते हैं।[3] बालनाथ को

---

१ गो० बा०, ४९.१४२, ५१.१४८, ८५.टेक।

२ ना० सि० बा०, ८७.२, ४; ९०.टेक–१, १३७.टेक–१; १४५.४।

3 सि० सि० प० अ० व०, ७९.३१; ना० सि० बा०, १०३.६२६; सि० सि० प० व०, ८२.२; ना० सि० बा०, २५.१४४।

मनुष्यों की मूर्खता पर विस्मय होता है कि वे मनुष्य यह नहीं जानते कि इस संसार का विकास अत्यंत सूक्ष्म एवं अत्यल्प विंदु से हुआ है। किन्तु वे उसके मूल्य को न जान कर अनेक विंदुओं का नाश करते हैं। मनुष्य पतित विन्दु के वास्तविक मूल्य या रहस्य को नहीं समझता किन्तु इस विन्दु से उत्पन्न व्यक्तियों के मर जाने पर रोता है। इस विन्दु संबंधी विवेचन का निष्कर्ष यही है कि कायसिद्धि, किंबहुना, परमपद के लिये भी, विन्दुरक्षा, विन्दुस्थैर्य, विन्दुसाधन अत्यावश्यक है। यह यम के ब्रह्मचर्यांग के अन्तर्गत ही है। इसकी सिद्धि किस प्रकार हो, इसके लिए वज्रोली, नभोमुद्रा आदि की ओर संक्षिप्त संकेत पहले ही किये जा चुके हैं।[1]

यमगत अन्य अंगों में से केवल मिताहार को छोड़कर किसी अन्य का सविस्तर वर्णन नहीं मिलता। क्षमा को गोरख ने षडासन कहा है।[2] योगी के साधन में यदि अन्य किसी मानसिक तत्व की स्थिरता आवश्यक है तो वह धैर्य है। इसी से वह साधनमार्ग में सदैव अग्रसर होने में समर्थ हो पाता है। योग के लिये वे दया को भी आवश्यक मानते हैं क्योंकि इसके न होने से अहिंसा का पालन भलीभाँति नहीं हो सकता। दूसरे, इसके अभाव में विभिन्न प्रकार की कायसिद्धियों का लक्ष्य ही समाप्त हो जायगा। कायसिद्धि और जीवन्मुक्ति का लक्ष्य सांसारिक लोगों के उद्धार के लिये ही है जो बिना दया के असंभव हैं। आर्जव या ऋजुता का संबन्ध करनी और रहनी से है। यहाँ आर्जव का अर्थ जीवन की ऋजुता या सरलता है। नाथसिद्ध किसी भी प्रकार का आडंबर, पाषंड या कृत्रिमता नहीं मानते। वे करनी, रहनी की

---

[1] ना० सि० बा०, ९१. ५८३। गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह में केवल ब्रह्मचर्य-पालन करते हुए, गृहस्थादि का तनिक भी पालन न करने का जो उपदेश दिया गया है, उसका कारण यह है कि परम्परानुसार प्रथम १२ वर्ष विद्याभ्यास में, द्वितीय द्वादश वर्ष शब्दबोध, शास्त्रपाठ में व्यतीत करने का उपदेश दिया जाता है। पुनः शास्त्राभ्यास, वेदान्ताभ्यास आदि करने से इस प्रकार आधी आयु तो यों ही बीत जाती है। फिर इन्द्रियों के शिथिल होने पर वे सत्याभ्यास करने में अशक्त हो जाते हैं। अतः प्रथमतः साक्षरतामात्र के पांडित्य को प्राप्त कर मनुष्यों को योगाभ्यास में लग जाना चाहिए। गो० सि० सं०, पृ० ५०।

[2] गो० बा०, १७. ४८ तथा शब्दसंग्रह में 'षडासन' शब्द की व्याख्या द्रष्टव्यः; गो० बा०, २०१. ११८, १२६. ४.३२।

सचाई चाहते हैं। व्यवहार में किसी प्रकार की कृत्रिमता उनकी दृष्टि में, अनुचित है। वे सरल जीवन को योगी के लिये आवश्यक मानते हैं। उस सरल जीवन में खान-पान-वेश-भूषा-व्यवहार सभी सम्मिलित हैं। वे सभी प्रकार की सरलता चाहते हैं। बाह्य और आन्तरिक जीवन के साम्य को वे आवश्यक मानते हैं। आध्यात्मिक जीवन के आदर्श का कथन करना अति सरल है; किन्तु तदनुकूल जीवन भी व्यतीत करना या उनका जीवन में आचरण करना अति कठिन है। बिना आचरण के, बिना रहनी के यह 'कहनी' थोथी एवं निस्सार है। सच्चे योगी की 'रहनी' ही सच्ची होती है। सार-तत्व से युक्त रहनी ही सर्वोत्तम है जिसमें करनी की महत्ता है; क्योंकि उत्तम करनी के लोग भवसागर पार होते हैं। बिना इस करनी एवं रहनी के योग सिद्ध नहीं होता।[१] रहनी में योगानुकूल साधन या परम-पद-साधन के लिये लीन रहनेवाले आचरण से युक्त रहनी उत्तम है। नाथयोगी योग-शास्त्र को ही शास्त्र, योगसाधन को ही साधन तथा तद्नुकूल आचरण को ही आचरण कहते हैं। शेष सब आडंबर और पाषंड है। तंत्र, मंत्र, वेदान्त (या वैद्यक से सिद्धिप्राप्ति) आदि सबका त्याग इस रहनी में होना चाहिए। यंत्र, गुटिका (सिद्ध गुटिका जिससे आकाश-उड्डयन आदि की सिद्धियाँ संभव मानी जाती हैं), विभिन्न धातु प्रयोग आदि सभी पाषंड हैं। जो लोग परमतत्वसाधन को लक्ष्य में न रखकर केवल कथनी के लिये या केवल चमत्कारप्रदर्शन के लिये नौ नाड़ियों एवं बहत्तर कोठों की बात करते हैं या साधन करते हैं और उसे 'अष्टांग योग' कहते हैं, वे वास्तव में झूठे हैं। यह सब मिथ्या है। वास्त-विक सिद्धि स्तंभन, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन आदि में नहीं है। ये सब योगबाह्य हैं। अतः इनका त्याग करना चाहिए।[२] पाषंड और आडंबर के त्याग के प्रसंग में गोरख ने अपने मत से भिन्न अनेक संप्रदायों की आलो-चना की है जिसमें एकदंडी, द्विदंडी, त्रिदंडी, भगवावेषी, जटाधारी, जैन, दूधा-धारी, तीर्थयात्री, ब्राह्मण आदि अन्तर्गणित हैं। ये सभी आदर्श का या परम-तत्व का खूब वर्णन करते हैं किन्तु उसका जीवन में अनुभव नहीं करते।

अन्य नाथसिद्धों में चरपट ने निस्सार आवागमन, निस्सार कथनी, निस्सार भोजन; निस्सार विवाद–इन सबको योगमय जीवन के उपसर्गसमान माना है। बायें हाथ में कमंडल धारण करना, दाहिने हाथ में दंड धारण करना, चक्र

[१] गो० बा०, ४२. २७१, ८१. २६४, २१. ५९, १३९. ४. ४४।

[२] गो० बा०, १७०. ४, ४६. १३३, १७०. ५।

घुमाना, आडंबर की पूजा करना और उसके साथ वेश्याओं का संग करना—ये सभी उनकी दृष्टि में पाषंड है। केवल किसी संप्रदायविशेष का वेष धारण कर लेने से परमतत्व का भेद नहीं मिलता। ऊपर से गृहत्याग करते हुए भी यदि मन से माया नहीं गई तो वह गृहत्याग निरर्थक है।[1] इस प्रकार चरपट ने बाह्य साधना का भी खंडन किया है। योगी का आडंबर उनको सर्वथा अप्रिय है। योगसाधन में आवश्यक है कि साधक गुरुवाणी का भलीभाँति जीवन में ग्रहण एवं आचरण करे। किन्तु सभी लोग वेष तो धारण कर लेते हैं, किन्तु आचरण नहीं करते, अपने को नहीं पहचानते। अपने को नाथ कहलानेवालों में 'माया को' नाथने की शक्ति नहीं होती। उनके साथ चेलों की जमात चलती है। वे भीख माँग कर भर-भर पेट खाते हैं। यद्यपि उन्हें नाथ कहा जाता है तथापि वे बार-बार जन्म लेते और मरते हैं। वे आडंबरी है। कान में मुद्रा और गले में रुद्राक्ष धारण करना ही नाथ होने के लिये वे पर्याप्त समझते हैं। यह सब कुछ पाषंड है। वे नकटी-बूची 'योगिन' को साथ में ले लेते हैं, जटा धारण करते हैं, मोटी कंथा धारण करते हैं, विचित्र वाणी बोलते हैं, मान-अभिमान को लादे फिरते हैं, दंड-कमंडल, भगवावेश धारण करते है, अनेक प्रकार से आडंबर करते हैं। तत्व की बात बिल्कुल नहीं समझते और पंडित तथा ज्ञानी बनते हैं। भीतर तो मल (मानसिक और शारीरिक) भरा रहता है और बाहर से वे सफाई करते हैं। तीर्थस्नान करते हैं, यंत्र-मंत्र आदि करते हैं किन्तु परब्रह्म का ध्यान कभी नहीं करते।[2] चरपट ने योगियों को भी नहीं छोड़ा है। व्रजकछौटी पहन कर योगी पान चबाते हैं, तीर्थ में जाकर दान लेते हैं, वैद्यक करते हैं, रोगी को अच्छा करने का दावा करते हैं। वस्तुतः ये सभी नष्ट हो गये हैं। योगसाधन की सभी क्रियाएँ, मन, विन्दु और पवन को स्थिर करने के लिये की जाती हैं जिनका परिणाम कायसिद्धि तथा अन्ततः परमपद प्राप्ति है किन्तु ये योगी मन को कभी नहीं मोड़ते, उसके विकारों को कभी दूर नहीं करते। इस 'केशमुंडन' से कुछ नहीं होता। वस्तुतः ये केवल बाहर के रूप को ग्रहण कर भीतर का सार तत्व बिल्कुल छोड़ देते हैं। पृथ्वीनाथ ने बताया है कि वह मुद्रा, तिलक, माला, पूजा, षटकर्म, गायत्री आदि कुछ और ही भिन्न प्रकार के हैं जिनसे

---

[1] सं० सि० प० अ० व०, ८५. ४०, ८५. ४१–४२।

[2] वही, ८६. ४२–५२; ना० सि० बा०, ७. ४४, २६. १४९, २६. १५०-१५१. २६–२७. १५०–१५६।

वस्तुतः सिद्धि मिलती है।[1] वे बार-बार पाषंड, आडंबर, बाह्याचार, बाह्य-साधन के त्याग तथा अन्तस्साधना को ग्रहण करने का उपदेश देते हैं, क्योंकि उनका सिद्धान्त है कि पिण्डशुद्धि और पिण्डज्ञान से ही ब्रह्माण्डशुद्धि और ब्रह्माण्डज्ञान संभव है। जब तक पिण्ड सिद्ध नही होता तब तक ब्रह्माण्ड भी सिद्ध नहीं हो सकता। अन्तस्साधना ही सब कुछ है, बाह्यसाधना अन्तस्साधना बिना निरर्थक है। बिना इसके बाहर का सब कुछ कुटिल, कृत्रिम, आडंबर और पाषंड है। बाहर और भीतर की एकतानता, सरलता, कथनी और करनी या रहनी की एकता के बिना सब निरर्थक है। इसलिये साधक में बाह्य और आन्तरिक दोनों प्रकार की ऋजुता चाहिए। साधक को बाहर भीतर एकरस होना चाहिए।

आर्जव के अतिरिक्त, नाथयोगियों की दृष्टि में, सबसे अधिक महत्वपूर्ण अंग मिताहार है। संस्कृत रचनाओं में मिताहार का महत्व प्रतिपादित है। उससे कम महत्व हिन्दी रचनाओं में उसे नहीं दिया गया है। संस्कृत रचनाओं में पथ्य-अपथ्य, योगानुकूल और योगविरुद्ध आहार का वर्णन मिलता है। यद्यपि खाद्य-अखाद्य की लंबी सूची नहीं दी गई तथापि उनकी ओर कुछ संकेत अवश्य हैं तथा साथ ही यह भी बतलाया गया है कि मिताहार का उल्लंघन योगानुकूल नियमों का उल्लंघन है। इस संबंध में मध्यममार्ग का उपदेश भी मिलता है। इस संबंध में जो विधान मिलते हैं वे निश्चित समय, निश्चित परिमाण, निश्चित पदार्थ के अनुसार हैं। वे सारे योगानुकूल हैं। आहार का उद्देश्य योगसाधन के लिये शरीर को उचित रीति से पुष्ट बनाना तथा उसकी रक्षा करना है। इसलिये गोरक्ष शीघ्र भोजन, अल्पाहार तथा उचित मात्रा में आहार का विधान करते हैं। पेट भर-भर कर भोजन करने से सारे शरीर में काम व्याप्त हो जाता है। इसीलिये अल्पाहार करना चाहिए। न तो भोजन पर टूट ही पड़ना चाहिए न भूखों ही मरना चाहिए, क्योंकि अत्यधिक भोजन से इन्द्रियाँ बलवान् होकर पीड़ित करती हैं, ज्ञान नष्ट हो जाता है तथा चित्त मैथुनकामी हो जाता है। निद्रा पूर्णतया व्याप्त हो जाती है तथा निद्रा के आते ही काल आक्रमण करता है। आहार में साधक को दूसरों पर इस प्रकार अवलंबित नहीं रहना चाहिए कि जिससे कष्ट हो। जो दूध के आहार पर रहनेवाले हैं, उन्हें सदैव दूसरों के घर के सहारे रहना पड़ता है। उनका चित्त सदैव दूसरों के घर में लगा रहता है। अत्याहार योगसाधक के लिये काल के समान

[1] ना० सि० बा०, ३०.१७५, ३२.१९१, ८७-८८.५५३-५६६।

वैरी है। बिना आहार को तोड़े गुरु के दिये ज्ञानभंडार की रक्षा नहीं हो सकती।[१] अत्याहार तथा मांसवृद्धि करनेवाले आहारों से योगी का शरीर स्थूल हो जाता है। कूल्हे बड़े-बड़े हो जाते हैं तथा पेट बड़ा हो जाता है। इनसे गुरु के बताये उपदेशों की सिद्धि नहीं हो सकती। इसके लिये खड़खड़ या पुष्ट और हल्की काया होनी चाहिए। ऐसी काया के लिये नियमित परिमित और नियंत्रित आहार की आवश्यकता है। ऐसे शरीर के लिये उपवास करने की आवश्यकता नहीं है। आहार में संयम करने की आवश्यकता है। इस संयम के मध्यममार्ग का अनुसरण करने से मन निश्चल हो जाता है तथा श्वास भी स्थिर हो जाती है जो कायसिद्धि के लिये आवश्यक है। इस संयम के लिये मद्य, मांस, भाँग का सेवन बिल्कुल निषिद्ध है क्योंकि इससे दया-धर्म का नाश, प्राणनाश, ज्ञान-ध्यान की हानि होती है।[२]

अन्य नाथसिद्धों की हिन्दी रचनाओं से भी गोरक्ष के उपर्युक्त विचारों की पुष्टि होती है। चरपट ने भीख माँग-माँग कर खाने तथा पेट भर-भर कर खाने की निंदा की है और बताया है कि ऐसे लोगों की बार-बार मृत्यु होती है। मद्य-मांस में जिनका चित्त लगा रहता है, वे कभी ज्ञान की बात कर ही नहीं सकते। उनका स्कंधविनाश निश्चित है। इन सबका त्याग करने के साथ ही वे खीर, खाँड़, घृत तथा अन्य भोगपरक भोज्य पदार्थों के भी त्याग का उपदेश देते हैं। इनका त्याग होने पर ही आत्मरक्षा तथा योगसाधन संभव है। भरथरी की दृष्टि में पेट भर-भर कर भोजन करना बड़े ही निकृष्ट कोटि का कार्य है। दत्तात्रेय ने अल्पाहार और उच्च विचार को ही योगी के लिये आवश्यक माना है।[3] इसी प्रकार जलंधरनाथ ने भी संयत आहार को महत्व दिया है क्योंकि इससे काम शरीर में व्याप्त नहीं होता। जिह्वास्वाद के लिये भोजन वे अनुचित ठहराते हैं। किन्तु कठिनाई यह है कि यदि थोड़ा भोजन करें तो मानसिक असंतोष और कष्ट होता है। यदि अत्याहार करे तो रोग उत्पन्न होता है। दोनों ही प्रकार से कष्ट है। अतएव जलंधरनाथ दोनों पक्षों की संधि का विचार करने को कहते हैं। जो इस प्रकार आहार

---

[१] गो० बा०, ८.२०, १०२.३०, १२.३२, १३.३३, १४.३६, १५.३९-४०, ३०.८४।

[२] गो० बा०, ३८.१०९, ५१.१४६, ५६.१६४-१६५।

[3] सि० सि० प० अ० व०, ८२. ४, ८६. ५४, ८४. ३०; ना० सि० बा०, १०४. ६२९, ६१. ४००।

करता है वही योगी हो सकता है।[1] वामाचारी तांत्रिकों के वीराचार में मद्य-मांस का यथार्थ रूप में ग्रहण है किन्तु शैव नाथयोगी अपने साधन में इनका स्पष्टतया निषेध करते हैं तथा साथ ही तांत्रिकों के दिव्याचार में गृहीत पंचमकार के अन्तस्साधनात्मक अर्थों का ये विधान करते हैं। केवल उसी को ये ग्राह्य मानते हैं।

यम का अन्तिम अंग शौच है जिसका अर्थ शारीरिक और मानसिक शुचिता है। यों सामान्यतया शरीर के विभिन्न अंगों का प्रक्षालन तथा शोधन, शुद्ध जल से स्नान, शुद्ध जल-पान, शुद्ध वायु का ग्रहण, शुद्ध पदार्थों का ग्रहण, सत्संग में निवास, स्वास्थ्य के नियमों के पालन आदि को शारीरिक शौच में गिना जाता है तथा शुद्ध विचार, शुद्ध इच्छा आदि को मन के शोधन के लिये ग्रहण किया जाता है। किन्तु नाथसिद्धों ने इन बाह्य एवं शारीरिक शौच-साधनों को महत्व नहीं दिया है। यद्यपि गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह ने शौच के लिये अपनी आचारविधि बतलायी है तथापि उसमें भी केवल बाह्य कृच्छ्राचार का विरोध है। सांसारिक लोगों में आचार की बड़ी धूम है, किंतु वे चमड़े का जूता पहनाते हैं, स्त्रीसंग करते हैं, सूर्यादि ग्रहण के समय मृत्तिकापात्रों का तो त्याग कर देते हैं किन्तु धान्य-घृतादि वस्तुओं का त्याग नहीं करते। इसलिये ऐसा प्रतीत होता है कि इन लोगों का आचार एक कल्पना है। अतः आचार प्रधान नहीं है, विचार प्रधान है। नाथपंथियों को भी आचार ग्राह्य हैं किन्तु विचारपूर्वक, क्योंकि नाथों में तत्वविचार मुख्य है। उनके यहाँ भी व्यवहार सर्वथा त्याज्य नहीं है। वे शौचादि क्रिया, स्नान, पूजा गुरुस्मरण आदि को मानते हैं किंतु वृथा के आचारों में वे समय का व्यय अनुचित समझते हैं। इन शौचकार्यों में भी वे केवल उन्हीं क्रियाओं को स्वीकर करते हैं जिनसे मुख्य लक्ष्य की हानि न हो तथा खेद से प्राणहरण न हो, क्योंकि प्राणरक्षा के बिना मन स्थिर नहीं रहता और उसके बिना काल से मोक्ष नहीं होता। अतः नाथसिद्ध विचारपूर्वक केवल योगानुकूल आचारों को स्वीकार करते हैं। गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह निरर्थक योगविरुद्ध आचारों को अत्याचार कहता है।[2] भरथरी ने शारीरिक और मानसिक, दोनों प्रकार की शुचिता को ध्यान में रखकर योगविरुद्ध अशुचि की ओर संकेत कर कहा है, जैसा गो० सि० सं० में कहा गया है, कि जिस व्यक्ति के चित्त में मादकता प्रदान करने-

---

[1] ना० सि० बा०, ५२. ३५७–३५८।

[2] गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह, पृ० ६०-६१, पृ० ६०।

वाली कामिनी चढ़ी रहती है, सुरा, विषय, शय्या और मन्मथ सदैव पास में बने रहते हैं, जो वीर्यपात कर ब्रह्महत्या का भागी होता है, वह दुराचारी है। भला उस व्यक्ति में शुचिता कहाँ रह सकती है।[१] इससे स्पष्ट है कि नाथ लोग सबसे अधिक विंदुगत और मनोगत शुचिता को महत्व देते हैं जिसके लिये वे प्राणायाम, संयम, ब्रह्मचर्य एवं विंदुरक्षा का विधान करते हैं। यदि संयम रखा जाय, ब्रह्मचर्य रखा जाय, विंदुरक्षा की जाय तो शारीरिक, मानसिक दोनों प्रकार की शुचिता रह सकती है।

८—नियम

इसी प्रकार यम की तरह, हठयोगप्रदीपिका के प्रक्षिप्त श्लोकों में, जो मूलतः शारदातिलक के श्लोक हैं, नियम के अन्तर्गत तप, संतोष, आस्तिक्य, दान, ईश्वरपूजा, सिद्धान्तवाक्यश्रवण, ह्री, मति, तप और होम की गणना की गई है। इनमें से अधिकांश का परिचय नाथवाणियों में नहीं मिलता। इन अंगों में भी तप, आस्तिक्य, होम आदि विवादस्पद हैं तथा उनके सामान्यतया गृहीत रूपों को नाथसिद्ध स्वीकार नहीं करते। यहाँ क्रम से विचार किया जा रहा है।

तप में मन और शरीर को इस प्रकार सिद्ध किया जाता है कि किसी ऋतु-परिवर्तन या स्थूल वातावरण के परिवर्तन का उसके ऊपर कोई प्रभाव न पड़े। उसमें ऐसा अभ्यास किया जाता है कि जिससे नग्न शरीर प्रसन्नतापूर्वक शीत, ताप और वर्षा को सह सके। उपवास या अन्य भोजन संबंधी कष्टों से भी वह पीड़ित न हो। इसमें शरीर, मन, इन्द्रियों, विलासभोग की वासनाओं को जीतने का प्रयत्न किया जाता है। इस प्रकार संपूर्ण जीवन ही नये सिरे से व्यवस्थित और नियंत्रित किया जाता है। किन्तु नाथपंथी लोगों में अन्तस्साधना प्रधान है। पहले ही बताया जा चुका है कि आहारादि के संबंध में नाथयोगी मध्यममार्ग का अनुसरण करते हैं। गोरख की दृष्टि में तप से, जिसमें सामान्यतया शरीर को कष्ट देकर उसे जीतने का भाव प्रधान रूप से माना जाता है, कोई शूर नहीं हो सकता, न शरीर और मन को जीत सकता है।[२] शरीर और मन को साधने के लिये लोग पावड़ी पहनते हैं किन्तु ऐसे ही लोग फिसल कर गिरते भी हैं। लोहे की श्रृंखलाओं से शरीर को जकड़ते हैं, उनका शरीर क्षीण होता है। वस्तुतः उसी प्रकार, नग्न रहने वाले नागा, मौन रहने वाले मौनी या केवल दूध के आधार पर रहने वाले दूधाधारी लोग

---

[१] ना० सि० बा०, १०३. ६२६। [२] गो० बा०, ११५. २।

योग नहीं प्राप्त कर सकते। दूधाधारी का चित्त शांत नहीं रहता। दूसरों के घर में उसका चित्त लगा रहता है। उसी प्रकार बिना लकड़ी के नागा नहीं रह सकता। उसको नित्य ही लकड़ी चाहिए। मौनी को मित्र की आशा लगी रहती है।[1] इस प्रकार ये सभी लोग कृच्छ्राचार से शरीर को साधना चाहते हैं। ये सभी योगसिद्धि प्राप्त करने में असफल रहते हैं। कष्टपूर्ण साधन से इन्द्रियों का संयम करने वाले सभी इसी प्रकार धोखे में रहते हैं। वस्तुत: ऐसे लोगों की साधन-संपत्ति को लूटनेवाला कोई अन्य (माया) होता है और वे अज्ञान में पड़कर इंन्द्रियों को कस कर उन्हें दंड देते हैं। वे सभी धोखे में रहते हैं। तन-मन के रहस्यों का उन्हें तनिक भी पता नहीं रहता। माया में पड़कर वे सभी अपनी सुरति को नष्ट कर देते हैं।[2] उनकी सारी तप की क्रियायें केवल कष्टसाधन या आडंबर के रूप में रह जाती हैं। इसलिये गोरख ने बड़े विस्तार से मन और शरीर की रक्षा या अपरिवर्तनशीलता के लिये अपने योगानुकूल संयम का विवेचन किया है।

ऊपर यम के अन्तर्गत जितने विचार व्यक्त किये गये हैं उनमें यह स्पष्ट संकेत किया गया है कि शरीर को कष्ट देना वे बिल्कुल अनुचित समझते हैं। ऊपर यह भी बताया गया है कि सरल जीवन, निरावरण मन और व्यवहार को वे आवश्यक मानते हैं। उस रहनी या करनी के विषय में उन्होंने और जो कुछ बतलाया है, वह यहाँ तप के अन्तर्गत वर्णित किया जा रहा है क्योंकि उनके अनुसार तप किसी विशेष आध्यात्मिक लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये मन और शरीर को अतिवादी ढंग से कष्ट देना है। सामान्य जीवन में भी विचारपूर्वक संयम रखने से और योगसाधन करने से मन और शरीर की सिद्धि को स्वीकार किया गया है। इस प्रकार की सहज सरल रहनी के विषय में वे कहते हैं कि सामान्य जीवन की तरह हँसना-खेलना चाहिए और प्रसन्न रहना चाहिए, किंतु काम-क्रोध का त्याग करना चाहिए। संसार में रहकर इन सभी प्रकार की क्रियाओं को करते हुए भी अपने चित्त को चंचल नहीं होने देना चाहिए। इस प्रकार संसार में रहकर अचंचल चित्त होकर परमतत्व का ध्यान करना चाहिए, ब्रह्मज्ञान की चर्चा में सदैव ही इस तरह से रहना चाहिए जैसे वही रहनी ही हो जाय। किंतु सर्वप्रमुख बात मन की अचंचलता है। मन की अचंचलता

---

[1] गो० बा०, १५. ३९-४०।

[2] गो० बा०, २०९. ९।

के लिये, धन और यौवन की आशा छोड़कर, राग छोड़कर, उनसे निराश रहना चाहिए।[१] इस संयम के लिये किसी कृच्छ्राचार की आवश्यकता नहीं है। आचानक फट से हड़बड़ा कर नहीं बोल पड़ना चाहिए, जोर-जोर से धबक-धबक कर नहीं चलना चाहिए। धीरे-धीरे शांत भाव से चलना चाहिए। गर्वत्याग करना चाहिए। इस प्रकार सहज भाव से रहना चाहिए।[२] इन सबको करते हुए भी मन और शरीर स्वस्थ, शद्ध और स्थिर नहीं रहते क्योंकि मन और काया की सिद्धि के लिये जब बन में जाते हैं तो क्षुधा पीड़ित करती है, नगर में जाते हैं तो विभिन्न प्रकार की माया सताती है, यदि भर पेट भोजन करते हैं तो विन्दु पीड़ित करता है। अतः ऐसी हालत में, गोरख का उपदेश है कि सूने जंगलों में जाने की कोई आवश्यकता नहीं, वहाँ मार्ग भूल जाने से कोई बटमार मार डालेगा। वे एकांतवास चाहते हैं किन्तु वह एकान्त ऐसा हो जिससे शरीर सुरक्षित रहे तथा जिससे नादानुसंधान आदि साधन निर्विघ्न-भाव से हो सकें।[३]

हँसना, बोलना, खेलना सब कुछ संयत हो तभी उचित है। यदि इनका अवरोध इस प्रकार से हो कि ये शरीर के लिये, साधक के लिये कष्टकर हो जायँ तो इनका त्याग कर देना चाहिए। शरीर को साधने के लिये लोग पंचाग्निसाधन करते हैं या शरीर को गर्म रखने के लिये अग्नि का सेवन करते हैं। यह सब निरर्थक है। इससे शरीर को कष्ट मिलता है, अतः पिंडगत पवन से पिंडस्थ ब्रह्माग्नि का प्रज्वलन करना चाहिए। मन और शरीर की सिद्धि के लिये तीर्थयात्रा निरर्थक है क्योंकि उससे शरीर क्षीण होता है, विचलित होता है। फलस्वरूप ध्यान छूट जाता है। इनको त्याग

---

१ गो० बा०, ३. ७, ४. ८, ७. १६, ७. १९।

२ गो० बा०, ११. २७।

३ गो० बा०, १२. ३०, ५२. १५०, ६२. १८४। इसी प्रकार के विचार हठयोगप्रदीपिका, घेरंडसंहिता आदि में व्यक्त किये गये हैं जिनके अनुसार साधन के उपयुक्त स्थान वे ही हैं जो न नगर हैं, न बन हैं न गाँव हैं, अपितु अपनी साधना के अनुकूल हैं—हठयोगप्रदीपिका १. १२—१४। घेरंड संहिता में दूर देश, अरण्य, राजधानी, जनान्तिक आदि का निषेध किया गया है। निरूपद्रव और निश्चित स्थान सर्वोत्तम बतलाया गया है, वह अरण्य, बन, ग्राम कहीं भी हो सकता है। घेरंड संहिता, पृ० ६०, उपदेश ५, श्लोक ३—७।

कर जल, अन्न, पवन और विन्दु का संयम करना चाहिए।[1] आशा, तृष्णा इच्छा, लोभ, मोह, माया का त्याग कर मन वशीभूत हो जाता है। नाथों की अग्नि अन्य प्रकार के साधकों की अग्नि से भिन्न है। यह ऐसी अग्नि है जो दिखाई नहीं देती। तीर्थयात्रा और व्रतों से प्राण ओर शरीर क्षीण होते हैं। अतः ये उन्हें स्वीकार्य नहीं। घरबारी होकर यदि शरीर नष्ट करना है तो यह भी उन्हें स्वीकार्य नहीं है। घरवासी गृही व्यक्ति यदि अपने पिंड का पूर्ण ज्ञान रखता हो ओर विन्दु की पूरी रक्षा करता हो, मायापाश का निकृन्तन करता हो तो वह श्रेष्ठ है। यदि गृही अपने शरीर को बाँधता हो, भीतर की मानसिक माया का त्याग करता हो, सहज शीलमय जीवन व्यतीत करता हो तो वह व्यक्ति गंगा के जल के समान पवित्र है। यदि घरबारी और गृही संयम रखते हैं तो इनमें और योगी में कोई भेद नहीं है क्योंकि जप-तप का सार संयम है।[2] अन्य नाथसिद्धों में से चरपटनाथ उस तापस या तपसी को तप करनेवाला नहीं मानते जो कहने के लिये तो सिद्ध कहा जाता है किन्तु स्त्रीसंग का त्याग नहीं कर पाता। परिणामस्वरूप उसका मुख काला तथा पैर पीले हो जाते हैं, शरीर क्षीण हो जाता है। भोग करनेवाले ऐसे लोग जब ध्यान करते हैं तब भला ऐसे तापस में, ज्ञान का उदय कैसे हो सकता है? ऐसे आडंबरों में फँसे लोग इच्छानुकूल चाहे जप करें या तप, चाहे कोटि तीर्थों की यात्रा करें, वे लोग जैसे जीवित रहते को सती नहीं हो सकता, उसी प्रकार बिना योगयुक्ति के वे परमपद की प्राप्ति नहीं कर सकते।[3] इस प्रकार नाथों का तप कृच्छ्राचारविरोधी तथा सहज रहनी और करनी का समर्थक है। उसमें बन में पलायन नहीं है और न चंचलता है। वे संयम के विषय में अतिवादी नहीं हैं। आहार और आचार में गंभीरता और संयम, ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन, प्राण, मन और विन्दु का साधन उनको स्वीकार्य है किन्तु इसके लिये किसी भी कष्टसाधन को वे स्वीकार नहीं करते। स्पष्ट ही उनके तप का मूल तत्व सभी प्रकार का योगानुकूल संयम है।

नियम में दूसरा स्थान संतोष का है। योगसाधन में जो स्थान और महत्व आसन का है, वही स्थान योग में संतोष को प्राप्त है। उसी के बाद

---

[1] गो० बा०, १७. ४७, ४३. १२३, ५५. १६२।

[2] गो० बा०, ८७. टेक, १४. ४६, ८. २२, ६४. १९१, १६. ४४, १७. ४५, पृ० ७८।

[3] सि० सि० प० अ० व०, ८३. १९; ना० सि० बा०, २८. १६४, ८०-८१. ५१५।

साधना आगे चलती है। संतोष ज्ञानदीप में वर्तिकास्थानीय है। नाथसिद्ध तो एक कुटिया तक बनाकर उसे अपने अधिकार में रखना नहीं चाहते। कनक और कामिनी दोनों का त्याग कर देने पर जीवन चलाने तथा साधना चलाने के लिये जो कुछ भी निश्चित भाव से मिल जाता है, वही ग्राह्य है। किसी के लिये चिंता नहीं, इच्छा नहीं। पहले ही बतला चुके हैं कि वे धन और स्त्री दोनों से दूर रहना चाहते हैं। 'निरास' और 'उदास' रहना वे अच्छा समझते हैं। उन्हें कीर्ति, सत्कार, सम्मान, भिक्षा, भोजन, किसी की आशा नहीं है। राव-रंक किसी से भी वे कुछ आशा नहीं रखते। वे सबसे उदास हैं। अपने ज्ञान को सभा में प्रकाशित करने की उन्हें इच्छा नहीं है। इसके लिये वे अज्ञानी और गूँगे हैं। भरथरी ने तत्वज्ञान के सात अंगों में संतोष को चौथा स्थान दिया है।[1]

तीसरा तत्व अधिक विवादास्पद है क्योंकि स्वयं 'आस्तिक' शब्द पर ही विवाद है। शब्द जो विचारणीय है वह नास्तिक है। ये दोनों शब्द परस्पर संबद्ध है। सामान्यतया आस्तिक के तीन अर्थ मिलते हैं—(१) मृत्यूपरान्त जीवन में विश्वास करनेवाला, (२) ईश्वर में विश्वास करनेवाला, (३) वेदप्रामाण्य में विश्वास करनेवाला। इनमें अन्तिम अर्थ भारतीय दर्शन के क्षेत्र में गृहीत है। मनुस्मृति में कुल्लूक भट्ट के अनुसार वेदनिन्दक नास्तिक हैं। अंतिम अर्थ शेष दो अर्थों से किसी न किसी प्रकार संबद्ध भी किया जा सकता है। कर्मवाद और वेद के अपौरुषेयत्व अथवा उसकी अलौकिक रचना और प्रामाणिकता परस्पर सम्बद्ध और सापेक्ष हैं। सामान्य लोग दूसरे अर्थ को ही ग्रहण करते हैं। तथा कुछ लोग केवल प्रथम अर्थ के बल पर बौद्धों को भी आस्तिक सिद्ध करते हैं।[2] यहाँ इन तीन अर्थों के आधार पर नाथसिद्धों की आस्तिकता पर विचार किया गया है क्योंकि नियम के अन्तर्गत विवेचित होने वाले अन्य अंगों का भी इससे घनिष्ठ संबन्ध है। नाथसिद्ध सामान्य जन के लिये यद्यपि मृत्यूपरान्त जीवन या कर्मवाद को स्वीकार करते हैं तथापि उनका कहना है कि नाथसिद्ध कर्मों, उनके संस्कारों, बीजों को दग्ध कर देता है। जैसा ऊपर के विवेचन में कई बार कहा गया है, नाथों के

[1] गो० बा०, १९७. ८६, २०१. ११६, ४४. १२६, १७२. ११; ना० सि० बा०, ९७. ५९२।

[2] दे० आउटलाइन्स आव हिन्दूइज्म—डा०टी०एम०पी० महादेवन, पृ० ९९। बौद्ध धर्म दर्शन, आचार्य नरेन्द्रदेव, पृ० २-३, ४-७।

विचार में जो कुकर्म करते हैं, वासनाग्रस्त रहते हैं, वे मरते समय भी जिन जिन वस्तुओं की जैसी भावना करते हैं, तद्नुकूल ही वे पुनर्जन्म भी धारण करते हैं अथवा नरक में जाते हैं। किन्तु नाथसिद्ध अवधूत कर्म के सभी प्रकार के रूपों को नष्ट कर निर्बन्ध हो जाता है। गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह के अनुसार यह शरीर कर्मरचित है। सभी कर्म त्रिगुणयुक्त हैं। गुण माया से उत्पन्न हैं। इस प्रकार प्राणी के जो प्रारब्ध कर्म हैं वे सभी मायाभिमत हैं। माया और गुण अभिमानयुक्त हैं जिससे ब्रह्मतत्व सर्वथा पृथक है। अतः वह ब्रह्मतत्व की उपलब्धि में बाधक ही है। इसलिये अवधूतों का काम है प्रारब्ध कर्म का निर्मूलीकरण।[१] संचित, प्रारब्ध और आगामि कर्म परस्पर संबद्ध हैं। आगामि का आधार प्रारब्ध है। अतः यदि अवधूत प्रारब्ध को निर्मूल कर देता है तो आगामि का उसे कोई भय नहीं रहता। दूसरे, योग के साधन में संचित कर्म के परिवर्तन की बात मानसकायपरिवर्तन के पिछले वर्णनों में कई बार कही जा चुकी है। किन्तु इतना निश्चित है कि नाथसिद्ध कर्मवाद तथा तत्परिणति जन्मान्तरवाद को मानते हैं अन्यथा उनका प्रारब्ध-कर्म-निर्मूलीकरण का सिद्धान्त असिद्ध हो जाता है। गोरख ने प्राणसंकली में कहा है कि पाप और पुण्य का निवास कर्म में है। अतः यदि इनसे मोक्ष और मुक्ति की इच्छा है तो परमतत्वसाधन से ही साध्य है। पहले ही बताया गया है कि नाथसिद्ध जीवन्मुक्ति और इच्छामृत्यु को साध्य मानते हैं। स्वर्ग और नरक की कल्पना भी मिलती है। स्वर्ग नाथसिद्धों का यहीं, इसी पृथ्वी पर और इसी सिद्ध जीवन में है। उनका केदार या सहस्रार को प्राप्त करना ही स्वर्ग प्राप्त करना है। वे किसी पौराणिक स्वर्गजाल में नहीं पड़ते। भोग करनेवाला, अनुचित स्त्री में या विधवा नारी से भोग करनेवाला व्यक्ति नरक में जाता ही है, इसमें कोई संदेह ही नहीं।[२]

दूसरा अर्थ ईश्वर में विश्वास है। ईश्वर तत्व से एक ऐसे तत्व का बोध होता है जो सर्वव्यापक है, सर्वातीत है, सबका मूलाधार है, सभी, प्राणियों का आधार और स्रोत है। उसे विश्व का कारण माना गया है। उसी में विश्व का उदय, उसी से स्थिति और उसी में संहार होता है। उसके अतिरिक्त और कोई नहीं है। वह एकमेव अद्वितीय है। वह निमित्त और उपादान कारण दोनों स्वयं है। रूढ़ि के अनुसार लोग उसे पिता कहते हैं और उसी

---

[१] गो० सि० सं०, पृ० १५।

[२] गो० बा०, १६४.२७, १५१-१५२. पद ५५।

प्रकार उसे माता भी कहते हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् से इसकी पुष्टि होती है। उसी एक ईश्वर ने इन अनेक दृश्यमान रूपों को धारण किया है। इस प्रकार का ईश्वर ही सगुण ब्रह्म है जिसे लोग अंग्रेजी में 'पर्सनल गाड' कह दिया करते हैं, क्योंकि व्यक्ति अपनी ओर से इसमें गुणों का आरोप करता है। यहाँ साधक या व्यक्ति की वैयक्तिक विशिष्ट भावना प्रमुख है। किन्तु ब्रह्म को ही लोग 'इम्पर्सनल ऐब्सोल्यूट' या निर्वैयक्तिक 'ब्रह्म' या परमतत्व, पूर्ण ब्रह्म कहते हैं क्योंकि यह तत्व व्यक्ति की किसी भावना, कल्पना, विचार, तर्क आदि की सीमा में नहीं आता। वह नेति-नेति से ही जाना जा सकता है। यह सत्य है कि ब्रह्म निर्गुण और निर्विशेष है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वह स्वरूपरहित है। उपनिषद् उसे सत्, चित्, आनंद कहते हैं उसे 'तत्वमसि' कहते हैं।[1] नाथपंथी संस्कृत रचनाओं में नियम के अंतर्गत एकान्तवास, निःसंगता औदासीन्य, यथाप्राप्तिसंतुष्टि तथा गुरुचरणावरूढत्व की गणना की गई है। 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' के यम-नियम में ईश्वर से संबद्ध कोई भी तत्व नहीं रखा गया है क्योंकि जहाँ यम को शरीर का यमन मानते हैं वहाँ नियम को वे मनोवृत्तियों का नियमन मानते हैं जिसमें ईश्वरविश्वास का कोई भी विचार वे नहीं करते।[2] 'हठयोगप्रदीपिका' के प्रक्षिप्त श्लोकों में आस्तिक्य को स्थान पातंजल योग के नियम के प्रणिधान के अनुसार दिया गया है। ईश्वरप्रणिधान का विस्तृत विचार हम पहले ही भक्ति के प्रसंग में कर चुके हैं। किन्तु पातंजल योग का ईश्वर वेदान्तगत ईश्वर या सगुण ब्रह्म से भिन्न है। उस पातंजल ईश्वर का विस्तृत विवेचन हम पहले कर चुके हैं जिसका सृष्टिप्रक्रिया से कोई संबंध नहीं है या वेदान्तगत ईश्वर से कोई उसकी समानता नहीं। यहाँ 'ईश्वर में विश्वास' सम्बन्धी विचार का सविस्तर वर्णन इसलिये किया जा रहा है कि नाथमत पर विचार करनेवाले कुछ हिन्दी के विद्वानों ने कहा है कि— 'गोरख ने पतंजलि के उच्च लक्ष्य, ईश्वरप्राप्ति को लेकर हठयोग का प्रवर्तन किया।'[3] हम पहले ही संस्कृत और हिन्दी रचनाओं के आधार पर यह बतला चुके हैं कि नाथों का परम तत्व 'नाथ' द्वैताद्वैतविलक्षण, सदसदनिर्वचनीय है जिसकी कोई तुलना न तो पातंजल ईश्वर से की जा सकती है और न तो वेदान्तिक ब्रह्म से ही, क्योंकि वह नाथ द्वैताद्वैतपरवर्ती है। हिन्दी रचनाओं में

---

[1] आउटलाइन्स आव हिन्दुइज्म, पृ० २३, १४८-१४९।

[2] सि० सि० प०, पृ० १३, २.३३, २.३२-३३।

[3] हिन्दी सा० का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १३।

प्रायः ब्रह्म शब्द का प्रयोग नाथपद के लिये ही किया गया है। उसके लिये कहा गया है कि वह आदि-अंतहीन है। उसकी सत्ता के लिये किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता नहीं। वह स्वयं किसी कार्य का कारण नहीं है। फिर भी उसकी सत्ता है। वह स्वसंवेद्य है, स्वयंप्रकाश है। वह पूर्ण ब्रह्म है, पृथ्वी का पुरुष है। गोरख कहते हैं—'तेरी सूरत ही संसार की ये मूर्तियाँ हैं। तूने ही सारे संसार को बनाया है फिर भी तेरी रचना किसी ने नहीं की। तू वह तत्व नहीं जो अवतार लेता है। ऐसे ब्रह्म का रूप अचिंत्य है।' किन्तु ईश्वर के विषय में उनका मत उस पातंजल योग एवं अद्वैतवेदान्त के ईश्वर से पूर्णतया भिन्न है। गोरख ने बताया है कि ईश्वर माया और काम से ग्रस्त एवं पीड़ित तत्व है, संसार के प्रपंचों में निरत है।[१] इसलिये हमारे पास कोई ऐसा आधार नहीं है कि जिससे हम गोरक्ष आदि को पातंजल ईश्वर में विश्वास करने-वाला मान लें। दूसरे, यदि ईश्वर का अर्थ जैसा पहले बतलाया गया है, सृष्टि का कर्ता, पालक, हर्ता, कारण, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, एक, अद्वितीय आदि है तो उसे भी वे स्वीकार नहीं करते। यदि ईश्वर का अर्थ परमतत्व लें तो उसे केवल वे द्वैताद्वैतविवर्जित उस नाथ पद के रूप में ही स्वीकार करने को तैयार हैं, जिसका परिचय दिया गया है। इस दृष्टि से हम नाथयोगियों को आस्तिक मान सकते हैं।

आस्तिक के तीसरे अर्थ के अनुसार केवल वही संप्रदाय या व्यक्ति आस्तिक हो सकता है जो वेदनिंदक न हो या वेदप्रामाण्य में विश्वास करता हो। जैसा पहले बतलाया गया है, गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह के अनुसार सृष्टि दो प्रकार की है—नादरूपा और विन्दुरूपा। नादरूपा सृष्टि में योगशास्त्र है तथा विन्दु-रुपा सृष्टि में वेदादि हैं। नादरूपा सृष्टि सूक्ष्मा सृष्टि है और दूसरी विंदुरूपा सृष्टि स्थूला सृष्टि है। दूसरे शब्दों में योगशास्त्र, जिसे नाथमत स्वीकार करता है, पारमार्थिकी विद्या है और वेद विद्या व्यावहारिकी विद्या है। नाथ-मत परमार्थ को महत्व देता है, व्यवहार को नहीं। नाथमत नादपरंपरा में आनेवाले तत्वों को स्वीकार करता है। योगशास्त्र में प्रणव विद्या मुख्य है। योगमत केवल इस मूल तत्व प्रणव को स्वीकार करता है।[२] वेद का पूर्व भाग नाथयोगियों की दृष्टि में विभिन्न वर्णों के लिये है तथा उत्तर भाग या वेदान्त भाग भिक्षुओं के लिये है। किन्तु इन दोनों से जो विलक्षण भाग है वह अव-

---

[१] गो० बा०, १०८-१०९. टेक-५, १५४. टेक-४, २०२.१२४; ६७.१९९।

[२] गो० सि० सं०, पृ० ७२-७३।

धूर्तों के लिये या नाथयोगियों के लिये है। इसी प्रकार वेदान्त भाग में योग ही तात्पर्य है। पूर्व भाग की अपेक्षा उत्तर भाग ही अधिक मुख्य होता है। वेदान्त भाग मुख्य है तथा उसका तात्पर्य योग ही मुख्य है। इस प्रकार नाथ-पंथियों को, संस्कृत रचनाओं के आधार पर कहा जा सकता है वेद का पूर्व भाग का जो तात्पर्य ज्ञान है, केवल वही स्वीकार्य है तथा उसी प्रकार वेदान्त का तात्पर्य योग भी उनको स्वीकार्य है। मुख्यतः उन्हें वेदान्त भाग (उपनिषद्) और उसका तात्पर्य योग ही ग्राह्य है। इसकी पुष्टि इससे होती है कि गोरक्ष-सिद्धान्तसंग्रह तथा अन्य नाथपंथी संस्कृत ग्रंथों ने उपनिषदों को पुष्कल मात्रा में प्रमाण रूप में उद्धृत किया है। इस दृष्टि से भी वे आस्तिक कहे जा सकते हैं यद्यपि वे वैदिक कर्मकांड को स्वीकार नहीं करते। नाथसिद्धों की हिन्दी रचनाओं में भी इसी प्रकार के विचार मिलते हैं। गोरख मानते हैं कि वेदों में परमतत्व का निर्वचन नहीं किया जा सका है; क्योंकि वेद स्थूल हैं, वे मूल तत्व का अनुभव नहीं कर सकते। दूसरे, उसको केवल योगी ही जान सकता है। शेष वेदादि प्रपंच ही फैलाते हैं। वेद तो कुरानादि की तरह भ्रांत करनेवाले हैं।[1] तीनों अर्थों पर विचार कर इतना स्पष्टतया कहा जा सकता है कि नाथसिद्ध कर्मवाद, ईश्वरवाद और वेदप्रामाण्य को उसी रूप में स्वीकार नहीं करते जिस रूप में अन्य मतवाद, जैसे पातंजल, उत्तर मीमांसा, पूर्वमीमांसा आदि, स्वीकार करते हैं। कर्मवाद को वे मानते हैं। एक निर्गुण-सगुणातीत द्वैताद्वैतपरवर्ती नाथपद तथा उपनिषद्प्रामाण्य या वेदान्तप्रामाण्य को वे स्वीकार करते हैं। केवल इन्हीं आधारों पर उन्हें आस्तिक कहा जा सकता है।

नियम के अन्तर्गत चौथा तत्व दान है। इसके अन्तर्गत औदार्य, हृदय-विस्तार, दूसरों के साथ एकात्मभाव के ग्रहण की गणना की जा सकती है। इन भावों का क्रियान्वय उचित पात्रों को अपने द्वारा अर्जित और अविकृत वस्तुओं को, सहानुभूति तथा विनम्रता के साथ, देने से होता है। यह दान वस्तुतः त्याग और संन्यास के अभ्यास का व्यावहारिक मार्ग है जिससे मन सभी प्रकार के रागों से मुक्त हो जाता है। ये राग साधनमार्ग में बहुत बड़े अवरोध हैं। गोरखबानी में दया और दान को योग का मूल कहा गया है। यदि केवल दयाभाव हो तो व्यावहारिकता नहीं आ सकती। यह रहनी की बात नहीं हो सकती। भाव को व्यवहार में परिवर्तित करना ही

[1] गो० सि० सं०, पृ० २८; गो० बा०, ३.६, ३३.९६।

चाहिए। यदि नाथसिद्धों का लक्ष्य जीवन्मुक्ति या पिंडपद का परमपद में समरसीकरण है तो इस मार्ग में, जैसा पातंजल योग में स्वीकार किया गया है, अनेक प्रकार की सिद्धियाँ भी मिलती हैं जिनसे लोककल्याण हो सकता है। जीवन्मुक्ति की अवस्था में विभिन्न सिद्धियों के प्राप्त होते हुए भी यदि दान की भावना न हो तो ऐसा व्यक्ति सिद्ध नहीं हो सकता। उसकी जीवन्मुक्ति निरर्थक है। दूसरी बात यह है कि जीवन्मुक्ति के लिये काय-सिद्धि अनिवार्य है जिससे सिद्ध अपनी इच्छा पर्यन्त जीवित रह कर लोक-कल्याणसाधन करता है। यह कल्याणसाधन दया की प्रेरणा तथा दानेच्छा और दानक्रिया से होता है। यदि दान की भावना और क्रिया न होती तो कोई भी अवधूत गुरुपद को प्राप्त नहीं कर पाता न लोक-कल्याण-साधन ही होता और न किसी मत, साधन या संप्रदाय की कोई परंपरा ही चलती। यही सोच समझकर गोरख ने दया और दान को योग का मूल कहा है।[१]

पाँचवा तत्व ईश्वरपूजा है। ईश्वर की कल्पना के संबंध में हम पहले ही नाथसिद्धों का मत प्रकाशित कर चुके हैं। जहाँ तक पूजा का, परब्रह्म या परमतत्व की पूजा का प्रश्न है, नाथसिद्ध उस रूप में उसे स्वीकार नहीं करते जिस रूप में अन्य संप्रदाय उसे स्वीकार कर स्थूल और बाह्य सामग्रियों का विधान करते हैं। संस्कृत ग्रंथों के अनुसार नाथसिद्धों का उपास्य नाथ है। यह बताया गया है कि नाथ निर्नाम, अरूप, निर्गुण-सगुण से परे तथा द्वैत-अद्वैत से अतीत है। स्पष्ट है, ऐसे तत्व की केवल भावोपासना हो सकती है। इसलिये गोरख के अनुसार योग के अन्तर्गत पूजा-पाटी, जाप आदि को बाह्य साधनों के द्वारा करना अपने आप की हँसी उड़ाना है। यह सब वैद्यक, वाणिज्य और व्यापार हैं, आध्यात्मिक साधन नहीं। किसी धार्मिक ग्रंथ का पाठ तथा उसका गायन ये दोनों ही लोकाचार हैं, पारमार्थिक आचार नहीं। वस्तुतः वह परब्रह्म या परमतत्व न तो शून्य है, न स्थूल, न लिंगरूप। अतः उसकी पूजा नहीं होती। इसीलिये मत्स्येन्द्र ने अपनी संस्कृत रचना में उसकी मानसिक पूजा या भावपूजा का विधान किया है। यह पिंडगत आन्तरिक आध्यात्मिक सामग्री से पूजन है। मत्स्येन्द्र भक्तिपूर्वक चिद्रूप ईश्वर को चन्द्रामृत से स्नान कराने को कहते हैं तथा मनपुष्प समर्पित करके परमशिव की अर्चना करने का विधान करते हैं।[२]

---

[१] गो० बा०, १२६. ४. ३२।

[२] गो० बा०, १७१.९, १०९.३; सि० सि० प० अ० व०, ४७.२६।

छठाँ तत्व सिद्धांतवाक्यश्रवण है। इसके अन्तर्गत योगशास्त्र, सिद्धों के विचार, सिद्धों द्वारा निर्णीत सिद्धांतों का श्रवण गृहीत है। गोरक्षसिद्धांत-संग्रह में सिद्धों द्वारा निर्णीत विचारों को ही सिद्धांत कहा गयाहै। नाथ लोग सभी सिद्धांतों को सिद्धांत नहीं मानते। सिद्ध अवधूत गुरु से प्राप्त सिद्धों के सिद्धांतों एवं योगशास्त्र का श्रवण ही विहित माना गया है। जैसा पहले कहा गया है, नाथसिद्ध केवल गुरुमुख से सब कुछ ग्रहण करते हैं तथा उसे प्रमाण मानते हैं क्योंकि गुरुमुख से सुने हुए सिद्धांत अनुभवसिद्ध होते हैं। वही पिंड और ब्रह्मांड, षोडशाधार, व्योमपंचक, नौ चक्र आदि का प्रारम्भिक ज्ञान देता है। वे ही योगी के लिये अत्यावश्यक हैं। पहले यह भी कहा गया है कि योग क्रियाप्रधान शास्त्र है। इसके लिये शास्त्राध्ययन और पाठ अनिवार्य नहीं हैं। वे पोथी के कोरे पाठ को आडम्बर समझते हैं। इसीलिये वे पंडितों के ज्ञान का प्रात्याख्यान करते हैं। मुख्य बात यह है कि नाथसिद्ध योगशास्त्र के सिद्धांतों को गुरुमुख से ही सुनते हैं। बानियों में इस तत्व का कोई स्पष्ट वर्णन नहीं मिलता। इसी प्रकार सातवें तत्व का अर्थ है, अविहित और निषिद्ध कार्यों को करने में संकुचित एवं लज्जित होने का भाव। यद्यपि इसका कोई स्पष्ट वर्णन नाथवाणियों में नहीं मिलता तथापि योगविरुद्ध एवं निषिद्ध अविहित कर्मों का वर्णन मिलता है, जिनकी ओर संकेत ऊपर किया जा चुका है। आठवाँ तत्व मति है जिसका अर्थ वह सूक्ष्म बौद्धिक ग्रहण और गहन विचार है जिससे साधक अपने आध्यात्मिक जीवन के सारवान् तत्वों का ग्रहण और अन्य का त्याग करता है। इसका विकास श्रवण, स्वाध्याय और विचार से होता है। इसमें सिद्धांत-वाक्य-श्रवण सहायक है। इसमें शुद्ध और परिष्कृत मन की, जो सत्यग्रहण और सारग्रहण में सदैव निर्दोष रहता हो, आवश्यकता है। आचार के प्रसंग में, नाथयोगियों के अनुसार, विचार और विवेक का हम संक्षिप्त परिचय दे चुके हैं। गोरक्ष सुरति को श्रवण एवं मति को क्षेत्र मानते हैं जिसमें मंत्र रूप बीज का वपन होता है।[१] जिन तत्वों का विस्तृत वर्णन नाथवाणियों में नहीं, उनका एक निश्चित रूप उपस्थित करना कठिन है।

नौवाँ तत्व जप नाथयोगियों की दृष्टि से अतिमहत्वपूर्ण है। इसमें परम-तत्त्व के किसी एक नाम का भक्तिपूर्वक मानस के योग के साथ जप स्वीकार किया गया है। संस्कृत ग्रंथों के आधार पर इसका विस्तार से विवेचन पहले

---

[१] गो० बा०, १८७.१२।

किया जा चुका है। हिन्दी वाणियों के अनुसार जिस प्रकार गुरु की पहचान की जाती है, परम तत्व की पहचान की जाती है, उसी प्रकार साधन के रूप में जपमाला की भी पहचान की जानी चाहिए। नाथसिद्ध जप करने की उस माला को नहीं स्वीकार करते जो स्थूल और बाह्य है। इसलिये वे आन्तरिक जपमाला की पहचान करने को कहते हैं। संस्कृत रचनाओं के अनुसार आन्तरिक जप की माला हमारी श्वासक्रिया है। नाम तत्व को उस आन्तरिक जपमाला के साथ संबद्ध कर देना ही नाथसिद्धों को ग्राह्य है। वे अवधूत को ऐसा ही जप जपने के लिये कहते हैं। ऐसे ही जप का वे फल भी मानते हैं। इस जप को वे अगम जप इसलिये कहते हैं कि इस जप तक स्थूल इन्द्रियों की पहुँच नहीं हैं। इस जप की पहचान वे अति कठिन मानते हैं। इसके लिये इस चर्ममुख की भी आवश्यकता नहीं। इस जप के मुख वे विभिन्न कमल हैं, जिनकी स्थिति साधक के पिंड में पाई जाती है। साधक का चैतन्य प्राणतत्व ही जपमाला है। यह प्राण संपूर्ण शरीर में व्याप्त है। इस शरीररूप कंचन के मनकों में विभिन्न कमल ही उनके मुख हैं जिनसे इस सूक्ष्म जप का जाप होता है।[१] स्पष्ट ही यह जपमाला चैतन्य जपमाला है, स्थूल नहीं जिसे अन्य लोग बाह्याडंबर के रूप में धारण किये फिरते हैं। गोरख 'सोहं' का जप करने का उपदेश देते हैं और उसे अजपा कहते हैं, जैसा संस्कृत रचनाओं में भी कहा गया है। नासिका के आगे की अपनी वायु जब इड़ा और पिंगला नाड़ियों के मध्य (सुषुम्ना) में समा जाती है तथा २१६०० (२४ घंटों में श्वासों की संख्या, जैसा संस्कृत ग्रंथों में भी स्वीकार किया जाता है) संख्या में 'सोहं' का अजपाजाप होने लगता है तब अनाहत नाद का स्वतः उदय होता है। तब बंकनाल में सूर्योदय होता है, प्रत्येक रोम में तूर्यध्वनि का श्रवण होता है जैसे प्रत्येक रोम श्रवणयुक्त हो गये हों। इसी प्रकार अनेक अलौकिक दृश्य और ध्वनियों का दर्शन-श्रवण होता है। सभी इन्द्रियों में दिव्यता आ जाती है।[२] इस प्रकार के अगम सूक्ष्म आंतरिक जप से भिन्न किसी अन्य प्रकार के जप को गोरख ग्राह्य नहीं समझते और न उसे ग्रहण करने का उपदेश देते हैं क्योंकि ऐसा करने से योगसाधन में अपनी ही हँसी होती है। जो पशु हैं, बंधन में बँधे हैं, अज्ञान हैं, वे उस आंतरिक सूक्ष्म अजपा गायत्री का जप नहीं करते। इसलिये उन्हें मुक्ति नहीं मिलती।[३]

---

[१] गो० बा०, १०१. टेक. १। [२] गो० बा०, १२४. टेक-४.३०।
[३] गो० बा०, १७१.९, १७७. १८।

इस परिचय से यह स्पष्ट हो जाता है कि नाथपंथी इसे अजपा क्यों कहते हैं। इस जप में मुख का कोई उपयोग नहीं होता। दूसरे यह साधक की अपनी श्वासक्रिया के साथ संबद्ध हो जाती है और श्वास की स्वाभाविक गति एवं क्रिया के साथ यह जप होने लगता है, सहज हो जाता है। इसलिये यह क्रिया बाह्य दृष्टि से 'अजपा' अर्थात् बिना जपी हुई, रहती है। जप के संबंध में अन्य सिद्धों ने भी प्रायः गोरख के समान ही कहा है कि साधक को एकांत में निवास करते हुए अलक्ष्य तत्व की उपासना करनी चाहिए जिससे परम प्रकाश का उदय होता है। गंभीर मन से श्वास का साधन करते हुए 'सोहं' का जप करना चाहिए। जलंधरिपाद ने बिना जप के जप को ही वास्तविक जप कहा है अर्थात् जैसे वे बिना कृच्छ्राचार एवं कष्टसाधन के साधन करना चाहते हैं, उसी प्रकार बिना (मौखिक) जप के ही वे (श्वास के साथ होनेवाला स्वाभाविक सहज) जप करना चाहते हैं।[१] पृथ्वीनाथ जप की स्थूल माला का स्पष्टतया विरोध करते हैं। वस्तुतः वह माला कुछ और ही है जिसको फेरने से परम तत्व की स्मृति, सुधि, ध्यान की प्राप्त होती है। निश्चय ही वह स्थूल जप-माला नहीं है। वह गायत्री कुछ और ही प्रकार की है जिसका जप करने से सिद्धि प्राप्त होती है एवं परमतत्व का साक्षात्कार होता है। पृथ्वीनाथ के विचार और भेद से, ऐसा प्रतीत होता है कि महागायत्री और ब्रह्मगायत्री में अंतर है। गोरक्षसिद्धांतसंग्रह में शब्दसृष्टि दो प्रकार की बतलाई गई है— सूक्ष्मरूपिणी और स्थूल रूपिणी। सूक्ष्मरूपिणी प्रणव महागायत्री है जिसे योग-शास्त्र भी कहते हैं तथा दूसरी स्थूलरूपिणी ब्रह्मगायत्री है जिसे वेदत्रय भी कहते हैं। सूक्ष्मरूपिणी महागायत्री नादक्रम में है।[२] नाथसिद्ध इस महा-गायत्री को ही स्वीकार करते हैं। महागायत्री को प्रणव भी कहा गया है।

'सोहं' को भी विभिन्न स्थानों पर गायत्री कहा गया है तथा गोरक्षसिद्धांत-संग्रह प्रणव को भी महागायत्री कहता है। गोरख ने, प्रणव की उत्पत्ति के संबंध में गोरक्षसिद्धांतसंग्रह में व्यक्त मत की पुष्टि की है। उनके अनुसार ओंकार की उत्पत्ति नाद से होती है। नाद शून्य से संभूत होता है। साधक श्रवण की स्थापना करता है, सुनता है। नाद भी निरंजन (परमतत्व) में विलीन हो जाता है।[3] इससे इतना स्पष्ट हो जाता है कि प्रणव नाद की परंपरा में है।

---

१ ना० सि० बा०, १८.१०३, ५४.३६४।

२ वही, ८८.५६०, ५६३; गो० सि० सं०, पृ० ७२।

3 गो० बा०, १९०.३६।

यह ओंकार न निराकार है, न सूक्ष्म है, न स्थूल है। वह पेड़ की तरह विकसित नहीं होता। वह न पत्र है और न पुष्प के रूप में प्रस्फुटित होता है। परमानुभव पद में इस ओंकार तत्व की भी सत्ता नहीं रहती। गोरख ने एक स्थान पर वायुमंत्र की व्याख्या की है। यह मंत्र 'सोहं' मंत्र है जिसे 'अजपा-गायत्री' कहते हैं। उनकी दृष्टि में मंत्र की धारा का मूल ओंकार है, क्योंकि यही सकल संसार में व्याप्त है। ओंकार नाभि (स्वाधिष्ठान) है, हृदय (अनाहत), देवता, गुरु है। बिना ओंकार का साधन किये सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती। 'सोहं' वायु ही हंस के रूप में संपूर्ण शरीर में घूमती है। मन, विंदु, वायु—सबका मूल ओंकार ही है।[१] गोरख के ओंकार और अजपागायत्री संबंधी विचारों से स्पष्ट है कि परमतत्व से नाद, नाद से ओंकार और ओंकार से सोहं का क्रमशः विकास हुआ। शब्दसृष्टि को ही सूक्ष्म सृष्टि या नाद-रूपा सृष्टि कहते हैं। नाद का विकास 'सोहं' में हुआ है। इस प्रकार ओंकार प्रणव महागायत्री का 'सोहं' अजपा गायत्री से घनिष्ठ संबंध सिद्ध होता है।

नियम का अंतिम तत्व होम है। हुत या होम का अर्थ है साधक द्वारा साध्य को भोज्य-पेय या अन्य पदार्थों का भक्तिपूर्वक निवेदन। यह क्रिया प्रतिदिन के हवन या होम की है। इस प्रकार हवन या होम से जीवन शुद्ध और अग्रसर होता है। जीवन के लिये जो कुछ आवश्यक है, उन सबका निवेदन ईश्वर के प्रति होना चाहिए और फिर प्रसाद या भगवान् के आशीर्वाद के रूप में ग्रहण करना चाहिए। गोरखबानी में होम शब्द का जो प्रयोग मिलता है, उससे उसका वह कर्मकांडप्रधान रूप ज्ञात नहीं होता जो जन-सामान्य में प्रचलित है। नाथसिद्ध विभिन्न बाह्य वस्तुओं को वेदिका में प्रज्वलित स्थूल अग्नि में हवन करने का उपदेश करने के स्थान पर ब्रह्माग्नि (ज्ञानाग्नि-ब्रह्मानुभूति) में अपनी अशुद्ध भौतिक काया को ही होम कर देने का उपदेश करते हैं। वे इस ब्रह्माग्नि के भेद को रात दित जानते रहने, ग्रहण करते रहने को कहते हैं। यह अग्नि चंचलता से प्रज्वलित नहीं होती, अपितु स्थिरता और गंभीरता से वह अग्नि प्रज्वलित है। यह अग्नि आभ्यंतरिक है, बाह्य नहीं। इस आभ्यंतरिक अग्नि का ही प्रज्वलन करना चाहिए और रात दिन उसके प्रज्वलन के प्रयत्न में लगे रहना चाहिए।[२] स्पष्ट ही ब्रह्माग्नि प्रतीक है तथा होम एक प्रतीकात्मक क्रिया है। वैदिक यज्ञों में भी

---

[१] गो० बा०, १२९.१, ३८.११०, ९८-१००. टेक-६.१२।

[२] गो० बा०, ७.१८, १२.३१, १८.४९, १७५.८, १७६.१४।

अग्नि का अति महत्वपूर्ण स्थान है। वहाँ अग्नि मनुष्यों और देवताओं के बीच एक माध्यम के रूप में गृहीत है। अग्नि में दी गई आहुतियाँ देवताओं द्वारा गृहीत होती हैं। वे मानवों पर प्रसन्न होते हैं। वस्तुतः इस होम का मूल तत्व देवता को अपनी प्रिय वस्तु का समर्पण है जिसमें श्रद्धाभाव का होना आवश्यक है। इस होम में भाव प्रधान है, आहुत पदार्थ प्रधान नहीं है। वेदों में केवल उस वाचिक निवेदन या आहुति का ही निर्वचन मिलता है जिसमें भौतिक पदार्थों की आहुति का प्रत्याख्यान है।[१] हम पहले ही जान चुके हैं कि नाथसिद्धों की दिव्य शुद्ध परिपक्व काया भी मुक्ति को प्राप्त करती है। शरीर से भी ब्रह्मसाक्षात्कार होता है। ऐसी दिव्य शुद्ध काया जब त्रिकुटी स्थित ब्रह्मकुंड की प्रज्वलित अग्नि में आहुत हो जाती है तब शुद्ध ज्ञानोदय और ब्रह्मानुभूति होती है। उस अग्नि में शरीर के आहुत होने पर वह काया भी ब्रह्मसाक्षात्कार को प्राप्त कर अन्ततः सहस्रार में लीन हो जाती है।[२]

९– दशांग यम-नियम

हम पहले ही कह चुके हैं कि नाथसिद्धों ने षडंग योग को स्वीकार किया है यद्यपि सिद्धसिद्धांतपद्धति में अष्टांग योग का भी वर्णन मिलता है। यहाँ हठयोगप्रदीपिका के प्रक्षिप्त श्लोकों के आधार पर, हिन्दी रचनाओं में प्राप्त यम-नियम का इतने विस्तार से वर्णन इसलिये किया गया है कि ये २० तत्व ही अधिकांशतः हिन्दी रचनाओं में अधिक विवेचित हुए हैं। उनका विस्तृत परिचय देने के लिये एक शास्त्रीय आधार की आवश्यकता थी। यों खोज करने पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि हठयोगप्रदीपिका के ये प्रक्षिप्त श्लोक भी तांत्रिक परंपरा से ही आये हैं। शारदातिलक नाम के प्रसिद्ध तांत्रिक ग्रंथ में 'प्रदीपिका' के दशांग यम-निमय संबंधी श्लोक प्रायः उन्हीं रूपों में मिलते हैं।[3] मिलान करने पर 'प्रदीपिका' के श्लोक कुछ भ्रष्ट मालूम होते हैं, किन्तु जहाँ तक अंगों का प्रश्न है, उनमें कोई अन्तर नहीं है। यम के अन्तर्गत 'दया' के स्थान पर 'कृपा' तथा नियम के अन्तर्गत 'ईश्वरपूजनम्' के स्थान पर 'देवस्य पूजनम्' शारदातिलक में दिया हुआ है। राघवभट्ट की पदार्थादर्श टीका में यम-नियम का विस्तृत परिचय भी दिया गया है जिसका विस्तार से विचार करने के लिये यहाँ उचित स्थान और अवकाश नहीं है। महत्वपूर्ण बात यह है

---

१ आउटलाइन्स आव हिन्दुइज्म, पृ० ४१-४३।

२ गो० बा०, ११४.१।

3 शारदातिलक, पृ० २५-२६, श्लो० ७-८।

कि नाथमत की हिन्दी रचनाओं में यम-नियम के उपर्युक्त अंगों का वर्णन यत्र-तत्र मिलता है, उनका व्यवस्थित और एकत्र वर्णन नहीं मिलता। इन दशांग यम-नियमों को नाथमत के ग्रंथों में स्पष्टतः स्वीकार भी नहीं किया गया है। सिद्धसिद्धांतपद्धति के यम-नियम में जो अंग हैं वे पातंजल यम-नियमों के पाँच तत्वों से भिन्न हैं। वहाँ सर्वेन्द्रियजय या उपशम को यम कहा गया है। आहार, निद्रा, शीत, वात, आतप के जय को इसमें अन्तर्गणित किया गया है। इसी प्रकार मनोवृत्तियों के नियमन को नियम कहा गया है जिसमें एकान्तवास निःसंगता, औदासीन्य, यथाप्राप्तिसंतुष्टि, वैरस्य तथा गुरुचरणावरूढत्व को नियम का लक्षण कहा गया है। ये यम-नियम, कई तत्वों या लक्षणों की दृष्टि से तांत्रिक योग के अन्तर्गत गिने जाने वाले यम-नियम के दशांगों से भिन्न हैं यद्यपि नियमान्तर्गत कतिपय तत्वों में समानता है। 'पद्धति' के भी प्रायः सभी यम-नियमगत तत्वों का परिचय पहले दिया जा चुका है।[१] जैसा संस्कृत ग्रंथों के आधार पर वर्णन किया गया है, यम-नियम के बाद ही वास्तविक रूप में नाथयोगसाधन का आरम्भ होता है। इन विवरणों में नाथयोग गत विभिन्न सिद्धांतों का विचार किया जा चुका है। अब मुख्य साधनक्रियाओं का परिचय और तद्गत विचारों का परिचय हिन्दी वाणियों के आधार पर दिया जा रहा है।

१०—हठयोग

ऊपर जितना विवरण उपस्थित किया गया है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि नाथसिद्ध अपने प्राथमिक लक्ष्य परिपक्व देह या सिद्धदेह की प्राप्ति के लिये मन, पवन और विंदु को स्थिर करना चाहते हैं। नाथयोगी इन तीनों में किसे प्राथमिकता देते हैं, उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर, कुछ निश्चित नहीं बताया जा सकता किन्तु इतना निश्चित है कि योग सम्बन्धी जितने विवरण उपलब्ध हैं उसमें प्राणतत्व और उसका साधन ही विशेष रूप से अधिक मात्रा में वर्णित है। 'हठ' की जो व्याख्या पहले दी गई है उसका संबंध प्राण या पवन से ही अधिक है। नाथसिद्धों को हठयोगी कहते हैं। इस हठयोग में यद्यपि आसन, बंध, वेध, मुद्रा, षट्कर्म, प्राणायाम आदि गृहीत हैं किन्तु इनमें प्राणसाधन ही प्रधान प्रतीत होता है शेष उसके उपकारक तत्व प्रतीत होते हैं। यम-नियम से संबंधित जो विवरण ऊपर उपस्थित किया गया है, उससे यही

---

[१] सि० सि० प० अ० व०, पृ० १२-१३; सि० सि० प०, २.३२-३३।

स्पष्ट होता है कि सभी आचारों और संयमों का लक्ष्य प्राण की स्थिरता है । जिस प्रकार संस्कृत रचनाओं में प्राप्त नाथयोग का वर्णन उपस्थित किया गया है उसी प्रकार से प्रायः उसी क्रम से हिन्दी रचनाओं में प्राप्त नाथयोग को भी उपस्थित किया जा रहा है ।

पहले कह चुके हैं कि हिन्दी बानियों में 'हठ' शब्द का पारिभाषिक प्रयोग नहीं मिलता । किन्तु इन रचनाओं में सूर्य-चन्द्र और प्राण-अपान का विस्तृत वर्णन मिलता है । संस्कृत रचनाओं में हठ के 'ह्'कार को सूर्य तथा 'ठ' कार को चन्द्र कहा गया है या क्रमशः प्राण और अपान कहा गया है । प्रथम को सूर्यनाड़ी तथा द्वितीय को चन्द्रनाड़ी कहा गया है । 'ह्' और 'ठ' को क्रमशः इस प्रकार बतलाया जा सकता है—

ह—सूर्य, रवि, सूर्यनाड़ी, यमुना, पिंगला, शक्ति, प्राण, रज, पवन, अधः ।

ठ—चन्द्र, शशि, चन्द्रनाड़ी, गंगा, इड़ा, शिव, अपान, विंदु, मन, ऊर्ध्व ।

गोरख ने शक्ति को रज और शिव को विंदु कहा है । रवि की १२ कलाएँ हैं तथा चन्द्र की १६ । रवि को शक्ति तथा शशि को शिव कहकर क्रमशः उनका स्थान मूलाधार एवं सहस्रार में बताया है । ये रवि और शशि ही सूर्य-नाड़ी और चन्द्रनाड़ी हैं । सूर्य पवन के घर में तथा चंन्द्र मन में रहता है । इन्हीं को क्रमशः अधः और उर्ध्व कहा गया है । चन्द्र और सूर्य के युग्म की तरह ही एक युग्म इड़ा—पिंगला का बताया गया है, जिन्हें संस्कृत ग्रंथों में क्रमशः चन्द्र और सूर्य या चन्द्र नाड़ी और सूर्य नाड़ी कहा गया है । गोरख ने बताया है कि परमतत्व या परमपद में चन्द्र और सूर्य की स्थिति नहीं है । एक अन्य युग्म मन—पवन की स्थिति क्रमशः हृदय और नाभि में मानी गई है । सूर्य की १२ कलाएँ है तथा चन्द्र की १६ हैं ।[1] इनके अतिरिक्त एक और युग्मक महत्वपूर्ण है, जिसका संबंध ऋग्वेद की द्यावा—पृथिबी से जोड़ा जा सकता है क्षौर उसे 'अरध—ऊरध' की तरह 'धरणी और गगन' का युग्म कहा जा सकता है ।[2] ये युग्म देखने से द्वैत ज्ञात होते हैं । इनमें विरोध दिखाई देता है । इसलिये अद्वैत की स्थिति के लिये अन्य तत्वों का जो नाम लिया

---

[1] गो० बा०, १००. ५, ११०. १ (डा० बड़थ्वाल के अनुसार), १०३. २, १८८. १६, १९०. ३४, १२४. २, १५६. ६०, १९. ५१, १८९. २६, पृ० २०५ और २४१ ।

[2] गो० बा०, १८८. २२, १०२. टेक ।

जाता है उसे तांत्रिक ग्रंथों में कहीं कहीं अग्नि नाम दिया गया है। इसलिये उपर्युक्त युग्मों की तुलना में उसे योग, अग्नि, नाड़ी, सरस्वती, सुषुम्ना, मध्य आदि नामों से अभिहित करते हैं। कहीं कहीं मध्य, अनन्तर, एकत्व, 'सांध' सम्मुख, विलीनता 'समि' या साम्य या सामरस्य, स्थैर्य, समाधि, मिलन आदि कहा गया है। गंगा और यमुना या इड़ा—पिंगला का मिलन या उनके विरोधभाव की हानि सुषुम्ना में होती है। जहाँ इड़ामार्ग को चन्द्र तथा पिंगला मार्ग को भौम या सूर्य कहा गया है वहीं सुषुम्नामार्ग को वाणीमार्ग (गंगा-यमुना-मार्ग के अनुसार सरस्वती मार्ग) कहा गया है। इड़ा—पिंगला के साधन से ही कुण्डलिनी का जागरण होता है और फिर सुषुम्ना नाड़ी में निश्शंक विश्राम मिलता है। वही वास्तविक घर है। इड़ा (चन्द्र) का शोधन और पिंगला का पूरण कार्य कर उन दोनों को लेकर सुषुम्ना के मध्य से आकाश में आरोहण करना चाहिए। इन नाड़ियों के एक साथ साधन से ही भ्रमनिवारण होता तथा ब्रह्मसाक्षात्कार होता है।[१] यह सुषुम्ना ही वस्तुतः मध्यममार्ग है। इसे अद्वय भी कह सकते हैं। आचार और संयमगत मध्यम मार्ग का परिचय हम पहले ही दे चुके है और यहाँ हठयोगगत मध्यममार्ग का परिचय दिया गया है जिसमें सुषुम्ना को मध्य कहा गया है। गोरख के अनुसार सारे आध्यात्मिक संसार का व्यापार अधः और उर्ध्व के बीच का व्यापार है। पूरक और रेचक के बीच कुंभक की स्थिति है, वही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है और उसी से आध्यात्मिक व्यापार चलता है। यही स्थान शून्य स्थान है जहाँ साधक की स्थिति स्थिर होती है, वहीं उसे मस्ती मिलती है। प्राणतत्व की स्थिर और वास्तविक स्थिति अधः और उर्ध्व या पूरक-रेचक या अपान और प्राण के मध्य में है। प्राणपुरुष का वास्तविक निवास वहीं है। व्यक्ति की जब इड़ा और पिंगला में पवनक्रिया चलती रहती है तब उसे संसारोन्मुख कहा जाता है। व्यावहारिक दृष्टि से उसे जागना तथा पारमार्थिक दृष्टि से उसे सोना कहते हैं किन्तु जब द्वैतप्रधान ये दोनों नाड़ियाँ अपने द्वैत का त्याग कर देती हैं, उनकी सांसारिकता सो जाती है, तभी केवल सुषुम्ना में पवन-क्रिया होती है। पारमार्थिक दृष्टि से इसे ही जागरण कहते हैं। गोरख के उपदेश में साधक से कहा गया है कि सबके सामने व्यवहार में तो सायंकाल सो जाओ किन्तु उस समय मध्यकाल में, रात और दिन या शशि और सूर्य के मध्य में, भीतर से, अंतस् से, जागते रहना चाहिए। यह जागरण तभी संभव होता

---

[१] गो० बा०, ३३. ९४, ९५.१, १०५. २, १११. ५. १९, १६७. १६।

है जब इड़ा-पिंगला दोनों मध्य में समाहित हो जायँ, उनका पृथक् अस्तित्व न हो, विरोध भाव न रहे। इसी को उन्होंने गंगा-यमुना के बीच आसन जमाना कहा है।[१]

इसी को शिव-शक्ति-योग भी कहते हैं। शिव और शक्ति के योग की निजस्वरूप में स्थिति गोरख चाहते हैं। यह मेरुदंड की स्थिरता से ही होता है। ये दोनों तब तक साधित नहीं होते जब तक गुरु ब्रह्मग्रंथि से मुक्त न कर दें। शिवशक्ति का योग होने पर मन में चंचलता रह नहीं सकती वह सदैव उन्मन (अचंचल-परमतत्व की ओर उन्मुख मन) ही रहेगा। इसी मध्ययोग को कहीं-कहीं संधि भी कहा गया है। जिस सुषुम्ना के विषय में पहले कहा गया है उसे गोरख ने एक स्थान पर विषमी संधि कहा है। गोरखबानी के कुछ पदों के किसी नाथपंथी टीकाकार ने विषमी संधि नाभि को कहा है तथा सुषुम्ना का दूसरा नाम विष नाड़ी बताया है।[२] डा० बड़थ्वाल ने इसे वंकनाल या सुषुम्ना या इला-पिंगला के प्रवाहों की संधि कहा है। यहाँ संधिस्थल वस्तुतः मन, मनसा और सुर (प्राण या पवन) का संधि स्थल है। इसी को दूसरे शब्दों में चन्द्र और सूर्य की विपरीत एवं भिन्न दिशाओं का निवारण कर उन्हें परस्पर सम्मुख रखना कहते हैं जिससे अमृत तत्व सूर्य द्वारा नष्ट नहीं किया जाने पाता। चन्द्र-सूर्य की पृथक् सत्ताओं का विलोप अर्थात् सुषुम्ना के प्रभावकारी रूप में प्रकटीकरण का भी यही तात्पर्य है, जो गगन में सिद्ध होता है। पहले हम साम्य, समरसीकरण या समता की बात कह चुके हैं। पिंड और ब्रह्माण्ड के समरसीकरण के अतिरिक्त सूर्य-चन्द्र के समीकरण की भी बात कही जाती है। यह समीकरण चन्द्र-सूर्य, शिव-शक्ति का समीकरण, पांचों (भूत-) तत्वों, मन-पवन का समीकरण है। गोरख ने इन्हीं क्रियाओं को चन्द्र-सूर्य का एक घर में रखना, सूर्य—शशि का निर्विवाद होना, चन्द्र द्वार पर सूर्य की स्थिरता, चन्द्र—सूर्य का मिलन आदि कहा है।[3] इस मिलनस्थल सुषुम्ना को 'पश्चिम द्वार' भी कहा जाता है। यदि मूलाधार को पूर्व कहा जाय, जहाँ सूर्योदय होता है, तो तदनुरूप षोडश-कला-युक्त अमृतस्राविनी सुषुम्ना को शिवस्थान या

---

[१] गो० बा०, २८. ७८, २९. ८१, ८६. ३, १२४. २, १४९. ५३।

[२] गो० बा०, ४५. १३०, ३०. ८४, १५०. ३, १९३. ५६।

[3] गो० बा०, २५२. ६, १२७. २ तथा उसकी बड़थ्वाल की टीका, १४०. २, ६३. १८७, ३९. ११३, ९६. ४, ९२.२, १००. ५, ११८. १६, १९८. ९६, १९१. ४६, १७६. १२, १३०. १, १७५. ६, ९६. ३।

पश्चिम कहना चाहिए। क्योंकि यहाँ 'अमृताकला' की रक्षा होती है तथा सूर्य का विरोधभाव समाप्त हो जाता है।[१]

गोरख ने द्वादश-कला-संपन्न सूर्य का शोषण तथा षोडश-कला-संपन्न शशि का पोषण करने के लिये कहा है। सूर्य और शशि के अन्तर की चार कलाओं का साधन, जिसे तत्वतः अमृत कहा जा सकता है, करे तो निजरता आयत्त होती है।[२] इसी को 'ह+ठ+योग' कहते हैं। किन्तु इतना स्पष्टतः ध्यान में रखना चाहिए कि यह सुषुम्ना सरस्वती या मध्यसाधन या शिव-शक्ति-योग तक ही नाथसाधन का अंत नहीं है क्योंकि यह तो अद्वय अवस्था है। इसके बाद भी नाथसिद्ध की एक ऐसी अवस्था है जो निर्गुण-सगुण, द्वैत-अद्वैत सब से परे कही जाती है और यही नाथपद है जिसमें कायसिद्धि और परमपदप्राप्ति दोनों मिश्र एवं अविभाज्यभावेन निहित हैं। इसे पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है।

हठयोग शब्द की जो व्याख्या उपस्थित की गई है, उससे स्पष्ट होता है कि नाथों के योग में मन-पवन का साधन मुख्य है। पवन साधन ही प्राणायाम है जिसमें पवन की सहायता से समग्र शरीर का, उसकी नाड़ियों का, शोधन हो जाता है तथा इसी से जीवशक्ति प्रेरित होकर ऊर्ध्वमुख होती है। नीचे शक्ति है तथा ऊपर शिव है। इसी को शिवशक्तियोग कहा गया है। यह शक्ति पिंड में कुंडलिनीशक्ति है जो मूलाधार में कुंडलित होकर रहती है। कभी-कभी कुंडलिनी का ऊर्ध्वीकरण ही विंदु का ऊर्ध्वीकरण कहा जाता है। यह क्रिया भी प्राणायाम से साधित होती है। जैसा पहले बताया जा चुका है मन और पवन नामक दो तत्वों में से नाथसिद्ध दोनों को परस्पर साध्य मानते हैं, जबकि उनका कहना है कि विंदुरक्षा प्राणयाम को संभव बनाती है। इस प्रकार नाथ-योग में मन, प्राण, विंदु, कुंडलिनीशक्तिसाधन अन्तर्भूत हैं। ये सभी साधक की दृष्टि से अति महत्वपूर्ण हैं। गोरख ने साधन के लिये ओंकारसाधन, नादानुसंधान, प्राणायाम या वायुसाधन, मानस साधन, विंदुसाधन को स्वीकार किया है। इन पाँच तत्वों से उन्होंने सहज तत्व का प्रकाश संभव माना है। वायुसाधन या प्राणायाम के प्रसंग में उन्होंने बताया है कि उसी वायु से ही नाद होता है। इसी से विभिन्न ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं। यह वायु ही षट्चक्र-

---

[१] गो० बा०, ६३. १८७।

[२] गो० बा०, ३१. ८९।

भेद करती है। यही अधः, ऊर्ध्व और मध्य में भ्रमण करती है। यही सोहं वायु 'हंस' के रूप में संपूर्ण पिंड में घूमती है। अपने योगसाधन में गोरख ने कई प्रकार की क्रियाएँ सम्मिलित की हैं। उन्होंने छठें-छमासे काया को पलटना या परिवर्तित करना, पवन का उलटना, षट्-चक्र-भेद करना, सूर्य-चन्द्र का अपने घर में रक्षण, आसन और आहार की दृढ़ता, नाद-विंदु और वायु का रक्षण, मन-पवन की अचंचलता, इड़ा-पिंगला की सुषुम्ना या त्रिवेणी में संधि, मनसा के व्यापार का बंधन, पवन-पुरुष की उत्पत्ति, अध्यात्मलीनता, चन्द्र-सूर्य-साधन, नादानुसंधान, विंदुस्थैर्य या दृढ़ता, इड़ा-पिंगला का नाड़ीसाधन, आसन, महारसपान, मनोमारण, कायादोषहरण, ब्रह्माग्निप्रज्वलन, अमृतपान आदि को अपने योग में अन्तर्भूत कर लिया है।[१] प्रायः ये सभी साधन नाथयोगी स्वीकार करते हैं। इनका विस्तृत विवरण आगे दिया जा रहा है।

साधन की दृष्टि से विचार करने पर यम-नियम के बाद आसन का सबसे पहले स्थान है। नाथपंथी हिन्दी रचनाओं में प्रायः कृच्छ्राचारप्रधान स्थूल काया साधनों का अभाव है। आसनों का वैसा विस्तृत परिचय इनमें नहीं मिलता जैसा संस्कृत रचनाओं में मिलता है। गोरख ने आसन का सबसे अधिक आवश्यक तत्व दृढ़ता माना है। आसन में जबतक दृढ़ता न हो तब तक वह निरर्थक है क्योंकि इससे चंचलता का बाध होता है। यदि सहज युक्ति से आसन किया जाय तो तन-मन और पवन का दृढ़ धारण हो सकता है। यह आसन इसलिये भी आवश्यक है कि तीर्थ-व्रत करने से, गिरि-पर्वतों पर आरोहण करने से, पवन टूटता है, क्षीण होता है तथा परिणामतः काया भी नष्ट होती है। आसन लगाने से पवन नहीं टूटेगा और न काया ही क्षीण होगी।[२] विभिन्न प्रकार के आसनों में से, गोरखबानी में, पद्मासन का स्पष्टतः नाम लिया गया है और उसके साधन को श्रेयस्कर बताया गया है। वज्रकछोटा धारण करने तथा वज्रासन सिद्ध करने के लिये विशेष रूप से कहा है क्योंकि इससे रोग, व्याधि और क्षुधा का हरण होता है।[3] संस्कृत रचनाओं में भी आसनों को आरोग्यप्रदाता माना गया है तथा सभी आसनों में सिद्धासन, वज्रा-

[१] गो० बा०, ९८-१००.टेक—६.१२; १३.३३, ३६.१०५, ४४.१२५, ५५.१६३, ६३.१८६-१८७; ९५. टेक; ९६.३-४, १०३.२-३, १५५.१, १७६.११-१४, पृ० २४१।

[२] गो० बा०, ४४.१२५, १०३.२, १६९.३, १७१.८।

[3] गो० बा०, १७४.१, १७७.१६।

सन या मुक्तासन आदि को विशेष कहा गया है। किन्तु जहाँ इस प्रकार आसन के साधन का समर्थन मिलता है, वहीं केवल आसनसाधन को निरर्थक भी कहा गया है। जिस खंडित ज्ञान के प्रपंच में लोग जूझ कर मरते हैं, उससे भिन्न परमपद को समझ नहीं पाते, उसी प्रकार खंडित योगी, जो आसन और प्राणायाम तक ही रह जाता है, इनके विभिन्न प्रकार के उपद्रवों से ग्रस्त रहता है तथा रात-दिन वह इन्हीं के चक्करों में पड़कर घुल-घुल कर मरता है। आसन लगाकर पवननिरोध करना भी एक प्रपंच है यदि आत्मविचार न हो। इसीलिये गोरक्ष इन स्थूल आसनों की अपेक्षा अन्तस्साधन को महत्ता देते हैं, गंगा और यमुना के मध्य सुषुम्ना में आसन लगाने को कहते हैं। संयम की दृष्टि से उन्होंने संतोष को ही आसन बताया है।[१] तात्पर्य यह कि आसन का सबसे बड़ा तत्व दृढ़ता है। यदि इनका प्रयोग आत्मयोग के लिये न हो तो ये निरर्थक हैं। मुख्य आसन तो अद्वय भूमि सुषुम्ना का है और संतोष ही संयम की दृष्टि से आसन है। अन्य नाथसिद्धों में से जलंधरिपाद ने सिद्धासन से मायामुक्ति मानी है। चरपट ने दृढ़ आसन की आवश्यकता बतलाई है।[२] इस प्रकार शरीर की अचंचलता, पवन-स्थिरता और आरोग्य के लिये आसन आवश्यक बतलाया है। ऐसा प्रतीत होता है कि साधन के अग्रसर होने पर इन स्थूल आसनों का कोई महत्व नहीं रहता और साधक अन्तस्साधन में ही लीन रहता है।

१२—प्राणायाम

संस्कृत रचनाओं में बताया गया है कि शरीर के शोधन के लिये षट्कर्म या प्राणायाम् में से किसी एक का प्रयोग किया जा सकता है। किन्तु इन दोनों की क्रियाओं को देखने से प्रतीत होता है कि प्राणायाम जहाँ शोधन करता है, वहीं षट्कर्म से शरीर के भीतर के, विशेषकर जघनस्थल से ऊपर तथा सिर से नीचे के अंगों का शोधन होता है। प्रणायाम का विस्तृत रूप से निरूपण इन नाथपंथी बानियों में मिलता है। षट्कर्म का, जिसमें तांत्रिक मतानुसार धौति, बस्ति, नेति, लौलिकी, त्राटक, कपालभाति की गणना की जाती है, कोई वर्णन या संकेत नाथबानियों में नहीं मिलता। प्राणायाम का विस्तृत वर्णन उपलब्ध है। प्राणयाम वायुसाधन या पवनसाधन है। यह

---

[१] गो० बा०, ४७.१३४, २९.८२, १४९.५३, १९७.८६।

[२] ना० सि० बा०, ५३.३५७; सि० सि० प० अ० व०, ९०.६, ८५.३९।

पवन ही सब कुछ है। जबतक यह पवन चंचल है तबतक संसार भोग है और इसके अचंचल होने पर योग होता है। इस पवन से ३६ प्रकार के रोगों का हरण होता है। इस पवन के रहस्य का ज्ञान हो जाने पर व्यक्ति स्वयं अपने शरीर का कर्ता (शासक) हो जाता है और स्वयं उसका शरीर ही उपास्य हो जाता है। पवन से ही पंचेन्द्रियों का उनके विषयों से प्रत्याहरण होता है। इस पवन के परावृत या प्रत्यावर्तित करने, मोड़ने, पलटने से आरोग्यलाभ होता है। पवनसाधन से सम्पूर्णशरीर के प्रत्येक अंग में वायु की क्रीड़ा होने लगती है। इसी पवन से मन को बाँधना चाहिए। इस पवन के ही विपरीतकरण से योगाग्नि का प्रज्वलन करना चाहिए। शरीर की हजारों नाड़ियों में इसी पवन के संचरण से कोटि प्रकार के नादों की झंकार होती है। इस पवन के ब्रह्मरन्ध्र में समावेश से बालरूप परमतत्व का साक्षात् या प्रत्यक्ष होता है। पवन का ही साधन बंध को संभव बनाता है।[१] नीचे की ओर जानेवाले पवन या प्राण को ऊर्ध्वमुख कर दें तो द्वादश अंगुल परिमाण वाला पवन मन को भी ऊर्ध्वमुख कर देता है। इस पवन को ही उन्मुख या ऊर्ध्वमुख कर देने से विभिन्न उपाधियाँ, रोग आदि नष्ट हो जाते हैं। षट्चक्रों का वेध भी इसी पवन को उलटने से सम्भव होता है। यों प्राण का प्रसार तो अनेक नाड़ियों में है किन्तु उसका वास्तविक निवास तो षोडश-कला-युक्त चन्द्रनाड़ी तथा द्वादश-कला-युक्त सूर्यनाड़ी से भिन्न एवं परे सहस्रार नाड़ी सुषुम्ना में है। यही असंख्यकलात्मक शिव का स्थान है। बताया गया है कि स्थिर पवन का या वायु का स्थान सुषुम्ना है। वहीं जाकर वायु परिपक्व हो जाता है। इस वायु या 'बाई' की ही परिपक्वता से जीवन की परिपक्वता सिद्ध होती है।[२] इस शरीर में जो चौसठ संधियाँ हैं, वे ही चौंसठ हाट, बाजार हैं। इन संधियों में वायु के संचार से कायाकल्प या कायापरिवर्तन होता है। इसके लिये शरीर के नौ रन्ध्रों को, जो वायु के बहिर्गमन-आगमन के द्वार हैं, अवरुद्ध कर देना आवश्यक है। सभी द्वारों को बंद कर देने से वायु के निकलने का मार्ग नहीं रह जाता। अतः कुंभक की अवधि बिलंबित होती है। इसलिये गोरक्ष पूर्वोक्त संयमों के पालन का उपदेश करते हुए वायु-संग्रह का उपदेश देते हैं। क्योंकि इस वायु से विभिन्न

---

१ गो० बा०, ५१.१४७, ६१.१८२, ७०.२१५, ७१.२१७, ८१.२६५, १७.४७, १९.५३, ३१.८८, ४३.१२३।

२ गो० बा०, १७५.७, १९४.६४, ३६.१०५, ३३.९३, ५४.१५७।

प्रकार के वाक्य सुनाई पड़ते हैं। इसी से घनगर्जन सुनाई पड़ता है, इसी से ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं। इसी से षट्चक्रवेध होता है तथा यही अधः और ऊर्ध्व में यात्रा करता है। सोहं वायु ही साधन से प्रत्यावर्तित होकर 'हंस' के रूप में सम्पूर्ण पिंड में फिरता है (तथा संपूर्ण शरीर को पवित्र करता है)। इसी वायु के प्रभाव से बिंदु, गुरु के उपदेशों के अनुकूल स्थिर रहता है। विपरीतकरण की एक मुद्रा के साधन द्वारा जैसे वायु स्थिर होती है, उसी प्रकार वायु के स्थिर होने पर महारस अमृत सिद्ध होता है।[१]

अन्य नाथसिद्धों ने भी इस प्राणायाम अंग पर प्रकाश डालकर उसकी महत्ता उपयोगिता एवं अन्य साधनों के साथ उसके संबंध का वर्णन किया है। भरथरी ने भी, गोरख के समान ही, नौ द्वारों के कपाटों को बंद कर देने तथा वायु के लिये शिवस्थान दशम-द्वार के मार्ग का ही अनुसरण करने का उपदेश दिया है। उनकी दृष्टि में यदि कोई साधनयोग्य तत्व है तो केवल पवन। चरपट ने इस वायु-पवन की धारा को अति चंचल माना है। यह पवन इस शरीर का स्तंभ है। अतः इसके चंचल होने से शरीर टिक नहीं सकता, स्थिर नहीं रह सकता। अतः मूल द्वार को बंद कर वायु को शरीर की चौसठ संधियों में क्रीड़ा करने देना चाहिए, उससे नित्य ही शरीर का प्रक्षालन करना चाहिए। इससे जरा का परिवर्तन तो होता ही है, साथ ही इससे रोगखंडन भी होता है क्योंकि इससे सभी दोष निकल जाते हैं।[२] गोपीचंद गहन (गंभीर) मन से सोहं श्वास का जपसाधन करने के लिये कहते हैं। उनके अनुसार इस साधन में पवन को प्रेरित कर पश्चिम दिशा (सुषुम्ना) की ओर पलट देना या उन्मुख कर देना चाहिए। इस प्रकार अपान और प्राण को उलट कर परस्पर मिला देना चाहिए। परिणामतः नादधारा का ग्रहण, बिंदुस्थैर्य, जन्ममुक्ति आदि सिद्ध होते हैं। इस पवन के ही स्थिर होने से मन स्थिर होता है तथा पुनः उससे बिंदु और क्रमशः स्कंध स्थिर होते हैं। चौरंगीनाथ ने बताया है कि प्राण के स्थिर रहने पर सब कुछ रहता है। तथा प्राण के (चंचल हो) जाने पर सब कुछ चला जाता है। इसीलिये अनेक गुरुओं ने इसका उपदेश दिया है। चुणकरनाथ के अनुसार वायु से ही बिंदु गगन की ओर प्रेरित किया जाता है। उसी को बाँधने से सारा जगत् बँधता है। भरथरी द्वादश पवन के साधन में वंशीध्वनि का श्रवण संभव मानते हैं। वायु के साधन से षट्चक्रों का वेध

---

[१] गो० बा०, १९.५०, ५०. १४५, ९९.३ १४९-१५०. १।

[२] सि० सि० प० अ० व०, ७७. ९, ७८. २२, ८२. ३, ८३. १४, ८४.२४।

माना है तथा उसी से सहस्त्रदलपद्म में सुख को प्राप्य माना है। मीड़कीपाव कहते हैं कि चलते हुए पिंड को, उसकी गति को सभी लोग देखते हैं किंतु वे बिरले ही व्यक्ति हैं जो चलते हुए प्राण को उसकी गति को देखते हैं।[1]

प्राण और प्राणायाम संबंधी इस विवरण से इतनी बात स्पष्ट हो जाती है कि प्राणसाधन के लिये संयम आवश्यक है। प्राण का स्थैर्य होने से आरोग्य-लाभ, षट्चक्रभेद, मनःस्थैर्य, जन्ममुक्ति, नादानुसंधान, उन्मनीसाधन, जपसाधन, प्रत्याहरण, साधन के सभी तत्वों का विपरीतकरण, कायाशोधन या नाड़ीशोधन, विंदुरक्षा या विन्दुस्थैर्य, कायपरिवर्तन, अग्निसाधन आदि संभव होते हैं। इनमें से महत्वपूर्ण साधनों का विचार करने से प्रतीत होता है, जैसा पहले कहा जा चुका है, कि मन, विंदु, प्राण और वाक् ये चार तत्व प्रधान हैं। इनमें वाणी का मंत्रयोग से तथा प्राण का हठयोग से साधन होता है। किन्तु ये पूर्णतया पृथक् नहीं किये जा सकते। योगसाधन में ये परस्पर सहयोगी भाव से अग्रसर होते हैं। जपसाधन का संबंध मंत्रयोग से है। मन तथा अन्य मूल तत्वों का साधन लययोग या षट्चक्रभेद से संबद्ध है। नाथयोगियों ने मनसाधन का भी विचार किया है। मन और प्राण के स्थैर्य से विंदुस्थैर्य संभव बताया गया है। प्राणायाम से जिस साधन का सबसे घनिष्ठ संबंध है, वह नादानुसंधान है।

प्राणायाम का प्रारंभिक संबंध नाड़ियों से है। संस्कृत रचनाओं तथा हिन्दी रचनाओं के उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट है कि नाड़ियों का शोधन प्राण से ही होता है। प्राण पर जब तक पूर्ण नियंत्रण न हो तबतक इच्छानुसार स्वतंत्र भाव से प्राण नाड़ियों में संचरण नहीं कर सकता। अतः प्राण पर पूर्ण नियंत्रण या संयम हो जाने पर ही नाड़ीशोधन संभव है। श्वास की संख्या, उसकी मात्रा, नाड़ियों की संख्या शरीर के विभिन्न रन्ध्र या द्वार तथा उनका निरोध—ये सभी प्रायः संस्कृत रचनाओं के अनुकूल हैं। हठयोग शब्द की व्याख्या करते समय अभी बताया गया कि 'ह' और 'ठ' क्रमशः सूर्य और शशि या पिंगला और इड़ा नाड़ियों के वाचक हैं। इसी प्रकार अन्य नाड़ियों में सुषुम्ना सर्वाधिक महत्वपूर्ण है पहले ही यह भी कहा गया है कि इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना नाड़ियों को क्रमशः गंगा, यमुना और सरस्वती नदियों के नाम से भी अभिहित किया जाता है। चौरंगीनाथ ने सात सरिताओं का वर्णन करते समय प्राण-संकली में गंगा, यमुना, सरस्वती, नर्मदा, गोदावरी, देवनदी, गोमती नदियों को गिना है। जि ह्वा

[1] ना० सि० बा, १८.१०३, १८.१०५-१०६, ३९.२४१, ५१.३४९-३५०, ५७.५९२-५९३, ११८.७०३।

के दक्षिण पार्श्व में गंगा, उसके वाम पार्श्व में यमुना तथा जिह्वा के मध्य में सरस्वती का निवास है। पवन नाड़ी का निवास नर्मदा में है। अन्न नाड़ी में गोदावरी, मेरु मध्य में देवनदी और मूत्र नाड़ी में गोमती नदी का निवास माना गया है।[१] गोरख ने नाड़ियों के परिचय में बतलाया है कि शंखिनी नाड़ी में शिव का संचार है तथा सुषुम्ना नाड़ी में जीव का संचार है। जीव बंकनाल में अमृतरस का पान करता है। गोरख ने कई स्थानों पर नौ नाड़ियों का वर्णन किया है। डा० बड़थ्वाल के अनुसार सुषुम्ना को छोड़कर वे नौ नाड़ियाँ हैं—इड़ा, पिंगला, गांधारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलंबुषा, कुहू और शंखिनी। गोरख ने नाड़ियों की ७२००० संख्या की ओर भी संकेत किया है। इन नाड़ियों की ही सात गाँठों को चक्र कहा जाता है। साधना की दृष्टि से सुषुम्ना नाड़ी का महत्व है। इसी में नाद का श्रवण होता है। नाड़ियों के शोधन और साधन के संबंध में कहा गया है कि सब से पहले सदोष नाड़ियों को प्राण से भर कर शुद्ध कर लेना चाहिए और तत्पश्चात् प्राणवायु से बंकनाल का पूरण करना चाहिए। इस बंकनाल का स्थान नाभि कहा गया है। नाड़ी ऊर्ध्वमुखी होती है तथा इसी में अमृतरस का स्राव होता है।[२]

इन नाड़ियों का संबंध द्वारों तथा शरीरगत विशेष पवित्र स्थानों से है। इन स्थानों को तीर्थ इसलिये कहा जाता है कि जिस प्रकार बाह्य जगत् में विभिन्न तीर्थस्थान सरिताओं के तट पर हैं, उसी प्रकार ये पवित्र स्थान भी शरीर की नाड़ियों के, जिन्हें सरिताएँ कहा गया है, किनारे बसे हुए हैं। गोरख ने पारंपरिक रूप से प्रसिद्ध ६८ तीर्थों को घटस्थ माना है। योगियों का कैलास, मानसरोवर, केदार, गंगोत्तरी आदि सभी इसी शरीर में हैं।[३] चौरंगी ने गया, प्रयाग, वाराणसी, केदार, गंगासागर नाम के पंचतीर्थों में से केदार को शीर्षभाग (सुषुम्ना का अंत भाग) में, प्रयाग को (बंकनाल का स्थान) नाभि में, वाराणसी को सर्वव्यापक, गया को कंठ में तथा गंगासागर को उदर में स्थित माना है।[४] इन नाड़ियों का शरीर के दस रन्ध्रों से भी संबंध है। गोरखबानी में इनके

---

[१] ना० सि० बा०, पृ० ४१-४२, छं० २७५-२७६।

[२] गो० बा०, १९३.६०, १६४-१६५.५, १६५.६, १६७.१३, १५५.३.५९, १९२.५२, १४९.५३, २०.५६।

[३] गो० बा०, ५५.१६३, ३३.९६।

[४] ना० सि० बा०, ४२.२८४-२८५।

संबंध में कुछ भी नहीं मिलता। केवल शरीरगत नौ रन्ध्रों के महत्व की ओर संकेत कर दिया गया है। दशम द्वार का अवश्य ही विस्तृत परिचय उपलब्ध है। गोरख ने 'देवद्वार' शब्द का प्रयोग ब्रह्मरन्ध्र या दशम द्वार के अर्थ में किया है। दशम द्वार वह स्थान है जहाँ योगी उन्मन हो जाता है तथा नाद-विन्दु के मेल से उत्पन्न धू-धू-कार अनाहत नाद को सुनता है। किन्तु इसके उपरान्त इस दशम द्वार को भी बन्द कर वह अन्य द्वार से परमतत्व की खोज करता है। इस दशम द्वार में या ब्रह्मरन्ध्र में शिव का निवास है। इसी दशम द्वार में अवधूत की समाधि लगती है। जब अवः और ऊर्ध्व को अवरुद्ध कर दिया जाता है, तो मन स्थिर हो जाता है, पवन स्थगित हो जाता है और तदुपरान्त दशम द्वार ब्रह्मरन्ध्र का प्रत्यभिज्ञान होता है और परिणामतः आवागमन छूट जाता है। इस शरीर में नौ द्वार तो प्रत्यक्ष ही दिखाई पड़ते हैं किन्तु दशम द्वार अप्रत्यक्ष है, दिखाई नहीं पड़ता। इसी दशम द्वार में 'निराकार पद' की सेवा की जाती है। इस प्रकार की सेवा के लिये नौ द्वारों का दृढ़तापूर्वक अवरोध करना चाहिए। वहीं ब्रह्मरंध्र में मदमत्त मन को बाँध देना चाहिए। जब वायु को बाँध दिया जाता है तथा पवन चौंसठ सन्धियों में क्रीड़ा करने लगता है, नौ द्वारों में ताला बंद कर दिया जाता है तभी दशम द्वार में प्रकाश का दर्शन होता है।[1] गोरख ने नवरन्ध्रों या नौ द्वारों को नौ गायों के रूप में कल्पित किया है। इन्हें नौ घाटी भी कहा गया है जिसमें वायु का आवागमन बना रहता है। इन रास्तों को रोक देने से वायु का चौसठ संधियों में व्यापार होने लगता है। इन नौ द्वारों से होनेवाले वायु के गमनागमन को रोकने से 'काया की पलट' या कायाकल्प भी होता है तथा परिणामतः उन्मनीयोग की सिद्धि होती है। अन्यत्र गोरख ने शरीर के नौ द्वारों को नौ बछड़ों के रूप में भी कल्पित किया है। इसी प्रकार नौ द्वार नौ सूत्रों के रूप में भी कल्पित हैं जिनके ऊपर या सहारे कोट का यंत्र प्रचलित रहता है। नौ द्वार शरीर रूपी मठ की नौ लाख खाइयों के समान भी हैं।[2] धूधलीमल ने मन को फेर कर दशम द्वार में ही उसे घेरने तथा अवः-उर्ध्व का निरोध कर देने का उपदेश दिया है। भरथरी के अनुसार नौ द्वारों के कपाट को दृढ़तापूर्वक स्थिरभाव से बंद कर देना चाहिए क्योंकि दशम द्वार से तो शिव के मंदिर का रास्ता चलता है।[3] स्पष्ट ही दशम द्वार ब्रह्मरन्ध्र है

[1] गो०बा०, पृ० १४७, ४७, ९४, ११६, ११७, १२०, १२७, १७५, १७४।

[2] गो० बा०, पृ० १०४, १२, १९, ११३, १२१, १३४, ११६।

[3] ना० सि० बा०, पृ० ६५-६६, १००।

और वहाँ शिव का निवास है। इसी प्रकार नौ रन्ध्र या नौ द्वार शरीर के छिद्र हैं।

प्राणायाम का नाड़ियों से सम्बंध है तथा नाड़ियों का द्वारों से। इन नाड़ियों का तथा प्राणायाम का नाद-विंदु से भी सम्बन्ध है। सूर्य-चन्द्र और नाड़ियों के विषय में हम बतला चुके हैं कि इस युग्मक सिद्धान्त को व्यक्त करनेवाले अन्य शब्द भी हैं। नाद-विंदु की भी इन्हीं में गणना की जाती है। विंदुरक्षा प्राणायाम में अत्यधिक आवश्यक है। गोरख ने विंदु शब्द का अधिकतर प्रयोग 'शुक्र' के अर्थ में किया है।[१] उन्होंने विंदु के दो भेद भी बताये हैं—कच्चा विंदु तथा पक्का विंदु। वायु के कच्चे रहने से, प्राण पर पूर्ण नियंत्रण न रहने से जीवन कच्चा रहता है तथा परिणामस्वरूप ही काया कच्ची रहती है और विंदु भी कच्चा रहता है। उन्होंने इन सबको योगाग्नि से परिपक्व करने की सम्मति दी है।[२] गोरख ने शिवशक्ति के युग्मक के समान ही रज और विंदु (या रज और शुक्र) के युग्मक को स्वीकार कर बतलाया है कि शक्ति रज है और शिव विंदु है। डा० बड़थ्वाल ने रक्त को शक्तिस्वरूप बतलाया है और विंदु को शिवस्वरूप। रवि की बारह कलाएँ होती हैं और चन्द्र की सोलह कलाएँ होती हैं। इन दोनों का योग ही शिवशक्तियोग है। इस प्रकार रज और विंदु का योग भी शिवशक्तियोग है। यह सामरस्य अनंत है। यह चार कलाओं का सामरस्य है।[३] 'रक्त' 'रज' आदि शब्द लोहित विंदु के बोधक हैं तथा 'विंदु' पांडुर विंदु का बोधक प्रतीत होता है। संस्कृत ग्रंथों में पाण्डुर विंदु को शशिस्थानीय तथा लोहित विंदु को रविस्थानीय कहा गया है। इस प्रकार जो युग्मक बनते हैं, वे इस प्रकार अनुमित किये जा सकते हैं—

शिव—विंदु (पाण्डुर), शुक्र, शशि, इड़ा, गंगा, ठ।
शक्ति—विंदु (लोहित), रज, रवि, पिंगला, यमुना, ह।
(इस प्रकार के कुछ कुग्मकों का परिचय पहले भी दिया जा चुका है)

---

[१] गो० बा०, ४९.१४१-१४२, ५१.१४८, ७०.२१२, १२.३०, १७.४७ ९०.२, ९१.५।

[२] गो० बा०, ५४.१५६।

[३] गो० बा०, १००.५।

इसी प्रकार विंदु से संबंधित दूसरा युग्मक नाद-विंदु है। गोरखवानी में इनकी व्याख्या नहीं मिलती। इनके सामरस्य अथवा योग की वात अवश्य कई बार कही गई है। शरीर में इन दोनों का समन्वित रूप में 'जरना' (जलना या जीर्ण होना) आवश्यक बतलाया गया है। नाद का विंदु के घर गरजना, पहुँचना, नाद को उलट कर तथा विंदु को पलट कर वायुगृह में पहुँचाना, या वायु की सहायता से दोनों का समन्वय करना भी योगक्रिया ही है।[१] डा० कल्याणी मल्लिक ने बताया है कि गोरक्षसिद्धांतसंग्रह में नाद और विंदु अंश के उत्कर्षापकर्ष का विचार किया गया है। बताया गया है कि नाथ से नाद और नाद से प्राण की उत्पत्ति हुई। इसी प्रकार शक्ति से विंदु और विंदु से शरीर की उत्पत्ति हुई। योगसंप्रदाय में नाद से उत्पन्न शिष्य को विंदु से उत्पन्न पुत्र की अपेक्षा श्रेष्ठ बताया गया है। यह भी बताया गया है कि विंदु शिव है और रज शक्ति। विंदु ही इंदु है और रज ही रवि है। इन दोनों के संगम से ही परमपद की प्राप्ति होती है।[२] इनके साधन के संबंध में संस्कृत ग्रंथों में विवेचन मिलता है जिसका परिचय हम पहले ही दे चुके हैं। अन्य नाथसिद्धों ने भी नादविंदुसाधन की ओर संकेत किया है। चरपटनाथ ने बताया है कि पवन को पलट कर गगन में समाहित कर देने से नाद-विंदु को स्थिरता प्राप्त होती है। पारबती जी, गोरख की तरह ही, नाद-विंदु के शरीर में जीर्ण होने की बात करते हैं।[३]

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि नाड़ीसाधन और नाद-विंदु-साधन, दोनों ही, नाथपंथियों की हिन्दी रचनाओं के अनुसार, प्राणसाधन से संभव हैं। इस पवनसाधन या प्राणसाधन से योगाग्निप्रज्वलन या कुंडलिनीप्रबोध, शरीर की चौसठ संधियों में वायु का संचरण (और शोधन), काया का परिवर्तन, नवद्वाररोध, उन्मनीयोगसाधन, विन्दुस्थैर्य, ऊर्ध्वोधः वायुसाधन से ब्रह्म-रन्ध्रादि-सिद्धि, ज्योतिप्रकाश, अनाहतनादश्रवण, ध्यानसाधन, नित्य आरोग्य, पवन को उलट कर प्रेरित करने से षटचक्रवेध, महारससिद्धि एवं शिवशक्तियोग, परमात्मप्राप्ति, मन की अचंचलता, द्वादशांगुल पवन के सुषुम्ना में प्रवेश से सुख एवं जरामरणदुःख से मुक्ति, सुषुम्ना में पवननिरोध से अजरत्व एवं अमरत्व

[१] गो० बा०, ७.१९, २०.५४-५५।

[२] ना० सं० इ० द० सा० प्र०, पृ० ५०९-५१०।

[३] ना० सि० बा०, पृ० ३१ छं० १८०; पृ० ६८ छं० ४३४-४३५।

की प्राप्ति, मन-पवन के योग से अनाहतनादश्रवण आदि सिद्ध होते हैं।[१] गोरख ने चार प्रकार के प्रमाण के श्वासों का वर्णन कर बताया है कि बैठे रहने पर १२, चलने पर १८, सोने पर ३० तथा 'कइथन' (?) करने पर ६४ सासें टूटती हैं। जब तक ये सासें टूटती हैं तब तक जगदीश का भजन संभव नहीं होता। श्वासस्थैर्य होने पर ही इनका उचित उपयोग संभव है।[२] अतः इक्कीस हजार छ सौ सासों का मेल कर (परस्पर उन्हें संधित कर, जिससे वे टूटने न पावें) शरीर के नख से शिखा तक में उनको ग्रहण कर शरीर रूपी नौका को प्रतिबंधित करना चाहिए। भरथरी भी केवल पवन-साधन के लिये उपदेश करते हैं। गोपीचंद ने पश्चिम दिशा सुषुम्ना में वायु को प्रेरित करने का उपदेश दिया है। वे अपान और प्राण को उलट कर मिलाने को कहते हैं। परिणामस्वरूप अनाहत नाद का प्रवाह गगन में होगा तथा विंदु स्थिर हो जायेगा जिससे पुनः जन्मधारण करने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।[3]

गोरख ने, यद्यपि इन्हीं रचनाओं में विभिन्न बंधों को साधनांगों के रूप में स्वीकार किया है तथापि उनके स्थान, क्रिया, उपयोग, विधान, आदि का परिचय वहाँ नहीं मिलता। उन्होंने मूलबंध और उड्डीयानबंध को स्पष्टतया स्वीकार किया है। क्षरित होने वाले अमृत को जालंधरादि बंधों की सहायता से रक्षित करने का उपदेश मिलता है। इनके अतिरिक्त गोरख ने तुरीया बंध और अगोचर बंधों का भी नाम दिया है।[४] इन बंधों का प्राणायाम से क्या संबन्ध है, इसके विषय में हम तांत्रिक योग और संस्कृत ग्रंथों के नाथों के योग के विवेचन में कह चुके हैं। हिन्दी रचनाओं में 'वेध' का कोई स्पष्ट वर्णन नहीं मिलता। एक स्थान पर 'वेधाबोध' शब्द का प्रयोग अवश्य है किन्तु वहाँ डा० बड़थ्वाल नें 'कुण्डलीवेध' का अर्थ लिखा है जो हठयोगी एवं नाथपंथी ग्रंथों में विवेचित 'वेध' से पूर्णतया भिन्न है। इसी प्रकार बंध और

---

१ गो० बा०, १७. ४७; १९. ५०, ५२; २१. ५७; २८. ७८; २९. ८१; ३२. ९०, ९२; ३६. १०५; ४५. १३०; ५०. १४५; ५१. १४६; ५३. १५५; ८१. २६५।

२ गो० बा०, ८३. २७४।

3 गो० बा०, पृ० १६०; सि० सि० प० अ० व०, ७८. २२; ना० सि० बा०, पृ० १८।

४ गो० बा०, पृ० १६०, १७६, १९४, २०२।

वेध के अतिरिक्त जिस तीसरे साधनांग का प्राणायाम से संबंध है वह मुद्रा है। प्राणायाम और मुद्रा के संबंधों के विषय में हम पहले ही कह चुके हैं।

गोरख के नाम से प्रसिद्ध रचनाओं में मुद्रा का बहुविध परिचय मिलता है। गोरख ने 'मुद्रा' का 'बंद करना', 'अवरुद्ध करना' आदि अर्थों में भी प्रयोग किया है। आन्तरिक मुद्रा का भी वर्णन है। इसमें चन्द्र और सूर्य के मुद्रण अथवा मन-मुद्रण या मानस की सांसारिक वृत्तियों के मुद्रण की बात कही गई है जिनका न कोई रूप है और न रेखा ही। इसके अतिरिक्त वज्रोली और अमरोली नाम की प्रसिद्ध मुद्राओं का संकेत मिलता है। कहा गया है कि वज्रोली करके अमरोली की और अमरोली करके वायु की रक्षा करनी चाहिए। इनकी सहायता से भोग करते समय भी बिंदुरक्षा की जानी चाहिए। शुक्र का पोषण या ऊर्ध्वीकरण कर वज्रोली मुद्रा के साधन की भी बात कही गई है। इस क्रिया से काया के सभी दोषों का हरण बताया गया है।[१] इनके अतिरिक्त गोरखबानी में 'अष्ट मुद्रा' नाम की एक अलग रचना है। इस रचना में मूलनी, जलश्री, 'बीतनी', खेचरी, भूचरी, चाचरी, अगोचरी, उनमनी नाम की आठ मुद्राएँ बताई गई हैं। इनमें से अनेक का नाम हठयोगी ग्रंथों एवं नाथपंथी संस्कृत ग्रंथों में मिल जाता है किन्तु यहाँ प्रारम्भ में ही बता दिया गया है कि ये आठ मुद्राएँ घट के भीतर की हैं। इन सबका स्थान क्रमशः इन्द्रिय (जननेन्द्रिय), नाभि, हृदय, मुख, नासिका, चक्षु, कर्ण, ब्रह्माण्ड बताया गया है। कहा गया है कि इन स्थानों में क्रमशः काम-तृष्णा, काम-क्रोध, ज्ञानदीप, 'स्वाद-विस्वाद', गंध-विगंध, दृष्टि-विदृष्टि, शब्द-कुशब्द के वैषम्य तथा ब्रह्माण्ड में परमज्योति का निवास है। इन वैषम्यों का मुद्रण ही मुद्रा का अर्थ प्रतीत होता है। यह अर्थ स्पष्ट रूप से 'अष्टमुद्रा' में नहीं बताया गया है। 'साम्य' शब्द का कई बार प्रयोग होने से ऐसा प्रतीत होता है कि 'मुद्रण' या 'मुद्रा करना' का अर्थ है साम्य स्थापित करना।[२] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हिन्दी रचनाओं में जिन मुद्राओं का वर्णन मिलता है, वे पिण्डस्थ हैं एवं सदाचार तथा मानस-विन्दु-नियन्त्रण से संबंधित हैं। इनका सीधा संबंध शरीर की बाह्य चेष्टाओं से प्रतीत नहीं होता। संस्कृत रचनाओं में मुद्राओं का जो विवेचन मिलता है, उससे स्पष्ट है कि वे सभी शरीर के बाह्यांगों के साधन हैं।

इसी प्रकार प्राणायाम का प्रणवसाधन, नादानुसंधान आदि से भी संबंध है।

---

१ गो० बा०, पृ० ११०, १४६, ४९, १७६।

२ गो० बा०, पृ० २४७।

इसके सम्बन्ध में कुछ विवेचन हम संस्कृत ग्रंथों में वर्णित योग के प्रकरण में कर चुके हैं। वस्तुतः नाद मूलतः एक ही होता है किंतु औपाधिक संबंध को व्यक्त करने के लिये उसको विभिन्न स्तरों में विभक्त किया गया है। योगियों के मतानुसार नाद के सात भेद हैं, किंतु एकमात्र ओंकार या प्रणव ही उपाधिरहित शब्द तत्व के रूप में वर्णित होता है।[१] इस नाद के साधन की प्रथम अवस्था में प्राणवायु का ब्रह्मरन्ध्र में गमन होता है। इसी समय सागरगर्जन, मेघ-ध्वनि, भेरी शब्दादि का श्रवण होता है। इसके बाद की मध्य अवस्था में प्राणवायु के ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश के समय मर्दल, शंख, घंटादि के शब्दों की तरह सूक्ष्म शब्दों का श्रवण होता है एवं अंत में जब प्राणवायु ब्रह्मरन्ध्र में स्थिर हो जाती है तब क्षुद्रघंटिका, वंशी, वीणा भ्रमरादि के नाद की तरह सूक्ष्मतर नाद का श्रवण होता है। नाद में अनुरक्त मन सभी विषयों का परित्याग कर देता है। इससे समाधिलाभ होता है।[२] हम नाथपंथी संस्कृत ग्रंथों के योग में आरंभ, घट, परिचय और निष्पत्ति नाम की नाद की चार अवस्थाओं का वर्णन कर चुके हैं।

हिन्दी रचनाओं में गोरख ने गगन (ब्रह्मरन्ध्र) में शब्द के प्रकाशित होने की बात कही है। इस शब्दप्रकाश को अलक्ष्य (शब्द, नाद) तत्व का विशिष्ट ज्ञानी समझ सकता है। यह नाद गगन (ब्रह्मरन्ध्र) में उच्छलित होता है। यह नाद साररूप और अति गंभीर होता है। गोरख की कुछ रचनाओं से ऐसा प्रतीत होता है कि नाद और शब्द, ये दोनों ही, पर्याय हैं। 'शब्द' का प्रयोग दो अर्थों में मिलता है—१—नाद, २—गुरुनिर्देशरूप वचन। इन दोनों अर्थों का साधन की दृष्टि से, अत्यधिक घनिष्ठ संबंध है। जब तक शब्द या नाद का श्रवण नहीं होता तब तक परमतत्व का साक्षात्कार नहीं होता, अतएव शब्द ही ताला है और गुरुवाक्य की ही सहायता से नादानुसंधान कर परमतत्व का साक्षात्कार होता है। अतएव यह शब्द ही कुंचिका है। इस प्रकार गुरुशब्द या वचन से ही नादजागरण होता है, शब्द से ही शब्द का परिचय मिलता है। अन्ततोगत्वा गुरुशब्द ही शब्द में समाहित हो जाता है अर्थात् साधन साध्य में लीन हो जाता है, उसकी पृथक् सत्ता नहीं रहती। तब साधक नाद में ही गुरु या गुरुवचन का वास्तविक साक्षात्कार करता है। यद्यपि गोरख ने नाद को सर्वत्र ब्रह्माण्ड में व्याप्त माना है तथापि वे उस अगोचर मूल तत्व को गगन (ब्रह्मरन्ध्र) में ही खोजने का उपदेश देते हैं।[3]

---

[१] ना० सं० इ० द० सा०, पृ० ४६३-४६४। [२] वही, पृ० ४६४।
[3] गो० बा०, पृ० २, छं० ४, ५. १२. ८, २१, १६७-१४।

संस्कृत रचनाओं के योग में नाद की जो चार स्थितियाँ बतलाई गई हैं, उनका तद्रूप वर्णन हिंदी रचनाओं में नहीं मिलता। यद्यपि वे दम (प्राण) का साधन कर उन्मनी अवस्था की प्राप्ति एवं अनाहत तूर्य के निनाद की बात को स्वीकार करते हैं, असाध्य पवन के ही साधन से गगन-गर्जन (ब्रह्मरन्ध्र में अनाहत नादोत्पत्ति) को मानते हैं, उन्मनी अवस्था की प्राप्ति मानते हैं, पवन को पलटने से वाणी को पलटना (लौकिक से अलौकिक वाणी में पलटना, शब्द का श्रवण) मानते हैं, शृंगी या बाह्य नाद का बजाना छोड़कर आन्तरिक अनाहत नाद को बजाने को कहते हैं, उसी नाद से परम निर्वाण की प्राप्ति की बात स्वीकार करते हैं किन्तु नाद की अवस्थाओं का वर्णन नहीं करते।[1] गोरख जिन वाद्यों की ओर संकेत करते हैं, उनसे अवश्य ही नाद की अवस्थाओं की ओर संकेत हो सकता है। वे विभिन्न प्रसंगों में अनाहत मृदंग, अनाहत घड़ी, अनाहत भ्रमर, मर्दल, अनाहत शंख आदि की ध्वनियों के अनुभवों का वर्णन करते हैं। नाद की चार अवस्थाओं के अनुसार ही गोरख ने चार प्रकार के योगियों की ओर संकेत अपनी हिंदी रचनाओं में किया है।

यदि नादसाधन की अवस्थाओं के अनुसार ही साधक की अवस्थाओं का भी भेद स्वीकार किया जाय तो 'आरंभ जोगी', 'घट जोगी', 'परिचय जोगी', और 'निसपती जोगी' नाम के चार प्रकार के योगी माने जा सकते हैं। गोरख ने आरंभ योगी को एकरस, प्रतिक्षण शरीर पर विचार करने वाला कहा है। घटयोगी का मन घट में ही रहता है, दूर नहीं जाता। वह रात-दिन (अमर) वारूणी का पान करता है। उसके सुख-दुःख-काल वायु से क्षीण हो जाते हैं। 'परिचय जोगी' उन्मन समाधि में रहा करता है, रात-दिन इच्छानुसार देवता से समागम करता रहता है, क्षण-क्षण (विभिन्न सिद्धियों की सहायता से) नाना रूप धारण करता रहता है। 'निसपती जोगी' सभी प्रकार से शुद्ध लोहे के के समान ही शुद्ध होता है, राजा-प्रजा में समदृष्टि रखता है। 'नरवै बोध' में गोरक्ष ने नादसाधन करनेवाले साधकों के आचार-विचार पर विस्तार से विचार किया है। आरंभ, घट, परचा, निसपती, जिन्हें डा० बड़थ्वाल ने योगी की क्रमशः चार अवस्थाएँ बतलाई हैं, वस्तुतः नादानुसंधान करनेवाले योगी के साधन की चार अवस्थाएँ हैं। ये ही नाम संस्कृत ग्रंथों में नाद की चार अवस्थाओं को दिये गये हैं। 'नरवै बोध' में तथा 'मच्छींद्र गोरष बोध' के आरंभ में जिस प्रकार के आचार-विचार का निर्देश किया गया है, उससे यह

[1] गो० बा०, १९. ५१; ३२. ९०, ३७. १०६, ९९.२।

प्रतीत होता है कि गोरख जिस प्रकार प्राणायाम के साधन के लिये यम-नियम के विभिन्न अंगों के रूप में आचार-विचार का उपदेश करते हैं, उसी प्रकार प्राणायाम से संबंधित नादानुसंधान के लिये भी वे उन्हें आवश्यक मानते हैं।[1] दूसरी बात यह है कि नादसाधन की प्रथम दो अवस्थाएँ स्थूल शरीरगत हैं, तृतीय मानसिक और आन्तरिक है। चतुर्थ अवस्था एकत्व-अनेकत्व में समत्वस्थापन की है। यह चतुर्थ क्रिया नाथों के अन्य साधनों में भी, तांत्रिकों के साधन की तरह ही दिखाई पड़ती है।

१५—प्रणवसाधन और अजपाजाप

प्राणायाम से ही संबंधित प्रणवसाधन और अजपाजाप हैं। यह कह चुके हैं कि प्रणव या ओंकार ही एकमात्र उपाधिरहित शब्दतत्व के रूप में वर्णित होता है। उसी के भेद और रूप नाद, ध्वनियों और शब्दों के रूप में गृहीत होते हैं। ओंकार या प्रणव का अर्थनिरूपण और विस्तार संस्कृत ग्रंथों में पुष्कल रूप में मिलता है। यह संपूर्ण वर्णन हिंदी रचनाओं के प्रणवसाधन का शास्त्रीय आधार है। नाथपंथी संस्कृत ग्रंथों में प्रणव या ओंकार को ही सूक्ष्मवेद कहा गया है। इसके साथ ही चतुर्वेद को स्थूलवेद कहा गया है। गोरख की हिन्दी रचनाओं में 'ससंवेद' शब्द का प्रयोग मिलता है। इसकी प्रायः दो व्युत्पत्तियाँ मिलती हैं—स्वसंवेद्य, सूक्ष्म वेद। गोरख के इस शब्द को ध्यान से देखने से प्रतीत होता है कि सूक्ष्मवेद, जो चार स्थूल वेदों से भिन्न है, सर्वथा एवं सर्वदा स्वसंवेद्य ही है, पाठ्य, निर्वचनीय नहीं। डा० बड़थ्वाल ने गोरखबानी के दो स्थानों पर उनके प्रयोग को देखकर दोनों स्थानों पर 'स्वसंवेद्य' ही अर्थ किया है किंतु जहाँ वेद पढ़ने की बात हो वहाँ पर सूक्ष्मवेद या प्रणव का ही अर्थ अधिक उचित प्रतीत होता है।[2] हिन्दी 'गोरष उपनिषद्' में बताया गया है—ब्राह्मण तो वेदपाठी होते हैं, वे ऋक्, यजुः, साम इत्यादि पढ़ते हैं। किन्तु योगियों का वेद सूक्ष्म वेद होता है। प्रणवकार ही वेद है। अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण ही उसे सूक्ष्मवेद कहते हैं।[3] इस प्रकार स्पष्ट है कि संस्कृत रचनाओं के समान ही नाथों की हिन्दी रचनाओं में भी सूक्ष्म वेद

---

[1] गो० बा०, पृ० ४७-४८ छं० १३६-१३९; पृ० १६९-१७३, छं० २-१४; पृ० १८६।

[2] गो० बा०, १०९.५, १२७.१, १०९.१ तथा १२७.१ की टीकाएँ द्रष्टव्य।

[3] सि० सि० प० अ० व० ना०, पृ० ७४।

प्रणव को ही साध्य माना गया है। गोरख इस ओंकार या प्रणव को ही मूल मानते हैं (अर्थात् वायु-मंत्र-साधन का मूल ओंकार है)। इस ओंकार मूल मंत्र की धारा सकल संसार में व्याप्त है। वही विभिन्न महत्वपूर्ण (नाभि, हृदय आदि) चक्रों में (विभिन्न वर्णों के रूप में) स्थित है। बिना इसकी उपलब्धि के गोरख सिद्धि की उपलब्धि संभव नहीं मानते। उसे वे निराकार मानते हैं। कहते हैं कि यह न सूक्ष्म है न स्थूल। यह स्वयं ज्योतिस्वरूप है।[1] प्रणव, ओंकार, सूक्ष्मवेद या स्वसंवेद्य आदि शब्दों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि गोरखबानी में प्रणवसाधन का कोई विस्तृत रूप विवेचित नहीं मिलता। केवल दो विचार मिलते हैं—(१) नाथ लोग केवल सूक्ष्मवेद प्रणव को स्वीकार करते हैं तथा (२) यह तत्व परमतत्व की भाँति संपूर्ण सृष्टि में व्याप्त है। इसके अतिरिक्त कोई स्पष्ट विस्तृत परिचय नाथपंथी रचनाओं में नहीं मिलता।

अजपाजाप का शास्त्रीय रूप पहले उपस्थित कर चुके हैं। अजपाजाप का श्वास-प्रश्वास ही आधार है। प्राणायाम प्राण का साधन है। हिन्दी रचनाओं के प्राणायाम के संबंध में हम प्राणायाम विवेचन के प्रारम्भ में ही कह चुके हैं। संस्कृत रचनाओं में नियम के अन्तर्गत ही 'जप' का विधान मिलता है। किंतु साधनक्रम में अजपाजाप का स्पष्टीकरण प्राणायाम के प्रसंग में ही संभव है। फिर भी नाथपंथियों को जप का कौन सा रूप ग्राह्य है, इसका परिचय देते हुए प्रणवसाधन और अजपाजप दोनों का ही विवेचन हिन्दी रचनाओं में उपलब्ध 'नियम के अन्तर्गत ही कर दिया गया है।

प्राणायाम के इस विस्तृत विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि नाथपंथी हिन्दी रचनाओं में संस्कृत रचनाओं की अपेक्षा प्राणायाम को अधिक महत्ता दी गई है। पूर्व वर्णित क्रम के अनुसार प्राणायाम के बाद क्रमशः प्रत्याहार, धारणा ध्यान और समाधि के साधनांग आते हैं।

१६—प्रत्याहार

कहा गया है कि षडंग योग का तृतीय अंग प्रत्याहार है जिसका प्रमुख लक्षण है—मानस का सभी विकारों से प्रत्याहरण। वस्तुतः प्रत्याहार शुद्ध रूप से मानस साधन है। पहले बताये हुए विभाजन के अनुसार प्रत्याहार मानस साधन होने के कारण आध्यात्मिक साधन है। आधिभौतिक (प्राण) और

[1] गो० बा०, पृ० ९८ छं० १७; १२९.१; १९८.९१।

आधिदैविक (शुक्र) साधन के बाद आध्यात्मिक साधन समीचीन ही है। प्रत्याहार से लेकर समाधि तक के अंग वस्तुतः आध्यात्मिक साधन के ही अन्तर्गत हैं। योगमार्तण्ड के अनुसार प्रत्याहार की एक भिन्न परिभाषा उपस्थित करते हुए पहले कहा गया है कि चन्द्रामृतमयी धारा का भास्कर से प्रत्याहरण ही प्रत्याहार है। इस परिभाषा के विवरण से इसका विशेष संबंध विपरीतकरण से ही प्रतीत होता है जिसका उचित प्रसंग में आगे वर्णन किया गया है।

नाथों ने, जैसा संस्कृत ग्रंथों के योग में बताया जा चुका है, कहा है कि प्राणस्थैर्य हो जाने पर मन भी स्थिर हो जाता है। इसका अर्थ यही है कि प्राण के अचंचल हो जाने पर मन भी सरलता से अचंचल हो जाता है। चित्तवृत्तियों के निरोध का वास्तविक प्रयत्न यहीं से आरंभ होता है। इसीलिये गोरख ने मन की पराकोटि की महत्ता स्वीकार करते हुए उसे ही शिव, शक्ति, पंचतत्वात्मक जीव तक कह दिया है। (अर्थात् मन को मोक्षोपकारक और बंधनकारक दोनों माना)। वे मन की पवित्रता और स्वास्थ्य को ही सब कुछ समझते हैं। वह मन की ही महत्ता को प्रदर्शित करने के लिये प्रसिद्ध कहावत 'मन चंगा तो कठौती में गंगा' का प्रयोग करते हैं। शुद्ध साधनागत सिद्धांत की दृष्टि से विचार करने पर निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि प्रमाता या अनुभविता ही शैवों की दृष्टि में सब कुछ है। ध्याता के चित्त से भिन्न ध्येय नहीं होता। यदि ध्याता की चित्तवृत्ति अध्यात्मसंपर्कित है, उज्जीवित है तो अनात्म अथवा मृत्यु का दर्शन उसे कहीं नहीं होगा। ऐसे महत्वपूर्ण मन की चार स्थितियों की ओर संकेत गोरख ने किया है। मन या तो जागतिक आशाओं के बंधन में रहता है या वह परम उदासीन या विरक्त रहता है। वह या तो गुरु की ओट या शरण में रहता है या कामिनी के क्रोड़ में। स्पष्ट ही इनमें से जागतिक आशाओं के बंधन में रहनेवाला तथा कामिनी के क्रोड़ में रहनेवाला मन योगानुकूल नहीं है। अतः इसके साधन के लिये आवश्यक यह है कि उसे न तो दबाया जाय, न बलात् उसका दमन किया जाय, न उसे खाली रखा जाय। सदैव किसी योगानुकूल कार्य में लगाये रखे अन्यथा वह किसी न किसी समय योगविरुद्ध मार्ग में जायगा। वे योगाग्नि अथवा ब्रह्माग्नि के रहस्य को जानने के लिये कहते हैं कि उससे मन परिशुद्ध होता है। वे साधक को ऐसा साधन करने को कहते हैं जिससे वह काया से बाहर न जाने पावे, रात दिन अंतर्मुख बना रहे। शरीर के विभिन्न अंगों की मुद्रा करने से वे कोई लाभ नहीं मानते। मानस की मुद्रा का तो न कोई रूप है न रेखा। मानसिक वृत्तियों की ही मुद्रा की जानी चाहिए। मन को अन्तर्मुख कर

संपूर्ण जगत् का शरीर के अन्दर ही दर्शन करना वस्तुतः मन का, उसके विषयों से आहरण ही है। (मानस मुद्रा या आन्तरिक मुद्रा की बात हम पहले ही मुद्रा के प्रकरण में कह चुके हैं) मदमत्त गज को मन के प्रतीक के रूप में प्रयुक्त करते हुए ब्रह्मरंध्र द्वार पर उसे बाँधने का उपदेश देते हैं। आसन और पवन-साधन के बाद ही मन मूर्छित होता है और तभी ध्यान लगने पर गगन शिखर में प्रकाश होता है। इस साधनक्रम में प्राणायाम के बाद की प्रत्याहारक्रिया स्पष्ट है। वे इस मन को बाहर के विषयों की ओर भागनेवाला भी कहते हैं। पवन की सहायता से आत्मा मन का मारण कर उसे अन्तर्मुख रखती है।[1] इस प्रकार मन-पवन के परस्पर संबंध की अभिव्यक्ति हो जाती है।

मन इन्द्रियों से पृथक् नहीं होता। जब तक इन्द्रियाँ विषयों से प्रत्याहृत नहीं होतीं तब तक मन का प्रत्याहरण संभव नहीं है। इसलिये आँखों के विषयों से दृष्टि को हटाना चाहिए। उसी प्रकार लौकिक श्रोतृ विषयों का कानों से तथा नासिका रन्ध्रों से पवन को हटाना चाहिए। इस प्रकार की क्रिया से अंत में एकमात्र निर्वाणपद ही विषय के रूप में शेष रह जायगा। इस प्रकार के प्रत्याहृत इन्द्रियों एंव मन के लिये केवल निर्वाणपद के ही विषय के रूप में रह जाने पर आत्मसुरति (आत्मस्मृति—सघन स्मृति) चौगान में मन रूपी गेंद से ब्रह्मरन्ध्रक्षेत्र में क्रीड़ा करने लगती है। तब उसका सांसारिक स्वरूप नहीं रह जाता। इस प्रकार मदमस्त हस्ती रूप मन को अनुकूल बना लेने एवं हस्तगत कर लेने पर अक्षय भंडार की उपलब्धि आनंदमय एवं सरल हो जाती है। इसी प्रकार जब गोरक्ष पंचज्ञानेन्द्रियों के प्रसार के निवारण की बात करते हैं तब भी वे वस्तुतः प्रत्याहारसाधन की ओर ही संकेत करते हैं। दूसरे शब्दों में, शरीर को घेरना भी पंचेन्द्रियों के बाह्य प्रसार का प्रत्याहरण है। इस प्रकार की घेरेबंदी से इन्द्रियों का स्वामी (पंचदेव) घर में (शरीर में) बंदी हो जाता है, पूर्णतया नियंन्त्रित एवं स्थिर हो जाता है।[2] अन्य नाथसिद्धों ने भी मानस साधन प्रत्याहार का वर्णन किया है। चरपट ने इस शरीर को तरुवर तथा चित्त को मर्कट की तरह चंचल माना है। मर्कट नित्य ही डाल-पात (सांसारिक विषयों के प्रसार) में भ्रमण किया करता है। इसीलिये वह बार-बार दुखी होता है, रोता है तथा निवृत्ति के बाहर ही दसो दिशाओं में दौड़ता है,

[1] गो० बा०, १८. ५०, ५३. १५३, ५८. १७२, ५९. १७३, १४६. १, १७४. १, १७५. १०, १७६. ११।

[2] गो० बा०, २७. ७५–७७; २९. ८३, ३९. ११२।

फिर भी उसे सिद्धि (निवृत्ति) नहीं मिलती। प्रिथीनाथ के अनुसार मन को जीत लेने से तीन भुवन, काया, यम, माया पर विजय संभव हो जाती है। मन को वश में रखनेवाला व्यक्ति ही सबसे बड़ा है। अड़सठ तीर्थों और कोटि यज्ञों का फल केवल उसके दर्शन मात्र से मिलता है।[1]

१७—धारणा और षट्चक्रसाधन

प्रत्याहार के बाद धारणा का वर्णन किया गया है। पिछले विवेचनों में धारणा के अन्तर्गत ही कुंडलिनीयोग, लययोग, षट्चक्रभेद आदि का वर्णन किया गया है। धारणा बाह्य और अंतस् के साथ एकमात्र निजतत्वस्वरूप का अन्तःकरण से साधन है। इसे सभी पदार्थों का निराकार में धारण या जीवात्मा का निर्वात दीप की तरह धारणा कहा गया है। इससे मानसधैर्य की प्राप्ति बताई गई है। इस क्रिया में पंचभूतों का पृथक्-पृथक् धारण एवं मानस का निश्चलत्वसंपादन होता है। पंचभूतों के क्रमानुसार ही पाँच प्रकार की धारणा का परिचय हम पहले ही दे चुके हैं। लययोग में पंचभूतों का लय तथा आज्ञाचक्र में मनोलय का साधन वर्णित है। लययोग का अन्तर्भाव किस प्रकार धारणा के अन्तर्गत किया जाता है, इसका परिचय हम पहले ही दे चुके हैं। नाथ-पंथी हिंदी रचनाओं में धारणा का स्पष्ट वर्णन नहीं मिलता। षट्चक्रभेद, लययोग, भूतविजय, कुंडलिनीसाधन, विपरीतकरणी, अमृतसाधन या रस-साधन आदि का वर्णन मिलता है। कुंडलिनीयोग या लययोग या षट्चक्र-साधन का प्रारंभिक तत्व षट्चक्र है।

संस्कृत ग्रंथों के योग का जो परिचय दिया गया है उसमें बताया गया है कि चक्रों की संख्या अनिश्चित है तथा उनके रूपवर्णन आदि के संबंध में भी भिन्न-भिन्न विवरण मिलते हैं। हिंदी रचनाओं में भी अष्टचक्रों, षट्चक्रों और नवचक्रों का वर्णन मिलता है। गोरख के नाम से प्रसिद्ध 'अष्ट चक्र' नाम की एक फुटकल रचना में आठ चक्रों का वर्णन मिलता है। गोरख ने आठ चक्रों को घट के भीतर स्थित बतलाया है। प्रथम चक्र गुदा में स्थित आधारचक्र है जिसमें चार दलों का एक कमल है। इसके ऊपर षट्दलकमलयुक्त लिंगस्थान में स्थित दृष्टिचक्र है। इसी प्रकार क्रमशः ऊर्ध्वक्रम में मणिपूरचक्र, अनाहत-चक्र, विशुद्धचक्र, अग्निचक्र, कायाचक्र, सहस्रदलकमल और सूक्ष्मचक्र हैं। इनका विवरण निम्नलिखित है[2]—

---

[1] सि० सि० प० अ० व० ना०, ८२.१; ना० सि० बा०, ७१. ४४५, ८९. ५७०।

[2] गो० बा०, पृ० २४९-२५०।

सं०	चक्रनाम	कमल के दल	स्थान	अन्य विवरण श्वास संख्या
१.	आधारचक्र	४	गुदा	६००
२.	दृष्टिचक्र	६	लिंग	६००
३.	मणिपूरचक्र	१०	नाभि	६००
४.	अनाहतचक्र	१२	हृदय	६००
५.	विशुद्धचक्र	१६	कंठ	१०००
			अजपा गायत्री पार-ब्रह्म का ध्यान	
६.	अग्निचक्र	१६	नेत्र	१००० ,,
७.	ज्ञानचक्र	१००० सहसुदल कमल	ब्रह्मांड	१००० ,,
८.	सूक्ष्मचक्र	२१०००	विज्ञान	—

'मच्छींद्र गोरष बोध' में केवल ६ चक्रों का वर्णन किया गया है। उसमें उपर्युक्त विवरण से भिन्न नामवाले चक्रों का वर्णन कर बताया गया है कि अधःचक्र में चन्द्र दृढ़ होता है ऊर्ध्वचक्र में बंध लगता है, पश्चिमचक्र में निरोध निष्पन्न होता है, हृदयचक्र में मनप्रबोध होता है, कंठचक्र में ध्यान-धारण होता है तथा ज्ञानचक्र में साधक विश्राम प्राप्त करता है। यदि यह विवरण क्रमनिबद्ध माना जाय तो अधः चक्र आधारचक्र (मूलाधारचक्र) प्रतीत होता है तथा ऊर्ध्वचक्र (मूलाधार से ऊपर) लिंगस्थानीय दृष्टिचक्र है। इसी प्रकार पश्चिमचक्र मणिपूर और हृदयचक्र अनाहतचक्र है। इसके बाद स्पष्ट ही कंठचक्र (विशुद्ध चक्र) और ज्ञानचक्र का वर्णन मिलता है। इन दोनों चक्रों के मध्यस्थानीय अग्निचक्र का वर्णन यहाँ नहीं है। 'मच्छींद्र गोरष बोध' में ही एक अन्य स्थान पर भी चक्रों का वर्णन मिलता है जिसमें बताया गया है कि 'मूलचक्र' में कंदस्थैर्य, गुदाचक्र में अगोचर बंध, मणिचक्र में हंस-निरोध तथा अनाहतचक्र में चित्तप्रबोधन संपन्न होता है। इसके बाद के दो चक्रों—क्रमशः विशुद्धि और चन्द्रचक्र में स्वादोपलब्धि एवं समाधि की आप्ति होती है।[1] स्पष्ट ही यहाँ मूलचक्र और गुदास्थानीय आधारचक्र में भेद किया गया है। गोरख बानी के ही तीन स्थलों में तथा गोरख के ही नाम से प्रसिद्ध रचनाओं में चक्रों की संख्या, विवरण एवं क्रम में इस प्रकार भिन्नता मिलती है। अतः इनके आधार पर गोरख की किसी व्यवस्थित चक्र-व्यवस्था का

[1] गो० बा०, पृ० १९२, पृ० २०२।

परिचय नहीं मिलता। किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि 'अष्टचक्र' के आठ चक्रों में से सूक्ष्मचक्र अवश्य ही नाथों की अतिरिक्त कल्पना है। तांत्रिकों के चक्रों में क्रमशः मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि और आज्ञा नाम के छ चक्रों का वर्णन मिलता है। सहस्रार मिलाकर तांत्रिकों में भी ७ चक्रों का (जैसा षट्चक्रनिरूपण में है) वर्णन मिलता है। प्रथम ६ कमलों के दल क्रमशः ४, ६, १०, १२, १६ और २ माने गये हैं। अष्टचक्र के छठें चक्र को यदि आज्ञाचक्र मानें तो निश्चय ही यहाँ उसके दलों की संख्या १६ होने के कारण, उसका तांत्रिकों के द्विदल आज्ञचक्रस्थ कमल से भेद है। इसी प्रकार अन्य भेद भी दिखाये जा सकते हैं। यदि दलों की संख्या को ध्यान में रखकर 'अष्टचक्र' के चक्रों की तुलना की जाय तो आधार चक्र तांत्रिकों का मूलाधार चक्र है तथा दृष्टिचक्र स्वाधिष्ठान चक्र है। शेष, उपर्युक्त अंतरों को ध्यान में रखकर समतुल्य सिद्ध किये जा सकते हैं। तुलना की सुकरता के लिये तांत्रिकों द्वारा स्वीकृत चक्रव्यवस्था का विवरण 'षट्चक्रनिरूपण' के आधार पर नीचे दिया जा रहा है—

सं०	चक्र नाम	कमलदल	वर्ण	स्थान	अन्य विवरण
१.	मूलाधारचक्र	४	पीत	इन्द्रिय और गुदा के बीच	पृथ्वी तत्व
२.	स्वााधिष्ठानचक्र	६	सिंदूरी	इन्द्रिय मूल में स्थित	जल तत्व
३.	मणिपूरचक्र	१०	सघन जलद	नाभि के स्तर पर	अग्नि तत्व
४.	अनाहत चक्र	१२	रक्त-कमल वर्ण	हृदय	वायु तत्व
५.	विशुद्धि चक्र	१६	धूमायित बैंगनी	कंठ के नीचे	आकाश तत्व
६.	आज्ञाचक्र	२	उज्वल	भ्रूमध्य	गुरु-आज्ञा का प्रकाशन
७.	सहस्रार	१०००	शुभ्रोज्वल	परम व्योम महाशून्य	गुरु-स्थान, जीवात्मा परमात्मा के एकत्व का ज्ञान[१]

[१] षट्चक्रनिरूपण—फोरवर्ड, श्री भैरवानन्द, पृ० ९-१४।

इसी प्रकार निम्न विवरण से गोरखबानी के भिन्न-भिन्न स्थलों पर दिये गये चक्रविवरण के तुलनात्मक परिचय के साथ चक्रों के भिन्न-भिन्न नाम भी, जो नाथों द्वारा स्वीकृत हैं, ज्ञात हो जाते हैं।[1]

'मच्छींद्र गोरख बोध' (१)	मच्छींद्र गोरखबोध (२)	'अष्टचक्र'	षट्चक्रनिरूपण
१—अरध (अधः) चक्र	मूलचक्र	आधारचक्र (४)	मूलाधारचक्र (४)
२—उर्धं (ऊर्ध्व) चक्र	गुदाचक्र	द्रिष्टि (दृष्टि) चक्र (६)	स्वाधिष्ठानचक्र (६)
३—पछम (पश्चिम) चक्र	मणिचक्र	मणिपुर (मलिपूर) चक्र (१०)	मणिपूरचक्र (१०)
४—हिरदा (हृदय) चक्र	अनहदचक्र	अनहद (अनाहत) चक्र (१२)	अनाहतचक्र (११)
५—काठे (कंठ) चक्र	विसुधचक्र	विसुध (विसुद्धि) चक्र (१६)	विशुद्धिचक्र (१६)
६—ग्यांन (ज्ञान) चक्र	चंद्र चक्र	अगनि (अग्नि) चक्र १६	आज्ञाचक्र (२)
७— —	—	गिनांत (ज्ञानं) चक्र (सहस्रदल)	सहस्रार कमल (१०००)
८— —	—	सुछिम (सूक्ष्म) चक्र (२१०००)	

इसके अतिरिक्त नाथों की हिन्दी रचनाओं में जो चक्र संबंधी विवरण मिलता है, उससे उपर्युक्त विवरण से साम्य-वैषम्य तो मिलता ही है साथ ही साधन संबंधी सिद्धान्तों का भी कुछ परिचय मिल जाता है। गोरख ने 'अष्ट कँवल' और 'बतीस पाँखुड़ी' शब्दों का जो प्रयोग किया है, वह डा० बड़थ्वाल की दृष्टि में संदिग्ध है। उपर्युक्त विवरणों में से केवल ८ कमलों के बात की पुष्टि हो सकती है। ३२ पंखड़ियों का कोई आधार वहाँ नहीं मिलता। 'अध' और 'ऊर्ध्व' शब्दों का जो प्रायः प्रयोग गोरखबानी में मिलता है, उसे देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि सर्वातिनिम्न चक्र या घटस्थित साधनकेन्द्र के

[1] गोरखबानी में मच्छींद्र गोरष बोध (१), पृ० १९२, मच्छींद्र गोरष बोध (२) पृ०, २०२; अष्ट चक्र—पृ० २४९–२५०। षट्चक्रनिरूपण के अंग्रेजी में लिखे 'फोरवर्ड' में संक्षेप में चक्रों का विवरण मिलता है।

लिये 'अधः' (अरधै) और सर्वोच्च घटस्थित साधनपीठ के लिये ऊर्ध्व (उरधै) नाम दिया गया है। कहा गया है कि 'अरधै' में योगेश्वर और 'उरधै' में केदार की स्थिति है। नीचे के केन्द्र में शक्ति का तथा ऊपर के केन्द्र में शिव का निवास है।[1] मूलकमल और मूलाधार को डा० बड़थ्वाल ने एक ही माना है। षट्दल को स्वाधिष्ठान तथा षोडशदल कमल को विशुद्धिकमल या चक्र माना गया है।[2] अन्य नाथसिद्धों में चौरंगीनाथ ने 'प्राणसंकली' में षट्चक्रों का वर्णन किया है। उनके अनुसार चक्रों के विवरण निम्नलिखित हैं–

सं० चक्र नाम	कमलके दल	वर्ण	अन्य विवरण
१–गोहाचक्र (आधारचक्र)	४	रक्तवर्ण	सूर्यदेवता
२–लिंगचक्र (स्वाधिष्ठानचक्र)	६	पीत वर्ण	कामेश्वर देवता, आधार-चक्र से ३ अंगुल ऊपर
३–नाभिचक्र (मणिपूरचक्र)	१०	कपिल वर्ण	सेवता नाम के देवता, लिंग-चक्र से १० अंगुल ऊपर
४–हृदयचक्र (अनाहतचक्र)	१२	श्वेत वर्ण	प्राणालिंग देवता, नाभि-चक्र से १२ अंगुल ऊपर
५–कंठचक्र (विशुद्धिचक्र)	१६	धूम्रवर्ण	नादध्वनि देवता, हृदय से ८ अंगुल ऊपर
६–भ्रूचक्र (आज्ञाचक्र)	२	रक्तवर्ण	रुद्रदेवता, कंठचक्र से १६ अंगुल ऊपर
७–शून्य-ब्रह्मांड (गगनमंडल) देव भुवन, सिद्ध भुवन			आज्ञा से एक अंगुल ऊपर

चौरंगीनाथ के चक्रनाम और दलसंख्या षट्चक्रनिरूपण से मिलते हैं। चक्रों की संख्या भी सब मिलाकर ७ है। यद्यपि कमलों के वर्ण में भेद है तथापि चक्रस्थानों में कोई भेद नहीं है।[3] चक्र संबंधी अभी तक जितना विवरण नाथपंथियों की हिन्दी रचनाओं से दिया गया है उसमें अधिकांशतः तांत्रिक चक्रसंख्या, दलसंख्या, चक्रनाम आदि में भेद दिखाई पड़ता है। अतः कुल मिलाकर ७ चक्र नाथपंथियों को मान्य हैं यद्यपि कुछ अन्य चक्रों का भी विवरण

[1] गो० बा०, १६७. १३ तथा उसकी टीका, पृ०७, १३, २८, २९, ११७, १२०, १३५, १६६, १६७, १८८, १९०, १९५, १९६, १८९, १७५।

[2] गो० बा०, पृ० १५५, ५८, ९५।

[3] ना० सि० बा०, पृ० ४३-४४।

मिलता है। 'षट्चक्रनिरूपण' नाम के तांत्रिक ग्रंथ में ही अनेक छोटे-छोटे चक्रों के नाम मिलते हैं जैसे अनाहतचक्र के समीप रक्ताभ अष्टदलकमल और आज्ञाचक्र के ऊपर मनसचक्र और सोमचक्र। इस प्रकार नाथपंथियों को भी (हिंदी रचनाओं के अनुसार) मूलाधार से आज्ञा तक के ६ चक्र तथा ७वाँ सहस्रार स्वीकार्य है। ये ७ मुख्य कमल हैं। अन्य विवेचकों द्वारा भी अधिकांशतः ये चक्र स्वीकार्य हैं। किन-किन चक्रों में कौन-कौन से भूततत्व हैं, इसका कोई भी संकेत नाथपंथी हिन्दी रचनाओं में नहीं मिलता। संस्कृत रचनाओं में भी कोई विवरण नहीं मिलता। अतएव तांत्रिक विवरणों को यहाँ भी स्वीकार करना चाहिए।

१८—कुंडलिनी

जब कुंडलिनी मूलाधार से जाग्रत होकर चक्रों का भेदन करती है तब इस क्रिया को षट्चक्रभेद कहते हैं। सहस्रार तक पहुँचने की क्रिया को आरोहण-क्रिया या प्रलय कहते हैं और सहस्रार से पुनः परावृत्त होकर मूलाधार में आने की क्रिया को अवरोहणक्रिया या सृष्टिप्रक्रिया कहते हैं। इन क्रियाओं का विस्तृत विवरण हम पहले ही दे चुके हैं। इस प्रकार षट्चक्रसाधन के लिये द्वितीय मुख्य तत्व कुंडलिनी है। कुंडलिनी के द्वारा मुख्यतः भेदनक्रिया किये जाने के कारण ही इस साधन को कुंडलिनीसाधन या कुंडलिनीयोग कहते हैं। नाथपंथी हिन्दी रचनाओं में इस कुंडलिनी को विभिन्न नामों से संबोधित कर उसके साधन की ओर संकेत किया गया है। ऊपर बताये गये विभिन्न चक्रों के लिये नाथसिद्धों ने विभिन्न ऐसे नामों का प्रयोग किया है जिनका शास्त्रीय ग्रंथों में प्रायः प्रयोग नहीं मिलता। इनमें से अधिकांश शब्द मूलाधार, सहस्रार, ब्रह्मरंध्र या गगनशिखर आदि के लिये हैं। कुछ शब्द तो ऐसे हैं जो प्रतीक हैं और वैदिक-तांत्रिक विचार-परंपरा का जीवंत विकास धारण किये हुए हैं यद्यपि नाथों की दृष्टि से उनका स्रोत शैव तंत्र ही है।

१९—सहस्रार तथा पर्याय

कुंडलिनी की यात्रा के आरंभ, मध्य और अंत में पड़नेवाले विभिन्न शक्ति-केन्द्रों में सर्वोच्च स्थान सहस्रार है। कभी-कभी उसे आकाश कहा गया है। वहाँ जाकर कुंडलिनी अंततः विश्राम लेती है। पवन को अति आश्चर्यजनक शक्तिशालिनी गुटिका के रूप में कल्पित कर उसी के बल से आकाश अथवा ब्रह्मरन्ध्र में साधनात्मक जीवन व्यतीत करना संभव बताया गया है। निम्न-

स्थानीय पिंडगत साधनकेन्द्र (चक्र) का नाम 'पाताल' मिलता है जिसका अर्थ डा० बड़थ्वाल ने एक स्थान पर 'स्वाधिष्ठान' किया है (किंतु तांत्रिक परंपरा के अनुसार मूलाधार भुवर्लोक है। नीचे के लोकों की स्थिति, जिन्हें पाताल के सामान्य नाम से पुकारा जाता है, भुवर्लोक के नीचे मानी जाती है। अतः पाताल का अर्थ मूलाधार गह्वर (या विवर) का वह स्थान होना चाहिए, जहाँ कुंडलिनी सुषुप्तावस्था में रहती है। नाथपंथियों के स्वाधिष्ठान की स्थिति मूलाधार या आधारचक्र के ३ अंगुल ऊपर मानी जाती है। शून्यस्थान सर्वोच्च स्थान है जिसे डा० बड़थ्वाल ने ब्रह्मरन्ध्र माना है। मही या पृथ्वी तत्व की स्थिति मूलाधार में मानी जाती है, इसीलिये इसे भुवर्लोक कहते हैं। आकाश तत्व की स्थिति विशुद्धिचक्र में मानी जाती है जिसे तांत्रिकों के अनुसार तपोलोक कहा जाता है। गगनमंडल (शून्य अथवा ब्रह्मरन्ध्र) में अमृतरसस्रावी एक औंधा कूँआ है। उसी गगनमंडल (या सहस्रार) में शून्यद्वार भी है। यहीं अनुभूति की परमोच्च अवस्था की उपलब्धि होती है। इस गगन को स्तंभविहीन और निराधार कह कर उसमें ही ज्ञानदीप का प्रकाशन माना गया है।[1] सहस्रार के ही विषय में तांत्रिकों का मत है कि वहाँ जीवात्मा-परमात्मा के एकत्व का ज्ञान होता है। हम पहले ही कह चुके हैं कि कहीं-कहीं नाथ लोग आठ चक्रों को भी स्वीकार करते हैं। यह अष्टम चक्र सहस्रार के ऊपर है। यदि तांत्रिकों के अनुसार यहाँ एकत्वज्ञान होता है तो इस अष्टम चक्र में अद्वैतानुभूति से भी पराकोटि की अनुभूति होनी चाहिए। इस दृष्टि से विचार करते हुए यदि नाथों के द्वैताद्वैतविवर्जित नाथपद को लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया जाय तो स्पष्ट ही तांत्रिकों से नाथों का वैलक्षण्य, इस अष्टम चक्र को ध्यान में रखने पर, सिद्ध होता है।

गोरखबानी के प्रारंभ में अनिर्वचनीय निर्नाम और अरूप बालरूप की विलक्षण उपलब्धि की बात कही गई है। उसका ध्वनिमय विग्रह गगनशिखर (ब्रह्मरंध्र या शून्य या आकाश) में प्रकाशित होता है। वहीं नाद का उच्छलन, पवन के समाहित हो जाने से अनाहत नाद का ध्वनन, एवं प्रोज्वल ब्रह्मप्रकाश का प्रकाशन होता है। अवधूतों का क्रीड़ास्थल गगनमंडल ही है। इसी में पवन को उलटकर, समाहित कर देने से अनाहत नाद का गर्जन होता है। विंदु-साधन में जब विंदु (शुक्र) उत्थित कर पहुँचा दिया जाता है, तभी साधक ऊर्ध्वरेता कहलाता है। संन्यासी भी केवल गगनमंडल में मिलनेवाली परमानु-

[1] गो० बा०, पृ० ११९, १३१, ९, ६०, ६६, ६८।

भूति की आशा करता है (किसी बाह्य जगत् की वस्तुओं की आशा नहीं करता)। साधक को द्वादशांगुल वायु के इसी शून्यमंडल में प्रेरण का उपदेश दिया जाता है। यहीं तूर्यनाद के श्रवण तथा आकाशजल के पान का अवसर मिलता है।[१] यह गगन अथवा ब्रह्मरंध्र ही चन्द्र-सूर्य नाड़ियों का निरोधस्थान है। यही वह आकाश है जिसका धरणी से मधुर संबंध माना जाता है। अवधूत के वैराग्यभाव को धारण करनेवाले योगी का मन इसी गगनमंडल ब्रह्मरन्ध्र में अपनी मढ़ी बनाता है। इसी आकाशरूपी गाय का दुग्ध अमृतसमान है, जिसे अमृतरस कहते हैं। मिलन की यही भूमि है। अवधूत का मन अगोचर वस्तु की खोज यहीं करता है। यहीं मन को उन्मनावस्था की प्राप्ति होती है। यहीं (आत्मा) गगन में चढ़कर अमृतजल का पान करता है।[२] इस प्रकार स्पष्टत: नाथलोग ब्रह्मरन्ध्र, गगनमंडल, आकाश, शून्यस्थान या 'द्यावा' में अमृतपान, दिव्य दृश्य, दिव्य प्रकाश, दिव्य रूप, दिव्य ध्वनि आदि की उपलब्धि करते हैं।

सहस्रार या साधन के अन्य महत्वपूर्ण स्थानों के लिये अन्य पर्याय भी नाथ-पंथी रचनाओं में मिलते हैं तथा उनसे संबद्ध विभिन्न प्रकार की अनुभूतियाँ एवं उपलब्धियाँ भी जुड़ी हुई बताई गई हैं। उदाहरण के लिये कविलास या कैलास, औंधा कूँआ, कूप, काशी, केदार, त्रिकुटी, दशमद्वार, पश्चिम द्वार, पश्चिम, पलंका, ब्रह्मकुंड, भँवर गुफा, ब्रह्मसागर, ब्रह्मांड, ब्रह्मग्रंथि, विषमी संधि, शिवपुरी सरोवर, शून्य द्वार, कपाट, धरती, पाताल, महीतल, मान-सरोवर, सप्तग्रंथि, संधि आदि शब्द लिये जा सकते हैं। इनमें से शून्य, कवि-लास या कैलास, औंधा कूँआ, कूप, काशी, केदार, त्रिकुटी, दशम द्वार, पश्चिम चक्र, भँवर गुफा, ब्रह्मांड, शिवपुरी, कपाट, शून्य द्वार आदि शब्द ऊपर के साधनकेन्द्रों की ओर संकेत करते हैं। इसी प्रकार धरती, दक्षिण, पाताल, महीतल आदि शब्द साधन के निम्न पीठों की ओर संकेत करते हैं।

इन शब्दों में से कविलास या कैलास ब्रह्मरंध्र या गगनशिखर का पर्याय है। औंधे कूँए की स्थिति गगनमंडल या ब्रह्मरंध्र में मानी गई है। इड़ा-पिंगला का मिलनस्थल ही त्रिकुटी या संगम है। इसी स्थान को सुषुम्ना का स्थल भी कहते हैं। त्रिकुटी ब्रह्मरंध्र है, ब्रह्मकुंड है। यहीं अमृतस्रावक

[१] गो० बा०, पृ० १, २, १२, १९, २७, ३१, ३२, ३३, ३६, ४०, ४१, ९१।

[२] गो० बा०, पृ० ९६, १०२, १०५, ११३, ११४, १६७, १८८, १९०, ४५, १४९, १७४।

कूप है। इस त्रिकुटी तीर्थ को ही काशी तीर्थ कहा गया है। द्वारों का वर्णन हम पहले ही कर चुके हैं। दशम द्वार या ब्रह्मरंध्र वह स्थान है जहाँ योगी का मन उन्मन होता है। यहीं दशमद्वार में केदार (परब्रह्म या शिव का स्थान) की स्थिति मानी गई है। यहीं परमात्मा का परिचय होता है। यह द्वार अदृश्य है। यहीं अवधूत मधुकरी माँगता है, आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने का संबल प्राप्त करता है।[1] भँवरगुफा भी ब्रह्मरंध्र का ही वाचक है। ब्रह्मांड का अर्थ पिंडब्रह्मांडवाद के निरूपण में हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं। इस अर्थ में ब्रह्मांड पिंड का संवादी होता है यद्यपि उसका स्तर विश्वात्मक होता है। दूसरे अर्थ में ब्रह्मांड, ब्रह्मरंध्र, सहस्रदलकमल आदि का पर्याय है। इसी प्रकार अन्य शब्दों में विषमी संधि, बंकनाल या सुषुम्ना, जहाँ इड़ा-पिंगला की संधि है, का पर्याय है। इसी को हम पहले त्रिकुटी कह चुके हैं। शिवपुरी भी ब्रह्मरंध्र का वाचक है।[2]

२०—कुंडलिनीसाधन

कुंडलिनीसाधन से संबंधित दूसरी क्रिया विपरीतकरण है। धारणा में मन में पंचभूततत्वों का धारण होता है, मन का निश्चलत्वसंपादन होता है। मन के निश्चलत्वसंपादन का वर्णन हम मनोन्मनी के अन्तर्गत कर चुके हैं। यह मनोन्मनीसाधन भी एक प्रकार का विपरीतकरण है जिसमें मन को पलट कर अन्तर्विषयों, नादादि की ओर आकृष्ट कर निश्चल कर दिया जाता है। इसमें शरीर के पंचभूतों को कुंडलिनी के शरीर में लीन कर उनका प्रलयीकरण होता है। अंततः वे दिव्य हो जाते हैं। लौकिक स्थूल तत्वों का लोकोत्तरीकरण भी विपरीतकरण ही है। हठयोगी ग्रंथों में 'विपरीतकरणी मुद्रा' भी मिलती है। किंतु यह विपरीतकरण केवल सूक्ष्म तत्वों से ही संबंधित है। यह विपरीतकरण उलटी स्थापना है, उलटा क्रम है। सांसारिक क्रम को उलट कर पारमार्थिक बना देना विपरीतकरण है। दीक्षा भी इसी का एक प्रकार है। सांसारिक-क्रम पितृक्रम-पुत्रक्रम-विदुक्रम है। नाथों को गुरुक्रम-शिष्यक्रम-नादक्रम ही मान्य है। दीक्षा के पूर्व सांसारिक क्रम ही चलता है किंतु दीक्षा के बाद नादक्रम या अलौकिक क्रम ही चलता है। शिष्य के सिद्ध होने पर

---

[1] गो० बा०, पृ० १६४, १३१, ९, १२२, ११६, ६३, १३४, १०२, १७४, ४७, ९४, ११०, ११७, १२०, १४९।

[2] गो० बा०, पृ० ४६, १२२, १२५, २५, १०१, १०६, २, ३९, १७४, १२७, १६, १७७।

या ३६ लक्षणों से संपन्न हो जाने पर फिर गुरु-शिष्य आदि के भेद नहीं रहते। उनमें किसी को भी ज्येष्ठ या श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता। किंतु सांसारिक दृष्टि से यह विपरीत क्रम है। इस क्रम के संबन्धमें हम पहले भी बहुत कुछ कह चुके हैं। मन, पवन, शब्द, सुरति—इन सबको उलट कर त्रिपुटी में मिलाना या केन्द्रित करना भी विपरीतकरण है।[1] कुंडलिनी का सुप्त रहना एवं मानसिक वृत्तियों का बाह्य सांसारिक विषयों की ओर उन्मुख होकर चंचल रहना यह सब सांसारिकों की दृष्टि में सीधी क्रिया है। इनको उलट देना कुंडलिनी को जाग्रत कर सहस्रारोन्मुख कर देना विपरीतकरण है। इस प्रकार की उलटी क्रिया की चर्चा उलटी चर्चा है। कायसिद्धि या सिद्धदेह का वर्णन करते समय 'काया पलटना' का वर्णन किया जा चुका है। इसी प्रकार षट्चक्रवेध के लिये पवन को उलटना भी आवश्यक बतलाया गया है। इसी साधन को चंद्र-सूर्य को सम्मुख रखना, उलटकर फूल का कली में आना (वृद्ध से बाल रूप में आना), उलट कर फिर पीछे की ओर आना (परावृत होना), मन का उलटना, कमलों का उलटना (तांत्रिक मान्यता है कि कमलों का वेध होने पर वे अधोमुख से ऊर्ध्वमुख हो जाते हैं), रुधिर को उलट कर अमृत रस का भरना, विपरीतकरणी मुद्रा से वायुस्थैर्य, चंद्र और सूर्य का उलट कर राहु-केतु का ग्रास कर लेना, चंद्र-सूर्य का समरसीकरण आदि सभी प्रकारान्तर से इसी विपरीतकरण की ओर संकेत करते हैं।[2] इस प्रकार यह विपरीतकरण मन, पवन, इन्द्रिय, शुक्र, काया आदि का विपरीतकरण है जिससे शारीरिक अजरामरता एवं परमतत्वसाधन—दोनों ही सिद्ध होते हैं। कुंडलिनी का पलटना इनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण है।

कुंडलिनी का पलटना या जागरण और सहस्रारोन्मुख होकर गतिशील होना एक ही है। इसकी यात्रा के संबंध में विस्तार से हम तांत्रिक योग के विवेचन में कह चुके हैं। तांत्रिक लोग शक्ति के ही दो रूप मानते हैं। शक्ति माया भी है और मुक्तिदायिनी भी है। कुंडलिनी जब तक सुप्त रहती है तबतक वह मायाभिमुख जीवशक्ति का प्रतीक है। जाग्रत होने पर वही मोक्ष-दायिनी है। पहले हम नारीशक्ति के भी रूपों का परिचय दे चुके हैं। कुंडलिनी के कुंवारी, योषित और पतिव्रता ये तीनरूप उसके विकासक्रम के

[1] गो० बा०, पृ० ५० छं० १४४, पृ० १८७।

[2] गो० बा०, पृ० १४२, ६५, ७०, १३, १९, ३६, ३९, ४०, ७४, १२४ १४६, १४९, १७५, १७६।

अनुसार बताये जा चुके हैं। हिन्दी की नाथपंथी रचनाओं से इन तीनों रूपों का परिचय नहीं मिलता। यद्यपि गोरखबानी में कुंडलिनी को नारी कहा गया है किंतु अधिकतर नारी शब्द का प्रयोग 'रमणी' के लिये ही किया गया है। इसी प्रकार यद्यपि 'कुँवारी' शब्द तांत्रिक योग में जाग्रत कुंडलिनी की प्रथम अवस्था है तथापि यहाँ 'कुँवारी' शब्द 'माया' के लिये व्यवहृत किया गया है। यदि कुंडलिनी का एक मायात्मक रूप भी स्वीकार कर लिया जाय तो 'कुँवारी' शब्द का प्रयोग कुंडलिनी के लिये समीचीन माना जा सकता है। एक तीसरा शब्द 'कलालिन' है। मदिरा पान करानेवाली 'नारी' के रूप में कुंडलिनी की कल्पना अपरिचित नहीं है किंतु डा० बड़थ्वाल ने इच्छा रूप 'कलालिन' का अर्थ किया है।[1] बौद्ध सिद्धों के यहाँ सुषुम्नासुन्दरी या अवधूतिका को 'योगिन' के रूप में कल्पित किया गया है, किंतु गोरक्ष द्वारा प्रयुक्त 'जोगणि' शब्द को डा० बड़थ्वाल ने 'मनसा' का बोधक माना है। 'मनसा' या इच्छा रूप 'योगिनी' कुंडलिनी का ही बोधक है क्योंकि इसके विषय में कहा गया है कि यह मन में झूलती (मस्त होती) आती है तथा गगन मंडल में मढ़ी बना लेती है। वस्तुतः कुंडलिनी जीव की इच्छाशक्ति का प्रतीक है। 'योगिनी' के आगे के परिचय में स्पष्टतया कहा गया है—'मेरे सास-ससुर नाभि (मणिपूर चक्र) में रहने वाले हैं। मैं (जोगी मन) ब्रह्मस्थान (ब्रह्मरंध्र) का निवासी हूँ (अर्थात् स्वयं परमात्मतत्व हूँ)। इला-पिंगला के प्राणायाम के द्वारा मेरी जोगिन (कुंडलिनी) से भेंट हुई और सुषुम्ना में मुझे निवास मिला।······नाभि (मणिपूर) में कुलकुंडलिनी शक्ति का निवास माना जाता है। इसी शक्ति (मूल या आदि माया) के द्वारा सृष्टि का निर्माण हुआ है। इसीलिये उसे ब्रह्मा और सावित्री का निवास मानते हैं। ये ही सास-ससुर कहे जाते हैं क्योंकि ये स्थूल माया पैदा करने वाले हैं। इस प्रकार योगी का मन ही साधक है तथा योगिन मनसा या कुंडलिनी के साथ वह योगी सदैव भोगनिरत रहता है।[2]

कुंडलिनी शब्द ही सर्पिणी का बोधक है। इसलिये कुंडलिनी का दूसरा पर्याय नागिन है। कुंडलिनी या नागिन षट्चक्रों का भेदन कर उनसे ऊपर निवास करती है। डा० बड़थ्वाल ने इसे माया अथवा शक्ति कहा है। उसे काली सर्पिणी रूप माया भी कहा गया है। 'भुवंगन' या भुजंग शब्द भी

[1] गो० बा०, पृ० ९७, ९१, १५१, १५२, १५३, १७३, १०६, १२२।

[2] गो० बा०, पृ० १०५-१०६।

सर्पिणी या कुंडलिनी का पर्याय है। एक स्थान पर उसे श्वास-सर्प भी कहने का कारण यह है कि श्वास से जाग्रत की हुई कुंडलिनी सुषुम्ना के मार्ग से गमनागमन करती है। सहजभाव से बंकनाल से होकर नाभि तक कुहक करने-वाली कुंडलनी ही सर्पिणी या माया भी कही जाती है।[१] 'पाताल' का अर्थ-निर्णय हम पहले ही कर चुके हैं। कुंडलिनी को 'पाताल की गंगा' भी कहते हैं क्योंकि वहाँ से निकल कर भूतपरिशोधिका होकर वह सहस्रार तक प्रवाहित होती है।[२] दर्शन और साधन दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण शब्द शक्ति है। शक्ति शब्द का प्रयोग नाथपंथी हिन्दी रचनाओं में कई अर्थों में मिलता है— कुंडलिनी, माया शक्ति, शिव का अभिन्न तत्व, रज, रवि। इनमें से प्रथम तीन अर्थ ही प्रधान हैं। कभी-कभी प्रथम दो अर्थों का मिश्रण भी हो गया है। डा० बड़थ्वाल ने प्रायः इन दोनों अर्थों को मिलाकर अर्थनिरूपण किया है, जैसा पहले के विवेचनों से स्पष्ट है। शक्ति उलट कर जब ब्रह्मांड में पहुँच जाती है तथा नख से शिखा तक वायु क्रीड़ा करने लगती है तभी चन्द्र उलट कर राहु को ग्रस्त कर देता है। इसी शक्ति का शिव से विभिन्न क्रियाओं द्वारा योग कराया जाता है। इस शक्ति का शिव से योग कराने पर उन्मनी सिद्ध होती है। वस्तुतः इसका निवास अधोभाग में रहता है। सूर्य-चन्द्र साधन से संबंधित करने पर रवि ही शक्ति है जिसे शिव (चंद्र) से जोड़ा जाता है। इसे 'रज' और शिव को विंदु कहते हैं जिनका विलक्षण योग साधन माना गया है।[३] शिव-शक्ति-योग संबंधी इस परिचय से यद्यपि शक्ति के दार्शनिक रूप का कोई परिचय नहीं मिलता तथापि शिवशक्तिसंबंध के विषय में जितनी बातें तांत्रिक योग के विवेचन में कही गई हैं उनको दृष्टिगत रखकर विचार करने पर इसका स्पष्टीकरण हो जाता है। हिन्दी रचनाओं में 'पनिहारी' और 'गागर' का प्रतीक भी व्यवहृत है। आत्मा को पनिहारिन और कुंडलिनी को गागर कहा गया है। चक्रों के अनुसार पनिहारिन आत्मा का स्थान ऊपर ब्रह्मरंध्र है तथा कुंडलिनी (गागर) जिसके द्वारा ब्रह्मानन्द रस का अनुभव होता है, वह मूलाधार में है।[४]

---

१ गो० बा०, पृ० १६५, १६६, ६३, १४७, १७४, १३९, १९२।

२ गो० बा०, पृ० २।

३ गो० बा०, पृ० ७१, ८२, ३०, ४५, १००, १९०, १५०, १७४, १९३, १९६, १००, ११०।

४ गो० बा०, पृ० १४२।

अन्य नाथसिद्धों में बालगुंदाई ने कुंडलिनीशक्ति के महत्व की ओर संकेत कर बताया है कि कुंडलिनी शक्ति त्रिभुवनजननी है। वह आदि कुँवारी एवं संपूर्ण जगत् की नारी (भोग्या) है। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र की उत्पत्ति करनेवाली वही है। पिंडगत कुंडलिनी को उत्थित कर गगन में चढ़ाया जाता है जिसके परिणामस्वरूप साधक को निर्भयता तथा सिद्धदेह की उपलब्धि होती है। अनेक जन्मों के दु:ख से मुक्ति भी मिल जाती है। त्रिभुवनजननी का कुंडलिनी रूप उसके उस विश्वात्मक रूप की ओर संकेत करता है जिसे महाकुंडलिनी नाम से अभिहित किया जाता है। इसी प्रकार पृथ्वीनाथ ने भी कुंडलिनीसाधन का वर्णन करते हुए बतलाया है कि 'हमारी योगयुक्ति ही हमारा छत्र और सिंहासन है। महाशक्ति का निवासस्थान ही रनिवास है। उस विलक्षण पुरुष के लिये आकाशमंदिर की रचना की है।[1] इस प्रकार स्पष्ट है कि शक्ति या कुंडलिनी शब्द पिंडगत एवं ब्रह्मांडगत दोनों अर्थों में व्यवहृत हुआ है। उसके दार्शनिक अर्थ का उद्घाटन, उसके साधनगत अर्थ की अपेक्षा कम हुआ है।

धारणान्तर्गत कुंडलिनीयोग संबंधी जो विवरण ऊपर उपस्थित किया गया है उसमें वे सारे विवरण और सिद्धान्त उपलब्ध नहीं हैं जो तांत्रिक योग या संस्कृत ग्रंथों के नाथयोग के पहले के विवेचन में दिखाये जा चुके हैं। इस वर्णन में मुद्रा, विशेषकर पंचधारणामुद्रा, लयक्रिया, भूतलय, भूतजय, ग्रंथिवर्णन, मानस पुष्प का ईश्वर को समर्पण, कुंडलिनी के ऊर्ध्व, मध्य एवं अध: भेद, हंस मंत्र और कुंडलिनीयोग, पंचमहाभूतग्रामधारिणी कुंडलिनी आदि का वर्णन स्पष्टत: नहीं मिलता। किंतु कुंडलिनीजागरण और षट्चक्रभेद का विस्तृत विवरण उपलब्ध है। इससे यह प्रतीत होता है कि हिन्दी की नाथपंथी रचनाओं में प्राणायामसाधन के बाद दूसरी साधनात्मक प्रक्रिया कुंडलिनीयोग या षट्चक्रभेद की है। ऊपर के विवेचन में अध:-ऊर्ध्व साधन या धरती-गगन-साधन का जो परिचय मिलता है, उसे संस्कृत ग्रंथों में विवेचित नाथयोग और तांत्रिक योग के मेल में पूरी तरह से रखा जा सकता है। उसी प्रकार 'द्यावा-पृथिवी' के जिस युग्मक का यह प्रतीकात्मक वर्णन कुंडलिनी योग की शब्दावली के माध्यम से उपस्थित किया गया है, उसे ऋग्वेदीय द्यावा-पृथिवी से मिला कर उसकी परंपरा वैदिक जौर तांत्रिक साधन दोनों से मिलाई जा सकती है।[2] अमृत साधन या अमर-वारुणी-पान के साधन को भी अजर-अमर-

[1] ना० सि० बा०, पृ० ९६, ९६-९७, ७१। [2] गो० बा०, १८८. २२।

निर्जर-विबुध-सुर देवताओं की दिव्य सोम साधना से संधित कर उसकी उज्वल परंपरा को उपस्थित किया जा सकता है।

२१—ध्यान

नाथों के षडंग योग में धारणा के उपरान्त ध्यान का स्थान है। ध्यान को परमाद्वैतभाव कहा गया है। पदार्थों या तत्वों की आत्मस्वरूपानुसार भावना की क्रिया इसमें होती है। परिणामतः इसमें सभी भूतों में समदृष्टि की उपलब्धि मानी गई है। इसमें मन का पूर्ण निश्चलत्व संपन्न होता है। नाथपंथी हिन्दी रचनाओं में ध्यान और समाधि के लिये प्रायः 'ताली' शब्द का प्रयोग मिलता है। डा० बड़थ्वाल ने 'ताली' शब्द का अर्थ कहीं 'ध्यान' किया है और कहीं समाधि। इसमें कोई सन्देह नहीं, जैसा पिछले विवेचनों में हम कह चुके हैं कि समाधि ध्यान की पूर्ण परिपक्वावस्था है। कुंडलिनीसाधन के प्रसंग में हम कह चुके हैं कि आज्ञाचक्र, जिसका स्थान भ्रूमध्य या त्रिकुटी है, में मन उन्मन हो जाता है अर्थात् वहाँ मनोलय होता है। मन जब पूर्ण अचंचल एवं नादश्रवण से एक विषयानुधावी हो जाता है तब उसे उन्मन कहा जाता है। यह विषय आन्तरिक एवं घटस्थ रहता है। गोरक्ष कंठचक्र (विशुद्धि चक्र) में ध्यान करने को कहते हैं। दूसरे स्थान पर भ्रमर गुफा में मन को स्थिर कर ध्यान करने के लिये कहते हैं। (गो० बा०, पृ० १२२, १९२)। गोरक्षपद्धति में जैसे चक्रों पर ध्यान लगाने के लिये कहा गया है उसी प्रकार गोरक्ष की हिन्दी रचनाओं में भी शरीर की नाड़ियों की सात गाँठों एवं अधः-ऊर्ध्वगामी श्वासक्रिया पर ध्यान लगाने के लिये कहा गया है।[१] (गो० बा०, पृ० १६७)। ऐसी स्थिति में पिंड से बाहर किसी अन्य स्थूल वस्तु पर ध्यान लगाने का कोई प्रश्न नहीं उठता। दूसरे ध्यान में कहीं 'रंग' (या वर्ण) का वर्णन नहीं मिलता। सगुण ध्यान के इस परोक्ष अभाव में इस प्रकार निर्गुण ध्यान की ही मान्यता की अधिक संभावना है। वेद संबंधी विवेचन में हम पहले ही कह चुके हैं कि नाथों को स्वसंवेद्य या स्वानुभूत्यात्मक ज्ञान ही मान्य है। वे अन्य किसी प्रमाण को स्वीकार नहीं करते। स्वसंवेद्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह अनिर्वचनीय होता है और केवल अनुभवगम्य होता है और नाथों को केवल यही मान्य है। वे ध्यान से जो कुछ भी देखते हैं वह अगम, अगोचर, असीम, अदेख, अलेख, अनुपम, अतीत, अनंत, निरंजन, अचिन्त्य,

---

[१] गो० बा०, पृ० १२२, १९२, १६७।

अलक्ष्य, अविनाशी आदि है ।[१] इसीलिये नाथसिद्ध ऐसे द्रष्टा को भी 'अलख विनांली' (अलक्ष्य विज्ञानी) कहते हैं तथा उस पुरुष को अतीत पुरुष, निरंजन, अलेख पुरुष आदि कहते हैं । कहीं-कहीं अनंत सूर्यों के उदय के प्रकाशपुंज की उपमा भी दी गई है । 'ऊरम धूरम ज्योति उजाला' पद का व्यवहार कर उसकी अनंत प्रकाशता का वर्णन किया गया है । घेरंड संहिता में सूक्ष्म ध्यान के अन्तर्गत तेजोध्यान या ज्योतिर्ध्यान का वर्णन किया गया है । निर्गुण ध्यान ज्योतिर्ध्यान या तेजोध्यान ही प्रतीत होता है । गोरखबानी में 'तेज' और 'ज्योति' दोनों शब्दों से उसके प्रकाश रूप का वर्णन किया गया है ।[२]

डा० बड़थ्वाल ने ताली शब्द का अर्थ कहीं तो ध्यान किया है और कहीं समाधि । जहाँ उन्होंने समाधि लगाने का अर्थ किया है, वहाँ प्राय: उसे उन्मनी समाधि या केवल समाधि कहा है । केवल ध्यान लगाने के अर्थ में भी प्रयोग मिलता है । गोरक्ष की रचनाओं में जहाँ केवल 'ध्यान' शब्द का प्रयोग किया गया है वहाँ कुछ खास बातें दिखाई पड़ती हैं । गोरख के अनुसार हँसते खेलते हुए भी ध्यानक्रिया चलती रहनी चाहिए । वे भाँग-भक्षण आदि को ध्यान का अवरोधक और नाशक मानते हैं । इस क्रिया के लिये भी वे किसी निश्चित समय का बंधन न लगाकर रात दिन एक समान ध्यान लगाने को कहते हैं । इसके लिये आसन की दृढ़ता और मूलाधार का संकोच आवश्यक मानते हैं । इसके लिये काया की चिन्ता की आवश्यकता नहीं । काया अथवा स्थूल विषयों को छोड़कर, सकल विधियों का समायोग कर जगदीश का ध्यान करने को कहा गया है ।[3] इस ध्यानवर्णन से स्पष्ट है कि नाथसिद्ध लोग जिस प्रकार अजपा-जाप को स्वाभाविक श्वासक्रिया में अयत्नज कर देना आवश्यक समझते हैं उसी प्रकार ध्यान को भी वे अपने आध्यात्मिक जीवन की नैसर्गिक क्रिया बना देना चाहते हैं । जीवन की सामान्य क्रियाओं में वे जप और ध्यान को समाविष्ट कर देना चाहते हैं । यह वस्तुत: संपूर्ण दैनिक-सांसारिक जीवन का दिव्य जीवन में परिवर्तन है । यह भी स्पष्ट है कि यह क्रिया श्वासनियंत्रण, विंदुस्थैर्य, मन:-

---

[१] गो० बा०, पृ० ८, १०९, ११०, १२७, १०३, १, ७३, ४६, १९८, २०२, ३६, ९७, १०१, ६६, १०२, २, ३६, १३६, ११६ ।

[२] गो० बा०, पृ० ३६, १४६, १२३, ५४, १२४, ५७, ३१, २९, १२४, २००, ११४ ।

[3] गो० बा०, पृ० ३५, १२२, ५५, १६७, १७४, ४, ५६, १२७, १२४, १५०, १७०, १९७ ।

स्थैर्य, भूतशुद्धि, भूतजय, कुंडलिनीजागरण, त्रिकुटी की पूर्ण सिद्धि के उपरान्त ही संभव है। चौणकनाथ (चुणकरनाथ) ने भी अजपाजाप और नादानुसंधान की सिद्धि के बाद ही, उनकी सहायता से ध्यान करने को कहा है। इस प्रकार के साधन से ऐसे अद्भुत ज्ञान की उपलब्धि बतलाई गई है जिससे (सांसारिक) योगों का संहार (अथवा योग संबंधी विस्तृत कठिन क्रियाओं का संकोच) और पापों पर प्रहार होता है।[1]

२२—समाधि, उसके पर्याय और उन्मनी

षडंग योग के अन्तर्गत वर्णित अन्तिम अंग समाधि है। पातंजल योग की समाधि के अन्तर्गत वर्णित सवितर्क-निर्वितर्क तथा संप्रज्ञात-असंप्रज्ञात के भेद अत्यन्त सूक्ष्म हैं। समाधि का उस प्रकार का वर्णन यहाँ उपलब्ध नहीं है। नाथसिद्धाचार्यों के अनुसार समाधि वह अवस्था है जिसमें सभी तत्वों की समस्थिति रहती है, निरुद्यमत्व और अनायास की स्थिति रहती है। समाधि से ही मोक्ष की प्राप्ति बताई गई है जिसमें शुभ-अशुभ कर्मों का त्याग हो जाता है, विश्वतोमुख अनंत परम ज्योति का साक्षात्कार होता है, इससे क्रिया-कर्म, आवागमन आदि की भी सत्ता नहीं रहती। जीवात्मा-परमात्मा का ऐक्य ही सभी प्रकार के द्वन्द्वों का ऐक्य है। इस अवस्था में समस्त संकल्पों का नाश हो जाता है। जब प्राण सम्यक् प्रकार से क्षीण हो जाते हैं तथा मानस भी लय को प्राप्त हो जाता है, जब समरसत्व की प्राप्ति हो जाती है, तब समाधि की प्राप्ति कही जाती है। उस समय योगी के लिये शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श की सत्ता नहीं रहती, क्योंकि पंचभूत, तन्निर्मित पदार्थ, पंचेन्द्रिय, सभी लय को प्राप्त हुए रहते हैं। उस समय अपने-पराये का भाव भी नहीं रहता। हठयोगप्रदीपिका में इस अवस्था के बोधक अनेक शब्दों की एक लम्बी सूची दी गई है। समाधि वस्तुतः उपलब्धि की अवस्था है। इसका सविस्तर वर्णन हम पहले ही कर चुके हैं। हठयोगप्रदीपिका में समाधि के जिन वाचक शब्दों की सूची दी गई है, वे निम्नलिखित हैं—राजयोग, समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, लय, तत्व, शून्याशून्य, परमपद, अमनस्क, अद्वैत, निरालंब, निरंजन, जीवन्मुक्ति, सहजा, तुर्या। आगे हम क्रमशः हिन्दी की नाथपंथी रचनाओं के आधार पर इन शब्दों का विचार करेंगे।

नाथपंथी हिन्दी रचनाओं में समाधि की अवस्था के लिये राजयोग शब्द का व्यवहार नहीं मिलता। गोरख ने समाधि शब्द का स्पष्टतः व्यवहार

[1] ना० सि० बा०, प० ५२।

किया है। चक्रों के वर्णन में कहा गया है कि गोरख एक चन्द्रचक्र मानते हैं जिसमें समाधि लगती है। इसके पूर्व का वर्णित चक्र विशुद्धि चक्र है। चक्र संबंधी विभिन्न विवरणों को मिलाकर देखने पर निश्चित-सा मालूम पड़ता है कि चन्द्रचक्र तांत्रिकों का आज्ञाचक्र है। यह छठाँ चक्र है। इसी प्रकार ज्ञानचक्र भी कंठचक्र के ऊपर छठाँ चक्र है जिसमें साधक को विश्राम मिलता है। हम ऊपर कह चुके हैं कि पंच चक्रों में पंचभूतों के लय के बाद छठें चक्र अज्ञाचक्र में मनोलय संपन्न होता है। जैसे पाँच चक्रों में भूत परिशुद्ध और विजित होते हैं, इसी प्रकार छठें चक्र में मन परिशुद्ध और विजित होता है। उसमें विषयोन्मुख होकर चंचल रहने की शक्ति नहीं रहती। इस प्रकार आज्ञाचक्र में मन शांत एवं निश्चल हो जाता है। वहाँ उसे एकविषयोन्मुख किया जा सकता है। वस्तुतः उन्मनी अवस्था (जसमें परिशांत निश्चल मन ऊर्ध्वमुख होकर किसी अलौकिक तत्व में लीन हो जाता है) इसके बाद ही आती है। यदि डा० बड़थ्वाल ने गगनमंडल, सहस्रार, ब्रह्मरन्ध्र आदि को एक माना है तो संभवतः इस समाधि की अवस्था, मन की उन्मन अवस्था को देखकर आज्ञाचक्रोर्ध्व सहस्रार की स्थिति उनके ध्यान में आ गई हो। गोरख कहते हैं कि मनमुख होने पर समाधि लगती है।[१] हमने पहले 'गुरुमुख' आदि शब्दों का विचार करते समय बतलाया है कि 'मुख' का अर्थ उन्मुख होना, 'तदनुकूल होना', 'तदनुसरण करना' आदि है। इसी प्रकार मन की स्थितियों के विषय में भी कहा गया है कि गोरख मन की तीन स्थितियाँ मानते हैं, या तो यह गुरु की ओट में रहता है या कामिनी के क्रोड़ में रहता है या उदास रहता है। इनमें से निश्चय ही साधनोपयोगी मन की उन्मुखता गुरु की ओर ही है। इस दृष्टि से विचार करने पर यहाँ परिशुद्ध मन या उन्मुख मन या गुरु के उपदेशों का अनुसरण करने वाला मन ही मनमुख है (यद्यपि साधक की स्थिति का विचार करते समय 'गुरुमुख' और 'मनमुख' क्रमशः साधनोपयोगी एवं साधनविरोधी भी माने गये हैं जिनका परिचय हम पहले दे चुके हैं।) इसी प्रकार एक 'निर्वाण समाधि' भी बताई गई है जिसकी रक्षा सदैव गुरु करता है।[२] (समाधि के प्रकारों का वर्णन हम आगे इसी परिच्छेद में करेंगे)।

उन्मनी के संबंध में हम पहले ही कह चुके हैं कि प्रथम पाँच चक्रों में पंचभूततत्वों के विलय के बाद आज्ञाचक्र में मन का लय होता है। प्रत्याहार के प्रसंग में बताया गया है कि पंचज्ञानेन्द्रियों का उनके विषयों से प्रत्याहरण

---

[१] गो० बा०, पृ० १९२, २०२, १९४। [२] गो० बा०, पृ० ७४।

ही प्रत्याहार है। इसके बाद ही पंचभूतों के लय का क्रम आता है और इनके लय के बाद मनोलय या मानसस्थैर्य का क्रम आता है। गोरखबानी में स्पष्ट रूप से पंचभूततत्वों के लय का कोई विवरण नहीं मिलता। केवल ज्ञानेन्द्रियों के नियंत्रण-निश्चलत्व का बार-बार वर्णन किया गया है। वस्तुतः जहाँ 'लय' शब्द और क्रिया का संबंध है, गोरखबानी में कहीं भी प्रयोग और वर्णन नहीं है। किन्तु उन्मनीयोग या उन्मनीसाधन का पर्याप्त वर्णन मिलता है। बताया गया है कि योगी दशमद्वार ब्रह्मरंध्र में ही समाविस्थ होता है। इस प्रकार के योग में मन-पवन के योग की ओर कई बार संकेत किया गया है। जब तक प्राण का नियंत्रण नहीं होता तबतक उन्मनावस्था सिद्ध नहीं होती। जब सूर्य और चन्द्र के योग से (अथवा प्राण और अपान के योग से) उन्मनावस्था सिद्ध हो जाती है, ब्रह्मरंध्र शून्यमंडल में अमृत का निर्झर झरने लगता है।[१] गोरख मन को असाध्य मानते हैं। जब यह मन सिद्ध हो जाता है, तभी अनाहत नाद का गर्जन होता है तथा उन्मनी समाधि लगती है। अनाहत नाद से ही मन (आकर्षित होकर, निश्चल होकर) उन्मन हो जाता है। डा० बड़थ्वाल ने उन्मानावस्था को तुरीयावस्था बतलाया है। यह स्थिति गगनमंडल में ही प्राप्त होती है। इस उन्मनी अवस्था के लिये शिवशक्तियोग को उपायस्वरूप बतलाया गया है। इस अवस्था के प्राप्त होने पर महारस के पान का अवसर योगी को मिलता है।[२] इस प्रकार दूसरे शब्दों में कहें तो मन की अचचल शून्य अवस्था ही उन्मनी अवस्था है जिसका साधन पवन, कुंडलिनी, लय, नाद आदि से संपन्न होता है। इन साधनों का परस्पर क्या संबंध है, इसके विषय में पहले ही कई स्थानों पर कहा जा चुका है।

२३—अमृतसाधन

ब्रह्मरंध्रप्रकरण में ही 'अमृतसाधन' या अमरवारुणीपान के साधन की ओर भी प्रसंगतः संकेत हो चुके हैं। गोरख ने बताया है कि षट्दलकमल (स्वाधिष्ठानकमल) का भेदन होने पर ही अमृतरस पीने को मिलता है। जीवन्मुक्त योगी रात दिन दृष्ट पदार्थों के बीच अदृष्ट अगम एवं अपार तत्व का दर्शन करता हुआ अखंड अमृतधारा का पान करता रहता है। निस्सार मायिक वस्तुओ में से ही सारवान् अमृत सत्व का ग्रहण होता है। पंचतत्व से निर्मित वस्तुएँ निस्सार हैं। उनके संसर्ग से विष हो जानेवाला तत्व गुरुवचन से

[१] गो० बा०, पृ० ४७, १३, १९, २०।

[२] गो० बा०, पृ० ३२, ३६, १८८, १९३।

अमृत हो जाता है। बंकनाल से स्रवित होनेवाला जल ही अमृत है। गोरख की वाणी के अर्थनिर्णय में डा० बड़थ्वाल ने बंकनाल को नाभि के पास बतलाया है। इसी बंकनाल में सूर्य जब उदित होता है तब रोम-रोम में तूर्यनाद होता है। इसी प्रकार शून्यमंडल या ब्रह्मरंध्र से भी निर्झर का स्रवित होना कहा गया है।[१] अमृतसाधन या अमृतपान या वारुणीसाधन का गोरख ने एक स्थान पर रूपकात्मक वर्णन किया है। उनके अनुसार उपलब्धि की अवस्था में इक्कीस ब्रह्मांडों में अमृतस्राव होता है। सर्वत्र ही साधक को अमृत का दर्शन और ग्रहण होता है। इस अमृत में नित्य मादकता है जिससे योगी सदा मतवाला बना रहता है। 'योगी की इच्छा रूप कलालिन अच्छा प्याला भर भर साधक को देती है। साधक अपनी इच्छाशक्ति के बल से सदैव इस अमृत का पान कर लिया करता है। इस अमृत के निर्माण में अमृतानुभव की दाख की भट्ठी पर के पात्र में भरी जाती है उसमें गुड़ (माधुर्य) झकझोर कर पिलाया जाता है। मन महुआ की तरह तथा शरीर धाहुड़ की तरह प्रयुक्त किया गया। उसमें विभिन्न प्रकार की वनस्पतियाँ (विभिन्न प्रकार की यौगिक प्रक्रियाएँ) प्रयुक्त की गईं। ब्रह्मरंध्र में आसन लगाकर बालयोगी ध्यानस्थ होकर बैठ जाता है। भलीभाँति सावधानी से उसका निर्माण संपन्न किया गया। इस प्रकार अमृतवारुणी का निर्माण कर चैतन्य आत्मा रूप रावल ने भर-भर कर मद का पान किया और परिणामस्वरूप युग-युग तक बनी रहने वाली समाधि लग गई। त्रिकुटी संगमरूपी कूपी मद से भर गई और अपार मद तैयार हुआ। इस निर्मल मदिरा का पान करने से साधक अवधूत हो गया।[२] इस प्रकार इस अमृतसाधन में तन और मन दोनों ही सहायक होकर अमृतानुभव कराते हैं। दूसरी दृष्टि से यह साधन पिंडात्मक और विश्वात्मक, दोनों ही, स्तरों के परस्पर संयोग का परिणाम है। व्यष्टि की दृष्टि से तन, मन और कुंडलिनी तथा समष्टि की दृष्टि से ब्रह्मांडगत स्तर पर उस अमृत या एकत्व का अनुभव—ये ही विचार इस रूपकात्मक वर्णन के मूल में दिखाई पड़ते हैं।

यह वारुणीसाधन ही रस साधन है। वारुणी साधन के अन्तर्गत ही खेचरी मुद्रा का भी वर्णन मिलता है। गोरख की वाणी में खेचरी मुद्रा की सहायता से वारुणीपान का वर्णन केवल एक स्थल पर मिलता है जहाँ कहा गया है कि

[१] गो० बा०, पृ० १७१, १९२, ११३, १६७, २०, १९२, १२४।

[२] गो० बा०, पृ० १२२-१२३।

जिह्वा को उलट कर तालु-मूल में रखना चाहिए (जिससे सहस्रारस्थित चन्द्र से स्रवित होनेवाले अमृत का आस्वादन होगा)।[1] भरथरी ने भी खेचरी मुद्रा की सहायता से वारुणीपान का वर्णन न कर मायात्याग की बात कही है।[2] पहले के उदाहरणों में अमृत को महारस कहा गया है। अतः अमृतसाधन ही रससाधन है। पक्व देह और अपक्व देह का परिचय देते समय भी इस संबंध में कुछ कहा जा चुका है। इस साधन के अनुसार कहा जाता है कि सामान्य सांसारिक व्यक्ति का शरीर जरामृत्यु के अधीन है। नाथ लोग काया को अजर-अमर बनाकर उसे बालस्वरूप में रखने का प्रयास रसायनविद्या की सहायता से करते हैं। 'गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह' में 'रसायनी महाविद्या सिद्धिर्भवति निश्चितम्' कहा गया है। रसायन के प्रयोग से शरीर को कुछ काल तक रोग और जरा से मुक्त रखा जा सकता है, किंतु उसे स्थायी न मानकर नाथयोगी लोग उसे सिद्धिप्राप्ति के लिये यथेष्ट नहीं मानते। षट्कर्म और आसन-मुद्रादि के द्वारा कालविजयी होना ही इन लोगों का लक्ष्य है। अमृतपान ही मुख्यतम साधन है किंतु सहस्रार में अमृतस्रावक चन्द्रमा के स्राव को मूलाधारस्थित सूर्य ग्रहण कर लेता है। इसलिये चन्द्रमा के झिलमिल करते रहने पर भी अमावस्या का अंधकार रहता है, इसीलिये गोरक्ष मीनमार्ग से जाने का उपदेश करते हैं, चन्द्रविरोधी सूर्य को चन्द्र के सम्मुख करने को कहते हैं और इस प्रकार अमृतरस का आस्वादन कर कालजयी होने को कहते हैं। सुषुम्ना की मध्यवर्तिनी चित्रा नाड़ी की सहायता से कुंडलिनी को सहस्रार में ले जाकर अमृतपान करना योगिजनों का साधन है। इस साधनपथ में विंदुरक्षा के लक्ष्य को स्थिर रखने के लिये नाथमार्ग में बार-बार उपदेश मिलता है।[3] विभिन्न रासायनों के प्रयोग का विस्तार से वर्णन चरपटनाथ ने किया है किंतु गोरखनाथ ने रस-रसायनों का प्रयोग कर आरोग्यलाभ किया है।[4] चन्द्रस्राव का पान ही अमृत तत्व प्रदान करता है। चन्द्रामृत ही वास्तविक अमृत है।

२४—समाधि के अन्य पर्याय

अन्य शब्दों में तत्व और शून्याशून्य शब्द हैं। तत्वोपलब्धि हो जाने पर

[1] गो० बा०, पृ० ४६।

[2] ना० सि० बा०, पृ० ३२।

[3] ना० सं० इ० द० सा० प्र०, पृ० ५७१; गो० बा०, पृ० २०; ना० सं० इ० द० सा० प्र०, पृ० ५७१-५७२।

[4] ना० सि० बा०, पृ० ३४-३५, गो० बा० १७२, ६९।

चंगे मन को सर्वत्र गंगा दिखाई पड़ती है। यद्यपि तत्व की उपवब्धि होती है तथापि उसकी न कोई रेखा है न रूप। उसे एक विलक्षण बेली (बेल) के रूप में कल्पित कर बतलाया गया है कि वह साखा-मूल-फूल-फल आदि से विहीन है, फिर भी बिना सिंचन किये ही वह सतत वर्द्धमान है। यह तत्व निज तत्व है जिसका साक्षात्कार करने पर अपने-पराये का भाव नहीं रह जाता, सभी भेद मिट जाते हैं।[१] शून्य शब्द सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। शून्य शब्द एक स्थान पर समाधि की उस अवस्था की ओर संकेत करता है, जहाँ शून्य ही सिद्ध का जनक, पालन-पोषण करनेवाला, शून्य ही रक्षा करनेवाला एवं शून्य ही परमोपास्य ब्रह्म होता है। इस शून्य के परिचय से साधक स्थिर, निश्चल, गंभीर हो जाता है। दूसरे स्थान पर शून्य शब्द ब्रह्मरंध्र का द्योतक है।[२] शून्य का सामान्य अर्थ निस्सार, खोखला, फलरहित आदि भी लगाया जाता है।[3] नागार्जुन ने चतुष्कोटिविनिर्मुक्त शून्य का विवेचन किया था। शून्य का एक अर्थ अभाव भी है किंतु नागार्जुन का शून्य इससे विलक्षण है। परमतत्व के निर्वचन के समय 'बस्ती' और 'शून्य' दो शब्दों का प्रयोग सद्भावात्मक और असद्भावात्मक अर्थ को व्यक्त करने के लिये किया गया है। डा० बड़थ्वाल के अनुसार ब्रह्म के अभावात्मक पक्ष की अभिव्यक्ति के लिये ही गोरख ने शून्य शब्द का प्रयोग किया है, किंतु गोरख ने जिस बाल ब्रह्म का वर्णन वहाँ किया है, वह निश्चय ही भावाभावविनिर्मुक्त है। नागार्जुन का शून्य इससे सर्वथा भिन्न है।[४] शून्यवादी शून्य के विषय में कहते हैं कि संसार की सभी वस्तुओं की निस्सारता ही उनका स्वभाव है। यह स्वभाव जो चतुष्कोटिविनिर्मुक्त है तथा अतिसूक्ष्म है, शून्य कहा जाता है। यदि हम दूसरी दृष्टि से देखें तो यह वस्तुतः परम सत्ता की निषेधात्मक या अभावात्मक स्वीकृति है। इससे उस तत्व की सूक्ष्मता की ओर भी संकेत होता है। गोरख ने 'सूक्ष्म' के अर्थ में भी 'शून्य' शब्द का प्रयोग किया है। यह शब्द नित्य सतावान् तत्व का वाचक भी है। चक्र एवं कुंडलिनीसाधन संबंधी विवरणों की दृष्टि से शून्य ब्रह्मरंध्र या गगन-मंडल या

---

[१] गो० बा०, पृ० ५३, १०६, १३१।

[२] गो० बा०, पृ० ७३, ७, २०, २८, ३२, १३१।

[3] गो० बा०, पृ० ३४।

[४] गो० बा०, पृ० १ छं १; तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य, पृ० ५०-५५।

आकाश का ही वाचक है। विभिन्न संस्कृत ग्रंथों में जिस प्रकार के शून्य, अतिशून्य, महाशून्य और विशुद्ध शून्य नाम के चार शून्यों का वर्णन मिलता है, उस प्रकार का वर्णन हिन्दी रचनाओं में नहीं मिलता ![1]

इन वर्णनों को ध्यान से देखने से प्रतीत है कि विशुद्ध शून्य का अर्थ शून्य से व्यक्त किया गया है। 'गोरक्ष बोध' को उद्धृत करते हुए डा० कल्याणी मल्लिक ने बतलाया है कि 'बोध' में वर्णित योगसाधन शून्यसाधना का नामान्तर है। यह शून्य निराकार है। साकार उपासना या ब्रह्मलाभ में शून्य तत्व का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। यह शून्यसाधना, वस्तुतः योगी की ही लयसाधना है। लयसाधना द्वारा उन्मनी अवस्था की प्राप्ति नाथयोगियों का लक्ष्य है। इस अवस्था की प्राप्ति होने पर योगी का निर्विषय चित्त आकाश-स्थित कुंभ के समान अन्तःशून्य तथा बहिःशून्य दोनों होता है तथा जलार्णवान्तर्गत कुंभ के समान अन्तपूर्ण एवं बहिःपूर्ण भी होता है। अर्थात् लय की अवस्था में योगी का चित्त शून्यमय है। 'मच्छीन्द्र गोरषबोध' में ही अन्यत्र कहा गया है कि 'शून्य ही मन्दिर है, शब्द उसका द्वार है, ज्योति ही मूर्ति है, अग्नि दुर्जेय है, (ऐसे) अरूप के रूप के ध्यान से या गुरु के आदेश से साधक गुरुतत्व जान पाता है या उन्मनी अवस्था को प्राप्त करता है।' गोरक्ष के पदों में 'आकाशगमन' का वर्णन कर शून्यसाधना की ओर ही संकेत किया गया है। पिंडगत आकाश में मन का निवास ही मन का उन्मनी अवस्था में निवास है। सहज हंस क्रीड़ा के अन्त में शून्य में ही स्थित रहता है। आकाश जिस प्रकार निराकार होता है, उसी प्रकार हंस या आत्मा भी 'परम ज्योति' में निवास करता है। मन शून्य में विलीन हो रहता है।[2]

शून्य शब्द का विवेचन करते समय विभिन्न विद्वानों ने उसके तीन अर्थों की ओर संकेत किया है—१—परमतत्व नाद, परम ज्ञान, परम स्वभाव, २—ब्रह्मरंध्र, दशम द्वार, मध्यम पथ, सहस्रार कमल, गगनमंडल, ३—शिवलोक। शून्य को गगन का पर्याय मानकर गगन-गर्जन को शून्य-गर्जन (बौद्ध सिद्धों की शब्दावली में शून्यता का सिंहनाद) कहा है। शून्य को नाद से संबंधित मानकर नाथों ने उसे शब्दसृष्टि का मूल कारण कहा है। वह शून्य

---

[1] गो० बा०, पृ० १०१, १०९, १८७; ना० सं० इ० द० सा० प्र०, पृ० ३४३।

[2] ना० सं० इ० द० सा० प्र०, पृ० ३४६-३४८।

ही निरंजन है, ब्रह्म है। उसी का परिचय पाने पर साधक को स्थैर्य की प्राप्ति होती है। शून्य का ज्ञान (अथवा शून्यज्ञान) सर्वत्र घट-घट में प्रकाशित नहीं होता—"घटि घटि सूण्यां ग्यान न होई। बनि बनि चंदन रूष न कोई।" किंतु डा० बड़थ्वाल ने 'सूण्यां' शब्द का अर्थ 'सुनना मात्र' किया है। जहाँ एक स्थान पर शून्य को ब्रह्म कहा गया है, उसे सृष्टि का माता-पिता कहा गया है, वहीं अन्यत्र, हृदय के न रहने पर शून्य को ही मन का निवासस्थान बतलाया गया है। इसी प्रकार नाथपंथियों ने ब्रह्मरंध्र के लिये गगनमंडल स्थित शून्यद्वार शब्द का प्रयोग किया है, ब्रह्मरन्ध्र के लिये शून्यमण्डल शब्द का प्रयोग किया गया है जहाँ अमृतनिर्झर सदैव स्रवित होता रहता है।[1] कुछ लोगों ने 'मधि शून्य' शब्द का अर्थ 'शून्यपथ' किया है और बतलाया है कि यह शून्यपथ अधः और ऊर्ध्व के बीच विस्तृत है। डा० बड़थ्वाल ने 'ब्रह्मरंध्र' अर्थ किया है।[2] इस प्रकार स्पष्ट है कि नाथपंथियों का शून्य अनिर्वचनीय भावाभावविनिर्मुक्त परब्रह्म का बोधक है। दूसरे, वह हठयोगी परंपरा के साधक नाथसिद्धों का ब्रह्मरंध्र, गगनमंडल, सहस्रार आदि भी है। पं० परशुराम चतुर्वेदी ने इस शब्द के नाथपंथी विकास के संबंध में कहा है कि 'योगियों तथा नाथपंथियों के यहाँ इस शब्द के अर्थ में और भी अधिक विकास हुआ। यह न केवल देशकालातीत ब्रह्म का वाचक समझा गया, प्रत्युत् इसके द्वारा उस विचित्र स्थान विशेष को भी सूचित किया जाने लगा जिसे ब्रह्मरंध्र कहा जाता है। हठयोगप्रदीपिका को देखने से तो यहाँ तक पता चलता है कि यह वहाँ पर कभी सुषुम्ना नाड़ी कभी अनाहतचक्र के पर्याय सा भी मान लिया जाता था। गुरु गोरखनाथ और उनके अनुयायियों ने इसके साथ नाद तत्व का भी समावेश कर दिया जो उनकी प्रसिद्ध सबदी 'बसती न सुन्यं···कैसा' द्वाराप्रकट होता है और इसके द्वारा पीछे नाद से सृष्टि के आविर्भावादि पर भी विचार किया जाने लगा। वास्तव में शून्य ही इनके यहाँ आ कर सभी कुछ दीख पड़ने लगा।'[3] गोरख की रचनाओं में 'अशून्य' शब्द का प्रयोग 'समाधि' के वाचक के रूप में नहीं मिलता।

समाधिवाचक अन्य शब्दों में परमपद, अमनस्क, अद्वैत, निरालंब, निरंजन, जीवन्मुक्ति, सहजा, तुर्या आदि हैं। अन्य साधन वर्गों से अपना ध्येय संबंधी

---

[1] गो० बा०, पृ० ३२, ७३, ५८, १८९, ६०, २०।

[2] गो० बा०, पृ० २८।

[3] कबीर साहित्य की परख—पृ० २४०।

भेद निरूपित करते हुए गोरख कहते हैं कि हिन्दू देवालय में ध्यान करते हैं, मुसलमान मस्जिद में ध्यान करते हैं, किंतु योगी परमपद में ही ध्यान लगाते हैं। यह पद परम है अर्थात् सभी सांसारिक भेदक तत्वों से परे है। वहाँ तो न देवालय है और न मस्जिद। डा० बड़थ्वाल के अनुसार 'श्वास (शक्ति) को अधर और ऊर्ध्व के बीच में उठाकर रक्खा अर्थात् केवल कुंभक किया और मध्यशून्य (ब्रह्मरंध्र) में जाकर (साधक ने) निवास किया। वहाँ मतवाले शिव (ब्रह्म तत्व) की संगति मिली। इस प्रकार परमगति प्राप्त की गई। इस व्याख्या के अनुसार प्राणायामाभ्यास (अथवा शक्तिसाधन) से ब्रह्मरंध्र में शिवतत्व की प्राप्ति ही परमगति की प्राप्ति है। इसी को योगी का ध्येय कहा गया है। इस परमपद या परमगति के संबंध में तीसरी बात बताई गई है कि यह 'परमपद' स्वसंवेद्य या अनुभवैकगम्य है। यह पंडितों के शास्त्र-ज्ञान से उपलभ्य नहीं है।[1] इस प्रकार योगियों के ध्येय या परमपद की तीन विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं—१—यह मस्जिद-मन्दिर में उपास्य न होकर पिंडस्थ है। २—यह योगी के ब्रह्मरंध्र में हठयोगी साधनों से साध्य है। ३—यह केवल अनुभवैकगम्य या स्वसंवेद्य है।

अशून्य शब्द की तरह ही 'अमनस्क' शब्द का भी प्रयोग नाथों की वाणियों में उपलब्ध नहीं है यद्यपि यह नाथों का अति महत्वपूर्ण शब्द है। कुछ विवेचकों ने इस शब्द की व्याख्या करते समय शून्य को भी विवेच्य माना है। उनका कहना है कि सम्पूर्ण साधना का एकमात्र मूल तत्व है चित्त को वृत्तिहीन या निर्विषय करना। योगसाधनपथ के कई स्तरों या अवकाशों का अतिक्रमण करने पर पूर्णता की प्राप्ति होती है। इसे ही नाथ लोग परमपदप्राप्ति कहते हैं। इस अवकाश का नामान्तर शून्य है। इसीलिये विभिन्न धर्मों में शून्य की संख्या के संबंध में मतभेद है। फिर भी सभी धर्मों का मूल लक्ष्य एक ही है, अर्थात् चित्त का लयसाधन एवं 'अन्तःशून्यः बहिःशून्यः शून्यः कुम्भ इवाम्बरे' अवस्था की प्राप्ति। चित्त की इस निर्वितर्क अवस्था की प्राप्ति होने पर नाद या मंत्र की किसी प्रकार की अनुभूति नहीं रहती। स्मृति के परिशुद्ध होने पर 'स्वरूप शून्य' की या वितर्करहित अवस्था अर्थात् शब्दहीन ज्ञान की प्राप्ति होती है। यही निर्गुण उन्मनी अवस्था या योगमत में निर्बीज समाधि है। यही नाथों का 'अमनस्क' या मनोहीन अवस्था है।[2] स्पष्ट

---

[1] गो० बा०, पृ० २५, २८, ४७।

[2] ना० सं० इ० द० सा० प्र०, पृ० ३५८।

ही यह उन्मनी अवस्था का बोधक है। मनोहीन अवस्था का यह अर्थ नहीं है कि मन की सत्ता नहीं रहती अथवा उसका निर्दलन हो जाता है। वस्तुत: अचंचल मन जब स्थैर्य को प्राप्त कर परमात्मतत्व में लीन हो जाता है, तभी इस स्थिति की प्राप्ति होती है।

गोरख की रचनाओं में यद्यपि 'अद्वैत' अथवा 'अद्वय' शब्द का व्यवहार नहीं है तथापि 'एक' शब्द का ही डा० बड़थ्वाल ने अद्वैत या अद्वय अर्थ किया है। इस एक शब्द का प्रयोग 'परब्रह्म' के लिये हुआ है। अन्यत्र 'एकंकार' शब्द प्रयुक्त हुआ है जो 'एकाकार' शब्द का विकास मालूम पड़ता है। इसे ही 'एकाकार अद्वय परब्रह्म' का बोधक माना गया है। यह 'एकंकार' (एकाकार) कैवल्य अवस्था का भी वाचक है। 'मच्छींद्र-गोरष बोध' में पवन का आकार निरालंब कहा गया है। अन्यत्र निरालंब निरति में बंध लगने की बात कही गई है। 'निरंजन' अत्यधिक महत्वपूर्ण शब्द है। गोरख ने निरंजन को निराकार और पिता कहा है। वह माता, मनसा इच्छा या माया है। निरंजन पिता और मनसा (माया माता) से उत्पन्न पिंड का उद्धार करनेवाले गुरु हैं। यहाँ निरंजन माया के संसर्ग से पिंडनिर्माण करनेवाला बताया गया है। दूसरे, निरंजन परब्रह्म का द्योतक है। आध्यात्मिक अनुभूति अथवा समाधि गगनशिखर में होती है। परमानुभूतिकामी जीव भी उस गगन-शिखर में निरुद्ध हो जाता है तथा वह निरंजन में लौ लगा लेता है।[1] यहाँ निरंजन गगनशिखर में स्वानुभूत होने वाला परब्रह्म है। माया को काटनेवाला योगी 'निरंजन की काया' से युक्त कहा गया है अर्थात् वह ब्रह्मतुल्य हो जाता है। इस निरंजन निराकार से भेंट तभी होती है जब सिद्ध पंचतत्वों को वश में कर लेता है। ऊपर जिस निरंजन की स्वानुभूति गगनशिखर में बतलाई गई है, उसी के साधन के संबंध में कहा गया है कि इड़ा नाड़ी का शोधन कर पिंगला में भरकर तथा सुषुम्ना के मार्ग से आकाश में चढ़ जाना चाहिए। यह (निरंजन) परब्रह्म पद न उदय है न अस्त, न रात न दिन, सारी चराचरमयी सृष्टि में कोई भिन्नता का भाव नहीं (अथवा सर्वेश और चराचरमयी सृष्टि में कोई भेद-भाव नहीं है)। शुद्ध निरंजन ब्रह्म रह जाता है, मूल और शाखा (अधिष्ठान और नामरूपोपाधि) का भेद नहीं रह जाता। वही सर्वव्यापी रह जाता है, जो न सूक्ष्म है न स्थूल। अन्यत्र नाथ को निरंजन कहा गया है। यही निरंजन शून्य है, परमात्मा है, परब्रह्म है। यही वह निरंजन ब्रह्म है जिसका प्रकाशन ज्योति

[1] गो० बा०, पृ० १०३, १०१, ३८, १८७, १९६, ६७, ६८।

के रूप में होता है। इसकी उपलब्धि तीन लोकों में नहीं, पिंड में ही होती है। अंजन में भूल कर (माया-काया में भूलकर?) निरंजन तत्व के त्याग का अर्थ है मायातीत परमतत्व का त्याग।[1] इस प्रकार स्पष्ट ही निरंजन परब्रह्म का द्योतक है। हम पहले ही कह चुके हैं कि नादरूपा सृष्टि के मूल शिव परब्रह्म हैं। साधनान्त में, इसीलिये बतलाया है कि नाद उस निरंजन में ही विलीन हो जाता है।[2] इस प्रकार निरंजन के तीन अर्थ गोरख बानी में मिलते हैं—१—माया के संसर्ग से मायात्मक पिंड का निर्माण करनेवाला, २—परब्रह्म, मायातीत परमेश्वर जिसकी स्वानुभूति गगन शिखर में होती है। ३—नादरूपा सृष्टि का लयस्थान। गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह में कहा गया है—'तिष्ठति खेचरी मुद्रा तस्मिन् शून्ये निरञ्जने।' नाथपंथियों में शिव ठाकुर के साथ निरंजन की भी पूजाविधि स्वीकृत है। यह शून्यमूर्ति है।[3] हिन्दी रचनाओं में भी निरंजन को शून्य कहा गया है।

जीवित अवस्था में देहपात के पूर्व जो मुक्ति होती है, उसे जीवन्मुक्ति कहते हैं तथा पार्थिव स्थूल और सूक्ष्म देहनाश के बाद जो मुक्ति होती है उसे विदेह मुक्ति कहते हैं। नाथदर्शन में जीवन्मुक्ति की अवस्था ही आदर्श है। देहपात होने पर जो मुक्ति होती है, उसे आदर्श मुक्ति नहीं कहा गया है, क्योंकि वह मुक्ति देहपात रूप प्रतिबंधक द्वारा बाधित है। नाथ लोग कहते हैं कि जिस देह में परमपद की प्राप्ति होती है, उस देह को अजर अमर एवं यथेष्ट विचरण करनेवाला बनाना चाहिए। विदेह मुक्ति से इस देह का भी त्याग हो जाता है। जीवन्मुक्त योगी का दैहिक परिवर्तन साधित होता है। जल में नमक जिस प्रकार मिल जाता है, उसी प्रकार मुक्त पुरुष का शरीर ब्रह्मत्वलाभ करता है। इसी प्रकार योगी भी जीवन्मुक्त होता है।[4] योगी के सिद्ध देह की प्राप्ति कर लेने पर उसके लिये इच्छामृत्युवरण संभव हो जाता है। हठयोगप्रदीपिका में कहा है कि वर्णित समाधियों में मृत्युघ्न समाधिक्रम अर्थात् इच्छामृत्युरूप समाधि उत्तम है एवं जीवन्मुक्तिस्वरूप सुख का उपाय है। इसकी टीका में कहा गया है कि जो इस क्रम के अनुसार समाधि का आश्रयण कर सकते हैं, उनकी मृत्यु नहीं होती। ये इच्छा करने

---

[1] गो० बा०, पृ० १६, २७, १११, ११६, ७३, १६४, १५२।

[2] गो० बा०, पृ० १९०।

[3] ना० सं० इ० द० सा० प्र०, पृ० ३४४।

[4] वही, पृ० २९२-२९३।

पर देहत्याग कर सकते हैं। इस समाधि का आश्रयण कर सकने पर तत्वज्ञान का भी उदय होता है। उसके होने पर मनोनाश और वासनाक्षय होकर जीवन्मुक्तिरूप सुखलाभ होता है। यह समाधिक्रम ब्रह्मानंदप्रद है, अर्थात् इस समाधि में प्रारब्ध कर्म का क्षय हो जाता है। उसके होने पर जीव और ब्रह्म के अभेद का ज्ञान होकर अत्यन्त ब्रह्मानंदप्राप्तिरूप विदेह मुक्ति का लाभ हो जाता है। हठयोगप्रदीपिका में कहा गया है कि जो योगी कुंडलिनी को प्रबोधित कर नि:शेष रूप में कायिक और मानसिक कर्म का परित्याग कर अवस्थित होता है, वही सहजावस्था का लाभ करता है। परम वैराग्य या दीर्घ काल तक संप्रज्ञात समाधि के द्वारा बुद्धिव्यापार से निवृत्त होने पर जो निर्विकार स्वरूप में अवस्थान होता है, वही सहजावस्था या जीवन्मुक्ति है। शक्तिबोध और सर्वकर्मपरित्याग के होने पर किसी प्रकार का यत्न न करने पर, इस अवस्था का लाभ होता है।[1] इस सम्बन्ध में पहले भी बहुत कुछ कहा जा चुका है।

गोरख की हिन्दी रचनाओं में जीववन्मुक्ति शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। उनके अनुसार मरण भी मीठा होता है। वे उस मृत्यु का वरण करने के लिये कहते हैं जिससे गोरखनाथ ने परमतत्व का दर्शन किया। व्याख्या में डा० बड़थ्वाल ने कहा है कि 'यह मरना सामान्य मृत्यु नहीं है, उससे भौतिक अस्तित्व का अंत नहीं समझना चाहिए। योगमार्ग में विश्वास यह चला आता है कि योगी कभी मरता नहीं। इसलिये यह मरना जीवन्मृत्यु है। इसी का दूसरा नाम जीवन्मुक्ति है। इसमें स्वार्थी अर्थ में मृत्यु समझना चाहिए। भौतिक अर्थ में तो व्यक्ति के जीवन का अंत-सा हो जाता है, अब वह आध्यात्मिक जीवन में परमार्थ के लिये जीता है। परमार्थ और परोपकार एक ही चीज नहीं। परन्तु परमार्थी जीवन परोपकार में भी अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार शब्दान्तर से डा० बड़थ्वाल ने गोरख की हिन्दी रचनाओं में जीवन्मुक्ति का सिद्धान्त देखा है। गोरखबानी में एक शब्द 'जीवता मूवा' प्रयुक्त है, जिसका अर्थ डा० बड़थ्वाल ने 'जीते जी मृतक के समान' किया है। इस वाक्य का संकेत है कि जो योगी सोता है, वह जीते जी मृतक के समान होता है अथवा साधनमार्ग में सिद्धि नहीं प्राप्त करता। यहाँ 'जीवते मूवा' का अति सामान्य अर्थ है, लौकिक है, आध्यात्मिक नहीं।[2] मोक्ष और मुक्ति के संबंध में भी गोरखबानी में विचार व्यक्त किये गये हैं।

---

[1] वही, पृ० २९३, २९६।   [2] गो० बा०, पृ० १०, २५।

गोरखबानी में कहा गया है—'परब्रह्म रमता राम से चौगान का खेल खेलो। अभिमान में क्यों भूलते हो। पृथ्वी और आकाश के बीच कोई अंतर नहीं। यह अंतर न मानना अर्थात् अभेददृष्टि ही कैवल्य मुक्ति का बृहत् मैदान है।' डा० बड़थ्वाल के इस अर्थ से पूरे मुक्तिसाधन पर प्रकाश पड़ता है। संपूर्ण पद के इस टेक में ही स्पष्ट हो जाता है कि साधक जब अहंकार का त्याग कर धरणी (मूलाधार—जीवात्माधारिणी कुंडलिनी का स्थान—पथ्वी का प्रतीक—जीवात्मा का क्रीड़ास्थल) और गगन (सहस्रार—परमात्मा का स्थान—आकाश का प्रतीक—परमात्मा का क्रीड़ास्थल) में एकात्म और नैरन्तर्य, अभेद का ज्ञान हो जाता है, धरती से आकाश तक केवल मुक्ति का क्रीड़ाक्षेत्र ही अनुभव होने लगता है, तभी एक में अनन्त (एक परमात्मा में अनन्त सृष्टि) का दर्शन होता है साथ ही अनन्त (सृष्टि) में उस एक का साक्षात्कार होता है। यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि उस एक से ही इस अनन्त की सृष्टि हुई है। किंतु इस एक का आभ्यंतर (हृदय) में ही परिचय प्राप्त हो जाता है और तब सारी अनन्त सृष्टि एक में समा जाती है। पिंडब्रह्मांड-वाद और कुंडलिनीसाधन संबंधी तांत्रिक विवरण जो पहले दिया जा चुका है, उसकी उद्धरणी यहाँ आवश्यक नहीं है किन्तु इतना ध्यान दिलाना आवश्यक है कि इस अवस्था (सिद्धावस्था—परमावस्था) में पहुँचने पर एक (परमात्मा) और अनंत (सृष्टि) में अथवा परमात्मा और जीवात्मा, समष्टि और व्यष्टि, पारमार्थिक और सांसारिक में कोई अंतर नहीं रह जाता। दूसरे शब्दों में, यही जीवन्मुक्ति की अवस्था है।[1] स्पष्ट है कि हरि के पास, शिव के पास ऐसी मुक्ति उपलभ्य है। किन्तु जैसा अभी हम कह चुके हैं, नाथों को पिंडपातोपरांत प्राप्त होनेवाली मुक्ति काम्य नहीं है, वैसी ही बात हिन्दी रचनाओं में भी कही गई है। गोरख कहते हैं—'हे पंडित, ब्रह्मज्ञान ही का अध्ययन मनन करो (क्योंकि ब्रह्मज्ञान के बिना सब झूठा है।) मरने पर जो मुक्ति (मानी जाती) है उसमें वैकुंठ में स्थान मिलना (कहा जाता है, परन्तु वस्तुतः) वह गड्ढे में अथवा चिता पर स्थान पाना है और चौरासी लाख योनियों के चक्कर में पड़ जाना है।' इसीलिये, जैसा हम नाथपंथियों के लक्ष्य-विवेचन के प्रसंग में पहले कह चुके हैं, पिंडपातरहित, इच्छामृत्युयुक्त जीवन्मुक्ति ही नाथपंथियों का लक्ष्य है जिसमें अनेकता में ही एकता की उपलब्धि हो जाती है, परमार्थ सेवा और परोपकार मिल कर एक हो जाते है। ऐसी सिद्धि ही नाथपंथियों की मुक्ति है।[2]

---

[1] देखिये—गो० बा०, पृ० १०२–१०३। [2] गो० बा०, पृ० १८०।

पाश्चात्य लेखकों के अनुसार जीवन्मुक्त वह व्यक्ति है जो इस पृथ्वी पर रहते हुए मोक्षको प्राप्त कर लेता है। इस मुक्ति से हम (सांसारिक) अस्तित्व का अंत या पुनर्जन्म का अंत या ब्रह्म में लौटना या निर्वाणप्रवेश समझते हैं। इस पृथ्वी पर ही मुक्त होनेवाला वह व्यक्ति संत (सेंट) है जिसने मुक्ति के सभी लक्षणों को उपलब्ध कर लिया है तथा अपने अंतकालीन सांसारिक अस्तित्व में अब रह रहा है। चूँकि उसने (ब्राह्मण मतानुकूल) वैयक्तिक जीवन को अस्तित्व में रखनेवाले पोषक तत्वों—वासना और माया—का अंत कर दिया है अथवा बौद्ध मतानुकूल सत्ता बनाये रखनेवाले हेतुओं का नाश कर दिया है अतः इस प्रकार उसने अलौकिक से लोकोत्तर की ओर प्रस्थान किया है। यदि सच कहा जाय तो उससे विचार और कर्म वस्तुतः बहिष्कृत हो जाते हैं। वह मुक्त व्यक्ति इस पृथ्वी पर रहता है क्योंकि जीवन बनाये रखनेवाली शक्तियाँ अभी तक मृत नहीं हुई रहतीं। इसका कारण यह है कि जिन कर्मों से यह जीवन मूल्य रूप में चुकाया जाता है, उनका पूरा मूल्य चुका नहीं रहता। किंतु वे संचित और प्रारब्ध कर्म, जिनका फल नवीन जन्म में भोगना है, या तो दग्ध हो जाते हैं या इसी जन्म में अन्तरित कर दिये जाते हैं। जीवन्मुक्त को किसी नवीन कर्म का फल नहीं भोगना पड़ता क्योंकि फल उसी व्यक्ति को भोगना पड़ता है जो वासनायुक्त होता है।[१] नाथपंथियों की जीवन्मुक्ति इससे भिन्न है। वे इच्छामृत्यु के साधक हैं, ऐसा हम बतला चुके हैं।

२५—सहज

जीवन्मुक्त और जीवन्मुक्ति शब्दों के समान ही अन्य महत्वपूर्ण शब्द सहजा और सहज हैं। समाधि की अवस्था को सहजावस्था कहा गया है। गोरखबानी में एक स्थान पर 'सहजसमाधि' का जिस प्रकार वर्णन उपलब्ध है, उसके आधार पर उसके लक्षण बतलाये जा सकते हैं। कहा गया है—'नींद स्वप्न में शुक्र का नाश करती है। मार्ग चलने से थकान के कारण आत्मा को अवसाद होता है। (बेकाम) बैठे रहने से खटपट सूझती है। खड़े होने से उत्पात होता है। इसलिये हे पुत्र! गोरख का नथन है कि सहज समाधि में सर्वदा लीन रहना चाहिए।[२] इससे स्पष्ट होता है कि गोरख की दृष्टि से सहज समाधि में निद्रा, यात्रा, खटपट आदि कार्य बिलकुल नहीं होते। यह ऐसी अवस्था है जिसमें शुक्रनाश करनेवाली निद्रा नहीं आती।'

[१] इं० रे० ए०, वा० ७, पृ० ५६३-५६४। [२] गो० बा०, पृ० ७०।

शुक्रस्थैर्य हो जाता है, योगनिद्रा आती है तथा शुक्रस्थैर्य से शरीर अजर-अमर हो जाता है। इस अवस्था में विभिन्न प्रकार की तीर्थादि की यात्राओं की आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि प्राणायामादि में, जैसा पहले कह चुके हैं, यात्रादि श्वास को स्थिर नहीं रहने देते। इससे शिथिलता आती है। अतः तीर्थादि संबंधी यात्रा करने से भी समाधि बाधित होती है, योगी साधन में सचेष्ट नहीं रह पाता। बेकाम बैठने से भी विभिन्न प्रकार की खटपट सूझती है और खड़े रहने पर भी अनेक प्रकार के उत्पात होते हैं। इस प्रकार सहज समाधि इन सबसे रहित है। इसमें शुक्र और प्राण स्थिर हो जाते हैं तथा शरीर को किसी प्रकार आयास अथवा कष्ट नहीं उठाना पड़ता, सरल योगसिद्धि होती है। गोरखवानी के विभिन्न प्रयोगों से इस अर्थ की सिद्धि होती है।

गोरखबानी में योगेश्वर के संबंध में कहा गया है—"वे शब्द का विचार करके व्यवहार करें। शिष्य जितने के अधिकारी हों, उतना ही ज्ञान उन्हें दें।" जितनी वस्तु के योग्य पात्र हों, उतना ही उसमें डालें। इस पर एक प्रश्न उपस्थित किया गया है कि "बर्तन में खूब दबा कर भरने से बर्तन फूट सकता है, बहुत ठूँस कर शिष्य में ज्ञान भरने से वह उसके अनुसार कार्य न कर सकेगा और समस्त मार्ग ही को छोड़ देगा और यदि कुछ बाहर रहने दिया जाय तो जितना अंश बाहर रहेगा वह नष्ट हो जायेगा। वस्तु अधिक है और बर्तन छोटा है। कहो हे गुरु, क्या उपाय किया जाय।" उत्तर में जो कुछ कहा गया है, उससे 'सरलता', 'स्वाभाविकता', 'शिष्य की प्रकृति' आदि भाव स्पष्ट होते हैं—"हे अवधूत सहज स्वाभाविक रूप से शिष्य की मायिकता को लेकर (हटाकर) उसके स्थान पर ज्ञान देना चाहिए। सहज स्वभाव से प्रीति और लौ लग जायगी। सहज (स्वाभाविक) रूप से प्रयत्न किया जायगा तो पात्र स्वयं बड़ा हो जायगा और उसमें सब समा जायगा।" वस्तुतः यह सहज दीक्षा की ही व्याख्या है जिसमें शिष्य की प्रकृति का विशेष ध्यान रखकर ही अनुकूल दीक्षा दी जाती है। तांत्रिक दीक्षा के मूल में भी यही बात दिखाई देती है। यह 'सहजता', 'स्वाभाविकता', प्रकृत्यनुकूलता वस्तुतः गोरखबानी में वर्णित अन्य साधनों में भी दिखाई देती है। गुरुज्ञान को प्राप्त करने, साक्षात्कृत करने के लिये सहज की जीन पर बैठना, पवन को अश्ववत् प्रयुक्त करना, लय को वल्गा बनाना, चेतन आत्मा को सवार बनाना तथा अन्य सभी उपायों को छोड़कर केवल इसी का साधन करना स्पष्ट करता है कि इस संपूर्ण साध

का आधार सहज है, जिसमें किसी प्रकार का कृच्छ्राचार नहीं है। इसी प्रकार साधन कर परब्रह्म रमता राम से चौगान का खेल खेला जा सकता है।[१] गोरख को इस सहज साधन से ही सहजसिद्धि मिली है। पिंड में ही ब्रह्मांड को ढूँढ़ कर गोरख ने यह सर्वसिद्धि पाई थी। इससे आवागमन मिट गया। यह पिंड या काया गढ़ के समान है जिसके अन्दर के दशमद्वार में ताला लगा हुआ है। इसे कुंडलिनी शक्ति के द्वारा खोलना आवश्यक है। इसी गढ़ के अन्दर देव, देवालय और काशी हैं और वहीं अविनाशी परमात्मा सहज स्वभाव से गोरख को मिले हैं। डा० बड़थ्वाल ने यद्यपि यहाँ सहजस्वभाव की व्याख्या नहीं की है, तथापि वर्णन से एवं उनकी अन्य स्थलों की व्याख्याओं से मिलान करने से यह स्पष्ट होता है कि कष्ट,कृच्छ्राचार-बह्याचार से रहित अन्तस्साधन से इस अविनाशी तत्व की उपलब्धि संभव है और इस अन्तस्साधन में काया-ज्ञान, कायाजय, कुंडलिनीसाधन आदि गृहीत हैं। (डा० वड़थ्वाल की स्पष्ट व्याख्या के अभाव में यहाँ 'साध्य अविनाशी तत्व का सहज स्वभाव' अर्थ भी लिया जा सकता है) साधक के अकृत्रिम, स्वाभाविक भाव से ही गुरुदेव भी तुष्ट होकर कृपा की वर्षा करते हैं।[२]

सहज साधन के लिये सहज रहनी आवश्यक है जिसमें सहजक्रिया, सहज-शील, सहज वेश-भूषा भी अन्तर्गणित हैं। 'रहनी' और 'स्वभाव' साधक के लिये परस्परावलंबी हैं। प्राणायाम के लिये या हठ-(चन्द्र-सूर्य)साधन के लिये किस प्रकार मध्यम आचार-विचार-संयम की आवश्यकता होती है, इस विषय में हम पर्याप्त विस्तार से लिख चुके हैं। वहाँ मध्यम आचार-विचार-संयम का जो परिचय दिया गया है, उसमें ही गोरख ने एक स्थान पर 'सहज' शब्द का व्यवहार किया है। "अचानक फट से बोल नहीं उठना चाहिए। जोर से पाँव पटकते हुए नहीं चलना चाहिए। धीरे धीरे पाँव रखना चाहिए। गर्व नहीं करना चाहिए, सहज स्वभाविक स्थिति में रहना चाहिए।" स्पष्ट ही यहाँ सहज स्वाभाविक युक्त आचार-विचार-व्यवहार-भाव की ओर संकेत किया गया है। 'सहजैं रहिबा' से उस 'सहज रहनी' की ओर संकेत प्रतीत होता है जिसके अन्तर्गत जीवन के सभी सामान्य व्यवहार, चलना-फिरना, उठना-बैठना, व्यवहार, भाव, रोना-हँसना आ जाते हैं। इसका विस्तृत वर्णन गोरख ने अपनी वाणियों में किया है। यम-नियम के विवेचन के अन्तर्गत हम पर्याप्त

[१] गो० बा०, पृ० ७८-७९, छं० २४५-२५६; पृ० १०२-१०३, पद १४।
[२] गो० बा०, पृ० ११६, पद २३; पृ० १२५, पद ३१।

विस्तार से इसके संबंध में कह चुके हैं। योगी के शील (चरित्र, आचार आदि) को भी गोरख ने सहज ही बताया है। यह 'योगी इतना शीलवान् है कि शरीर ही मानों स्वाभाविक शील का बना हुआ है।'[१] सहज बाह्याचार और कृत्रिम वेशभूषा का भी विरोधी है। गोरख के अनुसार "नाथयोगी के पास सहज ज्ञान (संभवतः पोथी ज्ञान या शास्त्र ज्ञान का विरोधी) का खप्पर है।" इस कथन से जहाँ एक ओर कृत्रिम थोथे पोथी ज्ञान का विरोध कर स्वानुभूतिक ज्ञान व्यंजित किया गया है वहीं दूसरी ओर स्थूल बाह्याचार के प्रतीक खप्पर को पारमार्थिक अर्थ देकर, अन्तस्साधनात्मक सहज स्वाभाविक तत्वों को ग्रहण करने का उपदेश भी दिया गया है। इस पंक्ति के साथ आने-वाली अन्य पंक्तियाँ भी इसी अर्थ की पुष्टि करती हैं। ऊपर बताया गया है कि गुरु की ओर से शिष्य की माया का आदान आदि क्रियाएँ सर्वथा सहज स्वाभाविक ढंग से की जानी चाहिए। इस प्रकार के सहज साधन और सहज रहनी से पाँचो तत्व वा तन्मात्राएँ या ज्ञानेंद्रियाँ चूर्ण हो जाती हैं।[२] इन्हीं को पूर्ण करने के लिये, वश में करने के लिये अनेक कष्टकर क्रियाएँ अनेक साधक करते हैं।

सहज से संबंधित अन्य शब्द हैं—'सहज सुन्नि', 'समि सुन्नि', 'अतीत सुन्नि'। 'मच्छीन्द्र गोरष बोध' में गोरख के प्रश्न का उत्तर देते हुए मत्स्येन्द्र ने बताया है कि "(साधक की) सहज शून्य में उत्पत्ति होती है, सम शून्य में सतगुरु (परम तत्व को) समझता है तथा अतीत शून्य में (साधक) समाहित हो रहता है। शून्यों के इस वर्णन को मत्स्येन्द्र ने परमतत्ववर्णन कहा है।[3] डा० बड़थ्वाल ने 'मच्छींद्र गोरष बोध' की टीका नहीं की है। अतः यहाँ शून्यों का तथा सहज शून्य का क्या अर्थ है, यह उनके अनुसार उपस्थित नहीं किया जा सकता। 'सहज शून्य' शब्द के अन्य प्रयोगों में कहा गया है कि सहज शून्य में तन-मन स्थिर रहते हैं। डा० बड़थ्वाल ने एक स्थान पर टीका में बताया है कि 'यहाँ नहीं, वहाँ त्रिकुटी के मध्य सहज शून्य में हमारा निवास है।'[४] यदि इन स्थलों पर ध्यान दिया जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि त्रिकुटी के मध्य में स्थित सहज शून्य स्थान में ही साधक के वास्तविक स्वरूप का प्रकाशन होता

---

[१] गो० बा०, पृ० ११ छं० २७; पृ० १७।

[२] गो० बा०, पृ० १४८-१४९; पद ५३; पृ० १५१।

[3] गो० बा०, पृ० १९३।

[४] गो० बा०, पृ० १९५, १३४ तथा टीका।

है, वहीं मन स्थिर होता है। वहीं पर साधक की वास्तविक रहनी होती है। त्रिकुटी में जहाँ तक मनःस्थैर्य का प्रश्न है, साधना के पिछले विवरण से उसकी पुष्टि होती है। त्रिकुटी का स्थान भ्रूमध्य है। यही आज्ञाचक्र का स्थान है जिसे छठाँ चक्र भी कहते हैं। प्रथम पाँच चक्रों में पंचभूतों, तन्निर्मित विषयों एवं इन्द्रियों के स्थैर्य तथा लय का साधन होता है। छठाँ चक्र मन के स्थैर्य एवं लय का स्थान है। हम पहले बतला चुके हैं कि यही त्रिकुटी साधक के ध्यान-साधन का वास्तविक स्थान है। यदि इस प्रकार हठयोगी साधनक्रम के अनुसार सहज शून्य की व्याख्या की जाय तथा इसी प्रकाश में 'समशून्य' और 'अतीत शून्य' का भी अर्थनिरूपण किया जाय तो सहज शून्य के सापेक्षिक वर्णन में ये दोनों क्रमशः ऊर्ध्वतर और ऊर्ध्वतम शून्य कहे जा सकते हैं। हम नाथों के चक्र संबंधी विवरण में बतला चुके हैं कि गोरख की एक रचना के अनुसार, आठ चक्र मान्य हैं। सहस्रार में समाधि की अवस्था मानी गई है जिसमें साधक में पूर्ण समदृष्टि का उदय होता है। उसी में आत्मा-परमात्मा के अद्वैत-ज्ञान के उदय को भी स्वीकार किया गया है। अष्टम चक्र सूक्ष्मचक्र है जिसमें अद्वैतज्ञान भी नहीं रहता। वस्तुतः, यदि अष्टचक्रव्यवस्था स्वीकार की जाय तो यहीं विशिष्ट ज्ञान, सर्वातीत नाथ-पद की उपलब्धि बताई गई है। नाथों का लक्ष्य नाथपद यहीं है। नाथसिद्ध की यही समाधि की अवस्था है। इसी लिये यहाँ ही 'अतीत शून्य' की स्थिति संभव हो सकती है क्योंकि नाथ को सर्वातीत एवं द्वैताद्वैतविवर्जित मानते हैं। इस प्रकार का कोई विवेचन डा० बड़थ्वाल अथवा अन्य किसी विवेचक ने नहीं किया है।

गोरखबानी में अधःशून्य, मध्यशून्य और ऊर्ध्व शून्य नाम के तीन शून्यों का वर्णन मिलता है। डा० धर्मवीर भारती ने इनसे भी ऊपर एक चतुर्थ शून्य बतलाया है। "नाथयोगपद्धति में प्रज्ञा तथा उपाय की बौद्ध भावना का तिरस्कार किया जा चुका था किन्तु त्रिकुटी में शून्य समाधि द्वारा मन को प्रसन्न बनाने और अमृतपान कर चित्त को दृढ़ और काया को अमर बनाने की कल्पना चली आ रही थी। गोरखबानी में कुछ पंक्तियाँ ऐसी मिलती हैं जिनमें शून्य से ऊपर सहज शून्य की कल्पना की गई है और यह बताया गया है कि केवल मात्र शून्य में तो आवागमन लगा ही रहता है किन्तु जिस शून्य में चित्त समाकर स्थिर हो जाता है, वह सहज शून्य है।" इस प्रकार डा० भारती के अनुसार सहज शून्य शून्य से ऊपर है तथा उससे श्रेष्ठ है। पं० परशुराम चतुर्वेदी ने इसी प्रकार गोरखबानी के सहज का प्याला को 'सहज

ज्ञान के आनंद' का वाचक माना है। इसकी उपलब्धि वहाँ होती है "जहाँ सूर्य एवं चन्द्र के उदय के बिना ही ब्रह्मज्योति का प्रकाश हो जाता है।"[१] डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने नाथयोगियों की भावाभावविनिर्मुक्तावस्था को दुर्लभा सहजावस्था बतलाया है। यही नाथयोगियों की परमानुभव की अवस्था है। उन्होंने बौद्ध सिद्धों, नाथसिद्धों एवं संतों के सहज अथवा सहज शून्य शब्दों के विविध प्रयोगों एवं अर्थों का विचार कर बतलाया है कि सहज अथवा सहज शून्य शब्द अकेले अथवा युग्मक के रूप में परमोपलब्धि के वाचक हैं।[२]

जहाँ तक नाथसिद्धों की हिन्दी रचनाओं का संबंध है, उनकी बानियों में 'सहज जुगति' और 'सहज मुखि' शब्द और मिलते हैं जिनका सीधा संबंध तो सहज से है और अप्रत्यक्ष संबंध सहजावस्था या सहज समाधि से है। 'नरवै बोध' में गोरख ने कहा है कि द्वन्द्व का त्याग कर निर्द्वन्द्व रहो, आलिंगन (भोग-विलास) को त्याग कर सांसारिक वासनाओं से निर्बन्ध रहो। (इस प्रकार) सहज युक्ति का आश्रय लेकर आसन करो (जिससे कष्ट न हो) और (इस प्रकार) तन-मन और पवन को दृढ़ करके धारण करो। यहाँ यद्यपि डा० बड़थ्वाल की व्याख्या नहीं मिलती तथापि स्पष्ट है कि आसन, प्राणायाम आदि का ग्रहण इस सहजयुक्ति के अन्तर्गत ही है। कुछ मतों के अनुसार आसन में, सुखप्रदायकता ही मुख्य गुण है। विभिन्न शब्दों के साथ प्रयुक्त होनेवाले 'मुख' शब्द का 'उन्मुख' अर्थ पहले बतलाया जा चुका है। 'गुरुमुख', 'मनमुख' आदि की तरह ही 'सहज मुख' भी एक शब्द है। 'रहनी' के संबंध में भी अभी कह चुके हैं कि सहज-साधन के लिये 'सहज रहनी' आवश्यक है। गोरक्ष को उपदेश देते हुए मत्स्येन्द्र इस सहजता या स्वाभाविकता की ओर उन्मुख रह कर 'रहनी' रहने के लिये कहते हैं।[३]

डा० कल्याणी मल्लिक ने बौद्ध सिद्धों और नाथसिद्धों की साधनापद्धति की तुलना करते हुए नाथसिद्धों के सहज और सहजावस्था का अर्थनिरूपण किया है। बौद्ध सिद्ध लुइपा ने बलपूर्वक कहा है कि मुद्रा, बंध आदि विभिन्न साधनों का

[१] सिद्ध साहित्य, डा० धर्मवीर भारती, पृ० ३५६-३५७; कबीर साहित्य की परख, पृ० २४८।

[२] प्रोसीडिंग ऐंड ट्रांजैक्संस आव दि आल इंडिया ओरियंटल कांफ्रेंस, १९४३-१९४४; १९४६ में प्रकाशित पार्ट ३, 'सहज समाधि ऐंड खसम भाव इन मेडीएवेल इंडिया', पृ० ३८७-३९०।

[३] गो० बा०, पृ० १६९, १९८।

त्याग करना चाहिए क्योंकि इन सब साधनों के होते हुए भी साधक की सामान्य व्यक्तियों जैसी मृत्यु होती है। इसलिये सहज या सरल मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। दूसरी ओर नाथों के हठयोग के ग्रंथों में मत्स्येन्द्र-गोरक्ष आदि द्वारा साधित आसनों का वर्णन मिलता है। योगाभ्यास से शरीरस्थित अनाहत-नाद का श्रवण भी एक दूसरा कठिन साधन है जिसका उपदेश नाथगुरुओं ने किया है। इसी प्रकार कुंडलिनीजागरण और कायासाधन भी साधना के सहज या सरल मार्ग नहीं हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि बौद्धों का सहज मार्ग तथा नाथों के सिद्धान्तों में बहुत अधिक समानता नहीं है। यद्यपि अकुल-वीरतंत्र में मत्स्येन्द्र ने सहज के अनुसरण का उपदेश दिया है पर यह सहज समरस की अवस्था है। यही तांत्रिक बौद्ध मत की सहज समाधि है। नाथ-योगी का लक्ष्य है "अद्वैतपरिवर्ती" नाथपद की उपलब्धि। यह तभी संभव है जब योगी बाह्य मानसिक क्रियाओं से उत्तीर्ण हो जाय जिससे वह स्वानुभूति-गम्य परमतत्व का ज्ञान अपनी स्वानुभूति से प्राप्त कर सके जिसे हम सहज कहते हैं। ये विचार बौद्ध, जैन तथा निर्गुनिया दोहों में मिलते हैं। बौद्ध सहजिया लोगों ने परमेश्वर से एकात्म (स्वानुभूति या प्रातिभ ज्ञान से परमावस्था की प्राप्ति) को सहजसमाधि कहा है। नाथयोगियों ने इसे समरस (विश्व की अनेकता में उस तत्व की एकता का साक्षात्कार) कहा है।[१] इस प्रकार नाथयोगियों के सहज अथवा सहजावस्था संबंधी जो विचार यहाँ उपस्थित किये गये हैं, उनसे स्पष्ट होता है कि नाथ लोग सहज का सामान्य अथ स्वाभाविक या 'नैसर्गिक' स्वीकार करते हैं। सहज पद्धति (बाह्याचारविहीन चन्द्रसूर्यसाधन से समन्वित हठयोग—अन्तस्साधन) से उपलब्ध जो समाधि है, उसे वे सहज समाधि अथवा समरस कहते हैं। प्राणायामादि साधन के अनुकूल जो सहज रहनी है, उसे वे स्वीकार करते हैं। इस साधन में आसन, बंध, मुद्रा आदि भी गृहीत हैं किंतु नाथयोगियों की इनकी अपनी व्याख्या है। बौद्ध सहजिया सिद्धों ने आसन और बंध से समन्वित साधन का ही कष्ट या कृच्छ्राचार कह कर त्याग करने और सहज साधन को ग्रहण करने का उपदेश दिया था। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि 'सहज' शब्द का अर्थ सापेक्ष है। तदनुकूल सहजावस्था अथवा सहज समाधि के अर्थ में भी सापेक्ष परिवर्तन स्वीकार किया जा सकता है।

बौद्ध सिद्धों के 'सहज' का विचार करते समय सहज शब्द के विभिन्न अर्थों पर विचार हम पहले भी कर चुके हैं। अपने 'तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य'

---

[१] सि० सि० प० अ० व०, इंट्रो० पृ० १७, १८, २४।

नामक ग्रंथ में कह चुके हैं कि वज्रयान में, उसके परवर्ती काल में, कुछ ऐसे योगियों का दल उठ खड़ा हुआ था जिसने तांत्रिक साधना की बाह्याडंबरता या वज्रयान का विरोध किया। डा० शशिभूषण दासगुप्त ने उसके दो अर्थ बताये हैं—(१) आत्मगत एवं संसारगत पदार्थों का स्वाभाविक धर्म, (२) मानव प्रकृति और शरीर को अनुचित कष्ट देने की अपेक्षा सत्यानुभव करानेवाला स्वाभाविक मार्ग। उन्होंने बतलाया है कि हमारी यौनवृत्तियाँ ही हमारे स्वभाव की सब कुछ हैं। यह वृत्ति शुद्ध एवं अनाचाररहित होती है। इसीलिये यह आवश्यक है कि यह रागवृत्ति या यौन वृत्ति परमतत्व के साक्षात्कार के लिये नियोजित कर दी जाय। जो स्वाभाविक है, वही सरल भी है। इस प्रकार सहज साधना सहज या स्वाभाविक वृत्ति की साधना है। साधारणतया 'सहज' शब्द का अर्थ 'जाति या जन्म के साथ ही उत्पन्न होना' लिया जा सकता है। धर्मों या पदार्थों में जो स्वभावतः ही रहता है, उसे 'सहज' कहना चाहिए। सहज के ये स्वाभाविक, नैसर्गिक, प्राकृतिक, सरल आदि अर्थ मूलतः सभी प्रकार के अर्थों में विद्यमान मिलते हैं। अपने साधन, दर्शन और लक्ष्य के अनुकूल इसके भिन्न-भिन्न निरूपण मिलते हैं।[१]

नाथसिद्धों की हिन्दी रचनाओं के आधार पर, विशेषकर गोरखबानी के जिन अंशों के आधार पर हमने ऊपर नाथसिद्धों के सहज पर विचार किया है, प्रायः उन्हीं के आधार पर डा० धर्मवीर भारती ने सहज के पाँच अर्थ बतलाये हैं। उन्होंने सहज की परंपरा पर भी प्रकाश डाला है। उनके अनुसार 'शैव पद्धतियों ने ११वीं शती में ही सहज शब्द को स्वीकार कर लिया था किंतु उसके अर्थ बदल दिये थे। इस बात की पूरी संभावना है कि बौद्ध तथा शैव दोनों प्रकार की पद्धतियों ने इस शब्द को किसी तीसरी परंपरा से ग्रहण किया हो। मत्स्येन्द्र के योगिनीकौल मार्ग तथा वज्रयानी सिद्धों के सहजाम्नाय की तुलना करने से यह ज्ञात होता है कि दोनों में ही सहज शब्द का प्रयोग स्वाभाविक प्रवृत्तिमार्ग के अतिरिक्त ऐसी साधनापद्धति के अर्थ में होता था जिसमें पुरुष तथा शक्ति तत्व का समागम किया जाय। ये दोनों तत्व बौद्ध पद्धतियों में प्रज्ञा तथा उपाय और योगिनी कौल मार्ग में शक्ति तथा शिव के नाम से प्रख्यात थे। कौलज्ञान की 'सहजा' आदि शक्तियों के संबंध में हम पहले ही कह चुके हैं। कौलज्ञान में, डा० भारती के अनुसार, साधक स्वकीया गृहणी शक्ति को शरीरस्थ कर अन्दर ही ग्रहण करे। ऐसे व्यक्ति

---

[१] ता० बौ० सा० सा०, पृ० १८५, १९०-१९१।

को सहजानंद की प्राप्ति होती है। यद्यपि बौद्ध आदि की वहाँ निंदा की गई है किंतु उसमें सांप्रदायिक प्रतिद्वंद्विता का आभास अधिक है। डा० भारती मानते हैं कि यदि प्रज्ञा तथा उपाय को शक्ति और शिव की संज्ञा दे दें तो वज्रयानी सहज और कौलज्ञान के सहज में कोई अंतर नहीं रहता, क्योंकि इसी प्रसंग में कहा गया है कि अकुल-वीर-साधना द्वारा जो समरस में प्रतिष्ठित हो जाता है, वही ब्रह्म है, वही शिव है, वही सोम है, वही अर्हन्त है, वही बुद्ध है। किंतु फिर भी योगिनीकौल मार्ग में सहज को शैव रूप दे देने का एक परिणाम अवश्य अनुमित किया जा सकता है। वह यह कि नाथपंथी योगियों को सहज भावना शैवों से प्राप्त हुई होगी। अतः उन्होंने इसे बौद्ध नहीं माना और सहज से वे बराबर शक्ति तथा शिव के संगम के अर्थ लेते रहे, किंतु उसे उन्होंने देहस्थ शक्ति या देहस्थ खेचरी मुद्रा को उपलब्ध करने में लिया होगा।[1] डा० भारती के इस निष्कर्ष के संबंध में एक बात कही जा सकती है और वह यह कि शैवों और बौद्धों के शिव तत्व में मूलतः एवं सिद्धान्ततः भेद है। यह भेद संपूर्ण साधनापद्धति एवं भावनाधारा के परिवर्तन का उत्तरदायी हो सकता है। अतः यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि यदि नाथसिद्धों का सहज शिवशक्तियोग है तो निश्चय ही वह पूर्णतया शैव है। बौद्धों के शिव-शक्ति या उपाय एवं प्रज्ञा से उसकी कोई समानता नहीं। बौद्ध सिद्धों और नाथसिद्धों के संबधनिरूपण के प्रसंग में हम पहले ही इस तथ्य की ओर संकेत कर चुके हैं।

डा० भारती ने जिन ६ अर्थों में 'सहज' का प्रयोग नाथवाणियों में बतलाया है, उनमें से अधिकांश का परिचय हम पहले दे चुके हैं। फिर भी सुविधा के लिये, उसे संक्षेप में देकर हम इस सहज के प्रकरण को समाप्त करते हैं (१) परमतत्व के रूप में सहज—इसमें बतलाया गया है कि पाँचों तत्वों का सहज से ही उद्भव और अंत में सहज में ही विलयन होता है (२) इस सहज को आत्मगत कर साधक को भी सहज स्वरूप धारण करना चाहिए। यह सहज ज्ञान या सहज स्वभाव उन समस्त द्वयताओं से विवर्जित है, भाव-अभाव आदि की द्विविधा इसमें नष्ट हो जाती है और अविनाशी तत्व की प्राप्ति होती है (३) शिवशक्ति के योग की सहज पद्धति में मैथुन का रूपक है। डा० भारती की दृष्टि में सहज का तांत्रिक अर्थ यही था। वज्रयानी सिद्धों ने भी इसे ग्रहण किया था। नाथयोगी हठयोग की साधना में सहजपद्धति को शिवशक्ति

[1] सिद्ध साहित्य, पृ० ३६८-३६९।

के मिलन या जोगी द्वारा जोगिनी के मिलन के रूपकों में रखकर पूर्ववर्ती तांत्रिक परंपरा का निर्वाह करते थे। ये शक्ति और शिव वास्तव में नाद और विंदु हैं। इनमें से शक्ति का वास कुंडलिनी के रूप में, एक दूसरे स्थान पर नीचे बताया गया है और शिव का वास ऊपर। जोगी और जोगिनी के परिणय के रूप में भी इस सहज समागम को चित्रित किया गया है। (४) सहज समाधि पवन का निरोध कर अपनी इन्द्रियों को पूर्णतया वश में करने को सहजसमाधि के रूप में चित्रित किया गया है। (५) परमपद निर्वाण के अर्थ में प्रयुक्त मिलता है। (६) सहज जीवनपद्धति के रूप में भी सहज का प्रयोग मिलता है। यह सहज बाह्य अनुष्ठानों, वाह्याचारों और विधि-निषेधों, अतिचारों से मुक्त मध्यम सहज मार्ग का अर्थ देता है।[१]

हठयोगप्रदीपिका में समाधि का एक और पर्याय 'तुर्या' दिया हुआ है। इसका रूप प्रायः तुरीया माना जाता है। गोरखवानी में इन दोनों में से कोई भी रूप समाधि के अर्थ में नहीं मिलता। 'मच्छींद्र गोरष बोध' में अवश्य ही 'तुरिया बंध' शब्द का प्रयोग मिलता है। कहा गया है—'हे बालयोगी अवधूत मनमुख (या परिशुद्ध मन—उन्मन) से समाधि लगती है। पवनमुख होने से (या पवन साधन करने से—उसके उन्मुख होने पर) उपाधियाँ छूटती हैं। सुरतिमुख से तुरीया बंध लगता है तथा गुरुमुख से (साधक) अजरामर शरीरवाला हो जाता है।' मोनियर विलियम्स ने तुरीया को आत्मा की चौथी अवस्था बतलाया है। यह आत्मा की शुद्ध निर्गुण ब्रह्म की अवस्था है।[२] इस अर्थ के अनुसार गोरखबानी के उपर्युक्त उद्धरण में 'तुरिया बंध' का अर्थ 'आत्मा की चौथी अवस्था का बंध' अर्थ होना चाहिए जिसमें आत्मा परम शुद्ध ब्राह्मी अवस्था में अवस्थित हो जाती है। हठयोग के किसी नाथपंथी ग्रंथ में 'तुरीया बंध' शब्द नहीं मिलता।

२६—निष्कर्ष

नाथपंथी हिन्दी रचनाओं में विवेचित नाथों के योग के इस विस्तृत परिचय

---

[१] भिन्न भिन्न अर्थों के लिये क्रमशः निम्नलिखित संदर्भ द्रष्टव्य– (१) गो० बा०, पृ० १००, १८९; योग प्रवाह—डा० बड़थ्वाल, पृ० २२७; (२) गो० बा०, पृ० १९६, ११६—सिद्ध साहित्य पृ० ३६९–३७० (३) गो० बा०, पृ० १००, १९६, १०५—सिद्ध साहित्य पृ० ३७० (४) गो० बा०, पृ० १०४, ११८, (५) गो० बा०, पृ० २३१, (६) गो० बा०, पृ० ७९. ११, सिद्ध साहित्य, पृ० ३७१।

[२] संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी—मो० वि०, पृ० ४५१।

से हम कुछ निष्कर्षों पर पहुँच सकते हैं। संस्कृत नाथपंथी रचनाओं के योग पर जिस प्रकार तांत्रिक प्रभाव मिलता है, उसी प्रकार हिन्दी रचनाओं पर भी। हिन्दी रचनाओं का योग संस्कृत रचनाओं के योग के अधिकांशतः अनुकूल है। हिन्दी रचनाओं के अनुसार नाथपंथियों का लक्ष्य है—हठयोग और समाधि योग या राजयोग की सहायता से शरीर में निर्वाण पद, परमपद, नाथपद या द्वैताद्वैतविवर्जित पद प्राप्त करना। इस साधन में 'निगुरा' या गुरुहीन व्यक्ति के लिये कोई स्थान नहीं है। गुरु ही जीवनशक्ति या साधक की शक्ति को ब्रह्मग्रंथि से मुक्त करता है। संस्कृत ग्रंथों के अनुसार ही ३२ और ३६ तत्वों का विचार हिन्दी रचनाओं में भी मिलता है। ३२ तत्वों की आठ परीक्षाओं से नाथों के योग में अधिकारभेदवाद की पुष्टि होती है। नाथों का गौण लक्ष्य पिंडसिद्धि या कायसिद्धि या सिद्धदेहप्राप्ति है। चार तत्वों की पूर्ति और पोषण गुरु की सहायता से ही होता है। गुरुकृपा होने पर ही पिंडसिद्धि संभव है। इसलिये नाथपंथी हिन्दी रचनाओं में गुरुमुख का इतना महत्व है। अन्य नाथपंथी सिद्धों की हिन्दी रचनाओं में भी इन सिद्धांतों का परिचय मिलता है। गुरु के जो रूप इन रचनाओं में मिलते हैं, वे परीक्षक, पूरक, पोषक, और बोधक के हैं। इसी प्रकार कुछ और रूपों की ओर भी संकेत किया गया है। ऊपर जिस अधिकारभेदवाद की चर्चा की गई है, उससे स्पष्ट है कि परीक्षाओं के आधार पर अधिकारनिर्णय को स्वीकार किया गया है। नाद की चार क्रमिक अवस्थाओं के अनुसार योगी की चार अवस्थाओं का परिचय मिलता है।

नाथसिद्ध योगयुक्त ज्ञान को स्वीकार करते हैं। अर्थात् वे आध्यात्मिक साधन के लिये आधिभौतिक और आधिदैविक साधनों को स्वीकार करते हैं। उनका परमतत्व सदसत्, निर्गुण-सगुण, द्वैत-अद्वैत से अतीत है, अनिर्वचनीय है। नाद के रूप में यह गगनशिखर में साक्षात्कृत होता है। वे योग से ही काया की रक्षा, योग से ही शरीर का शोधन, योग से ही शरीर का जप और योग से ही शरीर में परमपद का साक्षात्कार संभव मानते हैं। यह सब तब तक संभव नहीं जब तक पिंडज्ञान न हो। ब्रह्मांड और पिंड का संबंधज्ञान आवश्यक है। इसलिये नाथपंथी लोग पिंडब्रह्मांडवाद को भी अपने योगसाधन के लिये आवश्यक मानते हैं। वे पिंड और ब्रह्मांड के एकत्वज्ञान को, सामरस्य को बहुत महत्व देते हैं क्योंकि उनका लक्ष्य है नाथस्वरूप से अवस्थान या पिंडपद का परमपद में समरसीकरण। इसीलिये वे पिंडरक्षा को अत्या-

वश्यक मानते हैं। अनंत ब्रह्मांड में पिंड की दृढ़ता, एकत्व, समरसत्व, परमानंदमयी क्रीड़ा, परमानंदमय ब्रह्मांड में परम स्वच्छंद आनंदमय पिंड की क्रीड़ा नाथों का श्रेय है। यह क्रीड़ा तबतक असंभव है जबतक 'पिंडसंवित्ति' न हो। इसी 'संवित्ति' के लिये 'प्राणसंकली' जैसी रचनाओं में बड़े विस्तार से पिंडपरिचय दिया गया है। इस पिंडब्रह्मांडवाद या पिंडसाधन के निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि नाथसिद्ध जीवात्मा की मुक्ति के साथ-साथ शरीर की भी मुक्ति चाहते हैं। यद्यपि योग से शरीर और मन मुक्त हो जाते हैं तथापि इसकी तथा चित्त की विमुक्ति के लिये ज्ञान आवश्यक है। शुद्ध ज्ञानवादियों से नाथयोगियों का वैलक्षण्य यह है कि ये पिंडसिद्धि और इच्छामृत्यु को भी ज्ञान (या परमज्ञान) के साथ आवश्यक मानते हैं। वस्तुतः नाथों का योग, ज्ञान और योग का समन्वित साधन है। इस साधन में विंदुसाधन आधिदैविक, प्राणसाधन आधिभौतिक और चित्तसाधन या मानससाधन आध्यात्मिक साधन समन्वित हैं। नाथों के मन-पवन-साधन से भी इसी तथ्य की ओर संकेत होता है। इसी साधन से पिंड और परमपद की सिद्धियाँ सम्भव मानी गई हैं।

अष्टांग पातंजल योग को नाथों ने उसी रूप में स्वीकार नहीं किया है। हिंदी रचनाओं में यम-नियम का नाम नहीं मिलता, किंतु उनके विभिन्न अंगों का परिचय मिलता है। उनमें कोई क्रम नहीं है और न उनका एकत्र वर्णन है। संस्कृत ग्रंथ हठयोगप्रदीपिका में यम-नियम दशांग हैं और 'शारदातिलक' से लिये गये प्रतीत होते हैं। नाथसिद्धों ने यम-नियम के अंगों को स्वीकार कर लिया है किन्तु वे पातंजल यम-नियम नहीं हैं। हिन्दी रचनाओं में किस यम-नियम को स्वीकार किया गया है, यह निश्चित नहीं कहा जा सकता। 'गोरष उपनिषद' में अवश्य ही अष्टांग योग को स्वीकार करते हुए भी षडंग योग को महत्ता दी गई है। यम-नियमगत तांत्रिक अंगों को नाथपंथी भी प्राणायाम को दृष्टि में रखते हुए अत्यावश्यक मानते हैं। दशांग यम-नियम को स्वीकार कर लेने के कारण ही 'अहिंसा' तत्व का भी नाथों ने उपदेश दिया। यम-नियमगत अंगों में से नाथयोगियों ने अपनी हिन्दी रचनाओं में अहिंसा, ब्रह्मचर्य, मिताहार, आर्जव आदि का विस्तार से वर्णन किया है। वे नारी के कामिनी रूप का त्याग कर और जननी रूप या मातृरूप या सुन्दरी के पारमार्थिक प्रतीकात्मक 'सुषुम्नासुन्दरी' रूप का साधन करने को कहते हैं। नियम, व्रत, तप, दान, ईश्वरपूजा, जप, होम का नाथवाणियों में विस्तृत परिचय मिलता है।

यम, नियम के बाद ही नाथों के अपने विशेष साधन षडंग योग का आरंभ होता है। नाथों को हठयोगी कहते हैं। हठसाधन तथा तत्संबंधित विभिन्न पारिभाषिक शब्दों का विचार कर बताया गया है कि यह वस्तुतः नाड़ीसाधन प्राणसाधन या शिवशक्तियोग है। यह आचार-संयमगत मध्यममार्ग के अतिरिक्त हठयोग का साधनगत मध्यममार्ग है। दूसरे शब्दों में यह 'संधि-साधन' या कलासाधन या अमृत कला का साधन है। यम-नियम के बाद का अंग आसन है जिसका विस्तृत विचार नाथवाणियों में नहीं मिलता। आसन में भी अद्वय भूमि सुषुम्ना का आसन मुख्य माना गया है। निश्चय ही यह पारमार्थिक और प्रतीकात्मक है। प्रारंभिक साधन में बाह्य आसनों की आवश्यकता स्वीकार की गई है। शरीर के आन्तरिक अंगों के शोधन के लिये षटकर्म और प्राणायाम में से कोई भी स्वीकार्य हो सकता है। नाथवाणियों में षटकर्मों का वर्णन नहीं मिलता। इससे प्रतीत होता है कि कृच्छ्राचारप्रधान षटकर्मों को नाथों ने स्वीकार नहीं किया है। इसके विपरीत प्राणायाम का बड़े विस्तार से बहुविध वर्णन नाथवाणियों में मिलता है। योगसाधन के लिये नाथों ने इसकी महत्तम उपयोगिता स्वीकार की है। उसी के साधन से अन्य परवर्ती कठिन साधन सरल और साध्य हो जाते हैं। इस प्राणायाम से ही नाड़ीशोधन, कुंडलिनीजागरण, षट्चक्रवेध, लयसाधन, उन्मनीसाधन, प्रणवसाधन नादानुसंधान आदि साधन साध्य हैं। यम-नियम संबंधी आचारों और संयमों का विचार भी प्राणायाम को ध्यान में रखकर ही किया गया है। प्राणायाम का सीधा संबंध नाड़ीशोधन से है। नाद-विन्दु-साधन के लिये भी इस प्राणायाम की ही सहायता लेनी पड़ती है। आगे बताया गया है कि इस पवनसाधन या प्राणसाधन से योगाग्निप्रज्वलन या कुंडलिनीप्रबोध, शरीर की चौंसठ संधियों में वायु का संचरण (और शोधन), काया का परिवर्तन, नवद्वाररोध, उन्मनी-योग-साधन, विंदुस्थैर्य, ऊर्ध्वोधः वायु-साधन से ब्रह्मरन्ध्रादि सिद्धि, ज्योतिप्रकाश, अनाहतनादश्रवण, ध्यानसाधन, नित्य आरोग्य, पवन को उलट कर प्रेरित करने से षट्चक्रवेध, महारससिद्धि एवं शिवशक्तियोग, परमात्मप्राप्ति, मन की अचलता, द्वादशांगुल पवन के निरोध से अजरत्व एवं अमरत्व की प्राप्ति, मन-पवन के योग से अनाहतनादश्रवण आदि सिद्ध होते हैं। बन्धों का नाथवाणियों में विस्तृत वर्णन नहीं मिलता। मुद्रा का परिचय यद्यपि नाथवाणियों में मिलता है तथापि उसका अर्थ और वर्णन संस्कृत के हठयोगी ग्रंथों के समान नहीं है। वहाँ घटस्थ मुद्राओं का ही वर्णन मिलता है। इनका सीधा संबन्ध मानस-विन्दु-नियंत्रण से है। इसी प्रकार

नाद के अनुभव की तीन अवस्थाओं का भी वर्णन मिलता है जिसके साधन का प्राणायाम से घनिष्ठ सम्बन्ध है। संस्कृत ग्रन्थों में वर्णित नाद की चार स्थितियों का वर्णन है। इसके अतिरिक्त प्राणायाम से प्रणवसाधन और अजपाजाप का सम्बन्ध है। प्रणव ही नाथपन्थियों का 'स्वसंवेद' और 'सूक्ष्मवेद' है। वे केवल इस सूक्ष्मवेद प्रणव को ही स्वीकार करते हैं। यह प्रणव तत्व भी उनकी दृष्टि में संपूर्ण सृष्टि में व्याप्त है। जप में भी वे केवल 'अजपाजाप' को ही स्वीकार करते हैं जिसका आधार श्वास-प्रश्वास-साधन है इस प्रकार इस प्राणायाम के बहुविध रूप और उसकी महती उपयोगिता को देखते नाथयोगियों के अनुसार प्राणायाम का महत्व उचित ही है।

प्राणायाम के बाद प्रत्याहार का स्थान है। यह प्रत्याहार आध्यात्मिक साधन है। योगमार्तण्ड के अनुसार प्रत्याहार चन्द्रामृतमयी धारा का भास्कर से प्रत्याहरण है। उसकी दूसरी परिभाषा है—'मन का विषयों से आहरण।' आहरण की ये दोनों प्रकार की क्रियाएँ यद्यपि नाथवाणियों में किसी न किसी रूप में वर्णित मिलती हैं किन्तु प्रत्याहार नाम कहीं भी नहीं मिलता। ऐसा प्रतीत होता है कि इनमें प्रथम परिभाषा हठयोगसाधन के क्रम में है और दूसरी परिभाषा राजयोग या समाधियोग के क्रम में है। इन्द्रियों को उनके विषयों से प्रत्याहृत कर लेना इसी के अंतर्गत है पातंजल योग के अंगों के क्रम के अनुसार प्रत्याहार के बाद धारणा का स्थान है। धारणा बाह्य और अंतस् के साथ एकमात्र निज तत्व स्वरूप का अन्तःकरण से साधन है। इस क्रिया में पंचभूतों का पृथक्-पृथक् धारण एवं मानस का निश्चलत्वसंपादन होता है। इस साधन का 'धारणा' नाम से वर्णन नाथवाणियों में नहीं मिलता अपितु इसके अन्तर्गत वर्णित होने वाले षट्चक्रभेद, लययोग, भूतविजय, कुंडलिनीसाधन, विपरीतकरणी, अमृतसाधन या रससाधन आदि के वर्णन मिलते हैं। नाथवाणियों में चक्रों का विस्तार से वर्णन मिलता है। उन रचनाओं में षट्चक्र और अष्टचक्र का वर्णन मिलता है। गोरख के नाम से प्रसिद्ध 'अष्टचक्र' नाम की रचना में आठ चक्रों का वर्णन है और 'गोरष मच्छीन्द्र बोध में' छ चक्रों का वर्णन उपलब्ध है। तांत्रिकों के मुख्य चक्र ७ हैं और नाथयोगियों की कुछ रचनाओं में आठ चक्र मान्य हैं। तांत्रिक सप्तम चक्र सहस्रार से अद्वैतानुभूति करते हैं और नाथगण अष्टम चक्र में द्वैताद्वैतविवर्जितानुभूति करते हैं। नाथवाणियों के अधिकांश विवरण तांत्रिकों के षट्चक्र (+सहस्रार=७) सिद्धांत ही स्वीकार करते हैं। षट्चक्रों या अष्टचक्रों से संबंधित विभिन्न तत्वों,

स्थानों, पदार्थों या गुणों के विभिन्न पर्यायों का परिचय नाथवाणी में मिलता है। इनकी एक पर्याप्त लंबी सूची उपस्थित की जा सकती है। कुंडलिनी साधन से ही संबधित विपरीतकरण भी एक प्रकार की महत्वपूर्ण क्रिया है और इसका भी वर्णन नाथवाणियों में मिलता है। विभिन्न षट्चक्रों या अष्टचक्रों के समान कुंडलिनी के नाम नाथवाणियों में मिलते हैं जिनमें से अधिकांश को तांत्रिक योगपरक रचनाओं और हठयोगी ग्रन्थों के शब्दों की परम्परा से गृहीत बतलाया जा सकता है। कुछ नाम पूर्णतया लोक-जीवन से गृहीत रूपकों के अनुसार दिये गये हैं जिन्हें प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में नहीं पाया जाता। किन्तु इतना निश्चित है कि प्रायः सभी शब्दों की किसी न किसी प्रकार दार्शनिक या साधनात्मक व्याख्या उपस्थित की जा सकती है।

धारणा के उपरांत ध्यान का स्थान है। यह परमाद्वैत भाव है। नाथवाणियों में ज्योतिर्ध्यान का वर्णन मिलता है। किंतु नाथों की ध्यानक्रिया यत्नज और परिश्रमसाध्य नहीं है। वह सहज एवं जीवन की सामान्यक्रियाओं में भी अनुस्यूत है। अंतिम अंग समाधि है। यह समरसावस्था है। इस अवस्था का बड़े विस्तार से वर्णन नाथपंथी संस्कृत ग्रन्थों में मिलता है। हठयोग-प्रदीपिका में तो इसके पर्यायों की एक लंबी सूची ही दे दी गई है। उसके अधिकांश शब्दों का प्रयोग नाथवाणियों में 'समाधि' के लिये मिलता है। इन शब्दों का विस्तार से विचार किया गया है। इन्हीं में सहज, शून्य जैसे महत्वपूर्ण शब्द भी अन्तर्गणित हैं। इन शब्दों के साथ 'मुक्ति' शब्द का भी प्रयोग और विचार मिलता है।

इस प्रकार नाथों के योग में हठयोग राजयोग का पूरक है और हठयोग समन्वित राजयोग, दूसरे शब्दों में योगयुक्त ज्ञान, के साधन से वे नाथसिद्ध कायसिद्धि या पिंडसिद्धि या सिद्धदेह या इच्छामृत्यु की सिद्धि के सहित पिंडपद के परमपद में समरसीकरण अथवा नाथस्वरूप से अवस्थान की उपलब्धि करना चाहते हैं।

ग्यारहवाँ परिच्छेद

संतों का योग और नाथों के योग के साथ उसका तुलनात्मक अध्ययन

पूर्व के परिच्छेदों में हमने शैवों और वैष्णवों के योग का परिचय उपस्थित किया है। यहाँ हम उस विवेचन के प्रकाश में संतों के योग का विचार करेंगे। वहाँ कहा जा चुका है कि वैष्णवों और शैवों, दोनों पर, उनकी साधनपद्धतियों पर, तांत्रिक साधन का प्रभाव पड़ा है। शैवों पर तांत्रिक प्रभाव किस प्रकार है, इसका विचार हम पहले कर चुके हैं और यह भी देख चुके हैं कि नाथों की संस्कृत और हिन्दी रचनाओं में मिलनेवाले योग पर भी उसका पर्याप्त प्रभाव है। पहले कहा गया है कि पांचरात्र साहित्य अंशतः वैदिक है और अंशतः तांत्रिक। इसी तंत्रप्रभावित पांचरात्र वैष्णव साहित्य में प्रकाशित वैष्णव साधन का विकास और विवेचन आगे चलकर रामानुजी वैष्णव मत तथा अन्य वैष्णव मतों में हुआ। इस वैष्णव साहित्य में उपलब्ध योग के स्वरूप का एक परिचय पहले उपस्थित किया जा चुका है। सुविधा की दृष्टि से उसके कुछ निष्कर्षों की ओर संकेत किया जा रहा है।

१—वैष्णव ग्रन्थों के योग की उपयोगिता और आलोचकों के विभिन्न मतों की समीक्षा

वैष्णव रचनाओं में से विष्णु संहिता, जयाख्य संहिता, परम संहिता अहिर्बुध्न्य संहिता, पद्मपुराण, नारदीय पुराण, नारद पंचरात्र, शांडिल्य भक्ति-सूत्र, नारदभक्तिसूत्र और वैष्णवमताब्जभास्कर का विचार किया गया है। रामानुज मत के आचार्यों ने भी योग के साधन को स्थान दिया था। ये वैष्णव ग्रंथ षडंगयोग और अष्टांगयोग दोनों को स्वीकार करते हैं। भक्ति की प्राप्ति के लिये योग की आवश्यकता मानी गई है। विष्णु संहिता इसे भागवत योग कहती है। जयाख्य संहिता ने भक्त को योगी कहकर लयसाधन, मंत्रसाधन, इन्द्रियनियमन, चित्तसंयम, प्राणायाम, आसन, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा आदि का वर्णन करते हुए ब्रह्मरन्ध्रपथ के उद्घाटन की ओर संकेत किया है। परम संहिता में योगसाधन को स्वीकार करते हुए भी कष्टकर

क्रियाओं का निषेध किया गया है। अहिर्बुध्न्य संहिता ने बड़े विस्तार से नाद, नादविकास, नादानुसंधान का वर्णन किया है। यह वर्णन दार्शनिक आधार पर किया गया है। इसी प्रकार षट्चक्रभेद, नाड़ी शोधन, प्राणायाम, आसन, दशांग यम-नियम का भी वर्णन मिलता है। योग दो प्रकार का बताया गया है—(१) ध्यान की सहायता से किया हुआ आत्मसमर्पण या हृद्योग और (२) योग। अहिर्बुध्न्य का हृद्योग पर विशेष आग्रह है। पद्मपुराण में कायिक (लौकिक), वाचिक (वैदिकी) और मानसिक (आध्यात्मिकी) ब्रह्मभक्ति में से मानसिक या आध्यात्मिक ब्रह्मभक्ति के दो भेद बताये गये हैं—(१) सांख्यभक्ति में २४ तत्वों का ज्ञान, परमतत्व पुरुष से उनका भेदज्ञान तथा परम पुरुष तथा जीव का परस्पर संबंधज्ञान गृहीत है। (२) योगभक्ति में प्राणायाम का अभ्यास और परब्रह्म का ध्यान गृहीत है। नारदीय पुराण मन की अन्तर्मुखी साधना को योग कहता है। नारद पंचरात्र में वैष्णव योग का बड़े विस्तार से विवेचन मिलता है। उसमें हरिभक्ति उत्पन्न करनेवाले ज्ञान को वास्तविक ज्ञान कहा गया है। पाँच प्रकार के ज्ञानों में से योगज्ञान भी भक्तिप्रदायक और सिद्धिदायक है किंतु भक्त बिना कृष्णभक्ति के सिद्धियों की वांछा नहीं करते। इसके अनुसार योगी भी अन्ततः भक्ति का आश्रयण करता है। नारद पंचरात्र ने भी कुंडलिनी-योग, षट्चक्रभेद, नाड़ी- शोधन, प्राणायाम, नादानुसंधान आदि का वर्णन किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये साधन योगज्ञान में अन्तर्भूत हैं तथा योगज्ञान भक्तिज्ञान का उपकारक है। शांडिल्य के अनुसार राजयोग ज्ञानयोग का एक अंग है और ज्ञानयोग भक्तियोग का अंग है। 'वैष्णवमताब्जभास्कर' में सुषुम्ना मार्ग और यमनियम-साधन का परिचय मिलता है। रामानुजमत में योगिप्रत्यक्ष को मानसप्रत्यक्ष कह कर उसे भी प्रमाण माना गया है।

इस प्रकार वैष्णव भक्ति साहित्य और मत में भी योग को साधनांग के रूप में स्वीकार किया गया है। किन्तु केवल उसी योग को ग्राह्य और सार्थक बताया गया है जो भक्ति की उत्पत्ति और प्राप्ति में सहायक हो। दूसरी बात यह है कि जिस योग का परिचय मिलता है वह यम-नियम, आसन, प्राणायाम, कुंडलिनी-साधन, षट्चक्रवेध, नाड़ीसाधन आदि से समन्वित है। तीसरी बात यह है कि इस योग का भक्ति से पृथक् कोई महत्व नहीं है। चौथे, किसी न किसी रूप में योग से चित्तसंयम कर ध्यान की सहायता से जीवात्मा-परमात्मा की एकात्मोपलब्धि को ही ये लोग योग कहते हैं। कुछ ग्रंथ इसमें 'समर्पण' तत्व का भी समन्वय करते हैं।

संतों के योग के प्रसंग में वैष्णव साहित्य में प्राप्त योग का परिचय देना आवश्यक इसलिये समझा गया कि अभी तक संतों के योग को केवल नाथपंथियों की ही देन समझा जाता रहा है। अभी तक संत साहित्य पर विद्वानों ने जो कुछ भी विचार किया है उनमें योग और भक्ति का स्थान-निरूपण और स्रोत-निरूपण मुख्य हैं। भक्ति का विचार हम पहले ही कर चुके हैं। संतों को योग शैव परंपरा से मिला था या वैष्णव परंपरा से, इसका निश्चय हम यहाँ करना चाहते हैं। संतों की भक्ति और योग का संबंधनिरूपण और स्वरूप-निर्माण भी करना आवश्यक है। स्रोत, संबंध और स्वरूप में से प्रथम दो का विवेचन पं० रामचन्द्र शुक्ल ने करते हुए बतलाया था कि गोरखनाथ के नाथ-पंथ का मूल बौद्धों की वज्रयान शाखा थी। बौद्धों की इस शाखा की विशेषताएँ थीं—अन्तस्साधना पर जोर और पंडितों को फटकार, दक्षिणमार्ग छोड़कर वाममार्गग्रहण, वारुणीप्रेरित अन्तर्मुख साधना, साधना में मद्य तथा स्त्रियों का विशेषतः डोमनी रजकी आदि का अबाध सेवन, घट के भीतर विहार, महा-सुखवाद और युगनद्ध। उनके अनुसार यद्यपि नाथपंथ का मूल यही वज्रयान शाखा थी किन्तु गोरखनाथ की शाखा योगियों की हिंदू शाखा थी और उसने वज्रयानियों के अश्लील और बीभत्स विधानों से अपने को अलग रखा। गोरख ने हठयोग का प्रवर्तन किया। योगियों की इस शाखा की विशेषताएँ थीं—रसायन सिद्धि, ईश्वरवाद, हिन्दू मुसलमानों का सामान्य साधनामार्ग, ईश्वरोपासना के बाह्य विधानों के प्रति उपेक्षा, घट के भीतर ही ईश्वर को प्राप्त करने पर जोर, वेदशास्त्र के अध्ययन की व्यर्थता और विद्वानों के प्रति अश्रद्धा, तीर्थाटन आदि की निष्फलता, अन्तस्साधना, परमात्मा की अनिर्वचनीयता, जाँति-पाँति का खंडन, सद्‌गुरु की महत्ता, आत्मनिग्रह, श्वासनिरोध, भीतरी चक्रों, नाड़ियों का वर्णन आदि। इस प्रकार नाथपंथियों ने वज्रयानियों की परम्परा अपने ढंग पर जारी रखी। शुक्ल जी के मतानुसार 'आगे चलकर भक्तिकाल में निर्गुण संत सम्प्रदाय···वेदान्त के ज्ञानवाद, सूफियों के प्रेमवाद तथा वैष्णवों के अहिंसावाद और प्रपत्तिवाद को मिलाकर सिद्धों और योगियों द्वारा बनाये हुए इस रास्ते पर चल पड़ा।' हृदयपक्षशून्य सामान्य अन्तस्साधना का मार्ग नाथपंथी निकाल चुके थे। उसमें प्रेमतत्व का अभाव था। इस प्रकार 'कबीर ने भारतीय ब्रह्मवाद के साथ सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद, हठयोगियों के साधनात्मक रहस्यवाद और वैष्णवों के अहिंसावाद तथा प्रपत्ति-वाद का मेल करके अपना पंथ खड़ा किया।' उन्होंने हठयागियों के साधना-

त्मक रहस्यवाद के कुछ सांकेतिक शब्दों—चंद, सूर, नाद, विंदु, अमृत, औंधा कुआँ—को लेकर अद्भुत रूपक बाँधे हैं। परम्परा का विचार करते हुए उनका स्पष्ट अभिमत है कि 'अहिंसा और प्रपत्ति के अतिरिक्त वैष्णवत्व का कोई अंश उसमें (संत साहित्य में) नहीं है। उसके 'सुरति' और 'निरति' शब्द बौद्ध सिद्धों के हैं।...सुरति और निरति शब्द योगियों की वाणियों से आये हैं, वैष्णवों से उनका कोई सम्बन्ध नहीं।'[1] इससे स्पष्ट है कि शुक्ल जी संतों के योग को नाथों की परम्परा में मानते हैं। यह नाथों का योग भी वज्रयानियों के योग की परम्परा से आया था यद्यपि नाथों ने उसमें कुछ परिवर्तन कर लिया था। शुक्ल जी यद्यपि यह मानते हैं कि रामानंद की जाति-वर्ण सम्बंधी उदारता नाथपंथियों से प्रेरित नहीं थी, अपितु वैष्णवभक्ति के अनुसार थी तथापि कबीर के संबंध में विचार करते समय वे इस प्रवृत्ति को मुसलमानों या योगियों की देन मानते हैं। रामानंद कबीर के गुरु थे। रामानंद ने योगसाधना नहीं की थी और न उसे किसी रूप में स्वीकार ही किया था। योगचिंतामणि, रामरक्षा आदि ग्रंथ भी उनके नहीं हैं। तुलसी के संबंध में विचार करते समय उन्होंने जो एक अति महत्वपूर्ण बात कही है, वह यह है कि तुलसी की भक्ति को धर्म और ज्ञान दोनों की रसानुभूति कह सकते हैं। 'योग का भी उसमें समन्वय है, पर उतने ही का जितना ध्यान के लिये चित्त को एकाग्र करने के लिये आवश्यक है।'[2] पं० रामचन्द्र शुक्ल के इन विचारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि संतों को योग नाथपंथियों से मिला तथा उनके गुरु रामानंद योग के न तो साधक थे न उपदेशक। संतों के योग का स्रोत बौद्ध सिद्धों और नाथसिद्धों की साधना से प्रवाहित होता आ रहा था।

शुक्ल जी के बाद विचारकों ने कुछ भिन्न विचार व्यक्त किये। डा० बड़थ्वाल ने कबीर का जातिगत संबंध भी किसी न किसी रूप में नाथपंथियों से माना, जिसका विस्तृत विचार हम पहले ही कर चुके हैं। राहुल सांकृत्यायन ने पहले संतो का बौद्ध सिद्धों से संबंध जोड़ने में कठिनाई का अनुभव किया था। बाद में डा० बड़थ्वाल के 'हिंदीं कविता में योग प्रवाह' निबंध के प्रकाशित हो जाने पर पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय को यह संबंधस्थापन अति सरल अनुभूत हुआ क्योंकि १२वीं से १५वीं शताब्दी तक के व्यवधान को

[1] हिं० सा० इ०, शुक्ल जी, पृ० ९–१३, १३–२१, ६३–६४, ७७, ७८, ९२–९३।

[2] वही, पृ० ११८, १२०, १२२, १४०।

पूरा करने के लिये नाथपंथी योगियों की रचनाओं का एक सामान्य परिचय उनके सामने प्रस्तुत था। उन सभी बातों को ध्यान में रखकर डा० बड़थ्वाल ने गोरखबानी की भूमिका में लिखा था—नाथयोगियों की बानियाँ हमारे साहित्यिक और सांस्कृतिक विकास की लड़ी में एक महत्वपूर्ण कड़ी हैं।[1] इस प्रकार डा० बड़थ्वाल ने बौद्ध सिद्धों से लेकर कबीर तक साधना की एक ही परम्परा का दर्शन किया। इस बात को और भी स्पष्ट करने के उद्देश्य से उन्होंने संतों के पारिभाषिक शब्दों की परंपरा की खोज कर उनका वर्ग-विभाजन किया। इन वर्गों में से एक वर्ग ऐसा है जिसमें 'शून्य', 'विज्ञान', 'निर्वाण' जैसे शब्द गृहीत हैं और बौद्ध धारा की ओर संकेत करते हैं। इस धारा के शब्दों के अर्थ में बहुत परिवर्तन हो गया है। इस प्रकार के शब्दों के प्रयोग और उनके अर्थ में परिवर्तन का मुख्य कारण नाथपंथियों की योग-पद्धति है।[2] अपनी इस स्थापना को वे और अधिक स्पष्ट और सुनिश्चितरूप देते हुए कहते हैं 'गोरखनाथ के आसनों का प्रसंग यदि छोड़ दिया जाय तो उनमें तथा निर्गुण संप्रदाय के संतों में एक आश्चर्यजनक समानता दिखाई पड़ेगी। केवल शुक्ल कला ही नहीं अपितु शब्दावली भी दोनों की एक समान है। सुरति, निरति, उन्मन आदि शब्दों को गोरखनाथ एवम् अन्य संतों ने अपनी हिंदी रचनाओं के अंतर्गत एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया है।'[3] यहाँ तक के विचारों में पं० रामचंद्र शुक्ल और डा० बड़थ्वाल में समानता दिखाई पड़ती है। भिन्नता यह है कि डा० बड़थ्वाल ने राघवानंद और रामानंद दोनों को योग का साधक और उपदेशक माना है। राघवानंद रामानंद के गुरु थे तथा जनश्रुति से इतना ज्ञात है कि वे रामानुजी संप्रदाय के महात्मा थे और योगक्रिया में पारंगत थे। उन्होंने अनुमान किया है कि जिस समय दक्षिण से आकर श्री यामुनाचार्य और रामानुजाचार्य की वैष्णव भक्ति का उत्तर में प्रचार हुआ उस समय वहाँ योगसंप्रदाय का बहुत प्रचार था। इस नवीन भक्ति के प्रभाव में योगसंप्रदाय के बहुत से लोग आ गये। परंतु साथ ही इन लोगों ने पुराने मार्ग की बातों को जो उनके अस्तित्व के अभिन्नांश हो गये थे, त्यागा नहीं। उन्हें नई परिस्थितियों के साथ समन्वित कर लिया। इसीलिये हमें रामानंद, कबीर, रैदास आदि उनके उत्तराधिकारियों में योग और भक्ति का

[1] गो० बा०, भूमिका, डा० बड़थ्वाल, पृ० ११।

[2] हिंदी काव्य में निर्गुण संप्रदाय, डा० बड़थ्वाल, प्रस्तावना, पृ० ज, झ।

[3] वही, डा० बड़थ्वाल, मूल पृ० २४२।

पूर्ण समन्वय मिलता है ।[१] यद्यपि डा० बड़थ्वाल ने इतना स्वीकार कर लिया है कि राघवानंद और रामानंद के साधन में योग तत्व था तथापि वे उसे केवल तत्कालीन परिस्थिति का प्रसाद मानते हैं । अपनी स्थापना को पुष्ट रूप में उपस्थित करते हुए उन्होंने बताया कि 'राघवानंद बाहर से रामानुज संप्रदाय में होते हुए भी वस्तुतः इन्हीं योगी-नाथों के उत्तराधिकारी हैं और उनसे पायी हुई सामग्री को उन्होंने रामानंद को दिया ।'[२] राघवानंद और रामानंद के इस प्रकार के संबंध पर हम पहले ही प्रकाश डाल चुके हैं ।

वस्तुतः पं० रामचन्द्र शुक्ल और डा० बड़थ्वाल प्रायः समकालीन आलोचक थे । उनके बाद के आलोचकों में से प्रायः सभी ने संतों के योग का मूलाधार नाथों का योग माना है । डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने निर्गुणवादी संतों की वाणियों की बाहरी रूपरेखा का बौद्ध धर्म के अंतिम सिद्धों और नाथपंथी योगियों के पदादि से सीधा संबंध माना है । संतों ने अपने इन पूर्ववर्तियों के शब्दों और पदों में यत्र-तत्र परिवर्तन भी किया था । द्विवेदी जी ने माना है कि कबीर ने एक साथ तीन बड़ी-बड़ी धाराओं को आत्मसात् किया था । ये धाराएँ हैं—उत्तर पूर्व के नाथपंथ और सहजयान का मिश्रित रूप, पश्चिम का सूफी मतवाद और दक्षिण का वेदान्तभावित वैष्णव धर्म । पर इनमें से अंतिम तीसरी धारा ही कबीर को, वास्तव में, सदा परिचालित करती रही । उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि कबीर को जातिपरम्परा और वातावरण से योग मिला था । वे योगियों की रूपान्तरित जाति में ही बड़े हुए थे । किन्तु फिर भी वे योग को वह स्थान न दे सके जो उसे नाथपंथियों में प्राप्त था । वे योगप्रक्रिया के विरोधी नहीं थे, परन्तु हठयोगियों की सभी क्लिष्ट साधनाओं को आवश्यक नहीं समझते थे । योगियों की कुछ क्रियाओं का अभ्यास वे नापसंद नहीं करते थे पर उसके सभी अंगों को अंधभाव से स्वीकार नहीं करते थे । इसका कारण, संभवतः द्विवेदी जी की दृष्टि में, यह है कि वे सदैव वेदान्तभावित वैष्णव धर्म से ही परिचालित होते थे ।[3] कबीर ने यौगिक क्रियाओं को भी बाह्याचार ही माना था । इनके द्वारा प्राप्त अनुभवों और उपलब्धियों को वे अस्थायी और अनित्य मानते थे । उनकी वाणी वह लता

---

[१] योगप्रवाह, डा० बड़थ्वाल, पृ० १, १६-१७ ।

[२] रामानंद की हिंदी रचनाएँ—भूमिका, डा० बड़थ्वाल, पृ० २६ ।

[3] हिंदी साहित्य की भूमिका, डा० द्विवेदी, पृ० ३१, ३७, ४८, ६७ ।

है जो योग के क्षेत्र में बीज पड़ने से अंकुरित हुई थी।[1] नाथपंथियों से कबीरादि को ब्रह्मचर्य, वाक् संयम, शारीरिक शौच, मानसिक शुद्धता, ज्ञान के प्रति निष्ठा, बाह्य आचरणों के प्रति अनादर, आन्तरिक शुद्धि, मद्य-मांसादि के पूर्ण बहिष्कार के विचार मिले जिन्होंने संत मत को चारित्रिक बल प्रदान किया और परिणामतः संपूर्ण भक्तिकाल में चारित्रिक दृढ़ता का वैलक्षण्य संतों के लिये जीवनदाता बन गया। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने नाथों और संतों की इतनी आलोचना करते हुए भी उनकी इस विशिष्टता की प्रशंसा की है।[2] ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि संतों को यह वैलक्षण्य नाथों से मिला। दूसरी बात यह है कि डा० बड़थ्वाल, डा० द्विवेदी आदि ने यह स्वीकार कर लिया कि कबीरादि की मुख्य प्रवृत्ति वैष्णव भक्ति थी जो योगादि के ग्रहण में भी महत्वपूर्ण कार्य करती थी। रामानंद के संबंध में भी उनके विचार डा० बड़थ्वाल के समान हैं। उन्होंने कहा है—'रामानंद में कुछ न कुछ ऐसी साधना अवश्य थी जिसके कारण योगप्रधान भक्तिमार्ग, निर्गुणपंथी भक्तिमार्ग और सगुणोपासक भक्ति तीनों ही के पुरस्कर्ता भक्तों ने उन्हें अपना गुरु माना है।'[3]

संत साहित्य के आलोचकों के इन विचारों से हमें चार निष्कर्ष मिलते हैं। प्रथम तो यह कि संतों के योग का उद्भव और विकास नाथों के योग से हुआ। दूसरे, संतों ने नाथों के योग के विभिन्न पारिभाषिक शब्दों, प्रक्रियाओं एवम् अंगों को अपने ढंग से ग्रहण किया अथवा उनमें परिवर्तन कर दिया। तीसरे, कुछ लोगों के मतानुसार कबीर की गुरुपरंपरा में राघवानंद और रामानंद योगसाधक और योगोपदेशक थे। चौथे, वैष्णव भक्ति ही कबीर के सारे विचारों और भावों को सदैव परिचालित करती रही। इन निष्कर्षों पर विचार करने से दो प्रश्न उठते हैं। पहला तो यह कि यदि कबीर के विचारों और भावों की परिचालिका भक्ति थी तो क्या वैष्णव भक्ति में योग का सर्वथा अभाव था? दूसरे, यदि वैष्णव भक्ति में योग के लिये भी स्थान है तो यह सम्भव है कि कबीर को योगसाधन वैष्णव भक्ति के साथ मिला हो। ऐसी स्थिति में इतने परिश्रम से साधित नाथयोगियों और कबीर के जातिगत संबंध के परिणामस्वरूप उपलब्ध योग के सिद्धान्त की क्या संगति और उपयोगिता है? अभी तक विद्वानों के जो तत्संबंधी विवेचन उपलब्ध हैं उनसे यह पता

---

[1] कबीर, डा० द्विवेदी, पृ० ९३, १३०, १५१।

[2] नाथसम्प्रदाय, डा० द्विवेदी, पृ० १८७; हिं० सा० इ०, शुक्ल जी, पृ० ६५।

[3] हिं० सा०, डा० द्विवेदी, पृ० १०८।

लगता है कि प्राचीन वैष्णव ग्रंथों में भक्ति के साथ विवेचित होनेवाले योग-साधन पर विद्वानों ने अभी तक विचार नहीं किया है और न यह बतलाया है कि संतों के योग का आधार, उनकी भक्ति के समान ही, वैष्णव योग है। प्राचीन वैष्णव साहित्य और मत में योगसाधना विवेचित और प्रचलित थी, इसका विस्तृत परिचय हम पहले ही दे चुके हैं। योग और भक्ति में कोई मेल सम्भव नहीं, इसके खंडन के लिये पं० रामचन्द्र शुक्ल के उस कथन को ध्यान में रखा जा सकता है जिसमें उन्होंने तुलसी की भी भक्ति में योग के समन्वय की बात कही है। प्राचीन वैष्णव साहित्य एवं मत में योग का सद्भाव था अतः संभव है कि कबीर को भक्ति के समान योग भी वैष्णवों से मिला हो किंतु अभी तक आलोचकों ने इस सम्भावना की ओर संकेत भी नहीं किया है। हम यह पहले ही सिद्ध कर चुके हैं वैष्णवों के सम्प्रदाय में और उनके प्राचीन साहित्य में योगसाधन का पर्याप्त प्रचलन और विवेचन था। नाथयोगियों से प्रभावित जाति में उद्भूत और एक भिन्न वातावरण में पालित होने पर कबीर को योग, योग से सम्बंधित शब्दावली आदि सहज ही उपलब्ध हो गई थी। जब तक कबीर को भक्ति की प्राप्ति नहीं हुई थी तब तक उनका योग नाथ-पंथी योग ही रहा होगा, जिसके स्वरूपनिर्णय का हमारे पास कोई आधार नहीं है, किंतु भक्ति से प्रभावित होने पर उनके योग का स्वरूप क्या था इसका निर्णय करने के लिए हमारे पास उनकी रचनाएँ हैं। हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं कि नाथयोगियों को योगयुक्त ज्ञान ही स्वीकार है। भक्ति का वह स्वरूप और स्थान उन लोगों ने स्वीकार नहीं किया था जो वैष्णव भक्तों को स्वीकार था। अतः अभी यह अनुमान किया जा सकता है कि भक्ति को प्रमुखतम तत्व के रूप में स्वीकार कर लेने पर भी, जैसा पहले संतों की भक्ति में बतलाया जा चुका है, तथा जैसा डा० द्विवेदी ने भी बतलाया है, कबीर ने योग को या योगयुक्त ज्ञान को भक्ति की प्राप्ति में सहायक के रूप में स्वीकार कर लिया होगा। नाथों के योग में इस प्रकार के किसी विकल्प की संभावना नहीं की जाती। वैष्णवों के शास्त्र और मत में योग को यह स्थान दिया गया है। अतः यह अनुमान उचित और सभी समस्याओं का समाधानकारक प्रतीत होता है कि नाथपंथियों की परंपरा से प्राप्त योग का पूर्णतया परित्याग कबीर ने प्रेमाभक्ति को चरम साधन के रूप में स्वीकार कर भी नहीं किया था। यद्यपि उसका स्थान उसके साधन में वही नहीं रहा जो नाथयोगी साधन में उसे प्राप्त था।

इस समाधान पर भी एक यह संदेह उपस्थित किया जा सकता है कि कबीरादि की रचनाओं में उपलब्ध योग का स्वरूप नाथयोगियों के योग के समान ही है। अतः वैष्णव योग से उसकी परम्परा सिद्ध नहीं की जा सकती। इसके निवारण के लिये कुछ मुख्य और प्रारंभिक बातों को ध्यान में रखा जा सकता है। हम पहले ही कह चुके हैं, तांत्रिक साधन का प्रभाव समान रूप से बहुत पहले, वैष्णवों और शैवों के ऊपर पड़ा था। अतः तांत्रिक योग केवल कुछ विवरणों, तथ्यों और संख्याओं के अंतर के साथ प्रायः सभी साधनापद्धतियों में मिलता है। प्रायः सभी बातों और संप्रदायों ने अपने सिद्धांतों के अनुकूल इस तांत्रिक योग को स्वीकार किया था। वैष्णवों के योग का जो परिचय दिया गया है, उससे यह स्पष्ट हो गया है कि वैष्णवों के भी योग में प्राणायाम, षट्चक्रभेद, कुंडलिनीयोग, नाड़ीसाधन आदि गृहीत थे। इसके अतिरिक्त प्राचीन वैष्णव ग्रंथों में योग भक्तिसिद्धि में केवल सहायक है। संतों के योग का स्वरूपनिर्णय करने पर ऊपर कही हुई बातें और अधिक स्पष्ट और पुष्ट रूप में सामने आ सकेंगी।

इस परिच्छेद के आरम्भ में जिन वैष्णव ग्रंथों का परिचय दिया गया है, वे शास्त्रनिरूपक रचनाएँ हैं। उनमें योग और भक्ति का उसी प्रकार व्यवस्थित और शास्त्रीय निरूपण मिलता है, जिस प्रकार नाथपंथियों के संस्कृत ग्रंथों में, हठयोग के संस्कृत ग्रंथों में योग का निरूपण मिलता है। यदि नाथपंथी हिन्दी रचनाओं को संस्कृत रचनाओं का अनुभूतिपरक और उपलब्धिपरक विकास माना जाय तो उसी प्रकार संतों की रचनाओं को भी प्राचीन वैष्णव ग्रंथों और मत का भी अनुभूतिपरक और उपलब्धिपरक विकास मानना चाहिए। वस्तुतः ये सभी संस्कृत रचनाएँ किसी न किसी रूप में सिद्धाचार्यों या आचार्यों की रचनाएँ हैं जिन्होंने साधनापद्धति अथवा संप्रदाय अथवा मत विशेष का एक व्यवस्थित रूप उपस्थित करने के लिये उनकी रचना की थी। मतप्रचार अथवा साधना-प्रचार भी उनका उद्देश्य माना जा सकता है। हिन्दी रचनाएँ, विशेषकर संतों की हिन्दी रचनाएँ, अनुभूति और उपलब्धिप्रधान रचनाएँ हैं। इनमें उपलब्धि के मार्ग का भी विचार और निरूपण मिलता है किन्तु उनमें वह व्यवस्था और अनुशासन नहीं है जो उस प्रकार की शास्त्रीय रचनाओं में आवश्यक है। वस्तुतः ये सभी हिन्दी रचनाएँ मुक्तक रचनाएँ हैं। अतः इन रचनाओं से संतों की साधनापद्धति को या योग के पूर्ण और व्यवस्थित स्वरूप को उस रूप में उपस्थित नहीं किया जा सकता जिस रूप में वह संस्कृत

रचनाओं में उपलब्ध है। केवल उनके योग की प्रकृति का आभास देने के लिये ये रचनाएँ महत्त्वपूर्ण मानी जा सकती हैं। इसी प्रकार की बात नाथ-योगियों की हिन्दी रचनाओं के लिये भी कही जा चुकी है। नाथ साहित्य की महत्ता पं० रामचन्द्र शुक्ल जैसे आलोचकों ने संत साहित्य की भूमिका के लिये या उसकी प्रवृत्तियों को प्रकाशित करने के लिये स्वीकार की है। उन्होंने संतों की हिन्दी रचनाओं को हिन्दी भक्तिकाव्य के अंतर्गत स्थान दिया है। स्पष्ट है कि नाथ साहित्य की तुलना में संत साहित्य में सांप्रदायिक उपदेश कम हैं यद्यपि उसमें भी इस प्रकार का दोष-दर्शन किया ही गया है। कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि संत काव्य कोई शास्त्रीय साहित्य नहीं है और उसके आधार पर किसी संप्रदाय या मत विशेष या साधनापद्धति विशेष का पूर्ण और व्यवस्थित स्वरूप भी नहीं खड़ा किया जा सकता। भक्ति और योग संबंधी जो स्फुट विचार संतों के मिलते हैं, तथा जिन तत्संबंधित अनुभूतियों का वर्णन उनकी रचनाओं में मिलता है, उनके आधार पर भक्ति के स्वरूप की एक रूपरेखा पहले उपस्थित की जा चुकी है। योग संबंधी स्फुट विचारों एवं अनुभूतियों के आधार पर संतों के योग का एक स्वरूप यहाँ उपस्थित किया जा रहा है साथ ही भक्ति के साथ उसके सम्बंध का निर्देश कर नाथों के योग के साथ उसकी तुलना भी की जा रही है।

हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि वैष्णवों ने योग को चरम साधन के रूप में स्वीकार नहीं किया है। यह भी कहा जा चुका है कि नाथसिद्ध योगयुक्त ज्ञान को चरम साधन के रूप में स्वीकार करते हैं। पूर्व के विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि हठयोग को साधन की दृष्टि से, नाथपंथियों ने स्वतंत्र अस्तित्व प्रदान नहीं किया है। उनका हठयोग राजयोग का सहायक है। यह हठयोग-समन्वित राजयोग केवल सिद्धि की उपलब्धि के लिये नहीं अपितु कायसिद्धि-समन्वित परम ज्ञान की उपलब्धि के लिये ही नाथों को ग्राह्य है। उनका हठयोग 'बलात् बलप्रयोग कर साधन करना' न होकर चंद्र-सूर्य-साधन है। कृच्छ्राचार के नाथयोगी भी विरोधी थे। संस्कृत ग्रंथों में उपलब्ध वैष्णवों के योग की स्थिति कुछ इससे भिन्न है। वैष्णवों ने योग को भक्ति का सहायक माना है। उनके यहाँ उन मंत्रों, तंत्रों, योग, योगांगों, क्रियाओं, सिद्धियों, शक्तियों की कोई आवश्यकता नहीं समझी गई जो भक्तिभावना की उत्पत्ति में सहायक न हो। नाड़ीसाधन, प्राणायाम, कुंडलिनीसाधन, षट्चक्रभेद आदि सभी भक्ति के उपकारक हैं अर्थात् चैतासिक साधन या राजयोग के लिये ही उनकी उपयोगिता स्वीकार की गई है। किन्तु यह राजयोग भी भक्ति

का उपकारक है। कृच्छ्राचार को वे भी निषिद्ध मानते हैं। इन पारंपरिक स्थूल विचारों को ध्यान में रखकर संतों के योग का विचार किया जा रहा है। इस संबंध में एक और महत्त्वपूर्ण बात जो ध्यान में रखने योग्य है, वह यह कि प्राचीन वैष्णव संस्कृत ग्रंथों में योगसमन्वित भक्ति के इस प्रकार विभिन्न नाम मिलते हैं। यद्यपि इन नामों में तथा उनके द्वारा व्यक्त अर्थों और संकेतित तत्त्वों की मात्रा में अंतर है किन्तु इतना निश्चित है कि वे सभी योग को किसी न किसी अंश में, अपनी साधना में स्थान अवश्य देते हैं। उदाहरण के लिये विष्णुसंहिता में भक्ति की उत्पत्ति के लिये प्रयुक्त योग को भागवत योग कहा गया है। अहिर्बुध्न्य संहिता में परमात्मा की प्राप्ति के लिये हृदयोग और योग नाम के दो उपाय बताये गये हैं। इनमें से हृद्योग तो आत्म-समर्पण है। यही अहिर्बुध्न्य संहिता के अनुसार मुख्योपाय है। योग में विभिन्न क्रियाओं और साधनों का वर्णन किया गया है। यह योग हृद्योग का सहायक है। नारद पंचरात्र ने योगयुक्त ज्ञान और सिद्धिद ज्ञानों की गणना की है। ये भी हरिभक्तिप्रदज्ञान के सहायक हैं। इन नामों से भी यही स्पष्ट होता है कि योग को भक्ति की उत्पत्ति में सहायक मान कर ही उसे ग्रहण किया गया है। इन विचारों को हम हिन्दी के संत कवियों की रचनाओं में देखने की चेष्टा करेंगे।

२—नामदेव और योग

संतों की प्रवृत्तियों का विचार करने के लिये सबसे पहले मराठी संत कवि नामदेव का नाम लिया जाता है। नामदेव की हिन्दी रचनाएँ बहुत कम उपलब्ध हैं। इन उपलब्ध रचनाओं में योग के संदर्भ इतने कम ह कि उनके आधार पर योगांगों और प्रक्रियाओं का विस्तृत निरूपण नहीं किया जा सकता। योग के सम्बन्ध में उनका क्या मत है यह स्पष्ट रूप में उनकी रचनाओं में नहीं मिलता। एक बात जो स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ती है, वह यह है कि योगसाधन को या हठसाधन या प्राणायाम को उन्होंने कभी भी भक्ति से ऊँचा स्थान नहीं दिया। यद्यपि वे बार-बार अनाहत नाद के श्रवण की बात करते हैं, उन ध्वनियों के विभिन्न भेदों, जैसे घनगर्जन-ध्वनि, मर्दल-ध्वनि की ओर भी स्पष्ट निर्देश करते हैं, फिर भी ये नाद स्नेही राम के मिलन के उपलक्षण मात्र हैं। वे वेद, पुराण, शास्त्र, गीत, कवित्त इत्यादि गाना पसंद नहीं करते अपितु अनाहत वेणु के वादन में ही उनकी रुचि है। अतीत और अनाहत शब्द में ही उनका मन रत है जिससे उन्हें हरि के घर जाने की प्रेरणा मिलती

है। इन अनाहत नादों के प्रति अनुरक्ति केवल इसलिये है कि ये शून्य समाधि में चित्त को हरि में अनुरक्त करने में सहायक होते हैं। इससे स्पष्ट है कि नामदेव नादानुसंधान तो करते हैं किन्तु उसमें वे राम की ध्वनि ही सुनते हैं। दूसरी बात जो ध्यान में आती है, वह यह है कि 'अनहद' शब्द के विभिन्न स्थानों पर प्रयोग को देखने से उसका अर्थ 'सीमाहीन' या 'अनन्त' भी प्रतीत होता है। नामदेव ने एक स्थान पर 'जहँ अनहद सूर उजियारा' पद का प्रयोग किया है जिसमें उपर्युक्त अर्थ ही प्रसंगोचित मालूम पड़ता है। इस प्रकार नामदेव में 'अनहद' शब्द दो प्रकार से व्युत्पन्न प्रतीत होता है—(१) न+आहत=अनाहत, तथा (२) न+हद अनहद=असीम। नाद अथवा ध्वनि के जो अनेक भेद बताये गये हैं, वे नाथपंथी हिंदी रचनाओं में भी मिलते हैं, यथा मर्दलध्वनि, घनध्वनि, वेणुध्वनि आदि। किंतु नामदेव की इन रचनाओं में ऐसा कोई संकेत उपलब्ध नहीं है जिसके आधार पर यह बतलाया जा सके कि इन ध्वनियों का श्रवण साधन की किन-किन अवस्थाओं में होता है।[1]

इसी प्रकार योग सम्बंधी अन्य प्रकरणों का भी यत्किंचित वर्णन नामदेव की इन रचनाओं में उपलब्ध है। नामदेव गुरुप्रसाद से ही अपनी साधना अग्रसर करते हैं। गुरुकृपा से ही ज्ञान की प्राप्ति होती है, उसी के द्वारा संदेह-निवारण किये जाने पर मन को साधन में उपलब्धि पर प्रतीति होती है। गुरु की महत्ता और सत्ता का प्रत्यभिज्ञान करते करते वे अंत में यहाँ तक कह देते हैं कि केवल गुरुदेव ही सत्य है, अन्य सबकी सेवा झूठी है। वे केवल गुरुदेव की ही शरण में जाते हैं।[2] नाथपंथियों से अंतर यह है कि यहाँ गुरु की महत्ता योगरहस्यों के ज्ञान के लिये नहीं अपितु भक्ति तथा अन्य उपकारक तत्वों की उपलब्धि के साथ ही साक्षात्कार के लिये स्वीकृत है। षट्चक्रभेद अथवा कुंडलिनीयोग अथवा लययोग का नामदेव की रचनाओं में अभाव है। केवल एक स्थान पर 'रतन कमल कोठरी' का वर्णन अवश्य किया गया है जिससे संदिग्ध रूप में 'सहस्रार' की ओर संकेत प्रतीत होता है।[3] उन्होंने एक पद में योग और उससे संबंधित विचारों को इस प्रकार व्यक्त किया है

---

[1] हिंदी को मराठी संतों की देन—पं० विनयमोहन शर्मा, पृ० २४४–२४५, २५२–२५३, २६७, पद संख्या ९, १०, ११, ३१, ३४, अतिरिक्त पद १.२, ३।

[2] वही, पृ० २४४–२४५, २५८–२५९, पदसंख्या ९, १०, ४८।

[3] वही, पृ० २४४।

जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि नामदेव यद्यपि नादानुसंधान, नाड़ीसाधन (इड़ा+पिंगला-साधना=ह+ठ+योग), चन्द्रसूर्य का समरसीकरण तीर्थस्नान-तीर्थयात्रा-विरोध, अहिंसा, अन्तस्साधना आदि को स्वीकार करते थे किंतु फिर भी शून्य समाधि में इन सबकी सहायता से मन हरि से ही अनुरक्त रहता है।[1] इस 'अनुरक्ति' शब्द की व्याख्या भक्ति के प्रसंग में की जा चुकी है। 'शून्य समाधि' का एकमात्र और व्याख्यारहित प्रयोग होने के कारण इसका पूरा अर्थ प्रकट कर सकना कठिन है। अन्यत्र नामदेव ने हरिनाम भजन या भक्ति की तुलना में 'दशम द्वार में प्राण को काढ़ने' तथा गगनमंडल में योगध्यान लगाने को नीचा ही बताया है।[2] इन विचारों से यह स्पष्ट होता है कि नामदेव प्राणायाम, नादानुसंधान, नाड़ीशोधन एवं साधन तथा उनसे उपलब्ध 'शून्य समाधि' की उपयोगिता को तो अवश्य स्वीकार करते हैं किन्तु उनका स्थान भक्ति के नीचे है। वे भक्ति के लिये उपयोगी स्वीकार्य हो सकते हैं। इससे अधिक सूचनाएँ, योग के संबंध में, नामदेव की रचनाओं से नहीं मिलती।

नामदेव के बाद रामानंद, कबीर आदि से संतों की साधना का एक व्यवस्थित रूप मिलने लगता है। अतः रामानंद, कबीर, नानक, दादू, सुंदरदास (छोटे), रज्जब, पलटू, दरियासाहब (बिहारवाले) तथा अन्य संतों के आधार पर संतों के योग की एक रूपरेखा उपस्थित की जा सकती है। नाथों के योग का विचार करते समय हमने पतंजलि के अष्टांग योग के अन्तर्गत आनेवाले हठयोग, मंत्रयोग, लययोग और राजयोग का वर्णन किया है। हठयोग के अन्तर्गत आसन, प्राणायाम, नाड़ीशोधन, नाड़ीसाधन का विचार करने के साथ ही तत्संबंधित नादानुसंधान, प्रणवसाधन या ओंकारसाधन और अजपाजाप का भी परिचय दिया है। वस्तुतः प्रणवसाधन, अजपाजाप और नादानुसंधान का जहाँ एक ओर प्राणायाम से संबंध है वहीं दूसरी ओर इन्हें मंत्रयोग के अन्तर्गत भी ग्रहण किया जा सकता है। लययोग के अन्तर्गत षट्चक्रभेद और कुंडलिनीयोग का विचार है। राजयोग के अन्तर्गत मुख्यतया ध्यान और समाधि का परिचय दिया गया है। प्रत्येक अंग और प्रक्रिया का वर्णन कवियों के ऐतिहासिक क्रम से ही किया गया है। इस प्रकार विवेचन करने के पूर्व नाथों की साधना के मुख्यतम अंग 'गुरु' के समान ही संतों की योगसाधना के मुख्यतम

---

[1] वही, पृ० २५२, पद ३१।

[2] वही, पृ० २६७, अतिरिक्त पद १.२, ३।

अंग गुरु का विचार आवश्यक है। साधक का आध्यात्मिक जीवन गुरु के सामीप्य से ही आरंभ होता है। गुरु का विचार ही वस्तुतः संतों के 'गुरु-शिष्यवाद' का विचार है।

३—संतों का गुरुशिष्यवाद और अधिकारभेदवाद

प्राचीन वैष्णव ग्रंथों में से नारदपंचरात्र में गुरुमहिमा का सबसे अधिक गायन किया गया है। वहाँ तो साधन की दृष्टि से, भगवान् की अपेक्षा गुरु को अधिक महत्व दिया गया है। ज्ञानोदिग्रण करने के कारण ही उसे गुरु कहा गया है। यह ज्ञान भी भक्तिप्रदाता है। नाथों ने योगमार्ग की कठिनता और दुर्बलता को ध्यान में रखकर गुरु को साधक के लिये आवश्यक माना। नाथों के यहाँ अवधूत ही गुरुपद का अधिकारी हो सकता है। गुरु और नाथ में अभेद माना गया है। नारद पंचरात्र में भी गुरु और भगवान् में अभेदभाव व्यक्त किया गया है। परवर्ती ग्रंथ नाभादास के भक्तमाल में भी भगवान् और गुरु को एक माना गया है। संतों में भी साधन की प्रथम आवश्यकता गुरु है। बिना गुरु के साधनक्षेत्र में प्रवेश नहीं मिलता। रामानंद ने बाह्याचारप्रधान उपासना की निस्सारता का उद्घाटन करनेवाला गुरु को ही माना है। ब्रह्म इस घट में ही है इसका ज्ञान गुरु ही कराता है। उसी के उपदेश से कोटि कर्मों के बन्धन भी छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। कायागढ़ पर आरोहण करने के लिये सतगुरु ही सर्वोत्तम साथी है। गुरु ही अपने शब्दों से शिष्य को यमपाश से मुक्त करता है।[१] इस प्रकार रामानन्द गुरु को अंतस्साधना का निर्देशक, ज्ञानप्रदाता, कर्मबंधननिकृन्तक, कायसिद्धिप्रदाता मानते हैं। कबीर साहित्य में गुरु-विचार अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से मिलता है। कबीर के अनुसार संसार में साधक का सद्गुरु के समान और कोई सगा नहीं है। वह देवगृह का द्वार है। वह मनुष्य को देवत्व प्रदान करता है। उसी की कृपा से आनन्द का दर्शन होता है। सांसारिक दृष्टि (अंत+दृष्टि) का परिवर्तन कर वह अनन्त (परमात्म दृष्टि) को उद्घाटित करता है। वही अतुलनीय रामनाम का दान करता है। उसके उपदेशों का अचूक प्रहार हृदय पर ही होता है। ऐसे गुरु का मार्ग लोक और वेद के मार्ग से भिन्न है। वह आनुभूतिक ज्ञान का दान करता है। साधक या शिष्य की चेष्टा से ऐसे गुरु की उपलब्धि असंभव है। जब तक गोविंद की कृपा नहीं होती तब तक गुरु की प्राप्ति नहीं होती। गुरु ही गोविन्द की

[१] रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ, पृ० ८, १५।

प्राप्ति कराता है। गुरु के मिलने पर शिष्य की अपनी जाति, कुल, पाँति आदि का कोई अस्तित्व नहीं रहता। उसका गुरु से अभेद हो जाता है। गुरु ही शिष्य की माया से रक्षा करता है। इस गुरु से ही शिष्य को निः-शंकता, सचेतनता, धैर्य आदि की प्राप्ति होती है। साधन में शरीर को साधन बना कर प्रेम की क्रीड़ा करने की पद्धति गुरु ही बतलाता है। कबीर की दृष्टि में गुरु और गोविंद तो वस्तुतः एक हैं, केवल उनमें आकारभेद है। जबतक वास्तविक गुरु की उपलब्धि नहीं होती, तब तक चेला केवल 'भेष' का उपासक रहता है। वास्तविक गुरु शिष्य की परीक्षा करता है और उसे कंचन बना देता है।[1] कबीर का मत है कि साधु का गुरु चारो वेदों को पढ़ने वाला ब्राह्मण नहीं हो सकता। उस गुरु का बताया हुआ मार्ग पंडितों के मार्ग से भिन्न है। यह गुरु ही 'पूरविला भरतार' का प्रत्यभिज्ञान कराता है। अष्टकमलदल में सदैव केलिरत श्री रंग की प्राप्ति गुरु के मिलने पर ही संभव है। उसी की कृपा से हृदयकमल प्रकाशित होता है। वस्तुतः कबीर का गुरु वही व्यक्ति हो सकता है जो स्वयम् भी भवसागर से उत्तीर्ण हो और दूसरे को उत्तीर्ण कर सके। साधना के क्षेत्र में जब तक व्यक्ति गुरु के शब्दों को स्वीकार नहीं करता, योगयुक्ति का ज्ञान नहीं प्राप्त करता, मन से विषय-विकारों का त्याग नहीं करता तब तक उसे हरि का मिलन भी प्राप्त नहीं हो सकता। बिना गुरु के शिष्य को ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। सारे संसार की वस्तुएँ नष्ट हो जानेवाली हैं, कोई भी वस्तु साथ नहीं देगी, केवल गुरु का 'शब्द' ही साथ देगा। अतः केवल उसी से प्रेम करना चाहिए। इसीलिये कबीरदास ऐसे दयावान् गुरु से इस भवसागर में सहायता करने की प्रार्थना करते हैं।[2] इस प्रकार कबीर के अनुसार गुरु देवत्वप्रदाता, कृपालु, रामनामोपदेशक, लोकवेदभिन्न-मार्ग-निर्देशक, आनुभूतिक ज्ञानदाता, रक्षक, परीक्षक (या पारखी), तारक होता है। दूसरे शब्दों में गुरु रक्षक, परीक्षक, बोधक और तारक होता है।

कबीर के उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट है कि 'निगुरा' व्यक्ति भगवान् को नहीं पा सकता। केवल सगुरा व्यक्ति ही भागवत साधन का अधिकारी है। केवल सगुरा व्यक्ति परब्रह्म मौक्तिक का चयन करने में समर्थ हो सकता है।[3]

[1] कबीर ग्रंथावली—डा० श्यामसुन्दरदास, गुरदेव कौ अंग, साखी १,२, ३,४,६–७,११,१२,१३,१४,१९–२०,२३,२६,३२।

[2] क०ग्रं०, पृ० ३६,५४,६०,८८,८९,९१,९७,१२८, १७९, १८७।

[3] वही, पृ० ८३, निगुरां कौ अंग, साखी ३।

नाथपंथी साधन में 'निगुरा' को कोई स्थान नहीं दिया गया है। वहाँ नाथ-सिद्धों को भी गुरु का रक्षक, परीक्षक, बोधक और तारक रूप मान्य है। वहाँ गुरु का एक पूरक रूप और स्वीकार किया जाता है। इस रूप को स्वीकार करने का मूलाधार ३२-३६ तत्वों की स्वीकृति है। नाथसिद्धों के यहाँ गुरु का जो स्वरूप स्वीकार किया गया है उसमें उसे 'पारख' भी कहा गया है। कहा गया है कि गुरु में ३६ लक्षण और शिष्य में ३२ लक्षण होने चाहिएँ। गुरु ३२ लक्षणों की परीक्षा कर शिष्यरूप में व्यक्ति को स्वीकार करता है। साधनक्रम में शिष्य क्रमशः चार लक्षणों को आयत्त करता है, जिसकी विस्तृत व्याख्या हम कर चुके हैं। गुरु कृपा से वह उन चार लक्षणों को पूरा करता है। किन्तु संत साहित्य में इन ३२–३६ लक्षणों का कोई भी वर्णन उपलब्ध नहीं है। इसीलिये गुरु के उपर्युक्त 'पूरक' रूप का दर्शन हमें संत साहित्य में नहीं होता। इसके न होने पर भी संत साहित्य में अधिकारभेद-वाद के संकेत मिलते हैं। अधिकारभेदवाद का प्रथम संकेत तो वही है कि 'निगुरा' को संतसाधना में कोई स्थान या अधिकार नहीं दिया गया है। अधिकारभेद के अंतर्गत केवल शिष्य के ही अधिकार का प्रश्न विचारणीय नहीं है, गुरु की दीक्षा देने के अधिकार का भी प्रश्न विचार्य है। गुरु के दीक्षाधिकार का विचार तंत्रों में भी मिलता है और इसी को ध्यान में रखकर गुरु के लक्षण भी बतलाये गये हैं। नाथसिद्ध भी स्वीकार करते हैं कि जब तक योग्य, ३६ लक्षणों से संपन्न गुरु न मिले तब तक साधक को गुरु नहीं करना चाहिए और न इस प्रकार अपना कुल ही नष्ट करना चाहिए। गुरु के कौन-कौन से लक्षण कबीर को मान्य हैं इसका विचार ऊपर किया गया है। कबीर के बहुत पहले तांत्रिक बौद्ध साधकों ने जैसे कहा था, उसी प्रकार कबीर ने भी स्वीकार कर कहा कि यदि गुरु अन्धा होगा तो शिष्य भी अंधा होगा। जिस प्रकार अन्धा अन्धे को निकालता है और दोनों ही कूएँ में गिर पड़ते हैं, वैसी ही हालत अज्ञानी गुरु-शिष्यों की होती है। यदि वास्तविक गुरु न मिले अथवा गुरु को सच्चा शिष्य न मिले तो दोनों ही लोभ की पत्थर की नाव पर चढ़ कर मझधार में डूब जाते हैं। यदि कहीं गुरु सभी प्रकार से संपन्न हो और शिष्य में गुरु के उपदेशों को ग्रहण करने की शक्ति न हो तो भी साधना नहीं चल सकती। शिष्य में ग्रहणशक्ति होने पर शिष्य की पात्रता के अनुकूल ही गुरु के उपदेशों का ग्रहण होता है। यदि शिष्य गुरु के सदैव एकरस रहनेवाले उपदेशों को ग्रहण करने में समर्थ नहीं होता तो इसमें गुरु या गुरु

के शब्दों का कुछ भी दोष कबीरदास नहीं मानते।[1] तात्पर्य यह है कि शिष्य में साधन के अधिकारग्रहण की क्षमता होनी ही चाहिए। गुरु का चयन भी समझ-बूझ कर करना चाहिए।

इस दृष्टि से विचार करने पर गुरु का सर्वोच्च लक्षण उसका परीक्षकत्व है। नाथपंथियों के 'पारख' तत्व का विचार कर उसमें अधिकारभेदवाद के लक्षण दिखलाये जा चुके हैं। 'गुरसिष हेरा कौ अंग' में कबीरदास ने बड़े विस्तार से गुरु और शिष्य के लक्षणों को बताया है किन्तु उन लक्षणों को नाथपंथियों की ३२–३६ लक्षणों की व्यवस्था के अनुकूल या समान नहीं बताया जा सकता। गुरु के लिये आवश्यक यह है कि वह शिष्य का प्रत्यभिज्ञान करे, उसकी योग्यता, पात्रता और आवश्यकता को ढूढ़े और फिर अपना कर, कृपालु होकर, उसे साधनक्षेत्र में प्रविष्ट करे। उस गुरु को भी घायल होना चाहिए, तभी वह घायल की गति समझ सकेगा। गुरु भी उसी को अपना साथी बनाने को तत्पर है जो गुरु से अपना घर जलवा कर उसके साथ चलने के लिये तैयार हो। यह केवल वही गुरु कर सकता है जो अपना घर अपने हाथ जला चुका हो। कबीर ऐसे घायल, प्रेमी और घरफूँक गुरु की तलाश में हैं।[2] गुरु-शिष्य के ये लक्षण इस रूप में नाथ साहित्य में दुर्लभ हैं। किंतु पारखी गुरु दोनों को स्वीकार्य हैं। कबीरदास, जैसा हम कह चुके है, मानते हैं कि गुरु शिष्य को परखकर कंचन बना देता है। 'अपारिष कौ अंग' और 'पारिष कौ अंग' में कबीर ने गुरु-शिष्य-संबंधी योग्यताओं, अधिकारों का विचार नहीं किया है। उन्होंने सामान्य रूप से यह बतलाया है कि हरिभक्ति अथवा अमूल्य पदार्थ के अति सुलभ होने पर भी 'परख' की शक्ति के राहित्य के कारण जगत् उसे ग्रहण नहीं कर पाता और उसके स्थान पर निस्सार और निरर्थक पदार्थों का संग्रह कर अपनी शक्ति और समय का अपव्यय करता है।[3] इस प्रकार कबीर का पारख जनसामान्य की ग्रहणशक्ति से सम्बन्धित है, गुरु-शिष्य की योग्यता और पात्रता से संबंधित नहीं। उनकी रचनाओं में गुरु को 'पारख' नहीं कहा गया है। वे हरि को हीरा और भक्तजन को जौहरी कहते

---

[1] कबीर ग्रंथावली, गुरदेव कौ अंग, साखी–१५, १६, २१, २४। अन्धा अन्धा कढाव तिम वेण्णि वि कूव पड़ेइ।—सरह।

[2] वही, गुरसिष हेरा कौ अंग, साखी—२, ११, १२, १३।

[3] वही, पृ० ७७–७८।

हैं।[१] विभिन्न प्रसंगों की परीक्षा करने से यही प्रतीत होता है कि कबीरदास शिष्य या साधक या भक्त की परीक्षणशक्ति पर विशेष ध्यान देते हैं। अतः अधिकारभेद का वह व्यवस्थित एवं स्पष्टतः निरूपित रूप कबीर साहित्य में उपलब्ध नहीं है। नाथसिद्धों की रचनाओं में जैसे केवल नादपरम्परा या शिष्यपरम्परा को ही स्वीकार किया गया है तथा कहा गया है कि शिष्य का कुल गुरु के कुल के अनुसार चलता है और गुरुकुल की परम्परा प्रणव-परंपरा या नादपरम्परा है, उसी प्रकार संतों की रचनाओं में भी कुछ ऐसे ही संकेत मिलते हैं। कहा जा चुका है कि कबीर के मतानुसार गुरु से उपदेश अथवा दीक्षा मिलने पर शिष्य की जाति-पाँति-कुल आदि का लोप हो जाता है तथा गुरु-शिष्य अभिन्न हो जाते हैं। यह भी केवल गुरुकुल को ही स्वीकार करना है जो नाथसिद्धों के विचारों के समान ही है यद्यपि कबीर में इस विचार की उतनी व्याख्या नहीं है जितनी नाथसिद्धों की रचनाओं में मिलती है। इससे यह भी अनुमान किया जा सकता है कि ३६–३२ तत्वों की परीक्षा के आधार पर नाथसिद्धों ने सांप्रदायिकता को अधिक प्रगाढ़ बनाने की चेष्टा की है। कबीर की रचनाओं में बंधन शिथिल हैं। इसका कारण सम्भवतः यह है कि संतों ने गुरु के उपदेशों अथवा शब्दों के हृदय में साक्षात्कृत अथवा जीवन में आचरित होने को अधिक महत्व दिया है और बाह्य दीक्षा को कम। यद्यपि नाथों की अष्ट-परीक्षाओं में भी मानवोचित एवम् साधनोचित गुणों की परीक्षा का ही विधान किया गया है किंतु इस प्रकार का बंधन लगाना संतों ने उचित नहीं समझा। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि संत लोग केवल गुरु के उपदेशों या शब्दों की जीवन में चरितार्थता को ही महत्व देते हैं और उतने में ही शिष्य होना मान लेते हैं। किन्तु ऊपर के विवेचन में एक बात यह भी कह दी गई है कि गुरु शिष्य की परीक्षा कर पात्रानुकूल उपदेश देता है और उसी से शिष्य की साधना में अभ्युन्नति होती है। इसका स्पष्ट संकेत यह है कि सभी गुरु और सभी उपदेश सभी शिष्यों के अनुकूल नहीं होते। उसमें भी शिष्य की प्रकृति का विचार करना पड़ता है। यही अधिकारभेदवाद का मूलाधार है और इसे कबीर जैसे संतों ने स्वीकार किया है।

हमने पहले नाथपंथियों के गुरुशिष्यवाद के विवेचन के प्रसंग में गुरुमुख पारख, जरणा आदि शब्दों का विचार किया है। हम कबीर साहित्य में

---

[१] कबीर वचनावली—अयोध्यासिंह उपाध्याय, पृ० ११२। द्रष्टव्य—'कबीर जुलाहा भया पारषू'—कबीर ग्रंथावली, पृ० १६, साखी ४७।

'पारख' शब्द का विचार कर चुके हैं। अन्य दो शब्द 'गुरुमुख' और 'जरणा' हैं। गुरुमुख शब्द का पुष्कल प्रयोग कबीर साहित्य में उपलब्ध नहीं। दो एक स्थानों पर इसके प्रयोग से इसका अर्थ स्पष्ट नहीं होता। एक स्थान पर 'गुरुमुख' शब्द का अर्थ 'गुरु के मुख से निकले मंत्र या उपदेश' प्रतीत होता है और यह नाथसिद्धों को भी स्वीकार्य है। वस्तुतः 'गुरुमुख' शब्द से 'दीक्षा' की ओर संकेत होता है। इसके विभिन्न अर्थों की ओर संकेत नाथपंथी 'गुरुमुख' शब्द के विवेचन में ही किया जा चुका है। वे अर्थ यहाँ भी स्वीकार किये जा सकते हैं।[1] हम पहले यह भी कह चुके है कि 'गुरुमुख' शब्द सिद्धान्त के रूप में स्वीकार कर लेने पर शास्त्र, लोक आदि की परमोच्च सत्ता व्यक्ति के लिये नहीं रह जाती। नाथपंथी और संत दोनों ही वेद और लोक की परंपरा का अनुसरण नहीं करते। लोकमुख, शास्त्रमुख, मनमुख, कामिनीमुख आदि का उनके वहाँ कोई महत्व नहीं। किन्तु इतना स्पष्ट है कि यद्यपि कबीर में इस शब्द का प्रयोग अवश्य मिलता है तथापि प्रयोगबहुलता के अभाव में अर्थ-निर्णय में कठिनाई है। तीसरा शब्द 'जरणा' है। कबीर ग्रंथावली में इसे 'जर्णा' कहा गया है। नाथवाणी में 'जरणा' शब्द का अर्थ हम 'जीर्ण होना', 'पचना', अहं का नाश होकर 'गुरु में मिलकर एक हो जाना' 'गुरु के शब्दों में तादात्म्य या एकरस या अभिन्न हो जाना' अर्थ किया गया है। कबीर ग्रंथा-वली के 'अंगों' के कुछ टीकाकारों ने 'जर्णा' शब्द का अर्थ 'परिपक्व होना' किया है। अर्थात् कबीर ने 'जर्णा कौ अंग' में साधक की परिपक्वावस्था का वर्णन किया है। यदि यह स्वीकार कर लिया जाय और नाथवाणी में प्रयुक्त 'जरणा' शब्द के साथ इसकी परंपरा बिठाई जाय तो 'जर्णा' साधक की उस अवस्था की ओर संकेत करता है जब साधक के 'अहं' का नाश हो जाता है, गुरु के शब्दों को या मंत्र को या उपदेश को वह जीवन में भलीभाँति उतार लेता है अर्थात् पूर्ण आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने लायक, दूसरे शब्दों में परिपक्व, हो जाता है। गुरु के शब्दों का पूर्ण साक्षात्कार परमात्मोपलब्धि होने पर होता है। इसी प्रकार की परमावस्था या परिपक्वावस्था का वर्णन इस अंग में मिलता है। वस्तुतः कबीर ने इस अवस्था की उन अनुभूतियों का वर्णन किया है जब साक्षात्कृत परमतत्व का निर्वचन असंभव हो जाता है। इसीलिये कबीर ऐसी अवस्था में 'हरि जैसा है तैसा रहौ' ही कह कर अनुभूति-मार्ग में और भी अग्रसर होने के लिये प्रेरित करते हैं।[2] वस्तुतः कबीर

---

[1] कबीर ग्रंथावली, पृ० १६१, १७५।

[2] कबीर ग्रंथावली—पृ० १७-१८, जर्णा कौ अंग।

ग्रंथावली का यह 'शब्द' अनुभूति में अधिक अग्रसर है केवल 'गुरु के मंत्र' में जीर्ण होने तक ही सीमित नहीं है।

कबीर के अतिरिक्त अन्य संतों ने भी गुरुशिष्यवाद और अधिकारभेदवाद पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। नानक का मन गुरुवचनों में ही अपनी निधि प्राप्त करता है और उसी से वह मन सत्य में समाहित रहता है। गुरु की साखी का हृदय में जागरण होने से चंचल गति का त्याग होता है और गुरु की साखी के ही प्रकाश से संपूर्ण अंधकार मिट जाता है। मन जब गुरु के वचनों में लग जाता है, तब यममार्ग की सत्ता नहीं रहती, अमृतमार्ग उद्घाटित हो जाता है। साधक के लिये केवल उसी की सत्ता रहती है। इस गुरु से ही निर्भयता तथा सहज की उपलब्धि होती है।[१] इस गुरु के शब्दों की सहायता के बिना मानस साधना भी नहीं हो सकती। साधक के लिये सबसे बड़ा दान ज्ञान-दान या उपदेशदान या दीक्षा है और सबसे बड़ा दानी गुरु है। गुरु ही देवता है, अलख है, अभेद है। गुरु की सेवा करने से त्रिभुवन अनुकूल हो जाता है। उसी के दान से अलख, अभेद परमतत्व की उपलब्धि होती है। यह साधन, उपलब्धि तब तक असंभव है जब तक मनोमारण न हो। गुरु के शब्दों से ही मनोमारण संभव है।[२] यह गुरु अड़सठ तीर्थों का अधिष्ठान है, इसीलिये उसे अनुपम तीर्थ कहा गया है। उसी की प्राप्ति से दुर्मति रूप मल का अपसारण होता है। पशु, प्रेत तक को वह दिव्यता प्रदान करता है। गुरुमुख से ही शिवगृह (सहस्रार) को जाया जा सकता है, उसी से साधक सत्य में समाहित हो सकता है, उसीसे निज पद (परमपद) की प्राप्ति हो सकती है। वह गुरु ही मर कर जीने के रस का अनुभव हृदय में कराता है। अहंकार और गर्व का नाश वही करता है। यम का भय उसी की साधना से दूर होता है, द्विविधा का अपसारण होता है। वही 'घर', 'महल' (परम विश्राम-स्थल) का ज्ञान कराता है किंतु उस 'गुरुमुख' से शिक्षा वही जन प्राप्त कर सकता है जिसके ऊपर 'करतार' की 'नजर' हो। हरिकृपा से जिसे गुरु की प्राप्ति हो जाती है, उसे गुरु से हरिलाभ का लाभ भी होता है।[3] नानक के गुरु संबंधी इन विचारों से स्पष्ट है कि बिना हरिकृपा के गुरु

---

[१] संत काव्य—पं० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० २३८, पद १।

[२] वही, पृ० २३९, पद २।

[3] संत काव्य—पृ० २३९-२४०, पद ३, ४; पृ० २४७, पद १५।

की प्राप्ति नहीं होती। हरि और गुरु अभिन्न हैं तथा गुरु सर्वोच्च दाता हैं, रक्षक हैं, बोधक आदि हैं।

सुन्दरदास (छोटे) ने स्पष्टता से अधिकारी के लक्षण दिये हैं। पुरोहित हरिनारायण शर्मा ने अपनी टिप्पणी में सुन्दरदास के जिज्ञासु लक्षण को ही अधिकारीलक्षण माना है। 'ज्ञानसमुद्र' में अधिकारी के लक्षणों को बतलाते हुए उसे गुरुभक्त, विरक्त, संतभाव, जिज्ञासु, उदास, राव-रंक में समभाव रखनेवाला, वाद-विवाद में अरुचि रखनेवाला, सुत-कलत्र, निज शरीर तथा अपने को 'बंधन' रूप ग्रहण करनेवाला बताया है। इन बंधनों से मुक्त होने की कामना उसके मन में रहती है। जन्म और मृत्यु की शंका सदैव उसके मन में रहती है। वह सदैव संतों की तथा गुरु की खोज में लगा रहता है। उस गुरु की कृपा से ही गतिप्राप्ति, भवदुःखविस्मरण, प्रेमाधिक्य, रामनामगुणगान, योगमुक्तिज्ञान, शून्य समाधि की उपलब्धि, तत्वज्ञान की प्राप्ति संभव है।[1] सुन्दरदास ने गुरु के लक्षणों की गणना करते समय उसके संबंध में कहा है कि 'गुरु का चित्त सदैव ब्रह्म में लयलीन' रहता है। वह नित्य शीतल और सहृदय होता है। उसमें क्रोधराहित्य और अनिर्दयता होती है। वह निरहंकार और सर्वसुखकारी होता है। सुंदरदास ने ऐसे ही गुरु को परखकर सोच-विचार कर स्वीकार करने के लिये कहा है। वह हृदयग्रंथि का भेदक और संशयों का उच्छेदक बतलाया गया है। ऐसा गुरु वस्तुतः सुन्दरदास की दृष्टि में जानकार, पंचतत्वों तथा तीन गुणों को मिथ्या माननेवाला तथा बुद्धिमान कहा गया है। केवल ऐसा ही गुरु सेव्य है।[2] गुरु की महत्ता-निर्वचन में सुन्दरदास गोविन्द से भी अधिक महिमाशाली गुरु को मानते हैं। यद्यपि वे एक स्थान पर ब्रह्म, गुरु और संत तीनों को अभिन्न मानते हैं तथापि साधक की दृष्टि से वे गुरु को ही अधिक महत्व देते हैं।[3] सुन्दरदास के इस गुरु-शिष्य-निर्वचन से यह स्पष्ट होता है कि गुरु योग, ज्ञान और भक्ति तीनों प्रदान करता है। दूसरे, शिष्य गुरु की परख करता है। हम कबीर के गुरुवाद में बतला चुके हैं कि वे गुरुशिष्यवाद में साधक पक्ष पर अधिक जोर देते दिखाई देते हैं। तीसरे, गुरु के जो विभिन्न गुणधर्म—प्रेमी, घायल और घरफूँक कबीर में मिलते हैं, वे यहाँ उपलब्ध नहीं। सुन्दरदास ने गुरु के दार्शनिक ज्ञान

[1] सुन्दर सार—पुरोहित हरिनारायण शर्मा, पृ० ४, ५।

[2] वही, पृ० ५-६।

[3] वही, पृ० १५२, २।

और अनुभूति पर ही अधिक जोर दिया है। नाथपंथियों ने जिन ३६-३२ लक्षणों का वर्णन किया है उनमें से कुछ अवश्य ही इन संतों के गुरु-शिष्य संबंधी विचारों से समानता रख सकते हैं किन्तु वास्तविक बात यही है कि संतों की रचनाओं में वह व्यवस्था उपलब्ध नहीं है। नाथपंथी लोग, विशेषकर गोरखनाथ, जहाँ गुरु को ब्रह्मग्रंथि का भेदक मानते हैं, जीवशक्ति को ब्रह्मग्रंथि से मुक्त करनेवाला मानते हैं, वहीं सुन्दरदास उसे हृदयग्रंथि का भेदक मानते हैं। निश्चय ही यहाँ भावसाधन में आनेवाली बाधाओं या अवरोधों की ओर संकेत किया गया है। प्रायः इसी प्रकार के विचार अन्य परवर्ती संतों में भी बड़ी सरलता से ढूँढ़े जा सकते हैं।

ऊपर संतों के गुरुशिष्यवाद तथा अधिकारभेदवाद संबंधी विचारों को उपस्थित किया गया है। इन विचारों की तुलना नाथों के विचारों से की जा सकती है। कुछ समताओं-विषमताओं की ओर तो ऊपर ही संकेत किया जा चुका है। हम नाथों के विवेचन में कह चुके हैं कि नाथों के अनुसार केवल अवधूत ही गुरुपद का अधिकारी हो सकता है। इसीलिये नाथों में अवधूतपद का विशेष सम्मान था, किन्तु संतों में गुरु और अवधूत में पर्याप्त अन्तर है। कबीर की रचनाओं में अवधूत के पर्याप्त सम्बोधन मिलते हैं। जब भी कबीर योग के विषय में साम्प्रदायिक वेष-भूषा की बात करते हैं तो अवधूत को पुकारना वे नहीं भूलते। कबीरदास ऐसा कोई बंधन नहीं लगाते कि केवल अवधूत ही गुरुपद का अधिकारी हो सकता है। उनकी ज्ञान और भक्ति की जिज्ञासाओं और भूख या तड़पन को जो व्यक्ति शांत कर दे, वही व्यक्ति गुरु हो सकता है। इसके विषय में विस्तार से उन्होंने बतलाया भी है। अवधूत भी यदि इस कार्य में समर्थ हो तो उसे भी कबीर गुरुरूप में स्वीकार करने में तनिक भी नहीं हिचकते। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी इस तथ्य की ओर संकेत किया है—'यद्यपि कबीरदास अवधूत मत को मानते नहीं तथापि अवधूत के प्रति उनकी अवज्ञा नहीं है, उसे वे काफी सम्मान के साथ ही पुकारते हैं। वे कभी कुछ उपदेश दे देते हैं, कभी कुछ बूझने को ललकारते हैं, कभी उसकी साधनापद्धति की व्यर्थता दिखा देते हैं और कभी-कभी तो कुछ ऐसी शर्तें रख देते हैं जिनको अगर अवधूत समझ सके तो वह कबीरदास का गुरु तक बन सकता है।'[१] इस मत से यह आभास मिलता है कि कबीर के मन में अवधूत के अवधूतत्व के संबंध में संदेह अवश्य था अन्यथा वे उसको ललकारते नहीं

[१] कबीर—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० २३।

और न वे उसके सामने शर्तें ही रखते। इस प्रकार की शर्त रखने के कारण उस समय की नाथपंथी साधना की अवस्था और सांप्रदायिक स्थिति में मिलते हैं। कबीर साहित्य से ही यह भासित होता है कि उस समय अवधूत वेशधारी और नामधारी योगियों की संख्या कम नहीं थी जिनमें साधना का अभाव था। परवर्ती कवियों में तो 'अवधू' को इस रूप में सम्बोधन और ललकार भी नहीं मिली है। नाथ साहित्य में गुरु और नाथ को अभिन्न माना गया है और संत लोग भी इस प्रकार की मान्यता देते हैं। वस्तुतः संत कवि इस प्रसंग में और भी आगे बढ़कर गुरु की महिमा गोविन्द से भी अधिक मानते हैं। कबीर ने कहा है कि गोविंद को वतलाने के कारण गुरु की महिमा वड़ी है।[१] सुंदरदास ने इसका स्पष्ट निरूपण किया है, जिसका निर्देश हम पहले ही कर चुके हैं। यह प्रवृत्ति प्राचीन वैष्णव ग्रंथों में मिलती है। नारद पंचरात्र भी गुरु और गोविंद में भेद नहीं मानता अपितु यहाँ तक कहता है कि शिष्य के कल्याण के हेतु श्री कृष्ण ही गुरुरूप में अवतीर्ण होते हैं। उसमें स्पष्ट रूप से यह बताया गया है कि विष्णु के रुष्ट हो जाने पर भी गुरु शिष्य की रक्षा करने में समर्थ है। शिष्य का सब कुछ गुरु ही है। यहाँ तक कि वह सभी प्रकार के संबंधों का समाहार है। कबीरादि भी जाति-पाँत-कुल सब कुछ गुरु में ही मानते हैं। सुन्दरदास ने भी गुरु को माता-पिता सब कुछ माना है।[२] नाथों की अष्ट परीक्षा और ३२-३६ लक्षणों की व्यवस्था पर आधारित गुरुशिष्यवाद और अधिकारभेदवाद संतों में उपलब्ध नहीं यद्यपि गुरु-शिष्य के लक्षणों, पात्रताओं और अधिकारों के संकेत यत्र-तत्र संत साहित्य में मिल जाते हैं। नाद की अवस्थाओं से संबंधित योगी या शिष्य की विभिन्न अवस्थाओं अथवा शिष्य के भेद भी संत साहित्य में उपलब्ध नहीं हैं।

४—साधन के लक्ष्य का स्वरूप

इस गुरुशिष्यवाद और अधिकारभेदवाद की साधन की दृष्टि से, यदि उपयोगिता का विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि बिना गुरु के द्वारा दीक्षा और ज्ञान प्राप्त किये साधनक्षेत्र में प्रवेश करना कठिन है, दूसरे बिना 'अधिकार' प्राप्त किये परमतत्वोपलब्धि भी संभव नहीं है। यह होने पर ही

---

[१] कबीर के नाम से प्रसिद्ध तथा प्रायः उद्धृत साखी—'गुरु गोबिन्द दोऊ खड़े काके लागूँ पाय। बलिहारी गुरु आपणीं, जिन गोबिंद दिया बताय॥'

[२] सुन्दरसार, पृ० १५१।

'उपलब्धि' और सिद्धि संभव है। दीक्षा और अधिकारप्राप्ति का लक्ष्य यह 'उपलब्धि' और सिद्धि है। परमतत्व की उपलब्धि और आध्यात्मिक सिद्धि के स्वरूप का निश्चय हो जाने पर साधन के स्वरूप का निर्णय किया जा सकता है। संतों ने जिस परमतत्व को उपास्य माना है, साधन का लक्ष्य माना है, उसका वर्णन प्रायः उन लोगों ने उसी रूप में किया है, जिस रूप में नाथ-वाणियों में मिलता है। नामदेव यद्यपि उसे एक, अनेक, व्यापक, पूरक, सर्व-व्यापक आदि मानते हैं तथा विश्व में ओतप्रोत मानते हैं, निरंतर भाव से उसे घट-घटव्यापी मानते हैं तथापि उसे वे नाथपंथियों की तरह द्वैताद्वैतविवर्जित अथवा निर्गुणसगुणातीत नहीं मानते। उसे वे सर्वत्र आनन्दपूर्ण होकर रमण करनेवाला मानते हैं। वे उसके नाम और रूप को सर्वाधिक सुन्दर मानते हैं। वे उसका अन्तर्यामित्व भी स्वीकार करते हैं। ये लक्षण नाथपंथियों के उपास्य नाथ में नहीं मिलते।[१] यद्यपि वे नाथपंथियों के समान ही उसके आकार को झिलमिल ज्योति मानते हैं तथा वहाँ से अनाहत शब्द का श्रवण भी करते हैं, विभिन्न प्रकार की अनाहत ध्वनियों का श्रवण करते हैं, इड़ा-पिंगला और सुषुम्ना में पवन को बाँध कर ही रहनी रहने की बात करते हैं, चंद्र-सूर्य में सामरस्य कर ब्रह्मज्योति में मिल जाने की बात करते हैं, घट के भीतर ही ६८ तीर्थों में स्नान करने को कहते हैं तथापि वे स्पष्ट रूप से सहस्रार या शून्यशिखर या उसके अन्य पर्यायवाची शब्द का प्रयोग कर परमतत्व के घटस्थ उपलब्धिस्थान की ओर संकेत नहीं करते। गोरख ने गोरखबानी की प्रथम 'सबदी' में ही उस परमतत्व के ध्वन्यात्मक साक्षात्कार की बात कही है। नामदेव शून्य समाधि में समाहित होने की बात करते हैं जिसे प्रकारान्तर और शब्दान्तर से सहस्रार में परमतत्व की उपलब्धि स्वीकार किया जा सकता है।[२] किंतु नामदेव ने अपने उपास्य को अनंतरूपात्मक माना है। नाथपंथी शिव या नाथ को अनंत-रूपात्मक नहीं मानते। अनंतरूपात्मकता (यदि अनेकरूपात्मकता अर्थ लिया जाय) से शिव या नाथ का नहीं अपितु शक्ति का संबंध मानते हैं। इस प्रकार का विचार हम पहले व्यक्त कर चुके हैं।[3] नामदेव ने विभिन्न पदों में मंदिर-स्थ विठोबा का वर्णन किया है। उनसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि नामदेव अपने जीवन की मूर्तिसंबंधी घटनाओं और चमत्कारों को भी परमतत्व के सर्व-

---

[१] संत काव्य—पृ० १४४, १४५, १४६, १४७।

[२] हिं० म० सं० दे०, पृ० २४४, २५१, २५२।

[3] वही, पृ० २५४।

व्यापकत्व का प्रमाण मानते है।[१] इस प्रकार का कोई विचार नाथपंथी रचनाओं में उपलब्ध नहीं।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि यद्यपि नामदेव के उपास्य या परमतत्व के कुछ लक्षण नाथपंथियों के 'नाथ' के समान हैं तथापि नामदेव की रचनाओं में ऐसी घोषणा कहीं नहीं दिखाई पड़ती कि उस परमतत्व का साक्षात्कार केवल ब्रह्मरंध्र या सहस्रार या गगन में ही ज्योति के रूप में या शब्द के रूप में होता है। उसका वे सर्वत्र साक्षात्कार करते हैं और विभिन्न रूपों में करते हैं। यद्यपि नामदेव योग की पद्धतियों का वर्णन अवश्य करते हैं और योग, हठयोग की शब्दावली का भी यत्रतत्र प्रयोग करते हैं, किंतु वे कहीं भी कायसिद्धि को आवश्यक ठहरा कर केवल उसी से ब्रह्मसाक्षात्कार का उपदेश देते नहीं दिखाई देते। नाथसिद्धों के अनुसार घट में ही ब्रह्मसाक्षात्कार होने के कारण घट या काया की रक्षा करना अत्यावश्यक है किंतु नामदेव सर्वव्यापक ब्रह्म का सर्वत्र दर्शन करते हैं अतः उनके लिये इस प्रकार का उपदेश न देना स्वाभाविक ही है। अतः यदि यह मान लिया जाय कि नामदेव ने योगसाधन, ह+ठ साधन, को अपनी साधना में स्थान दिया था तब भी यह कहने के लिये कोई प्रमाण नहीं है कि नामदेव नाथसिद्धों की इच्छामृत्यु, पिण्डरक्षा और घट या पिंड में ब्रह्म के सक्षात्कार को ही मानते हैं। उनकी हिंदी रचनाओं में इच्छामृत्यु, पिंडरक्षा, कायसिद्धि आदि का कोई वर्णन उपलब्ध नहीं। उनके तथा नाथपंथियों के परमतत्वनिर्वचन में भी अंतर है, जैसा पहले बतलाया जा चुका है।

रामानन्द के प्रसिद्ध गुरु राघवानन्द की रचनाएँ बहुत कम हैं और अव्यवस्थित हैं। 'सिद्धान्त पंचमात्रा' के आधार पर डा० बड़थ्वाल ने बतलाया है कि 'इस पुस्तिका के अनुसार स्वामी राघवानन्द का साधनामार्ग योग और प्रेम का समन्वित रूप है जो पुस्तिका ही के अनुसार सनत्कुमार आदि ब्रह्मा के चार मानस पुत्रों के द्वारा चलाया गया था।'[२] इस रचना में परमतत्व का कोई भी निर्वचन नहीं है। एक स्थान पर अस्पष्ट रूप में यह संकेत किया गया है कि शून्य गगन में ध्वजा फहराती है तथा शब्द का प्रकाश होता है।[3] इसके आधार पर केवल यही कहा जा सकता है कि राघवानन्द केवल शून्य गगन में

---

[१] वही, पृ० २६२, २६८, २५६।

[२] रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ—परिशिष्ट ३, पृ० ४२।

[3] वही, परिशिष्ट ४, पृ० ४९।

स्वरूपनिर्वचन के विषय में कुछ भी नहीं कहते। वस्तुतः इस रचना के आधार पर किसी निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन है। रामानन्द की रचनाओं में इन विषयों का परिचय अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट है। यद्यपि रामानन्द ने परमतत्व या ब्रह्म को सगुणनिर्गुणातीत तथा द्वैताद्वैतविवर्जित नहीं कहा है तथापि वे हरि को रक्षक, स्रष्टा, स्वामी, घटस्थ, ब्रह्मा-विष्णु-शिव से भी परे, मायायुक्त अखंड ज्योतिस्वरूप मानते हैं। उसे अखंड रूप से रमण करनेवाला मानते हैं। उसे वे 'एक' भी कहते हैं।[१] उसका गगन में साक्षात्कार भी होता है। वे गगन में गरजती हुई ध्वनि में ध्यान लगाने को भी कहते हैं। आकाश में भ्रमर के गुंजार को भी वे स्वीकार करते हैं। सहज शून्य में ब्रह्म का अखण्ड रमण वे मानते हैं। इस ज्योति को वे तेलबाती से रहित कहते हैं।[२] रामानन्द इस प्रकार यह मानते हैं कि विश्वस्रष्टा, रक्षक, ब्रह्मा-विष्णु शिव से अतीत परब्रह्म घटस्थ हैं और उसका ध्वन्यात्मक अथवा ज्योतिरूप साक्षात्कार गगन में होता है। इसीलिय वे स्पष्ट रूप से शरीर या काया की रक्षा करने के लिये भी कहते हैं। उनके अनुसार सूर को उलटकर, गगन का भेदन कर तथा चन्द्रमा की सारी कलाओं का पोषण कर अग्नि प्रज्वलित की जाती है जिससे जरा और वेदनाएँ जल जाती हैं। वे पिंड के निर्मलीकरण के लिये भी कहते हैं जिससे रोग-पीड़ा-व्यथा शरीर में व्याप्त नहीं हो पाती। गंगा-यमुना-साधन से अजरामरता की प्राप्ति की ओर भी संकेत किया गया है। उन्होंने उस तन की चिंता करने के लिये उपदेश किया है जिसमें राम का प्रकाश होता है। इसी प्रकार त्रिवेणी में स्नान करने से आवागमन का निरोध बताया गया है।[3] अतः रामानन्द के उपर्युक्त विचारों से भी यही स्पष्ट है कि उनकी रचनाओं में यद्यपि परब्रह्म के लक्षण अथवा गुण कुछ अंशों में नाथसिद्धों के नाथ के समान हैं तथापि वे द्वैताद्वैतविवर्जित और सगुण निर्गुणातीत नहीं है। दूसरे नाथपंथी संस्कृत रचनाओं में जैसे नाथ को सृष्टिकार्य से बिल्कुल पृथक् और मुक्त रखा गया है वैसा रामानन्द की रचना में नहीं है। नाथसिद्धों की तरह ही रामानन्द भी परब्रह्म का साक्षात्कार गगन में ज्योतिरूप में अथवा नाद या ध्वनि के रूप में अवश्य करते हैं। यह भी स्पष्ट है कि रामानन्द अपने साधन में योग को भी स्थान देते हैं और अजरामरता और

---

[१] वही, मूल, पृ० ७, ८, १०।

[२] वही, मूल, पृ० ३, ६, ८, १०।

[3] वही, मूल, पृ० ४, ५, ९।

शब्दब्रह्म या नादब्रह्म के प्रकाशित होने की बात करते हैं, परमतत्व के कायसिद्धि को भी स्वीकार करते हैं। किन्तु कहीं भी इसका कोई संकेत नहीं मिलता कि वे इच्छामृत्यु को लक्ष्य के रूप में स्वीकार करते हैं।

कबीरादि संतों के साहित्य में ये विचार अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट और व्यवस्थित रूप में मिलते हैं। भक्ति के प्रसंग में संकेत किया गया है कि नाथों के उपास्य के जो विशेषण उनकी हिन्दी रचनाओं में प्रायः मिलते हैं, वे प्रायः निषेधात्मक अथवा अभावात्मक हैं। इसके विपरीत संतों के उपास्य के जो विशेषण प्रायः मिलते हैं वे अधिकांशतः सद्भावात्मक हैं और उनका अधिक संबंध प्रेम अथवा भक्तिभाव से है। नाथों के योग के प्रसंग में यह दिखा चुके हैं कि गोरख ने उसे सत्, असत्, शून्य, अशून्य, द्वैत, अद्वैत आदि से परे माना है। इस परमतत्व का साक्षात्कार वे घट के अन्तर्गत ही संभव और उचित मानते हैं यद्यपि वे उसे सर्वव्यापक, विधाता, कर्ता आदि मानते हैं। वे उसे ज्योतिरूप मानते हैं और उस सर्वव्यापक का ध्वन्यात्मक एवं प्रकाश-रूपात्मक प्रत्यक्ष गगन-शिखर में करते हैं। किन्तु फिर भी नाथों ने नाथ में अन्तर्यामित्व, सर्वशक्तिमयत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वसुन्दरत्व, प्रेममयत्व, आनन्द-मयत्व आदि का दर्शन नहीं किया है। कबीर भी यद्यपि उसे विभिन्न अकथ, अलेख, अविगत, अगोचर आदि पदों से लक्षित करते हैं तथापि वे उसे अमृत-दाता, आनन्दस्वरूप आदि भी कहते हैं। वे उसे अनंत ज्योतिर्मय परमात्मा, अन्तर्यामी, सर्वदा आनन्दमय, सर्वव्यापक आदि कहते हैं।[१] यद्यपि सुविधा की दृष्टि से कबीरदास उस परमतत्व को सृष्टिकर्ता कह देते हैं, अपना साहब केवल 'एक' ही मानते हैं तथापि अनुभूति की अवस्था में निर्वचन करते समय वे उसे 'एक' भी नहीं कहना चाहते, दो भी नहीं कहना चाहते और अंत में 'वह जैसा है तैसा ही रहे' कह कर ही संतोष कर लेते हैं। यद्यपि वे सगुण की सेवा करने के लिये तथा निर्गुण का ज्ञान प्राप्त करने के लिये कहते हैं किंतु कबीर का ध्यान तो केवल उसी तत्व में है जो निर्गुण-सगुण से परे है। इस परमतत्व को वे रूप और रेखा से अतीत, अशरीरी मानते हैं फिर भी उस विदेह पुरुष का निवास वे गगन-मण्डल के मध्य मानते हैं।[२] उसमें वे सर्व-शक्तिमत्ता का आरोप करते हैं। राई से पर्वत करना और राई में पर्वत कर देना उसी के लिये संभव है। उसके समान समर्थ कोई नहीं है। मानव तो

---

[१] कबीर ग्रंथावली, पृ० १२, २४२, १६४, ५४, १००।

[२] कबीर बचनावली, पृ० ९४-९५।

केवल (कहने के लिये) माध्यम मात्र है। करता सब कुछ वही है। वह घटस्थ है, सर्वघटव्यापक है, सभी घटों में समाहित है। बिना उसके ज्ञान के संसार की छोटी से छोटी क्रिया भी नहीं होती।[१] उसके लक्षणों की ओर संकेत पहले किये जा चुके हैं।

इसी प्रकार कबीरदास ने परमतत्व की कल्पना परमज्योति के रूप में भी की है। जब वे 'ज्योति' में 'ज्योति' को मिलाने की बात करते हैं तो वे परमात्मा को 'ज्योतिमान्' ही मानते प्रतीत होते हैं। एक ही 'ज्योति' से वे सबकी ही उत्पत्ति मानते हैं। उसे 'ज्योतिसरूपी' कहते हैं।[२] इस ज्योति का दर्शन अथवा साक्षात्कार भी घट में ही 'शून्यमंडल' में होता है, वहीं मर्दलध्वनि सुनाई पड़ती है जिसे सुनकर मन मस्त हो जाता है। शून्यमंडल में ही कबीरदास उस परम ज्योति के प्रकाश की शोध करने के लिये कहते हैं।[३] जो ज्योतिस्वरूप परमतत्व सकल जग में व्याप्त है तथा अक्षय पुरुष है उसी अपार को स्वयम् ही निवास करते हुए सहस्रदलकमल में, झिलमिल रूप में देखने का उपदेश कबीर ने दिया है।[४] कबीर ने उसका दर्शन घटस्थ सहस्रार अथवा गगन अथवा शून्यशिखर में नाथरूप में भी किया है। कबीरदास गगन में एक 'जंत्री' (यंत्र या वाद्य बजानेवाले) की कल्पना कर उससे प्रीति लगाने के लिये कहते हैं तथा उसके शब्द का गर्जन भी गगन में स्वीकार करते हैं। उन्होंने राम की घन के रूप में भी कल्पना की है, जिसकी अमृत वर्षा में वे भीग जाते हैं। अनेक स्थानों पर अमृतवर्षा का अनुभव कबीर ने गगन या सहस्रार में किया है। वहाँ वे एक साथ बिजली की चमक और घन-वर्षा का अनुभव करते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि कबीर गोरखनाथ आदि की तरह अपने परमतत्व को द्वैताद्वैतविवर्जित तथा सगुण-निर्गुणातीत मानते हैं। दूसरे वे उसे घट-घट-व्यापक मानकर उसका ध्वन्यात्मक और प्रकाशात्मक साक्षात्कार घट में ही सहस्रार या गगन में करने का उपदेश देते हैं।[५]

५—कायासाधन और योगयुक्ति

नाथ सिद्ध तथा रामानंद भी, जैसा ऊपर कह चुके हैं, घटस्थ गगन या

---

१ कबीर वचनावली, पृ० ९५-९६।

२ कबीर ग्रंथावली, पृ० ९८, १०६, १०७, १११।

३ वही, पृ० ११०, १२७।   ४ कबीर वचनावली, पृ० १७९।

५ कबीर ग्रंथावली, पृ० १३७, १५४, १५, ६८, ८८।

सहस्रार में नित्य साक्षात्कार के लिये मानव शरीर को अत्यधिक महत्वपूर्ण मानकर उसकी रक्षा करना आवश्यक मानते हैं। कबीरदास ने काया को देवालय माना है और मन को ध्वजा। मन के चंचल होने पर शरीर भी चंचल हो जाता है और फिर साधकका सब कुछ चला जाता है। अतः मन को अचंचल रखकर शरीर को भी अचंचल रखना चाहिए। कबीर भी कच्ची काया और अस्थिर मन का वर्णन करते हैं। वे भी योगयुक्ति से काया के कूड़ा-कपट को निकालने की बात कहते हैं। इस हेतु वे तन को खोजने के लिये युक्तिप्रयोग कर भक्ति प्राप्त करने का उपदेश करते हैं। यम के पाश को काटना आवश्यक है। यह शरीर तो कच्चा है, 'शब्द निरंजन राम नाम' सच्चा है।[१] नाथसिद्धों के साधन में काया का क्या स्थान है, उसके संबंध में पहले ही हम कह चुके हैं। बताया गया है कि वे कायसिद्धि को आवश्यक मानते हैं जिसका अर्थ है कच्ची अथवा अशुद्ध काया को शुद्ध कर परिपक्व बनाना जिससे यह शरीर अधिक से अधिक समय तक ज्ञानजल को सुरक्षित रख सके, कल्याणकार्य कर सके, इच्छामृत्यु की शक्ति अर्जित कर सके, क्योंकि वे मानते हैं कि कच्ची काया में न ज्ञानजल स्थिर रह सकता है और न घट की रक्षा हो सकने के कारण सहस्रार में परमशिव का साक्षात्कार ही नित्य हो सकता है। इसीलिये कायसिद्धि या परिपक्व काया की उपलब्धि आवश्यक है। जैसा कहा जा चुका है, नाथ लोग एक ऐसी मुक्ति चाहते हैं, जो जीवन्मुक्ति तो होती है, साथ ही उसमें इच्छामृत्यु की शक्ति भी साधक को उपलब्ध रहती है। नाथों का साधन योगयुक्त ज्ञान है। वे लोग योग की सहायता से परिशुद्ध एवं परिपक्व शरीर में 'द्वैताद्वैतपरिवर्ती' परमतत्व का साक्षात्कार करना चाहते हैं। यह साक्षात्कार गगन या गगनशिखर में वे करना चाहते हैं। दूसरे शब्दों में नाथसिद्ध परमात्मा या परमपद की प्राप्ति के अतिरिक्त अजर, अमर काया की प्राप्ति भी आवश्यक मानते हैं और इस काया की प्राप्ति योग से ही संभव मानते हैं। इस प्रकार नाथों के दो लक्ष्य स्पष्ट हैं। क्रमानुसार पहले वे कायसिद्धि अथवा इच्छामृत्युसिद्धि को स्थान देते हैं तथा क्रमशः दूसरा, चरम लक्ष्य उनका नाथरूप से अवस्थान है। नाथों का द्वितीय लक्ष्य तो संतों को भगवदुपलब्धि के रूप में स्वीकार्य है किंतु प्रथम लक्ष्य और उसके साधन के संबंध में उनके मत भिन्न हैं। हम भक्ति के प्रसंग में यह कह चुके हैं, संतों का चरम साधन भक्ति है और यह भी निश्चित

---

[१] वही, पृ० ३०, ७६, ९३, १३४।

है कि वे भगवान् और उनकी भक्ति के अतिरिक्त कुछ भी नहीं चाहते ।[१] यह भी ऊपर कह चुके हैं कि कबीर इस परमतत्व का साक्षात्कार नादरूप में अथवा ज्योति के रूप में घटस्थ सहस्रार में करते हैं। अतः यह संभावना हो सकती है कि वे नाथपंथियों के समान ही काया को अजर-अमर, सिद्ध, परिपक्व बना कर उसमें उस परमतत्व के नित्य साक्षात्कार की कामना करते हों तथा उसको लक्ष्य के रूप में भी स्वीकार करते हों। यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि नाथों ने कायसिद्धि या अजरामरता या इच्छामृत्यु का केवल अभिधेयार्थ ही ग्रहण किया है अर्थात् शरीर रहते शरीर की सभी प्रकार की मुक्ति वे चाहते हैं। इस मुक्ति या सिद्धि या अजरामरता का लक्ष्यार्थ यह हो सकता है कि जिस प्रकार साधक नाथों की उपर्युक्त प्रकार की मुक्ति अथवा सिद्धि में काल से पूर्ण निर्भय और निश्चित हो जाता है, उसी प्रकार साधक अपनी भावना और अनुभूति में काल, रोग, चिंता आदि से निश्चित और निर्भर हो जाय। यह देखना है कि कबीर में या अन्य संतों में इन दोनों में से कौन सा अर्थ गृहीत है। दूसरे यह भी विचार्य है कि यदि वे इस प्रकार की सिद्धकाया या अमर काया को आवश्यक मानते हैं तो इसकी उपलब्धि किस साधन से संभव है।

संत अपने आध्यात्मिक जीवन के प्रति अत्यधिक सावधान रहता है। काल को सर्वदा अपने सिर पर खड़ा जैसा अनुभव करने के कारण कभी भी उसे नींद नहीं आती। 'काल कौ अंग' में कबीर ने मानव जीवन की क्षणिकता तथा काल के आगे उसकी असमर्थता पर पर्याप्त विचार किया है। सारी सांसारिक संपत्ति और वैभव पड़े रह जायँगे और राम के नाम के बिना यह मनुष्य भी अन्त में काल के हाथ पड़ेगा। बिना राम की उपासना किये सभी सुर, नर, मुनिवर, असुर काल के बन्धन में पड़ेंगे। कबीर मानते हैं कि मन अस्थिर है और यह शरीर भी कच्चा है। मनुष्य स्थिरभाव से कामना करता हुआ निर्द्वन्द्व होकर घूमता है और यह देखकर काल भी हँसता है, प्रसन्न होता है। कबीरदास इससे मुक्ति पाने के लिये संजीवन मार्ग बतलाते हुए कहते हैं कि माया-मोह से टूट कर कबीर हरि की शरण में चला गया और उसने गगन-मंडल में आसन जमा लिया। परिणामतः काल भी हार कर चला गया। यदि मन को पराजित कर दिया जाय, उसके अहंकार का नाश कर दिया जाय तथा वह पंगु होकर केवल भगवान् के आसरे 'पिव-पिव' की रट लगाया करे तो उसे बाद में फिर काल का भय नहीं रह जायगा। विरह से संपर्कित और

[१] कबीर वचनावली, पृ० १२७, छं० ३८७।

तीक्ष्ण किया हुआ मन जब भगवान् के चरणों में लग जाता है तब साधक तक काल के पहुँचने का कोई भी भय नहीं रहता।[१] अतः कबीर का स्पष्ट मत है कि राम और रामनाम की बिना चिंता किये काल के पाश से मुक्ति पाना कठिन है।[२] वे बार-बार यह भी संकेत करते हैं कि मनुष्य का जीवन छोटा है, क्षण-क्षण बीतता जा रहा है, अतः बिना एक क्षण गँवाये ही सावधान और अनिद्र होकर परमात्मा की चिंता करनी चाहिए।[3] अतः इससे स्पष्ट है कि कबीरदास कालपाश से, काल से निर्भय होना चाहते हैं। नाथपंथी लोग भी काल से मुक्ति चाहते हैं, इसमें संदेह नहीं।

ऊपर कहा गया है कि कबीर के अनुसार यह शरीर कच्चा है और मन भी अस्थिर है। परिपक्व काया के संबंध में कबीर का क्या मत हो सकता है, यह अनुमान करने के लिये उपर्युक्त कथन अत्यधिक महत्वपूर्ण है। नाथपंथियों के समान ही कबीर का भी कथन है कि काया देवालय है अर्थात् इसमें परमात्मा का वास है। मन ध्वजा है जो विषयों की लहरों में फहरा रही है। मन के चंचल रहने से देवालय भी चंचल हो जाता है, नष्ट हो जाता है, वश में नहीं रहता और फिर साधक का सर्वस्व नष्ट हो जाता है।[४] अर्थात् मन और शरीर के चंचल होने पर साधन असंभव है। वे काया को काशी भी कहते हैं जिसके अन्तर्गत स्थित दशम द्वार के देवालय में ज्योति की वे पहचान करते हैं।[५] इससे स्पष्ट है कि कबीर यद्यपि शरीर की स्थिरता, उसकी काल से मुक्ति चाहते हैं किंतु उनका स्पष्ट अभिमत है कि चिन्त्याचिन्त्य माधव ही सबमें समाया हुआ है। उसे छोड़कर जो अन्य का भजन करते हैं वे सभी भ्रम में भूले हुए हैं। इसीलिये वे पिंडमुक्ति को अपना लक्ष्य नहीं मानते। यदि वास्तविक पदमुक्ति उपलब्ध न हो तो पिंडमुक्ति की कबीर को कोई आवश्यकता नहीं है।[६] यद्यपि लोग योग करके पिंड को शुद्ध करते हैं किंतु मुद्रा पहनने से योगसाधन नहीं होता। जो लोग हरिपद का प्रत्यभिज्ञान कर लेते

---

[१] क० ग्रं०, काल कौ अंग—पृ० ७२-७६, छं० ४, १८, २९; सजीवन कौ अंग, पृ० ७६, छं० ३–५।

[२] वही, सुमिरण कौ अंग, पृ० ५, छं० ५।

[3] वही, पृ० १९४, पद ३१२।

[४] वही, पृ० ३०, छं० २८।

[५] वही, पृ० ४४, छं० १०।

[६] वही, पृ० १००, पद ३६।

हैं, वस्तुतः वे ही मलिन पिंड को निर्मल कर पाते हैं।[1] इसी प्रकार अमर भी वे ही हो पाते हैं जो 'राम' को जान लेते हैं। कबीर योगयुक्ति से शरीर को शुद्ध करने की बात करते हैं।[2]

ऊपर के परिचय से स्पष्ट है कि कबीरदास काल से मुक्ति चाहते हैं, काया को अशुद्ध और कच्ची मानते हैं तथा जीवन को (साधन की दृष्टि से) अत्यंत छोटा मानते हैं। इसलिये वे इस लघु मानव जीवन की चिंता करते हुए स्पष्ट रूप से हरिचिंतन के लिये कहते हैं। शरीर का शोधन भी यद्यपि वे चाहते हैं, काल से, यम से मुक्ति भी चाहते हैं तथापि शोधन के लिये योगयुक्ति को स्वीकार करते हुए भी उस शोधन को सब कुछ नहीं मान लेते। यद्यपि वे मनस्थैर्य से कायस्थैर्य की सिद्धि मानते हैं तथापि वे स्पष्टतया कहते हैं कि पिंड या शरीर की मुक्ति या सिद्धि तब तक निरर्थक है, जब तक मुक्तिपद की प्राप्ति न हो। दूसरी बात यह है कि कबीरदास जब काल का वर्णन करते हैं तथा उससे मुक्त होने के साधन की बात करते हैं तब वे निर्भयता की ओर अवश्य संकेत करते हैं। उनके इस प्रकार के वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि हरिचिंतन से कालभय नहीं रहता, यहाँ तक कि काल भी अपना सिर पीट कर चला जाता है। हरि का प्रत्यभिज्ञान होने पर, उसे जान लेने पर, अमरता की प्राप्ति हो जाती है। कबीरसाहित्य में यद्यपि अमृतपान आदि का पर्याप्त वर्णन है तथापि पिंडसिद्धि और इच्छामृत्यु का वैसा वर्णन उपलब्ध नहीं है, जैसा नाथ साहित्य में हम देख चुके हैं।

हम पहले कह चुके हैं कि नाथों का लक्ष्य है पिंडपद का परमपद या ब्रह्मांड में समरसीकरण इस लक्ष्य का मूलाधार सिद्धान्त है पिंडब्रह्मांडवाद। परब्रह्म का सर्वव्यापकत्व नाथपंथी और कबीर दोनों ही मानते हैं। दोनों ही उसे घटस्थ भी मानते हैं। दोनों ही घट के भीतर ही उसका साक्षात्कार करने को कहते हैं। दोनों ही घट के भीतर ही सर्वव्यापक ब्रह्म और व्याप्य ब्रह्माण्ड को देखने का उपदेश देते हैं। इस वाद के भी दो रूप हो सकते हैं। पहला—ब्रह्माण्ड के विभिन्न अंग-उपांगों के समकक्ष पिंड में भी उनकी कल्पना। दूसरा-सर्वव्यापक भगवान् और ब्रह्म का घट के साथ तादात्म्य का अनुभव करना। संतों में पिंडब्रह्माण्डवाद का कौन सा रूप स्वीकृत है, इसका सविस्तर विचार आगे किया गया है। विचार करने से यही प्रतीत होता है कि

[1] वही, पृ० १६२, पद २१७।

[2] वही, पृ० १०२, पद ४३; पृ० ९३।

जो साधनपद्धति चक्र-नाड़ी-व्यवस्था को स्वीकार करती है, वह किसी न किसी रूप में पिंडब्रह्माण्डवाद और उसके मूलतत्व पिंडब्रह्माण्ड के समत्व को स्वीकार करती ही है। आगे संतों के योग का जो परिचय दिया जा रहा है, उससे यह बात और स्पष्ट हो जायगी। कबीरदास के अनुसार वह परमतत्व सकल ब्रह्माण्ड को पूर्ण करता है और दूसरे स्थानों में भी वह स्थित है। कबीर ने ब्रह्म और ब्रह्माण्ड आदि सबका अपने घट में दर्शन किया जब उसने समान नेत्रों से (सम दृष्टि से) देखा।[1] कबीरदास तो यह भी मानते हैं कि सृष्टिकर्ता ही संसार है, वह संसार में सर्वव्यापक है और ये सब ही घट में समाहित हैं। वे स्वयं ही सभी घटों में 'साहिब' का दर्शन करते हैं। वे मानते हैं कि राम-रहीम तो सर्वत्र भरपूर हैं और उस व्याप्य 'खलक' या 'दुनी' का दर्शन भी वे हृदय में करने को कहते हैं।[2] कबीर के विभिन्न कथनों पर विचार कर संत साहित्य के आलोचक संतों के इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं—'कबीरदास ने कितनी ही बार कहा है कि जो कुछ पिंड में है, वही ब्रह्माण्ड में है। पिंड में ब्रह्माण्ड और ब्रह्माण्ड में पिंड है।[3] पिंड में ब्रह्माण्ड और ब्रह्माण्ड में पिंड का अनुभव ही पिंडपद में परमपद के समरसत्व का अनुभव है।

नाथों के लक्ष्यनिरूपण में हम कह चुके हैं कि वे पिंडस्थैर्य के लिये पिंड-ज्ञान आवश्यक मानते हैं। बिना पिंडज्ञान के साधक साधनक्षेत्र में, उनके अनुसार, अग्रसर ही नहीं हो सकता। पिंडज्ञान का वर्णन भी उनके साहित्य में विस्तार से मिलता है। वहाँ पिंडज्ञान से ब्रह्मांडज्ञान साध्य माना गया है। कबीर भी यद्यपि पिंडज्ञान का वर्णन करते हैं किन्तु वे कोई ऐसा बन्धन नहीं लगाते कि बिना पिंडज्ञान के साधक अग्रसर हो ही नहीं सकता। उनके उप-र्युक्त विचारों से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि संत भी अन्तस्साधनावादी हैं और वे शरीर में ही परमात्मा के शोध की बात भी करते हैं किन्तु घटस्थ ब्रह्म की पहचान के लिये ही वे घट में शोध अथवा अपने भीतर का ज्ञान प्राप्त करने को कहते हैं। कायसिद्धि के लिये वे कायाज्ञान को आवश्यक मानते प्रतीत नहीं होते। इसके होते हुए भी वे पिंड का, नाड़ियों, चक्रों, कोठों का वर्णन करते हैं। बाह्याडम्बरनिषेध और अन्तस्साधनविधान के मूल में पिंडब्रह्माण्डवाद ही है। वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि काया का 'मार्जन'

---

[1] क० ग्रं०, पृ० ९७-९८, पद ३०।

[2] वही, पृ० १०४, पद ५१, पृ० १०७, पद ६०।

[3] कबीर—डा० द्विवेदी, पृ० ५९।

निरर्थक है। वस्तुतः काया के भीतर शोधन करना चाहिए। हृदय की शुद्धि ही सबसे बड़ी चीज है। जल से बाहरी शरीर को धोना निरर्थक है। अपने उस (सूक्ष्म) शरीर की पहचान करनी चाहिए जहाँ से जीव आया है। विभूतिधारण, जटापट-धारण, जलस्नान, अग्नितप आदि से कोई लाभ नहीं है। जो लोग शरीर को दिन में तीन बार धोते हैं, वे वस्तुतः शरीर की खबर नहीं पाते। उनको तो शरीर का ज्ञान ही नहीं होता।[१] इससे स्पष्ट है कि कबीर पिंडज्ञान को साधक के लिये अनिवार्य नहीं मानते। यदि वे काया में शोध के लिये कहते भी हैं तो केवल पिंड में परब्रह्म की पहचान के लिये, मन और हृदय के वास्तविक रूप का पता लगाने के लिये, कायसिद्धि के लिये नहीं।

नाथसिद्ध लोग काया को गढ़ या नगर या पुरी भी कहते हैं और उसे जीतने का उपदेश भी देते हैं। रामानंद ने भी काया को विकट गढ़ के रूप में कल्पित कर उस पर चढ़ना कठिन बतलाया है। उस गढ़ को जूझकर ही सूर लोग अच्छी तरह बूझ पाते हैं क्योंकि इस बाँके गढ़ का पंथ अगम है और उस पर पाँव रखना कठिन है। स्वयं रामानन्द कबीर को कायानगरी का रहस्य बतलाते हुए पंचेन्द्रियों, मन, पवन, ज्ञान, दया, हृदय आदि का परिचय देते हैं।[२] कबीर साहित्य में कायागढ़ के विजय का स्पष्ट वर्णन उपलब्ध नहीं। कुछ संकेत अवश्य मिलते हैं। कबीरदास मैंवासा (कायागढ़) को मार कर, उससे दुर्जनों का निष्कासन कर, प्रियतम राम के राज्य में, कायानगरी में पूरी तरह से बस जाते हैं। इसी प्रकार गुरुमुख के 'कलमा' और ज्ञानमुख की छूरी से वे पाँचों पुरियों (पंचभूतों) को हलाल करते हैं।[३] "सूरा तन कौ अंग" में कबीरदास इंद्रियों, मन, काम, क्रोध आदि से जूझने का उपदेश देते हैं।[४] रामानन्द आदि के इन विचारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये संत लोग कायाविजय को आवश्यक मानते हैं। जो मुख्य बातें स्पष्ट होती हैं, उनमें से प्रथम तो यह है कि आध्यात्मिक साधन में मन और शरीर दोनों ही सहायक होते हैं। दूसरे, मन के स्थैर्य से कायस्थैर्य साध्य है। तीसरे, काया-

---

१ क० ग्रं०, पृ० १८२, पद २७७; पृ० १८३, पद २७९; पृ० १८६–१८७, पद २९०।

२ रा० हिं० र०, पृ० ८, १६, १३।

३ क० ग्रं०, पृ० ४७, छं० २६; पृ० १७५, पद २५६।

४ वही, 'सूरा तन कौ अंग,' पृ० ६८, छं० २, ३, ७।

जय तो वे अवश्य चाहते हैं, कायाशोधन भी चाहते हैं किन्तु यह कायाशोधन शरीर के भीतर के विभिन्न अंगों का नहीं है, अपितु मन को तथा शरीर को भक्तिपथ से हटा देने वाले तत्वों से शुद्ध करना है। वे कायाजय केवल इसलिये चाहते हैं कि जिससे ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ साधक को भक्तिपथ से विचलित न कर दें। चौथे, काल से मुक्त होने एवम् अजर-अमर होने का अर्थ, उनके यहाँ काल से निर्भय और निश्शंक हो जाना है।

हम यह पहले ही कह चुके हैं कि कबीरदास केवल भगवान् और भक्ति को ही चाहते हैं। वे यह भी कहते हैं कि भक्तिप्राप्ति से ही काल से निर्भय हुआ जा सकता है। योगयुक्ति से वे शरीर के 'कूड़ा-कपट' को दूर करते हैं। योग से अजर-अमर काया या कायसिद्धि या सिद्धकाया की प्राप्ति की बात वे स्वीकार नहीं करते। उसका कारण यह है कि योग की सहायता से कायसिद्धि की बात स्वीकार करने के बाद साधक का लक्ष्य केवल कायसिद्धि और साधन केवल काया-साधन ही रह जाता है। ऐसा होने पर मन छूट जाता है। किंतु कबीर मनसाधन या हार्दिक साधन या भावसाधन पर ही जोर देते हैं। उनके समय में नाथपंथियों ने कायसिद्धि और कायासाधन को ही सब कुछ मान लिया था और उसी में वे फँसे रहते थे। मानस शोधन उन लोगों ने बिल्कुल छोड़ दिया था। उनके समय में शरीरसाधन या हठसाधन ही उनके लिये सब कुछ था किंतु प्राचीन नाथसाधना में कायासाधना या हठसाधना का लक्ष्य मानसिक या चैतसिक साधन अथवा राजयोग था। कबीर ने इसीलिये केवल कायासाधन और कायसिद्धि के पीछे पड़े रहनेवाले जोगियों का मजाक उड़ाया है। उनका तो कहना है कि कायसिद्धि तो मानस साधन से ही मिल जाती है। भक्तिप्राप्ति से व्यक्ति काल से निर्भय हो जाता है, अजर अमर हो जाता है जबकि नाथों के साधन में कायसिद्धि प्राप्त होने के बाद ही परमपदप्राप्ति और अजरामरता मानी गई है। भक्ति की प्राप्ति से ही अजरामरता अथवा काल से निर्भयता की उपलब्धि की कल्पना भक्तिशास्त्र में ही बहुत पहले से स्वीकृत मिलती है। नारद ने अपने भक्तिसूत्र में ही यह संकेत किया है कि भक्ति स्वयम् अमृतस्वरूपा है और जिसका लाभ कर पुरुष सिद्ध, अमृत और तृप्त हो जाता है।[१] कबीर ने अपनी रचनाओं में कायसिद्धि संबंधी मतों पर अपने विचार व्यक्त किये हैं जिससे यह

[१] नारद भक्तिसूत्र, सूत्र सं० ३, ४—'अमृतस्वरूपा च', 'यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवत्यमृतो भवति तृप्तो भवति'।

स्पष्ट हो जाता है कि कबीर अपने समय की साधनपद्धतियों और उनके लक्ष्यों के प्रति अत्यधिक सावधान और जागरूक थे। उन्होंने बीजक में कायसिद्धि के लिये प्राणायामादि हठयोगी क्रियाओं को संपादित करनेवालों का खंडन किया है। उनके अनुसार वे हठयोगी बार-बार प्राणों को चढ़ाते हैं और इस प्रकार अपने शरीर रूपी भांड को फोड़ते हैं। कालवंचन के लिये वे ये सब शारीरिक क्रियाएँ मानते हैं किन्तु वे यह नहीं जानते कि वास्तविक चोर तो मन है। उस मन की चोरी का रहस्य हठयोगी नहीं जान सकते। वस्तुत: वे योगी कालभय से सदैव पीड़ित रहते हैं।[१] देहावसान के बाद हठयोगी पुन: शरीर रूपी नगरी में चला जाता है और उसके साथ ही पंचप्राणरूप पाँच नारियाँ भी उस काया नगरी में बस जाती हैं। यह जोगी शरीर छोड़कर कहीं देशान्तर में चला जाता है किन्तु कहा नहीं जा सकता कि वह कहाँ चला गया। किन्तु यह भी सत्य है कि वह जोगी पुन: लौटकर उस गुफा (शरीर) में नहीं आ सकता। जोगी जब शरीर से निकल जाता है तब उसका भी शरीर सामान्य शरीरों की तरह ही नष्ट हो जाता है। इस प्रकार 'जोगी' को इन सब प्रपंचों में इसलिये घूमना पड़ता है कि कलि रूपी वह दुष्ट वासना योगी के मन में बसी रहती है। मन में वासना के रहने पर योगी को भी, विभिन्न शरीरों में घूमना पड़ता है।[२] अर्थात् कबीर की दृष्टि में नाथ-पंथी योगी उनके समय में केवल कायासाधन कर कायसिद्धि प्राप्त करने का प्रयास करता था और मानसशोधन पर ध्यान नहीं देता था। इसलिये उसे अपने साधनकाल में सदैव काल से भयभीत रहना पड़ता था। किन्तु कबीर के साधन में भक्ति के प्राप्त होते ही साधक काल से निर्भय हो जाता है, जैसा पहले बताया जा चुका है।

इस परिचय से स्पष्ट हो जाता है कि संत लोग परम विलक्षण अनिर्वच-नीय तत्व का साक्षात्कार नादरूप में गगनशिखर में करते हैं। वे परमतत्व को सभी द्विविधाओं और प्रपंचों से अतीत मानते हैं। उसकी प्राप्ति वे भक्ति से संभव मानते हैं। वे यह भी मानते हैं कि शरीर में जब तक मानसिक मलिनता वर्तमान है तब तक उस तत्व की प्राप्ति असंभव है। इस मल के अपसारण के लिये योगयुक्ति के प्रयोग का विधान करते हैं। संतों के अनुसार

---

[१] बीजक—सं० विचारदास शास्त्री, पृ० ६४, रमैनी ५९ तथा उसकी टीका।

[२] वही, पृ० १८४, शब्द ६५ तथा उसकी टीका।

मानस विजय से ही कायाजय संभव है। इस मानस जय को संत लोग अत्यधिक कठिन मानते हैं। इस मानस साधन का विस्तृत वर्णन आगे किया गया है। इसीलिये वे काया या घट के भीतर के विभिन्न अंग-उपांगों के ज्ञान पर अधिक जोर देते दिखाई नहीं पड़ते। वे मानस ज्ञान को आवश्यक मानते हैं। संतों में पिंड-ब्रह्माण्ड के एकत्वानुभव का वर्णन विवृत नहीं है। वे आत्मज्ञान—अपना ज्ञान—को अवश्य महत्व देते हैं और उनके अनुसार जब तक किसी ने अपने को नहीं जाना तब तक उसका बाहर का ज्ञान निरर्थक है। आत्मज्ञान से ही ब्रह्माण्डज्ञान भी हो जाता है। वे आत्मज्ञान को सब कुछ मानते हैं। यदि व्यक्ति ने अपना ज्ञान प्राप्त कर लिया तो उसने उस 'एक' परमात्मा का ज्ञान प्राप्त कर लिया और उस एक के ज्ञान से 'सब' का ज्ञान हो जाता है क्योंकि अनेक उस एक से भिन्न नहीं हैं।[1] इसका यह अर्थ नहीं कि कबीरादि संत पिंडज्ञान और ब्रह्माण्डज्ञान को और उन दोनों की एकता को आवश्यक नहीं मानते। डा० द्विवेदी का उद्धरण देकर हम इसे पहले ही बतला चुके हैं। किन्तु उनके प्रयोजन और पद्धति में भिन्नता है।

६—पिण्डब्रह्माण्डवाद

यह भी हम पहले कह चुके हैं कि 'परमात्मा पिण्ड और ब्रह्माण्ड दोनों में व्याप्त है। फिर भी व्यक्ति को यह ज्ञान नहीं हो पाता कि वह दोनों में समानरूप से व्याप्त है। अहंकार तथा विभिन्न प्रकार के मानसिक दोष इस व्याप्तिज्ञान में बाधक हैं। नाथसिद्धों के 'पिंड में ब्रह्माण्ड की खोज' को संत लोग भी स्वीकार करते हैं। अर्थात् वे मानते हैं कि सब कुछ पिंड में ही है। पिंडपद में ब्रह्माण्ड के समरसीकरण का भी अर्थ यही है। जैसा आगे के विवेचन से स्पष्ट हो जायगा, शरीरगत ब्रह्माण्ड में जीवशक्ति कुंडलिनी को उत्थित कर पहुँचाना भी एक प्रकार से पिंडब्रह्माण्ड का समरसीकरण है जिसे नाथ साहित्य में भी विवृत किया गया है। संत साहित्य में ब्रह्माण्ड का 'चराचर सृष्टि' के अर्थ में पुष्कल प्रयोग मिलता है और उसका प्रतीकार्थ सहस्रार या शीर्षभाग है जहाँ ब्रह्म की झलक मिलती है तथा जहाँ कुंडलिनी पहुँच कर ब्रह्माण्डव्यापिनी महाकुंडलिनी की समशीला हो जाती है। इसको दूसरे शब्दों में समरसीकरण कहा जाता है। यह वस्तुतः जीवात्मा का पर-मात्मा से तथा जीवशक्ति कुंडलिनी का ब्रह्माण्डव्यापिनी शक्ति महाकुंडलिनी से समरसीकरण है। इसी को कभी-कभी आध्यात्मिक क्रीड़ा अथवा पिंड—

---

[1] क० ग्रं०, पृ० १९, साखी ८–९।

ब्रह्मांड की परस्पर क्रीड़ा भी कहा जाता है। नाथों ने अनन्त व्यापक परम-तत्व को समुद्र के समान माना है जिसमें यह पिंड एक क्षुद्र बूँद के समान है। पिंड और ब्रह्माण्ड में जिस प्रकार एकता है उसी प्रकार की एकता बूँद और समुद्र में है। इसी प्रकार के विचार कबीर में भी मिलते हैं। कबीर के अनुभव इस संबंध में थोड़े और विलक्षण हैं। बूँद का समुद्र में लीन होना और कभी समुद्र का (ब्रह्माण्ड) का बूँद (पिंड) में लीन हो जाना सचमुच विलक्षण है। इसीलिये सामान्य जनों के लिये परस्पर क्रीड़ा में लीन पिंड और ब्रह्माण्डों को अलग-अलग करना कठिन है।[१] दूसरे शब्दों में यह 'धर' (पिंड, मूलाधार, पृथ्वी) और अधर (ब्रह्माण्ड, सहस्रार, आकाश) का परस्पर परिचय है, संवाद है, प्रगाढ़ भावस्थापन है—ऐसा नाथपंथी और कबीरादि भी मानते हैं। कबीर तो इस क्रीड़ा के लिये 'हद' ओर 'बेहद' शब्दों का भी प्रयोग करते हैं। 'अरध' और 'ऊरध' की क्रीड़ा का भी यही अर्थ है।[२] इससे यह स्पष्ट है कि कबीर पिंडब्रह्माण्ड की क्रीड़ा को नाथपंथियों के समान ही स्वीकार करते हैं।

ऊपर के परिचय से यह स्पष्ट हो जाता है कि कबीर आत्मज्ञान को पर्याप्त महत्व देते हैं किंतु उनके 'आत्मानं विद्धि' का अर्थ पिंडज्ञान या नाड़ी-चक्र-दश-वायु आदि का ज्ञान न होकर अपने मन, हृदय, आत्मा आदि का ज्ञान है। आत्मज्ञान को ही ब्रह्माण्डज्ञान का मूलाधार अथवा स्रोत नाथपंथियों के समान माना गया है। नाथों के समान ही कबीरादि भी कहीं-कहीं शरीर को गढ़, कोट, नगर आदि कहते हैं किंतु कबीर साहित्य में काया का वैसा सांग रूपक प्रायः नहीं मिलता जैसा गोरखबानी में मिलता है। इस सांगरूपक द्वारा वर्णन का विराट रूप तब उपलब्ध होता है जब नाथपंथी लोग शरीर में ब्रह्माण्ड के तत्वों का समशील दर्शन कराने लगते हैं। यद्यपि पिंडब्रह्माण्ड की समशीलता का वर्णन यत्र तत्र बिखरे रूप में संत साहित्य में मिल जाता है तथापि वैसा नहीं जैसा कि नाथपंथियों की 'प्राणसंकली' ग्रंथों में उपलब्ध है। उसके कुछ कारणों की ओर संकेत प्रसंगतः हम पहले कर चुके हैं किंतु मुख्य बात यह है कि संत लोग कायासाधन पर अधिक जोर नहीं देते। उनका लक्ष्य है युद्धक्षेत्र में चंचल

---

[१] क० ग्रं०, पृ० १७, साखी ३-४।

[२] क० ग्रं०, पृ० १३, सा० ११; पृ० २६ सा० ५०; कबीर—डा० द्विवेदी, पृ० २१३ पर उद्धृत छंद; क० ग्रं०, पृ० ४ सा० ३१; पृ० ५४ सा० ११; पृ० १८३ पद २८०।

मन को पराजित कर नियंत्रण में रखना, भक्ति में लगाये रखना। इसलिये पिण्डवर्णन का इतना विस्तार इनकी रचनाओं में उपलब्ध नहीं। जो भी संकेत उपलब्ध हैं, उनकी विवृत्ति नीचे प्रस्तुत है।

कबीरदास आदि पिण्ड और ब्रह्माण्ड की समशीलता मानते हैं। संतों ने यद्यपि यह संकेत नहीं किया कि इस पिंड में ब्रह्माण्ड के कौन-कौन से तत्व किस रूप में अलग-अलग स्थित हैं तथापि वे यह अवश्य बतलाते हैं कि इस पिंड में ब्रह्माण्ड के कौन-कौन से तत्व हैं। कबीर ने इस शरीर में ही अधः और ऊर्ध्व को गंगा और यमुना, मूलकमल को घाट, षटचक्र को गागर तथा त्रिवेणी को संगम-मार्ग बतलाया है। वे काबा तीर्थ हृदय में ही मानते हैं। इस पिंड में मन ही मथुरा है, दिल द्वारिका है और यह काया ही काशी है। दशम द्वार ही देवालय है जिसमें ज्योति की पहचान होती है। इस शरीर में ही गगन हैं, जिसमें दमामा बजता है। घटस्थ त्रिवेणी में ही स्नान करने के लिये कहते हैं। कबीरदास जिस गगनमंडल में घर बनाने को कहते हैं, वह पिंड में ही है। साधक जिस पाताल में तीर का संधान करता है वह भी पिंड में ही हैं और जिस गगन में वह तीर मारता है वह भी पिंड में है। चक्र और सूर्य के दो तूँबे तथा चैतन्य चित्त की डंडी भी आन्तरिक है। इस पिंड के धरती और गगन की क्रियाओं में विलक्षणता है। यहाँ धरती बरसती है और गगन भींगता है। यह गगन कभी भी, इस शरीर का नाश होने पर भी नष्ट नहीं होता। इसमें रात और दिन भी नहीं होते। इस आकाश में ही एक औंधे कूएँ की वे कल्पना करते हैं जिसमें जल निकालनेवाली भी पिंडस्थ पाताल में है। इस पिंड में ही पश्चिम दिशा भी है जहाँ भ्रमर गुफा का घाट है और जहाँ निर्झर झरता है।[१] नाथपंथियों ने अष्ट सिद्धियों और नौ निधियों को पिंडवर्णन करते समय शरीर में ही स्थित बतलाया है किंतु कबीर की रचनाओं में यह संकेत मिलता है कि ये सिद्धियाँ रामनाम में निवास करती हैं। ये सभी मुरारी का भजन करने से ही उपलब्ध हो जाती हैं।[२]

नानक के पदों और साखियों में भी केवल कुछ संकेत मिलते हैं। इन रचनाओं में उन्होंने कहा है कि गुरु अड़सठ तीर्थों का निधान है।

[१] क० ग्रं०–पृ० ९४ पद १८, १७४-१७५. २५५, ४४.१०, ६८.६, ८८.४, ११०.७, १३८.१५४, १५४-१९६, १८३. २८०, १८७. २९३, १५९.२१०, १६.४५।

[२] क० ग्रं०, पृ० १२७, पद १२३।

ये तीर्थ शरीर में ही हैं, ऐसा संकेत उनकी इन रचनाओं में उपलब्ध करना कठिन है। वे गुरु को ही अनुपम तीर्थ कहते हैं और उसका पूरा विवरण भी देते हैं। वे 'रतन पदार्थ' परमोपास्य को भी घट में मानते हैं। शरीर के भीतर ही इसका ज्ञान, अन्य सभी ज्ञानों को छोड़कर करना चाहिए। इस शरीर में ही अमृत है।[१] नानक ने 'प्राणसंगली' में पिंड का किंचित् विस्तार से वर्णन किया है। उनके अनुसार पाँच तत्व, सप्त द्वीप, सप्त समुद्र, सप्त पर्वत, नौ खंड, चौदह भुवन, अठारह भार की स्थिति इस पिंड में है। इसके अनुसार क्रमश: अवगत से आकाश, आकाश से वायु, वायु से तेज, तेज से जल की सृष्टि हुई। प्रलयप्रक्रिया की दृष्टि से क्रमश: पृथिवी का जल में, जल का तेज में, तेज का वायु में, वायु का आकाश में प्रलय होता है। 'प्राणसंगली' के टिप्पणीकार के अनुसार जब सहस्रदल-कमल में सुरति पहुँचती है तो पहले नीलम रंग का जो महातेजोमय गोलाकार सा प्रकाशित मंडल दृष्टिगत होता है, वास्तव में, आकाश उसी का नाम है और यह स्थूल आकाश उसी से प्रकट हुआ है। महा आकाश या अवगत उसी का नाम है। (टिप्पणीकार की इस व्याख्या के अनुसार नानक ने दो आकाश माने हैं—आकाश, महा आकाश। सर्वोच्च आकाश महा आकाश है जिसे अवगत कहते हैं तथा जिससे स्थूल आकाश की उत्पत्ति हुई है।) नानक ने बड़े विस्तार से पंचतत्वों के स्थान, द्वार, वर्ण, तत्व, देवता आदि का वर्णन किया है। इसे पिंड-ब्रह्माण्ड-विचार कहा गया है। इस ग्रंथ के अनुसार अध: और ऊर्ध्व दोनों का स्तम्भ पवन है। गगन-शिखर में शिव का स्थान माना गया है। कहा गया है कि यदि साधक भ्रमरगुहा में निवास करे तो गुरुप्रसाद से उसे जीवन्मृत्यु की प्राप्ति होती है। सप्तवार, चतुर्दश तिथियों की शोध, ज्ञान महारस से मन का प्रबोधन, दिन रात की लगी लगन, निर्मल सरोवर में निर्भ्रांत स्नान आदि की क्रियाओं में शरीर को छोड़कर बाहर नहीं जाना चाहिए, तभी साधक गुरु के शब्दों में समाहित हो सकता है। दस पवनों का साधन तथा द्वादशकलासंपन्न सूर्य का विपरीतकरण कर चंद्रस्थान भवन में स्थापन पिंडसाधन की ओर संकेत करते हैं। षट्चक्रों के छ स्थान हैं। उनके ऊपर ही ध्यान करने को कहा गया है। इन चक्रों के ऊपर एक नागिन का निवास माना गया है। टिप्पणीकार के अनुसार यहाँ नागिन से ग्रंथकार का तात्पर्य षट्चक्र की स्वामिनी माया (आद्या) से है। कुंडलिनी का स्थान नाभि में है। इसके अनुसार षटचक्रों

---

[१] संतकाव्य, पृ० २३९, पद ३; पृ० २४२ पद ७; पृ० २४७ पद १५।

के स्थान गुफा, लिंग, नाभि, हृदय, कंठ तथा भ्रूमध्य हैं जहाँ अगली ओर गड्डा है, उसके ठीक पीछे चक्र का स्थान है। यह 'पिंडीचक्र' है। (यह पिंडीचक्र नाम परंपरा की दृष्टि से नवीन प्रतीत होता है)। इसी प्रकार 'प्राणसंगली' में 'वंकनाड़ि', 'शहरगनाड़ि', 'उहज नाड़ि', 'हहनाड़ि', 'इन्द्रीनाड़ि', 'गुहल नाड़ि', 'बेनी नाड़ि', 'गुहजा नाड़ि', 'आसमान' नाम की नौ नाड़ियों तथा दस द्वारों का वर्णन मिलता है। नानक ने काया के भीतर ही अड़सठ तीर्थों की स्थिति मानी है।[१]

संत दादू ने अपने 'कायावेली ग्रंथ' में बड़े विस्तार से पिंडब्रह्मांडवाद का परिचय दिया है। इस ग्रंथ के आरम्भ में ही कहा गया है—"अथ कायावेली ग्रंथ राग सूहौ अर्थ संयुक्त उपदेश पिंडब्रह्मण्ड सौधन अंग।" इससे स्पष्ट है कि इस रचना का प्रयोजन है—पिंड और ब्रह्माण्ड की शोध। यहाँ 'सौधन' का क्या अर्थ है? इसकी ओर टीकाकार ने कोई संकेत नहीं किया है। 'शुद्ध करना' और 'खोज करना' दो अर्थ हो सकते हैं। प्रथम अर्थ के अनुसार पिंड ब्रह्माण्ड को शुद्ध करना और दूसरे अर्थ के अनुसार 'पिंड में ब्रह्मांड की खोज करना' अर्थ संभव हो सकते हैं। इनमें से दूसरा अर्थ अधिक उचित प्रतीत होता है। इस 'कायावेली' ग्रंथ में कहा गया है कि सच्चा गुरु ही राम से मिला सकता है और वही सब कुछ काया में ही दिखाता है। इस काया में ही सृष्टिकर्ता है, ओंकार है, आकाश, धरती, पवन, जल, शशि और सूर हैं। इसकी टीका में कहा गया है—'जो ब्रह्मंडे सोइ प्यंडे'। उसमें षोडशकला संयुक्त शशिहर को मन कहा गया है। वे कलाएँ हैं—शांति, निवृत्ति, क्षमा, उदारता, निर्मलता आदि। ये वस्तुतः मानसिक वृत्तियाँ हैं। शशिहर किसी नाड़ी की और यहाँ संकेत नहीं करता। सूर्य ही पवन है तथा चिंता, तरंग, डिंभ, माया, परिग्रह आदि द्वादश कलाओं से युक्त है।[२] इस शरीर में ही अनाहत तूर्य की ध्वनि होती है। इस शरीर में तीन देवों का निवास है। टीकाकार ने बताया है कि रजस्प्रधान ब्रह्मा का स्थान नाभि में, सत्वप्रधान विष्णु का स्थान हृदय में तथा तमस्प्रधान महादेव का स्थान मस्तकरूपी कैलास में है।[3] इस शरीर में चारवेद, चार 'षांणी' (जरायुज, अंडज, उद्भिज, स्वेदज, क्रमशः

---

[१] प्राणसंगली-संतसंपूरण सिंह, पृ० ३८–४०, ४१–५५, ३–६, १४–१९, ६०।

[२] दादू दयाल की वाणी—पृ० ५४५-५४७, मूल तथा टीका।

[3] वही, पृ० ५४७, मूल तथा टीका।

शरीर में—नाड़ी, नेत्र, रोमावली और अस्थिओं के रूप में), चार वाणियाँ (परा नाभि में, पश्यंती हृदय में, मध्यमा कंठ में, वैखरी मुख में) है। इसमें ही रात और दिन क्रमशः अज्ञान और ज्ञान के रूप में हैं।[१] इस शरीर का दशम द्वार ही कैलास है। इसमें ही चतुर्दश भुवनों की स्थिति है। भक्ति के अंगों का विचार कर टीकाकार ने इसमें पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों तथा चतुष्टय अन्तःकरणों की गणना की है तथा योग के अनुसार जिस प्रकार १४ भुवनों का काया में स्थाननिरूपण किया है वह नाथों की धारणा के अनुकूल है। चौदह में से सात ऊर्ध्वलोकों (भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्य) को क्रमशः शरीर में नाभि, उर, हृदय, वक्षस्थल, कंठ, नासिका और दशमद्वार में अवस्थित माना है।[२] तान्त्रिकों तथा नाथों की परम्परा में प्राप्त विवरणों में, जिसे हम पहले ही यथास्थान उपस्थित कर चुके हैं, इन सात ऊर्ध्वलोकों को क्रमशः मूलाधार से सहस्रा तक के सात चक्रों से संबंधित माना गया है। किन्तु दादू के टीकाकार ने इस प्रकार का संबन्धनिरूपण नहीं किया है। 'कायाबेलि' में ही दादू ने नवखण्डों को भी घटस्थ ही माना है। टीकाकार के अनुसार पृथ्वी के नौ खण्ड इस काया में नौ द्वार हैं। अष्टांग योग का संदर्भ देकर टीकाकार ने इनका संबंध चक्रों से बताया है। इनका विवरण इस प्रकार है—

चक्र	दलों की संख्या	अक्षरों की संख्या	देवता	स्थान
१—आधार	४	४	गणेश	गुदा
२—स्वाधिष्ठान	८	८	ब्रह्मा	लिंग
३—मणिपूर	१०	१०	पवन	नाभि
४—निरंजन	८	८	मन	उदर
५—उद्यद	१२	१२	सूर्य	हृदय
६—विशुद्ध	१६	१६	चन्द्रमा	कंठ
७—बतीसा	३२	३२	विष्णु	तालु
८—आज्ञा	२	२	महादेव	मस्तक
९—ब्रह्मरंध्र	१०००	१०००	'दसौं दिशा'	दसवाँ द्वार।

इसके साथ ही टीकाकार ने इलावृत्त, रम्यक, हिरण्यमय, कुरू, हरिवर्ष, किंपुरुष, भारतवर्ष, केतुमालवर्ष, भद्राश्ववर्ष नाम के जम्बूद्वीप के नौ खण्डों को भी बताया है किंतु टीकाकार ने इनका चक्रों के साथ संबंधनिरूपण नहीं किया

[१] वही, पृ० ५४८-५४९, मूल तथा टीका।
[२] वही, पृ० ५५२, मूल तथा टीका।

है।[1] इसी प्रकार सात द्वीपों, सात सागरों, गंगा-यमुना-सरस्वती नाड़ियों, द्वारावती, काशी, पूजा-पत्र, तीर्थ, नौ निधियों, अष्ट सिद्धियों आदि का भी काया में स्थान-रूप-निरूपण किया गया है।[2] वास्तव में दादू ने इस ग्रंथ में बड़े विस्तार से ब्रह्माण्ड के सब कुछ को पिंड में ही प्रदर्शित किया है। पिंडब्रह्माण्डवाद अन्तस्साधना का मूलाधार है—यह बात इस ग्रंथ को आद्यन्त पढ़ने से सिद्ध हो जाती है क्योंकि इसके अन्तिम अंश में प्रेम, प्रेमास्पद, प्रेमी, आत्मा, परमात्मा आदि सबका आस्पद शरीर ही माना गया है। इस निरूपण में योग की अपेक्षा प्रेम और अध्यात्म का ही आधिक्य दिखाई पड़ता है।[3] टीका के विवरणों को ध्यान से देखने से यह मालूम होता है कि ब्रह्माण्ड और पिण्ड के विभिन्न तत्वों की समशीलता के निरूपण में टीकाकार ने किसी परंपरा का अवलम्बन नहीं किया है। यह निरूपण सर्वथा स्वतन्त्र है। योग के ग्रंथों में नौ अथवा दस नाड़ियों का सम्बन्ध सरिताओं से ही बताया गया है किन्तु टीकाकार ने नौ निधियों के प्रकरण में दस नाड़ियों में से प्रथम ९ को (अलम्बुषा से कुहू तक) नौ निधियों का समशील माना है किन्तु दसवीं नाड़ी शंखिनी का कोई समशील तत्व टीकाकार को उपलब्ध नहीं हो सका।[4] इसी प्रकार का संबंधनिरूपण टीकाकार ने अन्यत्र भी किया है। इसी कारण से नाथों के तत्संबंधी विवरण से इस विवरण की तुलना करना कठिन है। स्वयं दादू ने यह संकेत नहीं किया कि ब्रह्माण्ड का कौन सा तत्व इस पिंड में किस रूप में अवस्थित है।

किन्तु दरिया साहब (विहारवाले) ने विस्तार से पिंड और ब्रह्माण्ड के समशील तत्वों का वर्णन किया है। उनके अनुसार इस पिंड-ब्रह्माण्ड में 'जल, थल, सरग, पताला' समाविष्ट हैं। उदाहरण के लिये पैर पाताल, सिर, आकाश, मध्य शरीर भूमध्यसागर, मांस मिट्टी, रक्त जल, नसें बड़ी और छोटी धाराएँ, हृदय गहरी नदी, हड्डी पहाड़, बाल वन-उपवन, वाटिका हैं। इसी प्रकार शरीर के 'सात गिरह' और 'नौ टक' ब्रह्माण्ड के सात द्वीप और नौ खण्ड के समान हैं। शरीर के दोनों श्वास चन्द्र और सूर्य, जाग्रत अवस्था दिन और सुप्तावस्था रात्रि, प्रसन्न अवस्था प्रातःकाल, दुःखमय अवस्था संध्या-

---

[1] वही, पृ० ५५३-५५४, मूल तथा टीका।

[2] वही, पृ० ५५४-५५६, मूल तथा टीका।

[3] वही, पृ० ५६१-५७६, मूल तथा टीका।

[4] वही, पृ० ५६०, मूल तथा टीका।

काल, आनन्द स्वर्ग और दुःख नरक है। दरिया ने श्वास की अनवरत क्रिया को दिन, पक्ष, मास, वर्ष, युग का बीतना बताया है।[1] इस वर्णन में बाल, सिर, पैर आदि के समशील तत्वों की ओर संकेत नाथपंथिओं और तांत्रिकों के वर्णन के अनुकूल हैं किंतु दुखमय अवस्था अथवा सुखमय अवस्था आदि के अनेक संकेत भिन्न भी हैं। पिंड-ब्रह्मांड की समशीलता का चक्रनिरूपण से अत्यधिक घनिष्ठ संबंध है। चक्रों की ब्रह्माण्ड के विभिन्न लोकों से समुतुल्यता बताई जाती है। चक्रों का विस्तृत विवरण हम आगे विशेष प्रकरण में करेंगे। डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी ने दरिया साहब के इस प्रकरण का विचार करते समय साधु प्रभुदास के 'ब्रह्मप्रकाश' से विशेष सहायता ली है। डा० ब्रह्मचारी का कहना है कि 'अन्तिम चक्र अर्थात् आज्ञाचक्र अति महत्वपूर्ण है क्योंकि यही शरीर के दो प्रधान भागों—पिण्ड और ब्रह्माण्ड—का संगम-स्थल है। पिंड—अर्थात् निम्न प्रदेश में नौ द्वार हैं। यथा—दो आँखें, दो कान, दो नासिकाएँ, मुँह, गुदामार्ग और जननेन्द्रिय। दसवाँ द्वार ब्रह्माण्ड में खुलता है, जिसकी कुंजी इसी आज्ञाचक्र में निहित है। उनके अनुसार 'ब्रह्मप्रकाश' में शरीर के विभिन्न भाग बताये गये हैं। उनके विवरणों को समन्वित कर इस प्रकार उपस्थित किया जा सकता है—

१—स्वर्गलोक—भ्रूमध्य से गर्दन तक—(आज्ञाचक्र से गर्दन तक) सत्वगुण का स्थान,

२—मर्त्यलोक—गर्दन से नाभि तक—रजोगुण का स्थान,

३—पाताललोक—नाभि से नीचे—तमोगुण का स्थान।[2]

यह विवरण यद्यपि दादू के 'कायाबेलि' ग्रंथ के टीकाकार के विवरण से भिन्न है तथापि नाथों के विवरण से कुछ समानता है। अन्य संत कवियों की रचनाओं में भी इसी प्रकार विभिन्न लोकों अथवा ब्रह्माण्डगत विभिन्न तत्वों की स्थिति केवल सांकेतिक रूप में ही बताई गई है। विस्तृत वर्णन उपलब्ध नहीं। नानक, दादू, दरिया आदि की रचनाओं में जो विवरण मिलता है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि ये सभी यह मानते हैं कि ब्रह्माण्ड और पिंड में समशीलता है और इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने के कारण उनका अन्तस्साधनावाद भी नाथसिद्धों के समान ही पुष्ट हो जाता है तथापि यह

---

[1] संत कवि दरिया : एक अनुशीलन, डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी, पृ० ८३–८४।

[2] वही, पृ० १००-१०१ तथा पादटिप्पणी।

निश्चित है कि पिंड-ब्रह्माण्ड के समशील तत्वों के विवरण में भिन्नता मिलती है।

७—योगसाधन का स्वरूप

संतों के योग के इस प्रकरण में अभी तक जो कुछ भी प्रस्तुत किया गया है उसमें यथाशक्य संतों के गुरुशिष्यवाद, अधिकारभेदवाद, लक्ष्यनिरूपण तथा पिंडब्रह्माण्डवाद एवं तत्संबंधित अन्तस्साधना का विचार किया गया है। आगे हम यह विचार करेंगे कि पिंड में ही ब्रह्माण्ड की अथवा परमपद की उपलब्धि तथा मानसशुद्धि के कौन-कौन से साधन संतों ने स्वीकार किये हैं। हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि गोरखनाथ ने योगयुक्त ज्ञान को साधन के रूप में स्वीकार किया है। भक्ति के प्रकरण में हम यह भी कह चुके हैं कि संतों का चरम साधन भक्ति है। इस प्रकार यहाँ यह भी विचार्य है कि योग, ज्ञान और भक्ति को संतों की रचनाओं में कौन-सा स्थान प्राप्त है। इसके बाद हम संतों के योग के स्वरूप का विचार करते हुए यथाप्रसंग नाथों के योग अथवा योगांगों के साथ उसकी तुलना भी करेंगे। कबीरादि की रचनाओं में कहीं-कहीं योगसाधन के खण्डन और अनावश्यकता के विचार भी मिलते हैं। उनके संपूर्ण साधन में योग का कोई न कोई रूप अवश्य स्वीकृत है, उसमें सन्देह नहीं। अतः यह भी देखना चाहिए कि संत योग के किस रूप को स्वीकार कर उसके किस रूप का निषेध करते हैं। नाथों के योग में हम यह बतला चुके हैं कि वे हठयोग को राजयोग के लिये सहायक के रूप में स्वीकार करते हैं। हिन्दी रचनाओं में प्राण, मन और शुक्र के परस्पर नियंत्रित हो जाने की बात कही गई है। अधिक जोर मन और प्राण के नियंत्रण पर दिया गया है और बिना शुक्रसंयम के मन-प्राण संयम को असंभव बताया गया है। मन से पवन नियंत्रित होता है अथवा पवन से मन, इसके संबंध में नाथ-पंथी एकमत नहीं हैं। किन्तु इतना निश्चित है कि राजयोग के सहायक के रूप में हठयोग (यम-नियम-आसन-प्राणायाम) को स्वीकार करने पर यह प्रायः स्वयंसिद्ध है कि साधन में नाथसिद्ध सबसे पहले आधिभौतिक और आधिदैविक (प्राण और शुक्र) तत्वों को साधना चाहते हैं और बाद में चित्तसाधन को महत्व देते हैं। इन बातों पर ध्यान रखने से आगे संतों के योग के स्वरूप का निर्वचन कर उसकी तुलना करने में सुविधा होगी।

पहले नाथों के योग का विवेचन करते समय योग का अर्थ, नाथों के अनुसार ह और ठ अथवा चन्द्र-सूर्य का योग बताया गया है। तांत्रिकों में 'अद्वय' को

भी एक अर्थ के रूप में स्वीकार किया गया है। इसी प्रकार 'मिलन', समन्वय आदि भी इसके अर्थ कहे जाते हैं। किंतु वास्तविक बात यह है कि प्रत्येक साधन-संप्रदाय अलग-अलग अपना अर्थ स्वीकार करते हैं। साधनपद्धति की दृष्टि से भक्ति के समान ही योग भी एक साधनपद्धति विशेष के अर्थ में स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार योग के सामान्य अर्थ दो हैं—साधनपद्धति विशेष और दूसरा साधक की अवस्था विशेष। कबीर साहित्य में इन दोनों अर्थों में प्रयोग मिलते हैं। कुछ भिन्न अर्थों में भी प्रयोग मिलते हैं, जिनकी ओर यथास्थान संकेत किया गया है। यहाँ हमें विस्तार से केवल साधनपद्धति विशेष के अर्थ में योग का ही विचार करना है तथापि प्रसंगतः हम अन्य अर्थों का भी विचार कर लेते हैं। कबीरदास के भगवान् के दुर्लभ योग (मिलन) की उपलब्धि तब तक असंभव है जब तक रात दिन हरि का ध्यान न किया जाय। शरीर में प्रेम के प्रकाशित होने पर अनंत 'योग' (मिलन) का जागरण संभव है। यह 'जोग' (मिलन) सभी सांसारिक संबंधों का भक्षण करने पर ही संभव है। यह भक्षण राम में सर्वथा रमे रहने पर ही संभव हो सकता है।[१] यहाँ कबीर ने जिस 'जोग' (मिलन) का परिचय दिया है, वह विलक्षण है। वह कबीर की दृष्टि में दुर्लभ, अनन्त और सर्वस्व परित्याग के वाद उपलब्ध जोग है। इससे यह संकेत होता है कि अन्य उपलब्धियाँ सुलभ, सान्त और सांसारिक हैं। उपर्युक्त उद्धरणों में कबीर ने रामनामगायन, रामध्यान आदि की ओर संकेत किया है। यहाँ जिस मिलन की बात कही गई है, वह अद्वयोपलब्धि नहीं है क्योंकि कबीर नाथों के समान ही ऐसे परमतत्व का निर्वचन करते हैं जो द्वैत और अद्वैत दोनों से परे है, संख्याओं से परे है तथा संख्याओं के प्रपंचों से सर्वथा अतीत है। इस विषय में हम पहले ही कह चुके हैं। कबीर जिस साधनपद्धतिविशेषरूप योग की चर्चा करते हैं वह पोथी-पाठ से उच्चश्रेणी का है। संसार में कुछ लोग जिस योगसाधन को अधिक श्रेयस्कर मानते हैं वह एक साथ ही योग और भोग का प्रदाता है (ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे कबीर तांत्रिकों के भुक्तिमुक्तिप्रद योग की ओर इंगित कर रहे हैं), किंतु कबीरदास की युक्ति यह है कि सामान्य 'जुगति' (साधनोपाय) एक समय केवल एक ही प्रदान कर सकता है—योग अथवा भोग। यदि एक साथ दोनों ही प्रदान करने की शक्ति है तो केवल राम नाम के सिद्धियोग में।[२]

---

१ क० ग्रं०, पृ० ७ छं० २८, पृ० १३ छं० १३; पृ० १६५ पद २२७।

२ क० ग्रं०, पृ० ३८, अंग १९ छं० १; पृ० ८९ पद ५।

स्पष्ट ही कबीरदास यहाँ तांत्रिकों के मुक्तिभुक्तिप्रदायक योग के समानान्तर रामनामयोग को उपस्थित करते हैं। हम यह पहले ही कह चुके हैं कि कबीरदास तांत्रिकों के एक विशेष साधकवर्ग शाक्तों के कटु आलोचक थे। उनकी दृष्टि में शाक्त केवल भोगवादी ही रह गये थे।

कबीरदास ने जप, तप, योग सबको माया कहा है। जैसे माया बंधन में डालती है, उसी प्रकार ये सब भी साधक को बंधन में डालते हैं। ज्ञान, ध्यान, सिद्धि, योग सभी निरर्थक हैं। ये सभी नाना प्रकार के (सांसारिक) रोग उत्पन्न करनेवाले हैं। योग, यज्ञ, तप, दान आदि निष्प्रयोजन हैं यदि रामनाम का ज्ञान न हो।[१] इसका अर्थ यह है कि ये सभी तभी तक सप्रयोजन और सार्थक हैं जबतक वे रामनाम के ज्ञान अथवा साधन में लगाने में सहायक होते हैं। यदि ये सभी राम से वियुक्त एवं विमुख कर वासना, काम, भोग आदि में न्यस्त कर देनेवाले हैं तो ये सभी त्याज्य एवं निंदनीय हैं। योग के संबंध में भी यही बात, कबीर की दृष्टि से स्वीकार की जा सकती है। कबीरदास ने योग को सदैव गंभीर साधनोपाय के रूप में ही ग्रहण किया था, बाह्य दिखावटी भेषधारण के रूप में नहीं। इसीलिये वे कहते हैं कि मुद्रा पहनने से योगसाधन नहीं होता।[२] उनकी दृष्टि में यह अंतस् के शोधन का एक गंभीर साधन है। कबीर का स्पष्ट मत है कि मन ने जब से 'राम' कहना आरम्भ कर दिया, उसके बाद कुछ भी कहने-करने के लिये नहीं रह गया। उसके बाद इनकी कोई सार्थकता नहीं। यदि रामनाम में मन लीन हो जाय तो शेष साधन निरर्थक हो जाते हैं। मन 'रामनाम' में लीन हो, केवल इसीलिये इन्हें स्वीकार करना चाहिए। योगादि रामनामोपलब्धि में सहायक होते हैं।[3] वे सिद्धिसाधन को भी निरर्थक मानते हैं। रसेश्वरवादी रस का प्रयोग कर सिद्धकाया की प्राप्ति करते हैं किन्तु कबीर की (रामनाम जपनेवाली) रसना में ही वह रस है जो सिद्धि (कायसिद्धि-परिपक्व काया की सिद्धि) की उपलब्धि करा सकती है। ज्ञान, ध्यान, सिद्धियोग (रसेश्वरादि योग) तो जागतिक व्यवहारवत् हैं। ये मन को आशापाश से मुक्त करनेवाले नहीं। अतः इस रूप में ये त्याज्य ही हैं। रामनाम के बिना सिद्धि किसी को नहीं मिलती।[४] इससे स्पष्ट है कि

---

[१] क० ग्रं०, पृ० ११५, पद ८४, पृ० १३० पद १३०; पृ० १७८ पद २६५।

[२] वही, पृ० १६२ पद २१७।

[3] वही, पृ० १७८ पद २६५।

[४] वही, पृ० १३०, पद १३०, १३२।

कबीर रसेश्वर मत के रस (पारद और अभ्रक) के प्रयोग से प्राप्त सिद्धि को स्थायी और नित्य नहीं मानते। उनकी दृष्टि में सार्थक और नित्य फल प्रदान करनेवाला योग रामनामसिद्धियोग है। योग के विषय में कबीर के जो स्फुट विचार मिलते हैं उनमें 'जोग-जुगति' और 'जोग-जुग तारी' शब्द महत्वपूर्ण हैं। 'जोग-जुगति' शब्द का विचार करने में 'जुगति' शब्द सहायक हो सकता है जिसका अर्थ उपाय है। कबीर के एक पद के जिस अंश में 'जोग-जुगति' शब्द प्रयुक्त है वह गुरु ग्रंथ साहब में उपलब्ध नहीं। कबीर ग्रंथावली में यह पद मुद्रित है। इससे यह स्पष्ट होता है कि 'जोग-जुगति' का सामान्य अर्थ है—'योगसाधन की युक्ति'। पहले हमने एक स्थान पर 'जुगति' का अर्थ 'युक्ति' अथवा उपाय ही किया है। कबीर ने प्रेम अथवा भक्ति के लिये कहीं भी 'जुगति' शब्द का व्यवहार नहीं किया है। उपर्युक्त प्रसंग में 'जोग-जुगति' का प्रयोग शरीर के निकृष्ट तत्वों को दूर करने के लिये संकेतित है। उसी प्रसंग में ज्ञान की सहायता से भ्रमविध्वंस, माया से निर्बंधता, द्विविधा की हानि, मोहनाश, तृष्णा और कुबुद्धि का नाश बताया गया है। इन सबके बाद ही प्रेमजल की वर्षा की चर्चा की गई है।[1] स्पष्ट ही कबीर योग-युक्ति का प्रयोग कायाशोधन के लिये करते हैं। इस योग-युक्ति और ज्ञान की उपलब्धि के उपरान्त ही प्रेमा-भक्ति का उदय संभव बताया है। योग के इस उपयोग का प्रमाण कबीर के अन्य पदों में भी मिलता है। हरि से मिलन प्राप्त करने के लिये कबीर जिस साधनपद्धति का वर्णन करते हैं उसमें वे विषय-विकारों का त्याग आवश्यक मानते हैं। यह तभी संभव है जब साधक 'जोग-जुगति' को जानता हो तथा गुरु के शब्दों को मानता हो। लोग अपनी गंदी काया को देखकर प्रसन्न होते हैं, संसार को देखकर भूल जाते हैं। कबीरदास बार-बार हरिभक्ति का उपदेश देते हैं और इस प्रकार यह मान्यता देते हैं कि विषय-विकारों के त्याग के लिये (गंदे शरीर को शुद्ध करने के लिये) गुरु के शब्दों को मानना चाहिए तथा योग-युक्ति का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए जिससे हरिभक्ति की प्राप्ति होती है तथा बार-बार दुःख नहीं उठाना पड़ता।[2]

ध्यान अथवा समाधि की जो प्राप्ति कबीर को योग से होती है, उसे वे 'जोग-जुग-तारी' कहते हैं। गुरु की सहायता से ज्ञान का प्रकाश होता है,

---

[1] क० ग्रं०, पृ० ९३ पद १६ तथा पाठभेद के लिये द्रष्टव्य—संत कबीर—डा० वर्मा, पृ० ४६, राग गउड़ी पद ४३ तथा उसकी टीका; संत काव्य, पृ० १७८-१७९, पद ३१। [2] क० ग्रं०, पृ० ९७, पद २९।

ब्रह्माग्नि का प्रज्वलन होता है, शशि और सूर्य (नाड़ियाँ, द्वैत अथवा काल-सूचक) दूर से दूर होते जाते हैं और अन्त में 'जोग-जुग-तारी' लगती है। इस योग की क्रियाओं में पवन का उलटना, षट्चक्रवेध, नादानुसंधान, मन का शून्य में प्रवेश आदि हैं। इस प्रकार त्रिकुटी में स्वामी से मिलन प्राप्त होता है।[१] कबीरदास सहज-शून्य में जिस रस का आस्वादन करते हैं, उसका आस्वादन शिव, सनकादिक ने किया था। इस आस्वादन के लिये 'जोग-जुग-तारी' में लीन होने के लिये वे शशि-सूर्य (नाड़ीसाधन—प्राणायाम), दसों द्वारों का मुद्रण, पंचेन्द्रियों का अनुकूलीकरण, कुंडलिनीजागरण आदि की ओर कबीर ने संकेत किया है।[२] इससे स्पष्ट है कि कबीरदास जिस योग युक्ति को भक्ति के सहायक के रूप में स्वीकार करते हैं, उनमें उपर्युक्त क्रियाओं अथवा योगांगों का समावेश है किंतु यह ध्यान रखना आवश्यक है कि इन सबका प्रयोजन विषय विकारों के दूरीकरण, कायाशोधन और अन्ततः चित्तशोधन है। कबीर, जैसा पहले इस प्रकरण में कई बार कहा जा चुका है, भक्ति के लिये चित्त की शुद्धि को आवश्यक मानते हैं और इसी के लिये वे योग की आवश्यकता मानते हैं। केवल कायशुद्धि को वे निरर्थक मानते हैं। इस प्रकार प्रकारान्तर से कबीरदास भी यह मानते हैं कि चन्द्र-सूर्य-साधन या प्राणायाम या हठयोग का लक्ष्य चित्तसाधन है। उन्होंने दो एक स्थानों पर यह भी संकेत किया है कि मानसशुद्धि और भक्ति के उदय से शरीर स्वतः शुद्ध हो जाता है। भक्ति के ही उदय से अजरामरता और परिपक्व काया की उपलब्धि हो जाती है। कबीर के उपर्युक्त विचारों से संबंधित जो विचार आधुनिक विवेचकों द्वारा उपस्थित किये गये हैं उनसे भी उपर्युक्त निष्कर्षों की पुष्टि होती है। बीजक के प्रसिद्ध टीकाकार विचारदास ने बताया है कि अंतःकरण के दोषों की निवृत्ति स्वरूपज्ञान से होती है। 'इसी प्रकार सहज-योग और भक्तियोग (ईश्वर प्रणिधान) का भी सत्वशुद्धि में उपयोग होता है। कबीरदास ने केवल हठयोग का खंडन किया है जो कामनामूलक होने के कारण अनर्थकारक है।' डा० श्यामसुन्दरदास का मत है—'योग की क्रियाओं के विषय में भी उनकी जानकारी थी। इंगला, पिंगला, सुषुम्ना, षट्चक्र आदि का उल्लेख किया है, परंतु वे योगी नहीं थे। उन्होंने योग को भी माया में संमिलित किया है।'[3]

---

[१] क० ग्रं०, पृ० ९०, पद ७।   [२] क० ग्रं०, पृ० १११ पद ७४।

[3] बीजक (सटीक)—विचारदास शास्त्री, भूमिका, पृ० ३३; कबीर ग्रंथावली, भूमिका—डा० श्यामसुन्दरदास, पृ० ५३-५४।

प्रायः इसी प्रकार के विचार पलटू ने भी व्यक्त किये हैं। उनकी दृष्टि में भक्ति के अतिरिक्त और सब कुछ झूठा है। हठयोग का साधन करनेवाले को उन्होंने अनाड़ी कहा है। काया को जलाना अथवा कष्ट देना, प्राणायाम करना, मुद्रासाधन, धौती-नेती आदि षटकर्मों का साधन, चौरासी आसनों को साधना, कुश के आसन बिछाकर तप करना आदि सभी प्रपंच हैं। इन सबका साधन करनेवाले को अंत में पछताना ही पड़ता है। नाथ और सिद्ध भी भक्ति का मार्ग छोड़कर बीच में ही अपना रास्ता भूल जाते हैं। वे झूठी समाधि लगाते हैं और उनका मन अन्यत्र अटका रहता है। परमात्मतत्व की उपलब्धि के पूर्व बीच मार्ग में ही ये सभी अटक जाते हैं। ये लोग जिस योग का साधन करते हैं वह तो सरल है किंतु उस वास्तविक योग का साधन करना अति कठिन है जिसमें चित्त को उलट कर परमात्मतत्व में लगाया जाता है, विषयवासनात्याग, प्राणायाम, कुंडलीजागरण, षट्चक्रभेद, नाड़ीशोधन, संयम आदि का साधन करना पड़ता है। इन सबका मुख्य लक्ष्य है मन का विपरीतकरण तथा विषय-वासना-त्याग और (परमात्म)रूप से भोग। पलटू का स्पष्ट मत है कि वे केवल भक्ति चाहते हैं, मुक्ति, सिद्धि आदि किसी की भी उन्हें आकांक्षा नहीं।[1] पलटू के इन विचारों से दो-तीन निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। प्रथम, संत की सर्व्वोच्च आकांक्षा भक्ति की है। दूसरे, षट्कर्म आदि काया को कष्ट देनेवाले योगांग निषिद्ध हैं। तीसरे, सिद्धि, मुक्ति, ऋद्धि आदि प्रदान करनेवाले योग के साधन भक्ति के उपकारक हों, तभी ग्राह्य हैं। यदि वे परमात्मा को भुला कर केवल बीच में ही अटकानेवाले हैं तथा विषय-वासना-त्याग एवं मन के विपरीतकरण के साधक नहीं हैं, तो सर्वथा त्याज्य हैं। स्पष्ट है कि कायसिद्धिप्रधान, कृच्छ्राचार-प्रधान योग पलटू को स्वीकार्य नहीं। पलटू के इस योग में उसके कौन-कौन से अंग ग्राह्य हैं तथा उनका स्वरूप क्या है, इसका परिचय ऊपर के विवरण से मिल जायगा। षट्कर्म और आसन का विरोध स्पष्ट रूप में मिलता है। प्राणायाम का निषेध नहीं मिलता। हठयोग के विवेचन में हम यह पहले ही बतला चुके हैं कि षट्कर्म और प्राणायाम दोनों ही कायशुद्धि के साधन हैं। नाथों की हिन्दी रचनाओं में षट्कर्म का मंडन नहीं, प्राणायाम का विवेचन और मंडन पर्याप्त मात्रा में मिलता है।

---

[1] संतकाव्य—पं० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ५२१-५२२, पद ३, ४, ५; पृ० ५२६ पद १३।

८—योग, ज्ञान और भक्ति

यहाँ योग, ज्ञान और भक्ति के संबंध का भी थोड़ा विचार कर लिया जाना चाहिए। ऊपर के उद्धरणों में भी इस ओर कुछ संकेत किये गये हैं। नाथों को योगयुक्त ज्ञान स्वीकार है। यद्यपि वे योगलभ्य ज्ञान को ही स्वीकार करते हैं तथापि ज्ञान के कई रूप और उसकी स्थितियाँ उन्होंने मानी हैं, जिसका परिचय दिया जा चुका है। सबसे पहले गुरु संसार की अनित्यता, पिंड के रहस्यों आदि का ज्ञान कराता है। योगसाधनोपरान्त जो परमज्ञान अथवा नाथपद का ज्ञान एवं उपलब्धि होती है, वही योगलभ्य ज्ञान है। उसी प्रकार कबीर की रचनाओं में ज्ञान के विभिन्न रूप एवं स्थितियाँ हैं किन्तु यहाँ ज्ञान की चरम स्थिति स्वीकार नहीं की गई है। योग और ज्ञान दोनों ही भक्ति की उत्पत्ति में सहायक होते हैं। योग किस प्रकार सहायक है, इसका परिचय ऊपर दिया गया है, ज्ञान की स्थिति एवम् स्वरूप का परिचय यहाँ दिया जा रहा है। ज्ञान और योग में से किसी की प्राथमिकता का निश्चय कठिन है क्योंकि ज्ञान के विभिन्न रूप साधन की विभिन्न अवस्थाओं में सहायक होते हैं। किन्तु यह निश्चित है कि अनेकता में एकता का ज्ञान, अनित्य तत्वों में नित्य एक परमतत्व का भेद और ज्ञान ही परम ज्ञान है। यह परम ज्ञान ही भक्ति का उदय करनेवाला और पोषक है। कबीर ने कहा है कि यदि अपने पास जीर्ण-शीर्ण कपड़ा (काया) है तो वह कभी भी सुरंग में रंजित (प्रेम से रंजित) नहीं हो सकता। उसे विनष्ट होने से बचाने के लिये ज्ञान की आवश्यकता है जिसकी सहायता से कनक और कामिनी दोनों का परित्याग किया जा सके। इस ज्ञान की उपलब्धि में ही भ्रमनाश, माया से निर्बंधता, द्विविधा का अपसारण, मोहनाश, तृष्णासंहार, कुबुद्धिविनाश संभव होते हैं। यह सब होने पर 'योगयुक्ति' का प्रयोग होता है जिससे काया के अशुद्ध तत्व दूर होते हैं। तत्पश्चात् भक्ति का उदय होता है। इस योगसाधन में भी ज्ञान सहायक और विनियुक्त होता है। भक्तिरस के निर्माण में ज्ञान गुड़, ध्यान (योगगत ध्यान) महुआ, संसार भाठी का भाड़ आदि का विनियोग कबीरदास करते हैं। उनके अनुसार बिना हरि (अथवा हरिभक्ति) के सब कुछ भ्रमग्रस्त है। योगी अपनी योगसिद्धि को ही सर्वोत्तम कहता है। किन्तु योगी, जैसे अन्य भी, जहाँ से अपना साधन आरम्भ करते हैं, वहीं नष्ट हो जाते हैं क्योंकि इन्हें हरिपद ही विस्मृत हो जाता है। यदि व्यक्ति ज्ञान प्राप्त कर ले तो उसे सर्वत्र हरि ही हरि दिखाई पड़ें तथा उसी ज्ञान की सहायता से व्यक्ति चंचल माया का भी ज्ञान प्राप्त कर ले। ज्ञान से भ्रमनाश होता है। जब तक मनुष्य भ्रम

में रहता है, बार-बार माया में पड़ता है। गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान से ही व्यक्ति का उद्धार हो सकता है। भक्ति अथवा प्रेम की चोट लगने पर (भक्ति के पूर्ण परिपक्व हो जाने पर) इस ज्ञान की भी सत्ता नहीं रहती। तन और मन दोनों ही उस प्रेम की चोट से व्याकुल हो जाते हैं और ज्ञान विस्मृत हो जाता है।[1] स्पष्ट है कि कबीर ने ज्ञान को वह स्थान नहीं दिया जो नाथों ने दिया था यद्यपि उसके कुछ रूपों में समानता अवश्य है। ऊपर के विवरण के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि कबीर की साधना में योग और ज्ञान का स्थान नारद पंचरात्र के योग और ज्ञान संबंधी विचार के समान है जिसमें तंत्र-मंत्र, योगज्ञान और हरिभक्तिप्रद ज्ञान को भक्ति का उपकारक माना गया है।

९—अध्यात्मवाद

नाथों की रचनाओं में विशेषकर गोरखनाथ की रचनाओं में अध्यात्मबोध का वर्णन मिलता है। आत्मिक साधन का विस्तृत वर्णन संतों में उपलब्ध है किन्तु अध्यात्मयोग अथवा अध्यात्मवाद शब्द का कहीं भी प्रयोग कबीर साहित्य में नहीं मिलता। यदि मानस साधन अथवा चैतसिक साधन को आध्यात्मिक साधन माना जाय, जैसी व्याख्या पहले दी जा चुकी है तो संतों की साधना में भावसाधना की प्रधानता होने के कारण उसमें आध्यात्मिक साधना को पुष्कल महत्व मिलता दिखाई पड़ता है। इसके साथ ही आधिभौतिक (प्राण) साधन और आधिदैविक (शुक्र) साधन भी संतों में स्वीकृत हैं। इन सबकी विवृति आगे प्रसंगानुसार की गई है। कबीरदास तथा अन्य संतों ने औपनिषदिक साधन अथवा वेदविद्या को ग्रहण किया था, इसके संबंध में विद्वानों ने पहले ही पुष्कल विचार कर लिया है।[2] व्यक्ति की चेतन सत्ता आत्मा है। वह सर्वशक्तिमान और सच्चिदानंदमय है। यह बात कबीर मानते हैं। वे आत्मा को आनंदी योगी मानते हैं।[3] इसी प्रकार विभिन्न स्थलों में उन्होंने आत्मा को परमात्मा का चैतन्य प्रेमी जैसा भी बताया है। आगे एक अलग प्रसंग में आत्मा का विचार किया गया है। जो साधक पिंडब्रह्मांडवाद, षट्चक्र-साधन, कुंडलिनीसाधन, आत्मसाधन को स्वीकार करते हैं उनकी स्वभावतः

---

[1] क० ग्रं०, पृ० ६० अंग ३७ साखी ४, पृ० ९३ पद १६; पृ० ११० पद ७२; पृ० १३०–१३१ पद १३३; पृ० १३६ पद १४९; पृ० ३ साखी २०; पृ० १९१ पद ३०३।

[2] कबीर साहित्य का अध्ययन—पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव, पृ० २३३–२३५।

[3] कबीर ग्रंथावली, पृ० १५८ पद २०४।

यह मान्यता होगी कि जाग्रत कुंडलिनी के साथ आत्मशक्ति भी उत्थित होकर परमशिव से मिलने के लिये आरोहण करती है। इसका विचार हम नाथों के अध्यात्मयोग के प्रसंग में कर चुके हैं। उसी प्रकार प्राणायाम को साधनांग के रूप में स्वीकार करनेवाले संतों में व्यक्तिप्राण विश्वप्राण का ही एक रूप माना जा सकता है। नाथों और संतों के अध्यात्मसाधन में कुछ अंतर है। नाथलोग प्राणों के आधिभौतिक साधन से ही चित्त के उत्प्रेरण का सिद्धांत मानते हैं और उसी से शरीर का नियंत्रण भी उन्हें स्वीकार्य है किन्तु संतों के मतानुसार, जैसा पहले कहा जा चुका है, मानस में भक्तिभाव के उदय से ही शरीर स्वयम् सिद्ध, शुद्ध और अजर-अमर हो जाता है। संतों की दृष्टि में शरीरशोधन नहीं, मानसशोधन आवश्यक है। संतों का अध्यात्मसाधन मुख्यतः भावसाधन अथवा मानससाधन है जबकि नाथों में कायसिद्धि के बिना साधना पूरी नहीं होती। इसके अतिरिक्त संतों को जीवात्मा और परमात्मा अथवा व्यक्तिशक्ति और सर्वव्यापक ब्रह्माण्डशक्ति परमात्मा का ऐक्य, संवाद, मिलन भी स्वीकार है जिसका विवेचन आगे उचित प्रसंग में किया गया है। यदि अध्यात्मसाधन के अन्तर्गत कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग और योग को स्वीकार किया जाय तब भी इसकी सिद्धि संतों में दिखाई जा सकती है। इन शब्दों में 'योग' के जिन दो अर्थों (उपाय, मिलन) की ओर हम पहले संकेत कर चुके हैं, वे दोनों ही अर्थ संतों में गृहीत हैं, इसका परिचय अभी इस प्रकरण के पूर्व दिया गया है। संतों ने भक्तियोग को स्वीकार किया है और उसमें भी 'योग' एक विशेष उपाय के रूप में अंगभूत है। ज्ञान का भी समायोग है जिसकी ओर संकेत किया जा चुका है। इस प्रकार संतों का अध्यात्मसाधन व्यक्ति की आत्मिक भावशक्ति का शोधन, जागरण और उसका परमात्मतत्व में उत्प्रेरण तथा लय है। आगे के कुछ प्रसंगों में इन विचारों की विवृति मिलेगी। कबीरदास अखंड राम को आत्मलीन मानते हैं। वे स्वयं अपने को हरि में ही समाहित मानते हैं। उनका प्रेमभगति का विचार ब्रह्मविचार है, आत्मसाधन का सार है। कबीर ने जिस प्रेम के हिंडोले में 'आतमाराम' को झुलाया है, उसके साधन में उन्होंने चन्द्रसूर्यसाधन, अमृतपान, षट्चक्रसाधन, कुंडलिनीसाधन आदि का भी विनियोग कर लिया है।[१] षट्चक्रभेद अथवा कुंडलिनीयोग को लययोग क्यों कहा जाता है, इसका विस्तृत विवेचन हम तांत्रिक योग के प्रकरण में कर चुके हैं। यह लययोग ही पिण्डशक्ति और ब्रह्माण्डशक्ति की परस्पर क्रीड़ा, संवाद, लय आदि की ओर संकेत करता है।

[१] क० ग्रं०, पृ० १५८ पद २०३, पृ० ९४ पद १८।

१०—वैष्णव योग और संतयोग

यहाँ संक्षेप में यह भी बतला देना आवश्यक है कि संतों के जिस योग की रूपरेखा उपस्थित की गई है वह प्राचीन वैष्णव साहित्य में वर्णित योग के बहुत कुछ समान है। संतों ने भक्ति के लिये योग को अंगरूप में स्वीकार किया है। विष्णु संहिता ने ऐसे साधन को भागवतयोग कहा था। जयाख्य संहिता ने भक्त को योगी कहकर योग के जिन साधनों की ओर (जैसे, प्राणा-याम, प्रत्याहार, इन्द्रियनियमन, ध्यान, धारणा आदि) संकेत किया है, उनमें से प्रायः सभी किसी न किसी रूप में संतों के साधन में मिलते हैं। ऊपर उनकी ओर संकेत किया गया है और आगे स्वरूपनिरूपण में इनकी विवृति मिलेगी। जयाख्य संहिता की तरह ही संतों ने भी ब्रह्मरंध्रपथ के उद्घाटन की बात कही है। परम संहिता के समान ही संत लोग भी योगकी कष्टकर क्रियाओं का निषेध करते हैं। अहिर्बुध्न्य संहिता ने योग के दो भेद माने हैं—ध्यान की सहायता से किया हुआ हृद्योग और योग। हृद्योग ही भक्ति है और इसी पर अहिर्बुध्न्य संहिता का विशेष आग्रह है। संतों ने ध्यान के लिये योग की क्रियाओं का समन्वय कर लिया है। अहिर्बुध्न्य ने योग के अन्तर्गत जिन साधनाओं—नादानुसंधान, षट्चक्रभेद, नाड़ीशोधन, प्राणा-याम, आसन, यमनियम आदि का वर्णन किया है वे सभी संतों को स्वीकार हैं। यद्यपि यम-नियम का शीर्षक देकर कबीरादि ने पृथक् वर्णन नहीं किया है तथापि उनके विभिन्न अंगों का वर्णन संत साहित्य में यत्र-तत्र मिल जाता है और सुन्दरदास (छोटे) ने तो योग पर पृथक् रूप से लिखते समय दशांग यम-नियम का भी वर्णन किया है। आगे इसकी विवृति मिलेगी। पद्मपुराण ने—लौकिकी, वैदिकी और आध्यात्मिकी नाम की तीन प्रकार की ब्रह्मभक्तियाँ बतलाई हैं। तीसरी के दो उपभेद हैं—(१) सांख्य भक्ति और (२)योग भक्ति। प्रथम प्रकार की आध्यात्मिकी ब्रह्मभक्ति में २४ तत्वों का ज्ञान, परमतत्व पुरुष से उनका भेदज्ञान, परमपुरुष और जीव का परस्पर संबंधज्ञान ग्राह्य है। यद्यपि कबीर इत्यादि में अनित्य तत्वों से नित्यतत्व परमात्मा के भेदज्ञान का परिचय मिलता है किंतु इसका स्पष्ट विवेचन सुन्दरदास (छोटे) ने सुन्दर ग्रंथावली में 'ज्ञान समुद्र' में किया है। किंतु सुन्दरदास ने भ्रमविध्वंस के लिये २५ तत्वों का वर्णन 'सांख्यनिरूपण' प्रसंग के अन्तर्गत किया है। भक्ति के विकास के प्रकरण में हम यह पहले ही बतला चुके हैं कि भागवत संप्रदाय के ऊपर सांख्य मतवाद का प्रभाव बहुत पहले पड़ चुका था। दूसरे प्रकार

की योगभक्ति के अन्तर्गत पद्मपुराण ने प्राणायाम आदि की गणना की है। ऊपर के संकेतों से स्पष्ट है कि संतों ने प्राणायामसाधन को भी स्वीकार किया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि पद्मपुराण द्वारा विवृत आध्यात्मिकी ब्रह्मभक्ति का पूरा निरूपण संतों में उपलब्ध है। मानस साधन की प्रमुखता तथा अन्तस्साधना के मूलाधार पिंडब्रह्माण्डवाद को संतों ने स्वीकार किया है, इसकी ओर संकेत कर चुके हैं। नारदीय पुराण ने मन के अन्तर्मुखी साधन को योग कहा है। नारद पंचरात्र में विवृत भक्ति में गृहीत योगसाधना से संतों के योग का क्या संबंध है, इसकी ओर ऊपर संकेत किये जा चुके हैं। संतों को किसी सिद्धि की, किंबहुना मुक्ति की भी भगवान् और भक्ति के बिना इच्छा नहीं है। हरिभक्तिप्रदज्ञान और योग संतों को स्वीकार हैं। योगसाधन में नाड़ीशोधन, जिसे प्रकारान्तर से प्राणायाम कहते हैं, नादानु-संधान आदि का पुष्कल वर्णन भी संतों में उपलब्ध है। नारद पंचरात्र में इन विचारों का पुष्कल विवेचन उपलब्ध है। इस तुलना और विवरण को देखने से इस बात की अधिकाधिक संभावना मालूम होती है कि कबीर चाहे 'जोगियों' की जातिगत परम्परा में उत्पन्न, पालित अथवा पोषित हुए हों और इसी प्रकार उन्होंने योग का ज्ञान भी प्राप्त किया हो किंतु उनके काल में, ऐसा कबीर के वचनों से मालूम होता है, नाथों का योग या तो कायसिद्धि-कृच्छ्राचार-भेष-प्रधान हो गया था तथा उसमें व्यक्ति अथवा साधक का मानस पक्ष उपेक्षित रह गया था अथवा उसमें व्यक्ति और समाज अथवा युग की समस्याओं का समाधान देने की शक्ति नहीं रह गई थी। ये दोनों त्रुटियाँ एक साथ भी नाथों के योग में हो सकती थीं। इसी एकांगिता और अनुदारता के कारण कबीर ने भक्ति को स्वीकार किया होगा। परम्परा से प्राप्त योग में उन्हें परिवर्तन की आवश्यकता न दिखाई पड़ी होगी क्योंकि तांत्रिक और सांख्ययोग दोनों का समान प्रभाव वैष्णव भागवत मत और शैव मत एवं साधना पर पड़ा था। केवल भक्ति को स्वीकार करने के कारण, भक्ति के संपर्क में योग और ज्ञान की, सापेक्ष स्थिति में वैष्णवों के योग के अनुकूल परिवर्तन करना पड़ा, जैसा ऊपर दिखाया जा चुका है। इस प्रकार कबीरादि का योग नाथपरम्परा की रक्षा करता हुआ भी वैष्णव हो गया। (यहाँ वैष्णव शब्द का प्रयोग किसी संप्रदाय विशेष के अर्थ में नहीं है।)

११—नाथयोग और संतसम्मत योगसाधन

नाथों के योग के परिचय में बताया गया है कि वे साधन के तीन तत्वों

को प्रमुख मानते हैं—प्राण, शुक्र और मन। वे इनमें से किसी एक को प्राथमिकता देते दिखाई नहीं पड़ते। वे मानते हैं कि ये तीनों ही परस्पर नियंत्रण योग्य हैं। किंतु साधनक्रम में वे क्रमशः विंदुरक्षा, प्राणसंयम और मानस संयम को स्वीकार करते हैं। यह एक प्रकार का आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक साधनों का समन्वय है। यम-नियम के अंतर्गत ही, प्राणायाम के पूर्व, ब्रह्मचर्य को स्थान देने से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। संत लोग कायासाधन को महत्व नहीं देते। भक्ति में मन को लगा देने पर शरीर का नियंत्रण स्वयं हो जाता है। विशेषकर कृच्छ्राचारप्रधान साधन को वे बिल्कुल स्वीकार नहीं करते। नारी के कामिनी रूप से बचने का वे भी उपदेश करते हैं यद्यपि विंदुरक्षा का स्पष्ट वर्णन उनके साहित्य में उपलब्ध नहीं। योग संबंधी सारी क्रियाओं में उनका ध्यान मानस संयम पर ही रहता है। यह चैतसिक साधन ही शब्दान्तर से राजयोग है क्योंकि भावसाधन के बिना चित्तसंयम संभव नहीं है। प्राणायाम के बाद की प्रत्याहार और धारणा की विवृति यद्यपि संत साहित्य में उपलब्ध नहीं होती किंतु विभिन्न वर्णनों के आधार पर उनका अनुमान किया जा सकता है। यम-नियम-आसन-षट्कर्म का प्रत्यक्ष वर्णन कबीरादि में उपलब्ध नहीं। सुन्दरदास ने अवश्य ही योग-वर्णन करते समय इनका परिचय दिया है। इससे यही प्रकट होता है कि संतों ने चैतसिक साधन को ही महत्वपूर्ण माना है। यदि प्राणायाम को आधिभौतिक साधन स्वीकार किया जाय तो संत लोग इसे भी स्वीकार करते हैं। 'हठ' का अर्थ संतों ने कहीं नहीं दिया किंतु कृच्छ्राचारप्रधान हठयोग का, जैसा विभिन्न विद्वानों ने बताया है, विरोध और निषेध अवश्य किया है। 'सूर्य-चन्द्र-साधन' के अर्थ में संतों ने हठयोग को स्वीकार कर लिया है। इस दृष्टि से उनके विचार उन हिंदी रचनाकार नाथों से मिलते हैं जिन्होंने साधन में शरीर को बल-प्रयोग कर कष्ट देनेवाली क्रियाओं का निषेध किया है। इस प्रकार हठयोग राजयोग का सहायक है, इस बात को संत भी स्वीकार करते हैं। राजयोग अथवा पातंजल योग के अष्टांगों के अंतर्गत जिन क्रियाओं और साधनों का वर्णन नाथों के योग के प्रकरण में किया गया है, संक्षेप में हम यहाँ उन पर विचार करेंगे।

नाथ साहित्य में मन, पवन और विन्दु में से अन्तिम का भी बड़े विस्तार से वर्णन है किन्तु कबीर इत्यादि के साहित्य में विन्दुरक्षा अथवा विंदुसाधन का वर्णन नहीं मिलता। जहाँ भी विन्दु शब्द का प्रयोग है, वहाँ नाद-विन्दु का

एक साथ प्रयोग कर सृष्टि की द्वैतप्रधान प्रकृति की ओर ही संकेत किया गया है। किन्तु इसमें संदेह नहीं कि ब्रह्मचर्य और कामिनी रूप नारी से साधक की रक्षा की बार-बार आवश्यकता बताई गई है। विन्दु सम्बन्धी जो साधन योग में गृहीत हैं, उनमें से स्पष्टतम वज्रोली, सहजोली आदि मुद्राएँ हैं। इनका कोई भी संकेत संत साहित्य में उपलब्ध नहीं। पवनसाधन प्राणायाम है और मानस साधनों में प्रत्याहार और धारणा हैं। इन्हीं के अन्तर्गत षट्चक्रभेद, लययोग, कुंडलिनीयोग, उन्मनीसाधन आदि हैं। इन दोनों तत्वों के साधनों में से संत साहित्य में प्राणायाम का उतना विस्तृत विवरण नहीं मिलता जितना कि मानस साधन का। केवल प्राणसाधन और मानस साधन को ही संतों ने क्यों महत्व दिया, इसके सम्बन्ध में हम पहले ही कह चुके हैं।

हम नाथों के विवेचन में यह दिखला चुके हैं कि नाथों की हिन्दी रचनाओं में यद्यपि अष्टांग योग का स्पष्ट निरूपण नहीं मिलता तथापि अष्टांग योग के प्रथम दो अंगों—यम और नियम—के तत्वों का परिचय मिल जाता है। शेष छ अंगों के यत्र तत्र संकेत मिल जाते हैं। विन्दुसाधन और नाड़ियों का वर्णन पातंजल योग में नहीं है किन्तु नाड़ियों का वर्णन नाथों और संतों के साहित्य में उपलब्ध है। नाथ और संत साहित्य में योग के प्रकरण में समानता स्पष्ट है कि यद्यपि दोनों ने यम-नियम का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है तथापि उसके आचारों, संयमों का यत्र-तत्र वर्णन किसी न किसी रूप में मिल जाता है। इस-लिय स्पष्टतया हम यह नहीं कह सकते कि नाथों और संतों के योग अष्टांग योग हैं। इसी प्रकार अष्टांग योग अथवा षडंग योग के विभिन्न अंगों का जिस प्रकार अनुमान नाथ साहित्य में किया गया है, उसी प्रकार संत साहित्य में केवल अनुमान किया जा सकता है क्योंकि इनका स्पष्ट उल्लेख यहाँ भी नहीं किया गया है। प्राणायाम और ध्यान के विभिन्न उल्लेख अवश्य मिलते हैं।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार नाथवाणियों में नैतिक-ब्रह्मचर्य का स्वर-प्रधान है। संत साहित्य को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि उसमें भक्ति का स्वर ही प्रधान है। किन्तु संत साहित्य और मत की सात्विकता, नैतिकता और आचारप्रवणता भी कम महत्वपूर्ण नहीं; क्योंकि इसने आद्यन्त संत मत को भक्तिकालीन अन्य मतों से विलक्षण बनाये रखा। इस विचार को ध्यान में रखकर पं० रामचन्द्र शुक्ल का एक महत्वपूर्ण उद्धरण प्रस्तुत है जिससे संतों की, इस दृष्टि से, भक्तिकालीन स्थिति का स्पष्टीकरण हो जाता है तथा उनकी विलक्षणता की ओर संकेत भी हो जाता है। शुक्ल जी का मत है कि

'कबीर का 'ज्ञानपक्ष' तो रहस्य और गुह्य की भावना से विकृत मिलेगा पर सूफियों से जो प्रेमतत्व उन्होंने लिया वह सूफियों के यहाँ चाहे कामवासनाग्रस्त हुआ हो, पर 'निर्गुण पंथ' में अविकृत रहा। यह निस्संदेह प्रशंसा की बात है। वैष्णवों की कृष्णभक्ति-शाखा ने केवल प्रेमलक्षणा भक्ति ली, फल यह हुआ कि उसने अश्लील विलासिता की प्रवृत्ति जगाई। रामभक्तिशाखा में भक्ति सर्वांगपूर्ण रही, इससे यह विकृत न होने पाई। तुलसी की भक्तिपद्धति में कर्म (धर्म) और ज्ञान का पूरा सामंजस्य और समन्वय रहा। इधर आज-कल अलबत कुछ लोगों ने कृष्णभक्तिशाखा के अनुकरण पर उसमें भी 'माधुर्य भाव', गुह्य, रहस्य घुसाने का उद्योग किया है जिससे 'सखी संप्रदाय' निकल पड़े हैं और राम की भी 'तिरछी चितवन और बाँकी अदा' के गीत गाये जाने लगे हैं।'[1]

१२—यम

यम-नियम के, भारतीय साहित्य में, प्रायः दो प्रकार के वर्णन मिलते हैं। पातंजल योग में पंचांग यम-नियम स्वीकृत हैं, जबकि शारदातिलक जैसे तांत्रिक ग्रंथों तथा हठयोगप्रदीपिका जैसे हठयोगी ग्रंथों में दशांग यम-नियम स्वीकृत हैं। विष्णु संहिता में षडंग योग का वर्णन है किन्तु अहिर्बुध्न्य संहिता में अष्टांग योग का वर्णन मिलता है। अहिर्बुध्न्य ने तो दशांग यम-नियम का भी वर्णन किया है। सुंदरदास ने अष्टांग योग (यम, नियम, आसन, प्राणा-याम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) का निरूपण करते समय दशांग यम (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, क्षमा, धृति, दया, आर्जव, मिताहार और शौच) तथा दशांग नियम (तप, संतोष, आस्तिकता, दान, पूजा, सिद्धान्त-श्रवण, ह्री, मति, 'जाप' और होम) का विस्तार से वर्णन किया है।[2] सुंदरदास ने यम का निरूपण करते समय स्पष्ट रूप से 'हठप्रदीपिका' ग्रंथ का उल्लेख कर कहा है कि ये दश प्रकार के यम उपर्युक्त ग्रंथ में कहे गये हैं किन्तु नियम का निरूपण करते समय उन्होंने 'हठप्रदीपिका' का उल्लेख नहीं किया है। यम के अन्तर्गत सर्वप्रथम तत्व अहिंसा है। इस तत्व की महत्ता भक्ति की दृष्टि से स्वीकार की गई है। भक्ति और योग दोनों में इसे महत्व प्राप्त है। हठयोगप्रदीपिका में यम के विभिन्न अंगों का विवेचन अथवा व्याख्या नहीं है,

[1] हिं० सा० इ०, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ६७–६८।

[2] सुंदरसार—सं० डा० श्यामसुंदरदास, संग्रहकर्ता—पुरोहित हरिनारायण, पृ० १८–२४।

अतः उससे तुलना नहीं की जा सकती। किन्तु सुंदरदास के मत में मन-वचन-कर्म से दोष न करना और शरीर से घात न करने को अहिंसा कहा गया है।[1] पहले नाथों के यम-नियम के निरूपण में बताया गया है कि पं० रामचन्द्र शुक्ल के मतानुसार अहिंसा धर्म कबीर को भक्तिमत या वैष्णवों से मिला किन्तु विभिन्न आधारों पर इस प्रबन्ध में यह दिखलाने की चेष्टा की गई है कि कबीर को पहले यह धर्म नाथों के योग के यम से ही मिल गया था। नाथों की साधना में, तांत्रिक परम्परा में यह अहिंसा धर्म बहुत पहले से ही स्वीकृत था। यदि कबीर पूर्ववर्णित विभिन्न आधारों पर नाथपंथी वातावरण में पले तो निश्चय ही यह धर्म उन्हें नाथों से मिल गया होगा और बाद में वैष्णव भक्ति को स्वीकार करने पर इसे और भी पुष्ट एवं सबल बनाया होगा क्योंकि इसमें उन्हें परिवर्तन की आवश्यकता न दिखाई पड़ी। कबीर में यह अहिंसा धर्म अथवा यम का अहिंसा तत्व किस रूप में उपलब्ध है, इसका निरूपण हम भक्ति के प्रसंग में ही कर चुके हैं। यह तत्व समान रूप से अन्य संतों में भी सरलता से देखा जा सकता है। संतों ने भक्ति को अपने चरम साधन के रूप में स्वीकार किया था और अहिंसा को भक्ति का प्रमुख अंग माना था अतः यह कहा जा सकता है कि संतों का अहिंसा तत्व भक्ति का उपकारक है, जब कि नाथों का अहिंसा तत्व (जीव हिंसा, मांस भक्षण आदि जो प्राणायाम के घातक तत्व हैं) प्राणायाम का उपकारक है।

यम का दूसरा तत्व सत्य है जिसकी व्याख्या में सुन्दरदास ने उसे दो प्रकार का बताया है—वाणी का सत्य तथा केवल सत्य ब्रह्म। किन्तु कबीरदास ने 'साँच कौ अंग में जिस सत्य का वर्णन किया है उसका संबंध साधक की केवल वाणी से ही नहीं अपितु उसके सम्पूर्ण जीवन और साधन से है। भक्ति में हृदय की भगवान् के प्रति सचाई ही इसका मूल है।[2] किन्तु नाथों में सत्य का विस्तृत विवरण उपलब्ध न होने के कारण केवल इतना ही कहा जा सकता है कि उनका सत्य केवल वाणी की सचाई तक सीमित है। दो-एक स्थानों पर गुरु के प्रति सच्चे होने की बात अवश्य मिलती है, जिसकी ओर संकेत किया जा चुका है। इसी प्रकार सुन्दरदास ने यम के अंगों का भी विवेचन किया है; किन्तु एक बात जो पूरे यम संबंधी विवरण को पढ़ने से स्पष्ट होती है, वह यह है कि सभी अंगों की व्याख्याएँ भक्ति के अनुकूल हैं। यम के शेष अंगों में ब्रह्मचर्य और मिताहार अधिक महत्वपूर्ण हैं।

---

[1] वही, पृ० १९, २१–२२ तथा १९।

[2] सुन्दरसार, पृ० १९, छं० १०; क० ग्रं०, पृ० ४२, अंग २२।

सुन्दरदास ने ब्रह्मचर्य के अन्तर्गत आठ प्रकार के कामों (मैथुनों) के त्याग को स्वीकार किया है। कबीरदास की रचनाओं में ब्रह्मचर्य का उल्लेख कर किसी संयम का वर्णन नहीं मिलता। उन्होंने 'काम', कामिनी आदि का अवश्य पुष्कल वर्णन किया है। कबीरदास ने साधकों को सबसे अधिक कनक और कामिनी से बचने के लिये कहा है। बिना रामनाम के मनुष्य कनक-कामिनी के कूप में डूब जायगा। कनक और कामिनी के साथ लग कर ही यह सारा संसार माया की ज्वाला में जलता है। यह कामिनी काली नागिन है। नारी ही तीनों प्रकार के सुखों (भक्ति, मुक्ति और निज ज्ञान) का नाश करती है। कबीर ने नाथपंथियों की तरह ही नारी को सांकेतिक रूप में 'भग' शब्द से सम्बोधित कर कहा है कि इससे पता नहीं कितने व्यक्ति नष्ट हो गये। भक्ति का साधन न करनेवाले ही उससे नष्ट होते हैं। नाथपंथियों ने नारी को नरक कहा है, उसी प्रकार कबीरदास भी नारी को नरक का कुंड कहते हैं।[१] उसी प्रकार वे नारी को नागिन, साँपिन इत्यादि भी कहते हैं। जहाँ तक नारी के कामिनी रूप का और उसकी निन्दा का प्रश्न है, वहाँ तक नाथपंथियों से पर्याप्त समानता है। नाथपंथियों ने व्यक्तिशक्ति कुंडलिनी को भी नागिन शब्द से तथा सुषुम्नासुन्दरी को नारी शब्द से संबोधित किया है। जहाँ सुषुम्ना को 'नारी' शब्द से संबोधित किया गया है, वहाँ कहीं-कहीं 'नाड़ी' और 'नारी' दोनों अर्थ हो सकते हैं। सुन्दरी शब्द का साथ में प्रयोग होने पर 'नारी' अर्थ ही ग्राह्य होना चाहिए। कबीर ने मन के मतवाला होने की अवस्था का वर्णन करते हुए सुषुम्ना नारी को सहज में समाहित बतलाया है। उस सुषुम्ना के पास गुरुप्रसाद से अमृतफल की प्राप्ति होती है। उन्होंने जीवशक्ति अथवा व्यक्तिशक्ति को नारी के रूप में, सुन्दरी के रूप में कल्पित किया है। जीवात्मा को 'सुन्दरी' का सम्बोधन दिया है। 'सुन्दरी कौ अंग' में इसका विस्तार से वर्णन है। यहाँ 'सुन्दरी' जागृत व्यक्तिशक्ति का प्रतीक है। कबीर नारी को सामान्य जननी शब्द से सम्बोधित न कर परमात्मा को ही जननी कहते हैं।[२] कबीर की रचनाओं में सामान्य नारी के कामिनी रूप के प्रति तीव्र निन्दाभाव नाथपंथियों के समान है। यदि सुषुम्ना नारी सुषुम्ना नाड़ीशक्ति के रूप में ही ग्रहण की जाय तो कबीरदास उसके साधन का

---

[१] सुन्दरसार—पृ० २०, छं० १२; क० ग्रं०, पृ० ३४ साखी १९, पृ० ३५ साखी ३२; ३९.१, ४०.१०, ४०.१३, १३२.१२८, ४०.१५।

[२] कबीर ग्रंथावली, ११०.७२, पृ० ८०-८१, अंग ५२।

उपदेश देते हैं। उन्होंने सामान्य नारी को जननी या माता के रूप में संबोधन नहीं दिया और न उससे नाथपंथियों की तरह साधक के पोषण की प्रार्थना ही की। भगवान् की माता के रूप में कल्पना नाथपंथियों में नहीं मिलती और न जीवात्मा को ही वे सुन्दरी के रूप में स्वीकार करते हैं। सुषुम्ना को पारमार्थिक सुन्दरी नारी के रूप में दोनों ही स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार विन्दुरक्षा अथवा नारीभग में शुक्र की रक्षा का साधन के रूप में निर्देश कबीरदास नहीं करते। मैथुन से या नारी से बचना उनकी दृष्टि में इसलिये आवश्यक है कि कामिनी और उसका संग भक्ति, मुक्ति और ज्ञान तीनों का नाश करते हैं। नाथों में मैथुन अथवा नारीसंग प्राणायाम का विनाशक है और इसी को दूसरे शब्दों में हम योगनाश, कायानाश कह सकते हैं। उनकी दृष्टि में ब्रह्मचर्यराहित्य से कायसिद्धि का लक्ष्य ही पूरा नहीं होगा। संत कायसिद्धि को लक्ष्य नहीं मानते। वे किसी भी रूप में, साधन के रूप में भी, नारी का संग त्याज्य मानते हैं। इसीलिये उन संतों ने कहीं-कहीं बड़ी ही कटु आलोचना की है। विंदु शब्द का जहाँ भी अकेला प्रयोग कबीर साहित्य में मिलता है, वहाँ वे मानवशरीर को विंदुनिर्मित बतलाते हैं किन्तु उस विंदु की रक्षा का कोई भी विधान उपलब्ध नहीं। दूसरे, विन्दु शब्द का वे प्रायः प्रयोग नाद के साथ करते हैं और ऐसे स्थलों में वे भी नाथपंथियों के उसी नाद-विंदु-साधन की ओर संकेत करते हैं जिसका विस्तृत दार्शनिक एवं साधनात्मक विवरण नाथपंथियों के योग में दिया जा चुका है।[१] वज्रोली का तो कबीर साहित्य में कोई उल्लेख ही नहीं है।

यम का अन्य महत्वपूर्ण तत्व मिताहार है, जिसका नाथपंथियों ने विस्तार से और अत्यधिक महत्व देकर विवेचन किया है। हम नाथों के योग के विवेचन में कह चुके हैं कि मिताहार प्राणायाम का सहायक है। मिताहार का जितना विस्तृत विवरण गोरख या अन्य नाथों की रचनाओं में उपलब्ध है, उतना संतों की रचनाओं में नहीं। सुन्दरदास ने मिताहार की परिभाषा में सात्विक अन्न का भक्षण, अत्यधिक मधुरस तथा चिकने पदार्थों को भली-भाँति देखकर भक्षण, चतुर्थ भाग का त्याग कर सारग्रहण की गणना की है। इसमें संक्षेप में नाथों के दिये प्रायः सभी लक्षण आ गये हैं।[२] कबीर की रचनाओं में भी मिताहार का विस्तृत वर्णन नहीं है। वहाँ मद्य-मांस का पान और

---

[१] क० ग्रं०, ९४·१८, १५४.१९६।

[२] सुन्दरसार, पृ० २१, छं० २०।

भक्षण ही निषिद्ध ठहराया गया है। निषिद्ध भोज्य पदार्थों का सेवन करने के कारण कबीर ने शाक्तों की कटु आलोचना और निंदा की है।[१] यम का अंतिम तत्व शौच है। भरथरी ने जिस प्रकार आन्तरिक और बाह्य शौच को इसमें स्थान दिया है, उसी प्रकार सुन्दरदास ने भी। सुन्दरदास (छोटे) ने भी कहा है कि इसके अन्तर्गत बाह्याभ्यंतर का मार्जन, मृत्तिका और जल का प्रयोग कर शरीर के मल का हरण, रागादिक त्याग, हृदय की शुचिता का ग्रहण होना चाहिए। कबीर ने केवल बाहर की शुचिता की निन्दा की है और आन्तरिक शुचिता का उपदेश दिया है।[२] इस प्रकार यम के जिन अंगों का परिचय दिया गया है, उनके संतों और नाथों के विवेचन में पूर्णतया समानता नहीं है; किन्तु यदि सुन्दरदास (छोटे) के यम-लक्षण-निरूपण को संतों द्वारा ग्राह्य यम मान लिया जाय तो उन दोनों में पर्याप्त समानता मिलती है। दोनों में उपर्युक्त अंगों को ही समान रूप से स्वीकार किया गया है।

१३—नियम

नाथों ने नियम के अन्तर्गत (जैसा हठयोगप्रदीपिका में दिया हुआ है) तप, संतोष, आस्तिक्य, दान, ईश्वरपूजा, सिद्धान्तवाक्यश्रवण, ह्री, मति, जप और होम की गणना की है। सुन्दरदास (छोटे) ने भी नियम के उपर्युक्त दस अंगों को ही स्वीकार किया है किन्तु उनकी व्याख्याएँ-परिभाषाएँ भिन्न हैं। नाथपंथियों के कृच्छ्राचार का निषेध तप को ध्यान में रखकर किया है। सुन्दरदास ने लक्षण में तप को शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध का परित्याग तथा अहंकार का मारण (जैसा टिप्पणीकार पुरोहित हरिनारायण जी ने बताया है) कहा है। सुन्दरदास ने इसकी व्याख्या नहीं की है। उन्होंने जप को मौन मुख से करने का उपदेश देकर उसके लक्षणों में कहा है कि इसमें पवन से मन को नियंत्रित रखना चाहिए। कबीरदास ने जप-तप दोनों को उनके प्रचलित रूपों में निरर्थक बताया है। उनके अनुसार जप और तप थोथे हैं। उनसे कोई फल नहीं मिलता। तप के लिये वनखंड में जाना निरर्थक है। यदि भगवान् की भावभक्ति न हो तो जप, तप, संयम, तीर्थ, व्रत, स्नान आदि सभी निष्फल हैं। वे मन का जप-तप करने के लिये कहते हैं। राम

---

[१] क० ग्रं०, पृ० ४३ साखी १२, १३।

[२] सुन्दरसार, पृ० ४३ साखी २१; क० ग्रं०, पृ० ६६ साखी ३, अंग ४२।

के बिना जप-तप झूठे हैं।[१] संतों को जप का कौन सा रूप स्वीकृत है, इसका संकेत यहाँ कर दिया गया है। संतों के जप का निरूपण भक्ति के प्रकरण में हम कर चुके हैं। प्राणायाम के प्रसंग में उसके योगपरक रूप का वर्णन किया जायगा। दूसरा नियम संतोष है जिसके लक्षण में सुन्दरदास ने प्रारब्ध-लब्ध को ही ग्रहण करने, कल्पनात्याग तथा यथालाभसंतोष को ग्रहण किया है। कबीरदास ने संतों के लिये संतोष को आवश्यक मानते हुए कहा है कि संतोष धन की उपलब्धि होने पर अन्य सभी धनों का कोई मूल्य नहीं रह जाता। जो व्यक्ति कुछ भी नहीं चाहता वही शाहंशाह है।[२]

नियम के शेष प्रकारों में से आस्तिकता, पूजा, सिद्धान्तश्रवण, जप और होम अधिक महत्वपूर्ण हैं। आस्तिक्य के लक्षणों में सुन्दरदास ने कहा है— शास्त्र, वेद और पुराण ब्रह्म का कथन करते हैं और फिर उसीको गुरु और संत सुनाते हैं। ब्रह्म है या नहीं, इसका विचार ही बुद्धि में नहीं आना चाहिए। हृदय से अप्रतीति को हटा देना चाहिए और हृदय में प्रतीति को स्थान देना चाहिए। यदि इन लक्षणों को ध्यान में रखकर विचार किया जाय तो संतों के साहित्य में पूरी आस्तिकता है। इन लक्षणों में शास्त्र, वेद और पुराणों के कथन को पुनः गुरु और संत द्वारा कहे जाने की बात विचारणीय है। भक्ति के प्रसंग में हमने लोक-वेद से निश्चित संतों की भक्तिप्रवृत्ति की ओर संकेत किया है। भावसाधन में ग्रंथप्रामाण्य को न स्वीकार कर स्वसंवेदन को या स्वानुभूति को प्रमाणरूप में स्वीकार करते हैं। ब्रह्म का निर्वचन शास्त्र-वेद-पुराण करते हैं किंतु संतों ने उसके केवल उसी रूप को स्वीकार किया है, जो स्वानुभूति से पुष्ट हो सका है। वेदनिंदा का प्रयोजन संतों का उसके द्वारा निर्वचित ब्रह्म के रूप की निंदा नहीं है। वे कर्मकांड का विरोध करते थे जिसका मूल स्रोत लोग वेद को मानते हैं। 'ब्रह्म है' इसमें संतों की, भक्त होने के कारण, दृढ़ प्रतीति है। अतः उनकी आस्तिकता में, सुन्दरदास के लक्षणों के अनुसार किसी भी प्रकार का संदेह नहीं है। नाथ और संत, दोनों ही, इस प्रकार, आस्तिक हैं। नाथों ने आस्तिकता के लक्षणों का स्वयं कोई निरूपण नहीं किया है, अतः तुलना करना कठिन है।

---

[१] सुन्दरसार, पृ० २१–२२, छं० २३, २४; पृ० २४ छं० ३२; क० ग्रं०, पृ० ४४, ९९, ११५, ११६, १२६, १५८, १७४।

[२] सुन्दरसार, पृ० २२ छं० २५; क० वचनावली, पृ० १४३, साखी ५७९–५८०।

किंतु उस प्रसंग में नाथों की आस्तिकता का जो अनुमान किया गया है उससे हम यह कह सकते हैं कि नाथ और संत दोनों ही आस्तिक हैं। ये संत लोग नाथपंथियों की तरह कर्मवाद और मृत्यूपरान्त जीवन में विश्वास करते हैं, ईश्वर में विश्वास करते हैं, उपनिषदादि वेदान्तों की स्वानुभूत प्रामाणिकता में विश्वास करते हैं।[1]

नियम का पाँचवाँ तत्व पूजा है। हम पहले ही अनेक प्रसंगों में कह चुके हैं कि संतों ने मानसी पूजा का विधान किया है। सुन्दरदास (छोटे) ने लक्षण में भावना के पद्म-पुष्प, गंध-धूप से की हुई सेवा को पूजा कहा है। नाथों ने भी भावनात्मक पूजा को ही स्वीकार किया है। इस पूजा के लिये किसी समय का बंधन सुन्दरदास ने स्वीकार नहीं किया है। इसे उन्होंने रात-दिन करने का उपदेश दिया है।[2] सिद्धान्तवाक्यश्रवण के संबंध में नाथों के शास्त्र ग्रंथ सिद्धों द्वारा निश्चित सिद्धान्तों को सिद्धान्त कहते हैं। नारद-भक्तिसूत्र आदि ग्रंथ भक्तिशास्त्र को शास्त्र कहते हैं। किन्तु सुन्दरदास ने सिद्धान्तश्रवण का जो लक्षणनिरूपण किया है उसमें अधिकारभेदवाद की प्रमुखता मालूम पड़ती है। वे शिष्य को उत्तर देते हुए कहते हैं कि वाणी के प्रकारों का अन्त नहीं है। इन वाणियों में केवल वही वाणी सिद्धान्त होने योग्य है, जो अपने काम की हो। साधक की पात्रता के अनुकूल जो भी वाणी हो, केवल वही वाणी सिद्धान्त है। नाथों से अन्तर यह है कि संत लोग गुरु और संत के मुख से निकली प्रत्येक वाणी को प्रत्येक साधक के लिये सिद्धान्त नहीं मानते। ये सिद्धान्त भिन्न-भिन्न साधकों के लिये भिन्न-भिन्न हो सकते हैं जब कि नाथों ने किसी ऐसे भेद का निरूपण नहीं किया।[3]

नियम के अन्तिम चार अंग हैं—ह्री, मति, जाप और होम। इनमें से प्रथम दो का वर्णन संत साहित्य में, नाथसाहित्य की तरह ही, स्पष्ट शब्दों में उपलब्ध नहीं है। सुन्दरदास के अनुसार गुरु और संतों से लज्जा, इन दोनों के प्रति व्यवहार में लोकलाज की रक्षा, कुल की लज्जा की रक्षा, कुटुम्ब की लज्जा की रक्षा लज्जा में गृहीत हैं। संसार के नाना प्रकार के सुखों को देखकर उनके प्रति लोलुप न होना, स्वर्गादिक की इच्छा न करना, लोक-परलोक

---

[1] कबीर ऐंड हिज फालोअर्स, डा० की, पृ० ७६, ७१-७३।

[2] सुन्दरसार, पृ० २३, छं० २८।

[3] वही, पृ० २३, छं० २९।

की इच्छा न करना, पूजा-मान-बड़ाई-आदर-निंदा आदि के किये जाने पर निश्चलमति रहना ही मति के अन्तर्गत गृहीत हैं।[१] सुन्दरदास के लक्षणों के अनुसार परीक्षा करने पर कहा जा सकता है कि कबीरादि में ह्री और मति दोनों के प्रायः सभी लक्षण मिलते हैं। गुरु और संत के प्रति संतों में कितना आदरभाव है, यह अनेक बार कहा जा चुका है। नाथसिद्ध भी, इस दृष्टि के अनुसार, गुरु के प्रति तथा अवधूत के प्रति अत्यधिक आदर भाव व्यक्त करते हैं। कबीरदास कुल और कुटुम्ब की लज्जा की रक्षा भक्ति में समझते हैं। उन्होंने वैष्णव के कुल, भक्त के कुल की बार-बार प्रशंसा की है। इसके विपरीत उन्होंने शाक्त की निंदा भी की है। मति के प्रायः सभी लक्षण नाथों और संतों, दोनों में, मिलते हैं। कनक और कामिनी, जो संसार के सुखों के मूल, लोगों के द्वारा माने जाते हैं, दोनों की कटु निन्दा नाथों और संतों, दोनों, ने की है। कबीर के सामने माया की बिनती में इसी तथ्य की ओर संकेत है। निंदक को कबीर अच्छा समझते हैं। वे संसार में केवल भक्ति और भगवान् चाहते हैं, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं।[२] नियम का नवाँ अंग जप है जिसे सुन्दरदास ने 'जाप' कहा है तथा जिसके लक्षणों का निरूपण हम तप के साथ कर चुके हैं। इसका विस्तृत विवेचन हमने भक्ति के प्रसंग में कर दिया है। मौखिक जाप दोनों को ग्राह्य नहीं, श्वासक्रिया के साथ नैसर्गिक हो जानेवाला 'जाप', जिसे ये लोग अजपाजाप कहते हैं दोनों को स्वीकार है।[3] नियम का अंतिम अंग होम है। सुन्दरदास (छोटे) ने दो प्रकार के होम बताये हैं। प्रथम प्रकार के होम में अग्नि में शाकल्य का हवन है। यह प्रवृत्तिपरक प्रकार है। दूसरे प्रकार को निवृत्तिपरक जिज्ञासु का होम कहा है जिसमें ज्ञानाग्नि में इन्द्रियों के हवन की क्रिया गृहीत है।[४] कबीरदास ने अपनी रचनाओं में ब्रह्म और ब्रह्माग्नि को एक माना है और घट में ही ब्रह्माग्नि को प्रज्वलित करने के लिये बार-बार उपदेश दिया है। उपर्युक्त लक्षणों के अनुकूल ही वे ब्रह्माग्नि में काया को जलाने को भी कहते हैं।

---

[१] सुन्दरसार, पृ० २४, छं० ३०-३१।

[२] क० ग्रं०, पृ० ८२ साखी ३; पृ० १८० पद २६९।

[3] क० ग्रं०, पृ० १४ साखी २३; पृ० १२९ पद १२८; पृ० १५८ पद २०६; पृ० ६ साखी २२; पृ० १३१. टेक; पृ० १५८ पद २०४, पृ० १५९ पद २०९।

[४] सुन्दरसार, पृ० २४, छं० ३३।

अन्यत्र उन्होंने इस ब्रह्माग्नि से ममता के भी जल जाने की बात कही है।[1] नाथसाहित्य में भी इसी प्रकार ब्रह्माग्नि के प्रज्वलन और उसमें काया के हवन की प्रक्रिया स्वीकृत है। दोनों ही इस प्रकार पारमार्थिक हवनपद्धति को स्वीकार करते हैं। वस्तुतः यहाँ दोनों प्रकार के साधकों ने हवनक्रिया, होम, हुत पदार्थ सभी को पारमार्थिक प्रतीकों के रूप में ही ग्रहण किया है, सांवृतिक क्रियाओं के रूप में नहीं। इस पद्धति का विस्तृत विवेचन हमने नाथों के योग के प्रसंग में किया है।

१४—षडंग और अष्टांग योग

नाथसिद्धों के षडंग योग का परिचय हम पहले दे चुके हैं। उनके ग्रंथों में कहीं-कहीं अष्टांग योग का भी वर्णन मिलता है। वैष्णव ग्रंथों में षडंग और अष्टांग दोनों प्रकार के योगों के उल्लेख हैं। सुन्दरदास (छोटे) ने अष्टांग योग का वर्णन किया है। शारदातिलक नामक तांत्रिक ग्रंथ में अष्टांग योग का ही वर्णन मिलता है। संतों को योगी नहीं, भक्त कहा जाता है। उनके साधन में जो स्थान भक्ति को प्राप्त है, वह योग को नहीं। भक्ति अंगी है और योग अंग—यह कथन की एक पद्धति हो सकती है। अतः संतों के योग का निरूपण उस प्रकृष्ट, स्पष्ट और विस्तृत रूप में संभव नहीं जिस रूप में वह नाथों की विभिन्न रचनाओं में उपलब्ध है। यह भी हम कह चुके हैं कि संतों ने योग-गत शारीरिक साधनों का वर्णन नहीं किया और न उसको महत्व ही दिया है। प्राणायाम का यत्किंचित् वर्णन, नाड़ियों का साधन, अद्वैतभाव और तत्परवर्ती भाव को व्यक्त करने के लिये किया गया है। मानस साधन का पुष्कल विवरण अवश्य मिलता है। इस प्रकार उनके योगसाधन का वास्तविक आरंभ प्रत्याहार से होता है। आसन, बंध, वेध, मुद्रा, षट्कर्म का वर्णन इन रचनाओं में केवल सुन्दरदास (छोटे) जैसे कवियों की रचनाओं को छोड़कर अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। नाथों के साधन में यमनियमगत सभी आचारों का प्रयोजन प्राणायाम है किंतु संतों के यम-नियम का प्रयोजन भक्ति प्रतीत होता है। सुन्दरदास (छोटे) के अष्टांग योग के यम-नियम के लक्षणनिरूपण से ऐसा प्रतीत होता है। नाथों की हिन्दी रचनाओं में जिस प्रकार 'हठयोग' या 'हठ' शब्द का प्रयोग नहीं मिलता उसी प्रकार संतों की रचनाओं के विषय में भी कहा जा सकता है। सुन्दरदास ने अवश्य उनका निरूपण किया है।

---

[1] क० ग्रं०, पृ० ९०, पृ० १०९ पद ६९, पृ० ११०, १११, १३८, पृ० १५८ पद २०४, पृ० १७८ पद २६३, पृ० १८३–१८४ पद २८१।

१५—हठयोग

नाथपंथी संस्कृत रचनाओं में 'हठ' के हकार को सूर्य तथा ठकार को चन्द्र कहा गया है। इन्हें ही क्रमशः प्राण और अपान भी कहा जाता है। संतों की हिंदी रचनाओं में इस प्रकार का कोई निर्देश नहीं मिलता। सूर्य और चन्द्र तथा तत्कोटीय विभिन्न शब्दों के प्रयोग अवश्य मिलते हैं। यद्यपि 'हठ' शब्द के हकार और ठकार का विचार संतों में नहीं है तथापि सूर्य और चन्द्र के साधन का वर्णन अवश्य है। सूर्य और चन्द्र वस्तुतः द्वैत की ओर संकेत करते हैं। हठ-योग इन दोनों का योगसाधन है। इस द्वैत की ओर संकेत करने-वाले जो शब्द प्रायः कबीर साहित्य में मिलते हैं, उनको नाथों की पूर्ववर्णित पदावली के प्रकाश में इस प्रकार उपस्थित किया जा सकता है—

ह—सूर्य, रवि, यमुना, पिंगला, शक्ति, पवन, अधः।
ठ—चन्द्र, शशि, गंगा, इड़ा, शिव, मन, ऊर्ध्व।

सूर्यनाड़ी और चन्द्रनाड़ी, प्राण और अपान, रज और विंदु आदि शब्दों का प्रयोग कबीर साहित्य में अवश्य है किंतु वे हठयोग के पारिभाषिक और साधना-त्मक अर्थ को व्यक्त करनेवाले नहीं हैं। सूर्य का चन्द्र में समाहित होना, दोनों का एक घर में होना, आत्माराम के हिंडोले में चन्द्र-सूर्य का दो स्तम्भ के रूप में प्रयुक्त होना, रामरस को तैयार करने के लिये चन्द्र-सूर्य का दो भट्ठियों के रूप में प्रयुक्त होना, शशिहर का सूर्य को ग्रस्तकर लेना, गगन में अनाहत नाद के ध्वनन के लिये चन्द्र और सूर्य का मंत्र के दो तत्वों के रूप में विनियुक्त होना, शशिहर के घर में सूर्य का आगमन, चन्द्र-सूर्य मिलन, चन्द्र-सूर्य का एकत्व, चन्द्र सूर्य के बीच में 'तारी' (ध्यान) का लगना, सोलहकला-युक्त चन्द्र का पूरी तरह से छा जाना, गंगा-यमुना के बीच में सहज शून्य की लौ (लय) का घाट या गंगा-यमुना के बीच में अपनी 'मड़इया' को छाना, रस-निर्माण के लिये इड़ा-पिंगला को भट्ठी बनाना और उसमें ब्रह्माग्नि को प्रज्व-लित करना, शिवशक्ति की सुषुम्ना दिशा का दर्शन, 'अरध-उरध' की गंगा-यमुना की ओर संकेत करना आदि वस्तुतः इसी अद्वैतप्रधान हठयोग की साधना की ही विवृत्ति करते हैं।[1] कबीर ने गगन और पृथिवी के उन प्राचीन प्रतीकों

[1] क० ग्रं०, पृ० १३ छं० १०, ९४. १८, ११०. ७१, १४१-१४२.१६२, १५४.१९६, १५७.२०२, १८३.२८०, १६२.२१९, १४६.१७३, पृ० २२३, पृ० १५७ छं० २०२, पृ० १८ अंग १० साखी ३, पृ० १११ पद ७४, पृ० १६ साखी ४६, ९४.१८; कबीर—पृ० ३३४ पद १८५।

का भी व्यवहार किया है जिनका शब्दान्तर से प्रयोग वैदिक साहित्य में मिलता है तथा जिनके नाथ साहित्य में उपलब्ध प्रयोग की ओर मैं संकेत कर चुका हूँ। कबीर ने धरती के बरसने और गगन के भीगने की जिस विलक्षण दृश्यावली का वर्णन किया है, उससे इस प्रतीकपरंपरा और शब्दों के पारंपरिक प्रयोग का एक विकास स्पष्ट हो जाता है। वैशिष्ट्य यह है कि कबीर ने इनका अपनी साधना के अनुकूल तथा उलटबाँसी की पद्धति से प्रयोग किया है।[1]

द्वैत और प्रपंच की ओर संकेत करनेवाले इन शब्दों से संबंधित जिन क्रियाओं की ओर संकेत किया गया है उससे मालूम होता है कि संतों में भी इस द्वैत से परे जिस अद्वैत की स्थिति की ओर संकेत किया गया है, उसके बोधक शब्द हैं—समाना (या समाहित होना), अविरुद्ध स्थिति, शशि (अमृत) की प्रधानता, एकत्व, मिलन, ध्यान अथवा समाधि की स्थिति, सहज शून्य, बीच अथवा मध्य, सुषुम्ना, गगन और धरणी अथवा ऊर्ध्व और अधः में नैरन्तर्य। योग शब्द के अर्थनिरूपण में उसके 'मिलन' अर्थ की ओर हम संकेत कर चुके हैं। इस भाव अथवा स्थिति की ओर संकेत करने के लिये कबीर ने समिता, योग, त्रिकुटी संधि, त्रिकुटी संगम, समाधि आदि विभिन्न शब्दों का प्रयोग किया है। इसी प्रकार सुषुम्ना शब्द का प्रयोग भी ध्यान देने योग्य है।[2] समाधि के समकक्षी विभिन्न शब्दों का विचार आगे उचित प्रसंग में किया गया है। इस भाव अथवा स्थिति अथवा मार्ग के बोधक शब्द उस रूप और मात्रा में संत साहित्य में, विशेषकर कबीर साहित्य में, उपलब्ध नहीं, जिस रूप और मात्रा में नाथसाहित्य में उपलब्ध हैं। इस योग की विस्तार से व्याख्या नाथों के हठयोग के विवेचन के प्रसंग में कर दी गई है। जिन प्रक्रियाओं की ओर ऊपर संकेत किया गया है तथा कबीरादि के योगसाधन में जिन यौगिक प्रक्रियाओं को स्वीकृति दी गई है, वे हैं—पवनसाधन, षट्चक्रभेद, सूर्य-चन्द्र-साधन, मन-पवन की अचंचलता, इड़ा-पिंगला की त्रिवेणी में संधि, अध्यात्मसाधन, नादानुसंधान, महारससाधन, मनोमारण अथवा मानससाधन, ब्रह्माग्निप्रज्वलन, अमृतसाधन, आदि। इनके अतिरिक्त पंचेन्द्रियनियमन, मानससंयम, पंचभूतसाधन, कुंडलिनीयोग, ध्यान, समाधि आदि के भी विभिन्न संदर्भ संतों की रचनाओं में मिलते हैं।

---

[1] क० ग्रं०, पृ० ५४ साखी ११, पृ० १८३ पद २८०।

[2] क० ग्रं०, पृ० ६३ अंग ३९ साखी ३, पृ० १०९ पद ६९, पृ० १५७ पद २०२, पृ० ८८, १५८ आदि।

१६—आसन

साधन की दृष्टि से विचार करने पर यम-नियम के बाद आसन का सबसे पहले स्थान है। कबीरादि संतों की रचनाओं में आसनों का विस्तृत निरूपण नहीं मिलता। कबीरदास ने हरिभजन के बिना आसन और पवनसाधन को कपट कहा है और उनके त्याग का उपदेश दिया है। शून्य गुफा में आसन लगाना उन्हें स्वीकार है।[१] नाथपंथी रचयिताओं ने भी आसन के इस रूप की ओर संकेत करते हुए गंगा-यमुना के मध्य सुषुम्ना में लगाये जानेवाले आसन को ही सच्चा आसन माना है। नाथसिद्धों की हिन्दी रचनाओं में कहीं-कहीं पद्मासन और वज्रासन की ओर संकेत मिलते हैं। सुन्दरदास (छोटे) ने भी केवल सिद्धासन (वज्रासन) और पद्मासन का ही परिचय अपने ज्ञानसमुद्र में दिया है। इनमें से सिद्धासन से मोक्षकपाट का उद्घाटन तथा पद्मासन से व्याधिहरण संभव बताया गया है।[२] इसमें स्पष्ट है कि संत लोग हरिभजन के लिये यद्यपि सामान्य आसनों को स्वीकार करते हैं तथा जिनमें मुख्य सिद्धासन और पद्मासन हैं, किंतु उनका वास्तविक आसन अन्तस्साधनापरक है। आसन के लिये आसन करना, जिसमें आध्यात्मिक साधना का लक्ष्य छूट जाता है, नाथों को भी स्वीकार नहीं। अन्तस्साधनापरक आसन की दृष्टि से नाथों और संतों के विचार समान हैं।

१७—प्राणायाम

नाथसिद्धों की हिन्दी रचनाओं में दशवायुओं का वर्णन नहीं मिलता, केवल प्राण-वर्णन मिलता है। किंतु सुन्दरदास ने इन वायुओं का वर्णन करते हुए प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय नाम के दस वायुओं के शरीर में स्थान क्रमशः हृदय, गुदा, नाभि, कंठ, संपूर्ण घट, डकार, पलक, क्षुधा और मुख बतलाये हैं।[3] कबीर की रचनाओं में केवल पवन का वर्णन मिलता है। 'प्राण' शब्द के जो प्रयोग हैं, वे पारिभाषिक हठयोगपरक नहीं हैं। पवन शब्द का प्रयोग करते हुए कबीर ने पवन से अम्बर धोना, इस पवन का लौ लगाकर क्रीड़ा करना, पवन को उलट कर षट्चक्र का भेदन करना, सुषुम्ना नाड़ी में पवन को दृढ़ करना, दसों दिशाओं में अन्तर्हित पवन (प्राणायाम) से शरीर का आन्दोलन (?), प्राणों के कुंजी और ताले से आत्मा की सुरक्षा आदि की पदावली में इस पवनक्रिया

---

[१] संत कबीर, पृ० १५९, ५६।

[२] सुन्दरसार, पृ० २५–२६।

[3] वही, पृ० २७।

अथवा प्राणायाम का वर्णन किया है।[१] कबीरादि के साहित्य में पवन-साधन का जिन स्थलों पर वर्णन है, उनसे यह स्पष्ट होता है कि संत लोग भी इस पवनसाधन की उपयोगिता नाड़ीसाधन, चन्द्रसूर्यसाधन, षट्चक्रभेद, कुंडलिनीयोग अथवा लययोग, ध्यानयोग, मानससाधन इत्यादि के लिये स्वीकार करते हैं। प्राणायाम अथवा पवनसाधन का इन साधनों से संबंध है। किंतु बिना इसके इनका साधन सुन्दर नहीं है। इस बात को संत लोग भी स्वीकार करते हैं। ऊपर के विवरण में पवन को परावृत करने अथवा उसके प्रत्या-वर्तन की क्रिया की ओर संकेत मिलता है। कबीर साहित्य में जिस प्रकार पवन के प्रकारों का वर्णन नहीं है, उसी प्रकार प्राणायाम की पूरक, कुंभक और रेचक क्रियाओं का भी इन शब्दों में वर्णन उपलब्ध नहीं। गोरखनाथ की तरह ही कबीर ने भी 'सोहं' वायु का वर्णन अपने पवनसाधन के अन्तर्गत किया है। पवन का उलटना एक प्रकार से विपरीतकरण की एक क्रिया है। प्राणायाम का इससे अधिक विस्तृत एवं सूक्ष्म वर्णन कबीर साहित्य में नहीं मिल सकता। सुन्दरदास ने पवनसाधन से षट्चक्रसाधन का विशेष संबंध स्वीकार किया है, ऐसा प्रतीत होता है। वायु के प्रकारों का वर्णन करने के बाद वे षट्चक्रों का वर्णन करते हैं। पुरोहित हरिनारायण की टिप्पणियों से यह ज्ञात होता है कि 'इन चक्रों के नामनिर्देशनादि से यह प्रयोजन है कि प्राणायामादि साधनों से इन चक्रों का भेदन करके सुषुम्ना मार्ग से समाधि-सुख की प्राप्ति होती है। सुन्दरदास (छोटे) ने, विस्तार से, प्राणायाम का वर्णन किया है। उनके अनुसार इड़ा नाड़ी में पूरक, बीच में कुंभक और पिंगला में रेचक करने से सभी पातकों का निकृन्तन होता है। नाथों के योग के शास्त्रीय ग्रंथों में प्राणायाम की मात्रा का भी वर्णन मिलता है। तांत्रिक ग्रंथ वीज, मंत्र आदि का भी समावेश इस साधन में करते हैं। इनका वर्णन हम पहले ही कर चुके हैं। सुन्दरदास (छोटे) ने भी बीज और मंत्र से संयुक्त कर १६ मात्रा तक पूरक, ६४ मात्रा तक कुंभक और ३२ मात्रा तक रेचक करने का विधान किया है। पुनः इस क्रिया का विपर्यय करना चाहिए अर्थात् पिंगला में पूरक कर इड़ा में रेचक करे। इस प्रकार प्राण को जीतने की क्रिया सुन्दरदास ने बतलाई है। टिप्पणियों के अनुसार इसमें 'ओंकार' के विनियोग का विधान किया गया है। सुन्दरदास ने आठ प्रकार के कुंभकों

---

[१] क० ग्रं०, पृ० १८३ पद २८०, १८८. २९६, ९०. ७, ९१. ८; संत कबीर, पृ० २० पद १८, ४९. ४६, ५०. ४७, ७६. ७३ तथा इनकी टीकाएँ।

और दस प्रकार की मुद्राओं का भी उल्लेख किया है।[१] विवरण से ऐसा प्रतीत होता है कि सुन्दरदास ने 'ज्ञानसमुद्र' में अष्टांगयोग का वर्णन करते समय षट्कर्मों का परिचय नहीं दिया है। सर्वात्मयोगग्रंथ के योगप्रकरण में हठयोग के अन्तर्गत षट्कर्मों का वर्णन कर उसके अन्तर्गत 'नेती, धौती, वस्ती, त्राटक, नौली, कपालभाती' की गणना की है। इनका प्रयोजन नाड़ियों की शुद्धि है।[२] संतों में से कबीर की रचनाओं से ऐसा प्रतीत होता है कि यम-नियम का प्रयोजन वे प्राणायाम के लिये नहीं मानते। नाथपंथियों की हिंदी रचनाओं में भी षट्कर्म का विवेचन अथवा उनका साधन उपलब्ध नहीं, ऐसा संकेत हम कर चुके हैं।

१८—प्राणायाम

प्राणायाम का प्रारम्भिक संबंध नाड़ियों से है। नाड़ियों के शोधन का एक अन्य उपाय षट्कर्म भी है, किंतु उनका केवल साधनरूप में परिचय देते हुए सुन्दरदास ने उनका वर्णन किया। अपेक्षाकृत अधिक कृच्छ्राचारप्रधान होने के कारण ही संभवतः कबीर आदि संतों ने उसे निरर्थक समझा। तुलना की दृष्टि से प्राणायाम का अधिक वर्णन उपलब्ध है। पिण्डब्रह्माण्डवाद तथा हकार और ठकार के निरूपण के प्रसंग में प्रमुख नाड़ियों का परिचय दिया जा चुका है। सुन्दरदास (छोट) ने आसन के बाद १०९ अथवा १०१ नाड़ियों में १० को प्रधान माना है। इनमें भी इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना नाम की तीन नाड़ियाँ अग्रवर्ती हैं। इनका विवरण इस प्रकार है—

वामभाग :—इड़ा—चन्द्रनाड़ी—वामस्वर से संबंधित।

दक्षिणभाग :—पिंगला—सूर्यनाड़ी—दक्षिण स्वर से संबंधित।

मध्यवर्ती :—सुषुम्ना—अग्निनाड़ी।[3]

---

[१] सुन्दरसार, पृ० २७–२९, छं० ५७–५९ तथा ६४ तथा टिप्पणियाँ।

[२] वही, पृ० ५७–५८, छं० १०, ११ तथा टिप्पणियाँ।

[3] वही, पृ० २६, टिप्पणियाँ। कबीर ने एक स्थान पर शरीर रूपी बटुए में बहत्तर आधारों (नाड़ियों) की कल्पना की है। यह बहत्तर संख्या नाथपंथियों की ७२००० नाड़ियों की संख्या का प्रतीक मालूम पड़ती है। द्रष्टव्य—संत कबीर, पृ० ९७, पद ७ तथा टीका।

कबीर की विभिन्न रचनाओं में इनके अतिरिक्त अन्य नाड़ियों का वर्णन उपलब्ध नहीं है। कबीर ने बंकनाल का वर्णन किया है। उनके अनुसार बंकनाल के अन्तर्गत ही पश्चिम दिशा का मार्ग है। नाथवाणी के विवेचन में पश्चिम दिशा को सुषुम्ना कहा गया है। कबीर के आत्माराम का हिंडोला चन्द्र-सूर्य के दो खंभों पर स्थित है तथा उसमें बंकनाल की डोर लगी हुई है। साधक उसी बंकनाल में रस का पान करता है। इस नाल को यदि समभाव में रखे तो आवागमन का निरोध होता है।[१] इन नाड़ियों का संबंध द्वारों तथा शरीरगत विभिन्न विशेष पवित्र स्थानों से है। तीर्थों को इस शरीर में किस रूप में स्थान दिया गया है, इसका वर्णन संक्षेप में पिंडब्रह्माण्डवाद के प्रसंग में हम कर चुके हैं। नाथपंथी रचनाओं की तरह ही संतों की हिंदी रचनाओं में भी दस द्वारों अथवा रन्ध्रों का वर्णन नहीं मिलता। दस द्वारों की ओर संकेत करते हुए कबीर ने उनके साधन के संबंध में भी कुछ बातें कह दी हैं। उनके अनुसार दस द्वारों के रुद्ध हो जाने पर काल अवश्य आक्रमण करेगा। इस शरीर में पाँच चोर हैं तथा दस दरवाजे हैं। वस्तुतः महत्वपूर्ण द्वार तो दसवाँ द्वार है जो देवालय है तथा जहाँ ज्योति का प्रत्यभिज्ञान होता है। सामान्य व्यक्ति को तो नौ दरवाजों तथा दसवें दरवाजे का वास्तविक ज्ञान ही नहीं हो पाता। साधन में इन दस द्वारों को मुद्रित कर देना चाहिए। किंतु समाधि तो केवल दशम द्वार में ही लगती है।[२] कबीरदास के दशम द्वार का अर्थ ब्रह्मरंध्र है। इस प्रसंग में कबीर ने त्रिकुटी को छोड़कर दशम द्वार को खोलने की चर्चा की है, जिससे यह प्रतीत होता है कि यह द्वार त्रिकुटी से भी ऊपर स्थित है। एक अन्य द्वार की जो चर्चा मिलती है, वह मूल द्वार है जिसका अर्थ है—मूलाधार चक्र का द्वार। इसी प्रकार पश्चिम द्वार का अर्थ डा० रामकुमार वर्मा ने किया है—इड़ा नाड़ी का मुख। इस मुख के ओर पर आज्ञाचक्र है और उसके ऊपर ब्रह्मरन्ध्र है और उसके ऊपर दशम द्वार है।[३] ऊपर के विवेचन से एक बात यह दिखाई पड़ती है कि कबीर भी नाथपंथियों की तरह ही दशम द्वार की उपलब्धि में आवागमननिरोध की बात स्वीकार करते हैं।

---

[१] क० ग्रं०, पृ० ८८ पद ४, ९४. १८, ११०. ७०, १४०. १५७, १५९. २०९।

[२] क० ग्रं०, पृ० ७ साखी २६, पृ० २१ साखी ७, पृ० ४४ साखी १०, पृ० १०२ पद ४२, १०७. ६१, १११. ७४, १८१. २७३।

[३] संत कबीर, पृ० २०२ पद ३, पृ० २१६ पद १० तथा टिप्पणियाँ।

हम पहले कह चुके हैं कि प्राणायाम का नाड़ियों से संबंध है तथा नाड़ियों का द्वारों से। प्राणायाम का नाद-विंदु और रज-विन्दु से भी संबंध है। नाद-विन्दु शब्द भी अन्य युग्मकों की तरह ही है। कबीर ने नादविन्दुसाधन का वर्णन किया है। उनके अनुसार नाद और विन्दु के गगन में गर्जन करने से अनाहत नाद होता है।[1] विन्दु शब्द का प्रायः कबीर ने शुक्र अर्थ में ही प्रयोग किया है। विन्दुरक्षा का एक संदर्भ कबीर की रचनाओं में अन्य मतों के योग-परिचय के प्रसंग में उपलब्ध है। काजी के संबंध में उन्होंने कहा है कि वास्तविक काजी वही है जो काया का विचार करता है, काया में अग्नि का प्रज्वलन करता है, स्वप्न में भी विन्दु को क्षरित नहीं होने देता। एक अन्य स्थान पर केवल विन्दुरक्षा की खिल्ली भी वे उड़ाते हैं।[2] अन्य युग्मकों की तरह ही यह युग्मक भी शिवशक्ति के अद्वययोग की ओर संकेत करता है। कबीर ने रज-विन्दु अथवा रज-वीर्य के मिश्रण से केवल शरीर की उत्पत्ति की ओर संकेत कर इस विचारपरम्परा को छोड़ दिया है। उसके साधनक्रम का विस्तार हमें नहीं मिलता। नाद-विन्दु का विस्तृत, दार्शनिक और साधना-त्मक निरूपण कबीरादिक की रचनाओं में उस रूप में उपलब्ध नहीं जिस रूप में नाथ साहित्य में उपलब्ध है। इस साधन के संदर्भ इतने कम उपलब्ध हैं कि उनके आधार पर एक व्यवस्थित निरूपण कर नाथों के तत्संबंधी साधन से, प्रत्येक दृष्टि से, तुलना करना बहुत कठिन है।

१९—बंध, वेध और मुद्रा

नाथपंथियों की हिन्दी रचनाओं में बंध, वेध और मुद्रा का विस्तृत वर्णन उपलब्ध नहीं। संतों की हिन्दी रचनाओं में उनका विस्तृत वर्णन उपलब्ध नहीं है। बंध और वेध के तो नाम भी नहीं मिलते। कबीरदास ने अवश्य ही मुद्रा का परिचय दिया है। गोरख की हिन्दी रचनाओं में तो वज्रोली और अमरोली आदि का भी वर्णन मिल जाता है किन्तु कबीर ने किसी भी मुद्रा का नाम नहीं लिया है। उसके अर्थ के संबंध में भी कबीर का कोई मत उपस्थित नहीं किया जा सकता। नाथपंथियों ने पिण्डस्थ अन्तस्साधनात्मक मुद्राओं का वर्णन कर उन्हें ही वास्तविक माना है। कबीर भी मानसिक अथवा अन्तस्साधनात्मक मुद्रा का ही वर्णन करते हैं और उसे ही वास्तविक

---

[1] क० ग्रं०, पृ० १५४ पद १९६।

[2] संत कबीर, पृ० ६ पद ४, पृ० २१, पद ११।

मुद्रा मानते हैं। 'जोगी' को सम्बोधित कर वे मुद्रा के वास्तविक अर्थ को समझाने की चेष्टा करते हैं। उनके अनुसार निरति ही मुद्रा है। यहाँ मुद्रा का अर्थ वह कुंडलविशेष प्रतीत होता है जिसे बाद के नाथपंथी लोग धारण करना ही सब कुछ समझ बैठे थे। इसलिये वे वास्तविक 'जोगी' उसी को कहते हैं जो मनमुद्रा रखता हो। कान में मुद्रा पहनने से योग नहीं होता।[१] सुन्दरदास ने इन मुद्रा-बंध-वेधों का स्पष्ट वर्णन किया है। उन्होंने दस मुद्राएँ बताई हैं जिनमें से तीन बंध हैं और एक वेध है—महामुद्रा, महाबंध, महावेध, खेचरी, उड्यान, मूलबंध, जालंधरबंध, विपरीतकरणी, वज्रोली, शक्तिचालन। अष्टकुंभकों का साधन हो जाने पर और मुद्राओं का भी अभ्यास हो जाने पर दस प्रकार के नाद सुनाई पड़ते हैं।[२] कबीर ने एक स्थान पर मूलबंध का उल्लेख किया है। उसी प्रकार खेचरी का यद्यपि नाम लेकर उन्होंने कोई वर्णन नहीं किया है तथापि अमृतरसपान संबंधी प्रसंगों को देखने से इस खेचरी साधन के कुछ संकेत अवश्य मिल जाते हैं।[३]

२०—प्राणायाम, प्रणवसाधन, अजपाजाप, नादानुसंधान और सुरति-शब्द-योग

प्राणायाम का प्रणवसाधन, नादानुसंधान आदि से भी संबंध है। संतों के इस प्रकार के साधन का विचार करते हुए डा० बड़थ्वाल ने जप, अजपाजाप, और नादसाधन को सुमिरन का ही प्रकारभेद माना है। उनके अनुसार सुमिरन तीन प्रकार का होता है—'जाप' (बाह्य क्रिया), 'अजपाजाप' (बाहरी जीवन का परित्याग तथा आभ्यंतरिक जीवन में प्रवेश), अनाहत (आत्मा के गूढ़तम अंश में प्रवेश)। सुमिरन एक प्रकार की प्रेमसाधना है, इस संबंध में हम भक्ति के प्रसंग में भी लिख चुके हैं। उन्होंने बतलाया है कि 'नाद-सुमिरन' जिसे हम 'मन्त्रयोग' भी कह सकते हैं, 'सुरति-शब्द-योग' का ही एक दूसरा रूप है। इस प्रकार वह सारे योगों का भी योग है। भक्तियोग, राजयोग, मंत्रयोग कर्मयोग, लययोग, हठयोग, एवं ज्ञानयोग भी उसी के विविध रूपान्तर कहे जा सकते हैं। अपनी प्रारम्भिक दशा में यह मन्त्रयोग है, जो राजयोग द्वारा

---

[१] क० ग्रं०, पृ० १०९ पद ६९, पृ० १५८ पद २०६, पृ० १६२ पद २१७।

[२] सुन्दरसार, पृ० २८–२९, छं० ६४ तथा टिप्पणियाँ।

[३] क० ग्रं०, पृ० ९८ पद ३१।

अनुप्राणित रहा करता है और अपनी अंतिम दशा में वही ज्ञानयोग है जिसमें उस निर्विकार के वास्तविक स्वरूप की अनुभूति प्राप्त होती है।···इन सबकी सिद्धि एक प्रकार की प्रेमसाधना द्वारा होती है।[1] हम पहले सुन्दरदास के अनुसार बतला चुके हैं कि संतों के अनुसार भी प्राणायाम सबीज और समन्त्र होना चाहिए। तांत्रिक योग के प्रकरण में हम इसका सविस्तर वर्णन कर चुके हैं। नाथपंथियों ने तथा अन्य संप्रदायों ने भी ओंकार, प्रणव को इस दृष्टि से अत्यधिक महत्ता दी है। ओंकारसाधन भी एक प्रकार से अद्वैत साधन है। अ–उ–म का विवेचन करते समय हम इसे स्पष्ट कर चुके हैं। जैसा हम कह चुके हैं कबीर ने परमतत्व के अनेक नामों का प्रयोग करते हुए भी 'राम' नाम को विशेष महत्व दिया है तथा उसके प्रति विशेष अनुराग सूचित किया है। 'ररां' और ममां' का भी हम विवेचन कर चुके हैं। सुमिरन के लिये वे बार-बार इसी नाम का उपदेश देते हैं। जैसे यही उनका मन्त्र है। कबीरदास ने सुमिरन के उपर्युक्त तीन प्रकारों की ओर संकेत कर बताया है—'जाप मर जाता है, अजपा जाप भी नष्ट हो जाता है और अनाहत भी नहीं रह जाता, जब सुरति शब्द से लीन हो जाती है, तब उसका जन्म व मरण के चक्कर का भय छूट जाता है।[2] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वस्तुतः एक मूल नाद अथवा शब्द ही साधन की विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न रूपों में साक्षात्कृत होता है। नाथों के योग के विवेचन में इसी तथ्य की ओर संकेत किया गया है। इस प्रकार नामस्मरण, अजपाजाप, नादानुसंधान और प्रणवसाधन अथवा ओंकारसाधन, सभी मंत्रयोग के अन्तर्गत गृहीत हैं और एक ही साधन की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। संतों के सुरति-शब्द-योग का परिचय देते हुए डा० बड़थ्वाल ने बताया है कि वह योग जिसके द्वारा सुरति एवं शब्द का संयोग सिद्ध होता है और उक्त सीमाएँ शब्द में फिर लीन हो जाती हैं, शब्दयोग अथवा सुरति-शब्द-योग कहलाता है और वह शब्द सर्वप्रथम भगवन्नाम के रूप में मुँह से निकलता है और अन्त में स्वयं शब्द रूप ब्रह्म हो जाता है।[3] इन सभी साधनाओं का प्राणायाम से संबंध है। प्राणायाम के विषय में हम पहले ही कह चुके हैं कि यह व्यष्टिप्राण और समष्टिप्राण का संयोगसाधन है। पिण्डब्रह्माण्डवाद इसका भी मूलाधार है। संतों की साधना में गृहीत शब्द-

---

[1] हिं० का० नि० सं०, पृ० २२५-२२६, २२८।

[2] वही, पृ० २१७, २१८, २२०, २२५।

[3] वही, पृ० २२९।

योग में भी इसी प्रक्रिया एवं सिद्धान्त को ग्रहण किया है। अतः इसमें भी षट्चक्र आदि की पूरी साधना गृहीत है।[१] इस विवेचन से स्पष्ट है कि 'निर्गुणियों के लिये प्राणायाम एक सहायक साधन है, जो नामस्मरण के पूरक के रूप में किया जाता है और उन्हें प्रत्येक निश्वास व प्रश्वास के साथ इसे करते समय, ईश्वर का नामस्मरण करना पड़ता है।[२] पं० परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार संतों ने इस साधन का उपयोग मानसनियमन के लिये किया है। उनके अनुसार भी 'इस योग की साधना में अपनी 'सुरति' को अपने भीतर निरन्तर उठते रहनेवाले 'अनाहत नाद' के साथ सद्गुरु की बतलायी युक्ति द्वारा जोड़ना पड़ता है। वह अनाहत नाद ही वस्तुतः भगवन्नाम है और अपन का ही एक सूक्ष्म रूप वह सुरति भी है जिसे उसके साथ जोड़ना आवश्यक होता है।'[३] इस प्रकार के विवेचन से नाथों के उपर्युक्त साधनों से संतों के इस साधन का वैलक्षण्य भी स्पष्ट हो जाता है। संतों ने सुमिरन, प्रेम, भक्ति के लिये प्राणायाम तथा तत्संबंधी अन्य साधनों का विलक्षण समन्वय किया था।

बतलाया गया है कि अष्टकुंभक का साधन हो जाने पर और मुद्राओं का भी अभ्यास हो जाने पर दस प्रकार के नाद क्रमशः सुनाई देते हैं। इसी को अनाहत नाद कहते हैं, जो बिना कारण, प्रमाण वा उद्योग के स्वयम् भासता है। सुंदरदास ने ये दस प्रकार के नाद बताये हैं—भ्रमरगुंजार, शंखध्वनि, मृदंगवाद्य, ताल शब्द, घंटानाद, वीणाध्वनि, भेरिनाद, दुंदुभिनाद, समुद्र-गर्जना, मेघघोष।[४] नाथों ने भी मृदंग, घड़ी, भ्रमर, मर्द्दल, शंख आदि के विभिन्न नादों अथवा शब्दों का वर्णन किया है। कबीरदास ने इन विभिन्न शब्दों को सुना है। शून्यमंडल में मर्द्दल के वादन को सुनकर उनका मन नाच उठता है। वे कमल के प्रकाशित होने पर, निर्मल सूर्य के उदित होने पर अज्ञान-निशान्धकार के मिट जाने पर अनाहद तूर्य का वादन सुनते हैं। इसी प्रकार उन्होंने गगन में 'दमांमा' (नगाड़ा), घंटा आदि के शब्दों का भी वर्णन किया है।[५] कबीर ने इन नादों में अनवरत रूप से मन को लगाये रखने के लिये

[१] वही, पृ० २२९-२३०।
[२] वही, पृ० २४३।
[३] कबीर साहित्य की परख, पृ० १०३।
[४] सुंदरसार, पृ० २८-२९।
[५] क० ग्रं०, १६.४७, ६८.६, ९०.६, १६.४३, ११०.७२।

कहा है। नाद की अखंड धारा के साधन का उपदेश वे अवधूत को भी देते हैं। उनका मन जहाँ अनाहत किंगरी (छोटी सारंगी, चिकारा) बजती है, वहीं उस दीर्घ नाद में उनका मन लगता है। गगनमंडल का शृंगीनाद भी उन्हें आकर्षित करता है। इसी प्रकार उन्होंने जंत्री (यंत्री, वीणा आदि) आदि के स्वर का श्रवण कर मानस संयम किया है।[१] वे 'राम राम' को अनाहत किंगरी का वादन कहते हैं। उनके अनुसार यह अनाहत शब्दातीत है। शरीर के दस द्वारों का मुद्रण अथवा अवरोध कर देने से ही ऐसे नाद का उदय और श्रवण संभव है।[२] पलटूदास ने भी वंशीरव, भ्रमरगुंजार आदि का वर्णन किया है।[३] नाथों की तरह ही संतों ने भी 'सबद' शब्द का दो अर्थों में प्रयोग किया है। पहला अर्थ है गुरु के उपदेश तथा दूसरा अर्थ है अनाहत शब्द।[४] नाथों की हिन्दी रचनाओं के समान ही संतों की भी रचनाओं में नाद की चार अवस्थाओं का वर्णन उपलब्ध नहीं। नाद की विभिन्न अवस्थाओं के आधार पर योगियों का जो वर्गीकरण अथवा उनकी अवस्थाओं का वर्णन नाथों की हिन्दी रचनाओं में मिलता है, वह भी कबीरादि की रचनाओं में उपलब्ध नहीं।

इसी प्रकार प्राणायाम से संबन्धित हैं प्रणवसाधन, अजपाजाप और सोहं। नाथपंथी रचनाओं के योग में हम कह चुके हैं कि ओंकार या प्रणव ही मूल-ध्वनि है। इसी को नाथसिद्धों ने स्वसंवेद्य और सूक्ष्मवेद कहा है। इसी को सभी वेदों का मूल कहा है। वस्तुतः यही वेद वेद्य है। संतों ने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेदादि के सामान्य पाठ की निन्दा और खंडन किया है। इन वेदों को मिथ्या तो वे कभी नहीं मानते। उनकी दृष्टि में इनका प्रत्यभिज्ञान न करनेवाले का ही दोष है। दोष तो व्यक्ति के मन में होता है जिससे संसार की चीजों में दोष दिखाई पड़ता है।[५] वेद में मूल तत्व क्या है, इसका उत्तर नाथपंथियों के अनुसार प्रणव है। प्रणव अथवा ओंकार अथवा सूक्ष्मवेद ही वेद का सार है इसे लोग पहचान नहीं पाते। कबीरदास ओंकार से जगत् की

[१] क० ग्रं०, १०९.६९, १३७-१३८.१५३।

[२] संत कबीर, पृ० २ पद २, पृ० २० पद १८, पृ० १३९ पद १०।

[३] संत काव्य, पृ० ५२७, ५३३, ५३४।

[४] क० ग्रं० (१) २९.१८, ६४.८.६१८, ९७.२९, (२) ६३.१, ९८-९९.३२।

[५] संत कबीर, पृ० २४५ पद ४; क० ग्रं०, पृ० १०७-१०८, पद ६२।

उत्पत्ति मानते हैं। वही आदि है, मूल है।[१] कबीर के ओंकार सम्बन्धी विचारों पर नाथों से तुलना करते हुए डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कहा है कि 'स्थूल वेद यज्ञ-याग का विधान करते हैं, योगियों को इससे कोई वास्ता नहीं। उनका मतलब समस्त वेदों के मूलभूत ओंकार मात्र से है। क्योंकि ओंकार ही वेद का सार है। कबीरपंथ में भी स्थूल वेद और सूक्ष्म वेद की कल्पना की गई है।......'ज्ञानचौंतीसा' के आदि में कबीरदास ने मानों इसी मत का समर्थन करते हुए कहा है कि जो ओंकार या प्रणव को जानता है, वह उस परा-शक्ति को जानता है जो लिखकर मिटा सकती है अर्थात् जो सब कुछ करने में समर्थ है। और इसके बाद ही शायद ओंकार पर बहुत अधिक जोर देनेवाले इन योगियों को लक्ष्य करके कहा है कि ओंकार की बात तो सभी किया करते हैं, पर इसे समझ सकनेवाले बिरले ही हैं।[२] संतों के साहित्य में, विशेषकर कबीर के साहित्य में प्रणवसाधन का विस्तृत निरूपण उपलब्ध नहीं। अजपा-जाप का वर्णन पहले ही हो चुका है। 'सोऽहं' वस्तुतः हंसपवन का ही सिद्ध रूप है। 'हंस' का 'सोऽहं' में परिवर्तन अथवा विपरीतकरण भी साधन है और इसके साथ भी साधक की भावसाधना संबंधित है। अद्वैतानुभूति के लिये इसकी व्याख्या में कहा जाता है कि हं और स दो प्रकार के पवनों की ओर संकेत करते हैं। हंस पवन का 'लौ' में क्रीड़ा करना 'सोऽहं' में परिवर्तन है जिसमें प्रपंच, प्रसारित हाट का संहार होता है, मेल होता है।[३] श्वास की दोनों क्रियाओं में 'हं-स' की ध्वनि होती है किन्तु साधन करने पर इसी ध्वनि का परिवर्तन अथवा दिव्यान्तर होता है। 'हंस' सांसारिक प्रक्रिया की ओर संकेत करता है और 'सोऽहं' पारमार्थिक प्रक्रिया की ओर। पलटू ने 'सोहंगम' शब्द की ध्वनि का उदय आठवें महल में माना है। यह आठवाँ महल सात चक्रों से भी ऊपर परमपद का स्थान प्रतीत होता है। अन्यत्र उन्होंनें 'सोऽहं' वाणी का उदय भँवर गुफा में माना है।[४] कबीर ने इसी 'सोऽहं' का जप करने के लिये कहा है। सुंदरदास (छोटे) ने प्राणायाम के साथ 'सोऽहं'साधना का उल्लेख गोरख के मत के अनुसार किया है।[५]

---

[१] क० ग्रं०, पृ० १२६-१२७ पद १२१; पृ० २४४।

[२] कबीर, पृ० ३४; बीजक, पृ० २४६, टीका भी द्रष्टव्य।

[३] क० ग्रं०, पृ० १८८-१८९ पद २९६।

[४] संतकाव्य, पृ० ५२७,५२९।

[५] संत कबीर, पृ० २२६-२२७, पद १९ तथा उसकी टीका; सुंदर ग्रंथा-वली, भाग १, पृ० ४७-४८।

संतों के योग में गृहीत प्राणायाम के इस परिचय से यह स्पष्ट हो जाता है कि नाथों के समान ही वे भी प्राणायाम की बहुमुखी उपयोगिता को स्वीकार करते हैं। प्राणायाम से षट्चक्रभेद, चन्द्रसूर्यसाधन, नादानुसंधान, प्रणवसाधन, लययोग, मानसनियमन आदि साध्य होते हैं, ऐसा संत भी मानते हैं। अष्टांग योग के अनुसार प्राणायाम के बाद प्रत्याहार की गणना की जाती है। नाथपंथियों ने जिस प्रकार हठयोग को ही योग के अन्तर्गत मुख्यतम साधन मान लिया था, उस प्रकार संतों ने उसे महत्व नहीं दिया। अपितु वह भी नामसाधना, स्मरण आदि का उपकारक अथवा सहायक होकर ही आया है। प्राणायाम के बाद के साधन क्रमशः मानससाधन के अधिक समीप तथा उसके लिये अपेक्षाकृत अधिक उपयोगी हैं। ये हैं—प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। क्रम से इनका तथा उनसे संबंधित अन्य साधनों का विस्तार नीचे किया जा रहा है।

२१—प्रत्याहार

प्रत्याहार मानस का सभी विकारों से आहरण है। नाथसिद्धों की एक भिन्न परिभाषा के अनुसार चन्द्रामृतमयी धारा का भास्कर से प्रत्याहरण ही प्रत्याहार है। वस्तुतः जैसा पहले बताया गया है, प्रत्याहार मानससाधन है। इन्द्रियों से मन अलग नहीं है। कुछ मतों के अनुसार प्रत्याहार इंद्रियों का उनके विषयों से प्रत्याहरण है। सुंदरदास ने इन्द्रियों के प्रत्याहार का उल्लेख किया है।[1] इन्द्रियों का पंचभूतात्मक विषयों तथा उनके गुणों से सम्बन्ध है। कबीरदास ने 'इन्दीपसर' (इन्द्रियप्रसार) को मिटाने का उपदेश दिया है। जो व्यक्ति इसमें समर्थ होगा, वही सहज को प्राप्त कर सकेगा।[2] नाथपंथियों के सिद्धसिद्धान्तपद्धति में आद्यंत पाँच संख्या का प्रभुत्व है। कबीरदास ने अपनी रचनाओं में 'पंच', 'पाँच' शब्द का अत्यधिक प्रयोग किया है। वे कभी इससे पंचभूत कभी पंचेन्द्रिय, कभी काम-क्रोध-मद-लोभ-मोह, कभी पंचविषय आदि की ओर संकेत करते हैं। शैवों में त्रिपुरदाह का बहुत महत्व है, किन्तु कबीर पाँच पुरियों के मारण का उपदेश देते हैं। इन सभी 'पाँच' संख्यायुक्त शब्दों का प्रत्यक्ष अथवा परोक्षभाव से किसी न किसी प्रकार पंचेन्द्रियों, पंचभूतों और पंचदोषों (काम, क्रोध आदि) से है। इन्द्रियों का प्रत्याहरण करने पर ही मानस प्रत्याहरण संभव है। इन पंचसमूहों को दोस्त बनाना, साधन के अनुकूल बनाना अत्यधिक कठिन है। जब शरीर के पाँच संगी 'पिव-पिव'

---

[1] सुन्दरसार, पृ० २९, टिप्पणी।

[2] क० ग्रं०, पृ० २८ साखी २।

करने लगे तथा छठाँ मन भी उसका स्मरण करने लगे, तभी रामरत्न की उपलब्धि संभव है। जब कबीर के आध्यात्मिक विवाह के प्रसंग में पंचेन्द्रियाँ उनके लिये मंडप बनाती हैं, वे पंचतत्वों के बाणों का संधान कर मनमृग को मारते हैं। विवाह के समय जब राम आते हैं तो कबीर शरीर (इन्द्रियों) को उनमें अनुरक्त कर मन को भी अनुरक्त करने की चर्चा करते हैं। इसमें पाँचों तत्व बराती के रूप में प्रस्तुत होते हैं। यह मन ही गोरख है, यह मन ही गोविन्द है। अतः इस मन की ही रक्षा करनी चाहिए। यह मन ही कर्ता है। यह मन मदमत्त है, पानी से भी पतला, धूआँ से भी झीना, पवन से भी अधिक तीव्र गतिवाला है। ऐसे मन को दोस्त बनाना चाहिए। इसके अहंकार को दूर करना चाहिए। जब गगन में गर्जन होता है, तब यह मन शून्य में समाहित हो जाता है।[1] प्राणायाम के बाद पंचेन्द्रियों के उनके विषयों से आहरण के साथ छठीं इन्द्रिय मन के साधन की क्रिया समीचीन है। मन-पवन की यह साधना नाथों में भी इसी रूप में मिलती है। किन्तु नाथों में यह साधन कायसिद्धि में सहायक होता है और इसकी पूर्णता के बाद ही नाथ-पद की प्राप्ति मानी गई है। संतों ने हरि और हरिभक्ति के लिये, प्रेममय आध्यात्मिक विवाह के लिये उपर्युक्त साधन को आवश्यक माना है। इन्द्रियों तथा मन के साधन से संबंधित उपर्युक्त वर्णन नाथसिद्धों के तत्संबंधी वर्णन के पर्याप्त समान हैं। नाथों में पवनसाधन की जितनी महिमा है उतनी ही महिमा संतों के साधन में मानस साधन को प्रदान की गई है।

२२—धारणा और कुंडलिनीयोग, षट्चक्रभेद और लययोग

प्रत्याहार के बाद धारणा का क्रम आता है। तांत्रिक योग के विवेचन में इस धारणा के अन्तर्गत ही कुंडलिनीयोग, लययोग, षट्चक्रभेद आदि का वर्णन किया गया है। बाह्य और अंतस् के साथ एकमात्र निजस्वरूप के अंतःकरण में साधन को धारणा कहा गया है। इसमें पंचभूतों का पृथक्-पृथक् धारण एवं मानस का निश्चलत्वसंपादन होता है। पंचभूतों के क्रमानुसार ही पाँच प्रकार की धारणा भी बतलाई गई है। प्रत्याहार में मुख्य क्रिया इंद्रियों का उनके विषयों से प्रत्याहरण है और धारणा में पंचभूतों का लय तथा आज्ञाचक्र में मनोलय स्वीकार किया गया है। जब तक इंद्रियों को उनके विषयों से प्रत्याहृत न कर लिया जाय तब तक इंद्रियाँ अन्तर्मुखी नहीं हो सकतीं और

[1] क० ग्रं०, २९. १५, ५. ७, १६४–१६५. २२६, ३०. ३०, ८७. १, १७५. २५६, २९. १०, २९. १२, ३०. २६, ९०. ७।

जब तक ये अन्तर्मुखी न होंगी तब तक मन भी स्थिर न होगा। परिणाम-स्वरूप ध्यान में मन आलौकिक विषय में केंद्रीभूत न होगा। पंचभूत वस्तुतः संपूर्ण शरीर के मूलतत्व हैं। इनके साथ मन का आज्ञाचक्र में लय ही वस्तुतः तन-मन का समन्वित आध्यात्मिक विनियोजन है। इसी संगति से लोग इस धारणा के अन्तर्गत लययोग को ही भिन्न-भिन्न पक्षों और क्रियाओं की दृष्टि से विचार कर कुंडलिनीयोग अथवा षट्चक्रभेद कहा जाता है।

संत साहित्य में धारणा नाम देकर इसका वर्णन उपलब्ध नहीं है। सुन्दर-दास ने अवश्य ही अष्टांग योग के अन्तर्गत इसका वर्णन किया है।[1] टिप्पणी-कार के अनुसार सुन्दरदास (छोटे) ने धारणा का वर्णन गोरक्षपद्धति के अनुसार किया है। तांत्रिकों तथा नाथपंथियों की संस्कृत रचनाओं में जिस प्रकार पाँच तत्वों की धारणा का वर्णन मिलता है, उसी प्रकार सुन्दरदास ने भी पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश तत्वों की धारणा का वर्णन किया है। टिप्पणीकार के अनुसार 'तत्वों को ध्यानस्थ कर बीज मंत्रों से ध्यान कर तत्वों पर जपाधि-कार करना ही धारणा है।' इनमें से प्रथम धारणा पृथ्वी तत्व की है। वह धारणा चतुष्कोण, लकारयुक्त पीत वर्ण हृदयमंडल में की जाती है। इसी प्रकार सभी तत्वों की धारणा का विवरण इस प्रकार है—

तत्व	आकार	अक्षर	स्थान	वर्ण	देवता
१—पृथ्वीतत्व	चतुष्कोण	लकार	हृरिमंडल	पीत	विधि
२—जलतत्व	अर्द्धचन्द्राकार	वकार	कंठ	पारद	ऋषी केश (विष्णु)
३—अग्नितत्व	त्रिकोण	रेफसंयुक्त	तालुका-मध्य	पद्म-राग (इंद्रगोपद्युति)	रुद्र
४—वायुतत्व	षट्कोण	यकार	भ्रूमध्य	मेघ वर्ण	ईश्वर
५—आकाशतत्व	वर्तुलाकार	हकार	ब्रह्मरंध्र	शुभ्रवर्ण	सदाशिव

ये धारणाएँ स्तम्भिनी, द्राविणी, दहनी, भ्रामिणी, शोषिणी नाम की कही गई हैं। यह नामकरण भी गोरक्षपद्धति के अनुसार ही है। टिप्पणीकार के अनुसार यह पंचधारणाओं का वर्णन गोरखनाथ की पद्धति के दूसरे शतक के श्लोकों के प्रायः अनुसार है।[2] यहाँ सुन्दरदास (छोटे) ने धारणा का कोई

[1] सुन्दरसार, पृ० २९।

[2] सुन्दर ग्रंथावली, भाग १, पृ० ५१-५३ तथा पादटिप्पणियाँ।

भी संबंध कुंडलिनीयोग से नहीं बताया है। कुंडलिनीयोग का दूसरा नाम लययोग है। सुन्दरदास ने सर्वाङ्गयोगप्रदीपिका में लययोग का जो वर्णन किया है, वह राम में 'लय' लाने का वर्णन है जो लययोग के मानसलय से अधिक साम्य रखता है।

जैसा ऊपर कहा गया है पंचेन्द्रियों का संबंध पंचतत्वों से है, पंचभूतनिर्मित-विषयों से है। इंद्रियाँ पंचभूतों की अपेक्षा अधिक स्थूल हैं। अष्टांग योग में उत्तरोत्तर सूक्ष्म साधनों को स्वीकृति दी गई है। लययोग के जिस साधन का शास्त्रीय साधनात्मक निरूपण किया गया है, उसमें प्रत्येक भूततत्व का क्रमशः ऊर्ध्वस्थित चक्रों में निवास बताया गया है। उनका साधन भी उसी क्रम से किया जाता है। किन्तु सुन्दरदास के अतिरिक्त अन्य संतों ने इसका इस रूप में निरूपण नहीं किया है। यों, लययोग को सिद्धान्तरूप में स्वीकार कर लेने के कारण उन लोगों ने पंचभूतों अथवा तत्वों के इस क्रमविधान को भी स्वीकार कर लिया होगा, ऐसा अनुमान कर लिया जा सकता है। सामान्य रूप से कबीर ने पंचतत्वों और मनस्तत्व के लय का वर्णन अवश्य किया है। आध्यात्मिक विवाह के प्रसंग में पाँच जन (पाँच भूत तत्व) ही परावृत होकर, दिव्य होकर, साधक के विवाह के लिये मंडपनिर्माण करते हैं। उन्होंने सहज भी उसी को कहा है जिसमें पंचभूततत्व दिव्य होकर परमतत्व का स्पर्श करते हैं, उसके अनुकूल हो जाते हैं। जब पाँच तत्व परमतत्व में लीन हो जाते हैं, तभी मन सुरति में समाहित होता है। ये पाँच तत्व आध्यात्मिक विवाह में बराती होकर चलते हैं। यह परिवर्तन ही महत्वपूर्ण है। पंचतत्वों की प्रापंचिक रचना से वियुक्त होना आवश्यक है और तभी साधक को राम की प्राप्ति हो सकती है। वस्तुतः यह परिवर्तन पाँचों तत्वों का अखंड निराकार मंडल में समाहित होना है।[१] इसी प्रकार वे मन को भी उलट कर उस परमतत्व में समाहित करने को कहते हैं। जीव की सामान्य गति प्रपंचोन्मुख होती है। मन उसी दिशा में चलने को प्रेरित करता है। उस मन को उसी प्रकार उलट देना चाहिए जिस प्रकार ताकू के सूत को, उसे उलट कर लपेट दिया जाता है। यह भी एक प्रकार से 'परावृत्ति' है। सामान्य मन प्रपंच में निरत रहता है किन्तु उसे शून्य में समाहित होना चाहिए और तभी अनाहत तूर्य का श्रवण संभव है।[२] यहाँ 'समाना' ही लय की क्रिया की ओर संकेत करता है।

---

[१] क० ग्रं०, पृ० १६४-१६५ पद २२६, ४२. २, ५७.४, ८७.१ १३६-१३७. १५०, १३९-१४०.१५७। [२] क० ग्रं०, २८.१, ९०.७।

किन्तु इस शब्दविशेष से व्यक्तशक्ति की सचेष्टता की ओर भी विशेष संकेत होता है।

संतों के योग में चक्रसाधन अथवा षट्चक्रभेद भी स्वीकृत है। हम यह पहले ही कह चुके हैं कि चक्रों की संख्या तथा विभिन्न कमलों के दलों की संख्या में मतभेद पाये जाते हैं। नाथों ने चक्रों का विवरण देने के लिये कुछ अलग रचनाएँ भी लिखी हैं, किंतु कबीरादिक की रचनाओं में ऐसा कोई प्रयास नहीं मिलता। सुन्दरदास ने षट्चक्रों (आधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा) का वर्णन किया है। उन्होंने उसका पूरा विवरण भी दिया है किंतु अन्य संतों ने ऐसा नहीं किया है। कबीरदास ने षट्चक्रों की साधना को स्वीकार किया है किंतु वे उनका अधिक स्पष्ट विवरण नहीं देते। नाथों की रचनाओं में षट्चक्र, अष्टचक्र और नौ चक्रों तक का वर्णन मिलता है। किन्तु कबीर और सुन्दरदास ने केवल षट्चक्रों का निर्देश और वर्णन किया है। कबीर ने एक पद में कई कमलों का उल्लेख किया है। उसमें उन्होंने 'षट्दल कँवल, 'अष्ट कँवल दल'', 'दुवादस' 'षोडस कँवल' के साधन की ओर संकेत किया है। इसी प्रकार त्रिवेणी और गगन का भी उल्लेख करते हैं। त्रिवेणी से आज्ञा तथा गगन से सहस्रार चक्र अभिप्रेत हैं। इसी प्रकार षट्दलकमल से स्वाधिष्टान की ओर, द्वादस से अनाहतचक्र तथा षोडशदलकमल से विशुद्धिचक्र की ओर संकेत हो सकता है। अष्टदलकँवल का कोई निरूपण षट्चक्रनिरूपण अथवा नाथों की रचनाओं में नहीं मिलता।[१] उनके अनुसार जब तक नाभि-कमल का शोधन नहीं किया जाता तब तक हीरे का हीरे से बेध नहीं किया जा सकता।[२] यह नाभिकमल ही मणिपूरचक्र है जिसके दलों की संख्या १० तांत्रिकों और नाथों द्वारा स्वीकार की गई है। उन्होंने विभिन्न स्थलों पर हृदयकमल का भी उल्लेख किया है जिसे तांत्रिकों और नाथों की परंपरा में अनाहतचक्र कहा जाता है। किन्तु कबीर की रचनाओं में उन प्रयोगों को देखने से वहाँ सामान्य हृदय का ही अलंकृत वर्णन सा प्रतीत होता है।[३] उनके चक्र संबंधी विवरणों से मालूम होता है कि वे सहस्रार के अतिरिक्त षट्चक्रों को

[१] क० ग्रं०, ८८.४। डा० द्विवेदी के अनुसार यह चक्रकल्पना सर्वांश में ऊपर बताई हुई व्याख्या (तांत्रिक और कबीरपंथी) के अनुकूल नहीं है। कबीर, पृ० ६६।

[२] क० ग्रं०, १५७.२०२।

[३] क० ग्रं०, ८९-९०.६, १२७.१२३।

मान्यता देते हैं और उनके भेदन के लिये पवनसाधन अथवा पवन को उलटना आवश्यक समझते हैं।[१] इस संबंध में नाथों से उनकी समानता है, यद्यपि नाथों की कुछ रचनाओं में आठ और नौ चक्रों की भी कल्पना मिलती है। नाथों के समान ही संतों ने भी 'अधः' और 'ऊर्ध्व' शब्द का प्रयोग किया है। संतों के ऐसे अनेक प्रयोगों से भी, नाथों के समान ही, क्रमशः साधक के घटस्थ निम्नतम साधनकेंद्र से ऊर्ध्वतम साधन केंद्र की ओर आरोहण ही प्रतीत होता है।

सुन्दरदास (छोटे) ने अनेक स्थानों पर चक्रों का वर्णन किया है। उनके द्वारा दिया गया विवरण इस प्रकार है—

चक्रनाम	दल संख्या	अक्षर (वर्ण)	स्थान	रंग
१—आधारचक्र	४	व, स, ष, श	+	कंचन
२—स्वाधिष्ठानचक्र	६	ब, भ, म, य, र, ल	+	माणिक्य
३—मणिपूरचक्र	१०	ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न प, फ	नाभि	तरुण अर्क
३—अनुहात(अनाहत)चक्र	१२	क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ट, ठ	हृदय	विद्युत् प्रभा
५—विशुद्धा (विशुद्ध) चक्र	१६	अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ,ॠ,ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः	कंठस्थान	दीपक प्रभा
६—आज्ञाचक्र	२	हं, क्षं	भ्रूमध्य	नील वर्ण

इन चक्रों पर जो ध्यान लगाया जाता है, उसे सुन्दरदास ने सगुण ध्यान कहा है और आत्मा-ध्यान को निर्गुण ध्यान कहा है किन्तु बिना सगुण ध्यान के निर्गुण का प्रत्यभिज्ञान असंभव है।[२] नाथों और संतों के चक्र संबंधी विवरणों को देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि नाथों और संतों, दोनों में, चक्रों की संख्या तथा कमलों के दलों की संख्या में मतभेद मिलता है किन्तु तान्त्रिकों की सर्वमान्य षट्चक्रव्यवस्था को दोनों ने स्वीकर कर वर्णन किया है। जैसे गोरख की रचनाओं में षट्चक्र, नौ चक्र और अष्टचक्रों का वर्णन मिलता है तथा उनके विवरणों में भी भिन्नता है, उसी प्रकार संतों में भी दादू के नौ चक्रों के विवरण

---

[१] क० ग्रं०, ९४.१८, ९०.७, ९१.८; संत कबीर, ५०.४७; क० ग्रं०, ९६.२३, १५९.२१०।

[२] सुन्दरग्रंथावली, भाग १, पृ० ५४-५६, १०७।

में तथा मुन्दरदास के षट्चक्रों के विवरण में भिन्नता है। सुन्दरदास का वर्णन तांत्रिक 'षट्चक्रनिरूपण' के अनुकूल प्रतीत होता है।

यहाँ संक्षेप में हम कुंडलिनी और 'लय' के संबंध में भी विचार कर लेते हैं। षट्चक्रभेद की क्रिया के लिये कुंडलिनीयोग का ज्ञान आवश्यक है। कुंडलिनी का जागरण तभी संभव होता है जब पवन और इंद्रियों पर पूर्ण प्रभुत्व हो। पाँच 'जानों' (पंचभूत अथवा पंचदोष) को अपने साधन का संगी बना लेने पर (अमृतपान होता है) नशा चढ़ता है। बार-बार प्रेम का प्याला पीते पीते सोती हुई नागिन (कुंडलिनी) जाग जाती है। आकाश को औंधे कूएँ के रूप में कबीर ने नाथों की तरह ही कल्पित किया है। पाताल (मूलाधार के निम्न भाग) में पनिहारी (कुंडलिनी) का निवास है। हम पहले ही कह चुके हैं कि कबीर ने षट्चक्रों को कुंभों के रूप में कल्पित किया है। कुंडलिनी पनिहारी है जो षट्चक्रों के कुंभों से आध्यात्मिक अनुभूति का जल भरती है। (आध्यात्मिक अनुभूति) जल तो विश्व में चारों ओर प्रसारित है किंतु इसके बीच रहनेवाली हंसिनी (जीवात्मा) प्यासी रहती है क्योंकि उसे युक्ति का ज्ञान नहीं रहता। जीवात्मशक्ति का प्रतीक कुंडलिनीशक्ति तो सभी घटों में वर्तमान है। षट्चक्रों के रूप में कुंभ भी हैं किंतु युक्ति न जानने के कारण, गुण (रस्सी न होने के कारण) के बिना वह कुंडलिनी किस प्रकार जल भर सकती है।[१] यदि प्रत्याहार इंद्रियों का उनके विषयों से प्रत्याहरण है तो धारणा भूततत्वों का दिव्य रूप में परिवर्तन है। इस कुंडलिनीसाधन को भूतशुद्धि कहते हैं। पंचतत्व का परमतत्व में विलीनीकरण कबीर स्वीकार करते हैं, ऐसा कह चुके हैं। कहा गया है कि इंद्रियों के प्रत्याहार से मन अन्तर्मुख हो जाता है। यह भी मन का विपरीतकरण है। पवन को उलटने से ही षट्-चक्रभेद साधित होता है, ऐसा कबीर, नाथपंथियों के समान ही मानते हैं। इसी प्रकार सुषुप्त नागिन (कुंडलिनी) भी जाग्रत की जाती है। यदि कबीरादि षट्चक्रभेद की बात स्वीकार करते हैं तो यह भी स्वीकार किया जा सकता है कि वे कमलों का उलटना भी मानते हैं। तांत्रिकों ने कुंडलिनी की तीन अवस्थाएँ मानी थीं—कुमारी, योषित और पतिव्रता। पतिव्रता ही सर्वोत्कृष्ट अवस्था है। कबीर ने तथा अन्य संतों ने अपनी साखियों के 'पतिव्रता कौ अंग' में पातिव्रत और पतिव्रता जीवात्मा का विस्तार से निरूपण किया है। भक्ति के विभिन्न शास्त्रीय ग्रंथों में जीवात्मा अथवा जीवशक्ति की,

---

[१] क० ग्रं०, १११. ७४, १६. ४५, १८९. २९८।

जो भक्तिभाव से आप्लुत है, इन तीन अवस्थाओं का कोई विवरण उपलब्ध नहीं। हम पहले कबीर को उद्‌धृत कर यह बतला चुके हैं कि जीवात्मा तन-मन सब कुछ समर्पित कर, समाहित कर परम प्रियतम से मिल गई। यहाँ तन और मन का समाहित होना या समर्पण वस्तुत: तन और मन का विपरीतकरण है। कबीर ने एक स्थान पर कहा है जबतक प्रिय का परिचय नहीं मिलता तब तक कन्या को कुमारी ही समझना चाहिए।[१] तांत्रिक विचार-सरणि के अनुसार यदि कुंडलिनी साधक की घटस्थ जीवात्मशक्ति का प्रतीक है तो इस आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि कबीर को पतिव्रता, कुमारी आदि की जीवात्मा के लिये कल्पना इसी तांत्रिक प्रभाव से संपन्न योग से ही मिली होगी। नाथसाहित्य में यह कल्पना उपलब्ध नहीं। कबीर ने 'जोगणी' शब्द का प्रयोग भी 'कुंडलिनी' के लिये ही किया है। किंतु वहाँ उसका योगी साधक के साथ कोई संबंध नहीं बतलाया गया है।[२] नागिन शब्द भी कुंडलिनी के लिये ही प्रयुक्त है, ऐसा हम पहले कह चुके हैं।

अध: और ऊर्ध्व, धरणी और गगन, शक्ति और शिव के युग्मकों का परिचय पहले दिया जा चुका है। कुंडलिनीयोग भी शिवशक्तियोग है। शक्ति द्विविधा है। कुंडलिनी भी द्विविधा है। शक्ति मायाशक्ति भी है और मुक्तिदायिनी शक्ति भी। कुंडलिनी की सुषुप्त और जाग्रत दो अवस्थाओं की ओर हम संकेत कर चुके हैं। ऊपर के कुंडलिनी के विवेचन से कुंडलिनी-साधन के पक्षों पर तो प्रकाश पड़ता है किंतु उसके दार्शनिकपक्ष पर प्रकाश नहीं पड़ता। उसके साधनात्मक पक्ष पर जितना विवरण ऊपर उपस्थित है उतने से स्पष्ट हो जाता है कि कबीर ने उसके उन सभी रूपों का विस्तृत वर्णन नहीं किया है जिनका वर्णन नाथसाहित्य में उपलब्ध है। दूसरे, गागर और पनिहारी की जो कल्पना नाथसाहित्य में मिलती है, वह संत साहित्य में वर्णित गागर और पनिहारी की कल्पना से भिन्न है। पाताल की गंगा के रूप में भी कबीर ने उसका वर्णन नहीं किया है किन्तु पाताल में उसका निवास अवश्य माना है। 'द्यावापृथिवी' की प्रतीकपरम्परा और साधनपरम्परा कबीर में भी उसी रूप में उपलब्ध है, जिस रूप में नाथसाहित्य में है। नाथों के अमृतसाधन के समान ही वैदिक सोमसाधना, के साथ संतों के अमृतपान की तुलना की जा सकती है। नाथों ने मूलाधार से लेकर सहस्रार तक के विभिन्न

---

[१] क० ग्रं०, ४७. २४।

[२] क० ग्रं०, ११०. ७०।

साधनात्मक स्थलों का जिस प्रकार जिन शब्दों से वर्णन किया है, उसी प्रकार कबीर ने भी किया है। कैलास, औंधा कूआँ, कूप, काशी, केदार, त्रिकुटी, दशमद्वार, पश्चिमद्वार, पश्चिम, ब्रह्मकुंड, भँवरगुफा, ब्रह्माण्ड, ब्रह्मग्रंथि, विषमी संधि, शिवपुरी, शून्यद्वार, धरती, पाताल, मानसरोवर, संधि आदि शब्द प्रायः उसी रूप में व्यवहृत हुए हैं।

कुंडलिनीयोग, षट्चक्रभेद का एक भिन्न पक्ष से नामकरण लययोग किया गया है। कबीर ने जिस 'लौ' (लय) का वर्णन किया है, वह प्रेम और योग से समन्वित लय है। कबीर एक अगम, अनिर्वचनीय अकल्पनीय लोक में 'लौ' लगाते हैं। इस 'लय' के साधन हैं सुरति, लय, मन, कमलकूप और प्रेमरस। यह लयक्रिया संपन्न होती है गंगा यमुना के हृदय के बीच में स्थित सहजशून्य के लय के घाट पर।[१] पाँच महादोषों (काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह) को पटक कर, नष्ट कर ही राम में, परमतत्व में, लय संभव है। इस अवस्था में पाँच पहरुआ (पंचेन्द्रियाँ अथवा पंचभूत) सुषुप्त हो जाते हैं। जब लयक्रिया होती है तो संपूर्ण प्रसारित प्रपंच भी प्रलयीभूत हो जाता है।[२] यह तांत्रिकों की प्रलयक्रिया की ओर संकेत करता है जिसका कर्ता साधक ही होता है। शून्य में यह समाहित होना, इस प्रकार, लयक्रिया है। मन भी परिवर्तित कर दिया जाता है अथवा उलट दिया जाता है, शून्य में समाहित हो जाता है तो द्विविधा, दुर्मति का अपसारण हो जाता है। इन सबका एक परिणाम देखने में आता है कि रामनाम में 'लय' लग जाती है।[3] तांत्रिकों की विचारणा के अनुसार प्रथम पाँच चक्रों में पंचभूतों का स्थान है तथा छठें आज्ञाचक्र में मन का। अन्ततः पंचभूत तथा मन सभी छठें चक्र में, विशुद्ध होकर प्रलयीभूत होते हैं। तभी उन्मनी अवस्था की प्राप्ति होती है। इसके साधनात्मक और सैद्धांतिक पक्ष का वर्णन हम पहले कर चुके हैं। जैसे नाथों के योग की अन्तर्धारा का निरूपण करने के लिये तांत्रिक पद्धतियों और प्रवृत्तियों पर ध्यान देना आवश्यक है, उसी प्रकार संतों के योग के निरूपण के लिये भी उन्हें ध्यान में रखना चाहिए।

२३—ध्यान

इस धारणा के बाद अष्टांगयोग के साधनक्रम में सातवाँ स्थान ध्यान को

---

[१] क० ग्रं०, १८. १, २, ३,।

[२] क० ग्रं०, ६६. ४, ९६. २३, १८८—१८९. २९६।

[३] संत कबीर, पृ० ४९ पद ४६।

दिया गया है। इसमें परमाद्वैतभाव, तत्वों की आत्मस्वरूपानुसार भावना और भूतों में समदृष्टि, मन के पूर्ण निश्चलत्व को ग्रहण किया गया है। सुंदरदास (छोटे) ने चार प्रकार के ध्यानों का वर्णन किया है—पदस्थ, पिंडस्थ, रूपस्थ और रूपातीत। ये क्रमशः सूक्ष्म ध्यान के सोपान हैं। पदस्थ ध्यान किसी चित्र मूर्ति या वर्ण या स्वेच्छा या रुचि से ध्यान करना है। पिंडस्थ ध्यान में षट्चक्रों का ध्यान किया जाता है। रूपस्थ ध्यान में नाना प्रकार के ज्योतिस्वरूपों का विकास ध्येय है। रूपातीत में शून्य वा लयध्यान है, जिसमें ज्ञाता-ज्ञेय, ध्याता-ध्येय, आधार-आधेय-रूपी सब भेद अविभाज्यभावेन मिलकर एक हो जाते हैं। इस अंतिम उत्कृष्टतम ध्यान के करने पर अखंड समाधि लगती है। उसी को योगनिद्रा कहते हैं।[1] कबीर ने 'तारी' और ध्यान दोनों शब्दों का प्रयोग किया है। समाधि ध्यान की परिपक्व और पुष्ट अवस्था है, ऐसा हम पहले कह चुके हैं। मानसस्थैर्य प्राप्त होने पर साधक को स्थिति मिलती है। तब बाहर वह परमतत्व को नहीं खोजता। वह घट के भीतर ही उन्मनी अवस्था को प्राप्त कर लेता है। मन परमतत्वानुधावक होकर स्थिर हो जाता है। यह क्रिया 'लय'क्रिया करने के बाद ही संभव होती है। लय प्राप्त करने पर (इन्द्रियों, पंचभूतों और मन के लयीभूत होने पर) ही ध्यान लगता है। तब साधक (आत्मा) शून्यमंडल में अपना घर बना लेता है। यदि यह सब क्रिया बिना राम की है, राम के लिये नहीं की जा रही है, तब झूठी है। मन भी उसके ध्यान में तभी लगता है, जब उसे शुद्ध कर लिया जाता है।[2] कबीर ने पिंडस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यानों का वर्णन किया है। नाथों ने इन तीनों प्रकार के ध्यानों की अनुभूतियों का वर्णन किया है। इस प्रकार के वर्णनों का अनुमान उन दृश्यों, रूपों, प्रकाशों के आधार पर किया जा सकता है जिनकी नाथों और संतों ने अनुभूति की। कबीर ने षट्दल-अष्टदल-द्वादस-षोडशकमलों के साथ, त्रिवेणी, गगन, बंकनाल आदि पर भी ध्यान लगाने की ओर संकेत किया है।[3] इनसे सम्बद्ध विभिन्न अनुभूतियों का वर्णन किया है। जिस प्रकार नाथों ने नाड़ियों के संगमों, चक्रों, ग्रंथियों पर ध्यान लगाने के लिये कहा है, उसी प्रकार कबीर ने भी। शरीर के बाहर किसी दृश्य, रूप, वस्तु पर ध्यान लगाने का कोई वर्णन न तो

---

[1] सुंदरसार, पृ० २९–३१ छं० ७९, ८०, ८३, ८४ तथा टिप्पणियाँ।

[2] क० ग्रं०, ९४.१७, १३८.१५४, १७४.२५२, पृ० २४४।

[3] क० ग्रं०, ८८.४।

गोरख में उपलब्ध है और न कबीर में, क्योंकि दोनों ही अन्तस्साधनावादी हैं। इसे ही एक प्रकार से निर्गुण ध्यान कहा जा सकता है। कबीर अनंत के तेज को सूर्य की श्रेणियों का प्रकाश कहते हैं। वह प्रकाश रवि-शशि के बिना उदित होनेवाला प्रकाश है। उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। वह तो केवल अनुभूत हो सकता है, देखा जा सकता है। उसे वे अगम, अगोचर कहते हैं। वह (नित्य) जगमगानेवाली ज्योति है।[१] कबीर ने यद्यपि 'तारी' और ध्यान दोनों शब्दों का प्रयोग किया है किन्तु उनके 'तारी' शब्द के प्रयोग से उसका अर्थ 'समाधि' ही प्रतीत होता है। कबीर की सारी साधना पर दृष्टिपात करने पर वह सहज साधना ज्ञात होती है। संपूर्ण नैसर्गिक दैनिक जीवन में ही यह साधन अनुस्यूत है। फिर ध्यानक्रिया भी उसी प्रकार समझी जानी चाहिए। योगसाधना संबंधी विभिन्न विचारों की आलोचना करते हुए उन्होंने उसे नैसर्गिक जीवन में अनुस्यूत एवम् सहज नहीं माना है। कबीर की साधना स्वाभाविक रूप से सदैव चलती रहती है। वह क्षण भर के लिये लुप्त और क्षण भर के लिये प्रकट नहीं। सामग्री, साधन, उपकरण, साधक, साध्य नित्य एवम् सहज हैं।[२] सुंदरदास ने रूपातीत ध्यान को शून्य ध्यान कहा है। वे ब्रह्म को शून्याकार कहते हैं। इस दशा को टिप्पणीकार पुरोहित हरिनारायण ने निर्विकल्प समाधि की अवस्था में शून्यता की एक दशा कहा है। सुंदरदास ने इस ध्यान के विषय को दस दिशाओं में पूर्ण और 'अमायु' कहा है।[3] वस्तुतः 'प्रकाश' का ध्यान भी एक प्रकार से रूप का ही ध्यान है। उसमें भी सीमा है। किन्तु कबीरदास के कुछ अनुभव ऐसे हैं जो सीमातीत हैं। वे बार-बार 'बेहद' असीम की बात कहते हैं। हद (सीमा, रूप) को छोड़कर बेहद (असीम, अरूप) में विहार कर शून्य में स्नान करने की बात जब कबीर करते हैं तब उनके साधन की इस रूपातीत अवस्था की ओर ही संकेत होता है।[४]

२४—समाधि और उसके पर्याय

सुंदरदास (छोटे) ने अष्टांग योग के अन्तर्गत, परंपरानुसार ही, आठवाँ

---

[१] क० ग्रं०, पृ० १२ साखी १–४।

[२] संत काव्य, पृ० १६५ पद ६; कबीर, पृ० ३०४ पद १२३ तथा पाद-टिप्पणी।

[3] सुंदरसार, पृ० ३०, छं० ८३ तथा पादटिप्पणी।

[४] क० ग्रं०, पृ० १३ साखी ११।

अंग समाधि को बताया है। यह अष्टांगयोगसाधन का अंतिम अंग है। नाथों के अनुसार यह तत्वों की समस्थिति है, निरुद्यमत्व और अनायास की अवस्था है। इसमें विश्वतोमुख अनंत परम ज्योति का साक्षात्कार होता है, समरस की उपलब्धि हो जाती है। यह लयावस्था के बाद की अवस्था है। सुंदरदास (छोटे) ने इस अवस्था के लक्षणों का निर्वचन किया है—साध्य-साधक-एकता, क्रिया-कर्म-निवृत्ति, नित्य निरुपाधि होना, अभिन्नभाव, शीत, उष्ण, क्षुधा, तृषा, मूर्च्छा, आलस्य, जागर्ति, सुषुप्ति, स्वप्न आदि से मुक्त अवस्था। जिस प्रकार जल में नमक गल कर एक हो जाता है, उसी प्रकार साध्य और साधक में अभिन्नता हो जाती है। हर्ष, शोक, सुख, दुख, मान, अमान, ज्ञान, अज्ञान, जाति, कुल, वर्ण, आश्रम, जीव, ब्रह्म आदि के जो भिन्न भाव हैं, वे सब बिल्कुल नहीं रहते। शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श, काल, कर्म, स्वभाव, उदय, अस्त, प्रपंच आदि की भेदस्थिति नहीं रहती। जैसे दूध दूध में, घी घी में, जल जल में मिलकर अभिन्न हो जाते हैं, उसी प्रकार समाधि में भी समझना चाहिए।[१] ये लक्षण नाथों के योग के समाधिप्रकरण में वर्णित लक्षणों से पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। इस अवस्था के लिये हठयोगप्रदीपिका में जो नाम दिये गये हैं, उनमें से अधिकांश संत साहित्य में भी उसी प्रयोजन से प्रयुक्त मिलते हैं। वे नाम हैं—राजयोग, समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, लय, तत्व, शून्याशून्य, परमपद, अमनस्क, अद्वैत, निरालंब, निरंजन, जीवन्मुक्ति, सहजा, तुर्या। संक्षेप में इन शब्दों का नीचे विचार किया जा रहा है।

संतों के साहित्य में प्रायः योग शब्द का प्रयोग मिलता है, राजयोग का नहीं। योग शब्द का एक अर्थ 'मिलन' बताया गया है। उसका परिचय हम 'हठयोग' शब्द के विवेचन में दे चुके हैं। 'समाधि' शब्द का विचार करने के पूर्व 'तारी' शब्द पर विचार कर लेना चाहिए। ब्रह्मज्ञान की उपलब्धि सहज समाधि में होती है। यही परमसुख की अवस्था है। यहीं नित्य विश्राम की उपलब्धि भी होती है। इसमें अपनी आत्मा का स्वयं निरीक्षण होता है, अपने से अपनी आत्मा का साक्षात्कार होता है। उसमें आत्मपरिचय होता है, तारी (समाधि) लगती है। आत्मा अपने में ही समा जाती है, आवागमन मिट जाता है।[२] यहाँ सहजसमाधि, ब्रह्मज्ञान की उपलब्धि की अवस्था तथा तारी शब्द परस्पर पर्याय के रूप में व्यवहृत प्रतीत होते हैं।

---

[१] सुंदरसार, पृ० ३१-३२, छं० ८५-८९।

[२] क० ग्रं०, पृ० ९० पद ६।

तांत्रिक योग के विवरण में बताया गया है कि यह अद्वैतावस्था कही जाती है। यहाँ योग शब्द के विवेचन में भी उसी स्थिति की ओर संकेत किया गया है। कबीरदास भी इसी स्थिति का वर्णन करते हैं। वे शशि और सूर्य और दस द्वारों को मुद्रित कर देते हैं और तभी योगयुक्त तारी (समाधि=योग-समाधि) लगती है। दशम द्वार में ही यह समाधि लगती बताई गई है जिससे आवागमन का निरोध हो जाता है। दूसरे शब्दों में, इसे चन्द्र-सूर्य के बीच में लगनेवाली तारी (समाधि) कहा गया है।[1] कबीर ने एक स्थान पर ब्रह्माग्नि से काया को जलाकर अजपाजाप से उन्मनी तारी (उन्मनी समाधि) की उपलब्धि की बात कही है। इसी अवस्था में महारस अमृत के भोग की बात कही है। यही वह अवस्था है जब साधक त्रिकुटी में आसन लगाता है तथा सहजसमाधि में आकर सभी विषयों का परित्याग कर देता है, निर्विषय हो जाता है। त्रिवेणी की विभूति से अपने मन का मज्जन कर देता है।[2] कबीर ने जहाँ केवल 'समाधि' शब्द का प्रयोग किया है वहाँ, यह समाधि कहाँ उपलब्ध होती है तथा उसकी विशेषताएँ क्या हैं, स्पष्ट नहीं है।[3] उन्होंने सहज समाधि का अवश्य ही स्पष्ट वर्णन किया है जिसका विचार उचित प्रसंग में आगे किया गया है।

हठयोगप्रदीपिका के श्लोकों में तथा उसकी टीका में उन्मनी और मनोन्मनी का भेद नहीं बतलाया गया है। स्वात्माराम ने प्रायः "उन्मनी" शब्द का ही प्रयोग किया है। उन्मनी के विषय में कहा गया है कि इसमें नेत्रतारकों को नासिका के अग्रभाग पर केंद्रित कर दे। इस क्रिया में भौहों को किंचित् उन्नत करना पड़ता है। इसकी अगली क्रिया में मन (अन्तःकरण) को बाह्य लक्ष्य अथवा अन्तर्लक्ष्य से युक्त कर देना चाहिए। इस अवस्था में आधे नेत्र खुले रहते हैं, मन स्थिर रहता है, दृष्टि नासिका के अग्रभाग पर केंद्रित रहती है, प्राणों को स्थैर्य प्राप्त हो जाता है। स्वात्माराम के अपने मत के अनुसार उन्मनी अवस्था की प्राप्ति के लिये भृकुटियों के मध्य ध्यान आवश्यक है। इसमें इन्होंने नाद से चित का विलय बतलाया है। अनाहतध्वनिरूप नाद के अनुसंधान से चित्त एकाग्र हो जाता है और समाधि लग जाती है। किंतु उन्मनी समाधि की उपलब्धि हो जाने पर योगी शंख--

---

[1] क० ग्रं०, पृ० ८९-९०. ६, १११. ७४, १८१. २७२, पृ० २२३।

[2] क० ग्रं०, पृ० १५८ पद २०४।

[3] क० ग्रं०, पृ० ८८।

दुंदुभि आदि के नाद को कभी नहीं सुनता ।[१] कबीर के अनुसार इस अवस्था में चंचल मन का मरण हो जाता है तथा वह सांसारिक विषयों के प्रति न तो प्रसन्न होता है न कुछ कहता है । उसकी सारी चेष्टायें रूद्ध हो जाती हैं । आध्यात्मिक अनुभव की उसकी बाह्य प्रसन्नता भी व्यक्त नहीं होती और न वह उसके संबंध में कुछ कहता ही है । परमावस्था की स्थिति की प्राप्ति तभी होती है जब इस प्रकार मन स्थिर हो जाता है । फिर बाहर उस परम ध्यान को ढूँढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं रहती । घट के भीतर ही उन्मनी ध्यान की प्राप्ति हो जाती है । जब मन 'उन्मन' से लग जाता है और उसकी पहुँच गगन में हो जाती है तब विलक्षण कार्य-कारण-रहित दृश्य दिखाई पड़ते हैं ।[२] उपर्युक्त कथनों में, कबीर की दृष्टि से मन के दो रूप प्रतीत होते हैं । एक तो संसारोन्मुख मन है तथा दूसरा उन्मन परमात्मा की ओर लगा हुआ । कभी-कभी केवल मन शब्द का प्रयोग कर "उन्मन" रूप की ओर संकेत कर दिया गया है । कबीर ने कहा है, मन (सांसारिक मन) का दान करने से मन (परमात्मोन्मुख मन) की उपलब्धि होती है । वस्तुतः साधन में इस संसारोन्मुख का ही परिवर्तन होता है । बिना सांसारिक मन के आध्यात्मिक मन की उपलब्धि असंभव है । इस प्रकार के उन्मन मन का साधक तन से क्षीण होता है । वह जगत् से रूठते हुए भी इस संसार में विचरण करता है ।[३] कबीर के समय में सामान्यतया जो योगसाधना, प्रचारित थी तथा जैसे योगी दिखाई पड़ते थे, उनमें मानस योग नहीं था। इसीलिये कबीर ने उन्मनी योग, जिसे मानस योग कहा जा सकता है, की विशेष महत्ता को स्वीकृति दी । मानसयोग से विहीन समाधि स्थायी नहीं होती । समाधिसूत्र के टूट जाने पर गगन विनष्ट हो जाता है, तब नाद की सत्ता कहाँ समाहित हो जाती है । कबीर के अनुसार यदि मानसयोग किया जाय तो यह गगन कभी भी विनष्ट नहीं होगा । इस मानस योग की बिना सहायता के परमपद में समाहित होना संभव नहीं है । पढ़ने-सुनने से कुछ भी नहीं होता । इस उन्मनी समाधि की सिद्धि के लिये अजपाजाप का साधन आवश्यक है ।[४] हम पहले ही यह कह चुके हैं कि अजपाजाप का

---

[१] हठयोगप्रदीपिका, पृ० १८४ श्लो० ३९, पृ० २०३-२०४, श्लो० ८०, ८१; पृ० २१५ श्लोक १०६ तथा इनकी टीकाएँ ।

[२] क० ग्रं०, २. ९, ९४. १७, १३. १५ ।

[३] क० ग्रं०, २८. ९, ५१. ३ ।

[४] क० ग्रं०, ९८-९९, २३, १५८. २०४ ।

प्राणायाम तथा नादानुसंधान से बड़ा घनिष्ठ संबंध है। इस प्रकार उन्मनी-साधन के साथ कबीरदास प्राणायाम, अजपाजाप और नादानुसंधान के संबंध को भी स्वीकार कर लेते हैं। पं० परशुराम चतुर्वेदी ने कबीर तथा अन्य संतों के उन्मनी तथा तत्संबंधी विभिन्न शब्दों, अवतरणों पर विचार कर उसके चार अर्थों पर प्रकाश डाला है—१—उन्मनी ध्यान, २—उन्मन विशेषण के रूप में, ३—उन्मन परमतत्व, ४—उन्मनी रहनी, सहज समाधि से अभिन्न। इस अंतिम अर्थ की पुष्टि "उन्मन धागा" के उपर्युक्त पद से भी हो जाती है। मानससाधन सहजसाधन का मूलाधार है। चतुर्वेदी जी के परमतत्व संबंधी अर्थ से संबंधित कबीर की रचना का एक अर्थ ऊपर देने की चेष्टा की गई है।

समाधि की अवस्था अमरता की अवस्था है। इस अमृतसाधन में विष का त्याग और अमृत का ग्रहण तथा विष का अमृत में परिवर्तन किया जाना कबीर ने स्वीकार किया है। प्रियतम के मिल जाने पर संसार का जो कुछ भी विष है, सब अमृत हो जाता है। जब तक शरीर में विष है, तब-तक उसमें अमृत के समावेश का कोई अवकाश नहीं है। इसके लिये कबीर "प्रेमभक्ति" के साधन का उपदेश देते हैं जिससे मुख में चन्द्रमा की अमृतवर्षा होने लगती है। किंतु इस अमृत अथवा अमृतफल की प्राप्ति के लिये गुरु-प्राप्ति अति आवश्यक है। उसी की कृपा से सहज ही सुषुम्ना के समीप अमृतफल की प्राप्ति होती है। अमृतरस का स्राव गगन में होता है। अन्य स्थलों पर कबीर ने उसे बंकनाल रस कहा है। वे विषय को विष कहते हैं। पश्चिम दिशा (सुषुम्ना) के मार्ग में बंकनाल के भीतर यह अमृत रस निर्झर स्रवित होता है। वहीं भँवरगुफा का घाट है। एक अन्य पद में वे अवधूत को गगनमंडल में अपना निवास बनाने की प्रेरणा देते हैं। वहीं वे उस बंकनाल रस, अमृत को पीने के लिये कहते हैं जो नित्य सुख देनेवाला है। संसार में बहुत से रस हैं। किन्तु कबीर ने सभी रसों को चख कर देख लिया है। वे सब रामनामरस के समान मीठे नहीं हैं। दूसरे संसार के रस कफ आदि उत्पन्न करते हैं, जबकि हरिरस अधिक से अधिक, जितना ही उसका पान किया जाय, सुख देनेवाला है। इस अमृतरस को वे विलक्षण मदिरा भी कहते हैं।[१] कबीर के इन विचारों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह अमृतसाधन, जिससे अमरता, अमरपद, अमरपुर की प्राप्ति होती है,

[१] क० ग्रं०, ६०.१२, ८४.८, ८९.५, ११०-१११.७२, १११.७४, १३८.१५३, १५९.२०९, ४०.१९, १३९.१५५, १५५.१९७, ८८.४, ११०.७०, १५९.२०९, १३६.१४८।

नाथों के अमृतसाधन के पर्याप्त समान है। अंतर यह है कि कबीर बंकनाल से जिस रस का सुख प्राप्त करते हैं, वह अमृत तो अवश्य है किंतु उसके साथ भावनानंद का समन्वय भी है। प्राणायामसाधन में भी रामनाम का जाप ही स्वीकार्य है। वे जिस रस की कल्पना करते हैं, वह भक्तिरस है जो अमृत है, जिसका विवरण-विवेचन हम भक्ति रस के प्रसंग में कर चुके हैं। वारुणी और रस भी अमृत के पर्याय के रूप में ही व्यवहृत हुए हैं। इस प्रकार इस वर्णन में वारुणी-साधन, रस-साधन भी समन्वित है। इसी की परंपरा वैदिक सोमपान से मिलाई जाती है। विष का अमृत में परिवर्तन भी वस्तुतः साधक की अमृतसाधना है।

अन्य शब्दों में तत्व शून्य, अशून्य शब्द हैं। कबीर साहित्य में तत्व शब्द का प्रयोग प्रायः तीन अर्थों में मिलता है—१—परमतत्व—इस अर्थ में प्रायः अपने उपास्य अथवा लक्ष्य की ओर संकेत किया है। जब वे तत्वोपलब्धि की बात करते हैं, तब कबीर का अभिप्राय इस समाधि की अवस्था की ओर ही संकेत करना होता है।[१] २—सार वस्तु—इस अर्थ में प्रयोग से भी अप्रत्यक्षरूप से उसी प्रथम अर्थ को व्यक्त करने की चेष्टा की गई है। संसार में नित्य, साधनोचित और अनुकूल ग्राह्य तत्व के लिये इस शब्द का इस अर्थ में प्रयोग मिलता है। संसार में सार वस्तु वह परमात्मा अथवा उसकी भक्ति है जिसका संत उपदेश देता है।[२] ३—पंचतत्वों के अर्थ में भी इस शब्द का प्रयोग मिलता है।[3] इनमें से प्रथम अर्थ का प्रयोग ही समाधिवाचक हो सकता है। दूसरे शब्द शून्य और अशून्य हैं। अशून्य का प्रयोग प्रायः कबीर साहित्य में नहीं मिलता। केवल शून्य अथवा भिन्न पारिभाषिक शब्दों के साथ इसका प्रयोग मिलता है। कबीर के अनुसार पवन को उलट कर षट्चक्रों का भेदन करने पर गगनगर्जन होता है और मन शून्य में समाहित हो जाता है। फिर अनाहत तूर्य की ध्वनि सुनाई पड़ती है। इसी क्रिया के उपरान्त शून्य में लगनेवाले सुरतिलय की प्राप्ति होती है। नाथपंथियों के समान ही कबीर ने 'सूक्ष्म' के अर्थ में भी इस शब्द का प्रयोग किया है। इस अर्थ में यह बतलाया गया है कि वह परमतत्व शून्य और स्थूल दोनों से अतीत है।[४] इस प्रकार यहाँ क्रमशः शून्य के तीन

---

[१] क० ग्रं०, १५.३५, ५४.१, ६०.४.५८४, १३१.१३५, ४.३०।

[२] क० ग्रं०, १००-१०१. ३९।

[3] क० ग्रं०, १०२-१०३.४४।

[४] क० ग्रं०, ९०.७, ९१.८, पृ० २३०, १६२-१६३.२९०।

अर्थ मिलते हैं–१–ब्रह्मरन्ध्र, २–परमतत्व निरंजन, ३– सूक्ष्म । शून्य (परमात्मा) में समाहित होने के वाद पुनः आवागमन नहीं होता ।[1] पं० परशुराम चतुर्वेदी ने मुख्यतया दो अर्थों का उल्लेख किया है—१—गगन के पर्याय के अर्थ में, २—परमतत्व के वाचक के रूप में ।[2] परमतत्व निरंजन का जो निरूपण कबीर ने किया है, उसमें उन्होंने उसे सर्वोपाधिविनिर्मुक्त बताया है । वह नागार्जुन के चतुष्कोटिविनिर्मुक्त से भी अधिक सूक्ष्म है, वहाँ किसी भी कोटि की बात नहीं की जा सकती । वे उसे शून्य भी नहीं कहना चाहते । वह उससे भी अतीत है । (ऊपर के वर्णन से यह बात स्पष्ट हो जाती है) । फिर भी पारंपरिक रूप में शब्द के प्रयुक्त होने के कारण उन्होंने भी उस शब्द का प्रयोग परमतत्व के लिये किया है । डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने शून्य का अर्थ समाधि बताया है । यह वह स्थिति है जब 'आत्मा छह चक्रों को भेदकर सहस्रार या शून्यचक्र में अवस्थित होता है । ऐसी अवस्था में उसके भीतर भी शून्य है, बाहर भी शून्य है—आसमान में जैसे कोई सूना घड़ा रखा हो परन्तु असल में वह भीतर से भी पूर्ण होता है बाहर से भी पूर्ण होता है—समुद्र में जैसे भरा घड़ा डुबा कर रखा गया हो ।' कबीरदास ने भी एक पद में हठयोगप्रदीपिका के इस भाव का अनुवाद किया है ।[3] डा० धर्मवीर भारती ने नाथों के शून्यविवेचन में जिन अर्थों (१–परमतत्व नाद, परमज्ञान, परम स्वभाव, २–ब्रह्मरन्ध्र, दशमद्वार अथवा मध्यपथ तथा सहस्रारचक्र, गगन मण्डल, ३–शिवलोक ।) का परिचय दिया है, वे मूलतः दो ही अर्थ हैं जैसा पं० परशुराम चतुर्वेदी ने बतलाया है । इसका कारण यह है कि नाथसिद्ध लोग किसी अन्य लोक की, जो इस घटस्थ सर्वोच्च लोक से भिन्न हो, कल्पना नहीं करते । वे अन्तस्साधनावादी हैं । गगनमंडल ही उनके अनुसार शिवलोक है । यही बात संतों के शून्य सम्बन्धी विचारों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है क्योंकि उनके अनुसार परवर्ती संत तथा सूफी सम्प्रदायों में इन्हीं तीनों परंपराओं का विकास मिलता है और इन्हीं तीनों प्रसंगों में शून्य का प्रयोग हुआ है । संतों में उन्होंने उन्हीं तीन रूपों का विकास देखा है—१–परमतत्व नाद तथा परमज्ञान के रूप में २–ब्रह्मरन्ध्र तथा तथा सहस्रारचक्र के रूप में, ३–परमलोक के रूप में । उनके उद्धरणों के अर्थनिरूपण में भी

---

[1] क० ग्रं०, १३७.१५० ।

[2] कबीर साहित्य की परख, पृ० २४०-२४२ ।

[3] कबीर, पृ० ५०-५१ ।

मतभेद हो सकता है, जिसके लिये यहाँ उचित अवकाश नहीं। वस्तुतः शून्य का विवेचन पुष्कल मात्रा में विद्वानों द्वारा किया गया है। डा० भारती ने संतों की शून्यसाधना पर विस्तार से लिखा है, इसी प्रकार डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा परशुराम चतुर्वेदी ने इसका निरूपण किया है।[1]

समाधिवाचक अन्य शब्दों में परमपद, अमनस्क, अद्वैत, निरालंब, निरंजन, जीवन्मुक्ति, सहजा आदि हैं। कबीरदास जिस परमपद अथवा हरिपद की उपासना करते हैं, उसका परिचय हम पहले दे चुके हैं। समाधि परमपद की प्राप्ति की अवस्था है। उस पद में ही अगम ज्ञान की उपलब्धि होती है। इस पद अथवा परमपद अथवा हरिपद में समाहित होना ही वे मुक्ति मानते हैं। पिंडमुक्ति उन्हें स्वीकार नहीं। यहाँ प्रथम 'पद' का अर्थ परमावस्था है तथा दूसरे 'पद' का अर्थ परमतत्व है। इसी प्रकार वे ऐसी अवस्था (पद) की याचना करते हैं जिसमें हरि का प्रत्यभिज्ञान हो। यह पद अनुभवगम्य है, कलाओं से अतीत है, आदि है, निर्मल है। वह सम्पूर्ण संसार में व्याप्त है।[2] नाथों ने तो इसे हठयोगी साधनों से साध्य माना है, किंतु ऐसा कोई प्रतिबंध संतों ने स्वीकार नहीं किया। वे भक्ति को उसके लिये साधनरूप में स्वीकार करते हैं। वह परमपद नाथों के समान ही पिंडस्थ तो है ही, ब्रह्मांड में सर्वत्र व्याप्त भी है। वह परमपद स्वसंवेद्य या अनुभवैकगम्य है, यह नाथ और संत दोनों ही स्वीकार करते हैं।

'अमनस्क' शब्द का प्रयोग यद्यपि कबीर ने नहीं किया है तथापि इस अवस्था के वाचक शब्द 'उन्मनी' को उन्होंने अवश्य स्वीकार किया है। इस शब्द का मानस साधन से संबंध है। इस मानस साधन का वर्णन हम कर चुके हैं। नाथसिद्धों की रचनाओं में जिस प्रकार 'अद्वैत' अथवा 'अद्वय' शब्द उपलब्ध नहीं है, उसी प्रकार कबीर के साहित्य में भी वह उपलब्ध नहीं है। हठयोगप्रदीपिका में अद्वैत और 'तुर्या' को परस्पर पर्याय माना गया है। सुन्दरदास (छोटे) ने यद्यपि सर्वोच्च अवस्था तुर्यातीत मानी है तथापि 'तुर्यातीत' और अद्वैत को उन्होंने भी पर्यायवत् ही ग्रहण किया है। तुरीया ब्रह्म का साधन है जिसमें 'अहं ब्रह्म' की अनुभूति होती है। 'तुर्यातीत' (तुरीयातीत) अवस्था

---

[1] सिद्ध साहित्य, पृ० ३३६-३५६; कबीर साहित्य की परख, पृ० २३९-२४२; कबीर, पृ० ७२-७९।

[2] क० ग्रं०, ९१.१०, ९९.२३, १००.३६, ११२-११३.७७, १३९-१४०.१५७, १७९.२६७।

एक ऐसी अनुभूति की अवस्था है जिसमें 'हूँ तूँ' की कोई अनुभूति नहीं रहती। 'यह तुरीया नाम चतुर्थ अवस्था से भी आगे है जो निर्गुण और निर्विकल्प शुद्ध चेतन ब्रह्म है, वही अद्वैत अनिर्वचनीय है।' इसी को सुन्दरदास ने अन्यत्र अत्यन्ताभाव कहा है। इसी को वे तुरीयातीत और अद्वैत कहते हैं। यह एक ऐसी अवस्था है जिसका वर्णन 'नहीं' और 'है' के बीच किया जा सकता है। उन्होंने इस अवस्था के निर्वचन के लिये जैसे 'चतुष्कोटियों' का वर्णन किया हो। अन्ततोगत्वा वे इन कोटियों का उपयोग न कर 'गूँगे की सैन' की बात कहते हैं। केवल अनुभव कर ही इस अवस्था का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। वाणी यहाँ असमर्थ हो जाती है।[१] हम यह पहले कह चुके हैं कि सहस्रारचक्र में अद्वैतानुभव होता है। किन्तु नाथों ने एक आठवें चक्र की कल्पना की है जिसमें वे द्वैताद्वैतविवर्जित तत्व का अनुभव करते हैं। पहले बताया गया है कि कबीरदास द्वैताद्वैतपरवर्ती ब्रह्म का अनुभव करते हैं। वस्तुतः वे भी एक ऐसी अनिर्वचनीय अवस्था का ही वर्णन करते हैं जो द्वैत-अद्वैत की अवस्था से अतीत होती है। नाथों के समान ही कबीर ने भी उस ब्रह्म को भी एक कहा है। डा० बड़थ्वाल ने नाथों के 'एक' का अद्वैत या अद्वय अर्थ किया है। कबीर ने एक शब्द का प्रयोग 'ब्रह्म' के लिये किया है जिसको जान लेने से 'सब कुछ' का ज्ञान हो जाता है। वे केवल उसी एक से मन लगाने को कहते हैं। वे द्वैतभावना का त्याग करने के लिये कहते हैं। ब्रह्म को दो कहनेवाले को 'दोजख' का अभिशाप देते हैं।[२] अवस्था का वर्णन करते समय वे स्पष्ट रूप से द्वैत का निषेध करते ही हैं, अनुभूति का वर्णन करते समय वे प्रायः सुन्दरदास जैसी शब्दावली का ही प्रयोग करते हैं। अविगत, अकल, अनुपम तत्व का दर्शन होने पर कुछ कहने की इच्छा के रहने पर भी कुछ कहा नहीं जाता। गूँगा जैसे मिठाई को जानता है और कह नहीं पाता, केवल संकेत से ही बताने की चेष्टा करता है, मन ही मन पुलकित होता है, आनंदानुभव करता है, उसी के जैसी स्थिति हो जाती है।[3] डा० बड़थ्वाल ने संतों को परात्परवादी बतलाया है। चक्रों के सम्बन्ध में भी कबीरपंथी तथा अन्य संत उत्तरोत्तर ऊर्ध्वतर नवीन चक्रों की कल्पना करते हैं। तुरीया-

---

[१] सुन्दरसार, पृ० ४१ छं० ७, पृ० ४४ छं० ४०-४३।

[२] क० ग्रं०, पृ० १९-२० साखी ८-१२ तथा आगे, पृ० ६८ साखी ३, पृ० १०५ पद ५५।

[3] वही, पृ० ९०-९१ पद ६।

तीत से भी ऊर्ध्वतर अनुभूति की स्थितियों की कल्पना मिलती है। इस प्रकार की कल्पना में परात्परवाद सहायक है। ब्रह्म के सम्बन्ध में जैसी ऊर्ध्वतर कल्पना की गई उसी प्रकार उसकी चरमानुभूति के विषय में भी। डा० बड़थ्वाल ने संत शिवदयाल आदि विभिन्न संतों की रचनाओं की परीक्षाकर इस तथ्य की व्याख्या की चेष्टा की है। डा० द्विवेदी ने कबीरपंथियों की निरंजन और सृष्टि संबन्धी कल्पनाओं का, विभिन्न ऊर्ध्वतर विलक्षण लोकों की कल्पना का विस्तार से विचार किया है। इन सबके आधार पर एक बात यह कही जा सकती है कि इन सबके मूल में अपने सम्प्रदाय को सभी सम्प्रदायों से ऊपर स्थापित करने की चेष्टा नहीं है अपितु विभिन्न संतों के अनुभूति-वैलक्षण्य ने ऐसे अनेक भेद-विभेद प्रदर्शित कर दिये हैं। द्वैतानुभूति, अद्वैतानुभूति, द्वैताद्वैतविवर्जितानुभूति आदि भेद सांप्रदायिक आधार पर नहीं अपितु अनुभूति और लक्ष्य के आधार पर स्थित हैं। इस लोकसंस्थान अथवा अनुभूतिस्थल के विधान में संतों के सृष्टि संबन्धी विशिष्ट वाद भी कम महत्वपूर्ण स्थान नहीं रखते।[१] यहाँ प्रसंग के अनुकूल निष्कर्ष यह है कि कबीरदास अनुभूति की दृष्टि से अद्वैतवादी नहीं थे। ब्रह्म के संबन्ध में जैसे उनका मत द्वैताद्वैतविलक्षणवाद से संबन्ध रखता था, उसी प्रकार अनुभूति के संबंध में भी। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने स्पष्ट रूप से यह कहा है कि 'नाथपंथी लोग जोर देकर इस द्वैताद्वैतसमतत्ववाद का समर्थन करते हैं। इस विषय में कबीरदास का उनसे सीधा संबन्ध है।' 'कबीरदास द्वैताद्वैतविलक्षणवाद में योगियों से प्रभावित थे।'[२] कबीर ने हठयोगप्रदीपिका की तत्संबंधी शब्दावली का भी प्रयोग किया है। प्रदीपिका में कहा गया है कि जिस प्रकार सैन्धव जल के संयोग का लाभ कर जल के संग एकता को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा और मन की एकता को समाधि कहते हैं। प्राण के क्षय और मानस के प्रलय को समरसतत्व कहा गया है।[३] प्राण और मन संबंधी प्रलय का वर्णन हम कर चुके हैं। सिंधु-जल में सैन्धव के प्रलय जैसी स्थिति का वर्णन कबीर ने भी किया है।[४] किंतु यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि कबीर ने इस प्रकार का वर्णन "परचा कौ अंग" में किया है।

---

[१] वही, पृ० ५७-६८।   [२] कबीर, पृ० ३२, ६५।

[३] हठयोगप्रदीपिका, पृ० १५३, उपदेश ४, श्लोक ५–७ तथा उसकी टीकाएँ।

[४] क० ग्रं०, पृ० १३ साखी १६, परचा कौ अंग; संतकाव्य, पृ० १९९, साखी १७ तथा टिप्पणियाँ।

२५—अन्य समाधिवाचक शब्द

शेष समाधिवाचक महत्वपूर्ण शब्द हैं—निरंजन, जीवन्मुक्ति और सहजा। हठयोगप्रदीपिका में 'निरंजन' की व्याख्या नहीं है। 'निरंजन समाधि' शब्द से दो अर्थ अनुमित किये जा सकते हैं—१—साधक की वह अवस्था जिसमें व्यक्तिशक्ति सर्वथा निरंजन हो जाती है—इन्द्रिय, मन, पवन आदि निरंजन हो जाते हैं। २—परमतत्व निरंजन। प्रथम अर्थ में साधन का निरूपण करते समय बहुत कुछ बातें कही जा चुकी हैं। हमने समाधि के विभिन्न पर्यायों का विचार करते समय उनसे संबंधित विभिन्न शब्दों का भी विचार कर लिया है। इसी प्रकार यहाँ निरंजन संबंधी मतवाद का विचार संक्षेप में किया जा रहा है। 'निरंजन' संबंधी विचार, पर्याप्त विस्तार से, विद्वानों ने किया है, इसलिये उसके विस्तार की यहाँ आवश्यकता नहीं। केवल तुलना के लिये कुछ संकेत यहाँ दिये जा रहे हैं। कबीर के अनुसार जब मन उन्मन से संलग्न होकर गगन में पहुँचता है तब वह वहाँ चन्द्रविहीन चाँदनी, अलखनिरंजन का दर्शन करता है। वह निरंजन रूप-रेखा-वर्ण आदि से विहीन है। वहाँ न पंचतत्व, शब्द, स्वाद हैं न विद्या और वाद हैं। यह निरंजन जन्ममरण आदि में नहीं आता। निरंजन का रामनाम शब्द ही सच्चा है। यह निरंजन सबसे न्यारा है। यह प्रपंचमय संसार ही अंजन है।[1] किंतु बाद में स्थिति बदल गई। डा० बड़थ्वाल के अनुसार 'यद्यपि आरम्भ में निरंजन परब्रह्म परमात्मा का ही पर्याय समझा जाता था फिर भी आगे चलकर परमात्मा उससे ऊपर समझा जाने लगा और वह कालपुरुष कहाने लगा। निर्गुण, अक्षर आदि नाम भी कालपुरुष ही के समझे जाने लगे। कबीरपंथ की पौराणिक दंतकथाओं में यह बात पूणरूप से पाई जाती है। हाँ, इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कबीरपंथ की ये बातें कबीर की शिक्षाओं से विकसित होने पर भी उनके अनुकूल न थीं। इन कबीरपंथी कथानकों में (वह) परम पुरुष के······पुत्रों में से एक था।······कुछ अन्य संत भी इसी प्रकार निरंजन को परमपुरुष से अलग, उससे नीचा पदवाला धोखेवाज पुरुष समझते हैं।[2] इस तथ्य को उन्होंने शिवनारायण जी, तुलसी साहब,

---

[1] क० ग्रं०, पृ० १३ साखी १५, पृ० १०० पद ३७, पृ० १०३ पद ४७, पृ० २०१-२०२ पद ३३६।

[2] हिन्दी काव्य में निर्गुण संप्रदाय, पृ० १६१-१६२।

शिवदयाल आदि की रचनाओं से प्रमाण देकर सिद्ध किया है। इस पर साम्प्रदायिक दृष्टि से विचार करते हुए उन्होंने अपना यह मत उपस्थित किया है कि 'कबीर आदि पहले संतों ने 'निरंजन' से गीता ही का सा अर्थ लिया है। किंतु आगे आनेवाले संतों ने अपने आपको निरंजन अथवा निरंजनी संप्रदाय से ऊँचा चढ़ा हुआ सिद्ध करने के अभिप्राय से निरंजन को उस पद से नीचे ढकेल दिया, यद्यपि वस्तुतः निरंजनी सम्प्रदाय और कबीर के तात्विक सिद्धान्तों में कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाई देता।.........इस प्रकार कबीर पंथ स्वयं कबीर की शिक्षाओं के विरुद्ध जा रहा था, यह औरों से आगे बढ़कर जताने की प्रवृत्ति का शिवदयाल में भी अभाव नहीं है।'[1] डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस 'निरंजन' के अर्थोद्‌घाटन में भारत के अन्य संप्रदायों का भी विचार कर बतलाया है कि नाथपंथ में यह शब्द साधारण रूप में निर्गुण ब्रह्म का तथा और विशेष रूप में शिव का वाचक है। नाथपंथ के समान ही एक अन्य पंथ भी निरंजन पद को परमपद मानता था। नाथपंथियों के परमाराध्य नाथ थे तथा इनके परमाराध्य निरंजन। डा० द्विवेदी के मतानुसार निरंजन का संबंध बुद्ध से था, कबीरपंथ के अध्ययन से ऐसा भी अनुमान होता है। नाथपंथ में तो निरंजन की खूब महिमा है ही। उन्होंने शिवसंहिता तथा कपिलगीता के विभिन्न उद्धरणों के आधार पर निरंजन को योगियों का परम साध्य, सभी उपाधियों से रहित अखंड ज्ञानरूप, ओंकार में सर्वोच्च स्थिति-वाला, सृष्टि-स्थिति-लय के कारण के रूप में बतलाया है। 'स्वयं कबीरदास की उक्तियों में से ऐसी ढूँढ़ी जा सकती हैं जिसम उन्होंने निरंजन को परमा-राध्य माना है। पर आगे चलकर कबीरपंथ में निरंजन की बड़ी दुर्गति हुई है। निरंजन वहाँ पक्का शैतान बना दिया गया है।' 'कबीर मंसूर' में विस्तार से जिस पौराणिक पद्धति का अनुसरण कर सृष्टिप्रक्रिया और निरंजन का निरूपण किया गया है, उसका विचार भी डा० द्विवेदी ने किया है। 'इसके आधार पर कबीरदास का निरंजन से सदैव झगड़ा होता रहता है। 'उन्होंने सदैव ज्ञानियों और भक्तों को निरंजन के जाल से छुड़ाने का प्रयत्न किया है। इस कलिकाल में ही अब तक वे लगभग एक दर्जन बार आ चुके हैं।'[2] इस पौराणिक सृष्टिप्रक्रिया को स्वीकार करने के कारण अन्ततः कबीर को भी अवतार के रूप में स्वीकार कर लिया गया। इस प्रकार की कल्पनाओं का वर्णन

---

[1] वही, पृ० १६२-१६४।

[2] कबीर, पृ० ५२-६२।

डा० द्विवेदी ने 'कबीर मंसूर', बीजक, शब्दावली आदि के आधार पर किया है। डा० बड़थ्वाल ने अनुरागसागर, ज्ञानसागर आदि के आधार पर इसका विचार किया है।

नाथों की हिंदी रचनाओं में उपलब्ध 'निरंजन' शब्द का विचार हम पहले कर चुके हैं। वहाँ हमने नाथवाणी में उपलब्ध तीन अर्थों की ओर संकेत किया है--१-माया के संसर्ग से मायात्मक पिंड का निर्माण करनेवाला, २—परब्रह्म, मायातीत परमेश्वर जिसकी स्वानुभूति गगनशिखर में होती है, ३—नादरूपा सृष्टि का लयस्थान। पं० परशुराम चतुर्वेदी ने बताया है कि 'निरंजन शब्द नाथपंथी योगियों के यहाँ ब्रह्मरन्ध्र तथा ब्रह्मरन्ध्र में अवस्थित नादस्वरूप निर्गुण ब्रह्म का भी बोधक समझा जाता था।......कबीर साहब ने 'निरंजन' शब्द का व्यवहार करते हुए प्रायः नाथपंथ एवं भारतीय दार्शनिक साहित्य का ही अनुसरण किया है।'[१] डा० द्विवेदी की स्थापना है कि 'नाथ-पंथी योगियों के सूक्ष्म, द्वैताद्वैतविलक्षण निरंजनपद, नाथपद आदि के भीतर ही ऐसी उद्भट कल्पना (जैसी पौराणिक ग्रंथों में मिलती है) के बीज वर्तमान थे।' कबीर के नाम से प्रचलित बहुत से पदों में निरंजन का यह महाठग रूप मिलता है। बीजक में भी ऐसे पद प्राप्त हो सकते हैं। किंतु यदि निरंजन से संबंधित उपर्युक्त कल्पना को हटा दें तो वह कम से कम बीजक के कुछ पदों में, सर्वशक्तिमान निर्दोष ब्रह्म के रूप में प्रकट हो सकता है। सांप्रदायिक दृष्टि से विचार कर कहा जा सकता है कि निरंजन या धर्मराज को परम दैवत समझनेवाला संप्रदाय बाद में जब कबीरसंप्रदाय में अन्तर्भुक्त हुआ, उसी समय निरंजन की महिमा घटाने का प्रयत्न किया गया होगा।[२] ऊपर की नाथवाणी में उपलब्ध तीन अर्थों में से प्रथम अर्थ ही इस प्रकार की, निरंजन की पौराणिक कल्पना का मूल कहा जा सकता है। इन सारे विवेचनों को देखने से यह बात स्पष्ट होती है कि १—परवर्ती कबीरपंथियों ने पौराणिक सृष्टिवर्णन की पद्धति को स्वीकार कर लिया था, २—तदनुरूप, कबीर के विभिन्न अवतारों की कल्पना की गई, ३—तदनुरूप, विभिन्न विलक्षण लोकों की कल्पना की गई, ४—तदनुरूप एक प्रकार के लीलावाद को स्वीकर कर कहा गया कि केवल कहने-सुनने के लिये जिसने जगत् रचना की और सारा जगत् भ्रांत हो गया, किसी ने उसे पहचाना नहीं। उसने सत्व, रजस् और तमस् से

[१] कबीर साहित्य की परख, पृ० २४५।

[२] कबीर, पृ० ६३-६४।

माया उत्पन्न की, अपने में ही अपने को छिपा लिया।[१] ५—कबीरपंथ के विभिन्न ग्रंथों में कबीर के विभिन्न अवतारों और लीलाओं का वर्णन मिलता है। इस प्रकार की पौराणिक प्रवृत्तियों का प्रभाव भारतवर्ष के प्रायः सभी संप्रदायों पर कालान्तर से पड़ता रहा है। बौद्ध पुराणों में, जातक कथाओं में भी, यह बात मिलती है। नाथसिद्धों की हिंदी रचनाओं में यद्यपि इसी प्रकार की कोई रचना देखने में नहीं आई है तथापि मत्स्येन्द्र, गोरक्ष आदि से संबंधित चरितग्रंथों में ऐसी कल्पनाएँ ढूँढ़ी जा सकती हैं। निष्कर्ष यह है कि निरंजन के परब्रह्मवाले रूप को नाथसिद्ध तथा कबीरादि पूर्ववर्ती संत समान रूप से स्वीकार करते हैं किंतु परवर्ती कबीरपंथियों तथा अन्य परवर्ती संतों ने निरंजन को एक भिन्न पद और रूप प्रदान किया। नादरूपा सृष्टि के लयस्थान निरंजन की ओर एक संकेत हमें कबीर में मिलता है।[२]

जीवन्मुक्ति शब्द नाथों और संतों के लक्ष्यनिरूपण की दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण शब्द है। जीवित अवस्था में देहपात के पूर्व जो मुक्ति होती है, उसे जीवन्मुक्ति कहते हैं तथा पार्थिव स्थूल और सूक्ष्म देहनाश के बाद जो मुक्ति होती है, उसे विदेहमुक्ति कहते हैं। नाथों ने विदेह मुक्ति को आदर्श मुक्ति नहीं माना। कबीरदास ने पिंडमुक्ति को आवश्यक नहीं माना अपितु मुक्तिपद (परमात्म मुक्ति) को आवश्यक माना। यह हम पहले ही दिखला चुके हैं कि वे इच्छामृत्यु और कायसिद्धि को महत्व नहीं देते। यह भी हम पहले बतला चुके हैं कि कबीर को भगवान् और भक्ति चाहिए। उनके अनुसार जीव के लिये कोई दूसरा लक्ष्य है ही नहीं। बैकुंठ के प्रति भी वे निराकांक्षी ही हैं। आत्मपरमात्म का पूर्ण प्रत्यभिज्ञान जिसमें हो जाय, उसे ही वे मुक्ति मानते हैं। वे उस पद को मुक्ति नहीं मानते जिसमें व्यक्ति भ्रम से भ्रांत हो जाय। वे मृत्यु के उपरान्त प्रिय का दर्शन भी नहीं चाहते। उनकी दृष्टि में उसका कोई मूल्य नहीं है। वे इसी जीवन में ही परमात्मोपलब्धि चाहते हैं।[3] इससे स्पष्ट है कि कबीर जीवन्मुक्ति चाहते हैं किन्तु इच्छामृत्यु और नाथसिद्धि नहीं चाहते। पहले हम बतला चुके हैं कि उन्हें अजरामरता

---

[१] क० ग्रं०, पृ० २२५।

[२] वही, पृ० २०१-२०२, पद ३३६; कबीर साहित्य की परख, पृ० २४५।

[3] क० ग्रं०, पृ० १०० पद ३६, १०५.५२, पृ० २३३, पृ० ८ साखी ७–८।

की उपलब्धि भक्ति की उपलब्धि के साथ स्वभावतः हो जाती है। यह अजरामरता काल से निर्भयता है। इसी भाव को दूसरे शब्द 'जीविना मूआ' से व्यक्त किया गया है। गोरख की वाणियों में इस शब्द का प्रयोग जीते जी मृतक के समान अर्थ में हुआ है। वहाँ सोनेवाले योगी के लिये 'मृतक' का संबोधन किया गया है। किन्तु कबीर ने, जैसा स्पष्ट है, सांसारिक दृष्टि से मृतक के अर्थ में प्रयोग किया है। वे जीवन में ही मरने, सांसारिक जीवन को समाप्त करने के लिये कहते हैं। जीवित रहते ही मृत्यु को प्राप्त करना अथवा दूसरे शब्दों में जीवन्मृत्यु को प्राप्त करना अपने अहंकार का नाश करना है। तभी कर्ता की उपलब्धि हो सकती है। इसके लिये जगत् की आशा का त्याग आवश्यक बताया है। किन्तु इस प्रकार मरना भी सभी लोग नहीं जानते। सांसारिक जीवन व्यतीत करने से, यदि कोई मरना जानता हो तो, उसके लिये मरना ही अच्छा है। देहमृत्यु के पूर्व ही यदि कोई व्यक्ति मर जाय (सांसारिक आशाओं का त्याग कर दे, अहंकार का नाश कर दे) तो वह कलियुग में अजर-अमर हो जायगा। ऐसी मृत्यु की स्थिति में मन संसार से उलट कर सनातन हो जाता है और तभी व्यक्ति 'जीवन्मृत' (जीवन्मुक्त) होता है।[१] कबीर ने इस संबन्ध में यौगिक प्रणालियों का विवेचन नहीं किया। मन को पलटने की क्रिया को पूर्वोक्त मानससाधन से संयुक्त किया जाता है। जगत् कल्याणसाधन भी परमार्थसाधन है। देहपात के पूर्व जीवन्मुक्त का जीवन जगत्कल्याणसाधन के लिये ही है। ऐसे व्यक्ति के लक्षणों को बतलाते हुए कबीर ने कहा है कि उस दीन, गरीब और संसार की तुच्छ से तुच्छ वस्तु के समान जीवन को धारण कर भी जगत् कल्याणसाधन करना चाहिए। उसके जीवन से किसी को भी, तनिक भी, दुःख न हो।[२]

२६—सहजशून्य

समाधि का अंतिम पर्यायवाची शब्द है 'सहजा।' समाधि सहजावस्था है। 'सहजा' शब्द का प्रयोग संतों के साहित्य में सामान्यतः उपलब्ध नहीं। सहज समाधि शब्द का प्रयोग अवश्य ही संतों ने बहुलता से किया है। सबसे पहले 'सहज' शब्द पर ही विचार करें। कबीर के अनुसार इंद्रियों के प्रसार

---

[१] क० ग्रं०, पृ० ६४, साखी १,२,३,५,८, पृ० ३ साखी २६, पृ० ९३ पद १५।

[२] क० ग्रं०, पृ० ६५ साखी ११–१४; कबीर वचनावली, पृ० ११६ साखी २६१–२६६।

को मिटाने से वह परमतत्व सहज ही (सरलता से—स्वाभाविक ढंग से) मिल जाता है। यद्यपि 'सहज-सहज' सभी लोग कहते हैं किन्तु सहज उसे ही कहते हैं जिसमें विषय का सहज ही त्याग हो जाता है। इसमें पाँचों इंद्रियों को परमतत्वोन्मुख होना चाहिए। जब सहज ही भगवान् की उपलब्धि हो जाय तभी 'सहज' कहना चाहिए।[१] यहाँ उपलब्धि के साधनों की प्रकृति की सहजता-सरलता-नैसर्गिकता का अर्थ मालूम पड़ता है। सहज शब्द का दूसरा प्रयोग परमतत्व के अर्थ में मिलता है। कबीर के अनुसार जो व्यक्ति बंकनाल को समभाव से रखता है, उसका आवागमन नहीं होता। इस समय ध्वनिलहरी का प्रकटीकरण होता है, वह व्यक्ति सहज में सम्मिलित हो जाता है। जो रात-दिन नहीं सोता, उसे काल नहीं खाता। गुरुप्रसाद से वह सहज में ही समाहित हो जाता है।[२] इसी प्रकार सहज शब्द विशेषण के रूप में भी प्रयुक्त हुआ है, जैसे—सहज सुख, सहज ध्वनि आदि। ऐसे प्रसंगों में सहज शब्द का अर्थ 'पारमार्थिक और कृच्छ्राचार रहित' हो सकता है।[३] कबीर ने इसी प्रकार सहज शब्द से सम्बन्धित 'सहज-सुंनि',' सहज सील', 'सहज भाइ', 'सहज सुभाई', 'सहज समाधि' आदि शब्दों का प्रयोग किया है। 'सहज शून्य' शब्द अत्यधिक महत्वपूर्ण है। सहजशून्य कबीर के अनुसार, गंगा-यमुना के मध्य में घाट है जहाँ मन लीन होता है। सहजशून्य का नूपुर (नाद) भी वे गगनमंडल में सुनते हैं। वहीं रस (अमृतरस) का पान किया जाता है।[४] यहाँ इन प्रयोगों से सहजशून्य का अर्थ ब्रह्मरंध्र या गगन या गगनमंडल प्रतीत होता है। शून्य शब्द आकाश अथवा गगन के लिये सामान्यतया प्रयुक्त होता रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि सहज परमतत्व के वासस्थान गगन को सहजशून्य कहा गया है जहाँ अमृतरसपान होता है तथा मनोलय होता है। कबीर ने अन्य शून्यों का वर्णन नहीं किया है अतः नाथों के अधःशून्य, मध्यशून्य आदि से उसकी तुलना नहीं की जा सकती। ऐसा प्रतीत होता है कि यह अनुभूति की परमोच्च अवस्था है। सहज शब्द विशेषण के रूप में 'शील' के साथ भी प्रयुक्त हुआ है जिससे सहज रहनी की ओर संकेत होता है। इसमें साधक के लिये सती, संतोषी, सावधान, शब्दभेद का सुविचारक होना आवश्यक

---

[१] क० ग्रं०, २८.२, ४१.१–४।

[२] क० ग्रं०, १४०.१५७, १६०.२११।

[३] क० ग्रं०, १३८-१३९.१५५।

[४] क० ग्रं०, १८.३.१८२, ९४.१८, १११.७४।

माना गया है। यह सहजशील ही मत का सार है।[१] सहजभाव और सहजस्वभाव शब्द भिन्न-भिन्न हैं। सहज भाव गंगायमुना का अद्वैतभाव, सहयोगीभाव, पंचतत्वों की साधनानुकूलता का भाव है। इस भावावस्था में ही सहजभाव (आध्यात्मिक प्रेमभाव—बौद्धों सिद्धों में सहज, जो प्रेम का वाचक है) उदित होता है। उसके ही उदित होने पर साधक राम में समाहित होता है। सहज स्वभाव एक उपाय है। बिना इसकी सहायता के हरिजल की उपलब्धि नहीं हो सकती। यह आत्मा का स्वाभाविक गुण-धर्म है जिसको बतानेवाले गुरु हैं।[२] सहज समाधि एक ऐसी अवस्था है जिसमें व्यक्ति की सभी शक्तियाँ और पक्ष संसार से विमुख होकर भगवान् की ओर उन्मुख हो जाते हैं। तभी साधक सभी प्रकार से अपना कुशल मानता है, उसे शांति मिलती है जब वह गोविन्द को जानता है। शरीर में करोड़ों उपाधियाँ होती हैं किन्तु उनके विपरीतकरण पर सुखमयी सहज समाधि लगती है। इस स्थिति में दुःख विस्मृत हो जाता है, वैरी मित्र हो जाते हैं, शाक्त सज्जन हो जाते हैं, जीवात्मा उलट जाती है, उसका ज्ञान हो जाता है, त्रिताप पीड़ित नहीं करते, मन उलट कर सनातन (स्थिर) हो जाता है, तभी जीवन्मृत्यु का वास्तविक ज्ञान होता है। ऐसी सुखमयी सहजावस्था में समाहित होने पर साधक न तो स्वयं भयभीत होता है, न दूसरों को भयभीत करता है। (आत्मसुख-परसुख, आत्मकल्याण और परकल्याण में एकत्व हो जाता है।) यह परम विश्रांति की अवस्था है जिसमें ब्रह्मज्ञान की उपलब्धि हो जाती है, भ्रमनाश हो जाता है, परम ज्योति का प्रकाश हो जाता है। यह अनिर्वचनीय स्थिति है। यहाँ सब कुछ 'आत्मा' ही है। इसमें आवागमन का भी निरोध हो जाता है। त्रिकुटी के कोट में साधक आसन लगा लेता है तथा सहज समाधि की अवस्था में सभी विषयों का त्याग हो जाता है।[3] लययोग की जिस प्रक्रिया का कई बार वर्णन किया गया है उसका विवरण देकर कबीर ने सहजसमाधि का वर्णन किया है। धारणान्तर्गत लययोग की दृष्टि से कबीर का यह वर्णन अत्यन्त शास्त्रीय है। प्रलय की प्रक्रिया के बाद साधक का पूर्ण परिवर्तन (तन और मन—दोनों दृष्टियों से) साधित होता है। यह लय-क्रिया से ही साधित होता है। पुनः साधक उस सांसारिक रूप में संसार में

[१] क० ग्रं०, ६३.२।

[२] क० ग्रं०, ९४.१४, १८९.२९८।

[3] क० ग्रं०, ९३. १५, ८९–९०. ६, १५८. २०४।

नहीं आता। कबीर के अनुसार पंचतत्वों की रचना से विमुक्त होने पर राम की प्राप्ति होती है। यह पंचतत्वों की बिछुड़न देह त्याग नहीं, देहपरिवर्तन है। यह परिवर्तन पृथ्वी के गुण का पानी में लय, पानी के गुण का तेज में विलय, तेज के गुण का पवन में लय और पवन के गुण का शब्द में लय होने से साधित होता है। इस प्रलयक्रिया का ही स्वाभाविक परिणाम सहज समाधि है।[1] इस प्रकार सहज समाधिपूर्ण प्रलयावस्था है। साधक की दृष्टि से, उसकी आत्मा की प्रकृति के अनुकूल सहज परमात्मा के प्रति अनुकूलता ही है।

निरंजन के समान ही जिन दो अन्य शब्दों का बड़े विस्तार से विद्वानों ने विचार किया है, वे हैं—सहज और शून्य। संक्षेप में उनके विचारों को यहाँ उपस्थित किया जा रहा है। डा० बड़थ्वाल ने बतलाया है कि जब स्थूल बुद्धि से ऊपर उठकर अपरोक्षानुभूति के राज्य में प्रवेश हो, तभी स्वानुभव से यह ज्ञात हो सकता है कि वस्तुतः हमारे ही भीतर ब्रह्म की सत्ता है। इसी अनुभवज्ञान को निर्गुणी संतों ने सहज ज्ञान कहा है। 'दादू के अनुसार सहज बिना अंगवाले ब्रह्म को बिना आंखों के देखना, उससे बिना जिह्वा के बातें करना, बिना कान के उसकी बातें सुनना और बिना चित्र के उसका चिंतन करना है। कबीर उसे अति रहस्यमय और अनिर्वचनीय मानते हुए सामान्य जनों के लिये उसे अविश्वसनीय समझते हैं। डा० बड़थ्वाल ने उस ज्ञान को अन्तरज्ञान अथवा 'इंट्यूशन' कहा है। यह प्रत्येक व्यक्ति में सहजात होता है। इन्द्रियातीत होते हुए भी इसकी उपलब्धि विचारवृत्तियों और इन्द्रियों को कुंठित करने से नहीं, संस्कार से होती है। यह विचारवृत्ति अथवा सहजानुभूति के क्षेत्र में नहीं पहुँच पाता, नीचे ही रह जाता है। यह सहजज्ञान अथवा सहजानुभूति संत के व्यवहारों, कार्यों में अनुस्यूत रहती है। यह सहजज्ञान और ब्रह्म दोनों ही एक हैं, उनकी अलग-अलग सत्ताएँ नहीं हैं। यह सर्वोत्कृष्ट आनन्ददायिनी अनुभूति होती है।[2] आचार्य क्षितिमोहन सेन ने सहज के दो अर्थ बताये हैं—१—इन्द्रियोपभोग की धारा में अपने को अबाध गति से छोड़ देना अथवा निश्चेष्ट भाव से अपने को किसी एक धारा में बहा देना। २—सत्वगुण के द्वारा दिव्य होना और उससे सर्वांशतः जीवन को दिव्य करना। इस द्वितीय अर्थ को ही वे साधनानुकूल समझते हैं। यह वस्तुतः शिवभावापन्न

[1] क० ग्रं०, १३६-१३७. १५०।

[2] मकरंद (निबंध संग्रह), डा० बड़थ्वाल, पृ० २१-२४, २६-२७।

होना, उस विश्व की चराचरव्यापिनी भागवत धारा में अपने को छोड़ देना है। ऐसी अवस्था में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से निरंतर सहज साधना चलती रहती है। वह धर्म-कर्म एवं आचार-अनुष्ठानादि में बद्ध नहीं रह जाती। अतः व्यवहार में भी इस सहज की ही साधना करनी चाहिए। वाद-विवाद, संसार से निर्लिप्तता तथा आत्मविचार कर सहज के बीच स्वभाव में समदृष्टि की साधना करने की आवश्यकता है। इस सहज साधना का भी एक क्रम है—१–पहले अन्तर में एक की उपलब्धि, २–विश्वमय ऐक्यबोध, ३–समदृष्टि। आचार्य सेन ने सहजशून्य को ब्रह्मशून्य बताया है। यह ब्रह्मशून्य अध्यात्म-धाम है जहाँ साधक अवस्थित होता है। उनके अनुसार 'अखिल छंद के साथ छंदमय होना ही सहज हुआ।'[1] आचार्य सेन ने इस प्रकार सहजसाधना की विशेषताएँ बताई हैं और उनका सहज का अर्थ शरीर नहीं अपितु आत्मा के अनुकूल साधन है। आत्मवृत्ति के अनुकूल होने के कारण वही सहज है।

सहज और शून्य के अर्थनिरूपण में उनका ऐतिहासिक संबंध भी महत्वपूर्ण हो सकता है। मध्ययुगीन रहस्यवादियों ने शून्य को अपने ढंग से ग्रहण किया। अमूर्तिपूजकों के लिये शून्य शब्द 'असीम'भाव को व्यक्त करनेवाला था। यह उनलोगों के अपने सहज, समरस, एकरस आदि सिद्धान्तों से भी मिश्रित हो गया है। उत्तरी भारत में, रामानंद के समय में, शून्यसिद्धान्त सहज संप्रदाय के साथ मिश्रित हो गया है। ग्रन्थसाहब के अनुसार जयदेव और रामानंद सहज के उपासक थे। रामानंद सहजभक्त थे। सुंदरदास के 'सहजानंद' ग्रंथ में कहा गया है कि सहजनिरंजन सभी में व्याप्त है। सभी संत उस सहज में ही मिलते हैं। सेना और पीपा भी सहज में समाहित हैं। सेना और धना ने भी सहजरस का पान किया है।[2] कबीर की वाणी में इसका पूर्ण समन्वय मिलता है। शून्य के अभावात्मक वैशिष्ट्य से कबीर संतुष्ट नहीं हैं। वे उस शून्यमंडल को ही पुरुष का निवासस्थान मानते हैं। दादू ने बाउलों के समान तीन प्रकार के शून्य बताये हैं—कायशून्य, आत्मशून्य और परमशून्य। बाउलों के अनुसार महाशून्य, परमशून्य, अनिलशून्य नाम के

---

[1] संस्कृतिसंगम—आचार्य क्षितिमोहन सेन, पृ० १२७-१२९, १३७।

[2] दि विश्वभारती क्वार्टरली, १९३५-१९३६, वा० १, पार्ट ४, न्यू सिरीज, दि कांशेप्सन ऐंड डेवलपमेंट आव शून्यवाद इन मेडिएवेल इंडिया-क्षितिमोहन सेन, पृ० २१-२२। सुंदरसार, पृ० ११०-१११।

तीन शून्य हैं। दादू के कायशून्य में पंचभूतों की स्थिति, आत्मशून्य में जीवन की अभिव्यक्ति तथा परमशून्य में ब्रह्मशून्य से एकात्म होता है। ब्रह्मशून्य अनन्त असीम, अरूप ब्रह्म का निवासस्थान है। प्रथम तीन शून्य रूपात्मक जगत् से संबंधित हैं तथा चतुर्थ शून्य निर्गुण है। सहजशून्य में प्रेमलीला होती है। रज्जब के अनुसार शून्य वह अवकाश है जहाँ जीवन की अभिव्यक्ति होती है तथा उसके विकाश की पूरी संभावना रहती है। यह आकाश की पूर्ण निर्मुक्तता से आच्छादित रहता है। इसी प्रकार आचार्य सेन ने बड़े विस्तार से नानक के शून्य संबंधी विचारों का विवेचन किया है।[१]

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने बताया है कि नाथपंथी लोग अपने सबसे ऊपरी सहस्रारचक्र को शून्यचक्र कहते हैं। जीवात्मा यहाँ पहुँचकर केवल रूप में विराजता है। यही शून्यावस्था है। सहजयानी सिद्ध लोग इसी केवलावस्था को शून्यपद से पुकारते हैं। इन लोगों ने प्रायः शून्य और सहज शब्द का व्यवहार एक साथ किया है। सहजिया सिद्धों का यह प्रयोग नाथसिद्धों में भी ज्यों का त्यों चला आया है और कबीरदास आदि सन्तों ने भी इस परंपरा को लुप्त नहीं होने दिया है। कबीरदास प्रायः सहजशून्य का एक ही साथ प्रयोग करते हैं और कितनी ही जगह एक ही अर्थ में भी प्रयोग किया है। बौद्ध सिद्धों में शून्य को धनात्मक अवस्था बताकर 'सुखराज' कहा गया है। किंतु कबीर ने 'शून्य' और 'सहज' से जिस प्रकार की समाधि की बात कही है, वह योगियों की सहजावस्था से भिन्न है। राम ही उनकी सहजावस्था का सुख है। कबीरदास के मत से सहजावस्था भी वह अवस्था है जहाँ भक्त सहज ही भगवान् को पा सके। इस प्रकार सहज शून्य का नैरात्म्य, कैवल्य, महासुख, रामरस निर्झर के अर्थों में विकास हुआ।[२] सहजयानी सिद्धों ने एक अन्य शब्द 'खसम' का प्रयोग इस सहजावस्था या शून्यावस्था को बताने के लिये किया था। इसी प्रकार नाथों ने गगनोपम शब्द व्यवहृत किया था। कबीर को यह 'खसम' शब्द दो अर्थों में मिला—१—आत्मा का शून्यचक्र में पहुँचकर समभाव की अवस्था को प्राप्त होना, २—पति। कबीरदास कृच्छ्राचार से उपलब्ध समाधि को बहुत ऊँची अवस्था नहीं मानते थे। उन्होंने शून्य समाधिवाली गगनोपमावस्था या खसमभाव को सामयिक आनंद माना, अस्थायी माना। इससे भी बड़ी है—सहज समाधि, जिसके लिये किसी बाह्याचार,

---

[१] विश्वभारती क्वार्टरली में आचार्य सेन का उपर्युक्त लेख, पृ० २२-२८।

[२] कबीर, पृ० ७२--७५।

कृच्छ्राचार आदि की आवश्यकता नहीं होती। योगियों की कचाई बताने के लिये भी कबीर ने खसम की तुलना निकृष्ट पति से की है। कबीर की रचनाओं में खसमभाव की अपेक्षा भगवद्भाव श्रेष्ठ बतलाया गया है।[1] नाथपंथियों की सहजसमाधि किस तरह कबीर की सहज समाधि से भिन्न हो गई इसके संबंध में डा० द्विवेदी का मत है, जो सर्वथा उचित और समीचीन प्रतीत होता है कि कबीर पहले योगमार्ग की ओर झुके हुए थे। उनके कुल में कुल-गुरु-परंपरा म, वह मार्ग प्रतिष्ठित था। "बाद में उनका समागम रामानंद से हुआ। यह बात कुछ असंभव नहीं कि रामानंद के प्रभाव में आने के पूर्व उन्होंने ऐसे बहुत से पद लिखे हों जिनमें योगसंप्रदाय की परम्परा से प्राप्त अक्खड़ता ही परिलक्षित होती हो और भक्ति रस का लेश भी न हो।" जिस दिन से महागुरु रामानंद ने कबीर को भक्तिरूपी रसायन दिया उस दिन से उन्होंने सहजसमाधि की दीक्षा ली, आँख मूँदने और कान रूँधने के टंटे को नमस्कार कर दिया, मुद्रा और आसन की गुलामी को सलामी दे दी। उनका चलना ही परिक्रमा हो गया, काम-काज ही सेवा हो गये, सोना ही प्रणाम बन गया, बोलना ही नाम-जप हो गया और खाने-पीने ने ही पूजा का स्थान ले लिया।[2] इस प्रकार की सहजरहनी कुछ भिन्न रूप में नाथों में उपलब्ध है, जिसका वर्णन हम पहले कर चुके हैं। पृथ्वीनाथ की रचनाओं में इस प्रकार की भावना विशेष रूप से मिलती है।

नाथों के संस्कृत ग्रंथों में विवेचित योग का परिचय देते समय पिपीलक योग और विहंगम योग जैसे योग के भेदों की ओर संकेत किया गया है। वहाँ केवल उनका संकेत ही उपलब्ध है। संतों की रचनाओं में भी इनका परिचय मिलता है। दरियासाहब के अनुसार सभी यौगिक क्रियाओं का समावेश इन्हीं दो योगों के अंतर्गत हो जाता है। पिपीलक योग और हठयोग एक ही हैं। पिपीलक की साधना कुंडलिनीयोग की साधना है जिसके अन्तर्गत कुंडलिनीजागरण और षट्चक्रभेद भी गृहीत हैं। डा० रामकुमार वर्मा ने 'कबीर का रहस्यवाद' के हठयोग के प्रकरण में इसी पिपीलक योग या हठयोग का वर्णन किया है। डा० ब्रह्मचारी ने इसका विवरण दरियापंथी ग्रंथों (ज्ञानदीपक, ब्रह्मप्रकाश, दरियासागर आदि) के आधार पर दिया है। इस विवरण में कुंडलिनी, नाड़ी, आसन, मुद्रा, षट्चक्र आदि का परिचय देने के बाद कुंडलिनी

[1] कबीर, पृ० ७५-७९।

[2] कबीर, पृ० १५१।

के षटचक्रों का भेदन कर ऊपर सहस्रदलपद्म तक पहुँचने की क्रिया की तुलना चींटी के वृक्ष पर चढ़कर माधुर्य का आस्वादन करने और उससे वंचित होने पर नीचे उतर आने से की गई है। इसी प्रकार योगी के भी योगविरहित अवस्था में बार-बार लौट आने की आशंका बनी रहती है। वह निरंतर परमानंद का आस्वादन नहीं कर पाता। इसलिये दरियासाहब ने एक अन्य महत्वपूर्ण विहंगम (पक्षी) योग को महत्व दिया है। पिपीलका से पक्षी में अंतर यह है कि पक्षी का निवासस्थान वृक्ष है। इसे ध्यानयोग भी कहा जाता है। डा० वर्मा ने कबीर के योगनिरूपण में केवल हठयोग को ही ग्रहण किया है और डा० ब्रह्मचारी का कहना है कि विहंगम योग कबीर की साधनापद्धति में भी उतनी प्रधानता रखता था जितनी दरिया की पद्धति में। दरिया के अनुसार इस योग में वह विहंगम 'शून्य गगन में विचरण करते हुए अमृतपान करता है और अमृतपान करते हुए शून्यगगन में विचरता रहता है। इस विचरण और परमानंदास्वादन की निरंतर अवस्था में उसका शरीर के 'पिंड भाग' से कोई मतलब नहीं रह जाता। 'उसकी सुरति (दृष्टि) नेत्र के अष्टदलकमलस्थित सूचिद्वार से होकर ब्रह्माण्ड में प्रवेश कर, त्रिवेणी में मज्जन करते हुए, सहस्रदलकमल में विचरण करते हुए 'बंकनारी' अथवा 'बंकनाल' होकर ऊपर चढ़ती है और भँवरगुफा में प्रविष्ट होती है। इस गुफा में शब्द गुंजायमान रहता है।...इसी गुफा से होकर उस प्रदेश का मार्ग है जिसे 'सचखण्ड' (सत्य का राज्य) कहते हैं और जो निराकार सत्पुरुष (ईश्वर) का निवासस्थान है। सच्चखण्ड से सुरति विद्युत्वेग से उस अवर्ण-नीय 'अकह लोक' की ओर प्रधावित होती है जिसे 'अवाच' भी कहते हैं। फिर यहाँ से वह अगम 'नगरी' या अमरलोक तक पहुँचती है जो परमानंद की आश्चर्यमयी नगरी और अद्भुत लोक है। दरिया ने विहंगम योग को पिपी-लक योग से श्रेष्ठ माना है क्योंकि हठयोग में शरीर पर तो हठयोगी अधिकार प्राप्त कर लेता है किन्तु वह आत्मपरिचय और आत्मप्राप्ति नहीं कर पाता, जो अत्यावश्यक है तथा जिनके बिना योग विडम्बना है। डा० ब्रह्मचारी के अनुसार दरिया हठयोग का सर्वथा निराकरण न कर विहंगम योग के साथ उसका सामंजस्य करते हैं।[१] कबीर साहित्य में ये दोनों प्रकार के योग मिलते हैं, इसका वर्णन हम कर चुके हैं। वस्तुतः पातंजल योग के अन्तिम तीन अंग अथवा अंतिम दो अंग कबीर साहित्य में हठयोग से समन्वित होकर विस्तार

[१] संत कवि दरिया : एक अनुशीलन, पृ० ९३ तथा आगे, पृ० १०३-१०४।

से वर्णित हुए हैं। नाथों ने हठयोग और राजयोग का समन्वय किया था, यह हम कह चुके हैं।

अभी तक संतों की योगसाधना की प्रवृत्तियों और प्रक्रियाओं का संक्षेप में परिचय देते हुए नाथों की योगसाधना से उसकी तुलना की गई है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि सहजावस्था के लाभ के लिये गुरु के प्रयोजन को नाथों और संतों, दोनों ने, स्वीकार किया है। शिवदयाल, कबीर आदि संतों के अनुसार आज्ञाचक्र के नीचे गुरुलाभ नहीं होता। देहस्थ चक्रों का अतिक्रमण करके देहबाह्य अर्थात् ब्रह्माण्ड के सकल चक्रों का भी अतिक्रमण कर सत्यलोक में पहुँचा जाता है, उसकी कबीरपंथी और राधास्वामी मत में विशेष चर्चा है। कबीरादि के मत से सत्य सगुण और निर्गुण से अतीत है।[१] हम पहले ही यह कह चुके हैं कि नाथों के अनुसार नाथतत्व निर्गुण-सगुण से अतीत है। ऊपर की तुलना से भी यह विदित हो जाता है कि मध्ययुग के रहस्यवादी संतों, सूफियों और नाथों की साधना में एक योगसूत्र अवश्य है। यद्यपि इन लोगों की दृष्टिभंगी भिन्न है तथापि इन लोगों में कुछ साधनागत ऐक्य है। 'प्राचीन युग के पातञ्जल, बौद्ध, जैनादि संप्रदायों की योगसाधना तो सुविदित है ही, नाथ, संत और सूफियों की साधना के अंतराल में भी यह योग स्पष्टतया विद्यमान है। संत कबीर के उपदेश में वैष्णवीय प्रेम और भक्ति के साथ वेदान्त के 'तत्वमसि' का अपूर्व मिश्रण है साथ ही नाथयोग के अनुरूप साधना भी है। नाथयोग में सूफी और सन्त साधना के अनुरूप प्रेम वा भक्ति की दृष्टिभंगी नहीं होने पर भी नाथ, निरंजनी और संतमत में ऐक्य है।[२] कबीर कमाल, दादू के दर्शन के साथ निरंजनियों के दर्शन का अपूर्व साम्य दिखाई पड़ता है। संतों के मूलगत सिद्धान्त तीन थे—ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास, जीवात्मा-परमात्मा की स्वरूपगत एकता में विश्वास, ३—आत्मा की नित्यता और 'सोहं' साधना में प्रत्यय। कबीरादिक ने सुरत-शब्द-योग द्वारा मिलन-स्थापना का उपदेश दिया है। यह सुरत-शब्द-योग वस्तुतः कबीरादि के बहुत पूर्वकाल में प्रचलित था। नाथमार्ग में इसका विशेष साधन था। वे लोग इसे "अजपाजाप" कहते थे। योगमार्ग का नादानुसंधान ही संतों का अनहदनाद साधन है। इस नाद का आश्रयण कर परमतत्व की उपलब्धि की जाती है—यह दोनों मार्गों का वैशिष्ट्य है। चित्तवृत्ति को शब्द या मंत्र में लय

[१] ना० सं० इ० द० सा० प्र०, पृ० ३६७-३६८।

[२] वही, पृ० १८१।

करने का उपदेश प्राचीन युग से ही मिलता रहा है। इसी का नामान्तर मंत्र-चैतन्य है। संत लोग सुरत-शब्द-योग द्वारा नाद से परे जिस अतीत भूमि में पदार्पण करते हैं, उसे नि:शब्द या अनामीलोक कहा जाता है। कबीर भी इसका वर्णन करते हैं। यह अवस्था भी तत्वातीत अवस्था है जो सहजिया संप्रदाय की सहजावस्था कही जाती है। संत लोग इसे विषमदेश कहते हैं। इस अवस्था में जिस सुख की अनुभूति होती है, उसे "निरति" वा "नृत्य" आख्या दी गई है। साधक को जब स्मृतिलाभ हो जाता है तब किसी प्रकार की दैहिक क्रिया निष्प्रयोजन हो जाती है। यह अनुभूति वर्णनातीत है। इसे नाथसिद्ध लोग उन्मनी अवस्था नाम देते हैं—अर्थात् यह मनहीन अवस्था है। सहजसमाधि या उन्मनी दशा स्थायी है। सन्त साधना का मूल मंत्र है—नाम जप या सुमिरन। इसके द्वारा ही मर्त्यलोकवासी स्वर्ग का आस्वाद पाता रहता है। कबीर की तरह ही अद्वैतवादी दादू के संप्रदाय का रामनाम-जप उसकी विशेषता है। संतवाणी में वैराग्य और सत्संग का बार-बार उपदेश दिया गया है। सदगुरु ही एक मात्र पथप्रदर्शक माना गया है। नाथयोगी भी बार-बार सद्गुरुलाभ के लिये उपदेश देते हैं। इस शरीर में अनेक आध्यात्मिक केंद्र हैं। संत लोग सांकेतिक भाषा में उन्हें कमल कहते हैं तांत्रिक साधना में भी उन्हें कमल कहते हैं। इन विभिन्न केन्द्रों का साधन करने से ब्रह्माण्ड के सभी लोकों से संबन्धस्थापन संभव है, यह राधास्वामी संप्रदाय, संत संप्रदाय, नाथसंप्रदाय प्रभृति ने विवृत किया है। शरीर की सुप्त शक्ति को जागृत कर उसकी सहायता से ब्रह्माण्ड के साथ संबंधस्थापन किया जाता है। सुमिरन या नामस्मरण इस सुप्ता शक्ति को जागृत करने के लिये प्रक्रियाविशेष है। संतों में यह गोपनीय साधन है। नाथयोगी लोग हठयोग की सहायता से सुप्ता शक्ति को जागरित करते हैं। दोनों में यही भेदक तत्व है। दोनों का उद्देश्य पिंड और ब्रह्माण्ड के योग की स्थापना है किंतु प्रणाली भिन्न है। तथापि नाथसाधनमार्ग के जीवन्मुक्ति, त्रिकुटी, सहस्रदलकमल, नाड़ी, चक्र, अजपासाधन प्रभृति का उल्लेख संतों की साखियों में पाया जाता है। संतों में शून्य की भी साधना मिलती है।[1]

२७—निष्कर्ष

इन विवेचनों और तुलनाओं के संबंध में कुछ बातें कहनी आवश्यक हैं। यह तुलना का कार्य तभी अपेक्षाकृत अधिक सुगमता, विस्तार और सूक्ष्मता से

---

[1] वही, पृ० १८३-१८८।

संभव होता जब नाथों और संतों की हिंदी की रचनाओं के आधार पर उनके योग और भक्ति का पूरा निरूपण हो गया होता। उसके अभाव में यहाँ भक्ति और योग की केवल कुछ प्रवृत्तियों और प्रक्रियाओं का निरूपण संक्षेप में करके संक्षेप में ही उनकी तुलना भी की गई है। उनके शास्त्रीय आधार के निरूपण में भी परिश्रम करना पड़ा है। योग के निरूपण में तुलना के लिये अष्टांग योग को आधार मान कर, उसके अंगों के अंतर्गत ही हठयोग, कुंडलिनीयोग आदि को अन्तर्भूत कर विचार किया गया है। तुलना के लिये यम-नियम, प्राणायाम, हठयोग, षट्चक्रभेद, कुंडलिनीयोग, लययोग, ध्यान और समाधि का विचार किया गया है। इन सबके मूल में जो तीन सिद्धान्त देखे गये हैं, वे हैं—गुरुशिष्यवाद, अधिकारभेदवाद और पिण्डब्रह्माण्डवाद। प्रायः इन सभी साधनों और सिद्धान्तों को संत लोग स्वीकार करते हैं। इनके रूप, प्रयोग, लक्ष्य, प्रक्रिया, स्थान, मूल्य आदि के संबंध में मतभेद अवश्य हैं, जिनकी ओर यथास्थान संकेत कर दिये गये हैं। किंतु इतनी बात भेदक तत्वों के संबंध में कही जा सकती है कि १—संतों का 'सुरत-शब्द-योग' भक्तिपरक है, भक्ति के भावसाधन का एक अंग है, वैसे तो पहले का वर्णित सम्पूर्ण भक्ति-साधन का ही अंग है। २—जिस प्रकार अजपाजाप आदि का स्पष्ट निरूपण संतों ने किया है, उस प्रकार कुंडलिनी का नहीं किया है। कुछ विद्वानों के अनुसार तो कुंडलिनीयोग को संत लोग स्वीकार नहीं करते। नाथों के संबंध में भी यही बात कही जाती है। डा० मोहन सिंह ने अपने ग्रंथ में नाथों के साधन को नादानुसंधान ही कहा है। इसी प्रकार संतों के योगपरक साधन को सुरत-शब्द-योग कहा है। ३—पिपीलक योग और विहंगम योग में से यद्यपि नाथों की हिन्दी रचनाओं में, किसी एक का भी नाम नहीं मिलता तथापि 'हठयोग' को अनिवार्य रूप में स्वीकार करने के कारण उनमें पिपीलक योग की प्रधानता दिखाई देती है किन्तु उनके अनुसार भी यह पिपीलक योग विहंगम योग की प्रारम्भिक सीढ़ी है। संतों ने विहंगम योग को प्रधानता दी है जिसमें मानस साधन (धारणा, ध्यान और समाधि) की प्रधानता है, यद्यपि वे पिपीलक योग का सर्वथा तिरस्कार नहीं करते। नाथों के समान ही दरिया (बिहारवाले) को छोड़कर अन्य कबीरादि संतों में नाम देकर इन दोनों योगों का इस रूप में वर्णन उपलब्ध नहीं। शेष तुलनात्मक संकेत प्रसंगानुसार ही कर दिये गये हैं।

—०००—

परिशिष्ट—१

'गोरक्षनाथ मल्लिका संवाद' — एक हस्तलेख का परिचय

हस्तलेख का विवरण

१—लम्बाई १२. ६ इंच, चौड़ाई ४. ६ इंच।

२—हाथ के बनाये हुए कागज पर लिखित। उसे किसी चीज से माठ कर चिकना किया गया है।

३—पन्नों की संख्या ८, पृ० १५। 'प्रीष्ठाः १' का पृष्ठ भाग सादा है।

४—प्रथम पृष्ठ में १० पंक्तियाँ तथा शेष में ११ पंक्तियाँ। अन्तिम पृष्ठ में लगभग ३ पंक्तियाँ।

५—प्रथम पृष्ठ की अक्षरावली, अन्य पृष्ठों की अक्षरावली की अपेक्षा बड़ी है किंतु प्रथम तथा शेष पृष्ठों की हस्तलिपि एक सी प्रतीत होती है। संपूर्ण पोथी एक ही व्यक्ति के हाथ की लिखी हुई प्रतीत होती है।

६—बीच-बीच में अक्षरों को मिटा कर शुद्ध किया गया है। एक दूसरी हस्तलिपि में, पृष्ठों के हासिये में सुधार किया गया है। मूल ग्रंथ और सुधार के अक्षरों की हस्तलिपि में भेद प्रतीत होता है। सुधार दूसरे व्यक्ति द्वारा किये गये प्रतीत होते हैं। सुधार की लिपि कहीं नागरी और कहीं बँगला है।

७—कागज को पीले रंग से रँग दिया गया है। लिखने के लिये काली स्याही का प्रयोग किया गया है और अशुद्ध अक्षरों को मिटाने के लिये किसी सफेद द्रव पदार्थ का प्रयोग किया गया है।

८—ल, ज्ञ, घ, अ आदि के आकारों को देखने से मूल हस्तलेख की लिपि स्पष्ट ही बँगला है और लगभग ३००—४०० वर्ष प्राचीन प्रतीत होती है।

९—भाषा भी बँगला है। इसमें षष्ठी में 'एर', द्वितीया में 'के' आदि के प्रयोग मिलते हैं। धातुरूपों में 'कहिलाम' इत्यादि प्रयोग हैं। अव्ययों में 'एखन' आदि प्रयोग बँगला के विशिष्ट प्रयोगों की ओर संकेत करते हैं। शब्दों के रूप प्रायः भ्रष्ट हैं और प्रायः इनमें व्याकरण की त्रुटियाँ हैं। शब्दों को प्राचीन शैली के अनुसार ही एक दूसरे से मिलाकर लिखा गया है।

१०—ग्रंथ की पुष्पिका में लिपिक का नाम नहीं दिया हुआ है। ग्रंथनिर्माण अथवा ग्रंथलेखन अथवा हस्तलेख का भी सन्-संवत् पोथी में नहीं है। ग्रंथ का लेखक कौन है? इसका भी पता नहीं चलता।

११—ग्रंथ संवादशैली में लिखा गया है। यह संवाद गोरक्षनाथ और मल्लिकानाथ में हुआ है। इस ग्रंथ के गोरक्षनाथ के गुरु 'मछन्द्रनाथ' थे। मल्लिकानाथ का थोड़ा सा विवरण 'माडर्न बुद्धिज्म एण्ड इट्स फालोअर्स इन ओरिसा' में मिलता है। मयूरभंज राज्य में मल्लिकानाथ संबंधी कुछ स्मारक और ध्वंसावशेष मिले हैं। सम्भव है कि इस ग्रंथ के मल्लिकानाथ गोरक्षनाथ के उड़ीसादेशीय शिष्य रहे हों। ८४ सिद्धों में अन्तर्गणित मालीपाव से इन्हें अभिन्न बतलाने के लिये अनुमान किया जा सकता है।

१२—सुविधा के विचार से, उपर्युक्त अधिकांश विवरणों की पुष्टि के लिये 'गोरक्ष मल्लिका संवाद' के प्रथम और अंतिम पृष्ठों के लिप्यंतर देने की भी चेष्टा की गई है। वस्तुतः इस रचना पर पर्याप्त सावधानी और परिश्रम से स्वतंत्र विचार करने की आवश्यकता है।

१३—पुष्पिका में इस ग्रंथ का नाम 'श्री गोरकनाथ मल्लिका संवाद' दिया हुआ है।

१४—इसी प्रकार के एक हस्तलेख की सूचना 'श्रीनाथ ग्रंथ सूची' (योगप्रचारिणी सभा, गोरक्षटिल्ला, काशी) से मिलती है। कहा गया है कि जोधपुर दुर्ग में 'मल्लिकानाथ गोरक्षनाथ संवाद' (सं० १७९४ क–५८१ क) की एक प्रति है। किंतु काशी हिंदू विश्वविद्यालय के पुस्तकाध्यक्ष के आधिकारिक प्रयत्न करने पर भी इस प्रति से संबंधित कोई भी विवरण नहीं मिल सका। उत्तरों से ज्ञात होता है कि जोधपुर के पुस्तकालयों, संग्रहालयों में ऐसी कोई रचना नहीं है। संभव है और प्रयत्न करने पर प्रति की उपलब्धि हो सके।

१५—हस्तलेख को देखने से ऐसा मालूम होता है कि इस हस्तलेख के लिपिक ने या तो किसी हस्तलेख से इसे नकल करके लिखा है या स्मृति की सहायता से पुनरुद्धार किया है। कारण यह है कि कई स्थानों पर लगभग पूरे वाक्य को चिह्न बनाकर पंक्ति के ऊपर लिखा गया है।

१६—हस्तलेख का प्रथम और अंतिम पृष्ठ :

प्रथम पृष्ठ

(कर्त्ता) २ प्रीष्ठाः १

पंक्ति १—ओं नमो गणेशाय ।।ईश्वर उवाच।। नमः नमस्ते गुरुदेव योगाख्य प्व(पु)रुष । अन्तर्यामि नाथ प्रभु महिमा विशेषः । नमस्ते गु-

पंक्ति २—रुदेव सर्व्व योग दाता । नमस्ते गुरुदेव सर्व्व सुख दाता । नमस्ते गुरुदेव सर्व्व एव सार । नमस्ते गुरु तुमि ब्रह्मा विष्णु हर । न-

पंक्ति ३—मस्ते गुरुदेव ज्ञान कल्पतरु । सर्व्व योगेश्वर प्रभु अचल महामेरु । नमस्ते गुरुदेव करुणा ज्ञान सिन्धु । अन्ध तिमिर ना-

पंक्ति ४—सन तुमि सर्व्व ज्ञान इन्दु । नमस्ते गुरुदेव परं ब्रह्म रासि । शनी हइते उद्धार प्रभु काल दण्ड फासि । स्तुति करे मल्लिका गो-

पंक्ति ५—रक मुख (सुख?) पाणे चाहि । गुप्त कथा जिज्ञासि मोरे देह कहि । प्रसन्न हइया स्वामि कहिबा अमारे । तबे से छांडिबे स्वामि-

पंक्ति ६—जन्म मृत्तु मोरे । चरणे प्रणांम स्वामि कह योग विधि । महा-योगेश्वर प्रभु ज्ञान घट सिद्धि । उपदेस आज्ञा मोरे कर गुरु-

पंक्ति ७—देव । हइते प्राण मोरे के मते ना छाडिबे । से सकल कथा मोरे बुझाइया कह स्वामि । आत्माराम ज्ञानि तुमि सर्व्व-

पंक्ति ८—योग गामि । भो स्वामि परम दिक्षा भावे मोरे कह । जे मते रहिबे स्वामि अत्र(?) स्वर देह । योग मानक्षर(?) राजयो-

पंक्ति ९—ग मानक्षर (?) सार । से उपासना स्वामि दिया पिण्ड के उद्धार । जिव परम मोक्ष निरखि अछ जाहा । संसय फिटाइ मो-

पंक्ति १०—ते कहिबा क ताहा (?) । जिव परम सम्भू त केमन्ते होइले ।

=(पिंड)

प्राण ४

प्रथमे कि रूपे स्वामी काहि रे रहिले । केवन प्रकारे स्वा-

हस्तलेख का अन्तिम पृष्ठ

पृष्ठाः ८

पंक्ति १—गौतम कहिल याहा मिल्लका ष्वणिल ।। श्री गुरु व सिष्य पुत्र रे योग आत्मा विहरिल ।। आत्मा जे काष्ठेर करिआ पवन धारण करिबे । गुरु व

पृष्ठा: ८

पंक्ति २—क्त् मन्द्रे ते स्वरूप ब्रह्म के देखिबो इति श्री पव(र)म योग सारे पव(र)म हंस निर्णये श्री गुरु कथने श्री गोरकनाथ मल्लिका सम्वादे श्री सप्तांग यो

पंक्ति ३—ग धरणा जिव परम जाता याते अनुभव योग कथने श्री पव(र)-म हंस योगः समाप्तोयमं ग्रन्थः ।। लिपियत्री

\+ + +

१७—हस्तलेख का विषय—सामान्य नाथसाधना के ग्रंथों के समान ही इस रचना का विषय भी योग है। प्रारम्भ में गुरुस्तुति की गई है। मल्लिकानाथ ने पिण्ड में आत्मा की स्थिरता, जन्म-मृत्यु से अतीत होने, शरीर की अचलता, सप्तवारयोग, घटयोग आदि के विषय में जिज्ञासा की है। उत्तर में गोरक्षनाथ ने पवनसाधन, मन-पवन-साधन, सप्तखण्ड-ज्ञान, सप्तवार, सप्तभूमि, योगांग, भोगांग, धारणा, कालजय, मायाजय, कायानगरविजय, अविनाशी पिण्ड, रसरक्षा, कालसिद्धि, मन-पवन का एकत्र साधन, नाड़ी (इड़ा पिंगला-सुषुम्ना)-साधन, दस पवन, सप्तांग योग का उपदेश दिया है। इस रचना में वारानुसार साधन (दे० गोरख-बानी में 'सप्तवार' और 'सप्तवार नवग्रह') पर विशेष आग्रह दिखाई पड़ता है। 'सात' संख्या भी रचनाकार को विशेष प्रिय (जैसे सिद्ध-सिद्धान्तपद्धति में 'पाँच' संख्या की महिमा है) मालूम होती है। इसमें त्रयों का परिचय भी मिलता है, जैसे—इड़ा पिंगला सुषुम्ना, गंगा यमुना, सरस्वती, उदयाचल अस्ताचल शून्याचल। स्पष्ट ही इनका साधना से संबंध है। कालजय की दृष्टि से चन्द्र-सूर्य-अग्नि-साधन की कुछ व्याख्या भी दी जा सकती है। चन्द्र का इड़ा से सूर्य, का पिंगला से तथा अग्नि का सुषुम्ना से संबंध है। इसी प्रकार साधन (अमृतसाधन की दृष्टि से उदय चन्द्र (अमृत) में, अस्त सूर्य (अमृतशोषक) में तथा शून्यपद अग्नि या सुषुम्ना (द्वैतविवर्जितस्थान) में है। यह भी कहा गया है कि सात वारों में से तीन पर चन्द्र का और चार पर सूर्य का प्रभाव है। वारानुसार साधन का बार-बार उपदेश है। गोरक्ष स्वीकार करते हैं कि यह उपदेश मत्स्येन्द्र ने उन्हें दिया था। बताया गया है कि नाना कर्मों के कारण ही जीव संसार में भ्रमित होता रहता है। 'अष्टांग योग' और 'अष्ट वार' की ओर भी संकेत इस रचना में

पृष्ठाः ८

उपलब्ध हैं। अंतिम पृष्ठ को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि 'परम योग सार' नामक किसी महाग्रंथ के 'परमहंस निर्णय' अनुच्छेद से यह संवाद गृहीत है। गोरक्ष और मल्लिका के इस संवाद में 'सप्तांग योग धारणा' नामक अनुभवयोग का उपदेश किया गया है। इन सब विवरणों को केवल इसलिये उपस्थित किया गया है जिससे 'अनुसंधित्सु जनों को इस हस्तलेख की सूचना मात्र मिल सके। हस्तलेख के विचारों की भलीभाँति परीक्षा कर किसी निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयत्न स्वतन्त्र रूप से पुनः किया जायगा। अंतिम पृष्ठ के 'गौतम' का संबंध-संकेत किस व्यक्ति से है, यह स्पष्ट नहीं हो सका है।

१७—इस हस्तलेख की उपलब्धि मुझे काशी के श्री शिवकुमार शर्मा 'मानव' से हुई। उन्होंने हस्तलेख के लिप्यंतर में भी सहायता की थी। महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ जी कविराज ने भी इस हस्तलेख को देखने की कृपा की है, कुछ सुझाव दिये हैं तथा हस्तलेख के कुछ आरंभिक अंशों के लिप्यंतर का संशोधन किया है।

परिशिष्ट—४

सहायक सामग्री का विवरण

संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश

अमरौघशासनम्—पं० मुकुंदराम शास्त्री, काश्मीर सिरीज आव टेक्स्ट्स ऐंड स्टडीज, नं० १९, २०, २१, बाम्बे, १९१८।

ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिशद्—काश्यां रामघट्टस्थ बाबू शिवप्रसाद राघोराम सर्व हितैषी कम्पनी द्वारा प्रस्तुत, सन् १९३८।

एट उपनिषद्स—(अंग्रेजी अनुवाद सहित) श्री अरविंद आश्रम, पांडिचेरी, १९५३, प्रथम संस्करण।

कौलज्ञाननिर्णय—डा० प्रबोधचन्द्र बागची, कलकत्ता, १९३४।

गोरक्षपद्धति—पं० महीधर शर्मा कृत भाषानुवाद सहित, खेमराज श्रीकृष्ण दास, श्रीवेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बई–४, सन् १९५४।

गोरक्ष संहिता—श्रीगोरक्षविरचिता, इंद्र जी शर्मा द्वारा प्रकाशित, अहमदाबाद, सं० १९५०।

गोरक्षसिद्धांतसंग्रह—सं० गोपीनाथ कविराज, गवर्नमेन्ट संस्कृत लाइब्रेरी, बनारस, १९२५, सरस्वती भवन टेक्स्ट्स नं० १८, पार्ट १।

घेरण्ड संहिता—भाषा टीका सहित, गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास, लक्ष्मीवेंकटेश्वर स्टीम प्रेम, कल्याण, बम्बई, सं० २०१३।

दि नारद पंचरात्र—एशियाटिक सोसायटी आव बेंगाल, एडिटेड बाई रेव०के०एम०बनर्जी, कलकत्ता, बिशप्स कालेज प्रेस, १८६५।

दि योग उपनिषद्स—एडिटेड बाइ पं०ए०महादेव शास्त्री, बी०ए० पब्लिश्ड फार दि आड्यार लायब्रेरी (थियोसोफिकल सोसायटी), १९२०।

दि वर्ड आव लल्ला—एनोटेटेड बाई सर रिचार्ड कार्नक टेम्पल, केम्ब्रिज, ऐट दि युनिवर्सिटी प्रेस, प्रथम संस्करण।

दि शांडिल्य संहिता—भक्ति खण्ड, पार्ट १, दि प्रिंस आव् वेल्स्, सरस्वती भवन टेक्स्ट्स, नं० ६०, गवर्नमेन्ट संस्कृत लाइब्रेरी, बनारस १९३५।

नारद भक्तिसूत्र—(दि गास्पेल आव डिवाइन लव)—स्वामी त्यागीशानंद श्री रामकृष्ण मठ, मैलापुर, मद्रास, १९५५ ।

नारद भक्ति सूत्र—हिन्दी टीका सहित—पंड्या बैजनाथ बी०ए०, मास्टर खेलाड़ीलाल ऐंड संस, काशी, १९३३ ।

परशुरामकल्पसूत्र—ए०महादेव शास्त्री, सेकेण्ड एडिसन बाइ शंकरलाल यज्ञेश्वर शास्त्री दवे आव बड़ौदा, १९५०, बड़ौदा ओरियंटल इन्सटीट्यूट ।

पातंजल योग दर्शन—गीताप्रेस, गोरखपुर, चौदहवाँ संस्करण, २००७ ।

भगवद्गीता—(गुटका) गीताप्रेस संस्करण ।

भक्ति दर्शन—शाण्डिल्य कृत, निगमागमी भाष्य सहित, क्षेमराज श्री कृष्णदास, बम्बई, १९५५ ।

भास्करी—वा० १, के०ए० सुब्रह्मण्य अय्यर ऐंड डा० के०सी०पाण्डेय, इलाहाबाद, सुपरिन्टेन्डेन्ट प्रिंटिंग ऐंड स्टेशनरी, यूनाइटेड प्राविंसेज, इंडिया, १९३८ ।

महार्थमंजरी—गोरक्षटिल्ला, वाराणसी से योगप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित, प्रथम आवृत्ति ।

योगदर्शन—पतंजलिकृत, हिन्दी व्याख्या सहित, ीताप्रेस, गोरखपुर, द्वि० सं० २०११ ।

योगबीजम्—गोरक्षविरचित, योगप्रचारिणी सभा, गोरक्ष टिल्ला, काशी, २००८, प्रथमावृत्ति ।

योग साहस्री—(पूर्वार्द्ध), प्रकाशिका-योगप्रचारिणी सभा, गोरक्ष टिल्ला, काशी, सं० २००९, प्रथमावृत्ति।

लल्ल वाक्यानि—सर जार्ज ग्रियर्सन ऐंड लियोनेल डी० बेनेट, पब्लिश्ड बाइ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी, लंडन, १९२० ।

वैष्णवमताब्जभास्कर—रामानंदाचार्य प्रणीत, हिन्दी टीका सहित, प्रकाशक महन्त श्री कृष्णदास, श्री रामानंद साहित्य मंदिर, अट्टा, अलवर, राजपूताना, सं० २००२ ।

शांडिल्यभक्तिसूत्र—गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २०१२, द्वितीय संस्करण ।

श्री नाथशतकम्—गोरक्षटिल्ला, योगप्रचारिणी सभा, काशी, प्रथम संस्करण ।

श्वेताश्वतरोपनिषद्—सटीक, सभाष्य, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २००९।

षट्चक्रनिरूपण—तारानाथ विद्यारत्न, थर्ड एडिशन, १९५१, सेक्रेटरी, आगमानुसंधान समिति, ७-ए, चालदाबागान लेन, कलकत्ता।

संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी—सर एम० मोनियर विलियम्स, फर्स्ट एडिशन, १८९९, आक्सफोर्ड, इम्प्रेशन १९५१।

सात्वत तन्त्रम्—पंडित अनन्त शास्त्री फडके, चौखम्बा संस्कृत सिरीज, ग्रंथ ७९, नं० ४२७, १९३४, बनारस।

सिद्धसिद्धान्तपद्धति—मूल एवं भाषा टीकासहित, नाथब्रह्मचर्याश्रम, हरद्वार।

सिद्धसिद्धान्तपद्धति एंड अदर वर्क्स आव नाथयोगीज—श्रीमती कल्याणी मल्लिक, पूना ओरियंटल बुक हाउस, पूना, १९५४।

सिद्धसिद्धान्तसंग्रह—गवर्नमेंट संस्कृत लाइब्रेरी, सं० १३, बनारस, १९२५।

हठयोगप्रदीपिका—स्वात्माराम योगीन्द्र विरचिता, क्षेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, सं० २००९, शाके १८७४।

बँगला

नाथसम्प्रदायेर इतिहास, दर्शन ओ साधनाप्रणाली—डा० कल्याणी मल्लिक, कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९५०।

दादू—क्षितिमोहन सेन, शांतिनिकेतन बुकडिपो, कलकत्ता, १३४२ बंगाब्द।

बौद्ध गान ओ दोहा—सं० महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री, बंगीय साहित्य परिषद्, कलकत्ता, द्वितीय मुद्रण (संस्करण), भाद्र, बंगाब्द १३५८।

राजगुरु योगिवंश—श्री सुरेशचन्द्र नाथ मजुमदार, प्रकाशक श्री प्रमथनाथ नाथ, राणाघाट, नदीया, आग्रहायण १३५१ (बंगाब्द), तृतीय संस्करण।

मराठी

पंजाबांतील नामदेव—शंकर पुरुषोत्ताम ढवले, प्रकाशक—केशव भिकाजी ढवले, श्री समर्थ सदन, बंबई, १९४०।

अंग्रेजी ग्रंथ तथा पत्र-पत्रिकाएँ

A History of Indian Philosophy, Vol.I-S.N. Dasgupta, Cambridge, At the University Press, 1922 and 1951 ; Vol. II, 1952 ; Vol. IV, 1949.

A History of Mithila Literature—Jayakanta Misra, Vol. I, Tirabhukti Publication, I, Sir P.C. Banerji Road, Allahabad, 1949.

Annals and Antiquities of Rajasthan or Central and Western Rajput States of India—Leiut. Col. James Tod, London, 1950 (Two Volumes in one)

An Outline of the Religious Literature of India—J.N. Farquhar, London, 1920.

Caste and Class in India—G.S. Ghurye, Philosophical Library, New York, 1952.

Collected Works of Sir R. G. Bhandarkar, Vol. IV—edited by Narayana Bapuji Utgikar, Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, 1929.

Comparative and Critical Study of Mantrasastra (with special treatment of Jain Mantrasastra) —Mohanlal Bhagwandas Jhavery, Ahmedabad, V.S. 2000, 1944 A.D.

Encyclopaedia Britanica—Encylcopaedia Britanica Ltd. Chicago, London, Taronto—
Vols.—16, 21, 20—edition of 1768.
Vols.—1, 2—edition of 1955.

Encyclopaedia of Religion and Ethics—James Hastings, Edinburgh—

Vol. 9	edition of	1917
Vol. 11	,,	1020
Vol. 12	,,	1921
Vol. 10	,,	1918
Vol. 2	,,	1909
Vol. 7	,,	1914
Vol. 4	,,	1911

Essays and Lectures Cheifly on the Religions of Hindus—H. H. Wilson, Dr. Reinhold Rost, Vol. I, London : Trubner & Co., 60 Paternoster Row, 1862.

Garland of Letters (Varnamala)—Sir John Woodroffe, Ganesh & Co., (Madras) Ltd., 1955.

Gorakhanath and Kanphata Yogis—G. W. Briggs, G.M.C.A. Publishing House, 5 Russel Street, Calcutta ; Humphery Milford, Oxford University Press, London, 1938.

Gorakhnath and Mediaval Hindu Mysticism—Dr. Mohan Singh, Lahore, 1937.

Hindi Religious Poetry—Rev. A. Shah, Cawnpore, 1925.

Hindu Castes and Sects—Jogendranath Bhattacharya, Thacker Spink & Co., 1896.

Hinduism and Buddhism (A Historical Sketch)—Sir Charles Eliot, in Three Volumes, Vol. III, Routledge & Keegan Paul Ltd., London, E.C.4, 1954.

Hindu Mysticism—Dr. S. N. Dasgupta, Chicago : London : The open Court Publishing Co., 1927.

Hindu Tribes and Castes—Rev. M.A. Sherring, Vol. II; Calcutta, 1879.

History of Bengali Language and Literature—Prof. Dinesh Chandra Sen, University of Calcutta, 1954.

History of Dharmasastra, Vol. I— Panduranga Vaman Kane, Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, 1930.

History of Mediaval Hindu India, Vol. II—C.V. Vaidya, Poona, The Book Supplying Agency, 1924; Vol. III, 1926.

History of Orissa, Vol. I—R. Chatterji, Calcutta, 1930.

History of Philosophy: Eastern and Western—Ed. by S. Radhakrishnan, Vol. one, London, George Allen & Unwin Ltd., 1952.

Indian Philosophy: S. Radhkrishnan, Vol. II, London, George Allen & Unwin Ltd., Ruskin House, 40 Museum Street, W.C. 1948.

Indian Sadhus—G. S. Ghurye, The Popular Books Depot., Lamington Road, Bombay 7, 1953.

Influence of Islam on Indian Culture–Dr. Tarachand, The Indian Press publications Ltd., Allahabad, 1954.

Introduction to Pancaratra and Ahirbudhnya Samhita—F.Otto Schrader, Adyar Library, Adyar, Madras, 1912.

Introduction to Tantrasastra—Sir John woodroffe, Ganesh & Co. Ltd., Madras 17, 1952.

Kabir and His Followers—Rev. F.E. Keay, Association Press, 5 Russel Street, Calcutta, 1931.

Language and Reality—Wilber Marshall Urban, London, George Allen & Unwin Ltd., Museum Street, 1939.

Mediaval Mysticism of India—Kshitimohan Sen, Luzak and Co., London, 1935.

Monograph on the Religious Sects in India among the Hindus—D.A. Pai, Bombay, the Times Press, 1928.

Mysticism in English Literature—C.F.E. Spurgeon, Cambridge, At the University Press, 1913.

Mysticism in Maharastra-S. K. Belvalkar and R. D. Ranade, Aryabhushan Press Office, Shaniwar Peth, Poona, 1933.

Mysticism in Religion—W.R. Inge, Hutchinson's University Library, 47, Princess Gate, London, New York.

Myths and Symbols in Indian Arts and Civilization—Heinrich Zimmer, edited by Joseph Campbell, Bollignen Series VI, New York. 1953.

Nathyoga—Aksayakumar Banerji, Publisher—Digvijaya Nath Trust, Gorakhpur.

Obscure Religious Cults—Dr. Shashibhushan Dasgupta, University of Calcutta, 1946.

Outlines of Hinduism—T. M. P. Mahadevan, Chetan Ltd., Bombay, 1956.

Pathway to God in Hindi Literature—R. D. Ranade, Published by Adhyatma Vidya Mandir, Sangali, Nimbal (R.S.) 1954.

Philosophy of Sikhism—Sher Singh, Sikh University Press, Lahore, 1944.

Poets and Mystics—E. .I. Watkins, Sheed and Ward, London and New York, First Published, 1953.

Principles of Tantra—Arthur Avalon, Ganesh & Co., Madras, 1952.

Ramanand to Ramatirtha--First Edition, G. A. Nateson & Co., George Town, Madras.

Studies in Indian Literature History, Vol. I—P. K. Gode.

Studies in the Tantras, Part I—Dr. Prabodha Chandra Bagchi, University of Calcutta, 1939.

The Archeological Survey of Myurbhanja, Vol.I—Narendra Nath Vasu, Published by the Mayurbhanja State, 1911.

The Bijak of Kabir—Translated into English by the Rev. Ahmad Shah, Published by the author at Hamirpur, U.P. 1917.

The Cols—K.A. Nilakantha Sastri, University of Madras, 1955.

The Cultural Heritage of India, Vol. IV. edited by Haridas Bhattacharya, Calcutta, the Ramkrishna Mission, Institute of Culture, 1956.

The Foundations of Indian Culture—Sri Aurobindo, The Aurobindo Library, inc. New York, 1953.

The Hindu View of Life—S. Radhakrishnan, London, New York, 1948.

The History of Bengal, Vol. I (Hindu Period) by R. C. Majumdar, Published by the University of Dacca, 1953.

The History of Orissa—Harekrishna Mahtab, Published by Lucknow University, 1947.

Theism in Mediaval India—J. E. Carpenter, The Hibbert Lectures, Second Series, London, Williams & Norgate, 14 Henritta Street, Gardner, W.C. 2, 1921.

The Meeting of the East and West in Sri Aurobindo's Philosophy—S. K. Maitra, Sri Aurobindo Ashram, Pondichery, 1956.

The Modern Buddhism and its followers in Orissa —Nagendra Nath Vasu, Published by the author, Bagbazar, Calcutta, 1911.

The Nigruna School of Hindi Poetry—Dr. Pitamber Datta Barthwal, The Indian Book Shop, Banaras, 1936.

The Philosophical Study of Mysticism—Charles A. Bennet, oxford University Press, March, 1931.

The Philosophy of Visistadvaita—P. N. Srinivasachari, The Adyar Library, Adyar, 1946.

The Post-Chaitanya Sahajiya Cult of Bengal—Manindra Mohan Bose, Published by the University of Calcutta, 1930.

The Religions of India—A. Barth, Translation by Rev. J. Wood, London, Trubner & Co., Ludgate Hill, 1882.

The Religions of India—A. P. Karmarkar, Mira Publishing House, Lonavla (India), 1950.

The Sikh Religion—Max Arthur Macauliffe, in six volumes, Vols. I, III, IV, V, VI, Oxford, at the Clarendon Press, 1909.

The Serpent Power—Sir John Woodroffe, Ganesh & Co., Madras, 1953.

Vaishnavism, Saivism and Minor Religious Systems —Sir. R. G. Bhandarkar, Stresburg, Verlog Vow Karl J. Trubner, 1913.

Research Journals

Indian Historical Quarterly—Vol. I, 1925, Vol. XVI, 1940.

Journal of the Department of Letter, Vol. XVII, 1928, Vol. XXVIII, 1935, University of Calcutta, Calcutta.

Journal of Royal Asiatic Society, 1922, Vol. XIII.

Journal of Royal Asiatic Society of Great Britain, 1918.

Proceedings and Transactions of the All India Oriental Conference, Twelth Session, B.H.U. 1943,-1944, Vol. II, (Published in 1946); Third Session at Madras, 1924.

Sarasvati Bhavan Studies, Vol. II, 1923, Vol. VI, 1927.

The Vishwa Bharati Quarterly—New Series, Vol. I Part IV, 1935-1936, 1952-53, Vol. XVIII and Vol. XIX, 1953-54.

University of Allahabad Studies, 1951, Part II, (Prose Section) Introduction to the Folk Literature of Mithila by Jayakanta Misra.

हिन्दी

आदि श्री गुरु ग्रंथ साहिब जी के धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्त—श्री जयराम मिश्र, आगरा विश्वविद्यालय, १९५५ में प्रस्तुत (अप्रकाशित स्वीकृत शोध प्रबंध के रूप में गृहीत, अब प्रकाशित)

उत्तरी भारत की संत परम्परा—पं० परशुराम चतुर्वेदी, भारती भंडार, प्रयाग, प्रथम संस्करण, संवत् २००८ वि०।

औरंगजेब—सर यदुनाथ सरकार, प्रकाशक, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बंबई, १९५०।

कबीर—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रकाशक, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, १९५०।

कबीर का रहस्यवाद—रामकुमार वर्मा, प्रयाग, गाँधी हिन्दी पुस्तक भंडार, मार्च, १९३१।

कबीर ग्रंथावली—सं० श्यामसुन्दरदास, नागरीप्रचारणी सभा, काशी, चतुर्थ संस्करण, सं० २००८।

कबीरपदावली—श्री रामकुमार वर्मा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, २००१।

कबीर वचनावली—सं० पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय, काशी नागरीप्रचारिणी सभा, १९८६।

कबीर साहब का बीजक—सं० हंसदास शास्त्री, महाबीरप्रसाद, कबीर ग्रंथ प्रकाशन समिति, बाराबंकी, सं० २००७।

कवीर साहित्य का अध्ययन—श्री पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव, प्रकाशक—साहित्य रत्नमाला कार्यालय, २० धर्मकूप, बनारस, सं० २००८।

कवीर साहित्य की परख—पं० परशुराम चतुर्वेदी, भारती भंडार, प्रयाग सं० २०११।

काव्यांग कौमुदी, तृतीय कला—पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, प्रकाशक—नंदकिशोर ब्रदर्स, वाराणसी, २०१४।

कोषोत्सव स्मारक संग्रह—सं० महा० पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा, प्रकाशक काशी नागरीप्रचारिणी सभा, सं० १९८५।

गोरखबानी (जोगेसुरी बानी, भाग १)—संपादक और टीकाकार—डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, द्वितीय संस्करण, २००३ वि०।

जायसी ग्रंथावली—सं० पं० रामचन्द्र शुक्ल, ना० प्र० सभा, काशी, पंचम संस्करण, २००८।

ज्ञानस्वरोदय—सद्गुरु कबीर साहब का, संपादक—दीवान श्री बालकदास जी गुरु श्री बल्लभदास जी साहब, प्रकाशक—कबीर धर्मवर्धक कार्यालय, ठि० सीयाबाग, कबीर साहब का मंदिर, बड़ौदा (गुजरात) सन् १९२८।

ज्ञानेश्वरी—अनुवादक श्री भगाड़े, अनु० पं० रघुनाथ माधव भगाड़े, इंडियन प्रेस, प्रयाग, १९५५।

तसव्वुफ अथवा सूफीमत—पं० चंद्रबली पांडेय, सरस्वती मंदिर, जतनबर, बनारस, १९४८, द्वितीय संस्करण।

तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य—नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, २०१५ वि०।

दरिया ग्रंथावली—संत कवि दरिया, एक अनुशीलन (प्रथम ग्रंथ)—डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, सं० २०११, सन् १९५४ ई०।

दादूदयाल की बानी—प्रथम एवं द्वितीय भाग, इलाहाबाद, बेल्वेडियर स्टीम प्रिंटिंग वर्क्स, बम्बई, सन् १९१४, प्रथम संस्करण।

दोहाकोश—सिद्ध सरहपाद कृत, सं० राहुल सांकृत्यायन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९५७ ई०।

नाथपंथ के हिन्दी कवि— एस० पी० चन्दोला (अप्रकाशित स्वीकृत शोध प्रबंध), जनवरी, ११५६, लखनऊ विश्वविद्यालय।

नाथ संप्रदाय—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उत्तरप्रदेश, इलाहाबाद, १९५०।

नाथसिद्धों की बानियाँ—प्र० सं० रुद्र काशिकेय, सं० डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, काशी नागरीप्रचारिणी सभा, प्रथम संस्करण, सं० २०१४।

पदमावत—संजीवनी व्याख्या सहित—वासुदेवशरण अग्रवाल, प्रकाशक—साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी, प्रथम संस्करण।

पुरातत्व निबंधावली—राहुल सांकृत्यायन, इंडियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद, १९३७।

प्राणसंगली—(प्रथम भाग) श्री गुरु नानक साहब रचित, बेल्वेडियर प्रेस, इलाहाबाद, १९१२, द्वितीय भाग, १९१३।

बीजक—टीकाकार विचारदास शास्त्री, प्रकाशक—रामनारायणलाल, इलाहाबाद १९५४ तीसरी बार।

बौद्ध धर्म दर्शन—आचार्य नरेन्द्रदेव, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना १९५७।

भागवत संप्रदाय—पं० बलदेव उपाध्याय, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, वि० सं २०१०।

भारतवर्ष में जातिभेद—आचार्य क्षितिमोहन सेन, साहित्यभवन लिमिटेड, इलाहाबाद, नवीन संस्करण. १९५२ ई०।

भारतीय मध्ययुग के संधिकाल का मनन—गोरखनाथ—श्री टी० एन वी० आचार्य, आगरा विश्वविद्यालय में १९४८ ई० में प्रस्तुत अप्रकाशित स्वीकृत शोध प्रबंध।

मकरंद (निबंधसंग्रह)—डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, अवध पब्लिशिंग हाउस, पानदरीबा, लखनऊ, (प्रकाशन वर्ष निर्दिष्ट नहीं)।

मराठी संतों के सामाजिक कार्य—डा० विष्णु भिकाजी कोलते, सोल एजेण्ट-हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई-४, पहली बार, १९५४।

मिश्रबंधुविनोद—मिश्रबंधु, प्रथमसंस्करण।

योगप्रवाह—डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, संपादक-संपूर्णानंद, प्रकाशक श्री काशी विद्यापीठ, बनारस, २००३, प्रथम संस्करण।

योगिसंप्रदायाविष्कृति—चन्द्रनाथ योगी, अहमदाबाद, १९२४।

रामचरितमानस—गीताप्रेस, गोरखपुर, द्वितीय संस्करण, सं० १९९९।

रामानंद की हिन्दी रचनाएँ—प्रधान संपादक डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, सं० स्व० डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, सं० २०१२ वि०।

रामानंद संप्रदाय और हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव—श्री बदरीनारायण श्रीवास्तव, आगरा विश्वविद्यालय, (अप्रकाशित स्वीकृत शोधप्रबंध), १९५४ में प्रस्तुत।

विचार विमर्श—पं० चन्द्रबली पांडेय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं० २००८।

श्री तुकाराम चरित—श्री लक्ष्मण रामचंद्र पांगारकर (अनुवाद), गीताप्रेस गोरखपुर, तृतीय संस्करण।

श्री भक्तमाल—गोस्वामी श्री नाभा जी कृत, श्री प्रियादास जी प्रणीत टीका कवित्त, श्री अयोध्यानिवासी श्री सीतारामशरणप्रसाद 'रूपकला' विरचित भक्तिसुधास्वाद तिलक सहित, लखनऊ, नवलकिशोर प्रेस में मुद्रित, सन् १९२६ (१९२५ ई०?)।

श्री भक्तमाल—नाभादास विरचित, प्रियादास कृत भक्तिरसबोधिनी टीका सहित, चौथी आवृत्ति, श्री वल्लभ हरिप्रसाद, बम्बई द्वारा प्रकाशित सन् १९२४।

संत कबीर—डा० रामकुमार वर्मा, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, १९५७ ई०।

संत काव्य—पं० परशुराम चतुर्वेदी, किताब महल, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९५२ ई०।

संस्कृति संगम—आचार्य क्षितिमोहन सेन, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, द्वितीयावृत्ति, १९५२ ई०।

सारनाथ—वासुदेवशरण अग्रवाल, भारतीय पुरातत्व विभाग, नई दिल्ली, १९५८।

सिद्ध साहित्य—डा० धर्मवीर भारती, किताब महल, इलाहाबाद, १९५५।

सुन्दर ग्रंथावली—प्रथम खंड, पं० हरिनारायण शर्मा, प्रकाशक—राजस्थान रिसर्च सोसायटी, कलकत्ता, १९६३।

सुन्दर सार—सं० श्यामसुन्दरदास, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, संग्रहकर्ता पुरोहित हरिनारायण बी० ए०। द्वितीय संस्करण।

सूफी काव्य संग्रह—सं० पं० परशुराम चतुर्वेदी, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग, प्रथम संस्करण।

सूफीमत साधना और साहित्य—श्री रामपूजन तिवारी, प्रकाशक—ज्ञानमंडल लिमिटेड, सं० २०११ ।

सूरदास—पं० रामचन्द्र शुक्ल, सं० पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, सरस्वती मंदिर, जतनबर, बनारस, चतुर्थ परिवर्द्धित संस्करण, २००५ वि० ।

स्वामी दादूदयाल की वाणी (अंगबंधू सटीक)—सं० चन्द्रिकाप्रसाद त्रिपाठी, वैदिक मंत्रालय, अजमेर, सन् १९०३ ।

हिन्दी और मराठी का संतकाव्य—प्रभाकर माचवे (अप्रकाशित स्वीकृत शोध प्रबंध) आगरा विश्वविद्यालय ।

हिन्दी काव्य में निर्गुण संप्रदाय—डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, अनुवादक श्री परशुराम चतुर्वेदी, संपादक भगीरथ मिश्र, अवध पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ २००७ ।

हिन्दी को मराठी संतों की देन—आचार्य विनयमोहन शर्मा, प्रका० बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, मार्च १९५७ ।

हिन्दी विश्वकोश—संपादक श्री नगेन्द्रनाथ वसु, तृतीय भाग, प्रकाशक नगेन्द्रनाथ वसु और विश्वनाथ वसु, ९ विश्वकोष लेन, बागबाजार, कलकत्ता, द्वितीय भाग, सन् १९१७ । तृतीय भाग १९१९ ।

हिन्दी साहित्य का आदिकाल—आचार्य डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९५२ ।

हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा, रामनारायण लाल, प्रयाग, १९५४ ।

हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, प्रवर्द्धित संस्करण, २००३ ।

हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास—प्रथम भाग, सं० राजबली पांडेय, काशी, नागरीप्रचारिणी सभा, सं० २०१४ ।

हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई १९५० ।

हिन्दी पत्रिकाएँ

कल्याण (योगांक), वर्ष १०, अंक १, गीता प्रेस, गोरखपुर ।

नागरी प्रचारिणी पत्रिका (त्रैमासिक), वैशाख १९९७, ओरियंटल कांफरेंस के हिन्दी विभागाध्यक्ष डा० बड़थ्वाल का 'हिन्दी साहित्य की निरंजन धारा' शीर्षक भाषण, बाद में मकरंद नामक निबंध संग्रह में भी प्रकाशित; १९९९ में डा० बड़थ्वाल का 'सुरति-निरति' शीर्षक लेख, भाग १४, अंक ४, भाग ४।

विश्वभारती पत्रिका—सं० २००६, वैशाख-आषाढ़, खंड ६, अंक २, अप्रिल-जून, १९४७, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखित 'कबीर के मूल वचन' शीर्षक लेख।

वीणा—माघ, सं० १९९४, सन् १९३८, वर्ष ११, अंक ४।

तृतीय अध्याय : सिद्धान्त-पक्ष

चतुर्थ अध्याय : काव्य-पक्ष

पंचम अध्याय : परवर्ती प्रभाव

ख
साधना-पद्धति (१)

सिद्धों ने चूंकि चित्त को ही वज्रसत्व का रूप और भगवान माना था और साधक को वज्र स्वभाव ग्रहण करने का आदेश दिया था अतः उनकी साधनापद्धति का केन्द्रविन्दु चित्त ही है जिसे वे संकल्पात्मक मोहजाल से मुक्त कर सहज रूप में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। जब तक चित्त में सहज-बोधि नहीं जाग्रत होती तब तक वह चंचल रहता है और काल में प्रवेश कर जाता है। उसे दृढ़ (वज्र-रूप) करना अभीष्ट है।[१] इस चंचल संकल्पाभिनिविष्ट चित्त[२] की उपमा भुसुकुपा चूहे से देते हुए कहते हैं—'अन्धेरी रात में चंचल उन्मुक्त मन रूपी मूषक स्वच्छन्द विचरण करता है। यह चंचल मूषक रूपादि स्कन्धों का भक्षण कर विनष्ट हो जाता है और अमृत-तत्व को भी दूषित कर देता है। इस पवन सरीखे चंचल मूषक को योगी लोग मार कर गमनागमन से मुक्ति पाते हैं। जब इस मूषक का मुक्त विचरण समाप्त होता है तभी भव-बन्धन से योगी मुक्त हो जाता है।'[३]

साधना का केन्द्र-विन्दु बोधिचित्त

किन्तु यही मूषकरूपी संकल्पाभिनिविष्ट चित्त जब नैरात्मज्ञान के प्रति जाग्रत होकर उपाय से समन्वित हो जाता है तो वह बोधचित्त हो जाता है और उसे सिद्ध नलिनीवन में प्रवेश करने वाले गजेन्द्र की उपमा देते हैं जो ज्ञानामृत पान कर पंच-इन्द्रिय-विषयों का नायक कामचारी बन जाता है।[४]

सिद्धों ने बोधिचित्त के दो रूप बताये हैं। पहला है प्रज्ञोपायात्मक मार्ग में प्रवृत्त होने के पूर्व, जो सम्वृत्त और स्पन्द रूप है और दूसरा प्रज्ञोपायात्मक मार्ग में प्रवृत्त होने के बाद, जो चित्त का वज्र-रूप है।

इसी को संधाभाषा में उलटवाँसी शैली में ढेण्ढणपा बैल द्वारा प्रसव और गो के बन्ध्यात्व के रूपक में अभिव्यक्त करते हैं। अर्थात जब तक बोधिचित्त नैरात्म्य से संग नहीं करता तब तक वह बलद के रूप में रहता है और उससे संसार उत्पन्न होता रहता है। जब वह ज्ञान प्राप्त कर ख-सम या नैरात्मा रूप गाय हो जाता है तब वह संसार का उच्छेद कर बन्ध्या हो जाता है। बोधचित्त के पहले रूप को सांवृत स्पन्द रूप कहा गया है।[५] इन दोनों विशेषणों को समझ लेना आवश्यक है। सम्वृत सत्य परमार्थ सत्य के विपरीत भवज्ञान रूपी सत्य को कहते हैं।[६] इस अवस्था में बोधिचित्त संसार-लिप्त और सम्वृत रहता है। स्पन्द के अर्थ 'चलनशील' हैं। 'स्पन्द' वास्तव में त्रिकूवादी काश्मीरी शैवों का शब्द है।[७] और अभिनवगुप्त इससे मन की उस अवस्था का बोध कराते हैं जिसमें वह 'किंचिच्चलनशील' रहता है और अहम्-संलग्न होने के कारण उसमें नानात्व का आभास रहता है।[८] सिद्ध 'स्पन्द' शब्द का अर्थ 'किंचिच्चलनशील' ही लेते हैं और क्योंकि चलनशील चित्त से उनका तात्पर्य भव-निमज्जित चित्त से है। अतः साम्वृत स्पन्द रूप में भी बोधिचित्त में थोड़ी सी चंचलता या भवचेतना रह जाती है जिनके कारण उसके च्युत होकर साधनास्खलित होने का भय रहता है। काण्हपा ने स्पष्ट कहा है कि शुक्रद्रवाकार विमल सलिल रूपी बोधिचित्त भी सूख जाता है यदि उसमें कालाग्नि पैठ जाय।[९] किन्तु इस साम्वृत स्पन्द शुक्रद्रवाकार चित्त को नैरात्म्यज्ञान रूपी रज से युक्त कर देने पर यही चित्त 'वज्र' हो जाता है।[१०] इस प्रज्ञोपाय युगनद्ध के कारण इसको सहज-चित्त भी कहते हैं।

विज्ञानवाद में चित्त को भवजाल से मुक्त कर करुणा से समन्वित कर साधना के लिये अग्रसर करने की प्रणाली को समुत्पाद कहा जाता था। उसको वे साधना का महारम्भ, चित्त का महाउदय तथा साधक का महाउत्साह कहते थे।[११] इस समुदित करुणा-समन्वित महा-चित्त के लिये वे पृथ्वी, रत्नाकर, चिन्तामणि, नौका तथा मेघ आदि के रूपकों[१२] का प्रयोग करते थे जिसमें से कई अप्रस्तुत सिद्धों ने भी अपने चर्यापद में प्रयुक्त किये हैं।[१३] किन्तु समुत्पाद की भावना सिद्धों के साहित्य में इस रूप में नहीं आती। केवल एक स्थान पर चित्त-वृत्तियों के अस्त के बाद शीतल रजनी का उदय चित्रित है, वह रजनी प्रज्ञा या शून्य की

रजनी है, उसी को प्रज्ञाज्ञानाभिषेक-दान का समय भी कहते हैं। उसी में कमल या महाउष्णीष कमल का विकास होता है।[१४] इसी रात्रि के कारण बोधिचित्त की नवचन्द्र के रूप में कल्पना की गई है।[१५]

सिद्धों ने इस बोधिचित्त समुत्पाद के लिये चार शब्द प्रयुक्त किये हैं। पहला है 'विशोधन' दूसरा है 'हनन्'। इन दोनों के पीछे एक तान्त्रिक परम्परा थी जैसा हम आगे देखेंगे। इनके अतिरिक्त कहीं कहीं 'स्थिरीकरण'[१६] या 'दृढ़ीकरण'[१७] का भी प्रयोग है। 'स्थिरीकरण' तो चित्त की चपलता के कारण प्रयुक्त है। इस चंचलता का उल्लेख पहले किया जा चुका है। उसे दृढ़ भी इसीलये कहा गया है कि बोधिचित्त च्युत नहीं होता।

चित्त-विशोधन

किन्तु सिद्धों ने जिस शब्द का विशेष प्रयोग किया है वह है 'चित्त विशोधन'। सरहपा इस चित्त को महासुख द्वारा शोधनीय बताते हैं।[१८] तिल्लोपा भी चित्त को सहज ज्ञान से शोधित करने का उपदेश देते हैं[१९] और दोनों ही इसके द्वारा मोक्ष की सिद्धि बताते हैं।

यह 'विशोधन' शब्द वास्तव में रसायन शास्त्र और उस पर आधारित वज्रयान में प्रयुक्त प्राचीन परम्परागत शब्द है जो तान्त्रिक सम्प्रदायों में पारे के विशोधन तथा उसके द्वारा काया के अजरत्व और अमरत्व की प्राप्ति के सन्दर्भ में प्रयुक्त होता था।[२०] पिछले अध्यायों में हम देख चुके हैं कि रसेश्वर सम्प्रदाय में अभ्रक को पार्वती का रज तथा पारे को शिव का शुक्र मानकर रस साधना की जाती थी और उससे अमर शरीर की प्राप्ति की कल्पना की जाती थी। रसेश्वर सम्प्रदाय की प्राचीनता के किसी निश्चित प्रमाण के अभाव में यह कहना तो उचित न होगा कि सिद्धों ने यह कल्पना रसेश्वर सम्प्रदाय से ग्रहण की है, किन्तु धातुओं के विशोधन द्वारा अमरत्व या स्वर्ग की प्राप्ति की परम्परा से ही यह शब्द सिद्धों ने तथा उनके समकालीन आचार्यों ने ग्रहण किया है, इसमें कोई सन्देह नहीं। कहीं कहीं तो उन रासायनिक प्रक्रियाओं का भी स्पष्ट उल्लेख मिलता है जिनमें रस स्पर्श से ताम्र के स्वर्ण बनाने का या मधु तथा घृत के रसायन रूप सेवन का विधान है।[२१]

सिद्धों ने इसको दूसरे अर्थ में प्रयुक्त किया है। बुद्ध की तीन कायाओं में से परम्परागत सर्वमान्य धर्मकाया धर्म-धातु से निर्मित होती है। धर्मधातु अजर,

अमर तथा अक्षय है। मन को बुद्ध की धर्मकाया तथा सहजकाया में लीन होकर बुद्धत्व ग्रहण करने का उपदेश बराबर सिद्धों ने दिया है।[२२] इस विशोधन प्रक्रिया से चित्त धर्मकाया में लीन हो जाता है, निःस्वभाव हो जाता है और उसे सहजकाया में अमरता प्राप्त हो जाती है। अमरता वास्तव में मरण का निषेध है और मरण केवल शून्यता के अज्ञान से होता है। शून्यता के ज्ञान के पश्चात् तो साधक जान जाता है कि न मरण है न उत्पत्ति, 'प्रतीत्य समुत्पाद' के सिद्धान्त से सभी वस्तुएं निस्वभाव हैं, नैरात्म्य हैं। इसी ज्ञान के द्वारा[२३] धर्मधातु में प्रवेश करना ही अमरत्व है। अतः रसायन शास्त्र में धातुओं के परिशोधन को सिद्धों ने बुद्ध-काया के धातु परिशोधन के अर्थ में ग्रहण किया है।

किन्तु यह परिशोधन की क्रिया बड़ी ही भ्रान्तिपूर्ण है और जो इसे भली भाँति नहीं जानता है वह नष्ट हो जाता है। इसीलिये सरहपा साधकों को चेतावनी देते हुए कहते हैं कि 'ओ वत्सो इस रसरसायन का भेद तो पहले समझ लो। सब लोग तो उसे पढ़ते मात्र हैं उसका शोधन कोई भी नहीं जानता।[२४] वास्तव में अजर अमर वह है जो जीवन का उपभोग करते हुए भी वृद्ध नहीं होता'।[२५] इसीलिये काण्हपा कहते हैं कि जो सहज में अपने मन को निश्चल कर लेता है वह सिद्ध होता है और उसे जरामरण का भय नहीं रहता। महामुद्रा से संग करने के लिये ऐसा ही रसायन सिद्ध समर्थ है।[२६]

किन्तु लोकप्रचलित धातु को स्वर्ण बनाने वाली रसायन साधना को सिद्ध लोग त्याज्य समझते थे क्योंकि वास्तविक धातु तो धर्मकाया की धर्मधातु है। इसीलिये सरहपा अपने चर्यापद में कहते हैं कि :

'लोक स्वतः निर्वाण और भव की रचना करते हैं और उसमें बँधकर फिर दुखी होते हैं। जो नैरात्म्यज्ञान को जानता है वह मरण और जन्म में कोई अन्तर नहीं समझता। अतः वह अमर हो जाता है। जो जन्म और मरण की भ्रान्ति में पड़ा रहता है ऐसा योगी ही लौकिक स्वर्ण-सिद्धि के लिये रसायन शोध में पड़ा रहता है।[२७] वास्तव में यह तो नैरात्म्यज्ञान के रस द्वारा चित्त के विशोधन की प्रक्रिया है। यह नैरात्म्यज्ञान का रस बहुत रहस्यमय है। इसीलिये सरहपा पुनः कहते हैं कि पुत्रों यह तो प्रज्ञोपाय या सहज-तत्व रूपी विचित्र रस है इसका वर्णन ही नहीं हो सकता।'[२८]

विशोधन के अतिरिक्त सिद्धों द्वारा प्रयुक्त दूसरा शब्द है हनन् अर्थात्

मन का हनन्। चर्यापदों की रूपक-प्रधान शैली में चित्त के हनन् को चंचल मूषक के हनन् तथा शतरंज की गोटी के हनन् के रूपकों में व्यक्त किया गया है। भुसुकुपा इस चंचल चित्त रूपी मूषक को मारने का आदेश योगियों को देते हैं ताकि वे 'अवणा गवणा' से मुक्ति पा सकें।[२९] कृष्णपा करुणारूपी पीढ़िका पर साधनारूपी शतरंज खेलते हुए ठाकुर को मति द्वारा (वज़ीर द्वारा) पराजित करने का उल्लेख करते हैं।[३०] मति के अर्थ टीका में प्रज्ञापारमिता ज्ञान तथा ठाकुर का अर्थ चित्त बताया गया है। चित्त रूपी ठाकुर के मारे जाने का अर्थ है चित्त का परि-निर्वाण में स्थित होना।[३१] तिल्लोपा अपने दोहों में निर्वाण द्वारा चित्त का हनन् कर उसे मारने का उपदेश देते हैं।[३२] जब वह मर जाता है तब वह पवन में लीन हो जाता है।[३३] महामुद्रा की साधना के लिये इस चित्त का मारना और निर्मूल कर देना अनिवार्य है।[३४] इस प्रसंग में मारने या हनन् करने का भी एक परम्परागत रासायनिक अर्थ ही है।

चित्त का हनन्

रसेश्वर सम्प्रदाय में परम्परागत रासायनिक प्रक्रियाओं के आधार पर मन को पारद की संज्ञा दी गई थी। वह चंचल है। उसे बद्ध कर उस को मृत कर दिया जाता था और विशोधन की प्रक्रिया से स्थिर और निश्चल हो जाने वाले पारे को मूर्छित, और शुद्ध पारा कहते थे और तब उसका अभ्रक से संयोग कराया जाता था जो गौरी का रज है।[३५] इस पारे के हनन और विशोधन में पवन विशेष साधन था। पवन में लीन बद्ध-पारा मनुष्य साधक को उड़ने की शक्ति दे देता था। सिद्धों ने भी मृत चित्त की पवन में लीन होने की बात कही है। जिससे उनका अर्थ वज्र चित्त को कमल तक ले जाने वाली श्वास-प्रक्रिया से है। तथा मृत्यु का विकल्प करने वाले इस चित्त को खेचरी पद भी प्राप्त हो जाता है। बौद्ध अष्ट महासिद्धियों में भी रसरसायन के बाद ही खेचरी की गणना की गई है। इससे स्पष्ट है कि चित्त के हनन से भी सिद्धों का तात्पर्य रसायनिक प्रक्रिया में वर्णित पारे के रूपक से चित्त को हठयोग में प्रवृत्त करना है।

अमनसिकार

पुरानी बौद्ध परम्परा में इसी प्रक्रिया को अमनस्कार, या अमनसिकार साधना कहते थे। सिद्धों ने इस शब्द को भी अपनाया है और उसका प्रचुर प्रयोग किया है। प्रबुद्ध साधक को उन्होंने स्वतः को 'भवभंजन अमनसिकार' मानने का उपदेश दिया है।[३६]

१३

इस अमनस्कार साधना का योगाचार में ही विधान मिलता है। असंग के महायान-सूत्रालंकार में ही अमनसिकार प्रणाली का विवेचन है।[३७] इस अमनसिकार की व्याख्या करते हुए हरिभद्र कहते हैं कि यह बोधिसत्व मन का स्वभाव है।[३८] अमनस्कार के अर्थ वास्तव में 'मनस्कार' का विरोधी स्वभाव है। मनस्कार की कल्पना महायानी सम्प्रदायों में इस प्रकार विकसित हुई है। सर्वास्तिवादी मनस्कार को दशभूमिक चैत्त धर्मों में से एक मानते थे जिसका अर्थ था सांसारिक कार्यों में प्रवृत्त होना।[३९] विज्ञानवादियों ने इसे व्यापक चैत्त धर्मों में से प्रमुखतम तथा सर्वप्रथम माना और वह केवल एक प्रवृत्ति न रह कर मन की सभी वृत्तियों को परिचालित करने वाली मूल प्रवृत्ति के रूप में स्वीकार की गई।[४०] अतः अमनसिकार साधना का उपदेश दिया गया जिसके द्वारा वह उस मूल मनस्कार वृत्ति से छुटकारा पा जाता है जो पंचस्कन्धादि चित्त के विकार रूपी संसार में बोधिसत्वों को प्रवृत्त करती है।

सिद्धों के टीकाकार भी इसकी अमंन संज्ञा देते हैं और इसकी व्याख्या 'न मनसिक्रियते इति अमनसिकारः' इस प्रकार कहते हैं।[४१]सरहपा भी इस मन को 'अमन' करने का उपदेश देते हैं और सहज स्वभाव में स्थित करने का उपदेश देते हैं।[४२]

किन्तु यह अमनस्कार की साधना केवल निषेधात्मक साधना नहीं थी। इसके बाद साधक विरक्त नहीं होता था। वह फिर भी विषयों में रमता था, समस्त कार्यों में भाग लेता था किन्तु विशुद्ध मन से। इसके लिये वे प्रख्यात परम्परागत जल और कमल की उपमा देते थे। सरहपा कहते हैं कि विषयों में रमण करते हुए भी विषयों में लिप्त न हो जैसे उत्पल जलतरंगों पर विकसित होता है किन्तु जल से निर्लिप्त रहता है।[४३]

राग और महाराग

वास्तव में सिद्धों के मार्ग में कहीं भी मन की वृत्तियों को सर्वथा निर्मूल कर वैराग्ययुक्त निवृत्तिमय साधना का उपदेश नहीं है। वे जीवन को ज्यों का त्यों स्वीकार करना चाहते थे और राग का शुद्ध रूप पहचानने का आग्रह करते थे। इसीलिये उन्होंने सांसारिक राग का तो परित्याग करने का उपदेश दिया ही है किन्तु निवृत्तिमूलक, निषेधात्मक, निराशावादी विराग को भी बन्धन का कारण बता कर उसके भी परित्याग का उपदेश दिया है।[४४] इस प्रकार सांसारिक राग का[४५]

परित्याग कर और विराग का भी परित्याग कर उस राग का स्वरूप पहचानना चाहिये जो मोक्ष का कारण है। वह राग उस तरुणी महामुद्रा ज्ञानरूपी प्रज्ञा के प्रति स्नेह के रूप में है, उसके बिना इस जन्म में तो बोधि की उपलब्धि नहीं हो सकती और न बोधिचित्त की साधना हो सकती है।[४६] क्योंकि बोधिचित्त तो शून्यता और करुणा के अद्वय से सिद्ध होता है और राग ही करुणा है।[४७] यदि राग नहीं रहा तो केवल शून्यताज्ञान कुछ नहीं कर सकता। संबोधि का वास्तविक लक्षण तो महाराग ही है।[४८] राग करुणा का प्रतीक होने से वज्र है, उपाय है और महामुद्रा की साधना उसके बिना सम्पन्न नहीं हो सकती।[४९] चूँकि राग करुणा का प्रतीक है और शून्यता से संग करने के लिये उन्मुख है अतः उसे वज्र राग कहा गया है।[५०] जो वज्र स्वभाव धारण कर लेता है, उसे यही वज्र राग (महामुद्रा के प्रति अनुरक्त होने से महाराग) बन्धन से मुक्त कर देता है, यद्यपि यही राग सांसारिक बुद्धि से ग्रहण किये जाने पर बन्धन का कारण होता है। इस प्रकार राग को सिद्धों ने राग द्वारा ही परिशमित करने का प्रयास किया था। यही उनके जीवन-दर्शन की मूल भित्ति थी।[५१]

किन्तु इस महारागयुक्त सहज-बोधि का समुत्पाद गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान के बिना असम्भव है। इसीलिये सिद्धों की साधना पद्धति में समस्त तान्त्रिक पद्धतियों की ही भाँति गुरु का अद्‌भुत महत्व है। गुरु के प्रति अपनी अटल भक्ति का प्रमाण सिद्धों ने कई प्रकार से दिया है। तिलोपा कहते हैं कि समस्त लोक तथा पंडितों के लिये भी परमतत्व अगम अगोचर है। किन्तु गुरु के प्रसन्न होने पर कौन ऐसी वस्तु है जो अगम रह जाय।[५२] आगमन तथा निगमन से रहित 'तथता' केवल गुरु के ही उपदेश से हृदय में प्रविष्ट हो सकती है।[५३]

गुरु

सरहपा भी सद्‌गुरु के वचनों से ही परम गुह्य सत्य का स्फुट रूप से प्रतिभासित होना मानते हैं।[५४] वह परम तत्व इस प्रकार नहीं दीख पड़ता किन्तु केवल एक गुरु ऐसे हैं जो उसे प्रदर्शित कराते हैं।[५५] साधक तो मूर्ख बालक के समान है जो जगतप्रवाह में बहता चला जा रहा है किन्तु यदि गुरु के वचन हृदय में प्रवेश कर जायं तो निश्चित रूप से साधक को इष्ट हस्तगत हो जाता है।[५६] जहाँ इन्द्रियाँ अपना धर्म छोड़ कर प्रज्ञोपाय में विलयित हो जाती हैं उस सहज तनु, उस महासुखकाया का भेद गुरु से ही पूछ कर स्पष्ट जाना जा

सकता है।[५७] केवल गुरु के वचनों से ही सत्य पर प्रत्यय किया जा सकता है।[५८] यही नही साधना पद्धति में भी गुरु की सहायता अनिवार्य है। गुरु द्वारा प्रदत्त बोध से ही चित्त का निरोध और पवन का श्वास निरोध होता है।[५९] गुरु के उपदेश से ही साधक अजर और अमर हो जाता है।[६०] विरले ही यह भेद जानते हैं कि गुरु के उपदेशों से ही पुण्यों की प्राप्ति होती है।[६१] वास्तव में सद्गुरु के वचन तो भवसागर के पार उतारने वाली नौका के पतवार है जिन्हें धारण कर साधना प्रारम्भ की जाती है।[६२]

शबरपा अपनी रूपक शैली में गुरु के वचनों को धनुष मानते हैं जिस पर उन्होंने अपने बोधिचित्त रूपी बाण का सन्धान कर एक ही बार में भव और निर्वाण दोनों को वेध दिया है।[६३] लुईपा भी समस्त ज्ञान की गुरु से ही प्राप्ति बताते हैं।[६४] काण्हपा भी वज्ररूपी कुठार से भवरूपी वृक्ष का उन्मूलन करने का पक्ष लेते हैं।[६५]

सिद्धों के उपरोक्त कथनों का विश्लेषण करने पर हम पाते हैं कि गुरु के महत्व के निम्नलिखित कारण हैं:

क. गुरु जगतप्रवाह में बहते साधक को निरुद्ध कर लेता है।

ख. जो तत्व शिष्य अपनी अज्ञानता के कारण नहीं ग्रहण कर पाता वह गुरु की प्रसन्नता से सहज में ही प्राप्त हो जाता है।

ग. साधना में गुरु के वचन पतवार के समान रहते हैं। वह शिष्य की साधना का निर्देशन करता रहता है।

इन्हीं कारणों से सिद्धों ने गुरु का नाम सदैव बड़े आदर से लिया है। 'वरगुरुपाद'[६६] या 'श्री गुरुनाथ'[६७] का प्रयोग तो मिलता ही है, सरहपा एक स्थान पर गुरु को तथागत वज्रधर बताते हैं।[६८] अतः शिष्य को उनके चरणों की आराधना करनी चाहिये[६९] और उनके प्रति अटल भक्ति रखनी चाहिये। गुरु के सामने मुग्ध बालक की भाँति सरल चित्त से रहना चाहिये तभी सहज, उल्लास की अनुभूति होती है।[७०]

सिद्धों में गुरु के प्रति यह अटल भक्ति तान्त्रिक होने ही के नाते थी, बौद्ध होने के नाते नहीं। क्योंकि बौद्धों में संघ को महत्व दिया गया था। गुरु को इतना महत्व नहीं मिला था। कहा जाता है कि एक बार बुद्ध से किसी ने पूछा

कि आपका गुरु कौन है तो उन्होंने उत्तर दिया था 'मैंने सबको पराभूत कर लिया है, मैं सर्वविद् हूँ, सब धर्मों में निर्लिप्त हूँ, सब का मैंने परित्याग किया है, मेरी समस्त तृष्णाओं का क्षय हो चुका है। किन्तु यह सब मेरे निजी अभिज्ञान का फल है, इसमें किसी के उपदेश का क्या। मेरा गुरु कौन है ?'[७१]

किन्तु ज्यों ज्यों महायानी परम्परा में बौद्ध धर्म तर्कशीलता छोड़ कर साधना और अनुभूति-परक होता गया त्यों त्यों बौद्ध धर्म में गुरु का महत्व बढ़ता गया। समस्त तान्त्रिक साधनाओं में गुरु का विशेष महत्व है क्योंकि तन्त्र, योग तथा अनुष्ठानों को विशेष महत्व देते हैं। ये योग और अनुष्ठान दुरूह तथा अगम्य हैं और अज्ञानी व्यक्ति इनकी साधना नहीं कर सकता। साधना की इस दुरूहता के अतिरिक्त गुरु की महत्ता में इस अद्भुत वृद्धि का एक दूसरा रहस्य भी है। तन्त्र-सम्प्रदाय नये सम्प्रदाय थे और उनके प्रवर्तक अधिकांश या तो अब्राह्मण थे या ऐसे ब्राह्मण जो कर्मकाण्डी वैदिक ब्राह्मणों द्वारा हेय समझे जाते थे। अतः अपनी स्थिति सुदृढ़ बनाने के लिये और अपने प्रतिद्वन्दी वैदिक ब्राह्मण आचार्यों को पराजित करने के लिये उन्होंने अपने सम्प्रदाय और अपने शिष्यों का समुचित संगठन करना चाहा होगा जो गुरु के प्रति अटूट श्रद्धा के बिना असम्भव है। यह प्रतिद्वन्द्विता कभी कभी जातीय और कभी कभी स्थानीय आधार पर चलती होगी। यही कारण है कि तन्त्र कई क्रान्ताओं[७२] में विभाजित थे और कहीं कहीं तन्त्रों में इस प्रकार के भी निर्णय मिलते हैं कि कहाँ के गुरु श्रेष्ठ होते हैं।[७३] उस प्रदेश के अतिरिक्त प्रदेशों के गुरु द्वितीय अथवा तृतीय श्रेणी के बताए गए हैं।

बौद्धों में ज्यों-ज्यों तान्त्रिक प्रवृत्तियों का प्रवेश होता गया त्यों त्यों गुरुओं का महत्व बढ़ता गया। साधना की प्रमुखता के साथ साथ साधना के निर्देशक गुरु का महत्व बढ़ना स्वाभाविक है। अनंगवज्र ने तो गुरु की महत्ता का कारण ही यह बताया है कि वे साम्नाय होते थे अर्थात् विभिन्न आम्नायों का भेद जानते थे और अपने आम्नाय में शिष्य को दीक्षित कर वे उसे निर्वाण और भव दोनों से विमुक्त कर प्रज्ञोपायात्मक सहज सुख में प्रतिष्ठित कर देते थे। वसुधातल पर यह तत्व केवल गुरु जानता है। अतः सिद्धि के लिये उसकी उपासना करनी आवश्यक है।[७४] इसलिये तत्व-रत्न वही प्राप्त करते हैं जो आम्नाय में दीक्षित होकर वज्राचार्यों की उपासना करते हैं।[७५] गुह्य-समाज-तन्त्र में तो प्रत्येक तथागत का भी एक वज्राचार्य बताया गया है और वे तथागत उसकी पूजा करते हैं।[७६]

क्योंकि तथागत तो केवल बुद्ध हैं जब कि गुरु बुद्ध भी है, संघ भी है, धर्म भी है।[७७] इसीलिये आर्यदेव ने उसकी छाया का उल्लंघन भी वर्जित ठहराया है।[७८] ऐसे गुरु के प्रति श्रद्धा आवश्यक है क्योंकि जैसे जलमणि मलिन जल को भी स्वच्छ कर देती है उसी प्रकार गुरु के प्रति श्रद्धा-रूपी मणि भी चित्त को विशुद्ध कर देती है।[७९] इस प्रकार यह चित्त-विशुद्धि बिना गुरु के असम्भव है और इसीलिये गुरु का इतना महत्व है।

किन्तु इसके साथ ही साथ सिद्ध स्पष्ट संकेत करते हैं कि गुरु वही होना चाहिये जो सहज साधना में निष्णात हो या अनंगवज्र के शब्दों में प्रज्ञोपायोपदेशक हो, अन्यथा गुरु और शिष्य दोनों की वैसी परिस्थिति होगी जैसे अन्धा अन्धे को खींचता है और दोनों कूप में जा गिरते हैं।[८०]

शिष्यों अथवा साधकों की विभिन्न अवस्थाएं बताई गई हैं और उन्हीं के अनुसार साधनाओं का विधान गुरु करता था इसकी ओर हम पहले संकेत कर चुके हैं। इस विभिन्न क्रमिक अवस्थाओं की ओर पूरी तान्त्रिक

वाह्य अनुष्ठान परंपरा का ध्यान था। वैष्णव संहिताओं में ही पूरी साधना पद्धति को चार पादों या चरणों में विभाजित किया गया था, ज्ञान, योग, क्रिया तथा चर्या। वज्रयान में कुछ क्रमान्तर से ये ही चारों पद्धतियाँ मिलती हैं और उन्हीं के आधार पर वज्रयान की प्रमुख शाखाएं परिकल्पित की गई हैं।[८१]

हिन्दी के कुछ विद्वानों का यह विचार है कि 'सिद्धों ने इस समस्त क्रिया और चर्यासाधना के मन्त्र, तन्त्र, देवपूजा आदि का प्रबल विरोध कर केवल सहज जीवन-पद्धति पर विशेष आग्रह किया। सिद्ध समस्त वाह्य अनुष्ठानों में एकदम विश्वास नहीं करते थे...और किसी प्रकार की पूजा अर्चा में विश्वास नहीं करते थे।'[८२] कुछ विद्वान सहजयान की परवर्ती अवस्था में उसमें तन्त्र मन्त्र का प्रवेश मानते हैं और सरहपा को इन सभी 'पाखण्डों' का विरोधी मानते हैं।[८३] उनके इस मत का आधार दोहाकोष में स्थान-स्थान पर की गई मन्त्र-तन्त्र, देवता, पूजा आदि की कठोर आलोचना है जो सरहपा, तिलोपा तथा कारहपा में एक समान मिलती है।[८४] किन्तु उस समय सिद्धों की साम्प्रदायिक परिस्थिति और तान्त्रिक सम्प्रदायों की अतान्त्रिक सम्प्रदायों और एक तान्त्रिक सम्प्रदाय की दूसरे तान्त्रिक सम्प्रदायों से जो द्विविध प्रतिद्वन्द्विता चल रही थी उसकी पृष्ठभूमि में देखने से

यह आलोचना सिद्धान्ततः सभी देवताओं, मन्त्रों, मण्डल-चक्रों और तन्त्रों की आलोचना न होकर अपने देवता, मंत्र, मण्डल-चक्र और तन्त्रों को उचित प्रमाणित करने के लिये दूसरे सम्प्रदायों के देवता, मंत्र, मण्डल-चक्र और तन्त्रों की आलोचना सिद्ध होती है,[८५] जिस पर हम आगे विस्तार से विचार करेंगे।

इसका एक पहलू और है। सिद्धों की पद्धति प्रज्ञोपाय योग की पद्धति थी अतः वे वाह्य पद्धतियों के बौद्ध रूप को बहुत सीमा तक स्वीकार करते हुए भी अन्तर्साधना या चित्त साधना पर विशेष बल देते थे। इसीलिये उन्होंने तत्वज्ञान के बिना की जाने वाली क्रिया और चर्या को निष्फल ठहराया है।[८६] किन्तु उस का सर्वथा निषेध-परक अर्थ नहीं लिया जा सकता क्योंकि न केवल सिद्ध वरन् अन्य तान्त्रिक आचार्यों ने भी सांकेतिक अर्थ से विहीन अपनी पद्धति के अनुष्ठानों का भी उतना ही विरोध किया है जितना अन्य सम्प्रदायों के अनुष्ठानों का। तन्त्रों में एक स्थान पर कहा गया है कि यदि केवल मद्यपान से मुक्ति मिल जाती तो सभी मद्यपी मुक्त हो जाते। यदि केवल स्त्री संग से मुक्ति मिलती तो संसार में कौन है जो मुक्ति से बच जाता। तन्त्रों का पथ इतना सरल नहीं है। वह खड्गधार पर चलने के समान है।[८७]

जब वे अनुष्ठानों का विरोध करते थे तब उनका तात्पर्य प्रज्ञोपाय की चेतना से रहित 'वाह्य' अनुष्ठानों से था क्योंकि प्रज्ञोपाययुक्त नैरात्म-स्वभाव के अनुष्ठान तो वाह्य रहे ही नहीं। यह तर्क हमें सरहपा के दोहाकोष की अद्वयवज्र द्वारा की गई टीका में कई जगह मिलता है। अद्वयवज्र ने ही अपने ग्रन्थों में अन्यत्र इन वाह्य अनुष्ठानों के पक्ष में काफी तर्क दिये हैं। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है कि यद्यपि अन्ततोगत्वा शुभ तथा अशुभ में कोई अन्तर नहीं, फिर भी शुभ अनुष्ठान सुखद ही होते हैं जैसे जल में बिम्बित चन्द्र सुखद ही होता है, दुखद नहीं। अन्य स्थान पर उन्मत्त व्रती के लिये भी उन्होंने आदि कर्मों का विधान किया है और यदि कोई यह तर्क दे कि संसार नश्वर है, वाह्य अनुष्ठान व्यर्थ हैं तो उसका यह तर्क नास्तिक चार्वाक मत के अन्तर्गत आयेगा, वज्रयान के अन्तर्गत नहीं।[८८]

किन्तु इसके विरुद्ध यह तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है कि संभव है सरहपा का यह तर्क न रहा हो, यह तर्क टीकाकार का है जो सरहपा के बाद हुआ जब सहजयान में मन्त्र तन्त्र फिर अपना लिये गये हों।[८९] किन्तु हमें कई स्थानों पर सरहपा के ही दोहों में वाह्य अनुष्ठानों का संकेत मिलता है और वाह्य प्रमाण

तो इस बात के यथेष्ट मिलते हैं कि सरहपा तथा सिद्धों की पूरी परम्परा मन्त्र तन्त्र में निष्णात थी। पहले हम बाह्य प्रमाणों पर विचार करेंगे।

पंच तथागत तथा उनके पाँच कुलों से उद्भूत अगणित बौद्ध देवी देवताओं के पूजन आदि की विधियों के कुछ संग्रह साधनमाला में हैं। उनमें से बहुत सी साधनाएँ ऐसी हैं जिनके सिद्धों के द्वारा रचित होने का उल्लेख मिलता है। यदि हम उनमें से उन सिद्धों की गणना न भी करें जिनकी रचनाएँ दोहा-कोष और चर्यापद में नहीं मिलती हैं तो भी कई महत्वपूर्ण सिद्ध हैं जिनकी साधनाएँ उस संग्रह में प्राप्य हैं।

स्वतः सरहपा के नाम की दो साधनाएँ 'त्रैलोक्यवशंकर लोकेश्वर' के प्रति मिलती हैं। उनमें से पहली तो उनके द्वारा रचित बताई गई है[९०] और दूसरी उनके द्वारा ओड्डियान क्रम में अवतरित बताई गई है।[९१] ये साधनाएं वास्तव में सरहपा द्वारा ही रचित हैं, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता लेकिन यह साधना सरहपा ही के नाम की है इसका कोई कारण तो होगा ही।

शबरपा कृत सित कुरुकुल्ला साधना[९२] प्राप्त होती है जिसमें सिद्ध शबरपा का एक दोहा भी प्राप्त है।[९३] इसी प्रकार विरुपाक्ष कृत एक साधना महाकाल के प्रति मिलती है[९४] कुक्कुरीपा महामाया साधन[९५] के लेखक हैं और तिब्बती अनुश्रुतियों के अनुसार वे महामाया तन्त्र के प्रवर्तक भी थे। इसी प्रकार कृष्ण-पाद द्वारा कृत कुरुकुल्ला साधना प्राप्त है जिसमें सर्पों के विष-मोचन का भी साधन बताया गया है।[९६] कोंकणपा की एक साधना में शव पर आसीन होकर मन्त्र जाप का विस्तृत विधान मिलता है।[९७] यदि हम इन साधनाओं को इन सिद्धों द्वारा रचित न भी मानें तो ये उनके आम्नाय से सम्बन्धित थीं इसमें संदेह नहीं किया जा सकता।

बाह्य अनुष्ठानों की दृष्टि से अगर हम इन साधनाओं का परीक्षण करें तो क्या है जो हमें इन साधनाओं में नहीं मिलता है। देवी देवताओं के भयो-त्पादक विचित्र रूप, वेशभूषा, वाहन, मुद्राएं और विन्यास, पूजा का समय-निर्णय, तान्त्रिक चक्र रेखाएँ और मन्त्र, धूपदीप, नैवेद्य, होम, मन्त्र जाप, तन्त्र, मुद्रा, शव और कपाल साधनाएं, जादू टोना, छोटे-छोटे चमत्कार, और षटकर्म सभी का उल्लेख इन साधनाओं में है।

अब हम आन्तरिक प्रमाणों पर विचार करेंगे। जहाँ तक पंच तथागत और उनकी पूजा का उल्लेख है हम देख चुके हैं कि दोहों में 'बुद्ध आराहिअ

अविअल चित्ते' ऐसा स्पष्ट उल्लेख मिलता है।[९८] इन पंच तथागत, उनकी शक्तियों और कुलों की समस्त कल्पना सिद्धों को मान्य थी और वे इनके अतिरिक्त अन्य देवताओं का निषेध करते थे। दोहों की टीका में अष्ट-साहस्त्रिका का वह आदेश उद्धृत किया गया है जिसमें अन्य देवताओं को धूपदीप पुष्प देने का निषेध है और केवल बुद्ध की पूजा का विधान है।[९९] अगले दोहों की टीका में तथागत को अद्वय प्रज्ञोपायात्मक ज्ञान का रूप बताया गया है।[१००] किन्तु अद्वय की स्थिति सिद्धाम्नाय में धुनन कम्पन आदि क्रियाओं में भी मानते थे। ऐसा हम सरहपा की साधना में देख चुके हैं। शबरपा की साधना में वर्णित वं बीजाक्षर का सिद्धों के दोहों में स्पष्ट उल्लेख है। एवंकार को बीज बताते हैं जिसे ग्रहण कर सुरत वीर साधक कुसुमित अरविन्द ऊष्णीष कमल में मधुकर रूप से प्रवेश कर मकरन्द सहजानन्द का पान करता है।[१०१] इस एवंकार को जो जान लेता है वह सकल अशेष को जान लेता है।[१०२] इस 'एवं' को हेवज्र तन्त्र में प्रज्ञोपाय, युगनद्ध, अद्वय का अक्षर प्रतीक माना गया है। एकार के मध्य जो वकार प्रतिष्ठित है वह सर्वसुखों का आलय है।[१०३] क्योंकि यह ए माता, प्रज्ञा, कमल, भगवती है और वं पिता, उपाय, करुणा, कुलिश और भगवान है।[१०४] एवं रूपी बीज को ग्रहण करने के अर्थ ही हैं कि योग के समय इन दोनों अक्षरों पर ध्यान केन्द्रित कर या उनका जप करते हुए पवन का निरोध करना चाहिये। योगसाधना में सभी सम्प्रदायों में इन तन्त्राक्षरों का विशेष महत्व रहा है और प्रत्येक चक्र की पाँखुरियों पर ये तन्त्राक्षर स्थापित किये गये थे। दोहों में भी हमें अवधूती पर हं अक्षर की स्थापना मिलती है।[१०५]

यद्यपि इन अक्षरों के मन्त्र रूप जप करने में कई सिद्धियाँ बताई गई हैं किन्तु यह अच्छी तरह ध्यान रखना चाहिये कि केवल योग में चित्त वृत्ति को दृढ़ रखने तथा शून्यताज्ञान और वज्रस्वभाव से समन्वित बोधिचित्त का समुत्पाद करने के लिये ही इनका जप सार्थक है। ये मन्त्रादि स्वतः प्रमुख साधन नहीं हैं। ये योग के सहायक साधन हैं। इस प्रकार के बाह्य अनुष्ठानों से आन्तरिक साधना में सहायता लेने की परम्परा योगाचार से ही चली आ रही है। योगाचार में श्वास प्रक्रिया के समय अर्हन् शब्द के जाप का महत्व था क्योंकि अर्हन् त्रिरत्न का प्रतीक था। अ धर्म का, र बुद्ध का और हन् संघ का। इस प्रकार के बीजाक्षरों को वे 'सद् गहन' कहते थे।[१०६] इन अक्षरों को मन में धारण करके वे विस्तार का ध्यान करते थे अर्थात् मूलाधार से हृदय तक के आन्तरिक विस्तार

का, जिनमें चक्र स्थित हैं।[१०७] फिर इस ध्यान को और भी केन्द्रित करने के लिये वे मोम समिधाओं का उपयोग करते थे। एक समिधा मोम में गाड़ कर जला दी जाती थी। जब एक मोम समिधा जलती होती थी तब तक वे ध्यान करते जाते थे और एक समिधा के बुझते ही उनके मन में प्रथम महाभूत का उदय होता था। इस प्रकार ५ समिधाओं के बाद पाँचों महाभूत उदित होते थे और पंचविध सुख की प्राप्ति होती थी।[१०८] मोमदीपों की ही भाँति, पृथ्वी कषिण, आपो कषिण, अग्नि कषिण, वायु कषिण, सभी कषिणों का समवेत प्रबन्ध, नील, पीत, रक्त, श्वेत कषिण, क्षिति कषिण और ज्योति कषिण का प्रयोग होता था। अतः आन्तरिक साधनाओं पर विशेष ध्यान रखते हुए भी वाह्य अनुष्ठानों का प्रयोग सिद्धों को विज्ञानवादी परम्परा से ही प्राप्त हुआ था, इसी कारण वे क्रियाचर्यादि के उस रूप का बहिष्कार करते थे जो केवल वाह्य अनुष्ठानात्मक हो और आन्तरिक साधनाओं का सहायक न हो।

इस प्रकार सिद्धों ने क्रिया और चर्या का आन्तरिक साधनाओं से अभेद स्थापित कर दिया था। चर्या का तो एक विशेष अर्थ सिद्ध सम्बन्धी अनुश्रुतियों में प्राप्त होता है। कहा यह जाता है कि इन सिद्धों की दैनिक चर्या सम्भवतः उनकी जीविका या उस जाति की जीविका से सम्बद्ध होती थी जिससे कि वे आये हैं। अनुमान किया गया है कि लुईपा मछली पकड़ते थे, तैलोपा तिलों से तेल निकालते थे।[१०९] तन्तिपा जुलाहे थे। सिद्ध होने के उपरान्त भी इन्होंने अपनी चर्या नहीं छोड़ी केवल उसका अध्यात्म-परक अर्थ दे दिया। शून्यताज्ञान की प्राप्ति को किस प्रकार रुई धुनने के रूपक में व्यक्त किया गया है यह हम देख चुके हैं।[११०] कौन जानता है कि जैसे कबीर करघे पर बैठ कर ताना बाना बुनते हुए 'झीनी झीनी बीनी रे चदरिया' के रूपक से आत्म-ज्ञान का उपदेश देते थे, वैसे ही ये सिद्ध भी अपनी अपनी दिनचर्याओं को नैरात्म्य-ज्ञान का अनुष्ठान बना चुके हों।[१११]

चर्या या जीविका वृत्ति

वास्तव में इसके पीछे वही सामाजिक परिस्थिति, जातिगत संघर्ष रहा होगा जिसमें वे ब्राह्मण जो निम्न-वर्ग के श्रमिकों की वृत्ति अपना चुके थे, उन ब्राह्मणों द्वारा तिरस्कृत किये जा रहे थे जो केवल कर्मकाण्ड पर निर्भर थे। इन नयी वृत्तियों वाले ब्राह्मणों तथा उनके साथ अन्य नई श्रमिक जातियों ने नये तान्त्रिक सम्प्रदाय अपनाये।[११२] और उनके नये प्रकार के अध्यात्म में आन्त-

रिक और बाह्य, दिव्य और भौतिक तथा साधना और श्रम में एक समन्वय मिलता है। वे अपने श्रम को भी सम्मान की दृष्टि से देखते होंगे और अनुदार कर्मकांडी ब्राह्मणों को समुचित उत्तर देने के लिये उस श्रम की भी अध्यात्म-परक व्याख्या करते रहे होंगे।

श्रम को एक लय और गठन देने के लिये संगीत का सदैव विशेष महत्व रहा है। इन वाह्य अनुष्ठानों के साथ-साथ गीत का विधान बराबर योगाचार में भी मिलता है। झाण (ध्यान) की एकाग्रता के लिये साधक को महामैत्री-गीतिका का गान करना चाहिये।[११३] सिद्धों की साधना में भी इनको गीतिकाएँ कहते हैं। कुक्कुरीपाद के महामाया साधन में एक वज्रगीति का उल्लेख है जो नृत्य के साथ साधना में गाई जानी चाहिये।[११४] इसी प्रकार क्रिया-समुच्चय में वज्राचार्य द्वारा प्रगीत एक महासमय गीतिका दी गई है जिसमें ५ दोहे हैं और पाँचों द्वारा नैरात्म्य-योगिनी, लोचना, मामाक्षी, पाण्डुरा तथा तारा के आह्वान का विधान है।[११५] इन वज्रगीतिकाओं में चर्या तथा वाह्य अनुष्ठानों के आन्तरिक आध्यात्मिक अर्थों की व्याख्या रहती थी अतः चर्यादिक में इन गीतियों और पदों के गाने का विधान था।[११६]

इस प्रकार ये वाह्य अनुष्ठान और आन्तरिक साधनाएँ इतनी घुलमिल गई थीं कि यह कह सकना असम्भव है कि यह विशुद्ध वाह्य अनुष्ठान है और यह शुद्ध आन्तरिक योग-पद्धति। किन्तु एक अनुष्ठान का उल्लेख सरहपा के दोहों में मिलता है जो बोधचित्त समुत्पाद और साधक को इस गुह्य मार्ग में दीक्षित करने की विधि रूप में सम्पन्न होता था। वह है कुदृष्टि-निर्घात। सरहपा मूर्ख साधक को चित्त द्वारा चित्त का निरीक्षण करने उपदेश देते हुए समस्त कुदृष्टि का त्याग करने का उपदेश देते हैं।[११७] सेकोद्देश टीका में नडपाद ने भी सरहपाद की एक उक्ति उद्धृत की है जिसमें सरहपा दृष्टि के निरोध का उपदेश देते हैं।[११८] इस कुदृष्टि के परित्याग और निरोध के साथ कौन से वाह्य अनुष्ठान थे और गुरु उनका निर्देशन किस प्रकार करता था इसका विस्तृत विवरण हमें अद्वयवज्रपाद की कुदृष्टि-निर्घात नामक छोटी सी कृति में मिलता है।[११९]

कुदृष्टि-निर्घात

कुदृष्टि-निर्घात साधना के विस्तार में न जाकर इतना ही जान लेना यथेष्ट होगा कि मन्त्र, देवताराधन आदि से समन्वित यह अनुष्ठान-चर्या आदि-

कर्म के नाम से पुकारी जाती थी और इस आदि-कर्म का विधान साधना की प्रारम्भिक अवस्था में था।

देह का महत्व

आदि-कर्म द्वारा शुद्ध दृष्टि प्राप्त कर लेने के बाद दीक्षा प्राप्त साधक को गुरु यह बताता है कि यह सब वाह्य अनुष्ठान तो चित्त के निरोध से तुम शरीर के ही अन्दर कर सकते हो क्योंकि देह में बुद्ध का वास है पर अज्ञानी उसे नहीं जानता है। इसी को सरहपा योगिनी के दृष्टान्त से समझाते हुए कहते हैं कि जैसे कोई योगिनी घर में प्रियतम के होते हुए भी ग्राम भर में जाकर पूछती फिरे कि प्रिय कहाँ गये, उसी प्रकार अज्ञानी साधक है जो देह ही में भगवती नैरात्मा तथा तथागत दोनों का वास होते हुए भी संसार भर में वाह्य अनुष्ठानों के माध्यम से उन्हें खोजता फिरता है।[१२०]

सरहपा इसीलिये कहते हैं कि पंडितगण समस्त शास्त्रों का बखान करते हैं किन्तु इसी देह में बुद्ध का वास है और पंच तथागत अपनी शक्तियों से युक्त इसी में निवास करते हैं इस भेद से कोई अवगत नहीं है।[१२१] चर्यापदों में भी कृष्णाचार्य इसी देह रूपी नगरी में कपाली योगी द्वारा एकाकार होकर विहार करने का वर्णन करते हैं।[१२२] दूसरे पद में वे काया रूपी नौका में पंच तथागतों को डांड बनाकर मायाजाल को पार करने का व्रत लेते हैं।[१२३] सरहपा भी अपने एक पद में काया रूपी नौका का कर्णधार मन को प्रज्ञोपायज्ञान से विशुद्ध बताते हैं।[१२४] वास्तव में सरहपा ने काया के महत्व को सबसे सुन्दर रूप में प्रस्तुत किया है। अपने दोहों में वे कहते हैं—'यही देह सुरसरि है, यमुना है, यही गंगासागर, यही प्रयाग वाराणसी, चन्द्र दिवाकर, धर्मक्षेत्र, पीठ, उपपीठ सभी यहीं हैं। मूर्ख ! तू कहाँ कहाँ घूमता फिरता है। देह के समान सुख प्रदान करने वाला तीर्थ और कहीं नहीं है।[१२५] इसकी व्याख्या करते हुये अद्वयवज्र लिखते हैं कि यह तन यमुना है, क्योंकि यमुना गहरी है, उसका पाट चौड़ा है, उसमें सभी प्रकार की नौकाएँ आ जा सकती हैं अतः सभी प्रकार के यानों (साधना पद्धतियों) को आश्रय देने वाला यह शरीर जमुना है। यह गंगा है, क्योंकि यह समस्त समाधि रूपी सागरों में निमग्न होता है। प्रयाग है क्योंकि जैसे प्रयाग में संगम है उसी प्रकार इस तन में कमल और कुलिश का संगम होता है। यह वाराणसी भी है क्योंकि जैसे वाराणसी में जल की धारा को न केवल गंगा कह सकते हैं

क्योंकि उसमें जमुना का अंश है और न उसे गंगा-यमुना का अद्वय ही कह सकते, वह गंगा ही कहलाती है, उसी प्रकार इस तन में निहित तत्व भी भाव और अभाव, भव निर्वाण दोनों से ही परे है। इसी में चन्द्र दिवाकर का भी वास है है। उसमें ये पुराने परम्परागत तीर्थ ही नहीं बुद्ध-क्षेत्र और सहज सिद्धि के पीठ आदि भी हैं। ये धर्म-महासुखपीठ हैं। ऐसे अद्भुत तीर्थ को छोड़कर बाह्य तीर्थों में भ्रमण करने से क्या लाभ है।[१२६]

देह को समस्त तीर्थों, क्षेत्रों तथा पीठों का आलय मानने की भावना सभी तान्त्रिक सम्प्रदायों और योगमार्गों में प्रचलित थी। कामरूप, पूर्णगिरि, जालन्धर और ओडियान इन पाँचों प्रख्यात तन्त्र पीठों का स्थान इस शरीर में ही बताया गया है (योगसार)।[१२७]

अतः यह देह का महत्व केवल शुद्ध भौतिक दृष्टिकोण से प्रतिपादित नहीं किया गया था। इसके पीछे एक गूढ़ आध्यात्मिक रहस्य था। इसीलिये हेवज्र तन्त्र में महासुख को देह में स्थित बताया है किन्तु 'देहज' नहीं।[१२८] प्रज्ञोपायात्मक ज्ञान से जब साधक अपनी देह को भी तथागत के स्वभाव का जान लेता है तब यही देह धर्मकाया हो जाती है।

जो पाँच डालों वाली तरुवर रूपी विनाशमान काया है उसे साधक धर्मकाया के रूप में परिलक्षित करने लगता है। उस समय वह काया में रहते हुए भी काया से भिन्न रहता है। यदि काया से संयुक्त हुआ, उसमें लिप्त हुआ तो उसको ज्ञान नहीं प्राप्त होता।[१२९] किन्तु यदि वह अपनी काया में वास करने वाले अशरीरी बुद्ध को जान लेता है, बुद्धकाया को जान लेता है तो वही ज्ञानवान व्यक्ति 'कायस्थ' कहलाता है।[१३०] वह पवन रूपी काल का निरोध कर चन्द्र दिवाकर का संगम कर अजरामर शरीर प्राप्त कर लेता है और उसी को सिद्ध कहते हैं।[१३१] इसी शरीर में स्थित मेरुदण्ड के सहारे पवन के निरोध से बोधिचित्त ऊर्ध्वगामी होता है। चारों चक्रों को भेद कर नाड़ियों में से होता हुआ प्रज्ञा-कमल से संगम करता है तभी रस (अमृत) की वर्षा होती है। यही कमल-कुलिश योग है जिस पर अब हम विचार करेंगे।

ग

साधना-पद्धति (२)

लगभग सभी तान्त्रिक और योग साधना-पद्धतियों की भाँति सिद्धों की साधना-पद्धति में भी समस्त सृष्टितत्व और उसके मूल में व्याप्त सिद्धान्तों का और उनके सापेक्ष संबंधों का साक्षात्कार अपनी देह में ही करने का उपदेश मिलता है। कैसे समस्त सृष्टि पंच-महाभूतों से निर्मित हुई है और उनके सम्मिलन का मूल आधार प्रज्ञा और उपाय तथा उनका मिलन है, इस पर हम विचार कर चुके हैं। सिद्ध भी उन पंच महाभूतों और उनके सृष्टि-रूप में गठन के मूल आधार प्रज्ञोपाय अद्वय की अनुभूति अपने ही अन्दर करने का उपदेश देते हैं क्योंकि वे समस्त वाह्य सृष्टि की उत्पत्ति चित्त की परिकल्पना से ही मानते हैं। अतः ज्ञान प्राप्त करने का एकमात्र साधन यह है कि ध्यान एकाग्र कर अपने ही अन्दर उन पंच महाभूतों और प्रज्ञा तथा उपाय का साक्षात्कार किया जाय, तभी वह संसार के धर्म और पुद्गल-नैरात्म्य का दर्शन कर, वज्रज्ञान प्राप्त कर सिद्ध बन सकेगा।

पंचमहाभूत चित्त में

इस साधना की ओर काण्हपा ने अपने दोहों में संकेत किया है। वे कहते हैं कि पृथ्वी, आप, तेज, समीर तथा गगन इन पाँचों तत्वों को बीज-रूप में ग्रहण करना चाहिये। इन्हीं पाँचों से यह शरीर बनता है और इसी से समस्त सुरासुर उत्पन्न होते हैं।[१] किन्तु इसका बीज वास्तव में बोधिचित्त का सुख स्वभाव है जो रज से भूषित अक्षोभ्य वैरोचन रूप में स्थित है। जब महासुख रूपी गगन नीर अमिताभ-रूपी पंक का सृजन कर देता है तब यह वज्र रूपी सुख-स्वभाव अवधूती रूपी मूल नाल पर चतुश्शून्य रूपी कमल के रूप में खिलता है। किन्तु इन सबों को 'णिअ-देहहि दिट्ठओ' अर्थात् अपनी देह में ही देखना चाहिये।[२]

इसका साक्षात्कार अपनी देह में अपने ही चित्त के अन्तर्गत प्राप्त करने की प्रणाली काण्हपा इस प्रकार बताते हैं कि पहले साधक को प्रज्ञोपाय की एकता पर ध्यान करना चाहिये। इसके लिये उसे 'एवं' बीजाक्षर को केन्द्र बनाना चाहिये।[३] एवं का अर्थ प्रज्ञा और उपाय या कमल और कुलिश, या पद्म और वज्र है।[४] इस ध्यान में एवं के प्रज्ञोपाय युगनद्ध से सहज-ज्ञान की उत्पत्ति होती है,[५] जो बिन्दु रूप में होता है और ऊर्ध्वगामी होता है।

इस 'एवं' युगनद्ध से चित्त में ही पंच महाभूतों की उत्पत्ति होती है इसका उल्लेख टीकाकार ने हेवज्र तन्त्र के उद्धरण से स्पष्ट किया है।[६] उसमें प्रज्ञा तथा उपाय को कक्कोल और बोल कहा गया है। यह नाम हमें और भी कई स्थानों पर मिलता है।[७]

इस बोल कक्कोल योग से स्पर्श और काठिन्य धर्म की अभिव्यक्ति पृथ्वी के रूप में होती है।[८] इसी सहज से बोधिचित्त की उत्पत्ति होती है जिसे शुक्र या वज्रोदक[९] कहा गया है। इसी से अप्धातु की उत्पत्ति होती है। यह चन्द्र रूप है। इसी से जल उत्पन्न होता है। जब यही बोधिचित्त वज्र या कुलिश के रूप में पद्म अथवा कमल प्रज्ञा से घर्षण करता है तो उससे तेज धातु अग्नि की उत्पत्ति होती है। उसके चलने से, हिलने से वायु की उत्पत्ति होती है और जो सुख प्राप्त होता है वही आकाश है। ये वही पाँच महाभूत हैं जिन्हें अशुद्ध चित्त वाह्य साँसारिक तत्वों के रूप में परिकल्पित कर भवजाल में उलझ जाता है किन्तु इन्हीं को जब बोल कक्कोल योग से प्रज्ञोपाय युगनद्ध का ध्यान करते हुए अपने ही अन्दर अनुभव करता है तो पूर्णता को प्राप्त होता है।[१०]

पूर्व-परम्परा

इस योग का मूल रूप हमें विज्ञानवाद की 'झाण' (ध्यान) साधना में मिलता है। विज्ञानवाद ने चित्त को एकमात्र सत्य माना था अतः विज्ञानवाद में भी भव की स्थिति और पंच महाभूतों की स्थिति मन के अन्दर ही मानी गई थी और 'झाण' या ध्यान साधना में वाह्य भव-प्रवाह से मुक्त होने के लिये साधक एकान्त में जाकर इस वाह्य दृश्यमान जगत का चित्त के अन्दर साक्षात्कार करने की साधना करता था।[११] इसका साधन था चित्त की एकाग्गता (एकाग्रता)। योगाचार के अनुसार पहले साधक को अर्हन शब्द को अपने मन में धारण कर उसी पर ध्यान एकाग्र

करना चाहिये। यह अर्हन् साधारण शब्द नहीं वरन् बीजाक्षर है और इसके तीनों अक्षर त्रिरत्न धर्म, बुद्ध और संघ के वाचक हैं।[१२] एक लम्बी साधना के उपरान्त उसके मन में दो रूप-चित्रों का उदय होता है। एक धूमिल और दूसरा स्पष्ट। दूसरे के उदय के अर्थ यह है कि अब उसका समस्त व्यक्तित्व जाग्रत हो गया है। सबसे पहले तेज धातु का उदय होता है। इसमें स्वर्ण-वर्ण और अरुणोदय के वर्ण की अनुभूति होती है। इसका स्वरूप ब्रह्मवेला में उगने वाले शुक्रतारक का होता है। इसके बाद आपो धातु का उदय होता है जो षोडश कलाओं से पूर्ण चन्द्र से उद्भूत है और पीत पुष्प और कमल वर्ण का द्योतक है। उसके पश्चात वायु की उत्पत्ति होती है जो मेघ की भाँति उदित होती है और उसका वर्ण दोपहर के सूर्य का होता है। उसके बाद चमेली और कमल की भाँति, मयूरपंखों की भाँति आकाश-धातु का उदय होता है।[१३] साधक इन सबों को समग्र रूप से नासिकाग्र से ग्रहण कर नाभि में स्थित करता है और तत्पश्चात् पथवी धातु (पृथ्वी) का उदय होता है। तब उसके पश्चात् वह हठयोग की साधना में प्रवृत्त होता है और इन पंच महाभूतों को ऊर्ध्व प्रवृत्त कर चक्रों में स्थापित करता है।[१४]

वास्तव में सिद्धों ने इसी साधना को संशोधित कर बोल कक्कोल योग के रूप में ग्रहण किया है। उनका प्रमुख संशोधन इस साधना का प्रज्ञोपायात्मक रूप देना है। अर्हन् के बजाय उन्होंने 'एवं' बीज को ग्रहण करने का आदेश दिया है ताकि साधक इस योग के प्रज्ञोपायात्मक स्वरूप के सदैव ध्यान में रखने और अन्त में उपाय का प्रज्ञा से युगनद्ध अभीष्ट था अतः सिद्धों ने प्रज्ञा (शून्य, गगन) का उदय अन्तिम धातु के रूप में माना किया। योगाचार में जहाँ पृथ्वी अन्तिम धातु थी, यहाँ वह पहली हो गई और गगन अन्तिम हो गया। योगाचार में शुक्रतारक के रूप में तेज धातु का उदय माना गया था, सिद्धों में बोधिचित्त का उदय शुक्रतारक[१५] के रूप में मिलता है।

दूसरी मौलिक स्थापना सिद्धों ने इस बोल कक्कोल साधना को रासायनिक अर्थ देकर की। कुछ स्थानों पर बोल कक्कोल रस का उल्लेख मिलता है।[१६] संभवतः यह रस साधना 'कर्पूर' के किसी प्रयोग के रूपक में अभिव्यक्त की जाती थी। योगाचार की भ्राण साधना में भी हम देख चुके हैं कि प्रथम महाभूत तेज का उदय शुक्र के रूप में माना गया है और उसी प्रसंग में[१७] वहीं शुक्र को औषधि-तारक भी कहा गया है। प्रतीत होता है कि औषधियों के

उसी प्रसंग को कपूर-साधना के रूप में सिद्धों ने विकसित किया और बाद में उस योग का भी प्रतीक मान लिया। कपूर के रूप में उपाय का उल्लेख तिलोपा के दोहाकोष की टीका में मिलता है जहाँ कहा गया है कि कक्कोल में (कमल में) बोल (कुलिश) का प्रक्षेपण कर उसका कुन्दुरु योग करे तो उससे कर्पूररूपी सहज उत्पन्न होता है।[१८] कपूर का उल्लेख प्रज्ञोपाय-विनिश्चय-सिद्धि में बोधिचित्ताभिषेक के समय है जहाँ इसका प्रयोग रक्तचन्दन के साथ बताया गया है।[१९] क्रियासमुच्चय में उद्धृत कुछ वज्रयानी दोहों में भी इसका उल्लेख कस्तूरी, मालती ईंधन आदि के साथ आता है, जिनमें किसी गुह्य रासायनिक प्रयोग तथा संधाशैली में किसी चित्तगत साधना का समानान्तर वर्णन मिलता है।[२०] शबरीपा भी २८वें चर्यापद में समागम के समय ताम्बूल तथा कपूर के भक्षण का वर्णन करते हैं।

इस बोल-कक्कोल साधना के क्रम-विकास में हमें एक अवस्था और मिलती है जिसमें इसका महाभूत-समुत्पाद-योग या रसायन का पक्ष सर्वथा गौण हो जाता है और यह शुद्ध मुद्रा मैथुन के प्रसंग में आता है। दोहाकोष की टीका में कपूर की व्याख्या कर्ममुद्रा से संयोग के क्षण का वर्णन देते हुए की गई है।[२१] अद्वयवज्र भी चतुर्मुद्रा निरूपण में कर्ममुद्रा के प्रसंग में बोल-कक्कोल वयस का उल्लेख करते हैं।[२२]

योगाचार की परम्परा में सिद्धों ने एक संशोधन और किया। योगाचार में यह हठयोग की मुख्य प्रणाली से अलग एक प्राथमिक साधना के रूप में यह पंचमहाभूतों की ध्यान-साधना स्वीकृत थी। जब इस साधना द्वारा पंचमहाभूतों को अन्तस्थ कर लिया जाता था, उसके उपरान्त हठयोग-साधना प्रारम्भ होती थी और साधक मेरुदंड में स्थित चक्रों पर ध्यान केन्द्रित करता था।[२३] किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि सिद्धों में यह साधना हठयोग के ही अन्तर्भुक्त हो गई थी और द्वितीय मुद्रा से समागम की अवस्था में इसकी साधना की जाती थी।[२४] इस प्रकार सिद्धों ने इसको योगाचार से ग्रहण किया, प्रज्ञोपायात्मक भावना से ग्रथित किया और हठयोग तथा मुद्रा-मैथुन-साधना में अन्तर्भुक्त कर रासायनिक प्रक्रियाओं से संयुक्त कर दिया।

बौद्ध तंत्रों में योग के लगभग वे सभी अंग स्वीकृत थे जो योग-शास्त्र में

निर्दिष्ट थे। उनको वे षडंग योग कहा करते थे। इसमें ६ अंग थे, प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, अनुस्मृति तथा समाधि। प्रत्याहार में वाह्य रूपादि में अप्रवृत्ति, प्रत्याहारांग में त्रैधातुक बुद्ध-बिम्ब का दर्शन, ध्यान में एवंधर्म-शून्यता में चित्त-प्रवृत्ति, और पाँच ध्यानाँग प्रज्ञा, वितर्क, विचार, रति और अचल सुख, प्राणायाम में ललना-रसना (वाम-दक्षिण) का मार्ग-निरोध और मध्यमार्ग अवधूती में प्राणवायु की प्रवृत्ति, प्राणायाम के तीन अंग पूरक, कुम्भक, रेचक, धारणा में प्राण का नाभि, हृदय, कंठ और ललाट में प्रवेश, धारणांग में विन्दु का प्राणप्रवेश, अनुस्मृति में अपने इष्टदेवता का विकल्परहित प्रतिबिम्बाकार दर्शन, इसके अंगों में देवता की अनेकाकार रूपाभिव्यक्तियाँ, तथा समाधि में इष्ट देवता के अनुराग में अपार सुख; बौद्ध-तन्त्रों में षडंग योग का वर्णन इसी प्रकार मिलता है।[२५] गुह्य-समाज-तन्त्र में उपाय को योग के रूप में परिकल्पित किया गया है और उसके चार रूप या चार अवस्थाएँ निर्दिष्ट हैं। सेवाविधान, उपसाधन, साधन तथा महासाधन।[२६] सेवा भी दो प्रकार की है, सामान्य सेवा तथा उत्तम सेवा।[२७] उत्तम सेवा में षडंग योग आता है।[२८]

हठयोग
षडंग योग

वास्तव में यह हठयोग चित्त का निरोध कर गुह्य साधनाओं के लिये भूमिका प्रस्तुत करता है। बिना इस हठयोग के द्वारा विन्दु का निरोध किये गुह्य साधनाएँ कभी भी सफल नहीं होतीं, उनमें च्युति तथा स्खलन का भय रहता है। अतः योगदर्शन में जो योग एकमात्र साधन माना गया है, यहाँ वही हठयोग केवल तन्त्र की आनुषंगिक सहायक साधना मात्र है। इसके लिये भी दो परिस्थितियों का उल्लेख है। एक तो गुह्य साधनाओं के पूर्व चित्त-विशुद्धि के लिये और दूसरा उन गुह्य साधनाओं में ही विभिन्न क्षणों में विभिन्न मुद्राओं से युगनद्ध स्थापित कर विभिन्न आनन्दों का उपभोग करने के लिये विन्दु को ऊर्ध्वमुखी कर उन मुद्राओं के उपयुक्त चक्रों में विन्दु धारण करना। ऐसी परिस्थिति में योग-साधना अन्दर श्वासनिरोध द्वारा चलती रहती है और बाहर मुद्रा-मैथुन द्वारा तान्त्रिक गुह्य साधनाएँ। दोनों एक दूसरे का समर्थन करती रहती हैं।[२९]

हठयोग द्वारा पवन का निरोध कर मेरुदंड में स्थित चक्रों का वेधन, यह योगाचार की स्वीकृत पद्धति थी। ध्यान द्वारा चित्त में ५ महाभूतों के उदय के उपरान्त साधक के लिये अन्तस्थ चक्रों का ध्यान करने का आदेश था। योगाचार में हिन्दू योग की भाँति मस्तक नहीं, वरन् हृदय में ही अन्तिम चक्र की स्थिति

मानो जाती थी। हृदय ही मन का केन्द्र या मनोविन्दु था। योगाचार सम्प्रदाय में केवल ५ चक्र माने गये थे। पाँच चक्र थे, पाँच धातुएँ अन्तस्थ थीं, पूर्वोक्त ध्यान पद्धति द्वारा पाँच पीतियाँ थीं, पाँच सुख थे और ध्यान की ५ पद्धतियाँ थीं। जब साधक ध्यान द्वारा पंच महाभूतों को अंतस्थ कर लेता था तब वह मनो-वत्थु से नाभि तक क प्रदेश पर चिन्तन करता था और ध्यान एकाग्र कर चक्रों का वेधन करता था।[३०]

सिद्धों ने इसमें से बोल कक्कोल योग द्वारा पंच महाभूतों को अन्तस्थ करना स्वीकृत किया।[३१] यद्यपि उसकी प्रणाली उन्होंने चित्त की एकाग्रता न रख कर प्रज्ञोपायात्मक घर्षण के रूप में संशोधित कर दी। नैरात्म्यज्ञान अथवा भगवती प्रज्ञा का स्थान उन्होंने हृदय के बजाय हिन्दू योग दर्शन के समान कपाल या मस्तक के अन्दर रक्खा। किन्तु चक्रों की संख्या उन्होंने घटा कर चार कर दी क्योंकि उनके योग का मूल आधार उनका परम्परागत तीन बुद्ध कायाओं के साथ चौथी सहज या महासुख काया (चतुर्काया) सिद्धान्त था। यह ४ की संख्या सिद्धों के हठयोग में उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी ५ की संख्या योगाचार में। चार कायाएँ हैं, चार क्षण हैं, चार मुद्राएँ हैं, चार आनन्द हैं चार शून्य हैं और चार चक्र हैं। ये चारों चक्र मेरुदंड में स्थित हैं।

काण्हपा इस मेरुदंड को मेरुगिरि या सुमेरु पर्वत के रूप में परिकल्पित करते हुए कहते हैं कि यह कंकाल रूपी श्रेष्ठ सुमेरु पर्वत है जिसके शिखर पर शबरी नैरात्मा का वास है। उसके मूल में कन्दरा (मूलाधार चक्र) है जिसमें विमल सलिल रूपी शुक्र वैरोचन बोधिचित्त स्थित है। अन्दर ही अन्दर कालाग्नि है जो साधना के विना अधोमुखी होकर शुक्र को सुखा डालती है, और पवन निरोध के बाद ऊर्ध्वमुखी होकर प्रकाश करती है और शुक्ररूपी उपाय भी प्रज्ञा के समागम के लिये गतिमान होता है।[३२] शबररूपी वज्रधर साधक[३३] को चित्रित कर उसी अपनी चर्या में शबरपाद भी मेरुदंड को सुमेरु परिकल्पित कर उसके ऊँचे शिखर पर शबरी का वास चित्रित करते हैं और उस शबरी को नैरात्मा सहज-सुन्दरी की संज्ञा देते हैं।[३४]

इस मेरुदंड के उच्चतम शिखर पर महासुखचक्र या उष्णीष कमल है जिसमें नैरात्मा का वास है। इसके मूल में नाभिचक्र है जिसमें बोधिचित्त शुक्ररूप में वास करता है। इसके बीच में दो चक्र और हैं, हृदय प्रदेश में और कंठ के समीप। इन चार चक्रों को चार कमल के रूप में परिकल्पित किया गया

है। इनको नीचे से क्रमशः नाभिकमल, हृत्कमल, सम्भोगचक्र तथा उष्णीष कमल कहा जाता है।[३५] बौद्ध तन्त्रों में प्राप्त इन चक्रों के वर्णन पर दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है।

पहली महत्वपूर्ण बात यह है कि इन चारों चक्रों में बुद्ध की चार कायाओं का वास माना गया है और उन्हीं पर इन चक्रों का नामकरण भी कर दिया गया है। उष्णीष कमल में महासुख काया है अतः उसे महासुख चक्र भी कहते हैं। कंठ के समीपवर्ती चक्र में सम्भोगकाया है अतः वह सम्भोग चक्र है। हृदय प्रदेश में स्थित चक्र में धर्मकाया अतः वह धर्म चक्र और नाभि में निर्माणकाया अतः वह निर्माण चक्र कहा जाता है। यहाँ पर एक बात विचारणीय है। इन चक्रों के प्रसंग में कायाओं के क्रम में कुछ व्यतिरेक हो गया है। परम्परा में निर्माण के बाद सम्भोगकाया और सम्भोग के उपरान्त धर्मकाया, यह क्रम चला आ रहा था। चक्रों में इन कायाओं को स्थापित करते समय वज्राचार्य ने धर्मकाया को नीचे और सम्भोगकाया को ऊपर स्थान दिया। यह क्रम बदल क्यों दिया गया इसका कोई भी स्पष्टीकरण नहीं मिलता।[३६] इसके सम्बन्ध में एक अनुमान यह किया जा सकता है कि सम्भोगकाया में ही भगवान तथागत ने सूत्रों तथा संगीत साहित्य का उपदेश दिया था और यही काया 'उपाय-कौशल' से सम्बद्ध है। अतः इसकी सक्रिय उपाय-सिद्धान्त से अधिक निकटता है और इसी कारण प्रज्ञोपायात्मक योग में इसे महासुख-काया के पहले और धर्मकाया के ऊपर स्थान मिला हो क्योंकि यह हम देखते आ रहे हैं कि प्रज्ञोपाय सिद्धान्त के निर्वाह के लिये सिद्धों ने पूर्वागत परम्परा में यथेष्ट संशोधन किये हैं। हेवज्र तन्त्र में भी सम्भोग काया को ६ रसों के उपभोग की काया बताया गया है।[३७] अतः इस क्रम व्यतिरेक का यह कारण ठीक ही मालूम देता है।

इन चक्रों को कमल के रूप में चित्रित किया गया है और लगभग सभी तन्त्र इस बात से सहमत हैं कि निर्माण चक्र में ६४, धर्म चक्र में ३२, सम्भोग चक्र में १६ और उष्णीष कमल या महासुख चक्र में ६ पाँखुरी हैं।[३८] इन कमल की पाँखुरियों पर बीजाक्षर भी अंकित हैं। महासुख चक्र पर हः अंकित है, इसी कमल में चन्द्र की षोडश कलाओं से अभिषिक्त योगिनी का वास है जिसके दो ओर आली तथा काली स्वभाव की ललना तथा रसना नाड़ियाँ स्थित हैं। ये ही षोडश कलाएँ दिन तथा रात्रि के स्वभाव का अनुगमन कर द्विगुणित होकर ३२ पाँखुरियों का रूप धारण कर लेती हैं। हेरुक तन्त्र में महा-

सुख कमल की चार पाँखुरियों पर ३२ पाँखुरियों वाले कमल का आवेष्ठन बताया गया है जो इन्हीं षोडश कलाओं के दिवारात्रि द्विविध स्वरूप का द्योतक है। सम्भोग चक्र पर हुँ बीजाक्षर है। धर्मचक्र पर अंकित हुँ बीजाक्षर निम्न मुख होकर अंकित है और निर्माण चक्र पर 'अं' बीजाक्षर अंकित है। श्री सम्पुट तन्त्र में से चारों चक्र, नाभि ए, हृदय वं, कंठ म उष्णीष या (एवम् मया) बीजाक्षरों से अंकित हैं और क्षिति, जल, पावक, और समीर भूतों के आवास बताये गये हैं। इनकी शासिका देवियाँ भी हैं। लोचना, मामकी, पाँडरा और तारा। ये चारों देवियाँ करुणा, मैत्री, मुद्रिता और उपेक्षा की अधिस्वामिनी हैं।[३९] करुणा, मैत्री, मुदिता, और उपेक्षा ये चार निर्दोष चित्त बताये गये हैं जिन्हें योगाचार परम्परा में ४ ब्रह्मविहार बताया गया है।[४०]

इस प्रकार हम देखते हैं कि योगाचार परम्परा से काफी प्रभाव ग्रहण किया गया है। योगाचार में भी चक्रों की शृङ्खला का प्रारम्भ नाभि से माना गया है, और बौद्ध तन्त्रों में भी एक स्थल को छोड़कर सभी जगह निर्माण चक्र की स्थिति नाभि में मानी गई है।[४१] ब्रह्मविहारों का भी समन्वय चार चक्रों में कर दिया गया है। किन्तु बौद्ध तन्त्रों में हिन्दू परम्परा का अनुसरण करते हुए अन्तिम चक्र मनोवत्थु (हृदय) में न मान कर मस्तक में माना गया है।

हिन्दू योग के चक्रों से तुलना

इसके पहले कि हम दोहों और चर्यापदों में इन चक्रों के उल्लेख पर दृष्टिपात करें, इन चक्रों की तुलना हिन्दू परम्परा के षटचक्रों से कर लेनी आवश्यक है। षटचक्र परम्परा में सहस्रार के अतिरिक्त छः चक्र और सहस्रार को सम्मिलित कर ७ चक्र माने गये हैं। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा, तथा सहस्रार। मूलाधार-पद्म उपस्थ तथा गुदा के बीच रीढ़ मूल में स्थित चतुर्दल कमल है।[४२] स्वाधिष्ठान लिंगमूल में[४३], दशदलयुक्त मणिपूर चक्र नाभि प्रदेश में[४४]; द्वादशदली अनाहत चक्र हृदय प्रदेश में;[४५] सोलह दलों से युक्त विशुद्धाख्य चक्र कण्ठ प्रदेश में[४६]; द्विदल युक्त आज्ञाचक्र भ्रूमध्य ललाट में स्थित है।[४७] अंत में सहस्रार चक्र है जिसमें सहस्र पाँखुड़ियाँ हैं जहाँ पवन विलीन हो जाती है और बुद्धि का उद्भव होता है।[४८]

इस षटचक्र परम्परा से तुलना करने पर हम पाते हैं कि मूलाधार और

स्वाधिष्ठान नामक चक्रों की तरह बौद्ध साधकों में लिंगमूल में कोई भी चक्र नहीं है। उनकी चक्र परम्परा नाभि[४९] से प्रारम्भ होती है और इसमें उन्होंने योगाचार की परम्परा का अनुसरण किया है।[५०] विशुद्ध और आज्ञा चक्रों में अधिकांश बौद्ध तन्त्रों ने सम्भोग चक्र के रूप में विशुद्ध को स्वीकृत किया है किन्तु सेकोद्देश में नडपाद ने विशुद्ध को अस्वीकृत कर आज्ञा की भाँति सम्भोग चक्र की स्थिति ललाट में मानी है। इसके साथ ही साथ बीजाक्षरों में भी उन्होंने बौद्ध तन्त्रों के एवम् आदि अक्षर लिये हैं और दलों की संख्या भी चार शून्यों की संख्या पर आधारित है।[५१] चार शून्यों के प्रतीक रूप में उष्णीष कमल में चार दल हैं और उसके कारण सभी तत्व चार ही हैं, मुद्राएँ, क्षण, आनन्द इत्यादि।

काण्हपा ने इस चतुर्दल से युक्त उष्णीष कमल का उल्लेख अपने दोहों में किया है।[५२] वे कहते हैं कि 'ललना रसना रूपी सूर्य चन्द्र दोनों को वर्जित कर चार दलों और चार मृणालों वाले कमल में महासुख का वास है।' टीकाकार इन चार दलों को शून्य, अतिशून्य, महाशून्य और सर्वशून्य बताता है। यह मेरुगिरि के शिखर पर स्थित उष्णीष कमल है। इसी को भुसुकुपा नलिनीवन या पद्मवन कहते हैं जिसमें प्रवेश कर चित्त की द्विविधा समाप्त हो जाती है।[५३] इसी में वास करने के कारण भगवती नैरात्मा को कमलिनी भी कहा गया है।[५४] यह उष्णीष कमल प्रज्ञाज्ञानाभिषेक के समय भरपूर खिल जाता है और इसमें से अमृत-वर्षण होता है।[५५]

सिद्धों के प्राप्य साहित्य में धर्मचक्र और सम्भोगचक्र की साधनाओं का उल्लेख लगभग नहीं के बराबर है तथापि उनमें प्राप्त परमानन्द और विरमानन्द का उल्लेख बराबर मिलता है, जिस पर हम आगे विचार करेंगे। किन्तु निर्माण चक्र[५६] का उल्लेख बराबर मिलता है क्योंकि पवन निरोध कर बोधिचित्त को उद्बुद्ध करने का साधनास्थल वही है। कृष्णपाद नैरात्मा को डोम्बी रूप में परिकल्पित कर कहते हैं कि चौंसठ पाँखुरियों वाला एक कमल है जिस पर चढ़ र डोम्बीरूपी नैरात्मा नाच रही है।[५७] इस कमल का अर्थ टीकाकार निर्माण बताता है जिसमें चौंसठ पाँखुरियाँ होती हैं।[५८]

इन चक्रों के वेधन का मार्ग नाड़ियों में से होकर है। इन नाड़ियों की मुनिदत्त ने अपनी टीका में ३२ बताई है।[५९] हेवज्र में भी नाड़ियों की या ३२ ही बताई गई है।[६०] इन बत्तीस नाड़ियों में से भी तीन नाड़ियाँ

प्रमुख हैं ललना, रसना और अवधूती।[६१] चर्यापदों में इन तीन नाड़ियों को विभिन्न प्रतीकों से लक्षित किया गया है। विरूपा अवधूती की (शुंडिनी) मधुबाला से उपमा देते हैं जो दो स्थानों से मद को खींचती है, ललना और रसना।[६२] इसी को गुंडुरी तिअड्डा या त्रिनाड़ी कहते हैं।[६३] इनमें से ललना वाम नासापुट के समीप है, वह चन्द्र स्वभाव की है और प्रज्ञारूप है।[६४] रसना दक्षिण नासापुट के समीप है, सूर्य स्वभाव की है और उपायरूप है।[६५] इन्हीं दोनों को नैरात्म-दर्शन की परिभाषा में ज्ञेय और ज्ञान, ग्राह्य ग्राहक भी कहा जाता है और अवधूती इन दोनों के बीच ग्राह्य-ग्राहक-वर्जित रूप में स्थित है। उसी नैरात्म्यज्ञान रूपी मध्यम सहजपथ की भाँति वह क्लेशों को धुनने वाली है अतः उसका नाम अवधूती है।[६६] इसी अवधूती में से होकर शुक्र नामक और भी सूक्ष्म नाड़ी है जिसमें से बोधिचित्त उर्ध्वगामी होता है विन्दु रूप में।[६७] यह नाड़िका वैरोचन द्वार में लीन होती है जो नवद्वारों के अतिरिक्त दसवां द्वार है।[६८]

चर्यापदों का यह नाड़ीजाल हिन्दू योग परम्परा में भी मिलता है। योग साधना में भी मेरुदंड के वहिःपार्श्व में चन्द्र और सूर्य रूपी इड़ा और पिंगला नाड़ियों की स्थिति बताई गई है। बीच में सुषुम्णा है जो मेरुदंड के विवर में है और वह अग्नि रूपी है।[६९] इड़ा वामगा है, देवी है; पिंगला शिव है, सूर्य है। इड़ा यमुना है, पिंगला सरस्वती है, सुषुम्णा गंगा है। इस प्रकार त्रिवेणी बनती है।[७०] इनमें से सुषुम्णा भी त्रिगुण के अनुसार ३ नाड़ियों का गुम्फन है। सत्वगुणमयी चित्रिणी, रजोगुणमयी वज्रा, और तमोगुणमयी सुषुम्णा, इसीलिये उसे अग्निमयी बताया गया है।[७१] शंखिनी रूपी नाल को ग्रहण कर वह ब्रह्मसदन को जाती है।[७२]

हेरुक-तन्त्र में भी ललना रसना की यही स्थिति बताई गई है। ललना या आली धनुषाकार रूप में गर्दन से प्रारम्भ होती है और नाभि में वाम दिशा से प्रवेश करती है। रसना नाभि से प्रारम्भ होती है और कंठप्रदेश में होती हुई अवधूती वैरोचन द्वार तक जाती है। इसीलिये उसे मध्यम कहा गया है। चूंकि ललना और रसना को प्रज्ञोपाय कहा गया है अतः यह सहज है।[७३]

तन्त्रों तथा चर्यापदों में विभिन्न प्रतीकों में आली काली, गंगा यमुना, सूर्य चन्द्र, धमन चमन, ललना रसना का उल्लेख है। इन नामों में से कुछ युग्मों पर विचार कर लेना आवश्यक है। आली के अर्थ हैं अ से प्रारम्भ होने वाली स्वर माला, और काली के अर्थ हैं क से प्रारंभ होने वाली व्यंजन माला।

तन्त्रों में स्वरों को रात्रि से और व्यंजनों को दिन से सम्बद्ध माना गया है अतः आली-वाहिका नाड़ी ललना रात्रि है, चन्द्र है, शशि है, उससे द्रवित सोम है, प्रज्ञा है, इसी प्रकार काली-वाहिका रसना सूर्य है, रवि है, अग्नि है। इन्हीं में से प्राण से राहु तथा अपान से कालाग्नि की उत्पत्ति होती है।[७४] धमन और चमन के अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाते पर बागची का अनुमान है कि धमन संभवतः ध्म धातु से है जिसके अर्थ हैं जाना, गति और चमन 'चम्' धातु से है जिसके अर्थ हैं निगलना[७५]। इन नाड़ियों में से वामस्थित ललना शुक्र का वहन करती है और रसना रज का और अवधूती रज-भूषित शुक्र अथवा प्रज्ञोपाय अद्वैत रूपी बोधिचित्त का इसीलिये इसको सहज पथ भी कहा गया है।[७६] इसीलिये यह नैरात्मा या सहजसुन्दरी भी कही गई है। यह जोगिनी भी कहलाती है। चर्यापदों में अवधूती के दो रूप मिलते हैं, परिशुद्धा और अपरिशुद्धा। परिशुद्धा अवधूती को डोम्बी कहते हैं जिससे बोधिचित्त समागम करता है और अपरिशुद्धा को छिनाली भी कहते हैं क्योंकि वह भेद ज्ञान युक्त होती है।[७७]

अपान वायु से कालाग्नि प्रज्ज्वलित होती है जो अधोमुखी रहने पर शुक्र को सुखा डालती है और मनुष्य की शक्तियों का क्षय होता रहता है।[७८] काण्हपा के टीकाकार ने इसी शुक्र को बोधिचित्त बताते हुए कहा है कि अपान निम्नगा वायु होती है और उसके वशीभूत होकर बोधिचित्त पतित कहलाता है और उसका विनाश हो जाता है। इसी को लुईपा ने चंचल चित्त में काल का प्रवेश करना बताया है।[७९] अतः काल पर विजय प्राप्त कर बोधिचित्त को उद्‌बुद्ध करने के लिये पवन का निरोध करना आवश्यक है। सरहपा ने कहा है कि जो वायु बहती है (अधोमुखी या ऊर्ध्वमुखी, अपान या प्राण) वह जब निश्चल हो जाती है तब उस योगी का काल क्या बिगाड़ सकता है।[८०] तिलोपा के अनुसार ऐसी ही बद्ध नियन्त्रित वायु में लीन होकर चंचल चित्त मृत[८१] अर्थात विशुद्ध हो जाता है।[८२] इसी को कुक्कुरीपा कुम्भीर फल (कुम्भक योग) कहते हैं और सांस की निद्रा (श्वास की निश्चलता) कहते हैं।[८३] इसी पवन के निरोध को सरहपा पवन का क्षय भी कहते हैं।[८४] इस साधना में वायु के निश्चल करने के अर्थ हैं प्राणवायु को ऊपर जाने और अपान वायु को नीचे जाने से रोक कर यथास्थान रोक देना ताकि उसे चित्त भी चंचल न रह कर स्थिर और एकाग्र हो जाय। अध-ऊर्ध्व से विमुक्त बोधिचित्त उसी समय प्राण अपान से विमुक्त तथता-स्वरूप का हो जाता है।[८५] इसी से काण्हपा ने ऐसी गृहणी को इस बोधिचित्त का

प्रतीक माना है जो घर ही में रहती है बाहर नहीं आती जाती है।[८६] इसके लिये कुम्भक, रेचक, पूरक आदि का विधान है[८७] जो योगाचार में ही अपनाया जा चुका था।[८८]

किन्तु इसके साथ ही साथ स्वेच्छा से लिंग और गुदा के समीप की मांसपेशियों का संकुचन कर एक प्रकार का मूलबन्ध भी किया जाता था जिससे शुक्र अधःपतित न हो।[८९] ये बन्ध देह के अन्दर स्थित विभिन्न पीठों ओडियान जालन्धर आदि के समीप की पेशियों को संकुचित कर किये जाते थे। इसी के आधार पर तन्त्रों में जालन्धर बन्ध, उड्डीयान बन्ध आदि उल्लेख मिलते हैं।[९०] इस मणिमूल बन्ध के कारण चन्द्र और दिवाकर रूपी ललना और रसना का निरोध हो जाने से अन्धकार हो जाता है।[९१] कालाग्नि का भी क्षय हो जाता है। तब उस समय साधक अवधूती का उद्घाटन करता है और चंडाग्नि रूपी आलोक ऊपर की ओर उठता है और उससे बोधिचित्त मणि की भाँति जगमगा उठता है। इसी को चान्डाली योग भी कहा जाता है।[९२] इसी चंडाग्नि के ऊपर पहुँच कर सभी क्लेश वासनाओं को जला कर भस्म कर देने का वर्णन चर्यापदों में बड़े सुन्दर ढंग से मिलता है। धामपा कहते हैं—कमल और कुलिश के मध्य में मैं लीन हो गया हूँ। समता योग से मेरी चांडाली प्रज्ज्वलित हो गई है। डोम्बी के घर में राग-दाह से आग लग गई है। शशहर (परिशुद्ध चित्त) को लेकर मैं आग को बुझा रहा हूँ। यह ज्वाला दाहक नहीं है, न इससे नयन में धुँआ लगता है। यह अग्नि सुमेरु शिखर में जाकर गगन में प्रवेश कर रही है। उससे हरिहर ब्रह्मादिक सब जल गये हैं। नवगुण वासना क्लेशादि सब इससे भस्म हो गये हैं। अन्त में पाँच नाड़ियों से जल पहुँचा।[९३]

टीका के अनुसार[९४] इसमें कमल कुलिश या ललना रसना के बीच में अवधूती मार्ग के उद्घाटन से चंडाली प्रज्ज्वलित करने का वर्णन है। यह महासुख रूपी राग की अग्नि है जो परिशुद्धावधूती रूपी डोम्बी के घर में लग गई है। इससे सभी विषयाश्रय दग्ध हो गये हैं। यह ज्ञानाग्नि है अतः इसमें दृष्टि-दोष (आँख में धुँआ लगना) नहीं होता। हरिहर और ब्रह्मा से मूत्र नाड़ी, शुक्र नाड़ी और विट नाड़ी परिलक्षित हैं। ये तीन उपनाड़ियाँ हैं और हिन्दू देवताओं को नीचा दिखाने के लिये इन्हें त्रिदेव की संज्ञा दी गई है। ये तीनों नाड़ियाँ भस्म हो गई हैं। पाँच नाड़ियाँ पूर्वोक्त तीन नाड़ियाँ तथा ललना और

रसना हैं।[९५] या टीका के अनुसार इन्हें चतुशून्य और अवधूती, इन पाँचों के रूप में गिनना अधिक संगत होगा। इन पाँचों से अमृत झरता है।

इस चंडाली के प्रज्ज्वलित होने के उपरान्त साधक वज्रजाप आदि साधनाओं से काय, वाक और चित्त को वज्र बना कर तब मध्यपथ, अवधूती को वधू के रूप में ग्रहण करता है। इस काय-वाक्-चित्त वज्र साधना की व्याख्या चौथी चर्या की टीका में की गई है जहाँ देवता योग से काय-वज्र, वज्र जाप द्वारा वाक्-वज्र और पवन निरोध द्वारा चित्त-वज्र का प्रतिपादन किया गया है।[९६] कृष्णाचार्य इसी काय-वाक-चित्त को त्रिशरण कहते हैं और उससे चतुर्थ अर्थात् महासुखकाय नौका रूप में ग्रहण करने का आदेश देते हैं।

इस काय-वाक्-चित्त वज्र[९७] की साधना से सिद्धों का अर्थ हठयोग में अन्तर्भुक्त उन चार वज्रयोगों से है जिनका विस्तृत विवरण हमें सेकोद्देश टीका में मिलता है। निर्माण-काय रूपी तथागतों की काया का ध्यान कर काया को वज्र बना लेना चाहिये। इसीलिये कृष्णाचार्य देह रूपी नौका का केडुआल पंच तथागतों को बनाते हैं।[९८] इसीलिये टीकाओं में देवता योग से काय-वज्र की सिद्धि बताई गई है। इसके बाद वज्रजाप द्वारा वाग्वज्र की सिद्धि का उल्लेख मिलता है। वज्रजाप प्राणायाम के समय एवं आदि बीजाक्षरों तथा मन्त्रों के निरन्तर जप को कहते हैं। वज्रजाप का उल्लेख हमें पाँचवीं चर्या की टीका में भी मिलता है।[९९] यह वज्रजाप सदैव प्राणायाम से संबद्ध रहता था अतः बहुत से वज्रयानी मन्त्र तीन अक्षरों के मिलते हैं ताकि पूरक, कुंभक और रेचक इन तीनों में उसका जाप हो सके।[१००] सेकोद्देश टीका में चौथी अवस्था को ज्ञान-वज्र बताया है।[१०१]

इसी प्रकार अवधूती द्वारा चारों चक्रों का वेधन करने की प्रणाली में चार क्षणों, चार आनन्दों और चार मुद्राओं का उल्लेख बार बार सिद्धों ने किया है जिसका परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है। तिलोपा कहते हैं कि क्षण और उनके आनन्दों का भेद भली भाँति जान लो।[१०२] जो क्षण तथा आनन्दों का भेद जान लेता है वही योगी कहलाता है।[१०३] सरहपा भी क्षणों के उपाय और उनके सुख का वर्णन करते हुए चतुर्थ क्षण में प्राप्त सहजानन्द की उपलब्धि को श्रेयस्कर मानते हैं।[१०४]

इन चार क्षणों की व्याख्या टीका में इस प्रकार की गई है कि क्षण चार होते हैं।[१०५] इन चार क्षणों को हेवज्र-तन्त्र में विचित्र, विपाक, विमर्द और

विलक्षण की संज्ञा दी गई है।[१०६] विचित्र निर्माणचक्र के वेधन का क्षण है, विपाक धर्मचक्र का, विमर्द सम्भोगचक्र का और विलक्षण ऊष्णीष कमल का। इसी न्याय से विचित्र निर्माणकाया का क्षण है, विपाक धर्मकाया का, विमर्द सम्भोगकाया का और विलक्षण महासुखकाया का। अद्वयवज्र भी इन्हीं चारों क्षणों का विवरण देते हुए चतुर्थ क्षण तक पहुँचने के लिये हठयोग की साधना का उपयोग करते हैं।[१०७]

दोहों के टीकाकार ने इन्हीं चार क्षणों के भेद से ४ आनन्द बताए हैं।[१०८] ये चारों आनन्द उन्हीं चारों क्षणों के होते हैं।[१०९] ये चार आनन्द हैं, प्रथमानन्द, परमानन्द, विरमानन्द और सहजानन्द। प्रथमानन्द विचित्र क्षण का आनन्द है जिसकी अनुभूति आलिंगन चुम्बनादिक से मिलती जुलती है। परमानन्द ज्ञान-सुख का योग है। विरमानन्द समागम सुख की भाँति है और इन सभी राग विरागों से वर्जित चतुर्थ आनन्द है सहजानन्द जो सर्वश्रेष्ठ है। परम और विरम इन दोनों के मध्य और दोनों से श्रेष्ठ यह सहजानन्द है जो साधक को महासुख की अनुभूति देता है।[११०]

चार आनन्द

यहाँ पर एक बात ध्यान में रखना चाहिये। हिन्दू योगशास्त्र में जहाँ सुख को आनन्द से नीचा स्थान दिया गया है वहाँ सिद्धों ने साम्प्रदायिक प्रति-द्वंद्विता के कारण महासुख को शीर्ष स्थान दिया है जो प्रज्ञोपाय योग के उपरान्त प्राप्त होता है और आनन्दों को उससे निम्न श्रेणी का माना है। उसमें भी हिन्दुओं की सर्वोच्च अनुभूति ब्रह्मानन्द को उन्होंने केवल तीसरा स्थान दिया है और अपने प्रज्ञोपाय मैथुन से प्राप्त सहजानन्द को ब्रह्मानन्द से भी ऊँचा ठहराया है।

इन आनन्दों को प्राप्त कराने वाली ४ मुद्राएँ हैं जिनका नाम दोहाकोष में कर्ममुद्रा, धर्ममुद्रा, ज्ञानमुद्रा और महामुद्रा बताया गया।[१११] चर्यापदों में में कर्ममुद्रा, ज्ञानमुद्रा और महामुद्रा का कई बार उल्लेख आता है जैसा हम आगे देखेंगे। बौद्ध तन्त्रों में बाद में इन नामों में कुछ विपर्यय भी हुआ है। अद्वयवज्र ने ज्ञानमुद्रा का उल्लेख नहीं किया है और समयमुद्रा को सर्वश्रेष्ठ माना है।[११२] श्रीसम्पुट

मुद्रा-मैथुन

में भी यही क्रम है।[११३] सरहपा ने एक और मुद्रा भवमुद्रा का उल्लेख किया है जो सांसारिक सुख दुख और क्लेश देकर भव बन्धन में बाँधने वाली है।[११४] बोधिचित्त के उद्बुद्ध हो जाने के बाद प्राप्त होने वाली उपर्युक्त चारों मुद्राएँ मोद प्रदान करनी वाली हैं। इसीलिए उन्हें मुद्रा कहा गया है। [११५] 'मोद प्रदान करने वाली' यह व्याख्या बौद्ध तन्त्रों की अपनी व्याख्या है अन्यथा पहले तन्त्रों में मुद्रा का अर्थ यह नहीं दिया गया है।[११६]

इन चारों मुद्राओं में प्रथम मुद्रा होने के कारण कर्ममुद्रा का काफी महत्व बताया गया है। तिलोपा कर्ममुद्रा को दूषित न करने का उपदेश देते हैं।[११७] क्योंकि क्षण आनन्द का भेद कर्ममुद्रा के बिना पहचाना ही नहीं जा सकता।[११८] बोल-कक्कोल-साधना द्वारा पंच महाभूतों को अन्तस्थ करने की साधना भी कर्म-मुद्रा के समागम में विचित्र क्षण में ही बताई गई है।[११९] अद्वयवज्र वज्रयोगों द्वारा काय वाक् चित्त की दृढ़ता और वज्र-परिणति भी कर्ममुद्रा के ही सहयोग से बताते हैं।[१२०]

मुद्रा अर्थात् मोद देने वाली इस व्याख्या से मुद्रा को नारी रूप में परिकल्पित किया गया है। श्रीसम्पुट में भगवान बुद्ध को निर्माण चक्र में लोचना मुद्रा, धर्मचक्र में मामकी, सम्भोग चक्र में पाण्डरा और महासुख चक्र में महासुख काया में तारा से मुद्रारूप में सम्भोग करते बताया गया है। सिद्धों ने भी भगवती नैरात्मा को महामुद्रा में परिकल्पित कर उनके डोम्बी, चांडाली, कपाली, योगिनी, शवरी आदि कई नाम दिये हैं, जिन पर विचार कर लेना आवश्यक है।[१२१] इन नामों से यह भ्रम हो सकता है कि ये निम्न जातियों की स्त्रियों के वाचक हैं जो सम्भवतः इन सिद्धों की गुह्य साधनाओं में सम्मिलित हुआ करती होंगी। किन्तु इनके पीछे योग साधनाओं से सम्बन्धित गहन सांकेतिक अर्थ हैं जिन पर आगे हमने विचार किया है।[१२२] किन्तु यह सब केवल सांकेतिक शब्दावली है और वास्तविक नारियाँ इनकी साधना में सम्मिलित नहीं होती थीं, यह धारणा भी सर्वथा एकांगी है।

बौद्ध तन्त्रों के सर्वमान्य ग्रन्थों में इस विषय में स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं कि मण्डल चक्र और मुद्रा मैथुन में स्त्रियों का उपभोग उनके यहाँ आवश्यक अनुष्ठान माना जाता था। किन्तु वे इन साधनाओं को केवल भौतिक अर्थ में ग्रहण नहीं करते थे। वे प्रज्ञा को परमार्थ रूप में नैरात्म ज्ञान मानते थे और सम्वृत्ति रूप में देहधारी नारी रूप। अतः प्रज्ञा का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने के

लिये पहले नारी रूपिणी सम्वृत प्रज्ञा, देहधारिणी प्रज्ञा का उपभोग करना आवश्यक है।[123] यदि नारी के इस प्रज्ञारूप को हृदयंगम कर लेते हैं तब फिर किसी कुल जाति की स्त्री में रमण कर हम शून्यता ज्ञान की उपलब्धि कर सकते हैं।[124] मुद्रा की जाति की विशेष चिन्ता नहीं करनी चाहिए क्योंकि जाति की स्थिति तो देह में है और प्रतीत्य-समुत्पाद के सिद्धान्त से देह अनित्य और नैरात्म्य-स्वभाव की है। अतः कैवर्ती, चांडाली, ब्राह्मणी, क्षत्रिया, वेश्या, शूद्रा इनमें से कोई भी त्याज्य नहीं हैं। हमें वज्रज्ञान के प्रभाव में इनसे समागम करना चाहिये।[125] इस वज्रज्ञान प्राप्त साधक के लिये गम्य-अगम्य तथा पेय-अपेय का कोई ध्यान नहीं रहता। सभी वर्णों में उत्पन्न स्त्रियाँ ग्राह्य हैं उनसे घृणा नहीं करनी चाहिए। वे भगवती प्रज्ञापारिमिता की ही सम्वृत्त रूपाभिव्यक्ति हैं।[126]

बौद्ध तन्त्र ग्रन्थों में स्पष्टतः मुद्राओं की आयु, जाति रूप आदि के विषय में सांगोपांग विवेचन मिलता है। उनकी मण्डल चक्र साधनाओं में यह दायित्व गुरु पर है कि वह शिष्य को मुद्रा के चुनाव और उपभोग में निर्देशन दे। उनकी अभिषेक साधना ही मुद्रा के समागम से आरम्भ होती है।[127] सेकोद्देश टीका में शिष्य को दीक्षित करते समय मुद्रा की आयु बारह से बीस वर्ष पर्यन्त की बताई गई है। उसका उपयोग प्रज्ञोपायात्मक देवता योग से अपनी कुलिश मणि से करना चाहिये।[128] प्रज्ञोपाय-विनिश्चय में बताया गया है कि मुद्रा के आलिंगन के साधक में वज्रावेश जागता है, और वह साधना-मार्ग में प्रवृत्त होता है।[129]

किन्तु ये समस्त आलिंगनादि कर्म क्षुब्ध, आसक्त और विषयी मन से नहीं करने चाहिये अन्यथा ये बन्धन के कारण बन जाते हैं और इनसे सिद्धि प्राप्त नहीं होती।[130] मन को इतना अनासक्त रहना चाहिये कि योगी को कभी स्खलित नहीं होना चाहिये।[131] बाद में तो इन पद्धतियों का इतना विकास हुआ कि वज्रोली, सहजोली आदि पद्धतियों का उल्लेख मिलता है जिनमें साधक मैथुन के समय मुद्रा-योगिनी को स्खलित करा देता है, किन्तु स्वतः क्षरित नहीं होता। इसके अनन्तर वह नारी के रज को भी प्राणायाम के द्वारा अपने शरीर में खींच लेता है और उससे काय वाक् चित्त की वज्रता को उपलब्ध कर लेता है।[132]

महामुद्रा की यह साधना सबसे कठिन साधना मानी जाती थी और इसी साधना में निष्णात होने के उपरान्त ही किसी की गणना सिद्धाचार्यों में होती

है। इन सिद्धों में से कई ने महामुद्रा साधना सम्पन्न की थी ऐसा तिब्बती अनुश्रुतियों में मिलता है। तारानाथ ने स्वतः सरहपा के विषय में लिखा है कि वे महामुद्रा साधना के प्रथम आचार्य थे (बौद्ध परम्परा में)। नालन्दा से जब वे दक्षिण गये तब महाराष्ट्र में उन्हें अपनी ही समकक्ष योगिनी मिली जिससे महामुद्रा मैथुन सम्पन्न कर वे सिद्ध हुए।[१३३] शबरीपा को दो मुद्राओं का स्वामी बताया जाता है। उनका नाम लोगी और गुनी था और जब शबरीपा ने उन्हें मुद्रा रूप में स्वीकार किया तो उनका नाम डाकिनी पद्मावती और ज्ञानावती हो गया। उनका बाह्य जीवन अनैतिक और पापमय सा प्रतीत होता था।[१३४] लुईपा बंगाल गये और गंगातट पर मछलियों के ढेर में रह कर उन्होंने अपनी साधनाएँ कीं और मैथुन कर महामुद्रासिद्धि प्राप्त की।[१३५]

बौद्ध परम्परा के बाहर भी कभी कभी इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि सिद्ध लोग सपत्नीक गृहस्थ जीवन बिताते थे। यह परम्परा अवश्य पहले से चली आ रही थी। कालिदास में हमें सपत्नीक सिद्धों का एक रोचक उल्लेख मिलता है। जब मेघ से यक्ष अलकापुरी जाने की प्रार्थना करता है तब वह कहता है कि 'इस पहाड़ी से जब तुम ऊपर उड़ोगे तो तुम्हारी गति से आकृष्ट होकर सिद्धों की भोली भाली प्रेयसियाँ अनिमेष दृष्टि से तुम्हारी ओर देखेंगी और आश्चर्य में पड़ जायंगी कि कहीं यह पर्वत ही तो नहीं उड़ा जा रहा है।[१३६] कालिदास के इस उल्लेख से स्पष्ट है कि मालव के दक्षिण में सम्भवतः महाराष्ट्र के आसपास सिद्धों की परम्परा थी जो सपत्नीक रहते थे। वे बौद्ध सिद्ध नहीं रहे होंगे किन्तु उन्हीं के अनुकरण में सरहपा ने इस पद्धति को ग्रहण किया होगा! किस प्रकार सरहपा ने इस योगिनीनय को दोहाकोष में प्रज्ञापरक अर्थ दिये हैं इस पर हम विचार कर चुके हैं। इनके अतिरिक्त कई स्थानों पर सखि के प्रति उद्बोधन मिलता है जिससे इन साधनाओं में महामुद्रा नारी का साथ होना प्रमाणित होता है।

कुक्कुरीपा की महामाया साधना में वज्रनृत्य के साथ गाई जाने वाली वज्रगीति में सखि के प्रति स्पष्ट सम्बोधन है। 'ओ सखि वज्र द्वारा प्रबोधित होने पर कमल विकसित हो गया है आओ महासुख पर आरोहण कर नृत्य करें।'[१३७] इसी प्रकार वीणापा को चर्या में हठयोग की वीणा का वर्णन देने के उपरान्त वे अपनी सखि को सम्बोधित कर कहते हैं—हे सखि हेरुक वीणा बजा रही है...राजा नाच रहा है, और देवी गा रही है। यह बुद्ध-नाटक हो रहा

है।[१३८] टीका में इस सखी देवी योगिनी को नैरात्म्यरूप बताया गया है जिससे स्पष्ट है कि मंडल चक्रों में वे स्त्रियों को नैरात्मा (प्रज्ञा) के ही रूप में ग्रहण करते थे।

अब प्रश्न उठता है कि सिद्धों ने इस महामुद्रा साधना के शारीरिक मैथुन रूप के विषय में कुछ क्यों नहीं कहा। सिद्धों के शेष साहित्य में यदि इनका विवरण हो तो नहीं कहा जा सकता किन्तु चर्यापदों और दोहों में तो इनका बहुत अप्रत्यक्ष और थोड़ा सा उल्लेख है जैसा हमने देखा। इसके कई कारण हैं। पहला तो यह कि वे महामुद्रा साधना के आध्यात्मिक पक्ष पर अधिक बल देना चाहते थे इसी लिये सरहपा, तिलोपा और कारहपा तीनों में जोगिनी, महामुद्रा और धारिणी का उल्लेख है किन्तु उसे प्रज्ञाज्ञानपरक व्याख्या वे बराबर देते गये हैं। दूसरी बात यह है कि ये साधनाएँ विकसित अवस्था के साधकों के लिये थीं और जनसाधारण को इनका उपदेश देना वर्जित था। अद्वयवज्र ने वज्रयान के साधक के मूल और स्थूल दो प्रकार के दोष बताए हैं और उनमें 'गुह्याख्यान जने पक्षे' यह दोनों में परिगणित है।[१३९] अतः इस ज्ञान को सभी पर प्रकाशित नहीं किया जा सकता। इसके लिये साधक को पहले ४ अभिषेकों की साधना से गुज़रना पड़ता है तब वह महामुद्रा-साधन-प्रणाली में दीक्षित किया जा सकता है। इन अभिषेकों का उल्लेख जहाँ तहाँ चर्यापदों की टीकाओं में मिलता है।[१४०] इन्हीं अभिषेकों से दीक्षित साधक को चर्याधर या कपाली भी कहा जाता था।[१४१]

महामुद्रा का वरण करने के उपरान्त योगी गुरू के पास जाता है जो उसे अभिषिक्त करता है। अभिषेकों से महामुद्रा साधना सम्पन्न होती है।[१४२] चौदहवीं चर्या की टीका में 'गगन दुखोल' से पानी उलीचने को चतुर्थ सेक कहा गया है जिससे सम्भवतः प्रज्ञाभिषेक का संकेत है क्योंकि गगन शून्य-प्रज्ञा का प्रतीक है। २७ वीं चर्या की टीका में भी टीकाकार ने प्रज्ञाज्ञानाभिषेक का उल्लेख किया है और उसका समय चतुर्थी सन्ध्या बताया है।[१४३]

इस अभिषेक के उपरान्त साधक महामुद्रा के साथ मण्डल चक्र में प्रवेश करता है। सिद्धों ने स्थान स्थान पर निम्न प्रकार के, अर्थात अन्य सम्प्रदायों के, या बौद्धों में भी प्रज्ञोपायात्मक ज्ञान से विहीन मण्डल चक्रों का खंडन किया है।[१४४] किन्तु इसी से यह समझ लेना उचित नहीं है कि वे मण्डल चक्र मात्र के विरोधी थे। कई स्थानों पर ऐसा उल्लेख मिलता है कि वे मंडल चक्र

की साधना में प्रवृत्त होते थे किन्तु उत्तम मंडल चक्र वे उसे मानते थे जो प्रज्ञोपायात्मक हो। सेकोद्देश टीका, गुह्यसमाज तन्त्र तथा अन्य कितने ही बौद्ध तन्त्रों में मण्डल चक्र की साधना का विवरण देते हुए यह स्पष्ट कहा गया है कि प्रथम दीक्षा या अभिषेक के समय गुरु साधक के लिये मण्डल चक्र की नियोजना करता है किन्तु साधना की विकसित अवस्थाओं में उससे कहा जाता है कि वह इस वाह्य मण्डल चक्र को देह में व्याप्त पंच स्कन्धात्मक मण्डल चक्रों की अभिव्यक्ति मात्र समझे। इसके भी बाद उससे कहा जाता है कि वास्तविक चक्र तो तथागत की निर्माण काया में विन्दु और रज अथवा कमल और कुलिश के युग्म से नियोजित होता है।

मण्डल चक्र की प्राथमिक साधनाओं के विषय में सेकोद्देश टीका में बड़ा रोचक विवरण मिलता है। गुरु पहले एक मण्डल चक्र बनाकर उसमें मन्त्र, पीठ, उपपीठ, देवतास्थान आदि अंकित कर देता है। फिर साधक के हाथ में एक फूल दे दिया जाता है जिसे गुरु की वन्दना कर साधक चक्र के अन्दर फेंकता है। उसके बाद गुरु उसकी आँख में पट्टी बाँध कर साधक को मण्डल के पूर्वी द्वार पर ले आता है। मण्डल के अन्दर प्रवेश कर वह फिर बाहर विजयकलश पर फूल फेंकता है। इस पुष्पाक्षेप के बाद उसकी आँखों की पट्टी खोल दी जाती है।[१४५]

इस मण्डल चक्र को भी तथागत की काया बतलाया गया है क्योंकि मण्डल चक्र के उस भाग को, जो रंगमयी अल्पना से सुसज्जित है, तथागत की काया माना गया है और उसमें फूल फेंकना वर्जित है क्योंकि यदि रंगों की एक रेखा भी बिगड़ी तो उससे तथागत की काया को आहत करने या एक चैत्य तोड़ने का पाप होता है।[१४६]

जहाँ तक सिद्धों का सम्बन्ध है, वे निर्माण काया से उद्भूत आन्तरिक मण्डल चक्र को श्रेष्ठ मानते थे और सदा मण्डल चक्र के आध्यात्मिक पक्ष पर बल देते थे। यह मण्डल चक्र तथागत की निर्माणकाया का प्रतीक होता था।[१४७] इसका उल्लेख गुह्य-समाज-तन्त्र में भी मिलता है और वहाँ पंच स्कन्धों के मण्डल चक्रों का ध्यान करने का सन्देश दिया गया है और उन पंच स्कन्धों के अधिष्ठाता पाँच तथागत हैं।[१४८] उनमें वज्रसत्व को जोड़कर षट् तथागत होते हैं और कण्हपा को टीकाकार ने षट् तथागत चक्री बताया है।[१४९] गुह्य समाज तन्त्र के अनुसार नारी महामुद्रा के तन में भी पंच तथागतों का

वास है अतः उसकी साधना कर लेने वाले को भी तथागतचक्री कहते हैं।[१५०] इसीलिये महामुद्रा की साधना कर लेने वाला फिर समस्त वाह्य अनुष्ठानों से मुक्त हो जाता है। कारहपा ने कहा है कि 'तन्त्र मन्त्र करने की फिर कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। निज गृहणी महामुद्रा को लेकर प्रणयकेलि, कमल-कुलिश साधना करना ही पर्याप्त है। ऐसे जप, होम, मण्डलकर्म केवल वाह्य होने के कारण निरर्थक हैं, उस तरुणी महामुद्रा के स्नेह के बिना बोधि (ज्ञान) नहीं प्राप्त हो सकती।[१५१]

समाधि

महामुद्रा के साथ साधक की साधना की चरम परिणति को समाधि कहते हैं जो प्रज्ञा और उपाय के समागम के कारण प्रज्ञोपाय समाधि या दोनों से उद्भूत होने के कारण सहज समाधि कहलाती है। समाधि का उल्लेख योगाचार[१५२] में भी है और प्रज्ञापारमिता[१५३] में भी, किन्तु सिद्धों की सहज अथवा प्रज्ञोपाय समाधि[१५४] वज्रयान के तान्त्रिक आचार्यों की अपनी निजी कल्पना है। यही समाधि सिद्धि, महासुख तथा अनुत्तर प्रदान करने वाली है और इसमें स्थित होने के उपरान्त फिर साधक आचार के बन्धनों से मुक्त हो जाता था। गम्यागम्य, भक्ष्याभक्ष्य का कोई भी बन्धन उस पर अनिवार्य नहीं रहता था क्योंकि वह सभी कर्म नैरात्म्य भावना से करता था। उसमें उसकी आसक्तियाँ नहीं रहती थीं।[१५५]

यही समाधि अष्ट महासिद्धि, महासुख, समरस और अनुत्तर ज्ञान की उपलब्धि कराती थी।

घ

उपलब्धि

हम देख चुके हैं कि तान्त्रिक काल में साधनाओं द्वारा सिद्धि की उपलब्धि का विशेष महत्व था और सिद्ध-पुरुष उन्हें कहते थे जो साधनाओं द्वारा असाधारण, अति-मानवीय शक्तियाँ उपलब्ध कर लेते थे।[1] इन सिद्धियों का हठयोग, रसायन-साधना आदि की चिन्तनधारा में भी विशेष महत्व था। अथर्ववेद के ही सूक्तों में हमारा परिचय इन अति-प्राकृतिक सिद्धियों से होता है और उन्हें सिद्ध करने के अभिचार और अनुष्ठानों का उल्लेख मिलता है। योगशास्त्र में मन्त्रादि के अतिरिक्त समाधि द्वारा सिद्धि-लाभ को सर्वोत्कृष्ट मार्ग बताया गया। भारतीय चिन्तन-परम्परा में धीरे-धीरे जगत का अस्तित्व चित्तगत माना जाने लगा अतः चित्त की वृत्तियों को भलीभाँति निरुद्ध कर एक ही दिशा में उन्मुख करने से विभिन्न प्राकृतिक शक्तियों पर नियन्त्रण और प्रभुत्व लाभ करने को उत्कृष्ट सिद्धि माना जाने लगा। इसी परम्परा के अनुसार कालान्तर में सिद्धियों को तीन वर्गों में विभाजित किया जाने लगा, अधम, मध्यम तथा उत्तम।[2] अधम और मध्यम सिद्धियाँ अनुष्ठान-परक थीं और भौतिक सम्पन्नता को लक्ष्य मानती थीं, लेकिन उत्तम सिद्धि में केवल चित्त में विचार उठते ही कार्य का सम्पन्न होना बताया गया है।

सिद्धियाँ

अतः उत्तम सिद्धि चित्तगत ही मानी जाती थी और शेष सिद्धियों को उससे नीचा स्थान दिया गया था। यह उत्तम सिद्धि चित्तवृत्तियों के निरोध या समाधि से प्राप्त होती थी। पातंजल योग-दर्शन में साधन की दृष्टि से पाँच प्रकार बताई गई हैं, जन्मजा, ओषधिजा, मन्त्रजा, तपोजा, समाधिजा।[3] समाधिजा सिद्धि की प्रकृति का विश्लेषण करते हुए पातंजलि ने लिखा है कि जिस

प्रकार वर्षा की नदी की समस्त दिशाएँ अवरुद्ध कर एक ही दिशा उद्घाटित कर दी जाय तो उसमें अदम्य और अपराजेय शक्ति आ जाती है उसी प्रकार चित्त की समस्त वृत्तियों का निरोध कर एक ही दिशा में उन्हें निर्देशित किया जाय तो उनमें असाधारण दैवी शक्ति आ जाती है।[४]

बौद्ध तन्त्र-परम्परा में भी सिद्धियों के दो वर्गों को स्वीकार किया गया है। उत्तम तथा सामान्य। गुह्य-समाज-तन्त्र में अन्तर्धान आदि को सामान्य सिद्धि तथा बुद्धत्व-साधन द्वारा प्राप्त सिद्धियों को उत्तम कहा गया है।[५] यह बुद्धत्व साधन प्रज्ञोपाय-समापत्ति-योग या प्रज्ञोपाय समाधि ही है।[६] सेकोद्देश में भी दो प्रकार की सिद्धियाँ बताई गई हैं। लौकिक तथा लोकोत्तर। लोकोत्तर सिद्धि को महामुद्रा सिद्धि, अनुत्तर सिद्धि या महासुख की सिद्धि बताया गया है।[७]

इन सिद्धियों की संख्या यूँ तो अनगिनती हैं किन्तु फिर भी इनमें से प्रमुख तथा उत्कृष्ट सिद्धियों की एक संख्या निर्धारित करने की परम्परा रही है। ब्रह्मवैवर्त में मनोयायित्व, सर्वज्ञत्व, दूर-श्रवण, परकाय-प्रवेश, चिरजीवित, वायु-स्तम्भ आदि ३४ सिद्धियाँ बताई गई हैं।[८] कहीं कहीं सिद्धियों की संख्या १८ तथा २४ भी बताई गई हैं।[९] किन्तु हठयोग साधना में ८ प्रमुख सिद्धियाँ मानी जाती थीं।[१०] अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व तथा काम-वशायित्व। बौद्ध तन्त्रों ने भी इसी परम्परा का अनुगमन कर ८ विशेष महासिद्धियाँ स्वीकार की थीं किन्तु सम्प्रदाय भेद से ये अष्ट महासिद्धियां हिन्दू योगशास्त्र की अष्ट महासिद्धियों से अलग थीं। ये अष्ट महासिद्धियाँ थीं—खड्ग अंजन, पादलेप, अन्तर्धान, रस रसायन, खेचर, भूचर, पाताल।[११] उत्तम, अनुत्तर सिद्धि के अतिरिक्त इन लौकिक अथवा सामान्य अष्ट महासिद्धियों की भी उपलब्धि तान्त्रिक साधनाओं द्वारा हो जाती थी।

चर्यापदों में एक स्थान पर इन अष्ट महासिद्धियों का उल्लेख आया है। शान्तिपा वाम और दक्षिण मार्ग को छोड़कर, अर्थात् केवल शून्य या केवल करुणा, केवल रसना या केवल ललना, केवल उपाय या केवल प्रज्ञा का मार्ग छोड़कर मध्यम सहज पथ या ऋजु पथ को ग्रहण करने का उपदेश देते हुए यह कहते हैं कि उसमें महासुख की अनुभूति तो होती है, अष्ट महासिद्धियों की भी उपलब्धि होती है।[१२]

अभी तक प्राप्त बौद्ध तन्त्रों में इन सिद्धियों का सांगोपांग शृङ्खलाबद्ध

विवेचन नहीं मिला है किन्तु अलग अलग साधनाओं में इन सिद्धियों की ओर अप्रत्यक्ष संकेत मिलते हैं। खंग सिद्धि संभवतः मन्त्रों से

अंजन आदि

अभिषिक्त शस्त्र सिद्धि को कहते थे जो शत्रुओं को पराजित करने और बलि देने के उपयोग में आती थी।[१३] इस खड्ग की स्थिति मण्डल चक्र में उत्तर की ओर मानी जाती थी।[१४] खड्ग वास्तव में पंच रश्मि-प्रभाओं से युक्त वज्र[१५] को ही कहते थे और उसे धारण करने वाले सिद्ध को खड्गधर या वज्रधर कहते थे।[१६] इसी वज्र या खड्ग धारण करने के कारण उस सिद्ध को महाशूर अथवा वीर भी कहा जाता था।[१७] अंजन के अर्थ उस अंजन से हैं जो आँख में लगाने से निहित तथा परोक्ष सत्ताओं और वस्तुओं को देखने की शक्ति दे देता है।[१८] इसका चित्तगत अर्थ होगा नैरात्म्य-दृष्टि या सर्व-शून्य-दृष्टि। पादलेप उस सिद्धि को कहते थे जिसमें पाँवों में कुछ लेप कर लेने से सिद्ध कहीं भी जा सकता था। अर्थात् उसकी गति निर्बाध हो जाती थी। अन्तर्धान के अर्थ थे लोगों के सम्मुख खड़े, खड़े लुप्त हो जाना।[१९] इसके लिए गुह्य साधनाओं में महामांस-समय का विधान है और इसको सिद्ध कर लेने वाले को अन्तर्द्धानाधिप कहा जाता है।[२०] रस रसायन सिद्धि तथा उसकी योग-परक साधना का विवरण पीछे दिया जा चुका है।[२१] खेचर सिद्धि के अर्थ थे आकाश में विहार करने की शक्ति जिसके दार्शनिक अर्थ थे शून्य में विहार करना। इसी प्रकार भूचर के अर्थ हैं संसार में किसी भी स्थान में विचरण कर सकना जिसके दार्शनिक अर्थ हम भव ज्ञान को पूर्णतः सिद्ध कर लेना भी कर सकते हैं। पाताल के अर्थ थे निम्न लोकों में गमन करने की शक्ति।[२२] वास्तव में तन्त्रों की प्रकृति यह थी कि उन्होंने भौतिक तथा आध्यात्मिक का भेद बिल्कुल मिटा दिया था। प्रत्येक वस्तु के लौकिक तथा अलौकिक दोनों अर्थ होते थे और दोनों ही मान्य होते थे। इसी प्रकार इन सिद्धियों को हृदगत, चित्तगत[२३] भी माना जाता था और भौतिक लौकिक भी। दोनों अर्थ एक दूसरे से अभिन्न होकर चलते थे।

कालान्तर में लोक परम्परा में सिद्धियों के भौतिक चमत्कारपूर्ण अर्थों को महत्व दिया जाने लगा था और ये चौरासी सिद्ध उन्हीं चमत्कारों के लिये प्रख्यात थे। इन सिद्धों के चमत्कारों की एक झलक हमें मिल चुकी है।[२४] उनमें रस रसायन, अन्तर्धान, तथा अन्य कितनी ही सिद्धियों को उनके दर्शन-

परक अर्थ की अपेक्षा लौकिक अर्थों में ग्रहण किया गया है जो लोक परम्परा के लिये स्वाभाविक है।

अनुभूतियों द्वारा प्राप्त इन सिद्धों की चमत्कार-गाथाओं के विश्लेषण करने से इन विशेष बातों का पता लगता है। पहली तो यह कि ये इन सिद्धियों का प्रयोग अपने सम्प्रदाय की रक्षा के लिये करते थे और अन्य सम्प्रदाय के लोगों को पराजित करते रहते थे। दूसरे इन सिद्धियों के प्रयोग में लोक-कल्याण की भी भावना रहती थी, लोकरक्षा का भाव रहता था। अकाल, अनावृष्टि, अतिवृष्टि, महामारी, रोग, दारिद्र्य, आदि में यह जनता की सहायता करते थे। तिब्बती अनुश्रुतियों में इसके उल्लेख स्थान स्थान पर मिलते हैं। सरहपा के शिष्य नागार्जुन इन सिद्धियों में पारंगत थे। जिस समय सरहपा आर्यतारा की साधना में लीन थे उस समय मगध में अकाल पड़ा। जनता भूखों मरने लगी। भिक्षुओं को भी अन्न नहीं मिलता था। उसी समय नागार्जुन संघाराम में पधारे और उन्होंने रस रसायन की साधना की और दुर्भिक्ष समाप्त हो गया।[२५] इसके अतिरिक्त ये सिद्ध महायान की रक्षा तथा अन्य सम्प्रदायों को पराजित करने के लिये भी सिद्धियों का उपयोग करते थे। विरूपा ने त्रिलिंग देश में जाकर ऐसा चमत्कार किया कि वहाँ जितनी बौद्धेतर देव-मूर्तियाँ थीं, सब खंड खंड होकर गिर गईं, त्रिशूल भी टूट गया।[२६] मध्यदेश में जाकर विरूपा ने अपने पैर धोकर उसका जल राजा के वनबादल नामक हाथी को पिला दिया जिससे वह रण में गया और एक शत म्लेच्छ राजाओं को पराजित कर चला आया।[२७] इसी प्रकार विरूपा ने गौड़ देश में एक ताजिक सुल्तान को अपनी सिद्धियों द्वारा त्रस्त कर दिया था।[२८] कभी कभी ये सिद्ध इन रक्षात्मक सिद्धियों का प्रयोग राजाओं तथा प्रजाओं को अपने सम्प्रदाय में दीक्षित करने के लिये भी किया करते थे। इस सम्बन्ध में एक रोचक कथा योगिनी-चिन्ता की मिलती है।[२९] योगिनी-चिन्ता पहले शुँडिनी (मद्य विक्रेता) थी। उसकी भेंट वीणापा तथा डोम्बी हेरुक से हुई। उस देश का राजा तीर्थिकों का शिष्य था। चिन्ता ने डोम्बी हेरुक से कहा कि 'तुम इस राजा को बौद्ध बना सकते हो यदि इसे साँपों का भय दिलाओ।' डोम्बी हेरुक ने ऐसा चमत्कार किया कि उसके महल के चारों ओर विषधर सर्प घूमने लगे। राजा भयाकुल बैठा था कि यह स्त्री मदिरा

सिद्धियों का प्रयोग

लेकर गई और कहा कि 'तीथिकों की पूजा से कुछ नहीं होगा। आचार्य डोम्बी हेरुक अपनी सिद्धि द्वारा इस आपत्ति को दूर कर देंगे।' डोम्बी हेरुक को राजा ने बुलाया और उन्होंने ऐसी साधना की कि सभी साँप पाताल में प्रविष्ट हो गये। उसके बाद उस स्त्री को तथागतों का प्रेमी देख कर वीणापा ने अभिषेक और दीक्षा प्रदान की और भगवती लक्ष्मीकरा[३०] ने उसे साधना सिखाई और अन्त में वह वज्र-योगिनी चिन्ता के नाम से प्रख्यात हुई।

अनुत्तर सिद्धि

इन लौकिक या सामान्य सिद्धियों से उच्चतर स्तर की सिद्धि अध्यात्म-परक चित्तगत सिद्धि थी जो साधक अपने ही देह में प्रज्ञोपाय योग या समाधि द्वारा सिद्ध करता था। उसी के लिये तिल्लोपा ने कहा है कि प्रज्ञोपाय समाधि में जब साधक लीन होता है, तभी उसे काय वाक् चित्त की दृढ़ता (वज्रता) प्राप्त होकर अनुत्तर की सिद्धि होती है।[३१] यह अनुत्तर वास्तव में बुद्धज्ञान या तत्वज्ञान है जो शून्यता या करुणा, प्रज्ञा तथा उपाय के एकात्म ज्ञान का ही दूसरा नाम है।[३२] इस अनुत्तर की उपलब्धि को काण्हपा ने बड़ी ही रोचक शैली में अपने एक पद में वर्णित किया है।[३३] इसको डोम्बी बधू तथा कान्ह वर या महामुद्रा और साधक के विवाह में दहेज स्वरूप मिलने वाला धन मानते हैं जो टीकाकार के अनुसार अनायास बिना श्रम (अक्लेशेन) प्राप्त हो जाता है।[३४] जब कान्हपा डोम्बी से विवाह करने जा रहे हैं तब भव और निर्वाण दोनों की ढोल और पखावज बज रही हैं। मन को पवन में लीन कर पालकी बनाई गई है (धर्मकाय का लय) और जय-जय-युक्त दुन्दुभिनाद आकाश में गूँज रहा है। कान्ह ने डोम्बी से विवाह कर जन्मादि बन्धनों को नष्ट कर दिया है और दहेज रूप में उसे अनुत्तर धर्म की प्राप्ति हुई है।[३५]

अनुत्तर उपलब्धि की यह परम्परा सिद्धों ने योगाचार से ग्रहण की थी। अनुत्तर के अर्थ हैं सर्वश्रेष्ठ, जिसके उपरान्त कुछ न हो, जो अशेष हो। विज्ञानवाद में उसे सर्वाकारज्ञता या तथता कहा गया है। और इस ज्ञान को प्राप्त कर लेने से अनुत्तर पद की उपलब्धि बताई गई है।[३६] यह अनुत्तर सहज का ही पर्याय बन गया क्योंकि अद्वयवज्र ने इसे अनुत्तर सहज कहा है।[३७] वास्तव में सहज (प्रज्ञोपाय अद्वय) ही मूल तत्व है और अनुत्तर उसका विशेषण है जो उसके पर्याय रूप में प्रयुक्त किया गया है। इसी की उपलब्धि प्रमुख उपलब्धि है।

उपलब्धि

यह उपलब्धि जो ज्ञान के क्षेत्र में सहज या अनुत्तर ज्ञान है, अनुभूति के के क्षेत्र में वही महासुख, सहजानन्द, सहज सुख या समसुख है जो कि प्रज्ञा और उपाय के समान युगनद्ध से प्राप्त होता है। सिद्ध की व्याख्या करते हुए कान्हपा ने उसको सिद्ध बताया है जो समरसता द्वारा अपने चित्त को सहज में स्थित कर जरामरण के भय से मुक्त हो जाता है।[३८] यह समरस गृहणी महामुद्रा के प्रगाढ़ स्नेह में प्राप्त होता है।[३९] तिलोपा भी इसी समरस को श्रेयस्कर बताते हैं।[४०] इस समरसता में शूद्रत्व और ब्राह्मणत्व का कोई विचार नहीं है क्योंकि यह अभेद-बुद्धि-जन्य है, भेद-बुद्धिजन्य नहीं।[४१] जिस प्रकार जल जल में प्रवेश कर समरस हो जाता है उसी प्रकार प्रज्ञोपाय में प्रज्ञा और उपाय का दाम्पत्य रूप में युगनद्ध हो जाता है।[४२] भुसुकुपा भी यही उदाहरण देते हुए कहते हैं कि जैसे जल जल में समाकर अभेद हो जाता है, उसी प्रकार समरस में मन रूपी मणि शून्यता में समा कर अभेद हो जाती है।[४३]

महासुख

इसी समरसता की अनुभूति को समसुख[४४] अथवा महासुख कहते हैं। इस महासुख की व्याख्या करनी बहुत कठिन है, क्योंकि यह समरस है, सहजानन्द है, न वह श्रवण से सुन पड़ता है, न नयन से दीख पड़ता है, न पवन उसे हिला पाती है न अग्नि उसे जला पाती है, न जल वर्षा से वह आर्द्र होता है, न वह बढ़ता है, न घटता है, न वह अचल है, न गतिशील है, उपनिषदों के ब्रह्म की ही भाँति उसकी नेतिपरक व्याख्या ही दी जा सकती है। किन्तु साथ ही वह केवल नेतिपरक नहीं है क्योंकि जिस भव में लग कर व्यक्ति मरता है, उत्पन्न होता है, बन्धन में पड़ता है, उसी में लग कर वह परम महासुख को भी सिद्ध कर लेता है।[४५] इसकी तो केवल अनुभूति-परक व्याख्या ही की जा सकती है और इसीलिये सिद्धों ने स्थान स्थान पर उस अनुभूति की ओर संकेत करने पर भी अन्त में हार कर कह दिया कि उस अनुभूति की अभिव्यक्ति ही नहीं की जा सकती।[४६]

इसी सहजानन्द परम महासुख को वे सहजामृत भी कहते हैं। अनुभूति की अगम्यता के कारण उसे भी व्याख्या से परे बताया गया है और गुरु केवल उस मार्ग में शिष्य को प्रवृत्ति करा सकता है, उसकी व्याख्या नहीं कर सकता।[४७] किन्तु जो अनुभूतिपरक महासुख की साधना न कर केवल ज्ञानपथ में शास्त्रागम

ग

वज्रयानी शब्दों की परम्परा

शून्य

सिद्धों के समस्त तत्वज्ञान की मूलभित्ति विज्ञानवाद की शून्य कल्पना थी (शून्यवाद की नहीं) जिसमें शून्य को तथता-रूप माना गया था। बौद्ध सिद्धों ने अपनी प्रज्ञोपाय योग-प्रणाली में इसी शून्य को नैरात्मा बालिका, प्रज्ञा या महामुद्रा रूप में ग्रहण किया और साथ ही महासुख चक्र में इस शून्यता की स्थिति मानी।

इसी शून्य तथा इससे सम्बद्ध अन्य कल्पनाओं को ग्रहण करने के कारण नाथ तथा सन्त साधकों का सिद्धों से स्पष्ट सम्बन्ध परिलक्षित होता है। किन्तु प्रमुख अन्तर सिद्धों के शून्य तथा परवर्ती सम्प्रदायों के शून्य में यह है कि बौद्ध 'शून्य' की भाँति परवर्ती शून्य प्रतीत्य-समुत्पाद की तर्क-प्रणाली द्वारा प्रतिपादित तत्वज्ञान न रहकर परमतत्व के अन्य नामों की भाँति यह भी एक नाममात्र था जिसकी व्याख्या और विवेचना प्रत्येक सम्प्रदाय के चिन्तक अपने अपने ढंग से करते थे। वास्तव में बहुत पहले से शून्य अबौद्ध परम्पराओं में परमतत्व की एक संज्ञा के रूप में परिकल्पित कर लिया गया था। महाभारत में भीष्म ने विष्णु के सहस्र नामों का उपदेश देते हुए उनका एक नाम 'शून्य' भी बताया था और उस नाम की व्याख्या करते हुए शंकराचार्य ने कहा था 'सर्व विशेष

अबौद्ध परम्पराओं में शून्य

रहित्वात् शून्यवत् शून्यः'[१] अर्थात समस्त विशेषणों, गुणों, तथा प्रकृतियों से रहित होने के कारण वे शून्यवत् हैं। हम पहले ही इस बात की ओर संकेत कर चुके हैं कि प्रतीत्यसमुत्पाद की तर्क प्रणाली का सबसे बड़ा अन्तर्विरोध यह है कि वह स्वतः अपना अभाव या परमतत्व बुद्ध की भी शून्यता सिद्ध कर देती है, इसीलिये नागार्जुन को तथागत को प्रत्येक ज्ञान से परे बताना पड़ा और विज्ञानवादी आचार्यों को भी माध्यमक सम्प्रदाय की शून्य-कल्पना में संशोधन करना पड़ा। अबौद्ध परम्पराओं में भी इसीलिये शून्य को प्रतीत्यसमुत्पाद की तर्क शृङ्खला से विच्छिन्न कर ग्रहण किया गया। किन्तु नागार्जुन के बाद से ही शून्य की कल्पना बौद्ध प्रभाव के कारण इतनी व्यापक हो गई कि बौद्धों के ही समानान्तर विकसित होने वाले कई सम्प्रदायों में शून्य परमतत्व के वाचक रूप में स्वीकार कर लिया गया यद्यपि उसकी व्याख्या प्रत्येक सम्प्रदाय ने अपने पृथक् ढंग से की। (यद्यपि उनकी शब्दावली बहुत कुछ बौद्ध ढंग की ही थी।) इसी प्रकार का एक दोहा जैन मुनि रामसिंह का भी मिलता है।

सुण्ण ण होइ सुण्ण दीसइ सुण्ण च तिहवणे सुण्ण।
अवहरइ पाव पुण्णं सुण्ण सहावेण गओ अप्पा ॥[२]

किन्तु इसके पूर्व ही उन्होंने परम तत्व की प्राप्ति के लिये १२ अनुप्रेक्षाओं की साधना से परमतत्व की प्राप्ति बताई है और उस परमतत्व को शिवपुरी संज्ञा दी है, इससे यह ज्ञात होता है जैन साधना तथा जैन तत्व-दर्शन में ही उन्होंने कुछ अजैन शब्द अपना लिये हैं और उन्हें जैन तत्व-दर्शन में अन्तर्भुक्त कर लिया है।

नाथ-साहित्य में शून्य

नाथ-सम्प्रदाय में भी शून्य इसी रूप में ग्रहण किया गया। उसे परम तत्व के रूप में स्वीकृत किया गया किन्तु उसकी व्याख्या में नाथ-परम्परा ने संशोधन कर दिया। शून्यवादियों तथा विज्ञानवादियों ने परम तत्व की जो व्याख्याएं की थीं, उनसे नाथ साहित्य में उपलब्ध व्याख्या की तुलना करने से यह अन्तर स्पष्ट हो जाता है।

शून्यवादी व्याख्या :—'शून्यमिति न वक्तव्यमशून्यमिति वा भवेत्। उभयम् नोभयम् चैव प्रज्ञप्त्यर्थं तु कथ्यते।'[3] विज्ञानवादी व्याख्या : 'न सन्न चासन्न तथा न चान्यथा, न जायते व्येति न चावहीयते। न वर्धते नापि विशुध्यते पुनर्विशुध्यते तत्परमार्थ लक्षणम्'...[४] नाथ-साहित्य में उपलब्ध व्याख्या:

'बसती न सुन्यम् सुन्यम् न बसती अगम अगोचर ऐसा। गगन सिषर महि बालक बोले, ताका नाँव धरहुगे कैसा।'[५]

उपरोक्त पंक्तियों में 'बसती' तथा 'न बसती' वास्तव में द्वितीय श्लोक के 'न सन्' तथा 'न च असन्' और 'न सुन्यम्' तथा 'सुन्यम्' प्रथम श्लोक के शून्य तथा अशून्य की प्रतिध्वनि मात्र हैं। इसी प्रकार दूसरी पंक्ति का 'ताका नाँव धरहुगे कैसा' भी 'प्रज्ञप्त्यर्थं तु कथ्यते' का ही रूपान्तर है। किन्तु एक सर्वथा नया भाव है, 'गगन सिषर महि बालक बोलै' शून्य को इस रूप में पूर्ववर्ती किसी भी बौद्ध सम्प्रदाय ने चित्रित नहीं किया है। यह नाथ-साहित्य का अपना संशोधन है। किन्तु यह निरर्थक संशोधन नहीं है। वास्तव में इसके पीछे हठ-योगी-परम्परा की एक महत्वपूर्ण दार्शनिक चिन्तना वर्तमान है।

'गगन शिषर महि बालक बोले' कह कर शून्य का सम्बन्ध शब्द या नाद तत्व से जोड़ दिया गया है। वास्तव में शिव और शक्ति की कल्पना नाद और विन्दु के रूप में हठयोगी तथा तान्त्रिक सम्प्रदायों में बहुत पहले से थी जिनमें नाद तत्व या शब्द ब्रह्म को समस्त सृष्टि का मूल कारण माना गया था। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में शब्द-ब्रह्म की विवर्त प्रक्रिया द्वारा इस संसार की उत्पत्ति बताई थी।[६] सिद्धों के समकालीन बौद्ध आचार्य शान्तिरक्षित ने शब्द-ब्रह्म की कल्पना को स्वीकार किया था और अपने तत्व-संग्रह में नाश और उत्पाद का कारण शब्दमय ब्रह्म को बताया था।[७] इस प्रकार परमतत्व रूप में नाद और शून्य की कल्पनाएँ बहुत पहले से ही समीप आ रही थीं और नाथ-सम्प्रदाय में शून्य को शब्द या परम नाद का पर्याय मान लिया गया। हठयोग-प्रदीपिका में इसी नाद की चार अवस्थाओं को ४ शून्यों की वज्रयानी कल्पना से सम्बद्ध कर दिया गया जिस पर हम बाद में विचार करेंगे। यही नाद पूर्णता का द्योतक है अतः हठयोग-प्रदीपिका में शून्य तथा पूर्ण भी एक ही अर्थ में व्यवहृत हुए हैं।

अन्तः शून्यो बहिः शून्यः शून्यकुम्भ इवाम्बरे
अन्तः पूर्णो बहिः पूर्णः पूर्णः कुम्भ इवार्णवे।[८]

और इसी द्वितीय पंक्ति की प्रतिध्वनि हमें कबीर तथा जायसी की निम्न पंक्तियों में भी मिलती हैं।

कबीर : फूटा कुम्भ जल जलहिं समाना यहु तत कथौ गियानी।
जायसी : सुन्न समुंद चख माँहि जल जैसी लहरैं उठैं
उठि उठि मिटि मिटि जाहिं मुहमद खोज न पाइए।[९]

इसी नाद-तत्व की अभिव्यक्ति के लिये नाथ योगी सिंगी धारण करते थे और उसे बजाते थे क्योंकि वह सिंहनाद का प्रतीक थी। चर्यापदों के टीकाकार मुनिदत्त गोरख द्वारा प्रवर्तित इस परम्परा से परिचित थे क्योंकि एक स्थान पर सिद्धों द्वारा कथित शून्यता के कलकल नाद को उन्होंने अपनी टीका में शून्यता सिंहनाद कहा है।[१०] और उससे समस्त शत्रुओं को त्रस्त बताया है तथा इसके लिये किसी पूर्ववर्ती श्लोक का प्रमाण दिया है। इससे स्पष्ट है कि बहुत पहले से ही शून्य तथा नाद की कल्पनाएँ निकट आ चुकी थीं। शून्यता-सिंहनाद की ही भाँति नाथों की वाणी में भी हमें शून्य की गर्जना का उल्लेख मिलता है और उसे ही अनहद नाद की ध्वनि कहा गया है—'सुनि गरजत बाजन्त नाद आलेप लेखंत ते निज प्रवांणी।'[११]

यह नाद या शब्द सृष्टि का मूलकारण तथा परम तत्व, परम ज्ञान, परम स्वभाव था अतः इस शून्य का भी वर्णन इसी रूप में नाथ-सम्प्रदाय में किया गया है। उसे माता पिता तथा सर्वस्व बताया गया है।

सुंनि ज माई सुंनि ज बाप। सुंनि निरंजन आपैं आप॥
सुंनि के परिचै भया सथीर। निहचल जोगी गहिर गंभीर॥[१२]

इस परम तत्व के ज्ञान को दुर्लभ बताया गया है।

घटि घटि सुख्यां ग्यांन न होइ। बनि बनि चंदन रूख न कोइ।[१३]

अन्य स्थलों पर भी शून्य का अस्तित्व निरन्तर बताया गया है।[१४] मन का स्वरूप शून्य बताया गया है[१५] और शून्य में ही मन का वास बताया गया है।[१६]

सिद्धों के शून्य-तत्व की विवेचना करते हुए हमने यह देखा था कि उन्होंने इस शून्य को द्वय की कल्पनाओं से मुक्त अद्वय-तत्व माना था। इसे अभाव तथा भाव दोनों ही परित्याग कर मध्यम तत्व के रूप में स्वीकार किया गता था। नाथ साहित्य में भी इसका यही रूप है।

अमरा निरमल पाप न पुंनि। सत रज विवरजित सुंनि।[१७]

उपरोक्त चरणों में प्रथम तो तिलोपा की 'णिम्मल सहजे पावण पुण्ण' की प्रतिध्वनि है किन्तु दूसरा चरण इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि शून्य के द्वय-विवर्जित स्वरूप को स्वीकार करते हुए भी उस बौद्ध व्याख्या के अनुसार भाव अथवा अभाव की द्वयता से परे न बता कर सत और रज से परे बताया गया है जो हिन्दू प्रभाव का द्योतक है।

परम तत्व के अतिरिक्त शून्य का व्यवहार नाथ-साहित्य में सहस्रार चक्र में स्थित ब्रह्मरन्ध्र के रूप में भी हुआ है—

गगन मंडल में सुंनि द्वार। बिजली चमकै घोर अन्धार।[१८]

इस गगन मण्डल को शून्य मण्डल के रूप में परिकल्पित किया गया है जहाँ अमृत झरता है—

सुनि मण्डल तहाँ नीझर झरिया। चंद सुरज ले उनमनि धरिया।[१९]

इस गगन मण्डल तक पहुँचने का पथ शून्य द्वार है जिसे सिद्धों की परम्परा का अनुसरण करते हुए मध्यम पथ भी कहा गया है—

मधि निरन्तर कीजै बास। निहचल मनुवा थिर होइ सास।[२०]

और इसे अध तथा ऊर्ध्व के मध्य में स्थित शून्य-मार्ग कहा गया है।

अरध उरध बिच धरी उठाई। मधि सुंनि में बैठा जाई।[२१]

तथा इसी मध्य-शून्य में प्राण-पुरुष का वास बताया गया है। 'मध्ये प्राण पुरिस का बासा।'[२२] गोरक्ष-पद्धति में भी शून्य को महेश का वासस्थान बताया गया है। 'शून्यं प्रविशति गगने यत्र देवो महेशः'[२३]

इस प्रकार हम देखते हैं कि नाथ साहित्य में शून्य शब्द का व्यवहार तीन प्रसंगों में हुआ है।

क. परम तत्व नाद, परम ज्ञान, परम स्वभाव।
ख. ब्रह्मरन्ध्र, दशमद्वार अथवा मध्यपथ तथा सहस्रार चक्र, गगन मण्डल।
ग. शिव-लोक।

परवर्ती सन्त तथा सूफी सम्प्रदायों में हमें इन्हीं तीनों परम्पराओं का विकास मिलता है और इन्हीं तीनों प्रसंगों में शून्य का प्रयोग हुआ है।

सन्त साहित्य में शून्य

सन्त परम्परा में हम शून्य का विकास इन्हीं रूपों में पाते हैं।

१. परम तत्व नाद तथा परम ज्ञान के रूप में।
२. ब्रह्मरन्ध्र तथा सहस्रार चक्र के रूप में।
३. परम लोक के रूप में।

जहाँ तक परम तत्व के रूप में शून्य के विकास का सम्बन्ध है कम से कम नानक के ग्रन्थों में शून्य तथा शब्द को एक ही माना गया है उसी से समस्त सृष्टि और भूतों तथा देवताओं की उत्पत्ति मानी गई है।

परम तत्व

सुन्न शब्द ते उठै झंकार। सुन्न शब्द ते ओ ओंकार
सुन्न शब्द ते पवनु विचार। सुन्न शब्दि ते अग्नीचार।[२४]
उलटै मनु जवि सुन्नि समावै। नानक शब्दे शब्दि मिलावै।[२५]
सुन्न ते सम्भू आदि गुरु रक्षण। नानक कहै उदासी लक्षण।
सुन्न ते सम्भू होवे आदि। सुन्न ते नीलु अनीलु अनादि।
सुन्न लेख लिखिआ नीसानु। सुन्न ते सहज कला परवानु।
सुन्न ते कीता धरती आसमानु।[२६]

इस आदि-तत्व के रूप में कबीर ने भी शून्य का वर्णन किया है यद्यपि उन्होंने शब्द और शून्य की एकता की ओर इतना स्पष्ट संकेत नही किया है। उन्होंने शून्य से संसार की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए दो रूपकों का आश्रय लिया है जो हमें चर्यापदों में भी मिल जाते हैं। पहला है तरुवर का रूपक और दूसरा है समुद्र का रूपक।

क. सहज सुंनि इकु बिरवा उपजि धरती जलहरु सोखिआ
कहि कबीर हउ ताका सेवक जिनि इहु बिरवा देखिआ।[२७]

ख. उदक समुंद सलिल की साखिआ नदी तरंग समावहिगे
सुंनहि सुंनु मिलिआ समदरसी पवन रूप होइ जावहिगे।[२८]

ये दोनों रूपक सिद्धों द्वारा प्रयुक्त हुए हैं और तत्व दर्शन के अन्तर्गत संसार की विवेचना करते हुए हम इस संसार रूपी वृक्ष और उसका उच्छेदन करने वाली वज्रकुठार का वर्णन कर चुके हैं। शून्य से उत्पन्न होने वाले भवसागर या भवनदी का भी वर्णन हम कर चुके हैं जिसमें पार उतरने के लिये साधक को सहजयान रूपी नौका का आश्रय लेना पड़ता है।

कबीर के तथा नानक के अतिरिक्त अन्य सन्तों के साहित्य में आदि तत्व के अर्थ में शून्य का प्रयोग कम मिलता है किन्तु बहुत बाद तक शून्य सन्त-सम्प्रदाय में आदि-तत्व के रूप में प्रतिष्ठित रहा है। कबीरपंथियों के 'पंचमुद्रा' नामक ग्रन्थ में समस्त तत्वों की उत्पत्ति शून्य से मानी गई है और अन्त में सभी का विलयन शून्य में माना गया है।

वायें रूप अकाश उपजाई, फिर अकाश पुन ताको खाई
आकाश शून्य ते उतपत जानौ, वहुरि शून्य में जाय समानौ।[२९]

किन्तु इसके पूर्वापार प्रसंग को देखने से यह ज्ञात होता है कि यहाँ शून्य और शब्द के एकत्व को भुला दिया गया है और शून्य को केवल एक आकाश तत्व का प्रतीक मान कर उसी तत्व को प्रथम तथा अन्तिम तत्व मान लिया गया है। इस प्रकार वास्तव में शून्य की परम-तत्व, परिकल्पना में ह्रास हो गया है। बाद में परम-तत्व का पद शून्य से छिनता हुआ प्रतीत होता है और 'भवतारण-बोध' में सृष्टि के आदि में शून्य का भी अनस्तित्व बताया गया है—[३०]

नहिं तब शून्य सुमेर न भारा। कूर्म न शेष धरे अवतारा।

क्योंकि यदि शून्य शब्द है तो शब्द भी बाद में तिरस्कृत हुआ और मायाजनित बताया गया।

शब्द कहौ तो शब्दहि नहीं। शब्द होय माया के छाहीं।[३१]

परम ज्ञान

जहाँ तक परम-ज्ञानरूप और स्वभावरूप में शून्य की स्वीकृति का प्रश्न है। कबीर ने उसका रूप अद्वैत ज्ञान की भाँति माना है और उसके लिये उपमा भी वही कुम्भ की प्रयुक्त की है जो हठयोग-प्रदीपिका में शून्य को पूर्णता ज्ञान के रूप में चित्रित करते हुए की गई है।

माइआ फाँस बन्ध नहि फारै अस मन सुंनि न लूकै
आपा पदु निरवाण न चीन्हिआ इन विधि अभिउ न चूकै
जिउ प्रतिबिम्ब बिम्ब कउ मिलिहै उदक कुम्भु बिगराना
कहु कबीर ऐसा गुण भ्रम भागा तउ मन सुंनि समाना...[३२]

यहाँ पर यह स्पष्ट है कि सन्त शून्यज्ञान के सम्बन्ध में प्रतीत्यसमुत्पाद से परिचित नहीं थे और शून्यता-ज्ञान उन्हें अद्वैत-ज्ञान के रूप में प्राप्त हुआ था क्योंकि सन्तों तक आने के पूर्व वह शैव सम्प्रदायों द्वारा स्वीकृत किया जा चुका था। इसीलिये वह यहाँ अद्वयज्ञान की अपेक्षा अभेद ज्ञान के रूप में चित्रित किया गया है।

किन्तु सिद्ध जिस प्रकार शून्य में द्वयता का निषेध करते थे वह परम्परा

भी नाथ सम्प्रदाय में होती हुई सन्तों में अवशिष्ट थी यद्यपि उसका न तो उतना तार्किक विवेचन ही मिलता है, न उतना स्पष्ट निरूपण। स्वतः कबीर ने शून्य में जीवन तथा मरण का निषेध किया है—'जीवत मरै मरै पुनि जीवै ऐसे सुंनि समाइया।'[33] अन्य सन्तों में भी यह भावना मिलती है जिसमें द्वयता का निषेध कर शून्य की स्थिति को अद्वय की मध्य स्थिति बताई गई है।

रैदास : पहले ज्ञान का किया चांदना पाछे दिया बुझाइ
सुन्न सहज में दोऊ त्यागे राम न कहुँ सुखदाइ[34]

दादू : मरै न जीवै सहज सों पूरा पद निर्वाण
द्वैपष रहिता सहज सों सुख दुख एक समाण

सहज रूप मन का भया जब द्वै द्वै मिटी तरङ्ग
सहज सुन्नि मन राखिए इन दून्यूँ के मांहि
लै समाधि रस पीजिये, तहाँ काल भय नाहिं।[35]

गुलाल : सुन्न अनुन्न में डोर बन्धाना, उड़े हंस चढ़ि करत पयाना
मेटल सुन्न मिलल परगासा, जनम जनम कै पूजल आसा।[36]

उपरोक्त उद्धरणों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि कुछ द्वयताएँ जिनका निषेध किया गया है जैसे जीवन-मरण, शून्य-अशून्य, सुख-दुख ये सिद्ध परम्परा से ही चली आई हैं किन्तु सन्तों के सम्मुख न तो इनका अर्थ ही स्पष्ट है और न वह प्रतीत्यसमुत्पाद की निषेधात्मक प्रणाली ही है जिससे इन द्वयताओं का निषेध कर विज्ञानवाद में 'अद्वयोहि परमार्थ' की व्याख्या दी गई थी। सुन्दरदास ने तो इस अद्वय को दूसरी ही परिभाषाओं में चित्रित किया है।

पाप न पुन्य, न स्थूल न सून्य, न बोलै न मौन न सोवै न जागे।
एक न दोइ, न पुर्ष न जोइ, कहै कहाँ कोइ, न पीछे न आगे।

... ...

तत्व अतत्व कह्यो नहिं जात जु शून्य असून्य डरै न परै है।
ज्योति अज्योति न जान सकै कोउ, आदि न अन्त, जिवै न मरै है।[37]

और इससे स्पष्ट है कि शून्य अशून्य आदि की द्वयताओं आदि का निषेध करते हुए भी उनकी शैली हिन्दू-परम्परा, विशेषतः उपनिषदों की नेति

प्रणाली का अनुसरण कर रही है और अन्त में जहाँ उन्होंने इस परम-तत्व की द्वयताओं का निषेध करते करते अन्त में मौन को ही उसकी व्याख्या माना है तो उपनिषदों के 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह',[३८] की छाया मिलती है और यह स्पष्ट हो जाता है कि सुन्दरदास ने परम-तत्व के अद्वय निरूपण में सिद्धों और नाथों की परम्परा को तो ग्रहण किया है किन्तु उसका प्रतिपादन उन्होंने प्रत्यक्ष अपने उपनिषद तथा वेदान्त ज्ञान से किया है। सुन्दरदास सन्त परम्परा में सबसे अधिक सुशिक्षित थे भी।[३९]

हिन्दी का सूफी साहित्य अभी तक बहुत कम प्रकाश में आया है किन्तु जायसी की कृतियों में शून्य का जो उल्लेख मिलता है वह सन्तों के शून्य तत्व तथा परम ज्ञान के लक्षणों से शब्दशः मिलता जुलता है। इतना ही नहीं, सन्तों की तुलना में जायसी की विवेचन शैली अधिक सुलझी हुई है और वे परम तत्व के रूप में शून्य की भारतीय कल्पना से बहुत परिचित हैं।

उन्होंने शून्य को परम तत्व के रूप में परिकल्पित किया जो पाप पुण्य आदि द्वयताओं से विनिर्मुक्त सूक्ष्मतम तत्व है, स्वर और शब्द से भी परे है। समस्त स्थूल तत्वों की उत्पत्ति उसी से बताई गई है।

हता जो सुन्न म सुन्न, नाव न ठाँव न सुर सबद
तहाँ पाप नहिं पुन्न, मुहमद आपुहि आप मँह
आपु अलख पहिले हुत जहाँ, नाँव न ठाँव न मूरति तहाँ
पूर पुरान पाप नहिं पुन्नू। गुपुत ते गुपुत सुन्न ते सुन्नू[४०]

आदि किएउ आदेस, सुन्नहिं ते अस्थूल भए
आपु करै सब भेस, मुहमद चादर ओट जेउं।[४१]

हेरत दिष्टि उघरि तस आई। निरखि सुन्न मह सुन्न समाई।
सुन्न समुँद चख माँहि जल जैसी लहरैं उठहिं
उठि उठि मिटि जाहिं मुहमद खोज न पाइए।[४२]

इहे जगत कै पुन्नि यह जप तप सत साधना
जानि परै जेहि सुन्न मुहमद सोई सिध भा।[४३]

भा भल सोइ जो सुन्नहि जानै । सुन्नहि ते सब जग पहिचाने ।
सुन्नहि ते है सुन्न उपाती । सुन्नहि ते उपजे बहु भाँती ।
सुन्नहिं माँझ इन्द्र बरम्हंडा । सुन्नहि ते टीके नवखण्डा ।
सुन्नहि ते उपजे सब कोई । पुनि बिनाइ सब सुन्नहि होई ।
सुन्नम सुन्नम सब उतराई । सुन्नहि महँ सब रहै समाई ।[४४]

उपरोक्त उद्धरणों में 'सुन्न म सुन्न' तथा 'सुन्नम सुन्नम' विचारणीय है । परमार्थ का विवेचन करते हुये पूर्ववर्ती परम्पराओं में 'शून्यमशून्यम्' शून्यम् तथा अशून्यम् दोनों का निषेध किया गया था । 'सुन्नम सुन्न' तथा 'सुन्नम सुन्नम' उसी 'शून्यमशून्यम्' के परवर्ती अवशेष प्रतीत होते हैं, यद्यपि शून्य तथा अशून्य दोनों के निषेध के रहस्य से जायसी अपरिचित हैं अतः उन्होंने उसे शून्य के ही अर्थ में प्रयुक्त किया है, शून्य व अशून्य के युग्म के अर्थ में नहीं ।

पहले ही हम इस बात का संकेत कर चुके हैं कि शैव हठयोग परम्परा में काया में ही मण्डल के रूप में या द्वार के रूप में शून्य की स्थिति मान ली गई थी । इस दृष्टि से कई स्थान शून्य से विशेषतः सम्बद्ध माने गये थे । एक तो भ्रू मध्य में त्रिकुटी में शिव का स्थान या शून्य का स्थान माना गया था ।

शून्य मण्डल

आकाशे यत्र शब्दः स्यात्तदाज्ञाचक्रमुच्यते
तत्रात्मानम् शिवम् ध्यात्वा योगी मुक्ति मवाप्नुयात ।[४५]

भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानम् योगीतत्र विलीयते ।[४६]

इला तथा पिंगला के मध्य में सुषुम्ना को तथा ब्रह्मरन्ध्र को भी शून्य-नाल, तथा शून्य द्वार के रूप में परिकल्पित किया गया था और इसी को मध्य-पथ भी कहा गया था ।[४७] ब्रह्मरन्ध्र को पार करने के उपरान्त कमल के मध्य में भी शून्यमण्डल परिकल्पित किया गया था जिसके विषय में नाथ परंपरा पर विचार करते समय हम संकेत कर चुके हैं । सन्तों को इन स्थानों का परिचय है ऐसा अक्सर प्रतीत होता है । दरिया साहब त्रिकुटी के मध्य में गगन मण्डल बताते हैं ।

ताके कहिये ज्ञान गंभीरा, त्रिकुटी मद्ध जो परखे हीरा
ताके जोग यह जगत बखाना, जाके गगन मंडल अस्थाना ।[४८]

तुलसी साहब भी त्रिकुटी में शून्य की ज्योति का वर्णन करते हैं :

सुखमनि सुन्न जोति त्रिकुटी में तुलसि दरद दिल दगन मिटा ।[४९]

ज्ञात यह होता है कि त्रिकुटी में शून्य को इसीलिये स्थान दिया गया कि वे परमतत्व को बौद्ध शून्य से भी ऊँचा सिद्ध करना चाहते थे। इसीलिये समाधि का स्थान सन्तों ने भँवर गुफा में माना जो त्रिकुटी से भी ऊपर स्थित है। भँवर गुफा का धनी सूर्य है जो अधिक बलशाली है।[५०] किन्तु फिर पलटू साहिब ब्रह्मरन्ध्र रूपी गुफा का उल्लेख करते हैं जहाँ से अमृत झरता है 'गगन गुफा के बीच पियाला प्रेम का चाखे।'[५१] तथा ब्रह्म रन्ध्र के पार गगन लोक के रूप में भी शून्य का विस्तार बताते हैं जो सहस्रदल कमल के मध्य में है 'कमल मध्य कस शून्य रहाऊ।'[५२]

चर्यापदों से तुलना करने पर हम यह पाते हैं कि सिद्धों की साधना में त्रिकुटी का विशेष महत्व नहीं था। महासुख कमल में अवश्य उन्होंने भगवती प्रज्ञा अथवा नैरात्मा का वास माना था और इस मध्यम पथ को वे प्रज्ञा तथा उपाय के अद्वय का सहज-पथ अथवा अवधूती पथ मानते थे। रन्ध्र को वे दशम द्वार अथवा वैरोचन द्वार कहते थे। किन्तु बाद में सन्तों ने इस शून्य-गुफा, शून्य-मण्डल और त्रिकुटी, ब्रह्मरन्ध्र तथा सहस्रदल कमल की कल्पनाओं को इतना घुलामिला दिया है कि ऐसा लगता है कि वे इनकी वास्तविक स्थितियों को भूल गये हैं और केवल परम्परा निर्वाह के लिये शून्य मण्डल, शून्य-गुफा आदि का उल्लेख मात्र कर देते हैं। यह स्थिति न सिद्धों में है, न नाथों में, उनके सम्मुख काया में स्थित इन शून्य मण्डल या गुफादिक की स्थिति बहुत स्पष्ट है।

किन्तु यदि स्थिति के सम्बन्ध की उलझन पर हम ध्यान न दें तो हम यह देखेंगे कि आदितत्व या परमज्ञान के रूप में सन्तों ने शून्य का जितना प्रयोग किया उससे कई गुना अधिक उन्होंने हठयोग के सन्दर्भ में गुफा, महल, मण्डप या कूप आदि में शून्य का वर्णन किया है।

कबीर : सुंनि गुफा महि आसणु बैसणु कलप बिबरजित पन्थ। ।[५३]

दादू : सुन्न सरोवर हंस मन मोती आप अनन्त
दादू चुगि चुगि चंच भरि यों जन जीवैं सन्त।

सुन्न सरोवर मीन मन नीर निरंजन देव
दादू यहु रस बिलसिये ऐसा अलख अभेव ।
सुन्न सरोवर मन भँवर तहाँ कँवल करतार
दादू परिमल पीजिए सनमुख सिरजनहार ।[५४]

नानक : सुन्नि सरोवर सुरति समानी । नानक चूकी आवन जानी ।[५५]

गुलाल : सुन्न सरोवर बाट फूल इक वाइआ ।[५६]

पलटू : उलटा कूवा गगन में तिस में जरै चिराग ।[५७]
सुन्न सागर भरा सत्त के नाम से तेहि के बीच में सुरत हल्ली ।[५८]

अन्य : सबहिं शून्य मंह ध्यान लगाये, स्वाति सनेह सीप ज्यों लाये ।
तबहि निरंजन जतन विचारा, शून्य गुफा ते शब्द उचारा ।
ररांसु शब्द उठा बहु बारा, माया अक्षर माया संचारा ।
दोउ अक्षर कहं सम के राखा, रामनाम सबहिन अभिलाखा ।[५९]

इसके अतिरिक्त सन्तों ने सहस्रार के मध्य शून्य स्थान को महल, मण्डप, शिखर, नगर, हाट आदि के रूप में इस प्रकार वर्णित किया है ।

कबीर : अरध उरध मुख लागो कासु, सुंन मंडल, महि करि परगासु
ऊहाँ सूरज नाहीं चंद, आदि निरंजन करे अनन्द[६०]
सुन्न मंडल में घर किया, बाजे सबद रसाल ।
रोम रोम दीपक भया, प्रगटे दीन दयाल ।[६१]
घूँघट का पट खोल रे ।
सुन्न महल में दियना बरिले, आसा से मत डोल रे ।[६२]

मीरा : त्रिकुटी महल बना है झरोखा तहाँ से झाँकी लगाऊँ री ।
सुन्न महल में सुरत जमाऊँ सुख की सेज बिछाऊँ री ।[६३]

मलूकदास : सुन्न महल की जुगती बतावे केहि विधि कीजै सेवा ।[६४]
सुन्न महल में महल हमारा निरगुन सेज बिछाई ।[६५]

भीखा : कायागढ़ के गगन भवन में धुधुकि धुधुकि धुन नाम सुनाई ।[६६]
सुन्न शिखर पर माँडो छायो, इंगला पिंगला चौक पुरायो
दुलहिन नाम सेवकरि पाई, नाद बिंद बहुतै भौजाई ।[६७]

गुलाल : सुन्न नगर में आसन पाई जगमग जोति जगावै ।[६८]
शून्य शिखर सरोज फूलो बंक नालहि जाव ।[६९]

चहुँ दिसि ते घन घेरि घटा आई सुन्न भवन डरपावन।[70]
सुन्न सिखर पर माँडो छावो सहज के रूप लगाई।[71]
चहूँ ओरि घन घोरि घटा आयो सुन्न भवन मन भावन।[72]
सुन्न सिखर चढ़ि जाइब हो बाजत अनहद तार।[73]
सुन्न भवन में मण्डप निगमे सिव अस्थान।[74]
सुन्न सहर झकझोर सुरति ढहराया।[75]

अन्य : सुन्न मंडल में बैसि साँच सो सुरति लगावे। (हरिदास)[76]
सुन्न महल अस्थान है जहं इस्थिर डेरा। (गरीबदास)[77]

इसके अतिरिक्त दो एक स्थानों में शून्य को बाघम्बर[78] ध्वजा[79] थाल[80] आदि उपमानों से चित्रित किया गया है जहाँ उसका अर्थ बहुत स्पष्ट नहीं है।

इन उद्धरणों के अतिरिक्त अन्य भी कितने ही स्थलों पर सन्तों ने शून्य महल, गुफा आदि का उल्लेख किया है जिनमें इन्हीं भावनाओं तथा रूपकों को दोहराया गया है। इनका निरीक्षण करने से हम यह देखते हैं कि यद्यपि इनमें से कई अप्रस्तुत तो नये हैं किन्तु शून्य का सरोवर गुफा आदि के रूप में सिद्धों द्वारा भी चित्रण हो चुका है जिनमें से सरोवर का रूपक (दोहा ३) गुफा का रूपक (दोहा १४) शिखर का रूपक (दोहा २५) काण्हपा के दोहाकोष में स्पष्ट मिलता है। नगर का भी रूपक चर्यापदों में पद संख्या १४ मिलता है किन्तु वह शून्य न होकर 'जिनपुर' है। इसी प्रकार मण्डप तथा विवाह आदि का रूपक भी १९वें चर्यापद में मिलता है जिसमें काण्हपा पालकी पर चढ़ कर परिशुद्धा वधू से विवाह करते हैं किन्तु इस नगर और मण्डप की कल्पना आदि के साथ शून्य का विशेषण सन्तों ने जोड़ा है। बाघम्बर, ध्वजा, थाल आदि को उन्होंने इसलिये शून्य कहा है कि परम स्वभाव के या शून्य स्वभाव के हैं, किन्तु इस शून्य स्वभाव के अर्थ बौद्धों की सर्व-धर्म-शून्यता नहीं है।

इन रूपकों में जो गौण उपमान हैं उनका भी अपना विशेष अर्थ है, और लगभग उन सभी को सन्तों ने अपनी पूर्व परम्परा से ग्रहण किया है। वे हैं कमल, दीपक ज्योति, नीर और मेघ। काण्हपा ने अपने दोहों में 'पोक्खर' में 'कुसुमिअ अरविन्दए' तथा 'वरगिरिकन्दर' में 'विमल सलिले' तथा 'गअण नीर' की स्थिति मानी है।[81] ज्योति के रूप में प्रभास्वर शून्य की ज्योति तथा

चण्डाग्नि की ज्योति भी सिद्धों ने चर्यापदों में बराबर वर्णित की है। हम उसका चौथे अध्याय में विस्तृत विवेचन कर चुके हैं। जहाँ तक मेघ का सम्बन्ध है हम देख चुके हैं कि चर्यापदों में करुणा का एक अप्रस्तुत मेघ भी है। किन्तु गुलाल के दोनों उद्धरणों में मेघ करुणा के अप्रस्तुत होकर नहीं आये हैं। वे केवल भौतिक प्रकृति-गत उद्दीपन विभाव मात्र हैं। मेघ का करुणा वाला अर्थ सन्तों को सम्भवतः ज्ञात ही नहीं था क्योंकि प्रज्ञोपाय की मैथुन कल्पना से वे अपरिचित थे। शून्य सरोवर में, शून्य सागर या शून्य महल आदि में जिस सुरति की ओर संकेत है वह भी सिद्धों द्वारा वर्णित सुरत-विलास का अर्थ नहीं देती। उस पर हम आगे विचार करेंगे।

सन्तों ने शून्य के साथ मण्डल का प्रयोग किया है और यह मण्डल शब्द महत्व रखता है। हम पहले देख चुके हैं कि तन्त्रों में 'मण्डल' अनुष्ठानों का एक आवश्यक अंग था और गुह्य साधनाओं में मण्डल चक्र के अनुष्ठानों से ही साधक को दीक्षा दी जाती थी। बाद में यह भी माना जाने लगा था कि उत्तम मण्डल स्वतः तथागत और उनकी शक्ति का युगनद्ध मण्डल है। अनुत्तर साधना में यह भी मान लिया गया था कि सहज अथवा अनुत्तर की उपलब्धि के उपरान्त साधक बाह्य मण्डल कर्मों से विमुक्त होकर स्वतः अपनी काया में शून्य तथा वज्र का युगनद्ध सम्पन्न कर घर में ही मण्डल स्थापित करता है।

जिम जल माझ चन्द सहि णाउ सो सा सुणमीच्छ
णाउ सो मण्डल चक्क सुण्ण सहावे स्वच्छ।[८२]

यह मण्डल-कर्म पवन के निरोध से सम्पन्न होता था। जब सन्त शून्य-मण्डल अथवा गगन-मण्डल की बात करते हैं तो वे उसी परम्परा का अनुष्ठान करते हैं, यद्यपि वे उसके पुराने अर्थों का तिरस्कार कर चुके हैं और शायद इस मण्डल शब्द की तान्त्रिक परम्परा को विस्मृत भी कर चुके हैं।

शून्य की हिन्दू दीक्षा

एक महत्वपूर्ण तथ्य इन उद्धरणों में और मिलता है। सिद्धों की योग-पद्धति में बीज रूप में 'एवं' को ग्रहण करने का आदेश मिलता है। यह एवं किस प्रकार शून्य और करुणा के युगनद्ध का द्योतक है इस पर हम प्रकाश डाल चुके हैं। किन्तु सन्तों ने शून्य गुफा में ररांसु 'रा' तथा 'म' माया का द्योतक के उदय की ओर संकेत किया है, जिससे यह ज्ञात होता है कि उन्होंने शून्य को अप-

नाते हुए भी उसे हिन्दू परम्परा से अलग करके नहीं माना था। वे बौद्ध परम्परा से उसे अलग कर परिशोधित कर चुके थे और उसे निर्गुण राम की साधना में अंतर्भुक्त कर चुके थे। इसीलिये कहीं कहीं उन्होंने शून्य सरोवर में राम-रसायन की स्थिति मानी है।[८३] सिद्धों ने शून्य में वज्र की स्थिति मानी थी। किन्तु सन्त वज्र को उस रूप में विस्मृत कर चुके थे। सन्तों ने शून्य-महल में राजाराम का प्रवेश माना या शिव का वास माना। इस प्रकार उनका शून्य जो काया में मध्य-पथ के रूप में या अमृत गुफा के रूप में स्थित था, वाह्य सृष्टि-योजना में वही शून्य शिव का परम लोक मान लिया गया।

नानक—सम्भू की नगरी सुन्न ते होई। नानक जो बसे सो जोगी होई।
सम्भू की नगरी सुन्न परगासी। को जोगी बसै अतीत उदासी।[८४]
कहँवा सिव कर आसन, कहँवा सिव कर ध्यान।
कहँवा सिव कर मण्डप, कहँवा सिव कर अस्थान।
अगमे सिव कर आसन, सक्तिहिं सिव कर ध्यान।
सुन्न भवन में मण्डप, निगमे सिव अस्थान।[८५]

कबीर-पन्थ के साम्प्रदायिक ग्रंथों में इस परम लोक या परम नगर के रूप में शून्य की कल्पना का बहुत विकास हुआ जिसके विस्तार में अधिकतर निरर्थक कल्पनाएँ ही अधिक मिलती हैं। किन्तु एक महत्वपूर्ण तथ्य अवश्य ज्ञात होता है। जिस प्रकार परम-तत्व के रूप में शून्य बाद में तिरस्कृत हो कर केवल गौण तत्व मान लिया गया था उसी प्रकार परम-लोक के रूप में भी शून्य का बाद में तिरस्कार हुआ। निरंजन बोध में निरंजन देवता का वास शून्य में माना गया है और यह सहज शून्य, सात द्वीप, नौ खण्ड, सात पाताल और इक्कीस ब्रह्माण्डों से भी परे माना गया है।

सप्त द्वीप पृथ्वी नौ खण्डा, सप्त पाताल इक्कीस ब्रह्मण्डा।
सहज सुन्न में कीन्ह ठिकाना, काल निरंजन सबही ने माना।[८६]

बाद में जब निरंजन पराजित होकर गौण देवता रह गया और सत्यपुरुष को सर्वोच्च पदवी दी गई तब शून्य-लोक भी परम-लोक के पद से च्युत हो गया परम-लोक और की कल्पना शून्य से भी परे की गई।

सुन्न के परे पुरुष को धामा, तहं साहब है आदि अनामा।[८७]

किन्तु कबीर-पन्थ में जहाँ पद और श्रेष्ठता की दृष्टि से शून्य की कल्पना में ह्रास हुआ है, वहाँ उसके विषय तथा संख्या का विस्तार भी हुआ है। संख्या

के विस्तार पर हम अलग विचार करेंगे किन्तु जहाँ तक विषय विस्तार का संबंध है, दो एक रोचक तथ्य हमें अवश्य मिलते हैं।

'आगम निगम बोध' में जहाँ नव लोकों का वर्णन है वहाँ भू लोक, भुवः लोक, स्वः लोक तथा पितृलोक के उपरान्त शून्य लोक का वर्णन मिलता है।[८८] उसके बाद जम्बू, शाक, क्रौंच, कुश, शलमल्य, प्लक्ष तथा पुष्कर आदि सात द्वीपों के उपरान्त दश कोटि योजन तक कंचन भूमि का वर्णन है जिस पर लोकालोक नामक पर्वत है।[८९] 'श्वास गुंजार' में जम्बू द्वीप के निकट ही सहज-शून्य नामक लोक का वर्णन मिलता है जिसमें सहज का वास है और सहज वास्तव में काल-पुरुष का ही पर्याय है।[९०] इसी प्रकार शून्य डोर[९१] तथा शून्य सुरत[९२] का भी उल्लेख मिलता है। इसी शून्य शृंखला में शून्य का विस्तार दो पलंग (दो विश्व) के बराबर बताया गया है।[९३] इस पलंग का अर्थ पर्यंक है या पालंग (पलंका, एक विश्व का विस्तार), यह स्पष्ट नहीं होता। किन्तु उसका अर्थ पर्यंक प्रतीत होता है क्योंकि उसी प्रसंग में नारी या शक्ति का भी उल्लेख है। यह पर्यंक की कल्पना भी हमें शबरपा के चर्यापद में मिलती है जहाँ वे शबर बालिका से समागम के लिये वज्र पर्यंक बिछाते हैं। किन्तु यहाँ पर ज्ञात होता है कि पलंग तथा पलंका की कल्पनाओं का सम्मिश्रण हो गया है।

जहाँ तक संख्या की दृष्टि से शून्य के विकास का सम्बन्ध है, सन्त साहित्य में शून्य की स्थिति बहुत बदल गई है। हम पहले इस बात पर विचार कर चुके हैं कि वज्रयानी साहित्य में चार प्रकार के शून्य माने गये हैं: शून्य, अतिशून्य, महाशून्य तथा सर्वशून्य। पहला शून्य प्रज्ञा है, दूसरा वज्र है, तीसरा प्रज्ञोपाय युगनद्ध है तथा चौथा सर्वशून्य है। इसी को कान्हपा ने अपने दोहाकोष में शून्य कमल की ४ पांखुरियों के रूप में वर्णित किया है।

शून्यों के भेद संख्या तथा रंग

वास्तव में साधना-पद्धति में केवल प्रथम तीन शून्यों को पार करना पड़ता है, चतुर्थ शून्य तो उपलब्धि है जैसा शबरपा के (५०वें) चर्यापद की टीका में मुनिदत्त ने भी संकेत किया है।

चार शून्यों की यह कल्पना हिन्दू हठयोग पद्धति में भी ग्रहण की गई

थी। किन्तु प्रज्ञा तथा उपाय की बौद्ध भावना का तिरस्कार कर उन्होंने शून्य और शब्द का एकात्म सिद्ध किया था अतः हठयोग-प्रदीपिका में शून्य, अतिशून्य तथा महाशून्य को तीन प्रकार के शब्दों का विशेषण मान लिया गया था। शून्य वह शब्द है जो हृदाकाश में उत्पन्न होता है कि जिस समय साधना की आरंभिक अवस्था होती है। इसको आरंभ अवस्था कहा गया है और इस अवस्था में ब्रह्म-ग्रन्थि का छेदन होता है। द्वितीय अवस्था घटावस्था है जिसमें विष्णु-ग्रन्थि का जालन्धरबन्ध द्वारा छेदन होता है। इस समय विशुद्धाकाश में, कण्ठ स्थान में अतिशून्य शब्द उत्पन्न होता है। तृतीय अवस्था परिचय अवस्था है जिसमें भ्रूमध्याकाश में महाशून्य शब्द की उत्पत्ति होती है। इन समस्त अवस्थाओं को केवल एक श्री गुरुनाथ मात्र जानते हैं।[९४]

नाथ-पन्थ की जो बानियाँ अभी तक उपलब्ध हैं उनमें इन चार शून्यों का विशेष विवरण नहीं है। केवल कुंभरी पा के विराट-पुराण में परम शून्य, अर्धशून्य, पंचमी शून्य आदि का कुछ अस्पष्ट उल्लेख है जिससे कुछ विशेष अर्थ भी स्पष्ट नहीं होता है।

पर्म्म शून्य च रंमत्ते जोगी।
चोषटि दल कमल, कमल मध्ये श्री गोरखनाथ देवता।
चतुर्दलम् कालम् च ऊरधं कं
अर्ध सून्य मध्ये खेचरी मुद्रा वसते
पंचमी निरालम्भव सून्य मध्ये उनमनी मुद्रा वसते...[९५]

इन पंक्तियों में कई प्रकार के शून्य और विभिन्न शून्यों से विभिन्न मुद्राओं और कमलों का कुछ सम्बन्ध तो अवश्यक प्रतिभासित होता है किन्तु हठयोग-प्रदीपिका में स्वीकृत शून्य, अतिशून्य तथा महाशून्य की पद्धति से कुंभरीपाव बहुत परिचित नहीं ज्ञात होते। राग रामग्री के एक पद में सुनार का रूपक बांध कर स्वर्ण विशोधन की प्रक्रिया का उल्लेख करते हुए अवश्य तीन शून्यों के रहनी के उपरान्त चतुर्थ शून्य 'सहज' में समाने की साधना का उल्लेख आया है जो हठयोग-प्रदीपिका के चार शून्यों के अनुसरण में है।

अरधै सोनां उरधं सोना, मध्ये सोनं सोना
तीनि सुन्यं की रहनी जानैं ता घटि पाप न पुनां
...आपे गोरख जोषण बैठा तत्र सोनां सहज समानां

सन्तों में से कुछ ने शून्य, अतिशून्य तथा महाशून्य की हठयोग-प्रदीपिका

में वर्णित पद्धति को अवश्य ग्रहण किया है। विशेषतः राधास्वामी मत के प्रवर्तक सन्त शिवदयाल स्वामी जी महाराज ने इन चार शून्यों की कल्पना से प्रभावित होकर त्रिकुटी स्थान में भँवर गुफा के तनिक नीचे दो प्रकार के शून्यों के अस्तित्व का वर्णन किया है। पहले साधक गगन मण्डल का ताला खोल कर शून्य शिखर के मन्दिर में झांकता है। वहीं मानसरोवर की निर्मल धारा है। उसके बाद भँवर गुफा के प्रवेश स्थान पर महाशून्य का थाना है जिसे तोड़ कर साधक भँवर गुफा में प्रवेश पा सकता है।

सुन्न सिखर का मन्दिर झांके अद्भुत रूप दिखावे।
महासुन्न का नाका तोड़े भँवर गुफा ढिग जावे ॥[१६]

उन्हीं का अनुसरण करते हुए उनके उत्तराधिकारी हुजूर महाराज साहेब सन्त सालिगराम भी शून्य तथा महाशून्य के परे परम तत्व की स्थिति बताते हैं।

सुन्न और महासुन्न के पारा निरखा सूरज सेत स्वरूप।
सत्त पुरुष का दर्शन करके पहुँची राधास्वामी धाम अनूप ॥[१७]

त्रिकुटी में जिस महाशून्य की स्थिति मानी जाती थी उसे तो इन्होंने नहीं माना किन्तु हृदाकाश, विशुद्धाकाश और ब्रह्म-ग्रन्थि तथा विष्णु-ग्रन्थि आदि की कल्पनाएँ इन सन्तों ने विस्मृत कर दी हैं।

किन्तु इनके बहुत पहले दादू ने इन चारों शून्यों को एक नये रूप में स्वीकृत किया था। उन्होंने काया शून्य, आतमशून्य, परम शून्य तथा सहज शून्य, इन चार शून्यों का वर्णन किया है जिनमें से पहले तीन सगुण तथा साकार हैं और अन्तिम शून्य निर्गुण तथा निराकार हैं।

तीनि सुन्नि साकार की चौथी निरगुण नाम
सहजै सुन्नि में रमि रह्या, जहाँ तहाँ सब ठाम ॥
काया सुन्नि पंच का बासा, आतम सुन्नि प्राण परगासा
परम सुन्नि ब्रह्म सौं मेला, आगे दादू आप अकेला।
सहज सुन्नि सब ठौर है, सब घट सब ही माँहि
तहाँ निरंजन रमि रह्या, कइ गुण व्यापै नाहि ॥[१८]

कायाशून्य, आतमशून्य तथा परमशून्य दादू की निजी कल्पना प्रतीत होती है जिसका आधार सिद्धों की नाथ सम्प्रदाय तथा हठयोग पद्धति द्वारा पूर्वागत चतुर्शून्य कल्पना है। किन्तु एक महत्वपूर्ण तथ्य यह अवश्य है कि इन

चारों शून्यों के लक्षण सिद्धों के चार शून्यों से अवश्य बहुत मिलते जुलते हैं। वज्रयान में प्रथम शून्य को सम्वृत इन्द्रिय-ज्ञानयुक्त माना था, दादू ने भी उसमें पंचेन्द्रियों का वास माना है। द्वितीय शून्य उसमें आलोकरूप वज्र माना गया है, यहाँ भी वह प्राण-प्रकाश से युक्त है, तृतीय शून्य प्रज्ञा तथा उपाय के युगनद्ध का द्योतक माना गया था। यहाँ भी तृतीय परम शून्य में ब्रह्म से मिलन माना गया है और उसके उपरान्त सहज-शून्य है जो परम-तत्व है। इस प्रकार दादू के चार शून्यों की कल्पना विचित्र ढंग से सिद्धों की कल्पना के बहुत निकट जा ठहरती है। पीछे हमने शून्य की हिन्दू दीक्षा की ओर संकेत किया है। दादू ने भी अपने चतुर्थ तथा सर्वोपरिशून्य को ब्रह्मशून्य की संज्ञा दी और उसे निरंजन ब्रह्म का ही पर्याय मान लिया।

ब्रह्म सुन्न तहँ ब्रह्म है निरंजन निराकार।
नूर तेज तहँ ज्योति है, दादू देखनहार ॥[९९]

बाद में कबीर-पन्थ के साम्प्रदायिक साहित्य में शून्य की संख्या में कल्पनातीत वृद्धि हुई है। कबीरबानी में पहले सात की संख्या को महत्व दिया गया है और सात कमल, सात सुरति तथा सात शून्य परिकल्पित किये गये हैं, ये कुल मिलाकर २१ ब्रह्माण्ड होते हैं और वे इक्कीसों ब्रह्माण्ड निरंजन ज्ञान से भरे हुए हैं।

सात शून्य का सकल पसारा। सात शून्य ते कोई न न्यारा।
सत कमल, अरु शून्य सत, सात सुर्त स्थान।
इक्कीसों ब्रह्मण्ड में आप निरंजन ज्ञान ॥[१००]

किन्तु इन सात शून्यों का कोई लक्षण नहीं बताया गया है और इस संख्या-वृद्धि के पीछे कोई विशेष संकेत न होकर केवल संख्या-प्रेम ज्ञात होता है क्योंकि बैकुण्ठ के विस्तार में १८ करोड़ शून्यों की शृङ्खला का वर्णन मिलता है और मुक्ति के भी आगे जो अनहद ज्योति का स्थान बताया गया वह असंख्य शून्य का विस्तार बताया गया है और तब असंख्य शून्य परिकल्पित किये गये।[१०१] कुछ इन्हीं शून्यों की तुलना में बेशून्य भी कल्पित किये गये। अन्त में इन सबों को पूर्वोक्त सात शून्यों में ही समाहित करने का प्रयास किया गया और उसकी गणना इस प्रकार बताई गई।[१०२]

असंख्य शून्य ४ + बेशून्य २ + शून्य १ = ७ शून्य

ये सात शून्य, सूर्य की किरणों के सात रंगों से समन्वित कर दिये गये और अखिल सृष्टि उन्हीं रंगों का प्रसार मान ली गई। 'सात सुन्न हैं सातौ रंगा उठत तान बहु ताना।'[१०३] कुछ रंग थे 'शून्य स्वेत पीत सब्ज लाल दिखाय रंग जंगाल हो।'[१०४]

इस प्रकार हम देखते हैं कि धीरे धीरे शून्य का ज्ञानपरक और तात्विक अर्थ भुला दिया गया और वह केवल एक निरर्थक पौराणिक कल्पना मात्र बन कर रह गया। रैदास ने इस शून्य चेतना द्वारा मन के शोधन की उपदेश दिया था। 'हम मानो अखिल सुन्न मन सोध्यो सब चेतन सुधि पाई।'[१०५] किन्तु बाद में वह केवल एक रूढ़ संज्ञा मात्र रह गया। अपना समस्त तात्विक अर्थ खो बैठा और बैकुंठ आदि की उन कल्पनाओं का वाहक बना जिनके प्रति कबीर ने विद्रोह किया था तथा उनकी निन्दा की थी जो रामभक्ति से विहीन केवल शून्य का आश्रय लिये बैठे थे।

शून्य का तिरस्कार

मनमथ मरै न जीवई जीवहिं मरन न होय।
सुन्न सनेही राम बिनु चलै अपन पा खोय।[१०६]

कबीर के पहले सिद्धों ने भी शून्य, केवल शून्य की निन्दा की है, किन्तु जैसा हम देख चुके हैं कि उसका कारण यह था कि वे महायान के अनुयायी थे जिसमें शून्य से भी अधिक करुणा को भी महत्व दिया गया था और जब तक चित्त करुणा से समन्वित न हो तब तक साधक प्रत्येकयान या श्रावकयान में ही गिना जाता है, महायान में नहीं। इसीलिये निष्करुण शून्य को सरहपा ने त्याज्य बताया था और कहा था कि बिना विषयों की विशुद्धि के निष्करुण शून्य में विचरण करने वाला मन जहाज़ के काग की तरह पुनः पुनः भव में गिरता रहता है।

विसअ विसुद्धे णउ रमइ केवल सुण्ण चरेइ
उड्डी वोहिअ काउ जिम पलुहिअ तिह वि पड़ेइ ॥[१०७]

इस प्रकार हम देखते हैं कि शून्य को करुणा से संयुक्त करने का आग्रह कबीर में शून्य को भक्ति (रामभक्ति) से समन्वित करने के आग्रह में बदल गया;

तब तक करुणा की कल्पना और उसके प्रज्ञोपायार्थ विस्मृत किये जा चुके थे। अन्ततोगत्वा राम की भक्ति ने शून्यता ज्ञान के महत्व को आच्छादित कर लिया। भक्ति प्रमुख हो गई, शून्य गौण। इसीलिये सन्तों ने यह स्पष्ट कहा :

सुन्न सुन्न सब करै पुकारा, सुन्न न होखहि हंस उबारा।
सुन्न न धरती सुन्न न पानी, सुन्न कतहि नहि देखिय ज्ञानी।[१०८]

क्योंकि केवल शून्य परमार्थ नहीं है, परमार्थ हरि भक्ति तो कुछ और है जिसके बिना शून्य को भी रैदास ने भ्रमात्मक बताया है।

भरम तौ लों जानिये सुन्न की करै आस।[१०९]

सहज-शून्य

इसी शून्य को सन्त कहीं कहीं सहज विशेषण से भी जोड़ देते हैं और हमें यह देखना है कि सहज उपाधियुक्त शून्य से उनका क्या तात्पर्य था। शून्य के चार प्रकारों पर विचार करते समय हम यह देख चुके हैं कि सिद्ध सहज-शून्य चतुर्थ शून्य को कहते थे जो परम अवस्था है, परम तत्व है जिसमें प्रज्ञा तथा उपाय का पूर्ण अद्वय हो जाता है और किसी प्रकार की द्वैत-सीमा उसे आबद्ध नहीं करती। उसी को मध्यस्थिति या मध्यमार्ग भी कहा गया था क्योंकि इस में साधक प्रज्ञा या उपाय इन दोनों में से किसी एक को नहीं ग्रहण करता दोनों का अद्वैत या युगनद्ध सम्पन्न कर लेता है। केवल मात्र शून्य से यह स्थिति अधिक ऊँची है क्योकि इसमें वज्रयोग द्वारा प्रज्ञा तथा उपाय की द्विविधा नष्ट हो जाती है।

नाथ योग-पद्धति में प्रज्ञा तथा उपाय की बौद्ध भावना का तिरस्कार किया जा चुका था किन्तु त्रिकुटी में शून्य-समाधि द्वारा मन को प्रसन्न बनाने और अमृतपान कर चित्त को दृढ़ और काया को अमर बनानें की कल्पना चली आ रही थी। गोरखबानी में कुछ पंक्तियाँ ऐसी मिलती हैं जिनमें शून्य से ऊपर सहज-शून्य की कल्पना की गई है और यह बताया गया है कि केवल मात्र शून्य में तो आवागमन (आना जाना) लगा ही रहता है किन्तु जिस शून्य में चित्त समा-कर स्थिर हो जाता है वह सहज-शून्य है।

गोरख मछीन्द्र से पूँछते हैं—स्वामी कैसे आवै कैसे जाइ, कैसैं चीया रहै
समाइ
कैसे मन तन सदा थिर रहै, सतगुरु होइ
सो बूझया कहै ।

तो मछीन्द्र उत्तर देते हैं—अवधू, सुंने आवैं सुंने जाइ, सुंने चीया रहै
समाइ
सहज-सुंनि तन मन थिर रहै, ऐसा विचार
मछिन्द्र कहै ।[११०]

यद्यपि इस स्थल पर शून्य और सहज-शून्य के अन्तर को बहुत स्पष्टता से नहीं रक्खा गया है किन्तु शून्य के साथ आने जाने (आवागमन) की कल्पना तथा सहज-शून्य में तन मन की स्थिरता का उपदेश कर मछीन्द्र ने सहज-शून्य को केवल शून्य से श्रेष्ठ सिद्ध किया है, यद्यपि इसमें प्रज्ञोपाय के सहज (युगनद्ध-जनित) अद्वैत का कोई उल्लेख नहीं है ।

दादू की बानी में सहज-शून्य की कल्पना अधिक स्पष्ट है जिस पर हम पीछे विचार कर चुके हैं । वे तृतीय शून्य में ब्रह्म तथा जीव का मिलन मानते हैं जो प्रज्ञा तथा उपाय के मिलन की ही समानान्तर भावना है । सहज-शून्य में तत्व अकेला रह जाता है । वही परम तत्व है, मध्यमार्ग है ।

'सहज सुन्न मन राखिये इन दून्यू के माहिं ।'[१११] और इस पथ में चित्त को दादू ने निराधार कहा है—'निराधार मन रहि गया आतम के आनन्द ।'[११२] और यह निराधार विशेषण भी सिद्धों के निरालम्ब विशेषण का ही प्रतिरूप है—'सोहिअ चित्त निरालं दिग्गा ।' इसमें आवागमन भी समाप्त हो जाता है—'दुइ बिच राम अकेला आपै आवरण जाण न देई' । जो वास्तव में सिद्धों के इस कथन की प्रतिध्वनि है—'जेण तुटअ अवणा गवणा ।' (चर्यापद २१)

किन्तु अन्य सन्तों के सम्मुख केवल शून्य तथा सहज-शून्य का यह भेद इतना स्पष्ट नहीं था । इसलिये उनकी बानियों में हमें दोनों प्रकार के स्थल मिलते हैं । जहाँ उन्होंने सहज और शून्य में थोड़ा अन्तर माना है, और ऐसे भी स्थल मिलते हैं जहाँ सहज-शून्य का प्रयोग सर्वोपरि शून्य के रूप में किया गया है किन्तु शून्य और सहज-शून्य की अन्तर-रेखा उतनी स्पष्ट नहीं है । इसी कारण कुछ उलझनें भी पैदा होती हैं जिनकी ओर द्विवेदी जी ने संकेत किया है ।[११३]

जहाँ तक कबीर का प्रश्न है उन्होंने अधिकतर सहज-शून्य को परम तत्व या परम ज्ञान के ही अर्थ में प्रयुक्त किया है—

उलटि जाति कुल दोउ बिसारी। सुन्न सहज महिं बुनत हमारी।[११४]
नहिं जल नहिं थल नहिं थिर पवना। को धरे नाम हुकुम को बरना॥
नहिं कुछ होत दिवस अरु राती। ताकर कहहुँ कवन कुल जाती॥
सुन्न सहज मन सुमिरते प्रगट भइ एक जोति॥[११५]

यहाँ पर कबीर ने सहज शून्य को सर्वोपरि शून्य (परमतत्व) के अर्थ में प्रयुक्त किया है, यद्यपि वे शून्य के चार विभेद और प्रथम तीन शून्यों से सहज-शून्य की श्रेष्ठता के सिद्धान्त से परिचित थे, इसका कोई भी आभास नहीं मिलता। अन्य कुछ स्थलों पर गुलाल साहब का भी एक ऐसा पद मिलता है जिसमें सहज-शून्य का परमतत्व के रूप में चित्रण है।

मन सहज सुन्न चढ़ि कर निवास
रूपरेख तँह जाँति पाँति नहिं छय अमूरति करत बास
कह गुलाल तह मारयो बानी, घर आयो मन सहजे मारि॥[११६]

इस पद में एक बात अवश्य ध्यान देने की है। अंतिम पंक्ति में मन को सहज-पद्धति द्वारा मारने का संकेत है और तब घर (सहज-शून्य) में आने का विवरण मिलता है। अर्थात् सहज पद्धति है, शून्य उपलब्धि। उसी पद्धति के कारण इस शून्य को सहज-शून्य कहा गया है। इसी को कारहपा ने 'चिम्र सहजे सूरा सम्पुरगा' (पद ४२) कहा है, किन्तु कारहपा सहज से जो प्रज्ञोपाय अद्वैत का अर्थ लेते हैं वह सन्तों तक आते आते लुप्त हो गया है, किन्तु सहज द्वारा शून्य में समाया जाता है—यह सन्तों को याद रह गया था। यह उन्होंने अपनी गुरु परम्परा से पाया था—'जन गुलाल सतगुरु को चेला सहजहि सुन्न समावे।'[११७] यहाँ भी शून्य के साथ सहज शब्द का ऐसे प्रयोग किया गया है कि दोनों में एक क्षीण अन्तर ध्वनित अवश्य होता है यद्यपि उसका स्पष्ट विवेचन नहीं मिलता। एक स्थल पर यदि शून्य नगर है तो सहज उसमें स्थित घर।[११८] दूसरे स्थल पर उसी अद्भुत शून्य नगर में सहज को ध्वनि रूप में परिकल्पित किया गया है।[११९] पलटू वीतरागी उसे बताते हैं जो शून्य समाधि में ध्यानमग्न होकर सहज का ध्यान करे :—

शून्य समाधि में ध्यान को लाइ कै, सहज का ख्याल सोई वीतरागी।[१२०]

सहज शून्य का एक दूसरा रोचक प्रयोग कबीरपन्थी साहित्य में मिलता है। यह सहज शून्य परम-पद था, 'घर' माना गया था जहाँ जीव द्वैत से मुक्त होकर निरंजन रूप में पहुँचता है। किस प्रकार इस निरंजन के साथ देवता की भावना जुड़ी और कालान्तर में साम्प्रदायिक प्रतिद्वन्दिता के कारण निरंजन को नीचा सिद्ध किया गया इस पर काफी प्रकाश डाला जा चुका है। (द्विवेदी-कबीर) सहज-शून्य में निरंजन मन की स्थिति मानी गई थी अतः सहज-शून्य निरंजन देव का लोक माना गया—

सहज सुन्न में कीन्ह ठिकाना, काल निरंजन सबही ने माना।[१२१]

और बाद में तो निरजंन, कालनिरंजन होकर लोक को त्रासदायी हो गया। पल भर में सहज-शून्य लोक से जम्बू द्वीप में आकर साधकों को सहज रूप धारण कर भ्रम में डालने लगा। सहज के साथ साधकों की साधना में वायु-व्याधा डालकर चन्द्र-सूर्य के मिलन से प्राप्त होने वाले अमृत को अशुद्ध करने लगा और इस प्रकार वह सहज-शून्य जो परम तत्व था, परम पद था, धीरे धीरे वह साधना में बाधक माना जाकर तिरस्कृत कर दिया गया।

वज्र

सिद्धों की साधना में शून्य का पूरक-तत्व वज्र था जो पुरुषरूप में बोध-चित्त में जाग्रत होकर नैरात्मज्ञान में लीन होने के लिए अग्रसर होता था। यह मणि, अश्म तथा अस्त्र के वैदिक अर्थों का परित्याग कर किस प्रकार वज्रयान में परम-तत्व का अर्थ देने लगा था और सिद्धों ने अपनी प्रज्ञोपाय साधना में किस प्रकार इसे पुरुष, पति या उपाय से समन्वित कर वज्रास्त्र योग या कुलिश-कमल योग की साधना का उपदेश दिया था, इस पर हम विस्तार में विचार कर चुके हैं। किन्तु परवर्ती सम्प्रदायों के साहित्य में यह वज्र बिल्कुल विस्मृत कर दिया नाथों की अद्यावधि उपलब्ध बानियों में कहीं भी वज्र का उल्लेख नहीं है। हठ-योग-प्रदीपिका में भी शून्य का वर्णन तो है किन्तु वज्र वहाँ भी भुला दिया गया है। इसका एक प्रमुख कारण यह प्रतीत होता है कि वज्रयान में वज्र को जो प्रमुखता मिली थी, बाद के सहजाम्नाय तथा कालचक्र-पद्धति में उसमें

थोड़ा ह्रास हुआ। बाद में वज्र के साथ मुद्रामैथुन साधनाओं का जो विशेष सम्बन्ध रहा उसके कारण शुद्धतावादी गोरखपन्थी योगियों ने इसको विशेष आदर नहीं दिया। किन्तु फिर भी एक विचित्र ढंग से यह परवर्ती साधनाओं में बचा रह गया।

वज्रयानी योग की शब्दावली ब्रह्म में रन्ध्र को दशमद्वार या वैरोचन द्वार कहते थे। नाथ तथा सन्त परम्परा में त्रिकुटी में शून्य-मण्डल या शून्य महल की कल्पना की गई थी, जिस पर हम विचार कर चुके हैं। उस शून्य-मण्डल के समीप यह दशमद्वार स्थित है और उस द्वार में जो कपाट लगे हुए हैं वे वज्र-कपाट हैं।

कबीर—धरे ध्यान गगन के मांहिं लाये वज्र किंवार
देखि प्रतीमा आपनी तीनिउँ भये निहाल।[१२३]

नानक—अउघट घाट विषम है बाट। गुरुमुख खोले वज्र-कपाट ॥[१२४]

भीखा—जड़ि ताला वज्र-कपाट को तहं बैठे आतमराम।[१२५]

इस दशम द्वार के कपाटों का उल्लेख गोरखबानी में भी है किन्तु इसमें 'वज्र' विशेषण नहीं है।

दसवें द्वारे देइ कपाट, गोरख षोजी और बाट।[१२५]

सन्तों ने कपाट के साथ वज्र विशेषण का प्रयोग तो अवश्य किया है किन्तु वे सिद्धों की वज्र-कल्पना को भूल चुके थे और वज्र के अर्थ यहाँ 'दृढ़' और अटूट ही हैं।

सूफी साहित्य में वज्र का प्रयोग कई रूपों में मिलता है। वे इस वज्र कपाट की कल्पना से तो परिचित थे ही, जैसा जायसी की निम्न पंक्तियों से प्रगट है :

पंवरी नवौं वज्र कै साजी, सहस सहस तहं बैठे पाजी
नवौ खण्ड नव पवरी औ तहं वज्र-केवार[१२६]

किन्तु इसके अतिरिक्त वज्राग्नि का उल्लेख भी पद्मावत में प्राप्त होता है। यह वज्राग्नि सम्भवतः नाथयोगियों की ब्रह्माग्नि तथा चर्यापदों की चण्डाग्नि की ही भाँति सुषुम्ना या अवधूत में प्रज्वलित होने वाले आलोक का ही दूसरा नाम मालूम होता है। यह वज्राग्नि पद्मावत में आकर प्रेम की विरहाग्नि

के रूप में परिणत हो गई और उसका सम्बन्ध हनुमान द्वारा लंका में लगाई हुई आग से भी जोड़ दिया गया—

विरह आगि वज्रागि अबूझा, जरै न सूर बुझाई बूझा
तेहि के जरत उठै वज्रागी, तीनौ लोक जरै तेहि आगी
अबहुँ की धरी चिनगि तेहि छूटहिं, जरि पहार पाहन सब फूटहिं
देवता सबै भसम भये जाहीं, छार समेटे पाउब नाहीं
धरती सरग होहि सब ताता, है कोई एहिं राख बिधाता
मुहमद चिनगी अनंग की सुनि महि गगन डेराइ
धनि बिरही औ धनि हिया जेहि सब आग समाइ।[१२७]

'मृगावती' में सिद्धों के वज्र-चित्त से बहुत कुछ मिलता जुलता हुआ शब्द वज्र-करेजा का भी प्रयोग मिला है और प्रसंग से यह ज्ञात होता है कि 'वज्र-करेजा' के अर्थ केवल दृढ़ हृदय नहीं वरन् 'योग में प्रवृत्त होने वाला चित्त' है।

कीगरी लिये वियोग बजावइ। सभही सुन बोही देखइ आवइ।
सुन वियोग सबही एन बोला। भाइहु राग आसन हरि डोला।
जेइरे सुनीउ से भुलीउ चिंत न रहीउ काहि
वज्र करेजा जाहि कर, भावयोग उर ताहि॥[१२९]

किन्तु इस प्रसंग में भी सिद्धों का बौद्ध अभिप्राय अर्थात् 'करुणा या उपाय समन्वित चित्त' न लिया जाकर केवल योग-प्रवृत्त चित्त मात्र माना गया है और इसका बौद्ध अर्थ कुतुबन के सामने स्पष्ट था, इसका कोई प्रमाण नहीं है। पद्मावत में एक स्थान पर आठ वज्रों का उल्लेख है।[१३०] किन्तु गुह्य-समाज-तन्त्र के वज्र-चतुष्टय अथवा चर्यापादों के काय वाक् चित्त तथा ज्ञान वज्र से इन आठों वज्रों का कोई सम्बन्ध नहीं ज्ञात होता। एक स्थान पर जायसी ने सृष्टि के निर्माण का वर्णन करते हुए शून्यत्व के बाद वज्र-बीज का उल्लेख किया है जिससे यह ज्ञात होता है कि वज्र की बौद्ध कल्पना किसी न किसी रूप में उस समय भी जीवित अवश्य थी—

सरग न धरति न खंभमय, बरह्म न बिसुन महेश
बजर-बीज बीरौ अस ओहि न रंग न भेस॥[१३१]

किन्तु चित्त के लिये वज्र के पर्याय मणि या चित्त के लिए वज्रयान के पहले से भी होता आया किन्तु वज्रयान में इसको एक विशिष्ट साम्प्रदायिक अर्थ

दिया जाने लगा था। सिद्धों की साधना में प्रज्ञोपाय योग या सहज-साधना द्वारा चित्त को मणि अथवा हीरा बनाने का आदेश मिलता है। सन्त वज्र के या मणि के उस अर्थ को तो भूल चुके थे किन्तु सहज पद्धति के साथ चित्त को मणि अथवा हीरा बनने की प्रक्रिया उनकी परम्परा में अवशिष्ट रह गई थी और कई स्थानों पर सहज और तत्व रूपी मणि का एक साथ प्रयोग सन्तों के साहित्य में मिलता है—

कबीर—हीरै हीरा बेधि पवन मनु सहजे रहिआ समाई
सगल जोति इन हीरै बेधी सतिगुर बचन मैं पाई।
हरि की कथा अनाहद बानी
हंसु हइ हीरा लेइ पछानी॥
कहु कबीर हीरा अस देखिओ जग मह रहा समाई
गुपता हीरा प्रकट भईओ जब गुरु गाम दिआ दिखाई।[१३२]

रैदास—पीवत डाल फूल फल अम्रित, सहज भई मति हीरा।[१३३]

इन सन्तों ने वज्र का बौद्ध अर्थ भुला दिया था दिया था, किन्तु कुछ उल्लेख ऐसे मिलते हैं किसी न किसी रूप में वज्र-योग की पद्धति अवशिष्ट थी और कुछ ऐसे योगी थे जो अपने को वज्र-यति कहा करते थे। वे सम्भवतः गृहस्थ और विवाहित भी होते थे और वज्रयानियों की ही किसी अवशिष्ट शाखा के अन्तर्गत माने जाते थे। ऐसे ही वज्रयोगियों पर बालानाथ के नाम से प्राप्त एक बानी में बड़ा तीव्र व्यंग मिलता है—

पहिली कीए लड़का लड़की, अबही पन्थ में पैठा
बूढ़े चमड़े भसम लगाई, वज्र-जती ह्वै बैठा॥[१३४]

खसम

सन्तों के साहित्य में जो शब्द सिद्ध-साहित्य से आये हैं उनमें अर्थ-विकास की दृष्टि सम्भवतः 'खसम' शब्द सबसे अधिक रोचक है, इस तथ्य की ओर द्विवेदी जी पहले ही संकेत कर चुके हैं।[१३५] सिद्धों की साधना पर विचार करते समय हम यह देख चुके हैं कि बोधिचित्त की साधना में सिद्ध मन को शून्य

या खसम स्वभाव धारण करने का अभ्यास करते थे। मन स्वतः शून्य रूप होकर शून्य में या 'ख' में मिल जाता है। सरहपा कहते हैं—

> सव्वरूअ तहिं खसम करिज्जइ, खसम सहावें मणवि धरिज्जइ ॥[१३६]

भगवती प्रज्ञा का स्वरूप भी खसम है—

> मणह भअवा खसम भअवइ
> दिवा रात्ति सहजे रहिअइ ॥[१३७]

गोरक्ष-पद्धति तथा हठयोग-प्रदीपिका में भी योग साधना में इसी गगनोपम अवस्था या ख-अवस्था में मन को विलीन करने का उपदेश मिलता है—

> निर्मलम् गगनाकारम् मरीचिजल सन्निभम्
> आत्मानम् सर्वगम् ध्यात्वा योगी मुक्तिमवाप्नुयात् ॥[१३८]
> खमध्ये कुरु चात्मानमात्ममध्ये च खं कुरु
> सर्वं च खमयं कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥[१३९]

गोरखबानी में स्थान-स्थान पर गगन-शिखर या गगन-मण्डल का उल्लेख है किन्तु खसम शब्द का प्रयोग नहीं है। किन्तु सन्तों ने बराबर इस शब्द का प्रयोग किया है और वे उस खसमावस्था या शून्यावस्था में लीन होने की ओर संकेत करते हैं—

> **कबीर**—इतु संगति नाही मरणा, हुकुम पछानि ता खसमै मिलणा[१४०]
> खसम बिनु तेली को बैल भयो।
> बैठत नाहिं साधु की संगति नाधे जनम गयो
> खसमहिं छांड़ि विषय रंग राते पाप के बीज बयो ॥[१४१]

किन्तु इसी शब्द का प्रयोग एक दूसरे अर्थ में सन्तों ने किया है जिसका आधार अरबी का शब्द ख़सम बताया जाता है जिसके अर्थ पति होते हैं। पति या स्वामी के अर्थ में सन्तों ने बराबर खसम शब्द का प्रयोग किया है—

> **कबीर**—खाखा चाहै खोरि मनावै, खसमहिं छांड़ि दसों दिसि धावैं।[१४२]

इस खसम या पति के प्रति साधक को सदैव पतिव्रता की भांति अटूट भक्ति और लगन रखनी चाहिए, इस पति के अतिरिक्त पर-पुरुषों की ओर अपना ध्यान लगाना निन्दनीय है। कबीर की तो उसमें अटल आस्था है और वे कहते

हैं कि केवल दो अक्षर सोंहं का जप करते रहो, अगर सचमुच प्रभु खसम है तो वह हमें धारण करेगा। 'कहु कबीर आखर दुई भाखि। होइगा खसमु त लेइगा राखि॥'[१४३] इसी प्रकार पलटू साहब भी चेतावनी देते हैं—

'खसम रहा है रूठि नहीं तू पठवै पाती।'[१४४] और गुलाल अपने खसम के प्रति निष्ठा त्याग कर पर-पुरुष के पास जाने के लिए साधकरूपी नारी की प्रताड़ना करते हैं—

काह कहौं कछु कहत न आवै, नाहक जग बौराई हो
अपने खसम नेक नहिं जानै परपुरुष पहं जाई हो।[१४५]

वास्तव में सन्त इसे पतिरूपी परम ज्ञान या परम तत्व के अर्थ में प्रयोग करते थे और उसके सांकेतिक अर्थ से पूर्णतया परिचित थे। जैसा निम्नांकित उदाहरणों से स्पष्ट है—

कबीर—होय भिस्त जो चित न डोलावै, खसमहिं छांड़ि के दोजक धावै

बिन गुरु ज्ञाने दुंदभी खसम कही मिलि बात
जुग जुग कहवैया कहै, काहु न मानी बात॥[१४६]

सच्चे तत्वज्ञान के अतिरिक्त अन्य वाह्योपचार-प्रधान सम्प्रदायों में, जो तत्वज्ञान है वह झूठा खसम है या उपपति है, लगवारा है, उसका परित्याग करना ही उचित है—

कबीर—एक से ब्रह्मौ पन्थ चलाया। एक से हंस गोपालहिं गाया।
एक से सिम्भू पन्थ चलाया। एक से भूत प्रेत मन लाया।
एक से पूजा जैनि विचारा। एक से निहुरि निमाज गुजारा।
कोइ काहू का हटा न माना। झूठा खसम कबीरन जाना।
तनि मनि भज रहु मोरे भक्ता। सन्त कबीर सत्त है वक्ता।
आपुहि देवा आपुहि पाती। आपुहि कुल आपुहि है जाती।
सर्व भूत संसार निवासी। आपुहि खसम आपु सुखवासी।
कहइत मोहिं भइल जुग चारी। काके आगे कहौं पुकारी।
सांचहि कोइ न मानई, झूठा के संग जाय
झूठहि झूठा मिलि रहा, अहमक खेहा खाय।[१४७]

यह झूठा खसम वास्तव तत्व-ज्ञान-रहित वाह्याचार मात्र है जैसा पलटू साहब का कथन है—

मःटी देवखरि बांधि मुए की पूजा लावैं
जीवत जिउ को मारि आनि कै ताहि चढ़ावैं
पलटू जिव को मारि कै बल देवतन को देत
गरदन मारैं खसम की लगवारन के देत ॥[१४८]

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या खसम की अवस्था रूप के अतिरिक्त स्वामी या प्रभु के रूप में कल्पना सन्तों की अपनी कल्पना है जिसकी मूल प्रेरणा अरबी का खसम शब्द है, या वे किसी पूर्व परम्परा से प्रभावित हैं। सरहपा ने एक स्थल पर खसम शब्द के साथ नाथ (पति) विशेषण का प्रयोग किया है और उसे अज्ञय, अचिन्त्य, परमप्रभु तथा महासुखनाथ के रूप में स्मरण किया है उसे, अवाच्य तथा अचिन्त बताकर उसके दर्शन का उपदेश दिया है—

अक्खह अच्चेय परमं पहु खसम महासुह नाह
जो आवाअ अचित्त वि तस्स च्चक्खु करेह ॥[१४९]

इस दोहे की संस्कृत छाया में बागची ने नाह का अर्थ "नास्ति" दिया है जिसकी पद से संगति नहीं बैठती। डा० शाहिदुल्ला ने तिब्बती रूपान्तरों से तुलना कर यह दिखाया है कि नाह नाथ का रूपान्तर होता है और नास्ति का रूपान्तर नत्थि होता है।[१५०] इसलिए यहां भी नाह का अर्थ नाथ ही ठीक बैठता है तथा पहु का तत्सम प्रभु भी अधिक उपयुक्त है। इस खसम को यहां सिद्धों ने परम-तत्व अथवा गगनोस्वभाव या शून्य-स्वभाव का मानवीकरण कर उसे नाथ या प्रभु के रूप में भी परिकल्पित कर लिया है। अरबी शब्द खसम इस कल्पना की मूल प्रेरणा नहीं, है यद्यपि उससे इस प्रयोग को और भी बल अवश्य मिला होगा। जहां तक कबीर का प्रश्न है इस परमतत्व खसम का अर्थ राम था, अन्य कोई नहीं।—

आपै पावक आपै पवना, जारै खसम त राखै कवना
राम जपत तन जर की न जाय, राम नाम चितु रहआ समाय[१५१]

किन्तु कबीरपन्थी साहित्य में बाद में स्वतः सद्गुरु कबीर को ही खसम मान लिया गया है और उनके शिष्य धर्मदास को यह कहते दिखाया गया है कि—

बाजा बाजा रहित का परा नगर में शोर
सतगुरु खसम कबीर है, नजर न आवै और।

और मलूकदास से भी कहलवाया गया है कि कृष्ण, जगन्नाथ आदि सब कबीर के अवतार हैं और कबीर ही वास्तविक खसम हैं।[१५२]

खसम की मृत्यु

किन्तु स्वामी, पति और नाथ राम के प्रति भक्ति और पातिव्रत्य का उपदेश देते देते कभी कभी ये सन्त उलटवांसियों में इसी पति की हत्या करने या इस को खाने की ओर भी संकेत करने लगते हैं। इसका अर्थ बहुत स्पष्ट न होने के कारण कुछ कठिनाई पड़ती है जिसकी ओर द्विवेदी जी ने भी संकेत किया है।[१५३] ऐसा ही एक पद है—

माई मैं दूनो कुल उजियारी
बारह खसम नैहरे खायो, सोरह खायो ससुरारी

इसी का समानान्तर भाव पलटू की दो कुण्डलियों में मिलता है जहाँ न केवल खसम की मृत्यु का वर्णन है। वरन् खसम की मृत्यु पर गृहिणी का उल्लास भी प्रदर्शित किया गया है—

खसम बिचारा मरि गया जोरू गावै तान
जोरू गावै तान फिरा अहि बात हमारा
झूठ सकल संसार मांग भरि सेंदुर पारा
हम पतिव्रता नार खसम को जियतै मारी
वाको मूड़ौं मूड़ सरबर जो करै हमारी
दुतिया गई हैं भाग सुनौ अब राँध परोसिन
पिया मरे आराम मिला सुख में कहं दिन दिन
पलटू ऐसे पद कहै बूझै सो निरबान
खसम बिचारा मर गया जोरू गावै तान

खसम मुवा तो भल भया सिर की गई बलाय
पलटू सोइ सुहागिनी जियतै पिय को खाय॥[१५४]

इन पंक्तियों का अर्थ बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है यदि हम यहाँ खसम

से परमज्ञान की उपलब्धि के उपरान्त शून्य-स्वभाव धारण कर निर्वाण प्राप्त कर लेने वाले चित्त का अर्थ लें। लगभग इन्हीं शब्दों में मरण का रूपक बाँधते हुए, अपने पति की मृत्यु पर प्रसन्न होने वाली पत्नी के रूप में साधक का चित्रण अक्सर सिद्धों के दोहों में भी मिलता है और सरहपा ने इसे योगिनीचार अथवा योगिनी-मार्ग कहा है—

> घरवइ खज्जइ घरिणिएहि जहिं देसहि अविआर
> माइए पर तहिं कि उवरहि विसरिअ जोइणि-चार
> घरवइ खज्जइ सहजें रज्जइ किज्जिअ राअ विराअ
> णिय पास वइट्ठी चित्ते भट्ठी जोइणि महु पड्हिाअ
>
> एक्कु खाइ अवर अण्ण वि पोड़इ
> वाहिरें गइ भत्तारह लोड़इ।[१५५]

इसकी टीका में अद्वयवज्र ने स्पष्ट कहा है कि यह गृहपति (मन) का मरण नहीं है केवल उसको सहज स्वरूप में स्थित कर देना मात्र है। उस सहजस्वरूप में द्वैत नहीं रहता (दुतिया गई है भाग।) और चित्त निर्वाण उपलब्ध कर लेता है (बूझै सोइ निरवान)। चर्यापदों में भी शबरपा (पद ५०) अपनी मृत्यु का वर्णन देते हैं जिसका अर्थ शून्यता में लीन होना है और कुक्कुरीपा भी अपने पद (संख्या २०) में इसी स्थिति की ओर संकेत कर चुके हैं। इन दोनों चर्यापदों में गृहपति की मृत्यु के दार्शनिक संकेतों पर हम पीछे विचार कर चुके हैं।[१५६] कबीर भी इसी मरण की सहजमयता की ओर संकेत करते हुए कहते हैं—

> जिह मरनै सभु जगत तरासिआ, सो मरना गुरु सबद प्रकासिआ
> मरनो मरन कहै सभु कोई, सहजे मरै अमरु होइ सोई
> कहु कबीर मनि भइआ अनन्दा, गइया भरमु रहिआ परमानन्दा[१५७]

सहज

सहज शून्य पर विचार करते समय हम इस तथ्य की ओर संकेत कर

चुके हैं कि 'सहज' शब्द उसी अर्थ में नाथ तथासन्त योगियों द्वारा नहीं ग्रहण किया गया था, जिस अर्थ में वज्रयानी सिद्ध इसका प्रयोग करते थे।

शैव पद्धतियों ने ११वीं शती में ही सहज शब्द को स्वीकार कर लिया था किन्तु उसके अर्थ बदल दिए थे। हम पहले ही इस तथ्य की ओर संकेत कर चुके हैं कि सहज शब्द का 'स्वाभाविक' अर्थ में प्रयोग बहुत पहले से धर्म-साधनाओं में होता आ रहा था और इस बात की पूरी सम्भावना है कि बौद्ध तथा शैव दोनों प्रकार की पद्धतियों ने इस शब्द को किसी तीसरी परम्परा से ग्रहण किया हो। मत्स्येन्द्र के योगिनीकौल-मार्ग तथा वज्रयानी सिद्धों के सहजाम्नाय की तुलना करने से यह ज्ञात होता है कि दोनों में ही सहज शब्द का प्रयोग स्वाभाविक प्रवृत्तिमूलक मार्ग के अतिरिक्त ऐसी साधना पद्धति के अर्थ में होता था जिसमें पुरुष-तत्व तथा शक्ति-तत्व का समागम किया जाय। ये दोनों तत्व बौद्ध पद्धतियों में प्रज्ञा तथा उपाय और योगिनीकौल-मार्ग में शक्ति तथा शिव के नाम से प्रख्यात थे। योगिनीकौल-मार्ग का नाथ-सम्प्रदाय से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है अतः उसमें सहज का अर्थ क्या है इस पर विचार कर लेना अनुपयुक्त न होगा। कौल-ज्ञान-निर्णय के अष्टम पटल में सहजा, कुलजा, अन्त्यजा तथा महादेवी, इन चार शक्तियों का उल्लेख है जिनमें से सहजा स्वकीया है और साधक की गृहिणी रूप में चित्रित है। किन्तु साधना में इस सहज शक्ति को शरीरस्थ कर अन्दर ही उपलब्ध करना चाहिए 'कुरुते देहमध्ये तु सा शक्तिः सहजा प्रिये'।[१५८] शरीर के अन्दर स्थित इस शक्ति को सिद्ध कर लेने वाला फिर अन्तर्मुख हो जाता है, निश्चल हो जाता है, धारणा, ध्येय आदि से मुक्त हो जाता है, सहज तत्व में रमण करता है और आत्म तथा पर का भेद भुला देता है।[१५९] उसी को अकुल-वीर कहते हैं, वही सहजानन्द की प्राप्ति करता है। किन्तु यह सहजानन्द, यह सहज तत्व, यह सहज स्वरूप बौद्ध 'सहज' से अलग है क्योंकि न्याय, वैशेषिक, बौद्ध, अर्हन्त, सोम-सिद्धान्तवादी सभी को शास्त्रजाल से सन्तुष्ट, विकल्प-बहुल, मिथ्यावादी बताया गया है।[१६०]

इस कथन में साम्प्रदायिक प्रतिद्वंद्विता का आभास अधिक है। वास्तव में यदि प्रज्ञा तथा उपाय को शक्ति और शिव की संज्ञा दे दें तो वज्रयानी सहज और कौल ज्ञान के सहज में कोई अन्तर नहीं रहता क्योंकि इसी प्रसंग में आगे यह कहा भी गया है कि अकुलवीर साधना द्वारा जो समरस में प्रतिष्ठित हो जाता है वही ब्रह्म है, वही शिव है, वही सोम है, वही अर्हन्त है, वही बुद्ध है।[१६१]

किन्तु फिर भी योगिनीकौल-मार्ग में सहज को शैव रूप दे देने का एक परिणाम अवश्य अनुमानित किया जा सकता है। वह यह कि नाथपन्थी योगियों को यह सहज-भावना शैवों से ही प्राप्त हुई होगी अतः उन्होंने इसे बौद्ध नहीं माना और सहज से वे बराबर शक्ति तथा शिव के संगम का अर्थ लेते रहे, किन्तु उसे उन्होंने देहस्थ शक्ति या देहस्थ मुद्रा खेचरी को उपलब्ध करने के अर्थ में लिया होगा।

नाथ सम्प्रदाय की बानियों में सहज का प्रयोग हमें निम्न रूपों में मिलता है : क-परम तत्व रूप में सहज। ख-परम ज्ञान, परम स्वभाव या परम स्वभाव। ग-देह के अन्दर योगिनी या शक्ति से संगम लाभ करने की योग पद्धति। घ-सहज समाधि। ङ-परम पद, परम सुख अथवा आनन्द के रूप में सहज, च-जीवन पद्धति के रूप में सहज।

क-परम तत्व के रूप में नाथ योगी पाँचों तत्वों का सहज से ही उद्भव और अन्त में सहज में ही विलयन मानते हैं :

एही राजा राम आछै सर्वे अंग बासा,
येही पाँचौ तत बाबू सहजि प्रकासा।
ये ही पाँचौ तत बाबू सहजि समाना।
बदंत गोरष इमि हरिपद जाना।[१६२]

कणेरी पा और नागा अरजन (नागार्जुन) के सम्वाद में भी सहज का यही रूप मिलता है :

कणेरी का प्रश्न—कहाँ से उगै कहाँ से आयवै कहाँ थैं रैनि बिहाई
पूछै कणेरी नागा अरजन प्यंड छाँड़ि प्राण कहाँ समाई
नागा अरजन—सहजै अवना सहजै गवना। सहजै सहजै बहै पवना
सहजै सहजै फीरै बाई। सहजैं सहजैं थिरै कायी[१६३]

गोरख-मछीन्द्र के सम्वाद में भी सहज की परमतत्व रूप में इस प्रकार की व्याख्या मिलती है :

गोरख—स्वामी राति न होती दिन कहाँ थैं आया
दिन प्रसरया राति कहाँ समाया......?
मछीन्द्र—अवधू राति न होती दिन सहजैं आया
दिन प्रसर्या राति सहजैं समाया।[१६४]

ख-इस सहज को आत्मगत कर साधक को भी सहज स्वरूप धारण करना चाहिए। यह सहज रूप, सहज ज्ञान या सहज स्वभाव उन समस्त द्वयताओं से विवर्जित है, भाव, अभाव, आदि की द्विविधा इसमें नष्ट हो जाती है और अविनाशी तत्व की प्राप्ति होती है :

गोरख—दुबध्या मेटै कैसें रहै। सतगुरु होइ सु बूझया कहै ॥...
मछीन्द्र—दुबध्या मेटि सहज में रहै। ऐसा विचार मछिन्द्र कहै ॥[१६५]
सहज सुभाइ मिले अविनासी। [१६६]

ग-शिव और शक्ति के संयोग की सहज पद्धति :

इस मैथुन के रूपक में सम्पन्न की जाने वाली योग साधना का विशेष महत्व है। वास्तव में सहज का तांत्रिक अर्थ यही था और वज्रयानी सिद्धों ने भी इसे इसी रूप में ग्रहण किया था। नाथ-योगियों में वज्रयानियों की भाँति नारीरूपी तरुणी मुद्रा से समागम कर महामुद्रा सिद्धि करने की प्रथा थी या नहीं, इस पर हम बाद में विचार करेंगे, किन्तु हठयोग की साधना में वे सहज पद्धति को शिव-शक्ति के मिलन या जोगी द्वारा जोगिनी से मिलन के रूपकों में रखकर पूर्ववर्ती तान्त्रिक परम्परा का निर्वाह करते थे।

ये शक्ति और शिव वास्तव में नाद और बिन्दु हैं : 'सक्ति रूपी रज आछे, सिव रूपी व्यन्द।'[१६७] इनमें से शक्ति का वास कुंडलिनी के रूप में एक दूसरे स्थल पर नीचे बताया गया है और शिव का वास ऊपर, 'अवधू अरधैं बसै सक्ती उरधै बसै सीव।'[१६८]

दूसरे स्थल पर इसी सहज समागम को जोगी तथा जोगिनि के परिणय के रूप में चित्रित किया गया है।

माहरा रे बैरागी जोगी, अहनिसि भोगी, जोगिणि संग न छाँड़ै
मानसरोवर मनसां झूलन्ति आवै गगन मंडल मठ मांडै रे ॥
कौंण अस्थानिक तोरा सासू नैं सुसरा कौंण अस्थान तोरा बासा
कौंण अस्थानक तूनें जोगिणि भेंटी कहां मिला घर बासा
नाम अस्थान क मोरा सासू नैं ससुरा ब्रह्म अस्थान क मोरा बासा
इला प्यंगुला जोगन भेंटी सुषमन मिल्या घर बासा। [१६९]

घ पवन का निरोध कर अपनी इन्द्रियों को पूर्णतया वश में करने को सहज समाधि के रूप में चित्रित किया गया है जो सिद्धों की 'पग्गोपात्र

समाहि' (प्रज्ञोपाय समाधि) का ही परवर्ती रूप प्रतीत होता है। इसी को सहज ज्ञान के वाणिज्य के रूप में चित्रित किया गया है जिसमें गुरु गोरखनाथ सहज के व्यापारी हैं, पाँच इंद्रिय रूपी बैल और नौ रन्ध्र रूपी गायें बेचने आये हैं। जब वे इंद्रियाँ वशीभूत होकर सहज रूपी बाखर में आ गईं तब मन उड़ियानी (उड्डियान बन्ध) की साधना करने लगा।[१७०]

इसी समाधि को अंगीठी के रूपक से भी चित्रित किया गया है:

दिपाणि हमारी डोवी पाकै अगनि बलै मुलतानं
ऐसे हम जोगेसर निपनां प्रगट्या पद निर्वानं
बाफ न निकसै बूंद न ढलकै सहज अंगीठी भरि भरि रांधैं
सिध समाधि योग अभ्यासी तब गुरु परचै साधै ॥[१७१]

ङ-इसी सहज को परम पद निर्वाण के भी अर्थ में प्रयुक्त किया गया है :

सहज पद परम नृवांन, सांभलि गोरष पद निरवांन।
देत कहै हम सहज समांन, साम्भलि गोरष पद निरवांन।[१७२]

च-किन्तु इन सबों के अतिरिक्त सहज जीवन-पद्धति के रूप में भी सहज का प्रयोग मिलता है, वह सहज जो वाह्य अनुष्ठानों, वाह्याचारों और विधि-निषेधों तथा अतिचारों से मुक्त मध्यम सहज मार्ग का अर्थ देता है। यह अर्थ विशेष महत्वपूर्ण है क्योंकि सन्त परम्परा में योगपरक या मैथुनपरक अर्थ के बजाय इसी अर्थ को व्यापक रूप से ग्रहण किया गया है :

अवधू सहजै लेणा सहजै देणा सहजै प्रीति ल्यौ लाई
सहजै सहजै चलेगा रे अवधू तौ बासण करेगा समाई।[१७३]
हबकि न बोलिबा हबकि न चलिबा धीरे धरिबा पांव
गरब न करिबा सहजैं रहिबा भणत गोरख राव ॥[१७४]

'सहज रहिबा' या 'सहज रहनी' सन्तों का विशेष आग्रह है। प्रज्ञा और उपाय के युगनद्ध के रूप में सन्त का सहज अर्थ सम्भवतः भूल चुके थे किन्तु परम तत्व का स्वभाव सहज है इसे वे अवश्य जानते थे। शिव और शक्ति के संगम के रूप में सन्तों ने इस सहज तत्व की व्याख्या की है :

कबीर—सिव सकती दिसि कोंण जु जोवे, पछिम दिसा उठे धूर ॥[१७५]

केशवदास—तन मन प्रान दान दे पिय को सहज सरूपम पाई हो
दरस परस पतिबरता पिव की सिव घर सक्ति बसाई हो।[१७६]

इसी सहज से वे समस्त तत्वों की उत्पत्ति मानते थे और अन्त में इसी में सबका विलयन भी। इस 'सहज' नाम को वे अक्सर सहज-शून्य अक्सर परमतत्व 'शब्द' और अक्सर परमपुरुष ब्रह्म के लिये भी प्रयुक्त करते थे।

परम तत्व

पीछे 'सहज' पर विचार करते समय हम यह देख चुके हैं कि सहज का प्रयोग स्वाभाविक वृत्ति के रूप में ४०० ई० से भी पहले से मिलता है और १२०० ई० तक इस अर्थ में सहज के प्रयोग की परम्परा मिलती है। हमने यह भी संकेत किया था कि सिद्धों ने इसी सहज को ग्रहण कर अपने प्रज्ञोपाय युगनद्ध के सिद्धांत के अनुसार इसकी नई बौद्ध तान्त्रिक व्याख्या (युगनद्धजनित) कर दी थी। शैव तन्त्र (योगिनी-कौल-मार्ग) तथा शैव योग (नाथ सम्प्रदाय) पद्धतियों में इस सहज को शिव और शक्ति या नाद और विन्दु के संगम के रूप में माना गया। सन्तों तक आते आते इसकी यह मिथुन-परक व्याख्या तिरस्कृत कर दी गई और कबीर ने अपनी स्वाधीन चिन्तना के गौरव के अनुरूप 'सहज' को विभिन्न मतवादों की संकीर्णताओं से परे उस परम तत्व के रूप में माना जो समस्त वाह्याचारों से मुक्त मनुष्य की सहज स्वाभाविक अनुभूति में प्रस्फुटित होता है और जिसकी उपलब्धि एक सहज सन्तुलित जीवन पद्धति द्वारा ही हो सकती है, विभिन्न मतवादों की संकीर्णता में उलझ कर नहीं। अपने एक 'शब्द' में संसार के पागलपन का चित्रण करते हुए वे कहते हैं कि सहज आत्म-तत्व को छोड़ कर संसार न जाने किन भ्रम छलनाओं के पीछे दौड़ रहा है।

सन्तो देखत जग बौराना
सांच कहौं तो मारन धावै झूठहिं जग पतियाना
नेमी देखा धरमी देखा प्रात करहिं असनाना
आतम मारि पषानहिं पूजहिं उनिमंह किछउ न ज्ञाना
हिन्दू कहहिं मोहि राम पियारा तुरुक कहहिं रहिमाना
आपस में दोउ लरि मूये मरम न कोई जाना

क्योंकि ये सब तो वाह्याचार हैं, साम्प्रदायिक संकीर्णताएँ हैं। वास्तविक

तत्व तो इन सीमाओं में बंध ही नहीं पाता वह तो सहज तत्व है, उसमें सहज द्वारा ही समाया जा सकता है :

> कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो ई सभ भरम भुलाना
> केतिक कहौं कहा नहिं मानैं सहजै सहज समाना।[१७७]

और इसी कारण से रैदास बहुत स्पष्ट ढंग से कहते हैं कि बिना सहज के सिद्धि नहीं हो सकती और यह सहज वाह्याचारों के अभ्यास या केवल नीरस तर्क-ज्ञान से नहीं सिद्ध होता।

> माई रे सहज बन्दौ लोइ, बिन सहज सिद्धि न होई।
> रैदास दास ह्वे करि रह्यो सहज समाई।[१७८]

पीछे सिद्धों के सहज पर विचार करते समय हम यह देख चुके हैं कि न केवल वज्रयान वरन् लगभग प्रत्येक पद्धति में एक परिस्थिति ऐसी मानी जाती थी जिसके उपरान्त वाह्य अनुष्ठान, नैतिक मर्यादा आदि का बन्धन टूट जाता था और फिर साधक केवल चित्तगत साधना ही करता था। जब सिद्धों ने यह कहा था 'मणह भअवा खसम भअवइ, दिवा रात्ति सहजे राहिअइ' तो उनका भी संकेत इसी ओर था किन्तु चित्तवृत्ति को इस तरह नियोजित करने में योग की साधनाएँ सहायक मानी जाती थीं क्योंकि उनसे चित्तवृत्तियों का निरोध होता है। इस प्रकार सहज उस योग-पद्धति का भी बाधक हो गया था जो उस सहज वृत्ति के नियोजन में सहायक होती हैं। नाथ योगियों ने भी उस सहज योग-पद्धति का शैव रूप अपनाया था।

सन्त भी इस सहज-योग से अपरिचित नहीं थे और सहज को स्वाभाविक वृत्ति मानते हुए भी वे योग साधनाओं को इस सहज साधना का आवश्यक अंग मानते थे। उनकी इस योग साधना में प्रज्ञा तथा उपाय के संगम की भावना तो तिरस्कृत हो गई थी किन्तु वे अपनी पद्धति को, उसके अन्तर्गत जप, ध्यान, समाधि आदि को सहज जप, सहज ध्यान तथा सहज समाधि ही कहते थे। इस प्रकार सहज की भावना को सन्तों ने उसके स्वाभाविक मानवीय अर्थ में लेते हुए भी परम्परा से चला आने वाला उसका योग-परक अर्थ भी सर्वथा भुला नहीं दिया था।

सन्त साहित्य का अध्ययन करने से उसमें भी हमें सहज का प्रयोग लगभग

उन्हीं ६ रूपों में मिलता है, जिनमें वह नाथों की बानी में प्रयुक्त हुआ है। उनमें से प्रत्येक पर हम पृथक विचार करेंगे।

क-सहज तत्व

जो आदि तत्व है जिसमें से सब उत्पन्न हुआ जिसमें सब समा जाता है :

कबीर—सहज की अकथ कथा है निरारी
तुलि नहिं चढ़ै न जाइ मुकाती हलुकी लगै न भारी
अरध उरध दोऊ तह नाहीं राति दिवसु तह नाही।
जलु नहिं पवनु पावकु पुनु नाही सतिगुरु तहा स साही
अगम अगोचरु रहै निरन्तरि गुरु किरपा ते लहीऐ
कहु कबीर हउ भइआ दिवाना मुसि मनुआ सहजि समाना
जो किछु होआ सु तेरा भाणा, जो इव बूझै सु सहजि समाना[१७९]

दादू ज्ञान गहै गुरुदेव का दादू सहजि समाइ
....
सोना पारस परसतां सहज समाना सोइ
....
पिंजर पिंड शरीर का सुवटा सहजि समाइ
रमिता सेती रमि रहै बिमल बिमल जस गाइ ॥
....
काटै करम सहज सूँ बांधै सहजैं रहै समाई ॥[१८०]

सिद्धों और नाथों के बाद सन्तों ने सहज की परमतत्व वाली भावना में एक नया अध्याय जोड़ा है। सन्त परम्परा निर्गुणवादी होते हुए भी सगुण भक्तिवाद के बहुत निकट थी और उसकी भाव-साधना तो भक्ति ही की थी, योग की या तन्त्र की नहीं। इसलिए सन्त परमतत्व को एक वैयक्तिक ईश्वर के रूप में मानते थे जो स्वतः इच्छामय है, भक्तों पर कृपालु है, अनुरागी है। बौद्ध सिद्धों ने भी तथागत की तीन कायाओं में चौथी सहजकाया की कल्पना जोड़ कर इस परम्परा का सूत्रपात कर दिया था किन्तु उनकी भाव-साधना में जीव स्वतः बुद्ध बन जाता है अतः सहजरूपी तथागत का उतना महत्व उनकी साधना-पद्धति में नहीं था जितना सहजरूपी राम का महत्व सन्त-परम्परा में विकसित हुआ। इस

सहजतत्व का राम रूप में उल्लेख हमें नाथों की बानियों में भी एक स्थान पर मिलता है 'एही राजा राम आछै सर्बे अंग बासा, एही पांचौ तत बाबू सहज प्रकासा।'[१८१] किंतु ये पंक्तियाँ कबीर के बहुत बाद की मालूम होती हैं और निर्गुण राम की सहज रूप में जो कल्पना सन्त-साहित्य में विकसित हुई उसी से प्रभावित प्रतीत होती हैं क्योंकि कबीर ने स्पष्ट कहा था कि जिस सहज-समाधि से उन्मुनी मुद्रा जाग्रत होती है, उसी से रघुराई भी मिलते हैं: 'सहज समाधी उन्मुनि जागै, सहज मिलै रघुराई'[१८२] और उनके ये 'रघुराई' अपने भक्तों को जो सुहाग देते हैं वह भी 'सहज सुहाग' है 'कहत कबीर मैं कछु नहिं कीन्हा, सहज सुहाग पिया मोंहि दीन्हा'।[१८३] और इसी 'सहज सुहाग' को पाकर सन्त केशवदास अपने प्रिय का सहज स्वरूप धारण कर लेते हैं 'म्हारे हरिजू सुं जुरल सगाई हो। तन मन प्रान दान दै पिय को सहज सरूपम पाई हो।'[१८४] दादू की बानियों में हमें सहज के प्रसंग में राम का उल्लेख कई स्थानों पर मिलता है:

राम सबद मुख लै रहै पीछै लागा जाइ
मनसा बाचा कर्मना तेहि तत सहज समाइ

....

सहजै सुमिरण होत है रोम रोम रमि राम
चित्त चहूंट्या चित्त सौं यों लीजै हरि नाम[१८५]

कबीर-पन्थ के परवर्ती ग्रन्थों में सहज की ईश्वररूप-परिकल्पना में प्रचुर विकास हुआ। राम के अतिरिक्त दूसरे प्रमुख वैष्णव देवता कृष्ण को भी सहज रूप में स्थित बताया गया। उग्र-गीता में श्रीकृष्ण सतगुरु कबीर से कहते हैं:

बहुत लोग मानुष मोंहिं जानैं। दुख सुख व्यापक माही सानैं॥
एक भाव मैं सबसों रहेऊं। जैसे अग्नि भाव सो कहेऊं॥
सब कह लागै एक सम भाई। ऐसे रहौं मैं सहज समाई॥[१८६]

इस स्थल में कृष्ण का सम और सहज स्वरूप निस्सन्देह गीता में वर्णित सम स्वरूप की प्रतिध्वनि है क्योंकि यह कृति भी गीता का अनुकरण मात्र है।[१८७]

कबीर-बानी में इसी सहज को ब्रह्म की संज्ञा दी गई है और सहज ब्रह्म के पांच तत्व बताये गये हैं जिनसे पांच ब्रह्मों की उत्पत्ति बताई गई है: स्नेही ब्रह्म, इच्छा ब्रह्म, मूल ब्रह्म, सोहं ब्रह्म और ब्रह्मांड। यह तथागत के पाँच स्कन्धों से पाँच ध्यानी बुद्धों की उत्पत्ति से बहुत कुछ मिलती जुलती हुई कल्पना है

किन्तु पाँच की संख्या के अतिरिक्त अन्य कोई समता की बात नहीं दृष्टिगोचर होती।[१८८] इन्हीं पाँच ब्रह्मों तथा छठें ब्रह्मा सहज को सत्य पुरुष तथा निरंजन के बीच के लोकों में स्थित माना गया है और छठें ब्रह्मा से मायायुक्त ब्रह्म निरंजन की उत्पत्ति मानी गई।[१८९] इसी सहज पुरुष के समानान्तर सहज श्रुति, सहज अंकुर, सहज द्वीप आदि की कल्पनाएँ भी साम्प्रदायिक ग्रन्थों में विकसित हुई।

एक सुरति एक अंकुर कहाई, तिहि को नाम सहज श्रुति भाई[१९०]
प्रथम पुर्ष सोहंग, दूसरे सहज सोहंग, तीसरे इच्छा सोहंग[१९१]

इसी में और वृद्धि हुई। पहले सहज पुरुष और निरञ्जन पुरुष के बीच में पाँच पुरुष माने गये थे, 'पञ्चमुद्रा' में यह अन्तर और भी बढ़ाकर बताया गया था और सहज तथा निरञ्जन पुरुष के बीच में ६ पुरुष-प्रमाण का अन्तर माना गया और आदि पुरुष की स्थिति उसके भी आगे बताई गई।

निरञ्जन और सहज लों नौ पुर्ष प्रमान
आदि पुर्ष आगे कहों जितने सब उतपान।[१९२]

किन्तु उसके बाद सहसा सहज का पद नीचे उतरने लगा। सहज पुरुष को ही माया शवलित निरञ्जन [१९३] माना गया और उसी को गौण देवता कूर्मराय [१९४] भी परिकल्पित किया गया। यह कूर्म वास्तव में 'धर्म' सम्प्रदाय का कूर्म था। 'सहज' वही कूर्म मान लिया गया और धर्म को उससे अलग परिकल्पित कर लिया गया। धर्मराय के हाथों कूर्म की बहुत बुरी पराजय हुई जिसमें कूर्मराय का मस्तक काटकर उनका उदर-विदारण कर दिया गया। इस प्रकार परवर्ती पन्थ की गाथाओं में सहज अपने मूल रूप से इतनी दूर जा पड़ा कि यह मूलतः सिद्धों का प्रज्ञोपाय युगनद्ध का ही सहजतत्व है, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

ख-सहज ज्ञान तथा सहज स्वभाव—

इस सहज तत्व में समाहित होने के लिये मन को सहज स्वरूप का बनाना चाहिये जो केवल सहज ज्ञान द्वारा ही सम्भव है। यह ज्ञान दो पक्षों के मध्य का ज्ञान है। सिद्धों ने इसे शून्य, अशून्य, प्रज्ञा और उपाय, भाव, अभाव, भव निर्वाण आदि दो पक्षों से पृथक् मध्य का ज्ञान बताया था। कबीर भी द्वयता का भ्रम त्याग कर मध्य में चलने वाली मति को सहज ज्ञान की संज्ञा देते हैं।

जां तिसु भावै ता लागे भाइ, भरम भुलावा बिचहु जाइ
उपजै सहज गिश्रान मति जागै, गुर प्रसादि श्रंतर लिव लागै ।[१९५]

श्रौर जब कबीर उसमें पाप पुण्य दोनों को एक समान बताते हैं, 'पाप पुंन दुइ एक समान, निज पारसु तजहु गुन श्रान'[१९६] तो यह स्पष्टतः सिद्धों के 'णिम्मल सहजे पाप ण पुण' की प्रतिध्वनि मालूम होती है।

दादू ने इस सहज ज्ञान या सहज स्वभाव का श्रधिक विस्तृत विवेचन दिया है जिसमें उन्होंने सहज को श्रपने स्वामी (प्रभु) का स्वभाव बताया है श्रौर उसे धरती श्रम्बर, धूप छांह, पवन पानी, चन्द्र सूर्य, सुख दुख, जाग्रति श्रौर सुषुप्ति, तथा, पाप पुण्य इन द्वयताश्रों से विवर्जित बताया है :

तहं धरती श्रम्बर नाहीं, तहं धूप न दीसै छांही
तहं पवन न चालै पाणी, तहं श्रापै एक विनाणी
तहं चन्द न ऊगै सूरा, मुख काल न बाजै तूरा
तहं सुख दुख का गम नाहीं, वो तै श्रगम श्रगोचर माहीं
तहं काल काया नहिं लागै, तहं को सोवै को जागै
तहं पाप पुण्य नहिं कोई, तहं श्रलख निरञ्जन सोई
तहं सहज रहै सो स्वामी, सब घटि श्रन्तरयामी ॥[१९७]

यह द्वयता-विवर्जित सहज-स्वरूप स्वामी का स्वरूप है श्रतः मन (सेवक) को भी यही स्वरूप धारण करना चाहिए।

बाबा को जन ऐसा योगी
श्रञ्जन छाड़ै रहै निरञ्जन सहज सदा वियोगी
छाया माया रहै विवर्जित प्यंड ब्रह्मण्ड नियारे
चन्द सूर थैं श्रगम श्रगोचर सो गहि तत विचारे
पाप पुण्य लिपै नहिं कबहूँ दोई पख रहिता सोई ।[१९८]

इस सहज-ज्ञान को निष्पन्न ज्ञान बताते हुए मन द्वारा धारण कर लिये जाने पर इसे सम स्वभाव के रूप में चित्रित किया गया है जिसमें शीत उष्ण, सुख दुख, इन दोनों को त्याग कर मध्यपथ में सम भाव धारण करने का विधान है :

सहज रूप मन का भया जब द्वै द्वै मिटी तरङ्ग
ताता सीला सम भया तब दादू एकै श्रंग

मति मोटी उस साध की द्वै पष रहत समान
दादू आपा मेटि करि सेवा करै सुजान।[199]

नानक ने भी इसी सहज स्वभाव को सर्वोपरि स्वभाव बताया है जो साधुओं के लिये शोभनीय है। इसके लिये वे ६८ हाटों में से एक सहज हाट की कल्पना करते हैं जिसमें मन सहज स्वभाव में स्थित रहता है।

सहज हाटि मन कीआ निवासु। सहज सुभाव मनि कीआ प्रगासु।
सहज सुभाय कौ जै जैकारा। सहज नाथु हरि लगै पिआरा।
जो कछु करै सो सहज सुभाय। सहज सहज हरि के गुन गाय।
सहज सुभाय का इही विचारू। सहज सुभाय मन होइ उद्धारू।[200]

इस सहज स्वभाव में जिन दो पक्षों का त्याग बताया गया है उनमें से लगभग सभी सिद्धों के पदों में मिलते हैं।

सुख-दुख = सअ समाहिअ काहि करिअइ, सुख दुखे तें निचित मरिअइ। (चर्यापद १)

रवि-शशि = चान्द सुज वेणि पखा फाल। (चर्यापद ४)

पाप-पुण्य = पाप पुण्ण वेणि तोड़िअ सिकल मोड़िअ खम्भा ठाणा। (चर्यापद १६)

जन्म-मरण = जाम मरण भव कइसण होइ। (चर्यापद २२)

आवागमन = मोह विमुक्का जइ मणा, तबें टुटइ अवणा गमणा। (चर्यापद ४६)

छाया-माया
तथा काया = छाआ माआ काअ समाणा, वेणि पाखें सोइ विणाणा। (चर्यापद ४६)

इस प्रसंग में एक अन्य शब्द पर भी ध्यान देना आवश्यक है। चर्यापद में विणाणा तथा दादू के पद में बिनानी (ताहँ पवन न चालै पाणी, तहं आपै एक बिनाणी) का इसी प्रसंग में प्रयोग हुआ है। यह विनण वास्तव में विज्ञान का अपभ्रंश रूप है और 'विज्ञान' वास्तव में बौद्ध विज्ञानवादी चिन्तना के तथता ज्ञान से आया है। उसी तथता विज्ञान या विज्ञप्ति मात्रता तत्व को शून्य अशून्य, आदि से विवर्जित बताया गया था जिसपर हम विचार कर चुके हैं। अतः तत्व-ज्ञानी को विज्ञानो (विणाणी) कहते थे। यह विणाणी शब्द तत्वज्ञानी के अर्थ में बराबर प्रयुक्त होता रहा यद्यपि तत्वज्ञान का बौद्ध रूप यथावत् नहीं स्वीकार किया गया। नाथपन्थी बानियों में भी यह बिनांणी शब्द इसी अर्थ में मिलता है :

गगन सिषर महि शब्द प्रकास्या, तहं बूझै अलष बिनांणी ॥[२०१]
अलष बिनांणी दोइ दीपक रचिलै......................
चन्द सूर दोउ निज घरि राष्या ऐसा अलष बिनांणीं ॥[२०२]

इस प्रकार इन द्वयताओं का परित्याग कर मध्य तत्व के रूप में यह सहज ज्ञान और सहज स्वभाव निस्सन्देह सिद्ध परम्परा से ही आया है, यद्यपि धीरे धीरे उसका तान्त्रिक अभिप्राय तिरोहित होता गया और सन्त लोग उसे गीता के सम स्वभाव के अर्थ में प्रयुक्त करने लगे। यह सन्तों की अपनी मौलिक उद्-भावना थी या वैष्णव प्रभाव, इस पर हम आगे विचार करेंगे, किन्तु कहीं-कहीं सन्तों ने वास्तव में इस दो पक्ष का त्याग कर मध्यवर्ती सहज स्वभाव अपनाने की सर्वथा मौलिक व्याख्या दी है। वे हिन्दू और मुसलमान इन दोनों पक्षों के मध्य में अपनी सहज स्थिति बताते हैं। वही निष्पक्ष सन्त स्वभाव है :

हिन्दू तुरुक न होइबा साहिब सेती काम
षट दरसन के संग न जाइबा निर्पष कहिबा राम ।।
करणी हिन्दू तुरुक की अपणी-अपणी ठौर।
दुहुँ बिच मारग साध का सन्तों की रह और ॥[२०३]

इस सहज-स्वभाव को सन्तों ने भक्तिभावना के अर्थ में भी प्रयुक्त किया है जो उनका अपना प्रयोग है क्योंकि बौद्ध तथा नाथ योगी दोनों ही इस भावना से अपरिचित थे। कबीर ने अपने मन को सहज स्वभाव में स्थित बताया है क्योंकि राम ने उन्हें अपना करके मान लिया है :

अब मोंहिं रामु अपुना करि जानिआ
सहज सुभाउ मेरा मनु मानिआ।[२०४]

इस भक्तिभाव की आनन्दमयी आत्मबेली से दादू का भी गगन गृह आच्छादित है :

वेली आनंद प्रेम समाइ
सहजैं मगन रामरस सींचैं दिन दिन बधती जाइ
सतगुरु सहजैं बाही वेलि सहजि गगन पर छाया
सहजैं सहजैं कूंपल मेल्है जाणै अवधू राया
आतम बेली सहजैं फूलै सदा फूल फल होई
कायाबाड़ी सहजैं निपजैं, जाणै बिरला कोई।

मन हठ बेली सूकरण लागी सहजैं जुगि जुगि जीवै
दादू बेलि अमर-फल लागै सहजि सदा रस पीवै ।[२०५]

इस प्रकार यह सिद्धों के प्रज्ञोपाय अद्वैत का सहज स्वभाव अन्त में भक्त स्वभाव में परिणत हुआ जिसमें राम के प्रति अनन्य भक्ति रखते हुए स्वयम् को उन्हीं को अर्पित कर सारी द्विविधा से मुक्त होना ही सहज स्वभाव माना गया है ।

ग-सहज, साधना पद्धति के रूप में—

इस सहज स्वभाव की सिद्धि हठयोग द्वारा की जाती थी । सिद्धों में यह हठयोग महामुद्रा के मैथुन से सम्बद्ध था किन्तु नाथयोगियों में प्रमुखतः यह शिव और शक्ति के देहस्थ योग के रूप में स्वीकृत हुआ । सन्तों में हमें इस पद्धति के लिये बराबर सहज-योग नाम का प्रयोग मिलता है यद्यपि उसके दो अर्थ हैं । कहीं कहीं वह हठयोग की साधनाओं के लिये प्रयुक्त हुआ है, कहीं कहीं शुद्ध भावयोग के अर्थ में ।

हठयोग के अर्थ में :

दादू—पंच बाइ ते सहज समावै, ससहरि के घर आणै सूर
सीतल सदा मिलै सुखदाई, अनहद सबद बजावै तूर
बंकनालि सदा रस पीवै तब यह मनवां कहीं न जाइ
बिगसैं कंवल प्रेम जब उपजै ब्रह्मा जीव की करै सहाइ ।[२०६]
एता कीजै आप थैं तन मन उनमुनि लाइ ।
पंच समाधी राखिये, दूजा सहज सुभाइ ।
सहज जोग सुख मैं रहै दादू निर्गुण जाणि ।
गंगा उलटी फेरि करि जमुणा माहैं आणि ॥[२०७]

भीखा—जोग जुक्ति कै हिंडोलन गुरु सहज लखावत
चाँदे राखि सूर पौढ़ावल ।पवन डोरि पै धावल ।
अर्ध उर्ध मुख पावल पुलकि पुलकि छवि भावल ।[२०८]

वाह्याचार मुक्त भावयोग के अर्थ में :

कबीर—तन को जोगी सब करै, मन को बिरला कोय
सहजै सब सिधि पाइये जो मन जोगी होय

सहज सहज सब कोइ कहैं सहज न चीन्है कोय
जा सहजै साहब मिले सहज कहावै सोय ॥
सहज मिलैं सो दूध सम मांगा मिलै जो पानि
कह कबीर वह रक्त सम जामैं ऐंचा तानि ॥[२०९]

किस प्रकार यह वाह्याचारमुक्त भावयोग कबीर तथा अन्य सन्तों द्वारा भक्ति का पर्यायवाची मान लिया गया था, इसकी ओर संकेत किया जा चुका है।

घ-सहज-समाधि

हठयोग तथा भावयोग के समानान्तर ही सहज-समाधि का प्रयोग भी सन्तों में योग-समाधि तथा भाव-समाधि दोनों अर्थों में मिलता है। हठयोग की समाधि के अर्थ में नाथयोगी परम्परा की उन्मुनी, प्रयुक्त हुई है। यह उन्मुनी-अवस्था हठयोग-प्रदीपिका में शून्य और अशून्य से परे अमनस्क (अमनसिकार) की ही अवस्था बताई गई है और टीका में इसे जल में मिले हुए लवण की भाँति आत्मस्थ रूप बताया गया है।[२१०] नाथपन्थी बानियों में भी इसी को तत्वसार बताया गया है, 'मन पवना लैं उनमनि धरिबा ते जोगी ततसारं।'[२११] सन्तों ने भी इसी उन्मन समाधि को सहज-समाधि बताया है :

कबीर—तन महि होती कोटि उपाधि। उलटि भई सुख सहज समाधि
सहज समाधी उनमुनि जागै सहज मिलैं हरि राई।[२१२]
सहज सुन्न में रहै समाना सहज समाधि लगावै[२१३]
उनमुनि रहै ब्रह्म कौ चीन्है परम तत्त को ध्यावै ॥[२१४]

पलटू—फूटि गया असमान सबद की धमक में
लगी गगन में आग सुरति की चमक में
सेसनाग और कमठ लगे सब काँपने
सहज समाधि कि दसा खबरि नहिं आपने।[२१५]

इस सहज-समाधि की योग साधना में गंगा यमुना के बीच की सुषुम्ना को सहज पथ या सहज हाट माना गया है : 'गंग जमुन उस अन्तरै सहज सुन्नि ल्यौ घाट'[२१६] जो अवधूतिका को गंगा जमुना के बीच बहने वाली नौका मानने वाली सिद्ध कल्पना के बहुत निकट है।

वास्तव में यही सहज समाधि या उन्मुनी अवस्था भावात्मक स्तर पर सहज-वृत्ति बन जाती है जो मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुरूप होती है

जिस पर हम आगे उनमुनि रहनी, या सहज-रहनी के अन्तर्गत विचार करेंगे। वह भाव-समाधि और भी सूक्ष्म है क्योंकि वही अन्तिम साध्य है और हठयोग की सहज-समाधि से परे की वस्तु है :

जोग ना जुगत ना प्रानायाम ना सुन्न में ध्यान न धरत ध्यानी
नाहि कछु ज्ञान है नाहिं बैराग है जाय ना सकै तह पवन पानी
इड़ा ना पिंगला नाहि कछु साधना सुरत ना सबद ना उठत बानी
झिलमिली जोति न नाहि है उनमुनी चांद न सूर ना ब्रह्म-ज्ञानी
सहज समाधि के परे की बात है दास पलटू कोई सन्त जानी।[२१७]

ङ-परम पद

सन्तों का यह परम पद भी सहज निर्वाण है :

मरै न जीवै सहज सो पूरा पद निर्वाण।[२१८]

परम पद के रूप में सहज का जो अगम अगोचर रूप वर्णित किया है वह सिद्धों के वर्णन से शब्द शब्द मिलता है :

कबीर—जिहि बन सीह न संचरे, पंषि उड़ै नहिं जाइ
रैनि दिवस का गम नहीं तहं कबीर रह्या ल्यौ लाइ[२१९]

दादू—चल दादू तहं जाइये जहं चन्द सूर नहि जाइ
राति दिवस का गम नहीं सहजै रह्या समाइ।[२२०]

सरहपा—जाहि मण पवण ण संचरइ रवि ससि नाह पवेस
तहि बढ़ चित्त विसाम करु सरहें कहिअ उएस।[२२१]

परम पद निर्वाण तथा नाथ और सन्त साहित्य में उसके वर्णन पर हम आगे विचार करेंगे।

सहज रहनी या सहज जीवन-पद्धति

सिद्धों के सम्बन्ध में सहज-पद्धति पर विचार करते समय हम यह देख चुके हैं कि एक परिस्थिति ऐसी आती है जब मन्त्र, तन्त्र, जप, होम, मंडल-कर्म आदि वाह्य-अनुष्ठानों से साधक मुक्त हो जाता है और केवल अपने मन को एक रूप विशेष रूप में नियोजित कर दिन रात सहज रूप में रहता है। इसको काण्हपा ने 'एक्कु ण किज्जइ तन्त ण मन्त' और तिलोपा ने 'मणह भअवा खसम भअवइ, दिवारात्ति सहजे रहिअइ' के रूप में प्रस्तुत किया है। किन्तु इस स्थिति तक पहुँचने के लिये कुछ विशेष साधनाओं का विधान था। तन्त्र पद्धति

के अनुसार महामुद्रा सिद्ध कर लेने के उपरांत यह सहज जीवन-पद्धति वांछनीय समझी जाती थी और शुद्ध हठयोगी साधनामें यह स्थिति उन्मनी अवस्था के उपरान्त आती थी।

सन्त महामुद्रा साधना तो भूल चुके थे किन्तु उन्मनी समाधि की साधना वे अवश्य करते थे और उसके उपरान्त सहज-स्वभाव धारण करने का उपदेश देते थे। उनका यह सहज-स्वभाव और उसका निरूपण तन्त्र तथा योग के अतिरिक्त एक तीसरी पद्धति से प्रभावित था, वह थी वैष्णवी पद्धति। भक्ति मार्ग में शरणागति और आत्मार्पण की भावना ही प्रधान थी, अतः उनमें उन सभी कर्मों को सहज माना गया था जो अनासक्त भाव से किये जायँ, जिनके फल तथा कुफल में कर्त्ता की मति सम हो, वह सुख दुख आदि के मोह में ग्रस्त न होवे। वे कर्म भौतिक होते हैं, सांसारिक होते हैं किन्तु अनासक्त बुद्धि से किए जाने पर साधक को नैष्कर्म्य सिद्धि प्राप्त कराते हैं। इसी प्रसंग में गीता में कहा गया था :

यतः प्रवृत्तिर्भूतानाम् येन सर्वमिदम् ततम्
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिम् विन्दति मानवः ॥
सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निमिवावृतः ॥
असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां सन्यासेनाधिगच्छति ॥[२२२]

गीता में यह भी बताया गया था कि यदि वैसे चित्त प्रभु में स्थिर नहीं रहता तो यह स्थिति अभ्यास योग से भी आ सकती है :

अथ चित्तम् समाधातुम् न शक्नोषि मयि स्थिरम्
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुम् धनंजय ॥[२२३]

इसी अभ्यास योग को तन्त्रों में महामुद्रा साधना और योग में सहज योग उन्मुनी समाधि के रूप में सिद्धों नाथों और सन्तों ने ग्रहण किया था। किन्तु वैष्णव चिन्ताधारा में एक और मार्ग बताया गया था, वह यह कि अपने समस्त कर्म कृष्ण को अर्पित कर दिए जायं 'तदर्पिताखिलाचारः सन् कामक्रोधाभिमानादिकम् तस्मिन्नेव करणीयम्।'[२२४] ऐसा व्यक्ति जो कुछ बोलता है वही हरिनाम है, जितनी दूर चलता है, वही तीर्थ है, जो कुछ करता है वही पूजा है। इसमें किसी योग, किसी तन्त्र, किसी जप तप की आवश्यकता नहीं केवल मन भगवान के प्रति अर्पित रहना चाहिए।

कबीर योगाभ्यास द्वारा सिद्ध होने वाली सहज-रहनी की तुलना में इस वैष्णव सहज जीवन-पद्धति से कहीं अधिक प्रभावित थे जैसा उनके इस पद से ज्ञात होता है :

साधो सहज समाधि भली
गुरु प्रताप जा दिन से जागी, दिन दिन अधिक चली
जहं जहं डोलौं सो परिकरमा, जो कुछ करौं सो सेवा
जब सोवौं तब करौं डंडवत, पूजौं और न देवा
कहौं सो नाम, सुनौं सो सुमिरन, खाव पियौं सो पूजा
गिरह उजाड़ एक सम लेखौं, भाव मिटावौ दूजा

इस सहज भावयोग में किसी प्रकार के बाह्य दिखावे के अनुष्ठान अथवा आचारों की आवश्यकता नहीं है :

आंख न मूंदौं कान न रूंधौं तनिक कष्ट नहिं धारौं
खुले नैनि पहिचानौं हंसि हंसि सुन्दर रूप निहारौं ।

योग की उनमुनी समाधि भी इस भक्ति भाव में अन्तर्मुख हो जाती है :

कह कबीर यह उनमुनि रहनी सो परगटि करि गाई
सुख दुख से कोई परे परम पद तेहि पद रहा समाई ।।[२२५]

और वास्तव में वह पद विष्णु का पद था, राम का पद था जिसने अपने वामनावतार में तीन पगों से वसुधा नाप ली थी । समस्त भारतीय संस्कृति पर वैष्णवता लता-वितान की भांति आच्छादित हो गई थी । कबीर का समस्त तत्व चिन्तन जिसकी जड़ें सिद्धों से आने वाली परम्परा में थी वह सहज-चिन्तन रूपी बेलड़ी वास्तव में राम का गुणगान बन गया था, राम के गुन की बेलड़ी बन गई थी :

राम गुन बेलड़ी रे अवधू, गोरषपाथि जांणी ।
नाति सरूप न छाया जिसके बिरध कौ बिन पाणी ।।
सहज बेलि जब फूलण लागी डाली कूपल मेल्ही ।
काटत बेली कूंपले मेल्हीं सींचताड़ी कुमिलांणी ।।
कहै कबीर तैं बिरला जोगी, सहज निरन्तर जाणीं ।।[२२६]

इस पद में यह उल्लेख आया है कि सहज रूपी बेल से गोरष के अनुयायी भी अपरिचित नहीं थे । गोरखबानी में वर्णित हुए 'सहज' की विवेचना हम कर चुके हैं और यह भी संकेत कर चुके हैं कि कुछ स्थलों पर तान्त्रिक अथवा योग साधनाओं वाले तात्पर्य से सर्वथा विनिर्मुक्त शुद्ध सहज जीवन-पद्धति

के रूप में भी गोरखपन्थी सहज को मान्यता देते थे। फिर कबीर में क्या विशेषता है जो उनको वैष्णव सहज-चिन्तन के अधिक निकट कहा गया है ?

वास्तव में गोरख की साधना-पद्धति में पुरुष के ३२ लक्षण बताए गए हैं जिन्हें आठ परीक्षाओं में विभाजित किया गया है। उनमें से सहज परीक्षा के अन्तर्गत वृहत, शीतल, सुखद और स्वभाव ये चार लक्षण बताये गये हैं, ।[२२७] गोरखबानी में 'बत्तीस लछन' में इसे अष्टांग और पारछया बताया गया है और सहज में उपर्युक्त चार लक्षणों को 'सुमती, सुद्रुदी, सीतल और सुषदाई' बताया गया है। ध्यान, धारणा, समाधि आदि 'मुनि पारछ्या' के अन्तर्गत हैं और सहज उनसे मुक्त है।[२२८]

किन्तु कबीर ने इसमें एक तत्व और जोड़ा था—भक्ति और प्रभु के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण, समस्त कर्मों को कृष्णार्पित कर फलाफल से निरपेक्षता और नाथयोगियों का इस तत्व से परिचय नहीं हुआ था, या उन्होंने इसे स्वीकार नहीं किया था।

किन्तु एक बात की ओर कबीर ने संकेत किया था कि सहज सहज तो सभी कहते हैं किन्तु जानता कोई भी नहीं। सहज वही है जिससे साहब मिले और साहब तभी मिलता है जब साधक अपने को पूर्णतया अर्पित कर दे। किन्तु कालान्तर में सन्त परम्परा के बहुत से साधक ऐसे हुए जो सहज के इस गम्भीर अर्थ को भूल गये और वे सहज-पद्धति का अर्थ वह पद्धति समझने लगे जिसमें कुछ भी न करना पड़े। और इसका परिणाम हुआ कि वह उदात्त सहज-चिन्तन जिसने गीता से लेकर, सिद्धों और नाथ परम्परा में होते हुए कबीर तक को अनुप्रेरित किया था, जिसने तन्त्र, योग, और भक्ति तीनों की पद्धतियों में सर्वश्रेष्ठ पद प्राप्त किया था, वही 'सहज' भिक्षा से भरपेट भोजन कर केवल पलंग पर लेटे रहने का वाचक हो गया और जीवन मस्ताने (लगभग १८०० ई०) ने कहा :

> जब दो खात दारि पैसा भर कैसी फरकत बोटी है।
> सहज सुभाय रहत निसिबासर रहत पलग पर लोटी है ॥[२२९]

इस प्रकार यह सहज-चिन्तन और जीवन-पद्धति अन्ततोगत्वा इस स्तर तक उतर आई और उसका सारा महत्व समाप्त हो गया।

घ

साधना-पद्धति की वज्रयानी प्रवृत्तियां और शब्दावली

गुरु

इस साधना में प्रवृत्त होने के पूर्व गुरु कर लेना आवश्यक है क्योंकि मध्यकालीन योग तथा तन्त्र साधनाओं में यह सर्वमान्य धारणा थी कि कभी भी निगुरे को सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। बाद में जिन सम्प्रदायों में योग तथा तंत्र की गुह्य साधनाओं का परित्याग भी कर दिया गया है, उनमें गुरु का यह महत्व परम्परागत रूढ़ि सा बन गया है। कबीर तथा अन्य सभी परवर्त्ती सन्तों ने गुरु का यह महत्व बराबर स्वीकार किया है। किन्तु गोरखपन्थी बानियों तथा सन्तों की बानियों में इस विषय में एक विशेष अन्तर है। नाथपन्थी बानियों का गुरु योगशास्त्र का ज्ञाता है।[1] सन्तों का गुरु वैष्णव है, और शब्द सुरति के साथ साथ वह हरिभक्ति का भी मधुर उपदेश देता है।[2] गुरु के विषय में श्रद्धा उस समय इतनी प्रचलित थी अतः सन्तों ने या नाथपन्थियों ने यह वज्रयानी सिद्धों से ही प्रभावित होकर ग्रहण की इसका कोई प्रमाण नहीं है। हाँ, नाथपंथियों में कई स्थलों पर ऐसा ज्ञात होता है कि शिष्य गोरखनाथ अपने गुरू मछीन्द्रनाथ को उपदेश दे रहे हैं।[3] यह परम्परा विरुद्ध सी बात लगती है किन्तु इसके मूल में सम्भवतः उस घटना की स्मृति है जिसमें कहा जाता है कि गोरखनाथ ने योगिनियों के जाल से मछीन्द्र को मुक्त कराकर तान्त्रिक अनुष्ठानों का बहिष्कार किया था।

सन्तों की बानियों में 'गुरुदेव के अंग' को सर्वप्रथम स्थान दिया जाता

है। यह उनके अतुल महत्व का परिचायक है। जहाँ तक गुरु के लक्षण, शिष्य के लक्षण आदि आदि अंगों का प्रश्न है वे तान्त्रिक ग्रन्थों की अनुसरण-परम्परा का आभास देते हैं यद्यपि इन सन्तों का गुरु न तान्त्रिक गुरु है और न वज्रयानी। वह निस्संदेह ऐसा गुरु है जिसने शब्द-सुरत-योग और भक्तियोग इन दोनों की समन्वित साधना की है क्योंकि उसने शिष्य को भी दोनों ही पद्धतियों का उपदेश दिया है :

योग—दौ लागी साइर जल्या पंषी बैठे आइ
दाधी देह न पालवै सतगुर गया लगाय।[४]
भक्ति—सतगुरु हमसूं रीझि करि एक कह्या परसंग
बरसा बादल प्रेम का भीजि गया सब अंग।[५]

भक्ति और योगमार्ग का यह पूर्ण एकात्म राघवानन्द तथा रामानन्द की गुरु परम्परा की ओर संकेत करता है क्योंकि उनके मार्ग में अवधूतों की योग पद्धति तथा वैष्णव भक्ति इन दोनों का समन्वय हो गया था।[६]

इस प्रकार गुरु के महत्व की परम्परा संतों ने वज्रयानी सिद्धों से नहीं ली थी किन्तु गुरु-वचन के लिये वाण का उपमान तथा वज्र विशेषण अवश्य सिद्धों तथा सन्तों में समान रूप में मिलते हैं। चर्यापदों में गुरु-वचनों को वाण या वज्रकुठार बताया गया है जिस पर हम पीछे विचार कर चुके हैं। सन्तों में भी यह उपमान प्रयुक्त हुआ है :

गुरु कै वाणि बजर कल छेदी प्रगटिया पदु परगासा
सकति अधेर जेवड़ी भ्रमु चूका निहचलु सिव घरि बासा॥[७]
सतगुरु मारयां बाणि भरि धरि करि सूधी मूठि
अंगि उघाड़ैं लागिया गइ दवा सूं फूटि॥[८]

अद्वयवज्र ने अपने प्रेमपंचक में सद्गुरु को दूती बताया है जो वधू प्रज्ञा तथा वर उपाय की मध्यस्थता कर दोनों का मिलन सम्पन्न करा देता है। सन्तों में ज्ञानवधू तथा साधकरूपी वर का मध्यस्थ गुरु को माना गया है :

सन्तन किया बियाह दुलहिनी ज्ञान की।
सतगुरु दिया कराय बेटी जजमान की।[९]

अनाड़ी गुरु के निषेध का एक दोहा तो सरहपा, कबीर, दादू तथा अन्य कितने ही सन्तों में बिल्कुल समान रूप में मिलता है :

सरहपा—जाव ण अप्पा जाणिजइ ताव ण सिस्स करेइ
अंधे अन्ध कढ़ावइ तिम वेएण वि कूप पड़ेइ।[१०]
कबीर—जाका गुरु भी अन्धला चेला खरा निरन्ध
अन्धै अन्धा ठेलिया दून्यूं कूप पड़न्त।[११]
दादू—अन्धे अन्धा मिलि चले दादू बांधि कतार
कूप पड़े हम देखता अंधे अंधा लार।[१२]

देह

देहस्थ सिद्ध पीठ

वज्रयानी सिद्धों के साधना केन्द्रों पर विचार करते समय हमने यह देखा था कि तन्त्रपीठों में जालन्धर, कामरूप, ओडियान तथा श्रीहट्ट प्रमुख तन्त्रपीठ माने जाते थे। इस वाह्य तन्त्रपीठों की स्थिति काया में भी मानी गई थी और बौद्ध हठयोग साधना में इन तन्त्रपीठों की स्थिति काया के अन्दर भी बताई गई है। चर्यापदों में केवल उड्डीयान तथा कामरूप का उल्लेख मिलता है। कुक्कुरीपा की चर्या में अर्द्धरात्रि को प्रज्ञाज्ञानाभिषेक के समय अवधूती रूपी बधू अभिसार के लिये कामरूप जाती है जिसकी व्याख्या टीकाकार ने 'महा सुख-चक्र स्थान' में, की है।[१३] चौथे चर्यापद में भी मणिकूल (मणिमूल, मूलस्थान) से उद्बुद्ध होकर वज्रचित्त के उड़ीयान या उर्ध्व महासुखस्थान में समाहित होने की साधना का वर्णन है।[१४]

शैव पद्धतियों में भी ये तन्त्रपीठ काया में स्थित माने गये थे और उनके नाम पर उड्डियाङ्बन्ध, मूलबद्ध आदि प्रक्रियाएं प्रचलित थीं, यद्यपि स्थिति आदि में सम्भवतः थोड़ा सा अन्तर था। सिद्ध-सिद्धान्त-संग्रह में त्रिधावर्त, भगमंडलादि की आकृति वाले ब्रह्मचक्र (मूलाधार चक्र) में कामरूप पीठ की स्थिति बताई गई है। उड्डीयान पीठ की स्थिति स्वाधिष्ठान चक्र में मानी गई है।[१५] हठयोग-प्रदीपिका में उड्डीयान बन्ध के द्वारा सुषुम्ना को जाग्रत करने का विधान मिलता है और उसी प्रसंग में प्राण को महाखग भी कहा गया है।[१६] इसी प्रकार मूलबन्ध और कंठस्थान से सम्बद्ध जालन्धरबन्ध का भी उल्लेख हठयोग-प्रदीपिका में मिलता है।[१७]

साधना-पद्धति की वज्रयानी प्रवृत्तियां और शब्दावली

गोरखबानी में भी उड्डियान, श्रीहट्ट (सुरहट), मुलतान (मूलस्थान) कामरूप (कांवरू) आदि का उल्लेख मिलता है। एक पद में पांच इन्द्रिय रूपी बैल तथा नौ रन्ध्रों की गायों को बाखर में लाकर सहज स्वभाव द्वारा मन के उड्डीयान गमन का उल्लेख है :

सहज गोरषनाथ वाणिज कराई, पंचबलद नौ गाई
सहज सुभावै बाषर ल्याई, मोरे मन उड़ियानी आई ॥
सुरहट घाट आम्हे बणिजारा, सुंनि हमारा पसारा ।
लेण न जाणौ देण न जाणौं एद्वा बणज हमारा ॥[१८]

इसी प्रकार मूलस्थान (मुलतान) में प्राणायाम द्वारा ब्रह्माग्नि के प्रज्वलित होने का वर्णन मिलता है :

दिषणि हमारी डीबी पाकै अगनि वलै मुलतानं
ऐसे हम जोगेसर निपनां, प्रगट्या पद निर्बानं ॥[१९]

श्रीहट्ट के बीच में कामरूप, (अर्थात् सम्भवतः भगमण्डलाकार मूलाधार के मध्य में कामरूप पीठ) को प्राणायाम द्वारा विजित करने का संकेत इन पंक्तियों में मिलता है :

उलटि यन्त्र धरे षिषर आसन करे कोटि सन छूटता घाव नाहीं
सिलहट मध्ये कांवरू जीतले निर्मल धुनि गगन माहीं ॥[२०]

श्रीहट्ट आदि की स्थिति का विशेष विवरण नहीं मिलता किन्तु कामरूप की स्थिति अवश्य बदल गई है। बौद्ध साधना में कामरूप सर्वोच्च महासुखचक्र माना गया है किन्तु सिद्ध-सिद्धान्त-संग्रह में वह प्रथम चक्र, मूलाधार में स्थित कर दिया गया है। ज्ञात होता है कि इस सम्बन्ध में विभिन्न शैव पद्धतियों की विभिन्न धारणाएं थीं। बौद्ध पद्धतियों में भी परस्पर मतभेद था जिसपर हम पहले विचार कर चुके हैं।

देह का महत्व

सरहपा ने हठयोग साधना के प्रसंग में इसी शरीर में गंगा तथा जमुना और प्रयाग तथा वाराणसी तीर्थों की स्थिति बताई थी जिस पर हम पीछे विचार कर चुके हैं। वास्तव में तत्व-प्राप्ति देह में ही होने के कारण देह का अतुल महत्व उन परवर्ती सम्प्रदायों में भी माना गया जो योग से सम्बन्धित थे।

सन्तों ने भी देह में ही समस्त तीर्थों और देवताओं की स्थिति का उल्लेख किया है :

काया माहैं सागर सात । काया माहैं अविगत नाथ ॥
काया माहैं नदिया नीर । काया माहैं गहिर गंभीर ॥
काया माहैं सरवर पाणी । काया माहैं बसै बिनाणी ॥
काया माहैं नीर निवान । काया माहैं हंस सुजान ॥
काया माहैं गङ्ग तरङ्ग । काया माहैं जमना सङ्ग ॥
काया माहैं सुरसती । काया माहैं द्वारामती ॥
काया माहैं कासी थान । काया माहैं करै सनान ॥
काया माहैं पूजा पाती । काया माहैं तीरथ जाती ॥
काया माहैं मुनियर मेला । काया माहैं आप अकेला ॥[२१]

इस प्रसङ्ग में यह संकेत कर देना आवश्यक है कि सिद्धों की देह में स्थित प्रयाग, वाराणसी आदि की कल्पना भी हिन्दू परम्परा का प्रभाव प्रतीत होता है क्योंकि उन्होंने किसी बौद्ध तीर्थ का रूपक नहीं ग्रहण किया है। प्रयाग, वाराणसी हिन्दुओं के ही तीर्थ थे, बौद्धों के नहीं। गङ्गा यमुना भी हिन्दुओं में आदृत हैं बौद्धों में नहीं। सन्तों ने सम्भवतः उसी अबौद्ध परम्परा से प्रभावित होकर देह में ६८ हाटों की कल्पना की है। यह '६८ हाट' वास्तव में हिन्दुओं के ६८ तीर्थों का देहस्थ रूप था।

जीउ बटाऊ जन्म हाट । काया बस्ती अठसठ हाट ।[२२]

किन्तु जहाँ इन हाटों का विस्तृत विवरण दिया गया है वहाँ हठयोग के चक्रों-नाड़ियों आदि का संकेत मिलता है। नानक ने प्रथम हाट का नाम अनन्त, द्वितीय का नाभि-कमल, तृतीय का भण्डार, चौथे का उद्यम-उदन्त, पाँचवे का बंकनाल रक्खा है और इसी तरह समस्त हाटों का नाम और वर्णन हठयोग से सम्बद्ध है। अन्त में वेणी या सङ्गम हाट का उल्लेख है जहाँ इड़ा पिंगला और सुषुम्ना का पूर्ण मिलन हो जाता है और मन सहज ही अड़सठ तीर्थों का पुण्य फल पा लेता है।

बेनी हाट जबै मनु जाय । मनु तहिं बेनी कर्म कमाय
बेनी सङ्गम जब मनु जाता । तब अड़सठ सहजे ही न्हाता ।[२३]

साधना-पद्धति की वज्रयानी प्रवृत्तियां और शब्दावली

सिद्धों ने जहाँ वाह्यतीर्थों का निषेध किया है वहाँ शरीर को ही जिनपुर माना है। उसी में ध्यानी बुद्धों का वास माना है। यह परम्परा जैनों ने भी अपनाई थी देह रूपी देवालय में शक्तियों सहित जो देव वास करता है, वह शिव कौन है?

देहा देवलि जो वसइ सत्तिहिं सहियउ देउ
को तहिं जोइय सत्तिसिउ सिग्घु गवेसहिं भेउ॥[२४]

उसी शिव और शक्ति के कारण यह देह देवालय है, तीर्थों से भी अधिक पवित्र है। उस शिव और शक्ति का वास नाथ योगियों और सन्तों ने भी देह में माना था। उसके लिये उन्होंने देह को 'अरध' तथा 'उरध में विभाजित किया था। 'अरध उरध' विभाजन, उनमें शिव और शक्ति का वास तथा वज्रयानी परम्परा द्वारा मान्य बुद्ध का देह में वास, इनके विकास-क्रम पर हम अब विचार करेंगे।

देह में अरध उरध

अरध उरध ये श्वास गति की दो सीमाएँ हैं। जहाँ से श्वास निरोध कर विन्दु को स्थिर किया जाता है, और वह स्थल जहाँ तक उस विन्दु को पहुँचाया जाता है। प्रथम स्थल है मूलस्थान या मूलाधार चक्र और अन्तिम स्थान है सहस्रार चक्र। इन्हीं दोनों को अध और ऊर्ध्व भी कहा जाता था। बाद में चार चक्रों के स्थान पर षट-चक्र-पद्धति ग्रहण की गई किन्तु प्रथम और अन्तिम चक्र वही माना गया और इसी कारण अर्ध और ऊर्ध्व की कल्पना नाथ और संत परम्परा में यथावत् चली आई, केवल उसको बौद्ध के बजाय शैव रूप में ग्रहण किया गया।

वज्रयानी दोहों में इस अध और ऊर्ध्व का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। सरहपा ने कहा है कि जो अध और उर्ध्व का भेद न जानकर दोनों का युगनद्ध नहीं सम्पन्न करते वे दोनों के बीच में भ्रम में पड़कर नष्ट हो जाते हैं।

अधउध मज्झें सअल मूअ णासी[२५]

इसी अध को आलोक से उद्‌घाटित कर, चण्डाग्नि प्रज्ज्वलित कर ध्यान स्थित होने का उपदेश तिलोपा ने दिया है:

अध उघाड्यि आलोअणें ज्झाणें होइ रे थित्ति॥[२६]

योगिनी-कौल-मार्ग की पद्धति में भी 'अध-ऊर्द्ध' में हंस के रमण का उल्लेख मिलता है।[२७] अध में विन्दु जाग्रत कर उर्द्ध की ओर विन्दु को प्रेरित करने के कारण ही साधक को ऊर्ध्व रेतस् कहा जाता था।

गोरखबानी में इस अध और ऊर्ध्व के कई उल्लेख मिलते हैं। एक स्थान पर अध और ऊर्ध्व के मध्य में शून्य का वास (त्रिकुटी) का उल्लेख है: 'अरध उरध बिच धरी उठाई, मधि सुंनि में बैठा जाई।'[२८] यहाँ पर अरध शब्द वास्तव में उरध की तुलना में अध का ही रूपान्तर है:

दूसरे स्थल पर तो पूर्वोक्त योगिनी-कौल-पद्धति के हंस रमण वाली पंक्ति की छाया ही मिलती है:

यो० कौ० अधोर्द्ध रमते हंसो द्वादशान्ते लयं पुनः ॥

गोरखबानी अरधन्त कवल उरधंत मध्ये प्राण पुरिस का बासा
द्वादस हंसा उलटि चलैगा, तब ही जोति प्रकासा ॥[२९]

एक अन्य स्थल पर अरध और उरध के मध्य में पवन को कुम्भक द्वारा स्थिर कर ब्रह्मरन्ध्र को उद्घाटित करने का विधान है:

अरधैं उरधैं लाइलै कूंची, थिर होवै मन तहाँ थाकीले पवनां
दसवां द्वार चीन्हिले छूटै आवागवनां ॥[३०]

सन्त परम्परा में भी इस अरध उरध की कुम्भक साधना का उल्लेख मिलता है:

अरध उरध मुखि लागौ कासु
सुंन मंडल महि करु परगासु ॥
उहां सूरज नाहीं चन्द
आदि निरंजनु करै अनन्द ॥[३१]
धधा अरधहिं उरध निबेरा
अरधहि उरधह मांझि बसेरा
अरधह छाडि उरध जउ आवा
तउ अरधहि उरध मिलिआ सुख पावा ॥[३२]

चौपड़ माहीं चौहटे अरधउरध बाजार
कहैं कबीरा रामजन खेलौ संत बिचार ॥
पासा पकड्या प्रेम का सारी किया सरीर
सतगुरु दांव बताइया खेलैं दास कबीर ॥[33]

इनमें से अन्तिम उद्धरण का एक विशेष महत्व है क्योंकि उसमें कबीर ने कुम्भक प्राणायाम के साथ साथ अरध-उरध साधना में प्रेम या भक्ति का तत्व भी जोड़ दिया है जो उनके परम वैष्णव स्वभाव के सर्वथा अनुरूप है।

किन्तु शैव परम्परा में इस अध और ऊर्ध्व की कल्पना में एक संशोधन हो गया था जिस पर दृष्टिपात करना आवश्यक है : प्रज्ञोपाय योग में प्रज्ञा का वास नैरात्मा के रूप में महासुखचक्र में माना गया था और काया में प्रज्ञा- उपाय अथवा वज्र का स्थान नीचे मणिमूल में। शैव परम्परा उपाय या शिव- में यह क्रम उलट गया। मूलाधार (अरध) में शक्ति कुंड- शक्ति लिनी रूप में स्थित बताई गई और ऊर्ध्व में शिव का वास मानकर उसे कैलाश कहा जाने लगा। मछिन्द्र-गोरख-बोध में शिव और शक्ति के वास का स्पष्ट उल्लेख आता है :

गोरष— स्वांमी कहां बसै सक्ती कहां बसै सीव
कहां बसै पवना कहां बसै जीव
कहां होई इनका परचा लहै।
सतगुरु होइ सु बूझ्या कहै ॥

मछींद्र— अवधू अरधै बसै सक्ती, उरधैं बसै सीव
भीतरी बसै पवनां अंतरी बसै जीव
निरन्तर इनका परचा लहै। ऐसा विचार मछीन्द्र कहै।[34]

इसी शक्ति और शिव का उल्लेख सन्तों ने भी किया है :

कबीर— सिव सक्ती दिसि कोण जु जोवै पछिम दिसा उठै धूरि[35]

पलटू— चलै न सिव कै जोर जाय जब सक्ती लीन्हा
फिर सक्ती ना रही मिली जब सिव में जाई
सिव भी फिर ना रहे सक्ति के सीव कहाई ॥[36]

केशवदास अरध उरध के मध्य निरन्तर सुखमन चौक पुराई हो
रवि ससि कुंभक अमृत भरिया गगन मंडल मठ लाई हो
साध सन्त मिल कियो बसीठी, सतगुरु लगन लगाई हो
दरस परस पतिव्रता पिव की, सिव घर सक्ति बसाई हो [३७]

जायसी ने भी तन में अरध और उरध में बसने वाले शक्ति और शिव का उल्लेख किया है और सिंघल जाने के पूर्व अपने मन में या चित्त में इस शक्ति और शिव को एकात्म कर लेने का निर्देश किया है :

गजपति यह मन सकती सीऊ। पै जहि पेम कहां तेहि जीऊ ॥
जौ पहिलैं सिर पै पगु धरई। मुए केर मीचहु का करई ॥
सुख संकलपि दुख सांबर लीन्हेउ। तौ पयान सिंघल कह कीन्हेउ ॥[३८]

यहाँ पर कबीर की ही भाँति जायसी ने शिव और शक्ति के अद्वैत की साधना में कुंभक प्राणायाम के बजाय प्रेम को महत्व दिया है। इस प्रकार अरध और उरध को शैव रूप दे देने के उपरान्त उसकी साधना में हठयोग के साथ साथ भावयोग की पद्धति स्वीकार कर उसे भक्ति की सहायक साधना मान लिया गया और प्रेम को प्रमुख स्थान दिया गया। किन्तु इसी शक्ति और शिव के संयोग से सहज-तत्व की उत्पत्ति होती है इससे कबीर भी भली भाँति अवगत मालूम पड़ते हैं :

काटि सकति सिव सहज प्रकासिओ एकै एक समाना ना
कहि कबीर गुर भेट महांसुख भ्रमत रहे मनु माना नां ॥[३९]

मानव देह में हिन्दू देवता

वज्रयानी सिद्धों ने बुद्ध को चारों चक्रों में प्रतिष्ठित कर साम्प्रदायिक प्रतिद्वन्दिता के कारण हरि, हर, ब्रह्मा को बहुत गौण स्थान देकर तीन अत्यन्त शुद्ध नाड़ियों का अधिष्ठाता माना था। धामपाद के चर्यापद में हरि, हर और ब्रह्मा इन तीन नाड़ियों का उल्लेख मिलता है :

दाढ़इ हरिहर ब्राह्मण नाड़ा। दाढ़इ नवगुण शासन पाड़ा ॥[४०]

टीका में मुनिदत्त ने सन्ध्यावचन के अनुसार मूत्रनाड़ी को हरि, शुक्र नाड़ी को हर और विट नाड़ी को ब्रह्मा बताया है। चंडाग्नि के प्रज्वलित होने से ये तीनों नाड़ियाँ जल कर राख हो जाती हैं और केवल उपाय तथा प्रज्ञा, बुद्ध

तथा उनकी शक्ति शेष रहते हैं। इस कल्पना के पीछे साम्प्रदायिक प्रतिद्वन्द्विता का स्पष्ट आभास प्रतीत होता है।

लगता यह है कि परवर्त्ती हिन्दू परम्परा ने बुद्ध को गौण स्थान देकर इसका प्रतिशोध लिया है, यद्यपि फिर भी उन्होंने बुद्ध को उस प्रकार अपमानित नहीं किया जैसा बौद्धों ने हिन्दू देवताओं को किया। ये तीनों हिन्दू देवता काया में स्थित माने गये और सच्चा सतगुरु वह बताया गया जो राम से इसी देह में मिलन करा दे :

साचा सतगरु राम मिलावे, सब कुछ काया माहिं दिखावै
काया माहिं तीन्यू देव। काया माहैं अलख अभेद ॥[४१]

राम का यह महत्व परवर्ती नाथ योगी भी स्वीकार करने लगे थे :

एही राजा राम आछै सर्बे अंग बासा
एही पांचौ तत बाबू सहज प्रकासा ॥[४२]

बंगाल के नाथ योगियों में काया में स्थित देवताओं में बुद्ध का लोप हो गया है और धीरे धीरे शैव देवताओं के अतिरिक्त वैष्णव देवताओं का महत्व बढ़ता हुआ दृष्टिगोचर होता है :

मानव देहेर खबर जान रे मन
देह रे उत्तर दक्खिन पूर्व पश्चिम कोथाय वृन्दावन।[४३]
... ...

चूड़ते चूड़ामणि ब्रह्ममूल स्थिति, पाट मध्ये महाविष्णु केरछे वसति।
चक्खेते कालाचार सदाइ करे ध्यान, कर्णेते चैतन्य गोसामी हयेछे सावधान।[४४]

उपरोक्त पद में देह को आठ मुकामों में विभाजित किया गया है और शिव तथा शक्ति को भग और लिंग में स्थित माना है किन्तु वैष्णव देवताओं और आचार्यों को अधिक महत्व दिया गया है। इस प्रकार काया वासी देवताओं में भी धीरे धीरे बौद्ध परम्परा शैव परम्परा द्वारा पराजित होकर वैष्णव परंपरा में विलीन हो जाती है वैष्णव देवता सर्वप्रमुख हो जाते हैं।

चक्र तथा नाड़ियाँ

नाथ-योग-पद्धति तथा सन्तों की योग-साधना इस दृष्टि से सर्वथा हिन्दू

थी कि उसमें चक्रों की संख्या, नाम तथा रूप आदि हिन्दू पद्धति के अनुसार थे।

चार चक्र

हिन्दू योग परंपरा के षट-चक्र, उनके नाम, उनकी स्थिति उनके कमल दलों की संख्या आदि की तुलना हम पहले ही बौद्धों के चार चक्रों से कर चुके हैं (अध्याय ३ ग)। किन्तु बौद्धों की काया में चार चक्र मानने वाली परंपरा भी किसी न किसी रूप में जीवित अवश्य थी, क्योंकि जायसी काया में चार बसेरों के अतिरिक्त चार चक्रों का भी उल्लेख करते हैं।

चारिहुँ चक्र फिरै मन खोजत, दंड न रहै न थिर मार
होइ के भसम संग धावौं, जहाँ सो प्रान अधार।[४५]

यह कहा जा सकता है कि यहाँ चार की संख्या का व्यवहार सूफियों की साधना की चार अवस्थाओं के लिये किया गया है।[४६] किन्तु इस पूरे प्रसंग में योग-साधना का ही रूपक है, सूफियों की प्रेम साधना का नहीं। यहाँ पर इन चार चक्रों का अर्थ समझने के लिये हमें सूफी योग साधना में स्वीकृत चक्र-प्रणाली पर भी एक दृष्टि डालनी होगी। सूफियों के नक्शबन्दी सम्प्रदाय के शेख अहमद (११०० ई०) ने मनुष्य के शरीर में नाभि से गर्दन तक ६ अवस्थान बताये हैं। नफ्स जो नाभि के नीचे हैं, क़ल्ब जो छाती की बायीं ओर है, रूह जो छाती में बाईं ओर है, सिर्र जो छाती के बीचोबीच है, ख़फी जिसका स्थान ललाट में है और अख्फा जो मस्तिष्क में है। हिन्दुओं की षटचक्र परम्परा से इसकी तुलना करने पर हम यह देखते हैं कि हिन्दुओं में मूलाधार चक्र मेरु के मूल में स्थित है, जबकि सूफियों के प्रथम चक्र की स्थिति नाभि के पास है, जहाँ हिन्दुओं का तीसरा चक्र मणिपूर स्थित है। हिन्दू परम्परा में हृदय के समीप केवल एक चक्र है अनाहत, जब कि सूफी परम्परा में ३ चक्रों की स्थिति हृदय में ही है। कंठ के समीपवर्ती विशुद्धाख्य चक्र का सूफियों की इस परम्परा ने कोई उल्लेख नहीं किया।[४७]

बौद्ध परम्परा से नक्शबन्दी सम्प्रदाय के चक्रों की तुलना करने पर हम अधिक समानता पाते हैं। बौद्ध परम्परा में भी प्रथम चक्र नाभि के पास स्थित बताया गया है जो भगवान तथागत की निर्माण-काया का वासस्थान है। हेवज्र-तन्त्र की कुछ पांडुलिपियों में प्रथम चक्र की स्थिति उपस्थ मूल में भी बताई गई है किन्तु नाभि वाली परम्परा सर्वमान्य थी। इस दृष्टि से सूफियों का प्रथम चक्र नफ्स, वज्रयानियों के प्रथम चक्र नाभि-कमल का ही रूपान्तर प्रतीत होता है।

उसके उपरान्त तीन चक्र हृदय प्रदेश में ही स्थित हैं। हृदय प्रदेश को इतना महत्व हिन्दू परम्परा में कभी नहीं दिया गया किन्तु योगाचार की परम्परा में अन्तिम चक्र 'मनोवत्थु' हृदय प्रदेश में ही माना गया था और नाभि से लेकर हृदय तक ही समस्त चक्रों की स्थिति मानी गई थी।[४८] वज्रयानी परम्परा में में अन्तिम चक्र मस्तिष्क में माना गया किन्तु मन का महत्व भी कम नहीं हुआ क्योंकि वे आत्मा के बजाय चित्त को ही अधिक महत्व देते थे। मन का वही महत्त्व सूफी परम्परा में हृदय प्रदेश के तीन चक्रों के रूप में अवशिष्ट रह गया। ख़फ़ी भ्रूमध्य में स्थित सम्भोग चक्र या आज्ञा चक्र का ही रूपान्तर प्रतीत होता है। सेकोद्देश टीका में नारोपा ने सम्भोग की स्थिति ललाट में ही मानी है।[४९] अंतिम चक्र हिन्दू वज्रयानी तथा सूफी तीनों परम्पराओं में मस्तिष्क में माना गया है। यदि हम कल्ब, रूह और सिर्र को एक ही चक्र के तीन दल समझ लें तो सूफ़ियों में स्तर की दृष्टि से चार ही खंड माने जायँगे। नाभि-(नफ्स) हृदय-(रूह, क़ल्ब, सिर्र) ललाट-(ख़फ़ी), मस्तिष्क-(अख़फा)। चार चक्रों की इसी योजना से जायसी परिचित रहे होंगे सिद्धों की प्रत्यक्ष चार चक्रों की योजना से नहीं। किन्तु इस सूफी परम्परा पर बौद्ध प्रभाव का आभास का अनुमान किया जा सकता है। जहाँ तक नाथ योगियों और सन्तों का प्रश्न है वे षट्चक्र प्रणाली से परिचित थे, चार चक्रों को उन्होंने कहीं मान्यता नहीं दी।

नाड़ियाँ

चक्रों ही के समान नाड़ियों के सम्बन्ध में भी नाथ साहित्य और सन्त साहित्य में हिन्दू योग परम्परा का आश्रय लेकर बौद्ध नामों का तिरस्कार किया गया है। किन्तु जहाँ चक्र योजना में हिन्दू तथा बौद्ध परम्परा में न केवल नाम वरन् संख्या और स्थिति में भी अन्तर है, वहाँ नाड़ियों के सम्बन्ध में इतना अन्तर नहीं है। वे ही नाड़ियाँ हैं, उनकी लगभग वैसी ही स्थिति है केवल उनका नाम दूसरा है।

बौद्ध सिद्धों ने तीन नाड़ियाँ, ललना रसना तथा अवधूती मानी थीं। हिन्दू हठयोग परम्परा में इन्हीं नाड़ियों को इड़ा, पिंगला तथा सुषुम्ना नाम दिये गये हैं। इनकी स्थिति इनके लिये प्रयुक्त उपमान तथा इनसे सम्बद्ध शंखिनी नाड़ी तथा दशमद्वार का विवरण हम पहले ही दे चुके हैं।[५०] दोनों की तुलना इस प्रकार है :

ललना (हिन्दू नाम इड़ा), उपमान गंगा, चंद्र, प्रज्ञा, शक्ति, (स्थिति वाम)
रसना (हिन्दू नाम पिंगला), उपमान यमुना, सूर्य, उपाय, शिव, (स्थिति दक्षिण)

इन दोनों के मध्य में अवधूती या सुषुम्णा है जो सरस्वती है, संगम है, औघट घाट है, ब्रह्माग्नि या चंडाग्नि-वाहिनी है। अवधूती को ब्रह्म-चक्र से शंखिनी नामक एक नाड़ी सम्बद्ध करती है जिसे बंकनाल कहते हैं। इसी बंकनाल से होकर अमृत झरता है और जिस रन्ध्र से अमृत आता है उसे दशम द्वार कहते हैं। दशम द्वार का वर्णन चर्यापदों में भी आता है 'दशमि दुआरेते चिन्ह देखाइआ'।[५१] इन्हीं नाड़ियों में पवन निरुद्ध कर सुषुम्णा में श्वास संचालन द्वारा दशम द्वार उद्घाटित कर अमृत पीने की साधना नाथों तथा सन्तों की योग साधना रही है जिस पर हम आगे विचार करेंगे। इन नाड़ियों का उल्लेख नाथ और सन्त साहित्य में विभिन्न रूपकों के साथ आया है।

गोरखबानी अहंकार तूटिबा निराकार फूटिबा सोषीला गंग· जमन का पानी
चंद सूरज दोउ सनमुषि राषीला कहो हो अवधू तहाँ की सहिनाणी[५२]

कबीर जह किछु अहा तहा किछु नाही पंच ततु तह नाही
इड़ा पिंगला सुखमन बंदे ए अवगत जाही।[५३]
उलटी गंग जमुन मिलावइ, बिनु जल संगम मन महिं न्हावउ।[५४]

नानक इड़ा पिंगला सुष्मन सूझी। तब मन सहज कथा सब बूझी
सुख का हाट सुष्मना कीन्हा। नानक तहिं सुख डेरा लीना
बेनी हाट जबै मनु जाय। मन तहिं बेनी कर्म नहाय।[५५]

रैदास ऐसा ध्यान धरौं बरौं बनवारी, मन पवन दै सुखमन नारी।[५६]

जायसी गही पिंगला सुखमन नारी, सुन्न समाधि लागिगौ तारी।[५७]

भीखा इंगल पिंगला बुतैं सुन्न भेटानो, सुखमन भयो उँजियार।[५८]

इनका संगम त्रिकुटी में माना जाता था और इस त्रिकुटी संधि से ही शून्य-समाधि का विशेष सम्बन्ध नाथ तथा सन्त परम्परा में माना गया था, इसकी ओर हम पीछे शून्य पर विचार करते समय संकेत कर आये हैं। प्राणायाम द्वारा पवन निरुद्ध कर, पंच तत्वों को चित्त में ही स्थित कर ये नाथ योगी तथा सन्त हठयोग की साधना करते थे।

साधना-पद्धति की वज्रयानी प्रवृत्तियां और शब्दावली

पंचतत्व-धारणा

सिद्धों की साधना-पद्धति का विवेचन करते समय यह संकेत किया जा चुका है कि पंच महाभूतों को ध्यान की एकाग्रता द्वारा अन्तस्थ कर चित्त में ही उनका उदय सम्पन्न करना एक प्रमुख अभ्यास रहा है जो योगाचार के समय से ही स्वीकृत किया जा चुका था। गोरख ने इस भावना को हिन्दू परम्परा से ग्रहण किया था। गोरक्ष पद्धति में इस साधना का स्पष्ट विधान मिलता है।

हृदये पंचभूतानां धारणा च पृथक पृथक्
मनसो निश्चलत्वेन धारणा समभीयते ॥[५९]

यदि हम धातुओं के उदय होने के क्रम की तुलनात्मक समीक्षा करें तो हम देखेंगे कि बौद्धसिद्धों की क्रम योजना योगाचार से भिन्न है और गोरक्ष की पद्धति के अधिक निकट है। योगाचार में पहले तेज, फिर आप्, फिर वायु, फिर गगन और अन्त में पृथ्वी, का उदय बताया गया है। काण्हपा के टीकाकार ने पहले पृथ्वी, फिर आप्, फिर तेज, तब वायु और अन्त में गगन का उदय बताया है।[६०] गोरक्षपद्धति में भी बिल्कुल यही क्रम है किन्तु बीजाक्षरों और देवताओं का वर्णन उसे सर्वथा हिन्दू पद्धति सिद्ध करता है। ज्ञात यह होता है कि काण्हपा और उनका टीकाकार भी पूर्वागत हिन्दू योगपरम्परा के अधिक निकट थे और उसी क्रम को ग्रहण कर उन्होंने उसे प्रज्ञोपायात्मक बौद्ध व्याख्या दे दी थी।

गोरखबानी में इसी पंचतत्व की अन्तस्थ साधना का उल्लेख मिलता है

देखे ये तत सून्य अकास, पंच तत्त मैं महापुरिस कै बास।
पंच तत्त लै उनमनि रहै, अछ्या होइ तौ जोगेन्द्र कहै।
पंच तत्त का करो बिचार, बाहर भीतर येकंकार
भिछ्या माँगै नग्री द्वार, माया मोहू तजै जंजार ॥[६१]

इनकी उत्पत्ति का क्रम भी गोरखबानी में इस प्रकार बताया गया है।

अबिगत उत्पनां ऊं! ओं उतपदिते आकास। आकास उतपनी बाई। बाई उतपन्यां तेज। तेज उतपन्यां तोया। तोया उतपनी मिट्टी।

और चित्त में इनके उदित होने के क्रम में पूर्ण विपर्यय हो जाता है। 'मट्टी ग्रासन्त तोया। तोया ग्रासन्त तेज। तेज ग्रासंत बाई। बाई ग्रासन्त

आकास। आकास ग्रासन्त ओं। ओं ग्रासन्त ते अबिगत। अबिगत गति रहते आवते न जावते ॥'[६२]

दोहाकोष में पृथ्वी की इन्द्रिय नासिका, आप् की इन्द्रिय रसना, तेज की इन्द्रिय चक्षु, वायु की इन्द्रिय त्वचा और आकाश की इंद्रिय श्रोत्र बताई गई है।[६३] गोरखबानी में आकाश का गृह ब्रह्मांड और द्वार श्रुति, वायु का गृह नाभि और द्वार नासिका, तेज का द्वार चक्षु, आप् का द्वार लिंग, पृथ्वी का द्वार गुदा बताये गये हैं।[६४] इसमें दोनों पद्धतियों में थोड़ा विभेद है।

गोरखबानी में इन पंचतत्वों की भार्यायों का उल्लेख मिलता है जो सम्भवतः बौद्ध तन्त्रों के पांच स्कन्ध, उनके देवता पांच ध्यानी बुद्ध और उनकी भार्याओं की कल्पना से थोड़ा बहुत अवश्य प्रभावित है :

"स्वामीजी पृथी की कौंण भारिज्या, बाय की कौंण भारिज्या, आप् की कौंण भारिज्या, तेज की कौंण भारिज्या, आकाश की कौंण भारिज्या।

अवधू पृथी की भारिज्या आसा धनवंती। आप की भारिज्या मनसा चोरेटी। तेज की भारिज्या कल्पना चांडाली। वायु की भारिज्या चिन्ता डाकणीं। आकास की भारिज्या संक्या सीलवन्ती।[६५]"

इनमें केवल आशा और शंका के साथ जो विशेषण हैं वे प्रशंसात्मक हैं, किन्तु चोरटी, चांडाली और डाकिनी अपयश प्रदान करने के लिये प्रयुक्त हुए हैं। इसी डाकिनी या डाइन का कबीर ने 'माया' राक्षसी के रूप में चित्रण किया है जिस पर हम आगे विचार करेंगे। जहाँ तक पंचतत्व-धारणा की पद्धति का सम्बन्ध है सन्तों में इसका विस्तृत रूप भुला दिया गया है किन्तु देह में इन पंच महाभूतों के उदय की ओर संकेत मिलते अवश्य हैं।

दादू—काया माहैं सिरजनहार, काया माहैं ओंकार
काया माहैं है आकास, काया माहैं धरती पाण
काया माहैं पवन प्रकास, काया माहैं नीर निवास ॥[६६]

नानक—पंच तत्तु लै इहु धरि थाप। जो किछु कीनो सु आपे आपि
अपु तेजु बाय पृथ्वी आकासा। पंच मिलै जड़ि जोति प्रगासा।
सोंह आदि निरंजन सोई। नानक अवरु न दूजा कोई।[६७]

साधना-पद्धति की वज्रयानी प्रवृत्तियां और शब्दावली

पवन निरोध

बौद्ध हठयोग की साधना में पवन के निरोध द्वारा चित्त के निरोध का विधान था। इसके कई प्रमाण दोहों में मिलते हैं :

सरहपा—अणिमिल लोअण चित्त णिरोहे, पवण निरुहइ सिरिगुरुवोहें
पवण वहइ सो णिच्चलु जव्वें, जोइ काल करइ रे तव्वें ॥[६८]

काण्हपा—जो णत्थु णिच्चल किअउ मण सो धम्मक्खर पाख
पवणह बज्झइ तक्खणे बिसआ होन्ति निरास।[६९]

पवन के निरोध द्वारा चित्त का निरोध हठयोग की सामान्य पद्धति थी जो सभी हठयोगी सम्प्रदायों में समान रूप से स्वीकृत थी। हठयोग-प्रदीपिका में भी हमें इस आशय के श्लोक मिलते हैं :

पवनो बध्यते येन मनस्तेनैव बध्यते
मनश्च बध्यते येन पवनस्तेन बध्यते
मनो यत्र विलीयते पवनस्तत्र लीयते
पवनो लीयते यत्र मनस्तत्र विलीयते।[७०]

नाथों की बानी में भी मन को पवन से और पवन को मन से बाँधने का उल्लेख मिलता है :

मन बांधूंगा पवन स्यूं, पवन बांधूंगा मन स्यूं
तब बोलैगा कोवत स्यूं।[७१]

चंडाग्नि

वज्रयोग में पवन-निरोध के उपरान्त अवधूती मार्ग में चंडाग्नि के प्रज्वलित होने की प्रक्रिया का उल्लेख हम कर चुके हैं। यही चंडाग्नि समस्त क्लेश वासनाओं को भस्म कर देती है (अध्याय ३ ग)। शैव पद्धति में इसी चंडाग्नि को ब्रह्माग्नि कहा गया है : 'अभिअन्तरि ब्रह्मा अगनि परजालै'।[७२] नाथपन्थी बानियों तथा सन्तों में कहीं भी इसका चंडाग्नि नाम नहीं मिलता किन्तु इसका वर्णन दोनों में मिलता है :

तिलोपा—अछ उघाड्यि आलोअणे ज्झाणे होइ रे थित्ति।[७३]

गोरखबानी—मन मुछावै लावै ताली। गगन सिषर मैं होइ उजाली।[७४]

धामपा—कमल कुलिश माझे भमई लेली, समताजोएँ जलिल चण्डाली
नउ खर जाला धूम न दिसइ, मेरुसिखर लइ गअण पइसइ।[७५]

गोरखबानी—अकुच कुचीया बिगसा पोहा, सिंधि परजली उठी लगिया धुवा
कहै गोरषनाथ धुवा प्राण, ऐसे पिंड का परचा जायौ प्राण ।[७६]

इस अग्नि को प्रज्ज्वलित करने के लिये नव इन्द्रिय-द्वारों को पवन बन्ध द्वारा बन्द कर केवल दसवें द्वार ब्रह्मरन्ध्र अथवा वैरोचन द्वार को (अवधूती मार्ग को) उद्‌घाटित करना पड़ता है 'नव दरवाजा देवै ताली, दसवाँ मधे होइ उजाली ।'[७७] यद्यपि इसका नाम ब्रह्माग्नि है किन्तु वज्र-साधना से इसका सम्बन्ध और इसका बौद्ध रूप सर्वथा भुला नहीं दिया गया। जायसी ने इसे वज्राग्नि कहा है जिसकी ओर हम संकेत कर चुके हैं। गोरखबानी में भी इसको प्रज्ज्वलित करने के लिए वज्र कछोटा और वज्रासन साधने का उल्लेख मिलता है।

अहनिसि अगनि पाप कूं षाइ, संधे संधे पवन लुकाइ
बजर कछोटा आसण करें, रोग ब्याधि षुध्या सब हरै ॥[७८]

इसी को कहीं कहीं दीपक की सी ज्योति भी बताया गया था :

काण्हपा—जइ तसु घोरान्धारे मण दिवहो किज्जइ ॥[७९]

दीपक रूप में भी इसका उल्लेख नाथपन्थी बानियों में मिलता है।

जोगी अपणे घर दिवला दीपै । ता जोगी की काया काल न छीपै ।[८०]

... ...

दीपक एक अषंडित बाती । तहां जोगेश्वर थपना थापी ।
अगम अगोचर सकल ब्रह्मंड । ता दीपक कै चरण न षंड ।
सिर न नैन दीस नहिं हाथ । दीपग देख्या जती गोरखनाथ ।
ता दीपक कै डाल न मूल । ता दीपक कै कली न फूल ।
ता दीपक कै रङ्ग न रूप । ता दीपक कै छाँह न धूप ।
ता दीपक कै बिद्या न बादं । ता दीपक कै सबद न स्वादं ।

और यह वह दीपक है जो शून्य से उद्‌भूत हुआ है और शून्य में ही समा जायगा।

ता दीपक कै मोह न माया । सो दीपक सूनैं सून समाया ।[८१]

सन्तों में अन्तर्ज्योति, देहस्थ अग्नि की इस कल्पना से वज्र और शून्य का उतना सम्बन्ध भी टूट चुका है, जितना गोरखपन्थ में रह गया था किन्तु इसका उल्लेख बराबर आता है।

लावौ बाबा आगि जलावौ घरा रे, का कारनि मन बंधे परा रे[८२]

कबीर खिंथा जलि कोइला भई, खापरु फूटिम फूटि
जोगी बपुड़ा खेलिश्रो श्रासनि रही बिभूति ॥[८३]
कबीर ऐसा को नहीं मन्दर देइ जराइ
पांचौं लरिके मारि कै रहै नाम लिउ लाइ ।[८४]
कबीर कोठी काठ की दह दिसि लागी श्रागि
पण्डित पण्डित जलि मुए मूरख उबरे भागि ॥[८५]

किन्तु वज्र और शून्य की परम्परा से इसका सम्बन्ध टूट कर राम और रामभक्ति से जुड़ रहा था। अन्त में तो यह अग्नि राम के विरह की अग्नि बन गई जिसके लिए कबीर ने लिखा :—

विरह जलाई मैं जलौं जलती जलहरि जाउँ
मो देख्यां जलहरि जलै संतो कहाँ बुझाउँ
हौं बिरहा की लाकड़ी समझि समझि धूँधाउ
छूटि परौं जो विरह ते तो सारी जलि जाउँ ।[८६]

वज्रजप अथवा सहजजप

सिद्धों की साधना पद्धति पर विचार करते समय हमने यह देखा था कि वे अपनी योगपद्धति में श्वास निरुद्ध कर चंडाग्नि प्रज्ज्वलित करने के उपरांत वज्रजाप का विधान करते थे। यह जप 'एवं' बीज का होता था जिसके दोनों अक्षर उपाय तथा प्रज्ञा के बीजाधार थे। इसका उच्चारण किया जाय इसकी आवश्यकता नहीं किन्तु इसे ध्यान में ग्रहण कर लेना चाहिए और तब हठयोग साधना करने से प्रत्येक श्वास प्रश्वास के साथ स्वतः यह शब्द निसृत होता रहता है। इसी को वज्रजाप कहते थे और इससे वज्रयोग की साधना सम्पन्न होती थी।

इस वज्रजाप की विशेषता यह थी कि यह तांत्रिक पद्धति के अनुसार होने के कारण तांत्रिक बीजार्थ और योगपद्धति से समन्वित था। उसके पहले की भागवत तथा महायानी साधनाओं में भी जाप का विधान था किन्तु वह नाम-स्मरण तथा गुणकथन के रूप में था और कृष्ण अथवा प्रभुतारत्न बुद्ध आदि के जप से गीता में तथा महायानी ग्रन्थों में निर्वाण की प्राप्ति बताई गई थी। बाद में वैष्णव तन्त्रों में भी बीजाक्षरों की कल्पना मिलती है। पांचरात्र में प्रत्येक अक्षर

इस एकाक्षरी वाणी की ओर सरहपा ने संकेत करते हुए कहा है :

अक्खर मेंक्क एत्थ मइ जाणिउ, ताहर णाम जाणमि ए सइउ ॥[८९]

एकाक्षर तत्व रूप में समस्त ब्रह्मांड में व्याप्त है 'अक्खर बाढ़ा सअलु जगु'। इस एकाक्षर को नाथपन्थी अनन्त का प्रतीक मानते थे और उसी में चित्त को विलीन कर देने का उपदेश देते थे।

सिद्धों ने जिस एवं को बीज रूप में ग्रहण करने का आदेश दिया था वह द्वयक्षरी था और उसमें बुद्ध अपनी शक्ति या उपाय अपनी प्रज्ञा के साथ विराजमान थे। नाथयोगी भी द्वयक्षरी मन्त्र में दोनों पक्षों की विद्यमानता स्वीकार करते थे, 'द्वै अषिरी दोउ पष उधारीला'. . और उसी से शिव-शक्ति-संगम के कारण सृष्टि की उत्पत्ति मानते थे। त्रयक्षरी त्रिकुटी से सम्बद्ध था और त्रिकुटी में गगनमंडल, शून्यसमाधि वज्रकपाट आदि वज्रयानी प्रभावों पर हम पीछे विस्तार से विचार कर चुके हैं। चतुरक्षरी मन्त्र भी वज्रयानी प्रभाव से मुक्त नहीं है। चतुरक्षरी मन्त्र चार प्रकार की वाणियों का प्रतीक बताया गया है 'चारि षाणीं चारि वांणीं।' इन चार वाणियों के जो नाम बताये गये हैं वे परम्परागत परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी न होकर नये नाम हैं, सहज, संजम, सुभाइ और अतीत। इनमें से सर्वप्रथम नाम वज्रयानी परम्परा का द्योतक है और इससे प्रतीत होता है कि चतुरक्षरी जप में भी सहज अक्षर को श्रेष्ठतम स्थान दिया गया था।

परवर्ती साधनापद्धति के जप अंग पर सहजाम्नाय का प्रभाव और भी स्पष्ट हो जाता है जब हम सन्त-साहित्य का निरीक्षण करते हैं, क्योंकि वहाँ इस जप को सहज जप की संज्ञा ही दी गई है। यह सहज जप नाथपन्थी योगियों के अजपा जप का ही दूसरा नाम है :

जाप अजपा हो सहज धुन परखि गुरुगम धारिये
मनपवन थिर कर शब्द निरखे कर्म मनमथ मारिये।[९०]

इस सहज जप को कबीर ने शब्द-सुरत-मेला कहा है :

सहजे ही धुन होत है हरदम घर के मांहि
सुरत सबद मेला भया मुख की हाजत नाहिं ॥[९१]

वास्तव में यह सहजजप वज्रजाप की ही भाँति केवल अन्तर्मुख जप है। इसका उच्चारण नहीं होता। पवन निरोध के साथ साथ यह ध्वनि मन ही मन में उठती रहती है। इसमें मन की ही माला रहती है :

दादू मन माला तहं फेरिये जहं दिवस न परसै रात
तहां गुरू बाना दिया सहजैं जपिये तात।
सुरति सदा सनमुख रहै, जहाँ जहाँ लौलीन
सहज रूप सुमिरन करै, निहकर्मी दादू दीन ॥[९२]

इस प्रकार यह सहजजप योगपरम्परा में विहित बीजाक्षरों का श्वास-निरुद्ध जप है। बौद्ध परम्परा का प्रभाव इस पर स्पष्ट है किन्तु वज्रयानी परम्परा में एक सुधार किया गया है। बीजाक्षर बदल दिये गये हैं। ए तथा वं जो बुद्ध तथा उनकी शक्ति के वाचक थे उनके स्थान पर 'सोहम्' के जप का विधान किया गया। कबीर ने इस जाप के द्वारा पुण्य और पाप दोनों के निराकरण का उपदेश दिया है :

सोहं सो जाको है जाप, जा कल लिपत पुंन होइ न अरु पाप।[९३]

दयाबाई इसी संकार और हंकार को अन्तर में प्रकाश विकीर्ण करने वाला बताती हैं :

'दया' 'संकार' 'हंकार' अक्षर को जो जप करत
अन्तर ह्वै उजियार, तिमिर अविद्या सब हरत
नाभि नासिका माहिं गाजै सोहं शब्द धुनि
यामें संखै नाहिं दया सुमिरि भव तरत मुनि ॥[९४]

इसका विधान इस प्रकार है कि पद्मासन में बैठकर अन्तर्दृष्टि साध कर श्वास में श्रुति जाग्रत कर अजपा का जाप करे। यह जप बिना जिह्वा, बिना माला, बिना मन के केवल अन्तर स्मरण है। इस अजपा सोहं जप से त्रिविध ताप मिट जाते हैं। इसी को दादू ने सहज धुन की डोर बताया है 'दादू डोरी सहज की यों आणैं घर घेरि।'[९५] यही सोहं शब्द बाद में शब्द-ज्योति के रूप में बदल कर शून्य के अन्धकार में प्रकाशित होने लगता है और यही परमतत्व तथा आत्मतत्व के अभेद का वाचक बन जाता है :

पारब्रह्म भगवान अंस हमरै कहवाये,
हमहीं सोहं सब्द ज्योति ह्वै सुन्न में आये ॥[९६]

बाद के साम्प्रदायिक ग्रन्थों में इस सोहम् के भी कई रूप परिकल्पित किये गये और उनका अनावश्यक विस्तार किया गया जैसे शून्य आदि का हुआ था। सूफ़ी परम्परा में भी सोहम् का उल्लेख है।[९७]

सोहम् के इन रूपों को नये नाम दिये गये और हरेक के लिये एक पुरुष तथा एक लोक की कल्पना कर ली गई। ये रूप इस प्रकार थे—सोहंग, ब्रोहंग कोहंग तथा जोहंग।[९८]

किन्तु इस अजपा जप के रूप पर एक और प्रभाव पड़ रहा था, वह था वैष्णव प्रभाव। वैष्णव सम्प्रदायों में राम, या हरि आदि का जप और स्मरण का विधान किया गया था और उससे गोलोक की प्राप्ति बताई गई थी। तन्त्रों में इन अक्षरों के तान्त्रिक अर्थ भी माने गये थे। कबीर ने वैष्णव प्रभाव को परम अक्षर माना। कहीं कहीं तो वे राम को 'सोहं' से भी अधिक महत्व देते प्रतीत होते हैं:

कबीर पढ़िबा दूरि करि, पुस्तक देइ बहाइ
बांवन आषिर सोधि करि, ररै ममैं चितलाइ।[९९]

इसमें न केवल कबीर ने 'सोहं' के स्थान पर 'राम' की प्रतिष्ठा की है, वरन् योग पद्धति के बजाय वैष्णवों के नाम-जप की भावाकुलता की अभिव्यक्ति अधिक है। दादू में भावनायुक्त हरि अथवा राम का यह जप भी योग के अजपा या सहज जप की श्वास निरोध पद्धति से समन्वित कर दिया गया है:

राम सबद मुख ले रहै, पीछे लागा जाइ
मनसा, वाचा, कर्मणा तेहि तत सहज समाइ
अन्तरगति हरि हरि करै, तब मुख की हाजत नाहिं
सहजैं धुनि लागी रहै, दादू मन ही माहिं
सहजैं सुमिरण होत है रोम रोम रमि राम
चित्त चहूँट्या चित्त सों यौं लीजै हरि नाम॥[१००]

इस प्रकार सन्तों के इस सहज जप में ३ तत्वों का सम्मिश्रण हो गया है:

क—जप की वह योग पद्धति जो सिद्धों के वज्र जप तथा नाथों में अजपा जप कहलाती थी।

ख—उसकी संज्ञा सहज जप है।

ग—उसमें 'एवं' का तिरस्कार कर सोहं को ग्रहण किया गया और भक्ति के प्रभाव से राम नाम को उससे भी श्रेष्ठ मान कर योग-पद्धति के साथ साथ भाव-साधना को भी स्थान मिला और सहज के अर्थ अजपा जाप के साथ 'आत्म-स्मरण' भी हो गये जिसमें वाह्य जप की अपेक्षा अन्तः-स्मरण का अधिक महत्व होता है

निरक्षर पद्धति की दृष्टि से इस पर थोड़ा सा और विचार कर लेना आवश्यक है। बीजाक्षरों को महत्व देते हुए भी वज्रयानी सिद्धों ने जप का अन्तिम रूप वह बताया था जहाँ जप की परिणति 'निरक्षर' में होती है। वह शून्य स्थिति होती है। इसके लिये सरहपा ने कहा है यि जिस एक अक्षर में सकल सृष्टि आबद्ध है उसका जय तब करना चाहिये जब तक वह निरक्षर न हो जाय :

ताव से अक्खर घोलिआ जाव णिरक्खर होइ ॥[१०१]

नाथ-योग-पद्धति में भी शब्द के अतिरिक्त निःशब्द का महत्व प्रतिपादित किया गया है। शब्द ताला है, किन्तु निःशब्द उसकी कुंजी है :

गोरष—स्वामी कौंण सो कूँची कौंण सो ताला
कौंण सो बूढ़ा कौंण सो बाला।
मछिन्द्र—अवधू निहसबद कूंची, सबद ताला
अचेत बूढ़ा चेतनि बाला।[१०२]

कबीर भी जप की अन्तिम परिणति निःशब्द मौन ही मानते थे। 'जाप मरै, अजपा मरै, अनहद हू मरि जाइ।'[१०३] परवर्ती साम्प्रदायिक ग्रंथों में इसी 'निरक्षर' को शब्द का विदेह रूप बताया गया है जिसमें बिना रसना का जाप होता है और इसी को सूक्ष्म सहज पन्थ कहा गया है :

सार शब्द सु विदेह स्वरूपा, निःअच्छर वहि रूप अनूपा ॥
बिन रसना के जाप समाई, तासों काल रहै मुरझाई ॥
सुच्छम सहज पन्थ है पूरा, ता पर चढ़ो रहै जन सूरा ॥[१०४]

और जो इस निरक्षर का भेद नहीं जानता वह सार शब्द नहीं पहचानता :

जो निरअक्षर भेद न जानै, कैसे सार शब्द पहचानै।[१०५]

बीजाक्षरों के जप की इसी अन्तिम 'निरक्षर' में परिणति को सुरति का निरति में समाना कहा गया है :

सुरति समांणी निरति में अजपा माहैं जाप
लेख समांना अलेख में यूं आपा माहैं आप ॥[१०६]

अब हम सुरति और निरति पर विचार करते हुए उसकी वज्रयानी परम्परा का विश्लेषण करेंगे।

सुरति

सुरति और निरति ये दो शब्द ऐसे हैं जिनका सन्तों की साधना में अत्यधिक महत्व है, किन्तु उनके उद्भव और अर्थ का ठीक ठीक निर्णय नहीं हो पाया है। इस विषय में विद्वानों के कई मत हैं। सुरति का उद्भव स्रोत से बताया गया है और स्रोत का अर्थ चित्त प्रवाह किया गया है।[१०७] चित्त प्रवाह हमें विज्ञानवाद की याद दिलाता है किन्तु जैसा आगे हम देखेंगे चित्त प्रवाह के अर्थ में सुरति का प्रयोग नाथ योगियों अथवा सन्तों ने लगभग नहीं के बराबर किया है। हिन्दी में सुरति के कई अर्थ होते हैं (प्रेम-क्रीड़ा, स्मृति)। यह श्रुति का भी अपभ्रंश माना जा सकता है। सन्तों में सुरति शब्द का प्रयोग जितने विविध प्रसंगों में हुआ उससे बड़थ्वाल जी की यह स्थापना उचित नहीं जान पड़ती कि इसका अर्थ केवल स्मृति है।[१०८]

वज्रयानी दोहों में इस शब्द का प्रयोग मिलता है और वहाँ इसके अर्थ भी स्पष्ट हैं, उसमें कोई सन्देह नहीं रहता। सरहपा इसे प्रज्ञोपाय या कमल-कुलिश योग का ही पर्याय मानते हैं :

कमल कुलिश वेवि मज्झ ठिउ जो सो सुरअ विलास
को त रमइ णहि तिहुअणे हि कस्स ण पूरइ आस।[१०९]

और काण्हपा उसी को सुरत वीर मानते हैं जो एवंकार बीज लेकर मधुकर रूप में कुसुमित अरविन्द (महासुख चक्र) तक जाता है और मकरन्द पान करता है :

एवंकार विअ लइअ कुसुमिअ अरविन्दए
महुअर रूएं सुरअ वीर जिंघइ मअरन्दए ॥[११०]

इस प्रकार सिद्धों ने इस शब्द का प्रयोग निस्सन्देह 'प्रेम-क्रीड़ा' के अर्थ में किया था, श्रुति या स्मृति के अर्थ में नहीं।

नाथ सम्प्रदाय का एक बहुत पुराना नाम शब्द-सुरति-योग बताया जाता है। अमरौघ-शासन में भी इसे सहज समाधि प्राप्त करने का वह मार्ग बताया गया है जिसमें शब्द (नाद या श्रुति) की साधना की जाय।[१११] ज्ञात यह होता है इस सुरति शब्द के मैथुन-परक अर्थ का गोरख ने बहिष्कार किया होगा और इसके नाद-परक अर्थ प्रचलित किये होंगे। गोरखबानी में सुरति और निरति का जो उल्लेख आया है उससे कहीं भी मैथुन के अर्थ का आभास नहीं

मिलता। मछिन्द्र गोरखबोध में सुरति का गुरु शब्द और शब्द का गुरु परिचय (साक्षात्कार) बताया गया है।[११२] इसी परिचय को ही सम्भवतः निरालम्भ अनुभव की अवस्था कहा गया है और निरति की संज्ञा दी गई है। क्योंकि आगे शब्द सुरति और निरति की व्याख्या मछिन्द्र ने इस प्रकार की है :

गोरष—स्वामी कौण सो सबद कौण सो सुरति
कौण सो बंध कौण सो निरति
दुबध्या मेटे कैसे रहै। सतगुर होइ सो बूझ्या कहै।
मछिन्द्र—अवधू सबद अनाहद सुरति सो चित्त,
निरति निरालंभ लागै बंध
दुबध्या मेटि सहज में रहै। ऐसा विचार मछिन्द्र कहै।[११३]

इन पंक्तियों से शब्द-सुरत-योग का रूप स्पष्ट हो जाता है। सुरति शब्द की वह अवस्था है जब वह चित्त में स्थित रहता है और साधना की अवस्था में रहता है। शब्द अनाहद नाद है जो विशुद्धाख्य तथा आज्ञा चक्र में सुन पड़ता है। किन्तु निरति उससे भी ऊपर की अवस्था है जिसमें निरालंभ स्थिति आती है। वही सहज है।

हठयोग-प्रदीपिका में भी विष्णु के परम पद में अनाहद नाद की स्थिति बताई गई है और उसके उपरान्त परब्रह्म निराकार परमेश्वर है जहाँ शब्द भी निःशब्द हो जाता है, यही कल्पना 'निरति' के मूल में प्रतीत होती है। इस प्रकार नाद से प्रवर्तित चित्त अन्त में नाद में लीन हो जाता है और तब न नाद रहता है न विन्दु।[११४] इसी को 'एकोदेव निरालम्ब'[११५] कहा गया है जो निरति का पर्याय बताया गया है।

इस प्रकार नाथ योग में शब्द अनाहद नाद हैं, सुरति वह शब्द है, जो साधना में चित्त को प्रवर्तित करता है और निरति वह निरालंब अवस्था है जो चित्त के शब्द या नाद में लीन हो जाने पर आती है। इसीलिये मछिन्द्र सुरति को साधक और शब्द को सिद्धि कहते हैं :

अवधू सुरति सो साधक सबद सो सिधि,
आप सो माया पर सो रिधि।
दुइ को मेटि निरति में रहै। ऐसा विचार मछिंद्र कहै[११६]

इसीलिये साधना में लीन चित्त को सदा सुरति की ओर उन्मुख रखने

का आदेश दिया गया था, क्योंकि सुरति ही भवजाल से चित्त फिराकर सार से साक्षात्कार कराती है :

अवधू सुरति मुषि बोलै, सुरति मुषि चलै
सुरति मुषि बैठे सुरति मुषि मिलै
... ...
सुरति सो फिर्‌या मिल्या सोइ सारं ॥[११७]

इस प्रकार नाथ साधना पद्धति में सुरति का अर्थ बिल्कुल बदल गया था यद्यपि पूर्वागत प्रभाव इतना अवश्य था कि वज्रयानी सिद्ध कमल और कुलिश के मिलन को सुरति कहते थे और उससे सहज की सिद्धि मानते थे। इन्होंने अन्तिम निरालम्ब अवस्था के लिये सहज का नाम तो ग्रहण किया किन्तु सुरति को दो तत्वों का युगनद्ध न मान कर एक तत्व माना जिसका मिलन शब्द से होता है। उस सुरति के अर्थ भी बदल दिये गये।

सन्तों ने सुरति का प्रयोग निस्सन्देह नाथ योगियों के शब्द-सुरति-योग के अर्थ में किया है, सिद्धों के कमल-कुलिश सुरत-विलास के अर्थ में नहीं। यह सुरति ढेकुली की भाँति है जिसके सहारे मन बार बार प्रेम रस का पान करता है।

सुरति ढीकुली लै चल्यो, मन नित ढोलनहार
कंवल कुंवा मैं प्रेम रस पीवै बारम्बार ॥
सुरति समांणी निरति मैं निरति रही निरवार
सुरति निरति परचा भया तब खूले स्वयं दुवार ॥[११८]

एक अन्य स्थान पर कबीर श्रोता के लिये सुरता शब्द का प्रयोग करते हैं 'कथता, बकता, सुरता सोई'[११९] और दूसरे स्थान पर वे श्रुति के लिये सुरति और स्मृति के लिये समृति शब्द का प्रयोग करते हैं।[१२०] कबीरबानी में भी सहज सुरति के लिये सहज श्रुति शब्द का प्रयोग मिलता है।[१२१] इससे स्पष्ट है कि मुख्यतया यह शब्द श्रुति (नाद) के लिये प्रयुक्त हुआ है। किन्तु इस के प्रयोग में वैष्णवों के 'स्मरण' का प्रभाव बहुत परिलक्षित होता है, सिद्धों का रति क्रीड़ा का अर्थ बहुत कम।

सिद्धों के प्रेम या रति, क्रीड़ा या ममता के अर्थ में मीरा के एक पद की एक पंक्ति में सुरति का प्रयोग मिलता है।

त्रिकुटी महल बना है झरोखा, वहाँ से झाँकी लगाऊँ री
सुन्न महल में सुरत जमाऊँ, सुख की सेज बिछाऊँ री।[१२२]

इस पद में सुरत का अर्थ सुन्न महल में उठने वाली सहज ध्वनि या नाद भी लिया जा सकता है किन्तु इस रूपक में प्रयुक्त अन्य उपमानों के साथ इसका अर्थ रति क्रीड़ा ही अधिक संगत प्रतीत होता है। कबीर ने एक स्थान पर इसे वासना के अर्थ में भी प्रयुक्त किया है 'विषया अजहुँ सुरति सुख आसा, कैसे होई है राजा राम निवासा।[१२३]

सुरति सम्बन्धी कुछ अन्य प्रयोग भी द्रष्टव्य हैं। पलटू ने सुरति को प्रेमिका (शक्ति) और शब्द को पति (शिव) माना है।

सुरति सुहागिनि उलटि कै मिली सबद में जाय
मिली सबद में जाय कन्त को बसि में कीन्हा
चलै न शिव कै जोर जाय जब सक्ती लीन्हा
फिरि सक्ती ना रही मिली जब सिव में जाई
सिव भी फिर ना रहे, सक्ति से सीव कहाई
अपने मन कै फेर और ना दूजा कोई
सक्ती सिव है एक नाम कहने को दोई
पलटू सक्ती सीव का भेद गया अलगाय
सुरति सुहागिनि उलटि कै मिली सबद में जाय।[१२४]

किन्तु शिव और शक्ति मिलन तथा शब्द सुरति योग के अतिरिक्ति पलटू सुरति के नाम स्मरण वाले अर्थ से भी अपरिचित नहीं हैं।

'पलटू सुरति कमान भर नाम निसाना मार।'[१२५]

एक तीसरे स्थल पर पलटू इसी सुरति को कच्छप वृत्ति की साधना का माध्यम मानते हैं और इसे अनासक्ति का पर्याय भी बताते हैं।[१२६] इस प्रकार सुरति का अर्थ सिद्धों वाले अर्थ से बहुत भिन्न हो गया और इस सुरति के लिये ऐसे ऐसे उपमान प्रयुक्त हुए जो कल्पनातीत थे। गुलाल साहब एक स्थान पर इस सुरति सुहागिन का रसोई बनाना चित्रित करते हैं 'सुरति सुहागिन करै रसोई नाना भाँति बनाय।'[१२७] दूसरे स्थान पर प्रणामी छत्रसाल इसे तन रूपी कुञ्जी का ताला मानते हैं। 'तन की कुञ्जी सुरति का ताला प्रेम के लगे किवार।'[१२८] और आत्मबोध में इसे उस सुई की उपमा दी गई है जो श्वास और उश्वास की गुदड़ी सीतां है।[१२९] ज्ञात यह होता है कि बाद में सन्तों के सम्मुख सुरति का नाथ-योगपरक अर्थ भी बहुत स्पष्ट नहीं था अतः बहुत से स्थानों में इसका

प्रयोग निरर्थक है जैसा हम 'तन की कुञ्जी और सुरति के ताले' वाले रूपक में पाते हैं।

शून्य सहज आदि की भाँति सुरति का भी विस्तार परवर्ती साम्प्रदायिक ग्रन्थों में मिलता है। श्वास-गुंजार में शब्द पुरुष की दो शक्तियों के रूप में सुरति तथा निरति का वर्णन मिलता है।[१३०] ज्ञान-स्थिति-बोध में ऊर्ध्व कमल को सुरति कमल बताया गया है।[१३१] कबीरबानी में ४ प्रकार की सुरति का वर्णन है और शब्द सुरति उनसे भी परे पाँचवी सुरति बताई गई है।[१३२] आगे सहजांकुर में सात अन्य सुरतियों का उल्लेख मिलता है जो सृष्टितत्व से सम्बद्ध हैं।[१३३] आगे इनका और भी विकास होता है और सात के बाद आठवीं सुरति का वर्णन आता है। सद्गुरु कबीर सहज सुरति को धारण कर सहज द्वीप पर स्थित होते हैं और फिर इच्छा सुरति और मूल सुरति और नवतम सुरति की शृंखला ग्रहण कर त्रैलोक्यविजयी होते हैं।[१३४] इस प्रकार इस सुरति और वज्रयानी सुरति-विलास का अन्त में केवल इतना सम्बन्ध शेष रह जाता है कि इसमें भी सर्वप्रथम सुरति में सहज जुड़ा हुआ है।

उलटी साधना

नाथ योगियों की प्रमुख साधना श्वास निरुद्ध कर अरध को उलट कर उरध में ले जाना, नाद को पलट कर सुरति को निरति में लीन करना, गंगा को उलट कर जमुना में मिलाना अथवा सूर्य को उलट कर चन्द्र में मिलाना था। इस साधना को वे उलटी साधना कहते थे :

उलटंत नाद, पलटंत व्यंद, बाई कै घरि चीन्हेसि ज्यंद
उलटंत पवन, पलटंत बांणी, अपीव पीवत जे ब्रह्मग्यानी।
मीम कै मारग रोपीले भाणं, उलट्या फूल कली में आणं।
उलटी सकति चढ़ैं ब्रह्मांड, नष नष पवना ले लै सरबंग।
उलटि चंद्र राहू कूँ ग्रसै, सिंघ संकेत जती गोरष कहै।[१३५]

संत भी इस साधना को उलटा साधना पुकारते थे :

कबीर उलटी गंग जमुन मिलावउ, बिनु जल संगम मन महिं न्हावउ।[१३६]
उलटी गंग समुद्रहि सोखै, ससिहर सूर गरासै
नवग्रहि मारि रोगिया बैठे, जल मैं व्यम्ब प्रकासै।[१३७]

रैदास — उलटी गंग जमुन मैं लावौं, बिनही जल मंजन है पावौं।[१३८]

नानक — उलटा शब्दु गगनि घरु छाया। नानक शब्दै शब्दु समाया।[१३९]

पलटू — पच्छिउं गंगा बहै पानी है जोर का
बीच में है इक कुंड मुरेरा तोर का
उलटी बहै बयार नाव मुरकाय दै
अरे हाँ, पलटू उतरे येहि के पार तो सूधी जाय दै।[१४०]

इस उलटा साधना के अर्थ वास्तव में यह हैं कि जिस शक्ति के विमर्श से यह समस्त सृष्टि उत्पन्न हुई है उसी शक्ति को उलटकर नाद में समाहित करना, सूर्य को उलट कर चन्द्र में लीन करना ही उलटा साधना है। सिद्धों में इस शब्द का प्रयोग नहीं है किन्तु सूर्य को उलटकर चन्द्र में लीन करने का रूपक अवश्य मिलता है जिस पर हम आगे विचार करेंगे।

इस उलटा साधना का एक अर्थ और है। लगभग सभी तान्त्रिक पद्धतियों में वामाचार प्रचलित था। जिसके दो अर्थ थे, वामायुक्त साधना या उलटी (वाम) साधना। वास्तव में यह 'उलटा साधना' उसी वाम-साधना का देशी रूपान्तर है। इसके कई प्रमाण मिलते हैं। बाउलों में भी साधना को इसी नाम से पुकारा जाता था और 'उलटा' तथा 'वाम' दोनों शब्दों का समान रूप से प्रयोग हुआ है।[१४१] सिद्धों में वामाचार की नारी मैथुन साधना पद्धति स्वीकृत थी। नाथ योगियों ने नारी-मैथुन-साधना का बहिष्कार किया किन्तु वज्रोली, अमरोली, सहजोली आदि कुछ मुद्राएं उनमें भी प्रचलित थीं जिनमें वीर्य के क्षरण के बजाय उलटे नारी रज को भी साधक लिंगद्वार से अपनी काया में खींच लेता था। इस प्रकार वामा (नारी) सम्बन्धी अर्थ भी सर्वथा विलुप्त नहीं हुआ था किन्तु प्रमुखता हठयोग पद्धति को मिल गई थी जिसमें उलटा साधना के अर्थ थे श्वासनिरोध द्वारा गंगा को उलट कर जमुना में मिलाना और चन्द्र और सूर्य का मिलन सम्पन्न कराना। सन्तों तक आते आते मैथुन साधना सर्वथा विस्मृत कर दी गई और हठयोग की पद्धति ही अवशेष रही।

गंगा-यमुना-संगम

हम पहले इस ओर संकेत कर चुके हैं कि बौद्ध तथा हिन्दू दोनों ही प्रकार की हठयोग परम्पराओं में इड़ा पिंगला और सुषुम्णा या ललना रसना

तथा अवधूती को गंगा यमुना तथा सरस्वती की उपमा दी गई है। उसी के साथ साथ इड़ा को शक्ति और पिंगला को शिव माना गया है। इड़ा को वाम तथा पिंगला को दक्षिण और सुषुम्णा को पश्चिम दिशा में स्थित माना गया है। अतः गंगा यमुना का मिलन वास्तव में शक्ति तथा शिव का मिलन है।

वाह्य प्रकृति में यमुना गंगा में मिली है किन्तु हठयोग में गंगा (इड़ा : शक्ति) यमुना (या पिंगला : शिव) से मिलने के लिये अग्रसर होती है, इसीलिये यह उलटी साधना है। हठयोग-प्रदीपिका में मूलस्थान में उड्डीयान बन्ध द्वारा गंगा तथा यमुना को बन्द कर पश्चिम पथ सुषुम्णा में प्राण को प्रवाहित करने का विधान है।[१४२] इड़ा तथा पिंगला शक्ति तथा शिव का प्रतीक होने के कारण अध तथा ऊर्ध्व भी कही गई हैं :

अरध उरध की गंगा जमुना मूल कंवल कौ घाट
षट चक्र की गागरी त्रिवेणी संगम बाट ॥[१४३]

यहाँ कबीर ने मूलाधार चक्र को घाट माना है (सुषुम्णा की उपमा भी कभी-कभी घाट से दी जाती है)

तिरबेनी के घाट नाव को आनि कै, सुखमनि घाट थहाय चलावौ जानिकै
असी संगम के बीच पहारी फोरि कै, गुन को खैंचु सिताब काम है जोरु कै
सुन्न समाधि के बीच ध्यान को लावना, सुखमनि के रे घाट पवन ले आवना[१४४]

यह कल्पना चर्यापदों की गंगा यमुना के मध्यवर्ती मार्ग से बहने वाली सहजयान नौका तथा उसकी मातंगी प्रज्ञा से बहुत मिलती जुलती है। उसमें भी वाम तथा दक्षिण दोनों मार्गों को छोड़कर मध्यपथ से प्राणों को ले चलने की साधना का निधान है :

गंगा जउना मांझेरे बहइ नाई
तहि बुड़ली मातंगी पोइया लीले पार कराइ।
....
वाम दाहिन दुइ माग न चेवइ बाहतु चण्डा।[१४५]

टीकाकार मुनिदत्त नौका को सहजयान कहते हैं और दादू इसी को सहजयोग कहते हैं तथा इससे निर्वाण की प्राप्ति भी बताते हैं :

सहज जोग सुख में रहै दादू निर्गुण जाणि।
गंगा उलटी फेरि करि जउना मांहै आणि॥

परमातम सो आतमा ज्यों जल उदक समान।
तन मन पानी लौंण ज्यों पावै पद निर्बाण ॥[१४६]

अन्तिम पंक्ति का प्रथम चरण भी काण्हपा के 'जिम लोण बिलिज्जइ पाणीएहि' की याद दिलाता है।

इस प्रकार इस गंगा-यमुना संगम की कल्पना में यथेष्ट आदान प्रदान हुआ है और इसी कारण उसके सहज तथा निर्वाण की शब्दावली जुड़ी रह गई यद्यपि उसका अर्थ वह नहीं रह गया। बाद में यही योग-साधना वैष्णव भक्ति भावना में अंतर्भुक्त हो गई और गंगा को विष्णुपद से निकलने वाली गंगा मान कर इसी योग को विष्णु ध्यान की पूर्व भूमिका मात्र मान लिया गया :

विष्णु ध्यान संनान करि रे, बाहरि अंग न धोइ रे...
निहकर्म नदी ग्यान जल, सुंनि मंडल मांहि रे
औधूतजोगी आतमां, काई पेर्यों संगम न्हाहि रे
इला प्यंगुला सुषमना पछिम गंगा बालि रे
कहै कबीर कुसमल झड़ै काई माहिं लौ अंग पषालि रे ॥[१४७]

बाद में तो प्राण तथा अपान का संधिस्थल यह सुखमन घाट बृन्दावन का वह घाट बताया गया जहाँ कृष्ण की लीला संपन्न हुई थी—'अरे हाँ पलटू, उहि गोकुल के घाट कन्हैयालाल है।'[१४८]

चंद्र-सूर्य-संगम

चर्यापदों में चन्द्र और सूर्य प्रज्ञा तथा उपाय के प्रतीक माने गये हैं और और उनका भी सम्बन्ध ललना तथा रसना से है किन्तु दोनों का मेल कराने की अपेक्षा दोनों की द्वयता का परित्याग कर सहज-अद्वय अवस्था प्राप्त करने पर अधिक आग्रह है :

गुँडुरीपा चांद सुज्ज बेणि पखा फाल।
काण्हपा रवि शशि कुंडल किउ आभरणे।
वीणापा सुज्ज लाउ ससि लागेलि तान्ती।
सरहपा नाद न विन्दु न रवि शशि मंडल।[१४९]

इन उद्धरणों में चन्द्र तथा सूर्य के मिलन को एक स्थान पर वीणा के

रूपक और दूसरे स्थान पर कुंडलों के रूपक में प्रस्तुत किया गया है। परवर्ती साहित्य में हमें ये दोनों रूपक मिलते हैं :

वीणा का रूपक—चंद सूर दोउ तूंबा करिहूँ चित चेतन की डांडी।
सुषमन तन्ती बाजण लागी इह विधि तृष्णा खांडी।[१५०]
(कबीर)

कुंडल का रूपक—चन्द्र सूर नी मुंद्रा कीन्हीं धरणि भस्म जल मेला
नादी व्यंदी सींगी आकासी अलख गुरू नां चेला।[१५१]
(गोरखबानी)

चंद्र सूर्य दोनों का निषेध—कहा बुझाइ अवधू राइ गगन न धरनी
चंद न सूर दिवस नहिं रैनी।[१५२]
गोरखबानी

दादू—तहं चंद न ऊगै सूरा, मुख काल न बाजै तूरा
तहं सुख दुख का गम नाहीं;
बो तौ अगम अगोचर माहीं।[१५३]

किन्तु दोनों के निषेध की प्रणाली वास्तव में दोनों के मिलन के उपरान्त उनकी द्वयता की विनाश-प्रक्रिया ही थी। सोम को या चन्द्र को प्रमुखता मिलने में शैव परम्परा की विशेष प्रेरणा बताई जाती है। कापालिकों को सोमवादी भी कहा जाता था और सोम का अर्थ वे स+उमा (शक्ति तथा शिव का संगम) बताते थे, साथ ही सोम वारुणी या अमृतरूप में भी परिकल्पित किया गया था। नाथ योग में मूलाधार में स्थित रवि-रूपी कुंडलिनी शक्ति को जाग्रत कर ऊर्ध्व में स्थित चन्द्ररूपी शिव में लीन कर दोनों के अद्वैत के उपरान्त बरसने वाले अमृत का दशमद्वार द्वारा पान करने की साधना-पद्धति नाथ योगियों की प्रमुख साधना-पद्धति बन गई।

वे कहते थे कि मूलाधार में शक्तिरूपी सूर्य स्थित है जिसकी १२ कलाएँ हैं। वह अमृत सोखता रहता है और उससे शक्ति का, जीवन का ह्रास होता है। ऊर्ध्व में १६ कलाओं वाला चंद्र स्थित है जिससे अमृत झरता है। १६ कलाओं के होते हुए भी चन्द्रमा शक्तिहीन रहता है और जब उसे सूर्य की ४ कलाएँ प्राप्त हो जाती हैं तब शिव और शक्ति या चन्द्र और सूर्य सम हो जाते हैं।

शक्ति रूपी रज आछै सिव रूपी व्यंद, बारह कला रवि आछै सोलह कला चंद
चारि कला रवि की जौ ससि घर आवै, तो सिव सक्ति सम होवै अन्त कोई न पावै ।[१५४]

नाड़ियों में से इड़ा चन्द्र रूप है और षोड़श कला वाली है, पिंगला द्वादश कला वाली रवि नाड़ी है, सुषुम्ना में असंख्यों कला वाले तत्व का वास है:

षोड़स नाड़ी चन्द्र प्रकास्या द्वादस नाड़ी भानं
सहस्र नाड़ी प्राण का मेला जहा असंष कला सिव थानं
अवधू ईड़ा मारग चन्द्र भणीजै प्यंगुला मारग भानं
सुषमणा मारग वाणी बोलिये त्रिय मूल अस्थानं ॥[१५५]
बारह कला देवी, सोलह कला देवं । सुषमनां नारी बांधिबा भेवं ॥[१५६]

सूर्य की बारह कलाएँ इस प्रकार बताई गई हैं :

चिंता, तरंग, दम्भ, माया, परिग्रह, प्रपंच, हेतु, बुद्धि, काम, क्रोध, लोभ, दृष्टि । चंद्र की षोडश कलाएँ निम्नांकित हैं :

शांति, निवृत्ति, क्षमा, निर्मलता, निश्चलता, ज्ञान,
स्वरूप, पद, निर्वाण, निर्विषता, निरंजन, आहार, निद्रा, मैथुन,
वायु, अमृत ।[१५७]

जब तक कि पवन निरुद्ध नहीं होता तब तक चन्द्रमा के अमृत को सूर्य सोखता रहता है। पवन निरुद्ध होते ही कालाग्नि सूर्य निरुद्ध हो जाता है, ब्रह्माग्नि प्रज्ज्वलित होती है, दशमद्वार खुल जाता है और योगी अमृत पान करता है।

चालत चंदवा खिसि खिसि परै, बैठा ब्रह्मा अगनि परजलै ।[१५८]
चन्द सूर दोउ गगन विलूधा भईला घोर अधारं
पंच बाहक जब यंद्री पौढ्या प्रगट्या पौलि पगारं ॥[१५९]
चन्द सूर दोउ समि करि राष्या आपैं आप जु मिलिया ।[१६०]

गोरखबानी में एक स्थान पर चन्द्र सूर्य उपमानों को गंगा यमुना से सम्बद्ध कर एक तीसरे ही रूपक का अंग बना दिया गया है :

चंदा गोटा टीका करि लै सूरा करि लै बाटी
मूंनी राजा लूणा धोवै गंग जमुन की घाटी ॥[१६१]

सन्त साहित्य में यद्यपि इस साधना का इतना विस्तृत विवरण तो नहीं मिलता, किन्तु फिर भी इसका संकेत बराबर है :

कबीर जहं धरनि बरसै गगन भीजै चंद सूरज मेल
दोउ मिलि तहं जुरन लागे करै हंसा केलि ॥[१६२]

नानक शशि घरि सूर समाने भाइ, हरि दर्शन की सोझी पाइ ।
शिव शक्ती धरि अवतरे रक्त बिन्दु आकारू
चंद सुरज दुइ साखीआ करि निर्मल ज्योति उज्यारू ॥[१६३]

जायसी ने भी पद्मिनी और रत्नसेन क प्रणय और विवाह में लगातार इन्हीं उपमानों द्वारा योग साधना के संकेत रक्खे हैं :

देव पूजि जब आइउं काली । सपन एक निसि देखेंउ आली ।
जनि ससि उदौ पुरुब दिसि कीन्हा । और रवि उदौ पछिंव दिसि लीन्हा ।
पुनि चलि सुरुज चांद पहं आवा । चांद सुरुज दुहु होइ मेरावा ।[१६५]
पारस रूप चांद देखराई । देखत सुरुज गएउ मुरछाई ।
सोरह करा दिष्टि ससि कीन्हीं । सहसौ करा सुरुज के लीन्हीं ।
भा रवि अस्त तराइन हंसे । सुरुज न रहा चांद परगसे ।
जोगी आदि न भोगी होई । खाइ कुरकुटा गा परि सोई ।[१६६]

इन उद्धरणों में दो बातें विचारणीय हैं । प्रथम, कलाओं के सम्बन्ध में में जायसी का ज्ञान अधूरा है क्योंकि वे सूर्य की बारह कला के बजाय सहस्र कला बताते हैं । दिशाओं के सम्बन्ध में जहाँ उन्होंने रवि का उदय पश्चिम और चन्द्र का उदय पूर्व में बताया है वहाँ केवल काव्यगत चमत्कार मात्र नहीं है क्योंकि दिशाओं की लगभग यही योजना नानक में भी मिलती है, 'पूरब पच्छिम यदि दक्षिण जाय, रबि शशि दोउ एकत्र मिलाय ।[१६७]

चन्द्र-सूर्य-संगम के बाद की अवस्था के लिए शैव योग वाले नाम तो परिचयावस्था (परचा) या अनुभव (अनभै) आदि थे किन्तु कुछ बौद्ध नाम भी इससे सम्बद्ध रह गए थे वे थे सहज अवस्था, शून्य समाधि अथवा निर्वाण पद । इन सबों में द्वयताओं का निषेध किया गया था और वहाँ सूर्य चन्द्र, रात दिन पवन आदि का भी प्रवेश निषिद्ध माना गया था । योग की अन्तिम अवस्था का परम पद रूप में यही वर्णन गीता में भी मिलता है और तभी से प्रत्येक योग परम्परा इसका वर्णन देती आई है :

गीता न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥[१६८]

सरहपा जहि मण पवण ण संचरइ रवि ससि णाह पवेस
तहि बढ चित्त विशाम करु सरहे कहिअ उऐस ।[१६९]

गोरखबानी कहा बुझै अवधू राइ गगन न धरनी
चंद न सूर दिवस नहिं रैनी ॥[१७०]

कबीर जिहि बन सीह न संचरै पंषि उड़ैं नहिं जाइ
रैनि दिवस का गम नहीं, तह कबीर रहा ल्यौ लाइ ॥[१७१]

दादू चल दादू तहं जाइये जंह चन्द सूर नहिं जाइ
राति दिवस का गम नहीं, सहजै रहा समाइ ।[१७२]
धरणी आकास अगम चंद सूर नाहीं
रजनी निस दिवस नाहीं पवना नहिं जाही ।[१७३]

इसी प्रकार सभी योग पद्धतियों में अन्तिम समाधि अवस्था इसी रूप में स्वीकृत थी। बौद्धों ने इसे चन्द्र सूर्य या प्रज्ञोपाय सहज समाधि का नाम दिया था, और शून्य समाधि भी कहते थे। इसी के साथ निर्वाण की कल्पना भी जुड़ी हुई थी। परवर्ती नाथ परम्परा में भी ये नाम चलते रहे :

सहज—जिहि घर चंद सूर नहिं ऊगै तिहि घरि होसी उजियारा
तिहाँ जो आसण पूरौ तो सहज का भरौ पियाला मेरे ज्ञाँनी।
शून्य—सुंनि ध्यान सोलह कला संपूरण माला।
आपण स्यंभू श्री गोरष बाला।
निर्वाण—त्रिकुटी षेत्र उलटि मेला।
नृबांण तत्व ले रमौ अकेला ।[१७४]

सहज तथा शून्य के विकास पर हम पीछे विचार कर चुके हैं। निर्वाण का विकास सन्त परम्परा में कैसे वैष्णव चिन्तना से प्रभावित होकर विष्णु के परम पद में परिवर्त्तित हो गया इस पर आगे विचार करेंगे, किन्तु उसके पहले वज्रयान की महामुद्रा साधना का नाथ योग में क्या रूप हो गया, इस पर विचार कर लेना आवश्यक है क्योंकि प्रज्ञोपाय समाधि के लिये महामुद्रा का समागम अनिवार्य माना गया था।

मुद्रा के अर्थ

मुद्रा के सम्बन्ध में पीछे विचार करते समय हमने यह देखा था कि

मुद्रा का प्रयोग तीन अर्थों में होता था। क—शारीरिक अंगों की स्थिति जैसे भूस्पर्श मुद्रा, अभय मुद्रा आदि। ख—वाह्य चिन्ह जैसे कुंडल आदि। ग—वह नारी जो तान्त्रिक अनुष्ठानों (मैथुन तथा विन्दु रक्षा) के लिये सह-साधिका रहती है।

दोहों तथा चर्यापदों में मुद्रा शब्द का व्यवहार प्रमुखतः तीसरे अर्थ में हुआ है और महामुद्रा साधना पर हम विस्तार से विचार कर चुके हैं। किन्तु एक स्थान पर हमें कुंडलों का भी उल्लेख मिलता है। काण्हपा ने जब कापालिक रूप धारण करने का विवरण दिया है तो उन्होंने स्वर तथा व्यंजनों के नूपुर और सूर्य-चन्द्र-रूपी कुंडलों का भी उल्लेख किया है।[१७५] मुनिदत्त ने इसे वज्र कापालिक का रूप बताया है। जिससे ज्ञात होता है नर-अस्थि के कुंडल धारण करने की परम्परा बौद्धों में थी और सम्भवतः इसीलिये शबरपा ने अपने पद में शबरी को कर्ण कुंडलों के रूप में वज्र कुंडल धारण किये हुए चित्रित किया है।[१७६] नाथ योगियों में भी ये मुद्राएँ चन्द्र सूर्य की ही प्रतीक थीं। इसकी ओर हम पीछे संकेत कर चुके हैं। कर्ण-कुंडल धारण करने की परम्परा का प्रवर्तन वज्रयानी सिद्धों ने नहीं किया था। द्विवेदी जी ने कई पुरानी परम्पराओं की ओर संकेत किया है जिनसे सिद्ध होता है कि बौद्ध सिद्धों के भी पूर्व कर्ण कुंडल धारण किये जाते थे और बौद्ध वज्र कापालिक, मत्स्येन्द्र तथा गोरख इन सबों ने उस परम्परा को ग्रहण किया था।[१७७] किन्तु ज्ञात यह होता है कि जैसे महामुद्रा के बाद वज्रयानी सिद्ध समस्त अनुष्ठानों के बन्धन से मुक्त मान लिये जाते थे, वैसे ही नाथ सम्प्रदाय में यह मुद्रा साधना की एक विशेष परिधि को पार कर लेने की चिन्ह मानी जाने लगी थी। जब तक वे चन्द्र सूर्य की समता नहीं स्थापित कर लेते थे तब तक वे मुद्रा धारण करने के योग्य नहीं समझे जाते थे और उन्हें औघड़ ही कहा जाता था।[१७८] उन कुंडलों को कान के मध्यभाग में धारण करना भी नाड़ी छेदन से सम्बन्धित था और यह गोरखनाथ की अपनी विशेषता प्रतीत होती है क्योंकि द्विवेदी जी के अनुसार कानिपा सम्प्रदाय के अनुयायी कुंडलों को कान की लोरों में भी पहनते हैं और उनमें बामारग (बाममार्गी) साधनाओं का भी अस्तित्व पाया जाता है।[१७९]

जहां तक नारीरूप में मुद्रा को धारण करने का प्रश्न है, द्विवेदी जी

का यह अनुमान ठीक ही प्रतीत होता है कि अपने मूल रूप में नाथ सम्प्रदाय ब्रह्मचर्य का उपदेश देने वाला, नारी संग का बहिष्कार करने वाला पन्थ था किन्तु उसमें धीरे धीरे तान्त्रिक प्रवृत्तियाँ प्रविष्ट होती रही हैं और वज्रोली सहजोली आदि जिन मुद्राओं का उल्लेख गोरक्ष-पद्धति तथा हठयोगप्रदीपिका आदि ग्रंथों में मिलता है, वे कुछ ऐसे वज्रयानी सम्प्रदायों से आई हैं जो नाथ सम्प्रदाय में बाद में अन्तर्भुक्त हो गये हैं।[१८०] मत्स्येन्द्र का योगिनी-कौल-मार्ग निस्सन्देह तान्त्रिक प्रवृत्तियों को प्रश्रय देता था और हम इसकी ओर संकेत कर चुके हैं कि कौल-मार्ग में विशुद्ध हठयोग पद्धति को कृतका और महामुद्रा साधना को सहजा पद्धति कहते थे। वे अपनी साधनाओं के लिये वज्रयोग शब्द का भी प्रयोग करते थे।[१८१] ऐसा ज्ञात होता है कि सहजोली तथा वज्रोली मुद्राएँ ऐसी ही किसी पद्धति की देन हैं। वज्रोली तथा सहजोली मुद्राओं की विस्तृत प्रक्रिया का वर्णन हठयोग-प्रदीपिका में मिलता है और उसमें नारी मैथुन के समय विन्दु रक्षा अथवा क्षरित विन्दु को पुनः श्वास-प्रक्रिया द्वारा अन्दर खींचने की गुह्य प्रणाली का वर्णन मिलता है। इसी प्रकार योगिनी नारी भी अपने रज की रक्षा करती है।[१८२]

नाथ सम्प्रदाय और मुद्रा साधना

गोरक्ष-सिद्धांत-संग्रह में भी प्रकारांतर से इस बात को स्वीकार किया गया है। तान्त्रिक साधनाएँ इस शुद्ध हठयोग मार्ग में प्रवेश पा गई हैं। किन्तु उसमें एक महत्वपूर्ण बात कही गई है जिसको ध्यान में रखना आवश्यक है। उसमें स्पष्ट कहा गया है कि तान्त्रिक साधकों का ध्यान वाह्य अनुष्ठानों पर अधिक केन्द्रित रहता है जब कि योगी अन्तरंग की उपासना करता है। तान्त्रिक अनुष्ठान स्थूल शक्ति उपासना के माध्यम से देहस्थ शिव और शक्ति का संगम कराने में सहायक सिद्ध होता है।[१८३]

यह परिस्थिति श्रीगुह्यसमाज-तन्त्र की पूर्व निर्दिष्ट परिस्थिति से सर्वथा विपरीत है क्योंकि वहाँ हठयोग की साधना इसलिये आवश्यक बताई गई थी कि वह महामुद्रा साधना में बिन्दु रक्षा में सहायक हो सके। वहाँ गुह्याचारों को प्रमुख स्थान मिला था, हठयोग को गौण, यहाँ हठयोग का स्थान प्रमुख है, मुद्रा-मैथुन उसका गौण अंश।

गोरखबानी में भी इन वज्रोली आदि साधनाओं को वह योग बताया

गया है जो भोग का बहिष्कार नहीं करता। 'बजरी करता अमरी राषै अमरी करता बाई। भोग करंता जे व्यंद राषै, ते गोरष का गुरुभाई।'[१८४]

इन पंक्तियों में गुरुभाई शब्द का एक दूसरा संकेत भी हो सकता है। सम्भवतः इसका यह भी अर्थ हो कि मत्स्येन्द्र द्वारा स्वीकृत तान्त्रिक पद्धतियाँ अन्य सम्प्रदायों में चलती रही हों जिन्हें गोरख ने पहले अस्वीकृत किया किन्तु बाद में एक ही गुरु परम्परा से निसृत होने के नाते वे गोरखपन्थ में अन्तर्भुक्त होगई हों। 'गुरुभाई' का नाता तो इसी ओर संकेत करता है।

किन्तु गोरखपन्थ के बहुसंख्यक साधक ब्रह्मचारी थे और किसी भी रूप में नारी संग उनके लिए विवर्जित था। इसीलिये वे नारी को माया का रूप मानते थे और जैसा हम पहले संकेत कर चुके हैं कि मत्स्येन्द्र की गोरख द्वारा मुक्ति की कथा इसका सांकेतिक प्रमाण प्रस्तुत करती है कि गोरख ने तान्त्रिक अनुष्ठानों से योगमार्ग को मुक्त कराने का प्रयास किया था। इसके संकेत बानियों में स्थान स्थान पर मिलते हैं :

कनक कामिनी त्यागै जोइ, सो जोगेस्वर निरभै होइ।[१८५]

कदै न सोधै सुन्नरी सनकादिक के साथि
जब तक कलंक लगाइसी काली हांडी हाथि[१८६]

पासि बैठी सोभै नहीं साथि रमाई मुंडि
गोरष कहै असतरी कहा सलह कह मुंडि।[१८७]

सन्त साहित्य और नारी

सन्तों ने नारी के प्रति यही दृष्टिकोण अपनाया है और तान्त्रिक गुह्याचारों के प्रति उनमें तीव्र घृणा का परिचय मिलता है। कबीर कामिनी को नागिन, नरक, बुद्धिविवेकनाशिनी बताते हैं :

कामणि काली नागणीं तीन्यू लोक मंझारि
राम सनेही ऊबरै बिषई खाए झारि
नारी सेती नेह बुधि बबेक सबही हरै
काइं गमावै देह, कारिज करेइ ना सरै
नारी कुंड नरक का, बिरला थामै बाग
कोइ साधू जन ऊबरै, सब जग मूषा लाग।[१८८]

और नारी के प्रति इसी कामुकता की प्रवृत्ति के कारण शाक्तों के प्रति कबीर के मन में अतुलित घृणा है और उनका दृढ़ विश्वास है कि शाक्त को यमदूत जंजीरों में बाँधकर यमपुर ले जाएँगे :

साषति सण का जेवड़ा भीगां सूं कठठाइ
दोइ आषिर गुरु बाहिरा बांध्या जमपुरि जाइ ॥[१८९]

किन्तु बाद में निर्गुण सम्प्रदाय में भी कहीं कहीं इन तान्त्रिक गुह्याचारों का प्रवेश हुआ है और अनुरागसागर में किसी ऐसी साधना का उल्लेख मिलता है जो निर्गुण सम्प्रदायों में प्रचलित होगई थी और जिसमें नारी अंग को पारस मान कर उससे संसर्ग किया जाता था।[१९०] बाद के कुछ सन्तों ने वज्रोली आदि को भी स्वीकृत करते हुए सहजोली को सर्वश्रेष्ठ मुद्रा बताया है।[१९१] इस प्रकार ये तान्त्रिक अनुष्ठान बाद में इन निर्गुण सम्प्रदायों में भी प्रविष्ट हो गये किन्तु उनका वज्रयानी सिद्धों की महामुद्रा साधना से अप्रत्यक्ष सा ही सम्बन्ध था। किन्तु सिद्धों की महामुद्रा साधना से सम्बद्ध कुछ अन्य शब्द, परिवर्तित अर्थों में, सन्त साहित्य में अवश्य व्यवहृत हुए हैं।

महामुद्रा के वाचक अन्य शब्द

एक विचित्र विपर्यय हमें 'डाइन' शब्द के प्रयोग में मिलता है। वज्रयान में डाकिनी (डाइणि) के अर्थ तान्त्रिक साधिका होते थे जो सहज ज्ञान की स्वामिनी हो। 'डाक' तिब्बती शब्द बताया जाता है जिसके अर्थ ज्ञान के होते हैं। उसी से डाकिनी शब्द बना है, ऐसा प्रतीत होता है। बाद में तान्त्रिक बीजाक्षरों के आधार पर लाकिनी, शाकिनी, राकिनी, हाकिनी, आदि शब्द बना लिये जाते हैं जिसपर हम विचार कर चुके हैं। डाकिनी उन स्त्रियों को कहते थे जो योग-साधना में स्वयम् प्रवृत्त हों यह किसी साधक को प्रवृत्त कराएँ। वज्र-तन्त्र में एक दोहे में पांच तत्वों की व्याख्या करते हुए डाइणि देवी को सम्बोधन किया गया है :

खिति जल पवण हुतासन सुणुण डाइणि देवि
सुणहु पंचमु तत्तु कहु जो ण जाणइ केवि।[१९२]

इस दोहे में भी डाइणि के साथ 'देवि' जुड़ने से यह प्रतीत होता है कि 'डाइणि' के साथ कोइ भी अनादर की भावना नहीं सम्बद्ध हुई थी।

तारानाथ की कथाएँ अत्यन्त अविश्वसनीय हैं किन्तु उसमें कुछ बातें

डाकिनी आदि के विषय में ऐसी ज्ञात होती हैं जिनपर अविश्वास करने का कोई कारण नहीं है। महासिद्ध सवरीपा की दोनों मुद्राएँ लोगी और गुनी का मुद्रा-नाम डाकिनी पद्मावती और ज्ञानावती रक्खा गया था। ये डाकिनियाँ अन्य सम्प्रदायों में भी होती थीं। सिद्ध कम्बलाम्बरपा एक बार बौद्ध डाकिनियों को छोड़कर तीर्थक डाकिनियों के प्रभाव में आ गये थे। डाकिनियों का प्रदेश किसी पश्चिम प्रान्त में था ऐसा उल्लेख भी मिलता है।[१९३] डा० बागची इन्हें दाग़िनी या दाग़िस्तान की स्त्रियाँ मानते हैं जो जादू टोने के लिये प्रख्यात थीं किन्तु प्रचुर प्रमाण के अभाव में किसी भी परिणाम पर पहुँचना सम्भव नहीं है।

ये डाकिनी स्त्रियाँ किसी विशेष प्रदेश या जाति की थीं या केवल तांत्रिक अनुष्ठानों में सिद्ध स्त्रियों को डाकिनी कहते थे यह ठीक से नहीं कहा जा सकता, किन्तु यह अवश्य है कि बाद में इनके गुह्य श्मशान आदि के अनुष्ठानों के कारण जन साधारण इन्हें भय की दृष्टि से देखता था। मारण, मोहन, उच्चाटन आदि के प्रयोगों के कारण वे समाज में गर्हित मानी जाती थीं इसीलिये कबीर जब इस डाइन शब्द का व्यवहार करते हैं तो वे इसके बौद्ध तान्त्रिक अर्थ भूल चुके हैं। वे इसे माया का उपमान मानते हैं और शब्द, स्पर्श, रूप, रस गन्ध आदि को इसके पाँच पुत्र बताते हैं :

इक डाइन मेरे मन में बसै रे, नित उठि मेरे जिय कौं डसै रे
या डाइन के लरिका पाँच रे, निस दिन मोहि नचावै नाच रे
कहै कबीर हूँ ताकौ दास, डाइनि के संग रहै उदास ॥[१९४]

नाथों की बानियों में इसी प्रसंग में 'राक्षसी' का प्रयोग किया गया है और नारी (भग) को राक्षसी बताया गया है जो बिना दाँतों के संसार को खा गई :

भग राकसि लो, भग राकसि लो, बिणं दतां जग धाया लो
ग्यानी हुता सु ग्यांन मुष रहिया, जीव लोक आपै आप गवांया लो।[१९५]

इसी डाकिनी की भाँति तान्त्रिक अनुष्ठानों में यक्षिणी (जाखिनी, जाकिनी) का भी उल्लेख है जो सिद्ध होने पर साधक को अलौकिक शक्तियाँ प्रदान करती थी। जायसी ने पद्मावत में राघव चेतन को यक्षिणी सिद्ध बताई है :

राघौ पूजा जाखिनी, दुइज देखावा सांझि ॥[१९६]

बौद्ध तन्त्रों से प्रभावित कुछ योग पद्धतियों में शंखिनी डंकिनी या शाकिनी डाकिनी इत्यादि को विभिन्न चक्रों तथा उनके दलों पर स्थित बताया गया है। पलटू उस पद्धति से परिचित भी मालूम पड़ते हैं और उसे स्वीकार भी करते हैं :

सहस गुंजार में परमली झाल है, झिलमिली उलटि के पौन भरना।
संखिनी डंकिनी सोर करैंगी सब, सोर सुनि उहाँ से नाहिं टरना।

योगिनी

डाकिनी की ही भाँति महामुद्रा की साधना जिस स्त्री साधिका के साथ की जाती थी उसे योगिनी भी कहते थे। सिद्धों की साधना में इस योगिनी अथवा जोइणि का विशेष महत्व था। उस योगिनी के गाढ़ालिंगन में वे सहज की साधना करते थे :

जोइणि गाढ़ालिंगणहि वज्रिल लहु उपसण्ण
तत्तपञ्चामिअ तेहि खणे हणे दिवअण णादिण्ण ।।सरहपा।[१९७]

गुंडुरीपा भी इसी योगिनी से एक भरपूर आलिङ्गन की कामना करते हैं :

तिअड्डा चापि जोइणि दे अंकवाली
कमल कुलिश घांट करहु बिआली ।।[१९८]

योगिनी-कौल-मार्ग में भी योगिनी की पूजा का विधान था :

क्षीर हंडादि मृष्टन्तु घृतपूर्णसुशोभनम्
पार्श्वे तु पूजयेत् सिद्धां योगिनीं गुरुमेवच ।।[१९९]

ये योगिनियाँ ६४ प्रकार की होती हैं।[२००] योगिनीकौल मार्ग में दो पद्धतियाँ थीं, कृतका तथा सहजा। कुंडली की साधना को कृतका कहते थे और सहजा (योगिनी) के साथ समरसता में स्थित रहने की पद्धति को सहजा कहते थे।[२०१] कृतका साधना में योगिनी अवधूती को कहते थे और सहजा में एक वास्तविक नारी का अनुभाव होता है। हम पहले देख चुके हैं कि नाथ पन्थ में ब्रह्मचारी तथा गृहस्थ दोनों प्रकार के योगी थे। अतः योगिनी के भी दोनों अर्थ लिये जा सकते हैं—नाड़ी (अवधूती या सुषुम्ना) तथा नारी महामुद्रा। नाड़ी के अर्थ में चर्यापदों में योगिनी शब्द का प्रयोग है जहाँ बत्तीस नाड़ियों को बत्तीस योगिनी बताया गया है—'अधराति भर कमल विकसिउ, वतिस जोइणी सु अंग उल्हसिउ।'[२०२] गोरखबानी में इन्हीं नव नाड़ियों की कल्पना नौ सौ योगिनियों के रूप में की गई है जो नाथ योगी की वन्दना गाती हैं :

नौ सौ जोगणी चलिबा साथं । बुरिज बहतरि गाइबा नाथं ।[२०३]

गोरखबानी में एक स्थान पर महामुद्रा रूपी महायोगिनी का उल्लेख है 'महामुद्रा अजब नग्री महां जोगणी स्यंभू बोलिये ।'[२०४] जायसी में भी एक स्थान पर योगी के साथ जोगिनी बनने का उल्लेख है 'अब को हमहि करिहि भोगिनी । हमहूँ साथ होइब जोगिनी ।'[२०५] किन्तु दूसरे स्थल पर इड़ा पिङ्गला को योगिनी के रूप में परिकल्पित किया गया है। उन्हीं को योगी की पत्नी मानकर सास ससुर और गृह आदि का वर्णन कर पूरा रूपक प्रस्तुत किया गया है :

माहरा रे बैरागी जोगी, अहनिसि भोगी जोगिणि संग न छाँड़ै ।
मानसरोवर मनसा भूलंतीं आवै गगन मंडल मठ मांड़ै रे ।।
कौण अस्थानिक तोरा सासू नैं ससुरा कौण अस्थानक तोरा बासा ।
कौण अस्थानंक तू नै जोगणि मेंटी कहाँ मिल्या घर बासा ।।
नाम अस्थानका मोरा सासू नैं सुसरा ब्रह्म अस्थानका मोरा बासा ।
इला प्यंगुला जोगण मेंटी सुषमन मिल्या घर बासा ।।[२०६]

सन्त साहित्य में जोगिन का बहुत कम उल्लेख है। किन्तु फिर भी पलटू योग पद्धति में सुरति द्वारा योगिनी सुषमना को जाग्रत करने का उल्लेख करते हैं :

भीतर औटै तत्व को उठै सबद की खानि
उठै सब्द की खानि रहै अन्तर लौ लागी
सुरति देइ उदगारि जोगिनी आपुइ जागी ।।

इसी को दूसरे स्थान पर पलटू जोगिनी का अलमस्त होना बताते हैं :

भूली जग की चाल सब भइ जोगिनि अलमस्त
भइ जोगिन अलमस्त खबर कुछ तन की नाहीं
ह्वै गइ दसा अरूढ़ जान तजि भइ बिज्ञानी
धरती नभ जरि गई जरा है पवन औ पानी
पलटू दिनकर उदय भा रजनी ह्वै गइ अस्त
भूली जग की चाल सब भइ जोगिनि अलमस्त ।[२०७]

कहीं कहीं इन जोगिनियों की संख्या ८४ बताई गई है :

चारि मुक्ति जोइनि चौरासी तेहि मिलि हेत बढ़ावै ।[२०८]

मीरा में इस जोगिनी का उल्लेख आता है किन्तु वहाँ योग तथा गुह्य

तन्त्र-साधना की सारी पूर्व परम्परा भुलाकर यह केवल भाव-साधना की विरहिणी का उपमान मात्र रह गया है। प्रियतम की कल्पना जहाँ वे जोगी के रूप में करती हैं वहाँ अपने को जोगिन कहती हैं :

जोगण होइ मैं वण वण हेरूं तेरा न पाया भेस
जोगिया के कहज्यो जी आदेस
माला मुद्रा मेखलां रे, बाला खप्पर लूंगी हाथ
जोगिण होइ जग ढूंढ़ सूं रे म्हारां रावलिया री साथ ।।२०९

किन्तु मीरा का यह जोगी नायक वास्तव में जोगी के भेस में कृष्ण हैं और यह जोगिनी मीरा उन्हीं की पूर्व जन्म की प्रेमिका गोपी हैं :

धूतारा जोगी एक बेरिया मुख बोल रे
रास रच्यो बंसी बट जमुना ता दिन कीनी कोल रे
पुरब जनम की मैं हूँ गोपिका अधबिच पड़ गयो झोल रे ।।२१०

पूर्वी भारत के नाथ साहित्य में भी हमें मीरा के योगिनी विरह गीतों के ही समानान्तर योगिनी विलाप के कुछ गीत मिलते हैं। उनमें भी योगिनी का विलाप शुद्ध भावात्मक स्तर पर है, तान्त्रिक अनुष्ठानों और योगसाधनाओं का आभास भी उनमें शेष नहीं रहा है। इतना ही नहीं कहीं कहीं तो मीरा के गीतों और बंगाली 'जोगिनी विलाप' गीतों में बिल्कुल समानांतर शब्दावली मिलती है :

मीरा—पिय बिन सूनो छै जी म्हारो देश
ऐसा है कोइ पिव को मिलावै तन मन करूं सब पेस
तेरे कारण बन बन डोलूं कर जोगण को भेस ।।२११

बंगाल—ग्रह छाड़ा हय आलि भ्रमि बने बने
कत देशे भ्रमि लाभि स्वामीर अन्वेषणे ।।२१२

यही नहीं जोगी का योगेश्वर रूप धीरे धीरे वैष्णव रूप में भी इसी प्रकार परिवर्तित हो रहा है जैसा मीरा में नाथ योगी का रूप गिरधर के रूप से समन्वित हो रहा था :

आमार जोगीयार गले तुलसीर माला आछे
काने मुद्रा शिरे जटाभार

आमार जोगीयार गाये हरिनामावली आछे
काने मुद्रा शिरे जटाभार
आमार जोगीयार हातें हरिनामेर माला आछे
काने मुद्रा शिरे जटाभार
आमार जोगोयार संगे हरिदास शिष्य आछे
काने मुद्रा शिरे जटाभार
आमार जोगीयार पाये सुवर्णेर नूपुर आछे
काने मुद्रा शिरे जटाभार........[२१३]

इस प्रकार तन्त्र साधनाओं की योगिनी अन्त में पूर्व जन्म की गोपिका बन गई और वैष्णव-भाव साधना, भक्ति में लीन हो गई। उसका बौद्ध तान्त्रिक रूप पूर्णतया भुला दिया गया।

जोगिनी के साथ ही साथ सास और ससुर भी प्रतीक रूप में नाथ और सन्तों के साहित्य में प्रयुक्त हुए हैं। सिद्धों ने भी परिशुद्धावधूती को वधू रूप में ग्रहण करने का उपदेश देकर सास और ससुर को सुलाने या उनको मारने का आदेश दिया है। कुक्कुरीपा की चर्या में सुसुरा (श्वास) के सोने और वधू के जागने का वर्णन मिलता है 'सुसुरा निद गेल बहुड़ी जागअ।' जिसकी व्याख्या करते हुए मुनिदत्त इसे श्वास को चतुर्थानन्द (सहजानन्द) अवस्था में योग निद्रा में लीन कर देने का प्रतीकात्मक वर्णन बताते हैं। गुंडरीपा इसी श्वास के निरोध को सास के घर में ताला बन्द करने की प्रतीकात्मक शैली में वर्णन करते हैं :

सास ससुर आदि

सासु घरे घालि कोंचा ताल
चान्द सुज्ज बेणि पखा फाल।[२१४]

काण्हपा अपने कापालिक रूप में इसी सास, ननद साली आदि (श्वास तथा इन्द्रियादि) को मारने का वर्णन करते हैं।[२१५]

नाथपन्थी बानियों में कुम्भक समाधि द्वारा मणिपुर के चक्र में स्थित प्राण और अपान वायु को सास और ससुर कहा गया है :

कौण अस्थानिक तोरा सासू नै सुसरा, कौण अस्थान क तोरा वासा
नाम अस्थान का मोरा सासू मैं ससुरा ब्रह्म अस्थान का मोरा बासा।[२१६]

इस पद के तिलक में प्राण और अपान के स्थान पर सास का अर्थ सुरति और ससुर का अर्थ शब्द दिया हुआ है, और यह भी असंगत नहीं प्रतीत होता।

पलटू ने एक स्थान पर इसी सास और ननद को मारने का उल्लेख किया है जो काण्हपा के वर्णन की स्पष्ट प्रतिध्वनि प्रतीत होता है :

पलटू—देखा पिय का रूप फिरा अहिबात हमारा
बहुत दिनन की रांड मांग पर सेंदुर धारा
सासु ननद को मार मैं अदल दिहा चलाई
उनकै चलै न जोर पिया को मैंहि सुझाई।[२१८]

काण्हपा—मारिश्रा सासु नणद घरे शाली,
माअ मारिश्रा कण्ह भइल कबाली।[२१९]

पलटू की बानी के सम्पादक ने टिप्पणी में सास और ननद का अर्थ यहाँ माया और वासना दिया है। उस अर्थ से कोई असंगति उत्पन्न नहीं होती किन्तु श्लेष के कारण श्वास के लिये सास का प्रतीक अधिक संगत मालूम होता है और वज्रयानी परम्परा से ही आया हुआ प्रतीत होता है। बाद में सास का प्रतीकार्थ बदल भी गया है और जहाँ सिद्धों में अवधूती या सुषुम्ना, वधू के रूप में परिकल्पित की गई है। वहाँ मीरा के एक पद में हमें सास का अर्थ सुषुम्ना मिलता है :

सासु हमारी शुशुमना रे, सुसुरी प्रेम संतोष रे
जेठ जुगे जुग जीव जो रे, हां रे पेलो नावलियो निरदोस।[२२०]

इसी प्रकार काण्हपा के पद में प्रयुक्त शाली या साली, कबीर के एक 'सलोक' में सृष्टि-जाल के अर्थ में प्रयुक्त हुई है :

कबीर सारी सिरजनहार की जाने नाही कोइ
कै जानै आपन धनी कै दासु दीवानी होइ।[२२१]

इस प्रकार नारी रूप में महामुद्रा साधना का गौण स्थान हो जाने पर भी इनकी योग साधना में "खेचरी" नामक मुद्रा को विशेष स्थान प्राप्त था। यह

खेचरी मुद्रा

मुद्रा शून्य स्थान त्रिकुटी से सम्बद्ध थी और इसमें प्राणायाम के साथ जिह्वा को उलट कर तालू में स्थित किया जाता था ताकि ब्रह्मरन्ध्र से झरने वाले अमृत का पान किया जा सके। इस मुद्रा का नाम खेचरी वज्रयानी सिद्धों की खेचरी सिद्धि से आया था या नहीं

यह सन्दिग्ध है किन्तु त्रिकुटी को शून्य मंडल या ख-स्थान मानने की कल्पना से अवश्य सम्बद्ध था।[२२२] यही नहीं उसके साथ तान्त्रिक अनुष्ठानों का मांस भक्षण तथा वारुणी पान का प्रतीकात्मक उल्लेख भी मिलता है, क्योंकि इसी जिह्वा को उलट कर तालू में स्थित करने को गोमांस (इंद्रिय का मांस) भक्षण कहा जाता था और चंद्र से झरने वाले अमृत को वारुणी।[२२३] इस मुद्रा का उल्लेख नाथ तथा सन्त दोनों परम्पराओं में मिलता है :

गोरखबानी कूँची ताली सुषमन करै, उलटि जिभ्या लै तालू मैं धरै।[२२४]
कबीर सुरही भच्छन करत बेद मुख, घन बरिसै तन भीजे।
त्रिकुटी मंडल मधि मन्दिर बाजै, औघट अम्मर छीजे।[२२५]

कबीरपन्थ के पंच-मुद्रा ग्रन्थ में बाद में वज्रयान की चार मुद्राओं की परम्परा से सर्वथा मुक्त पाँच मुद्राओं का वर्णन मिलता है : खेचरी, चाचरी, मोचरी, अगोचरी और उन्मुनी। इनके ही समानान्तर पाँच शून्य हैं और अन्तिम मुद्रा उन्मुनी में ब्रह्म का प्रकाश और सहजानन्द की प्राप्ति होती है :

ब्रह्म प्रकाश तहाँ पूरन चन्दा, रैन दिवस नहिं सहज अनन्दा।

इन मुद्राओं का स्थान इस प्रकार है—मुखाग्र, नासाग्र, चक्षु-अग्र, श्रवण-अग्र, तथा तिलकपाट। अगोचरी में सहजशून्य और उन्मनी महाशून्य का ध्यान बताया गया है।[२२६] ज्ञात यह होता है कि शून्य, चतुर्मुद्रा, चार आनन्द तथा हठयोग की चौथी उन्मनी अवस्था की परम्पराएँ इनमें घुलमिल गई हैं और रचयिता उनमें से सबके ठीक ठीक अर्थ भी नहीं समझता है, या कम से कम उनके उन अर्थों से तो अपरिचित है जिनमें वज्रयानी सिद्ध इन शब्दों का प्रयोग करते थे।

उपलब्धि

निर्वाण

वज्रयानी पद्धति में साधना की उपलब्धि के रूप में निर्वाण का महत्व बहुत घट गया था और भव तथा निर्वाण दोनों ही का निषेध कर महासुख की उपलब्धि को विशेष महत्व दिया जाने लगा था :

आइ ण अन्त ण मज्झ ण, णउ भव णउ णिव्वाण
एहु सो परम महासुख, णउ पर णउ अप्पाण।[२२७]

किन्तु नाथयोगियों की परम्परा में योग के चौथे पद या चरम अवस्था को ही निर्वाण का नाम दे दिया गया था। योगिनीकौल मार्ग के ग्रंथों में निर्वाण का कहीं उल्लेख नहीं है क्योंकि वह तन्त्रप्रधान मार्ग था और उसमें सहजानन्द या परमानन्द की उपलब्धि पर बल है, किन्तु नाथ सम्प्रदाय योग-प्रधान होने के कारण योग की चतुर्थ अवस्था या चौथे पद को सर्वोच्च अवस्था मानता था और उसके लिये वे परम पद के साथ साथ 'निर्वाण पद' शब्द भी प्रयुक्त करते थे।

वास्तव में इस अर्थ में निर्वाण का प्रयोग गीता में भी हुआ है :

योन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथा अन्तर्ज्योतिरेव यः
स योगी ब्रह्मनिर्वाणम् ब्रह्म भूतोऽधिगच्छति ॥
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीण कल्मषाः
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूत हिते रताः ॥
कामक्रोधवियुक्तानाम् यतीनां यत् चेतसाम
अमितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विजितात्मनाम् ॥[२२८]

निर्वाण शब्द बौद्ध-परम्परा से ग्रहण करने पर भी उसका महत्व तथा उसकी व्याख्या में ये परवर्ती पद्धतियाँ वज्रयान की अपेक्षा ब्रह्म-निर्वाण की परम्परा के अधिक निकट प्रतीत होती हैं। नाथपन्थी बानियों में निर्वाण तत्व परम आत्मानुभव को कहते हैं जिसमें साधक समस्त भवजाल से मुक्त हो शुद्ध आत्मस्वरूप में स्थित हो जाता है :

दृष्टि आगे दृष्टि लुकाइबा, सुरति लुकाइबा कानं
नासिका अग्रे पवन लुकाइबा तब रहि गया पद निरबानं ॥[२२९]

त्रिकुटी षेत्र उलटि मेला। नृबाण तत्व लै रमौं अकेला।[२३०]

शब्दसुरति-योग की पद्धति के अनुसार निर्वाण की नाद द्वारा प्राप्ति बताई गई :

नाद ही ते आछै बाबू सब कछू निधानां
नाद ही ते पाइये परम निरवानां ॥[२३१]

एक स्थान पर आकाश (शून्यतत्व) में शिव का वास बताया गया है और उन्हीं के अभ्यन्तर में निर्वाण पद की स्थिति का उल्लेख मिलता है :

आकास तत सदासिव जाण । तसि अभिअन्तरि पद निरवाण ।[२३२]

केवल आत्मा रह जाती है, माया का पूर्ण विनाश हो जाता है, आत्म-ज्योति प्रज्वलित हो जाती है। ऐसे निर्वाण पद को सन्तों ने भी परम पद बताया है। आत्मा और परमात्मा जल और लवण की भाँति पूर्णतया घुलमिल जाते हैं :

कबीर—माइआ फास बंध नहि काटे अरु मन सुंनि न लूके
आपा पदु निरबाणु न चीन्हिआ इन विधि अभिउन चूके ।[२३३]
बूझ बूझ पंडित पद निरबान
सांझ परे कहवां बस भान ॥
उंच नीच परबत ढेला न ईंट
बिनु गायन तहंवा उठे गीत ॥[२३४]

दादू—परमातम सौं आतमा, ज्यौं जल उदक समान
तन मन पानी लौंण ज्यों पावै पद निरबान ।[२३५]

इस निर्वाण पद का आचार पक्ष भी है जिसमें योगी विषय भोग से विरक्त दुख सुख आदि द्वन्द्वों में सम भाव से स्थित रहता है :

प्रभ के मंति रहै निरबान, जहं नहिं पीवन नहिं किछु खानि
खाअण पिअण ते रहै निरारा ।[२३६]
इसतुति निन्दा दोऊ त्यागै षोजै पदु निरबाना
जनु नानकु इहु बेलु कठिन है किनहु गुरमुषि जाना ।[२३७]

कबीर इस निर्वाण प्राप्त योगी के आचार के सामाजिक पक्ष पर भी बल देते हुए उसे कुल मर्यादा (जातिगत अहंकार आदि) से मुक्त होकर शुद्ध आत्मस्वरूप को पहचान कर विदेह होने का आदेश देते हैं :

कुल मरजादा खोयके खोजिनि पद निरबान
अकुंर बीज नसाय कै, भये विदेही थान ।[२३८]

इस प्रकार निर्वाण को भी योग की चतुर्थ अवस्था तथा उसके उपरान्त उपलब्ध होने वाले सम भाव का वाचक मान लिया गया, और ऐसे सन्त को निर्वाणी की संज्ञा दे दी गई क्योंकि वह तत्वग्राही है :

सोई सन्त सोई निर्बानी । नीर छीर बिबरन करि आनी ।[२३९]

और शब्द या नाद द्वारा प्राप्ति होने के कारण इसे शब्द-निर्वाण कहा जाने लगा।

'चीन्हउ पंडित शब्द-निर्वाणा। निर्गुन नाहिं चिन्हहुँ ज्ञाना।'[२४०]

और इस शब्द-निर्वाण को इतना प्रतापी माना गया कि यमराज भी उससे भय भीत बताया गया :

'यमराजा जेहि देखि डराना, सोई शब्द अहै निरबाना।'[२४१]

दूसरी ओर निर्वाण को आदिपुरुष के विशेषण के रूप में ग्रहण किया गया और निर्वाण पुरुष को सहज पुरुष से भी परे बताया गया :

सहज पुर्ष से आगे जाई। आदि पुर्ष को लोक दिखाई।
सहज ते एक असंख प्रवाना। तहंवा आदि पुर्ष निरवाना॥
नाद बिन्द को तहाँ न पानी। नहिं तह सृष्टि चौरासी जानी।
चंद सूर्य नारायण नाहीं। नहिं तह दिवस रैन की छाहीं॥
यंत्र मंत्र तह दरद न धोखा। नर्क स्वर्ग संशय नहिं शोका।'[२४२]

इसके उपरान्त निर्वाण को शुद्ध हिन्दू रूप दिया जाने लगा। हिन्दू परम्परा में मुक्ति ही प्रमुख उपलब्धि मानी जाती थी और कुछ वैष्णव परम्पराओं में सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य चार प्रकार की मुक्तियाँ मानी जाती थीं। निर्वाण को सामीप्य मुक्ति का मार्ग बताया गया।[२४३] तथा ज्ञान-स्थिति-बोध में वाम मार्ग द्वारा सालोक्य मुक्ति, निर्वाण मार्ग द्वारा सामीप्य मुक्ति, अघोर मार्ग द्वारा सारूप्य तथा यवन मार्ग द्वारा सायुज्य मुक्ति बताई गई किन्तु पाँचवीं इन सबों से श्रेष्ठ है वह है जीवनमुक्ति।[२४४] ज्ञात यह होता है कि कबीरपन्थ को सभी सम्प्रदायों से श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिये मुक्ति-योजना का ऐसा क्रम निर्धारित किया गया। प्रणामी सम्प्रदाय में बाद में यह अक्षर ब्रह्म का पद माना गया 'जिनके आगे अक्षर ब्रह्म जो कहिये यह पद है निर्बाना।'[२४५] और इस प्रकार इसका बौद्ध रूप पूर्णतया लुप्त हो गया।

आनन्द अथवा सुख

सिद्ध-साधना की उपलब्धि में ज्ञान की अपेक्षा सुख अथवा आनन्द अधिक प्रमुख हो गया था और महासुख के अतिरिक्त वज्रयोग की पद्धति में चार क्षण और उनमें प्राप्त होने वाले चार आनन्द प्रथमानन्द, परमानन्द, विरमानन्द तथा सहजानन्द की कल्पना को प्रमुख महत्व दिया गया। स्वतः योगिनी-कौल मार्ग में परम अनुभूति को

परम आनन्द (परमानन्द) की संज्ञा दी गई और चार आनन्दों का सिद्धान्त त्याग दिया गया, उसी को कभी कभी वे सहजानन्द भी कहते थे :

> यावत् सममेकत्वं परमानन्दं न विन्दति
> मूर्खाणां च यथा शास्त्रं कुमारीसुरतिं यथा ॥
> सहजानन्दं न विन्दति सर्वधर्मा समासृताः
> अजानन्त्यमलैर्ग्रस्ता महामायान्धच्छादिताः ॥[२४६]

सन्तों के साहित्य में परमानन्द, सहज आनन्द, सहज सुख, महासुख आदि सभी शब्दों का व्यवहार सम्मानार्थक ढंग से हुआ है और वे योग के परम आत्मानुभव सुख के पर्याय मान लिये गये हैं :

कबीर— इआ देही परिमल महकन्दा, ता सुख बिसरे परमानन्दा ।[२४७]
कहु कबीर मनु भइया अनन्दा, गइआ भरमु रहिआ परमानन्दा ।[२४८]
काटि सकत सिव सहजु प्रगासिओ एकै एक समानां नां
काहि कबीर गुरु भेंटि महांसुख भ्रमत रहै मनमानां ना ।[२४९]
कोइ है रे सन्तु सहज सुख अन्तरि जा कउ जपु तपु देइ
दलाली रे ।[२५०]

दादू— जहं तहं साखी संग है मेरे सदा अनंद
नैन बैन हिरदै रहैं, पूरण परमानन्द ॥
बादल नहिं तहं बरसत देख्या, सबद नहीं गरजन्दा
बीज नहीं तहं चमकत देख्या, दादू परमानन्दा ॥[२५१]

दरिया— परमारथ परमानंद पिय पर सुरति लगाइये ।
ज्यों सरदें को चन्द जग जीवन गुन ज्ञान है ।[२५२]

गुलाल— सहज सुख दिन दिन हो भजि लेहु आनंदराय ।[२५३]

उपरोक्त उद्धरणों पर विचार करने से यह ज्ञात होता है कि सहज सुख महासुख आदि बौद्ध परम्परा के शब्द न केवल गौण हो गये हैं, और परमानन्द को ही परम अनुभूति तथा परमार्थ स्वरूप मान लिया गया है, साथ ही साथ जहाँ वे प्रयुक्त भी हुए हैं, उनके पीछे मुद्रा के समागम से प्राप्त होने वाली अनुभूति वाला अर्थ सर्वथा भुला दिया गया है और 'सहज' तथा 'महा' केवल साधारण विशेषण के रूप में प्रयुक्त हैं और उसकी बौद्ध परम्परा का स्मरण मात्र दिलाते हैं। किंतु उनका तान्त्रिक अभिप्राय लुप्त हो गया है।

रस रसायन की प्रक्रिया से पारे के विशोधन तथा मारण आदि का प्रयोग चित्त के विशोधन तथा मारण के अर्थ में किया जाने लगा था। इसका उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं। 'सोने भरिते करुणा नावी' आदि से यह भी स्पष्ट है कि वे शून्यता ज्ञान अथवा नैरात्म्य ज्ञान को ही सोना मानते थे। नाथपन्थी बानियों में सुनार के रूप में स्वर्णविशोधन प्रक्रिया द्वारा चित्त के विशोधन की प्रक्रिया का बड़ा ही सुन्दर वर्णन है और यहाँ तक कि वहाँ श्लेष द्वारा सोना शून्य ज्ञान का ही उपमान माना गया है :

स्वर्ण रस सिद्धि

सोनां ल्यौ रस सोनां ल्यौ मेरी जाति सुनारी रे
आपै सोना नै आपै सुनारी मूल चक्र अँगीठा
अहरिणि नाद नै ब्यन्द हथौड़ा घटिस्यूँ गगन बईठा।
ऊषै आरण नै विषै कोइला सहज फूक दो नालियाँ।
चन्द सूर दोउ सम करि राष्या आपैं आप जु मिलिया
अरधै सोनां उरधै सोनां मध्ये सोनम सोनां
तीनि शून्य की जाणै ता घटि पाप न पुंना॥
उनमनि डांड़ी मन तराजू पवन किया गदियानां।
आपै गोरषनाथ जोषण बैठा, तब सोना सहज समानां।[२५४]

सन्तों ने इस स्वर्ण साधना में योग-प्रक्रिया की अपेक्षा भक्ति तथा उस के अंग, सत्सङ्ग, गुरुभक्ति आदि को प्रमुखता दी है। वे कभी सत्सङ्ग को, कभी गुरु को और कभी राम को पारस मानते थे :

कबीर—पारस के संग तांबा बिगरिओ, सो तांबा कंचन होइ निबरिओ
सन्तन संगि कबीरा बिगरिओ, सो कबीर रामै होइ निबरिओ।[२५५]
अब घटि प्रगट भये राम राई, सोधि सरीर कनक की नाईं
कनक कसौटी जैसे कसि लेइ सुनारा, सोधि सरीर गयो तन सारा।
बिन परचै तन कांच कथीरा, परचैं कंचन भया कबीरा।[२५६]

दादू—दादू गुरु गुरुवा मिलै ताथैं सब गमि होइ
लोहा पारस परसतां सहज समाना सोई।[२५७]

पारे के शोधने की विधि का रूपक भी एक परवर्ती सूफ़ी सन्त ने अपने एक दोहे में ग्रहण किया है :

मन पारा तन की खरी ध्यान ज्ञान रस गोय
विरह अगन सूं फूंक दे निरमल कुन्दन होय ।[२५८]

इस प्रकार धातु-विशोधन तथा स्वर्ण प्रक्रिया को अप्रस्तुत के रूप में वज्रयानी सिद्धों ने ग्रहण किया था, यद्यपि उनके साथ साथ स्वर्ण सिद्धि की कल्पनाएँ भी प्रचलित थीं और कहा जाता था कि वे स्वर्ण बना सकते हैं। पारस सिद्धि के रूप में अप्रस्तुत वाला रूप ही ग्राह्य रहा किन्तु सन्तों की विशेषता यह थी कि उन्होंने योग प्रक्रिया को गौण स्थान देकर, भक्ति तथा विरह को प्रमुख महत्व दिया और उसी से मन का स्वर्ण रूप होना सिद्धि किया।

हम पहले ही इस बात की ओर संकेत कर चुके हैं कि तान्त्रिक अनुष्ठानों में वारुणी का प्रयोग होता था और उसको एक आध्यात्मिक अर्थ भी देने का प्रयास किया जाता था। सोमवादी उसे उमा सहित शिव का प्रतीक मानते थे, वज्रयानी उसे सहज रस मानते थे, उसके द्वारा अमरत्व की प्राप्ति बताई जाती थी।

अमृत द्वारा अमरत्व प्राप्ति

सरहपा ने वाह्य रसायन या अमृत की अपेक्षा शून्यताज्ञान रूपी अमृत को सर्वश्रेष्ठ बताया था क्योंकि वह जन्म और मरण दोनों का निषेध कर वास्तविक रूप में साधक को अजरामर बना देता है :

जो एथु जाम मरणे विसंका, सो करइ रस रसानेर कंखा।
जे सचराचर तिअस भमन्ति, ते अजरामर किंपि न होन्ति ॥[२५९]

नाथपन्थी योगियों में ज्ञान के पक्ष पर इतना बल नहीं दिया गया था किन्तु उनके यहाँ यह धारणा अवश्य प्रचलित थी कि खेचरी मुद्रा द्वारा जो चन्द्र से झरने वाले अमृत का निरन्तर पान करता है वह छठे छमाहे कायाकल्प कर लेता है, और इस प्रकार वह अजरामर हो जाता है :

जीवता जोगी अमीरस पीवता अहनिसि अषंडित धारं
दिष्टि मधे अदिष्टि बिचारिबा ऐसा अगम अचारं
जीवता बिछायबा मूवां बोढिबा कबहुँ न होयबा रागी
बरसवै दिन काया पलटिबा यूँ कोइ कोइ बिरला जोगी ॥[२६०]

इसी अमीरस को वे सहजरस नाम से भी पुकारते थे किन्तु उसका तान्त्रिक अथवा नैरात्म्य-ज्ञान परक अर्थ नहीं स्वीकार करते थे :

जिहि घर चन्द सूर नहिं ऊगै तिहिं घरि होसी उजियारा
तिहां जो आसण पूरौ तो सहज का भरौ पियाला।[२६१]

सन्तों ने भी अमीरस या रसायन या रस शब्द का व्यवहार मूलतया नाथयोगियों की साधना में चन्द्र से झरने वाले अमृत के लिये ही किया है किन्तु धीरे-धीरे वे उसे हरि भक्ति रस के अर्थ में प्रयुक्त करने लगे हैं और फिर दूसरा अर्थ प्रमुख हो गया। योगपद्धति के कायाकल्प वाले रस के अर्थ में सन्त इसका प्रयोग करते हैं :

कबीर— धरणी उलटि अकासहिं ग्रासै यहु पुरिषां की वाणी
बाझ पियालै अमृत सोख्या नदी नीर भरि राख्या।
कहै कबीर ते बिरला जोगी धरणि महा रस चाख्या।[२६२]

नानक—पाताली रसु गगनु चढ़ाया। तातें सहजि पलटी काया।[२६३]

किन्तु सन्तों ने इसी अमीरस को राम रस या राम रसायन का नाम दिया है जो उनकी भक्ति भाव साधना के अधिक निकट है :—

बिना पियाले अमृत अंचवे नदिय नीर भरि राखै
कहहिं कबीर सो जुग जुग जीवै राम सुधारस चाखै।[२६४]

इस प्रकार उन्होंने योगमार्ग के अमृत को तो स्वीकार किया है किन्तु तान्त्रिकों की वारुणी और सोम को पूर्णतया गर्हित ठहराया है। कबीर ने स्पष्ट घोषित किया है कि शाक्तों का रस झूठा है, वह अमरत्व प्रदान नहीं कर सकता, किन्तु सन्तों का हरिभक्ति रस वास्तव में मृत्यु को जीतने वाला है :

साकत मरहिं सन्त सभ जीवहिं
राम रसायन रसना पीवहिं ॥[२६५]

और जब से यह राम रस उन्हें मिला है तब से वे अन्य सारे योग और तन्त्र के रसों को भूल गए हैं :

राम रस पाइया रे तातैं बिसरि गये रस और।[२६६]

इसी को वे हरिरस और प्रेम रस भी कहते हैं :

राम रसाइण प्रेम रस पीवत अधिक रसाल
कबीर पीवण दुलभ है मांगै सीस कलाल।
हरि रस पीया जाणिये जे कबहूं न जाइ खुमार
मैंमंता घूमत रहै नाहीं तन की सार।[२६७]

इस रस के प्रसंग में उन्मत्तता आदि का वर्णन चर्यापदों में ही आता है किन्तु कबीर ने खुमार आदि शब्द सूफी साधनाओं से लिये हैं क्योंकि सूफी भी इस रस या वारुणी को प्रेम रस के रूप में प्रयुक्त करते थे। अमीरस आदि शब्द भी उन्होंने तान्त्रिक और योग परम्परा से लिये थे :

मंझन जेहि भा पेम अमीरस परचै काल करै का पार।[२६८]

इसी हरि रस के दो प्रभाव साधक पर होते हैं वह कंचन हो जाता है, और अमर हो जाता है।

सबै रसाइणि मैं किया हरि सा और न कोइ
तिल इक घट मैं संचरै तौ सब तन कंचन होइ ॥
मैंमंता अविगत रता अकलप आसा जीति
राम अमलि माता रहै जीवत मुकति अतीति।[२६९]

यहाँ पर कंचन होने के अर्थ हैं समस्त वासनाओं से मुक्त होकर शुद्ध स्वरूप में स्थित होना और अमर होने के अर्थ हैं जीवन्मुक्त होकर मृत्यु से अभय हो जाना। अन्य स्थलों पर कबीर ने अमर होने का मार्ग यह बताया है कि हरि के प्रति पूर्णतया शरणागति की भावना रखने से अमरत्व लाभ होता है क्योंकि हरि ही मिलाने वाले हैं, वे अमर हैं और उनके भक्त भी अमर हैं :

हम न मरैं मरिहैं संसारा, हम कूं मिल्या जियावन हारा।
अब न मरौं मरनैं मनमाना तेई मुए जिनि राम न जाना।
हरि मरिहैं तो हमहूँ मरिहैं, हरि न मरैं हम काहे कूं मरिहैं ॥[२७०]

इस प्रकार वारुणी तथा सोम की रसायन रूप में जो कल्पना तान्त्रिक अनुष्ठानों से विकसित हुई थी, जिसे सरहपा ने प्रतीत्य समुत्पाद के जन्म मरण रहित नैरात्म्यज्ञान की व्याख्या दी, नाथ योगियों ने जिसे देहस्थ चन्द्र से क्षरित होने वाला अमृत बताया, अन्त में वही परम्परा सन्तों द्वारा भक्ति मार्ग में समाहित कर दी गई और अजरामर वही माना गया जो भक्तिपरायण है क्योंकि वह दुख सुख, जन्म मृत्यु सबों से निरसंग है, निरपेक्ष है।

दादू—जुग काला जामण मरण जहाँ जहाँ जिव जाइ
भगति परायण लीन मन ता कौं काल न खाइ ॥[२७१]

संत लोगों ने भक्ति के आगे अष्ट महासिद्धियों को भी कोई महत्व नहीं

दिया है। सहज सिद्धि के आगे अष्ट महासिद्धियों को तो वज्रयानी सिद्धों ने भी गौण बताया था किन्तु वे इस मार्ग में उनकी उपलब्धि को अष्ट महासिद्धि भी स्वीकार करते थे। बौद्ध अष्ट महासिद्धियों का उल्लेख योगिनीकौल मार्ग में तो अवश्य मिलता है,[२७२] किन्तु गोरख के अनुयायी बौद्ध अष्ट महासिद्धियों के स्थान पर हिन्दू परम्परा की अष्ट महासिद्धियों को स्वीकार करते थे। वैसे अन्तर्धानादि कुछ बौद्ध सिद्धियों का अप्रत्यक्ष उल्लेख उनकी बानियों में मिल जाता है और सिद्ध-गुटिका अन्तर्धान तथा अमरत्व दोनों की प्रदायिका मानी जाती थी।[२७३] उनकी बानियों में सिद्धियों की संख्या २४ भी बताई गई है किन्तु वहाँ पर स्पष्ट उल्लेख है कि ये सिद्धियाँ ब्रह्मज्ञानी के मार्ग में बाधक होती हैं और जब वह इनका परित्याग कर देता है तभी उसे परमज्योति प्राप्त होती है।

'यती चौबीस सिधि ब्रह्म ग्यांनी कै आड़ी आवै। यती चौबीस सिधि आई होय तौ सतगुरु प्रसाद तैं त्यागै। सोइ जोगेश्वर सोई ब्रह्म ग्यांनी। बल अपार जती गोरषनाथ समझावै। यती चौबीस सिधि त्यागै। सोई परम ज्योति कूँ पावै।[२७४]

सन्तों ने इन सिद्धियों का रहा सहा महत्व भी समाप्त कर डाला। उन्होंने तो राम के चरणों में ही इन समस्त ऋद्धियों सिद्धियों का वास माना।

कबीर— राम चरन जाके हिदै बसत है ता जन कौ मन क्यूँ डोलै
मानौ अठ सिध्य नव निध्य ताकै, हरषि हरषि जस बोलै।[२७५]

दादू— हिरदै राम रहै जा जन कै ताकौं ऊरा कौण कहै
अठ सिधि नौ निधि ताके आगे सनमुख सदा रहै।[२७६]

और बाद में तो भक्ति पर सन्तों की आस्था इतनी दृढ़ हुई कि वे इन भौतिक सिद्धियों को घोर उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगे।

संत न चाहैं मुक्ति को नहीं पदारथ चार
नहीं पदारथ चार मुक्ति संतन की चेरी
ऋद्धि सिद्ध पर थुकैं स्वर्ग की आस न हेरी
... ...
पलटू चाहैं हरि भगति ऐसा मता हमार
संत न चहैं मुक्ति को, नहीं पदारथ चार।[२७७]

आठवाँ परिच्छेद

गोरक्षनाथ की संस्कृत-रचनाएँ

गोरक्षनाथ की संस्कृत रचनाओं की सूचियाँ प्रस्तुत करने में विद्वानों ने अनुमान का आश्रय लिया है और प्राय: नाथयोगी संप्रदाय की मान्य रचनाओं को गोरक्ष साहित्य में सम्मिलित कर लिया है। कुछ लोगों ने कुछ प्रसिद्ध तंत्र ग्रन्थों को गोरक्षरचित मान लिया है। गोरक्षनाथ की हिन्दी-रचनाओं की गणना करते समय हिन्दी के इतिहासकारों ने उनकी संस्कृत रचनाओं का भी उल्लेख किया है। भारतीय धर्मेतिहास को प्रस्तुत करने वाले विद्वानों ने भी अनेक ग्रंथों की लम्बी सूची दी है। इस प्रकार गोरक्ष साहित्य के दो अर्थ मिलते हैं—1. गोरक्ष संप्रदाय अथवा नाथ संप्रदाय का प्रमाण साहित्य, 2. गोरक्ष रचित साहित्य। हमें यहाँ केवल गोरक्ष रचित साहित्य पर ही विचार करना है जबकि प्रसंगत: गोरक्ष संप्रदायगत साहित्य का उल्लेख किया जा सकता है। इसके लिए विविध यथासंकेतित स्रोत उपलब्ध हैं।

मिश्रबंधुओं ने सर्वप्रथम गोरक्षनाथ के नौ ग्रंथों का उल्लेख किया था—1.गोरखशतक (ज्ञानशतक), 2. चतुरशीत्यासन, 3. ज्ञानामृत, 4. योगचिंतामणि, 5. योगमहिमा, 6. योगमार्त्तंड, 7. योगसिद्धांतपद्धति, 8. विवेक मार्तड, 9. सिद्धसिद्धांत-पद्धति।[1] पं० रामचन्द्र शुक्ल ने वस्तुत: गोरक्षनाथ के संस्कृत ग्रंथों की परिगणना न कर नाथपंथीय संस्कृत ग्रंथों की ही परिगणना की है—(उक्त पुस्तकों के अतिरिक्त) शक्तिसंगमतंत्र, निरंजनपुराण, वैराट पुराण।[2] जी० डब्ल्यू० ब्रिग्स ने अधुनातन नाथपंथियों द्वारा प्रयुक्त तथा मान्य ग्रंथों की एक लम्बी सूची दी है जिसमें हिन्दी तथा संस्कृत ग्रंथों का विभेद नहीं किया गया है तथा उसमें गोरक्ष, मत्स्येंद्र आदि के अतिरिक्त विभिन्न व्यक्तियों के ग्रंथ सम्मिलित हैं। कुछ अन्य संप्रदायों द्वारा मान्य ग्रंथ भी अनुसूचित हैं—रुद्रयामल तंत्र, विष्णुसहस्रनाम।[3] ब्रिग्स ने गोरक्षशतक को गोरखनाथ की प्रामाणिकतम रचना माना और उसका रोमन अक्षरों में संपादन कर, अंग्रेजी में अनुवाद भी किया।[4] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने गोरक्षलिखित 28 संस्कृत ग्रंथों की सूची दी है। उन्होंने यह मत भी व्यक्त किया है कि ''इन पुस्तकों में अधिकांश के कर्ता स्वयं गोरखनाथ नहीं थे।'' उनके

1. *मिश्रबंधु विनोद,* पृ० 211 *(प्रथम संस्करण).*
2. *हिन्दी साहित्य का इतिहास,* पृ०19.
3. *गो० का० यो०,* पृ० 252-257.
4. *वही,* पृ० 284-304.

अनुसार उपरिलिखित के अतिरिक्त ग्रंथ हैं—

1.	अमनस्क,	2.	अमरौघशासनम्,	3.	अवधूतगीता
4.	गोरक्षकल्प	5.	गोरक्षकौमुदी	6.	गोरक्षगीता
7.	गोरक्षचिकित्सा	8.	गोरक्षपंचय	9.	गोरक्षपद्धति
10.	गोरक्षसंहिता	11.	ज्ञानामृतयोग	12.	नाड़ीज्ञानप्रदीपिका
13.	महार्थमंजरी	14.	योगबीज	15.	योगसिद्धासनपद्धति
16.	श्रीनाथसूत्र	17.	हठयोग	18.	हठसंहिता।[1]

द्विवेदीजी द्वारा उल्लिखित कई ग्रंथों की आवृत्ति होने के कारण उनका यहाँ उल्लेख नहीं किया गया। महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराज ने गोरक्ष-सिद्धांतसंग्रह और सिद्धसिद्धांतसंग्रह नामक ग्रंथों का संपादन सरस्वती भवन ग्रंथमाला के अन्तर्गत किया था। डॉ० कल्याणी मल्लिक ने गोरक्षनाथ कृत ग्रंथों में सिद्धसिद्धांतपद्धति, अमरौघप्रबोधे और योगमार्तंड नामक संस्कृत ग्रंथों का संपादन किया।[2] इस प्रकार गोरक्षनाथरचित एवं नाथपंथी संस्कृत साहित्य की कुल 37 रचनाओं की एक तालिका बनती है।

इन रचनाओं की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में प्रायः संदेह व्यक्त किया गया है। गोरक्षनाथ के ग्रंथों के पुराने हस्तलेख अभी तक इस रूप में उपलब्ध नहीं हैं कि उनकी रचनाओं के प्राचीनतम रूप को प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत किया जा सके। वैज्ञानिक पद्धति से सिद्धसिद्धांतपद्धति का सर्वप्रथम संपादन डॉ० कल्याणी मल्लिक ने किया। इनके तीन हस्तलेखों में से तंजौर हस्तलेख तेलुगु लिपि में प्राप्त हुआ है। यह ताड़पत्र पर लिखित है। इसके समय का अनुमान संपादिका ने 1699 ई० किया है।[3] डॉ० मल्लिक ने अमरौघप्रबोध और योगमार्तंड को भी गोरक्ष की रचना माना है। यद्यपि ब्रिग्स ने राजेंद्रलाल मित्र के प्रमाण पर इसे नित्यानंद कृत माना है तथापि एक अन्य स्रोत को उद्धृत कर उन्होंने इसे गोरक्षनाथकृत भी कहा है।[4] गोरक्षसिद्धांतसंग्रह में इसे नित्यनाथ विरचित ही कहा गया है।[5] डॉ० मल्लिक द्वारा प्राप्त हस्तलेखों में इसे गोरक्षकृत ही कहा गया है। अधिकांश प्रमाण गोरक्ष के पक्ष में इसका निर्णय करते हैं। डॉ० द्विवेदी तथा ब्रिग्स ने अमरौघप्रबोध का नाम भी नहीं लिया है। योगमार्तंड का नाम तो उन लोगों ने अवश्य दिया है किन्तु उसका कोई भी विवरण वे लोग नहीं दे सके। डॉ० मल्लिक द्वारा प्राप्त तंजौर हस्तलेख में इसे भी गोरक्षकृत ही कहा गया है। राजेंद्रलाल मित्र ने

1. *नाथ संप्रदाय,* पृ० 98–100.
2. *द्र० सिद्धसिद्धांतपद्धति ऐंड अदर वर्क्स ऑव नाथयोगीज़, सं० डॉ० कल्याणी मल्लिक।*
3. *वही, इंट्रो०,* पृ० 33.
4. *गो० क० यो०, ब्रिग्स,* पृ० 255.
5. *गो० सि० सं०,* पृ० 11.

योगसिद्धांतपद्धति, सिद्धांतपद्धति और ज्ञानामृत को भी गोरक्षकृत ही कहा है।[1] डॉ० द्विवेदी ने अमरौघशासनम्, अवधूतगीता, गोरक्षपद्धति (गोरक्ष शतक या गोरक्षज्ञान+योगशास्त्र), महार्थमंजरी, विवेकमार्त्तंड को भी गोरक्षकृत मानने की ओर संकेत किया है। यद्यपि डॉ० द्विवेदी ने गोरक्षकृत कुल 28 ग्रंथों की सूची दी है तथापि उन्होंने सभी के गोरक्षकृत होने में संदेह व्यक्त किया है।[2] डॉ० मल्लिक ने चतुरशीत्यासन, ज्ञानामृत, योगमहिमा, योगसिद्धांतपद्धति, गोरक्षकल्प, गोरक्षसहस्रनाम और गोरक्षपिष्टिका को भी गोरक्षकृत ही कहा है।

इस प्रकार यद्यपि विद्वानों ने लगभग 36 ग्रंथों को गोरक्षकृत माना है तथापि उनमें से निम्नलिखित को गोरक्षरचित मानने का विशेष आग्रह प्रतीत होता है—

1. अमरौघशासनम्	2. अवधूतगीता,	3. गोरक्षगीता,
4. गोरक्षशतक,	5. महार्थमंजरी,	6. विवेकमार्त्तंड
7. सिद्धसिद्धांतपद्धति,	8. चतुरशीत्यासन,	9. ज्ञानामृत
10. योगमहिमा,	11. योगसिद्धांतपद्धति.	12. गोरक्षकल्प
13. गोरक्षसहस्रनाम,	14. गोरक्षपिष्टिका,	15. योगबीज

ब्रिग्स ने इनमें से केवल गोरक्षशतक को गोरक्ष की सर्वाधिक प्रामाणिक रचना माना है। ज्ञानशतक और ज्ञानप्रकाशशतक भी गोरक्षशतक के नामांतर हैं। फुर्कुहर के प्रमाण को उद्धृत कर उन्होंने बताया है कि गोरक्षकल्प नामक ग्रंथ का गोरक्षपद्धति के नाम से हिन्दी में अनुवाद किया गया है।[3] गोरक्षपद्धति में कुल दो शतक हैं। प्रथम शतक को गोरक्षशतक, गोरक्षज्ञान, ज्ञानप्रकाशशतक और ज्ञानशतक भी कहते हैं। दूसरे शतक को योगशास्त्र भी कहते हैं।[4] गोरक्षपद्धति के द्वितीय शतक की हिन्दी टीका में बहुत से ऐसे श्लोक भी हैं, जो हठयोगप्रदीपिका में भी मिलते हैं। गोरक्षशतक टीका, गोरक्षशतकटिप्पणी, गोरक्षकल्प नामक ग्रंथ के भाष्य, परिशिष्ट, टिप्पणी आदि हैं। गोरक्षपद्धति में उसे गोरक्षसंहिता भी कहा गया है। इससे यही स्पष्ट होता है कि गोरक्षशतक इस संप्रदाय का मूलभूत प्रमाण ग्रंथ है। इसे परंपराएँ और प्रमाण गोरक्षनाथकृत स्वीकार करते हैं और उसका समय 12वीं ई० श० स्वीकार करते हैं।[5]

किन्तु गोरक्षशतक अथवा गोरक्षपद्धति को इस प्रकार मूलभूत ग्रंथ मानने के विरुद्ध भी कई तर्क उपस्थित किए जा सकते हैं। प्रथम तथा द्वितीय शतकों की रचनापद्धति से

1. *गो० क० यो०*, पृ० 255—*संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स ऑव द राजा ऑव बीकानेर (मित्र)*, पृ० 576 *तथा अन्य पादटिप्पणियाँ।*
2. *नाथ संप्रदाय*, पृ० 98-100.
3. *गो० क० यो०*, पृ० 225.
4. *ना० सं०, पृ० 99-100.*
5. *गो० क० यो०*, पृ० 255-257.

प्रतीत होता है कि यह ग्रंथ गोरक्षसंहिता के बाद लिखा गया है। क्योंकि वैसी रहस्यवादी प्राचीन परंपरा का प्रयोग इसमें नहीं दिखाई पड़ता जैसा कौलज्ञाननिर्णय में दिखाई पड़ता है। इससे प्रतीत होता है कि किसी परवर्ती नाथयोगी ने इसे गोरक्षनाथ के नाम से प्रसिद्ध कर दिया और वह भी 'गोरक्षसंहिता' और 'हठयोगप्रदीपिका' आदि को आधार बनाकर। 'ग्रंथांतरे' शीर्षक देकर अनेक श्लोक हठयोगप्रदीपिका से उद्धृत किए गए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इसका संग्राहक गोरक्षसंहिता और हठयोगप्रदीपिका को अपना आधार ग्रंथ मानता है। इन दोनों ग्रंथों में से 'गोरक्षसंहिता' को प्रधानती दी गई है। यद्यपि हठयोगप्रदीपिका के श्लोकों को 'ग्रंथांतरे' करके शतक के श्लोकों से पृथक् संख्या देकर उद्धृत किया गया है तथापि 'गोरक्षसंहिता' के श्लोक शतक के श्लोकों में अंतर्भूत हैं। हठयोगप्रदीपिका को ब्रिग्स 15वीं ई० श० की रचना मानते हैं;[1] किन्तु यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि गोरक्षशतक को परवर्ती नाथयोगियों ने इतना आवश्यक तथा महत्वपूर्ण ग्रंथ समझा कि वे लोग उस पर अनेक भाष्य, टीका, व्याख्या आदि की रचना करते रहे। गोरक्षशतक के समान ही सिद्धसिद्धांतपद्धति भी महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इस ग्रंथ के आधार पर भी आगे चलकर सिद्धसिद्धांतसंग्रह, गोरक्षसिद्धसंग्रह जैसे ग्रंथों का निर्माण किया गया। इन ग्रंथों में यत्र-तत्र सिद्धसिद्धांतपद्धति के उद्धरण भी प्रमाण के रूप में मिलते हैं।[2]

इस प्रकार इन संस्कृत ग्रंथों में गोरक्षसंहिता तथा सिद्धसिद्धांतपद्धति नामक दोनों ही महत्वपूर्ण ग्रंथ प्रतीत होते हैं और ये दोनों ही गोरक्षनाथकृत हैं। अमरौघशासनम् और महार्थमंजरी नामक ग्रंथ भी गोरक्षकृत माने जाते हैं तथा विभिन्न दृष्टियों से महत्वपूर्ण हैं। शैवागमों से शैव नाथ मत का सम्बन्धनिरूपण करने के लिए अमरौघशासनम् महत्वपूर्ण है। सांख्ययोग, काश्मीर शैवमत और तंत्रदर्शन के 36 तत्वों के साथ सम्बन्ध विचार के लिए महार्थमंजरी विचारणीय ग्रंथ है।[3] इन आधारों पर दार्शनिक, साधनात्मक तथा सांप्रदायिक विचारधारा के विवेचन की दृष्टि से निम्नलिखित गोरक्षनाथ रचित संस्कृत ग्रंथ प्रामाणिक एवं महत्वपूर्ण कहे जा सकते हैं:—

1. सिद्धसिद्धांतपद्धति, 2. गोरक्षसंहिता, 3.अमरौघशासनम्, 4. महार्थमंजरी।

इनमें से दर्शन की दृष्टि से सिद्धसिद्धांतपद्धति तथा महार्थमंजरी महत्वपूर्ण है तथा साधना की दृष्टि से गोरक्षसंहिता और अमरौघशासनम्। उपर्युक्त ग्रंथों में से शेष इनके सहायक रूप में स्वीकार किए जा सकते हैं। इन चार ग्रंथों में से प्रथम और तृतीय दार्शनिक सिद्धान्त सम्बन्धी विवेचन करते हैं। द्वितीय साधना का स्वरूप-निरूपण करता है तथा चतुर्थ ग्रंथ अध्यात्म का पुट देकर दार्शनिक विवेचन प्रस्तुत करता है। कुछ ग्रंथ

1. *गो० क० यो०*, पृ० 253.
2. *द्रष्टव्य सिद्धसिद्धांतपद्धति, 4.28-29 तथा सि० सि० सं० 4.39.*
3. *नाथ संप्रदाय*, पृ० 99-100.

संपादित होकर प्रकाशित हो चुके हैं। सिद्धसिद्धांतपद्धति के अनेक संस्करण हो चुके हैं किन्तु डॉ० मल्लिक का संपादन अधिक विश्वसनीय है। गोरक्षसंहिता अभी सुसंपादित होकर प्रकाशित नहीं हुई है। अमरौघशासनम् का संपादन श्री मुकुन्दराम शास्त्री ने काश्मीर संस्कृत ग्रंथावली के अन्तर्गत किया है। महार्थमंजरी योगप्रचारिणी सभा, गोरक्षटिल्ला, वाराणसी से प्रकाशित है। इसका दूसरा महत्वपूर्ण संस्करण काश्मीर संस्कृत ग्रंथावली में श्रीनगर से प्रकाशित है। तीसरा संस्करण वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय की योगतंत्र-ग्रंथमाला में वैक्रमाब्द 2029 में प्रकाशित हुआ है। इस संस्करण के संपादक श्री द्विवेदी ने त्रिवेंद्रम् संस्कृत ग्रंथमाला के और विस्तृत संस्करण की चर्चा अपने उपोद्घात (पृ० घ) में की है। अंतिम दोनों संस्करणों को देखने से मत्स्येंद्र-शिष्य गोरक्षनाथ के इसका रचयिता होने में सन्देह होता है। इस पर आगे भी विचार किया गया है।

इन चार महत्वपूर्ण ग्रंथों के प्रतिपाद्य का संक्षेप में नीचे परिचयमात्र दिया जा रहा है—

1. सिद्धसिद्धांतपद्धति—डॉ० मल्लिक द्वारा संपादित इस ग्रंथ में कुल छह उपदेश हैं। प्रथम उपदेश में पिण्डोत्पत्ति, द्वितीय में पिण्डविचार, तृतीय में पिण्डसंवित्ति, चतुर्थ में पिण्डाधार, पंचम में पिण्डपदसमरसकरण, षष्ठ में अवधूतयोगिलक्षण की विवृत्ति है। प्रथम उपदेश में विभिन्न शक्तियों की उत्पत्ति, उनके गुणों, पिण्डों की उत्पत्ति तथा उनके गुणों का वर्णन किया गया है। इसके साथ ही आद्यपिण्ड से महाकाश, महाकाश से महावायु, महावायु से महातेज, महातेज से महासलिल और महासलिल से महापृथ्वी की उत्पत्ति बतलाई गई है। इनके गुणों का विवेचन किया गया है। आगे चलकर नाड़ियों के दश द्वारों, दश वायुओं, गर्भोलिपिंड की उत्पत्ति आदि का विचार किया गया है। इसी क्रम में द्वितीय उपदेश में पिंडस्थ नवचक्रों, उनके स्वरूपों, स्थानों का वर्णन करने के बाद सोलह आधारों, तीन प्रकार के लक्ष्यों का वर्णन कर कहा गया है कि

नवचक्र कलाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम्।
सम्यगेतन्न जानाति स योगी नामधारकः॥[1]

तदुपरान्त यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान और समाधि का विस्तार से वर्णन कर उनके लक्षण बतलाए गए हैं।

तृतीय उपदेश पिंडसंवित्ति में उसे योगी कहा गया है जो पिंड में चर-अचर को जानता है। यह बतलाया गया है कि पिण्ड में ब्रह्माण्ड के किन-किन अंगों एवं तत्वों की वर्तमानता है। दूसरे शब्दों में इसे गोरक्षनाथ द्वारा विवेचित पिण्डब्रह्माण्डसम्बन्ध विचार कहा जा सकता है जिसका ज्ञान योगी को अवश्य होना चाहिए। सर्वप्रथम पिंड में सात पातालों सहित इक्कीस ब्रह्माण्डों का स्थानविचार कर ब्राह्मणादि चारो वर्णों की

1. *सि० सि० प० अ० व० ना०, सिद्धसिद्धांतपद्धति,* पृ० 12, 2.31.

विविधरूपेण स्थिति का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार सात-सात द्वीपों एवं समुद्रों की पिंड में विविधरूपात्मक स्थिति का उल्लेख कर भारतादि विविध खंडों के पिंडस्थ स्थान बतलाए गए हैं। इसी क्रम में अष्टकुलपर्वत एवं उपपर्वतों, नवनदियों, सप्तविंशति नक्षत्रों, द्वादश राशियों, नवग्रहों, तारामण्डल, तीस करोड़ देवताओं, देवदानवादि, कुलनाग, मुनिगण, विभिन्न देवियों एवं शक्तियों, मेघों, तीर्थों, अनंत सिद्धों, चंद्रसूर्य, वृक्षलतादि, कृमि-कीटपतंगादि पिंडनिवास का वर्णन किया गया है। सुख-दु:ख, बन्धन-मुक्ति, निद्रा-जागरण आदि की स्थिति का उल्लेख कर कहा गया है कि सभी शरीरों में विश्वस्वरूप परमेश्वर चित्स्वरूपी परमात्मा अखण्ड स्वभाव से प्रत्येक घट में स्थित रहता है।[1]

चतुर्थोपदेश में पिंडाधार (= शक्ति) का वर्णन करते हुए निजा, परा, अपरा, सूक्ष्मा और कुंडली नाम की पाँच शक्तियों की गणना की गई है। कुलाकुल सामरस्य के प्रकाश की भूमिका के स्फुटीकरण में एकमात्र समर्था शक्ति अपरंपरा शक्ति है। इस प्रकरण में पद्धतिकार ने प्रमाणस्वरूप काश्मीर शैवमत के ललित स्वच्छंद, प्रत्यभिज्ञा, वामकेश्वरतंत्र जैसे ग्रंथों को उद्धृत किया है। अमरौघशासनम् की तरह यहाँ भी एक ही शक्ति के ऊर्ध्व, मध्य एवं अध: नामक तीन भेदों का विवेचन किया गया है और ऊर्ध्वशक्तिनिपात, मध्यशक्तिप्रबोधन तथा अध:शक्तिनिकुंचन के निर्देश दिए गए हैं। इसी प्रकरण में शिवशक्ति के आभ्यंतरत्व से सम्बन्धित प्रसिद्ध श्लोक को भी उद्धृत किया गया है।[2] पंचमोपदेश में पिंडपदपरमपद समरसीकरण की व्याख्या की गई है। महासिद्धयोगियों के द्वारा परपिण्ड, स्वपिण्ड तक का ज्ञान प्राप्त कर उनका परमपद में समरस किया जाता है। परमपद स्वसंवेद्य एवं अत्यंताभासाभासकमय है। इस परमपद को तत्त्वसंहिता का उद्धरण देकर अनिर्वचनीय, अगम एवं स्वसंवेद्य कहा गया है। इस प्रसंग में एकमात्र गुरु ही सन्मार्गदर्शन कराने में समर्थ है। यह सन्मार्ग योगमार्ग है। इतर मार्ग पाषंडमार्ग है। सिद्धान्त तो यह है कि गुरु कटाक्षपात के द्वारा स्वसंवेदन से महासिद्धयोगिगण स्वकीय पिंड के निरुत्थान के माध्यम से समरसीकरण करते हैं।[3] निरुत्थान प्राप्ति के उपाय और परात्परपद के स्वरूपनिरूपण के उपरान्त पिंडसिद्धि की विशेषता बतलाई गई है। पिंडसिद्ध के वेष का जो वर्णन किया गया है उसमें शंख, मुद्रा, केशरोम, अमरीपान,

---

1. *सि० सि० प० अ० व०*, पृ० 16-17—*'एवं सर्वदेहेषु विश्वस्वरूप: परमेश्वर: परमात्मा अखंडस्वभावेन घटेघटे चित्स्वरूपी तिष्ठति। एवं पिण्डसंवित्तिर्भवति।'*
2. *वही*, पृ० 19-21; 4.1-26—*'अस्ति काचिदपरम्परा संवित्स्वरूपा सर्वपिण्डाधारत्वेन नित्यप्रबुद्धा निजा शक्ति: प्रसिद्धा कार्यकारणकर्तृणामुत्थानदशांकुरोन्मीलनेन कर्त्तारं करोति अतएवाधार-शक्तिरिति कथ्यते।' 'मध्यशक्ति प्रबोधेन अध:शक्ति निकुञ्चनात् ऊर्ध्वशक्तिनिपातेन प्राप्यते परमं पदम्॥ शिवस्याभ्यन्तरे शक्ति: शक्तेरभ्यन्तर: शिव:। अन्तरं नैव जानीयाच्चन्द्रचन्द्रिकयोरिव।'*
3. *वही*, पृ० 23, 5.1-7.

मर्दन, एकांतवास, दीक्षा, संध्या, जप, सुरादि से ज्ञानभैरव की पूजा (पाठभेद में 'सुरादिभि:' के स्थान पर 'यथाविधि:' भी मिलता है), शंखध्वनि, सिंहनाद, कौपीन, पादुका, अंगवस्त्र, बहिवस्त्र, कंबल, छत्र, वेत्र, कमंडलु, भस्मत्रिपुंड्र आदि का गुरुवंदनपूर्वक विधान किया गया है; किन्तु तुरन्त इसके बाद ही यह भी कह दिया गया है कि परमार्थत: परंपद वेश से प्राप्त नहीं होता। लोकप्रत्यय के हेतु से ही वेष विधान किया गया है।[1] इसी प्रकरण में योगमार्ग की अर्हता की व्याख्या में सिद्धयोगियों के योगज्ञान अथवा योगयुक्तज्ञान अमिधावाले साधनमार्ग की विवृति कर कहा गया है कि ज्ञान की प्राप्ति की युक्तियों में योग ही सुसज्ज उपाय है।[2] सहज, संयम, सोपाय और अद्वैत नामक क्रम से इस परमपद को उपलक्षित कराया गया है।[3] इसमें सहज शब्द विशेषकर इसलिए महत्वपूर्ण है कि इसी सहज शब्द को कुछ विद्वान् नाथों में बौद्धों से आया हुआ मानते हैं। पद्धतिकार के अनुसार विश्वातीत परमेश्वर विश्वरूपेण अवभासमान है एवं 'एकमेव' है। इसका स्वस्वभाव से जो ज्ञान प्राप्त किया जातौ है उसे ही सहज ज्ञान कहा जाता है। दूसरे इससे यह भी प्रकट है कि 'पद्धति' के मत से विश्वातीत परमेश्वर ही विश्वरूप में अवभासमान होता है अत: निश्चयत: यह मत शांकर अद्वैत से सर्वथा भिन्न है। यद्यपि यह मत भी अद्वैतवादी ही है और इससे इसका काश्मीराद्वैत से अभिन्नत्व भी सिद्ध होता है। इस अद्वैत परमपद का ज्ञान केवल सद्गुरुमुख से होता है, कोटिशास्त्रों, तर्क, शब्द, आचार, वेदपाठ, वेदांतश्रवण, तत्वमसि आदि के बोधन, हंसोच्चारण, जीवब्रह्मऐक्यभावन, ध्यान, लय आदि से नहीं।[4] इस परम पद को प्राप्त करनेवाले सिद्ध को लीलापूर्वक ही सभी सिद्धियाँ क्रमश: प्राप्त होती हैं। इस प्रकार द्वादश वर्षों में वह अंतत: शिवतुल्य होकर स्वयं कर्ता और हर्ता हो जाता है और फिर वह सिद्धयोगी कहा जाता है। पाँच प्रकार के गुरुकुलसंतानों (आई संतान, विश्वेश्वर संतान, विभूति संतान, नाथ संतान, योगीश्वर संतान) के परवर्ती विकारों एवं गुणों का वर्णन करने के बाद उनके देवताओं (क्रमश: ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव) की गणना की गई है। आसन, वैराग्य, अन्नाहार, प्राणधारण, जप, तप, ध्यान, यज्ञ, तीर्थसेवन, देवार्चन, भक्ति, आश्रमपालन, षड्दर्शन, केशादिधारण, मुंडन तथा अनंत उपायों से भी परमपद की प्राप्ति नहीं होती। सिद्ध पुरुष इन सभी दैहिक साधनों का परित्याग कर परमपद में अदैहिक रूप में स्थित रहते हैं। दृढ़ सत्यवादियों को इस प्रकार की स्थिति गुरु के दृगपात-मात्र से होती

1. *सि० सि० प० अ० व०* पृ० 25, 5.19—*'पर पदं न वेषेण प्राप्यते परमार्थत:। देहमूलं हि वेषं स्याल्लोकप्रत्ययहेतवम्॥'*
2. *वही,* पृ० 25, 5.22—*'शास्त्रेष्वन्येषु सर्वेषु शिवेन कथित: पुरा। योग:सन्नहनोपायो ज्ञानसंगतियुक्तिषु॥'*
3. *वही,* पृ० 25, 4.25.
4. *वही,* पृ० 26, 5.33 *तथा आगे।*

है। इसी प्रकार स्वगुरु के कथन, शक्तिपात, पांदावलोकन अथवा प्रसाद से परमपद की प्राप्ति होती है।[1] गुरुमहिमा का व्याख्यान करने के साथ ही भ्रामक गुरु के त्याग का भी उपदेश दिया गया है।[2]

षष्ठोपदेश में बहुत विस्तार से अवधूतयोगी के लक्षणों की विवृत्ति की गई हैं। सभी प्रकृतिजनित विकारों का अवधूनन करनेवाला योगी ही अवधूत योगी है। धूनन का अर्थ है कंपन अथवा चालन। वह दैहिक प्रपंचों अथवा विषयों में संगत मन का परिग्रहण कर उन विषयों से उसे प्रत्याहृत कर स्व उच्च धाम में अपनी चेतना को लीन करनेवाला, आदिमध्यान्तनिधनभेद से वर्जित एवं प्रपंचशून्य होता है।[3] 'अवधूत' अमिधा की विस्तार से व्याख्या करने के उपरान्त कहा गया है कि इस प्रकार जो योगी सभी दर्शनों का स्वस्वरूप दर्शन में समन्वय करता है, वह अवधूत योगी कहा जाता है।[4] इसी प्रकरण में मुद्रा की शारदातिलक से मिलती-जुलती व्याख्याएँ दी गई हैं।[5] तदुपरान्त ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी, संन्यासी, त्रिदंडी, एकदंडी का तत्त्वार्थकथन किया गया है। पद्धतिकार के अनुसार शुद्ध, शांत, निराकार, परानंद, सदोदित शिव को जाननेवाला शुद्ध, बुद्ध व्यक्ति ही शैव होता है।[6] इसी प्रकार गोरक्षनाथ ने तापस, पाशुपत, कालमुख,लिंगधारी, नग्न दिगंबर, कापालिक, महाव्रती का तथा शाक्त के तत्त्वार्थ का निरूपण किया है[7] जिससे यह प्रकट होता है कि यद्यपि गोरक्षनाथ के समय में ये सभी साधक वर्ग विद्यमान थे; किन्तु उनमें नामधारकत्व-मात्र ही प्रधान था तथा वे वस्तुतः साधक एवं स्वलक्ष्यानुधावक नहीं थे। इसीलिए गोरक्ष को उनका तत्त्वार्थनिरूपण करना पड़ा। इसी प्रकार वैष्णव, भागवत, भेदवादी, पांचरात्रिक, सदाजीवी, सात्त्विक,सूक्ष्मसात्त्विक, सत्यवादी, कलंकी, क्षपणक के विषय में भी कहा गया है।[8] गोरक्षनाथ द्वारा प्रस्तुत सिद्धयोगी की व्याख्या विशेष महत्वपूर्ण है। शिव (संकोच) और शक्ति (प्रसर) का योगकर्ता ही सिद्धयोगी कहा जाता है। विश्वातीत एवं विश्व दोनों का जो सदा संयोग करता है, जो अपनी सभी वृत्तियों का लय करता है, जो उदासीन, शांत, स्वस्थ, अंतर्निजभासक, महानंदमय, धीर, परिपूर्ण,

1. *सि० सि० प० अव०* पृ० 26-29, 5.34-62.
2. *वही,* पृ० 29-31, 5.63-81.
3. *वही,* पृ० 32, 6.1—'*यः सर्वान् प्रकृतिविकारान् अवधूनोतीत्यवधूतः। योगोऽस्यास्तीति योगी। धूञ् कम्पने इति धातुः कम्पनार्थे वर्तते। कम्पनं चालनं देह-दैहिक-प्रपंचादिषु विषयेषु संगतं मनः परिगृह्य तेभ्यः प्रत्याहृत्य स्वधाममहिम्नि परिलीनचेताः प्रपञ्चशून्य आदिमध्यान्तनिधन-भेदवर्जितः ॥ 1 ॥*'
4. *वही,* पृ० 34 *तथा* पृ० 35, *श्लोक* 33.
5. *वही,* पृ० 35, 6.31.
6. *वही,* पृ० 35, 6.34-40.
7. *वही,* पृ० 6.42-53.
8. *वही,* पृ० 37, 6.54-64.

प्रसन्नात्मा, विशुद्ध, निर्भरानंद, सर्वानंदकर, सुधी, सर्वानुग्रहधी होता है, गत के लिए शोक नहीं करता, विभव में वांछा नहीं करता, प्राप्ति पर हर्षित नहीं होता, आनंदपूर्ण एवं निजबोध में लीन रहता है, वह कालपथ से भी कभी बाधित नहीं होता। ऐसा ही अवधूत सद्गुरु होता है।[1] विभिन्न दार्शनिक मतों का परपक्ष के रूप में निरास करते हुए गोरक्षनाथ ने सिद्धमत का विस्तार से प्रतिपादन किया है। किंबहुना उन्होंने विभिन्न प्रकार की कष्टकर शारीरिक साधनाओं का भी खंडन करते हुए कहा है कि जब योगी घंटा, काहल, काल मर्दल, महाभेरी प्रभृति वाद्य निनाद के समान पिंड तथा ब्रह्माण्ड में सर्वव्यापक अनाहत नाद को सम्यकतया एवं निरंतरतया सदा सुनते हैं तभी उनका सिद्ध पद समुचित होता है एवं परम तत्व का लाभ होता है।[2] योगियों के भंडत्व के उद्घाटन के उपरान्त 'आदेश', 'कुंडल', कौपीन, खर्पर, भजन आदि के सिद्धार्थ की व्याख्या की गई है और तदनंतर 'अधिकार' का विवेचन किया गया है।[3] इस प्रकार गोरक्षनाथ ने इस ग्रंथ द्वारा अपने मत के दर्शन, साधन, संप्रदायादि का बहुविध विस्तृत विवेचन किया है।

2. महार्थमंजरी—यह ग्रंथ महेश्वरानंद प्रणीत है और स्वयं उन्हीं की लिखी हुई 'परिमल' नाम की व्याख्या से संवलित है। परिमल के एक आरंभिक श्लोक से ज्ञात होता है कि गोरक्ष का अपर नाम महेश्वरानंद है और यह नाम आध्यात्मिक गुरुत्व की दृष्टि से है।[4] इसी प्रकार एक श्लोक से यह भी ज्ञात होता है कि स्वप्नकाल में सुमुखी सिद्धयोगिनी देवी साक्षात् हुई और उन्होंने उस समय अपनी भाषा में 70 गाथाएँ उच्चरित कीं।[5] महार्थमंजरी के कर्ता महेश्वरानंद नाथसंप्रदाय के नवनाथों में महत्वपूर्ण गोरक्षनाथ से अभिन्न थे, इस पर पर्याप्त विवाद है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसे गोरक्षकृत ग्रंथों की सूची में गिना है और यह माना है कि काश्मीरी परंपरा के अनुसार इसके रचयिता महेश्वरानंद गोरक्षनाथ ही हैं।[6] किन्तु श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी ने अनेक तर्कों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि महार्थमंजरी के रचयिता महेश्वरानंद शिवानंद के प्रशिष्य थे और उनका समय 14वीं शताब्दी था। महेश्वरानंद ने स्वयं परिमल व्याख्या भी

1. *सि० सि० प० अ० व०* पृ० 37-38, 6.65-72.
2. *वही*, पृ०41, 6.91—*'घण्टाकाहल-कालमर्दल-महा-भेरीनिनादं यदा। सम्यङ् नादमनाहतध्वनिमयं शृण्वन्ति चैतादृशम्॥ पिण्डे सर्वगतं निरन्तरतया ब्रह्माण्डमध्येऽपि वा। तेषां सिद्धपदं ततः समुचितं तत्वं परं लभ्यते॥ 91॥'*
3. *वही*, पृ० 42-44, 6.96-117.
4. *महार्थमञ्जरी, सं० पं० व्रजवल्लभ द्विवेदः, वाराणसेय-संस्कृत-विश्वविद्यालय, सं० 2029,* पृ० 4, *श्लोक 7—'गोरक्षो लोकधिया देशिकदृष्ट्या महेश्वरानन्दः। उन्मीलयामि परिमलमन्तर्ग्राह्यं महार्थमञ्जर्याम्॥'*
5. *वही*, पृ० 5, *श्लोक 12—'स्वप्नसमयोपलब्धा सा सुमुखी सिद्ध योगिनी देवी। गाथाभिः सप्तत्या स्वापितभाषाभिरस्तु सम्प्रीता॥'*
6. *नाथ संप्रदाय*, पृ० 100.

लिखी है। उन्होंने कहीं भी मत्स्येंद्रनाथ का स्मरण ही नहीं किया और न परिमल के सिद्धान्तों के साथ हठयोगी नाथ संप्रदाय के प्रवर्तक के सिद्धान्तों की समता ही दिखाई पड़ती है। शिवानंद ने ऋजुविमर्शिनी में सोमशंभु, नागभट्ट आदि को उद्धृत किया है। ये सभी मत्स्येंद्र और गोरक्ष के परवर्ती हैं। सभी तर्कों एवं प्रमाणों के आधार पर श्री द्विवेदी ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि महार्थमंजरी के रचयिता महेश्वरानंद नाथ संप्रदाय के प्रवर्तक गोरक्षनाथ कथमपि नहीं हो सकते। रचयिता महेश्वरानंद का स्थितिकाल ईसा की चौदहवीं शताब्दी में किसी समय स्वीकार करना चाहिए।[1] किन्तु श्री द्विवेदी ने 'अपर पर्याय गोरक्ष' पर यहाँ कुछ विचार नहीं किया। अतः अभी भी अंतिम रूप से यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि महेश्वरानंद और गोरक्षनाथ दो भिन्न व्यक्ति हैं तथा महार्थमंजरी गोरक्षनाथ की रचना नहीं है।

इस ग्रंथ की सामग्री देखकर निम्नलिखित बातें सार रूप में कही जा सकती हैं। इस ग्रंथ की सत्तर गाथाओं की भूमिका में यह स्पष्ट किया गया है कि परमेश्वर आत्मस्वरूप से अविभिन्न है। इस परमेश्वर के परामर्श अथवा ध्यान अथवा चिंतन का उपाय ही इसका प्रतिपाद्य है। इस ग्रंथ में महेश्वरानंद ने आत्मतत्त्व के लिए प्रमाण की अनुपयोगिता, अधिकारिविभाग, विधिनिषेध, संसार-स्वरूप, षट्त्रिंशतत्व, परमार्थ, विश्व का प्रकाशविमर्शान्तर्भाव, परमेश्वर-सपर्या, सपर्या-स्वरूप, देवता स्वभाव, मंत्रतत्त्व, वाग्वृत्ति, मुद्रा, जीवन्मुक्ति, क्षणभंगवाद का निरास, स्वात्मविमर्श का सद्यः सिद्धिप्रत्यायन, विमर्शलाभ की गुरुकटाक्षाधीनता आदि विविध बिन्दुओं पर विचार किया है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसका विषय 36 तत्त्वों की व्याख्या माना है।[2] कुछ लोग इसमें परमेश्वर पूजा का मंत्र-मुद्रा समन्वित विधान देखकर उसी का प्राधान्य मानते हुए तांत्रिक कर्मकाण्ड का प्रामुख्य स्वीकार करते हैं।[3] जैसा पहले कहा जा चुका है, वस्तुतः इसमें आत्मस्वरूप से अविभिन्न परमेश्वर के चिन्तन के उपाय का प्रतिपादन है।[4] इसके अंतर्गत उपर्युक्त सभी निर्दिष्ट प्रतिपाद्य आ जाते हैं। इसमें 36 तत्त्वों का जो विचार है वह काश्मीर शैव मत के सर्वथा अनुकूल है। यदि यह ग्रंथ मत्स्येंद्र-शिष्य गोरक्षनाथ की ही रचना है तो इससे उनका काश्मीर शैवागम परंपरा से घनिष्ठभावेन संबद्ध होना प्रमाणित होता है।

3. अमरौघशासनम्—काश्मीर संस्कृत ग्रंथावली के अन्तर्गत 19, 20 एवं 21वीं पुस्तक एकसाथ प्रकाशित हैं जिनमें से बीसवीं पुस्तक अमरौघशासनम् है। इसके साथ प्रकाशित अन्य दो पुस्तकें हैं—जन्ममरणविचार (19) तथा तंत्रवटधानिका (21)

1. *महार्थमञ्जरी, सं० व्रजवल्लभ द्विवेदी, उपोद्घात,* पृ० ङ.-च।
2. *नाथ संप्रदाय,* पृ० 100.
3. *महार्थमञ्जरी, सं० व्रजवल्लभ द्विवेदी,* पृ० 79-127.
4. *वही,* पृ० 2, *'अथ यदेतदात्मस्वरूपाविभिन्नपरमेश्वरपरामर्शोपायप्रतिपादन।'*

अमरौघशासनम् में स्पष्टत: दो विभाग दिखाई पड़ते हैं। प्रथम विभाग में 'सारणा' का विवेचन है और द्वितीय विभाग में सिद्धसिद्धांतपद्धति में विवृत्त सिद्धांतों का संक्षेप कर नाड़ियों, ग्रंथियों, कुंडलिनी, चक्रों, अमृतसाधन आदि का परिचय देते हुए महेश्वर परमात्मा की ओर संकेत किया गया है।

प्रारंभ में सारणा का विस्तार से विवेचन किया गया है। यह धातुओं की, विशेषकर पारे के शोधन अथवा संस्कार की एक विशेष प्रकार की प्रक्रिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि शरीर के विभिन्न प्रकार के शोधन की प्रक्रिया का यहाँ इस ग्रंथ में विधान किया गया है। गोरक्षनाथ ने इस ग्रंथ में सिद्धसिद्धांतपद्धति के समान ही ऊर्ध्वशक्तिनिपात, अध:शक्तिनिकुंचन तथा मध्यशक्तिप्रबोधन से परमसुख की उपलब्धि बतलाई है। इस कार्य के लिए परासारणा, प्रतिसारणा, शंखसारणा, महासारणा की व्याख्या की गई है। इस सारणा-साधना में मुख्य रूप से प्राणसाधना, नाड़ीसाधना, कुंडलीसाधना तथा सिद्धकाया प्राप्ति को स्थान दिया गया है।[1] अन्त में शब्दब्रह्म की साधना एवं नादोपासना का विवेचन है। यह भी बताया गया है कि वंशी, शंख, मेघनिर्घोष, कांस्य ताल, मेघशब्द, अग्निदाह, दुंदुभिस्वन आदि विभिन्न प्रकार के नाद इस क्रम में सुनाई पड़ते हैं। इनसे प्राप्त होनेवाली जनवात्सल्य, रोगनाश, कवित्व, दूराकर्ष, भूमिपरित्याग, वज्रत्व, कायास्फुरण, सामरस्य आदि विभिन्न सिद्धियों की भी चर्चा की गई है। अन्त में कहा गया है कि दिवारात्रि ध्वनित होनेवाले इस अनाहत में जो योगी आरूढ़ रहता है, वह परमपद को प्राप्त करता है।[2]

दूसरे भाग में विभिन्न दर्शन एवं साधन संप्रदायों द्वारा स्वीकृत मोक्षस्वरूपों का खंडन करते हुए कहा गया है कि कोई शुभ कर्म के विच्छेदन को मोक्ष कहता है, कोई मोक्ष को वेदपाठाश्रित मानता है, कोई मोक्ष को निरालम्ब मानता है, 'कोई ध्यान कला-करण-संबद्ध प्रयोग से उत्पन्न रूप-बिंदु-नाद, चैतन्य-पिंड आकाश' को मोक्ष मानता है। कुछ लोग कहते हैं कि पूजा, पूजक, मद्य-मांस, सुरतादि से उत्पन्न आनंद मोक्ष है। कुछ के अनुसार मूलकंद से उल्लखित कुंडलिनी का संचार मोक्ष है। कुछ लोगों की दृष्टि से समदृष्टि निपात की मोक्ष है।[3] गोरक्षनाथ ने इस प्रकार के विभिन्न सात मतों द्वारा स्वीकृत मोक्षस्वरूपों को अस्वीकार कर स्वयं स्वीकृत मोक्ष स्वरूप बतलाया है—सहजसमाधिक्रम से जहाँ मन से मन का समावलोकन किया जाता है, वहीं मोक्ष है।[4] इस प्रकार अमरौघशासनम् में जीवन्मुक्तिपद को ही स्वीकार किया गया है। यहाँ कुंडलिनी मृणालसूत्रपरिमाणवाली, शंखावर्ता, प्रवालांकुरसन्निभा बताई गई है। 'लंपिका'

1. *अमरौघशासनम्, सं० पं० मुकुन्दराम शास्त्री,* पृ० 1-4.
2. *वही,* पृ० 4-5.
3. *वही,* पृ० 8-9.
4. *वही, पृ० 9—'यत्र सहजसमाधिक्रमेण मनसा मन: समालोक्यते स एवं मोक्ष: ।'*

(उपजिह्वा=कौवा) स्थान से ऊपर अमृतधारा का अभिस्राव बताया गया है। शंखिनीमुख को दशमद्वार निर्दिष्ट करते हुए कहा गया है कि मूल भगमंडल के पास से, जहाँ से कुंडलिनी निर्गत होती है, उसके वाम भाग से सोमनाडिका तथा दक्षिण भाग से सूर्यनाडिका निकलती है। चन्द्र वामांगव्यापक है तथा सूर्य दक्षिणांगव्यापक। इसी प्रकार चंद्र वामांग में वाम नासापुट में है तथा सूर्य दक्षिणांग में दक्षिण नासापुट में। इस प्रकार अमरौघशासनम् में सूर्य-चंद्र-व्यवस्था बताई गई है।[1] तदुपरान्त विभिन्न चक्रों, पवनों, पद्मों तथा तद्गत तत्त्वों की स्थिति का निर्देश करते हुए बताया गया है कि नासाग्र में आकाशतत्त्व है और उसके ऊपर आज्ञा का स्थान है। उसके बाद ग्रंथिषोडश के बाद अमृता षोडशी कला स्थित है। यह वालशतधाश्रया है। उसके ऊपर बिन्दु है। बिन्दुभेद के अनंतर शृंगाटक (चतुष्क) की आकृति का मस्तक है जो चित्त के लय का स्थान है। ज्ञानशक्ति उसी का आश्रयण करती है। वहीं शक्तित्रय से अलंकृत, चिद्दर्पण के प्रतिबिंब के समान, विविध भावकला से कलित, संसार की चेष्टा के अवलोकन में कुशल, सुप्तावस्था में जलचंद्रवत् दिखाई पड़नेवाला वह तत्त्व है जो परमात्मा सर्वव्यापक महेश्वर है और वही चतुर्दशविधभूतग्रामकर्ता है।[2] इन दोनों भागों का युगपत् संबद्ध अध्ययन करने से पिंडज्ञान तथा नाथमतानुमोदित योगसाधना से प्राप्त कायसिद्धि अथवा अमृतसाधन का ज्ञान होता है। यों कहा जा सकता है कि अमरौघशासनम् गोरक्ष के नाम के सिद्धान्त एवं साधना का संक्षिप्त परिचय ग्रंथ है।

4. गोरक्ष संहिता—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सभी गोरक्ष-ग्रंथ-सूचियों की परीक्षा कर बताया है कि प्रायः सभी में इस पुस्तक का नाम आता है। उन्होंने पं० प्रसन्नकुमार कविरत्न द्वारा 1897 ई० में प्रकाशित एकमात्र संस्करण का उल्लेख कर यह बताया है कि अब यह पुस्तक खोजे नहीं मिलती। डॉ० बागची ने कौलावलिनिर्णय की भूमिका में नेपाल दरबार लाइब्रेरी में प्राप्त प्रति के कुछ अंशों को उद्धृत किया था। इसके अनेक श्लोक अविकल रूप में मत्स्येंद्रनाथ रचित अकुलवीरतंत्र नामक ग्रंथ से मिलते हैं। डॉ० द्विवेदी के अनुसार दोनों का प्रतिपादन भी एक ही है।[3] प्रस्तुत लेखक को काठियावाड़ांतर्गत प्रभासपाटण से श्री भगवान् त्रिवेदी के पुत्र श्री इंद्रजी शर्मा द्वारा शकाब्द 1816 वैक्रमाब्द 1950 (सन् 1893 ई०) में प्रकाशित गोरक्ष संहिता की एक प्रति मिली है जिसकी एक टंकित प्रति मेरे पास सुरक्षित है जिसके आधार पर इस ग्रंथ का संक्षिप्त विवरण नीचे प्रस्तुत है। इस ग्रंथ की प्राचीनता और प्रामाणिकता के विषय में यत्किंचित् पहले कहा जा चुका है। गोरक्षपद्धति नामक ग्रंथ का हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशन पं० महीधर शर्मा ने किया था। उसके प्रथम शतक के तीसरे से आगे के सभी श्लोक इस

1. *अमरौघशासनम्,* पृ० 10-11.
2. *वहीं,* पृ० 12-13.
3. *नाथ संप्रदाय,* पृ० 100-101.

गोरक्ष संहिता के ही प्रतीत होते हैं। चौथे श्लोक में गोरक्षसंहिता ग्रंथ का नाम लिया गया है जबकि गोरक्षसंहिता के चौथे श्लोक में 'गोरक्षशत' के कथन की बात कही गई है। गोरक्षसंहिता का प्रथम श्लोक गोरक्षपद्धति का द्वितीय श्लोक है। गोरक्षसंहिता का द्वितीय श्लोक गोरक्षपद्धति में नहीं मिलता। इस श्लोक में गोरक्षनाथ ने मीननाथ की वंदना की है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि गोरक्षसंहिता वह मूलग्रंथ है जिसका संपादन, संक्षेपण विभिन्न रूपों में बाद में किया गया।

गोरक्षसंहिता का यह संस्करण दो शतकों में विभाजित है। प्रथम शतक में षडङ्ग योग के अंगों में आसन, प्राणसंरोध, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि की गणना की गई है। यद्यपि आसनों की संख्या अनंत है तथापि उनमें से सिद्धासन और कमलासन का पूरा स्वरूप और क्रिया उद्घाटित की गई है। देहस्थ षट्चक्र, षोडषाधार, त्रिलक्ष्य, व्योमपंचक, एकस्तम्भ, नवद्वार और पंचदैवत को जानना योगी के लिए अनिवार्य कहा गया है। आधारचक्र को चतुर्दल, स्वाधिष्ठान को षट्दल, नाभिस्थित पद्म को दशदल, हृदयस्थित चक्र को द्वादशदल, कंठस्थित विशुद्धाख्य को षोडशदल तथा भ्रूमध्यस्थित आज्ञा को द्विदल पद्म बताया गया है। ब्रह्मरंध्र महापथ सर्वोपरि सहस्त्रदल पद्म है। इन चक्रों के स्वरूपों का वर्णन कर इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, गांधारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलंबुषा, कुहू और शंखिनी नाम की दस नाड़ियों की गणना कर उनके स्थानों का निर्देश किया गया है। इसी प्रकार दस वायुओं और उनके स्थानों के उल्लेख के साथ उनकी क्रिया और गति का वर्णन कर अजपा गायत्री के स्वरूप और महत्व का व्याख्यान किया गया है। प्राणवायु के द्वारा उत्तेजित किए जाने पर शक्ति के जागरण एवं चालन का विधान करते हुए शक्तिचालन मुद्रा के स्वरूप और तदभ्यासी के लिए नियम का विस्तृत विधान किया गया है। इसी क्रम में महामुद्रा, खेचरीमुद्रा, उड़ीयानबंध, जालंधरबंध, महाबंध की क्रियाओं की व्याख्या की गई है। तदन्तर प्रणवाभ्यास, प्राणायामप्रकार, नाड़ीशोधन, प्राणायामविधि का वर्णन किया गया है।

द्वितीय शतक के प्रारम्भ में पूरक, रेचक और कुंभक नामक प्राणायाम के तीन प्रकारों का वर्णन कर उनकी मात्रा एवं अवधि का परिचय देकर स्थान, क्रिया आदि का उल्लेख करते हुए कुंभकादि के भी भेदों का वर्णन किया गया है। प्राणायाम के परवर्ती साधनांगों के परस्पर विकासोन्मुख सम्बन्धों एवं परिणामों का निर्देश कर समाधि का स्वरूप बताया गया है जिसमें कुंडली का भी उल्लेख है। प्राणवायु के सहस्त्रदल कमल में पहुँचने पर विभिन्न वाद्यों की ध्वनि के प्राकट्य से योगसिद्धि के सामीप्य का अनुमान कराया गया है। तदुपरान्त प्रत्याहार का हठयोगात्मक स्वरूप स्पष्ट किया गया है जिसमें विभिन्न चक्रों के भी योग का निर्देश है। पातंजल अष्टांग योग के क्रम के अनुसार ही प्रत्याहार के बाद पाँच प्रकार की पंचभूतानुसारी धारणा तथा उनके फल का वर्णन है। सुरक्षित टंकित प्रति में केवल यहीं तक गोरक्षयोग का वर्णन मिलता है। ध्यान एवं समाधि

का विवेचन इस संस्करण में अज्ञात कारणवश उपलब्ध नहीं है। गोरक्षपद्धति से शेष दोनों अंगों का परिचय प्राप्त किया जा सकता है।

उक्त चारों ग्रंथों की इस विषयसामग्री को देखते हुए गोरक्ष साहित्य का मुख्य प्रतिपाद्य योग और उसकी सहायता से प्राप्त ज्ञान ही प्रतीत होता है जिसमें पिंडब्रह्माण्डवाद और हठयोग को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

नवाँ परिच्छेद

गोरक्षनाथ का दर्शन

गोरक्षनाथ के दर्शन के मूल आधार ग्रंथ संस्कृत में हैं। ऊपर जिन संस्कृत रचनाओं की ओर संकेत किया गया है, उनमें गोरक्षदर्शन का तत्त्वविज्ञान बहुत ही पुष्ट रूप में प्रकाशित हुआ है। अन्य बहुत से भारतीय दर्शनों की तरह ही गोरक्षदर्शन के तत्त्वविज्ञान का मूलाधार सांख्य का तत्त्वविज्ञान है। सिद्धसिद्धांतपद्धति में काश्मीर शैव दर्शन के 36 तत्त्वों का पूरा समाहार किया गया प्रतीत होता है। वस्तुत: इस तत्त्वविज्ञान का मुख्य लक्ष्य नाथों का 'पिंडब्रह्माण्डवाद' है। पिंड और ब्रह्माण्ड की समतत्त्वता और समपदार्थता सिद्ध करने के लिए दार्शनिक आधार के रूप में इस तत्त्वविज्ञान का विकास किया गया, ऐसा प्रतीत होता है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० कल्याणी मल्लिक आदि ने इस तत्त्वविज्ञान का विस्तार से विवेचन किया है।

गोरक्षनाथ के तत्त्वविज्ञान के अनुसार प्रलयावस्था में शिव कार्य कारण के चक्र संचालन से विरत, कुल-अकुल-भेद से परे और अव्यक्त रहते हैं।[1] इस अवस्था को सिद्धसिद्धांतसंग्रह में 'स्वयं' कहा गया है। इस परम शिव में सिसृच्छा उत्पन्न होने पर उन्हें सगुण शिव कहा जाता है। यह सिसृच्छा ही शक्ति है, जिसके उत्पन्न होते ही शिव और शक्ति दो तत्त्व हो जाते हैं जो इस स्थिति में अभिन्न रहते हैं। इसके बाद इन दोनों तत्त्वों का पाँच अवस्थाओं में विकास होता है, जो संक्षेप में इस प्रकार है—

शिव	शक्ति
1. अपर	:1. निजा (स्फुरित होने की पूर्ववर्तिनी, स्फुरित होने को उपक्रांत)।
2. परम	:2. परा (स्फुरणोन्मुख)।
3. शून्य	:3. अपरा (स्पंदित होती है)।
4. निरंजन	:4. सूक्ष्मा अहंता। 'मैं'-पन का पृथक्ता का भाव।
5. परमात्म[2]—इस अवस्था	:5. कुंडली।[3]—(अपनी पृथक्ता में पूर्ण सचेत

1. *सिद्धसिद्धांतसंग्रह, 1-4, ''कार्यकारणकर्तृत्वं यदा नास्ति कुलाकुलम्। अव्यक्तं परमं तत्त्वं स्वयं नाम तदा भवेत॥'' पृ० 1.*

2., 3. *'ततोऽस्मिता पूर्वमर्चिर्मात्रं स्यादपरं परम्। तत्स्वसंवेदनाभासमुत्पन्नं परमं पदम्। स्वेच्छामात्रं ततः शून्यं सत्तामात्रं निरञ्जनम्। तस्मात्ततः स्वसाक्षाद्भूः परमात्मपदं मतम्।' सि०सि०सं०*, पृ० 2, *उप०* 1, *श्लोक* 14-15.

में शिव विश्वप्रपंच की उत्पत्ति पालन और संहार में समर्थ होते हैं।	इसी शक्ति की सहायता से शिव इस विश्वप्रपंच की उत्पत्ति, पालन और संहार में समर्थ होते हैं)।

यह कुंडली वेदांतिक ब्रह्म की शक्ति 'माया' से भिन्न है। यह चिच्छक्ति, चिच्छीला, चिद्रूपिणी, अनंतरूपा और अनंत शक्तिरूपा है। जगत् इसी शक्ति का परिणाम है और यही शक्ति जगत् रूप में परिणत होती है। इसे वेदनशीला भी कहा गया है और इसके अन्य शक्तियों के समान ही पाँच गुण पूर्णता, प्रतिबिंबता, प्रबलता, प्रोच्चलता, प्रत्यंगमुखता बताए गए हैं।[1] इसके बाद यह शक्ति सृष्टिक्रम को अग्रसर करने के लिए क्रमशः स्थूलता की ओर अग्रसर होती है। शिव और शक्ति के बाद तीन परवर्ती क्रमविकास हैं—3. सदाशिव, अहंप्रधान, 4. ईश्वर, इदंप्रधान, 5. शुद्धविद्या, उभयप्रधान,[2] शिव क्रमशः उपर्युक्त पाँच अवस्थाओं (आनंदों) से होते हुए 'जीव' रूप की ओर अग्रसर होते हैं। वे क्रमशः स्थूल से स्थूलतर होते जाते हैं। इसी प्रकार गोरक्ष के तत्वविज्ञान के अनुसार तत्वविकास (सृष्टिप्रक्रिया) में क्रमशः निम्नलिखित 36 तत्व उत्पन्न होते हैं—उपर्युक्त 5 और 6. माया, 7-11. पंचकंचुक, 12.पुरुष, 13.प्रकृति, 14.महत्, 15. अहंकार, 16-20. पंचतन्मात्र, 21-31. एकादश इंद्रिय, 32-36. पंचभूत।[3]

वस्तुतः यह सारा विकास सिद्धसिद्धांतपद्धति में 'पिंडोत्पत्ति' के प्रकरण में वर्णित है। अतः इस सारे विकास को पिंडोत्पत्ति के अनुसार विभाजित किया गया है। 1.परपिंड (तत्त्व 1-2), 2. आद्यपिंड (3-5), 3. साकार पिंड (तत्त्व 6-13), 4.प्राकृत पिंड (तत्त्व 14-20), 5. अवलोकन पिंड (तत्त्व 21-31), 6. गर्भ पिंड (तत्त्व 32-36)। गर्भ पिंड स्थूलतम पिंड है और सृष्टिप्रक्रिया में अंतिम स्थूलतम विकास है।[4]

स्पष्ट है कि ऊपर की प्रक्रिया ब्रह्माण्ड और पिंड की समतुल्य विकास-प्रक्रिया है। भेद केवल सत्व, रज, तम, काल और प्राणशक्ति की न्यूनता और अधिकता के कारण है। यहाँ तक कि प्रत्येक परमाणु तक में उन सभी तत्वों की सत्ता स्वीकृत है। पिंड मानो ब्रह्माण्ड का संक्षिप्त संस्करण है।[5] इस प्रकार परशिव (स्वयं) की अवस्था ही परम अवस्था है।

---

1. *नाथ संप्रदाय,* पृ० 104, *सिद्धसिद्धांतसंग्रह—'चिच्छीलान्कुण्डलिन्यतः'—1-6, सिद्धसिद्धांत पद्धति—'ततो वेदनशीला कुण्डलिनी शक्तिरुद्गता॥—1-7, पूर्णता, प्रतिबिम्बता, प्रबलता, प्रोच्चलता, प्रत्यङ्मुखता इति पंचगुणा कुण्डलिनी शक्तिः॥'—1-12.*
2. *नाथ संप्रदाय, पृ० 105 तथा पादटिप्पणी।*
3. *वही,* पृ० 109.
4. *वही,* पृ० 107-109.
5. *वही,* पृ० 110, *सिद्धसिद्धांतसंग्रह,* पृ० 18—*''ब्रह्माण्डवर्ति यत्किंचित् पिण्डेऽप्यस्ति सर्वथा''।*

नाथमार्ग को कुछ विद्वान् अद्वैतवादो मानते हैं। लेकिन शांकर अद्वैतवाद से स्पष्ट भेद है। काश्मीर शैवाद्वैत दर्शन से इसका स्पष्ट नैकट्य है। सामरस्या, शक्तिकल्पना, परमशिव, सगुण शिव, जगत् का अमिथ्यात्व, परम शिव की इच्छा-शक्ति और उसका विकास, पिंडब्रह्माण्डवाद आदि विचार और सिद्धान्त ऐसे ही हैं। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि नाथ सिद्धाचार्य अपना भेद स्थिर करने के लिए सिद्धान्त की दृष्टि से अपने को द्वैताद्वैतविलक्षणवादी कहते हैं, क्योंकि नाथतत्व द्वैत और अद्वैत दोनों से परे है। वह निरुपाधि है और संख्या उपाधि है। वह अवाच्य पद है। जगत् का प्रपंच शक्ति के स्फोट के बाद शुरू होता है। इसलिए शक्ति ही जगत्कर्त्री है, शिव नहीं। इस संप्रदाय में ब्रह्म या शिव की शक्ति को चित्स्वभावा माना गया है और वेदांतियों में जड़स्वभावा। इसीलिए नाथदर्शन में जगत् चिच्छक्ति का विकास है। धर्मी शिव और धर्म शक्ति को केवल व्यवहारानुरोध से भिन्न मान लिया गया है। चित् ब्रह्म की शक्ति भी चिद्रूपा ही होनी चाहिए। शिव का स्वरूपनिर्धारण अशक्य होने से अभिन्न-भिन्नरूपा शक्ति ही उपास्य हो सकती है। नाथयोगी साधक का लक्ष्य है, शिव और शक्ति का सामरस्यरूप सहज समाधि। इस प्रकार की शक्ति की उपासना अन्ततः शिवोपासना ही है। व्यवहारानुरोध से ही शक्ति की उपासना कही जाती है।

डॉ० कल्याणी मल्लिक ने बताया है कि गोरक्ष का दर्शन प्राचीनकाल के शैवमत के अद्वैतवाद पर आधृत है। किन्तु उनका नाथ तत्व द्वैत-अद्वैत, साकार-निराकार से अतीत है। शिव शुद्ध चिद्रूप हैं और शक्ति उसका परिवर्तन और विकास का पक्ष है। नाथ लोग जगत्प्रपंच के अद्वितीय परम कारण को शिव या आदिनाथ के नाम से अभिहित करते हैं। वे स्वरूपतः अनादि, अनंत, स्वयंसिद्ध, स्वप्रकाश, नित्य, तत्त्व, देशकालातीत, सर्वअवच्छेदहीन और सकल भेद बाधाशून्य हैं। वह सर्वथा निरपेक्ष सत्ता है। वे स्वयं निष्कारण और समस्त चराचर के एकमात्र कारण हैं। यह कारणता ही उनकी शक्ति है। इस शक्ति के साथ वे नित्ययुक्त रहते हैं। शिवशक्तिसम्बन्ध के विषय में नाथगण कहते हैं—

शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः।
अन्तरं नैव पश्यामि चन्द्रचन्द्रिकयोरिवः॥[1]

एक ही अद्वितीय परमतत्व दृष्टिभेद से शिव या शक्ति आख्या को प्राप्त करता है। शिव शक्तिरूप होकर सर्वाकारों में स्फुरित होते हैं। दोनों ही अन्योन्याश्रयभूत हैं। धर्म के बिना धर्मी अकल्पनीय है। इस प्रकार दोनों तत्वतः अभिन्न हैं—

1. *सिद्धसिद्धान्तपद्धति ऐंड अदर वर्क्स, भूमिका, पृ० 19; ना० सं० द० सा० प्र०, पृ० 228; सिद्धसिद्धान्तसंग्रह, पृ० 26-27, 4.37; सिद्धसिद्धान्तपद्धति, 4.26.*

प्रसरं भासते शक्तिः संकोचं भासते शिवः।
तयोः संयोगकर्त्ता यः स भवेद्योगयोगराट्॥[1]

इस प्रसार और संकोच का जो आदि और अंत है, वही साम्यावस्था है और वही निराभास है, वही शिवावस्था है। जब यह साम्य भंग होता है, अर्थात् शक्ति के स्फुरण या प्रसर में स्तरानुसार विश्व का आविर्भाव होता है, तब शक्ति परिणाम लाभ करती है या जगत् आभासित होता है। शक्ति की संकोचन क्रिया के अवसानकाल तक जगत् क्रमशः स्थूल-सूक्ष्म-भेद से आभासित होता है। अतएव जगत् का आभास ही शक्तिभाव और निराभास ही शिवभाव है। शिव एकरस और अपरिणामी हैं। शक्ति का तिरोभाव ही जगत् का लय है। फिर भी शिव और शक्ति सूर्य और सूर्यकिरण के समान अभिन्न हैं। अतएव शक्ति की साधना से शिव की उपलब्धि होती है। शक्ति उपासना साधन है और शिवत्वलाभ उसका फल। विमर्श ही शिव की शक्ति है। इस प्रकार नाथसिद्ध सगुण सक्रिय, अर्थात् विचित्र ब्रह्मांडरूपी शिव और निर्गुण, निष्क्रिय शिव नामक ये दो तत्व स्वीकार करते हैं। सगुण, निर्गुण, सक्रिय, निष्क्रिय की मिलनभूमि को ही वे नाथस्वरूप कहते हैं।[2]

परब्रह्म के स्वरूप के सम्बन्ध में नाथसिद्धान्त यह है कि ईश्वर में क्रिया और अक्रिया, दोनों प्रकार की शक्तियाँ विद्यमान हैं। पूर्ण ब्रह्म सक्रिय अथवा निष्क्रिय नहीं है। नाथ और निर्गुण ब्रह्म में भेद है। नाथस्वरूप निर्गुण, सगुण दोनों से अतीत है। नाथ लोग सभी देवताओं से शिव को उत्तम मानते हैं और शिव से भी उत्तम नाथ को। गोरक्षसिद्धांतसंग्रह का कथन है कि गोरक्ष के अनुसार विश्वकर्तृत्व नाथ का नहीं है, शिव का है। शिव ही विश्वकर्ता हैं और नाथ निर्गुण निरुपाधिरूप हैं। अतः उनके लिए प्राकृतिक कार्य कारण का कोई महत्व नहीं है। विश्व के सृष्टिकर्ता सगुण सोपाधि शिव हैं।[3] सिद्धमत में परमतत्व को द्वैताद्वैतविवर्जित कहा गया है। यही सिद्धमत का वैशिष्ट्य है। यह विवर्जितत्व ही पूर्ण सत्य है। निर्गुण ब्रह्म और सिद्धों के नाथ में भेद-प्रभेद यह है कि नाथ अद्वैतोपरि और निराकारसाकारातीत हैं। इसी नाथ से निराकार ज्योतिर्नाथ और साकार नाथ का जन्म होता है। साकार नाथ से सदाशिव, भैरव और उनकी शक्ति भैरवी का जन्म होता है। नाथ सर्वविलक्षण अर्थात् 'यादृश एवं तादृश एव' हैं। उनकी कोई तुलना नहीं। वे ही महासिद्धों के लक्ष्य हैं।[4]

गोरक्षनाथ के दर्शन की उपर्युक्त रूपरेखा के विस्तृत रूप पर विचार करने के उपरान्त विद्वानों ने भारतीय दर्शनों के साथ उसके सम्बन्ध पर भी विचार किया है। इस

1. *ना० सं० द० सा० प्र०*, पृ० 228-229, *सिद्धसिद्धान्तसंग्रह*, पृ० 36-37, 6.9.
2. *वही*, पृ० 230-231.
3. *वही*, पृ० 254-259.
4. *वही*, पृ० 269, 271.

विचारक्रम में नाथसिद्धों की कुछ दार्शनिक विशेषताएँ भी बहुत स्पष्ट रूप में प्रकट हुई हैं। डॉ० द्विवेदी ने अपने गोरक्षसिद्धांत विवेचन के निष्कर्ष के रूप में यह स्पष्ट किया है कि परशिव की सिसृच्छा शक्ति ही जगत् का कारण है। इसी के कारण ही वे जगत् के रूप में बदलते हैं। सृष्टि प्रक्रिया की विभिन्न अवस्थाओं में उनका प्रसार होता जाता है। अतः इन क्रमों में जिन-जिन पिंडों का विकास होता जाता है, वे सभी सत्य हैं। इसी आधार पर नाथसिद्धों के परम महत्वपूर्ण सिद्धांत पिंडब्रह्मांडवाद की सिद्धि होती है जिसके अनुसार जो कुछ भी ब्रह्मांड में है उन सबकी पिंड में भी विद्यमानता स्वीकार की जाती है। यह नाथ मार्ग भी अद्वैतवादी है, किन्तु शांकराद्वैत से उसकी भिन्नता है। वस्तुतः नाथसिद्ध अपने को 'द्वैताद्वैतविलक्षणवादी' कहते हैं क्योंकि नाथ तत्त्व द्वैत और अद्वैत दोनों से परे हैं।[1] शांकराद्वैत का मूलाधार तो मायावाद है। वह ब्रह्म को तो चिद्रूप मानता है, किन्तु उसकी शक्ति माया को जड़स्वभावा मानता है। इस माया को ही वह जगत् का उपादान मानता है। इसीलिए यह समूचा जगत् उनके सिद्धांतानुसार जड़ है।[2] द्विवेदीजी के इन कथनों का एक साथ विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि गोरक्षनाथ मत अद्वैतवादी तो है, किन्तु विविध द्वैतवादी एवं अद्वैतवादी मतों से अपना भेदनिरूपण करने के लिए वह अपने को 'द्वैताद्वैतविलक्षणवादी' घोषित करता है। दूसरी बात यह स्पष्ट होती है कि यह नाथमत जगत् को एवं साथ ही पिंड को भी मिथ्या नहीं मानता, तत्त्वतः सत्य मानता है अर्थात् शांकर मायावाद इसे स्वीकार नहीं है। वह इसे भी चिद्रूप में देखता है।

डॉ० कल्याणी मल्लिक ने अपने शोधप्रबन्ध में त्रिक्मत के साथ नाथमत के साम्य पर विचार कर बताया है कि त्रिक्मत में शिव लीला या औत्सुक्य के कारण सृष्टि करते हैं। इसीलिए इस मत में इच्छाशक्ति की कल्पना की गई है। नाथमत में भी शिव और शक्ति अभिन्न हैं। इसका तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण सृष्टि के मूल में जिस प्रकार चित्स्वरूप परमेश्वर विद्यमान हैं उसी प्रकार उनके साथ चित्शक्ति भी सदैव युक्त रहती है। इसी शक्ति की व्यक्त अवस्था में जगत् का उद्भव होता है तथा उसकी निष्क्रिय अवस्था में इसका लय होता है। इस प्रकार शक्तियुक्त शिव ही सृष्टि के आदि कारण हैं। वे सत् हैं, सभी चैतन्यों के आधार हैं और चित्शक्ति ही उनकी कला है। इसीलिए वे सकल परमेश्वर कहे जाते हैं। यह शक्ति इच्छारूपिणी हैं। महाप्रलय के उपरान्त पुनर्विकास की इच्छा ही शक्ति के नाम से ख्यात है।[3] इसका तात्पर्य यह है कि इस विषय में काश्मीर शैव त्रिक्मत और नाथमत में पूर्णतया ऐक्य है और दोनों ही शांकर मायावाद को अस्वीकार करते हैं, यद्यपि दोनों ही अद्वैतवादी हैं।

---

1. *नाथ संप्रदाय, डॉ० द्विवेदी, पृ० 110-111, 'ब्रह्माण्डवर्तियत् किञ्चित् तत् पिण्डेऽप्यस्ति सर्वथा—सि० सि० सं०* 3/2.
2. *वही,* पृ० 111-112.
3. *ना० सं० इ० द० सा० प्र०,* पृ० 197.

आचार्य अक्षयकुमार वंद्योपाध्याय ने गोरक्षनाथ के द्वैताद्वैतविलक्षणवाद की व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया है कि वे द्वैत, अद्वैत तथा अन्य समस्त तत्कोटीय वाद-विवाद को आध्यात्मिक दृष्टि से निरर्थक मानते हैं, किन्तु दार्शनिक दृष्टया वे अपने सिद्धांत को द्वैताद्वैतविलक्षणवाद कहते हैं। यद्यपि वे परम सत्ता के अद्वैतत्व को पूर्णतया स्वीकार करते हैं। ''उन्होंने शंकर के मायावाद के स्थान पर शक्तिवाद का प्रचार किया।''[1] इस शक्तिवाद की यत्किंचित् व्याख्या ऊपर के विचारों से हो जाती है। यह शक्तिवाद योगी संप्रदायों के साथ ही तांत्रिक संप्रदायों द्वारा भी प्रचारित है। दूसरे शब्दों में प्रकारांतर से इसे पूर्णरूप में शिवशक्तिवाद अथवा ब्रह्मशक्तिवाद भी कहा जा सकता है। इस दृष्टिकोण से ''ब्रह्म स्वयं को शाश्वत रूप से अद्वैत तथा विभिन्न द्वैत रूपों में भी प्रकट करनेवाला है। वह दो में एक और एक में दो है। परमात्मा का सक्रिय पक्ष उनकी शक्ति द्वारा प्रदर्शित होता है, जिससे वह स्वयं को इस व्यावहारिक जगत् व्यवस्था के रूप में अपने को अभिव्यक्त करता है। उनकी शक्ति जगत् की दिव्य जननी है और वे दिव्य पिता हैं। परमात्मा स्वयं को इन द्वैत रूपों में प्रकट करते हैं।''[2]

नाथों के अध्यात्म दर्शन की इन्हीं विशेषताओं को ध्यान में रखकर महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराज ने भविष्यत् अनुसंधित्सुओं के लिए उचित ही निर्देश किया है। उनके निष्कर्षों को निम्नलिखित बिन्दुओं में स्पष्ट किया जा सकता है—

1. गोरक्ष संप्रदाय में स्वीकृत योगसाधना का चरम आदर्श पतंजलि के पूर्व या परवर्ती कुछ बौद्ध मतों से भिन्न है।
2. वह शांकर वेदांत की धारणाओं से मूलतः भिन्न है।
3. नाथ मत का सैद्धान्तिक आदर्श प्राचीन व मध्यकालीन भारत के अद्वैतवादी आगम मतों के अनुरूप ही है।
4. इस आदर्श को एक शब्द में ''सामरस्य'' कहा जा सकता है जिसका तात्पर्य है—समस्त भेदात्मक स्थितियों से ऊपर उठकर समरस हो जाना।
5. समरसता की यह उपलब्धिप्रक्रिया, सांख्य दर्शन की परात्परता तथा वेदांतिक मायावाद की उदात्तता, दोनों से भिन्न है। उसे एक पारस्परिक आभ्यंतर प्रवेश कह सकते हैं।
6. इस आदर्श का अंतर्निहित सिद्धांत है, पुरुष और प्रकृति अथवा शिव शक्ति के बीच एकत्व प्रतिपादन। इस स्थिति की चेतना परम शिव की परम एकता के रूप में मान्य हो सकती है। इस स्थिति में शिव और शक्ति दोनों समरस होकर एक अभिन्न एवं अविभाज्य तत्त्व बन जाते हैं।[3]

---

1. *गोरख दर्शन,* पृ० 285.
2. *वही,* पृ० 289–290.
3. *वही, प्रस्तावना, म० म० गोपीनाथ कविराज,* पृ०1–2.

इस प्रकार इन विवेचनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि गोरक्षनाथ दार्शनिक दृष्टि से अद्वैतवादी हैं, किन्तु अपने मत के वैलक्षण्य की दृष्टि से वे द्वैताद्वैतविलक्षणवादी हैं। इतना ही नहीं, वे मायावादी नहीं हैं और जगत् को भी चित्शक्ति की अभिव्यक्ति मानते हैं। यदि काश्मीर शैवमत से इस नाथमत का इस प्रकार का साम्य है तो ऐसी स्थिति में गोरक्षमत पर ईश्वराद्वैतवादी दृष्टि से भी विचार किया जा सकता है तथा साथ ही त्रिक् दर्शन की दार्शनिक दृष्टि 'आभासवाद' का भी गोरक्षमत में परीक्षण किया जा सकता है।

गोरक्षनाथ की हिन्दी रचनाओं में भी उक्त दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रसार दिखाई पड़ता है। डॉ० एस० पी० चंदोला ने नाथदर्शन पर विचार करते हुए निष्कर्ष रूप में अपना यह मत व्यक्त किया है कि हिन्दी नाथ साहित्य में प्रतिपादित सिद्धान्त संस्कृत नाथ ग्रंथों में वर्णित सिद्धान्तों से भिन्न नहीं हैं। नामावली में कहीं अंतर आ गया है, और वर्णन में संक्षिप्तता।[1] गोरक्षनाथ के तत्वविज्ञान का विवरण डॉ० चंदोला ने सिद्धसिद्धान्तपद्धति और हिन्दी रचना 'गोरष गणेस गुष्ठि' के आधार पर की है।[2] हिन्दी रचना के विवरण से ज्ञात होता है कि तत्वों के नामों में बहुत अधिक अन्तर है। डॉ० चंदोला ने यद्यपि नाथदर्शन और अद्वैत (शांकरवेदांत) दर्शन का तुलनात्मक विवेचन किया है,[3] किन्तु उन्होंने त्रिक् दर्शन अथवा काश्मीर शैव दर्शन से उसका सम्बन्धनिरूपण नहीं किया।

●

1. *नाथ पंथ,* पृ० 110.
2. *वही,* पृ० 112-121.
3. *वही,* पृ० 127-130.

दसवाँ परिच्छेद

गोरक्षनाथ की साधना

नाथयोग का तांत्रिक योग से घनिष्ठ सम्बन्ध है। नाथयोगी शैव थे, इसके सम्बन्ध में हम विस्तार से पहले ही विचार कर चुके हैं। कुछ लोगों की दृष्टि में यद्यपि ये पाशुपत शैव माने जाते हैं तथापि आगमिक शैवों से संबद्ध होने के पक्ष में अधिक विश्वासयोग्य प्रमाणों की बहुलता है। इसके प्रमाण में तंत्रालोक में अभिनवगुप्तपादाचार्य द्वारा मच्छंदविभु का किया हुआ स्तवन उद्धृत किया जाता है। आगमिक शैवों में अभिनवगुप्त की महत्ता सर्वमान्य है। उन आगमिक शैवों में तांत्रिक साधना प्रचलित थी तथा साथ ही अभिनवगुप्त ने स्वयं तंत्रालोक जैसे बृहद् ग्रंथ की रचना की थी। नाथों में शिवपत्नी शक्ति या गौरी की पूजा प्रचलित है। इसलिए योगियों को कुछ लोग शाक्त मानते हैं। योनि लिंग की पूजा भी उनमें प्रचलित है। तंत्रों में ये दोनों शक्ति और शिव के प्रतीक हैं। योगियों में शाक्तों के दक्षिण और वाम, दोनों मार्गों का प्रवाह मिलता है। पहाड़ी प्रदेशों के योगी तांत्रिक क्रियाएँ करते हैं।[1] साधन की दृष्टि से योगियों ने आसन को भी महत्व दिया है। उनके मुद्रा और बंध में भी आसन के तत्त्व मिलते हैं। इनका सम्बन्ध प्राणायाम के विभिन्न प्रकारों से भी जोड़ा गया है। योगियों के विभिन्न आसनों से भिन्न तांत्रिकों के कुछ आसन हैं जिनमें मुंडासन, चितासन, शवासन आदि की गणना की जा सकती है। सम्भवत: ये नाथयोगियों में स्वीकृत नहीं हैं। ब्रिग्स का मत है कि 12वीं ई० शताब्दी के गोरक्षरचित गोरक्षशतक के उपदेशों में योग और तंत्र का मिश्रण है।[2]

डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त के अनुसार पहले शैवों के अपने सिद्धान्तों के अनुसार योगसाधन का विकास हुआ। उन क्रियाओं का एक विकास मंत्रयोग के रूप में तथा दूसरा विकास, दूसरी दिशा में, हठयोग के रूप में हुआ। इस दूसरे विकास में प्राणनियमन को प्रधानता दी गई तथा शरीर के अंगों के नियंत्रण के विभिन्न अभ्यास भी उसमें सम्मिलित किए गए। मंत्रयोग, लययोग, हठयोग, राजयोग आदि ने, उनके मत से, तांत्रिक पूजा-उपासना-साधन के विकास को प्रभावित किया है।[3] योगियों का अपना विशेष् हठयोग है। इस साधन में आसन, मुद्रा, बंध, वेध, प्राणायाम, धौति, चक्र, नाड़ी, कुंडलिनी आदि से संबंधित अभ्यास गृहीत है। ये साधन अत्यधिक विस्तृत रूप में तांत्रिक ग्रंथों में वर्णित मिलते हैं। गोरखनाथियों के उपदेश में तांत्रिक तत्त्व प्रधान है। आसाम और

1. *गो० क० यो०, ब्रिग्स,* पृ० 162-163, 171-172.

2. *वही,* पृ० 257, 327.

3. *वही,* पृ० 272 *पर उद्धृत.*

बंगाल के नाथयोगियों में शक्ति या शिवपत्नी की पूजा तांत्रिक विधान से होती है।[1] म० म० डॉ० गोपीनाथ कविराज इस तथ्य को प्रकारांतर से स्पष्टतया घोषित करते हुए कहते हैं कि अभिनवगुप्त शाक्तसाधन के प्राण थे। वे एक प्रसिद्ध कौल भी थे। उनका 'तंत्रालोक' वस्तुतः शैव और शाक्त दर्शन का विश्वकोशतुल्य ग्रंथ है। अभिनवगुप्त के बाद दूसरे महत्वपूर्ण नाम हैं—गोरक्ष, पुण्यानंद, नटनानंद, स्वतंत्रानंद और भास्कर राय। गोरक्षनाथ, जिन्हें महेश्वरानंद भी कहा जाता है, महार्थमंजरी के लेखक थे। वे अभिनवगुप्त के संप्रदाय के अति घनिष्ठ अनुयायी थे।[2]

इस तांत्रिक साधना के प्रभाव की पुष्टि नाथयोगियों एवं गोरक्षनाथ के प्रमाण ग्रंथों से होती है। अपने सिद्धान्तों को पुष्ट करने के लिए गोरक्षसिद्धान्त-संग्रहकार ने विभिन्न तांत्रिक ग्रंथों को प्रमाण रूप में उद्धृत किया है। इसके अनुसार योगसाधन तथा योगी दोनों ही सर्वश्रेष्ठ हैं। इसकी पुष्टि में उसने तंत्रमहार्णव को उद्धृत कर बताया है कि योगी ब्रह्मा, विष्णु तथा देवदेव महेश हैं। वही पूर्ण मोक्ष है। वही सृष्टिकर्ता और हर्ता है।[3] नाथपद की महत्ता के निर्वचन और व्याख्या में गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह ने शक्तिसंगमतंत्र की सहायता ली है।[4] शाबरतंत्र ने नवनाथों की नामगणना की है।[5] नाथों के अनुसार सभी शैव शाक्त मार्ग तंत्रानुसारी हैं। तंत्रों के भी उपदेष्टा नाथ ही हैं। नाथ ने तंत्रों की रचना की है। इसकी पुष्टि षोडशनित्यातंत्र को उद्धृत कर की गई है। कहा गया है कि तंत्रों की कल्पना नवनाथों ने की है। इसी प्रकार षट्शांभवरहस्य को उद्धृत कर बताया गया है कि तांत्रिक अनुष्ठानों का भी फल योग ही है। अन्तर यह है कि तांत्रिकों का अनुष्ठान बहिरंग होता है। इसके पश्चात् वे अवधूत पद को प्राप्त करने के लिए योगियों के अंतरंगपूजन या सूक्ष्म शक्ति कुंडलिनी की पूजा करते हैं। इस प्रकार तांत्रिकों का भी तात्पर्य अवधूत पद बतलाया गया है।[6] नाथमत के अनुसार सभी लोग सांसारिकी प्रक्रिया को मानते हैं। नाथमत पारमार्थिकी प्रक्रिया को मानता है। यह प्रक्रिया तंत्रानुमोदित है। पुराणों के अनुसार लोग ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र की प्रक्रिया या क्रम को स्वीकार करते हैं, किन्तु तंत्रों के अनुसार शिव, भैरव, श्रीकंठ, सदाशिव, ईश्वर, रुद्र, विष्णु, ब्रह्मा के क्रम को स्वीकार किया जाता है। यही योगसंप्रदाय की भी रीति है। यह पारमार्थिकी प्रक्रिया योग से ही आई है। सबका कारण योग ही है।[7]

1. *गो० क० यो०, ब्रिग्स,* पृ० 274.
2. *हिस्ट्री ऑव फिलासफी : ईस्टर्न ऐंड वेस्टर्न, वा० 1, डॉ० राधाकृष्णन्, 'शैव शाक्त स्कूल—शाक्त फिलॉसफी'—ले० डॉ० गोपीनाथ कविराज,* पृ० 403-404.
3. *गो० सि० सं०,* पृ० 9.
4. *वही,* पृ० 11.
5. *वही,* पृ० 18.
6. *वही,* पृ० 19-20.
7. *हिस्ट्री ऑव फिलॉसफी : ईस्टर्न ऐंड वेस्टर्न, वा 1, डॉ० कविराज का लेख,* पृ० 58-59.

पूर्वोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि नाथ मत शैव है और तंत्रप्रभावित है। इसके और भी प्रमाण दिए जा सकते हैं। तंत्र के पिंड और ब्रह्माण्ड के एकत्व की अनुभूति का साधन तथा शक्तिपूजा नाथों में प्रचलित थी। शारदातिलक नामक प्रसिद्ध तंत्र ग्रंथ में यंत्र, मंत्र, चक्र, कुंडली और पाशुपत मत का वर्णन पाया जाता है। मुक्ति का प्रथम तत्त्व 'प्रसाद' है। इसे नाथ और शैवाद्वैत मत में 'शक्तिपात' कहा जाता है। तंत्रों में दिव्य साधक को कौल कहा जाता है। कौल के लिए लाभ-हानि, पाप-पुण्य समान है। विष से विषक्षय करने का उनका सिद्धान्त है। इस मार्ग को वे लोग अति दुर्गम मानते हैं। इसी मार्ग का अवलम्बन कर वे शिवत्व का लाभ करते हैं। यह कौल नीति नाथनीति है क्योंकि नाथ लोगों को कौल नाम से भी पुकारा जाता है।[1] इस सम्पूर्ण विवरण से यही सिद्ध होता है कि नाथों का तंत्र से घनिष्ठ सम्बन्ध था और यह सम्बन्ध सैद्धान्तिक ही नहीं, साधनात्मक भी था।

आगे नाथों और विशेषकर गोरक्षनाथ की साधना का स्वरूप संक्षेपतः प्रस्तुत किया जा रहा है जिससे उपर्युक्त विवेचन की और पुष्टि हो सकेगी।

नाथदर्शन के अनुसार जीवन्मुक्ति की ही अवस्था आदर्श अवस्था है। देहपात में जो मुक्ति होती है, उसे यथार्थ मुक्ति नहीं कहा गया है। कारण यह है कि यह मुक्ति देहपातरूप प्रतिबंधक द्वारा बाधित है। नाथ गण कहते हैं कि जिस देह से परमपदप्राप्ति होती है, उसी देह की रक्षा, अजर-अमर करना कर्तव्य है। विदेह मुक्ति में इस देह का ही त्याग हो जाता है। 'योगबीज' में कहा गया है —

अजरामरपिण्डो यो जीवन्मुक्तः स एव हि।

जीवन्मुक्ति योग में दैहिक परिवर्तन साधित होता है। इस सिद्धदेह का लाभ होने पर भी योगी के लिए इच्छामृत्युवरण संभव हो जाता है। वेदांत का आत्मसाक्षात्कार नाथमार्ग की परमपद प्राप्ति है, किन्तु साथ ही नाथ लोग उस देह को ही स्थायी करने के लिए सचेष्ट हैं। योग से सिद्धयोगी प्रारब्ध का क्षय करता है। तत्पश्चात् देह को रखे या न रखे, यह उसकी इच्छा पर निर्भर है। सिद्धमत में देह ही आत्मा है। विक्षेप के दूर न होने पर शुद्ध देहलाभ नहीं होता। शक्तियुक्त चैतन्य को सिद्ध लोग स्वीकार करते हैं। उसको जीतकर विशेष रूप से अज्ञान को दूर कर मुक्तिलाभ होता है। योगी चैतन्यशक्ति का जय करके कालजयी होता है। योगी का शरीर ही योगदेह है। सिद्धमत है कि जो मृत्यु को प्राप्त करता है, वह मुक्त नहीं है। परामुक्त का देहपात नहीं होता।[2] नाथमत में मोक्ष वह अवस्था मानी गयी है जिसमें समाधि के क्रम से मन द्वारा मन का अवलोकन किया जाता है। इसी को जीवन्मुक्ति पद कहा गया है।[3] नाथयोगी का लक्ष्य होता है ऐसे शरीर की

1. *ना० सं० इ० द० सा० प्र०,* पृ० 164-165.
2. *वही,* पृ० 292, 293, 296-297, 301, 303.
3. *अमरौघशासनम्,* पृ० 9.

प्राप्ति जिसका पतन न हो, जिसके बाहर प्राण न जाता हो। इनका लक्ष्य वह अवस्था है जिसमें शरीर भी ब्रह्मत्व को प्राप्त करता है। शरीर चिन्मय हो जाता है और फिर अनन्यता की प्राप्ति होती है। यह पिंडसिद्धि परमपद की प्राप्ति का अनिवार्य सोपान है। इस प्रकार संक्षेप में नाथों का लक्ष्य है जीवन्मुक्तियुक्त सिद्ध देह से नाथरूप में अवस्थान या पिंडपद का परमपद में समरसीकरण।[1] महामहोपाध्याय पंडित गोपीनाथ कविराज ने नाथों के जीवन्मुक्तिक्रम का इस प्रकार व्याख्यान किया है—"इस मत के अनुसार सद्गुरु की कृपा से चित्तविश्रांति-लाभ सबसे पहले होना चाहिए, क्योंकि बिना उसके सामरस्यप्राप्ति नहीं हो सकती। जबतक चित्त देहात्मबोधमूलक क्षोभ से मुक्त न हो, तब तक इसमें शांति नहीं होती और यथार्थ साधना का प्रारम्भ नहीं होता। चित्त विश्रांति से स्वभावतः भगवदानंद और अनंत ज्योतियों का आविर्भाव होता है। इस अद्वय प्रकाश से द्वैत भाव निवृत्त हो जाता है। इसके बाद चित् शक्ति का प्रकाश होता है और योगी निज देह के पूर्णज्ञान को प्राप्त करता है। इसका फल है देह सिद्धि या पिंडसिद्धि। इसका नामांतर है देह का अमरत्व। इसे नामांतर से सिद्ध अवस्था कह सकते हैं। परन्तु अभी भी जो यथार्थ अंतिम लक्ष्य है, वह दूर है। इस समय योगी की देह ज्योतिर्मय आकार को लेकर प्रकाशमान होती है। यह चैतन्य की सारभूत सत्ता है। परमपद के नित्य सिद्ध प्रकाश के साथ इस प्रकाशमय आकार का एकत्व-संपादन....सुदीर्घकाल तक आत्मा के स्वरूपानुसंधान में तल्लीन रहने से हो सकता है। यही सामरस्य है।....सामरस्य और निरुत्थान दशा, दोनों के अंतराल में कुछ अवस्थाओं का पता चलता है। पूर्ण स्वातंत्र्य से समन्वित आत्मा का स्फुरण निरुत्थान दशा के नाम से प्रसिद्ध है।....नाथयोगियों का लक्ष्य यह है कि पहले पिंडसिद्धि के द्वारा जीवन्मुक्ति की प्राप्ति हो। इस समय में कालवंचन सिद्ध होता है। अर्थात् काल के प्रभाव से योगी मुक्त हो जाता है। इसके अनंतर समरसीकरण के द्वारा परामुक्ति की सिद्धि होती है। प्रकारांतर से कहा जा सकता है कि पिंडसिद्धि या जीवन्मुक्ति के अनंतर ओंकारसाधना के द्वारा परामुक्ति का आविर्भाव होता है।"[2]

नाथमार्ग का परमपद 'नाथ' है। गोरक्षसिद्धांतसंग्रहकार ने 'नाथस्वरूपेणा-वस्थानम्' को ही लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया है। नाथ के सम्बन्ध में पहले ही कहा गया है कि प्रसार और संकोच का जो आदि अंत है, वहीं साम्यावस्था है, वही निराभास है, वही शिवावस्था है। यह समरसावस्था ही अद्वयावस्था है और यही समाधि की स्थिति है। इस प्रकार समरस और अद्वय रूप में अवस्थान ही नाथस्वरूप से अवस्थान है।[3] इस समरसीकरण के लिए, गुरुकृपा से पिंडसंवित्ति के लिए शुद्ध या दिव्यदेह की आवश्यकता

1. *नाथ और संत साहित्य : तुलनात्मक अध्ययन—डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय,* पृ० 273.
2. *वही, प्राक्कथन, म० म० डॉ० गोपीनाथ कविराज,* पृ० 5-6.
3. *सि० सि० अ० व० ना० यो०, इंट्रो०,* पृ० 21.

है। बिना गुरु-कृपा और शुद्ध देह के इस लक्ष्य की सिद्धि नहीं हो सकती। इसीलिए गोरक्ष के साधनमार्ग में यह कायसिद्धि आवश्यक मानी गयी है, जिसका लक्ष्य समरसीकरण है।[1] नाथमतानुसार मोक्ष वह अवस्था है, जिसमें समाधि के क्रम से मन द्वारा मन का अवलोकन किया जाता है। इसी को आगे जीवन्मुक्ति पद कहा गया है।[2] इसी प्रकार इस जीवन्मुक्ति के लिए कायसिद्धि और कायसिद्धि के लिए पिंडज्ञान आवश्यक है। सिद्धसिद्धांतपद्धति के अनुसार योगी को पिंडगत नवचक्र, षोडशाधार, तीन लक्ष्य, पंचव्योम अवश्य जानना चाहिए। अन्यत्र गोरक्ष ने कहा है कि जो योगी पिंडगत एक स्तंभ, नव द्वार, पंचदेवता आदि को नहीं जानता, वह सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता। तत्वविज्ञान की दृष्टि से ब्रह्माण्ड का जो समतुल्य और विकासात्मक वर्णन प्रस्तुत किया गया है, उसका यही प्रयोजन है।

उपर्युक्त समरसीकरण के लिए 'योगबीज' योगरहित ज्ञान और ज्ञानरहित योग की निरर्थकता बतलाते हुए योगयुक्त ज्ञान को ही मोक्षोपाय के रूप में स्वीकार करता है।[3] उपर्युक्त विवेचन से मिलान करने पर संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि पिंडसिद्धि परमपद की प्राप्ति का अनिवार्य सोपान है। अर्थात् नाथों का लक्ष्य जीवन्मुक्तियुक्त सिद्धदेह से नाथरूप से अवस्थान या पिंडपद का परमपद में समरसीकरण है।[4]

परिपक्व देह या सिद्धदेह की प्राप्ति के लिए योग ही उपाय है। नाथयोगी हठयोग को प्रधान मानते हैं। हठयोग से राजयोग की सिद्धि होती है। हठयोग प्राणायामप्रधान है। मंत्रयोग, लययोग और राजयोग में भी प्राणायाम और हठयोग सहायक है। प्राण अधिभूत तत्व है। अत: इस दृष्टि से प्राणायाम या हठयोग आधिभौतिक साधन है। एक सफल ध्यानयोगी शरीर और स्वास्थ्य से क्षीण, दुर्बल, अल्पायु और रोगी हो सकता है। वह अपनी इच्छा से शरीर त्याग नहीं कर सकता। हठयोग की क्रियाओं से सिद्धदेह या परिपक्व देह की प्राप्ति होती है। मानस साधन के लिए ऐसा शरीर सर्वाधिक उपयुक्त और उचित माध्यम हो सकता है। ऐसे योगी की मृत्यु इच्छामृत्यु होती है। गोरक्षनाथादि ने हठयोग या उससे प्राप्त सिद्धियों को भी लक्ष्य के रूप में स्वीकार नहीं किया।[5] हठयोगप्रदीपिका में स्पष्टत: कहा गया है कि राजयोग में आरूढ़ होने के लिये हठयोगविद्या का अभ्यास करना चाहिए।[6]

---

1. *नाथ और संत साहित्य*, पृ० 270–271.
2. *अमरौघशासनम्*, पृ० 9.
3. *सि० सि० प०*, 2.31; *गोरक्षसंहिता*, 1.13–14; *गोरक्षपद्धति*, 1.13–14.
4. *नाथ और संत साहित्य*, पृ० 272–273; *योगबीजम् श्लोक* 18–19.
5. *नाथयोग, अक्षयकुमार बनर्जी*, पृ० 19.
6. *हठयोगप्रदीपिका* 1.1.

इस योगाभ्यास के आरंभ के लिए नाथाचार्यों ने संयम का विधान किया है। घेरंडसंहिता की तरह ही स्वात्मारामरचित हठयोगप्रदीपिका में भी हठयोग का अभ्यास आरंभ करने के पूर्व आहार, अपथ्य, पथ्य, भोजन आदि से संबद्ध संयमों के पालन का उपदेश किया गया है। योगाभ्यास के प्रतिबंधकों के विवरण में अत्याहार, परिश्रम, प्रजल्पन (या बहुभाषण), यमग्रहण (स्नान, रात्रि में ही भोजनग्रहण, फलाहारादि का नियम ग्रहण) जनसंगम, चंचलता इन छह की गणना की गई है। योगसाधकों में उत्साह, साहस, धैर्य, तत्वज्ञान, निश्चय, जगसंगपरित्याग इन छह की गणना की गई है। बताया गया है कि यम में मिताहार मुख्य है तथा नियम में अहिंसा।[1] हठयोगप्रदीपिका के यमनियमसम्बन्धी श्लोक मूल श्लोकों में अंतर्गणित नहीं हैं। वे ही श्लोक थोड़े से अन्तर से तांत्रिक ग्रंथ 'शारदातिलक' में मिलते हैं।

हठयोग शब्द की विभिन्न व्याख्याएँ मिलती हैं, जो इस प्रकार हैं—

ह	+	ठ	+	योग	=	सूर्य	+	चंद्र	+	योग
ह	+	ठ	+	योग	=	प्राण	+	अपान	+	योग
ह	+	ठ	+	योग	=	दक्षिण	+	वाम	+	योग
ह	+	ठ	+	योग	=	यमुना	+	गंगा	+	योग
ह	+	ठ	+	योग	=	पिंगला	+	इड़ा	+	योग
ह	+	ठ	+	योग	=	रजस्	+	रेतस्	+	योग ।[2]

गोरक्षनाथ का योग षडंग है। अर्थात् इसमें आसन के बाद के पंतजलि के 6 अंग स्वीकृत हैं। यम-नियम को सामान्यतया अनिवार्य समझकर छोड़ दिया है। आसनस्थैर्य के बाद प्राणायाम के अभ्यास का विधान है। इस प्राणायाम का नाड़ी-शोधन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। सिद्धसिद्धांतपद्धति के अनुसार प्राणायाम प्राण की स्थिरता है। रेचक, पूरक, कुंभक और संघट्टीकरण इसके चार लक्षण हैं।[3] बताया गया है कि प्राणायाम के अभ्यास से यदि पवन को गगन में प्रेरित किया जाय तो घंटा- वाद्यादिकों की ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं तथा सिद्धि की प्राप्ति की संभावना होती है।[4] इस प्रकार प्राणायामाभ्यास में अग्रसर होने पर उसका सम्बन्ध नादानुसंधान से भी सिद्ध होता है। इस प्रकार आसन और प्राणायाम के पूर्णाभ्यास से सम्पन्न होकर धारणा का अभ्यास करने का विधान किया गया

1. *हठयोगप्रदीपिका, 1.57-63, 1.15, 16, 1.38, 40. विस्तार के लिए द्रष्टव्य—नाथ और संत साहित्य* पृ० 275-277.
2. *हठयोगप्रदीपिका, 1.1 तथा उसकी टीका, वही 3.15 तथा उसकी टीका, योगबीजम् 1.83-90, नाथ संप्रदाय, पृ० 103.*
3. *सि० सि० प०, 2.35.*
4. *गो० सं०, 2.18-20; योगमार्तण्ड, 108.*

है।[1] गोरक्षसंहिता, योगबीज आदि ग्रंथों में प्राणायाम के साथ मुद्रा, बंध, वेध का भी वर्णन संबद्ध भाव से वर्णित है। किन्तु ऐसा मालूम होता है कि प्राणायाम की तुलना में इन्हें अधिक महत्व नहीं दिया गया है। प्राणायाम से ओंकारसाधन भी संबद्ध है। ओंकारसाधन और अजपाजप दोनों ही प्राणायाम में अंतर्भूत हैं। 'ओंकार' की विस्तृत प्रतीकात्मक व्याख्या गोरक्षग्रंथों में उपलब्ध है। गोरक्षादि सिद्धाचार्य इस प्रणव को वेद का सार नहीं, वेद ही मानते हैं। इसी को शिवशक्तिसाधन भी कहा गया है। ओंकार को आदिनाथ कहा गया है। यह अनाहत और अखंड है। इसका अनुसंधान ही नादानुसंधान है। अंतस् में इसकी सत्ता ही ब्रह्म की अंतस् में सत्ता है। उसे नादब्रह्म कहते हैं। इसका अनुसंधान ब्रह्मानुसंधान है।[2]

सिद्धसिद्धांतपद्धति के अनुसार चैतन्य तरंगों का प्रत्याहरण, नाना प्रकार के विकारों से चित्त के ग्रस्त हो जाने के कारण उत्पन्न विकारों से भी निवृत्ति प्रत्याहार का लक्षण है। गोरक्षसंहिता में चक्षु आदि के अपने विषयों में विचरण से आहरण को प्रत्याहार कहा गया है। प्रत्याहार से योगी अपने मानस विकारों का मोचन करता है।[3] धारणा में बाह्य और अंतस् के एकमात्र निजतत्त्वस्वरूप का अंतःकरण से साधन किया जाता है। जो कुछ उत्पन्न होता है, उसे निराकार में धारण—जीवात्मा का निर्वात दीप की तरह धारण—ये धारणा के लक्षण हैं। इससे मानसस्थैर्य की प्राप्ति बतायी गयी है। हृदय में पंचभूतों के पृथक् धारण तथा मानस के निश्चलत्व के धारण के कारण ही इसे धारणा कहते हैं। भूत तत्त्वों के अनुसार ही यह धारणा भी पाँच प्रकार की मानी जाती है। इन धारणाओं के बाद सिद्धसिद्धांतपद्धति के अनुसार चित्त का निराकार निजतत्व में एकत्व तथा आत्मा का निर्वातदीपत्व सिद्ध होना चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि कुंडलिनीयोग की साधना धारणांतर्गत है। इस कुंडलिनीयोग से ही लययोग, भूतजय, भूतलय, भूतशुद्धि, षट्चक्रभेद आदि संबद्ध हैं। कुंडलिनी का मूलाधार से सहस्त्रार तक की यात्रा को पृथिवी से आकाश तक की यात्रा कहा गया है। यह आध्यात्मिक यात्रा है। यह साधन आध्यात्मिक साधन है। इस कुंडलिनी को षोडशी तथा उसकी साधना को षोडशीसाधना कहा गया है। पिंड-ब्रह्माण्ड-एकत्व का सिद्धान्त इस साधन का ही सिद्धान्त पक्ष है। गोरक्षमत के मान्य चक्रों की कुछ निश्चित संख्या नहीं बतायी जा सकती। फिर भी तांत्रिकों के कुल सात चक्र अधिकांशतः और सामान्यतः स्वीकृत हैं।[4]

सिद्धसिद्धांतपद्धति में कहा गया है कि ध्यान परमाद्वैतभाव है। जिन-जिन तत्वों या पदार्थों का स्फुरण होता है, आत्मा उनकी अपने ही स्वरूप के अनुसार भावना करती है।

1. *गोरक्षसंहिता, 2.21, 52.*
2. *नाथ और संत साहित्य,* पृ० 283-288.
3. *सि० सि० प०,* 2.36; गो० सं० 2.23-31; योगमार्तण्ड, 113-119.
4. *नाथ और संत साहित्य, पृ० 288-296.*

इस प्रकार ध्यान में सभी भूतों में समदृष्टि हो जाती है। इस ध्यान साधना में चित्त पूर्णरूप से निश्चल रहता है। सगुण और निर्गुण नामक दो प्रकार के ध्यान बताए गए हैं। सगुण ध्यान विभिन्न वर्णों (रंगों) वाला होता है तथा निर्गुण ध्यान केवल ज्ञानात्मक, अनुभूत्यात्मक। स्थूल और सूक्ष्म भेद से भी ध्यान दो प्रकार का होता है। स्थूल ध्यान के बाद तेजोध्यान या ज्योतिर्ध्यान और सूक्ष्म ध्यान का वर्णन किया गया है।[1] समाधि में सभी तत्वों की सम अवस्था रहती है, निरुद्यमत्व और अनायास की स्थिति रहती है। इससे मोक्ष की प्राप्ति होती है जिसमें शुभ-अशुभ कार्यों का त्याग हो जाता है, विश्वतोमुख अनंत परम ज्योति का साक्षात्कार होता है। जब प्राण सम्यक् प्रकार से क्षीण हो जाते हैं तथा मानस भी लय को प्राप्त हो जाता है, जब समरसत्व की प्राप्ति हो जाती है, तब कहा जाता है कि समाधि की अवस्था प्राप्त हो गयी। इस समय अपना पराया कुछ भी नहीं रहता। हठयोगप्रदीपिका में इस स्थिति के विभिन्न नाम बताए गए हैं—राजयोग, समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, लय, तत्व शून्याशून्य, परमपद, अमनस्क, अद्वैत, निरालंब, निरंजन, जीवन्मुक्ति, सहजा, तुर्या। इन शब्दों की अलग अलग विस्तृत व्याख्याएँ मिलती हैं।[2]

इस प्रकार गोरक्ष के षडंगयोग के दो उद्देश्य बताए गए हैं। प्रथम गौण उद्देश्य है सिद्धदेह या दिव्यदेह की प्राप्ति या जीवन्मुक्ति। दूसरा मुख्य उद्देश्य है द्वैताद्वैतविवर्जित नाथरूप में अवस्थान या पिंडपद का परमपद में समरसीकरण। संस्कृतग्रंथों के आधार पर उपस्थित किए गए इस गोरक्ष योग में दो प्रधान साधन हैं—हठयोग और लययोग। इसी प्रकार दो कार्य हैं—बिंदुरक्षा और नादानुसंधान। गोरक्ष योगसाधना का मुख्य तत्व है प्राणायाम। दोनों कार्य इसी से साधित होते हैं। इसी आधार पर नाथ लोगों का यह भी कथन है कि यह स्थूल शरीर भी मुक्तिं प्राप्त करता है। सिद्धदेह की प्राप्ति के लिए अमृतसाधन भी नाथों को स्वीकार है। रस (पारद+अभ्रक) से सिद्धदेह की प्राप्ति की निन्दा गोरक्ष ने अपनी हिन्दी रचनाओं में की है, क्योंकि उससे वास्तविक स्थिर सिद्धदेह की प्राप्ति नहीं होती। गोरक्ष साधन में लोग वज्रोली, सहजोली आदि की भी गणना करते हैं। किन्तु सारी सामग्री की छानबीन करने पर ऐसा संगत प्रतीत नहीं होता कि गोरक्ष ने उनको अपने साधन में स्थान दिया होगा अथवा उनका प्रचार किया होगा।

इन साधनों के सम्बन्ध में कुछ और व्याख्या अपेक्षित है। गोरक्षनाथ ने जिस हठयोग अथवा प्राणायामसम्पन्न साधना का उपदेश दिया है, उसके अनेक आयाम हैं। प्राणायाम के चार लक्षण बतलाए गए हैं—रेचक, पूरक, कुंभक और संघट्टकरण।[3]

---

1. *सि० सि० प०*—2.38; *योगमार्तण्ड*, 102, 157; *गो० प०*, 2.65-75, *योगमार्तण्ड*, 156-169; *घेरण्डसंहिता*, 6.2-22.
2. *नाथ और संत साहित्य*, पृ० 297-298.
3. *सि० सि० प०, 2.35.*

प्राण और अपान के वशीभूत जीव ऊपर-नीचे दौड़ता है। वाम और दक्षिण मार्ग से चंचलता के कारण वह दिखाई नहीं पड़ता। अपान प्राण को तथा प्राण अपान को आकृष्ट करता है। प्राण 'हंकार' के साथ बाहर जाता है तथा 'सकार' के उच्चारण के साथ पुनः वह प्रवेश करता है। 'हंस' 'हंस'—इस मंत्र का जप जीव सदैव करता रहता है।[1] रात और दिन मिलाकर कुल वह 21, 600 बार जप करता है। इसी को अजपा नाम की गायत्री कहते हैं, जो मोक्षयायिनी होती है।[2] कहा गया है कि प्राण और नाड़ी सम्बन्धी विभिन्न क्रियाओं के अभ्यास से नाड़ियाँ शुद्ध हो जाती हैं। वायु के यथेष्ट धारण से अनल का प्रदीपन, नाद की अभिव्यक्ति तथा नाड़ी-शोधन के कार्य सम्पन्न होते हैं।[3] प्राणायाम के अभ्यास से यदि पवन को गगन में प्रेरित किया जाय तो घंटा, प्रकृष्ट वाद्यदिकों की ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं। जैसे प्राणायाम के उचित अभ्यास से सर्वरोगक्षय होता है, उसी प्रकार अनुचित अभ्यास से सभी प्रकार के रोग भी उत्पन्न हो सकते हैं।[4] धारणा के अभ्यास के लिए भी इस प्राणायाम की उपयोगिता सर्वथा स्वीकार की गई है। इस प्राणायाम से मूलबंध, उड्डीयानबंध और जालंधरबंध नाम के तीन बंधों का भी सम्बन्ध है जिनमें प्राणाकर्षण की आवश्यकता बतलाई गई है।[5] बिंदुधारण एवं बिंदुस्थैर्य के लिए भी इस प्राणायाम की उपयोगिता है। इसके साथ अनेक नभोमुद्रा जैसी मुद्राओं के भी साधन का विधान है। इस प्रकार मुद्रा, बंध और वेध जैसी क्रियाओं से प्राणायाम का सघन सम्बन्ध है। गोरक्षसंहिता में महामुद्रा, नभोमुद्रा, खेचरीमुद्रा, योनिमुद्रा तथा उड्डीयानबंध, जालंधरबंध और मूलबंध का वर्णन किया गया है।[6] इस प्राणायाम में ओंकार-साधन और अजपाजाप दोनों की अंतर्भूत हैं।

प्रत्याहार का गोरक्षनाथ ने अपने ग्रंथों में कई स्थलों पर विवेचन किया है। गोरक्षसंहिता के अनुसार चक्षु आदि का अपने विषयों में विचरण से आहरण प्रत्याहार है।[7] षडंग योग में चतुर्थ अंग धारणा हैं। हृदय में पंचभूतों के पृथक्-पृथक् धारण तथा मानस के निश्चलत्व के धारण के कारण ही इसे धारणा कहते है। इसीलिए पंचभूतों के कारण ही यह धारणा पाँच प्रकार की मानी जाती है।[8] तांत्रिक योग के अनुसार इस धारणा से ही कुंडलिनीयोग या षट्चक्रभेद या लययोग का सम्बन्ध बतलाया गया है।

1. *गो० सं०, 1.38-42; योगमार्तण्ड (सि० सि० प० अ० व०), 27-31.*
2. *यो० मा०, 32-33.*
3. *गो० सं०*, 1.96-100, *यो० मा०*, 84-89.
4. *गो० सं०* 2.18-20; *यो० मा०*, 108.
5. *योगबीज*, 115, 118, 119, 121.
6. *गो० सं०*, 1.57-71, 1.77-78, 79-82; *यो० मा०*, 59-64.
7. *गो० सं०*, 2.23-31; *यो० मा०*, 113-119.
8. *गो० सं०, 2.52-58; यो० मा०, 141-154.*

शब्दब्रह्म कुंडलिनी के शरीर में पंचभूतों का लय होने के कारण तथा अंततः सहस्रार में परम शिव से लय प्राप्त होने के कारण ही इसे लययोग कहा जाता है। कुंडलिनीसाधन भूतलय और भूतजय दोनों है। पहले कहा जा चुका है कि कुंडलिनी की मूलाधार से सहस्रार तक की यात्रा आध्यात्मिक यात्रा है। इसी प्रकरण में षट्चक्र का भी विचार किया जाता है। गोरक्षनाथ ने सिद्धसिद्धांतपद्धति में नौ चक्रों का क्रमशः उल्लेख किया है—ब्रह्मचक्र, स्वाधिष्ठान नाभिचक्र, हृदयचक्र, कंठचक्र, तालुचक्र, भ्रूचक्र, ब्रह्मरंध्र, निर्वाणचक्र और आकाशचक्र। अंतिम षोडशदल आकाशचक्र में पूर्णगिरिपीठ की स्थिति मानी गई है।[1] गोरक्षनाथ ने यद्यपि गोरक्षसंहिता और योगमार्तण्ड में भी चक्रों का वर्णन किया है, किन्तु वे अधिक स्पष्ट नहीं हैं। फिर भी, 'संहिता' के अनुसार सहस्रार सहित सात चक्र स्वीकृत मालूम पड़ते हैं। वे हैं—आधार (4 दल), स्वाधिष्ठान (6 दल), नाभिचक्र (10 दल), हृदयचक्र (12 दल), कंठस्थचक्र (16 दल) तथा भ्रूमध्यचक्र (2 दल)। सहस्रदल कमल विख्यात ब्रह्मरंध्र महापथ है।[2] म० म० डॉ० गोपीनाथ कविराज ने एक चित्र तथा विराट पुराण के एक हस्तलेख के आधार पर नाथसंप्रदायानुमोदित चक्रों का वर्णन किया है। कुल चक्रों की गणना करने पर उनकी संख्या 25 से भी अधिक हो जाती है। कविराजजी ने प्रारम्भ में ही बतलाया है कि चक्रों का यह विवरण हठयोगमत और तंत्र दोनों से भिन्न है। उनका कथन है कि ललितासहस्रनाम के भास्करराय रचित भाष्य में दिए गए विवरण के अनुसार चक्रों की संख्या 32 है। योगी के अनुभववैभिन्य के कारण भी चक्रों की संख्या, विवरण आदि में भिन्नता आ सकती है।[3] अतः स्पष्टतः गोरक्षनाथ के अनुसार भी चक्रों की संख्या में भिन्नता है।

कुंडलिनी भी तीन प्रकार की बताई गई है—ऊर्ध्व, मध्य और अधः। कहा जाता है कि मध्यशक्ति के प्रबोधन से, अधःशक्ति के निकुंचन से तथा ऊर्ध्वशक्ति के निपात से परमपद की प्राप्ति होती है।[4] यथार्थतः शक्ति एक ही है, किन्तु प्रभेदमात्र से वह तीन रूपों में दिखाई पड़ती है। इसके स्वरूप के सम्बन्ध में कहा जाता है कि कंद के ऊपर आठ कुंडलों को धारण करनेवाली यह कुंडलिनी शक्ति निरामय ब्रह्मद्वार को जानेवाले मार्ग के रंध्र को सुखपूर्वक आच्छादित किए हुए प्रसुप्त रहती है। उसको

1. *सि० सि० प०, 2.1–9.*
2. *गो० सं० 1.15–16.*
3. *संस्कृत भवन स्टडीज़, वा० 2, पृ० 83–90 में म० म० डॉ० गोपीनाथ कविराज का 'द सिस्टम ऑव चक्रज़ एकॉर्डिंग टु गोरक्षनाथ' शीर्षक लेख।*
4. *अमरौघशासनम्*, पृ० 1—

ऊर्ध्वशक्तिनिपाताच्च तथाधः शक्तिनिकुञ्चनात्।
मध्यशक्तिप्रबोधेन जायते परमं सुखम्॥

वह्नियोग से तथा मानस और महत् के सहकार से प्रबुद्ध किया जाता है। इस प्रकार प्रबुद्ध होकर, सूई के आकार को प्राप्त कर पद्मतंतुनिभा कुंडलिनी सुषुम्ना के मार्ग से उत्थित होती है।[1]

षडंग योग में तदुपरान्त ध्यान का क्रम है। ध्यान परमाद्वैतभाव है। आत्मा, जिन-जिन तत्त्वों या पदार्थों का स्फुरण होता है, उनकी अपनी ही स्वरूप के अनुसार भावना करती है। इस प्रकार ध्यान में सभी भूतों में समदृष्टि हो जाती है।[2] इस ध्यान में चित्त पूर्णरूप से निश्चल ही रहता है। इसके सगुण और निर्गुण दो भेद बतलाए गए हैं। गोरक्षसंहिता में चक्रस्थानों को ध्यानयोग्य बतलाया गया है। इसके अतिरिक्त ध्यान के स्थूल और सूक्ष्म भेद भी बताए गए हैं। क्रमशः स्थूल ध्यान के बाद सूक्ष्म ध्यान के अंतर्गत तेजोध्यान या ज्योतिर्ध्यान का वर्णन किया गया है। ये भेद घेरंड संहिता में वर्णित मिलते हैं। गोरक्षपद्धति में तो सकल और निष्कल ध्यान का वर्णन मिलता है।[3] तदुपरान्त षडंग योग में समाधि का क्रम है। समाधि सम्बन्धी पूर्वोक्त विवरण के अतिरिक्त गोरक्षसंहिता में कहा गया है कि जीवात्मा और परमात्मा का ऐक्य ही सभी प्रकार के द्वंद्वों का ऐक्य है। इस अवस्था में रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द की स्थिति सिद्ध योगी के लिए नहीं रहती। उस समय अपना-पराया कुछ भी नहीं रहता।[4] इस प्रकार गोरक्षमत के अनुसार संक्षेप में षडंग योग साधन की रूपरेखा बताई जा सकती है।

उपर्युक्त साधन के लिए गुरु की परम आवश्यकता है। इसीलिए गोरक्ष के साधनमार्ग में 'गुरु' को बहुत महत्व दिया गया है। परमपद में समरसीकरण, जो नाथों का चरम लक्ष्य है, गुरु की कृपा से ही होता है। गुरुचरणों में रत रहने से स्वसंवेद्य परमपद की सिद्धि संभव बतलायी गयी है। केवल इसी साधन से योगियों को पिंड के निरुत्थान का अनुभव होता है तथा उसके पश्चात् समरसीकरण की सिद्धि होती है।[5] सिद्धसिद्धांतपद्धति में कहा गया है कि सिद्धपुरुष अदैहिक साधनों का आश्रयण कर परमपद को प्राप्त करते हैं और इन साधनों में स्थिति गुरु के दृक्पात से होती है। इसलिए गुरु से बड़ा कोई नहीं है। वह अपनी करुणा के खड्गपात से पशु (साधक) के आठों प्रकार के पाशों का छेदन करता है। उसकी इस प्रकार की क्रिया से साधक सम्यक् आनंद में मग्न हो जाता है। उसकी यह कृपा विश्रांतिकारक होती है। स्वात्मगत विश्रांति के बिना पिंडपद का परमपद में समरसीकरण नहीं हो सकता। शास्त्र, अनुमान, तर्क आदि से भ्रांत

1. *गो० सं०, 1.42-51; यो० मा०, 31-40.*
2. *सि० सि० पं०, 2.38.*
3. *यो० मा०, 102; गो० प०, 2.65-75; यो० मा०, 156-169; घे० सं०, 6.2-22, गो० प० 2.62.*
4. *गो० सं०, 2.15; 16, 85-88; यो० मा०, 176-178. इन सभी साधनाओं के विस्तार के लिए द्रष्टव्य—प्रस्तुत लेखक का 'नाथ और संत साहित्य : तुलनात्मक अध्ययन' नामक ग्रंथ।*
5. *नाथ और संत साहित्य : तुलनात्मक अध्ययन, डॉ० नागेंद्रनाथ उपाध्याय, पृ० 267; सि० सि० प० अ० ना० यो० : संपादक—डॉ० कल्याणी मल्लिक, सिद्धसिद्धांतपद्धति, 5.1-12.*

करनेवाला गुरु, गुरु नहीं। उपर्युक्त गुणधर्मों से समलंकृत गुरु को प्राप्त कर शिष्य जन्म और संसार-बंधन से मुक्त हो जाता तथा परानंदमय होकर निष्कल शिवत्व की उपलब्धि करता है।[1] प्रकृति के सभी विकारों का अवधूनन करनेवाला सिद्ध ही, अवधूत योगी ही, सद्गुरु का पद प्राप्त कर सकता है। सिद्धसिद्धांतपद्धति में सिद्ध योगी अवधूत को अत्याश्रमी, योगी, सिद्धयोगी, जितेंद्रिय आदि कहा गया है।[2] गोरक्षसिद्धांतसंग्रह में षोडशनित्यातंत्र का उद्धरण देकर गुरु-रूप में शिव को नमस्कार किया गया है। गुरु की कृपा से स्वल्प कल्प मात्र से सहज सिद्धि प्राप्त होती है। इस गुरु को 36 लक्षणों से सम्पन्न होना चाहिए। अधिक तत्वों से गुरु कहा जाता है। गुरु से शिष्य के 4 लक्षण कम होते हैं अर्थात् उसमें 32 लक्षण आवश्यक माने गए हैं। इनसे कम लक्षणों से युक्त व्यक्ति को गुरु-रूप में स्वीकार नहीं करना चाहिए। 32 से कम लक्षणों से युक्त व्यक्ति को शिष्य भी नहीं बनाना चाहिए। इन 32 लक्षणों के लिए आठ परीक्षाएँ स्वीकार की गई हैं। गोरक्षसिद्धांतसंग्रह में वर्णित ये लक्षण अवधूत संप्रदाय के अनुसार बताए गए हैं।[3] संक्षेप में हम इसे 'गोरक्षनाथ का गुरुशिष्यवाद और अधिकार भेदभाव' कह सकते हैं।

गोरक्षनाथ के योगसाधन का दूसरा महत्वपूर्ण सिद्धान्त पिंडब्रह्मांडवाद है। पिंडवर्णन नाथों तथा तांत्रिकों का प्रिय विषय है। हम कह चुके हैं कि नाथों के उपर्युक्त प्रथम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए पिंडज्ञान आवश्यक है। सिद्धसिद्धांतपद्धति के अनुसार जो व्यक्ति या योगी पिंड में सम्पूर्ण चराचर का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, उसे 'पिंडसंवित्ति' कहते हैं।[4] पिंड के अन्तर्गत जो कुछ भी है, वह सम्पूर्ण ब्रह्मांड का संक्षिप्त रूप या प्रतीक है। इसमें देवता, परमतत्त्व, पाताल, ब्रह्मांड, कलाएँ, वर्ण, उपवर्ण, द्वीप, समुद्र, खंड, पर्वत, उपपर्वत, नदियाँ, उपनदियाँ, कुल्य, उपकुल्य, नक्षत्र, राशियाँ, नवग्रह, तिथियाँ, तारामंडल, दानव, यक्ष, राक्षस, पिशाच, भूत, प्रेत, कुलनाग, सनकादि मुनि, मातृशक्तियाँ, उग्र देवता, मेघ, तीर्थ, अनंत सिद्ध, चंद्र, सूर्य, वृक्ष-लता-गुल्म-तृण, कृमि-कीट-पतंग, सुख-दुःख, मुक्ति, शांति आदि सभी निवास करते हैं। इन सब वर्णनों का समाहार गोरक्षनाथ ने इस एक वाक्य में कर दिया है—'इस प्रकार सभी शरीरों में विश्वस्वरूप परमेश्वर चित्स्वरूपी परमात्मा अखंड स्वभाव से घट-घट में स्थित रहता है। इस प्रकार पिंडसंवित्ति होता है।[5] तांत्रिकों के समान ही, इस प्रकार गोरक्षसाधन भी पिंडब्रह्मांडवाद को स्वीकार करता है और इस साधन के लिए पिंड और ब्रह्मांड या व्यष्टि और समष्टि के ज्ञान के लिए इनके समरसत्व के

1. *सि० सि० अ० व० ना० यो० में सिद्धसिद्धांतपद्धति, 5.54-81.*
2. *वही, सिद्धसिद्धांतपद्धति : सम्पूर्ण षष्ठ उपदेश।*
3. *गो० सि० सं०,* पृ० 14, 31-32, 40, 45, 46, 56-57; *नाथ और संत साहित्य,* पृ० 268-70.
4. *सि० सि० प०,* 3.1.
5. *वही, 3.1.*

लिए गुरु के महत्व को भी पूर्णतया स्वीकार करता है। षट्चक्रसाधन, नाड़ीसाधन और नादानुसंधान से इस सिद्धान्त का विशेष सम्बन्ध है। चक्रों, नाड़ियों, वायुओं आदि का वर्णन वस्तुतः पिंडवर्णन है। इस वर्णन के विवरण में यद्यपि अनेक मत भिन्नता रखते हैं तथापि पिंड और ब्रह्मांड या व्यष्टि और समष्टि की एकता के विषय में सभी एकमत हैं। इस एकत्वसिद्धान्त का अनुभव कराने के लिए ही हठयोग से समन्वित कुंडलिनी योग या लययोग का अभ्यास आवश्यक है।'[1] इस प्रकार यह पिंडब्रह्मांडवाद योगसाधना के यावत् प्रकारों का मूलाधार तो है ही, साथ ही दूसरी ओर यह गोरक्षनाथ के अन्य विचारों का भी मुख्याधार है। इसी सिद्धान्त के आधार पर गोरक्षनाथ ने ब्राह्याचारों का खंडन तथा अंतस्साधना का मंडन किया है। सहजसाधना एवं सहजसिद्धि के साथ ही समदृष्टि ग्रहण, अहिंसाप्रचार आदि के लिए भी यही सिद्धान्त उत्तरदायी है। संक्षेप में यों कहा जा सकता है कि गोरक्षसाधना के मूलबिंदु तीन हैं—1. हठयोग (प्राणायाम), 2. गुरुवाद, 3. पिंड ब्रह्मांडवाद।

गोरक्षनाथ की इस साधना के सम्बन्ध में अनेक निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। पहली महत्वपूर्ण बात तो यह है कि गोरक्षनाथ की योगसाधना और तांत्रिक योगसाधना में अत्यधिक समानता है। दोनों ही षट्कर्म, प्राणायाम, मुद्रा, आसन, लययोग, ध्यान, समाधि को साधन के रूप में स्वीकार करते हैं। गोरक्षनाथ ने बिंदुरक्षा और बिंदुस्थैर्य को महत्व दिया है। तंत्रों में भी बिंदु प्रयोग का साधनात्मक महत्व पंचमकारों के विभिन्न अर्थों में स्वीकार किया गया है। वस्तुतः तांत्रिक बिंदुसाधन के सम्बन्ध में बहुत भ्रम फैला हुआ है और इसके रहस्य को कुछ ही लोग जानते हैं। गोरक्षमत में ऊर्ध्वरेतस् होना सिद्ध का एक लक्षण है। इस प्रकरण में वज्रोली, सहयोली, अमरौली आदि साधनाओं को देखकर गोरक्ष साधन पर अनेक प्रकार की शंकाएँ करते हैं और इन्हीं आधारों पर बौद्ध प्रभाव स्वीकार करते हैं, जिसका निराकरण अन्यत्र किया जा चुका है। अमरौघशासनम्, सिद्धसिद्धांतपद्धति, महार्थमंजरी जैसे ग्रंथों में वज्रोली, सहजोली जैसी साधनाओं का कोई संकेत नहीं मिलता। गोरक्षपद्धति में, जिसे श्री महीधरशर्मा ने गोरक्षसंहिता के मूलाधार पर संपादित करते हुए, हठयोगप्रदीपिका जैसे ग्रंथों के श्लोकों को बीच-बीच में उद्धृत किया है, इन साधनाओं का उल्लेख प्रथम शतक में मिलता है; किन्तु इनसे संबंधित श्लोक मूलग्रंथ के श्लोकों के क्रम में नहीं है और अन्य ग्रंथ से उद्धृत किए गए हैं। अतः इन श्लोकों को गोरक्षरचित नहीं माना जा सकता और न उनके आधार पर गोरक्षसाधना में इन्हें स्थान ही दिया जा सकता है। यदि कोई दुराग्रह ही करे तो इन साधनाओं में यह देखा जा सकता है कि इनमें मुख्य लक्ष्य बिंदुरक्षा और बिंदुस्थैर्य ही है, भोग नहीं। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस तथ्य की ओर स्पष्टतः संकेत किया है। इस प्रकार

1. *इस विवरण से संबंधित विवेचन के लिए द्रष्टव्य—इं० तं० शा०—उडरफ,* पृ० 34-35, 42-57.

गोरक्षनाथ की साधना में ब्रह्मचर्यपालन, बिंदुरक्षा, संयम, हठयोग, राजयोग, पिंडब्रह्मांडवाद और गुरुवाद की महत्ता हैं। लक्ष्य की दृष्टि से पिंडसिद्धि और नाथस्वरूपेणावस्थानम् को स्वीकार किया जा सकता है। संक्षेप में उनके साधन को योगज्ञान अथवा योगयुक्त ज्ञान कहा जा सकता है।

ग्यारहवाँ परिच्छेद

गोरक्षनाथ की हिन्दी-रचनाएँ

इसके पूर्व गोरक्षनाथ की संस्कृत रचनाओं का परिचय दिया जा चुका है। इन रचनाओं के आधार पर पहले विद्वानों का विचार था कि हिन्दी की रचनाएँ इन्हीं का लोकभाषा में विकास है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने नाथसिद्धों की हिन्दी रचनाओं को सिद्धसिद्धांतपद्धति, विवेकमार्त्तंड, शक्तिसंगमतंत्र, निरंजनपुराण, वैराट पुराण आदि संस्कृत रचनाओं का अधिकतर अनुवाद या सार माना था।[1] इसी प्रकाश में गोरखनाथ की रचनाओं को समझने और परखने का प्रयत्न होता रहा। इससे कुछ भिन्न मत डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी व्यक्त करते हुए कहा कि 'संस्कृत में योगियों के जो ग्रंथ उपलब्ध हैं, वे साधारण तौर पर साधनमार्ग के ही व्याख्यापरक ग्रंथ है।' उनसे योगियों के दार्शनिक और नैतिक उपदेशों का आभास बहुत कम मिलता है। हिन्दी में गोरखनाथ के नाम से जो अनेक पद और सबदी आदि प्रचलित हैं, उनमें भी साधनामार्ग की व्याख्या की गई है, पर उनमें योगियों के धार्मिक विश्वास, दार्शनिक मत और नैतिक स्वर का परिचय अधिक स्पष्ट भाषा में मिलता है। इस दृष्टि से इन हिन्दी-रचनाओं का विशेष महत्व है।[2] इस प्रकार द्विवेदीजी ने शुक्लजी के मत से भिन्न हिन्दी रचनाओं की महत्ता और विशेषता स्वीकार की।

अन्य नाथसिद्धों की तुलना में गोरखनाथ हिन्दी में विशेष रूप से कई कारणों से प्रसिद्ध एवं महत्वपूर्ण रहे हैं। उनकी रचनाओं का मूल्यांकन भाषा, काव्यरूप, छन्द, रचनाशैली, योग एवं साधनात्मक पद्धति, शब्दावली, सामाजिक दृष्टिकोण आदि दृष्टियों से किया जाता रहा। स्वयं गोरखनाथ की रचना का मूल्यांकन करने के लिए नहीं अपितु परवर्ती काव्य के विविध पक्षों को समझने के लिए उनकी रचनाओं को विविध दृष्टियों से देखा जाता रहा। नाथों में सर्वाधिक महिमाशाली होने के कारण ही उनकी रचनाएँ सर्वाधिक विचारणीय रहीं। सर्वप्रथम मिश्रबंधुओं ने गोरक्षनाथ की रचनाएँ उद्धृत कीं।[3] उन्होंने जितने उद्धरण दिए हैं, उनमें से निम्नलिखित अंशों का पता नहीं लगता। ये अंश बाद में भी विभिन्न लेखकों एवं इतिहासकारों द्वारा उद्धृत होते रहे और संग्रह ग्रंथों में भी उनको स्थान मिलता गया—

1. *हिन्दी साहित्य का इतिहास,* पृ० 19.
2. *नाथ संप्रदाय,* पृ० 182.
3. *मिश्रबंधु विनोद,* पृ० 211-212, 150, 157.

''सो वह पुरुष सम्पूर्ण तीर्थ स्नान करि चुकौ, अरु संपूर्ण पृथ्वी ब्राह्मननि को दै चुकौ, अरु सहस्र जज्ञ करि चुकौ, अरु देवता सर्व पुजि चुकौ, अरु पितरनि को संतुष्ट करि चुकौ, स्वर्ग लोक प्राप्त करि चुकौ, जा मनुष्य के मन छनमात्र ब्रह्म के विचार बैठो।''

''श्री गुरु परमानंद तिनको दंडवत् है। हैं कैसे परमानंद आनंद स्वरूप है सरीर जिन्हि को। जिन्ही के नित्य गायै ते सरीर चेतन्नि अरु आनंदमय होतु हैं। मैं जु हौं गोरिष सो मछंदरनाथ को दंडवत् करत हौं। हैं कैसे वै मछंदरनाथ। आत्मा जोति निश्चल है अंतहकरन जिनि कौ अरु मूल द्वार तै छह चक्र जिनि नीकी तरह जानै; अरु जुग काल कल्प इनि की रचना तत्व जिनि गायो। सुगंध को समुद्र तिनि कौ मेरी दंडवत्। स्वामी तुमे तो सत गुरु अम्है तौ सिष सबद एक पुछिबा दया करि कहिबा मनि न करिबा रोस।''[1]

इन उद्धरणों के आधार पर मिश्रबंधुओं ने गोरक्षनाथ को हिन्दी का सर्वप्रथम गद्यलेखक माना।[2] उपर्युक्त उद्धरणों की भाषा के रूप तथा गोरखनाथ के समय का विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि मिश्रबंधुओं का मत प्रामाणिक नहीं है। उन्होंने यह भी संकेत नहीं किया कि गोरखनाथ के किस ग्रंथ अथवा हस्तलेख से ये गद्यांश उद्धृत किए गए हैं। आगे के इतिहासकारों ने भी मिश्रबंधुओं का अंधानुकरण किया। दूसरे गद्यांश का अंतिम अंश डॉ० बड़थ्वाल द्वारा संपादित गोरखबानी में उपलब्ध है।[3] मिश्रबंधुओं ने एक और उद्धरण दिया जो गोरखबानी के 'सिस्ट पुराण' में पाठभेद के साथ प्राप्त है।[4] गोरखनाथ की हिन्दी रचनाओं के एकत्रीकरण और संपादन का सर्वप्रथम व्यवस्थित प्रयत्न डॉ० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल ने किया। उन्होंने नागरीप्रचारिणी सभा के साहित्य परिषद् में कोषोत्सव के अवसर पर 1930 ई० में व्याख्यान देते समय सबसे पहले नाथयोगियों और उनकी कविता का परिचय दिया था जो बाद में लेख के रूप में छपा था[5] और वही उसके बाद उनके निबंधसंग्रह 'योगप्रवाह' में संकलित कर प्रकाशित किया गया। इस लेख में प्रकाशित एवं स्थापित यद्यपि अनेक बातें अब असिद्ध एवं अप्रामाणिक हो गई हैं तथापि पं० तारादत्तजी गैरोला की कृपा से प्राप्त गोरखनाथ की सत्रह पोथियों का प्रथम परिचय हमें इस लेख में मिलता है। वे रचनाएँ हैं—सबदी, पद, तिथि, बार, अभैमात्रा योग, संख्या दर्शन, प्राण संकलि, आत्मबोध, नरवैबोध, काफरबोध, अबलि सिलक, जाती भौंरावली, रोमावली, साषी, मछींद्र गोरखबोध, गोरख-गणेश-संवाद, गोरखदत्त संवाद। इनमें से

1. *मिश्रबंधु विनोद,* पृ० 211-212.
2. *वही,* पृ० 211.
3. *गोरखबानी, मच्छींद्र गोरखबोध,* पृ० 186.
4. *वही, सिस्ट पुराण,* पृ० 236-237.
5. *नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग* 11, *सं०* 4, *माघ* 1987 *वि०*।

कुछ को तो उन्होंने स्पष्ट ही गोरक्षकृत नहीं माना। पौराणिक व्यक्तियों के साथ होनेवाले गोरख के संवादों को उन्होंने शिष्यों की रचना माना।[1]

इस लेख का व्याख्यान के रूप में प्रस्तुतीकरण दिसम्बर 1930 में किया गया था। तदुपरान्त डॉ० बड़थ्वाल ने सामग्री को व्यवस्थित कर उसे 'गोरखबानी' (संग्रह) नाम से लगभग सन् 1942 में प्रकाशित कराया। यहाँ मेरा प्रयोजन केवल गोरखनाथ की रचनाओं से है। उन्होंने इस संग्रह की भूमिका में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया कि ये 'बानियाँ' हमारे साहित्यिक और सांस्कृतिक विकास की लड़ी में एक महत्वपूर्ण कड़ी हैं।[2] डॉ० बड़थ्वाल ने इस संग्रह की रचनाओं को तीन भागों में संपादित किया है। प्रथम मुख्य भाग में उन्होंने सबदी, पद, सिष्या दरसन, प्राणसंकली, नरवैबौध, आत्मबोध, अभैमात्रा जोग, पंद्रह तिथि, सप्तवार, मछींद्र गोरखबोध, रोमावली, ग्यानतिलक, पंचमात्रा नाम की रचनाएँ संपादित की हैं और सबदी तथा पदों की टीका देने के साथ अन्य रचनाओं पर अर्थ संबंधी टिप्पणियाँ दी हैं। उन्होंने कुल आठ हस्तलेखों की संग्रह किया था जिनमें से च प्रति (पुरोहित हरिनारायण शर्मा, जयपुर की प्रति) सबसे पुरानी (अर्थात् संवत् 1715 सन् 1658 की) प्रति मानी। इस प्रथम भाग की सारी रचनाओं की पुष्टि प्राय: सभी आठ हस्तलेखों से हो जाती है और सबसे पुरानी प्रति में भी ये सारी रचनाएँ उपलब्ध हैं। प्रथम परिशिष्ट में गोरष गणेश गुष्टि, ज्ञानदीप बोध (गोरषदत्त गुष्टि), महादेव गोरष गुष्टि, सिस्ट पुराण, दयाबोध के साथ कुछ पदों का संपादन किया गया है। ये रचनाएँ संदिग्ध हैं और गोरखपंथियों द्वारा लिखी गई हैं। कुछ सेवादास निरंजिनी की भी समझी जाती हैं। दूसरे पौराणिक व्यक्तियों के साथ गोरखनाथ का संवाद स्वयं संदेहास्पद है। सांप्रदायिक मान्यता को देखते हुए तथा हस्तलेखों में भी मिलने के कारण इन्हें संदिग्ध होते हुए भी संग्रह के परिशिष्ट में स्थान दे दिया गया है। इसी प्रकार दूसरे परिशिष्ट में सप्त बार-नवग्रह, ब्रत, पंच अग्नि, अष्ट मुद्रा, चौबीस सिद्धि, बतीस लच्छन, अष्टचक्र और रहरासि नामक रचनाएँ संपादित हैं। इनके सम्बन्ध में डॉ० बड़थ्वाल ने कुछ नहीं कहा है। उन्होंने आठ हस्तलेखों से कुल 40 रचनाओं की सूची बनाई थी जिनमें से 19 संख्या (दयाबोध) तक की रचनाओं के चयन के सम्बन्ध में उन्होंने अपने तर्क दिए हैं, शेष के विषय में विशेषकर दूसरे परिशिष्ट की रचनाओं के बारे में कुछ नहीं कहा। उन्होंने हस्तलेखानुसार रचनाओं की जो सारणी दी है, उसके अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि द्वितीय परिशिष्ट की रचनाएँ कुछेक हस्तलेखों में ही मिलती हैं। दूसरे इनका विषय और स्वरूप संप्रदायानुमोदित है। तीसरे ये रचनाएँ चक्र, सिद्धि, पंचाग्नि, मुद्रा आदि के सम्बन्ध में अनेक महत्वपूर्ण सूचनाएँ देती हैं। वस्तुत: ये रचनाएँ गोरक्षकृत ही हैं, इसके सम्बन्ध में प्रामाणिक रूप में कुछ नहीं कहा जा सकता। स्वयं डॉ० बड़थ्वाल

1. *योगप्रवाह, पीतांबरदत्त बड़थ्वाल,* पृ० 64-65.
2. *गोरखबानी, भूमिका,* पृ० 11.

ने ही 'सबदी' को गोरख की सबसे प्रामाणिक रचना माना है क्योंकि वह सब प्रतियों में मिलती है।[1]

डॉ० कल्याणी मल्लिक ने गोरक्षनाथ की सिद्धसिद्धांतपद्धति नाम की प्रसिद्ध रचना के साथ अन्य अनेक रचनाओं तथा अन्य नाथों की रचनाओं का भी संपादन एवं प्रकाशन (सन् 1954 में) किया। इसमें उन्होंने यह स्वीकार किया कि उन्हें जो रचनाएँ मिली थीं, उनमें से अधिकांश डॉ० बड़थ्वाल ने गोरखबानी में प्रकाशित कर दी हैं।[2] इसलिए उन्होंने अन्य नाथसिद्धों की ही संस्कृत एवं हिन्दी रचनाओं को प्रकाशित किया। उन्होंने 'गोरख उपनिषद्' नाम की एक गद्य रचना अवश्य प्रकाशित की है जिसके लेखक अथवा रचयिता के सम्बन्ध में उन्होंने कुछ भी नहीं कहा। इस रचना के आरम्भ में महादेवी विमला गोरक्षनाथ से जिज्ञासा करती हैं। इसमें गोरक्षनाथ का जिस रूप में वर्णन है, उससे यह रचना उनकी नहीं कही जा सकती। इसलिए गोरखनाथ की हिन्दी रचनाओं की दृष्टि से डॉ० कल्याणी मल्लिक का संग्रह उपयोगी नहीं है। गोरखबानी का प्रकाशन करते समय डॉ० बड़थ्वाल ने यह घोषणा की थी कि 'जोगेसुरी बानी' के प्रथम खंड में गोरखबानी और दूसरे खंड में अन्य नाथसिद्धों की बानियाँ प्रकाशित करने की योजना है। उनके इहलोक त्याग देने के कारण उस दूसरे खंड की सारी सामग्री का संपादन डॉ० बड़थ्वाल के अनुसार ही डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने किया।[3] इस संग्रह में भी गोरखनाथ की हिन्दी-रचनाएँ प्रकाशित नहीं हैं क्योंकि वे सभी पहले ही प्रकाशित हो चुकी थीं। अतः यह संग्रह भी हमारे लिये विशेष उपयोगी नहीं है। उपर्युक्त परिचय से यह स्पष्ट हो जाता है कि गोरखनाथ की हिन्दी-रचनाओं के लिए सर्वाधिक उपयोगी संग्रह डॉ० बड़थ्वाल का ही है। अतः इस संग्रह की ही रचनाओं की प्रामाणिकता, विषय-सामग्री आदि पर आगे संक्षेप में विचार किया जा रहा है।

गोरखबानी की रचनाओं में सर्वप्रथम सबदी संपादित है और प्रामाणिकता में भी प्रथम स्थान उसी का है। यद्यपि इसमें कुल 275 सबदियाँ संपादित हैं, किन्तु डॉ० बड़थ्वाल ने केवल प्रथम 189 सबदियों को ही (जिन्हें संपादक ने साखी कहा है) अधिक प्रामाणिक माना है क्योंकि ये सबदियाँ सभी प्रतियों में समान रूप से मिलती हैं। सभी प्रतियों में सबदियों की संख्या समान नहीं है। इनकी संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती गई है। इन 189 सबदियों अथवा साखियों में भी स्वयं डॉ० बड़थ्वाल दो-एक को स्पष्ट ही दूसरों की मानते हैं।[4] डॉ० बड़थ्वाल ने ऐसी दो सबदियों की ओर संकेत कर बताया है

1. *गोरखबानी, भूमिका,* पृ० 19.
2. *सिद्धसिद्धांतपद्धति ऐंड अदर वर्क्स ऑव नाथयोगीज़, इंट्रो०* पृ० 29.
3. *नाथसिद्धों की बानियाँ, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, सं० 2014.*
4. *गोरखबानी, भूमिका,* पृ० 18.

कि ये क्रमशः किसी लालनाथ योगी तथा बाबा रतन हाजी की हैं,[1] किन्तु इनके अतिरिक्त भी कुछ पद्य ऐसे हैं जो रतननाथ के कहे हुए हैं, अथवा स्पष्ट ही प्रक्षेप हैं। एक दूसरी सबदी में भी रतननाथ ही बोलते हैं, किन्तु बड़थ्वालजी ने इसकी ओर संकेत नहीं किया।[2] यदि इसी प्रकार के अन्य अनेक ऐतिहासिक शब्दों की परीक्षा की जाय तो अनेक सबदियाँ प्रक्षिप्त घोषित की जा सकती हैं। सबदी की भाषा के आधार पर भी प्रामाणिकता का विचार किया जा सकता है। वैसे इसकी भाषा के स्वरूप पर आगे विचार किया गया है, किन्तु प्रामाणिकता की दृष्टि से भाषा विचार कर यह कहा जा सकता है कि इन सबदियों में इस समय भाषा का जो रूप हमें उपलब्ध है, वह दसवीं ईस्वी शताब्दी का नहीं है। स्वयं डॉ० बड़थ्वाल ने यत्र-तत्र इस प्रकार की बात कहकर यह स्पष्ट किया है कि ये रचनाएँ श्रुतिपरंपरा से आई हैं। इससे उन्होंने दो तथ्यों को प्रकट किया। एक तो यह कि नाथवाणी के प्रति शिष्यों और श्रद्धालुओं की श्रद्धा-भावना ने इन्हें नष्ट होने से बचाया। दूसरा यह कि स्मृति के कारण उसमें कुछ परिवर्तन या छूट हो जाती है और सांप्रदायिक आग्रह से नई रचनाएँ जुड़ जाती हैं अथवा पुरानी रचनाओं में परिवर्तन-परिवर्धन हो जाता है।[3] इसीलिए निष्कर्ष रूप में उन्होंने यह मत व्यक्त किया कि नाथ परंपरा में इसके लेखक परंपरा प्रसिद्ध गोरखनाथ से भिन्न नहीं समझे जाते। 'मैं अधिक संभव यह समझता हूँ कि गोरखनाथ विक्रम की ग्यारहवीं शती में हुए। ये रचनाएँ जैसी हमें उपलब्ध हो रही हैं, ठीक वैसी ही उस समय की हैं, यह नहीं कहा जा सकता। परन्तु इसमें भी प्राचीनता के प्रमाण विद्यमान हैं, जिससे यह कहा जा सकता है कि संभवतः इनका मूलोद्भव ग्यारहवीं शती में हुआ हो।'[4]

गोरखबानी में सर्वप्रथम रचना 'सबदी' है। इनमें गोरखनाथ ने दर्शन, साधन और अध्यात्म से संबंधित अपने विचार व्यक्त किए हैं। ये मुक्तक हैं, अतः एक सबदी का दूसरी से सम्बन्ध नहीं है। दो-एक स्थलों पर दो-चार सबदियाँ एकसाथ ऐसी आ गई हैं कि उनका परस्पर विषयगत सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है। यदि इनकी विषय सामग्री का सामान्य रूप से अध्ययन किया जाय तो इनमें अनेक विषयों का प्रतिपादन दिखाई पड़ता है। वैसे सभी विषय योग और ज्ञान में अंतर्भूत दिखाई पड़ते हैं तथा साथ ही अनेक सबदियों में विषय की आवृत्ति भी देखने को मिलती है। इनमें परमोपास्य के स्वरूपनिर्वचन से लेकर साधना की गम्भीर क्रियाओं तक के संकेत उपलब्ध हैं। इनमें सामान्य मानव के संयमपूर्ण जीवन की जहाँ चर्चा है, वहीं व्यर्थ के बाह्याडंबर का जमकर खंडन भी किया गया है। यहाँ तक कि सहज रहनी और करनी का बड़ा ही स्पष्ट और

1. *वही, मूल, सबदी, संख्या 104 तथा 118,* पृ० 36 *तथा* 41.
2. *वही, मूल, सबदी, सं० 211,* पृ० 70.
3. *वही, भूमिका,* पृ० 15-16.
4. *वही, भूमिका,* पृ० 20.

सरल कथन इनमें मिलता है। संक्षेप में यों कहा जा सकता है कि इन मुक्तकों में गोरक्ष के सिद्धान्तों का जहाँ एक ओर अत्यन्त व्यावहारिक और सरल निरूपण है, वहीं दूसरी ओर हठयोगप्रधान साधना के अनुकूल संयमों, आचारों और क्रियाओं का भी व्याख्यान है। इनमें समाज से, संसार से भागने का नहीं, अपितु संसार में ही संयम के साथ रहने का उपदेश है। शब्दब्रह्म के गगन में प्रकाशन को ही प्रामाणिक मानकर वेद किताब, शास्त्र, कुरान, ग्रंथ आदि को धंधा कहा गया है। हँसने, खेलने को ब्रह्मज्ञान में लीन कर देने का उपदेश किया गया है। अहिंसा का उपदेश देकर मुसलमानों को सावधान करते हुए हजरत मुहम्मद के वास्तविक धर्म का उद्घाटन किया गया है। नादानुभूति एवं परमानुभूति को अनिर्वचनीय कहा गया है, जिसके लिए वादविवाद व्यर्थ है। इसी प्रकार उन्मनी साधन, संयम, बिंदुरक्षा, अजपाजाप, नादानुसंधान, हठयोगानुकूल, संयम, शब्दमहत्व, स्वसंवेद्य, अमृतसाधन, वारुणीपान, जीवन्मृत्यु, अतित्याग, चित्तस्थैर्य, अल्पाहार, अल्पवाणी, मन-पवन-साधन, मैथुनत्याग, कायसिद्धि, पिंडप्रतीति, पिंडज्ञान, प्राणायाम, क्षमा-ज्ञान-सुमति का आश्रयण, मनमहत्त्व, कायाशोधन और नाड़ीसाधन, विपरीकरण, रहनी करनी की महत्ता, गुरुमुख, पिंडब्रह्मांडवाद. प्रत्याहार, शिवशक्तियोग,आडंबरविरोध, षट्चक्रवेध, ओंकारसाधन, कुंडलिनीजागरण, गुरु और गुरुशब्द महत्त्व, खेचरी मुद्रा की ही सार्थकता, योगि भेद, वज्रौली अमरौली, संयम महत्त्व, विवेक योगाग्नि से सिद्धकाया की प्राप्ति, गुरुशिष्यवाद, अधिकारभेदभाव, पुरुषकार, अग्नियोग, स्वरयोग जैसे विषयों पर स्फुट रूप में गोरखनाथ ने अपने विचार व्यक्त किए हैं। उन्होंने संसार छोड़कर वन में जाने अथवा नगर में मायालिप्त रहने का समर्थन नहीं किया। निराहार साधन और वृहंदाहारसाधन दोनों का उन्होंने विरोध किया। काया को कष्ट देकर उसे साधनेवाले, पावड़ी पहनकर चलनेवाले, लोहे की श्रृंखलाओं से शरीर को बाँध कर उसे नियंत्रित रखनेवाले, नागा, मौनी, दूधाधारी सभी की उन्होंने आलोचना की और कहा कि ये सभी योग नहीं प्राप्त करा सकते।[1]

पदों के विषय भी प्राय: वे ही हैं, केवल कथन-पद्धति में अंतर है। इन 62 पदों में से अनेक पदों में गोरखनाथ ने संबोधनात्मक पद्धति अपनाई है। इन पदों में भी बिंदुरक्षा, हठयोग, सहज, रससाधन, हठयोग, प्राणायाम, पिंडब्रह्मांडवाद, ओंकारसाधन, नादानुसंधान, अजपाजाप, अहिंसा, संयम, आचार, गुरुवाद, कुंडलिनीसाधन और आत्मसाधन, सर्वात्मवाद, आडंबरविरोध, मायानिषेध, मानससाधन, विपरीतकरण, मानसिकपूजा जैसे विषयों को अपेक्षाकृत अधिक अनुभूत्यात्मक ढंग से व्यक्त करने का प्रयास है। इनमें गोरक्षनाथ की वैयक्तिकता का तत्त्व अधिक है और साथ ही काव्यात्मकता भी इनमें सबदियों की तुलना में अधिक है।[2]

1. *इस संपूर्ण संक्षेप के लिए गोरखबानी का संपूर्ण 'सबदी' भाग द्रष्टव्य।*
2. *इस संपूर्ण संक्षेप के लिए गोरखबानी का पद भाग, पृ० 85-158 तक द्रष्टव्य।*

अन्य रचनाओं में से 'सिप्या दरसन' में सृष्टि की सभी वस्तुओं में से सर्वश्रेष्ठ क. चयन कर उनकी विशेषता नाथमतानुसार बताई गई है। यह गोरक्ष का अपने शिष्यों के लिए किया गया उपदेश है। दूसरी रचना 'प्राण संकली' अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण रचना है। नाथ और संत साहित्य में इस पद्धति और विषयवस्तु की रचनाओं का व्यापक प्रयोग देखने में आता है। डॉ० बड़थ्वाल ने इसका अर्थ 'प्राण-शृंखला' किया है। यदि दूसरी प्रतियों में इसका शीर्षक 'आत्मबोध' मिलता है[1] तो वह अनुचित नहीं। कारण यह है कि गोरखनाथ की सिद्धसिद्धांतपद्धति जैसी रचनाओं में पिंडब्रह्मांडवाद जैसे सिद्धांतों का विस्तृत विवेचन मिलता है और उनमें पिंडज्ञान को सर्वाधिक महत्व दिया गया है। 'प्राणसंकली' रचनाओं की विषय सामग्री से ज्ञात होता है कि इनमें पिंडज्ञान ही मुख्य विषय है अर्थात् जो ब्रह्मांड में है, वही पिंड में है, इसकी चरितार्थता इन रचनाओं में दिखाई जाती है। यही एक प्रकार का आत्मबोध है क्योंकि इसे बिना जाने कोई योगी नहीं हो सकता। इसका प्राण की शृंखला से सीधा सम्बन्ध है। प्राण से चंचल शरीर को बाँधना, उसे स्थिरता, दृढ़ता और परिपक्वता प्रदान करना नाथयोग का प्राथमिक लक्ष्य है। इसके लिए पिंडज्ञान आवश्यक है। इसलिए प्राण संकली का प्राण शृंखला अर्थसंगत प्रतीत होता है।[2]

शेष रचनाओं में से 'नरवै बोध' में योग की चार अवस्थाओं (आरंभ, घट, परिचय और निष्पत्ति) का परिचय देकर योगानुकूल संयम एवं आचार का उपदेश किया गया है। इसमें कुल 14 छंद हैं। 'आत्मबोध' में सामान्य सबदियों के समान उपदेश तथा 'अभै मात्रा जोग' में यम-नियम का रूपाकात्मक वर्णन है। पंद्रह तिथि में तिथ्यनुसार योगसाधन वर्णित है और साथ में आडंबरपूर्ण साधन का खंडन भी है। उसी प्रकार सप्तवार में वारानुसार विभिन्न साधनों का निर्देश है। 'मछींद्र गोरखबोध' बहुत प्रसिद्ध रचना है जिसमें गोरक्ष के अनेक प्रश्नों के समाधान मत्स्येंद्र द्वारा प्रस्तुत किए गए हैं। विषय सबदी के ही हैं। इसमें कुल 127 छंद हैं। रोमावली में शरीर-रचना के तत्त्वों का विचार कर मुद्रा, बंध, वेध, पीर, मन, पवन, इंद्रिय आदि का विविधरूपात्मक एवं योगपरक वर्णन है। 'ग्यानतिलक' में पुरुषकार के साथ अन्य योगपरक तत्त्वों का सबदी के समान ही वर्णन है। वर्णन अपेक्षाकृत अधिक काव्यात्मक है और रचना भी अधिक साफ है। पंचमात्रा में पंचतत्त्वों का अध्यात्मयोगात्मक विचार है। इसमें चित्तचक्र और मूलचक्र का उल्लेख तो अवश्य है; किन्तु न तो इनका विस्तार है और न अन्य चक्रों का। निगुरा सगुरा का विचार भी मिलता है। रचना बहुत साफ और व्यवस्थित नहीं है। गोरखबानी की अन्य रचनाओं को गोरक्षकृत मानने में स्वयं डॉ० बड़थ्वाल को ही हिचक है। अतः यहाँ केवल मूल की रचनाओं की विषय-सामग्री का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है।

●

1. *गोरखबानी,* पृ० 164, *पादटिप्पणी।*
2. *गोरखबानी, मूल,* पृ० 164-168.

बारहवाँ परिच्छेद

गोरक्षनाथ की हिन्दी-रचनाओं में साधना और उसमें अंतर्भूत सिद्धान्त

गोरक्षनाथ की संस्कृत रचनाओं के प्रकाश में ही प्रायः उनकी हिन्दी रचनाओं में विवृत योगसाधना का विचार होता रहा है। यदि इसका स्वतंत्र रूप से विचार किया जाय तो कुछ महत्त्वपूर्ण बातें सामने आ सकती हैं। वस्तुतः गोरक्षनाथ की हिन्दी रचनाओं में योग के प्रारंभिक साधकों के लिये आचार और संयम आवश्यक माने गए हैं। इसी तत्त्व की इनमें प्रधानता भी दिखाई पड़ती है। इनमें किसी एक विषय का शास्त्रीय और व्यवस्थित प्रतिपादन नहीं मिलता। ये फुटकर या मुक्तक रचनाएँ हैं जिनमें गोरक्षनाथ ने क्रियाओं की ओर इंगित कर अपने योगात्मक अनुभवों, सिद्धियों, परिणामों, उपलब्धियों का परिचय दिया है। अतः किसी एक साधनांग का पूरा विवेचन करने के लिए उनकी सभी रचनाओं को देखना पड़ता है। वस्तुतः गोरक्षनाथ के संस्कृत ग्रंथ साधकों के लिए लिखे गये प्रतीत होते हैं जबकि उनकी हिन्दी रचनाएँ सामान्य दीक्षित, अदीक्षित सभी व्यक्तियों को दिए गए उपदेश या योगमाहात्म्य का परिचय देनेवाली रचनाओं के रूप में उपस्थित की गई प्रतीत होती हैं। यदि तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो संक्षेप में कहा जा सकता है कि गोरक्षनाथ के संस्कृत ग्रंथ शास्त्रग्रंथ या योगशास्त्र या योगविद्या ग्रंथ हैं तथा उनकी हिन्दी रचनाएँ योगसाधन की परंपरा में उपदेशप्रधान रचनाएँ हैं। हिन्दी रचनाओं में योगविधान का विस्तृत उपस्थापन प्रधान नहीं है, प्रधान है योगप्रधान आचार,साधन के संकेत तथा उनका माहात्म्य और फल। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह मत तो अवश्य ही स्वीकार किया जा सकता है कि गोरक्षनाथ की हिन्दी-रचनाओं में धार्मिक विश्वास और नैतिक स्वर प्रबल है।[1]

गोरक्षनाथ ने अपनी हिन्दी-रचनाओं में संस्कृत-रचनाओं के समान ही द्वैत का अद्वैत में परिवर्तन कर उससे भी अतीत होने को योग के लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया है। गोरखनाथ के योग का लक्ष्य केवल शिवशक्तियोग या उनका अद्वैत नहीं है अपितु इस अद्वययोग से भी अतीत वह द्वैताद्वैतविवर्जित अवस्था है जिसके लिए चार प्रकार के योगों (हठ, मंत्र, लय और राजयोग) से समन्वित योग को, जिसमें प्राणायाम प्रधान है, साधन के लिए स्वीकार किया गया है। उन्होंने हिन्दी-रचनाओं में जिस योग का उपदेश

1. *नाथ संप्रदाय,* पृ० 182.

दिया है, उसका मूल है दया और दान। उनके अनुसार सिद्ध देह में जरा नहीं आती, मृत्यु का आक्रमण नहीं होता। जिसके बिंदु का पात नहीं होता, उसका पिंडपात भी नहीं होता; किन्तु विशेषता यह है कि इसके लिए वे किसी कष्टसाधन को स्वीकार नहीं करते। कष्टदायक योग को वे निरर्थक मानते हैं। इसके लिए स्वांग या बाह्य 'भेष' के धारण को भी वे व्यर्थ मानते हैं। अधिकार की ओर संकेत करते हुए वे कहते हैं कि जो लोग स्वांग में तो पूरे हैं और ज्ञान में अधूरे हैं, जिनका पेट हमेशा खाली रहता है या हमेशा भूखे रहते हैं तथा दंभ में ही अपनी शूरता समझते हैं, वे पाखंडी हैं। वे योगसाधन नहीं कर सकते। निस्सार शरीर में योगसिद्धि की प्राप्ति वे नहीं मानते। इसके लिए कथनी-बदनी या वाद-विवाद भी निरर्थक है।[1] इतने से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि गोरक्षनाथ की हिन्दी-रचनाओं में योग का जो रूप है, वह सदाचार और ब्रह्मचर्यप्रधान है। इन रचनाओं से और एक बात स्पष्ट होती है कि गोरक्षनाथ जिस योगी की चर्चा इन रचनाओं में करते हैं, वह केवल हठयोग नहीं है। उसका लक्ष्य है शरीर में ही निर्वाणपद, परमपद, नाथपद या द्वैताद्वैतविवर्जित पद प्राप्त करना। इस प्रकार गोरक्षनाथ हठयोग को ही चरम साधन के रूप में स्वीकार नहीं करते। उनका हठयोग हिन्दी रचनाओं में भी समाधियोग का साधक है।

गोरक्षनाथ की हिन्दी रचनाओं में गुरु को सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त है। 'निगुरा' या गुरुहीन होकर या बिना दीक्षा के साधन में प्रवेश नहीं किया जा सकता। वह ज्ञान का पूर्ण सत्य रूप है और (ब्राह्मी) संपत्ति का अक्षय भंडार है। उसी के ज्ञानवाण से निहत होकर शिष्य का अति चंचल और अति बलशाली मन स्ववश हो जाता है। वह एकमात्र ज्ञान का प्रदाता है, ज्ञानस्रोत है। शिष्य को अन्यत्र कहीं शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। अनेक प्रकार के दोषों से भरे ऊबड़-खाबड़ भवमार्ग में गुरु ही एकमात्र प्रकाश देनेवाला है।[2] योगसाधन में निष्णात होने पर जब सर्वतोभावेन सम्यक् योग सिद्ध हो जाता है, तब गुरु अपनी कृपा से निर्वाणसमाधि की रक्षा करता है। यह समाधि स्वानुभूतिगम्य सत्य का साक्षात्कार है। गुरु इस सत्य का पूर्ण साक्षात्कार करता है और दूसरों की इस प्रकार की अनुभूति की भी उसी को प्रतीति होती है।[3] त्रिगुणात्मिका माया को, जो विभिन्न प्रकार के रूपों को धारण कर जीवों के चित्त को विमूढ़ कर देती है, केवल गुरु ही दिखाने में, उसके रहस्य को समझाने में, सत्य और माया का विवेक कराने में समर्थ हो सकता है। स्वानुभूतिगम्य सत्य के वाचक शब्द का प्रत्यक्ष केवल गुरु ही करा सकते हैं। यह गुरुतत्त्व ही नाथतत्त्व है जो मायाविमूढ़ सुषुप्त जगत् के लिए नित्य जाग्रत् रहता है क्योंकि बिना उनकी कृपा के ब्रह्म साक्षात्कार या परमपद की प्राप्ति

1. *गो० बा०*, पृ० 15, 64, 87, 126, 139, 164.
2. *गो० बा०*, पृ० 30, 64, 126, 128, 154.
3. *वही*, पृ० 10, 74.

असंभव है।[1] ज्ञान का उद्गिरण होने पर शिष्य का पार्थिव सम्बन्ध छूट जाता है, अर्थात् प्रपंचयुक्त पृथ्वी से उसका सम्बन्ध नहीं रहता। इस प्रकार की ग्रंथि का भेदन ही ब्रह्म ग्रंथि का भेदन है। इस ग्रंथि का स्थान मूलाधार है जिसमें महाभूत पृथ्वी तत्त्व की स्थिति मानी जाती है। ब्रह्मा की पार्थिवी सृष्टि से सम्बन्धविच्छेद का कार्य गुरु ही करता है। भिन्न शब्दों में यह पाशविमोचन या कुंडलिनी का जागरण है। प्रकारांतर से इसे वास्तविक साधनमार्ग में प्रवेश या दीक्षा भी कहा जाता है। गोरक्षनाथ की हिन्दी की रचनाओं में इस दीक्षातत्त्व का स्पष्ट विवेचन नहीं मिलता तथापि तीन ग्रंथियों की क्रियाओं से, जो आज्ञाचक्र तक समाप्त हो जाती है, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। इसी प्रारम्भिक आवश्यकता को अति महत्त्वपूर्ण मानते हुए गोरखनाथ ने ऐसे गुरु के आराधन का उपदेश दिया है जो ब्रह्मग्रंथि से जीवशक्ति को छुड़ा दे।[2]

गोरक्षनाथ की साधना में गुरु का निर्देशन कार्य इन ग्रंथियों के भेद के उपरान्त समाप्त हो जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि शिष्य या साधक इसके द्वारा गुरु के बाद भी अपना साधनक्रम अग्रसर कर सकता है। तांत्रिक साधन और गोरक्षनाथ की संस्कृत रचनाओं से यह ज्ञात होता है कि गुरु-शिष्य का प्रत्यक्ष सम्बन्ध केवल आज्ञाचक्र तक ही रहता है। जब शिष्य तीन ग्रंथियों से, जिन्हें कभी-कभी तीन गुणों का विषम बन्धन भी कहते हैं, मुक्त हो जाता है, तब वह अपनी अर्जित शक्ति और संस्कार से अग्रसर होता है, किन्तु आज्ञाचक्र तक साधक के लिए गुरु अनिवार्य तत्त्व है। गोरक्षनाथ मानते हैं कि आज्ञाचक्र के बाद की स्थिति में गुरु और शिष्य की काया एक ही रहती है। उसमें भी वे ही 36 तत्त्व रहते हैं, जो गुरु में सामान्यतया होते हैं;[3] किन्तु इसके पूर्व की स्थितियों में अधिक तत्त्व और न्यून तत्त्व के आधार पर गुरु-शिष्य का सम्बन्ध स्थिर रहता है। गोरक्षसिद्धांतसंग्रह में स्पष्टतया कहा गया है कि गुरु में 36 तत्त्व और शिष्य में 32 तत्त्व होने चाहिए। अर्थात् अधिक तत्त्वों से सम्पन्न होने पर गुरु तथा न्यून तत्त्वों से सम्पन्न होने पर शिष्य कहा गया है। अंतर के चार तत्त्वों को आयत्त कर लेने पर शिष्य साधनक्षेत्र में अकेले भी रमण कर सकता है।[4] ओंकार निराकार परमतत्त्व या परमपद की उपलब्धि हो जाने पर, उस स्थिति में न गुरु रहता है न चेला, सभी एकरस हो जाते हैं।[5] गोरक्षनाथ के नाम से प्रसिद्ध 'बतीस लछन' नाम की रचना में, जिसे किसी-किसी हस्तलेख में 'अष्ट परिछ्य' भी कहा गया है, शिष्य के 32 लक्षणों को आठ परीक्षाओं में

1. *गो० बा०,* पृ० 137, 149, 166.
2. *गो० बा०,* पृ० 150-151, पद सं० 54—*'कोई गुरु आराधीला दो ब्रह्म गाँठि छोड़ै।'*
3. *गो० बा०,* पृ० 195, *मच्छींद्र गोरष बोध,* छं० 74—*'अवधूत द्रिष्टि थैं दिब द्रिष्टि होइबा, गिनांन थैं बिनांन होइबा।'* तथा *'गुरु शिष्य की एकै काया, परचा होइ तौ बिहड़ि न जाया॥'*
4. *वही,* पृ० 55, सबदी, 161.
5. *वही,* पृ० 129-130, पद सं० 35.

विभाजित कर लक्षणों का उल्लेख किया गया है।[1] गोरक्षनाथ ने स्पष्ट निर्देश दिया है कि 36 लक्षणों से पूर्ण व्यक्ति को ही गुरु-रूप में स्वीकार करना चाहिए। अधूरे गुरु को लेकर अपने कुल का नाश नहीं करना चाहिए।[2] यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि नाथसंप्रदाय में नाद कुल (अर्थात् गुरुकुल) ही स्वीकृत है, बिंदुकुल (पितृकुल) नहीं। अधूरा गुरु करने से तो पितृकुल छूट ही जाता है और गुरुकुल भी नहीं मिलता। अधूरे गुरु के मिलने पर परम सिद्धि तो नहीं ही मिलती, पिंडपात भी हो जाय तो इससे बढ़कर गुरु के लिए लज्जा की कोई बात नहीं हो सकती।[3]

गोरखनाथ के गुरु सम्बन्धी उपर्युक्त विचारों से यह स्पष्ट होता है कि गुरु के तीन प्रकार के कार्य गोरक्षनाथ स्वीकार करते हैं—पूरण, पोषण, बोधन। इसकी व्याख्या में कहा जा सकता है कि गुरु जहाँ एक ओर शिष्य की जीवात्मशक्ति (कुंडलिनी) को ब्रह्मग्रंथि से मुक्त करता है, वहीं वह उसे सांसारिक प्रपंचों से भी मुक्त करता है। दूसरे, साधना में अग्रसर होने पर वह 'चार तत्त्वों' की, जो शिष्य में कम होते हैं, पूर्ति भी करता है। तीसरा कार्य वह ज्ञान प्रदान करके सम्पन्न करता है। ज्ञानोद्गिरण ही शिष्य का बोधन है और चार तत्त्वों की अथवा लक्षणों की आप्ति कराना ही पूरण कार्य है। शिष्य की शक्तियों को उज्जीवित रखना भी गुरु का ही कार्य है। इसे ही हम पोषण कार्य कह सकते हैं। गुरु का परीक्षक रूप भी है जिसका उद्घाटन गोरखबानी में प्रयुक्त 'पारख' जैसे शब्दों से होता है। 'अष्ट परीक्षा' जैसी रचनाओं से इसकी पुष्टि होती है।[4] इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि गोरक्षनाथ साधना में गुरु, उसकी योग्यता, शिष्य तथा उसकी योग्यता, 36-32 लक्षण, अष्ट परीक्षा आदि का विधान स्वीकार करते हुए अधिकारभेदवाद के सिद्धान्त को स्वीकार कर लेते हैं। उनके अनुसार तो 'सगुरा' ही अमृतपान कर पाता है और 'निगुरा' का सारा जीवन भवतृषा में ही बीत जाता है।[5] इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि 'निगुरा' के लिए साधनक्रम में कोई स्थान नहीं है। गोरक्षनाथ की रचनाओं में 32-36 तत्त्वों अथवा लक्षणों के अतिरिक्त नाद की चार अवस्थाएँ भी बताई गई हैं। इन्हें योगी की साधन की अवस्थाओं से संबद्ध कर दिया गया है। ये अवस्थाएँ हैं—आरंभ, घट, परिचय और निष्पत्ति। इसी प्रकार चार प्रकार के शून्यों की भी कल्पना है।[6] इसका तात्पर्य यह है कि गोरक्षनाथ के साधनक्रम में क्रमशः

1. *गो० बा०*, पृ० 249.
2. *वही*, पृ० 115.
3. *वही*, पृ० 12, 60.
4. *वही*, पृ० 89 *तथा* 249.
5. *वही*, पृ० 9, *सबदी* 23.
6. *वही*, पृ० 47-48, *सबदी* 136-139 *तथा* पृ० 40, 62, 71, 177 *नरवैबोध, आत्मबोध, मच्छींद्र गोरखबोध।*

विकास को ध्यान में रखकर साधक की विभिन्न परीक्षाएँ तथा साधना की विभिन्न अवस्थाएँ बताई गईं हैं। साथ ही तदनुसार, विकासक्रम को ध्यान में रखते हुए योगियों के चार प्रकार बताए गए हैं तथा उनको नादों एवं शून्यों से भी संबद्ध किया गया है।

गोरक्षनाथ के मतानुसार गुरु जिस साधनोपाय का उपदेश देता है, वह योगयुक्त ज्ञान है। इसी से काया में निर्वाण पद की उपलब्धि होती है।[1] इसका तात्पर्य है योग की सहायता से उपलब्ध ज्ञान। नाथों के योग में केवल कायासाधन ही नहीं है, मानसिक या चैतसिक साधन भी है। प्रथम द्वितीय का साधनोपाय है। दूसरे शब्दों में आधिभौतिक और आधिदैविक साधन का लक्ष्य आध्यात्मिक साधन है। पिछले परिच्छेद में संस्कृत ग्रंथों के परिचय में गोरक्षनाथ के योग के चरम लक्ष्य को विलक्षण बताया गया है। वह वस्तुतः चतुष्कोटिविनिर्मुक्त है। नेति-नेति से ही उसकी ओर संकेत किया जा सकता है। वह तत्त्व प्रत्यक्ष करणों की पहुँच के बाहर है और हमारी कोई भी इंद्रिय उसे ग्रहण नहीं कर सकती। उसका केवल ध्वन्यात्मक ग्रहण केवल गगन शिखर सहस्रार में होता है। वह अगम है, अगोचर है, निर्नाम है और अरूप है। वह 'सत्' भी नहीं है क्योंकि वह अगम और अगोचर है। गोचर वस्तु का ही रूप भी हो सकता है और नाम भी। वही वर्ण्य भी हो सकता है। अर्थात् गोरक्षनाथ का परमतत्त्व सत्-असत्-विवर्जित, अनिर्वचनीय, निर्नाम और निराकार है। वह राग-द्वेष-क्रोध-मोह आदि से परे, सरल, सहज और निर्विकार है।[2]

गोरक्षनाथ का साधन इसी अदृष्ट परमतत्त्व का दर्शन और उसी में चित्त का आधारण है। उसकी सत्ता-असत्ता-अनिर्वचनीयता, नामरूपराहित्य के निर्वचन का प्रयत्न करते हुए उन्होंने कहा है कि वह परमतत्त्व यहाँ ही सत्तावान है और यहीं असत्तावान भी है। सत्तावान तो इसलिए है कि यहीं उसने तीनों लोकों की रचना की है। वह अगोचर है, इसलिए वह लुप्त कहा गया है एवं इसी से वह असत्तावान भी प्रतीत होता है। उसकी सत्ता इससे सिद्ध है कि वह साथ ही रहता है और चूँकि वह हमसे लिप्त नहीं होता, इसलिए वह 'अलग' कहा गया है।[3] वह एक ऐसा तत्त्व है जिसका उचित रूप में निर्वचन वेद, धर्मग्रंथ तथा अन्य वाणियों के समूह भी नहीं कर सके। उन सबने उसे आडंबर में ढँक लिया। उसे कोई प्रकाशित नहीं करता, वह स्वयं अपने को शब्द के रूप में प्रकाशित करता है जिसका ग्रहण या साक्षात्कार, केवल अलक्ष्य तत्त्व के जानकार ही कर सकते हैं। उस अलक्ष्य तत्व का ज्ञान वेद, शास्त्र, किताब (धर्मग्रंथ), कुरान या अन्य पुस्तकों से नहीं हो सकता। ये सब बंधन में डालनेवाले एवं अज्ञान उत्पन्न करनेवाले हैं। इस परमपद

1. *गो० बा०*, पृ० 164, *प्राणसंकली, छं० सं० 2*—
'जोग जुक्त जब पाओ ग्याना। काया षोजौ पद नृबाना॥'
2. *वही*, पृ० 1, *सबदी* 1.
3. *वही*, पृ० 2, *सबदी* 2-3.

या तत्त्व का ज्ञानी कोई बिरला योगी ही हो सकता है।[1] गोरक्ष के अनुसार प्रत्येक शरीर ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए बनाया गया है जिसमें ब्रह्मबीज का प्रस्फोट हो सके। जिस क्यारी में ब्रह्मसाक्षात्कार का बीज प्रस्फुटित हो जाता है या जो घट इस प्रस्फोट से निष्पन्न हो जाता है वह गोरक्षकाया या सिद्धकाया है। उनके मत से कच्चे शरीर या कमजोर क्यारी में ब्रह्मसाक्षात्कार के बीज को प्रस्फुटित करनेवाला ज्ञानजल टिक नहीं सकता।[2] अतः ज्ञानजल को ग्रहण करने तथा स्थिर रखने के लिए परिपक्व शरीर की आवश्यकता है जिसका एकमात्र साधन योग है। इस प्रकार नाथपद के साक्षात्कार के लिए ज्ञान आवश्यक है तथा चिर ज्ञान अथवा नित्य ज्ञान के लिए योग से उपलब्ध परिपक्व शरीर की आवश्यकता है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि गोरक्षनाथ की साधना में काया का सर्वाधिक प्राथमिक महत्व है क्योंकि ब्रह्मसाक्षात्कार करानेवाला ज्ञान इसी पिंड में टिक सकता है। जब तक इस पिंडगत गगनशिखर की स्थिति है तबतक ज्ञान और ब्रह्म का नादरूप में साक्षात्कार भी स्थिर है। इस काया की रक्षा होनी चाहिए क्योंकि संसारभर के जितने साधन हैं, उनमें इसका आद्य स्थान है। योग से शरीर को शुद्ध करना, योग से ही शरीर की रक्षा करना और उसी से परमपद का गगनशिखर में साक्षात्कार करना, गोरक्षमतानुसार योगी के लिए आवश्यक है। इसीलिए उनके योग में कायासाधन और देहविजय का इतना विवरण मिलता है; किन्तु यह जय तबतक अत्यन्त कठिन है जब तक पिंडज्ञान न हो जाय। इसे जीतने पर ही सिद्धि की प्राप्ति हो सकती है।[3] इस प्रकार योगी के लिये दो तत्त्व मुख्य हैं—पिंड और ब्रह्मांड। ब्रह्मांड से पिंड का क्या सम्बन्ध है, यह तो साधक को जानना ही चाहिए, साथ ही यह भी जानना चाहिए कि पिंड में ब्रह्मांड के कौन-कौन से तत्व किस-किस रूप में विद्यमान हैं।

ऊपर जिस परमतत्त्व का परिचय दिया गया है, वह पिंड और ब्रह्मांड, दोनों में, समान रूप से व्याप्त है; किन्तु जीव प्रपंचनिरत रहते हुए इन दोनों में समान रूप से एक ही तत्त्व की व्याप्ति को नहीं जानता। अतः पिंडगत और ब्रह्मांडगत परमात्मा के एकत्व या समरसत्व या समत्व का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। यह जानना चाहिए कि पिंड और ब्रह्मांड में कोई अंतर नहीं है। पिंडज्ञान से ही ब्रह्मांडज्ञान होता है। उसी को दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जाता है कि अपने को, अपनी आत्मा को, अपने पिंड को पहिचानो, उससे परिचय प्राप्त करो, सारे ब्रह्मांड का ज्ञान हो जाएगा। इसी को गोरक्षनाथ ने 'पिंड में ब्रह्मांड की खोज' कहा जिससे सभी सिद्धियों की उपलब्धि होती है।[4] पिंडब्रह्मांड के

---

1. *गो० बा०*, पृ० 2, सं० 4, पृ० 3, सं० 6.
2. *वही*, पृ० 14, स० 37.
3. *वही*, पृ० 95.1, 114.2, 115.3, 116.1, 130.1, 133.8, 135.4, 138.3, 171.8 *आदि।*
4. *वही*, 101.2, 116.1.23.

एकत्व के सिद्धान्त को ही पिंडब्रह्मांडवाद कहा जा सकता है। इसका संस्कृत ग्रंथों में तथा प्राणसंकली में विवरण मिलता है। गोरक्षनाथ के संस्कृत ग्रंथों में नाथयोग का लक्ष्य पिंडपद का परमपद में समरसीकरण बताया गया है। ऊपर हम यह कह चुके हैं कि परमपद या ब्रह्म का साक्षात्कार गगनशिखर या सहस्रार में होता है। गोरखबानी में ब्रह्मांड शब्द का प्रयोग दो अर्थों में मिलता है—1. बाह्य चराचर सृष्टि, 2. गगनमंडल जहाँ शिव का निवास है। जीव का पिंडगत केन्द्रबिन्दु मूलाधार में है जहाँ जीवशक्ति कुंडलिनी निवास करती है। विभिन्न संस्कृत ग्रंथों से यह ज्ञान होता है कि जब कुंडलिनी उत्थित होकर सहस्रार की ओर अग्रसर होती है तब जीवात्मा भी उसके साथ अग्रसर होकर अंततोगत्वा एकत्व प्राप्त कर शिवस्वरूप हो जाती है। कहा गया है कि निराकार परमतत्व पिंड और ब्रह्मांड (सृष्टि) में समानरूपेण व्याप्त है। पिंडगत और ब्रह्मांडगत परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है। जब कुंडलिनी शक्ति उलटकर ब्रह्मांड में पहुँचकर परमशिव से मिलन प्राप्त करती है, तब कहा जाता है कि यह पिंडगत कुंडलिनी ब्रह्मांडगत महाकुंडलिनी पद को प्राप्त हो गई अथवा जीव शिवपद को प्राप्त हो गया। यही समरसीकरण है। इसी को, दूसरे शब्दों में पाताल की गंगा को ब्रह्मांड में चढ़ाना कहते हैं।[1] यही 'धर' (पिंड, मूलाधार, पृथ्वी) और अधर (ब्रह्मांड, सहस्रार, आकाश) का परस्पर परिचय है, संवाद है, प्रगाढ़ भावस्थापन है।[2]

इस प्रकार लक्ष्य सम्बन्धी इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि गोरक्षनाथ निरंजन निराकार सत्-असत्-विवर्जित नाथ तत्त्व का साक्षात्कार या नाथरूप से अवस्थान अपना मुख्य लक्ष्य मानते हैं। इसे ही दूसरे शब्दों में पिंडपद का परमपद में समरसीकरण भी कहते हैं। इस मुख्य लक्ष्य की प्राप्ति के लिए योगमुक्त ज्ञान का आश्रय लेना चाहिए तथा इस शरीर में भी उस परमतत्व का साक्षात्कार करना चाहिए। यह पिंड की उस परमतत्व का पवित्र मंदिर है। गगनशिखर में उसका साक्षात्कार होता है। अत: पिंडरक्षा भी आवश्यक है जिससे इस पिंड में साक्षात्कार स्थिर हो तथा चिरज्ञान उपलब्ध हो। इसी के लिए परिपक्व देह की आवश्यकता बताई गई है। इस प्रकार मुख्य लक्ष्य की सिद्धि के लिए गौण लक्ष्य के रूप में कायसिद्धि या परिपक्व देह को स्वीकार किया गया है।

इन दोनों लक्ष्यों की सिद्धि के लिए पिंडज्ञान अत्यावश्यक है। गोरक्षमत से लोग अपने को तो जानते नहीं और सारे संसार को जानने के लिए दौड़ते हैं या उसे जानने का दावा करते हैं। अत: पहले अपने को जानना चाहिए क्योंकि वह पिंड ही सारे रहस्यों का बीज है। ब्रह्मांडगत सम्पूर्ण रहस्यों का स्रोत यही है। इसलिए वे बार- बार पिंडज्ञानी योगी के लक्षणों को दुहराते हैं। उनके अनुसार पिंड के परमपद में समरसीकरण अर्थात् पिंड में ही ब्रह्मांड के साक्षात्कार के लिए इस साढ़े तीन हाथ के ही शरीर में भ्रमण करने की

1. *गो० बा०,* पृ० 71.217, 2.2, 174.5.
2. *वही,* पृ० 34, 102-103.

आवश्यकता है। इस शरीर को, गोरक्ष की रचनाओं में विभिन्न स्थलों पर नगर, पाटण, गढ़, कोट आदि शब्दों से अभिहित किया गया है और यह भी कहा गया है कि नगर या पाटण के मार्गों या वीथियों का जबतक ज्ञान न हो जाय तब तक उस पर विजय नहीं प्राप्त की जा सकती। जो इस पाटण में भलीभाँति भ्रमण करता है, वह वस्तुतः शिवपुरी में संचरण करता है।[1] योगसाधन के लिए, शरीर के रहस्यमार्गों, गुह्यस्थानों का जिनमें पतन की प्रतिक्षण शंका बनी रहती है, ज्ञान होना अत्यावश्यक है। योगसाधन और कायविजय या कायसिद्धि के लिये यह भी जानना आवश्यक है कि इस कायानगर या गढ़ का निर्माण कैसे और किन किन तत्वों से हुआ? इस पिंड में क्या-क्या है? गोरक्ष के अनुसार इस शरीर में गुरुदेव और देवता शंभु निवास करते हैं। यह उनका मंदिर है। इसका सर्वोत्तम देवता आत्मा है। इसके नवद्वारों में नवनाथ, त्रिवेणी में जगन्नाथ तथा उस दशमद्वार ब्रह्मरंध्र में केदार हैं जो शंभुस्थान या शिवस्थान है। इसी दशमद्वार में योगी ध्यान लगाता है तथा उसी कायागढ़ में वह उपास्य नाथ, उनका देवालय सहस्रार तथा उनकी पवित्र पुरी काशी है जहाँ उस अविनाशी तत्त्व का साक्षात्कार होता है।[2] 'प्राणसंकली' नाम की रचना यद्यपि गोरक्षनाथ की कही जाती है तथापि उसकी सामग्री इसे प्रमाणित नहीं करती। इस रचना में पिंडब्रह्मांडवाद का विवरण मिलता है। इसे नाथमतानुमोदित विवरण कह सकते हैं।

साधन और साध्य के इस परिचय पर यदि विचार किया जाय तो यह स्पष्ट होता है कि गोरक्षनाथ की संस्कृत रचनाओं के प्रकाश में हिन्दी रचनाओं के ये विचार सर्वथा संगत हैं। 'योगयुक्त ज्ञान' पद में योग शब्द प्रथम है। अंतिम-पद-प्राधान्य की दृष्टि से तथा सम्पूर्ण गोरक्षयोग पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि गोरक्षनाथ को ज्ञान तो अन्ततोगत्वा अभीष्ट है; किन्तु वे उसके साथ सिद्ध काया को भी आवश्यक मानते हैं। गोरक्ष के मतों का प्रकाशन करनेवाले गोरक्षसिद्धांतसंग्रह का यह मत है कि वेदों में कर्मकांड विभाग प्रधान है एवं वेदांत में योग भाग प्रधान है तथा यही योग भाग नाथसिद्धों को भी स्वीकार्य है। इसका तात्पर्य यह है कि योगियों को साधन के रूप में योग ही मुख्य रूप से ग्राह्य है।[3] किन्तु योगबीज नाम के संस्कृत ग्रंथ में 'ज्ञानयुक्तयोग' को स्वीकार किया गया है। यदि गोरक्षनाथ की सभी संस्कृत रचनाओं का सम्यक् अनुशीलन किया जाय तो यह प्रतीत होता है कि उनमें योग और ज्ञान दोनों को परस्परावलम्बी के रूप में स्वीकार किया गया है। यह ज्ञान केवल आत्मज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान तक ही सीमित नहीं है,अपितु पिंडज्ञान से लेकर ब्रह्मज्ञान तक विस्तृत है। गोरक्षमत से इतना निश्चित है कि जब तक शरीर शुद्ध न हो जाये तब तक ज्ञानोदय संभव नहीं है और बिना पिंडज्ञान के

1. *गो० बा०*, 16. 43, 116.1-3, 120-121.1-6, 134.1-4.
2. *वही*, 94-95.1-2, 116.1-3.
3. *ना० सं० इ० द० सा०*, पृ० 405 *तथा गो० सि० सं०*, पृ० 28.

शरीर का शोधन नहीं हो सकता और न व्यक्ति योगी ही हो सकता है। तात्पर्य यह है कि चरमांत में प्राप्त होनेवाले परमज्ञान के लिये शुद्ध शरीर आवश्यक है तथा शुद्ध शरीर के लिए पिंडज्ञान आवश्यक है। इसी प्रकार पिंडज्ञान के लिए गुरु की आवश्यकता है। इस प्रकार गुरु, पिंडज्ञान, योगक्रिया से शरीर शुद्धि, सिद्धकाया फिर क्रमशः परमज्ञान और अन्ततः समरसीकरण संभव होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि 'योगयुक्तज्ञान' में ज्ञान परमज्ञान का बोधक है तथा 'ज्ञानयुक्त योग' में यह पिंडज्ञानादि का बोधक है। इस व्याख्या के आधार पर यह कहा जा सकता है कि केवल ज्ञानी से, साधन, साधक और साध्य की तीनों दृष्टियों से, नाथों को विशिष्ट लक्षित कराने के लिए कायसिद्धिप्रधान यह ज्ञान पर्याप्त है। जहाँ एक ओर शांकरमतवादी, शैव, शाक्त आदि अद्वैतवादी हैं, वहीं गोरक्षमत न तो द्वैतवादी है न अद्वैतवादी। वह द्वैताद्वैतविवर्जितवाद का समर्थक है। इसी प्रकार अपने लक्ष्य के साधन में भी वह योग से उपलब्ध कायसिद्धि को आवश्यक मानता है। शांकर मत में इसे स्थान मिलता दिखाई नहीं पड़ता। इस प्रकार शुद्ध ज्ञानवादियों से गोरक्ष के मत का वैलक्षण्य सिद्ध हो जाता है। गोरक्ष की हिन्दी रचनाओं में इन विचारों की यत्किंचित् विवृत्ति मिलती है।

गोरक्ष के अनुसार योगी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह कभी भी वृद्ध नहीं होता। उसमें निश्चलता एवं गंभीरता होती है। उसके साधन का सार संयम है। वह वाद-विवाद से विरक्त पवनज्ञानी होता है। वह मस्जिद-मंदिर से अतीत परमतत्व का ध्यान करता है। वर्ष में तीन बार काया को पलटना उसके लिए आवश्यक है। वह मन को नियंत्रित रखता है। वह वारुणी का पान करता है।[1] वह मद्य, मांस और भाँग का सेवन नहीं करता। अजपाजाप में सदैव रत रहता है। स्वप्न में भी वह कामग्रस्त नहीं होता। मन पवन के साधन से वह शरीर को स्ववश रखता है। वह जरा का विपरीतकरण कर निर्जर शरीर की प्राप्ति करता है।[2] उनकी दृष्टि में यदि जप-तप का मूल संयम है तो योग का मूल तत्व है दया दान। इसके बिना योग संभव नहीं। इस योग के लिए स्वाँग की आवश्यकता नहीं है और न शुद्ध ज्ञान की ही। इसके लिए संयम की आवश्यकता है, पाषंड की नहीं। अग्निसाधन इस योग का आवश्यक अंग है। इस योग के आरम्भ के लिए सबसे पहले बिंदुरक्षा की आवश्यकता है। इसमें क्रिया, कर्त्तव्य, संयम की आवश्यकता है, कथनी-बदनी की नहीं। बनखंड के भ्रमण से योगसाधन नहीं होता।[3]

गोरक्षनाथ ने केवल योग को साधनरूप में स्वीकार नहीं किया है। उनके अनुसार चित्त को योगमार्ग में आरूढ़ करने के लिए ज्ञान ही सबसे बड़ा गुरु है। जहाँ ज्ञान की सत्ता है, वहाँ वादविवाद आदि की सत्ता नहीं रहती। साधनक्षेत्र में अग्रसर

1. *गो० बा०, 6.14, 20.56, 25.68, 32.92, 35.12, 48.137. 69.210, 73.231, 78.252-253.*
2. *वही, 56.164, 164 टेक. 24, 166.12, 174.4, 202.127.*
3. *वही, 126.32, 64,190, 64.191, 87.4, 139.44, 133.7.*

होने के लिए ज्ञान सबसे बड़ा सहायक है। इस प्रकार जब योग से युक्त ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है तभी इस पिंड में परमपद की खोज संभव है।[1] ज्ञान के प्राप्त होने पर पंचतत्त्वों में वैषम्य नहीं रहता। ये तत्त्वज्ञान की प्राप्ति में समान भाव से सहायक हो जाते हैं। योगी के लिए ज्ञान अधारी है, अर्थात् ज्ञान के आधार के बिना योगसाधन निष्कंटक भाव से चल नहीं सकता। यद्यपि यह सत्य है कि परमपद की प्राप्ति हो ज़ाने पर ज्ञान की भी पृथक् सत्ता नहीं रहती तथापि साधनकाल में बिना इसकी सहायता के योगी परमपद तक पहुँच भी नहीं सकता।[2] गोरक्षनाथ के अनुसार यद्यपि नाथयोगी को वादविवाद, कथनी-बदनी से दूर रहना चाहिए तथापि उन्होंने यह भी निर्देश दिया है कि यदि कथनी-करनी भी हो तो केवल ज्ञान का ही कथन करना चाहिए। यह ज्ञान गुरुमुख से मिलता है। इसी से मन का मारण संभव होता है। पाँचों इंद्रियों को सम्हाले रखने में ज्ञान सहायक होता है। उसी की सहायता से योगी शरीर के सभी द्वारों पर विषयरूपी शत्रुओं से युद्ध करता है।[3] इस प्रकार के ज्ञान से ही विशिष्ट ज्ञान या विज्ञान (परमपदज्ञान, तत्त्वज्ञान, आत्मज्ञान) संभव होता है। अज्ञानी व्यक्ति योगसिद्ध नहीं हो सकता। यह ज्ञान केवल पिंडज्ञान, ब्रह्मांडज्ञान या आत्मज्ञान नहीं है, वस्तुतः यह योगी का अपना विचार या विवेक ही है जो धीरे-धीरे इन रूपों में विकसित होता है। इस ज्ञान का उदय होने पर मन चैतन्य रहता है, चैतन्य तत्व की ओर उन्मुख रहता है, उसमें जड़ता नहीं रहती और न वह जड़ता की ओर उन्मुख ही रहता है। इसी ज्ञान से त्रिभुवन में आत्मभाव की स्थिरता रहती है। इस ज्ञान की रक्षा के लिए नारीसंग त्याज्य है क्योंकि इससे ज्ञानरत्न और प्राण का हरण होता है। नारीसंग से ज्ञाननाश और योगनाश होता है। इसलिए जो वास्तविक ज्ञानी है, अर्थात् योगयुक्तज्ञान को धारण करनेवाला है, वह राक्षसी से अपनी रक्षा कर लेता है।[4] षट्चक्रभेद की दृष्टि से विचार करने पर छठाँ चक्र (आज्ञाचक्र) ही ज्ञानचक्र है, जहाँ योगी को विश्राम मिलता है। दूसरे शब्दों में ज्ञान में ही योगी को विश्राम मिलता है। जो केवल योगी है, वह ब्रह्मज्ञानी नहीं हो सकता। वह नाद का बोध भी नहीं प्राप्त कर सकता।[5]

इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि गोरक्षनाथ के मत से योग और ज्ञान परस्परावलंबी हैं, किन्तु कायसिद्धिप्रधान योगज्ञान नाथों के योग का वैलक्षण्य है। गोरक्षनाथ के संस्कृत ग्रंथों में योगहीन ज्ञान और ज्ञानहीन योग दोनों का तिरस्कार किया

1. *गो० बा०*, 64.189, 65.195, 164.2.
2. *वही, 17.48, 38.110, 130.3, 188.16.*
3. *वही, 56.166, 126.3, 175.8-9.*
4. *वही, 64.190, 67.201, 91.4, 143.1., 195.74, 197.86, 199.106, 201.122.*
5. *वही*, 195.54, 216.35

गया है तथा उन्हें मोक्षोपकारक नहीं माना गया है। गोरक्ष को केवल कथनी का ज्ञान स्वीकार नहीं। जो ज्ञान योग के क्रियापक्ष के अनुकूल नहीं है, उसे गोरक्षनाथ तिरस्करणीय मानते हैं। इसी प्रकार नाथतत्त्व के सर्वघटव्यापकत्व के दर्शन में भी ज्ञान ही सहायक है। इसीलिए यह ज्ञान गोरक्षमत में गुरुस्थानीय हैं।

गोरक्षनाथ के इस ज्ञानसमन्वित योग के भी दो सोपान हैं। हठयोगप्रदीपिका जैसे ग्रंथों से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि हठयोग राजयोग का सोपान है। गोरक्षनाथ की संस्कृत रचनाओं से भी इसकी पुष्टि होती है। वस्तुतः ज्ञान की उपलब्धि राजयोग से संबंधित है। गोरक्षनाथ भी ताली, ध्यान समाधि को, जो सूक्ष्म योगसाधन के अंग हैं, पर्याप्त महत्व देते हैं।[1] वे बार–बार ऐसी अवस्था का वर्णन करते हैं जहाँ योग, ज्ञान, ध्यान, जप, तप, पूजा आदि की सत्ता नहीं रहती। वस्तुतः गोरक्ष परम समाधि की ओर ही इससे संकेत करते हैं।

इस योग के स्वरूप और उसके अंगों का विचार करने पर हिन्दी रचनाओं में योग के विविध अंगों का न तो स्पष्ट नाम ही मिलता है और न उनका व्यवस्थित प्रतिपादन ही। पतंजलि के अष्टांग योग में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि की गणना है। हिन्दी की रचनाएँ शास्त्र–निरूपक रचनाएँ नहीं हैं। गोरक्ष की रचनाओं में अष्टांग योग जैसे शब्दों का प्रयोग तो मिलता है[2] किन्तु अर्थ की दृष्टि से वह प्रयोग इतना संदिग्ध है कि उसके आधार पर किसी भी सिद्धान्त का निरूपण भ्रांतिकारक हो सकता है। पातंजल योग के प्रथम दो अंगों, यम नियम को उसी रूप में गोरक्षनाथ की रचनाओं में भी स्वीकृति नहीं मिली। केवल सिद्धसिद्धांतपद्धति में यम, नियम की सामान्य परिभाषा देकर उनका स्वरूपनिरूपण कर दिया गया है[3], किन्तु अन्यत्र नहीं। हिन्दी रचनाओं में तो इनका नाम तक नहीं मिलता। अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि गोरक्षनाथ को षडंग योग (अष्टांग योग का यम, नियम छोड़कर) स्वीकार है। फिर भी यह कहा जाता है कि गोरक्षनाथ की हिन्दी–रचनाओं में नैतिकता, संयम और ब्रह्मचर्य का स्वर प्रधान है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत हम पहले ही उद्धृत कर चुके हैं। यदि संस्कृत–रचनाओं को ध्यान में रखें तो यह कह सकते हैं कि प्राणायाम तथा तत्सम्बन्धी अन्य साधनों का गोरक्षयोग में प्राधान्य होने के कारण ही हिन्दी वाणियों में सदाचार, ब्रह्मचर्य और नैतिकता को इतना महत्व मिला है। इनमें सामान्य योगी या अन्य सामान्य व्यक्तियों की नीति के उपदेश किए गए हैं। शुद्ध सात्विक जीवन व्यतीत करना योगी के लिए अत्यन्त आवश्यक है, किन्तु इसका यह

1. *गो० बा०*, 4.8, 32.90, 56.165, 110.1, 122.2, 124.1, 126.1,174.1, 130.3, 192.54 आदि।
2. *वही*, पृ० 46, *सबदी 133.*
3. *सि० सि० प० अ० व०, सिद्धसिद्धांतपद्धति, द्वितीयोपदेश, 32.33,* पृ० 12–13.

अर्थ नहीं कि सामान्य जन इनका तिरस्कार करें। इसलिए हिन्दी-रचनाओं में सदाचारपरायण सात्विक जीवन का उपदेश मिलता है। जैसे पातंजल योग के अभ्यास के लिए क्रमश: यम, नियम का साधन आवश्यक है, उसी प्रकार नाथयोगसाधन के प्रारम्भ के लिए इन सदाचार सम्बन्धी नियमों का पालन आवश्यक है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन्हें प्रारम्भिक और अनिवार्य प्रवेशात्मक योग्यता समझकर गोरक्ष ने मूल योगांगों में इन्हें स्थान नहीं दिया।

हठयोग के संस्कृत ग्रंथों में (जैसे हठयोगप्रदीपिका) यम, नियम के दस-दस अंग बताए गए हैं। उदाहरण के लिए यम में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, क्षमा, धृति, दया, आर्जव, मिताहार और शौच की गणना है तथा नियम के अन्तर्गत तप, संतोष, आस्तिक्य, दान, ईश्वरपूजा, सिद्धांतवाक्यश्रवण, ह्री, मति, जप, होम की गणना की गई है; किन्तु इन नामों का गोरक्ष की रचनाओं में प्रयोग इस रूप में नहीं मिलता। इन सबमें अहिंसा का सर्वाधिक महत्व है। गोरक्षनाथ ने योग का मूल तत्व दया और दान माना है। अहिंसा इस दया का व्यवहार पक्ष है। इस प्रकरण में गोरक्षनाथ ने मुसलमानों को बहुत फटकारा है। उन्होंने योगी के लिए भी मांसभक्षण निषिद्ध ठहराया है; क्योंकि उनका कहना है कि जीव और शिव दोनों का एकसाथ ही निवास रहता है। इसलिए पशुहत्या कर रुधिर-मांस का सेवन नहीं करना चाहिए।[1] इस प्रकार के उपदेश के पीछे गोरक्षनाथ का पिंडब्रह्मांडवाद नामक सिद्धान्त सक्रिय है जिसके नाथयोगी सिद्ध पिंड और ब्रह्मांड में, प्रत्येक घट में परमतत्त्व का साक्षात्कार करता है। उसकी दृष्टि उन सबमें समत्वदर्शन की है। वे पिंड धारण करनेवाले जीव की हत्या में कोई लाभ नहीं देखते। उससे दया की ही हानि होती है। उनके अनुसार यदि मारना ही है तो मनमृग को शब्द के अत्यधिक तेज खाँडे से ही मारना चाहिए जिसका प्रयोग मुहम्मद ने किया था। इस मनमृग के वर्ण, रक्त, मांस नहीं है, फिर भी यह योगी की बुद्धिवाटिका का सदैव नाश किया करता है। यह मन योगी के साधन के विरुद्ध सदैव विद्रोह किया करता है।[2] यम, नियम के अन्य अंगों में सत्य और अस्तेय का कोई स्पष्ट वर्णन गोरक्षनाथ की हिन्दी रचनाओं में नहीं मिलता। ब्रह्मचर्य का गोरक्षसाधन की दृष्टि से विशेष महत्व है और इसका अति विस्तृत वर्णन भी मिलता है। इस ब्रह्मचर्य से नारी, बिंदुरक्षा, कायसिद्धि आदि संबद्ध हैं। गोरक्ष की रचनाओं में जैसे शक्ति के प्रबुद्ध और अप्रबुद्ध रूप मिलते हैं उसी प्रकार नारी के भी कामिनी रूप और मातृरूप का भी दर्शन होता है। शक्ति या बिन्दु का वह रूप जो सृष्टिप्रक्रिया में विभिन्न भेदों, रूपों, वर्णों में निरन्तर रूप में विभाजित होने में गतिशील है, जिसमें क्रमशः उसके मूलरूप से भी भिन्नता बढ़ता जाती है, किसी भी प्रकार गोरक्षनाथ को ग्राह्य नहीं। ऐसी शक्ति निरन्तर प्रपंच की वृद्धि

1. *गो० बा०,* 4.9, 56, 73.227, 126.4, 164-165.
2. *वही,* पृ० 126; *पद* 32, *टेक* ।

कर व्यक्ति को साधन की ओर उन्मुख नहीं होने देती। यही वह तत्त्व भी है जिससे समग्र सृष्टि का उदय करनेवाला तत्व शक्तिधर भगवान् नाम से अभिहित होता है। इस प्रकार वही शक्ति जननी है, माता भी है। नारी का वह रूप जो योगानुकूल नहीं है, सदैव त्याज्य है। गोरक्षनाथ को आश्चर्य है कि निर्गुण, निराकार, बाघिन और राक्षसी माया के पीछे सारा संसार अपना सर्वस्व नष्ट करता है।[1] उसके विविध रूपों का वर्णन कर उससे होनेवाले योग संपत्ति के विनाश का गोरक्ष ने विस्तार से परिचय दिया है। माया का सर्वाधिक आकर्षण सुन्दर रूप नारी ही है जिसके संग में पड़कर व्यक्ति का स्कंधविनाश होता है और इस प्रकार गोरक्षयोग के प्रथम लक्ष्य की ही असिद्धि हो जाती है। इसीलिए गुरु गोरक्षनाथ ने नारी, सारी और किंनरी—तीनों का परित्याग करने का उपदेश किया है।[2] इस प्रकार स्कंधरक्षा अथवा पिंडरक्षा के लक्ष्य को ध्यान में रखकर ही गोरक्ष ने नारी के कामिनी रूप के प्रति इस प्रकार के विचार व्यक्त किए हैं। इसीलिए नारी के मातृरूप के प्रति उनके हृदय में आदरभाव है। वे उन व्यक्तियों को धिक्कारते हैं जिन्होंने मातृरूप धारण करनेवाली नारी को भोग की सामग्री बना लिया है। जिस स्त्री ने जन्म दिया है, वह आदरणीय है और इसीलिए सम्पूर्ण नारी जाति आदरणीय है।[3]

इस ब्रह्मचर्य से ही संबंधित एक महत्वपूर्ण प्रश्न प्रायः उठाया जाता है। गोरक्षनाथ शैव थे और ब्रह्मचर्यप्रधान योगसाधन के समर्थक एवं प्रचारक थे अतः उनके साधन में वज्रोली, अमरोली, सहजोली जैसी क्रियाओं और साधनों को प्रश्रय नहीं मिलना चाहिए था। वस्तुतः गोरक्षनाथ की जो मूल रचनाएँ हैं, उनमें इन साधनों का उल्लेख नहीं मिलता। उनकी हिन्दी रचनाओं में इसके दो-एक उल्लेख मिल जाते हैं। हठयोगप्रदीपिका तथा गोरक्षसंहिता जैसे ग्रंथों में ये साधन ग्रंथान्तर से उद्धृत किए गए हैं। इन साधनों में नारीसंग अनिवार्य है। हिन्दी रचनाओं में जो उल्लेख मिलते हैं उनसे यह स्पष्ट होता है कि जो व्यक्ति प्राणायाम में पूर्णतया कुशल है अथवा जिसका प्राण स्थिर है, वही व्यक्ति वज्रोलीसाधन में प्रवृत्त हो सकता है जिससे बिंदुपतन के समय भी वह प्राणायाम से मध्यधारा का आकर्षण-रक्षण कर सके। उन्होंने तो बिन्दु के महत्व को भलीभाँति समझाते हुए उसे योग, भोग, रोग सब कुछ कहा है।[4] ऐसी स्थिति में गोरक्ष वज्रोली जैसी साधनाओं के प्रयोग का विधान करें, यह संभव नहीं। उनकी अमरौघशासनम् नाम की रचना में कहीं भी इस वज्रोली का उल्लेख नहीं है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह मत यहाँ विचारणीय है—'यह नहीं कहा जा सकता कि

1. *गो० बा०, 7.19, 35.102, 88.1, 69.210, 91.4, 153, टेक।*
2. *वही,* 144.1–3,, 144 *टेक,* 87.3, 137. *टेक,* 1; 139–140, *टेक-4,* 34.99, 13.35, 173.14, 178.19.
3. *वही,* 144–145, *टेक,* 4.
4. *वही, 94.142, 51.148, 85. टेक।*

गोरक्षनाथ के द्वारा उपदिष्ट योगमार्ग का जो रूप आज उपलभ्य है उसमें योग और भोग को साथ ही साथ पा लेने की साधना एकदम लुप्त हो गई है। वज्रयान और सहजयान का प्रभाव रह ही गया है। महीधर शर्मा ने गोरक्षपद्धति नामक ग्रंथ प्रकाशित कराया है। इसमें किसी और ग्रंथ से वज्रोली और सहजोली मुद्राएँ संगृहीत हैं। ये दोनों निश्चित रूप से वज्रयानी और सहजयानी साधनाओं के अवशेष हैं।....यह पवित्र योग भोग के आनंद को देकर भी मुक्तिदाता है।.... यहाँ केवल इतना ही निर्देश कर दिया गया है कि इस मार्ग में उक्त साधनाएँ भी रेंगती हुई और सरकती हुई घुस आई हैं, या फिर हटाने के अनेक यत्नों के बावजूद छिपी हुई रह गई हैं।[1]' इस मत से यह स्पष्ट हो जाता है कि गोरक्ष का जो अपना योगसाधन है, वह ब्रह्मचर्य पर आधारित है, किन्तु यह अस्पष्ट रह जाता है कि गोरक्षपद्धति जैसे ग्रंथों में 'ग्रंथान्तरे' से आई इस साधना को गोरक्षमत में कैसे स्वीकार कर लिया जाय। उसे स्पष्टत: विजातीय घोषित करने में संकोच नहीं होना चाहिए। उन्होंने अन्यत्र इसे प्रकारान्तर से कहा है—'यद्यपि यह साधना नाथमार्ग में प्रक्षिप्त जान पड़ती है पर अपने पारमार्थिक अर्थ में यह इस मार्ग में स्वीकृत थी। सिद्धसिद्धांतसंग्रह में एक संदिग्ध श्लोक है जो इस साधना के प्रकाश में कुछ स्पष्ट हो जाता है। इसमें स्पष्ट रूप से कहा गया है कि इसके ज्ञानमात्र से सिद्धमार्ग प्रकाशित हो जाता है। इस कथन का स्पष्ट अर्थ है कि केवल पारमार्थिक अर्थ में यह सिद्धमार्ग में गृहीत है।'[2] इस रचना को गोरक्षकृत नहीं माना गया है। अत: गोरक्षनाथ के योगसाधन के अन्तर्गत इसके इस मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता। शेष प्रश्न है कि गोरक्षनाथ की हिन्दी रचना में वज्रोली, अमरोली के आए उल्लेख की क्या संगति है?[3] गोरक्षनाथ की सारी हिन्दी रचनाओं का अध्ययन करने पर यह प्रतीत होता है कि यह सामान्य साधन के रूप में स्वीकृत नहीं है। प्राणस्थैर्य से बिंदुस्थैर्य होता है। इसकी सबसे बड़ी कसौटी के रूप में वज्रोली और सहजोली हैं। इसकी ध्वनि यह प्रतीत होती है कि नारीसंग में बिंदुस्थैर्य अत्यन्त कठिन है अत: उसके संग में नहीं पड़ना चाहिए। मुख्य लक्ष्य बिंदुरक्षा ही है। यदि योगरक्षा और साधन में नारी सहायक है तो त्याज्य नहीं है, किन्तु गोरक्ष को उसका संग ही संदेहास्पद लगता है।

यमगत अन्य अंगों में से केवल मिताहार को छोड़कर किसी अन्य का सविस्तार वर्णन गोरक्ष की रचनाओं में नहीं मिलता। वे क्षमा, धैर्य, दया, आर्जव आदि का भी महत्व स्वीकार करते हैं और उनके पालन का उपदेश करते हैं। इन सबका सम्बन्ध 'रहनी' से है। गोरक्ष की दृष्टि में सच्चे योगी की रहनी ही सच्ची होती है। सारतत्त्व से युक्त रहनी ही सर्वोत्तम है जिसमें करनी की महत्ता है; क्योंकि उत्तम करनी के लोग ही

1. *नाथ संप्रदाय, पृ० 71-72.*
2. *वही, पृ० 125-126.*
3. *गो० बा० पृ०, 49 सबदी, 141-142.*

भवसागर से पार उतरते हैं। बिना इस करनी और रहनी के योग सिद्ध नहीं होता।[1] नाथ संप्रदाय के विभिन्न संस्कृत ग्रंथों से ज्ञात होता है कि योगशास्त्र ही शास्त्र, योगसाधन ही साधन तथा तद्नुकूल आचरण ही आचरण है। शेष सब आडम्बर और पाषंड है। तंत्र, मंत्र, वेदान्त (या वैद्यक से सिद्धिप्राप्ति) आदि सबका त्याग इस रहनी में होना चाहिए। यंत्र, गुटिका (सिद्ध गुटिका जिससे आकाश उड्डयन आदि की सिद्धियाँ संभव मानी जाती हैं), विभिन्न धातुप्रयोग आदि सभी पाषंड हैं। जो लोग परमतत्त्वसाधन को लक्ष्य में न रखकर केवल कथनी के लिए, या केवल चमत्कार-प्रदर्शन के लिए नौ नाड़ियों और बहत्तर कोठों की बात करते हैं या साधन करते हैं और अष्टांग योग कहते हैं, वे वास्तव में झूठे हैं। यह सब मिथ्या है। वास्तविक सिद्धि स्तंभन, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन आदि में नहीं है। ये सब योगबाह्य हैं। अत: इनका त्याग करना चाहिए।[2] इन सबका विचार आर्जव के अन्तर्गत किया जा सकता है। मिताहार के अन्तर्गत गोरक्ष ने अल्पाहार का समर्थन तथा अत्याहार का विरोध किया है। उन्होंने निराहार या केवल दुग्धाहार का भी विरोध किया है। परिमित एवं नियंत्रित आहार ही योग के लिए श्रेयस्कर है। उन्होंने आहार में मध्यम मार्ग का ही अनुसरण किया है; क्योंकि इससे मन निश्चल हो जाता है तथा श्वास भी स्थिर हो जाती है। ये दोनों ही कायसिद्धि के लिए आवश्यक हैं। इस संयम के लिए मद्य, मांस, भाँग का सेवन पूर्णतया निषिद्ध है; क्योंकि इससे दया-धर्म का नाश, प्राणनाश तथा ज्ञान-ध्यान की हानि होती है।[3]

नियम के अन्तर्गत तप, संतोष, आस्तिक्य, दान, ईश्वरपूजा, सिद्धांतवाक्यश्रवण, ह्री, मति, तप और होम की गणना की गई है। ये शारदातिलक से हठयोगप्रदीपिका में उद्धृत प्रतीत होते हैं। ये सभी गोरखबानी में उपलब्ध नहीं हैं। इनमें से तप, आस्तिक्य, होम आदि विवादास्पद हैं तथा उनके सामान्यतया गृहीत रूपों को गोरक्ष स्वीकार नहीं करते। उनकी दृष्टि में तप से, जिसमें सामान्यतया शरीर को कष्ट देकर उसे जीतने का भाव प्रधान रूप से माना जाता है, कोई शूर नहीं हो सकता और न वह शरीर और मन को जीत ही सकता है। पावड़ी पहनना, लौह शृंखलाओं से शरीर को कसना, नग्न रहना, मौन रहना, केवल दुग्धाहार करना, ये सभी चित्त को शांत नहीं रहने देते। ये सभी कृच्छाचार हैं। ऐसे सभी लोगों को तन-मन के रहस्यों का पता नहीं रहता। ये सभी लोग माया में पड़कर अपनी सुरति को नष्ट कर देते हैं।[4] वस्तुत: गोरक्ष की दृष्टि में तन-मन की अचंचलता बहुत महत्वपूर्ण है। सामान्य जीवन में हँसते-खेलते रहना, प्रसन्न रहना,

1. *गो० बा०*, 17.48, 21.59, 42.271, 81.264, 139.4.44, 201.118, 126.4.32.
2. *वही*, 46.133,170.4,170.5.
3. *वही*, 8.20, 12.32, 13.33, 14.36, 15.39-40, 30.84, 38.109, 51.146, 56.164-165, 102.30.
4. *वही*, 15, 39-40, 115.2, 209.9.

काम-क्रोध का परित्याग करना और फिर भी अपने चित्त को चंचल न होने देना, ब्रह्मज्ञान में सदैव अपने चित्त को लगाए रखना चाहिए। इस मन की अचंचलता के लिए धन और यौवन की आशा छोड़कर, राग छोड़कर, उनसे निरास रहना चाहिए। शांत रहना, गर्वत्याग करना और सहज भाव से रहना योगानुकूल है। वन में भी अनेक उपद्रव हैं। योगी का शरीर जहाँ भी सुरक्षित रह सके, जहाँ भी उसका नादानुसंधान निर्विघ्न भाव से चल सके, वहीं उसे रहना चाहिए।[1] उन्होंने तीर्थयात्रा, व्रत, उपवास, गंगास्नान आदि का खंडन कर संयम का समर्थन किया है।[2]

गोरक्षनाथ की आस्तिकता पर कुछ लोग विवाद करते हैं। इस प्रकरण का समाधान संक्षेप में इस प्रकार किया जा सकता है कि गोरक्षनाथ जन्मांतरवाद को मानते हैं; क्योंकि उनका सिद्धान्त है कि प्रारब्धकर्म का निर्मूलीकरण अवश्य किया जाना चाहिए। स्वर्ग और नरक की कल्पना के सम्बन्ध में वे कुछ नहीं कहते। इसी शरीर के रहते इस लोक में ही जीवन्मुक्ति की प्राप्ति उनका लक्ष्य है। वे इच्छामृत्यु स्वीकार करते हैं। वे किसी पौराणिक स्वर्गजाल में पड़ते नहीं दिखाई पड़ते। वे एक परमतत्त्व में, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान परमात्मा में विश्वास करते हैं। उनके अनुसार वह निमित्त और उपादान कारण दोनों है। सामान्यतया जिस ईश्वर की लोग चर्चा करते हैं, वह माया एवं काम से ग्रस्त है, संसार के प्रपंचों में निरत हैं।[3] गोरक्षनाथ वेद के स्थूल भाग को नहीं मानते। गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह के अनुसार वेद के उत्तरभाग या वेदान्त भाग का तात्पर्य योग है और यही स्वीकार्य है। वैसे गोरक्ष ने स्थूल वेद का खंडन किया है; क्योंकि वह प्रपंच का प्रसार करता है, भ्रांत करता है।[4] इन आधारों पर यह कहा जा सकता है कि गोरक्षनाथ कर्मवाद और ईश्वरवाद के आधार पर तो आस्तिक कहे जा सकते हैं किन्तु वेदप्रामाण्य को वे उस रूप में स्वीकार नहीं करते जिस रूप में अन्य मतवाद जैसे— पातंजल योग, उत्तर मीमांसा, पूर्व मीमांसा आदि स्वीकार करते हैं। अतः उनके योगसाधन और सिद्धान्त को आस्तिक कहना चाहिए।

नियम के अन्य तत्त्वों में दया, दान, ईश्वरपूजा आदि हैं। दया और दान के विविध रूपों का व्यवहार गोरखबानी में मिलता है, क्योंकि ये दोनों ही अहिंसा और लोककल्याणसाधन के लिए आवश्यक है।[5] गोरक्षनाथ बाह्य साधनों, बाह्याडंबर आदि को स्वीकार नहीं करते अतः पूजा का बाह्यरूप उन्हें स्वीकार नहीं क्योंकि उनका

---

1. *गो० बा०*, 3.7, 4.8, 7.16, 7.19, 11.27.
2. *वही*, 87. *टेक*, 8.22, 14.46, 16.44, 17.45 64.191, *तथा* पृ० 78.
3. *वही*, पृ० 15, 151-152, 164.27. *पद* 55, 108-109. *टेक*-5, 154. *टेक*-4, 202-124; 67.199.
4. *वही*, 3.6, 33.96 *तथा गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह, पृ० 28.*
5. *वही*, 126.4.32.

परमतत्त्व तो द्वैताद्वैतविवर्जित तथा निराकार-साकार से अतीत है।[1] योगशास्त्र ही गोरक्षनाथ का शास्त्र है। वस्तुतः गुरुमुख से निकले हुए अनुभवसिद्ध शब्द ही सिद्धान्त हैं। वैसे गोरक्षनाथ शास्त्राध्ययन और पाठ को अनावश्यक मानते हैं। ह्री का कोई स्पष्ट वर्णन गोरखबानी में नहीं मिलता। मति के अन्तर्गत हम गोरक्षनाथ के विवेक और विचार को ले सकते हैं।[2] वैसे इनका कोई निश्चित स्वरूप, गोरखवाणी में नहीं मिलता। जप तत्त्व अवश्य ही अति महत्वपूर्ण तत्त्व है। गोरक्षनाथ की हिन्दी वाणियों के अनुसार जिस प्रकार गुरु की पहचान की जाती है, परमतत्त्व की पहचान की जाती है, उसी प्रकार साधन के रूप में जपमाला की पहचान की जानी चाहिए। स्थूल और बाह्य जपमाला को गोरक्षनाथ नहीं स्वीकार करते। उनके द्वारा स्वीकृत आंतरिक जपमाला हमारी श्वासक्रिया में गतिशील है। इसे वे अगम जप कहते हैं; क्योंकि इस जप तक स्थूल इंद्रियों की पहुँच नहीं है। साधक का चैतन्य प्राणतत्व ही जपमाला है। यह संपूर्ण शरीर में व्याप्त है। विभिन्न कमल ही उस जपमाला के मुख हैं। जिनसे इस सूक्ष्म जप का जाप होता है।[3] गोरक्षनाथ 'सोह' का जप करने का उपदेश करते हैं। नासिका के आगे की अपनी वायु जब इड़ा और पिंगला नाड़ियों के मध्य (सुषुम्ना) में समा जाती है तथा 21600 (24 घंटों में श्वासों की संख्या, जैसा संस्कृत ग्रंथों में भी स्वीकार किया जाता है) संख्या में सोहं का अजपाजाप होने लगता है, तब अनाहत नाद का स्वतः उदय होता है। तब बंकनाल में सूर्योदय होता है, प्रत्येक रोम में तूर्यध्वनि का श्रवण होता है जैसे प्रत्येक रोम श्रवणयुक्त हो गया है। इसी प्रकार के अनेक अलौकिक दृश्यों और ध्वनियों का दर्शन-श्रवण होता है। सभी इंद्रियों में दिव्यता आ जाती है।[4] पशु अजपा गायत्री का जप नहीं करते। इसलिये उन्हें मुक्ति नहीं मिलती।[5] गोरक्षनाथ को जप का यही रूप स्वीकार है। यह उसका अंतस्साधनात्मक रूप है। होम को भी उन्होंने आंतरिक रूप में स्वीकार करते हुए आभ्यंतर अग्नि को सतत प्रज्वलित रखने का उपदेश किया। यह अग्नि ब्रह्माग्नि का प्रतीक है। ज्ञानाग्नि में ही अपनी अशुद्ध काया का होम कर देने और उसे शुद्ध कर लेने का भी उल्लेख उनकी वाणी में मिलता है।[6]

गोरक्षनाथ के योगसाधन में हठयोग की प्रधानता है। 'हठ' का सम्बन्ध प्राण और नाड़ियों के साधन से है। इसमें आसन, बंध, वेध, मुद्रा, षट्कर्म, प्राणायाम आदि सभी गृहीत हैं। यम, नियम सहित इन सबका लक्ष्य प्राणस्थैर्य है। गोरक्षनाथ की संस्कृत-

1. *गो० बा०,* 109.3, 171.9.
2. *वही,* 187.12.
3. *वही,* 101. टेक. 1.
4. *वही,* 124. टेक-4.30.
5. *वही,* 171.9, 177.18.
6. *वही,* 7.18, 12.31, 18.49, 175.8, 176.14.

रचनाओं में 'हठ' शब्द की विस्तृत व्याख्या मिलती है जिसे इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—

ह—सूर्य, रवि, सूर्यनाड़ी, यमुना, पिंगला, शक्ति, प्राण, रज, पवन, अधः, वाम, लोहित, रज।

ठ—चंद्र, शशि, चंद्रनाड़ी, गंगा, इड़ा, शिव, अपान, बिंदु, मन, ऊर्ध्व, दक्षिण, पांडुर, शुक्र।

गोरक्ष ने शक्ति को रज और शिव को बिंदु कहा है। रवि की 12 कलाएँ हैं तथा चंद्र की 16। उनका स्थान क्रमशः मूलाधार एवं सहस्रार में है। सूर्य पवन के घर में तथा चंद्र मन में रहता है; किन्तु परमतत्त्व या परमपद में चंद्र और सूर्य की स्थिति नहीं है।[1] ये सभी द्वैत की ओर संकेत करते हैं। अद्वैत की स्थिति के लिए जिन नामों का उल्लेख होता है, वे हैं—योग, अग्नि, सरस्वती, सुषुम्ना, मध्य, अनंतर, एकत्व, साँध,सम्मुख, विलीनता, 'संमि', साम्य, सामरस्ये, स्थैर्य, समाधि, मिलन, कुंभक, मध्यासन आदि।[2] सुषुम्ना को पश्चिम द्वार भी कहा जाता है क्योंकि वहाँ अमृत के शोषक सूर्य का तेज क्षीण हो जाता है। उसे विषनाड़ी भी कहा जाता है। इसी प्रकार के साधन को शिवशक्तियोग या मध्ययोग भी कहते हैं।[3] गोरक्षनाथ ने द्वादशकलासंपन्न सूर्य का शोषण तथा षोडश कला से सम्पन्न शशि का पोषण करने के लिए कहा है। सूर्य और शशि के अन्तर की चार कलाओं का, जिन्हें अमृतकला कहा जाता है, साधन करे तो निर्जरता आयत्त होती है।[4] गोरक्षयोग में आसन का प्राथमिक महत्व है जिसका सर्वाधिक आवश्यक तत्त्व दृढ़ता है। इसको लगाने से पवन नहीं टूटता और न काया ही क्षीण होती है। गोरखवाणी में केवल पद्मासन का ही स्पष्टतः नाम लिया गया है। इसी प्रकार वज्रासन से रोग, व्याधि और क्षुधा के हरण की भी बात कही गई है।[5] गोरक्षनाथ अंतस्साधना को महत्व देते हैं, इसलिए स्पष्टतः उन्होंने संयम की दृष्टि से संतोष को आसन कहा है और योग की दृष्टि से गंगा और यमुना के बीच सुषुम्ना में आसन लगाने को कहा है।[6]

---

1. *गो० बा०* 19.51, 100.5, 103.2, 110.1, 124.2, 156.60, 188.16, 189.26, 190.34, पृ० 205 तथा 241.
2. *वही,* 28, 78, 29,81, 33.94, 86.3, 95.1, 105.2, 111.5.19, 124.2, 149.53, 167.16.
3. *वही,* 30.84, 39.113, 45.130, 63.187, 92.2, 96.3, 96.4, 100.5, 118.16, 127.2, 130.1, 140.2, 150.3, 175.6, 176.12, 191.46, 193.56, 198.96, 252.6.
4. *वही,* 31.89.
5. *वही,* 44.125, 103.2, 169.3, 171.8, 174.1, 177.16.
6. *वही,* 29.82, 47.134, 149.53, 197.86.

गोरखवाणी में यद्यपि प्राणायाम या उसके विविध प्रयोगों का बार-बार उपदेश मिलता है, तथापि षट्कर्म का, जिसमें तांत्रिक मतानुसार धौति, बस्ति, नेति, लौलिकी, त्राटक और कपालभाति की गणना की जाती है, कोई वर्णन गोरक्षनाथ ने अपनी हिन्दी रचनाओं में नहीं किया है। पवनसाधन के रूप में प्राणायाम का विधान पूरी रचना में छाया हुआ है। वे प्राणायाम से मन और शुक्र के भी नियमन का सिद्धान्त स्वीकार करते दिखाई पड़ते हैं। इसी पवन के ब्रह्मरंध्र में समावेश से बालरूप परमतत्त्व का साक्षात् या प्रत्यक्ष होता है। इसी से बंध, षट्चक्रवेध, काया की परिपक्वता आदि की सिद्धि होती है।[1] गोरक्षनाथ ने नाड़ियों की 72000 संख्या की ओर भी संकेत किया है जिनकी सात गाँठों को ही चक्र कहा जाता है। वायु के संचार से नाड़ियों का शोधन करने के उपरान्त प्राणवायु से बंकनाल का पूरण करना चाहिए। इस ऊर्ध्वमुखी नाड़ी में ही अमृतरस का स्राव होता है। उन्होंने पारंपरिक रूप से प्रसिद्ध 68 तीर्थों को भी घटस्थ माना है। इनमें से देवद्वार, दशमद्वार अथवा ब्रह्मरंध्र का विस्तृत वर्णन गोरखवाणी में मिलता है। नवद्वारों को नौ बछड़े, नौ लाख खाइयों आदि के रूप में प्रस्तुत किया गया है।[2]

इस प्रकार स्पष्ट है कि नाड़ी-साधन, नाद-बिंदु-साधन, योगाग्निप्रज्वलन, कुंडलिनीप्रबोध, चौंसठ संधियों में वायुसंचरण अथवा शोधन, नवद्वाररोध, उन्मनीयोगसाधन, बिंदुस्थैर्य, ब्रह्मरंध्रादि सिद्धि, ज्योतिप्रकाश, अनाहतनादश्रवण, ध्यानसाधन, षट्चक्रवेध, महारससिद्धि, कायसिद्धि आदि अनेक साधन केवल प्राणायाम अथवा उसके विविध साधनों से सिद्ध होते हैं। इसके अन्तर्गत जो विविध बाह्यांग हैं, उनमें से बंध के केवल मूलबंध और उड्डीयान बंधों के साधन का उल्लेख मिलता है। तुरीयाबंध और अगोचरबंध के किसी शास्त्रीय स्वरूप की पुष्टि नहीं की जा सकती। मुद्राओं में वज्रोली, सहजोली आदि की चर्चा पहले की जा चुकी है। 'अष्टमुद्रा' नाम की रचना में मुद्राओं का उल्लेख है। इस प्रकरण में भी गोरक्षनाथ आंतरिक साधन की दृष्टि से चंद्र-सूर्य-मुद्रण अथवा मनमुद्रण का उपदेश करते दिखाई पड़ते हैं।[3] इसी प्राणायाम से नादानुसंधान, अजपाजाप का भी सिद्ध होना बताया गया है।

षडङ्ग योग साधन में प्राणायाम के बाद प्रत्याहार का स्थान है। यह मानस का सभी विकारों से प्रत्याहरण है। यह मानस साधन है। गोरक्ष जब पंचज्ञानेंद्रियों के प्रसार के निवारण की बात करते हैं तब वे वस्तुतः प्रात्याहारसाधन की ओर संकेत करते हैं। दूसरे शब्दों में शरीर को घेरना भी पंचेंद्रियों के बाह्य प्रसार का प्रत्याहरण है। इस प्रकार

---

1. *गो० बा०,* 17.47, 19.53, 33.93, 36.105, 51.147, 61.182, 70.215, 71.217, 81.265, 175.7. *आदि*।
2. *वही,* 12, 19, 20.56, 33.96.147, 47, 55.163, 94, 104, 113 116, 117, 120, 127, 149.53, 155.3.59, 164-165.5, 165.6, 167.13 आदि तथा 192.52, 193.60 *आदि*।
3. *वही,* पृ० 49, 110, 146, 176.

की घेरेबन्दी से इंद्रियों का स्वामी (पंचदेव) घर में (शरीर में) बंदी हो जाता है, पूर्णतया नियंत्रित एवं स्थिर हो जाता है।[1]

धारणा का स्थान प्रत्याहार के बाद है और गोरक्षनाथ के संस्कृत ग्रंथों के अनुसार इसका तात्पर्य है बाह्य और अंतस् के साथ एकमात्र निजतत्त्वस्वरूप का अंत:करण से साधन। सभी पदार्थों का निराकार में धारण या जीवात्मा का निर्वात दीप की तरह धारण होने के कारण ही इसे धारणा कहते हैं। इससे मानसधैर्य की प्राप्ति बताई गई है। इस क्रिया में पंचभूतों का पृथक्-पृथक् धारण एवं मानस का निश्चलत्वसंपादन होता है। लययोग में भी पंचभूतों का लय तथा आज्ञाचक्र में मनोलय का साधन वर्णित है। इस प्रकार कुंडलिनी जागरण, षट्चक्रवेध और लययोग का अंतर्भाव धारणा के अन्तर्गत किया जा सकता है। इन्हीं से संबंधित हैं—भूतविजय, विपरीतकरणी, अमृतसाधन या रससाधन आदि। गोरक्षनाथ की हिन्दी रचनाओं में यद्यपि धारणा का स्पष्ट वर्णन नहीं मिलता तथापि तदंगभूत उक्त साधनों के विविध संकेत मिलते हैं। चक्रव्यवस्था की दृष्टि से गोरखबानी में आठ, छह और नौ चक्रों के उल्लेख मिलते हैं। 'अष्टचक्र' नाम की एक स्वतन्त्र रचना ही गोरखवाणी में मिलती है जिसमें आठों चक्रों को गोरक्षनाथ ने घटस्थ बताया है। इनका विवरण इस प्रकार है[2]—

सं०	चक्रनाम	कमल के दल	स्थान	अन्य विवरण, श्वास संख्या
1.	आधारचक्र	4	गुदा	600
2.	दृष्टिचक्र	6	लिंग	600
3.	मणिपूरचक्र	10	नाभि	600
4.	अनाहतचक्र	12	हृदय	600
5.	विशुद्धचक्र	16	कंठ	1000, अजपा गायत्री पारब्रह्म का ध्यान
6.	अग्निचक्र	16	नेत्र	1000 "
7.	ज्ञानचक्र	1000 सहसुदलकमल	ब्रह्मांड	1000 "
8.	सूक्ष्मचक्र	21000	विज्ञान	—

मछींद्र गोरखबोध में केवल 6 चक्रों का वर्णन दो स्थलों पर मिलता है। इसमें चक्रों के नाम उपर्युक्त विवरण से भिन्न हैं।[3] इस भिन्नता के कारण गोरक्षनाथ की हिन्दी-रचनाओं के आधार पर कोई एक निश्चित क्रमव्यवस्था नहीं प्रस्तुत की जा सकती। यदि तांत्रिकों द्वारा मान्य षट्चक्रव्यवस्था से इसकी तुलना की जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि गोरक्ष

1. *गो० बा०,* 27.75-77; 29.83, 39.112.
2. *वही,* पृ० 249-250.
3. *वही,* पृ० 192, 202.

की चक्रव्यवस्था और संख्या 'षट्चक्रनिरूपण' से भिन्न है। किन-किन चक्रों में कौन-कौन से भूततत्व हैं, इसका कोई संकेत गोरक्षनाथ की हिन्दी रचनाओं में नहीं मिलता। चक्रसंख्या, नाम, स्थानादि के विवरण की भिन्नता के होते हुए भी सर्वोच्च स्थल शून्य स्थान ही प्रतीत होता है और उसके अनेक नाम भी रचना में मिलते हैं। उसे गगनमंडल, शून्य, ब्रह्मरंध्र. सहस्रार, शून्य द्वार आदि कहा गया है। इस गगन को स्तंभविहीन और निराधार कहा गया है और उसमें ही ज्ञानदीप का प्रकाशन माना गया है।[1] चक्रव्यवस्था में ऊर्ध्व साधनस्थलों के और नाम भी मिलते हैं, जैसे—कविलास या कैलास, औंधा कूँआ, कूप, काशी, केदार, त्रिकुटी, दशमद्वार, पश्चिमद्वार, पश्चिम, पलंका, ब्रह्मकुंड, भैरवगुफा, ब्रह्मसागर, ब्रह्मांड, ब्रह्मग्रंथि, विषमी संधि, शिवपुरी, सरोवर, शून्यद्वार, कपाट आदि। निम्न साधनपीठों की ओर संकेत करने के लिए धरती, दक्षिण, पाताल, महीतल आदि शब्द प्रयुक्त किए गए हैं। इन शब्दों की अलग-अलग व्याख्याएँ हैं, जिन्हें यहाँ विस्तारभय से प्रस्तुत नहीं किया जा रहा है।

कुंडलिनीसाधन से संबंधित एक दूसरी क्रिया विपरीतकरण की है जिसमें मनोन्मनी साधन को भी अंतर्भूत किया जाता है। इसमें मन को पलटकर अंतर्विषयों, नादादि की ओर आकृष्ट कर निश्चल कर दिया जाता है। मन, पवन, शब्द, सुरति—इन सबको उलट कर त्रिकुटी में मिलाना या केन्द्रित करना भी विपरीतकरण है। चन्द्र-सूर्य को सम्मुख करना, फूल का उलट कर कली में आना, परावृत होना, मन का उलटना, कमलों का उलटना, रुधिर को उलटकर अमृतरस का भरना, चंद्र-सूर्य का उलट कर राहु-केतु को ग्रस लेना—ये सभी प्रकारांतर से इसी विपरीतकरण की ओर संकेत करते हैं।[2] कुंडलिनी साधन के सम्बन्ध में प्राय: यह कहा जाता है कि गोरक्षनाथ को कुंडलिनी साधन स्वीकार नहीं था किन्तु तथ्य है कि उनके सिद्धसिद्धांतपद्धति ग्रंथ में कुंडलिनी की विस्तृत चर्चा है तथा हिन्दी रचनाओं में भी अनेक स्थलों पर कुंडलिनी को नारी कहा गया है किन्तु नारी शब्द का अधिक प्रयोग रमणी या कामिणी के लिए ही किया गया मिलता है। कुछ प्रयोग ऐसे भी हैं जिनसे कुंडलिनी योगी की भोग्या प्रतीत होती है। कहा गया है कि योगी का मन ही साधक है तथा योगन मनसा या कुंडलिनी के साथ वह योगी सदैव भोगनिरत रहता है।[3] इस कुंडलिनी को नागिन, शक्ति, कालीसर्पिणी, भुजंग, श्वाससर्प, पाताल की गंगा आदि भी कहा गया है। वह रज का प्रतीक है। वह आत्मारूपी पनिहारिन की गागर है जो मूलाधार में रहती हैं।[4] इससे स्पष्ट है कि गोरक्ष ने अपनी हिन्दी-रचनाओं में भी कुंडलिनी-साधन और षट्चक्र योग को मान्यता दी है।

---

1. *गो० बा०,* पृ० 9, 60, 66, 68, 119, 131.
2. *वही,* पृ० 50, छं० 13, 19, 36, 39, 40, 65, 70, 74, 124, 142, 144, 146, 149, 175, 176, 187.
3. *वही,* पृ० 105-106.
4. *वही,* पृ० 2, 45, 63, 71, 82, 100, 110, 139, 142, 147, 165, 166, 174, 192, 193, 196 आदि।

धारणा के उपरान्त ध्यान का क्रम है। इसे परमाद्वैत भाव कहा गया है। इसमें पदार्थों या तत्वों की आत्मस्वरूपानुसार भावना की क्रिया होती है। परिणामत: इसमें सभी भूतों में समदृष्टि की उपलब्धि मानी गई है। इसमें मन का पूर्ण निश्चलत्वसंपादन भी होता है। गोरखवाणी में ध्यान और समाधि दोनों के लिए ताली शब्द का प्रयोग मिलता है। उन्होंने ध्यान के विषयों को भी घटस्थ ही माना है। वे कंठचक्र, भ्रमरगुफा, शरीर की नाड़ियों की 7 ग्रंथियों एवं ऊर्ध्वगामी श्वासक्रिया पर ध्यान लगाने का उपदेश करते हैं। ध्यान में वर्ण अथवा रंग आदि का कोई वर्णन नहीं मिलता। इस प्रकार निर्गुण निराकार ध्यान ही गोरक्ष को मान्य है। उसे ज्योतिर्ध्यान या तेजोध्यान भी कहा जा सकता है। गोरखबानी में तेज और ज्योति दोनों शब्दों से उसके प्रकाश रूप का वर्णन किया गया है।[1]

षडंग योग का अंतिम अंग समाधि है। हठयोगप्रदीपिका में समाधि के अनेक वाचक शब्दों की एक लम्बी सूची इस प्रकारदी हुई है—राजयोग, समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, लय, शून्याशून्य, तत्त्व, परमपद, अमनस्क, अद्वैत, निरालंब, निरंजन, जीवन्मुक्ति, सहजा, तुर्या। इनमें से अनेक शब्दों का प्रयोग गोरक्ष की हिन्दी वाणी में मिलता है। इनमें से उन्मनी, मनोन्मनी, लय,निरंजन, सहजा जैसे शब्दों के माध्यम से गोरक्ष ने समाधि की स्थिति को अधिक स्पष्ट किया है।[2] अमृत साधन अथवा अमरवारुणीपान की विशेष महिमा दिखाई पड़ती है। योगी शून्यमंडल या ब्रह्मरंध्र से स्रवित होनेवाले अमृतनिर्झर का पान करता है। महुआ से शराब चुआने, कलालिन आदि के रूपकों का गोरक्ष ने बड़ी उत्तमता से प्रयोग किया है। यह वारुणीसाधन ही रससाधन है किन्तु यहाँ भी गोरक्ष ने घटस्थ अंतस्साधना का निर्देश कर खेचरीमुद्रा के साधन का उपदेश किया है।[3] शून्य, जैसे शब्दों का प्रयोग कर समाधिकालीन विविध अनुभूतियों की विस्तृत अभिव्यक्ति गोरक्ष की रचनाओं में मिलती है।[4] समाधि सम्बन्धी इन विविध प्रसंगों एवं प्रकरणों को देखने और उनकी परीक्षा करने पर यह स्पष्ट होता है कि जिस परमपद की व्याख्या गोरखबानी में मिलती है उसकी तीन विशेषताएँ हैं—1. वह मस्जिद-मंदिर में उपास्थ न होकर पिंडस्थ है। 2. वह योगी के ब्रह्मरंध्र में हठयोगी साधनों से साध्य है। 3. वह केवल अनुभवैकगम्य या स्वसंवेद्य है।

समाधि अथवा परमोच्च साधनावस्था के अनेक पर्यायों में से जीवन्मुक्तिपद शब्द का भी प्रयोग यद्यपि गोरखबानी में नहीं मिलता तथापि कायसिद्धि सम्बन्धी जो सिद्धान्त गोरक्षनाथ को स्वीकार है, उससे यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उन्हें

1. *गो० बा०,* पृ० 29, 31, 36, 54, 57, 114, 122, 123, 124, 146, 167, 192, 200.
2. *वही,* पृ० 13, 19, 20, 32, 36, 47, 74, 188, 192, 193, 194, 202.
3. *वही,* पृ० 20, 46, 113, 122-123; 124, 167, 171, 192, 192.
4. *वही,* पृ० 7, 20, 28, 32, 34, 53, 73, 106, 131.

जीवन्मुक्ति भी स्वीकार है। जीवित अवस्था में देहपात के पूर्व जो मुक्ति होती है, उसे जीवन्मुक्ति कहते हैं तथा पार्थिव स्थूल और सूक्ष्म देहनाश के बाद जो मुक्ति होती है, उसे विदेह मुक्ति कहते हैं। गोरक्षनाथ को यह जीवन्मुक्ति ही स्वीकार है। उन्होंने एक 'जीवता मूवा' पद का प्रयोग किया है जिसका अर्थ यह है कि सोता हुआ अवधूत जीवित रहते हुए भी मृत के समान है। यहाँ गोरक्षनाथ ने सामान्य अर्थ में इसका प्रयोग किया है जिसमें निकृष्ट योगी की विगर्हणा है; किन्तु एक दूसरे प्रसंग में योगी को बार-बार उपदेश करते हैं कि उस मृत्यु का वरण करना चाहिए, जो मधुर हो। वही योगी की अभिप्सित मृत्यु है जिसे शब्दांतर से कायसिद्धि अथवा जीवन्मुक्ति कहा जा सकता है।[1] वे स्पष्टतया देहपात के उपरान्त होनेवाली मुक्ति का खंडन करते हुए कहते हैं—हे पंडित, ब्रह्मज्ञान ही का अध्ययन-मनन करो; क्योंकि ब्रह्मज्ञान के बिना सब झूठा है। मरने पर जो मुक्ति मानी जाती है उसमें वैकुंठ में स्थान मिलना कहा जाता है, परन्तु वस्तुतः वह गड्ढे में अथवा चिता पर स्थान पाना है और चौरासी लाख योनियों के चक्कर में पड़ जाना है।[2] इस प्रकार पिंडपातरहित, इच्छामृत्युयुक्त जीवन्मुक्ति ही नाथपंथियों का लक्ष्य है जिसमें अनेकता में ही एकता की उपलब्धि हो जाती है। परमार्थ सेवा और परोपकार मिलकर एक हो जाते हैं।

गोरक्षनाथ ने समाधि सम्बन्धी एक अन्य शब्द 'सहज' का भी प्रयोग किया है। उनकी दृष्टि में समाधि की अवस्था सहजावस्था है। उन्होंने 'सहजसमाधि' शब्द का जिस प्रकार प्रयोग किया है, उससे यह स्पष्ट होता है कि इस अवस्था में निद्रा, यात्रा, खटपट आदि कार्य बिलकुल नहीं होते। यह एक ऐसी अवस्था है जिसमें शुक्रनाश करनेवाली निद्रा नहीं आती। तीर्थयात्रादि की आवश्यकता नहीं रहती और न शरीर को किसी प्रकार का आयास अथवा कष्ट ही उठाना पड़ता है। इसमें सरल योगसिद्धि होती है। इसमें सहज दीक्षा से सहज सिद्धि और सहज समाधि की प्राप्ति होती है। इसमें किसी प्रकार का कृच्छाचार नहीं है। इसमें सहज रहनी और सहज स्वभाव परमावश्यक है जिसका विस्तृत विवेचन गोरक्ष ने अपनी वाणियों में किया है।[3] मछींद्र गोरषबोध में मत्स्येंद्र ने सहज और शून्य के युग्मकों का प्रयोग कर स्पष्ट साधना के विकास की अवस्थाओं की ओर संकेत करते हुए कहा है कि साधक की सहज शून्य में उत्पत्ति होती है, समशून्य में सत्गुरु (परमतत्त्व को) समझता है तथा अतीत शून्य में (साधक) समाहित हो रहता है।[4] इससे अतीत शून्य ही परमोच्च अवस्था प्रतीत होती है। किन्तु डॉ० भारती ने सहज शून्य को शून्य से ऊपर माना है और उसी को श्रेष्ठ कहा है।

1. *गो० बा०*, पृ० 10, 25.
2. *वही*, पृ० 102-103, 180.
3. *वही*, पृ० 70; पृ० 78-79, छं० 245-256; पृ० 102-103. *पद* 14.
4. *वही*, पृ० 193.

गोरक्षनाथ के योग सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि गोरक्षनाथ की हिन्दी-रचनाओं में विवृत्त योगपद्धति पर तांत्रिक प्रभाव स्पष्ट है। इस योग का लक्ष्य है—हठयोग और समाधियोग अथवा राजयोग की सहायता से शरीर में निर्वाण-पद परमपद, नाथपद या द्वैताद्वैतविवर्जित पद प्राप्त करना। इस साधन में 'निगुरा' के लिए कोई स्थान नहीं है। गुरुशिष्यवाद के सिद्धान्त के साथ अधिकार-भेदभाव को भी महत्व दिया गया है। गोरक्षनाथ का गौण लक्ष्य पिंडसिद्धि या कायसिद्धि या सिद्धदेहप्राप्ति है। गुरु-कृपा से ही पिंडसिद्धि संभव है। स्वरूप की दृष्टि से गोरक्षनाथ का साधन योगयुक्त ज्ञान है जिसमें पिंडब्रह्मांडवाद का सिद्धान्त सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इसीलिए वे पिंडब्रह्मांड के एकत्वज्ञान एवं अनुभूति को बहुत महत्व देते हैं। शुद्ध ज्ञानवादियों से गोरक्षनाथ का वैलक्षण्य यह है कि वे पिंडसिद्धि और इच्छामृत्यु को भी ज्ञान (या परमज्ञान) के साथ आवश्यक मानते हैं। शारदातिलक जैसे तांत्रिक ग्रंथों में वर्णित दशांग यम, नियम के कुछ अंगों की विवृत्ति गोरखबानी में मिलती है किन्तु षडङ्ग योग का प्रतिपादन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि यम, नियम का अनिवार्य प्रवेशात्मक मूल्य गोरक्ष को स्वीकार है। यद्यपि हिन्दी रचनाओं में हठयोगानुकूल संयम, आचार की ही महिमा है तथापि यम, नियम में अहिंसा, ब्रह्मचर्य, मिताहार, आर्जव आदि का विस्तार से उपदेश किया गया है। नारी के कामिनी रूप का परित्याग कर जननीरूप या मातृरूप या सुन्दरी के पारमार्थिक प्रतीकात्मक 'सुषुम्नासुन्दरी' रूप के साधन का उपदेश मिलता है। बाह्याडंबर और कृच्छाचार का अनेकशः खंडन किया गया है। षडङ्गयोग के अन्तर्गत आसन का भी अंतस्साधनात्मक स्वरूप मिलता है। समस्त प्रकार के योगसाधन के मूलाधार के रूप में प्राणायाम को प्रतिष्ठित किया गया है। इससे नाड़ीशोधन, कुंडलिनी जागरण, षट्चक्रवेध, लयसाधन, उन्मनीसाधन, प्रणवसाधन, नादानुसंधान आदि साधन साध्य हैं। बंधों का गोरक्षवाणी में विस्तृत वर्णन नहीं मिलता। मुद्रा का परिचय यद्यपि गोरक्षवाणी में मिलता है, तथापि उनका वर्णन संस्कृत के हठयोगी ग्रंथों के समान नहीं है। वहाँ घटस्थ मुद्राओं का ही वर्णन मिलता है। जप में भी गोरक्षनाथ ने केवल अजपाजाप को ही स्वीकार किया है। उनकी रचना में यद्यपि प्रत्याहार का नाम नहीं मिलता तथापि विषयों से इंद्रियों के आहरण के संकेत मिलते हैं। धारणा का भी यद्यपि उसी रूप में उल्लेख नहीं मिलता तथापि तदंगभूत षट्चक्रवेध, लययोग, भूतविजय, कुंडलिनीसाधन, विपरीतकरणी, अमृतसाधन या रससाधन आदि के वर्णन मिलते हैं। गोरक्षवाणी में चक्रविधान से संबंधित उल्लेख तीन स्थलों पर मिलते हैं, फिर भी उनमें अनेकरूपता और भिन्नता होने के कारण गोरक्षानाथनुमोदित चक्रविधान का कोई एक निश्चित रूप प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। तांत्रिक चक्रयोजना से भी भिन्नता दिखाई पड़ती है। गोरक्षनाथ ने अपनी वाणियों में कुंडलिनी साधन का भी उल्लेख किया है। उन्होंने ध्यान की अपेक्षा आंतरिक ध्यान अथवा ज्योतिर्ध्यान का विधान किया है। उनकी

बाह्य ध्यानक्रिया यत्नज और परिश्रमसाध्य नहीं है। वह सहज एवं जीवन की सामान्य क्रियाओं में भी अनुस्यूत है। समाधि समरसावस्था है। इसके अनेक पर्यायों तथा तद्गत विचारों की विस्तृत विवृत्ति गोरखबानी में हमें मिलती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि गोरक्ष का हठयोग राजयोग का पूरक है और हठयोग समन्वित राजयोग, दूसरे शब्दों में योगयुक्त ज्ञान, के साधन से वे कायसिद्धि या पिंडसिद्धि या सिद्धदेह या इच्छामृत्यु की सिद्धि के साथ पिंडपद का परमपद में समरसीकरण अथवा नाथस्वरूप से अवस्थान की उपलब्धि करना चाहते हैं।

१

पिण्ड और ब्रह्माण्ड

मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा अवतारित कौलज्ञान की आलोचना के प्रसंग में शैव सिद्धान्त के छत्तीस तत्त्वों का एक साधारण परिचय दिया जा चुका है। प्रलय काल में इन समस्त तत्त्वों को निःशेषभाव से आत्मसात् करके शक्ति परम शिव में तत्त्वरूपा होकर अवस्थान करती है। इसीलिये 'वामकेश्वरतन्त्र' में भगवती शक्ति को "कवलीकृतानिःशेषतत्त्वग्रामस्वरूपिणी" कहा गया है (४।५)।

इस अवस्था में शिव में कार्य-कारण का कर्तृत्व नहीं होता अर्थात् कार्य-कारण के चक्र के संचालन कर्म से विरत हो जाते हैं। वे कुल और अकुल के भेद से परे हो जाते हैं। और अव्यक्तावस्था में विराजमान रहते हैं। इसीलिये इस अवस्था में उन्हें शास्त्रकारगण 'स्वयं' कह कर स्मरण करते हैं।[1]

इस परम शिव को जब सृष्टि करने की इच्छी होती है तो इच्छायुक्त होने के कारण उन्हें सगुण शिव कहा जाता है। पहले बताया जा चुका है कि यह इच्छा (=सिसृक्षा=सृष्टि करने की इच्छा) ही शक्ति है। अब इस अवस्था में परम शिव से एक ही साथ दो तत्त्व उत्पन्न होते हैं—शिव और शक्ति। वस्तुतः इन दोनों में कोई भेद नहीं है। यह शक्ति पाँच अवस्थाओं से गुजरती हुई स्फुरित होती है। (१) परम शिव की अवस्था-मात्र धर्म से युक्त, स्फुरित होने की पूर्ववर्ती और प्रायः स्फुरित होने को उपक्रान्त अवस्था का नाम 'निजा' है। इस अवस्था में शिव अपने अव्यक्त रूप में रहते हुए भी स्फुरणोन्मुखी शक्ति से विशिष्ट होकर रहा करते हैं। शिव की इस अवस्था का नाम 'अपरं पदम्' है। धीरे-धीरे शक्ति क्रमशः (२) स्फुरण की ओर उन्मुख होती है, फिर (३) स्पन्दित होती है, फिर (४) सूक्ष्म अहन्ता (=मैं-पन अर्थात् अलगाव का भाव) से युक्त होती है और अन्त में (५) चेतनशीला होकर अपने अलगाव के बारे में पूर्ण सचेत हो जाती है। ये अवस्थाएं क्रमशः परा, अपरा, सूक्ष्मा

---

१. कार्यकारणकर्तृत्वं यदा नास्ति कुलाकुलम।
अव्यक्तं परम तत्त्वं स्वयं नाम तदा भवेत॥

—सि० सि० सं० १।४।

और कुण्डली कही जाती हैं।[1] इन अवस्थाओं में शिवं भी क्रमशः परम, शून्य, निरंजन और परमात्मा के नाम से प्रसिद्ध होते हैं।[2] इस प्रकार निखिलानन्दसन्दोह शिव पाँच अवस्थाओं से गुजरते हुए प्रथम तत्त्व परमात्मा या सगुण शिव के रूप में प्रकट होते हैं और शक्ति भी पाँच अवस्थाओं से अग्रसर होती हुई द्वितीय तत्त्व कुण्डली या कुण्डलिनी के रूप में प्रादुर्भूत हुई। यही कुण्डली समस्त विश्व में व्याप्त शक्ति है, इसी की इच्छा से, इसी की सहायता से, शिव इस विश्व प्रपञ्च की उत्पत्ति पालन और विलय में समर्थ होते हैं। यही परमात्मा और कुण्डली—शिव और शक्ति—प्रथम दो सूक्ष्मतम तत्त्व हैं। इन से ही अत्यन्त सूक्ष्म 'पर पिण्ड' की उत्पत्ति हुई है। इस प्रकार नीचे लिखी सारणी से शिव और शक्ति के स्फुरण का विकास स्पष्ट हो जायगा।

'स्वयं' (पर) शिव

अपर—१	१—निजा
परम—२	२—परा
शून्य—३	३—अपरा
निरंजन—४	४—सूक्ष्मा
परमात्म—५	५—कुण्डली

यह ध्यान देने की बात है कि यद्यपि वैदान्तिक लोग भी चित्स्वरूप ब्रह्म की शक्ति, जिसे वे लोग 'माया' कहते हैं; मानते हैं पर यहाँ शक्ति की जो कल्पना है वह वैदा-

१. निजा पराऽपरा सूक्ष्मा कुण्डली तासु पञ्चधा।
शक्तिचक्रक्रमेणैव जातः पिण्डः परः शिवे॥
—वही, १।१३

२. ततोऽस्मितापूर्वमर्चिमात्रं स्यादपरं परम्।
तत्स्वसंवेदनाभासमुत्पन्नं परमं परम्॥
स्वेच्छामात्रं ततः शून्यं सत्तामात्रं निरञ्जनम्।
तस्मात्ततः स्वसाक्षादभूः परमात्मपदं मतम्॥
—वही, १।१४-१५

न्तिक कल्पना से भिन्न हैं। यहाँ कुण्डली या शक्ति को 'चिच्छीला'[1] और चिद्रूपिणी माना गया है। यह चिच्छक्ति अनन्तरूपा और अनन्तशक्तिस्वरूपा है। जगत् इसी शक्ति का परिणाम है और यही शक्ति जगत् रूप में परिणत होती है। इसी की सहायता से परम शिव सृष्टि व्यापार के संभालने में समर्थ होते हैं और इसीलिये 'वामकेश्वरतंत्र' में स्वयं भगवान् शंकर ने ही कहा है कि हे परमेश्वरि, इस शक्ति से रहित होने पर शिव कुछ भी करने में असमर्थ हैं, इससे युक्त होकर ही वे कुछ करने में समर्थ होते हैं।[2]

इसके बाद कुण्डली अर्थात् समस्त विश्व में प्रव्याप्त शक्ति सृष्टिक्रम को अग्रसर करने के लिये क्रमशः स्थूलता की ओर अग्रसर होती है। इन तीनों तत्वों की चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं जो इसके बाद क्रमशः स्फुरित होते हैं। ये हैं—सदाशिव, ईश्वर और शुद्धविद्या। सदाशिव अहं प्रधान है और ईश्वर इदं प्रधान, शुद्ध विद्या उभय प्रधान।[3] सृष्टि व्यापार को अग्रसर करने के लिये इस प्रकार अहन्ता की प्राप्ति पाँच अवस्थाओं के भीतर से होती है। इन अवस्थाओं को आनन्द कहते हैं। पाँच आनन्द हैं, परमानन्द, प्रबोध, चिदुदय, प्रकाश और सोऽहं। इन्हीं आनन्दों के भीतर से गुजरते हुए शिव क्रमशः 'जीव'—रूप की ओर अग्रसर होते हैं। 'सिद्ध-सिद्धान्त संग्रह' में बताया गया है कि किस प्रकार पर-पिण्ड, से आद्य-पिण्ड, उससे साकार पिण्ड, उससे महासागार पिण्ड, उससे प्राकृत-पिण्ड और उसके भी अन्त में गर्भ-पिण्ड उत्पन्न होता है।[4] ये क्रमशः स्थूल से स्थूलतर होते जाते हैं। अन्तिम

---

१. चिच्छीला कुण्डलिन्यतः,—सि० सि० सं० १।६

२. परोहि शक्तिरहितः शक्तः कर्तुं न किञ्चन।
शक्तस्तु परेमेशानि शक्त्या युक्तो यदा भवेत् ॥४।६॥

३. (१) अहन्तेदन्तालक्षणयोर्ज्ञानक्रिययोराद्योद्रेकात् उन्मीलितचित्रन्यायेन व्यक्ताव्यक्तविश्वमातृतास्वभावं सदाशिवाख्यंतत्त्वम्। एतद्विपर्ययेण क्रिया शक्तयौज्ज्वल्ये व्यक्ताकारविश्वानुसंधातृरूपम् ईश्वर तत्त्वम्।—महार्थ मञ्जरी, पृ० ४४।
(२) ज्ञातृत्वधर्मआत्मा ज्ञेयस्वभावश्च लोकव्यवहारः।
एकरसां संस्कृष्टि यत्र गतौ सा खलु विस्तुषा विद्या ॥—महार्थ मंजरी, पृ० ४६।

४. 'सिद्ध सिद्धान्त संग्रह' में पच्चीस पच्चीस तत्वों में इस प्रकार पिण्डोत्पत्ति का क्रम दिया हुआ है :
(१) अव्यक्त परम तत्त्व की पाँच शक्तियाँ हैं जिसमें प्रत्येक के पाँच गुण हैं—
१. निजा—निराकृतित्वि, नित्यत्व, निरन्तत्व, निष्पंदत्व, निरुत्थत्व।
२. परा—अस्तित्व, अप्रमेयत्व, अभिन्नत्व, अनन्तत्व, अव्यक्तत्व।
३. अपरा—स्फुरन्ता, स्फारता, स्फुरता, स्फोटता, स्फूर्ति।
४. सूक्ष्मा—नैरंतर्य वैरंश्य, नैश्चल्य, निश्चयत्व, निर्विकल्पत्व।

पिण्ड से यह स्थूलशरीर उत्पन्न हुआ है। 'सिद्ध सिद्धांत संग्रह' के प्रथमाध्याय की

---

५. कुण्डली—पूर्णत्व, प्रतिबिम्बत्व, प्रकृतिरूपत्व, प्रत्यङमुख औच्चल्य।

(१) परिपिण्ड के — १५ तत्त्व

(२) क—पाँच पद और उनके गुण—

१. अपर—अकलत्व, असंशयत्व, अनुमतत्व, अन्यपारता, अमरत्व।

२. पर—निष्कल, अलोल, असंख्येन, अक्षय, अभिन्न।

३. शून्य—नीलता, पूर्णता, मूर्च्छा, उन्मनी, लयता।

४. निरञ्जन—सतज, सामरस्य, सत्यत्व, सावधानता, सर्वगत्व।

५. परमात्मपद—अभयत्व, अभेद्यत्व, अच्छेद्य, अनाश्य, अशोष्य।

(२) आद्य पिण्ड — २५ तत्त्व

ख—पाँच आनन्द और उनके गुण—

१. परमानन्द—उदय, उल्लास, अवभास, विकाशन, प्रभा।

२. प्रबोध—निष्पंद, हर्ष, उन्माद, स्पंद, नित्यसुख।

३. चिदुदय—सद्भाव, विचार, कर्तृत्व, ज्ञातृत्व, स्वातंत्र्य।

४. प्रकाश—निर्विकार, निष्फलत्व, सद्बोध, समता, विश्रान्ति।

५. सोऽहम्—अहन्ता, खण्डितैश्वर्य, स्वानुभूति, साम्यर्थ्य, सर्वज्ञता।

(२) आद्य पिण्ड — २५ तत्त्व

(३) क—पंच महातत्त्व और उनके अंशभूत तत्त्व।

१. महाकाश—अवकाश, छिद्र, अस्पृश्यत्व, रव, नीलवर्ण।

२. महानिल—संचार, चलन, स्पंद, शोषण, धूम्रता।

३. महातेज—दाहकत्व, पावकत्व, सूक्ष्मकत्व, रूपभासित्व, रक्तवर्ण।

४. महावारि—प्रवाह, आप्यायन, रस, द्रव श्वेतवर्ण।

५. महापृथ्वी—स्थूलता, नानाकृतिता, काठिन्य, गन्ध, पीतता।

(३) साकार पिण्ड — २५ तत्त्व

ख—अष्टमूर्ति—

शिव-भैरव-श्रीकंठ-सदाशिव-ईश्वर-रुद्र-विष्णु-ब्रह्मा

महासाकार पिण्ड।

(४) तत्त्वांश—

पृथ्वी के—अस्थि, त्वक्, मांस, लोम, नाड़ी।

जल के—लाला, मूत्र, अष्टक्, स्वेद, शुक्र।

अग्नि के—क्षुधा, तृषा, आलस्य, निद्रा, कांति।

वायु के—धावन, चलन, रोधन, प्रसारण, आकुञ्चन।

आकाश के—राग, द्वेष, भय, लज्जा, मोह।

(४) प्राकृत पिण्ड के — २५ तत्त्व

पुष्पिका में लिखा है कि यह छः प्रकार की पिण्डोत्पत्ति है। परन्तु वस्तुतः उसमें

---

(५) क—अन्तःकरण के धर्म

१. मन—संकल्प, विकल्प, जड़ता, मूर्च्छना, मनन।

२, बुद्धि—विवेक, वैराग्य, परा, प्रशान्ति, क्षमा।

३. अहंकार—मान, समता, सुख, दुःख, मोह।

४. चित्त—मति, धृति, संस्मृति, उत्कृति स्वीकार।

५. चैतन्य—विमर्ष, हर्ष, धैर्य, चिन्तन, निःस्पृहता।

ख—कुल पञ्चक २५ तत्व

सत्व—दया, धर्म, क्रिया, भक्ति, श्रद्धा।

रजः—दान, भोग, शृंगार, स्वार्थ, ग्रहण।

तमः—मोह, प्रमाद, निद्रा, हिंसा, क्रूरता।

काल—विवाद, कलह, शोक, बन्ध, वंचन।

जीव—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुर्य, तुरीयातीत।

२५ तत्त्व

ग—व्यक्ताख्य शक्ति के गुण

१. इच्छा—उन्मेष, वासना, वीप्सा, चिन्ता, चेष्टा।

२. कर्म—स्मृति, उद्यम, उद्वेग, कार्य, निश्चय।

३. माया—मद, मात्सर्य, कपट, कर्त्तव्य, असत्य।

४. प्रकृति—आशा, तृष्णा, कांक्षा, स्पृहा, मृषा।

५. वाक्—परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी, हष्टाक्षरमातृका।

२५ गुण

घ—प्रत्यक्षकारी गुण

१. काम—रति, प्रीति, लीला, आतुरता, अभिलाषा।

२. कर्म—शुभ, अशुभ, कीर्ति, अकीर्ति, इच्छागत।

३. अग्नि—उल्लोल, कल्लोल, उच्चलत्व, उन्माद, विलेपन।

४. चन्द्र—स्रवन्तिका, नामवती, प्रवाहा, सौम्या, प्रसन्ना।

५. अर्क—तपिनी, ग्रसिनी, क्रूरा, कुञ्चनी, शोषणी, बोधनी; धस्मरा, कर्षिणी, अर्थतुष्टिवर्धिनी, ऊर्मिरेखाकिरणिनी, प्रभावती।

(६) दशद्वार, ७२ हजार नाड़ियाँ, पंच प्राण, नौ चक्र, सोलह आधार आदि का गर्भपिण्ड।

क—दशद्वार—मुख कर्ण (दो), नासिका (दो), चक्षु (दो), वायु, उपस्थ और ब्रह्मरंध्र।

ख—प्रधान दस नाड़ियाँ—इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, गांधारी, हस्तिजिह्वा, शंखिनी पूषा, अलम्बुषा, पयस्विनी और कुहू।

ग-घ—चक्र और आधार का विचार आगे किया गया है।

कई प्रकार की पिण्डोत्पत्ति दो हुई है। यह विचारणीय ही रह जाता है कि ये छः पिंड वस्तुतः क्या है। महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथजी कविराज ने 'सिद्ध सिद्धान्त संग्रह' की भूमिका में लिखा है कि ये छः पिण्ड इस प्रकार के हैं—

१. पर या आद्य-पिण्ड

२. साकार-पिण्ड

३. महासाकार-पिण्ड

४. प्राकृत-पिण्ड

५. अवलोकन-पिण्ड

६. गर्भ-पिण्ड

'सिद्ध सिद्धांत पद्धति' के आधार पर सं० १८८१ वि० में मारवाड़-नरेश महाराणा मानसिंह के राज्यकाल में २४ चित्र बनवाये गये थे। ये चित्र "देशी कागज की बनी करीब ४ फुट, लम्बी, १½ फुट चौड़ी और ३⁄१० इंच मोटी दफ्ती पर बने हैं" और आज से सवा सौ वर्ष पहले के राजपूत कलम के उत्तम नमूने हैं। ये जोधपुर के राजकीय सरदार म्यूजियम में सुरक्षित हैं। सन् १९३५ ई० में पंडित विश्वेश्वरनाथ जी रेउ ने इन चित्रों का विवरण एक छोटी सी पुस्तिका के रूप में प्रकाशित कराया था। हम जिस बात की चर्चा यहाँ कर रहे हैं वह इन चित्रों के द्वारा अधिक स्पष्ट होगी, इस आशा से यहाँ उक्त विवरणपुस्तिका के कुछ चित्रों के परिचयों का संकलन किया जा रहा है। यह स्मरण रखना चाहिए 'सिद्ध सिद्धांत संग्रह' वस्तुतः इस पुस्तक का ही संक्षिप्त रूप है। मूलग्रंथ 'सिद्ध सिद्धांत पद्धति' ही है।

दूसरा चित्र त्रिगुणात्मक आदि पिंड का बताया गया है। इसका विवरण इस प्रकार दिया हुआ है—

(२) त्रिगुणात्मक आदि-पिण्ड। आदि पिण्ड से (नील वर्ण) महा आकाश का, महा आकाश से (धूम्रवर्ण) महावायु का, महा-वायु से (रक्तवर्ण) महातेज का, महातेज से (श्वेतवर्ण) महासलिल (जल) का और उससे (पीतवर्ण) महापृथ्वी का उत्पन्न होना। इन पंचमहा-तत्त्वों से महासाकार पिण्ड का और उससे (१) शिव का उत्पन्न होना। इसी प्रकार आगे शिव से, (२) भैरव का, भैरव से, (३) श्रीकण्ठ का श्रीकण्ठ से, (४) सदाशिव का, सदाशिव से, (५) ईश्वर का, ईश्वर से, (६) रुद्र का, रुद्र से, (७) विष्णु का, और विष्णु से, (८) ब्रह्मा का उत्पन्न होना। फिर ब्रह्मा से नर-नारी रूप, (९) प्रकृति पिण्ड का उत्पन्न होना।

तीसरे चित्र का विवरण इस प्रकार है—

(३) नर नारी के संयोग से स्त्री और पुरुष की उत्पत्ति। पिण्ड का रूप। 'सिद्ध सिद्धान्त संग्रह' से और 'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' के आधार पर बने हुए इन चित्रों के विवरण से ऐसा जान पड़ता है कि प्रथम पिण्ड-पर-पिण्ड है जो त्रिगुणातीत है और आदि या आद्य-पिण्ड वस्तुतः उसके बाद की अवस्था का नाम है। फिर साकार पिण्ड और महासाकार पिण्ड भी अलग-अलग नहीं जान पड़ते। साकार पिण्ड को ही

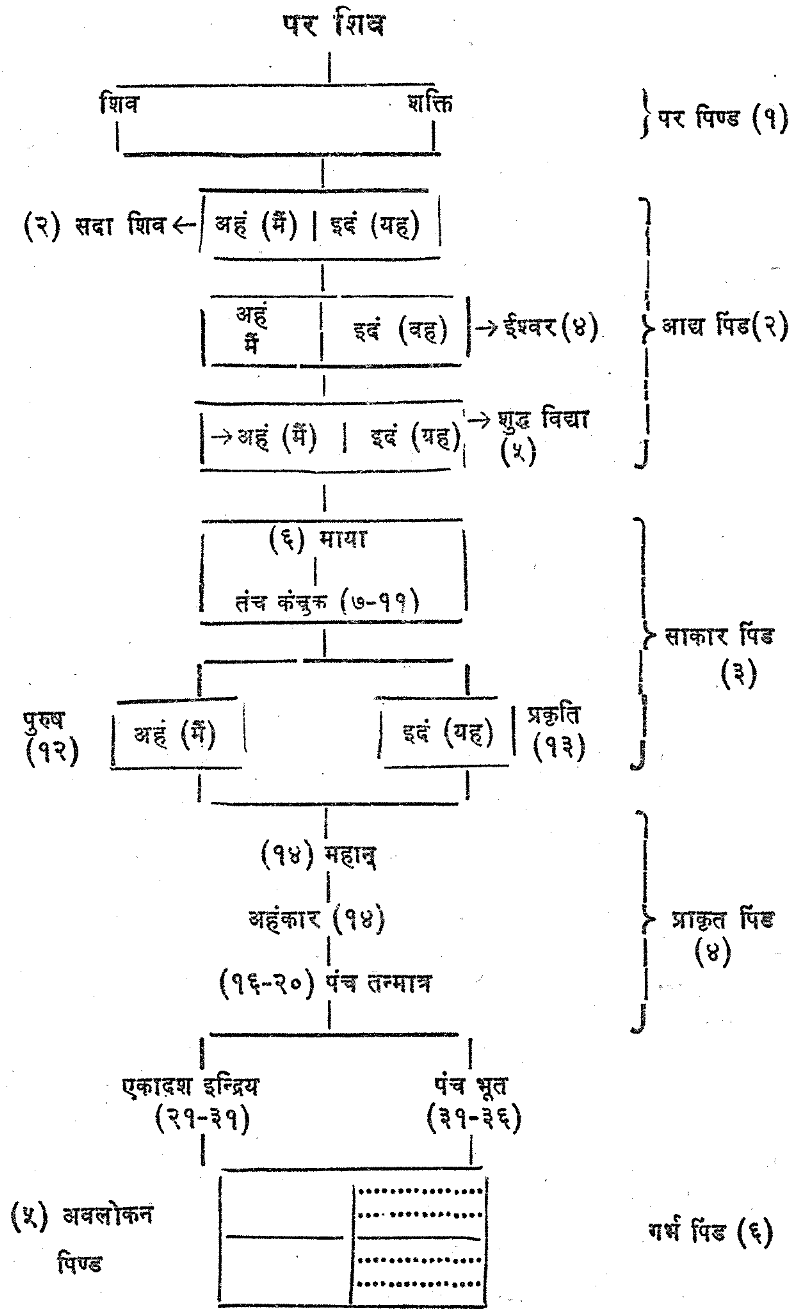
पर शिव
शिव
शक्ति
पर पिण्ड (१)
(२) सदा शिव
अहं (मैं) | इदं (यह)
अहं मैं
इदं (यह)
ईश्वर (४)
आद्य पिंड (२)
अहं (मैं) | इदं (यह)
शुद्ध विद्या (५)
(६) माया
तंच कंचुक (७-११)
साकार पिंड (३)
पुरुष (१२)
अहं (मैं)
इदं (यह)
प्रकृति (१३)
(१४) महान्
अहंकार (१४)
(१६-२०) पंच तन्मात्र
प्राकृत पिंड (४)
एकादश इन्द्रिय (२१-३१)
पंच भूत (३१-३६)
(५) अवलोकन पिण्ड
गर्भ पिंड (६)

ग्रंथकार और महासाकार पिण्ड कहा है। यदि यह वाद ठीक है तो छः मुख्य पिण्ड इस प्रकार हो सकते हैं—

(१) पर-पिण्ड
(२) आद्य-पिण्ड
(३) साकार या महासाकार-पिण्ड
(४) प्राकृत पिण्ड
(५) अवलोकन-पिण्ड
(६) गर्भ-पिण्ड

इन पिण्डों में पर-पिण्ड तो शिव और शक्ति के संयोग से उत्पन्न है। परवर्ती तीन तत्त्वों से आद्य-पिण्ड और माया और पंच कंचुकों से आच्छादित अहन्ता-प्रधान पुरुष और इदन्ताप्रधान[1] प्रकृति तक साकार तत्त्व है। महत्व से पंचतन्मात्र तक प्राकृत पिण्ड और एकादश इन्द्रियों का अवलोकन पिण्ड है। फिर गर्भोत्पन्न यह पंच भूतात्मक स्थूल शरीर गर्भ पिण्ड है। इस प्रकार ३६ तत्वों के स्फुरण से इस पिण्डोत्पत्ति का सामंजस्य किया गया है।

अब यह स्पष्ट है कि पर शिव ही अपनी सिसृक्षा रूपा शक्ति के कारण जगत् के रूप में बदल गए हैं। संसार में जो कुछ भी पिण्ड है वह वस्तुतः उसी प्रक्रिया में से गुजरता हुआ बना है जिस अवस्था में से यह समूचा ब्रह्माण्ड बना है। सब में वही तत्त्व ज्यों के त्यों हैं। परन्तु सत्व, रज, तम, काल और जीव (अर्थात् प्राण शक्ति) की अधिकता और न्यूनता के कारण उनमें भेद प्रतीत हो रहा है। विकास की इन विभिन्न अवस्थाओं को असत्य नहीं समझना चाहिए। वे सभी सत्य हैं। जितनी नाड़ियाँ या द्वार या आधार मनुष्य में है उतना ही समस्त ब्रह्माण्ड में और उतना ही ब्रह्माण्ड में प्रत्येक परमाणु में हैं। भेद यही है कि सत्व, रज, तम काल और जीव के आधिक्य और न्यूनत्व वश वे कहीं अविकसित हैं, कहीं अर्ध विकसित हैं, कहीं पूर्ण विकसित हैं। इसीलिये गोरक्षमत में प्रथम सिद्धान्त यह है कि जो कुछ भी ब्रह्माण्ड में है वह सभी पिण्ड में है।[2] पिण्ड, मानो ब्रह्मांड का संक्षिप्त संस्करण है। गोरक्षनाथ का योग-मार्ग साधनापरक मार्ग है इसलिये केवल व्यावहारिक बातों का ही विस्तार

---

१. 'अहं' और 'इदं' संस्कृति में क्रमशः 'मैं' और 'यह' के वाचक हैं। अहन्ता का अर्थ है 'मैं-पन' और इदन्ता का अर्थ है 'यह-पन'। पुरुष में 'अहन्ता' की प्रधानता होती है अर्थात् उसमें 'चेतन मैं हूँ' यह भाव-प्रधान होता है। प्रकृति में 'इदन्ता' की प्रधानता होती है। अर्थात् पुरुष उसे चेतन से भिन्न 'इदं' (वह) के रूप में समझता है।

२. ब्रह्माण्डवर्ति यत् किन्चित,
तत पिण्डेऽप्यस्ति सर्वथा।
—सि० सि० सं० ३।२।

उसमें दिया हुआ है। मनुष्य शरीर को ही प्रधान पिण्ड मानकर इसकी व्याख्या की गई है। बताया गया है[1] कि मनुष्य के किस-किस अंग में ब्रह्मांड का कौन-कौन सा अंश है। पाताल कहाँ है। साधनामार्ग के तीर्थस्थान कहाँ हैं, गंधर्व, यक्ष, उरग, किन्नर भूत, पिशाच आदि के स्थान कहाँ हैं। अनुसंधित्सु पाठक मूल ग्रन्थों में उसका विस्तार खोज सकते हैं।

स्पष्ट ही, इस शरीर में सबसे प्रधान कार्यकारिणी शक्ति कुण्डली है। यह विश्व-ब्रह्मांड में प्रव्याप्त महाकुण्डलिनी का ही पिण्डगत स्वरूप है। यह लक्ष्य करने की बात है कि पर पिण्ड को ही प्रथम या आद्य पिण्ड नहीं कहा गया है। नाथ मार्ग अद्वैतवादी है परन्तु शांकर वेदान्त से अपना भेद बताने के लिये ये लोग अपने को द्वैताद्वैत विलक्षण वादी कहते हैं![2] नाथ तत्व और अद्वैत दोनों से परे हैं।[3] आद्य या प्रथम कहने से वह संख्या द्वारा सूचित किया जाता है और संख्या भी एक उपाधि है, इसलिये पर तत्व को '१' संख्या द्वारा भी सूचित नहीं किया जा सकता। वह उससे भी अतीत अखण्ड ज्ञानरूपी निरजन है[4]—शून्य है।[4] वह निष्क्रिय और क्रिया ब्रह्म दोनों से अतीत अवाच्य पद हैं। इसीलिए उसकी आद्य-संज्ञा नहीं हो सकती। पहला पिण्ड भी इसीलिये 'पर-पिण्ड' कहा जाता है, आद्य-पिण्ड नहीं।[5] जगत् का प्रपञ्च शक्ति के स्फोट के बाद शुरू होता है इसलिये शक्ति ही असल में जगत्कर्त्री है शिव नहीं। शिव केवल ज्ञेय है।

प्रश्न हो सकता है कि सृष्टि का आदि कर्तृत्व तो शिव का है, शक्ति तो उसकी निर्वाहिका मात्र है। उसी को प्रधानकर्त्री और उपास्य क्यों माना जाय? जगत

---

१. देखिए सि० सि० सं० तृतीयोपदेश।

२. यदि ब्रह्माद्वैतमस्ति तर्हि द्वैतं कुत आगतम्? यदा माया कल्पितमिति वदेयुस्तर्हि तान् वदन्तो वयमवाचोऽक्रियांश्चमर्म तत किमिति चेदुच्यते। अद्वैतं तु निष्क्रियादित्याग्यस्ति। यतः कस्यापि वस्तुनो भोगोऽपि युष्माभिर्न कर्तव्य-इत्याद्यनेकविधिभिरद्वैतखण्डनं-करिष्यामः। महासिद्धैरुक्तं यदद्वैताद्वैतविवर्जितं पदं निश्चलं दृश्यते तदेवसम्यगित्यभ्युपगमिष्यामः। —गो० सि० सं० पृ० १६।

३. अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
समं तत्त्वं न विन्दन्ति द्वैताद्वैत विलक्षणम्।
यदि सर्वगतो देवः स्थिरः पूर्णो निरन्तरः।
अहो माया महामोहो द्वैताद्वैतविकल्पना॥
—गो० सि० सं० (पृ० ११) में अवधूत गीता वचन

४. निखिलोपाधिहीनो वै यदा भवति पुरुषः।
तदाविवक्षतेऽखण्डज्ञानरूपी निरञ्जनः। —शिव-संहिता १-६८॥

५. खसमं असमं शान्तमादिमध्यान्तवर्जितम्।
अचिन्त्यचित्तकं चैव सर्वभावस्वभावकम्।

के मुख्य कर्ता और नियन्ता तो शिव ही हुए, शक्ति तो उनकी सहायिका भर ही है, फिर इस सहायिका को उपास्य क्यों माना जाय ? रामेश्वर भट्ट ने 'परशुराम कल्प-सूत्र' ६।१ की टीका में इस प्रश्न का उत्तर दिया है। इस उत्तर का सारमर्म यह है कि क्षिति आदि कार्यों का कोई न कोई कारण होना चाहिए, कारण के बिना ये उत्पन्न नहीं हो सकते। इस अनुपपत्ति को दूर करने के लिये ही शिव और शक्ति की कल्पना है। वेदान्ती लोग भी ब्रह्म की एक शक्ति स्वीकार करते हैं। चित्स्वरूप ब्रह्म का धर्म भी चित्स्वरूप ही होना उचित है। वेदान्ती लोग ऐसा नहीं मान कर गलती करते हैं। वे चिद्रूप ब्रह्म की शक्ति माया को जड़स्वभावा मानते हैं। यही माया जगत् का उपादान है। इसलिये यह समूचा जगत् जड़ है। शाक्त आगमों में यह बात नहीं मानी गई। धर्मी और धर्म में अभेद होता है इसलिये चेतन ब्रह्म की शक्ति भी चेतन होगी। ब्रह्म धर्मी हैं, शक्ति उसका धर्म। फिर भी व्यवहार में धर्म और धर्मी में थोड़ा भेद मानना ही पड़ता है। इसीलिए धर्मी शिव और धर्म शक्ति अभिन्न होने पर भी व्यवहारानुरोध से भिन्नवत् मान लिये जाते हैं। शिव (परशिव) रूपातीत गुणातीत शून्य रूप निरालंब स्वभाव हैं इसीलिये उनका स्वरूप निर्धारण अशक्त है। उपासना के लिए यह 'पर शिव' उपयुक्त नहीं है। उनके स्वरूप से अभिन्न और फिर भी भिन्न रूपा शक्ति ही उपास्य हो सकती है। इस उपासना के द्वारा परमशिव के साथ शक्ति का (और इसीलिये समस्त जगत् प्रपंच का) अभेद ज्ञान ही साधक का चरम लक्ष्य है। यह कहना ठीक नहीं कि कर्तृत्व और निर्वाहकत्व दोनों ही चित् में ही अवस्थित हैं अतः चित्स्वरूप शिव से भिन्न शक्ति को स्वीकार करना निष्प्रयोजन है। क्या श्रुति-स्मृति और क्या लोक व्यवहार, सर्वत्र शक्ति को स्वीकार किया गया है। गोपवधू से लेकर सुपंडित ब्राह्मण तक सभी यह कहते हैं कि यह कार्य करने की 'शक्ति' मुझ में है या नहीं है। इस प्रकार शक्ति की कल्पना केवल कल्पना नहीं है, वह तथ्य है। शिव-कुक्षि में वर्तमान यह जगत् भी वस्तुतः शक्ति द्वारा ही निर्वाह्य है।[1]

इस शक्ति की उपासना के लिए दूर भटकने की जरूरत नहीं है। प्रत्येक पिण्ड में, प्रत्येक अणु-परमाणु में वह शक्ति विद्यमान है। जगत् का प्रत्येक प्राणी इसे इच्छा, क्रिया और ज्ञान रूप में अनुभव करता है। ब्रह्माण्ड के रग-रग में प्रव्याप्त यह शक्ति मानव देह में कुण्डलिनी रूप में स्थित है। नाथमार्गी साधक इस शक्ति की उपासना का प्रधान साधक पिण्ड अर्थात् काया को ही मानता है ! वैसे तो सभी प्राणी अप्राणी शक्ति के आवास हैं किन्तु केवल शक्ति का संचालन ही लक्ष्य नहीं है। लक्ष्य है शिव और शक्ति का सामरस्य रूप सहज समाधि। समस्त प्राणियों में सर्वाधिक सत्त्वगुणी मनुष्य है। मनुष्य का शरीर योग सिद्धि का उत्तम साधन है। परन्तु इसको पाने मात्र से योगसिद्धि नहीं होती। इसको समझना चाहिए। इसलिए गोरक्षनाथ ने कहा है कि जो योग-सिद्धि का अभिलाषी यही नहीं जानता कि उसके शरीर में छः चक्र क्या और

---

१. कौ० मा० र० : पृ० १८६-१६० ।

कहाँ हैं; षोड़श आधार कौन कौन हैं, दो लक्ष्य क्या हैं,... पाँच व्योम क्या वस्तु है वह कैसे सिद्धि पा सकता ? फिर एक खंभे वाले, नौ दरवाजों वाले और पाँच मालिकों के द्वारा अधिकृत इस शरीर रूपी घर को जो नहीं जानता उससे योग की सिद्धि की क्या आशा हो सकती है ?[1] इनको जाने बिना मोक्ष कहाँ मिल सकता है। आश्चर्य है दुनिया के लोगों की मूर्खता पर ! कोई शुभाशुभ कर्म के अनुष्ठान से मोक्ष चाहता है, कोई वेदपाठ से, कोई (बौद्ध लोग) निरालंबन को बहुमान देते हैं, कोई ध्यान-कला-करण-सम्बन्ध-प्रयोग से उत्पन्न रूप-बिंदु-नाद-चैतन्य-पिण्ड-आकाश को मोक्ष कहते हैं।[2] कोई पूजा पूजक मद्य-मांस, सुरतादि से उत्पन्न आनन्द को मोक्ष कहते हैं, कोई मूलकंद से उल्लसित कुण्डलिनी के संचार को ही मोक्ष कहते हैं और कोई समदृष्टि निपात को ही मोक्ष कहते हैं। परन्तु ये सभी असल में मोक्ष नहीं हैं। जब सहजसमाधि के द्वारा मन से ही मन को देखा जाता है, तब जो अवस्था होती है असल में वही मोक्ष है।[2] यह सहजसमाधि क्या है ? इस बात को समझने के पहले पातंजल-विहित योग-मार्ग को समझना आवश्यक है।

नाथमार्ग के परवर्ती ग्रंथों में कुण्डलिनी की कोई चर्चा नहीं आती। 'मछिन्द्र-गोरख बोध' में गोरखनाथ के प्रश्नों का उत्तर मत्स्येन्द्रनाथ ने दिया है। इस प्रश्नोत्तरी में कुण्डली या कुण्डलिनी के विषय में न तो कोई प्रश्न है न उत्तर। अनेक ग्रंथों में हठयोग को कुण्डलीयोग से भिन्न बताया गया है। फिर भी संस्कृत में प्राप्त गोरक्ष-लिखित मानी जाने वाली प्रायः सभी पुस्तकों में कुण्डलिनी शक्ति के उद्बोधन की चर्चा है। 'अमरौघशासन' का जो वचन ऊपर उद्धृत किया गया है उससे भी मालूम होता है कि गोरक्षनाथ कुण्डलिनी-वाद के विरोधी थे। पर 'अमरौघ शासन' में प्राणायाम का परिणाम कुण्डलिनी का उद्बोधन बताया गया है, यह हम आगे देखेंगे (११

---

१. षटचक्रं षोडशाधारं द्विलक्ष्यं व्योमपञ्चकम्।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्धयन्ति योगिनः ।।
एक स्तंभं नवद्वारं गृहं पञ्चाधिदैवतम्।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्धयन्ति योगिनः ।।

—गोरक्ष शतक १३-१४

२. अहो मूर्खता लोकस्य। केचिद्वदन्ति शुभाशुभकर्मविच्छेदनं मोक्षः, केचिद् वदन्ति वेदपाठाश्रितो मोक्षा केचिद वदन्ति निरालम्बतलक्षणो मोक्षः, केचिद् वदन्ति ध्यान-कलाकरणसंबद्धप्रयोगसंभवेन। रूपविन्दुनादचैतन्य पिण्डकाशलक्षणो मोक्षः केचिद्वदन्ति पूजा-पूजक-मद्य मांसादि सुरत-प्रसंगानंदलक्षणो मोक्षः, केचिद् वदन्ति मूलकन्दोल्लसितकुण्डलोसंचारलक्षणो मोक्षः। केचिद् वदन्ति सुसमदृष्टि निपात लक्षणो मोक्षः। इत्येवंविध भावनाश्रित लक्षणो मोक्षो न भवति। अथ मोक्षपदं कथ्यते—यत्र सहजसमाधिक्रमेण मनसा मनः समालोक्यते स एव मोक्षः।

—अमरौघ शासनम्, पृ० ८-९

वाँ अध्याय)। हिन्दी में गोरखपंथ का जो साहित्य उपलब्ध हुआ है उसमें कुण्डली-उद्बोधन का कोई प्रसंग नहीं मिलता। संभवतः नाथमार्ग के परवर्ती अनुयायी इसे भूल गए थे या फिर यह भी हो सकता है कि संस्कृत की पुस्तकों में तंत्र मत का प्रभाव रह गया हो।

१०

पातंजल योग

अनादिकाल से इस देश में योगविद्या का प्रचार है। 'कठ' (६. ११; ६. १८); 'श्वेताश्वतर' (२. १ १; २.८) आदि पुरातन उपनिषदों में इस योगविद्या का उल्लेख है और परवर्ती उपनिषदों में से कई का तो मुख्य प्रतिपाद्य विषय ही योग है। आगे संक्षेप में इन परवर्ती उपनिषदों की चर्चा का सुयोग हमें मिल सकेगा। प्रसिद्ध है कि आदि पुरुष हिरण्यगर्भ ने ही पहले पहल मनुष्य जाति के उपकार के लिए इस विद्या का उपदेश किया था। 'योग दर्शन' के प्रसिद्ध टीकाकार वाचस्पति मिश्र ने लिखा है कि पतंजलि ने हिरण्यगर्भ द्वारा उपदिष्ट शास्त्र का ही पुनः प्रतिपादन किया था। इसीलिए योगि-याज्ञवल्क्य ने हिरण्यगर्भ को ही इस शास्त्र का आदि उपदेष्टा कहा है। (१. १. १६ परतत्त्व वैशारदी)। विश्वास किया जाता है कि पतंजलि मुनि शेषनाग के अवतार थे। उनका योगदर्शन 'पातंजलिदर्शन' के नाम से प्रख्यात है। इस दर्शन की अनेक महत्त्वपूर्ण व्याख्याएँ लिखी गई हैं जिनमें व्यास का भाष्य, विज्ञानुभिक्षु का वार्तिक, वाचस्पति मिश्र की टीका, भोजदेव की वृत्ति और रामानन्द यति की 'मणिप्रभा' विशेष रूप से प्रसिद्ध और प्रचलित हैं। मूल 'पातंजल दर्शन' चार पादों (=चरण,) में विभक्त है। सारा ग्रन्थ सूत्र रूप में लिखा हुआ है और कुल सूत्रों की संख्या १९५ हैं। चार पादों के नाम उनमें प्रतिपादित विषय के अनुकूल हैं। नाम इस प्रकार हैं—

१. समाधिपाद, २. साधनपाद, ३. विभूतिपाद, ४. कैवल्यपाद।

पतंजलि मुनि ने चित्तवृत्ति के निरोध को ही योग कहा है (१. १. २) भाष्यकार व्यास ने पाँच प्रकार के चित्त गिनाए हैं और बताया है कि इस प्रसंग में योग शब्द का अर्थ समाधि है। जब चित्त में रजोगुण का प्राबल्य होता है तो वह अस्थिर और बहिर्मुख हुआ रहता है और जब तमोगुण का प्राबल्य होता है तो वह विवेकशून्य हो जाता है, कार्य और अकार्य के विचार से वह हीन हो जाता है। प्रथम को (१) क्षिप्त चित्त कहते हैं और (२) द्वितीय को मूढ़। जब सत्त्वगुण की प्रधानता होती है तो वह दुःख के साधनों को छोड़कर सुख के साधनों की ओर प्रवृत्त होता है। इस प्रकार के चित्त को (३) विक्षिप्त कहते हैं। प्रथम दो तो योग के योग्य एकदम नहीं हैं,

तीसरा कदाचित स्थिर हो भी जाता है। किन्तु चित्त जब बाह्य विषयों से हटकर एकाकार वृत्ति धारण करता है तो उसे (४) एकाग्र कहते हैं। यह एकाकार वृत्ति भी जब अन्य संस्कारों के साथ-साथ लय हो जाती है तो उस चित्त को (५) निरुद्ध चित्त कहते हैं। इन पाँच प्रकार के चित्तों के चार परिणाम बताए गए हैं। क्षिप्त और मूढ़ में व्युत्थान, विक्षिप्त में समाधि-प्रारम्भ, एकाग्र में एकाग्रता और निरुद्ध में निरोध-लक्षण परिणाम उपयोगी होते हैं। समाधि के लिये अंतिम दो परिणाम बताए गए हैं। सभी प्रकार का निरोध योग नहीं है। प्रेम की अवस्था में क्रोध की और क्रोध की अवस्था में प्रेम की वृत्ति निरुद्ध होती है परन्तु इसे योग नहीं कह सकते। इसीलिये भाष्यकार व्यास ने बताया है कि योग शब्द से सूत्रकार का तात्पर्य उस प्रकार के निरोध से है जिसके होने से अविद्या आदि क्लेशराशि नष्ट होती है बुद्धि के लिए सात्त्विक निर्मल भाव की वृत्ति होती है और वह 'सहजावस्था' प्राप्त होती है। जो वास्तविक चित्तवृत्ति-निरोध है। सूत्रकार ने इस प्रकार के योग (या समाधि) को दो प्रकार का बताया है, संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात। चित्त की एकताग्रतावस्था में संप्रज्ञात समाधि होती है और पूर्ण निरोधावस्था में असंप्रज्ञात समाधि। संप्रज्ञाति समाधि में चित्त की सम्पूर्ण वृत्तियों का निरोध नहीं होता। बल्कि ध्येय रूप में अवलंबित विषय को, आश्रय करके चित्तवृत्ति उस समय भी वर्तमान रहती है परन्तु असंप्रज्ञात समाधि में सारी वृत्तियाँ निरुद्ध रहती हैं।

योगी को संप्रज्ञात समाधि के लिये तीन विषयों का अवलंबन करना होता है—(१) ग्रहीता, (२) ग्रहण और (३) ग्राह्य। ग्राह्य विषय दो प्रकार के होते है, स्थूल और सूक्ष्म; ग्रहण का अर्थ है इन्द्रिय और ग्रहीता ने बुद्धि और आत्मा के उस अविविक्त भाव से तात्पर्य है जिसे 'अस्मिता' कहते हैं। तीरन्दाज जिस प्रकार स्थूल निशाने को साध कर क्रमशः सूक्ष्म निशाना साधने का अभ्यास करता है, उसी प्रकार योगी भी पहले स्थूल विषयों को और क्रमशः सूक्ष्म विषयों को ध्यान का आलंबन बनाता है। पहले वह (१) स्थूलग्राह्य अर्थात् पंचभूत फिर (२) सूक्ष्मग्राह्य अर्थात् पंचतन्त्रमात्र फिर (३) ग्रहण अर्थात् इन्द्रिय और फिर सबके अंत में (४) अस्मिता को अवलंबन करके एकाग्रता की साधना करता है। इस प्रकार के भिन्न जातीय अवलम्बनों के कारण सम्प्रज्ञात समाधि भी चार प्रकार की होती है जिसकी चर्चा आगे की जा रही है।

परन्तु इस प्रसंग में ध्यान में रखने की बात यह है कि परम्परा से यह विश्वास किया जाता रहा है कि सांख्य और योग का तत्त्ववाद एक ही है और यद्यपि योग-दर्शन के मूल सूत्रों से यह बात अब भी सिद्ध नहीं की जा सकी है तथापि व्याख्याकार लोग सांख्य के तत्त्ववाद को ही योग का तत्त्ववाद मानकर व्याख्या करते आये हैं। कभी-कभी दोनों मतों में पार्थक्य भी बताया गया है। सांख्य ईश्वर को नहीं मानता और योग दशन मानता है इसलिये योग को सेश्वरसांख्य कहा जाता है। हम आगे चलकर देखेंगे कि ऐसे संप्रदाय भी हैं जो सांख्य के तत्त्ववाद को स्थूल मानते हैं और योग को भी दूसरे दृष्टिकोण से देखते हैं। जो हो, ऊपर जिस स्थूल सूक्ष्म, ग्राह्य और

ग्रहण का प्रसंग है, उसकी व्याख्या सब ने सांख्य के तत्त्ववाद के अनुकूल ही की है। संक्षेप में, इसीलिये उस तत्त्ववाद की यहाँ चर्चा कर लेना ही उचित है।

सांख्य के मत से पुरुष अनेक हैं और प्रकृति उन्हें अपने मायाजाल में फँसाती है। पुरुष विशुद्ध चेतन स्वरूप, उदासीन और ज्ञाता है। जब तक उसे अपने इस स्वरूप का ज्ञान नहीं हो जाता तभी तक वह उसके जाल में फँसा रहता है। यह दृश्यमान् जगत् वस्तुतः प्रकृति का ही विकास है। प्रकृति, सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों की साम्यावस्था का ही नाम है। सारे दृश्यमान जगत् को सांख्य शास्त्र प्रधानतः चार भागों में बाँटते हैं—(१) प्रकृति, (२) प्रकृति-विकृति, (३) विकृति और (४) न प्रकृति न विकृति। चौथा पुरुष है। वह न प्रकृति ही है और न उसका विकार ही (सांख्यकारिका ३)। बाकी तीन में प्रकृति तो अनादि ही है। पुरुष के साथ प्रकृति का जब संयोग होता है तो प्रकृति में विक्षोभ होता है, उसकी साम्यावस्था टूट जाती है, वह प्रकृति न होकर विकृति (= विकारशील) का रूप धारण करने लगती है। प्रकृति से महान् या बुद्धि तत्त्व उत्पन्न होता है, उससे अहंकार और उससे पंचतन्मात्र (अर्थात् शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र और गंध-तन्मात्र) उत्पन्न हुए हैं। एक तरफ तो महान् या बुद्धि-तत्त्व मूल प्रकृति का विकार है और दूसरी तरफ अहंकार की प्रकृति भी है। इसी प्रकार अहंकार और पंचतन्मात्र भी एक तरफ तो क्रमशः महान् और अहंकार के विकार हैं और दूसरी तरफ क्रमशः पंचतन्मात्र और पंचमहाभूतों की प्रकृति भी हैं। इसीलिए सांख्यशास्त्री इन्हें (अर्थात् महान् अहंकार और पंचतन्मात्र, इन सात तत्त्वों को) 'प्रकृति-विकृति' कहते हैं। इनसे पाँच ज्ञानेन्द्रिय (कान, त्वचा, आँख, रसना और नाक), पाँच कर्मेन्द्रिय (हाथ, पाँव, जीभ, वायु और उपस्थ) ये दस इन्द्रिय मन और पाँच महाभूत (अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) उत्पन्न हुए हैं जो केवल विकृति हैं। इस प्रकार एक पुरुष, एक प्रकृति, सात प्रकृति-विकृतियाँ और १६ विकृतियाँ, कुल मिलाकर इन २५ तत्त्वों के प्रस्तार-विस्तार से यह सारी सृष्टि बनी है। योग में चित्त शब्द का व्यवहार अन्तःकरण के अर्थ में होता है। अन्तःकरण अर्थात् मन, बुद्धि और अहंकार। पुरुष (= आत्मा) स्वभावतः शुद्ध और निर्विकार है परन्तु अज्ञान के कारण अपने को चित्त से अभिन्न समझता है। किन्तु चित्त असल में प्रकृति का परिणाम होने के कारण जड़ है, चेतन पुरुष की छाया पड़ने के कारण ही वह चेतन की भाँति जान पड़ता है।

एकाग्रता के समय चित्त की अवस्था विशुद्ध स्फटिक मणि के समान होती है। स्फटिक के सामने जो वस्तु भी हो वही उसमें प्रतिबिंबित होकर उसे अपने ही आकार का बना देती है। इसी प्रकार एकाग्रता की अवस्था में जो ध्येय वस्तु होती है वह चित्त में प्रतिबिंबित होकर चित्त को अपने ही तरह का बना देती है अर्थात् उस हालत में ध्येय वस्तु के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की सत्ता चित्त में नहीं रहती। योगशास्त्र में इस प्रकार अवलंबित विषय के रूप में चित्त के अनुरंजित या प्रतिबिंबित होने को 'समापत्ति' कहा जाता है। यह समापत्ति केवल संप्रज्ञात समाधिनिष्ठ चित्त की स्वा-

भाविक अवस्था या धर्म है। इसी के भिन्न-भिन्न रूपों के अनुसार सम्प्रज्ञात समाधि चार प्रकार की होती है:–(१) स्थूल विषयों के अवलंबन से सिद्ध एकाग्रता को 'सवितर्क' (२) कुछ अधिक सूक्ष्म तन्मात्र आदि को अवलंबन करके साधित एकाग्रता को 'सविचार', (३) उससे भी अधिक सूक्ष्म इन्द्रिय रूप विषय को अवलंबन करके जो एकाग्रता सिद्ध होती है उसे 'सानंद' और (४) बुद्धि के साथ आत्मा की अभिन्नता-रूप भ्रान्ति – जिसे अस्मिता कहते हैं—को अवलंबन करके जो एकाग्रता प्राप्त होती है उसे 'सास्मित' कहते हैं (१.१७)। इन चार प्रकार की अवस्थाओं में उस वस्तु के तत्त्व का ज्ञान होना आवश्यक है जिसे अवलंबन किया गया है या किया जा रहा है। एक तत्त्व-साक्षात्कार किए बिना परवर्ती अवस्था में उचकना निषिद्ध है।

समुद्र में जिस प्रकार तरंगें उठा करती हैं उसी प्रकार चित्त में असंख्य वृत्तियाँ उठा करती हैं। शास्त्रकार ने उन्हें पाँच मोटे विभागों में बाँट कर समझाया है—(१) प्रमाण, (२) विपर्यय (मिथ्या ज्ञान), (३) विकल्प, (४) निद्रा और (५) स्मृति, ये पाँच प्रकार की वृत्तियाँ राग, द्वेष और मोह से अनुविद्ध होती हैं इसलिए क्लेशकर हैं। इसीलिए मुमुक्षु व्यक्ति को इनका निरोध करना चाहिए। अभ्यास और वैराग्य से यह बात संभव है। साधारण अवस्था में पुरुष (=आत्मा) का प्रकृत स्वरूप यद्यपि निर्विकार ही रहता है तथापि वह मोहवश अपने वास्तविक रूप से परिचित नहीं होता और 'वृत्तिसारूप्यता' को प्राप्त होता है। अर्थात् चित्त की जो वृत्ति जिस समय उपस्थित रहती है पुरुष उस समय उसी को अपना स्वरूप समझ लेता है। कोई भी विषय चाहे वह वाह्य हो या आन्तर, जब तक चित्तवृत्ति का विषय नहीं हो जाता तब तक पुरुष उसे ग्रहण नहीं कर सकता, और मुग्ध होने के कारण वह उन वृत्तियों से अपनी पृथक् सत्ता को अनुभव नहीं कर पाता। वैराग्य और दीर्घ अभ्यास के बाद वह अपने आपके स्वरूप को पहचानता है।

संप्रज्ञात समाधि में ध्येय-विषयक वृत्तियाँ चित्त में वर्तमान रहती हैं और बराबर ही अपने अनुरूप संस्कार-प्रवाह को उत्पन्न करती रहती हैं। असंप्रज्ञात समाधि में ऐसी कोई वृत्ति नहीं रहती। हृदय में पुनः-पुनः वैराग्य के अनुशीलन से समस्त चित्त-वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं। भगवान ने गीता में कहा है कि यद्यपि चंचल मन का वश करना कठिन है तथापि अभ्यास वैराग्य से उसे वश में किया जा सकता है। दृष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष सुख और आनुश्रविक अर्थात् केवल शास्त्र से जाने जाने वाले स्वर्गादि सुख—इन दोनों प्रकार की भोगाभिलाषा की निवृत्ति को 'वैराग्य' कहते हैं। यह वैराग्य दो प्रकार का होता है—अपर वैराग्य और पर वैराग्य। अपर वैराग्य की चार सीढ़ियाँ हैं—(१) राग और द्वेषवश, जो इंद्रियचांचल्य होता है उसे रोकने की चेष्टा (यतमान संज्ञा) (२) राग और विराग के विषयों को अलग ठीक करना (व्यतिरेक संज्ञा), (३) इन्द्रिय निवृत्ति के बाद केवल मन द्वारा विषयों की चिन्ता (एकेन्द्रिय संज्ञा) और अन्त में (४) मानसिक उत्सुकता को भी वश में करना (वशीकार संज्ञा)। संप्रज्ञात समाधि तक तो इस प्रकार के वैराग्य से ही प्राप्त हो जाती है। किन्तु वैराग्य

की उत्कृष्ट अवस्था वह है (पर वैराग्य) जब द्रष्टा पुरुष, प्रकृति और बुद्धि आदि समस्त तत्त्वों से अपने को पृथक् समझ लेता है और समस्त त्रिगुणात्मक विषयों के उपभोग से वितृष्ण हो जाता है। इसी 'पर वैराग्य' के अनुशीलन से असंप्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है। यह समाधि चूंकि संप्रज्ञात समाधिकालीन ध्येय विषयक चिन्ता के विराम के कारण प्रत्यय (= वैराग्य) के पुनः पुनः अनुशीलन या अभ्यास से होती है इसलिए सूत्रकार ने इसे 'विराम प्रत्ययाभ्यासपूर्य' कहा है। इसमें चित्तवृत्तियाँ तो निरुद्ध हो जाती हैं पर संस्कार फिर भी बच रहता है। बहुत दीर्घकाल तक बने रहने के बाद इन संस्कारों की कोई उद्बोधक सामग्री न मिलने से वे भी समाप्त हो जाते हैं। इसीलिए असंप्रज्ञात समाधि को निरोध समाधि और निर्जीव समाधि भी कहते हैं। ऐसे भी योगी हैं जो ज्ञान का सम्यक् उद्रेक न होने के कारण प्रकृति, महान् या अहंकार को ही आत्मा मानकर निरोध समाधि का अभ्यास करते हैं। उनकी समाधि को 'भवप्रत्यय' का नाम दिया गया है। इसमें भ्रान्ति बनी रहती है इससे इसमें कैवल्यज्ञान (अर्थात् पुरुष या आत्मा का केवल पुरुष रूप में ही अवस्थान रूप ज्ञान) नहीं होता। असंप्रज्ञात समाधि के उत्कृष्ट उपाय हैं श्रद्धा, वीर्य (उत्साह), स्मृत और योगांग। इन उपायों के द्वारा जो समाधि होती है वही 'उपाय प्रत्यय' कही गई है। इस असंप्रज्ञात समाधि की पूर्णता की अवस्था में द्रष्टा अर्थात् पुरुष (आत्मा) 'केवल' स्वरूप में अवस्थान करता है। यही कैवल्य प्राप्ति है।

सूत्रकार ने इस अवस्था की प्राप्ति के लिये एक और भी उपाय बताया है। ईश्वर प्रणिधान या ईश्वर में मन लगाना (१-२३)। साधारण जीवों में जो पाँच प्रकार के क्लेश (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश) होते हैं; जो दो प्रकार के कर्म (धर्म और अधर्म) होते हैं; जो तीन प्रकार के विपाक (जन्म, आयु, और भोग) होते हैं और जो पूर्व तक संस्कार होते हैं (आशय) उनसे ईश्वर रहित है। वह सर्वज्ञ है और इसीलिए अन्यान्य पुरुषों से विशेष है। अर्थात् साधारण पुरुष अविद्यादि क्लेशों के अधीन हैं, जन्म-मरण के चक्र में पड़े हुए हैं, पाप, पुण्य (धर्म-अधर्म) के वशवर्ती हैं और पूर्व-संचित वासनाओं के दास हैं। ईश्वर इनसे भिन्न अनन्त ज्ञान का आकार, दोषहीन, क्लेशशून्य, नित्यशुद्ध और नित्यमुक्त हैं। इसी ईश्वर का वाचक शब्द प्रणव या ओंकार है। इसके नाम के जप और नामी (ईश्वर) की चिन्ता करने से साधक का चित्त एकाग्र होता है और उसे आत्म-साक्षात्कार भी प्राप्त होता है। फिर उसके विघ्न भी दूर होते हैं। योग साधक के अनेक विघ्न होते हैं। उसे व्याधि हो सकती है जिससे शरीर रुग्ण होकर मन पर भी असर डाल सकता है, उसके चित्त में अकर्मण्यता या जड़ता आ सकती है (स्त्यान), योग के विषय में सन्देह उपस्थित हो सकता है (संशय), प्रमाद और आलस्य हो सकते हैं, विषय भोग की तृष्णा पैदा हो सकती है (अविरति) विपरीत ज्ञान (भ्रान्तिदर्शन) हो सकता है, समाधि के अनुकूल चित्त की जो अवस्था होती है उसका अभाव हो सकता है (अलब्धभूमिकत्व), फिर ऐसा भी हो सकता है कि समाधि के अनुकूल अवस्था तो सुलभ हो गई पर मन

उस समय स्थिर नहीं हो सका। इन बातों से चित्त विक्षिप्त हो जाता है। ईश्वर प्रणिधान से इन विघ्नों की संभावना दूर हो जाती है। शास्त्रकार ने चित्त विशोधन के और भी कई उपाय बताये हैं, उनमें अभिमत वस्तु का ध्यान उल्लेख्य है (१.३९)। यहाँ तक सूत्रकार ने ज्ञान पर ही जोर दिया है। इस 'पाद' या चरण में साधारण रूप से समाधि की बात ही होने के कारण उन्होंने इसका नाम 'समाधिपाद' दिया है।

दूसरे पाद का नाम है साधनपाद या क्रियायोग। क्रियायोग अर्थात् तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान। इस क्रियायोग के दो उद्देश्य बताए गए हैं—समाधि-भावना और क्लेशों को क्षीण करना (क्लेशतनूकरण)। समाधि को हम पहले ही समझ आए हैं, क्लेश पाँच प्रकार के हैं, (१) अविद्या अर्थात् भ्रान्ति-ज्ञान-जो अनित्य है उसे नित्य समझना, जो जड़ है उसे चेतन समझना और जो अनात्मा है उसे आत्मा समझना; (२) अस्मिता अर्थात् अहंकार बुद्धि और आत्मा को एक ही मान लेना; (३) राग अर्थात् सुख और उसके साधनों की ओर खिंचाव; (४) द्वेष अर्थात् दुख और दुःखजनक वस्तुओं के प्रति हिंसा वृत्ति और (५) अभिनिवेश अर्थात् नाना जन्मों के संस्कार वश मरणादि से त्रास। ये पाँचों क्लेश हैं पर अन्तिम चार की उत्पत्ति का कारण अविद्या ही है। ये अन्तिम चार प्रकार के क्लेश प्रसुप्त क्षीण विच्छिन्न या उदार अवस्थाओं में से किसी एक में ही एक समय रह सकते हैं। उदाहरणार्थ, शैशवावस्था में राग सुप्त रहता है, क्रोधावस्था में विच्छिन्न रहता है, रागविरोधी विचारों के समय क्षीण रहता है और उपयुक्त अवसर पर प्रबुद्ध या उदार होकर रह सकता है। अब, ये चारों क्लेश जिस अवस्था में भी क्यों न हों उनका मूल कारण अविद्या या गलत ज्ञान ही है। क्रियायोग की सहायता से योगी इन क्लेशों को क्षीण करता है और क्रमशः आगे बढ़कर प्रसं-ख्यान अर्थात् ध्यान रूप अग्नि से उन्हें भस्म कर देता है। यह उद्देश्य सिद्ध हो जाने पर प्रथम उद्देश्य—समाधिभावना—सहज ही सिद्ध हो जाता है क्योंकि जितने भी कर्म आशय और विपाक हैं वे सभी क्लेश मूलक हैं और क्लेशों के, उच्छेद होने से उनका उच्छेद अपने आप हो जाता है।

योगदर्शन संपूर्ण शास्त्रार्थ को चार भागों में विभक्त करता है—हेय, हेयहेतु, हान और हानोपाय। दुःख और दुःखजनक पदार्थ हेय हैं और चूंकि अविद्या ही इस हेय वस्तु को जीव के सामने उपस्थित करती है और जीव गलती से उन्हें भोग्य और अपने को उनका भोक्ता समझ कर उलझ जाता है इसलिए यह जो भोग्य-भोक्ता-भाव रूप संयोग है वही हेय-हेतु है। स्पष्ट ही अविद्या के कारण यह संयोग संभव होता है, इसलिए वास्तविक हेयहेतु तो अविद्या ही है और विवेक ज्ञान ही इस हेयहेतु के ज्ञान का उपाय है क्योंकि उसी से आत्मा और अनात्मा का पार्थक्य ठीक-ठीक उपलब्ध होता है और अविद्या उच्छिन्न होती है। अविद्या के उच्छेद से दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है। यही हेय-हान है। यही योग का चरम लक्ष्य है, यही कैवल्य है।

जब तक विवेकख्याति नहीं हो जाती तब तक योगांगों के अनुष्ठान से चित्त को विशुद्ध करने का उपदेश शास्त्रकार ने दिया है। (२।२८) ये आठ हैं, यम,

नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार, तथा धारणा, ध्यान और समाधि; प्रथम पाँच बाह्य हैं और अन्तिम तीन आन्तर। संक्षेप में इनका परिचय इस प्रकार है।

(१) यम, बाहरी और भीतरी इन्द्रियों के संयमन (वृत्त-संकोचन) को कहते हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय (=चोरी न करना) ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (किसी से कुछ न लेना) ये पाँच यम हैं। इन यमों (=संयमों) की विपरीत क्रियाओं—हिंसा, असत्य, स्त्तेय, वीर्यक्षय, परिग्रह—को वितर्क कहते हैं इनका फल दुःख और अज्ञान है (२) वितर्कों के दमन और संयमों की उपलब्धि के लिए शास्त्रकार ने पाँच प्रकार के नियम बनाए हैं—शौच (पवित्रता), सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान। (३) योग साधन के लिए नाना प्रकार के आसन उपयोगी बताए गए हैं। आसन अर्थात् हाथ-पैर आदि का विशेष ढंग से सन्निवेश। परवर्ती योगग्रन्थों में आसनों की अनेक संख्यायें बताई गई हैं परन्तु 'पातंजल दर्शन' ने स्थिर और सुखकर आसन (२।४६) को ही योगसाधन का प्रकृष्ट उपाय बताया है। (४) श्वास को भीतर भरना (पूरक), उसे देर तक भीतर ही आबद्ध रखना (कुम्भक) और फिर बाहर निकालना (रेचक) प्राणायाम कहा जाता है। प्राण अर्थात् वायु के संयमन से मन का संयमन सहज होता है। (५) शब्दादि बाह्य व्यापारों से कान प्रभृति इन्द्रियों को हटा कर (प्रत्याहृत करके) पहले अन्तर्मुख करना होता है। उस अवस्था में बाह्य विषयों के साथ इन्द्रियों का कोई सम्पर्क नहीं होने से चित्त का सम्पूर्ण रूप से अनुकरण करते हैं, इन्द्रियों की इस प्रकार की अवस्था का नाम ही 'प्रत्याहार' है। इससे इन्द्रियों को वश में करना संभव होता है।

इन पाँच योगांगों की चर्चा करने के बाद-सूत्रकार ने दूसरा पाद समाप्त कर दिया है। बाकी तीन योगांगों का वर्णन विभूतिपाद नामक तीसरे पाद में किया है। ये पाँच बहिरंग साधन हैं क्योंकि कार्य सिद्धि से इनका बाहरो संबंध है। परन्तु धारणा, ध्यान और समाधि नामक योगांग साक्षात्संबंध से कार्य सिद्धि के हेतु हैं, इसलिये अंत-रंग साधन कहे गये हैं। इन गीतों को एक ही नाम 'संयम' दिया गया है। तीनों को एक ही साथ नाम देने का अभिप्राय यह है कि ये तोनों जब एक ही विषय को आश्रय करके होते हैं तभी योगांग होते हैं, अन्यथा नहीं। एक विषय की धारणा, दूसरे का ध्यान और तीसरे की समाधि को योग नहीं कह सकते। सो नाना विषयों में विक्षिप्त चित्त को बलपूर्वक किसी एक ही वस्तु (जैसे श्रीकृष्ण की मूर्ति) पर बांधने को 'धारणा' कहते हैं; धरणा से चित्त जब कुछ स्थिर हो जाता है तो उस विषय की एकाकार चिन्ता (=प्रत्ययैकतानता) को 'ध्यान' कहते हैं (३.२) और यह ध्यान जब निरन्तर अभ्यास के कारण स्वरूप-शून्यता होकर ध्येय विषय के आकर में आभासित होता है (अर्थ-मात्र-निर्भासम्) तो समाधि कहा जाता है (३।३) प्रथम पाद में जिस संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात समाधि की चर्चा हुई है वह समाधि इससे भिन्न है। वह साध्य है, वह साधन है; वह फल है, यह उपाय है। उस स्थूल ग्राह्य, सूक्ष्म-ग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीता भेद से अवलम्बित समाधि की अवस्था में 'संयम' (ध्यान-

धारणा-समाधि) का विनियोग करना होता है। जहाँ तक संप्रज्ञात समाधि का संबंध हैं वही तक योग के आठ अंगों में से पाँच बहिरंग हैं और तीन अन्तरंग। असंप्रज्ञात समाधि के लिए तो आठों ही बहिरंग हैं। जब मनुष्य समाधि की दशा में नहीं होता, अर्थात् जब वह व्युत्थान दशा में होता है, तो उस समय दर्शन, श्रवण आदि के द्वारा जिन विषयों का अनुभव करता है वे स्वयं नष्ट होने के बाद भी अपना संस्कार छोड़ जाते हैं और इसीलिए वे संस्कार निरन्तर स्मृति उत्पन्न करते रहते हैं। व्युत्थान अवस्था की भाँति समाधि अवस्था में भी संस्कार रहते ही हैं। संप्रज्ञात समाधि की अवस्था में यद्यपि चित्तवृत्तियाँ निरुद्ध रहती हैं तथापि संस्कार रहते हैं। चित्तवृत्तियों के निरोध से भी एक प्रकार का संस्कार पैदा होता है। व्युत्थान दशा वाले संस्कारों को 'व्युत्थानज' और निरोध दशा वाले संस्कारों को 'निरोधज' कहते हैं। इन दोनों का द्वन्द्व जारी रहता है; जो प्रबल होता है वही विजयी होता है। दीर्घ साधना के बाद साधक के निरोधज संस्कार प्रबल होकर व्युत्थानज संस्कारों को दबा पाते हैं। इस अवस्था को ग्रंथकार ने 'निरोध परिणाम' कहा है (३।८) यहाँ आकर योगी को नाना भाँति की विभूतियाँ प्राप्त होती हैं। स्वर्ग के देवता गण उसे नाना भाव से प्रलुब्ध करते हैं। सच्चे योगी इससे भटक जाते हैं, पर सच्चे योगी विचलित नहीं होते। वे उन विभूतियों के दर्शन से विस्मित भी नहीं होते, चंचल भी नहीं होते, और प्रलुब्ध भी नहीं होते। तीसरा पाद यहीं समाप्त होता है।

कैवल्यपाद के आरंभ में ही सूत्रकार ने पाँच प्रकार की सिद्धियाँ बताई हैं। (१) पूर्व-जन्म के संस्कारों के कारण कुछ लोग कुछ विशेष सिद्धियाँ जन्म से लेकर ही पैदा होते हैं; फिर (२) रसायनादि औषधों की सहायता से भी अनेक प्रकार की सिद्धियाँ मिल जाती हैं। (३) ऐसा भी होता है कि यंत्रबल से आकाशगमन प्रभृति सिद्धियाँ उपलब्ध हो जाती हैं; फिर (४) तपस्या से भी सिद्धिलाभ संभव है पर वास्तविक और परमसिद्धि तो (५) समाधि से कैवल्य-प्राप्ति ही है। याको सिद्धियों से लोक-प्रतिष्ठा चाहे जितनी मिले वे अधिकतर कैवल्य-प्राप्ति में बाधक ही होती है। समाधि से समस्त अनागत (अर्थात् भावी) कर्म दग्धबीज की भाँति निर्वीर्य और निष्फल हो जाते हैं, केवल प्रारब्ध कर्म बचे रह जाते हैं। कभी-कभी योगी लोग योगबल से अनेक कायाओं का निर्माण करके प्रारब्ध कर्म को शीघ्र ही भोग लेते हैं और उससे छुटकारा पा जाते हैं। ऐसा करने से आत्मा का जो बुद्धि से पार्थक्य है उस विषय में योगी और भी दृढ़ विश्वासपरायण हो जाते हैं; फिर तो योगी की आत्मा स्वतः ही विवेक की ओर उन्मुख होकर कैवल्य की ओर धावित होती है। वह समस्त इच्छाओं से—यहाँ तक कि परम अभिलषित विवेकख्याति से भी—विरत हो जाता है। उस हालत में वह धर्ममेघ नामक समाधि को प्राप्त होता है। सूत्रकार ने कहा है कि 'प्रसंख्यान' (= प्रकृति और पुरुष का विवेक-साक्षात्कार) के प्रति भी जब आदरभाव नहीं होता तब उसे वह 'धर्ममेघ' समाधि प्राप्त होती है जो विवेक ख्याति का परम फल है (४।२६)। उस समय केवल निरवच्छिन्न तत्त्व-साक्षात्कार रूपी धर्ममेघ की धारासार वर्षा होती

रहती है और योगी समस्त क्लेशों और कर्मों से निवृत्त हो गया रहता है। उस समय त्रिगुणात्मिका प्रकृति के जो कर्तव्य प्रत्येक पुरुष (आत्मा) के लिये निर्दिष्ट होते हैं वे—भुक्ति और मुक्ति—समाप्त हो जाते हैं और पुरुष विशुद्ध स्वरूप (केवल-भाव) में अवस्थित हो जाता है। पुरुष के प्रति दोनों प्रकार के करणीय कर्म सिद्ध हो जाने से प्रकृति भी कृतकृत्य हो जाती है और अनादि काल का लिंग शरीर[1] चूंकि प्रकृति का परिणाम होता है, इसलिये वह भी विरत हो जाता है और सारा सूक्ष्म शरीर (लिंग शरीर) तत्तद् उपादानों में लीन हो जाता है। यही योग का परम प्रतिपाद्य है।

---

१. सांख्यकारिका (४०) में बताया गया है कि प्रकृति के विकारस्वरूप तेईस तत्त्वों में अन्तिम पाँच तो अत्यन्त स्थूल हैं परन्तु बाकी अठारहों तत्त्व मृत्यु के समय पुरुष के साथ ही साथ निकल जाते हैं। जब तक पुरुष ज्ञान प्राप्त किए बिना ही मरता रहता है तब तक ये तत्त्व उसके साथ-साथ लगे रहते हैं। इन अठारहों तत्त्वों में से प्रथम तेरह (अर्थात् बुद्धि, अहंकार, मन, और दसों इन्द्रिय) तो प्रकृति के गुण मात्र हैं, उनकी स्थिति के लिए किसी ठोस आधार की जरूरत होती है। बिना आधार वे रह नहीं सकते, वस्तुतः पंचतन्मात्रों को जो मृत्यु के समय आत्मा का अनुसरण करते बताया गया है वह इसीलिये कि ये तन्मात्र उक्त तेरह तत्त्वों को वहन करने का सामर्थ्य रखते हैं। ये अपेक्षाकृत ठोस हैं। जब तक मनुष्य, जीता होता है तब तक तो इन गुणों को उसका स्थूल शरीर आश्रय किए होता है, पर जब वह मर जाता है तब पंच तन्मात्र ही इन गुणों के वाहक होते हैं (सांख्यकारिका (४१)। इस प्रकार शास्त्रकार का सिद्धान्त है कि मृत्यु के बाद पुरुष या आत्मा के साथ ही साथ एक लिंग-शरीर जाता है जो समस्त कर्मफलात्मक संस्कारों को साथ ले जाता है। इस लिंग-शरीर में जिन अठारह तत्त्वों का समावेश है उसमें बुद्धितत्त्व ही प्रधान है। वेदान्ती लोग जिसे कर्म कहते हैं, उसी को सांख्य लोग बुद्धि का व्यापार, धर्म या विकार कहते हैं। इसी को सांख्यकारिका में 'भाव' कहा गया है। जिस प्रकार फूल में गंध और कपड़े में रंग लगा रहता है उसी प्रकार यह 'भाव' लिंग शरीर में लगा रहता है (सां० का० ४२)।

११

गोरक्षनाथ का उपदिष्ट योगमार्ग

१. हठयोग

गोरक्षनाथ ने जिस हठयोग का उपदेश दिया है वह पुरानी परम्परा से बहुत अधिक भिन्न नहीं है। शास्त्रग्रन्थों में हठयोग साधारणतः प्राण-निरोध-प्रधान साधना को ही कहते हैं। 'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' में 'ह' का अर्थ सूर्य बतलाया गया है और 'ठ' का अर्थ चंद्र। सूर्य और चंद्र के योग को ही 'हठयोग' कहते हैं—

हकारः कथितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते।
सूर्याचंद्रमसोर्योगात् हठयोगो निगद्यते॥

इस श्लोक की कही हुई बात की व्याख्या नाना भाव से हो सकती है। ब्रह्मानन्द के मत से 'सूर्य' से तात्पर्य प्राणवायु का है और चंद्र से अपान वायु का। इन दोनों का योग अर्थात् प्राणायाम से वायु का निरोध करना ही हठयोग है। दूसरी व्याख्या यह है कि सूर्य इड़ा नारी को कहते हैं और चंद्र पिंगला को (हठ० ३.१५)। इसलिये इड़ा और पिंगला नाड़ियों को रोककर सुषुम्णा मार्ग से प्राण वायु के संचारित करने को भी हठयोग कहते हैं। इस हठयोग को 'हठसिद्धि' देने वाला कहा गया है।[1] वस्तुतः हठयोग का मूल अर्थ यही जान पड़ता है कि कुछ इस प्रकार अभ्यास किया जाता था जिससे हठात् सिद्धि मिल जाने की आशा की जाती थी। 'हठयोग' शब्द का शायद सबसे पुराना उल्लेख गुह्य समाज में आता है, वहाँ बोधिप्राप्ति की विधि बता लेने के बाद आचार्य ने बताया है कि यदि ऐसा करने पर भी बोधि प्राप्त न हो तो 'हठयोग' का आश्रय लेना चाहिए।[2]

योगस्वरोदय में हठयोग के दो भेद बताये गये हैं। प्रथम में आसन, प्राणायाम तथा धौति आदि षट्कर्म का विधान है। इनसे नाड़ियाँ शुद्ध होती हैं। शुद्ध नाड़ी में

---

१. प्राणतोषिणी : पृ० ८३५।

२. दर्शने तु कृतेऽप्येयं साधकस्य न जायते।
यदा न सिद्धयते बोधिर्हठयोगेन साधयेत्॥

पूरित वायु मन को निश्चल करता है और फिर परम आनन्द की प्राप्ति होती है। दूसरे भेद में बताया गया है कि नासिका के अग्र भाग में दृष्टि निर्बद्ध कर आकाश में कोटि सूर्य के प्रकाश को स्मरण करना चाहिए और श्वेत, रक्त, पीत और कृष्ण रंगों का ध्यान करना चाहिए। ऐसा करने से साधक चिरायु होता है और हठात् ज्योतिर्मय होकर शिवरूप हो जाता है। इस योग को इसीलिये हठयोग कहा गया है। यह सिद्धसेवित मार्ग है।[1]

कहते हैं कि हठयोग की दो विधियाँ हैं—एक तो गोरक्षनाथ की पूर्ववर्ती जिसका उपदेश मृकण्डुपुत्र (मार्कण्डेय) आदि ने किया था और दूसरी गोरक्षनाथ आदि द्वारा उपदिष्ट[2] प्रधान, भेद यह बताया जाता है कि पहली उन सभी आठ अंगों को स्वीकार करती हैं जिन्हें पातंजल योग के प्रसंग में हम देख आये हैं और दूसरी केवल अन्तिम छः अंगों को[3] परन्तु यह भेद बहुत अधिक मान्य नहीं है। हठयोग के ग्रंथों में अष्टांग योग की भी बात आती है और षडंग योग की भी। गोरक्ष-शतक में षडंग-योग की बात है और 'सिद्ध सिद्धान्त संग्रह' में अष्टांग योग की।[4]

हठयोग का अभ्यासी शरीर की बनावट से अपरिचित रह कर सिद्धि नहीं पा सकता। मेरुदण्ड जहाँ सीधे जाकर वायु और उपस्थ के मध्यभाग में लगता है वहाँ एक स्वयंभू लिंग है जो एक त्रिकोण चक्र में अवस्थित है। इसे अग्निचक्र कहते हैं। इसी त्रिकोण या अग्निचक्र में स्थित स्वयंभू लिंग को साढ़े तीन वलयों में लपेट कर सर्पिणी की भाँति कुण्डली अवस्थित है। यह कभी-कभी आठ वलयों में लपेटकर सोई हुई भी बताई गई है (गो० १,४७)। यह ब्रह्माण्ड में व्याप्त महाकुण्डलिनी रूपी शक्ति का ही व्यष्टि में व्यक्त रूप है। यह शक्ति ही है जो ब्रह्मद्वार को रोध करके सोई हुई है।[5] इसे जगाकर शिव से समरस कराना योगा का चरम लक्ष्य है। अन्यान्य विधियों से भी मोक्ष प्राप्त किया जाता है, परन्तु चाभी से जिस प्रकार ताला हठात् खुल जाता है उसी प्रकार कुण्डली के उद्बोधन से हठात् मोक्षद्वार अनायास ही खुल जाता

---

१. हठाज्ज्योतिर्मयोभूत्वा ह्यन्तरेण शिवो भवेत्।
अतऽयं हठयोगः स्यात् सिद्धिदः सिद्धसेवितः।

—प्राणतोषिणी, पृ० ८३५।

२. द्विधा हठः स्यादेकस्तु गोरक्षादिसुसाधितः।
अन्या मृकण्डुपुत्राद्यैः साधितो हठसंज्ञकः ।।

३. स० भ० स्ट० भाग० ६ में म० म० पं० गोपीनाथ कविराज का लेख देखिये।

४. गो० श० : १।७; सि० सि० सं० : २।४८।

५. येन द्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मद्वारमनामयम्।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ।।

—गो० श० १४८।

है।[1] हठात् मोक्षद्वार खोलने की विधि बताने के कारण भी इस योग को 'हठयोग' कहते हैं। इस कुण्डली-उद्‌बोध की कई विधियाँ हो सकती हैं।

शरीर में तीन ऐसी चीजें हैं जो परम शक्तिशाली हैं पर चंचल होने के कारण वे मनुष्यों के काम नहीं आ रहीं। पहली और प्रधान वस्तु है। (१) विंदु अर्थात् शुक्र। इसको यदि ऊपर की ओर उठाया जा सके तो बाकी दो भी स्थिर होते हैं। बाकी दो हैं, (२) वायु और (३) मन। हठयोगी का सिद्धान्त है कि इनमें से किसी एक को भी यदि वश में कर लिया जाय तो दूसरे दो स्वयमेव वश में हो जाते हैं। एक-एक संक्षेप में विचार किया जा रहा है। यहाँ इतना और कह रखना उचित है कि कभी-कभी एक चौथी वस्तु की भी चर्चा शास्त्र में आ जाती है। वह है, वाक् या वाणी।

'अमरोध शासन' में (पृ० ७) लिखा है कि मेरुदण्ड के मूल में सूर्य और चन्द्र के बीच योनि में स्वयंभू लिंग है जिसे पश्चिम लिंग कहते हैं। यही पुरुषों के शुक्र और स्त्रियों के रज: स्खलन का मार्ग है। यही काम, विषहर और निरंजन का स्थान है। वीर्य स्खलन की दो अवस्थाएँ होती हैं। इन दोनों के पारिभाषिक नाम प्रलयकाल और विषकाल हैं। इन दो अवस्थाओं में जो आनन्द होता है वह घातक है। एक का अधिष्ठाता काम है और दूसरी का विषहर। तीसरी अवस्था नानाभाव विनिर्मुक्त सहजानंद की अवस्था है, इसमें विंदु ऊर्ध्वमुख होकर ऊपर उठता है, तब यह सहज समाधि प्राप्त होती है जिसमें मन और प्राण अचंचल हो जाते हैं। ब्रह्मचर्य और प्राणायाम के द्वारा इस विन्दु का स्थिर और ऊर्ध्वमुख किया जा सकता है। परंतु इसके लिए आवश्यक है कि नाड़ियों को शुद्ध किया जाय। हठयोग षट् कर्म के द्वारा वही कार्य करता है। इन शुद्धि की क्रियाओं का साधन ग्रन्थों में विस्तृत रूप से उल्लेख है। इनमें धौति है, बस्ति है, नेति है, त्राटक है, नौलि है, कपालभाति—इन्हीं को षट्कर्म कहते हैं। नाड़ी के शुद्ध होने से बिन्दु स्थिर होता है, सुषुम्ना का मार्ग साफ़ हो जाता है, प्राण और मन क्रमशः अचंचल होते हैं और प्रबुद्ध कुण्डलिनी परमेश्वरी सहस्रार चक्र में स्थित शिव के साथ समरस हो जाती हैं और योगी चरम प्राप्तव्य पा

---

१. उदघाटयेत् कपाटं तु यथा कुञ्चिकया हठात्।
कुण्डलिन्या ततो योगी मोक्षाद्वारं प्रभेदयेत्॥—वही १।५१।

२. इस प्रसंग में 'अमरोध शासन' में निम्नलिखित श्लोक हैं जिसमें वज्रयानी साधकों के पारिभाषिक शब्दों का व्यवहार जान पड़ता है। इन शब्दों के सांवृत्तिक और पारमार्थिक अर्थ की बात हम कृष्णपाद (कानिपा) के प्रसंग में जान चुके हैं—

शक्तित्रविनिर्भिन्ने चित्ते बीजनिरंजनात्।
वज्र[जापदानंदं यः करोति स मन्मथ॥
चित्ते तृप्ते मनोमुक्ति रूर्ध्वंमार्गाश्रितेऽनले।
उदानज्वलितं रेतो मृत्युरेखाविषं विदुः॥

जाता है। इस क्रिया के लिए ही लोग उस वज्रोली मुद्रा का अभ्यास करते हैं जिसमें नाना विधियों से पुरुष स्त्री के रज को और स्त्री पुरुष के शुक्र को आकर्षण करके ऊर्ध्वमुख करती है।[१] यद्यपि यह साधना नाथमार्ग में प्रक्षिप्त जान पड़ती है पर अपने पारमार्थिक अर्थ में यह इस मार्ग में स्वीकृत थी। 'सिद्ध सिद्धान्त संग्रह' में एक संदिग्ध श्लोक है जो इस साधना के प्रकाश में कुछ स्पष्ट हो जाता है।[२] इसमें स्पष्ट रूप से कहा गया है कि इसके ज्ञानमात्र से सिद्ध मार्ग प्रकाशित हो जाता है। इस कथन का स्पष्ट अर्थ है कि केवल पारमार्थिक अर्थ में ही यह सिद्ध मार्ग में गृहीत है।

नाड़ीशुद्धि होने के बाद प्राणादि वायुओं का शमन सहज हो जाता है। नाना-प्रकार के आसनों और प्राणायामों से सुषुम्ना मार्ग खुल जाता है। नाड़ियों को प्रधानतः दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। दक्षिणाङ्ग में व्याप्त नाड़ियाँ सूर्य का अंग हैं और वाम भाग वाली चन्द्रमा के अंग। इन दोनों के बीच सुषुम्ना है। जब नाना भाँति के अभ्यास से योगी चन्द्र और सूर्य मार्गों को बन्द कर देता है और उनमें बहने वाली वायु शक्ति संयमित होकर योनिकंद के मूल में स्थित सुषुम्ना की मध्य-वर्तिनी ब्रह्मनाड़ी के मुख को खुला पाकर उस मार्ग से ऊपर उठती है तो वस्तुतः कुण्डलिनी ही उर्ध्वमुख होती है। प्राणायाम से कुण्डलिनी का उद्बोध सुकर हो जाता है।[३]

चित्तमध्ये भवेद्यस्तु बालाग्रशतधाश्रये।
नानाभावविनिर्मुक्तः स च प्रोक्तो निरंजनः॥

—आ० शा० पृ० ८

१. गो० प० : (पृ० ५३-५५)

२. संकोचनेन मणिकास्य परत्र तुर्ये दण्डध्वनैव चरमेण निवेश्य चित्तम्।
वज्रोदरे सगतिबधनभेदिदर्प्या भृगस्य चेद्विदुदिरे (?) खलु विंदुबंधः॥
एषा वज्रोलिका प्रोक्ता सिद्धसिद्धान्तवेदिभिः॥
ज्ञानादेव भवेदस्या सिद्धमार्गः प्रकाशितः॥

—सि० सि० सं० २।१७-१८।

३. मूलकन्दोद्योतो वायुः सोमसूर्यपथोद्भवः।
शक्त्याधारस्थितो याति ब्रह्मदण्डकभेदकः॥१॥
मूलकन्दे तुव्या शक्ति कुण्डलाकाररूपिणी।
उद्गमावर्त वतोऽयंप्राण दत्युच्यते बुधैः॥२॥
कंददण्डेन चोद्दण्डैर्भ्रामिता या भुजङ्गिनी।
मूर्च्छिता सा शिवं वेत्तिप्राणेरेव व्यवस्थिता॥३॥

—अमरौघ०, पृ० ११

'अमरौघ शासन' में तीन श्लोक इसी प्रकार छपे हुए हैं। परन्तु जान पड़ता है किसी कारणवश तीसरी पंक्ति उल्टी छप गई है। उसे यदि चौथी पंक्ति मान लिया जाय और चौथी को तीसरी तो अर्थ अधिक स्पष्ट होता है। प्रथम तीन पंक्तियाँ प्राण की व्याख्या हैं और अन्तिम तीन पंत्तियाँ कुंडली की।

यह कुण्डलिनी जब उद्बुद्ध होती है तो प्राण स्थिर हो जाता है और साधक शून्य पथ से निरन्तर उस अनाहत ध्वनि या अनहद नाद को सुनने लगता है, जो अखंड रूप से निखिल ब्रह्मांड में निरन्तर ध्वनित हो रहा है। अनुभवी लोगों ने बताया है (हठ० ४-८३-८५) कि पहले तो शरीर के भीतर समुद्रगर्जन, मेघगर्जन और भेरी झर्झर आदि का-सा शब्द सुनाई देता है, फिर मर्दल, शंख, घंटा और काहल की-सी आवाज सुनाई देती है, और अन्त में किंकिणी, वंशी और वीणा की झंकार सुनाई देने लगती है। परन्तु ज्यों-ज्यों साधक का चित्त स्थिर होता है त्यों-त्यों इन शब्दों का सुनाई देना बन्द होता जाता है, क्योंकि उस समय आत्मा अपने स्वरूप में क्रमशः स्थिर होता जाता है और फिर तो बाह्य विषयों से उसका सरोकार नहीं रह जाता।

इस प्रकार हठयोगी प्राणवायु को निरोध करके कुण्डलिनी को उद्बुद्ध करना है। उद्बुद्ध कुण्डली क्रमशः षट्चक्रों को भेद करती हुई सातवें अन्तिम चक्र सहस्रार में शिव से मिलती है। प्राणवायु ही इस उद्बोध और शक्ति संग मन का हेतु है इस-लिए हठयोग में प्राण-निरोध का बड़ा महत्त्व है। षड्चक्रों के विषय में हम पहले संक्षेप में कह आये हैं। यहाँ भी उसका थोड़ा उल्लेख कर देना उचित है।

ऊपर जिस त्रिकोण चक्र की बात कही गई है उसके ऊपर चार दलों के आकार का एक चक्र है जिसे मूलाधार चक्र कहते हैं, उसके ऊपर नाभि के पास स्वाधिष्ठान चक्र है जिसका आकार छः दलों के कमल का है, इस चक्र के ऊपर मणिपूरचक्र है और उसके भी भीतर हृदय के पास अनाहत चक्र। ये दोनों क्रमशः दस और बारह दलों के पद्मों के आकार के हैं। इसके भी ऊपर कंठ के पास विशुद्धाख्य चक्र है जिसका आकार सोलह दल के पद्म के समान है। और भी ऊपर जाकर भ्रूमध्य में आज्ञा नामक चक्र है जिसके सिर्फ दो ही दल हैं। ये ही षट्चक्र हैं। इनमें सबसे दलों की संयुक्त संख्या पचास है और यही समस्त स्वर और व्यंजनों की मिलित संख्या भी है। प्रत्येक दल पर एक-एक अक्षर की कल्पना की गई है, प्रत्येक कमल की कर्णिका में कोई न कोई देवता और शक्ति निवास करती हैं। यह सब बातें साधकों के काम की हैं। इस अध्ययन में उनका विशेष प्रयोजन नहीं है। फिर भी अन्यान्य साधनाओं से तुलना करने के लिए और इस मार्ग के तत्त्ववाद को समझने के लिए पाठकों को इसकी आव-श्यकता हो भी सकती है। यही सोचकर एक सारणी आगे दी जा रही है जिससे सारी बातों का खुलासा हो जायगा। इन षट्चक्रों को भेद करने के बाद मस्तिष्क में वह शून्य चक्र मिलता है जहाँ उद्बुद्ध कुण्डली का पहुँचा देना योगी का लक्ष्य है। यह सहस्रदलों के कमल के आकार का है, इसीलिये इसे सहस्रार भी कहते हैं। यही इस पिण्ड का कैलाश है, यहीं पर शिव का निवास है।[1] इस महातीर्थ तक ले जाने वाली नाड़ी

---

१. अत ऊर्ध्वं दिव्यरूपं सहस्रारं सरोरुहम
ब्रह्माण्डव्यस्तदेहस्थं वाह्ये तिष्ठति सर्वदा
कैलाशानाम तस्यैव महेशो यत्र तिष्ठति।

—शि० ५-१५१-१५२

षट्-चक्र

चक्र	स्थान	दल-संख्या	वर्ण	तत्त्व और गुण	तत्त्व का रंग	मंडल का आकार	बीज और वाहन	देवता और वाहन	धातु शक्ति	लिंग और योनि	अन्यन्यत्त्व और इंद्रिय	पीठ
१. मूलाधार	रीढ़ के अधोभाग में पायु और मुष्क मूल-के मध्य	४	व, श, ष, स	पृथ्वी आकर्षण गंध	पीत	वर्गाकार	लं ऐरावत	ब्रह्मा हंस	डाकिनी	स्वयंभू, त्रैपुर त्रिकोण	गंधतत्त्व घ्राणेन्द्रिय पैर	कामाख्या
२. स्वाधिष्ठान	मेरुदण्ड में मेढ़ के ऊपर	६	ब भ म य र ल	जल, संकोचन रस	श्वेत	अर्द्ध चंद्र	व मकर	विष्णु गरुड़	रकिनी	...	रसतत्त्व रसना हाथ	
३. मणिपुर	मेरुदण्ड में नाभि के पास	१०	ड ढ़ ण न त थ द ध प फ	तेज प्रसरण रूप	लाल	त्रिभुज	रं मेष	रुद्र, वृषभ	लाकिनी	...	रूपतत्त्व, चक्षु, पायु	
४. अनाहत	हृदय के पास	१२	क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ	वायु गति स्पर्श	धूम्र	षट् कोण	य कृष्ण-मृग	ईश	काकिनी	वाण, त्रिकोण	स्पर्श, त्वचा, उपस्थ	पूर्ण गिरि
५. विशुद्धाख्य	कंठ के पास	१६	अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ लॄ ए ऐ ओ औ अं अः	आकाश अवकाश शब्द	श्वेत	वृत्त	ह श्वेत हस्ती	सदाशिव	शाकिनी		शब्द कान वाक्	जाल घर
६. आज्ञा	भ्रुवों के बीच में	२	ह क्ष	मन	×	×	ओं	शंभु	हाकिनी	इतर, त्रिकोण	महत् सूक्ष्मप्रकृति हिरण्यगर्भ	वायु यान

सुषुम्ना को इसीलिए शांभवी शक्ति कहा जाता है, क्योंकि वैसे तो प्राणवायु को वहन करने वाली नाड़ियों की संख्या ७२ हजार है पर असल में यह शांभवी शक्ति सुषम्ना ही सार्थक है; बाकी सब तो निरर्थक है।[1] इस प्रकार यह ठीक ही कहा गया है कि हठयोग असल में प्राणवायु के निरोध को कहते हैं और राजयोग मन के निरोध को।

किन्तु 'योग शिखोपनिषद्' में राजयोग अन्यभाव से वर्णित है। उक्त उपनिषद् में भी चार प्रकार के योग कहे गये हैं—मंत्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग इनमें हमारा प्रकृत विषय हठयोग है। मंत्रयोग में कहा गया है कि जीव के निश्वास-प्रश्वास में 'ह' और 'स' वर्ण उच्चरित होते हैं। 'ह' कार के साथ प्राणवायु बाहर आता और 'स' कार के साथ भीतर जाता है। इस प्रकार जीव सहज ही 'हं-सः' इस मंत्र का जप करता रहता है। गुरुवाक्य जान लेने पर सुषुम्ना मार्ग में यही मंत्र उल्टी दिशा में उच्चरित हो 'सोऽहं' हो जाता है और इस प्रकार योगी 'वह' (सः) के साथ 'मैं' (अहम्) का अभेद अनुभव करने लगता है। इसी मंत्रयोग के सिद्ध होने पर हठ-योग के प्रति विश्वास पैदा होता है। इस हठयोग में हकार सूर्य का वाचक है और सकार चन्द्रमा का। इन दोनों का योग ही हठयोग है। हठयोग से जड़िमा नष्ट होती है और आत्मा परमात्मा का अभेद सिद्ध होता है। इसके बाद वह लय योग शुरू होता है जिसमें पवन स्थिर हो जाता है और आत्मानन्द का सुख प्राप्त होता है।[2] इस लययोग की साधना से भिन्न अन्तिम मार्ग राजयोग है। योनि के महाक्षेत्र में जपा और बंधूक पुष्पों के समान लाल रज रहा करता है। यह देवी तत्त्व है। इस रज के साथ रेत का जो योग है वही राजयोग है।[3] इससे अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। निश्चय ही यहाँ पारमार्थिक अर्थ में 'रज' और 'रेतस्' (शुक्र) का उल्लेख हुआ है। परन्तु शब्दों का प्रयोग अपूर्व तथा अर्थपूर्ण है। उपनिषद्ब्रह्मयोगी ने इसकी टीका में विशेष कुछ नहीं लिखा। सिर्फ इतना और भी जोड़ दिया है कि शिश्न मूल का 'रेतस्' शिवतत्त्व है।[4]

---

१. द्वासप्ततिसहस्राणि नाड़ीद्वाराणि पञ्जरे
सुषुम्णा सांभवी शक्तिः शेषास्त्वेव निरर्थकाः ॥

हठ० ४।१८

२. योग शिखोपनिषत (१२९-१३५)।

३. योनिमध्ये महाक्षेत्रे जपाबंधूसकन्निभम्।
रजो वसति जन्तूनां देवीतत्त्वं समावृतम्॥
रजसो रेतसो योगाद्राजयोग इति स्मृतः।
अणिमादि पदं प्राप्य राजते राजयोगतः॥

योग सिखोपनिषत १३६-१३७।

४. राजयोगलक्षणमाह। योनीति। शशि (शिश्न १) स्थाने रेतो वतते तद्धि शिव-तत्त्वम्।

हमने ऊपर देखा है कि गोरक्ष नाथ ने स्वयं कहा है कि जो व्यक्ति छः चक्र, सोलह आधार और दो लक्ष्य तथा, व्योमपञ्चम को नहीं जानता वह सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता। षट् चक्र की बात ऊपर बताई गई है। आधार सोलह हैं—दृष्टि को स्थिर करने वाला (१) पादांगुष्ठ, अग्नि को दीप्त करने वाला (२) मूलाधार, संकोच-विकास के अभ्यास द्वारा अपान वायु को वज्रगर्भनाड़ी में प्रवेश करा कर शुक्र और रज को आकर्षण कराने वाली वज्रोली के सहायक (३) गुह्याधार और (४) बिन्दुचक्र, मल-मूत्र और कृमि का विनाशक (५) नाड्याधार, नादोत्पादक (६) नाभिमण्डलाधार, प्राण-वायु का रोधक (७) हृदयाधार, इड़ा पिंगला में प्रवहमान वायु को रोकने वाला (८) कंठाधार और कंठमूल का वह (९) क्षुद्रघंटिकाधार जिसमें दो लिंगाकार लोरें लटक रही हैं, जहाँ जिह्वा पहुँचाने से ब्रह्मरंध्र में स्थित चंद्र मंडल का झरता हुआ अमृतरस पीना सहज होता है। खेचरी मुद्रा का सहायक (१०) ताल्वन्ताधार, जिहवा के अधोभाग में स्थित (११) रसाधार, रोगशामक (१२) ऊर्ध्वदन्तमूल, मन को स्थिर करने वाला (१३) नासिकाग्र, ज्योति को प्रत्यक्ष करने में सहायक (१४) नासामूल, सूर्याकाश में मन को लीन करने वाला (१५) भ्रूमध्याधार और (१६) सोलहवाँ नेत्राधार जिसमें ज्योति प्रत्यक्ष अवभासित होती है। ये सब बाह्यलक्ष्य हैं। आन्तर-लक्ष्य षट्चक्र है। दो लक्ष्य यही हैं। पाँच आकाश में इस प्रकार हैं—(१) श्वेत वर्ण ज्योति रूप आकाश, इसके भीतर (२) रक्तवर्ण ज्योति रूप प्रकाश है, इसके भी भीतर (३) धूम्रवर्ण महाकाश, फिर (४) नीलवर्ण ज्योति रूप तत्वाकाश है, और इसके भी भीतर विद्युत् के वर्ण का ज्योति रूप (५) सूर्याकाश है।[१]

इस विविध ध्यानों को आसन, प्राणायाम और मुद्रा के अभ्यास से सिद्ध किया जाता है। मुद्रा का उद्देश्य शक्ति को ऊपर की ओर चलाना है, इसीलिये 'अमरौध शासन' में मुद्रा को 'सारणा' (=चलाने वाली) कहा गया है। अब, अगर विचार किया जाय तो जीव के जन्म-मरण का कारण इस सृष्टि-चक्र में पच-पच कर मरने का रहस्य सिर्फ यही है कि किसी अनादिकाल में शिव और शक्ति क्रमशः स्थूलता की ओर अग्रसर होने के लिये अलग-अलग स्फुटित हुए थे। शिव और शक्ति जिन दिन समरस होकर एकमेव हो जायेंगे उस दिन यह सारा प्रतीयमान सृष्टिचक्र अपने आप निःशेष हो जायगा। शक्ति कुण्डलिनी रूप में देह में स्थित है और शिव भी सहस्रार में विराजमान है। जन्म-जन्मान्तर के संचित मलों के भार से कुण्डलिनी दबी हुई है। एक बार यदि मनुष्य ध्यान धारणा के बल से वायु को संयमित करे और नाड़ियों को शोधकर पवित्र करे तो वह परम पवित्र सुषुम्ना मार्ग खुल जाय जिसके ब्रह्मरंध्र को ढंक कर परमेश्वरी कुण्डलिनी सोई हुई है। वस्तुतः यह सृष्टि ही कुण्डली है। वह दो प्रकार की हैं—स्थूल और सूक्ष्म। साधारणतः स्थूलरूपा कुण्डलिनी को ही लोग जान पाते हैं, अज्ञान के बोझ से दबे रहने के कारण उसके सूक्ष्म रूप को नहीं जान पाते।

---

१. सि० सि० सं० : द्वितीय उपदेश; गो० प० : पृ० १२-१४।

सिद्धियाँ स्थूला कुण्डलिनी के ज्ञान से भी मिल जाती हैं परंतु सर्वोत्तम ज्ञानरूपिणी—परा संवित्—जो साक्षात् महेश्वरी शक्ति है उसको पहचाने बिना परमपद नहीं मिलता। शक्ति जब उद्बुद्ध होकर शिव के साथ समरस हो जाती है—इसी को पिण्डाब्रह्माण्डैक्य भी कहते हैं—तो योगियों की परम काम्य कैवल्य अवस्थावाली सहज-समाधि प्राप्त होती है जिससे बढ़कर आनन्द और नहीं है। यह सब गुरु की कृपा से होता है, वेद पाठ से नहीं, ज्ञान से भी नहीं, वैराग्य से भी नहीं।[1] जो इस सहज-समाधि रूप परम विश्राम को पाना चाहे वह अच्छे गुरु के चरण कमलों की सेवा करे। उनकी कृपा होने से न परमपद ही दूर रहेगा और न शिव-शक्ति सामरस्य ही—

अनुबुभूषति यो निजविश्रम
स गुरुपादसरोरुहमाश्रयेत्।
तदनुसंसरणात् परमं पदं
समसीकरणं च न दूरतः॥
—सि० सि० सं० ५५८

२. गोरक्ष-सिद्धान्त

गोरक्षनाथ के नाम पर जितने भी ग्रंथ पाये जाते हैं वे प्रायः सभी साधन-ग्रंथ हैं। उनमें साधना के लिये उपयोगी व्यावहारिक तथ्यों का ही संकलन है। बहुत कम पुस्तकें ऐसी हैं जिनसे उनके दार्शनिक मत का, और सामाजिक जीवन में उसके उपयोग का प्रतिपादन हो। सरस्वती भवन टेक्स्ट सीरीज में 'गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह' नाम की एक अत्यन्त उपयोगी पुस्तक प्रकाशित हुई है। पुस्तक अधूरी ही छपी है। इसके सम्पादक सुप्रसिद्ध विद्वान् म० म० पं० गोपीनाथ कविराज हैं। पुस्तक की संस्कृत हल्की, और स्थान-स्थान पर, अशुद्ध भी है। इसमें भी सन्देह नहीं कि पुस्तक हाल की लिखी है। फिर भी इसका लेखक बहुश्रुत जान पड़ता है। पुस्तक में पुरानी ५८ पोथियों के प्रमाण संग्रह किए गए हैं।[2] उद्धृत पुस्तकों में से अनेक उपलभ्य नहीं हैं।

---

१. सृष्टिस्तु कुण्डली ख्याता सर्वभावगता हि सा।
बहुधा स्थूलरूपा च लोकानां प्रत्ययात्मिका।
अपरा सर्वगा सूक्ष्मा व्याप्तिव्यापक वर्जिता।
तस्या भेदं न जानाति मोहितः प्रत्ययेनतु।
ततः सूक्ष्मा परासंवित् मध्यशक्तिमहेश्वरी।
—सि० सि० सं० ४।३०-३२

२. निम्नलिखित पुस्तकों के प्रमाण उद्धृत किए गए हैं—

१. सिद्ध सिद्धान्त पद्धति	४. ब्रह्मविंदुउपनिषत्
२. अवधूत गीता	५. कैवल्योपनिषत्
३. सूतसंहिता	६. तेजविंदूपनिषत्

यह तो कहना ही व्यर्थ है कि गोरक्षनाथ के पहले योग की बड़ी जबर्दस्त परंपरा जो ब्राह्मणों और बौद्धों में समान रूप से मान्य थी। इसका एक विशाल साहित्य था। नाना उपनिषदों में नाना भाग से योग की चर्चा हुई है और बौद्ध साधकों के पास तो काया योग का साहित्य अन्यान्य अंगों से कही बड़ा था। इन सबसे गोरक्षनाथ ने सार संग्रह किया होगा, परन्तु दुर्भाग्यवश उनके पूर्ववर्ती अनेक ग्रंथ लुप्त हो गये हैं और यह जानने का हमारे पास कोई उपाय नही रह गया है कि कहाँ से कितना अमृत

---

७. अमनस्क
८. विवेकमार्तण्ड
९. ध्यानविंदूपनिषत्
१०. मुण्डक उपनिषत्
११. आत्मोपनिषत्
१२. अमृतविंदु उपनिषत्
१३. मनुस्मृति
१४. उत्तरगीता
१५. वायुपुराण
१६. मार्कण्डेय पुराण
१७. गीता
१८. तंत्रमहार्णव
१९. क्षुरिका उपनिषत्
२०. गोरक्ष उपनिषत्
२१. बृहदारण्यक उपनिषत्
२२. छान्दोग्य उपनिषत्
२३. कालाग्निरुद्र उपनिषत्
२४. ब्रह्मोपनिषत्
२५. सर्वोपनिषत्
२६. राजगुह्य
२७. शक्ति संगम तंत्र
२८. हठ प्रदीपिका
२९. सिद्धान्त विंदु
३०. शाबरतंत्र
३१. षोड़शनित्यातंत्र
३२. षद्शांभव रहस्य
३३. पद्मपुराण
३४. महाभारत
३५. कवेषय गीता
३६. सनत्सूजातीय
३७. बह्वृच्ब्राह्मण
३८. शिवउपनिषत्
३९. माण्डूक्य उपनिषत्
४०. भागवत
४१. योगबी
४२. कपिलगीता
४३. गोरक्षस्तोत्र
४४. कल्पद्रुम तंत्र का गोरक्ष सहस्रनाम
४५. सारसंग्रह
४६. स्कदपुराण
४७. रुद्रयामल
४८. तारासूक्ति
४९. कुलार्णव तंत्र
५०. वायु पुराण
५१. सूत संहिता
५२. आदिनाथ संहिता
५३. ब्रह्मवैवर्त
५४. शिवपुराण
५५. परमहंस उपनिषत्
५६. योगशास्त्र
५७. श्रीनाथ सूत्र
५८. अखण्ड खण्ड

उन्होंने संग्रह किया था। अब भी योग साधना बताने वाली उपनिषदें कम नहीं हैं।[1] यह कह सकना बड़ा कठिन है कि इसमें कौन-से गोरक्षनाथ के पहले की लिखी हुई हैं और कौन-सी बाद की। डा० डायसन[2] ने कालक्रम से इन उपनिषदों को चार भागों में विभक्त किया है।

१. प्राचीन गद्य उपनिषत्
२. प्राचीन छन्दोबद्ध उपनिषत्
३. परवर्ती गद्य उपनिषत्
४. आथर्वण उपनिषत्

ये क्रमशः परवर्ती हैं। आथर्वण उपनिषदों में संन्यास उपनिषद्, योग उपनिषद्, सामान्य वेदान्त उपनिषद्, वैष्णव उपनिषद् तथा शैव और शाक्तादि उपनिषद् शामिल हैं। पता नही किस आधार पर डायसन ने इन सब को आथर्वण उपनिषद् कहा है। उपनिषद्ब्रह्मयोगी ने २० योगोपनिषदों में से एक को भी 'अथर्ववेद' से सम्बद्ध नहीं माना। परन्तु डायसन का यह कथन ठीक जान पड़ता है कि योग उपनिषद् परवर्ती हैं। यदि यह मान लिया जाय कि षड़ङ्ग योग गोरक्षनाथ आदि का प्रवर्तित है, आसनों की संख्या अधिक मानना हठयोगियों का प्रभाव है और नादानुसंधान इन लोगों को ही विशिष्ट साधना है, तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि इनमें कई उपनिषद् गोरक्ष परवर्ती हैं। 'अमृतनाद', 'क्षुरिका', 'ध्यानविंदु' और 'योगचूड़ामणि' आदि उपनिषदों में षडंग योग की चर्चा है, 'दर्शनोपनिषद्' में नौ और 'त्रिशिख ब्राह्मण' में अट्ठारह

---

१. मद्रास की अड्यार लाइब्रेरी से अ० महादेव शास्त्री ने सन् १९२० में 'योग उपनिषदः' नामक एक योग विषयक उपनिषदों का संग्रह प्रकाशित किया है। ये सभी उपनिषदें अष्टोत्तरशत उपनिषदों में प्रकाशित हो चुकी हैं; परन्तु शास्त्री जी के संस्करण में यह विशेषता है कि उसमें उपनिषद्ब्रह्मयागी की व्याख्यायें भी हैं। इस संग्रह की उपनिषदों के ये नाम हैं :

१. अद्वयतार कोपनिषत्	११. ब्रह्मविद्योपनिषत्
२. अमृतनादोपनिषत्	१२. मण्डलब्राह्मणोपनिषत्
३. अमृतविंदूपनिषत्	१३. महावाक्योपनिषत्
४. क्षुरिकोपनिषत्	१४. योगकुण्डल्युपनिषत्
५. तेजोविन्दूपनिषत्	१५. योगचूड़ामण्युपनिषत्
६. त्रिशखब्राह्मणोपनिषत्	१६. योगतत्वोपनिषत्
७. दर्शनोपनिषत्	१७. योगशिखोपनिषत्
८. ध्यानविंदूनिषत्	१८. वराहोपनिषत्
९. नादविंदूपनिषत्	१९. शाडिल्योपनिषत्
१०. पाशुपतब्रह्मोपनिषत्	२०. हंसोपनिषत

२. फिलासफी आफ उपनिषत्स, पृ० २२-२६।

आसन बताए गए हैं। 'ब्रह्मविंदु' और 'ब्रह्मविद्या' आदि उपनिषदों में नादानुसन्धान का उल्लेख है, योगतत्व, योगशिखा और योगराज उपनिषदों में चार प्रकार के योग और प्राणापान समीकरण की विधि है। कई उपनिषदों में जालंधर और उड्डियान बंधों की चर्चा है। यह जोर देकर नहीं कहा जा सकता कि ये सारी उपनिषदें गोरक्ष-नाथ के बाद ही लिखी गई हैं—कुछ में प्राचीनता के चिह्न अवश्य हैं—परन्तु इनमें से अधिकांश पर उसका प्रभाव पड़ा है, यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

'गोरक्ष सिद्धांत संग्रह' में प्रायः सभी मुख्य-मुख्य योगोपनिषदों के वाक्य प्रमाण रूप से उद्धृत किए गए हैं। कुछ ऐसी भी हैं जो इस संग्रह में उपलब्ध नहीं हैं। गोरक्ष, सर्वकालाग्नि और शिव उपनिषदें ऐसी ही हैं। अड्यार लाईब्रेरी ने ७१ उपनिषदों का एक और उपनिषत्-संग्रह प्रकाशित किया था। उसमें 'शिवोपनिषत्' है पर और नहीं हैं। इस प्रकार 'गोरक्ष सिद्धांत संग्रह' के उद्धृत वाक्य महत्त्वपूर्ण जान पड़ते हैं। जो हो, परवर्ती साधना साहित्य के अध्ययन के लिये यह पुस्तक बहुत उपयोगी है। उस पुस्तक के सिद्धांतों को संक्षेप में यहाँ संग्रह किया जा रहा है।

ग्रंथ के आरम्भ में ही गुरु की महिमा बताई गई है। गुरु ही समस्त श्रेयों का मूल है, इसलिये बहुत सोच-समझकर गुरु बनाना चाहिए।[1] एकमात्र अवधूत ही गुरु हो सकता है; अवधूत—जिसके प्रत्येक वाक्य में वेद निवास करते हैं, पद-पद में तीर्थ बसते हैं, प्रत्येक दृष्टि में कैवल्य विराजमान है, जिसके एक हाथ में त्याग है और दूसरे में भोग है और फिर भी जो त्याग और भोग दोनों में अलिप्त है। 'सूत संहिता' में कहा गया है कि वह वर्णाश्रम से परे है, समस्त गुरुओं का साक्षात् गुरु है, न उससे कोई बड़ा है न बराबर। इस प्रकार के पक्षपात-विनिर्मुक्त मुनीश्वर को ही अवधूत कहा जा सकता है, उसे ही 'नाथ पद' प्राप्त हो सकता है। इस अवधूत का परम पुरुषार्थ मुक्ति है जो द्वैत और अद्वैत के द्वंद्व से परे है। 'अवधूत गीता' में कहा गया है कि कुछ लोग द्वैत को चाहते हैं, कुछ अद्वैत को; पर द्वैताद्वैतविलक्षण समतत्व को कोई नहीं जानता। यदि सर्वगत देव स्थिर, पूर्ण और निरन्तर हैं तो यह द्वैताद्वैत कल्पना क्या मोह नहीं है?[2] इसीलिये सिद्ध जालंधर ने नाथ द्वैत और अद्वैत दोनों से परे—द्वैताद्वैतविलक्षण—कह कर स्तुति की है।[3]

---

१. तुलनीय—सि० सि० सं०, पंचम उपदेश।

२. अद्वैत केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
समतत्त्वं न जानन्ति द्वैताद्वैतविलक्षणम्।
यदि सर्वगतो देवः स्थिरः पूर्णो निरन्तरः।
अहो माया महामोहो द्वैताद्वैत विकल्पना॥ पृ० ११

३. वन्दे तन्नाथतेजो भुवनतिमिरहं भानुतेजस्करं वा।
सत्कर्तृव्यापकं त्वा पवनगतिकरं व्योमवन्निर्भरं।
मुद्रानादत्रिशूलैर्विमलरुचिधरं खर्परं भस्ममिश्रं।
द्वैतं वाऽद्वैतरूपं द्वय उतपरं योगिनं शंकरं वा॥

यह मत अपने को वेदान्तियों, सांख्यों, मीमांसकों, बौद्धों और जैनों के मत से अपनी विशेषता प्रतिपादित करता है।[1] श्रुति इन लोगों के मत से साधिका नहीं है।[2] वेद दो प्रकार के माने गए हैं, स्थूल और सूक्ष्म। स्थूल वेद यज्ञयाग का विधान करते हैं। योगियों को इससे कोई वास्ता नहीं उनका मतलब तो केवल ओंकारमात्र से है। यह ओंकार ही सूक्ष्म वेद है।[3] पुस्तकी विद्या का इसमें बड़ा मजाक उड़ाया गया है।[4] और अद्वैत मत से नाथमत का उत्कर्ष दिखाया गया है। इस सिलसिले में एक मनोरंजक कहानी दी गई है। शंकराचार्य अपने चार शिष्यों सहित नदी तीर पर बैठे थे। वहीं भैरव उनकी परीक्षा लेने के लिये कापालिक रूप से उपस्थित हुए और बोले कि 'आप तो अद्वैतवादी हैं, शत्रु और मित्र को समान भाव से देखते हैं, कृपया मुझे आप अपना सिर काट लेने दोजिए।' शंकराचार्य चक्कर में पड़ गए। दोनों ओर आफत थी, देते हैं तो प्राण जाता है, नहीं देते तो अद्वैत मत स्वतः परास्त हो जाता है। उन्हें निरुपाय देखकर शिष्यों में से एक ने नृसिंह भगवान को स्मरण किया। वे तुरन्तु घटनास्थल पर पहुँच भैरव से भिड़ गये। तब भैरव ने कापालिक वेश परित्याग कर अपना रूप धारण किया और प्रसन्न होकर मेघमद्र स्वर में कहा—अहो, अद्वैतवाद आज पराजित हुआ, मैंने चालाक मल्ल की भांति अपने शरीर की हानि करके भी प्रतिद्वंदी को परास्त कर दिया। आओ युद्ध करो। शंकराचार्य इस ललकार का मुकाबला नहीं कर सके क्योंकि उनकी अद्वैत-साधना से संचित और क्रियमाण कर्म तो दग्धबीज की भाँति निष्फल हो जाते हैं परन्तु प्रारब्ध कर्म बने ही रहते हैं। एक कापालिकों का योगमार्ग ही ऐसा है जिसमें सभी कर्म भस्म हो जाते हैं। सो प्रारब्ध कर्मों के प्रताप से शंकर जड़ हो गए। तब जाकर उन्होंने समझा कि उत्तम मार्ग क्या है। इसी अवस्था में उन्होंने 'सिद्धान्त बिन्दु' की रचना की जो असल में नाथमत का ग्रंथ है। इसी अवस्था में उन्होंने 'वज्र सूचिकोपनिषद्' भी लिखी।

मुक्ति क्या है? मुक्ति वस्तुतः नाथस्वरूप में अवस्थान है। इसीलिये 'गोरक्ष-उपनिषद्' में कहा गया है। अद्वैत के ऊपर सदानन्द देवता है अर्थात् अद्वैतभाव ही चरम नहीं है, सदानन्द वाली अवस्था उसके ऊपर है। वह बाह्यचार के पालन से नहीं मिल सकती। इस मत के अनुसार शक्ति सृष्टि करती है, शिव पालन करते हैं, काल संहार करते हैं और नाथ मुक्ति देते हैं। नाथ ही एकमात्र शुद्ध आत्मा हैं, बाकी सभी बुद्ध जीव है—शिव भी, विष्णु भी और ब्रह्मा भी (पृ० ७०)। न तो ये लोग द्वैत-

---

१. देखिए ऊपर, पृ० १-२।

२. पृ० २२-२८; ७५-७६।

३. पृ० २६।

४. तुल०—

पढ़ा लिखा सुआ बिलाई खाया पंडित के हाथि रह गई पोथी।

—गोरखबानी, पृ० ४२

वादियों के क्रिया ब्रह्म में विश्वास रखते हैं न अद्वैतवादियों के निष्क्रिय ब्रह्म में। द्वैत-वादियों के स्थान हैं, कैलास और बैकुंठ आदि, अद्वैतवादियों का माया-शबल ब्रह्मस्थान और योगियों का निर्गुण स्थान है पर बंधमुक्ति रहित परमसिद्धान्तवादी अवधूत लोग निर्गुण और सगुण से परे उभयातीत स्थान को ही मानते हैं क्योंकि नाथ, सगुण और निर्गुण दोनों से अतीत परात्पर हैं। वे ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, शिव, वेद, यज्ञ, सूर्य, चंद्र, निधिनिषेध, जल, स्थल, अग्नि, वायु, दिक् और काल—सबसे पर स्वयं ज्योतिः स्वरूप एकमात्र सच्चिदानंद मूर्ति हैं।

न ब्रह्मा विष्णुरुद्रौ न सुरपतिसुरा नैव पृथ्वी न चापो
नैवाग्निर्वापिवायुर्न च गगनतलं नो दिशो नैवकालः
नो वेदा नैव यज्ञा न च रविशशिनौ नो विधि नैविकल्पः
स्वज्योतिः सत्यमेकं जयति तव पदं सच्चिदानन्द मूर्ते।

—सिद्ध सिद्धान्त-पद्धति

३. प्रणव, सूक्ष्मवेद और परा संवित

इस देश में निर्गुण ज्ञान-मार्ग की परम्परा बहुत पुरानी है। वेद की मूल संहिताओं में ही सगुण आत्मज्ञान और निर्गुण आत्मज्ञान के बीज उपलब्ध हो जाते हैं। परन्तु संहिताभाग में सगुण आत्मज्ञान पर अधिक बल है। वागम्भृणी के इस कथन में कि 'अहं विश्वेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः' सर्वव्यापी ऐश्वर्य गुण सम्पन्न सगुण आत्मज्ञान है। इस प्रकार के अनेक वचन मूलसंहिताओं में खोजे जा सकते हैं जहाँ आत्मा को सर्वज्ञातृत्व, सर्वव्यापित्व, और सर्वकर्तृत्व आदि धर्मों या गुणों से युक्त बताया गया है परन्तु उन्हीं दिनों निर्गुण आत्मज्ञान की भी प्रतिष्ठा हो चुकी थी। बाद में कपिल ऋषि ने इस निर्गुण आत्मज्ञान को विशुद्ध तत्त्वचिन्तनमूलक दर्शन का रूप दिया जिसे 'सांख्य' कहते हैं। सांख्य दर्शन इस देश का बहुत पुराना तत्त्वचिन्तनपरक शास्त्र है। कुछ लोग तो इसे सबसे पुराना दर्शन कहते हैं और महाभारत के शान्तिपर्व के निम्नलिखित श्लोक को अपने विश्वास के प्रमाण रूप में उद्धृत करते हैं।

ज्ञानं महद्यद्धि महत्सु राजन् वेदेषु सांख्येषु तथैव योगे॥
यच्चापि दृष्टं विविधं पुराणे सांख्यागतं तन्निखिलं नरेन्द्र॥

(हे राजन्! बड़े लोगों में जो ज्ञान है, और जो पुराण, वेद, सांख्य और योग-शास्त्र में उपदिष्ट है और जो ज्ञान विविध रूपों में पुराणों में पाया जाता है, वह सभी सांख्य से ही आया है।)

सांख्य और योग का तत्त्वदर्शन एक ही है। कपिल ने निर्गुण आत्मज्ञान को युक्ति-तर्क द्वारा प्रतिष्ठित किया था। उसे प्राप्त करने का उपाय बताने वाला शास्त्र योग है। प्राचीन शास्त्रों से जान पड़ता है कि जो लोग तत्त्वनिदिध्यासन, मनन चिन्तन

आदि द्वारा निर्गुण आत्मज्ञान का साक्षात्कार करते थे वे 'सांख्य' कहलाते थे और जो तप, स्वाध्याय और अभ्यासवैराग्य द्वारा इस 'केवल' स्वरूप का साक्षात्कार करते थे वे योगी कहलाते थे। दोनों का तत्त्वज्ञान एक था। कुछ कहते हैं कि मूलसूत्रों से यह नहीं सिद्ध किया जा सकता कि सांख्य और योग का तत्त्ववाद हू-ब-हू एक ही हैं। जो भी हो, परम्परा से यही विश्वास किया जाता है कि ये दोनों तत्त्ववाद एक ही है। 'गीता' में भगवान् ने कहा है कि केवल बालबुद्धि के लोग ही सांख्य और योग को पृथक् मानते हैं, पण्डितजन ऐसा नहीं समझते। इस सांख्यमत में पुरुष अनेक हैं, प्रकृति उन्हें अपने बन्धन में बाँधती है। हैं दोनों ही अनादि। पुरुष विशुद्ध चेतनस्वरूप है, उदासीन है और ज्ञाता है। जब तक उसे अपने इस विशुद्ध स्वरूप का ज्ञान नहीं हो जाता तभी तक वह बन्धन में है। यह दृश्यमान जगत् वस्तुतः प्रकृति का ही विकास है। प्रकृति में तीन गुण-सत्व, रजस, तमस—साम्यावस्था में रहते हैं। पुरुष के संयोग से यह साम्यावस्था विक्षुब्ध होती है और क्रमशः उस बन्धन रूप जगत् का विकास होता है। बुद्धि, मन, इंद्रिय और भूतमात्र प्रकृति की ही विकृति हैं। गुणों की कमी-बेशी के कारण वे भिन्न रूपों में दिखाई दे रहे हैं। पुरुष कभी देह को, कभी मन को, कभी बुद्धि को अपना रूप मानता रहता है। ज्ञान होते ही वह इस गुणमयी प्रकृति से अलग होकर 'केवल' शुद्ध चेतन के रूप में आ जाता है। केवल रूप में बने रहने की इस अवस्था का ही नाम कैवल्य या मोक्ष है। योगशास्त्र में इसी 'केवल' रूप में स्थित होने की अवस्था को प्राप्त करने के उपाय बताए गए हैं।

इस अवस्था में चेतनस्वरूप पुरुष स्वयं ही स्वयं को प्रकाशित करता है। इसीलिये योगशास्त्र में उसे 'स्वप्रकाश' कहा जाता है। 'पातंजल' में पुरुष को द्रष्टा कहा गया है। द्रष्टा दृशिमात्र है, वह प्रत्ययानुपश्य है (२।२०)। टीकाकारों ने 'दृशि' का अर्थ किया 'चित्' या स्वबोध। 'मात्र' प्रत्यय के प्रयोग से उसे सर्व विशेषण शून्य, सर्वधर्मशून्य कहा गया है : केवल, स्वबोधमात्र। सर्वविशेषण शून्य, सर्वधर्मशून्य जा बोध है वही द्रष्टा है। इसी विचार से आगे चल कर 'स्वसंवेदन' ज्ञान और ज्ञाता के विचारों का विकास हुआ है।

यह संसार द्रष्टा, दृश्य और दर्शन से या गृहीता, ग्राह्य और ग्रहण रूप से त्रिपुटीकृत है। योगशास्त्र में गृहीता और द्रष्टा में अन्तर बताया जाता है। द्रष्टा अविकारी ज्ञाता है, ग्रहीता विकारी। द्रष्टा और ग्रहीता एक जैसे तो हैं पर एक नहीं हैं। ग्रहीता बद्ध या अज्ञानी जीव है। बद्ध जीव में कभी तो जानने की वृत्ति जागृत रहती है, कभी निरुद्ध। इसीलिये वह केवल 'ग्रहीता' कहा जाता है। मैं द्रष्टा हूँ, इस प्रकार की बुद्धि ही ग्रहीता है। परन्तु द्रष्टा सदा स्वद्रष्टा है। अपने को आप ही देखने वाला। उसका ज्ञान उससे भिन्न नहीं है। वह स्वसंवेदन है। उपनिषदों में कहा गया है कि जो ज्ञाता है उसे कौन जान सकता है। वह स्वयं को जानता है, स्वयं ही वेदक है, स्वयं ही वेद्य, वहाँ ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नहीं है—'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' 'नहि विज्ञातुर्विज्ञानेर्विपरिलोपोवर्तते— (बृह० उप०)।

इसी 'स्वसंवेद' शब्द से प्राकृत का 'सुसंवेद' बना है। 'सुसंवेद' ही आगे चल कर 'सुच्छंवेद' और 'सुच्छमवेद' के रूप में परिवर्तित हुआ। यह सुच्छमवेद संस्कृत में फिर में गृहीत हुआ। परवर्ती नाथपंथियों ने अपने संस्कृतग्रंथों में 'सूक्ष्मवेद' शब्द का व्यवहार किया है। 'सिद्ध सिद्धांत संग्रह' में सूक्ष्मवेद और स्थूलवेद ये दो भेद किये गए हैं। (पृ० २२-२७ और पृ० ७५-७६)। इस ग्रंथ के अनुसार स्थूलवेद यज्ञ-याग का विधान करते हैं और सूक्ष्मवेद प्रणव या ओंकार है। क्योंकि ओंकार ही वेदों का सार है।

यही निर्गुण आत्मज्ञान है।

भारतवर्ष के सभी आस्तिक दर्शन और पुराण आदि शास्त्र अपने को वेद पर आधृत या श्रुतिसम्मत मानते हैं। वेदान्त शास्त्र वेद-सम्मत सिद्धांतों का ही प्रतिपादन करता है। श्रुतियों में परात्परतत्व को समझाने के लिये अनेक प्रकार की अनुभूतियाँ दी गई हैं। उनमें से किसी एक को मुख्य वक्तव्य या महा वाक्य मान कर उसी के आलोक में शेष अनुभूतियों की व्याख्या करने के कारण अनेक वेदान्ती मत प्रसिद्ध हुए हैं—परन्तु सभी वेदान्ती मानते है कि मनुष्य का सब से बड़ा लक्ष्य—परम पुरुषार्थ—इस दुःखमय जगत् से छुटकारा पाना—मोक्ष—है उनके मत से संसार दुःख रूप है और मोक्ष ब्रह्म स्वरूप ही है। कहा गया है कि जब मनुष्य जान जाता है कि वह क्या है, उसका स्वरूप ब्रह्म से अभिन्न हैं, तो उसका छुटकारा भी हो जाता है। वह जो छूट नहीं रहा है उसका कारण अज्ञान या गलत जानकारी है। इसी गलत जानकारी को 'अविद्या' कहते हैं। सही जानकारी का नाम परा विद्या है। इस सही जानकारी का एकमात्र विषय है—आत्मा या ब्रह्म का ज्ञान। इसीलिये वेदान्त शास्त्र को 'अध्यात्म विद्या' या 'ब्रह्मज्ञान' भी कहते हैं। जो वास्तविक ज्ञान है उसे परा संवित् कहते हैं।

संसार में ज्ञान के लिये तीन बातें वर्तमान रहती हैं। कोई जानने वाला होता है (ज्ञाता), कुछ बात जानी जाती है (ज्ञेय) और कुछ जानकारी प्राप्त होती है (ज्ञान)। इस प्रकार संसार में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान पृथक् पृथक् होते हैं। परब्रह्म की जानकारी इससे भिन्न प्रकार की है। वहाँ ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान अलग नहीं होते। जो ज्ञाता है (आत्मा) वही ज्ञेय भी हैं (परंब्रह्म) और वही ज्ञान भी है (परा संवित्)। श्रुतियों में कहा है कि जो ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म ही होता है—ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति। और ब्रह्म क्या है? विशुद्ध चित्स्वरूप। सो, एक बार ठीक ठीक ज्ञान प्राप्त हो जाने पर ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की भेदबुद्धि समाप्त हो जाती है। दूसरे शब्दों में कहें तो जो संवित है, जो संवेत्ता हैं और जो संवेदन है वह सब एक ही हैं। परासंवित की प्राप्ति केवल व्यवहार की भाषा है। परा संवित् स्व-संवेदन ज्ञान है। स्वयं स्वय को देखना ही स्वसंवेद है। यही पराविद्या है, यही परासंवित् है। इसीलिये जिस परतत्व को वेदान्त में ब्रह्म कहा जाता है, और शैवागमों में शिव कहा जाता है, उसे 'स्वयं' नाम दिया जाता है—स्वयं स्वयं का प्रकाशक, स्वयं स्वय का ज्ञाता और स्वयं स्वयं का ज्ञान :—

कार्य-कारण-कर्तृत्वं यदा नास्ति कुलाकुलं ।
अव्यक्तं परमं तत्वं स्वयं नाम तदा भवेत् ।।

इस अभेदमूलक आत्मज्ञान ने आगे चलकर सांख्य योग में प्रथित निर्गुण आत्मज्ञान को प्रभावित किया है। आगमशास्त्रों में अनेक प्रकार से इस परासंवित् की महिमा बताई गई है। अनेक साधनाओं के बाद चित्तवृत्तियों का निरोध होता है, तब वस्तुतः ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद समाप्त हो जाता है। वही महानन्दावस्था है। उसे केवल संवित्मात्र, स्वसंवेद्य, स्वप्रकाश, स्वप्रबोध आत्मतत्व साक्षात्कार होता है। फिर साधक नित्य अस्खलित भाव से उस अवस्था में स्थित हो जाता है और नानात्व का भेद-बुद्धि का, अवसान हो जाता है। 'सिद्धसिद्धांत पद्धति' में इसी भाव को बताने के लिए कहा गया है—

निजावेशात् सम्यङ् निविड़तम नैरुत्थ्यविधिवत् ।
महानन्दावस्थास्फुरति वितता काऽपि सततम् ।।
ततः संविन्नित्यामलसुख चमत्कारजनकः ।
प्रकाशप्रोद्बोधो यदनुभवतो भेदविरहः ।।

यह विद्या किसी शास्त्र के द्वारा नहीं समझाई जा सकती। अधिक-से-अधिक उसकी ओर इंगित किया जा सकता है। यह अनुभवैकगम्य है, स्वसंवेद्य है।

स्वसंवेदन ज्ञान ही सूक्ष्मवेद है—शब्द रूप में भी और अर्थरूप में भी। परन्तु नाथयोगी प्रणव या ओंकार को ही सूक्ष्मवेद मानते हैं। इसका क्या अर्थ है? आत्मज्ञान के लिये आवश्यक है कि अनात्म वस्तु का ठीक-ठीक स्वरूप समझ लिया जाय। अभेद का ज्ञान तभी हो सकता है जब ठीक ठीक मालूम हो जाय कि यह प्रपचात्मक भेद क्यों ऐसा दिखाई दे रहा है। इसके लिये शास्त्रों में इस भेदात्मक विश्व का कारण समझाया गया है। यह प्रपंच कैसे बना? बना तो क्या; अवभासित हो रहा है। इसकी भासमानता की क्या प्रक्रिया है।

कोई नहीं बता सकता कि परिदृश्यमान विश्वप्रपंच कब शुरू हुआ। इसीलिये यह अनादि कहा जाता है। श्रुति से जाना जाता है कि सच्चिदानन्द परब्रह्म को इच्छा हुई कि "मैं एक हूँ अनेक होऊँ"—"एकोऽहं बहुस्याम्"। क्यों उसे इच्छा हुई? उसे किस बात का अभाव था? कोई नहीं बता सकता। यह उसकी लीला है। यही इच्छा प्रथम स्पन्द है। ज्ञान से इच्छा हुई और इच्छा ने क्रिया का रूप धारण किया। इस प्रकार ज्ञान-इच्छा-क्रिया का क्रम शुरू हो गया। वस्तुतः सारा जगत् ज्ञान-इच्छा क्रिया रूप में त्रिपुटीकृत है। शाक्त आगमों में इस त्रिपुटीकरण वाली शक्ति को ही 'त्रिपुरा' कहा गया है। ब्रह्म की यह एक शक्ति है। शैव आगमों में परब्रह्म को ही 'परशिव' कहते हैं।

इस वेदवाक्य के आधार पर ही समस्त आस्तिक दर्शन सृष्टि-प्रपंच की व्याख्या करते हैं। ज्यों ही ब्रह्म में इच्छाशक्ति का आविर्भाव हुआ त्योंही वह सगुण हो

गया। सृष्टि का हेतु यह सगुण ब्रह्म ही है। वेदान्त इसी को अपरंब्रह्म कहता है और शैवागम अपरशिव। यही प्रथमा कला का प्रादुर्भाव होता है; इसलिये शैवागम इसे 'सकल' परमात्मा कहते हैं। सकल अर्थात् कलायुक्त। सच्चिदानन्द-विभव परब्रह्म या परमशिव से सगुण अपरंब्रह्म या सकल परमेश्वर तक आने की स्थिति तक कितने ही रूपों की कल्पना की जा सकती है। पर (सुप्रीम) तत्त्व क्रमशः सूक्ष्म (सट्ल) और फिर क्रमशः स्थूल (ग्रॉस) रूप में व्यक्त हो रहा है। एक रूप से दूसरे तक पहुँचने की अन्तर्वर्ती अवस्थाएँ अनेक होंगी। अनन्त हो सकती हैं। साधना-मार्ग के यात्रियों ने अपने अनुभव अनेक प्रकार के बताये हैं। मूल बात यह है कि सगुण ब्रह्म या सकल परमात्मा में जो इच्छा हुई वह एक प्रकार का स्पन्द या कम्पन (वाईब्रेशन) है, उपनिषदों की भाषा में 'एजन' है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि शब्द या नाद कम्पन का ही मूर्तरूप है। इसलिये शैव और शक्ति आगमों में ब्रह्म की (या शिव की) इस इच्छा को 'नाद' कहते हैं। यह अत्यन्त सूक्ष्म है। मनुष्य अपने कानों से जो शब्द सुनता है वह स्थूल है बहुत स्थूल। केवल बौद्धिक दृष्टि से हम उस प्रथम सूक्ष्म स्पन्द की बात सोच सकते हैं। इच्छा ही नाद है। इच्छा के साथ क्रिया लगी है। क्रिया को ही बिन्दु कहते हैं। 'शारदातिलक' (१.७) में कहा गया है कि सच्चिदानन्द विभव शिव सकल (कला सहित, सगुण) परमात्मा के रूप में प्रकट हुए और उन्हीं की शक्ति से नाद उत्पन्न हुआ और नाद से बिन्दु की उत्पत्ति हुई—

सच्चिदानन्दविभवात् सकलात् परमात्मनः।
आसीच्छक्तिस्ततो नादस्तमाद्बिन्दुसमुद्भवः।

सकल परमात्मा की इस शक्ति को ज्ञानशक्ति कहते हैं। नाद इच्छाशक्ति है, बिन्दु क्रियाशक्ति है। यही ज्ञान-इच्छा और क्रिया का त्रिकोण है। नाद या इच्छाशक्ति गति है, बिन्दु या क्रियाशक्ति स्थिति। गति और स्थिति मिलकर रूप या आकार प्रकट करते हैं।

यद्यपि यह परम सूक्ष्म तत्त्व है, स्थूल उच्चरित शब्द से उसका ठीक-ठीक तात्पर्य नहीं समझा जा सकता पर लाचारी यह है कि उसको मानस पटल पर ले आने का साधन तो हमारे पास यही स्थूल शब्दों वाली भाषा है। सो, जब हम उस तत्व को समझाने के लिये भाषा का प्रयोग करते हैं तो सारी बात उसमें अँटती नहीं। इसलिये ऐसे प्रसंगों में भाषा को साधनमात्र मानना चाहिए। उसकी सीमा में नहीं उलझना चाहिए। यहाँ स्थूल शब्दों में इस बात को समझने का प्रयत्न किया जा रहा है। मान लीजिये प्रथम स्पन्द नादरूप में प्रकट हुआ। हमारे पास सबसे सूक्ष्म अक्षर अ-कार है। सबसे स्थूल ओष्ठ्य वर्णों का अन्तिम म-कार है जो ओष्ठों को तो शब्द कर ही देता है, नाक तक की सहायता लेता है। अब, हमारा जाना हुआ मूलस्वर या नाद अ-कार ही है। मान लीजिये, प्रथम स्पन्द 'अ' रूप में गतिशील हुआ। यदि सिर्फ गतिशील ही रहे तो कम्पन या स्पन्द नहीं होगा। स्थिति भी चाहिए। नाद ही

गति है बिन्दु ही स्थिति है। गति और स्थिति का विलास ही जगत् है। सो गति रूप नाद सृष्टि के लिये आवश्यक है, उसके साथ बिन्दु भी। मकार अनुस्वार या चंद्रविंदु रूप में ही तो बदलता है। अब 'अ' स्वर 'म्' व्यंजन से रुद्ध हुआ। कंठ से ओष्ठ तक उसे यात्रा करनी पडी और ओष्ठ बन्द हो गए। बन्द होते होते वह 'उ' जैसा हो जाएगा। इस प्रकार अ-उ-म् प्रथम स्पन्द हुआ। पर समाप्त नहीं हुआ। यह तो कम्पन है, चलता ही रहेगा। एक बार उठकर बन्द हो गया तो फिर कम्पन कैसा ? अ-उ-म् के इस अक्षरत्रय का मिलित रूप है 'ओम्'। स्थूलवर्णों से समझाया गया है, इसलिये इसके स्थूल उच्चारण पर ही ध्यान जायगा। परन्तु यह समझाने का एक तरीका भर हैं। प्रथम विश्व-ब्रह्माण्डव्यापी स्पन्द (कास्मिक वाईब्रेशन) कुछ इसी प्रकार का—लेकिन अत्यन्त सूक्ष्म रूप में—होगा इसीलिए यह ओंकार विश्व का आरम्भ हैं। सगुणब्रह्म का यह नवरूप है। 'नव', 'नवीन' आदि शब्द बहुत अच्छे नहीं हैं। क्योंकि जो नया होता है वह पुराना भी हो जाता है। प्रथम नया स्पन्द कभी पुराना नहीं हुआ। वह प्रति क्षण नित्य स्पन्दित हो रहा है। इसलिये केवल 'नव' कहना ठीक कहना नहीं है—वह 'प्रणव' है—'नवंनवं जायमान' है। स्वयंवेद्य ज्ञान का यह प्रथम व्यक्त रूप है। कोई आश्चर्य नहीं कि नाथ-साधकों ने इसे 'सूक्ष्मवेद' कह दिया। कबीरदास इस रहस्य को जानते थे। वे जानते थे कि जो आदि ओंकार को ठीक-ठीक जानता है वह सृष्टि और प्रलय के रहस्य को उस रहस्य के उस मूलकर्ता को जो लिख कर मिटाया करना है, जानता है। 'ज्ञान चौंतीसा' में इसीलिए उन्होंने कहा है—

ओं ओंकार आदि जो जाने। लिखि के मेटे सो सोई जाने ॥

इसी आरंभिक समष्टिव्यापिनी वाक् को 'श्रीमद्भगवद्गीता' में 'एकाक्षर ब्रह्म' कहा है। एक ही कम्पन या स्पन्द के रूप को स्पष्ट करने के लिये इसे 'एकाक्षर' कहा है। नाथ-साधक जब कहते हैं कि सारी सृष्टि ओंकार से हुई है तो वे शैव और वेदान्त दर्शनों की भाषा में बोलते हैं। परन्तु यह स्पष्ट है कि जिस स्वसंवेद्य अर्थ को इसके द्वारा प्रकट करना अभीष्ट था वह इसके द्वारा पूरा व्यक्त नहीं हुआ। स्वसंवेद्य ज्ञान में ज्ञातृ-ज्ञेय-भेद मिट गया रहता है पर ओंकार या एकक्षरात्मक स्पन्दन या एजन में वह भेद आरम्भ होता है। प्राकृत के शब्द का संस्कृतीकृत रूप 'सूक्ष्मवेद' नाथ-साधकों के यहाँ अर्थान्तर में संक्रमित हुआ है।

आगमों में ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति को ही बीज, नाद, विन्दु कहा गया है। आधिदैविक भाषा में कहें तो ये ही ब्रह्मा, विष्णु और शिव हैं। इस त्रिधा विभाजित शक्तित्रय के अधिष्ठातृ देवता ही ब्रह्मा, विष्णु और शिव हैं। सृष्टि करने को उद्यत अपरब्रह्म ही के ठीक पूर्व की निष्कलुष अवस्था को निरंजन कहा जाता है। निरंजन ही सकल परमात्मा या अपरंब्रह्म के रूप में अभिव्यक्त होता है।

परंब्रह्म या परशिव से अपरंब्रह्म या सकल परमात्मा तक की परिणति का व्यवहार में काई विशेष उपयोग नहीं है। पर मध्यकाल के आगमों और निर्गुणमार्गी

साहित्य में मध्यवर्ती अवस्थाओं की कल्पना की गई है और उन कल्पनाओं के आधार पर अविकसित बुद्धि के अनुयायियों ने पौराणिक गप्प लिखे हैं। जैसा कि ऊपर बताया गया है परंब्रह्म से निरंजन तक की यात्रा की सैकड़ों अवस्थाओं की कल्पना की जा सकती है। कुछ की भी गई है। उदाहरण के लिये नाममत को लिया जाय। जब शिव में कार्यकरण का कर्तृत्व नहीं होता अर्थात् कार्यकरण के चक्र के संचालन कर्म से विरत हो जाते हैं तब वे कुल और अकुल के भेद से परे हो जाते हैं और अव्यक्तावस्था में विराजमान रहते हैं। इसलिये इस अवस्था में उन्हें शास्त्रकारगण 'स्वयं' कहकर स्मरण करते हैं।[1]

इस परमशिव को जब सृष्टि करने की इच्छा होती है तो इच्छायुक्त होने के कारण उन्हें 'सगुण' शिव कहा जाता है। पहले बताया जा चुका है कि यह इच्छा (=सिसृक्षा=सृष्टि करने की इच्छा) ही शक्ति है। अब इस अवस्था में परमशिव से एक ही साथ दो तत्व उत्पन्न होते हैं—शिव और शक्ति। वस्तुतः इन दोनों में कोई भेद नहीं है। यह शक्ति पाँच अवस्थाओं से गुजरती हुई स्फुरित होती है। (१) परमशिव की अवस्थामात्र धर्म से युक्त, स्फुरित होने की पूर्ववर्ती, और प्रायः स्फुरित होने की उपक्रान्त अवस्था का नाम 'निजा' है। इस अवस्था में शिव अपने अव्यक्त रूप में रहते हुए भी स्फुरणोन्मुखी शक्ति से विशिष्ट होकर रहा करते हैं। शिव की इस अवस्था का नाम 'अपरंपदम्' है। धीरे-धीरे शक्ति क्रमशः (२) स्फुरण की ओर उन्मुख होती हैं, फिर (३) स्पन्दित होती है, फिर (४) सूक्ष्म अहन्ता (=मैं-पन अर्थात् अलगाव का भाव) से युक्त होती है और अन्त में (५) चेतनशीला होकर अपने अलगाव के बारे में पूर्ण सचेत हो जाती है। ये अवस्थाएँ क्रमशः परा, अपरा, सूक्ष्मा और कुण्डली कही जाती है[2] इन अवस्थाओं में शिव भी क्रमशः परम, शून्य, निरंजन और परमात्मा के नाम से प्रसिद्ध होते हैं।[3] इस प्रकार निखिलानन्द सन्दोह शिव पाँच अवस्थाओं से गुजरते हुए प्रथम तत्व परमात्मा या सगुणशिव के रूप में प्रकट हुए और शक्ति भी पाँच अवस्थाओं से अग्रसर होती हुई द्वितीय तत्व कुण्डली या

---

१. कार्यकारणकर्तृत्वं यदा नास्ति कुलाकुलम।
अव्यक्तं परमं तत्वं स्वयं नाम तदा भवेत् ॥
—सि० सि० १।८ सन्त १।४।

२. निजा पराऽपरा सूक्ष्मा कुण्डली तासु पंचधा।
शक्तिचक्रक्रमेणैव जातः पिंडः शिवे ॥
—सि० सि० सं० १।१३।

३. ततोऽस्मितापूर्वमाविमात्रं स्यादपरं परम्।
तत्स्व सर्वेदनाभासमुत्पन्नं परमं पदम् ॥
स्वेच्छामात्रंततः शून्यं सत्तामात्रं निरंजनम्।
तस्मात्ततः स्वसाक्षादभूः परमात्मपदं मतम् ॥ वही, १।१४-१५।

कुण्डलिनी के रूप में प्रादुर्भूत हुई। यह कुण्डली समस्त विश्व में व्याप्त शक्ति है, इसी की इच्छा से, इसी की सहायता से, शिव इस विश्वप्रपंच की उत्पत्ति पालन और विलय में समर्थ होते हैं। यही परमात्मा और कुण्डली—शिव और शक्ति—प्रथम दो सूक्ष्म तत्व हैं। इनसे ही अत्यन्त सूक्ष्म 'परपिण्ड' की उत्पत्ति हुई है। इस प्रकार नीचे लिखी सारणी से शिव और शक्ति के स्फुरण का विकास स्पष्ट हो जायगा—

स्वयं (पर) शिव

अपर-१	१-निजा
पर-२	२-परा
शून्य-३	३-अपरा
निरंजन-४	४-सूक्ष्मा
परमात्मन्-५	५-कुण्डली

इसी प्रकार की योजना अन्य आगमों में भी मिलता है। शब्द सब समय समान नहीं होते पर मतलब सबका एक ही होता है—परशिव का अपरशिव में परिणत होने के अनेक उपक्रम। इसी प्रकार कहा जा सकता है कि ब्रह्म या परतत्व के प्रथम उपक्रम को सहज नाम दिया जा सकता है। उसमें कोई भी वैशिष्ट्य नहीं आया परन्तु वैशिष्ट्य अंकुरित होने की प्रक्रिया शुरू हो गई है। परब्रह्म का यह दूसरा रूप सहज है, तीसरा अंकुर। फिर अंकुर रूप में प्राप्त होने को स्थिति इच्छा कही जा सकती है। इच्छा होते ही अत्यन्त सूक्ष्म रूप से आरंभिक इदंता और अहंता का योगसूत्र 'सोऽहं' वृत्ति की अभिव्यक्ति होगी और इससे इदं और अहं का अचिन्त्य ऐक्य स्वयं अभिव्यक्त होता रहेगा। सृष्ट्युक्त परब्रह्म निरंजन के पूर्व की अवस्था 'अक्षर'—जो अभी तक निज रूप से क्षरित नहीं हुई है कही जा सकती है। इस प्रकार से संग्रह श्लोक बनेंगे—

सहजानन्द विभवं यत्तत्व परतः परम्।
सकलत्वं गम्यमानं सहजं भावमास्थितम्।
अंकुरत्वं व्रजत्यस्मात् परेच्छा संप्रवर्तते।
इदताऽहन्तयोर्योग परं सोऽहमुदीर्यते।
अचिन्त्यरूपतां याति अक्षरं च ततोभवेत्।
तस्मात् सृष्टयै यतन् देवो निरंजन इहोच्यते॥

अर्थात् सहजानन्द परतत्व से क्रमशः सहज—अंकुर—इच्छा—सोऽहं—अचिन्त्य—अक्षर—निरंजन प्रादुर्भूत हुए। यही वह क्रम है जो ऊपर कबीर मनसूर में बताया गया है। कबीर मनसूर में वह अविकसित मस्तिष्क के अधिकारियों की दृष्टि में रख कर पौराणिक शैली में कहा गया है। आध्यात्मिक सत्य को आधिदैविक भाषा में कहने वाली शैली को ही पौराणिक शैली कहा जाता है। इस शैली में इन, अपरब्रह्म या निरंजन भाव तक की, अवस्थाओं को लोक-विशेष के रूप में कहा गया है और उन लोकों के अधिष्ठातृ-देवता के रूप में ब्रह्म के तत्तत् स्वरूप को बैठा दिया गया है। पुराणों में और संहिताओं में व्यापक रूप से इस शैली का प्रयोग मिलता है।[1]

योगसूत्र (१.२७) में प्रणव अर्थात् ओंकार को ईश्वर का वाचक कहा गया है। भाष्यकार ने यह प्रश्न उठाया है कि यदि प्रणव ईश्वर का वाचक है और ईश्वर उसका वाच्य है तो यह वाच्य-वाचक सम्बन्ध किस प्रकार का है? क्या वह संकेत-कृत है अथवा प्रकाश-प्रदीप की भाँति अवस्थित है? इसका शंका का तात्पर्य यह है: कुछ पदार्थ हैं जिनमें पद या नाम का संकेत किसी एक शब्द के द्वारा होता है; जैसे घट। घट शब्द कहने से घड़ारूप पदार्थ का बोध होता है परन्तु यदि घट शब्द का उच्चारण न किया जाय तो भी घड़ारूप पदार्थ ज्यों का त्यों बना रहता है। अर्थात् घट पद के बिना भी घट पदार्थ के ज्ञान में कोई बाधा नहीं उत्पन्न होती। परन्तु कुछ दूसरे पदार्थ ऐसे हैं जिनके लिये शब्दमय चिंतन की आवश्यकता होती है। संकेत उसमें

---

१. उदाहरणार्थ विश्वनाथ सिंह की बीजक टीका (पृ० २४०) में उद्धृत 'सदाशिव संहिता' के ये वचन—

सौमित्रिरुवाच—

महर्लोकः क्षितेरुर्ध्वमेककोटिप्रमाणतः।
कोटिद्वयेन विख्यातो जनलोको व्यवस्थितः।
चतुण्कोटिप्रमाणं तु तपोलोको विराजितः।
उपरिष्टात्ततः सत्यमष्टकोटिप्रमाणतः।
आयुः प्रमाणं कौमारं कोटिषोड़शसंभवम्।
तदूर्ध्वोपरि संख्यातं भ्रमालोको सुनिष्ठितम्।

शिवलोकस्तदूर्ध्वं तु प्रकृत्या च समागतम्।............
तदूर्ध्वं सर्व सत्वानां कार्यकारणमानिनाम्
निलयं परमं दिव्यं महावैष्णवसंज्ञकम्।...........
यदूर्ध्वं तु परं दिव्यं सत्यलोकं व्यवस्थिम्
न्यासिनां योगिनां स्थानं भगवद्भावितात्मनाम्।
महाशंभुमदतेऽत्र सर्वशक्ति समन्वितः।
तदेर्ध्वं तु स्वयं भातं गोलाकं प्रकृतेः परम्। —इत्यादि

भी है किन्तु उस नाम का अर्थ तद्‌विषयक सम्पूर्ण सम्बन्धों के चिन्तन से ही अवगत हो सकता है; जैसे पिता। पिता एक सम्बन्ध विशेष है। इसका अपने आपमें कोई अर्थ नहीं है। कोई व्यक्ति विशेष किसी व्यक्ति विशेष का पिता होता है। इसलिये पिता शब्दार्थ एक प्रकार के अनुव्यवसाय की अपेक्षा रखता है। पिता शब्द का अर्थ वस्तुतः प्रदीप और प्रकाश के समान है। जिस प्रकार प्रदीप होने से प्रकाश का भान होता है। उसी प्रकार किसी अन्य व्यक्ति के सम्बन्ध में पिता शब्द का शब्दार्थ ज्ञात होता है। शब्दमय चिन्तन के अभाव में पिता शब्द का अर्थ स्पष्ट नहीं होगा। इसी लिये भाष्यकार ने यह प्रश्न उठाया है कि प्रणव क्या ईश्वर का उसी प्रकार से वाचक है जिस प्रकार 'घट' पद 'घड़ा' पदार्थ का या इस शब्द का संकेत शब्दमय चिन्तन के द्वारा होता है जिस प्रकार पिता और प्रकाश शब्द का हुआ करता है। भाष्यकार का कहना है कि प्रणव अर्थात् ओ३म् शब्द ईश्वर का संकेत है—अवस्थित विषय के ले आने या प्रकाशन करने के अर्थ में इसके बाद दूसरा प्रश्न यह है कि प्रणव क्या उसी प्रकार का संकेत है जिस प्रकार अन्य पदार्थों के संकेत हुआ करते हैं? अनेक दार्शनिक संप्रदायों में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य नहीं माना जाता। एक ही शब्द एक भाषा में एक अर्थ में प्रयुक्त होता है, दूसरी भाषा में दूसरे अर्थ में। फिर एक काल में एक ही भाषा में किसी शब्द का प्रयोग एक अर्थ में होता है और दूसरे काल में दूसरे अर्थ में। बहुत से पदार्थों के नये नाम भी गढ़ लिये जाते हैं। ठीक है, लेकिन सब होने पर भी शब्द और अर्थ का संकेत केवल व्यक्तिगत इच्छा का विषय नहीं है, वह एक प्रकाश की सामाजिक स्वीकृति चाहता है। गुलाब के फूल को कोई यदि पद्म नाम चाहे तो नहीं दे सकता, क्योंकि अधिकांश मनुष्यों के चित्त में पद्म शब्द दूसरे अर्थ में संकेतित है। अब प्रश्न यह है कि यह प्रणव या ओ३म् क्या ईश्वर के पतञ्जलि मुनि ने संकेतिक कर दिया है या अन्य शब्दों की भाँति इसे भी सामाजिक स्वीकृति प्राप्त है। इसके उत्तर में भाष्यकार कहते हैं कि सम्प्रतिपत्ति की नित्यता के कारण शब्दार्थ का सम्बन्ध भी नित्य होता है, ऐसा आगमशास्त्र के जानकार लोग कहते हैं। सम्प्रतिपत्ति का अर्थ टीकाकारों ने समान व्यवहार की परम्परा बताया है। मन एक शब्द का जब एक अर्थ में व्यवहार करता है तब वह व्यवहार परम्परा शुरू होती है। जहाँ तक ओंकार का प्रश्न है वह अनादि काल से इसी अर्थ में व्यवहृत होता आ रहा है। इस लिये विभिन्न सर्गों में इसी अर्थ में व्यवहृत होने के कारण ओंकार शब्द ईश्वर का वाचक नित्यरूप से होता आया है। श्रुति में भी कहा है—'एतदालम्बनं श्रेष्ठं एतदालम्बनं परम्।' योगि याज्ञवल्क्य ने कहा है –

अदृष्टविग्रहो देवो भावग्राह्यो मनोमयः।
तस्योंकारः स्मृतोनाम तेनाहूतः प्रसीदति।।

अर्थात् परमेश्वर का रूप किसी ने देखा नहीं। वे भाव के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं और मनोमय हैं। ओंकार उनका नाम स्मरण किया जाता है क्योंकि उसके द्वारा

आह्वान किये जाने पर वे प्रसन्न होते हैं कुछ लोगों का यह सिद्धान्त है कि अनादि परम्परा-क्रम से घट, पट इत्यादि शब्द अपने-अपने अर्थों में सिद्धवत् प्रयुक्त होते आ रहे हैं। इसलिये शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य मानना चाहिए। वे लोग भाष्यकार के 'संप्रतिपत्ति' का अर्थ उसी प्रकार की नित्यता बताते हैं। परन्तु अधिकांश टीकाकारों को यह मत ग्राह्य नहीं। वस्तुतः भाष्यकार का आशय यही जान पड़ता है कि यह नित्यता युग-युगान्तर की सामाजिक स्वीकृति के कारण है। इसी को वे सदृश-व्यवहार परम्परा कहते हैं। इसीलिये योगभाष्य के टीकाकारों ने इसे कूटस्थ-नित्यता की भाँति न बता कर एक नया शब्द 'प्रवाह-नित्यता' बना लिया है। इसका तात्पर्य यह है कि भिन्न-भिन्न युगों के व्यवहार के प्रवाह में सदा इसका इसी अर्थ में प्रयोग होने के कारण यह 'प्रवाह-नित्य है।'

परन्तु भाष्यकार ने इस नित्यता के लिए आगमवादियों को प्रमाण रूप में उपस्थित किया है। आगमों में स्पष्ट कर दिया गया है कि ओंकार घट-पटादि की तरह संकेतख्यापक शब्द नहीं है, बल्कि वह स्वयं अर्थ ही है। प्रणव, समष्टिव्यापी स्पन्द या एजन का जो रूप रहा होगा, उसी का स्थूल नाद में ऐसा उच्चारण होता है। यह वाचक नहीं है, बल्कि वाच्य का स्थूल उच्चरित नादात्मक रूप है। इसका अर्थ समष्टिगत प्रथम स्पन्द है जो नित्य नवीन तरंगों को उत्पन्न कर रहा है। परमात्मतत्व की कुण्डली-शक्ति जिस रूप में तरंगित हो रही है उसी को स्थूल रूप में श्रोत्रग्राह्य बनाने का प्रयत्न ओंकार है और उसी को नेत्र ग्राह्य या दृग्विषय बनाने का प्रयत्न कुण्डलीदण्ड, अर्धचन्द्र और विन्दु रूप में, उपस्थापित स्थूल विग्रह (ॐ) एक मोटा प्रयत्न है। यह उस अर्थ में वाचक नहीं है जिस अर्थ में घट-पटादि तत्तत् पदार्थों के वाचक हुआ करते हैं। यह वाच्य का ही प्रत्यक्ष, स्थूल विग्रह है। इस प्रकार आगमशास्त्र ओंकार या प्रणव को सृष्टयर्थ उपक्रान्त परमेश्वर का रूप ही मानते हैं। स्थूल स्पन्द यह सम्पन्न शब्द और अर्थ दोनों ही हैं। इसीलिये वे ओंकार को वेद्य या वेदक न मानकर—वाच्य या वाचक न मानकर—वेद ही मानते हैं। इसी की नित्यता 'प्रवाह-नित्यता' नहीं है बल्कि 'स्वरूप-नित्यता' है। यह स्मरण रखने की बात है कि 'पातंजल योगसूत्र' के भाष्यकार ने प्रवाह-नित्यता शब्द का व्यवहार नहीं किया, यह टीकाकारों के मस्तिष्क की उपज है। इसी प्रकार 'सदृश-व्यवहार-नित्यता' भी टीकाकारों की ही देन है। भाष्यकार तो 'सम्प्रतिपत्ति-नित्यता' शब्द का व्यवहार करते हैं—"सर्गान्तरेष्वपि वाच्य-वाचक शक्त्यपेक्षस्तथैव संकेतः क्रियते संप्रतिपत्तिनित्यता नित्यः शब्दार्थ सम्बन्ध इत्यागमिनः प्रतिजानते (१. २७)।"

ऊपर जो आगमों के अनुसार प्रणव की व्याख्या की गयी है उसके प्रकाश में देखने से 'समप्रतिपत्ति' का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। इसका अर्थ है कि प्रणव का परमात्मत्वत के अर्थ में व्यवहार विशिष्ट रूप से प्रतिपन्न होने के कारण नित्य है। वह किसी के द्वारा किसी समय संकेतित नहीं हुआ, बल्कि युक्ति-तर्क के द्वारा तद्रूप-सिद्ध (प्रतिपन्न) होने के कारण विशेष रूप से स्वय-सिद्धि है। परन्तु फिर भी सूत्रकार और

भाष्यकार दोनों ने 'वाच्य-वाचक' शब्द का ही प्रयोग किया ही है। पुराणों में भी शिव को या परमात्मा को 'प्रणव-वाच्य' बताया गया है। टीकाकारों ने भी लिंग पुराण का यह वचन उद्धृत किया है—'शम्भो' प्रणव-वाच्यस्य भावना तज्जापादपि।' इस प्रकार प्रणव को इन लोगों ने वाचक अवश्य स्वीकार किया है।

योगशास्त्र के अनुसार ईश्वर शुद्ध अर्थात् धर्माधर्म से रहित, प्रसन्न अर्थात् अविद्यादि क्लेशों से रहित, केवल अर्थात् मन, बुद्धि आदि से हीन, और इसीलिये अनुपसर्ग अर्थात् जाति, आयु तथा भोग से शून्य पुरुष विशेष है। वह आगमों के परमात्मतत्त्व से भिन्न है। इसलिये आगमों द्वारा वर्णित परमात्मतत्त्व पातञ्जल योग द्वारा प्रथित ईश्वरतत्त्व से स्वरूपतः भिन्न है। आगमों में ओंकार को सूक्ष्मवेद कहा गया है। इसका अर्थ स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए।

जैसा कि ऊपर बताया गया है प्रत्येक वस्तु मोटे तौर पर तीन रूपों में प्रतिभासित हुआ करती है—पर (Supreme), सूक्ष्म (Subtle) और स्थूल (Gross)। ज्ञान भी यद्यपि अपने मूलरूप में शुद्ध ज्ञान ही है तथापि लोक में यह भी मोटी जानकारी अपेक्षाकृत सूक्ष्म जानकारी और विशुद्ध जानकारी के रूप में प्रतिभाषित होता है। जब हम किसी शब्द का वाच्य-वाचक-रूप में प्रयोग करते हैं तो यह भी एक जानकारी ही है। घट शब्द का अर्थ घड़ा है—यह एक मोटा ज्ञान है। कई बार ऐसा होता है कि कोई पद भी मालूम रहता है और उनका अर्थ भी मालूम रहता है। दोनों के सामने उपस्थित रहने पर भी उनका सम्बन्ध अज्ञात रहता है। उदाहरण के लिए कोविदार शब्द लीजिये। काव्य पढ़ने से और कोश में उसका अर्थ भी लिखा रहने से मुझे मालूम है कि यह किसी फूल का नाम है। मान लीजिये कि मैं किसी बगीचे में जाता हूँ। वहाँ कोविदार के पेड़ भी लगे हुए हैं और उनमें फूल भी हैं। वहाँ कोविदार पदार्थ मेरे सामने हैं। मुझे कोविदार पद भी मालूम है और कोविदार पदार्थ भी सामने है। परंतु जब तक कोई जानकार आदमी नहीं बता देता कि इसी का नाम कोविदार है तब तक मुझे कोविदार पद और पदार्थ के सम्बन्ध का पता नहीं चलता। इससे स्पष्ट है कि पद और पदार्थ के अतिरिक्त एक और वस्तु है जो दोनों का मेल कराती है। यही प्रत्यय है। अर्थात् पद और पदार्थ को मिलाने वाला तत्त्व-द्रष्टा का चेतन मन है। जहाँ कहीं वाच्य और वाचक होगा वहीं चेतन-द्रष्टा का यह ज्ञान उपस्थित होना चाहिए। नहीं तो अर्थ की प्रतीति नहीं होगी। इस प्रकार यदि प्रणव को परमात्मा का वाचक माना जाए तो स्वीकार करना पड़ेगा कि किसी चेतनतत्त्व की प्रतीति भी इसके साथ संबद्ध है। लेकिन आगमों के अनुसार प्रणव या ओंकार सूक्ष्मवेद है अर्थात् ज्ञान ही है। वह ज्ञाता नहीं है, ज्ञेय भी नहीं है। वह स्वयं ज्ञान है। दूसरे शब्दों में ज्ञेय की प्रतीति का साधन है। स्थूल-ज्ञान से वह भिन्न है। वह सूक्ष्म ज्ञान है। इसलिये उसे वाचक नहीं कहा जा सकता। परन्तु उसमें भी ज्ञाता और ज्ञेय का भेद मिटा नहीं है। वहाँ भी ज्ञातृ-ज्ञेय-ज्ञान-भेद बना हुआ है। इस बात को आगमों में अनेक प्रकार से समझाया गया है। अ, उ और म इन तीन अक्षरों को कभी बीज,

नाद और विन्दु कहा गया है, कभी ज्ञान, इच्छा और क्रिया कहा गया है। ये स्थूल बीज, नाद और विन्दु से भिन्न, केवल भावरूप में वर्तमान होने के कारण सूक्ष्म हैं। यही कारण है कि आगमों में यज्ञ-याग का विधान करने वाले ध्वन्यात्मक वेद को स्थूलवेद कहा है। और यज्ञ-याग की साधनभूत सामग्रियों को रूप देने वाले, भावरूप में वर्तमान ओंकार रूप समष्टिगत स्पन्द को सूक्ष्मवेद कहा है। यह भी साधन है। परज्ञान नहीं है, अपरज्ञान है। परज्ञान तो परासंवित् जहाँ ज्ञाता-ज्ञेय और ज्ञान एकमेव हो जाते हैं। वहाँ ज्ञान दृश्य या दर्शनमात्र है। वह द्रष्टास्वरूप भी है। इसीलिये परा-संवित् इससे भी अधिक सूक्ष्म है। शैवागमों में इस परासंवित् की महिमा इस प्रकार बताई गई हैं—"प्रत्येक पिण्ड में वही चंचला परासंवित् रूपायित हो रही है। प्रत्येक मनोभाव में उसी परासंवित् का रूप स्फुरित हो रहा है। और प्रत्येक बौद्धिक व्यापार में उसी परासंवित् का प्रकाश उद्भासित हो रहा है। इस प्रकार परासंवित ही संसार के स्थूल और सूक्ष्म सभी पदार्थों को रूप, प्रकाश और बोध के रूप में प्रकाशित हो रही है।

२. गोरखनाथ की योग–साधना

२.१ शिवोपदिष्ट योग का संकेत

महायोगेश्वर आदिनाथ शिव योगदर्शन के आदिप्रवर्तक माने जाते हैं। नाथ–परम्परा अथवा नवनाथों की विभिन्न सूचियों में चाहे कितना ही अन्तर क्यों न हो, किन्तु आदिनाथ के रूप में योगिराज शिव सर्वत्र विद्यमान हैं। चाहे शास्त्रसम्मत कथन हो और चाहे लोक–प्रचलित धारणाएँ, सर्वत्र आदिनाथ शिव ही योगशास्त्र के मूल प्रेरणास्रोत एवं योगज्ञान के आदि उपदेष्टा कहे जाते हैं। पार्वती ने अपनी वन्दना में शिव को महायोगी के रूप में ही देखा है—

योगमार्गकृते तुभ्यं महायोगीश्वराय ते।
नमस्ते परिपूर्णाय जगदानन्दहेतवे ॥[1]

महायोगी गोरखनाथ ने 'गोरक्षपद्धति' में कहा है कि योगशास्त्र आदिनाथ शिव के मुखकमल से निर्गत हुआ। केवल उसी योगशास्त्र को नित्य पाठ करना चाहिए, अन्य शास्त्रों के विवेचन से कोई लाभ नहीं—

योगशास्त्र पठेन्नित्यं किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
यत्स्वयं चादिनाथस्य निर्गत वदनाम्बुजात् ॥[2]

शिवसंहिता शिवजी द्वारा उपदिष्ट योगमार्ग का ग्रन्थ है। उन्होंने भक्तों पर अनुरक्त होकर ही योग का उपदेश दिया है—

अथ भक्तानुरक्तोऽहं वक्ष्ये योगानुशासनम्।[3]

शिवजी ने जब भगवती पार्वती को योगोपदेश–नाथ-योगज्ञान प्रदान किया, तब दैवयोग से उसका श्रवण योगीन्द्र मत्स्येन्द्रनाथ ने किया और उनके द्वारा महायोगी गोरखनाथ ने उसे ग्रहण किया। इस तरह आदिनाथ शंकर द्वारा उपदिष्ट योग-ज्ञान-परम्परा अद्यपर्यन्त नाथ-सम्प्रदाय में ग्रहीत होती आ रही है।[4]

---

1 योगबीज-३
2 गोरक्षपद्धति २/१००
3 शिवसंहिता १/२
4 महायोगेश्वर आदिनाथ-शिव—श्रीरामलाल श्रीवास्तव, 'योगवाणी' का नाथसिद्धचरितामृत' विशेषांक पृ० ७

श्रीगोरखनाथ ने अपने संस्कृत ग्रन्थों में—विशेष रूप से गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह में महायोगेश्वर शिव को योगसाधना का आदि प्रवर्तक एवं परम उपास्य आदि-गुरु स्वीकारते हुए उनकी योगपद्धतियों का विस्तार से निरूपण किया है, साथ ही अपनी हिन्दी रचनाओं में भी उन्होंने भगवान शिव को ही आदिगुरु स्वीकार करते हुए उनके उपदिष्ट योग सिद्धांत का ही निरूपण किया है। उनका कहना है कि जब योगी घट-घट में आदिनाथ शिव की समान रूप से अनुभूति कर लेता है,तभी वह योग का प्रारंभ कर सकता है।

जोगारम्भ की याही वाणी सब घटि नाथ एकै करि जाणी ।[1]

'गोरखबानी' में श्री गोरखनाथ ने आदिनाथ शिव को २२ नामों अथवा प्रतीकों से सम्बोधित किया है। पुरिष, परमपुरुष, महापुरिष, अलखपुरिष, प्राणपुरिष, नाथसतगुर, जगन्नाथ, सीव, सदासिव, अच्यन्त, सेतफटकमनि, दीपक, अदिष्टि, अधर, निरंजन आदि शब्द परमशिव के लिए ही प्रयुक्त हुए हैं। योगसाधना में यह शिव निर्विकार निरजन है। इसी निरंजन परमेश्वर की उपासना नाथयोग का परम लक्ष्य है। श्रीगोरखनाथ इस निरंजन का निरूपण इस प्रकार करते हैं।

उदै न अस्त रात न दिन सरबे चराचर भाव न भिन्न ।
सोई निरंजन डाल न मूल, सर्वव्यापीक सुषम न अस्थूल ।।[2]

'यत् ब्रह्माण्डे तत् पिण्डे' के अनुरूप भगवान् शिव का कहना है कि इस शरीर में सात द्वीपों के सहित सुमेरु पर्वत विद्यमान है। सरिता, सागर, पर्वत, क्षेत्र, क्षेत्रपाल, ऋषि-मुनि और सभी नक्षत्र, ग्रह, पुण्यतीर्थक्षेत्र एवं पीठ और पीठदेवता, सभी की इस शरीर में विद्यमानता है।

देहेऽस्मिन् वर्तते मेरुः सप्तद्वीपसमन्वितः ।
सरितः सागराः शैलाः क्षेत्राणि क्षेत्रपालकः ।।
ऋषयो मुनयः सर्वे नक्षत्राणि ग्रहास्तथा ।
पुण्यतीर्थानि पीठानि वर्तन्ते पीठदेवताः ।।[3]

इसी प्रकार प्राणसंकली में गोरखनाथ ने पिण्ड के आध्यात्मिक रहस्य का निरूपण रूपक शैली में किया है—

तीस पौलि तेरह प्रवांणी। तीनि गुप्त दस प्रकट जाणी।
नौ नाटिका कोठड़ी बहत्तरि। चोर पचास पचीस पंच घटि।
चीरा लगा तीनि सै साठी। नौ से षाई नाटिक गांठी।
नदी अठारह गंडिक बहई। मगरमच्छ जल पंरत रहई ।।[4]

शिवसंहिता के आधार पर पुरुष का परम लक्ष्य योगसाधना है, भोग नहीं—

स्थिते देहे जीवति च योगं न श्रियते भृशम् ।

1 गोरखवानी-दयाबोध
2 गोरखवानी-सबदी-११
3 शिवसंहिता २/१-२
4 गोरखवानी, प्राणसंकली

इन्द्रियार्थोपभोगेषु स जीवति न संशयः ॥[1]

श्रीगोरखनाथ ने बार-बार शुक्र-रक्षा पर बल दिया है जो योगी कामवृत्ति का नाश कर देता है, शुक्र को ऊर्ध्वगामी बनाकर कामिनी के भोगास्वादनपरक सेवन का परित्याग कर देता है, उसका सम्मान विष्णु भी करते हैं—

अरधैं जाता ऊरधैं धरैं। कामदगध जे जोगी करैं।
तजे अल्यंगन काढै माया। ताका बिसनु पखालैं पाया॥[2]

शिवसंहिता में प्राणायाम से योगसिद्धि का विधान किया गया है। पद्मासन के बारे में कहा गया है कि योगी एकान्त में पद्मासन में स्थित होकर दोनों विज्ञान-नाड़ियों-इड़ा और पिंगला को अंगुलियों से बन्द करे और इस प्रकार प्राणायाम का अभ्यास करे। जो साधक इस प्रकार का अभ्यास करता है, उसके लिये योगसिद्धि दूर नहीं है। इस प्रकार क्रमपूर्वक अभ्यास से वायु की सिद्धि प्राप्त हो जाती है, इसमें सन्देह नहीं है।

पद्मासनस्थितो योगी जनसंगविवर्जितः।
विज्ञाननाड़ीद्वितीयमंगुलीभ्यां निरोधयेत्॥
यः करोति सदाभ्यासं तस्य सिद्धिर्नदूरतः।
वायुसिद्धिर्भवेतस्य क्रमादेव न संशयः॥[3]

गोरखबानी में पद्मासन को गोरखनाथ ने प्राणायाम का सहायक माना है। इससे चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाता है और परिणामस्वरूप योगी ब्रह्मरन्ध्र में ज्ञान-ज्योति का दर्शन करता है।

ऊ आसण करि पदम आसण बंधि। पिछलै आसण पवनां संधि।
मन मुछावैं लावै ताली। गगन सिषर में होई उजाली॥[4]

शिवसंहिता में मात्र योगशास्त्र पर ही बल दिया है। अगर योगशास्त्र का अध्ययन कर लिया जाय और उसे अपने जीवन में चरितार्थ कर लिया जाय तो अन्य शास्त्रों की कोई आवश्यकता नहीं रहती—

आलोक्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः।
इदमेकं सुनिष्पन्नं योगशास्त्रं परं मतम्॥[5]

गोरखनाथ ने अनेक स्थानों पर अन्य शास्त्रों के पढ़ने का निषेध किया है। उनका कहना है कि परम शिव का ठीक-ठीक निर्वचन न वेद कर पाये हैं, न किताबी धर्मों की पुस्तकें और न चारों खानि की वाणी। ये सब तो उसे आच्छादित कर देते हैं। ब्रह्मरन्ध्र में समाधि द्वारा जो शब्द प्रकाश में आता है, उसमें विज्ञानरूप अलक्ष्य

1 शिवसंहिता ५/२१८
2 गोरखबानी सबदी-१७
3 शिवसंदिता ५/५१-५२
4 गोरखबानी-आत्मबोध
5 शिवसंहिता १/१७

का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए—

बेद कतेब न षाणी वाणी । सब ढंकी तलि आंणी ।
गगन सिषर महि सबद प्रकास्या । तहं बूझै अलप विनाणीं ।।[1]

नाथसम्प्रदाय में गुरु को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। गुरु ही पिता, माता और देवता है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। कर्म, मन और वाणी से गुरु की अच्छी तरह सेवा करनी चाहिए। आत्मा गुरु की प्रसन्नता से समस्त शुभ की प्राप्ति कर लेता है। इसलिए गुरु सदा सेव्य है, अन्यथा शुभ-श्रेय की सिद्धि नहीं हो सकती—

गुरुः पिता गुरुर्माता गुरुर्देवो न संशयः ।
कर्मणा मनसा वाचा तस्मात् सर्वैः प्रसेव्यते ।
गुरुप्रसादतः सर्वं लभ्यते शुभमात्मनः ।
तस्मात् सेव्यो गुरुर्नित्यमन्यथा न शुभंभवेत् ।[2]

श्रीगोरखनाथ ने सद्गुरु को सर्वोपरि महत्त्व दिया है—

प्रथमे प्रणऊँ गुरु के पाया । जिन मोहि आत्मब्रह्म लषाया ।
सतगुरु सबद कह्यां तैं बूझ्या । तृहुं लोक दीपक मनि सूझ्या ।।[3]

जब पूर्ण गुरु मिल जाये, तभी योगाभ्यास के मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। ऐसा न हो कि कुल से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाये और तपस्या भी पूर्ण न हो। अपूर्ण गुरु के सम्पर्क में आकर न तो मृत्युंजय हो सकते हो और न उलझनों से ही मुक्त हो सकते हो। ऐसी अधूरी तपस्या से कोई साधक शूर नहीं हो सकता है।

काल न मिट्या जंजाल न छुट्या तप करि हुवा न सूरा ।
कुल का नास करै मति कोई जै गुरु मिलै न पूरा ।।[4]

शिवसंहिता में योगी के आहार-विहार का नियमन किया गया है। बुद्धिमान् साधक को योगाभ्यास की सिद्धि जब तक पूर्ण रूप से न हो जाय, तब तक आहार अल्प मात्रा में ही ग्रहण करना चाहिए। इसके विपरीत अधिक मात्रा में भोजन ग्रहण करने से साधन में सफलता नहीं मिलती है। बुद्धिमान् साधक को साधु-बुद्धि से यथा-वश्यक बातचीत करनी चाहिए। शरीर की रक्षा के लिए अल्प भोजन और अल्प संलाप करना चाहिए, क्योंकि अधिक बोलने से शारीरिक शक्ति का ह्रास होता है—

अभ्यासपाकपर्यन्तं मितान्नं स्मरणं भवेत् ।
अन्यथा साधनं धीमान्कर्तुं पारयतीह न ।।
अतीवसाधुसंलापं साधुसम्मतिबुद्धिमान् ।
करोतिपिण्डरक्षार्थं बव्हालापविवर्जितः ।।[5]

---

1 गोरखबानी, सबदी-४
2 शिवसंहिता ३।१४-१५
3 गो० बा० प्राणसंकली
4 गोरखबानी, पद २२।२
5 शिवसंहिता ५।२१९-२०

गोरखबानी में संयमित जीवन–निर्वाह के लिए अनेक उपदेश दिये गये हैं। गोरखनाथ का कहना है कि शीघ्रता से अल्पाहार का लेना ही शरीर रक्षा का उपाय है, क्योंकि प्राणवायु उसी शरीर में ठीक तरह से संचरित होती है, जो कम बोलता है और कम खाता है।

फुरतं भोजन अलप अहारी। नाथ कहै सो काया हमारी।[1]

× × ×

थोड़ा बोलै थोड़ा षाइ। तिस घट पवनां रहै समाइ॥[2]

भोजन में फुर्ती से तात्पर्य जल्दबाजी से नहीं है, श्रीगोरखनाथ तो प्रत्येक काम को सोच-समझकर करने का उपदेश देते हैं। उनका कहना है कि बिना सोचे समझे अचानक नहीं बोल पड़ना चाहिए। जिस मार्ग पर चलना है, उस पर सोच-समझकर धीरे-धीरे कदम रखना चाहिए। अहंकार न करते हुए सहज सामान्य स्थिति में रहना चाहिए—

हबकि न बोलिबा ठबकि न चलिबा धीरैं धरिबा पावं।
गरब न करिबा सहजै रहिबा भणंत गोरष रावं॥[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि गोरखनाथ की हिन्दी रचनाओं में शिवोपदिष्ट योगज्ञान का पूर्ण अनुसरण किया गया है। नाथयोग प्रकारान्तर सेशिवयोग ही है और इसके मूल प्रचारक महायोगी गोरखनाथ हैं।

२.२ सिद्ध-सिद्धान्त

सिद्ध–सिद्धान्त से हमारा तात्पर्य है—नाथ सिद्धों द्वारा अनुभूत महायोग ज्ञान अथवा श्री गोरखनाथ–संप्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्त। यहाँ गोरखबानी के दार्शनिक सिद्धान्तों का निरूपण श्री गोरखनाथ द्वारा विरचित "सिद्ध–सिद्धान्त–पद्धति" के परिप्रेक्ष्य में करना ही हमारा अभीष्ट है। "सिद्ध–सिद्धान्त–पद्धति" के दार्शनिक सिद्धान्त गोरखबानी में भी निरूपित हैं। "सिद्ध–सिद्धान्त–पद्धति" का परम तात्पर्य है पिण्ड में अखिल ब्रह्माण्ड-नायक की देशकालातीत व्यापकता की अनुभूति। और यही परम तात्पर्य श्री गोरखनाथ की हिन्दी बानियों में भी मिलता है।

"सिद्ध–सिद्धान्त–पद्धति" में छह उपदेश (अध्याय) हैं। प्रथम उपदेश में ब्रह्माण्ड और पिण्ड की उत्पत्ति का वर्णन है। परम सत्ता के स्वरूप का पूर्ण विवेचन किया गया है। शाश्वत परम सत्ता ही स्वरूपभूता शक्ति के द्वारा ब्रह्माण्ड और पिण्डों के रूप में व्यक्त होती है। वह परम सत्ता ही प्रत्येक पिण्ड में अन्तर्यामी के रूप में निहित रहती है।

ब्रह्माण्ड और पिण्ड की उत्पत्ति तथा परस्पर संबद्धता को श्री गोरखनाथ ने 'मछीन्द्र गोरष बोध' में प्रश्नोत्तर शैली के माध्यम से अति सरल रूप में समझाया है।

1 गो० बा० सबदी २०
2 गो० बा० सबदी ३२
3 गो० बा० सबदी २७

गोरखनाथ प्रश्न करते हैं कि जब साकार रूप पिण्ड समाप्त हो जाएगा, पवन, जल आदि पंच तत्त्व भी नहीं रहेंगे, चन्द्र–सूर्य भी नहीं रहेंगे, तब हंस की क्या पहचान होगी ?

स्वामी अकार छूटिसी निराकार होइसी, पवन न होसी पाणीं
चंद सूर दोऊ न होसी, तब हंस की कौन सहनांणी ।[1]

मछींद्रनाथ समाधान करते हैं कि जब यह सब कुछ नहीं रहेगा तो साकार निराकार में सहज ही समाहित हो जाएगा और हंस का निवास परम-ज्योति में होगा–

"अवधू सहज हंस का येल भणीजै, सुनि हंस का वास ।
सहज ही आकार निराकार होइसी,
परम ज्योति हंस का निवास ।[2]

यह पूछे जाने पर कि शरीर रचना कैसे होती है, क्या-क्या, कहाँ-कहाँ रहता है, मछीन्द्र नाथ उत्तर देते हैं—

अवधू अनीलगृह अविगत बास
अतीत गरभि रहता दस मास
मनमुषि पांणी पवन मुषि अस्तुति षीर,
ओंकार उतपति शरीर ।।[3]

सिद्ध–सिद्धान्त–पद्धति के दूसरे उपदेश (अध्याय) में पिण्ड विचार है । पिण्ड की आन्तरिक रचना का बड़ा विस्तृत विवेचन है । शरीर के अन्तर्गत नव चक्रों, सोलह आधारों, तीन लक्षों तथा पाँच आकाशों के सम्बन्ध में विशिष्ट मान्यताओं का निरूपण किया गया है । इन चक्र इत्यादि के ज्ञान पर श्री गोरखनाथ ने विशेष बल दिया है । इनके ज्ञान के लिए गुरु के निर्देश को महत्त्व दिया गया है क्योंकि—

"साच का सबद सोना का रेख निगुरां कौं चाणक सगुरा कौं उपदेश ।
गुर का मुंडया गुंठा मैं रहै । निगुरा भ्रमै औगुण गहै ।।
सबदी, १४६

सत्य का शब्द सोने की रेखा के समान है, जो सब कसौटियों पर खरा उतरता है, किन्तु इस सत्य शब्द का उपदेश उन्ही को होता है, जिन्होंने योग्य गुरु को धारण किया है । गुरुहीनों को तो चालबाजी ही मिलती है, क्योंकि उसे बिना गुरु के कुछ आ तो नहीं सकता, केवल सिद्धि का धोखा देकर प्रसिद्धि प्राप्त करना चाहता है । जिसे गुरु ने मूंड कर चेला बनाया वह गुण ग्रहण करता है । जिसने गुरु की शरण नहीं ली वह भ्रम में पड़ जाता है और अवगुण धारण कर लेता है ।

पिण्ड–रचना का तथ्य "रोमावली" में कुछ इस प्रकार दिया गया है—

"सत पिता रज माता तम कार गाड़ी पाई,

---

1 मछीन्द्र गोरख बोध ३९
2 मछीन्द्र गोरष बोध, ४०
3 मछीन्द्र गोरष बोध, ५८

लोह मास तुचा नाड़ी ये चारि धात माता की, बोलिये
बीरज हाड़ गूद ये तीनि धात पिता की बोलिये,
ए सप्त धात का शरीर बोलिये ।
द्वै हाथ द्वै पैर छाती लिलाट घाट अष्टांग योग बोलिये
बंद भेद मुद्रा तीन्यूं साधंति ते सिधा बोलिये ।[1]

पिण्ड के आध्यात्मिक रहस्य का निरूपण रूपक-शैली में 'प्रांण संकली रचना में बहुत ही आकर्षक ढंग से किया गया है ।

"तीस पोलि तेरह प्रबांणो । तीनि गुप्त दस प्रकट जाणीं ।
नौ नाटिका कोठडी बहत्तरि । चोर पचास पचीस पंचधरि ।
चीरा लगा तीनि सै साठी । नौ सै षाई नाटिक गांठी ।
नदी अठारह गंडिक बहई । मगरमच्छ जल पैरत रहई ।
अह्ठ कोटि बनासपती माला । सहज कमल दल पद्मनी नाला ।
भेदि षट चक्र बसै नांगणीं । कोटणीं सत मोहि फणीं ।[2]

मानव शरीर के तेरह प्रामाणिक फाटक हैं जिनमें दस प्रकट और तीन गुप्त हैं । प्रकट दस द्वार तो ब्रह्मरंध्र सहित नवरंध्र हैं । तीन गुप्त द्वारों का वर्णन गोपनीय समझकर योगियों ने अपनी बानियों में नहीं किया है । उसमें सौ नाड़ियाँ और बहत्तर कोठें हैं । नाड़ियाँ बहत्तर हजार मानी जाती हैं । उनमें से बहत्तर श्रेष्ठ मानी जाती हैं और उनमें से भी दस प्रधान हैं । ये बहत्तर कोठे बहत्तर नाड़ियाँ ही हैं । यहाँ दस नाड़ियों में से सुषुम्ना को छोड़कर शेष नौ कही हैं । सुषुम्ना में ही ये सब मिलती हैं । नौ नाड़ियों के नाम हैं—इड़ा, पिंगला, गांधारी, हस्ति, जिह्वा, पूषा, यशास्विनी, अलम्बुषा, कुहु और शखिनी । इस किले में (शरीर में) पचास (षट चक्रों के ५० दल) पच्चीस प्रकृति और पांच तत्त्व चोर हैं । जब तक षट चक्र का बेधन नहीं होता, पच्चीस प्रकृतियाँ वश में नहीं होतीं । पंच तत्त्वों से ऊपर नहीं उठा जाता तब तक अध्यात्म योग में सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती । शरीर की ३६० हड्डियाँ पत्थर हैं जिनसे गढ़ बना है । शरीर में प्रधान नव नाड़ियाँ खाई हैं । कुल ७२ करोड़ नाड़ियाँ हैं । असंख्य नाड़ियों का अन्त रोमकूपों में हुआ है । उनसे उठने वाले रोम वनस्पति-माला हैं । इन्हीं नाड़ियों का एक-दूसरे से ऊपर उठ जाना ऊपर कोठड़ी कहा गया है । इनमें से प्रधान ग्रन्थियाँ कमल-दल के समान हैं । ये ही षट चक्र हैं । कुण्डलिनी शक्ति इनसे परे बसती है । उसे जागरित करने के लिए षट-चक्रों का भेदन आवश्यक है । कुण्डलिनी अपने मोह रूपी फनों से वहाँ सत्य की रक्षा करती है । सत्य के पास किसी को पहुँचने नहीं देती ।

"सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति" के तीसरे उपदेश (अध्याय) में श्रीगोरखनाथ ने 'यत् पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे' पर बल देते हुए यह समझाया है कि जो कुछ बाहर ब्रह्माण्ड में है,

1 गोरखबानी, रोमावली, पृ, २०३
2 गोरखबानी प्राण, संकली, ५-५

वह सब व्यष्टि-पिण्ड में भी है तथा दोनों में मूलभूत एकता भी है। "इस असीम और नश्वर शरीर की अनादि-अनन्त ब्रह्माण्ड के साथ तद्रूपता की अनुभूति का निर्देशन एक अभूतपूर्व एवं महान् आदर्श है जो आध्यात्मिक जिज्ञासुओं के समक्ष गोरखनाथ और उनके सम्प्रदाय द्वारा प्रस्तुत किया गया है। योगी को न केवल विश्वात्मा से व्यष्टि आत्मा की एकता की अनुभूति करनी होती है वरन् व्यष्टि-पिण्ड और ब्रह्माण्ड की एकता का अनुभव करना होता है। योगी विश्व के साथ एकाकार होकर पूर्ण स्वतन्त्रता और आनन्द का अनुभव करता है। श्री गोरखनाथ का कहना है कि 'पिण्ड मध्ये चराचरं यो जानाति स योगी पिण्ड संवितिर्थवति'[1]

'गोरखबानी' में श्री गोरखनाथ ने व्यष्टि-पिण्ड में निरंजन की व्याप्ति मन की व्यापकता से कहनी चाही है। इस शरीर में जीव, शक्ति और शिव-तीनों ही मन हैं। इसको समझने वाला तीनों लोकों को समझने वाला होगा। उसी का नाम 'पिण्ड संवति' होगा—

यहु मन सकती यहु मन सीव। यहु मन पाँच तत्त्व का जीव।
यहु मन ले जै उनमन रहै। तो तीनि लोक की बातां कहै।[2]

सुख-दुःख की अनुभूति ही स्वर्ग-नरक है। इन दोनों की स्थिति इस पिण्ड में ही है। जब योगी अपने पिण्ड में ब्रह्माण्ड की विद्यमानता का अनुभव कर लेता है तो वह जीव-मुक्त हो जाता है। यही जीव-मुक्ति की अवस्था परम कैवल्य अथवा मोक्ष है। सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति में श्री गोरखनाथ ने कहा है—

"यत्सुखं, यद् दुःखं तन्नरकं, यत् कर्म, तद्-बन्धनम्, यन्निर्विकल्पं तन्मुक्तिः स्वरूप दशायां, निद्रादौ स्वात्म जागरः शान्तिर्भवति। एवं सर्वं देहेषु विश्वरूप-परमेश्वरः परमात्माऽखण्ड स्वभावेन घहे घहे चित्त स्वरूपो तिष्ठति। एवं पिण्ड संवत्तिर्भवति।"[3]

गोरखनाथ ने इसी समष्टि-पिण्ड एवं व्यष्टि-पिण्ड की एकात्मकता का संकेत निम्न सबदी में किया है—

'गगन मंडल मैं औंधा कूवा, तहाँ अमृत का वासा।
सगुरा होइ सु भरि भरि पीवै, निगुरा जाइ पियासा।[4]

'सिद्ध सिद्धान्त-पद्धति' के चौथे उपदेश (अध्याय) में शरीर का अन्तिम आधार एक परम आध्यात्मिक शक्ति को बताया है। यह शक्ति अपने मूल रूप में शिव से अभिन्न है। शरीर शक्ति की आत्माभिव्यक्ति है। समाधि-लीन सिद्ध योगी शक्ति को उसके मूल रूप में समाहित कर शिवशक्ति के पूर्ण एकत्व का आनन्द प्राप्त करता है। अपनी हिन्दी बानियों में श्री गोरखनाथ ने कहा है—

---

1 सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति, ३/१
2 गोरखबानी, सबदी ५०
3 सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति, ३/१३
4 गोरखबानी, सबदी २३

"अधरा धरे बिचारिया, धर याही मैं सोई।
धर अधर चरचा हूवा, तब उर्तार नाहीं कोई ।।[1]

ब्रह्मरंध्र में ब्रह्म तत्त्व का विचार होता है। ब्रह्माण्ड में भी वही है। जब मूलस्थ कुण्डलिनी शक्ति का सहस्त्रारस्थ शिव से परिचय हो जाता है,तब साधक के लिए अनुभव ज्ञान से बाहर कुछ नहीं रह जाता।

गृहस्थ के घर में व्यष्टि-पिण्ड की उत्पत्ति होने से मानव-शरीर पृथक् दृष्टिगत हो जाता है किन्तु विरक्त महात्माओं की संगति से जब शिव में सकल स्वरूपा शक्ति समाहित हो जाती है, तब जीव और ब्रह्म एक हो जाते हैं।

"गिरही के घरि जनम हमारा, सगति सुरति दिढ़ांणी—
कहै नाथ जीव ब्रह्मं एकै, जब सिव धरि सकती समांणी ।।[2]

'सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति' के पांचवे उपदेश (अध्याय) में साधना के चरम आदर्श का निरूपण किया गया है। जब व्यष्टि-पिण्ड का समष्टि-पिण्ड के साथ, पिण्डों का परम शक्ति के साथ और शक्ति का परमात्मा शिव के साथ एकत्व हो जाता है, तो साधक समरसता की स्थिति में हो जाता है। इस स्थिति में योगी अपने में और सब में शिव का दर्शन करता है। सारा संसार ही शिवमय अनुभव होता है।

अकेले पिण्ड में भी ईश्वर की खोज नहीं हो सकती। अकेले ब्रह्माण्ड में भी ईश्वर की खोज नहीं हो सकती। पिण्ड और ब्रह्माण्ड का जब एकत्व हो जाता है तभी ईश्वर की खोज होती है—

'प्यंडे होई तो मरे न कोई, ब्रह्मांड़े देषै सब लोई।
प्यंड ब्रह्मंड निरन्तर बास, भणंत गोरष मछंद का दास ।[3]

योगाभ्यास के द्वारा मन को मूर्छित करके जो साधक समरस की स्थिति में हो जाता है, उसके ब्रह्म-रंध्र में ज्ञान का उजाला होता है। उसे सारा ब्रह्माण्ड प्रकाशित दिखाई देता है—

"आसण करि पद्मासन बंधि। पिछलै आसण पवनां संधि।
मन मुछावै लावै ताली। गगन सिषर मैं होई उजाली ।।[4]

'सिद्ध-सिद्धांत-पद्धति' के छठे उपदेश (अध्याय) में अवधूत योगी के चरित्र और आचरण का वर्णन किया गया है। समरसकरण के आदर्श को सिद्ध करने वाला योगी ही अवधूत कहा जा सकता है। इस स्थिति में योगी इच्छाओं,वासनाओं, चिंताओं बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

"गतेन शोकं विभवे न वाञ्छा प्राप्तेन हर्षं करोति योगी।

---

1 गोरखबानी, सबदी ६८
2 गोरखबानी, ग्यान तिलक ३३
3 गोरखबानी, सबदी ७०
4 गोरखबानी आत्म-बोध १

आनन्दपूर्णो निजबोधलीनो, न बाध्यते काल यथेन नित्यम् ।[1]

गोरखबानी में श्री गोरखनाथ कहते हैं कि जो धन और यौवन की आकांक्षा नहीं करता, स्त्री में मन नहीं लगाता, जिसके शरीर में नाद और बिन्दु जीर्ण हो जाते हैं, पार्वती उसकी सेवा करती है, क्योंकि वह योगी शिव-रूप हो जाता है—

"धन जोबन की करे न आस, चित्त न राषै कामंनि पास
नाद बिंद जाके घटि जरै, ताकी सेवा पार्वती करै ।[2]

अवधूत के चरित्र और आचरण की ओर संकेत करते हुए श्री गोरखनाथ योगी को उपदेश देते हैं—

"नाथ कहै तुम सुनहु रे अवधू दिढ़करि राषहु चीया ।
काम क्रोध अहंकार निवारो तौ सबै दिसंतर कीया ।।[3]

योगी को अहंकार समाप्त कर देना चाहिए, निराकार आत्मा को प्रस्फुटित करना चाहिए । जहाँ गंगा (इड़ा) एवं जमुना (पिंगला) का पानी सोख लिया गया अर्थात् दोनों का प्रभाव मिटाकर सुषुम्ना में मिला लिया गया तथा सहस्रारस्थ चन्द्रमा और मूलाधारस्थ सूर्य दोनों का विरोधी स्वभाव मिटाकर सम्मुख कर दिया गया हो उसका लक्षण अवधूत ही जान सकता है । अतः गोरखनाथ ने इस स्थिति की पहचान अवधूत से पूछी है—

अहंकार तूटिबा निराकार फूटिबा, सोषीला गंग जमन का पानी
चंद सूरज दोऊ सनमुषि राषीला, कहो हो अवधू तहाँ की सहिणानी[4]

"मछीन्द्र-गोरष-बोध" में शिष्य की शंकाओं का समाधान करते हुए योगी की साधना का विस्तार से विवेचन किया गया है । इस रचना में सारा 'सिद्ध-सिद्धान्त' निहित है । 'सबदी' में गुरु का महत्व, योगी का चरित्र तथा पिण्ड-ब्रह्माण्ड की एक-रूपता के सिद्धान्तों का वर्णन है । 'आत्म-बोध' में योग-साधना के सिद्धान्त निहित हैं । 'रोमावली' और 'प्राण संकली' में पिण्ड की आन्तरिक रचना का निरूपण है, 'ग्यान-तिलक' में योग-सिद्धि के अनेक सिद्धान्त निहित हैं और पदों में उलट बाँसियों के द्वारा गूढ़ सिद्ध-सिद्धान्तों का निरूपण है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्री गोरखनाथ ने जिन सिद्धान्तों को अपने 'सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति' ग्रन्थ में अथवा अन्य संस्कृत ग्रन्थों में निरूपित किया है, वे ही सिद्धान्त न्यूनाधिक रूप में उनकी हिन्दी बानियों में भी प्रकारान्तर से मिल जाते हैं ।

२.३ हठयोग प्रक्रिया

योग का सामान्य अर्थ है सम्बन्ध । दर्शन में जीवात्मा और परमात्मा के

1 सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति ६/६८
2 गोरखबानी, सबदी १६
3 गोरखबानी, सबदी २६
4 गोरखबानी, सबदी ११३

सम्बन्ध को ही योग कहा जाता है। पंतजलि ने अपने योगसूत्र में चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहा है— योगश्चित्तवृत्ति निरोधः। योग-शिखोपनिषद् में चार प्रकार योगों का उल्लेख है—

मंत्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग।

नाथ पंथ की साधना-पद्धति का नाम हठयोग है। यद्यपि पतंजलि ने राजयोग को हठयोग से भिन्न बताया है फिर भी बिना हठयोग के राजयोग की प्रक्रिया असंभव है। हठयोग वास्तव में प्राणवायु के निरोध पर आधारित है और राजयोग मन के निरोध पर, किन्तु मन को निरोधने के लिए प्राणवायु का निरोधना आवश्यक है। नाथपंथ में हठयोग को राजयोग से अलग करके नहीं देखा गया। हठयोग मंत्रयोग और लययोग में भी सहायक है। दूसरे हठयोग के ग्रन्थों में अष्टांग योग और षडंग-योग-दोनों का उल्लेख मिलता है—गोरक्ष शतक में षडंगयोग और सिद्ध-सिद्धान्त-संग्रह में अष्टांग योग। अतः हठयोग में अष्टांग योग और षडगयोग दोनों ही विधियाँ आती हैं।

हठयोग में 'ह' और 'ठ' के योग की बात है। 'ह' और 'ठ' के विभिन्न अर्थ किये जाने के कारण हठयोग की विभिन्न व्याख्याएँ की गयी हैं—

ह+ठ+योग=सूर्य+चन्द्र+योग
ह+ठ+योग=प्राण+अपान+योग
ह+ठ+योग=दक्षिण+वाम+योग
ह+ठ+योग=यमुना+गंगा+योग
ह+ठ+योग=पिंगला+इड़ा+योग
ह+ठ+योग=रजस्+रेतस्+योग

नाथ-संप्रदाय में उक्त सभी व्याख्याएँ प्रकारान्तर से एक ही अर्थ रखती हैं और वह है—इड़ा और पिंगला का योग। इड़ा और पिंगला को ही प्रतीकात्मक शैली में चन्द्र और सूर्य, वाम एवं दक्षिण, अथवा गंगा एवं यमुना कहा गया है। इड़ा और पिंगला के योग से ही अपान और प्राण का योग होता है। रेतस् और राजस् का योग होता है। इड़ा और पिंगला-योग ही हठयोग है।

मानव-शरीर में तीन शक्तियाँ ऐसी हैं, जिन्हें साध लेने पर योगी इड़ा और पिंगला का योग कर सकता है। वे हैं—मन, वायु एवं शुक्र। इन तीन शक्तियों की साधना से इड़ा और पिंगला का योग होता है, हठयोग होता है। इन तीनों की साधना से कुण्डलिनी शक्ति का उद्बोधन होता है। गोरखबानी में मन, वायु एवं शुक्र को संयत करने में तथा इड़ा और पिंगला के समन्वय से कुण्डलिनी शक्ति के उद्बोधन के सम्बन्ध में पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होती है।

सबसे पहले हठयोगी के लिए मन को संयमित करना नितान्त आवश्यक है। मानव-शरीर में मन एक अनुपम शक्ति के रूप में निहित है, उसका स्थान हृदय में होता है।

'अवधू हिरदै बसै मन नाभी बसै पवन।'[1]

और उसका स्वरूप शून्य के समान है।

अवधू मन का सुंनि रूप।[2]

मन दो प्रकार से प्रयुक्त होता है अच्छा और बुरा। आशा, इच्छा और वासनाओं में लिप्त मन मानव को पतन की ओर ले जाता है और गुरु की शरण में गया हुआ सांसरिक वासनाओं से विरक्त मन योगी की साधना को सफल बना देता है।

कै मन रहे आसा पास, कै मन रहे परम उदास।
कै मन रहे गुरू के ओलै, कै मन रहे कांमनि के षोलै ॥[3]

मन की शक्ति को समझना साधक के लिए परमावश्यक है, उसकी चंचलता को संयमित करके उन्मनी अवस्था वाला बनना चाहिए। ऐसा करने पर मन साधक की साधना में सहयोग देता है और योगी त्रिलोकदर्शी एवं त्रिलोकज्ञाता हो जाता है:—

यहु मन सकती यहु मन सीव, यहु मन पांच तत्त्व का जीव।
यहु मन ले जै उनमन रहै, तो तीनि लोक की बातां कहै ॥[4]

मन को विश्वास में लेने से शरीर तर जाता है। मन में ही वह कुम्भ अथवा कलश है, जो अमृत रस से भरा हुआ है। इस अमृत रस को पहचानने वाला साधक मन में ही अलक्ष्य परमात्मा से साक्षात्कार करता है।

मन मांहैं तेणैं तन तर्यां मन बिसबासे मिलणां।
मन में कुम्भ कलस रस भरिया तेणैं मनवैं अलख लाषाया मेरे ज्ञानी ॥[5]

मन को मारने के लिए, संयत करने के लिए अथवा उन्मन बनाने के लिए गुरु के ज्ञान रूपी बाण की आवश्यकता पड़ती है, देवताओं और राक्षसों को भी वश में करने वाला मन गुरुज्ञान के वश में हो जाता है।

जिनि मन ग्रसे देव दाण।
सो मन मारिले गह गुरु ज्ञांण वांण ॥[6]

मन को संयत करने के लिए प्राणवायु का निरोधना आवश्यक है, प्राणवायु और मन का सम्बन्ध है, नाथ योगी गोपीचन्द ने भी कहा है:—

पवन थिरंता मन थिर मन थिरंता ब्यंद।
ब्यंद थिरंता कंध थ्यर यूं भाषै गोपीचन्द ॥

सार तत्त्व को वही योगी जान सकता है, जो मन और वायु दोनों को उन्मनी अवस्था में कर लेता है।

---

1 गोरखबानी, मछीन्द्र-गोरखवोध, पृ० १८९
2 गोरखबानी, मछीन्द्र-गोरख बोध, पृ. १८७
3 गोरखबानी, सबदी, १७२
4 गोरखबानी, सबदी ५०
5 गोरखबानी, पृ० ८९
6 गोरखवानी, सबदी २२९

मन पवना लै उनमनि धरिबा तै जोगी ततसार ॥[1]

मन और पवन के संयत होने से शुक्र उर्ध्वगामी बनता है, किन्तु साधना के लिए ही मन और पवन को उन्मन किया जाता है।

मेरुदण्ड के मूल में सूर्य और चन्द्र के बीच योनि में स्वयंभू लिंग हैं, जिसे पश्चिमी लिंग भी कहते हैं। यही पुरुषों के शुक्र और स्त्रियों के रज: स्खलन का मार्ग है। यही काम-विषहर और निरंजन का स्थान है, वीर्य स्खलन की दो अवस्थाएँ होती हैं, इन दोनों के पारिभाषिक नाम प्रलयकाल और विष-काल हैं। इन दोनों अवस्थाओं में जो आनन्द होता है, वह घातक है। एक का अधिष्ठाता काम है और दूसरे का विषधर। तीसरी अवस्था नाना भाव विनिर्मुक्त सहजानन्द की अवस्था है, इसमें बिन्दु ऊर्ध्वमुख होकर ऊपर उठता है, तब यह सहज समाधि प्राप्त होती है, जिसमें मन और प्राण अचंचल हो जाते हैं।[2]

शुक्र के लिए श्री गोरखनाथ ने बिंद, ब्यंद, जल ब्यंद, रस, अमीरस, महारस, रसकुस, पारा षीर, रतन आदि शब्दों का प्रयोग किया है। शुक्र की स्वाभाविक गति अधोमुखी है। उसे ऊर्ध्वमुखी करना ही योगी का लक्ष्य है। शुक्र भोग की भी वस्तु है और योग की भी। उसके योग रूप को जाननेवाला ब्रह्म-निष्ठ बन जाता है।

ब्यंद ही जोग ब्यंद ही भोग। ब्यंद ही हरे चौसठि रोग ॥
या बिंद का कोई जांणै भेव। सो आपैं करता आपैं देव ॥[3]

श्री गोरखनाथ जी ने शुक्र-साधना पर अधिक बल इसलिए भी दिया था कि उनके समय में वामाचार साधना के कारण शुक्र का भोग पक्ष प्रबल हो गया था। इसी कारण श्री गोरखनाथ ने योगियों को दो श्रेणियों में विभाजित कर दिया—झरणा योगी तथा जरणा योगी। जरणा योगी ही अमरत्व को प्राप्त होता है।

जरणा जोगी जुगि जुगि जीवे झरणा मरि मरि जाय।[4]

इसलिए गोरखनाथ जी का कहना है कि अधोगामी शुक्र को जिस साधक ने ऊर्ध्वगामी बना लिया है, उसके चरणों को विष्णु भी धो-धोकर पीता है।

उरधै जाता अरधै धरै, काम दगध जे जोगी करै।
तजे अल्यंगन काटे माया, ताका बिसनु पषाले पाया ॥[5]

मन, पवन और शुक्र को साध लेने के पश्चात् इड़ा और पिंगला का परस्पर संयोग हो जाता है। शरीर में सुषुम्ना, इड़ा और पिंगला तीन नाड़ियाँ सर्वाधिक

---

1 गोरखबानी, सबदी ३४
2 नाथ-संप्रदाय-डा०हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ. १३९-१४०
3 गोरखबानी, सबदी १४८
4 गोरखबानी, सबदी २५२
5 गोरखबानी, सबदी १७

महत्वपूर्ण हैं। सुषुम्ना नाड़ी को ही ब्रह्म-नाड़ी कहते हैं।[1] यह मेरुदण्ड में स्थित है। साधक कुण्डलिनी शक्ति को इस सुषुम्ना नाड़ी में होकर ही ब्रह्मरंध्र तक पहुंचाता है। इड़ा मेरुदण्ड में सुषुम्ना के बायीं ओर होती है जो नाक के बांये छेद में समाप्त होती है। प्राण वायु की संचालिका होने के कारण इसे गंगा भी कहा गया है। पिंगला मेरुदण्ड में सुषुम्ना के दायीं ओर होती है, जो नाक के दांये छेद में समाप्त होती है। इसे काली गंगा अथवा यमुना भी कहा गया है। प्राणवायु को संयत कर इड़ा और पिंगला में प्रवाहित होने से साधक को रोकना होता है और सुषुम्ना के माध्यम से ऊपर को उठाना होता है। इस स्थिति में इड़ा और पिंगला का समन्वय हो जाता है तथा वे दोनों अपनी प्राणवायु को सुषुम्ना के लिए समर्पित कर देती हैं। श्री गोरखनाथ का कहना है—

सूर माँहि चंद चंद माँहि सूर। चंपपि तीनि तेहुड़ा बाजल तूर।
भणन्त गोरखनाथ एक पद पूरा। भाजत भोंदू साधति सूरा॥[2]

प्राणवायु को उलटकर (अर्थात् इड़ा और पिंगला से रोककर) सुषुम्ना में प्रवाहित करने से शुक्र का जरण होता है। इड़ा और पिंगला का सुषुम्ना के घर में करने वाला योगी स्वयं अलक्ष्य और विज्ञानी (ब्रह्म) हो जाता है।

उलटिया पवन षट बेधिया, तातैं लोहै सोषिया पाणीं।
चंद सूर दोऊ निज घरि राष्या, ऐसा अलष विनांणी॥[3]

इड़ा और पिंगला को अवरुद्ध कर सुषुम्ना के मार्ग से प्राणवायु को प्रवाहित करने से कुण्डलिनी शक्ति का उद्बोधन होता है। हठयोग के क्षेत्र में कुण्डलिनी शक्ति का महत्त्व सर्वोपरि है। मेरुदण्ड जहाँ सीधे आकर पायु और उपस्थ के मध्य-भाग में लगता है, वहाँ एक स्वयंभू लिंग है, जो एक त्रिकोण चक्र में अवस्थित है, इसे अग्नि-चक्र कहते हैं। इसी त्रिकोण या अग्निचक्र में स्थित स्वयंभू लिंग को साढ़े तीन वलयों में लपेट कर सर्पिणी की भाँति कुण्डलिनी अवस्थित है। यह कभी-कभी आठ वलयों में लपेटकर सोई हुई बतायी गयी है। यह ब्रह्माण्ड में व्याप्त महा-कुण्डलिनी

---

1 जिस प्रकार उंगली, अंगूठा, हथेली, पहूंचा, कुहनी, कन्धा आदि अंग मिलकर भुजा अथवा बांह का रूप धारण करते हैं उसी प्रकार वज्रा, चित्रिणी और ब्रह्मनाड़ी से मिलकर सुषुम्ना बनी है। इन तीन नाड़ियों का संयोग ही सुषुम्ना है। सुषुम्ना अलग से कोई नाड़ी नहीं है। कुण्डलिनी का मार्ग ब्रह्मनाड़ी में होकर ही है। जिस प्रकार तलवार हथेली और उंगलियों में होते हुए भी 'हाथ में तलवार है।' कहा जायेगा उसी प्रकार सुषुम्ना सशक्त नाड़ी होने से उसे ब्रह्मनाड़ी कह दिया है। कुण्डलिनी सुषुम्ना में होकर ऊपर उठती है ऐसा बहुत से हठयोगी कहते आये हैं। वहां सुषुम्ना से अभिप्राय ब्रह्मनाड़ी ही है। वस्तुतः सबसे ऊपर वज्रा, उसके अन्दर चित्रिणी और उसके अन्दर ब्रह्मनाड़ी होती है। तीनों का सम्मिलित नाम ही सुषुम्ना है। (हिन्दी साहित्यकोश, भाग १, पृष्ठ ६६० के आधार पर)

2 गोरखबानी, सबदी १८५

3 गोरखबानी, सबदी १०५

रूपी शक्ति का ही व्यष्टि में व्यक्त रूप है। यह शक्ति ही है, जो ब्रह्मद्वार का अवरोध करके सोई हुई है। इसे जगाकर शिव में समरस कराना योगी का चरम लक्ष्य है।[1]

षट चक्रों को वेधकर कुण्डलिनी शक्ति जब ब्रह्मरंध्र में पहुँचती है तो साधक अमृतरस-पान करता है। ब्रह्मरंध्र में ही अमृतरस कुण्ड है किन्तु उसकी प्राप्ति बिना गुरु के नहीं हो सकती अर्थात् कुण्डलिनी शक्ति को ब्रह्मरंध्र तक पहुँचाने की हठयोगी-प्रक्रिया बिना मार्ग-दर्शक अथवा बिना गुरु के असंभव है—

गगन मंडल मैं ऊधा कूवा तहाँ अमृत का बासा।
सगुरा होई सु भरि भरि पीवैं, निगुरा जाई पियासा।[2]

कुण्डलिनी-शक्ति के ऊपर उठते ही योगी कुछ विशेष प्रकार का शब्द सुनने लगता है। यह शब्द योगी का सर्वस्व है। शब्द ही ताला है, वही परम तत्त्व को बन्द किये रहता है। शब्द की धारा ही सूक्ष्म परम-तत्त्व पर स्थूल आवरणों को बाँधकर सृष्टि का निर्माण करती है, इसलिए मूल अधिष्ठान तक पहुँचनेके लिए शब्द की धारा पकड़कर वापस आना पड़ता है, इसीलिए यही कुंजी भी है, जिससे ताला खोला जाता है। गुरु के शब्द में भी परमतत्त्व रहता है, जो उसी के मनन-चिन्तन में खुलता है। अन्तर शब्द का जागरण इसी शब्द (गुरु उपदेश) के कारण होता है। जब इस प्रकार स्थूल शब्द के द्वारा सूक्ष्म शब्द से परिचय हो जाता है, तब स्थूल शब्द सूक्ष्म शब्द में समा जाता है।

'सबदहिं ताला सबदहिं कूँची, सबदहिं सबद जगाया।
सबदहिं सबद सूँ परचा हूआ, सबदहिं सबद समाया॥[3]

इसीलिए श्री गोरखनाथ का कहना है कि—

'सबद बिन्दौ अवधू सबद बिंदौ सबदे सीझत काया।
निनांणवे राजा मस्तक मुडाइले प्रजा का अंत न पाया॥[4]

यह शब्द साधक को पहले तो समुद्र-गर्जन, मेघ-गर्जन, भेरी झर्झर का-सा, फिर मृदंग, शंख घण्टा का-सा और फिर मृदंग का-सा अन्त में किंकिणी, वंशी तथा वीणा का-सा सुनाई पड़ता है। ये अन्तिम ध्वनियाँ ही साधक को सहज समाधि में लीन कर देती हैं, तभी उसे ब्रह्मानुभूति, सहजानुभूति, आत्मानुभूति अथवा अमृतानन्द प्राप्त होता है और यही साधक का अन्तिम लक्ष्य है—यही हठयोग का अन्तिम लक्ष्य है।

२.४ योगासन

'योगासन' में दो शब्द हैं—योग और आसन। योग शब्द संस्कृत की युज् धातु से बना है। चाहे वह समाधि-बोधक हो, चाहे संयोग बोधक और चाहे संयमन-बोधक। योग

1 नाथ सम्प्रदाय—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० २०
2 गोरखबानी, सबदी २३
3 गोरखबानी, सबदी २१
4 गोरखबानी, सबदी १२६

की परिभाषा पंतजलि ने अपने योग दर्शन में की है—'योगश्चित्तवृत्ति–निरोध: ।' आगे चलकर योग के चार प्रकार बताये गये–मंत्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग। पंतजलि का योग राजयोग कहलाया। यद्यपि गुरु गोखनाथ का सम्बन्ध राजयोग और हठयोग–दोनों ही से है--फिर भी नाथ–पंथियों को हठयोगियों के नाम से ही अधिक जाना जाता है। हठयोग में शारीरिक शुद्धि एवं कायाकल्प पर अधिक बल दिया गया है, जबकि राजयोग में मोक्ष-प्राप्ति पर। योगदर्शन में योग के आठ अंग कहे गये हैं, इसलिए इसे अष्टांग योग भी कहते हैं। आठ अंग हैं–यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। प्रथम पाँच बहिरंग साधन हैं और अन्तिम तीन अंतरंग। यम, नियम, व्यावहारिक आचार-विचार कहे जाते हैं। आसन शारीरिक और मानसिक प्रक्रियाओं के माध्यम से आध्यात्मिक जागरण का कार्य करते हैं। प्राणायाम का सम्बन्ध शरीर से कम, मन और अध्यात्म से अधिक है। प्रत्याहार का सम्बन्ध शरीर से कम है, जबकि धारणा, ध्यान एवं समाधि शुद्ध आध्यात्मिक प्रक्रियाएँ हैं। श्री गोरखनाथ ने षडंग योग का प्रतिपादन किया, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और समाधि के रूप में।

योगासन में दूसरा शब्द है आसन। आसन का शाब्दिक अर्थ है--स्थिति या बैठने की विधि। अष्टांग योग में से तीसरा और षडंगयोग का पहला अंग (चौरासी प्रकार की शारीरिक मुद्राओं अथवा अभ्यास को) आसन कहा गया है। यद्यपि योगासनों का महत्त्व केवल शरीर की शुद्धता ही समझा जाने लगा है, तथापि उनका उपयोग शरीर, मन और अध्यात्म तीनों ही के लिए महत्त्वपूर्ण है। शरीर एवं आत्मा के बीच की कड़ी है मन। मन को केन्द्र-बिन्दु मानकर आसनों के द्वारा एक ओर तो शारीरिक शुद्धि एवं स्वास्थ्य लाभ किया जा सकता है और दूसरी ओर आध्यात्मिक उपलब्धि। अपनी भाषा (हिन्दी) रचनाओं में श्री गोरखनाथ ने योगासनों का विवेचन ठीक इसी अर्थ में किया है। मन की महत्ता का निरूपण है—

यहु मन सकती यहु मन सीव। यहु मन पंचतत्व का जीव।
यहु मन ले जै उनमन रहै। तो तीनि लोक की बातां कहै।[1]

योग आसन एवं प्राणायाम योगी के लिए सिद्धि के साधन हैं किन्तु जब अवधूत चित्त-वृत्तियों को बहिर्मुखी बनाकर भोग–सुख एवं आलस्य-निद्रा में लीन रहता है, तो वह जीवित भी मरे हुए के समान है और जो अवधूत अपनी योग-शक्ति से प्रलाप–भाषणों के द्वारा सबको चमत्कृत करता है, वह पिंजड़े में बन्द तोते की तरह है। सही स्थिति तो उस अवधूत की है, जो चित्तवृत्तियों को अन्तर्मुखी बनाकर योगासन करता है। उस आसनसिद्ध योगी को सांसारिक प्रलोभनादि उसी प्रकार विचलित नहीं कर सकते, जिस प्रकार लोहे की खूंटी को उखाड़ना कठिन है। प्राणायाम के द्वारा आसनसिद्ध योगी पवन-वेग के समान स्थान कालातीत हो जाता है—

---

1 गोरखबानी, सबदी ५०

बैठा अवधू लोह की षूंटी । चलता अवधू पवन की मूंठी ।
सोवता अवधू जीवता मूवा । बोलता अवधू प्यंजरे सूबा ।।[1]

योगासन का अर्थ केवल आसन नहीं, योगपूर्ण आसन है और योग का अर्थ है चित्तवृत्तियों का निरोध । वृत्ति-निरोध के अभाव में किये गये आसन, प्राणायाम शरीर में उपद्रव कर सकते हैं । ऐसे ही बहिर्मुखी आसनों का गोरखनाथ ने विरोध किया ।

पंडित ग्यांन मरौ क्या झूझि । औरे लेहु परम पद बूझि ।
आसन पवन उपद्रह करैं । निसि दिन आरम्भ पचि पचि मरैं ।।[2]

किन्तु जब आसन और उसके साथ-साथ आहार एवं निद्रा के नियमों का दृढ़ता से पालन किया जाता है तो योगी अजर-अमर हो जाता है ।

आषण दिढ़ आहार दिढ़ जे न्यंद्रा दिढ़ होई ।
गोरष कहै सुणौ रे पूता मरे न बूढ़ा होई ।।[3]

दृढ़ता का विधान इसलिए किया गया है कि तिरछे, सोते, सीधे, खड़े सामान्य आसनों से अग्नि, बिन्दु एवं वायु की रक्षा नहीं जा सकती । इन तीनों की रक्षा तभी हो सकती है जब आसन, पवन एवं ध्यान तीनों को निश्चल कर दिया जाय ।

सोवत आँडा ऊंभा ठाँढा अगनीं ब्यंद न बाई ।
निश्चल आपण पवनां ध्यानं अगनीं ब्यंद न जाई ।[4]

इसका तात्पर्य यह नहीं कि आसनों की प्रक्रिया दुरूह है । दुरूह तो शरीर, मन एवं प्राणवायु का संतुलन है । इनका संतुलन हो जाने पर तो आसन अति सुगम हो जाते हैं ।

सहज जुगति ले आषण करौ ।
तन मन पवनां दिढ़ करि धरौ ।।[5]

गोरखबानी में कतिपय प्रमुख आसनों की ओर भी संकेत किया गया है । वज्रासन से शरीर के सभी रोग, व्याधि एव क्षुधा का नाश हो जाता है ।

बजर कछौटा आसण करै ।
रोग ब्याधि षुध्या हरै ।।[6]

पद्मासन प्राणायाम का सहायक है । इससे चित्तवृत्तियों का निरोध होकर मन स्थिर हो जाता है और परिणामस्वरूप योगी ब्रह्मरंध्र में ज्ञान-ज्योति का दर्शन करता है ।

---

1 गोरखबानी, सबदी ७१
2 गोरखबानी, सबदी १३४
3 गोरखबानी, सबदी १२५
4 गोरखबानी, सबदी १५८
5 गोरखबानी, नरवै बोध ३
6 गोरखबानी,, आत्मबोध १६

ॐ आसण करि पद्म आसण बँधि । पिछले आसण पवना संधि
मन मुछाबै लावै तालौ । गगन सिषर मैं होइ उजाली ॥[1]

प्राणायाम का योगासन से घनिष्ठ सम्बन्ध है । इससे काया-कल्प होता है। योगी को सिद्धि प्राप्त हो जाती है । इसकी प्रक्रिया श्री गोरखनाथ ने इस प्रकार दी है—

अवधू नव घाटी रोकिलै बाट । बाई बणिजै चौसठि हाट ।
काया पलटे अविचल विध । छाया बिबरजित निपिजै सिध ॥[2]

योगासनों का ब्रह्मचर्य से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है । बिना वीर्य, बिन्दु की रक्षा के योगासन सफल नहीं हो सकते । इसलिए श्री गोरखनाथ ने बार–बार शुक्र–रक्षा पर बल दिया है । जो योगी काम–वृत्ति का नाश कर देता है, शुक्र को ऊर्ध्वगामी बनाकर कामिनी के भोगास्वादनपरक सेवन का परित्याग कर देता है, उसका सम्मान विष्णु भी करते हैं ।

अरधै जाता ऊरधै धरै ।.काम दगध जे जोगी करै ।
तजै अल्यंगन काटे माया । ताका बिसनु पखालै पाया ॥[3]

यों तो योग की प्रक्रियाओं में आसन एक अंग मात्र है, किन्तु प्राणायाम आदि योग के सभी अंगों में आसनों का योग अनिवार्य है । और नाथ–पंथ में इन सभी योगांगों का उपयोग कुण्डलिनी–जागरण के द्वारा ब्रह्मरध्र में योगामृत–पान के लिए किया गया है, अर्थात् योगासनों का लक्ष्य भी शिवशक्ति का समागम ही है । विभिन्न योगासनों के लिए और शिव शक्ति के समागम के लिए एक जानकार गुरु की नितान्त आवश्यकता है । बिना गुरु के योग–क्रियाएँ सफल नहीं हो सकतीं ।

गगन मण्डल मैं औंधा कूवा, तहाँ अमृत का बासा ।
सगुरा होई सु भरि भरि पीवै, निगुरा जाई पियासा ॥[4]

अतः गोरखबानी के आधार पर हम कह सकते हैं कि श्री गोरखनाथ योगासनों के महत्त्व को तो निर्विवाद रूप से मानते हैं, किन्तु किसी गुरु की देख-रेख में उनके शुद्ध प्रयोग पर अधिक बल देते हैं । योगासनों का उपयोग शरीर, मन और अध्यात्म के समन्वयात्मक संतुलन के साथ ही किया जाना चाहिए । तीनों शक्तियों का संतुलन न होने से योगासनों का लाभ नहीं होता, कभी–कभी उल्टा अनर्थ भी हो जाता है । इसलिए श्री गोरखनाथ ने केवल शरीर-शुद्धि और स्वास्थ्य के लिए किये गये आसन आदि को निरर्थक ब्राह्याचार कहा है। पूर्ण लाभ तभी प्राप्त होगा जब मन की वृत्तियों को अंतर्मुखी बनाकर आत्मतत्त्व को स्वच्छ जल में चन्द्रमा की भाँति देखा जायेगा ।

---

1 गोरखबानी : आत्मबोध १
2 गोरखबानी : सबदी ५०
3 गोरखबानी, सबदी १७
4 गोरखबानी, सबदी २३

बदंत गोरपनाथ आतमां विचारंत ज्यूं जल दीसै चंदा ।[1]

और तभी आज के युग में बढ़ता हुआ मानसिक तनाव दूर हो सकेगा। योगासनों से शरीर, मन, हृदय और आत्मा में क्रमशः स्वास्थ्य, स्थिरता, आंतरिक शक्ति और साक्षात् सिद्धि का दर्शन होता है।

२.५ योगसाधना में आहार-विहार

नाथ-पंथ के विस्तृत प्रचार एवं प्रसार का रहस्य एक ओर तो गोरखनाथ के योग-सिद्धान्तों की उत्कृष्टता-अलौकिकता एवं चमत्कृति है तो दूसरी ओर है उनकी योग-साधना में निरूपित आहार-विहार-सम्बन्धी संयमन। यह ठीक है कि प्रत्येक कवि समसामयिक परिस्थितियों से प्रेरित होता है और गोरखनाथ ने भी तात्कालिक आहार-विहार-सम्बन्धी विकृतियों को लक्ष्य करके ही शिष्य समुदाय के समक्ष नियम-संयम निर्धारित किये थे, फिर भी गोरखनाथ जैसे युग-द्रष्टा की पहुँच देश कालातीत होती है। उनकी शाश्वत संयमित बानियाँ इस भौतिक मचरीचिका में संतृप्त एवं तृषित प्राणियों के लिए निरन्तर नैतिक प्रेरणा, बल एवं विश्वास की अजस्र धारा बहाती रही हैं, जिससे जीवन में पूर्णता एव समरसता का संचार होता रहा है और आज के अति भौतिकतावादी युग में गोरखनाथ के आहार-विहार सम्बन्धी उपदेश और भी आवश्यक एवं उपादेय हो गये हैं।

गोरखनाथ की हिन्दी रचनाओं में आहार-विहार के उन्हीं शाश्वत संयमों का निरूपण यहाँ द्रष्टव्य है।

२.५.१. सयमित आहार

ज्ञानेन्द्रियों में जिह्वा इन्द्रिय सर्वप्रबल है, इसलिए सर्वप्रथम—'जिभ्या इन्द्री दीजै बन्ध' (गो० बा० सबंदी २२०) नियन्त्रण का उपाय यह है कि उसे सुस्वादु पदार्थों की आसक्ति से हटाकर भगवान के स्मरण में लगा दीजिए। जिसने जिह्वा इन्द्रिय पर विजय पा ली, उसने सब कुछ जीत लिया, काल पर भी विजय प्राप्त कर ली।

जिभ्या इन्द्री एकै नाल। जो राषै सो बंचै काल।
पंडित ग्यानी न करसि गरब। जिभ्या जीती जिन जित्या सरब ॥[2]

जिह्वा के इस संयमन का अर्थ निराहारता नहीं है। सामान्य अन्न-जल तो योग-साधना में भी आवश्यक है। गोरख ने तो जिह्वा इन्द्रिय के क्षणिक तृप्ति हेतु नमकीन, खट्टे एवं मीठे आदि से विमुखता का विधान किया है। नमकीन पदार्थों से शुक्र का क्षरण होता है, खट्टे पदार्थों से मधुमेह इत्यादि तथा मीठे पदार्थों से विभिन्न प्रकार के पेट के रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

अवधू षारैं षिरैं षाठे झरैं मीठे उपजै रोगं।

1 गोरखबानी, सबदी ४२.

2 गोरखबानी, सबदी २१९.

गोरष कहै सुणो रे अवधू अंणं पाणीं जोगं ।।[1]

अतिशय आहार से इन्द्रियाँ प्रबल हो जाती हैं, इन्द्रियों को प्रबलता से ज्ञान नष्ट हो जाता है, अज्ञानी व्यक्ति के चित्त को विलासता घेर लेती है । परिणास्वरूप निन्द्रा की व्याप्ति, काल का आच्छादन और हृदय में निरन्तर उलझनों की उत्पत्ति होती है ।

अति अहार यंद्री बल करै नासै ग्यांन मैथुन चित धरै ।
व्यापै न्यंद्रा झंपै काल ताके हिरदै सदा जंजाल ।।[2]

अधोगामी शुक्र को अर्ध्वगामी बनाना ही शरीर-रक्षा का परम उपाय है किन्तु इस साधना में निन्द्रा एवं मैथुन बाधक बन जाते हैं और निद्रा एवं मैथुन की उत्पत्ति आहार की अनियमितता से ही होती है ।

अवधू निद्रा के घरि काल जंजाल अहार के घरि चोरं ।
मैथुन के घरि जुरा गरासै अरध उरध लै जोरं ।।[3]

इसीलिए गोरखनाथ का उपदेश है कि जो आसन–आहार एवं निद्रा के नियमों का दृढ़ता से पालन करता है, वह वृद्धावस्था एवं मृत्यु पर भी विजय प्राप्त कर लेता है ।

आसण दिढ़ अहार दिढ़ जे न्यंद्रा दिढ़ होई ।
गोरष कहै सुणौ रे पूता मरै ना बूढ़ा होई ।।[4]

२.५.२ मांस मदिरादि का परित्याग

मानव ने बड़े-बड़े चमत्कार कर लिये, मस्तिष्क बढ़ा लिया, हृदय को संकुचित कर लिया । मिला क्या ? ईर्ष्या, द्वेष, शत्रुता, अशान्ति........। यही देखकर गोरखनाथ को कहना पड़ा कि अगर आप जीव–हत्या करते हैं, आपके हृदय में दयाभाव नहीं, तो आपका सब धर्म कर्म असफल है । किन्तु मांस-मदिरादि में रमे हुए प्राणियों को उनसे विमुख करना कोई सरल कार्य नहीं । केवल निषेधात्मक उक्तियों से गोरख को सफलता मिलने वाली नहीं थी । प्रश्न तो यह है कि मांस मदिरा को त्याग कर क्या ऐसा आनन्द अन्यत्र भी उपलब्ध है ? इसी के उत्तर में गोरख को लौकिक आनन्दानुभूतियों से भी अधिक आनन्द की स्थापना अपने योगसिद्धान्तों में करनी पड़ी–जीव धारियों को मत मारो, उन्होंने तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ा । मारने के लिए तुम्हारे पास मन एवं पंच इन्द्रिय रूपी मृग हैं, जो तुम्हारी बुद्धिरूपी बाड़ी को चरे जा रहे हैं । एक तो मन तुम्हारा शत्रु है दूसरे उसके शरीर, वर्ण, मांस एवं रक्त नहीं है । फिर इन सभी से युक्त जीवधारियों को मारकर दया का शमन करने से क्या लाभ ? दया तो सम्पूर्ण योग–साधनाओं का मूल है ।

---

1 गो० बा०, सबदी १४०
2 गो० बा०, सबदी ३६
3 गोरखबानी, सबदी ३५
4 गोरखबानी, सबदी १२५

जीव क्या हतिये रे प्यंड धारी।
मारिलै पंचभू म्रगला। चरै थारी बुधि बाड़ी।
जोग का मूल है दया दाण।
कथंत गोरष मुकति रे मानवा मारि लै रे मन द्रोही।
जाकै बप बरण मास नहीं लोही।[1]

और फिर जीव और ब्रह्म में कोई अन्तर भी तो नहीं। जब ब्रह्म का एक ही रूप सबमें व्याप्त है तो आपमें, पशु में भी कोई अन्तर नहीं फिर पशु-हत्या का अनौचित्य और असंगति स्पष्ट है—

जीव सीव संगे बासा। बधि न षाइवा रुध्रं मासा।
हंस घात न करिवा गोतं। कथंत गोरष निहारि पोतं॥[2]

जिस प्रकार मांस खाने से दया धर्म का नाश होता है, उसी प्रकार मद्यपान करने से आत्मशक्ति क्षीण हो जाती है और भांग खाने से ज्ञान ध्यान नष्ट हो जाता है। इनका प्रयोग करने वाले प्राणियों को नरक में अशान्ति मिलती है।

अवधू मांस भषतं दया धरम का नास मद पीवत जहाँ प्राण निरास।
भांगि भषतं ग्यांन ध्यांन षोवत। जम दरबारी त प्राणी रोवंत॥[3]

धतूरे के पीने से और भांग के खाने से शरीर न तो संयमित रहता है और न सुरक्षित ही—

धोतरा न पीवो रे अवधू भाँगि न षावो रे भाई।
गोरष कहै सुणौ रे अवधू या काया होयगी पराई।[4]

अफीम एवं भांग इत्यादि मादक वस्तुओं के प्रयोग से बुद्धि नष्ट होती है, पित्त-विकार एवं वात-विकार का प्रकोप बढ़ जाता है, गला शुष्क हो जाता है, भूख संतप्त हो जाती है शरीर चेतनाहीन हो जाता है, निद्रा व्याप्त हो जाती है और ऐसा व्यक्ति बुद्धिहीनता की बातें करता है, अतः गोरख का कथन है—

आफू षावै भांगि भसकावै। तामै अकलि कहाँ ते आवै।
चढ़तां पित्त ऊतरंता बाई। तातै गोरष भांगि न षाई॥

× × ×

सूकै कंठ अरु भूख संतापै। देह बिसर कर निद्रा व्यापै।
बुधि बिन बकै विकल होइ जाय। तातै गोरष भांगि न षाय॥[5]

२.५.३ संयमित आचार-विचार

आचार-विचारों की शुद्धि का विचार आते ही मनुष्य को सबसे पहले काम,

1 गोरखवानी, सबदी २२८
2 गो० वा०, सबदी २२७
3 गो० बा०, सबदी १६५
4 गो० बा०, सबदी २४१
5 गो० बां०, सबदी २०८, २१३

क्रोध, अहंकार, मन-माया, विषय-विकार, तृष्णा और लोभ का त्याग कर देना चाहिए और किसी भी जीव को पकड़ कर नहीं मारना चाहिए।

पहले आरम्भ छाड़ौं काम क्रोध अहंकार। मन माया विषै विकार
हंसा पकड़ि घात जिनि करौ तृस्नां तजौ लोभ परहरौ।[1]

चित्त को दृढ़ करके रखो, काम, क्रोध, अहंकार को दूर कर दो, फिर समझ लो कि सभी देश-देशान्तरों में भ्रमण हो गया।

नाथ कहै तुम सुनहु रे अवधू दिढ़ करि राषहु चीया।
काम क्रोध अहंकार निवारौ तो सबै दिसंतर कीया॥[2]

सबसे प्रबल तो यह मन है। इसके अनेक रूप हैं। यही शिव है, यही शक्ति है यही पंचतत्त्वों से निर्मित जीव है। जो इस मन के सहयोग से उन्मनावस्था में लीन हो जाते हैं वे तीनों लोकों के रहस्य को जान लेते हैं:

यहु मन सकती यहु मन सीव। यहु मन पाँच तत्व का जीव।
यहु मन ले जै उनमन रहै। तो तीनि लोक की बातां कहै॥[3]

२.५.४ संयमित जीवन-निर्वाह

हँसने, खेलने और मनोरंजन करने पर कोई प्रतिबंध नहीं है। बस इतना ध्यान रखना चाहिए कि इन क्रियाओं के माध्यम से काम-क्रोध का आगम न हो जाये। अतः हँसो, खेलो एवं मनोरंजन करो, किन्तु साथ-ही साथ चित्त को दृढ़ता से संयमित रखो।

हसिबा षेलिबा रहिबा रंग। काम-क्रोध न करिबा संग।
हसिबा खेलिबा गाइबा गीत। दिढ़ करि राषि आपना चीत॥[4]

हँसो, खेलो, किन्तु ब्रह्म को मत भूलो। रात हो, चाहे दिन, ब्रह्म-ज्ञान की ही चर्चा होनी चाहिए। हँसते-खेलते जो अपने मन को भंग नहीं करते, वे सदैव ब्रह्म के साथ रहते हैं।

हँसिबा षेलिबा धरिबा ध्यान। अह निसि कथिबा ब्रह्म गियांन।
हँसे षेले न करैं मन भंग। ते निहचल सदानाथ के संग॥[5]

शीघ्रता से अल्पाहार कर लेना ही शरीर-रक्षा का उपाय है, क्योंकि प्राणवायु उसी के शरीर में ठीक तरह से संचरित होती है जो कम बोलता है और कम खाता है।

फुरतै भोजन अलप अहारी। नाथ कहै सो काया हमारी॥[6]

---

1 गो. बा., नरवै बोध २
2 गो. बा., सबदी २९
3 गो. बा., सबदी ५०
4 गो. बा., सबदी ७
5 गो. बा., सबदी ८
6 गो. बा. सबदी २०

थोड़ा बोले और थोड़ा षाई। तिस घट पवनां रहै समाई।[1]

भोजन में फुर्ती से तात्पर्य जल्दबाजी नहीं है। गोरख तो प्रत्येक काम को सोच-समझ कर करने का उपदेश देते हैं। उनका कहना है कि बिना सोचे-समझे अचानक नहीं बोल पड़ना चाहिए और न अचानक ही चल ही पड़ना चाहिए। जिस मार्ग पर चलना है उस पर सोच-समझ कर धीरे-धीरे कदम रखना चाहिए। अहंकार न करते हुए सहज सामान्य स्थिति में रहना चाहिए।

हबकि न बोलिबा ठबकि न चलिबा धीरे धरिबा पायं।
गरब न करिआ सहजै रहिबा, भणंत गोरष रावं।[2]

ज्ञान-प्राप्ति और आत्म-शक्ति के लिए मानव को एक अच्छा वक्ता नहीं, एक अच्छा श्रोता होना चाहिए। देखते रहो, इस जगत् में क्या-क्या हो रहा है। सुनते रहो, इस जगत् में क्या-क्या हो रहा है। स्वयं कुछ कहने की आवश्यकता नहीं।

गोरष कहै सुणौ रे अवधू जग में ऐसे रहणां—
आँषे दैषिबा कानै सुणिबा मुष थैं कछू न कहणां।।[3]

२.५.५ संयमित व्यवहार

वाद-विवाद करने वाले बहुत होते हैं, किन्तु एक योगी को वाद-विवाद में नहीं पड़ना चाहिए, उसे तो अपने को गुरु वचनों में इस प्रकार तल्लीन कर लेना चाहिए, जिस प्रकार सभी तीर्थमयी नदियों का जल समुद्र में समाहित हो जाता है।

कोई वादी कोई विवादी जोगी कौ वाद न करनां।
अठसठि तीरथ संमदि समावै यूं जोगी को गुरमुषि जरनां।।[4]

आत्मा की सुरक्षा के लिए यह आवश्यक है कि खंडन-मंडन की प्रवृत्ति में न पड़ा जाये, यह संसार काँटे की बाड़ी के समान है, यहाँ पर प्रत्येक पग देखभाल कर रखना चाहिए।

नाथ कहै तुम आपा राषौ, हठ करि वाद न करणां।
यहु जुग है काँटे की बाड़ी, देषि देषि पग धरणां।।[5]

सामाजिक परिवेश में मूर्खों का समागम नहीं करना चाहिए। धार्मिक परिवेश में विद्वानों से वाद-विवाद नहीं करना चाहिए। राजनीतिक परिवेश में राजा से युद्ध नहीं करना चाहिए। इन सभी बातों के करने से योग-साधना में बाधा पड़ती है। असावधानी से नाद नष्ट होता है।

मूरिष सभा न वैसिबा अवधू पंडित सौ न करिबा वादं।

---

1 गो० बा०, सबदी ३२
2 गो० बा०, सबदी २७
3 गो० बा०, सबदी ७२
4 गो० बा०, सबदी १३
5 गो० बा०, सबदी ७३

राजा संग्रामें झूझ न करबा हेलैं न सोइबा न नादं ।।[1]

२.५.६. सत्संग

परिस्थितियाँ और वातावरण मनुष्य को कुछ से कुछ बना देते हैं, यदि वह किसी पथभ्रष्ट के सम्पर्क में आ गया तो उसका पतन अवश्यभावी है। यही कारण है कि गोरखनाथ ने सतगुरु को सर्वोपरि महत्त्व दिया है।

प्रथमें प्रणऊं गुरु के पाया। जिन मोहि आतम ब्रह्म लषाया।
सतगुरु सबद कह्यां तैं बुझ्या तृहूँ लोक दीपक मनि सुझ्या ।।[2]

जब पूर्ण गुरु मिल जाये, तभी योगाभ्यास के मार्ग का अनुसरण करना चाहिए ऐसा न हो कि कुल से संबंध-विच्छेद हो जाये और तपस्या भी पूर्ण न हो (धोबी का कुत्ता, घर का रहे न घाट का) अपूर्ण गुरु के सम्पर्क में आकर न तो मृत्युंजय हो सकते हो और न उलझनों से ही मुक्त हो सकते हो। ऐसी अधूरी तपस्या से कोई साधक शूर नहीं हो सकता।

काल न मिट्या जंजाल न छुट्या, तप करि हूवा न सूरा।
कुल का नास करे मति कोई, जै गुरु मिले न पूरा ।।[3]

सत्संग के लिए जाति-पाँति के भेद की अपेक्षा नहीं। जातिगत एवं धर्मगत विभेदों को भूलकर सर्व-संमत मार्ग पर मिल जुलकर चलना ही सच्चे धर्म का अनुसरण करना है।

२.५.७. मध्यम मार्ग का अनुसरण

गोरखनाथ अतिवादी नहीं, मध्यमार्गी थे। संयम मध्यम मार्ग का ही साधन है। खाने-पीने में अति कर देने से मृत्यु तक हो जाती है। कुछ भी न खाने से भी मृत्यु निश्चित है। इस भव सागर को तो संयम द्वारा ही पार किया जा सकता है। मध्यम मार्ग का अनुसरण करके मन को अटल कर लेना चाहिए कि प्राणवायु स्थिर हो सके।

पांये भी मरिये अणपांये भी मरिये। गोरख कहै पूता संजमि ही तरिये।
मधि निरंतर कीजै बास। निहचल मनुवा थिर होइ सास ।।[4]

जहाँ तक मन के संयमन का प्रश्न है, उसे न तो कुचल कर मारना ही चाहिए और न उसे स्वच्छन्द ही छोड़ देना चाहिए। मन के संयमन से ब्रह्माग्नि का रहस्य जाना जा सकता है।

दाबि न मारिबा षाली न राषिबा जानिबाँ अगनि का भेवं।
बूढ़ी ही थैं गुरबानी होइगी, सति सति भाषंत श्री गोरष देवं ।।[5]

1 गो० बा०, सबदी १२१
2 गो० बा०, प्राणसंकली १
3 गो० बा०, पद २२/२
4 गो० बा० सबदी ३१
5 गो० बा०, सबदी १७३

निद्रा में अत्यन्त आसक्त रहने से स्वप्न के द्वारा वीर्य-पात होता है। अधिक भ्रमण करने से आत्मिक शक्ति कम होती हैं। ठाली बैठे खट-पट सूझती है। खड़े रहने से अनेक उपाधियाँ उत्पन्न होती हैं। अतः गोरखनाथ ने सहज समाधि (मध्यम मार्ग) का विधान किया।

निद्रा सुपणैं बिंद कूं हरै। पंथ चलंता आतमां मरै।
बैठा षट षट ऊभाँ उपाधि। गोरख कहे पूता सहज समाधि॥[1]

गोरखनाथ का आहार-विहार संबंधी विधि-विधान षरतर षांडा अवश्य है किन्तु है सत्य और उपादेय। तपस्या की चरम स्थिति गृहस्थ एवं बस्तियों को त्यागकर घोर काननों में विचरण करने एवं समाधि लगाने में नहीं हैं। सच्चा योगी तो वही है, जो सांसारिक मोहमाया की विकृतियों के मध्य रहते हुए भी अपने मन को विकृत नहीं होने देता।

नौ लष पातरि आगैं नाचे, पीछे सहज अषाड़ा।
ऐसे मन लै जोगी षेलै, तब अंतरि बसै भंडारा॥[2]

गोरख की इन पंक्तियों में गृहस्थ एवं समाज के प्रति आस्था एवं आदर का भाव लक्षित होता है। आहार-विहार के उपर्युक्त संयमों के पश्चात् जब ज्ञान का संचार हो जाता है तो साधक को संसार में अपना विरोधी ही दिखाई नहीं देता। जब कोई विरोधी ही नहीं, तो युद्ध किससे? सब आत्मरूप ही हैं। वही मछली है, वही जाल है, वही धींवर है, वही काल है।

कासौ झूझौ अवधू राइ, विषम न दीसे कोई।
जासौ अब झूझौं रे आतमा राम सोई॥
आपंण ही मछ कछ आपंण ही जाल।
आपंण ही धींवर आपंण ही काल॥[3]

वैमनस्य एवं अलगाव से पूर्ण आज के इस युग में गोरखनाथ द्वारा उपदिष्ट आहार-विहार (खान-पान) के संयमों के साथ-साथ प्राणीमात्र के प्रति दया एवं प्रेम के व्यवहार की नितान्त आवश्यकता है। यही आहार-विहार की सार्थकता है।

२.६. नारी भावना

गोरखनाथ ने अपने सिद्धान्तों में नारी के प्रति कठोर दृष्टिकोण अपनाया है। नारी के योनिरूप का उन्होंने घोर विरोध किया है। उनके अनुसार योग और स्त्री का कोई मेल नहीं है। योगी के लिए शुक्र की साधना नितान्त आवश्यक है— 'मरणं बिन्दु पातेन जीवनं बिन्दुधारणात्।' बिन्दुसाधन अथवा ब्रह्मचर्य पालन की महत्ता

---

1 गो० बा०, सबदी २१२
2 गो० बा०, ग्यानतिलक ३६
3 गो० बा०, पद ४१/१

इसलिए और अधिक है, क्योंकि बिन्दु का सम्बन्ध वायु और मन से होता है। योग-साधना में प्राण वायु-साधना, प्राणवायु-साधना में मन की साधना और मन की साधना में शुक्र की साधना–ये तीनों अन्योन्याश्रित हैं। मन का निरालम्ब रहना दुस्साध्य है। वह या तो आशा के फन्दे में फँसा रहेगा या फिर विरक्त अवस्था में रहेगा, या तो स्त्री की गोद में रहेगा या फिर गुरु की शरण में रहेगा।

कँ मन रहै आसा पास। कै मन रहै परम उदास।
कँ मन रहै गुरु के ओले। कै मन रहे कामंनि के पौले॥[1]

किन्तु लोग हैं कि विषय के लोभ में तत्त्व को ही भूल गये हैं और घर में बाघिन रूपी स्त्री को पाले हुए हैं। वह दिन में सोती है और रात में शरीर का शोषण करती है। वह ऐसी राक्षसी है, जो बिना दाँतों के ही संसार को खाती रहती है। लोग मिथ्या संसर्गानन्द में ही शरीर को क्षीण करते रहते हैं—

भग राकसि लो भग राकसि लो, बिणदन्ता जग षाया लो।
ग्यानी हुता सु ग्यानमुंष रहिया, जीव लोक आपे आप गंवाया लो॥
दिन दिन बाघिनी सीया लागी, राति सरीरं षोषै।
विषै लुबधौ तत न बूझै, घरि लै बाघिंनी पोषै॥
× × ×
चामें चाम घसंता लोई, दिन दिन छीजै काया।
आपा परचे गुरुमुषि न चीन्हे, फाडि फाडि बाघिनी षाया॥[2]

रात के चारों पहर स्त्री के आलिंगन एवं निद्रा में बिताकर संसार विषयों में बहा जा रहा है, इसलिए गोरखनाथ भुजा उठा-उठाकर पुकार रहे हैं कि भाइयो! अपने मूल तत्त्व (शुक्र) को इस प्रकार नष्ट न करो।

चारि पहर आलिंगन निद्रा, संसार जाइ विषया बाही।
ऊभी बाँह गोरख नाथ पुकारै, मूल न हारौ म्हारा भाई॥[3]

स्त्री-पुरुष के संसर्ग का आकर्षण ही कुछ ऐसा है कि स्त्री के बिना पुरुष नहीं रहता और पुरुष के बिना स्त्री नहीं रहती, किन्तु संसार-सागर को तरने के लिए ब्रह्म-साक्षात्कार करने के लिए यह माध्यम छद्मपूर्ण है और इसीलिए दोनों नष्ट होते जा रहे हैं।

रांडी तज्या न षसिया जीवै, पुरुष तज्या न नारी।
कहै नाथ ये दोन्यूं विनसे धोषा की असवारी॥[4]

स्त्री के साथ सोना मृत्यु को बुलावा देना है। उसके साथ तो पानी भी नहीं पीना चाहिए—

1 गो. वा. सबदी १७२
2 गो. वा., पद ४८
3 गो. वा, पद १
4 गो. वा., ग्यानतिलक १२

बांमा अंगे सोइबा जम को भोगिवा ।
संगे ना पीवणां पांणी ॥[1]

स्त्री चाहे दीक्षित हो या अदीक्षित, वह योगी के पास बैठी हुई भी शोभा नहीं देती—

पासि बैठो सोभे नहीं साथि रमाई मुंडि ।
गोरष कहै असतरी कहा सलह कहु भुंडि ॥[2]

जिस प्रकार अग्नि के ऊपर पारे की रक्षा नहीं की जा सकती, उसी प्रकार योनि–मुख में शुक्र की रक्षा नहीं की जा सकती है । अगर ऐसा कोई करने का दावा करता है तो गोरखनाथ उसे गुरु बनाने के लिए तैयार हैं—

भग मुषि ब्यंद अगनिमुषि पारा, जो पावै सो गुरू हमारा ।[3]

गोरख जानते हैं कि शुक्र की सफलता कामुकता अथवा स्त्री–संसर्ग में नहीं है । उसकी सफलता तो ऊर्ध्वगामी बनाने में है, जो लोग स्त्री के योनि–रूप में आसक्त हैं, वे इस बाघिन के द्वारा बिना दाँतों के खाये जा रहे हैं– माया से विकृत किये जा रहे है और फलस्वरूप अन्तर्यामी ब्रह्म का रहस्य प्राप्त नहीं कर पा रहे हैं—

बिंद और भग बाघिणी औरे, बिन दन्त्या जग षाया ।
प्राण पुरुष का मर्म न पाया, छोड़ि बिगूते माया ॥[4]

दूसरी ओर जिन्होंने अधः गामी शुक्र को ऊर्ध्वगामी बनाकर काम को दग्ध कर दिया है, स्त्री–आलिंगन का परित्याग कर माया के बन्धन को काट दिया है, उनके पैर तो विष्णु भी पखारने के लिए तत्पर हो जाते हैं ।

अरधे जाता ऊरधे धरै, काम दगध जे जोगी करै ।
तजे अल्यंगन काटै माया, ताका बिसनु पषालै पाया ॥[5]

आज के बीसवीं शताब्दी के वैज्ञानिक युग में, अति भौतिक वादी संसार में और नारी के समान अधिकारों की मांग करने वाले समाज में ये प्रश्न उठने स्वाभाविक हैं कि आखिर गोरख ने अपने पंथ को इतना खरतर क्यों बनाया, नारी के प्रति इतना कठोर और निर्मम दृष्टिकोण क्यों अपनाया, योग–साधना में बाधक बताकर नारी का इतना अपमान क्यों किया ? इन सब प्रश्नों के लिए गोरखनाथ जी की समसामयिक परिस्थितियाँ संक्षेप में जान लेना नितान्त आवश्यक है ।

गोरखनाथ का जिस समय आविर्भाव हुआ था, वह काल भारतीय धर्म-साधना में बड़े उथल-पुथल का है । एक ओर मुसलमान भारत में प्रवेश कर रहे थे और दूसरी ओर बौद्ध-साधना क्रमशः तंत्र–मंत्र और टोने टोटके की ओर अग्रसर हो रही थी ।

1 गो. बा., पद १
2 गो. बा., सबदी २५२
3 गो. बा., सबदी १४२
4 गो. बा., ग्यान तिलक १०
5 गो. बा., सबदी १७

दसवीं शताब्दी में यद्यपि ब्राह्मण धर्म सम्पूर्ण रूप से अपना प्राधान्य स्थापित कर चुका था तथापि बौद्धों, शाक्तों और शैवों का एक बड़ा भारी समुदाय ऐसा था जो ब्राह्मण और वेद को नहीं मानता था।[1]

बौद्ध मत में हीनयान, महायान, मंत्रयान, वज्रयान और कालचक्रयान जैसे भेद हो गये थे और गोरखनाथ के समय तक ये सभी शाक्तों में अन्तर्भुक्त हो चुके थे। बौद्ध साधना में योनि–पूजा और योनि–भोग चरम सीमा को पहुँच गया था। महा–निर्वाण-तंत्र में शिव ने पार्वती से कहा है–हे आद्या! शक्ति पूजा की पाँच आवश्यकताएँ ये हैं–मद्य, माँस, मत्स्य, मुद्रा[2] तथा मैथुन। यह ही पंच तत्त्व हैं। इसके बिना शक्ति–पूजा केवल अभिचार है। वज्रयान में भी इन पाँच तत्त्वों का उल्लेख है। वहाँ यह नितान्त आवश्यक है। बोधिसत्व तो इनके बिना नितान्त अपूर्ण हैं। चक्र–पूजा में इन सबकी आवश्यकता है।[3]

शैव कापालिकों में मद्य और स्त्री का प्रयोग निर्बाध रूप से होता था। यही पद्धति बौद्ध–सिद्धों ने भी अपनायी। शक्ति–तत्त्व केवल योनि तत्त्व बनकर रह गया। (गुह्य समाज तंत्र ६/८७) तदनुसार कोई योगी साधक जहाँ अपनी विविध मुद्राओं बन्धों आदि पर आश्रित रहना अपना कर्तव्य समझा करता था, वहाँ तांत्रिक साधकों का विश्वास था कि यदि प्रज्ञा पारमिता को ललनारूप देकर उसका सेवन योगिनी महामुद्रा की भाँति किया जाय तथा इसके लिए डोम या चाण्डाल जैसे जुगुप्सित कुल की कन्या के साथ रमा जाये तो सिद्धि और भी शीघ्र मिल सकती है।[4]

उस समय बिना योनि–पूजा के सारे कृत्य निरर्थक थे—योनि पूजा बिना पूजा कृतमप्यवृतम् भवेत (देवी यामल) इसीलिए स्वतत्र तंत्र में निर्द्वन्द्व होकर कहा गया है —

---

1 नाथ-सिद्धों की बानियां-आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, भूमिका पृष्ठ ११

2 यों तो मुद्रा के अर्थ विभिन्न साधना-पद्धतियों में अलग-अलग हैं किन्तु बौद्ध-साधक के योनि भोग अर्थात् तांत्रिक गुह्य साधना में मुद्रा का अर्थ वह रमणी है, जो तांत्रिक अनुष्ठानों में सह-साधिका रहती है। मुद्रा का अर्थ है मोद देने वाली (मुद्+रा) 'श्री सम्पुट' में भगवान बुद्ध को चार चक्रों में अपनी चार कायाओं से क्रमशः लोचना, मामकी, पाण्डरा और तारा से संभोग करते हुए बताया गया है। (दे० 'महामुद्रा') बौद्धतन्त्र-ग्रंथों में स्पष्टतः मुद्राओं की (अर्थात् रमणियों की) आयु, जाति, रूप आदि का सांगोपांग विवेचन मिलता है। 'सेकोद्देश टीका' में दीक्षित करते समय मुद्रा की आयु बीस वर्ष तक की बतायी गयी है। 'प्रज्ञोपाय-विनिश्चय सिद्धि' में कहा गया है कि मुद्रा (रमणी) के आलिंगन से साधक में वज्रावेश जागता है किन्तु ये चुम्बन, आलिंगन, समागमादि क्षुब्ध, आसक्त और विषयी मन से नहीं करने चाहिए, अन्यथा ये बन्धन के कारण बन जाते हैं। (हिन्दी साहित्य कोश भाग १, पृ. ६५७ के आधार पर)

3 गोरखनाथ और उनका युग—डा० रांगेय राघव, पृष्ठ १०७

4 गोरख विशेषांक—(योग वाणी) (नाथ सिद्ध परम्परा—डा० परशुराम चतुर्वेदी पृ० ५०)

"ततो नग्नां स्त्रियं नग्नो रमन् ।'

'कुलामृतदीपिका' के अनुसार—

आदौ बाला समुचार्यं त्रिपुराये समुच्चरेत् ।
आलिगने हरेद्रोगात् धनधान्यादि चुम्बने।
नखदन्तक्षताद्यैश्च तदा मोक्षः प्रजायने ।
सायुज्यसंगमेन स्यात् सत्यमेव न संशय ।

यह योनि-साधना दूसरी शताब्दी में पनपी और छठी शताब्दी में विकसित होकर गोरखनाथ के समय तक अखण्ड रूप से प्रवाहित होती रही । किसी में शक्ति नहीं थी कि कोई इस धारा को रोक सकता । सब इसी में बहने लगे ! उस समय एक मात्र गोरख-चरित्र ही ऐसा था जो इस योनि-साधना के विरुद्ध लोहा लेने को तत्पर हुआ । बौद्धों से टक्कर लेने के लिए शंकर ने ब्रह्म की महत्ता प्रतिपादित की अलख-निरंजन के साक्षात्कार-साधन की दिशा में ।

अगर इस युग के गिरते हुए तामसिक जीवन को उठाने के लिए, पारमार्थिक उद्देश्य से विमुख धार्मिक चेतना को सजग करने के लिए, जन-साधारण में शुद्ध जीवन सात्विक वृत्ति और अखण्ड ब्रह्मचर्य की भावना भरने के लिए, सामन्तों के घृणित यौन-बाद को चकनाचूर करने के लिए गोरख ने निर्मम हथोड़े की चोट की, स्त्रियों के प्रति कठोर दृष्टिकोण अपनाया तो कोई आश्चर्य नहीं । आश्चर्य तो यह है कि उस भीषण युग के द्वारा फँसाये जाने पर भी गोरख स्वय उसमें नहीं फँसे । बंगाली कवि फैजुल्लाह के 'गोरक्ष-विजय' में कदली देश की जोगिन गोरख को भुलावा देना चाहती है । 'तुम जोगी हो, जोगी के घर जाओगे, इसमें भला सोचना-विचारना क्या है ? हमारा तुम्हारा गोत्र एक है । तुम बलिष्ठ योगी हो, मैं जवान योगिन हूँ, फिर क्यों न अपना व्यवहार शुरू कर दें, क्यों हम किसी की परवाह करें—मैं चिकना सूत कात दूँगी, तुम उसकी महीन धोती बुनोगे और हाट में बेचने ले जाओगे और इस प्रकार दिन-दिन सम्पत्ति बढ़ती जायेगी जो तुम्हारी झोली और कंथा में अँटाये नही अँटेगी ।[1]

साधना-पद्धति, राजतंत्र एवं समाज में सभी जगह भोगवाद का बाहुल्य था । तत्कालीन भ्रष्ट ढाँचे का न्यूनाधिक चित्रण गोरख की बानियों में भी मिलता है । मदिरापान करना और स्त्रियों के मोह-जाल में फँसे रहना उस समय के सिद्धों के लिए आम बात थी, किन्तु गोरख ने उन मायावी नारियों में भी माता का रूप देखा और स्वयं एक बालक के रूप में संमुख हुए । वे कहते हैं—

'थान दे गोरिए गोरषबाला माई बिन प्याले प्याला ।[2]

वयस्क स्त्रियों के प्रति उनके हृदय में अत्यंत श्रद्धा थी । वे उनका माता के समान आदर करते थे । गोरक्षनाथ ने स्त्री को केवल माता के ही रूप में देखा है, जो स्नेह से बालक को पालती है, जिसमें वासना नहीं रहती । अत्यंत खेद से उन्होंने एक

1 नाथ सम्प्रदाय से उद्धृत, पृष्ठ २४
2 गो० बा०, पद ४६

स्थान पर कहा है–'जिन जननी संसार दिषाया ताको ले सूते षोले'।[1] यही कारण है कि भर्तृहरि को योगदीक्षा देने से पहले गोरख ने बारह वर्ष उनकी परीक्षा ली थी। उन्हें अपनी रानियों से माता कहकर भीख माँगनी पड़ी थी।

गोरख गृहस्थ में युवती नारी को पतिव्रता के रूप में देखना चाहते थे। उसके कामी रूप से उन्हें भारी घृणा थी, लड़कियों को शील-युक्त देखना चाहते थे, किन्तु अपने आदर्श के अनुकूल जब समाज में यह सब उन्हें नहीं दीखता था तो वे भावावेश में भ्रष्ट नर-नारियों के प्रति तीखे प्रहार करते थे।

दासी नैं नारी अरु घर द्वारी तुम्हें वेस्या करम न कीज्यो रे।
विधवा नारी नो संग करेस्याँ, तो रोमि रोमि नरक षडोस्यो रे।।
एक बूंद के कारणि आप सवारथि, तुम्हें बाल-हत्या फल लेस्यो रे।
नर–नारी दोन्यूं नरक षडिस्यौ, घाणी घाली पडेस्यौ रे।।[2]

हे दासियो नारियो, और गृहणियो! तुम्हें वेश्या-कर्म में प्रवृत नहीं होना चाहिए। अगर तुम विधवा नारी के साथ संसर्ग करोगे तो रोम–रोम करके नरक में पड़ोगे। शुक्र के झूठे स्वार्थमय आनन्द में पड़कर तुम्हें बाल-हत्या का फल मिलेगा। नर-नारी दोनों नरक में पड़ोगे और एक घान में डाले जाओगे।

दासियों, स्त्रियों और गृहणियों के द्वारा वेश्याकर्म किया जाना, विधवाओं को योगिनियाँ बना, उनके साथ अबाध संसर्ग करना, स्राव कर बाल-हत्या करना–सब कुछ कितना घृणित था उस समय, फिर भी साधारण समाज और गृहस्थ इतना दूषित नहीं था, जितना योगी-समाज। गोरख ने यद्यपि अपने उपदेशों में राजाओं और जन–साधारण को भी सचेत किया है, किन्तु नारी के प्रति जो अधिक कटुता है, वह योगी-समाज को लेकर है। उन्होंने धर्म के दावेदारों और ठेकेदारों को करारी फटकार सुनायी है।

गोरख जानते थे कि केवल फटकार सुनाने से ही समस्या हल नहीं होगी। भटके हुए भ्रष्ट योगियों को योनि-साधना से हटाने के लिए उन्होंने मनोविज्ञान का सहारा लिया है और कहा कि एक भोग और भी है, जो, योनि-भोग से कहीं अधिक आनन्ददायक है। मैंने तो अपने योगी को उसी भोग में लीन कर रखा है—

माँहरा तो बैरागी जोगी, अहनिसि भोगी जोगिणी संग न छाड़ै।
मानसरोवर मनसा झूलती आवै, गगन-मंडल मठ माँडे रे।।[3]

हमारा तो बैरागी जोगी (मन) रात-दिन भोग में निरत रहता है। वह (मन) जोगी कभी भी जोगिन का साथ नहीं छोड़ता। सानसरोवर (मन) में मनसा (इच्छा) झूलती रहती है और गगन–मंडल (ब्रह्म रंध्र) में मढ़ी बनाकर रहता है। ''एक दिन शिव ने काम से युद्ध होने पर उसे भस्म तो कर दिया था, किन्तु काम अनंग फिर भी

1 गोरखनाथ और उनका युग—डा. रांगेय राघव, पृष्ठ ५६
2 गो॰ वा॰, पद ५५
3 गोरखबानी, पद १६

रह गया था। युगान्तर में रति ने शक्ति बनकर शिव को शव बना दिया था। अब फिर एक भयानक क्रांति हुई थी। महायोगी शिव अपने भीतर ही स्त्री को आत्मसात् करके पद्मासन लगाकर बैठ गये थे। योनि के रूप में स्त्री शरीर के भीतर चली गयी और समार के लिए वह माता और बहन के रूप में छूट गयी, सामाजिक नियमों के अनुकूल हो गयी। यह गोरखनाथ की महान् देन थी। हीनत्व अनुभव करने वाले पुरुष में अनन्त शक्ति का सन्निवेश हो गया था। यह व्यक्ति का पूर्ण, व्यक्तिगत, एकांगी स्वरूप, था किन्तु बाहर ब्रह्मचर्य था।[1]

पुरुष और नारी के बाह्य शारीरिक चिन्ह भ्रामक हैं। बाह्य भेद मिथ्या हैं अन्त: भाव को परखना चाहिए। केवल घर त्याग देने से ही कोई योगी नहीं बनता। केवल गृहस्थी होने से ही कोई भोगी नहीं बनता। योगी और भोगी तो अपने-अपने कर्मों के आधार पर बनते हैं। योगी बनने के लिए अन्त: मुखी साधना करनी होगी—

जो भग देख भामिनीं मानै। लिंग देख जो पुरुष प्रमानै।
जो बिन चिन्ह नपुंसक जोवा। कह गोरख तीनों घर खोवा॥
जो घर त्याग कहावै जोगी। घर वासी को कहै जू भोगी।
अन्तर भाव न परखै जोई। गोरख बोले मूरष सोई॥[2]

'योगि संप्रदायाविष्कृति में ऐसी कई कहानियाँ हैं जिनसे सिद्ध होता है कि गोरखनाथ और मत्स्येन्द्र दोनों ने मिलकर पहाड़ी प्रदेशों की शासन व्यवस्था में भी सुधार लाना चाहा था। तांत्रिकों आदि की भाँति राजाओं में भी विलासिता की भावना आ गयी थी, अत: राजाओं के लिए भी गोरखनाथ को उपदेश देना पड़ा।

सांभली राजा बोल्या रे अवधू।
सुणौ अनोपम वाणी जी।
निरगुण नारी सुँ नेह करंता।
झबकैं रैंणि बिहाणी जी।

जब भोग-विलास में झपकियाँ लेते हुए रातें बितायी जायेंगी, तो दिन में जनता का क्या हित किया जा सकता है।

बहुत सम्भव है कि मत्स्येन्द्रनाथ भ्रष्ट राज्यव्यवस्था के सुधार-हेतु ही राज-घरानों के सम्पर्क में आये हों और राजाओं के शरीर में प्रवेश किया हो तथा बाद में रानियों के साथ विहार करने के कारण वे भी अपने मार्ग से गिर गये हों। मत्स्येन्द्र कभी योग मार्ग के प्रवर्तक थे फिरे संयोगवश एक ऐसे आचार में सम्मिलित हो गये जिसमें स्त्रियों के साथ अबाध ससर्ग मुख्य बात थी संभवत: यह वामाचार साधना थी।[3]

---

1 गोरखनाथ और उनका युग, डा० रांगेय राघव, पृष्ठ १५३

2 योगवाणी 'गोरख' विशेषांक में श्री अगरचन्द नाहटा द्वारा उद्धृत गोरख के वचन से-पृष्ठ ८७

3 गोरखबानी, पद ५७

4 नाथ सिद्धों की बानियां-आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, भूमिका पृष्ठ ६

महामति विद्यारण्य के 'शंकर-दिग्विजय', फैजुल्ला-कृत 'गोरख-विजय', संत योगी ज्ञानेश्वर-कृत 'योगिसंप्रदायाविष्कृति', जोधपुर के महाराजा मानसिंह जी द्वारा संग्रहीत ,नाथचरित्र' आदि ग्रन्थों से यह सिद्ध होता है कि मत्स्येन्द्रनाथ ने परकाया प्रवेश कर राजसुखोपभोग तथा रानियों के साथ विहार किया तथा उनके शिष्य गोरखनाथ ने उनके शरीर की रक्षा कर उनका उद्धार किया। गोरख की बानियों से भी ऐसा सिद्ध होता है—

कान्हींपाव भेटिला गुरु, विद्यानग्र सैं।
ताथैं मैं पाइला गुरु, तुम्हारा उपदेसैं।
ऐते कछु कथीला गुरु, सर्वं भैला भोले।
सर्वं रस पोपिला गुरु, बांधणी चै षोले।
नाचत गोरषनाथ घूंघरी चे घातें।
सर्बै कमाई षोई गुरु, बांघणी चै राचे।[1]

विद्यानगर से आये हुए कान्हपांव से भेंट हुई थी। उन्हीं से आपकी इस दशा का पता चला कि आप कामनियों के जाल में पड़े हुए हैं। मुझसे यह सब कुछ जब उन्होंने कहा तो मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि आपका पतन भ्रमवश हुआ है। आपने अमृत रस को बाघिनी (स्त्री) की गोद में खो दिया है। स्त्रियों के घुंघरुओं के साथ ताल मिलाकर नाचते हुए माया के प्रेम से, हे गुरुदेव! आपने अपनी सारी आध्यात्मिक कमाई खो डाली है।

गोरख-चरित्र का सबसे उत्कृष्टतम बिन्दु यही है कि समाज योगियों और राजाओं को उपदेश देते हुए अपने को सदैव पतन से बचाए ही नहीं रखा, वरन् पथ-भ्रष्ट हुए अपने गुरु को भी सन्मार्ग पर अग्रसर कर दिया। यह नहीं कि गुरु के साथ स्वयं भी बह जाते किन्तु यह कि गुरु को भी अपने साथ ले लिया, गुरु को भी अपने वचन से प्रभावित कर दिया। किन्तु नम्र भाव से, चरणों में नत होकर—

'रूपे रूपे कुरूपे गुरुदेव, बाघिनी भोले भोलैं।
जिन जननी संसार दिषाया, ताको ले सूते षोलैं।
गुरु षोजो गुरुदेव गुरु पोजो, बदंत गोरष ऐसा।
सुपते होई तुम्हें बंधन पड़िया, ये जोग है कैसा।
चाम ही चाम घसंता गुरुदेव, दिन-दिन छीजे काया।
होठि कंठ तालुका सोषी काढ़ि मिजालू पाया।
दीपक जोति पतंग गुरुदेव, ऐसी भग की छाया।
बूदे होइ तुम्हें राज कमाया, नां तजि मोह माया।
बदंत गोरष नाथ सुनहु मछन्दर तुम्हें ईस्वर के पूता,
ब्रह्म-झरंता ते नर राषै, सो बोलो अवधूता।[2]

---

1 गोरखबानी, पद २
2 गोरखबानी, पद ४६

गोरख ने नारी के योनि-रूप का विरोध किया और शुक्र की रक्षा का महत्त्व भी प्रतिपादित किया, किन्तु मात्र शुक्र की रक्षा ही गोरख का उद्देश्य नहीं था। गोरख का मूल उद्देश्य था आध्यात्मिक अनुभूति। आध्यात्मिक अनुभूति के बिना जो शुक्र मात्र के अर्थबंध क्रिया का आसरा ग्रहण करता है, उसका शरीर स्थिर नहीं होता—

ब्यंद ब्यंद सब कोई कहे। महा ब्यंद कोई बिरला लहै।
इह ब्यंद भरोसे लावै बंध। असथिरि होत न देषो कंध॥[1]

शुक्र की साधना को जिन्होंने भ्रामक अर्थ दिया, योनि-साधना में उसे नष्ट किया, गोरख उन्हीं के प्रति कटु हुए हैं। गृहस्थ की सामान्य नारी का उन्होंने सदैव सम्मान किया है। वे गृहस्थ जीवन के विरोधी तनिक भी न थे। उन्होंने रांझा को हीर से विवाह की अनुमति दी थी, चौरंगी का विमाता लूना को सन्तान-प्राप्ति के लिए अपनी झोली से चावल और अंगूर दिये थे। उन्हें तो ढोंगियों से चिढ़ थी। जो एक माया को छोड़ दूसरी बदतर माया में फँस जाते हैं। अपना अच्छा-खासा मकान छोड़ देते हैं और कुटिया बनाकर रहने लगते हैं, घर-बार की माया छोड़ देते हैं, पर चेला-चाँटियों से भिक्षा मगाँने का कार्य करते हैं। घर की सुन्दर स्त्री को छोड़कर नकटी के साथ रहते हैं। गोरख इसीलिए अकेले रहते हैं—सब प्रपंचों से अकेले—

म्यंदर छाडँ कुटी बंधावै। त्यागै माया और मँगावै।
सुन्दरि छाडि नकटी बासै। तातै गोरष अलगै न्हासै।[2]

गोरख-रचनाओं का मंथन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गोरख न तो स्त्री के विरुद्ध थे और न गृहस्थ-जीवन के प्रति ही कठोर दृष्टिकोण रखते थे, उन्हें चिढ़ उस वर्ग से थी जो योगी होने का ढोंग करता था किन्तु गृहस्थों से भी अधिक मोह-माया-जाल में फँसकर साधना के नाम पर घृणित कर्म करता था। उन्होंने उस नारी के रूप की आलोचना की है जो योगिनी के रूप में वेश्या कर्म किया करती थी। गोरख के समसामयिक भ्रष्ट समाज ने उन्हें नारी के प्रति कठोर दृष्टि-कोण अपनाने के लिए विवश कर दिया, जो स्वाभाविक था। हमें गोरख के इस दृष्टि-कोण को तत्कालीन सामाजिक परिप्रेक्ष्य में रखकर ही देखना चाहिए। उन्होंने दलित, शोषित और भ्रमित नारी के उद्धार के लिए समसामयिक दिग्गजों से जो संघर्ष किया था, उसे कभी भुलाया नहीं जा सकता।

□

---

1 गोरखबानी, सबदी २३७
2 गोरखबानी, सबदी २०६

दर्शन और योग*

गोरक्ष की साधना मे शक्ति थी तभी उसने भुजा उठाकर उस विराट तूफान को रोक दिया। अपने युग के एक अत्यन्त प्रभावशाली व्यक्ति मत्स्येन्द्र नाथ को उसने अपनी बात का समर्थक बना लिया था। उसने एक अद्‌भुत क्राति की थी। क्या गोरखनाथ स्त्री से सचमुच छूट गए थे ? अब हमे यही देखना चाहिए।

कुण्डलिनी

हठयोग प्रदीपिका मे जिन उल्लेखनीय योगियो का नाम आया है उनमे आदिनाथ के बाद मत्स्येन्द्र सर्वप्रथम हैं। श्लावर, आनन्द, भैरव, चौरंगी मीन के साथ गोरक्षनाथ भी आए हैं। चौथे श्लोक मे मत्स्येन्द्र और गोरक्ष का जहाँ नाम है वहाँ टीकाकारने टीका मे आद्या शब्द का अर्थ इस प्रकार लिखा है। हीति प्रसिद्ध मत्स्येन्द्रश्च गोरक्षश्च तौ आद्यौ येषा ते मत्स्येन्द्र गोरक्षाद्या। आद्य शब्देन जालन्धरनाथ भर्तृहरि गोपीचन्द प्रभृतयो ग्राह्या। हठयोग की इस स्पष्ट और सुष्ठु परम्परा के पहले भी इस देश मे मार्कण्डेय का हठयोग था। इस मार्कण्डेय के हठयोग का क्या स्वरूप था वह स्पष्ट नही है। षडाग और अष्टाग योग का भेद विशेष इगित करने मे असमर्थ हैं, क्योकि एक दूसरे ग्रन्थ मे विरोधी तत्त्वो का समावेश प्राप्त हो जाता है। गुप्त साम्राज्य के पतन काल के समय लिखे गए योग-वासिष्ठ मे कुण्डलिनी शक्ति के उद्‌बोधन द्वारा प्राप्त होनेवाली सिद्धियो का वर्णन है। कुण्डलिनी शरीर के मर्म स्थान मे, चक्र के आकार वाली, सैंकडो नाडियो का आश्रय, आत्र वेष्टनिका (आँतो से घिरी हुई) नाम की एक नाडी है। उसका आकार वीणा के अग्र-भाग की गोलाई, जल भँवर, या ओकारार्द्ध तथा कुण्डल चक्र के समान है। वह देव, असुर, मनुष्य, खग, नक्र, मृग, कीटादि मे है। वह ऐसे सोई हुई है

*यह अध्याय निम्नलिखित ग्रन्थों की सहायता से लिखा गया है —

1. हठयोग प्रदीपिका, स्वात्माराम। 2 योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त, भीकमलाल आत्रेय। 3 शिवसहिता। 4 घेरड सहिता। 5 गोरक्ष पद्धति। 6. अमरौघ शासनम्।

जैसे जाडे से आर्त कुण्डली मारकर सर्पिणी। उरु से लेकर भ्रू तक सबको स्पृशन्ती चचल वृत्ति वाली, अनारत सस्पन्द है। उस नाडी के भीतर, जो कदली कोष की सी कोमल है, वीणा की सी स्पन्दा एक परा शक्ति है। कुण्डलाकार होने के कारण उसका नाम कुण्डलिनी है। वह प्राणिमात्र की परम शक्ति गति देने वाली है। क्रुद्ध सर्पिणी की भाँति फुंकार मारती वह ऊर्ध्वमुखी निरन्तर सास लेती समस्त शरीर मे स्पन्दन उत्पन्न करती है।

हृदय कोष मे आनेवाली सब नाडियाँ उससे इस प्रकार सम्बद्ध है जैसे समुद्र मे नदियाँ मिलती है, उत्पन्न होकर विलीन हो जाती है। नाडियो के मिलन और सम्बन्ध से सब ज्ञानो का बीज सामान्य ज्ञान से उसे पुकारते है। पाँचो ज्ञानेन्द्रियो का बीज कुण्डलिनी शक्ति मे स्थित है और प्राण के द्वारा वह बीज सचालित होता है। वह कुण्डलिनी शक्ति, स्पदन, स्पर्श और ज्ञान सब की शुद्धकला है। सकल्पयुक्त होने मे उसका नाम कला है और चेतन होने से सेचित् है। जीवन से जीव, मनन से मन और बोध से बुद्धि होती है यह प्रसिद्ध है। अहकार प्राप्त होने से वह पुर्यष्टक कहलाती है। अपान वायु का रूप धरकर वह शक्ति सदा अधोन्मुखी होती है। समान वायु से नाभिस्थित तथा उदान मार्ग से ऊर्ध्वमुखी होती है। सब गति नीचे होने से वह शरीर से निकल जाती है और मनुष्य मर जाता है। इसी भाँति मध्य मे रहकर वह ऊपर निकल जाए तो भी मनुष्य को मृत्यु प्राप्त होती है और यदि ऊपर-नीचे न बहकर किसी जीव की परम शक्ति मध्य भाग मे निरुद्ध होकर स्थिर हो जाय तो वह प्राणी सब रोगो से मुक्त हो जाता है। पुर्यष्टक नाम जीव की प्राण नामक शक्ति का नाम कुण्डलिनी है। वह शरीर मे इस प्रकार है जैसे फूल मे सुगध देने वाली मजरी। इस देह रूपी यन्त्र के उदरभाग मे नाभि

---

7 दि सर्पेंण्ट पावर, आर्थर एवेलान। 8 शक्ति एण्ड शाक्ताज, वुडरौफ। 9 नाथ सम्प्रदाय, हजारीप्रसाद द्विवेदी। 10 गोरखनाथ एण्ड दि कनफटायोगीज, ब्रिग्स। 11 कर्पूरादि स्तोत्र, एवेलान। 12 महानिर्वाण तन्त्र, एवेलान। 13 सिद्धसिद्धान्त सग्रह, स० भवन, टेक्स्ट्स। 14. सरस्वती भवन सीरीज, वाल्यूम 2, गोपीनाथ कविराज। 15 सर्वदर्शन सग्रह। 16. पुरश्चर्यार्णव भाग 1। 17 गोरक्ष सहिता। 18 गोरक्ष सिद्धान्त सग्रह। 19. गोरखनाथ एण्ड मिडीवियल हिन्दू मिस्टिसिज्म, मोहनसिह। 20 दि वर्ल्ड एज पावर-रियालिटी, वुडराफ। 21 कालिविलास, एवेलान। 22 कौलावली निर्णय, एवेलान। 23 कौलज्ञान निर्णय, बागची। 24 कल्याण, शिवाक। 25. सरस्वती भवन सीरीज, भाग 2, 6। 26 एनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स। 27. प्रोसीडिंग्ज आफ दि ओरियण्टल कान्फ्रेंस 2, 5, 6, 12वा सेशन।

के पास परस्पर मिले हुए मुखवाली धौकनियो के समान माँस का पिण्ड इस प्रकार काँपने हुए स्थित है जैसे कि ऊपर और नीचे से बहनेवाले दो जलो के बीच स्थित सदा हिलनेवाला वेतस कुज। उससे भीतर उसकी लक्ष्मी कुण्डलिनी शक्ति ऐसे स्थित है जैसे मूँगे की पिटारी मे मोती की माला। रुद्राक्ष की माला के समान वह नित्य सरसराती है और दण्ड पीडित सर्पिणी के समान ऊर्ध्वमुखी है।

उस कुण्डलिनी मे पूरक प्राणायाम के अभ्यास से जब प्राणी समरूप से स्थित हो जाता है तब सुमेरु के समान स्थिरता और गुरुता की सिद्धि हो जाती है। जिस प्रकार पूरक प्राणायाम के अभ्यास से शारीरिक और मानसिक परिस्थिति को सहकर कुण्डलिनी शक्ति अपने मूलाधार स्थान से ऊपर उठकर सुषुम्णा नाडी के द्वारा ब्रह्मरध्र पर्यंत आती है, और दण्डाकारनिभ होकर सर्पिणी-सी ऊर्ध्वगति को प्राप्त होती है, और सब नाडियो की शक्ति को भी अपने साथ ऊपर ले जाती है तब उसमे शरीर को उडा ले जाने की ऐसी सामर्थ्य हो जाती है जैसे हवा से भरी नीरध्र मशक जल पर तैरती है। जिस समय अन्य नाडियो के व्यापार को रोकनेवाले रेचक प्राणायाम के प्रयोग से कुण्डलिनी शक्ति ब्रह्म नाडी (सुषुम्णा) के भीतर को होकर मस्तिष्क द्वार उन्मुक्त कर वहाँ से बारह अगुल ऊपर की ओर मस्तिष्क मे जाकर एक मुहूर्त के लिए भी स्थिर हो जाती है तो आकाशगामी सिद्ध लोगो का दर्शन होता है। रेचक के अभ्यासरूपी युक्ति से प्राणो को मुख से 12 अगुल बाहर बहुत समय तक स्थिर करने के अभ्यास से योगी दूसरे पुरुष के शरीर मे प्रवेश कर सकता है। रेचक के अभ्यास से जब योगी अपने जीव को कुण्डली के निवास स्थान से बाहर इस प्रकार निकाल सके जैसे हवा मे से सुगन्ध को, तब वह इस चेष्टा-रहित शरीर को लकडी और पत्थर के समान त्याग देता है और दूसरे शरीर मे, चाहे वह जड हो अथवा चेतन, इच्छानुसार प्रवेश करके उसकी सम्पत्ति का भोग कर सकता है। इस प्रकार योगी दूसरे शरीर के भोगो को भोगकर, यदि उसका शरीर बना रहा तो उसी मे, नही तो अपनी रुचि के अनुसार किसी दूसरे शरीर मे प्रवेश करके स्थिर रहता है। अथवा अपनी चिति को समस्त जगत् मे फैलाकर सारे शरीरो मे व्याप्त होकर सर्वत्र स्थिर रहता है। हृदय कमल के चक्र के कोष के ऊपर (अग्नि) तेज का एक कण ऐसा चमकता है जैसे सोने का भँवरा अथवा साध्य मेघ मे विद्युत् कण। वह प्रकाश कण विस्तार भावना के द्वारा वायु की भाँति फैलने और ज्ञानरूप से शरीर मे सूर्यनिभ चमकने लगता है। वह अग्निकण विस्तार पा समस्त अगो सहित शरीर को गला देता है जैसे सोने को अग्नि। शरीर के पार्थिव और जलमय

दोनो भागो को जलाकर अपने-आप भी वह कण विक्षुब्ध प्राण द्वारा कही ऐसे गायब हो जाता है जैसे वायु द्वारा नीहार। उस समय सुषुम्णा नाडी के जल जाने पर कुण्डलिनी शक्ति आकाश मे ऐसी स्थित होती है जैसे अग्नि से निकली हुई धुएँ की लटा। उस समय वह कुण्डलिनी शक्ति अपने भीतर मन, बुद्धि, जीव, अहकार-सहित और नाना प्रकार की वासनाओ से पूर्ण आकाश मे ऐसी सुशोभित होती है जैसे कि नगर से निकला हुआ धुएँ का स्तम्भ। ऐसी अवस्था मे उसका प्रवेश चाहे जिस वस्तु—कमलदण्ड, पहाड, तृण, दीवार, पत्थर, आकाश, पृथ्वी—मे हो सकता है। वही कुण्डलिनी जब स्थूल भाव को धारण करना चाहती है तो फिर इस भावना द्वारा रस से इस प्रकार भरने लगती है जैसे सूखा हुआ चडस पानी से भरे जाने पर फूल जाता है। रस से पूर्ण होकर वह जिस आकार को चाहे ऐसे धारण कर लेती है जैसे चित्रकार के मन की रेखाएँ नाना प्रकार के रूप धारण कर लेती है। दृढ भावना द्वारा वह हड्डियो की इस प्रकार रचना कर लेती है जैसे कि माता के गर्भाशय मे पडा सूक्ष्म बीज स्थूल आकार को धारण कर लेता है। तब वह जीव-शक्ति इच्छानुसार बडे-से-बडा (सुमेर के समान) और छोटे-से-छोटा (तृण के समान) आकार धारण कर सकती है।[1]

जैसे हवा और उसकी चलने की क्रिया, आग और उसकी गर्मी सदा एक ही होती है, वैसे ही चिति और स्पन्द शक्ति एक ही है। मनोमयी स्पन्द शक्ति ब्रह्म से भिन्न नही है। जबकि चिति शक्ति, क्रिया देवी, क्रिया से निवृत होकर, अपने स्थान की ओर आत्मा मे वापस आ जाती है और वही पर शान्त भाव से स्थित रहती है तो उस अवस्था को शिव (शान्त ब्रह्म) कहते है। क्रियादेवीचिच्छक्तिरूपी उस महान् आकृतिवाली स्पन्द शक्ति का अपने असली रूप मे स्थित रहने का नाम शिव है। चिति की चेतनता कुछ स्पन्दन बिना नही रहती। प्रकृति से परे, पुरुष दिखाई न देनेवाला है। भ्रमरूपा प्रकृति परमेश्वर की इच्छारूपी स्पन्दात्मक शक्ति है, तभी तक भ्रमणशीलता है, जब तक कि वह नित्य तृप्त और अनामय शिव का दर्शन नही करती। सवित् मात्र सत्ता से तादात्म्य होने पर जब प्रकृति दैवयोग से पुरुष से स्पर्श करती है तब वह उससे तादात्म्य ग्रहण करती है। शिव की इच्छा चिच्छक्ति शिव को प्राप्त कर शान्त हो जाती है।[2]

---

1. यो० वा० और उ० सि०, आत्रेय, पृष्ठ 267-274।
2 यो० वा० और उ० सि०, आत्रेय, पृष्ठ 313-315।

द्वैत यथा नास्ति चिदात्म जीवयो-
स्तथैव भेदोस्ति न जीव चित्तयो ।
यथैव भेदोऽस्ति न जीव चित्तयो
स्तथैव भेदोऽस्ति न देह कर्मणो ॥3॥ (3/95/12)

घडा जिस प्रकार मिट्टी ही है उसी प्रकार प्रकृति भी आत्मा ही है। आत्मा का स्पन्दन प्रकृति है। ब्रह्म से उत्पन्न हुए मनो को ब्रह्म ही समझना चाहिए। मन ब्रह्म की शक्ति है। उसकी मनोमय स्पन्द शक्ति उससे अनन्य है—एक ही है। ईश्वर जगत् के बिना नही है। ईश्वर अहभाव और जगत् के बिना नही रहता। चित् की सत्ता जगत् की सत्ता है और जगत् की सत्ता चित् की सत्ता है। सब भेद और विकार ईश्वर मे आकाश के नीलेपन के समान ही स्थित है। जैसे—

ब्रह्म व्योम जगज्जाल ब्रह्म व्योम दिशो दश,
ब्रह्म व्योम कलाकालदेशद्रव्य क्रियादिक,
पदार्थजात शैलादि यथा स्वप्ने पुरादिच,
चिदेवैक पर व्योम तदा जाग्रत्पदार्थ भू ।

सब चितरूप ब्रह्म ही है और कुछ भी नही है।

सांख्य

साख्य के प्रवर्तक कपिल मुनि है। उन्होने स्वय कहा है कि जन्म-मृत्यु से कैवल्य मार्ग उन्होने शिव से ही सीखा है। अब तत्त्वसमास नामक साख्य सूत्रो का सक्षिप्त हिन्दी मे अनुवाद किया जाता है। साख्य और योग को पृथक्-पृथक् अविवेकी लोग ही जानते है, न कि पण्डित लोग। सम्यग् अर्थात् अभ्यासी एक मे ही दोनो का फल प्राप्त करता है। गीता मे साख्य योग को ज्ञान योग तथा सन्यास योग के नाम से ही पुकारा गया है। ससार मे सब सुखी होना चाहते है। दु ख की जड अज्ञान है। सगति—मूल तत्त्व दो प्रकार के है, एक जड और एक चेतन। जड के अवान्तर भेद 24 है 25वॉ चेतन तत्त्व है। जड तत्त्व के प्रथम दो भेद प्रकृति और विकृति हे। प्रकृति 8 है। प्रधान अर्थात् मूल प्रकृति महत्तत्त्व, अहकार और पॉच तन्मात्राएँ शब्द तन्मात्रा, स्पर्श तन्मात्रा, रूप, रस तथा गध तन्मात्रा । 16 विकृतियाँ है (पॉच स्थूल भूत—आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, 11 इन्द्रियॉ=5 ज्ञानेन्द्रियॉ × श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना, और घ्राण और 5 कर्मेन्द्रियॉ—वाणी, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा तथा 11वॉं मन है)। नये तत्त्व के उपादान कारण को प्रकृति तथा इसके विपरीत को विकृति

कहते है। जड तत्त्व के 24 विभागो मे से जो 8 प्रकृतियाँ बतलाई गई है उनमे से प्रधान—मूल प्रकृति ही एक केवल प्रकृति है—बाकी प्रकृति और विकृति दोनो है। महत्तत्व (समष्टिचित्त), प्रधान (मूल प्रकृति) की विकृति और अहकार की प्रकृति है। चेतन तत्त्व पुरुष है। जड तत्त्व से सर्वथा विलक्षण है। इस चेतन तत्त्व की सन्निधि के कारण पूर्वोक्त जड तत्त्व मे एक प्रकार का क्षोभ हो रहा है जिससे प्रधान मे महत्तत्त्व, महत्तत्त्व मे अहकार, अहकार मे तन्मात्राओ और इन्द्रियो का और तन्मात्राओ मे पाँच स्थूल भूतो का परिणाम हो रहा है। चेतन तत्त्व सख्या की सीमा से परे है। जड तत्त्व की उपाधि से उसमे सख्या का आरोप कर लिया जाता है। तभी विकल्प से पुरुष मे बहुत्व कहा जाता है। चेतन से प्रतिबिम्बित महत्तत्त्व मे जब समष्टि अहकार बीज रूप से किया हुआ हो तो उसको समष्टि अस्मिता कहते है। जड तत्त्व मे सब प्रकार के परिणामो का निमित्त कारण पुरुष है और इन सारे परिणामो का प्रयोजन भी पुरुष का भोग और अपवर्ग ही है। प्रकृति के सत्त्व, रजस् तथा तमस् तीन गुण है। सृष्टि और प्रलय इन तीनो गुणो की अवस्था विशेष है। 11 इन्द्रियाँ और 5 स्थूल भूत इन 16 केवल विकृतियो का जो तीन गुणो के केवल विकार है, वर्तमान स्थूल रूप को छोडकर अपने कारण अहकार और 5 तन्मात्राओ मे क्रम से लीन हो जाना पुरुष कहलाता है। सृष्टि के तीन भेद है—अध्यात्म, अधिभूत तथा अधिदैव। अध्यात्म—बुद्धि, अहकार, मन, इन्द्रिय तथा शरीर से सम्बद्ध है। अधिभूत—गौ, अश्व, पशु पक्षी अन्य प्राणियो से तथा अधिदैव—पृथ्वी, सूर्य आदि दिव्य शक्तियो से सम्बद्ध है। आध्यात्मिक दु ख-सुख दो प्रकार का है—शारीरिक और मानसिक। बुद्धि की पाँच वृत्तियाँ है। वृत्तियाँ पाँच प्रकार की है—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा तथा स्मृति। प्रमाण तीन प्रकार का है—प्रत्यक्ष अनुमान और आगम। विपर्यय मिथ्या ज्ञान है, जैसे रज्जु मे सर्प भ्रम। विकल्प भेद मे अभेद है। अभाव की प्रतीति निद्रा है। स्मृति इन पाँचो वृत्तियो द्वारा अनुभूत ज्ञान का स्मरण है।

पाँच ज्ञान के स्रोत है—ज्ञानेन्द्रिय, नेत्र, श्रोत्र, प्राण-रसना और त्वचा। पाँच वायु है, प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान। प्राण का निवासस्थान हृदय, अप्रान का गुदा, समान का नाभि, व्यान का नाडी जाल तथा उदान वायु सूक्ष्म शरीर को शरीरान्तर वा लोकान्तर मे ले जाता है। कर्म की पाँच शक्तियाँ है—बोलना, पकडना, चलना, मूत्र-त्याग, मल-त्याग। इन कामो को करनेवाली पाँच कर्मेन्द्रियाँ है—वाणी, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा। अविद्या पच पर्वा है—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेश, अभिनिवेश। अशक्ति 28 प्रकार की है जिनमे बुद्धि की अशक्ति 17 तरह की है। इसमे 9 प्रकार की तुष्टि

तथा 8 प्रकार की सिद्धि है। दस मूलभूत धर्म है—अस्तित्व, योग, वियोग, शेष, वृतित्व, एकत्व, अर्थतत्व, अन्यता, अकर्तृत्व और बहुत्व। अव्यक्त की पुरुष के अनुकूल प्रवृत्ति सृष्टि है। प्राणि सृष्टि 14 प्रकार की है—तीन प्रकार के बध तथा तीन प्रकार के मोक्ष है, तीन ही प्रमाण है। यह जाननेवाला दुख से नही दबाया जा सकता। हेय, हेय हेतु, हान तथा हानोपाय साख्य के मुख्य सिद्धान्त है। साख्य दर्शन पुरुष का बहुत्व है। ईश्वर प्रणिधान से समाधि लाभ होता है। क्लेश कर्म, उनके फल और वासनाओ से असम्बद्ध पुरुष विशेष ईश्वर चेतन है। ईश्वर ईशनशील अर्थात् इच्छा-मात्र से ससार का उद्धार करने मे समर्थ है। मनीषी इद्रिय, मन से युक्त आत्मा को भोक्ता कहते है। सर्वज्ञता का बीज ईश्वर मे निरतिशय है। यह सारा ससार पुरुष की स्वभाव-रूपा स्थिति का ज्ञान करने के लिए है। अविद्या के अभाव से सयोग का अभाव होता है। यह 'हान' है और यही मोक्ष है। निर्मल विवेक ख्याति हान का उपाय है। जानना, करना, साक्षात्, बनाना, अधिकार, गुणो का प्रयोजन समाप्त कर अपने कारण मे लीन होना, गुणो से परे हो अपने स्वरूप मे स्थित होना यह सात प्रान्त भूमि प्रज्ञा है। जिसमे और कुछ शेष नही रहता। चित्त मे निरोध, परिणाम तथा सस्कार शेष निवृत्त हो जाते है। चित्त को बनानेवाले गुण, पुरुष का भोग अपवर्ग का प्रयोजन पूरा करके अपने कारण मे लीन हो जाते है और पुरुष अपने कैवल्य रूप मे अवस्थित हो जाता है। पुरुषार्थ से शून्य गुणो का निज कारण मे लीन होना कैवल्य है। चिति शक्ति की स्वरूपावस्थिति ही कैवल्य है।

पातंजल योग दर्शन

पातजल दर्शन पर सर्व दर्शन सग्रह तथा अन्य[1] ग्रन्थो से यहाँ साराश दिया जाता है। सेश्वर साख्य मत ही, पतजलि का योग शास्त्र है। इसके चार पाद है, समाधि पाद, साधन पाद, विभूति पाद, कैवल्य पाद। पहले पाद मे योग शब्द का अर्थ चित्तवृत्ति का निरोध है। द्वितीय मे तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान, क्रिया योग तथा निर्देशपूर्वक व्युत्थित चित्त का क्रिया योग, यमादि पाँच बहिरग साधन का वर्णन है।

1 पातजल योग प्रदीप, स्वामी श्री ओमानन्द। 2 योगसाधन की तैयारी, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर। 3 योगानुवाद, राधारमन चतुर्वेदी। 4 योग दर्शनम्, प्रभुदयाल। 5 योग उपनिषद्स्। 6 एन इण्ट्रोडक्शन टु दि योग फिलासफी, बसु। 7. यौगिक साधना, उत्तरयोगी। 8 सर्वदर्शन सग्रह।

तृतीय मे देश बन्ध, चित्त धारणा, ध्यान, समाधित्रय इत्यादि का उल्लेख है। चतुर्थ मे जन्म, औषधि, मत्र, जप और समाधिजन्म सिद्धि कहकर कैवल्य का मर्म बताया गया है। प्रधान प्राचीन 25 तत्व है। 26वाँ परमेश्वर है। वह परमेश्वर स्वेच्छाकर्म से निर्माण शरीर मे अधिष्ठान करके लौकिक और वैदिक सम्प्रदाय की वर्तना करता है और प्राणि-मात्र पर अनुग्रह करता है। योग के 8 भेद है। राज योग अर्थात् ध्यान योग, ज्ञान योग अर्थात् साख्य योग, कर्म योग अर्थात् निष्काम कर्म अनासक्ति योग, भक्ति योग, हठ योग इत्यादि। सब योग राजयोग के अन्तर्गत है। केवल राजयोग के लिए हठयोग की विद्या का उपदेश किया जाता है। यह हठयोग प्रदीपिकाकार का भी कथन है। लययोग और कुण्डलिनीयोग तो राजयोग ही है।

चित्तवृत्ति का निरोध ही जो योग है तो चित्त की पाँच भूमियाँ है। मूढावस्था 'तमोगुण', क्षिप्तावस्था 'रजो गुण', विक्षिप्तावस्था 'सतोगुण', एकाग्रवस्था 'निरुद्धावस्था' तथा 'विवेकख्याति' द्वारा पुरुष भेद का साक्षात्कार। चित्त जड़ है पर ज्ञान पुरुष से प्रतिबिम्बित है। पुरुष की चित्तवृत्ति चेतन-मात्र होती है। पुरुष और वृत्ति तब एक-से दिखाई देते है। अक्लिष्ट—वैराग्य आदि अभ्यास से प्राप्त होती है—उत्पन्न होती है। वृत्तियाँ प्रमाण, विपर्यय, विकल्प निद्रा, स्मृति है। प्रमाण साख्य जैसे ही तीन है। विपर्यय मिथ्या ज्ञान है। विकल्प शब्द से उत्पन्न ज्ञान है, अभाव की प्रतीति निद्रा है। तन्मात्र-विषयक ज्ञान स्मृति है। चित्तवृत्ति-निरोध के दो उपाय है—अभ्यास और वैराग्य। अभ्यास से भूमि दृढ होती है। दिखती और सुनाई देती बातो मे जिसकी तृष्णा अशेष हो चुकी है उसे वशीकार नामक वैराग्य होता है। विकार हेतु होने पर भी चित्त डगमगाता नही है। यह अवस्था आगे बढकर परवैराग्य कहलाती है। वैराग्य की चार सज्ञा है—यतमानव्यतिरेक, एकेन्द्रिय, वशीकार, रागद्वेष से आशिक निवृत्त जब मन मे भी नही रहती तब चौथी अवस्था वशीकार कहलाती है। वितर्क, विचार, आनन्द, अस्मिता, अनुगमात से यह अवस्था सम्प्रज्ञात समाधि है। वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत, अस्मितानुगत समाधि ही सम्प्रज्ञात समाधि है। इसमे वस्तु सशय और विपर्यय (अविद्या) से रहित दृश्यमान होती है, अस्मितानुगत मे बीज रूप से जो अहकार रहता है वह अनुभव करता है 'मै सुखी हूँ'। अन्नमय कोश से प्राणमय कोश जहाँ से मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश, आनन्दमय कोश होकर आत्मा शुद्ध आत्मतत्त्व तक पहुँचता है। इसमे वह स्थूल कर्म, ज्ञानेन्द्रियो से होकर अहकार, जहाँ से चित्त, महत्त्व होकर ज्ञान और आलोक प्राप्त करता है। बार-बार सम्प्रज्ञात समाधि से विकार बहुत कम रह जाने पर वह दशा असम्प्रज्ञात समाधि

कहलाती है। जो वितर्क और विचार समाधि के परे तथा आनन्दानुगत है, उन्हे विप्रत्यय नामक असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है अर्थात् वे जन्म से ही योग प्रवृत्त होने की सामर्थ्य प्राप्त करते है और पूर्वजन्म की योगसिद्धि उन्हे नये जन्म मे सहायता देती है। जिन्हे ऐसा नही होता उन्हे उपाय प्रत्यय समाधि होती है।

ईश्वर प्रणिधान से शीघ्रतम समाधि लाभ होता है। प्रकृति और पुरुष से यह ईश्वर भिन्न है। क्लेश कर्म, कर्म फल से अलग यह विशेष है—चेतन ईश्वर है। इन्द्रिय और मनोमय आत्मा भोक्ता है। माया प्रपच का उपादान कारण है और माया का प्रभु प्रेरक परमेश्वर उसका निमित्तकारण है। ईश्वर मे अन्य पुरुषो से विशेषता है कि वह त्रिकाल मे ऊपर बताई बातो से असम्बद्ध है। वह काल से वद्ध नही है। उसका वाचक ओम अक्षर है। ओम का बार-बार चिंतन ईश्वर प्रणिधान है। जिसके द्वारा प्रत्येक चेतना का साक्षात्कार होता है। ईश्वरोपासना से जीव और ईश्वर दोनो का ज्ञान होता है। यह अविद्याविशिष्ट जीव है, वृहदारण्यक उपनिषद् मे कहा है कि मन तो अनन्त है। अर्थात् विभु है, इसकी वृत्ति सकोच और विस्तारवाली है। समाधि की एकाग्रता से सत्व रजस् को दबाता है जिससे सूक्ष्म शरीर एकाग्रता वृत्ति दिखाने मे असमर्थ हो जाता है। तब विवेक ख्याति से परे आत्मा अपने शुद्ध रूप मे ठहरती है। दौर्मनस्य, अपूर्ण इच्छा से क्षोभ, अगमेजयत्व अर्थात् शरीर कपन, श्वास अर्थात् वायु पर अधिकार न होना तथा प्रश्वास होना यह योगी के लिए विघ्न है।

एकत्व के अभ्यास से यह दूर हो सकते है। इसलिए वायु पर अधिकार करना आवश्यक है। वायु दस प्रकार के बताए है प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनजय। ये प्राणवायु है। योगी याज्ञवल्क्य ने इनके कार्यो को बताया है। प्राण पर अधिकार होने से शरीर, इन्द्रिय और मन पर भी अधिकार होता है। प्राणो को वश मे करने को ही प्राणायाम कहते है। गन्ध, रूप, रस, स्पर्श और शब्द से सब बँध जाते हैं। मन स्थिर होता है। शोक-रहित ज्योतिष्मती वृत्ति मन को साधती है। योगी वीतराग हो जाता है अथवा ध्यान अभिमत (इच्छित) मे टिकता है। अब परमाणु और आकाश, सूक्ष्मतम और महानतम दोनो का वशीकार हो जाता है। जो वस्तु जैसी है वैसी ही उसकी धारणा होती है। स्मृति शुद्ध हो जाने पर अर्थ-मात्र से भासित होनेवाली—रूप के ज्ञान से रहित चित्तवृत्ति निर्वितर्क समापत्ति कहलाती है। चित्त यद्यपि बिलकुल शून्य नही होता, यदि वैसा हो तो वह पदार्थ को ग्रहण नही कर सकता, परन्तु उसे ऐसा प्रतीत अवश्य होने

लगता हे। अब ध्यान, सवितर्क और सविचार समापत्ति और समाधि मे भेद है, प्रथम मे ध्याता, ध्यान और ध्येय का ज्ञान है। अगले दो मे ध्यान विषयक शब्द तथा अर्थ के ज्ञान से मिला विकल्प रहता है। समाधि मे मात्र ध्येय स्वरूप रहता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—इन पाँचो तन्मात्राओ से प्रथम आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी-सज्ञक सूक्ष्म परमाणु उत्पन्न होते है। तत्पश्चात् सूक्ष्म परमाणुओ मे आकाशादि स्थूलभूत उत्पन्न होते है। जो तत्त्व कारण मे लीन हो जाता है, अथवा उसका बोध करता है वही लिग है। प्रधान प्रकृति इन दो बातो से रहित है—अत वह अलिंग है। अध्यात्म प्रसाद होने से प्रज्ञा ऋतभरा होती हे, अर्थात् सत्य धारण करनेवाली । पर वैराग्य से उसके भी निरोध हो जाने पर जब सब सस्कार समाप्त हो जाते है तब निर्बीज समाधि होती है। यह समाधिपाद हुआ।

मध्यम अधिकारी के लिए साधन पाद है। तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान योग है। अविद्या ही सारे क्लेशो की जड है। अनित्य मे नित्य, अपवित्र मे पवित्र, दु ख मे सुख और अनात्मा मे आत्मा को समझने का ज्ञान ही अविद्या है। दृष्ट और दर्शन का एक-सा भासित होने वाला ज्ञान अस्मिता क्लेश है। पुरुष दृष्टा है। चित्त का दर्शन उसका एक कारण है। पुरुष चैतन्य, क्रियारहित, केवल, अपरिणामी स्वामी है जबकि चित्त जड, क्रियामय, त्रिगुणमय और स्व अर्थात् सम्पत्ति है। पर दोनो ही तो एक से दिखाई देते है। जिससे ममत्व और अहमत्व उत्पन्न होता है। राग, द्वेष, मृत्यु-भय पैदा होते है। इन्हे योगी को असप्रज्ञात समाधि से अपने कारण मे लीन कर लेना चाहिए। क्रिया योग से अलग की हुई उपर्युक्त स्थूल वृत्तियो का सूक्ष्म होकर दग्ध-सा बीज-सा बनाकर ध्यान से त्यागने को क्लेश समाप्त करना कहते है। जो यदि बचे रह गए तो अगले जन्म मे भोगने पडते है, जो जाति, आयु और भोग के नाम से सामने आते है। विषय सुख के भोगकाल मे भी परिणाम दु ख, ताप दु ख और सस्कार दु ख बना रहता है। अत विवेकी पुरुष को विषयजन्य सुख तो दु ख ही है। दु ख त्याज्य है। दृष्टा और दृश्य का सयोग हेय हेतु (दु ख का कारण) है। प्रकाश क्रिया, स्थिति जिसका स्वभाव है, भूत और इन्द्रिय, स्वरूप तथा भोग और अपवर्ग प्रयोजन है, वह दृश्य है। जो गुण तीन है उनकी चार अवस्थाएँ है—विशेष, अविशेष, लिंगमात्र और अलिंग। विशेष 16, अविशेष 6, लिंगमात्र, सत्तामात्र महत्तत्व तथा अलिग मूल प्रकृति है। यह अलिंग पुरुष के लिए व्यर्थ है। दृष्टा देखने की शक्ति-भर है। शुद्ध होकर भी चित्त की वृत्तियो के अनुसार वह देखनेवाला है । वह पुरुष के हेतु ही समस्त दृश्य है। स्व और स्वामि शक्ति के स्वरूप की उपलब्धि का कारण सयोग है। अर्थात् वह साक्षात् ही सयोग कहलाता है। अदर्शन रूपी

सयोग का कारण अविद्या है। विवेक ख्याति अर्थात् विवेक ज्ञान शुद्ध हो तो वह हान का उपाय है। निर्मल विवेकख्याति मे प्रज्ञा उत्पन्न होती है। उसकी सात प्रकार की सर्वोच्च भूमि होती है। ज्ञेयशून्य, हेयशून्य, प्राप्यप्राप्त, चिकीर्षाशून्य (जो करना था वह कर लिया) चित्त विमुक्ति, गुण लीनता, आत्म-स्थिति अवस्था से होता योगी जीवन्मुक्त कहलाता है। चित्त जब अपने कारण मे लीन होता है तब उसे विदेह मुक्त समझना चाहिए। योगाग अनुष्ठान से अशुद्धि क्षय होने पर ज्ञान दीप्ति से विवेक ख्याति प्रकाशित होती है। अब यम कहते है वे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह है। अस्तेय का अर्थ अन्याय से धन न छीनना है तथा अपरिग्रह का अर्थ भोग सामग्री से अधिक न जोडना है। जाति, देश, काल, समय से अवच्छिन्न नियम—यम जो सार्वभौम है—वे महाव्रत कहलाते हे। शौच, सतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान यह नियम है। शौच दो है—बाह्य और आभ्यन्तर। सब कर्मो का ईश्वर मे समर्पण ईश्वर प्रणिधान है। जब चित्त मे वितर्कभाव उठे तब उन्हे उनके विपरीत भावो के चिंतन से दबाना चाहिए। वितर्क, हिंसा आदि यमनियम विरोधी है। सत्य मे योगी की दृढता हो जाने पर वह क्रिया-फल का आश्रय बनता है, अर्थात् अमोघ वचन इत्यादि। ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा से वीर्यलाभ होता है। शौच से अपने अगो से जुगुप्सा होती है तथा दूसरो मे असंसर्ग। आभ्यन्तर शुद्धि मे चित्त की शुद्धि, मन की स्वच्छता, एकाग्रता, इद्रिय विजय, आत्म दर्शन-योग्यता प्राप्त हो जाती है। सतोष से उत्तम सुख होता है। तप से अशुद्धि-क्षय होने पर शरीर और इद्रिय शुद्ध होते है। स्वाध्याय से इष्ट देवता का साक्षात् होता है। समाधि की सिद्धि ईश्वर-प्रणिधान से होती है। अब आसन का लक्षण बताते है। स्थिर सुखमासन। जो स्थिर व सुखदायी हो वह आसन है। जिस रीति से स्थिरतापूर्वक बैठ सके वही आसन है। इसमे कठिनता का आभास नही है। जब योगी स्वाभाविक चेष्टा नही करता आसन की सिद्धि होती है, जिससे द्वन्द्व का प्रहार बन्द होता है। आसन मे श्वास-प्रश्वास को रोकना प्राणायाम है। योगी याज्ञवल्क्य के अनुसार प्राण और अपान को मिलाना प्राणायाम है। प्राणायाम की चारो अवस्था समाप्त होने से प्रकाश का आवरण अर्थात् विवेक ज्ञान का परदा क्षीण यानी फट जाता है। धारणा मे मन की योग्यता होती है। इन्द्रियाँ चित्त का अनुकरण करने लगती है। प्रत्याहार से इन्द्रियो का उत्कृष्ट वशीकार होता है। पौराणिक मत है कि प्राणायाम द्वारा पवन और प्रत्याहार द्वारा इन्द्रियवशीकृत करके शुभ आश्रय मे चित्त को स्थान दे।

साधन पाद मे योग के पाँच बहिरग साधन—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार बतलाये गए है। अब विभूतिपाद प्रारम्भ करते हैं। इसमे अन्तरग

धारणा, ध्यान, समाधि का निरूपण है। इन तीनो को मिलाकर सयम कहते है। जब ध्यान का स्वरूप शून्य-जैसा हो जाता है तो उसे समाधि कहते है। सयम की सिद्धि से प्रज्ञा का आलोक फूटता है। यम, नियम की अपेक्षा यह तीनो अन्तरग है। किन्तु निर्बीज समाधि की अपेक्षा बहिरग है। क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्तावस्थाएँ अर्थात् व्युत्थान के सस्कार का दबना और निरोध अर्थात्, परवैराग्य या रुकने के सस्कार का प्रगट होना, इन दो सस्कारो मे चित्त का लगना निरोध परिणाम कहा जाता है। व्युत्थान के सस्कार वृत्तियो के निरोध होने पर भी नही रुकते। निरोध सस्कार स्थिर करने से चित्त की प्रशान्त गति होती है।

धर्म परिणाम (अन्य धर्म प्राप्ति), लक्षण परिणाम (काल परिणाम भविष्य—उदित—भूत) तथा अवस्था परिणाम का सयम होने पर भूत, भविष्य का ज्ञान होता है। नाभिचक्र मे काया व्यूह का ज्ञान है। इसके सयम मे शरीर का ज्ञान होता है। सब जानने का उपाय प्रातिभ ज्ञान कहलाता है। हृदय मे सयम करने से चित्त का ज्ञान होता है। उस स्वार्थ सयम से प्रातिभ, श्रावण, वेदना, आदर्श, आस्वाद, वार्ता ज्ञान—यह छह सिद्धियाँ होती है जो समाधि मे विघ्न और व्युत्थान मे सिद्धियाँ है। आगे भूत जय से सिद्धियाँ प्राप्त होती है जो अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व, ईशितृत्व इत्यादि है। चित्त और पुरुष की समान शुद्धि होने पर कैवल्य होता है। इस पाद मे तीनो अग, उनकी सज्ञा, परिणाम, सयम की तीन प्रकार की सिद्धियाँ—पूर्वान्त, परान्त और मध्य, समाधि से भुवन ज्ञान, काया व्यूह ज्ञान, इन्द्रिय-जय बताकर चित्त के अपने कारण मे लीन हो जाने को मुक्ति कहा गया है।

अन्तिम कैवल्य पाद का वर्णन करते है। सिद्धियाँ पाँच प्रकार की है। जन्मजात सिद्धि जो जन्म से ही निहित मिलती है, औषधिजा सिद्धि रसायनादि से प्राप्त होती है, मन्त्रजा सिद्धि, तपजासिद्धि तथा समाधिजा सिद्धि। समाधि से उत्पन्न चित्त ही कैवल्य के उपयोगी है, अन्य बाधक है। अस्मिता से योगी निर्माण चित्त होते है। अर्थात् काया बदलकर शीघ्र प्रारब्ध कर्म भोग लेते है। एक चित्त सब चित्तो का प्रवर्तक है। उसी से प्रवृत्ति भेद होता है। ध्यानज अर्थात् चित्त समाधि से उत्पन्न होने पर अनाशय, वासनारहित होता है। उसकी आत्मा कैवल्य की ओर उन्मुख होती है वह विवेक ख्याति से भी अलग हो जाता है। उसकी अवस्था को धर्ममेघ समाधि कहते है। प्रसख्यान अर्थात् प्रकृति और पुरुष का विवेक साक्षात्कार भी दूर होने लगता है। तब धर्ममेघ समाधि होती है जो विवेक ख्याति का ही फल है। सर्वोच्च फल है। पुरुष तब केवल हो जाता है। अनादिकाल का लिंग अर्थात् चिन्ह ऐसा शरीर भी विरत हो जाता है और (सूक्ष्म शरीर) लिंग

शरीर अपने उपादानो मे लीन हो जाता है, क्योकि यह सब प्रकृति के ही तो परिणाम है। चिति शक्ति का अपने स्वरूप मे अवस्थित हो जाना कैवल्य है। अर्थात् व्युत्थान समाधि और निरोध के सस्कार मन मे लीन हो जाते हैं, मन अस्मिता (अहकार) मे, अस्मिता बुद्धि (चित्त) मे और चित्त प्रधान प्रकृति मे लय हो जाती है।

पतजलि के योग सूत्र का समय दूसरी या तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व समझा जाता है। पतजलि के योग सूत्र मे तप का नाम आता है। तप शरीर को कष्टप्रद साधनाओ मे ले जाना है। ऋग्वेद मे भी विभूति पाद मे वर्णित सिद्धि फल से उडते योगियो के से मुनियो का वर्णन मिलता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् मे योग बिलकुल प्रगट ही था। ऊपर हम बौद्ध और जैनो मे इसका प्रभाव प्राचीन काल से ही देख चुके है। अब इन पर विचार प्रगट करने के पहले आवश्यक है कि शकर के वेदान्त दर्शन को भी सक्षेप मे देख लिया जाए, जिसकी अन्त मे परीक्षा करके हम आगे बढेगे। साख्य ने प्रकृति प्रधान मानी। उससे बुद्धि, बुद्धि से अहकार, अहकार से सूक्ष्म तथा स्थूल तन्मात्राएँ। आत्मा चेतन है। वह अपने प्रकाश मे अवस्थित है जिससे चेतन और जड भ्रम मे पडते है जिससे अहकार का उदय होता है। पृथ्वी, गन्ध, जल, रस, अग्नि दृष्टि, वायु, स्पर्श, आकाश, श्रवण यह तत्त्व तथा तन्मात्राएँ हुई। इन्द्रियो का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। अब ब्रह्म जब क्रिया से दूर हो गया तो शकर ही वह प्रकाण्ड मेधावी था जिसने उस सबको एक ढग से आगे रखा। साख्य का प्रभाव अवश्य था। शकर ने आत्मा के चारो ओर आवरण माने। साख्य मे जहाँ मनस्, बुद्धि और अहकार थे वहाँ वेदान्त मे मनस् विज्ञान और अहकार ने स्थान ले लिया। इसमे बौद्ध प्रभाव काफी मुखर था।

शंकर वेदान्त[1]

अज्ञान, अचेतन माया, अविद्या यह सब शब्द बौद्धो मे चलते थे। वस्तु समष्टि का एकत्व, ब्रह्माण्ड का एकत्व, जिसके अतिरिक्त द्वितीय नही, अवास्तव समस्त के समस्त गुणो से अतिरिक्त, वास्तविक सत्य और अस्तित्व की स्वभाव-स्थिति—इस भाव के वाक्याश उनमे भी अपने भिन्न शब्दान्तरो के साथ चलते

---

1 दी क्राउन आफ हिन्दुइज्म, फर्कुहार। 2 इण्डियन थीइज्म, मैकनिक्ल। 3. दी फिलासफी आफ योगवासिष्ट, आत्रेय। 4 वेदान्त सिद्धान्त मन मार्तण्ड, देवदत्त शर्मा। 5 वेदान्त फिलासफी, एम० एस० त्रिपाठी। 6. दि वेदान्त फिलासफी। 7 दी फिलासफी आफ दी वेदान्त, पाल डयूसन। 8 दि इग्लिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय, वाल्यूम-1 9. वेदान्त दर्शन। 10 दी वर्ल्ड एज पावर रिएलिटा, वुडराफ।

थे। अविद्या से ही चेतना भ्रांति, दर्पण की छवि मे वस्तु सत्य का मिथ्याभाव भी उनमे था। शकर मे भी यह मिलता है। वास्तव मे यह विचार बहुत दिनो मे पकते आ रहे थे। योगवासिष्ठ और त्रिपुर सम्प्रदाय की दार्शनिकता मे ऐसी मिलती-जुलती शब्दावली का प्रयोग प्रचलित था। साख्य का बौद्ध, वेदान्त और शैव तथा वैष्णव मत पर प्रभाव पडा। साख्य के सृष्टि उत्पत्ति के सिद्धान्त को हेर-फेर करके प्राय सबने स्वीकार कर लिया। चेतन तत्त्व, प्रकृति, मनस्, अहकार और भूत का प्रभाव स्वीकार कर लिया गया। इनके नाम अवश्य बदल दिये गए। शकर से पहले उत्तर मीमासा का व्यास कृत वेदान्त चला आ रहा था। शकर ने इसे साफ किया और स्फटिक की भाँति उपस्थित किया। उसने उपनिषदो से यह चमक पाई थी। उपनिषदो के दर्शन का प्रभाव साख्य और बौद्ध मत पर पडा था यह ऊपर देखा जा चुका है। अब शकर के हाथ मे यह हुआ कि उपनिषद् मे सेश्वरवाद घुसकर ऐसे निकला कि बौद्ध मत के सार चितन को वह अपने साथ खीच लाया जिसमे तत्कालीन बिखरे हुए मत आकर लय हो गए। यह दार्शनिक तत्त्वो का एक आर्यचितन आर्येतर चितन के साथ यहाँ सूर्य के समान देदीप्यमान हो उठा। जिस प्रकार बौद्ध इस ज्वाला को नही सह सके, स्वय ब्राह्मण भी इस वस्तु को देखकर चमत्कृत हो गए और उन्होने मुक्तकठ जय-जयकार किया। शकर ने शैव सिद्धान्त को ऐसे खीचकर अपना लिया कि बहुत-से भेद तो इसी से टूक-टूक होकर गिर गए। आगे हम देखेगे कि रामानुज ने कैसे शकर का सार तत्त्व लेकर वेदान्त को एक नया रूप दिया जो और भी सशक्त सिद्ध हुआ।

नि श्रेयस अर्थात् ससार और अविद्या से छूटकर मिलना ही परम प्रयोजन है। इसके लिए आत्मन् का ज्ञान आवश्यक है। यह प्रवृत्ति लक्षण धर्म है। जिसका ज्ञान शुद्ध है वह नि श्रेयस का सान्निध्य प्राप्त करता है। इस से समस्त पुरुषार्थ प्राप्त होता है। इस परम पुरुषार्थ को प्राप्त करना सरल नही है।

जो कुछ है वह ब्रह्मन् है। वह परमात्मन् है। चैतन्य, ज्ञान वह एकमात्र है। उसके गुण नही है। ज्ञान भी उसका स्वरूप-मात्र है। वह अतीत निर्गुण है। उसके पूर्ण और अलग होने के कारण ससार कैसे होता है? यह काम माया या अविद्या करती है। यह न सत् है, न असत्। अत इसे सदसद्विलक्षण कहा जा सकता है। माया मे उपादान है अर्थात् ससार है। ब्रह्म अधिष्ठान रूप मे ससार से सम्बद्ध है क्योकि माया उसकी शक्ति है। इस अवस्था मे ब्रह्म को ईश्वर कहना चाहिए। माया ईश्वर की आज्ञा से भेद प्रगट करती है और नाम रूप का उदय होता है। इससे ससार और उसके अनेक दृश्य उत्पन्न होते है। माया से वस्तु के उपाधि लगती है। ब्रह्म सबमे व्याप्त रहता है। माया के कारण सब अलग-अलग दिखाई देता है। और इसी कारण अनेक

जीव दिखाई देते है। प्रत्येक जीव मे ब्रह्म ही सत्य है। जो भेद है वह माया का परिणाम है।

मासारिक रूप मे अर्थात् व्यवहार मे अनेक जीव अनेक कार्य-रत है। अज्ञानी जीव माया के आवरण को फाडकर देख सकने मे असमर्थ है। इमलिए ब्रह्म को न देख सकने के कारण जीव मायाकृत उपाधि मे मन लगाता है और सत्य को शरीर मे ढूँढता है। इन्द्रिय मनस् मे खोजता है। आत्मा जो वास्तव मे चित्, चैतन्य और असीम तथा अक्रिय है वह सीमित हो जाती है और उसकी शक्ति, ज्ञान सब सीमित हो जाते है। तब वह पाप-पुण्य से घिरता है। जिसके चक्र को उसे भोगना पडता है। पूर्वजन्म के कृत्यो का फलाफल भोगने जीव को ईश्वर उसके कर्मो का फल देता है। यह अनन्त-अनादि चक्र निरन्तर चलता रहता है। इस ससार से मुक्ति का उपाय वेदो ने बताया है। कर्मकाण्ड यद्यपि अपने स्थान पर उचित है किन्तु उससे यह काम पूरा नही हो सकता है। ज्ञान काण्ड मे भी सगुण परमात्मा की निम्न अवस्था है। निर्गुण उच्च है, सर्वोच्च है। पराविद्या जाननेवाले के लिए आत्मा और परमात्मा मे भेद नही है। परमात्मा ही विदेह मुक्ति है। वह अपने-आप माया को पीछे खीच लेता है।

शकर के वेदान्त मे धर्म और दर्शन आकर एक हो गए है। इस प्रकार जीव, जगत् और परमात्मा तीन बाते सामने आती है। परमात्मा शिव है, जीव प्राणी है। ब्रह्म सत्य है। जगत् मिथ्या है। जीव ब्रह्म ही है, और कुछ नही है। शकर ने साराश रूप करोडो ग्रन्थो को मथकर रख दिया। वेदान्त मे ब्रह्म के तीन रूप है—ब्रह्म परमात्मा, ब्रह्म और माया, जगत् तथा ब्रह्म और जीव। इस त्रिपुटी का अन्त स्वय ब्रह्म है। परमात्मा है। ब्रह्म का कोई स्वरूप नही है। वह एक है। वह सच्चिदानन्द स्वरूप है। वह मात्र परम आत्मन् है। दृश्य-अदृश्य जगत् का वह ही कारण है। वह परिवर्तनशील नही है। वह सीमित मे असीम है। माया के द्वारा वह मूल है जो सब सृष्टि मे रहकर भी उस सबसे परे है। विवर्तवाद से वह दृश्य है। सृष्टि नई सृष्टि नही है। वह विवर्त है। ब्रह्म तो नही बदलता पर जीव उसे देख नही पाता। रज्जु और सर्प की भ्राति यही होती है। रज्जु बिना सर्प की भ्रान्ति नही होगी। इसी प्रकार ब्रह्म बिना जगत् की भी नही हो सकती। रज्जु सर्प नही हो जाती, न ब्रह्म जगत् हो जाता है। अधकार ही अविद्या है। ब्रह्म जो परे है वही जगत् का कारण है। यह विवर्तवाद का सिद्धान्त योगवासिष्ठ मे भी मिलता है। पर इतना मुखर नही। शकर मे चार्वाक का प्रत्यक्ष, बौद्धो का अनुमान, साख्य का शब्द और श्रुति, नैमायिक का उपयान, प्रभाकर मीमासा की अर्थपत्ति तथा भट्ट की अनुपलब्धि सब ही आवश्यक हैं। योगवासिष्ठ मे ब्रह्म भावना मनोलय और

प्राण-निरोध ही मुख्य है । ससार मे दुख ही दुख है। ससार मनस् का प्रत्यक्षीकृत स्वरूप है । वह बुद्धि, अहकार और चित्त का रूप धारण करता है। कर्म कल्पना, वासना, प्रकृति उसके अनेक रूप है । अविद्या सात प्रकार की है । बीज जागृत, जागृत, महाजागृत, जागृत स्वप्न, स्वप्न, स्वप्न जागृत तथा सुषुप्ति । यहाँ ब्रह्म बौद्धो के आलयविज्ञान की भाँति ब्रह्म और तथता से उत्पन्न होता है । (अश्वघोष)

शकर वेदान्त मे इसका प्रभाव है । ब्रह्म तो नेति-नेति है, इस नेति-नेति मे बौद्ध मत का प्रभाव है कि जो परम है वही वहाँ महायान का शून्य है, क्योकि स्वरूप और गुण का अत्यन्त अभाव है । तैत्तरीय उपनिषद् मे यह भाव आता है। ब्रह्म के दो रूप बताये जाते है। सगुण और निर्गुण प्रथम ही ईश्वर है। द्वितीय तो वही है जिसे नेति-नेति कहा जा सकता है । ईश्वर ही स्रष्टा, पालक और शासक है । वह सर्वशक्तिमान, अनन्त, आकाश से भी विस्तृत और शून्य से भी विराट् है । वह फलदाता है, वह वैषम्यनैर्घृण्य (विषमता और घृणा) से नही बाँधा जा सकता । प्राणी की असाम्य दशा उसके पाप-पुण्य का दोष है, ईश्वर इसमे निर्दोष है । वह सदसत् का रूप है । मूल रूप मे तो सगुण और निर्गुण ब्रह्म एक ही है, क्योकि ब्रह्म तो एक ही है । ईश्वर केवल सगुण ब्रह्म है। मनुष्य की बुद्धि, देश, काल, निमित्त से घिरी है । जब बुद्धि ससार से खिचकर ब्रह्म मे लय होती है तो वह स्वरूपानुसधान है। अद्भुत सृष्टि का अधिष्ठान ब्रह्म है, क्योकि सृष्टि की सत्ता उसके अपने कारण से नही है । कारण तो ब्रह्म ही है । वह सत् है, सत् एक है सब नही, वह ज्ञान है, श्रेयस् है, एकान्त है, अद्वैत है, अखण्ड अद्वैत है । वह सर्वव्यापी, अत्यन्त सूक्ष्म है । उस ब्रह्म का पूर्ण स्वरूप सच्चिदानन्द है । चैतन्य होने से वह चित् है, आनन्द-मय होने से वह आनन्द है । वह समान भाव से सबमे व्याप्त है, वह अमृत है । वह अक्षर है । शरीर मे वह अध्यात्म है । वह एक लौह गोल के समान अग्निताप से तापित अपने-आप चमकता है, सारे ससार मे उसका प्रकाश व्याप्त होता है । अन्तर-बाहर व्याप्त, उससे जगत् भासित होता है । माया उस की विशेष शक्ति है, विस्तार करनेवाली है । दृश्यमान विश्व मे जीव छाया-माया मे फँसा है, ज्ञान मार्ग से प्रतिबिंब स्पष्ट होता है । सुविचारणा से तत्त्व ज्ञानानन्द होता है । ईश्वर को जाननेवाला ज्ञानी ईश्वर सृष्टि को समझता है और जीव सृष्टि को लाँघकर मनोराज्य मे विचरण करता है ।

जगत् के कारण और आदि को समझने का इच्छुक जीव थोडी ही दूर चलकर घबरा जाता है । माया के अनेक नाम है—प्रकृति, अविद्या, शक्ति, मा अर्थात् नही, या अर्थात् वह, वह नही । जीव निरन्तर उसे वह अर्थात् 'तत्' समझता है । परन्तु 'या' मे भटकता है । माया त्रिगुणात्मिका है—सत्त्व, रजस्,

तमस्, उसका शुद्ध सत्त्वरूप ब्रह्म है। सर्वज्ञ ईश्वर उसका स्वामी है। इन दो के सम्बन्ध से जगत् का प्रकटीकरण है। माया अनिर्वचनीया है। उसके कार्य से जानी जा सकने योग्य वह कार्यानुमेया है। जीव स्वरूप मे माया उपाधि पूर्ण है। ईश्वर सम्बन्ध मे विश्वमाया, जीव स्वरूप की उपाधि अविद्या है। विज्ञान से वह दूर हो जाती है अत वह सत् नही है। किन्तु वैसे वह सदैव रहती है। इसलिए वह असत् भी नही है। इस प्रकार ईश्वर से मिलकर सृष्टि कर्त्री होते हुए भी आवरण शक्ति और विशेष शक्ति धारण करती हुई भी ब्रह्म ही है। वह सबमे, सृष्टि मे व्याप्त है, मायी (स्वय शिव) मायी है। माया तुच्छा, निर्वचनीया और वास्तवी है, श्रुति, मुक्ति और लौकिक बोध का यही मत है। वह स्वय स्वतन्त्र नही है किन्तु वह दृश्यरूप से ही तो असग कही जा सकती है। चिदाभास से नही होते हुए को होता हुआ सा दिखा देती है। उसमें दुर्घटत्व की शक्ति है। वह तो प्रश्न रूप है। जगत् उसका इन्द्रजाल है। वह अचिन्त्य है। इस अचिन्त्य रचना शक्ति से पूर्ण माया है। वह ईश्वर जिसकी माया दासी है वह माया के सम्बन्ध मे प्रगट होता है। उसे ही महेश्वर, अन्तर्यामी, जगद्योनि समझना चाहिए। माया एक दीर्घ स्वप्न है।

अनात्म जड और आत्मन् इन दो के स्वरूप मे ज्ञान विभाजित है। ज्ञान के लिए ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की आवश्यकता है। ज्ञान निम्न और उच्च दो प्रकार का है। प्रथम अनात्मन् है, दूसरा आत्मन्। ब्रह्म मूल ऊपर है, शाखा-प्रशाखा जगत् नीचे फैलती है।

जगत् दो प्रकार का है—जड और अचिन्त्य। माया जड है, जगत् असत् है पर अपनी व्यवहारिकी सत्ता मे वह है।

उक्त द्वन्द्व वैसा ही है जैसा गौतम को आत्मा तथा पुनर्जन्म के सम्बन्ध में हुआ था। इसी तरह से शकर के दर्शन मे ब्राह्मण कर्मकाण्ड पूरा का पूरा घुस गया।

ब्रह्म जिज्ञासा के लिए विवेक, विराग, षट्सम्पत्ति, शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, गुरु और समाधि की आवश्यकता है। इसीसे आत्मज्ञान होता है। शरीर मे चिदाभासयुक्त अत करण, कूटस्थ चैतन्य और आवरण शक्ति तीनो है। अहकार से जीव अपने को कर्ता-भोक्ता समझता है। उसे चिज्जड-ग्रन्थि कहते है। अहता, ममता, परता उसमे घुस जाती है। मनुष्य तीन प्रकार के होते है—पामर, विषयी और मुमुक्षु। कर्म से मुक्ति होती है। सम्यग् दर्शन से ही जीव जगत् परमार्थ का सत्य ज्ञात होता है। जीव—चैतन्य, अधिष्ठान, लिग देह और चिच्छाया का एकत्रीकरण है। प्रत्यगात्मा अपने ही आलोक में दीप्त रहती है। आत्म के प्रकाश से प्रतिबिम्बित अन्तेन्द्रिय को साभासत करण कहते हैं। यह सब मिलकर अह बनते है। जीव का पूर्ण रूप देह, इन्द्रिय, मन

बुद्धि का सघात है। शरीर तीन है—स्थूलोपाधि, सूक्ष्मोपाधि, कारणोपाधि। तुरीया, सुषुप्ति, अज्ञान से जीव को विपरीत ज्ञान, प्रज्ञा के प्रभाव से होता है वह परमात्मा को लिग देह ही समझने लगता है। वस्तुतन्त्र का सम्यक् ज्ञान होने पर मोक्ष हो सकता है। इसके लिए विवेक ज्ञान की आवश्यकता है। जीव को अपने को परमात्मा से अभेद समझना चाहिए। निदिध्यासन, समाधि से भेद मिटते है, दु ख-निवृत्ति होती है। तत्त्वमसि का अनुभव होता है और वेदान्ती कह उठता है सर्व खल्विद ब्रह्म। तभी शकर ने अपरोक्षानुभूति में कहा है—दृष्टि ज्ञानमयी कृत्वा पश्येत् ब्रह्ममय जगत्।

जीव— यथा नद्य स्यन्दमानः समुद्र
अस्त गच्छन्ति नामरूपे विहाय
तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्त
परात्पर पुरुषमुपैति दिव्यम्।

समानता और भेद

इस प्रकार हम देखते है कि उपनिषद् के ब्रह्म सम्बन्धी उद्गार, बौद्ध दर्शन तथा साख्य को शकर ने एक उत्कृष्ट दर्शन के रूप मे ढाल दिया जिसमे परमात्मा, ससार, जीव और मृत्यु के अनन्तर की बातो को इकट्ठा करके रख दिया। वेदान्त मे तत्त्वमसि तथा आत्मवत् सर्वभूतेषु य पश्यति स पडित —आदि सिद्धान्त स्वीकार किये गए। किन्तु व्यावहारिकी सत्ता के द्वार से जो शकर का व्यवहार ब्राह्मण सत्ता के हाथ मे चला गया यह सब फिर ऊँचे सत्य की बाते हो गई। शकर ने कहा था कि जो मेरे अद्वैत को जानता है वह ब्राह्मण हो या चाण्डाल मेरा गुरु है। किन्तु यह नही हो सका। शकर ने बौद्ध मत को छिन्न-भिन्न कर दिया और ऐसी हालत कर दी कि दार्शनिकता का अभिमान ही उससे छिन गया। अब उसका दूसरा स्वरूप प्रबल रह गया जो कौल मार्ग मे चला गया था। उसे यहाँ न देखकर शाक्त सम्प्रदायो के साथ देखना उचित होगा। कपिल का शिव से सब सीखना सम्भवत शैव मत का आर्यों पर आरम्भिक प्रभाव बताता है, जब आर्यो ने योग की उच्चस्तर की बातो को लेकर ही उन्नत किया था।

शकर ने ब्राह्मण धर्म को निर्द्वन्द्व रूप से पुन प्रतिष्ठापित किया। उसने यह स्पष्ट किया कि वेद और उपनिपद् के माननेवालो मे व्यर्थ ही विवाद है और वह भी लघुतम भेदो पर। उन्हे छोडो और एकत्र हो जाओ। अपना कार्य स्वय शंकर को ज्ञात था।

साख्य, पातंजल योगदर्शन, बौद्धदर्शन इत्यादि के अनन्तर वेदान्त दर्शन को

इस प्रकार सक्षिप्त किया जाता है।[1] साख्य मे —जगत्=प्रकृति परिणाम मे त्रयोविंशति तत्त्वात्मक। जगत्कारण=त्रिगुणात्मक प्रकृति। ईश्वर=नही। जीव=असग चेतन, विभु नाना, भोक्ता। बन्ध हेतु=अविवेक। बन्ध=अध्यात्मादि त्रिविध दु ख। मोक्ष=त्रिविध दु खध्वस। मोक्ष साधन=प्रकृति-पुरुष-विवेक। अधिकार=सदिग्ध विरक्त। प्रधान काण्ड=कर्मकाण्ड। वाद=परिणामवाद। आत्मपरिमाण सख्या=विभु नाना। प्रमाण=प्रत्यक्ष अनुमान, शब्द। ख्याति=अख्याति। सत्ता=जीव जगत्, परमार्थ सत्ता। उपयोग=त्व पदार्थ शोधन।

योग मे —जगत प्रकृतिपरिणामत्रयोविशति तत्त्वात्मक। जगत् कारण=कर्मानुसार प्रकृति और तन्नियामक ईश्वर। ईश्वर क्लेश कर्म विपाक आशय असबद्ध पुरुष विशेष। जीव=असग चेतन, विभुनाना, कर्ता, भोक्ता। बन्ध हेतु=अविवेक। बन्ध=प्रकृति पुरुष सयोगजन्य अविद्यादि पचक्लेश। मोक्ष=प्रकृति पुरुष सयोगजन्य अविद्यादि पचक्लेश निवृत्ति। मोक्ष साधन=निर्विकल्प समाधिपूर्वक विवेक। अधिकार=विक्षिप्त चित्तवान। प्रधान काण्ड=उपासनाकाण्ड। वाद=परिणामवाद। आत्मपरिमाण सख्या विभुनाना प्रमाण=साख्य के तीनो। ख्याति=अख्याति। सत्ता=जीव जगत् परमार्थ सत्ता। उपयोग=चित्त की एकाग्रता।

वेदान्त मे —जगत्=नानारूप क्रियात्मक माया का परिणाम चेतन का विवर्त। जगत् कारण=अभिन्न निमित्तोपादान ईश्वर। ईश्वर=मायाविशिष्ट-चेतन। जीव=अविद्याविशिष्ट चेतन। बन्धहेतु=अविद्या। बन्ध=अविद्या-तत्कार्य। मोक्ष=अविद्यातत्कार्य निवृत्तिपूर्वक परमानन्द ब्रह्म की पूर्ति। मोक्ष-साधना=ब्रह्मात्मैक्यज्ञान। अधिकार=मलविक्षेप, दोपरहित, चतुष्टय साधन सम्पन्न। प्रधानकाण्ड=ज्ञान काण्ड। वाद=विवर्तवाद। आत्मपरिमाण सख्या-विभु एक। प्रमाण=षट्। ख्याति=अनिर्वचनीय। सत्ता=परमार्थरूपात्म सत्ता व्यावहारिक और प्रातिभासिक जगत् सत्ता। उपयोग=तत्वज्ञानपूर्वक मोक्ष।

सक्षेप मे यही भेद और समानता है। विस्तार से इस विषय मे न जाकर यह कह देना काफी होगा कि भारतीय विचारधारा का एक यह पक्ष था। जबकि दूसरा अभी पक रहा था। वह रामानुज के हाथो अपनी स्पष्ट भक्ति की रूपरेखा लेकर अभी कुछ दिन बाद प्रगट होनेवाला था। किन्तु इनके अतिरिक्त एक तीसरी विचारधारा और थी। वह शिव और शक्ति नाम से अभिहित की जा सकती है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जैसे एक विचार-

1. सद्ग्रन्थ पचग्रन्थी।

धारा को शकर ने माँजा, दूसरी को रामानुज ने, उसी प्रकार तीसरी का भार गोरक्षनाथ के कन्धो पर आ पडा था। उपसहार मे हम उनकी सफलता और असफलताओ पर सक्षेप मे विचार करेगे। जैन धर्म को अलग छोडकर यही तीन धाराएँ हमारे आलोच्यकाल की मुख्य विचारधाराएँ है। इतिहास का वह युग जैन धर्म का नही, वरन इन तीन का है; क्योकि सब-कुछ जो उथल-पुथल मे नया रूप ग्रहण कर रहा था वह इन्ही तीन के हाथ । अब दार्शनिक पक्ष मे शिव और विष्णु का युद्ध समाप्तप्राय था। भक्ति के क्षेत्र मे वह तुलसी तक बना रहा। इसको यही त्यागना उचित है, क्योकि विषय हमारे आलोच्यकाल के बाहर का हो जाता है।

ऊपर हम देख चुके है कि योगवासिष्ठ मे कुण्डलिनी ज्ञान था किन्तु चक्र ज्ञान उसमे विशेष नही है। पतजलि के टीकाकारो ने अवान्तर काल मे हठयोग की आसन क्रियाओ को उसके आसनवाले सूत्र के साथ जोड दिया है। निस्सन्देह ही वे क्रियाएँ हठयोग प्रदीपिका से प्रभावित है। हठयोग प्रदीपिका गोरक्षनाथ के बाद की रचना है। तब योग के दो रूप भारत मे थे यह स्पष्ट हुआ। एक साख्य का आर्ययोग दूसरा आर्येतरो का योग जिसमे शरीर की अन्तर-बाह्य चेष्टाएँ कही अधिक थी जबकि साख्य तथा पतजलि के राजयोग की स्वीकृति मे योग को एक उच्चस्तर से देखा गया था। पतजलि मे प्राणायाम है और उसके पूरक, कुम्भक, रेचक इत्यादि भेद का सविस्तार वर्णन हुआ है। पतजलि मे तप शब्द का प्रयोग है। हठयोग मे तप से इगित शरीर को कष्ट देने की भावना नही है। यह घेरण्डसहिता और शिवसहिता मे प्रगट है। ऊपर हम देख चुके है कि कापालिक मत और कौल मार्ग मे योग और नाडी ज्ञान पद्म-चक्रज्ञान था। अब हमे उसीको सविस्तार देखना चाहिए। आर्यसामाजिकता के भीतर की दार्शनिक विचारधारा को हमने सक्षेप मे देखा। हमारे आलोच्य काल मे उसने एक अद्भुत स्पष्ट स्वरूप ग्रहण कर लिया। यह शकर के हाथो ही पूर्ण हो सका। आर्यसामाजिक व्यवस्था के बाहर शिव तत्त्व और बुद्ध तत्त्व कैसे हिल-मिलकर शाक्त मच पर एक होकर आ गए थे, इस पर विचार किया जा चुका है । अब उसकी दार्शनिकता, हठयोग, नाडी तथा चक्रज्ञान इत्यादि विषयो को देखकर गोरक्षनाथ के हठयोग और दर्शन को देखना चाहिए।

किंवदन्ती है कि शकर ने षट्चक्र योग का विरोध किया था। उनका कापालिक क्रकच से विवाद हुआ। शिव ने क्रकच को अपने मे लय कर लिया। शकर ने तान्त्रिकता का भी विरोध किया था।

योग के इस रूप को देखने पर ज्ञात होता है कि यह साधना भी अपने भीतर अनेक आर्यसामाजिक व्यवस्था मे स्वीकृत नामो को दिखाती है—जिसमे वसिष्ठ उल्लेखनीय है। हठयोग की एक परम्परा मे भी वसिष्ठ का नाम

आता है। परशुराम तथा सनत्कुमार ऐसे ही अनेक नाम मिलते हैं, जिनमे दत्तात्रेय का नाम पहले आ चुका है।

शाक्त मत और उसका समाज

वज्रयान ने शून्यता के साथ महासुख की जो कल्पना की तो शून्यता ही को वज्र माना। यह देवी रूप है—जिसके प्रगाढ आलिंगन मे मानव-चित्त (बोधि-चित्त या विज्ञान) सदा बद्ध रहता है तथा यह युगल-मिलन सब काल के लिए सुख तथा आनन्द उत्पन्न करता है। यहाँ जगत् की उत्पत्ति का कारण वैषम्य कहा गया। समता प्रलय की सूचिका मानी गई। वज्रयान मे वैराग्य का दमन करनेवाला वीर है। विशुद्ध होने पर ललना और रसना (ऊपर कापालिक मत मे यह नाम आ चुके है) अवधूती के रूप मे बदल जाती है। अवधूतिका के लिए डोम्बी शब्द आता है। वाम शक्ति और दक्षिण शक्ति के मिलान से जो अग्नि या तेज उत्पन्न होता है, उसकी प्रथम अभिव्यक्ति नाभिचक्र मे होती है। इस अवस्था मे वह शक्ति अच्छी तरह विशुद्ध नही होती। सहजिया भाषा मे इसका साकेतिक नाम चाण्डाली है। जब चाण्डाली विशुद्ध हो जाती है तब उसे डोम्बी या बगाली कहते है। वज्रयान की चरम अनुभूति वास्तव मे पूर्णाद्वैत की भावना ही है।

शाक्त उपासना की दार्शनिकता भी यही अद्वैत है। शाक्त मत के अपने दर्शन के साथ कुछ विशेष सामाजिक व्यवहार थे जिनको दर्शन के साथ रखकर समझ लेने से सरलता होगी। ऊपर अह् को मिटाने की उनकी तीव्र चेष्टा का उल्लेख हो चुका है। यहाँ अब कुछ नियमो का दर्शन किया जाता है।

वेद-विरुद्ध रूप मे तन्त्र मे एक यह विशेषता है कि यहाँ शरीर को कष्ट देना अस्वीकृत है। भूखे-प्यासे कालिका की उपासना नही करनी चाहिए। जब शिव और जीव एक ही हैं तो अपने-आपको नैवेद्य देने से क्या लाभ है? शिव ही तो जीव के रूप मे भूख, प्यास से व्याकुल रहता है। ब्रह्मा ब्रह्मलोक मे है। विष्णु विष्णुलोक मे, रुद्र कैलाश मे, श्रीकृष्ण गोलोक मे, किन्तु महादेवी अर्थात् शिव की शक्ति सब समय मे सब स्थानो पर है। उनके अनेक भेद है। शैव, वैष्णव, गाणपत्य, सौर तथा चीनाचार, बौद्ध सभी रूपो से उनकी पूजा की जाती है। साधक दिव्यभाव, वीरभाव तथा पशुभाव से उनकी पूजा के अधिकारी है। विभिन्न तन्त्रो मे बिखरे हुए उनके अनेक-अनेक नाम हैं।

स्त्री बनकर यदि साधक उपासना करे तो वह वामाचार मे ब्रह्मचारी भी रह सकता है।[1] श्मशानसाधना से ही सब वासना जल जाती है। श्मशान दो

---

1 वामाचार भवेत् तत्र वामा भूत्वा यजेत् परा।

प्रकार के है। एक चिता दूसरी योगिनीरूपा महाकाली। किन्तु जिस स्त्री को देवता मान लिया जाता है वह फिर भोग की वस्तु नही रहती।[1]

कल्प के प्रारम्भ मे चिन्मयी महादेवी जब देवरुद्र की तपस्या से प्रसन्न हो गईं तब गहन गम्भीर अम्भराशि पर बहते हुए उन्होने विराट् रूप धारण किया और उन्हे दिखाई देने लगी। महादेवी की आज्ञा से तब देवरुद्र ने सुषुम्णा मे करोडो ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर और ब्रह्माण्ड देखे। देवी के हृत-कमल मे अभूत विस्मय करते हुए रुद्र ने वहाँ शब्दब्रह्म की मूर्ति आगम, निगम, और अन्य शास्त्रो को धारण करते हुए देखी। उन्होने देखा कि आगम उसमे परमात्मा थे। चारो वेद अंगो सहित जीवात्मा थे। षट्दर्शन तन्मात्राएँ, महा-पुराण और उपपुराण स्थूल शरीर, स्मृति हाथ तथा अन्य अग थे और अनेक शास्त्र उनके केश थे। 50 मातृकाएँ उनके हृत्कमल के किनारो पर, दलो पर, तेजस् पूर्ण थी। उस विराट् रूपिणी के उस कमल के भीतर आगम सहस्रो सूर्य, चन्द्रमाओ के समान देदीप्यमान, धर्म और ब्रह्मज्ञान से पूर्ण थे जिनमे माया को नष्ट कर देने की शक्ति थी। वे सर्व सिद्धियो से भरे हुए थे और ब्रह्मनिर्वाण की ा मर्थ्य धारण करते थे। महादेवी की अनुकम्पा से देव रुद्र ने सब वेद, वेदान्त, पुराण, स्मृति और अन्य शास्त्र पूर्णरूप से जान लिये। बाद मे ब्रह्मा और विष्णु ने यह विद्या शिव से ग्रहण की।

देवीगीता मे लिखा है कि ब्रह्मा, विष्णु, ईश्वर, सदा शिव आदि देवी के चरणो पर बैठे महाप्रेत है। पचभूत से निर्माणित वे पचतत्त्व के ही प्रतीक है। देवी स्वय ओम है, चित् है और उन सबसे परे है। उनकी उपासना मे जो रत है वह सब विघ्नो से मुक्त है। वह उन्मुक्त कुन्तला, कपालधारिणी है।

उस देवा के अनेक रूप है। वह अनेक देवताओ के सम्बन्ध मे अनेक रूप धारण करती है। देवी का आदि और अन्त नही है। अनेक सप्रदायो मे उसके ही भिन्न-भिन्न रूपो की उपासना प्रचलित है।

गणेशार्क हरीशाना दुर्गारूपा सरस्वती
महाश्यामा महाविद्या पूजनीया यथा क्रमम्।
न कुर्याद् भेदमेतेषा कौलिको वैष्णवस्तथा
गणेशार्क हरीशान् दुर्गाणा परमार्थवित।
पूजयेदैक्यभावेन देवीभक्तश्च बुद्धिमान्
देवीचक्रेऽर्चयेत सर्वान् शिवलिगेऽथवा शिवे,
शालग्राम शिलायाम वा सूर्यपीठेऽथवा शिवे।

---

1. योगिनीतन्त्र, 9वा पटल।

श्रीगणेश्वर चक्रे वा न भेद कारयेत् सुधी
भेद वै कुरुते यस्तु स शैव शिवहा भवेत् ।[1]

देवी-भक्त भेद बुद्धि से काम नही लेते । वह तो ऐक्यभाव के माननेवाले हैं । भेद तो किसी भी सम्प्रदाय से नही करना चाहिए यदि उनमे भी देवी के प्रति भक्तिभावना है । देवी की इस ऐक्य सविधायनी शक्ति की भावना मे वह पृष्ठभूमि मिल जाती है जिसके कारण सब स्त्रियो को एक-सा माना गया है ।

स्त्री को लता के समान माना गया है । वह पाँचवाँ तत्त्व है । शवासन करते समय साधक चाण्डाल या गीदड के शव पर बैठकर मन्त्रपाठ करता है । योग मार्ग मे वह गुरु-उपदेश के अनुसार शव पर सीधा लेट जाता है । चितारोह या चितासाधन मे वह अपवित्र बुझी चिता पर बैठकर मन्त्रपाठ करता है । साधक की अग्नि हविष्य तथा फल आदि सबमे ही तो ब्रह्म है, जो यह ध्यान करके क्रिया मे रत होता है, वह ब्रह्म को प्राप्त करता है । उक्त विचार ब्रह्म को सब-कुछ अर्पण कर देने वाले सिद्धात से बहुत मिलता-जुलता-सा है । ऊपरी स्नान आवश्यक नही । अत करण शुद्ध होना चाहिए । परब्रह्म को जो अर्पित है वह पवित्र है । गङ्गा का जल और शालिग्राम चाण्डाल के स्पर्श से अपवित्र हो सकते हैं किन्तु

परब्रह्मार्पिते द्रव्ये स्पृष्टास्पृष्टाच विद्यते ।

उस भोजन को खाने मे जाति-पाँति को मानने की कोई भी आवश्यकता नही है । एक-दूसरे की थाली का उच्छिष्ठ खाने मे भी नही हिचकिचाना चाहिए । वह तो चाण्डाल के हाथ से भी खाया जा सकता है । कुत्ते के मुँह से भी उसे निकालकर खा लेने मे हानि नही है । वेदान्त के ज्ञानी ब्राह्मणो को भी ब्रह्मार्पित भोजन चाण्डाल के हाथ से खा लेना चाहिए । सौ ब्राह्मणो की हत्या मे उतना पाप नही जितना उसे खाने से अस्वीकार करने मे है । इस साधना मे लगे मनुष्य के लिए आवश्यक है कि वह सत्यवादी हो, दयावान हो और सदैव ब्रह्मचिन्तन मे तत्पर हो । कौलसाधना मे शाक्त, शैव, सौर, गाणपत्य, वेदपाठी ब्राह्मण सब लिये जा सकते है । कलियुग मे पशुभाव नही है । दिव्यभाव प्राप्त करना कठिन है । वीर साधना फलवती हो सकती है । सृष्टि के पहले शक्ति मे तमस् रूप से सब निहित रहता है । देवी सर्वरूपिणी, सर्वस्वरूपा, मूल प्रकृति के रूप मे जननी, विश्वविराट्, तेजस्, हिरण्यगर्भ, अव्याकृत प्रज्ञा और अव्यक्त है । सृष्टि उसका तम=रज=सत=रस, पूर्ण चिदानन्द प्रकाश है । वह महाकाल को निगल जाती है । वह आद्याकालिका

1. रुद्रयामल ।

है। मूलप्रकृति और तुरीयब्रह्मन का मिलन वह आद्याकाली है।[1] पूर्वजन्मो के कार्यो के फलस्वरूप आत्मा कौलमत की ओर आकर्षित होती है। इस कौल धर्म मे ही कलियुग मे सत्य, त्रेता और द्वापर की भाँति खुलेआम मदिरा पी जा सकती है। जो साधु श्मशानसाधना, शवसाधना और लतासाधना करते है, वे कुल साधु कहलाते है। वे किसी भी रूप मे रह सकते है—

अन्त शाक्त बहि शैवा सभामध्येच वैष्णवा
नानारूपधरा कौला विचरन्ति महीतले।

कौल साधक के इस प्रकार अनेक रूप है।

कुलस्त्रिय कुलगुरु कुलदेवी महीश्वरि
नित्ययत्पूजयेद्विश्व सकुलाचार उच्यते।[2]

कुलदेवी की पूजा नितान्त आवश्यक है। इस कौल साधना के भिन्न रूपों मे भी छोटे-बडो का स्थान है—

कौलिकोऽङ्गुष्ठता प्राप्तो वाम स्यात् तर्जनी सम
चीनक्रमो मध्यम स्यात् सिद्धान्तीयो वरोभवेत्
कनिष्ठ शाबरो मार्ग इति वामस्तु पचधा।[3]

वाममार्ग के यही मुख्य पाँच स्वरूप है। इनमे शैव भी है। यह सात पाशुपत तो निकट है—

शिखीमुडी, जटीचैव द्वित्रिदडी क्रमेणच
पकदडी महेशानि वीर शैवस्तथैवच
सप्त पाशुपता प्रोक्ता दशधा वैष्णावस्तथा।

इन सबमे प्राय. शक्ति ही प्रधान तत्त्व है। उस तत्त्व के साथ अपने-अपने परिमाण मे योग भी सन्निहित है। इस योग मे शरीर के भीतर सूक्ष्म-लिंग माने गए है।

तभी मेरुतन्त्र मे कहा है—

सयोगो देहलिंगस्य नाशक कालयोगकृत।

कौलमार्ग ससार मे वासना फैलाने का पथ नही है। उसका उपदेश स्वयं शिव ने दिया है।

ससार के हितार्थ ही शिव ने पार्वती को कौल शिक्षा दी है। शिव ने सतयुग, त्रेतायुग तथा द्वापर मे श्रुति से ससार को मुक्तिपथ बताया था।

---

1. महानिर्वाण तन्त्र।

2 रुद्रयामल। नित्य कुलस्त्री, कुलगुरु और कुलदेवी की पूजा करनी ही कुलाचार कहलाता है।

3 मेरुतन्त्र, कौल अगूठा, वाम तर्जनी, चीनक्रम बीच की अगुली, सिद्धान्तीय अनामिका तथा शाबर मार्ग कनिष्ठा के समान है।

कलियुग के लिए कौल ही सर्वोच्च मार्ग है। वह तन्त्र मे प्रकट हुआ है। आगम मे शिव पार्वती को शिक्षा देते है। निगम मे इसके विपरीत होता है।

मन्त्र का लिंग उसके देवता के बदलने के साथ बदल जाता है। शारदा तिलक के अनुसार हुँ, फट पुरुष देवता का चिह्न है स्वाहा स्त्रीलिंग है। पुल्लिग का अन्त नमः से होता है।

महानिर्वाणतन्त्र मे शिव ने पार्वती से कहा है। हे आद्या! शक्ति पूजा की पॉच आवश्यकताएँ यह है। मद्य, मास, मत्स्य, मुद्रा तथा मैथुन। यह ही पच तत्त्व है। इनके बिना शक्ति पूजा केवल अभिचार है। वज्रयान मे भी इन पॉच तत्त्वो का उल्लेख है। वहाँ यह नितान्त आवश्यक है। बोधिसत्व तो इनके बिना बिलकुल अपूर्ण है। चक्रपूजा मे इन सबकी आवश्यकता है।

प्रवृत्ति के पॉच रूप वास्तव मे निवृत्ति के ही सरलतम साधन है। इनसे साधक को घृणा नही करनी चाहिए। मद्य तो विशेष प्रिय वस्तु है।

महानिर्वाणतन्त्र मे देवी के प्रश्न करने पर सदाशिव कहते है। सत्य और त्रेता तथा द्वापर मे चार वर्ण थे और चार ही आश्रम थे। कलि मे पॉच वर्ण है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, और सामान्य (निम्नजाति)। हे देवी अब केवल दो आश्रम है। ब्रह्मचर्य और वानप्रस्थ तो समाप्त हो गए। गार्हस्थ्य और सन्यास शेष है। सन्यास भी अनैतिक और आध्यात्मिक रूप से निर्बल है। वे वैसे नही रहते जैसे पहले रहते थे। जाति, वर्ण, आश्रम से ऊपर तो केवल अवधूत रहता है। जो ब्रह्म मे ध्यान लगाता है उसके लिए आवश्यक है कि वह अच्छा आदमी हो। गृहस्थ को अपनी पत्नी को कभी दण्ड नही देना चाहिए। उसे उसका ऐसे सम्मान करना चाहिए जैसे अपनी माता का। बुद्धिमान व्यक्ति को अपनी स्त्री को अकेला ही मेलो मे नही भेज देना चाहिए। मनुष्य की देह धन, इच्छा और मुक्ति का घर है। उसका कभी क्रय-विक्रय नही होना चाहिए। यदि वह बेचा गया है तो मेरी आज्ञा से वह क्रयविक्रय अस्वीकृत है। भैरवी चक्र या तत्व चक्र के अतिरिक्त मनुष्यो को अपनी-अपनी जाति मे विवाह करना चाहिए। तन्त्रातर के अनुसार ब्राह्मण सब जातियो की स्त्री से विवाह कर सकता है। क्षत्रिय वैश्य और शूद्र से। वैश्य ब्राह्मण और क्षत्रिय के अतिरिक्त तथा शूद्र पहले तीन के अतिरिक्त सबसे कर सकता है, सामान्य मात्र सामान्य से। विधवा भी पुर्नविवाह कर सकती है। केवल एक बन्ध है कि स्त्री एक पति के रहने दूसरे से विवाह नही कर सकती। वीरसाधक के हाथ मे कैसा भी, कच्चा-पक्का, चाण्डाल, म्लेच्छ, किरात या हूण द्वारा छुआ भोजन पहुँचकर पवित्र हो जाता है। चक्र मे जातिदर्प नरक मे डालनेवाला होता है। चक्र मे जो छ मास उपासना करता है वह राजा हो जाता है। सालभर से मृत्युजय, नित्य करने से तो उसे निर्वाण मिल जाता है। शक्ति

अग्नि का अस्त्र है जैसे वरुण का पाश है । हे परमेश्वरी, शैव पत्नी और उसके पुत्र को पति की मृत्यु के बाद उसकी सम्पति प्राप्त करने वाले से सम्पत्ति के अनुरूप धन पाने का अधिकार है । परवर्त्ती विचार होकर भी महत्त्वपूर्ण है। पुत्र को अपने माता-पिता, प्रजा को अपना राजा, पत्नी को पति तब तक नही छोडना चाहिए जब तक वे घोर अपराधी न हो। जो दूसरे की सम्पत्ति प्राप्त करे उसे धनवाले का धर्म स्वीकार कर लेना चाहिए । ससार मे दो तरह के कर्म हैं। अच्छे और बुरे, बुरे का फल सदैव अत्यन्त कष्टदायक होता है। हे देवी, मनुष्य सोने और लोहे की शृङ्खला मे फँसा है । ज्ञान के बिना कही मुक्ति नही है । क्षीणतमस् ज्ञान से आत्मा के निर्मल होने पर निष्काम कर्म से प्राप्त ही ब्रह्म है जिसके लिए निरन्तर तत्त्व विचार की आवश्यकता है ।

मुक्ति जप, होम या सौ व्रतो से नही मिलती। वह तो ब्रह्मज्ञान से मिलती है। जो अज्ञान से मिट्टी और पत्थर, लकडी और धातु की मूर्तियो को ईश्वर समझकर उपासना मे रत है वे तो कभी मुक्त नही हो सकते । यदि वायुभक्षण, पल्लव दाना और जल भक्षण से मुक्ति मिलती तो साँप, गाय, भैंस, पक्षी और जलचर कभी के मुक्त हो गए होते। ब्रह्म सद्भाव सबसे उच्च अवस्था है। ध्यान भाव मध्यम है । स्तुति और जप अन्तिम है । जो बाह्य उपासना करते है वे तो निकृष्टतम है । योग जीव और आत्मन् की एकता है, पूजा पूजक और पूज्य की । किन्तु जो जानता है कि सब ब्रह्म है उसके लिए न जप, न योग, न पूजा कुछ भी आवश्यक नही है । जो ब्रह्म ज्ञाता है उसके लिए तो पाप और सुकृत कुछ भी नही । वह प्रगट रूप से सृष्टि मे रहकर भी नही रहता । एक आत्मा होने के कारण मनुष्य मनुष्य से प्रेम करता है । (जो ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा अन्य जातियाँ ब्रह्म मत्र की उपासक है वे भले ही गृहस्थ हो, यती हो । पूर्णाभिपेक सस्कारो से दीक्षित व्यक्तियो को शैवावधूत समझना चाहिए।) जो कौल चाडाल अथवा यवन को कुल धर्म मे उन्हे नीच समझकर दीक्षा नही देता वह स्वय नीच है। जो स्त्री का अपमान करता है वह पतित है । जैसे हाथी के पग चिन्हो मे सब पशुओ के पग चिन्ह खो जाते हैं वैसे ही कुल धर्म मे सब धर्म लय हो जाते है ।

कौल धर्म से परे कोई और धर्म नही है । इसको मानने से साधक स्वाधीन इन्द्रिय सचार करता है । वह षड्वर्गविजय की क्षमता रखता हुआ निर्द्वन्द्व नित्य शक्तिमान होता है ।

इस प्रकार यह प्रगट होता है कि कौल मार्ग के कुछ अपने विशेष नियम थे । जो उन्होने अपने विशेष वर्ग के लिए स्वीकृत कर लिये थे। ये नियम परवर्त्ती काल मे कुछ वैदिक होने का प्रयत्न करते हुए दिखाई देते है । किन्तु अपने प्रारम्भिक स्वरूप मे वे नि.सन्देह तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था मे एक

उथल-पुथल मचा देने की शक्ति रखनेवाले सिद्धान्त थे जिनसे ब्राह्मण वर्ग पर केवल प्रहार ही हुआ करते थे, चाहे वह शैव मत का प्रभाव हो चाहे बौद्ध का।

सिद्धि तत्त्व की एक बडी प्रधानता मानी जाती थी। यक्षिणी आदि उपविद्याओ का भी प्रचार था।

किन्तु कौल साधना मे योगि-साधना की ही भाँति गुरु को बहुत आवश्यक बताया गया है। वह पथ-प्रदर्शक है। गुरु का स्थान अत्यन्त उच्च माना गया है। उसके बिना साधक ठीक पथ पर नही चल सकता।

रुद्रयामल मे—

गुरूरेव परोमन्त्रो गुरूरेव परो जप
गुरूरेव परा विद्या नास्ति किंचित् गुरू बिना।
यस्य तुष्टा गुरूदेव तस्य तुष्टा महेश्वरी
येन सन्तोषितो देवि गुरू स हि सदाशिव ।।[1]

किन्तु साथ ही ब्रह्म वैवर्त मे—

ये गुरूद्रोहिणो मूढा सतत्तं पाप कारिण
तेषा तु यावत् सुकृत दुष्कृत स्यान्नसशय ।[2]

मेरुतत्र मे—

घृणा शका भय लज्जा जुगुप्सा चेति पचमी
कुल शील तथा शक्तिरष्टा पाशा प्रकीर्तिता।
पाशबद्ध पशु प्रोक्त पाशमुक्त सदाशिव
तस्माद्पाशहरोयोऽत्र सगुरूर्नान्यिउच्यते ।।[3]

कौलरत्नावली मे—

न गुरो सदृश वस्तु न देव शकरोपम
न च कौलात्परो योगो न विद्या कालिका समा।[4]

---

1 गुरु ही परममन्त्र तथा परम जप है। गुरु ही परा विद्या है। उसके बिना कुछ नही। जिससे गुरु प्रसन्न है उससे महेश्वरी भी प्रसन्न है। जिससे गुरु सन्तुष्ट है उससे सदाशिव सन्तुष्ट है।

2 जो गुरुद्रोही है वे सतत पाप करते है। नि सशय उनके सुकृत भी बुरे कर्म है।

3 घृणा, शका, भय, लज्जा, जुगुप्सा, कुल, शील, शक्ति 8 पाश है। पाशबद्ध पशु है, पाशमुक्त सदाशिव। गुरु ही पाशहर है।

4 गुरु सदृश कोई वस्तु नही। न देवता शकर समान ही। कौल से परे योग नही। विद्या कालिका समान नही।

आगमसार मे—

गकार सिद्धिद प्रोक्तो रेफ पापस्य दाहक
उकार शिव इत्युक्तास्त्रितयात्मा गुरू पर. ।[1]

कुलार्णव के अनुसार इस गुरु को—

अन्तर्मुखो बहिर्दृष्टि सर्वज्ञो देशकालविद् ।[2]

होना भी आवश्यक है। जिसके न होने पर गुरु को त्याग देने मे साधक का अपराध नही है। वाम मार्ग मे भिन्न मडलो की भिन्न बलि है। इसमे अप-देवताओ की भीड है। इससे इगित होता है कि इसमे कैसे समाज के देवता आ घुसे थे।

पुरश्चर्यार्णव मे—

ब्रह्मस्थाने तु वेतालो मेषस्तस्य बलि पुर ।
विष्णु स्थाने भैरवी स्यादजस्तस्य बलिर्मत ॥
भैरवस्तु शिवस्थाने महिष बलिमिच्छति ।
गौडी माध्वीच पैष्ठीच सुरास्तन्त्र क्रमान्यता ॥
मत्स्यमास मद्ययुक्त भूतेभ्यो बलिरिष्यते ।
पितृभ्य सासवफल यक्षेभ्य कुक्कुटो मधु ।
भेकोन्दुरु बलिर्नागे वाममार्गे बलिस्त्वयम् ॥[3]

यक्ष और कुक्कुट साथ-साथ आते है। वेताल का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

काली के लिए पुष्प अर्पित करने की आवश्यकता है। वहाँ—

वज्र पुष्पेरार्पितेन यथा तुष्यति कालिका ।
नस्वर्णैर्नच रत्नैश्च न स्पर्शमणिभिस्तथा ।
अभावे वज्र पुष्पस्य जवा पुष्पेण पूजयेत् ।
अर्क पुष्पेण वा पूज्या कालिका सर्वमगला ।[4]

---

1. गकार सिद्धिदायक है। रेफ पाप का दाहक है। उकार शिव है। तीनों की आत्मा ही परमगुरु है।

2 अन्तर्मुख, बहिर्दृष्टि, सर्वज्ञ, देशकाल का ज्ञाता।

3 ब्रह्म स्थान में वेताल की बलि मेष है। विष्णु स्थान में—भैरवी अज। शिवस्थान में भैरव—महिष। इनके लिए क्रमानुसार गौडी, माध्वी, पैष्ठी सुराएँ है। भूतों को मत्स्यमास मद्य युक्त बलि, पितृ को स-आसव। यक्षों को मुर्गा और शहद। मेढक और चूहा नाग को। यह वाम मार्ग की बलि है।

4 वज्र पुष्प अर्पण से कालिका जैसी प्रसन्न होती है वैसी स्वर्णरत्न तथा स्पर्शमणि से भी नही। वज्र पुष्प के अभाव में जवा पुष्प से पूजन करे। अथवा सर्वमगला कापालिका का अर्क पुष्प से पूजन करे।

और—

वज्रपुष्पेण सर्वत्र पूजयेच्चीनसुन्दरीम् ।[1]

चीन सुन्दरी की सर्वत्र वज्रपुष्प से उपासना होनी चाहिए।

कौल मार्ग मे स्त्री को अनेक सुविधाएँ है।

यामल मे—

नियम पुरुषै ज्ञेयो न योषित्सु कदाचन् ।[2]

वीर तन्त्र मे—

नन्यासो योषिताचात्र न ध्यान नच पूजन ।
केवल जप मात्रेण मत्रा सिद्धयन्ति योषिताम् ।।[3]

नियम और सिद्धि की कठिनाइयाँ तो केवल पुरुषो के लिए है।

मेरौ—

स्त्रिय शतापराधावा पुष्पाणि न ताडयेत् ।
दोषान् न गणयेत् स्त्रीणा गुणानेव प्रकाशयेत् ।[4]

तथा

कन्या कुमारिका नग्ना उन्मत्ता अपि योषित ।
न निंदेत जुगुप्सेत् न हसेन्नावमानयेत् ।
एक वृक्ष श्मशानाच समूह योषितामपि ।
नारीच रक्त वसनाम् दृष्टा वन्देत भक्तित ।[5]

—स्त्रियो का कैसा भी अपराध हो तो उन्हे फूल से भी नही मारना चाहिए। उनका अपमान नही करना चाहिए। स्त्री के प्रति इस अतीव सम्मान मे यदि एक ओर शक्ति के दैवी स्वरूप के प्रति श्रद्धाभाव है तो दूसरी ओर स्त्री के शरीर से घोरतम अनुरक्ति है। शाक्त सम्प्रदायो की विचारधारा मे एक विशेष प्रकार का द्वन्द्वभाव न्यस्त रहा है। गोरक्ष मे ऊपर देखा जा चुका है

---

1 सर्वत्र वज्र पुष्प से चीन सुन्दरी की अर्चना करे।

2 नियम पुरुष को जानने चाहिए, स्त्रियों के लिए वह आवश्यक नही।

3 स्त्रियों के लिए न न्यास, न ध्यान, न पूजा, केवल मन्त्र के जपमात्र से उन्हें सिद्धि मिल जाती है।

4 स्त्रियों को सैकड़ों अपराध पर भी पुष्प से भी नही मारना चाहिए। उनके दोष न गिनकर केवल गुणों को प्रकाशित करे।

5 कन्या, कुमारी, नग्न और उन्मत्त हुई स्त्री को देखकर भी, न उसकी निन्दा करे न जुगुप्सा, न हँसे और न अपमानित करे।

एक वृक्ष या श्मशान या समूह में स्त्रियों को देखकर, चाहे वह रक्त वसना ही क्यों न हों भक्ति से उनकी वदना करे।

उसके प्रति कितना कर्कश विद्रोह था। कौल साधक के लिए प्राणायाम एक आवश्यकता है क्योकि शरीर की वायु को वश मे करना साधक की सिद्धि मे सहायक है। अनेको तन्त्रो मे श्वास-प्रश्वास के भेद दिये गए है। यह प्राणायाम साधना की योग पद्धति का एक अग है जिससे साधक अपने को जितेन्द्रिय करने का प्रयत्न करता है। यह जितेन्द्रिय गोरखनाथ की भाँति नही है। कौल साधक का चरम लक्ष यौन सम्बन्धो के मार्ग से ही प्राप्त होता है। प्राणायाम के साथ बीज तथा पदमो का भी सविस्तार वर्णन किया गया है। वायु से शरीर को अमृत से आप्लावित करके साधक को पच भूतो का लय करना चाहिए। किन्तु चरमावस्था मे देवी रूप के चिन्तन का ही उल्लेख है।[1]

इसमे वर्ण और मातृका, उनके रग, उच्चारण और विशेषताओ का भी अपना हाथ रहता है।[2]

भूत शुद्धि के लिए आवश्यक है कि साधक उस परा विद्या को समझे जिससे आकाश, वायु, अग्नि, जल इत्यादि से कलेवर उत्पन्न होता है।[3] यह

---

1 वामनासा पुटेनाथ पूरयित्वा समीरणम्।
सविंदुवायु बीजच धूम्रवर्ण विभाव्यच॥
तदेव बीज देवेश पचाशब्दारमीरयेत।
तदुत्पन्नेन वातेन शुष्क देह विचिन्त्यच॥
सहैवरेचैब्दायु ततो नासापुटेनच।
वामेन वायुमुत्तोल्य सहस्रदल मध्यग॥
विभाव्य परमात्मान चन्द्ररूप वरानने।
सानुस्वार वायुवीज पञ्चाशब्दानमुच्चरन॥
तस्मात् चन्द्रात् सवादृष्ट्या देहमाप्लाव्य सुन्दरि।
भूबीजैन सनादेन शुद्ध सयोज्य विग्रहम॥
लीनीकृतानियानहि पचभूतानि वैपुरा।
यथास्थान स्थापयित्वा ब्रह्म बीज पुनर्गृणन।
अहकारादिभिस्तत्वै सहैव परमात्मनि।
जीवात्मान समाकृष्य स्थापयित्वा हृदबुजे॥
देवीरूपमथात्मान चिन्तयेत्वराभूजित। (महाकाल सहिता)

2. नाभि देशेच य कार वूम्र वायु विचिन्तयेत्॥
तेनैव शोधयोल्लिंग तनु षोडशमात्रया।
कर्मात्मक चतु षष्ट्या कुम्भयित्वा समाचरेत्॥
द्वात्रिशन्मात्रया दक्षे रेचैन तेन वा पुन (यामल)

3 पुनरुत्पातयेद्देह पवित्र परमात्मना।
परब्रह्मात्मिका विद्या प्रकृतिर्मातृका परा॥

जगन्माता की शक्ति का ही प्रसाद है। भूत एक-दूसरे मे विलीन होते हैं। देह पवित्र परमात्मा है, तभी देह का नाश तथा उसको कष्ट नही देना चाहिए।

कौल साधक की यह मनोवृत्ति नितान्त भौतिक है, तथापि उसका आधार पृथ्वी पर कही नही होकर भी आकाश मे ही स्थित है।

शक्ति को जगाने के लिए शरीर के भीतर की शक्ति कुण्डलिनी को जागृत करना अत्यन्त आवश्यक है। परमात्मा मे उसको मिलाकर पचभूतो का वही ऐक्य करना चाहिए और ध्यानयोग से मन से उसे सोऽह, सोऽह का अर्थात् 'वह मै हूँ, वह मै हू' का चिन्तन करना चाहिए।[1] कुण्डलिनी मूलाधार से चलती है। वह अमृत औघा है। वह सुषुम्णा के पथ से ऊर्ध्वगामिनी होती है। वह सूक्ष्मा और तेजस्वरूपिणी है।[2]

अजायत जगन्मातुराकाश नभसोनिल
ममारणादभूद्वह्निवह्नेरापस्ततो मही ॥
स्वीयमेभ्योऽपिभूतेभ्यस्तेजोरूप कलेवरम्
देवताराधने योग्यमुत्पन्नामिति भावयेत्
भूतशुद्धिरिय प्रोक्ता महापापौघनाशिनी ॥ —सिद्धान्त सग्रह

1 अथवाकुण्डलीदेवी पचभूतादिनासह
परमात्मानिसयोज्य तयोरैक्य विभाव्यच ॥
ध्यानयोगेनमनसा सोऽह सोऽह विभावयेत्। —उड्डीश तन्त्र

2. अथान्तर्मातृकान्यास वक्ष्येत्त शुद्धिकारकम्।
यत्कृत्वा योगिनाचित पातके न प्रवर्तते ॥
मूलाधारध्वनिश्रुत्वा प्रबुद्धाशक्तिकुण्डली।
ज्वलत्पावकसकाशा सूक्ष्मातेज स्वरूपिणी ॥
मूलाधाराच्छिर पद्मम् स्पृशन्ति विद्युदाकृतिः
त्वया स्पृष्टाशिर पद्मादमृतौघस्वरूपिण ॥
निर्गतान्मातृकावर्णान् सुषुम्णावर्त्मना तनुम्।
स्थापयित्वा स्थितानेतानेव ध्यात्वा प्रविन्यसेत ॥
कठे विशुद्धि चक्राख्य पद्मषोडशपत्रक।
ऊर्ध्वास्य प्राग्दलात्तत्र सस्थिता षोडशस्वरा ॥
एव सचिन्त्य तारादि विन्दुयुक्त नमोऽन्तकम्।
वदेत् स्वरच सर्वेषु वर्णेष्वप्येषु पद्धति ॥
हृदयेनाहतचक्र ध्यायेद्द्वादशपत्रक।
पूर्वपत्रान्तर्दलेषु प्राग्वत् कादीन् प्रविन्यसेत ॥
मणिपुर ततश्चेकं चिन्तयेन्नाभिमटले।

इस उपासना मे चक्रो के साथ वर्णों को भी काफी महत्त्व दिया गया है। शाक्त सम्प्रदाय मे कुण्डलिनी का महत्त्व होते हुए भी उसको कोई बहुत बडी शक्ति के रूप मे स्वीकार नही किया गया है, क्योकि शक्ति तो पास बैठी स्त्री है जो शरीर से बाहर है।

किन्तु कौलसाधक के लिए आवश्यक है कि उसमे माया न हो, अहकार न हो। वह अपने ऐसे गुणो[1] से देवता की उपासना करता है जिन्हे वह उसके चरणो पर पुष्प की भाँति अर्पित करता है।

मूलाधार को चतुष्कोण अग्निकुण्ड-सा चिंतन करते हुए[2] वह वही कुण्डली

दशपत्र तत्र डादिवर्णान् प्राग्वद्विचिन्तयेत् ।।
स्वाधिष्ठान लिगमूले चक्र षड्दलमुच्यते ।
चिन्तयेद्बादिलास्तत्र षडवर्णानपि पूर्ववत् ।।
मूलाधारामिदचक्र पद्माकृतिचतुर्दल ।
व श ष स तत्र चिन्त्य पूर्वाशादिदलेषुच ।।
आज्ञाख्यचक्र भ्रूमध्ये द्विदल कमलाकृति ।
ह क्ष ध्यायेदय कार्यो मनसा केवलैर्नतु ।।
स्वदेहऽनामया कार्य पुष्पेण सुरमूर्तिषु ।
अनादित्वान्न् ऋष्यादि ब्रह्मवध्यानमस्यतु ।। —मेरुतन्त्र

1. अनायामनहकार स्रागमपद तथा,
अमोहमदद्भच अद्वेषाक्षोभकौ तथा ।
अमात्सर्यमलोभच्च दश पुष्पविदुर्बुधा
अहिसा परम पुष्प पुष्यमिन्द्रियनिग्रह ।।
दयापुष्प धर्मपुष्प ज्ञानपुष्प च पचमम्
इत्युक्तैरुत्तमै पुष्पै पूजयेत् परदेवताम् ।। —श्यामा रहस्य

2. मूलाधारे चतुष्कोणम् अग्निकुण्डम विचिन्तयेत ।
तत्राग्नि कुडली रूप ध्यायेन्मूल समुच्चरत ।।
धर्माधर्महविर्दोप्ते आत्माग्नौमनसासुचा ।
सुषुम्णावर्त्मना नित्यमक्षवृत्तिर्जुहोम्यहम ।।
पुराय जुहोमि स्वाहेति श्लोकान्तेप्रोच्चरेत्पुन ।
पुनर्मूल पुन श्लोकं पुन पापं जुहोमिच ।।
कृत्याकृत्येच सकल्पो विकल्पो धर्मएवच ।
हुत्वा प्रथक्च स्वाहान्त पुन· श्लोकमिमपठेत् ।।
प्रकाशामर्षहस्ताभ्यामवलम्ब्योन्मनीस्रुवम ।
धर्माधर्मकलास्नेह पूर्णवह्नौ जुहोम्यहम् ।।
स्वाहान्तेनाहुतिदत्वा प्राणायामनिरोधतः ।
निरस्तनिखिलोपाधिमात्मान चिन्मय स्मरेत् ।। —मेरुतन्त्र

रूप मे अग्नि को मानता है, और इस प्रकार ध्यान करते हुए अधर्म तथा धर्म की हवि से दीप्त, सुषुम्णा के पथ से वह उसे ऊपर उठाता है, और अन्त मे वह प्राणायाम करता है।

इस साधना मे वह सब-कुछ स्वाहा के रूप मे उस अग्नि को अर्पित कर देता है।[1] शिवात्मकशक्ति वह ग्रन्थि रूपी कुण्डलिनी ही है।[2]

इसके साथ ही घट स्थापन आदि के विश्वास भी चलते है। यह नही समझना चाहिए कि यह दार्शनिकता केवल अन्तस्थ है। इसकी साधना के बाह्य रूप मे सब प्रकार की पूजा प्रचलित है।[3] जिसमे सभी सम्प्रदायो के लोगो का सहयोग है। शिवशक्ति का पूजन करके उत्तम सोने या चाँदी के घट की स्थापना करनी चाहिए। किन्तु साथ ही भाव तो मानस धर्म है वह शब्दो से कैसे व्यक्त किया जा सकता है।[4] गूँगे का गुण तो गूँगा ही जान सकता है।

रूप तो देवी का है। वह नाना नामधरा त्रिपुरसुन्दरी ही उस भाव की स्वामिनी बनी रहे यही उसकी कामना है।[5]

नामिचैतन्यरूपाग्नौ हविषा मनसा स्रुचा।
ज्ञान प्रदीपिते नित्यमक्षवृत्तिर्जुहोम्यहम् ॥ —श्यामा रहस्य

1 अन्तर्निरतर निधिन्धन मेधमाने।
मोहान्धकार परिपन्थिनि संविदग्नौ ॥
कस्मिंश्चिदद्भुत मरीचिविकाश भूमौ।
विश्व जुहोमि वसुधादि शिवावसानम् ॥

2 मातृकार्णव—
मालापचाशिका प्रोक्ता सूत्र शक्ति शिवात्मकम्।
ग्रन्थि कुण्डलिनी प्रोक्ता कलान्ने मेरु सस्थिति ॥

3 निरुत्तरतन्त्र—
वैष्णवो गाणपत्यश्च सौरश्चैव कुलेश्वरि।
अभिषेक प्रकुर्वीत शाक्तश्च कुल भूषण ॥
शिवशक्तिंच सपूज्य स्थापयेद्घटमुत्तमम्।
नातिह्रस्व नातिदीर्घ स्वर्णरूप्यादि निर्मित ॥

4. भावचूडामणि—
भावस्तु मानसो धर्म शाब्द सहि कथभवेत्।
तस्माद्भावो न वक्तव्यो दिङ्मात्रंसमुदाहृत ॥
यथेक्षुगुडमाधुर्यमशनैर्ज्ञायते प्रभो।
तथा भावविभावस्तु मनसा परिभाव्यते ॥

5 निरुत्तरतत्र—
ओम राजराजेश्वरीशक्ति भैरवी कालभैरवी।
श्मशान भैरवीदेवी त्रिपुरानन्द भैरवी।

वह शक्ति मायावती है। मोहिनी है। वह स्थूल सूक्ष्म और परा है। वह निर्गुण ब्रह्म रूपिणी है।[1] उसका तो कोई सृजन नहीं करता, न सहार ही करता है। उसकी ही आज्ञा से मृत्यु भी काम करती है। सब देवता उसीकी

त्रिपुरेशा महादेवी तथा त्रिपुरमालिका।
त्रिपुरा त्रिपुरादेवी तथा त्रिपुरसुन्दरी ॥
नित्याच नित्यरूपाच वज्रप्रस्तारिणी तथा।
सर्वचक्रेश्वरी देवी तथा नील सरस्वती ॥
उग्रतारा महादेवी तथा दक्षिण कालिका।
उग्रदंष्ट्रा महादंष्ट्रा शुभ्रदंष्ट्रा कपालिनी ॥
भीमनेत्रा विशालाक्षी मंगला विजया जया।
शक्तिर्मायावती ब्राह्मी जयन्ती चापराजिता ॥
अजिता मानवी श्वेता दितिरुवदितिरेव च।
मायाचैव महामाया मोहिनी क्षोभिनी तथा ॥
कमला विमला गौरी लावण्याम्बुधि सुन्दरी।
दुर्गा क्रियाऽरुन्धती च घंटाकर्णा कपालिनी ॥
चर्चिका चापरा ज्ञेया तथैव सुपूजिता।
वैवस्वतीच कौमरा तथा माहेश्वरी परा ॥
वैष्णवीच महालक्ष्मी कार्त्तिकी कौशिकी तथा।
शिवदूती च चामुण्डा मुण्डमाला विभूषणा ॥
द्राविणीपुत्रिकाश्चैव डाकिनी पुत्रिकास्तथा।
शाकिनी पुत्रिकाश्चान्या कािकिनी पुत्रिका परा ॥
लाकिनी पुत्रिका भूयो हाकिनी पुत्रिकास्तथा।
तनज्व राकिणी पुत्रा देवपुत्री तत परम् ॥
मानुणाच तथा पुत्री चोवमुख्या सुतास्तथा।
अधोमुख्या सुताश्चैव ज्वालामुख्या सुता परा ॥
पुरुष प्रकृतिश्चैव विकाराश्चैव षोडश ॥
आत्मा परमात्मा ज्ञानात्मा ध्यानात्मा परमात्मन।
आत्मानश्चात्मनश्चैव स्थूल सूक्ष्मौच ये परा ॥

1 महाकाल संहिता—

सैवज्ञेया वरारोहे निर्गुण ब्रह्मरूपिणी।
जगत् सर्व वशे तस्या कस्यापि सानच ॥
विश्व सव सृजति सा कोऽपि सृजति नानहि।
सा पालयति ससार ता पालयति कोऽपि न ॥
ता न संहरते कोऽपि सा सर्व संहरत्यद।
तदाज्ञयाऽनिलो वाति सूर्यस्तपति तद्भयात् ॥
तद्भीत्याग्नि पचत्यन्न मृत्युश्चरति तद्भयात्।

उपासना करते है।[1] वह जगत् के आनन्द की जननी है। ससार का रजन करने वाली, ससार को अपनी ओर आकर्षित करने वाली, जगत् का कारणरूप है।[2]

स्त्री के प्राय सभी रूप प्रगट है।

उसका अनुभव करने के लिए 'मैं वह हूँ' की भावना की अनुभूति की आवश्यकता है। 'मै वह हूँ' यही तो देवता और गुरू भी है।[3] इसके अनन्तर फिर चक्र वर्णन आता है। अनेक चक्रो का स्पष्ट रूप है।

---

1. महाथर्वण सहिता—

ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च इन्द्राश्चैव दिवौकस ।
ऋषयश्च मरीचाद्यस्तामेव समुपासते ।।

2. महाकाल सहिता—

जगदानन्दजननी जगद्रन्जन कारिणीम्,
जगदाकर्षणकरी जगत्कारणरूपिणीम् ।।

3 बालापद्धति—

हसो गणेशो विधिरेव हसो
हसो हरिर्हंसमयश्चशभु ।
हसो हि जीवो गुरुरेव हसो
हसोऽहमात्मा परमार्थरूप ।

4 योगसार—

गुदाच्च द्व्यङ्गुलादूर्ध्व मेढ्राच्च द्व्यङ्गुलादध
मूलाधारामिद प्रोक्त पीतवर्णं चतुर्दल ।
तोयवर्णादिभिर्वर्णैश्चतुर्भि समलकृत
गुदमेढ्रान्तरालस्थ मूलाधार त्रिकोणकम् ।
× × ×
स्वाधिष्ठानाद्वय चक्र लिंगमूले षडारकम् ।
× × ×
नाभिदेशेस्थित चक्र दशारमणिपूरक ।
× × ×
द्वादशार महाचक्र हृदयेनाहताद्वय ।
× × ×
कठदेशे विशुद्धाख्य यच्चक्र षोडशारकम् ।
× × ×
आज्ञा नाम भ्रुवोर्मध्ये द्विदलं चक्र केशरम् ।
× × ×
सहस्रार महापद्म विमर्गाध प्रतिष्ठितम् ।
× × ×

यहाँ चक्रों के साथ पीठ वर्णन भी है जो आगे रेखा कोष्टक चित्र में दे दिये गए हैं।

सारा ससार ब्रह्ममय है।[1] कलि मे निस्सन्देह काली के अतिरिक्त और कोई सहायक नही है।[2] यह शवरूप महादेव के यक्ष पर है। और ऊपर बैठकर रति मे लगी हुई है। वह प्रसन्न है।[3] शिव की वह महान् शक्ति ही सृष्टि का कारण है।

साधक धीरे-धीरे अद्वैत के उच्चासन की ओर ध्यानमग्न है। अद्भुत है यह आसक्ति, जो कपाल-कपाल कहकर सामाजिक रूप मे गतिहीन एक ही चक्र मे घूमते हुए जीवन को विरक्त-भावना से श्मशान-सा व्यर्थ समझती हुई ससार से परे, असामाजिक रूप मे स्त्री से लिपटी पडी है, जिसे सिद्धि चाहिए, किन्तु साधक अयाचक होना चाहता है।[4] समाज तो दरिद्र है, फिर क्या स्त्री के अतिरिक्त, इस देह के अतिरिक्त कही सुख है। यह घोर भौतिक, घोर शून्याद्वैत से मिल रहा है। कैसी भयानक विरोधी भावना है। शून्य को मास चाहिए। दु ख से हटने को आनन्द चाहिए। पाश से छूटने पर मुक्ति, और इस श्मशान-ससार मे जीवन के अन्त-शव पर बैठकर सिद्धि चाहिए।[5]

---

1 कुमारी तन्त्र—

सर्व ब्रह्ममय ह्येतत् ससार स्थूल सूक्ष्मक
प्रकृतिं तु विना नैव ससारमुपपद्यते ॥
तस्माच्च प्रकृतेर्मूल कारणनैव दृश्यते।
रूपाणि बहुसख्यानि प्रकृतेरपि भामिनि ॥

2 कलौ काली कलौकाली कलौ काली तु केवला

3 शवरूपमहादेव हृदयोपरि संस्थिताम्
शिवाभिर्घोररावाभिश्चतुर्दिक्षु समन्विताम्।
महाकालसमायुक्ता शवोपरिरतान्विताम्
सुखप्रसन्नवरदा स्मेराननसरोरुहाम्
एव सचिन्तयेत् कालीं श्मशानालयवासिनीम् ॥ —मेरुतन्त्र

4. बौद्धायन—

सिद्धेस्तु त्रीणि चिन्हानि दाता भोक्ता अयाचक ।

भैरवीतन्त्र—

ज्योति. पश्यति सर्वत्र शरीर वा प्रकाशयुक्
निज शरीरपथ वा देवतामयमेव हि ॥

वक्रतुण्डकल्प—

चित्त प्रसादो मनसश्च तुष्टिरल्पाशिता स्वप्न परामुखत्वम्
स्वप्नेषु यानाद्युपलम्भनतु सिद्धस्य चिन्हानि भवन्ति सद्यः

5 कौलावलीनिर्णय—

ओम् प्राणापानव्यानोदानसमाना मे शुद्ध्यन्ताम् ।
ज्योतिरह विरजा विपाप्मा भूयासं स्वाहा -

अब वह अपने समस्त स्थूल, भूत, तत्त्वो को शुद्ध कर रहा है ।[1] वह चाहता है सारा राष्ट्र, देश, सुखी हो, शान्त हो, किन्तु उसकी साधना व्यक्ति की ओर कुण्डली की ओर आकर केन्द्रित है, वह पुकार उठता है—

रे मातर्देहि मे भिक्षा कुण्डलीम् तर्पयाम्यह ।
भैरवोऽय न चान्योस्मि . . . ..

मै स्वय भैरव हूँ और कुछ भी नही ।

गोरक्ष का दर्शन हठयोग तथा उनके सिद्धान्त

ऊपर कुण्डलिनी और षट्चक्रो के नाम आ चुके है, जो इस प्रकार है : मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध तथा आज्ञाचक्र, इनके अतिरिक्त सबसे ऊपर सहस्रार चक्र है । उपनिषदो मे भी योग का उल्लेख है । हजारीप्रसाद ने लिखा है—यदि यह मान लिया जाए कि षडग योग गोरखनाथ का प्रवर्तित है, आसनो की सख्या अधिक मानना हठ-योगियो का प्रभाव है और नादानुसधान इन लोगो की विशिष्ट साधना है, तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि योग उपनिषदो मे से अनेक गोरक्षनाथ के परवर्त्ती हैं । कुछ मे प्राचीनता के चिन्ह अवश्य हैं, परन्तु अधिकाश पर उनका प्रभाव पडा है । यह मत अभी स्वीकार नही किया जा सकता । यह तो कहना ही व्यर्थ है कि गोरक्षनाथ के पहले योग की बड़ी जबरदस्त परम्परा थी जो ब्राह्मण और बौद्धो मे समानरूप से मान्य थी । नाना उपदेशो मे नाना भाव से योग की चर्चा हुई है और बौद्ध साधकों के पास तो कायायोग का साहित्य अन्यान्य अगो से कही अधिक था। इन सबसे गोरक्षनाथ ने सारसग्रह किया होगा । परन्तु दुर्भाग्यवश उनके पूर्ववर्त्ती अनेक ग्रथ लुप्त हो गए और यह जानने का हमारे पास कोई उपाय नही रह गया है कि कहाँ से कितना अमृत उन्होने सग्रह किया था ।

पृथ्वी, अप, तेज, वायु, आकाश, प्रकृति, अहकार, बुद्धि, मन, श्रोत्र, त्वक् , चक्षु, जिह्वा, घ्राण, वचन, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गध, रस, आकाश, वायु, तेज, सलिल, भूमि, आत्मा सबके लिए यही प्रार्थना है ।

सहस्रारपद्मविसर्गादधास्तदधोवक्त्रमारक्त किंजल्क पुन्जम्
कुरू गेण हीनस्त्रिशृंगस्तदन्त स्फुरद्रश्मिजाल सुधाशु समास्ते
तदन्तर्गत ब्रह्मरध्र सुसूक्ष्म यदाधारभूत सुषुम्णाख्य नाड्या
तदेतत् पद दिव्य मन्तव्य गुह्य सुरैरप्यगम्य सुगोप्यसुयत्नात् ।।

1 सपूजकाना परिपालकाना जितेन्द्रियाणाञ्च तपोधनाना
देशस्य राष्ट्रस्य कुलस्य राज्ञ करोतु शान्ति भगवान गणेश
शिवमस्तु सर्वजगत परहितनिरता भवन्तु भूतगणा।
दोषाः प्रयान्तु शान्ति सर्वजना सुखीभवन्तु ।

विद्वानो ने गोरक्षनाथ के अनेक ग्रथो का वर्णन किया है । हजारीप्रसाद जी ने अपनी पुस्तक मे प्राय उन सभी स्रोतो को देख डाला है । फिर भी वे इस निश्चय पर नही पहुँचे कि उनमे से कितनी रचनाएँ स्वय गोरक्षनाथ की है । गोरक्षनाथ के हठयोग के विषय मे विचार करते समय हम निम्नलिखित तथ्यो पर पहुँचते है कि उनको पद्म, चक्र, नाडीज्ञान, मातृकाओ तथा कुण्डलिनी ज्ञान और षडाग तथा अष्टाग योग की एक बहुत बडी धरोहर मिली थी । उस धरोहर की रूपरेखा को समझने के लिए ही, आर्यसामाजिक व्यवस्था मे स्वीकृत तथा उसके बाहर की व्यवस्था मे स्वीकृत, बौद्ध तथा अन्य प्राप्त स्रोतो को इतने विस्तार से देखा गया है । अमरौघ शासन, हठयोग प्रदीपिका, शिवसहिता, घेरंड सहिता, गोरक्ष पद्धति, सिद्धसिद्धान्त सग्रह तथा गोरक्षसिद्धान्त सग्रह से उनके हठयोग मे अन्य साधारणतया प्रचलित भेद विशेष नही दिखाई देते । अमरौघ शासन से प्रगट हो जाता है कि हठयोग उनका माध्यम था, अन्त नही ।

हठ शब्द के ऊपर नाथ सम्प्रदाय मे हजारीप्रसाद ने पुराने-पुराने आचार्यों का मत सकलन किया है । अत उसे यहाँ दोहराने की आवश्यकता नही । हठ ह और ठ का सयोग है । ह और ठ सूर्य और चन्द्र का सयोग है अथवा इडा-पिंगला का अथवा दोनो श्वासो का, शरीर का आधा भाग सूर्य है, आधा चन्द्र, इन दोनो को मिलाकर सुषुम्णा मे केन्द्रित करना योगी का लक्ष्य है ।

चक्रो की गणना के विषय मे मतभेद है । गोपीनाथ कविराज ने गोरक्ष शतक और गोरक्ष पद्धति से गोरखनाथ के चक्रज्ञान का वर्णन किया है । उनके अनुसार संक्षेप मे यह क्रम है । यह रचना हस्तलिखित ही है ।

संख्या	दल	चक्र	रंग	स्थान	देवता	शक्ति	ऋषि	विशेषता
1	—	आधार	लाल	पायु	गणेशनाथ	सिद्धि, बुद्धि	—	—
2	—	महापद्म	—	—	नीलनाथ	—	—	—
3.	—	स्वाधिष्ठान	पीत	लिंग	ब्रह्मा	सावित्री	—	—
4.	6	सुषुम्ना	—	सुषुम्ना	—	—	—	—
5	7	गर्भ	—	गर्भस्थान	—	—	—	—
6.	8	कुडलिनी	—	कटिप्रदेश	अग्नि	—	—	—
7.	—	मणिपूर	—	नाभि	विष्णु	—	—	—
8.	—	लिंगचक्र	—	—	—	—	—	—
9	12	मनस	श्वेत-ज्योति	अनाहत हृदय	महादेव रुद्रनाथ	उमा	हिरण्यगर्भ	पश्यन्तीवाक्, सामवेद
10	16	विशुद्ध	धूम्र	कठ	जीव	आद्याशक्ति	विराट	परावाक्, अथर्ववेद, जालन्धर बध,
11.	32	प्राण	उद्योत-वर्ण, प्रभा	गलस्थान	प्राणनाथ	परमाशक्ति	—	शरीर का दशमुख द्वार, (योगसूत्र के अनुसार कठ कूप)
12	32	अवल	अरुणो-द्योत प्रभा	त्रिग्रथि स्थान, ब्रह्मा, विष्णु, महेश के मिलने का स्थान	—	—	—	कालचक्र और योगिनी चक्र से सम्बन्धित

संख्या	दल	चक्र	रंग	स्थान	देवता	शक्ति	ऋषि	विशेषताएँ
23.	64	तालू	—	ऊर्ध्व रध्र तालिमा	गोरक्षनाथ	सिद्धान्त शक्ति	—	समाधि योग का स्थान, प्राण मनस का काम बद
24.	1000-0000	अलक्ष्य (ब्रह्म)	अद्भुत दीप्ति	भ्रमरगुहा	अलक्ष्य नाथ	माया महामाया अकला	महाविष्णु	—
25	वही	अकठपीठ पुण्यागार	वही	—	अकल नाथ	अकलेश्वरी	अकल	—
26	—	कोलहाट, परम शून्य मार्ग	—	शिखा मडल	अनत	अनत	—	वैष्णव बैकुठ, शिव कैलास
27.	—	वज्रदड	तेज पुजप्रभा	—	—	—	—	महाविशाल, दीर्घ
28.	असख्य	निरालब स्थान	असख्य	असख्य	असख्य	असख्य	—	मातृका असख्य, गुरु का सर्वोच्च स्थान, ससार असख्य

इनके अनन्तर 20 शून्य, फिर परम शून्य स्थान=21, ब्रह्माडो के पार।
'स च योगी तिष्ठति युगे युगे ज्योति समेत्य'।

महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज ने और भी विस्तार से इसका तुलनात्मक अध्ययन किया है। इसमे यदि एक ओर बाहुल्य-विविधता के कारण प्राचीनता का पुट है तो दूसरी ओर इसमे बहुत-सी बाते परवर्त्ती-सी प्रतीत होती है। मेरा अनुमान है कि गोरक्ष की पूर्ववर्त्ती अवस्था मे जब षट्चक्र और नाडीज्ञान बिखरा पडा था, उसको लेकर परवर्त्ती काल मे उनके चक्रज्ञान तथा शैव और वैष्णव मत को मिलाने के उद्देश्य से यह लिखा गया है। सम्भवत यह नाथ सम्प्रदाय मे ब्राह्मण मत के प्रभाव का प्रतीक है जो परवर्त्ती काल मे नि सदेह हुआ था। दूसरी तरह इसे यो कह सकते है कि नाथ सम्प्रदाय के प्रभाव से जैसे कापिलायनी वैष्णव योगशाखा[1] भी उसी के क्षेत्र मे आ गई थी यह भी उससे कुछ मिलता-जुलता-सा प्रयत्न था।

चक्रो का बाहुल्य होने पर भी वस्तुत तथ्य वही है।

आर्थर एवेलान ने अपनी 'दि सर्पेण्ट पावर' नामक पुस्तक मे षट्चक्रो तथा कुण्डलिनी पर विस्तार से प्रकाश डाला है। हजारीप्रसाद ने अपनी 'नाथ सम्प्रदाय' मे उस कोष्टक चित्र का कुछ अश दिया है। यहाँ दोनो का तुलनात्मक अध्ययन करके कुण्डलिनी के जागृत होने के पहले तथा जागृत होने के बाद की अवस्था को ऊपर दिये हुए चक्रज्ञान से तुलना के लिए दिया जाता है। मेरा विचार है कि इस दूसरी अवस्था को ही गोरक्ष का कार्य और उनकी दी हुई व्यवस्था समझना अधिक ठीक होगा। हजारीप्रसाद ने लिखा है कि गोरक्ष पट्चक्र, 16 आधार, 2 लक्ष्य तथा व्योम पचक को आवश्यक मानते है। किन्तु सिद्धसिद्धान्त पद्धति मे 9 चक्र, 16 आधार, 3 लक्ष्य और व्योम पचक माने गए है। इनमे आगे वर्णित षट्चक्रो के अतिरिक्त घण्टिका, मनोलय और ब्रह्मचक्र अतिरिक्त है। ब्रह्मचक्र सहस्र दल है। इस वर्णन मे प्रथम चक्र का नाम भी ब्रह्म चक्र है और अन्तिम का भी। प्रथम त्रिधावर्त भग-मण्डलकाकृति है। उसके नीचे कद मे शक्ति निवास करती है। यह कामरूप पीठ है। दूसरा चक्र चतुर्दल पद्म है। उड्डियान पीठ है। अगला चक्र कुण्डलिनी का स्थान है। अनाहत चक्र 12 दलो के स्थान पर 8 दल का है। उसमे दीप्त हसकला नामक लिंग है। इडा पिगला के बीच मे सुषुम्णा अनाहत कला है। आज्ञाचक्र के स्थान पर तालुचक्र है जिससे अमृत बहता है। इन छोटे भेदो को छोडकर परिष्कृत, समन्वय तथा आत्म-सात् करके स्पष्ट रूप यह दिखाई देता है—

1. नाथसम्प्रदाय, हजारीप्रसाद द्विवेदी।

कुंडलिनी तथा षट्चक्र

कुंडलिनी का पथ	चक्र (वाक)	खडनाम	स्थान	दल संख्या	तत्त्व का वर्ण	तत्त्व और गुण तथा किरण	वर्ण
	मूलाधार (परा)	अग्नि	रीढ के अधो-भाग मे, पायु और मुष्क-मूल केबीच	4	पीत	56, पृथ्वी आकर्षण गध	व श ष स
	स्वाधिष्ठान (पश्यती)		मेरुदड मे मेढ़ के ऊपर	6	श्वेत	62, जल सकोचन रस	व भ म य र ल
	मणिपूर	सूर्य	मेरुदड मे नाभि के पास	10	लाल	52, तेज प्रसरण रूप	ड ढ ण त थ द ध न प फ
	अनाहत (बुद्धि से मिलकर वैखरी)		हृदय के पास	12	धूम्र	54, वायु गति स्पर्श	क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ठ ढ
	विशुद्ध	चद्र	कठ के पास	16	श्वेत	72, आकाश अवकाश शब्द	अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः
	आज्ञा		भ्रुवो के मध्य	2	—	64, मनस	ह क्ष

कुण्डलिनी के जागृत होने पर

मंडल का आकार तथा ग्रन्थि	बीज और वाहन	देवता और वाहन	धातु शक्ति	लिंग और योनि	अन्यान्य तत्त्व और इन्द्रिय	पीठ	गुण	लोक	देवता
वर्गाकार	ल एरावत	ब्रह्मा हस	डाकिनी	स्वयम्भू त्रिपुर त्रिकोण	गध तत्त्व चरण घ्राणेन्द्रिय	कामाख्या	तमस	भूर्लोक	अग्नि
रुद्रग्रन्थि									
अर्धचन्द्र	वमकर	विष्णु गरुड	शाकिनी	—	रस तत्त्व हस्त, रसना	—		स्वर्लोक	
त्रिभुज	र मेष	रुद्र वृषभ	लाकिनी	—	रूप तत्त्व चक्षु पायु	—	रजस	महर्लोक	सूर्य
विशुद्ध ग्रंथि									
षट्कोण	य कृष्णमृग	ईश	काकिनी	बाण त्रिकोण	स्पर्श तत्त्व त्वचा उपस्थ	पूर्णगिरि		जनलोक	
वृत्त	ह श्वेतगज	सदाशिव	शाकिनी	—	शब्द तत्त्व कान वाक्	जालधर	सत्त्व	तपोलोक	चन्द्र
ब्रह्मग्रंथि									
—	ओम्	शभु	हाकिनी	इतर त्रिकोण	महत् तत्त्व सूक्ष्म प्रकृति हिरण्य गर्भ	उड्डियान (योगसार के अनुसार उद्यान)		सत्यलोक	

दुरूह और प्राय छोटे-छोटे भेदो मे रमानेवाले इस विषय के पारिभाषिक विस्तार मे न जाकर अब कुण्डलिनी को देखना ही अधिक आवश्यक है। कुण्डलिनी शक्ति है। शक्ति और शिव का मिलन योग है। चित केवल दृश्य-रूप मे ही सीमित-सा प्रतीत होता है। माया शक्ति ही के कारण पूर्ण भी अपूर्ण-सा भासित होने लगता है। असीमित, सीमित, अरूप रूपमय। शक्ति सच्चिदानन्द रूपिणी चिद्रूपिणी है। शिव पूर्ण है। शक्ति के द्वारा वे सृष्टि करने के योग्य हो पाते है। यह शाक्त तथा शैव प्रत्यभिज्ञा का मत है। द्वैत-भाव से ससार मे शिव और दृश्य का सृजन करने वाली शक्ति ही है। माया मे वह विक्षेप भी करती है, आवरण भी। वह चेतना अपने-आपको भी स्वय से आवरण मे छिपा लेती है। तब सस्कारो के कारण ही पुन विक्षेप करती है। परासवित अवस्था सबसे परे है। वह शक्ति एकात नही कहला सकती। उसके लिए शिव शक्ति तत्त्व सर्वोपयुक्त शब्द है। परासवित मे अह और इद सब मिले हुए है।

ऊपर काश्मीर शैवमत का अत्यन्त सूक्ष्म वर्णन किया जा चुका है। अब हम उसे यहाँ आलोचनात्मक दृष्टि मे देखेगे।

जीव ससार मे रहता है क्योकि वह ऐसा ही चाहता है। यह दृश्य जगत् के प्रति उसके भीतर बना हुआ मोह है। जब सृष्टि की इच्छा (सिसृक्षा) होती है तब शक्ति नाद से कॉप उठती है और बिन्दु का रूप धारण करती है। वही ईश्वर तत्त्व है। उसीसे सृष्टि उत्पन्न होती है। शिव की सृष्टि करने की इच्छा ही सिसृक्षा है। करनेवाली तो शक्ति है। तब यह द्वन्द्व क्यो भासित होता है। नही, यह द्वन्द्व नही है। आवरण के कारण ही ऐसा प्रतीत होता है। शिव सबसे परे तो है किन्तु शक्ति भी शिवमय है। 36 तत्त्वो को लेकर वह प्रलयकाल मे शिव मे ही अवस्थित रहती है। उसका फिर से सृष्टि रचने मे उद्यत होना शिव का ही इच्छारूप समझना चाहिए।

शैव और शाक्त दोनो ही 36 तत्त्व, कला, शक्ति, उन्मनि और नाद, बिन्दु, कामकला इत्यादि के विषय मे एक मत है।

तन्त्रो मे 36 तत्त्वो को तीन भागो मे विभाजित किया गया है। आत्मा, विद्या, शिवतत्त्व। आत्मा मे पृथ्वी से लेकर प्रकृति तक अशुद्ध तत्त्व है। विद्या मे माया, कचुक, पुरुष, शुद्धाशुद्धतत्व। शिव तत्त्व मे 5 उच्च तत्त्व, शुद्ध तत्त्व, शिव शुद्ध विद्या। आत्मा मे पुरुष अपने से अतिरिक्त एक अलग ससार का अनुभव करता है। वह प्रकृति है। दूसरी अवस्था मे प्रकृति विकृति मे अपना विभाजन कर लेती है।

प्रकृति के रूप मे वह पहले बुद्धि, मनस्, अहकार और इन्द्रिय उत्पन्न करती । तदनन्तर भूत जो पाँच प्रकार का है—आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी,

इनका उदय तन्मात्राओ से होता है। शक्ति के लिए पृथ्वी तत्त्व जो स्थूलतम है उसमे प्रवेश करने के बाद और कुछ शेष नही रह जाता है। तब वह विश्राम करने लगती है। उसे ही कुण्डलिनी कहते है। वह मूलाधार चक्र के समीप निवास करती है। बिन्दु मे शून्य शिव है। गुण शक्ति है। वे अलग नही किये जा सकते। ब्रह्मनाद और माया पर कुण्डली परस्पर मिले हुए है। पर बिन्दु शक्ति की घनावस्था है। बिन्दु मे शक्ति अभेदरूपा—सर्वशक्तिमय है। प्रकृति मे त्रिगुणमयी मूल प्रकृति। वह अव्यक्त देवता है। देवी रूप मे शान्ता है।

त्रिबिन्दु का समष्टिरूप ही त्रिपुरसुन्दरी है। यह ही सब मन्त्रो का मूल है। शक्ति के स्फुरण होकर प्रगट होने के पहले की अवस्था महाबिन्दु है। मैथुन मे शिव-शक्ति एक हो जाते है। वह स्फुरण ही नाद है, जहाँ से महाबिन्दु का उदय होता है। सदाशिव, ईश, विष्णु, ब्रह्मा, पचतत्त्व देवता पृथ्वी सहित मूलाधार मे स्थित है। कोई ब्रह्माण्ड मे वस्तु नही जो शरीर मे स्थित नही है, आकाश मत देखो। ईश्वर तो मनुष्य देह के भीतर है। वह अन्तरात्मा मे है, अन्तर्यामी है।

वह अपनी माया से अप्रभावित है, जीव अविद्याग्रस्त है, वह मलिन सत्त्वगुण प्रधान है। आकाश एक स्थूल शक्ति है जिसमे प्रकृति शक्ति अपने को विभाजित करती है। सूक्ष्म और स्थूल देह लिग शरीर की क्रिया-शक्ति से शक्ति ग्रहण करते है, सबद्ध रहते है।

प्राण का पुरुष तत्त्व बाहर आता है, नारी तत्त्व खीचता है, शब्द ब्रह्म के रूप मे शक्ति की यही प्रकृति है, प्राण वायु का ही कार्य है। वेदाती इसे अलग वस्तु मानते है, किन्तु यहाँ वैसा नही है। श्वास-प्रश्वास भी इसी कारण मत्र के समान है, सोऽह-सोऽह का नाद निरन्तर प्रत्येक जीव मे व्याप्त है, यह मत्र ज्योतिर्मयी कुण्डलिनी को जागृत करता है। कुण्डलिनी की कुण्डलियो मे बिन्दु, प्रकृति-पुरुष, इच्छा, क्रिया ज्ञान निहित है। जब सृजनात्मक शक्ति उन्मुखी अवस्था मे होती है तब आज्ञा चक्र के ऊपर की शक्ति योग मे फिर से लय होने की इच्छा करती है। सहस्रार का ईश्वर सृष्टि करनेवाला ईश्वर नही है। नीचे से शक्ति जाकर उसमे मिलती है, वही मुक्ति है।

कुण्डलिनी जगाकर ही ज्ञान होता है। कुण्डली का सहस्रार मे शिव से मिलन होता है। स्वरस ज्ञान वही तो है। यह ब्रह्म का नैरन्तर साक्षात्कार है। वृत्ति तब शेष नही रहती।

यस्मिन विज्ञाते सर्वं इद विज्ञात भवति।

तारकालकार के अनुसार लययोग ही समाधियोग है। 6 आम्नायो मे 6 अलग-अलग योगो का उल्लेख है। पूर्णाम्नाय मे साख्य, दक्षिणाम्नाय मे एकात्म, पश्चिमाम्नाय मे उन्मनी इत्यादि। छठे अथवा गुप्त आम्नाय मे

कुण्डलिनी शब्द ब्रह्म है। जिससे ध्वनि, उससे नाद, इसी प्रकार नैरोधिका अर्धेन्दु, बिन्दु, परा, पश्यती और अन्त मे वैखरी का उदय होता है। निरोधिका अग्नि है। अर्धेन्दु चन्द्र और सूर्य का मिलन है।

शिव का अर्थ वश धातु से वश मे करना, शासन करना है। वेदाती के अनुसार जीव और आत्मा का मिलन योग है। शैव मत मे जीव और शिव का मिलन योग है। उसकी शक्ति जो शरीर मे स्थित है वह कुण्डलिनी है, स्वय पिंड है। वह अ उ म का कुण्डलीकृत प्रणव स्वरूप है। शिव और कुण्डलिनी का मिलन ही सायुज्य मुक्ति है। कुण्डलिनी मूलाधार से उठकर सुषुम्णा द्वारा षट्चक्र भेदकर सहस्रार मे आकर पर शिव से मिल जाती है। शिव की यह शक्ति साख्य की प्रकृति की भाँति नही। यह तो चैतन्य है। यहाँ द्वैत की भावना नही है। न पातजल योग की भाँति यहाँ प्रकृति कारण तथा दु खो से युक्त जीव ईश्वर है। शिव निर्गुण और सगुण रूप मे दोनो प्रकार से शक्ति से मिला हुआ है। पर बिन्दु अथवा शब्द ब्रह्म शरीर मे कुण्डलिनी स्वरूप है, वह माता है।

साख्य और न्याय दु खो से निवृत्ति प्राप्त करना ही मनुष्य का अन्तिम ध्येय मानते हैं किन्तु वेदाती सर्वशक्तिमान से एकता चाहते हैं। जहाँ तक अद्वैतवाद मे चित् का प्रश्न है साख्य, वेदान्त और तन्त्र एक ही मत रखते हैं किन्तु शैव प्रत्यभिज्ञा मे माया अथवा शक्ति को निकृष्ट और जड नही समझा जाता। शकर का दृष्टिकोण परमार्थिक की ओर से है। शाक्त और शैव का जीव की ओर से। इसमे शैव और शाक्त जीवन से अधिक निकट हैं। विश्वोत्तीर्ण अवस्था मे वह मनुष्य के किस पक्ष मे प्रयोजनीय है। वह यदि एक ओर विश्वात्मिका है तो दूसरी ओर चिद्रूपिणी है। यदि ब्रह्म पूर्णाद्वैत है तो वह शक्ति को अपने से अलग करके स्वगत भेद स्वीकार नही कर सकता। शाक्त के अनुसार शक्ति के रूप मे शिव बदलता है। शिव रूप मे वह नहीं बदलता। शक्ति ही पर वस्तु है। वही चित् शक्ति है। जो दृश्यमान ससार है वह तो मात्र माया शक्ति है किन्तु उनका अविनाभाव सम्बन्ध है। प्राण इसी शक्ति का एक स्वरूप है।

वुडरौफ ने यह भेदो का सघर्ष हटाकर साख्य, वेदान्त शैव और शाक्तो के विषय मे कहा है कि निम्नलिखित तथ्यो को सब ही स्वीकार करते हैं—

शिव शक्ति मिलने से सृष्टि होती है। शिव अनन्त असीम तथा पूर्ण चैतन्य है। शक्ति, माया, प्रकृति, सीमित, रूप नामधारिणी है। शक्ति आवरण है। वह कभी मूल प्रकृति—अव्यक्त, कभी विकृति के रूप मे रहती है। साख्य मे द्वैतवाद है, वेदान्त और शैव-शाक्तो मे अद्वैतवाद। शंकर ने साख्य के प्रकृति पुरुष को एक कर दिया किन्तु शाक्त और शैव ने उस एक ब्रह्म

की माया को शक्ति के रूप मे उससे ऐसा मिला दिया कि अब प्रलय मे ब्रह्म मे घुल-मिल जाने की जगह, शक्ति स्वय शिव ही हो गई। पिड मे वही कुण्डलिनी हो गई। उसका जागरण ही लय योग है। तभी घेरड सहिता मे कहा गया है कि योनि मुद्रा से शक्ति ग्रहण करना चाहिए। उस समय आनन्द-मय होना चाहिए। गोरक्ष सहिता मे भी यही भाव है कि शक्ति के साथ जीव को उठाकर सहस्रार मे ले जाने से शक्तिमय होता है और शिव से मिलकर आनन्द की ही अनुभूति होती है। वह वास्तव मे बुद्धिमान है जो महानतम तेजस् को जानता है जो योनि मे स्वयभू लिग के नाम से है। अन्य सब पशु है, केवल भार ढो रहे है।

आधार चक्र और स्वाधिष्ठान चक्र के बीच मे एक योनि स्थान है जिसका नाम कामरूप है।[1] आधार चक्र चतुर्दल है। वह गुदा स्थान है। उसके बीच मे ही योनि स्थान है, वह कामाक्षा और सिद्धो से वदित है, उस योनि के मध्य मे पश्चिमाभिमुख स्थित महालिग है मस्तके मणिवत बिम्ब यो जानाति स योगवित्। तप्त पिघले स्वर्ण की भाँति बिजली की लेखा के समान विस्फुरण मे चचल योनि स्थान—अग्नि का वह त्रिकोण—मेढ़ू के अधोभाग मे है। मेढ़ू के ऊपर और नाभि के नीचे खगाडवत कन्द योनि है, वही 72 हजार नाडियो के उत्पन्न होने का स्थान है। इनमे इडा, पिगला, सुषुम्णा, गाधारी, हस्तिजिह्वा, पूषा और यशस्विनी महत्त्वपूर्ण है। इनके अतिरिक्त अलबुषा, कुहु और शखिनी मिलाकर दस हो जाती है। नाडी और चक्रो को तो योगी को अवश्य जानना चाहिए। इडा बाई ओर है, पिंगला दाई ओर, सुषुम्णा बीच मे है, यह नाडियाँ प्राण का प्रवाह धारण करती है, प्राणो को वश मे करने का नाम प्राणायाम है।

जब तक शरीर मे बिन्दु है तब तक मृत्यु का भी भय नही है। खेचरी मुद्रा से बिन्दु शरीर मे ही रहता है, चाहे कामिनी से आलिगन ही क्यो न हो। यदि बिन्दु हुताशन अर्थात् योनि स्थान तक भी पहुँच जाए तब भी योनि मुद्रा की शक्ति से वह रोका जा सकता है, पीछे खीच लिया जा सकता है, बिन्दु शिव है, शक्ति रज है, बिन्दु चन्द्र है, रज सूर्य है, इनके मिलन से परमपद मिलता है, नाडी शुद्धि तथा प्राण-निरोध से आरोग्य होता है और योगी को नाद की अभिव्यक्ति होती है।

ऊर्ध्वशक्ति के निपात[2] तथा अध शक्ति के कुचन और मध्य शक्ति के प्रबोध से परम सुख उत्पन्न होता है। नाद उत्पन्न होने पर दशम ध्वनि दुन्दुभि

---

1. गोरक्षशतक प्रकाशित।
2. अमरौघ शासन।

स्वन होती है। उसके बाद अनाहत निनाद होता है, किन्तु उसके बाद यह सब ध्वनियाँ सुनाई देना बन्द हो जाती है।

प्रकृति के 5 भेद हैं, पृथ्वी, अप, तेज, वायु और आकाश, इनके भी पाँच-पाँच गुण मुख्य है। अधिक क्या कहा जाए, काम विषहर-निरजना नाम ब्रह्मदण्ड मूलाकुरे निवास एभिर्यदमुखो एभिर्यदा मुक्ति स मोक्ष भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमन कार्यं नास्ति।

मनुष्यरूप गर्भ पिडावस्था मे है, यह परा, साकार, महा साकार, प्राकृत अवलोकन पिंडो का अन्तिम रूप है, इसी मे चक्र, पद्म, नाडी, ज्ञान इत्यादि हैं। सूक्ष्म और स्थूल का विचार करते हुए यह तत्त्व निकलता है कि जो पिंड मे है वही ब्रह्माड मे भी है, इसी मे पर्वत, यक्ष इत्यादि सब-कुछ हैं।

> अखण्डपरिपूर्णात्मा विश्वरूपो महेश्वरा·
> घटे-घटे चित्प्रकाशस्तिष्ठतीति प्रबुध्यताम्। (सिद्ध सिान्त सग्रह)

इस पिंड का आधार शक्ति है, यह शक्ति जब शान्त है तब वह शिव है, वह कुल और अकुल दोनो ही है। कुल के पाँच प्रकार है—परा, भासा, सत्ता, अहता और कला, अकुल ही कुल होकर व्यवहार मे उतरता है। वह शक्ति कुण्डलिनी है, प्रत्येक चक्र मे अलग-अलग शक्ति है पर मुख्य शक्ति एक है। इसी के जागरण से देह सिद्धि होती है। शिव शक्ति का भेद अज्ञान के कारण होता है। गुरु द्वारा पिंड सिद्धि होती है, जो निरुत्थान कराके सामरस्य प्राप्त कराता है। इससे निजावेश होता है, और परमपद प्राप्त होता है। चित्त लय होने पर उसमे आश्रित ज्ञान शक्ति के अलकृत होने पर समस्त चित्त दर्पण के प्रतिबिम्ब समान विविध-भाव-कला-कलित ससार चेष्टावलोकन कुशला सुप्तावस्था या रूपी जलचन्द्रवत दृश्यते य —वही परमात्मा सर्वव्यापी महेश्वर है, वही परमात्मा है। योगी की उस उच्चावस्था के लिए सबसे उपयुक्त वस्तु सहज है जिसमे कुछ भी अकृत्रिम नही हो। यह भावना तो बौद्ध सिद्धो की अपनी ही बात थी।

> (सहजो) ऽकृत्रिमो यस्मात् (तस्मात्) सगो न साहज
> सुख न सहजादन्यत् सुखंचासग लक्षण ।।
> ज्ञात्वा नि सगता नाम्नी निर्बोधागत सत्सुख।
> विश्व स्वसमय कृत्वा मग्न सहज सागरे ।।[1]
>
> (अद्वय वज्रसग्रह, पृष्ठ 63)

---

1. सहज अकृत्रिम है, सहज में सग नहीं है। सहज से बढकर सुख नहीं है। सुख असग का लक्षण है। नि सग का ज्ञान करके बोधगत सुख है, विश्व को स्वसमय करके, सहज सागर में मग्न हो जाए।

सहज के सागर मे मग्न होना चरमावस्था है, फिर कोई बन्धन नही रहते। नि सग होना उसकी कामना थी, सहज से बढकर और क्या सुख हो सकता है।

अनास्पदा कल्पनया विमुक्ता,
स्वभावत शुद्धतमा. समस्ता।
अनात्म सज्ञा विषया प्रकृत्या,
स्वप्नेन्द्र जाल प्रतिभास तुल्या ।[1]

(प्रज्ञोपाय विनिश्यच सिद्धि, 46)

इस अनात्म से योगी को क्या आपत्ति हो सकती है, जब आत्मा का ही मिलन हो गया तब तो वह नही के समान ही जो हो गई।

यो भावो यस्य वै प्रोक्तस्तदभावे सस्थितापुरा।
स्वेच्छया वलय कृत्वा यथा कुण्डलिनी स्थिता ।[2]

(शक्ति सगम काली खण्ड 83/1)

जैसे कुण्डलिनी अनासक्त शान्त शिवभाव मे स्थित है वह शिव भी है शक्ति भी। योगी को उसको जगाकर स्वय उसकी निद्रित अवस्था ही श्रेयस्कर है, अद्भुत है।

स्वय महार्थानि जगन्निमित्त।
जानातिचासौ पर चित्तवृत्ती ।[3] (वाक्य साधन, पृष्ठ 135)

बौद्ध सिद्ध तो यह सब ससार के भले के लिए करते थे। वह अवस्था अपनी ही नही, ससार की वृत्ति जान लेने के कारण एक परावस्था है।

नित्य सर्वगत. सूक्ष्मः सदानन्दौ निरामय।
विकाररहित. साक्षी शिवज्ञेयो सनातन ।[4] (प्रयोगसार)

योगी सनातन शिव के समान विकाररहित होता है, उसे फिर कोई आमय नही रहते।

सदा समरस ध्येय ध्यान तत्कुलयोगिनाम्।
× × ×
निरालम्बे पदे शून्ये यत्तेज उपजायते ।[5] (कौलावली निर्णय)

---

1. अनास्पद, कल्पना विमुक्त, स्वभाव से ही समरा ही शुद्धतम, अनात्म सज्ञा विषय की प्रकृति से सब कुछ स्वप्न के इन्द्रजाल के समान भासित होता है।

2 जो जिसका भाव है—कहा गया है, उसी भाव में पहले की ही भाति स्वेच्छा से ऐसा ही ठहरे जैसे वलय करके कुण्डलिनी स्थित होती है।

3 स्वय महार्थ जग के निमित्त, परचित्तवृत्ति का ज्ञाता।

4. नित्य सर्वगत सूक्ष्म, सदानन्द, निरामय, विकाररहित, साक्षी, सनातन ही शिव है।

5. सदा समरस ध्येय, कुल योगियों का ध्यान है।
निरालम्ब शून्य पद में—जहाँ से तेज उत्पन्न होता है।

इस सामरस्य की ही इच्छा कौल भी करते थे, वे अपने को योगी से कम नही समझते थे।

सर्वात्मभूत· सर्वाध्वसमुत्तीर्ण स्वतन्त्रक· ।
स्वशक्त्या भासितानन्तविश्व स परमेश्वर ।।[1]
(तन्त्रवटधानिका 10/1)

बौद्ध सिद्ध इस अनन्त विश्व को अपनी शक्ति से भासमान होते देखकर उसे ही परमात्मा कहता है। योगी क्या कुछ भिन्न समझता है। वह अपनी सामर्थ्य मे न जाने कितनी सृष्टियाँ अपने भीतर लय कर लेता है।

न निरोधो नचोत्पत्तिर्न बद्धो नच साधक
न मुमुक्षर्नैव मुक्त इत्येषा परमार्थता[2] ।।10।।
(अमृत बिन्दूपनिषत्र)

योगी को न तो निरोध है न बधन न उत्पत्ति। प्रश्न बार-बार सामने आता है कि यह अभावात्मक स्वीकृति किस दिशा की ओर खीच ले जाना चाहती है।

अशून्य शून्य भावन्तु शून्यातीत हृदिस्थित
नध्यानच नच ध्याता न ध्येयो ध्येय एवचा[3] ।।10।। (प्र० अध्याय)
अखण्डैकरस दृश्य अखण्डैक रस जगत
अखण्डैक रस भावमखण्डेक रस स्वय[4] ।।1।। (द्वितीय अध्याय)
केवलज्ञानरूपोऽह केवल परमोस्म्यह[5] ।।1।। (तृतीय अध्याय)
वेदंशास्त्र पुराणच कार्य कारणमीश्वर
लोकोभूत जनस्त्वैक्य सर्वं मिथ्या न सशय ।।43।।
मनएव जगतसर्वं मन एव महा रिप
मन एव हि ससारी मन एव जगत्रय[6] ।।98।। (पचम अध्याय)
(तेजो बिन्दूपनिषद्)

---

1. सर्वात्म भून, सर्वाध्वसमुत्तीर्ण, स्वतन्त्र कारक अपनी शक्ति से अनन्त विश्वों को भासित करने वाला—वह परमेश्वर है।

2. न रुकावट, न उत्पत्ति, न बद्ध, न साधक, न मुमुक्षु। वह मुक्त है—यही परमार्थता है।

3. अशून्य शून्यभाव, शून्यातीत को हृदय में धर, न ध्यान, न ध्याता, ध्येय-अध्येय से परे।

4. अखण्ड एकरस, दृश्य, जगत्, भाव और स्वयं।

5. केवल ज्ञानरूप हूँ, केवल परमात्मा हूँ।

6. वेदशास्त्र, पुराण, कार्य, कारण, ईश्वर, लोक, भूत, जन—सब सचमुच मिथ्या है। मन ही सब जगत् है, मन ही शत्रु है। मन ससार है, मन तीनों जगत् है।

इस अखण्ड रस मे योगी केवल ज्ञान रूप हो उठता है ।

घट सवृत्तमाकाश नीयमाने घटे यथा
घटोलीयतेनाकाश तद्वज्जीवो नभोपम.[1] ।।13।।

(क्षुरिकोपनिषद्)

प्रश्न का उत्तर है कि वह आकाश के समान होना चाहता है । वेदान्त का अद्वैत कहकर क्या उस ब्रह्म का एक परिचय-सा नही दिया जाता । द्वैताद्वैत के परे जो है वह नाथो की ब्रह्म की कल्पना है । उसके लिए कोई लिंग सकेत चिह्न नही हो सकते ।

साख्या वैष्णव वैदिका विधिपरा सन्यासिनस्तापसा
सौरा वीर परा प्रपच निरता बौद्धाजिना श्रावका ।
एते कष्ट रता वृथा पथगता स्ते तत्वतो वचिता ।[2]

(सिद्ध सिद्धान्त सग्रह)

सब कष्ट झेल रहे है । केवल सिद्धमत है जो इसीलिए कहा गया है कि वे मुक्ति को पहचान सके ।

वेदशास्त्रपुराणानि सामान्य गणिका इव
सा पुन शाकरी मुद्रा प्राप्ता कुलवधूरिव ।[3]

(गोरक्ष सिद्धान्त सग्रह)

वेद, शास्त्र, पुराण इत्यादि मे वह गम्भीर सत्य को खोजकर निकाल लानेवाली शक्ति नि सन्देह नही है ।

योगमार्गात् परोमार्गो नास्ति नास्ति ।
× × ×
वेदभारभराक्रान्तास्ते विप्रा· पुरुषाधम ।
× × ×
गृहे-गृहे पुस्तक भार-भारा पुरे-पुरे पण्डित यूथ-यूथा
वने-वने तापस वृन्दा-वृन्दा न ब्रह्मवेत्ता नच कर्मकर्ता ।[4]

(कावेषय गीता)

---

1. घट में सवृत्त शून्य को जैसे घट वहन करता है, घट में ही आकाश लीन हो जाता है, उसी आकाश के समान जीवित रहना चाहिए ।

2 साख्य, वैष्णव, वैदिक, सन्यासी, तापस, सौर, वीर, प्रपचनिरत बौद्ध, जिनश्रावक ये कष्टों में लगे है, वृथा है, पथ से दूर है, तत्व से वचित है ।

3. वेद, शास्त्र, पुराण सामान्य वेश्या के समान है । वही गणिका यदि शाकरी मुद्रा प्राप्त करले तो वह कुलवधू के समान है ।

4. योगमार्ग से परे मार्ग नहीं है । वेदों के भार से दबे विप्र महानीच हैं । घर-घर में पुस्तकों का भार है, पुर-पुर में पण्डितों के झुण्ड है, जङ्गल-जङ्गल में तपस्वियों की भीड है, न कर्म कर्ता है, न ब्रह्म ज्ञाता है ।

पुस्तको, ग्रन्थो से क्या मनुष्य ब्रह्म को पहचान सकता है। योग पुस्तको से नही आता।

अपनी साधना के प्रति योगियो मे कितना विश्वास था यह उक्त कथन से प्रकट होता है।

न पृथिव्या तिष्ठति नातरिक्षे,
नै तत समुद्रे सलिल विर्भति।
न तारकासु नच विदुताम् श्रित,
नचाभ्रेषु दृश्यते रूपमस्य।[1] (सनत्सुजातीय)

जन्म से मुक्ति प्राप्त हो जाती है। महानन्द ही पर शास्त्र है। जिन्हे यह शास्त्र ज्ञात है उन्हे मोक्ष साधन की क्या आवश्यकता।

यथाकाशस्तथा देह आकाशादपि निर्मल
सूक्ष्माति सूक्ष्मतरो देह स्थूलात्स्थूल जडाज्जड।[2] (योगबीज)

आकाश, आकाश तो कह लिया। किन्तु यह वेदान्त की तर्क कर्कशता नही। देह भी वैसे ही निर्मल होना चाहिए। यह खूब समन्वय हुआ।

गतेन शोकेन भयेन वीप्सा,
प्राप्तेन हर्षं न करोति योगी।
आनन्दपूर्णो निज बोध लीनो,
न बाधते कालपथो न नित्य।[3]

योगी को न दुख है न सुख।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि योगी केवल अपनी भावातीत अवस्था मे ही मग्न है।

नव्रतो न च तीर्थंच न वचारादि कर्मच
नैव मौन नवा सत्य क्षेत्रपीठस्य सेवन।
न पूजनच होमश्च न स्नान दानमेवच
धर्माधर्म न कर्तव्य न बधौ लौकिकाक्रिया।
न काम नैव कोपच नापि शून्य समाचरेत्
न माया नैव मोहच न शोक कलह तथा।[4]

---

1. पृथ्वी-अन्तरिक्ष में नही ठहरता। समुद्र की लहरों में नही दिखता। तारों और बिजलियों में नही है। न मेघों में है। उसका स्वरूप नहीं दीखता।

2 जैसा आकाश वैसी देह। आकाश से भी निर्मल, सूक्ष्म से सूक्ष्म, स्थूल से स्थूल, जड़ से जड।

3. शोक, भय, वीप्सा, प्राप्ति, हर्ष से परे योगी है। आनन्दपूर्ण, अपने बोध में लीन, अबाध—कालपथ से मुक्त, नित्य भी नही।

4. व्रत, तीर्थ, वचन, कर्म, पूजन, मौन, सत्य, क्षेत्रपीठ सेवन, होम, स्नानदान, धर्माधर्म, कर्तव्य, लौकिक क्रिया से परे—काम, माया आदि से दूर।

पाखण्ड का सशक्त शब्दो मे खण्डन किया गया है। यही वह स्वर है जिसे चार्वाक ने दैहिक बनाकर पूछा था। परवर्त्ती काल मे केवल आकाश से यह प्रश्न पूछा गया, किन्तु इस सधिकाल मे दोनो का सम्मेलन हो गया था।

रसेच रसायन च धातुवाद्तथैवच।
तृणवत् सत्यजेत् सर्वं यद्यत्प्राप्तमुपागतम्।[1]

यह नाथ सम्प्रदाय का स्वर गोरख मे एक प्रबल क्रान्ति बनकर उतर आया है, रस-रसायन धातु से आत्मा को क्या मिलता है।

क्रियाकर्म परित्यजेत सर्वज्ञान विवर्जित।
पुण्यापुण्यमय भृश किंचिदपि न चिन्तयेत।[2]

जब सामाजिक रूप ही नही रहा तब क्रिया-कर्महीन होने मे क्या हानि है।

सम शत्रौच मित्रेच समो लोष्टेच काचने।[3]

मित्र और शत्रु सब एक है, सम्पत्ति और असम्पत्ति जो दुःख के कारण है उन्हे हम बिलकुल नही चाहते।

निष्कल तिष्ठते ब्रह्म घृतकुम्भे जल यथा
समनिन्दा प्रशसाच सर्वत्रोपेक्ष सन्तत।[4]

घी के घडे मे पानी के समान रहना चाहिए, निन्दा और प्रशसा दोनो को समान समझना ही योगी का कर्त्तव्य है।

समदृष्टि प्रकुर्वीत यथात्मनि तथा परे,
अभावे भावसम्पन्न अभावगति चेतसा।[5]

समानता की यह दृष्टि ब्राह्मणवाद के विरुद्ध पुराना विद्रोह था। व्यक्तिवाद का पक्ष है—

उन्मनाय मन कृत्वा न किंचिदपि चिंतयेत्,
विवाद लोकगोष्ठीच कलह द्वन्द्व सग्रह।
शास्त्र गोष्ठी न कर्तव्या स्वभावेन कुभाषित,
मारणोच्चाटने नैव निर्वेदच मनस्तथा।

---

1. रस, रसायन, धातुवाद को तृण के समान त्याग दे। —गोरक्ष सहिता
2. क्रिया-कर्म छोड़ सर्व ज्ञान से विवर्जित, पुण्यापुण्य कुछ न सोचे।
3 शत्रु मित्र समान, कचन मिट्टी के ढेले के समान।
4. ब्रह्म निष्कल ऐसे है जैसे घी के घडे में पानी, समनिन्दा प्रशसा—सबकी निरन्तर उपेक्षा करे।
5. सम दृष्टि रखे, जैसे स्वय वैसे अन्य, अभावगति चित्त से अभाव में भाव-सम्पन्नता माने।

इन्द्रजालमिद सर्व बुद्धया कर्म तथा पर,
मन्त्रवाद त्यजेद्दूर भूतवेतालसाधन ।
गारूड विषम कर्म कामसाधनमेवच,
नकुर्यात् कूट कार्यादि काष्ठ पाषाण पूजन ।
नमुद्रा सेवन कुर्यात् क्षेत्र पीठेनदेवता,
षट्चक्रनाशावन्यत्र (?) महानन्द समाश्रयेत् ।
भेरी मृदग नादच श्रयमाणेन मुह्यति,
क्रीडारतिन्नसर्वत्र पर्वते न महीतले ।
सम्यकपर्यटनकुर्यात् क्षेत्रवास परित्यजेत,
नोछेद्येवृक्षशाखेच पत्राणि न च नाशयेत ।[1]

कृमि कीट पतग इत्यादि की भी जीव-हत्या नही करो । न जड उखाडो न पत्तो का उच्छेद ही ।

क्षुधा चिन्ता न कर्तव्या न तृष्णा नच वेदना,
देह चिन्ता न कर्तव्या स्वभाव नैव चितयेत् ।[2]

इस देह चिन्ता का अर्थ सामाजिक व्यवस्था मे समझी हुई अन्न-पानी जुगाड़नेवाली चिन्ता से है, जिसे योगी छोड चुका है । साधु और योगी जैसे समाज की भयानकता से व्याकुल हो उठे थे, वे उससे बिलकुल अलग हो जाना चाहते थे ।

अचिंता गुरा सम्पूर्णमेकाकार परावरम्,
न विन्दन्ति न वा मूढा मोहजाल समावृता ।
स्वय कर्ता स्वय हर्ता अन्ये नियम वादिन,
बाह्य चिन्ता न कर्तव्या अन्तरापि न वाचरेत् ।
सर्वचिन्ता परित्यज्य अचिन्त्यम् चिन्तयेत् सदा,
बहुना किमि होक्तेन हृदि चितानिवेशयेत् ।
अनवस्थ मन कृत्वा सर्वावस्था विवर्जित,

1. मन को उन्मन करे, कुछ भी चिन्ता करना छोड दे, विवाद, लोक गोष्ठी, कलह, द्वन्द्व सग्रह, शास्त्रगोष्ठी, स्वभाव से ही कुभाषण, मारण, उच्चाटन, निर्वेद इत्यादि त्याग दे । इस सब को इन्द्रजाल समझे, मन्त्रवाद, भूत वेताल साधन न करे । गारुड, विषम कर्म, काम साधना, कूट कार्य, काठ-पत्थर पूजा, मुद्रा सेवन, क्षेत्रपीठ देवता उपासना, सब छोड़ दे, षट्चक्र भेदन के अतिरिक्त महानन्द कहां है । भेरी, मृदग, नाद सुनकर अन्त में व्यक्ति मुक्त हो जाता है, क्रीडा रति कहीं न करे, सम्यक पर्यटन करे, क्षेत्रवास छोड़ दे, वृक्षशाख इत्यादि नष्ट न करे ।

2. भूख-प्यास की चिन्ता, तृष्णा, वेदना, देहचिन्ता, स्वभाव से अचिन्त, छोड, न करे ।

दृष्टि चिन्ता न कर्तव्या स्नान दान तथैवच ।

× × ×

उन्मनाय मन कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ।

× × ×

सर्वावस्था विनिर्मुक्त सर्वस्वाद विवर्जित
स्वभावत तिष्ठते योगी विमुक्तो नात्र सशय ।

× × ×

अहमेव पर ब्रह्म भावाभाव विवर्जित,
सच्चिदानन्दरूपोऽहमात्मान चिन्तयेत् सदा ।[1]

ससार दुखी है, वह पाप से ढका है, यहाँ लोग ऊँच-नीच मानते हैं। किन्तु प्रबल व्यक्ति इस सबको सहन नही कर सकता। वह सच्चिदानन्द रूप भाव और भाव से विवर्जित है।

फिर वह परमात्मा हो चुकनेवाला योगी तो—

निरजनः अतीत उत्पत्तिस्थिति कारणम ।[2]

यही तो उसकी इच्छा है। वह अवस्था प्राप्ति क्या सरल है।

दुर्लभा सहजावस्था सदगुरो करुणाविना ।[3]

गुरू मिलना चाहिए। उसके बिना यह पथ कैसे कटेगा।

हृदय दर्पण यस्य मनस्तत्र विलोकयेत् ।[4]

हृदय को दर्पण होना चाहिए। वही सब कुछ दिखाई दे सकता है।

भिन्न-भिन्न न पश्यामि तस्याह पचमाश्रम ।[5]

---

1 अचिन्ता गुण से पूर्ण, पर और अवर को एकाकार मानकर, स्वय को कर्ता और हर्ता समझना चाहिए। न अपनी चिन्ता करे न अन्यों की। केवल अचिन्त्य की चिन्ता करे। बहुत क्या कहे, हृदय में चिन्ता करे। मन को अनवस्थ करके सर्वावस्था छोड़कर दृष्टि चिन्ता न करे, न स्नान-दान इत्यादि।

× × ×

मन उन्मन करके कुछ चिन्ता न करे।

× × ×

सब अवस्था से मुक्त, सब स्वादों से दूर, स्वभाव से ही योगी मुक्त रहता है, सशय नहीं है।

× × ×

मैं ही ब्रह्म हूँ, भाव-अभाव से विवर्जित, सच्चिदानन्द रूप हूँ, आत्मन् की सदा चिंता करे।

2. निरंजन, अतीत, उत्पति और स्थिति का कारण।

3 सदगुरु करुणा बिना सहजावस्था दुर्लभ है।

4. हृदय जिसका दर्पण है मन को उसी में देखे।

5. भिन्न-भिन्न करके नही देखता तभी पाँचवाँ आश्रम हूँ।

योगी किसी को असम दृष्टि से नही देखता। इसलिए वह अलग है, सबसे अलग, पाँचवाँ आश्रम।

भावाभाव विनिर्मुक्तमन्तराल तदुच्यते
साकारच निराकार नेती नेतीति सर्वथा
भेदाभेद विनिर्मुक्त वर्तते केवल शिव।[1]

न वह साकार है न वह निराकार। वह भेद और अभेद नही जानता। वह विनिर्मुक्त है। केवल शिव है। ससार की जटिल व्यवस्था मे अपने लिए समानता ढूँढता है।

अद्वैतरूपमखिल हि कथ वदामि
नित्य अनित्यमखिल हि कथ वदामि
सत्यमसत्यमखिल च कथ वदामि
ज्ञानामृत समरस गगनोपमोऽहम्।
ब्रह्मादय सुरगण कथमत्रसन्ति
स्वर्गादयो वसतय कथमत्रसन्ति
यथेकरूपमखिल परमार्थतत्त्व
ज्ञानामृत समरस गगनोपमोऽहम्।
माया प्रपच रचना न च मे विकार
कौटिल्य दभ रचना न च मे विकार
सत्यानृतेति रचना न च मे विकारः
ज्ञानामृत समरस गगनोपमोऽहम्।[2]

मै किसे क्या कहूँ, यही तो प्रश्न है। कहाँ रहते है देवता! कहाँ है वह स्वर्ग जिसे ससार मे लोग खोजते फिरते है। शकर ने कहा था—

सर्व पश्यात्मन्यात्मान सर्वत्रोत्सृज भेद ज्ञान।[3]

और अब योगी कहता है—मैं ज्ञानामृत हूँ। मैं समरस हूँ। मैं गगन के समान हूँ, मैं आकाश के समान हूँ, पृथ्वी तत्त्व के विजेता ने विभोर होकर

---

1. जो भावाभाव से मुक्त है वह अन्तराल—नभोरम है। न साकार है, न निराकार, भेद और अभेद से मुक्त केवल शिव है।

2. कपिल गीता—अद्वैत रूप कैसे कहूँ, और नित्य अनित्य वह अखिल को उपाधि कैसे दूँ। सत्य, असत्य भी नही कह सकता। मै तो आकाश के समान ज्ञान का अमृत समरस हूँ।

ब्रह्मा आदि देवता कहा है। स्वर्ग आदि कहा बसने है। जो एक रूप अखिल है वही परमार्थ तत्त्व है। मै तो आकाश

माया प्रपञ्च की रचना, कौटिल्य दभ रचना, सत्य और अनृत रचना मेरे विकार नही है। मैं तो आकाश ··

3 सबको समान अपने जैसा देखे। भेद ज्ञान सब जगह छोड दे।

शताब्दियो की सस्कृति की धारा से मोती चुनकर निकाला है कि वह—

न शून्य रूप न विशून्य रूपं
न शुद्ध रूप न विशुद्ध रूप
रूप विरूप न भवामि किंचित्
स्वरूप रूप परमार्थ तत्त्व ।[1]

कुछ नही केवल स्वरूप रूप है, परमार्थ तत्त्व है। वह और कुछ नही है।

वेदा न लोका न सुरा न यज्ञा
वर्णाश्रमौ नो न कुल न जाति
न धूप मार्गो न च दीप्ति मार्गो
ब्रह्मैव रूप परमार्थ तत्त्व।
नावाहन नैव विसर्जनच
पत्राणि पुष्पाणि कथ भवन्ति
ध्यानानि मन्त्राश्च कथ भवन्ति
सम सम सर्व शिवार्चन च।
मूर्खोऽपि नाह न च पडितोऽह
मौन च वार्ता न च मे कदाचित्
वितर्क तर्कच कथ वदामि
स्वरूप निर्वाणमनामयोऽहम।
अस्त गतो नैव सदोदितोऽह
तमश्च तेजो न च मे विभाति
सध्यादिक कर्म कथ करोमि
स्वरूप निर्वाणमनामयोऽह ।[2]

1. गोरक्ष सिद्धान्त सग्रह।

न शून्यरूप, न विशून्यरूप, शुद्ध रूप इत्यादि कुछ नही। केवल परमार्थ तत्त्व, स्वरूप में ही रूप।

2. वेद, लोक, देवता, यज्ञ, वर्णाश्रम, कुल जाति मेरे नही है। न मैं धूममार्गी हूँ, न दीप्तिमार्गी। मैं तो परमार्थ तत्त्व ब्रह्म का ही रूप हूँ।

न आवाहन, न विसर्जन, फलफूल से क्या होता है। ध्यान मन्त्र से भी क्या। सब समान शिवार्चन में एक है।

न मूर्ख हूँ, न पण्डित, न बोलता हूँ, न मौन हूँ। तर्क-वितर्कसे मुझे क्या मैं तो निर्वाण-स्वरूप अनामय हूँ।

अस्त नही होता हूँ, सदा उदित हूँ। मुझे आलोक और अन्धकार नही लगते। मैं सन्ध्यादिक कर्म क्या करूँ, मैं तो निर्वाण···

कुल, जाति और पूजा इत्यादि सब व्यर्थ हैं, जो स्वय निर्वाण है, जिसके लिए उदय और अस्त का भेद समाप्त हो चुका है वह धर्म के नाम पर मूर्ख और पण्डित बनने का दिखावा करेगा ?

शिव न जानामि कथ वदामि,
शिव च जानामि कथ वदामि,
अह शिवश्चेत परमार्थ रूप,
स्वच्छ स्वभाव गगनोपम च ।[1]

योगी कहता है विवादी के अनुसार वह शिव पर तर्क नही करना चाहता। जो जानता है वह स्वयमनुभूति है । उसे ग्रथो मे नही बाँधा जा सकता, वह साक्षात् शिव है, उसका स्वभाव बिलकुल घुल चुका है, वह एकदम गगन के समान है ।

न तर्क शब्द विज्ञानात् न वराद्वेद पाठनात्,
स्वस्थो योगी स्वय कर्ता लीलया चाजरामर ।[2]

सर्व दर्शनाना स्वरूप दर्शनेन समन्वय करोति, सोऽवधूत योगी स्यात ।
(गो० सि० स०)

तभी सब दर्शनो का स्वरूप दर्शन करके जो समन्वय करता है, वही अवधूत है, वही योगी है ।

ऊपर हमने देखा प्रहार बहुत प्रबल है। गोरक्ष के नाम से जो ग्रथ कहे जाते हैं, मेरा विचार है, वे उनके सिद्धान्तो के बाद मे किये हुए सग्रह हैं। प्राप्त ग्रथो मे अधिकाश भाग परवर्ती है, यद्यपि वह उनके मत और विचारों का अत्यन्त सान्निध्य और समीप से देखा हुआ रूप है। यह प्रश्न इसलिए उठता है क्योकि गोरक्षनाथ के जीवन का एक और महत्त्वपूर्ण रूप था ।

गोरखपंथ

समस्त धर्मो का समन्वय करने का यह गोरक्षनाथ का एक अद्भुत तरीका था । जैसे शक्ति मे 36 तत्त्व निहित होते हैं, वैसे ही वे सबको कवलीकृत करके बैठ गए । आखिर उसका परिणाम क्या हो सकता था, देह मे इतने चक्र, देवता, ब्रह्माड धर लिये गए, अभी तक जो कुछ बाहर अज्ञात का भय, दूर से देखने पर बर्बरता-सा दिखाई दे रहा था, वह सब अब शरीर के भीतर आ गया, शरीर इतना सब अपने भीतर समेट बैठा कि वह स्वय दुरूह,

1. शिव नहीं जानता, जानता हूँ, दोनों ही पर क्या कहूँ। मै परमार्थ रूप शिव हूँ, गगनोपम स्वच्छ स्वभाव हूँ ।

2. न तर्क शब्द के विज्ञान से, न श्रेष्ठ वेदपाठ से । स्वस्थ योगी स्वय कर्ता है, लीला से ही अजर और अमर है ।

रहस्यमय और भारी हो गया। गोरक्षनाथ मे ऊपर हमने देखा कि वे कहाँ से चले और कहाँ उन्होने अपनी बात को समाप्त किया, किन्तु अभी उन्होने योगी और दार्शनिक रूप ही दिखाया है, यदि इतनी ही बात होती तो उनका इतना जबर्दस्त प्रभाव पडना असम्भव था। यह एक आश्चर्यजनक बात प्रतीत होती है कि गोरक्ष के ऐसे सिद्धान्त थे, किन्तु उनका कार्य काफी सासारिक भी था।

ब्रिग्स ने परम्पराओ को एकत्र करते समय इस ओर कुछ विशेष इगित नही किया किन्तु 'नाथ सम्प्रदाय' मे हजारीप्रसाद ने कुछ महत्त्वपूर्ण बातो को प्रकाश मे लाकर दिखाया है। योगी सम्प्रदायाविष्कृति से इस विषय को अधिक दृढता ही मिलती है। पडितजी ने केवल वाममार्गियो मे गोरक्षनाथ के जाकर मिलने की बात लिखी है, तनिक और गहराई से देखा जाए तो नाथ-परम्परागत वार्ता मे ऐसे और भी उद्धरण मिलेंगे। गोरक्षनाथ का दिगम्बरो मे जाना और ऐसे अनेक स्थल जहाँ उनके पूर्ववर्त्तियो से उनका युद्ध होता है, वे सब ही किसी-न-किसी बात की ओर अधिकाश मे कुछ-न-कुछ इगित करते है। काली से गोरक्षनाथ के युद्ध से ही काली की नाथपथियो मे उपासना का आरम्भ हुआ, ऐसा स्पष्ट है। यह पडितजी ने विद्वत्तापूर्वक दिखाया है।

ब्रिग्स के आधार पर यहाँ हम उनके विषय मे प्रचलित पथो पर प्रकाश डालते है।

टिली गोरक्षनाथियो का एक पवित्र स्थान है। वहाँ यह प्रवाद प्रचलित है कि पहले शिव के 18 और गोरखनाथ के 12 पथ थे, दोनो मे युद्ध हुआ जिसके परिणामस्वरूप, शिव के 12 और गोरखनाथ के 6 सम्प्रदाय विनष्ट हो गए और जो अब 12 शेष रहे, वे कनफटा या गोरखनाथी कहलाये। जो शिव द्वारा प्रवर्तित मत थे वे यह हैं—

(1) कच्छ मे भुज के कठरनाथ, (2) पेशावर और रोहतक के पागल-नाथ, (3) अफगानिस्तान के रावल, (4) पख, (5) मारवाड के बन तथा (6) गोपाल अथवा रामके।

गोरखनाथ के जो सम्प्रदाय अवशिष्ट रहे वे निम्नलिखित है—

(1) हेठनाथ, (2) देवी विमला (बम्बई) के आई पथ के कोलोनाथ, (3) चाँदनाथ कपलानी, (4) वैराग, रतधोध मारवाड, रतननाथ, (5) पादनाथ, जयपुर के, जिनके हुए जालधरपा, कानीपाव और गोपीचन्द, (6) धजनाथ (महावीर) इस सम्प्रदाय के अनुयायी सब विदेशी है।

यहाँ यह देखना आवश्यक है कि इन 18 और 12 पथो का क्या मतलब है। गोरक्षनाथ के अनुयायी योगियो के लिए ससारी भार ढोने की कोई

आवश्यकता नही थी।[1] अत योगमार्ग उनके समीप खिचे होगे। एक किंवदन्ती के अनुसार स्वय गोरक्षनाथ ने 12 पथो का प्रवर्तन किया। जिनमे 6 उनके और 6 शिव के थे, ब्रिग्स और हजारीप्रसाद ने विस्तार से इस विषय पर विचार किया है।

हजारीप्रसाद का मत है कि गोरखनाथ ने योगमार्ग से प्रभावित विभिन्न सम्प्रदायो को अपनी ओर खीच लिया। जो बिलकुल ही उनके साथ नही आये उन्हे उन्होने त्याग दिया। इस अनुमान मे एक बहुत बडा सत्य होते हुए भी यह पहले से सोच लिया गया है कि इस्लाम से बचने की ही प्रवृत्ति ने यह सब प्रेरित किया।

मेरा अनुमान उक्त पहली किंवदन्ती की ओर अधिक आश्रय पाता है कि गोरक्षनाथ ने यद्यपि प्रारम्भ मे मत-प्रवर्तन अवश्य किया और उन्होने आत्मसात् करने की प्रवृत्ति भी दिखाई, किन्तु यह जो एक प्रबल सगठन हुआ यह मुसलमानो के आने के बाद की वस्तु है, अर्थात् उस समय की जब योगियो को भी ब्राह्मण धर्म से सामजस्य स्थापित करने की आवश्यकता का अनुभव होने लगा था। स्वय गोरक्षनाथ के समय मे तो इस्लाम को खतरे के रूप में शायद ही लिया जाता था, उलटे उस समय उनके प्रभाव को इस्लाम आसानी से हटा भी नही पाया। योगी तो शरीर के भीतर बैठा था। ब्राह्मण धर्म क्रिया-कर्म त्याग से जा सकता था, योगी प्रभाव कैसे चला जाता ?

तब यो कहा जा सकता है कि गोरक्षनाथ ने अपने से पहले के शैव सम्प्रदायो को परिमार्जित और शुद्ध किया। यह तो उनके गुरु-उद्धार से ही प्रकट है। रही बौद्ध, जैन तथा अन्य सम्प्रदायो की बात, तो वह इसके लिए मात्र एक ऐसी भूमि बना गए थे जो सबके लिए एक आम जगह बन सकती थी। सब अपने-अपने भेद छोडकर छोटे-मोटे भेदो को लिये उस पर आकर खडे होने लगे। इस्लाम ने इसे अधिक गति दे दी और वे सब सम्प्रदाय गोरखनाथ के नाम को अपना प्रवर्तक मानने लगे।

दीनोधर धर्मशाला पर नाथपथियो मे हनुमान और रामचन्द्र के चित्र स्वीकृत है। टिला मे भी वैष्णवमत माना गया है। पुरी मे गरुड़ है। हनुमान टीका लगाने मे तथा रुद्राक्ष के दस मनको मे विष्णु के दस अवतार स्वीकृत हैं। पश्चिमी भारत के अनेक वैष्णव भक्त गोरक्षनाथ से अपना प्रवर्तन मानते

---

1 वैराग्यामृत पल्लवेन सलिल कन्द फल मूलक
भुक्त्वा यो वनवास एव रमते चाऽनेक देशान्तरे
स्थित्वा सादित निश्चयेन मनसा रात्रौ दिने वीक्ष्यते
स त्यक्त्वाखिलभावमेकममल प्राप्नोत्यहो स्वं पद। —सिद्धसिद्धान्त सग्रह

है। गोरखपुर की समाधियो पर वैष्णव मूर्ति और चिह्नो के इगित है, बौद्ध प्रभाव तो स्पष्ट ही है, स्वय गोरक्षनाथ सहजयानी सिद्धो मे परिगणित है। बगाल की धर्म पूजा करनेवाले धर्म सम्प्रदाय का इन योगियो से सम्बन्ध है। यह धर्म पूजा बौद्धो के त्रिरत्न मे से धर्म-मात्र की पूजा का अवशिष्ट है।

इसके अतिरिक्त सुकुमार सेन ने बगाल की बहुला (विपुला), लखिन्दर (लक्ष्मीधर) तथा देवी नेता (नित्या या नेत्रा) का भी गोरखबानी (पृ० 151) के—

चाँद गोटा षूटा करले सूरिज करलै पाटी
अहनिसि धोबी धोबे त्रिवेणी की घाटी।

से सम्बध जोडा है।

इस प्रकार हम देखते है कि नाथ सम्प्रदाय का विस्तार कितना अधिक है। आगे इसके स्थान, परवर्त्ती प्रभाव तथा ऐसे विषयो पर विचार करते समय, हम इन्हे देखेगे। यहाँ यह कहना काफी है कि नाथ सम्प्रदाय गोरक्षनाथ के बाद जिस वेग से फैला वह अपने योगी के जीवन काल तथा उनसे पहले की सब परम्पराओ को आत्मसात् कर गया।

सिद्धि

अभी तक हमने जो कुछ देखा उससे यही ज्ञात होता है कि गोरक्ष के बाद नाथ सम्प्रदाय बिलकुल शुद्ध और पवित्र हो गया। यह धारणा बना लेना ठीक नही है।

योगियो मे सिद्धि का मोह कालान्तर मे भी बना रहा। राजपूताना के एक प्राचीन ग्राम मे अभी तक जो किवदन्तियाँ प्राप्त है उनसे यही इगित होता है कि मध्ययुग के उत्तर काल मे अर्थात् मुसलमानी शासन काल मे भी रसेश्वर सम्प्रदाय का सम्बन्ध मुख्यत इन योगियो के साथ ही जोडा जाता है।

इस सिद्धि के प्रयोग को कबीर ने हेय समझा है। उनका कहना था कि सिद्धि प्राप्त कर लेना ही सबसे बडी बात नही है। क्योकि वह तो काल की अवधि को बाँध देना है। पुण्य क्षय होने पर सिद्धि का भी क्षय हो सकता है।

दूसरे, स्त्री का साधना मे प्रयोग। नाथ सम्प्रदाय मे ब्रिग्स ने उन स्थानो का उल्लेख किया है जहाँ यह साधना चलती आई है और उसे छिपाया जाता रहा है।

तीसरे वज्रोली आदि की क्रियाओ का भी साकेतिक रूप मे वर्णन मिलता है। इस प्रकार के वर्णन से यह ही नही समझ लेना चाहिए जैसाकि एक श्लोक से हजारीप्रसाद जी ने किया है, कि वज्रोली साधना अवश्य रही होगी। वुडराफ ने ऐसा ही एक उदाहरण देकर[1] समझाया है कि उसका

1 मातृयोनौ क्षिपेत् लिंग भगिन्यां स्तन मर्दनौ इत्यादि।

वास्तविक अर्थ कुछ और ही है। सम्भवत साधना मे रत लोग उस श्लोक का भी कुछ और अर्थ लगाएँ, यद्यपि प्रकट रूप से देखने पर हजारीप्रसाद जी का अनुमान दृढतर ही होता है।

गोरक्षनाथ रसायन विद्या के भी आविष्कारक माने जाते थे। हजारीप्रसाद के अनुसार सिद्धो का यह रसायन रसेश्वर इत्यादि तत्त्व भी नाथ सम्प्रदाय मे ही अन्तर्भुक्त हो गया। मुझे लगता है यह सब गोरक्षनाथ के बाद की बात है। हम अभी ऊपर देख चुके है कि रस, रसायन आदि का भी गोरक्षसिद्धान्तो मे विरोध किया गया है। यहाँ हमे एक बात याद रखनी चाहिए।

गोरक्ष के व्यक्तित्व की महानता को पहचानना चाहिए। इस विषय मे कुछ भी नही कहा जा सकता कि वे स्वय किसे कुलीन विचार समझते थे और किसे अधविश्वास। जिसे वह चरम उत्कर्ष समझते थे वह तो सहज समाधि थी, ऊँची और भव्य अवस्था थी। किन्तु उसके बीच मे बहुत कुछ गडबडी थी। शरीर का चक्र, नाडी और रहस्य तो सरल नही कहा जा सकता।

तब इस अद्भुत गोरक्षनाथ के महत्त्व को समझ लेना उतना ही कठिन है जितना भारतीय सस्कृति को। ऊँचे-से-ऊँचा विचार और नीचे-से-नीचे ढग का अर्थ बर्बर-सा विश्वास सभी इस व्यक्ति के पीछे लगे घूमते है। तभी तो इसे न समझकर लोग 'गोरखधन्धा' कहते हैं।

मेरा अपना अनुमान है कि ब्राह्मण तथा ज्ञानी गोरखनाथ मे राजयोग-वाली महानता थी। ब्राह्मण सुनकर ब्राह्मणवाद की कल्पना करके चौंकने की आवश्यक्ता नही है। मेरा मतलब विचारो की भव्य कौलीनता से है। वह गोरक्षनाथ मे थी। तभी वह सब-कुछ भेदकर, सारे चक्रो और व्यूहों, और बाधाओ को भेदकर ऊपर निकलकर स्थित हो गए। वहाँ, जहाँ शिव अपने शिव रूप मे मुख्य रहते है। इनके इस कार्य का इतना विराट् प्रभाव पडा कि सब इनकी ओर आकर्षित हुए। इस्लाम ने इसमे सबकी सहायता की। जो नही आये वे भारतीय सस्कृति को त्याग बैठे।

स्पष्ट है कि गोरख पन्थ ब्राह्मण धर्म तथा व्यवस्था के बाहर स्थित सम्प्रदायो का वैसा ही विराट् सम्मेलन है जैसाकि विभिन्न मतान्तरो का सम्मेलन हिन्दू धर्म है। गोरख पन्थ भारतीय इतिहास की वह प्रबल धारा है जिसने अनादि काल से बिखरे विश्वासो को लाकर एक मे जोड़ दिया, और यह महान् धारा आप्लावित होकर भारतवर्ष मे अखण्ड रूप से दो शताब्दियो तक बहती रही और बाद मे इधर-उधर अन्तर्भुक्त होती हुई अपनी क्षीण अवस्था में अमिट-सी शेष रह गई।

हैं। गोरखपुर की समाधियो पर वैष्णव मूर्ति और चिह्नो के इंगित है, बौद्ध प्रभाव तो स्पष्ट ही है, स्वय गोरक्षनाथ सहजयानी सिद्धो मे परिगणित है। बगाल की धर्म पूजा करनेवाले धर्म सम्प्रदाय का इन योगियो से सम्बन्ध है। यह धर्म पूजा बौद्धो के त्रिरत्न मे से धर्म-मात्र की पूजा का अवशिष्ट है।

इसके अतिरिक्त सुकुमार सेन ने बगाल की बहुला (विपुला), लखिन्दर (लक्ष्मीधर) तथा देवी नेता (नित्या या नेत्रा) का भी गोरखबानी (पृ० 151) के—

चॉद गोटा षूटा करले सूरिज करलै पाटी
अहनिसि धोबी धोबे त्रिवेणी की घाटी।

से सम्बध जोडा है।

इस प्रकार हम देखते है कि नाथ सम्प्रदाय का विस्तार कितना अधिक है। आगे इसके स्थान, परवर्त्ती प्रभाव तथा ऐसे विषयो पर विचार करते समय, हम इन्हे देखेगे। यहाँ यह कहना काफी है कि नाथ सम्प्रदाय गोरक्षनाथ के बाद जिस वेग से फैला वह अपने योगी के जीवन काल तथा उनसे पहले की सब परम्पराओ को आत्मसात् कर गया।

सिद्धि

अभी तक हमने जो कुछ देखा उससे यही ज्ञात होता है कि गोरक्ष के बाद नाथ सम्प्रदाय बिलकुल शुद्ध और पवित्र हो गया। यह धारणा बना लेना ठीक नही है।

योगियो मे सिद्धि का मोह कालान्तर मे भी बना रहा। राजपूताना के एक प्राचीन ग्राम में अभी तक जो किंवदन्तियाँ प्राप्त है उनसे यही इंगित होता है कि मध्ययुग के उत्तर काल मे अर्थात् मुसलमानी शासन काल मे भी रसेश्वर सम्प्रदाय का सम्बन्ध मुख्यत इन योगियो के साथ ही जोडा जाता है।

इस सिद्धि के प्रयोग को कबीर ने हेय समझा है। उनका कहना था कि सिद्धि प्राप्त कर लेना ही सबसे बडी बात नही है। क्योकि वह तो काल की अवधि को बॉध देना है। पुण्य क्षय होने पर सिद्धि का भी क्षय हो सकता है।

दूसरे, स्त्री का साधना मे प्रयोग। नाथ सम्प्रदाय में ब्रिग्स ने उन स्थानो का उल्लेख किया है जहाँ यह साधना चलती आई है और उसे छिपाया जाता रहा है।

तीसरे वज्रोली आदि की क्रियाओ का भी साकेतिक रूप मे वर्णन मिलता है। इस प्रकार के वर्णन से यह ही नही समझ लेना चाहिए जैसाकि एक श्लोक से हजारीप्रसाद जी ने किया है, कि वज्रोली साधना अवश्य रही होगी। वुडराफ ने ऐसा ही एक उदाहरण देकर[1] समझाया है कि उसका

1. मातृयोनौ क्षिपेत् लिंग भगिन्या स्तन मर्दनौ इत्यादि।

वास्तविक अर्थ कुछ और ही है। सम्भवत साधना मे रत लोग उस श्लोक का भी कुछ और अर्थ लगाएँ, यद्यपि प्रकट रूप से देखने पर हजारीप्रसाद जी का अनुमान दृढतर ही होता है।

गोरक्षनाथ रसायन विद्या के भी आविष्कारक माने जाते थे। हजारीप्रसाद के अनुसार सिद्धो का यह रसायन रसेश्वर इत्यादि तत्त्व भी नाथ सम्प्रदाय मे ही अन्तर्भुक्त हो गया। मुझे लगता है यह सब गोरक्षनाथ के बाद की बात है। हम अभी ऊपर देख चुके हैं कि रस, रसायन आदि का भी गोरक्षसिद्धान्तों मे विरोध किया गया है। यहाँ हमे एक बात याद रखनी चाहिए।

गोरक्ष के व्यक्तित्व की महानता को पहचानना चाहिए। इस विषय मे कुछ भी नही कहा जा सकता कि वे स्वय किसे कुलीन विचार समझते थे और किसे अधविश्वास। जिसे वह चरम उत्कर्ष समझते थे वह तो सहज समाधि थी, ऊँची और भव्य अवस्था थी। किन्तु उसके बीच मे बहुत कुछ गडबडी थी। शरीर का चक्र, नाडी और रहस्य तो सरल नही कहा जा सकता।

तब इस अद्भुत गोरक्षनाथ के महत्त्व को समझ लेना उतना ही कठिन है जितना भारतीय सस्कृति को। ऊँचे-से-ऊँचा विचार और नीचे-से-नीचे ढग का अर्थ बर्बर-सा विश्वास सभी इस व्यक्ति के पीछे लगे घूमने है। तभी तो इसे न समझकर लोग 'गोरखधन्धा' कहते हैं।

मेरा अपना अनुमान है कि ब्राह्मण तथा ज्ञानी गोरखनाथ मे राजयोग-वाली महानता थी। ब्राह्मण सुनकर ब्राह्मणवाद की कल्पना करके चौकने की आवश्यक्ता नही है। मेरा मतलब विचारो की भव्य कौलीनता से है। वह गोरक्षनाथ मे थी। तभी वह सब-कुछ भेदकर, सारे चक्रो और व्यूहो, और बाधाओ को भेदकर ऊपर निकलकर स्थित हो गए। वहाँ, जहाँ शिव अपने शिव रूप मे मुख्य रहते है। इनके इस कार्य का इतना विराट् प्रभाव पडा कि सब इनकी ओर आकर्षित हुए। इस्लाम ने इसमे सबकी सहायता की। जो नही आये वे भारतीय सस्कृति को त्याग बैठे।

स्पष्ट है कि गोरख पन्थ ब्राह्मण धर्म तथा व्यवस्था के बाहर स्थित सम्प्रदायो का वैसा ही विराट् सम्मेलन है जैसाकि विभिन्न मतान्तरो का सम्मेलन हिन्दू धर्म है। गोरख पन्थ भारतीय इतिहास की वह प्रबल धारा है जिसने अनादि काल से बिखरे विश्वासो को लाकर एक मे जोड दिया, और यह महान् धारा आप्लावित होकर भारतवर्ष मे अखण्ड रूप से दो शताब्दियो तक बहती रही और बाद मे इधर-उधर अन्तर्भुक्त होती हुई अपनी क्षीण अवस्था में अमिट-सी शेष रह गई।

रामानुज विशिष्टाद्वैतवाद*

रामानुज का जन्म 1016 ई० मे मद्रास प्रान्त मे तिरूपथी या परूबुर मे हुआ था। तिरूपथी तातवशीय ब्राह्मणो के आराध्य श्रीनिवास का प्राचीन निवास-स्थान था। पहले सभी उच्च ब्राह्मण वडमाल कहलाते थे। अयङ्गार वर्ग रामानुज का ही उत्पाद्य था। अयङ्गारो मे सास का बहू के हाथ से खाना नही खाना इसी बात का द्योतक बताया जाता है कि 'वडयवर' अर्थात् रामानुज ने अनेक बौद्धो इत्यादि को श्रीवैष्णव धर्म मे स्वीकृत किया था जिसके फलस्वरूप वश की शुद्धि मे थोडा-सा नया तत्त्व आ मिला था।

हारीत वश मे उत्पन्न द्रविड ब्राह्मण केशव उनके पिता का नाम था तथा माता का कान्तिमती। पहले वे यादवप्रकाश, कान्जीवरम मे शकर के अनुयायी, के शिष्य थे। किन्तु वे गुरु से असहमत हुए, जिससे उन्हे पाठ छोडना पडा। श्रीरगम के यामुनामुनि ने उन्हे अपने यहाँ बुला लिया। रामानुज वही पढकर बडे हुए। उन्होने वेदान्त सग्रह, बादरायण के वेदान्त सूत्र तथा भगवद्गीता के भाष्य की रचना की। सन्यास लेकर वे परिव्राजक हो गए, और उन्होने अनेक स्थानो पर शास्त्रार्थ किया। चोल राजा कुलोत्तुग प्रथम (1005) ने उन्हे वैष्णव से शैव बनाना चाहा, तब वे होयसल राजाओ की शरण मे आकर बचे। बल्लालदेव के भाई विट्ठलदेव को उन्होने दीक्षित किया। 1137 ई० मे श्रीरगम् मे उनका देहान्त हो गया। किंवदन्तियो से यह प्रकट होता है कि उनकी भक्ति के ही कारण चमारो को कुछ मुक्ति मिली थी। मैसूर से 22 मील दूर मैलुकोटे (तामिल मे तिरुनारायणपुरम्) नामक स्थान के तिरुनारायण के मन्दिर से उत्सव मूर्ति शल्वपिल्लैई को एक 'दिल्ली बादशाह' उठा ले गया। रामानुज बादशाह की लडकी से उसे माँगने गए। लडकी ने कहा—स्वय बुला ले। ब्राह्मण की भक्ति से मूर्ति आ गई, वे उसे गोद मे लेकर भागे। मुसलमानो के पीछा करने पर चमारो की बस्ती मे घुस गए। उस समय यह असम्भव बात थी। मुसलमानो ने उन्हे वहाँ नही ढूँढा। रामानुज मेलुकोटै आ गए। अब भी ब्राह्मोत्सव मे वैरमुडी के दिन चमार ध्वजस्तम्भ तक जाकर प्रसाद पाते है। प्रसाद का चावल व तेल चमार पहले स्वय दे जाते हैं। कल्याणी पुष्करिणी मे वे स्नान भी कर सकते है।

किंवदन्ती इस्लाम के विरुद्ध हिंदुओ के नये मोर्चे की ओर इगित करती है।

भक्तिवाद भारत में रामानुज से ही प्रवर्तित नही हुआ था। उसके बीज अत्यन्त प्राचीन थे। दक्षिण मे शैव भक्तो का काल आलवारो के पहले का

*विशिष्ट अध्ययन के लिए देखिए 1 द टीचिंग्स आफ वेदान्त अकार्डिंग टू रामानुज, सुखतानकर। 2. फिलासफी आफ लव—(नारद के भक्ति सूत्र), पोदार। 3 इण्ट्रोडक्शन टू विशिष्टाद्वैत वेदान्त फिलासफी, वि० दि० माथुर।

मिलता है। अत देवर्षि नारद जैसे पौराणिक पात्रो के साथ जिस मार्ग को जोडा जाता है वह अवश्य ही एक महत्त्वपूर्ण रूप से स्वीकृत प्राचीन धारा थी। यह भक्तिधारा शैव और वैष्णव रूप लेकर दक्षिण से क्यो चली, या चैतन्य की एक भक्तिधारा पूर्व से क्यो बही—यह दोनो प्रश्न विचारणीय हैं। चैतन्य धारा की ओर ऊपर इगित किया जा चुका है कि वह महायान का ही सहजयान मे आकर परिवर्तित स्वरूप था जिसने दक्षिण के भक्तिमार्ग को उत्तर मे फैलने के लिए जगह बना ली थी। इसी के एक स्वरूप मे कबीर थे।

यहाँ एक बात और अजीब-सी लगती है। उत्तर मे इस्लाम पहले फकीर और बाद मे सामती बनकर आया। फकीर प्रेम से व्याकुल हुए। योग ने भी उन पर प्रभाव डाला। किन्तु दक्षिण मे सर्व प्रथम आने पर व्यापारी इस्लाम ने हिन्दुओं का मत परिवर्तन कराने का काम तो किया किन्तु उसने ऐसा कोई विशेष कार्य नही दिखाया जो सूफी मत की भॉति भारतीय विचारधारा मे आप्लावित हो उठता। इसका कारण यह ही है कि व्यापारी दक्षिण मे अपनी कट्टरता लेकर आया था। उनमे अधिकाश अरब थे। उत्तर मे इरानी अर्थात् फारसवासी आये थे। जिनका भारत से बहुत प्राचीन सम्बन्ध था।

नारद के अनुसार परमात्मा को सब कुछ अर्पित कर देना ही भक्ति है। यही शाण्डिल्य का भी मत है। उन्हे गर्ग के मत से यही सार प्राप्त हुआ है।

दक्षिण से भागवत धर्म के पुनरुत्थान की इस पृष्ठभूमि को सामने रखकर रामानुज को देखना चाहिए। वेदान्त की नीरसता को उन्होने स्वीकार नहीं किया। भारतीय सस्कृति अपने हृदय के नीरस अन्तर्दाह से व्याकुल अपनी योगनिद्रा तोडकर एकबारगी मनुष्य को ही मनुष्य के रूप मे नही ईश्वर को भी मनुष्य के रूप मे देखना चाहती थी।

रामानुज ने शूद्रो के लिए गोपुर के शिखर पर चढकर गुरुमत्र सुनाया जिसको सुनकर ब्राह्मणवाद मे खलबली मच गई। आगे आप के सम्प्रदाय के प्रपत्तिविषयक दो भेद हो गए—तैगलई और बढगलइ। दोनो मे विवाह आदि होते हैं। यहाँ उनके दर्शन को देखने के पहले एक और सार्थक दतकथा पर विचार कर लेना उचित है।

रामानुज ने पुरी के मन्दिर मे उच्छिष्ठान्न तथा वहाँ के वेद बाह्य कृत्यो को देखकर सोचा कि भगवान् के विग्रह को वे वहाँ से उठा ले जाएँगे। किन्तु एक जगल मे आँख खुली। वहाँ (उदयभानकौल) के नाम से अब भी एक तालाब प्रसिद्ध है। इससे इगित होता है कि इस काम का विचार करके भी असमर्थ रहे। पुरी का मन्दिर पहले वज्रयानी साधको का था।

रामानुज ने शकर के मायावाद को स्वीकृत नही किया। भक्ति को बीच मे रखा। इससे अवैदिक पचरात्र भी वैदिक साहित्य मे प्रवेश पा गया।

ब्रह्म एक है । वह अनेक गुणो से पूर्ण और महानतम है । वह ईश्वर, पुरुषोत्तम है । अभाव से दूर वह अद्वितीय है । वह लीला से सृष्टि करता है । वह शून्य से सृष्टि नही करता । सृष्टि स्वरूप भेद है । कारण स्वरूप से वह कार्य रूप मे आती है । पहले ईश्वर एक था । उसमे से अधिक अग, प्रकृति और जीव निकले । वे दोनो मिथ्या नही है । वे ईश्वर के अनुरक्त और उसके शासन मे है । कल्पान्त मे जब स्थूल तत्त्व सूक्ष्म मे लय होते है तब मात्र तमस रह जाता है । वह ब्रह्म स्वरूप है । इस रूप मे तमस् पहुँचाया नही जा सकता । वह ब्रह्म रूप दीखता है । अत ब्रह्म एक है । वह अपनी इच्छा से अनेक हो जाता है ।

आराधना के लिए ईश्वर की पॉच अवस्था है—

1. परा—वैकुण्ठ मे नारायण रूप ।
2 व्यूह—वासुदेव, सकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध ।
3 विभव—नारायणावतार ।
4 अन्तर्यामिन—हृदयनिवासी, योग द्वारा प्राप्त ।
5 अर्च—मूर्ति ।

जीव पॉच प्रकार के है—

1 नित्य—जन्म-मृत्यु से परे ।
2. मुक्त—बधनहीन, ईश्वरसान्निध्यवान ।
3. केवल—जन्म-मृत्यु बन्धन से मुक्त, पवित्र ।
4 मुमुक्षु ।
5 बद्ध ।

कर्म, ज्ञान के बाद भक्ति से ईश्वर मिलता है । तीन उच्च जातियाँ ही भक्ति को अपना सकती है । चौथी के लिए आत्मसमर्पण प्रपत्ति है । उन्हे आचार्य अपियान मे पूर्ण विश्वास होना आवश्यक है ।

शकर का मायावाद वेदान्त मे बौद्ध प्रभाव है । रामानुज ने परिवर्तनशील माया को झूठा नही कहा ।

विशिष्टाद्वैती तीन प्रमाण मानते है प्रत्यक्ष, अनुमान तथा श्रुति ।

ईश्वर ही एक अनन्त सर्वशक्तिमान और सब कुछ है । जीव चित है । अचित जड पदार्थ है, उन तीनो का भेद माया या अविद्या के कारण नही है वरन् है ही ऐसा । यह बदलता ससार ही तो परमात्मा की शक्ति का द्योतक है । विशिष्टाद्वैत में 'माया' शब्द का प्रयोग ब्रह्म की शक्ति दिखाने वाली शक्ति के लिए प्रयुक्त है । ब्रह्म मे अविद्या कहाँ से आई । वह ब्रह्म को कैसे छिपा सकती है । वह सृष्टि कैसे कर सकती है, अविद्या व ब्रह्म साथ-साथ नही रह सकते । जो दिखता है वह तो स्वगत, स्वजातीय और विजातीय भेद

है। ब्रह्म की ही इच्छा से चलनेवाली सृष्टि को माया कैसे झिलमिल कर सकती है। माया तो स्वय ब्रह्म की आज्ञा से चलनेवाली वस्तु है। प्रलय मे ब्रह्म एक है, तब प्रकृति 'उसमे' अव्यक्त भाव से सुप्त है। चित-अचित उस समय इतने सूक्ष्मतम स्वरूप को ग्रहण कर लेते है कि वे अलग से पहचाने नही जा सकते। यह उसकी कारण अवस्था है। कल्पान्त मे सृष्टि के समय कार्य अवस्था होती है, उस समय नामरूप हो सकते है।

विशिष्टाद्वैती ब्रह्म और ईश्वर को दो स्वरूपो मे विभाजित नही करते। ब्रह्म को वह मात्र चेतना नही मानते। वह उसे शकर के 'सत्यरूप' से अधिक ठोस मानते है। उसमे ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, वात्सल्य, माधुर्य इत्यादि सब कुछ है। ब्रह्म ही निमित्त कारण है, ब्रह्म ही उपादान कारण है। जीव ब्रह्म का दास या बालक बनकर नही रहता वह स्वय ब्रह्म होता है।

इत्यलम्, रामानुज का विशिष्टाद्वैत सक्षेप मे यही है। स्मरण रखना आवश्यक है कि यह धारा शकर और गोरक्ष के बाद की है। गोरक्ष से सीधे रामानुज का कोई सम्पर्क नही। गोरक्ष ब्राह्मणवाद से दूर थे। रामानुज के समय इस्लाम विजयी रूप मे आने लगा था। दक्षिण मे ईसाई और इस्लामी प्रभाव को देखा जा चुका है। यहाँ भक्तिवाद का उनसे भेद स्पष्ट हो जाता है।

एक परीक्षा

अब हम आलोच्यकाल की सब प्रमुख धाराओ का विवेचन और म
कर चुके हैं। शकर ने कितना बडा काम किया था या रामानुज का क्या बलिष्ठ प्रहार था, इसपर विद्वानो द्वारा अधिक लिखा जा चुका है। रामानुज का कार्य तो वास्तव मे हमारे आलोच्यकाल के बाद रग लाया था। यहाँ हम उनके ऊपर विस्तार से कुछ नही लिखेगे। इनसे गोरक्षनाथ की तुलना अब आवश्यक है।

शकर ने जिस प्रकार सबका समन्वय करने का प्रयत्न किया और इस समन्वय मे बौद्ध मत की दार्शनिकता को आत्मसात् करके खोखला कर दिया, उसी प्रकार गोरखनाथ ने अपने युग के पूर्ववर्त्तियो के सब मतो को पहले अच्छी तरह छान लिया और रस निकालकर बाकी को फोक की भाँति छूँछा करके फेंक दिया। विद्वानो ने नाथ सम्प्रदाय की महत्त्वपूर्ण शक्ति का उल्लेख अवश्य किया है, किन्तु उन्होने यह नही स्पष्ट किया कि भारत मे गोरखनाथ का उतना ही बडा काम था जितना कि शकर का। आधुनिक विचार-धारा के लोग शकर का ब्राह्मणवाद का पुन प्रतिष्ठा देखकर उसे

प्रतिक्रियावादी कहेगे । मेरा अपना विचार है कि यदि वह प्रतिक्रियावादी था तो भी उसका तत्कालीन इतिहास मे विजयी होना ही अवश्यम्भावी था, क्योकि उस समय भारत मे कोई नये प्रकार की प्रगतिशील विचारधारा नही थी । शकर ने ब्राह्मणवाद को पुन स्थापित किया, अर्थात् असाम्य और जाति-भेदवाले सामन्तवाद की पुन प्रतिष्ठापना की । रामानुज ने उसे हटाने का प्रयत्न किया किन्तु उसकी सफलता-असफलता का विवेचन हमारे विषय से बहुत आगे जाकर पडता है । तब शकर ने एक और प्रबल प्रहार किया । एक पूर्ण दार्शनिकता स्थापित की । ब्रह्म को इतना उठाया, इतना उठाया कि सबके परे कर दिया । ईश्वर, माया और जीव के विषय मे जो भाव उन्होने व्यक्त किए उनमे सामाजिक व्यवहार मे निर्बलता थी । गौतम ने भी उपनिषद् पर ही अपना दार्शनिक महल खडा किया था, वह भी ढह गया । शकर का भी विद्रोह अपने-आपका पालन करने मे असमर्थ हो गया । बुद्ध की क्रान्ति क्षत्रियो की थी । शकर एक सन्यासी था, वह इसीलिए अधिक प्रभावित कर सका । बुद्ध को एक अशोक की आवश्यकता थी, शकर को केवल अपने बोल देने भर की । वह प्रकाण्ड मेधावी जो था ।

अब दूसरी ओर गोरक्षनाथ को देखे, गोरक्षनाथ ने कापालिक, शाक्त, कौल, चीनाचार, लोकायत, सौर, गाणपत्य सबको एक चपेट मे दबा लिया । इसके अतिरिक्त उनके पथो का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है । इससे प्रकट होता है कि वे भी जानते थे कि वे क्या कर रहे थे । भले ही वे 'हिन्दू' नही, वरन योगियो का समुदाय परिष्कृत कर रहे थे, पर कर तो परिष्कृत ही रहे थे । इतिहास मे तो यह घटना क्या सरल है ? गोरक्षनाथ ने स्त्री का योनि रूप हटा दिया । यह नही कि सब शाक्त इधर ही आ गए । नही, उनकी दार्शनिकता और सिद्धि का चमत्कार समाप्त हो गया, अब वे कमजोर हो गए । जो गोरक्ष के हाथ नही आए वे ऐसे हो गए कि हिन्दू समाज मे नही रह पाए । हिन्दू समाज को एक होने की आवश्यकता ऐसी हठात् क्यो आ पडी थी, इसकी ओर ऊपर इगित किया जा चुका है । बाकी परवर्त्ती प्रभाव मे आ जाएगा । इसके अतिरिक्त आर्य सामाजिक व्यवस्था के बाहर जो योग था, गोरक्षनाथ ने उसे न केवल एक परिष्कृत और सुष्ठु रूप दिया वरन वे उसे खीचकर राजयोग के निकट ले आए और हठयोग को राजयोग का अग बना दिया । यह भी कोई सरल कार्य नही था । इसके अतिरिक्त गोरक्ष के हठयोग की तालिका जो ऊपर दी गई है उससे स्पष्ट हो जाता है कि वह कितनी भिन्न वस्तुओ का सग्रह है । उसने शरीर मे ही देवियो को बसा लिया । देवियाँ जिनका सम्बन्ध चक्र पद्मो से पहले से जोडा जा रहा था अब आकर उनपर स्थिर हो गई । एकबारगी जैसे समस्त प्रधान आर्य सामाजिक

व्यवस्था के बाहर के मत-मतान्तर छाँटे गए और चुनकर उनसे सारतत्त्व गोरक्षनाथ ने निकाल लिया और फिर उसे ठीक स्थान देने का प्रयत्न किया। इसमे वे नि सन्देह सफल हुए और कहना ठीक ही होगा कि उन्होने एक तूफान को हाथ उठाकर रोक दिया।

ऊपर देखा जा चुका है कि गोरक्ष के हठयोग मे शरीर मे एक योनि स्थान है जिसमे लिंग माना गया है। यह देखने को एक साधारण-सी बात लगती है। किन्तु इसका प्रभाव क्या हुआ यह तनिक विचारणीय है। इस व्यक्ति ने हठयोग के माध्यम से बौद्ध, अबौद्ध, शैव तथा ब्राह्मण ग्राह्य सबके लिए एक ऐसी भूमि बना दी जहाँ सबके बन्धन टूटने लगे, तभी तो वह हठयोग का एक महान् सिद्ध माना गया है।

एक दिन शिव ने काम से युद्ध होने पर उसे भस्म तो कर दिया था किन्तु काम अनग होकर फिर भी रह गया था। युगातर मे रति ने शक्ति बनकर शिव को शव बना दिया था। अब फिर एक भयानक क्राति हुई थी। महायोगी शिव अपने भीतर ही स्त्री को आत्मसात् करके पद्मासन लगाकर बैठ गया था। योनि के रूप मे स्त्री शरीर के भीतर चली गई और ससार के लिये वह माता और बहिन के रूप मे छूट गई, सामाजिक नियमो के अनुकूल हो गई। यह गोरक्षनाथ की महान् देन थी। हीनत्व अनुभव करनेवाले पुरुप मे अनन्त शक्ति का सन्निवेश हो गया था। यह व्यक्ति का पूर्ण, व्यक्तिगत, एकागी स्वरूप था, किन्तु बाहर ब्रह्मचर्य था। शाक्त उपासना का यक्षवाद एक उच्च आदर्श के सामने पराजित हो गया था, जैसे शकर के मायावाद ने बौद्धो के शून्यवाद को तर्क से पराजित किया था, गोरख ने शाक्तो को उन्ही के अस्त्र से—व्यवहार से—अपने कर्म, साधना और साधना की सफलता मे पराजित कर दिया था, और जगल उसी कुल्हाडे से काटा गया, उसी लकड़ी से काट दिया गया, जो कल तक उसी वृक्ष का एक अग-सा दीख रही थी।

यह व्यक्ति का हठ था कि वह सर्वात्म को अपने सामने झुका लेना चाहता था। यदि शकर ने दार्शनिक ठोकरो से उस जीव को जगाकर पूर्णत्व प्राप्त कराने का प्रयत्न किया था तो गोरखनाथ ने योग से, जबकि रामानुज ने प्रेम का पथ पकडा था।

दर्शन और प्रेम का स्वरूप अधिक सामाजिक था, योग का अधिक व्यक्तिगत। किन्तु इस व्यक्तिगत का भी एक सामाजिक पक्ष था, जो इतिहास ने गोरक्षनाथ को पीढी-दर-पीढी से पालकर अब अन्त मे सौंप दिया था।

इसके अतिरिक्त गोरक्षनाथ ने शैव प्रत्याभिज्ञा के दर्शन के अनुसार जो कायायोग को सुव्यवस्थित किया उससे वह कुछ छोटे भेदो को छोडकर दार्शनिकता मे शकर के सिद्धान्तो के निकट आ गए। ऊपर वेदान्त और शाक्त

मतो की दार्शनिकता का भेद देखा जा चुका है। भेद वास्तव मे कुछ नही है, माया अथवा शक्ति के विषय मे है। शाक्त और वेदान्त का यह भेद तभी तक प्रखर था जब तक स्त्री साधना का माध्यम थी। गोरखनाथ ने इसे तो काट ही दिया, उन्होने एक और काम किया। शकर ने ब्रह्म को बढाया था, वह बौद्धो से टक्कर थी। गोरख ने शरीर को बढाया, यह शाक्तो से टक्कर थी। शकर को ब्रह्म का स्वरूप स्थिर करना था, बिखरे विचारो को एकत्र कर, गोरक्ष को शरीर का रूप पूर्ण करना था, बिखरे साधना पथो को एकत्र कर। शकर को अनात्म से लडना था। उन्होने इसीसे माया को स्वीकार कर लिया, गोरक्ष को वज्रयानी साधना से लडना था, इसीसे उन्होने उनके पारिभाषिक शब्दो को स्वीकार किया। शकर की माया फिर भी जड ही कही गई। गोरक्षनाथ ने उन पारिभाषिक शब्दो को सकेत और सावृतिक रूप मे लिया। शकर ने श्रुति का आधार लिया गोरख ने शैव प्रत्यभिज्ञा दर्शन का। शकर ने ब्राह्मण को फिर से जमाया, गोरखनाथ ने शिव के उसी प्राचीन नीरस रूप को और इसमे वे ब्राह्मण-विरोधी तो रहे ही, उन्होने योगी को सबसे ऊपर माना। इसके ही परिणाम से पिण्ड मे ब्रह्माड आ गया, अब यह एक अद्भुत तुलना की अवस्था है।

शकर ने पिण्ड ब्रह्माड को झुठलाकर ब्रह्म की स्वीकृति दी। सब को झूठ कहकर उस सच्चिदानन्द परमात्मा पर ध्यान लगाने को कहा, जिस पर ध्यान तो कम लोगो का लग सका किन्तु जिसकी अनिर्वचनीया शक्ति अर्थात् माया का घर-घर मे प्रवेश हुआ और भारतीय जीवन पर उसका गहरा प्रभाव पडा। यह एक प्रकार की समाज से गहरी पराजय थी, जो बौद्धमत का प्रारम्भिक विद्रोह, ब्राह्मण विचार-धारा पर लोहे से अकित कर गया। गोरक्षनाथ का ब्रह्माड पिण्ड मे आकर सिमट गया। सारा ससार उन्होने त्याग दिया, समाधि लगाई और बैठ गए। ससार को व्यर्थ कहने का यह दूसरा तरीका था, इससे भी समाज को कोई विशेष लाभ नही हो सकता था।

व्यक्तिवाद

शकर ने ब्राह्मण दृष्टिकोण से ससार को व्यर्थ कहा, गोरक्ष ने योगी के दृष्टिकोण से पिण्ड के अतिरिक्त सर्व को व्यर्थ कहा, इसी पिण्ड मे वह 'शिव' है।

शकर ने कहा था—सब शिव है, गोरखनाथ ने कहा—वह शिव भी पिण्ड मे है। शताब्दियो से एकरस चले आते भारतीय समाज ने अपना रूप दो भागों मे विभाजित कर लिया था, दोनो निकट आना चाहते तो आ सकते थे किन्तु बीच मे ब्राह्मणवाद की फॉस थी। ज्ञानमार्गी शकर तो उसे तरह दे गए, पर

गोरक्ष तो ब्राह्मण धर्म के प्रतिपालक नही थे, वे कैसे मान जाते। वह तो योगी को वेद से ऊपर बिठाते थे, अत दोनो समीप नहीं आ सके, परस्पर सामीप्य स्थापित नही कर सके, और वैसे दोनो के जीवन बिताने के रूप भी अलग-अलग थे। दोनो आगे जाकर मिलकर निकट आये, तब वे वेदान्ती और योगी नही रहे, दोनो 'हिन्दू' कहलाने लगे थे।

हमने देखा कि मतप्रवर्तन, योग, दर्शन और सामाजिक रूप मे गोरक्ष का अपनी परिधि मे उतना ही विराट् कार्य था जितना कि अपनी परिधि मे शंकराचार्य का। किन्तु गोरक्षनाथ की साधना, हठयोग को सरल साधना की सज्ञा देने पर भी, जनसाधारण तक तो आसानी से पहुँच सकने मे असमर्थ थी। गोरक्षनाथ के कार्य मे क्या निर्बलता रह गई यह उनके परिवर्त्ती प्रकरण मे प्रकट हो जायगा, यहाँ इतना कह देना काफी होगा कि गोरक्षनाथ का प्रयत्न सर्वथा व्यक्तिवादी था और उसकी गोरख जैसे महान् व्यक्तित्व के बिना यही चरम सीमा थी कि आसन लगाकर बैठ रहे । उसमे सहस्रो वर्ष एक समाधि में बैठे रहनेवाले शिव का भव्य स्वरूप हो सकता है, किन्तु उसमे जगत् के कार्य-व्यापार को चलाने की शक्ति नि सन्देह नही थी। गोरक्ष के बाद उनके हठयोग को ब्राह्मणो ने आसानी से इसीलिए स्वीकार भी कर लिया क्योकि इसका सामाजिक प्रभाव पड सकना असम्भव-सा था। इसका यह तात्पर्य कदापि नही है कि योगि सम्प्रदाय गोरख के बाद अलग नही रहा था। युगान्तर की रहस्य की भय दिखानेवाली भावना को अब व्यक्ति ने गोरख मे आकर जीत लिया था।

भारतीय इतिहास-शृंखला

शकर और गोरक्ष मे मुख्य भेद यह है कि शब्दार्थ रूप से ही वास्तव मे एक आचार्य-मात्र था और दूसरा नाथ था। इन दोनो ने समाज की धारा की उथल-पुथल मे से दो बीज निकाले थे, किन्तु भारतीय इतिहास-शृखला तो रुकनेवाली नही थी, रामानुज ने उन्हे आगे बढाया।

इस प्रकार भारतीय सस्कृति की कडी जो टूटी हुई दिखाई देती है गोरखनाथ उसे जोड देते है। गोरखनाथ मे तत्कालीन आर्य सामाजिक व्यवस्था के बाहर के समस्त प्रधान सम्प्रदायो का सारभूत होकर आर्य सामाजिक व्यवस्था के भीतर रहनेवालो के सान्निध्य का, समीप आने का प्रयत्न स्पष्ट दिखाई देता है। युगान्तर ब्राह्मणवाद को चुनौती देनेवाला स्वरूप अब ब्राह्मणवाद के निकट आ गया था। वह जिसने जाति-बन्धन के विरुद्ध आवाज उठाई थी अब वह इतना व्यक्तिवादी हो चुका था कि उसका सामाजिक प्रभाव पडना बहुत कम हो चुका था। इस प्रकार भारतीय इतिहास के आदि काल से आते ब्राह्मणवाद के

विरोध ने एक प्रकार से उसके सामने अपनी पराजय स्वीकार की, दोष उसका नही था, उत्पादन के साधनो मे परिवर्तन नही आना ही इसके लिए उत्तरदायी था। बौद्धमत के प्रारम्भिक रूप की ही भाँति गोरख का स्वर उठा, किन्तु जैसे बौद्धमत सामन्तकालीन व्यवस्था से हार गया, योगि सम्प्रदाय भी सामन्ती व्यवस्था को नही हटा सका, इसीलिए ब्राह्मणवाद को नही हटा सका। आगे चलकर यह विद्रोह दूसरा स्वरूप लेकर निम्न जातियो मे बढा पर तब तक ब्राह्मणवाद भी भक्ति के आवरण मे अपने को सशक्त करने लगा था। उपसहार के अन्त मे दिये हुए रेखाचित्र को देखने पर यह स्पष्ट हो जाएगा। पहले शिव काम भस्म करके महासमाधि मे लग गए थे, जब आँख खुली तो शक्ति के हाथ मे गिरे, अब के शिव की समाधि लगी तो इतिहास ने उसे खुलने ही नही दिया, यक्षवाद जब लौटा तो अब के योग के पखो पर नही, भक्ति के कधों पर।

पूर्व तथा परवर्त्ती

पूर्ववर्त्तियो और परवर्त्तियो के बीच मे गोरखनाथ एक ऐसे विश्राम-स्थल बनकर मिलते है कि हठात् उन्हे देखकर आगे नही बढा जा सकता। कारण स्पष्ट है, उसे यहाँ दोहराने की आवश्यकता नही। कितनी बडी विरासत की कितनी बडी विरासत गोरखनाथ ने छोडी थी, अब यही हमारा आलोच्य विषय है। सबसे बडी ध्यान देने की बात है कि उत्तर मे गोरक्ष और दक्षिण मे शकर दोनो ही शिव के दो स्वरूप थे। एक परिमार्जित आर्य सामाजिक व्यवस्था के बाहर, एक सुगठित आर्य सामाजिक व्यवस्था के भीतर। दोनो ने समाज को स्थिरता का रूप दिया था, जिसमे गति नही प्रतीत होती।

गति इस्लाम का परिणाम थी। वह रामानुज के समय मे थी, वह आगे बढ़ा ले गई। शकर विवर्त मे पड गए, गोरक्ष चक्र मे। रामानुज समाज को लेकर उठे और धारा को बहा ले गए। उन्होने ईश्वर को मनुष्य के पास खीच लिया। गोरक्ष के समानान्तर शकर के बाद आनेवाले रामानुज का ही प्रभाव गोरक्ष के भी परवर्त्तियो पर समान भाव से पडा था। इसलिए उन्हे यहाँ उल्लिखित करना आवश्यक हो गया। शकर का व्यक्तिवाद रामानुज ने तोड दिया। गोरक्षनाथ के बाद योग प्रभाव मे ऐसा कोई व्यक्ति नही हुआ। कबीर का चरित्र एक अद्भुत समन्वय था अवश्य, किन्तु उसे केवल योगमार्गी नही कहा जा सकता।

आत्मकामता ही सबमें प्रियता का कारण है। आत्मा जिस-जिस वस्तु में आनन्द का आस्वादन करती है, वही-वही वस्तु प्रिय बन जाता है। सर्वत्र आत्मा की ही स्वरूपानन्दमयी सत्ता व्याप्त है। 'आनन्दं ब्रह्म। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कदाचनेति' (तै० उप० ४/अनु.)। 'आत्मानन्दमय:' (तैत्तिरीयो० अनु० ५)। 'आनन्द आत्मा (तैत्ति० उप०। अनुवाक-५)। 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति (तैत्तिरीयोपनिषद्, नवम अनुवाक)।

प्रजापति के १०० आनन्द ब्रह्म के १ आनन्द तथा ब्रह्मा के अनन्त आनन्द परमात्मा के १ आनन्द के समतुल्य होता है।

मानुषानन्द, गन्धर्वानन्द, देवगन्धर्वानन्द, पितरानन्द, आजानदेवानन्द, आजानजानन्द, कर्मदेवानन्द, इन्द्रानन्द, बृहस्पति का आनन्द, प्रजापत्यानन्द एवं ब्रह्मानन्द आदि सबसे बड़ा आनन्द आत्मा एवं परमात्मा का आनन्द होता है।

सोऽहं मन्त्र और उसकी साधना

अथैवमुपपादितमात्मस्वरूपस्फुरत्तापरामर्शं प्रत्यतिस्पष्टानाणवादीनुपायानुपदेक्ष्यन् प्रथमं त्रीनप्येकयैव गाथयोद्घाटयति—

जइ णिअहिअउल्लासं णिण्णेउं णिच्चणिक्कलं इच्छा।
मज्झतुडी खुडिअव्वा अत्थं एत्ताण सोमसुज्जाणं॥५६॥

(यदि निजहृदयोल्लासं निर्णेतुं नित्यनिष्कलमिच्छा।
मध्यतुटिस्त्रुटितव्याऽस्त्रं यतो: सोमसूर्ययो:॥)

यदि अपने हृदय में (विकल्प-कल्पना के कलंक से शून्य) नित्य एवं माया-शून्य निर्मल उल्लास को निर्णीत करने की इच्छा हो तो सोम-सूर्य (हं एवं स:) के मध्य की तुटि विसर्जनीय है॥५६॥

निजं यत् साक्षात्कारोल्लेखयोग्यं हृदयं व्याख्यातस्वभावं तस्योल्लासश्चेत्यचेतयितृत्वादिवैचित्र्येण स्फुरणम्, स प्रकृत्या कालविभागव्युदासेन निष्कलो हेयोपादेयताद्यशेषविकल्पकल्पनाकलङ्कशून्यो भवति। तमेवंविधमत्यन्तस्पष्टतया प्रत्यक्षीकारचमत्काराकारनिश्चयास्पदं कर्तुं यदीच्छा युष्माकमुपसन्नानाम्—

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।

इति श्रीभगवद्गीतास्थित्या काचिद् वाञ्छा विजृम्भते चेत्, तर्ह्ययमत्रोपाय इति वक्ष्यमाणसर्वार्थसाधारणोऽयमन्वयप्रकारः। तत्र यावेतौ सोमसूर्यौ वेद्यवर्गानुप्राणनत्वादकुलमार्ताण्डाविभिन्नवेदितृस्वभावत्वाच्च सकारहकारात्मानौ वर्णविशेषौ, तयोरस्त्रं विसर्जनीयम्, आस्थां स्वहृदयसम्पुटीकारलक्षणमनुस्वारं

च तयोरश्नुवानयोर्या मध्यस्था त्रुटिः विभज्यावस्थानक्षणलक्षणः कालखण्डः। स उत्त्रुटितव्यः। माणिक्यमालिन्यादिवदुद्धर्तव्यः। तदानीं हंस इति विमर्श उत्पद्येतेति यावत्। अयं भावः—यद्यपि मातृकापाठादौ हमिति स इति चान्यवर्णसाधारण्येनानयोर्ग्रहणमस्ति, तथापि तद् द्वयं स्वहृदयवर्त्यनुत्तराविनाभूतमहं स इति स्वात्मप्रत्यभिज्ञानोपायत्वेन हं स इति संश्लेषवशान्महामन्त्रात्मना विम्रष्टव्यमिति वैपरीत्येनोद्धारो मन्त्रस्य—

> बहिर्व्यवहरन् लोक्यान् स्थगयन्नूहगोचरान्।
> चरन् कपटमार्गेण वामं नयमिवोन्नयेत्।।

इति श्रीलघुबृंहणीमर्यादया गोपनीयताद्योतनार्थं सोऽहमिति मन्त्रान्तरप्रत्यायनार्थं च। अयं च मन्त्रात्मकवर्णविशेषपरामर्शरूपत्वादाणवः कश्चिदुपायः। यदुक्तं श्रीमालिनीविजये—

> उच्चारकरणध्यानवर्णस्थानप्रकल्पनैः ।
> यो भवेत् स समावेशः सम्यगाणव उच्यते।। इति।

एवमुच्चारादावप्यूह्यम्। तत्र प्राणव्यापाररूप उच्चारो यथा—

> कुम्भिता रेचिता वापि पूरिता वा यदा भवेत्।
> तदन्ते शान्तनामासौ शान्त्या शान्तः प्रकाशते।। इति।

कायसंस्थापनात्मकं करणं यथा—

> अम्ब! केचिदमृताम्बुचिन्मयीलम्बिकाङ्कुरशिखावलम्बिनीम्।
> तालुमूलवलयीकृताग्रया जिह्वया कवलयन्ति ते कलाम्।। इति।

चित्तोल्लेखस्वभावं ध्यानं यथा—

> अनुकूलममृतार्द्रादालवालान्तराला-
> ल्ललितमुदयमाना पल्लवापाटलश्रीः।
> अशिथिलमवलम्ब्य स्थाणुमुद्धासभाना
> फलति कमपि भावं कोमला कापि वल्ली।। इति।

मूलाधाराद्यनुसन्धानाकारं स्थानकल्पनं यथा—

> योनौ कनकपुञ्जाभं हृदि विद्युच्छटोज्ज्वलम्।
> आज्ञायां चन्द्रसङ्काशं महस्तव महेश्वरि!।। इति।

एषु च किञ्चिदन्योन्यसाङ्कर्येऽपि तत्तत्प्राधान्यमालोचनीयमित्यलं प्रपञ्चेन। किञ्च, सोम एषणीयज्ञेयकार्यस्वभावः प्रमेयोल्लासः। सूर्य इच्छाज्ञानक्रियात्मकं प्रमाणस्फुरणम्। अनयोरर्थं स्वां स्वामर्थक्रियां यतोः प्राप्नुवतोः सतोरिति भाव-

लक्षणे सप्तमी। तथा भवतोश्चानयोर्मम स्वात्मनः प्रमातृभूतस्य त्रुटिः सन्देहलक्षणो दोष उत्त्रुटितव्यः स्वात्मानं प्रत्युन्मिषन् संशयः सञ्छेद्य इत्यर्थः। एतदुक्तं भवति— एषणीयताद्यनुप्राणनस्थूलोऽयं प्रपञ्चोल्लास इच्छादिशक्तित्रयप्रवृत्तिं विना न क्वचिदपि सम्पद्यत इत्येषितृत्वादिरूपस्यात्मनः स्पष्टापरोक्षीकारविपर्ययात्मानं संशयशङ्कातङ्कं तिरस्करोति। तत उक्तरूपस्वहृदयपरामर्शलाभ इति। शाक्तश्चाय-मुपायः, उच्चारादिव्यतिरेकेण स्वसंविद्विकल्पमात्राकारत्वात्। यदुक्तं तत्रैव—

उच्चाररहितं वस्तु चेतसैव विचिन्तयन्।
यं समावेशमाप्नोति शाक्तः सोऽत्राभिधीयते ।। इति।

अथ च सोमोऽपानः, सूर्यः प्राण इति प्रसिद्धं तयोर्द्वादशान्ताद् हृदयान्तं हृदयाद् द्वादशान्तान्तं च। अस्तमिति भावे निष्ठा। असनं क्षेपलक्षणां स्फुरत्तां यतोः स्वत एव प्राप्नुवतोर्या मध्यस्था बाह्यान्तर्भावोपलक्ष्यमाणा तुटिः, तादृक् परामर्शक्रियात्मा चमत्कारलक्षणः स उत्त्रुटितव्यो हृदयङ्गमङ्गीभावपर्यन्तमात्मना निर्णेतव्य इति यावत्। अयमाशयः—अशेषशरीरसाधारण्येन नित्योदितस्वभावयोः स्वात्मपरिस्पन्दपरमार्थयोः प्राणापानयोर्युगपदुभयविसर्गारणिरूपतापरामर्शः स्वतः सिद्धोऽपि स्वहृदयाह्लादचमत्कारस्थैर्योत्पादनार्थमात्मनाऽनुसन्धेयः, यस्याऽनु-सन्धानेऽप्येवंरूपताया न काचित् क्षतिरिति। अयं पुनरुपायः सर्वविकल्पविक्षो-भव्युदासेन स्वस्वभावमात्रोपपादनप्रवृत्ततया शाम्भव इत्यवगन्तव्यः। यच्चोक्तम्—

अकिञ्चिच्चिन्तकस्यैव गुरुणा प्रतिबोधितः।
उत्पद्यते य आवेशः शाम्भवोऽसावुदाहृतः ।। इति।

अथ पुनः—

एवमेवं दुर्निशायां कृष्णपक्षागमे चिरम्।
तैमिरं भावयेद् रूपं भैरवं रूपमेष्यति ।।

इति श्रीविज्ञानभट्टारकन्यायादस्तमद्रिविशेषं विनाशं वा युगपदश्नुवान-योश्चन्द्रार्कयोर्मध्यवर्ती काललेशविशेषो बुद्ध्या निष्क्रष्टव्य इति तु व्याख्यान-मत्यन्तस्पष्टमित्याग्रहेण नोन्मीलितम्। अत्र चास्त्रमास्थामर्थमस्तमिति मध्यं ममेति तुटिस्त्रुटिरिति च प्राकृतभाषाप्राबल्यात् तन्त्रेणोक्तम्। उक्तरूपस्य चास्योपायत्रयस्य सूक्ष्मेक्षिकया सङ्करः परस्परमपरिहार्यतया वर्तते। केवलं प्राधान्यमात्रेण पृथग्व्यप-देश इत्युपदेष्टुम्—

संवित्तिफलभेदोऽत्र न प्रकल्प्यो मनीषिभिः।

इति नीत्या सर्वोपायानां फलं प्रति न किञ्चिद् वैषम्यमित्युपपादयितुं चैकहेल-योक्तिः। यद्युपश्लेषेणोक्तिस्तु विनेयजनावर्जनतात्पर्येण। तत्र च—

अभेदोपायमत्रोक्तं शाम्भवं शाक्तमुच्यते।
भेदाभेदात्मकोपायं भेदोपायं तदाणवम्।।
प्राणादिभूमिकैराद्याः सिध्यन्त्युच्चारणादिभिः।
विकल्पैर्मध्यमाः शुद्धैरन्याः प्रशमितैस्तु तैः।।

इति श्रीतन्त्रालोकोपायद्विशत्यादिनीत्या प्राणस्पन्दोच्चारणाद्यशुद्धविकल्प आणवः। चित्तमात्रनिर्वर्त्यशुद्धविकल्पात्मा शाक्तः। विकल्पसर्वविलयस्वभावः शाम्भव इति त्रिविधेऽप्युपायतत्त्वे स्थूलसूक्ष्मादितारतम्ययोगेन शक्त्युल्लेखस्य सर्वत्राप्यनुस्यूतिः। शाक्ते तु तस्या औल्बण्यमात्रादुत्कर्ष इत्यनुसन्धेयम्। यदुक्तम्—

सा शक्तिराणवैः शाक्तैः शाम्भवैश्च त्रिधोदितैः।
उपायैः शिवमाभास्य स्वसृष्टैर्मोचयत्यमून्।। इति।

'परमात्मा शिवो हंसः' कहकर क्षेमराज ने 'हंस' को शिवस्वरूप में साक्षात्कृत किया है।

सोऽहं-साधना—श्वास-प्रश्वास-क्रिया में 'स' के साथ श्वास भीतर आती है और 'ह' के साथ श्वास बाहर जाती है—

हंकारेण बहिर्याति सःकारेण विशेत् पुनः।

हृदय में इस 'ह' एवं 'स' के मध्य की तुटि (विभज्यावस्थानात्मक कालखण्ड) को विसर्जित (परित्यक्त। समाप्त) करने पर सोऽहं की अवस्था का उदय होता है और इस आत्मस्वरूप के प्रस्फुरणरूप सोऽहं के उदय (प्रस्फुरण/उल्लास) की स्थिति में सः और अहं तो एकीकृत हो ही जाते हैं; किन्तु साथ ही इस अजपाजपात्मक सिद्धावस्था में सकार एवं हकार से परे शून्य, सच्चिदानन्द, अलक्ष्य, निरञ्जन परमात्मा में (मन का उन्मनीकरण करके) प्रतिष्ठित होना चाहिये। किन्तु यह आत्म-प्रतिष्ठा सोऽहं के रूप में होनी चाहिये। सारांश यह कि साधक को सोऽहं स्वरूप में अवस्थित होना चाहिये।

हकार एवं सकार से हंसः स्वरूप (हंसः—इस मन्त्र के स्वरूप) का विमर्शोन्मेष होता है। हंसः एवं सोऽहं—दोनों मन्त्र हैं। हकार एवं सकार ही (हंसः—इत्याकारक) मन्त्र है; किन्तु जब साधना के द्वारा इसका स्वरूप उलट जाता है तब इसका स्वरूप सोऽहं बन जाता है। यही महामन्त्र अजपा गायत्री भी कहा जाता है।

अजपा गायत्री (हंसः) के द्वारा कालखण्ड का त्याग करके अलखनिरञ्जन के स्वरूप में स्थित परमात्मा का चिन्तन करना चाहिये।

'सोमसूर्ययोः' में सोम (चन्द्रमा) अपान वायु है और सूर्य (आदित्यात्मक) प्राण वायु है। अपान शीतल है; अतः 'सोम' एवं प्राण ऊष्ण है; अतः 'सूर्य' कहा गया है।

इन दोनों (सोम एवं सूर्य) में ऐक्य स्थापित करते हुये एवं (मनोन्मनी द्वारा) मन का उच्छेद करते हुये स्वस्वरूप का अनुसन्धान करना चाहिये। 'हंस' यह शब्द सोम-सूर्य का वाचक है। इसमें 'अहं स:' एवं 'सोऽहं' के रूप में दो उपासनायें होती हैं। सोऽहं के मध्य तुटि महत्त्वपूर्ण है। इसे हटा देने पर 'हं' एवं 'स' के स्वतन्त्र साक्षात्कार होते हैं। इसकी स्फूर्ति में स्वयं परमशिव ही उल्लसित हैं। परप्रमाता 'हं' विश्वस्फाररूपी 'स' में उल्लसित होता है। सरूपी विश्व-विस्फार अहं में विलीन हो जाता है।

'तुटि' विभज्यावस्था का नाम है। आकांक्षित (एषणीय) ज्ञेय कार्य का स्वभाव ही प्रमेयोल्लास 'सोम' है। इसकी अन्तर्वर्ती त्रुटि (सन्देहात्मक दोष) ही विसर्जनीय (त्याज्य या सञ्छेद्य) है।

यदि अपने हृदय की विकल्पात्मक कल्पनाओं के दोष (कालुष्य) से रहित, नित्य एवं कलाशून्य (मायारहित निष्कल) एवं निर्मल उल्लास की आकांक्षा हो तो हं एवं स: (सोम-सूर्य) के मध्य की त्रुटि का त्याग करना आवश्यक है। सोऽहं की अनुभूति की उच्चावस्था में आत्मा के प्रस्फुरण में नित्य अलखनिरञ्जन (परम तत्त्व) का बोध होता है।

उल्लास = चेत्यचेतयितृत्वादिवैचित्र्य स्फुरण। कालभागव्युदास के द्वारा उत्त्रुटितव्य = उर्द्धव्य। तुटि—मध्यस्था विभज्यावस्थानलक्षणात्मक कालखण्ड। सोमसूर्यौ—सकार + हकार नामक वर्णद्वय। इस साधना का उद्देश्य है—स्वात्मप्रत्यभिज्ञा। इसका उपाय है—'हं स:' नामक मन्त्र का अहर्निश अनुसन्धानात्मक जप एवं फिर हंस: मन्त्र को उलटकर सोऽहं मन्त्र के रूप में उसकी अनुभूति। यही विम्रष्टव्य है।

गाथा की व्याख्या—यदि निजहृदयोल्लासं निर्णेतुं नित्यनिष्कलमिच्छा। निज = साक्षात्कारोल्लेखयोग्य। उल्लास = वैचित्र्यपूर्ण स्फुरण।

यदि अपने विकल्प-कल्पनारहित, मायाविरहित एवं निर्मल हृदय के निर्मल उल्लास की इच्छा हो तो ह-स के स्वरूप वाले सोम-सूर्य के मध्य स्थित तुटि संछेद्य है।

सोम-सूर्य = हकार-सकार वर्ण। तुटि = विभज्यावस्था। हंस मन्त्र से ही सोऽहं मन्त्र का निर्माण होता है। सोम अपान है और सूर्य प्राण है।

प्राण एवं अपान का ऐक्य होने पर मनोलय हो जाएगा और तभी आत्मस्वरूप का अनुसन्धान करना चाहिये। सोऽहं मन्त्र के द्वारा काल का खण्डन करने पर ही परमात्मा का चिन्तन करना चाहिये। हकार-सकार के द्वारा ही हंसस्वरूप विमर्श का उदय होता है।

१. हकार से श्वास बाहर आता है।
२. सकार से श्वास भीतर प्रवेश करता है।
३. हृदय में इस हकार एवं सकार के मध्य की तुटि को यदि विसर्जित कर दिया

जाय तो सोऽहं मन्त्र बनेगा। इस स्थिति में आत्मस्वरूप के प्रस्फुरण में अलखनिरञ्जन (परम तत्त्व) का बोध होता है।

यह जो उल्लास (स्फुरण) है, वह काल के विभाग के व्युदास के कारण निष्कल है। यह हेयोपादेय आदि नि:शेष विकल्प कल्पनाओं के कलंक से शून्य है। यदि इसके सुस्पष्ट प्रत्यक्षीकार-चमत्कार की आकांक्षा हो तो इसका यही उपर्युक्त उपाय है।

एतदर्थ सोम-सूर्य (सकार + हकार) के मध्य अस्त्र का विसर्जन अत्यावश्यक है। इनके मध्य स्थित तुटि (विभज्यावस्थानक्षणलक्षण कालखण्ड) त्रुटितव्य है (हटाने योग्य है), तभी हंस का विमर्श उदित हो सकेगा। हंस स्वात्मप्रत्यभिज्ञानोपाय है।

प्राणी की जो स्वाभाविक श्वास चलती है, उसे पकड़कर जो जप-साधना की जाती है, वही है—अजपा जप।

अजपा जप के प्रकार—विभिन्न युगों में विभिन्न सम्प्रदायों ने इसके भिन्न-भिन्न रूप स्थिर किये हैं।

विशेषतायें—अजपा जप से सरल साधना कोई है ही नहीं। इसे किसी कृत्रिम उपकरण, कृत्रिम प्रक्रिया एवं किसी विशिष्ट अनुशासन की अपेक्षा नहीं है। श्वासोच्छ्वास जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति—तीनों कालों में चलता रहता है। इसी प्रकार अजपा-साधना भी तीनों अवस्थाओं—जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति में चलती रहती है। इस साधना का अभ्यासारम्भ हो जाने पर यह क्रिया किसी भी चेष्टा एवं मनोयोग के बिना भी चलती रहती है।

यह अत्यन्त सरल होने पर भी अत्यन्त गुप्त है और इसके रहस्य एवं यथार्थ स्वरूप को समझना अत्यन्त कठिन है। इस साधना का फल भी अन्य आयास-साध्य क्रियाओं के फल से पृथक् है। यह स्वभाव की साधना है; अत: कृत्रिम नहीं है। प्रकृति में व्यष्टि एवं समष्टि—दोनों स्तरों पर इसका समान प्रभुत्व एवं प्रभाव परिलक्षित होता है। यदि अजपा-विज्ञान के रहस्यों का पूर्ण बोध हो जाय तो तत्त्वज्ञानोन्मेष अवश्य होगा। यह स्वभाव से सञ्चालित है। यह स्वाभाविक फल प्रदान करती है और यह साधक को स्वाभाविक रूप में स्वस्वरूप में या स्वभाव में प्रतिष्ठित करती है।

तथागत (बुद्ध) अपने अन्तरङ्ग साधकों को इसी साधना का अभ्यास कराया करते थे। उन्होंने इसका नाम 'अनापानासति' रक्खा था। गोरक्षनाथ आदि योगियों ने, निर्गुण परम्परा के सन्तों (कबीर, रैदास, सुन्दरदास आदि) ने एवं गुरुनानक चैतन्य, महाप्रभु आदि सिद्ध महात्माओं ने भी इस साधना का प्रसार किया था। वर्तमान काल के विजय-कृष्ण गोस्वामी, महात्मा रामठाकुर, लोकनाथ आदि के अतिरिक्त अतिप्राचीन काल में भी सदाशिव, ब्रह्मा, नारद, वशिष्ठ, प्रह्लाद एवं ध्रुव आदि ने भी इस साधना का अभ्यास किया था।

गुरुनानकदेव ने राजा शिवनाथ को प्रथमत: राम नाम, फिर प्रणव एवं फिर हंसरूप अजपाजप का (तीन चरणों में) उपदेश दिया था।

वैदिक, पौराणिक एवं तान्त्रिक अर्थात् सारे प्राचीन साधना साहित्य में इसका अभ्यास अजपा गायत्री, हंसविद्या, आत्ममन्त्र एवं प्राणयज्ञ के नाम से प्रचलित था।

गीता के चतुर्थ अध्याय में उपदिष्ट 'प्राणान् प्राणेषु जुह्वति' की साधना प्राणयज्ञ ही है। इसे श्रीधर स्वामी ने (अपनी गीता-टीका में) अजपा-साधना कहा है।

श्वास के दो रूप—

१. (प्रथम श्वास) जन्म (बच्चे का प्रथम श्वास)।

२. (अन्तिम श्वास) मृत्यु (श्वास का अन्तिम भाग)।

जन्म से मृत्युपर्यन्त का मध्य काल जीवन कहलाता है। मानव का समस्त जीवन श्वास-प्रश्वास से सम्पुटित है।

मनुष्य की आत्मविस्मरणावस्था एवं श्वास-प्रश्वास—मनुष्य अपनी आत्म-विस्मरण की अवस्था में ही प्राण एवं अपान की हथकड़ियों से बँधकर इड़ा एवं पिंगला नाड़ियों में प्रवाहित होता रहता है।

आत्मविस्मरण के कारण ही मनुष्य श्वासप्रश्वासाधीन रहकर काल की प्रेरणा से इड़ा एवं पिङ्गला नामक वाम-दक्षिण नासापुट में प्रवाहित श्वास-प्रश्वास के रूप में सञ्चरण करता रहता है।

यदि अविद्यावरणस्वरूप विक्षेप एवं विकल्प न रहें तो विक्षेपात्मक श्वास-प्रश्वास की सत्ता भी अस्तित्व में नहीं रह सकती।

अजपा जप का स्वरूप—एक अहोरात्र में प्रत्येक मनुष्य २१६०० श्वासें लेता एवं छोड़ता है। श्वास-प्रश्वास की अहोरात्रिक संख्या २१६०० है।

प्रक्रिया—मनुष्य 'हम्' ध्वनि के साथ श्वास बाहर फेंकता है (जिसे प्रश्वास कहते हैं) तथा 'स:' ध्वनि के साथ श्वास लेता है, जिसे नि:श्वास कहते हैं।

हंकारेण बहिर्याति स:कारेण विशेत्पुन:।

'हंस:' के हकार-सकार का क्रम—अजपा जप या हंसविद्या में हकार-सकार का प्रश्वास एवं नि:श्वास के साथ कैसा सम्बन्ध है—इस दिशा में मतभेद है।

हंस मन्त्र के क्रम-विधान में मतभेद

साधारण मत—
हंकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत् पुनः

गोरक्षनाथ एवं रामप्रसाद का मत—
हं वर्ण पूरके हय स: वर्ण रेचके वय।
अहर्निश करे जप हंस हंस बलिया।

हंसः मन्त्र एवं सोऽहं मन्त्र—योगिराज गोरक्षनाथ ने योगबीज में कहा है कि श्वास ग्रहण करते समय हम् ध्वनि होती है और श्वास का रेचन करने के समय स: ध्वनि होती है और जीव इसी प्रकार सदैव 'हंस: हंस:' मन्त्र जपता रहता है और यही बाद में 'सोऽहं' मन्त्र में परिणत हो जाता है—

गुरुवाक्यात् सुषुम्नायां विपरीतोऽभवज्जप:।
सोऽहं सोऽहं इति प्राप्तो मन्त्रयोग: स उच्यते।।

यह दृष्टि भी रामप्रसाद की दृष्टि का समर्थन करती है।

हंसः मन्त्र की सोऽहं में परिणति—गुरु के बताये हुये मार्ग के द्वारा जप करने पर (सुषुम्णा में जपा जाने वाला) 'हंस: हंस:' के रूप में अनवरत जपा जाने वाला हंस मन्त्र विपरीतक्रम में 'सोऽहं सोऽहं' के रूप में जपा जाने लगता है। हंस मन्त्र का सोऽहं मन्त्र में परिणमन ही मन्त्रयोग है। अत: मन्त्रयोग भी अजपा जप है। यह सिद्धिरूप अजपा जप है; जबकि हंस मन्त्र साधनरूप अजपा जप है।

जीव का स्वाभाविक मन्त्र एवं स्वाभाविक जप—जीव निरन्तर श्वास-प्रश्वास के रूप में हंस मन्त्र या अजपा गायत्री का निरन्तर जप करता रहता है। यही उसका स्वाभाविक मन्त्र एवं स्वाभाविक जप है। यह मन्त्र एवं जप मानव का ही नहीं; प्रत्येक प्राणी का स्वाभाविक मन्त्र एवं स्वाभाविक जप है। मानव की विशेषता यह है कि मानव अपने पुरुषार्थ से इसे विपरीत क्रम में (हंस: को सोऽहं में) रूपान्तरित कर लेता है; किन्तु अन्य प्राणी ऐसा नहीं कर पाते। मनुष्य श्वास-प्रश्वास की इस गति में परिवर्तन कर पाने में समर्थ है—यही उसका वैशिष्ट्य है।

जब श्वास-प्रश्वास की इस स्वाभाविक गति में वैपरीत्य आ जाता है अर्थात् इड़ा-पिङ्गला के माध्यम से जपा जाने वाला हंस: मन्त्र जब सुषुम्णा में पहुँचकर सोऽहं के रूप में जपा जाने लगता है तब इड़ा-पिङ्गला में सञ्चरित वायु की वक्र गति सुषुम्णा में सञ्चरित होने पर (वक्रता छोड़कर) सरल गति धारण कर लेती है।

वायु इड़ा-पिङ्गला के मार्ग का जितना ही अधिक त्याग करके सुषुम्णा-मार्ग में प्रविष्ट होती है, उतना ही विकल्पों का जाल नष्ट होता जाता है; क्योंकि सुषुम्णा-मार्ग ब्रह्ममार्ग तथा सूर्य-चन्द्र एवं अग्नि (तेजस्त्रय) का मार्ग है।

वायु का सुषुम्णा में प्रवेश और उसके प्रभाव—

१. वायु की वक्रगति का नाश एवं सरल गति का प्रादुर्भाव।
२. विकल्पों का शमन।
३. इड़ा-पिङ्गलामार्ग में सञ्चरण से मुक्ति।
४. निर्विकल्प आत्मज्ञान के मार्ग का अनावरण।
५. वायु एवं मन की गतियों का ऊर्ध्वीकरण।

६. विकारों का त्याग एवं चित्त की साम्यभाव में प्रतिष्ठा।

७. वायु की गतिहीन अवस्था का उन्मेष।

८. (प्राण का अपान को एवं अपान का प्राण को खींचने का) पारस्परिक विपरीत व्यापार का अवसान।

प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः। (गीता)
अपाने जुह्वति प्राणं प्राणापाने तथाऽपरे। (गीता)

९. प्राणापान का अविरुद्ध साम्यभाव ग्रहण करना।

श्वास-प्रश्वास आत्मविस्मृति के कारण ही सञ्चरित होता है। यह काल-प्रेरित है और इड़ा-पिङ्गला में प्रवाहित होता है। अविद्या के अभाव में श्वास-प्रश्वासरूप काल की क्रीड़ा का भी अभाव हो जाता है। श्वास-प्रश्वास का प्रवाह काल की ही क्रीड़ा है।

योगशास्त्र में वर्णित चित्त-विक्षेप एवं श्वास-प्रश्वास—

१. व्याधि।

२. स्त्यान (अकर्मण्यता)।

३. संशय।

४. प्रमाद (प्रमादसाधन का अभाव)।

५. देह-चित्त का आलस्य।

६. विषय तृष्णा (अविरति)।

७. भ्रान्ति ज्ञान (मिथ्या ज्ञान)।

८. अलब्ध भूमिकत्व (समाधिप्राप्ति न होना)।

९. अनवस्थितत्व (चित्त की किसी भी भूमि में स्थिरता न होना)।

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः।[1]

चित्त-विक्षेपों के साथ होने वाले अन्य विक्षेप—

१. दुःखत्रय

२. दौर्मनस्य (मन का क्षोभ)

३. अङ्गमेजयत्व (शरीरांगकत्व)

४. श्वास

५. प्रश्वास

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः।[2]

श्वास—बिना इच्छा के बाहर की वायु का भीतर प्रवेश करना और इसके द्वारा बाह्य कुम्भक में विघ्न होना।

प्रश्वास—बिना इच्छा के भीतरी वायु का बाहर निकलना एवं आन्तर कुम्भक में विघ्न होना।

---

१. योगसूत्र (१.३०) २. योगसूत्र (१.३१)

योग-साधना के मध्य जो विघ्न माने जाते हैं, वे ये ही नौ विघ्न हैं। नौ प्रकार के चित्तविक्षेपात्मक विघ्नों (अन्तरायों) के साथ पाँच विघ्न और उत्पन्न हो जाते हैं। ये विक्षेपसहभुवः कहलाते हैं, जो निम्नाङ्कित है—

१. दुःख ३. अंगमेजयत्व ५. प्रश्वास
२. दौर्मनस्य ४. श्वास

सारांश यह कि श्वास-प्रश्वास योग-साधना के विघ्न हैं। इनको दूर करने के लिये ही एकतत्त्वाभ्यास, प्रणवजप, स्वरूप-चिन्तन आदि उपाय बताये गये हैं।

(क) श्वास-प्रश्वास का कारण चित्त-विक्षेप है।

(ख) चित्त-विक्षेप का कारण प्रत्यक् चैतन्य की अप्राप्ति (आत्मसाक्षात्कार का अभाव) है।

(ग) प्रत्यगात्म-प्राप्ति के उपाय से ही श्वास-प्रश्वासरूप काल-क्रीड़ा का अवसान भी हो जाता है।

(घ) उपर्युक्त आत्म-प्राप्ति का श्रेष्ठतम उपाय है—तज्जपस्तदर्थभावनम् = प्रणव जप।

प्रणव-वाच्य ईश्वर के स्वरूप का अनुसन्धान।

प्रणव-जप एवं अजपा-जप दोनों स्वाभाविक जप हैं और परस्पर सम्बद्ध हैं।

एक अहोरात्र में मनुष्य की स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास की संख्या २१६०० है। किसी विशिष्टावस्था में ही इसकी संख्या में स्वल्पताधिक्य सम्भव हो पाता है।

अजपाजपसम्बन्धी सिद्धान्त—

१. श्वास-प्रश्वास के द्वारा ही इस अजपा गायत्री या हंस मन्त्र का जप साधित होता है।

२. इड़ा-पिङ्गला में प्रवाहित वायु-गति वायु की वक्र गति है।

३. सुषुम्णा ब्रह्ममार्ग है। वायु (इड़ा-पिङ्गला से हटकर) सुषुम्णा में प्रविष्ट होने पर विकल्पों, अज्ञानों एवं अस्थिरताओं को नष्ट करती है।

४. सुषुम्णा में वायु को प्रविष्ट कराये बिना वायु एवं मन कभी ऊर्ध्वगामी नहीं हो पाते और तब तक न तो चित्त के विकार हट पाते हैं और न तो चित्त साम्यावस्था में ही पहुँच पाता है।

५. 'कुंभक' श्वास गति का ऊर्ध्वीकरण ही है। कुंभक गतिहीन नहीं होता। इससे वक्रगति का प्रतिषेध होता है और सरल गति प्राप्त होती है। आगे यही सरल गति गतिहीन अवस्था प्राप्त कराती है।

६. स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास का व्यापार या प्राणापान का व्यापार ही हंसमन्त्र का उच्चारण (जप) है।

७. गोरक्षनाथ ने प्राणापान को रस्सी एवं जीवात्मा को श्येन पक्षी कहा है। जीवात्मा

इन्हीं रस्सियों से बार-बार आकाश में उड़ने के लिये छोड़ा जाता है तथा बार-बार नीचे खींचा जाता है।

योग साम्यावस्था में प्रतिष्ठित करने का विज्ञान है। वैषम्य का मूल बीज प्राणापान की पारस्परिक विरुद्ध गतियों में निहित है और इस प्रकार वैषम्य का बीज प्रकृति में ही अवस्थित है।

(क) प्राणवायु अपान वायु को एवं अपान वायु प्राणवायु को अपनी ओर खींचते रहते हैं। दोनों की विरुद्ध गति है। प्राण की गति ऊर्ध्वगामी है तो अपान की अधोगामी। प्राण जिस दिशा में सञ्चरित होता है, अपान उसकी विपरीत दिशा में सञ्चरित होता है।

(ख) प्राण एवं अपान निरपेक्ष भी नहीं हैं; क्योंकि अपान को प्राण की एवं प्राण को अपान की अपेक्षा रहती है। दोनों एक-दूसरे के बिना कार्य नहीं कर सकते।

(ग) ये दोनों (प्राण एवं अपान) किसी अज्ञात अतीत में साम्यावस्था से च्युत हो गये और तब से आज तक पुनः साम्यावस्थारूढ़ नहीं हो पाये; किन्तु वे अपनी यथार्थ-भूत साम्यावस्था में पुनः प्रतिष्ठित होना चाहते हैं; क्योंकि साम्यावस्था में प्रतिष्ठित हुये बिना शान्ति सम्भव ही नहीं है और 'अशान्तस्य कुतः सुखम्।'

(घ) प्रत्येक प्राणी इन आकर्षणों के मध्य में स्थित रहकर दायें एवं बाँयें मार्ग में सञ्चार करता है और कभी मध्यमार्ग में सञ्चार नहीं कर पाता। योगी का लक्ष्य है— इन दोनों (प्राणापानों की विरुद्ध गतियों) में साम्यस्थापन।

(ङ) श्वास-सञ्चार की गति के दो रूप हैं—देशगत गति-वैषम्य एवं कालगत गति-वैषम्य।

देशगत गतिवैषम्य—नासारन्ध्रों से बहिर्गत श्वास सामान्य अवस्था में मात्र १२ अङ्गुल जाती है; किन्तु असामान्य अवस्था में स्वल्पाधिक होना सम्भव है। असामान्यावस्था में श्वास की बहिर्गति—

१. भोजन करने एवं बोलने के समय ६ से १२ अंगुल बढ़ जाती है।
२. चलने के समय १२ से २६ अंगुल तक बढ़ जाती है।
३. तेजी से दौड़ने के समय ३० से ४२ अंगुल तक बढ़ जाती है।
४. नारी-संसर्ग के समय ५३ से ६३ अंगुल तक बढ़ जाती है।

सामान्यावस्था में श्वास की बहिर्गति मात्र १२ अङ्गुल रहती है।

सिद्धान्त—श्वास की गति का आयाम या विस्तार जितना ही बढ़ता जाता है, काल का एवं बहिर्मुखता का उतना ही प्रभाव बढ़ता जाता है।

यदि जीवन को संयमपूर्वक चलायें तो श्वास की गति में ह्रास होता जाता है और यह शुभ है।

कालगत विषम गति—सामान्य स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति के एक मिनट में १५

श्वास-प्रश्वास होते हैं। आकस्मिक कारणों से इस संख्या में स्वल्पता एवं आधिक्य दोनों सम्भव है।

सिद्धान्त—श्वास की बाह्योन्मुखता की स्थिति में उसकी संख्या (श्वासों की काल-गत संख्या) में भी परिवर्तन होता रहता है और यही अन्तर्मुखता की स्थिति में भी होता है अर्थात् श्वास की दैशिक एवं कालिक गतियाँ परस्पर अन्त:सम्बद्ध हैं और प्रत्येक गति एक-दूसरे को प्रभावित करती है।

श्वास-गति

(क) १२ अंगुल बहिर्गति	श्वासों की दैशिक बहिर्गति
(ख) १ मिनट में १५ श्वास-प्रश्वास	श्वासों की कालिक गति
(ग) श्वासों की बाह्य गति १२ रहने पर	कालिक गति १५ ही रहेगी
(घ) प्राणायामादिक के द्वारा बाह्य गति घट जाने पर	श्वासों की कालिक गति भी घट जायेगी
(श्वास का देश एवं काल के साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध है।)	
(ङ) बाह्य गति के एक अंगुल घट जाने (कम हो जाने पर) श्वास की बाह्य गति में २ अंगुल कमी आने पर	श्वास की कालिक संख्या सवा कम हो जाती है। श्वास की कालिक गति में ढाई संख्या कम हो जाती है।
एक की कमी	**सवा की कमी**
बाह्यगति में १२ अंगुलों की कमी होने पर (शून्य में परिणति)	श्वास की कालिक गति में १५ की कमी (शून्य में परिणति)
सारांश—१२ संख्या में कमी होने पर श्वासगति बन्द।	१५ संख्या में कमी आने पर श्वासगति बन्द।
परिणाम— १. श्वास के दैशिक-कालिक सम्बन्धों की विच्छिन्नता।	
२. रेचक एवं पूरक नामक श्वास क्रियाओं का अवसान। ३. यथार्थ कुम्भक का उन्मेष।	
४. अनेकानेक अलौकिक शक्तियों का विकास। ५. इच्छाओं एवं तृष्णाओं का त्याग। ६. प्राणों की चञ्चलता का त्याग → प्राणों में शान्ति का उदय → चित्त में निष्कामता का प्रादुर्भाव → आनन्दाभिव्यक्ति → वाक् सिद्धि, दूर दृष्टि, आकाश-सञ्चरण, अपनी प्रतिच्छाया का लोप एवं निर्वाणाप्ति।	

सारांश—प्राणों की जो बाह्य गति है, उसकी निवृत्ति करना ही प्राणायाम एवं अजपाजप—दोनों का प्राथमिक लक्ष्य है। प्राणों के नाश से ही मनोनाश सम्भव है और 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'। मन का उन्मनीकरण, प्राणों का लय तथा मुक्ति एक ही सिक्के के विभिन्न पहलू हैं।

अजपा जप की पारम्परिक एवं साम्प्रदायिक विधियाँ

योगिराज गोरक्षनाथ ने अजपा जप के सम्बन्ध में अपनी जो दृष्टि प्रस्तुत की है, वह इस प्रकार है—

१. हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेन्मरुत्।
हंस हंसेति मन्त्रोऽयं सर्वे जीवा जपन्ति तम्।।१४६।।
गुरुवाक्यात्सुषुम्णायां विपरीतो भवेज्जपः।
सोऽहं सोऽहमिति प्राप्तो मन्त्रयोगः स उच्यते।।१४७।।[1]

२. हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत् पुनः।
हंसहंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा।।४२।।[2]

३. डोरी में बँधा बाज पक्षी डोरी के शिथिल करने पर जिस प्रकार उड़ने लगता है और डोरी खींचने पर वापस आ जाता है, ठीक उसी प्रकार तीनों गुणों से आबद्ध जीवात्मा प्राण एवं अपान वायुओं के द्वारा ऊपर-नीचे खिंचता रहता है। अपान वायु प्राण को एवं प्राणवायु अपान को अपनी-अपनी ओर आकृष्ट करते रहते हैं। योगवेत्ता नीचे-ऊपर खिंचते प्राणापान को परस्पर संयोजित एवं समरसीकृत करते रहते हैं—

रज्जुबद्धो यथा श्येनो गतोऽप्याकृष्यते पुनः।
गुणबद्धस्तथा जीवः प्राणापानेन कृष्यते।।
अपानः कर्षति प्राणं प्राणोऽपानं च कर्षति।
ऊर्ध्वाधः संस्थितावेतौ संयोजयति योगवित्।।[3]

४. अजपा गायत्री कुण्डलिनी में उत्पन्न हुई है। इस प्राणधारिणी गायत्री को प्राणविद्या एवं महाविद्या कहते हैं—

कुण्डलिन्यां समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी।
प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स योगवित्।।

५. अजपा गायत्री मोक्षदायिनी है। इसके संकल्पमात्र से समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं—

अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदायिनी।
अस्याः सङ्कल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते।।

६. इस अजपा गायत्री के सदृश न तो कोई विद्या है और न ही कोई जप है।

१. योगबीज २-३. गोरक्षशतक (४०-४१)

इसके सदृश तो न तो कोई ज्ञान हुआ और न तो कोई भविष्य में होगा ही—

अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः।
अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति।।

७. (क) प्राण एवं अपान का योग।
(ख) रज एवं रेतस् का योग।
(ग) सूर्य एवं चन्द्र का योग।
(घ) जीवात्मा एवं परमात्मा का योग।
(ङ) समस्त द्वन्द्वसमूहों का यह संयोग ही योग है—

योऽपानप्राणयोर्योगः स्वरजोरेतसोस्तथा।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगः जीवात्मपरमात्मनोः।
एवं तु द्वन्द्वजालस्य संयोगो योग उच्यते।।[१]

८. प्राण एवं अपानरूप हंस बाँयें एवं दाँयें नासारन्ध्रों से ३६ अंगुल की दूरी तक बाहर निकलता है; अतः वायु को प्राण कहते हैं।

योगमार्तण्ड में गोरक्षनाथ कहते हैं कि जिस प्रकार भुजदण्ड से फेंका जाकर गेंद ऊपर की ओर स्वयं उछलता है, उसी प्रकार प्राण एवं अपान द्वारा आक्षिप्त (आकृष्ट) जीव क्षणमात्र भी स्थिर नहीं रहता। जीवात्मा प्राण वायु एवं अपान वायु के वशीभूत होकर इड़ा-पिङ्गला (बाँयें-दाँयें नासापुट) से ऊपर-नीचे चढ़ता-उतरता रहता है—

आक्षिप्तो भुजदण्डेन यथोच्छलति कन्दुकः।
प्राणापानसमाक्षिप्तस्तथा जीवो न तिष्ठति।।
प्राणापानवशो जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं च धावति।
वामदक्षिणमार्गेण चञ्चलत्वान्न दृश्यते।।[२]

१०. इस अजपा गायत्री के समान न तो कोई तीर्थ है और न तो कोई यज्ञ, न तो कोई पुण्य है और न तो कोई स्वर्ग, न तो कोई तप है और न तो कोई वेद्य—

अनया सदृशं तीर्थमनया सदृशः क्रतुः।
अनया सदृशं पुण्यं न भूतं न भविष्यति।।
अनया सदृशो स्वर्गो ह्यनया सदृशं तपः।
अनया सदृशं वेद्यं न भूतं न भविष्यति।।

समत्ववाद

विज्ञानभैरव की दृष्टि—इसी प्रसंग में विज्ञानभैरव (६४) में कहा गया है कि आन्तर स्थान हृदय एवं बाह्य स्थान द्वादशान्त में प्राण एवं अपानरूप दो वायुओं के

१. योगबीज २. योगमार्तण्ड (गोरक्षशतक)

संघट्ट से (हृदय एवं द्वादशान्त में अन्तःप्रवेश तथा बहिःनिर्गमन काल की समाप्ति हो जाने पर) उस शून्य कल्प अवस्था का ध्यान करने पर जिसमें कि प्राण एवं अपान के संघट्ट की पृथक् से प्रतीति नहीं हो सकती, योगी में समत्व दृष्टि का विकास हो जाता है।

योगी में इस समत्वापन्न दृष्टि के उदित होने पर प्राण एवं अपान की भेदस्थिति की भी समाप्ति हो ज़ाती है। योगी सभी जागतिक पदार्थों को भी परमतत्त्व में विलीन कर लेता है। वह सभी पदार्थों को अपने से अभिन्न रूप में देखने लगता है। समत्व की इस स्थिति में सभी भावों, सभी वृत्तियों, सभी द्रव्यों, सभी भूमिकाओं, सभी ओवल्लियों, सभी देवियों एवं सभी वर्णों में समान दृष्टि का सञ्चार हो जाता है और सब कुछ शिवमय हो जाता है। यही है—समत्व की दृष्टि—

समता सर्व देवानामोवल्लीमन्त्रवर्णयोः।
आगमानां गतीनां च सर्वं शिवमयं यतः।।[1]

* * * * * * *

समता सर्वभावानां वृत्तीनां चैव सर्वशः।
समता सर्ववृत्तीनां द्रव्याणां चैव सर्वशः।।
भूमिकानां च सर्वासामोवल्लीनां तथैव च।
समता सर्वदेवानां वर्णानां चैव सर्वशः।।

विज्ञानभैरवकार की अन्य दृष्टि—विज्ञानभैरव में अजपा जप के सम्बन्ध में भी वही पारम्परिक दृष्टि है—

सकारेण बहिर्याति हकारेण विशेत् पुनः।
हंसहंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति नित्यशः।।
षट्शतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येकविंशतिः।
जपो देव्याः समुद्दिष्टः प्राणस्यान्ते सुदुर्लभः।।[2]

विज्ञानभैरवकार ने इसी सकार एवं हकार में (प्राण एवं अपान में) समत्व की स्थापना का उद्देश्य रक्खा है—

वायुद्वयस्य संघट्टादन्तर्वा बहिरन्ततः।
योगी समत्वविज्ञानसमुद्गमनभाजनम्।।[3]

श्वास की देश-परीक्षा—हृदय से निकल कर श्वास नाक के सामने १२ अंगुल तक जाकर समाप्त हो जाता है और वहीं से लौटकर पुनः हृदय में प्रविष्ट हो जाता

१. तन्त्रालोक (४.२७४-७५)
२. विज्ञानभैरव (१५३-१५४)
३. विज्ञानभैरव (६४)

है। प्राणायाम का अभ्यास करने पर प्राण, नाभि एवं मूलाधार से निकलने लगता है और नाक से बाहर २४ अंगुल तक या ३६ अंगुल तक पहुँच जाता है। नासिका के बाहर प्राण की गति का पता लगाने हेतु पवनशून्य स्थान में तिनके में रुई लपेट कर उसकी गति के आयाम का पता लगाया जा सकता है।

आचार्य शङ्कर की दृष्टि—आचार्य शङ्कर का कथन है कि हंसः एवं ह्रीं में हकार प्राणात्मक है—प्राणात्मकं हकाराख्यं बीजं तेन तदुद्भवाः।' परमात्मा माया से सम्बद्ध है और माया प्राण से सम्बद्ध है—'संवित् प्राक् प्राणे परिणता।' शक्ति ही (संवित् ही) तो सृष्टि के आदि में प्राण बनकर अवतरित हुई।

भगवती कुण्डलिनी सविता है; क्योंकि वह जगत् प्रसवित्री है। वह गायत्री है; क्योंकि त्राण करती है। वह सात ग्रह भी है।[१] कुण्डलिनी ही हंसः की जन्मदात्री है। सोऽहं का उन्मेष मूलतः भुवनेश्वरी या कुण्डलिनी से हुआ है। भगवती कुण्डलिनी (शक्ति भुवनेश्वरी) ही परमेश्वरी शक्ति है। उसी से सभी ध्वनियाँ, सारे अर्थ, २४ तत्त्व आदि उत्पन्न होते हैं। अजपा क्या है?

> स हंकार पुमान् प्रोक्तः स इति प्रकृतिः स्मृता।
> अजपेयं मता शक्तिस्तथा दक्षिणवामतः।।[२]
> हं पुरुषात्मने नमः। सः प्रकृत्यात्मने नमः।

ह्रीं के हकार से स्वर (Vowel) 'अ' से लेकर 'ऊ' एवं ६ ऊर्मियाँ उत्पन्न होती हैं।

> प्राणात्मकं हकाराख्यं बीजं तेन समुद्भवाः।
> षडूर्मयः स्यू रेफोत्थो गुणाश्चत्वार एव च।।

हकार से ब्रह्मा, हरि एवं शिव तथा समस्त जीव उत्पन्न हुये हैं। वे भी उत्पन्न हुये हैं, जो चर हैं तथा वे भी जो अचर (Motionless) हैं। स्वरों से ही सारे व्यञ्जन उत्पन्न हुये हैं। ह्रीं बीज से उसके देवता (भुवनेश्वरी), कुण्डलिनी एवं हंसः का भी तादात्म्य है तथा सोऽहं की अनुभूति का भी यदि सोऽहं के 'सः' एवं 'हं' को हटा दिया जाय तो सोऽहं में मात्र 'ओं' बचेगा। यही ॐ प्रणव कहलाता है।

१. 'अ' → समस्त ध्वनियाँ की उत्पत्ति।
२. 'उ' → सूर्य एवं समस्त प्रकाशमान (Lustrous) द्रव्यों की उत्पत्ति।[३]
३. 'म' → आकाश से लेकर समस्त तत्त्वों का जन्म।

आचार्य शंकर कहते हैं—

(क) हंकार पुरुषतत्त्व है। (ख) सकार प्रकृतितत्त्व है।	**हंसः**

१-३. प्रपञ्चसारतन्त्र

हकार एवं सकार बिन्दु एवं विसर्ग हैं। बिन्दु क्या है? बिन्दु पुरुष और विसर्ग स्त्रीतत्त्व है—

बिन्दुः पुरुष इत्युक्तो विसर्गः प्रकृतिर्मता।

इस स्थिति में हंस पुंप्रकृत्यात्मक होता है—

पुंप्रकृत्यात्मको हंसस्तदात्मकमिदं जगत्।

अजपा का हकार-सकार से क्या सम्बन्ध है? आचार्य शङ्कर कहते हैं—

स हकार पुमान् प्रोक्तः 'स' इति प्रकृतिः स्मृता।
अजपेयं मता शक्तिस्तथा दक्षिणवामतः।।

हंस मन्त्र का स्वरूप[1]

हं
१. पुरुष
२. बिन्दु
३. हं पुरुषात्मने नमः
(प्र. सा. वि.-पद्मपादचार्य)

(हंसः = पुम्प्रकृत्यात्मक)
(हंसः = विश्वात्मक)
हंसस्तदात्मकमिदं जगत्

'सः'
१. प्रकृति
२. विसर्ग
३. सः प्रकृत्यात्मने नमः
(प्र. सा. वि.-पद्मपादाचार्य)

हकारसकारौ बिन्दुविसर्गशब्दार्थौ।[2]
हंसः प्रकृतिपुरुषात्मने नमः, पुंप्रकृत्यात्मको हंसः।[3]

हंसः एवं सोऽहं में ऐकात्म्य—जब जीव पुरुष के स्वरूप को जान लेता है तब हंसः सोऽहं में रूपान्तरित हो जाता है और हंस परमात्मा बन जाता है। हंस मन्त्र का अभिप्रायार्थ भी यही है—

पुंरूपं सा विदित्वा स्वं सोहम्भावमुपागता।
स एष परमात्माख्यो मनुरस्य महामनोः।।[4]

सोऽहं और ॐ (ओम्) **में अन्तःसम्बन्ध**—आचार्य शङ्कर कहते हैं कि—

सकारश्च हकारश्च लोपयित्वा प्रयोजयेत्।
सन्धिं वै पूर्वरूपाख्यं ततोऽसौ प्रणवो भवेत्।।

सकार एवं हकार का लोप कर देने पर हंसः मन्त्र ॐ मात्र के स्वरूप में शेष रह जायेगा। अतः ॐ और हंसः तथा सोऽहं—तीनों मन्त्र तत्त्वतः एकार्थक हैं।

शारदातिलककार की दृष्टि—लक्ष्मणदेशिकेन्द्र कहते हैं कि वियत् (ह), उस पर स्थित अर्द्धेन्दु (अनुस्वार), फिर तदादि (स) तथा विसर्ग (:)—इस प्रकार अजपा

---

१. प्रपञ्चसारतन्त्र
२. पद्मपादाचार्य (प्रपञ्चसारतन्त्र विवरण)
३. पद्मपादाचार्य
४. प्रपञ्चसारतन्त्र

मन्त्र का उद्धार कहा गया। इसका स्वरूप 'हंस:' हुआ—

वियदर्द्धेन्दुसहितं तदादि: सर्गसंयुत:।
अजपाख्यो मनु: प्रोक्तो द्व्यक्षर: सुरपादप:।।[१]

लक्ष्मणदेशिकेन्द्र अजपा जप की साधना का फल बताते हुये कहते हैं कि जिस प्रकार नन्दनवन का कल्पवृक्ष सारे आकांक्षित फल प्रदान कर देता है, ठीक उसी प्रकार अजपा जप भी जापक की समस्त आकांक्षाओं की पूर्ति कर देता है; अत: यह सुरपादप (कल्पवृक्ष) है—

अजपाख्यो मनु: प्रोक्तो द्व्यक्षर: सुरपादप:।

अजपा साधना की विधि—आचार्य राघवभट्ट कहते हैं कि साधक को अजपा जप करने के समय इस प्रकार ध्यान करना चाहिये—

१. ह: आकाश है। बिन्दु अर्द्धेन्दु है। स: विसर्ग है।

२. मन्त्रोच्चारण के काल में इस हंस: मन्त्र को सुषुम्णा के रन्ध्र में सदानन्दात्मक, विश्वरूपात्मक एवं सप्तविंशकात्मक ब्रह्म के रूप में ध्यान करके षड्विंशकात्मक एवं अर्द्धनारीश्वरस्वरूप ईश्वर को इसकी ज्योति से पूर्णत: स्नात समझना चाहिये और ऐसा समझना चाहिये कि मानों उस ज्योति से परमात्मा के सारे अङ्ग-प्रत्यङ्ग आबिद्ध हैं और वह परमात्मा मैं ही हूँ।

३. पिङ्गला नाड़ी के रन्ध्र में स्थित २५वें आदिबीज (पुरुषबीज) को अपना प्राण मानकर तद्वत् ध्यान करते हुये द्वितीय बीज, जो कि इड़ा नाडी के रंध्र में २४वें तत्त्व के रूप में स्थित है, अपान मानकर उसका ध्यान करना चाहिये।

४. विश्वरूप हंस मन्त्र को दीपक-प्रभा के रूप में निकलते हुये विभावित करके उन्हें इड़ा-पिंगलात्मक वाम-दक्षिण भाग को स्त्री-पुरुष का चिह्न मानकर उनका ध्यान करना चाहिये।

अजपाजप का परिचय—अजपा के ऋषि ब्रह्मा हैं। इस मन्त्र का छन्द गायत्री नामक देवी हैं। इस मन्त्र के देवता गिरिजापति हैं—

ऋषिर्ब्रह्मा स्मृतो देवी गायत्री छन्द ईरितम्।
देवता जगतामादि: सम्प्रोक्तो गिरिजापति:।।[२]

(क) राघवभट्ट के अनुसार अजपा के न्यासादिक—षड् दीर्घयुक्त 'हंस' इस मन्त्र से अङ्गन्यास करना चाहिये। आं हंस: हृदयाय नम:। ईं हंस: शिरसे स्वाहा। ॐ शिखायै वषट्। ऐं हंस: कवचाय हुं। औं नेत्रद्वयाय वौषट्। अं हंस: अस्त्राय फट् आदि।

राघवभट्ट के शब्दों में—सूर्यात्मने हृत्। सोमात्मने शिर:। निरञ्जनात्मने शिखा।

---

१. शारदातिलकम् (चतुर्दश पटल : ८०) २. शारदातिलकम् (१४.८१)

निराभासात्मने कवचम्। अव्यक्तात्मने नेत्रम्। अतनु सूक्ष्मः प्रचोदयात्मने अस्त्रम्। हसा(ह्रा)-मित्याद्यैरेभिरिति केचित्।[१]

(ख) अजपामन्त्र का ध्यान—

उद्यद्भानुस्फुरिततडिदाकारमर्द्धाम्बिकेशं
पाशाभीती वरदपरशू सन्दधानं कराग्रैः।
दिव्याकल्पैर्नवमणिमयैः शोभितं विश्वमूलं
सौम्याग्नेयं वपुरवतु वश्चन्द्रचूडं त्रिनेत्रम्।।

अर्थात् आधा अम्बिका एवं आधा सदाशिव के रूप में रहने वाले, सोम एवं अग्नि देवता वाले शरीर को धारण करने वाले, जिनके शरीर का अर्द्ध भाग उदीयमान सूर्य के समान तथा अर्द्धभाग विद्युद्वत् देदीप्यमान है; जिन्होंने अपने हाथों में पाश, अभय, वर एवं परशु धारण कर रक्खा है और जो मणिविरचित नव्याभूषणों से आभूषित हैं, जो विश्व के मूल हैं, जो चन्द्रमा को अपनी जटाओं में धारण किये हुये हैं तथा जो तीन नेत्र वाले हैं—ऐसे भगवान् सदाशिव हमारी रक्षा करें।

(ग) अजपा मन्त्र का पुरश्चरण—

भानुलक्षं जपेन्मन्त्रं पायसेन ससर्पिषा।
दशांशं जुहुयात्सम्यक् ततः सिद्धो भवेन्मनुः।।[२]

अजपा मन्त्र का बारह लाख जप करके फिर सघृत खीर से दशांश हवन करने पर अजपा मन्त्र सिद्ध होता है।

(घ) अजपा-साधना से प्राप्त सिद्धियाँ—

१. रोग-राहित्य, आयुवृद्धि, निर्विषत्व एवं वैभव की प्राप्ति—दीप्तादि से युक्त पीठ पर मूल मन्त्र से मूर्ति की कल्पना करके अङ्गादि के साथ विभुश्री सूर्यनारायण की पूजा करे। फिर पत्रों पर चारो दिशाओं में ऋतु, वसु, नर एवं वर की पूजा करे और चारो कोणों पर ऋतजा, गोजा, अजा एवं अद्रिजा की पूजा करे। नित्य लोकपालों की, उनके अस्त्रों की तथा सूर्यदेव की पूजा करे एवं पूर्वोक्त विधि के अनुसार प्रतिदिन सूर्य भगवान् को अर्घ्य प्रदान करे।

फिर इस मन्त्र के द्वारा मातृकारूप कमल पर कुम्भ स्थापित करके उसे मन्त्र पढ़ते हुये बाँयें हाथ से ढककर ब्रह्मचर्य व्रत धारण करते हुये यदि १०८ बार इस अजपा मन्त्र से जल को अभिमन्त्रित करके उस सुधात्मक जल से सूर्य का स्मरण करते हुये अभिषेक करे तो वह पुरुष पूर्णतया निरोग हो जाता है। यदि नारी का अभिषेक करे तो वह नारी भी स्वस्थ हो जाती है। इतना ही नहीं; वह अभिषिक्त पुरुष अनन्त आयु,

---

१. राघवभट्ट : पदार्थादर्श २. शारदातिलकम् (१४.८४)

आरोग्य एवं वैभव प्राप्त करता है। यदि किसी विषार्त्त को इस विधि से अभिषिक्त कर दिया जाय तो वह विषरहित हो जाता है।[१]

२. रोग, उन्माद, अपमृत्यु एवं ज्वर आदि का उन्मूलन—साधक किसी स्वच्छ स्थान पर पद्मासनस्थ होकर बैठे एवं सुषुम्णायुक्त अधोमुख सहस्रदल पद्म की कर्णिका के मध्य में सकार वर्ण का ध्यान करे। फिर सुषुम्णा मार्ग से सकार-स्रवित पीयूष से सिञ्चित मणिपूरचक्र के बिन्दु का ध्यान करे और उससे स्रवित पीयूष से सिञ्चित मूलाधार के हकार का ध्यान करे। फिर उससे स्रवित पीयूष से पूर्ण 'हंस:' का ध्यान करे तथा उससे स्रवित पीयूष से संसिक्त अपनी प्रत्यगात्मा का ध्यान करके परमानन्दसन्दोह में लयीभूत होते हुये अजपा मन्त्र का जप करने से जापक विष, उन्माद, अपमृत्यु एवं ज्वरादि से तो मुक्त हो ही जाता है; साथ ही अनेकविध वैभवों से सम्पन्न होकर सैकड़ों वर्ष जीवित रहता है—

आयुरारोग्यविभवानमितान् लभते नर:।
अनेनैव विधानेन विषार्तो निर्विषो भवेत्।।
मन्त्री मन्त्रमिमं जपेद्विषगदोन्मादापमृत्युज्वरान्।
जित्वा वर्षशतं विशिष्टविभवो जीवेत् सुखं बन्धुभि:।।[२]

अजपा मन्त्र को राघवभट्ट ने जीवमन्त्र कहा है।

अजपा मन्त्र एवं उसकी साधना— अजपा मन्त्र के विषय में तन्त्रान्तर में कहा गया है—

अजपाराधनं देवि! कथयामि तवाऽनघे।
यस्य विज्ञानमात्रेण **परंब्रह्माऽधिगच्छति**।
हंस: पदं परेशानि प्रत्यहं जपते नर:।
मोहान्धो यो न जानाति **मोक्षस्तस्य न** विद्यते।।
श्रीगुरो: कृपया देवि! ज्ञायते जप्यते तत:।
तस्योच्छ्वासैस्तु निश्वासैस्तदा **बन्धक्षयो** भवेत्।।
उच्छ्वासे चैव निश्वासे हंस इत्यक्षरद्वयम्।
तस्मात्**प्राणस्तु हंसाख्य: आत्माकारेण** संस्थित:।।
नाभेरुच्छ्वासनिश्वासा हृदयाग्रे व्यवस्थिता:।
षष्टिश्वासैर्भवेत् **प्राण:** षट् प्राणा घटिका मता।।
षष्टिर्नाड्या अहोरात्रं जपसंख्या**ऽजपामनो:**।
एकविंशतिसाहस्रं षट्शताधिकमीश्वरि।।
प्रत्यहं जपते प्राण: स्पन्दानन्दमयीं पराम्।
उत्पत्तिर्जप आरम्भो मृतिरस्य निवेदनम्।।

१. शारदातिलकम् २. शारदातिलक (१४.९०-९१)

विना जपेन देवेशि! जपो भवति मन्त्रिण:।
अजपेयं तत: प्रोक्ता भवपाशनिकृन्तनी।।
एवं **जपं** महेशानि! **प्रत्यहं विनिवेदयेत्।**
आधारे स्वर्णवर्णाभे **वादिसान्तानि** संस्मरेत्।
द्रुतसौवर्णवर्णानि दलानि परमेश्वरि।।
स्वाधिष्ठाने विद्रुमाभे वादिलान्तानि च स्मरेत्।
विद्युत्पुञ्जप्रभाभानि **सुनीलमणिपूरके।।**
उकान्तानि महानीलप्रभाणि च विचिन्तयेत्।
पिङ्गवर्णे महावह्नि कर्णिकाभानि चिन्तयेत्।।
कादिठान्तानि पत्राणि चतुर्थे**ऽनाहते** प्रिये।
विशुद्धौ धूम्रवर्णे तु रक्तवर्णान् स्वरान् स्मरेत्।।
आज्ञायां विद्युदाभायां शुभ्रौ हक्षौ विचिन्तयेत्।
कर्पूरद्युतिसंराजत्सहस्रदलनीरजे ।।
नादात्मकं **ब्रह्मरन्ध्रं** जानीहि परमेश्वरि।
एतेषु **सप्तचक्रेषु** स्थितेभ्य: परमेश्वरि।।
जपं निवेदयेदेनमहोरात्रभवं प्रिये।
अजपा नाम गायत्री त्रिषु लोकेषु दुर्लभा।।
अजपां जपतां नित्यं **पुनर्जन्म** न विद्यते।
अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदायिनी।।
अस्या: सङ्कल्पमात्रेण नर: पापै: प्रमुच्यते।
अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जप:।
अनया सदृशं पुण्यं न भूतं न भविष्यति।।[१]

अभिनवगुप्ताचार्य एवं आचार्य क्षेमराज की दृष्टि—'अकृतार्थो नरस्ताव-द्यावद्धंस न विन्दति' अर्थात् जब तक साधक हंस को नहीं जानता तब तक वह कृतार्थ नहीं हो सकता। हंस शब्द से व्यपदिष्ट विभु सर्वसमर्थ परमेश्वर अपने स्वातन्त्र्य के बल से सङ्कोच ग्रहण करके पाँच अरों वाले इस पाञ्चभौतिक शरीर में सोम से स्रवित अमृत का पान करता है और तृप्ति की अनुभूति करता है—

पञ्चारे सविकारोऽथ भूत्वा सोमस्रुतामृताम्।
धावति त्रिरसाराणि गुह्यचक्राण्यसौ विभु:।।[२]

योगमार्त्तण्डकार की दृष्टि—प्राण एवं अपान ऊपर एवं नीचे स्थित हैं। वे नाभिस्थल में मिलते हैं। इसीलिये योगी नाभि को केन्द्र मानते हैं। योगी प्राण के द्वारा

१. पदार्थादर्श में उद्धृत २. तन्त्रालोक (४.१३७)

अपान को आकृष्ट करके नाभि-प्रदेश में मिला देते हैं। हंस मन्त्र का उच्चारण स्वयमेव दिन-रात में २१ हजार ६०० बार चलता रहता है। इसी श्वास-प्रश्वास के द्वारा स्वयमेव अजपा जाप चलता रहता है। इसे ही जीव जपता रहता है—

प्राणेनाकृष्यतेऽपान: प्राणो प्राणेन कृष्यते।।
हंसो हंसत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा।।[१]

योगियों एवं सन्तों की योग-साधना में अजपा-जप

योगिराज गोरक्षनाथ कहते हैं—

१. **अजपा जपै** सुनि मन धरै। पाँचौ इन्द्री निग्रह करै।
२. **सोऽहं हंसा सुमिरै** सबद। तिहिं परमारथ अनंत सिध।
३. **सोऽहं बाई हंसा** रुपी प्यंडै बहै। बाई कै प्रसादि व्यंद गुरमुख रहै।
४. **अगम जाप जपीला** गोरख चीन्हत बिरला कोई।[२]
५. जे **जाप** सकल सिष्टि उतपंनां ते जाप श्री गोरखनाथ कथिया।
६. पवनां रे तूं जासी कौने बाटी। जोगी अजपा जपै त्रिवेणी कै घाटी।
७. ऐसा जाप जपौ मन लाई। सोहं सोहं अजपा गाई।[३]
८. जपिलै अजपा जाप। बिचारिलै आपै आप।।
९. अवधू ध्यान सो ब्रह्म आचार। अजपा जाप, मन तजै बिकार।[४]

निर्गुण सन्त-परम्परा के सन्तों ने भी अजपा जाप, हंस योग या सोऽहं जप को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया है। कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं।

१. सन्त कबीर—

१. अजपा जपत सुंनि अभि अंतरि यहु तत जानैं सोई।
२. ब्रह्म अगनि काया पर जारी। अजपा जाप उनमनीं तारी।[५]
३. गिरि कैलास गन करते सोरा। तहँ सोऽहं सिर मौरा है।[६]
४. ओ अंग ररंग अड़े जहँ दुइ दल अजपा नाम सहाई।
५. सोऽहं नारी अधिक दुलारी पिय की प्यारी होय।।
६. बिन मुखड़ा से जप करो नहिं तुम जीभ डुलावो।
उलटि सुरति ऊपर रो, (औ) नैनन दरसावो।।
७. सूरति उलटि पवन को सोधो त्रिकुटी मधि ठहराई।
सोऽहं सोऽहं बाजा बाजै अजब पुरी दरसाई।।
८. अजपा जाप बिनु रसना काल निकट नहिं आवै।।

---

१. योगमार्तण्ड (गोरक्षनाथ ३०-३१)
२-४. गोरखबानी
५. कबीरदास : पद
६. कबीर-शब्दावली

९. अजपा लांगि रहै सूरति पर नैन न पलक डुलावै।।
बिन जिभ्या नामहिं को सुमिरै अमि रस अजर चुवावै।।

१०. खोडस पत्र कमल जिव रहई। सहस एक अजपा तहँ चहई।।

११. षट्सहस्र अजपा तहँ होई।

१२. एक सहस खट सतऔ बीसा इतना अजपा जाप।।

२. जगजीवन साहब—

१. दुइ अंक जपा जपहु अन्तर में तजहुस बैतेवान।।

२. अजपा जपि चढ़ि गयो गगन महँ, सतगुरु दरस दिखायो।।[1]

३. सत्त कहत हैं बुरा न मानौ अजपा जपै जो जाई।
जगजीवन सत मत तब पावै, उग्रज्ञान अधिकाई।।

३. भीखा साहेब—

१. रमिता राम तुम अन्तरजामी सोऽहं अजपा जापे हो।।

२. अजपा जाप अकथ को कथनो अलख लखन किन पाय।।

३. दुनिया लोक वेदमत थापे। हमरे गुरु गम अजपा जापे।।

४. धरनी दास—

१. केरि मन तहँ उलटि धरु जहँ उठत अजपा जाप।

२. ध्यान धरु जहँ निसु बासरे जहँ उठत अजपा जाप।

५. पलट साहब—

१. हमहीं सोऽहं शब्द जोति ह्वै सुन्न में आये।।

२. नहिं मुद्रा नहिं भेष बनावै जपता अजपा माला है।

३. इंगला पिंगला सुखमन खेलै अजपा सखी सयानी।

४. सुरति ध्यान एकौ में नाहीं सो अजपा कहवावै।।

६. दयाबाई—

१. नासा आगे दृष्टि धरि स्वांसा में मन राख।

२. दया अहरनिस जपत रहु सोऽहं सुमिरन सार।।

३. दया जाप अजपा जपौ सुरति स्वाँस में लाव।

४. अर्ध उर्ध मधि सुरति धरि जपै जु अजपा जाप।

५. अजपा सोऽहं जाप तें त्रिविध ताप मिटि जैहैं।।

६. हृदय कमल में सुरति धरि अजपा जपै जो कोय।
बिमल ज्ञान प्रकटै तहाँ कलमख (कल्मष) डारै खोय।।

---

१. शब्दावली

७. नाभिनासिका माहि गाजै सोऽहं शब्द धुनि।
८. अजपा सोऽहं जाप है परम गम्य निज सार।।

७. सहजो बाई—(अजपा गायत्री का अंग)

१. हंसा सोऽहं तार कर सुरति कमरिया पोय।
ल्यौ लगाकर बिना जिह्वा एवं बिना तालु के ही अन्तर में सुरत लगाकर जप करना चाहिये।

२. लगै सुन्न में टकटकी आसन पद्म लगाय।
नाभि नासिका माहि करि सहजो रहै समाय।।

३. सब घट अजपा जाप है हंसा सोऽहं पुर्ष।।
सुरत हिये ठहराय के सहजो या विधि निर्ख।।

अजपा जप एवं कुण्डलिनी

अजपा कुण्डलिनी से उत्पन्न प्राणधारिणी प्राणविद्या है। जीव प्राण एवं अपान की क्रिया के वशीभूत होकर ऊपर और नीचे यात्रा किया करता है।

हं एवं सः का स्वरूप—एक दृष्टि के अनुसार 'हं' वर्ण 'तत्' पद से इंगित परमात्मा का वाचक है। 'स:' वर्ण 'त्वं' पद से इंगित प्रत्यक् चैतन्य का वाचक है।

सारांश—हं = परमात्मा। स: = जीव। हंस = परमात्मा एवं प्रत्यक् चैतन्य (जीव)। इस मतानुसार स: (जीव) ह (परमात्मा) का ध्यान करते-करते स्वयं 'ह' (परमात्मा) हो जाता है—

स:कारो ध्यायते जन्तुर्हकारो जायते ध्रुवम्।

आत्मा का ध्यान → हकारात्मक परमात्मा की प्राप्ति।

दूसरी दृष्टि के अनुसार—हंस व्यष्टि तुरीय (प्रत्यक् आत्मा) है। परमहंस समष्टि तुरीय (परमात्मा) है। व्यष्टि तुरीय एवं समष्टि तुरीय का परस्पर संयोग होने पर हंस योग होता है। यही अजपा तत्त्व है।

अधिकार-भेदानुसार अजपा तत्त्व का स्वरूप

१. मन्द बुद्धियों के लिये (मन्द साधक)—उच्च ज्ञानशक्ति से रहित, अतिसूक्ष्म तत्त्वों के अज्ञाता : मन्द बुद्धि के लिये— 'ह' = पुरुष। 'स:' = प्रकृति। हंसयोग = पुरुष-प्रकृति योग।

२. मध्य बुद्धि के लोगों के लिये (मध्यम साधक)—'ह' = अपान का सञ्चार। 'स' = प्राण का सञ्चार। हंसविद्या = प्राणापान का संयोग। इसके अनुसार प्राण जब लौटता है तब उसे प्राण न कहकर अपान कहा जाता है।

३. **उत्तम बुद्धि वाले साधकों के लिये** (उत्तम साधक)—'अहं' = 'हं' = जीवात्मा। 'सं' = शक्ति। (प्रकृति-पुरुष या प्राणापान सम्बन्ध दोनों में से दोनों का त्याग।

अधिकारभेद से अजपा की साधना में भी भेद

१. मन्द बुद्धि के अधिकारियों के लिये अजपा-साधना की प्रक्रिया। देहगत क्रिया को ध्यान में रखकर अजपा जप करना। तालु, ओष्ठ, उच्चारण यन्त्र का उपयोग करके जप करने की प्रक्रिया। (अशुद्ध चित्त)

२. मध्यम श्रेणी के अधिकारियों के लिये अजपा-साधना की प्रक्रिया। तालु आदि के आश्रय का त्याग। अधिक शुद्ध बुद्धि। दैहिक उच्चारण की अपेक्षा नहीं।

३. उत्तम साधकों के लिये अजपा-साधना की प्रक्रिया।

मध्यम श्रेणी के अधिकारियों के लिये अजपा-विधान—

१. दैहिक अंगों से उच्चारण की अपेक्षा नहीं है। तालु, ओष्ठ, कण्ठ आदि का जपार्थ उपयोग नहीं किया जाता।

२. यदि उक्त दैहिक व्यापार का उपयोग किया भी जाता है तो स्थूल धरातल पर नहीं; प्रत्युत भावना के रूप में।

अजपा मन्त्र का स: अंश प्राणतत्त्व है। 'हं' अपने शरीर में अपान तत्त्व के रूप में स्थित है।

'हम्' ध्वनि के साथ अपानवृत्ति का समत्वात्मक सम्बन्ध है; अत: हंकार अपान वृत्ति का ज्ञापक है। सकार प्राणवृत्ति का ज्ञापक है।

'स:' एवं 'हं'—ये दोनों हमारे शरीर में प्राण एवं अपान के रूप में कार्यरत हैं। इनकी यह नित्यात्मक क्रिया ही अजपा जप है। हंस: मन्त्र प्राण एवं अपान का ही रूप है और 'अजपन्नपि जप्यते' के कारण अजपा कहा जाता है। 'मननात् त्रायते इति मन्त्र:' के अनुसार त्राण करने के कारण मन्त्र (अजपा मन्त्र) कहलाता है। हंस मन्त्र के जप में मुख, जीभ, कण्ठ, तालु आदि का उपयोग न होने के कारण यह अजपा मन्त्र कहलाता है। यह वाचिक नहीं, अनुसन्धानमूलक जप है। इस जप में साफल्य श्रद्धा, गुरुभक्ति, शक्तिपात एवं आत्मबल के कारण ही सम्भव है।

उत्तम अधिकारी के लिये अजपा-जप का विधान—श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन द्वारा विशुद्ध चित्त वाले जापकों की दृष्टि में—

१. अहं—जीव का बोधक है। यही अहं जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि चेतनावस्थाओं का साक्षी है।

२. स:—शक्ति का वाचक है। कौन सी शक्ति? परमेश्वररूप परमकारणा। अहं ही स: (परमात्मा) है—यही अजपा मन्त्र एवं उसकी साधना का अभिप्राय है।

योगि-समाज में प्रचलित कुम्भकात्मक अजपा-पद्धति

१. इस साधना में ऐसी अवस्था प्राप्त करने का अध्यवसाय किया जाता है, जिसमें रेचक एवं पूरक दोनों नहीं रहते।

२. इस साधना-विधान में नाभिकन्द में प्राण एवं अपान की साम्यावस्था प्राप्त की जाती है।

इस काल में सहस्रदल कमल-प्रस्रवित पीयूष-प्रवाह को पीने की भी अवस्था प्राप्त है। अमृत-पान प्राणों के चञ्चल रहने पर कभी सम्भव नहीं होता। प्राणापानैक्य द्वारा अमृताप्ति होने पर अमृत का पान स्वयं न करके उसके द्वारा नाभि-प्रतिष्ठित महादेव का अमृताभिषेक करना चाहिये। इस समय भी 'हंस: हंस:' इस मन्त्र का जप करते हुये शरीर में प्रत्यक् यज्ञ करना चाहिये। इसे ही योगी आध्यात्मिक सूर्यग्रहण कहते हैं। शरीर में उत्तरायण-दक्षिणायन नामक अयनों एवं विषुवों का साक्षात्कार करता हुआ योगी सकल-निष्कल बिन्दुओं का भी दर्शन करता है।

उत्तरायण-दक्षिणायन—प्राण वायु का इड़ा नाड़ी से पिङ्गला नाड़ी में सञ्चार और पिङ्गला नाड़ी से इड़ा नाड़ी में प्रत्यावर्तन ही उत्तरायण-दक्षिणायन है।

विषुव—विषुव वह अवस्था है, जिसमें दिन और रात्रि का साम्य रहता है। शरीर में भी इन दो बिन्दुओं का साम्य प्रतिष्ठित होता है—उन्मिषित होता है। प्राण का मूलाधार में प्रवेश तो एक विषुव है; किन्तु प्राण का मस्तक में प्रवेश द्वितीय विषुव है।

मन्त्र के साथ या बिना मन्त्र के केवल प्राणायाम के द्वारा अर्थ का अनुसन्धान करते हुये प्रणव एवं हंस मन्त्र के उच्चारण तथा (प्रणव वाच्य) हंस का सोऽहं के रूप में अनुसन्धान करना ही यहाँ लक्ष्य है। यह ऐक्यानुसन्धान ही अजपा एवं अजपा-साधना का फल है।

इस ऐक्यानुसन्धान की स्थिति में यथार्थ मुद्रा—चिन्मुद्रा (शाम्भवी मुद्रा, खेचरी मुद्रा) स्वयं प्रकट हो जाती है। यह उपर्युक्त मुद्रा वह भावस्थिति है, जिसमें ऐसी अनुभूति होती है कि मुझसे भिन्न तो किसी अन्य की कोई सत्ता ही नहीं है। यह सोऽहमस्मि की अनुत्तरावस्था है। इस समय प्राणवायु पिङ्गला मार्ग से कुण्डलिनी में प्रवेश करता है। इसे ही योगी आध्यात्मिक सूर्यग्रहण की आख्या देते हैं।

औपनिषदिक हंसयोग या अजपा-साधना

इस योग-साधना द्वारा प्रत्यगात्मा का ज्ञान होता है, जिसे हंसज्ञान कहते हैं। इस औषनिषदिक हंसयोग (अजपा-साधन) में प्रवेश करने के समय निम्न अनिवार्यतायें भी हैं—

१. सिद्धासन लगाकर पैर के बाँयें टखने द्वारा मलद्वार को आच्छादित करके पूरक क्रिया प्रारम्भ करनी चाहिये। इस अभ्यास से मूलाधार चक्र में वायु-सञ्चय होगा।

२. उपर्युक्त विधि से मूलाधार चक्र में अवरुद्ध वायु-समूह को आकुञ्चन क्रिया के द्वारा इस चक्र से ऊपर उठाना चाहिये।

३. इसके अनन्तर प्राण एवं अपान में ऐक्य स्थापित करना चाहिये।

४. प्राण एवं अपान में साम्यावस्थान होने के बाद मूलाधार में अवस्थित त्रिकोण की अग्नि को ऊर्ध्वारूढ़ करके प्राण एवं अपान वायु का उससे संयोग करना चाहिये।

५. त्रिकोण की अग्नि का ज्यों ही प्राण एवं अपान के साथ संयोग होता है त्यों ही कुण्डलिनी उस प्रचण्डाग्नि से उत्तप्त होकर सोते से जाग जाती है। यही अवस्था है—कुण्डलिनी का जागरण।

६. चूँकि ब्रह्मग्रन्थि के उद्भेदन के बिना मूलाधार चक्र (चतुर्दल पद्म) में प्रवेश करना ही सम्भव नहीं है; अत: योगी को उद्बुद्ध कुण्डलिनी शक्ति के द्वारा ब्रह्मग्रन्थि (ब्रह्मगाँठ) खोलनी चाहिये।

७. ब्रह्मग्रन्थि के उद्भेदनोपरान्त मूलाधार चक्र में स्थित एक बिन्दु (तुरीय भूमि) का ध्यान अर्थात् विराट का ध्यान करना चाहिये। इस ध्यान की निष्पत्ति है—ऊर्ध्व गति।

८. चूँकि इस साधना-विधान में ग्रन्थि-भेदन प्रधान है, न कि षट्चक्र भेदन; अत: षड्दलात्मक स्वाधिष्ठान चक्र की तीन बार प्रदक्षिणा करके दशदलात्मक मणिपूरक चक्र में प्रवेश करना चाहिये। यहाँ विष्णुग्रन्थि का उद्भेदन किये बिना अनाहत चक्र या हृदय में प्रवेश नहीं किया जा सकता। यहाँ सूत्रात्मा का ध्यान किया जाता है। इसी सोपान पर सविकल्प समाधि का उदय होता है।

९. अनाहत चक्र के सोपान को अतिक्रान्त करके साधक को विशुद्ध चक्र में प्रवेश करने के मार्ग में स्तनवत् लटकते मांसमिण्ड दृष्टिगत होते हैं। योगी को विशुद्ध मार्ग में प्रवेश हेतु मध्यमार्ग का अवलम्बन लेना चाहिये। यहाँ पहुँचने पर प्राण निरुद्ध हो जाता है।

१०. अब रुद्रग्रन्थि के उद्भेदन का क्रम आता है। रुद्रग्रन्थि का स्थान आज्ञाचक्र के नीचे है। आज्ञाचक्र में प्रवेश करने के उपरान्त आज्ञाचक्र के बीज या तुरीय का ध्यान आवश्यक है। यहाँ तक पहुँचने के बाद योगी (क) चन्द्र, (ख) सूर्य एवं (ग) अग्नि नामक बीजत्रय को मिलाने का सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। सम्मिलित बीजत्रय अपृथग्भूत हो जाते हैं। बीजत्रय के अपृथग्भूत सम्मिलन से एक महातेज का उदय होता है। बस, यहीं साधक सहस्रार-स्रवित पीयूष के रसास्वादन का अधिकार प्राप्त कर लेता है। अब वह पीयूष-पान के कारण अजर-अमर शरीर पाकर सहस्रारस्थ ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करता है। ब्रह्मरन्ध्र में 'तुर्य' एवं 'तुर्य-तुर्य' के साक्षात्कार होते हैं।

११. तुर्य एवं तुर्यतुर्य में तुर्य तो चैतन्यावस्था की चतुर्थावस्था (तुरीयावस्था) है; किन्तु तुर्य-तुर्य इससे भी परे है। तुर्य (तुरीयावस्था) तो त्रिमात्रानुभूत होती है; किन्तु तुर्य-तुर्य में समस्त मात्रायें विलुप्त हो जाती हैं और यह अमात्रात्मक स्थिति है। तुर्य

में थोड़ा साकारभाव रहता है; किन्तु तुर्य-तुर्य अद्वितीय, अनुपमेय, प्रतिद्वन्द्वशून्य एवं साकारभावशून्य अवस्था है। इसे ही परमहंसावस्था कहते हैं। तुरीयावस्था इसी तुरीयातीतावस्था (तुर्य-तुर्य) की आत्मजा है। यह कोटिसूर्यसमप्रभ एवं वर्णनातीत है। अजपा मन्त्र शिवशक्ति-संघटित है। अजपा आत्ममन्त्र है। इसका परिचय इस प्रकार है—

अजपा मन्त्र का स्वरूप-परिचय—

१. ऋषि (ब्रह्मा)	३. देवता (आत्मा)	५. बीज (ह)
२. छन्द (गायत्री)	४. शक्ति (स)	

इस मन्त्र के दो भाग हैं—शक्ति एवं शिव। इस प्रकार अजपा मन्त्र शिव-शक्त्यात्मक है।

(क) संविद्रूपिणी शक्ति, विद्या या मन्त्रात्मा : सकार (शक्ति)।

(ख) शक्ति का प्रतिपाद्य निष्कल परमशिव : हकार (शिव)।

'स' और 'ह' = सकल और निष्कल तत्त्व के वाचक।

अन्तरात्मा रूपी चैतन्य ही परमशिव हैं। अहं (परमात्मा या प्रत्यगात्मा) भी परमशिव का बोधक है। शक्ति शिव के द्वारा उत्पादित प्रतियोगी (प्रतिद्वन्दी) तत्त्व है।

अजपा मन्त्र का सकार इसी शक्तितत्त्व का वाचक है। चूँकि शक्ति और शिव अभिन्न हैं; अत: अजपा मन्त्र शिव-शक्तिस्वरूप है। 'ह' पुरुष का वाचक है और 'स' प्रकृति का वाचक है; अत: अजपा गायत्री पुंप्रकृत्यात्मक है; इसीलिये आचार्य शङ्कर कहते हैं—

हकार: पुरुष: प्रोक्त: स इति प्रकृतिर्मता।
पुंप्रकृत्यात्मको हंसस्तदात्मकमिदं जगत्।।

अर्द्धनारीश्वर (शिवशक्त्यात्मक) परमशिव का ध्यान करते हैं और अजपा मन्त्र का जप करते हैं।

एक अन्य दृष्टि—श्वास-प्रश्वास आत्ममन्त्र हैं। नि:श्वास = सकार = त्वं। उच्छ्वास = बिन्दु के साथ आकाशबीज (हंकार) है। हंकार = तत्। तत् + त्वं के योग से ही अहंभाव का स्फुरण हुआ करता है। इसी की आख्या है—तत्त्वमसि। यही अजपा के स्वरूप का रहस्योदघाटन है।

इसी दृष्टि को पल्लवित करते हुये कहा गया है कि हृत्कमल द्वादशदलात्मक है। प्राणियों के विकल्पसमूह एवं भाव अनन्त हैं, तथापि उन्हें आठ वर्गों में अन्तर्भुक्त करके इन्हें इस हृत्कमल के अष्टदलों के रूप में कल्पित किया गया है। प्राणापानयुक्त जीव या हंस इन्हीं अष्टदलों पर निरन्तर भ्रमण करता रहता है। इन दलों से सम्बन्ध रखने वाले भिन्न-भिन्न भाव भी हैं। जीव जिस दल का स्पर्श करता है या जिस दल

में प्रविष्ट होता है, उस दल का भाव ही जीव के हृदय में उदित हो जाता है। ये अष्टदल पूर्व से ईशान कोण में स्थित हैं।

द्वादश दलात्मक हृत्कमल के चार दलों का हंस कभी स्पर्श नहीं कर पाता। इन दलों से श्वास-प्रश्वास का कोई सम्बन्ध भी नहीं है अर्थात् अष्टदलों में से जिस भी दल का हंस स्पर्श करता है, वे ही भाव उस जीव की चित्तवृत्ति में उदित होते हैं। इस दिशा में मतभेद भी है।

अष्टदल कमल और वृत्तियाँ

(वायु का दल में सञ्चार → वृत्ति का उदय)

१. प्रधान अंश—मध्यबिन्दु या कर्णिका में वायु का प्रवेश → आत्मातिरिक्त विषयों, बाह्य विषयों से वैराग्यभाव का जागरण।

२. कमल के केशरों में वायु का प्रवेश → जाग्रत् अवस्था का उदय (अहंकार का आधिक्य)।

३. कमल की कर्णिका में वायु-प्रवेश → अहंकार का अर्ध विकसित अवस्था में परिणमन = स्वप्नावस्था।

४. कर्णिका के मध्य शून्य में वायु का प्रवेश → अहंकार का अभाव = सुषुप्ति अवस्था।

५. शून्य का भी अतिक्रमण = तुरीय।

तुरीय की अवस्था ही आत्मसाक्षात्कार की अवस्था है।

तुरीयावस्था में—

१. शून्य का अतिक्रमण।
२. कमल के साथ सम्बन्ध-भंग।
३. साक्षात्कार की स्थिति।
४. हंस का परमात्मा के स्वरूप में प्रकाशोदय।

तुरीयातीतावस्था में—

१. नादारम्भ की गति सक्रिय।
२. मन का धीरे-धीरे अपनी सत्ता खोते जाना।
३. चरमावस्था में उन्मनीभाव का उदय।

तुरीयातीतावस्था के भेद

१. साधिष्ठान—

(क) शरीर तो वर्तमान रहता है; किन्तु त्रितापशून्य रहता है।
(ख) इस अवस्था में नाद या अर्द्धमात्रा रहती है।

२. निरधिष्ठान—

(क) इस स्थिति में शरीर नहीं रहता।

(ख) नाद प्रत्यागात्मा से अभिन्न परमात्मा या हंस में लीन हो जाता है।

(ग) यही प्रतियोगिविहीन अद्वैत ब्रह्म की अवस्था है।

(क) नि:श्वास = सकार = त्वम् का बोधक।

(ख) उच्छ्वास = हंकार = तत् का बोधक।

(ग) त्वम् + तत् का संयोग → अहंभाव का स्फुरण।

इसी की आख्या है—तत्त्वमसि। यही अजपा का रहस्योन्मीलन है।

कतिपय योगियों की यह दृष्टि यह भी है कि—

१. कुण्डलिनी शक्ति के जागृत होने पर तालुमूल से नाभि तक एक आकर्षण-विकर्षणात्मक क्रिया की अनुभूति होती है।

२. यदि उपर्युक्त अवस्था का उदय न हो तो यथार्थ अजपा जप सम्भव नहीं है।

अजपा जपविषयक ध्यातव्य बिन्दु

१. जप की संख्या से पराङ्मुख रहकर जप करना या जप की संख्या पर ध्यान रखकर जप करना आदि नियम भी अजपा जप के स्वरूप को उद्घाटित नहीं करते।

२. वाचिक, उपांशु एवं मानस आदि किसी भी क्रिया से जप करने या उससे विरत रहकर जप करने से भी अजपा जप उद्घाटित नहीं होता।

३. नाम चिन्मय तत्त्व है, यह आकाश के धर्म 'शब्द' से सम्बद्ध नहीं है; क्योंकि वह आकाश का गुण नहीं है।

४. नाम पूर्ण चेतन पारमात्मिक शक्ति है।

५. नाम स्वप्रयास स्वपुरुषार्थ या अपने बल से उदित नहीं होता।

६. यह शक्तिपातजन्य है। 'शक्ति' चाहे भीतर से उदित हो या बाहर से; किन्तु उदित होना आवश्यक है।

७. चिन्मयनाम सद्गुरु-कृपा-प्रसूत है।

८. अहङ्कारात्मा बद्ध जीव भगवान् के जाग्रत नाम का जप अपनी इच्छा से नहीं कर सकता। अजपा जाप के लिये शक्ति-सञ्चार प्राथमिक आवश्यकता है।

९. अजपा जप या नामजप में मन से पृथक् रहकर प्रकृतिक्रीड़ा का दर्शन करना होता है। इसमें जप करना नहीं होता, प्रत्युत होना होता है अर्थात् स्वघटित जप को देखना-मात्र होता है। 'मन' आवरण डालता है, खण्डित करता है; अत: मन के सहयोग से अखण्ड को कैसे पाया जा सकता है? जिस प्रकार श्वास-प्रश्वास के लिये कोई क्रिया नहीं करनी पड़ती, ठीक उसक प्रकार जब मन श्वास-प्रश्वास में लयीभूत होकर इस जप का 'द्रष्टा' बनकर मात्र देखने की क्रिया करता है और कोई भी क्रिया नहीं करता तभी

उस द्रष्टाभावापन्न मन के श्वास-प्रश्वास प्रेक्षात्मक जप को 'अजपा जप' कहा जाता है। श्वास-प्रश्वास के साथ 'नाम' ग्रथित या अनुस्यूत होकर स्वभावत: क्रिया करे और मन तटस्थ द्रष्टा बनकर उसका साक्षात्कार-मात्र करता रहे—यही 'अजपा जप' की क्रिया है।

१०. प्राणों का संयमन करने पर निर्बन्ध प्राण का उदय होता है। प्राणों का संयमन (नियन्त्रण) नव द्वारों का अवरोध है। इससे प्राणों का अन्तर्मुखी आकर्षण होने लगता है। देहात्मबोध एवं बाह्योन्मुखी संस्कारों का लोप होने पर अध्यात्मपथ के सारे प्रतिबन्धक हट जाते हैं।

श्वास-प्रश्वास तो विक्षेप है; अत: वे नाम (अजपा) के सहायक नहीं हैं तथापि काँटे से काँटा निकालने की क्रिया की भाँति श्वास-प्रश्वास का आश्रय लिया जाता है। धीरे-धीरे श्वास-प्रश्वासशून्य कुम्भकावस्था का उदय हो ही जाता है। इसी स्थिति में मन चाञ्चल्य छोड़कर बाह्य स्मृतिशून्य मनोलय की अवस्था में पदार्पण करता है। यही अवस्था अजपा जप की या तटस्थ द्रष्टाभाव की अवस्था कही जाती है।

११. अहं मन का साक्षी है। यह उसका नियामक है। हम भूलकर 'मन' के साथ अभेद स्थापित कर बैठे हैं; अत: हमारा मन ही अहं बन बैठा है। इससे मन इन्द्रियों की क्रियाओं के साथ अभेद स्थापित कर बैठता है और उनका नियन्ता न रहकर उनका गुलाम बन जाता है। इसी कारण जीव में कर्तृत्व-भोक्तृत्वरूप वाला मिथ्याभिमान जाग उठता है। साधना में साधक को अपने से मन को पृथक् करने एवं उससे पृथक् होने की साधना करनी पड़ती है।

सारी क्रियायें एवं सारी क्रीड़ायें केवल प्राण की क्रियायें हैं। इन्द्रियों का व्यापार भी प्राण का ही व्यापार है। ज्ञान एवं मन की क्रियाओं का आधार भी प्राण का ही व्यापार है। इस प्रकार ज्ञान का व्यापार, इन्द्रियों का व्यापार, कर्म का व्यापार, मन का व्यापार, सृष्टि के नि:शेष व्यापार एवं पिण्ड-ब्रह्माण्ड के सारे व्यापार प्राण के ही व्यापार हैं।

विश्वाभिनय का सञ्चालक प्राण ही तो है। प्राण ही विश्व के रङ्गमञ्च (रंगशाला) पर ही प्रकृति की समस्त क्रीड़ायें कर रहा है। चूँकि मन इस क्रीड़ा को देखकर स्वयं क्रीड़ा करने लगता है—यही सारे अनर्थ की जड़ है। मन को इन सारी क्रीड़ाओं का तटस्थ द्रष्टा बनकर उनका साक्षात्कार करना चाहिये। इसी प्रकार श्वास-प्रश्वासात्मक अजपा-जपात्मक नाम-जप का भी द्रष्टा बनकर निरीक्षण करना चाहिये। यहाँ 'करना' नहीं होना ही मूल तत्त्व है। मैं द्रष्टा होकर उसे देखता हूँ—पद्मपत्रमिवाम्भसा उसका साक्षात्कार करता हूँ—यह प्रेक्षादृष्टि होनी चाहिये। इससे आत्मा अभिनेता (कर्ता) का भाव खो देगा। यही शुद्ध मन का स्वरूप है।

१. शुद्ध मन = परमात्मा की शक्ति। योगमाया का परिणाम।

२. अशुद्ध मन = मलिन माया का परिणाम (कुछ करना-कराना, देखना-दिखाना, भोगना-भोग कराना, दु:ख देना एवं दु:ख सहना आदि सारी क्रियायें इसी अशुद्ध मन की क्रियायें हैं)।

अहं साक्षीभाव से प्राण एवं प्रकृति की क्रीड़ा देखे। यदि मन में साक्षीभाव का उदय नहीं होगा तो शुद्ध मन की प्राप्ति कभी सम्भव नहीं होगी। मलिन मन क्रीड़ा में आसक्त होकर अपने को एवं आत्मा को—दोनों को बन्धन में डाल देता है।

यदि मन को हटा दिया जाय तो द्रष्टा आत्मा बन जाती है; किन्तु उसका दर्शन सभी को अपने से अभिन्न रूप में देखना होता है।

(क) दर्शन की क्रिया—

१. मलिन मन की क्रिया = प्रत्येक क्रिया को अपने से अभिन्न मानकर देखना, उसका अभिनेता बन कर अभिनय करना → बन्धन (सुख, दु:ख, संसरण)।

२. शुद्ध मन की क्रिया = पिण्ड-ब्रह्माण्ड की समस्त क्रियाओं को अपने से भिन्न मानकर (तटस्थ द्रष्टा बनकर) देखना → (सुख-दु:ख से अतीत, मुक्ति)।

३. आत्मा की क्रिया = मन से विरत (मनशून्य) आत्मा सारे जगत् एवं उसकी समस्त क्रियाओं को अपने से अभिन्न मानकर देखती है; किन्तु इस अभेद-दर्शन से बन्धन नहीं होता → मुक्ति।

लीला (प्राण या प्रकृति की क्रियायें) देखने की वस्तु है। उसमें आसक्त होकर तदनुकूल लीलायें करने की वस्तु नहीं है। यदि रंगमंच पर अभिनेता हनुमान किसी को मार रहे हैं तो उसे देखिये, उन्हीं की भाँति आप भी किसी को मत मारने लगिये। 'लोकवत्तु लीला कैवल्यम्' (वेदान्तसूत्र) विश्व को भगवान् की लीलामात्र मानता है।

मन को हटा दीजिये तो आत्मा द्रष्टा बन जायेगी।

(क) रसास्वादनार्थ निर्मल मन रहना अनिवार्य है।

(ख) निर्मल मल के बिना रसास्वादन असम्भव है।

(ग) मनोन्मूलन होने पर जो भावातीतावस्था प्राप्त होती है, उसमें रसास्वादन सम्भव नहीं है। उसमें मात्र अखण्ड आत्मदृष्टि रहती है।

श्वास-प्रश्वास की क्रीड़ा प्राण की क्रीड़ा है। यह क्रीड़ा ब्रह्माण्ड में सर्वत्र चल रही है। शिव से शक्ति एवं शक्ति से शिव तक सर्वत्र यह क्रीड़ा चल रही है। शिव एवं शक्ति के वियोग-काल तक यह क्रिया कभी बन्द नहीं होती; किन्तु दोनों का मिलन होते ही यह क्रिया एवं श्वास क्रिया दोनों ही बन्द हो जाती है।

(ख) शिव और शक्ति का विरह—

१. आत्मा का मन से एवं मन का प्रकृति एवं प्राण से सम्बन्ध स्थापित होता है।

२. प्राण क्रिया, श्वास-प्रश्वास-क्रिया—प्राण एवं मन की क्रिया चलती रहती है।

३. अजपा जप चलता रहता है।

शिवशक्ति मिलन → प्राण एवं मन की निःशेष क्रियाओं एवं क्रीड़ाओं का अन्त, श्वास-प्रश्वास का अन्त तथा परमशान्त भाव का उदय।

यदि आत्मा अपनी शक्ति से द्रष्टा बनकर मन को दृश्य बनाता है तो मन भी द्रष्टा (तटस्थ) बनकर प्राण एवं उसकी क्रियाओं को अपना दृश्य बना सकता है। द्रष्टा बनकर तटस्थ भाव से प्राण की क्रीड़ायें देख सकता है। साधकों को चाहिये कि वे—

(क) मन को श्वास-प्रश्वास के निरीक्षण-कार्य में लगायें।

(ख) साधक मन की पृष्ठभूमि में स्थित हो जाय।

(ग) मन श्वास एवं प्राण के साथ कार्यरत रहता है; तथापि जब मन श्वास के साथ न चलकर उसकी गति का निरीक्षण करने लगता है, उस समय अहं में भी औदा-सीन्य आ जाता है और श्वास-गति में भी मान्द्य आ जाता है।

शिवशक्ति के मिलन की अवस्था—

१. प्राण एवं अपान में योग।

२. वायुओं का ऐक्य →

(क) समस्त विश्व रुक जाता है।

(ख) काल की गति रुक जाती है।

(ग) परम शान्ति का उदय होता है।

३. आत्म-विहार या आत्म-रमण की स्थिति—

(क) परमहंसावस्था या आत्मरमण की स्थिति आती है।

(ख) आत्मरमण—अपने साथ ही अपना विहार है। चूँकि उस समय दूसरा तो कोई होता नहीं—शिव-शक्ति मिल जाते हैं—शिव-शक्ति परस्पर अनुप्रविष्ट रहते हैं—यही स्थिति आत्मारामावस्था है।

अजपा जापसम्बन्धी प्रयोग एवं अनुभव

इस अजपा-विधान में सर्वप्रथम यम-नियमों के पालन की आवश्यकता है, किन्तु मुख्यतया इसमें ब्रह्मचर्य के पालन की आवश्यकता है। ब्रह्मचर्य में एक बार के स्खलन से छः मासों की साधना व्यर्थ चली जाती है।

१. ब्रह्मचर्य—ब्रह्मचर्य का पालन इस अजपा-विधान की प्रथम शर्त है। एक दिन की त्रुटि सारे प्रयास को निरर्थक कर देगी।

२. श्वास-प्रेक्षा—यह साधना कुछ न करने की ध्यान-साधना है। इसमें साधक को चाहिये कि वह कुछ भी न करे; केवल अपने श्वास-प्रश्वास की गति का निरीक्षण करता रहे।

साधकों का अनुभव है कि हममें से कोई भी व्यक्ति यथानियम एवं स्वाभाविक रीति से श्वास नहीं ले पाता। मन में उत्पन्न मानसिक उद्वेग श्वास-गति में अव्यवस्था एवं गतिरोध उत्पन्न कर देते हैं। इसके कारण श्वास-गति कभी तीव्र हो जाती है और कभी शरीर के किसी भाग में अवरुद्ध हो जाती है। यदि श्वास-गति स्वाभाविक रूप से चले तो प्राण की गति रुक जायेगी तथा प्राणायाम क्रिया एवं समाधि स्वयमेव निष्पन्न हो जायेगी।

३. श्वास-क्रिया के स्वाभाविक रूप से चलने के उपाय—इसका सरलतम उपाय यह है कि श्वास क्रिया का अनुसरण करता हुआ ही मन गति करे। मन श्वास क्रिया का सूक्ष्म निरीक्षण करता रहे।

श्वास की स्वाभाविक गति में व्यवधान न डाला जाय। देखना केवल यह है कि श्वास किस मार्ग से भीतर जाता है, कहाँ तक जाता है तथा कैसे लौटकर किस मार्ग से बाहर निकलता है? वह बाहर निकल कर कहाँ तक जाता है और पुनः खिंचकर किस मार्ग से कहाँ तक भीतर जाता है—प्राण की इस क्रिया या गति का निरन्तर निरीक्षण करते रहना है।

४. श्वास-गति को देखने के लिये न तो श्वास गति को तीव्र करे, न ही मन्द। मन किसी भी तरह श्वास-प्रश्वास की गति का साथ न छोड़े।

५. यदि कोई दृश्य दिखाई पड़ने लगे या मन में कल्पना ही आने लगे तो उसे भी न हटाये; प्रत्युत मन को वहाँ से न हटाये। ध्यान केवल श्वास की गति पर केन्द्रित रहे। यदि मन हट जाय तो उसे पुनः वहीं जाकर लगा दे।

६. 'राम' शब्द का विन्यास—श्वास के बाहर आने के समय यह कल्पना की जानी चाहिये कि 'रा' का उच्चारण हो रहा है तथा भीतर जाने के समय यह चिन्तन करना चाहिये कि 'म' का उच्चारण हो रहा है। इस प्रकार प्रत्येक श्वास-प्रश्वास के साथ राम नाम का उच्चारण होते रहने पर ध्यान केन्द्रित किया जाना चाहिये। महात्मा तुलसीदास कहते हैं—

तुलसी रा के कहत ही निकसत सकल बिकार।
पुनि आवन पावत नहीं देत मकार किवार।।

७. ध्यातव्य बिन्दु—इस साधना का मूल तत्त्व है—एकनिष्ठ श्वास-प्रेक्षण (श्वास-ध्यान)। पहले तो श्वास के आवागमन का मार्ग दृष्टिगोचर ही नहीं होता कि वह किधर से होकर भीतर जाता है और किस मार्ग से बाहर निकलता है तथापि घबड़ाकर साधना छोड़ नहीं देनी चाहिये।

दस-पन्द्रह दिनों के निरन्तर, किन्तु अबाध साधना से श्वास के आवागमन का मार्ग दृष्टिगोचर होने लगता है।

कभी-कभी श्वासगति में तीव्रता (वृद्धि) भी हो जाती है; किन्तु उसमें परिवर्तन (कम करने का प्रयास) भी निषिद्ध है। धीरे-धीरे वह स्वयं ठीक हो जाएगा। साधक का प्रधान कार्य है—श्वास की गति का अनवरत निरीक्षण।

८. **अभ्यासारम्भ और अभ्यास-काल**—अभ्यासारम्भ तो किसी भी मास में कभी भी किया जा सकता है; किन्तु शुभ मुहूर्त हो तो और अच्छा रहेगा।

साधनारम्भ में साधन का समय आधा घण्टा रखा जाय और धीरे-धीरे एक घण्टे तक (साधना का) नित्य अभ्यास करना चाहिये। एक घण्टे पर्यन्त अभ्यासोपरान्त साधक को चाहिये कि वह लेट जाय तथा शवासन से लेटकर साधना करता रहे। एक घण्टे तक मनोराज्य के काल्पनिक दृश्य तो अवश्य आते रहेंगे, किन्तु तदुपरान्त बन्द हो जायेंगे।

साधना की इस स्थिति पर पहुँचने पर साधक जो कुछ भी देखता है, वह गोपनीय है। उसे बताना ठीक नहीं है। किन्तु जो कुछ भी दिखाई पड़े, उसपर ध्यान न देकर मात्र श्वास की गति पर ध्यान केन्द्रित रखना चाहिये।

साधना के समय घबड़ाना या भयभीत होना भी निषिद्ध है। साधना के समय सन्दृष्ट दृश्यों की दिदृक्षा भी नहीं होनी चाहिये। यदि उसे देखने की इच्छा करेंगे तो वह दूर चली जाएगी।

एक चौकी पर कोमल विछावन बिछाकर और तकिया लगाकर शवासन में लेटते हुये (मच्छरों की समस्या हो तो मसहरी लगाकर लेटते हुये) अभ्यास कीजिए।

अभ्यास के समय नीरव शान्ति आवश्यक है। वहाँ कोई कोलाहल एवं शब्द न हो। यदि शब्द या ध्वनि तीव्र रूप से सुनाई पड़ी तो साधक की मृत्यु भी हो सकती है। अभ्यास के समय यदि साधक को उठाना ही हो तो अत्यन्त मधुर एवं मन्द ध्वनि के साथ जागृत किया जाय।

अभ्यासोपरान्त थोड़ा सा घृत-सेवन भी आवश्यक है। ऐसा करने पर समान वायु का भेदन होकर प्राण एवं अपान में एकता स्थापित हो जाएगी।

इस साधना के समय खेचरी मुद्रा भी लगा ली जाय तो अत्युत्तम रहेगा; क्योंकि निद्रा आते ही खेचरी खुल जाएगी और साधक साधना-काल में निद्रा-बाधित नहीं रहेगा।

इस साधना के मूल तत्त्व हैं—१. ब्रह्मचर्य २. अत्रुटित निरन्तर साधना ३. श्वास-प्रेक्षण ४. श्रद्धा और ५. उत्साह।

विजयकृष्ण-कुलदानन्द की अजपा-साधना—विजयकृष्ण-कुलदानन्द की नाम-साधना वही साधना है, जो कि ब्रह्मा, महादेव, नारद, दत्तात्रेय, वसिष्ठ, ध्रुव, प्रह्लाद तथा अन्य ऋषियों एवं मुनियों ने की थी। यह साधना मूलतया भगवान् लक्ष्मी-

नारायण द्वारा प्रवर्तित साधना है। गौराङ्ग महाप्रभु ने इस साधना का उपदेश अपने अन्तरङ्ग शिष्यों को दिया था।

इसी साधना को श्रीविजयकृष्ण ने अपने गुरु परमहंस ब्रह्मानन्द जी से गयाआकाश-गंगा पहाड़ पर प्राप्त किया था। यह नाम-साधना अचिन्त्य एवं अप्राकृत शक्ति-सम्पन्न नाम-साधना है। इसे ही गोस्वामी जी ने अपने शिष्य कुलदानन्द को प्रदान किया था।

यह नाम-साधना श्वास-प्रश्वास से नामजप करने की अजपा साधना है। यह भी कहा गया है कि इस पद्धति से जप करने की पद्धति या कौशल गुरु से ही ग्रहण करनी चाहिये। यह गोपनीय है; अतः गुरुगम्य है। इसका मूल स्वरूप है—श्वास-प्रश्वास द्वारा नाम-जप।

श्वास-प्रश्वासात्मक नामजप का वैज्ञानिक रहस्य

इस साधना के रहस्य अत्यन्त चमत्कारपूर्ण हैं। इसकी देहतत्त्वात्मक एवं मनोविज्ञानसम्मत विचित्रतायें भी हैं।

श्वास-प्रश्वास ही देह का प्राण है। प्राण के रहने से ही शरीर में आत्मा का निवास है। आत्मा में ही मन है। देह के साथ आत्मा का भी सम्बन्ध है। श्वास-प्रश्वास के साथ मन का भी सम्बन्ध है। आत्मा परमात्मा का अंश है। एक बूँद जल जिन वस्तुओं की समष्टि है, महासमुद्र का समस्त जल भी उन्हीं वस्तुओं की समष्टि है। अतः आत्मा भी पूर्णतया परमात्मा ही है। जीवात्मा संस्कारबद्ध है या संस्कारों की समष्टि है। देह का प्रत्येक अणु-परमाणु—रस, रक्त, मांस, मेद आदि संस्कारानुगत एवं संस्कारमय हैं। श्वास-प्रश्वास शरीर की एक-एक शिरा में जाकर ७२ हजार नाड़ियों में पहुँचकर रक्तशोधन करता है और प्रश्वास के द्वारा शरीर के मल को कार्बन डाई आक्साइड के रूप में बाहर निकालता है। श्वास-प्रश्वास की क्रिया रक्तशोधन तथा रक्त एवं शरीर के मलों का बहिःनिस्सारण है।

रक्त, शरीर एवं मन—रक्त की क्रिया स्थूल रूप में शरीर पर एवं सूक्ष्म रूप में मन के ऊपर होती है। रक्त के अनुसार ही शरीर एवं मन का निर्माण होता है। रक्त जितना ही शुद्ध होगा, मन भी उतना ही शुद्ध होगा। देह का मन के साथ भी सम्बन्ध है। श्वास-प्रश्वास के साथ-साथ नाम का संयोग करने पर श्वास के नाम भी ७२००० नाड़ियों में घूमकर एवं उन्हें भी पवित्र करके प्रश्वास के माध्यम से (सारे रक्त को पवित्र करता हुआ) बाहर निकलता है।

(क) श्वास → रक्त का शुद्धिकरण।

(ख) (श्वासानुयायी) नाम-जप → रक्त, नाड़ी-तन्त्र एवं शरीर का शुद्धिकरण।

(ग) नाममय रक्त की क्रिया → मन की शुद्धता, उसकी नाममयता एवं उसका पवित्रीकरण।

(घ) (नामप्रेमी का मन नाम के साथ स्वभावत: श्वास-प्रश्वास के साथ अनुस्यूत होकर) श्वास-प्रश्वास के साथ निरन्तर नामजप स्वभावत: चलने लगता है (राम हमारा जप करैं मैं पाया बिसराम)।

(ङ) इस अजपा-विधान में नाम जब श्वास-प्रश्वास के साथ जपा जाने लगता है तो नाम अपने-आप चलता रहता है। जप करने की आवश्यकता नहीं रहती। इस जप में नाम जपा नहीं जाता; जप स्वभावत: अपने-आप होता रहता है।

परिणाम—१. संस्काराच्छादित शरीर, २. संस्कारानुक्रान्त मन एवं ३. संस्कारानुविद्ध आत्मा—तीनों भगवन्नाम के संस्कार के कारण अहं-संस्कार से मुक्त हो जाते हैं।

अजपा जप एवं ध्यान—अजपा-जप की इस पद्धति में पृथक् से कोई ध्यान-विधान नहीं है। इस जप का लक्ष्य भगवान् (भग = ऐश्वर्य, षडैश्वर्यपूर्ण पूर्णतम परमात्मा) हैं। पूर्ण (सम्पूर्ण) को पाये बिना अभावरूप कष्ट कभी नष्ट नहीं होता। पूर्ण (सम्पूर्ण) केवल परमात्मा और उसका नाम है। वही पूर्ण एवं परा शान्ति है। वे अनन्तरूपात्मक हैं; उनका एक रूप तो है नहीं। इस साधन में किसी रूप या मूर्ति के ध्यान का नियम नहीं है।

नाम-नामी में अभेद है; अत: नाम-साधना से नामी की भी प्राप्ति हो जाती है। नाम ही में नामी का रूप रहता है, नाम ही नामी की मूर्ति या रूप है। नाम-नामी एक हैं।

नामाराधन (नाम का स्वाभाविक जप)

१. अजपा-साधक प्रत्येक श्वास-प्रश्वास के साथ नाम का जपाभ्यास करता है। नाम नीरस भी प्रतीत होता है। इस नीरसता रोग की औषधि भी नाम-जप ही है।

(क) पित्तदोष के शमनार्थ मिश्री-सेवन का विधान है। प्रारम्भ में मिश्री भी कड़वी लगती है; किन्तु बाद में (पित्तदोष में कमी आते जाने पर) मिश्री मीठी लगने लगती है। उसी प्रकार प्रारम्भ में नाम कड़वा लगता है; किन्तु धीरे-धीरे मीठा लगने लगता है।

(ख) श्वास-प्रश्वास के साथ नाम-जप करते रहने पर नाम श्वास-प्रश्वास के साथ घुल-मिल जाता है। ऐसी स्थिति में श्वास-प्रश्वास नाम-जप छोड़कर शेष कार्य करते ही नहीं।

(ग) इस स्थिति में 'मैं जप कर रहा हूँ' इसका पता भी नहीं चलता। श्वास-प्रश्वास चलते रहने के साथ ही नाम भी चलता रहता है।

(घ) उस समय श्वास-प्रश्वास ही नाम-जप एवं नाम-जप ही श्वास-प्रश्वास हो जाता है।

(ङ) इस जप-विधान में प्राणायाम की क्रिया स्वत: चलने लगती है। इस समय मन की चञ्चलता नष्ट हो जाती है और चित्तवृत्तियों के निरुद्ध हो जाने से मन सुस्थिर हो जाता है। मन:स्थैर्य के कारण श्वास-प्रश्वास भी स्थिर हो जाता है तथा कुंभक स्वत: होने लगता है। फिर क्रमश: नाम-जप भी बन्द हो जाता है। इस नामजप के अवरुद्ध

हो जाने पर साधक नाम का साक्षात्कार करता है।

सारांश यह कि इस समय नाम-धारणा नाम-ध्यान में रूपान्तरित हो जाती है। कुंभक के स्थायी होने पर पञ्चकोषों के भेदनोपरान्त 'नाममय हम' एवं 'नाममय नामी' की भिन्नता का बोध रहने तक सविकल्प एवं उनकी अभिन्नता का बोध होने पर निर्विकल्प समाधि होती है। यह क्या है? यही है—

(क) वैष्णवों का भगवच्चरणों में आत्मसमर्पण।

(ख) योगियों की निर्विकल्पात्मक समाधि।

(ग) बौद्ध साधकों का निर्वाण।

इस साधना में साफल्य का मूल है—ईश्वरानुकम्पा, भगवन्नाम के प्रति सश्रद्ध प्रेम एवं भगवान् के प्रति कातर भाव।

अनुभूतियाँ एवं सिद्धियाँ—

१. प्राथमिक धरातल पर साधकों की महापुरुषों एवं देव-देवियों के दर्शन, कुलदेवता या इष्टदेवता का साक्षात्कार होता है।

२. इसके बाद सृष्टि किस प्रकार हुई?—इनके रहस्यों का उद्घाटन होता है।

३. धीरे-धीरे आत्मा माया एवं संस्कारों से मुक्त हो जाता है।

४. सब कुछ नाममय, नामीमय, ब्रह्ममय हो जाता है तथा भगवल्लीला का साक्षात्कार होता है।

५. ब्रह्मचर्य आदि सहज ही सध जाते हैं।

६. सुषुम्नामार्ग अल्पायास से ही शुद्ध हो जाता है।

७. ऊर्ध्वरितसत्व की प्राप्ति होती है।

८. कुलकुण्डलिनी का जागरण, षट्चक्रभेदन एवं आज्ञाचक्र के पुरुष के साथ योग—आदि शीघ्र ही सम्पन्न हो जाता है। अन्ततः सहस्रारावस्थान होता है।

सम्पूर्ण को पाये बिना अभाव मिट नहीं सकता और अभाव के मिटे बिना दुःख मिट नहीं सकता। सम्पूर्ण केवल दो हैं—नामी एवं नाम। इसी कारण इस साधना में नाम की साधना का इतना महत्त्व है।

इस साधना से प्राणायाम, आसन, कुंभक, त्राटक, पञ्चभूतों में दृष्टि-साधन आदि समस्त क्रियायें सिद्ध हो जाती हैं।

नाम-साधना के कतिपय नियम

गोस्वामी विजयकृष्ण ने ढाका-स्थित अपने आश्रम के अपने कुटीर की दीवार पर नाम-साधन के समय नाम में रुचि उत्पन्न करने में सहायक निम्न तत्त्वों को उल्लिखित किया था—

१. अपनी बड़ाई मत करो।

२. दूसरों की निन्दा मत करो।

३. अहिंसा परमो धर्मः।

४. सभी जीवों पर दया करो।

५. शास्त्रों-महापुरुषों पर विश्वास करो।

६. शास्त्र-महापुरुषाचरण-विरुद्ध कोई कार्य न करो।

७. नाहंकारात् परो रिपुः।

८. वीर्य-धारण, वीर्यरक्षा एवं सत्यपालन आवश्यक है।

९. स्वाध्याय, तपस्या एवं शौच आवश्यक दान भी है।

(क) स्वाध्याय—अध्ययन एवं गुरुप्रदत्त इष्ट मन्त्र या नाम का श्वास-प्रश्वासात्मक जप।

(ख) तपस्या—सभी अवस्थाओं में धैर्य के साथ नाम-साधन में बार-बार चेष्टा करते रहना।

(ग) शौच—सर्वावस्थाओं में पावित्र्य। बाह्य एवं आन्तर दोनों पावित्र्य। शरीर, मन की पवित्रता।

(घ) दान—प्रतिदिन कुछ न कुछ दान करते रहना। दया-सहानुभूति ही दान का कारण है। किसी के क्लेशों को दूर करना ही दान है। मधुर भाषण भी दान है।

—ये सारे नियम श्वास-प्रश्वासात्मक नामजप के सहायक तत्त्व हैं।

१०. शम = मन की साम्यावस्था भी आवश्यक है।

११. दम = सदा सभी विषयों में सन्तुष्ट रहना भी आवश्यक है।

१२. विचार = विवेक। सभी अवस्थाओं में सत्-असत्, शुभाशुभ, अच्छे-बुरे का चिन्तन भी आवश्यक है।

भगवान् को लक्ष्य करके जो भी किया जाय वह सत् है, शेष सभी असत् हैं।

१३. सत्संग = सद् ग्रन्थ एवं साधु-सन्तों का संग भी आवश्यक है।

एक मास में सिद्धि-प्राप्ति के उपाय

गुरुप्रदत्त नाम का श्वास-प्रश्वास के साथ जप करना विजयकृष्ण-कुलदानन्द की नाम-साधना है। यहाँ गुरुनिष्ठा एवं सद्गुरु को भगवान् मानना भी उपदिष्ट है।

गोस्वामी विजयकृष्ण द्वारा उपदिष्ट पद्धति—एक मास काल-व्यवस्थानुरूप नियम में रहकर निर्दिष्ट प्रणाली द्वारा साधन करने पर साधक को सिद्धि अवश्य प्राप्त हो जाएगी। नियमों का पालन आवश्यक है। नियम हैं—

१. लोक-सङ्ग, स्त्रियों को देखना, उनका स्पर्श, उनके विषय में कुछ भी सुनना या चिन्तन—सभी का त्याग। पूर्ण ब्रह्मचर्य।

२. एकान्त में शुद्ध भाव से, दिन में केवल एक बार, स्वपक्व एवं बिना उबले

चावल का भात खाना एवं भोजन अपने से बनाना।

३. भूमि-शयन करना चाहिये। हाथ का तकिया लगाना चाहिये।

४. यथानियम मुद्रा-बंध, अहर्निश सिद्धासनस्थ होकर प्राणायाम (कुंभक) के साथ नाम-साधन करणीय है।

५. कम से कम तीन दिन भी यह साधना कर ली जाय तो अन्य लोगों के लिये दुर्लभ विशिष्ट अवस्था प्राप्त हो जाएगी।

६. किसी भी सम्प्रदाय का कोई भी व्यक्ति अपनी कुलक्रमागत रीति-नीति के अनुसार अजपा नाम का साधन कर सकता है।

श्रीविजयकृष्ण स्वयमेव वैष्णव थे। उनका संन्यासाश्रम का नाम अच्युतानन्द सरस्वती था।

Breathe the name of God ईसाइयों में भी प्रचलित है। बौद्ध धर्म के 'विशुद्धि मग्ग' एवं त्रिपिटकों के 'कायगतासति' की पद्धति में 'अनापानासति' (श्वास-प्रश्वास में मनःसंयोग द्वारा साधना करना) की साधना अजपा जप का ही एक रूप है।

बुद्धदेव की दृष्टि क्या है? बुद्धदेव कहते हैं—एकायनो अयं भिक्ख वे निव्वानस्स .... सच्छि किरियाय यदिदं चत्तारो सति पट्ठानो (निर्वाणार्थ यही एकमात्र पथ है)।

विजयकृष्ण की नाम-साधना की विशिष्टता यह है कि यहाँ विदर्शन-भावना के स्थान पर गुरुप्रदत्त अप्राकृतिक शक्तिसंयुक्त नामजप किया जाता है।

'सुखमनी' में नानक कहते हैं—नानक सो सेवक श्वास-श्वास समारै। भगवान् के प्रति श्वास-प्रश्वास में स्मरण करने का यह विधान सिक्ख धर्म में भी है—श्वासि ग्रासि हरि नाम समाल। प्रतिश्वास एवं प्रतिग्रास नामस्मरण करना चाहिये।

सूफियों की साधना-पद्धति—सूफियों की साधना-पद्धति में सुलतानुल अज़कार' नाम-साधना की उस पद्धति को कहते हैं, जिसमें श्वास के साथ 'अल्लाह' मस्तिष्क में श्वासस्थापन के समय 'हूँ' के जप का विधान है। विधि है—

१. आँख, कान, नाक एवं मुख को हाथ की ऊँगलियों से बन्द करके श्वास नाभि से खींचे एवं मस्तक तक ले जाय। वहाँ श्वास रोककर कुंभक करे।

२. श्वास को नाभि के नीचे से ऊपर ले जाते समय 'अल्लाह' कहे एवं श्वास को मस्तिष्क में स्थापित करते समय 'हू' कहे। 'हू' करते समय आँख को हृदय की ओर स्थिर करे। अन्त में नाक के द्वारा श्वास निकाल दे।

इस साधना के अनेक रूप हैं। यह साधना भी अजपात्मक नाम-जप के श्वास-प्रश्वास द्वारा नाम-जप से मिलती-जुलती साधना है।

विसुद्धिमग्ग की दृष्टि एवं बौद्ध ध्यानयोग—विसुद्धिमग्ग नामक ग्रन्थ के ७-८ परिच्छेदों में ध्यान की एक विशिष्ट पद्धति की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है

और १० अनुस्मृतियों में उसे 'आनापानानुसति' (प्राणायाम) की आख्या दी गई है। दीघनिकाय में भी 'अनुसति' का वर्णन किया गया है।

इस प्रक्रिया के अनन्तर एकान्त स्थान में बैठकर आश्वास-प्रश्वास पर ध्यान देना चाहिये।

(क) आश्वास नाभि से प्रारम्भ होता है।

(ख) आश्वास नाभि से हृदय में जाकर नासिकाग्र से बाहर निकलता है।

(ग) इस प्रकार इसके ३ भाग हैं—१. आदि २. मध्य ३. अन्त।

दीघनिकाय के महासतिपट्ठानसुत्त (२.९) के अनुसार—उपचारसमाधि एवं अर्पणा-समाधि में सिद्धि पाने के लिये एकाग्रता आवश्यक है। इसकी विधि इस प्रकार है—

साधक भिक्षु एकान्त एवं शान्तिपूर्ण स्थान में बैठकर श्वास के प्रश्वास (प्रस्सास) एवं आश्वास (आसास) पर अपने चित्त को केन्द्रित करे, जिससे कि वह श्वास की तीव्र एवं मन्द गति से परिचित हो सके। श्वास गति से परिचित होने के लिये उसकी गणना करनी चाहिये, जिससे कि वह सम्पूर्ण श्वासक्रिया पर अपने चित्त को एकाग्र कर सके। इसे ही 'आनपानसति' कहते हैं। इसके बाद की अवस्था की संज्ञा है—ब्रह्मविहार।

बौद्ध-साधना में 'विपश्यना' का विशेष महत्त्व है। विपश्यना की साधना करते-करते साधक 'सकृदागामी' और 'अनागामी' के साधना-शिखरों को अतिक्रान्त करके अन्तिम अवस्था 'अर्हन्त' की अवस्था प्राप्त कर लेता है। 'णमो अरिहन्ताणं' अब नमन का विषय नहीं; प्रत्युत स्वस्वरूप का अङ्ग बन जाता है।

इसी विपश्यना की साधना से सर्वप्रथम तथागत के पाँच ब्राह्मण तपस्वियों ने एक सप्ताह के भीतर मुक्ति प्राप्त की। बुद्ध विपश्यना विद्या के अभ्यास की शिक्षा देते रहे और इसके अभ्यास से कितने ही सकृदागामी, अनागामी और अरहन्त होते रहे। मध्य काल में यह विद्या विलुप्तप्राय हो गई थी।

इस विधि में श्वास के बाहर से आने एवं नासिका तथा हृदय के माध्यम से नाभि तक जाने एवं नाभि से चलकर हृदय में आने एवं फिर नासिका-मार्ग से बाह्याकाश में लयीभूत हो जाने-सम्बन्धी श्वास-प्रश्वास के आवागमन क्रिया पर पूरा ध्यान केन्द्रित किया जाता है।

(अति सामान्य साधक इसे इस प्रकार भी कर सकते हैं—श्वास के अन्दर आने पर पेट (नाभि के पास के उदरस्थल) के फूलने एवं श्वास के बाहर निकलने पर इस स्थल के पचकने पर ध्यान देने से विपश्यना का साधनारम्भ करें और बाद में इसके आरोहावरोह के सूक्ष्म सोपानों पर भी ध्यान केन्द्रित करें।)

शास्त्रों में अजपामन्त्र को हंसमन्त्र, सोऽहं मन्त्र, अजपा मन्त्र, अजपा गायत्री, आत्म-मन्त्र, अनाहत मन्त्र, पुंप्रकृतिमन्त्र, ब्रह्ममन्त्र, जीवमन्त्र, प्राणमन्त्र, विद्यामन्त्र, शिवशक्तिमन्त्र एवं मन्त्रयोग आदि कहा गया है।

उपनिषदों एवं अन्य शास्त्रों की दृष्टियाँ—उपनिषदों एवं अन्य शास्त्रों में भी इस मन्त्र-साधना का प्रतिपादन किया गया है—

१. योगशिखोपनिषद्—

सकारेण बहिर्याति हकारेण विशेत् पुनः।
हंस हंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा।।

२. योगचूड़ामणि उपनिषद्—

अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः।
अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति।।

३. तन्त्रसार—

बिभर्ति कुण्डलीशक्तिरात्मानं हंसमाश्रिता।
हंसः प्राणाश्रयो नित्यं प्राणा नाडीपथाश्रयाः।।

४.रुद्रयामलतन्त्र—

हं पुमाञ्छ्वासरूपेण चन्द्रेण प्रकृतिस्तु सः।
एतद्धंसं विजानीयात् सूर्यमण्डलभेदकः।।

५. सूत-संहिता—

हंसविद्यामविज्ञाय मुक्तौ यत्नं करोति यः।
स नभोक्षणणेनैव क्षुन्निवृत्तिं करिष्यति।।

६. गरुड़पुराण—

आत्मनः परमं बीजं हंसाख्यं स्फटिकामलम्।

७. शाक्तानन्दतरंगिणी—

हंसेन मनुना देवि ब्रह्मरन्ध्रं नयेत् सुधीः।

(क) नानक—स्वास स्वास प्रभु तुमहिं धियावउँ।

(ख) कबीर—(कबिरा)

अजपा सुमिरन होत है सुन मँडल अस्थान।
कर जिह्वा तहाँ ना चलै, मन पंगू तहँ जान।।

(ग) दादू—दादू सहज सरोवर आतमा, हंसा करै किलोल।

(घ) यारी—

घट में प्रान-अपान दुहाई। अरध आवै अरु अरध जाई।
लेके प्रान अपान मिलावै। वाहि पवन तें गगन गरजावै।।

(ङ) बुल्लेशाह—बुल्लेशाह नाल लाई बाजी। अनहद सबद बजाया है।

(च) दादू—सरीर माँई सोधी साँई अनहद ध्यान लागई।।

योगचूड़ामण्युपनिषद् के अनुसाद इस मन्त्र का नाम अजपा गायत्री भी है और हंस-मन्त्र भी है। इसके समान न तो कोई दूसरी विद्या है और न कोई दूसरा जप है। न इसके समान कोई ज्ञान ही है—न तो हुआ और न तो भविष्य में कभी होगा ही। यह अजपा गायत्री प्राणधारिणी प्राणविद्या है, जो कि कुण्डलिनी से उत्पन्न हुई है—

अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदा सदा।
अस्याः सङ्कल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते।।
अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः।
अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति।।
कुण्डलिन्या समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी।
प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स वेदवित्।।
हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत् पुनः।
हंस हंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा।।

हंसविद्या और नादबिन्दूपनिषद् की दृष्टि—नादबिन्दूपनिषद् में प्रणव को पञ्चाङ्गात्मक मानकर हंसविद्या का इस प्रकार निरूपण किया गया है—

प्रणवात्मक हंस

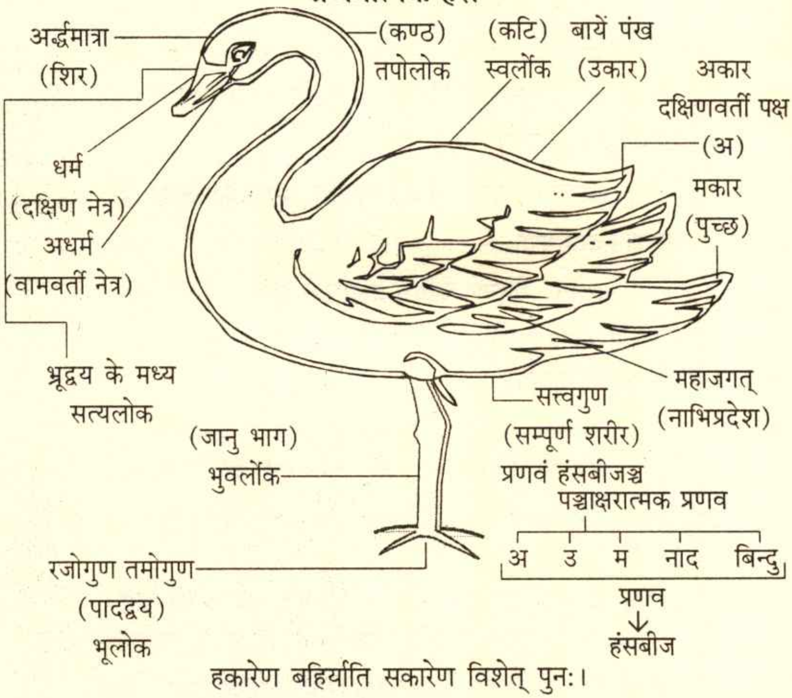

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत् पुनः।

प्रणव (ॐकार) के साथ पुरुष-प्रकृतितत्त्व के सम्मिलन से (प्राणायामपूर्वक) हंस शब्द आविर्भूत होता है—

ॐ अकारो दक्षिण: पक्ष उकारस्तूत्तर: स्मृत:।
मकारस्तस्य पुच्छं वा अर्द्धमात्रा शिरस्तथा।।
पादौ रजस्तमस्तस्य शरीरं सत्त्वमुच्यते।
धर्मश्च दक्षिणं चक्षुरधर्मश्चोत्तरं स्मृतम्।
भूर्लोक: पादयोस्तस्य भुवर्लोकस्तु जानुनी।।
स्वर्लोक: कटिदेशे तु नाभिदेशे महाजगत्।
जनलोकस्तु हृदये कण्ठदेशे तपस्तत:।।
भ्रुवोर्ललाटमध्ये तु सत्यलोको व्यवस्थित:।
सहस्रार्णमनीत्यत्र मन्त्र एष: प्रदर्शित:।।
एवमेनं समारूढो हंसयोगविचक्षण:।
न बध्यते कर्मचारी पापकोटिशतैरपि।।

(नादबिन्दूपनिषद्)

हंसरूपात्मक यह प्रणव-साधना अन्य सहस्रों मन्त्रों की साधना से भी श्रेष्ठतर है। जो साधक हंसमन्त्र के जप से प्रणवरूपी हंस पर आरोहण करता है, वह करोड़ों पापों से मुक्त हो जाता है।

हंसोपनिषद् और अजपा जप—हंसोपनिषद् में कहा गया है कि प्रत्येक जीव प्रतिदिन दिन-रात निश्वास-प्रश्वास क्रिया के द्वारा अजपा जप (हंस नामक अजपा जप (इक्कीस हजार छ: सौ संख्या में) का जप किया करता रहता है—

एकविंशतिसहस्रषट्शताधिकमीश्वरि ।
जपते प्रत्यहं प्राणी सान्द्रानन्दमयीं पराम्।।
विना जपेन देवेशि! जपो भवति मन्त्रिण:।
अजपेयं तत: प्रोक्ता भवपाशनिकृन्तनी।।

निश्वास-प्रश्वासात्मक हंस नामक अजपा जप का जप सायास नहीं, प्रकृत्या ही अहर्निश होता रहता है।

ब्रह्म पुरुषप्रकृत्यात्मक है। देहरूपी तालाब में आत्मा हंस के रूप में तैरती रहती है। अत: हंस शब्द आत्मोपलब्धि का द्वार है। हंसबीज के उद्बुद्ध हो जाने पर आत्मा सूर्यमण्डल में प्रकाशित हो उठती है। जप-क्रिया में यही हंस शब्द विपरीतक्रम से सोऽहं बीज के रूप में प्रकट हो जाता है। इस स्थिति में क्रियांशात्मक स-ह वर्णद्वय भी लुप्त हो जाते हैं और मात्र ॐ अवशिष्ट रह जाता है।

रुद्रयामलतन्त्र और हंसयोगात्मक अजपा जप—इस मन्त्र को ही अजपा

गायत्री, हंसविद्या, आत्ममन्त्र एवं प्राणयज्ञ आदि कहा गया है। रुद्रयामल में इस जप का विधान इस प्रकार है—

प्रणवाज्जायते हंसो हंसः सोऽहं परो भवेत्।
सोऽहं ज्ञानं महाज्ञानं योगिनामपि दुर्लभम्।।
निरन्तरं भावयेद् यः स एव परमो भवेत्।
हं पुमान् सः स्वरूपेण चन्द्रेण प्रकृतिस्तु सः।।
एतद्धंसं विजानीयात् सूर्यमण्डलभेदकम्।
विपरीतक्रमे सैव सोऽहं ज्ञानं यदा भवेत्।।
तदैव सूर्यगः सिद्धो वासुदेवप्रपूजितः।
हकारार्णं सकारार्णं लोपयित्वा ततः परम्।
सन्धिं कुर्यात् ततः पश्चात् प्रणवोऽसौ महामनुः।।

स्कन्दपुराण की वैष्णवसंहिता के पाँच अध्यायों में प्रणव-साधना का अत्यन्त विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है और उसमें—१. प्रणवकवच २. प्रणवहृदय ३. प्रणव-पुरश्चर्या ४. प्रणवाष्टोत्तरशतनाम ५. प्रणवगायत्री ६. प्रणवमालामन्त्र ७. प्रणवस्तोत्रराज ८. प्रणवगीता ९. प्रणवसहस्रनाम आदि की भी पुष्कल विवेचना की गई है।

श्रीधर स्वामी की दृष्टि—गीता के (४.२६) श्लोक 'अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे' की व्याख्या करते हुये श्रीधरस्वामी ने पूरक-रेचक में अवस्थित हंसमन्त्र और अनुलोम-प्रतिलोम द्वारा उसके सोऽहं रूप में परिणति की अच्छी व्याख्या की है।

उत्तरगीताकार भगवान् श्रीकृष्ण की दृष्टि—अर्जुन के द्वारा प्रश्न करने पर भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को उत्तर देते हुये हंसात्मक आत्ममन्त्र के विषय में अपनी दृष्टि इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

आत्ममन्त्रस्य हंसस्य परस्परसमन्वयात्।
योगेन गतकामानां भावना ब्रह्म चक्षते।।
शरीरिणामजस्यान्तं हंसत्वं पारदर्शनम्।
हंसो हंसाक्षरं चैव कूटस्थं यत्तदक्षरम्।।
तद्विद्वानक्षरं प्राप्य जह्यान्मरणजन्मनी।।
काकीमुखककारान्त उकारश्चेतनाकृतिः।
अकारस्य च लुप्तस्य कोऽर्थः सम्प्रतिपद्यते।।
गच्छंस्तिष्ठन् सदाकालं वायुस्वीकरणं परम्।
सर्वकालप्रयोगेण सहस्रायुर्भवेन्नरः।
यावत्पश्येत् खगाकारं तदाकारं विचिन्तयेत्।।
खमध्ये कुरु चात्मानमात्ममध्ये च खं कुरु।
आत्मानं खमयं कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।।

पुटद्वयविनिर्मुक्तो वायुर्यत्र विलीयते।
तत्र संस्थं मनः कृत्वा तं ध्यायेत्पार्थ ईश्वरम्।।

आचार्य गौड़पाद की दृष्टि—हंस = हंस वह है, जो अपने तत्त्वज्ञान के द्वारा अज्ञानात्मक संसार का हनन कर सके—

हन्ति स्वतत्त्वज्ञानेनाज्ञानसंसारमिति हंसः।

आत्ममन्त्र = प्रणवात्मक मन्त्र। समन्वयात् = वेदान्तसूत्र 'तत्तु समन्वयात् (१.१.४) (समन्वयाधिकरण)। योगेन = आत्मतत्त्वविचार द्वारा। गतकाम = ज्ञान-प्रतिबन्धक कल्पमषनिवृत्तिवान्। भावना = तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि, अयमात्मा ब्रह्म आदि भावना। अज = जीव। हंसत्व = परब्रह्मरूपत्व। शरीरिणां = जीवों के। पारदर्शन = परम ज्ञान, हंस = ब्रह्म। हंसाक्षर = प्रणव। कूटस्थ = उभयसाक्षिभूत अक्षर। काकी = कं (सुख) एवं अकं (दुःख) = सुख-दुःखात्मक वह जीव, जो अविद्या का प्रतिबिम्बरूप है। मुखं = मुखस्थानीय बिम्बभूत ब्रह्म। ककारान्त = 'क' का अन्त अर्थात् अ। क् + अ = क। अ = विराट् एवं विश्व आदि। स्थूल शरीर पञ्चीकृत महाभूत और उसके कार्य। उकार = अपञ्चीकृत महाभूत उसके कार्य। १७ अंगों वाला लिङ्ग हिरण्यगर्भ। सूक्ष्मशरीर। तैजस। मकार = प्राज्ञ।

अकारस्य च लुप्तस्य = अकार का उकार में एवं उकार का मकार में लोप। ओंकार में सभी का लोप। वायुस्वीकरणं = सार्वकालिक वायु धारणा। प्राणायाम। खगाकारं = हंसरूप। तदाकारं = ब्रह्मस्वरूप। खमध्ये = दहराकाश के मध्य। ख (दूसरा अर्थ = जीव। आकाशशरीरं ब्रह्म (श्रुति)। आत्मानं = परमात्मा को। पुटद्वय = नासारन्ध्रद्वय। लय = जहाँ वायु का लय हो जाता है (वहाँ मन को केन्द्रित करके ईश्वर का ध्यान करना चाहिये।) वही शिव है—

निष्कलं तं विजानीयात् षडूर्मिरहितं शिवम्।[1]
ओंकारध्वनिनादेन वायोः संहरणान्तिकम्।
निरालम्बं समुद्दिश्य यत्र नादो लयं गतः।।[2]
अनाहतस्य शब्दस्य तस्य शब्दस्य यो ध्वनिः।
ध्वनिरन्तर्गतं ज्योतिर्ज्योतिरन्तर्गतं मनः।
तन्मनो विलयं याति तद्विष्णोः परमं पदम्।।[3]

अजपाजपात्मक तान्त्रिक दृष्टि

भुवनेश्वरी तन्त्र की दृष्टि—इस तन्त्र-ग्रन्थ के अनुसार भगवती भुवनेश्वरी के पूजा-विधान में अजपा-जप का समर्पण आवश्यक है और शरीर में स्थित प्रत्येक यौगिक चक्र (पद्म = कमल) को समर्पित करना चाहिये। समर्पण-विधान इत्याकारक है—

१. उत्तरगीता २. उत्तरगीता ३. उत्तर-गीता

ॐ अद्य पूर्वेद्यु अहोरात्रोच्चरितमुच्छ्वासं निःश्वात्मकं षट्शताधिकमेकविंशतिसहस्र-संख्याकमजपाजपं मूलाधार-स्वाधिष्ठान-मणिपूर-अनाहत-विशुद्धाज्ञा-ब्रह्मरन्ध्रेषु चतुर्दल-षड्दल-दशदल-द्वादशदल-षोडशदल-द्विदल-सहस्रदलेषु सुवर्ण-विद्रुम-नील-पिंगल-धूम्र-विद्युत्-कर्बुरवर्णेषु स्थिताभ्यो गणपति-ब्रह्म-विष्णु-रुद्र-जीवात्म-परमात्म-गुरु-पादुकाभ्यो यथाभागं समर्पयामि नमः—इति संकल्पं कृत्वा समर्पयेद्; यथा—

मन्त्र	जपसंख्या
१. ॐ ऐं ह्रीं मूलाधारचक्रस्थाय अजपाजपानां षट्शतं समर्पयामि नमः।।	= ६००
२. स्वाधिष्ठानचक्रस्थाय ब्रह्मणे अजपाजपं षट्सहस्रं समर्पयामि नमः।।	= ६००
३. मणिपूरचक्रस्थाय विष्णवे अजपाजपं षट्सहस्रं समर्पयामि नमः।।	= ६००
४. अनाहतचक्रस्थाय रुद्राय अजपाजपं षट्सहस्रं समर्पयामि नमः।	= ६००
५. विशुद्धचक्रस्थाय जीवात्मने अजपाजपं एकसहस्रं समर्पयामि नमः।	= १०००
६. आज्ञाचक्रस्थाय परमात्मने अजपाजपं एकसहस्रं समर्पयामि नमः	= १०००
७. सहस्रदलकमलकर्णिकामध्यस्थायै श्रीगुरुपादुकायै अजपाजपं एकसहस्रं समर्पयामि नमः	= १०००
अहोरात्र में श्वास संख्या श्वासों का अहोरात्रात्म समर्पण	२१६०० २१६००

इस प्रकार अजपा जप का समर्पण करके अजपा मन्त्र के द्वारा प्राणायाम करते हुये इस प्रकार संकल्प करना चाहिये—

ॐ अस्य श्री अजपागायत्रीमन्त्रस्य हंस ऋषिः, अव्यक्तगायत्री छन्दः, परमहंसो देवता, हं बीजं, सः शक्तिः, सोऽहं कीलकम्, ॐकारस्तत्वं, उदात्त स्वरः, हैमो वर्णः, मम मोक्षार्थे अजपाजपे विनियोगः।

इस प्रकार साञ्जलि संकल्प करके न्यास करना चाहिये—

(क) ऋष्यादिन्यास

१. हंसात्मने ऋषये नमः शिरसि।

२. अव्यक्तगायत्रीछन्दसे नमो मुखे।

३. परमहंसायै देवतायै नमो हृदये।

४. हं बीजाय नमो मूलाधारे।

५. सः शक्त्यै नमः पादयोः।
६. सोऽहं कीलकाय नमो नाभौ।
७. ॐ तत्वाय नमो हृदये।
८. उदात्तस्वराय नमः कण्ठे।
९. हैमाय वर्णाय नमः सर्वाङ्गे।
१०. मम मोक्षार्थे जपे विनियोगः।

(ख) करन्यास—

१. ह्सां सूर्यात्मने स्वाहा अङ्गुष्ठाभ्यां नमः।
२. ह्सीं सोमाय स्वाहा तर्जनीभ्यां नमः।
३. ह्सूं निरञ्जनात्मने स्वाहा मध्यमाभ्यां नमः।
४. ह्सैः निराभासात्मने (निरामयात्मने) स्वाहा अनामिकाभ्यां नमः।
५. ह्सौः अनन्ततनुसूक्ष्मदेवी प्रचोदयात् स्वाहा कनिष्ठिकाभ्यां नमः।
६. ह्सः अव्यक्तबोधात्मने स्वाहा करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः।

(ग) षडङ्गन्यास—

१. ह्सां सूर्यात्मने स्वाहा हृदयाय नमः।
२. ह्सीं सोमात्मने स्वाहा शिरसे स्वाहा।
३. ह्सूं निरञ्जनात्मने स्वाहा शिखायै वषट्।
४. ह्सैं निराभासात्मने स्वाहा कवचाय हुं।
५. ह्सौं अनन्ततन्तुसूक्ष्मदेवी प्रचोदयात् स्वाहा नेत्रत्रयाय वौषट्।
६. ह्सः अव्यक्तबोधात्मने स्वाहा अस्त्राय फट्।

ध्यान—

द्यां मूर्धानं यस्य विप्रा वदन्ति खं वै नाभिं चन्द्रसूर्यौ च नेत्रे।
दिग्गर्भः श्रोत्रं यस्य पादौ क्षितिश्च ध्यातव्योऽसौ सर्वभूतान्तरात्मा।।

विश्वात्मक परमशिव का विश्वातीत स्वरूप

एवं यौगपद्यादुपायत्रयं प्रतिपाद्य तदेव विनेयजनहृदयाधिरोपणहेतोः पृथक् प्रपञ्चयिष्यन्नादावाणवमालोचयति—

थोरअरेसुं वि पेक्खह भूदेसुं खस्स णिक्कलावत्थं।
छत्तिंसिआइलङ्घी कीरिसओ होउ सोमणाहो सो ।।५७।।

(स्थूलतरेष्वपि प्रेक्षध्वं भूतेषु खस्य निष्कलावस्थाम्।
षट्त्रिंशिकाऽतिलङ्घी कीदृशो भवतु सोमनाथः सः।।)

स्थूलतर भूतों में भी आकाश की निष्कलावस्था का सूक्ष्म पर्यालोचन करना चाहिये (और यह भी देखना चाहिये कि विश्वमय होने पर भी), वे परमशिव किस प्रकार छत्तीस तत्त्वों को अतिक्रान्त करके—विश्वातीत बनकर स्थित हैं।।५७।।

''गोरखबानी'' का संत काव्य पर प्रभाव

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ की
पी-एच०डी० उपाधि के लिए

शोध प्रबन्ध

शोध सार

2005

निर्देशिका :

डॉ० मनीषा रानी शर्मा

रीडर एवं प्रभारी
हिन्दी विभाग, वीमेन्स कालेज,
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय,
अलीगढ़।

शोधार्थी :

शाहाना

हिन्दी विभाग
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय,
अलीगढ़ - 202002

"गोरखबानी" का संत – काव्य पर प्रभाव

शोध सार

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय की पी–एच0डी0 की उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध का विषय है – "गोरखबानी", का संत–काव्य पर प्रभाव" हिन्दी में प्रस्तुत विषय पर छुट–पुट अध्ययन तो अनेक हुए हैं किन्तु व्यवस्थित और विस्तृत अध्ययन अभी तक नहीं हुआ है। इस अभाव की पूर्ति ही प्रस्तावित शोध का लक्ष्य है।

समग्र अध्ययन को सात अध्यायों में प्रस्तुत किया गया है – विषय प्रवेश, "गोरखबानी" का स्वरूप, "गोरखबानी" का संत–काव्य पर प्रभाव : चिंतन की दृष्टि से, "गोरखबानी" का संत–काव्य पर प्रभाव : भावबोध की दृष्टि से, "गोरखबानी" का संत–काव्य पर प्रभाव : भाषा की दृष्टि से, "गोरखबानी" का संत काव्य पर प्रभाव : साधना–पक्ष और उपसंहार निष्कर्ष।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में विषय प्रवेश के रूप में नाथ सम्प्रदाय की पृष्ठभूमि का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। नाथ सम्प्रदाय की पृष्ठभूमि के आधार पर यह सिद्ध किया गया है कि नाथ सम्प्रदाय के विकास के मूल में वैदिक काल की दो परम्पराएँ रही हैं – आगम और निगम। आगे चलकर इन परम्पराओं पर प्रकाश डालने के सारे प्रयास शास्त्रों के आधार पर ही किये जाते हैं, जबकि सांस्कृतिक परम्पराएँ लोक जीवन में पहले जन्मती है शास्त्रों में स्थान बाद में पाती है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में वेद, शास्त्र, उपनिषद आदि पर भी विस्तार से विचार किया गया है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के इस अध्याय में नाथ सम्प्रदाय की बारह शाखाओं का वर्णन किया है तथा नवनाथों का जिक्र किया है– एकनाथ, आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ,

उदयनाथ, दंडनाथ, सत्यनाथ, संतोषनाथ, कूर्मनाथ तथा जालंधरनाथ इत्यादि। यह सूची सुधाकर द्विवेदी ने प्रस्तुत की थी, परन्तु इसमें गोरखनाथ का नाम नहीं है। योग सम्प्रदायाविष्कृति के अनुसार दस मूल पुरुष माने गये हैं जिनमें गोरखनाथ का भी नाम है। विषय प्रवेश में नाथ सम्प्रदाय के विकास को लेकर दो मत प्रस्तुत किये हैं –

(1) नाथ पन्थ का विकास बौद्ध परम्परा से हुआ।

(2) नाथ पन्थ का विकास शैव परम्परा से हुआ।

इसमें पहला मत अधिक उपर्युक्त जान पड़ता है क्योंकि नाथों और बौद्ध सिद्धों की जो सूचियाँ मिलती हैं, उनमें अनेक नाम सामान्य है।

गुरु गोरखनाथ के युग में बौद्ध, शैव, तन्त्र योग और वैष्णव परम्पराओं के प्रतीयमान एक दूसरे का विरोध करते रहते थे। उससे ये परम्पराएँ एक दूसरे के निकट आ गयी थी।

गुरु गोरखनाथ ने कुछ परम्पराओं को अपने पन्थ में मिला लिया था जिनमें शैव, शाक्त, वैष्णव, जैन, बौद्ध धर्म इत्यादि। बौद्धों के बाद सिद्ध हुऐ जो कि बौद्ध सम्प्रदाय की शाखा के अनुयायी थे।

10वीं शती के उत्तरार्द्ध से ही कई सिद्ध ऐसे थे जो शैव तथा बौद्ध दोनों ही पद्धतियों के आचार्य थे और यद्यपि वे किसी एक बौद्ध या शैव– सम्प्रदाय को ही प्रमुख मान्यता देते थे किन्तु दूसरे सम्प्रदायों को भी प्रश्रय देते थे और दूसरे सम्प्रदाय वाले भी उन्हें मान्यता प्रदान करते थे। ऐसे तीन सिद्ध प्रमुख हैं, मत्स्येन्द्र, जालन्धर, काणहपा। मत्स्येन्द्र मूलतया शैव सम्प्रदाय के अनुयायी थे यद्यपि नैपाल में उन्हें पाशुपत शिव तथा तिब्बत में अवलोकितेश्वर का अवतार माना जाता था। जालन्धर के लिए तारानाथ ने भी कहा है कि पूर्व में हाड़ीपा का बौद्ध रूप धारण कर प्रचार करते थे, काणहपा के लिए भी तारानाथ का कहना है कि अन्दर से बौद्ध होते हुए भी बाहर से अबौद्ध पद्धतियों को ग्रहण करते थे और अबौद्ध सम्प्रदायों में भी उनका बड़ा आदर था। ऐसे समन्वयवादी

सिद्ध दोनों ही सूचियों में सम्मिलित कर लिए गये होंगे।

उस समय की साम्प्रदायिक स्थिति इस प्रकार की थी कि कुछ प्रदेशों में वैष्णवों के विरोध में शैव तथा बौद्ध सम्प्रदायों का संयुक्त शिविर स्थापित हो चुका था और दोनों सम्प्रदाय एक दूसरे के देवताओं, पद्धतियों तथा आचार्यों की परम्परा को आत्मसात कर रहे थे।

नाथ सम्प्रदाय स्वतः बौद्ध प्रभावों के प्रति शैव विद्रोह है किन्तु इस विद्रोह के पूर्व इनमें से कुछ सिद्ध वज्रयानी रहे होंगे। कुछ तिब्बती अनुश्रुतियाँ तो स्वतः गोरखनाथ को पहले वज्रयानी बताती हैं। वे शैव बाद में हुऐ थे।

गुरु गोरखनाथ नाथ सम्प्रदाय के प्रर्वतक ही नहीं थे बल्कि नाथ सम्प्रदाय के सबल प्रचारक आचार्य तथा संगठनकर्ता थे। यह नाथ परम्परा और कनफटी साधनाओं की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है और किसी न किसी रूप में पाशुपत लाकुलीश मत से इनका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है।

नाथ सम्प्रदाय के विषय प्रवेश में नाथों के समय तथा वेशभूषा का वर्णन भी किया गया है।

नाथों का प्रचार 9वीं शताब्दी से 16वीं शताब्दी तक फैला हुआ था तथा आज भी इस सम्प्रदाय के साधु तथा गद्दियाँ भारत में मिलती है। यह भी कहा जा सकता है कि नवनाथ की प्रसिद्धी बहुत पुरानी है जो नव नारायणों के आधार पर ही है। इनके नाम तथा स्थान भिन्न हैं। नव नाथों की भाँति षोडश नाथों तथा द्वादश नाथों की कल्पना भी सम्प्रदाय में है। एक मान्यता यह भी है कि गोरखनाथ जी से पहले योगियों के 18 पंथ थे गोरखनाथ ने इसमें से बारह को नष्ट कर दिया और केवल 6 को स्वीकार किया और अपने नये उपकुलों की स्थापना की। इस प्रकार नाथ सम्प्रदाय की विकास परम्परा चलती रही उसमें कुलों का हेर फेर तो होता ही रहा। कभी कोई कुल अधिक हो गया तथा कभी किसी ने नये कुल को बढ़ा दिया।

वेशभूषा के आधार पर नाथ योगी को स्पष्ट रूप से पहचाना जा सकता है। मेखला, श्रृंगी, सेली, गूदरी, खप्पर, कर्ण—मुद्रा, वंघवर, झोला आदि चिन्ह ये लोग धारण करते थे। नाथ लोग कान फाड़कर कुंडल धारण करते थे इस कारण ये लोग कनफटा योगी भी कहे जाने लगे।

पद्रमावत में मलिक मुहम्मद जायसी ने नाथ योगियों के वेश का सुन्दर वर्णन दिया है। नाथ योगियों का वेश जो आज वह दीर्घ काल से चला आ रहा है। योगी वेश धारण करने वाले रत्नसेन राजा ने हाथ में किंगरी, सिर पर जटा, शरीर में भस्म, मेखला, श्रृंगी, योग को शुद्ध करने वाला धाँधरी चक्र, रूद्राक्ष और अधार धारण किया था कंथा पहनकर हाथ में सोटा लिया था और 'गोरख, गोरख' की रट लगाता हुआ निकल पड़ा था उसने कान में मुद्रा, कंठ में रूद्राक्ष की माला, हाथ में कमण्डल, कंधे में बघम्बर, पैरों में पवरी, बगल में छाता और बगल में खप्पर धारण किया था। इन सबको गेंहुऐं रंग से रंगा जाता था।

इस अध्याय में नाथ सम्प्रदाय के स्परूप तथा हठयोग पर भी विचार किया गया है। नाथ साहित्य में योग का बड़े विस्तार से विवेचन हुआ। नाथयोग को सामान्य रूप से हठयोग कहा गया है। हठयोग के विभिन्न अंगो, उपागों तथा साधनाओं का विवेचन विष्लेषण योग ग्रन्थों का प्रतिपाद्य है। पांतजल योग दर्शन का अष्टांग योग भी नाथ ग्रन्थों में स्वीकार्य है तथा षंडग योग का भी प्रतिपादन हुआ है।

शोध प्रबन्ध के दूसरे अध्याय में 'गोरखबानी' के स्वरूप पर विस्तार से विचार किया गया है। एक लम्बे समय तक उपेक्षित होने के कारण नाथ साहित्य का अधिकांश भाग सुरक्षित न रह सका। फिर भी जो विषय वस्तु प्रकाश में आयी है अथवा अप्रकाशित रूप में सुरक्षित है उससे स्पष्ट है कि नाथ पंथियों ने संस्कृत, हिन्दी, नेपाली तथा बंगला भाषा में साहित्य सृजन किया था। भाषा की कसौटी पर ये रचनाएँ खरी न उतरी हो, किन्तु हिन्दी के विकास में इनका निश्चय ही महत्व है। हिन्दी साहित्य में

गोरखनाथ की चालीस छोटी मोटी रचनाऐं हैं। सबदी, पद, शिष्या दरसन, प्राण, सांकली, नरवेबोध, आत्मबोध, अभैमात्रा जोग, पन्द्रह तिथि, सप्तवार, मछीन्द्र गोरखबोध, रोमावली, ग्यान तिलक, ग्यान चौतीसा, पंचमाला गोरख गणेश गोष्ठी, गोरखदत्त गोष्ठी, महादेव गोरख गुण्ठी, शिष्ट पुरान, दया बोध, जाती भौंरावली, नवग्रह, नवरात्र, अष्ट पराध्या, रहरासि, ग्यान माला, आत्मबोध, वृत, निरंजन पुराण तथा गोरखवचन इत्यादि।

"गोरखबानी" के स्वरूप में विभिन्न मूल ग्रन्थ तथा परिशिष्ट पर विस्तार से विचार किया गया है। "गोरखबानी" के मूल विवेचन से स्पष्ट होता है कि उनका मूल विषय सिद्धान्त विवेचन नहीं है। एक ही बात को कई बार दोहराया गया है तथा रचनाओं में कोई क्रम भी नहीं है। भाषा की दृष्टि से भी रचनाओं में प्रर्याप्त भेद हैं। इसलिए यह कहना बड़ा ही कठिन है कि कौन सा पद गोरख रचित है तथा कौन सा परवर्ती है। जो रचनाऐं गोरखरचित हैं उनमें काफी परिवर्तन भी हुआ है। इनकी रचनाओं में इस्लामी प्रभाव भी है। इनकी रचनाओं में कुछ परवर्ती व्यक्तियों का भी उल्लेख है।

इस शोध प्रबन्ध के तीसरे अध्याय में 'गोरखबानी' के संत काव्य पर प्रभाव का चिंतन की दृष्टि से विवेचन है। इस अध्याय में आत्मा, परमात्मा, माया, जगत आदि का विस्तार से समझाने का प्रयास किया गया है कि किस प्रकार 'गोरखबानी' का चिंतन की दृष्टि से संत काव्य पर प्रभाव पड़ा है।

नाथपंथी साधना के लोकव्यापक प्रभाव ने यद्यपि मध्ययुग की चिन्ता को विशेष रूप से स्पर्श किया है किन्तु वास्तव में नाथ पंथ एक साधना पंथ ही था, बौद्ध सहजयान धर्म की तत्वमीमांसा और व्यवहार की तुलना में नाथ पंथ एक विशुद्ध साधना पंथ ही बना रहा। अद्वैत वेदान्त के शैवागमों से सम्बद्ध सिद्धान्तों का लोक जीवन में स्वागत न हुआ उसका कारण नाथ पंथ में शुष्क साधना का प्रबल आग्रह तथा गृहस्थ जीवन के प्रति अनादर का भाव था? ऐसी स्थिति में नाथपंथी साधना के लोक प्रभावी रूप

से सम्बद्ध संत लोक चिन्तन की दृष्टि से योग और भक्ति का समन्वय स्वर लेकर उपस्थित हुए। यह तत्वचिन्तन अपने मूलरूप में भारतीय दर्शनों की व्यावहारिकता से पूर्णतया सम्बद्ध है तथा उसका उन्मेष विभिन्न परिस्थितियों में हुआ है। यही कारण है कि मूलतत्व के सम्बन्ध में सन्तों के चिन्तन करने का मार्ग पिछले सभी मार्गों से भिन्न है। अनुभव की कसौटी पर कसकर ही संतों ने परमात्मा, आत्मा और जगत माया के सम्बन्ध में अपनी स्थापनाओं को पुष्ट किया है। कबीर कहते हैं इसके लिए उन्हें कहीं जाना नहीं पड़ा, विचार करते ही करते समय का अनुभव हो गया। किन्तु इस अनुभव की पृष्ठभूमि के रूप में संतों के पास तत्वचिन्तन के लिए कौन–सी आधारभूत सामग्री थी, यह भी एक विचारणीय बात है। जिस आध्यात्मिक वातावरण के आधार पर संतों का तत्वचिन्तन सम्भव हुआ मध्ययुग में उसके सूत्र कम से कम उपनिषद अथवा दर्शनग्रन्थ नहीं थे, प्रायः सभी विद्वान इस बात से सहमत हैं।

संत मत को नाना मतों का विकसित रुप स्वीकार किया गया है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने भोटिया साहित्य को अनुशीलन के आधार पर चिंतन धारा का प्रवाह बारहवीं शताब्दी तक स्वीकार करते हुए कबीर का सिद्धों से सम्बन्ध स्थापित करने में कठिनाई का अनुभव किया था, किन्तु पं0 अयोध्या सिंह उपाध्याय ने सिद्धों के बाद नाना सम्प्रदाय के साहित्य को विकास की मध्यवर्ती कड़ी मानकर नाथों की काव्य धारा को कबीर से विश्वासपूर्वक जोड़ दिया। डा0 पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने 'गोरखबानी' की भूमिका' में उपर्युक्त तथ्य का उल्लेख करते हुए लिखा है – 'जो बात राहुल जी को कठिन जान पड़ी वही उपाध्याय जी को इसलिए सरल लगी कि उनके सामने 'हिन्दी काव्य में योग प्रवाह' शीर्षक मेरा निबन्ध था जो राहुल जी के सामने नहीं था। इस निबन्ध में पहले पहल नाथ योगियों और उनकी कविता का परिचय दिया था। इस संक्षिप्त परिचय से ही विद्वानों ने मान लिया कि नाथ योगियों की 'बानियाँ'' हमारे साहित्य और सांस्कृतिक विकास की लड़ी में एक महत्वपूर्ण कड़ी है।'' ''भक्तिवाद के पूर्व

निःसन्देह यह सबसे प्रबल मतवाद था। इसलिए भक्तिवाद में इनके शब्द और मुहावरे ही नहीं, इनकी पद्धति भी बहुत कुछ आ गयी है।'' बाद के सभी लेखकों ने यह स्वकीार किया है कि नाथ मत का सिद्धान्त और साधना दोनों ही दृष्टियों से संत–मत पर पर्याप्त प्रभाव है। परशुराम चर्तुवेदी के अनुसार, ''सन्तों की साखियों तथा बानियों के पूर्व रुप नाथ–पंथियों की 'सबदियों' तथा 'जोगेसुरी बानियों' में दीख पड़ते हैं जिनके विषय भी लगभग एक ही ढंग के हैं।''

इस सम्बन्ध में तीन बातें विचारणीय हैं। पहली बात तो यह ध्यान देने की है कि नाथ मत ने संत मत को उस रुप में प्रभावित नहीं किया है जिस रूप में दो सामानान्तर प्रवाहित विचार धाराएँ परस्पर सम्पर्क में आने पर एक दूसरे को प्रभावित करती हैं। नाथ मत और संत मत में पूर्वापर सम्बन्ध है।

दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि संत मत नाथ मत का शुद्ध परवर्ती रूप भी नहीं है, अर्थात ऐसा नहीं है कि नाथ–मत की परम्परा ही पन्द्रहवीं शताब्दी में संत–मत के रुप में परिवर्तित हो गयी हो। नाथ–मत की किन्हीं कारणों से, जनता में लोकप्रियता कम हुई और दक्षिण से वैष्णव भक्ति का उदार धार्मिक प्रवाह राघवानन्द और रामानन्द जैसे समन्वयशील महात्माओं के माध्यम से उत्तर भारत में आया। नाथ मत और वैष्णव भक्ति के सम्पर्क से योग और भक्ति समन्वित एक नवीन मत विकसित हुआ जिसे मुख्यतः निम्नवर्गीय जनता का समर्थन प्राप्त था। इस योग भक्ति समन्वित मत को सामान्तयः संत मत कहा गया। उसे नाथ मत का लोकसम्मत स्वरूप कहा जा सकता है।

तीसरी बात ध्यान देने की यह है कि संत मत पन्द्रहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक अनेक प्रभावों और परिवर्तनों को स्वीकार करके विकसित हुआ है। अतः नाथ मत का प्रभाव सभी संत–सम्प्रदायों पर एक सा नहीं पड़ा है। परवर्ती सन्तों में कई राम–भक्तों की रसिक परम्परा में प्रभवित है, कुछ सूफी साधना की ओर झुकें हैं और कुछ कृष्ण भक्ति धारा के निकट हैं।

इस शोध प्रबन्ध के चौथे अध्याय में 'गोरखबानी' का संत काव्य पर प्रभाव को भाव बोध की दृष्टि से दर्शाया गया है। इस अध्याय में यह बताया गया है कि जो भाव 'गोरखबानी' के नाथों में मिलते हैं उन्हीं भावों का प्रभाव आगे चलकर सन्तों में मिलता है। पं0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने नाथ मत और संत मत का सम्बन्ध स्थापित करते हुये लिखा है कि – "भक्तिवाद के पूर्व निसन्देह नाथ सम्प्रदाय सबसे प्रबल मतवाद था। इसलिए भक्तिवाद में इनके शब्द और मुहावरें ही नहीं इनकी पद्धति भी बहुत कुछ आ गयी है। बाद के सभी लेखकों ने यह स्वीकार किया है कि नाथ मत का सिद्धान्त और साधना दोनों दृष्टियों से संत मत पर पर्याप्त प्रभाव है।

ऐसी स्थिति में जब सन्तों पर 'गोरखबानी' के प्रभाव की बात की जाती है तो उसका एक ही अर्थ है कि सन्तों की बानियों में ऐसे व विभिन्न प्रभाव है जो नाथ पंथ में भी मान्य है। कबीर को सच्चे साधक कहा गया है तथा यह भी देखा गया है कि संत कबीर के हृदय में गोरखनाथ के प्रति सम्मान का भाव था। जिन तत्वों का विरोध 'गोरखबानी' की रचनाओं में मिलता है वही विरोध आगे चलकर सन्तों में भी देखने को मिलता है कुछ बातें इनमें एक समान है जिनमें गुरु का महत्व, कुछ साधना पद्धतियाँ, तत्वचिन्तन, रहस्यानुभूति, नैतिक और सामाजिक मूल्य इत्यादि।

इस शोध प्रबन्ध के पॉचवें अध्याय में 'गोरखबानी' का संत काव्य पर प्रभाव को, भाषा की दृष्टि से समझाने का प्रयास किया है। नाथों की साखियों और पदों के छन्द अधिकतर उन्हीं छन्दों के विकसित रूप हैं जो सिद्धों ने प्रयुक्त किये है। आगे चलकर ये ही छन्द और साखियाँ सन्तों में देखने को मिलती है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने गोरखनाथ की भाषा को पूर्वी भाषा के अधिक निकट स्वीकारा है। जिस रूप में 'गोरखबानी' उपलब्ध है यह प्राचीन ही है, ऐसा कहा जा सकता है। डा0 मोहनसिंह द्वारा संपादित 'गोरखबोध' की भाषा डा0 बड़थ्वाल–संपादित उसी ग्रन्थ की भाषा से भिन्न है। इन पदों में पंजाबीपन भी कहीं–कहीं मिलता

है, परन्तु अनेक पदों में ऐसे प्रयोग मिलते हैं जो पूर्वी हैं। 'गोरखबानी' उन प्रारम्भिक कृतियों में से हैं, जिनमें हिन्दी भाषा का प्रारम्भिक स्वरूप स्पष्टतः परिलक्षित होता है।

नाथ–योगियों और प्रारम्भिक सन्तों की भाषा और शैली में पर्याय समानता है। कबीरदास ने मुख्यतः 'साखी' और 'शब्द' लिखा है। साखियों की रचना का प्रारम्भ बताते हुए परशुराम चतुर्वेदी ने कहा है – "हो सकता है कि इनकी रचना की परम्परा गुरु गोरखनाथ आदि जोगियों के आविर्भाव काल में आरम्भ हुई हो, क्योंकि खोज में कभी–कभी 'जोगेश्वरी साखी' जैसे पद्य–संग्रह भी मिल जाते हैं। जहाँ तक शब्द का प्रश्न है, 'गोरखबानी' में भी सबदियाँ हैं। इसी प्रकार 'चौंतीसा' और 'पद' भी 'गोरखबानी' में हैं। कबीर द्वारा प्रयुक्त अन्य काव्य रूपों की भी लोक–प्रचलित परम्परा ही होगी। इसी लोक–परम्परा से नाथों ने भी अपने 'काव्यरूप' चुने होंगे। सन्तों ने भी नाथ–योगियों की भाँति मुक्तक शैली का प्रयोग किया है। दोनों में चोट करने वाली शब्दावली प्रयुक्त है। उलटवासियों की रचना नाथयोगियों ने भी की है। कबीर की कोई उलटवांसियाँ ठीक उसी प्रकार की हैं जिस प्रकार की गोरखनाथ की हैं। प्रतीक शैली का प्रयोग नाथों और सन्तों में समान रूप से हुआ है। अनेक स्थानों पर गोरखनाथ और कबीर के कथनों में अद्भुत साम्य है –

गुरु गोरखनाथ – हिन्दी आबै राम को मुसलमान खुदाई।
जोगी आप अलष को, तहाँ राम अछैन वुदाइ।।

कबीर सहाब – हिन्दू मूये राम कहि, मुसलमान खुदाई।
कहैं कबीर सौ जीवता, दुई मैं कढ़ न जाइ।।

कबीर साहब – मन लागा उनमन सौं गगन पहुंचा जाइ।
देख्या चन्द विहूंणा चांदिणा, तहाँ अखल निरंजन राई।

इस शोध प्रबन्ध के छठें अध्याय में 'गोरखबानी' का संत काव्य पर प्रभाव साधना पक्ष का विवेचन है। साधना की दृष्टि से नाथों का सन्तों पर गहरा प्रभाव पड़ा

है जो साधना पद्धत्तियाँ हमें नाथों में देखने को मिलती है वही साधना पद्धतियाँ सन्तों में भी पायी जाती है। नाथों तथा सन्तों ने अपनी समकालीन साधना पद्धत्तियों, मतों, सम्प्रदायों का खंडन–मंडन योग साधना और साध्य नाथ तथा भक्ति और भगवान को ध्यान में रख कर किया है।

इस प्रकार प्रस्तुत शोध प्रबंध में संत काव्य पर 'गोरखबानी' के प्रभाव के विश्लेषण के साक्ष्य में नाथों के प्रभाव का व्यवस्थित अध्ययन है। भावबोध और भाषा की दृष्टि से यह प्रभाव सबसे ज्यादा गहरा है।

————————————

"गोरखबानी" का संत काव्य पर प्रभाव

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ की
पी-एच०डी० उपाधि के लिए

शोध प्रबन्ध

2005

निर्देशिका :

डॉ0 मनीषा रानी शर्मा

रीडर एवं प्रभारी
हिन्दी विभाग, वीमेन्स कालेज,
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय,
अलीगढ़।

शोधार्थी :

शाहाना

हिन्दी विभाग
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय,
अलीगढ़ - 202002

DEPARTMENT OF HINDI
FACULTY OF ARTS
ALIGARH MUSLIM UNIVERSITY, ALIGARH-202 002

36

CHAIRMAN

Telex : 564-230 AMU IN
Phones : Off. 2700920 } Ext.
2700921 } 1460
2700922 } 1461
Res. (0571) 2721866

CERTIFICATE

Certified that Ms. Shahana has been a regular Research Scholar in the Department of Hindi for a period of two years from the date of her admission, i.e. 31.10.1998. She has completed her Ph.D. thesis on the topic "*Gorakhbani ka Sant Kavya Par Prabhaw*" under the supervision of Dr. (Smt.) Manisha Rani Sharma.

02/7/05

(Prof. U.S. Srivastava)
Chairman

Manisha Rani Sharma
Ph D
Reader and Incharge
Department of Hindi
Women's College,
Aligarh Muslim University
Aligarh. 202 002

CERTIFICATE

This is to certify that the thesis entitled **"Gorakhbani Ka Sant Kavya Per Prabhav"** has been written by **'Mrs. Shahana'** under my supervision. It is an original research work and is suitable for submission for the award of Ph.D. degree in Hindi. The candidate has fulfilled all conditions laid in the ordinance of Aligarh Muslim University, Aligarh.

(Dr. Manisha Rani Sharma)
Supervisor

Residence:
Sh. Deoraha Kuteer
Dodhpur, Aligarh.

Telephone:
(Off) 0571- 2403541
(Resi) 0571- 2401182

Fax:
0571- 2703221

विषय सूची

"गोरखबानी" का संत काव्य पर प्रभाव

प्राक्कथन

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय की पीएच0डी0 की उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध का विषय है — "गोरखबानी" का संत काव्य पर प्रभाव।

इस धारणा का अब ऐतिहासिक महत्व ही शेष है कि नाथों का साहित्य धार्मिक साहित्य है। नाथ साहित्य और विशेषतः 'गोरखबानी' का साहित्यिक महत्व अब सिद्ध है। गोरखनाथ युगपुरुष थे। उन्होंने इस देश की सांस्कृतिक एकता को समन्वय का ठोस आधार प्रदान किया। गोरखी शक्ति तो जनजीवन में पाशविक धरातल से उबारने के लिए प्रख्यात रही है। गोरखनाथ केवल एक सम्प्रदाय के प्रर्वतक नहीं थे बल्कि वे एक ऐसी संस्कृति के जो शताब्दियों तक जन जीवन को प्रभावित करती रही है और जिसकी छाप आज भी भारतीय जीवन के अनेक पहलुओं पर देखी जा सकती है। 'गोरखबानी' एक ऐसी रचना है जिसने एक परम्परा का विकास किया और वह परम्परा है— संत काव्य परम्परा। 'गोरखबानी' को समझे बिना संत काव्य की समझ बहुत अधूरी रहेगी। संवेदना और शिल्प दोनों दृष्टियों से 'गोरखबानी' का संत काव्य पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा है। इस प्रभाव का व्यवस्थित अध्ययन हिन्दी शोध के क्षेत्र में अभी तक नहीं हुआ है। स्फुट अध्ययनों की बात और है। हिन्दी शोध के इस अभाव की पूर्ति ही प्रस्तावित शोध का लक्ष्य है।

समग्र अध्ययन शोध प्रबन्ध के सात अध्यायों मे व्यवस्थित है। शोध प्रबन्ध का प्रथम अध्याय विषय प्रवेश के रूप में है। इसमें नाथ सम्प्रदाय की पृष्ठभूमि का विवेचन किया गया है। द्वितीय अध्याय में गोरखवानी के स्वरूप का विवेचन है। चिंतन

की दृष्टि से संत काव्य पर नाथ परम्परा का गहरा प्रभाव परिलक्षित होता है। 'गोरखबानी' का संत काव्य पर प्रभाव चिंतन की दृष्टि से 'शीर्षक' तृतीय अध्ययन में इस प्रभाव के अध्ययन का प्रयास किया गया है। भाव बोध की दृष्टि से संत काव्य पर प्रभाव 'गोरखबानी' का अध्ययन चौथे अध्याय का विषय है। पाँचवे अध्याय में भाषा की दृष्टि से 'गोरखबानी' का संत काव्य पर जो प्रभाव पड़ा है उसके विश्लेषण का प्रयास किया गया है। अध्याय छः में साधना पक्ष का अध्ययन है। अन्तिम अध्याय उपसंहार स्वरूप है उसमें समग्र अध्ययन के निष्कर्ष हैं।

प्रस्तुत शोध कार्य आदरणीय डा० मनीषा रानी शर्मा, रीडर एवं प्रभारी, हिन्दी विभाग, वीमेन्स कालेज, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ के निर्देशन में सम्पन्न हुआ है। उनके निर्देशन के अभाव में यह शोध कार्य सचमुच असम्भव था। इसके लिए मैं सदैव उनकी ऋणी रहूँगी।

प्रस्तुत शोध कार्य अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध यक्ष आदरणीय आचार्य डा० उदयशंकर श्रीवास्तव जी की छत्रछाया में पूर्ण हुआ है। इस अवसर पर मैं उनके प्रति आभार व्यक्त करती हूँ।

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के आचार्य एवं कला संकाय के अधिष्ठाता आदरणीय आचार्य कृष्णमुरारि मिश्र ने अपनी असाधारण व्यस्तताओं के बावजूद मुझे सदैव तत्पर सहयोग प्रदान किया है। इसके लिए मैं उनके प्रति सदैव आभारी रहूँगी।

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के सभी गुरुजनों का आर्शीवाद सदैव मुझे मिलता रहा है। इस अवसर पर मैं उन सभी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ।

प्रस्तुत शोध के लिए मेरी माता श्रीमती राबिया बेगम और पिता श्री अब्दुल अहमद ने मुझे निरन्तर प्रोत्साहित किया । उनका आर्शीवाद मेरा संबल रहा है। उनसे

उत्रृण होना मेरे लिए कभी संभव नहीं है। इस शोध कार्य को पूर्ण करने के लिए मेरे पति श्री अब्दुल सत्तार ने मुझे निरन्तर प्रेरित किया । इस शोधयात्रा में उनका अनेक प्रकार का सहयोग सदैव स्मरणीय है।

प्रस्तुत शोध कार्य के टंकण का दायित्व मैसर्स शेखर कम्प्यूटर्स ने वहन किया है। एतदर्थ मैं उनका साधुवाद व्यक्त करती हूँ।

प्रस्तुत शोध कार्य को पूर्ण करने में हमारे मौलाना आजाद पुस्तकालय के श्री राकिम अली ने मुझे महत्वपूर्ण सहयोग दिया है। इसके लिए मैं उनका आभार व्यक्त करती हूँ।

Shahana

शाहाना

अध्याय : 1

विषय प्रवेश

(1) नाथ सम्प्रदाय की पृष्ठभूमि :

हमारे देश में मुख्यत दो परम्पराएँ स्वीकृत रहीं हैं – निगम और आगम। इन परम्पराओं पर इनकी उपधाराओं के साथ विचार करते ही अनेक ऐसे प्रश्न उठ खड़े होते हैं जिनका समाधान दुष्कार हो जाता है। पहला प्रश्न यह है कि क्या इन दोनों परम्पराओं के स्रोत वेद हैं अथवा नहीं? अर्थववेद तांत्रिक परम्पराओं से स्पष्टतः सम्बद्ध स्वीकार किया जाता है। दूसरी ओर श्रुति के विषय में प्रसिद्ध है "श्रुतिश्च द्विविधा वैदिकी तांत्रिकी च"। वेद के समान ही तंत्र भी प्रमाण है। पं0 बलदेव उपाध्याय के अनुसार "तंत्रों के दार्शनिक विचार उतने ही उदान्त और प्रांजल हैं जितने षड दर्शनों के तथा उनकी साधना–पद्धति मूलतः उतनी ही पवित्र और उपादेय है जितनी वेदों की। उनके विचार से अधिकांश तंत्र वेदसम्मत है तथा उनकी प्रमाणिकता–साधन और साध्य की दृष्टि से अक्षुण्ण है। इससे इतना तो स्पष्ट है कि तांत्रिक परम्पराएँ कम से कम वेद विरोधी नहीं हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि सभी पुराने विद्वान् अर्थववेद की जो तांत्रिक परम्परा की दृष्टि से महत्वपूर्ण है, गणना वेदों में नहीं करते हैं और वेदत्रयी को ही मान्यता देते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि निगम और आगम की दो परम्पराएँ रही है जो कालान्तर में परस्पर निकट आ गई।

इस सारे सिलसिले में एक बात यह पता चलती है कि परम्पराओं पर प्रकाश डालने के सारे प्रयास शास्त्रों के आधार पर किये जाते हैं, लोक उपेक्षित होता रहा है, जबकि सांस्कृतिक परम्पराएँ लोक जीवन में पहले जन्मती हैं शास्त्रों में स्थान बाद में

पाती हैं। आदित्य मानव समाजों में धर्म का स्वरूप आनुष्ठानिक ही रहा होगा। प्रतियाँ भय से ही उपजी होंगी। अनुष्ठानों का एक प्रधान लक्ष्य मानव के चित्तीय तेजस को वृत्तयात्मक व्यवहार से मुक्त करना रहा है। इस प्रकार योग, तंत्र और भक्ति का उद्गम मनुष्य का आदिमतम जीवनहै। ज्ञान व्यवहार का विकास स्पष्टतया परवर्ती है। तंत्र, भक्ति और योग की परम्पराओं का उद्गम एक है, समान्य है, इसलिए ये परम्पराएँ परस्पर निकट और दूर रही हैं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि किन्ही भी धार्मिक परम्पराओं में परस्पर ऐसा विरोध जो अत्यधिक हिंसक रूप ग्रहण कर लेता है परम्पराओं के वैशिष्ट्य के कारण कम होता है इतर कारणों से अधिक होता है। शैवों और वैष्णवों का विरोध प्रख्यात रहा है। लेकिन उल्लेखनीय यह भी कम नहीं है कि पांचरात्रों के भागवत सम्प्रदाय की एक धारा शैव भागवत भी रही है। बौद्ध धर्म के प्रारम्भ में यह सोचा भी नहीं गया होगा कि बौद्ध तंत्र भी विकसित होंगे या बौद्ध छिनमस्ता के उपासक होंगे।[1]

साधारणतया ऐसा माना जाता है कि उपनिषद आरण्यकों के परिशिष्ट के रूप में हैं और आरण्यक ब्राह्मणों के उपग्रन्थ हैं। लेकिन यह कहना ठीक नहीं होगा कि ब्राह्मणों आरण्यकों और उपनिषदों को सदैव मूलतः भिन्न शास्त्रों के रूप में ही माना गया है। कई स्थानों के जिस विषय के सम्बन्ध में हम यह आशा करते हैं कि वह ब्रह्मणों में वर्णित होना चाहिए वह आरण्यकों में उपलब्ध होता है और आरण्यकों की सामग्री को उपनिषदों की शिक्षाओं में समाविष्ट कर दिया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि यह तीनों साहित्य एक ही विकास श्रृंखला की कड़ियाँ हैं और एक ही साहित्य के रूप में इनको स्वीकार किया गया है, यद्यपि उनके वर्ण्य–विषय विभिन्न हैं। आरण्यक वानप्रस्थों के वृद्धावस्था में गृहस्थ जीवन के उपरान्त प्रयोग हेतु बनाए गये हैं और उपनिषद विश्वबंधन का परित्याग करने वाले मुमुक्षु सन्यासियों के लिए निर्दिष्ट किए गये हैं।

---

1. डॉ0 मनीषा शर्मा, गोरखबानी– परम्परा और काव्यत्व, पृ0 14, 15

उपनिषदों को प्राचीन भारतीय दार्शनिकों ने वैदिक साहित्य के रूप में स्वीकार किया जिसमें ज्ञानमार्ग की चर्चा है, जबकि वेदों का विषय कर्मकाण्ड है। पौराणिक हिन्दू मतानुसार वेद शास्त्रों में जो कुछ लिखा गया है वह धार्मिक कर्तव्यों के विधि के रूप में अर्थात उन कर्तव्यों के विधान के रूप में है जिनको करना चाहिए और उन कार्यों के निषेध के रूप में हैं जिनको निषिद्ध कर्म की संज्ञा दी गई है। कथा अथवा दृष्टांतों के रूप में जो कुछ कहा गया है वह भी इस हेतु से है कि उनसे मनुष्य धार्मिक कर्तव्यों का ज्ञान प्राप्त करे और जो नहीं किये जाने वाले निषिद्ध कर्म है उनके द्वारा मिलने वाले कष्ट के फल को दृष्टि में रखते हुए शिक्षा प्राप्त करे।

किसी व्यक्ति को वैदिक निर्देशों के ऊपर शंका करने का अधिकार नहीं है क्योंकि वेद तर्कों से परे हैं और क्योंकि बुद्धि वैदिक–विधि–विधान और ज्ञान को समझने में समर्थ नहीं है। अतः वेद ईश्वरीय आदेश और निषेध के रूप में प्रकट किये गये हैं जिससे कि मनुष्य मात्र आनन्द का सत्य मार्ग धारण कर सके। अतः वैदिक शिक्षा कर्म मार्ग की ओर अग्रसर करती है और वैदिक यज्ञ कर्मकाण्ड आदि करने की प्रेरणा देती है। दूसरी ओर उपनिषद किसी कर्म काण्ड का विधान नहीं करती वरन् शाश्वत् सत्य एवं यर्थात का निरूपण करती है जिसके ज्ञान से मनुष्य बन्धनों से मुक्त हो जाता है। हिन्दु दर्शन के ज्ञाता इस बात से भली–भाँति अवगत हैं कि वेदों के अनुयायी और वेदान्ती यर्थात उपनिषद मतावलम्बी व्यक्तियों में सदैव से तीव्र विवाद रहता आया है। वेदों के मर्मज्ञ अनेक स्थलों के आधार पर इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं कि उपनिषद वेदों से भिन्न कोई वस्तु नहीं है और उनका मत यह नही है कि कर्मकाण्ड नहीं करना चाहिए। इनके अनुसार उपनिषदों में कर्मकाण्ड को स्थान न देते हुए सुपात्र जिज्ञासुओं को ज्ञान के मार्ग के द्वारा शाश्वत् सत्य की अनुभूति का आनन्द प्राप्त करती है। उपनिषदों के महान भाष्यकार श्री शंकराचार्य कहते है कि उपनिषद उन ज्ञानियों के लिए है जो सांसारिक एवं भौतिक सुखों से उपरत हो गये हैं और जिनके लिए वैदिक कर्मकाण्ड का

कोई विशेष प्रयोजन नहीं रहा है। ऐसे सुपात्र व्यक्ति नहीं भी हों, चाहे वे विद्यार्थी हों, गृहस्थ हों अथवा संन्यासी, उनके अन्तिमतः मोक्ष के लिए उपनिषद सत्य ज्ञान का प्रकाश देती है जो वैदिक कर्मकाण्ड अनुष्ठाानादि करते हैं। वे भिन्न स्तर पर है, परन्तु जिनके हृदय में कोई अभिलाषा और कामना नहीं रह गयी है और जो निष्काम भक्ति द्वारा मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं, उपनिषद् का अध्ययन करने के लिए वे ही सुयोग्य पात्र है।[1]

भारतीय परम्परा के संप्रदायों को दो रुपों में देखा जा सकता है – आस्तिक और नास्तिक । यद्यपि महान वैयाकरण पाणिनी ने 'नास्तिक' शब्द का अर्थ किया है– परलोक में विश्वास न रखने वाला और इसलिए पाणिनी के मतानुसार 'आस्तिक' शब्द का अर्थ निर्धारित किया है। 'वेदों की सर्वथा निर्दोषता और उनकी चरम प्रामाणिकता में विश्वास रखने वाला। कदाचित इस परम्परा को सबसे अधिक सहारा मिला स्मृतिकार मनु से जिनकी घोषणा थी एक वेदनिन्दक ही नास्तिक है (नास्तिक वेदनिन्दक)। जो भी हो, इस परम्परा ने गहरी जड़ पकड़ी और भारतीय दर्शन के क्षेत्र में आस्तिकता की कसौटी 'वेदों की चरम प्रामाणिकता की स्वीकृति' ही बन गई। वैदिक रूढ़िवाद के पक्ष में पूर्वाग्रह इस परम्परा के पीछे स्पष्ट है क्योंकि आखिरकार बौद्धों और जैनों के भी अपने–अपने धर्मग्रन्थ थे और उनकी दृष्टि में तो वेद–अनुयायी ही नास्तिक ठहरते हैं। दूसरे कई दार्शनिक सम्प्रदायों के बारे में यह बात भी सच है कि यद्यपि उन्हें वेद–भक्त अर्थ में आस्तिक मान लिया गया है। उनकी मूलभूत दार्शनिक मान्यताओं को वेदों से कुछ विशेष लेना देना नहीं।

इस प्रकार इस परम्परागत वर्गीकरण की उपयोगिता की सीमाबद्रता स्पष्ट है। फिर भी इसका सहारा लेकर चलने में एक लाभ है– इसमें कम से कम यह पता चलता है कि वेदों की प्रामाणिकता के प्रति दृष्टिकोण ने भारतीय दर्शन के क्षेत्र में

---

1. डॉ0 एस0एन0 दासगुप्ता, भारतीय दर्शन का इतिहास, पृ0 28–30

कितने महत्व की भूमिका अदा की है।

तीन सम्प्रदायों को नास्तिक घोषित किया गया है और इसमें संदेह नहीं कि यह तीनों ही वेद–विरोधी हैं। ये हैं –

1. भौतिकवादी दर्शन, जिसमें लोकायत, चार्वाक अथवा बार्हस्पत्य नाम दिया गया है।
2. कई ऐसे दार्शनिक सम्प्रदाय जो कम से कम औपचारिक रूप से बुद्ध अनुयायी होने का दावा करते थे और इसलिए 'बौद्ध' कहलाए।
3. एक दूसरा धार्मिक–दार्शनिक सम्प्रदाय जो कदाचित् बौद्ध सम्प्रदाय से भी पुराना है और जिसका नाम है – 'जैन' (जैन शब्द बना है 'जिन' शब्दों से, जिसका अर्थ है विजेता अर्थात वह जिसने अपनी वासनाओं का दमन करके अपने पर विजय प्राप्त कर ली है)।

जिन छः सम्प्रदायों को आस्तिक घोषित किया गया है, वे हैं –

1. 'पूर्वमीभांसा' अथवा 'मीमांसा'।
2. 'वेदान्त' जिसे 'उत्तर मीमांसा' भी कहा गया।
3. 'सांख्य'
4. 'योग'
5. 'न्याय'
6. 'वैशेषिक'

इन छः सम्प्रदायों में से पहले दो के लिए ही– अर्थात् मीमांसा और वेदान्त के लिए ही– वेद की प्रामाणिकता सचमुच निर्णायक महत्व रखती है। शेष चार को वेद–भक्त क्यों माना गया इस पर हमें विचार करना है। लेकिन इस सम्बन्ध में स्पष्ट ही सबसे पहले प्रश्न उठता है कि ये वेद क्या हैं जिनकी प्रामाणिकता को भारतीय दर्शन

में इतना महत्व दिया गया है।[1]

वैदिक युग के प्रारम्भ में अनेक धर्म रहे हैं जिनमें शैव, शाक्त, वैष्णव, जैन धर्म की विशेषता, जैसा कि उसके नाम से प्रकट है, उसकी व्यवहारिक उपदेश में पाई जाती है। वह जो साधना निर्धारित करता है उसकी प्रमुख विशेषता उसकी अत्यधिक कठोरता है। यह कठोरता न केवल संन्यासी के लिए अभिप्रेत साधना में पाई जाती है बल्कि गृहस्थ के लिए निर्धारित साधना भी अपेक्षाकृत कठोर ही है। अनेक दर्शनों की तरह जैन दर्शन भी न अकेले ज्ञान पर जोर देता है ओर न अकेले आचरण पर, बल्कि दोनों ही पर जोर देता है। इनके अलावा वह व्यवस्था की भी आवश्यकता बाताहै। वह 'सम्यक् दर्शन' (आस्था), सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र को त्रिरत्न अर्थात जीवन के तीन बहुमूल्य सिद्धान्त बताता है। इनमें से पहला स्थान सम्यक् दर्शन को दिया गया है क्योंकि यदि आस्थाएँ भ्रान्त है, जहॉ तक उसकी नीति का अन्तिम लक्ष्य मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास है, निम्नलिखित प्रार्थना जैन धर्म की शिक्षा के समाजिक पक्ष पर इसके साथ ही उसकी अत्यधिक सहिष्णुता को भी स्पष्टतः प्रकट करती है। राजा विजयी और सदाचारी हो। उपयुक्त काल में सदैव वर्षा हो। रोग का नाश हो और अकाल और चोरी कहीं न हो। जैन धर्म विश्व के सारे प्राणियों को पूर्ण सुख प्रदान करे।

जैन धर्म भी दो प्रकार की साधना बताता है। एक गृहस्थ के लिए और दूसरी संन्यासी के लिए, और दूसरी को पहली से श्रेष्ठ मानता है। स्वभावतः संन्यासी के नियम अधिक कड़े हैं और इसलिए उन्हें महाव्रत तथा गृहस्थ के नियमों को अणुव्रत कहा गया है। इस प्रकार, अनेक व्रतों में से तो गृहस्थ से तो केवल सन्तोष की माँग की गई है जबकि संन्यासी के लिए पूर्ण अपरिग्रह पर जोर दिया गया है, जिससे वह किसी भी भिक्षापात्र तक को अपनी कही कह सकता। लेकिन जैन धर्म में गृहस्थ और संन्यासी–जीवन की दो व्यवस्थाएँ, बौद्ध धर्म की अपेक्षा जो पहली की अपेक्षा करते हुए दूसरी को

---

1. डॉ0 चटोपाध्याय, भारतीय दर्शन सरल परिचय, पृ. 61–63

महत्व देता है, अधिक घनिष्ट रूप से जुड़ी हुईं हैं। उदाहरणार्थ, वह साधना के उक्त दो रूपों को एक या अधिक बातों से संयुक्त करने की अनुमति दे देता है, जैसे– एक व्यक्ति गृहस्थ रहते हुए ही केवल भोजन के मामले में संन्यासी के ऊँचे आदर्श का अनुसरण कर सकता है। इस प्रकार यह गृहस्थ और संन्यासी की साधानाओं के बीच अन्तर प्रकार का नहीं बल्कि केवल मात्रा का है।

जीवन का लक्ष्य कर्म से छुटकारा पाना है। अन्य भारतीय दर्शनों की तरह जैन धर्म भी पुर्नजन्म में विश्वास करता है लेकिन पुर्नजन्म के कारण भूतकर्म की उसकी धारणा अन्य दर्शनों की अपेक्षा भिन्न है। यहाँ कर्म को पौदगलित माना गया है जो जीवन के अन्दर पूर्णतः प्रविष्ट होकर उसे नीचे संसार में खींच देता है, जैसे ताप लोहे से और जल दूध से संयुक्त हो सकता है वैसे ही कर्म जीवन से संयुक्त हो जाता है और इस प्रकार कर्म से संयुक्त जीव बन्धन में पड़ा हुआ जीव कहलता है। जैसे अधिकांश हिन्दू–विचारधारा में वैसे ही यहाँ भी आदर्श शुभाशुभ से परे पहुँचाना है और इसलिए पुण्य और पाप दोनों को बन्धन का कारण माना गया है। हांलाकि इनसे होने वाले बन्धन परस्पर भिन्न प्रकार के है। जब समुचित साधना से सम्पूर्ण कर्म समाप्त हो जाता है और जीवन 'सर्वज्ञता की ज्योति से पूर्णतः देदीग्यमान' हो जाता है तब वह मुक्त हो जाता है। जब अन्त में मृत्यु के बाद वह शरीर के बंधन से छूट जाता है तब वह ऊपर उठता हुआ जगत के जिसे ऊपर लोकाकाश कहा गया है, शिखर पर पहुँच जाता है और वही वह सदैव शान्ति और आनन्द की अवस्था में टिका रहता है। उसके बाद वह सांसारिक बातों की चिन्ता में तो नहीं पड़ता, फिर भी अपना प्रभाव अवश्य डालता रहता है क्योंकि जो अभी उसकी स्थिति की प्राप्ति के लिए प्रयत्न कर रहे हैं। उनको वह सदैव प्राप्त आदर्श के लिए उदाहरण के रूप में प्रेरणा देता रहेगा।

ज्ञान प्राप्ति से लेकर जब तक देवत्व की प्राप्ति (सवमुक्त जीवन देता है) नहीं हो जाती, जब तक की अवधि में जीवन में नये कर्म का प्रवेश नहीं होता है।

ज्ञान–प्राप्त पुरुष सक्रिय जीवन बिता सकता है परन्तु जैन–धर्म के अनुसार उसकी सक्रियता उस पर वैसा प्रभाव तक नहीं डालती जैसा निःस्वार्थ क्रिया अन्यों पर डालती है जैसे बौद्ध–धर्म में वैसा ही यहाँ भी इस अवधि में व्रतों पुरुषों को 'अर्हत' कहा जाता है और मोक्ष–प्राप्ति के बाद उसे 'सिद्ध' माना जाता है। इससे स्पष्ट है कि यहाँ अर्हत की अवस्था जीवन–मुक्ति के हिन्दू के तुल्य है।[1]

जैन धर्म के बाद बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव हुआ एक प्रारम्भिक बौद्ध धर्म दूसरा उत्तरकालीन। प्रारम्भिक बौद्ध–धर्म में कुछ अस्पष्टता थी। इसअस्पष्टता के साथ इस धर्म के न केवल अपनी जन्मभूमि के अन्दर बल्कि विदेशों में भी व्यापक और द्रुत प्रसार ने मिलकर कालान्तर में इसके अनुयायियों में बड़े मतभेद पैदा कर दिये। बौद्ध परम्परा में अनेक सम्प्रदायों का उल्लेख हुआ है। कहते हैं कि अकेले भारत के अन्दर उनकी संख्या अठारह तक पहुँच गई थी लेकिन यहाँ केवल उनकी ही चर्चा की जा रही है जो उनमें से सबसे महत्वपूर्ण है। विशेष रूप से उनकी जिनका हिन्दू और जैन–धर्म के ग्रन्थों में समान से उल्लेख हुआ है और इसलिए जिनको भारतीय विचारधारा में महत्वपूर्ण माना जाता है।

उत्तरकालीन बौद्ध–धर्म के अन्तर्गत जितने मत है उनको मोटे तौर से दो वर्गों में रखा जा सकता है जो हीनयान और महायान के नाम से प्रसिद्ध है। इन नामों की विभिन्न व्याख्याएँ दी जाती है, परन्तु सबसे सामान्य यह है कि 'हीनयान' निर्वाण का हीन मार्ग है और 'महायान' महा मार्ग है। 'हीन' शब्द के प्रयोग से स्पष्ट है कि ये नाम महायान के अनुयायियों के द्वारा रखे गए है। इनमें से हीनयान का जन्म पहले हुआ, परन्तु इनमें अन्तर तिथि मात्र का ही नहीं है। इनके दार्शनिक और नैतिक दृष्टिकोणों में भी बहुत अन्तर है। उदाहरणार्थ हीनयान के अनुयायी ब्रह्म वस्तुओं की सत्ता में विश्वास करते है। सत्ता की उनकी धारणा चाहे जो हो और इस वजह से उन्हें सर्वास्तित्ववादिन

1. प्रो0 हरेन्द्र नाथ शर्मा, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ0 167–170

कहा गया है। महायान के अनुयायी इसका विपरित मत अपनाते हैं। एक अन्य महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि हीनयान मनुष्य को संसार के बन्धन से अपने को छुड़ाने का उपाय बताकर ही सन्तोष कर लेता है जबकि महायान यह उपदेश देता है कि बोधिसत्वप्राप्त पुरुष को निरन्तर जगत के आध्यात्मिक कल्याण के लिए काम करते रहना चाहिए। बौद्ध–धर्म के इन दो रुपों के मध्य महत्वपूर्ण पक्षों में मूलभूत अंतर है। इसमें संदेह नहीं कि हीनयान की अपेक्षा महायान पर परम्परागत हिन्दू धर्म का गहरा प्रभाव पड़ा है। हिन्दी धर्म की पौराणिकता से भी महायान अछूता नहीं रहा है। उदाहरण के लिये भविष्य बुद्ध की कल्पना को लिया जा सकता है।

महायान के विशेष सिद्धान्तों को प्रारम्भिक बौद्ध–धर्म के अस्फुट विचारों से विकसित दिखाना बिल्कुल भी कठिन नहीं है। महायान के प्रवक्ताओं का स्वयं भी यही मत था। उन्होंने कहा कि बुद्ध के उपदेश में निहित सम्पूर्ण सत्य को उन्हीं का सिद्धान्त प्रस्तुत करता है और हीनयान को सम्प्रदायों में पाये जाने वाले रूपान्तरों का कारण उन्होंने यह बताया है कि या तो बुद्ध ने कम योग्यता वाले शिष्यों की बुद्धि को देखते हुए अपने उपदेश में कुछ परिवर्तन कर दिये या वे शिष्य ही उनके उपदेश के पूरे अर्थ को पकड़ने में असमर्थ रहे हैं।

सच्चाई जो भी हो बौद्ध धर्म के इन दोनों ही रूपों में कई महत्वपूर्ण नवीनताएँ समान रूप से दीख पड़ती हैं ओर इनमें से किसी को भी बुद्ध के मूल उपदेश को हूबहू प्रस्तुत करने वाला नहीं माना जा सकता।

इस काल के अनेक बौद्ध–ग्रन्थ संस्कृत में लिखे गये हैं। उनमें से कुछ शायद मूल पालि ग्रन्थ के रूपान्तर हैं जिससे प्रकट होता है कि बौद्ध धर्म ने धीरे–धीरे अधिक पंडिताऊ रूप अपना लिया था। हाँलाकि इसका मतलब यह नहीं समझना चाहिए कि एक लोकप्रिय धर्म के रूप में इसका अब अस्तित्व समाप्त हो गया था। जैसा कि सर्वविदित है – बुद्ध ने अपने उपदेश के व्यवहारिक परिणामों के ऊपर बल देना अधिक

पसन्द किया था और उनमें निहित सिद्धान्त को उपेक्षित छोड़ दिया था, लेकिन अब सिद्धान्त में रुचि इतनी अधिक बढ़ जाती है कि उसकी जैसी तीव्रता दर्शन के सम्पूर्ण इतिहास में अन्यत्र शायद ही कहीं मिले। इस बात का कारण वह तीव्र पारस्परिक विरोध भी कम नहीं है जो धीरे–धीरे बौद्धों और उनके हिन्दू आलोचकों के मध्य पैदा हो गया था। यह पारस्परिक विरोध ऐसा था जिससे पक्ष और विपक्ष दोनों ही का लाभ हुआ और जिसके द्वारा सम्पूर्ण भारतीय चिन्तन इतना अधिक समृद्ध और वैविध्यपूर्ण हो गया जितना अन्यथा न हुआ होता।

दार्शनिक सिद्धान्त के सबके सब विभिन्न रूप वास्तववादी भी और प्रत्ययवादी भी– स्वयं बौद्ध–दर्शन के अन्दर पाये जाते हैं और एक तरह से यह कहा जाता है कि भारत में दर्शन की दो बार आवृत्ति हुई– एक बार विविध हिन्दू दर्शन में और दूसरी बार बौद्ध दर्शन के विविध सम्प्रदायों में।

बौद्ध–सम्प्रदायों को जो प्रमुखता मिल गई थी उसका धीरे–धीरे भारतवर्ष में जोर पकड़ती हुई हिन्दू विचारधारा के दबाब से हृास हो गया। जितना संस्कृत–साहित्य काल के प्रवाह में नष्ट होने से बच गया है उससे ज्ञात होता है कि सबसे पहला बड़ा आक्रमण बौद्ध–धर्म के सैद्धान्तिक पक्ष पर कुमारिल भट्ट (700 ई0) की ओर से हुआ। फिर शंकराचार्य तथा अन्य आचार्यों के द्वारा ऐसे आक्रमण होते ही गए। इसके फलस्वरूप बौद्ध–धर्म का प्रभाव भारतववर्ष के एक बड़े भूभाग पर बहुत कम हो गया। प्रारंभ में दार्शनिक बारीकियों पर वाद विवाद कुछ अधिक समय तक चलते रहे परन्तु बारहवीं शताब्दी के बाद विभिन्न हिन्दू दर्शनों में बौद्ध–दर्शन की चर्चाएँ अधिकांशतः शास्त्रीय और बुद्धि–विलास मात्र बन कर रह गई। उस काल के बाद इस महान धर्म का प्रचार–प्रसार अब भारत के बाहर तिब्बत, चीन और जापान आदि देशों में अधिक हुआ।

बौद्ध–धर्म की इस उत्तरकालीन अवस्था में से सम्बन्धित साहित्य, जिसका निर्माण पहली या दूसरी शताब्दी ईसवी में शुरू हो गया था, अति विशाल है, परन्तु यहाँ

उसके केवल एक छोटे से भाग की ही चर्चा की जा रही है। यहाँ यह भी उस्त्लेखनीय है कि बौद्ध धर्म से सम्बन्धित अनेक संस्कृत–ग्रंथ लुप्त हो चुकें हैं।

बौद्ध दर्शन के चार ग्रन्थ प्रमुख रहे हैं। उनमें से वैभाषिक के मुख्य प्रवक्ता दिंडनाग और धर्मकीर्ति हुए। दिंडनाग का काल प्रायः 500 ई0 के आस पास माना जाता है। उसके प्रमाण समुच्चयादि ग्रन्थ अब संस्कृत में नहीं मिलते धर्मकीर्ति को दिड़ नाग का टीकाकार और शंकराचार्य को पूर्ववर्ती माना जाता है। उसका तर्क शास्त्र पर लिखा हुआ ग्रन्थ 'न्याय बिन्दु' धर्मोत्तर की अत्यन्त महत्वपूर्ण टीका के साथ मिलता है। हिन्दु दर्शनकारों के गृनी ने इन दोनों विचारकों के गृनी के अनेक उद्धरण मिलते हैं। प्रसिद्ध है कि कुमारिलब्ध (200 ई0) सैद्धान्तिक सम्प्रदायों के बीच की विभाजक रेखा को खोज पाना आसान नहीं है।

योगाचार सम्प्रदायों के मुख्य आचार्य असंग और वसुबन्धु थे। ये दोनों परस्पर भाई थे और शायद तीसरी शताब्दी ईसवी में हुए थे। लगता है कि वसुबन्धु पहले सैद्धान्तिक था और बाद में अपने भाई के प्रभाव से योगाचार हो गया था।

बौद्ध सम्प्रदाय की महायान शाखा के अनुयायी ही वज्रयानी सिद्ध हुए है। अधिकांश सम्प्रदाय 84 सिद्ध पुरुषों के अस्तित्व में विश्वास करते थे, जिन्हें अष्ट महासिद्धयाँ उपलब्ध थीं और जो अति–प्राकृतिक चमत्कारों का प्रदर्शन कर सकते थे, ये 84 महासिद्ध अजर और अमर माने जाते थे, देवों, यक्षिणियों तथा डाकनियों आदि के स्वामी माने जाते थे और अतिमानव अर्द्ध–देवताओं में उनकी गणना होती थी। मध्यकाल में समस्त जनता इन 84 महासिद्धों की कल्पना से प्रभावित थी और जायसी तक उनका उल्लेख अमर–पुरुषों के रूप में करते हुए कहते हैं :

नवौ नाथ चलि आवहिं औ चौरासी सिद्ध
आज महारन–भारथ चले गगन, गरुड़ और गिद्ध....

ये सिद्ध केवल कल्पना मात्र ही नहीं थे बल्कि इनका ऐतिहासिक अस्तित्व

भी था जहाँ तक 84 संख्या का प्रश्न है, यह संख्या वास्तविक न होकर काल्पनिक संख्या मालूम भी होती है। तन्त्रों में 84 संख्या का एक विशेष महत्व है और उसके गूढ़ तान्त्रिक अभिप्राय हैं। तन्त्रों में, योग में, आसन भी 84 माने गये हैं और वहाँ भी इस संख्या का सांकेतिक महत्व है। टुची इस संख्या को बारह राशि तथा सात ग्रहों का गुणनफल मानते हैं। यह 84 संख्या लगभग प्रत्येक तान्त्रिक सम्प्रदाय में स्वीकृत थी और यह विश्वास किया जाता था कि सम्प्रदाय में 84 सिद्धों का होना अनिवार्य है। उस काल में प्रत्येक प्रान्त में, प्रत्येक सम्प्रदाय में जाने कितने योगी होते थे जिनमें से कुछ विलक्षण सिद्धियों को उपलब्ध कर लेने वालों को सिद्ध कहा जाने लगता था। किन्तु सम्प्रदायिक प्रतिद्वद्विंता के कारण प्रत्येक सम्प्रदाय कुछ सिद्धों को मान्यता देता था और कुछ का विरोध करता था। इस स्थिति में प्रत्येक सम्प्रदाय की, सिद्धों की सूची अलग–अलग थी। बौद्धों की सूची नाथ योगियों की सूची से अलग थी, और स्वतः बौद्ध तथा नाथों में भी अलग–अलग सूचियों के अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं। न केवल नेपाल, तिब्बत; कारूप तथा उड़ीसा आदि में ही इन 84 सिद्धों की परम्परा चल रही थी वरन दक्षिण भारत में भी 84 सिद्धों की परम्परा का पर्याप्त प्रचलन था।

किन्तु इन सम्प्रदायों की सूची सर्वथा विश्वसनीय नहीं है, क्योंकि प्रत्येक सम्प्रदाय में 84 सिद्धों की संख्या पूरी करने के लिए चारो तरफ जाल फेंकता था और विभिन्न शताब्दियों तथा प्रान्तों के सिद्ध पुरूषों के नाम अपनी सूची में सम्मिलित कर 84 का शगुन पूरा करता था। इसीलिए प्रत्येक सम्प्रदाय की सूची में दूसरे सम्प्रदाय के भी कितने ही सिद्ध सम्मिलित रहते थे और उनका औचित्य सिद्ध करने के लिए कुछ सम्प्रदायिक दन्तकथाएँ गढ़ ली जाती थीं जिनमें यह सिद्ध किया जाता था कि वास्तव में ये सिद्ध इसी सम्प्रदाय के है और अन्य सम्प्रदायों को उन्होंने त्याग दिया था या उसे गौण–साधना–पद्धति के रूप में अपना रक्खा था या इन सिद्धों के दो अलौकिक रूप थे जिनमें से एक रूप बौद्ध रूप था और दूसरा शैव। इस प्रकार की कितनी ही अविश्वसनीय,

अनैतिहासिक, दन्तकथाएँ तिब्बती तथा भारतीय सम्प्रदाय ग्रन्थों में प्राप्त होती हैं। जिनकी ओर हमने जीवन–वृत्त पर विचार करते समय संकेत किया है। बौद्ध तथा शैव दोनों ही पद्धतियाँ इतनी निकट आ गई थीं कि बहुत ही स्वच्छन्दता से दोनों में देवताओं, अनुष्ठानों, अभिचारों तथा किम्बदन्तियों का आदान–प्रदान का स्वरूप इतना उलझा हुआ है कि आज यह कह सकना कठिन है कि किस सम्प्रदाय ने किससे प्रभाव ग्रहण किया। इसलिये इन सूचियों को ज्यों का त्यों स्वीकृत नहीं किया जा सकता। किन्तु अभी तक जो सूचियाँ प्राप्त हुई हैं, प्रामणिक सामग्री के अभाव में उनका परीक्षण तथा विशलेषण भी अत्यन्त दुस्साध्य है। इन 84 सिद्धों के नाम तथा क्रम पर प्रकाश डालने वाली चतुर्विध सामग्री प्राप्त हुई है।

क– महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री द्वारा निर्दिष्ट वर्ण–रत्नाकर की सूची।

"वर्णरत्नाकर" एक तापत्र का हस्तलिखित ग्रन्थ है जो बंगलाक्षरों में लिखा हुआ है। उसका लिपिकाल लक्ष्मण सम्वत् 388 दिया हुआ है। एशियाटिक सोसायटी के संग्रहालय में यह ग्रन्थ सुरक्षित है। इसके लेखक कविशेखराचार्य ज्योतिषीश्वर हैं जो मिथिला के महाराज हरिसिंह देव 1300–1321 के दरबार में थे। इस ग्रन्थ के विभिन्न कल्लोलों में नग–वर्णना, नायिका–वर्णना, आदि का विस्तृत वर्णन है। उसी में 84 सिद्ध–वर्णना भी दी गई है, यद्यपि नाम केवल 76 सिद्धों का ही दिया गया है। 1. मीननाथ, 2. गोरक्षनाथ, 3. चौरंगीनाथ, 4. चामरीनाथ, 5. तंतिपा, 6. हालिया, 7. केदारिया, 8. घोगपा, 9. दारिपा, 10. विरुपा, 11. कपाली, 12. कमारी, 13. कान्ह, 14. कनखल, 15. मेखल, 16. उन्मन, 17. काण्डलि, 18. धोबी, 19. जालन्धर, 20. टोंगी, 21. भवह, 22. नागार्जुन, 23. दौली, 24. भिषाल, 25. अचिति, 26. चम्पक, 27. टेण्टस, 28. भुम्बरी, 29. बाकलि, 30. तुजी, 31. चर्पटी, 32. भादे, 33. चांदन 34. कामरी, 35. करवत, 36. ध र्मपापतंग, 37. भद्र, 38. पातलिभद्र, 39. पालिहिह, 40. भानु, 41. मीन, 42. निर्दय, 43. सबर, 44. सान्ति, 45. भार्तृहरि, 46. भषण, 47. भरी, 48. गगनपा, 49. गमार, 50. मेनुरा,

51. कुमारी, 52. जीवन, 53. अधोषाधव, 54. विविकिधज, 55. सियारी, 56. नागवालि, 57. विभवत, 58. सारंग, 59. विविकिधज, 60. मगरधज, 61. अचित, 62. विचित, 63. नेचक, 64. चाटल, 65. नाचन, 66. भीलो, 67. पाहिल, 68. पासल, 69. कमल कंगारि, 70. चिपिल, 71. गोविन्न, 72. भम, 73. भैरव, 74. भद्र, 75. भर्मरी, 76. भुरुकुटी।

यह सूची नाथ–सम्प्रदाय द्वारा मान्य सूची थी ऐसा उल्लेख शास्त्री महोदय ने किया है य़पि इसका आधार सम्भवतः यही है कि इस सूची में मीननाथ को आदि–सिद्ध माना गया है और मीननाथ की मत्स्येन्द्रनाथ से अभिन्नता दिखाकर इस सूची को नाथ परम्परा की सूचनी कहा गया है।

ख– त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकृत्यायन द्वारा निर्दिष्ट वज्रयानी सिद्धों की सूची।

इस सूची का मुख्य आधार तिब्बत के स स्वयं विहार के पाँच प्रधान गुरुओं 1091–1279 की ग्रन्थवली है जो तुर्गी मठ में छपी है। इसमें 84 सिद्धों को संख्या पूरी है और उनकी जाति तथा देश का भी उल्लेख किया गया है।

1. लूइपा, कायस्थ, मगध, 3. विरुपा मगध (देवपाल का देश), 4. डोम्बिपा, चरित्र, मगध, 5. शबरपा, चरित्र, विक्रमशिला, 6. सरहपा, ब्राह्मण, नालन्दा, 7. कंकालीपा, शूद्र, मगध, 8. मीनपा, मछुआ, कामरूप, 9 गोरप्पा, 10. चौरंगिपा, राजकुमार, मगध, 11. वीणपा, राज कुमार, गौड़ (बिहार), 12. शान्तिपा, ब्राह्मण, मगध, 13. तन्तिपा (तंतवा), सोंध ी नगर, 14, चमारिपा, (चर्मकार) विष्णु नगर (पूर्वदेश), 15. कर्णरिपा या आर्यदेव, नालन्दा, 19 थगनपा, शूद्र पूर्व भारत, 20. नारोपा, ब्राह्मण मगध, 21. शलिपा या शीलपा, शूद्र, विघसुर, 22. तिलोपा या तिल्लोपा, ब्राह्मण, भिगुनगर, 23. छत्रपा, शूद्र संधोननगर, 24. भद्रपा, ब्राह्मण, मणिधर, 25. दोखंधि या द्विखंडिपा, गंधपुर, 26. अजोगिपा, गृहपति, सालिपुत्र, 27. कालपा, राजपुर, 28. धोम्भिपा, धोबी, सालिपुत्र, 29. कंकणपा, राजकुमार, विष्णुनगर, 30. कमर कंबल पा, उड़ीसा, 31. डेंगिपा ब्राह्मण, उड़ीसा, सालिगपुत्र, 32. भदेपा, श्रावस्ती, 33. तंधे या तंतेपा, शूद्र, कौशाम्बी, 34. कुकुरिपा, ब्राह्मण, कपिलवस्तु ,

35. कुचि या कुसूलिपा, शूद्र, करि, 36. धर्मपा ब्राह्मण, विक्रशिला, 37. महीपा या महिलपा शूद्र, करि, 36. धर्मपा ब्राह्मण, विक्रमशिला, 27. महीपा महिलपा शूद्र, मगध, 38. अचिंतिपा, लकड़हारा, धनिरुप, 39. भलह (भवपा) क्षत्रिय, धंजुर देश, 40. नलिनपा, सालिपुर, 41. भुसुकपा, राजकुमार, नालन्दा, 42. इन्द्रभूति, राजा, लंकापुर, 43. भेकोपा वणिक्, मंगलदेश, 44. कुठालि (कुद्दालि पा) रामैश्वर, 45. कर्मार या कम्परि पा लोहार, सालिपुत्र, 46. जालन्धरपा, ब्राह्मण, नगर भो..............., 47. राहुलपा, शूद्र कामरूप, 48. घर्वरि या घर्वरि पा, बोधि नगर, 49. धोकरिपा, सालिपुत्र 48.मेदनीपा, लाखपुय, 51. पंकजपा ब्राह्मण, 52. वज्र पा घंटापा, क्षत्रिय, वारेन्द्र, 53. जोगीपा या अजोगिपा, डोम, उडन्तपुरो, 54. चेलुकपा, शूद्र, मंगलदेश, 57. गुंडरिपा या गोरुर पा, चिड़ीमार, डेसुनगर, 56. लुचिकपा, ब्राह्मण, भंगलदेश, 57. निर्गुणपा, शूद्र, पूर्व देश, 58. जायनप्त, ब्राह्मण, भंगलपुर, 59. चर्पटी या पचरीपा, कहार चम्पा, 60. चम्कपा, राजकुमार, 61. भिखनपा, शूद्र सालिपुत्र, 62. भलिपा, कृष्णघृतवधिक्, सतपुरी, 63. कुमरिपा जोमनश्री देश, 65. चवरि (या जवरि–अजपालि) पा, 65. मणिभद्रा या योगनी, गृहदासी, मगध, 66. मेखलापा या योगिनी गृहपतिकन्या, अगचेनगर, 67. कनखलापा या योगिनी देवीकोट, 69. कलकलपा शूद्र, भिरलिनगर, 69. कंताली कंथालीं पा दर्जी, मणिधर (मैहर), 70. धहुलि या धहुरि पा शूद्र, धेकरदेश, 71. उ,धलि या उधरिपा वैश्य, देवीकोट, 72. कपाल या कमजपा शूद्र, राजपुरी, 73. किलपा राजकुमार, प्रहर (सहर), 74. सागरपा राना, कांची, 75. सर्वभक्षपा, शूद्र महर (सहर), 76.नागबोधिपा ब्राह्मण, पश्चिम भारत, 77. द्वारिकपा राजा, उड़ीसा सालिपुत्र, 78. पुतुलिपा शूद्र, भंगलदेश, 79. पनह या उपानह पा चमार, सन्धोनगर, 80. कोकालिपा राजकुमार, चंपारन, 81. अनंगपा, शूद्र गौड़, 82. लक्ष्मीकरा या योगिनी राजकुमारी, संभलनगर, 83. समुदपा, सर्वडिदेश, 84. भलि या व्यालिपा, ब्राह्मण अपत्रदेश।

ग. तुंजूर पर आधारित ग्रुएनवाल्ड की सूची जिसमें केवल 38. सिद्धों के नाम हैं किन्तु उन सबों के साथ उनकी क्रम संख्या स्पष्ट उल्लेख है और वह क्रम संख्या व

स्क्य बिहार की सूची से पूरी तरह मेल खाती है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि स स्क्व बिहार की सूची वज्रयानी सिद्धों की सर्वमान्य सूची थी। निम्नलिखित क्रम–संख्याओं वाले सिद्धों का उल्लेख इस सूची में है :

1, 3, 4, 5, 6, 8, 9, 10, 11, 12, 13, 16, 17, 18, 19, 20, 22, 24, 30, 31, 32, 34, 36, 42, 44, 46, 52, 54, 64, 66, 67, 77, 82, 84, 57, 74, नामों में कहीं कहीं थोड़ा उच्चारण भेद अवश्य है (10 वें सिद्ध को इस सूची में षडरांगपा कहा गया है। चो सस्क्य सूची में चौरंगीपां है। यह भी उच्चारण भेद ही प्रतीत होता है।)

घ. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा संग्रहीत महार्णव–तन्त्र, हठयोग–प्रदीपिका, गोरक्ष–सिद्धान्त–संग्रह, योगिसम्प्रदाय विष्कृतिः सुधाकर–चन्द्रिका, ज्ञानेश्वर–चरित्र तथा प्राण–संगाली नामक ग्रन्थों से संचयिर सिद्धों की सूची जिनकी संख्या वर्णरत्नाकर के नामों को मिलाकर 137+11 148 होती है। इनमें से बहुत से पुराने सिद्ध है जिनमें से कुछ वज्रयानी भी हो सकते है।

सम्प्रदाय की दृष्टि से इनमें से कोई भी सूची अधिकारिक नहीं मानी जा सकती है। वर्णरत्नाकर तथा द्विवेदी जी द्वारा संग्रहीत सूची नाथ–सम्प्रदाय की सूची है। किन्तु उसमें वज्रयानी सिद्ध भी सम्मिलित हो गये है, सस्क्य बुम् की सूची वज्रयानी है किन्तु उसका संकलन 13 वीं शदी में हुआ है अतः उसमें बहुत से नाथ–सिद्ध भी मिला कर 84 संख्या पूरी की गई है। फिर भी जहॉ तक प्रमाणिकता का प्रश्न है कि सस्क्य सूची ही तुलना में अधिक प्रमाणित मानी जा सकती है। इसके कई कारण है –

1. वर्ण–रत्नाकर का सम्भावित रचना–काल (1300–1221 ई0) इस सूची के रचना–काल से लगभग 25 वर्ष के बाद का है। जिन ग्रन्थों से द्विवेदी जी ने नाम संकलित किये हैं वे और भी परवर्ती हैं और तब तक नाथ–परम्परा ने बौद्ध परम्परा को पूर्णतया उन्मूलित कर दिया था।

2. तुंजूर की क्रम–संख्याओं से सस्क्य सूची की क्रमसंख्या पूर्णतया मिल

जाना इस बात का द्योतक है कि यह सूची अधिकांश बौद्ध तान्त्रिक सम्प्रदायों द्वारा मान्य सूची थी।

3. यही एक सूची 84 की संख्या को पूर्ण करती है। अन्य सुचियाँ अपूर्ण हैं।

द्विवेदी जी ने वर्ण–रत्नाकर तथा सस्क्य सूची की तुलना करने के उपरान्त निम्नलिखित नामों को दोनों सूचियों में सम्मिलित पाया है।

शवरीपा (सरक्य सूची 5, वर्णरत्नाकर सूची 44), मीनपा (8, 1), गोरक्षपा (9, 2), चौरंगीपा (10, 3), शान्तिपा (12, 44), तन्तिपा (13, 5), थगनपा (19, 48), शीलपा, शियालीपा या श्रृगालीपा (21, 55), भद्रपा (24, 37), घोम्भिपा (28, 18), कमरिपा (30, 34), ढेंगिपा (31, 4), भदेपा (32, 32), धर्मपा (36, 36), अचिन्तिपा (38, 25), कुड़ालिपा (44– 7), कमारिपा (45, 12), जालन्धरपा (46, 19), मेंदिनीपा या हालीपा (50, 6), चर्पटीपा (59, 31), चम्कपा (26, 60), भीखनपा (61, 46), कनखलापा (67, 14), मेखलापा (66, 15), कनखलापा (67, 14), कपालपा (72, 69), नागाबोधिपा (73, 56), दारिकपा (77, 9) ।

10वीं शती के उत्तरार्द्ध से ही कई सिद्ध ऐसे थे जो शैव तथा बौद्ध दोनों ही पद्धतियों के आचार्य थे और यद्यपि वे किसी एक बौद्ध या शैव – सम्प्रदाय को ही प्रमुख मान्यता देते थे किन्तु दूसरे सम्प्रदायों को भी प्रश्रय देते थे और दूसरे सम्प्रदाय वाले भी उन्हें मान्यता प्रदान करते थे। ऐसे तीन सिद्ध प्रमुख हैं, मत्स्येन्द्र, जालन्धर तथा काणह। मत्स्येन्द्र मूलतया शैव सम्प्रदाय के अनुयायी थे यद्यपि नैपाल में उन्हें पाशुपत शिव तथा तिब्बत में अवलोकितेश्वर का अवतार माना जाता था। जालन्धर के लिये तारानाथ ने भी भी कहा है कि पूर्व में हाड़ीपा का बौद्ध रूप धारण कर प्रचार करते थे, और पिश्चम में जालन्धरपा सम्भवतः शैव रूप ही धारण करते थे। काराहपा के लिये भी तारानाथ का कथन है कि अन्तर से बौद्ध होते हुए भी बाहर से अबौद्ध पद्धतियों को ग्रहण करते थे और अबौद्ध सम्प्रदायों में भी उनका बड़ा आदर था। ऐसे समन्ययवादी सिद्ध

दोनों ही सम्प्रदायों की सूचियों में सम्मिलित कर लिये गये होंगे।

उस समय की साम्प्रादायिक स्थिति इस प्रकार की थी कि कुछ प्रदेशों में वैष्णवी के विरोध में शैव तथा बौद्ध सम्प्रदायों का संयुक्त शिविर स्थापित हो चुका था और दोनों सम्प्रदाय एक दूसरे के देवताओं, पद्धतियों तथा आचार्यो की परम्परा को आत्मसात् कर रहे थे।

नाथ सम्प्रदाय स्वतः बौद्ध प्रभावों के प्रति शैव विद्रोह है किन्तु इस विद्रोह के पूर्व इनमें से कुछ सिद्ध वर्जयानी रहे होंगे। कुछ तिब्बती अनुश्रुतियाँ तो स्वतः गोरखनाथ को पहले वज्रयानी बाताती हैं। वे शैव बाद में हुए थे।

कभी कभी ऐसा होता था कि कोई विशेष पद्धति आचार्य द्वारा प्रवर्तित की गई। वह आचार्य स्वतः बौद्ध था। बाद में किसी दूसरे आचार्य ने वही पद्धति अपनाई किन्तु सम्प्रदाय शैव अपनाया। ऐसी परिस्थिति में उसे उसी बौद्ध सिद्ध का अवतार मानते हुए नाथ – परम्परा में सम्मिलित कर लिया गया। उसे नाम उसके गुरु बौद्ध सिद्ध का ही दिया गया और इस प्रकार भी कुछ वज्रयानी नाम नाथ सूची में आ गये। उदाहरण के लिये विरूपा मूलतः नालन्दा का बौद्ध सिद्ध था, किन्तु उसके कई अवतार बताये गये हैं और परवर्ती विरूपा या विरूपाझ को कई नाथ–पन्थी ग्रन्थों में मानरूता प्रदान की गई। सम्भवतः प्रथम विरुपा की पद्धति अपना कर भी परवर्ती विरुपा ने शैव सम्पप्रदाय ग्रहण कर लिया था।

कुछ सिद्ध ऐसे व्यक्तित्व के थे जिनका जनता पर बहुत प्रभाव था, दूसरे सम्प्रदायों ने जनता पर प्रभाव डालने के लिए, या अदरवश उन्हें अपनी परम्परा में स्वीकृत कर लिया होगा। गोरख, शरबपा आदि ऐसे ही सिद्ध माने जा सकेते हैं।

कुछ सिद्ध सम्भवतः ऐसे विशेष जाति के थे जो वज्रयान के बाद नाथ संप्रदाय में सामूहिक रूप से दिक्षित हो गये। उस जाति के वज्रयानी सिद्ध की गणना भी उस जाति के साथ–साथ नाथ सम्प्रदाय में होने होगी। उदाहरण के लिये वयनजीवी

जातियों में से कुछ पहले बौद्ध थीं और बाद में सामूहिक रूप से नाथ योगी हो गई थी। वज्रयानी सिद्ध तन्तिपा वयनजीवी जाति के थे। उनकी कुछ तन्तुवायों में बहुत मान्यता रही होंगी। जब वे तन्तुवाय शैव हो गये होंगे तब अपनी जाति के सिद्धों को उन्होंने परित्यक्त नहीं किया होगा। फलतः तन्तिपा की गणना दोनों सम्प्रदायों की सूची में होती है। इसी प्रकार चमरिपा तथा धेम्मिपा (धोबीपा) के विषय में भी अनुमान किया जा सकता है। इसका कारण यह है कि बौद्धों में भी गई आम्नाय थे और इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता कि सभी आमनायों में सिद्धों की एक ही सूची मान्य थी। वहुत सम्भव है चर्याचय–विनिश्चय तथा सस्क्य सूचनी में आम्नाय–भेद हो अतः चर्यापद–विनिश्चय में कई ऐसे सिद्धों के पद संग्रहीत हों जिन्हें सस्क्य सूची में स्थान न दिया गया हो। सिद्धों के जीवन वृत्त पर विचार करते हुए उन पदकर्ताओं पर भी विचार कर लिया गया है जो सस्क्य सूची में सम्मिलित किये गये हैं। साम्प्रदायिक स्थिति के अन्तर्गत उन प्रमुख पदकार्ताओं और दोहाकारों की स्थिति पर भी विचार कर लिया गया है। जिनका नाम दोनों सम्प्रदायों में मान्य है।

<u>काल–क्रम</u>

जहाँ तक समय का सम्बन्ध है, यह सिद्ध परम्परा अधिक से अधिक दो या तीन शतियों की परिधि में ही आ जाती है क्योंकि इनमें से बहुत से सिद्ध समकालीन थे। इनके समय का निर्णय करने के लिए अन्तर्साक्ष्य का सर्वथा अभाव है। उन पर विश्वास कर डा0 शहिदुल्ला ने मत्स्येन्द्र का समय सातवी शती मान लिया जो कि किसी भी कसौटी से ठीक नहीं बैठता। इस पर आगे विचार करेंगे। अन्य साक्ष्यों के रूप मे दो पांडुलिपियों का उल्लेख किया जा सकता है।

क0 काणहपा द्वासरा लिखित हेवज्र–पंजिका–योगरत्नमाला जिसका लिपिकाल काणहपा के समय की निम्नतम सीमा निर्धारित करता है।

ख0 कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी लाइब्रेरी में संग्रहीत साधनाओं की एक पांडुलिपि

जिसका समय 1135 ई0 है और जिसमें कंकणपाद अथवा कोंकणपाद की भी साधना संग्रहीत है।[1]

2. <u>नाथ सम्प्रदाय का विकास –</u>

इन परवर्ती सिद्धों के प्रभाव के कारण ही नाथ सम्प्रदाय का विकास हुअ था। नाथ सम्प्रदाय के अनेक नाथ अलग न होकर सिद्धों में से ही थे। नाथ सम्प्रदाय के विकास में गुरु गोरखनाथ का उच्चतम योगदान है।

गोरखनाथ तथा उनके सम्प्रदाय के विषय में विभिन्न विद्वानों ने जो मत प्रस्तुत किए हैं वे भी प्रमाणिक सामग्री के अभाव में अधिकतर अनुमानात्मक हैं। जहाँ तक बौद्ध सिद्ध–परम्परा और गोरखनाथ का सम्बन्ध है, कुछ मतों तथा किंवदन्तियों का उल्लेख कर देना आवश्यक है, यद्यपि उन्हें किसी प्रमाण के अभाव में विश्वसनीय नहीं कहा जा सकता। बौद्ध किंवदन्तियों में गोरखनाथ वज्रयानी साधक माने गये हैं और म0 हरप्रसाद शास्त्री ने रमणवज्र नाम का उल्लेख किया है। उनका यह भी कहना है कि नेपाल के बौद्ध लोग गोरखनाथ पर बहुत क्रुद्ध हैं और उन्हें पहले बौद्ध धर्म का अनुयायी और बाद में उसका शत्रु मानते हैं। सिल्वियाँ लेवी ने नेपाल के बौद्धों में प्रचलित एक दन्तकथा का उल्लेख किया है। जिसके अनुसार गोरख के समस्त अनुयायी पहले बौद्ध थे बाद में यवनों के भय से बौद्ध धर्म ईश्वरी (शैव) हो गये। एक विद्वान ने तो असंग अथवा नागार्जुन और गोरखनाथ को एक ही मानने का सुझाव रखा है।

ये अधिकांश किवदन्तियाँ अप्रमाणिक हैं और इनके आधार पर किसी भी निष्कर्ष पर पहुँचना अवैज्ञानिक होगा किन्तु ये किवदन्तियाँ इस बात की ओर अवश्य संकेत करती है कि बौद्ध साधनाएँ नाथ–परम्परा से बहुत घनिष्ट रूप से सम्बद्ध थीं। स्वतः बौद्ध तांत्रिक सम्प्रदाय के संस्कृत तथा अपभ्रंश साहित्य में शैव प्रवृत्तियाँ प्रविष्ट हों चुकी थीं। दोहा तथा चर्यापदों में कई स्थलों पर सिद्धों के लिये, या गुरु के लिये या वज्रसत्व के

---

1. डॉ0 धर्मवीर भारती, सिद्ध साहित्य, पृ0 28–37

लिए नाथ विशेषण का प्रयोग हुआ है। सरहपा ने उसे नाथस्वरूप कहा है कि जिसका चित्त विस्फुरित हो जाय 'जत वि चित्तहि विफ्फुरई तत्त वि णाह सरूअ'। काणहपा भी उसे नाथ कहते हैं, जो मन को निश्चल कर लें 'जो णत्थु णिच्चल किअउ मण सो धम्मक्खर पास ।' ऐसे ही साधक को काणहपा वज्रधरनाथ भी कहते हैं। और वह गृहिणी(प्रज्ञा महामुद्रा) का स्वामी होता है। प्रज्ञोपाय–विनिश्चय–सिद्धि, साधनमाला तथा कुछ अन्य अमुद्रित कृतियों आदि में नाथों का जो उल्लेख मिला है। उसके आधार पर डा0 बड़थ्वाल का यह अनुमान है कि बौद्ध–परम्परा में वज्रनाथी सम्प्रदायों का उद्‌भव हो चुका था और वज्रनाथी साधक केवल नाममात्र के लिये ही बोद्ध थे और उनमें नाथ शब्द गुरु के लिये (लामा का संस्कृत पर्याय) प्रयुक्त होता था क्योंकि गुरु वज्रकायाधारी अजर और अमर माना जाता था । डा0 बड़थ्वाल का मत है कि अधिकांश बौद्ध सिद्ध विचारधारा के अनुसार बौद्ध थे।

इस प्रकार देखते हैं कि विद्वानों के मत दो सीमाओं पर हैं। कुछ लोग गोरखनाथ और उनके सम्प्रदाय को वज्रयान की शैव शाखा मानते हैं और कुछ लोग स्वतः बौद्ध सिद्धों को प्रच्छन्न नाथपंथी। इन दोनों ही मतों में अनुमान की प्रबलता अधिक है, बैज्ञानिक तर्कों का आश्रय कम और इसलिए दोनों में से किसी भी मत को पूर्णतया ग्रहण नहीं किया जा सकता। अधिक से अधित हम यह जान सकते हैं कि एक ही भूभाग में बहुत दिनों तक शैव तथा बौद्ध तन्त्र और योग साधनाएँ समानान्तर रूप से चलती रहीं और कामरूप आदि कई केन्द्र ऐसी भी थे जहाँ दोनों के ही तन्त्रपीठ होने के कारण दोनों पद्धतियों में पर्याप्त आदान–प्रदान हो रहा था जिसकी ओर हम पीछे कई बार संकेत कर चुके हैं।

इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि गोरखनाथ नाथ सम्प्रदाय के प्रवर्तक नहीं थे। वे उसके अत्यन्त सबल प्रचारक आचार्य तथा संगठनकर्ता थे। यह नाथ परम्परा और कनफटी साधनाओं की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। और किसी न किसी रूप में पाशुपत लाकुलीश मत से इनका घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। पंडित हजारी

प्रसाद द्विवेदी का कहना है कि गोरखनाथ ने योगमार्ग को एक व्यवस्थित रूप दिया। उन्होंने शैव प्रत्यभिज्ञा दर्शन के सिद्धान्तों के आधार पर बहुविस्तृत कायायोग साधनों को व्यवस्थित किया, आत्मानुभूति और शैव परम्परा के सामंजस्य से चक्रों की संख्या नियत की। उन दिनों अत्यंत प्रचलित वज्रयानी साधना के पारिभाषिक शब्दों के साम्वृत्तिक अर्थ को बलपूर्वक परमार्थिक रूप दिया और अब्राह्मण उद्‌गम से उद्‌भूत सम्पूर्ण ब्राह्मण विरोधी साधनामार्ग को इस प्रकार संस्कृत किया कि उसका रूढ़ि विरोधी रूप ज्यों का त्यों बना रहा किन्तु उसकी अशिक्षजन्य प्रमादपूर्ण रूढ़ियाँ परिष्कृत हो गई।

गोरखनाथ को शैव योग परम्परा किस रूप में मिली थी और उसमें उन्होंने क्या सुधार किया था इसका कोई भी प्रमाणिक विवरण नहीं दिया जा सकता किन्तु उन्होंने बौद्ध तान्त्रिक प्रभावों का कड़ा विरोध किया था ऐसा आभास अवश्य मिलता है । डा0 द्विवेदी भी उन पर ब्राह्मण प्रभांव विशेष मानते हैं। गोरखनाथ तथा उनके गुरु मत्स्येन्द्रनाथ के विषय में जो भी किदन्तियाँ प्रचलित हैं उनसे यह आभास अवश्य मिलता है कि तान्त्रिक बामाचारी साधनाओं को लेकर गुरु शिष्य में कुछ मतभेद अवश्य था। मत्स्येन्द्र के नाम से शैव–कौल–तन्त्र की जिन पुस्तकों का सम्पादन डा0 बागची ने किया है वे काफी प्राचीन हैं (11वीं शती) और उन्हें मत्स्येन्द की पद्धति के अन्तर्गत न मानने का कोई कारण नहीं दीख पड़ता है। कौलज्ञान निर्णय, अकुलवीर, कुलानन्द तन्त्र तथा ज्ञानकारिका आदि कृतियों में सहज–शून्य, वज्र आदि बहुत वज्रयानी शब्दों का प्रयोग मिलता है। जिसका आगे यथास्थान उल्लेख किया जायेगा। इन कृतियों का प्रमुख स्वर शैव है और अकुलवीर तन्त्र में तो स्पष्टतः बौद्ध सम्प्रदाय का विरोध मिलता है। किन्तु उसकी साधनापद्धति तान्त्रिक है। और ज्ञात यह होता है कि इन्हीं तांत्रिक अंशों का वहिष्कार कर गोरखनाथ ने अपने सम्प्रदाय का गठन किया होगा। इस आधार पर डा0 द्विवेदी भी उन पर ब्राह्मण प्रभाव विशेष मानते हैं। गोरखनाथ तथा उनके गुरु शिष्य में कुछ मतभेद अवश्य था। मत्स्येन्द्र के नाम से शैव–कोल–तन्त्र की जिन

पुस्तकों का सम्पादन डा0 बागची ने किया है वे काफी प्राचीन हैं (11वीं शती) और उन्हें मत्स्येन्द्र की पद्धति के अन्तर्गत न मानने का कोई कारण नहीं दीख पड़ता है। कौलज्ञान निर्णय, अकुलवीर, कुलानन्द तन् तथा ज्ञानकारिका आदि कृतियों में सहज–शून्य, वज्र आदि बहुत वज्रयानी शब्दों का प्रयोग मिलता है जिनका आगे यथास्थान उल्लेख किया जायेगा। शब्दों का प्रयोग मिलता है जिनका आगे यथास्थान उल्लेख किया जायेगा। इन कृतियों का प्रमुख स्वर शैव है और अकुलवीर तन्त्र में तो स्पष्टतः बौद्ध सम्प्रदाय का विरोध मिलता है। किन्तु उसकी साधनापद्धति तान्त्रिक है और ज्ञात यह होता है कि इन्हीं तांत्रिक अंशों का बहिष्कार कर गोरखनाथ ने अपने सम्प्रदाय का गठन किया होगा। इस आधार पर डा0 द्विवेदी का यह मत समीचीन प्रतीत होता है कि गोरखनाथ की साधना का मूलस्वर शील, संयम और शुद्धतावादी है और उन्होंने तान्त्रिक उच्छृंखलताओं का विरोध कर 'निर्मम हथौड़े से साधु और गृहस्थ दोनों की कुरीतियों को पूर्ण कर दिया।' विरोध केवल बौद्ध तन्त्रों से ही नहीं शाक्तों और शैवों से भी था। 'योगि–सम्प्रदायाविष्कृति' की वाममार्ग तथा गोरखनाथ की कथा भी इस परम्परा की ओर अप्रत्यक्ष संकेत करती है।

गोरखनाथ ने अपने सम्प्रदाय का संगठन करते समय बहुत से पूर्ववर्ती सम्प्रदायों को अपने योग मार्ग में स्वीकृत कर लिया था। डा0 द्विवेदी का अनुमान यह है कि उनके पहले दो प्रकार के दल विद्यमान रहे होंगे। क– ऐसे जो योगमार्गी थे किन्तु शैव या शाक्त नहीं थे, ख– वे जो शैवागमवादी थे किन्तु योगमार्गी नहीं थे। दोनों ही प्रकार के कई सम्प्रदाय जो पूर्णवर्ती थे गोरखनाथ के संगठन में सम्मिलित हो गये और उनके प्रवर्तकों को गोरखनाथ का शिष्य समझा जाने लगा। इनमें से वाममार्गी, शाक्त, बौद्ध, अघोर आदि सम्प्रदाय भी रहे होंगे यहाँ तक कि उनमें कुछ जैन तान्त्रिक सम्प्रदाय भी अन्तर्भुक्त हुए हैं। डा0 बरूआ ने आजीवकों के कुछ सम्प्रदायों की तुलना नाथपन्थियों से की है और जैन परम्परा से नाथपन्थ का सम्बन्ध जोड़ा है। गोरखनाथ तथा काणहपा की जो शैव कथाएँ मिलती हैं उनसे यह भी ज्ञात होता है कि किसी समय काणहपा की

पद्धति के बहुत से अनुयायी बौद्ध धर्म छोड़ कर शैव नाथपन्थ में दीक्षित हो गये थे। इसी प्रकार अवधूत सम्प्रदाय ने भी किसी समय गोरखनाथ का नेतृत्व स्वीकार कर लिया। दत्तात्रेय को अवधूत सम्प्रदाय का मूल प्रवर्तक माना जाता है, कुछ लोग उसका सम्बन्ध बौद्धों की धूतांग साधना से भी बताते हैं, किन्तु वह योगमार्ग था इसमें सन्देह नहीं।

इस समय गोरखनाथ के नाम पर जो भी ग्रन्थ प्रचलित है या उनके सम्प्रदाय में जो भी प्राचीन ग्रन्थ सर्वमान्य हैं उनमें योगामर्ग के साथ–साथ कहीं कहीं तान्त्रिक प्रवृत्तियाँ भी मिल जाती है। गोरक्ष–सिद्धान्त–संग्रह में षोडश–नित्यातन्त्र का उद्धरण देकर नाथों को तन्त्रों का भी प्रवर्तक मान लिया गया है। ज्ञात यह होता है कि बाद में जो सम्प्रदाय नाथ पन्थ में सम्मिलित हुए उनमें से कई तान्त्रिक प्रकृतियाँ और साधनाएं अपने साथ लेते आये। हठ–योगप्रदीपिका में महामुद्रा का जैसा उल्लेख है और वज्रोली, सहजोली आदि साधनाओं का जो वर्णन है वह स्पष्टतः वज्रयानी परम्परा से प्रभावित मालूम पड़ता है।[1]

दोनों ही प्रकार के सम्प्रदाय जो पूर्ववर्ती थे। गोरखनाथ जी के संगठन में सम्मिलित हो गये थे जिनका प्रभाव गुरु गोरखनाथ पर विशेष रूप से पड़ा। नाथ योगी परम्परा के सूत्र हमें रूद्र की उपासना तथा प्राणायाम की साधना की साधना से मिलते हैं।

वैदिक युग में रूद्र की उपासना की जाती थी ऐसा जान पड़ता है कि अन्य तात्रिंकों की भाँति कपालिक लोग भी विश्वास करते थे कि परम शिवज्ञेय है उपास्य है। नाथ पंथ के आदि प्रवर्तक आदि नाथ या स्वयं शिव माने जाते थे। मत्स्येन्द्रनाथ इन्हीं के शिष्य थे। मत्स्येन्द्रनाथ के कई शिष्य बहुत बड़े पंडित और सिद्ध हुए थे जिनके प्रभाव

---

1. डा0 धर्मवीर भारती, सिद्ध साहित्य, पृ0 322–325

से यह मार्ग सारे भारतवर्ष में प्रतिष्ठित हो गया।

इन शिष्यों में सबसे प्रधान गोरखनाथ थे। सुप्रसिद्ध म0म0प0 हर प्रसाद शास्त्री का कहना है कि गोरखनाथ पहले बौद्ध थे और बाद में शैव हो गये थे। इसलिए तिब्बत के लामा लोग गोरखनाथ को बड़ी घृणा से देखते हैं।

'गुरुगोरखनाथ' ने ही योगमार्ग के इस अभिनव रूप को प्रतिष्ठित कराया है। प्रसिद्ध भक्त ज्ञाननाथ अपने को गोरखनाथ की शिष्य परम्परा में माना है उनके कथानुसार यह परम्परा इस प्रकार है –

आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ्र, गोरखनाथ, गृहिनी (गेनी) नाथ निवृतिनाथ ज्ञाननाथ। ज्ञाननाथ तेरहवीं शताब्दी में वर्तमान थे। इस प्रकार गोरखनाथ ग्याहरवीं या बारहवीं शताब्दी में हुए होंगे। गुरु गोरखनाथ के कई शिष्य बताये जाते हैं जिनमें बालनाथ, हालकिनाथ, मालीपाथ आदि मुख्य थे।

बंगाल के राजा गोपीचन्द्र की माता मयनामति भी इनकी शिष्या थीं। हालांकिपाव, घड़ी या घड़िया नामक अन्त्यज जॉति में उत्पन्न हुए थे। पहले यह बौद्ध थे बाद में नाथपंथी हो गये थे। इन्हीं का एक और नाम जालन्धर नाथ या गोपीचन्द्र इन्हीं जालन्धर के शिष्य थे। राजा भरथरी या मतृहरी भी इन्ही के शिष्य थे।[1]

'गोरखनाथ तथा उनके सम्प्रदाय के विषय में विभिन्न विद्वानों ने जो मत प्रस्तुत किये हैं वे भी प्रमाणिक सामग्री के अभाव में अधिकतर अनुमानात्मक है। जहाँ तक बौद्ध सिद्ध परमपरा और गोरखनाथ का सम्बन्ध है कुछ मतों तथा किवदन्तियों का उल्लेख कर देना आवश्यक मानती हूँ।

बौद्ध किवदन्तियों में गोरखनाथ वज्रयानी साधक माने गये थे। तारानाथ ने उनका बज्रयानी नाम अंनगवज्र बताया है। तथा मा0 हर प्रसाद शास्त्री ने रमणवज्र नाम का उल्लेख किया है। उनका यह भी कहना है कि नेपाल के बौद्ध लोग गोरखनाथ

---

1. प्रो0 हरेन्द्रनाथ शर्मा, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ0 196–201

पर बहुत क्रुद्ध हैं और उन्हें पहले बौद्ध धर्म का अनुयायी और बाद में उसका शत्रु मानतें हैं। नेपाल के बौद्धों में एक कथा प्रचलित है कि गोरख के समस्त अनुयायी पहले बौद्ध थे बाद में यवनों के भय से बौद्ध धर्म को छोड़ कर शैव हो गये थें।[1]

सामान्य रूप से गोरख पंथ में नवनाथ प्रसिद्ध हैं –

(1) एकनाथ

(2) आदिनाथ

(3) उदयनाथ

(5) दंडनाथ

(6) सत्यनाथ

(7) संतोषनाथ

(8) कूर्मनाथ

(9) जांलधरनाथ

यह सूची सुधारक द्विवेदी ने प्रस्तुत की थी। परन्तु इसमें गोरखनाथ का नाम नहीं है। योगसम्प्रदाय विषकृति के अनुसार दस मूल पुरुष हैं। मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ, ज्वालेन्द्रनाथ, कारिणामा नाथ, ग्रहणिनाथ, चर्पटनाथ, खेमनाथ, भागनाथ, मतृनाथ तथा गोपीचन्द्रनाथ। इन्हीं के शिष्य प्रशिष्य प्रसिद्ध हुए। इस सम्बन्ध में इस ग्रन्थ में एक मनोरंजक पौराणिक कथा भी दी गई हैं जिसके अनुसार स्वयं शिव गोरखनाथ हुए और उन्होंने मत्स्येन्द्रनाथ से दीक्षा ली। नव नारायण ही नाथों के रूप में अवतरित हुए।

शाबर तंत्र में 24 कालिका है। 12 गुरु तथा 12 शिष्यों के नाम आते हैं। इनमें गुरुओं के तो शिव के ही रूप है परन्तु शिष्यों से नाथों की गणना की गई है। इनमें गोरखनाथ और जालंधरनाथ का नाम तो है मत्स्येन्द्रनाथ का नाम नहीं है।

बौद्धगानओ दोहा के 84 सिद्धों में दूसरे गोरखनाथ और जालंधरनाथ का

---

1. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ0 52

नाभ तो है। मत्स्येद्रनाथ का नाम नहीं है। लौहेगानाओं दोहा केशव सिद्धों में दूसरे गोरख नाथ तीसरे चौरंगीनाथ तथा उन्नींसवे जालंधर है। नेपाली परम्परा थोड़ी भिन्न है उसके अनुसार ब्राह्मण तन्त्रों को नव नामों में ही प्रकार किया था। महाराष्ट्र परम्परा में ज्ञाननाथ तत्व की परम्परा है तथा उसके पश्चात भी कुछ परम्पराएँ मिलती है।

साम्प्रदायिक ग्रन्थों में नाथ सम्प्रदाय के उनके अनेक नामों का उल्लेख मिलता है। हठयोग प्रदीपिका की टीका में ब्रह्मानन्द ने लिखा है कि (सब नाथों में प्रथम आदि नाथ है) जो स्वयं शिव है। ऐसा नाथ सम्प्रदाय वालों का विश्वास है इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि ब्रह्मानन्द इस सम्प्रदाय को 'नाथ सम्प्रदाय' के नाम से ही जानते थे। नाथ सम्प्रदाय का विकास हमें क्रमानुसार प्राप्त नहीं है परन्तु नाथ सम्प्रदाय को समझने का पूरा पूरा प्रयास किया गया है। भिन्न–भिन्न ग्रन्थों में यह उल्लेख मिलता है कि यह मत 'नाथोक्त' अर्थात 'नाथों' द्वारा कथित है परन्तु सम्प्रदाय में अधिक प्रचलित शब्द है 'सिद्ध मत' (गोरख सिद्धान्त संग्रह 5) योग सम्प्रदाय (सिद्धान्त संग्रह पद्धति 58) अवघूतमत (पृ0 18) अवघूत सम्प्रदाय नाम तो सार्थक ही है क्योंकि इनका मुख्य धर्म ही योगाभ्यास ही है। अपने मार्ग को ये लोग सिद्धमत या सिद्धमार्ग इसलिए कहते हैं कि इनके मत से नाथ ही सिद्ध है। इनके मत का अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ सिद्ध सिद्धान्त पद्धति ही है जिससे अठाहरवीं शताब्दी के अन्तिम संग्रह नाम ग्रन्थ लिखा था। इस ग्रन्थ के नाम से पता चलता है है कि बहुत प्राचीन काल से इस मत को 'सिद्धमत कहा जा रहा है। सिद्धान्त वादी और प्रतिवादी द्वारा निर्णित अर्थ को कहते है परन्तु इस सम्प्रदाय में यह अर्थ स्वीकार नहीं किया जा सकता।[1](गोरख सिद्धान्त संग्रह पृ0 18) इसलिए अपने सम्प्रदाय को ही ये लोग 'सिद्धान्त' ग्रन्थ कहते हैं। नाथ सम्प्रदाय में प्रसिद्ध है कि शंकराचार्य अन्त में नाथ सम्प्रदाय के अनुयायी हो गये थे और उसी अवस्था में उन्होंने 'सिद्धान्त बिन्दु' ग्रन्थ लिखा था। अपने मत को ये लोग 'अवघूत मत'

---

1. गोरख सिद्धान्त संग्रह, पृ0 18

भी कहते है। गोरक्ष सिद्धान्त–संग्रह में लिखा है कि हमारा मत तो अवघूत मत ही है (अस्माकमंत त्वनघूतमेथ पृ0 18)[1] कालिदास ने 'अवघूत' (अवघूत) को सम्बोधन करते समय इस मत को ही बराबर ध्यान में रखा है। कभी कभी इस मत के ठगी साधुओं को कच्चे सिद्ध कहा है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'रामचरितमानस' के शुरु में ही 'सिद्धमत' की भक्ति हीनता की और इशारा किया गोस्वामी जी के ग्रन्थों से पता चलता है कि वे यह विश्वास करते थे कि गोरखनाथ ने योग जगाकर भक्ति को दूर कर दिया था। मेरा अनुमान है कि 'रामचरितमानस' के आरम्भ में शिव की वन्दना के प्रसंग में जब उन्होंने कहा था कि श्रृद्धा और विश्वास के साक्षात् स्वरूप पार्वती और शिव है। इन्हीं दो गुणों अर्थात (श्रृद्धा और विश्वास) के अभाव में सिद्ध लोग भी भीतर विद्धमान ईश्वर को नहीं देख पातें तो उनका तात्पर्य इन्हीं नाथपंथियों से था।

यह अनुमान यदि ठीक है तो यह भी सिद्ध है कि गोस्वामी जी इस मत को 'सिद्धमत' ही कहते थे। यह नाम सम्प्रदाय में भी समादृत है और इसकी परम्परा बहुत प्राचीन मालूम होती है। मत्स्येन्द्रनाथ के कौलज्ञाननिर्णय के सोलहवे पटल से अनुमान होता है कि वे जिस सम्प्रदाय के अनुयायी थे उनका नाथ 'सिद्ध' कौल सम्प्रदाय था। डा0 वागची ने लिखा है कि बाद में जिस सम्प्रदाय का प्रर्वतन किया था उसका नाम 'यौगिनी कौलमार्ग' था।

यह सिद्ध कौलमत ही आगे चलकर नाथ परम्परा के रूप में विकसित हुआ।

'कौलज्ञाननिर्णय' की भूमिका में डा0 वागची ने मत्स्येन्द्रनाथ का परिचय प्रस्तुत करते हुए उनका मूल नाम विष्णु शर्मा, जाति ब्रह्मा, जन्म भूमि वारणा (बंगदेश) चर्मानाम श्री गौड़ीश देव, पूजानाम पिम्पलीश देव तथा गुप्त नाम श्री भैरवानन्द नाथ लिखा है। इनके कीर्ति नाम तीन बताये गये है। (1) वीरानन्द नाथ, (2) इन्द्रानन्ददेव (3)

---

1. गोरख सिद्धान्त संग्रह, पृ0 18

मत्स्येन्द्रनाथ। .

मत्स्येन्द्रनाथ विषयक अनेक कथाओं का संग्रह किया जा चुका है जिन पुस्तकों में इन कहानियों का संग्रह किया गया है उनके नाम है – (1) कौलज्ञान निर्णय (2) फैजुल्ला का गोरक्षविजय (3) श्यामदास की मीन चेतना (4) लेवी द्वारा संग्रहित कथाएँ (5) विभर्सन द्वारा संगहित कथाएँ (6) योगसम्प्रदाय विष्कृति (7) नाथ चरित्र।[1]

नाथ सम्प्रदाय में जिस प्रकार मत्स्येन्द्रनाथ का योगदान है उसी प्रकार जालंधर नाथ की साधना का अध्ययन भी सम्प्रदाय के ज्ञान के लिए आवश्यक है। मत्स्येन्द्रनाथ की भाँति जालंधर के सम्बन्ध में भी अनेक दक्त कथाएँ प्रचलित हैं। जालंधर नाथ को मत्स्येन्द्रनाथ का गुरु भाई बताया गया है। 'गंगा' पुरातत्वांक में जालंधर की कथा विस्तार से दी गई है। जालंधर के सम्बन्ध में भी अनेक परम्पराएँ प्रचलित है। कुछ परम्पराओं में मत्स्येन्द्रनाथ जालंधर नाथ के भाई कहे जाते तथा कुछ परम्पराओं में मत्स्येन्द्रनाथ के गुरु तिब्बती परम्परा में उन्हें जाति का ब्राह्मण भी माना गया है और छंववाद के शिष्य कूर्पनाथ का शिष्य बताया गया है। इसी परम्परा के अनुसार मत्स्येन्द्रनाथ, कणहपा (कृष्ण्वाद) तथा ततिया गुरुभाई थे। भोटिया परम्परा में तो जालंधर की कड़ी मान्यता है और इन्हें ही आदि नाथ स्वीकार किया गया है। इनके लिए छः सात ग्रन्थ बताये जाते हैं। राहुल जी ने इन्हें तो दो मगही भाषा के ग्रन्थों का रचियता माना गया है। (1) विभक्त मंजरी गीत (2) हुवकार चित्त बिन्दु भावना क्रम तननजुर में प्राप्त बौद्ध ग्रन्थों में इनकी रचनाओं की सूची भी दी गई है। 'योगसम्प्रदाय विष्कृति में भी जालंधर नाथ का विवेचन प्राप्त है जिसके अनुसार इनका नाम ज्वालेन्द्रनाथ था। इस नामकरण का कारण यह बताया है कि ये हस्तिनापुर के पुर्ववंशी राजा वृह्द्रय के यज्ञाग्नि से उत्पन्न हुए थे। पश्चिमी परम्परा में इनका जन्म स्थान नगरभोग है। सभी परम्पराओं में जालंधर

---

1. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, नाथ सम्प्रदाय, पृ0 1–3

तथा हस्तिनापुर वाली परम्पराएँ अधिक ठीक प्रतीत होती हैं।

डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने अपने 'नाथ सम्प्रदाय' में इस समस्या पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। उन्होंने जालंधर तथा उड्डियान दोनों ही वाक्यों का सम्बन्ध जालंधर नाथ से माना है। डा0 वागची ने भी अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'स्टडीज' इन दा तन्त्राज' में इस समस्या पर विचार से किया है। जालंधर पीठ आजकल हिन्दु तीर्थ ही है परन्तु उस स्थान के वातावरण तथा प्रचलित दन्त कथाओं के गहन अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि किसी समय वह बौद्ध साधना का प्रसिद्ध केन्द्र था। वर्तमान पीठाधीश्वरी, ब्रजेश्वरी के नाम से यह बात और भी साफ हो जाती है कि यह नाम बौद्ध बृजेश्वरी का वैदिकीकरण है। कुछ भी हो इसमें कोई सन्देह नहीं कि नाथ सम्प्रदाय की साधनाओं में जालंधर नाथ का महत्वूपर्ण योगदान रहा है। पहले कहा जा चुका हैं कि नाथ सम्प्रदाय अनेक साधनाओं का संग्राम है। इस सृष्टि से यह बात उभरकर आती है कि जालंधर नाथ का भी कोई स्वतन्त्र सम्प्रदाय था जिसके प्रसिद्ध पोषक कृष्णवाद थे। कृष्णवाद को जालंधर नाथ का स्मरण बड़े आदर से किया है। कृष्णवाद अनेक नामों से प्रसिद्ध हैं जैसे– कण्हपा कान्हूपा कानपा तथा कानफा आदि।

चौरासी सिद्धों की कई परम्पराओं में कृष्णवाद का नाम आया है। इनके नाम से कही जाने वाली रचनाओं से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि यह सम्प्रदाय के प्रसिद्ध विद्वान और माने हुए सिद्ध थे। बौद्धगान ओ दोहा कृष्णवाद पर विस्तार से लिया गया है। मत्स्येन्द्रनाथ कौल से कौल मार्ग का परिष्कृत रूप से नाथ सम्प्रदाय है। इसी प्रकार नाथ सम्प्रदाय में कापालिक मत का योगदान भी महत्वपूर्ण है। संस्कृत के अनेक ग्रन्थों में कापालिक मत के संकेत मिलते है परन्तु अभी तक यह स्पष्ट नहीं हो सका है कि यह मत मूल में बौद्ध था अथवा शैव। इस साधना का केन्द्र श्री पर्वत माना गया है परन्तु पर्वत भी अन्य अनेक साधना स्थालों के समान शैव शाक्त और बौद्ध साधनाओं का केन्द्र रहा है। हो सकता है कि जालंधर और कृष्णवाद दोनों ही बौद्ध साधक रहे हो परन्तु

अन्त में दोनों निश्चित रूप से शैव हो गये थे।

अनेक महत्वपूर्ण शोधों के पश्चात भी गोरखनाथ के समय का निर्धारण नहीं हो सका है। यदि मत्स्येन्द्रनाथ से गोरखनाथ का सम्बन्ध प्रामाणिक है तो गोरखनाथ का समय मत्स्येन्द्रनाथ के लगभग ही होना चाहिए।

इस सम्बन्ध की मान्यता के आधार पर ही गोरखनाथ का समय 10वीं शताब्दी माना जाता है परन्तु कुछ विद्वान उनके समय को 9वीं शताब्दी से 15वीं शताब्दी तक खींचते रहे हैं।

बौद्ध सिद्धों का समय 8वीं शताब्दी से माना जाता हैं। डा0 सहीदुल्ला के पश्चात् दूसरे सोपान पर कदम रखने वाले राहुल जी है। जिन्होंने सिद्ध साहित्य पर बड़ा परिश्रम किया उन्होंने गोरखनाथ को मत्स्येन्द्रनाथ का समकालीन मानकर उनका समय 10वीं शताब्दी (सन् 902) निर्धारित किया है। डा0 मोहन सिंह ने भी अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'गोरखनाथ एण्ड मेडिवल' हिन्दू 'मिस्टिसिज्म' में लगभग ही समय माना है। डा0 कल्याणी मल्लिक के सिद्ध सिद्धान्त पद्धति की भूमिका में गोरखनाथ के समय पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया है। डा0 पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल भी इसी मत के मानने वाले हैं और उन्होंने अंत सूक्ष्म के आधार पर ही 11वीं शताब्दी को प्रामणिक माना है। ब्रिग्स महादेव ने भी अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'गोरखनाथ एण्ड द कनफटा योगीज' में अनेक जनश्रुतियों तथा दन्त कथाओं का हवाला देकर गोरखनाथ का समय 11, 12वीं शताब्दी ही निश्चित किया है। डा0 भंडारकर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'वैष्णविज्म' शैविज्म एण्ड माइनर रिलिज्म सिस्टमस' में 'ज्ञानेश्वरी' को केन्द्र मानकर गोरखनाथ का समय 1225 ई0 निश्चित किया है।

हिन्दी साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास में डा0 रामकुमार वर्मा ने भी डा0 भंडारकर के स्वर में स्वर मिलाकर गोरखनाथ का समय 1250 के लगभग ही स्वीकृत

किया है। डा0 फर्कहार भी प्रायः इसी मत के हैं। डा0 ग्रियर्सन कुछ और आगे बड़े है तथा उन्होंने 14वीं शताब्दी निर्धारित की है। इधर नागरीय प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट (1902) के अनुसार गोरखनाथ 15वीं शताब्दी में विद्वान थे। इन सब मान्यताओं के पीछे गोरखनाथ का चमत्कारिक व्यक्तित्व है। उनका नाम अनेक दन्तकथाओं तथा अनुश्रुत्तियों से सम्बन्ध हो गया है।

रसालू से भी गोरखनाथ का सम्बन्ध बताया गया है। रसालू पृथ्वी राज चौहान का समसामयिक था। इसी दृष्टि से गोरखनाथ 11वीं शताब्दी के प्रारम्भ में विद्द्मान थे। महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज जी ने टेम्पल के हवाले से रसालू को भी 8वीं शताब्दी को प्रामाणिक किया है। भर्तहरि का सम्बन्ध भी गोरख नाथ से बताया जाता है। 'अरिर्कभोलाज्किल सर्वे आफ मयूर मन्त्र' के अनुसार भर्तहरि का समय छंठी शताब्दी है।

डा0 मोहन सिंह ने अपने ग्रन्थ 'गोरखनाथ एण्ड मिडिवल हिन्दू मिस्टिसिज्म' में ऐतिहासिक तथ्यों से विस्तार से विचार किया है इसलिए उनकी पुनरावृत्ति की यहाँ आवश्यकता नहीं है। गूगा के सम्बन्ध में भी अनेक दन्त कथाएँ प्रचलित है। कर्नल वंग के अनुसार गूगा राजपूत था जो 1024 ई0 में महमूद गजनवी के हाथों मारा गया था। यह गूगा ही जहाँगीर के नाम से पूजा जाता है। उसके अनेक चमत्कारों की कथाएँ आज भी देश के विभिन्न भागों में प्रचलित है। गूगा का सम्बन्ध मत्स्येन्द्रनाथ, जालंधरनाथ, कानिपा और गोरखनाथ सभी से बताया जाता है। इसलिए इनका समय एक ही माना जाता है। इनके समय का सही पता नहीं चला है। गोरखनाथ तथा गोपीचन्द्र का सम्पर्क भी एक समस्या है।

जनश्रुति यह है कि गोपीचन्द्र ने गोरखनाथ से दीक्षा ली थी। डा0 कालीदास वाग ने गोपीचन्द्र को 12वीं श्ताब्दी का बताया है। 'योगसम्प्रदायविष्कृति' के

अनुसार गोपीचन्द्र 11वीं शताब्दी में कंचनपुर में राज्य करते थे। वागची महोदय का निष्कर्ष है कि गोपीचन्द्र कौड वंग के तिलकचन्द्र के पुत्र थे। बंगाली परम्परा में गोपीचन्द्र मिलचन्द्र का पुत्र माना जाता है और राजा भर्तहरि का भांनजा इस परम्परा के अनुसार भर्तहरि की बहन मैनावती उनकी माता थी और चन्द्रवती उनकी बहन। चन्द्रवती का विवाह सिंहलदीप राजा अग्रसेन से हुआ था। यह परिवार नाथ सम्प्रदाय में दीक्षित था। इस सम्बन्ध में अनके दन्त कथाएँ प्रचलित है जिनके अनुसार यह 8वीं 12वीं शताब्दी तक फैला हुआ है।

भर्तहरी के सम्बन्ध में भी अनेक कथाएँ प्रचलित है उसके आधार पर उनका समय छठी शताब्दी से ग्यारवीं शताब्दी तक फैला हुआ है। तिब्बती परम्परा में भर्तहरि को धर्मकीर्ति का समसामायिक बताया जाता है जो 7वीं शताब्दी में विद्मान था। साथ ही उनका सम्बन्ध पिंगला नाम की स्त्री से बताया जाता है जो राजा भोज की बहिन थी और जिनका समय 1018 से 1060 है।

इस प्रकार आलोचकों ने 11वीं 12वीं शताब्दी में गोरखनाथ को विद्यमान बताया था। इधर अनेक सन्तों के साथ संवाद की चर्चा दन्तकथाओं में है। उस दृष्टि से उनका समय और भी आगे खींचा जा सकता है। स्पष्ट है कि संतों के साथ गोरखनाथ के संवाद को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। इस प्रकार गोरखनाथ का समय 10–11वी शताब्दी मानना ही उचित है।

नाथों का प्रचार 9वीं से 16वीं शताब्दी तक फैला हुआ है तथा आज भी इस सम्प्रदाय के साधु तथा गद्दियाँ भारत में मिलती है। हम यह भी कह सकते हैं कि नवनाथ की प्रसिद्ध बहुत पुरानी है जो शायद नव नारायणों के आधार पर ही है। इनके नाम तथा स्थान भिन्न हैं। नव नाथों की भाँति षोडश नाथों तथा द्वादश नाथों की कल्पना भी सम्प्रदाय में है। एक मान्यता यह भी है कि गोरखनाथ जी से पहले योगियों के 18 पंथ थे गोरखनाथ ने इसमें से बारह को नष्ट कर दिया और केवल 6 को स्वीकार किया और

अपने नये उपकुलों की ओर स्थापना की। इस प्रकार नाथ सम्प्रदाय कि विकास परम्परा चलती रही उनमें कुलों का हेर फेर तो होता ही रहा। कभी कोई कुल अधिक हो गया तथा कभी कोई किसी ने नये कुल को बढ़ा दिया गया। गोरखनाथ की छाप 12 उपकुलों पर लगी बनर्जी महोदय ने अपनी पुस्तक 'श्री गमरिनाथ प्रसंग' तथा 'नाथपंथ के हिन्दी कवि' में 12 की सूची प्रस्तुत की है। डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने अपने ग्रन्थ 'नाथ सम्पद्राय' में इस सूची को उदधृत किया है।

इन 12 कुलों के मूल स्थान प्रतिष्ठापक तथा गुरु आदि के सम्बन्ध में आज भी मतभेद है कि इस सूची में ध्यान देने योग्य बात यह है कि गोरखनाथ से किसी उपकुल का सीधा सम्बन्ध नहीं है। इसका एक समाधान यह हो सकता है कि गोरखनाथ शिवा के साक्षात अवतार थे। आदिमानव इसलिए उपकुलों से उनका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं था। उनका सम्बन्ध सभी उपकुलों से था। सम्पूर्ण देश में उनका साम्राज्य था। नौ नाथों तथा 12 कुलों का व्यवस्थित तथा ऐतिहासिक विश्लेषण प्राप्त नहीं होता है। जनश्रुतियों के आधार पर ही विद्वानों ने उनका इतिहास प्रस्तुत किया है।[1]

यहाँ नाथों की वेशभूषा का वर्णन अपेक्षित है नाथ योगी को स्पष्ट रूप से पहचाना जा सकता है। मेखला, श्रृंगी, सेली, गूदरी, खप्पर, कर्ण–मुद्रा, बंघबर, झोला आदि चिन्ह ये लोग धारण करते हैं। पहले ही बताया गया है कि कान फाड़कर कुंडल धारण करने के कारण ये लोग कनफटा कहे जाते हैं। कान फड़वाने की प्रथा किस प्रकार शुरू हुई इस विषय में नाना प्रकार की दन्तकथाएँ प्रचलित हैं। कुछ लोग बताते हैं कि स्वयं मत्स्येद्रनाथ (मछन्दरनाथ) ने इस प्रथा का प्रवर्तन किया। "उन्होंने शिव के कानों में कुण्डल देखा था और उसे प्राप्त करने के लिए कठिन तपस्या की थी, एक दूसरा विश्वास यह है कि गोपीचन्द्र की प्रार्थना पर जालन्धरनाथ ने इस पंथ के योगियों को

---

1. डॉ0 मनीषा शर्मा, गोरखबानी– परम्परा और काव्यत्व, पृ0 20–24

अन्य सम्प्रदाय वालों से विशिष्ट करने के लिये इस पंथ को चलाया था। कुछ लोगों का कहना है कि गोरखनाथ ने भरथरी का कान फाड़कर इस प्रथा को चलाया था। भरथरी के कान में गुरु ने मिट्टी का कुण्डल पहनाया था। अब भी बहुत से योगी मिट्टी का कुण्डल धारण करते हैं परन्तु इसके टूटने की सदा आशंका बनी रहती है इसलिये धातु या हरिण के सींग की मुद्रा धारण की जाती है। जो विषय स्त्रियॉ संम्प्रदाय में दीक्षित होती है वे भी कुण्डल धारण करती है और .... योगियों की पत्नियॉ भी इसे धारण करते पाई जाती है। गोरखपंथी लोगों का शुभ दिन को (विशेष कर वसन्त पंचमी को) कान को चिरवाकर मंत्र के संस्कार के साथ इस मुद्रा को धारण करते हैं। उन लोगों का विश्वास है कि स्त्रियों के दर्शन के घाव पक जाता है इसलिये जब तक घाव अच्छा नहीं हो जाता तब तक स्त्री दर्शन से बचने के लिये किसी कमरे में बंद रहते हैं, और फलाहार करते हैं। कान का फट जाना भावाजोखी का व्यापार माना जाता है। जिस योगी का कान खराब हो जाता है वह सम्प्रदाय से अलग हो जाता है और पुजारी का अधिकार खो देता है। यह कर्णकुण्डल निस्संदेह योगी लोगों का बहुत पुराना चिन्ह है परन्तु कुछ ऐसे भी हैं जो इसे नहीं धारण करते ये लोग औघड़ कहे जाते है। औघड़ लोगों का जब कर्णमुद्रा संस्कार हो जाता है तब उन्हें योगी कनफटा कहा जाता है। ऐसे भी औधड़ हैं जो आजीवन कर्णमुद्रा धारण करते ही नहीं। कहते हैं कि हिंगलाज में दो सिद्ध एक शिष्य का कान चीरने लगे थे पर हर बार छेद बन्द हो जाता था। तभी से औघड़ लोग कान चिरवाते ही नहीं। सुधारक मनोवृत्ति के योगी लोग मानते हैं कि श्रीनाथ ने यह प्रथा इसलिये चलाई होगी कि कान चिरवाने की पीड़ा के भय से अनधिकारी लोग इस सम्प्रदाय में प्रवेश ही नहीं कर सकेंगे।

पद्मावत में मलिक मुहम्मद जायसी ने योगियों के वेश का सुन्दर वर्णन दिया है। उस पर से अनुमान किया जा सकता है कि योगियों का जो वेश आज है वह दीर्घ काल से चला आ रहा है। योगी वेश धारण करने वाले रत्नसेन राजा ने हाथ में

किंगरी, सिर पर जटा, शरीर में भस्म, मेखला, श्रंगी, योग को शुद्ध करने वाला धाँधरी चक्र, रूद्राक्ष और अधार (आसन का पीढ़ा) धारण किया था कंथा पहन कर हाथ में सोंटा लिया था और 'गोरख गोरख' की रट लगाता हुआ निकल पड़ा था उसने कान में मुद्रा, कंठ में रूद्राक्ष की माला, हाथ में कमण्डल, कंधे पर बघम्बर (आसन क लिये), पैरों में पॉवरी, सिर पर छाता और बगल में खप्पर धारण किया था। इन सब को उसने गेहुएं रंग में रंगकर लाल कर किया था। कबीरदास के अनेक पदों से पता चलता है कि जोगी लोग मुद्रा, नाद, कंथा, आसन, खप्पर, झोली, विभूति, बटुवा आदि धारण करते थे, यंत्र अर्थात् सारंगी यंत्र का व्यवहार करते थे (गोपीचन्द्र का चलाया हुआ होने के कारण सारंगी को गोपीयंत्र कहते हैं), मेखला और भस्म धारण करते थे। (क0ग्रं0 205, 205, 207, 208) और अजपा जाप करते थे (209)[1] इसी प्रकार सूरदास के भ्रमरगीत में गोपियों ने जिन योगियों की चर्चा की है उनका भी यही वेश वर्णित है।

इन चिन्हों में किंगरी एक प्रकार की चिकारी है जिसे पौरिये या भर्तृहरि के गीत गाने वाले योगी लिए फिरते हैं, मेखला मूंज की रस्सी का कटिबंध है और सींगी हरिण के सींग का बना हुआ एक बाजा है जो मुँह से बजाया जाता है। औघड़ और योगी दोनों ही एक प्रकार का 'जनेव' धारण करते हैं जो काले भेड़े की ऊन से बनाया जाता है। हर कोई उसे नहीं बना सकता। संप्रदाय के कुछ लोग ही, जो इस विद्या के जानकार होते हैं, उसे बनाते हैं। ब्रिग्स (पृ0 11) ने लिखा है कि हुमाँयू के योगी रूई के सूत का 'जनेव' भी धारण करते हैं। इसी सूत में एक गोल 'पवित्री' बँधी रहती है जो हरिण की सींग या पीतल तांबा, आदि धातु से बनी होती है। इसमें रूई के सफेद धागे से श्रृंगी (सिंगी नाद) नाम की सीटी बँधी रही है और रूद्राक्ष की एक मनिया भी झूलती रहती है। प्रातः और संधकालीन उपासना के पूर्व और भोजन ग्रहण करने के पूर्व योगी लोग इसे बजाया करते हैं। इस सिंगनाद के बँधे रहने के कारण ही 'जनेव' को 'सिंगीनाद–जनेव' कहते हैं। मेखला सब योगी नहीं धारण करते। कुछ योगी काले भेड़े के ऊन की बनी

मेखला कमर में बाँधते हैं। लंगोटी पहनने में इस मेखला का उपयोग होता है। एक और प्रकार की मेखला होती है जिसे धारण करने के बाद योगी को भिक्षा के लिये निकलना ही पड़ता है। इसे हाल मटंगा कहते हैं। ऐसे योगी भी है जो सिंगनाद जनेव नहीं धारण करते और दावा करते हैं कि ये चिन्ह उन्होंने अन्तर में धारण किया है या चमड़े के नीचे पहने हुए है। मस्तनाथ नामक सिद्ध के विषय में प्रसिद्ध है कि उन्होने अपने चमड़े के नीचे जनेव दिखा दिया था। कबीरदास ने उसी योगी को योगी कहना उचित समझा था जो इन चिन्हों को मन में धारण करता है।

'धंधारी' एक तरह का चक्र है। गोरखपंथी साधु लोहे या लकड़ी की शलाकाओं के हेर–फेर से चक्र बना कर उसके बीच में छेद करते हैं। इस छेद में कोड़ी या भालाकार धागे को डाल देते हैं। फिर मंत्र पढ़कर उसे निकाला करते हैं। बिना क्रिया जाने उस चक्र में से सहसा किसी से डोरा या कौड़ी नहीं निकल पाती। ये चीजें चक्र की शलाकाओं में इस प्रकार उलझ जाती हैं कि निकालना कठिन पड़ जाता है। जो निकालने की क्रया जानता है वह उसे सहज ही निकाल सकता है। यही 'धाँधरी' या गोरखधंधा है। गोरखपंथियों का विश्वास है कि मंत्र पढ पढ़ कर गोरखधंधे से डोरा निकालने से गोरखनाथ की कृपा से ईश्वर प्रसन्न होते हैं और संसार चक्र में उलझे हुए प्राणियों को डोरे की भाँति इस भवजाल सें मुक्त कर देते हैं।

रूद्राक्ष की माला प्रसिद्ध ही है। योगी लोग जिस माला को धारण करते हैं। उसमें 32, 6, या 0 मनके होते है। छोटी मालायें जिन्हें 'सुमिरनी'कहते हैं या मनकों की होती है और एक लाई में बंधी रहती है। रूद्राक्ष शब्द का अर्थ रूद्र या शिव की ऑख है। तंत्रशास्त्र के मत से यह माला जपकार्य में विशेष फलदायिनी होती है। इस रूद्राक्ष में जो खरबूजे के फॉक जैसी जो रेखायें होती हैं उसे 'मुख कहते हैं। जप में प्रायः पंचमुखी रूद्राक्ष का विशेष महत्व है। एकमुखी रूद्राक्ष बड़ा शुभ माना जाता है। घर में उसके रहने से लक्ष्मी अविचंल हो कर बसती है। जिसके गले में एकमुखी रूद्राक्ष हो उस

पर शस्त्र की शक्ति नहीं काम करता ऐसा विश्वास है। एकमुखी रूद्राक्ष असल में एकामुखी ही है या नहीं इस बात की परीक्षा के लिये प्रायः भेड़े के गले में बांध कर परीक्षा की जाती है। यदि भेड़े को गर्दन शस्त्र से कट जाय तो वह नकली माना जाता है। यदि न कटे तो सच्चा एक मुखो रूद्राक्ष समझा जाता है। ग्यारह मुख वाला रूद्राक्ष भी बहुत पवित्र समझा जाता है। गृहस्थ योगी साधारणतः दोमुख वाले रूद्राक्ष से जप करने को अधिक फलदायक मानते हैं।

'अधारी' (आधार) काठ के डंडे में लगा हुआ काठ का पोढ़ा (आसा) है, जिसे योगी लोग प्रायः लिये फिरते हैं और जहाँ कहीं रख कर उस पर बैठ जाते हैं। बिना अभ्यास के इस पर बैठ सकना असंभव है। कंथा गेरूए रंग की सृजनी का चोलना है जो गले में डाल लेने से अंग को ढॉक लेता है। इसी को गूदरी कहते हैं। यह फटे पुराने चिथड़ों की बटोर कर सी ली जानी चाहिए। गेरूआ या लाल रंग ब्रह्मचर्य का साधक माना जाता है। इसे धारण करने से वीर्यस्तंभ को शक्ति बढ़ती है। ब्रिग्स ने एकदन्त कथा का उल्लेख किया है जिसके अनुसार पार्वती ने पहले–पहल अपने रक्त से रंग का एक चोलना गोरखनाथ को दिया था। कहते हैं तभी से लाल (गेरूआ) रंग योगी लोगों का रंग हो गया है। 'सोंटा' झाड़ फूंक करने का डंडा है जो हाथ डेढ़ हाथ के काले रूलर के ऐसा होता है। बहुत से योगी इसे भैरवनाथ का और बहुत से गोरखनाथ का डंडा या सोंटा कहते हैं। योगी लोग शरीर में भस्म लगाते हैं और ललाट पर और बाहुमूल तथा हृदय देश पर भी त्रिपुण्ड लगाया करते हैं। गूदरी का धारण करना योगी के लिए आवश्यक नहीं है। बहुत योगी तो भारबंद (मेखला) से बंधी हुई लंगोटी ही भर धारण करते हैं और बहुत से ऐसे भी मिलते हैं जो लंगोटी भी नहीं धारण करते। 'खप्पर' मिट्टी के घड़े के फोड़े हुए अर्द्ध भाग को कहते हैं। आज कल यह दर्शायी नारियल का बनता है। बहुत से योगी कॉसे का भी खप्पर रखते है। इसलिए खप्पर को 'कॉसा' भी कहते हैं। खप्पर

का एक मनोरंजक अवशेष 'जोगीड़े' नामक अश्लील गानों के गाते समय लिया हुआ चौड़े मुँह का वह घड़ा है जिसमें गुरु लोग ऑख रख कर जादू से हाथ पर लिये फिरते हैं।

निष्कर्षतः नाथ सम्प्रदाय के विकास के संदर्भ में दो विचार भी प्रचलित हैं–

1– नाथ पन्थ का विकास बौद्ध परम्परा से हुआ।

2– नाथ पन्थ का विकास शैव परम्परा से हुआ।

इसमें पहला मत अधिक उपयुक्त जान पड़ता है क्योंकि नाथों और बौद्ध सिद्धों की जो सूचियाँ मिलती हैं, उनमें अनेक नाम सामान्य हैं।

वस्तुतः गोरखनाथ के युग में बौद्ध, शैव, तन्त्र, योग और वैष्णव परम्पराओं के प्रतीयमान विरोधी को परिहार होता रहता है। उसमें परम्पराएँ अत्यन्त निकट आ गयी है।

यौगिनी कौल मार्ग के प्रवर्तक मत्स्येन्द्रनाथ अवलोकितेश्वर के अवतार समझे जा रहे हैं। शिव गोरखनाथ के रूप में अवतरित हो रहे हैं। बौद्धों द्वारा छिन्नमस्ता तारा आदि देवियों की उपासनाा हो रही है। बामाचार और दक्षिणाचार मिल रहे हैं। पांच रात्रों में शैव भागवत सम्प्रदाय का विकास हो रहा है। ऐसी स्थिति में समूचा मध्ययूग भारतीय धर्म साधना के इतिहास के गूड़तम युग के रूप में उभरता है।

मध्ययुग धर्म साधना की दृष्टि परम्पराओं के परस्परानु प्रवेश का युग कहा जा सकता है। ऐसा परस्परानुप्रवेश तभी सम्भव है जब विभिन्न पन्थ मूलतः एक हो और दार्शनिक बारीकियाँ उपेक्षित रहे अपने देश के तथा कथित मध्ययुग के समूचे इतिहास को अगर बारीकी से देखा जाये तो भारतीय सभ्यता के इतिहास की अनेक धारणाओं पर प्रश्नचिन्ह लग जाता है।[1]

---

1. डॉ0 मनीषा शर्मा, गोरखबानी– परम्परा और काव्यत्व, पृ0 27–37

(3) नाथ सम्प्रदाय का स्वरूप और हठयोग

इस अध्याय में गोरखबानी के आधार पर नाथ सम्प्रदाय की संस्कृति को उसकी समग्रता में उदृधाहित करने का प्रयास किया गया है। गोरखबानी ने जिस हठयोग का उपदेश दिया है वह पुरानी परम्परा से बहुत अधिक भिन्न नहीं है। शास्त्रों ग्रन्थों में हठयोग साधारणता प्राण निरोध प्रधान साधना को ही कहते हैं। 'सिद्धसिद्धान्त पद्धति' में 'ह' का अर्थ सूर्य बताया गया है और 'ठ' का अर्थ चन्द्र। सूर्य और चन्द्र के योग को ही 'हठयोग' कहते हैं –

हंकारः कथितः सूर्यण्ठकारशचन्द्र उच्यते।
सूचीचंद्रमसोर्योबात हठयोगी निगघते।।

इस श्लोक की कही हुई बात की व्याख्या अन्य प्रकार से भी संभव है। ब्रहमानन्द के मत से सूर्य से तात्पर्य प्राणवायु से है और चन्द्र से अपान वायु का। इन दोनों का योग अर्थात प्राणायाम से वायु का विरोध करना ही हठयोग है। दूसरी व्याख्या है सूर्य इड़ा नारी को कहते हैं और चन्द्र पिंगला को (हठ 03.15) इसलिए इड़ा और पिंगला नाड़ियों को रोककर सुषुम्ना मार्ग से प्राण वायु के संचारित करने को भी हठयोग कहते है। इस हठयोग को 'हठसिद्धि' देने वाला कहा गया है। यहाँ बोधि प्राप्ति को विधि‍ा बता लेने के बाद आचार्य ने बताया है कि यदि ऐसा करने पर भी बोधि प्राप्त न हो तो 'हठयोग' का आश्रय कर कुमार लेना चाहिए।[1]

गोरखबानी के आधार पर गोरखी संस्कृति और साधना को निम्नलिखित शीर्षकों में विवेचित किया जा सकता है।

1. मूल स्वरूप
2. गुरुतत्व
3. परमतत्व

---

1. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, नाथ सम्प्रदाय, पृ0 123

4. गोरखी संस्कृति

(1) <u>मूल स्वरूप :</u> हठयोग के विभिन्न अंगों उपागों तथा साधनाओं का विवेचन विश्लेषण योग ग्रन्थों का प्रतिपाद्य है। पांतजल योग दर्शन का अष्टांग योग भी नाथ ग्रन्थों में स्वीकार्य है तथा षडंग योग का भी प्रतिपादन हुआ है। 'गोरक्षशतक' में षड़ग योग की चर्चा है तथा 'सिद्धसिद्धान्तसंग्रह' में अष्टांग योग की। नाथ सम्प्रदाय सिद्धान्त पक्ष का विवेचन 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में विशेष रूप से हुआ है। इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ में छः उपदेशों में सम्प्रदाय के महत्वपूर्ण विषयों पर प्रकाश डाला गया है। उपदेश में पिंड और ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति का तथा परमसत्ता के स्वरूप का विवेचन है। उसे दिककालनिरपेक्ष भेदातीत तथा शाश्वत बताया गया है। वह अपनी शक्ति के द्वारा असंख्य व्यष्टि पिंडों के रूप में व्यक्त होता है तथा प्रत्येक पिंड में अर्न्तयामी के रूप में निवास करता है। इस प्रकार पिंड और ब्रह्माण्ड का सम्बन्ध निर्धारित करने के पश्चात, आचार्य ने दूसरे अध्याय में व्यष्टि पिंड की आन्तरिक रचना पर विचार किया है तथा चक्र, आधार, लक्ष्य और व्योम पर भेदों एवं प्रवेदों के साथ विस्तार से विचार किया है। पिंड के भीतर नव चक्र सोलह आधार, तीन लक्ष्य तथा पाँच आकाश विवेचित हैं इसी सन्दर्भ में शरीर के विशिष्ट भागों तथा उनकी स्थिति पर भी विचार किया गया है तथा उन पर ध्यान केन्द्रित करने की विधि बतायी है जिसमें मन उच्च से उच्चतर स्तर को प्राप्त हो सके। तीसरे अध्याय में पिंड तथा ब्रह्माण्ड की विस्तृत व्याख्या की गयी है तथा दोनों की मूलभूत एकता का प्रतिपादन किया गया है। चतुर्थ पिंडाधार का अध्ययन हुआ है। समस्त पिंडों का आधार एक परम आध्यात्मिक शक्ति है जो अद्वैतरूपा है। यह दिव्य शक्ति ही सारे पिंडों के सम्बन्धों का नियन्त्रण करती है। यह शक्ति शक्तिमान शिव से अभिन्न है। यह अपने पारमार्थिक रूप से शिव और व्यवहारिक रूप से शक्ति है। समाधिस्त योगी दोनों में एकत्व का अनुभव करता है। पाँचवे अध्याय में सामरस्य की स्थिति और उपलब्धि पर विचार किया गया है। इस स्थिति से व्यष्टि-पिंड का समष्टि पिंड के साथ पिंडों का परम शक्ति के साथ तथा

शक्ति का शक्तिमान के साथ एकत्व का प्रतिपादन किया गया है। सामरस्य की स्थिति सिद्धि चरमावस्था है जहाँ पहुचँ कर ससीम और असीम जीव और शिव तथाा आत्म और अनात्म का भेद समाप्त हो गया है।

इसकी अनुभूति परमानन्दमय होती है। इस स्थिति को करने वाला योगी ही सही अर्थों में नाथ कहलाता है और उसकी अवस्था सहजावस्था होती है। उसके सामान्य जीवन में एक दिव्य प्रकाश रहता है तथा सांसारिक कार्यों में व्याप्त होने पर भी उसकी अवस्था सहज और निसंग होती है। वह 'मति' का स्थितिप्रज्ञ है।

योग के मूल भूत तत्व चार है – (1) बिन्दु, अर्थात शुक्र (2) वायु, (3)मन, (4) बाक्र् या वाणी।

इसमें से यदि एक को वश में कर लिया जाए तो दूसरे भी स्वयं वशीभूत हो जाते हैं। इनको वश में करने के लिए काया–योग का निधान किया गया है। काया शुद्धि के लिए षटकर्मा आवश्यक है। धोति, वस्ति, नेति, त्राटक नैलि तथा कपालभाँति। षटकर्म से नाड़ी शुद्ध होती है और सुषुम्ना का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। नाड़ी शुद्धि से प्राणादि वायुओं का भी नियन्त्रण हो जाता है। जिसमें कुंडलिनी उद्बबुद्ध होकर चक्रों का भेदन करती हुई सहस्रार तक पहुँचती है जहाँ सामरस्य की उपलब्धि होती है।

'योगशिवोपनिषत्' में चार प्रकार के भागों की चर्चा हुई है –

(क) मन्त्र योग,

(ख) हठयोग,

(ग) लययोग,

(घ) राजयोग।

हठयोग के ग्रन्थों में इन चारों ही योगों का समावेश हो गया है। योग सम्बन्धी अनेक मूल तथा आलोचना –ग्रन्थों में छः चक्रों, सोलह, आधारों, दो लक्ष्यों तथा पाँच व्योमों का विस्तार से वर्णन हुआ है तथा योग के आठ तथा छः अंगों की भी व्याख्या

हुई है साथ ही छः कर्मों का भी विधि, विधान से विवेचना हुआ है। इसलिए हम उन सबका विवेचन अनावश्यक पुनरावृत्ति ही समझते हैं।

'गोरखबानी' का समीक्षात्मक अध्ययन हमारा प्रतिपाद है। इसलिए उसी के सन्दर्भ में योग साधना की व्याख्या विधेय है। नाथ सम्प्रदाय की हिन्दी रचनाओं में इस साधना का पूर्ण विवेचन मिलता है।

ब्रह्माचार्य तथा आचार। इस योग की आधार शिलाएँ है व नाथ योगी केवल मात्र हठयोगी ही नहीं होता, बल्कि उसका परम लक्ष्य द्वैतादैत निर्वाचित सामरस्य स्थिति को प्राप्त करना होता है। प्राणायाम इसकी प्राप्ति का साधन है जिसमें काया सिद्ध होती है तथा वह बिन्दु पात, जरा, मरण आदि से अतीत हो जाती है। यह सहजावस्था होती है जिसमें ब्रह्मा वेश भूषा कोई महत्व नहीं रखती है। योग साधन पंखुड़ियों की वस्तु नहीं है इसमें तो कथनी और करनी तथा वाद–विवाद आदि सब निरर्थक होते हैं।

(2) <u>गुरुतत्व :</u> नाथ सम्प्रदाय के संस्कृत ग्रन्थों में गुरु–शिष्यवाद और अधिकारवाद की विशेष चर्चा हुई है। 'गोरखबानी' में अनेक स्थलों पर विषयों को स्पष्ट किया गया है। 'गोरखबानी' के अनेक पदों में गुरु के महत्व पर प्रकाश डाला गया है और निगुरा व्यक्ति को सब प्रकार से साधनहीन बताया है।

गुरुकी जै गहिला निगुरा न नहिला।
गुरु बिंन ग्यांन न पाईला रे भाईला।।[1]

गुरु ज्ञान का ही प्रतीक नहीं, बल्कि वह सम्पूर्ण ब्रह्मा सम्पत्ति का भण्डार होता है। साधक के चंचल और मदोन्मत्त मन को वश में करने वाला एक मात्र उपाय गुरु ज्ञान का वाण है। गुरु तथा शिष्य में केवल इतना ही अन्तर है कि गुरु के पास ज्ञान तत्व अधिक होता है तथा शिष्य के पास ज्ञान तत्व कम होता है। अधिक तत्व वालों से कम तत्व वाले को सदा ज्ञान ग्रहण करना चाहिए।

---

1. डॉ0 बड़थ्वाल, गोरखबानी, पृ0 128

इस ज्ञान को प्राप्त कर लेने के बाद शिष्य के लिए यह जरूरी नहीं है कि गुरु के पीछे–पीछे भटकता ही फीरै। मन में जचे तो साथ रह सकता है न जचे तो अकेला रह सकता है –

अधिक तत्व ते–गुरु बोलिये हंगे तत्व ते चेला।

मन मांनै तो संगि रमौ नहीं तो रमो अकेला।।[1](गोरख0 पृ0 55)

यह संसार का मार्ग बीहड़ और कंटकाकीण है। इसको प्रकाशित करने वाला एकमात्र गुरुज्ञान का प्रकाश ही है। गुरु के गौरवमय ज्ञान की भी 'गोरखबानी' में विस्तार से चर्चा हुई है। यहाँ तक की समाधि की रक्षा करने में भी गुरु का ही हाथ होता है।

त्रिगुणात्मिकता माया से गुरु के द्वारा ही रक्षा होती है। गुरु तत्व ही नाथ तत्व है जिसके बिना परमपद अथवा सामरस्य की उपलब्धि सम्भव ही नही है। 'गोरखबानी' में गुरु और शिष्य के एकत्व का प्रतिपादन भी तत्वों के आधार पर किया गया है। नाथ सम्प्रदाय के अनुसार गुरु में 36 तत्व और शिष्य में 32 तत्व माने गये हैं। चार तत्वों के सम्पादन से शिष्य भी गुरु तुल्य हो जाता है।

'गोरखबानी' के अनुसार 36 लक्षणों से मुक्त गुरु ही पूर्ण गुरु होता है। अधूरे गुरु से कुल नाश सम्भव है। इस प्रकार परमतत्व के ज्ञान के लिए अनिवार्य है।

पिंड ज्ञान अथवा कायासिद्धि गुरु के द्वारा ही सम्भव है। पिंड पश्चिम के लिए गुरुमुख का आश्रय लेना होगा मन किसी न किसी आश्रय में आवश्य रहेगा। उसकी चार स्थितियाँ हैं– आशा, उदासीनता, गुरु और कामिनी।

इनमें उदासीनता और गुरु ही मन की श्रेष्ठ स्थितियाँ है। 'गोरखबानी' में गुरु सम्बन्धी अनेक पद तथा सखियाँ है। इस समबन्ध में अनेक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग हुआ है जैसे– गुरु–मुख, जारणा, पारस, आदि। व्याख्याकारों ने इन शब्दों की

---

1. डॉ0 बड़थ्वाल, गोरखबानी, पृ0 55

विभिन्न व्याख्याँ की हैं।

(3) <u>परमतत्व :</u> हठयोग का लक्ष्य परमतत्व की प्राप्ति है। इस तत्व को नाथ पंथ में सद्सद् विलक्षण कहा गया है। 'गोरखबानी' के प्रारम्भ में ही इस तत्व का विवेचन हुआ है। 'गोरखबानी' में स्पष्ट लिखा है कि इस तत्व का साधक ही योगेश्वर हो सकता है। यह तत्व अलक्ष्य, अवर्णनीय तथा अनिवार्यनीय है। इस तत्व को धारण करने के लिए परिपक्व काया की आवश्यकता है। इस तत्व का साक्षात्कार नाद–रुप में सहस्रार चक्र में होता है। यह योग युक्त ज्ञान से ही सम्भव है। – "जोग जुक्त जब पायो ग्याना। काया षो जो पद नृवाना"। नाथ–योग में काया–शुद्धि के सम्बन्ध में अनेक पद है। शायद इसलिए नाथ–योग को काया योग कहा है। इस काया की शुद्धि के बिना न तो पिंड का ही ज्ञान सम्भव है और न ब्रह्माण्ड का ही । पिंड पद ही परम पद में स्थिति ही नाथ योग का सार है। 'गोरखबानी' अर्थात यह अंजन अर्थात माया से रहित है। इसलिए यह स्वरूप अग्राहा है। इसकी प्राप्ति का एकमात्र उपाय उन्मनि समाधि है। 'गोरखबानी' में उन्मनि समाधि की भी विस्तार से चर्चा हुई है। इस अवस्था की अनुभूति दशम द्वारा ब्रह्मारन्द्र, सहस्रार, केदार, कैलाश, गगन, शिखर आदि में सब स्थितियाँ पिंड में ही है। इसलिए पिंड में ब्रह्माण्ड की खोज बतायी गयी है।

'ब्रह्माण्ड– शब्द की 'गोरखबानी' में दो अर्थों में खोज बातयी गयी है। 'ब्रह्माण्ड' शब्द भी 'गोरखबानी' में दो अर्थों मे प्रयुक्त हुआ है। (1) ब्रह्मा, सृष्टि तथा (2)गगन–मंडल, ज़हाँ शिव निवास करते हैं।

जीव का वास मूलाधार में हैं। कुंडलिनी ही जीव शक्ति है जो उत्थित होकर गगन मंडल की ओर जाती है और शिव में विलीन होकर शिवत्व को प्राप्त करती है। 'गोरखबानी' में इस प्रक्रिया का वर्णन बड़े रौचक प्रतीकात्मक ढंग से किया है। कुंडलिनी महाकुंडलिनि पद को प्राप्त करती है तथा पाताल गंगा का ब्रह्माण्ड में संक्रमण होता है। 'गोरखबानी' में इस संक्रमण का भी विस्तृत विवेचन हुआ है। यह संक्रमण साड़े

तीन हाथ के शरिरमें होता है। इसी शरीर को नगर, पारण गढ़ कोर आदि अनेक नामों से अभिहित किया गया है। इस नगर परिभ्रमण के लिए इसका पूर्ण ज्ञान आवश्यक है। इसमें सब देवताओं तथा तीर्थों का वास है। इन सबकी वाणी में परिचय दिया गया है। इस मन्दिर का सर्वश्रेष्ठ देवता तो आत्म तत्व ही है परन्तु इसके विभिन्न स्थानों पर और देवताओं का वास है। शरीर के नवद्वारों में नव नाथ रहतें हैं। जगन्नाथ का निवास त्रिवेणी में है तथा केदार तीर्थ दशम द्वार अथवा ब्रह्मारन्द्र में है। शिव तत्व का पवित्र पुरी काशी का दर्शन इसी स्थान पर होता है। 'गोरखबानी' में अनेक स्थानों पर पिंड का अनेक रूपकों तथा प्रतीकों द्वारा वर्णन किया गया है।

शरीर का निर्माण चार तत्वों पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु तत्वो से हुआ है। इसमें 13 द्वार है। 3 गुप्त तथा 10 प्रकट है। इन 10 द्वारों में 9 रन्ध्र है तथा दशम रन्ध्र ब्रह्मा रन्ध्र कहलाता है। नाड़ियों की संख्या 72,000 है। दस नाड़ियाँ प्रधान है जिसमें सुषुम्ना सब से प्रधान है। चक्रों के कमल दल 50 है। इसमें 360 हड्डियाँ है तथा नाड़ियों की ग्रन्थियों के रूप में 900 खाइयाँ है। 72 नदियाँ ऐसी है जिसमें मकर, मत्स्य रूपी अहंकारादि का निवास है। शरीर में साड़े तीन करोड़ रोम है जो वनस्पतियों के समान है। पाँच इन्द्रियाँ पाँच कोतवाल है जिनकी एक ही स्त्री है। मनसा। शरीर के पाँच तत्वों में अमृत भी है और विष भी। इस प्रकार सब मिल कर 'प्राण सांकली' कहलाती है। इस प्राण संकली के नियन्त्रण से ही काया का नियन्त्रण होता है। इसी को आत्म परिचय भी कहते हैं। इन पर विजय प्राप्त करने पर बालभाव प्राप्त होता है।

'गोरखबानी' में अनेक स्थानों पर चित्र की योग–मार्ग में प्रवृत करने के लिए ज्ञान को प्राथमिकता दी है। यह ज्ञान गुरु–मुख से ही सहज सम्भव है। ज्ञान से ही विशिष्ट ज्ञान, अर्थात परमपद ज्ञान तत्व ज्ञान होता है।

(4) <u>हठयोग के अंग :</u> जब तक विवेकख्याति नहीं हो जाती तब तक योगांगों के अनुष्ठान से चित्त को विशुद्ध करने का उपदेश शास्त्रंकार ने दिया है। ये आठ है। यम,

नियम, आसन, प्राणयाम, प्रत्याहार तथा ध्यान, धारण और समाधि, प्रथम पाँच ब्रह्मा है। और तीन अन्तर। संक्षेप में इन का परिचय इस प्रकार दिया गया है।

(4–2) <u>यम</u> : यम बाहरी और भीतरी इन्द्रियों के सयंमन (वृत्ति–संकोचन) को कहते हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना) ब्रह्माचार्य और अपरिग्रह (किसी से कुछ न लेना) ये पाँच यम है। इन यमों में (संयमों) के विरीत क्रियाओं– हिंसा, असत्य, अस्तेय, तीर्थक्षम, अपरिग्रह को वितर्क कहते हैं। इनका फल दुख और अज्ञान है।

(4–2) <u>नियम :</u> वितर्कों के दमन और संयमों की उपलब्धि के लिए शास्त्रकार ने पाँच प्रकार के नियम बनाए है। शौच (पवित्रता) सन्तोष, तप, व्यायाम और ईश्वर प्राणायाम। ये बातें नाथपंथी हिन्दी रचनाओं के अन्तर्गत भी आती है। एक बात लक्ष्य करने की यह है कि किसी भी प्रकार के आचार नियम का पालन करने के लिए ब्रहमाचार्य वृत अनिवार्य है।

(4–3) <u>आसनः</u> योग साधना के लिए नाना प्रकार के आसन उपयोगी बताये गये है। आसन अर्थात हाथ पैर आदि का विशेष ढंग से सन्निवेश परवर्ती योग ग्रन्थों में आसनों की अनेक संख्यायें बतायी गयी है। परन्तु 'पांतजल दर्शन' ने स्थिर और सुखकर आसन को ही योग साधना का प्रकष्ट उपाय बताया है।

(4–4) <u>प्राणायाम :</u> श्वास को भीतर भरना (पूरक) उसे फिर बाहर निकालना (रोचक) प्राणायम कहा जाता है। प्राण अर्थात वायु के संयमन से मन का संयमन सहज होता है।

(4–5) <u>प्रत्याहार :</u> शब्दादि ब्रह्मा व्यापारों से कान प्रभृति इन्द्रियों को हटाकर (प्रत्याहत करके) पहले अर्न्तमुख करना होता है। उस अवस्था में ब्रह्मा विषयों के साथ इन्द्रियों का कोई सम्पर्क न होने से चित्त का सम्पूर्ण रुप से अनुकरण करते हैं। इन्द्रियों की इस प्रकार की अवस्था का नाम ही 'प्रत्याहार' है। इससे इन्द्रियों को वश में करना सम्भव होता है।[1]

---

1. डॉ0 मनीषा शर्मा, गोरखबानी– परम्परा और काव्यत्व, पृ0 38–45

(4–6) <u>धारणा :</u> प्रत्याहार के समान धारणा सभी अनतः साधन ही है। नाथ योग में साधना का बड़ा महत्व है। इसी के अन्तर्गत कुंडलिनी योग, लय योग तथा षटचक्र–वेधन आदि आते हैं। धारणा ही स्वरूपानुसंधान होता है। नाथ योग के अनुसार सम्पूर्ण संसार की निराकार में धारणा विधेय है। योग ग्रन्थों में उसकी विस्तृत व्याख्या की गयी है।

गोरखबानी में धारणा की शास्त्रीय व्याख्या तो नहीं मिलती परन्तु उसके फलों की विस्तृत चर्चा मिलती है। गोरख के नाम से प्रसिद्ध एक रचना 'अपरचक्र' है जिसमें आठ चक्रों का वर्णन हुआ है।

'गोरखबानी' में आठ चक्रों की चर्चा मिलती है । मणिपरु, अनाद्ध, विशुद्ध, अग्नि, कार्या, सहस्रदल, कमल और सूक्ष्म–यह एक क्रम है। जिसे उहर्व–क्रम कहा जाता है। सामान्य रूप से आठ चक्रकों की स्थिति इस प्रकार है –

सं0	चक्र नाम	कमल के दल	स्थान	श्वास–संख्या
1.	आधार चक्र	4	गुदा	600
2.	दृष्टि चक्र	6	लिंग	600
3.	मणिपुर	10	नाभि	600
4.	अनाद्ध चक्र	12	हृदय	600
5.	विशुद्ध चक्र	16	कंड	1000
6.	अग्नि चक्र	16	नेंम	1000
7.	ज्ञान–चक्र	1000	ब्रह्माण्ड	1000
8.	सूक्ष्म चक्र	21000	विज्ञान[1]	

योग ग्रन्थों में विवेचना विस्तृत रूप से उपलब्ध है। इसलिए उसकी पुनरावृत्ति यहाँ अनावश्यक है। चक्रों की संख्या क्रम स्थान आदि के विषय में इतने

---

1. डॉ0 मनीषा शर्मा, गोरखबानी– परम्परा और काव्यत्व, पृ0 47

मतभेद है कि उनके वास्तविक स्वरूप का विवेचन एक बड़ी समस्या है। नाथ साहित्य में भी अनेक मत मतान्तर प्राप्त होते हैं। 'मछीन्द्र गोरखबोध' में छः चक्रों का विस्तार से वर्णन किया गया है। 'गोरखबानी' में भी कई स्थानों पर कुछ भेद के साथ चक्रों की चर्चा हुई है। सन्त साहित्य में सहस्रार सहित सात चक्रों का विस्तार से वर्णन हुआ है 'षट्चक्रनिरूपण' में यह वर्णन मिलता है।

(4–7) <u>ध्यान :</u> धारणा के पश्चात ध्यान का स्थान है। ध्यान धारण की ही परिपक्वव्यव्था है जिसमें ध्याता और ध्येय का पूर्ण तादात्म्य होता है तथा जिसने परमाद्वैत भाव कहा गया है। यह एक भावना है जिसे आत्म स्वरूपास्थित कह सकते हैं। ध्यान परिपक्वस्था ही समाधि है। 'गोरखबानी' में ध्यान के स्थानों का निर्देश है। आज्ञा चक्र में ध्यान करने से मन उन्मन हो जाता है। उस स्थिति को मनोन्मनी स्थिति कहते हैं। 'गोरखबानी' में चक्रों अथवा गाँठों पर ध्यान करने का विधान है। यह ध्यान तान्त्रिकों के ध्यान से भिन्न है। नाथों के ध्यान का विषय स्वयं बोध है। जो अगम–अगोचर, असीम अनन्त और निरंजन है। ध्येय के समान ध्याता भी अलग ही है। गोरखनाथ के अनुसार यह ध्यान सहज स्थिति का है जो हँसते, खेलते, चलते, फिरते लगाया जा सकता है। इस प्रकार के ध्यान में स्थूल विषयों को छोड़कर जगदीश का ध्यान करने का उपदेश 'गोरखबानी' में किया गया है। उस ध्यान को सांसारिक जीवन को दिव्य जीवन में परिवर्तित करना चाहते हैं। परन्तु यह स्थिति योग की सब क्रियाओं के अनन्तर ही प्राप्त होती है।

(4–8) <u>समाधि :</u> षडंग योग में अन्तिम स्थान समाधि का है। समाधि का प्रायः सभी योग शास्त्रों में हुआ है। 'पांतजल योगदर्शन' में तो समाधि का नाम एक अलग ही पाद है जिसमें समाधि के अंगों प्रत्यागों का सूक्ष्म विवेचन हुआ है। हठयोग के ग्रन्थों में भी समाधि का सैद्धान्तिक विवेचन है परन्तु नाथ की वाणी में समाधि का सैद्धान्तिक विवेचन न के बारबर है। नाथ योग के अनुसार समाधि एक अवस्था का नाम है। जिसमें सभी तत्वों की समान स्थिति रहती है तथा आभास और उधम का आभाव रहता है।

इस स्थिति में अद्वैत तत्व की अनुभूति होती है तथा साधकपूर्ण से संकल्प विहिन हो जाता है। प्राण क्षीण हो जाता है तथा मानस का चित्त में लय हो जाता है। इसी को समरसता कहते है। 'हठयोगप्रदीपिका' में समाधि के लिए राजयोग, उन्मती, मनोन्मनी अमरत्व, लय अद्वैत, निरासन, निरंजन, सहसा तुरिया आदि अनेक नामों का व्यवहार किया गया है। 'गोरखबानी' में समाधि शब्द का स्पष्ट व्यवहार नहीं मिलता केवल उतना उल्लेख है कि समाधि की स्थिति चन्द्र चक्र में प्राप्त होती है।

'गोरखबानी' में समाधि शब्द का वर्णन कई रूपों में हुआ है। समाधि परम स्थिति शून्याशून्य होती है। समाधि की दशा में ही निरंजन तादात्म्य सम्भव है। 'गोरखबानी' में निरंजन शब्द का प्रयोग कई बार किया गया है। यह निरंजन शून्य है परमात्मा है। परमसुख है उसकी उपलब्धि तीन लोकों में न होकर पिंड में ही होती है जीवन अंजक में भटक कर निरंजन तत्व को भूल जाता है। योगी अपनी साधना से निरंजन में विलिन हो जाता है। निरंजन शब्द का प्रयोग तीन अर्थों में हुआ है।

(क) माया के संसर्ग से पिंड का निर्माण करने वाला।

(ख) मायातीत ब्रह्म तथा,

(ग) नादरूपा सृष्टि का लय स्थान।

आनन्दों का उपयोग करने के लिए बिन्दु उर्ध्वमुखी कर उन मुद्राओं के उपमुख चक्रों में योग साधना अन्दर श्वाँसनिरोध द्वारा चलती रहती है और बाहर मुद्रा–मैथुन द्वारा तान्त्रिक गुहा साधनाएँ दोनों एक दूसरे का समर्थन करती रहती हैं।

हठयोग द्वारा पवन का निरोध कर मेरुदंड में स्थिति चक्रों का बेधन यह योगाचार की स्वीकृत पद्धति थी। ध्यान द्वारा चित्त में 5 महाभूतों के उदम के उपरान्त साधक के लिए अन्तस्थ चक्रों का ध्यान करने का आदेश था।

श्रेष्ठ समाधि सहज समाधि ही है। इस सहज स्वभाव की सिद्ध हठयोग द्वारा की जाती थी। नाथयोगियों में हठयोग मुख्यतः यह शिव और शक्ति के देहस्थ योग

के रूप में स्वीकृत हुआ है। सन्तों में हमें इस पद्धति के लिए बराबर सहज योग नाम का प्रयोग मिलता है। यद्यपि उसके दो अर्थ है। कहीं–कहीं वह हठयोग की साधना के लिए प्रमुख हुआ है । हठयोग के अर्थ में कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य है –

दादू – पंच बाइ ते सहज समावै, सहसहरि के हार असैसूर।
सीतल सदा मिलै सुखदाई, अनहद सबद रजावै तूर।
बकनालि सदा रस पीवै तब यह मनवा कही न जाइ।
बिगसै कंवल प्रेम जब उपजै ब्रह्मा जीव की करै सहाई। 206

एता कीजै आप थे, मन मन उनमनि लाई।
पंच समाधि राखियै, दूजा सहज सुआई।।
सहज जोग सुख में, कहे दाई निर्गण जाणि।
गंगा उलटी फेरी, करि, जमुणा माँह आणि।। 207

भीखा – जोग जुक्ति कै हिंडोलन गुरु सहज लखावत
चाँदै राखि सूर पौठावल पवन डोरि पै हाथल
अर्ध–अर्ध मुख भावंल पुलीक पुलकि छवि भावला।। 208

हठयोग तथा भाव योग के समान्तर ही सहज समाधि का प्रयोग भी सन्तों में योग समाधि तथा भव समाधि– दोनों अर्थों में मिलता है। हठयोग की समाधि के अर्थ में नाथयोगी परम्परा की उन्मनि प्रयुक्त हुई हैं। यह उन्मनि अवस्था हठयोग प्रदिपिका में शून्य और अशून्य से परे अमनस्क (अमनसिकार) की ही अवस्था बतायी गई है और टीका में इसे जल में मिले हुए लक्षण की भाँति आत्मस्थ रूप बताया गया है। नाथपंथी बानियों में भी इसको तत्वसार बताया गया है। "मन पवना लैं उन्मुनि धीखा ते जोगी ततसार।"[1]

नाथयोग तथा तन्त्र योग दोनों ही षटकर्म, प्राणायाम, मुद्रा, आसन, लय, योग ध्यान और समाधि को साधन के रूप में स्वीकार करते हैं। हम नाथ योग को

---

1. डॉ0 धर्मवीर भारती, सिद्ध साहित्य, पृ0 381

अद्वैतवाद का क्रिया पक्ष भी कह सकते है। नाथ योग की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें बिन्दु रक्षा पर विशेष बल दिया गया है। उनकी साधना के क्रम में तीन बातें उभर कर आती है –

(1) पिंड–ब्रह्माण्ड का एकत्व तथा पिंड का ज्ञान और निमन्त्रण,

(2) ब्रह्मचार्य और बिन्दु रक्षा तथा

(3) भोग में योग।

यह भोग में योग ही नाथ पंथियों की सहज साधना है । नाथों का साध्य शिव तत्व है। 'सिद्धासिद्धान्त संग्रह' में उसकी व्याख्या इस प्रकार है –

अद्वैत केचिदिच्छन्ति द्वैतभिच्छक्ति चापरे।
सम तत्व न विदन्ति द्वैताद्वैत विलक्षणम्।
यदि सर्व गतों देवः सिथ्रः पूर्णोरं निरन्त।
अहो माया महामोहो द्वैताद्वैत विकल्पना।।

नाथ सम्प्रदाय में बाह्माचार तथा रूढ़ियों का विरोध किया है। इसी प्रकार इस सम्प्रदाय में हिंसा का भी प्रमुख रूप से विरोध किया गया है। जिसका नाम शुद्र है। उसे तीर्थों में भटकने की आवश्यकता नहीं है ।

अवधू मन– चंगा तो कठौती ही गंगा।

इसी प्रकार "यंद्री का लड़धड़ा और जिभ्या का फूहड़ा" कभी योगी नहीं हो सकता मन को वशीभूत करने का एकमात्र माध्यम मार्ग का अवलम्बन है।

नाथदर्शन एक व्यवहारिक दर्शन है जिसमें सभी दर्शनों की प्रमुख मान्यताओं का समाहार हुआ है। इस पंथ में कठोर ब्रह्मचर्य के प्रति अवज्ञा, अन्तिरिक शुद्धि तथा महा मांसादि के बहिष्कार पर विशेष बल दिया है।

निष्कर्षतः गोरखनाथ ने जिस संस्कृति को जन्म दिया उसमें उच्चतम मानवीय मूल्य है – ईश्वर की प्राप्ति। ईश्वर की प्राप्ति के लिए दुनिया भर में भटकने के

स्थान पर अन्तरमय की गहराइयों में रमने की सलाह दी गई है क्योंकि गोरखपिंड के ब्रहमाण्ड के प्रति विश्वास करने वाले थे। आन्तिरिक गहराईयों के साक्षात्कार का मार्ग है – योग जिसका मूल तत्व है – संयम। वाक्र, मन, बिन्दु आदि में से किसी एक को संयमित करने पर सभी संयमित हो जाते हैं।

"एक साधै सब साधौ।

गोरखी संस्कृति में मूलतः व्यक्ति पर बल दिया गया है। गुरु गोरखनाथ ने आम जनजीवन को व्यापक और गहन रूप में प्रभावित किया है।

गोरखनाथ ने जातपात, छुआछुत तथा बाहरी आडम्बरों का विरोध किया है। गुरु गोरखनाथ ने कर्मकाण्ड का विरोध भी पूर्ण रूप से किया है। गोरखी संस्कृति के मूल में बौद्ध और सिद्ध तथा शैव परम्पराओं में स्वीकृत प्रज्ञोपाय अथवा कुलाकुल के रूप में संयुक्त के सिद्ध हैं। संपुति (युगनद्वता या सियुजी) के ये बिम्ब मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मानव की चिन्तीय अखण्डता है। उसकी सम्पूर्ण व्यक्तिकता के प्रतीक हैं।

मानव चित्त में युगनद्वता के ऐसे बिम्बों का उदय प्रायः चित्तिय द्वन्द्वों के चरम तनाव की स्थिति में होता है संस्कृति का यह पक्ष आधुनिक युग के सन्दर्भ में संभवतः सर्वाधिक सार्थक है।

पश्चिम में तान्त्रिक युगनद्वता का प्रचलन अथवा योगासनों की लोकप्रियता इस एक ही समस्या के दो पहलुओं को रेखाकिंत करता है कि पश्चिम का मानव काम और अध्यात्म में संतुलन चाहता है। हमारे देश में गोरखी संस्कृति का सर्वाधिक महत्व चरित्र की उस दृणता में निहित है जिस पर नाथों ने सर्वाधिक बल दिया है।[1]

---

1. डॉ० मनीषा शर्मा, गोरखबानी– परम्परा और काव्यत्व, पृ० 52–54

अध्याय : 2

गोरखबानी का स्वरूप

हिन्दी साहित्य के इतिहास में गुरु गोरखनाथ की रचनाओं को एक विशेष महत्व का स्थान प्राप्त है। इनके पदों व सबदियों की रचना का समय बौद्ध सिद्धों के प्राचीन दोहें व चर्यागीतों के प्रायः पीछे तथा सन्तों के शब्दों एवं साखियों के बहुत पहले आता है। तद्नुसार यदि आज तक की इन सभी उपलब्ध रचनाओं का एक साथ तुलनात्मक अध्ययन कर उस पर विचार किया जाए तो इनके विषय, भाषा व रचना शैली में एक विचित्र साम्य दीख पड़ेगा और जान पड़ेगा कि लगभग एक ही प्रकार की विचारधारा और परम्परा का क्रमिक विकास बहुत काल तक निरन्तर होता आया। उदाहरण के लिए मनोमरण व चित्तशुद्धि सहजभाव व सहजानुभूति, विंडबना विरोध व स्वपदवादिता की झलक प्रायः सर्वत्र एक सी दीख पड़ती है। साथ ही रूपकों व उलटवासियों द्वारा उपदेशों व सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण का निराला ढंग भी बराबर लक्षित होता रहता है इसके सिवाय कबीर साहब आदि कई संत गुरु गोरखनाथ के प्रति न्यूनाधिक श्रृद्धा प्रदर्शित करते हुए भी जान पड़ते हैं। उन्होंने कई स्थलों पर इसके भावों, शब्दों व वाक्यांशों तक को ज्यों का त्यों अपनाया है।

'गोरखबानी' में संग्रहित रचनाओं के अन्तर्गत नाथ पंथ के प्रायः मुख्य मुख्य सिद्धान्तों की वानगी देखने को मिलती है।

'गोरखबानी' में संग्रहित सभी रचनाएँ संभवतः गुरु गोरखनाथ की कृति नहीं है। इनमें से कुछ एक में दूसरों के नाम स्पष्ट रूप में आये हैं और कई एक की बहुत सी अन्य बातों के कारण भी सहसा उनकी रचना मान लेना उचित नहीं जान पड़ता। फिर

भी इतना निश्चित है कि ऐसी रचनाएँ उनके अनुयायियों की ही हो सकती है। विद्वान सम्पादक ने इन रचनाओं को कम से कम आधे दर्जन से अधिक प्रतियों का मिलान कर अनेक पाठ भेदों के साथ प्रकाशित कराया है और उनका अनुवाद करते अथवा उन पर यथास्थल टिप्पणी देते समय किन्ही संस्कृत वा प्राचीन हिन्दी टीकाओं से भी थोड़ी बहुत सहायता ली है। संग्रह में पंथों व सवदियों के अतिरिक्त एक दर्जन छोटे–छोटे फुटकर ग्रन्थ भी आ गये है जिनमें से दो की रचना गद्य में हुई है। 'गोरखबानी' विषय, भाषा, शैली आदि अनेक दृष्टियों से अध्ययन से उपयुक्त एक महत्वपूर्ण संग्रह है।

गोरखबानी के संग्रह तथा रचनाएं हिन्दी तथा संस्कृत दोनो भाषाओं में प्राप्त होते हैं:

1. संस्कृत साहित्य

मत्स्येन्द्रनाथ अथवा मीनानाथ की रचनाओं में डा० बागची के अनुसार 'कोलज्ञाननिर्णय', 'अकुल वीर तन्त्र' (ए) तथा (बी), 'कुलानन्दतन्त्र' तथा 'ज्ञानिकारिका' का उल्लेख मिलता है। 'कौलज्ञान निर्णय' एक अत्यधिक महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इसमें जिन विषयों की सविस्तार चर्चा हुई है उन्हें संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है – सृष्टि प्रलय, मानस लिंग का मानसोपचार से पूजन, निग्रह, अनुग्रह–क्रामण–हरण, प्रतिमा जपन, षट पाषण स्फोटन आदि सिद्धियॉ; भ्रांति–निरसन ज्ञान, जीवन–स्वरूप, जरा–मरण, पलित का निवारण, अकुल से कुल की उत्पत्ति तथा कुल का पूजनादि, गुरु–पंक्ति, सिद्ध–पंक्ति और योगिनी– पंक्ति, चक्र–ध्यान, अद्वैत–चर्चा, पात्र–चर्चा, न्याय–विधि, शीघ्र सिद्धि देने वाली ध्यान मुद्रा, महाप्रलय के समय भैरव की आत्म–रक्षा, भक्ष्य विधान तथा कौलज्ञान का अवतारण, आत्मवाद, सिद्ध पूजन और कुलदीप विज्ञान, देहस्थ चइस्थिता देवियॉ, कपाल–स्भेद, कौलमार्ग का विस्तार, येगिनी–संचार और देहस्थ सिद्धों की पूजा।

'अकुल वीर तंत्र' की रचना वास्तव में उनके लिए हुई है जो अद्वैत का

ज्ञान प्राप्त कर चुके हैं। इस ग्रंथ के प्रकाश में अद्वैत ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात समाधि, प्राणायाम, ध्यान, धारणा आदि की अपेक्षा नहीं रहती। साधक स्वयं ही ध्यान और ध्याता बन जाता है और समस्त द्वन्द्वों से रहित हो जाता है।

डॉ0 कल्याणी मल्लिक ने मत्स्येन्द्र–कृत 'योग विषय' नामक ग्रंथ का भी संपादन किया है जिसकी पांडुलिपि उन्हें तिरूपति, मद्रास से प्राप्त हुई थी। ग्रंथ के प्रारम्भ में गुरु के गुणों का संकेत करते हुए उसे भावनातीत कहा गया है। शिष्य को अपने गुरु में पूर्ण आस्था होनी चाहिए। गुरु और शिष्य के बीच जब मतभेद समाप्त हो जाते हैं तो उस समय दोनों के बीच के सम्बन्धों को समसिद्धि से अभिहित करते हैं।

मत्स्येन्द्र के अनुसार कौल को शरीर–स्थित षट्–चक्रों का पूर्ण ज्ञान होता है। निरंजन का स्थान चक्रातीत होता है।

ग्रंथ में मुख्य नाड़ियों की चर्चा की गयी है और कहा गया है कि ओम्कार की अ, उ तथा म् ध्वनियों के उच्चारण से सत्य का ज्ञान होता है और ब्रह्मा, विष्णु तथा रूद्र की ग्रंथियाँ टूट जाती हैं।

ग्रंथकार की दृष्टि में जिस समय ब्रह्म–स्थान में नाद सुनायी पड़ता है तो शंखिनी नाड़ी अमृत की वर्षा करने लगती है जिससे षट–चक्र घुलकर शुद्ध हो हाते हैं और ज्ञान की दीपशिखा प्रज्जवलित हो जाती है। ज्ञान की इस दीप–शिखा से कोई भी ईश्वर को जान सकता है। ईश्वर को स्वयं में ही जानना चाहिए। कारण यह है कि रूप–रहित ईश्वर सभी रूपों में विद्यमान है।

डॉ0 कल्याणी ने मत्स्येन्द्र लिखित दो अन्य ग्रंथों– 'तत्वसार' और 'ज्ञानसार'– का भी पता लगाया था। ये ग्रंथ डॉ0 बेलगकर को राज्यगुरु पं0 हेमराज के पुस्तकालय में नेवाड़ी लिपि में लिखे हुए मिले थे, किन्तु इन्हें किसी प्रकार प्राप्त न किया जा सका। फलस्वरूप ये अभी तक प्रकाश में नहीं आ सके हैं।

मत्स्येन्द्रनाथ जी के पश्चात द्वितीय महत्वपूर्ण नाम गोरखनाथ का है।

गोरखनाथ की रचनाओं का संकेत सर्वप्रथम मिश्र बन्धुओं ने किया। उनके अनुसार 'गोरक्षशतक' (ज्ञान शतक), चतुरशीत्यासन 'ज्ञानामृत', 'योग चिन्तामणि',, 'योग मार्तण्ड', 'योग सिद्धान्त पद्धति', 'विवेक मार्तण्ड' तथा 'सिद्ध–सिद्धान्त पद्धति' ग्रंथ गोरखनाथ कृत हैं।

आचार्य शुक्ल ने इनके अतिरिक्त 'शक्तिसंगत तंत्र', 'निरंजन पुराण', तथा 'वैराट पुराण' की गणना भी गोरख–रचित ग्रंथों में की है। ब्रिग्स ने 'गोरख शतक' को गोरखकृत सर्वाधिक प्रामाणिक रचना स्वीकार किया और 'रूद्रयागाम तंत्र', 'विष्णुसहस्त्रनाम' आदि को भी उनके द्वारा रचित होने का संकेत किया है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने गोरख–रचित तथाकथित ग्रंथों में उपर्युक्त के अतिरिक्त 'अमनस्क', 'अमरोध शासनम्', 'अवधूत गीता', 'गोरख–कौमुदी', 'गोरखगीत', 'गोरखपंचम', 'गोरखपद्धति', 'गोरखसंहिता', 'ज्ञानामृत योग', 'नाडद्यीज्ञान–प्रदीपिका', 'महार्थमंजरी', 'योगीज', 'योगसिद्धान्त पद्धति', 'श्रीनाथ सूत्र', 'हठ संहिता', आदि ग्रंथों के नामों का उल्लेख किया है।

डॉ0 कल्याणी मल्लिक ने गोरख–रचित 'सिद्ध–सिद्धान्त पद्धति', 'अमरोध प्रबोध', तथा 'योग मार्तण्ड', का सम्पादन किया है और 'सिद्ध–सिद्धान्त पद्धति', को गोरख की एक महत्वपूर्ण रचना स्वीकार किया है। वस्तुतः 'सिद्ध–सिद्धान्त पद्धति', को ही आधार मानकर 'सिद्ध–सिद्धान्त संग्रह', और 'गोरख सिद्धान्त संग्रह ', जैसे ग्रंथों की रचना हुई है। डॉ0 गोपीनाथ कविराज ने 'गोरख–सिद्धांत संग्रह', तथा 'सिद्ध–सिद्धांत संग्रह', –दोनों ही ग्रंथों का सम्पादन किया।

ब्रिग्स ने 'गोरख शतक', की प्रामाणिकता के पक्ष में अनेक तर्क दिये हैं। उनका विचार है कि 'ज्ञान शतक', और 'ज्ञान–प्रकाश शतक' को 'गोरख शतक', से भिन्न नहीं मानना चाहिए। वे हिन्दी ग्रंथ 'गोरख पद्धति' को 'गोरख कल्प' नामक ग्रंथ के अनुवाद के रूप में मान्यता देते हैं और उसके दो शतकों में से प्रथम को 'गोरख शतक',

'गोरख ज्ञान', 'गोरख प्रकाश शतक', और 'ज्ञान शतक', आदि अनेक नामों से प्रचलित मानते हैं। उनकी दृष्टि से 'गोरख शतक टीका', 'गोरख शतक टिप्पणी', और 'सिद्धान्त पद्धति', नामक ग्रंथ वास्त में 'गोरख शतक', के ही भाष्य हैं और 'गोरख शतक', ही नाथ–संप्रदाय का मूल ग्रंथ है।

डॉ0 नगेन्द्रनाथ उपाध्याय ने इस प्रसंग में अनेक प्रमाणों के प्रकाश में यह मान्यता स्थापित की है कि 'गोरख पद्धति', के प्रथम अथवा द्वितीय शतक गोरख–नाथ की मूल रचना नहीं है। उन्होंने यह अवश्य स्वीकार किया है कि 'गोरख शतक' को परवर्ती नाथ–योगियों ने इतना आवश्यक और महत्वपूर्ण ग्रंथ समझा कि वे लोग उस पर अनेक भाष्य, टीका, व्याख्या आदि के ग्रंथ लिखते रहे। डॉ0 उपाध्याय ने गोरखनाथ के संस्कृत ग्रंथों में 'सिद्ध–सिद्धांत पद्धति' और 'गोरख संहिता' को प्रामाणिक और महत्वपूर्ण ग्रंथ माना है। इनके अतिरिक्त वे 'अमरौध शासनम्' तथा 'महार्थ मंजरी' को क्रमशः साधना तथा दर्शन की दृष्टि से महत्वपूर्ण ग्रंथ मानते हैं।

'गोरख संहिता' का प्रकाशन सर्वप्रथम प्रसन्न कुमार कविरत्न के प्रयास से सं0 1897 में हुआ। तदुपरान्त अहमदाबाद से श्री इन्द्रजी शर्मा द्वारा सं0 1950 में यह ग्रंथ पुनः प्रकाशित हुआ। 'गोरख पद्धति' में इस ग्रंथ के अनेक स्थलों पर उल्लेख आये हैं। 'अकुल वीर तंत्र के कितने ही श्लोक इस पुस्तक में हू–ब–हू मिल जाते हैं। इस दृष्टि से आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसे काफी महत्वपूर्ण माना है। 'सिद्ध–सिद्धांतपद्धति' का प्रकाश नाथ ब्रह्माचर्याश्रम, हरिद्वार तथा पूना ओरियण्टल हाउस से हुआ है। इस ग्रंथ में कुल छह अध्याय हैं जिनमें उपदेश कहा गया है। प्रथम उपदेश में पिंड की उत्पत्ति बतायी गयी है, द्वितीय उपदेश में पिंड पर विचार किया गया है, तृतीय उपदेश पिंड–संवित्ति से सम्बद्ध है, चतुर्थ उपदेश में पिंड के आधार की चर्चा की गयी है, पॉचवें उपदेश में सर्वशक्तिमान सत्ता के साथ पिंड के एकमेक होने की अवस्था का विवेचन किया गया है और छठे उपदेश में अवधूत योगी के लक्षण बताये गये हैं। इस प्रकार अपने

विषय की दृष्टि से 'सिद्ध–सिद्धांतपद्धति' एक अत्याधिक महत्वपूर्ण रचना है।

'अमरोधशासनम्' का संपादन पं0 मुकुंदराम शास्त्री ने किया, जिसे काश्मीर सीरीज ऑफ टैक्स्ट ऐंड स्टडीज ने 1918 में बम्बई से प्रकाशित किया; 'महार्थ मंजरी' गोरखटिल्ला, वाराणसी से योग प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हुआ।

डॉ0 कल्याणी मल्लिक ने 'अमरोध प्रबोध', की पांडुलिपि तिरूपति, मद्रास से प्राप्त करके लय– योग, हठ–योग, मंत्र–योग तथा राज–योग का दार्शनिक विवेचन करने वाले इस महत्वपूर्ण ग्रंथ का संपादन और प्रकाशन किया। योग–साधना में सर्वोच्च स्थान राज–योग का माना गया है। इस ग्रंथ में विशेष रूप से इस पक्ष पर विचार किया गया है कि मनुष्य कि प्रकार से राज–योग की प्राप्ति कर सकता है। राज–योग के अभाव में देह–सिद्धि प्राप्त नहीं की जा सकती। बड़े–से–बड़ा चिकित्सक भी किसी को मृत्यु से नहीं बचा सकता। समय की अपेक्षा आत्मा कहीं अधिक श्रेष्ठ और शक्तिवान है। बिन्दु और नाद ही दो ऐसी औषधियाँ हैं जो प्रत्येक शरीर में विद्यमान हैं। जिसने गुरु से इनका ज्ञान नहीं प्राप्त किया उसे निश्चय ही मृत्यु का सामना करना है –

बिन्दुनादों महौषध्यों विद्यते सर्वजन्तुषु।
ताव विज्ञाय सर्वे पि प्रियन्ते गुरुवर्जिताः।।

वस्तुतः केवल एक ही अमरौध है जिसे राजयोग कहते हैं। अमरौध को प्राप्त करके ही काल पर विजय प्राप्त की जा सकती है और शिव के समान हुआ जा सकता है। इस सिद्धि की प्राप्ति दस महीने के अल्प समय में हो सकती है। इसकी प्राप्ति के पश्चात् चित् और अचित् का भेद समाप्त हो जाता है और योगी जीवन मुक्त हो जाता है।

डॉ0 मल्लिक द्वारा सम्पादित 'योग मार्तण्ड' भी गोरख–कृत एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है जिसे तुलगु से देवनागरी में लिप्यांतरित किया गया है। गुरु की स्तुति के पश्चात इसमें योग की परिभाषा दी गयी है जिसे श्रुति के फल के रूप में स्वीकार किया गया है।

इसमें योग के षट्–अंगों का उल्लेख करते हुए सिद्धासन तथा पद्मासन को सर्वश्रेष्ठ माना गया है और उनका विस्तृत विवेचन हुआ है। इसके द्वारा षट–विकारों तथा रोगों का विनाश हो जाता है।

2. <u>हिन्दी साहित्य</u>

नाथ–पंथी सिद्धों की हिन्दी रचनाओं के संपादन का कार्य बहुत ही कष्टसाध्य है। इनकी रचनाओं का व्यवस्थित संपादन डॉ0 पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल के प्रयास से सर्वप्रथम 1942 में हुआ जो 'गोरखबानी' के नाम से प्रकाश में आया। डॉ0 बड़थ्वाल ने नाथ–योगियों की रचनाओं को दो भागों में व्यवस्थित किया था। प्रथम भाग में गोरखनाथ की रचनाएँ संगृहीत की गयीं और द्वितीय में अन्य नाथ–योगियों की। द्वितीय भाग के प्रकाशन से पूर्व ही डॉ0 बड़थ्वाल का निधन हो गया। फलस्वरूप यह अंश आज भी अप्रकाशित है।

इस दिशा में संपादन का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य डॉ0 कल्याणी मल्लिक ने 'सिद्ध–सिद्धान्त पद्धति ऐंड अदर वर्क्स ऑफ द नाथ योगीज' नामक संकलन के प्रकाशन से 1954 ई0 में किया। इस संकलन के प्रकाशित हो जाने से नाथ–योगियों की कुछ ऐसी रचनाओं का पता चला जिनका उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता था। 'गोरख उपनिषद्', 'मत्स्येन्द्र जी का पद', 'भरथरी जी की सबदी' तथा 'गोपीचंद्र जी की सबदी' ऐसी ही कृतियाँ हैं जो पहली बार डॉ0 मल्लिक के प्रयास से प्रकाश में आयीं।

नाथ पंथी हिन्दी रचनाओं का तीसरा और अभी तक अंतिम संग्रह डॉ0 हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा 1957में 'नाथ सिद्धों की वानियाँ' के नाम से प्रकाश में आया। बहुत अंशों तक इसने उस कमी को पूरा कर दिया जो 'गोरखबानी', के द्वितीय खंड के अप्रकाशित रह जाने के कारण बनी हुई थी। इस संग्रह–ग्रंथ में जिन नाथ–योगियों की रचनाओं को स्थान मिला है उनके नाम इस प्रकार हैं – (1) अजय पाल जी, (2) काणेरी (सती पाव), (3) गरीब जी (4) गोपीचन्द्र जी (5) घोड़ा चोली (6) चरपटनाथ (7)

चौरंगीनाथ (8) चौणकनाथ (चुणकर नाथ) (9) जलन्धी पाव (10) दत्त जी (दत्तात्रेय) (11) देवल जी (12) धूँधलीमल जी (13) नाम अर्जन जी (14) पार्वती जी (15) पृथ्वीनाथ जी (16) बालनाथ जी (17) बाल गुँदाई (18) भरथरी (19) मच्छेन्द्रनाथ जी (20) महादेव जी (21) रामचन्द्र जी (22) लक्ष्मण जी (24) सतवंती जी (24) मुकुल हंस जी तथा (25) हणवन्त जी।

उपर्युक्त तालिका में पार्वती जी, महादेव जी तथा रामचंद्र जी वास्तव में नाथ योगियों के नाम प्रतीत नहीं होते हैं। इन्हें पौराणिक समझना ही अधिक उपयुक्त होगा। स्वयं हजारी प्रसाद जी ने लिखा है कि इनमें महादेवी, पार्वती और रामचन्द्र जी के नाम से प्राप्त रचनाओं के वास्तविक रचयिता कौन हैं, यह कहना कठिन है।

डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने संकलन में तेईस नाथ–सिद्धों का सक्षिप्त परिचय भी प्रस्तुत किया है। उन्हांने संकलन की रचनाओं में से अधिकांश को 14 वीं शताब्दी से पहले की माना है। नाथ–सम्प्रदाय में सबसे अधिक रचनाएँ गोरखनाथ के नाम से प्रसिद्ध हैं। यह कहना कठिन है कि उन रचनाओं की प्रामाणिकता कितनी है। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि गोरखनाथ जैसे दिव्य–द्रष्टा महापुरुष ने अवश्य ही लोक–भाषा को अपने उद्देश्यों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया होगा। गोरखनाथ की हिन्दी रचनाओं के सम्बन्ध में अब तक जितने ग्रंथ प्रकाश में आये हैं, उनमें सर्वाधिक प्रामाणिक कार्य डॉ0 पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल का ही है। उन्होंने चालीस हिन्दी ग्रंथों का उल्लेख 'गोरखबानी' की भूमिका में किया है। उन्हीं की पुनरावृत्ति परवर्ती आलोचकों ने की है। इस दृष्टि से 'गोरखबानी' को ही प्रामणिक संकलन कहा जा सकता है। डॉ0 बड़थ्वाल ने गोरखनाथ जी के नाम से प्रसिद्ध प्रत्येक रचना का लिपि–काल भी दिया है। डॉ0 बड़थ्वाल ने चालीस रचनाओं में से प्रथम चौदह को अधिक प्राचीन माना है। संकलन के समय 'ज्ञान चौतीसा' उपलब्ध न होने के कारण उन्होंने केवल तेरह रचनाओं को ही अपने संकलन में स्थान दिया है। इनके अतिरिक्त संकलन में परिष्टि 1 और 2 के रूप

में कुछ रचनाओं का संकलन किया गया है। परिशिष्ट 3 में सत्ताइस पदों को प्रस्तुत किया गया है, जिनको डॉ0 बड़थ्वाल ने निरंजनी साधु द्वारा रचित माना है।[1]

नाथ योगियों की बनियाँ कई हस्तलिखितत प्रतियों में मिलती है। इन सब प्रतियों के द्वारा अब तक गोरखनाथ के नाम से 'गोरखबानी' में चालीस छोटी–मोटी रचनाओं का पता चला है। (1) सब्दी, (2) पद, (3) शिष्यादरसन, (4) प्राण सांकली, (5) नरवैबोध, (6) आत्मबोध, (7) अभैमात्रा जोग, (8) पन्द्रह तिथि, (9) सप्तवार, (10) मछीन्द्र गोरखबोध, (11) रोमावली, (12) ग्यान तिलक, (13) ग्यान चौतीसा, (14) पंचमाला, (15) गोरख गणेष गोष्ठी, (16) गोरख दत्तगोष्ठी, (17) महादेव गोरख गुष्टि, (18) शिष्ट पुरान, (19) दया बोध, (20) जाती भौंरावली, (21) नवग्रह, (22)नवरात्र, (23) अष्ट पारध्या, (24) रहरासि, (25) ग्यान माला, (26) आत्मबोध, (27) वृत, (28) निरंजन पुराण तथा (29) गोरखवचन।

'गोरखबानी' के स्वरूप पर निम्नलिखित रूप में विचार किया जा सकता है–

(क) मूल ग्रन्थ तथा (ख) परिशिष्ट।

<u>मूल ग्रन्थ</u>

मूल 'गोरखबानी' में जिन शीर्षकों से छन्दों का संकलन है, वे निम्नलिखित है – (1) सबदी, (2) पद (राग सामग्री), (3) सिष्या दरसन, (4) प्राण संकलि, (5) नरवै बोध, (6) आत्मबोध, (7) अभैमात्रा जोग, (8) पंद्रह तिथि, (9) सप्तबार, (10) मछीन्द्र गोरखबोध, (11) रोमावली, (12) ग्यान तिलक तथा (13) पंचमाला।

'गोरखबानी' में तीन परिशिष्ट है, जिनका विवरण निम्नवत है –

परिशिष्ट (क) – (क)(1) गोरख–गणेष गोष्ठी, (क)(2) ज्ञान दीप बोध (गोरखदत्त गुष्टि), (क)(13) ङ्महादेव–गोरख–गुष्टि, (क)(4) सिष्ट पुराण, (क)(5) दया बोध, तथा

---

1. डॉ0 मनीषा शर्मा, गोरखबानी परम्परा और काव्यत्व, पृ0 56 से 61

(क)(6) कुछ पद।

परिशिष्ट (ख) – (ख)(1) सप्तवार नवग्रह, (ख)(2) व्रत, (ख)(3) पंच अग्नि, (ख)(4) अष्ट मुद्रा, (ख)(5) चौबीस सिद्धि, (ख)(6) बतीस लखन, (ख)(7) अष्ट चक्र तथा (ख)(8) रह रासि।

परिशिष्ट (ग) – सुन्दर तिलक।

मूल ग्रंथ में प्रस्तुत छन्दों का विस्तृत विवरण इस प्रकार है –

(1) <u>सबदी</u> – 'गोरखबानी' में कुल 275 सबदियाँ है। सबदियों की कई कोटियाँ है। (क) सामान्य तत्वों और योगविषयक सिद्धांतों के विवेचन करने वाली, (ख) वैराग्यपरक और (ग) मिश्रित।

सबदियों का सामान्य विषय वैराग्य और उपदेश ही है। इसलिए उनमें कोई विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। असल बात तो यह है कि लगभग एक तिहाई सबदियों में तत्व– कथन हुआ है तथा दो तिहाई सबदियों में आचरण का उपदेश है। तत्व–कथन की सबदियों में वैराग्य की भावना ही प्रधान है तथा उपदेश प्रधान सबदियों में उपदेशात्मकता। एक बात यह भी लक्ष्य करने की है कि सबदी साहित्य श्रुति–परम्परा से सुरक्षित रहा है और गुरु–वाक्य के रूप में इसे आप्त समझा जाता रहा है। शायद इन्हें लिपिबद्ध बाद में किया गया है इसलिए उनमें अन्य सिद्धों की सबदियों का भी सम्मिश्रण हो गया है। इसलिए यह कहना कठिन है कि कौन सी सबदियाँ गोरखकृत है तथा किन सबदियों में गोरख की मान्यताओं का प्रतिपादन हुआ है।

यहाँ सबदियों पर विचार करना असंगत न होगा कुछ सबदियों में 'श्री' का प्रयोग हुआ है तथा कुछ सबदियों में सम्बोधनवाचक शब्दों का प्रयोग हुआ है। श्री, संयुक्त सबदियाँ गोरखकृत नहीं हो सकती। पृ0 31 पर 87 संख्या की सबदी में 'देवल' को सम्बोधित किया गया है– "सुनो हे देवल तजौ जंजाल देवल नाथ' गोरखनाथ के परवर्ती है। कुछ ऐसी सबदियाँ भी हैं जिनमें गोरख को विष्णु आदि से भी श्रेष्ठ बताया

गया है (सबदी संख्या 101, 130, 192, 199, 200) गोरख को साक्षी देकर तो अनेक सबदियों में उनके सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। अनेक सबदियाँ ऐसी भी है जिनमें मौहम्मद तथा इस्लाम की चर्चा की गयी है। (सबदी संख्या 6, 9, 10, 11, 14, 62, 225, 236)। कुछ सबदियों में गोरखनाथ तथा मीननाथ की व्याख्या का विवेचन है इसलिए 'गोरखबानी' में संग्रहीत सबदियों की प्रामाणिकता पर प्रश्न वाचक चिन्ह लगा हुआ है।

सबदियों में षंडग–योग की सबसे अधिक चर्चा है परन्तु यह चर्चा संकेत रुप में ही है। मन और शरीर की विशेषावस्था का तो उल्लेख है ही, मुद्राओं में खेचरी, अमरौली और विजरौली की विशेष चर्चा हुई है। मन और पवन को अधिक महत्व दिया गया है तथा परमतत्व का विस्तृत विवेचन है, आचार–व्यवहार पर भी विशेष बल दिया गया है। ऐसा लगता है कि सबदियों के माध्यम से गोरख योगी को सम्बोधित कर रहे है। जन–समाज के लिए उनका अधिक प्रयोजन नहीं है।

(2) <u>पद–</u>

गोरख का पद–साहित्य बड़ा महत्वपूर्ण है। वास्तव में पद–साहित्य का प्रारम्भिक रूप सिद्ध और नाथ साहित्य में उपलब्ध होता है। 'गोरखबानी' में 62 पदों का संकलन है, अन्तिम दो पद गुरु की आरती के रूप में प्रस्तुत किये गये है। पदों और रूपकों और प्रतीकों का बहुत अधिक प्रयोग हुआ है। गोरख का पद–साहित्य उच्चकोटि का है क्योंकि उसमें लोक–पक्ष तथा व्यक्ति–पक्ष, भाव–पक्ष तथा नीति–पक्ष, उपदेश तथा आत्मानुभूति, सभी का समावेश है। कुछ ऐसे भी पद है जिन्हें नीति के पद कहा जा सकता है, जैसे– 9, 13, 22, 31, 33, 34, 35, 38, 44, 48, 49, 50, 52, 58. शुद्ध हठ–योग–साधना के पद अधिक नहीं है। इस प्रकार के पद निम्नलिखित है– 18, 19, 36, 37, 47, 54, 59, 60. पदों की प्रामाणिकता के सन्दर्भ में यहाँ भी वही बात लागू होती है जो किये गये है उनमें रूपक तथा प्रतीकों की छठा अद्भुत है। उदाहरण के लिए 13,

17, 18, 27, 40 आदि पदों को लिया जा सकता है। उनके पदों के प्रमुख विषय है – माया का विरोध, पुस्तकी ज्ञान का विरोध, रूढ़ियों का विरोध, चक्र साधना, कुंडलिनी–प्रबोध तथा नाड़ी–साधन आदि।

(3) **सिष्या दरसन –**

'सिष्या दरसन' शिक्षा दर्शन का ही अपभ्रंश रूप है। इसमें गोरखनाथ की शिक्षा तथा सार प्रस्तुत किया गया है। यह उपविषय–शैली में लिखा गया है। परन्तु ऐसा लगता है कि यह खंडित है। 'ओम्' से प्रारम्भ करके सृष्टि की उत्पत्ति की प्रतिक्रिया 'सिष्या दरसन' में बतायी गयी है। अविगत ब्रह्मा से ओम की उत्पत्ति होती है, ओम से आकाश, आकाश से वायु की, वायु से तेज की, तेज से जल की। इसके पश्चात पाँच तत्वों के स्वरूप का वर्णन किया गया है तथा अनेक मुद्राओं जैसे– भूचरी, सेचरी, चाचरी, अगोचरी और उन्मनी की चर्चा की है। इसके अनन्तर अजया जाप, इन्द्रिय–निग्रह और सहजावस्था का वर्णन करते हुए योग–साधना के तत्व पर विचार किया गया है। अमृत–स्राव, अनाहद नाद और गुरु वचन को विशेष महत्व दिया गया है। अन्त में नाथ–योग के सिद्धान्तों को संक्षेप में प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि नव द्वारों पर नियंत्रण करने से ही परम–पथ की प्राप्ति हो सकती है तथा नाथ–योग में ही षड़–दर्शनों का सार है।

(4) **प्राण संकलि –**

प्राण की श्रृखंला को ही प्राण संकलि कहा है। नाथ सम्प्रदाय में इसे शरीर विचार ग्रंथ कहते हैं। इस ग्रंथ की प्रमाणिकता में भी संदेह हैं। इसमें कुल 16 पद है। इसमें पिंड की रचना का सुन्दर वर्णन हुआ है। पिंड में 13 प्रामाणिक फाटक बताये गये है जिनमें 10 प्रकट है और तीन गुप्त है। शरीर में 72 हजार नाड़ियाँ है जिनमें 72 श्रेष्ठ है और उनमें 10 उत्तम हैं जो योग के लिए उपयोगी हैं। सुषुम्ना सबसे महत्वपूर्ण और केन्द्रीय नाड़ी है। 50 दल वाले षट् चक्र है, 360 हड्डियाँ हैं, अनंन्त रोम–कूप हैं।

षट–चक्र शरीर की नाड़ियों की गुथ्थियाँ हैं। सर्वत्र अनाहद नाद भरा हुआ है। शिव का वास आकाश मंडल में है जिसकी प्राप्ति इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना की साधना से होती है। गुरु की कृपा से ही शिवत्व की प्राप्ति सम्भव है। अन्त में गुरु का स्मरण करते हुए कहा गया है – 'ओम् नमो शिवाय, गुरु मच्छिन्द्रानाथ''। यह सब वर्णन बड़े आलंकारिक रूप से हुआ है।

(5) <u>नरवैबोध –</u>

नरवै बोध का अर्थ है – राजा को बोध। ऐसा प्रतीत होता है कि इसकी रचना किसी राजा को बोध देने के लिए हुई थी। ग्रंथ के प्रारम्भ में ही कहा गया है –

"सुणो हो नरवै सुधि का विचार।
पंच तत से उतराना संकल संसार।।
पहले आरंभ हाट परचा करो निसपती।
नरवै बोध कथत श्री गौरखं जती।।

संभव है, राजा से अभिप्रायः भर्तृहरि हो। इस ग्रंथ के आरम्भ में पंच–तत्वों से संसार की उत्पत्ति बतायी है और तदनन्तर योग साधना की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन है। आरंभ घट, परिचय और निष्पत्ति। उसके पश्चात उन अवस्थाओं की प्राप्ति के साधन बताये गये है। नरवै बोध में कुल मिला कर 14 पद हैं। आठवे पद से 14 वें पद तक सहज साधना का उपदेश है।

टूटे पवना छीजै काया, आंसण पिण्ड करि पैसो राया।
तीरथ बर्त कदै जिनि करो। गिर परवताँ चीढ़ प्रान मति हरौ।।

\+ \+ \+

नारी सारी कींगुरी। तीन्यू सत गुरु परहरी
आरंभ घट परचै निसपती। नरवै बोध कथत श्री गोरषजी।।

(6) <u>आत्मबोध –</u>

इस ग्रंथ में सूत्र शैली में नाथ–योग–साधना का उपदेश दिया गया है। पहले ही पद में नाथ–साधना का सूत्र प्रस्तुत किया गया है –

ओम आसण करि पयम आसण बंधि

पिछले आसण पवनां संधि।

मन मुघवे लावे ताली। गगन सिषर में होई उजाली। आगे योग–साधना की विभिन्न कोटियों तथा सोपानों का वर्णन हुआ है। अन्त में आत्मैक्स की ओर संकेत करते हुए ग्रंथ में कहा गया है –

एक पुरिण बहुभाँति नारी। सरव निरन्तर आत्म सारी।

साख निरन्तर भूरि भेरि रहिया। आत्मा बोध सपूरण कहिया।।

इस प्रकार ग्रंथ में कुल 22 पद हैं।

(7) <u>अभैमात्रा जोग –</u>

यह भी एक सूत्रबद्ध उपदेश है जिसमें योगी के ब्रह्मा और आभ्यन्तर को प्रतीकों द्वारा स्पष्ट किया गया है। यह रचना एक ही गद्यात्मक पद में है।

इसमें संयम, कोपनि, मरजादा, पेषली, जगोरा जुगति, साँचमुद्रा, सील कथा आदि सभी ब्रह्मा उपादानों का परिगणन हुआ है। अन्त में सबकों निःसार बताते हुए स्पष्ट कह दिया गया है –

सार मात्रा तत सार/ अलष निरंजन निराकार।

कथत श्री गोरखनाथ जोगी। सत–सत भाषंत बाबा मच्छिन्द्र असावे।।

(8) <u>पन्द्रह तिथि –</u>

तिथियों, वारों तथा मासों के माध्यम से सम्प्रदाय–विशेष की मान्यताओं का विवेचन भारतीय साहित्य में परम्परागत है। इस ग्रंथ में भी पन्द्रह तिथियों के अनुसार

नाथ–योग–साधना का विवेचन हुआ है। प्रारम्भ अमावस्या से किया गया है –

अमावस दिढ़ आसण होई। आतम परचै मरे न कोई।

ग्रंथ का अन्त पूर्णिमा से हुआ है –

पून्यँपूगी मन की आस/ माया मोह तीज भये उदास।

सोलह कला संपुरण चन्द्र। गुरु परसाते चिरमया कांधि।।

पन्द्रहथिति के 17 पदों में प्रत्येक तिथि के लिए योग – साधना की चर्चा की गयी है। जैसे– अमावस्या को आसन की दृढ़ता, प्रतिपदों को सदगुरु की प्राप्ति तथा सहज समाधि, द्वितीया को उन्मनी अवस्था की उपलब्धि तथा अभेद–दृष्टि इत्यादि। इन पन्द्रह तिथियों की साधना से योगी कालातीत हो जाता है।

(9) सप्तवार –

पन्द्रहतिथि की भाँति सप्तवार भी साधना ग्रन्थ है। इसमें भी वर्णन कुछ सांकेतिक है। आदित्यवार को श्वाँस–प्रश्वास के आवागमन को रोक कर पवन को स्थिर किया जाता है। सोमवार को शून्य की धारणा से काया को पुण्य–पाप से रहित करना होता है। इसी दिन सूर्य–चन्द्र का एकीकरण होता है। मंगलवार को माया को बाँधा जाता है। बुधवार को काया–साधन, बृहस्पतिवार को मन और इन्द्रियों का निग्रह तथा नवद्वारों को रोकना, शुक्रवार को शरीर का शोधन तथा षट्–कर्म थावर अर्थात शनिवार का दिन बड़ा महत्वपूर्ण है।

थावर थिर करि आसण देहू। बारह सोलह गिणिगिणि लेहू।

ससिरि के घरि आवे भांण। तां दिन थावर गंगन सनांन।।

इस पद में 12 सूर्य और 16 चन्द्र–कलाओं का संकेत किया गया है। इस प्रकार के 8 पदों में पिंड और प्राणी का परिचय प्रस्तुत किया गया है।

(10) मछीन्द्र –गोरख बोध –

संवाद शैली में लिखा गया यह ग्रंथ सम्पद्राय की दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण

है। इस संवाद में योग–साधना की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया गया है। यह प्रश्नोत्तर–रूप में है। एक बात इस ग्रंथ में लक्ष्य करने की यह भी है कि मछीन्द्र ने गोरख को अवधू और अवधूत कहा है जबकि गोरख ने मछीन्द्र को स्वामी नाम से संबोधित किया है। अवधूत को कहाँ रहना चाहिए, क्या देखना चाहिए तथा क्या विचार करना चाहिए इत्यादि आचार–व्यवहार–संबंधी प्रश्नों के अतिरिक्त नाथ, बिन्दु, सूर, उन्मनी, चक्र–ज्ञान आदि के सम्बन्ध में प्रश्न किये गये हैं तथा उनके सहज साधारण उत्तर प्रस्तुत किये गये हैं।

सन् 1937 ई0 में डा0 मोहन सिंह ने 'गोरख बोध' का अनुवाद अपनी पुस्तक में छपवाया था। इस ग्रंथ का मूल विषय लय–योग है जो नाथ–योग की एक साधना है।

(11) <u>रोमावली –</u>

इसमें भी योग सम्बन्धी प्रश्नों के उत्तर प्रस्तुत किये गये हैं। ग्रंथ की शैली गद्यात्मक मुक्तक है जो सम्भवतः ज्ञान शैली का प्रथम प्रयोग है।

इस ग्रंथ में काया की रचना के सम्बन्ध में विचार कियाा गया है। सप्त धातु, अष्ट योग, मुद्रा–बोध, बंध आदि की सूत्र–रूप में चर्चा की गयी है तथा मन, पवन, चेतना और ज्ञान को समझाया गया है। अन्त में सूर्य और चन्द्र की कलाओं का विवेचन है। सूर्य की चार कला साधनों में चन्द्रमा की सोलह कलाओं की प्राप्ति होती है। इस उपदेश से ग्रंथ की समाप्ति है।

ए चारि कला सूरज की साधे तो सोलह कला चन्द्रमा की पावै।
एती एक रोमावली ग्रंथ जोग कथित श्री गोरखनाथ।

(12) <u>ग्यानतिलक –</u>

यह ग्रंथ भी महत्वपूर्ण है क्योंकि इसमें 'शब्द' की महिमा का वर्णन है। इसमें अलख पुरुष का चिन्तन है। शब्द–योग की दृष्टि से यह ग्रन्थ महत्वपूर्ण है। इसमें

स्पष्ट कहा है –

ओम् सबदहि ताला सबदिहि कुंजी,

सबदहि सबदमया उजियाला।।

कांटा सेती कांटा बूंटे कूची सेती ताला।।

ग्यानतिलक में 45 पद हैं। इसमें सिद्ध, साधक तथा जीव–ब्रह्मा के ऐक्य की स्थिति का निरूपण है। अनेक उदाहरण प्रस्तुत कर इस तथ्य की व्याख्या की गयी है। गुरु में अटल विश्वास ही योग–साधना का मूल मंत्र है। रूपकों तथा प्रतीकों द्वारा माया के रूप की चर्चा की गयी है –

हाली भीतरि षेंत निदांणे बग्गू में ताल समाई।

बरसे मोर कहूकैं सावण, नदी अपूठी आई।।

यह ग्रंथ उलटबाँसियों का सुन्दर निदर्शन है। वास्तव में जानने की परीक्षा इसी ग्रंथ में सम्भव है। संधा भाषा में उलटबाँसियों की झड़ी–सी लगी हुई है। अन्त में सहज की अंगीठी पकाकर योग–सिद्धि प्राप्त करने का बड़ा सुन्दर रूपक प्रस्तुत किया है –

दिषणि हमारी दीवीपाक अगनिबल मुलतान।

ऐसे हम जोगेस्वर निपंता प्रगट्या पद निर्बान।।

बाक न निकले बूँद न ढलके, सहजि अंगीठी मरि–2 राधै।

सिद्ध समाधि योग अभ्यासी, तब गुरु परचें साँधे।।

(13) <u>पंचमात्रा–</u>

यह ग्रंथ आन्तरिक साधना का है जिसमें पंचमात्राओं के योग में समाविष्ट करने का विधान है। इस ग्रंथ में ब्रह्मांडम्बर का विरोध है तथा आन्तरिक सुधार पर विशेष बल है। इसमें पिंड और ब्रहमांड के ऐक्य का विवेचन किया गया है। यह पंच तत्वों में ही 'पुरिस' का वास बताया गया है, इसलिए पंच तत्व–विचार ही प्रमुख है।

पंच तत्व का करो षु विचार। बाहर भीतर येकंकार।

'पंचमात्रा' योगिक शब्दावली में पंचतत्वों का भेद स्पष्ट करने वाला एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है। अन्त में स्पष्ट कहा गया है।

जे जोगी जाणे पंचमात्रा का मेब। सो आप करता आपे देव।

ये पंचमात्रा जोगी बूझे। ताकूँ त्रिभुवन से सकल देवता पूजे।।

इस प्रकार 24 पदों में पंचमात्रा के रहस्य को बड़े रोचक ढ़ग से स्पष्ट किया गया है। इसमें सिद्धों से कहा गया है कि यह पंच भूतात्मक जगत प्रणव से ही उत्पन्न हुआ है। जीव भी इसी विकास प्रक्रिया के अन्तर्गत है। इसलिए यह सिद्ध है कि जीव और जगत के तत्व समान ही हैं। जीव सक्रिय, सचेष्ट तथा जागृत अवस्था में है तथा जड़, जगत, सुषुप्ति अथवा लय की अवस्था में है उसमें निरंजन का पद विष्णु से उच्च बताया गया है।

'गोरखबानी' के परिशिष्ट' (क) में दी गयी पुस्तकों का परिचय इस प्रकार है –

(क) <u>गोरख–गणेश–गुष्टि –</u>

इस ग्रंथ में गोरख और गणेश के संवाद के माध्यम से पंच तत्वों और पच्चीस प्रकृति के तत्वों का विवेचन किया गया है। गोरख अपने को निरंजन योगी कहते हैं तथा शब्द में महत्व की स्थापना करते हैं। 25 प्रवृत्तियों का विवेचन करते हुए उन्हें पाँच तत्वों का ही विस्तार बताते हैं। फिर प्रत्येक तत्वों के रंग, स्वभाव आदि का वर्णन करते हैं। तदनन्तर प्रत्येक तत्व के घर, गुरु, गुण आदि का विवरण प्रस्तुत किया गया है, अंत में पंचतत्वों के ज्ञान से निरंजन–प्राप्ति एक बड़े सुन्दर रूपक से इस प्रकार बतायी है –

निरंजन देवता। पांणी का जामन। अगनि पुट।

पवन का थंमभा। सुरति निरति सोहय। सुनि में समाया।

अविगतसरूपी एवं उचितम् ।।[1]

(2) ज्ञान दीपक बोध (गोरख–दत्त–गुष्टि) –

इस ग्रंथ में गोरख शिष्य है तथा दत्तात्रेय गुरु। इस ग्रंथ में गुरु शिष्य की अद्वैतता का बड़ा सुन्दर प्रतिपादन हुआ है। गोरखनाथ ने दत्तात्रेय जी से आवागमन, माता–पिता, गुरु उपदेश, आसन, विश्राम, घर, ठाँव, मुक्ति, दुःख, नश्वर, अमर, सूक्ष्म, स्थूल डालमूल ब्रह्मा–कमल, उन्मन, त्रिकुटी, नाथ, बिन्दु बज्रकपाट आदि पर अनेक प्रश्न किये हैं। इस ग्रंथ में दतात्रेय जी को गैबी पुरुष बताया है। इसलिए पद संख्या 47 में गोरख ने इस प्रश्न में कहा है –

स्वामी कौन तत तुम राहो समाई, कौन तत तुम महो आई।

कौन परचे तुम्हें कहियै भेद, गोरख कहै सुखै दत्त देव।।

दत्तात्रेय इस प्रकार उत्तर देते हैं –

अवधू दत जु लागा तन हो, तब दत ही माँहि।

दत तत परचा गया, तब हुआ कहणां नाँहि।।

इस व्याख्या से उपनिषद के "तत्वमसि' वाक्य का सहसा स्मरण हो जाता है। इस प्रकार बावन पदों में विभिन्न तत्वों की व्याख्या की गयी है।

(3) महादेव–गोरष–गुष्टि –

इस ग्रंथ में कोई नवीन तथ्य नहीं है। पंच तत्वों की उत्पत्ति, उनकी प्रकृति तथा योग आदि का विवेचन हुआ है। यह ग्रंथ प्रश्नोत्तर रूप में नहीं है। महादेव जी के कथन अथवा उपदेश के रूप में लिखा गया है। इस में दो अध्याय हैं– प्रथम अध्याय है "महाग्यान पटल, द्वितीयपटल में बुद्धि, सहज, अलंकार, प्राण इत्यादि का वर्णन

---

1. गोरखबानी, पृ0 227

है। इसमें अन्तः करण को महत्ता दी गयी है जिसका अनुसरण करने से आत्मा ही परमात्मा हो जाती है[1] –

इस अंतहकरण मरण जीव अनुसरे हो
महामुक्ति आत्मा परमात्मा भवति।
जोगेश्वर जीव एक भवति। परम सून्य भावे
स्थिति। पारब्रह्मा वेलनि।
सत्यं–सत्यं बदाम्यहं।।[2]

इस ग्रंथ की भाषा पर संस्कृत की पूर्ण छाया है।

(4) <u>सिस्ट पुराण –</u>

इसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। तुलना देकर बताया गया है कि कौन किससे बढ़कर अभिव्यक्ति अभावात्मक है कि इससे बढ़कर वह नहीं है।

ऊँ एक उपंराति लेख नाहीं।
दोम पाषै सिस्टि नाहीं।
आपा पाषै परचा नाहिं।
+ + +
माता उपंराति जन्म नाहीं।
गर्भ उपंराति वरक नाहीं।
षंलत उपंराति हाणि नाहीं।
+ + +
काया उपंराति रतन नाहीं।
संच उपंराति शास्त्र नाहीं।

---

1. डॉ0 मनीष शर्मा, गोरखबानी परम्परा और काव्यत्व पृ0 61–68
2. गोरखबानी, पृ0 227

अपज उपंराति जाप नहीं।

अघोर उपंराति मंत्र नाहीं।

नारायण उपंराति इष्ट नाहीं।

निरंजन उपंराति ध्यान नहीं।

प्रस्तुत रूप (घ), (5) और (अ) के आधार पर दिया गया है। क्रम और संख्या में प्रत्येक प्रति में परस्पर भेद है।

(5) <u>दया बोध –</u>

दयाबोध का भी उल्लेख सेवादास की ही रचना के रूप में हो चुका है। योगी कहता है –

आओ सिद्धो षोज बताऊँ।

आदिनाथ का पूत कहाऊँ।।

योगारम्भ के लिए पहले अपने भीतर दया उपजाओ। हिंसा को छोड़ों, अविनाषी पुरुष लगाओ।

रिधि छाड़या सिद्धि पाइये, सिधि संकट के हाथि।

छांड़ौ सफल अक्ल कू हमाबो, मो कथंत जती गोरखनाथ।[1]

दासा भाव से उस अखंड ज्योति का साक्षात्कार होता है जो सम्पूर्ण ब्रह्मांड में प्रज्जवलित है।

दीपक एक आषंडित बाती। वहाँ जोगेश्वर थापता थापी।

अगम अगोचर सफल ब्रह्मांड। ता दीपग चरण न प्यडं

सिषा न नैन सीस नहि हाथ। सौ दीपम देख्याए जती गोरखनाथ।।

<u>कुछ पद</u>

(6) के आधार पर तीन पद दिये गये है –

---

1. डा0 बड़थ्वाल, गोरखबानी, पृ0 240

<u>प्रथम पद</u>

आदि नयादि पार ब्रह्मा ऊँ शिव सकती।
नांद बिंद ले काया उतपती।
वाद विंद रूपी बोलिये ऊँ कार।
आतमा सूझ जती गोरखनाथ किया।
संसार विणास्मा आप जिया।।

<u>द्वितीय पद</u>

झूझति सूरा बूझंती पूरा अमर पर पदछयावंतगुरु ग्यांन बंका।
दल कौ मारि जंजाल कौ जीति ले, निर्भय होय मेरि ले मन की सका।।

तथा

घटहिं मैं पैसि कर कूप पानी भरैं, तद पाई परि
पुरूषा आप उजालै। ग्यान कै प्रगटे श्री स्वभूनाथ पामा,
आकल अकथ जती गोरखनाथ हमामा।

<u>तृतीय पद</u>

भूतमा सो भूतमा बहुरि चैतना, ससां के लोहे आपा न रवेना।

तथा

अवधू सिद्धा पामा साधूक पामा, ते उतरिमा पार
कयथ जती गोरखनाथ जेते जे जानत विचार,
ते जलि भमे अंगार।

तीनों पदों में सिद्ध पथ की ओर इंगित किया गया है। यह सहज नहीं है। गोरखनाथ ने कोई आसान काम नहीं किया है। ऐसा तो विरले ही कर पाते हैं।

(परिशिष्ट – 2 ख)

(ख–1) <u>सप्तवार नवग्रह</u> – में सातों बार और नो ग्रहों को जितना योगी के लिए बताया गया है। गोरख जोगी करौं विचारम तत जीतै सातो बार 11 (कै) अन्त में सअ राह

बताकर कहते हैं –

बदे पुरान पढ़ै चित लाई।

विद्या ब्रह्मा कंध थिरि थाई।

मछिन्द्र प्रसादे जती गोरख कहैं।

सप्तवार कोई विरला लहैं।

वास्तव में सत्य तो केवल इतना है –

आदिम आण्यां सोम श्रवण मंगल मुख परवांणा

बुध हिरदै वृस्पति नामी सुक्र ते इन्द्री जाण।

शनि गुदा वाम राह ते मनं केत ते नासिका रहैं।

सप्तवार नवग्रह देवता काया भूतरि श्री गोरख कहैं।।

अर्थात सारांश यह है कि जो ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड में है।

(ख–2) <u>वृत –</u> गुरु मुख से प्राप्त भेद, संतोष, सेवा दया ब्रह्मा की लगन, ऐसे वृत योगी को रखने चाहिए।

एक – जो इन्द्रिय ग्रहण करे। दो – मुख राम कहै।

तीन – झूंठ न कहैं । चार – दया मन में रखैं।

असली तो यह 4 वृत है। बाकी संसार का व्यवहार है।

इन वृत समि वमृत नहीं कोई। वेद अरू नाद कहैं मत दोई।

सलि वृत संतोष वृत, छिमा दया वृत दान।

दो पांचों वृत जो गहे, सोई साधु सुजान।

इन वृतां का जाणे भवे।

आपै करता आपै देव।

मन पवंना लैं उनमन रहैं।

एते वृत गोरखनाथ जी कहैं।

यहाँ भी बाहरी वृत की नही, भीतरी वृत की अधिक आवश्यकता दिखाई गई है।

(ख–3) <u>पंच अग्नि –</u> शरीर में पॉच प्रकार की अग्नि है –

ऊँ मूल अग्नि का रेंचक नाव।

सोषि लेह रक्तं पीत अर आथ।

बाकी चार अग्नि निम्नलिखित है –

मुयंगम अग्नि, ब्रह्मा अग्नि, काल अग्नि, रुद्र अग्नि।

इन अग्नियों का शरीर में क्या क्या काम है यह भी बताया गया है – पंच अग्नि भरि पूर रहैं।

सिंघ सकेंत श्री गोरख कहैं।

पूरिको पविंत वायु, कुंभ को का सोधनं

रेचको तजंत विकार, बाटिको आवागवण विवरजिंत।

सिंघ कर मारण कोई साधु जाण।

पंच अग्नि श्री गोरखनाथ वषाणै।

पाचों अग्नि सपूण भई।

अनतं सिंघा महो जती गोरख कही।।

शिष्य पूछता है, स्वामी जी, अष्ट मुद्रा बोलिए घर भतिरि, ते कोण कोणद्य गुरु मुद्रा का स्थान, कर्म, गुण बताते हैं –

अवघू मंद्री महमें जूलनी मुद्रा काम त्रिष्णा ले उतपनीकाम।

यह काम व तृष्णा को समाप्त करने से होती है। इस प्रकार कूलनी के अतिरिक्त मुद्रा में यह है।

जलाग्री, षरिनी, सेचरी, भूचरी, चाचरी, अगोचरी, उनमनी समो कृतवा सांस्कृत का बिगड़ा रूप इस प्रकार है –

ब्रह्माण्ड असंधानि उनमनी मुद्रा, परम जोति लै उतपनी।

परम जोति समो कृतक, मुद्रा तो भई उनमनी।

यती अष्ट मुद्रा का जाणैं मेव, सो आपै करता आपै देव।

इति अष्ट मुद्रा कथन्त श्री गोरखनाथ जती सम्पूर्ण समापत सिवाय शिष्य पूछता है –

चौबीस सिद्धि बोलये, प्रियि कै बिषै ते कोण काग?

गुरु 24 सिद्धि और उनके गुण बतायें जाते हैं। अनूमा सिद्धि (अणिमा) महिमा, गरिमा, ललिमा, प्राप्ति (प्राकाम्य), प्रकाशक, असंख्या, आवस्या तथा अनेक। किन्तु अन्त में कहते हैं कि यह सब ब्रह्माज्ञानी के तो आड़े आती है। इन्हें तो आने पर भी गुरु प्रसाद से त्याग दें जोगेस्वर तो रही है जो ब्रह्माज्ञानी है।

बल अपार गोरखनाथ समझावैं।

यती चौबीस सिद्धि त्यागैं। सोई परम ज्योति कूँ पावैं।

ऊपर हम बत्तीसों लक्षणों को गिना आते हैं। यहाँ उनके दोहराने की आवश्यकता नहीं। चार–चार गुरु एक–एक परिचय अथवा परीक्षा के अन्तर्गत है। कुल मिला कर बत्तीस हैं –

एती अप्टंग जोग पारछमा भगति का लछिन।

सिंधा पाई साधिंका पाई। जे जन उतरे पार।[१]

शिष्य पूछता है –

ऊँ गोरख देव अष्ट चक्र बोलिये घर भीतर, ते कोण कोण बोलिए।

गोरखनाथ कहते है। –

आधार, द्विष्ट, मणिपनु, अवहद, बिसुद, अगनि, गिवान

सुहिमा, आठ चक्र हैं दल, संख्या, स्थान भी बतलाते हैं।

ए अष्ट कमल का जागो लैव।

आषै करता आपै देव।

ऊँ आसे आदेस अलस अतीत।

तदा न होती धरती न आकास।

सब शंभु से हमारी उत्पत्ति हुई है। माता ने देख मास का भार नहीं लिया। पिता ने आचार विचार नहीं। योनि से नहीं आये। न नाभि कटाई।

गोरषराई सबके परे अनुपम शिला के नीचे बैठें हैं फिर योगी कहता है कि तुम वहाँ नहीं पहुँच सकते हो। वह स्थान तुम्हारे लिए बहुत दुर्गम है। तुम तो दमड़ी–चमड़ी का संग्रह करो, गुरु का सबद ले दिजिए भरौं।

गुप्ती चँ चलावौ हथियार, पंडित वृद्धि बघते अहंकार।।

ऊभा ले सिध बैठाते पाषण , श्री गोरखवाचा परंमागा।

अनन्त सिघा में रहिरास कहीं, गोदावरी के भैले ऐसी भाई।

परिशिष्ट 3 का उल्लेख ऊपर हो चुका है। अधिक महत्वपूर्ण नहीं समझ कर डा0 बड़थ्वाल ने पदों की केवल प्रथम पंक्तियों को ही दिया गया है। प्रथम पंक्तियाँ यह है –

(1) अवधू जाप जपो बनमाली चीन्हो।

(2) अवधू बोल्या ततक विचारी।

(3) आंबिलियो थल चौरियों।

(4) आवौ नै जोसी जोवौ विचारी।

(5) आवौ भाई धरि धरि जावौ।

(6) ऐसा रै उपदेस दासै श्री गुरु भूमा।

(7) ऊँ नमों सिवाय स्वामी ऊँ नमो सिवाय।

(8) गुरु कीजै गहला निगुरा न रहिला।

(9) गोरख बालूडा बोलै सतगुरु बांणी।

(10) गोरख कहै सुनो मछिन्द्र।

(11) गोरख गोपाल लै।

(12) गोरख जोगी तोला लौलै।

(13) च्यरि पहरि आलिंगन निन्द्रा

(14) तत वाणीजालो तत वाणी जीलो।

(15) तत बोली लो तत बोली लो।

(16) नाथ बोलै अमृत वांणी।

(17) पूछौ पंडित ब्रह्मा ग्यांन।

(18) नदंत गोरखनाथ दसवै द्वारे।

(19) वदंत गोरखनाथ परसिंल बोदार।

(20) बघो बहरिमा जीवो पीवों जीर।

(21) बोलमा गोरख घर जोई।

(22) मनसा देवी व्यौपार बांधौ।

(23) मेरा गुरु तीन छंद गावै।

(24) म्हारा रे नैराणी जोगी।

(25) एमिरै रमिता यूँ चोगांन।

(26) सखारै सखा त्रिभुवन चे गरवा।

(27) सोनात्थी रस सोना त्यों।

स्पष्ट है कि अनेक पद पहले आ चुके हैं। इनके नीचे तिलक है।

संक्षेप में गोरखनाथ के प्राप्त हिन्दी ग्रन्थों का यही परिचय है। पट्टी जैन मन्दिर (पंजाब) की हस्तलिखित प्रति में गोरख गोष्टि, महादेव गोरख सम्वाद ग्यान पटल (द्वितीयोहमारा), पंचमाला, पंचअग्नि, अष्टंतम जोग, रोमावली इत्यादि गन्थों का मिलान प्रतीत हुआ कि उनका स्वरूप कुछ प्राप्त संकलित रचनओं से दूर का नहीं है, केवल पाणतर है। गोरखनाथ का एक पद कुछ 'सलोक' कुछ 'चौपाई' डा0 मोहनसिंह ने भी अपनी पुस्तक में दिये हैं।

गोरखबानी के स्वरूप–विवेचन से स्पष्ट होता है कि उनका मूल विषय सिद्धान्त विवेचन नहीं है। एक ही बात को कई बार दोहाराया गया है तथा रचनाओं में कोई क्रम भी नहीं है। भाषा की दृष्टि से भी रचना में पर्याप्त भेद है। इसलिए यह कहना बड़ा ही कठिन है कि कौन सा पद गोरख रचित है तथा कौन सा परवर्ती है। साथ में यह भी समस्या है कि गोरख रचित रचनाओं में कितना परिवर्तन हो गया है, पीछे स्पष्ट किया जा चुका है कि अनेक सबदियों में इस्लामी प्रभाव है। साथ ही कुछ परवर्ती व्यक्तियों तथा देवताओं का भी उल्लेख है। श्री संयुक्त पदों की बात हम पहले ही कह चुके हैं सबदियों की भाँति पदों में भी इस प्रकार की अव्यवस्था है। डा0 रांगेय राघव ने अपने शोध ग्रन्थ गोरखनाथ और उनका युग में इस पक्ष पर विस्तार से विचार किया है।[1]

---

1. डॉ0 रागेंय राघव, गोरखनाथ और उनका युग, पृ0 186–190

अध्याय – 3

गोरखबानी का संत काव्य पर प्रभाव – चिंतन की दृष्टि से

संतों के समस्त तत्वदर्शन की मूलपीठिका का आधार वह आध्यात्मिक प्रेरणा है जिसका निरूपण विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न रूपों में भारत में होता रहा है। वस्तुतः संत–काव्य उन्हीं आध्यात्मिक प्रेरणाओं की अभिव्यक्ति है तथा उसका उद्देश्य एक ऐसे लक्ष्य की प्राप्ति करना है जिसके विषय में केवल अनुभूति ही सबसे बड़ा प्रमाण है। तब संत–काव्य के सिद्धान्त पक्ष पर विचार करने के साथ ही यह प्रश्न उठाना स्वाभाविक है कि अनन्त लोक में विखरे अनुभवों को सिद्धान्त की कोटि में किस प्रकार संजोया जाये। आध्यात्मपक्ष इन्द्रियातीत माना गया है। अध्यात्म के विषय हैं – आत्मा, जगत, माया परमात्मा और दुःख की निवृत्ति। इन विषयों की अनुभूति स्वयंमेव ही मानी गयी है। प्रत्यक्ष के अनुभवों को प्रमाणित माना जा सकता है किन्तु अप्रत्यक्ष के अनुभवों को बाहरी युक्तियों से प्रमाणित नहीं किया जा सकता। तर्क अथवा अनुमान के द्वारा इन्द्रियातीत पदार्थ का चिन्तन सम्भव नहीं है। वह तत्व अचिन्त्य बनकर सम्पूर्ण प्रकृति में वयाप्त है। प्राचीनतम भारतीय शास्त्रों में इस बात को स्वीकार किया गया है कि आत्मज्ञान केवल तर्क से ही नहीं प्राप्त होता।[1] केवल भारत में ही नहीं, विश्व के अन्य क्षेत्रों में आध्यात्मचिन्तकों ने भी ऐसे ही विचार व्यक्ति किये है।[2] अध्यात्म और अनुभूति दोनों का घनिष्ट सम्बन्ध है। केवल पुस्तकों के अध्ययन से आध्यात्मिक निष्कर्ष नहीं निकाले जा सकते, अनुभूति की सच्चाई ही उसका मापदण्ड है। संत कबीर ने एक स्थल पर प्रकट

---

1. डा0 कोमल सिंह सोलंकी, नाथ पंथ और निगुर्ण संत काव्य, पृ0 183
2. डा0 त्रिगुणायन, कबीर की विचारधारा, पृ0 192

किया है, 'तू कहता कागद की लेखी में कहता आँखें की देखी'[1]। संत–काव्य का सिद्धान्त पक्ष अनुभूतिप्रधान है।

अनुभूति की तीव्रता संतों में दो रूपों में मिलती है। एक रूप भावात्मक है तथा दूसरा विचारात्मक। भावात्मक अनुभूति का स्रोत रहस्यभावना है तथा विचारात्मक अनुभूति चिन्तन एवं मनन प्रसूत है। भावात्मक सत्ता का सम्बन्ध जहाँ एक ओर प्रकृति में व्याप्त सौंदर्यबोध से है तो दूसरी ओर वह मानव के मनस्तत्व से ही उतने ही अंशों में सम्बद्ध है। सुख, दुख, करूणा, क्रोध, प्रेम और घृणा आदि मानव के शाश्वत विकार हैं, इनसे पृथक् रहकर मानव मानव की संज्ञा से विभूषित नहीं किया जा सकता। यह अभिव्यक्ति जब विश्वात्मा के सान्निध्य के प्रति उन्मुख होती है तभी वह रहस्यात्मक हो जाती है। इन रहस्यमयी अभिव्यक्तियों को भी सहज स्वाभविक रूप से प्रकट नहीं किया जा सकता, इस प्रकार प्रतीकों की सृष्टि होती है। आध्यात्मिक क्षेत्र में पदार्पण करने वाले सभी कवियों को सांकेतिक भाषा की ही शरण लेनी पड़ती है[2] और रागविकारों के माध्यम से आध्यात्मिक सान्निध्य अभिव्यक्ति प्राप्त कर लेता है, मानों वह एक व्यक्तिपरक अनुभूति की समष्टिपरक अभिव्यंजना हो। इस स्थिति में सिद्धान्त गौण एवं अनुभूति प्रमुख हो जाती है। फिर भी संतों ने अपनी अनुभूति को प्रकट करते समय आध्यात्मिक शब्दावली का विशेष अर्थों में प्रयोग किया है जिनके आधार पर संत–काव्य के चिन्तन पक्ष पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। आध्यात्मिक शब्दावली के प्रयोगों एवं लोक चिन्ता के सहज प्रवाह के फलस्वरूप संत–काव्य के सिद्धान्तों के विषय में विद्वानों के पृथक–पृथक अनुमान है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत है कि संतों द्वारा प्रवर्तित सामान्य भक्ति मार्ग एकेश्वरवाद का अनिश्चित स्वरूप लेकर खड़ा हुआ जो कभी ब्रह्मवाद की ओर ढलता

---

1. कबीर ग्रन्थावली। पृ0 320
2. डा0 पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ0 336

था तो कभी पैगम्बरी खुदावाद की ओर।[1] अनुभूति की इस गत्यात्मकता को संतों में किस रूप में स्वीकार किया जाय यह भी एक प्रश्न ही है। इसी प्रकार सिद्धान्तों की परम्परा प्राप्त मान्यताओं के आधार पर विद्वानों ने संतों को अनेक दार्शनिक विचारधाराओं में बाँट दिया हैं[2], जिसका औचित्य प्रतीत नहीं होता है। संत–काव्य के रचयिता प्रायः इन सभी साधुवृतिक व्यक्तियों ने दार्शनिक ग्रन्थों का अवलोकन कर क्रमबद्ध रीति से उसका अध्ययन कभी किया था इसका कोई प्रमाण अभी तक उपलब्ध नहीं है। अतएव संतों के दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन करते समय किसी मत विशेष का आग्रह किया जाना उपयुक्त नहीं है। बहुश्रुत होने के नाते संतों के पास आध्यात्मिक चिन्ता के अनेक सूत्र अपने लौकिक रूप में उपलब्ध अवश्य थे, यह तो स्वीकार करना ही पड़ता है[3]।

संत–काव्य के सिद्धान्त पक्ष को प्रभावित करने वाली दूसरी धारा है संतों के चिन्तन और मनन करने की वृति। भावात्मक अनुभूति से इसका क्षेत्र पृथक है। सुखवादी महायानी धर्मसाधना की प्रतिक्रिया में जिन विचारों का संतों ने खण्डन–मण्डन, तर्क और वितर्क के द्वारा स्वीकार किया उनमें भी लोक सामान्य सत्य की ही प्रधानता है। अपने सिद्धान्तों के प्रति अक्खड़ता तथा आत्मविश्वास की प्रधानता इसी का परिणाम है। संतों को यह विचार नाथपंथी योगियों से प्राप्त हुआ। यहाँ सिद्धान्त साधना की कसौटी पर कसकर प्रमाणित–अप्रमाणित सिद्ध किया जाने लगा। इस रूप में गलदश्रु भावुकता के लिए यह एक अंकुश सिद्ध हुआ। संतों के सिद्धान्त पक्ष के विवेचन में यह प्रवृति भी कम महत्व नहीं रखती है।[4]

भारत में अध्यात्म सम्बन्धी अनुभवों की प्राचीनता विश्वमान्य है। 'अध्यात्म के अन्तर्गत आत्मा, जगत, माया, परमात्मा आदि विषयों की चर्चा मिलती है। आध्यात्म का

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0 66
2. डा0 पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ0 114
3. डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, नाथ सम्प्रदाय, पृ0 187
4. डा0 कोमल सिंह सोंलकि, नाथ पंथ और निर्गुण संत–काव्य, पृ0 183–185

विषय स्वयंवेद्य हैं। इन्द्रियातीत पदार्थ का ज्ञान तर्क द्वारा नहीं किया जा सकता। उपनिषदों में अनेक स्थलों पर इसका स्पष्ट निर्देश है।[1] संतों ने जिस तत्वचिन्तन को अपनी वाणियों में समय–समय पर प्रकट किया है उसकी उद्‌भावना आकस्मिक नहीं मानी जा सकती। विविध प्रतीकों के माध्यम से ब्रह्मचिन्तन का जो रूप संतों में उपलब्ध है उसका सम्बन्ध भारतीय चिन्तन धारा से अत्यन्त प्राचीन काल से है। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि ब्रह्म चिन्तन की धारा वेदों से निकली और उपनिषदों एवं परवर्तीयुगों के तट का स्पर्ष करती हुई जैन और बौद्ध काल में विस्तृत होती हुई चौदहवीं शताब्दी में इन संतों के ज्ञान क्षेत्र में सिमट गयी।[2] अनेक विद्वान उपनिषदों के तत्वचिन्तन और संतों के अध्यात्म सम्बन्धी विचारों में आश्चर्यजनक साम्य देखकर एक लम्बी परम्परा का संकेत करते हैं।[3] किन्तु श्री परशुराम चर्तुर्वेदी का मत है कि कबीर आदि संतों ने अध्यात्म सम्बन्धी सिद्धान्तों का प्रतिपादन दार्शनिक निरूपण के रूप में नहीं किया है। उन्होंने कबीर साहित्य की परख में एक स्थल पर कबीर साहब के सिद्धान्त की चर्चा करते हुए लिख है कि यह अनुमान करना कि उन्होंने शंकराद्वैत वेदान्त की बातें बतायी हैं अथवा रामानुजीय मत का अनुसरण किया है और उनकी ऐसी उक्तियों को एकत्र कर उनके आधार पर औपनिषदिक विचारधारा के साथ संगति बिठाना भी उचित नहीं।[4] मंतव्य यह है कि संतों के तत्वचिन्तन के मूल स्रोतों के सम्बन्ध में किसी एक निश्चित मान्यता को आधार नहीं माना जा सकता। किन्तु विद्वानों की विभिन्न स्थापनाओं में यह संकेत अवश्य उपलब्ध है कि संतों के आध्यात्मिक विचार मानव आत्मा के शास्वत विचार हैं तथा उनका सम्बन्ध किसी न किसी रूप में विश्व में शताब्दियों से व्याप्त रहा है। उनमें

---

1. डा० कोमल सिंह सोंलकी, नाथ पंथ और निर्गुण संत काव्य पृ० 197
2. श्री सिद्धनाथ तिवारी, निर्गुण काव्य दर्शन, पृ० 11
3. डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, निर्गुण संतों के सात्विक सिद्धान्तों और उपनिषदों की विचारधारा में स्पष्ट साम्य है, पृ० 156
4. परशुराम चतुर्वेदी, कबीर साहित्य की परख, संस्करण सं० 2011, पृ० 88

विभिन्नता हो सकती है किन्तु उनकी एकसूत्रता आश्चर्यजनक और उनकी पहुँच सर्वसुलभ है। अनुभव ही जिसकी एकमेव आधारशिला है। अनुभव की स्थिति में तर्क अथवा विवाद के लिए वहाँ स्थान नहीं है। कबीर का कथन है :

आतम अनुभव जब भयो तब नहिं हर्ष विषाद।
चित्त दीप सम है रह्यो तजकर वाद–विवाद।।[1]

नाथपंथी साधना के लोकव्यापक प्रभाव ने यद्यपि मध्ययुग की चिन्ता को विशेष रूप से स्पर्श किया है किन्तु वास्तव में नाथ पंथ एक साधना पंथ ही था, बौद्ध सहजयान धर्म की तत्वमीमांसा और व्यवहार की तुलना में नाथ पंथ एक विशुद्ध साधना पंथ ही बना रहा। अनुसार अंशतः सत्य ही माना जायेगा[2] किन्तु नाथपंथी साधना में क्रियाबहुल कठोर आचरण की मोटी पर्त के भीतर नाथपंथी चिन्तन का प्रचार लोक में न हो सका, यह भी उतने ही अंशों में विद्धानों द्वारा मान्य किया गया है। अद्वैत वेदान्त के शैवागमों से समबद्ध सिद्धान्तों का लोक जीवन में स्वागत न हुआ उसका कारण नाथ पंथ में शुष्क साधना का प्रबल आग्रह तथा गृहस्थ जीवन के प्रति अनादर का भाव था? ऐसी स्थिति में नाथपंथी साधना के लोक प्रभावी रूप से सम्बद्ध संत लोक चिन्तन की दृष्टि से योग और भक्ति का समन्वय स्वर लेकर उपस्थित हुए। यह तत्वचिन्तन अपने मूलरूप में भारतीय दर्शनों की व्यावहारिकता से पूर्णतया सम्बद्ध है तथा उसका उन्मेश विभिन्न परिस्थितियों में हुआ है। यही कारण है कि मूलतत्व के सम्बन्ध में सन्तों के चिन्तन करने का मार्ग पिछले सभी मार्गों से भिन्न है। अनुभव की कसौटी पर कसकर ही संतों ने परमात्मा, आत्मा और जगत माया के सम्बन्ध में अपनी स्थापनाओं को पुष्ट किया है। कबीर कहते हैं इसके लिए उन्हें कहीं जाना नहीं पड़ा, विचार करते ही करते समय का अनुभव हो गया। किन्तु इस अनुभव की पृष्ठभूमि के रूप में संतों के पास तत्वचिन्तन के

---

1. कबीर, साखी 81
2. डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, नाथ सम्प्रदाय, पृ0 187

लिए कौन–सी आधारभूत सामग्री थी, यह भी एक विचारणीय बात है। जिस आध्यात्मिक वातावरण के आधार पर संतों का तत्वचिन्तन सम्भव हुआ मध्ययुग में उसके सूत्र कम से कम उपनिषद अथवा दर्शनग्रन्थ नहीं थे, प्रायः सभी विद्वान इस बात से सहमत हैं।[1]

संत मत को नाना मतों का विकसित रुप स्वीकार किया गया है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने भोटिया साहित्य को अनुशीलन के आधार पर चिंतन धारा का प्रवाह बारहवीं शताब्दी तक स्वीकार करते हुए कबीर का सिद्धों से सम्बन्ध स्थापित करने में कठिनाई का अनुभव किया था, किन्तु पं0 अयोध्या सिंह उपाध्याय ने सिद्धों के बाद नाना सम्प्रदाय के साहित्य को विकास की मध्यवर्ती कड़ी मानकर सिद्ध काव्य धारा को कबीर से विश्वासपूर्वक जोड़ दिया। डा0 पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने 'गोरखबानी की भूमिका' में उपर्युक्त तथ्य का उल्लेख करते हुए लिखा है – 'जो बात राहुल जी को कठिन जान पड़ी वही उपाध्याय जी को इसलिए सरल लगी कि उनके सामने 'हिन्दी काव्य में योग प्रवाह' शीर्षक मेरा निबन्ध था जो राहुल जी के सामने नहीं था। इस निबन्ध में पहले पहल नाथ योगियों और उनकी कविता का परिचय दिया था। इस संक्षिप्त परिचय से ही विद्वानों ने मान लिया कि नाथ योगियों की 'बानियाँ'' हमारे साहित्य और सांस्कृतिक विकास की लड़ी में एक महत्वपूर्ण कड़ी है।''[2] ''भक्तिवाद के पूर्व निःसन्देह यह सबसे प्रबल मतवाद था। इसलिए भक्तिवाद में इनके शब्द और मुहावरे ही नहीं, इनकी पद्धति भी बहुत कुछ आ गयी है।''[3] बाद के सभी लेखकों ने यह स्वकीार किया है कि नाथ मत का सिद्धान्त और साधना दोनों ही दृष्टियों से संत–मत पर पर्याप्त प्रभाव है। परशुराम चर्तुवेदी के अनुसार, ''सन्तों की साखियों तथा बानियों के पूर्व रुप नाथ–पंथियों की 'सबदियो' तथा 'जोगेसुरी वानियों' में दीख पड़ते हैं जिनके विषय भी

---

1. कबीर ग्रन्थावली, करत विचार मन ही मन उपजी, ना कहीं गया न आया, पृ0 83
2. गोरखबानी, भूमिका, पृ0 1.
3. हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ0 6

लगभग एक ही ढंग के हैं।"[1] इस सम्बन्ध में तीन बातें विचारणीय हैं – पहली बात तो यह ध्यान देने की है कि नाथ मत ने संत मत को उस रुप में प्रभावित नहीं किया है जिस रूप में दो सामानान्तर प्रवाहित विचार धाराएँ परस्पर सम्पर्क में आने पर एक दूसरे को प्रभावित करती हैं। नाथ मत और संत मत में पूर्वापर सम्बन्ध है। दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि संत मत नाथ मत का शुद्ध परवर्ती रूप भी नहीं है, अर्थात ऐसा नहीं है *कि नाथ–मत की परम्परा ही पन्द्रहवीं शताब्दी में संत–मत के रुप में परिवर्तित हो गयी* हो। नाथ–मत की किन्हीं कारणों से, जनता में लोकप्रियता कम हुई और दक्षिण से वैष्णव भक्ति का उदार धार्मिक प्रवाह राघवानन्द और रामानन्द जैसे समन्वयशील महात्माओं के माध्यम से उत्तर भारत में आया। नाथ मत और वैष्णव भक्ति के सम्पर्क से योग और भक्ति समन्वित एक नवीन मत विकसित हुआ जिसे मुख्यतः निम्नवर्गीय जनता का समर्थन प्राप्त था। इस योग भक्ति समन्वित मत को सामान्तयः संत मत कहा गया। इसलिए संत मत को नाथ मत से अच्छा है उसे नाथ मत का लोकसम्मत स्वरूप कहा जाये। तीसरी बात ध्यान देने की यह है कि संत मत पन्द्रहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक अनेक प्रभावों और परिवर्तनों को स्वीकार करके विकसित हुआ है। अतः नाथ मत का प्रभाव सभी संत–सम्प्रदायों पर एक सा पड़ा है। परवर्ती सन्तों में कई राम–भक्तों की रसिक परम्परा में प्रभवित है, कुछ सूफी साधना की ओर झुकें हैं और कुछ कृष्ण भक्ति धारा के निकट हैं, अतः सन्त मत नाथ पंथ के प्रभाव की चर्चा करते समय विशेष सजगता और सतर्कता अपेक्षित है।

पं0 हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत है कि "कबीर आदि निर्गुणवादी सन्तों की बानियों की बाहरी रूप रेखा पर विचार किया जाये तो मालूम होगा यह सम्पूणतयः भारतीय है और बौद्ध धर्म के अन्तिम सिद्धों और नाथ–पंथी योगियों के पदादि से सीधा

---

1. कबीर साहित्य की परख, पृ0 15.

सम्बन्ध है। वे ही पद वे ही राग रागनियाँ, वे ही दोहे, वे ही चौपाइयाँ कबीर आदि ने व्यवहार की हैं जो उक्त मत के मानने वाले उनके पूर्ववर्ती सन्तों ने की थी। क्या भाव, क्या भाषा, क्या अलंकार, क्या छन्द, क्या पारिभाषिक शब्द – सब वे ही कबीरदास के मार्ग दर्शक हैं।" दूसरी ओर, कुछ ऐसे भी विद्वान हैं जो कबीरदास में योग मत सम्बन्धी बातों के लिए वैष्णव ग्रन्थों में विवेचित योग–साधना को आधार मानते हैं। 'अर्हिब्ध्यू संहिता, 'जयास्य संहिता', 'विष्णु संहिता', 'नारद पंचरात्र' आदि में योग मत का पर्याप्त विवेचन किया गया है।"[1]

कबीरदास ने नाथ मत के महान युग–पुरूष गोरखनाथ के प्रति सम्मान का भाव व्यक्त किया है –

गोरखनाथ त मुद्रा पहिरी मस्तक नहीं मुड़ाया।
ऐसा भगत भया भू ऊपरि गुरु पै राज छुड़ाया।।[2]

कबीर के बाद भी अनेक सन्तों ने गोरखनाथ के प्रति पूज्य भाव प्रकट किये है। सुन्दरदास, मलूकदास, हरिदास जैसे सन्तों ने स्पष्ट रूप से गोरखनाथ के प्रति श्रद्धा प्रकट की है। कबीर और दादू की अनेक उक्तियाँ गोरखनाथ की उक्तियों से मिलती जुलती है। दादू–पंथी सन्तों की बानियों के संग्रह ग्रन्थ 'सर्वगी' में गोरखनाथ, भरथरी, चर्पटनाथ, और गोपीचन्द की बानियाँ भी सग्रहित हैं। सन्तों की परम्परा में होने वाले नाथ–पंथी सन्तों के वाणी संग्रहों में भी गोरखनाथ और गोपीचन्द के गीत संग्रहीत हैं। सन्तों से मिलते जुलते अघोर पंथ को गोरखनाथ की एक शाखा के रूप में देखा गया है। इससे यह तो प्रकट है कि गोरखनाथ और उनके योग मत को निर्गुण सन्तों ने आदरपूर्वक स्वीकार किया है।

संत मत के प्रथम उन्नायक सन्त कबीर तथा उनके अनुयायी परवर्ती

---

1. नाथ और सन्त साहित्य, पृ0 618.
2. कबीर ग्रन्थावली, पृ0 101

सन्तों में नाथ मत का प्रभाव देखने के पूर्व आवश्यक है कि कबीर के उन कथनों पर भी दृष्टिपात कर लें जिनमें उन्होंने जोगियों को भ्रांत बताया है। वे कहते हैं –

कहैं कबीर जोगी अरु जंगम ए सच झूठी आसा।

रामहिं नाम रहौ चाभ्रिग ज्यों निहचै भगति निवासा।।[1]

ऐसी स्थिति में जब कबीर और उनके अनुयायी सन्तों पर नाथ पंथ के प्रभाव की बात चिंतन की दृष्टि से की जाती है तो उसका एक ही अर्थ होता है कि संत कबीर तथा उनके परवर्ती अन्य सन्तों की बानियों में ऐसी अनेक बातें हैं जो नाथ पंथ में भी मान्य है। कबीर एक सच्चे साधक थे। गोरखनाथ के प्रति उनके मन में सम्मान का भाव था। गोरखनाथ ने भी अपने समय में अनेक साधनाओं में समाविष्ट अवांछित आचारों का निषेद किया था। विशेषतः वज्रयानियों ने मुद्रा–साधना के नाम पर जो उच्छृंखल परम्परा चलायी थी, उसका विरोध गोरखनाथ ने ही किया था। 'गोरखबानी' में भोग विलास की भर्त्सना करते हुए वे कहते हैं –

भोगिया सूते अजहूँ न जागे। भाग नहीं रे रोग अभाजे।

भोगिया कहै गल भोग हमारा। मनसई नारि किया तन छाणा।

एक बूँद नर–नारी सौ। ताही मैं विध साधक सीथा।[2]

कबीरदास जी का विश्वास सत्संग में था। उन्होंने अद्वैत से तो इतना ग्रहण किया कि ब्रह्मा एक हैं, द्वितीय नहीं जो कुछ भी दृश्यमान है, वह माया है, मिथ्या है और उन्होंने माया का मानवीकरण कर उसे कामिनी का रूप माना है। उनका ईश्वर एक है जो निर्गुण और सगुण से भी परे हैं वह अरूप है। उन्होंने ब्रह्म कें अपना मानसिक

1. कबीर ग्रन्थावली, पृ0 66
2. डा0 मनीषा शर्मा, गोरखबानी परम्परा और काव्यत्व पृ0 130–135

सम्बन्ध जोड़ा–ब्रह्म गुरु, माता–पिता, स्वामी–मित्र और पति के रूप में है।[1]

गोरखबानी में कहा गया है कि परब्रह्मा रमता राम से – चौगान का खेल खेलो। गोरख कहते हैं – हे पंडित, ब्रह्मज्ञान ही का अध्ययन मनन करों (क्योंकि) ब्रह्मज्ञान के बिना सब झूठा है) मनन पर जो मुक्ति पायी जाती है उसमें बैंकुठ में स्थान मिलना, वह गड्डे में अथवा चिता पर स्थान पाना है और चौरासी लाख योनियों के चक्कर में पड़ जाना है। इसलिए, जैसा हम नाथपंथियों के लक्ष्य विवेचन के प्रसंग में पहले कह चुके हैं, पिंडपातरहित इच्छामृत्युयुक्त जीवनमुक्ति ही नाथपंथियों का लक्ष्य है जिसमें अनेकता में ही एकता की उपलब्धि हो जाती है, परमार्थ सेवा और परोपकार मिलकर एक हो जाते हैं।[2]

यहाँ आत्मा, जगत, माया, और परमात्मा के सन्दर्भ में सन्त काव्य पर 'गोरखबानी' के प्रभाव को निम्नलिखित शीर्षकों में विवेचित किया जाता रहा है।

(क) <u>आत्मा</u> – संतों का विश्वास है कि उस परमतत्व के अतिरिक्त कहीं कोई भी अन्य प्रकार का तत्व नहीं है। आत्मा के सम्बन्ध में ब्रह्म से पृथक कोई विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं होती। वैसे कबीर ने जब इस पर विचार किया तब उन्होंने उसे भी नित्य और निरविकार ही माना है। यह शरीर के भीतर समझे जाने वाला आत्मतत्व भी उसी राम का अंश है –

ना इहु मानुष न इहु देव। ना इहु जती कहावै सेव।।
ना इहु जोगी न अवधूता। ना इहु भाई न काहू पूता।।
या मन्दर यह कौन बसाई। ना इहु राज न भीखमंगासी।
ना इहु पिण्ड न रकतू राती। ना इहु ब्रह्मन ना इहु खाती।।

---

1. हिन्दी साहित्य कोष, भाग–2 पृ0 67
2. नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, नाथ और सन्त साहित्य, पृ0 419.

ना इहु तया कहावै सेख। ना इहु जीवै न मरता देख।।

हस मरते को जो कोई रोवै। जो रोवै सोई पति खोवै।।

गुरु प्रसाद मैं डगरो पाया। जीवन मरन दोऊ निवाया।।

कहु कबीर इहु राम की अंसु। जस कागद पर मिटे न मंसु।।[1]

दादू भी आत्मा के पृथक अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते –

तन मन नाहीं मैं नहीं, नहिं माया नहिं जीव।

दादू एकै देखिये, दह दिसि मेरा पपीव।।[2]

संतों के आत्मतत्व सम्बन्धी विचार नाथपंथियों के आत्मतत्व सम्बन्धी विचारों से बहुत कुछ मिलते–जुलते हैं। गोरखनाथ ने अपनी वानियों में यह बात प्रकट की है कि आत्मा ही सर्वोत्तम देव है, वही गुरु है, वही परमतत्व शिव है।[3] यह आत्मतत्व अभेद है –

न्हाईवै को तीरथ न पूजिवे कौ देव।

मणंत गोरखनाथ अलष अभेद।।[4]

उनके मतानुसार आत्मा और शिव एक ही स्थान के निवासी हैं।[5] नाथ पंथियों ने परमानुभूतिगम्य तत्व राजाराम को आत्मा का स्वरूप कहा है और वही सब अंगों में निवास करता है।[6]

कबीर ने भी प्रायः वैसा ही कहा है –

सेई तुम्ह सेई हम एकै कहयत, जब आपा पर नहीं जाना।

---

1. कबीर ग्रन्थवली, पृ0 301
2. संत–काव्य, पृ0 296
3. आत्मा अन्तिम देव, ताही की न जाणों सेव।
   आनदेव पूजि–पूजि हमही मरिये।। – गोरखबानी, पृ0 94
4. गोरखवानी, पृ0 136
5. जीव सीव न सगै बासा ना बधि साहब रे रूध्रमासा।– गोरखबानी, पृ0 126
6. एही राजा राम आछै सर्वे अंग वासा।
   एही पांचौं तत्व बाबू सहजि प्रकाश। – गोरखबानी, पृ0 100

ज्यूँ जल में जल पपसि न निकसै, कहें कबीर मनमाना।।[1]

"सृष्टिकर्ता में ही सृष्टि है और सृष्टि में सृष्टिकर्ता ओतप्रोत हैं। दोनों में स्वभवतः अन्तर नहीं।

मनुष्य उक्त सृष्टि के ही अन्तर्गत है और यह उसका सर्वश्रेष्ठ नमूना है, इसलिए यह भी उसी प्रकार सृष्टिकर्ता का अंग है। देखने पर इसका शरीर और उसके भीतर की जीवात्मा दोनों भिन्न–भिन्न प्रतीत होते हैं, किन्तु कबीर साहब इस बात पर विचार करते हुए कहते हैं, "पंचतत्वों को मिलाकर तो शरीर का निर्माण किया है, किन्तु सोचने की बात है कि तत्व किस वस्तु से निर्मित है और उसी प्रकार यदि जीव को कर्मवद्ध कहा जाता है तो फिर उसे कर्म दिया किसने होगा। सच तो यह है कि हरि में ही पिंड है और इस पिंड का शरीर में ही हरि है और वही सर्वमान्य व निरंतर है।"[2] यह शरीर के भीतर की जीवात्मा न तो मनुष्य है न देव है, न योगी है न यती है न अवधूत है, न माता है , न पुत्र है, न ग्रही न दासी है, न राजा है, न ब्राह्मण है, न बढ़ई है, और न तो तपस्वी है और न शेख ही है। यह तो उस राम का परमेश्वर का एक अंश स्वरूप है और यह उसी भाँति नहीं मिट सकता जिस प्रकार कागज पर से स्याही का चिन्ह नहीं मिटा करता।[3] वह मूलतः वही है जो पूर्ण सत्य है, अतएव उसमें दीख पडने वाली विभिन्नताएँ मिथ्या है और उसके 'भरम करम' अर्थात् उसके भ्रमात्मक दृष्टिकोण तथा उस कर्म के कारण है जो उसके जन्मांतरों का आधार है। इन दोनों ने संसार मात्र को भुला रक्खा है, क्योंकि इनके ही कारण मनुष्य ज्ञान से रहित हो जाता है और अपनी

---

1. कबीर ग्रन्थावली, पृ0 136
2. नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, नाथ और सन्त साहित्य, पृ0 419
3. आदि ग्रन्थ, राग गौड़, पद 31

'मति' गवाँ बैठता है।"[1]

आत्म चिंतन की ओर बौद्ध सिद्धों ने भी पूरा ध्यान दिया था और भुकुसपा ने तो उक्त रूपक द्वारा प्रायः उन्हीं शब्दों में उसका वर्णन भी किया है। किन्तु गुरु गोरखनाथ की साधना की विशेषता उनके अजपा जाप तथा उसके साथ ब्रह्मज्ञान को भी महत्व देने में है। ये अन्यत्र कहते हैं कि "इस प्रकार मन लगाकर जाप जपों कि 'सोंह सोंह' का उपयोग वाणी के बिना भी होने लगे। दृण आसन पर बैठकर ध्यान करो और रात–दिन ब्रह्मज्ञान का चिंतन किया करो।"[2] यह ब्रह्मज्ञान आत्मविचार है जिसे उक्त साधना के साथ निरंतर चलना चाहिए। आत्मा को ये सर्वत्र व्यापक समझते हैं और इनका ध्यान आकृष्ट हो सके। इनके अनुसार "आत्मा ही मछली है, वही जाल है, वही धीवर है और वही काल भी है। वह स्वयं मारता है और स्वयं खाता है। वही मात्रा के रूप में अनेक बन्धन डालता है और वही जीवन बनकर उसमें पड़ भी जाता है। उसके बाहर कोई तीर्थ नहीं, जहाँ स्नान किया जाये और न कोई देवता है, जिसका पूजन किया जाय। वह अलख व अभेद है, किन्तु जो कुछ भी है, वही है।"[3]

इनके सारे उपदेशों का सारांश यही जान पड़ता है कि "दशम द्वार अथवा ब्रह्मरंघ्र में सदा ध्यान केन्द्रित रखो, निराकार पद का सेवन करो, अजपा जाप जपो और आत्मतत्व पर विचार करो। इससे सभी प्रकार की व्याधियाँ दूर हो जायेगी तथा पुण्य व

1. आदि ग्रन्थ, राग गौड़, पद 4
2. कबीर ग्रन्थावली, पद 84, पृ0 114
3. गोरखबानी, पद 30, पृ0 124

पाप किसी से संसर्ग नहीं रह जायेगा। निरंतर एक समान व सच्चे हृदय के साथ 'राम' में रमना ही केवल एक मात्र उद्देश्य है और इसी के द्वारा मुझे भी परमनिधान का ब्रह्मपद उपलब्ध हुआ है।''

गोरखबानी में कहा गया है कि –

अलस विननांषी दोई दीपक रचिले तीन भवन एक जोती।
तास विचारत बिभवन सूझे चुणिल्यौ माणिक मोती।।[1]

इस पद में कहा गया है कि विज्ञान स्वरूप अलक्ष्य परब्रह्मा ने दो दीपकों की रचना की उन दोनों दीपकों में अलख का ही प्रकाश है। उसी एक ज्योति से तीनों लोक व्याप्त है। उस ज्योति के विचार करने से तीनों लोक सूझने लगते हैं । त्रिलोक दर्शिता आती है और हंस स्वरूप आत्मा ज्ञान रूपी मोतियों को चुगने लगता है तथा उसे माणिक्य रूप कैवल्यानुभूति हो जाती है।[2]

जो हो इस विषय में भारतीय सन्तों में प्रायः कोई मतभेद नहीं कि आत्मा नामक एक स्थायी वस्तु है जो बाहरी दृश्यमान जगत् के विविध परिवर्तनों के भीतर गुजरता हुआ सदा एक रस रहता है। ये सभी पंण्डित स्वीकार करते हैं कि जब तक ज्ञान नहीं हो जाता, तब तक यह आत्मा जन्म–कर्म के बन्धन से मुक्त नहीं हो सकती। अब प्रश्न यह है कि यदि यह पुरुष या आत्मा उदासीन है, या दुःख मुख से परे है, और चित्तस्वरूप है, तो जन्म और कर्म के बन्धन में पड़ता कैसे है और मृत्यु के बाद एक जन्म का कर्मफल दूसरे जन्म में ढोकर ले क्योंकर जाता है? जो निर्गुण है, उसे आधार बनाकर पाप और पुण्य के फल कैसे दूसरे जन्म में पहुँच जाते हैं? क्योंकि यह तो सभी मानते हैं कि कर्मफल जड़ है, अतः उनमें इच्छा नही होती, इसलिए यह तो साफ प्रकट है कि वे

1. गोरखबानी, पद 33, पृ0 127
2. परशुराम चतुर्वेदी, उत्तर भारत की संत परम्परा, पृ0 198,199, 621

इच्छापूर्वक आत्मा का पीछा नहीं कर सकते, फिर यह कैसे सम्भव है कि इस जन्म का कर्मफल दूसरे जन्म में मिलता ही हो? सीधा जबाब यह है कि ईश्वर इस व्यवस्थ को इस ढंग से चला रहा है।

इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए शास्त्रकारों ने लिंग शरीर की बात बताई है। यह तो निश्चित है कि आत्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में संक्रमित होती है। गीता में भगवान् ने कहा है कि जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्र को छोड़कर नया धारण करता है, उसी प्रकार आत्मा जीर्ण शरीर को परित्याग कर नवीन शरीर धारण करती है। इसी प्रकार वृह्दारण्यक उपनिषद् में बताया गया है कि जोंक जिस प्रकार एक तृष से दूसरे पर जाते समय पहले अपने शरीर का अगला हिस्सा रखती है और फिर बाकी हिस्सों को खींच लेती है, उसी प्रकार आत्मा पुराने शरीर को छोड़कर नये शरीर में प्रवेश करती है। इससे केवल इतना ही जाना जा सकता है कि आत्मा स्वयं ही दूसरे शरीर में प्रवेश करती है, पर उदाहरण से सिद्धान्त निकालना ठीक नहीं, क्योंकि उदाहरण केवल क्रिया के एक अंश के लिए ही प्रयुक्त होता है। उपनिषदों में बार–बार कहा गया है कि आत्मा के साथ सूक्ष्म या लिंग शरीर भी जाता है। वृह्दारण्यक में बताया गया है कि यह आत्मा विज्ञान, मन, प्राव, श्रोत्र, पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, तेजस्, अतितेजस् काम, अकाम, क्रोध, अक्रोध, धर्म और अधर्म इत्यादि सब कुछ लेकर निर्गत होता है। ये जैसा करता है वैसा ही फल पाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि आत्मा के साथ ही साथ समस्त धर्माधर्म तथा तन्मात्रगण बंधे होतें हैं।

सांख्यकारिका में करीब–करीब इन सभी बातों को एक शब्द में 'लिंग शरीर' कहा गया है बताया है कि प्रकृति के विकारस्वरूप तेईस तत्वों में अंतिम पाँच तो अत्यन्त स्थूल हे, बाकी अठारहों तत्व मृत्यु के समय पुरुष के साथ ही साथ निकल जाते हैं। जब तक पुरुष ज्ञान प्राप्त किये बिना मरता है, तब तक ये तत्व उसके साथ–साथ लगे होते हैं। अब, यह तो स्पष्ट ही है कि इन अठारह तत्वों में से प्रथम तेरह अर्थात् बुद्धि,

अहंकार, मन और दसों इन्द्रिय तो प्रकृति के गुण–मात्र है, उनकी स्थिति के लिए किसी ठोस आधार की जरूरत है। वे बिना आधार रह ही नहीं सकते। वस्तुतः पन्चतन्मात्रों को मृत्यु के समय आत्मा का अनुसरण करते जो बताया गया है, वह इसीलिए कि वे तन्मात्र उक्त तेरह तत्वों को वहन करने का सामर्थ्य रखते हैं, – ये अपेक्षाकृत ठोस हैं। जब तक मनुष्य जीता होता है, जब तक तो उसका स्थूल शरीर इन गुणों का आश्रय होता है, पर जब वह मर जाता है तब पंचतन्मात्र ही इन गुणों के वाहक होते हैं।

उपनिषदों में इसी बात को और ढंग से कहा गया है। इनके अनुसार प्रकृति या माया कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है, केवल ब्रह्मा या आत्मा का ही नामरूपात्मक स्वरूप है। बदलने वाली वस्तु नाम और रूप है और स्थिर शाश्वत वस्तु आत्मा है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार हार, अँगूठी, कंकण आदि में बदलने वाली वस्तु नाम और रूप है, पर स्थिर वस्तु सोना है। नाम रूप का आवरण सर्वत्र एक सा–ही नहीं है। कहीं वह गाढ़ा है, कहीं पतला। इसके भी नाना स्तर है। जड़ है, चेतन है, फिर चेतन की भी लाखों योनियाँ हैं। इन सब योनियों में मनुष्य योनि श्रेष्ठ है। आत्मा के दो आवरण है– पहला आवरण तो शुक्र–शोषित –निर्मित शरीर है। इसी को उपनिषदों में अन्नमय–कोष कहा गया है। दूसरा आवरण अधिक सूक्ष्म है उसमें क्रमशः प्राणमय, मनोमय, ज्ञानमय और आनन्दमय कोष है। भगवान् ने गीता में कहा है कि इन्द्रियगण है, पर इनसे भी सूक्ष्म मन है और उनसे भी सूक्ष्म बुद्धि है, और इस बुद्धि से भी सूक्ष्म जो कुछ है, वही आत्मा है।[1]

(ख) <u>जगत</u> – संतों की दृष्टि में परमात्मा और आत्मा एक ही परमतत्व का अभेद रूप है पर जगत के सम्बन्ध में भी संतों का मत स्पष्ट है। इस सम्बन्ध में नाथपंथी साधक मौन हैं किन्तु संतों का आग्रह है कि जब सब कुछ ब्रह्म ही है तो जड़ पदार्थ भी ब्रह्म से पृथक नहीं है। जो कुछ दिखाई पड़ता है उसके सम्बन्ध में संतों ने अपनी

---

1. डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ0 103–105

वाणियों में यत्रतत्र प्रकाश डाला है किन्तु उनके ब्रह्म निरूपण के आधार पर यह स्पष्ट है कि जड़जगत वस्तुतः सत्य नहीं है, केवल अज्ञानवश ही उसे सत्य समझ लिया गया है।

कबीर कहते हैं –

दुइ दुइ लोचन पेखा। हौं हरि बिन और न।
नैन रहे रंग लाई। अब बेगल कहन न।
हमारा भरमु गया भय भागा। जब राम नाम।
बाजीगर डंक बजाई। सभी खलक।
बाजीगर स्वांग सकेला। अपने रंग।[1]

दादू सीधा प्रश्न करते हैं कि हे गुसाई! इस जगत में कभी–कभी माता–पिता, स्त्री–पुरुष है, किस विनोद का यह परिणाम है?

सुन्दरदास ने ब्रह्म में ही जगत को देखा है –

ब्रह्म मांहि यह जगत देखियत, व्योम मांहि धन योंही।
जगत अभ्र उपजै अरु बिनसै, वे हैं ज्यों के त्योंही।।[2]

संतों की दृष्टि में यह जगत धुएँ के मेघ के समान है, अस्थिर हैं, इसलिए झूठा है, कब समाप्त हो जाय कुछ पता नहीं। केवल परमात्मा ही सत्य है।

संतों के जगत विषयक अनुभव के सम्बन्ध में डा० बड़थ्वाल ने एक स्थल पर प्रकट किया है कि निर्गुण संतों ने समस्त सांख्य ज्ञान को अपनी विचारधारा में मिला लिया है। दार्शनिक दृष्टि से सांख्य दर्शन में सृष्टि विकास का सर्वोत्तम परिचय उपलब्ध होता है । योग ने तथा अन्य दर्शनों ने उसे यथावत् स्वीकार कर लिया है। किन्तु यदि हम इस तथ्य पर तर्कपूर्ण रीति से विचार करें तो ज्ञात होगा कि संतों ने सृष्टि के

---

1. क्यो कर यहु जग रच्यो गुसाई मोरी आस।
   तेरे कौ विनोद बन्यौ मन मांही बड़ी विलास।। – कबीर
2. कबीर ग्रंनथावली। पृ0 1

क्रम विकास के सम्बन्ध में केवल जिज्ञासा मात्र ही की थी अथवा सांख्य के तीन, पाँच, पच्चीस तत्वों को कहीं–कहीं प्रकट किया है, संतों का सृष्टि विकास पूर्णतया किसी दर्शन विशेष पर आधारित नहीं है। दर्शन का विधिवत् अध्ययन करने वाले संत सुन्दरदास ने अवश्य ही सृष्टि क्रम का सांख्य दर्शन के अनुसार वर्णन किया है किन्तु उन्हें भी शंका है कि कहीं इस सृष्टि को कोई सत् न माने?

हमारी अनुभूति की अंतिम सीमा अधिक से अधिक विश्व की कल्पना तक ही परिमित रह सकती है, अतः सत्य का जो भी नाम होगा विश्व सपेक्ष्य होगा। परमात्मा अथवा परमेश्वर नाम भी उसके लिए तभी यर्थाथ होगा और उसी दशा में अपनी कल्पना के अनुसार उसे अन्य नाम भी देंगे। इसलिए यह भी कहा गया है कि "निरपेक्ष परमेश्वर (God) का वह स्वरूप है जो जगत् के पूर्व का है और परमेश्वर नाम हम निरपेक्ष को ही जगत सम्बन्धी दृष्टिकोण से दिया करते हैं।[1] कबीर साहब ने प्रायः जगत को उन सभी नामों से पुकारा है जो इनके समय में हिन्दू, मुस्लिम, बौद्ध, जैन, बेदान्थी, नाथपंथ समाजों में प्रचलित थे। ये किसी भी ऐसे नाम के प्रयोग करते समय उसके व्युत्परित मूलक अर्थ की ओर विशेष ध्यान देते नहीं जान पड़ते और इसी कारण जिन–जिन को ये सत्य के भिन्न–भिन्न प्रतीकों के रूप में भी व्यवहत करते हैं, वे भी कभी–कभी इनके 'राम' व 'साहिब' की भाँति सजीव व सचेष्ट दीखने लगते हैं। फिर भी इन्होंने सृष्टि व जगत सम्बन्धी बातों का वर्णन करते समय उसे किसी क्रियाशील पुरुष के नामों से सूचित किया है। वे कहते है कि "मैंने अपने दो–दो नेत्रों से जगत् के भीतर देखने की चेष्ट की है, मुझे हरि के बिना कुछ भी हीं दीख पड़ा है। मेरे नेत्र उसी के अनुराग में अरुण हो गये है, अब उसके सिवाय मुझसे और कुछ भी नही कहा जाता .... । जिस प्रकार बाजीगर अपना ढोल पीटकर तमाशे आरम्भ कर देता और सभी लोग उसे देखने जुट जाते हैं, उसी प्रकार इस जगत् की सृष्टि व प्रलय का भी रहस्य है।[2]

1. डा0 बड़थ्वाल, गोरखबानी, पृ0 3
2. आदि ग्रन्थ, रागु, सोरठि 4

उस हरि ने ब्रह्माण्ड के रुप में अपनी लीला का विस्तार कर रखा है, वह उसे सकेल कर फिर अपने रंग में रमण करने लगता है। उस नट ने ही यह सभी अभिनय कर रखा है, वह जो कुछ खेलता है वही उसकी नटबाजी दीख पड़ती है। उसने यह सारा संसार कहने सुनने मात्र के लिए ही रचा है और वह इसी में छिपा हुआ भी है, उसे कोई पहचान नहीं पाता। उसने सत, रज एवं तम नामक तीनों गुणों के द्वारा यह मायात्मिकता सृष्टि रच रखी है। वह स्वयं आनन्द स्वरूप है और यह सारी सृष्टि उस आनन्द तरु के पल्लव–रुपी गुणों का विस्तार मात्र है, पंचतत्व उसकी शाखाएँ हैं तथा रामनाम उसके सुन्दर फल के रुप में है। सृष्टिकर्ता की दृष्टि से वह किसी भिन्न व्यक्ति विशेष सा प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में वह एवं सारी सृष्टि मूलतः एक ही है, क्योंकि "सृष्टिकर्ता में ही सृष्टि है और सृष्टि में सृष्टिकर्ता ओतप्रोत है" दोनों में स्वभावतः अन्तर नहीं।[1]

गोरखबानी में कहा गया है कि –

वास सहेती सब जग वास्या, स्वाद सहेता मीठा।
साच कहूँ तौ सतगुर मांने रुप सहेता दीठा।।[2]

ब्रह्मा की सुगंध से सारा जगत सुगंधित है। वह जगत में सुगंध के समान व्याप्त है। उसके स्वाद से सारा जगत मीठा है। जिसको ब्रह्मानन्द का आस्वाद मिल जाता है उसके लिए सारे संसार के अत्यधिक दुःख की कटुता मिट जाती है, और जगत् आनन्दमय (मीठा) हो जाता है (क्योंकि समस्त जगत में उसे) उसी का रूप दिखाई देता है। (उसी के रुप में जगत सुन्दर है)। इस सत्य का विश्वास केवल सद्गुरु को हो सकता है। जिसे ब्रह्मानुभव नहीं वह इस पर विश्वास कैसे कर सकता है।

यह सम्पूर्ण विश्व शिव का पर पिंड है। इसे अनादि पिंड भी कहते हैं।

---

1. डा0 परशुराम चर्तुवेदी, उत्तरी भारत की सन्त परम्परा पृ0 196–198
2. डा0 बड़थ्वाल, गोरखबानी, पृ0 10

शिव तरूण इस अनादि विश्वरूप महासाकार पिंड का प्रकाशक, धारण करने वाला और व्यवस्थापक है। इसी साकार पिंड से तथा इसी अनादि पिंडातर्गत अगणित जीव कोटियों की उद्‌भूति होती है जो उन्हीं तत्वों से विरचित, उसी शक्ति में संगठित तथा उसी आत्मा से प्रकाशित है। इन्हें व्यष्टि पिंड कहते हैं। तत्वतः महासाकार अनादि पिंड और व्यष्टि पिंड एक ही है। प्रत्येक पिंड धारी जीव के भीतर शिवतत्व सदैव विधमान रहता है। पूर्ण विकसित मनो भौतिक मानव–शरीर प्रत्यक्षतः शिव के भौतिक शरीर के स्वभाविक विकास की उच्चतम स्थिति में है। व्यष्टि पिंड विश्व पिंड का संक्षिप्त रूप है जब दृण विश्वास के साथ यह अनुभूति हो जाती है तब यह समझा जा सकता है कि पिंड का रहस्यज्ञान हो गया है। जब 'व्यक्ति' 'आत्मा' और –विश्वात्मा' तथा व्यष्टि–पिंड और समीष्ट पिंड का अज्ञानजन्य भेद मिट जाता है तभी वास्तविक 'समरसीकरण' की स्थिति समझी जानी चाहिए। योगी के लिए यह शिव पिंड का ज्ञान जानना अत्यन्त आवश्यक। उदाहरणार्थ कुछ पंक्तियाँ नीचे दी गई है –

ऊंकार आछे बाब मूल मन थारा। ऊंकार व्याषीले सकल संसारा।।
नाद ही तो ओछ बाबू सब कछू निधांनां। नाद ही पाइये परम परम निखांना।।
(नादानुसन्धान)

आऊँ नही जाऊँ निंरजन नाथ की दुहाई।
प्यंड ब्रह्माण्ड षेंजतना, अम्हे सब सिधि पाई।।[1]

सन्त कवियों का यह कहना है कि यह कहना कठिन है कि यह जगत कब उत्पन्न हुआ था अर्थात इस नाम–रूपात्मक जड़ जगत की स्थिति कबसे है। यह अनादि है, इसलिए यह कर्म–प्रवाह भी अनादि है। वृह्‌दारण्यक उपनिषद में नाम और रुप

1. डा0 मनीषा शर्मा, गोरखबानी परम्परा और काव्यत्व, पृ0 138, 139

के साथ कर्म की गणना है। वेदान्ती लोग यद्यपि इसे सांख्यावादियों की भाँति स्वतंत्र तत्व नहीं मानते, तथापिकर्म प्रवाह को तो अनादि मानते ही है।[1]

(ग) <u>माया</u> – संतों ने माया की घोर निन्दा की है। कबीर उसे रघुनाथ की माया ही कहते है जो शिकार खेलने निकली है और समसामायिक जालों में फंसाकर मुनि, पीर, जैन, जोगी, जंगम, ब्राह्मण और संन्यासी की कबड्डी है।[2]

वह वेश्या है[2] डाकिनी है कड़वी बेल ह।[3]

आंगन बेल, अकास फल, अनव्यावर का दूध।

ससा सींग की धूनहड़ी, रमै बांझ का पूत।।[4]

दादू की दृष्टि में भी माया सर्प के समान है, वह कनक और कामिनी बनकर सम्पूर्ण सृष्टि को डस रही है –

माया सांपणि सब डसै कनक कामिणी होइ।

ब्रह्म विश्नु महेस लौं, दादू बचे न कोई।।[5]

माया ही जीव और परमात्मा के मध्य मेल उत्पन्न करती है। वह बड़ी विश्वासघातिनी है।[7] इस माया का सृजन सत, रज और तम से मिलकर हुआ है –

सत, रज तम मैं कीन्हीं माया।[6]

यह माया ही सम्पूर्ण भरम–करम की मूल प्रेरक है तथा ये भरम करम अनादि है। तब संतों का इस सम्बन्ध में इस प्रकार का कथन कभी–कभी उपयुक्त समझ में नही आता। संतों की माया सम्बन्धी धारणा के दो पक्ष प्रतीत होते हैं– एक पक्ष

---

1. डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ0 105, 106
2. कबीर ग्रन्थावली, पृ0 32
3. वही पृ0 86
4. संत सुधाकर, पृ0 478
5. जांणौं जे हरि को भजैं, मो मन मोरी आस।
   हरि बिचि धाले अंतरा, माया बड़ी विलास।। – कबीर
6. कबीर ग्रन्थावली, प10 225

लोकाभिव्यक्तिसम्मत है, दूसरा वेदान्तपरक। लोक जीवन में भौतिक सुखों और कर्मो के मध्य व्यस्त मनुष्यों के लिए दुख का कारण माया ही है, किन्तु वेदान्तपरक स्थिति में माया कुछ है ही नहीं, यदि उसे कुछ कहा जा सकता है तो यही कि वह परमसुन्दरी है जिसका स्वभाव है संसार को ठगना, उस ठगनी का परित्याग करने की कोई लाख चेष्टा करे वह पिण्ड नहीं छोड़ती और उसे बार–बार पकड़ती रहा करती है। वह जल, थल और आकश में सर्वत्र एक समान व्याप्त है और कभी – कभी माता–पिता, स्त्री–पुरूष आदर–मान और जप–तप के रूप में बन्धन में डाल दिया करती है।[1] श्री परशुराम चतुर्वेदी ने ठीक ही अनुमान किया है कि यह माया ही वस्तुतः उस परमतत्व की नटसारी की लीला भी है और वही यह सत, रज और तम के रूप में दीख पड़ने वाली त्रिगुणात्मिका प्रवृत्ति भी है जिसका 'पसारा' सारे जगत के रूप में लक्षित होता है और जो इस प्रकार के जाल में फँसाकर 'अहेड़े' का शिकार करने निकली है।[2]

संतों का माया विषयक यह वर्णन इस बात की पुष्टि करता है कि संतों का ब्रह्निरूपण वेदान्त से प्रभावित है और उनका परमतत्व ब्रह्म ही है जिसे 'कर्ता' की उपाधि भी संतों ने प्रदान की है। माया के विषय में कबीर आदि संतों का आधार कुछ बातों को छोड़कर वेदान्त की त्रिगुणात्मिका प्रवृति ही माना जायेगा। यद्यपि ब्रह्म, जीव और माया के पारस्परिक सम्बन्धों को लेकर कुछ विद्वानों ने संतों की माया विषयक धारणा को केवल वेदान्तसम्मत होना स्वीकार नहीं किया है अपितु उसके आधार पर संतों की विभिन्न दार्शनिक धाराओं का विवेचन भी किया है जिस पर पृथक से विचार किया गया है। संतों के मूल आध्यात्मिक चिन्तन से हम उनके माया विषयक प्रसंग को मिलाते हैं तब ऐसा प्रतीत होता है कि अपनी मूल स्थिति में संतों के लिए माया और अविद्या में कोई भेद नहीं है। भारतीय जीवन में पन्द्रहवीं शताब्दी में व्याप्त मायावाद के प्रभाव के

---

1. कबीर ग्रन्थावली, पृ0 114
2. वही

फलस्वरूप संतों का दृष्टिकोण भी सगुण भक्ति भावना से असम्बद्ध माया विरोधी ही बना रहा। हो सकता है कालान्तर में अनेक वैष्णव सम्प्रदायों के प्रभाव स्वरूप कुछ संतों ने 'माया' को कर्ता से भिन्न माना हो किन्तु हम केवल ऊपरी प्रभाव पर यह नहीं कह सकते कि संतों ने दार्शनिकों की भाँति उसे तर्कसहित भिन्न मानकर अपने मत की स्थापना की हो।

मायावाद पर भारतीय दार्शनिकों द्वारा समय–समय पर विचार व्यक्त किये गये हैं किन्तु मध्ययुग में स्वामी शंकराचार्य ने माया के सम्बन्ध में शास्त्रीय ढंग से कुछ स्थापनाएँ की हैं। स्वामी शंकराचार्य का माया विषयक सिद्धान्त मध्ययुग की विचाराधारा में मुख्यरूप में प्रतिष्ठित हुआ और जैसा कि पिछले अध्यायों में प्रकट किया है, माया के प्रश्न को लेकर दार्शनिकों के अनेक सम्प्रदाय बने। संतों ने इन दार्शनिक सम्प्रदायों से विशेष सम्बद्व न होते हुए भी अपने अनुभव के आधार पर माया को विरोधात्मक गुणसम्पन्न बेलि कहकर उसकी अनिर्वचनीयता को स्वीकार किया है।

मोर तोर करि जरे अपारा। मृग तृष्णा झूठी संसारा।।[1]

दर्शनशास्त्रियों की भाँति संतों ने माया के भेद नहीं किये हैं। कुछ विद्वानों का ऐसा विचार है कि कबीर आदि संतों ने माया के समान किसी निरंजन पुरुष की भी चर्चा की है।[2] निरंजनी सम्प्रदाय में निरंजन की अत्यधिक महिमा गायी गयी है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि निरंजन कोई प्राचीन प्रच्छन्न बौद्धमत था, कबीर मत को जिससे निपटना पड़ा था कुछ बातें कबीर मत में ग्रहण भी की गयी होंगी किन्तु बाद में निरंजन को परम पुरुष से पृथक धोखेबाज पुरुष समझा जाने लगा है।[3] आगे चलकर शिवदयाल आदि संतों ने निरंजन को परमपुरुष रूप सिन्धु की एक बूँद मान लिया और उसने माया

---

1. कबीर ग्रन्थावली, पृ0 233
2. डा0 त्रिगुणायन, कबीर की विचारधारा, पृ0 246
3. डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, मध्यकालीन धर्मसाधना, पृ0 90

के संयोग से सृष्टि की रचना की है।[1] माया के सम्बन्ध में विचार करते हुए यदि संतों की वाणियों का अनुशीलन करें तो उसमें अनेक अवान्तर प्रसंग मिल सकते हैं। बंधु बान्धव और नारी के सम्बन्ध में विरक्ति भाव की घोषणा, संतों की माया विषयक अभिव्यक्ति में मिल जाती है। कबीर कहते हैं –

पुत्र कलत्र लक्ष्मी माया इहै तजहूँ जीऊ जानी रे।[2]

लोक चिन्तन में माया का इतना व्यापक प्रभाव हुआ कि सामाजिक व्यवस्था के सुत्रों के प्रति तो विरक्ति भावना बलवती होती ही गयी, पारिवारिक सम्बन्धों में भी विरक्ति भाव का बीजारोपण हो गया। फलतः दार्शनिक पृष्ठभूमि से अवतरित माया की भावना लोक जीवन में मिलकर विरक्त गृहस्थभाव में परिणत हो गयी। संतों ने सामान्य रूप से उसे प्रतीक रूप में ही आरोपित किया है।

संत मत पर नाथ–पंथ का प्रभाव महत्वपूर्ण रुप से पड़ा है। बहुत सी बातें ऐसी है कि जिनका विरोध नाथों ने अपने समय में किया आगे चलकर उन्हीं बातों का विरोध सन्तों की वाणियों में देखने को मिलता है।

सन्त कबीर ने भरम–करम का मूल कारण अपनी रचनाओं में कदाचित कहीं–कहीं बतलाया है। मायातत्व का वर्णन करते समय उसे इन्होंने किसी विश्वमोहिनी सुंदरी के रुप में चित्रित किया है और उसका स्वभाव इन्होंने सजग प्रलोभन देना, ठगना व फँसना दिखलाया है। "उसका त्याग करने की कोई कितनी भी कोशिश किया करे, वह पिंड नहीं छोड़ती और फिर उसे पकड़ती ही रहा करती है। वह जल, स्थल व आकाश सवर्त्र व्याप्त है और कभी माता–पिता, कभी स्त्री–पुत्र, कभी आदर–मान व कभी जप–तप व योग के रूपों में ही बन्धन डाल देती है। इतना हीं नहीं यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो माया का प्रभाव सारी सृष्टि में ही दृष्टिगोचार होगा। "पानी में मछली को माया ने ही आबद्ध कर लिया है, दीपक की ओर पतंग माया के ही कारण आकृष्ट होता है। हाथी को

---

1. डा0 पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ0 162
2. नाथ पंथ और निर्गुण संत पृ0 217

माया ने कामवासना दी है, कुत्ते, सियार, बंदर, चीते, बिल्ली, लोमड़ी और भेड़ माया में ही रंगे हुए हैं और वृक्ष की जड़े तथा वास्तव में माया द्वारा फँसायी गयी है। छः यती, नव नाथ व चौरासी सिद्ध तथा माया के प्रपचों से बच नहीं पाए और देवगण, सूर्य, चन्द्र, सागर, पृथ्वी आदि सभी इसके प्रभावों से प्रभावित हुए है। ये उसे एक स्थान पर सर्पिणी के रूप में भी दिखलाते हैं और कहते हैं कि यह "निर्मल जल के समान शुद्ध जीवात्मा में प्रवेश कर उसे विषैला सा बना देती है। फिर भी यह वस्तुतः मिथ्या व सारहीन है और जिस परमेश्वर की इच्छा के रुप में इसका अविमार्व हुआ है, उसी के लिये वह शक्ति सम्पन्न होती व नष्ट होती है। .... अपने शरीर की बस्ती में उसे बसी हुई पाकर भी केवल अपने बूते पर उसे निकाल नहीं सकते।"[1] इसके विषय में यह भी कहना ठीक है कि "यह हमारे मन में एक 'डाइनि' के रूप में रहकर नित्यशः डँसती अर्थात् अभिभूत करती रहती है और उसके पाँच पुत्र हैं जो सब नाच नचाया करते हैं।"[2] और 'हमारे शरीर रुपी गढ़ को रात दिन चोरी की भाँति लूटा भी करते हैं।"[3] ये पाँच माया–पुत्र काम, क्रोध मोह, मद व मत्सर जान पड़ते हैं क्योंकि इन्हीं की सहायता से 'भरम करम' का बल पाना संभव है।

गुरु गोरखनाथ ने अपने एक पद में मृगया के रुपक द्वारा मनोमरण की क्रिया को बड़े सुन्दर ढंग से समझाया है। ये कहते हैं कि —इस साढे तीन हाथ के पर्वत व शरीर में माया रुपी बेल भले प्रकार से फूली फली हुई है, इसमें मुक्ताफल भी लगते हैं और इसी के विस्तार में सारी सृष्टि का भी अस्तित्व है। फिर भी इस बेल की कोई जड़ नहीं है। (अर्थात माया निर्मूल व मिथ्या है) और यह ऊपर तक फैलकर गोस्थान व ब्रह्मानुभूति के स्थल पर आवरण डाले हुए है। इस बेल का लोभी मृग (अर्थात मन) इसमें

1. गुरु ग्रन्थ साहिब, रागु भासा, पद 19, पृ0 480–1
2. कबीर ग्रन्थावली, पद 226, पृ0 168– वही पद 84
3. कबीर ग्रन्थावली

सदा विचरण किया करता है और उसे मारने के लिए ऐसा भील (अर्थात् आत्मा) प्रवृत्त होता है जिसके न तो हाथ हैं, न पैर है और न दाँत हैं तथा जिसके पास मृगों को मोहित करने के लिए कोई सुरीले सुर के बाजे व मारने के लिए हाथ में तीर–धनुष भी नहीं है। ऐसी स्थिति में रहता हुआ भी वह शिकारी अचूक निशाना मार देता है और बिना किसी बाहरी साधन के यह उसे बेघकर अपने हाथ कर लेता है। अपने स्थान पर लाए गये उक्त मृग को जब शिकारी देखने लगता है, तब पता चलता है कि वास्तव में उसके चरण–सींग अथवा पुच्छ गुरु गोरखनाथ ने भी इसका विरोध किया है, परन्तु इन्होंने इससे मुक्ति का मार्ग भी निकाला है। वे कहते है कि भले ही माया रुपी बेल शरीर में फलती फूलती है परन्तु उस समय रुपी बेल में मुक्ताफल भी लगते हैं।[1]

संत कबीर ने माया को निगुणात्मिका प्रकृति माना है। पर जो माया चैतन्यस्वरूप ब्रह्मा को ईश्वर रूप में प्रकट करती है वह सत्व गुण प्रधान है, अर्थात उसमें रजोगुण और तमोगुण का प्रायः अभाव है। कुछ वेदान्ती आचार्य प्रकृति को दो प्रकार की मानते हैं। सत्वप्रधान और अविशुद्ध सत्वप्रधान। पहली को 'माया' कहते हैं, दूसरी को 'अविध्या'। पहली ईश्वर की उपाधि है दूसरी जीव की इसलिए कहा जा सकता है कि माया ही संसार को चला रही है, क्योंकि मायोपाथिक चैतन्य ही ईश्वर है। इसी भाव को लक्ष्य करके कबीरदास ने कहा था कि यह रघुनाथ की माया ही है जो शिकार खेलने निकली है और साम्प्रदायिक जालों में फँसाकर मुनी, पीर, जैन, जोगी, जंगम, ब्राह्मण, सन्यासी को मार रही है।[2]

स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि कबीरदास का यहाँ 'रघुनाथ' से तात्पर्य वेदान्तियों के परब्रह्मा से है। परन्तु कबीरदास के पदों से जान पड़ता है कि उन्होंने

---

1. डा0 परशुराम चतुर्वेदी, उत्तरी भारत की संत परम्परा, पृ0 198–200
2. कबीर ग्रन्थावली, पद 270

'माया' को 'अविध्या' से अलग करके नहीं देखा। वेदान्त–ग्रन्थों में माया और अविध्या की एकात्मता के पोषक वाक्य बहुत से मिल सकते हैं। सो, माया ही कबीर दस के मत से भरमा रही है। वही उन्हें भी भुलवाने पहुँची थी। कबीर ने होशियारी से जबाब दिया था 'माया रानी, पत्थर नहीं भीज सकता। कबीर नहीं डीगेगा। जिस मच्छ की तू मच्छी है वह मेरा रखवाला है। जरा भी नजर डांलू तो नाराज हो जाए। तू और जगह जा।[1]

और भी आगे बढ़कर कबीर पंथ में एक और अध्याय जोड़ा गया था। माया निरंजन की शक्ति है। ब्रह्माण्ड में जो माया है, पिण्ड में वही कुण्डलिनी है। कुण्डलिनी का ही नाम माया है। आधशक्ति है, नागिन है, ठगिनिया है, और भी कई नाम है। नागिन का फुफकार प्रभाव है। इसी तरह ब्रह्माण्ड में जो वस्तु निरंजन है वही पिण्ड में मन है। कबीरदास ने माया के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है वह वस्तुतः वेदान्त द्वारा निर्धारित अर्थ में है। खूब सम्भव है कि कबीरदास ने भक्ति सिद्धान्त के साथ ही माया सम्बन्धी आदेश भी रामानन्दचार्य से ही पाया था, इसलिए बराबर भक्त को मायाजाल से अतीत समझते हैं।[2]

(घ) परमात्मा

संत कबीर ने परमतत्व के सम्बन्ध में लक्ष्य करते हुए लिखा है :

अपने में रंगि आपनपों जानूं।
जिहि रंग जांनि ताही कूं मानूं।।[3]
अभि अंतरि मन रंग समाना। लोग कहें कबीर बीराना।।

---

1. वही, पद 270
2. डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ0 107–109
3. डा0 कोमल सिंह सोंलकि, नाथ पंथ और निर्गुण संत काव्य, पृ0 197, 198

रंग न चीन्हें मूरख लोई। हिहि रंगि रंग रह्या सब कोई।।

जे रंगकबहू न आवै न जाई। कहै कबीर तिहि रह्या समाई।।[1]

परमतत्व के प्रति जिज्ञासा भाव की व्यंजना संतों ने अपने अनुभव द्वारा की है। संतों की स्थापना के स्वरूप निरूपण एवं ब्रह्म जिज्ञासा के शाश्वत विवरणों में एक विलक्षण साम्य है। यद्यपि विद्वानों द्वारा ब्रह्म विचार का प्रश्न महा जटिल प्रश्न माना गया है। ब्रह्म जिज्ञासा के शास्त्रप्रवण स्वरूप का, बहुप्राचीन श्रृंखला का भी ब्रह्मनिरूपण में कम स्थान नहीं है। ब्रह्म जिज्ञासा को कुछ विद्वानों ने ब्रह्मवाद की संज्ञा से अभिहित भी किया है[2] तथा उसकी प्राचीनता का विस्तृत परिचय दिया है। ब्रह्म के सम्बन्ध में ऋगवेद तथा अन्य वैदिक साहित्य में विस्तार से चर्चा है। आरम्भ में ब्रह्म शब्द का अर्थ धन, वाक् और प्रार्थना था। किन्तु इन अर्थों का प्रचलन शीघ्र इसकी व्युत्पत्ति द्वारा बन्द हो गया। व्युत्पत्ति से ब्रह्म शब्द वृह (बढ़ना) धातु से बना है। जो वृहतम या महतम हो, जो सबसे बढा चढ़ा हो, जिसमें बढ़ना क्रिया के सभी अर्थ शामिल हों, उसे ब्रह्म कहा जाता है। शंकर रामानुज आदि ब्रह्मवादियों ने अपने भाष्यों में ब्रह्म शब्द की यही उत्पत्ति की है।[3] ब्रह्म के विषय में यह जिज्ञासा उपनिषदों में आकर अत्यन्त व्यापक एवं लोक प्रभावी रूप में प्रकट हुई। यद्यपि उपनिषदों की ब्रह्म जिज्ञासा की शैली वैदिक साहित्य की शैली से मेल नहीं खाती फिर भी वैदिक साहित्य में इस प्रकार की जिज्ञासामूलक विचारधारा का प्रादुर्भाव भी हो गया था। ब्रह्मवाद के विकास के सम्बन्ध में श्री सिद्धनाथ तिवारी का कथन है कि पुरुष सूक्त और नासदीप सूक्त की अधिक बातें धचपच शैली में लिखी हुई हैं। ऐसा लगता है कि कोई जिज्ञासु संसार और ब्रह्म के रहस्य की गहनता से अवाक् होकर दनादन प्रश्न पर प्रश्न किये जा रहा है और बीच–बीच में समस्याओं का समाधान भी करता जा रहा हो।[4] उपनिषदों में ब्रह्म जिज्ञासा

1. संत–काव्य, पृ0 214
2. कबीर ग्रन्थावली (प्रकाशित 1947), पद 26, पृ0 97
3. हिन्दी साहित्य कोष (ज्ञान मण्डल), पृ0 520
4. निर्गुण काव्य दर्शन– सिद्धनाथ तिवारी, पृ0 13, 14

का यही स्वरूप लक्षित होता है। 'छान्दोग्योपनिषद्' में कहा गया है कि जहाँ कुछ और नहीं देखता, कुछ और नहीं जानता तथा कुछ और नहीं सुनता वह भूमा है किन्तु जहाँ कुछ और देखता है, कुछ और सुनता है एवं कुछ और जानता है वह अल्प है। जो भूमा है वही अमृत है और जो अल्प है वही मृत्यु है। इस प्रकार भूमा या ब्रह्म को अनानात्व या अद्वैत कहा गया है।[1] तैत्तिरीय उपनिषद् के अनुसार जिससे निश्चय ही ये सब भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होने पर जिसके आश्रय से ये जीवित रहते हैं और अन्त में विनाशोन्मुख होकर जिसमें ये लीन होते हैं, उसे विशेष रूप से जानने की इच्छा करे, वहीं ब्रह्म है। प्रायः प्रत्येक उपनिषद् इसी प्रकार की जिज्ञासा को लेकर अपना विवेचन प्रस्तुत करता है।

ईसा की आठवीं शताब्दी में स्वामी शंकराचार्य ने ब्रह्म के अस्तित्व के लिए तीन प्रमाण दिये[2]– (1) सभी वस्तुओं का कोई मूल कारण है। वस्तुओं का हमें यथार्थ ज्ञान भी होता है, उसका मूल कारण ब्रह्म है, वह असत् नहीं हो सकता क्योंकि असत् से सत् की उत्पत्ति कदापि नहीं हो सकती। (2) जगत की वस्तुओं में अपनी क्रमिकता दृष्टिगोचर होती है इनका अनुक्रम किसी अचेतन मूल कारण से नहीं हो सकता। उनका आदि कारण चेतन है, न कि जड़ प्रकृति अर्थात् ब्रह्म है। (3) ब्रह्म प्रत्यगात्मा होने के कारण सबको सर्व अनुभव होता है कि मैं हूँ। इस 'मैं हूँ' में यही ब्रह्म है।[3]

ब्रह्म विचार की दृष्टि से आध्यात्मिक आचार्यों की पहुँच बहुत दूर तक हुई है। विद्वानों के मतानुसार भारतीय दर्शनों में सांख्य दर्शन प्राकृतिवाद, न्याय वैशेषिक ईश्वरकारणवाद और वेदान्त ब्रह्मवाद को मानता है। ब्रह्म के स्वरूप को लेकर ब्रह्मवादियों में भी मत भिन्नता मिलती है। उपनिषदों में ब्रह्म और परमतत्व प्रायः पर्याय

1. हिन्दी साहित्य कोष, मूल श्लोक 1, पृ0 520
2. हिन्दी साहित्य कोष, पृ0 522
3. हिन्दी साहित्य कोष, पृ0 533

ही माना गया है, यह मत भिन्नता यद्यपि विवेचन सम्बन्धी है तथापि एक और अद्वितीय ब्रह्म ही जगत का निमित्त और उपदान कारण है, यही वेदान्त के अनुयायियों का मुख्य स्वर है। इस परमतत्व अथवा ब्रह्म के दो रूप है – निर्गुण और सगुण। निर्गुण ब्रह्म गुण, विशेषण, आकार और उपाधि से परे हैं, उसे किसी विशेषण, चिह्न या लक्षण से लक्षित नहीं किया जा सकता। सगुण ब्रह्म सविशेष, साकार और सोपाधि है, जिसे किसी गुण चिह्न या विशेषण द्वारा पहचाना जा सकता है और जिसका स्वरूप हृदयंगत किया जा सकता है। ब्रह्म तथा अन्य आत्मप्रधान चिंतन मध्ययुग के बौद्धधर्म की अनात्मवादी प्रतिक्रिया से प्रभावित हुआ था यह भी पृष्ठभूमि में दिये गये अध्यायों में देखा ही है, यद्यपि बौद्धधर्मानुयायी अपने को उपनिषद् से असम्बद्ध नहीं पाते, फिर भी ब्रह्म जिज्ञासा में बौद्ध चिन्तन की अनात्मवादी धारा का महत्वपूर्ण हाथ है, स्वामी शंकराचार्य ने जिसे ज्ञान और कर्म के बल से पुनः स्थापित किया था। धार्मिक पुनर्जागरण के फलस्वरूप ब्रह्म की अर्द्वत वेदान्त की धारणा लोक जीवन में परिव्याप्त हो उठी, नाथ पंथ जो कि केवल साधना पंथ ही था उसमें भी हमें ब्रह्म के सम्बन्ध में अद्वैत वेदान्त की शैली की जिज्ञासा मिलती है।[1]

नाथ पंथ में अर्द्वत वेदान्त से अपने को पृथक सिद्ध करने के लिए साधक यद्यपि अपने आपको द्वैताद्वैत विलक्षणवादी कहते हैं[3] किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह केवल पंथगत भेद का निर्देशन मात्र है। शून्य, विनानी आदि शब्दावली में प्रयुक्त ब्रह्म भावना का यह लोकसम्मत स्वरूप नाथ पंथ में विशेष रूप से दृष्टव्य है। हमारा विश्वास है कि संतों की वानियों में नाथ पंथ की ब्रह्म भावना का एक परिष्कृत स्वरूप ही आध्यात्मधारा के रूप में पहुँचा है। नाथपंथी साधकों की ब्रह्म भावना शास्त्रसम्मत नहीं कही जा सकती यद्यपि लोक भाषा में जो वानियां उपलब्ध हुई हैं उनमें उसका स्वर इस बात को स्पष्ट कर देता है कि नाथ पंथ की पूर्व परम्परा में ही संतों की ब्रह्म जिज्ञासा को

---

1. नाथ पंथ और निर्गुण संत काव्य पृ0 ।९९

ढूँढ़ा जा सकता है। डा0 बड़थ्वाल ने अपने प्रबन्ध 'हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय' में संतों की दार्शनिक पृष्ठभूमि पर विस्तार से विचार किया है किन्तु जिस दार्शनिक पृष्ठभूमि को उस काल की लोक चिन्ता ने अत्यधिक प्रभावित किया था उस पर भी विचार कर लेना चाहिए। उसके लिए नाथपंथो साधकों द्वारा रची हुई कुछ ब्रह्म जिज्ञासा सम्बन्धी बानियाँ दृष्टव्य हैं :

गोरखनाथ का कथन है कि एक (परब्रह्म) ही में अनन्त सृष्टि का वास है और अनन्त सृष्टि में एक ही परब्रह्मा का निवास है। उस एक ही ने इस अनन्त सृष्टि को उत्पन्न किया है। जब आभ्यंतर में उस एक से परिचय प्राप्त हो जाता है, तब सारी अनन्त सृष्टि एक ही में समा जाती है।[1]

ऐसा प्रतीत होता है जब नाथपंथी साधकों का बोलबाला रहा होगा तब भी ब्रह्म के विषय में प्रत्यक्ष प्रमाणों के अभाव में सामान्य जीवन में कोई विशेष चिंतन नहीं था, इसीलिए शायद कहा गया है –

आस्ति कहूँ तो कोई न पतीजै, बिन आस्ति क्यों सीधा।[2]

किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि काया साधना में लीन नाथपंथी साधक ब्रह्म के औपचारिक चिन्तन तक ही अपने को सीमित समझते रहें हों। उनके लिए ब्रह्म केवल ज्ञान का विषय ही नहीं है, अपितु अनुभूति के द्वारा वे ब्रह्मानन्द का अनुभव करते हैं :

पैर जोई ने एका पुरिष पधारया, पुरिष की पारिषा पाई।
पुरिषै मिली पुरिष रस राख्या, पुरिषैं पुरिष निपाया, मेरे ज्ञानी।[3]

ब्रह्म रूपी तत्व का ज्ञान भी सुलभ नहीं है। जैसे प्रत्येक वन में चन्दन का वृक्ष नहीं होता उसी प्रकार तत्व भी बिरला ही समझता है।[4] वह तत्व विचारने पर

---

1. एक में अनन्त अनन्त में एकै, एकै अनन्त षया।
   अंतरि एक सौ परचा हुआ तब अनन्त एक में समाया।। – गोरखबानी, पृ0 103
2. गोरखबानी, पृ0 104
3. वही, पृ0 89
4. घर घर सूण्यां ग्यान न होई। बनि बनि चन्दन सब न कोई।।
   रतन रिधि कवन कै होई। ये नस बूझे बिरला कोई।। गोरखबानी, पृ0 58

एकाकार प्रतीत होता है। गोरखनाथ ने कहा है :

आसाण बैसिवा पवन निरोधवा धांन मांन सब धंधा।

बदंत गोरखनाथ आतमां विचारंत, ज्यूं जलदीसै चंदा।।[1]

ब्रह्म जिज्ञासा एवं लोकोत्तर आनन्द की विरूद्ध परिस्थितियों में प्रायः इस बात पर बल दिया गया है कि ब्रह्म ज्ञान अथवा इस भेद के रहस्य को सर्वसाधारण नहीं समझ सकता। नाथपंथी साधकों की यह दृढ़ धारणा प्रतीत होती है कि अभेद के भेद को, अद्वैत के रहस्य को कोई बिरला ही जानता है। द्वैत के पक्ष का निरसन किसी बिरले को आता है।[2] किन्तु ब्रह्म अण्ड से लेकर ब्रह्माण्ड में, जड़ जगत से लेकर चेतन तत्व में, समान रूप से विद्यमान है। गोरखनाथ का कथन है कि ब्रह्म की सुगन्धि से सारा जगत सुगंधित है। उसके स्वाद से सारा जगत मीठा है। समस्त जगत में उसी का रूप दिखाई देता है, वह केवल अनुभव से जाना जा सकता है।[3] रातदिन ब्रह्मज्ञान का कथन करना चाहिए। इस विज्ञान स्वरूप अलक्ष्य परब्रह्म ने दो दीपकों की रचना की (व्यक्त और अव्यक्त स्वरूप), उन दोनों दीपकों में अलक्ष्य का ही प्रकाश है। उसी एक ज्योति से तीनों लोक व्याप्त हैं। उस ज्योति पर विचार करने से तीनों लोक सूझने लगते हैं, त्रिलोकदर्शिता आती है। हंस स्वरूप आत्मा ज्ञानरूप मोतियों को चुगने लगती है तथा उसे माणिक्यरूप कैवल्यानुभूति हो जाती है।[4]

संतों की ब्रह्म जिज्ञासा में नाथपंथी साधकों की ब्रह्म जिज्ञासा के अनेक

---

1. गोरखबानी, पृ0 29
2. बिरला जाणंति भेदां निभेद बिरला जाणंति दोई पष छेद।
   बिरला जाणंति अकथ कहानी बिरला जाणंति सुधि बुधि की बांधी।
   — गोरखबानी, पृ0 24
3. बास सहेती, सब जग बास्या, स्वाद सहेता मीठा।
   साथ कहूँ तो सतुगुर मांने रूप सहेता दीठा।। — गोरखबानी, पृ0 10
4. गोरखवानी, सबदी 5, पृ0 3

चिह्न अपने मूलरूप में विद्यमान प्रतीत होते हैं यद्यपि साधनापंथीं में मध्ययुग के उत्तरार्द्ध में आध्यात्म सम्बन्धी विचारों में विस्तार हुआ है। संतों द्वारा प्रतीक योजनाओं के माध्यम से अनेक रूपकों में परमात्मा, आत्मा, माया जगत सभी पर विचार किया गया है। संतों की ब्रह्म जिज्ञासा पर विचार करने के पूर्व हमें उस काल के धार्मिक वातावरण और आध्यात्म प्रधान चिन्तन की लौकिक परिस्थिति को पृष्ठभूमि के रूप में पुनः रखना होगा। यहाँ देखा है कि नाथपंथी योगी अपने ब्रह्मज्ञान का आधार सीधा वेदान्त सम्मत ज्ञान मानकर अपने साधना पंथ को उसका मुख्य माध्यम मानते हैं। ब्रह्म ज्ञान उसे नहीं प्राप्त हो सकता जिसे अपनी काया का ज्ञान नहीं और जिसकी काया ही शुद्ध नहीं है उसके लिए यह सब निरूपलब्ध वस्तु है। कालान्तर में यह साधना एकांकी और व्यक्ति प्रधान हो गयी, संतों की ब्रह्मभावना के अनेक तत्व यद्यपि नाथपंथी तत्व चिन्ता में मिलते हैं किन्तु संतों की भावना और नाथपंथी साधकों की भावना में एक विस्तार का भेद दृष्टव्य होता है। संतों की आध्यात्मिक क्षुधा और आकांक्षा विश्वग्रासी है, उसमें सब साधनाओं एवं धर्म, मतों तथा दर्शनों के समन्वय का आग्रह है।[1] संतमत के प्रवर्तक कबीर के ब्रह्मनिरूपण वैदिक ब्रह्मनिरूपण के ढंग का होने पर भी अनेक धर्मों की ब्रह्म भावनाओं से प्रभावित है। जहाँ पर उन्होंने उपनिषदों की ब्रह्म निरूपण की विविध शैलियों को अपनाया है वहीं उन्होंने योगियों के द्वैताद्वैत विलक्षण वाद के ढंग पर भी ब्रह्म का वर्णन किया है। उनके ब्रह्मनिरूपण पर बौद्धों, सिद्धों और योगियों के शून्यवाद की धूमिल छाया भी देखी जा सकती है।[2] किन्तु अनेक धर्म साधनाओं के प्रभाव को मानते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता है कि संतों की ब्रह्म जिज्ञासा का स्वरूप निश्चित ही पिछले आध्यात्मवादियों का केवल अनुकरण मात्र है। कबीर ने कहा है –

1. डा0 त्रिगुणायन, कबीर की विचारधारा, पृ0 179
2. वही, पृ0 179

जोगी गोरख गोरख करै, हिन्दू राम नाम उच्चरें
मुसलमान कहें एक खुदाई, कबीर का स्वामी घट–घट रह्या समाई।[1]

अनुभूति के माध्यम से सर्वात्म में व्याप्त ब्रह्मनिरूपण के लिए संतों ने उसकी व्यापकता और एकात्मता पर बल दिया है। उनकी दृष्टि में वह सगुण निर्गुण दोनों से परे परात्पर है। 'वह विश्व का कर्ता–धर्ता नियन्ता शासक और अधिपति ही नहीं बल्कि व्यापक तत्व भी है। वह घट–घट में, कण–कण में अणु–परमाणु में व्याप्त है और वही हम में सार वस्तु है।[2] कबीर ने कहा है –

मुसलमान का एक खुदाई। कबीर का स्वामी रह्या समाई।

दादू ने उसकी व्यापकता को इस प्रकार अंकित किया है –

धीव दूध में रमि रहा, व्यापक सब ही ठौर।[3]

इस सार सत्ता का अनुसंधान संतों के लिए सत्य का अनुसंधान बन गया, यद्यपि गुरु की कृपा से उन्हें उसका आभास हुआ किन्तु अनुभव के अनुसार ही वह ग्रहणीय बन सका।[4] कबीर ने स्पष्ट शब्दों में कहा है :

खालिक खलक, खलक में खालिक, सब घट रह्या समाई।

परमात्मा विश्व में और विश्व परमात्मा में अवस्थित है। डा0 त्रिगुणायन ने कबीर की ब्रह्म जिज्ञासा का विवेचन करते हुए एक स्थल पर प्रकट किया है कि कबीर ने ब्रह्म की आदि भौतिक और आदि वैदिक भावना त्याग कर आध्यात्मिक भावना को ही आश्रय दिया था।[5] हमारा उसी के साथ यह भी अनुमान है कि संतों की ब्रह्म जिस

---

1. कबीर ग्रन्थावली, पृ0 200
2. डा0 पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय
3. गोरखबानी, भाग 1, पृ0 32
4. सतगुरु तसु करयो विचार, मूल गह्यो अनमैं विस्तार– कबीर ग्रन्थावली, पृ0 216
5. डा0 त्रिगुणायन, कबीर की विचारधारा, पृ0 179

नाथपंथी साधना की क्रोड़ में निर्गुण पंथ का गठन हुआ वह अद्वैत प्रधान आध्यात्मिक धारा असमन्वयवादी और शुष्क थी, उसके विपरीत संतों ने जिस ब्रह्म भावना का आश्रय लिया वह उनके अनुभव की सच्च अनुभूति थी। डा० विश्वनाथ प्रसाद ने एक प्रसंग में इसकी चर्चा करते हुए लिखा है कि निर्गुण संत 'सत' (सतय) के उपासक थे और सत्य में पूरी आस्था रखते हुए इसी के अनुसन्धान में अपने जीवन को लीन कर चुके थे।[1] संतों की ब्रह्म जिज्ञासा दादू के शब्दों में अत्यन्त विराट सागर की विशालता के समान है जिसके लिए ऐसा कोई पात्र ही नहीं बना जो उसे पूरा अपने में समेट सके –

चिड़ी चोंच भर ले गयी नीर निघट न जाई।

ऐसा वासण न किया सब दरिया माहिं समाई।।[2]

'यह व्याप्ति इतनी गहन है कि व्यापक और व्याप्त में कोई अंतर ही नहीं रह जाता।[3] इस व्याप्ति में जिसमें एक सत्य को जान लिया उसे फिर भटकने की आवश्यकता नहीं है –

एक एक जिनि जाणियां तिनहीं सच पाया।

प्रेम प्रीति ल्यौलीन मन, ते बहुरि न आया।।[4]

संतों की यह ब्रह्म जिज्ञासा अनुभवैकगम्य है, उसी को गूँगे का गुड़ कहा गया है, वह पुस्तकीय विद्या से प्राप्त नहीं हो सकता, वह प्रेम से प्राप्त है। कबीर ने कहा है –

अकथ कहानी प्रेम की कछु कही न जाई।

गूँगे केरी सरकरा बैठे मुसुकाई।।[5]

---

1. निर्गुण काव्य दर्शन, प्राक्कथन, पृ० क
2. वानी (ज्ञान सागर), पृ० 63
3. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० 100
4. कबीर ग्रन्थावली, पृ० 129
5. कबीर ग्रन्थावली, पृ० 156

भक्ति और योग के समन्वय से संतों की यह भावना अपने जिस रूप में हिन्दी काव्य में प्रकट हुई वह न तो नाथपंथी ब्रह्म जिज्ञासा का अनुकरण है और न वैष्णव भक्ति भावना का वेदान्ती स्वरूप। उसका स्वरूप दोनों के समन्वय से निर्मित हुआ है। इसी पृष्ठभूमि में संतों द्वारा ब्रह्म, जीव और जगत के सम्बन्ध में जो विचार प्रगट किये गये हैं उन पर विचार करेंगे।

ब्रह्म अथवा परमतत्व – परमतत्व की अभिव्यक्ति एक दुर्लभ कार्य है। संतों ने इस बात को स्वीकार किया है कि वह जैसा कहा जाता है वैसा ही उसका पूर्वरूप में भी होना सम्भव नहीं है, वह जैसा है वैसा ही है।[1] वास्तव में परमतत्व का कोई उपयुक्त विचार ही नहीं कर सकता। वह वाणी और बुद्धि दोनों की सीमा से परे है। गुरु नानक ने कहा है –

सोचे सोच न होबई जै, सोचे लखवार।[2]

कबीर ने परमतत्व के अनुभव को बड़े असमंजस के मध्य अपने अनेक पदों एवं साखियों में व्यक्त करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने कहा –

जस तूं तस तोहि कोई न जान।
लोग कहें सब आनहि आन।।[3]

संतों ने कभी–कभी उसे व्यक्त करने के लिए अनेक प्रकार की रूपात्मक तथा गुणात्मक चेष्टाएँ की हैं किन्तु फिर भी उन्हें उसमें सफलता नहीं मिली। नाथपंथियों के, वज्र की विलक्षण अनुभूति भी संतों में हूबहू मिल जाती है पर वहाँ भी उनके समाधान का पूर्ण कारण उपलब्ध नहीं है। वे कहते हैं –

---

1. जस कहिये तस होत नहीं, जस है तैसा सोई।
   कहत सुनत सुख ऊजै, अस परमारथ होई।। – कबीर ग्रन्थावली, रमैणी पृ0 230
2. ग्रन्थ, पृ0 1
3. परशुराम चतुर्वेदी, कबीर साहित्य की परख, पृ0 91

अलख निरंजन लखै न कोई। निरभै निराकार है सोई।।

सुंनि अस्थूल रूप नहिं रेखा। द्रिष्टि अद्रिष्टि छिप्पी नहीं पेखा।।

बरन अवरन कह्यों नहीं जाई। सकल अतीत घट रह्यो समाई।।

आदि अंति ताहि नहीं ममे। कह्यो न जाई आहि अकथे।।

अपरम्पार उपजै नहीं विनसै। जुगति न जांनिये कथिये कंसे।।[1]

संतों की वाणियों में मिलने वाले ब्रह्म के दो रूप बहुत स्पष्ट है – (1) अव्यक्त रूप, (2) व्यक्त रूप। संतों का प्रतिपाद्य ब्रह्म मुख्य रूप से अव्यक्त ही है यद्यपि गुण एवं उपाधि से विभूषित भावना निर्मित ब्रह्म का व्यक्त रूप भी उनकी वाणियों में उपलब्ध हो जाता है। अव्यक्त ब्रह्म की सार सत्ता के विषय में आध्यात्मिक विचारकों की अभावात्मक पद्धति अति प्राचीनकाल से उपलब्ध है। इन्द्रियों से अगोचरकों की अभावात्मक पद्धति अति प्राचीनकाल से उपलब्ध है। इन्द्रियों से अगोचर इस परमतत्व का अन्वेषण अथवा अव्यक्त सत्ता का विचार नकारात्मक अभिव्यक्त रूप में भी मिलता है। जब इस परमसत्ता का कोई वर्ण, कोई रूप, कोई रंग नहीं है; न वह हलका है और न भारी तब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि इस अव्यक्त ब्रह्म की पहचान क्या है?[2] इस सम्बन्ध में संत कबीर का प्रश्न दृष्टव्य है :

रावर को पिछवार कैं गावैं चारिउ सैन।

जीवन परा बहु लूट में न कुछ लेन न देन।।[3]

कबीर ने एक स्थल पर यह भी जिज्ञासा प्रकट की है कि परमतत्व कुछ

---

1. कबीर ग्रन्थावली, रमैणी, पृ0 230
2. रूप वरण बाके कछु नाही सहजो रंग न देह, सहजो0 सं0 का संग्रह, पृ0 16 तोल न मोल माप किछु नाहीं गिनै ज्ञान होई।
   ना सो भारा ना सो हलुआ, ताकी पारिख लखै न कोई।।– कबीर ग्रन्थावली, पृ0 144
3. बीजक, पृ0 488

है भी अथवा नहीं?[1] वस्तुतः ब्रह्म की अव्यक्त सत्ता का कोई नाम नहीं, कोई रूप नहीं और न कोई गुण ही है, किन्तु फिर भी वह घट–घट में व्याप्त है। दादू उस अव्यक्त ब्रह्म को बाहर और भीतर, प्रत्येक दिशा में देखते हैं, उसको छोड़कर दूसरा कुछ है ही नहीं।[2] संतों ने इस अव्यक्त ब्रह्म को अनेक माध्यमों में व्यक्त करने का प्रयत्न किया है। संक्षेप में संतों का ब्रह्मनिरूपण निम्नलिखित रूपों में उपलब्ध होता है :

नाम – इस अपरम्पार अव्यक्त परमत्तव का यद्यपि कोई एक नाम नहीं हो सकता तथापि उसके अनेक नाम है :

अपरम्पार का नाऊँ अनंत।
कहै कबीर सोई भगवंत।।[3]

संतों ने ब्रह्म के सम्बन्ध में पर्याय रूप में प्रचिलत अनेक नामों को अपनी वाणियों में अपनाया है किन्तु अव्यक्त सत्ता के अद्वय बोध के फलस्वरूप लोक प्रचलित पौराणिक नामो। एवं संतों के नामों के सम्बन्ध में कोई एकरूपता उपलब्ध नहीं है। प्रायः संतों ने राम, हरि, अलक, माधव, मुरारी, गोपाल, बनवारी, केसवा का नाम ब्रह्म के अव्यक्त रूप में प्रयुक्त किया है। साथ ही वे उसे तत्,, परमतत्, अनूपतत्, आप, सबद, सार, सहज, मुनि अनंत ज्योति गगन, अकुल, अक्षय, विदेह, पूरन पुरूष, साहब आदि के नाम से भी सम्बोधित करते हैं।[4] तब यह प्रश्न उठना स्वास्भाविक है कि मध्ययुग के अन्य भक्त कवियों ने परमतत्व के जिस नाम के स्मरण करने पर बल दिया है, क्या वहीं निर्गुण संतों का भी आधार तो नहीं है? यह प्रायः सभी विद्वान मानते हैं कि मध्ययुग में स्वामी रामानन्द के प्रभाव से राम–नाम की महिमा और राम–भक्ति का प्रादुर्भाव हुआ। किन्तु

1. तहां किछ आहि कि सुन्यं, कबीर ग्रन्थावली, पृ0 143
2. दादु देखों दयाल को बाहरि भीतरि सोई।
   सब दिसि देखों पीव को, दूसर नाहीं होई। –वानी भाग, 1 पृ0 23
3. कबीर ग्रन्थावली, पद 327, पृ0 99
4. कबीर ग्रन्थावली, रमैणी, पृ0 243

संतों ने राम अथवा अन्य नामों को अव्यक्त ब्रह्म का पर्याय ही माना है। दशरथ राम के प्रति संत कबीर की ये घोषणा उन्हें तत्कालीन रामभक्तों से पृथक कोटि का साधक ठहराती है :

दशरथ सुत तिहूँ लोक बखाना।
राम–नाम का मरम है आना।।[1]

तब संतों के राम–नाम का मर्म क्या है? संतों ने अनेक स्थल पर जिन पौराणिक ईश्वर पर्याय नामों का स्मरण किया है क्या वे अन्य भक्तों की भाँति उनकी सगुण सत्ता अथवा अवतार रूप को मानते हैं? प्रायः संतों की वाणियों में ऐसा प्रतीत होता है कि अवतारवादी रूप की स्पष्ट अवहेलना की गयी है। यदि हम विस्तारपूर्वक देखें तो इसका कारण यह प्रतीत होगा कि संतों ने अपने ब्रह्म सम्बन्धी स्वरूप का मूलस्रोत नाथपंथी ब्रह्म की ज्योतिर्मयी अनुभूति ही माना है। परब्रह्मा का अनंत तेज वर्णनातीत है।[2] किन्तु फिर भी उसका नाम स्मरण युगानुरूप भक्ति की एक अनिवार्य आवश्यकता है। लोक प्रचलित पौराणिक मतवाद के सगुण रूप से अपने पृथक करने के लिए ही कबीर आदि संतों ने मानों राम के नाम के साथ निर्गुण शब्द का प्रयोग किया प्रतीत होता है :

निर्गुण राम जपहुरे भाई। अविगति की गति लखी न जाई।।
चारिवेद जाके सुंमृत पुरांनां। नौ व्याकरना मरम न जांनां।।
सेसनाग जाके गरुड़ समाना। चरन कंवल कंवला तहिं जाना।।
कहै कबीर जाके भेदै नाहीं। निजजन बैठे हरि की छांही।।[3]

---

1. कबीर ग्रन्थावली, रमैणी, पृ0 243
2. (अ) शरीर सरोवर भीतर आछै कमल अनूप।
   पर ज्योति पुरूषौत्मो जाके रेख न रूप। – कबीर ग्रन्थावली, पृ0 327
   (ब) पारब्रह्म के तेज का कैसा है उन्मान। कहिबे कू शोभा नहीं देखा ही परवान।। – कबीर ग्रन्थावली, पृ0 12
3. कबीर ग्रन्थावली, पृ0 346

अथवा

चलुरे मन, जहाँ अमृत बनां। निर्मल नीके संत जनां।

निर्गुण नांऊँ फल अगम अपार। संतन जीवन प्राण अधार।।[1]

नाम की दृष्टि से परमतत्व के किसी नाम विशेष के प्रति संतों का आग्रह प्रतीत नहीं होता। किसी भी नाम को लेकर वे उसमें अव्यक्त ब्रह्म की सत्ता का आरोप कर लेते हैं। यद्यपि सत्संग लाभ में उपलब्ध पौराणिक नामों की क्रमबद्धता से उनका दृष्टि भेद होना स्वाभाविक है तब भी संतों की वानियों में पौराणिक नामों का प्रयोग मिलता है और यही कारण है कि लोक जीवन में एक ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है जिसके विषय में साधारण जन उसके सम्बन्ध में अपनी कोई धारण नहीं बना सकते, चाहे परमतत्व का नाम बोध निर्गुण से, राधास्वामी से, अनूप से, साहब से, राम से, केशव से या किसी और से किया गया हो। संतों ने परमतत्व के नाम को केवल सार सत्ता के रूप में स्वीकार किया है। कबीर ने कहा है :

कबीर कहै मैं कथि गया, गथि गया ब्रह्म महेस।

राम नाम ततसार है, सब काहू उपदेश।।[2]

लोक जीवन में सारतत्व के रहस्य को जानने वाले बिरले ही हैं। व्यक्त अव्यक्त ब्रह्म की दुरूह एवं परस्पर विरोधी अनुभूति के कारण परमतत्व का विचन गुण और रूप के आधार पर भी होता रहा है, यद्यपि नाम का सम्बन्ध प्रायः उसके रूप गुण से है। संतों के आध्यात्मिक विचारों में गुण और रूप का प्रादुर्भाव नाम के पश्चात की स्थिति में हुआ प्रतीत होता है। मध्ययुग के संतों की विलक्षणता अथवा दूसरे छोर का स्पर्श उनकी वाणियों को, उनके आध्यात्मिक विचारों को अटपटे रूप में प्रस्तुत करता है

1. दादू दयाल, संत सुधासार, पृ0 437
2. कबीर ग्रन्थावली, पृ0 5

और कभी–कभी उनके आध्यात्मिक विचारों को इसी कारण विद्वान उलझा हुआ मानते हैं। 'निर्गुणं' ब्रह्म के उपासक कबीर को सम्भवतः इसी कारण 'अव्यक्त सगुण'[1] का उपासक भी कुछ विद्वानों ने माना है जो पूर्व परम्परा से पोषित प्रतीत नहीं होता है। नाथपंथी आध्यात्मिक धारा में ब्रह्म के गुण और रूप का प्रायः अभाव है। केवल उसकी अनुभूति के लिए कुछ सीमित शब्दों जैसे अकल, अपै अविद्ध आछै, ब्रह्म सीव आदि का प्रयोग किया गया है।[2] ब्रह्म के गुण और रूप को लेकर स्वामी शंकराचार्य के विरोध में जब अनेक दार्शनिक सम्प्रदाय उठ खड़े हुए तब भक्ति की धारा में भी उस गुण और रूप का प्रादुर्भाव होना स्वाभाविक था, चाहे भक्ति से दर्शन के सम्प्रदाय प्रभावित हुए हों अथवा दर्शन सम्प्रदायों से भक्ति प्रभावित हुई हो, दृष्टव्य केवल इतना ही है कि संतों द्वारा प्रकट अव्यक्त ब्रह्म की अनुभूति का निकट सम्बन्ध भारतीय अद्वैतवाद के अव्यक्त ब्रह्म और अपने पूर्ववर्ती योगी साधकों – नाथपंथियों– से था, यदि यह भी कहा जाय कि ब्रह्म के तत्वचिन्तन का स्रोत नाथपंथी अद्वैय आध्यात्म तत्व था तो कोई अत्युक्ति न होगी। किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि संतों की वानियों पर तत्कालीन भक्तिधारा का प्रभाव नहीं पाया और उनके आध्यात्मिक विचार अपने गुणात्मक और रूपात्मक स्थिति में उनसे प्रभावित नहीं हुए, संतों में यह प्रभाव इतना अधिक है कि हम इसी कारण उन्हें किसी विशेष मध्ययुगीन दार्शनिक सम्प्रदायों में नहीं बाँध सकते। संतों में नाम का उपर्युक्त आधार मानकर हम उनके आध्यात्मिक विचारों का यथावत विवेचन कर सकते हैं।

परमतत्व को निर्गुण अथवा सगुण रूप में अनुभव करने की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। हिन्दी के भक्त कवियों ने अत्यन्त प्राचीन धार्मिक स्रोतों में परमतत्व के निर्गुण और सगुण रूप की उपासना की है। संतों की वानियों में उपलब्ध विचारों के

---

1. डा0 त्रिगुणायन, कबीर की विचारधारा, पृ0 184
2. गोरखबानी शब्द संग्रह, पृ0 259, 263

आधार पर प्रायः यह अनुमान कर लिया जाता है कि संत ब्रह्म के सोपाधि और साकार रूप को नहीं मानते इसलिए निरूपाधि और निर्गुण रूप के उपासक हैं। यद्यपि संत निर्गुण और सगुण दोनों से पृथक परस्पर ब्रह्म की अनुभूति को ही मुख्य मानते हैं[1] फिर भी संतों द्वारा प्रयुक्त निर्गुण शब्द, ब्रह्म के गुणरहित और निष्क्रिय रूप का वाचक नहीं है। कुछ विद्वानों ने निर्गुणोपासक संत कबीर के राम के सम्बन्ध में यह शंका उठायी है कि कहीं कबीर के निर्गुण राम स्वामी शंकराचार्य के निर्गुण ब्रह्म की भाँति निष्क्रिय और निर्गुण तो नहीं हैं?[2] शंकराचार्य के ब्रह्म की स्थिति संत कबीर की स्थिति से समबद्ध नहीं हो सकती है। इस प्रबन्ध में इस विषय पर चर्चा करना उपादेय भी नहीं है किन्तु कबीर, दादू, रैदास आदि संतों ने जब भी ब्रह्म को निर्गुण रूप में व्यक्त किया है तब उसका आशय एक नकारात्मक प्रणाली का संकेत मात्र ही समझना चाहिए।[3] गुणों के रूप में भक्तों द्वारा जिस गुणमय शरीर की कल्पना कर ली गयी, संतों को वह मान्य नहीं है। सत, रज और तम के रूप में जिन तीन सूक्ष्म गुणों की कल्पना की गयी है, संतों का ब्रह्म उससे पृथक ही प्रतीत होता है। कबीर कहते हैं :

राजस तामस सातिग तीन्यूं, ये सब तेरी माया।
चौथे पद को जो जन चीन्हे, तिनहिं परमपद पाया।।[4]

---

1. संतो, धोख कासूँ कहिये।
गुन में निरगुन निरगुन में गुन, बाट छोड़ि क्यों बहिये।।
अजरा अमर कथै सब कोई, अलख न कथना जाई।
नति स्वरूप वरण नहीं जाके घटि–घटि रह्यो समाई।।
प्यंड ब्रह्माण्ड कथै सब कोई वाके आदि अरू अंत न होई।
प्यंड ब्रह्माण्ड छोड़ि जे काह्य कहै कबीर हरि सोई।।
– कबीर ग्रन्थावली, पद 180
2. डा0 ब्रजमोहन गुप्त, हिन्दी काव्य में रहस्यात्मक प्रवृत्तियाँ (हिन्दी अनुवाद), पृ0 43
3. डा0 पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ0 108
4. संतों की बानी, भाग 1, पृ0 53

यद्यपि संतों ने ब्रह्म के गुणों को अपनी वानियों में प्रयुक्त किया है और उसके अनुसार वह भक्तवात्सल, दीनदयाल, करूणामय, सर्वसुखदान, दुःख मंजन, परमानन्द, दुरित निकंदन और गरीबनवाज हैं।[1] किन्तु इसीलिये संतों की आध्यात्मिक धारा में हम उन्हें व्यक्त अथवा अव्यक्त सगुण के उपासक नहीं कह सकते।[2] संतों की दृष्टि में सगुण और अवतारी ब्रह्म के प्रति उपासना का भाव केवल वाह्य और ऊपरी व्यवहार है।[3] संतों द्वारा प्रयुक्त ब्रह्म के अनेक नाम इस तथ्य को स्पष्ट करने में सहायक होते हैं।

यहाँ पर एक भिन्न तथ्य पर विचार कर लेना भी उपयोगी होगा। जब हम संतों को निर्गुण ब्रह्म का उपासक मानते हैं तब कुछ विद्वानों ने ऐसी सम्भावना व्यक्त की है कि संत कवि मुस्लिम एकेश्वरवाद से प्रभावित थे[4] किन्तु एक ब्रह्म के उपासक संतों का मूल–स्वर इस बात को स्वीकार नहीं करता। सगुण अथवा मूर्ति पूजा के सम्बन्ध में आलोचनात्मक टिप्पणी करने वाले संत भारतीय ब्रह्मवाद के ही अनुयायी हैं। हिन्दू धर्म के वाह्य आडम्बर की भर्त्सना तो नाथपंथियों में भी किसी न किसी रूप में मिल जाती है। गौरखनाथ के नाम से प्रचलित एक कथन इस प्रकार है :

'सूर्य ग्रहण के समय मिट्टी के बर्तन और जलादि को अशुद्ध समझकर छोड़ देते हो किन्तु धान्य घृतादि को क्यों नहीं फेंक देते? बात यह है कि जलाशयों में जल तो मिल जाता है और कुम्हारों के घर मिट्टी के बर्तन भी मिल जाते हैं, फिर क्यों न इन्हें त्यागकर आचारवान बन लिया जाये। पर घी और धान्य खरीदने में तो बहुत पैसे लगते हैं फिर इन्हें कैसे अपवित्र मानते ?[5] किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि नाथपंथी

---

1. कबीर ग्रन्थावली, पृ0 153, 172, 164, 189, 125 आदि।
2. डा0 त्रिगुणायन, कबीर की विचारधारा, पृ0 184
3. कहै कबीर विचार कर, ये ऊले व्यवहार।
   याही के वे अगम हैं, सो बरति रह्यो संसार।। – कबीर ग्रन्थावली, पृ0 203
4. डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ0 117
5. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास।

भी किसी वाह्य प्रभाव के प्रतिफल थे। यह भारतीय लोकमानस का स्वाभाविक विकास ही माना जायेगा। कबीर तो अपने ब्रह्म को 'एक' भी कहना नहीं चाहते :

उक कहूँ तो है नहीं, दोय कहूँ तो गारि।
है जैसा तैसा रहे कहै कबीर विचारि।।[1]

परमतत्व यथार्थ में सगुण और निर्गुण दोनों से परे हैं सिद्धान्ततः हम संतों को न तो निर्गुणवादी ही कह सकते हैं और न सगुणवादी ही, उनके मतानुसार वे अनुभूतिपरक हैं, निर्गुण एवं सगुण दोनों से परे हैं। अनुभव के पश्चात भी अनिर्वचनीय हैं। इससे पृथक यदि हम ब्रह्म को किसी विशेष गुण से सम्बद्ध मान लें अथवा निर्गुण घोषित करें तो वह यथार्थ में एक भ्रम की ही स्थिति होगी।[2]

नाम और गुण के पश्चात् परमतत्व की रूपात्मक अनुभूति हुई है।

संत कवि उच्चकोटि के भक्त माने गये हैं किन्तु जब हम उनके आध्यात्मिक विचारों की चर्चा करते हैं तो उन्हें निर्गुण निराकार का उपासक मान कर ज्ञानाश्रयी संज्ञा से विभूषित कर देते हैं। जिस परमतत्व के नाम और गुणों की कोई सीमा न हो, संतों के लिए उसकी रूपात्मक अभिव्यक्ति तो और भी कठिन कार्य है। रूप से विद्वानों का तात्पर्य नेत्रों द्वारा गृहीत गुण से है।[3] नेत्रों द्वारा गृहीत गुण प्रायः आकार से सम्बद्ध होते हैं, पर संत तो निराकार के उपासक हैं :

निश्चल निराकार अज अनुपम, निरभय गति गोविंदा।
अगम अगोचर अच्छर अतरक, निरगुन अंत अनंदा।।[4]

किन्तु निराकार के उपासक संत जब अपना आत्म–निवेदन व्यक्त करते

---

1. डा0 पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ0 107
2. कबीर ग्रन्थावली, गुण निर्गुण जहँ राखिये, दादू घर बन माहिं, पृ0 149, दादू संत काव्य, पृ0 29
3. नाथ पंथ और निर्गुण संत काव्य पृ0 217
4. रैदास, संत–काव्य, पृ0 213

हैं तब यह अनुमान बहुत तर्कपूर्ण नहीं प्रतीत होता कि वे निराकार के उपासक होकर भी ऐसी विह्वल स्थिति प्राप्त कर लेते हैं।[1] संतों का परमतत्व न रूप है और न अरूप, वही एकमेव है। वह सूक्ष्म है पर सर्वव्यापी भी है, विश्व के अणु–परमाणु में उसका विस्तार है, सम्पूर्ण जड़–चेतन उसके अरूणिम तन्तु से बँधे हुए हैं। वह 'पुहुपवास' से भी पतला है[2] और उसके रूप को भी कोई नहीं जानता :

आपणें रूप कौं आपहिं जाणैं, आपैं रहे अकेला।[3]

किन्तु ब्रह्म के वेदान्ती रूप से पृथक होकर संतों ने उन्हें भक्त के भगवान के रूप में देखा है, यह तथ्य भी उपेक्षणीय नहीं है। सगुण भक्तों ने ब्रह्म के रूपात्मक तत्व को लेकर उसकी लीलाओं का विस्तार किया है, वे ब्रह्म के विशेषरूप (जिसमें व्यक्तिगत स्मबन्ध की कल्पना की जा सके) को प्रधानता देते हैं, किन्तु रूपात्मक दृष्टि से निर्गुण संतों ने ब्रह्म के निर्विशेष रूप को प्रधानता दी है।[4] जब केवल वही एक तत्व है तब उसका विशेष रूप क्या हो? जो उसमें लीन हो गया उसने सुख सागर प्राप्त कर लिया :

लीन निरंतर बपु विसराया। कहै कबीर सुख सागर पाया।।[5]

उसके रूप का परिचय नाम से भी सम्भव नहीं है संत उसे आत्मा में देखते हैं :

जहँ आतम तहँ राम है सकल रह्या भरपूर।[6]

---

1. नरहरि चंचल है मति मोरी।
कैसे भगति करूँ मैं तेरी।।
तू मोहि देखै, हों तोहि देखूँ, प्रीत परस्पर होई।
तू मोहि देखै, मैं तोहि न देखूँ, यह मति सब धुधि खोई।। –रैदास बानी, पृ0 7
2. पुहुप बास से पातरा, ऐसा तत्व अनुप। – कबीर
3. कबीर ग्रन्थावली, पृ0 140
4. डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ0 80
5. कबीर ग्रन्थावली, पृ0 136
6. कुछ नाहीं का काम धरि, भरया सब संसार।
सांच झूँठ समझे नहीं, ना कुछ किया विचार।। – दादू

संतों ने ब्रह्म की व्यापकता और सूक्ष्मता में विश्वास रखते हुए भी उसकी दिव्य अनुभूति को अनेक रूपों में व्यक्त किया है। कहीं वह पीव है[1], कही भरतार है और कहीं पुरुष। ब्रह्म के गुणों को अपनी आत्मानुभूति से जो रूपात्मकता संतों ने प्रदान की है वह सगुण भक्त कवियों से पृथक कोटि की होती हुई भी भक्ति के क्षेत्र में नवीन नहीं है।

उपर्युक्त संदर्भ से यह स्पष्ट है कि संतों की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि में जहॉ ब्रह्म का नाम नाथपंथी साधकों की परम्परा का पोषक है वहाँ उसकी गुणात्मक और रूपात्मक अभिव्यक्ति वैष्णव भक्तों की प्रेम साधना का एक अंक है। किन्तु संतों की यह अभिव्यक्ति एक भिन्न कोटि की अभिव्यक्ति है। संतों के ब्रह्मनिरूपण में सूफी अथवा एकेश्वरवाद का कोई विशेष प्रभाव नहीं मिलता, परिस्थितिजन्य शब्द प्रयोगों एवं प्रभावों की बात भिन्न है। वास्तव में बह्म ही परिपूर्ण रूप में इस सृष्टि में व्याप्त है।[2]

वास्तव में कबीर साहब की विचार पद्धति की भित्ति स्वानुभूति पर ही खड़ी है और इसी कारण ये जहाँ कहीं भी अवसर पाते हैं, वहाँ निजी अनुभव के महत्व का गान करते नहीं उघाते और न कभी परावलंबन द्वारा प्राप्त तताकथित ज्ञान की निंदा करने से ही चूकते हैं। इन्होंने जिस प्रकार उस परमात्मा को 'जल' व –रामजल' कहने मात्र से इसका सहज स्वरुप भौतिक जलतत्व नहीं समझा जा सकता, उसी प्रकार उसे ही अन्यत्र इनके –राम' शब्द द्वारा अभिहित करने से प्रसिद्ध अवतार दशरथी रामचन्द्र का बोध नहीं हो सकता और न हम उसे कहीं अन्य स्थल पर इनके 'ब्रह्मा' कह देने मात्र से ही निर्गुण परमात्मा तत्व मान सकते हैं।[3] वह इनके अपने निजी अनुभव की वस्तु है

1. (अ) राम मेरी पीव, मैं पीव की बहुरिया, (आ) कबीर ग्रन्थावली, पृ0 87
2. कबीर साहित्य की परम, खालिक खलक, खलक में खालक, पूर रह्यो सब ठाई, पृ0 93
3. कबीर साहित्य की परम, खालिक खलक, खलक में खालक, पूर रह्यो सब ठाई, पृ0 93

जिसे ये स्वभावतः दूसरों को पूर्ण रूप से समझा नहीं पाते और इन्हें विवश होकर इसे रहस्यमय एवं अकथनीय तक कह देना पड़ता है। वह इनकी अपनी 'भीतर की चीज' है जो पहले इन्हीं के हृदय में एक तीव्र जिज्ञासा के रूप में इन्हें बैचेन किये हुए थी और वह फिर जैसे परिवर्तित सी होकर इन्हें पूर्ण शान्ति प्रदान कर रही है। अब इनकी अपनी ज्वालामयी वेदना की शीतल जल की भाँति अनुभूत हो रही है और इनका 'मन मान गया' है। "आग बुझ गयी है, पर ये अपने उक्त अनुभव विशेष का चित्रण उसी रूप में 'बाहर' करने में असमर्थ है।"[1] इनके अनुसार इस अनुभव की कथा किसी के भी द्वारा कही नहीं जा सकती। "जिसके भीतर यह 'सहजभाव' से उत्पन्न होता है, वह उसमें रमण करता हुआ उसी में लीन हो जाता है।"[2]

इस प्रकार कबीर साहब के अनुसार धर्मतत्व का वास्तविक रुप सामूहिक व साम्प्रदायिक न होकर व्यक्तिगत ही हो सकता है और इसी कारण प्रत्येक व्यक्ति के लिए सत्य स्वरुप का ज्ञान भी केवल उतना ही हो सकता है जितना उसके किसी निजी अनुभव में आ सके। वेद, कतेव व अन्य मान्य ग्रन्थ उनके रचयिताओं के अपने अनुभव विशेष पर ही अवलंबित है और वे भी उसी हद तक प्रमाण माने जा सकते हैं। यदि किसी अन्य व्यक्ति के भी विचारपूर्ण अनुभव में ठीक वैसी ही बातें आ सकें, तो कोई हानि नहीं, किन्तु कोरे अंधविश्वास के बल पर उन्हें वैसा मान बैठना अपने साथ भी छल व धोखा करने के समान है। कबीर सहाब पूर्ण सत्य को पूर्ण रूप में जान लेने का स्वयं कहीं भी दावा नहीं करते और न दूसरों द्वारा ऐसा किया जाना ये पसंद ही करते हैं। इनके मतानुसार "वह जैसा वस्तुतः हो सकता है, वैसा किसी को भी ज्ञात नहीं। सब अपनी अपनी पहुँच के आधार पर ही कुछ कहा करते हैं। वह जैसा है वैसा उसे ही विदित है,

---

1. कबीर ग्रन्थावली, सा0 31, पृ0 14
2. वही, पद 14, पृ0 13

वही केवल है ही, अन्य कुछ है ही नहीं।"[1] "जैसा कहा जाता है, वैसा ही उसका पूर्ण रूप में होना संभव नहीं, वह जैसा भी हो, रहा करे, हमें उसकी आवश्यकता नहीं, हमें तो केवल अपनी पहुँच भर उसे जानकर ही आनन्द में मग्न होना है।"[2] वह जिस किसी भी व्यक्ति के अनुभव में जिस प्रकार अपने को व्यक्त कर उसे अनुप्राणित करता है, उसी प्रकार वह उसका वर्णन किया करता है।"[3] और जो जैसा उसे जानता है उसी के अनुसार उसे लाभ भी होता है।"[4]

सारांश यह है कि यद्यपि सत्य के वास्तविक स्वरूप के विषय में किए गये वर्णन अतः अपूर्ण ही कहे जा सकते है, किन्तु उनके आधार भूत निजी अनुभव का धार्मिक दृष्टि से बहुत बड़ा महत्व है। सन्त कबीर साहब ने अपने विषय में ठीक ही कहा है कि "सद्‌गुरु ने मुझे तत्व की ओर विचारपूर्वक सकेत कर दिया है और मैंने उसे अपने अनुभव के अनुसार ग्रहण कर लिया" ।[5] "तथा अपने अनुमान के अनुसार ही स्मरण करते हुए मैंने राम को कुछ हद तक जान लिया।"[6] वह 'अनुभूत', 'अविगत', 'आगम', व 'अकलप' तो है ही, जहाँ तक अपने अनुभव के भीतर आ सका वहाँ तक भी उसे 'अनुपम', 'निराला', 'अकथ', 'अगोचर' ही इन्हें कहना पड़ा। उसे निजी अनुभव द्वारा आत्मसात् कर लेने पर जो दशा हो जाती है, उसका भी वर्णन करने में ये अपने को असमर्थ पाते हैं। ये कहते हैं कि उस समय मेरे हृदय–स्थित 'त्रिभुवन राई' ने मेरे शरीर में 'अग्नि कथा' ला दी अर्थात् एक विचित्र स्थिति उत्पन्न कर दी।"[7] जिस प्रकार पानी से हिम बनकर फिर हिम पानी में ही परिवर्तित हो जाता है, उसी प्रकार में जो कुछ पहले था वही फिर से हो गया,

---

1. कबीर ग्रन्थावली, पद 47, पृ0 103
2. वही साखी 2, पृ0 230
3. वही रमैनी 3, पृ0 230
4. वही साखी 21, पृ0 6
5. वही पद 386, पृ0 216
6. वही रमैनी 4, पृ0 2341
7. वही, साखी 17, पृ0 14

अब उसे क्या कहा जा सकता है।[1] "उस समय जैसी शोभा का मैंने अनुभव किया वह वर्णन करने योग्य नहीं, वह शोभा देखकर ही समझी जा सकती है।"[2] मैंने अविगत, अकल व अनूपम को देखा जिसका वर्णन यदि करना चाहूँ तो मैं उसी प्रकार नहीं कर सकता जिस प्रकार कोई गूँगा व्यक्ति मिठाई का स्वाद पाकर उसका माधुर्य किसी दूसरे पर प्रकट नहीं कर सकता, बल्कि मन ही मन आनन्दित होता हुआ सैन का संकेत मात्र करके रह जाता है।"[3] "अपनी स्वप्न जैसी स्थिति में मैंने उस निधि का जो 'भक्तिकंचित्' पाया, उसकी शोभा कहीं गुप्त रखने योग्य नहीं थी, वह अपार थी और अपने हृदय में मानो समा नहीं पाती थी। अव लोभ और अहंकार की प्रवृत्तियाँ आपसे आप नष्ट हो गयी।"[4]

तदनुसार कभी–कभी ये उसे 'गुनअतीत', 'गुनबिहून', 'निरगुन' व जिसे कोई लख नहीं सकता, वह निरमै व निराकार है, वह न शून्य है न स्थूल है, उसकी कोई रूपरेखा नहीं, वह न दृश्य है न अदृश्य है, उसे न तो गुप्त ही कह सकते हैं।"[5] इसी प्रकार ये, "उस 'अवगति' की गति क्या बतलाऊँ, जिसके नाम ग्राम का कोई ठिकाना नहीं, 'गुनबिहून' को कैसे देखा ही जा सकता है और उसका नाम ही क्या दिया जा सकता है"[6] भी कहते हैं।

सन्त कबीर साहब ने परमात्मा के रूप को विराट माना है। वह परमात्मा को सृष्टि की रचना करने वाला मानते है वे कहते हैं कि परमात्मा ही सृष्टि को गढ़ने वाला है, सुधारने वाला तथा वही नष्ट करने वाला भी है। ये उस परमात्मा को विराट रूप

---

1. कबीर ग्रन्थावली, साखी 17, पृ0 13
2. वही, साखी 3, पृ0 13
3. वही, पद 6
4. वही, रमैनी 4, पृ0 234
5. वही, रमैनी 5, पृ0 230
6. वही, रमैनी 5, पृ0 238

में देखते हैं और कहतें है कि 'करोड़ों सूर्य वहाँ प्रकाश करते हैं, करोड़ों महादेव अपने कैलाश पर्वत के सहित वर्तमान हैं, करोड़ों दुर्गायें सेवा करतीं हैं, करोड़ों ब्रह्मा वेद का उच्चारण करते हैं ....., करोड़ों चन्द्रमा वहाँ दीपक की भाँति प्रकाश कर रहे हैं और तेंतीस करोड़ देवता भोजन कर रहें हैं, नवग्रह के करोड़ों समूह उसके दरबार में खड़े रहते हैं और करोड़ों धर्मराज उसके प्रतिहारी स्वरूप है, करोड़ों पवन उसके चौबारों में घूम रहें हैं, और करोड़ों वासुकि उसकी सेज लगा रहें हैं, करोड़ों समुद्र उसके यहाँ पानी भर रहे हैं, और अठारहों करोड़ पर्व उसकी रोमावली बने हुए हैं, करोड़ों कुबेर उसका भण्डार भरते हैं और करोड़ों लक्ष्मियाँ उसका श्रृंगार करती हैं। पाप व पुन्य का हरण करने वाले करोड़ों इन्द्र उसकी सेवा में निरत हैं। उसके प्रतिहारियों की संख्या छप्पन करोड़ है और नगर–नगर में उसकी अपार रचना दीख रही है, वह मुक्तकेशी बनकर विकराल सी लक्षित होने वाली करोड़ों कलाओं के साथ क्रीड़ा करता है, करोड़ों संसार उसका दरबार बने हुए हैं और करोड़ों गंधर्व उसकी जय–जय मना रहे हैं। करोड़ों विधाएँ उसके गुणगान में लगी हुई हैं, किन्तु फिर भी उस परमात्मा का अन्त नहीं पाती है।'' ''अष्टकुल पर्वत उसके पग की धूलन हैं, सातों समुद्र उसके नेत्र के अंजन रूप है, अनेक मेरु पर्वत उसके नखों पर स्थित हैं और धरती व आकाश को उसने अधर में ही रख छोड़ा है। भला उसे केवल 'गोवर्धनधारी' मान कह देना कितने आश्चर्य की बात है।

ये इसी प्रकार कभी विष्णु के पौराणिक रूप की कल्पना करते हैं और कभी नरसिंह एवं कृष्णावतार की भी चर्चा कर जाते हैं। ये उस हरि की प्रशंसा करते नहीं उघाते और कहते हैं ''यदि सातों समुद्रों में स्याही घोल दी जाये, सभी जंगलों के पेड़ों की लेखनियाँ तैयार कर ली जाये और सारी पृथ्वी के कागज बनाकर उस पर लिखने लगे, तो भी उसकी गुणावली लिखी नहीं जा सकती।[1]

---

1. डा0 परशुराम चतुर्वेदी, उत्तर भारत की संत परम्परा, पृ0 188–196

नाथ पंथियों ने भी परमात्मा का स्वरूप निर्गुण माना है वे कहते हैं कि परमात्मा निराकार है उसका कोई स्वरूप नहीं है। मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा अवतरित कौलज्ञान की आलोचना के प्रसंग में शेव सिद्धान्त के छत्तीस तत्वों का एक साधारण परिचय दिया जा चुका है। प्रलय काल में इन समस्त तत्वों को निशेषभाव से आत्मसात् करके शक्ति परम शिव में तत्वरूपा होकर अवस्थान करती है। इसलिए 'वामकेश्वरतंत्र' में भगवती शक्ति को "कवलीकृता निःशेषतत्व ग्राम स्वरूपिणीं" कहा गया है।

इस अवस्था में शिव में कार्य–कारण का कर्तव्य नहीं होता अर्थात् कार्य–कारण के चक्र के संचालन कर्म से विरत हो जाते हैं। वे कुल और अकुल के भेद से परे हो जाते हैं और अव्यक्तावस्था में विराजमान रहते हैं। इसलिए इस अवस्था में उन्हें शास्त्रकारगण 'स्वयं' कह कर स्मरण करते हैं।

इस परम शिव को जब सृष्टि करने की इच्छा होती है तो इच्छायुक्त होने के कारण उन्हें सगुण शिव कहा जाता है पहले बताया जा चुका है कि इच्छा शक्ति है अब इस अवस्था में परम शिव से एक ही साथ दो तत्व उत्पन्न होते हैं। शिव और शक्ति। वस्तुतः इन दोनों में कोई भेद नहीं है। यह शक्ति पाँच अवस्थाओं से गुजरती हुई स्फुरित होती है। (1) परम शिव की अवस्था–मात्र धर्म से मुक्त, स्फुरित होने की पूर्ववर्ती, और प्रायः स्फुरित होने को उपक्रान्त अवस्था का नाम 'निजा' है। इस अवस्था में शिव अपने अव्यक्त रूप में रहते हुए भी स्फरणोन्मुखी शक्ति से विशिष्ट होकर रहा करते हैं। शिव की इस अवस्था का नाम 'अपर' 'पदम' है। धीरे–धीरे शक्ति क्रमशः स्फुरण की ओर उन्मुख होती है, फिर (3) स्पन्दित होती है, फिर (4) सूक्ष्म अहन्ता से मुक्त होती है और अन्त में (5) चेतनशीला होकर अपने अलगाव के बारे में पूर्ण सचेत हो जाती है। ये अवस्थाएँ क्रमशः परा, अपरा, सूक्ष्मा और कुण्डली कही जाती है। इन अवस्थाओं में शिव भी क्रमशः परम, शून्य, निरंजन और परमात्मा के नाम से प्रसिद्ध होते हैं। इस प्रकार निखिलानन्द सन्दोह शिव पाँच अवस्थाओं से गुजरते हुए प्रथम तत्व परमात्मा या सगुण

शिव के रूप में प्रकट होतें हैं और शक्ति भी पाँच अवस्थाओं से अग्रसर होती हुई द्वितीय तत्व कुण्डली या कुण्डलिनी के रूप में प्रार्दूभूत हुई। यही कुण्डलिनी समस्त विश्व में व्याप्त शक्ति है, इसी की इच्छा से, इसी की सहायता से शिव इस विश्व प्रपच्च की उत्पत्ति पालन और विलय समर्थ होते हैं। यही परमात्मा और कुण्डली–शिव और शक्ति–प्रथम दो सूक्ष्म तत्व हैं। इन से ही अत्यन्त सूक्ष्म 'पर पिण्ड' की उत्पत्ति हुई है।[1]

गोरखबानी में कहा गया है कि –

वसती न सुन्यं, सुन्यं न बसती अगम अगोचर ऐसा।
गगन सिषर महि बालक बोले ताका नाषि धरहुगे कैसा।।[2]

(गोरखबानी 01)

सबदी के इस पद में यह कहा गया है कि परम तत्व तक किसी की पहुँच नहीं है। वह इन्द्रियों का विषय नहीं है। वह ऐसा है कि न उसे हम बस्ती कह सकते हैं (बस्ती) और न यह कि वह कुछ नहीं है (शून्य) । वह भाव तथा अभाव, सत् और असत् दोनों से परे हैं। विशेष जोर देने की दृष्टि से 'सुन्यं न बस्ती' कह कर इसी बात को फिर से दोहराया है। वह आकश मण्डल में बोलने वाला बालक है। (आकाश मण्डल में बोलने वाला इसलिए कहा है कि शून्य अथवा आकाश या ब्रहमारन्द्र में ब्रह्मा का निवास माना जाता है, वहीं पहुँचने पर ब्रह्मा साक्षात्कार हो सकता है। वहीं आत्मा को ढूढ़ना चाहिए बालक इसलिए कहा है कि जिस प्रकार बालक पाप पुण्य से अछूता है, उसी प्रकार परमात्मा भी। जरा मरण से दूर काल से अभ्रष्ट सतत् बाल स्वरूप जैसा ही योगियों का साध्य आदर्श है। इसलिए, –गोरख गोपाल', 'बूढ़ा वाले' कहे जाते हैं। उस परमात्मा का नाम ही कैसे रखा जा सकता है। (क्योंकि वह तो नाम और रूप दोनों परिधियों से परे हैं।[3]

---

1. डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, नाथ सम्प्रदाय, पृ0 114, 115
2. गोरखबानी, पद 1
3. डा0 बड़थ्वाल, गोरखबानी, पृ0 1

गुरु गोरख द्वारा निर्दिष्ट निर्गुण व निराकार की उपासना भक्ति व प्रेम का आधार पाकर नाथपंथ आगे और भी लोकप्रिय बन गया है। जैसा कि शुरु में ही कहा गया है, कबीरदास उत्तम अधिकारी के लिए इस 'अवाङ मानस गोचर' परंब्रह्मा की उपसना को बहुत महत्व नहीं देते। परन्तु इस बात में खूब सावधान हैं, वे बार बार याद दिला देते हैं कि यह जो उपसना बताई जा रही है वह सगुण अवतार की नहीं है वरन् 'निर्गुण राम' की है। इस प्रसंग में कुछ वृद्ध पंडितों के विचारों की जानकारी आवश्यक है। उनके विचारों का सारांश यह है कि 'निर्गुण और सगुण' के विषय में जो विचार परम्परा पुराणवादियों और वेदान्तवादियों के देंखे जाते है, पग पग पर वे उसी का अनुसरण करते दृष्टिगत होते हैं। कोई पुराण ऐसा नहीं है जिसमें परमात्मा का वर्णन इसी रूप में न किया गया हो। पुराणों का सगुणवाद जैसा प्रबल है वैसा ही निर्गुणवाद भी। वे भी वेदान्त के भावों से प्रभावित है और वैष्णव पुराणों में उनका बड़ा ही हृदयग्राही विवेचन है। परन्तु, वे जानते हैं कि निर्गुणवाद के तत्वों को समझना कतिपय तत्वों का ही काम है, इसलिए उनमें सगुणवाद का ही विस्तार है, क्योंकि वह बोध–सुलभ है। बिना उपासना किये उपासक सिद्धि नहीं पाता। उपासना सोपान पर चढ़कर ही साधक उस प्रभु के सामीप्य लाभ का अधिकारी बना है जो ज्ञान–गिरा गोतीत है। उपासना के लिए उपास्य की प्रयोजनीयता अविदित नहीं। यदि उपास्य अचिन्तनीय अव्यक्त है अथवा ज्ञान का विषय नहीं तो उसमें भावों का आरोप नहीं हो सकता। ऐसी अवस्था में भक्ति किसकी होगी? प्रेम किससे किया जायेगा? और किनके गुणों का मनन चिन्तन करके मनुष्य अपनी आत्मा को उनन्त बना सकेगा? इन्हीं बातों पर दृष्टि रखकर परमात्मा के सगुण रूप की कल्पना है जो यह समझता है कि बिना एगुणोपासना किये हम परमात्मा के निर्गुण स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेंगे वह उसी जिज्ञासु के समान है जो विश्व नियन्ता का तो परिचय प्राप्त करना चाहता है, किन्तु यह नही जानता कि जगत क्या है।

संत कबीर ने भक्त जन रूप पर महत्वपूर्ण जोर दिया है कबीर का लक्ष्य समस्त अस्थिर रूपराशि के भीतर से स्थिर अरूप परमात्मा की ओर इशारा करना अधिक रहा है। वे दस दिन के लिए अपनी नौबत बजाकर इस नगर और गली को हमेशा के लिए नमस्कार करके चल देने वालों को उस परमतत्व की बार–बार याद दिलाते हैं जो स्थिर है, शाश्वत है, रूपातीत है –

कबीर नौबत आपणीं, दिन दस लेहु बजाई।
ए पुर–पाटन ए गली, बहुरि न देखै आई।।1।।
जिनके नौबत बाजती, मैंगल बँधते वारि।
एकै हरि के नाव बिन, गये जन्म सब हारि।।2।।[1]

इस विनाश की दुनिया में एकमात्र अधिनाशी तत्व राम है। नष्ट होते हुए शरीर को अगर बचा लेना है तो इसी अविनश्वर की शरण जाओ नहीं तो इस कच्चे कुम्भ के फूटने में क्या देर है –

कबीर यह तन जात है, सकै तो लेह बहोड़ि।
नागें–हाथें ते गये, जिनके लाख–करोड़ि।।37।।
यहु तन काचा कुंभ है, चोट चहूँ दिस खाइ।
एक राम के नाँव बिन जदि पर लै जाई।।38।।[2]

परन्तु रूप और सीमा चाहे जितनी भी क्यों न हो, हम उनके द्वारा ही अरूप और असीम को पाने की ओर उन्मुख होते हैं साधक रूप और सीमा की सहायता से उस शाश्वत अरूप और परिव्याप्त असीम को देखना है, जो उसका चरम प्रातव्य है। कवि शब्द और अर्थ का सहारा लेकर अरूप रस की ओर उन्मुख होता है, कलाकार रेखा

---

1. कबीर ग्रन्थावली, पद 1, 2
2. वही, पद 37, 38

और रंग की सहायता से रूपातीत भाव की अभिव्यंजना करता है, और भक्त भी नाम और रूप की सीढ़ियों से ही उठकर अनाम और अरुण परमात्मा की झाँकी पाता है।

'गुण', 'निर्गुण' की विरोधी वस्तु नहीं है। निर्गुण परमात्मा क्या गुणों में नहीं है। यह जो धरती, आकाश, चन्द्र, तारे दिखाई दे रहे हैं वे क्या त्रिगुणात्मिका प्रकृति के विकार नहीं है और इसलिए क्या ये परमात्मा से खाली है? यह हो ही नहीं सकता सो ये लोग भोले ही हैं जो गुणों को निर्गुण के बाहर या विरूद्ध मानते हैं, वस्तुतः गुण से हम निर्गुण का अनुमान करते हैं। दूसरे शब्दों में रूप हमें अरूप की ओर उन्मुख कर देता है, सीमा असीम का सन्धान बताते है। गुण और निर्गुण केवल तारतम्य बताने के वास्ते हैं। जब कहा जाता है कि भगवान् गुणमय नहीं है तो उसका मतलब यही होता है कि जो रूप और सीमा हमें दिख रही है। वह अरूप और असीम को ठीक ठीक प्रकट नहीं कर सकती, भगवान न तो रूप ही है न उसके समान ही है। वह उससे अतीत है, परे है। 'निर्गुण' कहने से यदि यह अर्थ लिया जाता है कि वह दृश्यमान गुणों से बाहर है या विरूद्ध है, तो भ्रम है, धोखा है –

संतों, धोखा कांसूं कहिये
गुण मैं निरगुंण निरगुंण में गुण,
बाट छाँड़ि क्यूँ बहिये?
अजंरा–अमरा कनौ सब कोई,
अलख न कथणां जाई,
नाहिं सरूप,वरण नाहिं जाकै,
घटि घटि रह्यौ ममाई।।
प्यंड–ब्रह्मंड छोड़ि जो कनिये,
कहै कबीर हरि सोई।।

(क0ग्रं0 पद 180)

इसलिए परमात्मा को (वह) अद्भुत, अनुपम, रामतत्व कहकर बताया नहीं जा सकता। उसको सगुण निर्गुण में से किसी भी नाम से पुकार नहीं सकते, पर न तो परमात्मा सगुण वस्तु में अविधमान है और न निर्गुण वस्तु द्वारा असूचचितव्य। परमात्मा इन झमेलों से ऊपर है।[1]

कबीरदास की वाणी वह लता हे जो योग के क्षेत्र में भक्ति का बीज पड़ने से अंकुरित हुई थी। उन दिनों उत्तर के हठयोगियों और दक्षिण के भक्तों में मौलिक अन्तर था। एक टूट जाता था पर झुकता न था, दूसरा झुक जाता था पर टूटता न था। एक के लिए समाज की ऊँच–नीच–भावना मजाक और आक्रमण का विषय भी, दूसरे के लिए मर्यादा और स्फुर्तिका और फिर भी विरोधाभास यह कि एक जहाँ सामाजिक विषमताओं को अन्याय समझकर भी व्यक्ति को सबके ऊपर रखता था, वहाँ दूसरा सामाजिक उच्चता का अधिकारी होकर भी अपने को 'तृणादपि सुनीचेन' (तृणसे भी गया गुजरा) समझता था। योगी डटकर जाति–भेद पर आघात करता था, बाह्माचार और तन्मूलक श्रेष्ठता को फटकार बताता था, पर भीतर और बाहर योग–मार्ग का प्रत्येक अनुयायी अपने को समाज के अन्य निकृष्ट जीवों से श्रेष्ठ समझता था, दूसरों की बहिर्मुखी वृत्ति पर तरस खाता था, नाना प्रकार की पेंचीदी बातों से उसका मजाक बनाता था और आशा करता था कि लोग उसके अचरज–करिश्मे देखकर दाँतो–तले ऊँगली दबा लें। भक्त जाति–भेद, वर्णाश्रमत्यवस्था और ऊँच नीच मर्यादा को शिरसा स्वीकार कर लेता था, अपने को भवसागर में भटकता हुआ गुमराह प्राणी मानता था, अपनी पुरानी पाप–भावना के लिए बार–बार पश्चयाताप करता था और आशा करता था कि सर्वान्तर्यामी भगवान उसके हार्दिक अनुताप को जरूर सुन लेंगे और भवबन्धन से उसे मुक्त कर देंगे। एक को अपने ज्ञान का गर्व था दूसरे को अपने ज्ञान का गर्व था, दूसरे को अपने अज्ञान

---

1. डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ0 116ए 117

का भरोसा, एक के लिए पिण्ड ही ब्रह्माण्ड था और दूसरे के लिए समस्त ब्रह्माण्ड भी पिंड, एक का भरोसा अपने पर था, दूसरे का राम पर, एक प्रेम को दुर्बल समझता था, दूसरा ज्ञान को कठोर, एक योगी था, दूसरा भक्त।

साधारण जनता में इन दोनों से दो प्रकार की प्रतिक्रिया हुई। एक ने श्रद्धालु गृहस्थ के चित्त में शंका का भाव पैदा कर दिया। वह सोचने लगा कि माया विकराल है, इससे छुटकारा पाना कठिन है, सिद्धि का मार्ग विघ्न संकुल है। योग–क्रिया'–हीन व्यक्ति की न जाने कौन–सी दुर्गति होगी, चौरासी लाख योनियों में न जाने वह कब तक भटकता फिरेगा। भवजाल विकट है, मायाचक्र अनन्त है, साधन–मार्ग दुरधिगम्य हे, विघ्नों की वाहिनी रास्ता रोके खड़ी है और गृहस्थ लाचार है। दूसरे (भक्त) ने उसे लापरवाह बना दिया। गलती से भी एक बार हरि नाम जिसने ले लिया उसे कुछ और करने की जरूरत नहीं, विष्णु का तिलक एक बार अगर सिर पर चढ़ गया तो बैकुण्ठ का दरवाजा खुला है, तुलसी की माला यदि किसी प्रकार मिल गई तो गोलोक में स्थान मिश्रित है। कलियुग सब युगों से अच्छा है, क्योंकि इसमें मानव–पाप का कुछ फल नहीं होता किन्तु मानस–पुण्य का पूरा फल मिलता है। राम का नाम राम से भी बड़ा है, भय की कोई जरूरत नहीं। योग ने गृहस्थ को जरूरत से ज्यादा श्रद्धालु बना दिया था, भक्ति ने पूरा आशावादी। एक ने मुक्ति को मंहगा सौदा बना दिया, दूसरे ने बहुत सस्ता। योग में गलदश्रु भावुकता को कोई स्थान नहीं। जो भक्ति पद–पर भक्त को कम्प, आवेग, जड़ता और रोमोदम की अवस्था में ले आ देती है वह इस क्षेत्र में अपरिचित थी और यदि सचमुच ही भाग और विभाग कल्पित हैं, कल्प–विकल्प बेकार हैं, संसार मृगमरीचिका है, परमतत्व विभाग और अविभाग से परे हैं, सूक्ष्म और स्थूल के अतीत हैं, यदि वह एक रस है, समरस है, तो फिर रोने से होता क्या है? अखण्ड चैतन्य स्वरूप अमायिक परमपुरूष के सामने यह विलाप क्यों? उस गुण–हीन, विकारहीन, दया–माया–हीन के पूजा क्या और स्तुति क्या। निर्ममता और अमायिकता योग की पहली शर्त है। इसीलिए वह अपने

अनुयायी को अक्खड़ बना देता है। कबीरदास ने यह अक्खड़ता योगियों से विरासत में पाई थी। संसार में भटकते हुए जीवों को देख कर करूणा के अश्रु से वे कातर नहीं हो आते थे बल्कि और भी कठोर होकर उसे फटकार बताते थे। वे प्रह्लाद की भाँति सर्वजगत् के पापों को अपने ऊपर ले लेने की वाक्छा से ही विचलित नहीं हो पड़ते थे बल्कि और भी कठोर और भी शुष्क होकर सूरत और निरत का उपदेश देते थे। संसार में भरम ने वालों पर दया कैसी, मुक्ति के मार्ग में अग्रसर होने वालों को आराम कहाँ, करम की रेख पर मेरख न मार सका तो सन्त कैसा--

ज्ञान का गेंद कर सुर्त का डंड कर
खेल चौगान--मैदान माँहीं।
जगत का भरमना छोड़ दे बाल के
आय जा मेष--भगवन्त जाहीं।।
भेष--भगवतंत की शेष महिमा करे
शेष के सिर पर चरन डोरे।
कामदल जीति के कँवल--दल सोधि के
बह्न को बेधि के क्रोध भारै।।
पदम--आसन करै पौस परिचै करै
गगन के महल पर मदन जारै।
कहत कबीर कोई सन्त--जन जौहरी
करम की रेख पर मेरव भारै।।

(शब्दावली पृ0 50)

परन्तु अक्खडता कबीरदास का सर्वप्रधान गुण नहीं है। जब वे अवधू या योगी को सम्बोधन करते हैं तभी उनकी अक्खडता पूरे चढ़ाव पर होती है। वे योग के

विकट रूपों का अवतरण करते हैं, गगन और पवन की हेली बुझाते रहते हैं, सुन्न और सहज का रहस्य पूछते रहते हैं, द्वैत और अद्वैत के सत्व की चर्चा करते रहते हैं और अवधू के अज्ञान पर कुटिल हँसी–सी हँसा करते हैं –

अवधू, अच्छर हूँसों न्यारा।
जो तुम पवना गगन चढ़ाओ, करो गुफा में बासा।
गगना–पवना दोनों बिन सै, कहँ गया जोग तुम्हारा।।
गगना–मद्धे जोती झलके, पानी मद्धे तारा।
घटिगे नींर विनसिंगे तारा, निनकरि गयौ कैहि द्वारा।।
मेरूदंड पर डारि दुलैची, जोगी तारी लाया।
सोर सुमेरपर खाक उडत्रानी, कच्चा योग कमाया।।
रँगला बिनसै, पिंगला किनसै, बिनसै सुषमनि नाड़ी।
जब उनमनि की तारी टूटै, तब कहँ रही तुम्हारी।।
अद्वैत–विराग कठिन है भाई, अँटके मुनिवर–जोगी।
अच्छर–लौकी गम्म बतावै, सो है मुक्ति–विरोगी।।
कह अरू अकह दुहूँते न्यारा, सत्त असतके पारा।
कहैं कबीर ताहि लख जोगी, उतरि जाय भव–पारा।।[1]

परन्तु वे स्वभाव से फक्कड़ थे। अच्छा हो या बुरा, खरा हो या खोटा, जिससे एक बार चिपट गये उससे जिन्दगी भर चिपटे रहो, यह सिद्धान्त उन्हें मान्य नहीं था। वे सत्य के जिज्ञासु थे और कोई मोह–ममता उन्हें अपने मार्ग से विचलित नहीं कर सकती थी। वे अपना घर जलाकर हाथ में मुराड़ा लेकर निकल पड़े थे और उसी को साक्षी बनाने को तैयार थे जो उनके हाथों अपना भी घर जलवा सके –

---

1. डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ0 153

हम घर जारा आपना, लिया मुराड़ा हाथ।
अब घर जारो तासुका, जो चलै हमारे साथ।।

(स0क0सा0 518)

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि परमात्मा के सम्बन्ध में संतों ने जो अनुभूति प्रकट की है वह अपनी विशेषता लिए हुए पृथक कोटि की ही सिद्ध होती है। उसके आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि :

(1) संतों ने ब्रह्म के परात्पर रूप को स्वीकार किया है। वह त्रिगुणातीत है, द्वैताद्वैत विलक्षण है, भावाभाव विनर्मुक्त है।

(2) संत उस अव्यक्त सत्ता को एक विलक्षण व्यक्तित्व प्रदान करते हैं।

(3) उसके प्रति भक्ति और प्रेम भाव प्रदर्शित करना ही उनकी साधना का लक्ष्य है।

(4) परमतत्व की नाम, रूप तथा गुणात्मक अभिव्यक्ति केवल सुविधा की दृष्टि से की है वह परम्परा पोषित भी मानी जा सकती है।[1]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि संतों का तत्वचिन्तन तथा उनके आध्यात्म सम्बन्धी विचार सत्संग एवं लोक चिन्ता के माध्यम से ही संतों द्वारा ग्रहण किये गये थे। संत–काव्य के आविर्भाव के समय नाथ पंथ का प्रभाव पूरे भारत में था इसमें दो मत नहीं हो सकते। आध्यात्मिक चिन्तन के रूप में आत्मा, जगत, माया, परमात्मा के सम्बन्ध में जो भी विचार उस समय लोक में प्रचलित थे उनका साधना की दृष्टि से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सम्बन्ध नाथ पंथ से था। यद्यपि संतों का ब्रह्म विचार नाथपंथियों का द्वैताद्वैत विलक्षण भाव नहीं है किन्तु संत जब ब्रह्म पर विचार करते हैं जो ज्योर्तिमय स्वरूप की कल्पना भी करते हैं और उसी रूप में उसे खोजने के लिए उन्हें बाहर नहीं

---

1. नाथ पंथ और निर्गुण संत काव्य, पृ0 201–216

भटकना पड़ता।[1] संतों की आत्मा सम्बन्धी धारण प्रायः अद्वैतानुभूति से अनुप्राणित है, नाथपंथी रचनाओं में भी वही रूप मिलता है और संतों में भी। जगत और माया के सम्बन्ध में संतों की स्थापनाओं में लोक प्रचलित अनेक रूपों के दर्शन होते है, जबकि नाथपंथी उनकी साधानात्मक अवस्था मुख्य रूप से स्वीकार करते हुए उन्हें हेय बताकर वैराग्य की चर्चा करते हैं।[2]

---

1. राम मोहि तारि कहाँ लै जैहौ।
   सौ बैकुण्ठ कहाँ धूँ कैसौ।। – डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ0 114
2. डा0 कोमल सिंह सोंलकि, नाथ पंथ और निर्गुण संत काव्य, प0 224, 225

अध्याय – 4

गोरखबानी का सन्त काव्य पर प्रभाव–भाव बोध की दृष्टि से

नाथों का सन्तों पर भाव बोध की दृष्टि से महत्वपूर्ण प्रभाव है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की यह धारणा प्रख्यात रही है कि नाथ योग और संत मत के सम्बन्ध भक्तिवाद के पूर्व निसन्देह नाथ सम्प्रदाय सबसे प्रबल मतवाद था इसलिए भक्तिवाद में इनके शब्द और मुहाबरे ही नहीं इनकी पद्धति भी बहुत कुछ आ गयी है। बाद के सभी लेखकों ने यह स्वीकार किया है कि नाथ मत का सिद्धान्त और साधना दोनों ही दृष्टियों से संत मत पर पर्याप्त प्रभाव है। समूचा सन्त काव्य गोरखबानी की परम्परा का विकास है। गोरखपंथी अक्खड़ता सन्त कवियों में देखने को मिलती है। अतः नाथ मत के संतों पर प्रभाव के अनेक आयाम रहे है। परवर्ती सन्तों में कई राम भक्तों की रसिक परम्परा से प्रभवित है, कुछ सूफी साधना की ओर झुके हैं और कुछ कृष्ण–भक्ति धारा के निकट है, अतः संत मत पर नाथ पंथ के प्रभाव की चर्चा करते समय विशेष सतर्कता और सजगता अपेक्षित है।

ऐसी स्थिति में जब सन्तों पर नाथ–पंथ के प्रभाव की बात की जाती है तो उसका एक ही अर्थ होता है कि सन्तों की बानियों में ऐसी अनेक बातें हैं जो नाथ–पंथ में भी मान्य है। कबीर सच्चे साधक थे गोरखनाथ के प्रति उनके मन में सम्मान का भाव था। गोरखनाथ ने भी अपने समय में अनेक साधनाओं में समाविष्ट अवांछित आचारों का निषेध किया था। नाथों तथा सन्तों के भाव अक्सर मिलते जुलते हैं। नाथों ने शुद्ध आचरण पर बल दिया था वही हमें आगे चलकर सन्तों की बानियों में देखने को मिलता है। यहाँ इस प्रभाव का अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों में किया जा रहा है –

(क) गुरु का महत्व,

(ख) नाथों की साधना,

(ग) तत्व चिन्तन,

(घ) रहस्यानुभूति,

(ङ) नैतिक और सामाजिक मूतय।

(क) गुरु का महत्व :

नाथ मत में गुरु का महत्व सर्वमान्य है। वस्तुतः गुरु का महत्व तांत्रिक साधना की देन है। मंत्र योग संहिता में कहा गया है –

गुरु पिता गुरुर्माता गुरुदेवो गुर्रुगति।
शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरो रुष्टे न कश्चन।।

गोरखनाथ ने कहा है –

गुरु कीजै गहिला, निगुरा न रहिला।
गुरु बिन ग्यान न पायला रे भाईला।।

अन्य गुरु को शरीरस्थ देवता बताते हुए वे कहते हैं –

गुरुदेव स्वयं देव सरीर भीतरिए।
आत्मा उत्तम् देव ताही की न जागो सेव।
आन देव पूजि–पूजि इमहिं मारिए।।

गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह में कहा गया है –

दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरो! करुणा बिना।।

कबीरदास ने 'सतगुरु महिमा को अंग' में गुरु का महत्म्य गान किया है। उनकी दृष्टि में सतगुरु के समान कोई सगा नहीं है। वह संशय को मिटाने वाला है वह सिकलीगर के समान है जो शब्द ग्यान के द्वारा चित्त को दर्पण के समान साफ कर देता है। वह भव सागर से पार लगाने वाला है, वह विवेक जाग्रत करने वाला है और पथ

प्रकाशित करने के लिए ज्ञान का दीपक प्रदान करने वाला है। गुरु अध्यात्म के बीच को अपनी उपदेशों की दृष्टि से अंकुरित करने वाला है।[1]

संत कबीर ने गुरु गोविन्द को बार बार पुकार कर कहते हैं, हे गोविन्द मैं तुम्हारी शरण आया हूँ, क्यों नही मुझे उबार देते? वृक्ष के नीचे आदमी छाया के लिए जाता है, अगर उस वृक्ष से ही ज्वाला निकलने लगे तो क्या किया जा सकता है? हे नाथ, कबीर केवल तुम्हीं को जानता है, वह तुम्हारे ही शरण आया है, पर कैसे आश्चर्य की बात है कि तुम्हीं उसे जला रहे हो। हे गोविन्द, सचमुच ही तुम डरने की चीज बन गये हो। कबीरदास जी कहते हैं कि गुरु के उपदेश ही से इस विपत्तिकाल में सहारा है। हरि के रूठने पर गुरु शरण देने वाला है किन्तु गुरु के रूठने पर कोई शरण देने वाला नहीं है। अन्ततः वह यहाँ तक कह देते हैं।

सतगुरु की महिमा अनंत अनंत किया उपगार।
लोचन अनंत उधारिया अनंत दिखावनहार।।[2]

परवर्ती सन्तों में गुरु का महत्व कुछ बड़ा ही है, घटा नहीं है दादू ने 'गुरुदेव जी को अंग' में गुरु को निरंजन रूप मानकर नमस्कार किया है। उसे मार्ग प्रदर्शक बताया है, उसे सभी प्रकार के कपाटों को खोलने वाला कहा है, उसे 'अमर अलेषा' के आसन के निकट पहुँचने वाला बताया है।

दादू उस गुरुदेव की मैं बलिहारी जाऊँ।
जहाँ आसण अमर अलेष था ले राधे उस ढाँऊ।।

भक्ति और मुक्ति के भण्डार को देने वाला तथा सहज ही साहब का दीदार करने कराने वाला 'सतगुरु' ही है।

---

1. डॉ0 मनीषा शर्मा, गोरखबानी– परम्परा और काव्यत्व, पृ0 136
2. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ0 10·147

सतगुरु मिलै त पाइये भगति मुकति भंडार।
दादू सहजै देषिये साहिब का दीदार।।

मलूकदास के अनुसार गुरु भ्रम कों भगाने वाला तथा मोह को दूर करने वाला है –

भ्रम भागा गुरु वन्दन सुनि, मोह रहा नहिं लेस।।

इस प्रकार की उक्तियाँ सभी सन्तों में मिल जाती है। सुन्दरदास, दरिया साहब (बिहार वाले) इलनदास, सहजोवाई, दयाबाई, पलटू साहिब आदि अनेक सन्तों ने मुक्त हृदय से गुरु का महत्व प्रतिपादित किया है। योग मत और संत मत दोनों में गुरु के महत्व प्रतिपादन में अन्तर दिखाते हुए डा0 नागेन्द्रनाथ उपाध्याय ने लिखा है – "नाथों की अष्ट परीक्षा और 32–36 लक्षणों की व्यवस्था पर आधारित गुरु शिष्यवाद और अधिकार–भेदवाद सन्तों में उपलब्ध नहीं होता, यद्यपि गुरु शिष्य के लक्षणों, पात्रताओं और अधिकारों के संकेत यत्र तत्र संत साहित्य में मिल जाते हैं। यह अन्तर लक्षित किया जा सकता है कि नाथ योगियों में हठयोग की साधना के लिए प्रत्येक स्तर पर गुरु की आवश्यकता होती थी। आसन, प्राणायाम, मुद्रा, धौति, चक्रभेद, नाड़ी शुद्धी आदि सभी साधनाएँ सुयोग्य गुरु के निर्देशन में ही की जाती हैं। सन्तों में हठयोग की इन साधनाओं का साम्प्रदायिक विधान नहीं है। नाथयोग अपेक्षाकृत संगठित सम्प्रदाय था। सन्तों की परम्परा में अनेक छोटे–छोटे सम्प्रदाय कुछ सामान्य विशेषताओं के साथ विकसित हुए। इसलिए साम्प्रदायिक नियमों का अनिवार्य विधान संत मत में नहीं है। इसलिए गुरु और शिष्य के लक्षणों का संख्याबद्ध निर्धारण संत मत में असम्भव नहीं था। जहाँ तक गुरु के महत्व और स्थान का प्रश्न है, वह सन्तों में भी किसी प्रकार कम नहीं है।[1]

नाथपंथ की हठयोग साधना में गुरु के बिना साधक सफल नहीं हो

---

1. डॉ0 मनीषा शर्मा, गोरखबानी– परम्परा और काव्यत्व, पृ0 137

सकता गुरु का महत्व अपरम्पार है। गुरु ही शिष्य को ईश्वर तक पहुँचाने वाली सिढ़ी बताया गया है। गुरु ही शिष्य को ईश्वर से मिलाने वाली कढ़ी माना गया है।

(ख) <u>नाथों की साधना :</u>

नाथ योगियों की साधना मुख्यतः योग साधना है। योग साधना की पूर्णता के लिए आसन, प्राणायाम्, मुद्रा, कुंण्डलिनी–जागरण, नाड़ी शोधन नादानुसन्धान पिंड रहस्य आदि की जानकारी योगी के लिए अनिवार्य है।[1]

आसन शारीरिक अवयवों का नियमित एवं निर्धारित व्यायाम है। हठयोग के ग्रन्थों में 48000 आसनों का उल्लेख है, जिनमें 74 विशेष उपयोगी समझे जाते हैं। इनमें भी सिद्वासन पद्मासन, सिंहासन और भद्रासन को अधिक महत्व दिया जाता है। सिद्वासन सर्वोत्तम है। 'प्राणायाम' के द्वारा 'श्वासक्रिया' पर नियन्त्रण स्थापित करके प्राणतत्व को जाग्रत और प्राणशक्ति को केन्द्रित करते हैं। महामुद्रा की साधना अपेक्षाकृत कठिन है। महामुद्रा साधना के अनेक भेद हैं। इनकी साधना के लिए शरीर की शुद्वता अपेक्षित है। इसके लिए षट्क्रिया–धौति, वास्ति, नेति, त्राटक आदि की व्यवस्था है। मुद्रा साधना का लक्ष्य मनोवैज्ञानिक प्रकृति के अंतराल में सुप्त आध्यात्मिक, शक्ति को जाग्रत करना है। कुंडलिनी योग नाथ परम्परा में महत्वपूर्ण माना गया है। ऐसा समझा जाता है कि परम आध्यात्मिक शक्ति मनुष्य मात्र में सुप्तावस्था में विद्यमान है। इस सुप्त सर्पिणी रूपा कुंडलिनी को जागृत करके सुषुम्ना नाड़ी के भीतर से षटचक्रों को भेदते हुए सुषुम्ना नाड़ी की उच्चतम सीमा पर सहस्रार चक्र में स्थित्त शिव तत्व से मिला देना ही कुंण्डलिनी योग है।[2]

योगशास्त्र के अनुसार शरीर की सभी बाहरी क्रियाओं एवं चेष्टाएँ तथा आन्तरिक इच्छाएँ शरीरस्थ नाड़ी मंडल के द्वारा नियोजित हैं। नाड़ियों की कुल संख्या

---

1. डा0 नजीर मुहम्मद, कबीर के काव्यरूप, पृ 52
2. कोमल सिंह सोंलकी, नाथ और संत साहित्य, पृ0 457

62 हजार है। यह नाड़ी मडल भी इड़ा, पिंगला तथा सुषुम्ना नाड़ियों से सम्बद्ध और शासित हैं। इड़ा और पिंगला– दोनों श्वासक्रिया से संचालित होती है। शरीर के भीतर कार्य करने वाली प्राण–शक्तियाँ प्राण, आपान, समान, उदान और ज्यान–श्वास क्रिया की नियमित व्यवस्था पर निर्भर करती है। नाड़ी चक्र के दूषित होने से प्राण शक्ति क्षीण होती है। अतः नाड़ी शोध्र की आवश्यकता पड़ती है। नाड़ी चक्र के विशुद्ध हुए बिना मनोनिवृति या उन्मनी भाव भी सम्भव नहीं है। देह की कृशता, कांति, इच्छानुसार वायु धारण करने का सामर्थ्य, अग्निवृद्धि नाद की अभिव्यक्ति और आरोग्य– ये सब लक्षण जब आविर्भूत हो जायें, तब समझना चाहिए कि सब नाड़ियाँ शुद्ध हो गयी है।[1]

योग साधना में नादानुसन्धान एक महत्वपूर्ण तत्व है। वस्तुतः बुद्धजीव श्वास–प्रश्वास के अधीन होकर निरन्तर इड़ा पिंगला मार्ग में चल रहा है। उसका सुषुम्ना पथ बन्द है। जगत के अन्तस्थल में और आकाश मंडल में जो अखंड नाद ध्वनित हो रहा है, उसे वह नहीं सुन पाता। जब साधक गुरु कृपा से साधना पथ पर अग्रसर होता है और क्रिया विशेष से सुषुम्ना मार्ग–उन्मुक्त हो जाता है, तब मन उस सूक्ष्म मार्ग से निरन्तर अनाहत ध्वनि–श्रवण करता हुआ क्रमशः पूर्ण शान्त और स्थिर हो जाता है।[2]

नाथ मत और सन्तों की साधना में मौलिक अन्तर भी है क्योंकि कबीर के युग में हठयोग का अधिक महत्व था। शैव साधक और नाथपंथी योगी हठयोग की साधना में तल्लीन होकर अनिवर्चनीय आनन्द की अनुभूति करते थे। सन्तों में कबीर की रचनाओं का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि सन्तों में भी हठयोग के प्रति आस्था रही होगी किन्तु इन्होंने साधन रूप में ही स्वीकार किया होगा।

सन्तों के पदों में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, आदि का प्रथक प्रथक उल्लेख नहीं है। उन्हें योग के अष्टागों को गिनाने की आवश्यकता भी न थी। इसलिए

---

1. गोरखबानी परम्परा और काव्यत्व, पृ0 138
2. नाथ और संत साहित्य, पृ0 387

उन्होंने उनकी ओर संकेत मात्र किये हैं। ये नियम तो प्रत्येक साधना के लिए आवश्यक ही है। कबीर आसन को दृण करके निद्रा को जीतने पर बल देते हैं। मन की विकृति का निवारण करके इसे स्वस्थ बनाने के लिए वे प्राणायाम को आवश्यक बताते हैं। वे कहते हैं प्राणायाम में पंच वायु का बन्धन करके ध्यान में लीन होकर इड़ा पिंगला को एकमेव कर त्रिकुटी तक पहुँचाए तथा कमलों के प्रकाशित होने पर त्रिभुवन पति के दर्शन प्राप्त करें –

पहले खोजो पंच वाई, वाई व्यंद ले लगन समाई।
गगन जोति तहाँ त्रिकुटी संधि, रवि ससि पवना में लौ वधिं।
मन थिर होई त कवल प्रकासै, कवला माँहि निरंजन वास।
सतगुरु संपट खोलि दिखावै निगुरा होई तो कहाँ बतावै।
सहज लछन लै तजौ उपाधि आसन दिढ़ निद्रापुनि साध।[1]

सन्तों ने प्राणायाम की प्रक्रिया द्वारा इन्द्रिय निग्रह पर अत्यन्त बल दिया है। प्राणायाम की प्रक्रिया के सम्बन्ध में वे कहते हैं कि जिस प्रकार तीर को लक्ष्य पर मारने के लिए पहले पृथ्वी की ओर करके प्रत्यंचा को खींचना पड़ता है फिर ऊपर को साधकर तीर को छोड़ा जाता है। उसी प्रकार प्राणायाम में पहले पवन को श्वास द्वारा बाहर फेंका जाता है फिर वायु को खींचकर शरीर में भरकर ब्रह्मारन्द्र की ओर ले जाता हो यही प्राणायाम का रहस्य है –

उलटि पवन कहाँ सखिये, कोई भरम विचारै।
साधै तीर पाताल कूँ, फिरि गगनहिं मारै।।[2]

अग्नि में तपकर सोने का मल दूर हो जाता है। उसी प्रकार प्राणायाम द्वारा इन्द्रियों के दोष दूर हो जाते हैं। मन स्थिर हो जाता है और परमानन्द की प्राप्ति होती है –

---

1. कबीर ग्रन्थावली, पृ0 325
2. कबीर ग्रन्थावली, पद 154, प1 138

कनक कसौटी जैसे करिन लेई सुनारा सोधि शरीर भमोतन सारा।

उपजत उपजत बहुत उपाई, मन स्थिर भयो तगे तिथि पाई।।

बाहरि षोजत जनम गंवायां, उनमनी व्यान घट भीतरि पाया।।[1]

महर्षि दयानन्द ने भी इसी भाव को प्रदर्शित किया है :–

दहन्ते ध्यायामानानां धानूनां च यथा मला।

तथेन्द्रिभावां दहनन्ते दोषा। प्राणस्य निग्रहात्।।[2]

इड़ा पिंगला सुषुम्ना नाड़ियों को उन्होंने ससिहर सूर (सूर, सूर्य, अग्नि) कहा और इन नाड़ियों के मिल जाने पर जब प्राण वायु ऊपर चढ़ती है तो उन्हें अनाहदनाद सुनाई पड़ा और परमतत्व का सामीप्य भी प्राप्त हुआ –

ससिहर सूर मिलावा।

तब अनाहद बेन बजावा।

जब अनहद बाजा वाजे।

तब सांई संग विराजे।[3]

कबीर के इड़ा पिंगला को गंगा जमुना तथा सुषुम्ना को बंकनालि, सुषुमन नाड़ी या उलटि गंग आदि संज्ञाएँ प्रदान की हैं। वे त्रिवेणी स्थान पर तीनों नाड़ियों के मिलन की चर्चा करते हैं। वे त्रिवेणी त्रिवेणीं, त्रिगुट संगम, तीरथ राज, एक त्रिकुट कोट आदि नामों से पुकारते हैं। उन्होंने अनेक स्थानों पर योगानुभूति को पारिभाषिक शब्दों के सहारे अत्यन्त आलंकारिक ढंग से प्रस्तुत किया है। उसका एक रूपक देखिये –

अरध उरध की गंगा जमुना, मूल कमल की घाट।

षट् चक्र की गागरी, त्रिवेणी संगम बाट।।[4]

---

1. कबीर ग्रन्थवली, पद 17, पृ0 94
2. सत्यार्थ प्रकाश समु0 3, पृ0 40
3. कबीर ग्रन्थावली, पद 173, पृ0 146
4. वही, पद 18, पृ0 94

इसी प्रकार एक अन्य रूपक में वे इड़ा पिंगला को दो खम्बों तथा सुषुम्ना को रस्सी मान कर पंच वायु (प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान) तथा प्राण शक्ति को झूले पर झूलते हुए दिखाते हैं।

चंद सूर दोई खेभवा वंकनालि की डोरि।
भूलैं पंच पियरिया तहं झूलै जीय मोर।।[1]

<u>षट्चक्र :</u>

हठयोग के बताये गये षट्चक्रों को कबीर ने भी स्वीकार किया है और उनके भेद पर बल दिया है।

षट्चक्र कवल वेदा, जारि उजारा कीन्हाँ।

— —

उलटे पवन चक्र तट वेधा भरे दंड सर पूरा।।[2]

कबीर ने षट्चक्रों को स्वीकार करते हुए भी चक्रों के सम्बन्ध में प्रचलित परम्परागत धारणा को नहीं माना है। कौन सा चक्र शरीर के किस भाग में स्थित है इस सम्बन्ध में उन्होंने कोई संकेत नहीं किया। विभिन्न चक्रों के अदिदेवों के सम्बन्ध में भी वे स्वतन्त्रता से कार्य लेते हैं। कबीर देवी देवताओं की कल्पना निरर्थक समझते थे। उन्होंने एक ही परमतत्व को माना और उसे नाना नामों से अभिहित किया इसलिए कबीर ने विभिन्न चक्रों पर कहीं श्रीरंग कहीं गोपाल कहीं कमलकान्त, कहीं बाल गोविन्द और कहीं निरंजन की स्थिति स्वीकार की है।

षट्चक्रों में प्रथम मूलाधार चक्र हैं। सन्तों में कबीर ने प्राणायाम की साधना द्वारा इड़ा, पिंगला की सहायता से मूलाधार चक्र को वेध कर अन्य षट्चक्रों को वेधते हुए मन को संगम स्थान पर ले जाने की बात कहीं है।

---

1. कबीर ग्रन्थावली, पद 18, पृ0 94
2. वही, पपद 210, पृ0 159

दूसरा चक्र स्वाधिष्ठान है। इस पर मनन करने वाला योगी मृत्यु को जीत लेता है। कबीर ने भी इसी मत का प्रतिपादन किया है। उनका कथन है कि छह दल वाले कमल पर मनन करने वाला योगी जब कमल और तीनों नाड़ियों का सम्मिलन करता है और सुषुम्ना में ध्यान को केन्द्रित करता है तो दूसरा कमल विंध जाता है और वह मृत्यु को जीत लेता है।

तीसरा दस दल वाला चक्र मणिपूर है। इस पर मनन करने वाला योगी चिरमुखदायिनी सिद्धि प्राप्त करता है। कबीर ने दस दल के स्थान पर अष्ट दल कमल का उल्लेख भी छूट जाता है और उसका परमात्मा तत्व से सम्मिलन हो जाता है –

षोड्स कंवल जब चेतिया तब मिलि गए श्री वनवारी रे।

जुरा मरण भम भाजिया पुनरपि जनम निवारि रे।।[1]

छंटी त्रिकुटी (भोहों के मध्य) स्थान पर स्थित द्विदस वाला आज्ञाचक्र है। इसके दोनों ओर से आने वाली इड़ा और पिंगला नाड़ियों का यहाँ मिलन होता है, इड़ा को 'वरूणा' और 'पिगला' को 'असि' भी कहा गया है इसलिए उनके सम्बन्ध से इसको 'वाराणसी' नाम मिला। इस पर चिन्तन करने वाला योगी सिद्ध पद को प्राप्त कर लेता है।

संत कबीर ने इस चक्र का परिचय संकेत मात्र से दिया है। इस स्थल को उन्होंने 'काशी' और 'शिवपुरी' भी कहा है –

कासी ते धुनि उपजै धुनि कासी जाई।

– –

काया कासी खौजे वास।

तहाँ जोति सरूप भयौ परकास।

– –

1. कबीर ग्रन्थावली, पृ0 88

सिव की पुरी वसै बुधि सारू!

वे त्रिवेणी में मन को स्नान कराने की बात कहते हैं। वे त्रिकुटी को छोड़कर ब्रह्माण्ड के दसवें द्वार को खोलने वाले को ही सच्चा साधक मानते हैं –

नगरी एकै नऊ दरवाजे धावतु करजि सहाई।
त्रिकुटी छूटै, दस वादरू खूतहे ता मनु खीवा भाई।
त्रिकुटी संधि में पोखिमा घट है घट जांगी।

आज्ञाचक्र से ऊपर तालु मूल में स्थित सहस्रदल कमल है। इसके मध्य में स्थित चन्द्र के द्वारा गगन में घर बनाने की बात कहते हैं यहाँ अमृत झरता रहता है उसका सुषुम्ना मार्ग से पान करें और अनाहद नाद का सतत श्रवण करें। एक पद में इस दशा का विस्तृत वर्णन देखिये[1] –

अवधू गगन मंडल घर कीजै।
अमृत भरै सदा सुख उपजै वंकनालि रस पीजै।
मूल वाँधि सर गगन समाना सुषुमन मौ वन लागी।
काम क्रोध दोउ भये पलीता तहाँ जोगणी जागी।
मनवा जाई दरीवै वैठा मगन भया रस लागा।
कहै कबीर जिय संसा नाहीं सबद अनाहद दागा।[2]

कबीर साहब कहते हैं कि इस दशा में पहुँचने पर समस्त संसार से सम्बन्ध छूट जाता है –

षट् चक्र वोधि कमल बेधि, जाय उजियारा कीन्हा।
गगन मद्धे रोकिन्ह द्वारा, जहाँ विदवस नांहि राती।
दास कबीरा जाय पहूँचे, विछुरे संग संधाती।

---

1. डा0 नजीर मुहम्मद, कबीर के काव्य रूप, पृ0 222–226
2. कबीर ग्रन्थावली, पृ0 70

वे प्रसावित होते हुए अमृत रस का पान करने पर बहुत बल देते हैं।

बंकनालि के अंतरै, पछिम दिसा की वाट।

नीझर झरै रस पीजिये, तहाँ भवँर गुफा के घाट रे।।[1]

योग साधना में नादानुसन्धान एक महत्वपूर्ण तत्व है। वस्तुतः बुद्धजीव श्वास–प्रश्वास के अधीन होकर निरन्तर इड़ा पिंगला मार्ग में चल रहा है। उसका सुषुम्ना पथ बन्द है। जगत के अन्तरस्थल में और आकाश मंडल में जो अखंड नाद ध्वनित हो रहा है उसे वह नहीं सुन पाता जब साधक गुरु कृपा से साधना पथ पर अग्रसर होता है और क्रिया विशेष से सुषुम्ना मार्ग उन्मुक्त हो जाता है। तब मन उस सूक्ष्म मार्ग से निरन्तर अनाहत ध्वनि–श्रवण करता हुआ क्रमशः पूर्ण शांत और स्थिर हो जाता है। इस स्थिति में नाद ध्वनि नहीं सुनाई पड़ती। अनाहत ध्वनि श्रवण करते हुए क्रमशः पूर्ण शान्ति प्राप्त करना ही उपाधिरहित शब्दतत्व प्रणव (ओंकार) को उपलब्ध करना है। योगियों द्वारा अनाहत नाद का अवलम्बन करके शब्द ब्रह्मा में लीन होना ही नादानुसन्धान है।

यह सम्पूर्ण विश्व विश्व का पर पिंड है। इसे अनादि पिंड भी कहते हैं। शिव तत्व इस अनादि विश्वरूप महासाकार पिंड का प्रकाशक धारण करने वाला और व्यवस्थापक है। इसी साकार पिंड से तथा इसी अनादि पिंडातर्गत अगणित जीव कोटियों की उद्भूति होती है जो उन्हीं तत्वों से विचरित, उसी शक्ति में संगठित तथा उसी आत्मा से प्रकाशित है। इन्हें व्यष्टि पिंड कहते हैं। तत्वतः महासाकार अनादि पिंड और व्यष्टि पिंड एक ही है प्रत्येक पिंडधारी जीव के भीतर शिव तत्व सदैव विद्यमान रहता है। पूर्ण विकसित मनोभौतिक मानव शरीर प्रत्यक्षतः शिव के भौतिक शरीर स्वाभाविक विकार की उच्चतम स्थिति है। व्यष्टि पिंड विश्व पिंड का संक्षिप्त रूप है। जब दृण विश्वास के साथ यह अनुभूति हो जाती है तब यह समझा जा सकता है कि पिंड का रहस्यज्ञान अत्यन्त आवश्यक है 'गोरखाबानी' में उपयुक्त सभी साधना रूपों का उल्लेख है। उदाहरणार्थ

1. कबीर ग्रन्थावली, पृ0 88

कुछ पंकित्याँ नीचे उदद्यृत की जाती है –

ऊंकार आछै बाबू मूल मन्त्र थारा। ऊंकार व्याषीले सकल संसारा।।
नाद ही तो आछै बाबू सब कछू निंधाना। नाद ही पाइये परम
परम निखाना।।

(नादानुसंन्धान)[1]

आँऊ नहीं जाँऊ निरंजन नाथ की दुहाई।
प्यंड ब्रह्मड षोंजता, अम्हे सब सिधि पाई।।[2]
काया गड़ भीतरि देव देहुश कासी।
सहज संभाई मिले अविनासी।।[3]

(पिंड रहस्याज्ञान–1)[4]

(ग) <u>तत्वचिन्तन :</u> संतों के सिद्धान्तों को नाथपंथी योगियों ने अनेक रूपों में प्रभावित किया है। डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन है कि मुक्त प्रान्त और मध्यप्रदेश के उन भागों में जहाँ की भाषा हिन्दी है, वैष्णव मतवाद के प्रचार के पूर्व सर्वाधिक प्रचलित मतवाद शैव धर्म था पर साधारण जनता चमत्कारों पर अधिक विश्वास करती है और इन योगियों के चमत्कारों की बड़ी ख्याति थी। सूरदास ने अपने भ्रमर गीत प्रसंग में इस योगमार्ग की विकटता का प्रदर्शन करके वैष्णव धर्म की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है पर कबीर आदि ने इनकी सम्पूर्ण पद्धति स्वीकार करके फिर रूपक द्वारा अपनी बात को इसी पद्धति के बल पर प्रतिष्ठित करने का मार्ग अवलम्बन किया। भक्ति काव्य में इस पंथ के अनेक सिद्धान्तों का समावेश हुआ है। शब्द योजना ही नहीं, अपितु सिद्धान्त निरूपण मे भी कहीं मण्डन कहीं खण्डन दोनों रूप में नाथपंथी सिद्धान्तों और साधना पद्धतियों का

---

1. नाथ योग, पृ0 66
2. वही, पृ0 136
3. वही, पृ0 116
4. डा0 मनीषा शर्मा, गोरखबानी परम्परा और काव्यत्व, पृ0 138, 139

प्रभाव निश्चित है।

नाथपंथ के सिद्धान्तनुसार महाकुण्डलिनी नामक एक शक्ति है जो सम्पूर्ण सृष्टि में परिव्याप्त है। व्यष्टि (व्यक्ति) में व्यक्त होने पर इसी शक्ति को कुण्डलिनी कहते हैं। प्रलयकाल में शिव कार्य–कारण विरत हो जाते हैं तब परम शिव से एक ही साथ दो तत्व उत्पन्न होते हैं। शिव और शक्ति। यह शक्ति पाँच अवस्थाओं में निकलती हुई सृष्टि क्रम को अग्रसर होती है। इस पंचम शक्ति को कुण्डलिनी कहा गया है। इस शरीर में सबसे प्रधान कार्य करने वाली शक्ति कुण्डलिनी ही है। यह विश्व ब्रह्माण्ड में व्याप्त महाकुण्डलिनी का ही पिंडगतस्वरूप है। गोरखनाथ के मतानुसार पिण्ड मनो ब्रह्माण्ड का संक्षिप्त संस्करण है अतएव जो कुछ भी ब्रह्माण्ड में है वह सभी पिण्ड में है। अपनी मूलचिन्ता में नाथपंथ अद्वैतवादी है। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने लिखा है कि गुरु गोरखनाथ के दार्शनिक सिद्धान्त वेदान्तपरक जान पड़ते हैं और इनकी योग सम्बन्धी रचनाओं के अर्न्तगत भी अद्वैत सिद्धान्त का ही प्रतिपादन लक्षित होता है। गोरखनाथ ने योगमार्ग को अपनी साधना का लक्ष्य बनाकर अपने चिन्तन में शून्य को जो स्थान प्राप्त था और उसकी जो स्थिति बन गयी थी उसके अनुसार गोरखनाथ द्वारा शून्यवाद का सम्बन्ध वज्रयानी साधना से न होकर वेदान्त दर्शन से था इसमें दो मत नहीं हो सकते। गोरखनाथ के मतानुसार परमतत्व तक किसी की पहुँच नहीं है। वह नाम और रूप दोनों उपाधियों से परे हैं। जरामरण से दूर काल से अस्पष्ट सतत बालस्वरूप ब्रह्मा ही उनका साध्य है, शून्य स्थिति उनका लक्ष्य नहीं। गोरखनाथ की एक सबदी इस सम्बन्ध में दृष्टव्य है –

बसती न सुन्यं सुन्यं न बसती, अगम अगोचर ऐसा।
गगन सिषर महिं बालक बोले ताका नांव धरहुगे कैसा।।

परब्रह्मा यही है, ब्रह्मा का व्यक्त स्वरूप यह ब्रह्माण्ड है उसकी यह अद्वैत स्थिति साधना का विषय है –

इहाँ ही आछै इहाँ ही अलेप। इहाँ ही रचिलै तीनि त्रिलोक।
आछे संगै रहै तुवा। ता कारिण अनन्द सिद्ध जोगेश्वर हुआ।।
अलष विनाषी दोई दीपक, रचलै तीन भवन इक जोती।
तास विचारत त्रिभुवन सूझै, चुणिल्यौ माणिक मोती।।

यद्यपि नाथपंथ साहित्य में मूलरूप से साधना मार्ग की ही व्याख्या की गयी है तथापि कहीं कहीं तत्वदर्शन भी उपलब्ध हो जाता है। धार्मिक संक्रमण के उस युग में गोरखनाथ की वाणी का मूलस्वर ब्रह्मावादी ही माना जा सकता है जिसकी पृष्ठभूमि का दार्शनिक आधार स्वामी शंकराचार्य का अद्वैत वेदान्त है। किन्तु जिन प्रतीकों पर बौद्ध चिन्ता की छाप स्पष्ट है। डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस विषय की अनेक सम्भावनाओं पर प्रकाश डालते हुए एक स्थल पर लिखा है – बौद्ध धर्म का इस देश से जो निर्वासन हुआ उसके प्रधान कारण शंकर कुमारिल तथा उदयन् आदि वेदान्तिक और मीमांसा के आचार्य माने जाते हैं। मन्तव्य यह है कि जब गोरखनाथ के दो शताब्दी पूर्व स्वामी शंकराचार्य ने बौद्धिक धर्म की पुनः प्रतिष्ठा की थी जब निश्चित रूप से नाथपंथी चिन्तन की दार्शनिकता की दृष्टि वज्रयानी दार्शनिक दृष्टि का विस्तार मात्र नहीं हो सकता है, यद्यपि कुछ विद्वानों ने सन्तों एवं नाथ सिद्धों की वाणियों में प्रमुख शून्य आदि को लेकर उसका सम्बन्ध बौद्ध शून्यवाद से जोड़ने का प्रयत्न किया है। गोरखनाथ के तत्वचिन्तन में शून्य ईश्वर की भावना का प्रतीक है। वेदान्त के अनुसार ब्रह्मा की एक शक्ति स्वीकार की गयी है। वह शक्ति माया है चिद परब्रह्मा की शक्ति माया को वेदान्त में जड़ रूप माना गया है। शाक्त आगामों में यह तथ्य स्वीकार नहीं किया गया। चेतन ब्रह्मा की शक्ति को नाथपंथ में चेतन ही स्वीकार किया गया है। इसकी उपासना का प्रधान साधन नाथपंथ में पिण्ड ही माना गया है। वैसे तो सभी प्राणी और अप्राणी शक्ति के आवास हैं किन्तु केवल शक्ति का संचालन ही लक्ष्य नहीं है लक्ष्य है शिव और शक्ति का सामरस्य रूप सहज समाधि। इस प्रकार शैव मत के अद्वैत दर्शन का नाथपंथ की

तत्व चिन्ता का पूरा प्रभाव है। केवल शैव दर्शन ही नहीं किन्तु शाक्त तन्त्रों का भी युगीन प्रभाव स्पष्ट है। भारतीय अद्वैत वेदान्त प्रवल प्रचारक स्वामी शंकराचार्य की कुछ रचनाओं को भी 'श्री विधा' एक प्रसिद्ध ग्रन्थ माना गया है। ऐसी स्थिति में नाथपंथ का तत्वदर्शन अद्वैत वेदान्त ही जीव और ब्रह्मा की अद्वय स्थिति का समर्थक है।[1]

नाथपंथ के तत्वचिन्तन का प्रभाव सन्तों पर पड़ा है लेकिन नाथ तथा सन्तों के तत्वचिन्तन में अन्तर भी है। सन्तों का तत्वचिन्तन अनुभूति प्रधान है। भारत में अध्यात्म सम्बन्धी अनुभवों की प्राचीनता विश्वमान्य है। अध्यात्म के अर्न्तगत ब्रह्मा, जीवन, जगत आदि विषयों की चर्चा मिलती है। आध्यात्म का विषय स्वंसवेद्य है। सन्तों ने जिस तत्वचिन्तन को अपनी वाणियों में समय–समय पर प्रकट किया है उसकी उद्बभावना आकस्मिक नहीं मानी जा सकती है। यह चिन्तन सबसे पहले सन्तों द्वारा ही प्रस्तुत हुआ यह मानने के लिए हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है। विविध प्रतीकों के माध्यम से ब्रह्माचिन्तन का जो रूप सन्तों में उपलब्ध है उसका सीधा सम्बन्ध भारतीय चिन्तन धारा से अत्यन्त प्राचीन काल से है। कुछ विद्वानों का मत है कि ब्रह्म चिन्तन की धारा वेदो से निकली और उपनिषदों के तत्वचिन्तन परवर्तीयुगों के तट का स्पर्श करती हुई जैन और बौद्ध काल में विस्तृत होती हुई चौदहवीं शताब्दी में इन सन्तों के ज्ञान क्षेत्र में सिमट गयी। अनेक विद्वान उपनिषदों के तत्वचिन्तन और सन्तों के अध्यात्म सम्बन्धी विचारों में आश्चर्यजनक समानता देखकर एक लम्बी परम्परा का संकेत करते हैं। किन्तु परशुराम चर्तुवेदी का कथन है कि कबीर आदि सन्तों ने अध्यात्म सम्बन्धी सिद्धान्तों का प्रतिपादन दार्शनिक निरूपण के रूप में नहीं किया। उन्होंने कबीर साहित्य के परख में एक स्थल पर कबीर सहाब के सिद्धान्त की चर्चा करते हुए लिखा है कि यह अनुमान करना कि उन्होंने शंकराद्वैत वेदान्त की बातें बतायी है अथवा रामानुजीय मत का अनुसरण किया है और उनकी शक्तियों को एकत्र कर अनेक आधार पर औपनिषदिक विचारधारा के साथ

---

1. डॉ0 नजीर मुहम्मद, कबीर के काव्य रूप, पृ0 189, 190

संगति बिठाना भी उचित नहीं मन्तव्य यह है कि तत्वचिन्तन के मूल स्रोतों के सम्बन्ध में किसी एक निश्चित मान्यता को आधार नहीं माना जा सकता किन्तु विद्वानों की विभिन्न स्थापनाओं में यह संकेत अवश्य उपलब्ध है कि सन्तों के आध्यात्मिक विचारों का सम्बन्ध किसी न किसी रूप में विश्व में शताब्दियों से व्याप्त रहा है।

नाथपंथी साधना के लोकव्यापक प्रभाव ने यद्यपि मध्ययुग तत्वचिन्तन को विशेष रूप से स्पर्श किया है किन्तु वास्तव में नाथपंथ एक साधना पंथ ही था। बौद्ध सहजयान धर्म की तत्वमीमांसा और व्यवहार की अस्पष्ट तथा अनैतिक परिस्थितियों के कारण नाथपंथ एक विशुद्ध साधना पंथ ही बना रहा। यह युग की परिस्थितियों के अनुसार अशतः सत्य ही माना जायेगा किन्तु नाथपंथी साधना में क्रियाबहुल कठोर आचरण की मोटी पर्त के भीतर नाथपंथी तत्वचिन्तन का प्रचार लोक में नही हो सका, यह भी उतने अंशों में विद्वानों द्वारा मान्य किया गया है। अद्वैत वेदान्त के शैवागमों से सम्बद्ध सिद्धान्तों का लोक जीवन में स्वागत न हुआ उसका कारण नाथपंथ में शुष्क साधना का प्रबल आग्रह तथा ग्रहस्थ जीवन के प्रति अनादर का भाव था? ऐसी स्थिति में नाथपंथी साधना के लोक प्रभावी रूप से सम्बद्ध संत लोक तत्वचिन्तन की दृष्टि से योग और भक्ति का समन्वय स्वर लेकर उपस्थित हुए। यह तत्वचिन्तन अपने मूलरूप में भारतीय दर्शनों की व्यावहारिकता से पूर्णतया सम्बन्ध है तथा उसका उन्मेश विभिन्न परिस्थितियों में हुआ है। यही कारण है कि मूलतत्व के सम्बन्ध में सन्तों के चिन्तन करने का मार्ग पिछले सभी मार्गो से भिन्न है अनुभव की कसौटी पर कसकर ही सन्तों ने ब्रह्मा, जीव, जगत के सम्बन्ध में अपनी स्थापनाओं को पुष्ट किया है। कबीर कहते हैं कि इसके लिए कहीं जाना नहीं पड़ा विचार करते ही करते सत्य का अनुभव हो गया किन्तु इस अनुभव की पृष्ठभूमि के रूप में सन्तों के पास तत्वचिन्तन के लिए कौन सी आधार भूत सामग्री थी। यह भी एक विचारणीय बात है जिस आध्यात्मिकता के आधार पर सन्तों का तत्वचिन्तन सम्भव हुआ मध्ययुग में उसके सूत्र कम से कम उपनिषद अथवा दर्शनग्रन्थ

नहीं थे, प्रायः सभी विद्वान इस बात से सहमत हैं। संत कवियों में भी केवल गिनती पर गीने जाने वाले एक दो ही संत ऐसे हैं जिन्होंने विधिवत शास्त्रज्ञान प्राप्त किया हो, अन्यथा सभी सन्तों ने केवल अपने अनुभव ही प्रकट किये हैं ऐसा प्रतीत होता है कि सन्तों ने इन्हीं अनुभवों को वेदान्त की संज्ञा दे दी।[1]

(घ) <u>रहस्यानुभूति –</u>

मध्ययुगीन धार्मिक मतवाद शुद्ध तर्क पर आधृत नहीं है, अतः इसमें रहस्यानुभूति के तत्व भी विद्यमान है। नाथमत के अर्न्तगत भी एक प्रकार की रहस्यवादी प्रवृति विद्यमान है। गगन शिखर पर शब्द ब्रह्मा के प्रकाश की समाधि दशा में की जाने वाली अनुभूति एक प्रकार की रहस्यानुभूति ही है, क्योंकि तर्क पद्धति से उसका विश्लेषण सम्भव नहीं है। गोरखवानी में कहा गया है –

गगन सिखर महि सबद प्रकास्या। तंह बूझे अलप विनाणी।

—— –

वेद न सास्त्रे कतेवे न कुराणे पुस्तके न बच्चांया जाई।

तै पद जानां विरला जोगी और दुनी सब धंधै लाई।।[2]

परमपद या परमतत्व को विरला जोगी इसलिए जानता है कि वह अनुभूतिगम्य है। इस स्तर पर गोरखनाथ और नाथ योगी रहस्यवादी कहे जायेंगे। रहस्यवाद मूल प्रवृति रहस्यमयी सत्ता के साथ साधक की पूर्ण आत्मिक तादात्मय स्थापना है। यह प्रवृति योगीयों में विद्यमान है। व्यष्टि पिंड और विश्व पिंड की एकता का रहस्यज्ञान भी रहस्यवाद का विषय माना जा सकता है। तात्पर्य यह है कि नाथमत में रहस्यवादी प्रवृत्तियाँ है। कहना चाहें तो इसे साधनात्मक रहस्यवाद कह सकते हैं, क्योंकि यहाँ परमतत्व की उपलब्धि का आधार 'प्रेम' न होकर 'योग' है। सन्तों में

---

1. डॉ0 कोमल सिंह सोलंकी, नाथ पंथ और संत काव्य, पृ0 197, 198
2. डा0 बड़थ्वाल, गोरखबानी, पृ0 23, पद 1

रहस्यवाद की प्रवृति तो सभी विद्वानों ने लक्षित की है। संत साधक तर्कमूलक विष्लेषणपरक चिन्तन से अधिक बल स्वानुभूति पर देता है। अतः वह मूलतः रहस्यवादी है। संत तर्क करता है तो सामाजिक और व्यावहारिक मुल्यों को लेकर। आध्यात्मिक सत्ता के साथ सम्बन्ध स्थापित करते समय वह स्वानुभूति पर ही बल देता है। प्रत्यक्ष और गोचर जगत से पर–रहस्यमयी सत्ता की प्रतीति, उससे रागात्मक सम्बन्ध (दाम्पत्य सम्बन्ध) और अन्ततः उससे पूर्ण तादात्मय की अनुभूति का वर्णन प्रतीकात्मक पद्धति पर प्रायः सभी सन्तों ने किया है। उस परम सत्ता को प्रिय रूप में अनुभव करते हुए अपने को प्रिया (बहुरिया) मानकर मिलन और वियोग की अनेक अनुभूतियों का वर्णन कबीर ने किया है–

कबीर सुन्दरियौं कहै, सुनि हो कंत सुजानंनं।
वेगि मिलौ तुआइकै, नहितर तजौं परान।।

– –

नैना अंतरि आव तूं, निस दिन निरखूँ तोहि।
कब हरि दर्शन देहुगे, साँदिन आवै मोहि।।
कबीर सुपिनै हरि मिला मोहि सूता लिया जगाई।
आँखि नमीचों डरपता, मनि सुपिनां होई जाई।।[1]

दादू ने भी कहा है –

दादू सुन्दरि सेज परि सदा एक रस होई।
दादू घेले पीव सौं, त समि और नक होई।।

– –

दादू पुरिष हमारा एक है, हम नारी बहु अंगि।
जै जै जैसी ताहि सौं, षैले तिसही संग।।[2]

(गोरखबानी, पृ0 2–3)

1. गोरखबानी, पृ0 2
2. वही, पृ0 3

इस प्रकार की रहस्यात्मक अनुभूतियों का चित्रण परवर्ती सन्तों में भी मिलता है अतः सन्तों में रहस्यानुभूति की अभिव्यक्ति नाथ–योगियों की अपेक्षा अधिक हुई है। नाथ मत में परम तत्व से परमपरक सम्बन्ध की स्थापना की प्रवृति न होने के कारण रहस्यानुभूति के विस्तार का प्रश्न नहीं उठता।

नाथ मत और संत मत के तुलनात्मक अध्ययन में यही पर एक बात जो और विचारणीय हो जाती है, वह भक्ति तत्व है। संत मत में परमतत्व और गुरु दोनों के प्रति भक्ति भाव की अभिव्यक्ति हुई है। नाथ–मत में यदि किसी प्रकार की भक्ति का प्रश्न उठता है तो वह है गुरु–भक्ति । अतः नाथ–मत और संत मत में जो प्रधान अन्तर है वह इसी भक्ति तत्व को लेकर है।[1]

संत कबीर की कुछ साख्यिाँ रहस्यात्मक है। साहित्यिक धारणाओं के आधार पर रहस्यवाद उस मनः प्रवृति का प्रकाशन है जो अव्यक्त और सर्वव्यापी परब्रह्मा से परिचित होने के लिए प्रयास करती है। यह मन का गुण है और इसी का प्रकाशन काव्य में होता है। संसार में बहुत से साधकों और चिन्तकों ने रहस्यवाद के विभिन्न रूपों पर विचार किया है। कुछ ने सहज सरल ढंग से ब्रह्मा की अनुभूति को रहस्यवाद कहा है। कुछ चिन्तकों ने अपनी भावनाओं तथा विचारों द्वारा नश्वर की नित्य में तथा नित्य में नश्वर की अनुभूति करने के प्रयास को रहस्यवाद माना है।

काव्य के सम्बन्ध में जयशंकर प्रसाद की धारणा है कि "काव्य आत्मा की संकल्पनात्मक अनुभूति है।" आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार "कविता का सम्बन्ध ब्रह्मा की व्यक्त सत्ता से है, चारों ओर फैले हुए जगत से है, अव्यक्त सत्ता से नहीं। जगत भी अभिव्यक्ति है और काव्य इस अभिव्यक्ति की भी अभिव्यक्ति है।

किन्तु ब्रह्मा पूर्णतया व्यक्त है और न पूर्णतया अव्यक्त है। वह तो व्यक्त और अव्यक्त दोनों ही है इसलिए उसे द्वन्दातीत, अद्वैताद्वैत विवर्जित और अनिवर्चनीय

---

1. डॉ0 मनीषा शर्मा, गोरखबानी– परम्परा और काव्यत्व, पृ0 141, 143

कहा गया है।

डा0 रामकुमार वर्मा के शब्दों में "रहस्यवाद आत्मा की अर्न्तनिहित प्रवृति का प्रकाशन। रहस्यवाद के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल ने जायसी ग्रन्थावली की भूमिका में विस्तृत विवेचन किया है उनका कथन है– अद्वैतवाद मूल में एक दार्शनिक सिद्धान्त है, कवि कल्पना या भावना नहीं। वह मनुष्य के बुद्धि प्रयास का तत्व चिन्तन का फल है।

वहाँ ज्ञान के क्षेत्र की वस्तु है। जब उसका आधार लेकर कल्याण भावना उठ खड़ी होती है अर्थात जब उसका संचय भाव क्षेत्र में होता है तब उच्च कोटि के भावनात्मक रहस्यवाद की प्रतिष्ठा होती है रहस्यवाद दो प्रकार का होता है– भावनात्मक और साधनात्मक। हमारे यहाँ योगमार्ग साधनात्मक रहस्यवाद है। यह अनेक अप्राकृत और जटिल आभासों द्वारा मन को अव्यक्त तथ्यों क़ा साक्षात्कार कराने तथा साधक को अनेक अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त कराने की आशा देता है। तंत्र और रसायन भी साधनात्मक रहस्यवाद है पर निम्न कोटि के।

साधनात्मक रहस्यवाद को डा0 त्रिगुणायत ने भौतिक रहस्यवाद भी कहा है। साधनात्मक रहस्यवाद में सन्तों की कुण्डलिनी योग, षटचक्र, भेदन, त्रिकुटी तथा सहस्रार में आत्मा परमात्मा के अद्वय भाव की कल्पना की गयी है। भावनात्मक रहस्यवाद में विविध उपकरणों की सहायता से आत्मानुभूति का चरम प्राप्त होता है तथा विशुद्ध अनुभूति प्रधान है।

स्वानुभूति की उत्कृष्ट स्थिति की अभिव्यक्ति दुरूह ही है। वह यथार्थ में अभिव्यक्ति परक नहीं। स्वानुभूति में निमज्जित हो जाने पर अन्य समस्त तत्व विस्मृत हो जाते हैं अतः स्वानुभूति की अभिव्यक्ति भी अस्पष्ट हो जाती है और उसी को रहस्यमयी कहा जाता है। सन्तों की यह स्वानुभूति परक अस्पष्ट भावना काव्य में रहस्यवाद के नाम कहा जाता है। सन्तों की इस प्रकार की वाणियों को यद्यपि रहस्यवाद की कोटी में रखा गया है वैसे रहस्यवाद न तो कोई वाद है न सिद्धान्त, उसमें परम सत्ता की प्रत्यक्षानुभूति

का भाव नीहित है। यथार्थ में रहस्यवाद आत्मा की उस अर्न्तनिहित प्रवृति का प्रकाशनान है जिसमेंश्उ'0न्वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्चल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है और वह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में अन्तर नहीं रह जाता।

यहाँ एक बात बहुत महत्वपूर्ण है कि रहस्य भावना में अलौकिक शक्ति (परमात्मा तत्व) से सम्बन्ध स्थापित करते समय आत्म तत्व उससे अलग ही कल्पित किया जाता है। क्योंकि सम्बन्ध दो (द्वैत) के बीच ही स्थापित किया जा सकता है एक या अद्वैत के बीच नहीं। यदि अद्वैत है तो किसी भी प्रकार के सम्बन्ध की चर्चा ही नहीं चलती। रहस्यवाद में आत्मा पत्नि या पति रूप में प्रभू प्रेयसी या (प्रियतम) को प्राप्त करने के लिए रूदन करती और उसका नैरन्तर साहचर्य चाहती है। इस प्रकार रहस्यवाद द्वैतवाद या दो की स्थिति है। वास्तव में अद्वैत में विश्वास एक बात है उसकी अनुभूति या प्राप्ति दूसरी रहस्यवाद का यह विश्वास तो होता है कि वह ब्रह्मा से अभिन्न है किन्तु उसकी अनुभूति के लिए वह प्रेम या मधुर सम्बन्ध का सहारा लेता है और अन्त में उसे प्राप्त कर लेता है। ब्रह्मा की प्राप्ति होने पर वह आस्था ही अनुभूति का स्थान ग्रहण कर लेती है और वास्तविक अद्वैत की स्थिति हो जाती है। यह पूर्ण मिलन की स्थिति ही 'बका' 'फना' या तादात्मय की स्थिति है यहाँ रहस्यवाद समाप्त हो जाता है। इस प्रकार जहाँ रहस्यवाद की समाप्ति होती है वहॉ अद्वैतवाद का आरम्भ।

रहस्यवाद में माधुर्य भाव का प्रचार होता है। माधुर्य भाव भरे कथन ही रहस्यवादी काव्य के प्राण है। इस प्रकार निर्गुण एवं मधुरा भक्ति का समन्वित रूप रहस्यवाद है और इन दोनों भक्तियों की समन्वित भाव भूमि पर आत्मा परमात्मा के सम्बन्ध विकास की विभिन्न स्थितियों की साहित्यिक अभिव्यक्ति ही रहस्यवादी साहित्य है। रहस्यवादी भाव, आकर्षण से प्रारम्भ होकर मिलन में समाप्त हो जाता है।

संत साहित्य में मर्मज्ञ विद्वान पं0 परशुराम चतुर्वेदी ने विश्वात्मक सत्ता की प्रत्यक्ष, गम्भीर एवं तीव्र अनुभूति की अभिव्यक्ति को रहस्यवाद माना है। रहस्यवादी

यद्यपि अद्वैतवादी होता है पर वह उस 'तत्व' तक अपनी अर्न्तदृष्टि के सहारे प्रवेश करता है और उसके साथ तन्मयता के आनन्द में मग्न हो जाता है। "परमात्मा तत्व की अनुभूति परिचय प्रायः उसकी तीन विभिन्न स्थितियों के वर्णन द्वारा किया जाता है। सर्वप्रथम उसके लिए विरह जागृत होने की दशा आती है जो गुरु की से ही सम्भव है। दूसरी अवस्था में साधक को परमतत्व का परिचय प्राप्त होता है। 'इस अवस्था में एक प्रकार का विचित्र आहलाद उत्पन्न हो जाता है जो उसे वस्तुतः आन्नद विभोर कर देता है। तीसरी अथवा अन्तिम स्थिति वह स्थिति है जब साधक के जीवन में कायापलट हो जाती है और वह सिद्धावस्था को पहुँच पाता है। "अद्वैतवादी लोग इसी को जीवनमुक्त की दशा कहते हैं और कबीर साहब ने यहाँ तक पहुँचे हुए महापुरूषों को ही 'संत' नाम से अभिहित किया है।

प्रेम रहस्यवादी के लिए आनन्द का स्रोत, जगत का रहस्य और समस्त भूतों की जीवन की शक्ति है। प्रेम के द्वारा ही मनुष्य स्वयं को पहचान कर ईश्वरीय गुणों को आत्मसात् करता है। रहस्यवादी के हृदय में करूणा की अजस्र धारा फूट पड़ने का कारण यही आध्यात्मिक प्रेम है। समस्त देशों तथा कालों के रहस्यवादी साहित्य के अनमोल मोतियों की आभा इसी अलौकिक प्रेम से दिखाई देती है।

कबीर की अनेक साखियाँ विरह मिलन के रहस्यवादी भावों को लेकर कहीं गई हैं। उनकी भक्ति की सर्वाधिक प्रगाढ़ता, सघनता और तीव्रता इन्हीं बानियों में व्याप्त होती है। इन्हीं वाणियों में कबीर ने निराकार अनिर्देश, अलक्ष्य और ज्ञानातीत ब्रह्मा को सच्चे अर्थों में प्रेम का विषय बनाया है। अद्वैतवादी निर्गुण, निराकार के समर्थक तथा समाजिक क्षेत्र में नारी निन्दक होते हुए भी कबीर नारी भाव में ही रमते हुए दिखाई देते हैं कबीर का यह रहस्यात्मक भाव कान्ताभाव या मधुर भावना के रूप में प्रस्फुटित होता हुआ दिखाई देता है। मधुराभक्ति में भगवान को पति रूप में स्वीकार किया जाता है तथा भक्ति पति प्राणा नारी के रूप में उन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। स्त्री पुरुष के

सन्बन्ध की आध्यात्मिक कल्पना करके भक्त प्रेम विह्वल और आनन्दोल्लसित हो उठता है पदमपुराण में विश्व में केवल भगवान को ही पुरुष बताया है और ब्रह्मा विष्णु आदि समस्त शक्तियों को स्त्री रुप माना है। "गोविन्द एवं पुरुषों ब्रह्माधा स्त्रिय एवच" जीवात्मा ब्रह्मा की चित्शक्ति का अंश है अतः वह भी शक्ति रूप ही है। ब्रह्मा पुरुष है। एक पुरुष की अनेक स्त्रियों की भाँति आत्मायें पत्नि हैं। आत्मा और परमात्मा की भी यही दशा है। ब्रह्मा रूपी पिता आत्मा रूपी पुत्र को माया या सांसारिक प्रलोभन रूपी मिठाई देकर स्वयं अदृश्य हो गया। साधारण आत्मा उसी माया के बंधन में बँधी रह जाती है पर कोई "गौंहनि लग जाने वाली" ही आवेश में आकार माया के बन्धनों को तोड़ फोड प्रेम भाव तीव्रता के साथ परमात्मा तत्व में मिल जाती है यहाँ संत कबीर ने माया मोह को छोडकर दृढ़ता और अटल संकल्प के साथ साधना में तल्लीन होकर तीव्र प्रेमानुभूति के द्वारा परमात्मा तत्व को प्राप्त करने पर बल दिया है। यहाँ संत कबीर यह भावना महात्मा गौतम बुद्ध की उस साधना की याद दिलाती है जिसमें प्रथम बार बोद्धि प्राप्त करने में असफल होकर वे दुबारा आसन पर बैठे थे और उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि "इस आसन पर मेरा शरीर सूख जाय त्वचा, अस्थियाँ और माँस अलग अलग हो जाये, परन्तु युगों–युगों से दुर्लभ बोद्धि के बिना प्राप्त किये यह शरीर अन्यत्र नहीं टलेगा। तभी उन्हें बोद्धि प्राप्त हुई थी। ऐसे ही दृण संकल्प वाले साधक साधना में लीन होकर परम पिता परमात्मा में मिलने का सुअवसर प्राप्त करते हैं।

संत् कबीर की वाणियों में भावात्मक और साधनात्मक रहस्यवाद का मिला जुला रूप प्राप्त होता है। परिचय और मिलन की अनुभूति में साधना की उच्चतर अवस्थाओं तथा गम्भीर उल्लास का प्रतीकात्मक वर्णन प्राप्त होता है। परब्रह्मा के प्रति अन्नय प्रेम, ज्ञान और योग की रहस्यमयी अर्न्तदृष्टि से भरी साधनात्मक अनुभूतियॉ प्राप्त होती हैं। कबीर की योग परक रहस्य भावना पर सिद्धों और नाथों का प्रभाव प्रतीत पूर्णतया होता है।

जो तत्व नाथों की रहस्यमयी धारा में पाये जाते है वही कबीर की रहस्यमयी दृष्टि में देखने को मिलते है। सिद्धों और नाथों ने योग के क्रमिक पक्ष को विशेष महत्व दिया किन्तु कबीर ने योग के मानसिक पक्ष को प्रधानता देकर उसको आध्यात्मिकता से समुपेत किया है –

मन लागा उनमन सौं, उनमन मनहिं विलग।
लूणा विलगा पाणियां, पाणीं लूणा विलग।।
सुरतिं समांनी निरति मैं निरति रहि निरधार।
सुरति निरति परचा भयो, तब स्यंभ दुबार।।

इस प्रकार रहस्यात्मक अनुभूतियों का चित्रण सन्तों में अधिक हुआ है। अतः सन्तों में रहस्यानुभूति की अभिव्यक्ति नाथ योगियों की अपेक्षा अधिक हुई है। नाथ मत में परम तत्व से प्रेमपरक सम्बन्ध की स्थापना की प्रवृति न होने के कारण रहस्यानुभूति के विस्तार का प्रश्न नहीं उठता।[1]

(च) <u>नैतिक और सामाजिक मूल्य :</u>

जहाँ तक नैतिक और सामाजिक मूल्यों का प्रश्न, नाथ और संत मत में विशेष अन्तर नहीं है। ब्रह्माचार का खंडन, जातिगत भेदभाव की व्यर्थता, पुस्तक ज्ञान एवं शास्त्रज्ञान की अनुपयोगिता, शुद्धाचरण पर बल, स्त्री जाति को माया मूर्ति मानना, कथनी करनी की एकता पर बल तीर्थ वृत का विरोध, आदि बातें नाथों और सिद्धों दोनों में समान रूप में पायी जाती है। उच्चवर्गीय ब्रह्मण संस्कृति के प्रति विरोध की प्रवृति योगियों से और पहले की है। नाथपंथ इस वर्णाश्रम व्यवस्था विरोधी सांस्कृतिक धारा की एक महत्वपूर्ण कढ़ी है। संत मत में यह प्रवृति नाथ परम्परा से आयी। इस विषय में नाथों और सन्तों में अन्तर यह है कि सन्तों के उद्‌भव काल में नाथ योगी ब्रह्माचार और प्रदर्शन में उलझ गये थे। अतः सन्तों को उनका भी विरोध करना पड़ा। कबीर का योग तत्व से विरोध नहीं था, विरोध इन योगियों से था जो योग के नाम पर या तो कृच्छ

---

1. डॉ0 नीजर मुहम्मद, कबीर के काव्य रूप पृ0 221–223 एवं 197–195 व 201

साधनों में उलझ गये थे या बड़े बड़े मठाधीश बनाकर भोग विलास का जीवन व्यतीत करने लगे थे। परवर्ती सन्तों में विरोध की प्रवृति क्रमशः कम होती गयी और समझौते की प्रवृति विकसित हुई।[1]

समग्र अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि भावबोध की दृष्टि से संतों पर नाथों का गहन प्रभाव है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि नाथों का और संतों का भावबोध एक ही है किन्तु इतना अवश्य है कि दोनों के भावबोध में महत्वपूर्ण समानताएँ हैं। "गोरखबानी" में व्यक्त गुरु का महत्व, रहस्यानुभूति, रूढ़िविरोध आदि संतों की रचनाओं में भी मिलते हैं। भावबोध की दृष्टि से नाथों और सन्तों में महत्वपूर्ण अंतर भक्ति का है। "गोरखबानी" का मूल प्रतिपाद्य जहाँ योग है वहाँ संतों के लिये भक्ति वरेण्य है।

---

1. डॉ0 मनीषा शर्मा, गोरखबानी– परम्परा और काव्यत्व, पृ0 143

अध्याय : 5

गोरखबानी का सन्त काव्य पर प्रभाव–भाषा की दृष्टि से

गोरखबानी उन प्रारम्भिक कृतियों में से है जिनमें हिन्दी भाषा का प्रारम्भिक स्वरूप स्पष्टतः परिलक्षित होता है। आपभ्रशेत्तर भाषा के रूप की जानकारी के लिए इस ग्रन्थ का अत्यधिक महत्व है। इस समय के सिद्ध साहित्य तथा नाथ साहित्य की भाषा का व्यापक प्रभाव सन्तों पर पड़ा है। "गोरखबानी" की भाषा जहाँ खड़ी बोली हिन्दी के आदि स्वरूप को स्पष्ट करती है, वहीं कबीर, दादू आदि सन्तों की भाषा को भी हृदयगम कराने में विशेष योग देती है। बौद्ध सिद्धों और कबीर आदि सन्तों के बीच कम से कम तीन शताब्दियों का जो अंतराल है, उसे नाथपंथी साहित्य ने भरा है।

डा0 बड़थ्वाल ने 'गोरखबानी' की भाषा के सम्बन्ध में प्रकाश डालते हुए 'योग प्रवाह' शीर्षक निबन्ध में लिखा है –

"अब प्रश्न यह उठता है कि गोरखनाथ की जो रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं, वे उतनी पुरानी है या नहीं? इसमें संदेह नहीं कि उनमें प्राचीनता के चिन्ह हैं।"[1]

प्राचीनता को सिद्ध करने के लिए उन्होंने 'ससिहर', 'अम्हें', 'महियल', तुम्हें आदि प्रयोगों का उल्लेख किया है।

पं0 रामचन्द्र शुक्ल ने 'गोरखबानी' की भाषा के सम्बन्ध में अपना अभिमत इस प्रकार दिया है –

"इस ग्रन्थ का प्रचार राजपूताने तथा पंजाब की ओर ही अधिक रहा। अतः जब मत के प्रचार के लिए इस पंथ में भाषा के भी ग्रन्थ लिखे गये तब उधर की ही

---

1. योग प्रवाह, पृ0 62

प्रचलित भाषा का व्यवहार किया गया। उन्हें मुसलमानों को भी अपनी भाषा सुनानी रहती थी, जिनकी बोली अधिकतर दिल्ली के आसपास की खड़ी बोली थी। इससे उनका मेल भी उनकी बानियों में अधिकतर रहता था। इस प्रकार नाथ पंथ के इन योगियों ने परम्परागत साहित्य की भाषा या काव्य–भाषा से, जिसका ढाँचा नागर अपभ्रंश का था अलग एक 'सधुक्कढ़ी' भाषा का सहारा लिया जिसका ढाँचा कुछ खड़ी बोली को लिये राजस्थानी था।"[1]

डॉ0 मोहन सिंह के अनुसार, "गोरखबानी– की भाषा खड़ी बोली या संतभाषा कही जा सकती है जिस पर क्षत्रिय, राजपूत, अहीर, गुर्जर एवं निम्न वर्गों का स्पष्ट प्रभाव है।"[2]

किन्तु 'गोरखबानी' की भाषा को इस प्रकार विशिष्ट जातियों से जोड़ना समीचीन प्रतीत नहीं होता। सुप्रसिद्ध साहित्यकार डा0 रामकुमार वर्मा ने भी 'गोरखबानी' की भाषा पर टिप्पणी करते हुए स्वीकार किया है।

"इस प्रकार नाथपंथ को हम सिद्ध युग और संत युग के बीच की अवस्था मान सकते हैं– गोरखनाथ ने अपने नाथपंथ के प्रचार के लिए जनसमुदाय की भाषा का आश्रय ग्रहण किया। गौतम बुद्ध ने भी अपने मत का प्रचार संस्कृत को छोड़कर जन समुदाय की भाषा पाली में किया था। सर्वसाधारण को अपने सिद्धान्त समझाने के लिए गोरखनाथ की जनभाषा में कुछ लिखने के लिए बाध्य हुए।"[3]

डॉ0 रांगेय राघव ने गोरख की भाषा पर मत देते हुए उसमें अनेक बोलियों का पुट स्वीकार करते हुए उसे सधुक्कड़ी माना है, जिसमें संस्कृत, फारसी का भ्रष्ट प्रयोग, खड़ी बोली, राजस्थानी एवं ब्रज का अपूर्व मिश्रण तथा बंगाली, गुजराती, भोजपुरी, यहाँ तक की नेपाली के भी प्रयोग मिलते हैं। भाषा के निर्णय पर उनका मत

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, सृ0 20002, पृ0 15, 16
2. गोरखनाथ एण्ड मिडिवल हिन्दू मिस्टिसिज्म, पृ0 3
3. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ0 108,110, 111

इस प्रकार है –

"यह भाषा उस युग की कदापि नहीं है जिसमें गोरखनाथ थे। बहुत से लोग उन्हें 12वीं शती का मान लिया करते हैं, किन्तु तो भी यह निःसन्दिग्ध रूप से नहीं कहा जा सकता है कि यह भाषा उस काल की है वैसे सन्तों की यह भाषा 14वीं शताब्दी की प्रतीत होती है जिसमें लिखे जाने के पूर्व 15वीं और 16वीं शती का भी प्रभव आ गया है।"

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने गोरखनाथ की भाषा को पूर्वी के अधिक निकट स्वीकारा है। जिस रूप से 'गोरखबानी' हमें उपलब्ध है यह प्राचीन ही है, ऐसा कहा जा सकता है। डा0 मोहनसिंह द्वारा संपादित 'गोरखबोध' की भाषा डा0 बड़थ्वाल–संपादित उसी ग्रन्थ की भाषा से भिन्न है। इन पदों में पंजाबीपन भी कहीं–कहीं मिलता है, परन्तु अनेक पदों में ऐसे प्रयोग मिलते हैं जो पूर्वी हैं .... वस्तुतः गोरखनाथ का साधना क्षेत्र गोरखपुर के आसा पास रहे। उनका प्रचार–क्षेत्र बहुत विस्तृत था। यह कामरूप से काबुल तक फैला हुआ था। उन दिनों उत्तर भारत में दो प्रबल राजशक्तियाँ थी– कन्नौज के प्रतिहार और गौड़ के पाल। पहली राजशक्ति संस्कृति साहित्य की आश्रयदायी थी और दूसरी देशभाषा के साहित्य की। इसलिए उन दिनों सिद्धों की लोकभाषा में पूर्वी प्रयोगों की प्रचुरता है। यह पूर्वी भाषा जिस रूप में उपलब्ध है उसमें भोजपुरी, मगही, बंगला, नेपाली, उड़िया आदि भाषाओं के बीज हैं।

'गोरखबानी' की भाषा का सीध सम्बन्ध मध्यदेश की भाषा से है जिसके सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध भाषाविद डा0 सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने लिखा है "मध्यदेश वास्तव में भारत का हृदय एवं जीवन संचालन का केन्द्र स्थान था। वहाँ के निवासियों के हाथ में, एक तरह से, अखिल भारतीय ब्रह्माणीय संस्कृति का प्राथमिक सूत्रपात था, तथा हिन्दू जगत के पवित्रतम देश के रूप में मध्यदेश की महत्ता सर्वमान्य थी। परम्परा एवं इतिहास द्वारा वर्णित सार्वभौम साम्राज्यों के केन्द्र मध्यदेश सन्निकेट के क्षेत्रों में रहे हैं। मध्यदेश

की यही भाषा भारतीय संस्कृति का मूलाधार थी और गोरखनाथ ने उसके स्वरूप को और अधिक निखारा। नाथ सम्प्रदाय के साथ–साथ चर्तुदिक इस भाषा का विस्तार हुआ जिसको तत्कालीन परिस्थितियों में राष्ट्रभाषा कह सकते हैं। अन्य क्षेत्रीय भाषाओं के उभरने पर भी उसकी यह धारा रुकी नहीं, वह अर्न्तधारा के रूप में रही, बीच–बीच में 'कुतुबशतक', खुसरों की पहेलियों, कबीर की साखियों आदि में उभरकर आती रही। यह सच है कि भक्ति–काल में नाथों की यह व्यापक राष्ट्रीय भाषा मरी नहीं, लुप्तप्राय रही।"[1]

गोरखनाथ ने जिस भाषा को अपनाया वह अपभ्रन्शोत्तरकालीन भाषा थी, जिसका विकास 10–11वीं शती में आरम्भ हो गया और आज इस भाषा का स्वरूप 'राउरवेल', 'प्राकृतपैगलम्' आदि में देखा जा सकता है। डा0 कैलाशचन्द्र भाटिया के अनुसार 'प्राकृतपेगलम्' में गोरखनाथ की भाषा के सूत्र देखे जा सकते है। भाषा का सही रूप उत्तर काल में विधापति कृत 'कीर्तिलता' में सुरक्षित है। 'उक्तिव्यक्तिप्रकरण' तथा 'वर्णरत्नाकर' की भाषा पर क्षेत्रीय उपक्रमों का व्यापक प्रभाव पड़ा था। अतः वह अपभ्रन्शोत्तर काल की भाषा के विकास की कढ़ियों को ढूढ़ने में सहायता अवश्य करती है, पर गोरखनाथ की भाषा के स्वरूप को सुरक्षित न रख सकीं।

नाथों पर बौद्ध साहित्य का व्यापक प्रभाव पड़ा, जिसके फलस्वरुप नाथों के प्रतीक, विचार तथा उनकी भाषा प्रभवित रही। बौद्ध संकर संस्कृत को मूलतः एक प्राचीन मध्यकालीन लोक भाषा पर आधूत माना गया। डा0 एल0बी0राम अनन्त ने इस भाषा से नाथों की भाष का सम्बन्ध स्थापित करते हुए कुछ निष्कर्ष निकाले हैं। उनके अनुसार नाथ सिद्धों की वानियों की भाषा पर जब इस संकर संस्कृत के सादृश्य को ध्यान में रखकर विचार करते हैं तो कई महत्वपूर्ण तथ्यों का उद्घाटन होता है। पहला तथ्य यह है कि नाथों में संकर संस्कृत के विषय में एक नयी प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई है

---

1. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृ0 191

और वह है – 'संकर संस्कृत' को लोक भाषा के समीप लाने की प्रक्रिया। नाथों के परवर्ती साहित्य में संस्कृत का रंग देने की प्रवृति क्रमशः दृढ़ होती रही, किन्तु आरम्भ में यह वैसी नहीं है। यह बात कुछ उदाहरणों से स्पष्ट की जा सकती है। मत्स्येन्द्रनाथ जो सिद्धों और नाथों के मिलन बिन्दु हैं, एक पद में लिखते हैं –

कहन्ति गुरु परमार्थेर घाट। कर्म कुरंग समाधि कपाट।।

कमल विकसिण कहिहर अमरा। कमलमधु पिपिवि थोके भमरा।।[1]

यह छन्द विधान निश्चय ही संकर संस्कृत के नये रूप को प्रस्तुत करता है। यह दसवीं शती की अपभ्रन्श परम्परा में नहीं है। इसमें गुरु परमार्थ, कर्म, कुरंग, समाधि, कपाट, कमल, मधु–संस्कृत के तत्सम शब्द हैं जिनको लोक भाषा के समीप लाया गया है। परमार्थेर में बंगला का घिसा हुआ प्रत्यय है। विकसिल दिपिपि भी बंगला के विकसित रुप ही हैं।[1]

यह बात उत्तर के सन्तों के साथ ही नहीं, महाराष्ट्र के सन्तों की भाषा भी देखी जा सकती है। महाराष्ट्र के सन्तों ने जिस भाषा को अपनाया वह तत्कालीन परिस्थितियों में राष्ट्रभाषा ही थी। यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है। वह यह है कि देश भर की राष्ट्र भाषा हिन्दी की व्यापकता देखकर हिन्दीतर भाषाओं के विद्वान और महात्मा भी उसके माध्यम से अपने सिद्धान्त और संदेश का अधिकाधिक प्रचार करना चाहते थ।[2] संत ज्ञानेश्वर के समकालीन या पूर्ववर्ती महादायिता की भाषा का स्वरूप इस प्रकार है–

हाट चौहटाँ पड़ रहूँ हो, माग पंच पर भिच्छा।

वापुड़ छोक मौरी अवस्था कोई न करी मौरी चित्ता लो।।[3]

यह भाषा निश्चित रूप से गोरखनाथ की भाषा से मेल खाती है। नामदेव की काफी हिन्दी रचनाएँ प्राप्त हैं। इस प्रकार व्यापक क्षेत्र में इस भाषा का प्रभाव पड़

---

1. हिन्दी नाथ साहित्य की भाषा (अप्रकाशित शोध–प्रबन्ध), पृ0 87, 88
2. हिन्दी को कराठी सन्तों की देन (प्रथम संस्करण), पृ0 85
3. वही, पृ0 85

चुका था और कम से कम सन्तों के द्वारा ज्ञानोपदेश का माध्यम बन चुकी थी।[1]

'गोरखनाथ' की भाषा सधुक्कड़ी कही गयी है। गोरखनाथ की भाषा में कोई दुराव–छिपाव नहीं है। गोपान–वृत्ति उसमें दूर दूर तक नहीं मिली। इस अध्याय के प्रारम्भ में कहा जा चुका है कि 'गोरखवानी' न केवल एक काव्यकृति है, बल्कि एक काव्य परम्परा की जन्मदात्री है। विवेच्य कृति से हिन्दी काव्य की वह भाषा प्रारम्भ होती है जिसमें चमक से ज्यादा खनक पर जोर है।

गोरखनाथ स्वतन्त्र थे उनकी भाषा में कवि स्वतन्त्र का भरपूर उपयोग है। उनकी भाषा में एक संभ्रान्त कवि के स्थान पर एक अक्खड़ सिद्ध बोलता है। भाषा की यह गोरखी परम्परा कबीर आदि सन्तों से होती हुई निराला और मुक्तिबोध तक चली आयी है। 'सुन वे गुलाब' जैसी अभिव्यक्ति को 'सुणहु रे अवधू' जैसी अभिव्यक्ति परम्परा के सन्दर्भ में ज्यादा अच्छी तरह समझा जा सकता है।

सधुक्कड़ी भाषा की जो परम्परा गोरख ने प्रारम्भ की उसमें तत्सम् तद्‌भव की मीन–मेख, व्याकरण की मर्यादा आदि खोजना व्यर्थ है। वह एक जीवन्त भाषा है – लोक प्रचलित शब्दों, उपमानों, लोकोक्तियों और मुहावरों से लैस। गोरख की भाषा सपाट और पैनी है। उसमें मुहावरों और लोकोक्तियों का बड़ा ही शसक्त प्रयोग हुआ है और उनके द्वारा खरी अनुभूतियों की सप्रभव अभिव्यंजना है। कुछ उदाहरण लिये जा सकते हैं –

हबकि न बोलिवा, ठबकि न चलिबा, धीरे धारिवा पांव।
गरब क करिबा सहजे रहिबा, भगंत गोरखप रांव।[2]

— —

1. डॉ0 मनीषा शर्मा, गोरखबानी– परम्परा और काव्यत्व, पृ0 73–76
2. गोरखबानी, पृ0 11

लंका छाड़ि पलंका जाइबा, तब गुरमुष लेइबा वाणी।[1]

इतना ही नहीं, कभी–कभी तो वे इन लोकोक्तियों और मुहावरों की भाषा में अपने सिद्धान्तों की व्याख्या भी करने लगते हैं –

रति का काम मासे की चोरी, रती में मासा चौरे।[2]

इसके साथ ही वे शैली में नाटकीयता का अंश भी घोल सकते हैं – कल मानों घोषणा करता फिरता है, चैलेन्ज देता फिरता है कि संसारी जीव उससे निकलकर कहाँ जायेगा? वह आशवस्त है कि उसने भव–जाल फैला रखा है किन्तु गोरख का उसमें भी चैलेन्ज है –

ऊभा मारु बैठा, मारु जागत सूता।
तीनि लोक भव जाल पसारया कहाँ जाइगो पूता।
ऊभा षंडो बैठा षंडो, षडों जागत सूता।
तिहूँ लोक ते रहूँ रिंतरि तो गोरष अवधूता।[3]

काल खड़े, बैठे, सोते–जागते, मारने की धमकी देता है। गोरख भी खड़े बैठे ही नहीं, जागते ही नहीं सोते में भी, संसार से अलगपलायन करके नहीं, इस संसार में निरंतर घुल–मिलकर भी इस काल के टुकड़े–टुकड़े कर डालेंगे। भाषा में इस प्रकार की संवादिता गोरख को प्रिय रही है।

संवाद शैली के अतिरिक्त उन्होंने सम्बोधन शैली का भी उपयोग किया है। जिससे वक्तव्य वस्तु एवं वक्तव्य भाव दृश्यमान सा हो उठा है। कभी वे अवधू को सम्बोधित करते हैं, तो कभी पंडित को। कभी उनका लक्ष्य काजी–मुल्ला है तो कभी नाना पंथों पर चलने वाले भटके हुए लोग।

---

1. गोरखबानी, पृ0 23
2. वही, पृ0 92
3. वही, पृ. 34,35

आवश्यकतानुसार व्यंग्य की छटा भी दिखाई दे जाती है। वे चित नहीं देते, पर रेखाचित्र भी नहीं देते– ऐसा कहना उनके अभिव्यक्ति गुणों के प्रति हृदयहीनता ही होगी।

बड़े–बड़े कूल्हे मोटे–मोटे पेट।
नहीं रे पूता गुरु से भेंट।[1].

संतुलित काव्य–योजना और शब्द योजना के द्वारा वे अपनी अभिव्यक्ति को प्रभावात्मक बनाते हैं –

कोई वादी कोई विवादी;
जोगी को वाद न करना।[2]
न्यांद्रा कहै मैं अलिया बलिया;
ब्रह्मा विष्नू महादेव छलिया।[3]

वे अपनी अभिव्यक्ति को चिकनी बनाने के लिए शब्द भी गढ़ सकते हैं– सुहेली, दुहेली, एकटी–वकटी ऐसे ही गढ़ गये हैं।

भाषा में नादात्मकता एक गुण उत्पन्न करती है और अभिव्यक्ति की प्रेषणीयता में सहयोग देती है। गोरख भाषा की इस शक्ति से परिचित हैं –

सारमसारं गहर गभीरं गगन उछलिया नदं।
मानिक पाया पपोरि लुकाया झूठा वाद विवादं[4]
महमंद महमंद न करि काजि महमंद का विषय विचारं।
महमंद के हाथ करद जे होती, लोहे घड़ी न सारं।[5]

---

1. गोरखबानी, पृ0 38
2. वही, पृ0 5
3. वही, पृ0 35
4. वही, पृ0 4
5. वही, पृ0 4

अनुप्रास विधान द्वारा भी भाषा को यथासाध्य आकर्षक बनाने की ओर गोरख की दृष्टि रही है। सर्वत्र न सही, अनेकतत्र अनुप्रासों के विविध रूप मिलेंगे। अर्ध–पद यमक भी मिल जायेंगे। तात्पर्य यह है कि भाषा के बाहरी आकर्षण में भी गोरख का यदा कदा लगाव मिल जाता है। कुछ उदाहरण लिये जा सकते है –

(क) ऊरम धूरम ज्वाला जोति। सूरज कला ना छीपे छोति।
कंचन कमल किरणि परसाई। जल मल दुरगंध सर्व सुषाई।

(ख) घटि–घटि सूर्ण्या ग्यान न होई। बनि बनि चंदन रूप न होई।[1]

अभिव्यंजना के प्रसंग में ही कतिपय ऐसे स्थलों की ओर संकेत करना चाहेंगे जिनमें गोरख ने अनेक प्रचलित शब्दों की मौलिक निरुक्तियाँ प्रस्तुत करते हुए व्यर्थ चमत्कार उत्पन्न किया है।

उदाहरण स्वरूप निम्नलिखित बानियाँ प्रस्तुत की जा सकती हैं–

(क) धुतारा ते जे धूते आप, मिथ्या भोज, नहीं संताप।

(ख) घरबारी सो घर की जाणें, बाहरि जाता भीतरि आणें।
सख निरंतरि काटै माया। सो घरबारी कहिये निरंजन की काया।

(ग) गिरही सो जों गिरहूँ काया। अभिअंतर की त्यागै माया।
सहज साधु का धरे शरीर। सो गिरहि गंगा का नीर।

(घ) पाषंडी सो काया पषाले। उलटि लगनि प्रवाले।
व्यंद न देई सुपणें जान, सो पाषंडी कहिए तत समान।

(ङ) संन्यासी सोई करै सर्वनास, मंडल में मांड आस।
अनहद सूं मन उनमन रहे, सो संन्यासी अगम की कहैं।

(च) दरवेस सोइ जो दर की जाणें। पंचे पवन अमूण आणें।
सदा सुचेत रहे दिन राति। सो दरबेस अलह की जाति।

---

1. गोरखबानी, पृ0 57, 58

इन व्युत्पत्ति मूलक उक्तियों में कोई व्याकरणिक अथवा शास्त्रीय आधार नहीं है, केवल आपाततः प्रतीत होने वाले अर्थ को पकड़कर एक नवीन अर्थ–योजना का चमत्कार प्रस्तुत किया गया है।

गोरखबानी की भाषा में लक्षणा का प्रयोग दुरूह है। उसका प्रमुख क्षेत्र विरोधातम्क स्थल और उलटवासियाँ है। इसी प्रकार प्रतीकात्मक शब्दों के प्रयोग की स्थिति है। बात यह है कि ऐसे स्थलों में मुख्यार्थ–वाध्य होकर येन–केन–प्रकारेण मुख्यार्थ–योग की शर्त तो पूरी होती है, किन्तु एक विशेष प्रकार की अर्थ रूढ़ियों के द्वारा होती है जो काव्य क्षेत्र और समाज दोनों ही के लिए परिचित नहीं है। इसलिए लक्षणाओं के ऐसे प्रयोग प्रचाता के लिए दुरूह हो जाते हैं।

कहीं–कहीं लाक्षणिक क्रियाओं के प्रयोग से अमूर्त विषयों का मूर्तीकरण भी मिल जाता है–

अवधू अहार कूं तोड़िवा, पवन कूं मोड़िवा,
ज्यूं कबहूं न होइगा रोगी।[1]

गोरखबानी के काव्य–गुणों की स्थिति पर विचार करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि प्रसाद गुण की स्थिति एक सीमित मात्रा में अवश्य उपलब्ध है।

ऐसे प्रसाद पूर्ण अर्थ–वैमल्य से युक्त वचनों की माचा 'गोरखबानी' में 30 प्रतिशत से किसी भी प्रकार कम नहीं कही जा सकती। इन वचनों में अविधा धर्मी भी हैं और व्यंजना–धर्मी भी–

मन में रहिणां, भेद न कहिणां, बोलिवा अमृत वांणी।
आगिला अगिनी होइगा अवधू, तो आपणा होइवा पांणी।।[2]

प्रसादमयी इस वाणी की सर्वजन–संवेद्यता एवं काव्यात्मकता अत्यन्त ही

---

1. गोरखबानी, पृ0 70
2. वही, पृ0 23

सहज है। अप्रस्तुत विधान भी सहज और मार्मिक है। भव और रस की धारा चाहे न हो, किन्तु वाणीकार के पास कुछ कहने को अवश्य है –

कै मन रहे आसा पास। कै मन रहे परम उपास।
कै मन रहे गुरु को ओले कै मन रहे कांमनि के षोले।[1]
जे आसा तो आपदा जे संझा तो रोग।
गुरु मुसि बिना न भाजिसी ये दून्यों बड़ रोग।[2]

रसाग्रही ऐसी प्रसाद सम्पन्न उक्तियों को सूक्ति कहकर ही छोड़ सकते हैं, किन्तु इनका काव्यत्व इनके जन–जीवन को स्पर्श कर सकने की क्षमता में ही निहित है।

उलटवासियों रूपकातिशयोक्तियों तथा सिद्धान्ती उक्तियों में प्रसाद गुण की स्थिति अत्यन्त क्षीण अथवा अभावात्मक है। माधुर्य की स्थिति भी लगभग ऐसी ही है, किन्तु उसे अनेकतत्र पाया जा सकता है। यह माधुर्य अनेकतत्र मधुर वर्ग–पद योजना द्वारा अथवा गीत की गति अथवा लय के द्वारा छिटकाया गया है। एक उदाहरण देकर यह बात स्पष्ट की जा सकती है –

सोना ल्यो रस सोना त्यों मेरी जाति सुनारी रे।
धंमणि धनी रस जांमणि गाया
तब गगन महा रस मिलिया रे।
आपे सोनां आप सुनारी, मूल चक्र अंगीठा।
अहरणि नाद ने व्यंद हथौड़ा, घटिस्यू गगन बईढ़ा।[3]

प्रस्तुत पद में शब्दावली और गीति लय का माधुर्य है। वह नाथ योगियों

---

1. गोरखबानी, पृ० 58
2. वही, पृ० 74
3 वही, पृ० 92

के चिमटे धुन पर तो बहुत मस्ती के साथ गाया ही जा सकता है। इन पदों में सामान्यतः टेक का प्रयोग हुआ है, जैसे –

गोरष लो गोपालं लो, गगन गाई दृहि पीवै लो।
मही बिरोलि अमी रस पीजै, अनभै लागा जीजै लो (टेक)
तत बोली लो तत बोली लो, अवधू गोरखनाथ जांणी।
डाल न मूल पहुप नहीं छाया, विरधि करे बिन पांणी।

इन टेकों की पद के प्रत्येक बंद के साथ पुनरावृति अपेक्षित है। यह आवृति पद को लयात्मक और गेय तो बनाती ही है, वक्तव्य के आसपास भले ही वह प्रकृत्या गीत–धर्मी न हो, एक मधुरता का जाल तो बुनाती ही है।

लय गीतात्मक टेकों में ही नहीं, छन्द के प्रत्येक बंद में प्रवाहित रहती है और अपना शिल्प–धर्मी उत्तरदायित्व निभाती हैं। कभी–कभी इन पदों में गीत के ओज की भी झलक मिलती है।

भाषा के उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सिद्धों और नाथों की भाषा का वैशिष्ट्य उसकी सहजता और साधुता में है। गोरखनाथ भाषा के सम्बन्ध में किसी आग्रह को लेकर नहीं चले। उनकी भाषा उनकी अनुभूति के अनुरूप एक खरापन लिये हुए है। भाषा की लयात्मकता का उन्होंने सम्यक ध्यान रखा है। इसीलिए अनुप्रास और वर्ग मैत्री के उदाहरण उनके काव्य में प्रायः मिलते हैं। उनकी भाषा एक जीवन्त भाषा है, जिसमें मुहावरों के काव्यात्मक प्रयोग हुए हैं।

सिद्धों और नाथों को अलंकारों के सायास प्रयोग से विशेष सरोकार न था, किन्तु चित्त की समंजित अवस्था से प्रस्फुटित होने के कारण उनकी वाणी सहजता अलंकृत है। 'गोरखबानी' के अलंकार विधान का वैशिष्ट्य उनकी अनायसता में निहित है।

'गोरखबानी' में दो प्रकार के अलंकारों का प्रामुख्य है– सादृश्यमूलक

अलंकारों में रूपक, और विरोधमूलक अलंकारों में विरोधाभास, रूपकों का प्रयोग निरंग भी हुआ है औ सांग भी। रूपकातिश्योक्ति की सामग्री अनेकतत्र उनके सम्प्रदाय निष्ठ क्षेत्रीय प्रयोग के कारण घिस–पिट कर उनके लिए सहज, अन्यों के लिए असहज, प्रतीक विधान के रूप में आयी है और बहुतायत से आयी है। यह प्रतीक प्रयोग एकमात्र तक ही स्वाभाविक रह पाया है। सामान्यतः यह दुर्गम्य है। अतः ऐसे स्थलों का काव्यात्मक मूल्य संदिग्ध है। यहाँ विभिन्न अलंकारों का विवेचन किया जा रहा है –

<u>रूपक :</u> 'गोरखबानी' में रूपकों का प्रायः प्रयोग किया गया है। अनेक कारणों से ये रुपक आकर्षण बन पड़े हैं। एक तो आरोपण की सामग्री जीवन के बीच से चिर–परिचित वस्तुलोक से उठायी गयी अधिक है, दूसरे, उसका सांग–विधान जब–जब हो जाता है, विषय बोध में यथासाध्य सहायक होता है। निरंग रूपक तो काव्य में यत्र तत्र बिखरे हैं ही, किन्तु सांग रूपकों का जैसा प्रचुर विधान किया गया है, उसे देखकर यह अनुमान दृण हो जाता है कि काव्य कला के प्रति विरक्त रहकर भी सिद्धों और नाथों में किस प्रकार अप्रस्तुतों के प्रयोग की एक परम्परा बन रही थी।

सांग रूपक जब लोक जीवन से अप्रस्तुतों का ग्रहण कर ऐसे विषय के साथ सम्बद्ध होता है जो हठयोगी–साधना के क्षेत्र का है, तो विषय वस्तु की धुँधलाहट के कारण एक सीमित मात्रा तक ही उक्ति का उपकार कर पाता है। एक उदाहरण लिया जा सकता है –

अवधू ऐसा नग्र हमारा, तिहां जोवौ हुज द्वारं।
उरध अरध बजार है, गोरष कहे विचारं
हरि प्राणं पातिसाह ताह विचार काजी।
पंच तत से उजहरदार मन पवन दोऊ हस्ती घोड़ा
गिनानं ते अषै भंडार।।

शास्त्र और लोक में देह गढ़ का रूपक प्रख्यात रहा है। यहाँ उसी का

उपयोग किया गया है। यों अप्रस्तुत विधान की दृष्टि से गोरष ने अपने युग के मुस्लिम शासन का पूरा नक्शा प्रस्तुत कर दिया है। संत कवियों और सूफी कवियों को देह गढ़ काया नगरी का रूपक विशेष प्रिय रहा है। 'गोरखबानी' में कहीं–कहीं आरो विधान बड़ा सटीक है, जैसे –

सप्त धात का काया पींजरा, ता मांहि जुगति बिन सूवा।
सतगुरु मिले तो ऊपरे बाबू, नहीं तो पर लै हूवा।।
कंद्रप रूप काया का मडण, अबिरथा काई उलीचौ।
गोरष कहै सुणों रे भोंदू, अरंड अमीं कित सीचौ।।

भारतीय परम्परा में आत्मा को पंथी और देह को पिंजरा माना गया है। आत्योद्वार गुरु के बिना संभव नहीं है। लोकजीवन के अप्रस्तुतों का एक अन्य प्रयोग दृष्ट्व्य है –

सहज पिलाणं पवन करि घोड़ा, ले लगाम चित चब काई।
चेतन असबार ग्यानं गुरु करि, और तजौ सब ढब काई।

सहज जीवन पवन का घोड़ा, लय की लगाम, चित का चाबुक, ज्ञान गुरु और चेतन सवार–फिर साधना की यात्रा सिद्ध होती ही है।

<u>रूपकातिश्योक्ति :</u> यह अलंकार भी गोरख ने प्रचुरता से अपनाया है। यहाँ अभिव्यक्ति अपेक्षाकृत जटिल है। इसका प्रयोग भी सांग और निरंग– दोनों ही रूपों में पाया जाता है। एक उदाहरण सांग स्थिति का लिया जा सकता है –

गोरख लो गोपाले लो, गगन गाई दुहि पीवै लो,
मही बिरोलि अमी रस पीजै, अनभे लागा जीजै लो।
ममिता बिनां माई मुइ, पिता बिना मूवा छोरु लो,
जाति बिहूना लाल ग्वालिया, अहनिस चारे गोरु लो।
अनहद सबदै संष बुलाया, काल महादल दलिया लो,

काया कै अंतरि गगनमंडल में सहजे स्वामी मिलिया लो।
ऐसी गावत्री घर वारि हमारै, गगन मंडल में लाधी लो।
इहि लागि रहया परिवार हमारा, लेई निरंतर बांधी लो
काना पूंछा सींग बिवरजित, बनीविवरजित गाई लो,
मछिंद्र प्रसादे जाति गोरख बोल्या, तहाँ रहनै लो ल्याई लो।[1]

इस पद में रूपक, रूपकातिशयोक्ति तथा विरोधाभास तीनों काम कर रहे हैं, कहीं–कहीं वस्तु पक्ष निरलंकृत भी झलक जाता है। अप्रस्तुत सहज परिचित है– ग्वाले और गाय का। गोरख–ग्वाले और गगन–गाय के आरोप से प्रारम्भ किया गया है, किन्तु गगन को प्रतीक के रूप में प्रस्तुत करने के कारण अस्पष्टता प्रारम्भ में ही आने लगी है। इनसे अस्पष्टता कुछ बढ़ी तो वस्तु पक्ष को सीधे से रखकर कवि वक्तव्य को "अनहद सवदै संष बुलाया, काल महादल दलिया लो" कहकर सहज बनाना चाहता है। अन्त में विरोधामाँष का वाक्य आश्रय लेता है– "काना पूंछा सींग विवरजित बर्न विवरजित गाई लो"। इसे आप चाहे अतिरेक के खाने में रखिए चाहे किसी और के में, चमत्कार के मूल में विरोध का सिंचन है। सब मिलाकर कहा जा सकता है कि कवि का अनुभूति पक्ष दुरूह स्थिति का है, और वह अपनी अनुभूति को संवेध बनाने के लिए ईमानदारी से प्रयत्नशील हैं, किन्तु वस्तु की स्वाभाविक दुर्बलता को कहाॅ ले जायेगा। इसमें आरोप अधिक सहज और सफल बना है, अध्यवसान अपेक्षाकृत कठिन विरोध ने चमत्कार की सृष्टि की है।

जहाँ अध्यवसान के लिए अध्यावसेय वस्तु–जगम्य होता है, प्रेषणीयता भी सफलता से हो जाती है –

मारो मारो स्त्रापिनी निरमत जल पेठी।
त्रिभुवन डसती गोरखनाथ दीठी।

---

1. गोरखबानी, पृ0 114

नारी को साधना में प्रतिरोध ही नहीं स्खलन की भूल मान कर गोरख चले है। यह उनके गृहीत जीवन की वस्तुस्थिति भी। पर नारी से यती साधक को बचाने के लिए उन्होंने बड़े सटीक शब्दों में उपदेश दिया है –

दिवसे बाघनि मन मोहे राति सरोवर स्तौषै।

जाणि बूझि रे मूरपि लोय़ा धरि धरि बाधिन पोबे।

<u>विरोधाभास :</u> विरोध–वैचित्य को आधार मान कर गोरख ने अनेक उक्तियाँ प्रस्तुत की हैं। अव्यक्त एवं जटिल अनुभूतियों को विरोधमूलक वाणियों में प्रस्तुत करने की परम्परा वैदिक काल से चली आ रही है। सम्भवतः अतीन्द्रिय अनुभूतियों के लिए इसके अतिरिक्त कोई चारा नहीं होता। यह दूसरी बात है कि अनुभूति की वास्तविक अतीन्द्रियता न होने पर भी कोई उसका दम भरे और उक्ति में नकल करे।

सिद्धों, नाथों और सन्तों– सभी में उलटवाँसियों का प्रचुर प्रयोग हुआ है। इनके मूल में वैचित्रय का आधार–अध्यवसान का और विरोध– दोनों का ही होता है। अध यवसान प्रतीत की कोटि पर भी पहुँचा होता है और उपमान भूमिका का भी होता है। यह न्स्वभाविक ही है कि प्रतीक संस्पर्शी अध्यवसान में अधिक अस्पष्टता हो और जब उसमें विरोध–वैचित्रय का योग हो जाये तो अर्थ दुरूह हो जाये तथा चमत्कार का योग बढ़ जाये।

विरोध में वैचित्रय का उपयोग कहीं विभावना की, तो कहीं व्यतिरेक की, अथवा किसी अन्य अलंकार की सृष्टि करता हुआ भी पाया जाता है।

<u>अन्य अलंकार :</u> अन्य अलंकारों का अनायास प्रयोग भी यत्र–तत्र मिलता है। इसमें सामान्यतः सहज अप्रस्तुत –विधान की झलक भी अनेकतत्र मिलती है। उपमा दीपक, तुल्योगिता, व्यतिरेक, अप्रस्तुत प्रशंसा, पर्याथोक्ति, विनोक्ति जैसे अलंकारों के उदाहरण भी खोजे जा सकते हैं पर वास्तविक स्थिति यही है कि गोरख का ध्यान इन अलंकारों के विधान की ओर नहीं था। इन अलंकारों को दिखाने का तात्पर्य इतना ही हो

सकता है कि जागरूक न होते हुए भी अलंकार–विधान के बहुत– से पहलू गोरख की बानियों में झलक आये हैं, जिनमें अनेकतत्र सहजता भी है। नीचे की उक्तियाँ ऐसा ही अलंकार–चारूत्व लिये हुए हैं –

अवधू यो मन जात है याही ते जब जांणि।
मन मकड़ी का ताग ज्यूं उलटि अपूढां वाणि।।
चापि भरे वासन फूटे, बारे रहे यो छीजै।
बसत धणेरी थासण पोछा कहौ गुरु क्या कीजै।
दूधे धोया कोइला उजला न होइला।
कागा कंठे पहुप माल हंसला न भेइला।।
अनाजे सी रोटली, कागा ले जाइला।
पूंछौ म्हाता गुरुं न कहां देसि खइला।।
नदी तीरे विरषा, नारी संगे पुरषा, अलप जीवन की आसा।
गोड़ भये डगमग पेट भया ढीला,
सिर बगुला की अंषिया।

आधुनिक आलोचना में प्रतीक को अत्यधिक महत्ता प्राप्त है। नृतत्पशास्त्र एवं मनोविज्ञान के शोधों के फलस्वरूप सहित्य को सार्वभौम प्रतीक के रूप में समझने की प्रवृत्ति का तीव्रता से विकास हुआ। मिथकीय आलोचना तो साहित्य को प्रतीकात्मक या बिम्बात्मक शब्द के रूप में स्वीकार करके चलती है। मिथकीय आलोचना के युगीन सम्प्रदाय के अनुसार किसी भी रचना का काव्यात्मक मूल्य सामूहिक अचेतन से जन्मे सार्वभौम बिम्बों की अभिव्यक्ति में निहित होता है। युग की दृष्टि में बिम्ब और प्रतीक में कोई भेद नहीं है। युगीय आलोचना–पद्धति तो यह भी स्वीकार करती है कि काव्य के समग्र भाविक विधान में किसी एक आद्यबिम्ब अर्थात प्रतीक की सत्ता रहती है। प्रंबधात्मक रचनाओं में यह प्रतीक कथानक से लेकर उद्‌देश्य तक में परिव्याप्त होता है।

हिन्दी में गोरखनाथ ने जिस प्रकार काव्य–भाषा की एक विशिष्ट परम्परा का सूत्रपात किया, उसी प्रकार उन्होंने प्रतीकों की भी एक परम्परा को जन्म दिया। नाथों और सन्तों के प्रतीक–विधान के सन्दर्भ में यह प्रायः कहा जाता रहा है कि जीवन से ग्रहीत है। यह बात एक सीमा तक ही सही है, क्योंकि नाथों और सन्तों के अनेक प्रतीक ऐसे हैं जो शास्त्र–परम्परा से गृहीत हैं। उदाहरणार्थ सूर्य, चन्द्र, गगनमंडल आदि के प्रतीक के लिये जा सकते हैं। शास्त्र परम्परा के प्रतीकों का जन्मदाता लोक है। प्रतीकों का उदय मानवचित्त के ऐसे धरातल से होता है जो सार्वभौम है और जिसे विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान की भाषा में सामूहिक अचेतन कहते हैं। शास्त्र परम्परा में प्रायः प्रयुक्त होकर ये प्रतीक रूप हो जाते है। महान कलाकार ऐसे परम्परागत प्रतीकों का पुनः सृजन करता है। 'गोरखबानी' में ऐसे पुनःसृजन के अनेकानेक उदाहरण विद्यमान हैं।

नाथों ने अपनी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिये नयी भाषा–शैली का निर्माण किया, जिसके लिए उन्हें नये प्रयोगों तथा प्रतीकों का आश्रय लेना पड़ा। प्राचीन परम्परा से चले आ रहे प्रतीकों के अतिरिक्त उन्होंने नवीन प्रतीकों को भी ग्रहण किया है। परम्परागत प्रतीक वेद और उपनिषदों के अतिरिक्त सिद्धों, शैवों और शाक्तों से लिये गये हैं। सिद्धों द्वारा अपनाये गये प्रतीक नाथों के लिए प्रेरणा का स्रोत बन गये। सिद्धों ने ब्रह्मरन्ध्र के लिए गगन का प्रयोग प्रायः किया है, उदाहरणार्थ –

गवणें उठि करअ अमिज पाण।[1]

भइ अहारिल गअणत पणिवा।[2]

जैसी उक्तियाँ ली जा सकती हैं।

प्रतीकों की दृष्टि से 'गोरखबानी' एक प्रकार का विपुल भण्डार माना गया है। प्रतीक साधर्म्य की व्यापकता तथा बिम्बों के कारण उभरकर आते हैं। साधर्म्य का

---

1. हिन्दी काव्यधारा, पृ0 132
2. वही, पृ0 166

आधार ही सूक्ष्म रूप ग्रहण करता है, जैसे– मन, पवन, साधन चितवृत्ति आदि का एक धर्म चंचलता है। इसके फलस्वरूप नाथों ने मन का प्रतीक चूहा, हाथी तथा ऊँट को बनाया मन के लए अन्य प्रतीकों में मछली, मृग, कूकर आदि लिये गये हैं।

पदों के विस्तार की अधिक संभावना के कारण 'गोरखबानी' में लम्बे रूपकों विरोधाभास पर आधारित चर्चा को अपनाया गया है, जिससे प्रतीक जटिल हो गये हैं। यही प्रवृत्ति पूर्ववर्ती साहित्य में संध्या और परवर्ती साहित्य में उलटवासियों के रूप में जानी जाती है। "संध्या भाषा के प्रयोग का यह उद्देश्य है कि किसी साम्प्रदायिक विचारधारा को बिना दीक्षा ग्रहण किये व्यक्ति से गुप्त रखा जाये। इस प्रकार विशेष रूप से किसी साधक या योगी को द्विविधा की स्थिति में ही रखा जाये जो उनके लिए प्रशिक्षण के लिए परमावश्यक ही हो जाता है। वास्तव में इसे दूसरे शब्दों में एक प्रकार की कोई प्रतीकात्मक शैली भी कह सकते हैं, जिसकी सहायता पीछे आने वाले नाथ–पंथी तथा सन्त कवियों तक ने लेना उचित समझा।" उदाहरणार्थ 'गोरखबानी' से यहाँ एक पद लिया जाता है –

नाथ बोले अमृतवाणी वरिषेगी कंबल भीजेगा पांणी।
गाड़ि पड़रवा बांधिलै षूंटा, चलै दमामां बाजिले ऊँटा।
कउआ की ड़ाली पीपल वासे मूसा के सबद बिलहया नासै।
भले बटावा थाकी बाट, सोवै डूकरिया ठौरे षाट।
डूकिले कूकर भूकिल चार, काठे थर्णी पुकारे ढोर।
ऊजड़ पेड़ा नगरी मझारी तलि गगरि ऊपर पनिहारी।
नगरी परि चूल्हा धूंधाई, पोषणहारा को रोरी खाइ।
कांमिनि जले अंगीठी तापै, विच बैसंदर बाहर कांपै।
एक जु रढिया रटती आई बहू बिवाई साधू जाइ।
गगरी को पांणी कुई आवै, उलटी चरचा गौरख गावै।

उलटी चर्चाओं में प्रतीकों का उद्देश्य केवल अभिप्रेत का संप्रेषण ही नहीं है, अपितु विरोधाभास के द्वारा पाठकों तथा श्रोताओं को चौंकाना भी है। कुछ अन्य चौंकाने वाले प्रतीक इस प्रकार है –

चोटी केरा नेत्र में गज्येन्द्र समाइला।
गावड़ी के मुष में बाघला विवाइला।।

चींटी की आंखों में गजेन्द्र का समाना तथा गाय के मुख्य में बाघिन के बिया जाने का वर्णन विरोधमूलक है। प्रतीकार्थ होगा सूक्ष्म आध्यात्मिक स्वरूप में स्थूल भौतिक रूप का समाना।

हठयोगी–साधना का चरम लक्ष्य कुंडलिनी का ब्रह्मारन्ध्र में प्रवेश है। इसीलिए विवेच्य कृति में ब्रह्मरंध्र के लिए विविध प्रतीकों का प्रचुर प्रयोग हुआ है। ब्रह्मारंद्र के प्रख्यात प्रतीकों में ब्रह्मांड, अँधा कुँआ, उत्तरखंड, अधरा, तातै, लोहा, दसवॉ, द्वार, गुफा आदि उल्लेखनीय हैं।

नाथपंथियों का विश्वास था कि पिंड में ही ब्रह्माण्ड है। उनके लिए कुंडलिनी के ब्रह्मारंध्र में प्रवेश करने का अर्थ है – सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड से साक्षत्कार। एक उदहारण द्रष्टव्य है –

अदेशि देषिवा देवि विचारिया अदिसिस्टि राधिवा धीमा।
पाताल की गंगा ब्रह्माण्ड चड़ाइवा, तहाँ मिल जल पीया।।[1]

इसका अर्थ यह है कि न देखे हुए परब्रह्म को देखना चाहिए। देखकर उस पर विचार करना चाहिए। जो आँखों से देखा नहीं जा सकता उसे चित्त में रखना चाहिए। पाताल की गंगा को ब्रह्माण्ड में प्रेश्रित करना चाहिए वहीं पहुँचकर विमल मन निर्मल रस पीता है।

---

1. गोरखबानी, पृ0 2

इसमें देखना, विचार करना, रखना, चढ़ना और पीना मनुष्य के आदिमतम व्यापारों की व्यंजक क्रियाएँ हैं। उनके द्वारा मन तथा अदृष्ट सत्ता के तादात्म्य की प्रक्रिया तो बिंबित हुई ही है, साथ ही पाताल गंगा, ब्रह्माण्ड तथा विमल जल के बिम्ब भी गतिशील हो उठे हैं। यह रूढ़ प्रतीक होते हुए भी नवीनता लिये हुए हैं। पाताल गगा सिद्ध साहित्य में भी साहित्य में भी कुंडलिनी के या प्रज्ञा के प्रतीक रूप में प्रयुक्त नहीं है। गंगा सिद्धों में इड़ा नाड़ी की प्रतीक थी, पर यही पर उसका प्रयोग योगिनी शक्ति या कुंडलिनी के लिए हुआ है। यहाँ पाताल की गंगाँ रूप में इसका प्रयोग इसे मणिपुर चक्र की कुंडलिनी का अर्थ देता है, जिसको साधक सहस्रार में पहुँचने के लिए प्रेरित करता है 'मिल जल पीया' प्रयोग द्वारा बिम्ब काव्यात्मक हो गया है। इसके साथ पाताल और ब्रहमांण्ड के मिलने का विराट बिम्ब भी प्रमाता के चित्त में उद्दीप्त हो उठता है। यहाँ ब्रहमाण्ड गगन समकक्ष है और गगन शिव के पास रूप में प्रसिद्ध रहा है। पंक्तियों में 'आकाश पाताल एक करना' मुहावरे का ध्वनन भी है।

गगन मंडल अँधा कूवा तहां अमृत का वास।
सगुरा होइ सुमरि भरि पीये निगुरा जाइ पियासा।

ब्रह्मरंध्र के लिए 'धुआँ कुँआ' प्रतीक नामों को विशेष प्रिय रहा है। इस कुँए में अमृत का वास है। आकश–मंडल (शून्य तथा ब्रह्मरंध्र) में एक औंधे मुँह का कुँआ है जिसमें अमृत का वास है। जिसने अच्छे गुरु की शरण ली है वही उससे भर–भर कर अमृत पी सकता है, कयोंकि उसे पीने का उपाय गुरु ही बता सकता है। जिसने अच्छे गुरु को धारण नहीं किया वह उस अमृत का पान नहीं कर सकता, प्यासा ही रह जाता है।

इसमें ऊँधे कुँए के अतिरिक्त गगन–मंडल तथा अमृत भी रूढ़ प्रतीक हैं। गगन–मंडल शून्य शिखर है। इस गगन–मंडल को औधा कुँआ बताना दोनों प्रतीकों को कुछ नया रूप देना है। सिद्ध साहित्य में औंधे कुएँ का वर्णन नहीं मिलता। वहाँ शून्य

विशेष व्यापक बन गया है। औंधे कुंए में ही अमृत का वास है– यहाँ विरोध का चमत्कार है और पनघट का दृश्य उपस्थित किया गया है।

'गोरखबानी' में अनेकत्र उत्तराखंड भी ब्रह्मरंध्र के प्रतीक रूप में व्यवहृत है – उदाहरणार्थ –

उत्तरषंड जाइवा सुनिफल खइला ब्रह्मअगनि पहरिया चीरं।
नीझर झरणें अमुत पीया यूँ मन हृदा थींर।[1]

नाथ–योगियों और प्रारम्भिक सन्तों की भाषा और शैली में पर्याय समानता है। कबीरदास ने मुख्यतः :साखी' और 'शब्द' लिखा है। साखियों की रचना का प्रारम्भ बताते हुए परशुराम चतुर्वेदी ने कहा है – "हो सकता है कि इनकी रचना की परम्परा गुरु गोरखनाथ आदि जोगियों के आविर्भाव काल में आरम्भ हुई हो, क्योंकि खोज में कभी–कभी 'जोगेश्वरी साखी' जैसे पद्य–संगह भी मिल जाते हैं। जहाँ तक शब्द का प्रश्न है, 'गोरखबानी' में भी श्ताब्दियाँ हैं। इसी प्रकार 'चौंतीसा' और 'पद' भी गोरखवानी में हैं। कबीर द्वारा प्रयुक्त अन्य काव्य रूपों की भी लोक–प्रचलित परम्परा ही होगी। इसी लोक–परम्परा से नाथों ने भी अपने 'काव्यरूप' चुने होंगे। सन्तों ने भी नाथ–यागियों की भाँति मुक्तक शैली का प्रयोग किया है। दोनों में चोट करने वाली शब्दावली प्रयुक्त है। उलट वांसियों की रचना नाथयोगियों ने भी की है। कबीर की कोई उलटबांसियाँ ठीक उसी प्रकार की हैं जिस प्रकार की गोरखनाथ की हैं। प्रतीक शैली का प्रयोग नाथों और सन्तों में समान रूप से हुआ है। अनेक स्थानों पर गोरखनाथ और कबीर के कथनों में अद्भुत साम्य है –

गुरु गोरखनाथ – हिन्दू आवै राम कौ मुसलमान खुदाई।
जोगी आप अलष को, तहाँ राम अहै न वुदाइ।।

---

1. गोरखबानी, पृ0 24

कबीर साहब – हिन्दू मूये राम कहि, मुसलमान खुदाई।
कहै कबीर सौ जीवता, दुई मैं कढ़ न जाइ।।

कबीर साहब – मन लागा उनमन सौं गगन पहुंचा जाइ।
देख्या चन्द विहूंणा चांदिणा, तहाँ अखल निरंजन राइ।।[1]

कबीरदास द्वारा प्रयुक्त काव्य–प्रकारों में 'थंती' और 'बार' भी है। ये दोनों ही 'गोरखबानी' में भी पाये जाते हैं। 'गोरखबानी' में पन्द्रह तिथि के अन्तर्गत अमावस से लेकर 'पून्थ' (पूनो) तक की सोलह तिथियों का क्रम वही हैं जो गोरखबानी में है। कबीर के नाम से दी गयी 'थिंती' में तिथियों का क्रम वही है जो गोरखवानी में है। 'बार' नामक रचना में 'आदित (आदित्य) वार' से लेकर 'शनिवार' तक के नाम क्रमशः लिये गये हैं। गोरखनाथ ने काया के भीतर ही सातों वारों के साथ ही नवग्रहों की स्थिति भी बतायी है। तात्पर्य यह है कि काव्य–प्रकार, भाषा और शैली की दृष्टि से नाथ–मत (विशेषतः गोरखनाथ द्वारा प्रयुक्त काव्य–प्रकार एवं शैली) और सन्त–मत में पर्याप्त समता है। परवर्ती सन्तों ने भी मुख्यतः साखी–सबदी ही लिखा है। कुछ ने प्रबन्ध कावरूप भी लिखे हैं। इसके अतिरिक्त परवर्ती सन्तों में वह चोट करने वाली भाषा भी नहीं है जो प्रारम्भिक सन्तों में है। नाथ–मत और सन्त–मत में भाषा की दृष्टि से एक अन्तर यह भी है कि नाथ–मत के सिद्धान्त–ग्रन्थ संस्कृत में लिखे गये हैं, जबकि सन्तों की रचनाएँ मात्र हिन्दी भाषा (भाषा) में ही हैं। संस्कृत को कूप जल और भाषा को बहता नीर बताकर जीवन की गतिशील प्रवृत्तियों को महत्व देने का अपार साहस प्रारम्भिक सन्तों में दिखायी देता है। ऊपर के समस्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता कि नाथ–मत और सन्त–मत एक ही सांस्कृतिक प्रवाह की परवर्ती कड़ियाँ हैं अवश्य, किन्तु दोनों में कुछ भिन्नता भी है। दोनों दो अलग–अलग युगों में जीवन की गतिशील चेतना के साक्षी रहे

---

1. गोरखबानी परम्परा और काव्यत्व, पृ0 107–121

हैं, किन्तु नाथ–योगी जहाँ योग और ज्ञान से ही जीवन के चरम उद्‌देश्य की प्राप्ति सम्भव मानता रहा है, वहाँ संत 'भक्ति' को सर्वाधिक महत्वपूर्ण मान कर ज्ञान और योग को साधना रूप में ही देखते रहे हैं।

'गोरखबानी' की परम्परा केवल संतों तक सीमित नहीं रही। अनुभूति की सहजता और अभिव्यक्ति का खरापन गोरखी परम्परा का वैशिष्ट्य रहा है। हिन्दी के आधुनिक कवियों की रचनाओं में उक्त वैशिष्ट्य को एक सीमा तक लक्षित किया जा सकता है। 'गोरखबानी' शुरूआत है इस रूप में यह परम्परा आज भी जीवित है। भारतेन्दु की जिन्दादिली, निराला का विद्रोह, मुक्तिबोध की संघर्ष प्रियता, धूमिल की भाषा की खनक, सगड़ी के भाषिक प्रयोग में 'गोरखबानी' की उस परम्परा की झलक देखी जा सकती है जो प्रमुखतः संत कावरूप के माध्यम से आधुनिक काव्य में संचारित हुई।[1]

नाथों की भाषा का संतों पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। नाथों और संतों की भाषा और छंदों के ऊपर सर्वाधिक गंभीर आरोप लगाये गये हैं। नाथों और संतों की भाषा में किसी साहित्यिक भाषा विशेष का परिनिष्ठित रूप न पाकर पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में उनकी भाषा को 'सधुक्कडी भाषा' कह दिया था। उनके अनुसार यह रमते साधुओं की भाषा थी किसी भी कवि की, प्रवृति विशेष के काव्य की भाषा का विचार उसके भाषागत वैशिष्ट्य को ध्यान में रखकर दिया जाता है। नाथों की भाषा के संबंध में अब विद्वान एक निष्कर्ष पर पहुँच गये हैं और वह यह है कि (1) यद्यपि उनकी रचना की भाषा पर्याप्त बदल गई है तथापि उसमें अभी भी अपभ्रंश, परवर्ती अपभ्रंश और 23–24वीं शताब्दी की सामान्य प्रचलित भाषा के अवशेष सुरक्षित हैं। (2) मुख्य रूप से उनकी राजस्थानी, पंजाबी आदि का प्रभाव भी मिलता है। (3) मुख्य रूप से उनकी भाषा वह पुरानी हिन्दुस्तानी है जिसके ऊपर राजस्थानी का प्रभाव पड़ा है। इस प्रकार के निर्णय में डा० पीताम्बरदन्त बड़थ्वाल तथा कल्याणी मल्लिक सहमत हैं।' डा० राजकुमार

---

1. डॉ० मनीषा शर्मा, गोरखबानी– परम्परा और काव्यत्व, पृ० 143, 144

वर्मा ने भी अपने 'आलोचनात्मक इतिहास' में इस सम्बन्ध में पर्याप्त विचार किया है। इस प्रकार के विचारों के पीछे एक कारण यह भी है कि नाथपंथ का कार्यक्षेत्र राजस्थान, पंजाब, गुजरात, मारवाड आदि प्रदेश रहे हैं। यद्यपि उनकी भाषा में कुछ पूर्वी प्रयोग भी मिलते हैं तथा उनके संप्रदाय का प्रसार भी इस क्षेत्र में हुआ है किन्तु इस प्रकार के प्रयोग हिन्दी के अधिकांश कवियों में मिलते हैं।

हिन्दी के संत कवि सुदूर एवं विभिन्न क्षेत्रों के निवासी थे जहाँ की बोलियाँ अथवा भाषाएँ भिन्न–भिन्न थीं। संत लोग अधिकांशतः अशिक्षित अथवा अर्द्धशिक्षित थे। संत लोग भाव अथवा साधना को अधिक महत्व देते थे। भ्रमणशील होने के कारण विभिन्न क्षेत्रों, प्रदेशों की भाषाओं, बोलियों का उनके ऊपर प्रभाव पड़ता था। विभिन्न प्रदेशों के अनुयायियों ने अपने उपदेशक की रचनाओं को ज्ञान अथवा अज्ञानवश अपनी भाषा अथवा बोली में पूर्णतः अथवा अंशतः परिवर्तित कर लिया है। इन सब कारणों से उनकी भाषा का कोई स्थिर और व्यवस्थित रूप नहीं रह सका। इस वैविध्य और लोकजीवन के अधिक निकटता के कारण संतों की भाषा का महत्व भाषवैज्ञानिक दृष्टि से और भी बढ़ जाता है। ये ही बातें नाथों की भाषा के संबंध में कही जा सकती हैं। अनेक संत कवियों ने विभिन्न भाषओं में भी रचनाएँ की हैं। ऐसे संत कवियों में दादू और सुंदरदास (छोटे) का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है। उन लोगों ने गुजराती, मारवाणी, पंजाबी आदि भाषाओं में भी अलग से रचनाएँ की थीं। इस दृष्टि से इन रचनाओं का भी विशेष महत्व है। नाथों की जो हिन्दी बानियाँ इस समय उपलब्ध हैं, उनके साथ इस प्रकार की इतर भाषओं में रचित कोई रचना प्रकाशित नहीं है किन्तु इतना पूर्णतया सत्य है कि विभिन्न नाथसिद्धों के नाम से समग्र भारत की अधिकांश भाषाओं में कुछ न कुछ रचनाएँ अवश्य मिल जायेंगी। उनकी प्रामाणिकता का पक्ष दूसरा है। पं0 परशुराम चतुर्वेदी ने विभिन्न भाषा क्षेत्रों के अनुसार विचार कर कबीर, रैदास, भीक्षा, शिवनारायण, परिया आदि को भोजपुरी क्षेत्र से, मलूक जनजीवन, दूलन, भीषम,

पलटू आदि को अवधि क्षेत्र से, गुरुनानक, अंगद आदि गुरु बुल्लेशाह फरीद, गरीबदास को पंजाबी क्षेत्र से, दादू, रज्जव, सुंदरदास, आदि को ब्रजभाषा और खड़ी बोली के क्षेत्र से सम्बद्ध माना है। उनका निष्कर्ष यह है कि 'सन्तों' की भाषा कम से कम शब्दभंडार एवं वर्णन शैली के अनुसार मूलतः एक है और क्रियापद संयोजक व कारक चिन्ह संबंध के जो कुछ अंतर दीख पड़ते हैं, वे प्रस्तुत उतने स्पष्ट एवं निश्चित नहीं हैं जिनके आधार पर उसे भिन्न–भिन्न वर्गों में विभाजित कर सकें।

नाथों और संतों की भाषा में अन्तर भी है। पहली बात तो यह है कि संतों की भाषा नाथों की भाषा की अपेक्षा भावों और विचारों को व्यक्त करने में अधिक समर्थ है। भक्ति और प्रेम से सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों को व्यक्त करने में समर्थ हैं। दूसरे, इस प्रकार की अभिव्यक्ति के लिये संतों ने विभिन्न विदेशी स्वदेशी भाषाओं से शब्द तो लिये ही हैं साथ ही जनप्रचलित भाषा के शब्दों, प्रतीकों, मुहावरों, कहावतों, अभिव्यक्ति पद्धतियों को भी ग्रहण किया। नाथों की रचनाओं, विशेषकर पूर्ववर्ती गोरखनाथ आदि की रचनाओं की भाषा में लोकभाषा की सरसता उपलब्ध नहीं है। तीसरे, संतों का विभिन्न प्रदेशों से यद्यपि संबंध अवश्य था किन्तु उनकी भाषा में अन्य भाषाओं का मिश्रण उस मात्रा में नहीं है, और न वह मिश्रण इतना अत्यर्वस्थित है कि उससे किसी भाषा विशेष की मुख्यतः मालूम ही न हो। संतों ने, विशेषकर दादू, सुन्दरराम इत्यादि ने भिन्न–भिन्न भाषाओं में रचना की है और वे नागरी लिपि में उपलब्ध भी हैं। यद्यपि उनका संबंध भिन्न–भिन्न भाषा के प्रदेशों से था, उनकी मातृभाषा भी हिन्दी से भिन्न थी किन्तु उन लोगों ने हिन्दी की विभिन्न बोलियों में रचनाएँ की हैं। उदाहरण के लिये दादू की मातृभाषा गुजराती मानी जाती है किन्तु उन्होंने केवल कुछ पदों को छोड़ कर अपनी अधिकांश रचना हिन्दी में की है। नामदेव मराठे थे किन्तु उन्होंने भी हिन्दी में रचनाएँ की हैं। ऐसी स्थिति में यह अनुमान किया जा सकता है कि संतों ने जिस प्रकार की व्याकरण की दृष्टि से असंस्कृत भाषा का प्रयोग किया है, वह उस समय की, लगभग 14–15वीं शताब्दी से लेकर 18–19वीं

ईस्वीं शताब्दी तक जनसामान्य के नित्यप्रति के व्यवहारों, भावों की भाषा थी। दूसरा अनुमान यह किया जा सकता है कि इन संतों की रचनाओं के जो विभिन्न रूप और पाठभेद मिलते हैं, उसमें भी उनके अनुयायियों का विशेष हाथ है। कबीर की एक ही रचना के पंजाबी, राजस्थानी, हिन्दुस्तानी आदि से प्रभावित रूप मिल सकते हैं। अधिक संभावना इस बात की है कि मूल रचना उस समय की जनसामान्य की किसी सर्वाधिक प्रचलित भाषारूप में रही होगी किन्तु भिन्न भिन्न प्रदेशों के श्रद्धालु जनों के प्रसाद से उसके विभिन्न रूप मिलने लगे। यह सामान्य भाषा तत्कालीन साहित्यिक एवं परिनिष्ठित भाषा ब्रजभाषा और अवधि से कुछ भिन्न रही होगी। स्पष्ट ही वह साहित्यिक भाषा नही थी किन्तु भावों को व्यक्त करने की शक्ति उसमें कम न थी और इसका प्रभाव कबीर की भाषा से मिल जाता है। कबीरादि संतों को भाषा के भावों को व्यक्त करने की समर्थ्य से ही प्रयोजन था भाषा के संस्कार और सौंदर्य से नहीं। यद्यपि रीतिकाल के आसपास के कवियों में इस प्रकार की प्रवृत्ति नहीं देखी जाती । वे भाषा के प्रति अधिक सजग हैं।

रस, छंद, अलंकार, भाषा आदि के प्रति इस प्रकार की प्रवृति के होने के भी कई कारण हो सकते हैं। सुन्दरदास जैसे कुछ कवियों को छोड़कर इनके प्रति कोई संतकवि सजग नहीं दिखाई पड़ता। मुख्य बात यह है कि संतों और नाथों की रचना की कोटि ऐसे शुद्ध काव्य की कोटि से अलग है जिसका लक्ष्य ही काव्य रचना है। वह किस कोटि की है, इसके संबंध में संतों के ही कुछ विचार ध्यान में रखे जा सकते हैं। कबीरदास ने कवि को अहंवादियों की कोटि में रखा है। पंडित, गुनी, सूर, कवि, द्वाता– ये सभी अपने को ही बड़ा कहते हैं। दूसरे, कवि लोग कविता कर के अमरत्व नहीं प्राप्त कर सकते। बिना राम के यह अमरत्व उपलब्ध नहीं हो सकता। प्रेम के लिये अहंकारत्याग कितना अधिक आवश्यक है, यह प्रेमवादियों और रहस्यवादियों की रचनाओं को पढ़ने से ही स्पष्ट होता है। सुन्दरदास की दृष्टि में थोड़ा सा अंतर है। उनके अनुसार जब तक काव्य जोड़ना न आता हो तब तक रचना न करनी चाहिए। रचना ऐसी होनी चाहिए

जिसमें तुक, छंद और अनूप अर्थ की उपलब्धि होती हो। ऐसी वाणी की रचना नहीं करनी चाहिए जिसमें तुकभंग, छंदभंग और अर्थसाहित्य हो। कविता के लक्षणों में वे उसका नख–शिख शुद्ध होना आवश्यक मानते हैं। उसमें अक्षर कम या अधिक न होने चाहिए। भाषा में घट–बड़ नहीं होना चाहिए। उसमें अनामिल तुक और अर्थहीनता न होनी चाहिए। ऐसी कविता का जीवन (प्राण, आत्मा) 'हरिजस' है। इसके बिना कविता मृत मानी गई है। पहले संकेत किया जा चुका हैं कि पूर्ण रहस्यवादी कविता वह है जिसमें काव्य के नैसर्गिक अंग स्थतः रहस्यवादी प्रवृत्तियों के साथ समन्वित होकर आ जाते हैं। संतों की रचनाओं में रहस्यवादी प्रवृतियाँ हैं। उसमें शैली संबंधी पूर्णता–प्रतीक और पौराणिक शैली भी मिलती है, किन्तु काव्य पक्ष, यदि शुद्ध काव्य की परिभाषा की दृष्टि से विचार करें, दुर्बल दिखाई पड़ता है। सुन्दरदास का काव्य रहस्यवादी तो है ही साथ ही उसमें काव्य की व्यवस्था, नियमबद्धता सरसता और सरलता भी है। ऐसी पूर्णता अन्य संतकवियों में नही दिखाई पड़ती। भाषा की दृष्टि से भी सुंदरदास अतुलनीय हैं किन्तु तीव्र भावना का जो वेग कबीर जैसे कवियों की रचनाओं में दिखाई पड़ता है, वह उतनी मात्रा में विभिन्न उत्तर मध्ययुगीन संत कवियो में, सुंदरदास में भी, नहीं दिखाई पड़ती । संतों का अभिव्यक्ति पक्ष प्रत्येक दृष्टि से, नाथों की तुलना में अपेक्षाकृत अधिक सुदृढ़, व्यवस्थित और सरस है। युग के आग्रह से संतों की काव्य संबंधी दृष्टि में परिवर्तन तो अवश्य दिखाई पड़ता है किन्तु रहस्यानुभूति, भक्ति, प्रेम को, भगवान के लक्ष्य को उन्होंने कभी नहीं छोड़ा। हमारी दृष्टि में संपूर्ण नाथसाहित्य और संत साहित्य की एकमात्र कसौटी है आध्यात्मिक साक्षात्कार। नाथों और संतों की रचनाओं में इस आध्यत्मिक साक्षात्कार के विविध रूप व्यक्त हुए हैं और भाषा उन रूपों में "गोरवाबानी" की भाषा की दृष्टि से गहरा प्रभाव है।[1]

---

1. डॉ0 नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, नाथ और संत साहित्य, पृ0 607–611

अध्याय – 6

गोरखबानी का संत–काव्य पर प्रभाव– साधना पक्ष

इस अध्याय में "गोरखबानी" के माध्यम से संतों की रचनाओं में नाथों के साधना–पक्ष के प्रभाव को विवृत करने का प्रयाय किया जा रहा है। नाथपंथी योगियों की साधना शैव और वैष्णव दोनों परम्पराओं से प्रभावित रही है। वैष्णवों और शैवों की साधना पद्धतियों पर तांत्रिक साधना का प्रभाव पड़ा है। नाथों की संस्कृत और हिन्दी रचनाओं में मिलने वाले योग साधना पर भी उनका पर्याप्त प्रभाव है। पांचरात्र साहित्य अंशतः वैदिक है और अंशतः तांत्रिका इसी तंत्र प्रभावित पांचरात्र वैष्णव साहित्य में प्रकाशित वैष्णव साधना का विकास और विवेचन आगे चलकर रामानुजी वैष्णव मत तथा अन्य वैष्णव मतों में हुआ। इस वैष्णव साहित्य में उपलब्ध योग का स्वरूप परम्परापुष्ट है। वैष्णव भक्ति साहित्य और मत में भी योग साधना को साधनांग के रूप में स्वीकार किया गया है किन्तु केवल इसी योग को ग्राह्य और सार्थक बताया गया है जो भक्ति की उत्पत्ति और प्राप्ति में सहायक हो। दूसरी बात यह है कि जिस योग साधना का परिचय मिलता है व्यायाम, नियम, आसन, प्राणायाम, कुंडलिनी–साधना, षट्चक्रवेघ, नाड़ीसाधन आदि से समन्वित है। तीसरी बात यह है कि इस योग साधना का भक्ति से पृथक कोई महत्व नहीं है। चौथे, किसी न किसी रूप में योग साधना से चित्तसंयम कर ध्यान की सहायता से जीवात्मा–परमात्मा की एकात्मोपलब्धि को ही ये लोग योग साधना कहते हैं। कुछ ग्रंथ इसमें 'समर्पण' तत्व का भी समन्वय करते हैं।

संतों की योग साधना के प्रसंग में वैष्णव साहित्य में प्राप्त योग साधना का परिचय देना आवश्यक इसलिये समझा गया कि अभी तक संतों के योग साधना को केवल नाथपंथियों की ही देन समझा जाता रहा है। अभी तक संत साहित्य पर विद्वानों

ने जो कुछ भी विचार किया है उनमें योग साधना और भक्ति का स्थान–निरूपण और स्रोत–निरूपण मुख्य हैं। संतों को योग साधना शैव परंपरा से मिली थी या वैष्णव परंपरा से, इसका निश्चय यहाँ अपेक्षित हैं। संतों की भक्ति और योग का सम्बन्ध निरूपण और स्वरूपनिर्माण भी करना आवश्यक है। स्रोत, संबंध और स्वरूप में से प्रथम दो का विवेचन पं0 रामचन्द्र शुक्ल ने करते हुए बतलाया था कि गोरखनाथ के नाथ–पंथ का मूल बौद्धों की बज्रयान शाखा थी। बौद्धों की इस शाखा की विशेषताएँ थीं– अन्तस्साधना पर जोर और पंडितों को फटकार, दक्षिणमार्ग छोड़कर वाममार्गग्रहण, वारूणीप्रेरित, अन्तर्मुख साधना, साधना में मद्य तथा स्त्रियों का विशेषतः डोमनी रजकी आदि का अबोध सेवन, घर के भीतर विहार महासुखवाद और युगनद्ध। उनके अनुसार यद्यपि नाथपंथ का मूल यही वज्रयान शाखा थी किन्तु गोरखनाथ की शाखा योगियों की शाखा और उसने वज्रयानियों के विधि–विधानों से अपने को अलग रखा। गोरख ने हठयोग का प्रवर्तन किया। योगियों की इस शाखा की विशेषताएँ थीं– रसायन सिद्धि, ईश्वरवाद, हिन्दू–मुसलमानों का सामान्य साधनामार्ग, ईश्वरोपासना के बाह्य विधानों के प्रति उपेक्षा, घर के भीतर की ईश्वर को प्राप्त करने पर जोर, वेदशास्त्र के अध्ययन की व्यर्थता और विद्वानों के प्रति अश्रृद्धा, तीर्थाटन आदि की निष्फलता, अन्तस्साधना, परमात्मा की अनिर्वचनीयता, जाँति–पाँति का खंडन, सदगुरु की महत्ता, आत्मनिग्रह, श्वासनिरोध, भीतरी चक्रों, नाड़ियों का वर्णन आदि। इस प्रकार नाथपंथियों ने वज्रयानियों की परम्परा अपने ढंग पर जारी रखी। शुक्ल जी के मतानुसार, आगे चलकर भक्तिकाल में निर्गुण संत सम्प्रदाय ... वेदान्त के ज्ञानवाद, सूफियों के प्रेमवाद तथा वैष्णवों के अहिंसावाद और प्रापप्तिवाद को मिलाकर, सिद्धों और योगियों द्वारा बनायें हुए इस रास्ते पर चल पड़ा। हृदयपक्षशून्य सामान्य अन्तस्साधना का मार्ग नाथपंथी निकाल चुके थे। उसमें प्रेमतत्व का अभाव था। इस प्रकार 'कबीर ने भारतीय ब्रह्मवाद के साथ सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद, हठयोगियों के साधनात्मक रहस्यवाद और वैष्णवों के अहिंसावाद तथा प्रापत्तिवाद का मेल करके अपना पंथ खड़ा

किया।' उन्होंने हठयोगियों के साधनात्मक रहस्यवाद के कुछ सांकेतिक शब्दों– चंद, सूर, नाद, बिंदु, अमृतम, औधा कुआँ– को लेकर अद्‌भुत रूपक बांधे हैं। परम्परा का विचार करते हुए उनका स्पष्ट अभिमत है कि 'अहिंसा और प्रापप्ति के अतिरिक्त वैष्णत्व का कोई अंश उसमें (संत साहित्य में) नहीं है। उसके 'सुरति' और 'निरति' शब्द बौद्ध सिद्धों के हैं। सुरति और निरति शब्द योगियों की वाणियों से आये हैं, वैष्णवों से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है।' इससे स्पष्ट है कि शुक्ल जी संतों के योग साधना को नाथों की परम्परा में मानते हैं। यह नाथों की योग साधना भी वज्रयानियों के योग साधना की परम्परा से आयी थी यद्यपि नाथों ने उसमें कुछ परिवर्तन कर लिया था। शुक्ल जी यद्यपि यह मानते है कि रामानंद की जातिवर्ण संबंधी उदारता नाथपंथियों से प्रेरित नहीं थी, अपितु वैष्णव भक्ति के अनुसार भी तथापि कबीर के संबंध में विचार करते समय वे इस प्रवृत्ति को मुसलमानों या योगियों की देन मानते हैं। रामानंद कबीर के गुरु थे। रामानंद ने योगसाधना नहीं की थी और न उसे किसी रूप में स्वीकार ही किया था। योगचिंतामणि, रामरक्षा आदि ग्रंथ भी उनके नहीं हैं। तुलसी के संबंध में विचार करते समय उन्होंने जो एक अति महत्वपूर्ण बात कही है, वह यह है कि तुलसी की भक्ति को धर्म और ज्ञान दोनों की रसानुभूति कह सकते हैं। 'योग का भी उसमें समन्वय है, पर उतने ही का जितना ध्यान के लिये चित्त को एकाग्र करने के लिये आवश्यक है। पं० रामचन्द्र शुक्ल के इन विचारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि संतों को योग नाथपंथियों से मिला तथा उनके गुरु रामानंद योग के न तो साधक थे न उपदेशक। संतों के योग का स्रोत बौद्ध सिद्धों और नाथसिद्धों की साधना से प्रवाहित होता आ रहा था।

शुक्ल जी के बाद विचारकों ने कुछ भिन्न विचार व्यक्त किये। डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने कबीर का जातिगत संबंध भी किसी न किसी रूप में नाथपंथियों से माना। डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल के 'हिन्दी कविता में योग प्रवाह' निबंध के प्रकाशित हो जाने पर पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय को यह संबंधस्थापन

अतिसरल अनुभूत हुआ क्योंकि 12वीं से 15वीं शताब्दी तक के व्यवधान को पूरा करने के लिये नाथपंथियों की रचनाओं का एक सामान्य परिचय उनके सामने प्रस्तुत था। उन सभी बातों को ध्यान में रखकर डा0 बड़थ्वाल ने गोरखबानी की भूमिका में लिखा था – नाथपंथियों की बानियाँ हमारे साहित्यिक और सांस्कृतिक विकास की लड़ी में एक महत्वपूर्ण कड़ी है। इस प्रकार ड0 बड़थ्वाल ने बौद्ध सिद्धों से लेकर कबीर तक साधना की एक ही परम्परा का दर्शन किया। इस बात को और भी स्पष्ट करने के उद्‌देश्य से उन्होंने संतों के पारिभाषिक शब्दों की परंपरा की खोज कर उनका वर्गविभाजन किया। इन वर्गों में से एक वर्ग ऐसा है जिसमें 'शून्य', 'विज्ञान', 'निर्वाण' जैसे शब्द गृहीत हैं और बौद्ध धारा की ओर संकेत करते हैं। इस धारा के शब्दों के अर्थ में बहुत परिवर्तन हो गया है। इस प्रकार के शब्दों के प्रयोग और उनके अर्थ में परिवर्तन का मुख्य कारण नाथपंथियों की योग पद्धति है। अपनी इस स्थापना को वे और अधिक स्पष्ट और सुनिश्चित रूप देते हुए कहते हैं 'गोरखनाथ के आसनों का प्रसंग यदि छोड़ दिया जाय तो उनमें तथा निर्गुण संप्रदाय के संतों में एक आश्चर्यजनक समानता दिखाई पड़ेगी। केवल शुक्ल कला ही नहीं अपितु शब्दावली भी दोनों की एक समान है। सुरति, निरति, उन्मन आदि शब्दों को गोरखनाथ एवम् अन्य संतों ने अपनी हिंदी रचनाओं के अन्तर्गत एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया है। यहाँ तक के विचारों में पं0 रामचंद्र शुक्ल और डा0 बड़थ्वाल में समानता दिखाई पड़ती है। भिन्नता यह है कि डा0 बड़थ्वाल ने राद्यवानंद और रामानंद दोनों को योग साधना का साधक और उपदेशक माना है। राघवानन्द रामानंद के गुरु थे तथा जनश्रुति से इतना ज्ञात है कि वे रामानुजी संप्रदाय के महात्मा थे और योगक्रिया में पारंगत थे। उन्होंने अनुमान किया है कि जिस समय दक्षिण से आकर श्री यामुनाचार्य और रामानुजाचार्य की वैष्णव भक्ति का उत्तर में प्रचार हुआ उस समय वहाँ योग संप्रदाय के बहुत से लोग आ गये। परंतु साथ ही इन लोगों ने पुराने मार्ग की बातों को जो उनके अस्तित्व के अभिन्नांश हो गये थे, त्यागा नहीं। उन्हें नई

परिस्थितियों के साथ समन्वित कर लिया। इसीलिये रामानंद, कबीर, रैदास आदि उनके उत्तराधिकारियों में योग और भक्ति का पूर्ण समन्वय मिलता है। यद्यपि डा0 बड़थ्वाल ने इतना स्वीकार कर लिया है कि राघवानंद की साधना में योग साधना तत्व था तथापि वे उसे केवल तत्कालीन परिस्थिति का प्रसाद मानते हैं। अपनी स्थापना को पुष्ट रूप में उपस्थित करते हुए उन्होंने बताया कि 'राद्यवानंद बाहर से रामानुज संप्रदाय में होते हुए भी वस्तुतः इन्हीं योगी–नामों के उत्तराधिकारी हैं और उनसे पाई हुई सामग्री को उन्होंने रामानंद को दिया।

वस्तुतः पं0 रामचन्द्र शुक्ल और डा0 बड़थ्वाल प्रायः समयकालीन आलोचक थे उनके बाद के आलोचकों में से प्रायः सभी के योग का मूलाधार नाथों का योग माना है। डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने निर्गुणवादी संतों की वाणियों की बाहरी रूपरेखा का बौद्ध धर्म के अंतिम सिद्धों और नाथपंथी योगियों से सीधा सम्बन्ध माना है। संतों ने अपने इन पूर्ववर्तियों के शब्दों और पदों में यत्र–तत्र परिवर्तन भी किया था। द्विवेदी जी ने माना है कि कबीर ने एक साथ तीन बड़ी–बड़ी धाराओं को आत्मसात् किया था। ये धाराएँ हैं उत्तर पूर्व के नाथपंथ और सहजयान का मिश्रित रूप, पश्चिम का सूफी मतवाद और दक्षिण का वेदान्तभक्ति वैष्णव धर्म। पर इनमें से अंतिम तीसरी धारा ही कबीर को, वास्तव में, सदा परिचालित करती रही। उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि कबीर को जाति परम्परा और वातावरण से योग मिला था। वे योगियों की रूपान्तरित जाति में ही बड़े हुए थे। किन्तु फिर भी वे योग साधना को वह स्थान न दें सके जो उसे नाथपंथियों में प्राप्त था। वे योगप्रक्रिया के विरोधी नहीं थे, परन्तु हठयोगियों की सभी क्लिष्ट साधनाओं को आवश्यक नहीं समझते थे। योगियों की कुछ क्रियाओं का अभ्यास वे नापसंद नहीं करते थे पर उनके सभी अंगों को अंधभाव से स्वीकार नहीं करते थे। इसका कारण संभवतः द्विवेदी जी की दृष्टि में यह है कि वे सदैव वेदान्तभक्ति वैष्णव धर्म से ही परिचालित होते थे। कबीर ने यौगिक क्रियाओं को भी ब्रह्माचार ही माना था। इनके द्वारा प्राप्त अनुभवों

और उपलब्धियों को वे अस्थायी और अनित्य मानते थे। उनकी वाणी वह लता है जो योग साधना के क्षेत्र में बीज पड़ने से अंकुरित हुई थी। नाथपंथियों से कबीरादि को ब्रह्मचर्य, वाक्संयम, शारीरिक शोच, मानसिक शुद्धता, ज्ञान के प्रति निष्ठा, ब्रह्म आचारणों के प्रति अनादर, आन्तरिक शुद्धि, मद्य—मासांदि के पूर्ण बहिष्कार के विचार मिले जिन्होंने संत मत को चारित्रिक बल प्रदान किया और परिणामतः संपूर्ण भक्ति काल में चारित्रिक दृढ़ता का वैलक्षण्य संतों के लिये जीवनदाता बन गया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने नाथों और संतों की इतनी आलोचना करते हुए भी उनकी इस विशिष्टता की प्रशंसा की है। ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि संतों को यह वैलक्षण्य नाथों से मिला दूसरी बात यह है कि डा0 बड़थ्वाल, डा0 द्विवेदी आदि ने यह स्वीकार कर लिया कि कबीरादि की मुख्य प्रवृत्ति वैष्णव भक्ति भी जो योगादि के ग्रहण में भी महत्वपूर्ण कार्य करती थी। रामानंद के संबंध में भी कुछ न कुछ ऐसी साधना अवश्य थी जिसके कारण योगप्रधान भक्तिमार्ग, निर्गुणपंथी भक्तिमार्ग और सगुणोपासक भक्ति तीनों ही के पुरस्कर्ता भक्तों ने उन्हें अपना गुरु माना है।

संत साहित्य के आलोचकों के इन विचारों से चार निष्कर्ष मिलते हैं। प्रथम तो यह कि संतों की योग साधना का उद्‌भव और विकास नाथों के योग साधना से हुआ। दूसरे, संतों ने नाथों की योग साधना के विभिन्न पारिभाषिक शब्दों, प्रक्रियाओं एवम् अंगों को अपने ढंग से ग्रहण किया अथवा उनमें परिवर्तन कर दिया। तीसरे, कुछ लोगों के मतानुसार कबीर की गुरुपरंपरा में राघवानंद और रामानंद योगसाधक और योगोपदेशक थे। चौथे, वैष्णव भक्ति ही कबीर के सारे विचारों और भावों को सदैव परिचालित करती रही। इन निष्कर्षों पर विचार करने से दो प्रश्न उठते हैं। पहला तो यह कि यदि कबीर के विचारों और भावों की परिचालिका भक्ति थी तो क्या वैष्णव भक्ति में योग साधना का सर्वथा अभाव था दूसरे, यदि वैष्णव भक्ति में योग साधना के लिये भी स्थान है तो यह सम्भव है कि कबीर को योगसाधन वैष्णव भक्ति के साथ मिली है। ऐसी

स्थिति में इतने परिश्रम से साधत नाथयोगियों और कबीर के जातिगत संबंध के परिणामस्वरूप उपलब्ध योग साधना के सिद्धान्त की क्या संगति और उपयोगिता है? अभी तक विद्वानों के जो तत्वसंबंधी विवेचन उपलब्ध हैं उनसे यह पता लगता हे कि प्राचीन वैष्णव ग्रंथों में भक्ति के साथ विवेचित होने वाले योगसाधना पर विद्वानों ने अभी तक विचार नहीं किया है और न यह बतलाया है कि संतों के योग का आधार, उनकी भक्ति के समान ही, वैष्णव योगसाधना विवेचित और प्रचिलत थी। योग साधना और भक्ति में कोई मेल सम्भव नहीं, इसके खंडन के लिये पं० राचन्द्र शुक्ल के उस कथन को ध्यान में रखा जा सकता है जिसमें उन्हेंाने तुलसी की भी भक्ति में योग साधना का सद्भाव था अतः सम्भव है कि कबीर को भक्ति के समान योग साधना भी वैष्णवों से मिली हो किन्तु अभी तक आलोचकों ने इस सम्भावना की ओर संकेत भी नहीं किया है। वैष्णवों के सम्प्रदाय में और उनके प्राचीन साहित्य में योगसाधना का पर्याप्त प्रचलन और विवेचन था। नाथयोगियों से प्रभावित जाति में उद्भूत और एक भिन्न वातावरण में पालित होने पर कबीर को योग साधना, योग साधना से सम्बंधित शब्दावली आदि सहज की उपलब्धी हो गयी थी। जब तक कबीर को भक्ति की प्राप्ति नहीं हुई थी तब तक उनका योग साधना नाथपंथी योग साधना ही रहा होगा; जिसके स्वरूपनिर्णय का हमारे पास कोई आधार नहीं हैं, किंन्तु भक्ति से प्रभावित होने पर उनके योग साधना का स्वरूप क्या था इसका निर्णय करने के लिए हमारे पास उनकी रचनाएँ हैं। भक्ति का वह स्वरूप और स्थान उन लोगों ने स्वीकार नहीं किया था जो वैष्णव भक्तों को स्वीकार था। अतः अभी यह अनुमान किया जा सकता है कि भक्ति को प्रमुखतम तत्व के रूप में स्वीकार कर लेने पर भी, कबीर ने योग साधना को या योगयुक्त ज्ञान को भक्ति की प्राप्ति में सहायक के रूप में स्वीकार कर लिया होगा। नाथों के योग में इस प्रकार के किसी विकल्प की संभावना नहीं की जाती। वैष्णवों के शास्त्र और मत में योग साधना को यह स्थान दिया गया है। अतः यह अनुमान उचित और सभी समस्याओं का समाधानकारक प्रतीत होता

है कि नाथपंथियों की परंपरा से प्राप्त योग साधना का पूर्णतया परित्याग कबीर ने प्रेमाभक्ति को चरम साधन के रूप में स्वीकार कर भी नहीं लिया था। यद्यपि उनकी स्थान उसके साधना में वही नहीं रहा जो नाथ योगी साधन में उन्हें प्राप्त था।

कबीरादि की रचनाओं में उपलब्ध योग साधना का स्वरूप नाथयोगियों के योग साधना के समान ही है। अतः वैष्णव योग साधना से उसकी परम्परा सिद्ध नहीं की जा सकती। इसके निवारण के लिये कुछ मुख्य और प्रारंम्भिक बातों को ध्यान में रखा जा सकता है। पहले ही कहा जा चुका हैं, तांत्रिक साधना का प्रभाव प्रमुख रूप से बहुत पहले, वैष्णवों और संख्याओं के अंतर के साथ प्रायः सभी साधना पद्धतियों में मिलता है। प्रायः सभी बातों और सम्प्रदायों ने अपने सिद्धांतों के अनुकूल इस तांत्रिक योग साधना को स्वीकार किया था। वैष्णवों के योग का जो परिचय दिया गया है उससे यह स्पष्ट हो गया है कि वैष्णवों के भी योग में प्राणायाम, षट्चक्रभेघ, कुंडलिनीयोग, नाड़ीसाधन आदि गृहित थे। इसके अतिरिक्त प्राचीन वैष्णव ग्रंन्थों में योग भक्तिसिद्धि में केवल सहायक है। संतों के योग साधना का स्परूपनिर्णय करने पर ऊपर कही हुई बातें और अधिक स्पष्ट और पुष्ट रूप में सामने आ सकेगी।[1]

संतों के योग साधना के इस प्रकरण में अभी तक जो कुछ भी प्रस्तुत किया गया है उसमें यथास्थान संतों के गुरुशिष्यवाद, अधिकाभेदवाद, लक्ष्यनिरूपण तथा पिंडब्रह्माडववाद एवं तत्वसंबंधित अन्तस्साधना का विचार किया गया है। विचार का विषय यह है कि पिंड में ही ब्रह्माण्ड की अथवा परमपद की उपलब्धि तथा मानसशुद्धि के कौन–कौन सी साधना संतों ने स्वीकार किये हैं? यह ध्यान रखना चाहिए कि गोरखनाथ ने योगयुक्त ज्ञान को साधन के रूप में स्वीकार किया है। भक्ति के संदर्भ मे स्पष्ट है कि संतों का चरम साधन भक्ति है। इस प्रकार यहाँ यह भी विचार है कि योग, ज्ञान और भक्ति को संतों की रचनाओं में कौन–सा स्थान प्राप्त है। इसके बाद संतों के

---

1. डॉ0 नागेन्द्रनथ उपाध्याय, नाथ और संत साहित्य, पृ0 435–443.

योग साधना के स्वरूप का विचार करते हुए यथाप्रसंग नाथों के योग साधना अथवा योगांगों के साथ उसकी तुलना भी करेंगे। कबीरादि की रचनाओं में कहीं–कहीं योगसाधना के खण्डन और अनावश्यकता के विचार भी मिलते हैं। उनके संपूर्ण साधन में योग का कोई न कोई रूप अवश्य स्वीकृत है, उसमें सन्देह नहीं। अतः यह भी देखना चाहिए कि संत योग साधना के किस रूप को स्वीकार कर उसके किस रूप का निषेध करते हैं। नामों के योग साधना में यह बतला चुके हैं कि वे हठयोग को राजयोग के लिये सहायक के रूप में स्वीकार करते हैं। हिन्दी रचनाओं में प्राण, मन आदि के परस्पर नियंत्रित हो जाने की बात कहीं गई है। अधिक जोर मन और प्राण के नियंत्रण पर दिया गया है और बिना शुक्संयम के मन–प्राण संयम् को असंभव बताया गया है। मन से पवन नियंत्रित होता है अथवा पवन से मन, इसके संबंध में नाथपंथी एकमत नहीं है। किन्तु इतना निश्चित है कि राजयोग के सहायक के रूप में हठयोग को स्वीकार करने पर यह प्रायः स्वयंसिद्ध है कि साधना में नाथसिद्ध सबसे पहले आधिभौतिक और आधिदैविक (प्राण और शुक्र) तत्वों को साधना चाहते हैं और बाद में चित्तसाधक को महत्व देते हैं। इन बातों पर ध्यान रखने से आगे संतों के योग साधना के स्वरूप का निर्वाचन कर उसकी तुलना करने में सुविधा होगी।

नाथों की योग–साधना के परिचय में बताया गया है कि ये साधना के तीन तत्वों को प्रमुख मानते हैं– प्राण, शुष्क और मन। वे इनमें से किसी एक को प्राथमिकता देते दिखाई नहीं पड़ते। किन्तु साधनाक्रम में वे क्रमशः बिंदुरक्षा, प्राणसंयम और मानस संयम को स्वीकार करते हैं। यह एक प्रकार का आधिवैदिक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक साधनों का समन्वय है। यम, नियम के अर्न्तगत ही, प्राणायाम के पूर्व, ब्रह्मचर्य को स्थान देने से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। संत लोग कायासाधना को महत्व नहीं देते। भक्ति को मन को लगा देने पर शरीर का नियन्त्रण स्वयं हो जाता है। विशेषकर कृच्छाचारप्रधान साधना को वे बिल्कुल स्वीकार नहीं करते। नारी के

कामिनी रूप से बचने का वे भी उपदेश करते हैं यद्यपि बिंदूरक्षा का स्पष्ट वर्ण उनके साहित्य में उपलब्ध नहीं। योग सम्बन्धी सारी क्रियाओं में उनका ध्यान मानस–संयम पर ही रहता है। प्राणायाम के बाद ही प्रत्याहार और धारणा की निवृति यद्यपि संत साहित्य में उपलब्ध नहीं होती किन्तु विभिन्न वर्णनों के आधार पर उनका अनुमान किया जा सकता है। यम, नियम, आसन, षट्कर्म का प्रत्यक्ष वर्णन कबीर आदि में उपलब्ध नहीं। सुन्दरदास ने अवश्य ही योग–साधना का वर्णन करते समय इनका परिचय दिया है। इससे यही प्रकट होता है कि सन्तों ने सहज साधना को ही महत्वपूर्ण माना है यदि प्राणायाम को आधिभौतिक साधना कहा जाय तो संत लोग इसे भी स्वीकार करते हैं। 'हठ' का अर्थ सन्तों ने कहीं नहीं दिया किन्तु कृच्छाचारप्रधान हठयोग का, जैसा विभिन्न अर्थ विद्वानों ने बताया है, विरोध और निषेध अवश्य किया है। 'सूर्य–चन्द्र–साधना' के अर्थ में सन्तों ने हठयोग को स्वीकार कर लिया है। इस प्रकार दृष्टि से सन्तों पर नाथों का महत्वपूर्ण प्रभाव दिखाई पड़ता है।

नाथ और संत साहित्य में योग साधना के प्रकरण में समानता स्पष्ट है कि दोनो ने यम–नियम का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है तथापि उसके आचारों, संयमों का यत्र–तत्र वर्णन किसी न किसी रूप में मिल जाता है। इसलिए स्पष्टतया यह नहीं कह सकते हैं नाथों और सन्तों के योग अष्टांग योग है। इसी प्रकार अष्टांग योग अथवा षडंग योग के विभिन्न अंगों का जिस प्रकार अनुमान नाथ साहित्य में किया है, उसी प्रकार संत साहित्य में केवल अनुमान किया जा सकता है।[1]

गोरखनाथ का कथन है कि हठयोग का जो साधक काया से परिचित नहीं है, उससे योग की सिद्धि की क्या आशा हो सकती है। अतएव नाथ पंथ की साधना का लक्ष्य है मुक्ति और वह मुक्ति, कुण्डलिनी उद्‌बोध के द्वारा प्राप्त होती है। उसके लिए बिन्दु, वायु और मन का अचंचल और स्वाधीन होना ही साधक का लक्ष्य है।

---

1. डॉ0 नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, नाथ और संत साहित्य, पृ0 489–491.

हठात् ही मुक्तिद्वारा खुल जाने के कारण गोरखनाथ की साधना को हठयोग की साधना कहा गया है। नाथपंथी साधना पद्धति पर पूर्व में ही विस्तार से चर्चा की जा चुकी है, यहाँ केवल यही दृष्टव्य है कि वस्तुतः जिस साधना पद्धति ने हिन्दी के मध्ययुगीन भक्ति काव्य को प्रभावित किया उसका स्वरूप क्या था। नाथ पंथ योगमार्ग ही है। योग इस देश की प्राचीन विधा माना गया है, नाथ पंथ में प्रचलित हठयोग साधना मूलरूप में प्राण वायु के निरोध की साधना है।

जो कुछ ब्रह्मांड में है वही पिण्ड में है। पिण्ड में जो परम शक्तिशाली वस्तुऍं हैं वे हैं बिन्दु, प्राण तथा मन। इन तीनों में से यदि एक की साधना भी साधक कर लेता है तो शेष अपने आप स्थिर हो जाती हैं। बिन्दु अर्थात वीर्य की रक्षा के लिए ब्रह्मचर्य और प्राणायाम आवश्यक है किन्तु यह कार्य भी बिना कार्या न्में परिव्याप्त नाड़ियें की शुद्धि के सम्भव नहीं है। नाथ पंथ में शुद्धि की क्रियाओं को षटकर्म कहा गया है। वे हैं– घोति, वस्ति, नेति, त्राटक, नीलि और कपालभाति। नाड़ी शुद्धि होने के बाद प्राणादि वायुओं का शमन हो जाता है। नाड़ियों को दो भागों में बाँटा गया है – एक भाग सूर्य का अंग माना गया है और दूसरा चन्द्रमा का। इड़ा और पिंगला जिन्हें सूंर्यांग और चन्द्रांग कहा गया है। उसके मध्य सुषुम्ना है। जब नाना भाँति के अभ्यास से योगी चन्द्र और सूर्य मार्गों को बन्द कर देता है तब उनमें बहने वाली वायु शक्ति संयमित होकर योनिकंद के मुल में स्थित सुषुम्ना की मध्यवर्तिनी ब्रह्मानाड़ी के मुख को खुला पाकर उस मार्ग से ऊपर उठती है तो वस्तुतः कुण्डलिनी ही ऊर्ध्व मुख होती है।

इस प्रकार प्राण वायु का निरोध करने पर कुण्डलिनी उद्‌बुद्ध होती है और (1) मूलाधार, (2) स्वाधिष्ठान, (3) मणिपुर, (4) अनाहृत, (5) विशुद्धाख्य, तथा (6) आज्ञा इन षटचक्रों को भेदकर सहस्त्रार में कुण्डलिनी का पहुँचा देना योगी का लक्ष्य हो जाता है। यही इस पिंण्ड का कैलाश है, यही शिव का निवास है। इस प्रकार कष्ट साध

य साधना का यह मार्ग मूलरूप से शरीर के शोधन का मार्ग है। जब तक शरीर को कष्ट न दिया जायेगा तथा संसार छोड़कर एकान्त साधना न की जायेगी तब तक मुक्ति केवल भ्रम है। मुक्ति का दान वही कर सकता है जो स्वयं मुक्त हो, नाथ ही केवल मुक्तिदाता है। संसार के रूप, रस, स्पर्श, गध तथा शब्द से तभी मुक्ति मिल सकती है जब वैराग्य की भावना हो तथा गुरु का आश्रय। बिना गुरु के नाथपंथी साधना सम्भव नहीं है। गुरु का बताया हुआ मार्ग षंग से भी तीक्ष्ण और कठिन है।

अभरा था ते सुभर भरिया, नीझर झरता रहिया।
षांडे थे पुरसाड़ दुहेला, यूं सतगुरु मारग कहिया।[1]

वेदान्त तन् से परिचित हो जाने पर हठयोग की सिद्धि हो जाती है, आत्मा और परमातत्मा का अभेद सिद्ध हो ।

नाथपंथी साधना के सम्बन्ध में कुण्डलिनी की चर्चा अधिकांश ग्रन्थों में है यद्यपि कभी–कभी साधना ग्रन्थों से कुण्डलिनी योग तथा हठयोग को भिन्न माना गया है तथापि नाथपंथी साधना को लोक परिचित रूप कुन्डलिनी योग के परिचय बिना पूर्व नहीं माना जा सकता। कुण्डलिनी और प्राण शक्ति को लेकर जीवन मातृकक्ष में प्रवेश करता है। सभी जीवन साधारणतया तीन अवस्था में रहते हैं – जागृत, सुषुप्ति और स्वप्न। अर्थात् या तो वे जागते रहते हैं या सोते रहते हैं या सपना देखते रहते हैं। कुण्डलिनी तीनों अवस्थाओं में निश्चेष्ट रहती है। प्राणशक्ति के संयोग से कुण्डलिनी के द्वारा शरीर धारण का कार्य होता है, नाथपंथी साधना में काया की साधना को इसीलिए इतना महत्व प्रदान किया प्रतीत होता है। सम्पूर्ण काया अनेक चक्रों में बांटी गयी है जिसकी चर्चा विस्तार से की जा चकुकी है। डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने नाथपंथी साधना की चर्चा करते हुए एक स्थल पर प्रकट किया है कि इन चक्रों के भेद करने के बाद मस्तक में शून्य चक्र ही मिलता है जहाँ जीवात्मा को पहुँचा देना योगी का चरम लक्ष्य है। इस

1. गोरखबानी, पृ0 62

स्थापन पर जिस कमल की कल्पना की गयी है उसमें सहस्त्रदल है। इसीलिए इसे सहस्रार में स्थित गगनमण्डल में औधे मुँह का अमृत कुण्ड है। यही चन्द्रतत्व भी है। इसमें से निरन्तर अमृत झरता रहता है। जो इस अमृत का उपयोग कर लेता है वह अजरामर हो जाता है। यह साधना बिना गुरु के प्राप्त नहीं हो सकती। नाथपंथी साहित्य में प्रचलित एक सबदी इस प्रकार है :

गगन मण्डल में औंधा कुंआ तहं अमृत का वासा।

सगुरा होय से झरझर पिया निगुरा जाहि पियासा।।[1]

यद्यपि नाथपंथी साधना गुरु मन्त्र प्रधान साधना विद्यानों द्वारा मानी गयी है फिर भी साधक जब तक काया शोधन नहीं कर लेता तब तक इस साधना का अधिकारी नहीं हो सकता। काया साधना से ही मुक्ति का बोध अनेक नाथपंथी साधकों ने मान लिया इसलिए नाथपंथी साधना के साहित्य में षटकर्म, आसन, मुद्रा, प्राणायाम, ध्यान और समाधि की विस्तृत चर्चा है। आसनों में सिद्धासन, मुद्राओं में खेचरी मुद्रा प्राणायाम में केवल्य।

हठयोग में समाधि के वाचक अनेक शब्द हैं, जिनका प्रयोग नाथ पंथी साधकों ने रचनाओं में किया है। उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, लय, तत्व, शून्य, अशून्य, परमपद, अमनस्क, अद्वैत, निरालम्ब, निरंजन, जीवनमुक्त सहज की अवस्था में ही इंदिय, मन और प्राण एकीभूत हो जाते हैं। आत्मा को शून्य और शून्य में आत्मा को करके योगी अपना चरम प्राप्त कर लेता है। डा0 रामकुमार वर्मा ने नाथ पंथ की साधना पद्धति के सम्बन्ध में निम्नलिखित रेखाचित्र अपने हिन्दी साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास में दिया है जिससे नाथपंथी साधना का वाह्य स्वरूप सामने आ जाता है :

---

1. गोरखबानी पृ0 2

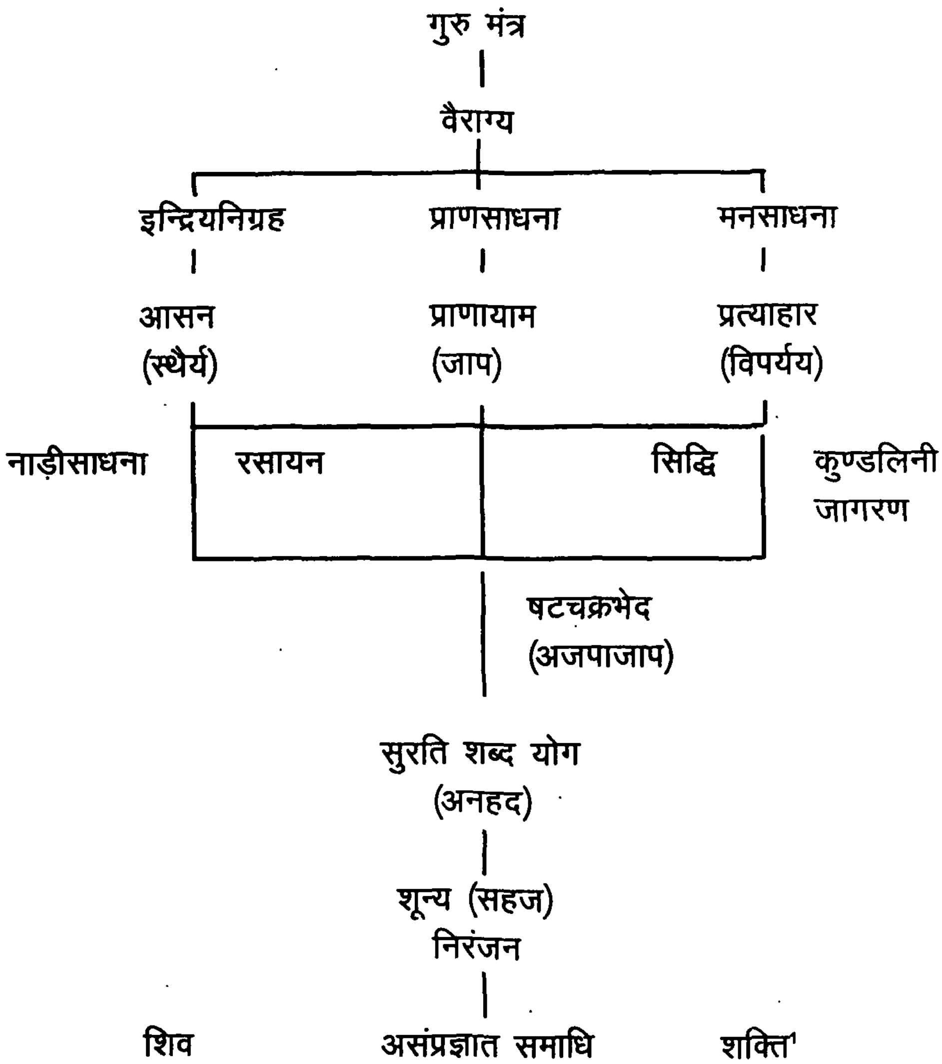

उक्त विवेचन से यह तथ्य प्रकट है कि नाथपंथी साधना पद्धति का स्वरूप केवल शास्त्र–प्रधान ही नहीं है, परिस्थितियों के परिणामस्वरूप उसमें एक नैतिक स्वर का प्रबल प्रभाव स्पष्ट है। इन्द्रिय, प्राण और मन की साधना तभी तक नाथ पंथ में ग्राह्म है जब तक योगी नैतिक आचरण और कठोर संयम का पालन करता है। डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने नाथ पंथ में नैतिक आग्रह की चर्चा करते हुए लिखा है कि इस मार्ग में कठोर ब्रह्मचर्य, वाक्संयम, शारीरिक शौच, मानसिक शुद्धता, ज्ञान के प्रति निष्ठा,

---

1. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास– डा0 रामकुमार वर्मा, पृ0 115

बाह्य आचरणों के प्रति अनादर, आंतरिक शुद्धि और मद्यमांसादि के पूर्ण बहिष्कार पर जोर दिया गया है। हिन्दी में पाये जाने वाले पदों में यह स्वर बहुत स्पष्ट और बलशाली है।

नाथपंथी साधना में जिस इन्दियनिग्रह की चर्चा पूर्व में की जा चुकी है उसका लोक प्रभावी रूप नारी भर्त्सना के द्वारा पकट हुआ। योग की वज्रयानी साधना में नारी संसर्ग ने वामाचार की सृष्टि थी वह गोरखनाथ की दृष्टि से ओझल न हो सकी। लोक जीवन में नाथपंथी साधना वैराग्य प्रवण होकर सामने आयी। तत्व चिंतन की लुभाने वाली काव्यावली से उठकर गोरखनाथ के अनुयायी संयम और नियम की कठोर साधना को ही मानने लगे। यह साधना पद्धति सिद्ध सम्प्रदाय की रूढ़ियों के विरोध में बलवती होती चली गयी। इस साधना में काया को तीर्थ माना गया। पाखण्डों के विरोध में, मंत्रों की निस्सारता में तथा आचरणहीन व्यक्तित्व की अवहेलना में गोरखनाथ ने जिस साधना पद्धति का प्रवर्तन किया वह प्राचीन योगिपरम्परा का एक प्रबल सामयिक विस्फोट ही कहा जायेगा। यद्यपि डा0 रामकुमार वर्मा ने नाथपंथी साधना को सिद्धों की सहज भावना का परिवर्द्धित रूप माना है तथापि यह साधना पद्धति सिद्ध सहज भावना के अनुकूल नहीं बन पड़ी। गोरखबानी में ऐसी अनेक सबदियाँ उपलब्ध होती हैं जिनमें सहज साधना का स्वरूप प्रधान है :

हसिबा षेलिबा रहिबा रंग। काम क्रोध न करिबा संग।।
हसिबा खेलिबा गावा गीत। दिढ़ करि राखि अपना चित्त।।[1]

चित की दृढ़ता ही हठयोग की साधना का मूलमंत्र बना। पंचमकारों के सेवन से उपलब्ध सहज साधना का गोरखनाथ ने विरोध किया, यद्यपि परवर्ती नाथ पंथ उससे अछूता न रह सका फिर भी नाथपंथी साधना उसके प्रवर्तक के मतानुसार सहज

---

1. गोरखबानी, पृ0 3

साधना ही थी, यदि यह सहजानुभूति काया प्रधान मानी जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। योगी के लिए आचरण प्रधान साधना का निम्नलिखित उपदेश तत्कालीन प्रभाव एवं संयत परिचय दे सकता है।

तत्वचिन्तन की गूढ़ सहजभावना और लोकप्रचलित सरल और स्वाभाविक साधना में अन्तर है। साधना का यह स्वरूप शास्त्रीय एवं तर्क प्रधान शैली से अनुभव प्रधान होता चला गया। संत साहित्य इसी साधना का एक नया मोड़ माना जा सकता है।

नाथपंथी साधना जटिल कर्म पद्धति का आश्रय लेकर इस युग में प्रभावशाली सिद्ध हुई थी किन्तु आगे चलकर उसमें अनेक सिद्धियों का समावेश हो गया। वे सिद्धियाँ केवल सद्गुरु की कृपा से उपलब्ध हो सकती थीं। 'गुरुमहिमा' की अधिकता के कारण तत्कालीन लोक जीवन में शास्त्रपरक कर्मकाण्ड की अवहेलना हुई। मध्य युग की इन परिस्थितियों के फलस्वरूप कठोर गुह्या और आनन्दकारी साधनामार्ग भी लोक में भय और संशय की दृष्टि से देखे जाने लगे। यह बात–प्रतिघात लोक चिन्ता के स्थित सापेक्ष्य परिणाम माने जा सकते हैं। जिस नाथपंथी साधना ने बौद्ध सिद्ध साधना के प्रति जनमानस में हेय भावना उत्पन्न की थी वही साधना अपनी कठोर एवं असामाजिक प्रवृत्ति के कारण सामान्य जीवन का केन्द्रबिन्दु न बन सकी। नाथ पंथ में अन्तर्मुक्त अनेक साधनाओं के सम्मिश्रण के फलस्वरूप योगियों के सम्बन्ध में अद्भुत और आश्चर्यजनक करामातों की कहानी प्रचलित हो गयी। हठयोग और तन्त्रवाद के उस युग में गुरुवाद विकृत रूप धारण कर सम्पूर्ण देश में व्याप्त हो गया। डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी का अनुमान है कि जबकि हठयोग की पद्धति क्रियाबहुल रही होगी उस समय इस पद्धति का साधक विरल होना नितान्त स्वाभाविक है, पर जब गुरु की कृपा पर सब कुछ निर्भर किया जाने लगा होगा तो स्वभावतः ही अधिकाधिक लोग सद्गुरु की खोज में ही लगे होंगे। फलतः नाथपंथी साधना कालान्तर में काया साधना और गुरु कृपा तक ही सीमित

रह गयी जिसमें कुण्डलिनी उत्थान प्रक्रिया की प्रधानता है किन्तु युग संक्रमण की परिस्थिति में नाथपंथी साधना का केवल यही रूप ही लोक जीवन में व्याप्त नहीं हुआ, रूढ़ियों के प्रति उपेक्षा, मिथ्याडम्बरो की भर्त्सना, आचरण की कठोरता, आहार की शुद्धता और कष्टपूर्ण जीवन के प्रति अमनस्क भाव की सृष्टि इस साधना के माध्यम से लोक जीवन में व्याप्त हुई। नाथपंथी साधकों का जो विवरण विद्वानों ने दिया है उसमें मिश्रित परिणामों की स्थिति का आभास होता है। कालान्तर में इस साधना का परिचय नाथपंथी साधक के वेष में परिवर्तित हो गया। नाथपंथी साधक मेखला, सृंगी, सेली, गूदरी, खप्पर, कर्ण, मुद्रा, वधंबर, झोला आदि चिन्ह धारण कर अपनी साधना को प्रकट करने के बाह्य उपकरणों से पूर्णतया सम्बद्ध हो गये। साधना के प्रति गुह्या और आतंककारी भाव की लोक जीवन में सृष्टि हुई। फलस्वरूप, गोरखनाथ के समान महिमामय व्यक्तित्व की साधनाप्रवण देशव्यापी चेतना वाह्य आडम्बर और जादू टोना में परिवर्तित हो गयी। नाथपंथी साधना का यह रूप सम्भवतः इसलिए भी हुआ कि इस पंथ में स्मार्त साधना अथवा आचारों को कोई महत्व नहीं दिया गया तथा नाथपंथी साधना अपने जिस रूप में भी वर्तमान थी वह स्मार्त हिन्दू धर्म में न खप सकी।

नाथपंथी साधना की संक्षिप्त समीक्षा के आधार पर हमारा यह अनुमान है कि नाथपंथी की अद्वैत अनुभूति औार साधना के रूप में प्रचलित काया शोधन का आग्रह अपने किसी न किसी रूप में साधना मार्गों में बना ही रहा। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने एक स्थल पर प्रकट किया है कि गुरु गोरखनाथ का अधिक ध्यान काया शोधन की ओर ही था, जो कतिपय आसनों व एक संयत जीवन का भी परिणाम हो सकता है और इनकी योग साधना की प्रणाली में अधिकतर उन्हीं बातों का समावेश था जो सहजयोग में पायी जाती है। संतों में प्रायः इन सभी साधनाओं का कुछ न कुछ स्परूप मिल ही जाता है यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता है कि संत काव्य नाथपंथी साधना कही पूर्णतया अनुवर्ती है। डा0 बड़थ्वाल भक्ति धारा के जल को पहले योग के ही घाट में बहा हुआ मानते हैं।

किन्तु डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन है कि संतों के पारिभाषिक शब्द, उनकी रूढ़िविरोधिता, उनकी खण्डनात्मक वृत्ति और उनकी अक्खड़ता आदि उनके पूर्ववर्ती साधकों की देन है परन्तु उनमें की आत्मा उनकी अपनी है उसमें भक्ति का रस है और वेदान्त का ज्ञान है।[1]

नाथों का सन्तों पर विशेष रूप से प्रभाव पड़ा था। जो साधना पद्धतियाँ गोरखबानी में मिलती है वही साधना पद्धतियाँ सन्तों में विकसित रूप से मिल जाती है। हठयोग प्रदीपिका में महामुद्रा का जैसा उल्लेख है और वज्रोली, सहजोली आदि साधनाओं का जो वर्णन है वह स्पष्टतः वज्रयानी परम्परा से मालूम पड़ता है।

इस दृष्टि से कबीर और गोरख के स्वरों में दो ध्रुवों का अन्तर आ गया था। कबीर, दादू आदि का परिचय जिस नवी भक्ति साधना से हुआ था, उसके प्रति उनमें विशेष उत्साह था, उन्होंन एक नई निष्ठा, एक नई आस्था ग्रहण की थी जिसमें ज्ञान और योग गौण थे, भावना और भजन प्रमुख थे।

किन्तु फिर भी उन्होंने योगमार्ग का परित्याग नहीं किया था। स्वतः कबीर को भक्ति की दीक्षा जिस गुरु से मिली थी उसने योग तथा भक्ति का समन्वय करने का प्रयास किया था। रामानन्द तथा उनके गुरु राधवानन्द जी, विशिष्टाद्वैतवादी थे किन्तु परम्पराओं से ज्ञात होता है कि दोनों ही सिद्ध योगी थे किंवदन्ती तो यहाँ तक कहती है कि रामानन्द का अल्पायु में मारक योग था। पहले वे किसी अद्वैतवादी गुरु के शिष्य थे जो उन्हें रामानन्द को सौंप गया। गुरु रामानन्द के नाम पर सिद्धान्त पंचमात्रा नामक जो कृति डा0 बड़थ्वाल को मिली है उसमें भी उनकी परम्परा के किसी शिष्य ने उनके साधनामार्ग को योग और प्रेम का समन्वित रूप बताया है। राजा दलजीत सिंह ने भी डा0 मोहन सिंह की पुस्तक के प्राक्कथन में रामानन्द पर गोरखनाथ के यागमार्ग के गहरे

1. डा0 कोमल सिंह सोंलकी, नाथपंथ और निर्गुण संत काव्य, पृ0 190—196

प्रभाव का उल्लेख किया है।

इस प्रकार कबीर को भक्ति साधना की दीक्षा जिस गुरु से मिली, वह भी योगमार्ग को भक्ति का विरोधी नहीं मानता था और इसलिए कबीर ने भक्ति साधना के साथ योग साधना को भी प्रश्रय दिया और योगमार्गी परम्पराओं में जो भी वज्रयानी साधना पद्धतियाँ, पारिभाषिक शब्द, प्रतीक और उलटवासियाँ चलीं आ रही थीं वे सबको तथा उनके अनुयायी सन्तों को उत्तराधिकार रूप में प्राप्त हुई। तब वज्रयानी सिद्धों का कोई प्रत्यक्ष प्रभाव शेष रहा हो ऐसी कोई सम्भावना नहीं है। वास्तव में कबीर तथा अन्य सन्तों ने ये प्रभाव छोटे–छोटे योगमार्गी सम्प्रदायों से ग्रहण किए जिनमें वज्रयानी परम्पराएँ किसी प्रकार शेष रह गयी थीं, किन्तु समय के साथ–साथ उनमें भी कुछ परिवर्तन और विकास हो चुका था।

ऐसे छोटे–छोटे सम्प्रदाय पूर्वी भारत या पश्चिमी भारत दोनों ही क्षेत्रों में अवशिष्ट थे और साधारण निम्न वर्ग की जनता में उनका यथेष्ट प्रभाव था। लगभग यही गोरखनाथ ने अपने समय में प्रचलित वज्रयानी सम्प्रदायों के लोकप्रिय पारिभाषिक शब्दों के साथ किया था। अतः यह प्रभाव वास्तव में इस रूप में नहीं था कि सन्तों ने वज्रयानी साहित्य पड़ा हो या सिद्धों के वचन सन्तों के समय तक ज्यों के त्यों प्रचलित हों और उन्होंने उसमें से बहुत सा अंश अपना लिया हो। वास्तविकता तो यह है कि जिस समय कबीर ने सहज शून्य आदि का व्यवहार किया उस समय उन्हें इसका लेशमात्र आभास भी न रहा होगा कि ये शब्द उन्हीं सिद्धों के हैं जिनके विषय में स्वतः कबीर लिखते हैं 'षट्दरसन संसे पड़्या अस चउरासी सिद्ध भक्ति के आगे सिद्धि और सिद्धों के प्रति कबीर तथा परवर्ती सन्तों ने एक घोर उपेक्षा का भाव आ गया था, यहाँ तक कि पलटूदास भक्ति के मार्ग में केवल सन्तों का ही गुजर बताते हैं और स्पष्ट करते हैं कि

सिध चौरासी, नाथ नौ बीचे सर्वे भुलान
बीचै सबै भुलान भक्ति की मारग छूटी
हीरा दिहिन है डारि लिहिन हैं कौड़ी फूटी।[1]

इस प्रकार इस अध्याय में प्रस्तुत अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि "गोरखबानी" का साधना की दृष्टि से भी सन्तों पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है।

---

1. डॉ0 धर्मवीर भारती, सिद्ध साहित्य, पृ0 326–328.

अध्याय : 7

उपसंहार

मध्ययुगीन धर्म–साधना और मध्ययुगीन साहित्य को नाथ–सम्प्रदाय ने बहुत दूर तक प्रभावित किया है। नाथ सम्प्रदाय में गोरखनाथ का महत्व सर्वविदित है। नाथ सम्प्रदाय के साहित्य का सन्तों और उनके साहित्य पर गहरा प्रभाव पड़ा है। इस प्रभाव का अध्ययन ही प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में किया गया है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में विषय प्रवेश के रूप में देश की सांस्कृतिक परम्परा के व्यापक सन्दर्भ में नाथ सम्प्रदाय के विकास और हठयोग की चर्चा है। विषय प्रवेश के प्रारम्भ में बताया गया है कि वैदिक काल में दो परम्परा रहीं– आगम और निगम। आगे चलकर इन परम्पराओं की उपधाराएँ बनती चली गयी। इन परम्पराओं पर प्रकाश डालने के सारे प्रयास शास्त्रों के आधार पर किये जाते रहें हैं। इसके अतिरिक्त विषय प्रवेश में नाथ सम्प्रदाय के विकास की चर्चा विस्तारपूर्वक की गयी है। नाथ सम्प्रदाय का विकास दो प्रकार से माना जाता है (1) नाथ सम्प्रदाय का विकास बौद्ध परम्परा से हुआ (2) नाथ सम्प्रदाय का विकास शैव परम्परा से हुआ। इसमें पहला मत अधिक उपयुक्त जान पड़ता है, क्योंकि नाथों और बौद्धों की जो सूचियाँ मिलती है उनमें अनेक नाम सामान्य है।

नाथ सम्प्रदाय की बारह शाखाएँ हैं, जिनमें सत्यनाथ, धर्मनाथ, रामपंथ, नाटेश्वरी, कन्हड़, कपिलानी, वैरागपंथ, माननाथी, आईपंथ, पागलपंथ, धाजपंथ, गंगानाथी इत्यादि। नाथ सम्प्रदाय का प्रथम नाथ आदिनाथ को माना जाता है।

गुरु गोरखनाथ को नाथ सम्प्रदाय का प्रर्वतक माना गया है। निश्चय ही

गोरखनाथ महान सिद्ध योगी और सिद्ध पुरुष थे जिनका प्रभाव सम्पूर्ण देश पर समान रूप से था। नाथ सम्प्रदाय को आगे बढ़ाने का काम गुरु गोरखनाथ ने ही किया। नाथ सम्प्रदाय में नवनाथ की चर्चा की गयी है :– गोरख़नाथ, एकनाथ, आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, उदयनाथ, दंडनाथ, संतोषनाथ, कूर्मनाथ, जालंधरनाथ इत्यादि।

विषय प्रवेश में गोरखनाथ के समय निधारर्ण तथा वेश भूषा पर भी विचार किया गया है। गोरखनाथ के समय निर्धारण पर विभिन्न विद्वानों के विभिन्न मतभेद है। गोरखनाथ समय का अभी तक सही निर्धारण नहीं हो पाया है। कुछ विद्धान इनका समय 10वीं शताब्दी तक खींचते रहे है तथा कुछ विद्धानों ने तो गोरखनाथ के समय को 8वीं शती तक पीछे कर दिया है। गोरखनाथ का समय निर्धारित करने में अड़चन यह भी है कि नाथ सम्प्रदाय की एक मान्यता के अनुसार गोरखनाथ स्वयं ही आदिनाथ है और ब्रह्मा, विष्णु, महेश की उत्पत्ति भी गोरखनाथ से बतायी जाती है। गोरखनाथ से अनेक दन्त कथाओं से नामकों का सम्बन्ध जोड़ा जाता है। इस सम्बन्ध के कारण गोरख का तिथि निर्णय और भी दुष्कर हो गया है।

नाथपंथियों की वेशभूषा के सम्बन्ध में भी अनेक कथाएँ प्रचलित है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने नाथ साहित्य में नाथों की वेशभूषा का विवरण किया है। नाथों के विशेष चिन्ह हैं मेखला, सृंगी, सेली, मयूरी, खप्पर, कर्णमुद्रा, बंधवर, झोला आदि ये चिन्ह धारण करने वालों को कनफटा भोगी कहा जाता था क्योंकि ये कान को फाड़कर उसमें कर्णमुद्रा पहनते थे। नाथों की वेशभूषा का विशेष महत्व था जायसी, सूर, कबीर आदि सन्तों ने इनका स्मरण वेशभूषा से ही किया है।

नाथ सम्प्रदाय का विकास के बाद विषय प्रवेश में नाथ सम्प्रदाय के स्वरूप और हठयोग की विस्तृत रूप से चर्चा की गयी है। नाथ सम्प्रदाय के स्वरूप और हठयोग को गोरखबानी में कई शीर्षकों के आधार पर विवेचित किया है जिनमें मूल स्वरूप, गुरुतत्व, परमतत्व, हठयोग के अंग, गोरखी संस्कृति इत्यादि।

नाथ पंथियों का लक्ष्य निर्माण, पद, चरमपद, नाथ पद की प्राप्ति है वहीं दूसरी तरफ सन्तों में इस पद्धति के लिए बराबर सहज योग नाम का प्रयोग मिलता है।

इस शोध प्रबन्ध के दूसरे अध्याय "गोरखबानी" के स्वरूप पर विचार किया गया है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में गुरु गोरखनाथ की रचनाओं को विशेष महत्व दिया गया है। इनकी रचनाऐं प्रायः सिद्धों के बाद तथा सन्तों से पहले की मानी जाती है। अगर गोरखनाथ के समय से वर्तमान समय तक की रचनाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जाये तो इनके विषय, भाषा तथा शैली में कोई अन्तर नहीं दिखेगा लगभग एक प्रकार की विचारधारा और परम्परा का विकास बहुत लम्बे समय तक होता आया है।

नाथ समप्रदाय का साहित्य हिन्दी तथा संस्कृत दोनों भाषाओं में मिलता है। इसके अलावा अन्य भारतीय भाषाओं में भी नाथ सम्प्रदाय की रचनाऐं मिलती है। नाथ सम्प्रदाय संस्कृत रचनाओं में 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति', 'गोरखसंहिता', 'महार्थमंजरी' इत्यादि है। हिन्दी रचनाओं में डा0 बड़थ्वाल की 'गोरखबानी' को ही एकमात्र रचना माना है। एक रचना डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी की है जिसमें 25 नाथसिद्धों की बानियाँ है। नाथ योगियों की बानियाँ कई हस्तलिखित प्रतियों में मिलती है। इन प्रतियों के द्वारा अब तक गोरखनाथ के नाम से गोरखबानी में चालीस छोटी–मोटी रचनाओं का पता चला है। लेकिन ये विवादास्पद हैं इनमें कुछ रचनाऐं महत्वपूर्ण रूप से तथा सही हालत में नहीं मिली है। भाषा की दृष्टि से भी इन रचनाओं में पर्याप्त भेद है। इसलिए यह कहना कठिन है कि कौन सी रचना गोरख रचित है तथा कौन सी परवर्ती परन्तु गोरखबानी का संत साहित्य पर तथा उनकी रचनाओं पर पूरा प्रभाव देखा गया है। चिंतन की दृष्टि से भी गोरखबानी का संत काव्य पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है। संत मत को नाथ मत का ही विकसित रूप स्वीकार किया जाता है लेकिन इस बात को पूर्ण रूप से सही मानने के लिए अनेक विचार व्यक्त किये हैं।

शोध प्रबन्ध के तृतीय अध्याय में आत्मा, परमात्मा, जगत, माया आदि पर

विचार किया गया है। संत कबीर ने आत्मा पर गहराई से विचार किया है कि आत्मा वो वस्तु है जो कभी नहीं मरती वह अन्त में ईश्वर में ही लीन हो जाती है। आत्म चिंतन की ओर नाथ सिद्धों ने भी पूरा ध्यान दिया भुकुसपा ने तो उक्त रूप के द्वारा प्रायः उन्हीं शब्दों में उसका वर्णन भी किया है।

संत कबीर ने परमात्मा के रूप को विराट माना है। वह परमात्मा को सृष्टि की रचना करने वाला मानते हैं वह कहते हैं कि परमात्मा ही सृष्टि को गढ़ने वाला है तथा वही नष्ट करने वाला भी है। संत कबीर परमात्मा के रूप को निर्गुण मानते हैं, नाथपंथियों ने भी परमात्मा के रूप को निर्गुण ही माना है। वे कहते हैं कि परमात्मा निराकार है उसका कोई रूप नहीं है। संतों तथा नाथों दोनों में जगत के प्रति एक से ही विचार मिलते हैं कि हमारी अनुभूति की अन्तिम सीमा अधिक से अधिक विश्व की कल्पना तक ही परिमित रह सकती है। माया के सम्बन्ध में सन्त तथा नाथ कवियों की कुछ एक सी विचारधारा देखने को मिलती है। इन्होंने माया को नारी बतलाया है जिसे विश्वमोहिनी सुन्दरी के रूप में चित्रित किया है।

'गोरखबानी' का भाव बोध की दृष्टि से भी सन्तों पर गहरा प्रभाव पड़ा है। जो भाव गोरखबानी के पदों में देखने को मिलते हैं आगे चलकर वही भाव सन्तों की बानियों में भी मिल जाते हैं। जैसे नाथ पंथियों की अक्खड़ता संत कवियों में भी देखने को मिलती है। नाथ सम्प्रदाय में बाहरी आडम्बरों का विरोध देखा गया है वहीं सन्तों में भी बाहरी आडम्बरों, छुआछूत, जातपाँत इत्यादि का विरोध किया है। जिस प्रकार नाथों ने गुरु के महत्व पर विशेष बल दिया है वही दूसरी तरफ सन्तों ने गुरु को ईश्वर तक पहुँचने का मार्ग बताया है।

इस अध्याय में रहस्यानुभूति पर भी विचार किया गया है कि नाथों तथा सन्तों के विचार एक दूसरे से मिलते जुलते है। सन्त के सिद्धान्तों को नाथपंथी योगियों ने अनेक रूपों में प्रभावित किया है। नाथों का कहना था कि जो कुछ भी ब्रह्माण्ड में है

वह सब पिण्ड में है। नाथपंथ साहित्य में मूलरूप से साधना मार्ग की ही व्याख्या की गयी है तथा कहीं–कहीं तत्वदर्शन भी उपलब्ध हो जाते है लेकिन नाथ तथा सन्तों के तत्वचिन्तन में अन्तर भी है।

नाथ साहित्य एक प्रकार से रहस्यानुभूति का साहित्य है जिसमें कवि और वर्ण्य की सत्ता अलग नहीं है। रहस्यवादी कवि के सामने कोई स्थूल वर्ण्य विषय नहीं होता, वह तो अपने विचारों को संकेतों से अव्यक्त करना चाहता है, जो नाथों के रहस्यवाद में पाये जाते हैं वहीं तत्व सन्तों की रहस्यमयी धारा में देखने को मिलते हैं।

'गोरखबानी' का सन्तों पर भाषा की दृष्टि से महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है। नाथों की भाषा को प्रायः संधा भाषा कहा गया है। नाथ साहित्य में इस प्रकार की शैली को 'उलटी चरचा', 'अमृतवाणी', 'सिद्ध संकेत' आदि शब्दों से अभिहित किया है। यह शैली ही 'उलटवाँसी' भी है। सन्तों तथा नाथों के कुछ छन्द तथा शैलियाँ एक सी है जो नाथों से सन्तों तक आयी थीं। नाथ साहित्य का स्वर बुद्धिवादी तथा दार्शनिक अधिक है। सन्तों और नाथों की साखियों और पदों के छन्द अधिकतर उन्हीं छन्दों के विकसित रूप है जो सिद्धों ने प्रयुक्त किये हैं। किन्तु प्रचुर विस्तार हुआ है और आगे चलकर उन पर सिद्धों के अतिरिक्त भी कितने ही अन्य प्रभाव पड़े हैं। उदाहरण के लिए सभी सन्तों और नाथों की वाणी का महत्वपूर्ण अंश दोहे में है किन्तु सिद्धों के दोहाकोषों में समचतुष्पदियों के साथ दोहे मिलते हैं।

सन्तों की साखियॉ और 'सलोकु' सिद्धों की अपेक्षा पश्चिम मुक्तक शैली के अधिक निकट है। दोहा चौपाइयों का एक अन्य काव्यरूप भी नाथपंथी बानियों तथा कबीरपंथी ग्रन्थों में मिलता है। सन्तों और नाथों द्वारा प्रयुक्त ऐसी भाषा पर योग तथा तत्वसम्बन्धी साहित्य का प्रर्याप्त प्रभाव है। सन्तों और नाथों की शैली प्रतीकात्मक और पौराणिक है। सन्तों की रचनाओं में साहित्यिकता अपेक्षाकृत अधिक है। वैज्ञानिक रीत्या संपादन के अभाव में सन्तों और नाथों के छन्दों का पूर्ण विवेचन संभव नहीं।

"गोरखबानी" का सन्तों पर साधना पक्ष की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है। नाथों और सन्तों दोनों ने अपनी समकालीन विभिन्न साधना पद्धतियों, मतों, सम्प्रदायों का खंडन–मंडन क्रमशः योगसाधना और साध्य नाथ तथा भक्ति और भगवान को ध्यान में रख कर किया। नाथ परम्परा इन दोनों से पर्याप्त पुरानी है जिसकी साधनापद्धति और जीवनादर्शन ने इन दोनों को प्रभावित किया था। शैवों और वैष्णवों में भी इसी प्रकार के खंडन–मंडन चलते रहे हैं।

हठयोग साधना की प्रधानता या कायासिद्धी नाथों का वैलक्षण्य है। नाथों में नादानुसन्धान, अजपाजाप, मन्त्रसाधना, षट्चक्रवेध, कुण्डलिनीयोग आदि का भी परिचय मिलता है। कबीर की साधना के सभी तत्व योग, ज्ञान, प्रेम, भक्ति, अहिंसा आदि मिल जाते हैं। सन्तों का सुरत–शब्द–योग भक्ति का एक अंग है, जबकि नाथों के सुरत –शब्द–योग का स्वरूप स्पष्ट नहीं है। अमृतपान, खेचरी, मुद्रा का वर्णन नाथों और सन्तों में मिलता है। सन्तों को मुख्यतया विहंगम योग स्वीकार है जबकि नाथ लोगों ने पिपीलिका या हठयोग की साधना को अनिवार्य माना है।

नाथपंथी साधना की संक्षिप्त समीक्षा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि नाथपंथ की अद्वैत अनुभूति और साधना के रूप में प्रचलित काया शोधन का आग्रह अपने किसी न किसी रूप में साधना मार्गों में बना ही रहा। गुरु गोरखनाथ का अधिक ध्यान काया शोधन की ओर ही था, जो कतिपय आसनों व एक संयत जीवन का भी परिणाम हो सकता है और इनकी योग साधना की प्रणाली में अधिकतर उन्हीं बातों का समावेश था जो सहजयोग में पायी जाती है। सन्तों में प्रायः इन सभी साधनाओं का कुछ न कुछ स्वरूप ही मिल ही जाता है यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता है कि संत काव्य नाथपंथी सांधन की पूर्ण स्वीकृति है।

ग्रन्थ – सूची

"गोरखबानी", का संत–काव्य पर प्रभाव

उत्तरी भारत की संत परम्परा	डा0 परशुराम चतुर्वेदी भारत भण्डार, प्रयाग 2008 वि0
कौलज्ञान निर्णय	डा0 प्रबोध चन्द्र बागची कलकत्ता, 1934
कबीर की विचार धारा	डा0 त्रिगुणायन
कबीर	डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी बम्बई, 1950
कबीर ग्रन्थावली	डा0 श्याम सुन्दर दास ना0प्र0 सभा, काशी सं0 2008
कबीर साहित्य की परख	डा0 परशुराम चतुर्वेदी सं0 2011
कबीर के काव्य रूप	डा0 नजीर मुहम्मद भारत प्रकाशन मन्दिर अलीगढ, 1970
जायसी ग्रन्थावली	रामचन्द्र शुक्ल बनारस सं0 2008
गोरखबानी	डा0 पीताम्बर दत्त बडथ्वाल हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग द्वितीय तथा तृतीय सस्करण

गोरखनाथ और उनका युग	डा0 रांगेय राघव, राकेश प्रेस कश्मीरी गेट, दिल्ली, 1963
गोरख दर्शन	मूल लेखक श्री अक्षय कुमार सं0 डा0 भगवती प्रसाद सिंह (अप्रकाशित)
"गोरखबानी" परम्परा और काव्यत्व	डा0 मनीषा शर्मा, राधाकृष्ण प्रकाशन, 1985
गोरखनाथ एण्ड हिन्दू मिस्टिसिज्म	डा0 मोहन सिंह, लाहोर 1937
गोरखनाथ एण्ड द कनफटा योगीज	डा0 जे0 डब्लयू ब्रिग्स ओक्सफोर्ड यूनीर्वसीटी लन्दन प्रेस, 1938
गोरख सिद्धान्त संग्रह	गोपीनाथ कविराज, सन् 1925
निर्गुण साहित्य	डा0 मोती सिंह, नागरीय प्रचारिणी सभा वाराणसी, सं0 1962
नाथ पंथ के हिन्दी कवि	डा0 एच पी चंदोला, लखनऊ 1956
नाथ सम्प्रदाय	डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी लोक भारतीय प्रकाशन, प्रयाग 1950
नाथ साहित्य या गोरखबानी	भगवती प्रसाद सिंह, सं0 1957
नाथ और संत साहित्य	नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय प्रकाशन 1965
नाथ सिद्धों की बानियाँ	ना0प्र0 सं0, काशी, सं0 2014

नाथ सम्प्रदाय और निर्गुण संतकाव्य	डा0 कोमल सिंह सोलंकी विनोद पुस्तक भण्डार, आगरा 1968
निर्गुण काव्य दर्शन	डा0 सिद्धनाथ तिवारी
बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन	भरत सिंह उपाध्याय, बंगाल हिन्दी मंडल कलकत्ता 1954 सम्वत् 201
दर्शन दिग्दर्शन	डा0 राहुल सांकृत्यायन
बौद्ध गान ओ दोहा	स0म0म0प0 हरप्रसाद शास्त्री बंगाब्ध 1958
भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी	चाटुर्ज्या, सुनीति कुमार हिन्दी, राजकमल, 1957
भारतीय दर्शन का इतिहास	डा0 एस0एन0दास गुप्ता राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ, एकादमी जयपुर, 1988
भारतीय दर्शन की रूपरेखा	प्रो0 हरेन्द्रनाथ शर्मा
भारतीय दर्शन	डा0 बलदेव उपाध्याय द्वितीय संस्करण काशी 1945
मध्यकालीन धर्म साधना	डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी साहित्य भवन इलाहाबाद 1956
योग सम्प्रदाय विष्कृति	चन्द्रनाथ योगी, अहमदाबाद 1925

विभुक्त मंजरी	डा0 राहुल सांकृत्यायन
शोध प्रविधि	डा0 विनय मोहन शर्मा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली दरियागंज, 1980
सुधाकर चन्द्रिका	आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी
सिद्ध साहित्य	डा0 धर्मवीर भारती, किताब महल इलाहाबाद, 1955
सन्त बानी संग्रह	भाग (1) इलाहाबाद 1938
सन्त बानी संग्रह	भाग (2) इलाहाबाद 1938
सिद्ध सिद्धान्त संग्रह	गोपीनाथ कविराज, बनारस 1925
स्टडीज इन द तन्त्राज	डा0 प्रबोध चन्द्र बागची कलकत्ता, 1939
सिद्ध	डा0 कल्याणी मलिक
सिद्धान्त पद्धति	बनारस, 1925
हिन्दी साहित्य का	डा0 रामकुमार वर्मा, नारायन
आलोचनात्मक इतिहास	लाल बैनी माघव इलाहाबाद, 1955
हिन्दी काव्यधारा	राहुल सांकृत्यायन, इलाहाबाद 1945
हिन्दी साहित्य कोष भाग (2)	वाराणसी ज्ञान मण्डल लि0 वाराणसी पहला भाग 1973
हिन्दी साहित्य का आदिकाल	डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी पटना 1951 ई0

हिन्दी साहित्य का इतिहास	डा० नगेन्द्र, साजिल्द संस्करण नेशनल पब्लिशिंग हाउस
हिन्दी साहित्य की भूमिका	डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर बम्बई 1950
हिन्दी साहित्य का वृहद इतिहास (प्रथम भाग)	सं० 2003 ना०प्र०स० काशी, सं० 2014
हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय	डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल

राजयोगसारसूत्रम्

प्रथमः खण्डः

प्राणो गतिशक्तिमान् वायुः ॥१॥

एकत्र स्थित एव चलति तरङ्गैः ॥२॥

उच्छ्वासनिःश्वासौ निभालयन् गतिशक्तिद्वारोपासीत वायुम् ॥३॥

ततस्तेजःशक्तिरुद्रिक्ता स्यात् ॥४॥

प्राणस्तेजःशक्तिमानिन्द्रः ॥५॥

तेजःशक्तिरिन्द्राणी ॥६॥

नाडीष्वसाधारणमूष्मानुभवं निभालयन्निन्द्राणीद्वारोपासीतेन्द्रम् ॥७॥

ततः स्वरशक्तिरुद्रिक्ता स्यात् ॥८॥

प्राणः स्वरशक्तिमान् रुद्रः ॥९॥

स्वरशक्तिर्गौरी ॥१०॥

सूक्ष्मान्तरस्वरं निभालयन् गौरीद्वारोपासीत रुद्रम् ॥११॥

सूक्ष्मान्तरस्वर एव प्रणव उच्यते वेदान्तेषु ॥१२॥

स बहिश्च व्यापकः ॥१३॥

रुद्रोपासनेन क्षेत्रज्ञस्य चितिशक्तौ प्रतिष्ठां विन्देत् पाके समाप्ते ॥१४॥

स उत्तमः पुरुषार्थः ॥१५॥

तस्यां स्थितौ नित्यमप्रयत्नं तपः ॥१६॥

तपसः पाकाद्भवन्ति पूर्वदृढसङ्कल्पानुरूपाः सिद्धयः ॥१७॥

अवतारपुरुषाणां कार्यानुरूपाः ॥१८॥

नित्यतपसः सिद्धयो न बन्धाय प्रमादासम्भवात् ॥१९॥

आद्यासु तिसृषु तपोभूमिषु ता इच्छतो देवतानुग्रहश्चेत् ॥२०॥

बन्धाय पुनरतपतः प्रमादसम्भवात् ॥२१॥

द्वितीयः खण्डः

व्यापकपरमशक्तिप ानां भूतानां सूक्ष्मो रससारः प्राणः ॥१॥

तस्य हृदयमायतनम् ।।२।।

तस्यैव चित्ताख्याऽन्तःकरणचतुष्टयवादिनां मतेन ।।३।।

तदुपाधिरात्मा जीवः ।।४।।

चित्तिरपां दमे विश्वायुरिति निगमोऽत्र भवति ।।५।।

चितिशक्तौ निष्ठयाऽन्तर्याम्यनुभूयेत सा ह्यन्तर्यामिणः प्राणोपाधेः ।।६।।

गुणशक्तिकर्मद्वारैव हि वस्तूनामनुभूतिः ।।७।।

प्राणश्चानुभूयते संश्लेषात् ।।८।।

अखण्डप्रकाशवित्तिरन्तर्याम्यनुभूतिः ।।९।।

अखण्डरसवित्तिः प्राणानुभूतिः ।।१०।।

तदुभयमविभाज्यं लिङ्गं निष्ठायाः ।।११।।

तृतीयः खण्डः

प्राणस्य प्राणापानव्यानोदानसमानाः पञ्चक्रियाविभूतयः ।।१।।

उच्छ्वासनिःश्वासक्रियावती विभूतिः स्वशब्देनैव व्यवह्रियते ।।२।।

विसर्जनक्रियावत्यपानः ॥३॥

चलनक्रियावती व्यानः ॥४॥

भाषणक्रियावत्युदानः ॥५॥

पचनक्रियावती समानः ॥६॥

मूलप्राणस्य शक्तिविशेषा एवैते न खण्डाः ॥७॥

मूलप्राणस्य श्रेष्ठस्य प्रथमाविभूतिरुपासनेषु मुख्या ॥८॥

चतुर्थः खण्डः

प्राणस्य क्रियाशक्तिं प्रत्युद्गच्छेत्तदेकं तपो यथोक्तम् ॥१॥

उदानस्यान्यत् ॥२॥

व्यानस्येतरत् ॥३॥

भाषणक्रियायाः सकलक्रियाणां चोपासनाभ्यां ते नातिरिच्येते ॥४॥

क्रियोपासनं च कुर्वतः क्रियायामेव दृष्टिः ॥५॥

पञ्चमः खण्डः

मूलाधारादाशिर एका सूक्ष्मा नाडी ।।१।।

सा सुषुम्ना ।।२।।

शिरस आहृदयं सैव पुनर्लम्बते ।।३।।

साऽमृता ।।४।।

एकस्या एव सुषुम्नायाः पश्चात्पुरश्च द्वौ मार्गाविति वा ।।५।।

सुषुम्नायाः सव्यापसव्यगे नासापुटान्तव्यापिन्याविडापिङ्गले।।६।।

तयोः सव्यापव्यगे नेत्रान्तव्यापिन्यौ गान्धारीहस्तिजिह्वे ।।७।।

तयोः सव्यापसव्यगे श्रोत्रान्तव्यापिन्यौ पूषाऽलम्बुसे ।।८।।

षडपि शिरोव्याप्य तत एव लम्बन्ते स्वावसानस्थानपर्यन्तम् ।।९।।

ता एताः सप्तनाड्यः सप्तजिह्वा आधारवेदिगस्य तेजसः ।।१०।।

सप्तार्चिषः ।।११।।

सप्त हस्ताः ।।१२।।

नाभिं नाडीनां जन्मस्थानमेके ॥१३॥

देहमध्यकन्दस्य तावत्पर्यन्तव्याप्तेर्नाडीनां संश्लिष्टत्वमत ऊर्ध्वं विभाग इति सोक्तिः ॥१४॥

देहमध्यकन्दस्य मूलस्थं पर्वमूलाधारः ॥१५॥

मध्यस्थं स्वाधिष्ठानम् ॥१६॥

अग्रस्थं मणिपूरम् ॥१७॥

नाडीतन्तुजालवंशस्य कन्दादुपरि चतुर्थं पर्वमनाहतम् ॥१८॥

पञ्चमं विशुद्धं कण्ठे ॥१९॥

षष्ठमाज्ञा शिरः कुहरे ॥२०॥

अग्रं सहस्रारम् ॥२१॥

तद्विना षट्कमाधारचक्राणाम् ॥२२॥

अत्र वंशे सुषुम्नया प्रवहन्ती मूलाधारस्थतेजसः शक्तिः कुण्डलिनी ॥२३॥

तस्या ऊर्ध्वमुख्या आभिमुख्येनाधश्चिन्तनं ध्यानम् ॥२४॥

अत्र निमीलितनेत्रो गगनाच्छीर्षं प्रविशन्तीं शक्तिमादितो भावयेत् ॥२५॥

ततस्तां नाडीचक्रेऽवरोहणक्रमेणामूलाधारम् ।।२६।।

प्रथमं भावनम् ।।२७।।

ततोऽनुभवति ।।२८।।

तदा तेजसि प्रतिष्ठां विन्देत् ।।२९।।

अनन्तरं स्वरचितिनिष्ठा यथापूर्वम् ।।३०।।

षष्ठः खण्डः

अमृतया प्रवहन्ती धीर्ज्ञानशक्तिः ।।१।।

तां शिरस्त आज्ञाचक्रमवतारयेत् ।।२।।

ततो विशुद्धम् ।।३।।

ततो हृदयस्य दक्षिणतः पुरोभागस्थं दहरम् ।।४।।

तत्र निष्ठा चितिनिष्ठातो नातिरिच्यते ।।५।।

सोऽयं तपसोऽन्यः प्रकारः ।।६।।

दृष्टिं विषयेभ्यः समाहृत्य दृग्दृश्ययोरन्तराले स्थापयेत् ।।७।।

अनन्तरं केवले द्रष्टरि प्रतिष्ठामभ्यसेत् ।।८।।

कथं पश्यामीति तत्र प्रथमो विचारः ।।९।।

कः पश्यतीति द्वितीयः ।।१०।।

एवमहं पश्यामीति निष्ठा ।।११।।

अज्ञानिनो दर्शने विषयस्य प्राधान्यम् ।।१२।।

द्रष्टा दर्शनं चाध्याह्रियेते तत्र प्रमितेर्वाक्यत्वे ।।१३।।

योगिनो दर्शने द्रष्टुः प्राधान्यम् ।।१४।।

विषयो दर्शनं चाध्याह्रियेते तत्र प्रमितेर्वाक्यत्वे ।।१५।।

दृष्टौ वा प्रतितिष्ठेत् ।।१६।।

तदा दर्शने स्वस्य प्राधान्यम् ।।१७।।

विषयो द्रष्टा चाध्याह्रियेते तत्र प्रमितेर्वाक्यत्वे ।।१८।।

द्रष्टरि दृष्टौ वा प्रतिष्ठितः कण्ठायावतरेत् ।।१९।।

अथ हृदयायेत्यपरः प्रकारस्तपसः ।।२०।।

तत्र क्षेत्रज्ञे तच्चितिशक्तौ वा प्रतिष्ठां विन्देत् ।। २१।।

तन्माहाभाग्यं प्राग्वत् ।। २२।।

सप्तमः खण्डः

केवलो विचारोऽन्यः पन्थाः ।।१।।

अहंस्फूर्त्यन्वेषणविधया ।। २।।

अहंस्फूर्तौ प्रत्यग्गत्याऽवतरणेन वा ।। ३।।

विचारयन्ननारतं तज्जेनोष्मणा हृदयस्य नाडीबन्धं शिथिलयेत् ।। ४।।

तत्त्वज्ञानेनाभिमानबन्धम् ।। ५।।

अत्र च निष्ठा माहाभाग्ये प्राग्वन्निष्ठामाहाभाग्ये प्राग्वत् ।। ६।।

।। इति श्रीभगवन्महर्षिरमणान्तेवासिनो वासिष्ठस्य नरसिंहसूनो-
र्गणपतेः कृतिः राजयोगसारसूत्रं समाप्तम् ।।

****
**
** akulaviiratantram of the school of Matsendryanatha edited by P.C. Bagchi, Calcutta, 1934
**
**
** Data entered by the staff of Muktabodha
**
*
*
**
** Encoded in Velthius transliteration
****
****

[आ]

श्रीमच्छन्दपादकेभ्यो नमः।

श्रीमीनसहजानन्दं स्वकीयाङ्गसमुद्भवम्।

सर्वमाधारगम्भीरमचलं व्यापकं परम्।

मायामलविनिर्मुक्तं मीननाथं नमाम्यहम्॥

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि अकुलवीरं महद्भूतम्।

गुह्याद् गुह्यतरं गुह्यं सिद्धसद्भावसन्ततिः॥ १॥

अनुग्रहाय लोकानां सिद्धनाथेन भाषितम्।
गोपनीयं प्रयत्नेन यदीच्छन् शाश्वतं पदम्॥ २॥
संसारार्णवमग्नानां भूतानां महदाश्रयम्।
यथा नदीनदाः सर्वे सागरे समुपागताः॥ ३॥
तथा अकुलवीरेषु सर्वधर्मा लयङ्गताः।
सर्वाधारमशेषस्य जगतः सर्वदा प्रभुः॥ ४॥
सहजानन्दं न विन्दन्ति सर्वधर्मसमासृताः।
अजानन्तमलैर्ग्रस्ता महामायान्धच्छादिताः॥ ५॥
शास्त्रजालेन सन्तुष्टा मोहितास्त्यजयन्तिताः (?)।
न विन्दन्ति पदं शान्तं कौलानां निष्कलं गुरुम्॥ ६॥
संवादयन्ति ये केचिन् न्यायवैशेषिकास्तथा।
बौधास्तु अरिहन्ता ये सोमसिद्धन्तवादिनः॥ ७॥

(p. 85)

मीमांस पञ्चस्रोताश्च वामसिद्धान्तदक्षिणाः।
इतिहासपुराणञ्च भूततत्वन्तु गारुडम्॥ ८॥
एभिः शैवागमैः सर्वैः परोक्षञ्च क्रियान्वितैः।
सविकल्पसिद्धिसञ्चारं तत् सर्वं पापबन्धवित्॥ ९॥
विकल्पबहुलाः सर्वैर्मिथ्यावादा निरर्थकाः।
न ते मुञ्चन्ति संसारे अकुलवीरविवर्जिताः॥ १०॥
सर्वज्ञं सर्वमासृत्य सर्वतो हितलक्षणम्।

सर्वेषां सिद्धिस्तत्रस्था सर्वसिद्धिश्च तत्र वै ॥ ११ ॥
यत्रासौ अकुलवीरो दृश्यते सर्वतोमुखम् ।
तं विदित्वा परं रूपं मनो निश्चलतां व्रजेत् ॥ १२ ॥
शब्दरूपरसस्पर्शगन्धश्चैवात्र पञ्चमम् ।
सर्वभावाश्च तत्रैव प्रलीणाः प्रलयं गताः ॥ १३ ॥
भावाभावविनिर्मुक्त उदयास्तमनवर्जितः ।
स्वभावमतिमतं शान्तं मनो यस्य मनोमयम् ॥ १४ ॥
अकुलवीरमिति ख्यातं सर्वाधारपरापरम् ।
नाधारलक्षभेदन्तु न नादगोचरे पठेत् ॥ १५ ॥
हृदि स्थाने न वक्रे च घण्टिका तालरन्ध्रके ।
न इडा पिङ्गला शान्ता न चास्तीति गमागमे ॥ १६ ॥
न नाभिचक्रकण्ठे च न शिरे नैव मस्तके ।
तथा चक्षुरुन्मीलने च न नासाग्रनिरीक्षणे ॥ १७ ॥
न पूरककुम्भके तत्र रेचके (च) तथा पुनः ।
न बिन्दुभेदके ग्रन्थौ ललाटे न तु वह्निके ॥ १८ ॥

(p. 86)

प्रवेशनिर्गमे नैव नावाहनविसर्जनम् ।
न करणैर्नासनं मुद्रैर्नामासे भिन्नतालुके (?) ॥ १९ ॥
न निरोधो न चोद्धारो नातीतां चालनं न हि ।
न प्रेर्यप्रेरकश्चैव न स्थानन्नैव चाश्रयम् ॥ २० ॥

न चात्मनैव तद् ग्राह्यं ग्राह्यातीतपदं भवेत् ।

एतत् पक्षविनिर्मुक्तं हेतुदृष्टान्तवर्जितम् ।

सबाह्याभ्यन्तरन्तत्र एकोच्चारं चराचरम् ॥ २१ ॥

न दूरे न च वै निकटे न भरितो न च रिक्तक(ः) ।

न उन्नो न सोऽधिक एभिः पक्षैर्विवर्जितम् ॥ २२ ॥

यश्च विंशात्मको ह्येष पुद्गल नास्ति यत्र वै ।

यत्र लक्षं न विद्येत अकुलवीर स उच्यते ॥ २३ ॥

यस्यैवं संस्थितं कश्चित् समरस संस्थितः ।

स ब्रह्मा सो हरिश्चेशः स रुद्रो स च ईश्वरः ॥ २४ ॥

स शिवः परमदेवः स सोमार्काग्निकस्तथा ।

स च सांख्यः पुराणाश्च अर्हन्तबुद्ध एव च ॥ २५ ॥

स्वयं देवी स्वयं देवः स्वयं शिष्यः स्वयं गुरुः ।

स्वयं ध्यानं स्वयं ध्याता स्वयं सर्वत्र देवता ॥ २६ ॥

यादृशेन तु भावेन पुरुषो भावयेत् सदा ।

तादृशं फलमा(व)प्नोति नात्र कार्यविचारणात् ॥ २७ ॥

अस्यैव हि नामानि पृथग्भूतानि योगिभिः ।

अनाम तस्य गीयन्ते भ्रान्तिज्ञानविमोहितैः ॥ २८ ॥

धर्माधर्मसमाक्लिष्टाविकल्पतमश्छादिताः ।

तेन मुञ्चन्ति संसारं नरकं योनिसंकुलम् ॥ २९ ॥

अकुलवीरं महद्भूतं यदा पश्यन्ति सर्वगम् ।

स बाह्याभ्यन्तरे नित्यं एकाकारं चराचरम् ॥ ३० ॥

निस्तरङ्गं निराभासं पदभेदविवर्जितम् ।

सर्वावयवनिर्मुक्तं निर्लयं निर्विकारजम् ॥ ३१ ॥

अदृष्टनिर्गुणं शान्तं तत्त्वातीतं निरञ्जनम् ।

सर्वज्ञं परिपूर्णञ्च स्वभावश्चैवमक्षयम् ॥ ३२ ॥

कार्यकारणनिर्मुक्तमचिन्त्यमनामयम् ।

मायातीतं निरालम्बं व्यापकं सर्वतोमुखम् ॥ ३३ ॥

समत्वं एकभूतञ्च ऊहापोहविवर्जितम् ।

अकुलवीरं महद्भूतम् अस्तिनास्तिविवर्जितम् ॥ ३४ ॥

न मनो न च वै बुद्धिर्न चिन्ताचेतनादिकम् ।

न कालः कलनाशक्तिर्न शिवो न च इन्द्रियः ॥ ३५ ॥

न भूते गृह्यते सो हि न सुखं दुःखमेव च ।

न रसो हि न सुखं दुःखमेव च (?) ॥ ३६ ॥

न रसो विरसश्चैव न कृतो न च जायते ।

न च्छाया न च तापस्तु न शीतो न च उष्णवान् ॥ ३७ ॥

न (दृश्यते मन्) स्तत्र उदयास्तमनवर्जितम् ।

न सीमा दृश्यते तत्र न च तीर्थ्यं न चैव हि (?) ॥ ३८ ॥

अद्वैतमचलं शान्तं संगदोषविवर्जितम् ।

निराकुलं निर्विकल्पञ्च निबद्धञ्च मलक्षणम् ॥ ३९ ॥

अनाथं सर्वनाथञ्च उन्मना मदवर्जितम् ।

अनिगूढमसन्धिञ्च स्थावरं जङ्गमेव च ॥ ४० ॥

(p. 88)

ज्वलज्ज्वलनभूम्या च आपोञ्चैव तथैव च ।

सर्वं समरसं पूर्णं अकुलवीरन्तु केवलम् ॥ ४१ ॥

यस्यैषा संस्थिता मुक्तिः स मुक्तो भवबन्धनात् ।

न तस्य मातापिता (वा)बान्धवं न च देवता ॥ ४२ ॥

न यज्ञं नोपवासञ्च न क्रिया वर्णभेदकम् ।

त्यक्त्वा विकल्पसंघातम् अकुलवीरलयं गताः ॥ ४३ ॥

न जपो नार्चनं स्नानं न होमं नैव साधनम् ।

अग्निप्रवेशनं नास्ति हेमन्तभृगु नोदनम् ॥ ४४ ॥

नियमोऽपि न तस्यास्ति नोपवासो विधीयते ।

पितृकार्यं न करोताति तीर्थयात्राव्रतानि च ॥ ४५ ॥

धर्माधर्मफलं नास्ति न स्नानं नोदकक्रिया ।

स्वयं त्यज सर्वकार्याणि लोकाचाराणि यानि च ॥ ४६ ॥

समयाचारविचारञ्च कृतका बन्धकानि तु ।

संकल्पञ्च विकल्पञ्च ये चान्ये किल धर्मिणः ॥ ४७ ॥

भवे योगी निराचारो पशुचारविवर्जितः ।

सिद्धिश्च विविधाकारा पाताले च रसायनम् ॥ ४८ ॥

प्रत्यक्षञ्च या लब्धं न गृह्णीयात् कदाचन ।

सर्वञ्च पाशजालञ्च अधोमार्गप्रदायकः ॥ ४९ ॥

एतेषु मोचना नास्ति अकुलवीरविवर्जिताः ।

यथा मृताः (न) जानन्ति स्वादं कटुमधुरस्य तु ॥ ५० ॥

तथा अकुलवीरन्तु न जानन्ति स्वभावगम् ।

यथा मदिरा महान्तस्य कथितं नेवशकृते (?) ॥ ५१ ॥

अगे ८९ तो ९६ मिस्सिन्ग्

(p. 97)

रहस्यपरमानन्दमतिगुह्यं सुगोपितम् ।

लोकानां च हितार्थाय सिद्धनाथेन भाषितम् ॥ ३९ ॥

निर्विकल्पं पदं शान्तं यत्र लीनं परापरम् ।

मोक्षस्य तन्महास्थानं मन्त्ररूपविवर्जितम् ॥ ४० ॥

तत्रैव सृष्टिरूपेण पुनस्तत्र लयं गता ।

किन्तेन बहुनोक्तेन सर्वबन्धविवर्जितम् ॥ ४१ ॥

अकुलवीरं यदा लब्धं तदा किं कौलिकैः क्रमैः ।

लब्ध्वा तु मोक्षसद्भावम् अकुलवीरं मलापहम् ॥ ४२ ॥

कौलमार्गे द्वयो सन्ति कृतका सहजा तथा ।

कुण्डली कृतका ज्ञेया सहजा समरसे स्थिता ॥ ४३ ॥

प्रेर्यप्रेरकभावस्था कृतका साऽभिधीयते ।

ततः स पातयेद् भूमौ मुद्रामन्त्रैर्नियोजितैः ॥ ४४ ॥

आहुते पतने चान्ये कर्णजापेन धूपकैः।

एतत् साध्यमिदं तत्त्वं (एतद्) ध्यानञ्च धारणा॥ ४५॥

अनेकैः कर्मसंघातैः नानामार्गविभावनैः।

विकल्पकल्लोल्लोला उद्भ्रान्ता भ्रान्तचेतसः॥ ४६॥

हृदि शोकेन सन्तप्ता व्यासङ्गाच्च महाभयैः।

हर्षविषादसम्पन्ना शोच्यमाना मुहुर्मुहुः॥ ४७॥

तावद्भ्रमन्ति संसारे कल्पाकल्पैर्भवार्णवैः।

दग्धबीजेषु संभूतिर्यथा नैव प्रजायते॥ ४८॥

मूलछिन्ने यथा वृक्षे न प्ररोहं विद्यते।

अकुलवीरगतं भिन्नं नानाभावानुबन्धनैः॥ ४९॥

(p. 98)

न बध्यते यथा विमले रसं विप्रलयं गतम्।

तद्वद्कुलवीरे च सत्त्वे भ्राभ्राख्य यद्गतः (?)॥ ५०॥

तिमिरेण यथाच्छन्नमुदितार्कं न पश्यति।

अज्ञानमनस्तद्वद् भ्रान्तिजालविमोहिता॥ ५१॥

अकुले वीरे च सम्प्राप्ते सर्वमेतद्विनश्यति।

दधिमध्ये यथा सर्पिः काष्ठे चाग्निः स्थितो यथा॥ ५२॥

पुष्पे गन्धस्तिले तैलं वृक्षे छाया समाश्रिता।

मद्यमध्ये यथानन्दं दीपे प्रभा समाश्रिता॥ ५३॥

पद्ममध्ये च कुण्डल्या अङ्गप्रत्यङ्गमेव च।

रक्तार्थाकुलवीरे (?) च तत्सर्वं विनियोजितम् ॥ ५४ ॥

भावाऽभावादिसंयुक्तैः प्रत्ययैर्दृष्टिगोचरैः ।

अकुलवीरं न जानन्ति कृतकैर्मोहितात्मनः ॥ ५५ ॥

पाशजालनिबद्धाश्च महामायाविमोहिताः ।

न जानन्ति पदं शान्तमचिन्त्यं नित्यसम्भवः ॥ ५६ ॥

सर्वव्यापिभावस्थं स्थानवर्णविवर्जितम् ।

सर्वभूतस्थितं ह्येकमध्येयं ध्येयवर्जितम् ॥ ५७ ॥

स च सर्वगतो भावः स्थिरे पूर्णे निरन्तरे ।

तत्र मनो विलीनन्तु अचलं भवतन्मयम् ॥ ५८ ॥

मनोवृद्धिस्तथा चिन्त्यं क्षिप्ता तन्मयतां गता ।

यथा तिष्ठति तत्त्वस्थः शिवनिष्कलमव्यये ॥ ५९ ॥

तदा तन्मयतां याति निर्मलं निश्चलं पदम् ।

अकुलवीरं महद्भुतमेकवीरं च सर्वगम् ॥ ६० ॥

(p. 99)

दुर्लभं सुरसिद्धानां योगिनीनाञ्च गोचरम् ।

केचिद् वदन्तीदं धर्ममिदं शास्त्रमिदं तपः ॥ ६१ ॥

अयं लोकमिमं स्वर्गमिदं साध्यमिदं फलम् ।

इदं ज्ञानञ्च विज्ञानं शुद्धाशुद्धमिदं परम् ॥ ६२ ॥

ज्ञेयञ्च तत्त्वकूटञ्च यत्र ध्यानञ्च धारणा ।

तदासौ योगिनी ह्येकः नान्यस्तु हि द्वितीयकः ॥ ६३ ॥

(अ)नागतन्तु गतञ्चैव न गच्छेन्न च तिष्ठति ।

न भूतं न भविष्यञ्च स्थितिप्रलयवर्जितम् ॥ ६४ ॥

न चाहं प्रचितैर्दोषैः लिप्यते न कदाचन ।

नाहं कश्चिन्न मे कश्चिन्न बद्धो न च बाधकः ॥ ६५ ॥

न मुक्तो वै न च न मुक्तमे (?) मोक्षस्य च स्पृहा ।

गच्छंस्तिष्ठन् स्वपन् जाग्रद्भूञ्जानो मैथुनेऽपि वा ॥ ६६ ॥

भयदारिद्रशोकैश्च विविधैर्भक्षणैस्तथा ।

चिकित्सा नैव कुर्वीत इन्द्रियार्थैः कदाचन ॥ ६७ ॥

आचरेत् सर्ववर्णैस्तु न तु भक्ष्यं विचारयेत् ।

एवं स चरते योगी यथारण्ये हुताशनः ॥ ६८ ॥

पिण्डबधाञ्च नानास्ति अवस्था मूर्खवासनाम् (?) ।

सोमशून्यस्तथा वह्निप्राणायामविवर्जितम् ॥ ६९ ॥

अप्रमेयनिराभासं धारणाध्यानवर्जितम् ।

येन जन्मसहस्राणि भक्त्या संपूजितो गुरुः ॥ ७० ॥

(p. 100)

ते लभन्ति महाज्ञानं अकुलवीरन्तु मोक्षदम् ।

योगिनीराकिणीचक्रे यस्य भक्तिः सुनिश्चला ॥ ७१ ॥

अकुलवीरं महद्भूतं गम्भीरं गहनामयम् ।

पिण्डातीतं यदा ज्ञेयमपिण्डं पिण्डवर्जितम् ॥ ७२ ॥

पदव्यञ्जननिर्मुक्तं विमलं सततोदितम् ।

तल्लीने तन्मयात्मानं विन्दते श्वाश्वतं पदम् ॥ ७३ ॥

चिन्तातीतं भवेत् सो हि योगसंयोगवर्जितम् ।

निर्वाणं वासनाहीनं तृप्तात्मा च निरामयः ॥ ७४ ॥

तेन लब्धा न सन्देहोऽमला मलच्छेदनाः ।

तस्य प्रवर्तते क्षिप्रं तस्यैव सर्वसर्वगम् ॥ ७५ ॥

वेदसिद्धान्तशास्त्राणि नानाविधानि शिखानि च ।

तानि सर्वाणि मोहानि कायक्लेशैर्निरर्थकम् ॥ ७६ ॥

विद्याहङ्कारग्रस्तास्तु गर्विताः कुगतिं गताः ।

अनर्थेन च सन्तुष्टा बहुग्रन्थार्थचिन्तकाः ॥ ७७ ॥

अकुलवीरं न विन्दन्ति कृतकैर्मोहितात्मनः ।

गर्वितानां कुतो ज्ञानं ग्रन्थकोटिशतैरपि ॥ ७८ ॥

कर्पूरकुङ्कुमादीनां वस्त्रताम्बूलमेव च ।

खरवद्भवति तद्भारं सर्वं तस्य निरर्थकम् ॥

अकुलवीरञ्च देहस्थं यदा पश्यति सर्वगम् ॥ ७९ ॥

धर्माधर्मफलं नास्ति नोदकं तीर्थसेवना ।

न क्रिया सत्यशौचं वा कर्मकाण्डे न भावना ॥ ८० ॥

(p. 101)

न तस्य कर्मकर्माणि लोकाचाराणि यानि च ।

चरिताः समयाचारा जनैर्भ्रान्तिविमोहितैः ॥ ८१ ॥

अकुलवीरं न जानन्ति किं विशिष्टं कुतः स्थितम् ।

कृतका बन्धना लोके कल्पिताश्च कुपण्डितैः ॥ ८२ ॥

संकल्पविकल्पञ्च कलाकर्माणि यानि च ।

सिद्धयो विविधा लोके पातालं च रसायनम् ॥ ८३ ॥

प्रत्यक्षञ्च यदा लब्धं न विगृह्णीयात् कदाचन ।

सर्वे ते पाशबद्धश्च अधोमार्गप्रदायकाः ॥ ८४ ॥

न चैतैर्मुक्तिः संसारे अकुलं वीरवर्जिताः ।

यथा मदिरमानन्दं कथितं नैव जायते ॥ ८५ ॥

तद्वदकुलवीराख्यं स्वसंवेद्यनिरोपणम् ।

न जानन्ति नरा मूढाः सारात् सारतरं परम् ॥ ८६ ॥

तावद् भ्रान्तिविमुग्धात्मा यावत्तलं न विन्दति ।

चिन्तातीते यदा योगी स योगी योगचिन्तकः ॥ ८७ ॥

विरक्ता वासना यस्य तृप्तात्मा च निरामयः ।

तावद् भ्रमन्ति मोहात्मा नानाभावानुबन्धनैः ॥ ८८ ॥

यावत् सममेकत्वं परमानन्दं न विन्दति ।

मूर्खाणां च यथाशास्त्रं कुमारीसुरतिं यथा ॥ ८९ ॥

अकुलवीरं विन्दन्ति कथ्यमानैः कुमारिकाः ।

दिशवेशविनिर्मुक्तं स्थानवर्णविवर्जितम् ॥ ९० ॥

(p. 102)

निराकुलं निर्विकल्पं निर्गुणञ्च सुनिर्मलम् ।

अनाथं सर्वनाथञ्च प्रमादोन्मादवर्जितम् ॥ ९१ ॥

घननिविडनि(ः)सन्धिस्थावरे जङ्गमेषु च ।

जले ज्वलने तथा पवने भूम्याकाशे तथैव च ॥ ९२ ॥

सर्वत्र समरसं भरितमकुलवीरन्तु केवलम् ।

तं ज्ञातं येन देहस्थं स मुक्तः सर्वबन्धनात् ॥ ९३ ॥

न तस्य क्रियाबन्धेन न वेद्यं न च वेदना ।

न यज्ञो नोपवासश्च न चर्या न क्रियोदयः ॥ ९४ ॥

न वर्णो वर्णभेदश्च अकुलवीरं यदागतम् ।

न जापो नार्चनाग्नीनां न होमो नैव साधनम् ॥ ९५ ॥

नाग्निप्रवेशनन्तस्य मन्त्रपूजाचरणोदकम् ।

नियमाश्च न तस्यास्ति क्षेत्रपीठे च सेवनैः ॥ ९६ ॥

न क्रिया नार्चनाकार्यैर्न तीर्थानि व्रतानि च ।

निरालम्बपदं शान्तं तथातीतं निरञ्जनम् ॥ ९७ ॥

सर्वज्ञपरिपूर्णञ्च स्वभावेन विलक्ष्यते ।

कार्यकारणनिर्मुक्तमचिन्तितञ्च अनामयम् ॥ ९८ ॥

मायातीतं निरालम्बं व्यापकं सर्वतोमुखम् ।

स्वदेहे संस्थितं शान्तमकुलवीरं तदुच्यते ॥ ९९ ॥

समस्तमेकदाभूतं द्वैताभावविवर्जितम् ।

अकुलवीरं महद्भूतमस्तिनास्तिविवर्जितम् ॥ १०० ॥

(p. 103)

मनोबुद्धिचित्तस्तचित्ता नैव स्वचेतना (?) ।

न कालकलना चैव न शक्तिश्च न चेन्द्रियः ॥ १०१ ॥

न भूते गृह्यते सो हि न दुःखं सुखमेव च।

न रसोऽधिरसश्चैव कृतकं नैव कारकम् ॥ १०२ ॥

न च्छाया नातपो वह्निर्न च शीतोष्णवेदना।

न दिनं रात्रिमित्युक्तमुदयास्तमनवर्जितम् ॥ १०३ ॥

न मनो दृश्यते तत्र नोर्द्धमध्यं च ज्ञायते।

अक्षोभ्यमचलं शान्तमीदृशं तत्त्वनिर्णयम् ॥ १०४ ॥

यादृशेन तु भावेन पुरुषो भावयेत् सदा।

तादृशं फलमाप्नोति नात्र कार्यविचारणात् ॥ १०५ ॥

एवञ्च कुलसद्भावमवाच्यं परमामृतम्।

अगम्यं गम्यते कस्माद् भ्रान्तिज्ञानविमोहिताः ॥ १०६ ॥

न दूरे निकटे चैव प्रत्यक्षं न परोक्षता।

न भरितो न रिक्तो वा निपुणो नापि चाधिकः ॥ १०७ ॥

एतत् पक्षविनिर्मुक्तो हेतुदृष्टान्तवर्जितः।

कृतकैर्मोहिता मूढाः कर्मकाण्डरतास्तु ये ॥ १०८ ॥

न तेषां मुक्तिः संसारे नरके योनिसंकुले।

अकुलवीरं महद्भूतं यदा पश्यति सर्वगम् ॥ १०९ ॥

सबाह्याभ्यन्तरैकत्वं सर्वत्रैव व्यवस्थित(म्)।

निस्तरङ्गं निराभासं पदच्छेदविवर्जितम् ॥ ११० ॥

सर्वावयवनिर्मुक्तं निर्विकारञ्च निर्मलम्।

अदृश्यं निर्गुणं नित्यं निर्णिरोधञ्च निश्चलम् ॥ १११ ॥

(p. 104)

न ध्यानं धारणा नैव न स्थानं वर्णमेव च ।
न रेचकं पूरकञ्चैव नरोद्घातञ्च (?) कुम्भकम् ॥ ११२ ॥
न चान्तमादिमध्यस्थं न सतो वृद्धिरेव च ।
ग्राह्यग्राहकनिर्मुक्तग्रन्थातीतञ्च यद्भवेत् ॥ ११३ ॥
एतैः सर्वैर्विनिर्मुक्तं हेतुदृष्टान्तवर्जितम् ।
सबाह्याभ्यन्तरैकत्वं सर्वत्रैव व्यवस्थितम् ॥ ११४ ॥
समरसानन्दरूपेण एकाकारं चराचरे ।
ये च ज्ञातं स्वदेहस्थमकुलवीरं महद्भूतम् ॥ ११५ ॥
यस्या (?) वशं स्थितः कश्चित् समरसं रससंस्थितम् ।
स ब्रह्मा स हरिश्चैव स रुद्रश्चै(वे)श्वरस्तथा ॥ ११६ ॥
स शिवः शाश्वतो देवः स च सोमार्कशङ्करः ।
स विशाख्यो मयूराक्षो अर्हन्तो बुधमेव च ॥ ११७ ॥
स्वयं देवि स्वयं देवः स्वयं शिष्यः स्वयं गुरुः ।
स्वयं ध्यानं स्वयं ध्याता स्वयं सर्वेश्वरो गुरुः ॥ ११८ ॥
सर्वज्ञः सर्वमासृत्य सर्वतो हितलक्षणः ।
सर्वयोगिनी तत्रस्था सर्वे सिद्धाश्च तत्र वै ॥ ११९ ॥
सर्वं सर्वार्थकं चैव सर्वज्ञानश्च तत्र वै ।
यथासौ महार्थञ्च अकुलवीरमिति स्मृतम् ॥ १२० ॥

शब्दः स्पर्शो रसो रूपं गन्धो वद्याणिपम च (?)।
सर्वे भीराश्च (?) तत्रैव ये प्रलीनाः प्रलयं गताः॥ १२१॥
नाधारे ध्येयलक्ष्ये च न नादगोचरे परे।
न हृदि नाभिकण्ठे वा वक्रे घण्टिकरन्ध्रयोः॥ १२२॥

(p. 105)

न इडा पिङ्गला चैव सुष्मणा च गमागमैः।
न नाभिचक्रे कण्ठे च न शिरे बिन्दुके तथा॥ १२३॥
चक्षुकर्णोन्मीलनं नैवं नासिकाग्रनिरीक्षणे।
न पूरके कुम्भके चैव रेचके च तथा पुनः॥ १२४॥
न बिन्दुभेदग्रन्थौ च ललाटे न च चन्द्रमाः।
प्रवेशे निर्गमे चैव शिखा ऊद्ध्र्वे न बिन्दुके॥ १२५॥
न करैर्न सरैर्मुद्रैः नाकाशे वायुमण्डले।
न चापे चन्द्रसूर्ये च भावाभावे समागमे॥ १२६॥
अनौपम्यं निरालम्बं पक्षापक्षविवर्जितम्।
अज्ञानमलग्रस्तात्मा महामायाविमोहिताः॥ १२७॥
शास्त्रार्थेन विमुढात्मा मोहिता विदुषो जनाः।
न विदन्ति पदं शान्तं कैवल्यं निष्क्रियं गुरुम्॥ १२८॥
संख्यादयश्च ये केचित् न्यायवैशेषिकास्तथा।
बौद्धारहन्ताश्च ये केचित् सोमसिद्धान्तदक्षिणाः॥ १२९॥
मीमांसा पञ्चरात्रञ्च वामदक्षिणकौलिकाः।

इतिहासपुराणानि भूततत्त्वञ्च गारुडम् ॥ १३० ॥

एते चैव समाः सर्वे केचित् वा(ऽपि) क्रियान्विताः ।

विकल्पसिद्धिदाः सर्वे तद्विदुर्न च पण्डिताः ॥ १३१ ॥

विकल्पबहुलाः सर्वे मिथ्यावादनिरर्थकाः ।

न ते मुच्यन्ति संसारे अकुलवीरविवर्जिताः ॥ १३२ ॥

यानि कानि च स्थानानि गिरिर्नगरसागरम् ।

सर्वत्र संस्थितं नित्यं स्थावरे जङ्गमेषु च ॥ १३३ ॥

(p. 106)

पञ्चभूतात्मकं सर्वे यत् किञ्चित् सचराचरम् ।

शिवाद्यदेवपर्यन्तं सर्वं तत्रैव संस्थितम् ॥ १३४ ॥

ईदृशं योगिनं दृष्ट्वा उपसर्पन्ति ये नराः ।

गन्धैः पुष्पैश्च धूपैश्च खानपानादिभक्षणैः ॥ १३५ ॥

तर्पयन्ति च ये भक्तास्त्रिविधैश्चैवान्तरात्मना ।

तेऽपि बन्धैः प्रमुच्यन्ति मुक्तिमार्गी न (?) काङ्क्षिणः ॥ १३६ ॥

ब्रह्मेन्द्रविष्णुरुद्रञ्च अरहन्ता बुद्धमेव च ।

विषाख्यो मयूराक्ष (?) ये च ऋषयस्तपोधनाः ॥ १३७ ॥

देवादिभ्यो नरेन्द्राश्च ये चान्ये मोक्षकाङ्क्षिणः ।

ते (सर्वे) मोक्षमिच्छन्ति अकुलवीरन्तु मोक्षदम् ॥ १३८ ॥

अथान्यं संप्रवक्ष्यामि भिन्नावस्थां स्वभावगः ।

पूर्वं यदुक्ता सर्वे अन्वयमार्गे त्वकौलिके (?) ॥ १३९ ॥

* * * * * * * * * * * * * * * * * |

* * * * * * * * * * * * नात्र संशयः ।

परमामृतसन्तृप्ताः सहजानन्दं च केवलम् ॥ १४० ॥

न जरास्तेषां न मृत्युश्च न शोको दुःखमेव च ।

सर्वव्याधिहरश्चैव न पुनर्भवसंभवः ॥ १४१ ॥

अकुलवीरं स्थितं दिव्यं सिद्धनाथप्रसादतः ।

सर्वतः सर्वदा शुद्धः सर्वतः सर्वदा प्रभुः ॥ १४२ ॥

इति मच्छेन्द्रपादावतारिते कामरूपिस्थाने योगिनी प्रसादाल्लब्ध(म्) अकुलवीरं समाप्तम् ॥

॥ लक्ष्मीवेङ्कटेश्वराय नमः ॥

गोरक्षपद्धति।

राजधानी-टीहरी जिला-गढवालनिवासि-
पं०-महीधरशर्मकृतभाषानुवादसहिता।

इसीको

गंगाविष्णु श्रीकृष्णदासने
स्वकीय "लक्ष्मीवेंकटेश्वर" छापेखानेमें
छापकर प्रकाशित किया।

संवत् १९८१, शके १८४६.

कल्याण-मुंबई.

प्रस्तावना ।

समस्त साधनाओंका मूल योग है, तप, जप, संन्यास, उपनिषत्, ज्ञान आदि मोक्षहेतु अनेक हैं किंच सर्वोत्कृष्ट योगही है इसीके प्रभावसे शिव सर्वसामर्थ्य, ब्रह्मा कर्त्ता, विष्णु पालक हैं. इसके मुख्यकर्ता शिवजीने पार्वतीजीसे कहा ब्रह्माजीके सेवन करनेपर योगी याज्ञवल्क्य-स्मृति बनी है, विष्णु (श्रीकृष्णजी) ने गीता, एवं भागवतके ग्यारहवें स्कंधमें कहा है इसके मुख्य आचार्य आदिनाथ (शिवजी) हैं. इन्हींसे नाथसंप्रदाय प्रवृत्त भया. एक समय आदिनाथ किसी द्वीपमें पार्वतीको योग सुना रहे थे वह एक मछलीने सुनकरही दिव्यज्ञान तथा दिव्यदेह पाया यही मत्स्येंद्रनाथ भये और मत्स्येंद्रनाथ शाबर-नाथ (जिन्होंने साबरग्रन्थ देशभाषामें बनाये हैं) आनंदभैरवनाथ, चौरंगी आदियोंमे योग पाय यथेच्छ विचरते थे कि, एक स्थानमें हाथ पांव कटे हुए चोरको देखा. उक्त महात्माओंके कृपावलोकनसे उसके हाथ पांव उग आये तथा ज्ञानभी हो गया. मत्स्येंद्रनाथके कृपासे योग पायकर चौरंगिया नाम योगी सिद्ध विख्यात भया और मीननाथ, गोरक्षनाथ, विरूपाक्ष, विलेशय, मंथानभैरव, सिद्धवृद्ध, कंथडी, कोरंटक, सुरानंद, सिद्धपाद, चर्पटी, कानेरी, पूज्यपाद, नित्यानंद, निरंजन, कपाली, बिंदुनाथ, काकचंडीश्वर, अल्लाम, प्रभुदेव, घोडाचोली, टिंटिणी, भानुकी, नारदेव, खंड, कापालिक तारानाथ इत्यादि योगसिद्धि पायकर योगाचार्य हुए हैं योगहीके प्रभावसे महा-सिद्ध अखंडऐश्वर्यवान् होकर मृत्युको जीत ब्रह्मानंदमें मग्न रह ब्रह्मां-डमें विचरते हैं. इनमेंसे मुख्य मत्स्येंद्रनाथ, गोरक्षनाथ योगविद्याके आचार्य भये, गोरक्षनाथने मुमुक्षुजनोंके उपकारार्थ राजयोग, हठयोग आदि बहुविस्तार एवं बहुसाधनासाध्य जानकर, यह "गोरक्षपद्धति" नामक ग्रंथ २०० श्लोकमें सर्वसमुच्चय सारभूत प्रकट किया. सर्वसाधा-रणके सुबोधार्थ महीधर शर्मा राजधानी टीहरी जिला गढवालनिवासीने इसका भाषानुवाद करके प्रकाशित किया.

इस ग्रंथके प्रथम मंगलाचरणसे (५) श्लोकमें विषयप्रयोजन संबन्ध अधिकारी कहे हैं, (१) में योगाभ्यासका फल, (१) में षडंगके नाम, (५) में आसन, (१२) में षट्चक्रनिरूपण, (८) में दशनाडी

स्थानोंसहित, (१४) में दशवायु, (१०) में शक्तिचालन, (२६) में महामुद्राआदि, (७) में प्रणवाभ्यास, प्राणायामप्रशंसा, (४) में प्राणायामका प्रकार, (८) में नाडीशोधन, इतने विषय पूर्वशतकमें तथा (२१) में प्राणायामका विस्तार, (३०) में प्रत्याहारविधि, (९) में धारणा, (२४) में ध्यान, (१३) में समाधि, (४) में मुक्तिसोपान, योगशास्त्राभ्यासका फल इतने विषय उत्तर शतकमें कहे हैं. ऐसी यह गोरक्षपद्धति योगमार्ग जाननेवालोंको अतिउत्तम तथा सुगम है. योगमार्गका प्रयोजन सभी शास्त्रोंमें पडता है, विशेषतः संध्या, पूजन आदि द्विजन्माओंके नित्यकर्मभी बिना इसके सिद्ध नहीं होते जैसे संध्यामें प्रथम " बद्धपद्मासनो मौनी प्राणायामत्रयं चरेत् । " तथा पूजनमें " स्नातः शुचिः प्राङ्मुखोपविश्य प्राणानायम्य " इत्यादि सर्वत्र विधिवचन हैं. यदि योग न जाने तो प्राणायाम पद्मासन आदि कहांसे जाने. इनके न जाननेसे समस्त संध्यावंदनादि साधन निरर्थक हैं. इस समयमें बहुधा लोग नाकपर हाथ लगानेका प्राणायाम समझते हैं. पद्मासनादियोंका तो नामभी नहीं है तब कहांसे सिद्धि होवे इसी हेतु नास्तिकलोग असिद्ध तथा पोप (ठग) आदि निंद्यशब्दोंसे अपने मुखविवरोंको दूषित करते हैं. यदि योगाभ्यास करें तो सिद्धि प्रत्यक्ष होकर अपना उद्धार हो तथा दूषकोंका उन विवरोंमें मिट्टी पडे और योगग्रन्थ बहुत तथा कठिन हैं ये २ शतक थोडेहीमें ज्ञान देते हैं इस हेतु मैंने भाषाटीका की है कि सभी सज्जन इसे देख थोडाही गुरूपदिष्ट होकर सर्वार्थसाधन योगमार्गकी महिमा जान जायँगे. पाठकोंके सुबोधार्थ मैंने अनेक प्रसिद्ध योगग्रन्थोंसे इसे बढाकर गोरक्षपद्धति कर दिया और यह ग्रन्थ " लक्ष्मीवेंकटेश्वर " छापेखानेके अधिकारी गंगाविष्णु श्रीकृष्णदासजीको सर्व हक्कसहित दे दिया है जो यह उन्होंने आपके छापेखानेमें छापकर प्रसिद्ध किया है.

सही—

पंडित-महीधरशर्मा.

जिला-गढवाल, राजधानी-टीहरी.

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

अथ

भाषानुवादसहिता

गोरक्षपद्धति ।

श्रीआदिनाथं स्वगुरुं हरिं मुनिम्
गोरक्षशास्त्रस्य प्रणम्य योगिनम् ।
भाषाविवृत्तिं कुरुते महीधरो
योगे सुबोधः खलु जायते यया ॥ १ ॥

श्री आदिनाथ (शिवजी) तथा निजगुरु, हरिमुनि योगीको प्रणाम करके महीधर नामा गोरक्षयोगशास्त्र जो योगींद्र गोरक्षनाथने दो शतकमें शिष्योपकारार्थ बनाया है, उसकी भाषाटीका करता है जिससे योगमार्गमें सभीको सुगमतासे बोध होता है. योगपदका अर्थ मेल है. जैसे 'ह' का अर्थ सूर्य 'ठ' का चंद्रमा है इनके योग (मेल) को हठ योग कहते हैं इसीको राजयोगभी कहते हैं. प्राण अपानवायु जिनकी सूर्य चन्द्रमा संज्ञा है, इनका ऐक्य करनेवाला जो प्राणायाम उसे हठयोग कहते हैं ॥ १ ॥

श्रीगुरुं परमानन्दं वन्दे स्वानन्दविग्रहम् ।
यस्य सान्निध्यमात्रेण चिदानन्दायते तनुः ॥ २ ॥

शिष्यको आत्माके तत्त्वबोधनिमित्त गुरुस्वरूप धारण कर परमगुरु श्रीपरमात्माको सहस्रदल कमलमें भावनापूर्वक प्रथम ग्रन्थारंभमें विघ्नविघातार्थ प्रणाम करते हैं, कि जीवब्रह्मकी ऐक्यता योगशास्त्रका प्रयोजन है सद्गुरुके समीप भक्तिपूर्वक रहनेसे शिष्यका पांचभौतिक शरीरभी आनंदमय हो जाता है. आनंदही परब्रह्मका रूप है. जैसे श्रुतिभी कहती है कि " आनन्दो ब्रह्मणो रूपम् " यदि ऐसा न हो तो उसकी पहँचानभी नहीं हो सके क्यों कि " न रूपमस्येह तथोपलभ्येत

नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा । " इत्यादि गीता । एवं वेदांत ग्रन्थोंमें लिखा है कि उसका रूप तथा जन्म, मरण, मध्य और रंग चिह्न मूर्ति आदि कुछ नहीं है केवल आनन्दमय स्वयं प्रकाशमान है. तथा निर्विकल्प आनन्दमय हो जानेकोही मुक्ति कहते हैं. ऐसे परम आनन्दस्वरूप परब्रह्मको (जिसका शरीरभी आनंदही है) वंदना करके ग्रन्थारंभ करते हैं. जिसमें सांनिध्य (सम्मुख) होनेसे, अर्थात (केवलानुभवानंद) वह आनंदात्मा परमात्मा केवल मनके मनन अनुभव विचार करनेमें अपनेही बीच पाया जाता है, न कि इतस्ततः तीर्थ यात्रादि फिरनेसे, यह अनुभव केवल योगहीमें साध्य है. यह ज्ञानकी प्रथम भूमिका है. नाडीशोधन, वायुशोधन, ध्यान, धारणा आदि विना एवं गुरुकृपा विना नहीं मिलता विना ज्ञानके मुक्ति नहीं मिलती. श्रुतिभी कहती है कि " ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः " मुक्तिपदार्थ वही आनंदमय हो जाता है. योगमें ज्ञान पायके जीवपरमात्माका एक भाव होनेमें वह आनन्दस्वरूप परब्रह्म साक्षात्कार होता है. इस ज्ञानगम्यके प्रत्यक्षमात्र होनेहीसे परमचिदानन्दमय आपही योगी हो जाता है. जैसे ज्ञानकी सात भूमिका हैं ज्ञानभूमि १ विचारणा २ तनुमानसा ३ सत्त्वापत्ति ४ संसक्तिनामिका ५ पदार्थाभाविनी ६ तुर्यगा ७ ये सात हैं विवेक वैराग्य है प्रथम जिसमें ऐसी तीव्र मुमुक्षारूप पहिली, श्रवणमननरूप दूसरी, मनमें अनेक अर्थ संकल्प विकल्प उत्पन्न तथा नाश होते हैं, इन सभीको छोडके सत् एकार्थमें वृत्ति होनी तनुमानसा तीसरी, ये तीन साधनभूमियें हैं इनसे जब अंतःकरण शुद्ध हो तब " अहं ब्रह्मास्मि " मैं ब्रह्म हूं ऐसा योगी कहता है. समस्त साधन पूजनजपादिकमें " अहं ब्रह्मास्मीति चिरं भावयेत् " लिखा है यह भावना विना उक्त तीन भूमिका साधे होतेही नहीं हैं इस लिये विना मार्गके कुछभी साधन नहीं होता है. चौथी सत्त्वापत्ति

ज्ञानभूमि यही फलभूमि है इसमें जब योगी प्राप्त होवे तब ब्रह्मवित् कहाता है. इसी सत्त्वापत्तिभूमिमें समीपही वही जो सिद्धि उसमें आसक्त न होना इसे असंसक्ति नाम पांचवीं ज्ञानभूमि कहते हैं, इसमें जब योगी प्राप्त होवे तो उसे ब्रह्मविद्वर कहते हैं. जिसमें परब्रह्मसे व्यतिरिक्त अर्थको भावना न करे वह पदार्थाभाविनी छठी ज्ञानभूमि है, इसमें जब योगी प्राप्त होता है, तो वह दूसरेके बोधन करने मात्रसे प्रबुद्ध होता है, नहीं तो एकाग्र शून्याकारही रहता है उसे ब्रह्मविद्वरीयान् कहते हैं. तुर्यगा नाम सातवीं भूमि है इसमें योगी प्राप्त होनेसे ब्रह्मविद्वरिष्ठ कहते हैं. इतने साधनाओंसे स्वात्माराम चिदानंद, परमानंद, चिन्मय आदि योगी आपही हो जाता है. कालरहित होना है. "अन्तर्निश्चलितात्मदीपकलिका स्वाधारबन्धादिभिर्यो योगी युगकल्पकालकलनात्तत्त्वं च जेगीयते । ज्ञानामोदमहोदधिः समभवद्यत्रादिनाथः स्वयं व्यक्ताव्यक्तगुणाधिकं तमनिशं श्रीमीननाथं भजे ॥" जो मीननाथ योगीश्वर मूलाधारबंध उड्डीयान बंध जालंधरबंध आदि योगाभ्याससे हृदयकमलमें निश्चलदीपककी ज्योतिसरीखी परमात्माकी कला साक्षात्कार करके श्वास, पल, घटी, प्रहर, दिन, मास, ऋतु, अयन, वर्ष, युग, मन्वन्तर कल्प आदि निरंतर पुनः पुनः फिरनेवाला है स्वरूप जिसका ऐसे कालको तथा जलादि २५ तत्त्वोंको पहँचानके योगाभ्याससे जीतता है तथा ज्ञानरंगरूपी समुद्र होकर गुप्त प्रकट अर्थात् सगुण निर्गुण होनेकी सामर्थ्य रखनेवाला आदिनाथ शिवस्वरूपकी भावना नित्य करनेके अभ्याससे आपही साक्षात् शिव हो गया है. ऐसे योगीश्वर श्रीमीननाथको दिनरात नमस्काररूप सेवन करता हूं ॥ २ ॥

नमस्कृत्य गुरुं भक्त्या गोरक्षो ज्ञानमुत्तमम् ।
अभीष्टं योगिनां ब्रूते परमानन्दकारकम् ॥ ३ ॥

योगी गोरक्षनाथ भक्तिपूर्वक गुरुको प्रणाम करके पूर्वजन्मके

योगसेवनसे इस जन्ममें पूर्णयोगमार्गको बोध देनेवाला योगशास्त्र कहते हैं. जिससे योगियोंको अभीष्ट (मनोवांछित) मिलता है तथा परमयोगानन्द यद्वा ब्रह्मानन्द होता है. कर्म और भक्तिसे जब चित्त शुद्ध होवे तब योगशास्त्रमें अधिकारी होता है ॥ ३ ॥

गोरक्षसंहितां वक्ति योगिनां हितकाम्यया ।
ध्रुवं यस्यावबोधेन जायते परमं पदम् ॥ ४ ॥

योगिजनोंके हितके लिये योगींद्र गोरक्षनाथ गोरक्षसंहिता नाम योगशास्त्र कहता है, जिसका बोध होनेसे योगीको (परमपद) जीवनमुक्ति होती है यद्वा वह मिलता है जिसमें पहुँचकर पुनरावृत्ति फिर लौट आना नहीं होता ॥ ४ ॥

एतद्विमुक्तिसोपानमेतत्कालस्य वञ्चनम् ।
यद्व्यावृत्तं मनो भोगादासक्तं परमात्मनि ॥ ५ ॥

जब योगाभ्याससे मन विषयभोगोंसे हट जानेपर परमात्मा (ईश्वर) में आसक्त हो जावे तब योगी काल तथा मृत्युको जीतकर जरा (बुढापा) मृत्यु (मरण) को जीतता है मुक्तिका सोपान (सीढी) यही कर्म है, और कालकी वंचनाभी यही है ॥ ५ ॥

द्विजसेवितशाखस्य श्रुतिकल्पतरोः फलम् ।
शमनं भवतापस्य योगं भजत सत्तमाः ॥ ६ ॥

सज्जनको संबोधन करके गोरक्षनाथ कहते हैं कि हे सत्तम श्रेष्ठ जनो ! वेदरूपी कल्पवृक्षके फल इस योगशास्त्रका सेवन करो जिसके शाखा (टहनियां) योगिरूपी द्विज (पक्षी) अथवा मुनिजनोंसे सेवित हैं और संसारके तीन प्रकारके ताप (क्लेशों) को शमन करता है ॥ ६ ॥

आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा ।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि वदन्ति षट् ॥ ७ ॥

प्रथम आसन सिद्ध करके क्रमशः प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधिका अभ्यास करना ये योगके छः अंग हैं इनके पृथक विस्तार आगे कहेंगे. यमनियमसंपन्न योगीको क्रमपूर्वक अभ्यास करके समाधिका लाभ होता है जिससे निर्विकल्प समाधिसे राजयोग सिद्ध होता है. तब चिदानंदस्वरूप आपही होके योगानंदको प्राप्त होना है ॥ ७ ॥

अथासनानि ।

आसनानि च तावन्ति यावन्तो जीवजन्तवः ।
एतेषामखिलान् भेदान् विजानाति महेश्वरः ॥ ८ ॥

आसनोंका विस्तार कहते हैं कि जितने जीवमात्र अर्थात् चौराशी लक्ष योनि हैं उतनेही आसनभी उन्हींके शरीरचेष्टानुसार हैं. इनके प्रत्येक भेदोंके जाननेहारे केवल शिवजी मात्र हैं और कोई नहीं जानता ॥ ८ ॥

चतुरशीतिलक्षाणामेकैकं समुदाहृतम् ।
ततः शिवेन पीठानां षोडशोनं शतं कृतम् ॥ ९ ॥

चौराशी लक्ष आसनोंका भेद मनुष्योंसे न जाने जायँगे इस प्रकार जानकर करुणामय शिवजीने सर्वसाधारणके उपकारहेतु चौरासी (८४) मात्र आसन योगशास्त्रमें प्रगट किये. यही सबमें सार है ॥ ९ ॥

आसनेभ्यः समस्तेभ्यो द्वयमेतदुदाहृतम् ।
एकं सिद्धासनं प्रोक्तं द्वितीयं कमलासनम् ॥ १० ॥

इन ८४ आसनोंमेंभी बहुतविस्तार होनेसे योगधारण करनेवालोंके उपकारहेतु दोही आसन मुख्य कहे हैं इससे इस ग्रंथमें सुगमताके लिये सर्वसंमत एक सिद्धासन दूसरा पद्मासन सविस्तार कहा जाता है ॥ १० ॥

योनिस्थानकमंघ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसे-
न्मेढ्रे पादमथैकमेव हृदये कृत्वा हनुं सुस्थिरम् ।
स्थाणुः संयमितेन्द्रियो चलदृशा पश्येद् भ्रुवोरन्तरं
ह्येतन्मोक्षकपाटभेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते ॥ ११ ॥

सर्वोत्कृष्ट दो आसनोंमेंसे प्रथम सिद्धासनकी विधि कहते हैं कि. गुदा और लिंगके बीचमें योनि (कुंडलिनीका) स्थान है इसको वामपादकी एडीसे दृढ पीडन (दबाव) कर दाहिने पैरकी एडी लिंगके ऊपर लगाकर दबावे दोनों पैरोंकी एडियां नीचे ऊपर बराबर हो जाती हैं तथा दोनों पैरोंकी अंगुष्ठ जंघा और गुल्फोंके बीच नीचे छिप जाते हैं इनके दबावसे योनिस्थानके तले ऊपरके दो इंद्रिय गुदा उपस्थ रुक जाते हैं. तदनंतर हृदयके चार अंगुल ऊपर चिबुक (ठोडी) स्थिर करे और समस्त इंद्रियोंमे हटाकर एकाग्र चित्त करे तथा दोनों नेत्रोंसे अचल दृष्टि कर भ्रुकुटि (भ्रूमध्य) देखता रहे यह मोक्षरूपी द्वार (दरवाजे) के कपाट (किंवाड) को खोलकर मोक्षमार्ग दिखाता है यद्वा जो कुंडलिनीसे रुका हुआ सुषुम्णाद्वार उसे खोलकर मोक्ष-मार्ग (सुषुम्णा) के द्वारा मोक्षस्थान सहस्रदलकमलकोणकांतर्गत पर-मात्मासे पहुँचानेका यत्न करता है यह सिद्धासन है ॥ ११ ॥

वामोरूपरि दक्षिणं च चरणं संस्थाप्य वामं तथा
दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढम् ।
अंगुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकये-
देतद्व्याधिविकारनाशनकरं पद्मासनं प्रोच्यते ॥ १२ ॥

बांये ऊरु (जानुमूल) में दाहिना पैर उत्तान करके तथा दक्षिण ऊरु (जानुमूल) में वामपाद वैसेंही स्थापन करके दाहिने हाथको पीठपीछे घुमायके दाहिने पैरके अँगूठेको ग्रहण कर तथा बांये हाथको

पीठपीछे घुमायके दाहिने हाथ ऊपरसे ले जायकर बांये पैरके अंगुष्ठको ग्रहण करे, तब चिबुक (ठोडी) को छातीसे लगाय, दोनों नेत्रोंसे नासिकाका अग्रभाग निरंतर देखता रहे. यह योगियोंके समस्त रोगविकार नाश करनेवाला बद्धपद्मासन है ॥ १२ ॥

" प्रकारांतरसेभी पद्मासन कहा है इसलिये मैं ग्रंथांतरमतसे मत्स्येंद्रनाथके मतकोभी लिखता हूं "—

" उत्तानौ चरणौ कृत्वा ऊरुसंस्थौ प्रयत्नतः ।
ऊरुमध्ये तथोत्तानौ पाणी कृत्वा ततो दृशौ ॥ १ ॥
नासाग्रे विन्यसेद्राजदन्तमूले तु जिह्वया ।
उत्तम्भ्य चिबुकं वक्षस्युत्थाप्य पवनं शनैः ॥ २ ॥
इदं पद्मासनं प्रोक्तं सर्वव्याधिविनाशनम् ।
दुर्लभं येन केनापि धीमता लभ्यते बुधैः ॥ ३ ॥ "

ऊरु (जानुमूल) में पूर्वोक्त प्रकारसे चरण (जैसे दक्षिण ऊरुमें वाम, वाममें दक्षिणचरण, उत्तान अर्थात् पैरोंके पीठ जानुपर लगी रहें,) स्थापन करके दोनों हाथ सीधे एडियोंके ऊपर नीचे वाम ऊपर दक्षिण हस्त रखके दृष्टि नासिकाके अग्रभागपर निश्चल रक्खे तदनंतर राजदंत (डाढ़) के मूल दक्षिण वाम दोनोंमें जिह्वा कर ऊर्ध्वस्तंभन करे (यह जिह्वाबंध गुरुमुखसे जानना चाहिये जिह्वाबंध मूलबंधका विस्तार ५७ । ५८ श्लोकमें कहेंगे) तथा चिबुक (ठोडी) को चार अंगुल अंतर छोडकर छातीसे लगाय मंद मंद वायुको उठावे. यह मूलबंध है, (यहभी गुरुमुखबोध्य है) यह पद्मासन मत्स्येन्द्रनाथके मतका है. संपूर्ण रोगोंको नष्ट करता है; जो संसारमें भाग्यहीन हैं, उनको दुर्लभ है बुद्धिमान् एवं पुण्यवान् पुरुषोंको गुरुकृपासे मिलता है ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥

अथ षट्चक्रनिरूपणम् ।

षट्चक्रं षोडशाधारं द्विलक्ष्यं व्योमपञ्चकम् ।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्ध्यन्ति योगिनः ॥ १३ ॥

विषयवासनासे मन चंचल रहता है रोकेसे रुकता नहीं विना मन रोके योगसिद्धि नहीं होती, मन रोकनेके लिये कुछ निमित्त (अवलंबन) अवश्य होना चाहिये. इस हेतु छः चक्र, सोलह आधार, दो लक्ष्य, पांच आकाश ये चार प्रकार भेद (सर्व उनतीस) कहते हैं; कि मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा ये छः चक्र हैं इनका विस्तार आगे कहेंगे, आधार सोलह हैं इनके विशेष विस्तार अतिगुह्य होनेसे श्रीगोरक्षनाथने यहां प्रगट नहीं कहे और इनके प्रकटता विना सर्वसाधारणको बोध होना असंभव है इसलिये जैसा गुरुकृपासे जाना, यहां ग्रंथांतरीयमतसे प्रकट करता हूं प्रथम आधार पादांगुष्ठ है, इसपर एकाग्रदृष्टि करके ज्योति चैतन्य करे इससे दृष्टि स्थिर होती है १ । दूसरा आधार मूलाधार, इसे पावोंकी एडीसे अचेतन करना इससे अग्नि दीप्त होती है २ । तीसरा गुह्याधार, इसके संकोचविकाशके अभ्यास करनेसे अपान वायु फिरके वज्रगर्भनाडीमें प्रवेश कर बिंदुचक्रमें जाता है इससे शुक्रस्तंभन एवं (वज्रोली) रेत योनिमें पातन करके पुनः संकोचनक्रमसे वज्रनाडी-द्वारा बिंदुस्थानमें प्राप्त करनेकी सामर्थ्य होती है ३-४ । पंचम उड्डीयान बंध आधार है, पश्चिमतान आसन बांधके गुदाको संकोचन करे इससे मल मूत्र कृमिका नाश होता है ५ । छठा नाभिमंडलाधार, जिसमें चैतन्य ज्योतिःस्वरूपका ध्यान करनेसे एवं प्रणवके जपसे नाद उत्पन्न होता है ६ । सातवां हृदयाधार, इसमें प्राणवायुका रोध करनेसे हृदयकमल विकसित होता है ७ । आठवां कंठाधार, इसमें ठोडी हृदयपर दृढ लगायके ध्यान करे तो इडा पिंगलामें

बहता हुआ वायु स्थिर होता है ८। नवम क्षुद्रघंटिकाधार कंठमूल है, इसमें जो दो लिंगाकार ऊपरसे लटकती हैं उनतक जिह्वा पहुँचावे तो ब्रह्मरंध्रमें चंद्रमंडलसे बहता हुआ अमृतरस मिलता है ९। दशम जिह्वामूलाधार इसमें खेचरीमुद्राके प्रकारसे जिह्वाग्रसे मथन करे तो खेचरीसिद्धि होती है १०। ग्यारहवां जिह्वाका अधोभागाधार, जिसमें जिह्वाग्रसे मथन करके दिव्यकविताशक्ति होती है ११। बारहवां ऊर्ध्वदंत मूलाधार, जिसमें जिह्वाग्रस्थापनके अभ्याससे रोगशांति होती है १२। तेरहवां नासिकाग्राधार, जिसमें दृष्टि स्थिर करनेसे मन स्थिर होता है १३। चौदहवां नासिकामूलाधार, जिसमें दृष्टि स्थिर करनेसे छः महीनेके निरंतर अभ्यासकरके ज्योति प्रत्यक्ष होती है १४। पंद्रहवां भ्रूमध्याधार, जिसमें दृष्टि अचल दृष्टिके अभ्यास करके सूर्यकिरणोंके समान ज्योति प्रकाश होती है इसी अभ्यासके दृढ होनेपर सूर्याकाशमें मनका लय होता है १५। सोलहवां नेत्राधार, जिनके मूलमें अंगुलीसे मीचतेमें वर्तुलाकार बिंदुसमान इंद्रधनुषके समान रंगकी ज्योति है इस ज्योतिके देखनेका अभ्यास करके ज्योति प्रत्यक्ष होती है १६। ये सोलह आधार हैं अथवा मूलाधार १ स्वाधिष्ठान २ मणिपूर ३ अनाहत ४ विशुद्ध ५ आज्ञाचक्र ६ बिंदु ७ अर्द्धेंदु ८ रोधिनी ९ नाद १० नादांत ११ शक्ति १२ व्यापिका १३ शमनी १४ रोधिनी १५ ध्रुवमंडल १६ ये सोलह (१६) आधार हैं. ब्रह्म तथा अपनेमें अभेद समझकर भावना करनेसे सिद्धि होती है. अब दो लक्ष्य कहते हैं ये दो प्रकार बाह्य आभ्यंतरीय हैं देखनेके उपयोगी नासिका तथा भ्रूमध्य इत्यादि बाह्यलक्ष्य हैं, मूलाधारचक्र, हृदयकमल इत्यादि आभ्यंतर लक्ष्य हैं. अथ पांच आकाश इस प्रकार हैं कि प्रथम श्वेतवर्ण ज्योतिरूप आकाश है इसके भीतर रक्तवर्ण ज्योतिरूप प्रकाश है इसके भीतर धूम्रवर्ण ज्योतिरूप महाकाश है इसके भीतर नीलवर्ण ज्योतिस्वरूप तत्त्वाकाश है, इसके भीतर विद्युत

(बिजुली) के वर्णका ज्योतिस्वरूप सूर्याकाश है ये पांच आकाश हैं इतने ६ चक्र १६ आधार २ लक्ष्य ५ आकाश शरीरमें हैं इन्हें जो योगी नहीं पहँचानता उसको योगसिद्धि नहीं होती ॥ १३ ॥

एकस्तम्भं नवद्वारं गृहं पञ्चाधिदैवतम् ।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्ध्यन्ति योगिनः १४॥

शरीरस्तंभरूपी गृह है इसमें सकल वासनाओंका आश्रय मन है यही खंभारूप होकर समस्त शरीरको थामे रहता है जिसके मुख १ नेत्र २ नासिका २ कर्ण २ गुह्य १ लिंग १ ये ९ द्वार हैं तथा पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश पंचतत्त्वोंके ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव अधिदेवता हैं ऐसे शरीररूपी गृहको जो योगाभ्यासी नहीं जानता वह योगसिद्धि कैसे पा सकता है ॥ १४ ॥

चतुर्दलं स्यादाधारं स्वाधिष्ठानं च षट्दलम् ।
नाभौ दशदलं पद्मं सूर्यसंख्यादलं हृदि ॥ १५ ॥
कण्ठे स्यात् षोडशदलं भ्रूमध्ये द्विदलं तथा ।
सहस्रदलमाख्यातं ब्रह्मरन्ध्रे महापथे ॥ १२ ॥

षट्चक्रोंका पृथक् वर्णन है कि प्रथम मूलाधारचक्र गुदद्वारमें पीले वर्णका अधोमुख कमल है, जिसके ४ दलोंमें व, श, ष, स बीज शोभित हैं, आठों दिशामें आठ शूलोंसे वेष्टित पीतवर्ण मध्यकर्णिकामें चतुष्कोण भूमंडलके भीतर, हाथीके ऊपर आरूढ जिसके पार्श्व (बगल) में (लं) बीज है और चार हाथ चार मुखका ब्रह्मा कोटिसूर्यसमान प्रकाशमान एवं डाकिनीशक्तिसे युक्त है वहा देदीप्यमान त्रिकोणाकार कामाख्य पीठ है जिसके मध्यमें पश्चिममुख स्वयंभू लिंग है उसके बीचमें बिजुली समान चमकवाली साढे तीन फेरे (वृत्त) से वेष्टित होकर, सुषुम्णाके द्वारको रोकके सोया हुआ सर्प जैसी कुण्डलिनी महाशक्ति है, जैसे पृथ्वीका आधार शेष तैसेही शरीरका आधार यह है विना इसके जाने और उपाय योगके व्यर्थ

है. इस लिये प्रथम इसका बोधन करना मुख्य है १। दूसरा स्वाधिष्ठानचक्र लिंगमूलमें रक्तवर्ण ऊर्ध्वमुख षड्दल ब, भ, म, य, र, ल, इन ६ वर्णोंसे शोभित कमल है. शुक्लवर्ण कर्णिकामें अर्द्धचन्द्राकार जलमंडल है इसके बीचमें (वं) बीज है जिसके पार्श्व (बगल) में श्रीवत्सकौस्तुभ पीतांबर वनमालाओंसे शोभित चतुर्भुज विष्णु शाकिनीशक्तिसहित है २। तीसरा मणिपूरचक्र, नाभिमूलमें नीलवर्ण ऊर्ध्वमुख दशदल कमल ड, ढ, ण, त, थ, ध, न, प, फ, इन १० वर्णोंमें शोभित है मध्यकर्णिकामें स्वस्तिकाकार तेजोमण्डल है. इसके मध्यमें सूर्यके समान तेजधारी मेषवाहनं (रं) बीज चतुर्भुज है इसके पार्श्वमें रक्तवर्ण विभूतिभूषित, नीलवर्ण, चतुर्भुज लाकिनीशक्तिसहित महारुद्र है ३। चौथा अनाहतचक्र, हृदयमें द्वादशदलकमल ऊर्ध्वमुख क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, इन १२ बीजोंसे शोभित है उसके कर्णिकामें धूम्रवर्ण, षट्कोण वायुमंडलके मध्यमें धूम्रवर्ण, चतुर्बाहु, कृष्णमृगवाहन (यं) बीज है इसके पार्श्वमें अभयमुद्रा धारण करके काकिनीशक्तिसहित ईश्वर है। कर्णिकाके त्रिकोणमें सुवर्णवर्ण बाणलिंग है यह पूर्णागिरि पीठ कहाता है ४। पांचवां विशुद्धचक्र कंठस्थानमें रक्तवर्ण, ऊर्ध्वमुख, षोडशदलकमल अ, आ, इ, ई, उ, ऊ ऋ, ॠ, ऌ, ॡ ए, ऐ, ओ, औ, अं अः इन १६ वर्णोंसे शोभित है स्फटिकवर्णकर्णिकामें वर्तुलाकार आकाशमण्डल जिसमें निष्कलंक पूर्णचन्द्रमा है इसके मध्यमें श्वेत हाथी वाहन, पाश, अभय, वर, अंकुश धारण करता आकाश बीज (हं) इसके पार्श्वमें शाकिनीशक्तिसहित सदाशिव हैं। यह जालंधरपीठ कहाता है ५। छठा आज्ञाचक्र, भ्रूमध्यमें श्वेतवर्ण ऊर्ध्वमुख द्विदल ह, क्ष, इन २ बीजोंसे शोभित कमल है इसके कर्णिकामें हाकिनीशक्तिसहित शिव है. कर्णिकाके त्रिकोणमें, इतर लिंगनामा शिवलिंग है यही मनका स्थान है उड्डीयानभी इसीको

कहते हैं ६ । इसके ऊपर सहस्रदलकमल ब्रह्मरंध्रमें श्वेतवर्ण पूर्णचन्द्र समान मुख परमानंदस्वरूप ह, ळ, क्ष, इन ३ वर्णोंसे शोभित है । त्रिकोणकर्णिकामें पूर्णचन्द्रमण्डल जिसके मध्यमें बिजुलीके समान चमकीला परमानंदरूप देदीप्यमान ज्योति है इसमें चिदानंदस्वरूप परमशिव विराजमान हैं इनके पार्श्वमें सहस्र सूर्यके समान तेजधारी प्रबोधस्वरूप अर्धचन्द्राकार निर्वाणकला विराजमान है. इसके बीचमें कोटिसूर्यसमान तेजधारी रोम समान सूक्ष्म निर्वाण शक्ति विराजमान है इनके मध्यमें मन तथा वचनसे अगम्य केवल योगसे गम्य चिदानंदस्वरूपसे पर क्या अतिपर परम शिवपद है जिसको परब्रह्मपद कहते हैं विराजमान हैं जिसके निमेषोन्मेष अर्थात् पलक खोलने मीचनेमें सृष्टि उत्पन्न और नष्ट होती है ॥ १५ ॥ १६ ॥

आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम् ।
योनिस्थानं द्वयोर्मध्ये कामरूपं निगद्यते ॥ १७ ॥

पहिला मूलाधार स्वाधिष्ठान इन दो चक्रोंके बीचमें योनि स्थान है यही कामरूप पीठ है अर्थात् मूलाधारके कर्णिकामें कामरूप पीठ है ॥ १७ ॥

आधाराख्ये गुदस्थाने पंकजं च चतुर्दलम् ।
तन्मध्ये प्रोच्यते योनिः कामाख्या सिद्धवंदिता॥ १८॥

मूलाधार (गुदा) में जो चतुर्दलकमल विख्यात है उसके मध्यमें त्रिकोणाकार योनि है जिसकी वंदना समस्त सिद्धजन करते हैं पंचाशत् वर्णसे बनी हुई कामाख्या पीठ कहाती है ॥ १८ ॥

योनिमध्ये महालिंगं पश्चिमाभिमुखस्थितम् ।
मस्तके मणिवद्बिम्बं यो जानाति स योगवित्॥ १९॥

पूर्वोक्त त्रिकोणाकारयोनिमें सुषुम्णाद्वारके संमुख स्वयंभू नाम करके जो महालिंग है उसके शिरमें मणिके समान देदीप्यमान बिंब

है यही कुंडलिनी जीवाधार शरीराधर मोक्षद्वार है इसे जो सम्यक् प्रकारसे जानता है उसे योगवित् कहते हैं ॥ १९ ॥

तप्तचामीकराभासं तडिल्लेखेव विस्फुरत् ।
त्रिकोणं तत्पुरं वह्नेरधो मेढ्रात्प्रतिष्ठितम् ॥ २० ॥

मेढ्र (लिंगस्थान) से नीचे मूलाधारकर्णिकामें रहता, तपे हुए सुवर्णके समान वर्ण, एवं बिजुलीके समान चमकदमकवाला जो त्रिकोण है वही कालाग्निका स्थान है ॥ २० ॥

यत्समाधौ परं ज्योतिरनन्तं विश्वतोमुखम् ।
तस्मिन् दृष्टे महायोगे यातायातान्न विन्दते ॥ २१ ॥

इसी त्रिकोणविषय समाधिमें अनंत विश्व (संसार) में व्याप्त होनेहारी परमज्योति प्रकट होती है वही कालाग्निका रूप है जब योगी ध्यान, धारणा, समाधिकरके उक्त ज्योति देखने लगता है तो उसको जन्ममरण नहीं होते अर्थात् अजरामर हो जाता है ॥ २१ ॥

स्वशब्देन भवेत्प्राणः स्वाधिष्ठानं तदाश्रयः ।
स्वाधिष्ठानाश्रयादस्मान्मेढ्रमेवाभिधीयते ॥ २२ ॥

स्वशब्द प्राण (हंस) का बोधक है इसका आश्रय स्वाधिष्ठान (लिंगमूल) है प्राणका अधिष्ठान होनेसे इसेही मेढ्र कहा जाता है ॥२२॥

तन्तुना मणिवत्प्रोतो यत्र कन्दः सुषुम्णया ।
तन्नाभिमण्डलं चक्रं प्रोच्यते मणिपूरकम् ॥ २३ ॥

नाभिमें एक कंद है जिससे सर्वांगव्यापिनी सिरा (नसें) निकली हैं जैसे १० नसें ऊपरको हैं जो शब्द, रस, गंध, श्वास, जृंभा, क्षुधा, तृषा, डकार, नेत्रदृष्टि, धारणा (मगजशक्ति) इन दश कर्मोंको अपने २ स्थानोंमें दीपन करती हैं तथा १० नसें नीचेको हैं वात, मूत्र, मल, शुक्र, अन्न, पान, रसको नीचे पहुंचाना इनका काम है और चार जिनकी तिर्छी गति है. दो दाहिने बगल

दो बांये बगल होकर अगणित सूक्ष्मशाखा बनके सर्वांगमें जालेकी नाईं रोमरोम प्रति प्राप्त है उन्हींके मुखोंसे प्रस्वेद देहके बाहर रोमोंमें होके आता है. तथा उन्हींके मार्गोंमे लेप, मर्दनादि पदार्थ भीतर प्रवेश करते हैं. इस प्रकारका नाभिकंद जैसे सूत्रमें मणि पिरोया रहता है ऐसेही सुषुम्णानाडीमें पिरोया है इसे नाभिमंडलस्थ मणिपूरचक्र कहते हैं ॥ २३ ॥

द्वादशारे महाचक्रे पुण्यपापविवर्जिते ।
तावज्जीवो भ्रमत्येव यावत्तत्त्वं न विन्दति ॥ २४ ॥

हृदयमें द्वादशदल अनाहत चक्र है जिसमें तत्त्वातीत (सत्त्वरजस्तमोगुणरहित) जीव है गुणातीत होनेसे पुण्यपापसेभी रहित है परंतु जब तत्त्वकी पहिचान योगाभ्याससे हो जावे तब ये गुण जीवमें आते हैं विना तत्त्वज्ञान जीव संसृतिमें भ्रमणही करता रहता है ॥ २४ ॥

अथ दशनाडीवर्णनम् ।

ऊर्ध्वं मेढ्रादधो नाभेः कन्दो योनिः खगाण्डवत् ।
तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिः ॥ २५ ॥

लिंगमूलसे ऊपर नाभिके कुछ नीचे कंदके सदृश समस्त नाडियोंका मूल (उत्पत्तिस्थान) पक्षीके अंडके समान आकारवाला है इससे बहत्तर (७२) हजार नाडी ऊपर नीचे तिर्छी होकर सर्वांग व्याप्त है ॥ २५ ॥

तेषु नाडीसहस्रेषु द्विसप्ततिरुदाहृताः ।
प्रधानाः प्राणवाहिन्यो भूयस्तासु दश स्मृताः ॥ २६ ॥

उक्त ७२ हजार नाडियोंमें मुख्य बहत्तरही हैं इनमेंभी प्राणवाहिनी (वायु चलानेहारी) प्रधान दशही नाडी हैं ॥ २६ ॥

इडा च पिंगला चैव सुषुम्णा च तृतीयका ।
गान्धारी हस्तिजिह्वा च पूषा चैव यशस्विनी ॥ २७ ॥

अलम्बुषा कुहूश्चैव शंखिनी दशमी स्मृता ।
एतन्नाडीमयं चक्रं ज्ञातव्यं योगिभिः सदा ॥ २८ ॥

इडा १ पिंगला २ सुषुम्णा ३ गांधारी ४ हस्तिजिह्वा ५ पूषा ६ यशस्विनी ७ अलंबुषा ८ कुहू ९ शंखिनी १० ये उक्त मुख्य नाडियोंके नाम हैं, यह नाडीमय चक्र योगाभ्यासीको अवश्य जानने योग्य है. तदनंतर इन नाडियोंमें चलनेवाले वायुको जानना नव प्राणायाममें नाडीशोधन होता है ॥ २७ ॥ २८ ॥

इडा वामे स्थिता भागे पिंगला दक्षिणे स्थिता ।
सुषुम्णा मध्यदेशे तु गान्धारी वामचक्षुषि ॥ २९ ॥
दक्षिणे हस्तिजिह्वा च पूषा कर्णे च दक्षिणे ।
यशस्विनी वामकर्णे ह्यानने चाप्यलम्बुषा ॥ ३० ॥

नासिकाके वामभागमें इडा दक्षिणभागमें पिंगला नाडी वहती है इनके मध्यमें सुषुम्णा नाडी रहती है. इन तीनोंकी जड मूलाधारचक्रकी कर्णिकाका त्रिकोण है, जिसके वामकोणसे इडा, दक्षिणकोणसे पिंगला और पश्चिमकोणसे सुषुम्णा नाडी उत्पन्न हुई है ये तीनों नाडी उक्तचक्रको अंकमाल किये हैं अपने २ ओरके नासिकाछिद्रसे वहती है मध्य सुषुम्णा मूलाधारसे ब्रह्मरंध्रपर्यंत है अन्य नाडी उक्तचक्रके कंदसे उत्पन्न होकर प्रत्येक रंध्रमें हैं जैसे वामनेत्रमें गांधारी, दक्षिण नेत्रमें हस्तिजिह्वा, दक्षिणकर्णमें पूषा, वामकर्णमें, यशस्विनी, मुखमें अलंबुषा है ॥ २९ ॥ ३० ॥

कुहूश्च लिंगदेशे तु मूलस्थाने च शंखिनी ।
एवं द्वारं समाश्रित्य तिष्ठन्ति दश नाडयः ॥ ३१ ॥

लिंगदेशमें कुहू, मूलस्थानमें शंखिनी ये दो उस कंदसे अधोमुख होकर नीचेको गई हैं और ऊर्ध्वमुख होकर ऊपरको है इस प्रकार ये दश नाडी प्राणवायुके एक एक मार्गमें आश्रय करके स्थित हैं॥ ३१॥

इडापिंगलासुषुम्णाः प्राणमार्गे समाश्रिताः ।
सततं प्राणवाहिन्यः सोमसूर्याग्निदेवताः ॥ ३२ ॥

चंद्रमा, सूर्य और अग्नि है देवता जिनके ऐसी इडा, पिंगला सुषुम्णा ये तीन नाडी प्राणवायुके मार्ग हैं ॥ ३२ ॥

अथ दश वायवः ।

प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ च वायवः ।
नागः कूर्मोऽथ कृकलो देवदत्तो धनंजयः ॥ ३३ ॥

प्राण १ अपान २ समान ३ उदान ४ व्यान ५ नाग ६ कूर्म ७ कृकल ८ देवदत्त ९ धनंजय १० ये दश वायु शरीरमें हैं ॥ ३३ ॥

हृदि प्राणो वसेन्नित्यमपानो गुदमण्डले ।
समानो नाभिदेशे तु उदानः कण्ठमध्यतः ॥ ३४ ॥
व्यानो व्यापी शरीरेषु प्रधानाः पञ्च वायवः ।
प्राणाद्याः पञ्च विख्याता नागाद्याः पञ्च वायवः ॥ ३५ ॥

प्राणवायु हृदयमें रहकर श्वास बाहर भीतर निकालता तथा अन्न-पानादिकोंका परिपाक करता है १ अपानवायु मूलाधारमें मलमूत्र बाहर निकालनेका काम करता है २ समवायु नाभिमें शरीरको शुष्क अर्थात् यथास्थान रखनेका काम करता है ३ उदानवायु कंठमें रहकर शरीरकी वृद्धि करता है ४ व्यानवायु सर्वशरीरमें लेना, छोडना आदि अंगधर्म कराता है ५ वायु तो १० हैं परंतु इनमें प्रधान ये पांचही हैं शिवयोगशास्त्रके मतसे मुख, नासिका, हृदय, नाभिमें कुंडलिनीके चारों ओर तथा पादांगुष्ठमें सर्वदा प्राणवायु रहता है १ गुह्य, लिंग, ऊरु, जानु, उदर, पेडू, कटि, नाभि इनमें अपानवायु रहता है, २ कर्ण, नेत्र, कंठ, नाक, मुख, कपोल, मणिबंधमें व्यानवायु रहताहै, ३ सर्वसंधि तथा हाथ पैरोंमें उदानवायु रहता है, ४ उदराग्निके कलाको लेकर सर्वांगमें समानवायु रहता है, ५ इस कारणसे प्राणादि पांच

वायु प्रधान हैं. नागादि पांच वायुका कर्म जो चर्म एवं हड्डीमें रहकर जो करते हैं आगे कहते हैं ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

उद्गारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने स्मृतः ।
कृकरः क्षुतकृज्ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे ॥ ३६ ॥

उद्गार (डकार) निकालना नागवायुका कर्म है, नेत्रोंके पलक लगाना खोलना कूर्मवायुका तथा छींक करना कृकरवायुका, जृंभा देवदत्तवायुका कर्म है ॥ ३६ ॥

न जहाति मृतं चापि सर्वव्यापी धनंजयः ।
एते सर्वासु नाडीषु भ्रमन्ते जीवरूपिणः ॥ ३७ ॥

और धनंजयवायु सर्वशरीरमें व्याप्त रहता है मृतशरीरमेंभी रहता है अर्थात् मरेमेंभी चार घटीपर्यन्त यह शरीरहीमें रहता है इस प्रकार ये दश वायु आपही जीवके अभ्याससे कल्पित होकर सुखदुःखका संबन्ध जीवको कराते हैं मैं सुखी हूं उत मैं दुःखी हूं इत्यादि व्यवहारमय जीवकी उपाधि लिंगशरीरमें होनेसे आपही जीवरूप होकर समस्त नाडियोंमें फिरता रहता है. यद्यपि अविद्यावच्छिन्न चैतन्य जीवही है तो इसका घूमना फिरना असंभव है तथापि जैसे चंद्रमा तो कंपायमान नहीं है परंतु उसका प्रतिबिंब जलमें जिस समय हो उस समय उस जलको हिलाया जाय तो चंद्रबिंब हिलता दीख पडता है ऐसेही व्यवहारमे दश वायुओंका घूमना तथा इनहींकी उपाधि जीवचैतन्यमें आरोपित करते हैं ॥ ३७ ॥

आक्षिप्तो भुजदण्डेन यथोच्चलति कन्दुकः ।
प्राणापानसमाक्षिप्तस्तथा जीवो न तिष्ठति ॥ ३८ ॥

जैसे कंदुक (गेंद) हाथसे भूमिपर ताडन करके स्वतः उछलता है, तैसेही प्राणवायुके स्थान (हृदय) में अपानवायु तथा अपानवायुके स्थान (गुदा) में प्राणवायुके प्राप्त होनेमें अपानवायु जीवको आकर्षण करके एकत्र स्थित नहीं रहने देता जैसे गेंद खेलनेवालेके

वशमें गेंद रहता है ऐसेही अविद्या (माया) के वशमें जीव रहता है ॥ ३८ ॥

प्राणापानवशो जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं च धावति ।
वामदक्षिणमार्गेण चञ्चलत्वान्न दृश्यते ॥ ३९ ॥

जीवकारणसे जीवात्मा प्राणअपानवायुके अधीन है उसी कारणसे इडा और पिंगला नाडीके द्वारा गिरके नीचे मूलाधारपर्यंत ऊपर मुख नासिकाछिद्रपर्यंत फिरताही रहता है इसके अतिचंचल होनेसे इतना कठिन है कि प्राणापानवायुके साधन विना वायु नहीं जीता जाता इसके जीते विना हृदयकमलमें ध्यान नहीं होता ॥ ३९ ॥

रज्जुबद्धो यथा श्येनो गतोऽप्याकृष्यते पुनः ।
गुणबद्धस्तथा जीवः प्राणापानेन कृष्यते ॥ ४० ॥

जैसे बाजपक्षीके पैरमें डोरी बांधके हिलाके छोड देनेपर उड जाता एवं खींचनेपर फिर हाथमें आ जाता है ऐसेही मायाके अंश सत्त्वरजतमोगुणके वासनासे बँधा हुआ जीव बुद्धिकी लीन हुएमें उपाधिरहित शुद्धब्रह्म हो गया हो तौभी प्राणापानवायु करके फिर खींचा जाता है जाग्रत् अवस्थामें फिर प्रबुद्ध हुएकी वृत्ति विषयमें पुनः जीवभावको प्राप्त किया जाता है ॥ ४० ॥

अपानः कर्षति प्राणं प्राणोऽपानं च कर्षति ।
ऊर्ध्वाधः संस्थितावेतौ संयोजयति योगवित् ॥ ४१ ॥

ऊपरसे आज्ञाचक्रगत प्राणवायु नीचे मूलाधारस्थित अपानवायुको तथा मूलाधारगत अपानवायु आज्ञाचक्रस्थ प्राणवायुको परस्पर अपने २ ओर आकर्षण करते हैं योगाभ्यासी पुरुष प्राणायामसे इनहींको जोडकर योग (जोडना) कहते हैं इसी योग जोडनेको हठयोग कहते हैं जो सूर्यचंद्रमा ऐक्य कहाते हैं ॥ ४१ ॥

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः ।
हंस हंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥ ४२ ॥

षट् शतानि त्वहोरात्रे सहस्राण्येकविंशतिः ।
एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥

प्राणवायु सारूप्यको प्राप्त हो रहा चिदाभास जीव हकारकरके स्वाधिष्ठानचक्रमें उत्पन्न होता है और सकारकरके मूलाधारादि चक्रमें प्रवेश करता है एवंप्रकार 'हंस' मंत्र (अजपागायत्री) का जप जीव नित्य करताही रहता है अर्थात् श्वास बाहर निकलनेमें हकार भीतर प्रवेश होनेमें सकार उच्चारण होता है. सूर्योदयसे पुनः सूर्यास्तपर्यन्त ६० घटीमें इस मंत्रकी जपसंख्या २१६०० होती है इतना जप जीव स्वतः करता है ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदायिनी ।
अस्याः संकल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ४४ ॥
अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः ।
अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति ॥ ४५ ॥

यह योगियोंको मोक्ष देनेवाली अजपा नाम गायत्री है इसके संकल्पमात्रसे योगी समस्तपापोंसे छूट जाता है संकल्पकी विधि यह है कि सूर्योदयसे पहलेही शयनसे उठकर शुद्धवस्त्र पहन हाथ, पैर, मुख प्रक्षालन कर शुद्ध आसनमें बैठ आचमन करके संकल्पकल्पना इस प्रकार करना कि अद्येह पूर्वद्यु रहो रात्रचरितनासापुटनिःसृतोच्छ्वासनिःश्वासात्मकषट्शताधिकैकविंशतिसहस्रसंख्याकाजपागायत्रीजपं मूलाधारस्वाधिष्ठानमणिपूरानाहतविशुद्धाज्ञाचक्रब्रह्मरन्ध्रस्थितेभ्यो गणपतिब्रह्मविष्णुरुद्रजीवगुरुपरमात्मभ्यः सिद्धिसरस्वतीलक्ष्मीगौरीप्राणशक्तिज्ञानशक्तिचिच्छक्तिसमेतेभ्यो यथासंख्यं षट्शतं, षट्सहस्रं, षट्सहस्रं, सहस्रमेकं, सहस्रमेकं, सहस्रमेकम् अजपागायत्रीजपं प्रत्येकं निवेदयामि इति निवेद्य । पुनरद्य प्रातःकालमारभ्य द्वितीयप्रातःकालपर्यन्तं नासापुटनिःसृतोच्छ्वासनिःश्वासात्मकं षट्शताधिकैकविंशतिसहस्रसंख्याकमजपागायत्रीजपमहोरात्रेणाहं करिष्ये इति जायमान-

जपसंकल्पं कृत्वा स्वकृत्यमाचरेत् । इस अजपाके समान जीवब्रह्मका अभेद कहनेवाला और कोई मंत्र नहीं है. यह अल्पश्रममें उत्तम फल देनेवाला है इसके समान और जप नहीं. क्योंकि प्रातःकाल संकल्पमात्र करना है उपरांत खाते पीते चलते उठते बैठते सोते सर्वदा सब अवस्थाओंमें उक्त जप आपसे होता रहता है और अद्वैतानुभव करानेवाला उसके समान अन्य कोई ज्ञानशास्त्र पहिलेभी नहीं था और पीछे होनेवालाभी नहीं है ॥ ४४ ॥ ४५ ॥

कुंडलिन्यां समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी ।
प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स वेदवित् ॥४६॥

कुंडलिनी महाशक्तिसे उत्पन्न हो रही तथा प्राणवायुको धारण करनेवाली यही अजपा गायत्री है. जीवात्माकी शक्ति प्राणविद्यास्वरूपभी यही है इसी कारण महाविद्याभी इसको कहते हैं इसे जो योगी पहिचान सके वही योगशास्त्राभ्यासका तात्पर्य जानता है ॥ ४६ ॥

अथ शक्तिचालनम् ।

कन्दोर्ध्वं कुंडली शक्तिरष्टधा कुंडलाकृतिः ।
ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनाच्छाद्य तिष्ठति ॥ ४७ ॥

अब कुंडलिनीके भेद खोलने निमित्त एवं उसकी अधिकता प्रकट करनेके लिये कुंडलिनीका और प्रकारभी स्थान कहते हैं कि समस्त ७२००० नाडियोंका उत्पत्तिस्थान पूर्वोक्त कंद है इसके ऊपर मणिपूरचक्र कर्णिकामें आठ वृत्तकरके वेष्टित हो रही कुंडलिनीशक्ति ब्रह्मरंध्रद्वारके मुखको रोकके सर्वदा रहती है ॥ ४७ ॥

येन द्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मद्वारमनामयम् ।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥ ४८ ॥
प्रबुद्धा बुद्धियोगेन मनसा मरुता सह ।
सूचीव गुणमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्णया ॥ ४९ ॥

जिस मार्ग (सुषुम्णा) करके जन्ममरणके दुःख हरण करनेवाला अखंड ब्रह्मानंदपद मिलता है उस मार्गको रोकके सोई हुई कुंडलिनी प्राणवायुके धौंकने (उत्तेजन करने) से कालाग्निके ज्योतिके संबंधसे प्रबुद्ध (जागृत) होकर मन एवं प्राणवायुके सहित होके सुषुम्णानामा मध्यनाडीसे ऊपरको जाती है, जैसे सूची (सुई) अपनेपर पिरोये तागेसहित होनेसे वस्त्रके अनेक सूत्रोंके मध्यमें प्राप्त होती है, तैसे आपही सृष्टि उत्पन्न आप करके षट्चक्र तथा उनके देवताप्रभृति सकलप्रपंचको उल्लंघन करके ऊपर सहस्रदलकमलके सन्मुख होकर जाती है ॥ ४८ ॥ ४९ ॥

प्रसुप्तभुजगाकारा पद्मतन्तुनिभा शुभा ।
प्रबुद्धा वह्नियोगेन व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्णया ॥ ५० ॥

सोते सर्पके समान कुंडलिनी अपानवायुसे धमित (धौंकी गई) जो मूलाधारमें रहनेवाली कालाग्निज्योतिके संबंधसे प्रबोध पायके अतिवेग (जोर) से चलते हुए सर्पके समान कुटिलगति होकर कमलनालके तंतु (सूत्र) के समान सूक्ष्म ज्योतिर्मयस्वरूप होकर सुषुम्णामार्गसे ऊपरको जाती है ॥ ५० ॥

उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुञ्चिकया हठात् ।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं प्रभेदयेत् ॥ ५१ ॥

जैसे कूंची (चावी) से ताला खुलकर कपाट (किंवाड) खुल जाते हैं तैसेही कुंडलिनीकरके मोक्षद्वार सुषुम्णाके मुखको योगी अभ्याससे खोले जिससे कि कुंडलिनीके प्रबोधविना कुंडलिनीका द्वार खुलता नहीं ॥ ५१ ॥

कृत्वा सम्पुटितौ करौ दृढतरं बद्ध्वा तु पद्मासनं
गाढं वक्षसि सन्निधाय चिबुकं ध्यानं च तच्चेतसि ।
वारंवारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोच्चारयेत्पूरितं
मुञ्चन्प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्तिप्रभावादतः ॥ ५२ ॥

दोनों हाथ संपुटित करके (अंजली बांधके) दोनों कूर्पर (बाहुमध्यभाग) हृदयमें दृढ स्थापन करके पद्मासन करे, चिबुक (ठोडी) हृदयमें दृढतर लगायके अर्थात् जालंधरबंध करके ज्योतिः-स्वरूपका ध्यान करे केवल कुंभकप्राणायाम अधोद्वार रोकके करे, प्राणायामसे कुंभितवायुको अपानवायुसे एकत्व करके यथाशक्ति कुम्भक करे पुनः रेचकप्राणायाम (जिसमें वायु अतिमंद २ निकले) करे इस प्रकारसे कुंडलिनीका बोध होता है तथा यो-गीको अपरिमित ज्ञान मिलता है; कुंडलिनीको प्रबोध करनेवाली शक्तिचालनमुद्रा यही होती है परंतु प्राणायामके अभ्याससे प्राणा-पानवायुको वशवर्ती करके इस मुद्राका बहुत कालपर्यंत अभ्यास करना होता है ॥ ५२ ॥

अंगानां मर्दनं कृत्वा श्रमसञ्जातवारिणा ।
कट्वम्ललवणत्यागी क्षीरभोजनमाचरेत् ॥ ५३ ॥
ब्रह्मचारी मिताहारी त्यागी योगपरायणः ।
अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्र कार्या विचारणा ॥ ५४ ॥

शक्तिचालनमुद्राके अभ्यासीके नियम कहते हैं कि प्राणायामा-दिकर्मसे जो अंगोंमें स्वेद (पसीना) आता है उससे अंगमर्दन करे लवण और खट्टा ये दो रस न खावे केवल दुग्धान्न खाया करे. भोजनभी एक प्रमाणसे करे ब्रह्मचर्य रक्खे कामक्रोधसे रहित रहे त्यागवान् होवे योगाभ्यासका मात्र अभ्यास रक्खे इस प्रकार नियममें रहकर योगाभ्याससे शक्तिचालनमुद्राका अभ्यास करे एक वर्ष ऊपर जब इच्छा करे तभी कुंडलिनीके अभ्युत्थानकी सामर्थ्य होती है इसमें सिद्धि होती है वा नहीं ऐसा संदेह न करना अभ्या-ससे अवश्यमेव सिद्धि होती है ॥ ५३ ॥ ५४ ॥

सुस्निग्धो मधुराहारी चतुर्थांशविवर्जितः ।
भुञ्जते स्वरसं प्रीत्ये मिताहारी स उच्यते ॥ ५५ ॥

मिताहारके लक्षण कहते हैं स्निग्ध (सचिक्कण) मीठा भोजन करे अम्ल (खट्टा) और लवणवर्जित करे दो भाग अन्न एक भाग जल खावे चौथा भाग उदरमें वायुसंचारके लिये छोड देवे. देवताको निवेदन करके दुग्धान्न भोजन करे इस प्रकार विधि करनेहारा योगी मिताहारी कहाता है ॥ ५५ ॥

कन्दोर्ध्वे कुण्डलीशक्तिः शुभमोक्षप्रदायिनी ।
बन्धनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स वेदवित् ॥५६॥

कंदके ऊपर मणिपूरचक्रके कर्णिकामें ८ फेरे होकर कुंडलाकार कुंडलिनी शक्ति है यह मूर्खजनोंको वारंवार जन्ममरणरूप बंधन देती है और योगाभ्यास जाननेवालेको शक्तिचालनका अभ्यास जन्ममरणरूप बन्धन छुटायके मोक्ष देती है ॥ ५६ ॥

अथ शक्तिचालनविधौ ग्रन्थांतरे विशेषः ।

गङ्गायमुनयोर्मध्ये बालरंडा तपस्विनी ।
बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ १ ॥

शक्तिचालनमें ग्रन्थांतरमतसे कुछ विशेष कहते हैं कि, गंगायमुनाके बीच तपस्विनी बालरण्डा बलात्कारकरके कुंडलिनीको ग्रहण करे तो विष्णुके परमपद (ब्रह्मांड) में प्राप्त करती है ॥ १ ॥

इडा भगवती गंगा पिंगला यमुना नदी ।
इडापिंगलयोर्मध्ये बालरण्डा च कुंडली ॥ २ ॥

इडा भगवती वामश्वासा नाडी ऐश्वर्यादिसंपन्न गंगा, दक्षिणश्वासा पिंगलानाम्नी यमुना है इनके मध्य नाडी सुषुम्णा बालरंडा है ॥ २ ॥

ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरंगुलम् ।
श्वेतं तु मृदुलं प्रोक्तं वेष्टितं वरलक्षणम् ॥ ३ ॥

मूलस्थानसे वितस्तिमात्र ऊपर नाभि एवं मेढ्रकेमध्यमें नवांगुल

विस्तार, चार अंगुल आयाम, पक्षीके अंडाकार, श्वेतरंग कोमलवस्त्रवेष्टित जैसा कंद है ॥ ३ ॥

सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढम् ।
गुल्फदेशसमीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत् ॥ ४ ॥

वज्रासनकरके हाथोंमे पैरोंकी एडी पकड कंदस्थानमें दृढ लगाय पीडन करे ॥ ४ ॥

वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुंडलीम् ।
कुर्यादनन्तरं भस्त्रां कुंडलीमाशु बोधयेत् ॥ ५ ॥

योगी वज्रासनमें बैठ कुंडलीको शक्तिचालनमुद्रासे चलायमान करे तब भस्त्रा नाम कुंभक कर कुंडलिनीशक्तिको शीघ्र प्रबोधित करे ॥ ५ ॥

भानोराकुञ्चनं कुर्यात्कुण्डलीं चालयेत्ततः ।
मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ॥ ६ ॥

नाभिस्थान (सूर्य) को आकुंचन कर कुंडलीको चलावे इसका अभ्यास सिद्ध हो जाय तो मृत्युके मुखमें पड गया हो तौभी उसकी मृत्यु न होवे ॥ ६ ॥

मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयं चालनादसौ ।
ऊर्ध्वमाकृष्यते किञ्चित्सुषुम्णायां समुद्गता ॥ ७ ॥

चार घडीपर्यन्त निर्भय होकर शक्तिचालन करे तो कुंडलिनी कछुक सुषुम्णामें ऊपरको उठती है ॥ ७ ॥

तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्णाया मुखं ध्रुवम् ।
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्णां व्रजति स्वतः॥८॥

इससे कुंडलिनी (जो सुषुम्णा रोक बैठी है) सुषुम्णाके द्वारको छोड देती है तब प्राणवायु आपही सुषुम्णामें प्रवेश करती है ॥८॥

तस्मात्सञ्चालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुन्धतीम् ।
तस्याः सञ्चालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ॥ ९ ॥

इसके नित्यप्रति सुषुम्णाद्वारमें सोती कुंडलिनीको चलावे तो योगी सर्व रोगोंसे छूट जावे ॥ ९

येन सञ्चालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम् ।
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ॥ १० ॥

जिस योगीने शक्तिचालन किया वह अणिमादि सिद्धियोंका पात्र होता है और विशेष माहात्म्य क्या कहा जाय वह काल (मृत्यु) को सहजही जीत लेता है ॥ १० ॥

कुण्डलीं चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद्विशेषतः ।
एवमभ्यस्यतो नित्यं यमिनो यमभीः कुतः ॥ ११ ॥

जो यमी नित्य कुंडलीको चलायके भस्त्राकुंभकका अभ्यास विशेष-करके करता है तो उसे यमका भय नहीं होता ॥ ११ ॥

इयं तु मध्यमा नाडी दृढाभ्यासेन योगिनाम् ।
आसनप्राणसंयाममुद्राभिः सरला भवेत् ॥ १२ ॥

योगियोंके दृढाभ्याससे आसन प्राणायाम महामुद्रादि करके मध्य-नाडी (सुषुम्णा) सरल हो जाती है ॥ १२ ॥

अथ महामुद्राः ।

महामुद्रां नभोमुद्रां उड्डीयानं जलंधरम् ।
मूलबन्धं च यो वेत्ति स योगी मुक्तिभाजनः ॥ ५७ ॥

महामुद्रा १ खेचरीमुद्रा २ उड्डीयानबंध ३ जालंधर ४ मूलबंध ५ इनको करके शक्तिचालन करे तो योगी मुक्तिभाजन होता है शक्ति चली वा नहीं इसके जाननेका प्रमाण यह है कि जैसे शरीरमें पिपीलिका (चींटी) चलनेमें उसकी गतिसे ज्ञात होता है कि कुछ जीव चलता है ऐसेही सुषुम्णामें वायु जब चलने लगता है तो शक्ति

चलायमान हो गई जानना. शक्तिचालनमुद्राके पीछे भी उक्त ५ मुद्रा करनी योग्य है ॥ ५७ ॥

वक्षोन्यस्तहनुः प्रपीड्य सुचिरं योनिं च वामांघ्रिणा ।
हस्ताभ्यामनुधारयेत् प्रसरितं पादं तथा दक्षिणम् ॥
आपूर्य श्वसनेन कुक्षियुगलं बद्धा शनै रेचयेदेषा ।
व्याधिविनाशिनी सुमहती मुद्रा नृणां कथ्यते ॥५८॥

महामुद्राकी विधि कहते हैं कि हृदयमें चिबुक जोरसे धारण करके वामपादकी एडीसे योनिस्थानको अत्यन्त दृढ करके अचेते दहिना पाद लंबा करके दोनो हाथोंसे पादमध्यभाग पकडके दृढ रोके तब पेटमें पूरक विधिसे वायु भरे कुछ काल यथाशक्ति कुंभक करके मन्द मन्द वायुको रेचन करे यह योगी जनको समस्त रोगनाशक महामुद्रा कही है ॥ ५८ ॥

चन्द्रांगेन समभ्यस्य सूर्यांगेनाभ्यसेत्पुनः ।
यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥५९॥

इस महामुद्राके अभ्यासमें प्रथम वामांगसे अभ्यास करके पीछे दहिने अंगसे करे तैसेही प्राणायामभी करता रहे. जब दोनों ओरके अभ्याससे प्राणायामकी मात्रा बराबर हो जाय तब मुद्रा छोडनी तबतक उक्त अभ्यास करते रहना ॥ ५९ ॥

नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते ॥ ६० ॥
क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ।
रोगास्तस्य क्षयं यान्ति महामुद्रां च योऽभ्यसेत् ॥ ६१ ॥
कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम् ।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥ ६२ ॥

जब महामुद्राका अभ्यास दृढ हो जाय तो, पथ्यापथ्यका विचार कुछ नहीं रहता, मिष्ट, लवण, तिक्त आदियोंका स्वाद कुछ नहीं रहता जो (घृत, सहद बराबर मिलायके कृत्रिमविष होता है) संयोगविरुद्ध वस्तु वा घोरविषभी खावे तो अमृतके समान पच जाता है तथा उदावर्त, गुल्म, अजीर्ण क्षय, कुष्ठ आदि रोग समस्त शांत हो जाते हैं. इसके अभ्यासीको महासिद्धि देनेहारी यह महामुद्रा कही है इसे बडे यत्नसे गुप्त रखना. प्रकाश करनेसे सामर्थ्यहीन होती है इस हेतु अनधिकारी, अयोग्य पुरुष, शठ, दांभिक आदि जैसे कैसेको न देना ॥ ६० ॥ ६१ ॥ ६२ ॥

'इसका विस्तार ग्रंथांतरसे पाठकोंके सुबोधार्थ लिखते हैं'–

पादमूलेन वामेन योनिं संपीड्य दक्षिणम् ।
प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां धारयेद्दृढम् ॥ १ ॥

वामपादकी एडीसे गुदा और शिश्नके मध्यमें योनिस्थानको रोकके दाहिना पैर लंबा पृथ्वीमें फैलाय जैसे एडी भूमिमें रहे और अंगुली ऊंची डंडके नाई रहे, तब हाथोंके अंगुष्ठ और तर्जनीसे दाक्षिणपादांगुष्ठ पकडके धारण करे ॥ १ ॥

कंठे बन्धं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः ।
यथा दंडाहतः सर्पो दंडाकारः प्रजायते ॥ २ ॥

तदनंतर कंठमें जालंधरबंध करके वायुके ऊपर सुषुम्णामें धारण करे इससे मूलबंधभी हो जाता है जहां योनिस्थानको पीडन और जिह्वाबंध करके मूलबंध हो जाता है ॥ २ ॥

ऊर्ध्वीभूता तथा शक्तिः कुंडली सहसा भवेत् ।
तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया ॥ ३ ॥

जैसे सर्प दंडके प्रहारसे दंडाकार हो जाता है ऐसेही कुंडलिनी शक्तिभी कुटिलताको छोडकर इस मुद्रासे सरल हो जाती है और कुंडलिनी बोधसे सुषुम्णामें वायुका प्रवेश होता है तब दोनोंको

प्राणके वियोगसे इडा पिंगला है आश्रय जिसके ऐसी मरणावस्था होती है ॥ ३ ॥

ततः शनैः शनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः ।
महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः ॥ ४ ॥
इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता ।
महाक्लेशादयो दोषः क्षीयन्ते मरणादयः ॥ ५ ॥

तदनंतर शनैः शनैः रेचन करे वेगसे करनेमें बलहानि होती है इससे महामुद्रा आदिनाथादि महासिद्धोंने दिखाई हैं. इसके अभ्यासमे महाक्लेश, अविद्या, राग, द्वेषादिक शोकमोहादि दोष क्षीण होते हैं तथा जरा मरणभी नहीं होते इससे ज्ञानिजन इसे महामुद्रा कहते हैं ॥ ४ ॥ ५ ॥

चन्द्रांगे तु समभ्यस्य सूर्याङ्गे पुनरभ्यसेत् ।
यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥ ६ ॥

इसका क्रम कहते हैं कि (चंद्रांग) वामभागमें अभ्यास कर सूर्यांग (दक्षिणभाग) में अभ्यास करे और वामांगाभ्यासके पीछे जबलों वामांगमें कुंभककी संख्या समान हो तबलों अभ्यास करे जब संख्या समान हो तब महामुद्रा विसर्जन करे इसमें यह क्रम है कि वामपादकी एडीका योनिस्थानमें लगाय दाहिना पाद लंबा फैलाय अंगुष्ठको हाथके अंगुष्ठ तर्जनीसे पकडके अभ्यास करे यह वामांगाभ्यास है इससे पूरित जो वायु सो वामांगमें स्थित रहता है फिर दक्षिणपादको समेट तिसकी एडी योनिमें लगाय वामपाद लंबा फैलाय अंगुष्ठको हाथके अंगु तर्जनीसे पकडके अभ्यास करे इसे दक्षिणांगाभ्यास कहते हैं इससे पूरित वायु दक्षिणांगहीमें रहता है ॥ ६ ॥

न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते ॥ ७ ॥

कहते हैं कि महामुद्राके अभ्यासको पथ्यापथ्यविचार नहीं है. कटु अम्लादि समस्त रसादिक जो खाय वही पच जावे, नीरस, बासी (पर्युषित) सब पचे, तथा दुर्जर घोर विष आदिभी अमृतके नाईं पच जावे ॥ ७ ॥

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ।
तस्य दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत्॥८॥

जो पुरुष महामुद्राका अभ्यास करे उसे क्षयरोग, कुष्ठ, गुल्मरोग, अजीर्ण, ज्वर, प्रमेह, उदररोग आदि कभी न होवे ॥ ८ ॥

कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम् ।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥ ९ ॥

और उस अभ्यासीको अणिमादि महासिद्धि देनेहारी यह महामुद्रा कही है इसे गुप्त रखना अर्थात् अनधिकारीको न देना ॥ ९ ॥

अथ खेचरीमुद्रा ।

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिमुद्रा भवति खेचरी ॥ ६३ ॥

खेचरीमुद्राकी विधि कहते हैं कि, जिह्वाको उलटी फिरायके कंठमूलमें जो छिद्र (छिगलिग्या) याने क्षुद्रघंटिका है उसमें प्रवेश कराना तदनंतर भ्रूमध्यमें निश्चल दृष्टि स्थिर करना इसे खेचरीमुद्रा कहते हैं ॥ ६३ ॥

न रोगान्मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा ।
न मूर्च्छा तु भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्॥६४॥

जो योगी गुरूपदिष्ट मार्गकरके छेदन, दोहन, कर्षण (ये कर्म आगे कहेंगे) प्रकारसे खेचरीमुद्राको बहुतकालपर्यंत अभ्यास करता है उसके रोग, निद्रा, क्षुधा, तृषा, मूर्च्छा और मरणतुल्य कष्ट दूर होते हैं ॥ ६४ ॥

पीड्यते न च शोकेन न च लिप्येत कर्मणा ।
बाध्यते न स केनापि यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥६५

जो योगी खेचरीमुद्रा जानके उसे अभ्यास करके सिद्धि करता है वह शोकसे पीडित नहीं होता कर्मके फलमें बंधन नहीं पाता और काल मृत्यु आदियोंसेभी बाधा नहीं पाता ॥ ६५ ॥

चित्तं चलति नो यस्माज्जिह्वा चरति खेचरी ।
तेनेयं खेचरी सिद्धा सर्वसिद्धैर्नमस्कृता ॥ ६६ ॥

जिस कारण तहां परब्रह्मविषे एकाग्र होकर मन बुद्धि चित्तशून्य विषें फिरता है तथा जिह्वाभी कंठमूल छिद्राकाशमें रहके ब्रह्मरंध्रांतर्गत चंद्रकलामृतका पान करती है इस हेतुसे मनबुद्धिके विषयबंधन निवारण करनेहारी खेचरी मुद्रा समस्त सिद्धजनोंसे अत्यंत पूजित (नमस्य) है ॥ ६६ ॥

बिन्दुमूलं शरीराणां शिरास्तत्र प्रतिष्ठिताः ।
भावयन्ति शरीराणामापादतलमस्तकम् ॥ ६७ ॥

शरीरका मूल (कारण) बिंदु है इससे शरीरकी रक्षा है, पादसे शिरपर्यंत समस्त नाडीजाल बिंदुसे सेचन हो रहा है इसी हेतु उक्त-नाडी सजीव स्वकर्मसामर्थ्य रहती हैं अर्थात् समस्त नाडी बिंदुके आधारमें हैं ॥ ६७ ॥

खेचर्या मुद्रया येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः ।
न तस्य क्षरते बिन्दुः कामिन्यालिङ्गितस्य च ॥६८॥

जिस योगीने कंठनालके छिद्रलंबिकाके ऊपर आकाशविषें खेचरी-मुद्रासे रोक लिया तो चंद्रामृत रुकनेसे उस योगीको कामिनी (स्त्री) आलिंगन करे तौभी उसका मन चलायमान नहीं होता तथा बिंदु नहीं गिरता है ॥ ६८ ॥

यावद्बिन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्योर्भयं कुतः ।
यावद्बद्धा नभोमुद्रा तावद्बिन्दुर्न गच्छति ॥ ६९ ॥

जबलौं देहमें बिंदु स्थिर है तावत् मृत्युकी भय नहीं होती बिंदुका स्थान व्योमचक्र है इससे कालकी गति नहीं है. जबलौं खेचरीमुद्रा दृढ है तबलौं बिंदु व्योमचक्रसे नहीं गिरता. इसके स्वस्थानस्थ रहनेमें कालका वश नहीं चलता ॥ ६९ ॥

चलितोऽपि यदा बिन्दुः संप्राप्तश्च हुताशनम् ।
व्रजत्यूर्ध्वं हृते शक्त्या निरुद्धो योनिमुद्रया ॥७०॥

कदाचित् एकाग्र न होनेसे बिंदु उतरके नाभिस्थान सूर्यमंडलमें पहुँच गया तो योनिमुद्राकरके कुंडलिनीशक्तिको ऊपर उठायके उसके आघातसे उक्त बिंदु पुनः ऊपर लौटके अपनेही स्थानमें प्राप्त होकर स्थिर रहता है ॥ ७० ॥

स पुनर्द्विविधो बिन्दुः पाण्डुरो लोहितस्तथा ।
पाण्डुरः शुक्रमित्याहुर्लोहिताख्यो महारजः ॥ ७१ ॥

उक्त बिंदु दो प्रकारका होता है एक तो पांडुरवर्ण जिसे शुक्र कहते हैं दूसरा (लोहित) रक्तवर्ण इसे महारज कहते हैं ॥ ७१ ॥

सिन्दूरद्रवसंकाशं नाभिस्थाने स्थितं रजः ।
शशिस्थाने स्थितो बिन्दुस्तयोरैक्यं सुदुर्लभम् ॥७२

तैल मिलायके सिंदूर (हिंगुल) का द्रव (रस) के समान रज सूर्यस्थान नाभिमंडलमें रहता है तथा बिंदु (वीर्य) चंद्रमाके स्थान कंठदेश षोडशारचक्रमें स्थिर रहता है इन दोनोंका ऐक्य अंत्यत दुर्लभ है ॥ ७२ ॥

बिन्दुः शिवो रजः शक्तिश्चन्द्रो बिन्दू रजो रविः ।
अनयोः संगमादेव प्राप्यते परमं पदम् ॥ ७३ ॥

बिंदु शिव रज शक्ति है, इनके एक होनेमें योगसिद्धि होकर परमपद मिलता है. चंद्रमा सूर्यका (प्राणवायु अपानवायुका जीवात्मा परमात्माका) ऐक्य करना यही हठयोगपदका अर्थ है ॥ ७३ ॥

वायुना शक्तिचारेण प्रेरितं तु यदा रजः ।
याति बिन्दोः सहैकत्वं भवेद्दिव्यं वपुस्ततः ॥ ७४ ॥

शक्तिचालनविधिसे वायुकरके जब रज बिंदुके साथ ऐक्यको प्राप्त होता है तब शरीर दिव्य हो जाता है अर्थात् उसे अग्नि जलाती नहीं, शस्त्रसे कटता नहीं ॥ ७४ ॥

शुक्रं चन्द्रेण संयुक्तं रजः सूर्येण संयुतम् ।
तयोः समरसैकत्वं यो जानाति स योगवित् ॥ ७५ ॥

शुक्र बिंदुरूप हो चंद्रमासे मिला और रज रक्तरूप होकर सूर्यमें मिला इनके समरसैकत्व (चंद्रसूर्यस्वरूप बिंदुरजके समरसत्वभाव) को जो योगी जानता है वह योगवित् कहाता है, चंद्रमा एवं सूर्यके योगको योग कहते हैं ॥ ७५ ॥

शोधनं नाडिजालस्य चालनं चन्द्रसूर्ययोः ।
रसानां शोषणं चैव महामुद्राभिधीयते ॥ ७६ ॥

नाडीजालके शोधनेसे; नाडीमें रहनेवाले वात-पित्त-कफादि रोगोंका हरण होता है. चंद्रसूर्यके चालनसे इनके एकत्र होनेमें खाया अन्न, पिया जल इनका शोषण होता है ऐसा महामुद्राका फल है अर्थात् इस मुद्राकरके नाडीजालको शोधन चंद्रसूर्यका चालन रसोंका शोषण होता है ॥ ७६ ॥

ग्रन्थांतरे खेचरीमुद्राविधिः ।

छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेण वर्धयेत्तावत् ।
यावद्भ्रूमध्यं तु स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः ॥ १ ॥

जिह्वा खेचरीयोग्य करनेकी विधि ग्रन्थांतरसे कहते हैं कि छेदन-चालन-दोहनकर्मसे जिह्वा बढती है, छेदन आगे कहेंगे, चालन यह है कि अंगुष्ठ और तर्जनीसे जिह्वाको हिलाते रहना, दोहन दोनों हाथोंके अंगुष्ठ तर्जनीसे जैसे गौके थनको दुहे ऐसे खींचखींचके

जिह्वाको लंबी करे जबतक बाहर निकलकर भ्रुकुटीको स्पर्श न करे तबतक यह विधि करता रहे ॥ १ ॥

स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ।
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ २ ॥

छेदन कहते हैं कि थूहरके पत्रके समान अति तीक्ष्ण, सचिक्कण निर्मल शस्त्रसे जिह्वाके नीचेकी नसको रोममात्र छेदन करे ॥ २ ॥

ततः सैन्धवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत् ।
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३ ॥

तिसके पीछे सेंधानमक और हरडका चूर्ण छेदित स्थानपर मले, परंतु योगीको लवणनिषेध है इसलिये लवणके स्थान खदिर (कत्था) से कार्य करना योग्य है. ऐसे सायंप्रातः सात दिन करके फिर पूर्वोक्त विधिसे रोममात्र काटे पुनः उक्त औषधी लगाता रहे ॥ ३ ॥

एवं क्रमेण षण्मासं नित्यं युक्तः समाचरेत् ।
षण्मासाद्रसनामूलशिराबन्धः प्रणश्यति ॥ ४ ॥

ऐसे छः महीनेपर्यंत नित्य युक्तिसे करे तो जिह्वामूलकी नाडी जो जिह्वाको कपालकुहरमें पहुँचानेसे रोकती है वह सुखपूर्वक कट जाती है ॥ ४ ॥

कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत् ।
सा भवेत् खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ॥ ५ ॥

जिह्वाको तिर्छी करके तीनों नाडियोंका मार्ग जो कपालछिद्र उसमें योजित करे यह खेचरीमुद्रा है इसीको व्योमचक्रभी कहते हैं ॥ ५ ॥

रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति ।
विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ॥ ६ ॥

तालुके ऊपर छिद्रमें जिह्वाप्रवेश करके एक घडीमात्र खेचरी मुद्रा स्थिर रहे तो योगीको सर्प विच्छू आदियोंका विष न लगे और

बुढापा, रोग, मृत्युको जीते, वलीपलित (जो बुढापेमें चर्म ढीला होकर सलवटें पडती हैं) न होवें ॥ ६ ॥

ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः ।
मासार्द्धेन न संदेहो मृत्युं जयति योगवित् ॥ ७ ॥

तालुके ऊपर छिद्रके सन्मुख जिह्वा लगाय स्थिर करके भ्रूमध्य-गत चंद्रमासे निकले अमृतका पान जो योगी करे वह १ पक्ष (१५ दिन) में मृत्युको निःसंदेह जीत लेता है यह निश्चय है ॥ ७ ॥

नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य योगिनः ।
तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ॥ ८ ॥

और जिस योगीका शरीर नित्य उक्त चंद्रामृतकरके पूर्ण हो जाय तो तक्षकनागभी उसे डसे तौभी विष न लगे, दुःख न होवे ॥ ८ ॥

इन्धनानि यथा वह्निस्तैलवर्तिं च दीपकः ।
तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुञ्चति ॥ ९ ॥

जैसे अग्नि काष्ठको एवं दीपक तैलसहित बत्तीको नहीं छोडता तैसेही चंद्रामृतपूरित देहको जीव कदापि नहीं छोडता ॥ ९ ॥

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् ।
कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकाः ॥ १० ॥

आचार्य कहते हैं कि जो योगी नित्य गोमांसभक्षण एवं अमर-वारुणी पान करे तो उसे हम उत्तमकुलमें उत्पन्न समझते हैं अन्यथा कुयोगी, कुलनाशक हैं सत्कुलमें उत्पन्न हुएभी तो उनका जन्म व्यर्थ है ॥ १० ॥

गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ।
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ॥ ११ ॥

इस गोमांसशब्दका अर्थ कहते हैं कि गोशब्द यहां जिह्वाका बोधक है जिह्वाको कपालछिद्रमें प्रवेश करनेको गोमांसभक्षण कहते हैं, यह महापातकोंका नाश करता है ॥ ११ ॥

जिह्वाप्रवेशसंभूतवह्निनोत्पादितः खलु ।
चन्द्रात्स्रवति यः सारः सा स्यादमरवारुणी ॥१२॥

अमरवारुणीका अर्थ यह है कि तालुके ऊपर छिद्रमें जिह्वाका प्रवेश उष्मा (गर्मी) से भ्रुकुटिके भीतर वामभागस्थित चंद्रामृत द्रवित होकर जिह्वाग्रमें प्राप्त होता है इसे अमरवारुणीपान कहते हैं ॥१२॥

चुम्बन्ती यदि लम्बिकाग्रमनिशं जिह्वा सरस्यन्दिनी
सक्षारा कटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा ।
व्याधीनां हरणं जरान्तकरणं शस्त्रागमोद्गीरणं
तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धाङ्गनाकर्षणम् १३॥

जब पूर्वोक्तकर्मोंसे जिह्वा बढायके उक्त विधिसे चंद्रामृत पान करने लगती है तो मुखमें लवणसहित मरिचादि, चिंचाफलादि, दूध, मधु, घृतके आदि स्वाद आपसे ज्ञात होते हैं तब योगीके रोग तथा वृद्धावस्थाका नाश होता है शस्त्र (जो अपनेको काटने आया) का निवारण होता है आठों सिद्धि मिलती है देहभाव मिलता है सिद्धांगनाओंके आकर्षणकी सामर्थ्य होती है ॥ १३ ॥

मूर्ध्नः षोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठादूर्ध्वा-
स्यो रसनां नियम्य विवरे शक्तिं परां चिन्तयन् ।
उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामयं यः पिबे-
न्निर्व्याधिः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जीवति १४

जिह्वाको कपालछिद्रमें लगाय मुख विपरीतकरणीके तरह ऊंचा कर कुंडलिनीके ध्यानसहित प्राणायामसे भ्रुकुटीमध्य द्विदलकमलके नीचे कंठस्थ षोडशदलकमलमें हृदययोगसे प्राप्त जो निर्मलधारामय तरंगसाहित चंद्रामृतरस है इसे योगी पान करे उसको ज्वरादिरोग न होते तथा कमलके गाभेकासा कोमल शरीर होकर बहुतकालपर्यंत जीवे ॥ १४ ॥

यत्प्रालेयं प्रहितसुषिरं मेरुमूर्धान्तरस्थं
तस्मिन्तत्त्वं प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम् ।
चंद्रात्सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां
तद्बध्नीयात्सुकरणमथो नान्यथा कार्यसिद्धिः ॥१५॥

मेरुपर्वतसदृश सबसे ऊंची सुषुम्णाके उपरिभागमें स्थित चंद्रामृतरूप जल जिसमें स्थित है ऐसे छिद्रमें सत्त्वगुणात्मा बुद्धि करके आत्मतत्त्व है और गंगा, यमुना, सरस्वती, नर्मदासंज्ञक इडा, पिंगला, सुषुम्णा, गांधारी आदि नाडियोंका उक्तविवरमें मुख है इनके द्वारा चन्द्रमंडलगत अमृत व्यर्थ चले जानेसे शरीर जरा मृत्युको प्राप्त होता इसलिये प्रथम कह आये हैं कि सुकरण नाम खेचरीमुद्रा करके चंद्रामृत व्यर्थ स्रवित नहीं होनेमे मृत्यु नहीं होती. इस मुद्राके विना देहकी सिद्धि, लावण्य, बल, वज्रसमान दृढ शरीर नहीं होते ॥ १५ ॥

सुषिरज्ञानजनकं पञ्चस्रोतःसमन्वितम् ।
तिष्ठते खेचरीमुद्रा तस्मिन् शून्ये निरञ्जने ॥ १६ ॥

इडा १ पिंगला २ सुषुम्णा ३ गांधारी ४ हस्तिजिह्वा ५ इनका प्रवाह ऊपरको है सो इनके प्रवाहसंयुक्त आत्माको साक्षात् प्रकट रहनेवाला विवर है सो अविद्या एवं अविद्याके कार्य शोक, मोहादि दूर होते हैं जिसमें ऐसे विवरमें खेचरी मुद्रा स्थित होती है ॥ १६ ॥

एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी ।
एको देवो निरालम्ब एकावस्था मनोन्मनी ॥ १७ ॥

समस्त बीजोंमें मुख्य सृष्टिरूप एक प्रमाण वह है समस्तदेवताओंमें भगवान् मुख्य है तैसेही समस्त मुद्राओंमें खेचरी मुख्य है ॥ १७ ॥

उड्यानं कुरुते यस्मादविश्रांतं महाखगम् ।
उड्डीयानं तदेव स्यान्मृत्युमातङ्गकेसरी ॥ ७७ ॥

जिस कारण उड्डीयानबंधसे रुका प्राणवायु कहींभी विश्राम न करके उडके जैसा सुषुम्णामे गति करता है उसी कारण तहां मृत्यु-रूपी गजके ऊपर सिंह जैसा यही बंध कहाता है ॥ ७७ ॥

उदरात्पश्चिमे भागे अधो नाभेर्निगद्यते ।
उड्डीयानो ह्ययं बन्धस्तत्र बन्धो निगद्यते ॥ ७८ ॥

उड्डीयानबंधका स्थान कहते हैं, कि उदरमे पश्चिम और नाभीसे नीचे इस बंधका स्थान योगी कहते हैं इसलिये यह बंध उसी स्थानमें करना योग्य है ॥ ७८ ॥

ग्रन्थान्तरे ।

उदरे पश्चिमं स्थानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत् ।
उड्डीयानो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातंगकेसरी ॥ १ ॥

नाभीका ऊपरला तथा नीचला भाग उदरमें लग जाय ऐसे पेटको पीछे खींचे इसे उड्डीयानबंध कहते हैं. मृत्युरूपी गजको निवृत्त करनेके लिये सिंह समान है ॥ १ ॥

उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा ।
अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते ॥ २ ॥

हितोपदेशकर्त्ता गुरुकरके सहज स्वभाव कहा गया ऐसे इस बंधको निरंतर अभ्यास करे तो वृद्धभी तरुण हो जावे ॥ २ ॥

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि स्थानं कुर्यात्प्रयत्नतः ।
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥ ३ ॥

नाभी ऊर्ध्वाध भागोंको खींचकर पीठमें लगावे, ऐसे इस बंधको छः महीनेपर्यंत निरंतर अभ्यास करे तो निस्संदेह मृत्युको जीते ॥ ३ ॥

सर्वेषामेव बन्धानामुत्तमो ह्युड्डियानकः ।
उड्डियाने दृढे बन्धे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ॥ ४ ॥

संपूर्ण बंधोंमें उड्डीयानबंध उत्तम है यह दृढ हो जाय तो स्वभावसिद्ध मुक्ति होती है • इसके करनेसे पक्षियोंकेसी गतिकरके सुषुम्णाद्वारा प्राण मस्तिष्कमें ले जानेसे समाधिमें मोक्ष होता है यही स्वाभाविक मुक्ति है ॥ ४ ॥

बध्नाति हि शिरोजालं नाधो याति नभोजलम् ।
ततो जालंधरो बन्धो कण्ठदुःखौघनाशनः ॥ ७९ ॥

जालंधरबंध कहते हैं कि यह बंध कंठस्थानमें होता है अनेक रोगोंको हरता है शरीरस्थ नाडीजालका बंधन करता है व्योमचक्रस्थ चंद्रकलामृतको कपाल कुहरसे नीचे नहीं गिरने देता इस कारण वह जालंधर बंध कहा है ॥ ७९ ॥

जालंधरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे ।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ॥ ८० ॥

कंठका संकोचन करके प्राणवायुकी गतिको रोकना जालंधर बंध है इससे चंद्रकलामृत गिरके सूर्यरूप अग्निमें नहीं पडता एवं वायु कदाचित् विरुद्ध नहीं होता ॥ ८० ॥

ग्रन्थान्तरे ।

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ।
बन्धो जालंधराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः ॥ १ ॥

ग्रंथातरसे जालंधरबंध कहते हैं कि कंठ नीचे नवाय हृदयके चार अंगुल अंतर ठोढी लगाय दृढ स्थापन करे यह जालंधरबंध वृद्धावस्था तथा मृत्युनाशक है ॥ १ ॥

कण्ठसंकोचनेव द्वे नाड्यौ स्तंभयेद्दृढम् ।
मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबन्धनम् ॥ २ ॥

दृढ संकोचनमात्र करके इडा पिंगला दोनहू नाडी स्तंभित होती हैं कंठस्थानमें जो विशुद्धनामा चक्र है वह अंगुष्ठादि ब्रह्मरं-

प्रांत षोडश आधारोंका मध्यम चक्र है इन १६ आधारोंका वर्णन पूर्व १३ श्लोकके टीकामें कर आये हैं ॥ २ ॥

मूलस्थानं समाकुञ्च्य उड्डीयानं तु कारयेत् ।
इडां च पिंगलां बद्ध्वा वाहयेत्पश्चिमे पथि ॥ ३ ॥

नाभिको पश्चिमतानरूप उड्डीयानबंध करे और कंठ नमाय जालंधरबंधसे इडा पिंगला नाडियोंको स्तंभन करे तदनंतर पश्चिममार्ग सुषुम्णामें प्राणवायुको प्राप्त करे ॥ ३ ॥

अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनो लयम् ।
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ॥ ४ ॥

इस विधिसे वायुकी गति बंद होकर प्राणवायु स्थिर होकर ब्रह्मरंध्रमें स्थित रहता है, इसे प्राणलय कहते हैं इससे मृत्यु जरा, रोग, देहकी त्रिवली, श्वेतरोगता, मूर्छा, आलस्यादिक नहीं होते हैं ॥ ४ ॥

बंधत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितम् ।
सर्वेषां हठतंत्राणां साधनं योगिनो विदुः ॥ ५ ॥

मूलबंध १ उड्डीयानबंध २ जालंधरबंध ३ ये श्रेष्ठ हैं मत्स्येंद्रादि महासिद्ध वसिष्ठादिमुनि इन्हें सेवन करते हैं, हठके उपायोंके सिद्धिको प्रगट करते हैं इससे गोरक्षादि सिद्ध इन्हें जानते हैं ॥ ५ ॥

यत्किंचित्स्रवते चंद्रादमृतं दिव्यरूपिणः ।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डो जरायुतः ॥ ६ ॥

तालुके मूलमें स्थित दिव्यरूप चंद्रमासे कलुक अमृत स्रवित होता है उसे नाभिस्थित अग्निरूप सूर्य ग्रास कर लेता है तब देहको वृद्धावस्था होती है ॥ ६ ॥

तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवञ्चनम् ।
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ॥ ७ ॥

इस प्रकरणमें उक्तसूर्यके मुखवंचना अर्थात् जिससे उक्त अमृत सूर्यके मुखमें न पडे यह युक्ति कही है तथा विपरीतकरणी मुद्राभी (जो आगे कहेंगे) इसके उपयोगी है ये सर्व गुरुमुखसे जाने जाते हैं विना गुरु कोटिसंख्याक शास्त्रके अर्थमेंभी न जाने जाते हैं ॥ ७ ॥

पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबंधो विधीयते ॥ ८१ ॥

अपानवायु ऊपर खींचके प्राणवायुसे योजित करना, पादकी एडीसे गुदा, एवं लिंगके मध्य योनिस्थानको दृढ अंचतके गुदद्वारको दृढ संकुचित करना जिससे अपानवायु बाहर न निकले इस प्रकार मूलबंध होता है ॥ ८१ ॥

अपानप्राणयोरैक्यात् क्षयो मूत्रपुरीषयोः ।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥ ८२ ॥

अपान और प्राणवायुका ऐक्य कर जो निरंतर मूलबंधका अभ्यास करता है उसके मल मूत्र क्षय होते हैं और बूढाभी जवान हो जाता है ॥ ८२ ॥

' गोरक्षसंहितामें दशमुद्राओंमेंसे महामुद्रा १ खेचरी २ उड्डीयान ३ जालंधरबंध ४ मूलबंध ५ कही है अन्य महाबंध १ महावेध २ विपरीतकरणीमुद्रा ३ वज्रोली ४ शक्तिचालन ५ ये पांच इसी शतकमें साधारणप्रकार पूर्वेही कह आये हैं तथापि विशेष प्रकटताके लिये मैं उन्हें ग्रन्थांतरमतसेभी लिखता हूं '—

तत्र प्रथमं महाबन्धः ।

पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ।
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ॥ १ ॥

वामपादकी एडीसे योनिस्थानको रोधके दक्षिणपाद उससे ऊपर स्थापन करे अर्थात् मूलबंध करके ॥ १ ॥

पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चिबुकं दृढम् ।
निष्पीड्य वायुमाकुंच्य मनोमध्ये नियोजयेत् ॥२ ॥

तब जालंधरबंध करके वायुको पूरकर मनको मध्यनाडी सुषुम्णामें प्रवृत्त करे ॥ २ ॥

धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः ।
सव्याङ्गे तु समभ्यस्य दक्षाङ्गे पुनरभ्यसेत् ॥ ३ ॥

यथाशक्ति कुंभक करके मंद २ रेचन करे ऐसेही वामांगमें अभ्यास करे दोनों अंगोंके अभ्यासकी संख्या समान करे ॥ ३ ॥

अयं तु सर्वनाडीनामूर्ध्वं गतिनिरोधकः ।
अयं खलु महाबन्धो महासिद्धिप्रदायकः ॥ ४ ॥

यह समस्त नाडियोंकी ऊपरकी गतिरोधक महासिद्धिदायक महाबंध है ॥ ४ ॥

कालपाशमहाबन्धविमोचनविचक्षणः ।
त्रिवेणीसंगमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः ॥ ५ ॥

मृत्युपाशको काटनेवाला है, इडा, पिंगला, सुषुम्णा तीनोंके संगम (त्रिवेणी) धारण कर मनको (केदार) भ्रुकुटी शिवस्थानमें प्राप्त करे ॥ ५ ॥

रूपलावण्यसंपन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना ।
महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ॥ ६ ॥

जैसे कांति, गुण, शोभायुक्त स्त्री पुरुष विना व्यर्थ है ऐसेही महावेध विना महामुद्रा और महाबंध निष्फल हैं इसलिये अब महावेध कहते हैं ॥ ६ ॥

अथ महावेधः ।

महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः ।
वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कण्ठमुद्रया ॥ ७ ॥

एकाग्रबुद्धि करके योगी महावेध इस प्रकार करे कि, नासापुटसे पूरक करके जालंधर बंध कर वायुकी ऊर्ध्वगतिको रोक कुंभक करे ॥ १ ॥

समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ संताडयेच्छनैः ।
पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः ॥ २ ॥

दोनोंहू हाथोंकी हथेली समान पृथ्वीमें धरके पादकी एडीको योनिस्थानमें दृढ लगाय हाथोंके सहारे पृथ्वीसे कुछेक शरीर उठावे (परंतु जैसे मूलबंध मुद्रा न खुले) फिर मंदमंद पृथ्वीके अपने शरीरासन स्फिचको ताडन करे इससे वायु इडा पिंगलाको उलंघन कर सुषुम्णामें प्राप्त होता है इस मुद्रामें स्वानुभवसे तथा हरिगुरूपदिष्ट मार्गसे कहता हूं कि शरीर पृथ्वीसे उठायकर पृथ्वीमें ताडन करनेमें उक्त मुद्रा दृढ नहीं रह सकती. यदि बलसे रक्खाभी तो मूलबंध बिगड जाता है इससे सुगम तो पद्मासनसे यह कार्य सुखपूर्वक होता है औरभी सुभीता यह है कि हाथोंके जोरसे शरीर उठानेमें मूलबंध सुगमताहीसे होता है ॥ २ ॥

सोमसूर्याग्निसंबन्धो जायते चामृताय वै ।
मृतावस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेचयेत् ॥ ३ ॥

इस विधिसे सूर्यचंद्रमा अग्न्यात्मका इडा पिंगला सुषुम्णाका संयोग मोक्षके हेतु है ऐसे होनेमें मरा हुआ जैसा मृतावस्था होती है तब नासिकापुटमें मंद २ रेचन करे ॥ ३ ॥

महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः ।
वलीपलितवेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः ॥ ४ ॥

इस महावेधके अभ्यास करनेसे अणिमादि अष्टसिद्धि मिलती हैं। वली (बुढापेमें मुखपर सलवटें पडनी) पलित (बाल श्वेत होने) कंप (बुढापेमें शरीर कांपना) ये उक्त अभ्यासीको नहीं होते ॥ ४ ॥

एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम् ।
वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम् ॥ ५ ॥

ये महामुद्रा, महाबंध, महावेध गोप्य हैं बुढापे तथा मृत्युको दूर करने हैं जाठराग्निको बढाते हैं अष्टसिद्धि देते हैं ॥ ५ ॥

अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने ।
पुण्यं संभारसंधायि पापौघभिदुरं सदा ।
सम्यक्छिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनम् ॥ ६ ॥

आठों प्रहरमें ८ ही वार इनका अभ्यास करे ये पुण्यको बढाते हैं पापसमूहको वज्रके समान सुखाते हैं शिक्षावान् पुरुषको इस प्रकार दिन २ प्रहर २ में थोडा २ करके अभ्यास करना योग्य है ॥ ६ ॥

अथ विपरीतकरणमुद्रा ।

ऊर्ध्वं नाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी ।
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ॥ १ ॥

अब विपरीतकरणी मुद्रा कहते हैं कि, ऊपरको नाभि नीचे तालु-करके नाभिस्थ सूर्य ऊपरको भ्रुकुटिस्थ चंद्रमा नीचेको हो जाता है इसमें चंद्रामृत सूर्यरूप अग्निमें नहीं पडने पाता यह विपरीतकरणी मुद्रा है यहां ग्रंथकर्त्ताने उदाहरण कुछेक लिखकर लिखा गुरुलक्ष्यपर निर्भर छोड दिया. इसलिये मैं (भाषाकार) अपने अनुभव एवं हरिगुरूपदिष्टमार्गसे लिखता हूं कि, दोनोंहू पैरोंसे पद्मासन बांधकर दोनोंहू हाथ और शिर (चोटी) को पृथ्वीमें लगाय, उक्त पद्मासनको ऊपर अंतरिक्षमें खडा करे अभ्यास हुयेमें कभी तो उस पद्मासनको खोल पांव आकाशमें लंबे करे कभी फेर वैसेहीमें पद्मासन करे हाथ और शिरके सहारे उलटा खडा रहे तब यह मुद्रा होगी अभ्याससे सुगम हो जाती है ॥ १ ॥

नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्द्धिनी ।
आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य च ॥ २ ॥

जो इस मुद्राका नित्य अभ्यास करता है उसकी जठराग्नि बढती है, उस साधकको आहार बहुत (यथेच्छ) करना चाहिये ॥ २ ॥

अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात् ।
अधःशिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ॥ ३ ॥

इस मुद्राका अभ्यासी यदि भोजन अल्प करे तो जठराग्नि प्रज्वलित होकर देहको फूंकती है; अब क्रिया है कि पहिले दिन शिर पृथ्वीमें रखकर पैर ऊपरको क्षणमात्र करे ॥ ३ ॥

क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने ।
वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते ।
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित् ॥४॥

फिर प्रतिदिन एक एक क्षण बढायके अभ्यासमें साधे तो सिद्धि भयेमें वली पलित छः महीनेमें दूर हो जाते हैं. जो प्रतिदिन एक २ प्रहरपर्यन्त इसको करता है वह कालमृत्युको जीतता है ॥ ४ ॥

अथ वज्रोली ।

स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना ।
वज्रोलीं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम् ॥ १ ॥

अब वज्रोली मुद्रा कहते हैं कि जो योगोक्त नियम नहीं जानता हुआभी अपनी इच्छासे वज्रोलीको जाने वह अणिमा सिद्धि पाता है ॥ १ ॥

तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित् ।
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी ॥ २ ॥

इस मुद्रामें हरकिसीको दो वस्तु दुर्लभ हैं विशेषतः ये २ अवश्य चाहिये. वज्रोल्यर्थ संगमोत्तर दुग्धपान, एवं वशवर्तिनी स्त्री ये दो उपयोगी हैं ॥ २ ॥

मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वं कुञ्चनमभ्यसेत् ।
पुरुषोऽप्यथवा नारी वज्रोलीं सिद्धिमाप्नुयात् ॥ ३ ॥

संगम करके मंद मंद क्षरितवीर्यको इंद्रियसंकोचनकरके ऊपर खैं-चनेके अभ्यास सिद्ध हुएमें वज्रोली मुद्राकी सिद्धि प्राप्त होती है ॥३॥

यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकन्दरे ।
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसंचारकारणात् ॥ ४ ॥

इसकी पूर्वांगक्रिया कहे हैं कि चांदी वा कांचकी १४ अंगुल खोखरी शलाका सच्छिद्र करे जो १२ अंगुल सरल २ अंगुल तिरछी रहे उसे लिंगछिद्रमें प्रतिदिन २ । २ अंगुल प्रवेश कर एक किनारेसे फूंककर वायु प्रवेश करते २ बारह दिनमें २४ (?) अंगुल प्रवेश करे इससे इंद्रियमार्ग शुद्ध होता है तब इस मार्गसे जलके आकर्षणका अभ्यास करे अभ्यास सिद्ध हुएमें वीर्यका आकर्षण करे तो सिद्धि होती है. जिसको खेचरी एवं प्राणजय सिद्ध हो उसको वज्रोली सिद्धि होती है ॥ ४ ॥

नारीभगे पतद्बिन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत् ।
चलितं च निजं बिन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ॥ ५ ॥

स्त्रीसंयोगमें जब बिंदु (वीर्य) शरीरसे चलायमान होतेभी उसे उक्ताभ्याससे ऊपरको खींच लेवे अथवा जब भगमें गिर पडे तब स्त्रीके रजसहित बिंदुको आकर्षण कर ऊपरको चढायकर स्थापन करे ॥ ५ ॥

एवं संरक्षयेद्बिन्दुं मृत्युं जयति योगवित् ।
मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात् ॥ ६ ॥

इस प्रकार जो बिंदुकी रक्षा करता है सो योगी मृत्युको जीतता है बिंदुके पतनसे मृत्यु, उसकी रक्षासे अमरत्व होते हैं इसलिये इन विधिसे बिंदुको स्थापन करे ॥ ६ ॥

सुगन्धो योगिनो देहे जायते बिन्दुधारणात् ।
यावद्बिंदुः स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुतः ॥ ७ ॥

उक्त अभ्यासीके शरीरमें बिंदुधारणसे सुगंधि प्रकट होती है और जबलौं देहमें बिंदु स्थित है तबलौं कालभय नहीं होता ॥ ७ ॥

चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम् ।
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥ ८ ॥

वीर्य चित्तके अधीन है. चित्तके चलायमान होनेसे वीर्य चलायमान और स्थिरतासे स्थिर होता है एवं शुक्रके अधीन जीवित है इससे स्थिरतासे जीवित स्थिर और चलायमान होनेसे मरण होता है, इसलिये शुक्र और मनकी रक्षा करनी मुख्य है ॥ ८ ॥

ऋतुमत्या रजोऽप्येवं बीजं बिन्दुं च रक्षयेत् ।
मेढ्रेणाकर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्यासयोगवित् ॥ ९ ॥

ऐसेही रजोवती स्त्रीके रजको बिंदुसहित आकर्षण करके ऊपरको खांचके स्थापन करे ऐसे वज्रोलीका अभ्यास करनेवाला योगवेत्ता होता है ॥ ९ ॥

' एक प्रकारके भेद वज्रोलीके सहजोली, अमरोलीभी हैं अतः प्रथम सहजोली कहते हैं–

सहजोलिश्चामरोलिर्वज्रोल्या भेद एकतः ।
जले सुभस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसंभवम् ॥ १ ॥

जो वज्रोलीके फल वही सहजोली अमरोलीकेभी हैं इसलिये येभी उसीके भेद हैं, गोबरके (कंडे) गोपट्टे जलायक भस्म जलमें मिलावे १॥

वज्रोलीमैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसो स्वांगलेपनम् ।
आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणात् ॥ २ ॥

वज्रोली अर्थ मैथुन करके क्षणमात्र सुखसे बैठके व्यवाय व्यापार छोडके उक्त भस्म जलमें मिलाय स्त्रीपुरुष अपने २ सर्वांग लेपन करे ॥ २ ॥

सहजोलिरियं प्रोक्ता श्रद्धेया योगिभिः सदा ।
अयं शुभकरो योगो भोगयुक्तोऽपि मुक्तिदः ॥ ३ ॥

यह मत्स्येंद्रादि योगीश्वरोंने सहजोली कही है यह योग शुभकारक है अन्यत्र साधनाओंमें जहां भोग तहां मोक्ष नहीं जहां मोक्ष तहां भोग नहीं इस मुद्राके अभ्यासमें भोगसहित मोक्ष भी है ॥ ३ ॥

अयं योगः पुण्यवतां धीराणां तत्त्वदर्शिनाम् ।
निर्मत्सराणां सिद्ध्येत नतु मत्सरशालिनाम् ॥ ४ ॥

जो योगी पुण्यवान, धैर्यवान्, तत्त्वदर्शी और निर्मत्सरी है उनको सिद्ध होता है जो मत्सरी (अन्यशुभद्वेषी) है उनको सफल नहीं होता ॥ ४ ॥

' अब दूसरा भेद व अमरोली कहते हैं '—

पित्तोल्बणत्वात्प्रथमाम्बुधारां विहाय निःसारतयान्त्यधाराम् । निषेव्यते शीतलमध्यधारां कापालिके खण्डमतेऽमरोली ॥ १ ॥

शिवांबुकी प्रथमधारा पित्तके उष्णतासे तथा अंत्यधारा निःसारतासे त्यागकर निर्विकार मध्यधाराको ग्रहण कर सेवन करते हैं यह योगाभिमत कापालिकी क्रिया है इसे अमरोली कहते हैं. यद्रा (कापालिक) कनफटे जोगियोंका (जिसे खंडमत कहते हैं) यह कर्म विशेषतः इष्ट है ॥ १ ॥

अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन् दिने दिने ।
वज्रोलीमभ्यसेत्सम्यगमरोलीति कथ्यते ॥ २ ॥

जो पुरुष अमरवारुणी (जो खेचरीप्रकरणमें कही है) का पान करते हैं एवं नासभी अमरवारुणीका लेते हैं तथा प्रतिदिन वज्रोलीका अभ्यास करें सोही कापालिकी अमरोली कही है ॥ २ ॥

अभ्यासान्निःसृतां चान्द्रीं विभूत्या सह मिश्रयेत् ।
धारयेदुत्तमांगेषु दिव्यदृष्टिः प्रजायते ॥ ३ ॥

अमरोलीके अभ्याससे निःसृत चंद्रसुधाको पूर्वोक्त भस्ममें मिलायके उत्तमअंग मस्तक, नेत्र, स्कंध, हृदय, भुजादिमें धारण करे तो भूत, भविष्य, वर्त्तमान देखने योग्य दिव्यदृष्टि हो जाती है ॥ ३ ॥

अथ स्त्रीणां वज्रोली ।

पुंसो बिन्दुं समाकुञ्च्य सम्यगभ्यासपाटवात् ॥
यदि नारी रजो रक्षेद्वज्रोल्या सापि योगिनी ॥ १ ॥

अब स्त्रियोंको वज्रोलीसाधन कहते हैं कि, जो स्त्री अभ्यासकी चतुराईसे पुरुषके बिंदुको खींचके अपने रजकी वज्रोलीमुद्रा करके रक्षा करे वहभी योगिनी कहाती है ॥ १ ॥

तस्याः किंचिद्रजो नाशं न गच्छति न संशयः ।
तस्याः शरीरे नादश्च बिन्दुता येन गच्छति ॥ २ ॥

उसके रजका नाश (पतन) निस्संदेह अल्पभी नहीं होता तथा शरीरमें नादभी उत्पन्न होता है चंद्ररूप बिंदु सूर्यरूप रजके बाहर संयोगसे सृष्टि (गर्भ) होती है जब अभ्याससे भीतरही योग होय तो योगसिद्धि होती है परमपद मिलता है इनके संयोगमें समस्त देवता स्थिर रहते हैं ॥ २ ॥

स बिन्दुस्तद्रजश्चैव एकीभूय स्वदेहगौ ।
वज्रोल्यभ्यासयोगेन सर्वसिद्धिं प्रयच्छतः ॥ ३ ॥

रज, बिंदु वज्रोलीके अभ्याससे देहमें प्राप्त, होनेपर सर्व सिद्धि देते हैं ॥ ३ ॥

रक्षेदाकुञ्चनादूर्ध्वं या रजः सा हि योगिनी ।
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद् ध्रुवम् ॥ ४ ॥

जो स्त्री भगको आकुंचन करते करते रजको ऊपर शरीरमें चढाय रक्षा करे वह योगिनी होती है. भूत, भविष्य, वर्तमान जाने अंतरिक्षमें बीच रहनेहारी वैमानिकगति मिलती है ॥ ४ ॥

देहसिद्धिं च लभते वज्रोल्यभ्यासयोगतः।
अयं पुण्यकरो योगो भोगे भुक्तेऽपि मुक्तिदः॥ ९॥

वज्रोलीके अभ्यासयोगसे (देहसिद्धि) रूप, लावण्य, बल, वज्र-संहननभाव मिलते हैं. यह योग पुण्य देनेवाला तथा विषयभोग भोगनेमभी मुक्ति देता है॥ ९॥

'इनमें दश शक्तिचालनमुद्रा प्रथम अजपा गायत्रीके उपरांत कह आये हैं अब इन १० का माहात्म्य कहते हैं'—

इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शम्भुना।
एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी॥ १॥

ये दश (१०) मुद्रा आदिनाथ शिवने कही हैं इनमें एक एक मुद्रा योगीको अणिमादि देनेहारी हैं॥ १॥

उपदेशं हि मुद्राणां यो दत्ते सांप्रदायिकम्।
स एव श्रीगुरुस्वामी साक्षादीश्वर एव सः॥ २॥

जो योगियोंको (सांप्रदायिक) गुरुपरंपराप्राप्त इन मुद्राओंका उपदेश देवे वही सर्व गुरूसे श्रेष्ठ, स्वामी, साक्षात् ईश्वर हैं॥ २॥

तस्य वाक्यपरो भूत्वा मुद्राभ्यासे समाहितः।
अणिमादिगुणैः सार्द्धं लभते कालवञ्चनम्॥ ३॥

इनके उपदेशकर्त्ता गुरुके आसन, कुंभक, आहार, विहार, चेष्टादि वाक्योंमें आदरपूर्वक ग्रहण कर तत्पर रहे तो अणिमादि सिद्धियोंको जीतकर कालमृत्युको जीते॥ ३॥

अथ प्रणवाभ्यासः।

पद्मासनं समारुह्य समकायशिरोधरः।
नासाग्रदृष्टिरेकान्ते जपेदोङ्कारमव्ययम्॥ ८३॥

अब प्रणवके अभ्यासकी विधि कहते हैं कि एकांत स्थलमें बैठकर दृढ पद्मासन बांधके शरीर कंठ शिर सम (सरल) करके नासाग्रदृष्टि निरंतर करके प्रणवजप करे॥ ८३॥

भूर्भुवः स्वरिमे लोकाः सोमसूर्याग्निदेवताः ॥
यस्य मात्रासु तिष्ठन्ति तत्परं ज्योतिरोमिति ॥ ८४ ॥

जिस प्रणवके अकार उकार मकार तीन वर्णमें भूः १ भुवः २ स्वः ३ ये लोक चन्द्रमा १ सूर्य २ अग्नि ३ देवता रहते हैं, वह प्रणव परमकारणरूप ज्योतिर्मय चैतन्य ॐकारस्वरूप है ॥ ८४ ॥

त्रयः कालास्त्रयो वेदास्त्रयो लोकास्त्रयः स्वराः ।
त्रयो देवाः स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ॥ ८५ ॥

जिस प्रणवमें भूत, वर्तमान, भविष्य ३ काल, ऋक्, यजुः, साम तीनों वेद, स्वर्ग, मृत्यु, पाताल ३ लोकः उदात्त, अनुदात्त, स्वरित ३ स्वर, ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर तीन देवता रहते हैं वह प्रणव (ॐकार) स्वरूप परब्रह्म ज्योतिस्वरूप है ॥ ८५ ॥

क्रिया इच्छा तथा ज्ञानं ब्राह्मी रौद्री च वैष्णवी ।
त्रिधा शक्तिः स्थितायत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ॥ ८६ ॥

जिस प्रणवके अ, उ, म, तीन मात्रा ॐक्रिया, इच्छा, ज्ञान शक्ति भेदोंकरके ब्रह्माणी, रुद्राणी, वैष्णवी ये शक्ति रहती हैं सो प्रणव ओंकारस्वरूप परब्रह्म ज्योति है ॥ ८६ ॥

अकारश्च उकारश्च मकारो बिन्दुसंज्ञकः ।
त्रिधा मात्रा स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ॥ ८७ ॥

त्रिलोकात्मा अकार उकार और बिंदुस्वरूप मकार तीनहू मात्रा रहती हैं जिसमें ऐसा ब्रह्मज्योतिस्वरूप प्रणव है ॥ ८७ ॥

वचसा तज्जपेद्बीजं वपुषा तत्समभ्यसेत् ।
मनसा तत्स्मरेन्नित्यं तत्परं ज्योतिरोमिति ॥ ८८ ॥

इस प्रणवको सकल जगत्कारण भूतभावना करके वचनसे जप करना शरीरसे सिद्धासनादिसे सगुण ब्रह्मकी भावना करके प्रणवार्थ समझ अभ्यास करना तथा मनसे परंब्रह्मस्वरूप प्रकाश चैतन्य समझके सर्वदा स्मरण करना ॥ ८८ ॥

शुचिर्वाप्यशुचिर्वापि योजयेत्प्रणवं सदा ।
न स लिप्यति पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ ८९ ॥

जो योगी बाह्याभ्यंतर शौचयुक्त वा बाह्यशौचमात्र यद्वा जैसे तैसे होकर प्रणवका अर्थ समझ अभ्याससे जप करता है उसको शारीरकपाप स्पर्श नहीं करते. जैसे कमलदल जलमें रहता है परन्तु जल उसके पत्रको स्पर्श नहीं कर सकता ऐसेही उक्त विधिका प्रणवाभ्यासीभी निर्लेप रहता है ॥ ८९ ॥

अथ प्राणायामप्रकारः ।

चले वाते चलो बिन्दुर्निश्चले निश्चलो भवेत् ।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरुंधयेत् ॥ ९०

प्राणवायुके निश्वासोच्छ्वास होते रहतेमें बिंदुभी चलायमान होता है जो प्राणवायु स्थिर होगा तो बिंदु स्थिर हो जाता है, जब प्राणायामसे प्राणवायु स्थिर हो गया तो योगी चिरकाल योगाभ्यासमें समर्थ होता है दीर्घजीवी तथा ईश (शिव) भावको प्राप्त हो जाता है. इस लिये योगीको वायुनिरोध करना मुख्य है ॥ ९० ॥

यावद्वायुः स्थितो देहे तावज्जीवं न मुञ्चति ।
मरणं तस्य निष्क्रान्तिस्ततो वायुं निरोधयेत् ॥ ९१

जबलौं शरीरमें वायु स्थिर रहता है तबलौं जीव शरीरको नहीं छोडता जब प्राणवायु शरीरसे निकल जाता है तो उसी अवस्थाको मरण कहते हैं. जीवन मरण प्राणवायुके अधीन है, इसलिये प्राणवायुका रोधन अवश्य विधिसे करना चाहिये ॥ ९१ ॥

यावद्बद्धो मरुद्देहे यावच्चित्तं निरामयम् ।
यावद्दृष्टिर्भ्रुवोर्मध्ये तावत्कालभयं कुतः ॥ ९२ ॥

जबतक प्राणवायु कुंभकमें देहमें स्थिर है तथा जबतक चित्त विषयवासना त्याग अन्तःकरण ईश्वराकार निर्विकार है और जबतक भ्रूमध्यमें दृष्टि निश्चल है तबतक कालकी भय नहीं होती है ॥९२ ॥

अतः कालभयाद्ब्रह्मा प्राणायामपरायणः ।
योगिनो मुनयश्चैव ततो वायुं निरोधयेत्॥ ९३ ॥

जिस कारण जीवनमरण प्राणवायुके अधीन है इसी हेतु ब्रह्मा एवं सनकादि सिद्ध, दत्तात्रेयादि मुनि, प्राणायामके साधनमें तत्पर हैं अन्य योगियोंकोभी इस अभ्याससे कालकी भय नहीं होती इस हेतु प्राणायाम साधन करना योग्य है ॥ ९३ ॥

षट्त्रिंशदंगुलो हंसः प्रयाणं कुरुते बहिः ।
वामे दक्षिणमार्गेण ततः प्राणोऽभिधीयते ॥ ९४ ॥

प्राणवायु अपानवायुरूप हंस इडापिंगलाके मार्गसे छत्तीस अंगुल बाहर निकलता है इस हेतु ' बहिः प्रयाणं कुरुते प्राणः ' उक्तवायु प्राण कहाता है प्राणापानवायुरूप हंस है और नहीं ॥ ९४ ॥

शुद्धिमेति यदा सर्वनाडीचक्रं मलाकुलम् ।
तदैव जायते योगी प्राणसंग्रहणे क्षमः ॥ ९५ ॥

जब शरीरके मलसे व्याप्त नाडीजाल, नाडीशोधन प्राणायामके प्रभावसे शोधके शुद्ध निर्मल होता है तव योगाभ्यासोपयोगी प्राण वायुको थामनेकी सामर्थ्य योगीको होती है अन्यथा नहीं ॥ ९५ ॥

अथ नाडीशोधनप्राणायामविधिः ।

बद्धपद्मासनो योगी प्राणं चन्द्रेण पूरयेत् ।
धारयित्वा यथाशक्ति भूयः सूर्येण रेचयेत् ॥९६ ॥

नाडीशोधन करनेवाले प्राणायामकी विधि कहते हैं कि एकांतमें स्थूल और कोमल आसनमें बैठकर पद्मासन बांधे तब चन्द्रनाडी (इडा) से १२ संख्याप्रणव जप करते मन्द मन्द पूरक तथा १६ संख्यामें दोनों ओर थामके कुंभकमें चन्द्रमण्डलका ध्यान करना और १० संख्यामें सूर्यनाडी (पिंगला) से मन्द मन्द रेचन करे यह चन्द्रांग (वामांग) प्राणायाम है ॥ ९६ ॥

अमृतदधिसंकाशं गोक्षीरधवलोपमम् ।
ध्यात्वा चन्द्रमसो बिंबं प्राणायामी सुखी भवेत् ९७॥

चन्द्रांगप्राणायाममें दधि, दुग्ध समान अतिशुक्लवर्ण अमृतस्वरूप चन्द्रमाका कंठ तथा नाभिमें ध्यान करनेसे आनन्दका अनुभव होकर सुख मिलता है ॥ ९७ ॥

दक्षिणे श्वासमाकृष्य पूरयेदुत्तरं शनैः ।
कुम्भयित्वा विधानेन पुनश्चन्द्रेण रेचयेत् ॥ ९८ ॥

सूर्यनाडी (पिंगलामार्ग) से प्राणवायु १२ संख्यासे प्रणव जपसहित पूरक १६ संख्यासे कुंभकमें आदित्यमंडलका ध्यान करना और १० संख्यासे प्रणवजप करके चंद्रनाडी (इडामार्ग) से मंद २ रेचन करना यह दक्षिणांग (सूर्यांग) प्राणायाम है ॥ ९८ ॥

प्रज्वलज्ज्वलनज्वालापुञ्जमादित्यमण्डलम् ।
ध्यात्वा नाभिस्थितं योगी प्राणायामी सुखी भवेत्॥९९॥

सूर्यांग प्राणायाममें कुंभकविषय जाज्वल्यमान अग्निज्वालासमुदायसमान अग्निमय सूर्यमंडलको अपने नाभिकमलमें ध्यान करके जो योगी प्राणायाम करे तो आनंद पाता है ॥ ९९ ॥

प्राणांश्चेदिडयापि चेत्परिमितं भूयोऽन्यया रेचयेत्
पीत्वा पिङ्गलया समीरणमथो बद्ध्वा त्यजेद्वामया ।
सूर्याचन्द्रमसोरनेन विधिना बिम्बद्वयं ध्यायतां
शुद्धा नाडिगणा भवन्ति यमिनां मासत्रयादूर्ध्वतः॥१००॥

उक्त ४ श्लोकका अर्थ सूक्ष्मसे पुनः कहते हैं कि यदि प्राणवायुको वामनासापुटसे १२ प्रणव जपसे पूरक १६ जपसे चंद्रमंडल ध्यानसहित कुंभक और १० जपसे रेचन सूर्यनाडीसे करना यह एक प्राणायाम हुआ, पुनः दक्षिण नाडीसे १२ जपकर पूरक १६ से सूर्यमंडल ध्यानसहित कुंभक और १० से रेचन करना दूसरा प्राणायाम हुआ, पुनः वामसे पूरक दक्षिणसे रेचन करके तीसरा प्राणायाम हुआ, इसी प्रकार चंद्रांग पूरकके कुंभकमें चंद्रबिंब

प्राणवायुस्वरूपका और सूर्यांग पूरकके कुंभकमें सूर्यबिंब अपान-वायु स्वरूपका ध्यान करनेवाले योगीके समस्त नाडीजाल तीन महीने उपरांत शुद्ध (निर्मल) होते हैं. यह नाडीशोधनका उत्तम प्रकार कहा है जो संयमसे रहके धौति १ नेति २ नौली ३ बस्ति ४ त्राटक ५ भस्त्रा ६ षट्कर्ममें परिश्रम न करे तौभी इनही प्राणा-यामोंके अभ्याससे उनका उक्त कृत्य संपादित हो जाताहै जैसे कहाभी है कि " प्राणायामैरेव सर्वे प्रशुष्यन्ति मला इति । आचा-र्याणां तु केषांचिदन्यत्कर्म न संमतम् ॥ " अर्थात् प्राणायामहीसे नाडीमल शुद्ध हो जाता है इसलिये याज्ञवल्क्यादियोंके अन्य धौत्यादि षट्कर्म संमत नहीं है ॥ १०० ॥

ग्रन्थान्तरे ।

प्रातर्मध्यंदिनं सायमर्धरात्रे च कुम्भकान् ।
शनैरशीतिपर्यन्तं चतुर्वारं समभ्यसेत् ॥ १ ॥

अरुणोदयसे सूर्योदयपर्यंत ३ घटी प्रातःकाल दिनके पांच विभाग कर मध्यभाग मध्याह्न, सूर्यास्तसे ३ घटी आगे पीछे सायंसंध्याकाल और अर्द्धरात्रि में २ मुहूर्त निशीथ काल होता है इन चारोंमें प्रत्ये-कमें ८० । ८० प्राणायाम करना अर्द्धरात्रिमें न कर सके, तीनों कालमें अवश्य अभ्यास करना. चारों समयके ३२० और ३ सम-यके २४० प्राणायाम होते हैं ॥ १ ॥

कनीयसि भवेत् स्वेदः कम्पो भवति मध्यमे ।
उत्तमे स्थानमाप्नोति ततो वायुं निबन्धयेत् ॥२॥

जिसमें प्रस्वेद आवे वह कनिष्ठ, जिसमें कंप हो वह मध्यम है, जिसमें वायु ब्रह्मरंध्रमें प्राप्त हो सो उत्तम कहाता है इससे योगी निरंतर वायुका अभ्यास करे और कुछ कम ४२ विपल कुंभक रहे सो कनिष्ठ, ८४ से मध्यम, १२५ में उत्तम प्राणायाम काल कहते हैं जब प्राणायाम स्थिर हो जाय तब प्राण ब्रह्मरंध्रको प्राप्त होना

है तहां २५ विपला स्थिर रहे तब प्रत्याहार २५ पलापर्यंत रहे तो धारणा तथा ६ घटी रहे तो ध्यान और बारह दिन रहे तो समाधि होती है ॥ २ ॥

जलेन श्रमजातेन गात्रमर्दनमाचरेत् ।
दृढता लघुता चैव तेन गात्रस्य जायते ॥ ३ ॥

प्राणायामश्रममें जो पसीना आवे उसे सर्वांगमें खूब मले इसमें गात्र लघु और दृढ होते हैं अर्थात् जडताका अभाव होता है ॥ ३ ॥

अभ्यासकाले प्रथमे शस्तं क्षीराज्यभोजनम् ।
ततोऽभ्यासे दृढीभूते न तादृङ्नियमग्रहः ॥ ४ ॥

अभ्यासकालमें दूध, घृत भोजन करे जब केवल कुंभकाभ्यास दृढ हो जाय तब उक्तनियमका कुछ आग्रह नहीं ॥ ४ ॥

यदा तु नाडीशुद्धिः स्यात्तथा चिह्नानि बाह्यतः ।
कायस्य कृशता कान्तिस्तदा जायेत निश्चितम् ॥ ५ ॥

जब नाडीशुद्धि हो जाती है तो बाहर चिह्न देहकी कृशता कांतिवर्द्धन आदि निश्चय देखनेमें आते हैं बहुतकालसमय कुंभक धारण करनेसे जठराग्निप्रदीप्ति, नादकी प्रकटता और निरोगिता होती है ये सर्व नाडीशुद्धिके गुण हैं ॥ ५ ॥

यथेष्टं धारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम् ।
नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधने ॥ १०१ ॥

इति गोरक्षशास्त्रे प्रथमशतकम् ॥ १ ॥

नाडीशोधन हुएमें अपने समझे योग्य मंत्र, जप, कालपर्यंत प्राणवायुके धारणसामर्थ्य होती है उदराग्नि प्रदीप्त स्पष्टतर नादका श्रवण और नैरुज्यता होती है ॥ १०१ ॥

इति महीधरकृतायां गोरक्षयोगशास्त्रभाषायां संग्रहायां योगाङ्गपूर्वाभ्यासविधिः ॥ १ ॥

अथ

द्वितीयं शतकम् ।

' जो पूर्व १०० श्लोकके टीकामें लिखा गया है कि धौति आदि ६ कर्मका कार्य प्राणायामसे हो जाता है इन्हें न करे परंतु किसी २ आचार्योंका यहभी मत है कि'—

मेदः श्लेष्माधिकः पूर्वंषट्कर्माणि समाचरेत् ।
अन्यस्तु नाचरेत्तानि दोषाणां समभावतः ॥

जिसका मेद और श्लेष्मा अधिक हो उसको प्राणायामसाधनमें अत्यंत कष्टसेभी अभ्यास दृढ नहीं होता इसलिये उनको प्रथम षट्कर्म करके तब प्राणायामका अभ्यास करना योग्य है इसलिये षट्कर्मविधि कहते हैं ।

तत्रादौ धौतिः ।

चतुरङ्गुलविस्तारं हस्तपञ्चदशायतम् ।
गुरूपदिष्टमार्गेण सिक्तं वस्त्रं शनैर्ग्रसेत् ॥ १ ॥

चार अंगुल चौडी, पंद्रह हाथ लंबी, बारीक वस्त्र (पगडी) की पट्टी थोडे गरमजलमें भिगोय मुखमें पहिले दिन एक हाथ, दूसरे दिन दो हाथ, तीसरे दिन तीन हाथ एवं क्रमसे १५ दिनमें पूरी गुरूपदिष्टमार्गसे निगल जावे ॥ १ ॥

पुनः प्रत्याहरेच्चैतदुदितं धौतिकर्म तत् ।
कासश्वासप्लीहकुष्ठं कफरोगाश्च विंशतिः ।
धौतिकर्मप्रभावेण प्रयान्त्येव न संशयः ॥ २ ॥

उक्त वस्त्रका पिछला किनारा मुखमें दांतोंसे दाब ओठोंसे लगाय नौलीकर्म करे इससे छातीमें लगा वस्त्र उदर (अंतडियों) में पहुँच साफ करता है तब थोडा २ बाहर निकाल डाले यह धौतिकर्म

है. कास, श्वास, प्लीहा कुष्ठादि, विषरोग, बीस प्रकारके कफरोग इस धौतिकर्मके प्रभावसे निस्संदेह नाश हो जाते हैं ॥ २ ॥

अथ बस्तिः ।

नाभिदघ्ने जले पायौ न्यस्तनालोत्कटासनः ।
आधाराकुञ्चनं कुर्यात्क्षालनं बस्तिकर्म तत् ॥ १ ॥

अब बस्तिकर्म कहते हैं कि नाभिमात्र जलमें उत्कटासन बैठकर छः अंगुल लंबी और अंगुल प्रवेशयोग्य छिद्रवाली बांसकी नली चार अंगुल गुदामें प्रवेश कर गुदा आकुंचन करके पेटमें जल चढाय नौलीकर्म करके बाहर छोड देवे यह बस्तिकर्म है. धौति बस्ति विना भोजन किये करने न चाहिये तथा इनके उपरांत शीघ्र भोजन करना योग्य है ॥ १ ॥

गुल्मप्लीहोदरं चापि वातपित्तकफोद्भवाः ।
बस्तिकर्मप्रभावेण क्षीयन्ते सकलामयाः ॥ २ ॥

बस्तिकर्मसे गुल्म, प्लीहा, जलोदर, वात. पित्त, कफसे उत्पन्न सर्व रोग नाश होते हैं ॥ २ ॥

धात्विन्द्रियान्तःकरणप्रसादं
दद्याच्च कान्तिं दहनप्रदीप्तिम् ।
अशेषदोषोपचयं निहन्या-
दभ्यस्यमानं जलबस्तिकर्म ॥ ३ ॥

जलमें बस्तिकर्मके अभ्याससे शरीरके सप्त धातु रस १ रुधिर २ मांस ३ मेद ४ अस्थि ५ मज्जा ६ शुक्र ७ तथा पांच ज्ञानेंद्रिय पांच कर्मेंद्रिय और अंतःकरण मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, ताप, विक्षेप, शोकादि, मोह, गौरव, आवरण, दीनता, राजसतामसका धर्म सभी निवृत्त होते हैं. प्रसन्नता, कांति बढती है. जठराग्नि दीप्त होती है. वातादि समस्त दोषोंको दूर कर निरोगिता होती है ॥ ३ ॥

अथ नेतिः ।

सूत्रं वितस्ति सुस्निग्धं नासानाले प्रवेशयेत् ।
मुखान्निर्गमयेच्चैषा नेतिः सिद्धैर्निगद्यते ॥ १ ॥

अब नेतिकर्म कहते हैं कि एक बालिस्त मुलायम, एवं ग्रंथिरहित सूत्रका एक किनारा नासिकाके एक पुटमें प्रवेश कर दूसरे पुटको बंद कर पूरक करे जब कुछ सूत्र ऊपर चढे तब मुखश्वास छोडकर सूत्र बाहर निकाले तब एक किनारा मुखके बाहर दूसरा नासिकाके बाहर दोनोंको हाथोंसे पकड शनैः शनैः चलाता रहे इसे नेतिकर्म सिद्धजन कहते हैं ॥ १ ॥

कपालशोधिनी चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनी ।
जत्रूर्ध्वजातरोगौघं नेतिराशु निहन्ति च ॥ २ ॥

यह क्रिया कपोल तथा नासिकादियोंके मल दूर कर सूक्ष्मपदार्थदर्शी दिव्यदृष्टि देती और जत्रु (कण्ठमूल) स्थानसे ऊपर समस्त रोगसमूहको शीघ्र शान्त करती है ॥ २ ॥

अथ त्राटकम् ।

निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः ।
अश्रुसंपातपर्यन्तमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम् ॥ १ ॥

अब त्राटक कहते हैं कि एकाग्र दृष्टिसे कुछ सूक्ष्म वस्तुको जबलौं नेत्रोंमें पानी न आवे निरंतर देखता रहे. नेत्रोंमें जल आनेपर छोड देवे इसे मत्स्येंद्रादि त्राटक कहते हैं मैं (भाषाकार) समझता हूं कि सूक्ष्म वस्तुके स्थानमें प्रथम नासाग्र अभ्यास होनेपर भ्रूमध्य देखे तो औरभी अच्छे गुण शीघ्र होंगे ॥ १ ॥

मोचनं नेत्ररोगाणां तन्द्रादीनां कपाटकम् ।
यत्नतस्त्राटकं गोप्यं यथा हाटकपेटकम् ॥ २ ॥

यह त्राटककर्म नेत्ररोगनाशक, बल बढानेवाला, आलस्यनिद्रादियोंका कपाट (केवाड) है तंद्रा और तमोगुणी चित्तवृत्तिके

क्रोधादिकोंको दूर करता है जैसे सुवर्णकी पिटारीको यत्नसे रखते हैं ऐसेही इस कर्मकोभी गोप्य रक्खे ॥ २ ॥

अथ नौलिः ।

अमन्दावर्तवेगेन तुन्दं सव्यापसव्यतः ।
नतांसो भ्रामयेदेषा नौलिः सिद्धैः प्रचक्ष्यते ॥ १ ॥

अब नौलिकर्म कहते हैं कि दोनोंहू कंधा नीचे नवाय उदरके दक्षिणवामभागकरके जलके भ्रमर (भौंरे) के नाईं घुमावे इसे सिद्धलोग नौलि कहते हैं. अनुभवसिद्ध यहभी है कि दक्षिणवामभागसे घुमायके अभ्यास हुएम नीचे ऊपरकोभी चरखीके समान उदरनलको घुमाना चाहिये ॥ १ ॥

मन्दाग्निसंदीपनपाचनादिसंधापिकानन्दकरी सदैव ।
अशेषदोषामयशोषिणीचहठक्रियामौलिरियं हि नौलिः

यह क्रिया मंदाग्निको बढाय भोजन किये अन्नादिकोंको शीघ्र परिपाक करनेवाली, समस्त वातादिरोगोंको सुखानेवाली, आनदको देनेवाली, धौत्यादि सर्व कर्मोंमें (श्रेष्ठ) मुकुट है धौति बस्ति इन दो क्रियाओंमें नौलि कहनी होती है इसलिये यहां नौलिकी विधि कही है ॥ २ ॥

अथ कपालभातिः ।

भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससंभ्रमौ ।
कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषणी ॥ १ ॥

अब कपालभातिकर्म कहते हैं कि लुहारकी धौंकनी (खाल) के नाईं शीघ्र शीघ्र रेचन जो रेचकपूरक करे इसे कपालभाति कहते हैं इससे वीस प्रकारके कफरोग दूर होते हैं ॥ १ ॥

षट्कर्मनिर्गतस्थौल्यकफदोषमलादिकः ।
प्राणायामं ततः कुर्यादनायासेन सिद्धयति ॥ २ ॥

उक्त षट्कर्मोंकरके स्थूलभाव कफदोष मलपित्तादि दूर हो जाते हैं तब प्राणायाम करे तो विनाश्रमही योगसिद्धि होती है ॥ २ ॥

उदरगतपदार्थमुद्वमन्ति पवनमपानमुदीर्य कण्ठनाले । क्रमपरिचयवश्यनाडिचक्रा गजकरिणीति निगद्यते हठज्ञैः ॥ ३ ॥

अब गजकरणीमुद्राभी प्रसंगसे कहते हैं कि, अपानवायुको कंठनालमें चढाय उदरगत भुक्तपीत अन्न जलादिकोंको निकाले इस अभ्याससेभी नाडीचक्र अपने अधीन (वशीभूत) होता है इसे हठज्ञ योगी गजकरणी कहते हैं ॥ ३ ॥

अथ उत्तरार्द्धग्रन्थः ।

' पूर्वोक्त प्रकारोंसे नाडीशोधन हुएमें यम, नियम, आसन साधके षट्चक्र षोडशाधारका कर्म जानकर नाडिजाल नाडिगत वायु ज्ञात हुएमें चन्द्रतारानुकूल शुभदिन शुभ मुहूर्तमें लग्ननवांशादि शुभ साधके एकांतस्थलमें श्रीगुरु गोरक्ष, गणेशका पूजन मंगलपाठ स्वस्त्ययन कराय योगाभ्यासोपदेशक श्रीगुरुका आराधनसे संतुष्ट कर उन्हींकी आज्ञासे योगाभ्यासको आरंभ करना इसमें प्रथम प्राणायामका विस्तार कहते हैं '—

प्राणो देहे स्थितो वायुरपानस्य निरोधनात् ।
एकश्वसनमात्रेणोद्घाटयेद्गगने गतिम् ॥ १ ॥

प्राणवायु जो देहमें स्थित है और मूलाधारस्थित अपानवायुको ऊपर उठाय रोधकर एकही श्वासमें कुंडलीकरके रुका हुआ सुषुम्णाद्वारको खोलके सुषुम्णानाडीके चिदाकाशमें ऊर्ध्वगति कराता है सो प्राणायाम सुगम होता है ॥ १ ॥

रेचकः पूरकश्चैव कुम्भकः प्रणवात्मकः ।
प्राणायामो भवेत्त्रेधा मात्राद्वादशसंयुतः ॥ २ ॥

रेचक, पूरक, कुंभकके भेदकरके प्राणायाम तीन प्रकारका होता है. बाहरके वायुके अभ्यंतर प्रवेश करना पूरक, वायुको भीतरही रोकना कुंभक, रुद्धवायुको बाहर निकालना रेचक होता है. प्रणवका स्मरण करनेवाला प्राणायाम है. ब्राह्मणको प्रणवका क्षत्रिय वैश्यको एकाक्षर मंत्रजपका अधिकार है. पूरकमें अकारका स्मरणपूर्वक १२ प्रणव जपके चंद्रनाडीसे पूरक उकारके स्मरणपूर्वक चन्द्रमण्डलका प्रणव ध्यानसहित १६ प्रणवजपसे कुंभक और मकारके ध्यानपूर्वक १० जपसे रेचक करना. यह एक प्राणायाम होता है ॥ २ ॥

मात्राद्वादशसंयुक्तौ दिवाकरनिशाकरौ ।
दोषजालमपघ्नन्तौ ज्ञातव्यौ योगिभिः सदा ॥ ३ ॥

प्राणायामके अभ्यास करते २ यदि संयम पूरा न पहुँचे तो नाडी मलिन हो जाती है इसलिये पुनः नाडीशोधन प्राणायाम कहते हैं कि, चंद्रांग, सूर्यांग, प्राणायाम, प्राणापानवायुसंयुक्त १२ प्रणव मात्राकरके पूरक चंद्रसूर्य मंडलध्यानयुक्त १६ मात्रा करके कुंभक और १० मात्रासे रेचक करके चंद्रसूर्य नाडी मलको नाश करते हैं ऐसा योगियोंने जानना ॥ ३ ॥

पूरके द्वादशी कुर्यात्कुम्भके षोडशी भवेत् ।
रेचके दश ॐकाराः प्राणायामः स उच्यते ॥ ४ ॥
प्रथमे द्वादशी मात्रा मध्यमे द्विगुणा मता ।
उत्तमे त्रिगुणा प्रोक्ता प्राणायामस्य निर्णयः ॥ ५ ॥

पूरकमें १२, कुंभकमें १६, रेचकमें १० मात्रा प्रणवकी यह प्राणायामप्रकार कनिष्ठ है, इससे द्विगुण अर्थात् पू० २४ कुं० ३२ रे० २० यह मध्यम और पू० ३६, कुं० ४८, रे० ३० यह उत्तम प्राणायाम है ॥ ४ ॥ ५ ॥

अधमे चोद्यते घर्मः कम्पो भवति मध्यमे ।
उत्तिष्ठत्युत्तमे योगी ततो वायुं निरोधयेत् ॥ ६ ॥

कनिष्ठप्राणायाममें प्रस्वेद (पसीना) होता है. मध्यममें कंप होता है, उत्तममें योनिका आधार उठता है इसलिये प्राणायामका अभ्यास करना मुख्य है ॥ ६ ॥

बद्धपद्मासनो योगी नमस्कृत्य गुरुं शिवम् ।
भ्रूमध्ये दृष्टिरेकाकी प्राणायामं समभ्यसेत् ॥ ७ ॥
ऊर्ध्वमाकृष्य चापानवायुं प्राणे नियोजयेत् ।
ऊर्ध्वमानीयते शक्त्या सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ८ ॥

प्राणायामकी विधि कहते हैं कि एकांतस्थलमें मोटे दलवाला कोमलकंबलादि आसनमें पद्मासन बांधके बैठकर श्रीगुरु एवं शिवको प्रणाम करे अमृत स्रवित हो रहा ऐसे चंद्रबिंबका ध्यान भ्रूमध्यकरके दोमहू दृष्टि भ्रूमध्यमें स्थापन करे तदनंतर ब्राह्मण प्रणवका क्षत्रिय वैश्य ओम् इति एकाक्षरमंत्रका पूर्वोक्त मात्राके प्रकारसे पूरक, कुंभक, रेचक प्राणायाम, चंद्रांग, सूर्यांग प्रकारकरके निरंतर करता रहे मूलाधार संकोचनपूर्वक अपानवायुको ऊपर खींचके प्राणवायुसे ऐक्य करे तब अपानवायुमिलित प्राणवायुको शक्तिचालनमुद्रासे उठाई गई कुंडलिनीको सुषुम्णामार्गसे ऊपरको चढावे इतने विधि करनेसे योगी समस्तपापोंसे निर्मुक्त हो जाता है ॥ ७ ॥ ८ ॥

द्वाराणां नवकं निरुद्ध्य मरुतं पीत्वा दृढं धारितं
नीत्वाकाशमपानवह्निसहितं शक्त्या समुच्चालितम् ।
आत्मस्थानयुतस्त्वनेन विधिवद्विन्यस्य मूर्ध्नि ध्रुवं
यावत्तिष्ठति तावदेव महतां संघेन संस्तूयते ॥९ ॥

केवल कुंभकप्राणायामका प्रकार कहते हैं कि षण्मुखीकरके पूरकवायुसे उदर पूर्ण करके ऊपरके ७ नीचेके २ इन नव द्वारोंको रोकके मूलाधारगत कालाग्नि अपानवायुसहित शक्तिचालनप्रकारसे

प्रबुद्ध हो रही कुंडलिनीको ऊपरको उठाय आज्ञाचक्रते ऊपर उक्त वायुसे पूर्णकरके स्थिर करे सहस्रकमलमें रहते परमात्माका ध्यानसे ज्योति प्रत्यक्ष करके यावत्कालसम योगी निश्चल होकर परमात्माका ध्यान करता है यही काल योगीका मोक्षसम है. आत्मध्यानतत्पर योगीश्वर सिद्ध इस योगीकी धन्यवादपूर्वक स्तुति करते हैं यही परम फल योगका है ॥ ९ ॥

प्राणायामो भवत्येवं पातकेन्धनपावकः ।
भवोदधिमहासेतुः प्रोच्यते योगिभिः सदा ॥ १० ॥

इस प्रकार नित्य निरंतर अभ्याससे प्राणायाम करता अनेक पातकरूपी काष्ठको भस्म करनेवाला अग्नि होता है. संसाररूपी समुद्रसे तारनेवाला महासेतु (बडा पूल) योगिजनोंकरके यही प्राणायाम कहा जाता है ॥ १० ॥

आसनेन रुजो हन्ति प्राणायामेन पातकम् ।
विकारं मानसं योगी प्रत्याहारेण मुञ्चति ॥ ११ ॥

पश्चिमतानआदि आसनोंसे शरीरके अशेष रोग नाश होते हैं प्राणायामसे समस्त पातक और प्रत्याहारसे मानसिक अनेक विकार नष्ट होते हैं ॥ ११ ॥

धारणाभिमतौ धैर्यं ध्यानाच्चैतन्यमद्भुतम् ।
समाधौ मोक्षमाप्नोति त्यक्त्वा कर्म शुभाशुभम् १२

धारणासे मनमें धैर्य बढनेसे उत्तम उत्तम ज्ञान मिलता है ध्यानसे अद्भुत चैतन्य सर्वशारीरक ज्ञान मिलता है समाधिसे अभिमान त्याग होकर जिसमें पुण्य पाप लिप्त नहीं होते ऐसा कैवल्य मोक्ष मिलता है ॥ १२ ॥

प्राणायामद्विषट्केन प्रत्याहारः प्रकीर्तितः ।
प्रत्याहारद्विषट्केन ज्ञायते धारणा शुभा ॥ १३ ॥

धारणा द्वादश प्रोक्ता ध्यानाद्ध्यानविशारदैः ।
ध्यानद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते ॥ १४ ॥

बारह प्राणायाम करके प्रत्याहारके फल देनेवाला प्रत्याहार (१२) प्रत्याहार (१४४ प्राणायाम) का धारणका फल देनेवारी धारणा (१२) धारणा (१७२८ प्राणायाम) का प्राणायामरूप ध्यान (१२) ध्यान (२०७३६ प्राणायाम) का प्राणायामरूप समाधि होती है ॥ १३ ॥ १४ ॥

यत्समाधौ परं ज्योतिरनन्तं विश्वतोमुखम् ।
तस्मिन् दृष्टे क्रिया कर्म यातायातं न विद्यते॥ १५॥

समाधिका स्वरूप कहते हैं. मूलाधारचक्र चतुर्दलकमलकर्णिकामें सुषुम्णाद्वारके संमुख स्वयंभूलिंगके शिरमें देदीप्यमान बिंब है बिंदुस्वरूप कुंडलिनीका है यह दीप्यमान बिंब समाधिमें अंत न मिलनेवाला, समस्त जगत् व्याप्त करनेवाला उत्तम ज्योति कालाग्निस्वरूप प्रगट होता है इसके दर्शन समाधिद्वारा मिलनेसे जन्ममरण नहीं होते कर्ममें लिप्त नहीं होता कैवल्यका अनुभव हो जाता है ॥ १५ ॥

संबद्धासनमेढ्रमंघ्रियुगलं कर्णाक्षिनासापुटाद्
द्वाराण्यङ्गुलिभिर्नियम्य पवनं वक्त्रेण संपूरितम् ।
ध्यात्वा वक्षसि वह्न्यपानसहितं मूर्ध्नि स्थितं धारये-
देवं याति विशेषतत्त्वसमतां योगीश्वरस्तन्मयः॥ १६॥

समाधिकी प्रक्रिया दिखाते हैं. प्रथम सिद्धासन बांधके दोनहूं हाथोंके अंगुष्ठोंसे दोनहूं कर्णछिद्र, तर्जनियोंसे नेत्र, मध्यमाओंसे नासिका और अनामिका २ कनिष्ठा २ से मुख रोकके अधिमुखद्वारसे पूरित करके मूलाधारमें रहनेवाला अग्नि तथा अपानवायुसहित प्राणवायुको हृदयकमलमें धारण कर ऊपरको चढाय सहस्र-

दल कमलमें धारण करना इस प्रकार समाधिके अभ्यास करनेवाला योगी अपानवायुसंमिलित प्राणवायुमय होकर सर्वद्रष्टा साक्षिभूत अंतरात्माके तुल्यताको प्राप्त होता है ॥ १६ ॥

गगनं पवने प्राप्ते ध्वनिरुत्पद्यते महान् ।
घण्टादीनां प्रवाद्यानां तदा सिद्धिरदूरतः ॥ १७ ॥

उक्त प्रकारसे प्राणवायु जब (गगन) सहस्रदल कमलमें प्राप्त हो जाय तो घंटा नगारे आदि वाद्योंकी ध्वनि प्रकट होती है इस चिह्नके मिलनेपर योगसिद्धि समीप है जानना ॥ १७ ॥

प्राणायामेन युक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत् ।
अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगस्य संभवः ॥ १८ ॥

यथायोग्य निरंतराभ्यस्त प्राणायामसे सब रोग क्षय होता है ऐसेही अविधि विच्छिन्नाभ्यासादि प्राणायामसे अनेक रोग उत्पन्न होते हैं ॥ १८ ॥

हिक्का कासस्तथा श्वासः शिरःकर्णाक्षिवेदनाः ।
भवन्ति विविधा रोगा पवनस्य व्यतिक्रमात् ॥ १९ ॥

अयुक्त प्राणायामाभ्याससे वायु विरुद्ध होकर हिचकी, कास, श्वास, शिरःपीडा, कर्णशूल, नेत्रव्यथा आदि रोग उत्पन्न करता है ॥ १९ ॥

यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैः शनैः ।
अन्यथा हन्ति योक्तारं तथा वायुरसेवितः ॥ २० ॥

जैसे सिंह, व्याघ्र, गज इत्यादि दुष्ट जंतु मंदमंदकरके उनके अनुकूल क्रमक्रमसे करके पालकके वशमें रहते हैं तथापि किसी समय थोडाभी उनमें विरोध होनेमें अपनेही पालकको मार डालते हैं तैसेही पवनभी युक्त अभ्याससे वशवर्ती होता है अयुक्तअभ्याससे रोगादिकोंकरके अभ्यासीको अनिष्ट हो जाता है ॥ २० ॥

युक्तं युक्तं त्यजेद्वायुं युक्तं युक्तं च पूरयेत् ।
युक्तं युक्तं च बध्नीयादेवं सिद्धिरदूरतः ॥ २१ ॥

वायु शनैः शनैः रेचन करना जैसे नासाछिद्रके सामने रुईका फोहा रक्खा हुआ न उडे ऐसेही शनैः शनैः पूरकभी करना युक्त युक्त पूरक करना जिससे चित्तोद्वेग श्वासोत्कटता न होवे थोडेसे क्रम सहनयोग्य बढावना उचित है इससे सिद्धि नजदीक मिलती है ॥२१॥

अथ ग्रन्थान्तरे प्राणायामभेदाः ।

प्राणायामस्त्रिधा प्रोक्तो रेचपूरककुम्भकैः ।
सहितः केवलश्चेति कुम्भको द्विविधो मतः ॥ १ ॥

ग्रंथांतरमें प्राणायामके भेद कहते हैं कि, प्राण (शरीरांतर्गत वायु) के रोधको प्राणायाम कहते हैं इसके रेचक, पूरक, कुंभक ३ भेद हैं भीतरसे वायु बाहर छोडना रेचक, बाहरसे वायु उदरमें पूर्ण करना पूरक और पूरितवायुको घटवत् धारण करना कुंभक कहाता है, कुंभककेभी केवल एवं सहित दो भेद हैं वे केवल योगियोंके संमत हैं और सहितभी दो प्रकारका है एक रेचकपूर्वक दूसरा कुंभकपूर्वक पहिला रेचकप्राणायाममें दूसरा पूरकप्राणायाममें भिन्न नहीं है इनके पूरे भेद प्राणायामप्रकरणसे जानने ॥ १ ॥

यावत्केवलसिद्धिः स्यात्सहितं तावदभ्यसेत् ।
रेचकं पूरकं मुक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम् ॥ २ ॥

जबलौं केवल कुंभककी सिद्धि हो तबलौं सहितकुंभक सूर्यांग प्राणायामसे करके सुषुम्णाके भेदके पीछे उसके भीतर घटकासा शब्द हो तब केवल कुंभक सिद्ध होता है तदनंतर १०।१० बढायके ९० पर्यंत करे सामर्थ्य हो तो अधिक करे रेचक तथा पूरकको भी छोडके वायुधारण करना उसे केवल कुंभक कहते हैं ॥ २ ॥

प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुम्भकः ।
कुम्भके केवले सिद्धे रेचपूरकवर्जिते ॥ ३ ॥

प्राणायाम जो कहा शुद्ध तो केवल कुंभकही है, अन्य प्रकार नाडीशोधनार्थ हैं रेचकपूरकरहित केवल कुंभकके सिद्ध हो जानेमें ॥ ३ ॥

न तस्य दुर्लभं किंचित्त्रिषु लोकेषु विद्यते ।
शक्तः केवलकुम्भेन यथेष्टं वायुधारणात् ॥ ४ ॥

योगीको तीनहूं लोकमें कुछभी दुर्लभ नहीं है जब केवल कुंभकके सामर्थ्य होनेसे यथेच्छ (असंख्य) वायु धारण करे ॥ ४ ॥

राजयोगपदं चापि लभते नात्र संशयः ।
कुम्भकात्कुंडलीबोधः कुंडलीबोधतो भवेत् ॥ ५ ॥

इस विधिसे निस्संदेह राजयोगपद प्राप्त होता है कुंभकके अभ्याससे आधारशक्ति (कुंडलिनी) बोध होता है इससे निद्रा आलस्यादि मिटते हैं ॥ ५ ॥

अनर्गला सुषुम्णा च हठसिद्धिश्च जायते ।
हठं विना राजयोगो राजयोगं विना हठः ।
न सिद्ध्यति ततो युग्ममानिष्पत्तेः समभ्यसेत् ॥ ६ ॥

और सुषुम्णाके कफादि मल दूर होते हैं तब हठसिद्धि (मोक्ष) होता है हठयोग विना राजयोग सिद्धि राजयोग विना हठयोगसिद्धि नहीं होती इसलिये दोनहूंका अभ्यास करना ॥ ६ ॥

कुम्भकप्राणरोधान्ते कुर्याच्चित्तं निराश्रयम् ।
एवमभ्यासयोगेन राजयोगपदं व्रजेत् ॥ ७ ॥

कुंभकसे प्राण संरोधके अंत्यमें चित्तको आश्रयरहित कर इस प्रकारके अभ्यास योगकरके राजयोगपदको प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

वपुः कृशत्वं वदने प्रसन्नता
नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले ।
आरोग्यता बिन्दुजयोऽग्निदीपनं
नाडीविशुद्धिर्हठयोगलक्षणम् ॥८॥

हठ योगसिद्धि जब होती है तो देहमें कृशता, मुखमें प्रसन्नता, नादकी प्रगटता, नेत्रोंकी निर्मलता, नीरोगिता, धातुका जय, उदरमें जठराग्निकी वृद्धि, नाडियोंकी शुद्धि ये लक्षण होते हैं ॥ ८ ॥

चरतां चक्षुरादीनां विषयेषु यथाक्रमम् ।
यत्प्रत्याहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते ॥ २२ ॥

अब प्रत्याहार कहते हैं रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द ये पांच विषय हैं इनमें चक्षु, जिह्वा, घ्राण, त्वक्, कर्ण इन पांच ज्ञानेंद्रियोंके कर्म होते हैं अर्थात् उक्त ज्ञानेंद्रियोंके उक्त विषय क्रमसे हैं आसन, प्राणायाम, सिद्धि करके जिस इंद्रियका जो विषय है उसे दूसरेके समीप भावना कर क्रमशः शनैः शनैः त्याग करना अर्थात् इंद्रियसे उसके विषयका अनुभवकरके फेर इंद्रियोंको विषयसे अलग करना प्रत्याहार कहाता है ॥ २२ ॥

यथा तृतियकालस्थो रविः प्रत्याहरेत्प्रभाम् ।
तृतीयाङ्गस्थितो योगी विकारं मानसं तथा॥२३॥

दिनके प्रातः, मध्याह्न, सायं ये तीन भागसे तीन काल होते हैं. जैसे (तीसरे) सायंकालमें सूर्य अपनी (प्रभा) कांतिको क्रमशः हरण करता है ऐसेही योगीभी तीसरे अंग (आसन १ प्राणायाम २ प्रत्याहार ३) प्रत्याहारमें मानसविकार (विषय) में मनके अभिनिवेशको हरण करना अर्थात् विषयसंबंधसे चित्तको छुटाना ॥२३॥

अङ्गमध्ये यथाङ्गानि कूर्मः संकोचयेद् ध्रुवम् ।
योगी प्रत्याहरेदेवमिन्द्रियाणि तथात्मनि ॥ २४ ॥

जैसे कूर्म (कछुवा) अपने शिर पैर आदि अंगोंको संकोचन कर अपनेही भीतर छिपाय देता है, अंग तो उसीमें रहते हैं परंतु न हुए- के तुल्य हो जाते हैं ऐसेही योगीनेभी इंद्रियोंको विषयोंसे विमुख कर आत्मामें उनकी वृत्तियोंको थाम लेना अर्थात् इंद्रियोंको उनके विष- योंमें आसक्त न होने देना विषयोंसे तृप्त जैसा मानकर इंद्रियोंको अपने भीतर अंतरात्मामें आसक्त करना ॥ २४ ॥

यं यं शृणोति कर्णाभ्यामप्रियं प्रियमेव वा ।
तं तमात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् ॥ २५॥
अगन्धमथवा गन्धं यं यं जिघ्रति नासिका ।
तं तमात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् ॥ २६ ॥
अमेध्यमथवा मेध्यं यं यं पश्यति चक्षुषा ।
तं तमात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् ॥ २७ ॥
अस्पृश्यमथवा स्पृश्यं यं यं स्पृशति चर्मणा ।
तं तमात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् ॥२८॥
लावण्यमलावण्यं वा यं यं रसाति जिह्वया ।
तं तमात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् ॥ २९॥

कर्णसे मधुर वा कठोर जैसे शब्दोंको सुनता है ऐसे मनभी कर्ण- द्वारा शब्दमें आसक्त होता है योगिजन उक्त शब्दोंकाभी यहभी आ- त्माही है, समझ वह मनमें निश्चय कर मनको उक्त शब्द विषयसे प्रत्याहरण करे अर्थात् शब्दको विषय मानके जो मनमें ससंभ्रम शब्द सुननेका भ्रम होता है उस भ्रम मनको उसे मिथ्या (विनाशी) जानकर मनको उससे हटावे जैसे (रज्जु) रस्सीमें सर्पका एवं स्था- णु वृक्ष प्रस्तरादिकोंमें मनुष्य भूतादि भ्रांति होती है तैसेही अखंडा- नंदस्वरूप आत्मचैतन्यमें संसार यद्वा देह है कहकर बुद्धि भ्रांति- करके कल्पना करती है वस्तुतः आत्मतत्त्वातिरिक्त कुछभी नहीं है

इस कारण सम्पूर्ण जगत् आत्मस्वरूप है ऐसेही शब्दादि उक्त विषयोंकोभी आत्माही है भावनापूर्वक निश्चय करके बाहर भीतर अद्वैतानंदस्वरूप आत्मासे अन्य कोई नहीं है सो धारणा स्थिर करके शब्दादि विषयोंको चलायमान हुएमेंभी उन्हें आत्मा माने विषय न माने नासिकासे सुगंध वा दुर्गंध जो सूंघता है उसे आत्माही है निश्चय करके नासिकाकी वृत्ति गंधद्वारा मनको लुभाय भ्रममें डालती है उसे हटावे नेत्रेंद्रियसे जो जो पवित्र वा अपवित्र पदार्थ देखता उन्हेंभी आत्माहीहै निश्चय कर रूपविषयसे मिथ्याभ्रम छोडके नेत्रेंद्रियवृत्तिको उक्त विषयसे हटावे त्वगिंद्रियमें मृदु वा कठोर तप्त वा शीत आदि जिस २ पदार्थको स्पर्श करता है उसभी आत्माही है भावना निश्चय कर त्वगिंद्रियप्रवृत्ति जो स्पर्शसुखमें मनको लुभाती है उसको हटावे जिह्वासे सलोना, अलोना, मिष्ट, कटुक आदि जिन २ रसोंको चखता है उन्हें आत्माही समझकर जिह्वाकी वृत्तिको हटावे इस प्रकार योगी प्रत्याहारके अभ्यास करके पंचेंद्रियवृत्तियोंको अपने २ विषयोंसे हटाय आत्मनरवमें स्थिर करना जब प्रत्याहार सिद्ध हो जाता है तो योगी कानोंसे सुने मधुरशब्दके तुल्य मानता है कोईभी इसके चित्तको अपनी ओर नहीं ले जाय सकते. ऐसेही नेत्रोंसे देखता वा पिशाच, मनुष्य, कुत्ता, ब्राह्मण वा चांडाल. गौ वा गदहा इत्यादि सभीको तुल्य देखता है. नासिकासे कस्तूरी आदि सुगंधी वा पुरीषादि दुर्गंधियोंसे तुल्य सुख मानता है त्वचासे अग्नि वा जल षोडशी स्त्री कुच वा कृपाण (आरे) की धारा आदिकोंके स्पर्शसे तुल्य सुख मानता है और जिह्वासे मीठा वा कडुवा, तप्त वा शीत तीक्ष्ण (मिर्च) वा दूध मिट्टी, रेत, गोबर वा हलुवा, पूडीआदिकोंको तुल्य स्वादिष्ठ मानता है ॥२५॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥२९॥

चन्द्रामृतमयीं धारां प्रत्याहरति भास्करः ।
यत्प्रत्याहरणं तस्याः प्रत्याहारः स उच्यते ॥ ३० ॥

प्रत्याहारकी विधि कहने उपरांत केवल हठयोगहीसेभी प्रत्याहारकी विधि कहते हैं कि षोडशदल कमलकर्णिकास्थित चंद्रबिंबसे जो अमृतधारा गिरती है उसे नाभिकमलस्थित सूर्य ग्रास कर लेता है तो उक्त धाराको विपरीतकरिणीमुद्रा करके सूर्यसे हटाय अपने मुखमें पावे, इसे प्रत्याहार कहते हैं ॥ ३० ॥

एका स्त्री भुज्यते द्वाभ्यामागता चन्द्रमण्डलात् ।
तृतीयो यः पुनस्ताभ्यां स भवेदजरामरः ॥ ३१ ॥

एक स्त्री पदसे कंठस्थानगत चंद्रमासे निकसी अमृतधाराका बोधन है (द्वाभ्यां) पदसे सूर्यचन्द्रमाका बोधहै तृतीयपदसे आप (योगी) है उक्त अमृतधारा कंठ एवं नाभिगत चंद्रसूर्यसे भोग करती है इसको तीसरा (आप) स्वयं विपरीतकरणीमुद्रा करके उक्त चंद्रसूर्यसे बचायकर भोग करे तो अजरामर होता है ॥ ३१ ॥

नाभिदेशे वसत्येको भास्करो दहनात्मनः ।
अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमूले च चन्द्रमाः ३२

अग्निमय एक सूर्य नाभिमें निवास करता है अमृतात्मक चंद्रमा विशुद्धचक्रमें रहता है ॥ ३२ ॥

वर्षत्यधोमुखश्चन्द्रो ग्रसत्यूर्ध्वमुखो रविः ।
ज्ञातव्या करणी तत्र यथा पीयूषमाप्यते ॥ ३३ ॥

विशुद्धचक्रमें रहकर अधोमुख चंद्रमा अमृतधारा वर्षाता है उस धाराको नाभिस्थित ऊर्ध्वमुख सूर्य पी लेता है योगीकरके उक्त सूर्यको वंचनकर उक्त अमृतधाराको अपने मुखमें प्राप्त किया जाता है उसे विपरीतकरणी मानना ॥ ३३ ॥

ऊर्ध्वं नाभिरधस्तालुरूर्ध्वं भानुरधः शशी ।
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ॥ ३४ ॥

जो नाभिगत सूर्यको ऊपर (तालु) विशुद्धगत चंद्रमाको नीचे करे यह विपरीतकरणी गुरुमुखहीसे जानी जाती है ॥ ३४ ॥

लिखनेसे नहीं किंतु सुबोध योगियोंको इतना औरभी स्मरण कराते हैं कि यह मुद्रा प्राणायाम योग एवं खेचरीमुद्रा साधनके उपरांत इन्हींसे सुगम हो जाती है ॥

त्रिधा बद्धो वृषो यत्र रोरवीति महास्वनः ।
अनाहतं च तच्चक्रं हृदये योगिनो विदुः ॥ ३५ ॥

तीन फेरा रस्मियोंसे बँधा वृषभ जैसे पराधीन होकर शब्द करताहै ऐसेही अनाहतचक्रमें सत्व-रज-तमोगुणस्वरूप मायाविषे प्रतिबिंबित हो रहा जीव परा-पश्यंति-मध्यमाविषें प्रतिबिंबित हो रहा जीव परा-पश्यंति मध्यमाके क्रमसे हृदयमध्यमें नादसहित होकर निरंतर शब्द करताहै अनाहतचक्रको हृदयमें योगिजन जानते हैं ॥३५॥

अनाहतमतिक्रम्य चाक्रम्य मणिपूरकम् ।
प्राप्ते प्राणे महापद्मं योगी स्वममृतायते ॥ ३६ ॥

खेचरी मुद्रा करके अमृतपानको सूचित करते हैं कि प्राणापानवायुको एकत्व कर मणिपूरक अनाहतचक्रको उल्लंघन करके महापद्म (ब्रह्मस्थान) को प्राप्त करके योगीका अमृतमय शरीर उक्तामृतपानसे हो जाता है ॥ ३६ ॥

ऊर्ध्वं षोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठा-
दूर्ध्वास्योरसनां निधाय विधिवच्छक्तिं परां चिन्तयेत्॥
तत्कल्लोलकलाजलं सुविमलं जिह्वाकुलं यः पिबे-
न्निर्दोषः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जिवति॥३७॥

उक्त प्रकारके ब्रह्मस्थानपर्यंत प्राणवायुको पूर्ण कर योगी शिरमें रहते सहस्रदलकमलसे विशुद्धचक्रमें गिरती वेला प्राणवायुको

ऊपर चढाय नासिका ऊर्ध्वविवरमें प्राप्त करे ऊर्ध्वविवरमें जिह्वा प्रवेश करना मुखभी ऊपरको करके सहस्रदलकमलमें प्राणवायुसहित प्राप्त हुई कुंडलिनीका ध्यान करता कुंडलिनीका सहस्रदलमें प्रवेश होतेही जो अमृताकार तरंग निकलता है उसका लेशभूत अतिनिर्मल जिह्वाके मथनसे निकले हुए अमृतको पान करे वह योगी अतिसुकुमार शरीर पायके समस्त रोगदुःखोंसे रहित होकर बहुत कालपर्यंत जीवित रहता है ॥ ३७ ॥

काकचंचुवदास्येन शीतलं सलिलं पिबेत् ।
प्राणापानविधानेन योगी भवति निर्जरः॥ ३८ ॥

अपानवायुको उठाय अपानवायुके साथ ऐक्य करनेवाले प्रकारसे काक (कौवे) कासा चोंच मुख कर शीतल सलिल (बाह्यवायु) को जो योगी पूरक (पूर्ण) करता है वह वृद्धावस्थासे रहित होता है अर्थात् सर्वदा युवाही रहता है ॥ ३८ ॥

रसना तालुमूलेन यः प्राणमनिलं पिबेत् ।
अब्दार्द्धेन भवेत्तस्य सर्वरोगस्य संक्षयः ॥ ३९ ॥

जिह्वाके सहायकरके तालुमूलसे जो विवर छिद्र है इस करके जो योगी प्राणवायुको पूर्ण (पूरित) करता है उसके छः महीनेके अभ्याससे समस्त रोगोंका नाश होता है ॥ ३९ ॥

विशुद्धे पञ्चमे चक्रे ध्यात्वासौ सकलामृतम् ।
उन्मार्गेण हृतं याति वञ्चयित्वा मुखं रवेः ॥ ४० ॥

पांचवां विशुद्धचक्र (जो कंठमें रहता है) में चंद्रकलामृतका ध्यानकरके क्रमसे ऊपरको हरण करता हुआ सूर्यके मुखको वंचन कर योगीके मुखमें उक्त चंद्रकलामृत पडता है इस प्रकार जिह्वा द्वारा उदरमें प्राप्त होकर योगीके जरा रोगादियोंको हर लेता है ॥ ४० ॥

विशब्देन स्मृतो हंसो नैर्मल्यं शुद्धिरुच्यते ।
अतः कण्ठे विशुद्धाख्यं चक्रं चक्रविदो विदुः ॥ ४१ ॥

'वि' शब्द हंसका और 'शुद्ध' शब्द निर्मलका बोधक है कण्ठमें अत्यंत निर्मल विशुद्धनामा चक्र है यह सर्वोत्कृष्ट है चक्रोंके तत्त्व जाननेवाले योगी जानते हैं ॥ ४१ ॥

अमृतं कन्दरे कृत्वा नासान्तसुषिरे क्रमात् ।
स्वयमुच्चालितं याति वर्जयित्वा मुखं रवेः ॥ ४२ ॥

विशुद्धचक्रस्थ चंद्रकलामृतको अपनावायुसहित प्राणवायुको ऊपर चलायके लंबिका ऊर्ध्वविवरमें प्रवेश (पूर्ण) कर क्रमसे नासिकाके ऊपर विवरमें पहुँचानेसे नाभिसूर्यके मुख (जो अमृतको भस्म करता है) को वंचन (छलन) करके उक्तामृत उदरमें अन्नके समान पहुँचता है ॥ ४२ ॥

बद्धं सोमकलाजलं सुविमलं कण्ठस्थलादूर्ध्वतो
नासान्ते सुषिरे नयेच्च गगनद्वारान्ततः सर्वतः ।
ऊर्ध्वास्यो भुवि सन्निपत्य नितरामुत्तानपादः पिबे-
देवं यःकुरुतेजितेन्द्रियगणो नैवास्ति तस्य क्षयः ४३

कंठके ऊपर निर्मल चंद्रकलामृतको पूर्वोक्त विधिसे रोकके नासा ऊर्ध्वविवरमें पूरित करे तब सर्वद्वारोंको रोकके (गगन) आज्ञाचक्रमें प्राणापानवायुसहित पूरण करके ऊर्ध्वमुख होकर भूमिमें उत्तान लेटकर पैरोंकोभी उत्तान करके जितेंद्रिय होकर उक्तामृतपान करना जो योगी निरंतर इस विधिको करता है उसका क्षय (मृत्यु) नहीं होता ॥ ४३ ॥

ऊर्ध्वजिह्वां स्थिरीकृत्य सोमपानं करोति यः ।
मासार्द्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगवित् ॥४४॥

जिह्वाको ऊपर लंबी करके ऊपर स्थिर करके जो योगी अमृतपान करता है उस अभ्यासीको एकही पक्ष (१५ दिन) में मृत्यु जीतनेका सामर्थ्य होता है इसमें संदेह नहीं ॥ ४४ ॥

बद्धं मूलबिलं येन तेन विघ्नो विदारितः ।
अजरामरमाप्नोति यथा पञ्चमुखो हरः ॥ ४५ ॥

जिस योगीने (मूलबंध मूलद्वार रोका उसने जरामरणादि विघ्नका नाश करलिया, इस हेतु जरामरणयुक्त देहमें आत्मभावको छोडकर जरामरणरहित शुद्ध आत्मभावको प्राप्त होता है जैसे पंचवक्त्र सदाशिव देहाहंकार जरामरणादिरहित विराजमान है ऐसेही उक्त अभ्यासीभी होता है ॥ ४५॥

संपीड्य रसनाग्रेण राजदन्तबिलं महत् ।
ध्यात्वामृतमयीं देवीं षण्मासेन कविर्भवेत् ॥ ४६ ॥

जो जिह्वाग्रसे राजदंतके बिल (रंध्र) को अचेतन (पीडन) कर अमृतमयी वागीश्वरी देवीके ध्यानका अभ्यास करता है तो अभ्यास सिद्ध होनेपर छः महीनेमें विचित्र कवितासामर्थ्य कवि हो जाता है ॥ ४६ ॥

सर्वाधाराणि बध्नाति तदूर्ध्वं चारितं महत् ।
न मुञ्चत्यमृतं कोऽपि स पन्थाः पञ्च धारणाः॥४७॥

जिह्वाग्रसे पीडन कर राजदंतके छिद्रको रोकनेसे समस्त नाडियोंके मुख रुक जाते हैं. ऊपरके रुकनेसे अमृतधारा गिरके अन्यत्र नहीं गिर सकती पंचधारणाके अभ्यासी योगीकोभी जैसी इसीमें चंद्रमासे निस्सरित अमृतका हरण प्रत्याहार कहा है तैसेही अमृतको लंबिकाके ऊर्ध्वविवरमें धारणा करना यह धारणा होती है ॥ ४७ ॥

चुम्बन्ती यदि लम्बिकाग्रमनिशं जिह्वा रसस्यन्दिनी
सक्षारं कटुकाम्लदुग्धसदृशं मध्वाज्यतुल्यं तथा ।
व्याधीनां हरणं जरान्तकरणं शास्त्राङ्गमोद्गीरणं
तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धांगनाकर्षणम् ४८

जिह्वाको लंबिकाके निरंतर चुंबनाभ्यास करनेवाले योगीको कभी लवण, कभी चरपरा, कभी खट्टा, कभी दूधसा, कभी सहतकासा, कभी घीकासा स्वाद जिह्वामें अनुभव होते हैं ये लक्षण जब अभ्यास सिद्ध हुएमें होने लगते हैं तब योगीके व्याधि (रोग) नाश होते हैं, वृद्धावस्थाका निवारण होता है, शास्त्रके व्याख्यान करनेका सामर्थ्य बिना पढेभी होता है, अमृतमय शरीर होकर अष्ट सिद्धि मिलती हैं स्मरणमात्रसे सिद्ध, गंधर्व, नागादिकन्याओंके आकर्षण करनेका सामर्थ्य होता है ॥ ४८ ॥

अमृतापूर्णदेहस्य योगिनो द्वित्रिवत्सरात् ।
ऊर्ध्वं प्रवर्तते रेतोऽप्यणिमादिगुणोदयः ॥ ४९ ॥

उक्त प्रत्याहारका फल कहते हैं कि उक्त प्रकारसे अमृतसे परिपूर्ण जब देह योगीका हो जाता है तो २।३ वर्ष अभ्याससे वीर्य (रेत) ऊपरको चढ जाता है ऊर्ध्वरेता होकर कदाचित्भी वीर्य स्वलित नहीं होता एवं आणिमादि सिद्धि उदय होती हैं ॥ ४९ ॥

इन्धनानि यथा वह्निस्तैलवर्ति च दीपकः ।
तथा सोमकलापूर्णदेहं देही न मुञ्चति ॥ ५० ॥

जैसे अग्नि शुष्ककाष्ठ एवं दीपक तैलवर्तिको समग्र भस्म किये बिना नहीं छोडता तैसेही जीवात्माभी चंद्रकलामृतसे पूर्ण हुए योगीके शरीरको कदापि नहीं छोडता ॥ ५० ॥

नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य योगिनः ।
तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ॥ ५१ ॥

जिस योगीका शरीर नित्य सोमकलामृतसे पूर्ण रहता है उसे तक्षकनागभी डसे (काटे) तोभी शरीरमें विष नहीं फैलता ॥५१॥

इति प्रत्याहारप्रकरणम् ।

पंचधारणा के अभ्यासी योगी को जैसा चन्द्रमा से निस्सरित अमृत का हरण प्रत्याहार कहा है, वैसा ही अमृत को लम्बिका के ऊर्ध्वविवर में धारणा करना यह धारणा होती है ॥47 ॥

चुम्बन्ती यदि लम्बिकाग्रमनिशं जिह्वा रसस्यन्दिनी
सक्षारं कटुकाम्लदुग्धसदृशं मध्वाज्यतुल्यं तथा।
व्याधीनां हरणं जरान्तकरणं शास्त्राङ्गमोद्गीरणं
तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितंसिद्धाङ्गनाकर्षणम् ॥48 ॥

लम्बिका के निरन्तर चुम्बनाभ्यास करने वाले योगी की जिह्वा में कभी लवण, कभी चरपरा, कभी खट्टा, कभी दूध-सा, कभी शहद-सा, कभी घी-सा स्वाद अनुभव होता है, ये लक्षण जब अभ्यास सिद्ध होने पर होने लगते हैं, तब योगी के व्याधि (रोग) नाश होते हैं, वृद्धावस्था निवारण होता है, शास्त्र के व्याख्यान करने का सामर्थ्य बिना पढ़े भी होता है, अमृतमय शरीर और अष्ट सिद्धि मिलती है। स्मरणमात्र से सिद्ध गन्धर्व, नागादिकन्याओं के आकर्षण करने का सामर्थ्य प्राप्त होता है ॥48 ॥

अमृतापूर्णदेहस्य योगिनो द्वित्रिवत्सरात्।
ऊर्ध्वं प्रवर्तते रेतोऽप्यणिमादिगुणोदयः ॥49 ॥

उक्त प्रत्याहार का फल कहते हैं—उक्त प्रकार से अमृत से परिपूर्ण जब योगी का देह हो जाता है, तो दो-तीन वर्ष के अभ्यास से वीर्य (रेत) ऊपर को चढ़ जाता है, ऊर्ध्व रेता होने पर कदाचित् भी वीर्य स्खलित नहीं होता एवं अणिमादि सिद्धियां प्राप्त होती हैं ॥49 ॥

ईन्धनानि यथा वह्निस्तैलवर्ति च दीपकः।
तथा सोमकलापूर्ण देहं देही न मुञ्चति ॥50 ॥

जैसे अग्नि, शुष्क काष्ठ एवं दीपक तेलवर्ति को समग्र भस्म किये बिना नहीं छोड़ता, वैसे ही जीवात्मा भी चन्द्रकलामृत से पूर्ण होने पर योगी के शरीर को कदापि नहीं छोड़ता ॥50 ॥

नित्यं सोमकलापूर्णशरीरं यस्य योगिनः।
तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ॥51 ॥

जिस योगी का शरीर नित्य सोमकलामृत से पूर्ण रहता है, उसे तक्षकनाग भी डसे (काटे), तो उसके शरीर में विष नहीं फैलता ॥51 ॥

इति प्रत्याहारप्रकरणम्

अब 9 श्लोकों में धारणा का विस्तार कहते हैं—

आसनेन समायुक्तः प्राणायामेन संयुतः।

प्रत्याहारेण सम्पन्नो धारणा च समभ्यसेत् ॥52॥

आसन का साधन, प्राणायाम का साधन और प्रत्याहार का अभ्यास करके इन्द्रियवृत्तियों को रोकने का सामर्थ्य होने पर धारणा का अभ्यास करना चाहिए ॥52॥

हृदये पञ्चभूतानां धारणा च पृथक् पृथक्।
मनसो निश्चलत्वेन धारणा साभिधीयते ॥53॥

हृदय में मन एवं प्राणवायु को निश्चल करके पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश—इन पंचभूतों को पृथक्-पृथक् सन्धार करना धारणा कहलाती है ॥53॥

यापृथ्वी हरितालहेमरुचिरा पीता लकारान्विता
संयुक्ता कमलासनेन हि चतुष्कोणाहृदि स्थायिनी।
प्राणांस्तत्र विलीय पंचघटिकं चित्तान्वितान्धारये-
देषास्तंभकरी सदा क्षितिजयं कुर्याद्भुवो धारणा ॥54॥

पहले पृथ्वी धारणा कहते हैं—जो पृथ्वी हरिताल अथवा सुवर्ण समान रमणीयवर्ण अधिष्ठातृ देवता ब्रह्मासहित चतुष्कोणाकार मध्य में (लं) बीजयुक्त है, इस (लं) पृथ्वीतत्त्व को हृदय में ध्यान करके भावना करना उक्त भूमण्डल में आप भी लीन हो चित्तसहित प्राण को लीन करके पांच घटीपर्यन्त स्तम्भन करने वाली धारणा होती है। इस धारणा के सर्वदा अभ्यास से पृथ्वीतत्त्व अपने वशवर्ती होता है ॥54॥

अर्द्धेन्दुप्रतिमं च कुन्दधवलं कण्ठेऽम्बुतत्त्वं स्थितं
यत्पीयूषवकारबीजसहितं युक्तं सदा विष्णुना।
प्राणं तत्र विलीय पञ्च घटिका चित्तान्वितं धारये-
देषा दुःसहकालकूटदहनी स्याद्वारुणी धारणा ॥55॥

वारुणी (जल) धारणा कहते हैं—अर्धचन्द्राकार कुन्दपुष्प समान श्वेतवर्ण अमृतरूप (वं) बीज मध्य सहित अधिष्ठातृ देवता विष्णुसहित जलतत्त्व को विशुद्धचक्र में ध्यान करना और उक्त जलतत्त्व में आप भी लीन हो चित्तसहित प्राण को लीन कर पांच घड़ी पर्यन्त धारणा करना, यह जलस्तम्भन करने वाली वारुणी धारणा है। इसके सर्वदा अभ्यास से कालकूट विष भी भस्म हो जाता है और शरीर में असर नहीं करता ॥55॥

यत्तालुस्थितमिन्द्रगोपसदृशं तत्त्वं त्रिकोणानलं
तेजो रेफयुतं प्रवालरुचिरं रुद्रेण सत्सङ्गतम्।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकं चित्तान्वितं धारये-

देषा वह्निजयं सदा वितनुते वैश्वानरी धारणा ॥56॥

आग्नेयी धारणा कहते हैं—इन्द्रगोप (बीरबहूटी कीड़े) के सदृश रक्तवर्ण त्रिकोणाकार प्रवाल (मूंगा) समान तेजोरूप (रं) बीजमध्य शोभित अधिष्ठातृ देवता रुद्रसहित आग्नेयतत्त्व को तालु स्थान में भावना कर उक्त अग्नितत्त्व में स्वयं भी लीन होकर चित्तसहित प्राण को लीन करके पांच घटीपर्यन्त तन्मय होना ही वैश्वानरी धारणा है, इसके सर्वदा अभ्यास से योगी अग्नि को जीतने वाला होता है और अग्नि उसको नहीं जलाती ॥56॥

यद्भिन्नाज्जनपुञ्जसन्निभमिदं स्यूतं भ्रुवोरन्तरे
तत्त्वं वायुमयं यकारसहितं तत्रेश्वरो देवता।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकं चिन्तान्वितं धारये-
देषा खेगमनं करोति यमिनःस्याद्वायवी धारणा ॥57॥

वायवी धारणा कहते हैं—वर्तुलाकार कज्जल के पुंज समान अतिनीलवर्ण (यं) बीजसहित अधिष्ठातृ देवता ईश्वरसहित वायुतत्त्व को भ्रूमध्य में ध्यान कर उक्त वायुतत्त्व में आप भी लीन हो या चित्तसहित प्राण को लीन कर पांच घटीपर्यन्त स्थिर रखना, यह वायुतत्त्व की धारणा है, इस धारणा के नित्य अभ्यास करने से आकाश में गति होती है ॥57॥

आकाशं शुविशुद्धवारिसदृशं यद्ब्रह्मरन्ध्रस्थितं
तन्नादेन सदाशिवेन सहितं तत्त्वं हकारान्वितम्।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकं चित्तान्वितं धारये-
देषा मोक्षकपाटपाटनपटुः प्रोक्ता नभोधारणा ॥58॥

नभोधारणा कहते हैं—वर्तुलाकार निर्मल जल समान वर्ण (हं) बीजसहित अधिष्ठातृ देवता सदाशिवसहित आकाशतत्त्व को ब्रह्मरन्ध्र में ध्यान करना इस तत्त्व में आप भी लीन हो चित्तसहित प्राण को लीन कर पांच घटी तक स्थिर रखना, यह नभोधारणा मोक्षरूपी द्वार के खोलने में चतुर है, इसका नित्य अभ्यास करने से मोक्षद्वार खुल जाता है ॥58॥

स्तम्भिनी द्राविणी चैव दाहनी भ्रामिणी तथा।
शोषिणी च भवत्येषा भूतानां पंच धारणाः ॥59॥

पृथ्वी धारणा के अभ्यास दृढ़ होने पर जलपवनादि स्तम्भन सामर्थ्य होती है, वारुणीधारणा के अभ्यास दृढ़ होने पर समस्त द्रव्यपात्र को द्रव (जल) समान करने की सामर्थ्य होती है एवं आग्नेयी से बिना अग्नि ही वस्तुमात्र को जलाने की सामर्थ्य होती है, वायु धारणा से वस्तु मात्र किंवा समस्त जगत् को घुमाने की सामर्थ्य होती है, नभोधारणा से सर्वशोषण

सामर्थ्य होती है, इन पांच धारणाओं की साधारण क्रियाएं हैं ॥59 ॥

कर्मणा मनसा वाचा धारणाः पञ्चदुर्लभाः।
विज्ञाय सततं योगी सर्वदुःखैः प्रमुच्यते ॥60 ॥

कर्म (अनुष्ठान) से मन के चिन्तन से, वचन शास्त्र के प्रमाण मानने से, निरूपण द्वारा पांचों धारणाओं का स्थिराभ्यास करने से समस्त दुःखों से मुक्ति मिलती है ॥60 ॥

इति धारणाः

स्मृत्येव सर्वचिन्तायां धातुरेकः प्रपद्यते।
यच्चित्ते निर्मला चिन्ता तद्धि ध्यानं प्रचक्षते ॥61 ॥

'स्मृ' यह धातु चिन्ता सामान्यवाचक है। चित्त में योगशास्त्रोक्त विधि से निर्मलान्तर करके आत्मतत्त्व का स्मरण करना ध्यान कहलाता है ॥61 ॥

द्विविधं भवति ध्यानं सकलं निष्कलं तथा।
चर्याभेदेन सकलं निष्कलं निर्गुणं भवेत् ॥62 ॥

यह ध्यान सगुण, निर्गुण भेद से दो प्रकार का है, श्यामवर्ण चतुर्बाहु वनमालामुकुटकुण्डलीपीताम्बरधारी विष्णु का ध्यान करना सगुण ध्यान है ॥62 ॥

अन्तश्चेतो बहिश्चक्षुरधः स्थाप्य सुखासनः।
कुण्डलिन्या समायुक्तं ध्यात्वा मुच्येत किल्विषात् ॥63 ॥

एकान्त पवित्र स्थान में बैठकर पद्मासन या स्वस्तिकासन लगाकर शरीर सरल बनाकर आधारादि चक्रों में अन्तःकरण (मन) लगाकर नासाग्र में दृष्टि देकर कुण्डलिनीसहित ध्येयवस्तु का ध्यान करने से योगी समस्त पापों से निर्मुक्त होता है, यह ध्यान मुद्रा है ॥63 ॥

आधारं प्रथमं चक्रं स्वर्णाभं च चतुर्दलम्।
कुण्डलिन्या समायुक्तं ध्यात्वा मुच्येत किल्विषैः ॥64 ॥

योगियों के ध्यान करने योग्य वन स्थान है, इनमें प्रथम, मूलाधार चक्र सुवर्ण वर्ण चतुर्दश कमल है। इसको कर्णिका में स्वयंभूलिंग के सिर में बिम्बाकार साढ़े तीन वृतवेष्टित हो रही कुण्डलिनीसहित इस चक्र के ध्यान करने से योगी समस्त पापों से निर्मुक्त होता है ॥64 ॥

स्वाधिष्ठाने च षट्पत्रे सन्माणिक्यसमप्रभे।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा योगी सुखी भवेत् ॥65 ॥

द्वितीय स्वाधिष्ठान चक्र, रक्तवर्ण षट्दलकमल कर्णिका में सगुण या निर्गुण ज्योतिःस्वरूप आत्मा को नासाग्रदृष्टि करके ध्यान करने से योगी

आनन्दावस्था को प्राप्त होता है ॥65 ॥

तरुणादित्यसंकाशे चक्रे च मणिपूरके।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा संक्षोभयेज्जगत् ॥66 ॥

तृतीय मणिपूर चक्र, उदय होते सूर्यमण्डल समान रक्तवर्ण कमल कर्णिका में सगुण व निर्गुण ज्योतिरूप आत्मा को नासाग्रदृष्टि करके ध्यान करने से योगी समस्त जगत्क्षोभ करने की सामर्थ्य पाता है ॥66 ॥

हृदाकाशे स्थितं शम्भु प्रचण्डरवितेजसम्।
नासाग्रे दृष्टिमाधाय ध्यात्वा ब्रह्ममयो भवेत् ॥67 ॥

चतुर्थ, हृदयरूप आकाश अनाहतचक्र कर्णिका में रहते प्रचण्ड तेजवान् सूर्य समान तेजस्वी बाणलिंग (शिव) का ध्यान नासाग्रदृष्टि देकर करने से योगी ब्रह्ममय होता है ॥67 ॥

विद्युत्प्रभे च हृत्पद्मे प्राणायामविभेदतः।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा ब्रह्ममयो भवेत् ॥68 ॥

ऐसे ही विद्युत् समान प्रभायुक्त हृदयकमल कर्णिका में उक्त प्रकार से नासाग्रदृष्टि देकर सगुण या निर्गुण ज्योतिःस्वरूप आत्मा के ध्यान करने से योगी ब्रह्ममय (जीवन्मुक्त) होता है ॥68 ॥

सततं घण्टिकामध्ये विशुद्धे दीपकप्रभे।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वानन्दमयो भवेत् ॥69 ॥

कण्ठस्थान में दीपज्योति समान कान्तिमान् विशुद्ध चक्र में नासाग्रदृष्टि करके सगुण, निर्गुण या ज्योतिःस्वरूप आत्मा के ध्यान करने से योगी अमर होता है ॥69 ॥

भ्रुवोरन्तर्गतं देवं सन्माणिक्यशिखोपमम्।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वानन्दमयो भवेत् ॥70 ॥

भ्रूमध्ये आज्ञाचक्र में माणिकशिखा (चूनी की सूक्ष्म चमक) समान रक्तवर्ण आत्मा को नासाग्रदृष्टि देकर ध्यान करने से योगी समस्त दुःखरहित आनन्दमय होता है ॥70 ॥

ध्यायन्नीलनिभं नित्यं भ्रूमध्ये परमेश्वरम्।
आत्मानं विजितप्राणो योगी योगमवाप्नुयात् ॥71 ॥

आज्ञाचक्र में नीलवर्ण शिव परमात्मा का ध्यान करता हुआ प्राणायाम करने से योगी जीवात्मा परमात्मा के ऐक्य को पाता है ॥71 ॥

निर्गुणं च शिवं शान्तं गगने विश्वतोमुखम्।
नासाग्रदृष्टिरेकाकी ध्यात्वा ब्रह्ममयो भवेत् ॥72 ॥

आज्ञाचक्र में निर्गुणरूप, शान्त विश्वव्यापक, शिव के नासाग्र में दृष्टि देकर ध्यान करने से जीव भाव को देने वाले गुणधर्म से रहित होकर ब्रह्ममय हो जाता है ॥72 ॥

आकाशे यत्र शब्दः स्यात्तदाज्ञाचक्रमुच्यते।
तत्रात्मानं शिवं ध्यात्वा योगी मुक्तिमवाप्नुयात् ॥73 ॥

जिस तत्त्व में नाद प्रकट होता है, ऐसा आकाशतत्त्व स्थान मन का स्थान है, वही भ्रूमध्य में आज्ञाचक्र कहलाता है। इसमें रहने वाले सदा शिवरूप आत्मा के ध्यान करने से योगी कैवल्य मुक्ति पाता है ॥73 ॥

निर्मलं गगनाकारं मरीचिजलसन्निभम्।
आत्मानं सर्वगं ध्यात्वा योगीमुक्तिमवाप्नुयात् ॥74 ॥

आज्ञाचक्र के ऊपर शून्य स्थान में करने योग्य ध्यान रहते हैं—स्वरूप को आच्छादित करने वाला, मलिन सम्बन्ध से रहित, आकाश समान, एकाकार, सर्वव्यापक, प्रकाशमान तेज स्वरूप के ध्यान करने से योगी मुक्ति को प्राप्त होता है ॥74 ॥

गुदं मेढ्रं च नाभिश्च हृत्पद्मं च तदूर्ध्वतः।
घण्टिका लम्बिकास्थान भ्रूमध्ये च नभोबिलम् ॥75 ॥

ध्यानमुक्त नव स्थानों को पुनः कहते हैं—1. गुदा (मूलाधार), 2. मेढ्र (स्वाधिष्ठान), 3. नाभि (मणिपूर), 4. हृत्पद्म (अनाहत), 5. तदूर्ध्वं (विशुद्ध), 6. घण्टिका का मूल, 7. लम्बिका का स्थान, 8. आज्ञाचक्र, 9. इसके ऊपर का शून्य स्थान—ये नव ध्यान योग स्थान हैं ॥75 ॥

कथितानि नवैतानि ध्यानस्थानानि योगिभिः।
उपाधितत्वमुक्तानि कुर्वन्त्यष्टगुणोदयम् ॥76 ॥

योगियों द्वारा उक्त नव स्थान ध्यानोपयोगी कहे गये हैं। इन्हें उपाधि, अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश—इन पांच तत्त्वों से सम्मिलित ध्यान करने से अणिमादि अष्टसिद्धियों का उदय होता है ॥76 ॥

एषु ब्रह्मात्मकं तेजः शिवज्योतिरनुत्तमम्।
ध्यात्वा ज्ञात्वा विमुक्तः स्यादिति गोरक्षभाषितम् ॥77 ॥

उक्त नव स्थानों में सर्वोत्कृष्ट शिव अनाहत आज्ञाचक्रों में उक्त प्रकार से साकार सगुणस्वरूप को अथवा निराकार निर्गुण ब्रह्म को भावना द्वारा उक्त स्थानों में ध्यान करने से योगी संसार से मुक्त होकर पुनर्जन्ममरणरूप सन्ताप से छूट जाता है, यह श्रीगोरक्षनाथ प्रतिज्ञा करके कहते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥77 ॥

नाभौ संयम्य पवनगतिमधो रोधयंसंप्रयत्नादा-
कुञ्च्यापानमूलं हुतबहसदृशं तन्तुवत्सूक्ष्मरूपम् ।
तद्बद्ध्वा हृत्सरोजे तदनु दलणके तालुके ब्रह्मरन्ध्रे
भित्वाते यान्ति शून्यं प्रविशति गगने यत्र देवो महेशः ॥78॥

चित्त (अन्तःकरण) को मणिपूर चक्र में स्थिर करके अपानद्वार को बड़े प्रयत्न से संकोच-विकाश कर अपानवायु को अधोगति को रोककर ऊपर ले जाकर मन एवं प्राणवायु से ऐक्य करे, सूत्र के समान सूक्ष्म अग्नि समान देदीप्यमान ज्योतिःस्वरूप को उक्त ऐक्य में चिन्तन करने से उक्त ज्योति नाभिचक्र को वेधन कर हृदयकमल में पहुंचता है, पुनः अभ्यास सिद्धि होने पर हृदयकमल को वेधकर ब्रह्मरन्ध्र में पहुंचता है, इसी विधि से योगियों के शरीर त्याग समय में वह ज्योति स्वरूप ब्रह्मरन्ध्र को भेदन कर परमशिव शून्याकार चिदाकाश में प्रवेश कर परब्रह्म में लीन हो जाता है॥78॥

नाभौ शुभ्रारविन्दं तदुपरि विमलं मण्डलं चण्डरश्मेः
संसारस्यैकरूपां त्रिभुवनजननीं धर्मदात्रीं नराणाम्।
तस्मिनमध्ये त्रिमार्गे त्रितयतनुधरां छिन्नमस्तां प्रशस्तां
तां वंदे ज्ञानरूपां मरणभयहरां योगिनीज्ञानमुद्राम्॥79॥

मणिपूर चक्र में शुक्लवर्ण कमल चिन्तनपूर्वक उसके मध्य में निर्मल सूर्यमण्डल का ध्यान करना, इस मण्डल के मध्य में सत्त्व, रज, तम, त्रिगुणरूप उपाधि भेद से तीन प्रकार से विद्यमान सुषुम्ना नाड़ी के द्वार में संसार-कारणरूप त्रैलोक्य को उत्पन्न करने वाली जन्ममरणोपाधिग्रस्त मनुष्यों को उपासना मार्ग से मोक्षरूप परमधर्म देने वाली त्रिगुणरूपा ज्ञानस्वरूपिणी, जिसकी स्तुति ब्रह्मादि देवता और सनकादि सिद्ध करते हैं तथा योगमात्र से गम्या, ज्ञानमात्र उपाधियुक्ता छिन्नमस्ता नाड़ी स्वरूप भासमान हो रही कुण्डलिनी को स्तुति (अभिवादन) करता हूं, इस प्रकार योगी छिन्नमस्ता महाविद्यारूपा कुण्डलिनी की वन्दना करे॥79॥

अश्वमेधसहस्त्राणि वाजपेयशतानि च।
एकस्य ध्यानयोगस्य तुलां नार्हन्ति षोडशीम्॥80॥

सहस्त्रों अश्वमेध, सैकड़ों वाजपेय यज्ञों का फल भी केवल सात्त्विक एक ध्यानावस्था के सोलहवें अंश (भाग) के समान नहीं है, अर्थात् यज्ञादि साधनाओं से भी ध्यानयोग श्रेष्ठ है॥80॥

इति ध्यानप्रकरणम्

उपाधिश्च तथा तत्त्वं द्वयमेतदुदाहृतम्।

उपाधिः प्रोच्यते वर्णस्तत्वमात्माभिधीयते ॥81॥

अब 15 श्लोक में समाधि विधि कहते हैं। प्रकाशयुक्त आत्मा उपाधि तथा आत्मचैतन्य को तत्त्व कहते हैं। उपाधि और तत्त्व—ये दोनों ही मुख्यतया विचार्य्य हैं, उपाधि प्रणवरूप वर्ण ॐ है, तत्त्व आत्मा कहलाता है॥

उपाधेरन्यथा ज्ञानतत्वसंस्थितिरन्यथा।
समस्तोपाधिविध्वंसी सदाभ्यासेन जायते ॥82॥

उपाधि से यथार्थ वैषयिक अन्य ही हैं, अर्थात् विपरीत बोधक हैं, जैसे स्फटिक तो श्वेत है, परन्तु लाल, पीला, नीला आदि रंग उपाधि सम्बन्ध से वह भी उसी रंग-का-सा भासमान होता है, वैसे ही शरीर में निर्विकार शुद्ध आत्मा विषयवासनाओं के संसर्ग से "अहं सुखी" "अहं दुखी" इत्यादि का अनुभव करता है, जब अपनी निर्मल बुद्धि से उपाधि पृथक् माने, तब आत्मस्वरूप का यथार्थ ज्ञान होता है। जैसे रक्तादि रंग में स्फटिक भी वैसा होता है, परन्तु बुद्धि से स्फटिक तो शुक्ल ही है, किन्तु रक्तादि रंगोपाधिविकार से मिथ्या रंग देखा जाता है, वैसे ही इन्द्रिय धर्मों से आत्मा भी जीवात्मा सम्बन्धी यथार्थज्ञान से अद्वैतानन्दस्वरूप है, सुख-दुःख का इसमें सम्बन्ध नहीं है, यह ज्ञान योगाभ्यास से होता है और इस ज्ञान के होने पर उपाधि जाल विनाश करने में समर्थ होता है॥82॥

शब्दादीनां च तन्मात्रं यावत्कर्णादिषु स्थितम्।
तावदेवं स्मृतं ध्यानं समाधिः स्यादतः परम् ॥83॥

ध्यान एवं समाधि का अवस्था भेद कहते हैं—ध्यानावस्था में स्थिर रहते योगी के कर्णादि इन्द्रियों में शब्दादि विषयों का सूक्ष्म भाग भी जब तक प्राप्त होता है, तभी तक ध्यानावस्था कहलाती है। जब आत्मा में पचेन्द्रियवृत्ति लीन हो जाये, तब आत्मा में अर्थमात्र का भान रहने वाली अवस्था समाधि कहलाती है॥83॥

धारणा एञ्चनाडीभिर्ध्यानं च षष्टिनाडीभिः।
दिनद्वादशकेन स्यात्समाधिः प्राणसंयमात् ॥84॥

ध्यान धारणा समाधि का प्रमाण कहते हैं—प्राणवायु के व्यापार रोकने में पांच घटीपर्यन्त धारणा कहलाती है, ऐसे ही 60 घटी से ध्यान और बारह अहोरात्रपर्यन्त प्राणवायु का निरन्तर रोकना ही समाधि कहलाती है॥84॥

यत्सर्वं द्वन्द्वयोरैक्यं जीवात्मपरमात्मनोः।
समस्तनष्टसंकल्पः समाधिः साभिधीयते ॥85॥

दृष्टान्त सहित समाधि का स्वरूप कहते हैं—भूख-प्यास, शीत-उष्ण,

सुख-दुःख इत्यादि द्वन्द्व कहलाते हैं, इनसे पीड़ा न होने तथा इनसे उद्वेग न होने का जो ऐक्य है, अर्थात् जीवात्मा-परमात्मा का कारणमात्र रूप से ऐक्य जाने। समस्त संकल्प-विकल्पों का दूर होना ही समाधि कहलाती है॥85॥

अम्बुसैन्धवयोरैक्यं यथा भवति योगतः।
तथात्ममनसोरैक्यं समाधिः सोऽभिधीयते॥86॥

जीवात्मा परमात्मा का तथा आत्मा और मन का ऐक्य न होने पर सिद्धि नहीं होती, अतएव दृष्टान्त सहित कहते हैं कि जैसे जल में सेंधानोन (सैंधव) देने से दोनों का ऐक्य दिखता है, वैसे ही बाह्य विषयों से विमुख होकर अन्तर्मुख होने पर आत्माकारवृत्ति होने से आत्मा और मन का ऐक्य होता है। इस जीवात्मा परमात्मा के ऐक्य को समाधि कहते हैं॥86॥

यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते।
यदा समरसत्वं च समाधिः सोऽभिधीयते॥87॥

मन एवं प्राण को एकत्र करके स्थिर होकर आत्मा की भावना करने वाले योगी की जब प्राणवायु आत्मा में ही लीन होती है, तब अन्तःकरण भी लीन होता है। जल तथा सैंधव की-सी जीवात्मा परमात्मात्मा की ऐक्यता (अभिन्न स्वरूपता) होती है, इसी को समाधि कहते हैं॥87॥

न गन्धं न रसं रूपं न च स्पर्शं न निःस्वनम्।
नात्मानं न परस्वं च योगी युक्तः समाधिना॥88॥

योगी के समाधि में रहने की अवस्था कहते हैं—जो योगी समाधि में एकत्व को प्राप्त हो जाता है, तो सर्व इन्द्रियों को मन में लीनकर गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द—इन पांच विषयों को नहीं जानता, कोई वस्तु अपनी या परायी नहीं मानता तथा जीवात्मा परमात्मा को अलग नहीं मानता, एक ही समझता है। इस प्रकार के ध्यान करने वाले योगी को अन्य किसी वस्तु का भान नहीं होता है॥

अभेद्यः सर्वशस्त्राणामवध्यः सर्वदेहिनाम्।
अग्राह्यो मन्त्रयन्त्राणां योगी युक्तः समाधिना॥89॥

जब योगी उक्त विधि से समाधियुक्त हो जाता है, तो समस्त शस्त्रों से अभेद्य (न कटने योग्य) होता है, देही (मनुष्य) सिंह, गज, व्याघ्र आदियों से नहीं मारा जाता और मन्त्र, यन्त्र, मारण मोहनादि प्रयोग भी उस पर नहीं चलता है॥89॥

बाध्यते न स कालेन लिप्यते न स कर्मणा।
साध्यते न च केनापि योगीः युक्तः सामधिना॥90॥

जब योगी समाधि में स्थिर हो जाता है, तो उसको जरा (बुढ़ापा) एवं मरण (मृत्यु) पीड़न नहीं कर सकते, अर्थात् अजरामर हो जाता है। उस पर काल का वश नहीं चलता, पाप-पुण्य हैं हेतु जिसके ऐसे कर्म बन्धनों से लिप्त नहीं होता, कोई उसे विषयवासना में नहीं लगा सकता और किसी के साधन में यह नहीं आता ॥90॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुखहा ॥91॥

मिताहारयुक्त व्यवहार में रहकर जो योगी समस्त कर्मों में युक्त रहता है और निद्रा-जागरण भी युक्त रखता है, अर्थात् कोई काम भी अयुक्त नहीं करता तथा पूर्वोक्त क्रियाओं में सावधान रहता है, उसका योग दुःखनाशक कहलाता है ॥91॥

निराद्यन्तं निरालम्बं निष्प्रपञ्चं निरामयम्।
निराश्रयं निराकारं तत्वं जानाति योगवित् ॥92॥

जब योगी उक्त विधि से समाधि में स्थिर हो जाता है, तब परमतत्त्व जिसका आद्यन्त नहीं, किसी के आलम्बन (निमित्त) में नहीं, माया आदि किसी के आश्रय में नहीं, द्वैतकल्पना में नहीं, ऐसे जीवात्मा परमात्मा के ऐक्य आत्मस्वरूप तत्त्व को जानता हैं ॥92॥

निर्मलं निश्चलं नित्यं निष्क्रियं निर्गुणं महत्।
व्योमविज्ञानमानन्दं ब्रह्मं ब्रह्मविदो विदुः ॥93॥

निर्मल (कर्म के फल वासनारूप मल से रहित), निश्चल (चेष्टारहित), नित्य (परिणामरहित), निष्क्रिय (सर्व व्यापारशून्य), निर्गुण (सत्वादि-गुणरहित), महत् जिसका (परिणाम नहीं किया जाता ऐसे), व्योम (चिदाकाश-स्वरूप), विज्ञान (बोधस्वरूप), आनन्दब्रह्म (अद्वैतानन्दस्वरूप), ब्रह्म को, ब्रह्मविद (योगी) जानते हैं ॥93॥

हेतुदृष्टान्तनिर्मुक्तं मनोबुद्ध्योरगोचरम्।
व्योम विज्ञानमानन्दं तत्वं तत्वविदो विदुः ॥94॥

साक्षात्कारता के लिए हेतु एवं दृष्टान्त से रहित तथा मन एवं बुद्धि द्वारा अगम्य चिदाकाशस्वरूप, बोधस्वरूप, अद्वैतानन्दस्वरूप तत्त्व (ब्रह्म) को ब्रह्मज्ञानी योगी जानते हैं ॥94॥

निरातङ्के निरालम्बे निराधारे निरामये।
योगी योगविधानेन परे ब्रह्मणि लीयते ॥95॥

योगाभ्यासी पुरुष षडंगयोग को पूर्वोक्त विधि से अभ्यास करके

जन्म-मरणादि दुःख के स्पर्श न होने वाले अवलम्बनरहित एवं जिसको कोई आधार नहीं अनिर्वचनीय रोगादिरहित परब्रह्म में लीन होता है, अर्थात् सायुज्यपद को प्राप्त होता है॥95॥

यथा घृते घृतं क्षिप्तं घृतमेव हि जायते।
क्षीरं क्षीरे तथा योगी तत्त्वमेव हि जायते॥96॥

जैसे घृत में घृत मिलाने से घृत तथा दुग्ध में दुग्ध मिलाने से दुग्ध ही होता है, ऐसे ही तत्त्वस्वरूप परब्रह्म में योगाभ्यास द्वारा लीन योगी भी परब्रह्मस्वरूप सायुज्य को प्राप्त होता है। तात्पर्य यह कि जीव और परब्रह्म का सांसारिक दशा में उपाधि द्वारा भेद होने पर भी उपाधि के नष्ट होने पर दोनों चिद्रूप होकर ऐक्यता को प्राप्त होते हैं॥96॥

दुग्धे क्षीरं घृते सर्पिरग्नौ वह्निरिवार्पितः।
तन्मयत्वं व्रजत्येवं योगी लीनः परे पदे॥97॥

जैसे दुग्ध में दुग्ध, घृत में घृत, अग्नि में अग्नि मिलाने से उन दोनों का ऐक्य हो जाता है, वैसे ही योगी की आत्मा परब्रह्म में लीन होकर परब्रह्ममय हो जाती है। आत्मा परमात्मा एक ही है, परंच उपाधि भेद से पृथक् है। अभ्यास से उपाधिरहित होता है और तब उनकी ऐक्यता आप ही प्रकट होती है॥97॥

भवभयहरं नृणां मुक्तिसोपानसंज्ञकम्।
गुह्याद्गुह्यतरं गुह्यं गोरक्षेण प्रकाशितम्॥98॥

योगाभ्यास करने वालों के जन्म-मरणादि भय हरने वाला मुक्तिद्वार में जाने के लिए सोपान (सीढ़ी) सदृश एवं धर्म, अर्थ, काम देने वाला गुप्त से भी अतिगुप्त यह योगशास्त्र श्रीगोरक्षनाथ ने योगियों पर कृपा कर संसार में प्रकट किया॥98॥

गोरक्षसंहितामेतां योगभूतां जनः पठेत्।
सर्वपापविनिर्मुक्तो योगसिद्धिं लभेद् ध्रुवम्॥99॥

पूर्वोक्त विधि से यहां तक मुक्तिसोपान अन्वयार्थ गोरक्षसंहिता संज्ञक योगशास्त्र को जो मनुष्य भक्तिपूर्वक पढ़ता है, वह समस्त पातकों से निर्मुक्त होकर निश्चय योगसिद्धि को प्राप्त करता है॥99॥

योगशास्त्रं पठेन्नित्यं किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
यत्स्वयं चादिनाथस्य निर्गतं वदनाम्बुजात्॥100॥

जो नित्य योगशास्त्र पढते हैं, उन्हें और शास्त्रों से क्या प्रयोजन है, योगशास्त्र का यथोक्त प्रत्यक्ष फल मिलता है; क्योंकि यह शास्त्र आदिनाथ

(शिवजी) के मुखकमल से प्रगट हुआ है और अनुभव सिद्ध होने से अतिप्रामाणिक है॥100॥

स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिलं दत्ता द्विजेभ्यो धरा
यज्ञानां च हुतं सहस्रमयुतं देवाश्च संपूजिताः।
स्वाद्वन्नेन तर्पिताश्च पितरः स्वर्गं च नीताः पुनः
यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि प्राप्नोति धैर्यं मनः॥101॥

इति श्रीगोरक्षयोगशास्त्रे मुक्तिसोपानसंज्ञके उत्तरशतकं सम्पूर्णम्

मोक्ष के प्रतिपादन करने वाले योगशास्त्र को जो पढ़ते हैं, वे कृतकृत्य हो जाते हैं, जिसका मन ब्रह्मज्ञान विचार में और ब्रह्मध्यान विषय में क्षणमात्र भी धैर्य से स्थिर होता है, उसने गंगा, प्रयाग, पुष्करादि समस्त तीर्थों के जलों में स्नान कर लिया, समस्त पृथ्वी का दान सत्पात्र ब्राह्मण को दे दिया, सहस्र किंवा अयुत अश्वमेध वाजेपयादि महायज्ञ कर लिये, ब्रह्मा, विष्णु, महेशादि समस्त देवता विधिपूर्वक पूजित कर लिये, स्वादिष्ट अन्न से पितर तृप्त करके स्वर्ग भेज दिये, इन समस्त सत्कर्मों से जो फल मिलते हैं, वे समस्त आत्मचिन्तनरूप योगाभ्यास से तत्क्षण प्राप्त हो जाते हैं॥101॥

इति गोरक्षसंहिताभाषायां माहीधर्य्यामुत्तरशतकं पूरिपूर्णम्

श्रीनाथीकृपया मया विरचिता भाषा स्वबुद्ध्याल्पया
सर्वेषामुपकारिणी बुधजनाः शब्दार्थसंधायिनः।
भाषा इत्यवहेलनं कुरुत नो योगो हि न ज्ञायते।
शब्दार्थैर्विविधैर्यतो हठयुगादीन् वीक्ष्य विस्तारिता॥

भाषाकार की प्रस्तावना है कि मैंने श्रीनाथ (आदिनाथ) महादेवस्वरूप श्रीगुरु यद्वा श्रीनाथ (लक्ष्मीपति विष्णु) की कृपा से सर्वसाधारण के उपकारार्थ अपनी अल्पबुद्धि से इस योगशास्त्र गोरक्षसंहिता की भाषा टीका की है, इसे देखकर न्याय व्याकरण को जानने वाले बुधजन 'भाषा है' ऐसा कहकर अवहेलना (अनादर) न करें, यतः यह निश्चय है कि योगमार्ग का बोध अनेक प्रकार के शब्दार्थ एवं शास्त्रार्थ तर्कवितर्कादि करने से नहीं होता, यह केवल गुरुलभ्य है, कोई पण्डित चाहे कि अपने पाण्डित्य के बल से लोकार्थ करे, तो यह कदापि नहीं हो सकता। प्रथम गुरुलक्ष्यानुसार स्वानुभव सिद्धि करने से ही इसका ज्ञान होता है, इसलिए गुरुप्रसादोत्तर हठप्रदीपादि ग्रन्थ देखकर यह ग्रन्थ बढ़ा दिया तथा भावार्थ भी यथामति प्रकट कर दिया।

इति गोरक्षपद्धति

गोरक्षदर्शन

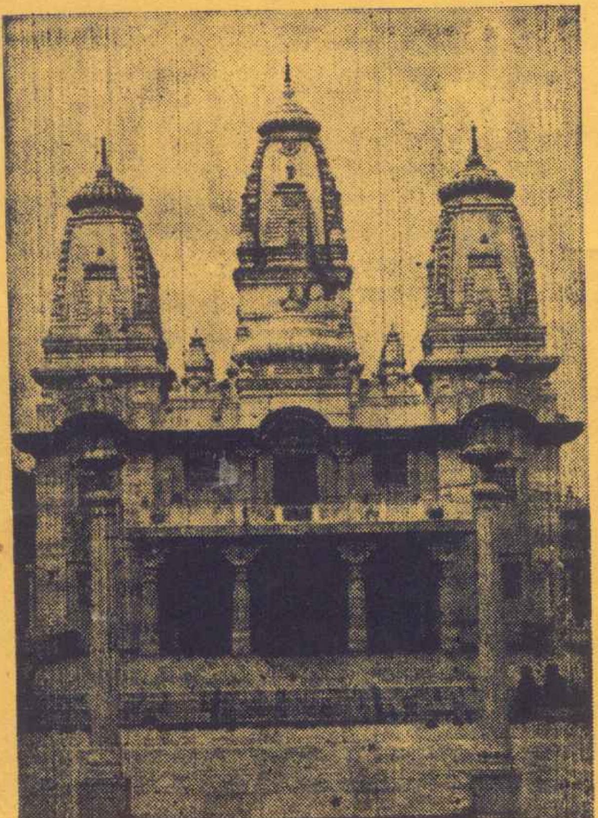

गोरखनाथ-मन्दिर, गोरखपुर

60.00

योगसाधन

द्विजसेवितशाखस्य श्रुतिकल्पतरोः फलम् ।
शमनं भवतापस्य योगं भजत सत्तमाः ।।

वेद कल्पतरु हैं। जिस तरह कल्पतरु की शाखायें पक्षियों क. आश्रयस्थान हैं, ठीक इसी तरह द्विजों (पण्डितों, विद्वानों) द्वारा वेद की शाखाओं, प्रतिशाखाओं का परिशीलन किया जाता है। वेदरूपी कल्पतरु का फल योग है। हे सत्पुरुषो ! इसका सेवन (साधन) करो। यह योग संसार के त्रय—आधिदैहिक, आधिभौतिक औ आधिदैविक ताप का शमन (नाश) कर देता है। इसके अभ्यास अथव. साधन से सांसारिक दुःख अथवा भवबन्धन समाप्त हो जाता है, स्वरूप बोध प्राप्त होता है।

[महायोगी गोरखनाथ]
(गोरक्षशतक—६)

अलखनिरंजन

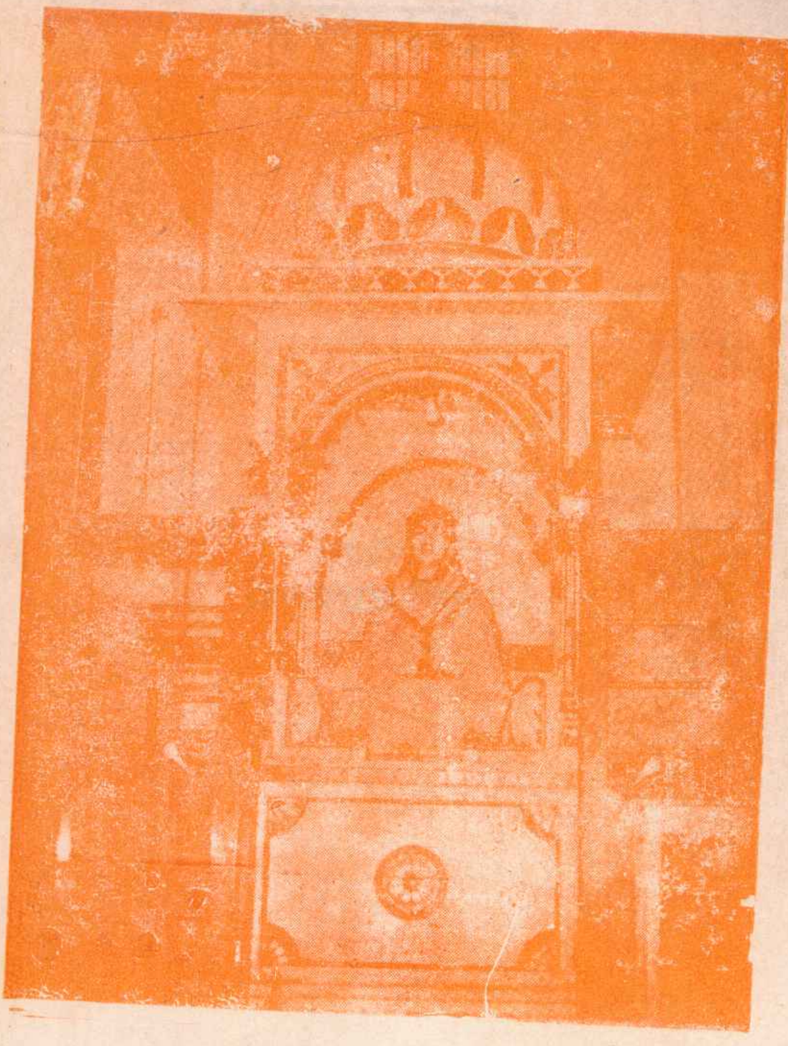

भगवान् गोरक्षनाथ

गोरक्षदर्शन

प्रस्तुति :
विजयपाल सिंह

गोरखनाथ-मन्दिर, गोरखपुर

प्रकाशक
श्री गोरखनाथ - मन्दिर
गोरखपुर

पहला संस्करण
केवल 2000 प्रतियाँ
सं0 2049 वि0

मूल्य : रू0 40·00

प्राप्ति-स्थान :
गोरखनाथ - मन्दिर
गोरखपुर

मुद्रक :
दी इउरेका प्रिंटिंग वर्क्स प्रा0 लिमिटेड
गीता प्रेस रोड, गोरखपुर
फोन : 335310

सम्बोधन

आपा भाजिबा सतगुर षोजिबा
जोग पंथ न करिबा हेला ।
फिरि फिरि भनिषा जनम न पायबा
करिलै सिध पुरिस सूं मेला

अहंकार मिटा देना चाहिये । सद्गुरू की खोज करनी चाहिये । योगमार्ग की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। बार-बार मनुष्य का जन्म नहीं मिलता। सिद्ध पुरूष का साक्षात्कार कर लेना चाहिये ।

§ गोरखबानी - 203 §

आशीर्वचन

नाथयोग अपने आप में समग्र जीवन का आध्यात्मिक, यौगिक धरातल पर अत्यन्त मौलिक सार्वभौम व्याख्यात्मक व्यावहारिक दर्शन है। नाथयोगामृत परम शक्तिमान् भगवान शिव द्वारा जगदीश्वरी महाशक्ति पराम्बा पार्वती के प्रति उनकी जिज्ञासा के सामाधान हेतु क्षीरसागर के सौम्य शृंगपर उपदिष्ट महायोग ज्ञान है जो द्वैताद्वैत विलक्षण स्वरूप में भारतीय ही नहीं, विश्वमनीषा के क्षेत्र में स्वीकृत है। मुझे संतोष और प्रसन्नता है कि प्रस्तुत विवेचनात्मक शोधनिबन्ध में शिवगोरक्ष महायोगी गोरखनाथ के सच्चिदानन्दस्वरूप व्यक्तित्व से समन्वित उनके महायोगज्ञान - द्वैताद्वैत विलक्षण दर्शन को शोधकर्ता ने बड़े अध्यवसाय पूर्ण श्रम, निष्ठा और पवित्र श्रद्धा से प्रस्तुत कर नाथसम्प्रदाय के दार्शनिक पक्ष को उजागर किया है। महायोगी गोरखनाथ का योगदर्शन मनुष्य मात्र के निःश्रेयस का अमोघ साधन है, यह निर्मल आध्यात्मिक महायोगज्ञान के प्रकाश में पिण्ड - ब्रह्माण्ड में व्याप्त परमात्म सत्ता के सामरस्य स्वरूप अमृतत्व का ज्ञापक है। प्रस्तुत शोध निबन्ध अपने आप में जीवन के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक धरातल किंवा स्तर पर अत्यन्त उपादेय और सन्मार्गदर्शन का प्रेरणा स्त्रोत है। मैं इस शोधप्रबन्ध की प्रस्तुति के लिये शोधकर्ता विजयपाल सिंह को हार्दिक स्नेह -साधुवाद देता हूँ और मेरा विश्वास है कि इस निबन्ध को योगसाधकों, अध्यात्मचिन्तकों और विद्वानों की दृष्टि में महत्वपूर्ण स्थान मिलेगा। यह निबन्ध अपने आप में बहुत श्रेयस्कर है।

गोरखनाथ - मन्दिर,
गोरखपुर
30-8-1992

महन्त अवेद्यनाथ
{गोरक्षपीठाधीश्वर}

गोरक्षपीठाधीश्वर महन्त अवेद्यनाथ

-: प्राक्कथन :-

महायोगी गुरू गोरक्षनाथ पर अबतक अनेक ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं, तथापि भारतीय दार्शनिक विचारधारा में महायोगी गुरू गोरक्षनाथ और उनके दर्शन को प्राय: भुला दिया गया है। जहाँ विभिन्न दर्शनों पर शोध कर्त्ताओं द्वारा शोध कार्य किया गया है, वहीं गोरक्षनाथ का दर्शन अभी तक प्राय: अछूता रहा है। यदि कुछ लिखा गया है, तो वह अंश मात्र ही है। गोरक्षनाथ का दर्शन आज के युग का सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं उपादेय विषय है। सौभाग्य से इस विषय पर शोध कार्य करने का अवसर मुझे प्राप्त हुआ है, किन्तु इसके योग्य सामर्थ्य न होते हुए भी परम पिता परमात्मा की असीम अनुकम्पा तथा गुरूजनों की प्रेरणा एवं आर्शीवाद से मैंने महायोगी गोरक्षनाथ के दार्शनिक पक्ष का मात्र रेखाचित्र प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

महायोगी गुरू गोरक्षनाथ का व्यक्तित्व भारतीय इतिहास में कितना महत्वपूर्ण है तथा गोरक्ष दर्शन, दार्शनिक विचारधारा में क्या स्थान रखता है, यह भारतीय संस्कृति एवं सम्पूर्ण भारतीय दर्शनों का गूढ़तम् अध्ययन करने के बाद ही इंगित किया जा सकता है। यह मेरे जैसे अल्प ज्ञानी के दो-चार वर्षो के शोध का कार्य नहीं है, अपितु आधिकारिक विद्वानों द्वारा जीवन पर्यन्त गहन अध्ययन की अपेक्षा रखता है।

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि गोरक्षनाथ समय के साथ युग प्रवाह को मोड़ देने वाले युगान्तकारी सिद्ध महायोगी हैं, जिन्हें अवतारी महापुरूष भी माना जाता है। भारतीय जन मानस को जितना अधिक गुरू गोरक्षनाथ ने प्रभावित किया उतना और किसी सन्त अथवा दार्शनिक ने नहीं। उन्होने उस योग मार्ग का प्रवर्तन किया जो महत्वपूर्ण एवं अलौकिक है, जिस पर चलकर मनुष्य अलौकिक आनन्द की अनुभूति को प्राप्त होता है। गोरक्ष दर्शन में आत्मा का परमात्मा में लीन हो जाना ही योग है। शिव-शक्ति की अभेदता भी योग ही है। पिण्ड में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की आत्माभिव्यक्ति भी योग ही है। वैदिक काल और उसके पूर्व से लेकर आज पर्यन्त हमारे ऋषि, महर्षि, सन्त-महात्माओं एवं दार्शनिकों द्वारा योग के महात्म्य का प्रकाश होता आ रहा है। अध्यात्म-साधकों, तत्व दर्शियों आदि की प्रसिद्धि और सिद्धि का आधार उनकी योग-साधना ही रही है। योग-मार्ग वस्तुतः एक ऐसी साधना पद्धति है, जिसकी अपेक्षा ज्ञान, कर्म एवं भक्ति सभी मार्गों में विहित और अनिवार्य है। महायोगी गुरू गोरक्षनाथ का सम्पूर्ण दर्शन योग परक साधना पर ही आधारित है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध नौ अध्यायों में विभक्त है - संक्षेप में - प्रथम अध्याय में नाथ पन्थी दर्शन के उद्गम एवं विकास की समीक्षा है। द्वितीय अध्याय में, गोरक्षनाथ एवं उनके दर्शन का सामान्य परिचय दिया गया है। तृतीय अध्याय में शिव-शक्ति तत्वों का विवेचन किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में पिण्ड-ब्रह्माण्ड के सामरस्य पर प्रकाश डाला गया है। पंचम अध्याय में आत्मा के स्वरूप, उसके बोध, उसकी श्रेष्ठता तथा परमात्मा से तादात्म्य को प्रस्तुत किया गया है। षष्ठ अध्याय में बाह्याडम्बर खण्डन कर्मादि उपासनाओं की असमर्थता, शास्त्राभ्यास की अपेक्षा योगाभ्यास की महत्ता और देवताओं की भगवत्ता के खण्डन आदि का विवेचन किया गया है। सप्तम् अध्याय में गोरक्षनाथ द्वारा प्रतिपादित शरीरस्थ गोप्य रहस्यों की समीक्षा की गयी है। अष्टम अध्याय में गोरक्ष दर्शन एवं शैव दर्शन के साम्य पर विचार किया गया है तथा नवम् अध्याय में गोरक्षनाथ की प्रमुखदेन तथा मानवता के लिये गोरक्ष-संदेश की समीक्षा प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी है। इस प्रकार प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में गोरक्षनाथ एवं उनके दर्शन को संक्षेप में स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। विषय की गूढता एवं गहनता को देखते हुए अनुसन्धाता का यह प्रयास श्री गोरक्ष दर्शन का सामान्य परिचय मात्र समझा जा सकताा है।

किसी भी कार्य को करते समय कुछ बाधाएं भी अवश्य सामने आती हैं। अनुसंधाता भी इनसे किसी प्रकार बरी नहीं रहा। प्रतिकूल वातावरण एवं विपरीत परिस्थितियॉं तो सामने आयी हीं, साथ ही बेरोजगारी के कारण आर्थिक अभाव तथा मानसिक उत्पीड़न भी बराबर बने रहे हैं। विषय सम्बन्धी प्रचुर साहित्य की उपलब्धि न होना भी एक विकट समस्या बनी रही, क्योंकि नाथ पंथी साहित्य

बाजार तथा कालेजों के पुस्तकालयों में उपलब्ध नहीं हो पाया। फिर भी सुविधाओं की अनुकूलता के लिए शोध कार्य को बीच में रोका नहीं जा सकता था।

अतः सीमाओं एवं बन्धनों के होते हुए भी विषयानुसार शोध प्रबन्ध को पूरा करने का तुच्छ प्रयास किया है। इस दुर्गम कार्य में मैं कहां तक सफल हुआ हूँ, यह उदार गुरूजनों के विचार का विषय है।

शोध प्रबन्ध को पूरा करने में जहाँ एक ओर कठिनाईयां थीं वहीं दूसररी ओर माँ जी, पिता जी, भाईयों एवं गुरूजनों की प्ररेणा एवं वत्सलता का सहारा भी था। उन्होने मुझे धैर्य दिलाया, मेरे कार्य में रूचिपूर्वक हाथ बटाया तथा समय-समय पर प्रेरणा, निर्देश और परामर्श भी दिया। जिसका स्मरण कर मेरा मस्तक उनके चरणों में श्रद्धावनत हो जाता है।

पूज्य गोरक्षपीठाधीश्वर महन्त अवेद्यनाथ जी, गोरखनाथ मन्दिर, गोरखपुर का मैं अत्यन्त आभारी हूँ, जिनके प्रसाद से प्राप्त, विषय सम्बन्धी पुस्तकों का अध्ययन करने का अवसर प्राप्त हुआ।

मेरे शोध निदेशक, पूज्य गुरूजी ﴾डा0 लक्ष्मी चन्द्र जी शास्त्री﴿ की प्रेरणा तो जीवन की सबसे अमूल्य वस्तु बन गई है, उनके चरणों में बैठकर इस कार्य को करने का अवसर प्राप्त होना, उनकी अहैतुकी कृपा का ही प्रतिफल है। मुझे उनके व्यक्तिगत पुस्तकालय में अध्ययन करने का अवसर तो मिला ही साथ ही जो स्नेह और

वात्सल्य मुझे उनसे प्राप्त हुआ वह अवर्णनीय है। उस मैं शब्दों में व्यक्त कर सकूं ऐसी सामर्थ्य मुझमें नही है।

सन्दर्भ सूची प्रत्येक अध्याय के अन्त में दी गयी है तथा सन्दर्भ ग्रन्थों के संकेताक्षरों का ही प्रयोग किया गया है, जिनका पूर्ण विवरण परिशिष्ट "ग"में दिखाया । गया है।

टंकण यन्त्र में संस्कृत के कुछ अक्षरों के अभाव के कारण उन्हें हाथ से लिखा गया है।

शोध छात्र
विजयपाल सिंह
एम0ए0
साहित्य रत्न

:: क्रम ::

प्रथम अध्याय

नाथ पन्थी दर्शन का उद्गम एवं विकास

1- नाथ शब्द नामकरण
2- नाथ पंथ नाम की सार्थकता
3- नाथ पन्थी आचार्य
4- नवनाथ
5- नाथ पन्थी दर्शन का उद्‌गम
6- नाथ पन्थी दर्शन का विकास
7- प्रभाव
8- निष्कर्ष

नाथ शब्द नामकरण :

नाथ शब्द कीव्युत्पत्ति, इसके मूल नाथ धातु में "अ" प्रत्यय लगाकर सिद्ध की जाती है।[1] "नाथृ" धातु याचना, उपताप, आशीर्वाद, ऐश्वर्य आदि अर्थों में प्रयुक्त देखी जाती है, जो अविद्या के अज्ञानमय अन्धकार को हर लेती है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि दोषों को और आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक आदि तापों को तपस्याा से तपाकर राजस, तामस वृत्तियों के साथ भस्मसात् कर देता है, वह इस लोक में अभ्युदयार्थ तथा परलोक में निःश्रेयसार्थ §कल्याणार्थ = मोक्षार्थ§ आशीर्वाद देताा है। षडैश्वर्य सम्पन्न ईश्वर के समग्र गुणों से युक्त और स्वम् ब्रह्म रूप होता है, वह "नाथ" ब्रह्म ही है।[2]

कोष ग्रन्थों में "नाथ" शब्द का अर्थ साधारणतः आशीर्वाद, ऐश्वर्य, उपताप, याचना, ईश्वर, अधिपति, नाथने की रस्सी आदि रूपों में ही प्रयोग किया गया मिलता है।[3]

अधिपः, ईशः, नेता, परिवृढ, अधिभूः, पतिः, इन्द्रः स्वामी, आटर्यः, प्रभुः, भर्त्ता, ईश्वरः, विभुः, ईशिता, इनः, नायकः, आदि "नाथ के ही पर्याय बतलाये गये हैं।[4]

1- भ0 दि0 ना0 स्मृ0 - पृष्ठ - 28।
2- ना0 सन्देश पृष्ठ - 3
3- नाथ ऋ ङ· आशिषि। दवैश्येडर्थे। इति कवि कल्पद्रुम। §भ्वां-परं-आत्मं-च-सकं-ऐश्ये अंक सेठ§ दन्याादिरम्। ऋ अनभायत। ङ· प्रणायते प्रनायते। दव उपतापः आशीरिष्टार्थसंशंसनम्। डित्वेडपि शपथाशोर्गत्यनुकारे।

"ना" का अर्थ है अनादि रूप और "थ" का अर्थ है भुवनत्रय का, स्थापित होना। अतः नाथ वह तत्व है, जो अनादि रूप है तथा भुवनत्रय की स्थिति का कारण है।[5] अ अन्य स्थल पर "ना" का तात्पर्य उस नाथ ब्रह्म से है, जो मोक्ष दान में दक्ष है, उसका ज्ञान कराता है और "थ" का अर्थ §अज्ञान के सामर्थ्य को स्थगित करने वाला है। चूँकि नाथ के आश्रयण से ही इस नाथ ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। अज्ञान की माया अवरूद्ध होती है इस लिए नाथ शब्द का व्यवहार किया जाता है।[6] स्पष्ट है कि "नाथ" परमतत्व है। वह भुवनत्रय का कारण है, परज्ञान का दाता तथा मोक्षदाता है। मोक्षदाता के रूप में नाथ को वर्णित करते हुए कहा गया है, सृष्टि स्थिति लय की प्रक्रिया में शक्ति शिव का सृजन करती है, शिव उसका परिपालन करते हैं, काल उसका संहार करते हैं तथा नाथ मुक्ति देते हैं।[7] अतः नाथ मोक्ष का करण है। उन्हीं के आश्रयण से योगी मुक्ति को प्राप्त करते हैं।

नाथ शब्द के कुछ प्रयोग वैदिक साहित्य तक में भी प्राप्त बतलाये जाते हैं। "ऋग्वेद के एक प्रसिद्ध सूक्त के अन्तर्गत यह समर्थ वा सक्षम के अर्थ में प्रयुक्त जान पड़ता है। परन्तु अथर्ववेद के एक स्थल पर इसका प्रयोग वस्तुतः आश्रय ग्रहण करने योग्य स्थान के लिए किया गया प्रतीत होता है। अन्यत्र इसे स्वामी अथवा रक्षक के अर्थ में भी प्रयुक्त समझा जा सकता है। इसी प्रकार बौद्धो के प्रसिद्ध मान्य ग्रन्थ "धम्मपद" के अन्तर्गत भी

हम इसे स्वामी अथवा मालिक वाले अर्थ में ही व्यवहृत होता देखते हैं। इसके , जैन धर्म वाले दिगम्बर सम्प्रदाय के साहित्य में भगवान् महावीर के कुल का नाम तक "नाथ वंश" के रूप में दिया गया पाया जाता है। कहा तो यहाँ तक भी गया है कि आर्येतर जातियों की विभिन्न आदिम भाषाओं के अन्तर्गत यह शब्द प्रायः "नत", "नात" वा "नाथ" जैसे अनेक रूपों में मिलता है। जिसके आधार पर ऐसा अनुमान कर लेना भी असंगत न होगा कि समग्र इण्डोचीन जाति का कोई सुप्राचीन लौकिक देवता भी किसी "नात" जैसे नाम का ही रहा होगा।[8]

"नाथ" शब्द के उक्त अर्थों से भिन्न भी कई अर्थों में प्रयोग मिलते हैं। "कबीर ने नाथ शब्द का प्रयोग "मायाजेता" के अर्थ में किया है। उसे त्रिभुवन का पति कहा गया है। नाथ को छोड़कर सभी ब्रह्मा, विष्णु, रूद्र, देवता, नर तथा अन्य पशु पक्षी आदि जीव स्त्रियों द्वारा विजित है, केवल एक नाथ ही अविजित है। इसीलिए नाथ को मायाजेता कहा जाता है।[9]

"नाथ" शब्द एक उपाधि रूप में भी देखा जाता है। जो साधकों को नाथपंथ में दीक्षित होने के बाद प्रदान की जाती है और यह शब्द दीक्षा के बाद उनके नाम के अन्त में जोड़ दिया जाता है। बंगाल के योगी लोग भी अपने नाम के साथ "नाथ" शब्द जोड़ते हैं तथा अधिकांशतः कपड़ा बुनने, पान बेचने तथा चूने का व्यवसाय करते हैं।[10]

"नाथ" पद को पति का वाचक भी माना जाता है। क्योंकि "गौरीपति शिव" को गौरीनाथ कहा जाता है। प्रजापति ब्रह्मा को प्रजानाथ कहा जाता है। रघुपति राघव राजा राम को रघुनाथ कहा जाता है। यदुपति यादव श्री कृष्ण भगवान को यदुनाथ कहा जाता है। प्राणपति को प्राणनाथ कहा जाता है। इस प्रकार नाथ पद पति का वाचक भी है।[11]

डा0 एस0पी0 चन्दोला ने नाथ को शैव मताव लम्बी योग प्रचारक योगी बतलाया है।[12]

नाथपंथ से सम्बद्ध साहित्य में नाथ शब्द के उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि "नाथ" ईश्वर, ब्रह्म का वाचक है। पति और उपाधि रूप नाथ शब्द के वाचक केवल दृष्टव्य ही है। यह नाथ शब्द तो परमतत्व की ओर संकेत करता है। परमतत्व प्राप्ति का कारण मोक्षदाता, भुवनत्रय में परिव्याप्त "नाथ" ही सर्वव्यापक, सर्वद्रष्टा एवं सर्वश्रेष्ठ है। "नाथ" ही अव्यक्त पर ब्रह्म शिव की साकार मूर्ति हैं। यही "नाथ" सबके लिए साध्य तथा प्राप्तिलक्ष्य का मूलभूत कारण है। नाथ के आश्रय से ही परमपद, मुक्ति (मोक्ष) की प्राप्ति सम्भव है। इसी नाथ के तीन रूप माने गये हैं:- अद्वैतोपरिवर्ती नाथ प्राप्य देवता है। निराकार ज्योति रूप नाथ ध्येय है तथा आदिगुरू के रूप में साकार नाथ उपास्य है।[13]

"इति नियमादाभ्यामाशिषोडन्यत्र परस्मै पदम्। नाथति शत्रुं वली उपतापयतीत्यर्थः। नाथते श्रियं लोकः आशंसते इत्यर्थः। नाथति धनी ईश्वरः स्यादित्यर्थः नाथति भूपं भूमिं

"नाथ" शब्द की प्राचीनता के विषय में कहा गया है कि यह नाम नया नहीं है। अपितु यह उतना ही पुराना है जितना की शिव-शक्ति योग सम्प्रदायों का इतिहास। "नाथ" स्वयं शिव-शक्ति योग मत का शब्द है।[14] दूसरी ओर "नाथ पन्थ" के विषय में "डा0 कल्याणी मलिक का कथन है कि यह "नाथ पंथ" नाम पुराना नहीं है। यह नाम अति अधुनिक है। महामहोपाध्याय डा0 हर प्रसाद शास्त्री ने सबसे पहले यह नामकरण किया था।[15]

वस्तुतः "नाथपंथ" नाम अति आधुनिक है अथवा प्राचीन इस विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि "नाथ" शब्द चूंकि प्राचीन साहित्य में भी उपलब्ध होता है इसलिए "नाथ पंथ" "नाथ" शब्द व्यवहृत हो जाने के समय अथवा कुछ बाद में अवश्य प्रचलित हो गया होगा, जिसके इस समय कई अन्य नाम भी प्रचलित है। गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह जो सिद्ध सिद्धान्त का प्रतिपादक ग्रन्थ है उसमें "नाथपंथ" के अन्य नाम सिद्धान्त[16] सिद्धमार्ग[17] योगमार्ग[18] नाथ मार्ग[19] योग सम्प्रदाय[20] अवधूतमार्ग[21] आदि लक्षित होते हैं।

विप्रं प्रार्थयतीत्यर्थः। मार्गरौरथ तव प्रयोजनं नाथसे किमु न भूभृतः पतिमिति भाखौ याचनमप्याशंसा विशेषः। आशिधि, नित्यमात्मने पदमन्यत्र विभाषयेति केचित। इति दुर्गादासः। -श0 क0 द्रु0

4- तत् पर्यायः । अधियः 2 ईशः 3 नेता 4 परिवृढ:5 अधिभूः 6 पति 7 इन्द्रः 8 स्वामी 9 आयुर्य 10 प्रभुः 11 भर्त्ताः 12 ईश्वरः 13 विभुः 14 ईशिता 15 इनः: 16 नायकः। इति हेम चन्द्रः । - श0 क0 द्रु0

इस पंथ के "योग मार्ग" एवं "योग सम्प्रदाय" नाम तो प्राय: सार्थक ही हैं। क्योंकि इनका मुख्य धर्म ही योगाभ्यास है। ये योगाभ्यास को ही अपना धर्म मानते है। अतः इस पंथ का योगमार्ग योग सम्प्रदाय आदि नाम योग साधना के आधार पर ही लक्षित किए गये हैं। दूसरे अपने पंथ को ये सिद्ध मत अथवा सिद्ध मार्ग इसलिए कहते हैं क्योंकि ये नाथ को ही सिद्ध मानते हैं। इसी के साथ अवधूत मत भी नाथपंथ का ही प्रतिरूप कहा जा सकता है। अतः स्पष्ट है कि ये सभी नाम नाथोक्त अर्थात नाथ द्वारा ही कथित हैं, तथा एक ही नाथपंथ के लिए व्यवहृयत हुए हैं।

उक्त नामों के अतिरिक्त नाथपंथी के लिए , कनफटा, दर्शनी, गोरखनाथी, रावल आदि नामों का उल्लेख भी प्राय: हुआ पाया जाता है। लेकिन ये नामकरण सम्प्रदाय की विशिष्टता के आधार पर अथवा साधना सम्बन्धित वैशिष्ट्य के आधार पर कर दिए गये है। डा० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय ने इन नामों को इस प्रकार वर्णित किया है - " हठयोग की साधना करने के कारण इन्हें "योगी" कहा जाता है। कान की लौ चिरवाने के कारण इन्हें "कनफटा" कहा जाता है। दीक्षा के समय यह कान फड़वाने की क्रिया की जाती है। दर्शनी शब्द का मूल दर्शन है। इसी दर्शन

5- नकारो नाद रूपं थकार: स्थाप्यते सदा।
भुवनत्रययमेवैक: श्री गोरक्ष नमोडस्तुते ।।
-गो०सि०स०पृष्ठ-26 (राजगुह्य से उद्धृत)

6- श्री मोक्षदान दक्षत्वान्नाथ (द) ब्रह्मानुबोधनात्।
स्थगिताा ज्ञान विभावात् श्री नाथ इति गीयते।।
-गो०सि०स०पृष्ठ-26 (शक्ति संगम तन्त्र से उद्धृत)

को कुण्डल भी कहते हैं। कान फड़वाकर स्फटिक या अन्य किसी धातु या दाँत का कुण्ड़ल धाररण करने के कारण ही इन्हें "दर्शनी" कहते हैं। पंजाब प्रान्त में मुसलमान वर्ग में भी योगी मिलते हैं। उन्हें "रावल" नाम से पुकारा जाता है। "गोरखनार्थी" नामकरण सम्प्रदाय के प्रवर्तक या संगठन कर्ता के कारण ही हुआ है।[22]

नाम पंथ के विभिन्न नामों पर विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि ये नामकरण भिन्न-भिन्न दृष्टियों से किये गये हैं। सिद्धमत, सिद्धमार्ग, अवधूतमत, योगमार्ग, योगसम्प्रदाय आदि नामकरण सिद्धान्त, साधना, दर्शन को ध्यान में रख कर किये गये हैं तथा कनफटा, योगी, दर्शनी, गोरखनाथी, रावल आदि नाम दीक्षा, जाति, सम्प्रदाय के प्रवर्तक की ओर संकेत करते हैं।

इस प्रकार साहित्य एवं सिद्धान्त प्रतिपादन में वर्णित नाम ही इस मत के प्राचीन नाम है। अन्य नाम तो केवल संकेत मात्र हैं जो कि सामाजिक, धार्मिक अध्येताओं एवं खोजियों द्वारा ढूंढ निकाले गये हैं।

7- शक्ति जगत् कर्त्री शिवः पालकः।
काल संहारकेः। नाथो मुक्तिदायकः।
-गो0सि0स0 पृष्ठ - 123
8- म0 दि0 ना0 स्मृ0 पृष्ठ-28।
9- गो0 ना0 पृष्ठ-3
10- गो0 ना0 पृष्ठ - 3
11- ना0 सन्देश पृष्ठ - 4
12- ना0 प0 पृष्ठ - 80

नाथ पंथ नाम की सार्थकता :

उक्त "नाथ" शब्द विवेचन से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि "नाथ" शब्द का अर्थ परमपद अर्थात ईश्वर स्वरूप ही है। अतः "नाथपंथ" सर्वग्राह्य है। नाथपंथ के पूर्व कथित[23] नाम, इतने व्यापक ह ।क उनके अन्तर्गत अन्य साधकों के समूह का भी अन्तर्भाव हो सकता है। इन मतों में भी सिद्धमत को सबसे व्यापक बतलााया गया है। सिद्ध सिद्धान्त पद्धति में इसकी सर्वव्यापकता तथा उपादेयता पर प्रकाश डाला गया है। क्योंकि "कर्कश तर्क परायण वेदान्ती माया से ग्रसित है।भाट्ट मीमांसक कर्मफल के चक्कर में पड़े हुए हैं। वैशेत्रिषक लोग अपनी द्वैत बुद्धि से ही मारे गये हैं तथा अन्यान्य दार्शनिक भी तत्व से वंचित ही है। फिर सांख्य, वैष्णव, वैदिक, वीर, बौद्ध, जैन ये सब लोग व्यर्थ के कष्ट कल्पित मार्ग में भटक रहे हैं। फिर होम करने वाले बहु दीक्षित आचार्य, नग्नव्रत वाले तापस, नाना तीर्थों में भटकने वाले पुण्यार्थी बेचारे दुःख भार से दबे रहने के कारण तत्व से शून्य रह गये हैं। इसलिए एक मात्र स्वाभाविक आचरण के अनुकूल सिद्ध मार्ग का आश्रय करना ही उपयुक्त है।[24] यह "सिद्ध मत" या "सिद्धमार्ग" नाथपंथ ही है। दूसरे उक्त सभी नाम चूंकि "नाथोक्त" अर्थात नाथ द्वारा कथित है। अतः नाथपंथ में दूसर समस्त साधक समूहों का अन्तर्भाव होना स्वाभाविक ही है। "नाथपंथ" नाम का आधुनिक विवेचन, व्यापकता की दृष्टि से उचित, सर्वग्राह्य एवं सार्थक ही है।

13- अस्मिन मार्गे अद्वैतोपरिवर्ती नाथो देवता प्राप्या निराकार। ज्योति नाथो ध्येयःसाकार नाथ उपास्योडथ च आदिगुरू।।
- गो० सि० स० पृष्ठ - 123

नामपन्थी आचार्य :

नाथ पन्थियों का यह अटूट विश्वास है कि अनादि काल से ही धर्म जगत में नाथ-प्रचारित रहा है। उनके विचार में यह भी सत्य है कि नाथ-सृष्टि, ब्रह्मा की सृष्टि से भिन्न है। विष्णु की उत्पत्ति "सलिल" से होती है। विष्णु से ब्रह्मा और ब्रह्मा से नर-नारी सम्बन्धत्व से मैथुनी सृष्टि की उत्पत्ति होती है। यह सृष्टि अज्ञान आवररण से आच्छादित है और हिंसा वृत्ति से जीवन यापन करती है तथा राग, द्वेष, लोभ मोहादि से विप्लावित होकर भयकातर है तथा सशंय से सुख-दुख धर्म को प्राप्त है।

इसके विपरीत नाथ सृष्टि का आविर्भाव "नाद" से माना गया है। जिसके सर्वप्रथम उत्पन्न अनादि देव आदि नाथ शिव है। तदुपरान्त नाद शक्ति की आहूति से क्रमशः आदिनाथ, भत्स्येन्द्र नााथ, उदय नाथ, दण्डनाथ, सत्यनाथ, सन्तोषनाथ, कूर्मनाथ, भवनार्जि तथा गोरक्षनाथ हुए। ये ईश्वर सन्तान, शिवावतार, ब्राह्मण सूक्ष्मवेदी अद्वैत से भी परे अलखनिरंज देवता, अनाहतश्रृंगी और खेचरी मुद्रा रूप थे।[25]

तदनन्तर सिद्धाचार्यो का समुदाय विकसित हो उठा और इस पंथ में अनेकों सिद्धाचार्यों का प्रादूर्भाव होता गया और आज के समय में नाथ सिद्धाचार्यों की विभिन्न सूचियाँ प्रकाश में आ गयी है जिनमें आपसी भिन्नता भी इतनी दिखलायी पड़ने लगी है कि उनकी अनेकरूपता के कारण ही उनकी प्रमाणिकता भी संदिग्ध हो जाती है। हठयोग प्रदीपिका के प्रारम्भ में ही नाथ पंथ के अनेक सिद्धाचार्यों

के नाम गिनाये गये हैं। इस पुस्तक में जिन सिद्धाचार्यो का नामोल्लेख किया गयाा है वे ऐसे ही हैं जो कालदण्ड को खण्डित करके ब्रह्माण्ड् में विचरण कर रहे हैं उनके नाम निम्नवत्-[26]

प्रथम सूची :

1- श्री आदिनाथ	2- मत्स्येन्द्र	3- शाबर
4- आनन्द भैरव	5- चौरंगी	6- मीन
7- गोरक्ष	8- विरूपाक्ष	9- विलेशय
10- मन्थान	11-भैरवयोगी	12-सिद्धि
13- बुद्ध	14-कन्धडी	15-कोरण्टेक
16- सुरानन्द	17-सिद्धपाद	18-चर्पटी
19- कानेरी	20-प ूज्यपाद	21-नित्यनाथ
22- निरन्जन	23-कपाली	24-बिन्दुनाथ
25- काकचण्डीश्वर	26-अल्लाम	27-प्रभुदेव
28- घोड़ा चोली	29-टिंण्टिबि	30- भानुकी
31- नारदेव	32-खण्डकापालिक	

इस सूची के कुछ सिद्धाचार्यो के नाम तान्त्रिको योगियों और निर्गुणियां सन्तों की परम्परा में बचे हुए हैं। कुछ की अभिन्नता सहजयानी और वज्रयानी सिद्धो से स्थापित की जा सकती है। प्रायः जितनी भी सूचियां सिद्धाचार्यो के विषय में प्राप्त होती है उनमें से अधिकांश पौराणिक, अर्द्धएतिहासिक या एतिहासिक है।

14- ना0 प0 पृष्ठ - 4
15- गो0 ना0 पृष्ठ - 4
16- बाक0 हस0स0 पृष्ठ - 26
17- वही पृष्ठ - 64

वस्तुतः सिद्धाचार्यों की संख्या चौरासी मानी गयी है। इस संख्या के नामांकन के विषय में भी विद्वानों को अनुमान का ही आश्रय लेना पड़ा है। कुछ के मतानुसार चौरासी सिद्धों का सम्बन्ध चौरासी लाख योनियों से है तो कुछ इनका सम्बन्ध चौरासी आसनों से लगाते हैं। यद्यपि "वर्णरत्नाकर" एवं "संख्य विहार" से उपलब्ध सूचियों में सिद्धों की संख्या 84 ही पायी जाती है तथापि "वर्णरत्नाकर" की सूची में 84 सिद्धाचार्यों के नाम न मिलकर 77 सिद्धों के ही नाम मिलते हैं। यह या तो ग्रन्थकार का प्रमाद ही रहा होगा या फिर 84 के विशिष्ट संख्या मानकर 84 नाम से सम्बोधित किया होगा। कुछ भी रहा हो यह विषयविवादास्पद ही है तथा संशय उत्पन्न करता है कि 84 नाम देकर उनकी पूर्ण गणना नहीं की गयी। "वर्णरत्नाकर" में नाथ सिद्धों की सूची को इस प्रकार वर्णित किया गया है[27]

द्वितीय सूची :

1- सीलनाथ §भीननाथ?§	2- गोरक्षराथ	3- चौरंगीनाथ
4- चमारीणाथ	5- तींतया	6- हलिया
7- केदारिपा	8- ढोगंपा	9- दारिया
10- विरूण	11-कपाली	12-कभारी
13-कान्त	14- कनखल	15- मेषल

18- गो0 सि0 स0 पृष्ठ - 9
19- गो0 सि0 स0 पृष्ठ - 64
20- वही पृष्ठ - 136
21- वही पृष्ठ - 41
22- गो0 ना0 पृष्ठ - 4, 5
23- इसी में पृष्ठ - 6

16-उन्मन	17- कान्तलि	18- धोबी
19-जालन्धर	20- ढ़ोगी	21- मवह §सरह?§
22-नागार्जुन	23- दौली	24- भिवाणी
25-अचिति	26- चंपक	27- मेंदिनि
28- चेंटस	29- भूसुरी	30- धाकलि
31- कूजी	32- चर्पीट	33- भादे
34-चांदन	35- कामरि	36- करवत
37-धार्मपापतंय	38- भद्र	39- पातलि भद्र
40-पालिहिह	41- भांड्	42- मीनो
43-निर्दय	44- सबर	45- सांति
46-भार्तृहरिर	47- भीसन	48- भटी
49-गगणपा	50- गमार	51- मेंडरा
52-कुमारी	53- जीवन	54- अधोसाधर
55-गिरिवर	56- सायारी	57- नागवालि
58-धिभरह	59- सारंग	60- विविकिधज
61-मगरधज	62- अचित	63- विचित
64-नेवक	65- चाटल	66- नायन
67-भीलो	68- पाहिल	69- मासल
70-कमल	71- कंगारी	72- चिपिल
73-गोविन्द	74- भीम	75- भैरव
76-भाद्रममरी	77- भुरूकुति	--चउरासी सिद्ध ।।

24-व`दान्ती बहुतर्क कर्कशमति ग्रस्तः परं माययथा।
भादटाः कर्मफला कुला हतधियो द्वैतेन वैशेषिकाः।।
अन्ये भेदररता विषाद विकलास्ते तत्वतो वंचिता।
स्तस्मात सिद्धमतं स्वभाव समयं धीरः मररम् सश्रययेत्।।
सांख्या वैष्णव वैदिका विधिपराः सन्ययासिनस्तापसाः।
सौरा वीर पराः प्रपंचनिरताा बाद्धा जिनाः श्रावकाः।।

उक्त सूची में नामान्त उपाधि में भी भिन्नता है। सूची के प्रथम चार सिद्धों के नामान्त में "नाथ" उपाधि जुड़ी है। अगले छः के अन्त में "पा" उपाधि जुड़ी है। अधिकांश नामों के अन्त में उपाधि रूप कुछ भी नहीं जुड़ा है। कुछ भद्र लोग भी इस सूची में प्राप्त है। लेकिन आदरार्थक एवं नामान्त औपाधिक शब्दों के आधार पर यह सत्य नहीं कहा जा सकता कि यह केवल नाथ सिद्धों की सूची है। क्योंकि इस सूची को नाथ सिद्धों की सूची मा ले इसके लिए कोई पुष्ट या सन्तोषजनक प्रमाण प्राप्त नहीं होताा। "सस्क्य विहार" की सूची का क्रम उक्त सूची से भिन्न है जो इस प्रकार वर्णित की गयी है :-

तृतीय सूची :

1- लुइपा	2- लीलापा
3- विरूपा	4- डोंबिपा
5- शबरपा	6- सरहपा
7- कंकालिपा§ कंकलिपा, कंकरिपा§	8- मीनपा
9- गोरक्षपा	10-चौरंगिपा
11- वीणापा	12-शान्तिपा§रत्नाकर शान्ति§
13- तंतिपा	14-चमरिपा
15- खड्गपा	16-नागार्जुन
17- कृष्णपा§याचर्यपा§	18-कर्णरिपा§आर्यदेव§
19- थगनपा	20-नारोपा

21- शालिपा §शीलपा, श्रृंगालीपाद § 22-तिलोपा
23- क्षत्रपा 24-भाद्रपा
25- दोखधिपा §यादिखण्डपा § 26-अजोगिनपा
27- कालपा 28-धौंभिपा
29- कंकणपा 30-कभरिपा §कंबलपा §
31- डेंगिपा 32-भादोपा
33- तधेपा §या तंतेपा § 34-कुकुरिपा
35- कुचिपा §या कुसुलिपा § 36-धर्मपा
37- महिपा §या महिलपा § 38-अंचितिपा
39- भलहपा §या भवपा § 40-नलिनपा
41- भुसुकुपा 42-इन्द्र भूति
43- मेकोपा 44-कुठालिपा
45- कर्मरिपा §कंपरिपा § 46-जालन्धरपा
47- राहुलपा 48-धर्बरिपा §या धर्मशिपा §
49- धोकरिपा 50-मेदनीपा §या ठालीपार §
51- पंकजपा 52-घंटापा §व्रज §
53- जोगीपा §या अजोगिपा § 54-चेलुकपा §
55- गुडरिपा §गोरूर § या 56-लुचिकपा
57- निर्गुणपा 58-जयानन्त
59- चर्पटीपा §या पचरिपा § 60-चपंकपा

ऐते कष्टरता वृथा पथगता ते तत्वतो वचिंता-
स्तस्मात् सिद्धमतं - - - - - - - - - - - - - ।।
आचार्या वह्निदीक्षता हुतिरता नग्नव्रतास्तापसा: ।
नाना तीर्थ निषेवका जिनपरा मौनोस्थिता नित्यूश: ।।
एते ते खलु दु:ख भाग निरता तत्वतो वन्चिता
स्तस्मात् सिद्धमतं स्वभाव सभयं धीर: परं संश्रयेत ।।
- सि0सि0प0 पृष्ठ-160/73, 162/74, 75

61- भिखनपा	62-भालिपा
63- कुभरिपा	64-वचरिपा§या जवरि= अजपालिपा§
65- मणिभद्रा§यागिनी§	66-मेखलपा §योगिनी§
67- कनखलापा§योगिनी§	68-कलकलपा
69- कंतालीपा§या कथालिपा§	70-धाहुलिपा§या धहुरिपा§
71- उधालिपा §या उधरिपा§	72-कपालपा §या कमलपा§
73- किलपा	74-सागरपा
75- सर्वभक्षपा	76-नागबोधिपा
77- दारिकपा	78-पुतुलिपा
79- पनहपा §या उपानहपा§	80-कोका लिपा
81- अनंगपा	82-लक्ष्मीकरा §योगिनी§
83- समुदपा	84-भालिपा §या व्यालिपा । [28]

इस सूची में नाथ उपाधि युक्त कोई भी सिद्ध नहीं है। जबकि अधिकांश सिद्धों के अन्त में "पा" "पाद" उपाधि जुड़ी है। इस सूची को भी उक्त सूची की तरह ही नाथ सिद्धाचार्यो की सूची मान लेना उचित न होगा। इस सूची में ययह भी सशंय उत्पन्न होता है कि एक सिद्ध के नाम दो और तीन तक गिनाये गये है। अतः उनमें किस एक नाम को सही माना जाय।

25- एवं श्री गुरूरादि नाथः, मत्स्येन्द्रनाथः तत्पुत्र उदयनाथः दण्डनाथः सत्यनाथः सन्तोषनाथः कूर्मनाथः भवनार्जिः, तस्त्य श्री गोरक्षनाथः ईश्वर सन्तान [illegible]आदिर्ब्राह्मणः सूक्ष्मवेदी, अद्वैतोपरि सदानन्द देवता अनाहत श्रृंगी खेचरी मुद्रा।

-गो० सि० स० पृष्ठ - 98

वस्तुतः उक्त तीनों ही सूचियों में पर्याप्त भिन्नता के होते हुए भी कुछ समता भी दिखलायी पड़ती है। कुछ की भिन्नता तो केवल नामान्त में उपाधि अन्तर से जान पड़ती है। लेकिन उन्हें एक ही मान लेना उचित होगा। इस विषय में यह रहा होगा कि एक-एक गुरू से दीक्षा लेने पर नाथ उपाधि से विभूषित किया गया होगा तथाा इसके पहले या बाद उन्होनें किसी अन्य गुरू से दीक्षा ग्रहण की होगी तब उन्हे "पा" अथवा "पाद" उपाधि से मुक्त किया गया होगा। यद्यपि यह भी नही कहा जा सकता की यह ही सही हा, कुछ अन्य कारण भी हो सकते हैं तथापि कुछ सिद्धाचार्यो के नामों में नामान्त उपाधि के भिन्न होते हुए भी समता ही जान पड़ती है। जैसे कि वर्ण रत्नाकर की सूची में प्राप्त गोरक्षनाथ और चौरंगीनाथ सस्क्य विहार की सूची में क्रमशः गोरक्षपा चौरंगीपा नाम से प्राप्त होते हैं। प्रथम सूची में 32 सिद्धाचार्यो के नाम गिनाये गये है जिन्हें हठ योग प्रदीपिका में महा सिद्ध कहा गया है। प्रथम और द्वितीय सूची की तुलना में यदि देखा जाय तो प्रथम सूची में प्राप्त मत्स्येन्द्र नाथ का नाम द्वितीय सूची में प्राप्त नहीं होता, जबकि प्रथम सूची के गोरक्ष, कपाली, कानेरी, टिटिणी, चर्पटि, मीन, शाबरानन्द, आनन्द भैख द्वितीय सूची के क्रमशः गोरक्षणाथ, कपाली, कान्हन, टेटंस,चर्पटि, मीनो, शबर तथा आानन्द भैरव से तुलित किए जा सकते हैं।

26- श्री आदिनाथ मत्स्येन्द्र शाबरानन्द भैरवा ।
चौरंगी मीन गोरक्ष विरूपाक्ष विलेशया ।।5।।

इसी प्रकार द्वितीय, तृतीय सूची में भी कुछ सिद्धाचार्यों में नामान्तर के पश्चात् भी साम्य ही दिखलायी पड़ता है। तृतीय सूची में भी मत्स्येन्द्र का नाम नहीं मिलता। द्वितीय सूची में प्राप्त मीननाथ, गोरक्षणाथ, चौरगीणाथ, चमारीणाथ, तींत्रपा, ढोंगिपा, दारिपा, विरूपा, कपाली, कान्ह, कनखल, मेषल, कांतलि, धोबी, जालन्धर, डोंगी, सरह, नागार्जुन, दौली, अचिंति, चंपक, मेदिनी, कूंजी, चर्पटी, भादे, कामरी, धर्मपा, भद्र, सबर, शान्ति, गगणपा, कुमारी, सियारी, नागवाली, भीलो, कमल, भद्रभभरी, आदि 37 सिद्धाचार्यों की समता क्रमशः तृतीय सूची के मोनपा, गोरक्षपा, चौरंगीपा, चमरिपा, तंतिपा, धोभिपा, दारिकपा, विरूपा, कपालपा, कण्हपा, कनखलापा, मेखलपा, कंतालिपा, धबीरपा, जालन्धरपा, डेंगिपा, सरहपा, नागार्जुन, दोखधिपा, अचिंतिपा, चपकपा, मेदनीपा, कुचिपा, चर्पटीपा, भद्रपा, कभरिपा, धर्मपा, भद्रपा, शबरपा, शान्तिपा, थगनपा, कुमरिपा, श्रृंगोलिपाद, नागबोधिपा, भलिपा, कमलपा, भद्रपा से की जा सकती है।

प्रथम सूची के शाबरानन्द, मीन, गोरक्ष, विरूपाक्ष, कंथलि, चौरंगी, चर्पटि, कानेरी, कपाली आदि नौ सिद्धों का नाम भी न्यूनाधिक रूपान्सरित रूप में तृतीय सूची में मिल जाता है।

मन्थानों भैररवो योगी सिद्धि बुद्धश्च कन्थाड़ि ।
कोरण्टकः सुरानन्दः सिद्धपादश्च चर्पटिः ।।6।।
कानेरी पूज्य पादश्च नित्यनाथो निरंजनः ।
कपाली बिन्दु नाथश्च काक चण्डीश्वरराह्वयः ।।7।।

डा0 नागेन्द्रनाथ उपाध्याय ने कुछ दिव्यौघ, सिद्धौघ एवं मानवौघ सिद्धों की गणना भी की है। जिनमें दिव्यौघ तो सर्वथा दैवी है। सनक, सनद §सनंदन?§ सनातन, सनत्सुजात, ऋतु, दत्तात्रेय, ररैवतक, वामदेव, व्यास, शुक सिद्धौघ तथा नृसिंह, महेश, भास्कर, महेन्द्र, माधव आदि की गणना मानवौघ सिद्धों में की गयी है।[29]

डा0 रांगेय राघव ने भी इन दिव्यौघ, सिद्धौघ, मानवौघ सिद्धों पर विस्तार से प्रकाश डाला है।[30] इसके अतिरिक्त उन्होने 24 का पालिक §12 गुरूओं तथ शिष्यों§ के नामों का उल्लेख भी किया है। जिनमें उन्होने कुछ को प्रसिद्ध नाथ और सिद्ध होना माना है। उनमें आदिनाथ, अनादिनाथ, कालनाथ, अतिकाल नाथ, करालनाथ, विकरालनाथ, महा कालनाथ, काल और भैरवनाथ, बटुकनाथ, भूतनाथ, पीरनाथ, श्रीकंठनाथ गुरू तथा नागार्जुन, जड़भरत, हरिश्चन्द्र, सत्यनाथ, भीमनाथ, गोरक्षनाथ, चर्पटनाथ, अद्वयनाथ, वैराग्यनाथ, कंबधारी, जालंधर, मलयार्जुन का शिष्यों के रूप में उल्लेख किया गया है।[31]

स्व0 डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने एक स्थल परवतसिद्ध, ईश्वरनाथ, चरपटनाथ, धुधुनाथ, चंपानाथ, खिथंडनाथ, झंगररनाथ, धर्मनाथ, धगरनाथ, मंगलनाथ, प्राणनाथ आदि ग्यारह सिद्धों का भी उल्लेख किया है।[32]

अल्लाम प्रभुदेवश्च घोड़ा चोली च टिण्टिणिः ।
भानुकी नारदेवश्च खण्डः कापालिकस्तथा ।। 8 ।।
- ह0 प्र0 पृष्ठ - 2 एवं 3

27- गो0 ना0 पृष्ठ - 14

वस्तुतः पूर्व वर्णित दिव्यौघ, सिद्धौघ, मानवैाघ सिद्धों का कोई खास महत्व नाथ पंथ में दिखलायी नहीं पड़ता जबकि कापालिको में से कुछ सिद्धाचार्यों के नाम पूर्व वर्णित तीनों तालिकाओं में मिल जाते हैं। ऐसे भी संकेत प्राप्त होते हैं कि प्रथम एवं द्वितीय सूची भारतीय स्रोतों से तथा तृतीय सूची तिब्बात स्रोतों से प्राप्त है। लेकिन द्वितीय एवं तृतीय सूची में अधिक समता दिखलायी पड़ती है। अतः यदि समस्त सूचियों का सिहावलोकन कर सिद्धो की गणना की जाय तो लगभग सवासौ सिद्धों की प्रामाणिकता तथा ऐतिहासिकता की सम्भावना की जा सकती है। लेकिन कुल मिलाकर यह भी सत्य नहीं कहा जा सकता ।

स्व0 डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भिन्न-भिन्न तालिकाओं का विहगावलोकन कर 137 सिद्धों के नामों का उल्लेख निम्नवत् किया है :

1- अक्षय	2- अधोसाधव	3- अचित
4- अजपानाथ	5- अजयनाथ	6- अतिकाल
7- अनादिनाथ	8- अवध	9- आदिनाथ
10-उदययनाथ	11-उन्मन	12-एक नाथ
13-कनखल	14-कमल कगारि	15-कंथाधारी

28-गो0 ना0 पृष्ठ - 15
29-गो0 ना0 पृष्ठ - 11
30-गो0 ना0 मु0 पृष्ठ - 5 से 9
31-गो0 ना0 मु0 पृष्ठ - 9
32-ना0 स0 पृष्ठ - 38

16-कन्हड़ी	17-करवत	18-काणेरी
19-काण्डालि	20-कान्ह	21- काभारी
22-कापालि	23-काल	24-कालभैरवनाथ
25-कुभारी	26-कूर्मनाथ	26-केदारिपा
28-कोरटक	29-खण्डकापालिक	30-गगनपा
31-गमार	32-गिरिवर	33-गाहिनीनाथ
34-गोपीचन्द्रनाथ	35-गोरक्षनाथ	36-गोविन्द
37-घोड़ा चूली	38-चर्पट	39-चाटल
40-चम्पक	41-चाँदन	42-चाभरी
43-चिपिल	44-चौरंगी	45-जडभरत
46-ज§जा§लन्धर	47-जीवन	48-ज्ञाननाथ
49-टोंगी	50-ढिण्ढिवी	51-ढेण्टस
52-तातिपा	53-तुजी	54-तारकनाथ
55-दण्डनाथ	56-दत्तात्रेय	57-दारिपा
58-देवदत	59-दौली	60-धार्मपापतंग
61-धोगपाा	62-धोरंग§दूरगम§	63-धोबी
64-नागनाथ	65-नागवाला	66-नागबोध
67-नागार्जुन	68-नाचना	69-नित्यनाथ
70-निरंजन	71-निर्दय	72-निवृत्तिनाथ
73-नीमनाथ	74-मेचक	75-पलिहिह
76-पातलीभद्र	77-मासल	78-पूज्यपाद
79-प्रभुदेव	80-बटुक	81-बाकलि
82-भाटी	83-भाद्र §1§	84-भाद्र §2§
85-भामरी	8ॅ6-भार्तृहरि	87-भावनार्जि
88-भाल्लटि	89-भादे	90-भानु
91-भिषाल	92-भीमनाथ	93-भीषण

94-भीलो	95-भुरूकुटी	96-भूतनाथ
97-भूम्बरी	98-भैरव	99-मगरधन
100-मत्स्येन्द्रनाथ	101-मन्थान भैरव	102-मय
103-भवह	104-मलयार्जुन	105-महाकाल
106-भाणिक नाथ	106-मालीपाव	108-मीन
109-मेखल	110-मेनुरा §मयनामती§	111-रेवानाथ
112-विकराल	113-विचित	114-बिन्दुनाथ
115-विभवत	116-विरूपा	117-विरूपाक्ष
118-विविगधज	119-विलेशय	120-वीरनाथ
121-वैराग्य	122-शंभुनाथ	123-श्रीकण्ठ
124-सत्यनाथ	125-सन्तोषनाथ	126-सवर
127-सहस्रार्जुन	128-सारदानन्द	129-सान्ति
130-सारंग	131-सिद्धपाद	132-सिद्धबाध
133-सियारी	134-सुरानन्द	135-सूर्यनाथ
136-हरिश्चन्द्र	137-हालिपा ।।	

दूसरी ओर डा० नागेन्द्र नाथ उपाध्याय ने समस्त सिद्धाचार्यों की प्राप्त सूचियों का विहंगावलोकन कर क्रमशः अधिकाधिक सूचियों में आये सिद्धाचार्यों की सूची निम्न प्रकार वर्णित की है।[34]

1- मत्स्येन्द्रनाथ	2- गोरक्षनाथ	3-आदिनाथ
4- जालन्धरनाथ	5- चर्पटीनाथ	6-कानिफनाथ
6- चौरंगीनाथ	8- भर्तृहरिनाथ	9-गोपीचन्द्रनाथ
10-गैनीनाथ	11-उदयनाथ	12-सत्यनाथ

33-ना० स० पृष्ठ - 36
34-गो० ना० पृष्ठ - 39

13- सन्तोषनाथ	14-र ेवणनाथ	15-कथंलिनाथ
16- नागनाथ	17-क ूर्मनाथ	18-विरूपाक्षनाथ
19- निवृत्तिनाथ	20-ज्ञाननाथ	21-दण्डनाथ
22- भवनार्जि	23-नागार्जुन	24-विष्णु
25- अचलनाथ	26-गणेशनाथ	27-मयनावती
28- अड्वंग	29-म ंगलनाथ	30-प्राणनाथ
31- दत्तात्रेय	32-निरंजननाथ	33-जड्भरत
34- भीमनाथ	35-शाबरानन्द	36-भैरव
37- विलेशय	38-मन्थानभैरव	39-कोकंण
40- अनंग	41-अरूणाचलनाथ	42-शारंगधर
43- मेघनाथ	44-सिद्धबुद्ध	45-कणिक
46- कार्तिकनाथ	47-गजकर्ण	48-औघड्
49- एकनाथ	50-ओंकारनाथ	51-गजबली
52- अचलेश्वर	53-शैलनाथ	54-नाथनाथ
55- सत्यामलनाथ	56-ग ैवीनाथ	57-ग ुप्तनाथ
58- उद्बोधननाथ	59-क ेशरीनाथ	60-शिवदिननाथ
61- नररहरिनाथ	62-लक्ष्मणनाथ	63-मल्हारनाथ
64- बुग्गानाथ	65-सूरतनाथ	66-कम्बनाथ
67- धर्मनाथ	68-धुरधंरनाथ	69-करनारिनाथ
70- दूरतंगनाथ	71-गोधड्नाथ	72-हरिश्चन्द्र
73- अवद्यर्नाा	74-व ैरागयनाथ	75-क ंथाधारीनाथ
76- मलयार्जुननाथ	77-सहस्रार्जुननाथ	78-द ेवदत्त
79- वशिष्ठ	80-हरिनाथ	81-क ुलेश्वर
82- महेश्वर	83-स ुखनाथ	84-पारिजातनाथ
85- विमलनाथ	86-क ृशरनाथ	87-स ुधाकरनाथ

88- भोजदेव	89- प्रजापति	90-क ु लदेव
91- वृत्तिदेव	92- विश्नेश्वर	93-ह ु ताशन
94- निराकार	95- निर्विकल्प	96-निराभय
97- विधि	98- प्रकाश	99-विमर्श
100-आनन्द	101-पूर्ण	102-स्वमा
103-प्रतिभा	104-सुभग	105-धूगो

106-चम्पा इस प्रकार कुल संख्या 106 होती है।

इस प्रकार उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि नाथसिद्धों की किसी एक संख्या को नहीं माना जा सकता। क्योंकि किन्हीं दो नामों में समानता मान लेने के बाद भी इतना कुछ भ्रम अवश्य शेष रह जाता है कि कहीं ये भिन्न भिन्न दो ही सिद्ध तो नहीं। अतः संख्या स्पष्ट नहीं है। यह भी है कि पंथ प्रर्वतक सिद्धाचार्य कुछ पुराने है तो नये और कुछ ऐसे भी है जिनका मूलनाम विकृत होकर कुछ और डो गया है। किन्ही के एक, दो और तीन नाम तक भी मिलते हैं। आदिनाथ और मत्स्येन्द्रनाथ भी इसी श्रेणी में आते हैं। आदिनाथ को जालन्धर कहा गया है।[35] कहीं कहीं मत्स्येन्द्रनाथ को मीननाथ भी कहा जाता है।[36]

अतः नाथ पन्थी सिद्धाचार्यो की संख्या के सम्बन्ध में अनेक परम्परा ये प्रचलित हैं। अतः किसी एक परम्परा को ही उचित मान लें यह सम्भव नहीं है। दूसरी ओर सिद्ध नाम एक क्रम में नहीं है। क्योंकि प्रथम सूची में गोरक्षनाथ का सातवाँ स्थान है। द्वितीय मीननाथ प्रथम

सूची में छठें स्थान पर द्वितीय में सर्वप्रथम तथा तृतीय सूची में आठवें स्थान पर है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि भिन्न-भिन्न सूचियां किस समय और अनुक्रम में बनी है। अधिकांश तो किवदंती और सुनी सुनाई परम्परा पर ही इन सूचियों का आधार मान लेना उचित है।

नवनाथ प्रचलित धारणाऐं :

नाथपंथ में नाथ सिद्ध परम्परा में नवनाथों का विवरण एक विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यह जानना कठिन ही नहीं अपितु असम्भव सा ही है कि नव नाथों में कौन नाथ आते हैं। क्योंकि विभिन्न ग्रन्थों एवं प्रचलित परम्पराओं में नवनाथों के नामों के विषय में पर्याप्त मतभेद हैं। ऐसा विवरण भी प्राप्त होता है कि नवनाथों की लगभग 30 सूचियों का सिंहावलोकन कर निम्न नवनाथों के नामों का संग्रह किया गया है।[37]

1- मीनपा या मत्स्येन्द्रनाथ	2- गोरखनाथ	3- जालन्धरनाथ
4- चौरंगीनाथ	5- कानिफ वा काणेरीनाथ	6- चर्पटीनाथ
7- भर्तृहरिनाथ	8- कथड़िनाथ	9- गहनीनाथ

35-जालन्धरनाथ को, उनके समझे जाने वाले किसी "विमुक्त मंजरी" नामक ग्रन्थ के भोटिया अनुवाद के आधार पर आदिनाथ कहा गया है।

-म0 दि0 ना0 स्मृ0 पृष्ठ-292

36-मत्स्येन्द्रनाथ को अधिकतर मीननाथ से अभिन्न तक मान लिया जाता है।

- म0 दि0 ना0 स्मृ0 पृष्ठ - 291

गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह में नवनाथों के उक्त नामों से कुछ भिन्न नाम दिये गये है। कुछ विद्वानों ने इन्ही को नवनाथों के रूप में लिया है।

1- आदिनाथ	2- मत्स्येन्द्रनाथ	3- उदयनाथ
4- दण्डनाथ	5- सत्यनाथ	6- सन्तोषनाथ
7- कूर्मनाथ	8- भवनार्जि	9- गुरू गोरक्षनाथ।।[38]

एक अन्य स्थल पर नवनाथ पररम्परा में निम्न नाथ सिद्धों को सम्मिलित किया गया है।

1- मत्स्येन्द्र	2- गोरक्ष	3- जालन्धर
4- कानफा	5- भर्तृहरि	6- र`वण
7- नागनाथ	8- चर्पट	9- गहिनी।।[39]

स्व0 डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा नवनाथों के नामों का संकलन इस प्रकार किया गया है :

1- आदिनाथ	2- मत्स्येन्द्रनाथ	3- जालन्धरनाथ
4- गोरक्षनाथ	5- नागार्जुन	6- सहस्रार्जुन
7- दत्तात्रेय	8- देवदत्त	9- जड़भरत।।[40]

इसके अतिरिक्त उन्होने सुधाकर चन्द्रिका के अनुसारर नवनाथों की सूची निम्नवत् वर्णित की है-

1- एकनाथ	2- आदिनाथ	3- मत्स्येन्द्रनाथ
4- उदयनाथ	5- दण्डनाथ	6- सत्यनाथ
7- सन्तोषनाथ	8- कूर्मनाथ	9- जालन्धरनाथ।।[41]

37-पंडित परशुराम चतुर्वेदी ने नवनाथों की कल्पना पर विचार करते हुए नवनाथों की लगभग 30 सूचियों का उल्लेख किया है - गो0 ना0 पृष्ठ - ।।

स्व0 डा0 द्विवेदी ने ही एक अन्य परम्परा में नवनाथों के नाम एकदम भिन्न गिनाये है -

1- प्रकाश	2- विमर्श	3- आनन्द
4- ज्ञान	5- सत्य	6- पूर्ण
7- स्वभा	8- प्रतिभा	9- सुभग।।[42]

तान्त्रिक सिद्ध परम्परा में नवनाथ सिद्धों की गणना की गयी है। इसमें भी तीन मत प्रचलित है तथा तीनों ही मतोंमें भिन्न-भिन्न नवनाथों को सम्मिलित किया गया है। इन मतों को कादि, हादि, सादि के नाम से उद्धृत किया गया है। कादि मत के नवनाथ निम्नवत् है -

1- प्रह्लाद	2- कुमार	3- क्रोध
4- ध्यान	5- सनक	6- वशिष्ठ
7- सुख	8- बोध।।[43]	9- ×

इस सूची में केवल आठ नाम ही गिनाये गये हैं नवाँ नाम प्राप्त नहीं है।

हादिमत के नवनाथों का नामोल्लेख इस प्रकार किया गया है -

1- उद्ध्र्व केश	2- नीलकण्ठ	3- वशिष्ठ
4- मीन	5- हरिहर	6- व्योम केश
7- वृषध्वज	8- कूर्म	9- महेश।।[44]

सादिमत के नवनाथ निम्नवत् वर्णित है -

1- प्रकाश	2- आनन्द	3- सत्य
4- स्वभाव	5- सुभग	6- विमर्श
7- ज्ञान	8- पूर्ण	9- महेश्वर ।।[45]

उक्त कादि, हादि, सादि नवनाथों के नामान्त में "आनन्दनाथ" उपाधि जुड़ी है।[46] उक्त परम्पराओं के अतिरिक्त डा० एस० पी० चन्दौला ने नवनाथों का स्वरूप निम्नवत् वर्णित किया है-[47]

1- ज्योति स्वरूप ओंकार महेश्वर - आदिनाथ
2- धरणी स्वरूप पार्वती विख्यात - उदयनाथ
3- जल स्वरूप ब्रह्मा - --सत्यनाथ
4- तेज स्वरूप विष्णु - सन्तोषनाथ
5- वायु स्वरूप शेषनाग - अचलनाथ
6- आकाश स्वरूप गणेश - गज कंथडिनाथ
7- वनस्पति स्वरूप चन्द्रमा - चौरंगीनाथ
8- माया स्वरूप करूणामय - मत्स्येन्द्रनाथ
9- अलक्ष्य स्वरूप अयोनिशंकर - त्रिनेत्र गोरक्षनाथ

कुछ प्रचलित धाराओं में यह भी विश्वास व्यक्त किया जाता है कि नवनारायणों के अवतार रूप ही नवनाथ थे। अर्थात नव नारायण ही नव नाथ थे।[47] डा० रांगेय राघव ने इनकी अवतरित होने की कथा का उल्लेख करते हुए लिखा है " द्वापर के अन्त में ईश्वर - वियोग हो गया तब समय को नाश की ओर जाते हुए देखकर धार्मिक जनों ने प्रार्थना की। महादेव ने नारद को बदरिकाश्रम जाकर नवनारायण को योग मार्ग का द्वारा उद्बोध करने का आदेश देने को भेजा। नवनारायण जड़ भरतादि --

38- गो० सि० स० पृष्ठ - 98
39- गो० ना० पृष्ठ - 11
40- ना० स० पृष्ठ - 27

ऋषभ राजा के पुत्रों से नारद ने जाकर संवाद कह सुनाया। कवि नारायण, करभाजन नारायण, अन्तरिक्ष नारायण, प्रबुद्ध नारायण, आविर्होत्र नारायण, पिप्पलायन नारायण, चमस नारायण, हरि नारायण, द्रमिल नारायण - ये विरक्त ब्रह्मनिष्ठ पुरुष थे। ये सब जाकर विष्णु से मिले, उन्हे लेकर शिव के पास गये । शिव ने कहा इनको चाहिए कि जहाँ- तहाँ भारत में अवतार धारणकर संसारानलतप्त हृदय भुमुक्षु जनों को उद्धृत करें। हम भी जिसमें हमारा भेद जानना अनुचित होगा फिर गोरखनाथ नाम का व्यक्ति प्रकट करेगें, इसमें "फिर" शब्द का क्या अर्थ है यह स्पष्ट नहीं होता।"[48] तदन्तर शिवादेश से ये नवनारायण निम्नवत् नव नाथों के रूप में भारत भूतल पर अवतरित हुए[49]-

	नवनारायण	अवतार स्वरूप नवनाथ
1-	कविनारायण	- मत्स्येन्द्रनाथ
2-	कर भाजन नारायण	- गृहनीनाथ
3-	अन्तरिक्ष नारायण	- ज्वालेन्द्रनाथ
4-	प्रबुद्ध नारायण	- करिणापानाथ
5-	आविर्होत्र नारायण	- नागनाथ
6-	पिप्पलायन नारायण	- चर्पटनाथ
7-	चमस नारायण	- रेवणनाथ
8-	हरि नारायण	- भर्तृनाथ
9-	द्रुमिल नारायण	- गोपीचन्द्रनाथ।।

41- ना0स0 पृष्ठ-28 §सुधाकर चन्द्रिका के पृष्ठ-24। से उद्घृत§

42- ना0स0 पृष्ठ-39 §नेपाल केट लाग द्वितीय भाग पृष्ठ-149 से उद्घृत§

43- गो0 न0 पृष्ठ - ।।

अन्यत्र भी उक्त परम्परा के अनुसार वर्णन प्राप्त होता है। डा0 एस0 पी0 चन्दोला ने लिखा है " द्वापर युग के अन्त में महादेव जी ने नारद जी को बदरिकाश्रम में नवनारायणों के पास भेजा कि वे योग मार्ग के उद्धारार्थ नवनाथों के रूप में अवतरित हों। ये नवनारायण, ऋषभ राजा आदिनाथ ऋषभदेव § वृषभदेव = आदिनाथ = शिव§ के पुत्र थे।"[50]

इस प्रकार उक्त विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि नवनाथों की श्रेणी में किन्हें गिना जाय, यह जानना अत्यन्त कठिन है। क्योंकि किसी भी सूची के विषय या प्रचलित परम्परा के विषय में ठोस प्रमाणों का पर्याप्त अभाव है। तथापि यह सत्य है कि व्यापक एवं विलक्षण प्रभाव वाले सिद्धों को अधिकांश सूचियों में किसी ने किसी रूप में मान्यता अवश्य मिली है। अतः व्यापक एवं विलक्षण तथा प्रभाव विस्तारर के आधार पर नवनाथों की सूची दी जाय तो नवनाथों का विवरण निम्नवत् प्रस्तुत किया जा सकता है-

1- मत्स्येन्द्रनाथ	2- गोरक्षनाथ	3- जालन्धरनाथ
4- चौरंगीनाथ	5- कानिफनाथ	6- कणेरीनाथ
7- चर्पटीनाथ	8- कंथडीनाथ	9- गोपीचन्द

44- गो0 ना0 पृष्ठ - 11
45- वही
46- वही
47- ना0 प0 पृष्ठ - 61
§गोररक्ष टिल्ला से प्रकाशित "नवनाथ कथा"
वि0 सं0 2008 से उद्धृत

नाथपन्थी दर्शन का उद्गम :

नाथ सिद्घाचार्यों की दृष्टि में शिव § ब्रह्म§ का प्रापक अर्थात उससे साक्षात्कार कराने वाला योग मार्ग ही है। वहीं सन्मार्ग है। नाथ पंथ के मत में इसी सन्मार्ग योग का ही सेवन उपयुक्त बतलाया है। भगवान शिव ने श्रुति, स्मृति तन्त्र और पुराण तथा आगमों में यही कहा है कि योग मार्ग ही श्रेष्ठ, मोक्षप्रद, परमात्म बोध प्रदायक है, अन्य कोई मार्ग नहीं है।[5]

यद्यपि वर्तमान समय में योग की अनेकानेक पद्घतियां एवं परम्परायें प्रचलित है तथापि इसका उद्भव इतिहास के काल क्रम में धर्म मत मतान्तरों, विभिन्न पंथों, साधना पद्घतियों एवं संस्कृतियों के उद्भव के साथ ही हुआ है। वस्तुत: विभिन्न मतों में ईश्वर, जीव, सृष्टि, बन्ध, मोक्ष आदि के विषय में अपना-अपना विचार एवं दर्शन है। इसी विचार भेद के कारण योग दर्शन की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ वैदिक, पौराणिक दार्शनिक तथा अन्यान्य साहित्यों में प्राप्त होती है।

योग दर्शन की परम्परा अतिप्राचीन काल से ही आगम और निगम दो मार्गों के रूप में दो धाराओं में प्रवाहित

48- गो0 ना0 यु0 पृष्ठ - 4
49- ना0 प0 पृष्ठ - 2
तथा गो0 ना0 यु0 - पृष्ठ - 5
50- ना0 प0 पृष्ठ - 22

होती आ रही है। "निगम मार्ग वेद प्रतिपादित मार्ग है। वेद में उच्चकोटि की आध्यात्मिक उपलब्धियों एवं साधनाा विधियों के रहस्यपूर्ण संकेतात्मक वर्णन मिलते हैं। वैदिक साधना पद्धित में योगा विद्या, उपासना, भक्ति आदि शब्द सामानार्थक रूप में मिलते हैं। उपनिषद् काल में "विद्या" शब्द का प्रचलन अधिक था। योग शब्द का अधिक प्रचलन श्वेताश्वतर उपनिषद् के समय के बाद हुआ था। श्वेताश्वतर उपनिषद् में ही प्रथम बार ध्यान योग शब्द का उल्लेख हुआ है। पीछे ब्राह्मण युग में वैदिक श्रुति में कर्मकाण्ड एवं ज्ञानकाण्ड के भेदों के रूप में विभाजन होने पर योग मार्ग का भी कर्मयोग एवं ज्ञान योग के नाम से विभाजन हुआ, जिसका उल्लेख त्रिशिखब्राह्मणोंपनिषद् में मिलता है। इसमें भी निर्विशेष ब्रह्म की प्राप्ति ज्ञान योग से ही बतलायी गयी है। यही दोनों भेद अविद्या और विद्या नाम से उपनिषदों, देवी भागवत पुराण, एवं विष्णुपुराण में वर्णित है।"[52]

वामन पुराण में कहा गया है कि सिद्धों का धर्म है - सवोत्तम योग विधियों के द्वारा योग साधना, स्वाध्याय, ब्रह्म-विज्ञान, शिव एवं विष्णु दोनों में अविचल भक्ति है।[53]

51- योगमार्गात्परो मार्गो नास्ति नास्ति श्रश्रुतौ स्मृतो।
शास्त्रेष्वन्येष सर्वेषु शिवेन कथितः पुरा ।।

दूसरी ओर आगम धारा के प्रवर्तक एवं आद्यउपदेष्टा भगवान आदिनाथ सदाशिव है तथा यह धारा प्रमुख रूप से हठयोग, तंत्रयोग, पाशुपत योग, सिद्वयोग के नाम भेद से प्रवाहित हुई है।[54] यही आदिनाथ सदाशिव नाथ पन्थी सिद्वाचार्यों के आदि गुरू माने जाते हैं।[55] इन्ही शिव स्वरूप आदिनाथ ने सर्वप्रथम योगमार्ग दर्शन का उपदेश दिया था।[56] अतः वर्तमान नाथपन्थी दर्शन का अभ्युदय चिरकाल से आदिनाथ शिव के मुखार-बिन्द से निकले योगोपदेश से प्रतीत होता है। अन्य स्थल पर भी कहा गया है - " आदिनाथ कृत आदि युग में जो " कौलज्ञान " था वहीं द्वितीय §त्रेता§ युग में "सिद्व कौल" या "महत्कौल" नाम से तृतीय युग में सिद्वामृत नाम से तथा कलियुग में "मत्स्योदर" या" यौगिनी कौल" नाम से प्रकट हुआ।[57] जो कालान्तर में कर्णात्कर्णोपदेश द्वारा गुरू शिष्य परम्परा के माध्यम से भूतल पर अवतरित हुआ है।

नाथ पन्थी दर्शन का विकास :

नाथ पन्थी दर्शन के विकास में अतिप्राचीन काल के कर्णात्कर्णोपदेश कालान्तर में साहित्यिक ग्रन्थों के रूप में परिणत हुए। यह साहित्यिक ग्रन्थ हिन्दी - संस्कृत दोनों ही भाषाओं में उपलब्ध है, किन्तु विद्वानों के साहित्यिक विवेचन के बाद भी कुछ ग्रन्थों को छोड़कर समस्त साहित्य की प्रमाणिकता आज भी संदिग्ध है।

53- सिद्वान्तमुदितो धर्मो योगमुक्तिरनुत्तमाः।
स्वाध्यायं ब्रह्मं विज्ञानं भक्तिर्दम्यामपिस्थिरा ।।
-यो0 वा0 ना0 यो0 सा0 वि0 पृष्ठ - 7।
§ वामनपुराण अ0 ।। से उद्घृत§

स्व0 डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने नाथ पन्थी साहित्य में गोरक्ष कृत अठ्ठाईस ग्रन्थों का उल्लेख किया है। साथ ही उन्होने यह सन्देह भी व्यक्त किया है कि न्मिनलिखित ग्रन्थों में से अधिकांश के कर्ता स्वयं गुरू गोरक्ष नहीं थे।

1- गोरक्षशतक §ज्ञानशतक§	2- चतुरशीत्यासन	3-ज्ञानामृत
4- योग चिन्तामणे	5- योग महिमा	6-योगमार्तण्ड
7- योगासिद्धान्त पद्धति	8- विवेक मार्तण्ड	9-सिद्धसिद्धान्त पद्धति
10-अमनस्क	11-अमरौघशासनम्	12-अवधूतगीता
13-गोरक्ष कल्पा	14-गौरक्ष कौमुदी	15-गोरक्षगीता
16-गोरक्ष चिकित्सा	17-गोरक्षपंचय	18-गोरक्षपद्धति
19-गोरक्ष संहिता	20-ज्ञानामृत योग	21-नाडीज्ञान प्रदीपिका
22-महार्थमंजरी	23-योगबीज	24-योगसिद्धासन पद्धति
25-श्रीनाथ सूत्र	26-हठयोग	27-हठसंहिता
28-योग विषय ।।[58]		

डा0 नागेन्द्र उपाध्याय ने नाथ पन्थ साहित्य पर विस्तार से प्रकाश डाला है। उन्होने लगभग 37 ग्रन्थों को नाथ पंथियों में मान्य एवं प्रचलित रूप में

54- यो0 वा0 सि0 द0 वि0 पृष्ठ - 74
55- आदिनाथं नमस्कृत्य शक्तियुक्तं जगद्गुरूम्।।
- सि0 सि0 प0 पृष्ठ - 1- 1/1

गिना है। जिनमें उपरिलिखित ग्रन्थों के अतिरिक्त कौल ज्ञान निर्णय, अकुलवीर तन्त्र §ए§, अकुलवीर तन्त्र बी, कुलानन्द तन्त्रम्, ज्ञानकारिका में मत्स्येन्द्रनाथ कृत तथा इनका सम्पादन डा0 प्रबोधचन्द्र बागची द्वारा कौल ज्ञान निर्णय नामक संग्रह में किया गया बतलाया गया है। निरंजन पुराण, वैराट पुरण, रूद्रयामत तन्त्र, विष्णु सहसुनाम आदि है।[59]

संस्कृत ग्रन्थों के साथ ही नाथपंथ में हिन्दी साहित्य भी प्रचुर मात्रा में लिखा गया है। "मिश्र बन्धुओं ने सर्वप्रथम हिन्दी रचनाओं को उद्धृत किया था।"[60] किन्तु सर्वप्रथम स्व0 डा0 पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल द्वारा हिन्दी रचनाओं का संकलन "गोरखबानी" नामक संगह में किया गया।[61] यह उनका प्रथम संकलन था, इसमें " सबदी, पद, सिष्यादरसन, प्राणसकंली, नृपतिबोध, आत्मबोध, मछीन्द्र गोरखबोध, ज्ञानदीप बोध, दयाबोध आदि संकलित है।"[62] तदन्तर उनके द्वारा दूसरा संकलन प्रकाशित कराया जाना था किन्तु उनकी आकस्मिक मृत्यु के कारण यह कार्य पूरा न हो सका ।

कुछ समय बाद डा0 कल्याणी मलिक ने " सिद्ध सिद्धान्त पद्धति एण्ड अदर वर्क्स आवँ नाथ योगीज" नामक ग्रन्थ में §प्रकाशन सन् 1954§ नाथ योगियों की रचनाओं

56- योग शास्त्रं पठेन्नित्यं किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
यत्स्वयं आदिनाथस्य निर्गतं वदनाम्बुजात् ।।

-गो0 सि0 स0 पृष्ठ - 10 §विवेक मार्तण्ड से उद्धृत §

का संग्रह कार्य सम्पादन कार्य किया।"[64] डा0 रागेय राधव ने भी गोरक्ष कृत हिन्दी रचनाओं पर विस्तार से प्रकाश डाला है।[65]

"गोरखबानी" का नया कलेवर §स0 2035 वि0§ गोरखनाथ मन्दिर गोरखपुर से सम्पादक तथा टीकाकार रामलाल श्रीवास्तव द्वारा संग्रहीत किया गया है, जिसमें सबदी, पद, शिष्यादरसन, प्राणसंकली, बत्तीसलक्षन, नरवैबैाध, व्रत, आत्म बोध, ज्ञान, चौतिंसा, अष्टचक्र, ग्यांनतिलक, पंच अग्नि, अभै मात्रा जोग, सिण्ट पुराण, दयाबोध, रहरासी, पन्द्रह तिथि, सप्तवार मछीन्द्र-गोरषबोध, अष्ट मुद्रा, रोम्भावली, गोरष गणेष गुष्टि, पंच मात्रा, महादेव गोरष गुष्टि, सप्तवार नवग्रह, चौबीस सिद्धि, ज्ञानदीप बोध §गोरष दत्त गुष्टि§ आदि रचनाओं को संग्रह किया गया है ।

इसके अतिरिक्त डा0 एस0पी0 चन्दोला ने अपने शोध प्रबन्ध के अन्तिम भाग में कुछ नाथ योगियों की अप्रकाशित रचनाओं का उल्लेख किया है, जिनमें सिद्ध हड़ताल जी की सबदियां, चौरंगीनाथ की सबदी, बालानाथ सबदी, कणेरीपाव सबदी, भरथरी सबदी, गोपीचन्द्र की सबदी, रामरामग्री, अजयपाल की सबदी, चरपट नाथ की सबदी, अबली सलूक ग्रन्थ आदि संकलित है।[66]

57- यो0 वा0 सि0 द0 वि0 पृष्ठ - 67

58- ना0 स0 पृष्ठ - 98
59- गो0 ना0 पृष्ठ - 44
60- गो0 ना0 पृष्ठ - 48
61- गो0 ना0पृष्ठ - 49

इस प्रकार नाथ पंथी साहित्य अतिप्रचुर मात्रा में हिन्दी संस्कृत दोनों ही भाषाओं में उपलब्ध है। यद्यपि कुछ ग्रन्थों को छोड़कर अधिकांश ग्रन्थों की ऐतिहासिकता एवं प्रमाणिकता के विषय में विद्वानों द्वारा सन्देह व्यक्त किया गया है तथापि नाथ पंथ के अध्ययन की दृष्टि से समस्त हिन्दी संस्कृत रचनाऐं अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं, क्योंकि इसी साहित्य के आधार पर नाथ पंथ के इतिहास, दर्शन, धर्म, कर्मकाण्ड आदि के सम्बन्ध में जाना जा सकता है।

यदि एक ओर नाथ पन्थी इतिहास, दर्शन, धर्म, कर्म आदि साहित्यिक ग्रन्थों के रूप में विकासशील था तो दूसरी ओर विभिन्न शाखाओं एवं उपशाखाओं, में परिणत होता गया, जो नाथ पंथी दर्शन के केन्द्र बिन्दु थे, जिनके माध्यम से नाथ पन्थी दर्शन की विचार धारा समस्त जनमानस तक पहुँची।

एक अनुश्रुति के अनुसार सर्वप्रथम शिव द्वारा प्रवर्तित 18 सम्प्रदाय थे तदनन्तर गुरू गोरक्षनाथ जी ने 12 सम्प्रदायों का संगठन किया। किन्तु दोनों दलों में पारस्परिक वैमनस्य उत्पन्न हो गया तथा आये दिन आपसी विवाद उत्पन्न होने लगा। इसलिए अन्त में गुरू गोरक्षनाथ जी ने शिव द्वारा प्रवर्तित छः तथा स्वयं के संगठित छः सम्प्रदायों को तोड़कर शेष छः शिव के तथा तथा छः स्वयं के सम्प्रदायों को मिलाकर 12 पन्थों का पुनगठन किया, जो निम्नवत् है

1- सत्यनाथी	2- धर्मनाथी	3- रामपंथ
4- नाटेश्वरी	5- कन्हड़	6- कपिलानी
7- वैरागपंथ	8- माननाथी	9- आईपंथ
10-पागलपंथ	11-धाजपंथ	12-ग ंगानाथी ।।[67]

उक्त वर्णित प्रत्येक पंथ का एक-एक विशेष स्थान होता है जिसे उस पंथ से सम्बन्धित नाथ लोग अपना प ुण्य क्षेत्र मानते हैं प्रत्येक पंथ में एक एक विशेष पौराणिक द ेवता या महात्मा को अपना आदि प्रवर्तक माना जाता ह ै। स्व0 डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने प्रत्येक पंथ के विशेष स्थान, उसके मूल प्रवर्तक, या देवता, प्रदेश को ध्यान में रखकर उक्त 12 पन्थों का विवरण निम्नांकित §अंग्राकित§ तालिका के रूप में वणित किया है।[68]

सं0	नाम	मूलप्रर्वतक	स्थान	प्रदेश	विशेष
1	सत्यनाथी	सत्यनाथ	पाताल भुवनेश्वर	उड़ीसा	सत्यनाथ स्वयं ब्रह्मा का ही माम है । अतः ये लोग ब्रह्मा के योगी कहलाते हैं।
2	धर्मनाथी	धर्मराज §युधिष्ठर§	दुल्लु देलक	नेपाल	--
3-	रामपंथ	श्रीराम चन्द्र	चौक तप्ते पंचौरा	गोरखपुर	इस समय में लोग गोरखपुर को ही अपना स्थान मानते है।
4	नाटेश्वरी	लक्ष्मण	गोरख टिल्ला	झेलम पंजाब	इनकी दो शाखायें है-नााटेश्वरी, दरियापन्थी

5	कन्हड़	गणेश	मानफरा	कच्छ	--
6	कपिलानी	कपिलमुनि	गंगा सागर	बंगाल	इस समय कलकत्ते दमदम के पास गोरखवंशी इनका स्थान है।
7	वैराग्यपंथ	भर्तृहरि	रतढोंडा	पुष्कर के पास अजमेर	--
8	माननाथी	गोपीचन्द	अज्ञात	-	इस समय जोधपुर का महामन्दिर मठ इनका स्थान है।
9	आईपंथ	भगवती विमला	जोगीगुफा या गोरख कुँई	बंगाल दिनाज-पुर जिले में	--
10	पागलपंथी	चौरंगीनाथ §पूरनभगत§	अबोहर	पंजाब	--
11	धजपंथ	हनुमान जी	-	-	--
12	गंगानाथी	भीष्म पितामह	जरवबार	गुरुदास पुर पंजाब	--

उक्त 12 पन्थों के विषय में डा० एस० पी० चन्दौला ने भी विस्तार से प्रकाश डाला है।[69]

62- म० गा० एवं उ० त० स्थली - पृष्ठ - 26
63- गो० ना० पृष्ठ - 50
64- गो० ना० पृष्ठ - 50
65- गो० ना० यु० पृष्ठ - 157 से 236
66- ना० प० पृष्ठ - 223 से 247
67- ना० स० पृष्ठ - 12

इस प्रकार ये 12 पंथ विशेष रूप से नाथपंथ में आविर्भूत हुए। तदनतर इनमें भी अनेक उपशाखायें परिवर्तित हो गयी। "जिनमें कायिकनाथी, पागलनाथी, उदयनाथी, आरययपंथ, फीलनाथी, चर्पटनाथी, गैनी या गहनीनाथी, निरंजननाथ, वरजोगी, पा पंथ, कामभज, काषाय, अर्द्धनारी, नायरी, अमरनाथ, कुंभीदास, तारकनाथ, अमापंथी, भृगनाथ आदि अनेक उपशाखायें य ुक्तहुई जिनका विस्तार समस्त भारतवर्ष एवं अफगानिस्तान भी है।"[70]

एक अन्यश्रुति के अनुसार मत्स्येन्द्र नाथ ने चार पंथ चलाये गोरखनाथी, अरजनंगा, मीननाथ, पारसनाथ। अन्तिम दोनों जैन हैं।[71]

नाथ पंथ में कुछ अन्य पंथ भी युक्त हुए जिन्होने विस्तृत रूप से या फिर आंशिक रूप से भेष की म र्यादा को स्वीकार किया। इस पंथ में भेष रूप छः दर्शनों की कहावत प्रसिद्ध है जो नाथ पंथ के अन्तर्गत ही माने जाते हैं-

जोगी, जंगम सेवडा §जैनसाधु§, सन्यासी दरवेश।
घटा दरसण ब्रहूम का जामें मीन न मेष।।[72]

इस प्रकार डा0 एस0 पी0 चन्दौला ने मुसलमान, योगी, रूखड़, सूखड़, गूदड़, कूकड़ औघड़, भन्नाथी, सेवड़ा, गृहस्थयोगी, मन्त्रतन्त्र, जादूटोना, झाड़फूंक और वैदिक आदि विभिन्न आंशिक भेष की मर्यादा स्वीकार करने वाली उपशाखाओं पर भी विस्तार से प्रकाश डाला है।[73]

68- ना0 स0 पृष्ठ - 13
69- ना0 प0 पृष्ठ - 63
70- ना0 स0 पृष्ठ - 14

इस प्रकार उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि नाथपंथ के उदय के बाद उसमें विभिन्न शाखाओं एवं उपशाखाओं का समुचित विकास हुआ।

पभाव :

भारतीय साधना पद्धति में नाथ पंथ का एक विशेष स्थान रहा है। यह भारतीय इतिहास और साहित्य की प्रबल धारा है, जो भारतवर्ष में अखण्ड रूप से कई शताब्दियों तक बहती रही है तथा जिसका प्रभाव आज भी समग्र भारत तथा उसके बाहर अनेक सीमावर्ती देशों विशेष रूप से नैपाल आदि पर छाया हुआ है। नाथ पन्थी साधना पद्धति ने अपने में विभिन्न साधना पद्धतियों को आत्मसात् करके एक स्वतन्त्र रूप स्थिर किया तथा परवर्ती काल की विभिन्न साधना पद्धतियों, साहित्य की धाराओं, सन्तो, साधुओं, कविओं तथा राजा महाराजाओं को प्रभावित किया।

यहाँ तक की बादशाह बाबर के प्रभावित होने के संकेत "बाबरनामा" मे प्राप्त एक घटना के उल्लेख से मिलते हैं " नाथ सिद्धों की करामातों, दार्शनिक तथा योगसाधना की ख्याति सूफी सन्तों और दरबारियों के माध्यम से बाबर तक पहुँची। उन दिनों गोरखत्री या गोरखतारी नाथ पन्थी साधना का प्रसिद्ध केन्द्र था। बाबर उस मठ का दर्शन करने गया बाबरनामा में इस घटना का उल्लेख है।"[74]

71- ना0 स0 पृष्ठ - 14
72- ना0 प0 पृष्ठ - 66
73- ना0 प0 पृष्ठ - 66 से 69
74- यो0 वा0 ना0 यो0 सा0 वि0 - पृष्ठ - 56

निष्कर्ष :

नाथसिद्धों की परम्परा में नाथ पंथ के पूर्व वर्णित अनेक नामों का प्रयोग होता आया है। किन्तु उसके उदय काल की ओर संकेत करने वाले किन्हीं ठोस ऐतिहासिक प्रमाणों का ठीक पता नहीं चलता। अस्तु नाथ सिद्धों के मान्य गुरू शिव स्वरूप आदिनाथ से ही नाथ पंथ तथा दर्शन का प्रारम्भ हुआ प्रतीत होता है। नाथपंथ तथा उसके दर्शन के विकास के सम्बन्ध में सम्भवतः नाथ साहित्य तथा उसकी शाखाओं एवं उपशाखाओं पर निर्भर किया जा सकता है जो भारत तथा नेपाल आदि देशों में बिखरी पड़ी है। नाथ पन्थी साहित्य पर आज भी विस्तार से प्रकाश डाला जा रहा है जिसमें गोरखपुर मन्दिर गोरखपुर से प्रकाशित पत्रिका "योगवाणी" नाथ पंथी इतिहास, दर्शन, धर्म, कर्म आदि के विकास का अभूतपूर्व कार्य कर रही है। इसके अतिरिक्त नेपाल के राजगुरू योगीनरहरिनाथ शास्त्री ने गोरक्षग्रन्थमाला के अन्तर्गत काशी योग प्रचारिणी गोरक्ष टिल्ला, मन्दाकिनी काशी से लगभग एक सौ ग्रन्थों को प्रकाशित किया जिससे नाथ साहित्य की विपुलता एवं समृद्धि का पता चलता है।

नाथपंथ में 12 संस्थाओं का पुनर्गठन हुआ। लेकिन इन का गठन कब किन परिस्थितियों तथा रूपों में हुआ इसका कोई सर्वमान्य विवरण प्राप्त नहीं होता। वस्तुतः इन 12 संस्थाओं का विवरण देने वाली 20 सूचियां बतलायी गयी है।[75] अतः 20 सूचियों में किस एक को आधार माना जाय। दूसरी ओर यह विषय भी विवादास्पद ही है कि पूर्वकथित शिव प्रवर्तित 18 गुरू गोरक्षनाथ संगठित

12 संस्थाओं में से मात्र 12 पन्थों का पुनर्गठन किया गया। तब यह जानने कि जिज्ञासा भी प्रबलतम् हो उठती है कि सर्वप्रथम संगठित शिव और गुरू गोरक्षनाथ के कुल 30 पन्थ कौन से रहें होंगे तथा उनका अन्तर्भाव 12 पन्थों में किस प्रकार किया गया होगा। यदि इस विषय में यह मान लिया जाय कि ये 12 पन्थ गुरू गोरक्षनाथ जी के शिष्यों द्वारा चलाये गये होंगे, तो यह निश्चित करना कठिन ही नहीं बल्कि असम्भव है कि उनके किन शिष्यों द्वारा किस काल और क्रम में इनका संगठन किया गया।

अनुमानतः इस सम्बन्ध में इतना मात्र कहा जा सकता है कि इन पंथों का संगठन नाथ सिद्धाचार्यो की परम्परा के कुछ समय पीछे किया गया होगा तथा यह कार्य विभिन्न व्यक्तियों § सिद्धाचार्यो§ द्वारा अपने-अपने पंथ के रूरूप में सम्पन्न किया गया होगा।

इस प्रकार इन 12 पन्थों के कालक्रम तथा संगठन के विषय में किसी ठोस प्रमाण के न मिलने के बाद भी यह अवश्य है कि कालान्तर में संगठित शाखा प्रशाखाओं ने उक्त 12 शाखाओं से किसी न किसी रूप में अपना सम्बन्ध जोड़ा है।

इस प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि तत्कालीन समय में ही नाथ पंथ की विभिन्न शाखाओं, उपशाखाओं सम्बन्धित जातीय वर्गो का तेजी के साथ विकास हुआ।

75- म0 दि0 नि0 स्मृ0 पृष्ठ - 295

उनके द्वारा नाना तीर्थ स्थलों को अपनाया गया तथा जगह-जगह नाथ मन्दिर तथा मठों की स्थापना की गयी, जो आज भी विद्यमान है।

डा0 एस0 पी0 चन्दोला ने भारत में यत्रतत्र विद्यमान नाथों के जालौर, सौगन्धिक पर्वत, गिरनार , गोरखभण्डी, प्रभास, धीणोधर, कच्छ, राणा और कन्यकोट ग्राम, कच्छेली, दुमच, हिंगलाज , कद्रीमठ, मेंगलौर, मैसूर, इल्वल षोड्शा मंडली ग्राम मेंगलोर, चुचुंनागिरि, गोरखडिब्बी, सुनारी भैरव और अभीर मठ, कुशावर्त, चौपड़ा, अचलपुर, पंचवटी, नासिक क्षेत्र, इशारा पर्वत और शुक तीर्थ, हांडी भडण्ग, बेलगाँव, हैदराबाद दक्षिण, चितौड़, उदयपुर, नेवाली, शेषावाटी, गोरखपुर, चतुर्मुखग्राम, तुलसीपुर, काशी, हरिहर क्षेत्र और फाल्गुन तीर्थ, वैद्यनाथ, विशालक-महानाद-गोरवशी आदि बंग देश में, महानाद हुगली जिले में, कलकत्ते में दमदम के पास, सिद्ध कुण्ड और पुरूषोत्तम वन उड़ीसा में, कामाख्या, नागदेश के आंकारेश्वर वर्मा की सीमा पर, नेपाल में काठमाण्डू, हरिद्वार, श्रीनगर, देवलगढ़, नागनाथ,हरियाना क्षेत्र, मुण्डाल, सरगोदा §पंजाब§, गोरियापीठ, जरववा §चम्बा§, ज्वाला मुखी, धुंआरायी, शमशेरगाह खुरासान, काबुल, जलालाबाद, पेशावर, अटक, कटासराज, मरवड़ड, झेलम टिल्ला आदि तीर्थ स्थानों का विस्तार से वर्णन किया है।[76] इसके अतिरिक्त वर्तमान में स्थित लगभग 132 प्रमुख नाथ गाद्दियों तथा पीर महन्तों की सूची भी उन्होंने प्रस्तुत की है।[77]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वर्तमान समय में भी पूर्ववत् विभिन्न नाथ पंथों द्वारा भारत-नेपाल तथा सीमावर्ती अन्य देशों में स्थापित मन्दिर, मठ आज भी सर्वत्र अपना आलोक बिखर रहे हैं।

76- ना0 प0 पृष्ठ - 86 से 101

77- ना0 प0 पृष्ठ - 101

द्वितीय - अध्याय

- गोरक्षनाथ और उनका दर्शन : सामान्य परिचय

1- महिमाशाली व्यक्तित्व

2- जन्म सम्बन्धी धाराणाएँ

3- स्थान

4- समय

5- महायोगी

6- गुरु शिष्य परम्परा

7- समवर्ती परवर्तीनाथ सिद्धों एवं राजा-महाराजाओं पर प्रभाव

8- दार्शनिक विचार धाराओं का संक्षिप्त परिचय

9- प्रमुख दार्शनिक ग्रन्थ

10- गुरु गोरक्ष योग दीक्षा पद्धति

महिमाशाली व्यक्तित्व -

यद्यपि गुरू गोरक्षनाथ के व्यक्तित्व एवं चरित्र पर प्रमाणिक एवं पूर्ण सामग्री के अभाव में स्पष्ट रूप से कुछ भी कहना कठिन है, तथापि अनुश्रुतियों तथा धारणाओं के आधार पर उनकी सद्चरित्रता, उदारता तथा उच्च व्यक्तित्व - शीलता पर अनेक विद्वानों ने प्रकाश डाला है ।

गुरू गोरक्षनाथ का व्यक्तित्व सर्वतोमुखी तथा सर्व शक्ति सम्पन्न था।

स्व0 डा0 हजारी प्रसाद दिवेदी ने लिखा है-[1] " गोरक्षनाथ अपने युग के सबसे महान धर्मनेता थे। उनकी संगठन-शक्ति अपूर्व थी। उनका व्यक्तित्व समर्थ धर्म गुरू का व्यक्तित्व था। उनका चरित्र स्फटिक के समान उज्जवल, बुद्धि भावावेश से एक दम अनाविल कुशाग्र और तीव्र थी। उनके चरित्र में कहीं भी भावविह्वलता नहीं है। जिन दिनों उन्होनें जन्म ग्रहण किया था, उन दिनों भारतीय धर्म- साधना की अवस्था विचित्र थी। शुद्ध जीवन, सात्विक -वृत्ति और अखण्ड ब्रह्मचर्य की भावना उन दिनों अपनी निम्नतम् सीमा तक पहुँच चुकी थी। गोरखनाथ जी ने निर्भम हथोड़े की चोट से साधु और गृहस्थ, दोनों की कुरीतियों को चूर्ण-विचूर्ण कर दिया। लोक जीवन में जो धार्मिक चेतना पूर्ववर्ती सिद्धों से आकर उसके पारमार्थिक उद्देश्य से विमुख हो रही थी, उसे गोरक्षनाथ ने नई प्राण शक्ति से अनुप्राणित किया। किसी रूढ़ि पर चोट करते समय उन्होने दुर्बलता नहीं दिखाई। वे स्वयं पण्डित व्यक्ति थे, पर यह अच्छी तरह जानते

थे कि पुस्तक लक्ष्य नहीं, साधन है। उन्होनें किसी से भी समझौता नहीं किया, लोक से भी नहीं, वेद से भी नहीं, परन्तु फिर भी उन्होनें समस्त प्रचलित साधना मार्ग से उचित भाव ग्रहण किया।"

दूसरी ओर डा० नागेन्द्र उपाध्याय ने गुरु गोरक्षनाथ के व्यक्तित्व पर विहगम दृष्टि डालते हुए लिखा है-[2] "बौद्धों की दार्शनिक क्षेत्र में पराजय तो कुमारिल और शंकराचार्य प्रमाणित कर चुके थे, लेकिन साम्प्रदायिक और सामाजिक क्षेत्र में बौद्धो का अब भी बड़ा प्रभाव था। बौद्ध सन्यासियों का प्रभाव हर्षवर्धन के समय तक कितना था, यह इतिहास स्पष्ट बतलाता है। सन्यासियों में उनकी संख्या सबसे ज्यादा थी। लेकिन शंकराचार्य के बाद भी शैव सन्यासियों का पूर्ण संगठन न हो पाया था। कालामुख, कापालिक, पाशुपत, लिंगायत आदि अनेक सम्प्रदाय तत्कालीन बौद्धों की तरह जनमानस में भय, शंका, घृणा आदि की दृष्टियों से देखें जाते थे। समाज की साधनागत और धर्मगत समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने की इनकी शक्ति समाप्त हो चुकी थी। यों कहा जा सकता है कि इनकी सामाजिक उपयोगिता समाप्त हो गयी थी। अतः यह भी शक्तिहीन होते जा रहे थे। उसी समय काश्मीर में शैवदर्शन और साधना का विकास हो रहा था। उसमें कई आचार्यों का अभ्युदय हो चुका था। इन सारी आवश्यकताओं और परिस्थितियों को भली-भाँति परखकर गोरक्षनाथ ने सदाचार परायण, संयम पूर्ण परम्परागत

1- ना० स० पृष्ठ - 128
2- गो० ना० पृष्ठ - 93

शैव दर्शन और साधना पर आधारित और जीर्णप्राय शैव सम्प्रदायों से संगठित सिद्धमत अथवा नाथयोगी सम्प्रदाय का समारम्भ किया। बहुत पहले ही लकुलीश , पाशुपत लिगांयत, कालामुख आदि वेदवाहृय घोषित हो चुके थे। शंकराचार्य की शैवता और वेदानुकूलता तो गोरक्षनाथ के पहले से ही घोषित थी। अतः इन तथाकथित वेदवाहृय, जीर्णप्राय, शैव सम्प्रदायों का नये संगठित रूप में पुनरूज्जीवन आवश्यक था जो गोरक्षनाथ के हाथ से सम्पन्न हुआ। "

वस्तुतः उक्त महत्वपूर्ण कार्य किसी सामान्य व्यक्तित्व वाले व्यक्ति द्वारा सम्पन्न होने सम्भव नहीं थे। ऐसे दुरूह एवं कठिन कार्यों को करने में कोई उच्च आदर्श से युक्त धर्मपरायण व्यक्ति ही सफल हो सकता था। सामान्य जनमानस को आकर्षित कर लेने वाले आकर्षक चरित्र एवं पूर्ण व्यक्तित्व शील, सदाचार परायण व्यक्ति के द्वारा ही ये कार्य सम्भव थे। सर्वोच्च चरित्र युक्त व्यक्ति ही इस प्रकार किसी सम्प्रदाय या संस्था का नेतृत्व संभाल सकता था। इसी प्रकार के गुणों से युक्त थे गुरू गोरक्षनाथ, तभी तो उन्होने समय की पुकार के साथ लोक कल्याणार्थ अपने जीवन को समर्पित किया।

डा0 रागेय राघव ने उनके सौन्दर्य पर प्रकाश डालते हुए लिखा है " वे अत्यन्त सुन्दर व्यक्ति थे, जिनके सौन्दर्य में यदि एक ओर स्त्रियों का सा लावण्य था, तो दूसरी ओर पुरूषों की अखण्ड शक्ति भी उनमें प्रतिबिम्बित होती है। उनके सिर पर जटायें थी। माथे पर भस्म लगी रहती थी। श्रृंगी तथा योगियों के लिए आवश्यक वस्तुओं

से सुसज्जित उनका व्यक्तित्व अत्यन्त भव्य दिखाई देता था। ऐसे कम ही महापुरूष होगें, जिनके साथ सौन्दर्य का इतना भाव चित्रित किया गया हो।"

गुरू गोरक्षनाथ रूप बदलने में अत्यन्त कुशल व्यक्ति थे। वे मृदंग -वादन तथा नृत्य- कला में भी अत्यन्त निपुण थे। एक अनुश्रुति में इसी प्रकार के प्रमाण मिलते हैं - गुरू गोरक्षनाथ ने अपने गुरू मत्स्येन्द्र नाथ के उद्धार के लिए, जो कि रानी मैनाकिनी के साथ त्रिया राज्य में विलासिता में रत थे, स्त्री वेश धारण करना पड़ा।'कलिंगा अपनी सहेलियों और स्त्री वेशधारी गोरखनाथ के साथ राजदरबार में पहुँची। वहाँ एक रत्नजटित स्वर्ण सिंहासन पर रानी मैनाकिनी बैठी थी। उसी के पास राजसी वेशभूषा में मत्स्येन्द्रनाथ भी बैठे थे। सभी ने राजदरबार में पहुंच कर दोनों को सादर अभिवादन किया। उसके पश्चात् कलिंगा की सखियां अपने-अपने साज ठीक करने लगी। स्त्री रूप गोरखनाथ ने भी मृदंग बजाना आरम्भ किया।"[4] जिससे "जाग मछन्द्र गोरख आया" की ध्वनि सुनाई पड़ती थी।

प्रायः यह देखा जाता है कि इतने लावण्य, गुणों तथा निपुणता से युक्त व्यक्ति चरित्र तथा नैतिकता की दृष्टि से गिर जाता है। वह इतना कुछ प्राप्त होने पर संभाल नहीं पाता। लेकिन गुरू गोरक्षनाथ इतने गुणों से युक्त होने के बाद भी संयमशील तथा काम-विजेता थे। उनमें काम विकार नहीं था। स्त्रियों को वे माता सदृश ही देखते थे। एक अनुश्रुति में इसका पुष्ट प्रमाण मिलता है।

" एक बार शिव से गौरी ने कहा कि वे सिद्धों को विवाह करके वंश चलाने का आदेश दें। शिव ने कहा कि सिद्ध लोगों में काम विकार नहीं है। तब शिव से आज्ञा लेकर गौरी ने चार सिद्धों की परीक्षा ली। चारों दिशाओं में तपस्या कर रहे थे। पूरब में हिडया, दक्षिण में कानफा, पश्चिम में गोरक्ष तथा उत्तर में मीननाथ। गौरी को परीक्षा का अवसर देने के लिए शिव ने ध्यान बल से चारों सिद्धों का आवाहन किया। चारों उपस्थित हुए। देवी ने भुवन मोहिनी रूप धारण कर चारों को भोजन परोसा। चारों ही सिद्ध उस पर मुग्ध हुए। मीननाथ ने सोचा यदि ऐसी सुन्दरी मिल तो आनन्द केली से रात काटू। देवी ने उन्हें शाप दिया कि तुम महाज्ञान भूलकर कदली देश में सौलह सौ सुन्दरियों के साथ काम कौतुक में रत होगें। हाडिपा ने ऐसी सुन्दर का झाडूदार होने में भी कृतार्थता की अभिलाषा की और फलस्वरूप मयनामति रानी के घर में झाडूदार होने का शाप पाया। कानफा ने सोचा की ऐसी सुन्दरी मिले तो प्राण देकर भी कृतार्थ होंऊ। इसलिए देवी ने शाप दिया कि तुम मानदेश में डाहुका होओ। पर गोरक्ष ने सोचा कि ऐसी सुन्दरी मेरी माता हो तो उसकी गोद में बैठकर स्नेह पॉऊ और दूध पीऊँ। गोरक्ष परीक्षा में खरे उतरे और वर भी पाया।"[5]

"गौरी ने परीक्षा में खरे उतरने पर गोरक्ष को सुन्दर स्त्री रत्न पाने का वर दिया " देवी के वर की

3- गो0 ना0 यु0 पृष्ठ - 46
4- गो0 ना0 च0 पृष्ठ - 52

मान रक्षा के लिए शिव ने माया से एक कन्या उत्पन्न की जिसने गोरक्षनाथ को पतिरूप में वरण किया। गोरक्ष उसके घर में जाकर छः माह के बालक बन गये और दूध पीने के लिए मचलने लगे। कन्या बड़े फेर में पड़ी। गोरक्षनाथ ने उससे कहा कि मुझमें काम विकार तो होने से रहा पर तुम हमारा कोपीन §करपटी§ धोकर उसका पानी पी जाओ तुम्हे पुत्र होगा। आदेश के अनुसार कन्या ने करपटी धोकर जलपान कर लिया। जो पुत्र उत्पन्न हुआ उसका नाम कर्पटीनाथ पड़ा"[6]

इससे यह स्पष्ट है कि वे नारी के केवल मातृरूप के ही पूजक थे। उन्होनें जीवन के उच्चादर्शों में संयम, और ब्रह्मचर्य को ही उचित माना ।

एक ओर यह था तो दूसरी ओर उनमें बच्चों के प्रति स्नेह की भावना तथा उनके प्रति उदारता के भाव भी विद्यमान थे। एक अनुश्रुति[7] के अनुसार एक बार जब गोरक्षनाथ संजीवनी मन्त्रों के पाठ में मग्न थे तब कुछ बालक उनके पास आकर उनसे गाड़ी बनाने की जिद करने लगे। बच्चों के भावों को समझ कर उन्होनें गाड़ी बना दी। तत्पश्चात् वे उनसे गाड़ीवान बनाने की जिद करने लगे। जब मना करने पर भी वे नहीं माने तब वे मिट्टी का पुतला बनाने लगे, साथ ही संजीवनी मन्त्रों का उच्चारण भी करते जा रहे थे, जिनके प्रभाव से उस पुतले में प्राण संचार होने लगा। जब वह पूरा हो गया तब सचमुच का बालक था जिसे गहिनीनाथ नाम दिया गया।

एक अन्य कथा में भी उनकी उदारता तथा सहृदयता का परिचय मिलता है। एक बार[8] गोरक्षनाथ अपने गुरू मत्स्येन्द्र नाथ के साथ कौण्डिल्य प ुरनगर में पहुंचे । वहाँ उन्होनें नगर बीच चौरंगी पर एक हाथपाँव कटा बालक पड़ा देखा तो गुरू से आज्ञा लेकर उन्होंने उसे अपने साथ ले लिया। चौरंगी से उठाने के कारण उसका नाम चौरंगीनाथ रखा और अपने शिष्य रूप में ग्रहण किय।।

एक अन्य अनुश्रुति[9] भी इस प्रकार के संकेत देती है - एक बार दुग्ध की आवश्यकता पड़ने पर गुरू गोरक्षनाथ ने अपने शिष्य पवननाथ को दुग्ध लाने के लिए ग्राम में भेजा। कुछ युवकों द्वारा परिहास स्वरूप बतलाने पर उन्होनें एक निर्धन ब्राह्मण के द्वार पर अलख जगाया। ब्राह्मणी द्वार पर आयी और अश्रुपूरित नेत्रों से बोली - योगी मैं तुम्हें खाली हाथ न भेजती किन्तु देने के लिए कुछ नहीं है। पवननाथ अन्य घर से दुग्ध लेकर लौट आये तथा सारा वृतान्त गुरू जी से कह सुनाया। सुनकर गोरक्षनाथ को दया आ गयी तथा एक चुटकी राख अभिमन्त्रित कर पवननाथ को दी तथा ब्राह्मण के घर डाल आने को कहा जिसके प्रभाव से ब्राह्मण धनधान्य से परिपूर्ण हो गया।

5- ना0 स0 पृष्ठ - 49
6- ना0 स0 पृष्ठ - 50
7- गो0 ना0 च0 पृष्ठ - 20
8- गो0 ना0 च0 पृष्ठ - 18

जहाँ उनमें इस प्रकार की सद्वृत्ति थी वहीं पवित्र गुरू भक्ति भी विद्यमान थी। गुरू के प्रति उनमें विशेष श्रृद्धा थी। समय पर वे गुरू के लिए अपनी जान भी देने के लिए तत्पर रहते थे। एक कथा के अनुसार[10] एक बार मत्स्येन्द्र नाथ ने परीक्षा लेने के उद्देश्य से उन्हे ग्राम में भोजन मांग लाने को कहा। गोरक्षनाथ जी ने एक द्वार पर जाकर अलख जगाया। उन्हें वहाँ से भोजन में बड़े प्राप्त हुए जिन्हें लेकर वे गुरू के पास आये। मत्स्येन्द्र नाथ जी ने उन्हे खाकर और इच्छा प्रकट की तो गोरक्षनाथ जी ने फिर उसी द्वार पर जाकर अलख जगाया। लेकिन इस बार गृहिणी ने उन्हें फटकारा, फिर काफी अनुनय विनय के बाद गृहिणी ने एक आँख के बदले एक बड़ा देने को कहा। तब गोरक्षनाथ ने इस शर्त को स्वीकार कर लिया। गृहिणी जबतक अन्दर जाकर बड़ा लेकर लौटी तबतक उन्होनें आँख की पुतली निकाल ली थी जिसे देखकर गृहिणी आश्चर्य चकित हुई तथा तुरन्त ही बडा देकर अन्दर चली गयी। गोरक्षनाथ वापस लौटे तो मत्स्येन्द्रनाथ घटित घटना को जानकर उनकी गुरू भक्ति से प्रसन्न हुए तथा आँख की पुतली लेकर यथास्थान लगा दी।

इससे पता लगता है कि उनमें ग्रुरू भक्ति अटूट थी। आप जाति-पाति के भेद-भाव से भी बहुत दूर थे। डा० रागेंय राघव ने लिखा है[11] " गोरख

9- गो० ना० च० पृष्ठ - 104
10- गो० ना० च० पृष्ठ -

ऊचँ-नीच का भेद-भाव नहीं मानते थे। कबीर को यह परम्परा बहुत कुछ अंश तक सम्भवतः उन्ही से प्राप्त हुई थी। धनी हो या दरिद्र, ब्राह्मण हो या शूद्र, बौद्ध हो या जैन, जहां तक मनुष्य का सम्बन्ध था, वे सबको समान दृष्टि से देखते थे।"

इस प्रकार अनुश्रुतियों, धारणाओं के आधार पर यह निश्चय ही कहा जा सकता है कि समय की पुकार के साथ बिगड़ती हुई धर्म-साधना व्यवस्था को संवारने के लिए अपने म अन्य समस्त समुदायों को आत्मसात् करके नाथपन्थ को प्रतिष्ठित करने वाले गुरू गोरक्षनाथ का व्यक्तित्व अप्रतिम था। वे एक व्यक्ति नहीं वरन् संस्था थे, जिन्होने कितने ही योगियों को दीक्षित कर नाथपन्थी प्रभाव को प्रशस्त किया। आप धर्म जगत् के उन्नायक अलौकिक ज्योति स्वरूप थे। वे दिव्य द्रष्टा तथा युगस्रष्टा थे। वे समय के अनुरूप युग प्रवाह को मोड़ने वाले तथा समाज सुधारक थे। आपने सत्याचरण, ईमानदारी और सच्चाई का उपदेश दिया। गुरू गोरक्षनाथ जिस पंथ की स्थापना कर गये वह आज भी उनकी सर्वव्यापकता, लोक प्रसिद्धि की पताका भारत तथा अन्य सीमावर्ती देशों में फहरा रहा है।

अस्तु, लोक प्रसिद्ध गुरू गोरक्षनाथ का व्यक्तित्व सर्वाधिक प्रभावशाली था।

।।- गो० ना० यु० पृष्ठ - 52

जन्म सम्बन्धी धारणाएँ :

गुरू गोरक्षनाथ का जन्म और कर्म दोनों ही दिव्य है। आपका जन्म रहस्यमय है। आपके जन्म के सम्बन्ध में अनेक प्रवाद प्रचलित है। एक अनुश्रुति के अनुसार[12] भिक्षाटन के समय मत्स्येन्द्र नाथ ने गोदावरी नदी के तटवर्ती चन्द्रगिरि नामक स्थाान पर एक नि:सन्तान स्त्री को विभूति दी। लोक निन्दा के भय के कारण उसने वह विभूति झाड़ के पास गोबर में फेंक दी। पुनः बारह वर्ष पश्चात् मत्स्येन्द्र नाथ के अनुसंधान स्वरूप उसी झाड़ के निकट गोबर के ढेर से एक दिव्य, अलौकिक बारह वर्ष का बालक प्रकट हुआ।

नेपाली परम्परा के अनुसार[13] महादेव ने एक पुत्राकांक्षिणी नारी को विभूति दी। नारी ने अविश्वास कर उसे गोबर के ढेर में फेंक दिया। बारह वर्ष बाद महादेव के पुनः अनुसन्धान केफलस्वरूप उस स्थान से गोरक्ष का आविर्भाव हुआ।

एक अन्य अनुश्रुति[14] में अयोध्ययाा के निकट सरयू के तट पर थोड़ी दूर जयश्री अथवा जायस नामक स्थान पर मत्स्येन्द्रनाथ ने नि:सन्तान स्त्री को अभिमन्त्रित विभूति दी। ब्राह्मणी ने विभूति गोबर के ढ़ेर में फेंक दी। बारह वर्ष पश्चात् मत्स्येन्द्रनाथ के आवाहन पर वहीं से गोरक्षनाथ का प्रादुर्भाव हुआ ।

एक अन्य मतानुसार[15] निराकार निरंजन के धर्म से गोरक्ष की उत्पति हुई। ये मत्स्यजात मत्स्येन्द्र

के पिता थे। इन्होने अपने पाप का प्रक्षालन करने के लिए गुरू का अन्वेषण किया और अन्त में अपने पुत्र को ही गुरू रूप में वरण किया।

यद्यपि गुरू गोरक्षनाथ जी का जन्मवृतान्त रहस्यमय है तथापि उपर्युक्त मतों की परीक्षा कर निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं -

1- गुरू गोरक्षनाथ जी का जन्म अयोनिज था।
2- उनके गुरू मत्स्येन्द्र नाथ थे।
3- माता-पिता के सम्बन्ध में कोई विवरण प्राप्त नहीं होता है।
4- यद्यपि जन्म किस वंश में हुआ इस विषय में पुष्ट प्रमाण नहीं मिलते तथापि अधिकांश मत उनके ब्राह्मण होने की ओर संकेत करते हैं।

जन्म स्थान :

डा० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय ने गुरू गोरक्षनाथ जी के जन्म स्थान तथा जीवन वृत के विषय में विविध मतों का संकलन किया है। उनमें से निम्नलिखित मत उनके जन्म स्थान के विषय में उद्धृत किए जा रहे हैं।[16]

1- नेपाल, पंजाब, गोरक्षपुर आदि को उनका जन्म स्थान माना जाता है।
2- गोदावरी के तट पर एक ब्राह्मणी के गर्भ से गोरक्ष का जन्म हुआ और बारहवें वर्ष के

अन्त में मत्स्येन्द्र द्वारा आन्तर्धानिक रीति से गोरक्ष का सम्प्रदान हुआ। गोरक्ष ने गौसेवा की ओर योग शक्ति प्राप्त की।

3- योगिसंपदायाविष्कृति में उन्हें गोदावरी तीर के किसी चन्द्रगिरि में उत्पन्न बताया गया है।

4- दरबार लाईब्रेरी, नेपाल के गोरक्ष सहस्रनाम नामक एक लघुकाय हस्तलेख के एक श्लोक के अनुसार दक्षिण दिशा में स्थित किसी बडव नामक देश में महामन्त्र के प्रसाद से महा बुद्धिशाली गोरक्षनाथ का अभ्युदय हुआ था।

5- कुक्स और ग्रियर्सन द्वारा उद्धृत एक परम्परा के अनुसार गोरक्षनाथ सत्ययुग में पंजाब के पेशावर में, त्रेता में गोरक्षपुर में, द्वापर में द्वारिका के भी आगे हुरभुज में और कलिकाल में काठियावाड़ की गोरखमढ़ी में प्रादुर्भूत हुए थे।

6- बंगाल में प्रचलित एक विश्वास के अनुसार गोरक्षनाथ उसी प्रदेश में उत्पन्न हुए थे।

7- नेपाली परम्परा के अनुसार गोरक्षनाथ पंजाब से नेपाल गये थे।

8- गोरखपुर के महन्त के अनुसार गुरू गोरखनाथ टिला §झेलम, पंजाब§ से गोरखपुर आये थे।

12- म0 गो0 एवं उ0 तपः स्थलि पृष्ठ - 7
13- गो0 ना0 पृष्ठ - 89
14- म0 गो0 ए0 उ0 तपः स्थली पृष्ठ - 8

9- नासिक के योगियों का विश्वास है कि वे पहले नेपाल से पंजाब आये और बाद में नासिक की ओर गये थे।

10- सम्प्रदाय में टिला के प्राधान्य को देखकर ब्रिग्स ने अनुमान किया है कि गोरक्षनाथ सम्भवतः पंजाब के निवासी रहे होगें।

11- कच्छ में प्रसिद्ध है कि गोरक्षनाथ नाथ के शिष्य धर्मनाथ पेशावर से कच्छ आये। ग्रियर्सन के अनुसार धर्मनाथ गोरक्षनाथ के सतीर्थ थे।

12- ग्रियर्सन का अनुमान है कि गोरक्षनाथ सम्भवतः पश्चिमी हिमालय के रहने वाले थे।

13- गोरक्षनाथ ने उड़ीसा की भी यात्रा की थी और भल्लिकानाथ को शिष्य बनाया।

उपर्युक्त मतों के अतिरिक्त भी कुछ अन्य मत प्राप्त होते हैं जो इस प्रकार है -

14- गोरक्षनाथ अवध की परम्परा के अनुसार जायस नामक नगर में एक परम् पवित्र ब्राह्मण कुल में प्रकट हुए थे।[17]

15- महार्थ मंजरी गोरखनाथ जी की रचना मानी जाती है। उसके त्रिवेन्द्रम् संस्करण से पता चलता है कि वे चोल देश के निवासी थे।[18]

15- गो0 ना0 पृष्ठ - 90
16 गो0 ना0 पृष्ठ - 90

16- गोरक्षनाथ का जन्म स्थान पेशावर का उत्तर पश्चिमी पंजाब था।[19]

17- श्रीयुत दिनेश चन्द्र महाशय का अनुमान है कि वे पंजाब प्रान्त में जालन्धर स्थान में जन्म ग्रहण किये थे।[20]

उपयुर्क्त विविध मतों की परीक्षा कर गुरू गोरक्षनाथ के जन्मं स्थान के सम्बन्ध में निम्नलिखित तथ्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं -

1- गुरू गोरक्षनाथ जी के जन्म स्थान के सम्बन्ध में अधिकांश मत भारत के पश्चिमोत्तर भाग की ओर संकेत करते हैं।

2- इनमें अधिकांश पंजाब की ओर संकेतित है।

3- गुरू गोरक्षनाथ ने सम्पूर्ण भारत ही नहीं अपितु नेपाल आदि अनेक सीमावर्ती देशों में भी यात्राए की थी।

4- प्रचलित विश्वासों तथा प्रवादों से ऐसा अनुमान भी किया जा सकता है कि सारा संसार ही उनका घर था। उनके लिए कोई बन्धन नहीं था। वे इच्छानुसाार कहीं भी घूम सकते थे। अतः अन्वेषकों द्वारा उनके सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न तथ्य प्रस्तुत किये गये तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नही है। उनके जन्म के विषय में "वसुधैव कुटुम्बकम्" की सूक्ति अक्षांशः सत्य उतरती है।

17- म0 गो0 एवं उ0 तपः स्थली पृष्ठ - 7
18- वही पृष्ठ - 8

समय :

गुरू गोरक्षनाथ के काल सम्बन्धी अनेक तथ्य है। यद्यपि इस विषय में अनेक अन्वेषकों ने समय-समय पर जानने के प्रयास किये हैं तथापि कोई अकाट्य प्रमाण आज भी प्राप्त नहीं हैं। क्योंकि उन्होने अपने पीछे ऐसा कोई तथ्य नहीं छोड़ा, जो किसी निशिचत समय की ओर संकेत करते हों। प्रायः ऐसा अधिकांश सन्तों के साथ देखा जाता है। क्योंकि सन्यासी होना जन्मान्तर माना जाता है। सन्यासी होने के बाद नामादि का भी परिवर्तन होता है। अतः सन्यासी होने के बाद अधिकाश के सम्बन्ध में ऐसा ही देखा जाता है कि वे अपने पूर्व जन्म, वंश, कुल, स्थान, समय आदि के सम्बन्ध में कहीं कोई चर्चा नहीं करते। तब उनके जीवन वृत को जानने के लिए किंवदन्तियों, कथाओं तथा अनुश्रुतियों पर ही निर्भर करना पड़ता है। ऐसा ही गुरू गोरक्षनाथ जी के विषय में भी है।

अतः गुरू गोरक्षनाथ जी के समय के सम्बन्ध में जो कथाऐं, प्रचलित हैं उन्हें संक्षेप में निम्न लिखित प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है-

1- वे सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि चारों ही युगों में वर्तमान रहते हैं।[21]

19- गो0 ना0 यु0 पृष्ठ - 43
20- आ0 यो0 पृष्ठ - 5
21- आ0 यो0 पृष्ठ - 2

2- नेपाल के इतिहास की आलोचना करके प्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान "सिल्वाँ लेवी" इस सिद्धान्त पर पहुँचा कि वे राजा नरेन्द्रदेव के समसामयिक थे, अर्थात सप्तम् शताब्दी में वर्तमान थे।[22]

3- नेपाल में ही प्रचलित एक अन्य प्रवाद के अनुसार गोरखनाथ जी ने चतुर्थ शताब्दि के अन्तिम भाग में नेपाल के बौद्ध राजा महीन्द्रदेव को पदच्युत करके अपने स्नेहास्पद सेवक वसन्तदेव को सिंहासन पर अभिषिक्त किया।[23]

4- राजा भर्तृहरि गोरक्षनाथ जी के शिष्य थे। वे §एक प्रवाद के अनुसार§ राजा विक्रमादित्य के भाई थे। विक्रमादित्य से विक्रमसंवत् आरम्भ होता है। इसके अनुसार गोरक्षनाथ को ईसा से पूर्व प्रथम शताब्दी का व्यक्ति मानना पड़ेगा।[24]

5- बहुत से विद्वान भर्तृहरि को ई0 संवत् की सातवीं शताब्दि का मानते है। तद्नुसार गोरक्षनाथ को सप्तम्, पंचम, चतुर्थ शताब्दि का व्यक्ति भी माना जा सकता है।[25]

6- पश्चिमी भाररत में एक किंवदन्ती प्रचलित है कि सिद्ध योगी धर्मनाथ ने चौदहवीं शताब्दि में कच्छ प्रदेश में योग धर्म का प्रचार किया था और वे गोरक्षनाथ जी के शिष्य अथवा गुरू भाई थे। इसके अनुसार वे चौदहवीं शताब्दि के व्यक्ति जान पड़ते हैं।[26]

22- आ0 यो0 पृष्ठ - 4
23- आ0 यो0 पृष्ठ - 4

7- महाराष्ट्रीय महापुरूष ज्ञानेश्वर महाराज की श्रीमद् भगवद् गीता की टीका से पता चलता है कि उनके गुरू श्री भन्निवृत्ति नाथ जी श्रीमद् गैनीनाथ के शिष्य थे। गैनीनाथ योगी गुरू गोरक्षनाथ जी से उपदेश ग्रहण किये थे। ज्ञानेश्वर महाराज तेरहवीं शताब्दि के अन्तिम भाग में जीवित थे। महाराष्ट्र में वे अपने युग के सर्वप्रथम धर्म संस्कारक माने जाते है। इससे अनुमान होता है कि गोरक्षनाथ जी बारहवीं शताब्दि में विद्यमान थे।[27]

8- बंगीय साहित्य के आचार्य श्रीयुत दिनेश चन्द्र सेन महाशय ने "मयनामती के गीत", "गोरक्ष विजय", धर्ममंगल आदि प्राचीन बंग साहित्यिक ग्रन्थों की आलोचना करके यह सिद्वान्त स्थापित किया है कि गोरक्षनाथ जी का जीवन काल एकादश शताब्दि है।[28]

9- इनका जन्म विक्रम की दशम् शताब्दि में हुआ था।[29]

10- बंगाल में गोपीचन्द्र के गीत मानिकचन्द्र के गीत कहलाते हैं। मानिक चन्द्र गोपीचन्द का पिता है। मानिक चन्द धर्मपाल का भाई है। धर्मपाल का समय 759 ई0 है।[30] चूंकि गोरक्षनाथ का सम्बन्ध गोपीचन्द से भी जोड़ा जाता है इस विचार से उनका समय सातवीं

24- आ0 यो0 पृष्ठ - 4
25- आ0 यो0 पृष्ठ - 4
26- आ0 यो0 पृष्ठ - 3
27- आ0 यो0 पृष्ठ - 3
28- आ0 यो0 पृष्ठ - 3

आठवीं शताब्दि के लगभग बैठता है।

11- गूगा का गोरक्ष से सम्बन्ध था। गूगा औरंगजेब से लड़ा था § 1659-1707 ई0§ गूगा फिरोज शाह से लड़ते हुए मारा गया §1351-1388 ई0§ शाह दिल्ली का अधिपति था। टाड़ के अनुसार गूगा एक राजपूत था जो महमूद गजनवी से लड़ता हुआ मारा गया § 1024 ई0§। फिरोजपुर की किवंदन्नी के अनुसार वह चौहान था। विजनौर की किंवदन्ती के अनुसार वह पृथ्वीराज चौहान का समसाभयिक था जो 1192 ई0 में मुहम्मद गोरी से लड़ते हुए मारा गया।[31]

12- गोरख बाबा फरीद से मिले थे, जो 1244 में गिरनार आये थे और 1266 में जिनकी मृत्यु हो गयी थी।[32]

13- मेवाड़ में बप्पा रावल का खड्ग अभीतक ससम्मान सुरक्षित है। कहा जाता है कि यह उन्हें गुरू गोरक्षनाथ ने दिया था।[33]

14- शंकर जिनका गोरक्षनाथ पर कुछ प्रभाव मिलता है का समय ई0 सन् 8वीं शताब्दि का अन्तिम भाग है।[34] तदनुसार गुरू गोरक्षनाथ का समय शंकर के बाद नवीं, दशवीं शताब्दि का अनुमानित करता है।

15- दूसरी ओर चौदहवीं विक्रमीय शताब्दि के महामति सायणाचार्य विद्यारण्य स्वामी के शंकर दिग्विजय ग्रन्थ से गोरखनाथ की प्राचीनता का पता चलता है तथा यह भी विदित होता है कि वे शंकराचार्य के पूर्व विद्यमान

थे। शंकराचार्य के द्वारा उपर्युक्त ग्रन्थ में परकाय प्रवेश के सन्दर्भ में अपने शिष्य के प्रति कहलाया गया है कि जिस तरह प्राचीन काल में मत्स्येन्द्र नाम के महात्मा योगी ने परकाय प्रवेश कर अपने शरीर की रक्षा का भार अपने शिष्य गोरखनाथ को सौंपा था, उसी तरह मैं तुम्हें परकाय-प्रवेश के पहले अपने शरीर की रक्षा का भार सौंपता हूँ।[35] इस कथा के अनसार गुरू गोरक्षनाथ का शंकराचार्य का पूर्ववर्ती होना इंगित होता है।

16- एक कथानुसार कानिफानाथ के सामने गोरखनाथ ने योग बल प्रदर्शन किया था। अत ये दोनों समसामयिक थे तथा इनके गुरू क्रमशः जालन्धरनाथ तथा मत्स्येन्द्र नाथ थे।

17- चर्पट का समय उनके शिष्य शाहिल वर्मा से जो पंजाब की पहाड़ियों में चम्बा रियासत का राजा था, लगभग 920 ई0 से पूर्व ज्ञात होता है। गोरख शतक में चर्पट मछंदर के शिष्य कहे गये हैं।[36] इसके अनुसार मत्स्येन्द्र का समय नवीं शताब्दि के पूर्व रहा होगा।

18- रसालू जालन्धर का शिष्य था। अनेक सम्बन्धों में रसालू का स्वरूरूप दृष्टि गोचर होता है। वह एक चौहान राजा का पुत्र था। राजपूतों के बगर नामक स्थान के एक राजा को वह गोरक्ष के प्रसाद से प्राप्त हुआ था। वह लगभग 1150 ई0 सन् में जीवित था। वह पृथ्वीराज चौहान का समसामयिक था और 1024 ई0 में वह महमूद गजनवी से युद्ध करते हुए मारा गया।

वह एक भीषण योद्धा था। 1884 में टेम्पल ने रसालू को 8वीं सदी का प्रमाणित किया है। पंजाब में कागड़ा नामक स्थान पर दुर्गा का प्रसिद्ध मन्दिर महमूद गजनवी ने 1009 ई0 में लूटा था। इस प्रकार रसालू का समय 1009 ई0 में भी हो सकता है।[37]

19- डा0 कालिदास नाग के अनुसार 12वीं शताब्दि तक गोरक्ष से गोपीचन्द के योग दीक्षा प्राप्त करने की कथा गुजरात में प्रसिद्ध हो चुकी थी।[38] तदनुसार गोरक्ष का समय 11वीं शताब्दि हो सकता है।

20- दिनेश चन्द्र सेन ने गोपीचन्द को राजेन्द्र चौल के तिरूमलय वाले लेख के गोविन्द चन्द्र से मिलाकर 11वीं शताब्दि का समय नियत किया है। गुर्जर, प्रतिहार, गहडवाल, कन्नौज वंश के गोपीचन्द का समय 1114 है।[39]

21- प्र0 चं0 बागची द्वारा सम्पादित कौल -ज्ञान-निर्णय का समय 11वीं शताब्दि है। अतएव मत्स्येन्द्र उससे पूर्व हुए।[40] गोरक्ष उनके शिष्य थे।

22- मधुसूधन सरस्वती का गोरक्ष से कुछ सम्बन्ध बतलाया जाता है उनका काल 1700 ई0 के लगभग है।[41]

29- गो0 ना0 च0 पृष्ठ - 1
30- गो0 ना0 यु0 पृष्ठ - 25
31- वही पृष्ठ - 23
32- वहीं पृष्ठ - 20
33- वही पृष्ठ - 20

23- भर्तुहरि का पिंगला से सम्बन्ध है। एक कहानी के अनुसार पिंगला नाम की स्त्री का पति परमारो का अन्तिम चन्द्रवती राजा एक हूण था। एक कथा के अनुसार रानी पिंगला धार §मालवा§ के राजा भोज की पत्नि है, जिसका समय 1018-1060 है।[42] तदनुसार भर्तृहरि का गोरक्षनाथ जी से सम्बन्ध होने से उनका समय इससे पूर्व बैठता है।

उपर्युक्त साहित्यिक, ऐतिहासिक कथाओं एवं जनश्रुतियों के संक्षिप्त विवरण से गुरू गोरखनाथ जी के आविर्भाव काल के विषय में निम्न निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं

1- गोरक्षनाथ तथा कानिफानाथ समसामयिक थे तथा उनके गुरू क्रमशः मत्स्येन्द्र नाथ तथा जालन्धरनाथ थे। अतः इनमें से किसी एक का काल निश्चित हो जाने पर अन्य तीनों का समय निश्चित किया जा सकता है।

2- एक अनुमान के अनुसार यह भी कहा जा सकता है कि वे चारो ही युगों में वर्तमान रहते हैं क्योंकि अधिकांश कथाऐं भिन्न-भिन्न समय प्रदर्शित करती है। ईसा पूर्व शताब्दि से §उक्त वर्णित चतुर्थ मत§ लेकर 17वीं शताब्दि §उक्त वर्णित 11वाँ तथा 22वाँ मत§ तक उनके वर्तमान रहने के संकेत मिलते हैं।

34- गो0 ना0 यु0 पृष्ठ - 27
35- म0 गो0 एवं उ0 तयः स्थली - पृष्ठ-10
36- गो0 ना0 यु0 पृष्ठ - 17
37- वही पृष्ठ - 22
38- वही पृष्ठ - 24

3- अधिकांश मत उनके 7वीं शताब्दि से लेकर 12वीं शताब्दि के बची होने के संकेत देते हैं।

4- योगी सिद्धों का दीर्घायु होना माना जाता है। अतः महायोगी गुरू गोरक्षनाथ जी के लम्बे समय तक वर्तमान रहने के संकेत मिलना आश्चर्य की बात नही है।

महायोगी :

गुरू गोरक्षनाथ एक महायोगी थे। दार्शनिक शब्द का जो अर्थ सामान्यतः लिया जाता है, उसमें वे मूलतः दार्शनिक नहीं थे तथापि योग साधना के द्वारा प्रत्येक तत्व का साक्षात् अनुभव करने की क्षमता रखते थे। वे तर्क-वितर्क में विश्वास नहीं रखते थे। शास्त्राभ्यास के द्वारा परम् सत्य की अनुभूति करना उनका ध्येय न था। न ही वे किसी भी विचार धारा को उपयुक्त समझते थे। उन्होने सदै दार्शनिक चिन्तन द्वारा सत्य की पक्षपात् रहित खोज को ही महत्व दिया। योग साधना द्वारा शरीर, इन्द्रियों, मन, बुद्धि, हृदय के पूर्ण नियमन को ही सत्य माना। उन्होने सदैय योग मार्ग द्वारा ही परम् सत्य की खोज को श्रेष्ठ समझा। उन्होने यही माना कि मनुष्य योग साधना मार्ग द्वारा ही अपने व्यक्तित्व को परिष्कृत निर्मल तथाा परम् सत्य के प्रकाश को धारण में समर्थ बना सकता है।

39- गो० ना० यु० पृष्ठ - 26
40- वही पृष्ठ - 28
41- वही पृष्ठ - 26
42- वही पृष्ठ - 25

इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर योगी गुरू गोरक्षनाथ ने विचारशील सत्यान्वेषकों के लिए जो योग दीक्षा दी, वही उनके द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक मत के रूप में परिणत है।

वस्तुतः गुरू गोरक्षनाथ शिवयोगी थे। जिन्होने शिव परिवर्तित योग मार्ग को ही अपूर्व निष्ठ के साथ जन-मानस तक पहुचाया। वे शिव के ज्योतिर्मय रूप थे। वे योग मार्ग के प्रचार के लिए ही इस भूतल पर अवतरित हुए थे।[43]

गुरू शिष्य परम्परा :

आदिनाथ §शंकर§, मत्स्येन्द्रनाथ तथा गोरक्षनाथ, ये ही नाथ योगियों के सर्वमान्य आदि गुरू हैं जिन्होने प्रणवमय सूक्ष्म वेद योग की शिक्षा दीक्षा योगियों को दी। आदिनाथ तो साक्षात् शंकर ही है। एक कथा[44] के अनुसार क्षीर समुद्र के तट पर श्री शंकर ने जो उपदेश दिया वह मत्स्य के पेट में गुप्त रूप से विद्यमान मत्स्येन्द्र नाथ ने सुन लिया। मत्स्येन्द्र नाथ सप्तश्रृंग पर्वत पर अपूर्णाङ्ग चौरंगी से मिले जिससे वह पूर्णांग हो गये। तदन्तर मत्स्येन्द्रनाथ ने वह उपदेश गोरक्षनाथ को दिया। गुरू गोरक्षनाथ ने वह अपने प्रिय शिष्य गाहिनीनाथ को दिया। गाहिनीनाथ ने कलिकाल से ग्रस्त जीवों की रक्षार्थ शिष्य परम्परानुसार प्राप्त वह उपदेश निवृत्तिनाथ को दिया।

43- अहमेवाडस्मि गोरक्षो मद्रूपं तन्निबोधत ।
योग मार्ग प्रचाराय मयारूपमिदं धृतम् ।।
§कल्पदुम तन्त्र से उद्धृत§

अन्यत्र भी कहा गया है[45] कि समस्त सिद्धों के गुरू आदिनाथ के अनेक शिष्यों में मुख्य मत्स्येन्द्रनाथ थे। मत्स्येन्द्रनाथ के प्रमुख शिष्य थे गुरू गोरक्षनाथ के शिष्य गहिनीनाथ। गहिनीनाथ के शिष्य हुए निवृत्ति नाथ तथा उनके शिष्य थे ज्ञान नाथ।

उक्त विवरणों के अनुसार आदिनाथ §शंकर§ की शिष्य परम्परा निम्नवत् वर्णित की जा सकती है-

आदिनाथ § शंकर §

मत्स्येन्द्रनाथ | चौरंगीनाथ

गुरू गोरक्षनाथ

गहिनीनाथ

निवृत्तिनाथ

ज्ञाननाथ

अतः समस्त नाथ सिद्धों के आदि गुरू आदिनाथ शंकर ही थे तथा गुरू गोरक्षनाथ आदिनाथ के प्रशिष्य एवं मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य थे।

44- क्षीर सिंधु परिसरीं। शक्तिच्या कर्ण कुहरीं ।
नैणां के श्रीत्रिपुरारी। सांगितले जें ।
ते क्षीर क्ल्लोलाआंतु । मकरोदरीं गुप्तु ।
होता तया चा हातु । पैहे जाले ।
श्री मत्स्येन्द्र सप्तश्रृंगी । भग्नावयवा चौरगीं।
भेटावा किं तो सर्वांगी। सम्पूर्ण जाला ।

पूर्ववर्ती परवर्तीनाथ सिद्धों तथा विभिन्न राजा-महाराजाओं पर प्रभाव :

महायोगी गुरु गोरक्षनाथ के आविर्भाव काल के समय तत्कालीन समाज अनेक विचित्र परिस्थितियों का सामना कर रहा था। तान्त्रिक साधना-प्रणाली के उचित स्वरूप को न समझकर उस समय वाह्याचार को ही सब कुछ समझ बैठने वालों की संख्या वृद्धि के साथ अनिष्ट की आशकाएं तथा अनैतिकता बढ़ती जा रही थी। भारत-वर्षीय धर्म-सम्प्रदायों में परम् शुद्ध तथा साधनोन्नति रूप का दुरूपयोग प्रारम्भ हो गया था। मनुष्य कामेच्छा आदि वासनाओं की पूर्ति को ही स्व साधन समझने लगा था। उसी संकट के समय गुरु गोरक्षनाथ ने इन्द्रिय निग्रह-योग-साधना के आदर्शो को सामने लाकर सयम पूर्ण जीवन की उच्चता, आडम्बर रहित जीवन की महिमा तथा चरित्र की परमोच्चता के महत्व की ओर प्रत्येक का ध्यान आकृष्ट किया। उनमें इतना आत्म विश्वास तथा संकल्प की दृढ़ता थी कि उन्होने अपने योग-बल से अपने गुरु मत्स्येन्द्र नाथ को भी प्रभावित किया। यद्यपि गुरु गोरक्षनाथ ने योग प्रदर्शन को कभी महत्व नहीं दिया तथापि दूसरों की भलाई के लिए इसमें भी संकोच नहीं हुआ। अस्तु हिमालय के दुर्गम पर्वतीय क्षेत्रों से लेकर अफगानिस्तान पर्यन्त सम्पूर्ण भारतवर्ष तथा भारत के सीमावर्ती नेपाल आदि देशों में गुरु गोरक्षनाथ के अलौकिक प्रभाव का नाना प्रकार से परिचय देने वाली कथाऐं आज भी प्रचलित हैं। उनके व्यक्तित्व ने नाथ सिद्धों को ही नहीं अपितु राजा-महाराजाओं यहाँ

तक कि सामान्य जनता को भी अपने उच्चादर्शों के प्रति प्रभावित किया।

एक कथानुसार[46] त्रियाराज्य से मत्स्येन्द्रनाथ के उद्धार के लिए गुरू गोरक्षनाथ वहाँ पहुँचे। तब मत्स्येन्द्रनाथ ने उन्हे अपने पुत्र मीननाथ को स्नान करा लाने के लिए कहा। गोरक्षनाथ मीननाथ को लेकर नदी पर गये तथा मीननाथ का पैर पकड़ कर एक शिला से दे मारा तथा खाल अलग कर उसे लाकर छत पर सुखाने के लिए डाल दिया। मत्स्येन्द्रनाथ के पूछने पर उन्होने जैसा किया था बतला दिया। रानी मैनाकिनी विलाप करने लगी। मत्स्येन्द्रनाथ भी क्रोध करने लगे तब गुरू गोरक्षनाथ ने एक सौ आठ मीननाथ उपस्थित कर दिए। रानी आश्चर्य से देखती रह गयी। अन्त में उन्होने अन्य को लुप्त कर असली मीननाथ को रानी को सौंप दिया। रानी बहुत प्रभावित हुई तथा मत्स्येन्द्रनाथ को साथ ले जाने दिया।

चलते समय मत्स्येन्द्रनाथ ने अपने साथ एक सोने की ईंट लेली। जिसे वह पर्वतीय रास्ते में संभालते चल रहे थे। गोरक्षनाथ ने जब यह जाना तो गुरू की इच्छा लुप्त करने के विचार से सामने के पर्वत को स्वर्णमय बना दिया। मत्स्येन्द्रनाथ यह देखकर अत्यन्त प्रभावित हुए तथा वह ईंट उन्होने वहीं डाल दी।

ऐते कष्टरता वृथा पथगता ते तत्वतो वंचिता -
स्तस्मात सिद्धमतं ---------------- ।।
आचार्या वहुदिक्षिता हुतिरता नग्नव्रतास्ताप साः ।
नाना तीर्थ निषेवका जिनपरा मौनेस्थिरता नित्यशः ।।

एक समय[47] गुरु गोरक्षनाथ की भेंट कानिफानाथ से हुई। स्वागतार्थ कानिफानाथ ने आम के वृक्ष से कुछ फल अपनी योग शक्ति के द्वारा अपने पास एकत्रित कर लिए; जो स्वयं टूट-टूट कर आ गये थे। दोनों ने फल खाये। खाने के बाद कुछ फल शेष बच रहे। गोरक्षनाथ ने कहा कि इन्हें जहाँ से तोड़ा था वहीं लगा दिया जाय। कानिफानाथ ने परिहास किया कि कहीं टूटे फल भी दुबारा लगाये जा सकते हैं। तब गुरु गोरक्षनाथ ने अभिमन्त्रित भभूत उन पर डाली जिससे वह फल वृक्षों पर जा कर लटक गये। इस चमत्कार को देखकर कानिफानाथ ने कहा कि मुझे आपके विद्या बल का ज्ञान हो चुका है। आपकी सामर्थ्य बहुत बढ़ी चढ़ी है। इससे मैं समझ गया कि अभी मुझे बहुत कुछ सीखना बाकी है।

गोरक्ष ने वीर भद्र को हटाकर ही अपने गुरु मत्स्येन्द्र के शव का उद्धार किया था। उस समय शिव ने वीर भद्र से कहा था यद्यपि यह सत्य है कि तुम गोरक्षनाथ से किसी प्रकार निम्न कोटि में नहीं हो तो भी अभिमान ने तुम्हे पराजित कर दिया।[48]

गोरक्ष ज्वालेन्द्र को इसीलिए दबा लेते हैं क्योंकि गोपीचन्द उनसे भयभीत थे। गोपीचन्द के नगर में §बंगाल में§ एक बड़ा फकीरों का जमघट था। जहां गोरख आ गये। इस भीड़ से बचने के लिए जालन्धर कुएँ में जा बैठे और घोड़े की लीद से अपने को ढक लिया। लीद

एते ते खलु दुःख भाग निरता ते तत्वतो वञ्चिता।
स्वस्मात् सिद्धमतं स्वभाव समयं धीरः परं संश्रयेत ।।
- सि0सि0प0 पृष्ठ-160/73 162/74,75

को जितना ही साफ किया जाता वह उतनी ही रात को फिर कुएँ में आ इकठ्ठी होती। तब मयनावती ने यह सब कहा। मत्स्येन्द्र ने आकर खतरा बतला दिया तब गोरख ने लोहा, चांदी, सोने, की तीन मूर्ति बनाकर जालन्धर को परास्त किया।[49]

दयानाथ बड़ा सशक्त व्यक्ति था। किन्तु गोरखनाथ के सामने उसकी शक्ति एवं चमत्कार क्षीण हो गये। क्रुद्ध होकर उसने एक फूंक से भीषण आग लगा दी। धू-धू जलती आग को गुरू गोरक्षनाथ ने देखा तो उनकी दृष्टि मात्र के आगे ही आग बुझ गयी। तब गोरक्षनाथ ने दयानाथ को दीनोधर पर्वत पर एक सुपारी पर सिर रखे शीर्षासन करते हुए तप करते देखा। तब गोरक्षनाथ ने अपना हाथ लम्बा किया तथा दयानाथ को कान पकड़कर सिन्ध लौटा लाये तथा दयानाथ से कहा लोगों को दुःख न दो तुम्हे और तुम्हारे अनुवर्तियां और परवर्तियों को स्वच्छ श्वेत वस्त्रों और अच्छे घोड़ो की कभी कमी नहीं पड़ेगी। तथा दयानाथ को अपना शिष्य बनाया।[50]

मग समाधि अव्यत्यया । भोगावी वासना यया।
ते मुद्रा श्री गोरक्षराया । दिधलीं मीनीं।
तेणें योगाब्जिनी सरोकरू । अभिषेकिले ।
मग तिहीं ते शांभव । अद्दयानन्दवैभव ।
सम्पादिले सभ्रमव । श्री गहिनी नाथा ।
तेणे कलिकलितु भूतां । आला देखोनि निरुता।
ते आज्ञा श्री निवृति नाथा । दिधलीं ऐसी ।
ना आदिगुरू शंकरा । लागोनि शिष्यपरम्परा।
बोधा चा हा संसारा। जाला जो आमुते ।

- यो0वा0सि0द0वि0 पृष्ठ-17
{ज्ञानेश्वरी 18/1751-58} से
उद्धृत ।

गौड बंगाल देश के महाराज गोपीचन्द और उनकी माता मैनावती भी अपना राजपाट छोड़कर दौनो गुरु गोरक्षनाथ के शिष्य बन गये।[51]

नेपाल के एक प्रखण्ड् दाड: के राजकुमार रत्नपरीक्षक ने गोरखनाथ से दीक्षित होकर सात सौ वर्षो की दीर्घ आयु का उपभोग करते हुए सिद्ध बाबा रतन नाथ के नाम से एशिया के अनेक भागों को अपनी योग सिद्धि से चमत्कृत किया।[52]

योगिराज मल्लिकानाथ उड़ीसा के निवासी कहे जाते हैं। उनका पूर्व नाम विबुधेन्द्रमल्ल था। वे क्षत्रिय योद्धा थे। एक बार आखेट के समय कृपामूर्ति गोरखनाथ का उन्हे दर्शन हुआ। उन्होने योगेश्वर के चरण में प्रणाम कियाा पर आर्शीवाद न पाकर गोरखनाथ के मस्तक पर प्रहार किया। जटाजूट से टकराकर खड्ग के टूट जाने पर राजा को पश्चाताप हुआ। उन्होने योग बल से प्रभावित होकर महायोगी गोरखनाथ से योग-दीक्षा ली।[53]

स्याल कोट के नरेश शालिवाहन के प्रवास के लिए जाने पर उनकी छोटी रानी लूना ने बड़ी रानी के पुत्र पूरन से अपनी काम-पिपासा-तृप्ति की याचना की और मनोरथ पूरा न होने पर राजा के वापस आने पर पूरन पर कुकर्म का दोष लगाकर राजकुमार के हाथ-पाँच कटवा कर कुएं में डलवा दिया। योगीन्द्र मत्स्येन्द्रनाथ

45- शाके 1212 में महाराष्ट्र सन्त सिद्ध ज्ञाननाथ {ज्ञानेश्वर} ने ओवी छन्द में मराठी भाषा में योगशास्त्र गीता की भावार्थ दीपिका व्याख्या कर अन्त में अपना परिचय महेशान्वय {शिववंशावली} के नाम से दिया है-

अपने शिष्य गोरखनाथ के साथ घटना स्थल पर आ पहुँचे। गोरखनाथ ने कुएं में कुमारी कन्या के हाथ से कते सूत की डोरी कुएं में डाली और कहा यदि निर्दोष है तो डोरी के सहारे कुए से बाहर आ जायेगें। पूरन परीक्षा में सफल हुए। तब मत्स्येन्द्रनाथ के आशीर्वाद तथा गोरखनाथ जी की कृपा से पूरन पूर्णाक हो गये। वे नाथ पंथ में चौरंगीनाथ नाम से प्रसिद्ध हैं। उन्होनें अपनी प्राण संकली रचना में गोरखनाथ को अपना अन्नदाता कहा है।[54]

योगी राज जसनाथ को अमर कायदेह सिद्ध योगेश्वर गोरक्षनाथ ने प्रत्यक्ष दर्शन देकर धन्य किया था।[55]

योगी रांझा का नाम अमर है। वह एक बार गुरू गोरक्षनाथ की शरण में पहुँचे और कहा कि मुझे आशीष दीजिए कि मैं हीर का प्रेम प्राप्त करूँ। गोरक्षनाथ ने कहा योगी होना आसान नहीं है, प्रेमास्पद तो एकमात्र परमात्मा है। योगी को शरीर पर राख मल कर शरीर को राख समझना होता है। नारी वर्ग को माँ बहन के रूप में देखना होगा। आजीवन भिक्षा माँगना होगा। संसार को सपना समझना होगा। रांझा ने कहा मेरा प्रेमास्पद ही परमात्मा है। मैं योगी बनूगां। गोरक्षनाथ ने उन्हें अपना शिष्य बना लिया।[56]

आदिनाथ गुरू सकल सिद्धांचा। मछिन्द्रतयाचा मुख्यशिष्या।
मछिन्द्रा ने बोध गोरक्षासी केला। गोरक्ष वोलला गहनीप्रति।
गहनी प्रसादे निवृत्ति दातार। ज्ञानदेवासार चाजे विले।
-ना० संन्देश - पृष्ठ - 7

46- गो० ना० च० पृष्ठ - 67

एक कथानुसार[57] राजा भर्तृहरि अपनी रानी पिंगला की मृत्यु हो जाने पर उसके शोक में शमसान पर पिंगला-पिंगला की रट लगाये हुए थे। गोरक्षनाथ उनके उद्धा हेतु एक मिट्टी का वर्तन तोड़कर वहीं घड़ा-घड़ा चिल्लाने लगे। भर्तृहरि की आवाज उनसे दब गयी तो वे गोरक्षनाथ के पास आकर बोले क्यो रो रहे हो? ऐसा घड़ा तो और बन जायेगा। किन्तु गोरक्षनाथ ने कहा कि घड़ा तो वैसा नहीं बन सकता पिंगलाएँ बन सकती हैं। तब भर्तृहरि के सामने अनेक पिगलाऐं उपस्थित हो गयी। योगिक प्रभाव को देखकर भर्तृहरि ने गुरू गोरक्षनाथ की शरण ली तथा योगी बन गये।

एक अन्य कथा में गुरू गोरक्षनाथ ने एक दैवी शक्ति वाला खड्ग बाप्पा को दिया और कहा कि तेरा वंश जबतक इस दैवी शक्ति द्वारा प्रदत्त खड्ग की पूजा करेगा एवं सुरक्षित रखेगा मेवाड़ का राज्य नहीं जायेगा। बाप्पारावल के पश्चात् भी जो समय-समय पर मेवाड़ राज्य के राजा-महाराजा हुए उन्होने श्री गोरक्षनाथ पंथ के योगियों को बड़ी-बड़ी जागीरे दीं तथा आश्रम बनवाये।

एक बार[59] नेपाल के राजा नरेन्द्र देव के शासन काल में मत्स्येन्द्र नाथ के अनुयायियों पर अत्याचार किये गये। तब गोरक्षनाथ ने वृष्टि के देवता नागों का आसन बनाकर बैठ गये। इस प्रकार छानबे करोड़ मेघ बन्दी हो गये। नेपाल में अकाल पड़ गया। राजा के गुरु

47- गो0 ना0 च0 पृष्ठ - 33
48- गो0 ना0 यु0 पृष्ठ - 31
49- गो0 ना0 यु0 पृष्ठ - 61

बन्धुदत्त अकाल का कारण जानकर मत्स्येन्द्रनाथ को उस स्थान पर लाये जहां गोरक्षनाथ आसन लगाये बैठे थे। गुरू के प्रणाम के लिए गोरक्षनाथ उठे तो मेघ मुक्त हो गये। जल वृष्टि हो गयी। उसी समय से नेपाल में उनकी महिमा बढ़ गयी और इस घटना की स्मृति में रथयात्रा निकाली जाती है।

एक कथानुसार[60] गुरू गोरक्षनाथ ने नेपाल के राजा पृथ्वी नारायण शाह को वरदान दिया था कि जहाँ कहीं भी विजय की इच्छा से तुम पैर रखोगे, वहाँ तक तुम्हारी विजय होगी। पृथ्वी नारायण शाह का ही वंशज आज भी नेपाल का शासक है। सभी शाह वंशीप राजाओं ने गोरक्षनाथ जी को अपना गुरू देव माना और उनकी कृपा तथा आशीष की आकांक्षा करते आ रहे हैं। नेपाल के महाराज की राजतिलक विधि आज भी गोरक्षनाथ जी की तपोभूमि मृगस्थली के महन्त द्वारा सम्पन्न की जाती है। वहाँ के राज सिक्कों पर श्री गोरखनाथ अंकित रहता है। मुकुट पर उनकी चरण पादुकाएँ अंकित रहती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि गुरू गोरक्षनाथ वह महासत्वशील व्यक्ति थे, जो दरिद्रो की कुटियों से आरम्भ करके राज महलों तक अपना अबोध प्रभाव रखते थे। धन-यश, पद-यश से बहुत दूर वह केवल योगी थे; सिद्ध योगी। उनमें एक ओर मस्त के भाव थे तो दूसरी ओर उनका विश्वसनीय प्रभाव था, जिसने असंख्य पथ विचलित योगियो, राजा-महाराजाओं को लौटाया अपने निहित शाश्वत परम उद्देश्य की ओर।

दार्शनिक विचार-धाराओं का संक्षिप्त परिचय :

गोरक्ष दर्शन का मूलाधार द्वैताद्वैत विवर्जित अनन्त, अखण्ड सर्वेश्वर परमात्म तत्व है। परम तत्व प्राप्ति का कारण शिव-शक्ति तत्व की अभेदात्मक आत्मा भिव्यक्ति है। शक्ति निजा, परा, अपरा, सूक्ष्मा तथा कुण्डलिनी के रूप मे विकसित होती है। महामाया कुण्डलिनी शक्ति का अनुभव योगी सपवत सुप्तावस्या में मूलाधार में कुण्डलाकर रूप में करता है। जागृतावस्था में यही कुण्डलिनी शक्ति शिव से तादातम्य के लिए छटपटाती है, तथा नवचकों जिनकी पिण्डान्तर्गत विशिष्ट भागों में स्थिति का अनुभव किया जाता है को भेद कर सहस्रार पर्यन्त शिव से मिलन करती है। यही परमात्म तत्व मिलन की आनन्दानुभूति का स्थान है।

वस्तुतः शक्ति शिव से अभिन्न है। यही शक्ति प्रत्येक प्राणी में क्रियाशील रूप में विद्यमान है तथा शिव ही सभी का परम तत्व तथा वास्तविक सत्य है। यही शक्ति परम तत्व में स्थित होने पर शिव कहलाती है तथा जब क्रियाशील होती है तो अपने को ब्रह्याण्ड में परिणत कर असंख्य पिण्डों की रचना, विकास एवं संहार में प्रवत होती है। समाधि लीन सिद्ध प्रवर योगी के लिए शिव शक्ति का कोई भेद नहीं रहता वह उनकी तद्रूपता का आनन्दोपभोग करता है।

50- गो0 एवं उ0 तपः स्थाल पृष्थ - 20
51- यो0 वा0 गो0 वि0 पृष्ठ - 33
52- म0 गो0 एवं उ0 तपः स्थली पृष्ठ-16
53- यो0 वा0 गो0 वि0 पृष्ठ - 63

अस्तु शिव-शक्ति तत्व के आनन्दमय आच्छादित एकत्व से समस्त ब्रह्माण्ड व्यवस्था का पिण्ड में प्रत्यक्ष दर्शन सुलभ हो जाता है। जो कुछ ब्रह्माण्ड शरीर में व्यवस्थित रूप में विद्यमान है वहीं पिण्ड में भी है। नश्वर शरीर की अनादि, अनन्त ब्रह्माण्ड- व्यवस्था के साथ तद्रूपता की अनुभूति का प्रत्यक्ष दर्शन एक महान आदर्श है।

गुरू गोरक्षनाथ की दार्शनिक विचार धाराओं का परमादर्श "समरसकरण" है। समरसकरण की स्थिति में पिण्ड का ब्रह्माण्ड के साथ, पिण्डों का परम शक्ति के साथ, शक्ति का परमात्मतत्व शिव के साथ पूर्ण अभेदात्मक स्थिति का अनुभव होने लगता है। आत्मा-परमात्मा का भेद विलुप्त हो जाता है। असीम और ससीम, जीवात्मा तथा परमात्मा, आत्म तथा अनात्म का भेद समाप्त हो जाता है।उस समय तत्वज्ञानालोकित योगी समस्त सांसारिक अस्तित्वों को अपने में प्रत्यक्ष दर्शन करता है। वह समस्त विभिन्नताओं में आनन्दमय एकता के प्रत्यक्ष दर्शन कर परम सुख का भोग करता है।

गुरू गोरक्षनाथ का दर्शन योग परक दार्शनिक चिन्तन तथा पूर्ण आध्यात्म-ज्ञान-आलोकित मनः स्थिति में स्वयं के अनुभव पर आधारित सत्य तथा रहस्यमयी अनुभूतियों को प्रकट करने वाला दार्शनिक विचार है।

54- यो0 वा0 गो0 वि0 पृष्ठ - 75
55- यो0 वा0 गो0 वि0 पृष्ठ - 47
56- यो0 वा0 गो0 वि0 पृष्ठ - 294

प्रमुख दार्शनिक ग्रन्थ :

संस्कृत हिन्दी तथा अन्यान्य प्रादेशिक भाषाओं में प्राप्त बहुत से ग्रन्थों के प्रणेता गुरू गोरक्षनाथ कहे जाते हैं। किन्तु आज यह निश्चित करना कठिन ही नहीं अपितु असम्भव है कि वास्तव में कौन-कौन से ग्रन्थ स्वयं गुरू गोरक्षनाथ-विरचित है। तथापि "सिद्ध पद्धति" गुरू गोरक्षनाथ के दार्शनिक विचारों को प्रकट करने वाला एक अनुपम एवं उपादेय ग्रन्थ है। गुरू गोरक्षनाथ विरचित प्रमाणिकता के विषय में इस ग्रन्थ मे ही अधोलिखित विवरण मिलता है [61]-

आदिनाथ §परमेश्वर§ शक्तियुक्त §शिव§ जगदगुरू §जगत के प्रकाशक§ को नमस्कार कर मैं गोरक्षनाथ §गोरखनाथ§ सिद्ध सिद्धान्त पद्धति का विवेचन करता हूँ।"

यद्यपि गुरू गोरक्षनाथ रचित माने जाने वाले गोरक्षशतक, अमनस्क योग आदि ग्रन्थों में भी यौगिक दर्शन प्राप्त होता है तथापि "सिद्ध सिद्धान्त पद्धति" में उनके दार्शनिक विचारो, आध्यात्म चिन्तन पद्धति एवं पररमतत्वादर्श के विषय में व्यवस्थित गम्भीर एवं कमबद्ध वर्णन किया गया है।

57- गो0 ना0 च0 पृष्ठ - 74
58- यो0 वा0 गो0 वि0 पृष्ठ - 328
59- म0 गो0 एवं उ0 तप: स्थली पृष्थ - 15
60- मा0 गो0 एवं उ0 तप: स्थली पृष्ठ - 16
61- आदिनाथ नमस्कृत्य शक्तियुक्त जगद्गुरूम्।
वक्ष्ये गोरक्षनाथोडहं सिद्ध सिद्धान्त पद्धतिम् ।।
-सि0 सि0 प0 पृष्ठ - 1,1/1

"गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह" दूसरा प्रमुख संस्कृत ग्रन्थ है। जिसमें अन्यान्य ग्रन्थों के अंशों एवं योगियों की वाणियो का संकलन किया गया है। जो गुरु गोरक्षनाथ के धार्मिक एवं दार्शनिक सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करता है। लेकिन यह भी सिद्ध सिद्धान्त पद्धति के आधार पर ही रचा गया लगता है। अतः गुरु गोरक्षनाथ के दर्शन का मूलाधार ग्रन्थ "सिद्ध सिद्धान्त पद्धति" तत्वाज्ञानालोकित योगियों एवं अन्वेषको के लिए मार्ग दर्शन रूप है।

गुरु गोरक्ष योग दीक्षा पद्धति :

योग साधना उतनी ही प्राचीन है जितनी भारतीय संस्कृति। यह किसी प्रकार के बन्धन से युक्त नहीं है। यह मार्ग प्रत्येक दार्शनिक अन्वेषक के लिए सदैव अनुकूल तथा जीवन की पूर्णता, समस्त आन्तरिक बाह्य सम्बन्धों की एकता, पूर्ण समायोजन तथा आनन्ददायी शान्ति का प्रदायक हे। यह मन, बुद्धि, समस्त इन्द्रियों, शारीरिक कुचेष्टाओं आदि पर नियन्त्रण कर "पूर्ण सामरस्य" प्राप्ति का सुगम तथा सर्वव्यापक मार्ग है। यह मानसिक, बौद्धिक, शारीरिक शक्तियों को विकसित कर चरित्र उज्जवल तथा मन को शुद्ध और पवित्र बना देता है।

महायोगी गुरु गोरक्षनाथ ने परम तत्व जिज्ञासुओं के लिए योग दीक्षा का प्रचार किया। साधकों के लिए योग ही सर्वश्रेष्ठ है। श्री कृष्ण ने अर्जुन को उपदेश देते हुए कहा है "योगी तपस्वियों से श्रेष्ठ है और

शास्त्र के ज्ञान वालों से भी तथा सकाम कर्म करने वालों से भी योगी श्रेष्ठ है। अतः हे अर्जुन योगी हो जाओ।"[62]

योग साधना प्रणाली केवल शरीर मात्र की ही क्रिया नहीं है। अपितु उसके लिए सच्ची जिज्ञासा, सुदृढ़ विवेक एवं पूर्ण वैराग्य, त्याग चाहिए। वैराग्य युक्त प्राणी में ही किसी अनुसन्धान की जिज्ञासा उत्पन्न होती है। अतः वैराग्ययुक्त जिज्ञासा तथा विवेक के साथ तत्वज्ञान प्राप्ति हेतु योग के अनुष्ठान में प्रवृत्त होना चाहिए।

प्रारम्भावस्था में योग पथ पर अल्प आचार क्रिया का प्रयोजन करना चाहिए। नित्य प्रातः गुरू का ध्यान कर, शौचादि क्रिया से निवृत्त हो दन्तधावन तथा स्नानादि के बाद श्री नाथ जी के मन्दिर में पूजा करनी चाहिए तदपरान्त भोजन तथा सांयकाल भी हाथ पैर आदि धोकर सांय कालीन पूजा विधि अनुसार पूजा करनी चाहिए।[63]

योगी जनों के लिए आचार की यही विधि मान्य है। इससे अधिक आंचार में पड़ना योगी के लिए श्रेयस्कर नहीं है। वह तो विचार पूर्वक चिन्तन करता है। आचार तो कल्पित है। केवल विचार ही मुख्य है तथा सैद्धान्तिक रूप है।[64] यही योगियों के लिए ग्राह्य है। अतः प्राण रक्षार्थ किये जाने वाले कार्यों को ही करना उचित है। क्योंकि प्राणरक्षा बिना मनःस्थिरता सम्भव नहीं है तथा मन स्थिरता के बिना किसी भी समय मोक्ष प्राप्ति सम्भव नहीं है।[65]

62- तपस्विभ्योऽधिको योगी, ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी, तस्माधोगी भवार्जुन ।।
गीता - 6/46

योग साधना हेतु भौगौलिक अनकूलता आवश्यक है। अतः धार्मिक, उपद्रव रहित, सम्पन्न देश में एकान्त वातावरण में, जल, अग्नि और कंकड आदि विवर्जित स्थान पर मठ की स्थापना कर साधना करना उपदिष्ट है।[66]

मठ छोटे दरवाजे से युक्त, छिद्र, गड्ढे, सुराख से रहित गोबर से चिकनी और अच्छी तरह लिपा हुआ तथा मण्डप युक्त वेदी सहित चारों ओर पर कोटे से घिरा आदर्श युक्त होना चाहिए।[67]

इस प्रकार योगी साधकों को उचित देश काल व्यवस्था को चुनकर गुरू उपदिष्ट योग मार्ग पर अग्रसर होना चाहिए। यद्यपि योग की पूर्वावस्था में जिज्ञासाओं को अनेक कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है, एकाएक मनुष्य को संसार में माता-पिता घर तथा जीवन की इच्छाऐं मनोवृत्तियां उसे विचलित करने में कोई कसर नहीं छोड़ती तथापि उसे इन सबको त्यागना पड़ता है।

एकान्तवासी वन में भूख सताती है, भिक्षार्थ जाने पर नगर में मोह माया उत्पन्न हो जाती है। अत्याधिक भोजन से काम विकार उत्पन्न होता है। अतः इन पर विजय प्राप्त करना होता है। ऐसी अवस्था में गुरु गोरक्षनाथ ने योगियों के लिए कहा है कि उचित

63- प्रातः अत्थाय गुरू स्मररणं कृत्वा अकालं स्मृत्वा शौचादिक्रियां दन्तधावनं स्नानं च कृत्वा नाधालये गत्वा पूजा कर्तव्या, पूजानन्तरं भोजनं कर्तव्यं सांय काले च हस्तादिकं प्रक्षाल्यं सायं कालोचितरीत्या पूजा कर्तव्या।
-गो0 सि0 स0 पृष्ठ - 14।

आहार लेना चाहिए क्योंकि अत्यधिक भोजन से शरीर रोग ग्रस्त हो जाता है। अतः युक्त आहार से ही मन को शान्ति तथा मोह माया आदि समस्त कष्ट दूर हो जाते हैं।[68]

प्रारम्भिक अवस्था में बहुत से चंचल तथा विचलित बुद्धि युक्त युवा योगी यौगिक सिद्धि मिल जाने पर अहंकारी हो जाने से कार्य सिद्धियों के चक्कर में पड़कर तन्त्र-मन्त्र §जादू टौना-झाड़ फूंक§ स्तम्भन, सम्मोहन, वशीकरण तथा उच्चाटन आदि के रास्ते को अपना लेते है। उनके लिए कहा गया है कि तन्त्र मन्त्र, हानिकारक दवाओं का सेवन तथा राजा के दरवाजे पर भिक्षा की आशा नहीं करनी चाहिए। स्तम्भन, सम्मोहन, वशीकरण और उच्चाटन आदि की विधियों से दूसरों को प्रभावित कर स्वकार्य सिद्धि की भावना का परित्याग कर देना चाहिए।[69]

योग की इस प्रथमावस्था में शील, सद्वृति, सन्तोष, दया तथा गुरू उपदेश ही ग्राह्य एवं कल्याणकारी तथा मोक्षप्रद है। गुरू उपदिष्ट यह योग मार्ग अत्यन्त कठिन एवं दुर्लभ है तथापि यदि कोई इस मार्ग पर आगे बढ़ने का सत्प्रयास करता है तो यही मार्ग उसकी सफलता के बाद कल्याणकारी सिद्ध होता है।

64- तस्यादाचार वस्तु कल्पितमेव ---विचार एव मुख्यइति सिद्धान्तः । - गो0 सि0 स0पृष्ठ:140

65- प्राणरक्षां बिना मनः स्थिरं न भवते,मनःस्थैर्य बिना कदापि काले मोक्षो न भवेत् - गो0सि0स0 पृष्ठ:141

योग के विशिष्ट अंगों में आसन, प्राणायाम्, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान समाधि को ही विशेष महत्व दिया गया प्रतीत होता है तथापि गुरु गोरक्षनाथ ने साधनान्तर्गत उक्त अंगों सहित यम नियम की क्रिया पद्धति पर प्रकाश डालकर उनकी सार्थकता को स्वीकार किया है।[70]

वस्तुतः यम नियम योग साधना के विशेष अंग नहीं जान पड़ते, ये तो प्रत्येक मानव के लिए उपादेय हैं। मनुष्य किसी भी कार्य को करें, यम-नियम का उल्लघन किसी भी दशा में नहीं किया जा सकता। अस्तु मनुष्य मात्र के लिए यम नियम का पालन आवश्यक होता है। योगी के लिए इनका योग के विशेष अंगों के साथ पूर्व समाहार श्रेयस्कर है।

यम का आशम उपशम है। अर्थात समस्त इन्द्रियों को विषयभोगादि वृत्तियों की ओर से हटाकर आहार, निद्रा, शीत, वात और आतप आदि दन्दों पर नियन्त्रण करना चाहिए।[71] मनोव्यापार का नियमन ही नियम है अर्थात एकान्तवास, असंगता, उदासिनता जो भी समय पर प्राप्त हो जाये उसी पर सन्तोष कर, राग, देष आदि दन्दों को भी त्याग कर गुरु चरणों का आश्रयण करना चाहिए।[72] योग शास्त्रों में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, क्षमा, घृति, दया, आर्जव, मिताहार, शौच

66- सुराज्ये धार्मिके देशे सुभिक्षे निरूपद्रवे।
धनुः प्राणपर्यन्तं शिलाग्निजल वर्जिते।।
एकान्ते मठिकामध्यये स्थातव्यं हठयोगिना।।
-ह0 प्र0 पृष्ठ -4/2/12

आदि दस लक्षण यम के तथा तप, सन्तोष आस्तिकता, दान, ईश्वर पूजन, सिद्धान्त वाक्य श्रवण, ह्यी, भति, तप, हवन आदि दस नियम बतलाये गये है।[73] इनका अनुसरण प्रत्येक उच्च जीवनाभिलाषि को करना चाहिए। वह चाहे किसी भी धर्म, समाज या युग का क्यो न हो। यम नियमादि का पालन मन की बहिर्मुखी वृतियों को नियन्त्रित कर सद्वृत्तियों की ओर ले जाने में सहायक होता है। ये व्यक्ति के चरित्र और आचरण की शुद्धि तथा उसके वैयाक्तिक-सामाजिक जीवन के अनुशासन बद्धता के नैतिक सिद्धान्त है। इनके अभ्यास के द्वारा मनुष्य अपनी शक्ति को विकसित कर अपनी समस्त मूल अचेतन प्रवृत्तियों को वंश में कर सकता है। उद्वेग रहित, सुख प्राप्ति से सर्वथा दूर तथा निरहकारी होकर जीवन यापन करना ही शान्तिदायक तथा उज्जवल चरित्र प्रदायक है।

गीता में भी कहा गया है कि जो मनुष्य समस्त कामनाओं से रहित, ममता, अहंकार, स्पृहा आदि से दूर है वहीं सदैव शान्ति प्राप्त करता है।[74]

67- अल्प द्वारमरन्ध्र गर्त विवरं नात्युच्चनीचायतं।
सॅय्र्यीय सहन्द्रलिप्त ममलं नि:शेष जन्मतुज्झितम्।
बाह्ये मण्डपवेदिकूपरुचिर प्राकार संवेष्टितं।
प्रोक्तं योगमठस्य लक्षणमिदं सिदैर्हठाम्या सिभि:।।
ह0प0 पृष्ठ- 5 /1, 13

68- धाये न षाइबा भूषे न मरिबा अहोनिसि लेबा ब्रह्म अगनि का भेवं।
हठ न करिबा पड्या न रहिबा यूँ बोल्या गोरषदेव ।।
-गो0 बा0 पृष्ठ - 16/3।

यम नियमों का उल्लघंन पर किसी भी प्रकार की भक्ति, कर्म, योग आदि का अनुष्ठान सम्भव नहीं है। अतः स्व कल्याणार्थ, समाज कल्याणार्थ, धर्म-जाति कल्याणार्थ प्रत्येक दशा में यम नियमों का पालन करना साधक के लिए योग मार्ग की आरम्भावस्था है, जिनके पालन से वह अपने चरित्र की उच्चता एवं उज्जवलता की ओर अग्रसर होता है।

अगला अंग आसन है। आसन का योग पद्धति में गूढ़ महत्व है। आसन अभ्यास के द्वारा शरीर में स्फूति, स्थिरता तथा अरोग्यता आ जाती है। योग शास्त्रों में चौरासी लाख जीवों के अनुसार आसनों की संख्या 84 लाख स्वीकार की जाती है किन्तु इनमें से 84 को विशेष रूप से ग्रहण किया जाता है।[75] किन्तु गुरू गोरक्षनाथ जी द्वारा स्वसितिकासन, पद्मासन, सिद्धासन को ही विशेष महत्व दिया गया प्रतीत होता है। इनमें से किसी एक आसन में स्थिरता प्राप्त कर लेना ही श्रेयस्कर है।[76]

प्रथम स्वस्तिकासन परम गोप्य, सर्वश्रेष्ठ तथा हितकारी है। इसके अभ्यास से समस्त दुःख दूर हो जाते हैं ब्रहॅमचर्य शक्ति बढ़ती है। इस आसन की विधि में जानु और ऊरू §जघांओं§ के मध्य में पैरों के तलवों को अच्छी तरह लगाकर समान अवस्था में शरीर एक सीध में रखकर बैठ जाना होता है।[77]

69- छाडौ तन्त मन्त बैदन्त। जन्त्र गुटिका घाट पाषंड।
जड़ी बूटी का नांव जिनि लेहू। राज दुवार पाव जिनि देहू ।।

वाम ऊरू जानुमूल में दाहिना पैर स्थापित कर दाये जानुमूल में बांया पैर स्थापित करें और दोनों हाथों को पीछे ले जाकर दाये हाथ से बायें पैर के अंगूठे तथा बाये हाथ से दायें पैर के अगूठे को दृढ़ता से पकड़कर चिबुक को हृदय से लगाकर नासा के अग्रभाग को दोनों नेत्रों से देखे। इस प्रकार पद्मासन में स्थित हो जाने से समस्त व्याधि, शारीरिक मानसिक विकार नष्ट हो जाते है।[78]

सिद्धासन मोक्ष प्रदायक है। गुदा और मेढ्र के मध्य योनि स्थान को बायें पैर की ऐड़ी से दबाकर दाये पैर की ऐड़ी को मेद्र पर लगाकर शरीर को सीधा करें तथा इन्द्रियों को वश में कर भ्रू के मध्य दृष्टि को स्थिर करना ही सिद्धासन कहा जाता है।[79]

इस प्रकार आसन विधि में तत्पर योगी समस्त दु:खों की निवृत्ति सुखों का भोग तथा मोक्ष की ओर अग्रसर होता है। सामान्यत: इनका अर्थ मन की स्थिरता चंचलता आदि को अनुशासित करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। जिनके निरन्तर अभ्यास द्वारा समस्त इच्छाओं पर नियन्त्रण कर विभिन्न प्रकार की चमत्कार पूर्ण यौगिक शक्तियों का स्वामी बन जाता है।

थमन मोहन बसि करन। छाड़ौ सकल अवचाट।
सूणौ हौ जोगैसरौ जोगारम्भ की वाट।
- गो० बा० पृष्ठ - 239§नरवैबोध§-4/5

70- यम नियमासन प्रणायाम प्रत्याहार
धारणाध्यान समाधयोउष्ठावर्गोनि।
- सि० सि० प० पृष्ठ - 68, 2/32

सतत् आसनाभ्यास द्वारा प्राणायाम की प्रक्रिया अतिशीघ्र प्रारम्भ हो जाती है। प्राणायम नाड़ियों में प्राण की स्थिरता के लिए उपयुक्त निर्दिष्ट योगांग है। रेचक, कुम्भक,पूरक और प्राण, अपान का मेलन-संघटकरण आदि चार लक्षण है[80]। प्राणायाम प्रक्रिया विशेष बलवति होती है। इसमें रेचक वायु को बाहर निकालना होता है। पूरक में नासारन्ध से वायु को भीतर भरना होता है। तदन्तर शरीर के अन्दर वायु को स्थिर रखना ही कुम्भक है। संघटकरण में प्राण अपान वायु का ऐक्य होता है। यह प्राणायाम समस्त पापों से रहित कराने का हेतु है।

गीता में भी कहा गया है कि योगी जन अपान वायु में प्राणवायु को ,प्राण में अपान वायु को स्थित करते हैं। प्राण और अपान की गति अवरूद्ध कर प्राणायाम के परायण होते है।[81]

प्राणायाम के अभ्यास से मृत्यु भय की निवृत्ति तथा हृदय शान्त एवं स्थिर हो जाता है। इससे योगी दीर्घायु को प्राप्त करता है।

71- यमः इति उपशमः सर्वेन्द्रियजय आहार निद्रा
शीत वातातपजयश्चैवं शनै - शनै साधयेत्।
-सि0 सि0 प0 पृष्ठ - 68/2/32

72- नियम इति मनोवृतिनां नियमनमित्येकान्त वासों
निः सगतौदासिन्यं यथार प्राप्ति सन्तुष्टि वैर
स्यं गुरूचरणावरूद्‌तवमितिनियम लक्षणम् ।
- सि0 सि0 प0 पृष्ठ - 70 - 2/33

73- अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्य क्षमा धृतिः।
दयार्जव भिताहारः शौचं चैव यमा दश ।।
तपः सन्तोष आस्तिक्यं दानभीश्वर पूजनम् ।
सिद्धान्त वाक्यश्रवणं हीमती च तपोहुतम् ।
नियमा दश सप्रोक्ता योगशास्त्रविशारदैः।।
- ह0 प्र0 पृष्ठ -60 1/17-18

समस्त इन्द्रियों उनके विषय भोगों से हटाकर आत्मा में लीन करना ही योग का पाचवाँ अंग प्रत्याहार है।[82] अतः मनुष्य द्वारा अपनी समस्त इन्द्रियों को उनकी प्रवृत्तियों की ओर से हटाकर आत्मा के साथ प्रत्याहार करना होता है। इन्द्रियां चन्चल एवं उद्वेग पूर्ण होती है। इन्द्रियों की चंचलता से इच्छाएं बलवती तथा जागृत होती है। अतः प्रत्याहार अन्तर्गत इस प्रकार की समस्त इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना होता है । इस प्रकार आत्मा के साथ इन्द्रियों के प्रत्याहार सिद्धि द्वारा काम, क्रोध, मद, मत्सर, लोभ आदि का सर्वथा विनास हो जाता है।

बाह्याभ्यान्तर सर्वव्याप्त मात्र एक आत्मा की भावना ही धारणा है। अतः जो भी बाहर भीतर प्रपंच उत्पन्न होता है उसकी निराकार आत्मा में अभिव्यक्ति तथा निश्चल दीप शिखा के समान आत्मचिन्तन ही करना चाहिए।[83] इस अवस्था की प्राप्ति पर्यन्त समस्त बाह्य आभ्यान्तर पदार्थों की स्व-आत्मा में अनुभूति होने लगती है। समस्त सांसारिक प्रपंच जो कुछ भी ब्रह्माण्ड व्यवस्था में विद्यमान है उसका प्रत्यक्ष दर्शन आत्मा में ही सुलभ हो जाता हैं।

74- विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधि गच्छति ।।
- गीता 2/71

75- चतुरशीति लक्षणामे कैकं समुदाहृतम्।
ततःशिवेन पीठानां षोड़शोनं शतं कृतम् ।।
- गो0 श0 पृष्ठ - 3/9

तदन्तर धारणा की इस पूर्व अवस्था में धीरे-धीरे ध्यान का लय प्रारम्भ हो जाता है। जो, जो वस्तु जिस जिस रूप में भी प्रतीत हो उसमें सर्वथा आत्मा स्वरूप का चिन्तन ही ध्यान है।[84] इस अवस्था में केवल ध्यान मात्र का अनुसंधान शेष रह जाता है। मन, चित्त वृति हीन हो जाता है। तब वह पूर्ण ज्ञान से युक्त होकर आत्म स्वरूप में ही सव्रदर्शन करता है। अतः साधक के हृदय में विराजमान आत्मा का निश्चल चिन्तन ही ध्यान है।

साधक के लिए योग के सप्तागों को सिद्ध कर लेने पर ध्येय का अनुसंधान ही शेष रह जाता है, यहीं समाधि अवस्था है। समाधि की चरमोत्कर्षावस्था में समस्त तत्वों की आत्मा से तद्रूपता की स्थिति प्राप्त हो जाती है। समस्त तत्वों की आत्मा के साथ अनायास एवं सहज ही अभेदता का नाम सामधि है।[85]

गीताा में भी कहा गया है कि सर्वव्यापी अनन्त चेतन में एकाकी भााव से स्थित योग युक्त आत्माबल सब में समभाव से देखने वाला योगी आत्मा को समस्त भूतों में तथा समस्त भूतो को आत्मा में दिखाता है।[86]

76- आसनर्मिति स्वरूपरूपे समासन्नता स्वस्तिकासनं पद्यासनं सिद्धासनमेतेषां मध्ये यथेष्टमेकं विधाय सावधानने स्थातव्यं।
- सि0 सि0 प0 पृष्ठ - 73/2/34

77- जानूर्पोरन्तरे सम्यककृत्वा पादतले उभे।
ऋजुकायः सभासीनः स्वस्तिकं तत् प्रचक्षते।
- गो0 श0 पृष्ठ - 7/2/2।

-60 ।7।

इस प्रकार गुरु गोरक्षनाथ जी द्वारा उपदिष्ट योग साधना पद्धति परम तत्व परमात्मा के साथ पूर्ण सामरस्य की स्थिति का सहज स्वाभाविक हेतु है। यह सामाजिक, नैतिक, मानसिक, आध्यात्मिक आत्मानुशासन बनाने में सहायक हैं। इसके निरन्तर अभ्यास द्वारा शान्ति स्थिरता और सदैव आनन्द की प्राप्ति की जा सकती है। यह ससीम से असीम की ओर, भय तथा मृत्यु से निर्भयता और अमरता की ओर अनेकता से एकता की ओर, द्वेष, कलहों आदि से प्रेम मार्ग की ओर ले जाने वाला सुदृढ़ मार्ग है। इसके सतत अभ्यास द्वारा विभिन्नाताओं, विषमताओं तथा नाना प्रकार के विकासों से युक्त दिखलायी पड़ने वाला यह ब्रह्माण्ड एक स्वतः प्रकाशित भव्य तथा सुन्दर आध्यात्मिक सत्ता के रूप में दिखलायी पड़ने लगता है। अतः योग साधना का मुख्य उद्देश्य है परम सत्य की खोज ।

महन्त दिग्विजय नाथ जी ने योग के महत्व पर प्रकाश डालते हुए स्पष्ट किया है -

"धर्म का परम सूक्ष्म सार ही योग है। योग का अर्थ मिलाप है, जिसमें कर्म परायण जीव का मिलाप परस्पर आत्मा से होता है, व्यक्ति का मिलाप विराट समष्टि रूप विश्व हृदय से होता है। प्रत्येक का मिलाप

78- वामोरूपरि दक्षिणंच चरणं संस्थाप्य वामं तथा।
दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढ़म्।
अड्गुष्ठौ हृदये निधाये चिबुकं नासाग्रमवलोक।
देतद् व्याधिविकार नाशनकरं पद्मासनं प्रोच्यते।।
- गो०श० पृष्ठ - 4/12

सभी से होता है - वह मिलाप होता है जिसमें बाहृयतः संसार की सारी विभिन्नताऐं उस एक परमात्मा में ओत-प्रोत हो जाती है, जो इन सारी विभिन्नताओं में स्वयं अपना अवतार अभिषिक्त कर रहा है। समस्त ज्ञान, अनुभूति अभिलाषा एवं अभिकर्म के संयमन द्वारा मानव जीवन के प्रत्येक पक्ष में इस पूर्ण योग का अभ्यास ही धर्म का अन्तिम उद्देश्य है। सभी मत-मतान्तरों, कर्म काण्डों और संस्थाओं में आध्यात्मिक गुणों का अस्तित्व तभी माना जायेगा, जब वे इस योग प्राप्ति की ओर मानव को ले जाते हैं। यह योग ही समस्त विभेद के बीच अभेद की सजीव सक्रिय चेतना है और यही मानव जीवन के सभी पक्षों का विश्व-जीवन के साथ समन्वय है। धर्म व्यवस्था देता है कि हमारे व्यक्तिगत एवं पारिवारिक राजनीतिक एवं आर्थिक, सामाजिक एवं साम्प्रदायिक, राष्ट्रीय एवं अन्तराष्ट्रीय जीवन के सभी कार्य व्यापार इसी योगादर्श से संचालित एवं आलोकित होते रहे। यहीं योग-धर्म मानव संसार में सच्ची सुख शान्ति, सच्ची माधुरी और मंजुलता का आनयन कर सकता है।"[87]

79- योनि स्थानकमङ्घ्रिमूल घटितं कृत्वा दृढं विन्यसेन्
मेढ्रे पादमथै कमैव नियतं कृत्वा समं विग्रहम्।
स्थाणु सयमितेन्द्रियोंडचलदृशा पश्यन भ्रुवोरन्तर-
मेतन्मोक्ष कपाट भेद जनकं सिद्धासनं प्रोच्यते।।
- गो० श० पृष्ठ - 3/ ।।

80- प्राणायाम् इति प्राणस्य स्थिरता। रेचक पूरक कुम्भक संघंटकरणानि चत्वारि प्राणायामलक्षणानि।
- 76/2/35

81- अपाने जुरुति प्राणं प्राणेडपानं तथापरे।
प्ररणायानगती रूद्रध्वा प्राणायामपरायणाः।
- गीता 4/29

अतः गुरू गोरक्षनाथ जी ने योगी साधकों के लिए क्रमानुसार अनुशासन बद्ध योगांगों का अनुसरण करने की दीक्षा दी। योगी यम, नियम द्वारा बहिर्मुखी वृत्तियों की निवृत्ति आसनों के द्वारा स्थिरता प्राप्ति, प्राणायाम द्वारा नाड़ीशोधन, पत्याहार द्वारा चित्त वृत्तियों को विषय भोगादि की ओर से हटाकर धारणा द्वारा स्वात्मा में समस्त भूतों की तल्लीनता, ध्यानान्तर्गत मात्र आत्मा-परमात्मा का ध्यान कर समाधि द्वारा समस्त बाह्यम्यान्तर पदार्थों को आत्मा में तदाकार कर मुक्ति का अधिकार प्राप्त कर लेता है।

82- प्रत्याहारमिति चैतन्यतुरगासां प्रत्याहरणं विकाश्रसन उत्पन्न विकारस्याणि निवृत्तिनिर्भातीति प्रत्याहार लक्षणम्।
- सि0 सि0 प0 पृष्ठ - 79/2-36

83- धारवेति सा वाहनीभ्यन्तर एकमेव निजतत्व स्वरूप मेवान्तः करणेन साधभेद् यथा यद्यदुत्पद्यते तत्तन्निराकारे धांरयेत् स्वात्माानं निर्वात दीप भिव सधांरयेदिति धाराणलक्षणम्।
- सि0 सि0 प0 पृष्ठ - 82/2 /37

84- परमाद्वैतस्य भावः स एवात्मेति यथा यद्यत्स्फुरति ततत्स्वरूपमेवेति भावयेत् सर्व भूतेषु समदृष्टिश्च इति ध्यान लक्षणम्।
- सि0 सि0 प0 पृष्ठ - 85/2/38

85- सर्वतत्वानां सभावस्था निरूद्यमत्व मनायास स्थिति मत्वामिति समाधि लक्षणम्।
- सि0 सि0 प0 पृष्ठ - 88-2/39

86- सर्व भूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ।।
- गीता - 6/29

87- म0 दि0 ना0 स्मृ0 पृष्ठ - 194

तृतीय अध्याय

गोरक्ष दर्शन में शिव-शक्ति

1- शिव-शक्ति का सामान्य परिचय

2- कुल-अकुल और शिव-शक्ति

3- शिव-शक्ति संयोग

4- इच्छा मात्र धर्मा शक्ति

5- शक्ति का क्रमिक विकास

शिव शक्ति का सामान्य परिचय :

अति प्राचीन काल से ही शिव-शक्ति के अस्तित्व को स्वीकार किया जाता रहा है। शिव-शक्ति का विवरण पुरातत्व सम्बन्धी सामग्री एवं साहित्य में भी मिलता है। भारतीय संस्कृति में समय की दृष्टि से विद्वानों की राय में सिन्धु घाटी की सभ्यता सबसे प्राचीन प्रतीत होती है। सिन्धु घाटी से प्राप्त मूर्तियों में शिव-शक्ति के प्राचीनतम संकेत मिलते हैं।[1]

सिन्धु घाटी के निवासियों का धर्म क्या था? इस विषय में विद्वानों के विचारों की समीक्षा कर यही कहा जा सकता है कि भिन्न-भिन्न धार्मिक विचारों के लोग वहाँ निवास करते थे, तथापि वहाँ से प्राप्त मुद्राओं और मूर्तियों में शिव-शक्ति के संकेत अवश्य ही मिलते हैं। वहाँ से उपलब्ध एक मुहर पर एक पुरूष आकृति नुमा चित्र प्राप्त हुआ, जो वन्य पशुओं से समावृत है। अनुमानतः यह पशुपति शिव की मूर्ति है। यह पुरूष योगी की भाँति ध्यान मुद्रा में पद्मासन में बैठा हुआ है। त्रिशूल युक्त सींग तथा त्रिनेत्रों से युक्त है। चारो ओर पशुओं से घिरा हुआ होने के कारण यह पशुपति के रूप में दृष्ट्व्य है। कई मुद्राओं तथा मूर्तियों में भी इसी प्रकार के देव की मूर्तियां अंकित है। अनुसन्धाता की यह दृढ़ धारणा है कि ये महायोगी पशुपति शिव हैं।

1- भा० स० तथा सं० वि० पृष्ठ - 27

तदनन्तर योगी सम्प्रदाय के सम्पूर्ण साहित्य में भी शिव को एक अद्वैत, निगुण, स्वतः प्रकाशित, अपरिवर्तनीय, भेद रहित तथा समस्त प्रापंचिक सत्ताओं के पीछे चरम आध्यात्मिक सत्ता के रूप में तथा शक्ति को आत्मा-संशोधक, आत्म गुणात्मक, आत्म विभाजक, आत्म गुणात्मक सक्रिय दिक्काल बद्ध एवं सापेक्षिक समस्त प्रांपञ्चिक सत्ताओं के स्रोत के रूप में वर्णित किया गया मिलता है। [1] शिव नित्य, विज्ञानानन्दघन परमात्मा का वाचक है। यह आनन्ददाता परम कल्याण रूप है। यह पर ब्रह्म शिव अपरंपर, परमपद, शून्य, निरंजन परमात्मा है। [2] वे अनादि अनन्त, नित्य, निर्विकार, अज, अविनाशी, सर्वशक्तिमान, सर्वगुणाधार, सर्वज्ञ एवं सर्वोपरि हैं।

शक्ति समस्त शरीरों म व्याप्त होकर चित स्वरूप उनमें जीवन देने वाली और शरीर में प्राणों का स्तम्भन किये रहती है। [3] अतः शक्ति शरीरान्तर्गत प्राण धारा को प्रवाहित करती है, उसकी संचालिका है। आगे स्पष्ट किया गया है -

प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान इन पंचविध प्राणों का जो समाहार करते हुए और परस्पर कर्षण-विकर्षण करते हुए नित्य निरन्तर शरीर को संचालित करती रहती है। [4]

शक्ति परतत्व ज्ञान दायिनी होती है, जो इस समस्त चराचर जगत को जीवित रखने में समर्थ एवं शक्ति सम्पन्न होती है। वह शक्ति समस्त अन्धकारों को विनष्ट कर ज्ञानमय प्रकाश प्रदान करती है। कहा

भी गया है[5] कि वहीं शक्ति समस्त इन्द्रियों, मन और आत्मा के अन्धकार को सदैव दूर करने में समर्थ एवं शक्तिशालिनी होती है। वहीं प्रकाशशीला शक्ति प्राणदायिनी होती है।

अतः शक्ति चैतन्य स्वरूप है, प्राण संचरण करने वाली है, स्वयं ज्ञान रूपिणी है, व्यक्त रूप वाली भी है, अव्यक्त रूप वाली भी है तथा समस्त तत्वों में परिव्यापक है।[6]

आचार्य अक्षय कुमार पन्धोपाध्ययाय जी का शिव-शक्ति के विषय में मन्तव्य है[7] कि शिव को जगात्पिता और शक्ति को जगज्जननी कहा गया है और उस स्तर पर वासनात्मक भाव से लिंग भेद का कोई प्रश्न ही नहीं है। समस्त प्रापंचिक सत्ताओं के पारमार्थिक निमित्त कारण के रूप में शिव जगत्पिता है और सक्रिय भौतिक कारण रूप में जगत् की अनेक रूप धारिणी उनका पालन कर पुनः आत्मगत करने वाली शक्ति या जगन्माता है। शिव सब में आत्म रूप में प्रकाशित हैं और शक्ति अपने विकास के विभिन्न स्तरों के अन्तर्गत विभिन्न क्रियाओं द्वारा उनके लिए शरीर, जीवन तथा बुद्धि और विवेक का स्फुरण करती है, एवं उनके आत्म प्रकाशन और आत्मानन्द में योगदान करती है। आत्माभिव्यक्ति के प्रांपचिक स्तर पर शक्ति के प्रकाशन एवं संकोचन की विभिन्न प्रक्रियायें है। वह एक को अनेक और अनेक को एक करती है। वह एक सत्ता में से अनेक सत्ताओं का सृजन करती है तथा पुनः समस्त सत्ताओं की मौलिक एकता

प्रदर्शित करतीं है। वह आध्यात्मिक को भौतिक पदार्थ बनाकर भौतिक को पुनः आध्यात्मिक बना देती है। वह आत्मा के लिए अनेक प्रकार के भौतिक, जैविक, मानसिक शरीर तथा आत्माभिव्यक्ति का क्षेत्र प्रदान करती है। उन समस्त शरीरों एवं समस्त ब्रह्माण्ड -क्रीड़ा के क्षेत्र की मूलमूत आध्यात्मिक एकता का प्रदर्शन करना शक्ति का ही काम है। वह सान्त §अन्त सहित§ को अनन्त §अन्त रहित§ और पुनः एक अनन्त, शाश्वत, अपरिवर्तनीय, सत्ता को समस्त परिवर्तनीय सीमित सत्ताओं में प्रदर्शित करती है। शक्ति की द्विधा क्रीड़ा शाश्वत रूप से चल रही है।

वस्तुतः शिव अपने आप में विषमता की सम्पूर्ण एकता है। शिव ही भारतीय संस्कृति, धर्म और जीवन में विराट एवं अलौकिक समन्वय के देव हैं। जहाँ शिव का ईश्वरीय स्वरूप समस्त दर्शनों, आध्यात्म, तन्त्र, आराधना तथा उपासना में सर्वप्रिय एवं सर्वोपरि रहा है वही उनका शिव मय रूप समस्त दुःखों असन्तोष आदि में आनन्ददायी है। शिव ही सृष्टि सृजन एवं संहार रूप में सवोपरि है। शक्ति पालनकत्री है। प्राण संचारिणी है।

अतः एक ओर शिव विराट् समन्वय के देव, सृष्टि सृजन एवं संहार रूप में जगत्पिता है तो दूसरी ओर शिव की विराट जगत व्यवस्था के अन्तर्गत समस्त सत्ताओं को अभिव्यक्त करने वाली चिद्‌या ज्ञान स्वरूपा, अन्धकार हरणी जगज्जननी शक्ति विख्यात है।

कुल-अकुल और शिव-शक्ति :

"कुल" और "अकुल" सत्ता के दो भिन्न-भिन्न अंगों का प्रतिनिधत्व करते हैं। एक मात्र परमात्मा परमेश्वर शिव ही इन दोनों के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। शिव से अभिन्न शक्ति ही महाप्रलय में अकुलावस्था युक्त कहलाती है तथा सृष्टि समय में यही शिव से अभिन्न रहने वाली शक्ति प्राणियों के कर्म के साथ ही कुल रूप व्यक्त अवस्था धारण करती है।

वस्तुतः अकुल अनन्त, शाश्वत, पूर्णस्वतः, सत्, अद्वैत, एक परब्रह्म शिव की ओर संकेत करता है तथा कुल एक की अनेक अभिव्यक्तियो की ओर संकेत करता है। शक्ति ही शिव के कुल §अभिव्यक्त§ अकुल §अव्यक्त§ स्वरूपों का सामरस्य प्रतिपादितकरती है। अकुल अपरिवर्तनीय, भेदरहित, पारलौकिक सत्ता की इस जगत्व्यवस्था की अनन्त आत्माभिव्यक्तियों को प्रदर्शित करता है। अतः कुल-अकुल क्रमशः शक्ति एवं शिव स्वरूप ही है। कुल-अकुल, शक्ति शिव के रूप में ही प्रतिभासित होते प्रतीत होते हैं।

महायोगी गुरू गोरक्षनाथ जी ने इस पर प्रकाश डालते हुए लिखा है[58] कि कुल-अकुल स्वरूप शिव-शक्ति की अभेदावस्था ही सामरस्य प्राप्ति की दशा में निरूपति की जाती है।

2- अपरम्परं परमपदं शून्यं निरंजन परमात्मेति।
-सि0सि0प0 पृष्ठ -8 1/17

शिव-शक्ति संयोग :

शिव और शक्ति योग एक अत्यन्त विशिष्ट सत्य है। शक्ति इस सम्पूर्ण जगत् व्यवस्था में अपने आपको व्यक्त करती एवं आनन्दित करती हुई, शिव से भिन्न कुछ भी नहीं है।

शक्ति-शिव में निहित है तथा शिव-शक्ति मे निहित है। चन्द्र और चन्द्रिका के समान दोनो में कोई भेद नहीं है।[9] शिव-शक्ति में उसी प्रकार तादात्म्य है जिस प्रकार चन्द्रमा और उसके किरणों में अर्थात चन्द्रमा द्वारा प्रकाशित प्रकाश में। अतः जिस तरह चन्द्रमा और उसकी किरणें एक है जिनका चन्द्रमा से भिन्न कोई अस्तित्व नही है। वे चन्द्रमा का ही रूप है, क्योंकि यदि चन्द्रमा प्रकाशित नहीं है तब किरणों के रूप में प्रकाशित होने वाला उसका प्रकाश स्वभावतः लुप्त रहता है। दोनों चन्द्र और चन्द्रिका अभिन्न है, इसी प्रकार शिव-शक्ति में किसी प्रकार का कोई भद नही जानना चाहिये।

शिव समस्त स्तरों से उपर शक्ति का आधार एवं आत्मा है। शिव-शक्ति का पारमार्थिक रूप है, जिसमें किन्ही कार्यों के रूप में कोई आत्माभिव्यक्ति नहीं हुई है। यह शक्ति ही क्रमिक सृष्टि रचना एवं प्रलय काल के समय शिव की आत्माभिव्यक्ति के रूप में निहित है। अस्तु शिव-शक्ति की आत्मा है तथा शक्ति शिव का शरीर। आत्मा

3- या च सर्वत्र कायेषु प्राणिनां चित्स्वरूपिणी।
सा शक्ति प्राणदा प्राणस्तम्भिनी नियता सदा।
- सा0 कु0 भ0 पृष्ठ - 37

और शरीर में कोई तात्तिवक भेद करना सम्भव नहीं है, क्योंकि शरीर आत्मा की अभिव्यक्ति है। आत्मा से भिन्न शरीर कुछ नहीं है और न ही उसका कोई अस्तित्व है। इसी प्रकार शिव से भिन्न शक्ति का भी अपना कोई अस्तित्व नहीं है और यदि यह मानकर कि शक्ति शिव के बिना कुछ नही है अर्थात शक्ति का अस्तित्व ही शिव से है उसकी अवेहलनाा कर दी जाय तो शिव की आत्माभिव्यक्ति उनका अनन्त रूपों में आत्म प्रकाशन एवं सक्रियता भी सम्भव नहीं है तब उनका कोई व्यक्तित्व सम्भव नहीं है। शिव स्वयं को लुप्त कर शक्ति की अभिव्यक्ति के माध्यम से सम्पूर्ण जगत व्यवस्था की अन्तर्लीन आत्मा के रूप में विलास करते हैं।इसी शक्ति के कारण ही शिव स्वयं सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञानी, सर्वानन्द, सगुण परमेश्वर, जगत का सृजन कर्ता पालन कर्ता एवं भोक्ता बन जाते हैं। शक्ति के बिना शिव कुछ भी करने में समर्थ नही है।

गुरू गोरक्षनाथ जी के ग्रन्थों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है[10] कि सर्वशक्ति सम्पन्न होने से ही शिव सूक्ष्म, स्थूल समस्त भौतिक पदार्थों के परम कारण परमेश्वर है। रूद्र-विष्णु आदि रूपों में अवतरित होने से समर्थ है। शक्ति युक्त होने पर ही शिव सर्व समर्थ हैं। शक्ति रहित रहने पर वे कुछ भी करने में समर्थ नही है। अपनी शक्ति के साथ वे सम्पूर्ण अस्तित्वों के सृजन कर्ता एवं प्रकाशक बन जाते हैं।

4- प्राणापानं समानं च व्यानोदनं तथैव च ।
सभादृत्य सभाकृष्य या नित्यं धावयत्यलभ्।।
- सा0 कु0 म0 - पृष्ठ- 37

इस प्रकार परात्पर शिव §उच्चतम प्रापंचिक सत्ताओं एव काल दिक् तथा क्रिया से परे§ अपनी अनन्त शक्ति के द्वारा व्यवहारिक जगत के समस्त स्तरों के अन्तिम कारण परमेश्वर तथा सर्वद्रष्टा हो जाते है। उनका पारमार्थिक स्वतः प्रकाश आत्म पूर्ण स्वरूप इस जगत व्यवस्था से किसी भी तरह प्रभाावित हुए बिनाा ही समस्त लौकिक सत्ताओं के रूप में विभ्भासित रहते हैं।

अतः शिव शक्ति के सभालिंगन से ही इस प्रकार की विशिष्ट क्षमता को प्राप्त होते हैं कि वे अपने अपरिवर्तनीय, भेदरहित, अभिन्न स्वतः प्रकाशित पारमार्थिक अस्तित्वानन्द का उपभोग करते हैं। साथ ही शक्ति प्रदत्त शक्ति के कारण ही शिव सगुण ईश्वर के रूप में जगत का सृजन, पालन एवं संहार करते हैं। इस रूप में शिव को विश्व का अधिष्ठाता कहा जा सकता है।

अपनी अनन्त शक्ति से युक्त परमेश्वर शिव अनन्त शक्तिमान बन जाते हैं, वे समस्त विश्व का आधिष्ठाता रूप होने से विश्व रूप एवं विश्वमय हो जाते है।।। इस प्रकार परमात्म शिव का सम्पूर्ण जगत में अन्तर्यामी होना स्वतः सिद्ध हैं तथा उनके स्वरूप में अनन्त शक्ति निहित है। इस शक्ति के कारण शिव सम्पूर्ण जगत व्यवस्था एवं समस्त अस्तित्वों के स्वामी बन जाते हैं तथा उनपर अपना अधिपत्य स्थापित कर पाते हैं।

5- इन्द्रियाणां समस्तानां मनस आत्मनश्च या।
शक्ता तिमिर नाशाय सा शक्तिः प्राणादामता।।
- वही पृष्ठ - 37

अपनी अनन्त शक्ति से युक्त एकाकार परब्रह्म परमात्म परमेश्वर शिव तात्विक रूप में अपने पूर्ण आनन्दमय अवस्था में स्थित होने पर भी विविध प्रकार के विलासों में प्रकट होते एवं उनका भोग करते हैं। शक्ति का कभी लोप नहीं होता और अन्त में समस्त व्यवहारिक प्रपंचावस्था से भासित होते हुए अपने स्वरूप में एक वहीं परब्रह्म शिव शेष रहते हैं।[12]

अतः शिव अपनी अनन्त शक्ति से युक्त होने पर वैभव को प्राप्त होते हैं। वे आनन्द मय, अभेद तथा अपरिवर्तनीय स्वरूप में रहते हुए भी अपने को विभिन्न रूपों में प्रकट करते हुए विलास का आनन्दपोभोग करते हैं। इस तरह शिव भोक्ता और भोग्य, स्रष्टा और सृष्टि, आधार और आधेय, आत्मा और आत्माभिव्यक्ति आदि दो रूपों में साथ-साथ प्रतिभासित होते प्रतीत होते हैं। न वे कभी शक्ति को त्यागते हैं और नहीं शक्ति कभी उनका त्याग करती है। अस्तु शिव-शक्ति का नित्य तादात्म्य सम्बन्ध है। उनके आपसी तादात्म्य सम्बन्ध का कभी लोप नहीं होता वे दोनों आत्मा और शरीर के समान ही है।

शिव दो रूपों में अभिव्यक्त होते हैं पारमार्थिक और सक्रिय। एक सामान्य पुरूप शिव के इन दोनों रूपों के दर्शन नहीं कर पाता जबकि एक तत्वा ज्ञानालोकित योगी शिव के दोनों ही रूपों व्यक्त और अव्यक्त अर्थात

6 - चिन्द्रूपा, प्राणरूपा च ज्ञान रूपा च सा स्वयम्।
व्यक्ता व्यक्त स्वरूपा च सर्वतत्वेषु व्यापिका।
- वही पृष्ठ - 38

अर्थात सक्रिय एवं पारमार्थिक स्वरूप का सहज ही दर्शन कर लेता है। शिव की शक्ति कोई शिव से विलग गुण या लक्षण आदि नहीं है, अपितु विविधताओं से पूर्ण इस संसार में शिव की आत्म विलासिनी शक्ति शिव को अनन्त रूपों में व्यक्त करती है। शिव का यही सक्रिय रूप जो असंख्य रूपों में अभिव्यक्त होता है उनकी शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित कहा जाता है। इसके अतिरिक्त शक्ति कुछ नहीं है। शिव की शक्ति तो स्वयं शिव ही है। शक्ति शिव है तो शिव शक्ति है।

पारमार्थिक रूप में शक्ति की कोई वाह्य अभिव्यक्ति नहीं होती, अतः पारमार्थिक स्वरूप में शिव-शक्ति रहित प्रतीत होते हैं जबकि वे किसी भी दशा में अनुपस्थित अर्थात लुप्त नहीं है। दूसरी तरफ प्रापंचिक आत्माभिव्यक्ति में उनका सक्रिय रूप अधिक प्रभावित रहता है। सक्रियता की इस दशा में शिव स्वयं शक्ति के रूप में परिलक्षित होते हैं। सक्रियता की दशा में परिवर्तन शील रूपों की आत्माभिव्यक्ति से भी शिव के पारमार्थिक रूप में कोई परिवर्तन या भेद नहीं होता। तदनन्तर शक्ति शिव के स्वरूप में अन्यान्य सत्ता के रूप में न रहकर उनसे तद्रूप प्रतीत होती है।

7- योo वाo सिo दo विo पृष्ठ - 56

8- कलाकुल स्वरूपा सामरस्य निज भूमिका निगद्यते।
- सिo सिo पo पृष्ठ 104 4/2

9- शिवस्माभ्यन्तरे शक्ति शक्तेराभ्यन्तरः शिवः ।
अनन्तरं नैव जानीयच्चन्द्र चन्द्रिकायोरिव ।।
- वही पृष्ठ - 116, 4/26

महायोगी गुरु गोरक्षनाथ जी की यह धारणा है[13] कि वह शक्ति जब अपने मूल स्वतः प्रकाश तथा निरुत्थान की दशा में विराजमान होती है, तब वह शिव से पूर्ण तदाकार हो जाती है

वस्तुतः निरुत्थान दशा अर्थात् समाधिस्थ अवस्था में शक्ति शिव स्वरूपा प्रतीत होती है तथा व्युत्थान अर्थात समाधि से जागृत अवस्था में शिव शक्ति स्वरूप प्रतीत होते हैं। अन्ततः दोनों ही अवस्थाओं में किसी भी प्रकार का कोई भेद नहीं है। समस्त स्तरों पर शिव शक्ति में तथा शक्ति शिव में निहित है। दोनों में किंचित मात्र भी भेद नहीं है।

दूसरे शब्दों में अकुल-कुल का आलिगंन करता है और कुल अकुल के लिए छटपटाता है। इनका सम्बन्ध पानी और पानी के बुद्‌वुदों के समान है। किन्तु " परशिव" परमात्मा पूर्णतया एक ही है।[14] जल तो मूल रूप में जल ही है, कभी-कभी जल में जल बुद्‌वुदो के रूप में भी देखा पाया जाता है। वाह्य रूप से जल में उठने वाले बुद्‌बुदे जल से भिन्न वस्तु प्रकट होते हैं, क्योंकि जल में बुद्‌बुदे अनन्त रूपों में विहार करते दिखलायी पड़ते हैं। लेकिन अन्ततः वे बुद्‌बुदे जल में ही विलीन हो जाते हैं, क्योंकि वास्तविक अर्थ में वे जल ही है। जल से भिन्न उनका कोई अस्तित्व नहीं है। इसी प्रकार शिव §अकुल§ शक्ति §कुल§ का आपसी सम्बन्ध है। अतः जल और

10- अतएव परम कारणं परमेश्वरः परात्परः शिवः स्व-स्वरूपतया सव्रतोमुखः सर्वाकारतया स्पुरितुं शक्नीतीत्यतः शक्तिमान् शिवोऽपि शक्ति रहितःशक्तः

जल के बुद्बुदों के समान ही शिव और शक्ति आपस में विलीन रहते है। एक महायोगी इस प्रकार शिव में शक्ति तथा शक्ति में शिव के साक्षात् दर्शन करता है। उसे समस्त विभिन्नताओं में सामरस्य प्रतीत होता है। वह सब में एक की ही अभिव्यक्ति पाता है।

इस प्रकार शक्ति इस सम्पूर्ण जगत व्यवस्था में स्वयं को नाना रूपों में अभिव्यक्त करती हुई शिव से भिन्न कोई अस्तित्व नहीं रखती। तदनन्तर शिव भी ब्रह्माण्ड -व्यवस्था के उपादान एवं निमित कारण स्वरूप शक्ति कहलाते हैं। सदैव शिव की सेवा में शक्ति संलग्न रहती है। शिव शक्ति के प्रकाशक तथा शक्ति शिव के विविध आनन्द दायी विलासों में §नाना रूप प्रापंचिक सत्ताओं में अभिव्यक्त होकर§ सहयोगिनी के रूप में कार्यरत रहती है। अतः दोनों शिव और शक्ति आपसी आलिंगन पास में सदैव बन्धे रहते है। पारमार्थिक शिव इस सम्पूर्ण जगत् व्यवस्था एवं उसके अन्तर्गत उपस्थित समस्त अस्तित्वों की आत्मा है तथा शक्ति इस जगत व्यवस्था के अन्तर्गत आने वाले समस्त अस्तित्वों अथात जीवों का शरीर है। अतः दोनों शिव और शक्ति तदाकार है।

कतुं न किंचनः। स्वशक्त्या सहितः सोऽपि सर्वस्याभासको भवेत।
- वही पृष्ठ - 108 4/13

11- अतएवानन्त शक्तिमान् परमेश्वरः स विश्वरूपो विश्वमयो भवतीति। - वही पृष्ठ- 109 4/14

12- अतएवै का कारोऽनन्त शक्तमान निजानन्द तया-वस्थितोऽपि नानाकारत्वेन विलसन स्वप्रतिष्ठा स्वमेव भजतीति व्यवहारः।अलुप्त शक्मानन्नित्यं सर्वाकारतया स्फुरन् पुनः स्वेनैव रूपेण एक एवावशिष्यते।
- वही पृष्ठ - 107 4/12

इच्छा मात्र धर्मा शक्ति :

एक निर्बल व्यक्ति से लेकर सबल व्यक्ति तक किसी कार्य को करने के सन्दर्भ में यह सोचता है कि वह कार्य करने की शक्ति उसमें है अथवा नहीं। इस प्रकार शक्ति की कल्पना, कोरी कल्पना न रह कर एक तथ्य है। वस्तुतः वर्तमान यह जगत् शक्ति द्वारा ही निर्वाह्य है। इस शक्ति की उपासना के लिए सर्वत्र भटकने की जरूरत नहीं पड़ती। प्रत्येक पिण्ड, प्रत्येक अणु, परमाणु में वह शक्ति विद्यमान रहती है। जगत् में प्रत्येक प्राणी इसी शक्ति को इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया रूप में अनुभव करता है। प्रथमतः यह शक्ति इच्छा मात्र धमा है जो इच्छा परमात्मा, परब्रह्म शिव के स्वरूप में मूलतः निहित है। परब्रह्म शिव अपने आपमें निहित शाश्वत एवं सर्वशक्तिशालिनी रहस्यमयी इच्छा के संचालन मात्र से ही इस व्यवहारिक जगत की विभिन्न लक्षणों से युक्त वस्तुओं एवं चेतनाओं में अभिव्यक्त करता है।

सामान्यतः इच्छा से अभिप्राय अभिलाषा से होता है। प्रत्येक मानव के मन में सदैव इच्छाएं पनपा करती है जो किसी वस्तु की अपूर्णता में पूर्णता, असन्तोष में सन्तोष तथा दुःख में सुख के भाव से युक्त रहती है। यह इच्छा किसी भी अस्थायी सन्तुष्टि के भावों की प्राप्ति हेतु तथा दुःख में सुख के भाव से युक्त रहती है। यह इच्छा किसी भी अस्थाई सन्तुष्टि के भावों की प्राप्ति हेतु तथा दुःख, असंतोष, अपूर्णत्व एवं आवश्कता की समाप्ति हेतु किन्ही परिवर्तनों अथवा किन्ही वस्तुओं के लिए सदैव

अन्तर्मन में अभिलाषा जगाती रहती है। वस्तुतः पूर्णता, सन्तोष एवं सुख के अभाव में ही इच्छा का जन्म होता है, जो एक के बाद एक अलग-अलग भावों को व्यक्त करती रहती है।

यद्यपि सामान्य प्राणियों के अन्तर्मन में इच्छा तथा प्रयत्न की भावना बनी रहती है तथापि योगियों एवं दार्शनिकों के लिए व्यवहारिक अर्थ में भी किसी इच्छा, अभिलाषा, आवश्यकता, अपूर्णता, उद्देश्य, अभिप्राय, असन्तोष, दुःख आदि का कोई प्रयोजन नही होता है। उनके लिए पूर्ण सत्, पूर्णचित् पूर्ण आनन्द के अतिश्रेष्ठ भावों में किसी इच्छा-उद्देश्य आदि की भावना उपस्थित नहीं होती है। योगी दार्शनिक सामान्य प्राणी की तरह इच्छा शब्द का प्रयोग नहीं करते हैं। उनके लिए इच्छा मात्र का अर्थ आत्माभिव्यक्ति की अन्तर्निहित प्रेरणा से है, जो परमात्मा के पूर्ण,पारमार्थिक स्वभाव में निहित है। उनके लिए इच्छा अपूर्णता नहीं पूर्णता के भावों से युक्त होती है। वह तृप्ति से युक्त होती है, किसी अभाव से नहीं। अभिलाषाएं तभी उत्पन्न होत है जब प्राणी में असन्तोष एवं दुःख के भाव होंगे, जबकि "इच्छामात्र" आनन्ददायी एवं सुखदायी होती है। इच्छा मात्र के अन्तर्गत पूर्ण सत् विविध सासांरिक अस्तित्वों की आत्माभिव्यक्ति की प्रेरण उत्पन्न करता है। योगी इस बात की इच्छा से मुक्त रहता है कि जो कुछ भी सांसारिक अभिव्यक्तियां है वह सभी आत्मा के अन्तर्गत निहित हैं। इसी प्रकार पुर्णचित् समस्त चेतनाओंमें

आत्माभिव्यक्ति की प्रेरणादायक स्रोत है। पूर्ण आनन्द अत्मान्तर्गत समस्त प्रसन्नताओं की आन्तरिक प्रेरणा के भावों से युक्त है। अतः योगियों एवं दार्शनिक के लिए "इच्छा मात्र" का वास्तविक अर्थ परमात्मा के पारमार्थिक स्वरूप में आत्माभिव्यक्ति की प्रेरणा है।

शक्ति का क्रमिक विकास :

परमात्म पर ब्रह्म शिव की शक्ति का प्रकटीकरण पूर्ण स्वच्छन्द एवं क्रमिक है। शकित की आत्माभिव्यक्तिकी पांच अवस्थाओं में प्रथम अपने मूल में यह निजा शक्ति है। अनादि अनन्त, निर्विकार परब्रह्म शिव की निजाशक्ति इच्छा मात्र धर्म वाली तथा जीव मात्र के सुख-दुःख आदि भोगों के निर्मित सृष्टि और प्रलय में संकोच विकास धर्म वाली प्रसिद्ध है।[15] इस मूल अर्थात प्रथमावस्था में अभिव्यक्त निजाशक्ति के नित्यता, निरंजनता, निस्पंदता, निराभासता और निरुत्थानता आदि पांच गुण है।[16] यहशक्ति नित्य अर्थात शाश्वत है जो शिव से अभिन्न है, जिसका, भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालो में भी नाश नहीं होता है। दूसरी अवस्था में यह शक्ति निरंजनता के गुण से युक्त है अर्थात विशुद्धता, निष्कलंकता आदि से युक्त जो पूर्ण शुद्ध तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह, रागद्वेषादि से सर्वथा दूर और निर्दोष है। तीसरे यह शक्ति कम्पन रहित अर्थात शक्ति में आन्तरिक परिवतन की

13- सैव शक्तिर्यदा सहजेन स्वस्मिन्नुन्मीलिन्यां निरुत्थान दशायां वर्तते तदाशिव स एव भवति ।
- वही पृष्ठ - 103 4/1

कोई भी अन्तःप्रेरणा नही है। यह तो शिव के साथ तदाकार है। निराभासता अर्थात् आभास रहित इस शक्ति की शिव से भिन्न कोई अस्तित्व नहीं। अतः शिव से भिन्न उसका आभास प्रतिबिम्बित नहीं होता है। पांचवें निरूत्थानता अर्थात निजा शक्ति उत्थान रहित है। यह शक्ति जो शिव के पारमार्थिक स्वरूप से भिन्न जागृत नही हुई है, इस अवस्था में शक्ति शिव का अभिन्न अंग है।

दूसरी अवस्था में उसके §निजाशक्ति के§ उत्साह मात्र से पराशक्ति अभिव्यक्त होती है।[17] निजा शक्ति के अन्तर्गत सक्रियता की एक गूढ़ प्रवृत्ति जागृत होती है। निजा शक्ति जो शक्ति की प्रथम अवस्था में सुप्त प्रतीत होती है आगे व्यवहारिक स्तर पर अपनी अनन्त भावनाओं को धीरे-धीरे प्रकट करने की तीव्र प्रेरण से युक्त हो उठती है। प्रथम अवस्था में यह शक्ति शिव से तदाकार रूप एवं अव्यक्त थी। अब वह एक भिन्न एवं स्पष्ट रूप में व्यक्त होने लगती है तथा शिव अपने में निहित इस शक्ति पर अपने स्वामित्व का अनुभव करने लगते हैं। शिवान्तर्गत शक्ति शिव के आनन्दानुभव का उपादान प्रतीत होने लगती है। शिव के लिए उपस्थित यह शक्ति इस अवस्था में पराशक्ति कहलाती है। यह पराशक्ति पूर्व वर्णित निजाशक्ति का प्रथम एवं सूक्ष्म प्रकटीकरण है। यहाँ तक की उसमें कोई विशेष हलचल या किया नहीं होती है। निरूत्थान दशा की यह प्रथम उत्थान दशा है।

14- अकुलं कुलभाधते कुलन्चाकुल मिच्छति
जलबुदबुदवन्न्या यादेका कारः परःशिवः।।
- शिव पृष्ठ - 106, 4/1।

यह प्रथम उत्थान रूप पराशक्ति भी अस्तिता, अप्रेमयता, अभिन्नता, अनन्तता और अव्यक्तता आदि पाँच गुणों से युक्त है।[18] प्रथम अस्तिता अर्थात् अस्तित्व के गुण से युक्त होती है। यद्यपि परमात्म शिव के स्वरूप में इस पराशक्ति के अस्तित्व गुण को मिलाया नहीं जा सकता तथापि इसकी शिव से एकता पूर्ण स्पष्ट है। दूसरे यह शक्ति अप्रमयता के गुण से युक्त है अर्थात अप्राप्य है। चूंकि यह शक्ति मर्यादाओं, नियमों, कालादिक आदि की व्यवस्था की जननी है अतः इसके स्वभाव को किसी मापदण्ड से नहीं मापा जा सकता है।

अभिन्नता के गुण से युक्त यह शक्ति परमात्म शिव से अपृथक है। यह सदैव शिव से अभिन्न रहती है। वस्तुतः उसके अन्दर या बाहर इस प्रकार की कोई वस्तु नहीं है, जिससे यह शक्ति स्वतन्त्र या पृथक मानी जा सके। यह शक्ति अनन्त है। अर्थात असीम और अक्षय है। यह शक्ति कभी न विनष्ट होने वाली है। अर्थात अविनाशी है। अनादि काल से स्वयं को विविध रूपों व्यक्त करने वाली यह शक्ति कभी समाप्त नहीं होती और न ही समाप्त होने की सम्भावनाही होती है। यह तो सर्वत्र नवीन सृष्टि का सृजन करती रहेगी। पाँचवे अव्यक्तता के गुण से युक्त यह शक्ति अप्राकट्य है अर्थात जिसका प्रकाशन न हो। यह शक्ति शिव के पारमार्थिक स्वरूप में उसी प्रकार सूक्ष्म रूप में विद्यमान रहती है जिस प्रकार दुग्ध के अन्तर्गत घी सूक्ष्म रूप में विद्यमान रहता है किन्तु वह बाह्य रूप से प्रकट नहीं होता।

तृतीय स्तर पर उसमें §पराशक्ति में§ स्पदन मात्र से अपराशक्ति जागृत होती है।[19] अनन्त पारमार्थिक परब्रह्म शिव के अन्तःकरण में किसी प्रकार का स्पंदन अर्थात् किसी प्रकार की आन्तरिक प्रेरणा उत्पन्न हुई जबकि कोई बाह्य परिवर्तन इस अवस्था में नहीं होता। मात्र आन्तरिक परिवर्तन ही होता है। इस प्रकार परब्रह्म परमेश्वर शिव के अन्तःकरण में हुए स्पंदन को अपराशक्ति कहा जाता है।

यह अपराशक्ति भी स्फुरता, स्फारत्ता, स्फुटता, स्फोटता और स्फूर्तिता आदि पांच गुणों वाली होती है।[20] प्रथम यह शक्ति स्फुरता के गुण वाली होती है अर्थात् इसमें संचलन का गुण विधमान है। यहाँ पर यह शक्ति मात्र अस्तित्व के गुण से युक्त ही न रहकर आन्दोलित रूप में विधमान रहती है। दूसरे परब्रह्म शिव के पारमार्थिक स्वरूप को अभिव्यक्त करने के कारण यह शक्ति स्फुरता के गुण से युक्त कही जाती है। इस स्तर पर शक्ति में निरन्तर विस्तार, आत्म प्रकटीकरण, आत्म प्रकाशन और अभिव्यक्तीकरण की प्रेरणा से युक्त होने के कारण यह स्फारता के गुण वाली कही जाती है। स्फोटता अर्थात् यह शक्ति परब्रह्म शिव के कर्तव्य धर्म को प्रकट करनेवाली होती है। पांचवे यह शक्ति स्फूर्तिता के गुण वाली होती है अर्थात् यह शक्ति सृष्टि कार्यो में परब्रह्म शिव को उत्साहित कर उस ओर लगाती है।

15- तस्येच्छा मात्र धर्माधिर्मिणी निजाशक्तिः पांसद्धाः।
- वही पृष्ठ - 3 1/5

16- नित्यता, निरंजनता निष्पन्दता निराभासता निरुत्थानता इति पंचगुणा निजा शक्ति।
- वही पृष्ठ - 4 1/10

चतुर्थावस्था में अपराशक्ति से परब्रह्म शिव में अहं भाव की उत्पत्ति मात्रसे सूक्ष्म शक्ति उत्पन्न होती है।[21] इस अवस्था में परब्रह्म शिव में सृष्टि की इच्छा रखने वाली अपरा शक्ति से इस प्रकार अहंकार भाव कि मैं सृष्टि की रचना करने में समर्थ हूँ उत्पन्न हो उठता है। यह अहं भाव समस्त चेतनाओं को आच्छादित किए रहता है, क्योंकि सृष्टि के आरम्भ में अन्य कोई अभिव्यक्ति नहीं होती इस कारण एक मात्र परमेश्वर का ही अहंकार अभिव्यक्त होता है। अतः इस स्थिति में यह अलौकिक दिव्य शक्ति सूक्ष्म शक्ति के रूप में जानी जाती है।

शिव की यह सूक्ष्म शक्ति भी निरंशता, निरन्तरता, निश्चलता, निश्चयता और निर्विकल्पता आदि पाँच गुणों वाली होती है।[22] प्रथम निरंशता अर्थात् यह शक्ति अहं भाव में व्यक्त रहती है इसमें अनेकता, की भावना नहीं होती। यहाँ तो यह और तुम आदि के व्यवहार का सर्वथा अभाव तथा अहं ही अभिव्यक्त रहता है। दूसरे यह सूक्ष्म शक्ति किसी प्रकार के क्रम भंग या व्यवधान से युक्त नहीं होती है। यह तो क्रम भंग एवं किसी प्रकार के व्यवधान आदि से शून्य होने के कारण सर्वदा परमेश्वर में लीन तथा नित्य, निरन्तर अभिव्यक्त होती रहने वाली है। तीसरे यह शक्ति निश्चल है अर्थात् इसमें किसी प्रकार की कोई चंचलता, प्रसार या संकोच आदि का भाव नहीं होता है। वह तो आदिनाथ परब्रह्म शिव में पूर्णतया व्यक्त

17- तस्योन्मुख त्यमात्रेण पराशक्ति रुत्थिता।
- वही पृष्ठ - 3 1/6

होकर दृढ़ता से व्याप्त है। इस अवस्था में किसी भी प्रकार के द्वन्द, त्रुटि, सॅदिग्धताा, संशम, भ्रम, दोष आदि के न होने के कारण यह सूक्ष्म शक्ति निश्चयता के गुण वाली कही जाती है। पाँचवे यह निर्विकल्पता के गुण वाली होती है अर्थात् यह इस प्रकार का आत्म ज्ञान नहीं है, जिससे किसी मानसिक धारणा अथवा सिद्धान्त सृष्टि हो अपितु यह शुद्ध सर्वज्ञता रूप है।

पाँचवी अवस्था में इस सूक्ष्म शक्ति की वेदन शीलता से कुण्डलिनी शक्ति उत्पन्न होती है।[23] इस अवस्था में शिव की यह अलौकिक दिव्य शक्ति का विशिष्ट शक्ति का रूप ज्ञान अनुभव एवं इच्छा आदि की प्रक्रियाऐं उत्पन्न करने के लिए उनके विषयों आदि के उद्भव के पूर्ण ही धारण कर लेती है। इस प्रकार की शक्ति को ही कुण्डलिनी शक्ति कहा जाता है।

यह कुण्डलिनी शक्ति पूर्णता, प्रतिबिम्बता, प्रबलता, प्रोच्चलता और प्रत्यड्मुखता आदि पांच गुणों से युक्त होती है।[24] पूर्णता का अर्थ पूण चरित्र शीलता है अर्थात् यह शक्ति सर्वव्यापक और नित्य है। यह समस्त ब्रह्माण्ड व्यवस्था को व्यवस्थित रूप में रखती है। यहाँ तक की इस शक्ति को सृष्टि प्रक्रिया का बीज युक्त माध्यम माना जा सकता है। दूसरे यह एक दर्पण स्वरूप वाली है, अतः शिव पारमार्थिक स्वरूप का अनन्त रूपों में प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण यह प्रतिबिंम्बता के गुण वाली कही जाती है।

18- अस्तिता, अप्रमेयता, अभिन्नता, अनन्तता अव्यक्तता इति पंचगुणा पराशक्ति। - वही पृष्ठ - 5 1/5

तीसरे यह शक्ति प्रबलता के गुण वाली कही जाती है अर्थात् यह शक्ति सर्वशक्ति सम्पन्न होती है जो कि विभिन्न स्तरों- विभिन्न अस्तित्वों का सृजन करने एवं उनका पालन करने तथा पुनः अपने अन्तःकरण में समेटने की क्षमता तथा अनन्त शक्ति प्रदायक होती है। प्रोच्चलता अर्थात् यह शक्ति नित्य वर्तमान ररहकर समस्त अपने से उत्पन्न एवं पोषित जीवों पर अपना पूर्ण शासन जमाये रहती है। यह समस्त जीवों को आत्म नियन्त्रित रखती है तथा पाँचवे यह शक्ति प्रत्यङ् मुखता के गुण से युक्त होती है।

यद्यपि यह शक्ति संसार का सृजन, पालन एवं विनाश करती है तथापि इसका आनन परमात्म शिव की ओर उन्मुख रहता है, जो उसकी आत्मा एवं प्रभु है। उसका प्रकाशन एवं प्रेरक है उसके साथ अनन्त विलास के लिए ही वह शक्ति सृष्टि रचना की क्रीड़ा करती है। सर्वदा शक्ति का मुख शिव की ओर रहता है तथा वह शक्ति सदैव शिव के प्रगाढ़ आलिंगन हेतु छटपटाती रहती है।

अतः शक्ति क्रमिक रूप में निजा, परा, अपरा, सूक्ष्मा तथा कुण्डलिनी के रूप में अभिव्यक्त होती है।

- :0: -

19- तस्य स्पदंन मात्रेण अपराशक्ति रुत्थिता।
- वही पृष्ठ- 3 1/7

20- स्फुरता, स्फुटता,स्फारता, स्फोटता, स्फूर्ततीति पंचगुणाडपराशक्तिः।- वही पृष्ठ-5 1/12

21- ततोंडहंतार्थमात्रेण सूक्ष्म शक्तिसत्पन्ना। वही पृष्ठ:4 1/8

22- निरंशता, निरन्तरता, निश्चलता, निश्चयता, निर्विकल्पतेति पंचगुणा सूक्ष्माशक्ति:।
- वही पृष्ठ - 6 1/13

23- ततो वेदनशीला कुण्डलिनी शक्तिरूदगता।
- वही पृष्ठ - 4 1/9

24- पूर्णता, प्रतिबिम्बता, प्रबलता, प्रोच्चलता, प्रत्यङ्‍ मुखतेति कुण्डलिनी शक्ति:।
- वही पृष्ठ - 6 1/14

चतुर्थ अध्याय

- गोरक्ष दर्शन में पिण्ड-ब्रह्माण्ड -

1- ब्रह्माण्ड शरीर

2- व्यष्टि पिण्ड की संरचना

3- पिण्ड - ब्रह्माण्ड में समरसकरण

4- "मथा पिण्डे - तथा ब्रह्माण्ड", संक्षिप्त विवेचन

परब्रह्म शिव में जब सृष्टि निर्माण की इच्छा उत्पन्न होती है, तब परमात्म शिव एक ही साथ दो रूपों में अभिव्यक्त होते हैं - शिव और शक्ति। शिव की यह शक्ति क्रमिक रूप से निजा, पर , अपरा, सूक्ष्मा और कुण्डलिनी आदि पाँच अवस्थाओं में प्रादूर्भत होती है। इन निजा आदि पाँच शक्तियों के प्रत्येक के पाँच-पाँच गुण विद्यमान रहते हैं।[1] अतः शक्तियों के गुणो के आश्रय से सगुण साकार परमेश्वर के पिण्ड-"पर-पिण्ड" की उत्पत्ति हुई।[2]

"पर-पिण्ड" से क्रमशः अपरम्पर, परमपद, शून्य, निरंजन और परमात्म आदि पांच तत्वों के प्रत्येक में पाँच-पाँच गुणों के समाहार से "अनादि - पिण्ड" का अविर्भाव हुआ।[3]

तदनन्तर "अनादि पिण्ड" से परमानन्द, परमानन्द से प्रबोध, प्रबोध से चिदुदय, चिदुदय से चित्प्रकाश और चित्प्रकाश से अहंभाव प्रादर्भूत हुआ।[4] परमानन्द, प्रबोध, चिदुदय, चित्प्रकाश, सोडहंभाव आदि इन पाँच तत्वों के पांच-पाच गुणों के आश्रयभूत "आद्य पिण्ड" उत्पन्न हुअ।[5]

1- यहीं पृष्ठ- 82-86 §शिव-शक्ति का क्रमिक विकास के अन्तर्गत§

2- शक्ति तत्वे पंच पंच गुण योगात् परपिडोत्पन्तिः। - सि0सि0 प0 पृष्ठ - 7 1/15

3- अपरम्परं, परमपदं, शून्यं, निरंजन परमात्मानौं, पंच भिरेतैः सगुणैरनाद्य पिण्डः समुत्पन्नः।। - वही पृष्ठ - 10 1/24

4- अनाद्यात् परमानन्दः परमानन्दात् प्रबोधः प्रबोधाच्चिदुदयः चित्प्रकाशः चित्प्रकाशात् सोडहं भावः। वही पृष्ठः 10।

ब्रह्माण्ड शरीर :

प्रथम "पर-पिण्ड" परपिण्ड से अनादि पिण्ड तथा अनादि पिण्ड से आद्य पिण्ड की उत्पत्ति के पश्चात् आद्य-पिण्ड से महाआकाश, महाआकाश से महावायु, महावायु से महातेजस्, महातेजस से महासलिल, महासलिल से महा पृथ्वी विकसित हुई।[6] इन महाआकाश आदि पांचों तत्वों के भी प्रत्येक के पाँच-पाँच अर्थात् पच्चीस गुणों से युक्त "महासाकार पिण्ड" अथवा ब्रह्माण्ड शरीर की उत्पत्ति हुई।[7]

इस प्रकार महायोगी गुरु गोरक्षनाथ जी ब्रह्माण्ड की रचना आकाश, वायु, तेजस्, सलिल और पृथ्वी आदि पंच महाभूतों से मानते हैं। इस ब्रह्माण्ड जगत में समस्त सूर्य, तारागण, ग्रहों, नक्षत्रों एवं समस्त चेतन प्राणियों तथा अनन्त भौतिक वस्तुओं के ये पंच महातत्व आश्चर्य जनक रचना एवं संगठन के आधार है।

इन पंच महाभूतों का उत्पत्ति- कारण आद्यपिण्ड है। आद्यपिण्ड से सर्वप्रथम सबसे सूक्ष्म आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश से इससे कुछ अधिक स्थूल वायु उत्पन्न हुआ। वायु से इससे भी स्थूल तेजस् उत्पन्न हुआ। तेजस् से इससे भी स्थूल जल तथा सलिल से सबसे स्थूल एवं कठोर रूपवाली पृथ्वी विकसित हुई। अतः प्रथम आद्यपिण्ड से विकसित आकाश वायु में, वायु आकाश सहित तेजस् में, तेजस् वायु एवं आकाश सहित जल में तथा जल, तेज, वायु एवं आकाश सहित पृथ्वी में परिव्याप्त है तथा आद्यपिण्ड जो इन पंचमहाभूतों का

उत्पत्ति कर्ता है, सूक्ष्म रूप में इन सभी में व्यापक है।

ये पंचमहाभूत अपने-अपने पांच-पांच गुणों से युक्त होते है। प्रथम आकाश जो अवकाश, अछिद्र, अस्पृशत्व, निजवर्णत्व एवं शब्द आदि पाँच गुणों से युक्त है।[8] आकाश में अवकाश अर्थात परिव्यापकता है। वस्तुतः आकाश में समस्त भौतिक सत्ताओं के विकास हेतु सुनियोजित स्थान है। किसी भी समय तथा कहीं भी सर्वत्र आकाश की विद्यमानता प्रकट है। दूसरे यह आकाश छिद्र रहित होता है। इसका विस्तार क्रमबद्ध तथा अखण्डित है। इसको विभाजित नहीं किया जा सकता। यह एक ही रूप में सर्वत्र व्यापक है। इसमें स्पर्शत्व का कोई भाव नहीं है। यह अछूता है। चतुर्थ यह आकाश नीलवर्णत्व अर्थात् नीले रंग से युक्त माना गया है जबकि आकाश का कोई भी वास्तविक वर्ण नहीं है, किसी वर्ण विशेष के रूप में उसे नहीं देखा जाता। आकाश का पाँचवां गुण शब्दत्व है अर्थात् यह ध्वनि गुण वाला है, इसमें समस्त प्रकार की ध्वनियों की सम्भावना प्रतीत होती है।

आकाश ब्रह्माण्ड- व्यवस्था में शिव-शक्ति की प्रथमत आत्माभिव्यक्ति है। तदनन्तर इस आकाश से संचार, संचालन स्पर्श, शोषण, धूमवर्णत्व आदि पांच गुणों से युक्त महावायु विकसित हुआ।[9] प्रथम महावायु संचार के गुण से युक्त

5- परमानन्दः प्रबोधश्चिदुदयश्चित्प्रकाशः सोडहं भाव इत्यन्त आद्यपिण्डो महात्त्वयुक्तः समुत्थितः। - वही पृष्ठ - ।। 1/30

है अर्थात् चलायमान है। महाआकाश जो कि पूर्ण शान्त एवं स्थिर रहता है, उसमें यदि संचार, प्रकम्पन्न अथवा तरंगों का अनुभव प्रतीत होता है, तो महावायु के चलने की सूचना प्रकट हो जाती है। दूसरे इसमें संचालन का गुण है। स्वयं तो यह चलता ही है, अपने साथ अन्य पदार्थों को भी चलाता है। ऐसे पदार्थ जो निष्क्रिय प्रतीत होते हैं उन्हें गतिमान् करने की क्षमता महावायु रखता है। तीसरा गुण स्पर्श है अर्थात् यह समस्त भौतिक पदार्थों का स्पर्श करता रहता है। यह नहीं कि वह छूने योग्य है किन्तु यह समस्त इन्द्रियों को उत्तेजित करता है जिसका बोध प्रायः होता रहता है। यह शोषण के गुण से युक्त रहता है, जो तत्व उससे विकसित हुए है अग्नि, पृथ्वी और जल आदि का यह शोषण करता है। यह अग्नि, जल तथा पृथ्वी को अपने में समा लेता है। जल को सुखा देता है। इसका पाचवाँ गुण धूम्रवर्णत्व है अर्थात यह धुएँ के रंग रूप का होता है ऐसा प्रायः माना जाता है जबकि आकाश की ही तरह वायु का भी कोई प्रत्यक्ष रंग नहीं होता है।

महावायु से विकसित महातेजस् के दाहकत्व, पाचकत्व, उष्णत्व, प्रकाशकत्व, रक्तवर्णत्व आदि पांच गुण होते हैं।[10] महातेजस् का पहला गुण दाहकत्व है, अतः महातेजस् भौतिक पदार्थों को जलाकर भस्म कर देने वाला गुण रखता है। यह भौतिक अस्तित्वों के विभिन्न अंगों को नष्ट कर देता अथवा परिवर्तित कर देता है। दूसरे यह पाचकत्व

6- आद्यान्महा काशो महाकाशान्महावायुर्महावायोर्महातेजा महातेजसो महासलिलं महासलिलान्महा पृथ्वी।
- वही पृष्ठ - 12 1/3।

गुण से युक्त है। यह किसी भी पदार्थ में नवीन लक्षण या गुण पैदा कर देता है तथा जीवित शरीर में यह भोजन आदि को पचाने का कार्य सम्पन्न करता है। इतना ही नही महातेजस् के प्रभाव से ही पेड़-पौंधो में रंग परिवर्तन तथा स्वाद परिवर्तन एवं मिट्टी के पात्रों आदि में भी रंग परिवर्तित हो जाता है। उष्णत्व अर्थात ताप से युक्त यह महातेजस् समस्त भौतिक पदार्थों में उष्णता पैदा करता है। प्रकाश अर्थात् आलोक के गुण से युक्त महातेजस् समस्त भौतिक पदार्थों को प्रकाशित अर्थात् आलोकित करता है। यह रक्तवर्ण वाला माना गया है जबकि इसका भी आकाश तथा वायु की ही तरह कोई प्रत्यक्ष वर्ण नही है।

शिव के विराट ब्रह्माण्ड शरीर में महातेजस से उत्पन्न महासलिल के भी प्रवाहत्व, आप्यायनत्व, द्रवत्व, रसत्व और श्वेत वर्णत्व ये पांच गुण हैं।[11] महासलिल का प्रथम गुण प्रवाह है। यह निरन्तर बहता रहता है। दूसरा आप्यायन है अर्थात् जल सदैव उमड़ने की क्षमता रखता है। तीसरे यह द्रव के रूप में रहता है अर्थात् पिघले तरल पदार्थ के रूप में रहता है। महासलिल का चौथा गुण रस है अर्थात् सलिल पीने योग्य स्वादिष्ट एवं मधुर होता है। यद्यपि सलिल का भी आकाश, वायु और तेजस् की भाँति कोई वास्तविक रंग नही है तथापि इसका श्वेत वर्णत्व माना गया है।

7- महासाकार पिण्डस्य पंचतत्वं पंचविंशति् गुणाः।
- वही पृष्ठ - 12 1/36

8- अवकाशो उच्छिद्रमस्पृशत्वं नीलवर्णत्वं शब्दत्वमिति पंचगुण आकाशः। -वही पृष्ठ-12 1/32

शिव के विराट् ब्रह्माण्ड शरीर की विकास प्रक्रिया के अन्तिम चरण के रूप में महा पृथ्वी महा सलिल से विकसित होती है जो अपने में स्थूलता, नानाकारता, काठिन्य, गन्धत्व और पीतवर्णत्व रूप पाँच गुणों को सँजोये रहता है।[12] महापृथ्वी का प्रथम गुण स्थूलता है अर्थात् यह शिव के विराट् शरीर के अन्य स्तरों में विविध प्रकार के आकार वाले पर्वत, तरु, लता एवं सम तथा विषम रूप धारण किए हुए है। इसका तीसरा गुण काठिन्य है अर्थात्, यह, शिव-शक्ति की आत्माभिव्यक्ति के समस्त रूपों में पृथ्वी सबसे कठोर होती है। इसका चौथा गुण गन्ध है तथा यह पीतवर्ण अर्थात पीले रंग वाली होती है।

सांख्य मत के अनुसार ये आकाश, वायु, तेजस् और सलिल तथा पृथ्वी आदि पंचमहाभूत पंचतन्मात्राओं §शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध§ से विकसित हुए है।[13] इन्हीं पच महाभूतों से भौतिक सृष्टि उत्पन्न होती है अर्थात् विविध प्रकार के स्थूल शरीर एवं पदार्थ उत्पन्न होते हैं। इनके अनुसार भौतिक सृष्टि त्रिगुणात्मक है। दैवी, तिर्यग और मनुष्य दैवी सृष्टि आठ प्रकार की होती है, तिर्यग्योनियाँ पशु-पक्षी आदि से सम्बद्ध सृष्टि पाँच प्रकार की होती है तथा मनुष्य सम्बन्धी सृष्टि एक प्रकार की होती है। इस प्रकार यह भौतिक सृष्टि पंच महाभूतों से उत्पन्न होने वाली सृष्टि है।[14] इस त्रिगुणात्मिका सृष्टि में सर्वत्र सत्व, तमस् और रजस् नामक तीनों गुण विद्यमान है जिनमें

9- संचारः संचालनं स्पर्शनं शोषणं धूम्रवर्णत्वमिति पंचगुणों महावायुः। वही पृष्ठ - 12 1/33

10- दाहकत्वं पाचकत्वमुष्णत्वं प्रकाशत्वं रक्तवर्णत्वमिति पंचगुणं महातेजः। वही पृष्ठ - 13 / 34

दैवी योनि सत्व- गुण प्रधान, पशु-पक्षी आदि की तिर्यग्योनि तमस् प्रधान तथा मनुष्य योनि रजस् प्रधान, होती है।

इस प्रकार आकाश, वायु, तेजस्, सलिल तथा पृथ्वी की धारणा के विषय में यह कहा जा सकता है कि भारतीय दार्शनिक विचार परम्परान्तर्गत पंच महाभूतों द्वारा ब्रह्माण्ड शरीर या भौतिक सृष्टि के विषय में समानता है।

वस्तुतः यह महा साकार- पिण्ड अर्थात् ब्रह्माण्ड शरीर स्वयं शिव ही है।[15] जिस प्रकार आत्मा और शरीर में भिन्नता होते हुए भी अभिन्नत्व की प्रतीत होती हैं उसी प्रकार शिव तथा ब्रह्माण्ड शरीर भी अभिन्न है। दूसरे अर्थ में शिव इन पंचमहाभूतों के आश्रयण से विकसित ब्रह्माण्ड शरीर अर्थात इस विराट् देह की आत्मा है।

इस ब्रह्माण्ड व्यवस्था हेतु ही शिव स्वयं को आठ दिव्य रूपों में प्रकट करते हैं अर्थात् ब्रह्याण्ड के आठ देवताओं के रूप में प्रादुर्भूत होते हैं, जिन्हें इस ब्रह्माण्ड शरीर की अष्ट मूर्ति माना गया है। इन अष्ट मूर्तियों में प्रथम स्वयं शिव दूसरे भैरव, तीसरे शिति कण्ठ, चौथे सदाशिव, पांचवे ईश्वर, छठे रूद्र, सातवे विष्णु तथा आठवें ब्रह्मा है।[16]

11- महाप्रवाह आप्यायनं द्रवो रसः
श्वेत वर्णत्वमिति पचगुणं सलिलम।
- वही पृष्ठ - 13 1/35

12- स्थूलता नानाकारता काठिन्यं गन्धः
पीतवर्णत्वमिति पंचगुणा महापृथ्वी।
- वही पृष्ठ - 13 1/36

महा साकार परमात्म परब्रह्म शिव इन अष्ट मूर्तियों के माध्यम द्वारा इस ब्रह्माण्ड-व्यवस्था को व्यवस्थित रखते है। इनके द्वारा वे निरन्तर परिवर्तनशील इस ब्रह्माण्ड व्यवस्था में सृजन, पालन तथा संहार आदि कार्य करना तथा नियमित व्यवस्था एवं नियमित-न्यायिक शासन स्थापित करना तथा चिन्ता एवं दुःखातुर जीवों को बन्धन-मुक्ति देना तथा प्राणियों की अभीष्ट इच्छा-पूर्ति करनाा आदि विविध कार्यों को सम्पादित करते हैं।

अतः यह महासाकार पिण्ड अर्थात् विराट् ब्रह्माण्ड शरीर पंचमहाभूतों से उत्पन्न तथा शिव के अष्ट रूपों में अभिव्यक्त तथा उनके द्वारा व्यवस्थित एवं निर्वाह्य है।

व्यष्टि पिण्ड §मानव शरीर§ संरचना :

महा साकार पिण्ड की अष्ट-मूर्तियों में से ब्रह्मा के द्वारा नर-नारी रूप प्रकृति पिण्ड का आविर्भाव हुआ।[17] महायोगी गुरू गोरक्षनाथ जी इस नर-नारी रूप प्रकृति पिण्ड अर्थात मानव शरीर को पंच भौतिक शरीर, अन्तः करण-पंचक, कुल-पंचक, व्यक्ति-पंचक, प्रत्यक्षकरण-पंचक, दस वायु, नाड़ी संस्थान तथा अस्थियां, रोम एवं रोम कूपों, धातुओं आदि से युक्त बतलाते हैं।

13- तन्ययात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पंच पंचभ्यः।
एते स्मृता विशेषाः शान्ता घोराश्च भूदाश्च ।।
- सां0 का0 पृष्ठ - 152 कारिका - 38

14- अष्ट विकल्पो दैव स्तैर्यग्योनश्च पंचधा भवति।
मानुषश्चैकविधः, समासतो भौतिकः सर्गः ।।
- सा0 का0 पृष्ठ - 183 का0-53

15- स एव शिवः--------।
सि0सि0प0 पृष्ठ - 14 1/37

पंच भौतिक शरीर - नर-नारी रूप प्रकृति पिण्ड ही पंच भतों में प्रत्येक के पांच-पांच गुणों से युक्त होने के कारण पांचभौतिक शरीर कहा जाता है। इस भौतिक शरीर में पृथ्वी का अंश अधिक होने से इसे पार्थिव शरीर भी कहा जाता है। शरीर के रचना क्रम में अस्थि, मांस, त्वचा, नाड़ी और रोम ही मुख्य हेतु हैं, जो भूमि अर्थात पृथ्वी के पांच गुण है।[18] दूसरे शरीर में लार, मूत्र, शुक्र, शोणित और श्वेद जलीय द्रव्य के रूप में विद्यमान रहते हैं जिन्हें जल के गुण कहा गया है।[19] शरीर में तेज के क्षुधा, तृषा, निद्रा, कान्ति और आलस्य आदि पांच गुण[20] तथा वायु के धावन, भ्रमण, प्रसारण, आकुंचन और निरोध आदि पांच गुण[21] और आकाश के राग, द्वेष, भय, लज्जा और मोह आदि पांच गुण[22] विद्यमान रहते हैं। इस प्रकार यह पांच-भौतिक शरीर पृथ्वी, वायु, जल ,तेज और आकाश की अभिव्यक्ति है।

अन्तःकरण पंचक - जीवित व्यष्टि शरीरों में, उसी के अन्तर्गत मनस् विकसित होता है। यद्यपि अन्तःकरण या मनस् मूलतः एक ही है तथापि वह अपने भिन्न-भिन्न प्रकार के पाँच कार्यो अथवा पंच अभिव्यक्तियों के कारण पांच भिन्न-भिन्न रूपों में दिखलाई पड़ता है। अन्तःकरण के मन बुद्धि, अहंकार, चित्त, चैतन्य ही अन्तःकरण पंचक कहलाते है।[23] अन्तःकरण की ये पांचों प्रापंचिक अभिव्यक्तियां

16- शिवाद, भैरवो भैरवात् श्रीकण्ठः श्रीकण्ठात् सदाशिवः सदाशिवादीश्वर ईश्वराद्रुष्णु विष्णो ब्रह्मेति महासाकार पिण्डस्य भूत्यर्याष्टकम्। वही पृष्ठ - 14 1/37

17- तद ब्रह्मणाः सकाशादवलोकनेन ननरनारी रूप प्रकृतिपिण्डे समुत्पन्नस्तच्च पंचपंचात्मकं शरीरम्। - वही पृष्ठ - 14 1/38

अपने भिन्न-भिन्न पांच प्रकार के दृश्यों में व्यक्त अथवा विशेषताओं से युक्त होती है: जिनमें अन्त:करण की प्रथम अभिव्यक्ति मन-संकल्प, विकल्प, मूर्छा, जड़ता और मनन आदि दृश्यों के रूप में प्रकट होता है।[24] बुद्धि इस प्रकार के दृश्यों में विवेक, वैराग्य, शान्ति, सन्तोष और क्षमा के रूप में पायी जाती है।[25] अहंकार-अभिमान, मदीयम, मम सुखम, ममदु:खम्,मम-इदम् आदि पाच दृश्यों में देखा जाता है।[26] चित्त इन दृश्यों में मति, धृति, स्मृति, त्याग और स्वीकार के रूप में अभिव्यवत बतलाया गया है।[27] चैतन्य अपने अभिव्यक्त दृश्यों विमर्श, शीलन, धैर्य, चिन्तन, नि:स्पृहत्व आदि के रूप में प्रकट होता है।[28]

इस प्रकार व्यष्टि शरीरान्तर्गत अन्त:करण अपने अभिव्यक्त पाचं रूपों में प्रत्येक के पाँच-पाँच गुणों अथवा दृश्यों में व्यक्त होने से यह सूक्ष्म शरीर कहा जाता है।

सांख्य मत में अन्त:करण के तीन मूल विभाजन माने गये हैं।[29] मन, बुद्धि और अहंकार। जबकि बेदान्तमत में[30] अन्त:करण को चार रूपों में देखा गया है जिनमें अन्त:क़रण की निश्चय करने वाली वृत्ति बुद्धि, संकल्प और विकलप करने वाली वृत्ति मन, अनुसन्धान कर्त्री वृत्ति चित्त तथा अभिमान करने वाली वृत्ति अहंकार है। महायोगी गुरू गोरक्षनाथ जी इनमें चैतन्य और जोड़ देते हैं, किन्तु उनका दृष्टिकोण मूलत: इस अवस्था में मनोवैज्ञानिक न रहकर यौगिक है।

18- अस्थिमांसत्वड़ पंचपंचात्मकं शरीरम् वही पृष्ठ-141/38

कुल पंचक - व्यष्टि पिण्ड की संरचना में भौतिक शरीर एवं अन्तःकरण पंचक के विकासोंपरान्त कुल पंचक-सत्व, रजस्, तमस् काल और जीव इन पांच रूपों में प्रकट होता है।[31] ये कुल के समस्त रूप परोक्ष रूप में मानसिक भौतिक और शारीरिक व्यापार पर अपने प्रभाव द्वारा उनमें अभिरूचियाँ जागृत करते हैं ।

सत्व का इस प्रकार के मानसिक भौतिक व्यापारों पर दया, धर्म, क्रिया, भक्ति और श्रद्धा के रूप में व्यक्त होता है।[32] यह मनस् को उच्च से उच्चतर स्तरों की ओर जाने की प्रेद्रणा देता है। यह कुकर्मों, वासनाओं तथा आकांक्षाओं को वश में कर सत्कर्मों की ओर अग्रसर होने, जीवों ,अन्य प्राणियों पर दया करने, पुण्याचरण तथा भक्ति आदि की प्ररेणा देता है।

रजस्-दान, भोग, श्रृंगार, वस्तुग्रहण तथा स्वार्थ संग्रहण के रूप में मानवीय स्वभाव पर अपना प्रभाव डालता है।[33] यह लोभ, मोह, स्वार्थ, विषय-भोग, सांसारिक आनन्दों की ओर मानव को चलाता है। रजोगुण सुख और समृद्धि की लालसा जागृत कर उसे इस ओर प्रेरित करता है।

तमस् का प्रभाव विवाद, कलह, शोक, वध और वंचन आदि पांच रूपों में पड़ता है।[34] अज्ञान के कारण

19- लाला मूत्रं शुक्रं शोयितं स्वेद इतिपचंगुण आपः।
- वही पृष्ठ - 15 1/40

20- क्षुधा तृषानिद्रा कान्तिरालस्थमिति पंचगुणंतेजः।
- वही 15 1/41

21- धावनं भ्रमण प्रसारणाभाकुचनं निरोधनमिति पंचगुणोवायुः।
- वही पृष्ठ - 15 1/42

उत्पन्न तमो गुण स्व स्वार्थ सिद्धि हेतु दूसरे प्राणियों के प्रति विवाद, कलह तथा वध करने तक को प्रेरति करता है।

मानसिक भौतिक शरीर पर काल का प्रभाव कलना कल्पना, भ्रान्ति, प्रमाद और अनर्थ के रूप में पड़ता है।[35] मानव देह शरीरों के विकास की प्रगति, कर्मों के फल, भ्रमात्मक अवस्था आलस्य आदि की प्रवृत्ति बहुत कुछ काल से ही प्रभावित रहते हैं।

तदनन्तर जीव मानसिक और भौतिक शरीर के व्यापारों पर जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय तथा तुरीयातीत दशाओ में अपना प्रभाव डालता है[36] यह समस्त भौतिक परिवर्तनों के बीच उक्त दशाओं में अस्तित्व, चेतना और अनुरूपता को बनाये रखने का कार्य करता है। यह जीव मानसिक भौतिक शरीर में एक उच्चातिउच्च शक्ति के रूप में निहित रहता है।

इस प्रकार सत्व, रजस्, तमस् काल और जीव मानव शरीर में अदृश्य शक्तियों के रूप में स्थित होकर विविध प्रकार से अपना प्रभाव डालकर उसे विकसित एवं संयोजित करते हैं ।

व्यक्ति पंचक - व्यक्ति पंचक की आत्माभिव्ययक्तियां इच्छा, क्रिया, माया, प्रकृति और वाक् के रूप में होती है।[37] जो शिव के व्यावहारिक कार्यों में तत्पर रहते हैं। ये पांचों अभिव्यक्तियां अपने भिन्न-भिन्न पांच रूपों में अभिव्याक्त

22- रागो द्वेषो भायं लज्जा मोह इति पंचगुण आकाश :-
- वही पृष्ठ - 15 1/53

होती है। प्रथम इच्छा उन्माद, वासना, वान्छा, चिन्ता, और चेष्ट के रूप में व्यक्त होती है।[28] यह इच्छा मानव को स्वकामनाओं एवं अभिलाषाओं को जन्म देती है जिनकी पूर्ति वासना आदि के रूप में होती है। क्रिया-स्मरण, उद्योग, कार्य, निश्चय और स्वकुलाचार के रूप में प्रकट होती है। क्रियायें अपने नियम व्यापार को करने की प्रवृति प्रदान करती हैं।

भद, भात्सर्य, दम्भ , कृतिमत्व और असत्य के गुण से युक्त माया कही गयी है।[40] इस रूप में मानव निम्न स्तर की अभिव्यक्ति पाता है। उच्च स्तर पर पहुँचने के लिए इन सभी को नियंत्रित करना पड़ेगा क्यों कि यह मानवीय स्वभाव को निरन्तर निम्न स्तर की ओर उन्मुख करते प्रतीत होतें हैं।

प्रकृति की भी आशा, तृष्णा, स्पृहा, कांक्षा औररमिया इन पांच रूपों में प्रतीति होती है।[41] प्रकृति स्वभावतः मनुष्य में प्रबल आशाओं, आकाक्षाओं को जन्म देती तथा विकसित करती है।

भौतिक शरीर के व्यापार संचालन में वाक् §वाणी§ एक महत्वपूर्ण स्थान रखती है। यह वाक् भी परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी और मात्रिका संज्ञक पांच रूपों में अभिव्यक्त होती है।[42] वाक् का प्रथम रूप परा है जो मूलाधार चक्र में विद्यमान रहती है; जिसे निर्विकल्प समाधि के द्वारा जाना जाता है। परावाणी ही मूलाधार चक्र से नाभि

23- मनो - बुद्धिरहं कारश्चितं चैतन्यमित्यन्तः करण पचकभू। वही पृष्ठ - 16 1/44

देश में आकर स्थूल रूप धारण करती है, तब यह पश्यन्ती कहलाती है। पश्यन्ती वाणी के उर्ध्वगमन से हृदय में प्रविष्ट हुई वाणी को मध्यमा नाम से जाना जाता है। चतुर्थ स्तर पर यह मस्तिष्क से लौटकर कण्ठ और तालु आदि स्थानों से टकराकर शब्द घोष करती है, तब यह वैखरी कहलाती है। तदनन्तर यही अकारादि वर्णमाला के प्रयोग के रूप में मातृका कही गयी है।

अतः व्यष्टि शरीर में इच्छा, क्रिया, माया, प्रकृति और वाक् आदि व्यक्ति पंचको की अवधारणा सुव्यवस्थित रूप में विद्यमान रहती है।

प्रत्यक्ष करण पंचक - कर्म, काम, चन्द्रमा, सूर्य और अग्नि सुख-दुख भोगादि में तत्पर शरीर की प्राप्ति के पांच मुख्य कारण कहे गये हैं।[43] ये व्यष्टि शरीर के रक्षण भक्षण, विकास आदि में व्यावहारिक रूप से योगदान करते हैं। इन कर्म-काम आदि का मनुष्य के शरीर पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है।

प्रथम कर्म अर्थात कार्य। एक मनुष्य अपनी इच्छानुसार जो उचित या अनुचित कार्य करता है, वे उसके जीवन पर लाभदायक या हानिकारक प्रभाव डालते हैं। यहाँ तक कि पुनर्जन्म के विषय में भी यह आवधारणा बनी रहती है कि कुकर्मो या सत्यकर्मो का प्रभाव इस जन्म के सुख

24- संकल्पों, विकल्पो, मूर्च्छा, जड़ता, मननीमिति पंचगुणं मनः। - वही पृष्ठ - 16 1/45

25- विवेको, वैराग्यं, शन्तिः, सन्तोषः क्षमेति पंचगुणा बुद्धिः। - वही पृष्ठ - 16 1/46

26- अभिमानं, मदीयं, ममसुखं, ममदुःखम् ममेदमिति पचंगुणोडटंकारः। वही पृष्ठ - 17 1/47

दु:ख को लक्षित करता है। इसी कर्म के शुभ, अशुभ, यश, अपकीर्ति, अदृष्ट और फल साधन रूप पांच लक्षण होतें है।[44] शुभ कर्म स्वर्गादि की प्राप्ति में सहायक होते हैं तो अशुभ कार्य नरक की ओर ले जाने वाले होते हैं। पुण्यादि कर्मो से यश बढ़ता है तो बुरे कर्मों से अपकीर्ति तथा जिन कर्मों के फल परोक्ष होते हैं वे अदृष्ट फल साधन कहे जाते हैं।

विषयों भोगों आदि में तत्पर कर्म काम कहलाता है जो रति, प्रीति, क्रीड़ा, कामना और आतुरता इन पांच रूपों में पनपता है।[45] स्त्री पुरूष का यौन लगाव रति है। सुख आदि साधनों के प्रति अनुरक्ति ही प्रीति है। यौन- वासनाओं की सन्तुष्टि करने वाले खेल क्रीड़ा कहलाते है। काम -सुख की प्राप्ति में निरन्तर वृद्धि कामना है तथा कामवासनादि की पूर्ति शीघ्रातशीघ्र होने की लालसा आतुरता है।

कर्म और काम के अतिरिक्त चन्द्र, सूर्य और अग्नि भी समस्त ब्रह्माण्ड के विकास पर अपना प्रत्यक्ष प्रभाव डालते है। मनुष्य तथा अन्य समस्त जीवों तथा चेतन एवं अचेतन के लिए सूर्य, चन्द्र और अग्नि मूल कारण है। उनके बिना पृथ्वी पर जीवन सम्भव नहीं था, जो समस्त परिवर्तनों के मुख्य कारण हैं। चाहे वह परिवर्तन रात और दिन का हो या पाक्षिक अथवा ऋतुओं का। इसके अलग योगीगण सूर्य, चन्द्र और अग्नि को कुछ अलग और गहन रूप में प्रकट करते हैं। वे इन तीनों को प्रत्यक्ष

27- मतिधृतिस्मृतिस्त्यागः स्वीकार इति पंच गुणोचित्तम्।
- वही पृष्ठ - 78 1/48

रूप में अपने शरीर में अनुभव करते हैं। देखते हैं, जो एक साधारण मनुष्य के लिए परोक्ष है। इन तीनों के माध्यम से ही शरीर निरन्तर स्वस्थता और विकास की ओर उन्मुख होता है।

महायोगी गुरु गोरक्षनाथ जी चन्द्रमा को 17 कलाओं, सूर्य को 13 कलाओं और अग्नि को 11 कलाओं से युक्त बतलाते हैं। कलाओं से तात्पर्य उन विभिन्न प्रकार की विशिष्ट शक्तियों से हैं जो सूर्य, चन्द्र औंरअग्नि से प्रस्फुटित होकर जीवित व्यष्टि शरीरों की रक्षा, वृद्धि तथा विकास का कार्य सम्पन्न करती हैं तथा नवीनता, सौन्दर्य एवं गौरव को बनाये रखती है।

चन्द्र की उल्लोला, कल्लोलिनी, उच्छलनी, उन्मादिनी, तरंगिनी, शाषिणी, लंपटा, प्रवृति, लहरी, लोला, लेलिहाना, प्रसरन्ती, प्रवाता, सौम्या, प्रसन्नता, प्लवन्ति तथा निवृत्रि आदि सत्रह कलायों गिनायी गयी है।[46] सूर्य अपनी तापिनी, यसिका, उग्रा, आकुचंनी, शोषिणी, प्रबोधनी, स्मरा, आकर्षिणी, तुष्टिवर्धिनी, उमिरेख, किरणवती और प्रभावती आदि 13 कलाओं से युक्त होता है।[46]

अग्नि की कलाऐं दीपिका, राजिका, ज्वालिनी, विस्फुलिगिंनी, प्रचण्डा, पाचिका, रौद्र, दाहिका, रागिनी, शिखावती तथा ज्योति के नाम से जानी जाती है।[46]

अतः सूर्य, चन्द्र, अग्नि न केवल अपने व्यक्तिगत अंग ही रखते हैं, अपितु वे जीवन के आल्हादकारीतथा विकसित

28- विमर्शःशीलनं धैर्य चिन्तनं निःस्पृहत्वमिति पंचगुणं चैतन्यम-- । वही पृष्ठ - 18 1/49

करने वाले अंगों से युक्त भी है, जो व्यष्टि शरीरों में जीवन संचार के मुख्य हेतु तथा उन्हें प्रकाशित करने में अपनी मुख्य भूमिका निभाते हैं।

दस वायु - शरीर के समस्त आन्तरिक एवं वाह्यागों का समुचित संचालन वायु तत्व द्वारा किया जाता है। यद्यपि वायु मूलतः एक है तथापि यह व्यष्टि शरीर के विविध अंगों में भिन्न-भिन्न कार्य करने से भिन्न-भिन्न नामों से जाना जाता है। एक वायु, प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर देवदत्त और धनंजय इन दस रूपों में कार्य करता है।

प्राण वायु उच्छ्यास और निःश्वास का संचालन करता हुआ हृदय में स्थित रहता है। यह वायु को अन्दर प्रविष्ट कराने तथा बाहर ले जाने की क्रिया से युक्त रहता है। यह शरीर को श्वास निःश्वास के निरन्तर आदान प्रदान से स्वस्थ एवं शक्तिशाली बनाता है।

दूसरा आपान वायु जो गुदा के निकट स्थित रहता है तथा शरीर के नीचे के भाग में स्थित विभिन्न अंगों को दृढ एवं शक्ति शाली बनाता है। यह शरीर के अगों के इर्द-गिर्द एकत्रित मलो तथा अनावश्यक पदार्थों के दूर करने में सहायक होता है। नाभि में स्थित समान वायु जठराग्नि को जागृत तथा पाचन शक्ति को बढ़ाने का कार्य करता है।यह नयी शक्ति का संचार तथा स्वास्थ प्रद तत्वों का समान वितरण करने वालो होता है।

29- अन्तःकरणं त्रिविधं -----। सा0का0पृष्ठ-142
का0 - 33

कंठ में स्थित उदान वायु भोजन एवं जल को कंठ से नीचे उतारने एवं शरीर द्वारा त्याज्य वस्तुओं को उगलने का कार्य करता है। समस्त नाडियों में स्थित रहने वाला व्यान वायु विविध भागों में सन्तुलन स्थित रखने तथा मलादि दोषों को दूर करने का कार्य करता है।

नाग वायु समस्त शरीर में व्याप्त होकर शरीर को स्वस्थ एवं बलशाली बनाता है तथा शरीर को संचालित करने का कार्य करता हैं। नेत्रों को खोलना एवं बन्द करना कूर्म वायु का मुख्य कार्य है। कृकल वायु का कार्य डकार उत्पन्न कर उदर में से अपाच्य गैसों को बाहर करना तथा भूख बढ़ाना है। देवदत्त असाधारण स्थितियों में जंभाई के द्वारा शान्ति प्रदान कराने वाला है तथा समस्त शरीर में व्याप्त धनंजय नाद उत्पन्न करता है।

30- बुद्धिर्नाम निश्चयात्मिकान्तःकरण वृतिः।
मनोनामसंकल्पविकल्पात्मिकान्तःकरण वृतिः।
अनुसन्धानात्मिकान्तः करणवृतिः चित्तम्।
अभिमानात्मिकान्तःकरणवृत्तिः अहंकारः।
- वे0 सा0 पृष्ठ- 93-94

31- सत्वं रजस्तमः कालो जीव, इति कुलपंपकम्।
-सि0सि0प0 पृष्ठ - 19 1/50

32- दया, धर्मः, क्रिया भक्तिः श्रेद्धति पंचगुणं सत्वम्।
- वही पृष्ठ - 19 1/51

33- दानं,भोग शृगांरो वस्तुग्रहण स्वार्थसंग्रहणमिति पंचगुणं रजः। वही- पृष्ठ - 27 1/52

34- विवादः कलहः शोको वधो वंचनमिति पंचगुणतमः।
- वही पृष्ठ - 1/53

35- कलना, कल्पना, भ्रान्तिः प्रमादः अनर्थ इति पंचगुणःकालः। - वही पृष्ठ - 21 1/54

36- जाग्रत् स्वप्नः सुषुप्तिस्तुरीयातुर्यातीतमिति पंचगुणोंजविः।
- वही पृष्ठ - 21 1/55

नाड़ी संस्थान - व्यष्टि शरीरान्तर्गत नाड़ियों उसके विकास क्रम का मुख्य हेतु है। नाड़ियां प्रमुख साधन है, जिनके द्वारा प्रत्येक शरीरागं पर पड़ने वाला प्रभाव मनस् तक पहुँचता है। यद्यपि 72 हजार नाड़ियों शरीर के छोटे-से-छोटे भागों से अपना सम्बन्ध स्थापित कर भिन्न कार्य करती रहती हैं, कुछ केन्द्र पर सन्देश पहुचाने का कार्य करती है तो कुछ अनुभव एवं ज्ञान में वृद्धि, वासनाओं, संवेगों तथा उत्तेजनाओं के क्षेत्र में काम करती हैं, कुछ गति-चेष्टा और श्वास प्रक्रिया में सहयोग देती हैं तो कुछ शक्ति विभाजन का कार्य करती हैं, तथापि इनमें से योगियों द्वारा 72 प्रमुख एवं महत्वपूर्ण तथा इनमें भी सुषुम्णा, इड़ा, पिंगला, सरस्वती, पूषा, अलम्बुषा गान्धारी हस्तिजिह्विका, कुहू तथा शंखिनी आदि 10 नाडियों विशेष महत्वपूर्ण मानी गयी हैं, क्योंकि इनका सीधा सम्पर्क इन्द्रियों से बना रहता है।

37- इच्छा, क्रिया, माया, प्रकृतिर्वागिति व्यक्तिपंचकम्। - वही पृष्ठ - 22 1/56

38- उन्मादो, वासना, वांछा, चिन्ता चेष्टेति पंचगुणेच्छा। - वही - पृष्ठ - 22 1/57

39- स्मरणं उद्योगः कार्य निश्चय स्वकुलाचार इति पंचगुण किया। - वही पृष्ठ - 22 1/58

40- भदो, मात्सर्भः कृत्रिमत्वमसत्यमिति पंचगुणा माया। - वही पृष्ठ - 22 1/59

41- आशा तृष्णा स्पृहा काड· क्षामिथ्येति पंचगुण प्रकृतिः। - वही पृष्ठ - 23 1/60

42- परा, पश्यन्ति, मध्यमा, वैखरी, मातृकेति पंचगुणावाक्। - वही पृष्ठ - 23 1/61

43- कर्म कामश्चन्द्रः सूर्योडग्निरिति प्रत्यक्ष करणपंचकम्। - वही पृष्ठ - 24 1/62

44- शुभमशुभं यशोडपिकीर्तिर दृष्टफल साधनमिति पंचगुणकर्म। - वही पृष्ठ - 25 1/62

प्रथम सुषम्णा नाड़ी से उत्पन्न होकर ब्रह्मरन्ध तक बहती है। प्रायः इसे ब्रह्मनाड़ी भी कहा जाता है। इड़ा और पिंगला नासिका के दोनों रन्ध्रों §बायें से इडा तथा दाये से पिंगला§ से सुषुम्णा नाड़ी पार्श्वों में चलती है। सरस्वती मुखद्वार से बहती है, जो समस्त शरीरांगों को मस्तिष्क से जोड़कर उन्हें संवेदना और विचार के योग्य बना देती है। गान्धारी बाये नेत्र से तथा हस्तिजिह्विका दाये नेत्र से बहती है। बाये कान से पूषा तथा दाये कान से अलम्बुषा नाड़ी बहती है इसी प्रकार लिंग द्वार से शंखिनी तथा गुदा द्वार से कुहू नाड़ी बहती है ।

इस प्रकार दस द्वारों से दस विशेष नाड़ियों का सच्चार होता है जो शरीर को व्यवस्थित सशक्त एवं स्वस्थ बनाने का कार्य करती है तथा असंख्य नाड़ियां इनकी सहायक नाड़ियों के रूप में शरीर के समस्त भागों से सम्पर्क बनाये रखती हैं।

अन्य - व्यष्टि शरीरान्तर्गत रक्त, मांस, वीर्य, भेद, भज्जा, पित्र, कफ, वात, चर्म, शुक्र, आदि 10 धातुएँ, 360 अस्थियों एवं 360 उनके जोड §सन्धियां§ तथा 3 1/2 करोड़ रोम एवं रोमकूप स्थित रहते हैं।

45- रतिः, प्रीतिः, क्रीड़ा, कामनाडडतुरतेति पंचगुणःकामः। - वही 25 1/64

46- उल्लोला, कल्लोनि, उच्चलनी, उन्मर्मानी, तरगिंणी शोषिणी, लम्पटा, प्रवृतिः, लहरी, लोला, लेलिहाना, प्रस्परन्ती प्रवाटा, सौम्या, प्रसन्नता, प्लवन्ती एवं चन्द्रस्य षोडशकला सप्तदशी कला निवृति, साडमृत कला।
- वही पृष्ठ - 25 1/65

पिण्ड - ब्रह्याण्ड के उक्त आविर्भाव क्रम को "सिद्ध सिद्धान्त पद्धति" के अनुसार निम्नांकि "अग्रांकित § क्रमावली के रूप में वर्णित किया जा सकता है -

47- तापिनी, ग्रासिका, उग्रा, आकुंचनी, शोषिणी, प्रबोधिनी, स्मरा, आकर्षिणी, तुष्टिवर्धनी, उर्मीरेखा, किरणवती, प्रभावतीति द्वादशाकला सूर्यस्य त्रयोदशी स्व प्रकाशता निजकला।
- वही पृष्ठ - 26 1/ 66

अनामा स्वयं अनादि सिद्ध सर्वेषां मूलकारणं
प्रसरं संकोचहीन साम्यवस्था

निजा शक्ति - गुण - नित्यता
2- निरंजनता
3- निस्पदंता
4- निराभासता
5- निरूत्थानता

पराशक्ति - गुण 1- अस्तिता
2- अप्रमेयता
3- अभिन्नता
4- अनन्तता
5- अव्यक्तता

अपराशक्ति-गुण 1- स्फुरता
2- स्फुटता
3- स्फाररता परपिण्ड
4- स्फोटता
5- स्फूर्तिता

सूक्ष्माशक्ति - गुण - 1- निरशंता
2- निरन्तरता
3- निश्चलता
4- निश्चयता
5- निर्विकल्पता

कुण्डलिनी शक्ति-गुण- 1- पूर्णता
2- प्रतिबिम्बता
3- प्रबलता
4- प्रोच्चलता
5- प्रत्यंगमुखता

पर पिण्ड

अपरम्पर - गुण -	1- अकुलकत्व	
{शक्ति "स्फुरता"}	2- अनुपमत्व	
	3- अपारत्व	
	4- अमूर्तित्व	
	5- अनुदयत्व	
परम्पद - गुण -	1- निष्कलत्व	
{भावना }	2- अणुतरत्व	
	3- अचलत्व	
	4- असंख्यत्व	
शून्य - गुण -	1- लीनता	
{सत्ता मात्र }	2- पूर्णता	
	3- उन्मनी	अनादि पिण्ड
	4- लोलता	
	5- मूर्च्छता	
निरंजन - गुण -	1- सत्यत्व	
{साक्षात्कार}	2- सहजत्व	
	3- समरसत्व	
	4- सावधानत्व	
	5- सर्वगतत्व	
परमात्मा - गुण -	1 अक्षयत्व	
{ परमात्मा}	2- अभेद्यत्व	
	3- अच्छेद्यत्व	
	4- अविनाशित्व	
	5- अदाह्यत्व	

अनादि पिण्ड

परमानन्द - गुण -	1-	स्पन्द	
	2-	हर्ष	
	3-	उत्साह	
	4-	निष्पंद	
	5-	नित्यसुखत्व	
प्रबोध - गुण -	1-	उदय	
	2-	उल्लास	
	3-	अवभास	
	4-	विकास	
	5-	प्रभा	
चिदुदय - गुण -	1-	सद्भाव	
	2-	विचार	
	3-	कर्तृत्व	आद्यपिण्ड
	4-	ज्ञातृत्व	
	5-	स्वतन्त्रत्व	
प्रकाश - गुण -	1-	निर्विकारत्व	
	2-	निष्कलत्व	
	3-	निर्विकल्पत्व	
	4-	समता	
	5-	विश्रान्ति	
सोहम् - गुण -	1-	अहन्ता	
	2-	अखण्डैश्वर्य	
	3-	स्वात्मता	
	4-	विश्वानुभव सामर्थ्य	
	5-	सर्वज्ञत्व	

आद्यपिण्ड

महाकाश - गुण -	1-	अवकाश	
	2-	अछिद्र	
	3-	अस्पृशत्व	
	4-	नीलवर्णत्व	
	5-	शब्दत्व	
महावायु - गुण -	1-	संचार	
	2-	संचालन	
	3-	स्पर्शन	
	4-	शोषण	
	5-	धूम्रवर्णत्व	
महातेज - गुण -	1-	दाहकत्व	
	2-	पाचकत्व	
	3-	उष्णत्व	महासाकार पिण्ड
	4-	प्रकाशत्व	§ब्रह्माण्ड शरीर§
	5-	रक्तवर्णत्व	
महासलिल - गुण -	1-	प्रवाह	
	2-	आप्यापन	
	3-	द्रव	
	4-	रस	
	5-	श्वेतवर्णत्व	
महापृथ्वी - गुण -	1-	स्थूलता	
	2-	नानाकारता	
	3-	काठिन्यं	
	4-	गन्ध	
	5-	पीतवर्णत्व	

महा साकार पिण्ड
की
अष्टमूर्ति

शिव

भैरव

श्रीकण्ठ

सदाशिव

ईश्वर

रूद्र

विष्णु

ब्रह्मा

प्रकृतिपिण्ड

प्रकृति पिण्ड

1- तत्वांश- 1- पृथ्वी- अस्थि, त्वक, मांस, रोम, नाड़ी
2- जल - लार, मूत्र, स्वेद, शुक्र, शोणित
3- अग्नि - क्षुधा, तृषा, निद्रा, कान्ति, श्री
4- वायु - धावन, भ्रमण, प्रसारण, आकुञ्चन, निरोध
5- आकाश- राग, द्वेष, भय, लज्जा, मोह

2- अन्त:करण- 1- मन- संकल्प, विकल्प, मूर्च्छा, जड़ता, मनन
2- बुद्धि- विवेक, वैराग्य, शन्ति, संतोष, क्षमा
3- अहंकार- अभिमान, मदीप, ममसुख, ममदु:ख ममेदभ
4- चित्र- मति, घृति, स्मृति, त्याग, स्वीकार
5- चैतन्य- विमर्श, शीलन, धैर्य, चिंतन, निस्पृहत्व

3- कुलापंचक - 1- सत्व- दया, धर्म, क्रिया, भक्ति, श्रृद्धा
2- रज- दान, भोग, श्रृंगार, वस्तुग्रहण, स्वार्थग्रहण
3- तम- विवाद, कलह, शोक, वध, वंचन
4- काल- कलबा, कल्पना, भ्रान्ति, प्रभाद, अनर्थ
5- जीव- जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीम, तुरीयातीत

4- व्यक्ति पंचक- 1- इच्छा, उन्माद, वासना, वान्छा, चिंता, चेष्टा
2- क्रिया-स्मरण, उद्योग, कार्य, निश्चय, स्वकुलाचार
3- माया- मद, मात्संर्य, दंभ, कृतियत्व, असत्य
4- प्रकृति- आशा, तृष्णा, स्पृहय, कांक्षा, मिथ्या
5- वीक- परा, पश्यन्ति, मध्यमा, बैरवरी, मातृका

5- प्रत्यक्षकरण पंचक- 1-कर्म-शुभ, अशुभ, कीर्ति, अपकीर्ति, अदृष्अफलसाधन
2- काम- रति, प्रीति, क्रीड़ा, कामना, आतुरता
3- चन्द्र- उल्लोला, कल्लोलिनी, उच्चलन्ती, उन्भादिनी, तरंगिणी, शोषिणी, लम्पटा, प्रवृति, लहरी, लोला, लोलिहाना, प्रसरन्ती, प्रवाह, सोम्या, प्रसन्नता, प्लवंती, निवृति।

4- तापिनी, ग्रासिका, उग्रा, आकुंचनी, शोषिणी, प्रबोधिनी, स्मरा, आकर्षिणी, तुष्टिवर्धिनी, उर्मिरेखा, किरणवती, प्रभाववती, निजकला, स्वप्रकाशता।

5- अग्नि- दीपिका, रजिका, ज्वलिनी, विष्फुलिगनी, प्रचण्डा, पाचिका, रौद्री, दाहिका, रागणी, शिखावती, ज्योतिसपनिजकला,

नरनारी रूप शरीर :

नरनारी रूप शरीर :

गर्भ पिण्ड

दश प्रधान नाड़ी -	इड़ा,पिंगला, सुषम्ना, गान्धारी, हस्तिजिह्व शखंनी, पूषा, अलम्बूषा, सरस्वती,कुहू।
दश धातु -	रक्त, मांस, चर्म, अस्थि, भेद,भज्जा,शुक्र वात, पित, कफ
दश वायु -	प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत, धनंजय।
दश द्वार-	मुख, नासिका §दो§, कर्ण§दो§, चक्षु§दो§, पायु, उपस्थ, ब्रह्मारन्ध्र ।
अस्थियाँ -	तीन सौ साठ
अस्थियों की सन्धियाँ §जोड़§ -	तीन सौ साठ
रोम एवं रोम कूप-	साड़े तीन करोड़

48- दीपका, राजिका, ज्वालिनी, विस्फुलिगिंनी, पंचड़ा, पाचिका, रौद्री, दाहिका, रागिणी, शिखावती, इत्यग्नेर्दशकला एकादशी कला ज्योतिरिति ---- सि0सि0 प0 पृष्ठ - 26 1/67

49- ब्रह्याण्ड वर्ति यत्किन्चितत्पिण्डेड प्यस्ति सर्वथा। यों0 वा0 गो0 वि0 पृष्ठ - 61
§ सिद्ध सिद्धान्त संग्रह से उद्‌घृत §

00

पिण्ड ब्रह्माण्ड में समरसकरण -

मनुष्य शरीर ब्रह्माण्ड शरीर की एक लघु प्रतिभूति है। मनुष्य शरीर में ब्रह्माण्ड शरीर को जानना और अभेदता को प्राप्त होना ही समरसीकरण कहलाता है।

महायोगी गुरु गोरक्षनाथ जी के अनुसार[46] जो कूछ भी ब्रह्माण्ड में है वही सब कुछ पिण्ड शरीर में विद्यमान हैं। महायोगी गुरु गोरक्षनाथ जी का मार्ग साधना परक मार्ग है, इसलिए इसमें केवल व्यावहारिक बातों का ही विस्तार दिया है। उन्होंने मनुष्यशरीर को ही प्रधान पिण्ड मानकर उसकी व्याख्या ही ब्रह्माण्ड शरीर में की है। चराचर सृष्टि के स्थावर जगमादितत्व, विभिन्न लोक लोकान्तर चन्द्र-सूर्यादि मण्डल, इन सब का अवस्था मनुष्य के शरीर में वर्तमान हैं।

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड व्यवस्था की विविध मौलिक अभिव्यक्तियों के अनुभव व्यष्टि शरीर के किस भाग मे किए जा सकते हैं, उन्हें "सिद्ध सिद्धान्त पद्धति" के अनुसार निम्नलिखित §अग्रकिंत§ तालिकाओं के रूप में वर्णित किया जा सकता है-

सप्त पाताल[50]

पैर के अगूंठे में	-	तलातल
अंगूठे के अग्र भाग में		महातल
पाद पृष्ठ में	-	रसातल
गट्टे §गुल्फ§ में	-	सुतल
जाँघ में	-	वितल
जानू में	-	अतल
पाद तल में	-	पाताल

विभिन्न लोक[51]

मूलाधार में	-	भू: §पृथ्वी§ लोक	
लिंग प्रदेश में	-	भुव: लोक	देवता इन्द्र
नाभि देश में	-	स्व: लोक	शासक
मेरूदण्ड के मूल में	-	मह:लोक	
मेरूदण्ड के कुहर में	-	जन: लोक	अधिपति
मेरूदण्ड नाल में	-	तप: लोक	ब्रह्मा
मूलाधार कमल में	-	सत्य लोक	
कुक्षि §नाभिदेश- उदर § में	-	विष्णु लोक	विष्णु देवता
हृदय में	-	रूद्रलोक	रूद्र देव
वक्षस्थल में	-	ईश्वर लोक	तृप्ति स्वरूप ईश्वर
कण्ठ के मध्य में	-	नीलकण्ठ लोक	नीलकण्ठ
तालुद्वारा में	-	शिव लोक	अनुपम स्वरूप भगवान शिव
जिह्वामूल में	-	भैरव लोक	भैरव देवता
ललाट देश में	-	अनादि लोक	अनादि §शिव§
भृकुटी से उपर श्रृंगार स्थान में	-	कुल लोक	कुलेश्वर §शिव §
शंखनाड़ी के उपर नलिनी स्थान में	-	कुल लोक अ	अकुलेश्वर देवता
ब्रह्म रन्ध्र में	-	परब्रह्म लोक	अखण्ड पूर्ण परब्रह्म
उर्ध्व कमलसहस्रार में	-	परा परलोक	पराभावरूप परमेश्वर
सहस्रार के उपर त्रिकूट में		त्रिशिखर लोक	सर्वीनियामिका पराशक्ति

चतुर्थ वर्ण [52]

सदाचार में	-	ब्राह्मण
शौर्य में	-	क्षत्रिय
व्यवसाय में	-	वैश्य
सेवा भाव में	-	शूद्र

सप्त द्वीप [53]

मज्जा में	-	जम्बूद्वीप
हड्डी में	-	शाक द्वीप
प्रवाहिका नाडियों में	-	सूक्ष्मद्वीप
त्वचा में	-	क्रौंच द्वीप
रोमों में	-	गोभयद्वीप
नखो में	-	श्वेतद्वीव
माँस में	-	प्लक्षद्वीप

सप्त समुद्र [54]

मूत्र में	-	क्षार समुद्र
लार में	-	क्षीर समुद्र
कफ में	-	दधि समुद्र
भेद-भज्जा में	-	घृत समुद्र
चर्बी में	-	मधु समुद्र
रक्त में	-	इक्षु समुद्र
वीर्य《शुक्र》 में	-	अमृत समुद्र

50- कूम्र पादतले बसीत पातालं पादाड :गुष्ठे तलातजमड :गुष्ठोग्र महातल पादपृष्ठ रसातलं गुल्फे सुतलंजड़ :घायां वितलं जान्वोरतजमूर्वोरिव सप्त पातालं रूद्रदेवाधिपत्ये तिष्ठति पिण्ड मध्ये क्रोधरूपी भाव:स एव कालाग्निरूद्र: सि0सि0प0 पृष्ठ - 93 3/2

नव खण्ड[55]

मूल§गुदा§द्वार में	-	भारत खण्ड
उपस्थ §लिंग क्षिद्र§ में	-	काश्मीर खण्ड
मुख में -		कर्पर खण्डकर्परखण्ड
नासिका के दाहिने रन्ध्र में	-	श्री खण्ड
नासिका के बाये रन्ध्र में	-	शंख खण्ड
बायें नेत्र में	-	एक पाद खण्ड
दाये नेत्र में	-	गान्धार खण्ड
बाये काने में	-	कैवर्त खण्ड
दाये कान में	-	महामेरू खण्ड

51- भूलोकं गुह्यस्थाने भुवर्लोकं लिंगस्थाने स्वर्लोकं नाभिस्थाने। एवं लोकत्रय इन्द्रो देवता पिण्ड मध्ये सर्वेन्डियनियामकः स एवेन्द्रः।

दण्डाड्.कुरे महर्लो को दण्डकुहरे जनोलोको दण्डनाले तपो लोका मूलकमले सत्य लोक एवं लोक चतुष्टये ब्रह्मादि देवता पिण्ड मध्येडनेक मानाभिमान स्वरूपी तिष्ठति।

विष्णुलोकःकुक्षौ तिष्ठति तत्र विष्णुर्देवता पिण्ड मध्येडनेक व्यापार को भवति।

हृदये रूद्रलोकस्तत्र रूद्रो देवता पिण्ड मध्य उग्रस्वरूपों तिष्ठति। वक्षः स्थल ईश्वर लोक स्तत्रेश्वरों देवता पिण्ड मध्ये तृप्ति स्वरूपी तिष्ठति। कण्ठमध्ये नीलकण्ठ लोकस्तत्र नीलकण्ठों देवता पिण्ड मध्ये नित्यं तिष्ठति। तालुद्वारे शिवलोक स्तत्र शिवो देवता पिण्ड मध्ये डनुपमस्वरूपी तिष्ठति। लम्बिकाभूले भैरव लोकस्तत्र

अष्ट कुल पर्वत[56]

मेरूदण्ड में	-	सुमेरू पर्वत
मस्तक में	-	कैलाश पर्वत
पीठ में	-	हिमालय पर्वत
बाये कन्धे में	-	मलय पर्वत
दाये कन्धे में	-	मन्दराचल पर्वत
दाये कान में	-	विन्ध्यांचल पर्वत
बाये कान में	-	भैनाक पर्वत
ललाट में	-	श्री शैल
सभी उंगलियों में	-	अन्यान्य उप पर्वत

नव नदी एवं उपनदियां[57]

श्ड़ा नाड़ी में	-	गंगा नदी
पिगंला नाड़ी में	-	यमुना नदी
सुषुम्ना नाड़ी में	-	पीनसा तथा सरस्वती नदी
अन्ष प्रधान नाड़ियों में	-	चन्द्रभागा, पिपासा, शतरूद्रा, नर्मदा।
शेष बहत्तर हजार नाड़ियों में	-	छोटी एवं पतली उपनदियाँ

भैरवो देवता पिण्ड मध्ये सवोत्तम स्वरूपी तिष्ठति। ललाट मध्येडनादि लोकस्तत्र अनादि देवतापिण्ड मध्य आनन्द पराहन्ता स्वरूपी तिष्ठति। श्रृंगारे कुललोक स्तत्रकुलेश्वरो देवता पिण्ड मध्ये आनन्द स्वरूपी तिष्ठति। शंख मध्ये नलिनी स्थानेडकुलेश्वरो देवता पिण्ड मध्ये निर निभानावस्था तिष्ठति। ब्रह्मरन्ध्रे परब्रह्मलोकस्तत्र परब्रह्म देवता पिण्ड मध्ये परिपूर्णदशा मिष्ठति। उर्ध्वकमले लोक स्तत्र परमेश्वरों देवता पिण्ड मध्ये परापरभावन्स्त्रिष्ठति। त्रिकूटस्थाने शक्ति लोकस्तत्र पराशक्तिर्देवता पिण्ड मध्येअस्तित्वा वस्था सर्वासां सर्वकुर्त्तृत्वावल्यातिष्ठति। -सि0सि0प0पृष्ठ-95-96 3/3,4,5

नक्षत्रादि[58]

माँस पेशियों§उर्मिपुन्जों§ में	-	सताई सनअत्र,बारहराशि, नवग्रह, पन्द्रह तिथि
हड्डियों में	-	तारा मण्डल
रोम क्षिद्रो में	-	तैतिस करोड़ देवता
हड्डियों के जोड़ो में		दानव,यक्ष,राक्षस,पिशाच,भूतप्रेत
पेट के बालो में	-	अनेक दूसरे पर्वत
उदर में	-	गन्धर्व,किन्नर,किपुरूष,अप्सरायें
वायु के वेग में	-	आकाश में बिहार करने वाली उग्रदेवता लीला रूप मातृ शक्तियां
बुद्धि के प्रकाश में	-	असंख्य सिद्ध
बाये नेत्र में	-	चन्द्रमा
दाये नेत्र में	-	सूर्य
जाघं के रोमों में	-	वृक्ष,लता,गुल्म,तृण आदि
विष्ठा में	-	कृमि, कीट, पतंग आदि

52- सदाचार तत्वे ब्राह्मणास्तिष्ठन्ति। शौर्य क्षत्रिया व्यवसाये वैश्याः सेवाभावे शूद्राश्चतुष्षष्ठि कलास्वपि चतुष्षष्ठिः।
- वही पृष्ठ - 97 3/6

53- भज्जाया जम्बूदीपोडस्थिषु शाकदीप:शिरासु सूक्ष्मदीपश्चत्वक्षु कौंच दीप रोमसु गोमयदीपो नखेषु श्वेतदीपों मांसे प्लक्षदीप एवं सप्तदीपाः।
- वही पृष्ठ - 99 3/7

54- मूत्रे क्षार समुद्रो लालायां क्षीरसमुद्रः कफे दधि समुद्रो मेदसिधू समुद्रा वसायां मधुसमुद्रो रक्ते इक्षुसमुद्रः शुक्रेडमृत समुद्र एवं सप्त समुद्राः।
- वही पृष्ठ - 99 3/8

स्वर्ग-नरक मुक्ति[59]

संयमित जीवन में शारीरिक सुख ही - स्वर्ग §की भावना§ है।
जीवन में रोगाक्रान्त दुःख
की अवस्था ही - नरक §की भावना§ है।
इच्छा रहित सहजस्वाभाविक अवस्था - मुक्ति §की भावना§ है।

"यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे" संक्षिप्त विवेचना :

पिण्ड मानो ब्रह्याण्ड का ही संक्षिप्त संस्करण है। संसार में जो कुछ भी पिण्ड है, वह वस्तुतः उसी प्रक्रिया से गुजरता हुआ बना है, जिस अवस्था में से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड बना है। सब में वे ही तत्वज्यों के त्यों विद्यमान है। किन्तु कुलपंचकों §सत्व, रजस, तमस् काल और जीव§ की न्यूनता और अधिकता के कारण उनमें भेद प्रतीत होता है। तथापि विकास की समस्त अवस्थाएं एक रूप तथा सत्य है, असत्य नहीं। ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी जिस रूप में दृष्टि गोचर होता है वह एक योगी के अपने उच्च आध्यात्मिक स्तर पर पहुंचने के बाद अपने शरीरान्तर्गत ही प्रत्यक्ष दर्शन करता है। जितने द्वार नाड़ियों तथा आधार मनुष्य पिझड में हैं, उतने ही समस्त ब्रह्माण्ड में तथा ब्रह्माण्ड के प्रत्येक अणु एवं परमाणु में है। यदि उनमे कोई भिन्नता है तो वह केवल कुलपंचको §सत्व, रजस्, तमस्, काल और जीव§ की न्यूनता और अधिकता के कारण वे कहीं पूर्ण विकसित है, कहीं अर्द्धविकसित तो कहीं अविकसित है।

55- नवखण्डा नव द्वारेषु बसन्ति -----।
- वही पृष्ठ - 99 3/8

अतः जो पिण्ड में है वहीं ब्रह्माण्ड में और जो ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड में, इसी को योगी गण जो पिण्डे सो ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड मे, इसी को योगी गण जो पिण्डे सो ब्रह्माण्डे" कहते है। इसय सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड व्यवस्था को व्यष्टि शरीर में अनुभव करना ही विशिष्ट ज्ञान का प्रतीक है।

महा योगी गुरु गोरक्षनाथ जी कहते हैं- कि जो योगी सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड -व्यवस्था को व्यष्टि शरीर के अन्तर्गत अनुभव करता है वही शरीर का सच्चा ज्ञाता है।[60] इस प्रकार व्यष्टि -शरीर पूर्ण एवं चरम आध्यात्मिक ज्ञान तब ही प्राप्त करना सम्भव है जब कि मनुष्य उच्च से उच्चतर स्तर पर पहुचें। इस व्यष्टि शरीर का सम्पूर्णा ब्रह्माण्ड में प्रकट एवं निहित है इस अलौकिक सत्य की खोज के चरम बिन्दु पर व्यक्ति तभी पहुँच सकता है जबकि वह समाधि के उच्च से उच्चतर स्तरों पर उठकर शरीर के अन्र्तलीन तत्व में अत्यधिक गहरायी से प्रवेश करता है तब वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड व्यवस्था की आत्मभिव्यक्तियों का प्रत्यक्ष अनुभव करने में समर्थ होता है।

56- मेरूपर्वता मेरूदण्ड तिष्ठति कैलासो ब्रह्म कपाटे वसति हिमालयः पृष्ठे मलयो वाम कन्धरे मन्दरो दक्षिणकण्धरे विन्ध्याद्रिर्दक्षिणकर्णे मैनाको वाम कर्णे श्री पर्वतो ललाट एवभष्ट कुल पर्वता अन्य उपपर्वताः सर्वाड·गु लिषुवसन्ति ।

- वही पृष्ठ - 100 3/10

योगीश्वर श्री कृष्ण इसी प्रकार की घोषणा करते हैं-[61] कि सच्चा योगानुभव प्राप्त योगी स्वयं को सब भूतों में तथा समस्त भूतो को स्वयं में देखता है और इस प्रकार सर्वत्र विभिन्नताओं में वह समदर्शी हो जाता है। जिस प्रकार बर्फ में जल की व्यापकता विद्यमान है उसी प्रकार सच्चे योगानुभव प्रापत तत्वज्ञानालोकित योगी को अपने व्यष्टि शरीरान्तर्गत समस्तज ब्रह्माण्ड व्यवस्था की व्यापकता के प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं।

अन्यत्र भी कहा गया है[62] कि ब्रह्माण्ड शरीर और व्यष्टि शरीर में कोई भेद नहीं है। जिस तरह ब्रह्माण्ड शरीर में सभी देश और सुमेरू आदि स्थित है उसी तरह व्यष्टि पिण्ड में भी समेरू आदि स्थित हैं।

सामान्य दशा में इस अवस्था को प्राप्त नही किया जा सकता। यह तो साधना की उच्चतर स्थिति में पहुंचने के बाद सम्भव है। योगी जनों को इन सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं गहन तत्वों का परिचय पाने तथा समस्त ब्रह्माण्ड व्यवस्था का अपने तथा अन्यों के शरीरान्तर्गत दर्शन करने

57- पीनसा, यमुना, गंगा----द्विसप्तति सहस्रनाड़ीषवसन्ति। - वही पृष्ठ - 100 3/11

58- सप्तविंशति नक्षत्राणि -----अनेक कृमिकीट पतगं पुरोषे वसन्ति। - वही पृष्ठ-101 3/12

59- मत्सुख तत्स्वर्ग, यद्दुःख तत्नरंक, ययत्कर्मतद्बन्धनं यन्निर्विकल्पंतन्मुक्ति: स्वरूपदशायां निद्रादौ स्वात्मजागर: शान्ति र्भवति।
- वही पृष्ठ - 102 3/13

60- पिण्डमध्ये चराचरं यो जानाति स योगी पिण्ड संवित्ति र्भवति । - वही पृष्ठ - 92 3/1

के लिए विभिन्न आसनों प्राणायाम, मुद्रा, बन्ध, भेद, नेति धौति आदि क्रियाओं तथा प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि के विभिन्न प्रकारों के माध्यम का सहारा लेना होता है। इनके माध्यम से व्यक्ति शनैः शनै निम्नतम् स्तर से उच्चतर स्तर की ओर अग्रसर होता है तथा एक स्थिति में वह अपने शरीरान्तर्गत ब्रह्माण्ड व्यवस्था के द्वीपों, समुद्रो, खण्डों, पर्वतों, नदियों, उपनदियों, विविध लोकों, नक्षत्रों, राशियों, ग्रहों, तिथियों, देवताओं, दानवों, पक्षों, पिशाचों, भूत-प्रेत, गन्धर्व, किनार किंपुरूष तथा आप्सराओं आदि का प्रत्यक्ष अनुभव करता है। उस समय वह स्वयं को शिव के ब्रह्माण्ड शरीर में तथा ब्रह्माण्ड शरीर को अपने में अन्तर्लीन पाता है।

61- सर्व भूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।
- गीता पृष्ठ - ।2। 6/29

62- ब्रह्याण्डसञ्ज्ञके देहे यथादेशं व्यवस्थितः।
मेरूश्रृंग सुधारश्मिर्बहिरष्टकलायुक्तः।
- सि0 सि0 प0 पृष्ठ - 95
§ शिव संहिता से उद्धृत §

पंचम् अध्याय

- गोरक्ष दर्शन में आत्मा -

1- आत्म बोध एवं उसका स्वरूप

2- आत्मा की अपरता ॳसर्वश्रेष्ठताॳ पर विचार

3- आत्मा की योग साधना द्वारा पूर्ण शिवत्व प्राप्ति लक्ष्य

4- आत्मा-परमात्मा में अभेदता

आत्मबोध एवं उसका स्वरूप :

आत्मा शरीर का स्वामी है। यह आत्मा ही शरीर के समस्त अंग-प्रत्यगों के समस्त संचालनों का शक्ति केन्द्र है। यद्यपि आत्मा और शरीर दोनों ही परमात्मा की आत्माभिव्यक्तियां हैं, जो कि स्थूल दृष्टिकोण से देखने पर परस्पर अभिन्न प्रतीत होती है तथापि सूक्ष्म अथवा व्यावहारिक दृष्टिकोण से देखने पर दोनों §आत्मा-शरीर§ में पर्याप्त अन्तर दिखलायी देगा। वस्तुतः शरीर एक भौतिक इकाइ के रूप में प्रतीत होता है, जोकि दिक् में स्थान घेरता तथा समय के साथ हुए परिवर्तनों के बीच निरन्तर आगे बढ़ता है, जबकि आत्मा इसके विपरित दिक् कालादि गुणों से रहित सरल, सौभ्य तथा स्वयं प्रकाश है। यद्यपि आत्मा शरीर से घनिष्ट सम्बन्धों के साथ बन्धा होता है तथापि वह शरीर के किसी एक विशिष्ट भाग में ही निवास नहीं करता बल्कि उसकी व्यापकता शरीर के छोटे-बड़े सभी भागों में अनुभव की जा सकती है। यह सम्पूर्ण शरीर एवं शरीर के प्रत्येक भाग से जुड़ा रहता है। समयानुसार शारीरिक परिवर्तनों के बावजूद आत्मा पर उन परिवर्तनों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है तथा सदैव स्वयं प्रकाश एवं एकरूपता युक्त होता है। यह विभिन्न परिवर्तनों, रूपान्तरों एवं विघटनों से गुजर कर विकसित होने वाले शरीर को एकता एवं एक रूपता प्रदान करता है।

1- गगने न गोपंत ते·जे न सोषत पवने न पेलंत बाई।
महीं भारे न भाजंत उदके न डूबन्तकहौ तौपतिआई।।
- गो0 बा0 पृष्ठ - 12 सदी - 24

आत्मा शरीर के विनष्ट हो जाने पर भी नष्ट नहीं होता। महायोगी गुरू गोरक्षनाथ जी का कथन है[1] कि आत्मा सर्व व्यापक है, सर्वत्र है, अविनाशी है, साक्षात् परमात्मा का ही अभिन्न अद्वय रूप है। यद्यपि गगन का अमित विस्तार है, तथापि यह असीम और अनन्त आत्मा को अपने में आविष्ट नहीं करता है, गगन से परे है। यह आत्मा तेज §अग्नि§ के द्वारा शोषित नहीं किया जाता है, आत्म शक्ति अपने आपमें इतनी तेजोमयी है कि उसे अग्नि अपने तेज में आत्मसात् नहीं कर सकती है, इसी तरह वायु में इतनी शक्ति नही है कि आत्मा को इधर-उधर उड़ाकर अस्थिर कर दें, यह आत्मतत्व जल में लीन होकर अस्तित्व हीन नहीं हो सकता, इसी तरह पृथ्वी की भार-शक्ति इस आत्मा को खण्डित नहीं कर सकती। आशय यह है कि आत्मा-आकाश, अग्नि, वायु, जल और पृथ्वी के विनश्वर गुण धर्म वाला नहीं है, यह इन पांच भूतो से परे चिन्मय परम सत्ता है।

श्री कृष्ण ने भी अर्जुन के अपने सगे सम्बन्धियो के प्रति मोह ग्रस्त हो जाने पर उपदेश देते हुए कहा है[2] कि यह आत्मा किसी काल में भी न जन्मता है और न मरता है अथवा न यह आत्मा हो करके फिर होने वाला है, क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है, शरीर का नाश होने पर भी इसका नाश नही होता है।

2- न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अलो नित्यःशाश्वतोऽमं पुराणो न हन्मते हन्यमानेशरीरे।।
वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्वाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।।

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर दूसरे नये वस्त्रों को ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरों को त्यागकर दूसरे नये शरीरों को प्राप्त होता है और इस आत्मा को शस्त्रादि नही काट सकते हैं, आग नहीं जला सकती है, जल गीला नहीं कर सकता है, वायु नहीं सुखा सकता है। यह आत्मा अच्छेद्य है, यह आत्मा अदाह्य, अक्लेद्य और अशोष्य है अतः यह आत्मा निःसन्देह नित्य, सर्वव्यापक, अचल, स्थिर रहने वाला और सनातन है।

उपनिषद में[3] भी इसी प्रकार के आत्म सम्बन्धी विचार प्राप्त होते हैं कि यह विपश्चित-मेघावी आत्मा न उत्पन्न होता है न मरता है, यह न तो किसी अन्य कारण से ही उत्पन्न हुआ है और न स्वतः ही कुछ §अर्थान्तर रूप से§ बना है। यह अजन्मा, नित्य §सदा से वर्तमान§ सर्वदा रहने वाला § और पुरातन है तथा शरीर के मारे जाने पर भी स्वयं नहीं मरता। यदि मारने वाला आत्मा को मारने का विचार करता है और मारा जाने वाला उसे मारा हुआ समझता है तो वे दोनों ही उसे नहीं जानते, क्योंकि यह न तो मारता है और न मारा जाता है। यह अणु से भी अणुतर और महान् से भी महत्तर आत्मा जीव की हृदय रूप गुहा में स्थित है। निष्काम पुरूष अपनी इन्द्रियों के प्रसाद से आत्मा की उस महिमा को देखता है और शोक रहित हो जाता है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारूतः।।
अच्छे-घोडयमभदाह्यों डयमक्ले घोडशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोडयं सनातनः ।।
गीता - 2/20,22,23,24

नारायण स्वामी जी ने सुकरात के आत्म सम्बन्धी विचारों को इस प्रकार वर्णित किया है[4] जीवात्मा दैवी, नित्य, बोधगम्य, समान, अविनाशी और अजर है, जबकि शरीर विनाशी, जड़, बहुविध, परिवर्तननशील और छिन्न-भिन्न होने वाला है।

अतः जीवात्मा नित्य, स्वतन्त्र और अमर है। जीवात्मा और शरीर अयुतसिद्ध अर्थात नित्य परस्पर युक्त है। न निरात्मक शरीर ही रह सकता है और निःशरीर आत्मा ही। फिर भी आत्मा और शरीर एक दूसरे से विलग प्रतीत न होते हुए भी वस्तुतः विलग हैं। शरीर से आत्मा की भिन्न प्रतीति एक सामान्य पुरूष के लिए सम्भव नहीं है। आत्म ज्ञान एक सच्चे जिज्ञासु, ध्मानस्थ योगी के लिए ही बोधगम्य है। आत्म बोध भी तभी सम्भव है, जबकि तत्वा ज्ञानालोकित योगी उससे जानने के लिए तत्पर हो।

वस्तुतः ज्ञान का आधार स्वयं आत्मा ही है। वह ज्ञान प्राप्त करने की सत्ता है, आधार भूमि है, वही ज्ञान का आकर्षण केन्द्र है। उसी से बोध की अनुभूति होती है। आत्म ज्ञान प्राप्ति के लिए, अन्तःकरण को शुद्ध करना होता है, बिना अन्तःकरण की शुद्धि तथा ज्ञानेन्द्रियों को वश में किये यह सम्भव नहीं है। एक अल्पज्ञ उस चरम लक्ष्य तक नहीं पहुंच सकता।

3- न जायते भ्रियते वा विप श्चिन्नायं कुतश्चिन्न बन्मूवकश्चित।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणे न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।
हन्ताा चेन्मन्यते हन्तुँहतश्चेन्मन्यते हतम् ।
अभौ तो न विजानीतो नायँहन्ति न हन्यते।।
अणोरणीयान्महतोमहीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गहायाम।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातु प्रसादान्म हिमानमात्मनः।।
- क0 उ0 अ0 ।18,19,20 श्लोक

मूलतः आकार रहित, घनत्व रहित एवं स्वरूप रहित होने के कारण आत्मा की समाधि व ध्यान, धारणा के अभ्यास अथवा सांसारिक व्यवहार के उद्देश्य से किसी भी उपयुक्त उपाय से देखा या माना जा सकता है।

आत्म बोध के विषय में महायोगी गुरू गोरक्षनाथ जी का कथन है[5] कि सारे प्राणी ही नारी रूप में एक पति परमेश्वर के उपासक हैं, सभी का स्वामी परमेश्वर है। आत्मा ही सर्वव्यापक परमात्मा है, पूर्ण हैं, सचरा चर परमात्मा में स्वस्थ है, यही आत्म बोध है, इससे काया पाप-पुण्य में लिप्त नहीं होती, प्राणी आत्म रूप होता है।

श्री कृष्ण ने भी आत्म ज्ञान के विषय में यही कहा है[6] कि शरीर छोड़कर जाते हुए को अथवा शरीर में स्थित हुए को और विषयों को भोगते हुए को अथवा तीनों गुणों से युक्त हुए को भी अज्ञानी जन नही जानते हैं, केवल ज्ञान रूप नेत्रों वाले ज्ञानी जन ही तत्व से जानते हैं। योगी जन भी अपने हृदय में स्थित हुए इस आत्मा को यत्न करते हुए ही तत्व से जानते हैं और जिन्होने अपने अन्तःकरण को शुद्ध नहीं किया है, ऐसे अज्ञानी जन तो यत्न करते हुए भी इस आत्मा को नहीं जानते हैं।

4- आ0 द0 पृष्ठ - 175

5- एक पुरिष बहु भांति नारी। सरब निरन्तर आत्मासारी।
सरब निरन्तर भरिपूरि रहिया। आत्मांबोध सपूरण कहिया।
पाप न पुन्ने लिपे न काया। आत्मांबोध कथंत श्रीगोरष राया।
- गो0 बा0 पृष्ठ - 248/22

उपनिषद्रों में कहा गया है[7] कि जो बहुतो कौ सुननै के लिए भी प्राप्त होनै योग्य नहीं है, जिसै बहुत से सुनकर भी नहीं समझते उस आत्म तत्व का निरूपण करने वाला भी आश्चर्य रूप है, उसको प्राप्त करने वाला भी कोई निपुण पुरूष ही होता है तथा कुशल आचार्य द्वारा उपदेश किया हुआ ज्ञाता भी आश्चर्य रूप है। कई प्रकार से कल्पित किया हुआ यह आत्मा साधारण बुद्धि वाले पुरूष द्वारा कहे जाने पर अच्छी तरह नहीं जाना जा सकता। अभेद दर्शी आचार्य द्वारा उपदेश किये गये इस आत्मा में §अस्ति-नास्तिरूप§ कोई गति नहीं है, क्योकि यह सूक्ष्म परिणाम वालों से भी सूक्ष्म और दुर्विज्ञेय है।

"सम्पूर्ण भतों में छिपा हुआ यह आत्मा प्रकाश मान नहीं होता। यह तो सूक्ष्म दर्शी पुरूषों द्वारा अपनी तीव्र और सूक्ष्म बुद्धि से ही देखा जाता है।"[8]

" इस आत्मा का रूप दृष्टि में नहीं ठहरता। इसे नेत्र से कोई भी नहीं देख सकता। यह आत्मा तो मन का नियमन करने वाली हृदय स्थिता बुद्धि द्वारा मनन रूप सम्यग्दर्शन से प्रकाशित §हुआ ही जाना जा सकता§ है। जो इसे §ब्रह्म रूप से § जानतें हैं वे अमर हो जाते है। वह आत्मा है इस प्रकार ही उपलब्ध किया जाना चाहिए तथा उसे तत्व भाव से भी जानना चाहिए, इन दोनों प्रकार की उपलब्धियों में से जिसे हैं इस प्रकार की उपलब्धि हो गयी है, तत्व भाव उसके अभिमुख हो जाता है।"[9]

6 - उत्क्रामन्तं स्थितं वापिभुन्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः।।

अन्यत्र भी कहा गया है[10] कि आत्मा स्थूल रूप से कहीं भी नहीं दीखती है। आत्म ज्ञान में स्थूल दृष्टि का काम नहीं है और न ही वहाँ विशेष नियम की व्यापक्ता है। वहाँ कार्य-कारण भाव भी नहीं है। वहाँ प्राप्य अप्राप्य भाव भी नहीं है और गम्य-गमक भाव भी नहीं रहता है। अपितु वहाँ एक तत्व की समानाधिकरण भावना और ज्ञानाधिकरण भावना व एकाधिकरण भावना रहती है। जो ऐसा जानता है वही आत्म भाव से परिचित होता है।

निष्कर्षतः आत्मबोध के लिए स्थूल दृष्टि काम नहीं देती है। वहाँ सूक्ष्म से सूक्ष्म दृष्टि चाहिए, जो सूक्ष्म दृष्टि शक्ति सम्पन्न साधक को ही मिलती है और शक्ति सम्पन्नता अपने साधन में रत होने वाले जिज्ञासु को ही मिलती है। ऐसे साधक को ही जिसकी शक्ति पुष्ट हो गयी हो, जिसमें शक्ति आने लगी हो, जिसमें शक्ति जागृत हो उठी हो, जिसे ज्ञानानुभव प्राप्त होने लगा हो, तब ही आत्म बोध की स्थिति उत्पन्न होती है। आत्म ज्ञान की प्राप्ति पर साधक आनन्दित हो उठता है, रागद्वेषादि की भावनायें धीरे-धीरे नष्ट हो जाती है, वह स्वयं में ही रमने लगता है। हृदय में पवित्र भावना उत्पन्न होने लगती है, क्योंकि आत्मा का स्वरूप शुद्ध एवं पवित्र है, अतः विचार, बुद्धि, हृदय एवं अनुभव में पवित्रता एवं पुण्य के भाव उत्पन्न हो तभी आत्म बोध सम्भव है। अतः

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ।।
- गीता 15/10,11

स्वयं में विद्यमान आत्मा को जानने का निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि यह आत्मा तो दिव्य, अनन्त, अलौकिक, आनन्ददायी, सुर्वगुण सम्पन्न, अगम्य, असीम, शुद्ध, पवित्र स्वयं प्रकाशशील एवं सर्वश्रेष्ठ है।

आत्मा की अपरता §सर्व श्रेष्ठता§ पर विचार :

आत्मा अपर §सर्व श्रेष्ठ§ है। आत्मा प्रापंचिक सीमित स्वरूप वाला होते हुए भी एक विशिष्ट स्थान ग्रहण करता है और वह न केवल भौतिक शरीर अपितु प्राण, मनस, अहंकार और बुद्धि, जिनका इस जगत् व्यवस्था में अपना-अपना विशेष महत्व है, से भी मूलतः श्रेष्ठ एवं उनका स्वामी है। यह आत्मा ही समस्त शारीरिक इन्द्रियों को वश में करता तथा उनके नियम पूर्वक संचालन की व्यवस्था करता है।

प्राण, मनसं, अहंकार एवं बुद्धि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड व्यवस्था में अपना अस्तित्व रखते एवं कार्य करते हैं। इस तरह सम्पूर्ण ब्रह्याण्ड प्राण, मनस, अहंकार एवं बुद्धि से व्याप्त है जिसकी अभिव्यक्ति तत्वाज्ञानालोकित योगी ही पाते हैं। आत्मा के विषय में इनके कार्य आत्मा की आत्माभिव्यक्तियां, आत्मबोध के साधन के रूप में होते हैं। अतः आत्मा इन सबसे श्रेष्ठ है।

7- श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः श्रृण्वन्तोऽपि वहवोयंनविधुः।
आश्चर्यो ववता कुशलोऽस्य लब्धश्रर्यो ज्ञज्ञाता कुशलानुशिष्टः।।
न नरेणावेरण प्राक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति अणीयान्ह्यत क्र्यभणुप्रभाजात्।।
- क0 उ0, अ0 । व 2 श्लो0 - 7, 8

कहा गया है[11] कि इन्द्रियों की अपेक्षा उनके विषय श्रेष्ठ हैं विषयों से मन उत्कृष्ट है, मन से बुद्धि पर है और बुद्धि से भी महान आत्मा §महतत्व§ उत्कृष्ट है।

अपिच[12] वह गमन करने वाला है, आकाश में चलने वाला सूर्य है, वसु है अन्तरिक्ष में विचरने वाला सर्वव्यापक वायु है, वेदी §पृथिवी§ में स्थित होता§अग्नि§ है, कलश में स्थित सोभ है। इसी प्रकार वह मनुष्यों में गमन करने वाला, देवताओं में जाने वाला, सत्य या यज्ञ में गमन करने वाला, आकाश में जाने वाला जल, पृथ्वी, यज्ञ और पर्वतों से उत्पन्न होने वाला तथा सत्य स्वरूप और महान् है।

अतः आत्मा सर्वश्रेष्ठ है। आत्मा ही हमें सन्भार्ग की ओर प्रेरित करता है। यहाँ तक की प्राण, मनस, अहंकार और बुद्धि आदि के समस्त कार्य आत्मा के लिए ही होते हैं और आत्मा उन सब §प्राण-मनस्-अहंकार-बुद्धि§ का निद्रा रहित दृष्टा, साक्षी, प्रकाशक और नियन्ता है। आत्मा का स्वरूप किसी भी प्रकार दूषित नहीं होता है। यह आत्मा ही सत् तत्व है, जबकि इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण दृश्यमान जगत मिथ्या है। यह स्वयं सिद्ध है। आत्मा के ज्ञान द्वारा ही परब्रह्म परमात्म शिव के दर्शन अर्थात उनका साक्षात्कार सम्भव है। अतः आत्मा-परमात्मा के सहज, स्वरूपानन्द तक पहुचने का साधन है

8 - एष सर्वेषु भूतेषु गढ़ोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यतेत्वग्रयभा बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्म दर्शिभः।।
- क0 उ0, अ0- । व 3 श्लोक - ।2

आत्मा की योग साधना द्वारा
पूर्ण शिवत्व प्राप्तिर्लक्ष्य :

परमात्मा का दर्शन आखों से सम्भव नहीं है, क्योंकि वह बाहर नहीं अपितु अपने में ही निहित है। आत्मा ही वह शक्ति है जिसके गूढ़ ज्ञान को प्राप्त कर हम सच्ची शान्ति, सच्चा आनन्द सच्चा सुख प्राप्त कर सकते हैं। अतः समस्त कार्यों के पहले हमें आत्मा के ही ईश्वरत्व का स्मरण कर लेना, शान्ति, आनन्द, सफलता और कल्याण तथा पूर्ण शिवत्व प्राप्ति का सर्वोत्तम, सर्वोत्कृष्ट साधन है।

पूर्ण आत्मज्ञान के बल पर ही प्रत्यक्ष ईश्वर का दर्शन किया जा सकता है। आत्मा में ही ऐसी अनन्त शक्ति है जिसके द्वारा अनन्त एवं अखण्ड आनन्द, अनन्त सुख एवं सच्ची शान्ति, सच्चा ज्ञान प्राप्त हो सकता है। यदि सच्चा ज्ञान प्राप्त हो जाता है तब ईश्वरानन्दानुभूति स्वयं प्राप्त हो जाती है। सदात्मज्ञान प्राप्त होने पर उस सर्वशक्तिमान परमेश्वर को अपने में ही देखा जाता है। आत्मज्ञान से अनभिज्ञ वह ईश्वर अलग ही प्रतीत होता है। अतः आत्मज्ञान परमावश्यक है। आत्मज्ञान के बिना हृदय में पूर्णता सम्भव नहीं है, अतः आत्म-ज्ञान के द्वारा ही हम उस परमात्म शिव के प्रत्यक्ष दर्शन कर सकते हैं।

9 - न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृतो प एतद्विदुरमृतास्तेभवन्ति।।
अस्तीत्ययेवोपलब्धव्यस्तत्वभावेन चो भयोः।
अस्तीत्ये वोपलब्धस्य तत्व भावः प्रसीदति ।।
- क० उ०,अ०-2 व 3 श्लोक 9,13

महायोगी गुरु गोरक्षनाथ जी का कथन है[13] कि योगाभ्यास के द्वारा कुण्डलिनी, प्राण-ज्योति को जगाते हुए सहस्रार में उसके प्रवेश करने पर अनाहत नाद, शब्द ब्रह्म के स्वरूप अथवा बोध का रसास्वादन करता है, उसे ब्रह्म रन्ध्र में शिवमयी परमात्म-ज्योति-मन्दाकिनी का दर्शन होता है। अनाहत शब्द निगूढ़तम है - यही परम वस्तुतत्व है। अनाहत शब्द के द्वारा ब्रह्मानुभव व्यक्तिगत साधना का अमृत फल है, जो गूंगे के गुड़ के रसास्वादन की तरह वाणी से अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता है। अनाहत शब्द से ब्रह्म स्वरूपानुभवरूपी माणिक्य, अमूल्य वस्तुरत्न की प्राप्ति होती है और यह बात पूर्व रूप से समझ में आ जाती है कि मुख्य वस्तु ब्रह्मानुभूति, परमात्मपद में रमण है, इससे इतर अन्य ज्ञान मिथ्या वाद-विवाद मात्र है। रात-दिन सांसारिक प्रलोभनों से ग्रसित मन को अन्तर्मुखी रखने से उन्मानावस्था द्वारा वह आत्म साक्षात्कार कर सकता है। उसे पुनः संसार की वस्तु तथा स्व स्वीकृत सांसारिक मिथ्या सम्बन्धों में सुख नहीं दिखलायी देता। आशा, तृष्णा को छोड़कर विनश्वर सम्बन्धो में निराशा ग्रहण करता है। ऐसे आत्म §वेद§ ज्ञानी योगी का ब्रहह्मा भी दासत्व स्वीकार करता है। उसके ज्ञान से लाभान्वित होना चाहता है।

10- आत्मा न स्थूलरूपेण कुत्रापि दृश्यते। न च तत्र स्थूल दृष्टिः। न च तत्र विघेर्व्यापिकता। न च तत्र कारण-भावना। न च तत्र प्राप्याप्राप्यक गम्यागभक बोधात्मकत्व सर्वभावना। अपितु तत्र एकाभावना ज्ञानाधिकरणात्मकत्वेन उपरिष्ठात् एकतत्व समानाधिकरण भावना एकाधिकरण भावना विद्यते। य एवं जानाति स एव आत्म भावं परिचिनोति।
- सा0 कु0 भ0 पृष्ठ - 337

जो अजपा-जाप करता है, जिसकी चित्तवृति तैलधारावत् अनवरत् "ऊँ", सोडहं तथा परमात्मा के इष्ट नाम-मन्त्र के जप में लगी रहती है, जिसका मन ब्रह्मरन्ध्र §शून्यपद§ में रमण करता है अर्थात ऊर्ध्वमुखी रहता है, जिसके इन्द्रिय समूह चंचलता को छोड़कर स्ववश §साधक के वश में§ रहते हैं, जो विनश्वर शरीर को ब्रह्मानुभूतिरूपी अग्नि में परिशुद्ध कर देता है, ज्ञान अग्नि में शरीर-आहुति कर उसे निर्मल बना लेता है, उस §योगसिद्ध§ पुरूष की चरण-बन्दना साक्षात् योगेश्वर भगवान शिव भी करते हैं। तात्पर्य यह कि ऐसा योगी परम शिवैक्य बोध से सम्पन्न होकर शिव पद में नित्य युक्त हो जाता है। योगाभ्यास की सिद्धि का परम फल है आत्म चिन्तन और आभ्यन्तर साधना। बाह्य साधना से यद्यपि इन्द्रियां संयमित होती है, मन प्रत्याहार के द्वारा स्ववश होता है। प्राणायाम से नाड़ी-शोधन और चक्रो का भेदन होता है, तथापि जबतक आत्मा का विचार नहीं किया जाता, आत्मतत्व के परिशीलन में दृष्टि नहीं रहती, तबतक आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार आदि बाह्य साधनों का कोई महत्व ही नहीं है, वे तो योग की सिद्धि की दिशा में बाह्य उपकरण §धंधा§ है, आत्म तत्व का विचार करने से यह पता चल जाता है कि सारा दृश्य §जगत्§ ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है, जिस तरह जल में चन्द्रमा का प्रतिबिमब वास्तविक चन्द्रमा नहीं है, उसी का प्रतिबिम्ब मात्र है, इसलिए दृष्टि चन्द्रमा पर रखने से चन्द्रमा का वास्तविक रूप प्रकट होता है, यही बात आत्मा के सम्बन्ध में संगत

।।- इन्द्रियेभ्यः परा ह्यथा अर्थेभ्यश्र परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिबुद्धेरात्मा महान्परः।।
- क० उ०, अ० । व० 3 श्लो० 9

है कि आत्मा पर दृष्टि रखने से समस्त जगत् परमात्मा के प्रतिबिम्ब के रूप में दृश्य अथवा अभिव्यक्त रहता है। जगत् ब्रह्म नहीं है, ब्रह्म से प्रतिबिम्बित मात्र है। हे अवधूत, सदैव आत्मा का ही चिन्तन करना चाहिए। अपनी आत्मा के विषय में स्वयं ही विचार करना चाहिए, जिससे §आत्म चिन्तन§ से वह भौतिक सम्बन्धों की हानि और वियोग की चिन्ता से पूर्ण मुक्त हो कर निर्भय पद में निश्चिन्त होकर, पैर पसार कर §पूर्ण अभय पद में स्थित होकर§ परमात्मा में ही विश्राम करेगा।

श्री कृष्ण का भी यही उपदेश है[14] कि परमेश्वर के ध्यान के अभ्यास रूप योग से मुक्त अन्य तरफ न जाने वाले चित्त से निरन्तर चिन्तन करता हुआ पुरूष परम प्रकाश स्वरूप, दिव्य पुरूष को अर्थात परमेश्वर को ही प्राप्त होता है। इससे पुरूष सर्वज्ञ, अनादि सबके नियन्ता §अन्तर्यामी रूप से सब प्राणियों के शुभ और अशुभ कर्म के अनुसार शासन करने वाला§ सूक्ष्म से भी अति सूक्ष्म, सबके धारण पोषण करने वाले, अचिन्त्य स्वरूप, सूर्य के सदृश नित्य चेतन प्रकाश रूप, अविद्या से अति परे, शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्मा को स्मरण करता है। वह भक्तियुक्त पुरूष अन्तकाल में भी योग बल से भृकुटी के मध्य में प्राण को अच्छी प्रकार स्थापन करके फिर निश्चल मन से स्मरण करता हुआ उस दिव्य

12- हँसः शुचिषद्वसु रन्तरिक्षसद्धोता बेदिषदतिथिर्दुरोणसत।
न षद्वरसदृतसद्वयोमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतंवृहत।।
- क0 उ0, अ0 2 व0 2, श्लो0 2

13- सारभसारं गहन गंभीरं गगन उछलिया नादं।
मानिक माया फेरि लुंकाया झूठा बाद-विवाद।।

स्वरूप परम पुरूष परमात्मा को ही प्राप्त होता है और सब इन्द्रियों के द्वारों को रोक कर अर्थात् इन्द्रियों को विषयों से हटाकर तथा मन को हृद्देश में स्थिर करके और अपने प्राण को मस्तक में स्थापन करक योग धारण में स्थित हुआ, जो पुरूष ॐ ऐसे इस एक अक्षर रूप ब्रह्म को उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थ स्वरूप मेरे को चिन्तन करता हुआ, शरीर को त्याग कर जाता है, वह पुरूष परम गति को प्राप्त होता है।

उपनिषद में भी लिखा है[15] कि यह आत्मा वेदाध्ययन द्वारा प्राप्त होने योग्य नहीं है, न धारणा शक्ति अथवा अधिक श्रवण से ही प्राप्त हो सकता है। यह साधक जिस §आत्मा§ का वरण करता है उस §आत्मा§ से ही यह प्राप्त किया जा सकता है। उसके प्रति यह आत्मा अपने स्वरूप को अभिव्यक्त कर देता है।

जो अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय तथा रसहीन, नित्य और गन्ध रहित है, जो अनादि, अनन्त, महतत्व से भी पर और ध्रुव §निश्चल§ है उस आत्मतत्व को जानकर पुरूष मृत्यु के मुख से छूट जाता है।"[16]

अहनिसि मन लै उनमन रहै, गम की छांडि अगम की कहै।
छाडै आसा रहै निरास, कहै ब्रह्मा हूँ ताका दास॥
अजपा जपै सुंनि मन धरै, पांचों इंद्री निग्रह करै।
ब्रह्म अगनि मैं होमैं काया, तास महादेव बंदैपाया।।
आसण बैसिबा पवन निरोधिबा, थांन मांन सबधंधा।
बदंत गोरखनाथ आत्मां विचारंत, ज्यूं जल दीसैचन्दा।।
गोरष बोलै सुणि रे अवधू पंचौ पसर निबारी।
अपणी आतमां आप विचारी, तब सोवौ पान पसारी।।
- गो0 बा0 सबदी- 12 16,18,82,83

" जो एक, सब को अपने अधीन रखने वाला और सम्पूर्ण भूतों का अन्तरात्मा अपने एक रूप को ही अनेक प्रकार का कर लेता है, अपनी बुद्धि में स्थित उस आत्म देव को जो धीर §विवेकी§ पुरुष देखते हैं उन्हीं को नित्य सुख प्राप्त होता है औरों को नहीं। "[17]

अन्यत्र भी कहा गया है[18] कि जो साधक आत्मा को नही जानता है वह परतत्व को भी नहीं जान पाता है अतः पहिले स्थिर भाव से आत्मा का परिचय प्राप्त कर लें।

अतः आत्मा के भीतर अनन्त धन, अनन्तरूप, अनन्त आनन्द और अनन्त बल है, जिसे अज्ञान और अविश्वास के कारण न जाना जा सकता है और न देखा ही जा सकता है। यदि सच्चा आत्म ज्ञान प्राप्त हो जाय तो परमात्म दर्शन हो जाना सम्भव है क्योंकि जीवात्मा रूपी साधना की सिद्धि यही है कि वह शरीर में ही स्थित परमात्मा का साक्षात् दर्शन कर ले। अज्ञान, भ्रम, अन्ध विश्वास तब तक पीछा नहीं छोड़ते जब तक कि आत्मा ज्ञान प्राप्त नहीं होता। यदि अपने अन्तःकरण को पूर्ण शिवमय, आनन्दमय बनाना है तब आवश्यक है आत्मतत्व

- अभ्यास योग युक्तेन चेतसा नान्यगाभिना।
परमं पुरूषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्त्यन्।।
कविं पुराणमनुशारिसतार मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारभचिन्त्यरूपभादित्ययवर्ण तमसः परस्तात्।।
प्रमाण काले मनसाचलेन भक्त्या मुक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्भध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् सतं परं पुरूषभुपैति दिव्यम्।।
सर्वद्वाराणि संयभ्य मनो हृदि निरूध्य च।
मध्यर्क्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्।।
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्भाननु स्मरन।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।।
- गीता अ0-8 श्लो0 8,9,10,12,13

को जानना। आत्म ज्ञान के द्वारा ही सच्चा सुख तथा परमात्म शिव के साक्षात् दर्शन किये जा सकते हैं। अस्तु आत्मा की योग साधना से जीवन में परमात्मा का साक्षात्कार ही मनुष्य शरीर में जन्म लेने की सार्थकता है। जीवात्मा परमात्मा का ही प्रतिरूप है,अतः आत्म ज्ञाननिष्ठ होकर उस अलख निरंजन, चिन्मय, दिव्य निर्विकार, निर्मल, अभामिक, परब्रह्म परमात्म शिव में स्थित हो जाय, यही साधक का साध्य अर्थात् जीवन का परम लक्ष्य है।

आत्मा-परमात्मा में अभेदता :

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के अणु-अणु में वह परम पद व्यापक है। यद्यपि ईश्वर अदृश्य है तथापि वह देखा जा सकता है। उसके प्रत्यक्ष दर्शनार्थ बाहर अर्थात इधर-उधर भटकने की आवश्यकता नही है अपितु वह अपने में ही आत्मा के रूप में विद्यमान रहता है। आत्मा ही परमात्मा है। इन दोनों §आत्मा-परमात्मा§ में को भेद प्रतीत नहीं होता है।

महायोगी गुरु गोरक्षनाथ जी का कथन है[19] कि सभी प्राणियों के शरीर में स्थित §पझकुहर§ हृदय में आत्मस्वरूप स्थित है। यह अविद्या रूप महान, मोह शोक आदि पाशों से आबद्ध है, §मोक्ष पद की प्राप्ति करने वाले§ मुमक्षुओं को चाहिए कि इस पाश का उच्छेद कर

15- नायमात्मा प्रवचनेन लभ्योन मेधया न बहुनाश्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्माविवृणुते तनूँस्वाम।।
- क0 उ0 पृष्ठ-78 अ0 । व0 2 श्लो0 23

16- अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथा रसंनित्यमगन्धवच्च भत्।
अनाद्यनन्तं महः परम ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते।।
- क0उ0पृष्ठ - 100 अ0 । व0 3 श्लो015

अपने अखण्ड आत्म स्वरूप में स्वस्थ हो जायँ। यह आत्म स्वरूप §आत्मतत्व§ ही ब्रह्मा, विष्णु, रूद्र, अक्षर, स्वराट्, इन्द्र, प्राण, काल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, शिव के नाम रूप में अभिव्यक्त परम शिव है। योग साधना के फलस्वरूप इस स्वसंवेद्य तत्व का परम अनुभव होता है। सांख्यशास्त्र के तत्वज्ञ इसी को परम पुरूष जानते हैं, पूर्व मीमांसा मत से यज्ञादि कर्म के फल स्वरूप इसी महत्तत्वका दिग्दर्शन करते हैं। श्रुति की ऋचाऐं और वेदान्त सूत्र इसी को परमानन्द स्वरूप परमात्मा कह कर प्रतिपादित करते हैं। इस तरह विभिन्न दर्शनों में व्यवहृत नाम रूपों में अभिव्यक्त सत्स्वरूप है। यह आनन्द प्रदान करता है और जीवात्मा-परमात्मा के ऐक्य-स्वरूप अथवा सामरस्य का यह आत्मतत्व परम सत्य है, दोनों की अखण्ड ज्ञान स्वरूपावस्थिति संविति मुद्रा के रूप में परिकीर्तित- प्रसिद्ध है।

इसी प्रकार[20] सभी देहों में विश्व रूप परमात्मा-परमेश्वर अखण्ड स्वरूप घट-घट में चिद्रूप व्यापक है।

उन्होने अन्यत्र भी कहा है[21] कि आत्मा और परमात्मा में भेद नहीं हैं, वे एक साथ निवास करते हैं, वे दो नहीं हैं। एक सच्चिदानन्द धन-तत्व है, जीवात्मा अंश है, परमात्मा अंशी है, अंशी परमात्मा अपना ही स्वरूप है और प्रत्येक जीव धारी के शरीर में भीतर बाहर

17- एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधायः करोति।
तमात्मस्थं में उनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतंनेतरेषाम्।।
- क0 उ0 पृष्ठ - 139 अ0 2 व0 2 श्लो012

सर्वत्र परिव्याप्त है, ऐसी स्थिति में किसी भी जीव की हत्या कर उसके शरीर और रक्त मांस को अपना आहार नहीं बनाना चाहिए। जीव हिंसा महान पाप है, पाण का घात करना, किसी को मारना अपकर्म है। जो परमात्मा अन्य जीव धारियों के शरीर में है, वही हमारे सम्बन्धियों, पुत्र §पोत§ आदि में है। जिस तरह हम अपने पुत्र आदि का प्राणघात नहीं करते, उसी तरह हमें अन्य जीव धारियों को भी नहीं मारना चाहिए।

उपनिषद में भी कहा गया है[22] कि जो देवता मयी अदिति प्राण रूप से प्रकट होती है तथा जो बुद्धि रूप गुहा में प्रविष्ट होकर रहने वाली और भूतों के साथ ही उत्पन्न हुई है। निश्चय यही वह तत्व है जहाँ से सूर्य उदित होता है और जहाँ वह अस्त होता है उस प्राणात्मा में §अन्नादि और वागादिक§ सम्पूर्ण देवता अर्पित है। उसका कोई उलघंन नहीं कर सकता। यही वह परब्रह्म शिव है।

18- आत्मानं यो न वा वेत्ति न वेत्ति परतत्वकम्।
तस्मात् पूर्व स्थिरत्वेन आत्मनः परिचयं ब्रजेत्।।
- सा0 कु0 म0 पृष्ठ - 268

19- शरीरपद्मकुहरे यत्सर्वेषभवस्थितम् ।
तदवश्वं महापाशाच्छेदितव्यं मुमुक्षभिः।।
ब्रह्मा विष्णुश्च कद्रश्च सोडक्षरःपरमस्वराट्।
स एवेन्द्रः स च प्राणः कालाग्नि स च चन्द्रमा।।
स एव सूर्यः स शिवः स एव परम् शिवः।
स एव योगगम्यश्च साख्यशास्त्र परायणेः।।
स एव कर्म इत्युक्तः कर्मभीमांसकैरपि ।
सर्वत्र सत्परानन्द इत्युक्तों वैदिकैरपि ।।
व्यहारैरयं भेदस्तास्मादेकस्य नान्यथा।
भुद भोद तुरा दे ने जीवात्मरमात्येनोः।
उभयोरेक सॅविर्तिमुद्रिति परिकीर्तिता।।
सि0सि0प0पृष्ठ-151,6/25,26,27,28,29,30

अतः आत्मा-परमात्मा में नाम मात्र का भी भेद नही है। आत्मा अपने सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा से नित्य अभिन्न और तद्रूप है। वह सत्स्वरूप है। परमात्मा के प्रत्यक्ष दर्शन का एक मात्र साधन आत्मा ही है। क्योंकि जीवात्मा इस ओर प्रयत्नशील होकर, आसन, प्राणयाम, मुद्राबन्ध, कुण्डलिनी जागरण, चक्र भेदन, नादानुसन्धान आदि के द्वारा परमात्मा का साक्षंत् दर्शन करता है। तब आत्मा-परमात्मा का भेद लुप्त हो जाता है। योगी साधक दोनों §आत्मा परमात्मा§ नादात्म्य और आनन्दानुभव प्राप्त करते हैं। वह आत्मा को परमात्मा में समाविष्ट देखता है। यही उसका परम-चरम लक्ष्य है।

योगी गण एक दूसरे के अभिवादन करते समय आदेश- आदेश का उच्चारण करते हैं। वे इस आदेश शब्द के द्वारा निरन्तर एक दूसरे को आत्मा-परमात्मा के तादात्म्य का स्मरण कराते रहते हैं। कहा गया है[23] कि आत्मा, परमात्मा और जीवात्मा के सम्बन्ध में विचार करने पर ज्ञात होता है कि तीनों की एकता की सम्भूति-उत्पत्ति §अभिन्न सत्ता§ ही आदेश के रूप में प्रसिद्ध है। आदेश परमात्म स्वरूप का प्रतिपादन करने वाली सद्वाणी है। इसके उच्चारण मात्र से जरा-मरण, सुख-दुःख, रागद्वेष आदि समस्त प्रपंचात्मक द्वन्द्वों का क्षय-नाश हो जाता है जो प्राणी योगी के प्रति "आदेश, आदेश" शब्द का व्यवहार करता है, वह परमात्मा और आत्मा के अभिन्न स्वरूप को तत्वतः जान लेता है।

यद्यपि सामान्य विचारों में आत्मा, जीवात्मा, परमात्मा में प्रायः भेद प्रतीत होता है, तथापि तीनों की एकता ही सत्य है।

निष्कर्षतः आत्मा सत् है।* उसकी सदा सत्ता बनी रहती है। वह नित्य और निराकारी है। वह नित्य शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्त है। वह अतीन्द्रिय, निर्गुण तथा नित्य चैतन्य है। वह अपरिवर्तनशील एवं निरपेक्ष तथा नाम रूप से रहित है। यह आत्मा ही साक्षात् ब्रह्म है। यह ब्रह्म का अंश नहीं है क्योंकि ब्रह्म के खण्ड नहीं हो सकते। यह आत्मा सभी अवस्थाओं में, चाहे वह जागृतावस्थ हो, स्वप्नावस्था हो या सुषप्ति अवस्था हो कभी भी बाधित नहीं होता है। यह स्वयं सिद्ध है। जिसको सिद्धि के लिए किसी तर्क या प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

आत्मा सम्पूर्ण दर्शन शास्त्र का गूढ़ एवं आलोक मय तत्व है जिसके अस्तित्व को कोई भी दर्शन अस्वीकार नहीं करता है। संसार का प्रत्येक दार्शनिक वह आस्तिक हो या नास्तिक पाश्चात्य हो या पौरस्त्य आत्मा के अस्तित्व को अवश्य स्वीकार करता है। भले ही भिन्न-2 दार्शनिकों के विचारों में आत्मा के स्वरूप के विषय में भिन्नता क्यों न हो। आत्मा के स्वरूप के विषय में कुछ दार्शनिक पुत्र को आत्मा कहते हैं, कुछ स्थूल शरीर को तो कुछ इन्द्रियों, प्राण, मन, बुद्धि तथा शून्यादि को ही आत्मा की संज्ञा देते हैं।

20- एवं सर्व देहेषु विश्वरूप परमेश्वर:परमात्मा-
डखण्ड्स्वभाविन घटे-घटे चित्स्वरूपों तिष्ठति।।
- वही पृष्ठ - 102 3/13

चार्वाक मतानुयायी[23] पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु तत्वों से सृष्टि की उत्पत्ति मानते है। इसके अनुसार शरीर ही प्रियतम पदार्थ है। "स्थूलोऽहम्" "कृशोऽहम्" इत्यादि अनुभवों से तथा " स वा पुरूषोऽन्नरसमय" इत्यादि श्रुति वाक्यों से स्थूल शरीर को ही आत्मा मानते हैं। लोकायत चार्वाक इन्द्रियों को प्राणात्मवादी प्राणों को ,मन-आत्म-वादी मन को आत्मा स्वीकार करते हैं।

बौद्ध[24] आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते उनके विचारों में जिस प्रकार पान, सुपारी, चूना, कत्थादि मिलकर मुख में नया रंग पैदा कर देते हैं वैसे ही जल एवं पृथ्वी आदि मिलकर शरीर को चेतनवत् करते हैं। आत्मा की वास्तविक सत्ता नहीं है। विज्ञानवादी बौद्धों ने "अहंकर्ता" "अहंभोक्ता" आदि प्रमाणों के आधार पर बुद्धि को ही आत्मा माना है।

अनीश्वरवादी जैन मतावलम्बी[25] आत्मा की सत्ता को जीव के रूप मे स्वीकार करते है। उनकी दृष्टि में जीव ही चेतन या आत्मा है। जो लोक में जीव नाम से व्यवहृत होता है।

21- जीव सीव संगे बासा। बधि न षाइबा रूघ्र भासा।
हंस घात न करिबा गोतं।थतंत गोरष निहारिपोतं।
- गो0 बा0 पृष्ठ - 104 सबदी -227

22- या प्राणेन संभवत्यदितिर्देवतामयी।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ती या भूतेभिर्व्यजायत ।।
यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति ।
तं देवाः सर्वे अर्पितास्तदु नात्येति कश्चन।।
ए त दैतत् तत् ।।
- क0 उ0 3,3, व0 । श्लो0 59

23- भा0 द0 प्र0 पृष्ठ - 52

24- वही पृष्ठ - 53

आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में न्याय और वैशेषिक में कोई अन्तर नहीं है। उनके अनुसार[26] ज्ञान का जो अधिकरण है वही आत्मा है। वही सभी का दृष्टा, भोक्ता, सर्वज्ञ, नित्य तथा सर्वव्यापक है।

भीमांसको के मत में[27] आत्मा कर्ता तथा भोक्ता दोनों ही है। वे आत्मा में क्रिया के अस्तित्व को मानते हैं। आत्मा प्रति शरीर में भिन्न है। आत्मा में परिणाम अर्थात रूप परिवर्तन होता है। फिर भी वह नित्य पदार्थ है। उसमें चित्त-अचित्त अंश होते हैं, चित् से ज्ञान का अनुभव करता है और अचित् से परिणाम को प्राप्त होता है।

सांख्य[28] पुरुष की सत्ता को स्पष्ट रूप से स्वीकार करता है। इनके मत में पुरुष अन्य सभी तत्वों से भिन्न है। शरीरादि से इस का कोई सम्बन्ध नहीं, वह स्वतन्त्र, शुद्ध, चैतन्य, स्वरूप एवं ज्ञाता है। प्रकृति जगत को उत्पन्न करती है और पुयष §आत्मा§ साक्षी की तरह उसकी लीला देखता है। वह उदासीन सुख-दुःख से रहित, अधिकारी कूटस्थ, नित्य एवं व्यापक होता है। वह अत्रिगुण, चेतन, साक्षी, विवेकी, विषय तथा असामान्य है।

वेंदान्तियों के अनुसार[29] तत्तद् वस्तुओं का प्रकाशक, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तः, सत्य स्वभाव आन्तरिक चैतन्य ही आत्मा है, जो वस्तु §यथार्थ§ है।

25- - वही पृष्ठ - 53
26- - वही पृष्ठ - 53
27- - वही पृष्ठ - 53
28- - वही पृष्ठ - 54

अतः आत्मा एक सर्वव्यापक नित्य पदार्थ है। ब्रह्माण्ड, व्यवस्था में प्रत्येक वस्तु आत्मा मे व्याप्त है। वह अजर, अमर, शुद्ध, बुद्ध, निर्गुण चैतन्य निराकारी तथा निर्लिप्त है। यह आत्मा परब्रह्म शिव है। अखण्ड है। वह नित्य प्रकाश स्वरूप है। सच्चे भक्ति, सच्चा प्रेम तथा स्वच्छन्द प्रकाश अपनी आत्मा से ही प्राप्त होता है। आत्मा प्रकाश होने पर अन्य सभी प्रकाश निःस्तेज हो जाते हैं तथा उस समय सारा अन्तःकरण शीतल तथा हृदय आनन्द एवं शान्ति से पूर्ण हो जाता है।

29- अतस्तत्रद्भासक नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तसत्यस्वभावं प्रत्येक चैतन्यमेंवात्मस्तुज्ञाति।

- वे सा0 पृष्ठ - 119

षष्ठ अध्याय

- गोरक्ष दर्शन में ब्राह्माडम्बर खण्डन -

1- अव्यक्त अनाम परब्रह्म

2- शास्त्राभ्यास की अपेक्षा योगाभ्यास की महत्ता

3- विभिन्न मतवादियों की तत्व प्राप्ति में असमर्थता

4- कर्मादि उपासनाओं की असमर्थता

5- द्वैताद्वैत से परे द्वैताद्वैत विलक्षणवाद

6- देवताओं की भगवत्ता का खण्डन तथा षट् पदार्थनिरूपण

7- निर्गुण-सगुण आदि का निरास तथा नाथ की सर्वोच्चता

अव्यक्त अनाम परब्रह्म :

महायोगी गुरू गोरक्षनाथ जी का परम पद अव्यक्त अनाम परब्रह्म के विषय में कथन है[1] कि जब कोई कर्ता नहीं है, न कारण है और न कुल तथान अकुल है तब ब्रह्म अव्यक्त नाम से परे होता है अर्थात परब्रह्म परमेश्वर नाम से रहित है। वह अविनाशी है।

श्री कृष्ण ने भी कहा है[2] कि परम अक्षर अर्थात जिसका कभी नाश नहीं हो, ऐसा सच्चिदानन्द घन परमात्मा तो ब्रह्म है।

अतः सर्वशक्ति सम्पन्न परमात्मा किसी भी नाम से परे सर्वश्रेष्ठ सर्वगुण सम्पन्न है। उसको किसी नाम से पुकारा नहीं जा सकता। वह परम पद शून्य और अपरम्पर है। वह एक है। अनादि, अनन्त, सर्वज्ञ है। वह परब्रह्म परम सत्ता समस्त भौतिक पदार्थों का एक मात्र कारण स्वरूप है।

यह अनामा परब्रह्म इस सम्पूर्ण जगत व्यवस्था में स्थित प्रत्येक अणु-परमाणु में परिव्यापक सत्ता है, जो सर्व व्यापक, चैतन्य, निर्गुण, निराकारी, आनन्दमय है, जो किस भी परिसीमा में बान्धा नहीं जा सकता। यह अव्यक्त अनामा परब्रह्म निरव्यवी, सर्वनियन्ता, सर्वव्यापी, नित्य, जगत का उत्पति कर्ता पालक एवं संहारक है।

1- यदा नास्ति स्वयं कर्ता कारणं न कुलाकुलम्।
अव्यक्तन्च परं ब्रह्म अनामा विद्येत तदा ।।
- सि० सि० प० पृष्ठ -2 1/4

महायोगी गुरु गोरक्षनाथ आगे कहते हैं[3] कि परम पद स्वानुभवैकगम्य है स्व संवेद्य है और स्व प्रकाश स्वरूप अभिव्यक्त है - किसी अन्य प्रकाश के माध्यम से यह बोधगम्य नहीं है। स्व संवेद्य अर्थात परमात्मा ही परमात्मा को जानता है अथवा जब कुण्डलिनी के पूर्ण प्रबोधन से जीवात्मा अखण्ड परमात्म स्वरूप को प्राप्त हो जाता है, तब वह परम पद में स्वस्थ हो जाता है यही परम पद की स्व संवेद्यता है।

अपि च -

" परम तत्व निराकार, अविच्छिन्न अर्थात जन्म, मरण आदि से रहित अर्थात शाश्वत, मन और वाणी का अगम्य, निश्चल, अविनश्वर, सब उपाधियों से रहित एवं सब काम-नामों से शून्य है।"[4]

"जिससे सब कुछ उत्पन्न होता है, जिसमें सब स्थित है और जिसमें सब लीन होते हैं, वह "पर तत्व" परम तत्व कहा जाता है। जो सत् §अस्ति§ असत्, §नास्ति§, सदसत् §अस्ति नास्ति§, और असत् असत् §नास्ति नास्ति§ इस चतुष्कोटि से विनिर्मुक्त, विनाश और उत्पत्ति से रहित एवं सर्व कल्पनाओं से अतीत तत्व है, वह "परतत्व" कहा जाता है।[5] अन्यत्रभी कहा गया है-[6]

2- अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोंऽध्यात्भमुच्यते।
भूतभावोंद्रवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः।
- गीता पृष्ठ - 142 8/3

3- परमपदमिति स्वसंवेद्यमत्यन्तभासाभासकमयम्।
- सि0 सि0 प0 पृष्ठ - 118 5/2

4- अनाकारंमविच्छन्नभग्राह्यम चलं ध्रुवम्।
सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं सर्वकाम विवर्जितम् ।।
- अ0यो0 पृष्ठ -8 1/25

" वह परब्रह्म स्वयं मन, श्रोत्र, हाथ और पैर से रहित है। वह प्रकाश द्वारा जाना जाता है। § वह एक मात्र ज्योति स्वरूप हैं7 वहाँ लोक लोक नहीं, वेद वेद नहीं हैं, देवता देवता नहीं है, यज्ञ-यज्ञ नही है, माता माता नहीं है, पिता-पिता नहीं है, पुत्र बधू पुत्र वधू नहीं है, चाण्डाल-चाण्डाल नही हैं, पौष्कस §निकृष्ट जाति§ पौष्कस नही है, श्रमण § बौद्ध या जैन सन्यासी§ श्रमण नही है, पशु-पशु नही है और तापस तापस नही है, अपितु सर्वत्र एक मात्र परब्रह्म ही है। "

" उस सच्चिदानन्दस्वरूप परमेश्वर के परम पद तक ब्रह्मा, विष्णु और रूद्र, इन्द्र और देवगण, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, दिशाएँ, काल, वेद, यज्ञ, सूर्य और चन्द्रमा, विधिकल्प की भी पहुँच नहीं है, एक मात्र सत्य स्वरूप निजा शक्ति ज्योति ही उस §परम§ पद में अभिव्यक्त है।"7

अतः वह परमपद, परमात्मा, परम अक्षर ब्रह्म सबके लिए उपासनीय है। वह न जन्म लेता है, न मरता है। वह न तो स्वयं सूखता है और न उसे जलाया ही जा सकता है। न किसी प्रकार ही उसे विचलित किया जा सकता है। वह समस्त गुणों §सत्व, रज, तम§ से परे सबका साक्षी, निर्मल, निर्विकार, अखण्ड स्वरूप, अद्वितीय

5- यस्भादुतपद्यते सर्वं यस्मिन सर्वं प्रतिष्ठितम्।
यस्मिन विलीयते सर्वा परतत्वं तदुच्ययते।।
भावाभावविनिर्मुक्तं विनाशोत्पन्तिवर्जितमृ
सर्वसंकल्पनातीतं परतत्वं तदुच्यते ।।
- वही पृष्ठ - 7 1/23, 24

सूक्ष्म, निराकार, निरंजन, निरभिमान, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध से रहित, आकांक्षा रहित निर्विकल्प और सर्वव्यापक है। वह अशुद्ध एवं अपवित्र वस्तुओं को पवित्र करने वाला है। वह क्रिया रहित है। वह जन्म-मरण रूप विकार युक्त संसार के बन्धनों से परे शान्त चित्र है, जिसकी महिमा का यशोगान अवर्णनीय है। वह अव्यक्त अनामा परब्रह्म परमेश्वर सभी के लिए उपासनीय है तथा सभी को उसके पाने के विहित कर्म करना श्रेयस्कर है।

शास्त्राभ्यास की अपेक्षा योगाभ्यास की महत्ता :

योग विद्या भारतीय आध्यात्म तत्व की अत्यन्त प्राचीन निधि है। महायोगी गुरू गोरक्षनाथ जी ने साधना का प्राण योग महाज्ञान को ही स्वीकार किया है, उनका कथन है[8] कि योग ही परम पूज्य है, इससे श्रेष्ठ पुण्य दूसरा नहीं है योग ही परम सुख-परभानन्दघन, यही अत्यन्त सूक्ष्म दर्शन है। जीवन विज्ञान है और योग मार्ग ही सर्वरेष्ठ मार्ग है।

6- स्वयभमनस्कमश्रोत्रम पाणिपादं ज्योतिर्विदितं तत्र लोकानलोकाः, वेदान वेदाः देवा न देवाः, यज्ञा न यज्ञाः, माता न माताः, पिता न पिता, सस्नुषा न स्नुषा, चाण्डालो न चाण्डालः, पौष्कसो न पौष्कसः, श्रमणों न श्रमणः पाशवोनन पशवः;तापसो न तापसः इत्येकमेव परमिति।
- गो0 सि0 स0 पृष्ठ - 23
(ब्रह्मोपानिषद् से उद्घृत)

अति प्राचीन काल से ही साधना के दो मार्ग प्रचलित रहे हैं। ज्ञान मार्ग और योग मार्ग। ज्ञान मार्गावलम्बी तत्व विचार को ही मोक्ष का सर्वोत्तम साधन मानते हैं। वे शास्त्राभ्यास को ही समस्त स्थूल एवं सूक्ष्म विषयों तथा मोक्ष प्राप्ति का सर्वोत्कृष्ट उपाय मानकर चलते हैं। वे शास्त्रों से प्राप्त ज्ञान को ही सर्वोत्तम मार्ग समझते हैं, जबकि योगीगण इस प्रकार के शास्त्राभ्यास तथा मात्र तत्व विचार द्वारा मोक्ष प्राप्ति की पूर्ति को नही मानते, उनके विचार में मोक्ष प्राप्ति अथवा परम पद प्राप्ति का उत्तम मार्ग योग मार्ग है।

महायोगी गुरू गोरक्षनाथ जी ने योग मार्ग की निन्दा करने वालों को पाखण्डी बतलाते हुए कहा है[9] कि योग मार्ग तन्त्र मार्ग में दीक्षित साधकों और मुमुक्षुओं की जो लोग निन्दा करते हैं। वे और उनके साथ रहने वाले सहवासी सबके सब सन्मार्ग की प्राप्ति में असमर्थ होने से तथा परमात्म बोध और आत्म स्वरूप की प्राप्ति में अनभिज्ञ होने से पाखण्डी है।

7- न ब्रह्मा विष्णु रूद्रों न सुरपति सुरा नैव पृथ्वी नचापो।
नैवाग्निर्नीति वाययुर्न च गगनतलं नौ दिशों नैव कालः।
नौ वेदा-नैव यज्ञा न च रविशशिनौ नौ विधिर्नैवकल्पाः।
स्वं ज्योतिः सत्यमेकं जयति तव पंद सच्चिदानन्मूर्ते।।
- गो0 सि0 स0 पृष्ठ - 25
§श्री नित्यनाथ कृत सिद्ध सिद्धान्त पद्धति से उद्धृत§

8- योगात्परतरं पुण्यं योगात्पर तरं सुखम्।
योगात्परतरं सूक्ष्मं योगमार्ग्यत्परं न हिं ।।
- यो0 वा0 ना0 यो0 सा0 वि0 पृष्ठ - 15
§ योगबीज से उद्धृत §

9- योगामार्गेषु तन्त्रेषु दीक्षितास्तांश्च दूषकाः।
तेहि पाखण्डिनः प्रोक्तास्तथा तैः सह वासिनः।।
- सि0सि0 प0 पृष्ठ - 120 5/5

शास्त्रों के अभ्यास की अपेक्षा यदि योग मार्ग का ही अनुसरण किया जाये तो श्रेयस्कर है, कहा भी गया है[10] योगशास्त्र ही सच्छास्त्र है, यह साक्षात् आदिनाथ शिवजी के मुख कमल से निर्गत प्रकट हुआ है, साक्षात् शिव जी ने इस योगशास्त्र का कथन किया है। इस योग शास्त्र का नित्य पाठ करना चाहिए इसका ज्ञान प्राप्त कर लेने पर अन्य शास्त्रों में वर्णित ज्ञान का विस्तार निष्प्रयोजन है।

क्योंकि[11] जो लोग विविध शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त कर अहंकार वान होते हैं, प्रचुर गर्वयुक्त होते हैं, वे सैकड़ों ग्रन्थों के अध्ययन से भी उपदेश देना नहीं जानते हैं।

अन्यत्र भी योग मार्ग की प्रशंसा के विषय में कहा गया है[12] कि यदि अनेक योजनों में फैले पहाड़ के समान पाप हो तो वह भी ध्यान योग द्वारा विदीर्ण हो जाता है। उसको नष्ट करने अथवा विदीर्ण करने का कोई दूसरा उपाय है ही नही।

गुरु गोरक्षनाथ जी ने योग को वेद कल्पतरु का परम फल बतलाते हुए कहा है[13] वेद कल्पतरू है। जिस तरह कल्पतरू की शाखाएँ पक्षियों के आश्रय स्थान है ठीक उसी तरह द्विजों द्वारा वेद की शाखाओं, प्रतिशाखाओं

11- योगशास्त्रं पठेनित्यं किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
यत्स्वयं आदिनाथस्य निर्गतं वदनाम्बुजात्।।
-ग- सि0 सि0 प 0 पृष्ठ - 120 5/5

का परिशीलन किया जाता है। वेद रूपी कल्पतरू का फल योग है। यह §योग§ संसार के तापों §आधिदैहिक, आधिभौतिक, आधिदेविक§ का शमन §नाश§ कर देता है।

भगवान् श्री कृष्ण ने भी योगी की प्रशंसा करते हुए कहा है[14] कि योगी तपस्वियों से श्रेष्ठ है, और शास्त्र के ज्ञान वालों से भी श्रेष्ठ माना गया है तथा सकाम कर्म करने वालों से भी योगी श्रेष्ठ है।

कुछ लोग शास्त्रों के विषयों को न जानते हुए भी मात्र शास्त्रों के पठन-पाठन से गर्वोन्मत रहते हैं, जबकि उन्हे उनकी मर्मज्ञता के विषय में कुछ भी मालूम नहीं होता तथा वे अपनी आयु का आधा भाग प्रायः इसी प्रकार शास्त्रों के परिशीलन में बिता देते हैं। तदनन्तर इन्द्रियों की शिथिलता के कारण योगाभ्यास करने में असमर्थता आ जाती है अर्थात योगाभ्यास करने की शक्ति नहीं रह जाती। अतः मनुष्यो को प्रारम्भ में ही अक्षर मात्र का ज्ञान प्राप्त कर योग का अभ्यास करना ही उचित है। कहा गया है[15] कि यह योगशास्त्र महादिव्य है, अपने आप में निगूढ़ रहस्य है, परमेश्वर स्वरूप है समस्त तत्वों का एक मात्र सुनिश्चित सिद्धान्त है और अनेक तत्सम्बन्धी संकेतों का निश्चयात्मक निर्णय है, सिद्धो द्वारा प्रत्यक्ष किया गया महायोग ज्ञान है स्व संवेद्य पद - स्व रूपावस्थान में प्रतिष्ठित करने वाला है, स्व रूपानन्द प्रदान

11- अहंकारावृत्ताः केचिद् ज्ञात्वा शास्त्रसमुच्चयम्।
उपदेशं न जानन्ति ते च ग्रन्थशतैरपि ।।
- अ0 यो0 पृष्ठ - 34 2/39

12- यदि शैलसमं पापं विस्तीर्ण योजनान्बहून्।
भिद्यते ध्यानयोगेन नान्यो भेदः कदा चन।।
-गो0सि0स0पृष्ठ-।। §ध्यानविन्दू उपनिषद् से उद्घृत§

करता है, यह नित्य सनातन विज्ञान है, समस्त सन्देहों तत्व के विषय में शंकाओं का उच्छेद करने वाला है।

अपि च -[16] अठारहो पुराण, महाभारत, चारो वेद, अनेक धर्मशास्त्र और पुत्र स्त्री आदि रूप सांसारिक प्रपंच, सबके सब योग साधना के मार्ग के महान विघ्न है।

अतः इन समस्त शास्त्रों तथा सांसारिक प्रपचों से परे एक मात्र योगाभ्यास में तत्पर होना ही कल्याणकारी तथा श्रेयष्ककर है।

विभिन्न मतवादियों की तत्व प्राप्ति में असमर्थता:

आत्मा का परमात्मा से साक्षात्कार परमतत्व का ज्ञान एवं अव्यक्त अनामा अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति, जीव का परम धर्म जीवन का परम पुरूषार्थ तथा मोक्ष प्राप्ति का एक मात्र एवं श्रेष्ठ उपाय योग ही है। शास्त्र आदि बाह्य साधनों से प्राप्त होने वाला ज्ञान दीप प्रकाशवत् अल्प तथा सशय आदि दोषों से युक्त तथा आत्मा को प्रकाशित करने में असमर्थ होता है। स्वात्मस्वरूप आत्मा को प्रकाशित करने वाला ज्ञान योगाभ्यास द्वारा उपलब्ध विवेक जन्य ज्ञान, सूर्य के प्रकाशवत् सभी विषयों के तत्वों को सर्वांगीर्ण एवं यथार्थ रूप में एक साथ सर्व प्रकार से उद्भासित्

13- द्विज सेवित शाखस्य श्रुतिकल्पतरोः फलम्।
शमनं भवतापस्य योगं भजत सत्तमः।।
- गो0 शा0 पृष्ठ- 2/6

14- तपस्विभ्योंऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिकों योगी तस्माद्योगी भवार्जुनः।।
- गीता पृष्ठ - 129 7/46

करने वाला, भ्रान्ति आदि दोषो से रहित, सर्वथा सत्य, देश काल सम्बन्धी सीमाओं से अबाधित पूर्ण तथा अविद्यादि क्लेशों, कर्मादि संस्कारों का नाश करने से मोक्षप्रद एवं अनन्त होता है। कहा भी गया है[17] कि-

" जिनका वह अन्तःकरण का अज्ञान आत्म ज्ञान द्वारा नाश हो गया है, उनका वह ज्ञान, सूर्य के सदृश उस सच्चिदानन्दघन परमात्मा को प्रकाशता है अर्थात परमात्मा के स्वरूप को साक्षात्कराता है।"

योग साधना से रहित अकेला मात्र ज्ञान मोक्ष प्राप्ति कराने, ब्रह्म के साथ ऐक्य कराने तथा अविद्यादि का नाश कराने में समर्थ नही है इसके लिए योग का अभ्यास आवश्यक है। वस्तुतः परब्रह्म परमतत्व का ज्ञापक एवं प्रापक तथा समस्त प्रकार के तापों का शामक योग ही है। योग द्वारा ही सभी विषयों एवं वस्तुओं का पूर्ण एवं प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। अतः एक मात्र योग शास्त्र के अध्ययन में ही श्रम करना श्रेयस्कर है। क्योंकि जिस प्रकार असंख्य दीपक भी सूर्य का दर्शन नहीं करा सकते, सूर्य के समक्ष उनका प्रकाश नगण्य है, उसी तरह शास्त्र उस परम तत्व का वर्णन करने में असमर्थ है। वह परम पद तो योगियों को ही प्रत्यक्ष हो सकता है। इस योग का आश्रय न लेने वाले अन्य मतवादि गण तो अपने-अपने अभिप्राय के अनुसार उस परम पद का

15- एतच्छास्त्रं महादिव्यं रहस्यं पारमेश्वरम्।
सिद्धान्त सर्वसारस्य नानासङ्केत निर्णयम्।
सिद्धानां प्रकटं सिद्धं सद्यः प्रत्ययकारकम्।
आत्मानन्दकरं नित्यं सर्वसन्देह नाशनम्।।
- सि0सि0प0 पृष्ठ-171 6/97,98

विवेचन करके व्यर्थ ही विवाद के भार से बुद्धि को थकाकर कष्ट ही उठाते हैं, उन्हें शान्ति, परमपंद अथवा मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है।

महायोगी गुरू गोरक्षनाथ जी अनेक मतवादियों के विषय में घोषणा करते हैं[18] कि वेदान्ती कर्मोपासना आदि का त्याग कर शब्द जाल-प्रमाण आदि का आश्रय ग्रहण कर द्वैतवाद का खण्डन करते हैं, उनकी मंति कठोर तर्कों से ग्रसित रहती है और वह निदिध्यासन से बहिर्भुख हो जाती है। §यद्यपि वे मायावाद का खण्डन कर जगत को मिथ्या और ब्रह्म को सत्य कहते हैं तथापि माया में भ्रमित होकर अखण्ड ज्ञानस्वरूप आत्म तत्व से वंचित रहते हैं§ पूर्व मीमांसक केवल यज्ञादि कर्म में तत्पर रहते है। वैशेषिक आदि दर्शनों के मर्मज्ञ द्वैताग्रह से सदबुदधि को कुण्ठित कर देते हैं, इसी तरह अन्य मत-मतान्तरों के अनुयायी अपने-अपने मत का दृढ़ समर्थन करने में विवाद प्रस्तुत करते हैं और सत्स्वरूप के बोध से वंचित रहते हैं, इस लिए श्रेष्ठ योग-मार्ग पर चलने वाले निष्ठावान् साधक को द्वैताद्वैतविवर्जित सत्सिद्धान्त सिद्धमत का ही आश्रय-ग्रहण करना चाहिये। सांख्य दर्शन में निष्ठा रखने वाले सांख्यमतावलम्बी, वैष्णव, वैदिक, आचार-विचार में प्रवृत्ति रखने वाले, सन्यासाश्रमी, तपस्वी, सूर्य के उपासक, वीर शैव सांसारिक विषय-प्रपंच में प्रवृत्त, बौद्ध और जैन आदि

16- पुराणं भारतं वेदा धर्मशास्त्राण्यनेकशः।
पुत्रदारादि संसारो योगमार्गस्य विघ्नकृत्।
-गो०सि०स० पृष्ठ-15 §उत्तर गीता से उद्धृत§
17- ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेजामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्।।
- गीता पृष्ठ - 105 5/16

आदि स्वसंवेद्य परमात्म स्वरूप से वंचित §दूर§ हो कर प्रपंच जाल में ही उलझे रहते हैं, इसलिए योग साधक को सिद्ध सिद्धान्त का अनुगमन करना चाहिये। अनेक शिष्यों को मन्त्र-दीक्षा प्रदान करने वाले गुरू जन - आचार्य यज्ञ यागादि हवनकर्म से मुक्ति का सम्पादन करने वाले, दिगम्बरं, तापस, अनेक तीर्थों में भ्रमण करने वाले जप करने वाले, मौन व्रत सदाधारण करने वाले-सबे-के-सब व्यर्थ दुःख के भार से आक्रान्त रहते हैं, उन्हें सत्स्वरूप की प्राप्ति नही हो पाती, इस लिए योगनिष्ठ साधक को समरसकरण भाव §सिद्ध सिद्धान्त मत§ का ही आश्रय ग्रहण करना चाहिये।

उन्होने अन्यत्र भी कहा है[19] कि संकल्प मूलक ध्यान आदि महाज्ञान है, इसके द्वारा आध्यात्म का चिन्तन करने वाला विद्वान ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा वेदों के ही अंग उपनिषदों §आदि में वर्णित तत्व§ का ज्ञान स्वतः प्राप्त कर लेता है।"

18- वेदान्ती बहुतर्क कर्कशमति ग्रस्तः परं मायया।
भाट्टाः कर्मकलाकुला हतधियो द्वैतेनवैशाषिकाः।
अन्ये भेदरता विवाद विकलाः सत्तत्वतोवंचिता-
स्तस्मात्सिद्धमतं स्वभाव समयं धीरः सदासश्रयेत्।।
सांख्या वैष्णव वैदिकाविधिपराः सन्ययासिनस्तापसा।
सौरा वीरपराः प्रपंचनिरता बौद्धाजिन श्रावकाः।
एते कष्टरता वृधा पथगताः सत्तत्वेता वंचिता-
स्तस्मात्सिदमतं स्वभाव समयं धीरः सदा संश्रयेत्।।
आचार्या बहुदीक्षिता हुतिरता नग्नव्रतास्तापसा
नाना तीर्थ निषेवका जपपरा मौनेस्थिता नित्यशः।
एते ते खलु दुःख भार निरताः सतेतवेता वंचिता
स्तस्मात्सिद्धमतं स्वभावसमयं धीरः सेदा सश्रेयेत्।
- सि0सि0 प0 पृष्ठ- 161 6/73,74,75

19- संकल्पमूल ध्यानादिचिन्ताशस्त्रे समा कुलाः।
क्लेशेनापि न विदन्ति प्राप्तव्यस्थान भीप्सितम्।
वेदान्त तर्कीकित भिरागभैश्च

कर्मादि उपसनाओं की असमर्थता:

मनुष्य -शास्त्र, समाज अथवा आचार्य के आदेश पर दान, व्रत, पूजा, तपस्या आदि जो भी कर्म करें उससे वह उन कर्मों के फल स्वरूप कुछ ऐहिक और पारत्रिक सुख सम्भोग का अधिकारी भले ही हो जाये किन्तु इन कर्मों से वह मानव जीवन के चरम लक्ष्य मुक्ति की दिशा में अग्रसर नही हो सकता। वस्तुतः योग और योगार्थ कर्मों के सम्बन्ध में इस प्रकार विचार करना चाहिए कि कौन वस्तु कितनी आवश्यक है और कौन अनावश्यक, किस प्रकार के कर्मों से चित्त की शुद्धि होगी, वासना का संकोच होगा, प्रवृतियां वश में आयेगी। अपने मनुष्योचित कल्याण की प्राप्ति में सहायता होगी और दूसरे किसी का किसी प्रकार का अनिष्ट नहीं होगा एवं किस प्रकार के कर्मों से लोभ एवं आशक्ति बढ़ेगी, चित्त में मलिनता आयेगी, प्रवृतियां प्रबल होगी, आध्यात्मिक कल्याण की हानि होगी तथा प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से दूसरे का अनिष्ट होगा। इस से परे परब्रह्म परमेश्वर के विषय में जानने का कर्म करना ही श्रेयस्कर है। कहा भी गया है[2] कि योगी को सभी शास्त्रों के §विचार§ अध्ययन और जप होमादि कर्म§के अनुष्ठान§ से निवृत्त होकर तथा धर्म-अधर्म से §क्या करना धर्माचरण है-क्या करना अधर्म है-उससे§ उपर उठकर अर्थात परे होकर एक मात्र योग का ही विधिपूर्वक अभ्यास करना चाहिये।

नानाविधैः शास्त्र कदम्ब कैं श्च।
ध्यानादि भिः सत्करणैर्न गम्यं
चिन्तामणिह्येक गुरुं विहाय।।
तस्मान्नूनं सकलविषया निष्कलाध्यात्मयोगाद्

अपि च[22]-

"हवन यज्ञादि सारी वैदिक क्रियाऐं कर्ता को फल प्रदान कर देती है उसके द्वारा उनका फल भोगने पर उन क्रियाओं का क्षरण-नाश हो जाता है§ वे क्रियाऐं सदा फल दायिनी नहीं होती है§ प्रजापति ब्रह्म ही अविनाशी है, उसकी प्राप्ति यज्ञादि वैदिक क्रियाओं से सरल नहीं है। वहीं एक मात्र ज्ञेय है, उसी एक मात्र परब्रह्म परमेश्वर का साक्षात्कार अथवा प्राप्ति ही सारी यज्ञादि क्रियाओं का परम फल है, अतः उसी को जानने की साधना करनी चाहिये।"

महायोगी गुरू गोरक्षनाथ जी विभिन्न प्रकार के कार्यो के प्रति कहत है[23] कि काषाय §गेरवे§ वस्त्र धारण करना, खप्पर धारण करना, केशों को नोचना, पाखण्ड-व्रत लेना, भस्म, कन्था और जटा धारण करना उन्भतवत् रहना, नग्न रहना, सभाओं में निगम और आगभों पर व्याख्यान देना, काव्य-गोष्ठी में भाग लेना - यह उदर पूर्ति के लिए है। पद्नानिःश्रेयस् का साधन नही है। द्वेष §विदेषण§ उच्चाटन, भारण आदि प्रबचंनाओं से युक्त मन्त्रों से प्रपंच की उत्पति होती है, पूर्ण अभ्यास, भाँति-भाँति

वायोनशिस्तदनु मनसस्तद्विनाशाच्च मोक्षः।
स्याच्चेदवं सहजममलं निर्विकारं निरीहं
ज्ञात्वा यत्नं कुरूत कुशलाः पूर्णमेवामनस्के ।।
- अ0 यो0 पृष्ठ - 34 2/40,41,43

20- ऋचो यर्जूंषि सामानि वेदोपनिषदस्तथा।
योगज्ञानादवाप्नोति ब्राह्मणोऽध्यात्मचिन्तकः।।
-गो0सि0स0 पृष्ठ-16 §वायु पुराण से उद्घृत§

21- उत्सृज्य सर्वशास्त्राणि जनहोभादि कर्म च ।
धर्माधर्मीविनिर्मुक्तो योगी योगं समभ्यसेत्।।
-गो0 सि0स0 पृष्ठ- 10 §खेचरी संहिता से उद्घृत§

केआसन बन्धो का बिना अन्तरंग-विवेक के करना केवल अज्ञान ही है, देह स्थित नाड़ियों में तथा छः आधार वाले में ध्यान केवल चित का विभ्रम है, इस लिए मन से कल्पित इन सब का त्याग कर अमन एक योग का सेवन करो।

अपि च[24]-

" कष्टकारी विविध साधनों से किसी प्रकार कठिनाई से वायु पर विजय प्राप्त कर और उसका प्रयत्न पूर्वक अपने शरीर की सम्पूर्ण नाड़ियों से संचार कर अश्रदेय §अविश्वसनीय§ परकाय प्रवेश की असंदिग्ध रूप से सिद्ध कर विज्ञान में व्यसन से सुख मानने वाले को भी अथार्त विज्ञानार्जन में अत्यन्त परिश्रमशील साध को भी तत्व की सिद्धि नहीं होती है। कई §अघोर पन्थी§ अपना मूत्र पीते हैं, कई अपना मल ग्रहण करते हैं, कई अपने शरीर पर राख पोतते हैं, दुराचरण का पराकाष्ठा को प्राप्त हुए कई युवती जनों के गुह्वांग की बून्दों को उपर खींचते हैं, कई विविध प्रकार की धातुओ §रसों§ का सेवन करते हैं और कई शरीर की समस्त नाड़ियों में वायु का संचार करने में निपुण हैं, परन्तु इन सबको कार्य सिद्धि प्राप्त नहीं होती। कार्य

22- क्षरन्ति सर्वा वैदिक्यों जुहोमियजति क्रियाः।
अक्षरं दुष्करं ज्ञेयं ब्रह्म चैव प्रजापति ।।
- गो0 सि0 स0 पृष्ठ-14 §मनुस्मृति से उद्घृत§

23- काषायग्रहणं कपाल धरणं केशावली लुचनं।
पाखण्डव्रत भस्मचीवर जटा धारित्वमुन्मतता।।
नग्नत्वं निगमागभादिकविता गो गोष्ठी सभाभ्यन्तरे,
सर्व चोदर पूरणाय पठनं न श्रेयसःकारणम्।।
द्वेषाच्चटानमारणादि कुह कैर्मन्तैः प्रपंचोद गभः
सर्वाभ्यास विचित्रबन्धकरणाद्यज्ञानयोगः परर:।

सिद्दि का अमनस्क §जिससे अपना मन विलीन हो गया ऐसे§ राजयोग के सिवा साधन नही है। नाना तर्कों के ऊहा-पोह से कर्कश बुद्दि वाले कई लोग निविड अहंकार से उद्दत रहते हैं एवं कई जातिगत अभिमानान्वित होकर ध्यान आदि कर्मों में व्यग्र रहते हैं। पृथ्वी पर प्रायः सभी प्राणी मूदमन §विकृत मस्तिष्क§ हैं तथा अनेक प्रकार की विकृतियों से युक्त है। एक मात्र निर्विकार सहजानन्द का उपभोग करने वाले लोग नही दिखाई देते हैं। कई एक दण्डधारी हैं तो कई त्रिदण्ड आदि धारण करने वाले हैं, कई जप धारी हैं तो कई सर्वांग में खूब भभूत रमाये हुए हैं, कई मुण्डित मस्तक हैं तो कई नग्न रहने वाले हैं और कई रक्त वस्त्र धारण करने वाले हैं। कई उन्मत्त से हैं तो कई अभोज्य भक्षण, अपेय पान आदि पाखण्ड वृत्ति धारण करते हैं- इत्यादि अनेक लिंगों का ग्रहण केवल नाना रूपों का प्रदर्शन मात्र हैं।"

श्रीभद् आद्यशंकराचार्य जी ने भी ऐसा ही लिखा है।[25] कि सिर पर जटाये धारण करना, बालों को नोचना, गेरूवे वस्त्रों द्वारा विविध प्रकार के वेश धारण करना, देखते हुए भी न देखना, ये विविध प्रकार के वेश धारण केवल उदर पूर्ति के ही साधन है।

व्यानं देह पदेषु नाडिषु षडाधारे च चेतोभ्रम-
स्तस्मात् तत्सकलं मनोविरचितं त्यक्त्वाउभनस्कंभज।।
-- अ0 यो0 पृष्ठ - 6 1/19,20

24- जित्वा वायुं विविधकरणैः क्लेशमूलैःकथंचित,
कृत्वा यत्नं निजतनुगता शेषनाड़ीपुचारान्
अश्रद्धेयां परपुरगतिं साधयित्वापि नूनम्,
विज्ञानेऽपि व्यसनसुखिनो नास्ति तत्वस्मासिद्दिः ।।

द्वैताद्वैत से परे द्वैतद्वैत विलक्षणवाद :

मीमांसक द्वैत स्वीकार करते हैं तो वेदान्ती अद्वैत मानते हैं, जबकि योगी गणों की दृष्टि में वही सत्य है जो द्वैत-अद्वैत विवर्जित §विलक्षण§ हैं। कहा गया है[26] कि कुछ लोग अद्वैत की इच्छा करते हैं तो दूसरे लोग द्वैत की अभिलाषा रखते हैं, इसीलिए उन्हे उस समत्व की प्राप्ति नहीं हो पाती, जो द्वैत और अद्वैत से विलक्षण है। यदि वह परम देव सर्वव्यापी, अचल, पूर्ण और अविनाशी है तो उसके लिए द्वैत-अद्वैत होने की कल्पना करना महान अज्ञान है - मोह है। कितनी बड़ी भूल है यह।

वस्तुतः कुछ लोग ब्रह्म को साकार मानते हैं तो कुछ निराकार। लेकिन वह ब्रह्म तो साकार-निराकार §द्वैताद्वैत विलक्षण§ से परे एक चक्रवर्ती सम्राट के समान सबसे ऊपर अर्थात् सर्वेश्वर है। योगी साधक की आत्मा जब समस्त बन्धनों से रहित हो कर एक मात्र निर्विशेष ब्रह्म स्वरुप में स्थित होती है तब उसके लिए साकार-निराकार

केचिन्मूत्रं पिबन्ति स्वमलमथ तनौ केचिदुज्झन्ति लालां
केचित्काष्ठां प्रविष्टा युवति भगगतं विन्दु मूर्ध्वं नयन्ति।
केचित्खादन्ति धातून् अखिलतनुशिरावायु संचार दक्षा-
स्तेषां देह सिद्धि विगतनिज मनोराजयोगादृत स्यात्।।
केचित्तर्क वितर्क कर्कशधियोऽहंकार दर्पो द्धताः
केचिज्जातिगताभिमान भरिता ध्यानादिकर्माकुलाः।

रूप, द्वैताद्वैत भाव, ध्याताध्येय, ज्ञाता ज्ञेय आदि समस्त भावों का लोप हो जाता है तथा एक मात्र द्वैताद्वैत विलक्षण परब्रह्म पर मेश्वर ही विराजमान् रहता है। इसी द्वैताद्वैत विवर्जित परमपद परब्रह्म पर मेश्वर तक पहुंचना सिद्ध योगियों का परम लक्ष्य है।

देवताओं की भगवत्ता का खण्डन तथा षट्पदार्थ निरूपण :

महायोगियों के मत[27] में भगवान या देवता वही कहा जा सकता है जो समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य आदि छः पदार्थों से मुक्त हो। इनमें से एक भी गुण से वंचित को भगवान कहा जाता है तो वह युक्ति संगत नहीं है। इनके अनुसार भगवान रूप माने जाने वाले रूद्र, विष्णु, शंकर, श्री कृष्ण, श्री राम आदि को देवता या भगवान नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि भगवान रूप का पहला गुण समग्र ऐश्वर्य ही उनमें प्राप्त नहीं है, वे सभी काम के वशीभूत और स्त्री का संग करने वाले हैं, जिन्हें लोग योगी कहें और वे स्त्री का संग करें तो यह उपहारसास्पद ही है। दूसरा गुण धर्म। जहाँ-जहाँ छल किया जाय वह धर्म का अस्तित्व होना भला कैसे सम्भव हैं, जिनमें विष्णु का छल, नारद का वानर का मुख बना देना, श्री राम का छिपकर बाली का वध करना आदि प्रसिद्ध ही है। तदनन्तर यशस्त्री का हरण हो जाय और यश भी शेष

प्रायः प्राणिगणा विभूढ़मनसो नानाविकारान्विता
दृष्यन्ते नहि निर्विकार सहजानन्दैक भोगाकुलाः।।
एकदण्डत्रिदण्डादि जटाभस्मादिकं तथा ।
केशमुंचन नग्नतवे रक्तचीवरधारणम् ।।
उन्मत्तताम भोज्यान्नपानं पाखण्डवृत्तिता।
इत्यादिलिंगग्रहणं नानादर्शन दर्शनम्।।
-अ0यो0 पृष्ठ-32/32,33,34,35,36

रह जाय यह भी सम्भव नहीं है। पुनश्च श्री भी कहाँ से प्राप्त होगी जबकि यश ही नहीं। ज्ञान उन्हे यदि था तब अज्ञान के कार्य रूप वे सांसारिक कार्यों में क्यों प्रवृत्त हुए। वैराग्य तो इन भगवत् पद वाची देवताओं में दिखलायी ही नहीं पड़ता है। तब इन्हें देवता या भगवान् मानना कैसे सम्भव है। अतः इनको पुरूषों में श्रेष्ठ पुरूष या महापुरूष कहना ही उचित है।

निर्गुण-सगुण आदि का निरास तथा नाथ की सर्वोच्चता:

वह पर ब्रह्म §परमेश्वर शिव न तो सर्वथा साकार है, न निराकार ही है। उसके विषय में यह कहा ही नहीं जा सकता कि वह ऐसा है, अपितु भेद-अभेद से रहित, निर्गुण-सगुण से परे वह मात्र शिव स्वरूप ही है। वह योग मार्ग में द्वैत अद्वैत से परे परमेश्वर §पर ब्रह्म स्वरूप§ नाथ ही देवता है। निराकार ही ज्योति प्राप्त करने योग्य है। नाथ ही ध्यान करने योग्य है। अतः नाथ ही उपासनीय है। नाथ ही समस्त निर्गुण-सगुण देवताओं में सर्वोच्च है। कहा भी गया है-[28]

"सन्यासी ज्ञानी होते हैं और पण्डित लोग बोलने में निपुण होते हैं किन्तु अवधूत क्रिया सिद्ध, §आत्म तत्व§ स्वरूप और माया से निर्लिप्त होते हैं, जो विषय सम्बन्धी शरीर को नष्ट कर देते हैं तथा योगदेह की सृष्टि करते हैं और काल के भय से इसकी रक्षा करते है। वे कौन है? वे हरिश्वर स्वरूप परब्रह्म §नाथ§ ही हैं।

25- जटिलो मुण्डी लुंचितकेशः काषायांबरबहुकृतवेषः।
पश्यन पि चन पश्यतिभूढ़ः उदरनिमित्तं बहुकृतवेषः।।
-अ0यो0पृष्ठ-34 §चर्पट पंजरिकास्तोत्रम् से उद्घृत§

महायोगी एक गुरु गोरक्षनाथ जी भी अवधूत §नाथ§ की सर्व स्वरूपता के विषय में ऐसा ही लिखते है[29] कि अवधूत अपने स्व संवेद्य, द्वैताद्वैत विलक्षण, निर्गुण-सगुण से परे, अखण्ड आत्म स्वरूप में आत्मस्थित रहता है, इसलिए वह आश्रम §ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास§ की अवस्थाओं से परे होने से अत्याश्रमीकहा जाता है। वह §स्वरूप§ ज्ञानी-तत्वादि, सिद्ध और योग साधना व्रत में- जगन्मात्र को पर मात्म स्वरूप समझने में दृढ होता है। वह सृष्टि, पालन §स्थिति§ और संहार में §शक्ति युक्त होने से§ साक्षात् ईश्वर होता हैं, वह स्वामी §आत्मनिग्रही§ होता है, वह सर्वदा कृतार्थ और साधु होता है। वह जितेन्द्रिय, आत्माज्ञ, सद्बोध युक्त, तत्वचिन्तक और सर्वतन्त्र साकार- सगुण भगवान §सर्वसमर्थ§ होता है। वह समस्त नास्तिक- आस्तिक-आस्तिक दर्शन में आत्म बुद्धि रखने के कारण सबमें अखण्ड आत्म स्वरूप से समाहित रहने वाला, चार्वाक §सांसारिक विषय-भोग प्रवृत देहात्मवादी§, आत्म स्वरूप को प्राप्त अर्हत

26- अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
सम तत्वं न विन्दन्ति द्वैताद्वैत विलक्षणम्।।
यदि सर्वगतो देवः स्थिरः पूर्णो निरन्तरः।
अहो माया महामोहो द्वैताद्वैत विकल्पना।।
-गो0सि0स0 पृष्ठ-24 §अवधूत गीता से उद्धृत§

27- षट् पदार्था यत्र भवन्ति स भगवान्। के ते षट् पदार्थाः?
अणीसमग्रैश्वर्य । धर्म 2 यशः3 श्री 4 ज्ञान 5
वैराग्य 6 इत्येषा ।
- गो0सि0स0 पृष्ठ- 154

28- गो0 सि0 स0 पृष्ठ - 129

29- अत्याश्रमी च योगी च ज्ञानी सिद्धश्च सुव्रतः।
ईश्वरश्च तथा स्वामी धन्यः श्री साधुरेव च ।।
जितेन्द्रियश्च भगवान् स सुधीकोविदो बुधः।
चार्वाकश्चार्हितश्चैति तथा बौद्धः प्रकाशवित् ।।

§जैन§, स्वात्म प्रकाश में प्रबुद्ध होकर भी §बुद्धिवृत रूप क्षणिक आत्माविज्ञानवादी सुगत§ बौद्ध, न्याय वैशेषिक दर्शनावलम्बी परिणाम वादी, सांख्यवादी §तत्वनिष्ठ§ ज्ञानी, कर्मकाण्ड को ही परमफल प्राप्ति कराने वाले साधन में निष्ठ पूर्व मीमांसक, संसार का कारण देवता, स्वभाव काल, कर्म समझने वाले अनेकानेक शास्त्रों और विद्वानों के विचार का समर्थक, वह योगी अवधूत आत्म दर्शन में स्वस्थ होने से सर्वस्वरूप होता है। आत्मा, परमात्मा, जीवात्मा, स्वस्वरूप, शिव रुद्रनाम युक्त साक्षात् सर्वात्मा ही अवधूत §नाथ§ योगी होता है।

तार्किकश्चेति सांख्यश्च तथा मीमांसको विदुः।
देवतेत्यादि विद्वद्भिः कीर्तितः शास्त्र कोटिभिः।।
आत्मेति परमात्मेति जीवात्मेति पुनः स्वयं ।
अस्तित्वं परमं साक्षाच्छिवरुद्रादि संज्ञितम् ।।
- सि0 सि0 प0 पृष्ठ - 149 6/21,22,23,34

सप्तम् अध्याय

- गोरक्ष दर्शन में गोप्य - रहस्य -

1- महा माया कुण्डलिनी महाशक्ति

2- नवचक्र

3- सोलह आधार

4- तीन लक्ष्य

5- पाचं व्योम

नवचक्रं कलाधारं त्रिलक्ष्यं व्योम पंचकम्।
सम्यगेतन्न जानाति स योगी नाम धारकः ।।

महायोगी गोरक्षनाथ जी ने तत्वाज्ञानालोकित योगियों एवं सिद्द योगियों के लिए अपने विशिष्ट अनुभव के आधार पर शरीर रचना के बाह्य स्वरूप की अपेक्षा आन्तरिक स्वरूप पर अत्यधिक गम्भीर रूप से विचार करने की राय दी है। उन्होंनें ब्रह्माण्ड शरीर और व्यष्टिशरीरों की रचना से गूढ़ सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। जिसे सामान्य व्यक्ति के लिए समझना कठिन होगा। यह सिद्धान्त निरीक्षण अथवा प्रयोग के आधार पर नहीं समझा जा सकता क्योंकि इन गोप्य एवं रहस्यात्मक विचारों को समझने के लिए योगिक अन्तर्ध्यान की आवश्यकता है।

गुरु गोरक्षनाथ का मत है कि यह पवित्र शरीर जो कि शिव-शक्ति की एक आत्माभिव्यक्ति है, इसके अतिरिक्त भी आध्यात्मिक स्वरूप का सद्ज्ञान प्राप्त करने के लिए गूढ़ विचार आवश्यक हो जाता है।

गुरु गोरक्षनाथ का कथन है[1] कि जो योगी अपने शरीर के अन्तर्दर्शन में नौ चक्रों, सोलह आधारों, तीन लक्ष्यों तथा पांच व्योमों से पूर्णतया परिचित नहीं है, वह केवल नाम मात्र का ही योगी है। अर्थात जो इन सब नौ चक्रों, सोलह आधारों, तीन लक्ष्यों, पांच व्योमों से पूर्णतया परिचित है वही सच्चा योगी है। शरीर में उपस्थित गूढ़ विषयों

1- नव चक्रं कलाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपंचकम्।
सम्यगेतन्न जानाति स योगी नाम धारकः ।।
-सि0सि0प0 पृष्ठ- 68 2/3।

2- या च सर्वत्र कायेषु प्राणिनां चित्स्वरूपिणी ।
सा शक्तिः प्राणदा प्राणस्तम्भिनी नियता सदा ।।
- सा0 कु0 म0 पृष्ठ - 37

का जानना एक योगी के लिए परमावश्यक है। अतः जहाँ एक योगी अपने वाह्य व्यष्टि शरीर का दर्शन करता है, वहीं वह आन्तरिक शरीर में भी गूढ़ विचारों को खोजे तभी वह पूर्ण योगी हो सकता है।

महामाया कुण्डलिनी महाशक्ति :

शक्ति-शिव का ही एक अभिन्न रूप है। समस्त श्रुति-स्मृति और लोक व्यवहार में सर्वत्र शक्ति की सत्ता को स्वीकार किया गया है। एक निर्बल व्यक्ति से लेकर सबल व्यक्ति तक किसी कार्य को करने के सन्दर्भ में यह सोचता है कि वह कार्य करने की शक्ति उसमें है अथवा नहीं। उस प्रकार शक्ति की कल्पना एक कल्पना न रहकर वह एक तथ्य है। वर्तमान यह जगत् वस्तुतः शक्ति द्वारा ही निर्वाह्य है। अस्तु वस्तुओं के रूप में शक्ति सर्वाधिक आश्चर्यजनक रहस्य है। इसी शक्ति की उपासना के लिए सर्वत्र भटकने की जरूरत नहीं पड़ती। प्रत्येक पिण्ड-प्रत्येक अणु-परमाणु में वह शक्ति विद्यमान है। जगत् में प्रत्येक प्राणी इसी शक्ति को इच्छा, क्रिया एवं ज्ञान रूप में अनुभव करता है।

सर्वत्र ब्रह्माण्ड में परिव्याप्त यह शक्ति ही वैयक्तिक शरीर में महामाया कुण्डलिनी महाशक्ति के रूप में विद्यमान रहती है।

समस्त शरीरों में जो महा माया शक्ति चित स्वरूप में व्याप्त है, वही सब शरीरों में जीवन देने वाली है, और शरीर में प्राणों का स्तम्भन किए रहती है[2] उसी शक्ति

की सत्ता से युक्त समस्त जीवधारी जीवन धारण करते हैं। इसी शक्ति के गमन संचार से जीव धारियों में प्राण जीवन का संचार रहता है। वही शक्ति चिद्रूपा है, प्राण स्वरूपा है, स्वयं ज्ञान रूपिणी है, व्यक्त रूप वाली भी है, अव्यक्त रूप वाली भी है और सभी तत्वों में परिव्याप्त है।[3]

जीव धारियों की दुनिया में प्राण-शक्ति सम्बन्धी मानसिक तथा भौतिक शक्तियों को क्रियाशीला देखा जाता है और ऐसा प्रतीत होता है कि ये सब मिलकर कपट रूप से हमारी दृष्टि से उस परम आध्यात्मिक शक्ति को गुप्त रखती है, जिससे उनका अस्तित्व है और जिसकी वे विशिष्ट अभिव्यक्तियाँ हैं। यह दिव्य महा शक्ति इन निम्न स्तर की शक्तियो के सहारे विश्व-प्रपंच को क्रियमाण कर देने के उपरान्त उस विश्व के मूलाधार में गहन निद्रा का आनन्द ले रही है, जिससे सतत क्रियाशील महा कुण्डलिनी-शक्ति सुप्तावस्था में स्थित प्रतीत होती है।

मेद्र के ऊपर और नाभि के नीचे पक्षी के अण्डे की तरह कन्दयोनि है, जो कि बहत्तर हजार नाड़ियों का उत्पत्ति स्थान है। यहीं कन्द से उपर कुण्डलिनी शक्ति आठ प्रकार की होकर कुण्डलित आकार में ब्रह्मरन्ध्र के द्वारा को अपने मुख से रोक कर स्थित है।[4] यहीं पर यह कुण्डलिनी शक्ति सर्पवत् कुण्डल मारे सदैव सुप्तावस्था में पड़ी रहती है जिसकी अभिव्यक्ति एक सामान्य व्यक्ति के लिए कठिन ही नहीं दुष्कर प्रायः है। एक अज्ञानी उसके श्रेष्ठ स्वरूप

3- चिद्रूपा प्राणरूपा च ज्ञालरूपा च सा स्वयम्।
व्यक्ताव्यक्तस्वरूपा च सर्वतत्वेषु व्यापिका ।।
- सा0 कु0 म0 पृष्ठ - 38

एवं उसके महत्व को नही जान सकता। उसके स्वरूप तथा उसकी आत्माभिव्यक्ति एक योगी ही सहज भाव से पा सकता है।

वस्तुतः हमारा अज्ञान अथवा आध्यात्मिक अन्धापन ही है कि दिव्य महाशक्ति हमें सुप्त,अक्रियाशील और विश्व प्रपंच की घटनाओं के प्रति उदासीन प्रतीत होती है। जबकि महायोगियों की प्रबुद्ध, ज्ञानी दृष्टि में महाशक्ति नित्य जागृत, सतत् सतर्क, सतत क्रियाशील और सतत शान्त रहती है और विश्व की सभी शक्तियों और प्रक्रियाओं द्वारा और इन्ही में अपने को अभिव्यक्त करती है और आनन्दित होती है। उसके सर्वव्यापक और प्रकाशक अध्यित्मिक अस्तित्व की अनुभूति सतत् रूप से महयोगियों को होती रहती है। महायोगी को महाशक्ति की उपस्थिति की भावना अपने स्वामी, आत्म ज्योतिर्मय शिव के गौरवमय अस्तित्व की धारणा को सम्भव बनाती है।

गुरू गोरक्षनाथ जी ने भी कहा है कि §नाड़ियों के उत्पति स्थान§ कन्द के उर्ध्व भाग में आठ कुण्डलों से बलयित कुण्डलिनी अज्ञानियों के बन्धन कारिणी और योगियों के लिए मोक्ष प्रदान करने वाली है।[5] योगियों के मत में यह शक्ति शिव से मिलन कर आनन्दानुभूति एवं मोक्ष दायिनी होती है। जो महायोगियों एवं तत्वाज्ञानलोकित योगियों के अतिरिक्त समस्त जीव प्राणियों के लिए अज्ञात है।

4- कन्दोर्ध्व कुण्डली शक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः।
ब्रह्म द्वार मुखं नित्यं मुखेनाच्छाद्य तिष्ठति ।।
- गो0 श0 पृष्ठ - 10/47

यद्यपि यह कुण्डलिनी महाशक्ति स्वरूपतः एक ही है तथापि वह अधः, मध्यः और उर्ध्व शक्ति के रूप में तीन प्रकार की कही जाती है।[6]

सिद्ध योगियों, महायोगियों ने इसी चिद्रूपा, प्राण स्वरूपा, ज्ञान स्वरूपा शक्ति को ईश्वरानुभव एवं परम पद प्राप्ति का कारण माना है। गोरक्ष नाथ जी का मत है कि मध्य शक्ति को जगाने से और अधः शक्ति के ऊपर की ओर आकर्षण से तथा ऊर्ध्व शक्ति §कुण्डलिनी§ के निपात-संयोजन से परम पद की प्राप्ति होती है[7]

महायोगी तथा सिद्ध योगी अपने योगाभ्यास मुद्राओं, प्राणायाम आदि के माध्यम से सुषप्ता कुण्डलिनी को जगाने में तत्पर रहते हैं। वे शिव परम पद प्राप्ति का अपना लक्ष्य बनाते हैं। सुसुप्ता कुण्डलिनी की आत्माभिव्यक्ति कर उसे शिव से एकत्व स्थापित करने का प्रयास करते हैं। शक्ति जागरण योगियों का प्रथमतः मुख्य विचार है।

जबतक आध्यात्मिक चेतना जागृत नहीं होती तबतक व्यष्टि पिण्ड भौतिक एवं प्राण शक्ति सम्बन्धी आवश्यकताओं तथा इच्छाओं से नियन्त्रित रहता है। आध्यात्मिक चेतना की जागृति, क्रियाशीलता एवं अनुशासन की प्रभावपूर्ण विधियों

5- कन्दोर्ध्वे कुण्डली शक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः।
बन्धनाय च मूढ़नां योगिनां मोक्षदा स्मृता ।।
- गो० श० पृष्ठ 11/56

6- एकैव सा मध्योर्ध्वाधः प्रभदेन त्रिधा भिन्ना
शक्तिरभिधीयते। - सि०सि०प० पृष्ठ-112/17

7- मध्य शक्ति प्रबोधेन अधःशक्तिनिकुंचनात्।
ऊर्ध्वशक्ति निपातेन प्राप्यते परमं पदम् ।
-सि०सि०प० पृष्ठ- 111/16

के माध्यम से ऐसी शक्ति का प्रादुर्भाव करना चाहिए कि वह निम्न स्तरों का भेदन कर सके। इस प्रकार की महा माया कुण्डलिनी शक्ति की जागृति होने पर वह ज्ञानरूपा शक्ति सहस्रार पर्यन्त शिव मिलन के लिए छटपटाने लगती है। वह शक्ति प्रबलतम होकर क्रियावती हो जाती है। वह शक्ति क्रियावती हो कर शिव से मिलन हेतु सुषुम्णा मार्ग पर अग्रसर होती है। तब योगी को उस मार्ग पर अनेक चक्रों का अनुभव प्राप्त होता है। यही रहस्यात्मक चक्र ज्ञान एक योगी के लिए परमावश्यक है तथा इन्ही चक्रों का भेदन कर योगी परम पद प्राप्ति को प्राप्त होता है।

नवचक्र :

1- गुरु गोरक्षनाथ जी के अनुसार प्रथम चक्र मूलाधार चक्र है। इसी को ब्रह्म चक्र भी कहा गया है।[8] कुण्डलिनी शक्ति की प्रथम आत्माभिव्यक्ति का स्थान मूलाधार है। यही मूलाधार चक्र कुल चक्र भी कहलाता है। हमारे मेरुदण्ड में दाहिनी ओर पिंगला और बांयी ओर इड़ा नाड़ी स्थित है। इन दोनों के बीच में सुषुम्णा नाड़ी स्थित है। इसी तेजः स्वरूपिणी नाड़ी के निम्नतम् मोड़ पर मूलाधार चक्र है। जहाँ पर कुण्डलिनी शक्ति सुप्तावस्था में पड़ी रहती है। यहीं से प्रथम वह जागृत होती है। वह सुषम्णा मार्ग पर शिव से साक्षात्कार हेतु अग्रसर होती है। इसी सुषुम्णा नाड़ी के निम्नतम मोड़ मूलाधार में जहाँ पर तीन कुण्डल मारे शक्ति सुप्तावस्था में पड़ी होती है, योगी प्रथम चक्र के दर्शन करता है।

8- आधारे ब्रह्मचक्रं ----।
-सि0सि0 प0 पृष्ठ - 33

यही मूलाधार अर्थात् ब्रह्म चक्र ही वह स्थान है जिस स्थान से कुण्डलिनी शक्ति की ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त सहस्रार तक की यात्रा प्रारम्भ होती है।

यह मूलाधार चक्र चार दलो वाला कमल है।[9] उन दलों पर वं, शं, षं, सं इस तरह चार अक्षर अंकित होते हैं। योगी अपनी साधना से सुप्तावस्था में पड़ी शक्ति को जागृत कर उच्चतम मार्ग की ओर संचालित करता है, तब वह अपने आपको एक अन्यतम आभा से युक्त पाता है।

2- गोरक्षनाथ द्वारा वर्णित दूसरा चक्र स्वाधिष्ठान चक्र है।[10] सुषुम्णा नाड़ी के अन्दर लिंग मूल में इस चक्र का स्थान है। यह स्वाधिष्ठान चक्र छः दलों वाला कमल है।[11] इसके छः दलों पर क्रमशः बं, भं, मं, यं, रं, लं अक्षर अंकित होते हैं। महायोगी की एकाग्र एवं मानसिक जैविक शक्ति मूलाधार चक्र को भेद कर स्वाधिष्ठान चक्र तक पहुँचती है। इस चक्र के अन्दर जो कि योगियों कि अन्तर्दृष्टि का सूचक है, एक विशिष्ट कान्तियुकत शिवलिंग पश्चिमाभिमुख रूप में विद्यमान रहता है। योगी ध्यान धारणा एवं विशिष्ट साधना के द्वारा कुण्डलिनी शक्ति को जागृत पाता है, तब वह शक्ति तीव्रगति से स्वाधिष्ठान चक्र की ओर बढ़ती है। जो योगी ध्यान, धारणा एवं साधना में निपुण हैं, जिसनें समस्त सांसारिक सुखों, समस्त इच्छाओं एवं कामनाओं

9- चतुर्दलं स्यादाधारं ------।
-गो० श० पृष्ठ - 5
10- द्वितीयं स्वाधिष्ठान चक्रं ------।
- सि०सि० प० पृष्ठ - 35 2/2

को त्याग दिया है। मन तथा समस्त इन्द्रियों पर अपने तपोबल से विजय प्राप्त कर ली है, तथा मूलाधार चक्र को प्राप्त कर लिया है वह योगी शिव से शक्ति के मिलन हेतु मार्ग प्रशस्त कर लेता है तथा मानसिक जैविक शक्ति को स्वाधिष्ठान चक्र के स्तर तक समुन्नत कर लेता है। उस समय वह योगी कान्तियुक्त व्यक्तित्ववान बन जाता है तथा समस्त जगत उसकी ओर आकर्षित हो रहा प्रतीत होने लगता है।[12]

3- तीसरा चक्र नाभि चक्र है।[13] योगी इस चक्र का अनुभव सुषुम्णा नाड़ी के अन्तर्गत आने वाले एक विशिष्ट केन्द्र नाभि क्षेत्र में इस चक्र का अनुभव करते हैं। इसी को मणिपूर चक्र भी कहा जाता है। यह चक्र दस दलों से युक्त रहता है।[14] इसके प्रत्येक दल पर क्रमशः डं, ढं, णं, तं, थं, दं, धं, नं, पं, फं अक्षर अंकित होते हैं। महायोगी की मानसिक, जैविक शक्ति मूलाधार एवं स्वाधिष्ठान आदि समुन्नत चक्रों को भेद कर मणिपूर §नाभि§ चक्र पर पहुँचती है, जो कि योगियों के अनुभव एवं विशेष चमत्कार पूर्ण सिद्धियों व बल प्रयोगों का एक उच्च केन्द्र है। इस चक्र के पाँच वृत सर्पवत् कुण्डलाकार रूप में दर्शित होते हैं।[15] इस चक्र पर पहुंच कर योगी कुण्डलिनी शक्ति व शिव के परमानन्द मिलन का भोग करता है। यह पूर्ण वर्णित दोनों ही चक्रों §मूलाधार एवं स्वाधिष्ठान§ से शिव-शक्ति के उच्चतर मिलन का केन्द्र है। इस चक्र के भेदन

11- --------स्वाधिष्ठानं च षट्दलम् ।
-गो0 श0 पृष्ठ - 5

12- -------जगदाकर्षणं भवति ।
-सि0सि0प0 पृष्ठ-35 2/2

तक योगी शिव-शक्ति के पूर्ण आनन्दोपभोग एवं सहस्रार पर्यन्त तक की यात्रा का अर्द्धभाग पार कर लेता है। इसलिए इस चक्र में स्थित होने पर कुण्डलिनी शक्ति को मध्यम शक्ति भी कहा गया है।

4- चौथा चक्र आठ दलों से युक्त नीचे की ओर मुख वाला हृदय चक्र है।[16] कहीं-कहीं पर इस चक्र को बारह दलों से युक्त कहा गया है।[17] इसी चक्र को अनाहत चक्र भी कहा जाता है। इस चक्र का अनुभव हृदय क्षेत्र के समीप किया जाता है। योगी जिस समय अपनी मानसिक जैविक शक्ति को इस चक्र में अन्तर्निहित करने की योग्यता प्राप्त कर लेता है तब वह अपनी समस्त इन्द्रियों का स्वामी बन जाता है। उस समय वह योगी एक सौम्य, अहंकार रहित, शान्त एवं समस्त इच्छाओं से रहित स्थिति को प्राप्त हो जाता है। इस चक्र पर पहुँचने एवं उस पर गहन चिन्तन, विशिष्ट ध्यान करने पर योगी शिव-शक्ति मिलन का आनन्दोपभोग तो करता ही है, वह अपने आपको भी शिवशक्ति के निकट पाता है। वह शिव-शक्ति से स्वयं का तादात्म्य अनुभव करने लगता है। इस समय योगी की कुण्डलिनी शक्ति उस उच्च स्तर पर पहुँच जाती है, जबकि वह शिव से स्वयं को अभिन्न समझने लगता है। इस चक्र का गूढ़ अध्ययन करने पर योगी सच्ची आध्यात्मिक उन्नति को प्राप्त कर लेता है।

5- गोरक्षनाथ ने चार अंगुल विस्तार वाले कण्ठ चक्र §विशुद्ध§ को पाँचवे चक्र के रूप में निरूपित किया है। यहाँ पर बांयी ओर इड़ा और दाहिनी ओर पिंगला §सूर्यनाड़ी§ नाड़ी स्थित है। इन दोनों ही नाड़ियों के मध्य में सुषुम्णा

अर्थात् ब्रह्म नाड़ी अनाहत कला कही जाती है। इसी अनाहत कला की उपासना, ध्यान करने से योगी को विशेष प्रकार की सिद्धि प्राप्त होती है।[18] इस चक्र को सोलह दलों से युक्त माना गया है[19] जिसके प्रत्येक दल पर क्रमानुसार अ,आ,इ,ई,उ,ऊ, ऋ,ॠ, लृ,लॄ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः, स्वर अंकित होते हैं। योगी की मानसिक जैविक शक्ति पूर्व वर्णित हृदयादि चक्रों का भेदन करती हुई, पूर्ण शुद्ध रूप से कण्ठ §विशुद्ध§ चक्र तक पहुंचती है, तथा वहाँ अनाहत कला से एकत्व स्थापित कर शिव शक्ति के गूढ़ आनन्द का रसोपभोग करती है। योगी इस चक्र पर पहुंच कर अनाहत सिद्धि प्रापत कर लेता है वह योगी जगत् की समस्त शक्तियों से उच्चता को प्राप्त हो जाता है। इसके बाद जगत की कोई भी शक्ति उस पर प्रभुत्व स्थापित नहीं कर सकती क्योंकि योगी का शिव-शक्ति से तादात्म्य हो चुका होता है।

6- छठाँ चक्र तालु चक्र कहा गया है। वहाँ सदैव अमृत धारा प्रवाहित होती रहती है।[20] गोरक्षनाथ का कथन है-"तालु चक्र तालु मूल में स्थित है। उस चक्र में सहस्रार से सतत अमृत की धारा प्रवाहित होती रहती है। योगी अपनी मानसिक जैविक शक्ति को इस चक्र में समुचित प्रणाली के माध्यम से एकाग्र कर उस अमृत का पान कर क्षुधा-पिपासा से मुक्त होकर शरीर दिव्य कर लेता है, भौतिक

13- तृतीयं नाभिचक्रं -----।
- वही पृष्ठ - 36 2/3

14- नाभौ दशदलं पद्मं ------।
- गो0 श0 पृष्ठ - 5

15- ---------पंचावर्त सर्पवतत् कुण्डलाकारं---।
-सि0सि0प0 पृष्ठ- 36 2/3

अमृत तत्व प्राप्त कर लेता है, इस चक्र में शून्य पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए, जिससे चित्तलय की स्थिति की प्राप्त हो सके। पूर्ण आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए और चेतना को परमात्ममय कर देने के लिए चित्तलय एक महान सोपान है। तालु मूल में एक घन्टिका लिंग है, जिसके मूल में एक लघु छिद्र हैं, एक पूर्ण रिक्त स्थान शंखिनी विवर है, यह दसवां द्वार है, यही शून्य पर धारण करने से समाधि के फल स्वरूप चित्त विलीन हो जाता है, जिसमें ध्यान करने से व्यावहारिक चेतना समाप्त हो जाती है और पारमार्थिक ज्योति आलोकित हो उठती है।"[22]

7- सातवां चक्र दोनों भौहो के मध्य में स्थित भूचक्र है जिसे मध्यम चक्र भी कहा जाता है। यहाँ पर पहुंचकर सुषुम्णा एक दीप शिखा के आकार की हो जाती है। यही ज्ञान नेत्र अर्थात् तीसरा नेत्र है। इस तीसरे ज्ञान नेत्र के ध्यान केन्द्रित करने से योगी वाक् सिद्धि प्राप्त कर लेता है।[22] वस्तुतः यह ज्ञान नेत्र वह आन्तरिक ज्योति है, जिससे योगी की समस्त चेतना ज्ञानालोकित हो जाती है। योगी की गहन ध्यान धारणा और एकाग्रता से वह ज्योति से एकत्व स्थापित कर लेता है। उस अवस्था में वह योगी उस उच्चतर स्तर तक पहुँच जाता है कि वह अपनी आलोकित दृष्टि से समस्त सांसारिक घटनाओं, कार्य कलापों को देखने लगता है। वह वाक् सिद्धि को भी प्राप्त कर लेता है अर्थात् जो वह कहता है वह सदैव सत्य होता है। उस अवस्था

16- चतुर्थ हृदयाधारभष्टदलं कमलमधोमुखं -----।
-सि0सि0प0 पृष्ठ - 38 2/4

17- सूर्य संख्या दलं हृदि ।
- गो0 श0 पृष्ठ - 5 {सूर्य संख्या-बारह}

में वह जो भी बोलता है, वह सत्य भाषण ही है। इसी चक्र को आज्ञा चक्र भी कहा जाता है। यह चक्र भौहों के मध्य में स्थित दो दलों वाला कमल है[23] जिसके दलों पर यथाक्रम हं, क्षं, बीजाक्षर अंकित होते है।

8- आठवां चक्र ब्रह्मरन्ध्र अर्थात् निर्वाण चक्र है। यह सुई के अग्रभाग के समान धुएँ के शिखाकार रूप होता है। इसी का ध्यान करने पर यह योगी के लिए मुक्ति प्राप्ति कराने वाला जालन्धर पीठ है।[24] यह चक्र शाश्वत ब्रह्म की सिद्धि का विशिष्ट केन्द्र है। यहाँ पर योगी की मानसिक जैविक शक्ति शिव में पूर्णतया विलीन हो जाती है। इस उच्चतर स्तर पर प्रकाश-अन्धकार, गति-विराम, ससीम-असीम, व्यावहारिक-पारमार्थिक का भेद भूर्णतः समाप्त हो जाता है। मनुष्य उस समय तक जाल में बन्धा रहता है, जब तक कि वह स्वयं और जगत् में जालन्धर को नहीं जान लेता। जब वह इस सब से परिचित हो जाता है और जालन्धर अर्थात परमात्मा से पूर्ण तादात्म्य अनुभव करने लगता है, तब वह सांसारिक समस्त बन्धनों, दुःखों से मुक्ति पा जाता है तथा अपने आपको स्वतंत्र पाता है। उस समय वह जीवन मुक्ति अर्थात मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

18-पंचम कण्ठ चक्रं चतुरङ्गुलं तत्र वाम इड़ा चन्द्रनाड़ी दक्षिणे पिंगला सूर्य नाड़ी तन्मध्ये सुषुम्णां ध्यायेतृ सैवानाहत कलाउनाहत सिद्धिर्भवति।
-सि0सि0प0 पृष्ठ- 40 2/5

19- कण्ठे स्यात् पोड़शदलं ------।
- गो0 श0 पृष्ठ - 5

20- षष्ठं तालुचक्रं तत्रामृतधारा प्रवाह धण्टिकालिंगमूल-रन्ध्र राजदन्तं शखिनीविवर दशमद्वारं तत्र शून्यं ध्यायेत् चित्रलयो भवति। -सि0सि0प0पृष्ठ-42 2/6

9- आठवें निर्वाण चक्र के ऊपर जो कि मोक्ष प्राप्ति का केन्द्र स्थल है में गोरक्षनाथ नवे आकाश चक्र की अनुभूति कराते हैं। यह उर्ध्वमुख सोलह दलों वाला कमल है। इसके बीच त्रिकोणाकार वाली उर्ध्व शक्ति है। उसी परम शून्य शक्ति का ध्यान करना चाहिए। यहाँ ही पूर्ण गिरिपीठ है। इसी से समस्त इच्छाओं की सिद्धि प्राप्त होती है।[25] योगी यथा क्रम समस्त चक्रों को भेद कर आकाश चक्र तक अपने को स्थित कर लेता है। वह अपना ध्यान इस सर्वश्रेष्ठ केन्द्र पर कैंन्द्रित करता है। इसी आकाश चक्र के ध्यान धारण से योगी की सांसारिक भय की निवृत्ति हो जाती है। समस्त सांसारिक पदार्थ योगी के वशीभूत हो जाते हैं, तथा योगी पूर्णतः जीवन मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

निष्कर्ष : महायोगियों द्वारा इड़ा और पिंगला नाड़ी के बीच मे स्थित सुषुम्णा नाड़ी के विभिन्न विश्राम स्थलों पर नौ चक्रों को निरूपित किया गया है। इन्ही गूढ़ एवं रहस्यात्मक विचारों में विचरण करता हुआ एक योगी आत्म ज्ञान का सच्चा जिज्ञासु अपनी साधना एवं प्रयास से आध्यत्मिक

21- सि0सि0 प0 पृष्ठ - 42

22- सतमं भ्रूचकं मध्यममं गुष्ठमात्रं ज्ञाननेत्रं दीपशिखाकारं ध्यायेद् वाचां सिद्धिर्भवति।
-सि0सि0प0 पृष्ठ - 43 2/7

23- --------भ्रू मध्ये द्विदलं -------।
- गो0 श0 पृष्ठ - 5

24- अष्टमं ब्रह्मरन्ध्रं निर्वाण-चक्रं सूचिकाग्रभेद्यं धूम शिखाकारं ध्यायेत् तत्र जालन्धर पीठं मोक्ष प्रदं भर्वात।
-सि0सि0प0 पृष्ठ- 45 2/8

25- नवमभाकाश चक्रं षोडशदल कमलभूर्ध्वमुखं तन्मध्ये कर्णिकायां त्रिकूटाकार तदूर्ध्वशक्तिं तांपरम शून्यां ध्यायेत् तत्रैव पूर्णगिरि पीठं सर्वेच्छा सिद्धि भवति।
- सि0सि0 प0 पृष्ठ - 47 2/9

अनुभव के उच्चतम् स्तर पर पहुँच जाता है। जहाँ वह शिव और शक्ति के एकत्व का आनन्दोपभोग करता है।

सुषुम्णा नाड़ी सबसे सूक्ष्म एवं संवेदनशील होती है। जो कि रीड़ संस्थान से प्रारम्भ होकर मूलाधार को सहस्रार से जोड़ती है। यह नाड़ी शरीर के अन्तर्गत ही विकसित होती है, जो कि भौतिक व्यष्टि शरीर का एक अंग है। इस को जैविक एवं मानिसक शक्ति के निरन्तर प्रवाह का सबसे उचित मार्ग समझा जाता है। स्थल दृष्टिकोण से देखने पर यह एक सीधी नाड़ी प्रतीत होती है किन्तु गहन दृष्टि से विचार करने पर इस नाड़ी में कुछ विभाग और कई केन्द्रों पर चक्र लक्षित होते हैं। इन्हीं चक्रों की जानकारी एक सिद्ध योगी के लिए परमावश्यक है। इनकी जानकारी से वँचित योगी पूर्ण योगी नहीं होगा। मनुष्य के आन्तरिक जीवन मे भी ये चक्र तीव्रता से प्रभाःव डालते हैं। कभी-कभी ये चक्र मनुष्य की मानसिक प्रवृत्तियों मे भी क्रान्ति उत्पन्न कर देते हैं।

यह चक्र कभी-कभी आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग मे बाधक बन जाते हैं, तो कभी ये साधक भी बन जाते हैं। एक सिद्ध योगी को उन चक्रो और उनके विशिष्ट लक्षणों से परिचित होना पड़ता है। क्योंकि इन चक्रों द्वारा उत्पन्न समस्त बाधाओं को पार करके ही मनुष्य तत्वज्ञान के उच्चतम स्तरों पर पहुंचने में सफल हो सकता है। यही चक्र तत्वज्ञान के उच्चतम् स्तरों का प्रतिनिधित्व करते हैं। जब शक्ति की मानसिक एवं जैविक शक्ति इन नव चक्रों के क्षेत्र में विचरण करती है तब वह वस्तुओं को भौतिक या ऐन्द्रियिक अथवा

अपनी वासना या कामना के दृष्टिकोण से देखते हैं। जिस समय कुण्डलिनी शक्ति निम्न चक्रों से उच्चाति उच्च चक्रों की ओर बढ़ती है, मनुष्य का दृष्टिकोण उतना ही शुद्ध एवं आलोकित होता जाता है और अगर वह निम्न चक्रों में ही उलझ कर रह जाती है, तब उसका दृष्टिकोण अत्यधिक गिर जायेगा तथा वासनादि कुकर्मों में ही फंसकर रह जायेगा। यदि योगी दिव्य एवं आध्यात्मिक स्वरूप का महत्व समझने लगता है, तब वह शिव शक्ति के पारमार्थिक स्वरूप से एकाकार होने के लिए उच्चतम चक्र तक पहुँचने में प्रायः सफल हो जाता है। योगी जिस समय समस्त चक्रों का भेदन कर चुका होता है, तब वह सुषुम्णा मार्ग उसके लिए सरल हो जाता है, और योगी सफलता पूर्वक साधारण स्तर से उठकर "समाधिस्तर" अर्थात् तत्व ज्ञान एवं समस्त बन्धनों से तथा सीमाओं से ऊपर उठकर मोक्ष प्राप्ति के स्तर तक पहुँचने में सफल हो जाता हैं।

वस्तुतः एक योगी जब साधारण स्तर से ऊपर उठना चाहता है, तब वह सुषुम्णा मार्ग में विशेष स्तरों एवं केन्द्रों पर कई सूक्ष्म चक्र प्राप्त करता है, जहाँ उस योगी को विशिष्ट योग सिद्धि हेतु विशेष प्रकार की सिद्धि साधना एवं ध्यान करना पड़ता है तथा उच्च से उच्च स्तर तक पहुँचने के लिए उन्हे §चक्रों§ को भेदना पड़ता है।

26- पिण्डे नवचक्राणि। सि0सि0प0 पृष्ठ- 33 2/।

27- षट् चक्रं षोड्शाधारं त्रिलक्ष्यं व्योम पंचकम्।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्धयन्ति योगिनः।।
-गो0श0 पृष्ठ - 4

28- गो0 ना0 उ0 यु0 पृष्ठ - 12।

योगी गुरू गोरक्षनाथ ने सिद्ध सिद्धान्त पद्धति में ऐसे ही पूर्व वर्णित नौ चक्रों का उल्लेख किया है।[26] जबकि गोरक्ष शतक पुस्तक में उनके ही द्वारा छः चक्रों का उल्लेख किया गया है[27] इससे स्पष्ट हो जाता है कि योग शास्त्रों में चक्रों की संख्या के विषय में कोई हठधर्मिता नहीं है और नहीं उनकी संख्या के विषय में मत समता है।

वस्तुतः चक्रों की संख्या कभी छः, कभी सात ,कहीं आठ और कहीं नौ गिनायी गयी है। प्रायः चक्रों की संख्या पर कोई विशेष बल नहीं दिया गया है क्योकि ऐसे गोप्य एवं सूक्ष्म विषयों पर योगियों में मत विविधता हो सकती है। अतः गोरक्षनाथ जी ने भी एक संख्या पर विशेष बल नहीं दिया है।

डा0 रांगेय राघव ने गोपी नाथ कविराज द्वारा हस्तलिखित पुस्तक से चक्रों का क्रम इस प्रकार वर्णित किया है।[28]

पूर्व वर्णित चक्र तालिका में चक्रों की बहुलता अवश्य है किन्तु तथ्य वही है।

चक्रों की बहुतायत से एक योगी के लिए भी किसी कठिनाई का आभास नहीं हो सकता क्योंकि वह तो अपने अन्तर्दर्शन में उनके दर्शन कर ही लेगा यदि वह सच्ची साधना ध्यान, धारणा में लगा है। वह निम्न मार्ग से उच्च मार्ग की ओर प्रवत होने पर क्रमशः समस्त चक्रों को पार कर सर्वोच्च स्तर पर पहुँच कर शिव से तादात्म्य स्थापित कर लेगा।

वस्तुतः गोरक्षनाथ द्वारा ही अलग-2 स्थानों पर चक्रों की गणना अन्यान्य वर्णित करना एक विवादास्पद तो है ही। क्योंकि गोरक्ष शतक में सहस्रार अतिरिक्त, आधार स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत विशुद्ध, आज्ञा चक्रों का वर्णन मिलता है[29] जबकि सिद्ध सिद्धान्त पद्धति में इन षट् चक्रों के अतिरिक्त, तालु, निर्वाण और आकाश चक्रों को मिलाकर नौचक्रों का उल्लेख मिलता है। सिद्धान्त पद्धति में आज्ञा चक्र के स्थान पर तालु चक्र को तथा आज्ञा चक्र को सातवें चक्र के रूप में गिनाया गया है। गोरक्ष शतक में अनाहत चक्र को बारह दलों से युक्त तथा सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति में आठ दलों से युक्त वर्णित करते हैं।

29- चतुर्दलं स्यादाधारं स्वाधिष्ठानं च षट्दलम्।
नाभौ दशदलं पद्मं सूर्य संख्या दलं हृदि ।।
कण्ठे स्यात् षोड्शदलं भ्रूमध्ये द्विदलं तथा।
सहस्रदलमाख्यातं ब्रह्मरन्ध्रे महापथे।।
-गो० श० पृष्ट - 5

इस तरह के छोटे- छोटे मतभेदों के बाद भी चक्रों का एक योगी के जीवन में विशेष महत्व है।

डा0 रार्गेय राघव ने भी चक्र गणना पर अन्यत्र प्रकाश डाला है। आपने पूर्व वर्णित चक्र ज्ञान से तुलना के लिए कुण्डलिनी शक्ति के जागृत होने के पहले और बाद की अवस्था को चक्र तालिका में प्रस्तुत किया है जो निम्नांकित §अग्राकिंत§ तालिका के रूप में वर्णित है।[30]

30- गो0 ना0 उ0 यु0 पृष्ठ - 126

गोरक्षनाथ की हिन्दी रचनाओं में भी चक्र ज्ञान का वर्णन प्राप्त होता है। आपकी एक स्वतन्त्र रचना में आठ चक्रों का उल्लेख मिलता है, जिनको घटस्थ बतलाया गया है।[31] इस रचना का चन्द्र वर्णन पूर्व वर्णित नव चक्रों एवं दोनों ही तालिकाओं से भिन्न भी है। इस चक्र रचना के आधार पर अष्ट चक्र क्रम इस प्रकार बनता है -

संख्या	चक्र नाम	स्थान	कमल दल	श्वास सं०	विशेष
1	आधार चक्र	गुदा	4	600	-
2	दृष्टि चक्र	लिंग	6	600	-
3	मणिपूर चक्र	नाभि	10	600	-
4	अनाहत चक्र	हृदय	12	600	-
5	विशुद्ध चक्र	कण्ठ	16	1000	अजपा गायत्री पारब्रह्म का ज्ञान
6	अग्नि चक्र	नेत्र	16	1000	वही
7	ज्ञान चक्र	ब्रह्माण्ड	1000	1000	वही
8	सूक्ष्म चक्र	विणान	2100	-	-

वस्तुतः मानव शरीर में शिव क्षेत्र सहस्रार और शक्ति क्षेत्र मूलाधार बतलाया गया है। इन दोनों को परस्पर कुण्डलिनी शक्ति जोड़ती है तथा महा माया कुण्डलिनी की यात्रा जिस मार्ग से प्रारम्भ होती है, वह सुषुम्ना-पथ अथवा

31 - ऊँ गोरषदेव अष्ट चक्र बोलिये घट भीतर। ये कौण कौण बोलिये। अवधू प्रथमें आधार चक्र बोलिये गुदा अस्थाने, चत्र दल कंवल, षटसै सांस। तिस चक्र उपरि द्रिष्ट चक्र, लिंग अंस्थंने षट दल कंवल षटसै सांस। तिस चक्र अरिमणिपूर चक्र, नाभिअसीनें, दस

ब्रह्म मार्ग है। इस यात्रा के मध्य विभिन्न चक्र कुण्डलिनी के विश्राम स्थल के रूप में उपस्थित होते हैं। योग ग्रन्थो में इन चक्रों की संख्या के विषय में किसी प्रकार की कोई हठर्धार्मिता नही है। कुण्डलिनी एक के बाद एक, क्रमशः इन चक्रों में पहुंचती है तथा चक्रों के उद्घाटित होने के साथ-साथ साधक योगी को इन चक्रों के अधिपति देवताओं के भी क्रमशः दर्शन होते हैं। तदनन्तर कुण्डलिनी शक्ति के सहस्रार में पहुँचने पर साधक योगी को स्वयं की परमात्म शिव के साथ एकत्व की अनुभूति होने लगती है तथा दोनों का भेद विलीन हो जाता है।

सोलह आधार :

नव चक्रों के विषय में बतलाने के पश्चात् गुरु गोरक्षनाथ जी सोलह आधारों की स्थिति के विषय में संकेत देते हैं।

1- प्रथम[32] आधार "पादांगुष्ठाधार" है। उसके अग्र भाग में तेजोमय स्वरूप का ध्यान करना चाहिए। इस ध्यान से दृष्टि स्थिर होती है। यह प्रत्येक पैर अंगूठे में जैविक कार्यो का केन्द्र है। इस पर ध्यान करने से नेत्र और पैर के अंगूठे तक प्रवाहित तेज पर दृष्टि एकाग्र होती है। यह भी धारणा व्यक्त की जाती है कि पैर के अंगूठे के तन्तुओं और नेत्र-स्नायुओं में एक महत्वपूर्ण सम्बन्ध है।

> दल कवल, षटसै सांस। तिस चक्र उपरि अनहद चक्र, हिरदा संधाने द्वादस कंवल षटसै सांस। तिस चक्र उपरि विसुद्ध चक्र, कंठ संधानै षोड़स कंवल, एक सहसर सांस। अजपा जायत्री पारब्रह्म का ध्यान। तिस चक्र उपरि अगनि चक्र, नेत्र संधाने षोडस

2- दूसरा[33] "मूलाधार" माना गया है। इसके सीवन को बायें पैर की एड़ी से दबाकर बैठना चाहिए। इससे शरीर में तेज की वृद्वि होती है। शरीर में स्थित अग्नि प्रदीप्त होती है। यह मूलाधार कुण्डलिनी शक्ति, प्रारम्भिक आधार एवं सुषुम्णा नाड़ी का उद्‌गम स्थल है। इसी स्थल पर प्रथम मानसिक और जैविक शक्ति को एकाग्र कर सुषुम्णा मार्ग से उपर चढ़ाने-ऊर्ध्वमुखी करने का अभ्यास किया जाता है, जिससे अग्नि प्रदीप्त होती है तथा शक्ति नीचे की ओर प्रवाहित न होकर ऊर्ध्वमुखी हो उठती है। तदनन्तर उसमें परमेश्वर शिव से मिलने की अभिलाषा तीव्र हो उठती है।

3- तीसरा[34] गुदास्थान में "गुदाधार" है। इस स्थान पर गुदा का संकोच-विकास-आकुन्चन और संकोचन करना चाहिए। इस क्रिया से अपान वायु स्थिर होती है। इस आधार के द्वारा अपान वायु शरीर के मल और व्यर्थ सामग्री, गन्दगी को शरीर से बाहर निकालकर उदर को निर्मल एवं स्वच्छ करती है तथा प्राण वायु से ऐक्य स्थापित कर जैविक और मानसिक शक्ति को विकसित करती है। अतः योगी को अपान क्रियाओं के भली प्रकार संचालन हेतु इस गुदा आधार के विकास और संकोचन का अभ्यास करना चाहिए। इसके अभ्यास से उदर सम्बन्धी समस्त रोग प्रायः कर दूर हो जाते हैं।

> कंवल एक सहस्र सांस अजपा गायत्री पारब्रह्म ध्यान। तिस चक्र उपरि गिनान चक्र ब्रह्माण्ड संधाने एक सहस्र दल कंवल, एक सहस सांस। अजपा गायत्री पार ब्रह्म ध्यान। तिस चक्र उपरि सूक्षिम चक्र, विग्यान संधाने एक बीस सहस्र दल कंवल।ए अष्ट कंवल का जाणौ भेव। आपै करता आर्यै देव। -गो० वा० पृष्ठ- 258

4- चतुर्थ[35] मेढ़ §लिंग§ आधार है। यहाँ लिंग का संकोचन कर वीर्य को ऊर्ध्वगामी करते हुए योगी ब्रह्मा, विष्णु, रूद्र, तीन ग्रन्थियों का भेदन कर भ्रमर गुफा में वीर्य का स्तम्भन कर विश्राम करता है। यही वज्रोली क्रिया है। वस्तुतः जैविक कार्यों का यह एक बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। कामोत्तेजना के समय व सम्भोग के समय भौतिक शरीर का सर्वाधिक मूल्यवान तत्वबिन्दु या वीर्य इसी मार्ग द्वारा निष्क्रमित होता है। यह प्राण शक्ति मुक्त होने के कारण प्राण-बल व पौरूष का स्रोत है।

5- गुरु गोरक्षनाथ जी कथित पाचवां[36] "उड्डयान आधार" है। इस आधार के बन्ध-नियन्त्रण से मल मूत्र का संकोचन §अल्पता§ होता है। यह लिंग-मूल तथा नाभि-मूल के मध्य स्थित है। उड्डमान आधार का नियन्त्रण करने से योगी अपनी अन्तरिन्द्रियोंऔर मूत्रेन्द्रिय पर नियन्त्रण कर सकता है। इनके कष्टों का उपचार कर सकता है।

6- छठां[37] "नाभ्याधार" कहलाता है। इसमें एकाग्रचित से ऊकाँर के उच्चारण से नादलाभ होता है। इस आधार की नाभि-मूल में स्थिति मानी गयी है। पूर्व वर्णित नाभिचक्र या माणीपूर चक्र का भी यही स्थान है। यह बीजांकुर के समान सूक्ष्म एवं जैविक कार्यों का एक अत्यन्त प्रमुख एवं महत्वपूर्ण केन्द्र है।

32- प्रथमं पदाङ्गुष्ठाधारं नत्रागुतस्तेजोभयं ध्यायते्दृष्टिः स्थिराभ्रवति। - सि0सि0प0 पृष्ठ- 50 2/10
33- द्वितीयं मूलाधारसूत्रं वामपार्ष्णिना निःपीडभितव्यभ्। तत्राग्निदीपनं भवति। - वही - पृष्ठ -51 2/11
34- तृतीयं गुदाधारं विकासंकोचनेन निराकुंघयेत्। अपान वायुःस्थिरों भवति ।
वही पृष्ठ - 5 2/12

अपने चरम सार रूप में[38] नाद, अक्षर या ब्रह्म अर्थात् अपरिवर्तनीय पारमार्थिक परम चैतन्य है। इसे ही शब्द-ब्रह्म कहा जाता है, जो कि मूलाधार में अत्ययन्त ही सूक्ष्म नाद रूप में अभिव्यक्त होता है, किन्तु यहां शक्ति से अभिन्न तथा बिन्दु या बीज से तादात्म्य को प्राप्त हो जाता है। यह मूलाधार में नाद-शक्ति से तदाकार रहता है। स्वाधिष्ठान में यह बिन्दु या बीज से तद्रूप होता है और मणिपूर चक्र या नाभि-आधार में सूक्ष्म-क्रमिक नाद के रूप में प्रकट होता है। योगाभ्यासी ही इसे अपनी सूक्ष्म योग दृष्टि से देख सकते हैं। इसका निरन्तर अभ्यास कान के छिद्रों को अंगुलियों से बन्द कर क्रमशः ऊँकार के उच्चारण से किया जा सकता है जिसके फलस्वरूप मनस् नाद में विलीन हो जाता है।

7- सातवाँ[39] "हृदय आधार" है। इसमें प्राण वायु के निरोध {संयमन} से कमल का विकास होता है। प्राणवायु का स्थान हृदय है तथा अनाहत चक्र का भी यही स्थान है। हृदय आधार में प्राणशक्ति को संयमित करने से अनाहत चक्र जो अधोमुख अष्टदल कमल {सामान्य दृष्टिकोण के अनुसार द्वादश कमल} ऊर्ध्वमुख होकर खिल जाता है। यह प्राणवायु तथा अपान वायु के मिलन का केन्द्र है। यदि समस्त ध्वनियों से ध्यान को हटाकर इस हृदय आधार पर ध्यान केन्द्रित किया जाय, तो अनाहत नाद बहुत स्पष्ट सुनाई दे सकता है। कुम्भक प्राणायाम

35- चतुर्थ मेढ्राधारं लिंगसंकोचनेन ब्रह्मग्रन्थित्रयं भित्तवा भ्रमरगुहायां विश्रम्य तत उदर्वमुखे विन्दुस्तम्भनं भवति। एषा वज्रोली प्रसिद्धा।
-सि0सि0प0 पृष्ठ- 52 2/13

की विधि से इस आधार को प्राण में केन्द्रित करने से योगी की लोकोत्तरानन्द प्राप्ति की यात्रा विशेष गतिमय हो जाती है।

8- आठवाँ[40] "कण्ठाधार" है। कण्ठ मूल को चिबुक §ठोडी§ से निरुद्ध कर इड़ा और पिंगला-चन्द्रनाड़ी और सूर्यनाड़ी से वायु को स्थिर किया जाता है जिसके निरन्तर अभ्यास से वायु स्थिर होती है। जालन्धर बन्ध के अभ्यास द्वारा चिबुक से कण्ठ मूल का निरोध होने पर सहस्रार से द्रवित चन्द्रामृत नाभिस्थानीय अग्नि §सूर्य के मुख§ में गिर कर नष्ट नहीं होता और योग साधक उस अमृत का स्वयं पान कर शरीर को जीर्ण-शीर्ण होने से बचा लेता है। योगीन्द्र स्वात्भाराम का कथन है[41] कि कण्ठ को §गले के विवर को§ संकुचित § सिकोड़§ कर साधक को हृदय देश में §वक्ष के समीप चार अंगुली की दूरी पर§ ढोड़ी को दृढ़ता पूर्वक स्थित करना चाहिए। यह जरा §बुढ़ाया" और मृत्य §के भय§ को नष्ट कर देने वाला जालन्धर नामक बन्ध है। यह नाड़ियों के समूह और नीचे की ओर गिरने वाले कपाल कुहर के जल अमृत को बाँधता है। इस लिए यह जालन्धर बन्ध गले के रोगों को-विकारों को नष्ट करता है। जालन्धर बन्ध के अभ्यास से और गले को सिकोड़ने से न तो §कपाल कुहर§ का अमृत अग्नि मे गिरता और न वायु §प्राण§ ही दूषित होती है। §कण्ठ का संकोचन करने से इड़ा और पंगला नाडियों का स्तम्भना हो जाता है, प्राण-सुषुम्ना से प्रवाहित होते

36- पंचमभोड्याणाधारयोर्बन्धनान्मलमूल संकोचनं भवति।
-वही पृष्ठ 54 2/14

हुए ऊर्ध्वमुख होता है§ इसे सोलहों आधारों का बन्धन कर्ता मध्य चक्र-कण्ठचक्र, विशुद्ध चक्र जानना चाहिए। इड़ा पिंगला को कण्ठ-संकोचन द्वारा दृढ़ता से अवरूद्ध करना चाहिए।

9- नौवाँ[42] "घण्टिका" आधार है। घण्टिका-आधार के मूल भाग में जिह्वा के अग्रभाग को लगाना चाहिये। वहाँ अमृत स्राव होता है। घण्टिका आधार का स्थान जिह्वा के मूल में स्थित है। इसके अन्दर एक सूक्ष्म मार्ग है, जिसके द्वारा सहस्रार में चन्द्र-मण्डल में अमृत कला मन्थर गति से प्रवाहित होती है। साधारणतः यह दृष्टि गोचर नहीं होती है। योगीगण ि सका सदैव रसास्वादन करते रहते हैं।

10- दसवाँ[43] "तालुद्वारा" है जो जिह्वा के और भी अधिक गहरे क्षेत्र घण्टिका §घाँटी§ से ऊपर है। तालु के भीतर छिद्र-मार्ग से जीभ को चालन-दोहन क्रिया से लम्बी कर उस छिद्र में उलट कर प्रविष्ट करना चाहिए। तालु द्वार को तालु चक्र, दसवाँद्वार, शंखिनी विवर अथवा चक्र एवं सहस्रार से जुड़ा हुआ है। यहाँ पर योगियों के लिए खेचरी मुद्रा इस समाधि दशा की प्राप्ति में अत्यन्त सहायक बतलायी गयी है। इस मुद्रा के अभ्यास हेतु जिह्वा को विधिपूर्वक कोमल बनाकर बाहर खींचकर लम्बा करते हैं, तत्पश्चात् जिह्वा के अग्रभाग को जिह्वा के कोमल

37- षष्ठे नाभ्याधार ओंकारमेकचित्रेनोच्चारिते नाद लया भवति। वही पृष्ठ - 55 2/15

38- अक्षरं परमोनादः शब्द ब्रह्वेति कथ्यते।
मूलाधारगता शक्तिः स्वाधारा बिन्दुरूपिणी।
तस्यां उत्पद्यते नादः सूक्ष्मबीजा दिवाङ्कुरः।
तां पश्यन्तीं विदुर्विश्वं यपा पश्यन्ति योगिनः।
-वही पृष्ठ-56 §योगेशिखोपनिषद से उद्धृत§

मूल लघुछिद्र में डालकर धीरे से अन्तर्तम छिद्र में प्रवेश कराया जाता है। योगी साधक इस क्रिया के निरन्तर अभ्यास द्वारा समस्त बाह्य चंचलता एवं चेतना रहित काष्ट के समान हो जाता है। प्रायः कर इसे जड़ समाधि कहा जाता है। इस संज्ञा शून्य स्थिति में भी चेतना सहस्रार से प्रवाहित अमृतपान से मुग्ध रहती है।

11- ग्यारहवाँ[44] "जिह्वाधार" है। जिह्वा मूल में जिह्वाग्र को लगाना चाहिये । यदि साधक इस क्रिया का निरन्तर विधिपूर्वक अभ्यास करें तो समस्त रोगों की निवृत्ति हो जाती है।

12- बारहवाँ[45] "भ्रूमध्याधार" है। यह दोनों भृकुटियों के मिलन के स्थान पर है। यहाँ साधक योगी को स्वच्छ-निर्मल एवं शीतल चन्द्र मण्डल की किरणों का ध्यान करना चाहिए, जिसके सतत् विधि पूर्वक ध्यानाकर्षण से साधक का सम्पूर्ण शरीर स्वच्छ, शान्त, स्थिर व सौम्यता को प्राप्त हो जाता है तथा इस आधार में दृष्टि स्थिरता से वह परम दिव्य ज्योति के दर्शन करता है।

13- तेहरवाँ[46] "नासिकाधार" है, जो कि नासिका में होता है। साधक नासिका के अग्रभाग पर अपना ध्यान केन्द्रित करें तो उसका मन समस्त चंचलताओं का त्याग कर स्वयमेव में ही स्थिर हो जाता है। इसके अभ्यास द्वारा मन की व्यग्रता समाप्त हो जाती है और वह गहनतम समाधि की ओर अग्रसर हो जाता है।

तस्यां उत्पद्यते नाद3 सूक्ष्म बीजा दिवाड्·कुरः।
तां पश्यन्तीं विदुर्विश्वं यया पश्न्ति योगिनः।
- वही पृष्ठ-56 §योग शिखोपनिषद से उद्धृत§

14- चौदहवाँ[47] "कपाटाधार" है। इस आधार पर छः माह तक दृष्टिस्थिर करने से साधक को §परमात्म§ ज्योति पुन्ज की प्राप्ति होती है। वह सौम्य अन्तर्ज्योति के दर्शन कर लेता है।

15- पन्द्रहवाँ[48] "ललाटाधार" है। इसमें परमात्म ज्योति पुन्ज को लक्ष्य बनाकर उसका ध्यान करना चाहिए, जिससे साधक मानसिक एवं जैविक शक्ति में असीम वृद्धि को प्राप्त होता है, जिसमें शरीर दिव्यता तथा तैजस्विता को प्राप्त हो जाता है।

16- सोलहवाँ[49] अर्थात् अन्तिम आधार "ब्रह्मरन्ध्र" है।यह आकाश चक्र का स्थान है। इसमें साधक योगी को श्री गुरू के चरण-कमलों का ध्यान करना चाहिए। इससे §सच्चिदानन्द स्वरूप श्री गुरू का ध्यान करने से§ साधक आकाश की तरह पूर्ण व्यापक एवं स्वच्छन्द हो जाता है। इस अवस्था में योगी साधक को गुरू के प्रसाद से शाश्वत, सनातन, परमात्म ज्योति, कैवल्य पद की प्राप्ति होती है। वह साक्षात् शिव स्वरूप हो जाता है।

तीन लक्ष्य :

लक्ष्य से महायोगी गुरू गोरक्षनाथ जी का तात्पर्य उन विषयों से है, जिन पर मानसिक-जैविक शक्तियों को उच्चतम आध्यात्मिक स्तर पर उठाने एवं परमात्म सत्ता के दर्शन करने हेतु अस्थायी रूप से ध्यान केन्द्रित किया जाता है। लक्ष्य अर्थात् विशेष ध्यान केन्द्रित करना। समाधि धारणा के चुने हुए पदार्थ की स्थिति के अनुसार भीतरी,बाहरी और मध्य तीन तरह के लक्ष्य निरूपित किये गये है।

1- अन्तर्लक्ष्य :

सुषुम्णा नाडी में कुण्डलिनी शक्ति पर ध्यान केन्द्रित करना अन्तर्लक्ष्य साधना है। महायोगी गुरू गोरक्षनाथ आध्यात्म-जिज्ञासु योगी साधकों के लिए शरीर के गहन एवं आध्यात्मिक अंगों पर ध्यान केन्द्रित करने के अभ्यासार्थ कुण्डलिनी शक्ति, गोल्लाट्‌-मण्डप, भ्रमर गुहा, धुम-धुम कार नाद, नेत्रों के बीच नलि ज्योति पर ध्यान केन्द्रित करने की राय देते हैं। उनका कथन है[50] कि मूलकन्द से सहस्रार पर्यन्त मेरूदण्ड में श्वेत वर्ण की ब्रह्मनाड़ी सुषुम्णा करना चाहिए, उस सुषुम्णा में कमल तन्तु के समान करोड़ों विजालियों के समान प्रकाशमयी ऊर्ध्व गामिनी कुण्डलिनी शक्ति का ध्यान करना चाहिए। इस ध्यान से कुण्डलिनी समस्त सिद्धियों को प्रदान करती है। अथवा मस्तक के उपर का भाग गोल्लाट है। गोल्लाट के चल आकार का ध्यान करना चाहिए अथवा मेरूदण्ड के सम्मुख ग्रीवा उपर का स्थान भ्रमर गुफा कहा जाता है। इस भ्रमर गुफा में लाल रंग के भ्रमर के आकार का ध्यान करना चाहिए अथवा दोनों कानों के छिद्रों को दोनों तर्जनी अंगुलियों से यथाक्रम आच्छादित §निरुद्ध§ करना चाहिए, इससे सिर के मध्य भाग में धूं,धू कार नाद §शब्द§ का श्रवण होता है अथवा नेत्रों में नीली ज्योति वाली पुतली के आकार का ध्यान करना चाहिए। यही अन्तर्लक्ष्य का निरूपण है।

39- सप्तमे हृदयाधारे प्राणं निरोधयेत् कमलविकासो भवति। - वही पृष्ठ - 56 2/16

40- अष्टमे कण्ठाधारे कण्ठमूलंचिबुकेन निरोधयेगिदडापिगंलयो-र्वायः स्थिरो भवित। - वही पृष्ठ-57 2/17

प्रथमतः साधक योगी को समस्त वस्तुओं से ध्यान हटा कर, सुषम्णा मार्ग से उठती हुई महाशक्ति कुण्डलिनी के स्वप्रकाशमय, सर्वालोक मय आध्यात्मिक शरीर पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए, जिससे यह महामाया कुण्डलिनी शक्ति स्वयं को महेश्वरी, महाकाली, महालक्ष्मी, महा सरस्वती आदि के रूप में अभिव्यक्त करके अनेक प्रकार के आध्यात्मिक और लौकिक वरदान तथा सिद्धियां प्रदान करती हैं। मन आन्तरिक आत्मा पर केन्द्रित हो जाता है तब न केवल मन ही अपितु शरीर भी दिव्य हो जाता है तथा साधक का शिव स्वरूप में तादात्म्य स्थापित हो जाता है।

दूसरे गोलाट्ट केन्द्र का उल्लेख किया गया है। यह केन्द्र सहस्रार में ललाट के ठीक उपर है। इसके अन्दर एक ज्योति पुन्ज प्रज्वलित है। समाधिस्थ योगी के समस्त विचारों एवं इच्छाओं से रहित हो गोल्लाट केन्द्र में प्रज्वलित ज्योति पुन्ज पर दीर्घकाल तक ध्यान केन्द्रित करने से साधक की चेतना दिव्य प्रकाश से आलोकि हो उठती है तथा उसका व्यक्ति आध्यात्मिक ज्योति से दिव्य हो जाता है।

4। - कण्ठभाकुन्च्य हृदये स्थाण्येच्चिबुकं दृढम्।
बन्धो जालन्धराख्योडयं जरा मृत्युविनाशकः।।
बध्नाति ही शिशेजालमधोगामिन भोजलभृ।
ततो जालन्धरो बन्धेः कण्ठदुःखौघनाशनः।।
जालन्धरेकृते बन्धे कण्ठ संकोच लक्षणे।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति।।
कण्ठ संकोचनेनवै द्वे नाड्यो स्तम्भभेद हृदय।
मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधार बन्धनम्।।
ह0प्र0 पृष्ठ- 3/70,71,72,73

तीसरे भ्रमण गुहा का उल्लेख आता है। यह स्नामु-दण्ड या रीढ़ संस्थान के ऊपर तथा सहस्रार के पृष्ठ भाग में स्थित है। योगी साधक के इस केन्द्र पर निरन्तर ध्यान एकाग्र करने से कामोत्तेजना तथा इन्द्रियों की उत्तेजनायें समाप्त हो जाती है और वीर्य सुरक्षित रहता है। वह शान्त, मुक्त तथा स्थिरता को प्राप्त हो जाता है।

चौथे योगी के लिए मस्तक के भीतर एक विशेष नाद, जिसे भी घुम-घुम कार नाद कहा जाता है, पर ध्यान केन्द्रित करने की राय दी गई है। इस आन्तरिक ध्वनि को सुनने के अभ्यास हेतु योगी को अपने दोनो हाथो की तर्जनी अंगुलियों से कानों को कस कर इस प्रकार बन्द कर लेना चाहिए कि कोई भी बाह्य ध्वनि उसका ध्यान अपनी ओर आकर्षित न कर ले। जब उसका ध्यान एकाग्र होगा तब वह अपने मस्तिष्क के भीतर धुं धुं की ध्वनि सुनने लगेगा जो क्रमशः धीरे-धीरे ओइम की स्थिर ध्वनि का रूप धारण कर लेगी। तब साधक का मन दिव्यानन्द से भर जायेगा तथा वह अन्य किसी भी प्रकार की ध्वनि सुनना पसन्द नहीं करेगा, तथा साधक को नाद में ही परमात्मा के दर्शन सुलभ हो जायेगें।

42- नवमे घण्टिकाधारे जिह्वाग्र धारयेदमृतकला स्रवति। -सि0सि0प0 पृष्ठ - 58 2/18

43- दशवाँ ताल्वा धारे ताल्वन्तर्ग भें लम्बिकां-चालनदोहनाभ्यां दीर्घीकृत्वा विपरीतेन प्रवेशयेत् काण्ठी भवति। - वही पृष्ठ- 58 2/19

44- एकादशाभ्मथ जिह्वाधार तत्र जिह्वाग्रं धारभेत सर्वरोगनाशो भवति। वही पृष्ठ - 60 2/20

पांचवे महायोगी गुरू गोरक्षनाथ जी योगियों को नेत्रों के आन्तरिक केन्द्र नील ज्योति पर ध्यान एकाग्र करने का संकेत देते हैं। इस ज्योति पर गहन रूप से सतत् चित्त की एकाग्रता से योगी साधक की चेतना और व्यक्तित्व दिव्यता से भर जाता है।

2- बहिर्लक्ष्य :

अन्तर्लक्ष्य के पश्चात् गुरू गोरक्षनाथ जी अनेक वाह्य पदार्थों अर्थात् लक्ष्यों का उल्लेख करते हैं। उनका कथन है[5]। कि नासिका के अग्रभाग में दो अंगुल आगे लाल रंग के तेज का ध्यान करना चाहिए अथवा नासिका से दस अंगुल आगे तरंग युक्त श्वेत वर्ण के जल तत्व का ध्यान करना चाहिए अथवा नासाग्र से द्वादश अंगुल की दूरी पर पीले रंग के पृथ्वीतत्व का ध्यान करना चाहिए अथवा आकाश के सम्मुख दृष्टि कर आकाश का ध्यान करना चाहिए। इस तरह साधक ज्योति पुन्ज को देखता है, जिससे चित्त आकाश की तरह निर्मल और व्यापक हो जाता है अथवा ऊपर आकाश की ओर दृष्टि कर आकाश का ध्यान करने से चित्र आकाश की तरह मुक्ति प्रद हो जाता है अथवा दृष्टि को अन्तर्मुखी कर तप्त सोने की रंग वाली पृथ्वी का ध्यान करने से दृष्टि स्थिर होती है। इस तरह अनेक बहिलक्ष्य पर ध्यान एकाग्र करने का वर्णन किया गया।

45- द्वादशं भ्रूमध्याधारं तत्र चन्द्र मण्डलं धारयेत् शीतलतां भाति। - वही पृष्ठ - 60 2/21।

46- त्रयोदशं नासाधारं तस्याग्रं लक्ष्येन्मनः स्थिरं भवेत्। - वही पृष्ठ - 5। 2/22

47- चतुर्दशं नासामूलक कपाटाधारं तत्र दृष्टि धारपेत् षण्मासाज्योति पुन्ज पश्यति। - वही पृष्ठ-6। 2/23

बहिर्लक्ष्य से तात्पर्य साधक खुले नेत्रों से मन को बाह्य जगत् की समस्त विभिन्नताओं से रहित कर समस्त वाह्य तत्वों §पदार्थों§ में मन की एकाग्र चित्तता द्वारा परमात्मा की अभिव्यक्ति का अनुभव कर सकता है। इस लक्ष्य के अन्तर्गत सूर्य, चन्द्र, विशेष तारा, नक्षत्र, ग्रह, जलते दीपक, प्रज्वलित अग्नि, दिव्य प्रतिभा, पूज्यव्यक्ति के चित्र आदि पर ध्यान केन्द्रित किया जा सकता है, जिसमें साधक को परमात्मा की अभिव्यक्ति ही देखने का प्रयास करना चाहिए तथा अन्तिम लक्ष्य समस्त स्वरूपों में परमात्मा का दर्शन करना ही होना चाहिए।

3- मध्यमलक्ष्य :

मध्यम लक्ष्य से महायोगी गुरु गोरक्षनाथ जी का तात्पर्य विशेष ध्यान के किसी पदार्थ, जिसे न तो शरीर के भीतर कल्पित किया जा सकता है और न ही बाहर, न मन को जिस पर बिना किसी स्थान पर उसका संकेत पाये केन्द्रित करना होता है, अपितु किसी एक विशेष पदार्थ का विचार मन में संभत कर सम्पूर्ण ध्यान को उसी पर केन्द्रित करना होता है। पदार्थ के लिए साधक की रूचिही निणयिक है। उनका कथन है[52] कि इसमें स्थान विशेष पर लक्ष्य पर ध्यान केन्द्रित नहीं किया जाता है, किसी श्वेत रंग या लाल रंग या काले रंग के पदार्थ पर अथवा अग्निशिखा के आकार वाले पदार्थ पर अथवा ज्योति अथवा विद्युत के §समान प्रभायुक्त§ आकार अथवा सूर्य मण्डलाकार

48- पन्चदशं ललाटाधारं तत्र ज्योति:पुन्ज लक्ष्ये त तेजस्वी भवति। - वही पृष्ठी - 6। 2/24

अथवा अर्द्ध चन्द्राकार अथवा अपने शरीर में ही यथेष्ट अंग पर मन को एकाग्र-स्थिर कर §बिना किसी स्थान विशेष की कल्पना के ही§ ध्यान को केन्द्रित करना चाहिए। इस तरह अनेक प्रकार के मध्यम लक्ष्य पर ध्यान एकाग्र करने का वर्णन किया जाता है।

5- पांच व्योम:

गुरु गोरक्षनाथ जी पंचाकाश की स्थिति के विषय में इस प्रकार संकेत देते हैं[53] कि आकाश, पराकाश, महाकाश, तत्वाकाश और सूर्याकाश - आकाश के पांच भेद हैं, यही व्योम पंचक कहा जाता है। शरीर के बाहर-भीतर अत्यन्त निर्मल निराकर आकाश का ध्यान करना चाहिए अथवा शरीर के बाहर-भीतर अत्यन्त अन्धकार मय पराकाश का ध्यान करना चाहिए, शरीर के भी प्रलयकाल की अग्नि के समान महाकाश काध्यान करना चाहिए अथवा §चिदाकाश§ तत्वाकाश का ध्यान करना चाहिए अथवा शरीर के बाहर-भीतर करोड़ो सूर्यो के समान प्रकाशमय सूर्याकाश का ध्यान करना चाहिए। इस तरह साधक पाँचों आकाश का ध्यान कर आकाश के समान निर्मल, व्यापक , तेजोमय और दिव्य हो जाता है।

51- बहिर्लक्ष्यं कथ्यते नासाग्राद् बहिरङ्गुलद्वयभागरक्तं तेज स्तत्वं लक्ष्येदथवा दशागुले कल्लोलवदप्तत्वं लक्ष्येदथवा नासाग्रदवा दशागुले पतिवर्णं पार्थिकव तत्वंलक्षयेदथवा काशमुखं दृष्ट् वाडवलोकयेत् किरणानाकुलितं पश्यति सर्वं निर्मलीकिरणमथवोर्ध्व दृष्ट्यन्तरालं लक्ष्येदाकाश सदृशचितं मुक्तिप्रदं भव त्यथवा दृष्ट्यन्त्र स्तप्तकान्चन सन्निमां भूमिं लक्षयेद दृष्टि:स्थिर भवति। इत्यने कविध बहिर्लक्ष्यम्।
- वही पृष्ठ - 66 2/28

निष्कर्षतः यह दृढ धारण प्रस्तुत की जा सकती है कि प्रत्येक योग-प्रक्रिया §चाहे वह चक्रो के विषय में हो, आधारों के विषय में हो, लक्ष्यों के विषय में हो अथवा व्योमों के विषय में हो§ जिनका उल्लेख महायोगी गुरु गोरक्षनाथ जी ने किया है, वे शरीर व्यवस्था का गहनतम ज्ञान प्राप्त करने तथा शरीर को स्वेच्छानुसार नियन्त्रण में लाने के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। अतः योगी साधक को उन्हें जानने तथा उन पर सतत ध्यान केन्द्रित करने का अभ्यास करना चाहिए तथा परमात्म तत्व प्राप्ति की ओर अग्रसर होना चाहिए।

52- अथ मध्यमं लक्ष्यं कथ्यते श्वेतवर्ण व रक्त वणं वा कृष्णवर्ण वाग्नि शिखाकारं वा ज्योतिरूपं वा विद्युदाकारं वा सूर्यभण्डलाःकारं वाउर्धचन्द्राकारं वायथेष्टं स्थापिण्डमात्रं स्थानवर्णितं मनसा लक्षयेदित्यमेकविधं लक्ष्यम्।
-वही पृष्ठ - 66 2/29

53- अथव्योम पंचक लक्षयेदाकाशं पराकाशं महाकाशं तत्वाकाशं सूर्याकाशमिति व्योम पंचक बाह्याभ्यन्तरेडत्यन्त निर्मलं निराकारभाकाशं लक्षयेदथवा वाह्याभ्यत्तरेडत्यन्तान्ध कारनिभं पराकाशम् व लो कयेदथवा अस्सन्तकालान ल संकाशं महाकाशंमवलो कयदेवि वाह्याभ्यन्तरे नि जतत्वस्वरूपं तथ्वा काशभवलोकायेदथवा ब्राह्यायन्तरे सूर्य कोटिनिभं सूर्याकार्शभतलोकयेत् स्वयं व्योम पंचकावलोनने व्योम सदृशों भवति।
- वही - 67 2/30

अजपा जाप -

नाथ सम्प्रदाय की विभिन्न साधना पद्धतियों में अजपा जाप गायत्री का एक विशिष्ट स्थान है।

यह जीव §प्राण के रूप में§ हकार की ध्वनि से बाहर जाता है तथा §अपान के रूप में§ सकार की ध्वनि से भीतर आता है। इस प्रकार वह सदा हंस-हंस मन्त्र का जाप करता रहता है। इस क्रम में जीव एक दिन-रात में इक्कीस हजार छः सौ हंस मन्त्र का जाप करता है।[54] प्राण वायु हकार की ध्वनि से बाहर जाता और सकार की ध्वनि से भीतर आता है। श्वास-प्रश्वास की इसी गति के मध्य जीव द्वारा हंस मन्त्र का स्वतः अनवरत् जाप होता रहता है। अन्ततः गुरू की विशेष अनुकम्पा से यह "हंस" मन्त्र "सोडहं" के रूप में परिणत होता है। यही अजपा गायत्री है। इस "हंस" मन्त्र में ही सम्पूर्ण आध्यात्म तत्व महायोग ज्ञान अन्तर्हित है।

अजपा नाम वाली गायत्री §जिसके हंस-मंत्र सोडहं-सोडहं का स्वतः जप होता रहता है§ योगियों को मोक्ष §स्वरूप स्थिति§ प्रदान करने वाली है। इस गायत्री के संकल्प मात्र से मनुष्य सम्पूर्ण पापों से छूट जाता है। इस अजपा गायत्री के समान न तो कोई विद्या है, न इसके समान दूसरा जप है और इसकी समता करने वाला भूत-भविष्य का कोई ज्ञान ही नहीं है। इसके समान न कोई तीर्थ है, इसकी समता का न यज्ञ है और इसके समान न दूसरा पुण्य है न होगा, इसके सदृश कोई स्वर्गीय वस्तु भी नहीं है। इसके समान न कोई तप है, इसके समान

न कोई दूसरा ज्ञेय तत्व है, न होगा।[55] जो योग साधक, योगी अजपा जाप करता है, जिसकी चित्त वृति तैलधारावत् अनवरत "ॐ" "सोऽहं" तथा परमात्मा के इष्ट नाम-मन्त्र के जप में लगी रहती है, जिसका मन ब्रह्मरन्ध्र §शून्यपद§ में रमण करता है तथा ऊर्ध्वमुखी रहता है, जिसके इन्द्रिय समूह चंचलता को छोड़कर स्ववश §साधक के वश में§ रहते हैं, जो विनश्वर शरीर को ब्रह्मानुभूति रूपी अग्नि में परिशुद्ध कर देता है, ज्ञान अग्नि में शरीर-आहुति कर उसे निर्मल बना लेता है, उस योग सिद्ध पुरूष की चरण वन्दना साक्षात् योगेश्वर भगवान शिव भी करते हैं। तात्पर्य यह है कि ऐसा योगी परम शिवैक्य बोध से सम्पन्न होकर शिव-पद में नित्ययुक्त हो जाता है।[55]

इस प्राण-विद्या-स्वरूप हंस-मन्त्र का मूल कौन है, कहाँ से यह मन्त्र उत्पन्न हुआ है? यह बड़े रहस्य का विषय है। यद्यपि हकार और सकार ध्वनियों से आकारित हंस-मन्त्र का, इसके भिन्न-भिन्न दोनों अक्षरों के रहस्य का उद्‌घाटन अथवा प्रकाशन सच्चे अर्थों में योग सिद्ध गुरू के द्वारा ही होता है तथापि श्वास-प्रक्रिया के मूल रूप में तीन तत्व माने गये हैं-पूरक, रेचक और कुम्भक। सामान्य श्वास प्रक्रिया में पूरक §श्वास अन्दर लेना§ तथा रेचक §श्वास बाहर फेंकना§ कुम्भक §श्वास रोकना§ की क्षणिक स्थिति होती है। अतः सामान्य रूप से प्रत्येक श्वास प्रक्रिया में पूरक और रेचक का विशेष महत्व है। क्योंकि रेचक श्वास में वायु "हं" की ध्वनि क साथ बाहर जाती है तथा पूरक श्वास में वायु "सः" की ध्वनि के साथ अन्दर आती है, इस प्रकार स्वतः हंस मन्त्र का जाप होता रहता

है। "हं" ध्वनि का तात्पर्य है "मैं" अर्थात् जीव और "सः" ध्वनि का तात्पर्य है "वह" अर्थात् विश्वात्मा, ब्रह्म, परमात्म शिव। इस प्रकार यह एक दिव्य विधान है कि रेचक श्वास के साथ जीव स्वंयं अनेक बन्धनों से मुक्त होकर ब्रह्माण्ड में विश्वात्मा §परमात्म शिव§ से तादात्म्य स्थापित करता है। पूरक श्वास में "वह" अर्थात् विश्वात्मा जीव के शरीर में प्रविष्ट होकर स्वयं को "अहम्" अर्थात् जीवात्मा के रूप में प्रकट करता है। अस्तु इस श्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया में जब रेचक, पूरक से पूर्व आता है तब मन्त्र बनता है "हंस" लेकिन यदि इसके विपरीत रेचक के पूर्व पूरक की स्थिति का आभास किया जाय तब "सोऽहं" का भाव प्रकट होगा। दोनों का भाव एक ही है - शिवैक्य ।

महन्त अवेद्यनाथ जी ने गोरक्ष-शतक के प्रारम्भ में गोरक्ष-शतक और उसकी महनीयता पर प्रकाश डालते हुए स्पष्ट किया है कि योगशास्त्र तथा योगपरक उपनिषदों में तथा पाशुपत ब्रह्मोपनिषद् में हंस को ब्रह्म स्वीकार किया गया है - हंस का जप ही वर्ण ब्रह्म है, इसी के द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति होती है। यही परमात्मा है और पुरूष भी यही है।[57]

अस्तु हमारी स्वाभाविक श्वास-प्रक्रिया की यहएक भव्य एवं दिव्य व्यवस्था है। अतः जीवात्मा को शरीर में निरन्तर प्राण हंस-मन्त्र का अजपा जाप द्वारा सिद्धि करते हुए निवास करना चाहिए। यह अजपा गायत्री परम पद साक्षात् ब्रह्म से साक्षात्कार कराने वाली है। दिव्य आलोक को जन्म देने वाली हैं। यही घट-घट में व्यापक शाश्वत चैतन्य की अभिव्यक्ति का मूल कारण है। कुण्डलिनी

में उत्पन्न हुई यह अजपा गायत्री ही प्राण धारिणी प्राण विद्या, महा विद्या है, जो इसे जानता है वही योग वेता पुरूष है।[58]

नादानुसन्धान :

नाथ-पन्थी योग-साधना में नादानुसन्धान अजपा-गायत्री के सिद्ध होने के बाद की स्वतः फलित क्रिया है। नाद का अनुसन्धान साक्षात् "ॐ" स्वरूप शब्द ब्रह्म परमात्मा की उपासना है। नादानुसन्धान से अनाहत ध्वनि का श्रवण होता है। इस स्थिति के परे परम शिव का शून्य पद में साक्षात्कार कर जीवात्मा अमृत रस का पान करता है। चित्त को परमात्म-ज्योति का दर्शन होता है। अन्तः भावना ज्ञान के आलोक में जगमगा उठती है।

वस्तुतः साधारण जीव काल नाड़ी §इड़ा-पिंगला§ का अतिक्रमण नहीं कर पाता। इससे उसकी चित्तवृतियाँ बर्हिमुखी रहती हैं। इस बर्हिमुखता के कारण जगत् के अन्तस्तल में जो सूक्ष्म नाद निरन्तर आकाश मण्डल में ध्वनित हो रहा है उसे वह सुन नहीं पाता। योग-कौशल, गुरू-कृपा, प्रबल पुरूषकार, तीव्र वैराग्य और पूर्व संस्कार आदि के प्रभैव से यह नाद अथवा अनाहत ध्वनि श्रवण गोचर होती है। अनाहत उसे इस लिए कहा जाता है कि स्थूल दृष्टि से वह बिना आहत किये ध्वनित हो रही है।[59]

योगी द्वारा सोते जागते एक रात दिन में इक्कीस हजार छः सौ "हंस" "सोडहं" मन्त्रों का जाप किया जाता है। तब अनाहत नाद "सोडहं" मन्त्र की अजपा जाप

द्वारा सिद्धि से स्वतः उत्पन्न हो जाता है। अनाहत नाद के सहज उत्पन्न होने से बंकनालि, सुषुम्ना में सूर्योदय, आत्म ज्ञानोदय हो जाता है तथा रोम-रोम में तूर्य नाद का श्रवण होने लगता है, अंग-अंग में अनाहत नाद का संचार हो उठने पर सच्चिदानन्द स्वरूप की परिव्याप्ति का शरीर के भीतर अनुभव होने लगता है। भ्रमर गुफा, ब्रह्मरन्ध्र में, जहाँ शून्य-ही-शून्य गहनतम नीरवता है, प्रकाश छा जाता है। परम शिव का प्रबुद्ध कुण्डलिनी महाशक्ति से सायुज्य स्थापित हो जाता है। नाभि-स्थान में रहने वाला प्राण हंस उलट कर ब्रह्मरन्ध्र में स्थित हो जाता है, जीवात्मा परमात्मा में अन्तर्लय अथवा तादात्म्य में आत्म रमण करता है।[60]

प्राण-मन्त्र §प्राण हसं§ की उत्पत्ति ऊँकार से ही है, इसकी अविच्छिन्न धारा अनवरत सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर सच्चिदानन्द की रमणीय, रसमयी अभिव्यक्ति करती रहती है। समस्त सृष्टि, जगत के प्राकट्य का मूल ऊँकार ही है। ऊँकार ब्रह्म ही हमारे नाभिदेश §स्वाधिष्ठान चक्र§ और हृदय अनाहत चक्र में स्वाभिव्यक्त अथवा सहज विद्यमान है। ऊँकार ही देवता §परम श्व महादेव§ हैं, ऊँकार ही गुरू है। योगसिद्ध-पिण्ड में ब्रह्माण्ड की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति के स्तर पर ब्रह्म अलख-निरन्जन का सहस्रार में साक्षात्कार ऊँकार की उपासना से ही सम्भव है। जब तक ऊँकार ब्रह्म, शब्द ब्रह्म की साधना नहीं की जाती है, तबतक सिद्धि नहीं मिल सकती है। मूल ऊँकार का अभिव्यक्त रूप नाद है, नाद ही में ब्रह्मा, नरहरि §विष्णु§ और उमापति §महादेव महेश्वर§ लीन हैं। उनकी लीलाभिव्यक्ति

का माध्यम ऊँकार स्वरूप नाद ही है।[61] अतः योगी योगाभ्यास के द्वारा कुण्डलिनी, प्राण ज्योति को जगाते हुए सहस्रार में उसके प्रवेश करने पर अनाहत नाद, शब्द ब्रह्म के स्वरूप का रसास्वादन करता है। उसे ब्रह्मरन्ध्र में परमात्म ज्योति के दर्शन होते हैं। अनाहत शब्द अत्यन्त रहस्य मय है, जिसके द्वारा ब्रह्मानुभव योग साधना के अमृत फल के समान है।

इस अनाहत ध्वनि के निरन्तर अनुसन्धान द्वारा देह शुद्धि और चित्त की निर्मलता बढ़ती जाती है। मन धीरे-धीरे शान्त और अचंचल होकर इस नाद में रमता जाता है। अन्त में मन इसमें पूर्णतया युक्त होकर लय हो जाता है। यही मन का अमन होना है। इस अवस्था में नाद ध्वनि भी विलीन है, तब चित् स्वरूप आत्मा स्वरूप में अवस्थित होकर साम्यावस्था को प्राप्त होती है और बाह्य प्रकृति के स्पर्श संस्पर्श से मुक्त हो जाती है। साधना काल में जब यह नाद श्रुति गोचर होता है, तब अनन्त प्रकार से सुनाई पड़ता है। मर्दल, शंख, घंटा, वंशी, भ्रमरगुंजन, किंकिणि, वीणा आदि की ध्वनि के समान यह ध्वनित होता है, किन्तु इसकी ध्वनि के प्रकार असंख्य हैं। अन्तिम नाद को दशम नाद अथवा महानाद कहते हैं और पूर्ण अवस्था में वह भी विलीन हो जाता है।[62]

समस्त योगों में {चित्त-वृत्ति-निरोध के उपायों में} नाद की चार अवस्थाएँ - आरम्भ, घट, परिचय और निष्पत्ति-होती हैं।[63]

आरम्भ योगी वह है जो, सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए बिना बाधा के एक रस होकर योगाभ्यास में तत्पर रहता है। ब्रह्मचर्य की पूर्ण रूप से रक्षा करना ही आरम्भ दशा की पक्वावस्था हैं।[64]

§प्राणायाम के अभ्यास से§ जब ब्रह्म-ग्रन्थि का भेदन हो जाता है, तब शरीर के भीतर हृदयाकाश से उत्पन्न आभूषण की सी विचित्र आनन्ददायिनी अनाहत ध्वनि सुनाई पड़ती है। उस समय साधक के शरीर से दिव्य गन्ध निकलती है, वह दिव्य चक्षुयुक्त हो जाता है अर्थात उसकी बुद्धि दिव्य हो जाती है। वह तेजस्वी ओर नीरोग हो जाता है, उस योगी के हृदय में योग-ज्ञान का प्रकाश भर जाता है। यह योग-साधना की दिशा में प्राणायाम, मुद्राबन्ध, चक्रभेदन और कुण्डलिनी के प्रबोधन द्वारा आरम्भावस्था कही जाती है।[65]

नाद की द्वितीय दशा में कण्ठ देशस्थ विष्णु ग्रन्थि का भेदन हो जाता है। इस अवस्था में योगी शरीर में स्थित कुण्डलिनी महाशक्ति को जगाते हुए तथा षट् चक्रों के भेदन द्वारा प्राण को सुषुम्णा नाड़ी में प्रवाहित करते हुए सहस्रार में द्रवित चन्द्रामृत-अमर वारूणी का रात-दिन आस्वादन करता रहता है। योगी कुम्भक प्राणायाम की विधि से प्राण को संयमित कर सुख-दुःख, स्वाद-विस्वाद आदि द्वन्द्वों से परे होकर परमानन्द में तल्लीन हो जाता है। यह ही योगी की घटावस्था के लक्षण है।[66]

इस अवस्था में प्राण वायु, अपान वायु, नाद और बिन्दु को सम्मिलित करके मध्य चक्र में प्रवेश करती

है। उस समय आसन सिद्ध योगी, योग ज्ञान सम्पन्न तथा देवता के समान हो जाता है, तब विष्णु ग्रन्थि का भेदन होता है और इस तरह अतिशून्य कण्ठदेश में स्थित विशुद्ध चक्र का भेदन हो जाता है, तब परमानन्द की प्राप्ति कराने वाली भेरी का सा शब्द सुनाई पड़ता है, जिसमें योगी पूर्ण निभग्न हो उठता है।[67]

परिचयावस्था में योगी मन और पवन की साधना कर उन्मनी समाधि में लीन होकर अमनस्क-योग के अभ्यास से सच्चिदानन्द स्वरूप परमशिव अलख-निरंजन की अभिन्नता अथवा तादात्म्य लाभ करता है। रात-दिन परम देव परब्रह्म में अन्तर्भूत रहता है। उस समय वह योगी नाना रूपों को धारण करने की सामर्थ्य वाला हो जाता है।[68]

इस परिचयावस्थैा में जब प्राण वायु विशुद्ध-चक्र का भेदन कर सम्पूर्ण सिद्धियों के केन्द्र महाशून्य अर्थात् भौहों के मध्यवर्ती आकाश में प्रवेश करती हैं, तब मर्दल नामक वाद्य-विशेष की सी ध्वनि सुनायी पड़ती है। इसके बाद चित्तानन्द को जीत लेने पर अमनस्क अवस्था अथवा उन्मनी-समाधि की प्राप्ति हो जाने पर योगी को सहजनानन्द की प्राप्ति हो जाती है, जिससे वह दोष, दुःख, भूख, निद्रा, बुढ़ापा और मृत्यु से छूट जाता है।[69]

चतुर्थावस्था में शरीर, मन, प्राण आदि पर विजय प्राप्त कर निष्पत्ति-योगी द्वन्द्वों से परे होकर आत्मस्वरूप में तल्लीन रहता है। जिस तरह लोहा को अग्नि से तपाकर उसे पानी में डालकर निर्मल अथवा शुद्ध किया जाता है, ठीक उसी तरह अनेकानेक कठोर योग साधना के द्वारा

योगी अपने शरीर, नाड़ियों, प्राण को शुद्ध करता है। उन्मनी समाधि की सिद्धि के द्वारा निष्पत्ति-कैवल्य पद की अनुभूति करता है तथा प्रत्येक प्राणी में आत्म भाव रखकर समदृष्टि से सम्पन्न रहता है।[70]

जब प्राण वायु रूद्रग्रन्थि का भेदन करके शर्वपीठ अर्थात् ब्रह्रन्ध्र में जाती है, तब उसे निष्पत्ति-अवस्था कहते हैं। इस अवस्था में वंशी और वीणा का सा शब्द सुनाई पड़ता है। योगी शरीर, मन प्राण आदि पर विजय कर द्वन्द्वों से परे होकर आत्म स्वरूप में तल्लीन रहकर परमेश्वर शिव के साक्षात्कार द्वारा कैवल्यानुभूति की प्राप्ति करता है। चित्त के एकाग्र होने पर राजयोग होता है तथा योगी सृष्टि और संहार करने की सामर्थ्य से युक्त होकर ईश्वर के समतुल्य हो जाता है।[71]

निष्कर्षतः नाथोपदिष्ट साधना प्रणाली में नादानुसन्धान का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। नाद शरीर में ईश्वरानुभव का मूल है। नादानुसन्धान की आरम्भावस्था में योगी शरीर की ओर दृष्टि रखकर साधना करता है, घट योगी काय सिद्धि, सिद्ध-देह की प्राप्ति में संलग्न रहता है। परिचयावस्था में वह मन और पवन की साधना कर उन्मनी समाधि में लीन हो कर परमात्म शिव से तादात्म्य लाभ करता है तथा अन्तिम निष्पत्ति अवस्था में वह मन, प्राण, शरीर आदि पर विजय प्राप्त कर, राग द्वेषादि द्वन्द्वों से मुक्त होकर आत्म-स्वरूप में तल्लीन हो जाता है। नादानुसन्धान के द्वारा ही योगी अभ्यन्तर आत्मानुभूति में निरन्तर रमण करता रहता है। नादानुसन्धान से ही समाधि में लीन

योगियों के हृदय में आनन्दानुराग बढ़ता जाता है। प्रारम्भ में योगी अनेक महान गर्जना पूर्ण नादों को सुनता है और जैसे-जैसे अभ्यास की निरन्तरता बढ़ती जाती है वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म शब्द ध्वनि को भी अनुभव करने लगता है।

वस्तुतः अजपा गायत्री "हंस" "सोऽहं" के अन्तर में महामन्त्र "ओऽम्" निहित है, इस ओऽम् से ही समस्त ध्वनियाँ विकसित होत हैं, तथा उसी में विलीन हो जाती हैं। मानव शरीर में यह ओऽम् चरमसत्ता, शब्द-ब्रह्म परम शिव निरन्तर अपने को प्रस्तुत करतेरहते हैं जिसे नादानुसन्धान की विशिष्ट प्रक्रिया द्वारा सहज ही अपने भीतर अनुभव किया जा सकता हैं, क्योंकि नाद के अनुसन्धान की चरमावस्था को प्राप्त होने के साथ ही शरीर में आन्तरिक परिवर्तन प्रारम्भ हो जाते हैं। शरीर काया दोषों §दुःख, निद्रा, क्षुधा, व्याधि, जरा तथा मृत्यु आदि§ से मुक्त हो जाता है, उन्मत तथा आसक्त मन स्थिरता और एकाग्रता को प्राप्त हो जाता है और आत्मा चरम आध्यात्म सत्ता परमात्म शिव में नित्य लीन हो जाता है। अतः नित्य नाद का अनुसन्धान एक योगी के लिए अपरिहार्य है।

54- हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत पुनः।
हंस हंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ।।
षटशतानित्वहो रात्रे सहस्राण्येक विशंति।
एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वा।।
- गो0 श0 पृष्ठ 9, श्लो-42-43

55- अजपानाम गायत्री योगिनां मोक्षदायिनी ।
अस्याः संकल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ।।
अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः ।
अनया सदृशं ज्ञानं न भूतो न भविष्यति ।।
अनया सदृशं तीर्थमनया सदृशंः कतुः ।
अनया सदृशं पुण्यं न भूतं न भविष्यति ।।
अनया सदृशं स्वर्गमनया सदृशं तपः ।
अनया सदृशं वेद्यं न भूतं न भविष्यति ।।
- गो0सि0स0 पृष्ठ - 99 श्लो0-47-50

56- अजपा जपै सुंनि मन धरै, पांचौं इंद्री निग्रह करै।
ब्रह्म अगनि मैं होमै काया, तास महादेव बंदै पाया
-गो0 बा0 पृष्ठ -8 सबदी - 18

57- हंसात्ममालिका वर्णब्रह्म काल प्रचोदिता।
परमात्मा पुमानिति ब्रह्मसम्पत्ति कारिणी ।।
-गो0श0 पृष्ठ - 13

58- कुण्डलिन्यां समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी।
प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स योगवित् ।।
-गो0श0 पृष्ठ 10 श्लो0 46

59- ना0 प0 पृष्ठ - 184

60- छ सै सहंस इकीसौ जाप, अनहद उपजै आपहि आप।

बंक नालि मैं ऊगैसूर, रोम-रोम धुनि बाजै तूर।
उलटै कंवल सहंसदल बास,भ्रमर गुफा महि जोतिप्रकास।
-गो0वा0पृष्ठ - 179 पद - 30

61- ऊँकार आछैबाबू मूल मन्त्र धारा,
उँकार व्यापीले सकल संसारा।
ऊंकार नाभी हृदै देवगुर सोई,
ऊंकार साधे बिना सिधि न होई ।।
नादै लीना ब्रह्मा नादै लीना नरहरि, नादै लीना उमापति जोग ल्यो धरि-धरि ।
नाद ही तो आछै बाबू सब कछू निधांना,
नाद ही तै पाइये परम निरबांना ।।
-गो0बा0पृष्ठ - 143 पद-12

62- ना0 प0 पृष्ठ - 184

63- आरम्भश्च घटश्चैव तथा परिचयोडपि च।
निष्पतिः सर्वयोगेषु स्यादवस्थाचतुष्टयम्।।
-ह0प्र0पृष्ठ - 141

64- आरम्भ जोगी कथीला एकसार।
षिणा षिणा जोगी करै सरीर विचार।
तलबल ब्यंद धरिबा एक तोल।
तब जाणिबा जोगी आरंभ का बोल॥
- गो0 बा0 पृष्ठ - 64 सबदी-136

65- ब्रह्मग्रन्थिर्भविद्भिन्ना ह्यानन्दः शून्य सम्भवः।
विचित्रः क्वणिको देहेडनाहतः श्रूयते ध्वनिः।।
दिव्यगन्धो दिव्य चक्षुस्तेजस्वी स्याद रोगवान्।
सम्पूर्ण हृदयःशून्य आरम्भो योगवान्भवेत्।।
-गो0सि0स0 पृष्ठ-86

66- घट ही रहिबा मन न जाई दूर।
अहनिस पीवै जोगी बारुणी सूर।
स्वाद बिस्वाद बाई कालछीन ।
तब जानिबा जोगी घट कालछीन ।।
- गो0 बा0 पृष्ठ -65 सबदी - 137

67- द्वितीयायां घटीकृत्य वायुर्भवति मध्यगः।
दृढ़ासनों भवेद्योगी ज्ञानी देवसमस्तथा ।।
विष्णुग्रन्थिर्यदा भिन्ना परमानन्दसूचकः।
अतिशून्यविभेदश्च भेरीशब्दस्तथा भवेत्।।
-गो0सि0स0पृष्ठ-87

68- परचय जोगी उनमन षेला।
अहनिसि इंछया करै देवता स्यूं मेला।
षिन षिन जोगी नानां रूप।
तब जानिबा जोगी परचय सरूप ।।
-गो0बा0 सबदी - 138

69- तृतीया ततोभित्वा विज्ञेयो मर्दलध्वनिः।
महाशून्यं तदायाति सर्वसिद्धि समाश्रयम् ।।
चित्तानन्दं ततो जित्वा सहजानन्दसम्भवः।
दोष-दुःख-क्षुधा-निद्रा-जरा-मृत्यु-विवर्जितः ।।
-गो0सि0स0 पृष्ठ 87

70- निसपती जोगी जानिब कैसा।
अगनी पांणी लौहामांनै जैसा।
राजा परजा सम करि देष।
तब जांनिबा जोगी निसपति का भेष।।

71- रुद्रग्रन्थिं यदा भित्वा शर्व पीठगतोऽनिलः।
निष्पत्तौ वैणवःशब्दः क्वणद्वीणाक्वणो भवेत् ।।
एकीभूतं तदा चित्तं राजयोगाभिधानकम्।
सृष्टिसंहार कर्ताऽसौ योगीश्वरसमो भवेत् ।।
ह0प्र0-4/76-77 पृष्ठ 144

- अष्टम् अध्याय -

- गोरक्ष दर्शन एवं शैव दर्शन -

1- शिव-गोरक्ष
2- गोरक्ष मत एवं शैव मत की प्राचीनता
3- विभिन्न शैव सम्प्रदाय
4- शैव सम्प्रदायों का संगठन
5- नाथ सम्प्रदाय में विभिन्न शैव-शाक्तादि मत
6- गोरक्ष दर्शन एवं शैव दर्शन

शिव-गोरक्ष :

परवर्ती काल में नाथ सम्प्रदाय में गोरक्षनाथ को शिव के अवतार के रूप में स्वीकार कर लिया गया और यह भी मान लिया गया कि गोरक्षनाथ ने चार कालों में चार भिन्न-2 क्षेत्रों में अवतार लिया।[1]

योगेश्वर श्री कृष्ण ने गोरक्षनाथ की बन्दना में कहा है[2] कि आप विश्व के प्रकाशक हैं, विश्वरूप हैं, विश्व द्वारा वन्द्य सदाशिव है, विश्वनामधारी हैं, विश्वनाथ हैं आपको नमस्कार है।

अपि च[3] निर्मल स्फटिक के समान उज्जवल जिनका गौर वर्ण है, जो जटाजूट धारी है, जो तीन नेत्र वाले, माया रहित, निराकार, निर्विकल्प §समाधि में स्थित§ और विशुद्ध §आत्म स्वरूप§ तथा ब्रह्मा, विष्णु और महेश त्रिदेव स्वरूप और तीनों लोकों के स्वामी है, विश्व जिनका रूप है, जिनका सत्स्वरूप है और श्रीनाथ ही जिनके इष्टदेव हैं, उन श्री गोरक्ष को नमस्कार है। गोरक्षनाथ विद्या पति, मन्त्रों के अधिकृत अधिकारी, ध्यान में एक मात्र ध्येय निरंजन, नित्यनाथ, प्राणी मात्र के स्वामी, नित्यानन्द में निमग्न रहने वाले, मही पति, जगदीश्वर, सबके आराध्यदेव पूर्णनाथ, तेजः स्वरूप, ज्योतिः स्वरूप, ब्रह्मा, विष्णु, महेश रूप से सृष्टि-स्थिति-संहार के कर्ता महान् गुरु भक्तों की आत्मा में रमण करने वाले राम भद्र स्वरूप राम नाथ और जनार्दन रूप है।

1- गो० ना० पृष्ठ - 69

शैव मत एवं गोरक्ष मत की प्राचीनता :

गोरक्ष मत एवं शैव मत पर्याप्त प्राचीन है, इसे प्रमाणित करने की आवश्यकता शेष नही रह जाती। डा0 यदुवंशी का मत है[4] "पुराणों के समय §लगभग छठीं ई0श0§ तक शैव मत पूर्ण विकसित और संगठित हो चुका था तथा वेदोत्तर ब्राह्मण धर्म के दो प्रमुख मतों में से एक बन गया था।" केवल उसके दार्शनिक पक्ष का विकास होता रहा और वह पुराणोत्तर काल में ही जा कर अपनी पूर्ण विकसित अवस्था को पहुंचा" "पुराणोत्तर काल में अगर कोई नई बात हुई तो वह थी - शैव मत के अन्दर ही विभिन्न सम्द्रायों की उत्पति।"

विभिन्न शैव-सम्प्रादय :

शैव सम्प्रदाय के अधिक लोक प्रिय तथा व्यापक हो जाने पर इसमें चार अन्य सम्प्रदाय भी हो गये - शैव, पाशुपत, कालामुख और कापालिक। उत्तर का सम्प्रदाय काश्मीर शैव मत तथा दक्षिण का वीर शैव मत के नाम से प्रसिद्ध हुआ इन समस्त सम्प्रदायों के इष्ट देव भगवान शंकर थे।[5]

2- विश्वतेजो विश्वरूपं विश्ववन्द्य सदाशिवः।
विश्वनामा विश्वनाथः श्री गोरक्ष नमोऽस्तु ते।।
-यो0वा0सि0द0वि0पृष्ठ- 13
§कल्पद्रुमतन्त्र - गोरक्षस्त्रोत्रराज से उद्घृत§

3- शुद्ध स्फटिकसंकाश जटाजूट त्रिलोचनम्।
निरन्जनं निराकारं निर्विकल्पं निरामयम्।।
त्रिमूर्ति च त्रिलोकीशं विधिविष्णु महेश्वरम्।
विश्वरूपं सदाकारं गोरक्ष नाथ दैवतम्।।
विद्यापतिर्मन्त्रनार्यो निरंजनः।
नित्मनाथो भूतपतिर्नित्यानन्दो महीपतिः।।

एक अन्य मतानुसार[6] माहेश्वरों के स्पष्टतः दो स्थूल वर्ग दिखलाई पड़ते हैं। पाशुपत शैव तथा आगामिक शैव। पाशुपत शैवों में पाशुपत, लाकुलीश, कापालिक, नाथ, गोरखनाथी और रसेश्वरथे। दूसरे वर्ग में शैव सिद्धान्ती, तामिल शैव, काश्मीरी शैव और वीर शैवों की गणना की जाती है। पाशुपत लोग शिवावतार स्वीकार करते थे। आगमिक शैव शिवावतार न स्वीकार कर आगमों को अपना मूल ग्रन्थ मानते थे।

डा0 नागेन्द्र नाथ उपाध्याय ने कुछ शिलालेखों तथा अन्य ऐतिहासिक आलेखों से प्राप्त महेश्वर सम्प्रदायों का वर्णन इस प्रकार प्रस्तुत किया है "मल्कापुरम् शिलालेख {श0स0 1183 = वि0स0 लगभग 1318} में शैव मत के चार सम्प्रदायों का उल्लेख मिलता है - शैव, कालानन, शिव शासन, तथा पाशुपत। वामन और शिव पुराण, आगम, प्रामाण्य, श्री भाष्य, वाचस्पति मिश्र रचित शारीरक भाष्य, हरिभद्र सूरि रचित षड्दर्शन समुच्चय तथा अन्य आगम ग्रन्थों में इन सम्प्रदायों के उल्लेख मिलते हैं। इनमें से शैव तो शैव सिद्धान्ती थे तथा कालानन को कारूक भी कहा जाता था। पाशुपत सम्प्रदाय की लाकुलीश पाशुपत नाम की एक शाखा भी थी। कापालिक सम्प्रदाय का एक सोम सम्प्रदाय भी था, जिसके साथ उसका सम्बन्ध था। दक्षिण के कुछ शिलालेखों में छः शैव सम्प्रदायों का उल्लेख मिलता है - 1- भैरव, 2 - वाम, 3- कालामुख, 4 - महाव्रत,

सर्वाराध्यः पूर्णनाथो द्युतिनाथो द्युतिप्रियो।
सृष्टिनाथः स्थितिनाथो हारनाथो महागुरू ।।
रमयो रामभद्रश्च रामनाथो जनार्दनः।
- गो0सि0स0 पृष्ठ - 106
{कल्पद्रुमतन्त्र श्री गोरक्ष सहस्रनाम स्त्रोत से उद्धृत}

5- महाव्रत, 6- शैव। डा0 पाठक का अनुमान है कि वाम और भैरव कापालिक हो सकते हैं। आनन्दीगिरि §लगभग 1260 ई0§ ने अपने शंकर दिग्विजय में शैव, रौद्र, उग्र, भट्ट, जंगम, पाशुपत नाम के छः सम्प्रदायों का उल्लेख किया है।"[7]

डा0 नागेन्द्र नाथ उपाध्याय ने विविध तथ्यों के आधार पर यह विचार व्यक्त किया है कि लगभग 13 ई0 श0 तक भारत में कालानन, कापालिक, लाकुलीश, पाशुपत और शैव सिद्धान्त नामक पांच शैव सम्प्रदायों का ही अधिक प्रचार था।[8]

अतः उक्त विवरण के आधार पर यही सम्भावना अधिक प्रतीत होती है कि पूर्व उत्पन्न शैव सम्प्रदाय में कालान्तर में शैव, पाशुपत, कापालिक, कालामुख और कालानन सम्प्रदाय ही प्रमुख रूप में प्रादूर्भत हुए।

शैव सम्प्रदायों का संगठन :

शैव सन्यासियों के इतिहास को देखने से प्रतीत होता है कि यद्यपि शंकराचार्य के पूर्व शैव सन्यासी विभिन्न शैव सम्प्रदायों के रूप में वर्तमान थे तथापि इन अनेक वैदिक शैव सन्यासियों का पुनः संगठन शंकराचार्य ने ही किया।[9]

तदनन्तर लगभग 10वीं ई0 शताब्दी के आरम्भ में गोरखनाथ ने उन शेष सन्यासियों को संशुद्ध कर पुनःसंगठित

4- गो0 ना0 पृष्ठ - 68
5- भा0स0 एवं कला पृष्ठ - 160
6- गो0 ना0 पृष्ठ - 68

किया जो वैदिक व्यवस्था तथा जीवन पद्धति का विरोध करते थे अथवा उसे किसी रूप में स्वीकार न कर सके थे।[10]

गोरक्षनाथ के पूर्व ऐसे बहुत से शैव, बौद्ध और शाक्त-सम्प्रदाय थे जो वेद वाह्य होने के कारण न हिन्दु थे और न मुसलमान। जब मुसलमानी धर्म प्रथम बार इस देश में प्रचलित हुआ तो नाना कारणों से देश दो प्रतिद्वन्दी, धर्म साधना मूलक दलों में विभक्त हो गया, जो शैव मार्ग और शाक्त मार्ग वेदानुयायी थे, वे वृहत्तर ब्राह्मण प्रधान हिन्दु समाज में मिल गये और निरन्तर अपने को कट्टर वेदानुयायी सिद्ध करने का प्रयत्न करते रहे। वह प्रयत्न आज भी जारी है। उत्तर भारत में ऐसे अनेक सम्प्रदाय थे जो वेद वाह्य होकर भी वेद सम्मत योग साधना या पौराणिक देव-देवियों की उपासना किया करते थे। वे अपने को शैव, शाक्त या योगी कहते रहे। गोरक्षनाथ ने उनको दो प्रधान दलों में पाया होगा - एक तो वे जो योग मार्ग के अनुयायी थे, परन्तु शैव या शाक्त नहीं थे। दूसरे §2§ वे जो शिव या शक्ति के उपासक थे - शैवागमों के अनुयायी थे - परन्तु गोरक्ष सम्मत योग-मार्ग के उतने नजदीक नहीं थे। इन में जो लोग गोरक्ष सम्मत मार्ग के नजदीक थे उन्हे उन्होने योग मार्ग में स्वीकार कर लिया, बाकी को अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार दोनों ही प्रकार के मार्गो से ऐसे बहुत से सम्प्रदाय आ गये जो गोरक्षनाथ के पूर्ववर्ती थे परन्तु बाद में उन्हें गोरखनाथी भाना जाने लगा। धीरे-धीरे जब परम्पराएं लुप्त हो गयीं तो उन पुराने सम्प्रदायों के मूल प्रवर्तकों को भी गोरक्षनाथ का शिष्य समझा जाने लगा।[11]

अतः उक्त विवरण से स्पष्ट है कि शैव सन्यासियों को संगठित करने का कार्य दो ही व्यक्तियों द्वारा किया गया प्रथम शंकराचार्य तथा दूसरे महायोगी गुरु गोरक्षनाथ।

नाथ-सम्प्रदाय में विभिन्न शैव-शाक्तादि मत :

दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी के बाद क्रमशः वेद बाह्य सम्प्रदायों की यह प्रवृत्ति बढ़ती गयीं कि अपने को वेदानुयायी सिद्ध किया जाय। शैवों ने भी ऐसा ही किया और शाक्तो ने भी, परन्तु कुछ मार्ग इतने वेद विरोधी थे कि उनका सामंजस्य किसी प्रकार इन मतों में नहीं हो सका। वे धीरे-धीरे मुसलमान होते रहे। गोरक्षनाथ ने योग-मार्ग में ऐसे अनेक मार्गो का संघटन किया।[12] शैव सन्यासियों में पाशुपत और कापालिक सन्यासियों का विशेष प्रामुख्य था। गोरक्षनाथ ने शंकराचार्य के पुनः-संगठन से अवशिष्ट शैव एवं शाक्त सन्यासियों का पुनः-संगठन किया था। अधिक संभावना यह है कि ये वैदिक नहीं, अपितु आगमानुयायी सन्यासी रहे होंगे। गोरक्षनाथादि द्वारा संगठित एवं व्यवस्थित नाथ मत में विभिन्न शैव-शाक्त सम्प्रदायों का अन्तर्भाव हो गया था जिससे यह अनुमान किया जा सकता है कि नाथों का कापालिक, पाशुपत, लाकुलीश, अघौरी आदि सम्प्रदायों से घनिष्ट सम्बन्ध रहा होगा। एक विभाजन के अनुसार यदि गोरक्षनाथ पाशुपत थे तो वे एक अर्थ में वैदिक भी हो सकते हैं। जबकि कापालिक मत तांत्रिक अथवा आगमानुयायी था और साथ ही अवैदिक भी। जालन्धर पाद एवं कृष्णपाद के कापालिक मत के नाथ सम्प्रदाय में पूर्ण एवं आंशिक अन्तर्भाव के सम्बन्ध में इस एक कारण का अनुमान किया जा सकता है ।

गहनेश और गहिनीनाथ यदि एक ही हैं और यदि ये गोरक्षनाथ की शिष्य परम्परा में ही थे तो भी वे लाकुलीश मत में अग्रसर हुए थे। गोरक्षनाथ ने सिद्ध मत के चौरंगीनाथ को सम्मान दिया।[12]

अपने गुरु मत्स्येन्द्र के उद्धार के बाद ही गोरक्षनाथ ने विभिन्न शैव-शाक्त सम्प्रदायों का संगठन किया होगा इसी क्रम में कौल मत्स्येन्द्र नाथ की शिष्या विमला देवी और उनके अनुयायी आर्य पन्थी § जो पूर्वतः शाक्त थे§ नाथ सम्प्रदाय में अन्तर्भुक्त हो गये। रावल लोगों का सम्बन्ध लाकुलीश मत से जोड़ा जा सकता है। कापालिक जालन्धर पाद का पर पन्थ तथा उनके शिष्य कानिफा के बाभारग के सम्बन्ध में कहा जाता है कि पा पंथ तो पूर्णतः और बाभारग अंशतः नाथ सम्प्रदाय में स्वीकृत हुआ।[14]

इस प्रकार शैव-शाक्तादि मतों के कापालिक, लाकुलीश, सिद्ध, अघोरी आदि विभिन्न वैदिक - अवैदिक सम्प्रदाय एवं उपसम्प्रदाय नाथ सम्प्रदाय में अन्तर्भुक्त हो गये। अतः स्पष्ट है कि नाथ सम्प्रदाय एक अत्यन्त व्यापक सम्प्रदाय रहा होगा, जिसने अपने में उक्त सम्प्रदायों को समेट कर उन्हें संगठित किया ।

7- गो0 ना0 पृष्ठ - 70
8- गो0 ना0 पृष्ठ - 70
9- वही पृष्ठ - 78
10- वही पृष्ठ - 78
11- ना0 स0 पृष्ठ - 182
12- ना0 स0 पृष्ठ - 182
13- गो0 ना0 पृष्ठ - 86
14- गो0 ना0 पृष्ठ - 87

गोरक्ष दर्शन एवं शैव दर्शन में एकता :

एक ओर शैव मतावलम्बी शिव-शक्ति के उपासक थे। वे शिव को जगत् कर्ता, पालक, संहारक मानते थे, तो दूसरी ओर शिव-शक्ति का अभेद सिद्धान्त गोरक्षनाथ के मत में मान्य था। पिण्ड में स्थित महामाया कुण्डलिनी शक्ति का उद्बोधन हठ योग क्रियाओं द्वारा प्राप्त कर शिव-शक्ति की अभेदता को प्राप्त किया जा सकता है। शिव एक परम सत्ता है, और सृष्टि उसी का आभास या प्रकाश है। दोनों ही §गोरक्ष एवं शैव§ मतों में इसे स्वीकार किया जाता है।

मत विभिन्नता होते हुए भी लक्ष्य एक ही है और वह लक्ष्य है तत्वतः परब्रह्म परमेश्वर शिव को जान लेना। उससे अभेदता को प्राप्त होना। उसी में लीन हो जाना। उसी के सामरस्य को प्राप्त होना, शिव-शक्ति का तादात्म्य स्थापित करना। शिव में स्वस्थ होकर निरूत्थान पद को प्राप्त होना। कहा भी गया है[15] कि जो शुद्ध §गुणातीत निर्विकार§ निराकार §अलख-निरन्जन सर्व व्यापक§, परमानन्द स्वरूप, स्व प्रकाशित § स्व संवेद्य अखण्ड पर ब्रह्म§ परमेश्वर §शिव को तत्वतः जान लेता है, वही अवधूत योगी शैव है। जो कर्म जाल रूप पशुत्व §जीव भाव§ का त्याग कर अखण्ड, परात्पर, पूर्णतम परम शिव की उपासना में तत्पर होकर शिव रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है, वही वास्तव में पाशुपत §शैव§ है। जो समस्त भौतिक तत्व के प्रति

15- शुद्धं शान्तं निराकारं परमानन्दं सदोदितम् ।
तं शिव यो विजानाति शुद्ध शवो भवेत्तु सः ।।

विद्यमान अहंकार भाव का-संसाराभिमान रूप शत्रु का वीरता पूर्वक दमन कर देता है, वही वीर शैव-लिंग धारी कहा जाता है। जो गुरू से मन्त्र प्राप्त कर उसके द्वारा उपदिष्ट साधन मार्ग पर चलते हुए अपने शिव स्वरूप में बोध युक्त तथा अनन्य रहता है, एक मात्र अपने उपास्य का ही ध्यान और चिन्तन करता है, वही कापालिक कहा जाता है। जो शक्ति को संचार से संकोच कर निरूत्थान स्वरूप स्थिति, चित्त-विश्रान्ति में समाधि में तत्पर होकर अपने अखण्ड सच्चिदानन्द स्वरूप में विहार करता है, वही शाक्त कहा जाता है। शक्ति सृष्टि का प्रसार प्रकाशित करती है, शिव उसका लयसंहार §संकोच§ करते हैं, शक्ति और शिव में ऐक्य भाव दृढ़ करने वाला सिद्ध योगीराज कहा जाता है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि मत विभिन्नता होते हुए भी दोनों के सिद्धान्त किसी न किसी रूप में परस्पर मिलते हुए प्रतीत होते हं। दार्शनिक विचार धाराओं में प्रायः साम्य ही इंगित किया जा सकता है।

क्रियाजालं पशुं हत्वा पतित्वं पूर्णतां गतम्।
यस्तिष्ठेत पशु भावेन स वै पाशुपतो भवेत्।।
विलयं सर्व तत्वानां कृत्वा संझायते स्थिरम्।
सर्वदा येन वीरेण लिंगधारी भवेतु सः।
स्वस्वरूपात्मकं ज्ञानं समन्त्रं तत प्रणलितम् ।
अनन्यत्वं सदायेन स वै कमालिको भवेत् ।।
यः करोति निरूत्थानं कर्तृचित प्रसरेत सदा।
तद् विश्रान्तिस्तया शक्त्या शक्तिः सोऽत्राभिधीयते।।
प्रसरं भासते शक्तिः संकोचं भासते शिवः।
तयोर्योगस्य कर्ता यः स भवेत्सिद्धयोगिराट् ।।
- सि0सि0प0 -6/40,42,44,46,52,63

नवम् अध्याय

- गोरक्ष दर्शन की प्रमुख देन -

1- जीव की बन्धन मुक्ति

2- समरसकरण

3- अध्यात्मिक आदर्श एवं मानवता के लिए सन्देश

महायोगी गुरू गोरक्षनाथ जी का व्यक्तित्व सर्वगुण सम्पन्न एवं अप्रतिम था उन्होंने अपनी प्रतिभा सम्पन्न वाणी द्वारा लोक मानस के समक्ष जीव के बन्धन मुक्ति, सामरस्य की स्थिति तथा मानव के लिए जो सन्देश प्रस्तुत किया वह एक महान कार्य था।

जीव की बन्धन मुक्ति :

प्राचीन काल से ही अनेक सन्त, महात्माओं, दार्शनिकों एवं तत्व-ज्ञानालोकित योगियों का मुख्य आधार यही रहा है कि वह किसी भी साधन द्वारा मुक्ति पा जाय। मुक्ति का सामान्य अर्थ है, छुटकारा, निवारण, उद्धार। वस्तुतः मुक्ति की अभीप्सा के पहले मानव जीवन मे ऐसी अवस्था अवश्य आती है, जिससे खिन्न होकर वह किसी न किसी रूप में उस अवस्था से छुटकारा पाने का विचार करता है। वह उससे तुरन्त छुटकारा पाना चाहता है।

वह अनुभूयमान अवस्था दुःख है जो न केवल मानव के लिए ही असहनीय है, अपितु समस्त संवेदनशील जीवों के लिए ही कष्ट कारी होता है, जिसका निवारण सभी प्राणी चाहते हैं। मानव जीवन में जन्म से मृत्यु तक दुःख साथ-साथ लगे रहते हैं। कुछ अपूर्णताएं होती है जो दुःखों को और अधिक कष्टकारी बना देती हैं। मनुष्य इन्हीं दुःखों से छुटकारा पाने के लिए सतत् संघर्ष करता है । तथा संघर्ष में लगे रहने से वह इन दुःखों से अस्थाई छुटकारा तो पा लेता है किन्तु दुःख है कि जीवन में मूलतः नष्ट नहीं हो पाते तथा निरन्तर दुःख की स्थिति पैदा करने वाले दुसरे कारण पैदा हो जाते हैं। यहाँ तक कि भौतिक मृत्यु

भी §जिसे मनुष्य यही समझता है कि वह समस्त दु:खों से छुटकारा पा जायेगा§ छुटकारा नहीं दिला सकती, क्योंकि पूर्व जन्म कर्मों के फल भोग हेतु अन्य जन्मों के धारण करने का विश्वास माना जाता है। इस प्रकार मृत्यु पर्यन्त नवीन शरीरों में भी पूर्व जन्म कर्मों के फलस्वरूप दु:खों एवं निरन्तर संघर्षों, अस्थाई सन्तुष्टियों का यह चक्र-क्रम बराबर बना रहता है। जो कभी भी समूल नष्ट नहीं होता है।

तदनन्तर दु:ख इच्छाओं को जन्म देता है। इच्छाओं की पूर्ति में कार्य की उत्पत्ति होती है। यद्यपि कार्य दु:खों से अस्थाई मुक्ति तो देते हैं तथापि कुल मिलाकर नष्ट नहीं कर सकते हैं। जबकि एक इच्छा की पूर्ति के बाद पुन: नवीन इच्छाओं का जन्म होता है तथा उन इच्छाओं की पूर्ति के लिए नवीन कार्यों की उत्पत्ति होती है, जो नवीन दु:खों को पुन: उत्पन्न कर देते हैं। अत: यह क्रम निरन्तर चलता ही रहता है।

मनुष्य के अन्तर्मन में इस एक के बाद एक दु:खों के जन्म से इच्छाएँ, आवश्यकताएँ, असन्तोष, निराशा, अपूर्णता आदि का जन्म होताहै तथा निरन्तर मुक्ति पाने के साथ ही वह इन सब के भवँर-जाल में फँसता चला जाता है। यह वह अवस्था है जबकि मनुष्य स्वयं से खिन्न होकर मुक्ति अर्थात् इन सबसे पूर्णतया छुटकारा पाने की ओर प्रवृत्त होता है। उसकी सुप्त शक्तियां जागृत और सक्रिय हो जाती हैं।

दूसरी तरफ यह भी है कि जैसे-जैसे मानव अपने लिए सुख और आनन्द के संसाधनों में वृद्धि करता जाता है , वैसे ही वैसे उसके जीवन में दुःखों का भार बढ़ता जाता है। सुख सुविधाओं की खोज के अनुरूप ही दुःखों के स्रोतों में वृद्धि होती जाती है। यद्यपि मनुष्य इस तरफ से सुधार वादी दृष्टिकोणअपनाता है, तथापि वह दुःखों से छुटकारा नहीं पाता। इस दशा में निराश हो मुक्ति की ओर अग्रसर होता है। असीम दुःख की अवस्था में एक क्षण ऐसा आता है जबकि मनुष्य उस परम पिता परमात्मा से अपने मोक्ष की प्राप्ति के लिए प्रार्थना करता है, किन्तु मोक्ष मिलना आसान नहीं है। हाँ उस ओर गंभीर प्रयास करने से वह अवश्य प्राप्त हो सकता है।

भारत के महान सन्तों एवं तत्व-ज्ञानालोकित योगियों की यह दृढ धारणा है कि दुःख पर पूर्ण विजय प्राप्त की जा सकती है जिसका योग एक सुलभ एवं दृढ साधन है।

महायोगी गुरू गोरक्षनाथ जी का कथन है[1] कि बन्धनों से जीवात्मा को मुक्त करने के लिए अहंकार को तोड़कर, सद्गुरू परमात्म ज्ञानी की प्राप्ति के लिए योग मार्ग पर चलने से कार्य सिद्धि हो सकती है। योग ही ऐसा मार्ग है, जो निर्मल एवं निष्पक्ष है, इस लिए इस पुण्य मार्ग की अवहेलना नहीं करनी चाहिए। मनुष्य जन्म बार-बार नहीं मिलता। अतः मनुष्य जन्म पाकर योग की साधना करनी चाहिए। जीवात्मा के पिण्ड में ही ब्रहम व्यापक है। जो कुछ हमारे पिण्ड में है, वही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में है और पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड का मूलाधार ब्रह्म है, जो दोनों

में अभिन्न है, इस तथ्य का विचार करने पर ब्रह्म, अलख निरन्जन, परम शिव शून्यगगनस्थ चिन्मय निराकार परमात्मा §अधर§ हमारे शरीर §धर§ में स्थित है। योग की साधना से हठ योग के द्वारा शरीर के अन्तर अवयवों के सूक्ष्म विश्लेषण से स्वरूपानुभूति के प्रकाश में जब पिण्ड में ब्रह्म की विद्यमानता का रहस्य ज्ञान हो जाय, तब अद्वैत, निरन्जन, निराकार अलख ब्रह्म ही अद्वंय रूप में सर्वत्र विद्यमान है, इस तरह स्वरूप स्थिति, कैवल्य पद में सहज सिद्धि हो जाती है। यही कैवल्य पद की प्राप्ति अथवा अलख निरन्जन का दर्शन अथवा साक्षात्कार है।

अन्यत्र भी कहा गया है[2] कि योग ही सन्मार्ग है। इसलिए जो लोग मुक्ति प्राप्त करने के इच्छुक हैं, उन्हें अन्य साधनों की अपेक्षा योग मार्ग का ही सेवन करना चाहिए, जिससे उन्हे परम पद की प्राप्ति हो जाय, जो किसी भी तरह का संकल्प नहीं करते, जो पुण्यात्मा है अथवा जिनके दर्शन मात्र से ही पुण्य की प्राप्ति होत है, जो योग रूपी रत्न के पिटारे हैं और परम पद के प्रत्यक्ष दर्शी हैं वे योगी ही विजयी हैं।

अपि च[3] अन्त्य आश्रम में स्थित योगी स्नानादि नित्य कर्म से निवृत होकर शुद्ध मन से निर्जन स्थान में सुख पूर्वक आसन में स्थित हो कर ग्रीवा, शिर और शरीर को एक सीध में रखकर, सारी इन्द्रियों को संयमित कर भक्ति पूर्वक गुरु को प्रणाम कर अपने हृदय कमल के मध्य में संकल्प रहित, विशुद्ध, शोक रहित, अचिन्त्य, अव्यक्त, अनन्तरूप, प्रशान्त, अमृत स्वरूप, परब्रह्म आदि, मध्य

और अन्त से रहित, चिदानन्द, निराकार, अद्भूत, विभु, शिव का चिन्तन करते हैं। मुनि उमावल्लभ, परमेश्वर प्रभु, त्रिलोचन, नीलकण्ठ, प्रशान्तस्वरूप, समस्त भूतो के मूल कारण, सबके साक्षी, परम ज्योति स्वरूप का ध्यान कर उस §परम प्रभु§ की प्राप्ति करता हैं। वहीं ब्रह्मा, शिव, इन्द्र, अविनाशी, परम-स्वतन्त्र, परात्पर ब्रह्म, विष्णु, प्राण है, वहीं आत्मा है, परमेश्वर है, वह भूत और भविष्य में जो कुछ हो गया और जो होने वाला है, सब कुछ हैं, उस अव्यय-सनातन परमात्मा को जानकर प्राणी मृत्यु का अतिक्रमण करता है, अमरत्व प्राप्त कर लेता है, परम पद में प्रतिष्ठित हो कर स्वस्थ हो जाता है। इसके अतिरिक्त संसार §विषय प्रपन्च§ के बन्धन से छूटने, मुक्त होने का दूसरा कोई मार्ग है ही नही।

डा० नागेन्द्र नाथ उपाध्याय ने महामहोपाध्याय पंडित गोपीनाथ कविराज द्वारा नाथों के जीवन मुक्ति क्रम पर किए गये व्याख्यान को इस प्रकार वर्णित किया है[4] कि इस मत के अनुसार सद्गरू की कृपा से चित्त-विश्रान्ति-लाभ सबसे पहले होना चाहिए, क्योंकि बिना उसके सामरस्य प्राप्ति नही हो सकती। जब तक चित्त देहात्मबोध मूलक क्षोभ से मुकत न हो, तब तक इसमें शान्ति नहीं होती और यथार्थ साधना का प्रारम्भ नहीं होता। चित्त विश्रान्ति से स्वभावतः भगवदानन्द और अनन्त ज्योतियों का आविर्भाव होता है। इस अदय प्रकाश से दैत भाव निवृत्त हो जाता है। इसके बाद चित्त शक्ति का प्रकाश होता है, और योगी निज देह के पूर्ण ज्ञान को प्राप्त करता है। इसका फल है देह-सिद्दि या पिण्ड-सिद्दि। इसका नामान्तर है देह का अमरत्व। इसे

नामान्तर से सिद्ध अवस्था कह सकते हैं। परन्तु अभी भी जो यथार्थ अन्तिम लक्ष्य है, वह दूर है। इस समय योगी की देह ज्योतिर्मय आकार को लेकर प्रकाशमान होती है। यह चैतन्य की सारभूत सत्ता है। परम पद के नित्य सिद्ध प्रकाश के साथ इस प्रकाशमय आकार का एकत्व सम्पादन-सुदीर्घ काल तक आत्मा के स्वरूपानुसंधान में तल्लीन रहने से हो सकता है। यही सामरस्य है। ---- सामरस्य और निरुत्थान दशा, दोनों के अन्तराल में कुछ अवस्थाओं का पता चलता है। पूर्ण स्वातंत्र्य से समन्वित आत्मा का स्फुकरण निरुत्थान दशा के नाम से प्रसिद्ध है। ------- नाथ योगियों का लक्ष्य यह है कि पहले पिण्ड-सिद्धि के द्वारा जीवन मुक्ति की प्राप्ति हो। इस समय में कालवचन सिद्ध होता है। अर्थात् काल के प्रभाव से योगी मुक्त हो जाता है। इसके अनन्तर समरसीकरण के द्वारा परामुक्ति की सिद्धि होती है। प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि पिण्ड-सिद्धि या जीवन-मुक्ति के अनन्तर ओंकार साधना के द्वारा परामुक्ति का आविर्भाव होता है।

अतः सामरस्य की स्थिति को प्राप्त हुआ समस्त क्लेषो से निवृत्ति पा जाता है। मुक्ति अलौकिक सुख एवं दिव्य शान्ति की वह विलक्षण अवस्था है जिसमें मनुष्य मे किसी भी प्रकार का सांसारिक मोह शेष नहीं रह जाता है। " अपने ही स्वरूप भूत खण्ड रहित ब्रह्म ज्ञान द्वारा उसमें स्थित अज्ञान को दूर करके, अपने स्वरूपा-खण्ड ब्रह्म खण्ड ब्रह्म के प्रत्यक्षीभूत होने से अज्ञान और उससे उत्पन्न §कार्य§ में एकत्रित कर्म सन्देह, विपर्यय आदि को

नष्ट करके सम्पूर्ण बन्धनों से हीन ब्रह्म में निष्ठावान §पुरुष§ जीवन्मुक्त कहलाता है।"[5]

बिना योग सिद्धि के मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। चाहे कोई कितना ही बड़ा " ज्ञाननिष्ठ, विरक्त, धर्मज्ञ, जितेन्द्रिय अथवा देवता ही क्यों न हो, योग §ज्ञान§ के बिना कोई भी जीव मोक्ष पद में स्वस्थ नहीं हो सकता है।"[6]

योग सिद्धि के द्वारा ही मनुष्य समस्त सांसारिक क्लेशों, दुःखों तथा अहंकार आदि भावनाओं के मिट जाने पर परम पद पर ब्रह्म से सामरस्य की स्थिति प्राप्त हुआ, मोक्ष को प्राप्त होता है।

समरसकरण :

विभिन्नताओं में अभिन्नता को प्राप्त होना ही समरसकरण है। जब तत्तवाज्ञानालोकित योगी अपने चरम आदर्श को प्राप्त हो जाता है, तब वह इस भौतिक व्यवस्था की समस्त सीमाओं में अपने आपको पाता है। उस समय वह सूक्ष्म का स्थूल से, जीवात्मा का परमात्मा से पिण्ड का ब्रह्माण्ड से अर्थात् समस्त विविधताओं में एकता के दर्शन करता है। वह अपने आपको सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड व्यवस्था के प्रत्येक अणु-परमाणु में, सीमित-असीमित में निहित पाता है तथा अपने में ही समस्त ब्रह्माण्ड व्यवस्था के दर्शन करने लगता है। यही सामरस्य की स्थिति है।

अतः पिण्डगत और ब्रह्माण्ड गत परमात्मा के एकत्व, समरसत्व या समत्व का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

यह जानना चाहिये कि पिण्ड और ब्रह्माण्ड, आत्मा और परमात्मा, में कोई भेद नहीं है।

सामरस्य की स्थिति की प्राप्ति के लिए गुरु का होना आवश्यक है। महायोगी गुरु गोरक्षनाथ जी का कथन है[7] कि बड़े-बड़े सिद्ध योगी गुरु के कृपाकटाक्ष और अपने §मनो निग्रहादि योग साधना के§ अनुभव से स्वरूप बोध में समर्थ हो कर अपने व्यष्टि शरीर का निरुत्थानानुभव §व्यापक पर पिण्ड में अभेदता§ के समाश्रय में सामरस्य करते हैं-परमात्म स्वरूप परमपद की प्राप्ति के द्वारा सच्चिदानन्द स्वरूप हो जाते हैं। जीवात्मा-परमात्मा में पूर्ण अभेदता की प्रतिष्ठा ही व्यष्टि-पिण्ड से परपिण्ड का सामरस्य है अभेद रूप परमपद को चाहने वाले योगी का अपने स्वरूप के अनुसन्धान से §स्व-पर-पिण्ड की अभेदता द्वारा§ निजावेश होता है - वह परमेश्वर को अपने ही स्वरूप में प्रतिष्ठित देखता है। स्वपिण्ड-परपिण्ड की अनुभव की अभेदता के अनुभव से उसे सर्वेश्वर पर मात्मा के पिण्ड में आत्माभिव्यक्ति-निजावेश होता है और इस निजावेश के परिणाम स्वरूप ही निरुत्थान अथवा सामरस्य का उदय होता है, उसे स्वाभिव्यक्तिपूर्वक इसका अनुभव होता है कि यह परपिण्ड-परमात्म पिण्ड मेरा ही §व्यष्टि§पिण्ड है। सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा के स्वसंवेद्य अनुभव के चमत्कार से अद्भुत प्रकाश स्वरूप आत्म बोध होता है। इस बोध से द्वन्द्व-परमात्म पिण्ड और स्वपिण्ड में भेद-भाव का अन्त हो जाता है और अखण्ड परमात्म स्वरूप परम पद प्रत्यक्ष हस्तामलक के समान प्रस्फुटित-स्वप्रकाशित अथवा स्वाभिव्यक्त हो जाता है। इसमें तनिक भी संशय नहीं है। व्यष्टि-पिण्ड और परपिण्ड में सामरस्य की प्राप्ति

गुरू के अनुग्रह से होती है। सिद्ध योगियों को इसके लिए सबसे पहले गुरू के चरण में शरणागत होकर उसकी प्रसन्नता से चित्त-वृत्तियों के निरोधपूर्वक स्वरूप ध्यान और समाधि से उपसना में योग साधना में तत्पर होकर स्वपिण्ड से पर पिण्ड पर्यन्त ऐक्य का अनुभव करना चाहिए, इस तरह की साधना से ही तत्क्षण परम पद का अनुभव होता है। इस तरह अपने योग साधना परक अनुभव के प्रकाश में अपने व्यष्टिपिण्ड वा ज्ञान प्राप्त कर उसे परम पद में एकीकृत कर तथा उस परम पद को अपने व्यष्टि पिण्ड में एकात्म स्वरूप कर अपने पिण्ड को सच्चिदानन्द स्वरूप में अभिव्यक्त कर पर पिण्ड की उसमें अभिन्नता-अभेदता का महत्व योगी अनुभव करता है और निज पिण्ड परीक्षा से अपने शरीर में भी परमात्म स्वरूप किरण रूप आनन्द का ही विकास है और इस प्रकाश के उन्मेष को अपने ही भीतर समेट कर परमात्मा से अभिन्न अथवा अभेद अनुभव करना ही सामरस्य है। इस प्रकार अपने व्यष्टि-पिण्ड में प्रत्याहरण के परिणाम स्वरूप यह शरीर महाप्रकाश पुन्ज रूप में आकारित हो उठता है। इस तरह अपने व्यष्टि-पिण्ड में परमात्म प्रकाश के प्रत्याहरण-सामरस्यकरण द्वारा सिद्ध योगी-सिद्ध देह-चिन्मय स्वरूप - स्वानन्दविग्रह की प्राप्ति से चिर काल तक अजर-अमर रहते हैं।

अतः आत्म दर्शी मनुष्य स्वयं की आत्मा को परमात्मा में लीन पाता है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का स्वपिण्ड में दर्शन करता है। " जब कुण्डलिनी उपस्थित होकर सहस्रार की ओर अग्रसर होती है तब जीवात्मा भी उसके साथ अग्रसर होकर अन्ततोगत्वा एकत्व प्राप्त कर शिवस्वरूप हो जाती

है। निराकार परमतत्व पिण्ड और ब्रह्माण्ड §सृष्टि§ में समान रूपेण व्यापक है। पिण्ड गत और ब्रह्माण्ड गत परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है। जब कुण्डलिनी शक्ति उलट कर ब्रह्माण्ड में पहुँच कर परमशिव से मिलन प्राप्त करती है, तब कहा जाता है कि यह पिण्डगत कुण्डलिनी ब्रह्माण्ड गत महाकुण्डलिनी पद को प्राप्त हो गयी अथवा जीव-शिव पद को प्राप्त हो गया है। यही समरसीकरण है।"[8] इसी सामरस्य की अवस्था को प्राप्त हुए साधक योगी के समस्त सांसारिक बन्धन, विघ्न तथा दुःख, मोह, राग,द्वेषादि मूलतः नष्ट हो जाते हैं। तब वह तत्वज्ञानी हो जाता है।

कहा गया है[9] कि "बुद्धि वृत्ति के विस्तार के उदय स्वरूप-चिद् विलास आत्म प्रकाश में ही गुरु के अनुग्रह प्राप्त शिष्यों में मानस व्यापार के निरुद्ध होने पर विश्रान्ति की स्थिति सम्भव होती है, उस विश्रान्ति में समष्टि-व्यष्टि रूप परपिण्ड का ऐक्य-सामरस्य स्थापित होता है। जीवात्मा रूप शिष्य परमात्म पद में गुरु की कृपा से अभेद अभिन्न हो जाता है, उन्हें अखण्ड पर मात्म स्वरूप परमात्म पद अथवा परम पद की प्राप्ति हो जाती है।

आध्यात्मिक आदर्श एवं मानवता के लिए सन्देश :

अति प्राचीन काल से ही भारतीय दार्शनिक विचार धारा की सम्पूर्ण गति उस महानतम खोज पर आधारित एवं निरन्तर प्रयत्न शील रही है कि सम्पूर्ण जगत् की व्यावहारिक सत्ताओं के समस्त विभिन्न स्तर उस परमपद पर ब्रह्म की आश्चर्य जनक आत्माभिव्यक्तियां हैं। मानव–जीवन का परम आदर्श उस परम पद पर ब्रह्म का प्रत्येक व्यष्टि

शरीर में, प्रत्येक संजीव निर्जीव में, प्रत्येक अणु-परमाणु में तथा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में दर्शन करना है, जिसके लिए विभिन्न युग-युगान्तरों में योगियों-ज्ञानियों-सन्तो-महात्माओं एवं दार्शनिकों ने इस भारत माता की गोद में जन्म लेकर मानव जीवन के परमलक्ष्य को लोक मानस के समक्ष स्पष्ट रूप में रखने के लिए विभिन्न उपाय एवं मार्ग खोज निकाले हैं।

वस्तुतः सभी युगों में समस्त मानवता के लिए हिन्दु आध्यात्मिक संस्कृति का यह महानतम सन्देश रहा है कि इस जगत् व्यवस्था के समस्त स्तरों में व्याप्त तथा उनसे परे एक दिव्य आलोक मय, परम पद, परम तत्व पर ब्रह्म हैं, जिसकी किसी न किसी रूप में सभी मनुष्य उपासना करते रहे हैं तथा कर रहे है। यह सम्पूर्ण जगत् व्यवस्था उसी के द्वारा अर्थात् ईश्वरीय नियम द्वारा संगठित एवं शासित है।

इस परम पद पर ब्रह्म परमात्मा से जीवात्मा, जो इस विश्वात्मा की एक सीमित वैयक्तिक आत्माभिव्यक्ति है से तादात्म्य स्थापित करना ही मानव जीवन का चरम आध्यात्मिक आदर्श है।

अस्तु जड़तत्व में आत्म, अनेकता में एकता, क्रिया में स्थिरता, प्रेममयी सेवा में त्याग, दया, श्रद्धाभक्ति आदि-आदि भारत माता के हृदय के यह पवित्र और गरिमामय सन्देश संसार के कोने-कोने में पहुँचाने का कार्य जिन धर्म गुरूवों, सत्यान्वेषिको एवं प्रचारकों द्वारा किया गया उन्हीं सर्वाधिक शक्ति शाली प्रचारकों में से एक थे महायोगी गुरु

गोरक्षनाथ, जिन्हे जन्म देकर भारत माता धन्य हुई जिन्होने सभी वर्गों एवं जातियों के लोगों को गले लगाया तथा उन्हे आध्यात्मिकता-मानवता एवं एकता का मार्ग दिखलाने का प्रशस्त कार्य किया।

उनके उपदेश आज भी उतने ही उपयोगी एवं आदर्शमय है जितने कि उस समय थे, जब वे अपने पवित्र भौतिक शरीर में लोगों को प्रेरण एवं साहस देते माने जाते हैं।

महायोगी गुरू गोरक्षनाथ एक व्यक्ति नहीं वरन् संस्था थे जिन्होने सर्व यागी योगियों की संस्था की स्थापना की जिसे सिद्धयोगी, नाथयोगी अथवा अवधूत योगी सम्प्रदाय के रूप में माना जाता है। यह व्यवस्था आज तक की भारतवर्ष में बनी संस्थाओं में सर्वाधिक व्यापक एवं सुनियोजित मठ– व्यवस्था है। इस विशाल भारत देश में ही नही अपितु पड़ौसी देशों में भी इस सम्प्रदाय के सक्रिय केन्द्र स्थापित है। इस सम्प्रदाय ने, संस्थापक महायोगी गुरू गोरक्षनाथ के सन्देश प्रचारार्थ समय-समय पर अद्‌भुत आध्यात्मिक शक्ति सम्पन्न सिद्ध योगियों को जन्म दिया है और यह क्रम आज भी निरन्तर चल रहा है।

गुरू गोरक्षनाथ रहस्य मय योगानुशासन के विभिन्न प्रकारों के कुशलतम् गुरू तथा शिव-शक्ति मत के सर्वाधिक शक्ति शाली प्रचारकों के रूप में प्रसिद्ध है। आपका योग सर्वाधिक व्यापक तथा पूर्ण रूपेण आध्यात्मिक है। योग विद्या और शिव शक्ति दर्शन सम्पूर्ण मानवता के हृदय तथा भारत वर्ष के आध्यात्मिक सन्देश का प्रतिनिधित्व करते

हैं। यह हमारे जीवन का वहीं आध्यात्मिक आदर्श है, जिसे आत्म-विद्या, ब्रह्म विद्या, परा-विद्या, निःश्रेयस-विद्या अथवा आध्यात्मिक-विद्या आदि के रूप में माना अथवा जाना जाता है। यही विद्या मानव जीवन में आनन्द, सौख्य, शान्ति, तथा पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करा सकती है। मानव जाति में प्रेम तथा सेवा भाव पैदा कर एकता एवं स्वच्छन्दता की स्थापना करा सकती है।

महायोगी गुरू गोरक्षनाथ जी द्वारा प्रचारित, योग का आदर्श मानवता के समक्ष साधन और साध्य के रूप में है। योग का व्यापक अर्थ है समरसकरण अर्थात् पूर्ण मिलन अर्थात् समस्त परिवर्तनशील विभिन्नताओं को एकता में परिवर्तित कर देना ही योग है जिसके द्वारा समस्त विभिन्नताओं में एकता, जड़ तत्व में आत्मा, आत्मा में परमात्मा के दर्शन कर सकें। योग ही वह शक्ति है जो समस्त अन्तर वाह्य इन्द्रियों पर नियन्त्रण करा सकती है। यही नियन्त्रण करने का सर्वाधिक शक्तिशाली मार्ग है, जिसके अनुसन्धान फलस्वरूप मानव एकता, सौन्दर्यानुभव तथा आनन्दोपभोग कर सकता है, परब्रह्म परमेश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन कर सकता है, हृदय पूर्ण शान्ति एवं स्थिरता को बनाए रख सकता है, साथ ही साथ समस्त मानव जाति से प्रेम और सौहार्द का व्यवहार रख सकता है, सामरस्य की स्थिति को प्राप्त कर सकता है, सामरस्य के आदर्श की वास्तविक सिद्धि के लिए अपने मन, बुद्धि तथा समस्त इन्द्रियों को नियन्त्रित कर आलोकित एवं शुद्ध कर सकता है। योगादर्श में समस्त आन्तरिक एवं वाह्य शक्ति पर नियन्त्रण रखने की पूर्ण क्षमता है।

महायोगी गुरू गोरक्षनाथ जी का यही आध्यात्मिक आदर्श एवं पूर्ण मानव जाति के लिए महान् सन्देश है कि योग मार्ग ही श्रेष्ठ मार्ग है यह चरित्र को दृढ बनाता है तथा चुने हुए मार्ग पर निरन्तर आगे बढ़ने की मानसिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक शक्ति प्रदान करता है, जो जीवन की पूर्णता, आन्तरिक एवं बाह्य सम्बन्धो में एकता अपने में पूर्ण समायोजन, आनन्द एवं शान्ति को सच्चे हृदय से खोजता है उनके लिए योगादर्श ही श्रेष्ठ मार्ग है।

महायोगी गुरु गोरक्षनाथ इतिहास के कितने महान् व्यक्ति थे, उन्होने कितने अद्भुत कार्य किये थे इस विषय में तो सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति के इतिहास को देखने पर ही इंगित किया जा सकता है। संक्षेप में तो यही कहा जा सकता है कि विभिन्नताओं में अभिन्नता तथा अनेकता में एकता का पथ दृढ करने का सर्वोत्कृष्ट कार्य आपने किया।

1- आपा भाँजिबा सतगुर षोजिबा जोगपंथ न करिबा हेला।
फिरि-फिरि मनिषा जनम न पायबा करि लै सिध
पुरिस सूमेला ।।
धरे अधर बिचारीयां धरी याही मैं सोय।
2- धरे अधर परचा हूवा तब दुतीया नाही कोय ।।
- गो0 बा0 सबदी-203, 218

2- सन्मार्गत्वेन योगस्तु सेव्यो हित्वान्य साधनम्
मुमुक्षुभिर्यतस्तेषां पद प्राप्तिः परा भवेत्।।
योगिनी वीत संकल्पा निर्द्वन्दाः पुण्य दर्शनाः।
योग रत्न करण्डास्ते जयन्त्यविधि गोचराः ।।
- गो0सि0स0 पृष्ठ - 17

3- विविक्त देशे च सुखासनस्थः शुचिः समग्रीवशिरः शरीरः।
अन्त्याश्रमस्थः सकलेन्द्रियाणि निरूध्य भक्त्यास्व गुरूंप्रणम्य।
हृत्पुण्ड्रीकं विरजं विशुदं चिचिन्त्य मध्ये विशदं विशोकम्।
अचिन्त्यमव्यक्त मनन्तरूपं शिव प्रशान्तममृतं ब्रह्मयोनिम्।।
तमादि मध्यान्तविहीनमेक विभुं चिदानन्दम रूपमद्भुतम्।
उमा सहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं नीकण्ड प्रशान्तम्।।
ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं समस्त साक्षि तमसःपरस्तात्ः।।
स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोडक्षरःपरमभः स्वराट्।।
स एव विष्णुः स प्राणः स कालोडग्नि स चन्द्रमा।।
स एवं सर्व यद्भूतं यच्च भव्य सनातनम् ।
ज्ञात्वां तं मृत्यु मत्येतिनान्यः पन्था विमुक्तये ।।
-गो0सि0स0 पृष्ठ - 17 §कैवल्योपनिषद से उद्घृत§
4- गो0 ना0 पृष्ठ - 124

- जीवन्मुक्तौ नाम स्वस्वरूपाखण्डब्रह्मज्ञानेन तदज्ञानबाधन दारा स्व स्वरूपाखण्ड ब्रह्मणि साक्षात्कृते डज्ञानतत्कार्य सचिंत कर्मसंशय विपर्यादिनामपि बाधितत्वा दखिल बन्ध रहितो ब्रह्मनिष्ठः।

  - वे0 सा0 पृष्ठ - 150

- ज्ञान निष्ठो विरक्तो वा धर्मज्ञो विजितेन्द्रियः।
  बिना योगेन देवाडपि न मोक्ष लभते प्रिये।।
  -गो0सि0स0 पृष्ठ -67 §योगबीज से उद्घृत§

- तस्माद् गुरु कटाक्ष पातात् स्व संवेद्यतया च महासिद्धयोगिभिः स्व कीमपिण्ड निरुत्थानानुभवेन समरसं कीयत इति सिद्धान्तः। महा सिद्ध योगिनः स्वस्वरूप तयानुसन्धानेन निजावेशों भवति निजावेशान्तिः पीड़ित निरुत्थानदशा महोदयः कश्चिज्जायते ततः सच्चिदानन्द चमत्काराद्भुताकार प्रकाश प्रबोधो जायते, प्रबोधदखिलमेतद् दयादय प्रकटतया चैतन्य भासाभासकं परात्पर परमपदभेव प्रस्फुटं भवतीति सत्यम्। अतएव महासिद्ध योगिभिः सभ्यग् गुरु प्रसादं लब्ध्वावधानबलेनैक्यं भजमानैस्तत्क्षणात् परमं पदमेवानुभूयते। तदनुभवबलेन स्वकीयं सिदं सभ्यड्· निजपिण्डं, ज्ञात्वा तमेव परमपद एकीकृत्य तस्मिन प्रत्यावृत्या रूढ्वाभ्यन्तरे स्वापिण्ड सिद्ध यर्थे महत्वभनुभूयते। निज पिण्ड परीक्षा च स्वस्वरूप किरणानन्दोन्मेष मात्रं भस्योन्यषस्य प्रत्याहरणमेव समरसकरण भवित। अतएव स्वकीयं पिण्डं मह द्रश्मिपुन्जं स्वेनैवाकारेण प्रतीभमानं स्वानुसन्धानेन स्व स्मिन्नुरीकृत्य महासिद्ध योगिनः पिण्ड सिद्धयर्थ तिष्ठन्तीति प्रसिद्धम्
  -सि0सि0प0 5/7,8,9,10,11,12

:: परिशिष्ट ::

§क§ गोरक्ष-वचन-संग्रह

§ख§ गोरक्ष-चित्र-संग्रह

§ग§ सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

§घ§ मन्त्र-तन्त्र-यन्त्र-सूची

§ङ·§ नाथ योगी महन्तों की सूची

:: परिशिष्ट "क" ::

- गोरक्ष - वचन - संग्रह -

- द्वैताद्वैत विलक्षणम् परमतत्वम् -

अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे ।
समं तत्वं न विन्दन्ति द्वैताद्वैत-विलक्षणम् ।।
यदि सर्व गतोदेवः स्थिरः मूर्णो निरन्तरः ।
अहो माया महामोहो द्वैताद्वैत विकल्पना ।।
भावाभाव विनिर्मुक्तं नाशोत्पत्ति विवर्जितम् ।
सर्व संकल्पनातीतं परब्रह्म तदुच्यते।।

-शिव-शक्ति-योग -

शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः।
अन्तरं नैव जानीयात् चन्द्रचन्द्रिकायोरिब ।।
शिवोऽपि शक्ति-रहितः शक्तः कर्तु न किन्चन।।
स्वशक्त्या सहितः सोऽपि सर्वस्याभासको भवेत्।।
अलुप्त शक्तिभान्नित्यं सर्वकारतया स्फुरन् ।
पुनः स्वेनैव रूपेण एक एवावशिष्यते ।।
अकुलं कुलमाधते कुल चाकुलमिच्छंति ।
जल बुदबुद वद् न्यायात् एकाकारः परःशिवः।।
प्रसरं भासयेत् शक्ति संकोचं भासयेत शिव।
तयोर्योगस्य कर्ता यः स भवेत् सिद्धयोगिराट् ।।

-ओंकार महिमा -

अकारश्च ततोकारोमकारो बिन्दु-संज्ञकः।
तिस्रो मात्रा स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ।।
वचसा तज्जयेद् बीजं वपुषा तत्समभ्यसेत्।
मनसा तत्स्मेरन्नित्यं तत्परं ज्योतिरोमिति ।।

-जीवात्म-परमात्मनोर भेदः -

अात्मेति परमात्मेति जीवात्मेति विचारणे।
त्रुयाणामैक्य संभूतिः आदेश इति कीर्तितः।।
अादेश ईति सद्वाणीं सर्वद्वन्द्वक्षयावहाम् ।
योगिनं प्रति वदेत् स वेत्तयात्मानमीश्वरम् ।।

-अजपा गायत्री -

हकारेण बहिर्यातिसकारेण विशेत पुनः ।
हंस हंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ।।
अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्ष दायिनी ।
अस्याः संकल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रभुच्यते।।

-योगशास्त्र महिमा -

एतच्छास्त्रं महादिव्यं रहस्यं पारमेश्वरम् ।
सिद्वान्त सर्वसारस्य नाना सङ्केत निर्णयम् ।।
सिद्वानां प्रकटं सिद्वं सद्यः प्रत्यय कारकम्।
अात्मानन्दकरं नित्यं सर्वसन्देह नाशनम् ।।

-व्यष्टि पिण्ड समष्टि पिण्ड एकत्व -

देहेऽस्मिन् वर्तते मेरुः सप्तद्वीप समन्वितः।
सरितः सागराः शैलाः क्षेत्राणि क्षेत्रपालकः।।
ऋषयो मुनयः सर्वे नक्षत्राणि ग्रहस्तथा।
पुण्यतीर्थानि पीठानि वर्तन्ते पीठदेवताः।।
सृष्टि संहार कर्तारौ भ्रमन्तौ शशि भास्करौ।
नभोवायुश्च वहिनश्च जलं पृथ्वी तथैव च।।
त्रैलोक्ये यानि भूतानि तानि सर्वाणि देहतः।
मेरुं संवेष्ट्य सर्वत्र व्यवहारः प्रवर्तते।
जानाति यः सर्वमिदं स योगी नात्रसशंयः।।

-षडंग-योगः-

आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा।
ध्यानं समाधिरेतानि योगांगानि वदन्ति षट् ।।
आसनेन रूजं हन्ति प्राणायामेन पातकम्।
विकारं मानसं योगी प्रत्याहारेण मुंचति ।।
मनो धैर्य धारणया ध्यानाच्चैतन्यमभ्दुतम्।
समाधेर्मोक्षभाप्रोति त्यक्त्वा कर्म शुभाशुभम्।।

-कुण्डलिनी शक्ति प्रबोधं -

कन्दोर्ध्व कुण्डली शक्ति-रण्टधा कुण्डलाकृतिः।
ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनाच्छाद्य तिष्ठति।।
येन द्वारेण गन्तव्यं ब्रह्म स्थानम नामयम्।
मुरवेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ।।
प्रबुद्धा वह्निनयोगेन मनसा मरुता सह ।
सूचीवद् गुणामादाय ब्रजत्यूर्ध्व सुषुम्णया ।।
परिस्फुरद भुजगाकारा पद्मतन्तु निभा शुभा।
प्रबुद्धा वह्निनयोगेन ब्रजत्यूर्ध्वं सुषमणया।।
उद्घाटयेत कपाटं तु यथा कुन्चिकयाहठात्।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्ष द्वारं प्रभेदयेत्।।

-चक्राणि -

आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम्।
तृतीयं मणिपूरारव्यं चतुर्थं स्यादनाहतम् ।।
पंचमन्तु विशुद्धतारव्यं आज्ञाचक्रन्तु षष्ठकम्।
सप्तमन्तु महाचक्रं ब्रह्मरन्ध्रे महापथे।।
चतुर्दलं स्यादाधारे स्वाधिष्ठाने तु षड्दलम्।
नाभौ दशदलं पद्मं सूर्यासंख्या दलं हृदि ।।

कण्ठे स्यात् षोडशदलं भ्रूमध्ये द्विदलन्तथा।
सहस्रदलमाख्यातं ब्रह्मरंध्रे महापथे।।

-देहमध्यस्थ दशवायवः-

प्राणोऽपानः समानश्चोदान व्यानौ च वायवः।
नागः कूर्मोऽथ कृकरो देवदत्तो धनन्जयः ।।
हृदि प्राणो वसेन्नित्यं अपानो गुदमण्डले।
समानौ नाभिदेशे स्याद् उदानः कण्ठमध्यगः।।
व्यानौ व्यापी शरीरे तु प्रधाना पन्चवायवः।
प्राणाद्याश्चात्र विख्याता नागाद्याः पंचवायवः।।
उद्गारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने स्मृतः।
कृकरः क्षुतकृज्ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे ।।
न जहाति मृतं चापि सर्वव्यापि धनन्जयः।
एते सर्वासु नाडीषु भ्रमन्ते जीवरूपिणः।।

-पिण्ड सिद्धि वेषः -

शंख मुद्राधारणं च केशरोम प्रधारणम्।
अमरीपानममलं तथा मर्दनमुत्तमम् ।।
एकान्तवासो दीक्षा च संध्याजपममायया।
ज्ञानं भैरवमूर्तैस्तु तत्पूजा च यथाविधि ।।
शंखध्मातं सिहंनादं कौपीनं पादुके तथा।
अंगवस्त्रं बहिर्वस्त्रं कम्बलं छत्रमदभुतम् ।।
वेत्रं कमण्डलुन्चैव भस्मना च त्रिपुण्ड्रकम्।
कुर्यादेतान् प्रयत्नेन गुरुवन्दन पूर्वकम् ।।

- सद्गुरु - महिमा -

सहजं स्वात्मसँवित्तिः संयमः स्वस्वनिग्रहः।
स्वोपायं स्वस्वविश्रान्तिः अद्वैतं परमं पदम्।।
तज्ज्ञेयं सद्गुरोर्वक्त्रान्नान्यथा शास्त्र कोटिभिः।।

असाध्याः सिद्धयः सर्वाः सद्‌गुरोः करूणां विना।
अतः सद्‌गुरूः संसेव्यः सत्यमीश्वर भाषितम् ।।
अनुबुभूषति यो निजविश्रमम्, स गुरूपाद सरोरूहमाश्रयेत।
तदनु सरणात् परम पदम् समरसीकरणं च न दूरतः।
कथनात् शक्ति पाताद्वा यद्वा पादाव लोकनात् ।
प्रसादात्सद्‌गुरोः सम्यक् प्राप्यते परमं पदम् ।।
वाड्.मात्राद्वाथ दृरू पातात् यः करोति चतत् क्षणात्।
प्रस्फुटं शाम्भवं वेद्यं स्वसंवेद्य परं पदम् ।।
करणाखण्ड पातेन छित्वा पाशाष्टकं शिशोः।
सम्यगानन्द जनकः सद्‌गुरूः सोऽभिधीयते।।
किभत्र बहुनोक्तेन शास्त्रकोटि शतेन च।
दुर्लभा चित्तविश्रान्ति बिंना गुरूकृपां पराम् ।।
दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्वदर्शनम्।
दुर्लभा सहजावस्था सद्‌गुरोः करूणां विना ।।

:: परिशिष्ट "ख" ::

" गोरक्ष - चित्र - संग्रह

8- गो0 ना0 पृष्ठ - 147

9- संवित् क्रिया विकरणोदर्यचिद् विलासो विश्रान्तिमेव भजतां स्वमेवीभाति। ग्रस्ते स्ववेग निचये पदपिण्डमैक्यं सत्यं भवेत्समरसं गुरू वत्सलानाम् ।
- सि0सि0 प0 5/84

:: परिशिष्ट "ग" ::

- सन्दर्भ ग्रन्थ एवं पत्रपत्रिकादि सूची -

	पुस्तक का नाम	संस्करण	लेखक	प्रकाशक	संकेताक्षर
1-	अमनस्कयोग	प्रथम	महायोगी गोरक्षनाथ	श्री गोरखनाथ मन्दिर गोरखपुर	अ0यो0
2-	आत्म दर्शन	प्रथम	नारायण स्वामी	सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली	आ0द0
3-	आदर्श योगी	----	अक्षय कुमार वन्दोपाध्याय	श्री गोरखनाथ मन्दिर गोरखपुर	आ0यो0
4-	कठोपनिषद	बारहवाँ	----	मोतीलाल जालान	क0उ0
5-	गोरक्षनाथ	प्रथम	डा0 नागेन्द्र नाथ उपाध्याय	नागरिप्रचारिणी सभा वाराणसी	गो0ना0
6-	गोरखनाथ और उनका युग	प्रथम	डा0 रांगेय राघव	राम लाल पुरी	गो0ना0यु0
7-	गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह	प्रथम	सम्पादक राम लाल श्रीवास्तव	श्री गोरखनाथ मन्दिर गोरखपुर	गो0सि0स0
8-	गोरख बानी	प्रथम	गोरक्षनाथ	" " "	गो0बा0
9-	गोरक्ष शतक	प्रथम	गोरक्षनाथ	" " "	गो0श0

10-	नाथ पंथ	----	डा0एस0पी0चन्दोला	भगवती चन्दोला	ना0प0
11-	नाथ सम्प्रदाय	द्वितीय	डा0हजारी प्रसाद द्विवेदी	नैवेद्य निकेतन वाराणसी	ना0स0
12-	भारतीय संस्कृति एवं कला	तृतीय	डा0राज किशोर सिंह एवं डा0 {श्रीमति} उषा यादव	विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा	भा0स0 एवं
13-	भारतीय दर्शन प्रकाश	----	राधेश्याम शर्मा	साहित्य भण्डार मेरठ	भा·द·प्र·
14-	भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विकास	प्रथम	बी0एन0लूनिया	लक्ष्मी नारायण अग्रवाल	भा0स0 तथा सं0वि0
15-	महायोगी गोरखनाथ एवं उनकी तपःस्थली	प्रथम	सम्पादक रामलाल श्रीवास्तव	श्री गोरखनाथ मन्दिर गोरखपुर	म0गो0 एवं उ0 तपःस्थली
16-	वेदान्त सार	तृतीय	सदानन्द योगीन्द्र	साहित्य भण्डार मेरठ	वे0स0
17-	शब्दकल्पद्रुम	----	----	----	श0क0दु0
18-	सिद्ध सिद्धान्त पद्धति	प्रथम	गुरू गोरक्षनाथ	श्री गोरखनाथ मन्दिर गोरखपुर	सि·सि·प·
19-	सांख्य कारिका	प्रथम	आचार्य वाचस्पतिमिश्र	रतिरामशास्त्री	सा0का0
20-	सारस्वत कुण्डलिनी महायोग	प्रथम	डा0जे0सी0भारतीय	निर्मोही बन्धु प्रकाशन	सा·कु·म·
21-	हठयोग प्रदीपिका	प्रथम	योगीन्द्र स्वात्माराम	श्रीगोरखनाथ मन्दिर गोरखपुर	ह0प्र0

22- श्री गोरखनाथ चरित्र	प्रथम	डा0 चमनलाल गौतम	----	गो0ना0च0
23- श्री महन्त दिग्विजय नाथ स्मृति ग्रन्थ	प्रथम	----	श्री गोरखनाथ मन्दिर गोरखपुर	म0दि0 ना0स्मृ0

:: पत्रिकाएँ ::

पुस्तक का नाम	सम्पादक	प्रकाशक	संकेताक्षर
1- नाथ-सन्देश	योगी नरहरिनाथ	अखिल भारत वर्षिय नाथ समाज-दिल्ली	ना0सन्देश
2- योग-वाणी	रामलाल श्रीवास्तव	श्री गोरखनाथ मन्दिर गोरखपुर	यो0वा0
नाथयोग साधना विशेषांक			ना0यो0 सा0वि0
3- योगवाणी	" "	" " "	यो0वा0
सिद्दर्शन विशेषांक			सि0द0वि0
4- योग वाणी	" "	" " "	यो0वा0
गोरख विशेषांक			गो0वि0

:: परिशिष्ट "घ" ::

- प्रमुख मन्त्र-तन्त्र-यन्त्र सूची -

1- ऊँ रँ रूद्राण्यै नमः शरीरस्थान् सर्वान् रोगान् विद्रावय नाशय नाशय ऊँफद् स्वाहा।

सा0कु0म0- पृष्ठ-498

2- "ऊँ" कं कंकात्मिकामावाहयामि कायजान् रोगान विनाशयतु"।अस्य मन्त्र खण्डस्य, न सम्पूर्ण मन्त्रस्य, सम्पूर्ण मन्त्रस्तु विशिष्ट कोल एवं प्रयोज्यः । एतन्तु शरीर रोग विनाशाय खण्ड रूपेण प्रयोक्तव्यः ।

वही पृष्ठ- 504

3- ऊँ चन्द्रो में चान्द्रभासान् रोगान पहरतु। औषधिनाथाय वै नमः। ऊँ स्वात्म सम्बन्धिनः सर्वतः सर्वरोगान् शमय शमय तत्रैव मातय मातय। शक्तिं चोभ्दावयोभ्दावय। इति।

वही- पृष्ठ- 508

4- ऊँ नमोउस्तु दिवाकराय अग्नितत्व प्रवर्धकाय शमय शमय शोषयण अग्नि तत्वं समतां करु कुरु ऊँ ।

वही- पृष्ठ- 509

5- ऊँ महाशक्तिं आराधयामि सा में शक्ति प्रसीदतु, च चलं मानसं स्थिरतां उपनयतु, स्थिरतामुपनयतु, स्थिरतामुपनयतु। इत्येतत् वारत्रयेण प्रोचार्य सार्विको मन्त्र प्रयोगः।

वही- पृष्ठ- 518

6- ॐ तामाराधययामि महालयां मनो मे याः लयतां नयति। सा सर्वदा अस्यं भद्रं करोति। अस्य मन्त्रोच्चारणं काले काले सावकाशे च करणीयम्। अनेनापि सुस्थिरमागमिष्यति। सा च अनुभूति परा भविष्यति। कल्याण प्रदा च भविष्यति। वही- पृष्ठ- 523

7- ॐ महाशक्त्यै नमः मनसश्चा चल्यं विनाशय, वारय,वारय, निवारय, निवारय, त्वामावृणोमि स्थिरं तत् कुरु कुरु स्वाहा । वही- पृष्ठ- 527

8- ॐ चित्तात्मिकां महाचितिं चित्तस्वरूपिणीं आराधयामि, चित्तजान्, रोगान् शमय शमय ठं ठ ठं स्वाहा, ठं ठं ठं स्वाहा।" अस्य मन्त्रस्य प्रयोगेण पिचित्तजा दोषाः विनश्यन्ति। अस्य मन्त्रस्य प्रयोगः रात्रौ शयनकाले शय्यायां गतेन केनापि प्रकारेण प्रोच्चारणीयं मन्त्र पीठिका एषा।
वही- पृष्ठ- 539

9- ॐ लं पं दिव्य रूपं दिव्य स्वरूपं या धारयति सा धारा प्रसीदतु, तत्र स्थाश्चितजाः रोगाः विनश्यतु, इति मन्त्र कायस्थ प्रयोगस्तदैव कर्तव्यः यदा सर्वतोभावेन गति विच्छेदो भवेत्।
वही- पृष्ठ- 544

10- " ॐ सर्व भूत प्रिया सर्वत्र विचरण शीलां सवितुः शक्तिं आवाहयामी। सामे बुद्धिं निर्मला करातु ॐ सं सं सं। सं सं सं। सं सं सं। अस्य मन्त्रस्य प्रयोगः शयनावसरे शयनोत्थानावसरे च वारमेकं करणीयः। अस्य मन्त्रोच्चारणेन कालान्तरेण सवितुः महाशक्ति स्वयमेव अन्धकार स्वरूपकां भ्रमात्मकतां विनाशयिष्यति। वही- पृष्ठ- 559

11- ॐ सावित्रीं आवाहयामि, सा में बुदिं सशोध्रयतु। अस्य प्रयोगः मध्यान्हे सप्त पंचकेन च करणीयः। अनेनापि बुदे निर्मलत्वं प्रत्यागच्छति। वही- पृष्ठ- 559

12- ॐ सौं सौं सौं महासरस्वती बुदिं मे निर्मला करोतु। वही- पृष्ठ- 560

13- ध्रीं ध्रीं ध्रीं धारणाख्या प्रसीदतु, निर्मलत्वं बुदेश्च प्रयच्छतु। यं लं सं। यं लं सं। यं लं सं। वही- पृष्ठ- 560

14- " ॐ भैरवांक निलयां भकात्मिकां नमामि, बुदि विभ्रमो मे नश्यतु ॐ ॐ ॐ। अस्य मन्त्रस्य प्रयोगस्तदैव कर्तव्यः यदा कोधसमन्विता बुदि सम्भवेत। वही- पृष्ठ- 562

15- ॐ क्रीं क्रीं क्रीं, खं खं खं, बुदिदोषान् विनाशय, विनाशय, निर्मलाा कुरू कुरू ॐ फट स्वाहा। वही- पृष्ठ- 570

16- ॐ क्वी हिरण्याात्मिका हिरण्यां हरिणीभाराधयाामि। बुदिजान दोषान् विनाशयं, शमय, समय, विद्रावय, विद्रावय, ॐ ॐ ॐ। वही- पृष्ठ 573

17- हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत पुनः ।
"हसंहसेत्यमुं" मन्त्र जीवा जयति सर्वदा।।
अजयानाम गायत्री योगिनां मोक्षदायिनी। गो0श0 पृष्ठ- 9
अस्याः सकंल्पमात्रेण सर्व पापै प्रमुच्यते।। श्लोक-42, 44

:: परिशिट "ड़" ::

- नाथ योगी महन्तो की सूची -

	नाम	मंदिर	स्थान	राज्य
1-	श्री महन्त अवेधनाथ जी	गोरखनाथ मन्दिर,गोरखपुर	गोरखपुर	उ0प्र0
2-	श्री महन्त गोविन्द प्पाजी		म ंगलूर	कर्नाटक
3-	श्री महन्त गोविन्दनाथ राजगुरु		चण्डीगढ़	पंजाब
4-	श्री महन्त गोपाल नाथ	नाथ पन्थी स्थान	श्रीनगर	{गढ़वाल}
5-	श्री महन्त चेताई नाथजी			कुरूक्षेत्र
6-	श्री महन्त गोष्ठ बिहारी देव नाथजी			प0बंगाल
7-	श्री महन्त त्रिलोकी नाथजी		बेरानल	गुजरात
8-	" " नरहरि नाथ जी	गोरक्षमन्दिर	नेपाल	
9-	" " नियम नाथ जी	सिद्वभगवन्त मन्दिर	दाड़	नेपाल
10	" " नृपेन्द्र कुमार नाथजी		कटिहार	बिहार
11-	" " द्वारिका नाथजी		फरीदाबाद	हरियाणा
12-	" " फणीन्द्र नाथ,नाथ			बंगाल
13-	" " बुदुनाथ जी	गोरक्षनाथ का स्थान	श्री नगर से नीचे	

14-	" "	बलदेव नाथजी	कपाली भैरव		हिमांचलप्रदेश
15-	" "	भभूल नाथ जी	गोरखनाथ मन्दिर	हिरद्वार	उ0प्र0
16-	" "	रामनाथ शास्त्री	रमेशनगर	रमेशनगर	दिल्ली
17-	" "	राजा सोम नाथजी	गोगीश्वर मढ़	कदली	
18-	" "	स्वामी शिवनाथजी	केयार बैंक मछ	महाकालपार	कटक
19-	" "	शंकर नाथ जी	पयालकुटी		हरियाणा
20-	" "	सोमनाथजी	गोरक्ष टिल्ला	बनारस	उ0प्र0
21-	" "	शोभानाथ जी	पंचमुखी महादेव	आगरा	उ0प्र0
22-	" "	शान्ति नाथजी		तुलसीपुर	गोण्डा
23-	" "	श्रेयोनाथ जी	श्रीमत्स्यनाथ अड्डा	अस्थलबोहर	रोहतक
24-	" "	श्रद्धानाथ जी	गोरक्ष टिल्ला	अम्बाला	पंजाब
25-	" "	हनुमान नाथ	अमृतानाथाश्रम		राजस्थान
26-	" "		हिंगलाज		
27-	" "		सिक्किम चैंगा चिलिंग का मन्दिर		
28-	" "		पशुनाथ मन्दिर		

29-	श्री महन्त	सवारी कोट सन्त नाथ मन्दिर	
30-	" "	उपलनोकोट गोरक्षनाथ का मन्दिर	
31-	" "	अल्मोड़ा नन्दी देवी के पास धर्मनाथ मन्दिर	
32-	" "	चुनार भतृहरि मन्दिर	
33-	" "	झूंसी प्राचीन केन्द्र	
34-	" "	नाथ पन्थी मन्दिर	तुलसीपुर उ0प्र0
35-	" "	गोरखनाथ मन्दिर	स्याल कोट
36-	" "	गुग्गा मन्दिर	सुल्तान पुर
37-	" "	औघड़ो का मन्दिर	किराना पंजाब
38-	" "	गोरक्ष टिल्ला	नमक पहाड़ निकट पंजाब
39-	" "		सिन्धनगर घट्ट
40-	" "	नाथ पन्थी मन्दिर कच्छ भुज धीनोधर	
41-	" "	गोरखनाथ मन्दिर	सतुपुड़ा की पहाड़ी खानदेश
42-	" "	गोरखनाथ मन्दिर	सतार बत्तीससराला
43-	" "	गोरखनाथ पहाड़ी	अहमदाबाद उत्तर मे
44-	" "	गोरखनाथ-मछन्दर	झरवोनटिल्ले थान
45-	" "	त्रयम्बक मठ	नासिक

46-	" "	भर्तृहरि मन्दिर	उज्जैन	
47-	" "	नाथपंथी योगी स्थान	पाहधुन्नी	बम्बई
48-	" "	महानन्द	हुगंली	बम्बई
49-	" "	गोरखवंशी योगी स्थान	दमदम-कलकत्ता	
50-	" "	अलखनाथ मन्दिर	पुरी	
51-	" "		दक्षिण काजली प्रदेश	
52-	" "	अंगना	उदयपुर	
53-	" "		आदिनाथ	बंगाल
54-	" "	कद्रीमठ	मद्रास	
55-	" "	गम्भीर मठ	पूना	
56-	" "	गोरखनाथ टिल्ला	सारमौर स्टेट	
57-	" "	गोरक्षक्षेत्र	गिरनार पर्वत	
58-	" "	चन्द्रनाथ		ब ंगाल
59-	" "	चमुंलगिरिमठ	मद्रास	
60-	" "	नीलकंठ महादेव	आगरा	

61-	श्री महन्त	नीहर मठ	बीकानेर	
62-	" "	पीरसोहर	जम्मू	
63-	" "	भृर्हरि गुफा	ग्वालियर	
64-	" "	भर्तृहरि गुफा	गिरनार	
65-	" "	मंगलेश्वर	आगरा	
66-	" "	महानाद मन्दिर	वर्दवान	बंगाल
67-	" "	महामन्दिर मठ	जोधपुर	
68-	" "	योगीगुहा	दीनाज पुर	
69-	" "	योगी भवन	बगुड़ा	बंगाल
70-	" "	योगी मठ	मदिनीपुर	
71-	" "	श्रीनाथ मन्दिर	उदयपुर	
72-	" "	हाड़ी भरंगनाथ मन्दिर	मैसूर	
73-	" "	हिगुंआ मठ	जयपुर	
74-	" "	पातंजल योगाश्रम	हरिद्वार	
75-				

नाथ निरंजन की आरती

नाथ निरंजन आरती साज ।
गुर के सबदूं झालरि बाजै ।टेक।
अनहद नाद गगन में गाजै।
परम जोति तहां आप विराजै।१।
दीपक जोति अषंडत बाती ।
परम जोति जगै दिन राती ।२।
सकल भवन उजियारा होई।
देव निरंजन और न कोई ।३।
अनँत कला जाके पार न पावै।
संष, मृदंग, धुनि बेनि बजावै ।४।
स्वाति बूँद लै कलस वंदाऊँ ।
निरति सुरति लै पहुप चढ़ाऊँ।५।
निज तत नांव अमूरति मूरति।
सब देवां सिरि उदबुदि सूरति।७।
आदिनाथ नाती मछेन्द्रनाथ पूता।
आरती करै गोरष औधूता ।७।

[गोरखबानी पद-६२]

यौगिक षट्कर्म

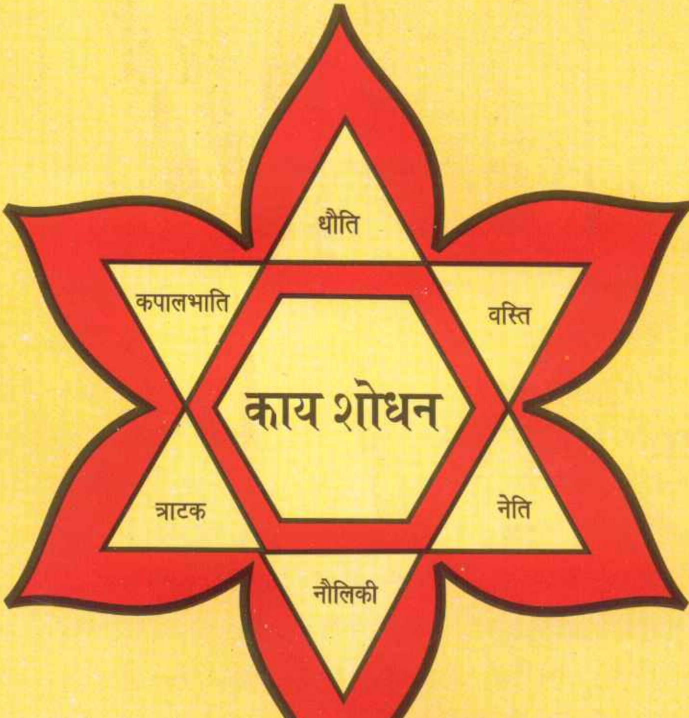

योगी आदित्य नाथ

श्री गोरक्षनाथ मन्दिर, गोरखपुर

40=00

श्री गोरक्षनाथ मन्दिर
गोरखपुर

महन्त अवेद्यनाथ

प्राक्कथन

योग साधना में, विशेषतः हठयोग साधना में कायशोधन या घट शुद्धि अर्थात् शरीर-शुद्धि के संदर्भ में षट्कर्मों का बड़ा महत्त्व है। मनुष्य शरीर कफ, वात और पित्त नामक तीन धातुओं के सम्मिश्रण से निर्मित है। आहार-विहार, आचार-विचार तथा देश-काल आदि के प्रभाव से उत्पन्न कफ, वात आदि धातुओं के असंतुलन के कारण शरीर विकारग्रस्त होकर योग-साधना के योग्य नहीं रह जाता है। शरीर की नाड़ियों में भी कफ, वात या पित्त के प्रकोप से तरह-तरह के मल एकत्र हो जाते हैं। इन सबके कारण शरीर के अन्दर विद्यमान मन और प्राण भी प्रभावित होते हैं और जब मन और प्राण ही विकारग्रस्त या मालिन्ययुक्त हो तो फिर योग-साधना की युक्ति ही संभव नहीं है। ऐसी स्थिति में जैसे आयुर्विज्ञान में पंच-कर्म द्वारा शरीर को शुद्ध और स्वस्थ बनाया जाता है वैसे ही योग-विज्ञान में भी धौति, वस्ति आदि षट्-कर्मों से शरीर को शुद्ध कर साधना योग्य बनाया जाता है। इसलिए योग-ग्रन्थों में शरीर-शुद्धि के जिन सात साधनों का वर्णन मिलता है उनमें शोधन क्रिया षट्कर्मों द्वारा ही सम्पादित की जाती है। यद्यपि यह विषय वैचारिक नहीं है और

अच्छे-गुरु के मार्गदर्शन में क्रियात्मक अभ्यास द्वारा ही सही ढंग से समझा जा सकता है तथापि प्रस्तुत पुस्तक के लेखक योगी आदित्यनाथ ने संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित शब्दों में सरल शैली में इस गूढ़ विषय का उपस्थित करने का अत्यन्त सराहनीय प्रयास किया है जिससे सम्पूर्ण विषयवस्तु सहज बोधगम्य हो गयी है।

जबसे काया-चिकित्सा में योग के विभिन्न अंगों को सम्मिलित कर चमत्कारिक योग-थिरेपी को विश्व-स्तर पर उत्तरोत्तर मान्यता और लोकप्रियता मिलती जा रही है तबसे मन और प्राण को नियंत्रित कर योग से आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त करने के लिए अग्रसर साधकों के अलावा भौतिक जीवन में अच्छा स्वास्थ्य और दीर्घायुष्य प्राप्त करने के लिए लालायित सामान्य जनों की भी रुचि और जिज्ञासा बहुत बढ़ी है। निश्चय ही षट्कर्मों की सम्यक् साधना से कफ, वात और पित्त से उत्पन्न होने वाले विकार आसानी से दूर होते हैं और नाड़ियाँ भी शुद्ध होकर रक्त संचार को निर्वाध रखने में समर्थ होती हैं जिससे नैरूज्य और आयुष्य दोनों का लाभ होता है।

प्रस्तुत पुस्तक ने यदि साधकों और जिज्ञासुओं को आकर्षित कर कुछ भी लाभ पहुँचाया तो इसका प्रकाशन सार्थक हो जायेगा। मुझे विश्वास है कि आध्यात्मिक और भौतिक दोनों क्षेत्रों के जिज्ञासु इससे अवश्य लाभान्वित होंगे।

बुद्ध पूर्णिमा
श्री गोरक्ष जयन्ती
सं० २०५६ वि०

महन्त अवेद्यनाथ
गोरक्षपीठाधीश्वर
श्री गोरक्षनाथ मंदिर, गोरखपुर

कायशोधन और यौगिक षट्कर्म

प्रकृति और स्वास्थ्य का अति सन्निकट का सम्बन्ध है। उत्तम स्वास्थ्य प्रकृति की गोद में ही प्राप्त हो सकता है। मूल प्रकृति त्रिगुणात्मक होने से प्राणि मात्र के शरीर भी वात, पित्त, कफ इन त्रिधातुओं के नाना प्रकार के रूपान्तरों के सम्मिश्रण है। आयुर्वेद में स्वास्थ्य की परिभाषा वात, पित्त, कफ से की गई है।

समदोष: समाग्निश्च समधातुमलक्रिय:।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमना: स्वस्थ इत्यमिधीयते।।

अर्थात् वात, पित्त और कफ सन्तुलित हो, शरीरगत अग्नि सम हो, सप्त धातु और मल-निष्कासन आदि क्रिया सम अवस्था में हो तथा पांच ज्ञानेन्द्रियां, मन व आत्मा प्रसन्न हो तब ही मनुष्य स्वस्थ है, ऐसा माना जाता है।

कुछ शरीर वात प्रधान, कुछ पित्त प्रधान कुछ कफ प्रधान होते हैं। वात प्रधान शरीरों में आहार-विहार के दोष से तथा देशकालादि हेतु से प्राय: वातवृद्धि हो जाती है, पित्त प्रधान शरीरों में पित्त विकृति और कफ प्रधान शरीरों में प्राय: कफ प्रकोप हो जाता है, जिससे दूषित श्लेष्मा, आमवृद्धि या मेद का संग्रह हो जाता है जबकि शरीर में वात, पित्त कफ क्रम सं 4:2:1 के अनुपात में हो तभी सम अवस्था मानी जाती है। इस अनुपात में जब भी असन्तुलन होता है तब शरीर में विकार उत्पन्न हो जाता है। इन विकारों को रोकने के लिये तथा देह को पूर्ववत स्वस्थ बनाने के लिये जैसे आयुर्वेद में स्नेहन, स्वेदन के अतिरिक्त वमन, विरेचन, वस्ति, नस्य, अनुवासन ये पंच कर्म बताये गये हैं, वैसे ही हठयोग के प्रवर्तक ऋषि-महर्षियों ने शरीर की शुद्धि के लिये सात साधन बताये हैं जो इस प्रकार हैं-

शोधनं दृढ़ता चैव स्थैर्य धैर्य च लाघवम्।
प्रत्यक्षं निर्लिप्तं च घटस्थं सप्त साधनम्।।

अर्थात शोधन, दृढ़ता, स्थैर्य, लाघव, प्रत्यक्ष और निर्लिप्त ये सात साधन शरीर शुद्धि के लिये बताये गये हैं।

षट्कर्मणा शोधनं च आसनेन भवेद् दृढ़म्।
मुद्रया स्थिरता चैव प्रत्याहारेण धीरता।।
प्राणायामाल्लाघवं च ध्यानात्प्रत्यक्षमात्मनि।
समाधिना च निर्लिप्तं युक्तिरेव न संशयः।।

अर्थात् शोधन के लिए षट्कर्म, दृढ़ता के लिये आसनों का अभ्यास, स्थैर्य के लिये मुद्रायें, धैर्य के लिये प्रत्याहार, लाघव के लिये प्राणायाम, ध्येय के प्रत्यक्ष दर्शनार्थ ध्यान और निर्लिप्तता (आसक्ति-हीनता) के लिये समाधि, इस क्रम से अभ्यास करने पर अवश्व ही योग सिद्धि होती है, इसमें संशय नहीं है।

शरीर के मलों व विषाक्त तत्त्वों को दूर करने की क्रिया को शरीर-शोधन कहते हैं। शरीर शोधन अथवा शुद्धिकरण हठयोग में छः प्रकार से किया जाता है, जिन्हें षट्कर्म कहते हैं। गोरक्ष संहिता के अनुसार-

धौर्तिर्वस्तिस्तथा नेतिनौलिकिस्त्राटकस्तथा।
कपालभातिश्चैताति षट्कर्माणि समाचरेत्।।

अर्थात् योग के लिए धौति, वस्ति, नेति, नौलि, त्राटक और कपालभाति इन षट्कर्मों का अभ्यास करना चाहिए।

षट्कर्म की इन क्रियाओं द्वारा विभिन्न प्रकार के कफ, वात और पित्तगत दोषों को कुष्ठ, प्लीहा, फेफड़े तथा उदर आदि के आभ्यान्तरिक विकारों को दूर कर शरीर को पुर्ण रूप से नीरोग रखा जा सकता है। इस कार्यशोधन से शरीर स्वस्थ रहता है और उसमें सभी नाड़ियाँ मलरहित होती हैं। इस प्रकार षट्कर्मों की उपयोगिता केवल शरीर शोधन में नहीं अपितु शोधित शरीर से किये गये योगाभ्यास से कुण्डलिनी जागरण तथा षट्चक्रभेदन पूर्वक शिवशक्ति के समरसीकरण की अभीष्ट सिद्धि में भी है। अतः इनका क्रमशः विस्तृत निरूपण आवश्यक है।

(1) धौति

धौति शब्द का अर्थ है- धोना या साफ करना। योग शास्त्र में षट्कर्मों के अन्तर्गत मुंह से लेकर गुदा द्वार तक विधिवत आन्तरिक सफाई करना धौतिं क्रिया कहलाती है। काया शोधन की यह एक महत्त्वपूर्ण क्रिया है। मुख्य रूप से धौति कर्म चार प्रकार का माना गया है। यथा-

अन्तर्धौतिर्दन्त धौतिर्हृदधौतिर्मूलशोधनम्।

धौतिंश्चतुर्विधा कृत्वाघटं कुर्वन्ति निर्मलम्।।

अन्तर्धौति, दन्त धौति, हृदयधौति और मूल शोधन के भेद से धौतिं कर्म चार प्रकार का है। इसके द्वारा योगिजन अपने शरीर को स्वच्छ (स्वस्थ) बनाते हैं। इससे अपच, मलावरोध, अतिसार, संग्रहणी आदि विकार तो दूर होते ही हैं, साथ ही उदरस्थ फोड़ा तक को धौति कर्म से ठीक किया जा सकता है। इन चारों के विवरण इस प्रकार हैं-

(क) अन्तर्धौति- इस का शाब्दिक अर्थ है भीतर की सफाई। अतः जिस धौति से शरीर के भीतर प्रक्षालन किया जाता है उसे अन्तर्धौति कहते हैं। इसके भी चार प्रकार हैं। यथा-

वातसारं वारिसारं वह्निसारं बहिस्कृतम्।

घटस्य निर्मलतार्थम् अन्तर्धौतिश्चतुर्विधा।।

अर्थात्- वातसार, वारिसार, वहिन्सार और बहिष्कृत भेद से अन्तर्धौति चार प्रकार की होती है।

1. वातसार अन्तर्धौति - इसमें सिद्धासन, पद्मासन या वज्रासन में बैठ कर दोनो होठों को कौवे की चोंच की तरह करके धीरे-धीरे पेट में वायु भरते हैं। वायुपान करने के बाद कुम्भक (श्वास रोकने की क्रिया) की स्थिति में पेट के अन्दर की वायु का चारों ओर संचालन करते हैं। उसके पश्चात् धीरे-धीरे नासिका से उस वायु को निकाल देते हैं। अन्दर की वायु को चलाने से संबंधित होने के कारण इसे वातसार अन्तर्धौति कहते हैं। इस क्रिया को काकी-मुद्रा या काकी-प्राणायाम भी कहते हैं।

लाभ- यह क्रिया-

(क) जठराग्नि को प्रदीप्त करके क्षुधा-वृद्धि कर, मंदाग्नि आदि को दूर करती है।

(ख) शरीर को सब रोगों से रहित करके स्वस्थ बनाती है।

(ग) मुंह, जीभ, टान्सिल आदि गले के रोगों में लाभदायक है।

(घ) इस क्रिया के सिद्ध होने पर दूर-श्रवण, दूर-दर्शन और आत्मदर्शन की शक्ति प्राप्त होती है।

वारिसार अन्तर्धौति

वारि अर्थात् जल सार अर्थात् चलाना। इस प्रकार मुंह से धीरे-धीरे जल पीने, उसे परिचालित करके जल को गुदा द्वार से बाहर निकालने की क्रिया को वारिसार अन्तर्धौति कहते हैं। इससे आँतों की सफाई होती है। यह शंख धौति का एक प्रमुख अंग है।

शंख-धौति अथवा शंख-प्रक्षालन

आँतों को पूर्ण रूप से जिस क्रिया से स्वच्छ किया जाता है, उसे शंख-धौति अथवा शंख-प्रक्षालन कहते हैं। इस क्रिया से मुंह से लेकर गुदा तक शरीर की विधिवत् सफाई-धुलाई होती है। चूँकि आँतों की आकृति शंखनुमा होती है इसलिये आँतों को शंख भी कहा जाता है। अत: इस क्रिया से आँतों की सफाई को शंख-धौति अथवा शंख-प्रक्षालन भी कहते हैं। यह काया-कल्प की एक महत्त्वपूर्ण क्रिया है। शरीर-शोधन एवं शारीरिक स्वास्थ्य के लिये इस क्रिया के चमत्कारिक प्रभाव व लाभ प्राप्त हुए हैं। एक प्रकार से यह शरीर रूपी मशीन की सर्विसिंग तथा ओवरहालिंग जैसी क्रिया है जो उस मशीन को नवजीवन प्रदान करती है। इस क्रिया के सम्बन्ध में महायोगी गुरू गोरक्षनाथजी ने कहा है-

आहार तोड़ौ निद्रा मोड़ौ कबहुँ न होइबा रोगी।
छठै छमासै काया पलटिबा ज्यूँ कोइ बिरला बिजोगी।।

मिताहार, यथोचित निद्रा और छ:छ: माह के अन्तर में काया-कल्प के द्वारा शरीर को नीरोग रखते हुये योगी अपनी साधना में सिद्धि प्राप्त करता है।

साँस उसाँस बाइ को भषिबा, रोकि लेहु नव द्वारं।
छठै छमासे काया पलटिबा, तब उनमनी जोग अपारं।।

कुम्भक प्राणायाम के द्वारा शरीर के भीतर श्वासोच्छवास का भक्षण करना चाहिए। इस कार्य में जितनी अधिक सफलता मिलेगी, उतनी ही प्राणशक्ति अक्षुण्ण होती जायेगी और मृत्यु का भय दूर होता जायेगा। नवों द्वारों को रोक कर वायु को शरीर में पचा लेने से काया-कल्प तो अनायास हो ही जाता है, और साथ ही साथ साल भर में दो बार, छः छः माह की अवधि में योगिक विधि से काया-कल्प करने से शरीर में परिष्कृत ऊर्जस्वल प्राण दौड़ने लगता है। इससे उन्मनी-योग सिद्ध होता है। मन स्थिर हो जाता है, ब्रह्मरन्ध्र-दशवें द्वार-के खुल जाने पर निष्कल, निरंजन, चिन्मय, परमात्मतत्त्व प्रकाशित हो उठता है। इस तरह उन्मनी अवस्था सिद्ध होती है।

अस्तु जिस दिन शंख-प्रक्षालन करना हो उसके पहले दिन रात्रि में हल्का सुपाच्य भोजन ही लेना चाहिए। रात्रि में पीने के लिये जल का अधिक से अधिक प्रयोग करें। सुबह सूर्योदय से पूर्व नित्य-क्रिया से निवृत्त होने के बाद एक गिलास नमकीन गरम पानी पी कर 5-5 बार निम्नलिखित आसनों का अभ्यास करें-

1. **ताड़ासन-** दोनों पैर मिलाकर खड़े हो जाइए, दोनो हाथ की अँगुलियों को आपस में फँसा कर हथेली को सिर की सीध में ऊपर रखिए। श्वास अन्दर लेते हुए पंजे के बल खड़े हो जाइए तथा हथेली को उल्टा कर के यानी आसमान की ओर रखते हुए पूरे शरीर को ऊपर की ओर तानें। दृष्टि सामने रखें तथा श्वास अन्दर रोक कर (जितनी देर हो सके) फिर श्वास छोड़ते हुए वापस आ जावें। ताड़ वृक्ष की सी स्थिति के कारण इसे ताड़ासन कहते हैं।

3. **तिर्यक् ताड़ासन-** दोनो पैरों के मध्य एक से डेढ़ फुट का फासला रखते हुए दोनों हाथों की अँगुलियों को आपस मे फँसा कर हथेली को सिर के ऊपर सीधा ऊपर उठा कर खड़े हो जाइए। कमर के ऊपर के हिस्से (धड़) को दायीं तरफ झुकायें, फिर पूर्व अवस्था में आकर बायीं ओर इसी प्रकार झुकाइये, हाथ सीधा रखें. मोड़ें नहीं।

3. **कटिचक्रासन -** दोनों हाथों को सामने सीधे बाजू से फैला कर दोनों

पैरो के मध्य $1\frac{1}{2}$-2 फुट का फासला रखते हुए खड़े हो जाइए। सर्वप्रथम दाहिने हाथ को सामने से घुमाते हुए बायें कंधे पर रखें और उसी वक्त बायें हाथ को पीछे कमर से घुमाते हुए दाहिनी जाँघ तक ले आयें, सिर को बायें कंधे की ओर ले जाकर कंधे के ऊपर से दाहिने पैर की एँड़ी को देखें। इसी तरह वापस पूर्व स्थिति में आकर दूसरी ओर से भी यही क्रिया करें।

4. **तिर्यक् भुजंगासन**- पेट के बल लेट कर दोनों हथेलियों को अपने दोनों बगल में छाती के समकक्ष रखें। दोनों कोहनियाँ पीठ से लगी हुई हों, सिर जमीन पर रहे, दोनों पैरों के बीच डेढ़ से दो फुट की जगह हो तथा पंजा जमीन से सुलाकर रखें। श्वास लेते हुए धीरे-धीरे नाभि से ऊपर गर्दन, छाती व सिर को जमीन से ऊपर उठा कर सिर को बायें कन्धे की ओर मोड़ कर दाहिनें पैर की एँड़ी को देखने का प्रयत्न करें। सिर को पूर्व की स्थिति में लाकर श्वास छोड़ते हुए सामान्य स्थिति में आ जायें। पुन: इस क्रिया को दूसरी ओर से करें।

5. **उदराकर्षणासन**- ऐसे बैठें कि दोनों पैरों के बीच कुछ फासला रहे। फिर दोनों हाथ घुटने पर रखें तथा बायीं एँड़ी को उठाते हुए घुटने को दाहिनें पंजे के पास तक लायें और कंधे के ऊपर से पीछे की ओर देखने की चेष्टा करें। यही क्रिया स्थिति बदल कर भी करें।

हर 5-5 बार अभ्यास के बाद 1-2 गिलास हल्का गरम नमकीन जल पी लें। लगभग 2 लीटर गरम नमकीन जल पी लेने पर अभ्यास के बाद शौच अवश्य जायें। उसके बाद पुन: हल्का गरम नमकीन जल पीकर अभ्यास जारी रखें। 3-4 लीटर जल पी लेने पर शौच की जरुरत महसूस होगी। शौच भी पहले सूखी, फिर गीली, फिर पतली तत् पश्चात् कणयुक्त जलीय और अन्त में जल के समान साफ होने लगेगी। नमकीन गरम जल का अभ्यास तब तक जारी रखना चाहिए, जब तक शौच पानी की तरह नहीं आने लग जाय। इसके बाद 5-7 गिलास साफ गरम जल पीकर कुंजर क्रिया कर लेनी चाहिए। तत् पश्चात् एक घण्टे तक कुछ भी सेवन न करें। एक घण्टे के बाद शुद्ध देशी घी में पकाई हुई मूंग की दाल की खिचड़ी का सेवन स्वेच्छानुसार करें। लगभग 3-4 घण्टे पूरी तरह आराम करने के बाद अन्न-जल का सेवन करें। 3-4 घण्टे तक सोयें भी नहीं। लगभग एक सप्ताह गरिष्ठ भोजन (भारी भोजन), चाय तथा नशीले मादक पदार्थों का भी सेवन नहीं करना चाहिए।

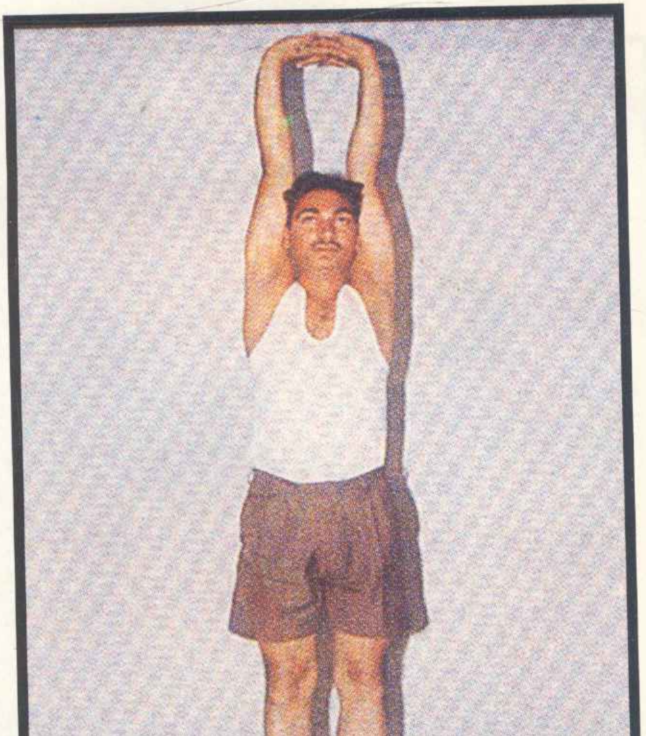

ताड़ासन

तिर्यक् ताड़ासन

कटिचक्रासन

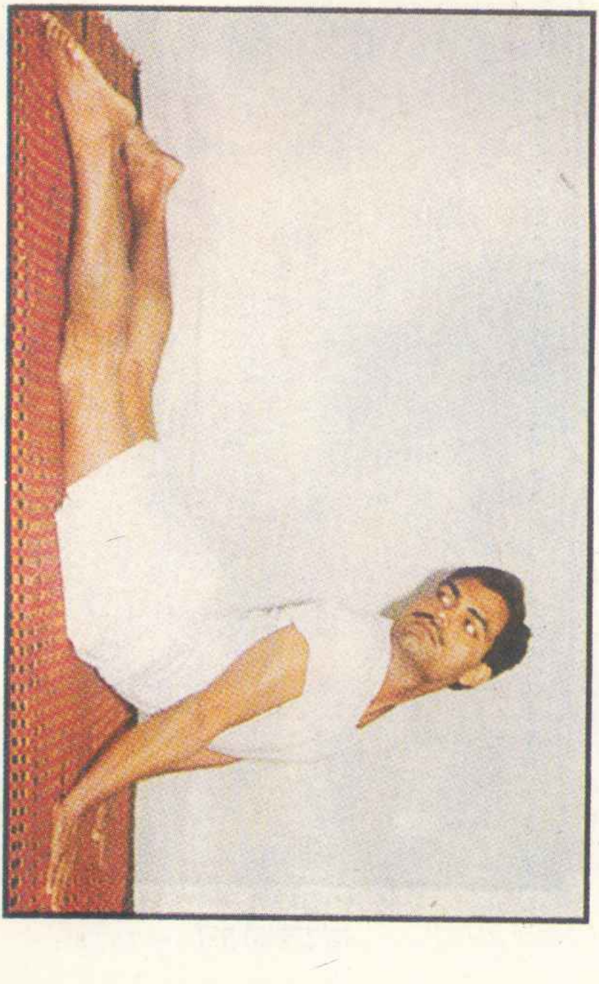

तिर्यक भुजंगासन

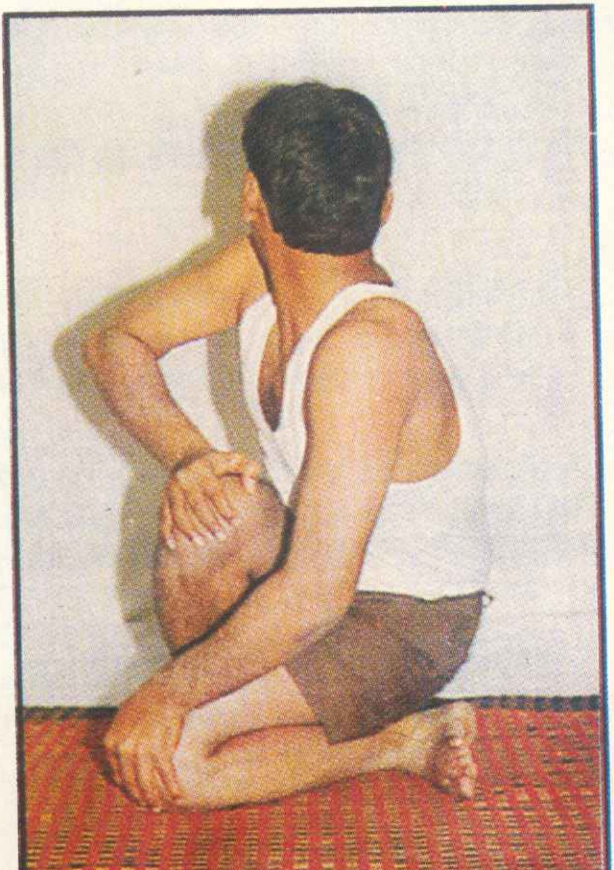

उदराकर्षासन

लाभ - यह क्रिया -

1. शरीर-शोधन की उत्तम क्रिया है और सभी प्रकार के रोग दूर करने में सक्षम है।
2. कब्ज, मंदाग्नि को दूर कर आँतों के साथ मांस पेशियों को भी सक्रिय एवं मजबूत बनाती है।
3. रक्त के शुद्धीकरण में सहायक है।
4. मधुमेह, श्वास रोग, अपेन्डिसाइटिस, सिरदर्द, मुख, आँख, गला, जिह्वा और दन्त रोगों में लाभकारी है।

विशेष -

1. सामान्यजनों को तीन या छः माह में एक बार इसका अवश्य अभ्यास करना चाहिए।
2. मधुमेह के रोगियों को पन्द्रह दिन में एक बार इसका अभ्यास करना चाहिए।
3. कुष्ठ रोगियों को सप्ताह में दो दिन इसका अभ्यास करना चाहिए।
4. बहुत कमजोर व्यक्ति, प्रसूता महिला, गुर्दे, अल्सर, ऊँचे या नीचे रक्तचाप तथा हृदय के रोगियों को इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए।

वह्निसार अन्तर्धौति (अग्निसार धौति)

वज्रासन में बैठकर अथवा थोड़ा सामने झुके हुए खड़े होकर प्राण वायु को रोककर नाभि प्रदेश का आंकुचन प्रसारण तेजी से करें। इससे सभी उदर रोग नष्ट होते हैं और जठराग्नि तीव्र होती है।

बहिष्कृत अन्तर्धौति

यह क्रिया वातसार अन्तर्धौति के समान ही है। इसमें कौवे की चोंच की तरह मुख बनाकर इतनी मात्रा में वायु पीते जायें की पेट पूरी तरह भर जाये, फिर अन्तर्कुम्भक द्वारा यथा सामर्थ्य वायु को पेट में ही धारण करके रखें, पश्चात् इसे गुदा से बाहर निकालना चाहिए। इससे नाड़ियों का शुद्धीकरण होता है।

सावधानी-

1. यह क्रिया कठिन है, तथा ठीक से अभ्यास न होने पर वायु कुपित होने की अधिक सम्भावना होती है। इसलिए किसी जानकार के निर्देशन में ही करें।
2. इस क्रिया के अभ्यास में अन्तर्कुम्भक के साथ जालन्धर बन्ध अवश्य लगायें।

दन्त धौति

मुख के अन्दर या बाहर के भागों को धोकर साफ व स्वस्थ रखने की क्रिया को दन्तधौति कहते है। यह पाँच प्रकार की होती है-

दन्तमूलं जिह्वामूलं रन्ध्रं च कर्णयुग्मयो:।
कपालरन्ध्रं पंचैतै: दन्तधौतिर्विधीयते ।।

अर्थात्- दन्तमूल, जिह्वामूल, कर्णरन्ध्र (दोनों कानों के रन्ध्रों से होने वाली दो धौति है) तथा कपाल रन्ध्र इन पाँचों से दन्तधौति होती है।

1. **दन्तमूलधौति-** इसमे प्रतिदिन प्रात: एवं सायंकाल नीम की टहनी से दाँतो की सफाई तथा हाथ की तर्जनी अँगुली से मसूढ़ों को खूब रगड़ते हैं (सभी प्रकार के दन्त रोग, पाइरिया आदि में लाभ होता है) अथवा सेन्धा नमक व सरसो का तेल मिलाकर दाँत एवं मसूढ़ों की मालिश दाहिने हाथ की तर्जनी अँगुली से खूब रगड़ते हुए करनी चाहिए, उसके बाद गाय के मक्खन से बार-बार जिह्वा का मार्जन तथा दोहन करना चाहिए।

लाभ : इस से-

1. कफ-दोष का निवारण होता है।
2. जिह्वा का दोहन करने से वाक्शक्ति तथा स्वादशक्ति की क्षमता बढ़ती है।

3. **कर्णरन्ध्र-धौति-** दोंनों हाथों की तर्जनी अथवा अनामिका अंगुलियों से दोनो कानों के छिद्रों की मालिश व सफाई करना कर्णरन्ध्रधौति कहलाती है।

लाभ: इस से-

श्रवण शक्ति बढ़ती है तथा इस से शरीर में व्याप्त नाद की साधना करने में सुगमता रहती है।

4. कपालरन्ध्र-धौति- दाहिने हाथ के अँगूठे या अँगुली से खोपड़ी के मध्य में कपालरन्ध्र की जल या किसी विशिष्ट तेल से मालिस करने की क्रिया कपालरन्ध्र धौति कहलाती है। यह क्रिया मध्याह्न काल तथा सायंकाल में होती है।

लाभ: इस क्रिया से-

1. कफ-दोष का निवारण होता है।
2. शारीरिक तथा मानसिक दोनों प्रकार की पवित्रता प्राप्त होती है।

हृद्धौति

हृदय का शोधन जिस क्रिया से होता है उसे हृद् या हृदयधौति कहते हैं। मानसिक शुद्धि के लिये हृदय की शुद्धि अत्यन्त आवश्यक है। इसके बिना न तो योगसाधना हो सकती है और न ही तृष्णा, ममता और वासना के बन्धन से छुटकारा मिल सकता है। हृदय में साक्षात् विष्णु का निवास बताया गया है। इसके शोधन की मुख्य तीन क्रियायें हैं-

"हृद्धौतिं त्रिविधं कुर्याद् दण्डवमन वाससा"। अर्थात् दण्ड आदि तीन साधनों के कारण हृदय धौति के तीन भेद हैं- दण्डधौति, वमनधौति और वसनधौति।

1. दण्डधौति- केले के दण्ड, चिकने बेंत के दण्ड, हल्दी अथवा वटवृक्ष की जटा जिसकी मोटाई १ सेमी० तथा लम्बाई लगभग २ फुट तक हो- को अन्न की नली के रास्ते धीरे-धीरे हृदयस्थल तक प्रविष्ट कर थोड़ी देर सावधानी से दण्ड को चारों ओर घुमा कर धीरे-धीरे ही बाहर निकालने की क्रिया दण्ड-धौति अर्थात् दण्ड से हृदय की सफाई कहलाती है। दण्ड यदि मुलायम न हो तो उसमें गाय का मक्खन अवश्य लगा लेना चाहिए। यह क्रिया भोजन से पूर्व ही करनी चाहिए।

लाभ- **इस क्रिया से-**

1. कफ और पित्त आदि मल बाहर निकल जाते हैं।
2. फेफड़े व हृदय रोगों जैसे श्वास, दमा आदि में लाभ होता है।
3. घबड़ाहट आदि तमाम दोष शान्त हो जाते हैं।

दण्ड धौति

वमनधौति

2. **वमनधौति-** प्रातः काल अथवा भोजन करने के 3-4 घण्टे बाद गर्म नमकीन जल तब तक पीयें जब तक जल कंठ तक न भर जाय और जल पीने की गुंजायश बिल्कुल न रह जाय। फिर उकडूँ बैठ कर अथवा खड़े होकर थोड़ा सामने लगभग 120 अंश झुक कर दाहिने हाथ की दो अँगुलियों को जिह्वामूल में प्रविष्ट कर धीरे-धीरे रगड़ना चाहिए। नये अभ्यासी बायें हाथ से पेट को दबायें और दाहिने हाथ की अँगुलियों से छोटी जीभ पकड़ें। उदरस्थ सारा जल बाहर आ जायेगा। इससे आमाशय, अन्न- नली और गले की धुलाई हो जाती है। उच्च रक्तचाप वाले रोगी, वात रोगी, हृदय व फेफड़े के कमजोर रोगी को यह क्रिया नहीं करनी चाहिए। सामान्य साधक को सप्ताह में एक बार, पित्त एवं कफ के रोगी को सप्ताह में दो बार तथा दमा के रोगी को कुछ दिन तक नित्य करना चाहिए।

लाभ- इस से-

1. वात, पित्त एवं कफ से सम्बन्धित रोग दूर होते हैं।
2. अम्लपित्त, अल्सर, खट्टी डकार आदि विकार दूर होते हैं।
3. दमा तथा श्वासरोग में आराम पहुँचता है।

3. **वसनधौति अथवा वस्त्रधौति-** प्रातः काल भोजन करने के पूर्व 5-6 सेमी० चौड़ा 8 मी० लम्बा महीन से महीन नया कपड़ा गोल लपेट कर नमकीन गरम जल में भिगोकर एक बर्तन में रख दें। कपड़े के एक सिर को मुंह में डालकर लार से अच्छी तरह मिलाकर धीरे-धीरे निगलें। प्रथम दिन एक फुट, दूसरे दिन दो फुट और तीसरे दिन तीन फुट वस्त्र अन्दर ले जायें क्रमशः अभ्यास बढ़ावें। ध्यान रहे कि एक-दो फूट वस्त्र बाहर दाँत से पकड़ कर रखें। वस्त्र अन्दर जाने पर नौलि क्रिया करें। फिर धीरे-धीरे वस्त्र को बाहर निकालें। अगर कठिनाई हो तो जल की मदद से निकालें। ध्यान रहे वस्त्र को 10-15 मिनट से ज्यादा अन्दर नहीं रखना चाहिए। यह क्रिया भोजन के पूर्व करनी चाहिए और क्रिया के एक घण्टे के बाद भोजन या नाश्ते में गाय के घी का अधिक से अधिक प्रयोग करें।

लाभ- इस से-

1. गुल्म, ज्वर, प्लीहा, कुष्ठ एवं कफ, पित्त आदि विकारों का शमन होता है।
2. हृदय-शोधन की क्रिया होने से यह मन की एकाग्रता में सहयोगी है।

वस्त्र धौति

3. दमा, श्वासरोग, कुष्ठरोग में लगातार इसका अभ्यास करें। अल्सर रोगी परामर्श लेकर ही करें। वस्त्र को बाहर निकालते समय वस्त्र के अन्तिम भाग में अम्ल अधिक होने पर गले में खरखराहट, जलन आदि होने का भय रहता है। अतः ऐसी स्थिति आने पर जल अधिक पियें।

मूल-शोधन (गणेश-क्रिया)

अपानवायु को कुपित होने से रोकने के लिये, मलावरोध आदि के निवारण के लिये जिस क्रिया का उपयोग किया जाता है उसे मूल-शोधन अथवा गणेश-क्रिया कहते हैं। इस क्रिया में कच्ची मूली की जड़ अथवा हल्दी की जड़ के चूर्ण को जल में मिलाकर मध्यमा अँगुली से गुदा मार्ग की सफाई जल के साथ की जाती है। हल्दी रक्त शोधक होने के कारण लाभदायक है।

लाभ- इस से-

1. जठराग्नि प्रदीप्त होती है।
2. बवासीर (अर्शरोग) में लाभ होता है।
3. आमजनित या कफ एवं अजीर्ण जनित रोग उत्पन्न नहीं होते और शरीर की पुष्टि तथा कान्ति में वृद्धि होती है।
4. वीर्य दोष भी दूर होते हैं।

(2) वस्ति:

यह षट्कर्म के अन्तर्गत शरीर-शोधन की दूसरी क्रिया है। वस्ति शरीर में मूलाधार के समीप नाभि के नीचे वाले (पेडू) भाग को कहते हैं जहाँ मूत्राशय है और इस वस्ति प्रदेश की सफाई जिस क्रिया से होती है, उसे स्थान के कारण वस्ति कहते हैं। इस क्रिया को अंग्रेजी में एनिमा भी कहते हैं।

जलवस्तिः शुष्कवस्तिर्वस्तिः स्याद् द्विविधास्मृता।
जलवस्तिर्जले कुर्यात् शुष्कवस्तिः सदा क्षितौ।।

अर्थात् वस्ति क्रिया दो प्रकार की होती है-

1. जलवस्ति जल में तथा 2. शुष्कवस्ति भूमि पर की जाती है। शुष्कवस्ति को पवन-वस्ति भी कहते हैं

1. **जलवस्ति-** एक चिकनी नली को गुदा में डालकर नौलि-कर्म की सहायता से वस्ति में जल को चढ़ाया और निकाला जाता है। इसके लिये एनिमा लेना अपेक्षाकृत आसान विधि है। इससे आँतो में जमा मल घुल कर पतला होकर निकल जाता है। जल चढ़ाने के पूर्व सिरिंज द्वारा गुदा में तेल चढ़ाना उपयोगी बताया गया है। एनिमा न उपलब्ध हो तो ग्लिसरीन की बत्ती चढ़ाने से भी मल तथा ऑव के निष्कासन में आसानी होती है। रोग के अनुसार वस्ति में तरह-तरह के क्वाथों (काढ़ों) को चढ़ाने की बात भी बतायी गयी है। पंरन्तु सामान्य रूप के कवोष्ण (गुनगुने) जल में साबुन और लवण अथवा पोटैशियम परमैग्नेट मिला कर भी इस का अभ्यास किया जा सकता है।

विधि- किसी बड़े टब (बड़ा जलपात्र विशेष) में, किसी नदी या सरोवर में नाभि तक जल में उत्कटासन में बैठ कर गुदा मार्ग का आकुन्चन और प्रसारण (सिकोड़ने-फैलाने की क्रिया) करें। नली अथवा सिरिंज द्वारा जल अन्दर चढ़ा कर मूलबन्ध वस्ति प्रदेश को नौलि क्रिया द्वारा चालित कर भीतर चढ़ाये गये जल को बाहर निकाल सफाई का यह काम किया जाता है।

लाभ- इस से-

इसके करने से गुल्म, प्लीहा, उदर-रोग तथा वात, पित्त और कफ का दूषित रूप में बनना नष्ट हो जाता है।

2. **स्थल-वस्ति-** जमीन पर पश्चिमोत्तान आसन में बैठकर आश्वनी मुद्रा के द्वारा गुदा का आकुंचन और प्रसारण करने की क्रिया स्थलवस्ति कहलाती है।

लाभ- इससे-

1. कब्ज दूर होता है।
2. गठिया आदि रोग दूर होते हैं।
3. जठराग्नि प्रदीप्त होती है।

सावधानी-

1. नौलि क्रिया तथा स्थलवस्ति के ठीक अभ्यास के बाद ही जलवस्ति का अभ्यास करना चाहिए। अन्यथा उदर में प्रविष्ट हुआ सम्पूर्ण जल बाहर नहीं आ पायेगा और उसके बाहर न आने से धातुक्षय आदि नाना दोष होने की सम्भावना रहती है।

2. जलवस्ति के तुरन्त बाद भोजन अवश्य करें जिससे वृहद् आंत्र में बचा हुआ जल का अंश धीरे-धीरे मूत्र द्वारा बाहर आ जायेगा। भोजन नहीं करने की स्थिति में दूषित जल आँतो से सम्बद्ध सूक्ष्म नाड़ियों द्वारा शोषित रक्त में मिल जायेगा और रक्त को दूषित करेगा।

3. जलवस्ति के लिये शुद्ध जल का ही प्रयोग करना चाहिए। अधिक गरम जल तथा अधिक शीतल जल का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

4. राजयक्ष्मा (क्षय), संग्रहणी, अधोरक्तपित्त, भगन्दर, मलाशय और गुदा में शोथ, आंत्र सन्निपात, कफ-वृद्धि जनित तीक्ष्ण श्वास प्रकोप में वस्ति क्रिया नहीं करनी चाहिए।

(3) नेति

विभिन्न द्रव पदार्थों द्वारा नासिका मार्ग की सफाई करने की क्रिया को नेति कहते हैं। यह षट्कर्म की तीसरी क्रिया है। यह नाक, कान, कण्ठ और मस्तिष्क से सम्बन्धित रोगों में लाभदायक है। जलनेति, सूत्रनेति, दूग्धनेति, तेल या घृतनेति आदि भेद से यह अनेक प्रकार की होती है।

1. **जलनेति-** गुनगुने जल में आवश्यकतानुसार नमक मिलाकर एक टोंटीनुमा लोटे में जल भर कर सिर को थोड़ा झुका कर ऊपर वाली नासिका में लोटे की टोंटी को लगाकर जल डालते हैं। जल दूसरी नासिका से अपने आप बाहर आ जायेगा। इस क्रिया मे यह ध्यान विशेष रूप से रहे कि श्वास नासिका से न लेकर थोड़ा मुंह खोलकर रखें, ताकि आवश्यकतानुसार श्वास अन्दर बाहर हो सके। इसी क्रिया को क्रमशः दूसरी नासिका से भी करते हैं। इसके बाद भस्त्रिका नेति अवश्य करें।

लाभ- यह-

1. आँख, कान, नाक, गला, दाँत एवं मस्तिष्क से सम्बन्धित रोगों को दूर करता है।
2. चर्मरोग में लाभ पहुँचाता है।
3. मानसिक तनावों को दूर करता है।
4. सिरदर्द, खाँसी, जुकाम नजला (सर्दी), नाक में फोड़े, फुंसी आदि में लाभ पहुँचाता है।
5. सुषुम्णा माड़ी को जाग्रत करता है।

सावधानी-

1. नये अभ्यासियों को शुरू में ही शीतल जल प्रयोग नहीं करना चाहिए। शुरू में ही शीतल जल का प्रयोग करने से सर्दी, जुकाम, सिर का भारीपन इत्यादि कष्ट हो जाते हैं।

2. नजला, जुकाम होने पर नमकीन गरम जल से ही नेति क्रिया करनी चाहिए।

3. जलनेति के बाद भस्त्रिका-नेति अवश्य करनी चाहिए अन्यथा कालान्तर में जल वाष्प बनकर फेफड़े में प्लुरिसी आदि रोग उत्पन्न कर सकता है।

जलनेति

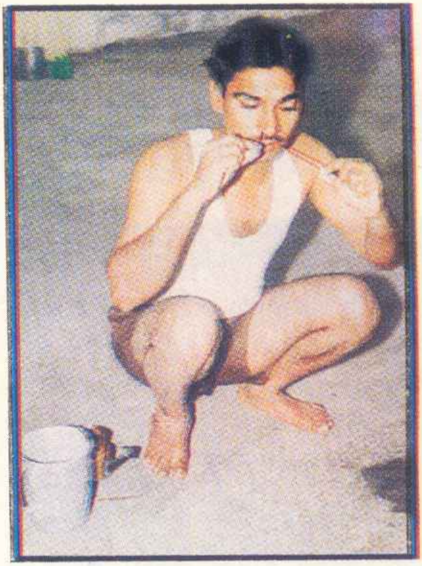

सूत्रनेति

2. सूत्रनेति-

मुलायम धागे की रस्सी या रबर की कैथेटर नं० 4 को गरम जल से धोकर धीरे-धीरे एक नासिका छिद्र में डालकर गले के पास आने पर दायें हाथ की दो अँगुलियों से कैथेटर या सूत्र को मुंह से धीरे-धीरे बाहर निकाल कर सूत्र या कैथेटर के एक-एक कोने को दोनों हाथों से पकड़ कर 8-10 बार अन्दर बाहर करके धीरे-धीरे मुंह से बाहर निकाल लेना चाहिए। इसके बाद घृतनेति अवश्य करनी चाहिए।

लाभ- यह-

1. सिरदर्द, खाँसी, जुकाम, नाक में फोड़े-फुंसी आदि में लाभ पहुँचाता है।
2. नाक के अन्दर मांस वृद्धि को रोककर नाक को खोलता है।

3. *घृतनेति/कपालनेति-*

किसी आसन पर बैठकर अथवा कुर्सी पर बैठकर अथवा चारपाई पर लेटकर सिर को पीछे लटका कर ड्रापर द्वारा बारी-बारी से प्रत्येक नासिका छिद्र से 8-10 बूँद ताजा गाय का घृत डालने की क्रिया को घृतनेति कहते हैं। यही क्रिया तेल से करने पर तेलनेति, दुग्ध से करने पर दुग्धनेति कहलाती है अथवा नासिका से दुग्धपान करना ही दुग्धनेति कहलाती है। मुंह में पानी भर कर नासिका के छिद्रों से निकलने की विधि को कपालनेति कहते हैं।

लाभ- इस से-

1. आँख, नाक, कान, गला एवं मस्तिष्क के सभी रोगों में लाभ पहुँचाता है।
2. सिर दर्द, खांसी, जुकाम, नाक में फोड़े-फुंसी को दूर करता है।
3. मिर्गी, चक्कर, स्मरणशक्ति की कमी आदि में लाभदायक है।
4. दुग्धनेति बालों की सुरक्षा में सहायक होती है। बाल सफेद नहीं होते हैं, झड़ते नहीं हैं।

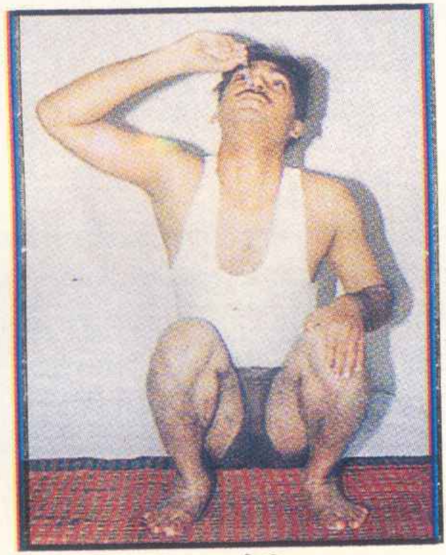

घृतनेति

(4) नौलिका या नौलि-क्रिया

हठयोग के षट्कर्मो की यह चतुर्थ तथा उत्तम क्रिया है। यह क्रिया उदर-रोगों को दूर करने में प्रभावकारी सिद्ध हुई है। सुगमता से करने के लिये इसे छः भागों में बाँटा जा सकता है। सबसे पहले सीधे खड़े होकर दोनों पैरों के बीच डेढ़-दो फुट का अन्तर रखें। धड़ को थोड़ा सामने झुका कर दोनों हाथों को घुटने से ऊपर बाँध कर रखना चाहिए।

अग्निसारक्रिया

वज्रासन में बैठकर दोनो घुटनों के बीच दूरी बढ़ा कर दोनो हाथों की हथेलियों को पेट की ओर उल्टा कर के दोनो घुटनों के बीच रखें। जालन्धर बन्ध लगाकर पेट को अधिक से अधिक क्रमशः पिचकायें-फैलायें (फुलायें) अर्थात् नाभि प्रदेश का आकुंचन और प्रसारण जल्दी-जल्दी करें। यह क्रिया जितनी देर आसानी से कर सकते हैं करें तत् पश्चात् श्वास लें।

लाभ- इस से -

1. उदर की मांसपेशियों को लचीली बनाती हैं तथा इससे मांसपेशियों व नसनाड़ियों पर नियंत्रण प्राप्त होता है।
2. उदर सम्बन्धी विकारों को दूर कर पाचन-शक्ति बढ़ाती है।

उड्डीयानबन्ध

सीधे खड़े होकर दोनों पैरों के बीच एक-डेढ़ फुट का फासला रखें आगे झुकते हुये दोनों हाथों को घुटनों के ऊपर जाँघ पर रखकर रेचक करके श्वास बाहर निकालें और बहिष्कुम्भक करें। पेट को अन्दर की ओर इतना खींचें कि पीठ से सट सा जाय। जितनी देर रुक सकते हैं, रुकने के बाद धीरे-धीरे पेट को ढीला छोड़ने पर श्वास धीरे-धीरे लें।

लाभ- इस से -

1. आँतों के रोगों में लाभ पहुँचाता है।
2. कब्ज तथा गैस्टिक को दूर करता है।

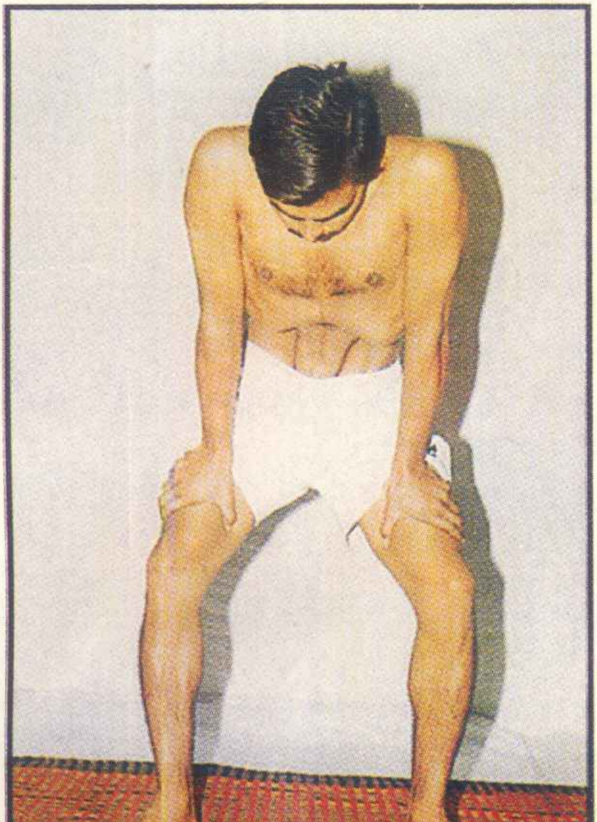

नौलिकी

मध्य-नौलि

उड्डीयानबन्ध के अभ्यास के बाद पेट के मध्य मांसपेशियों की नाल जैसी शक्ल उभरती है। इसे मध्य- नौलि कहते हैं।

दक्षिण-नौलि

इसी नौलि को बायें हाथ के दबाव को कम करके पेट के दाहिनी ओर निकालना दक्षिण-नौलि कहलाती है।

वाम-नौलि

मध्य-नौलि को दाहिने हाथ के दबाव को कम करके बायीं ओर निकालने की क्रिया को वाम-नौलि कहते हैं।

चक्र-नौलि

नौलि को बायें से दायें और दायें से बायें वर्तुलाकार घुमाने की क्रिया को चक्र-नौलि कहते हैं।

लाभ- इस से-

1. उदर सम्बन्धी वात, तिल्ली, मंदाग्नि, आमवात, पेट का कड़ापन, कब्ज आदि रोग दूर करती है।
2. आँतों को सक्रिय स्वस्थ एवं मजबूत बनाने की उत्तम क्रिया है।
3. प्राण-अपान वायु का योग कराने वाली कुण्डलिनी-योग की महत्त्वपूर्ण क्रिया है।

सावधानी

1. पेट के अल्सर, शल्य-क्रिया, गर्भकाल और उपवास में इस क्रिया का अभ्यास वर्जित है।
2. अभ्यास प्रातः काल खाली पेट षट्कर्म की अन्य क्रियाओं से पूर्व करना चाहिए।

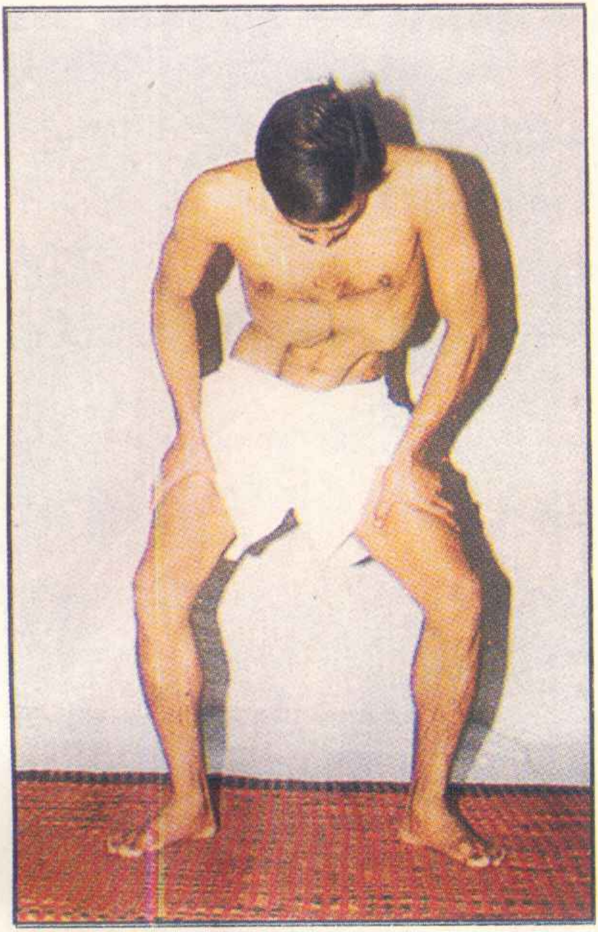

दक्षिण-नौलि

वाम-नौलि

चक्र-नौलि

(5) त्राटक

किसी लक्ष्य विशेष को एकाग्रता के साथ अपलक देखने की क्रिया को त्राटक कहते हैं। यथा-

निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्म-लक्ष्यं समाहितः।
अश्रुसम्पात-पर्यन्तमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम्।।

त्राटक क्रिया तीन प्रकार की होती है-

1. अन्तः त्राटक
2. मध्य त्राटक
3. बाह्य त्राटक

अन्तः त्राटक

हृदय अथवा भ्रूमध्य में नेत्र बन्द रख कर एकाग्रता पूर्वक धारणा शक्ति को बढ़ाने की क्रिया को अन्तः त्राटक कहते हैं। भ्रूमध्य में त्राटक करने से आरम्भ में कुछ दिनों तक कपाल में दर्द तथा नेत्रो की बरौनियो में चंचलता की शिकायत हो सकती है। परन्तु कुछ दिनों के अभ्यास के बाद नेत्रवृत्ति में स्थिरता आ जाती है।

मध्य त्राटक

जब त्राटक क्रिया का अभ्यास देवमूर्ति, सफेद कागज में काला बिन्दु अथवा ऊँ, मोमबत्ती अथवा तिल के तेल की अचल बत्ती अथवा धातु की मूर्ति, नासिका के अग्रभाग या समीपवर्ती किसी अन्य लक्ष्य पर दृष्टि रखकर की जाती है तब उसे मध्य-त्राटक कहते हैं। इस क्रिया को करने के लिये किसी भी आसन (पद्मासन, सिद्धासन या स्वस्तिकासन) में बैठकर एक डेढ़ फुट की दूर पर आँखों के ठीक सामने किसी स्टैण्ड में एक दीपक (तिल के तेल आदि से युक्त) रखते हैं। अपलक नेत्रों से दीपक की लौ को तब तक देखते हैं जब तक आसानी से देख सकें। आँखों से आँसू आने पर आँखें बन्द करके दीपक की लौ को भ्रूमध्य में धारण करें। कुछ देर बाद पुनः इस क्रिया को दुहरायें। धीरे-धीरे अभ्यासकाल बढ़ाते जायें। यह

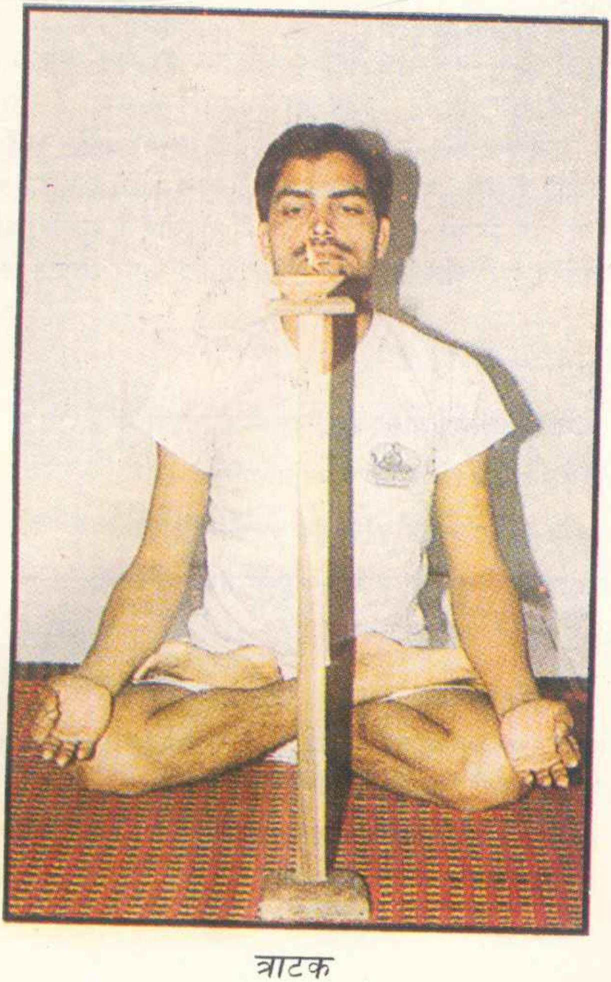

त्राटक

क्रिया देवमूर्ति, सफेद कागज पर काला बिन्दु अथवा ऊँ आदि समीपवर्ती लक्ष्य पर भी की जा सकती है।

बाह्य त्राटक

जब त्राटक क्रिया का अभ्यास किसी दूरवर्ती लक्ष्य पर यथा-चन्द्र, प्रकाशित नक्षत्र, पर्वत के तृणाच्छादित शिखर आदि पर किया जाता है, तब उसे बाह्यत्राटक कहते हैं। केवल सूर्य पर त्राटक नहीं करना चाहिए क्योंकि सूर्य और नेत्र ज्योति में एक ही प्रकार की शक्ति होने से नेत्र-शक्ति सूर्य में आकर्षित होती रहेगी जिससे नेत्र कुछ ही दिनों में कमजोर हो जायेंगे। यदि सूर्य पर त्राटक करना हो तो जल में पड़े हुए सूर्य के प्रतिबिम्ब पर अभ्यास किया जा सकता है।

लाभ- इस से-

1. स्मरण-शक्ति, धारणा-शक्ति, अतीन्द्रिय क्षमता को बढ़ाता है।
2. मन की हलचल को शान्त, स्थिर तथा अन्तर्मुख करता है।
3. दिव्य-दृष्टि तथा सम्मोहन-शक्ति पैदा करने में सहायक है।
4. उच्च आध्यात्मिक क्रियाओं के लिये पृष्ठभूमि तैयार करता है।
5. शाम्भवी-मुद्रा की सिद्धि में सहायक है।

सावधानी

1. त्राटक क्रिया का अभ्यास करते समय आसन एकदम स्थिर हो तथा शरीर में किसी भी प्रकार की हलचल नहीं होनी चाहिए।
2. त्राटक क्रिया के बाद नेत्र और मस्तिष्क में उष्णता बढ़ जाती है इसलिये इस क्रिया के बाद जलनेति करनी चाहिए।

त्राटक के अधिकारी

1. जिस साधक की पित्त प्रकृति हो, जिसके मस्तिष्क, नेत्र, नासिका या हृदय में दाह रहता है वह केवल अन्त: त्राटक का अधिकारी है।

2. जिनकी दृष्टि दूर की वस्तुओं के लिये कमजोर हो, जिनकी वातप्रधान प्रकृति

हो या जिन्हें शुक्र की निर्बलता हो, वे बाह्य त्राटक का अधिकारी है।

3. जिनकी दृष्टि दोष-रहित हो, त्रिधातु सम हो, कफ-प्रधान प्रकृति हो, नेत्रों की ज्योति पूर्ण हो, वे मध्य त्राटक के अधिकारी हैं।

विशेष

अम्लपित्त, जीर्णज्वर, विषमज्वर, मज्जातन्तु-विकृति, पित्ताशय-विकृति इत्यादि किसी रोग से पीड़ित अथवा तम्बाकू, गाँजा आदि के व्यसनी को त्राटक-क्रिया का अभ्यास नहीं करना चाहिए।

(6) *कपालभाति* :

वृहत् मस्तिष्क के सामने के हिस्से को कपाल कहते हैं। भाति यानी धौंकनी, अर्थात् मस्तिष्क के समस्त विकारों को दूर कर प्राण शक्ति द्वारा कपाल का शोधन जिस क्रिया से होता है, उसे कपालभाति कहते हैं।

वातक्रमेण व्युत्क्रमेण शीत्क्रमेण विशेषतः।

कपालभातिस्त्रिधाकुर्यात् कफदोषं निवारयेत्।।

वातक्रम (कपालभाति), व्युत्क्रम (कपालभाति) और शीतक्रम (कपालभाति) के भेद से कपाल भाति तीन प्रकार की होती है। इसकी साधना करने से कफ से उत्पंन्न विकारों का निवारण होता है।

(1) वातक्रम कपालभाति

इड़ा नाड़ी (बायीं नासिका) मे वायु भर कर पिंगलानाड़ी (दाहिनी नासिका) से बाहर निकाल दें। इड़ा नाड़ी बायीं नासिका में और पिंगला दायीं नासिका में होती है। इड़ा नाड़ी तमोगुण-प्रधान तथा पिंगला रजोगुण-प्रधान होती है तथा पिंगला नाड़ी से वायु खींच कर इड़ा नाड़ी से निकालने की अनुलोम-विलोम क्रिया को वातक्रम कपालभाति कहते हैं।

लाभ- इस से-

1. कफ-दोष का निवारण होता है।
2. मन एकाग्र होता है।

(2) व्युत्क्रम कपालभाति

दोनों नासा छिद्रों से जल खींच कर मुख-द्वार से बाहर निकालने और मुख से जल खींच कर इस नाड़ी से निकालने की इस व्युत्क्रम-क्रिया को व्युत्क्रम-कपालभाति कहते हैं।

लाभ- यह कंठ, मुख और नासा छिद्रों को शुद्ध करने में अत्यन्त उपयोगी है

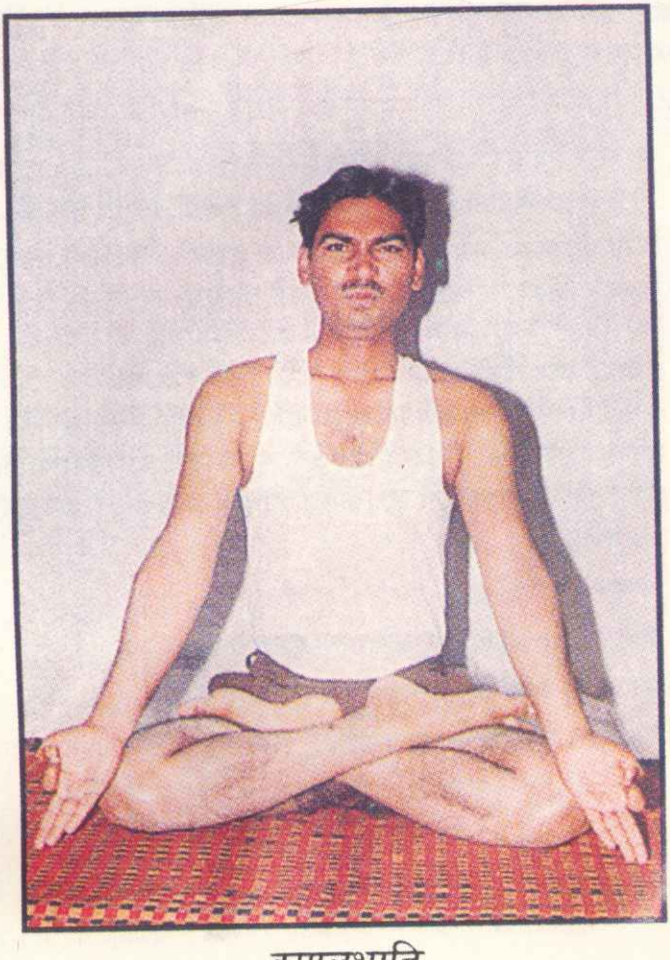

कपालभाति

(3) शीतक्रम कपालभाति

मुख के द्वारा जल खींच कर नासिका के द्वारा निकालने की क्रिया को शीतक्रम- कपालभाति कहते हैं। धीरे-धीरे उचित निर्देशन में ही इन क्रियाओं का अभ्यास करना हितकर है।

लाभ-

यह चेहरे पर झुर्री आदि दूर करके सुन्दरता में वृद्धि करती है। कपालभाति की उपर्युक्त क्रियाआं के अतिरिक्त सबसे सरल तथा उपयोगी क्रिया है

किसी भी आसन (पद्मासन, सुखासन या वज्रासन) में बैठकर हाथ घुटने पर रखकर नासिका से श्वास खींचकर झटके के साथ कई हिस्सों में विभाजित करते हुए छोड़ते हैं। अन्तिम बार दीर्घ प्रश्वास से फेफड़े की पूरी वायु बाहर निकाल देते हैं फिर तीनों बन्ध लगाकर (सबसे पहले जालन्धर बन्ध, उसके बाद मूललबन्ध, उसके पश्चात् उडिड्यानबन्ध लगाकर) तथा छोड़ने के लिये सबसे पहले उडिड्यानबन्ध फिर मूलबन्ध और अन्त में जालन्धर बन्ध छोड़ना चाहिए। बहिष्कुम्भक भी करना चाहिए। इस क्रिया का अभ्यास प्राणायाम के बाद खाली पेट ही करना चाहिए।

लाभ - यह-

1. श्वास-रोग, तपेदिक, दमा आदि में लाभकारी है।
2. सिर-दर्द तथा मस्तिष्क सम्बन्धी रोग दूर करता है।
3. फेफड़े की शुद्धि करके रक्त-शोधन, मस्तिष्क के विकास और मन की चंचलता आदि दूर करता है।

षट्कर्म योगाभ्यास के क्षेत्र में निःसन्देह अत्यन्त आवश्यक अंग है। इनके सम्यक् और विधि पूर्वक अभ्यास से आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि के साधन से कायाशोधन होने पर सुषुम्णा में अपान-प्राण के प्रवेश से षट्चक्र प्राणित होते हैं, मूलाधार में सोयी कुण्डलिनी जाग जाती है और षट्चक्रों को मुद्राबन्ध के अभ्यास के सहारे भेदन करती हुई शरीर में नव प्राण-शक्ति भरती

हुई सहस्रार में परब्रह्म अलखनिरंजन शिव से सामरस्य स्थापित कर तत् स्वरूप हो जाती है।

शरीर में त्रिधातु सम होने पर षट्कर्म नहीं करना चाहिए। शरीर-शुद्धि के लिये अथवा इन क्रियाओं पर अधिकार रखने के लिये प्रारम्भ में कुछ समय तक अभ्यास किया जा सकता है जिससे भविष्य में देशकाल-परिवर्तन, प्रमाद या आहार-विहार से वातादि धातुओं के विकृत हो जाने पर इन क्रियाओं द्वारा इनका शमन किया जा सकता है। परन्तु आवश्यकता न होने पर नित्य करते रहने से समय का अपव्यय, शारीरिक निर्बलता और मानसिक प्रगति में शिथिलता आ जाती है। इसलिए षट्कर्म आवश्यकतानुसार तथा आवश्यक सावधानी के साथ ही करना चाहिए। अत: इसे किसी जानकार व्यक्ति या गुरु के निर्देशन में करना ही निरापद एवं उचित है।

संक्षिप्त–षट्कर्म–विज्ञानम्
(हठयोग–प्रदीपिकानुसारम्)

मेदः श्लेष्माधिकः पूर्व षट्कर्माणि समाचरेत् ।

अन्यस्तु नाचरेत्तानि दोषाणां समभावतः ।। १ ।।

जिस साधक में मेद (चर्बी) और श्लेष्मा (कफ) की अधिकता हो उसे प्राणायाम के अभ्यास से पूर्व षट्कर्मों (धौति, वस्ति आदि वक्ष्यमाण) की साधना करनी चाहिए। किन्तु जिस साधक में कफ, वात और पित्त समभाव में हों, अधिक न हों, उसे इन षट्कर्मों को नहीं करना चाहिए।

धौतिर्वस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा ।

कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि प्रचक्षते ।। २ ।।

धौति, वस्ति, नेति, त्राटक, नौलिक तथा कपालभाति ये ही षट् (छः) कर्म कहे जाते हैं।

चतुरङ्गुलविस्तारं हस्त पञ्चदशायतम् ।

गुरूपदिष्टमार्गेण सिक्तं वस्त्रं पुनर्ग्रसत् ।

पुनः प्रत्याहरेच्चैतदुदितं धौति-कर्म तत् ।। ३ ।।

चार अंगुल चौड़े और पन्द्रह हाथ लम्बे वस्त्र को जल में अच्छी तरह भिगोकर गुरू द्वारा बताये गये तरीके से साधक को धीरे-धीरे मुख से निगल कर फिर उसे धीरे-धीरे बाहर निकालें यही धौति कर्म कहलाता है।

कास-श्वास-प्लीह-कुष्ठं कफ रोगाश्च विंशतिः ।

धौति-कर्म-प्रभावेण प्रयान्त्येव न संशयः ।। ४ ।।

धौति कर्म के प्रभाव से श्वास, खाँसी, प्लीहा (तिल्ली) और कुष्ठ तथा बीस प्रकार के कफजन्य रोग दूर हो जाते हैं, इसमें सन्देह नहीं है।

नाभि-दघ्न-जले पायौ न्यस्त-नालोत्कटासनः ।

आधाराकुञ्चनं कुर्यात् क्षालनं वस्तिकर्म तत् ।। ५ ।।

नाभि तक जल में स्थित होकर (कनिष्ठका अंगुली के प्रवेश योग्य) छेद वाली बाँस की नली गुदा मार्ग में प्रविष्ट कर उत्कटासन में स्थित होकर गुदा आकुंचन (सिकोड़ना) करना चाहिए, इस प्रकार पेट में जल का संचालन कर उसे धोना चाहिए, यही वस्ति कर्म है।

गुल्म-प्लीहोदरं चापि वात-पित्त-कफोद्भवा:।
वस्ति-कर्म-प्रभावेण क्षीयन्ते सकलाम्या:।। ६।।

वस्ति कर्म के प्रभाव से गुल्म, प्लीहा, जलोदर तथा वात-पित्त-कफ-त्रिदोषों से उत्पन्न होने वाले नाना रोग नष्ट हो जाते हैं।

सूत्रं वितस्ति सुस्निग्धं नासा-नाले प्रवेशयेत्।
मुखान्निर्गमयेच्चैषा नेति: सिद्धैर्निगद्यते।। ७।।

अच्छी तरह चिकना एक बित्ता भर लम्बा डोरा लेकर नाक की छेद में डाल कर मुख के रास्ते निकालना चाहिए। योगसिद्धों ने इसी को नेति कहा है।

कपाल-शोधिनी चैव दिव्य-दृष्टि-प्रदायिनी।
जत्रूर्ध्वजात-रोगौघं नेतिराशु निहन्ति च।। ८।।

नेति क्रिया कपाल के विकारों का शोधन करती है, दिव्य-दृष्टि प्रदान करती है तथा कन्धे से ऊपर के तमाम रोगों को शीघ्र नष्ट करती है।

निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्म लक्ष्यं समाहित:।
अश्रुसम्पातपर्यन्तमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम्।। ९।।

एकाग्रचित होकर अपलक दृष्टि से किसी सूक्ष्म लक्ष्यभूत पदार्थ को आँसू निकल आने तक देखना त्राटक कहलाता है।

मोचनं नेत्ररोगाणां तन्द्रादीनां कपाटकम्।
यत्नतस्त्राटकं गोप्यं यथा हाटकपेटकम्।। १०।।

त्राटक कर्म नेत्र के रोगों से छुटकारा देता है, तन्द्रा और आलस्य को आने नहीं देता और सोने की पिटारी की तरह गोपनीय है।

अमन्दावर्तवेगेन तुन्दं सव्यापसव्यतः ।

नतांसो भ्रामयेदेषा नौलिः सिद्धैः प्रशस्यते ।। ११ ।।

कन्धा सामने की ओर झुकाकर पेट को दाहिनी-बायों ओर तेज आवर्त (जल में उठने वाली भ्रमर) की गति से घुमाने की क्रिया को सिद्धों ने नौलि कहा है ।

मन्दाग्नि-सन्दीपन-पाचनादि सन्धायिकानन्दकरी सदैव ।

अशेषदोषामयशोषणी च हठक्रिया मौलिरियं च नौलिः ।। १२ ।।

नौलि क्रिया मन्दाग्नि को दूर कर जठराग्नि को प्रदीप्त करने वाली, पाचनशक्ति बढ़ाने वाली तथा आनन्द देने वाली है। यह हठक्रिया में मूर्धन्य मानी जाती है ।

भस्त्रावल्लोहकारस्य रेच-पूरौ ससंभ्रमौ ।

कपाल भातिर्विख्याता कफ दोष विशोषिणी ।। १३ ।।

लोहार की भाथी-धौंकनी के चलने के समान वेगपूर्वक रेचक और पूरक प्राणायाम करना ही कपालभाति है । इससे कफ जनित विकार दूर होते हैं ।

षट् कर्मनिर्गतस्थौल्य-कफदोष-मलादिकः ।

प्राणायामं ततः कुर्यादनायासेन सिद्ध्यति ।। १४ ।।

षट् कर्म के अभ्यास से शरीर की स्थूलता तथा कफ दोष आदि मलों से मुक्त होकर ही प्राणायाम करना चाहिए। इससे बड़ी आसानी से योग साधना में सिद्धि मिलती है ।

।। इति षट्कर्म विज्ञानम् ।।

श्री गोरक्षनाथ मन्दिर, गोरखपुर

घेरण्ड संहिता

भाषानुवाद सहिता

भाष्यकारः

ब्रह्मलीन राष्ट्रगुरू श्री १००८ श्री स्वामीजी महाराज

श्री पीताम्बरा पीठ

दतिया (म.प्र.)

अनन्त विभूषित श्री स्वामी जी महाराज, दतिया (म.प्र.)

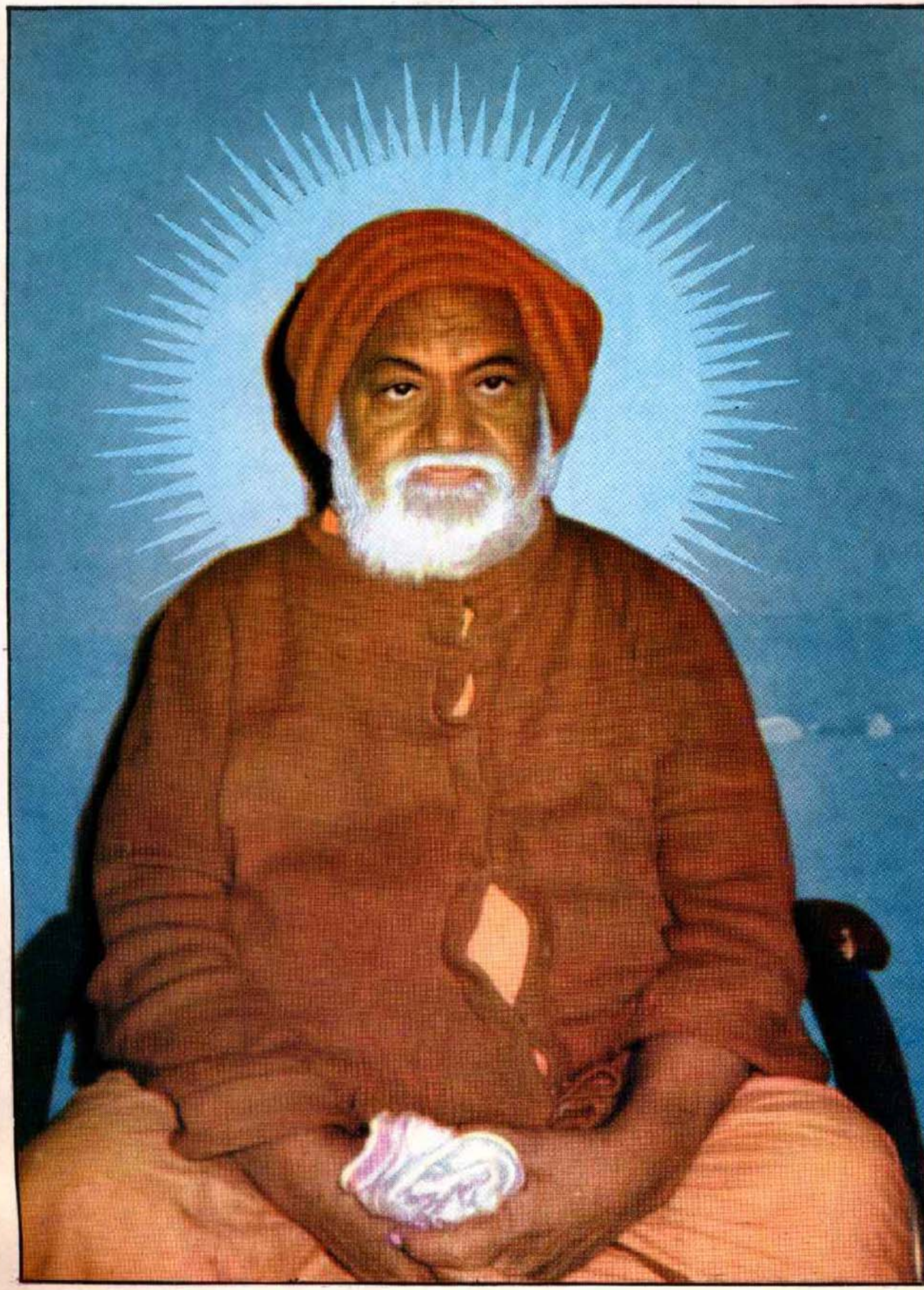

ब्रह्मानन्दं परम सुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिम्, द्वंद्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादि लक्ष्यम्।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधी साक्षिभूतम्, भावातीतं त्रिगुण रहितं सद्गुरु तं नमामि।।

प्रकाशकीय

श्री पीताम्बरा - पीठ देश की न केवल एक महत्वपूर्ण आध्यात्मिक संस्था है जो गत 30 वर्षों से निर्बल और निरीह मानवता को आध्यात्मिक साधनों से सशक्त बनाकर कल्याण मार्ग की ओर प्रवृत्त करती रही है; अपितु वैदिक साहित्य एवं संस्कृति की प्रतिनिधि है,जिसका उद्देश्य पीठ के संस्थापक पूज्यपाद श्री 1008 श्री स्वामीजी महाराज की संरक्षता में संस्कृताध्यापन एवं संस्कृत-ग्रन्थों के प्रकाशन द्वारा, संस्कृत प्रचार एवं प्रसार करके संस्कृत एवं संस्कृति का संवर्धन करना है।

पीठ द्वारा संपादित अन्य महत्वपूर्ण कार्यों के समान प्रकाशन कार्य भी विशेष महत्व का है। प्राचीन साहित्य के संरक्षण एवं संवर्धन की पूज्यपाद की इच्छा सदैव रही है; जिसके फलस्वरूप लगभग 25 वर्ष पूर्व से ग्रन्थ-प्रणयन एवं प्रकाशन का कार्य सुचारू रूप से सम्पन्न होता आ रहा है। अद्यावधि श्री पीताम्बरा - पीठ द्वारा अनेक महत्वपूर्ण एवं मौलिक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। इस प्रकाशन माला में तन्त्र, उपनिषद, दर्शन, योग आदि विविध विषयों की श्रेष्ठ मणियाँ गुम्फित हो चुकी है।

प्रस्तुत पुस्तक का प्रकाशन श्री पीताम्बरा - संस्कृत परिषद् की ओर से किया जा रहा है। श्री पीताम्बरा - संस्कृत - परिषद्, पीठ की एक महत्वपूर्ण संस्था है। इसकी स्थापना पूज्य श्री महाराज जी की प्रेरणा से संस्कृत के प्रचार एवं प्रसार के लिए दिनांक 25-5-60 को की गयी थी। तभी से यह संस्था संस्कृत-सेवा में सम्यक् रूप से संलग्न है।

प्रस्तुत योग-विषयक पुस्तक श्री घेरण्ड मुनि द्वारा विरचित 'घेरण्ड संहिता' के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें श्री घेरण्ड मुनि ने अपने शिष्य चण्ड कापालि को योग का अनुशासन किया है। अन्य अनेक ऋषि मुनियों के समान श्री घेरण्ड मुनि का भी परिचय उपलब्ध नहीं है। उनके शिष्य कापालि का नाम अवश्य हठयोग के प्रसिद्ध ग्रन्थ "हठयोग-प्रदीपिका" में योग-प्रवर्तक आचार्यों की कोटि में आया है। घेरण्ड मुनि विरचित योग के इस ग्रन्थ में तांत्रिक-पद्धति का अनुसरण किया गया है। योग शास्त्र का यह महत्वपूर्ण ग्रन्थ सुबोध भाषा में अभी तक प्रकाशित नहीं था। सर्वसाधारण के उपयोग के लिए पूज्यपाद् ने हिन्दी-टीका का प्रणयन किया

है, जिसमें यथास्थान आगम-ग्रन्थों के उद्धरणों से योग-शास्त्र के अनेक दुर्बोध स्थलों का समुचित -ज्ञान अनायास ही हो जाता है।

इस पुस्तक के प्रकाशन का समस्त व्यय-भार बम्बई निवासी श्रीयुत सेठ बालकृष्णदास पदमचन्द ने सहर्ष वहन किया हैं, तदर्थ उनके प्रति हार्दिक धन्यवाद प्रकट किया गया है।

पुस्तक को प्रकाशन की दृष्टि से पूर्ण सुन्दर बनाने में श्रीराम प्रेस झांसी के अधिष्ठाता श्री द्वारिकेश मिश्र ने जो परिश्रम पूर्वक कर्तव्य-निर्वाह किया है; तदर्थ वह भी समुचित धन्यवाद के पात्र हैं।

दतिया (म.प्र.)

मंत्री
श्री पीताम्बरा पीठ

द्वितीय संस्करण

परम पूज्य आचार्य चरणों की कृपा से योग के बहुचर्चित सुप्रसिद्ध ग्रन्थ घेरण्ड संहिता के द्वितीय संस्करण के प्रकाशन से परिषद् प्रसन्नता का अनुभव कर रही है।

भारतीय समस्त साधनाएं योग साधना से ही अनुप्राणित हैं। तन्त्र योग मिल कर ही साधना को सर्वाङ्गीण परिपूर्ण बनाते हैं। इस ग्रन्थ में दोनों का मिलन है। यह ग्रन्थ गुरू तुल्य ही पथ प्रदर्शक है। इसका सर्व प्रथम प्रकाशन यहीं से हुआ। द्वितीय संस्करण से उपादेयता स्पष्ट ही है।

समस्त व्यय भार श्री सुरेन्द्रदेव जी गौड़ एवं श्रीमती सावित्री देवी गौड़ ने सहर्ष वहन किया है। उन्हें आभार सहित शुभ कामनाएं।

साधकों की साधना समुन्नत हो ऐसी आशा है।

ब्रजनन्दन शास्त्री साहित्याचार्य
मंत्री
श्री पीताम्बरा पीठ संस्कृत परिषद
दतिया (म.प्र.)

सं. 2034
दीपमालिका

तृतीय संस्करण

प्रकाशकीय तृतीय संस्करण प्रस्तुत ग्रन्थ घेरण्ड संहिता यौगिक क्रियाओं का संग्रह है। आशा है जिज्ञासु विज्ञ पाठक इससे लाभ उठायेंगे तो संस्कृत परिषद कृत कृत्य होगी।

ॐ नारायन द्विवेदयः
शास्त्री
श्री पीताम्बरा पीठ
दतिया (म.प्र.)

सं. 2045
गंगा दशहरा

मूल्य २०–०० रुपये

प्रकाशकीय

(चतुर्थ संस्करण)

ब्रह्मलीन अनन्त श्री विभूषित पूज्यपाद आचार्य चरणों के शुभाशीर्वाद से योग के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ घेरण्ड संहिता के चतुर्थ संस्करण के प्रकाशन से पीठ परिषद प्रसन्नता का अनुभव कर रही है।

घेरण्ड मुनि विरचित योग के इस ग्रन्थ में तांत्रिक, यौगिक पद्धति का अनुसरण किया गया है। सर्वसाधारण के उपयोग के लिये पूज्यपाद जी ने हिन्दी का प्रणयन किया है जिसमें यथा स्थान तन्त्र ग्रन्थों के उद्धरणों से योग शास्त्र के अनेक दुर्बोध स्थलों का समुचित ज्ञान अनायास ही हो जाता है।

साधकों की साधना समुन्नत हो, ऐसी आशा है।

श्री पीताम्बरा पीठ संस्कृत परिषद
दतिया (म.प्र.)

गुरूपूर्णिमा 2060
रविवार, 13 जुलाई, 2003

भूमिका

भारतवर्ष में योग-विद्या का महत्व बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा है। आर्य-जाति के इतिहास में, प्रधान रूप में योग का विषय-विवेचन किया गया है। मनुष्य-जीवन के अर्थ, धर्म, काम एवं मोक्ष के निरूपण में सर्वत्र ही योग की प्रधानता है। योग का प्रयोग लौकिक एवं अलौकिक भेद से दो प्रकार का माना गया है। लौकिक कार्यो की सिद्धि भी बिना मन के अवधान के नहीं होती। अलौकिक -योग के विषय में कहा गया है- ''यदयं परमोधर्मा यद् योगेनात्म दर्शनम्''- अर्थात् योग से आत्म -दर्शन करना परम धर्म है। वेद से लेकर पुराण, इतिहास आदि सभी ग्रन्थों में योग की श्रेष्ठता बताई गयी है। ऋषियों ने वेद-मंत्रों का साक्षात्कार योग-द्वारा ही किया था। यह सारा विश्व योग द्वारा ही बना हुआ है। परमाणु, प्रकृति, माया आदि तत्त्वों के योग द्वारा ही विश्व रचना हुई है; इसलिये योग का महत्व सर्वोपरि है।

उपनिषदों में इसका विषय विस्तृत रूप से बताया गया है। चार प्रकार के योगों का वर्णन योग के चार सम्प्रदायों से किया गया है। जिन्हें राज, लय, हठ एवं मंत्र के नाम से कहा जाता है। महर्षि पतञ्जलि का योग-दर्शन राजयोग के अन्तर्गत आता है। इस मत में चित्त-वृत्ति के निरोध को ही योग माना गया है। उपासना-मार्ग भी राजयोग का ही रूपान्तर है, जिसे ईश्वर प्रणिधानाद्वा सूत्र में ईश्वर प्रणिधान पद से बताया गया है। वर्तमान काल में प्रचलित शाक्त, शैव, वैष्णव आदि सम्प्रदाय 'ईश्वर प्रणिधान' नाम के योग से गृहीत होती है। इसीलिये भाष्य-कर्ता श्रीव्यासजी ने कहा

हैं-"प्रणिधानाद् भक्ति विशेषाद् आवर्जित ईश्वरस्तमनु गृण्हाति, अभिध्यान मात्रेण तद् अभिध्यानादपि योगिन आसन्न समाधिलाभ: फलंच भवति।" (योग.स.पा.सू.23) भोज ने भी इसकी व्याख्या इसी प्रकार की है-"प्रणिधानं भक्ति विशेष: विशिष्टमुपासनम्" -क्लेशादि से रहित ईश्वर-तत्व को अनेक नामों से शास्त्रों में कहा गया है। इसलिये उसको कोई एक संज्ञा नहीं दी जा सकती। इसलिये व्यास-भाष्य में कहा गया है-"तस्य संज्ञादि विशेषत्रति - पत्तिरागमत: पर्यन्वेष्या" (व्या.भा;सा.पा.सू.25)। इसीलिये शिव, विष्णु, महाशक्ति आदि नाम तथा इनके नामों से पुराणादि की रचना करके तत्तद्भावना भावति-भक्तियोग की प्रवृत्ति, महर्षि व्यास ने ही की है।

हठयोग में 'ह' एवं 'ठ' के योग हठयोग बताया गया है। इड़ा -पिंगला नाड़ियों में प्रवाहित 'ह' एवं 'ठ' को चन्द्र एवं सूर्य के नाम से कहा जाता है, इनका ऐक्य ही हठयोग कहा जाता है। इड़ा-पिंगला के प्रवाह में मन वहिर्गति वाला रहता है। हठाभ्यास के द्वारा दोनों का ऐक्य सम्पादन करना इस योग का लक्ष्य है। जिस योग के विषय में लिखा जा रहा है, वह हठ योग के अन्तर्गत आता है। दोनों 'ह' एवं 'ठ' के ऐक्य होने पर आधार चक्र में स्थित कुण्डलिनीशक्ति का उद्बोध होकर प्राणापान की एकता द्वारा नाद-बिन्दु-कला तक षड़ाधार चक्रों का भेदन करके योगी परमतत्व का साक्षात्कार करता है। शरीर, मन इन्द्रियादि में अनेक प्रकार की मलिनता, अनेक जन्म के कर्म-जन्य संस्कारों से रहती है। बिना उसके शोधन के यह योग संभव नहीं है। इसीलिये हठयोग की क्रियाओं का उपदेश दिया गया है।

हठयोग के कई ग्रन्थ हैं, जिनमें यह विषय बताया गया है- 'हठयोग-प्रदीपिका', गोरक्ष पद्धति', शिव संहिता' आदि। हठयोग की क्रियाओं का सबसे अधिक विवरण प्रकृत 'घेरण्ड संहिता' में बताया गया है। षट्कर्म के प्रकार, आसन, मुद्रा, प्राणायाम के भेदों का ऐसा निरूपण किसी ग्रन्थ में प्राप्त नहीं होता। 'घेरण्ड संहिता' तान्त्रिक साधना के मत का ग्रन्थ है। तान्त्रिक मत से किस प्रकार समाधि -लाभ होता है, इसे ही लक्ष्य करके इसमें बताया है, क्योंकि तान्त्रिकों का योग सर्वोपरि एवं सभी प्रकार के योगों का समन्वय है। इसके षष्ठोपदेश में स्थूल-सूक्ष्म

गुरू ध्यान का प्रकार जो दिया है, वह तान्त्रिकों का है। 'पातञ्जल-दर्शन' में लय -योग एवं कुण्डलिनी -योग का निरूपण नहीं है। कुण्डलिनी-योग तान्त्रिकों की प्रधान साधना है, जिसे इस ग्रन्थ में सुन्दर रीति से बताया गया है। 'पातञ्जलि-दर्शन' में जन्मौषधि मन्त्र तप: समाधिजा: सिद्धयं सूत्र में मन्त्र से भी सिद्धि मानी गयो है। भाष्यकार ने बहुत स्थानों पर मन्त्र-सिद्धि का उल्लेख किया है। 'तस्य वाचक: प्रणव: तज्जपस्तदर्थ भावनम्' से सूत्रकार का मत मन्त्र के विषय में स्पष्ट हो जाता है। 'घेरण्ड संहिता' में आज्ञाचक्र में प्रणव का ध्यान अजपाजप एव तत्वों के मन्त्रों का उल्लेख किया गया है। गुरू-ध्यान में सभी टीकाओं में तथा मूल में द्वादशाक्षर गुरूमंत्र का ग्रहण किया गया है। प्राणायाम की साधना मुख्य होने से यह संहिता हठयोग के अन्तर्गत आती है। अन्त में हठयोग भी राजयोग में ही पर्यवसन्न है तथापि 'पातञ्जलि-योग-दर्शन' से इस संहिता का राजयोग भिन्न है। पातञ्जलि मत द्वैतवादी है एवं यह अद्वैतवादी है। जीव की सत्ता ब्रह्म सत्ता से सर्वथा भिन्न नहीं है। 'सोऽहम्' मंत्र के अनुसंधान से जीवब्रह्मभाव को प्राप्त होता है। यह भी सिद्धान्त तान्त्रिकों का ही है। इसे ही श्री गोरक्षनाथ ने 'योगबीज' एवं 'महार्थमञ्जरी' ग्रन्थों में स्वीकार किया है। कश्मीर के 'शैव-दर्शन' में भी यह सिद्धान्त (अद्वैत) माना गया है। इस ग्रन्थ में सात उपदेशों द्वारा सभी बातें कह दी गयी हैं। पहले उपदेश में महर्षि घेरण्ड ने 'चण्डकापालि' को षट्कर्म का उपदेश दिया है। दूसरे में आसन और उसके भिन्न-भिन्न प्रकार का विशद निरूपण किया है। तीसरे में मुद्रा का स्वरूप, लक्षण एवं उपयोग बताया गया है। चौथे में प्रत्याहार का विषय है। पाँचवे में स्थान, काल, मिताहार और नाड़ी -शुद्धि के पश्चात् प्राणायाम की विधि बताइ गयी है। छठे में ध्यान करने की रीति एवं प्रकार बताये गये हैं। सातवें में समाधि -योग तथा उसके भेद, ध्यान, नाद, रसानन्द, लय-सिद्धियोग एवं राजयोग के भेद द्वारा बताये गये हैं।

इस प्रकार 350 श्लोकों वाले इस छोटे से ग्रन्थ में सभी योगों का स्वरूप बता दिया गया है। इस ग्रन्थ की प्रतिपादन-शैली सरल, सुबोध एवं साधक के लिए अत्यन्त उपयोगी है। इस पर अनेक टीकाएं हुई हैं। पण्डित रामस्वरूप जी की हिन्दी टीका सुन्दर एवं प्रामाणिक है। एक इंगलिश टीका 'अडियार थियोसोफिकल

सोसायटी' से निकली है; जो कि अँग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों के लिए उपयोगी है। इन अनेक टीकाओं का विचार करके संक्षेप में यह टीका तान्त्रिक उद्धरणों के साथ लिखी गयी है। उद्धरण प्राय: वही हैं, जिन्हें पं. रामस्वरूप जी ने भी लिया है। केवल अनुपयोगी विस्तार छोड़ दिया गया है।

आशा है, इस टीका द्वारा साधकों को अपनी साधना में सहायता मिलेगी।

जैन-धर्म में भी योगाभ्यास माना जाता है। आचार्य हेमचन्द्र सूरी ने अपने योगशास्त्र नामक ग्रन्थ के पञ्चमप्रकाश में प्राणायामयोग का क्रम दिया है, तथापि घेरण्ड संहिता में बतायी बातों से बहुत ही न्यून हैं। इस योग शास्त्र से यम, नियम, ध्यान, समाधि का ही विशेष विवरण किया गया है। पंचतत्वों की धारणा का निर्देश भी किया गया है। जैन मत में नाभसी धारणा नहीं मानी गयी है। स्वरोदय का विषय भी इस योग में दिया गया है। नाड़ी-शुद्धि, बिन्दु-ज्ञान आदि बताये गये हैं। पीछे से मन्त्र योग पर भी निर्देश किया गया है। महात्मा गौतम बुद्ध ने यद्यपि हठयोग पर अरूचि बतायी है, तथापि प्रसिद्ध बौद्ध के योग ग्रन्थ - 'विसुद्धि मग्ग' आन-पान स्मृति नाम के अभ्यास में हठयोग लिया गया है। जैन बौद्ध -योग का अनेक स्थानों पर साम्य है। आसनों का वर्णन हेमचन्द्र सूरी ने अपने ग्रन्थ के चौथे प्रकाश में दिया है; हठयोग प्रदीपिका में हठयोग की परम्परा में बुद्ध लिए गये हैं।

जैन-बुद्ध योग में मुद्राओं का स्वरूप कहीं भी नहीं बताया है। यद्यपि हठयोग का साधन इस समय लुप्त-प्राय है। क्योंकि इसकी क्रियाएं बहुत कठिन हैं। इनका ठीक-ठीक परिचय न हो तो साधन करने पर हानि की ही सम्भावना है; तथापि योग के सर्वाङ्गी स्वरूप का परिचय इसी से होता है। इसीलिए इस पर यह टीका लिखी गयी है। इसकी शुद्ध कापी करने का श्रम भी जगदीश गुप्त सुहाना एवं पं. श्रीराम तिवारी ने किया है। अत: ये दोनों सज्जन धन्यवाद के पात्र हैं। इति।

दतिया,
चैत्र शुक्ल प्रतिपदा
संवत् 2021

राष्ट्रगुरू
श्री १००८ श्री स्वामीजी महाराज

योग माहात्म्यम्

卐 卐 卐

स धा नो योग आमुवत्
स राये स पुरंध्राम्
गमद् वाजेभिरा स नः।

– ऋग्वेद 1-5-3

卐 卐

तपस्विभ्योऽधिको योगी
ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी
तस्माद्योगी भवार्जुन

– श्रीमद्भगवद्गीता

卐 卐

यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्वं
दीपोपमेनेह युक्त प्रपश्येत्
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः

– श्वेताश्वतर

अनुक्रमणिका

प्रथमोपदेशः

वस्तिप्रकरणम्

द्वितीयोपदेशः

आसनप्रकरणम्

तृतीयोपदेशः

मुद्राकथनम्

चतुर्थोपदेशः

प्रत्याहारः

पञ्चमोपदेशः

प्राणायामः

षष्ठोपदेश:

ध्यानयोग:

सप्तमोपदेश:

समाधियोग:

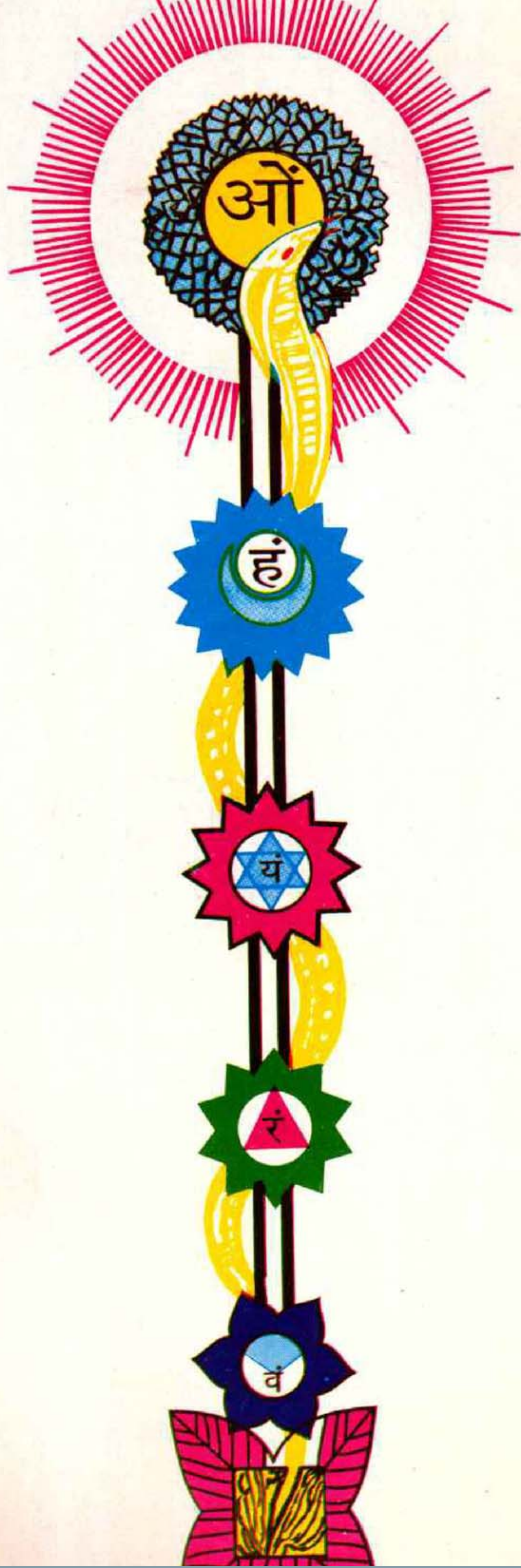
ओं
हं
यं
रं
वं

ॐ तत्सत्

घेरण्ड - संहिता

भाषानुवाद - सहिता

卐 卐

प्रथमोपदेशः

[1]आदीश्वराय प्रणमामि तस्मै, येनोपदिष्टा हठयोगविद्या।
विराजते प्रोन्नतराजयोगमारोढुमिच्छोरधिरोहणीव ।१।

एकदा चण्डकापालिर्गत्वाघेरण्डकुट्टिमम्।
प्रणम्य विनयाद्भक्त्या घेरण्डं परिपृच्छति ॥१॥

भावार्थ - एक समय, योगाभ्यास करने की इच्छा वाले साधक चण्डकापालि नामक अधिकारी शिष्य ने श्रीघेरण्ड मुनि की कुटी पर जाकर नम्रता पूर्वक भक्ति से उन्हें प्रणाम करके योग - विषयों को पूछा ।1।

---

1. यह श्लोक कई पुस्तकों में अधिक है।

चण्डकापालिरूवाच

**घटस्थयोगं योगेश तत्त्वज्ञानस्यकारणम्।
इदानीं श्रोतुमिच्छामि योगेश्वर वद प्रभो॥२॥**

भावार्थ - हे योगेश! तत्वज्ञान का कारण घटस्थयोग है, इस समय उसे ही मैं जानना चाहता हूँ। हे प्रभो, हे योगेश्वर, उसे कृपापूर्वक आप मुझसे कहें ।2।

घेरण्ड उवाच

**साधुसाधुमहाबाहो यस्मात्त्वं परिपृच्छसि।
कथयामि च ते वत्स सावधानोऽवधारय ॥३॥**

भावार्थ - हे महाबाहो चण्ड, मैं तुम्हारे इस प्रश्न के लिए अनेक साधुवाद देता हूँ। हे प्रिय! इस विषय को तुम सुनना चाहते हो, उसे मैं कहता हूँ; सावधानी पूर्वक सुनो ।3।

**नास्तिमायासमं पापं नास्ति योगात्परं बलम्।
नास्तिज्ञानात्परोबन्धुर्नाहङ्कारात्परोरिपुः ॥४॥**

भावार्थ - माया के बराबर कोई पाप नहीं हैं, ज्ञान के समान कोई बन्धु नहीं है। अहंकार के तुल्य कोई बैर नहीं हैं, और योग के समान कोई अन्य बल नहीं है। ।।4।।

1- योगशास्त्र में कहा है 'प्राणापाननादबिन्दु जीवात्मपरमात्मनोः । मिलित्वा घटते यस्मात्तस्माद् वै घट उच्यते'। अर्थात् प्राण, अपान, नाद, बिन्दु जीव और परमात्मा के मिलन से जो घटता (बनता) है, इसलिए इसे घट या शरीर कहते हैं। इन घटस्थ (शरीरस्थ) योगों का वर्णन घटस्थयोग कहलाता है।

अभ्यासात् कादिवर्णानां यथाशास्त्राणि बोधयेत्।
तथायोगंसमासाद्य तत्त्वज्ञानं च लभ्यते ॥५॥

भावार्थ - जैसे ककार आदि वर्णों का क्रम से अभ्यास करने से समस्त शास्त्रों का ज्ञान हो जाता है; उसी प्रकार योगाभ्यास करने से तत्त्वज्ञान हो जाता है। यह योगशास्त्र की महत्वपूर्ण सूचना है। ।।5।।

सुकृतैर्दुष्कृतैः कार्यैर्जायते प्राणिनांघटः।
घटादुत्पद्यतेकर्म घटीयन्त्रं यथाभवेत् ॥६॥
ऊर्ध्वाधोभ्रमतेयद्वत् घटीयन्त्रं गवां वशात्।
तद्वत्कर्मवशाज्जीवो भ्रमतेजन्ममृत्युभिः॥७॥

भावार्थ - पुण्य-पाप के कार्यों से प्राणियों के शरीर उत्पन्न होते हैं, शरीरों से कर्म का आविर्भाव होता है, तदनन्तर कर्म से शरीर उत्पन्न होता है। इस प्रकार जैसे सूर्य की किरणों से घटीयन्त्र की सुइयाँ ऊपर नीचे फिरा करती हैं, उसी प्रकार प्राणी भी इस संसार-चक्र में घूम रहा है; अर्थात् जन्म-मरण का क्रम इसी प्रकार अनन्तकाल तक प्रवृत्त रहता है। अथवा बैलों की गति से रहेंट जैसे ऊपर-नीचे चक्कर लगाया करता है; ऐसे ही जीव घूमा करता है। घड़ी तथा रहेंट - इन दोनों उपमानों से अर्थ संगत होता है। ।।6,7।।

आमकुम्भमिवाम्भस्थो जीर्यमाणः सदाघटः।
योगानलेनसंदह्य घटशुद्धिं समाचरेत् ॥८॥

भावार्थ - जैसे मिट्टी के कच्चे घड़े में जल भरने से घड़ा गल कर नष्ट हो जाता है। उसी को पका कर जल भरने से फिर नहीं गलता तथा जल भी नहीं निकलता; इसी तरह जीव का शरीर प्रतिदिन क्षीण हो रहा है। कच्चे घड़े की तथा शरीर की समानता है। शरीर का पक्कापन योगाग्नि द्वारा ही होता है। इसीलिए शरीर को दृढ़ करने के निमित्त योगाभ्यास करना चाहिए। ।।8।।

सप्तसाधनम्

शोधनं दृढ़ता चैव स्थैर्य धैर्य च लाघवम्।
प्रत्यक्षंच विनिर्लिप्तं घटस्थंसप्तसाधनम् ॥९॥

भावार्थ - शरीर की शुद्धि के लिए सर्वप्रथम इन सात साधनों को करना चाहिए - शोधन, दृढ़ता, स्थैर्य, धैर्य, लाघव, प्रत्यक्ष और निर्लिप्ति। यही सात साधन कहे गये हैं ।9।

सप्तसाधन लक्षणम्

षट्कर्मणा शोधनं च आसनेनभवेद् दृढ़म्।
मुद्रया स्थिरता चैव प्रत्याहारेण धीरता ।१०।
प्राणायामाल्लाघवं च ध्यानात्प्रत्यक्षमात्मनि।
समाधिना च निर्लिप्तं मुक्तिरेव न संशयः।११।

भावार्थ- षटकर्म द्वारा शोधन, आसनों से दृढ़ता, मुद्राओं से स्थिरता, प्रत्याहार से धैर्य, प्राणायाम से लाघव, ध्यान से ध्येय पदार्थ का प्रत्यक्ष दर्शन, तथा समाधि द्वारा निर्लिप्त-आसक्तिराहित्य होता है। इस क्रम से अभ्यास करने से अन्त में निश्चित रूप से मोक्ष-प्राप्ति होती है ।10,11।

दत्तात्रेय - संहिता में कहा गया है-

'यमश्चनियमश्चैव आसनं च ततः परम्।
प्राणायामश्चतुर्थः स्यात् प्रत्याहारश्चपञ्चमः॥
षष्ठीतु धारणाप्रोक्ताध्यानं सप्तममुच्यते।
समाधिरष्टमः प्रोक्तः सर्वपुण्यफलप्रदः॥
एवमष्टाङ्ग योगं च याज्ञवल्क्यादयोविदुः।'

अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि - ये आठों योगाङ्ग सभी पुण्यफलों को देने वाले हैं। इनके ज्ञाता याज्ञवल्क्यादि महर्षि

ऐसा ही कहते हैं। महर्षि पतञ्जलि का भी कथन है-

'यमनियमआसनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोष्टावाङ्गानि'

निरुत्तरतन्त्र में भी कहा है-

'आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि वदन्ति षट्॥'

इस मत में यम-नियम को योगाङ्ग में नहीं माना है। आदियामल में ध्यान दो प्रकार का है-

'ध्यानं तु द्विविधं प्रोक्तं स्थूलसूक्ष्मविवेकतः।
स्थूलं मन्त्रमयंविद्धि सूक्ष्मं तु मन्त्रवर्जितम्॥'

अर्थात् स्थूल-सूक्ष्म भेद से ध्यान दो प्रकार का है। मंत्रजप के साथ स्थूल तथा जप-रहित को सूक्ष्म कहते है। निरूत्तरतन्त्र में प्राणायाम से लेकर समाधि-पर्यन्त योगाङ्गों का अनुष्ठान इस प्रकार बताया गया हैं-

'प्राणायामो द्विषट्केन प्रत्याहारः प्रकीर्तितः।
प्रत्याहारोद्विषट्केन जायते धारणा शुभा॥
धारणाद्वादशप्रोक्तं ध्यानं ध्यानविशारदैः।
ध्यानं द्वादशकैरेवसमाधिरभिधीयते॥
यत्समाधौपरंज्योतिरन्तरं विश्वतोमुखम्।'

अर्थात् बारह प्राणायाम से प्रत्याहार की सिद्धि होती है, बारह प्रत्याहार से धारणा होती है, बारह धारणा से ध्यान और बारह ध्यान से समाधि पूर्ण होती है। समाधि-साधना होने पर हृदय के अन्दर परम ज्योति प्रकट होती है। आदियामल में कहा है-

'प्राणायामस्त्रिधा चेति बहुधा प्रथमं श्रृणु।
आसने प्राणसंयामे न शक्ताः सुकुमारकाः॥
महापुण्य प्रभावेण शक्यते तु महात्मनाम्।
ईडांशशि प्रभां ध्यात्वामन्देन्दुना तु पूरयेत्॥'

ममाज्योतिर्मयोभूत्वा वायुपूर्णकलेवरः।
शक्ति भासं तु संत्रास्य, रेचयेद् वायुमार्हितः॥
पिङ्गलामर्कवर्णतु त्यजेद् बुद्ध्वा शनैः शनैः।
अयं पतङ्गकाष्ठाग्निप्रत्याशेन पुनः पुनः॥

अर्थात् प्राणायाम के तीन भेद है। आसन अनेक हैं, इनका साधन दुर्बलों से नहीं हो सकता, महात्मा-पुण्यात्मा ही इसे कर सकते हैं। बायें नथुने से धीरे-धीरे वायु पूर्ण रुप से भरने पर यथा शक्ति कुम्भक करे तदनन्तर दाहिने नथुने से वायु का रेचन करें; इस प्रकार करने से देह-ज्योति विशिष्ट और वायु द्वारा परिपूर्ण रहता है। पुराणों में भी कहा है-

'शान्तिः सन्तोष आहारनिद्राल्पं मनसोदमः।
शून्यान्तःकरणं चेति यमा इति प्रकीर्तिताः॥
दूरं त्यत्त्वा तु चापल्यं मनःस्थैर्यं विधाय च।
एकत्र मेलनं नित्यं प्राणमात्रेण सामतिः॥
सदोदासीनभावस्तु सर्वत्रेच्छाविवर्जनम्।
यथालाभेन सन्तुष्टः परमेश्वरमानसः॥
मानदान परित्याग एतत्तु नियमाइति।
आसनानि च तावन्ति यावन्तो जीवजन्तवः॥
कृत्वाकलेवरं शुद्धं कुर्यांद्यत्नैर्महात्मना।
मनोनिवार्य संसारविषये च तथैव हि॥
मनोविकार भावं च त्यक्त्वा शून्यमयोभवेत्।
प्रत्याहारोभवत्येष सर्वांनन्दचमत्कृतः॥
समाधिर्निश्चला बुद्धिः श्वासोच्छ्वासादि वर्जिता।'

अर्थात् शान्ति, संतोष, भोजन, निद्रा का कम होना, चित्त का दमन और अन्तःकरण की शून्यता - इन सबको ही यम बहते हैं। चंचलता का त्याग, मनःस्थैर्य निरन्तर उदासीनता, सकल विषयों में अनिच्छा, यथालाभ में सन्तोष, परमेश्वर में एकाग्रता और मान-दान आदि का त्याग - ये सब नियम हैं। जिस प्रकार जीव अनन्त हैं; ऐसे ही आसन भी अनेक है। प्रयत्न पूर्वक शरीर को विशुद्ध करना, चित्त के विकारों का त्याग, विषयों से चित्त को हटाना, माया-वासना शून्य

होना-प्रत्याहार है। योग के बल से श्वासोच्छ्वास-रहित निश्चल -बुद्धि होना समाधि कहलाती है। ब्रह्मयामल में कहा है-

'इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो यत्प्रत्याहरतेस्फुटम्।
योगीकुम्भकमास्थाय प्रत्याहारः स उच्यते॥'

अर्थात् कुम्भक द्वारा इन्द्रियों को स्व स्व विषयों से हटाना प्रत्याहार कहलाता है। और भी कहा है-

'अहिंसासत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं क्षमाधृतिः।
दयार्जवं मिताहारः शौचं चैव यमा दश॥
तपः सन्तोष आस्तिक्यं दानमीश्वर पूजनम्।
सिद्धान्तवाक्यश्रवणं ह्रीमती च तपोहुतम्।
नियमा दश संप्रोक्ता योगशास्त्र विशारदैः॥

इत्यादि प्रमाण योगशास्त्र के महत्व में, विभिन्न शास्त्रों के बताये गये। अब प्रवृत्त विषय को कहते हैं।

षट्कर्म

धौतिर्वस्तिस्तथानेति लौलिकी त्राटकं तथा।
कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि समाचरेत्॥१२॥

भावार्थ - धौति, वस्ति, नेति, लौलिकी, त्राटक और कपालभाति इन छः कर्मो का आचरण योगी को करना चाहिए ॥12॥

योग के अन्य ग्रन्थों में कहा है-

'धौतिश्चगजकरणी च वस्ती लौलितिस्तथा।
कपालभातिर्नेतिश्च षट्कर्माणि महेश्वरि।
मेदश्लेष्माधिकः पूर्वषट्कर्माणि समाचरेत्।
अन्यथानाचरेस्तानि दोषाणां समभावतः॥'

अर्थात् धौति, गजकरणी, वस्ति, नौली, कपालभाति और नेति हे महेश्वरी! ये षट्कर्म कहे जाते हैं। इन्हें गोपनीय रूप में ही करना चाहिए। यदि शरीर में कफ-पित्त आदि दोष न हों तो इन्हें करे।

पंचामरा योगः

'नेतियोगं हि सिद्धानां महाकफविनाशनम्।
दण्डियोगं प्रवक्ष्यामि हृदयग्रन्थिभेदनम्।।
धौतियोगं ततः पश्चात् सर्वमलविनाशनम्।
वस्तियोगं हि परमं सर्वाङ्गोदर चालनम्।।
क्षालनं परमं योगं नाड़ीनांक्षालनंस्मृतम्।
एवं पञ्चामरायोगं योगिनामिति गोचरम्।।'

अर्थात् नेतियोग से श्लेष्म दूर होता है। दण्डियोग से हृदय की गाँठ खुल जाती है, धौतियोग से मलसमूह नष्ट होता है। वस्ति से सब अंग परिचालित होते हैं और क्षालनयोग से नाड़ियों का क्षालन होता है। इसे पंचामरायोग कहते हैं। इस योग का साधन योगी को अवश्य करना चाहिए।

धौतिः

अन्तर्धौतिर्दन्तधौतिर्हृद्धौतिर्मूलशोधनम्।
धौतिं चतुर्विधां कृत्वा घटं कुर्वन्ति निर्मलम् ।१३।

भावार्थ - धौतिकर्म चार प्रकार का है, अन्तधौर्ति, दन्तधौति, हृद्धौति और मूलशोधन-इन्हें करके योगी शरीर को निर्मल करते है। ।13।

अन्तर्धौतिः

वातसारं वारिसारं वह्निसारं वहिष्कृतम्।
घटस्थनिर्मलार्थाय अन्तर्धौतिश्चतुर्विधा। ।१४।

भावार्थ - वातसार, वारिसार, वह्निसार और वहिष्कृति- ये चार प्रकार की अन्तर्धौति हैं। शरीर को निर्मल करने के लिए इन्हें करना चाहिए ।।4।

वातसारः

काकचन्चुवदास्येन पिबेद्वायुं शनैः शनैः।
चालयेदुदरं पश्चाद् वर्त्मना रेचयेच्छनैः १५।
वातसारं परं गोप्यं देहनिर्मल कारणम्।
सर्वरोगक्षयकरं देहानलविदर्धकम् ।१६।

भावार्थ - कौवे की चोंच की तरह दोनों ओठों को बनाकर धीरे-धीरे वायु का पान करे। पूरी तरह पान करने पर उदर में परिचालित कर-कर पश्चात् रेचन करे, इसे वातसार कहते हैं। यह वातसार गोपनीय क्रिया है। इसके द्वारा देह निर्मल होती है और समस्त रोग नष्ट होकर जठराग्नि तीव्र होती है ।।15,16।

इसे ही तन्त्र-ग्रन्थों में इस प्रकार कहा है-

'काकचंच्वा पिवेद् वायुं शीतलं वा विचक्षणः।
प्राणायाम विधानज्ञः स भवेद्मुक्तिभाजनः।
सरसं यः पिवेद् वायुं प्रत्यहं विधिना सुधीः।।
नश्यन्ति योगिनस्तस्य श्रमदाहजरामयः।
काकचंच्वा पिवेद् वायुं सन्ध्ययोरुभयोरपि।।
कुण्डलिन्या मुखेध्यात्वा क्षयरोगस्यशान्तये।
अहर्निशं पिबेद् योगी काकचन्च्वा विचक्षणः।।
दूरश्रुतिर्दूरदृष्टिस्तथास्याद्दर्शनं खलु।'

अर्थात् जो योगी काकचंचु के समान मुख करके, वायु का दोनों सन्ध्याओं में पान करता है; उसे श्रम, दाह, जरा रोग आदि नहीं सताते। दूरदृष्टि, दूर का श्रवण आदि सिद्धियाँ भी उसे मिल जाती हैं। वायु-पान कर, कुण्डलिनी शक्ति में भर गयी है; ऐसा ध्यान करने से क्षय रोग भी निवृत्त हो जाता है, इत्यादि।

वारिसार

आकण्ठं पूरयेद्वारि वक्त्रेणचपिबेच्छनैः।
चालयेदुदरेणैव चोदराद्रेचयेदधः ।१७।
वारिसारं परं गोप्यं देहनिर्मलकारणम्।
साधयेत्तत्प्रयत्नेन देवदेहं प्रपद्यते ।१८।
बारिसारं परां धौतिं साधयेद् यः प्रयत्नतः।
मलदेहं शोधयित्वा देवदेहं प्रपद्यते ।१९।

भावार्थ - शनैः शनैः मुख से जल पीकर कण्ठपर्यन्त् पेट भरे, फिर उसे चला कर अधोमार्ग से निकाल देना चाहिये। यह वारिसार शरीर को निर्मल करने वाली परम गोपनीय क्रिया है। जो इसे प्रयत्न विशेष से करते हैं वे देवताओं की सी देह प्राप्त करते हैं। जो प्रयत्न से इस वारिसार धौति को विधिवत् करते हैं: वे मलिन शरीर को शुद्ध करके देव-शरीर को प्राप्त करते हैं ।17,18,19।

अग्निसार

नाभिग्रन्थिं मेरूपृष्ठे शतवारं च कारयेत्।
अग्निसारमयो धौतिर्योगिनांयोगसिद्धिदा।
उदरामयजं त्यक्त्वा जठराग्नि विवर्धयेत् ।२०।

भावार्थ - निश्वास बन्द करके मेरूपृष्ठ में नाभि को सौ बार लगाने से अग्निसार धौति होती है, इसके करने से पेट के रोग नष्ट होते हैं और जठराग्नि तीव्र होती है ।20।

एषाधौतिः परा गोप्या देवानामपि दुर्लभा।
केवलं धौतिमात्रेण देवदेहं भवेद् ध्रुवम् ।२१।

भावार्थ- यह धौति देवताओं को भी दुर्लभ और परम गोपनीय है। केवल इसी के करने से देवताओं का सा शरीर हो जाता है; यह निश्चय तथ्य है ।21।

बहिष्कृतधौतिः

काकीमुद्रां शोधयित्वा पूरयेदुदरं महत्।
धारयेदर्धयामं तु चालयेदधोवर्त्मना।
एषाधौतिः परा गोप्या न प्रकाश्या कदाचन ।२२।

भावार्थ - काकचंचु मुद्रा बना कर, वायु को पीकर पेट में भरना चाहिए। उस भरे हुए वायु को डेढ़ घंटे रोक कर अधोमार्ग से चला कर निकाल देने को बहिष्कृत धौति कहते हैं। यह धौति परम गोपनीय है ।22।

प्रक्षालनम्

नाभिमग्नो जले स्थित्वा शक्तिनाडीं विसर्जयेत्।
कराभ्यां क्षालयेन्नाडी यावन्मलविसर्जनम्।
तावत् प्रक्षाल्य नाड़ीं च उदरे वेशयेत पुनः ।२३।
इदं प्रक्षालनं गोप्यं देवानामपि दुर्लभम्।
केवलं धौतिमात्रेण देवदेहो भवेद् ध्रुवम् ।२४।

भावार्थ - नाभिपर्यन्त जल में खड़े होकर शक्ति-नाड़ी (त्रिवली) को बाहर करके, उसे धोकर पूर्णरीति से साफ कर, फिर हाथों से घी लगाकर उन नाड़ियों को पुनः उदर में रख ले। यह प्रक्षालन देवताओं को भी दुर्लभ है। इस धौति के द्वारा सर्वथा देवतुल्य शरीर हो जाता है यह निश्चय है ।23,24।

तन्त्रों में इस विषय पर कहा गया है-

'स चावश्यं क्षालनं च कुर्यान्नाड्यादिशोधने।
नेग्नीयोगमार्गेण नाडीक्षालन तत्परः॥
भवत्येव महाकालो राजराजेश्वरो यथा।
केवलं प्राणवायोश्च धारणात्क्षालनं भवेत्॥
विनाक्षालनयोगेन देह शुद्धिर्नजायते।
क्षालनं नाडिकादीनां श्लेष्मपित्त निवारणम्॥

अर्थात्- योगी को नाड़ी का शोधन और क्षालन करना चाहिए। जो नेग्नीयोग से नाड़ियों का क्षालन करते है; वे महाकाल और राजराजेश्वर के तुल्य हो जाते हैं। केवल प्राण के धारण से क्षालन योग होता है। क्षालन के बिना देहशुद्धि नहीं होती। कफ-पित्तादि दोष भी इससे नष्ट हो जाते हैं।

यामार्ध धारणाशक्तिं यावन्नसाधयेन्नरः।
बहिष्कृतमहद्धौतिस्तावच्चैव न जायते ।२५।

भावार्थ - साधक जब तक डेढ़ घंटे तक पेट में वायु रोकने की सामर्थ्य न प्राप्त कर ले तब तक इस बहिष्कृत धौति को न करे ।25।

दन्तधौतिः

दन्तमूलं जिह्वामूलं रन्ध्रं च कर्णयुग्मयोः।
कपालरन्ध्रं पञ्चैते दन्तधौति विधीयते ।२६।

भावार्थ - दन्तमूलधौति, जिह्वामूलधौति, कर्णरन्ध्रधौति, और कपालरन्ध्रधौति, ये पाँच प्रकार की दन्तधौति हैं ।26।

दन्तमूलधौतिः

खादिरेण रसेनाथ मृदाचैव विशुद्धया।
मार्जयेद्दन्तमूलं च यावत् किल्विषमाहरेत् ।२७।
दन्तमूलं पराधौतिर्यौगिनां योगसाधने।
नित्यं कुर्यात् प्रभाते च दन्तरक्षाययोगवित् ।२८।

भावार्थ - खैर के रस अथवा शुद्ध मिट्टी से जब तक मैल न छूटे तब तक दांतों की जड़ों का मार्जन करें। योगवेंता को अपने दाँतों के रक्षार्थ नित्य प्रति प्रातःकाल इस धौति को करना चाहिए। योग साधन में यह दन्तधौति मुख्य कर्म है ।27,28।

जिह्वाशोधनम्

अथातः संप्रवक्ष्यामि जिह्वाशोधन कारणम्।
जरामरणरोगादीन् नाशयेद् दीर्घलम्बिका ।२९।

भावार्थ - अब जिह्वा-शोधन का कारण कहता हूँ। यह दीर्घ-लम्बिकायोग जरामरण-रोगादि को नष्ट कर देता है ।29।

जिह्वामूलधौति प्रयोगः

तर्जनीमध्यमानामा अंगुलित्रययोगतः।
वेशयेद् गलमध्ये तु मार्जयेल्लाम्बिकाजड़म्।
शनैः शनैः मार्जयित्वा कफदोषं निवारयेत् ।३०।

भावार्थ- तर्जनी, मध्यमा, अनामिका इन तीनों अंगुलियों को गले के बीच में डाल कर जिह्वामूल को साफ करे। बार-बार ऐसा करने से श्लेष्म -दोष नष्ट होता है ।30।

मार्जयेन्नवनीतेनदोहयेच्च पुनः पुनः।
तदग्रं लोहयन्त्रेण कर्षयित्वा शनैः शनैः ।३१।
नित्यं कुर्यात्प्रयत्नेन रवेरूदयकेऽस्तके।
एवं कृते च नित्येलम्बिका दीर्घतां ब्रजेत् ।३२।

भावार्थ - बार-बार मक्खन से जीभ को मार्जन कर, दुहकर, चिमटी से बार-बार बाहर खींचे। नित्य प्रातः समय और सायंकाल इस धौति का अभ्यास करे; ऐसा करने से जिह्वा लम्बी होती है ।31,32।

कर्णधौतिः

तर्जन्यनामिकायोगान् मार्जयेत्कर्णरन्ध्रयोः।
नित्यमभ्यासयोगेन नादान्तरं प्रकाशयेत् ।३३।

भावार्थ - तर्जनी, अनामिका के योग से दोनों कानों के रन्ध्र को नित्य शुद्ध करे। प्रतिदिन ऐसा अभ्यास करने से एक प्रकार का नाद व्यक्त होता है ।33।

कपालरन्ध्र प्रयोगः

वृद्धांगुष्ठेन दक्षेणमार्जयेद् भालरन्ध्रकम्।
एवमभ्यासयोगेन कफदोषं निवारयेत् ।३४।
नाड़ीनिर्मलतां याति दिव्यदृष्टिः प्रजायते।
निद्रान्ते भोजनान्ते च दिवान्ते च दिने दिने ।३५।

भावार्थ - दाहिने हाथ के अँगूठे से कपालरन्ध्र का मार्जन करे। इस धौति के अभ्यास से कफ-दोष नष्ट होता है; नाड़ी निर्मल होती है। प्रातः, भोजनोपरान्त मध्यान्ह में तथा सायंकाल में - त्रिकाल इसका अभ्यास करना चाहिए ।34,35

हृद्धौति

हृद्धौतिं त्रिविधां कुर्याद् दण्डवमनवाससा ।३६।

भावार्थ - दण्डधौति, वमनधौति और वासधौति - इस प्रकार इसके तीन भेद हैं ।36।

दण्डधौतिः

रम्भादण्डं हरिद्रादण्डं वेत्रदण्डं तथैव च।
हृन्मध्ये चालयित्वा तु पुनः प्रत्याहरेच्छनैः ।३७।
कफपित्तं तथा क्लेदं रेचयेदूर्ध्ववर्त्मना।
दण्डधौतिविधानेन हृद्रोगं नाशयेद् ध्रुवम् ।३८।

भावार्थ - केले के सारभाग का दण्ड, हरिद्रा का दण्ड और वेत का दण्ड हृदय के मध्य में बार-बार प्रवेश करके, शनैः शनैः निकाले; इसे दण्डधौति कह

हैं। इसके अभ्यास से कफ-पित्त और क्लेद मुख द्वार से बाहर निकल जाता है तथा हृद्रोग नष्ट हो जाते हैं; यह निश्चित है ।37, 38।

वमनधौतिः

भोजनान्ते पिवेद्वरि चाकण्ठं पूरितंसुधीः।
ऊर्ध्वदृष्टिक्षणंकृत्वा तज्जलंवमयेत्पुनः।
नित्यमभ्यास योगेनकफपित्तं निवारयेत् ।३९।

भावार्थ - बुद्धिमान साधक आहार के अन्त में कण्ठ तक जल पीवे और क्षण भर बाद ऊपर को दृष्टि कर, उसे वमन करना चाहिए। ऐसा करने से कफ-पित्त निवृत्त होते हैं ।39।

वासोधौति

चतुरंगुलविस्तारं सूक्ष्मवस्त्रं शनैर्ग्रसेत्।
पुनः प्रत्याहरेदेतत् प्रोच्यते धौतिकर्मतत् ।४०।
गुल्म ज्वरप्लीहा कुष्ठं कफपित्तं विनश्यति।
आरोग्यं वलपुष्टिश्च भवेत्तस्य दिने दिने ।४१।

भावार्थ - चार अंगुल चौड़ी कपड़े की पट्टी को धीरे-धीरे निगले। लम्बाई एक-एक हाथ से आरम्भ करे, पन्द्रह हाथ होना चाहिए। पुनः इसे निकालना चाहिए। उष्ण जल से यह कार्य करना हितकर है; इसे वस्त्रधौति कहते हैं। इसके अभ्यास से गुल्म, ज्वर, प्लीहा, कुष्ठ, कफ, पित्त दोष आदि का ध्वंस होता है। आरोग्य, बल और पुष्टि की प्रतिदिन वृद्धि होती है ।40,41।

इस विषय में गृहयामल में कहा है-

'चतुरंगुल विस्तारं हस्त पंच दशेनतु।
गुरूपदिष्टमार्गेण सिक्ते वस्त्रे शनैर्ग्रसेत्॥'

ततः प्रत्याहरेच्चैतत् क्षालनं धौतिकर्म तत्।
श्वासः कासः प्लीहा कुष्ठं कफरोगश्चविंशतिः।
धौतिकर्मप्रसादेन शुध्यन्ते च न संशयः।

इसका अर्थ उपरोक्त श्लोकार्थ से अभिन्न ही है। रूद्रयामल में भी इसी प्रक कहा है-

'सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं वस्त्रं द्वात्रिंशद् हस्तमानतः।
एक हस्तक्रमेणैव यः करोति शनैः शनैः॥
यावत्द्वात्रिंशदहस्तं च तावत्कालं क्रियांचरेत्।
एतत्क्रिया प्रयोगेन योगीभवति तत्क्षणात्॥
क्रमेणमन्त्रसिद्धिः स्यात् कालजालवशंनयेत्।

वत्तीस हाथ लम्बा, चार अंगुल चौड़ा बारीक कपड़ा, एक-एक हाथ करके पू निगल जाय; उसे फिर क्रम से धीरे-धीरे निकाले। ऐसा करने से कफादि दोष न होते हैं और मन्त्रसिद्धि होती है तथा मृत्यु के भय से रोगी मुक्त हो जाता है। उ धौति कर्मो में यही प्रधान है; इसलिए हठयोग-प्रदीपिका में इसे ही केवल मा है ।41।

मूलशोधनम्

अपानक्रूरतातावद्यावन्मूलं न शोधयेत्।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन मूलशोधनमाचरेत् ।४२।
पीतमूलस्थदण्डेनमध्यमांगुलिनापि वा।
यत्नेनक्षालयेद्गुह्यं वारिणा च पुनः पुनः ।४३।
वारयेत् कोष्ठकाठिन्यमामाजीर्णं निवारयेत्।
कारणं कान्तिपुष्ट्यौश्च दीपनं वह्निमण्डलम् ।४४।

भावार्थ - **जब तक** मूलशोधन न हो, तब तक अपान की क्रूरता रहती है; इसलिए प्रयत्नपूर्वक **गुह्यक्षालन** करना चाहिए। हरिद्रा की जड़ या बीच अंगुली द्वारा जल के साथ यत्नपूर्वक गुह्यप्रक्षालन करना चाहिये। मूलशोधन कोष्ठ की कठिनता आँव-अजीर्णता दूर होती है, जठरानल बढ़ता है ।42,43,4

वस्तिप्रकरणम्

जलवस्तिः शुष्कवस्तिर्वस्तिः स्याद् द्विविधा स्मृता।
जलवस्ति जले कुर्यात् शुष्कवस्ति सदा क्षितौ ।४५।

भावार्थ - जलवस्ति और शुष्कवस्ति के नाम से वस्ति दो प्रकार की हैं। जलवस्ति जल में तथा शुष्कवस्ति स्थल में करना चाहिए ।45।

जलवस्तिः

नाभिमग्नजले पायुं न्यस्तवानुत्कटासनम्।
आकुंचनं प्रसारं च जलवस्ति समाचरेत् ।४६।

भावार्थ - नाभिपर्यन्त जल में उत्कटासन से बैठकर गुह्यप्रदेश का आकुञ्चन एवं प्रसारण करने को जलवस्ति कहते हैं ।46।

अन्यत्र कहा है-

'नाभिनिम्न जले वायुं न्यस्तनालोत्कटासनः।
आधारात् मज्जनं कुर्यात् क्षालनं वस्तिकर्म तत्।।
गुल्मप्लीहोदरीरोग वातपित्तकफोद्भवाः।
वस्तिकर्म प्रभावेण सर्वरोगक्षयो भवेत्।।

अर्थात्- नाभिपर्यन्त जल में द्वादशांगुल नल गुह्य प्रदेश में रखे जिससे जल खींचकर जल को बाहर निकालने से मल की शुद्धि होती है। इसके करने से गुल्म, प्लीहा, उदरी, वात, पित्त, श्लेष्म से होने वाले रोग नष्ट होते हैं।

प्रमेहंच उदावर्त क्रूरवायुं निवारयेत्।
भवेत् स्वच्छन्ददेहश्च कामदेव समो भवेत् ।४७।

भावार्थ - जल वस्ति करने से प्रमेह उदावर्त और क्रूर वायु नष्ट हो जाता है और कामदेव के समान सुन्दर शरीर हो जाता है। ।47।

स्थलवस्तिः

वस्ति पश्चिमोत्तानेन चालयित्वा शनैरधः।
अश्विनीमुद्रया पायुमाकुञ्चयेत् प्रसारयेत् ।४८।

भावार्थ - अश्विनीमुद्रा द्वारा गुदेन्द्रिय का आकुञ्चन-प्रसारणं करे। पश्चिमोत्तान आसन से बैठकर अधोभाग की वस्ति को चलावे, इस प्रकार स्थलवस्ति कहते है। इसी को जलवस्ति भी कहते हैं ।48।

एवमभ्यासयोगेन कोष्ठदोषो न विद्यते।
विवर्धयेज्जठराग्नि आमवातं विनाशयेत् ।४९।

भावार्थ - जलवस्ति का साधन करने से कोष्ठदोष और आमवात नष्ट हो जाते हैं तथा जठराग्नि दीप्त होती है ।49।

नेतियोग:

वितस्तिमात्रं सूक्ष्मसूत्रं नासानाले प्रवेशयेत्।
मुखान्निर्गमयेत्पश्चात् प्रोच्यते नेतिकर्मतत् ।५०।
साधनान्नेतियोगस्य खेचरीसिद्धमाप्नुयात्।
कफदोषा विनश्यन्ति दिव्यदृष्टिः प्रजायते ।५१।

भावार्थ - आधे हाथ का डोरा नासिका में डालकर मुंह से निकालने से नेतिकर्म होता है। इसके साधन से खेचरी सिद्धि होती है; कफदोष नष्ट होकर दिव्यदृष्टि प्राप्त होती है ।50,51।

योग के अन्य ग्रन्थों में कहा है-

'सूत्रं वितस्तिमात्रं तु नासानाले प्रवेशयेत्।
मुखेन गमयेच्चैषा नेतिः स्यात् परमेश्वरि।।
कपालवेधिनीकाष्ठा दिव्यदृष्टिप्रदायिनी।
य ऊर्ध्व जायते रोगोनयत्याशु च तंनतिः।।

अर्थात्- एक बिलस्तमात्र डोरा नासिका में डालकर मुख से निकालने पर, हे परमेश्वरि, नेतिकर्म सिद्धि होता है, इससे सिर के समस्त रोग नष्ट होते हैं और दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है।

लौलिकीयोग:

अमन्दवेगंतुं दं च भ्रामयेदुभपार्श्वयोः।
सर्वरोगान्निहन्तीह देहानलविवर्धनम् ।५२।

भावार्थ - प्रबल वेग से पेट को दोनों पाश्वों में घुमावे, इस को लौलिकी य नौलि कहते है। इससे सभी रोग नष्ट होते हैं और जठराग्नि बढ़ जाती है ।52।

त्राटकम्

निमेषोन्मेषकं त्यक्त्वा सूक्ष्मलक्ष्यं निरीक्षयेत्।
पतन्ति यवदश्रूणि त्राटकं प्रोच्यते बुधैः ।५३।

भावार्थ - जब तक आँसुओं का पतन न हो तब तक बिना पलक बन्द किये किसी लक्ष्य को देखते रहने का नाम त्राटक है ।53।

एवमभ्यासयोगेन शाम्भवी जायतेध्रुवम्।
नेत्रदोषा विनश्यन्ति दिव्यदृष्टिः प्रजायते ।५४।

भावार्थ - त्राटक का अभ्यास करने से शाम्भवी सिद्ध होती है नेत्र रोग नष्ट होते हैं और दिव्यदृष्टि प्राप्त हो जाती है। ।54।

कपालभातिः

वातक्रमेण व्युत्क्रमेण, शीतक्रमेण विशेषतः।
भालभाति त्रिधाकुर्यात् कफदोषं निवारयेत् ।५५।

भावार्थ - कपालभाति तीन प्रकार की है- वातक्रम कपालभाति, व्युत्क्रम कपालभाति और शीतक्रम कपालभाति। कपालभाति के साधन से कफ-दोष नष्ट हो जाता है ।55।

वातक्रम कपालभातिः

इडयापूरयेद् वायुं रेचयेत् पिगलां पुनः।
पिंगलयापूरयित्वा पुनश्चन्द्रेण रेचयेत् ।५६।
पूरकं रेचकं कृत्वा वेगेन न तु चालयेत्।
एवमभ्यासयोगेन कफदोषं निवारयेत् ।५७।

भावार्थ - इडा से वायु भर कर पिगला से रेचन करे और दाहिने स्वर से पूर्ण करके वाम स्वर (इडा) से रेचन करे। इन दोनों क्रियाओं के करने में शीघ्रता न करे। इसका साधन करने से कफ नष्ट होता है। इसे वातक्रम कपालभाति कहते हैं ।56,57।

व्युत्क्रम कपालभातिः

नासाभ्यां जलमाकृष्य पुनर्वक्त्रेण रेचयेत्।
पायंपायं व्युत्क्रमेण श्लेष्मदोषं निवारयेत् ।५८।

भावार्थ - नाक के दोनों नथुनों से जल खींचे और उसे मुख से निकाल दे तथा मुख से जल खींचकर नाक से निकाले, इसको व्युत्क्रम कपालभाति कहते हैं। इससे कफ-दोष नष्ट होता है ।58।

शीत्क्रम कपालभातिः

शीत्कृत्यपीत्वा वक्त्रेण नासानालैविवर्जयेत्।
एवमभ्यास योगेन कामदेवसमोभवेत ।५९।
न जायते च वार्धक्यं जरा नैव प्रजायते।
भवेत् स्वच्छन्द देहश्च कफदोषं निवारयेत् ।६०।

भावार्थ - मुख द्वारा शीत्कार करके जल ले और नथुनों से निकाल दे, इसे शीत्क्रम कपालभाति कहते हैं। इसका अभ्यास करने से काम के समान सुन्दर होकर वार्धक्य जीर्णता से योगी बच जाता है। शरीर स्वस्थ तथा कफ-दोष नष्ट हो जाता है ।59,60।

।।प्रथमोपदेशः समाप्तः।।

द्वितीयोपदेशः

卐 卐

आसन प्रकरणम्

घेरण्ड उवाच

आसनानि समस्तानि यावन्तो जीव जन्तवः।
चतुरशीति लक्षाणि शिवेनाभिहितानि च ।१।
तेषां मध्ये विशिष्टानि षोडशोनं शतं कृतम्।
तेषां मध्ये मर्त्यलोके द्वात्रिंशदासनं शुभम् ।२।

भावार्थ - महर्षि घेरण्ड बोले - संसार में जितने जीवजन्तु हैं, उतने ही आसन भी है, पहले श्री शंकर ने चौरासी लाख आसन कहे हैं, उनमें चौरासी श्रेष्ठ हैं और मनुष्य लोक में उन चौरासी में से बत्तीस ही आसन मंगलप्रद हैं ।1, 2।

आसनभेदाः

सिद्धं पद्मं तथा भद्रं मुक्तं वज्रं च स्वस्तिकम्।
सिंह च गोमुखं वीरं धनुरासनमेव च ।३।
मृतं गुप्तं तथा मत्स्यं मत्स्येन्द्रासनमेव च।
गोरक्षं पश्चिमोत्तानं उत्कटं संकटं तथा ।४।

मयूरं कुक्कुटं कूर्म तथा चोत्तानकूर्मकम्।
उत्तानमण्डुकं वृक्षं मण्डूकं गरूडं वृषम् ।५।
शालभं मकरं उष्ट्रं भुजंगं योगमासनम्।
द्वात्रिंशदासनानि तु मर्त्ये सिद्धिप्रदानि च ।६।

भावार्थ - सिद्धासन, पद्मासन, भद्रासन, मुक्तासन, स्वस्तिक, सिंहासन, सिंह, गोमुख, वीर, धनुरासन, मृतासन, गुप्त, मत्स्य, मत्स्येन्द्रासन, गोरक्षासन, पश्चिमोत्तान, उत्कट, संकट, मयूर, कुक्कुट, कूर्म, उत्तानकूर्म, उत्तान मंडूक, वृक्षासन, मंडूकासन, वृषभ, शलभ, मकर, उष्ट्र, भुजङ्गासन और योगासन। मनुष्य लोक में उपरोक्त बत्तीस आसन ही सिद्धिप्रद हैं । 3,4,5,6।

अन्यत्र आसनों के विषय में कहा है -

'चतुरशीत्यासनानि सन्ति नानाविधानि च।
तेभ्यश्चतुष्कामादाय मयोक्तानि ब्रबीम्यहम्॥
सिद्धासनं पद्मासनं चोग्रकं चैवस्वस्तिकम्।

अर्थात् आसन चौरासी हैं उनमें सिद्ध, पद्म, उग्र और स्वस्तिक ही सर्वश्रेष्ठ हैं।

सिद्धासनम्

योनिस्थानकमंध्रिमूल घटिकं सम्पीड्यगुल्फेतरम्,
मेढ्रेसंप्रणिधाय तं तु चिबुकं कृत्वाहृदिस्थापिनम्,
स्थाणुः स यमितेन्द्रियोऽचलदृशा पश्यन् भ्रुवोरन्तरम्,
मोक्षं चैव विधीयते फलकरं सिद्धासनं प्रोच्यते ।७।

भावार्थ - जितेन्द्रिय साधक एक पैर की एड़ी को अण्डकोश और गुदा के बीच में लगावे, और दूसरी को लिंगमूल में रक्खे, ठोड़ी को हृदय में लगावे, फिर स्थिर और सीधा रह कर अचल दृष्टि होकर भ्रूमध्य का अवलोकन करे; इसे सिद्धासन कहते हैं। इसके अभ्यास से मोक्षलाभ होता है ।7।

इसकी प्रशंसा में अन्यत्र कहा है –

'येनाभ्यास वशाच्छीध्रं योगनिष्पत्तिमाप्नुयात्।
सिद्धासनं सदासेव्यं पवनाभ्यासिभिः परम्॥
येन संसार मुत्सज्य लभ्यते परमागतिः।
नातः परतरं गुह्यमासनं विद्यतेभुवि॥'

अर्थात् सिद्धासन के अभ्यास से शीघ्र सिद्धि होती है। इसके बराबर कोई दूसरा आसन नहीं है। इससे संसार का त्याग और मोक्ष मिलता है। पवनाभ्यासी को इसका अभ्यास सदा करना चाहिए। इसका अनुष्ठान और प्रकार से भी होता है। यथा –

योनिं संपीड्ययत्नेन पादमूलेन साधकः।
मेढ्रोपरि पादमूलं विन्यसेद्योगवित्सदा॥
ऊर्ध्वं निरीक्ष्य भ्रूमध्यं निश्चलोनियतेन्द्रियः।
विशेदवक्रकायऽश्च रहस्युद्वेगवर्जितः॥
एतत् सिद्धासनं प्रोक्तं सिद्धानांच शुभप्रदम्।'

अर्थात् साधक एक पैर की एड़ी योनि स्थान में लगावे, दूसरी को लिंगमूल में लगाकर भ्रूमध्य में दृष्टि को स्थिर करे, नियतेन्द्रिय, उद्वेगशून्य सरल देह होकर रहे। इसे योगियों के लिए शुभपद सिद्धासन कहते हैं।

पद्मासनम्

वामोरूपरि दक्षिणं हि चरणं संस्थाप्यवामं तथा,
दक्षोरूपरिपश्चिमेन विधिना कृत्वा कराभ्यां दृढ़म्।
अंगुष्ठे हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकयेत्,
एतद्व्याधि विनाश कारणपरं पद्मासनं प्रोच्यते ।८।

भावार्थ – बायाँ चरण दाहिनी जाँघ पर तथा दाहिना पाँव बायीं जाँघ पर रख कर व्युत्क्रम रीति से हाथों को पीठ पर ले जाकर दाहिने हाथ से बायाँ अंगूठा और बायें से दाहिने पाँव का अंगूठा दृढ़ता से पकड़कर ठोड़ी को हृदय पर लगाकर

नासिका का अग्रभाग देखे, इसके अभ्यास से सभी रोग नष्ट होते हैं। इसे पद्मासन कहते हैं ।8।

तन्त्रों में इस विषय पर कहा गया है-

'पद्मासने स्थितो योगी प्राणापानविधानतः।
पूरयेत्सविमुक्तः स्यात् सत्यं सत्यं हि पार्वति।।
दुर्लभं येनकेनापि धीमतालभ्यते परम्।
अनुष्ठाने कृते प्राणः समश्चलति तत्क्षणात्।।
भवेदभ्यासने सम्यक् साधकस्य न संशयः ।८।

अर्थात् पद्मासन में स्थित योगी प्राणापान के विधान द्वारा पूरक रेचक, कुम्भकादि को करे, ऐसा करने से योगी मुक्त हो जाता है। अभ्यास काल में समरूप से प्राण का प्रवाह होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।8।

भद्रासनम्

गुल्फौ च वृषणस्याधो व्युत्क्रमेण समाहितः।
पादांगुष्ठं कराभ्यां च धृत्वा च पृष्ठदेशतः।।
जालंधरं समासाद्य नासाग्रमवलोकयन्।
भद्रासनं भवेदेतत् सर्वव्याधिविनाशकम् ।९।

भावार्थ - दोनों एड़ियों को अण्डकोशों के नीचे उलटकर रखे, पीठ की तरफ से पद्मासन की तरह दोनों अंगूठों को पकड़े। जालंधर-बन्ध की स्थिति में होकर नासाग्र भाग को देखे, इसे भद्रासन कहते हैं, इसका अभ्यास होने से सब रोग नष्ट होते हैं ।9।

मुक्तासनम्

पायु मूले बामगुल्फं दक्षगुल्फं तथोपरि।
शिरोग्रीवासमं कार्य मुक्तासनं तु सिद्धिदम् ।१०।

भावार्थ - बायीं एड़ी गुदा की जड़ में लगाकर उसके ऊपर दाहिनी एड़ी रक्खे और मस्तक -ग्रीवा को समभाव से रख, देह को सीधा करके बैठे; इसका नाम मुक्तासन है, इससे योगी सिद्धि -लाभ करता है ।10।

वज्रासनम्

जंघाभ्यां वज्रवत् कृत्वा गुदपार्श्वे दपावुभौ।
वज्रासनं भवेदेतत् योगिनां सिद्धिदायकम् ।११।

भावार्थ - दोनों जांघों को वज्र के समान कठोर करके दोनों पैरों को गुदा के दोनों ओर लगाने से व्रजासन सिद्ध होता है। इससे योगियों को सिद्धि प्राप्त होती है ।11।

स्वस्तिकासनम्

जानूर्वोन्तरं कृत्वा योगीपादतले उभे।
ऋजुकायः समासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते ।१२।

भावार्थ - दोनों जांघों और घुटनों के मध्य में दोनों पादतलों (तलवों) को रख कर त्रिकोणाकार आसन बाँधना तथा सरल भाव से बैठने को स्वस्तिकासन कहते हैं ।12।

इसका भिन्न प्रकार ऐसा बताया गया है-

'जानूर्वोरन्तरे सभ्यग् धृत्वा पादतले उभे।
ऋजुकायः सुखासीनः स्वस्तिकं तत् प्रचक्षते।।
अनेन विधिना योगी साधयेन मारूतं सुधीः।
देहेन क्रमते व्याधिस्तस्य वायुश्चसिध्यति।।
स्वस्तिकं योगिभिर्गोप्यं सुस्यीकरणमुत्तमम्।'

इसका अर्थ ऊपर के समान ही स्पष्ट है।

सिंहासनम्

गुल्फौ च वृषणस्याधो व्युत्क्रमेणोर्ध्वतांगतौ।
चितिमूलोभूमिसंस्थः कृत्वा च जानुनोपरि।
व्यक्तवक्त्रो जलध्रं च नासाग्रमवलोकयेत्।
सिंहासनं भवेदेतत्सर्व व्याधिविनाशकम् ।१३।

भावार्थ - दोनों एड़ियों को उलट-पुलट कर अंडकोशों के नीचे लगाकर जालन्धर -बन्ध से भ्रूमध्य में दृष्टि करके, अथवा नासाग्र में दृष्टि लगाकर देखे; इसे सिंहासन कहते हैं। इससे सब रोग नष्ट होते हैं ।13।

जालन्धर - बन्ध का लक्षण ऐसा है-

'बध्वागलशिरोजालं हृदये चिवुकं न्यसेत्।
बन्धोजालन्धरः प्रोक्तो देवानामपि दुर्लभः॥'

अर्थात् गले की नसों को संकुचित करके ठोड़ी को हृदय में लगाने को जालन्धर-बन्ध कहते हैं।

गोमुखासनम्

पादौ च भूमौ संस्थाप्य पृष्ठपार्श्वे निवेशयेत्।
थिरकायं समासाद्य गोमुखं गोमुखाकृतिः ।१४।

भावार्थ - भूमि पर दोनों पाँवों को रखकर, पीठ के बगलों में लगाकर शरीर को सीधा करके गोमुख के समान मुख उन्नत करके बैठने का नाम गोमुखासन है ।14।

वीरासनम्

एकपादमथैकस्मिन् विन्यसेदुरूसंस्थितम्।
इतरस्मिन्स्तथापश्चाद् वीरासनमितिस्मृतम् ।१५।

भावार्थ - एक जाँघ पर एक चरण रखकर दूसरे चरण को पीछे की ओर निकाल दे, इसको वीरासन कहते हैं ।15।

धनुरासनम्

प्रसार्य पादौ भुविदण्डरूपौ करौ च पृष्ठे धृतपादयुग्मम्।
कृत्वाधनुस्तुल्यविवर्तितांगं निगद्ययोगी धनुरासनं तत् ।१६।

भावार्थ - दोनों पैरों को पृथ्वी में सीधे फैलाकर, दोनों हाथों को पीठ की तरफ करके दोनों चरणों को पकड़ ले, शरीर को ठीक धनुष की तरह रखे; योगीश्वर इसे धनुरासन कहते हैं ।16।

मृतासनम्

उत्तानशववद्भूमौ शयानं तु शवासनम्।
शवासनं श्रमहरं चित्तविश्रान्तिकारणम् ।१७।

भावार्थ - मुर्दे के समान सर्वांग शिथिल करके भूमि में लेटने का नाम मृतासन है। इसको ही शवासन कहते हैं, इससे श्रम दूर होता है और चित्त प्रसन्न होता है ।17।

गुप्तासनम्

जानुनोरन्तरे पादौ कृत्वा पादौ च गोपयेत्।
पादोपरि च संस्थाप्य गुदंगुप्तासनं विदुः ।१८।

भावार्थ - दोनों घुटनों के मध्य भाग में दोनों पैरों को गुप्त भाव से रक्खे, उन पैरों में गुह्य प्रदेश को रख ले, इसे गुप्तासन कहते हैं ।18।

मत्स्यासनम्

मुक्त पद्मासनं कृत्वा उत्तानशयनं चरेत्।
कूर्पराभ्यां शिरोवेष्ट्य मत्स्यासनं तु रोगहा ।१९।

भावार्थ – मुक्त पद्मासन करके हाथ की कोहनियों से शिर को लपेट क चित्त लेटने को मत्स्यासन कहते हैं। इससे रोग दूर होते हैं ।19।

पश्चिमोत्तानासनम्

प्रसार्यपादौभुविदण्डरूपौ सन्यस्तभालश्चितियुग्भमध्ये।
यत्नेन पादौ च धृतौ कराभ्यां योगीन्द्र पीठं पश्चिमोत्तानमातुः ।२०।

भावार्थ – दोनों पाँवों को पृथ्वी में दण्ड के समान सरल भाव से फैलाक यत्न से दोनों पाँवों के अंगूठों को पकड़े और दोनों जंघों पर शिर को धर दे, इसे पश्चिमोत्तानासन कहते हैं ।20।

अन्य ग्रन्थों में इसे ही उग्रासन कहा है–

'विस्तीर्यपादयुगलं परस्परमसंयुतम्।
स्वहस्ताभ्यां दृढं धृत्वा जानू परि शिरोन्यसेत्।।

देहावसादनाशनं पश्चिमोत्तानसंज्ञकम्।
य एतदासनं श्रेष्ठं प्रत्यहं साधयेत् सुधीः।।

वायुः पश्चिममार्गेण तस्य चरित निश्चितम्।
एतदभ्यासकानां च सर्वसिद्धिश्चजायते।।

तस्माद् योगीयत्नतो वै साधयेत् सिद्धिसाधकः।
गोपनीयं प्रयत्नेन न देयं यस्यकस्यचित्।।
येनशीघ्रं मरूत्सिद्धिर्भवेद् दुःखौघहारिणी।'

अर्थात् दोनों पावों को अलग-अलग फैलाकर, दोनों अँगूठों को हाथों से मजबूती से पकड़कर जानुओं को शिर पर रखने से अग्नि दीप्त होती है; देह का आल्सय नष्ट होता है। इस पश्चिमोत्तान को जो साधक करते हैं, उनका वायु पश्चिम मार्ग में प्रवाहित होता है; सब सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इसलिए योगी इसका साधन करे, इससे मरूत्सिद्धि होती है। इसका गोपन करना चाहिये।

मत्स्येन्द्रासनम्

उदरं पश्चिमाभासं कृत्वा तिष्ठति यत्नतः।
निम्नांगवामपादं हि दक्षजानूपरिन्यसेत्॥
तत्रयाम्यं कूर्परं च याम्ये करे च वक्त्रकम्।
भ्रुवोर्मध्येगतां दृष्टिं पीठंमात्स्येन्द्रमुच्यते ।२१।

भावार्थ - पेट को पीठ के समान सरल भाव से रखकर यत्नपूर्वक बाएं पाँव को नबाकर दाहिनी जाँघ पर रखे, उस पर दाहिनी कोहिनी रखे, मस्तक के मध्य को दृष्टि से निरीक्षण करे; इसे मत्स्येन्द्रासन कहते हैं ।21।

गोरक्षासनम्

जानूर्वोरन्तरे पादौ उत्तानाव्यक्तसंस्थितौ।
गुल्फौ चाच्छाद्य हस्ताभ्यामुत्तानाभ्यां प्रयत्नतः॥
कंठ संकोचनं कृत्वा नासाग्रमवलोकयेत्।
गोरक्षासनमित्याहुर्योगिनांसिद्धिकारणम् ।२२।

भावार्थ - दोनों घुटने जाँघों के बीच में उत्तान गुप्त रूप से रखे। दोनों हाथों से दोनों एड़ियों को पकड़े, कण्ठ को संकोच कर नासाग्र को देखे; इसे योगियों की सिद्धिप्रद गोरक्षासन कहते हैं ।22।

उत्कटासनम्

अंगुष्ठाभ्यामव्ष्टभ्य धरां गुल्फे च खे गतौ।
तत्रौपरि गुदं न्यस्य विज्ञेयमुत्कटासनम् ।२३।

भावार्थ - चरणों के अंगूठों को भूमि में टेक कर दोनों एड़ियों को निरालम्ब कर, ऊपर को उठा दे। गुह्य स्थान को एड़ियों पर रखें; इसे उत्कटासन कहते हैं ।23।

संकटासनम्

वामपादंचितेर्मूलं संन्यस्य धरणीतले।
पाददण्डेनयोगेन वेष्टयेद् वामपादकम्।
जानुयुग्मेकरौ युग्ममेतत्तु संकटासनम् ।२४।

भावार्थ - बायाँ पाँव और घुटना पृथ्वी में रखकर दाहिनी चरण से बायें पाँ को लपेट कर दोनों घुटनों पर दोनों हाथों को रक्खें, इसका नाम संकटासन है ।24

मयूरासनम्

धरामवष्टभ्य करयोस्तलाभ्यां
तत्कूर्परे स्थापित नाभिपार्श्वम्।
उच्चासनो दण्डवदुत्थितः खे
मायूरमेतं प्रवदन्ति पीठम् ।२५।

भावार्थ - दोनों हाथों की हथेलियों को भूमि में टेक कर दोनों कोहिनयों क दोनों पार्श्वों में लगावे। दोनों पाँवों को पीछे की ओर डण्डे के समान खड़ा कर दें इसको मयूरासन कहते हैं ।25।

कुक्कुटासनम्

पद्मासनं समासाद्य जानूर्वोरन्तरे करौ।
कूर्पराभ्यां समासीनो मञ्चस्थः कुक्कुटासनम् ।२६।

भावार्थ - मुक्त पद्मासन से बैठकर दोनों जाँघ और घुटनों के मध्य दोनों हाथ को करके मंच की तरह उठने-बैठने को कुक्कुटासन कहते हैं ।26।

कूर्मासनम्

गुल्फौ च वृषणस्याधो व्युत्क्रमेण समाहितौ।
ऋजुकाय शिरोग्रीवं कूर्मासनमितीरितम् ।२७।

भावार्थ - अण्डकोषों के नीचे दोनों एड़ियों को उलट-पुलट कर रखने को तथा देह, शिर और गर्दन को सीधा करके बैठने को कूर्मासन कहते हैं ।27।

उत्तानकूर्मासनम्

कुक्कुटासन बन्धस्थं कराभ्यां धृतकन्धरम्।
पीठं कूर्मवदुत्तानमेतदुत्तानकूर्मकम् ।२८।

भावार्थ - कुक्कुटासन करके दोनों हाथों से कन्धों को पकड़ लेना और कछुए की तरह उत्तान हो जाना; इसको उत्तानकूर्मासन कहते हैं ।28।

उत्तानमण्डूकासनम्

मण्डूकासनमध्यस्थं कूर्पराभ्यां धृतं शिरः।
एतद्भेकवदुत्तानमेतदुत्तानमण्डूकम् ।२९।

भावार्थ - मण्डूकासन करके कुहनी से मस्तक को धारण करना और मण्डूक की तरह उत्तान होने का नाम उत्तान मण्डूकासन है ।29।

वृक्षासनम्

वामोरूमूलदेशे च याम्यापादं निधायतु।
तिष्ठेत्तु वृक्षवद् भूमौ वृक्षासनमिदं विदुः ।३०।

भावार्थ - दाहिना पाँव बायीं जांघ की जड़ से रखकर, वृक्ष के **समान** खड़े होने को वृक्षासन कहते हैं ।30।

मण्डूकासनम्

पादतलौ पृष्ठदेशे अंगुष्ठे द्वे च संस्पृशेत्।
जानुयुग्मं पुरस्कृत्य साधयेन्मण्डुकासनम् ।३१।

भावार्थ - दोनों पांवों की पीठ को ओर ले जाकर मिलावे, अंगूठों के मिल पर दोनों घुटनों को आगे रक्खें; इसे मण्डूकासन कहते हैं ।31।

गरूड़ासनम्

जंघोरूभ्यां धरां पीड्य स्थिरकायो द्विजानुना।
जानूपरिकरं युग्मं गरूड़ासनमुच्यते ।३२।

भावार्थ - दोनों जाँघ और दोनों घुटनों से पृथ्वी दबावे और शरीर को स्थि करे। दोनों घुटनों पर दोनों हाथ रखकर बैठे; इसे गरूड़ासन कहते हैं ।32।

वृषासनम्

याम्यगुल्फे पादमूले वामभागे पदेतरम्।
विपरीर्तस्पृशेद् भूमिं वृषासनमिदं भवेत् ।३३।

भावार्थ - दाहिनी एड़ी पर गुदा को रक्खे उसके वाम भाग से दूसरे पैर क फिराकर रक्खे और भूमि को स्पर्श करे; इसे वृषासन कहते हैं ।33।

शलभासनम्

अध्यास्य शेते कर युग्मं वक्षे
भूमिमवष्टभ्यकरयोस्तलाभ्याम्।
पादौ च शून्ये च वितस्तिचार्ध्वं
वदन्ति पीठंशलभं मुनीन्द्राः ।३४।

भावार्थ - नीचे मुख करके लेट जाय, दोनों हाथों को वक्ष:स्थल के नीचे रखकर हथेली को पृथ्वी पर टेके और दोनों पाँवों को बालिस्त भर ऊपर उठा हुआ रखे; इसे शलभासन कहते हैं ।34।

मकरासनम्

अध्यास्य शेते हृदयं निधाय,
भूमौ च पादौ च प्रसार्यमाणौ।
शिरश्च धृत्वा करदण्डयुग्मे,
देहाग्निकारं मकरासनं तत् ।३५।

भावार्थ - नीचे को मुख करके लेटे, हृदय को पृथ्वी से लगाकर पैरों को फैला दे, दोनों हाथों से मस्तक को लगा लें; इसका नाम मकरासन है। यह अग्नि को बढ़ाता है ।35।

उष्ट्रासनम्

अध्यास्य शेते पदयुग्मव्यस्तं,
पृष्ठे निधायापि धृतं कराभ्याम्।
आकुञ्चयेत् सभ्यगुदरास्य गाढ़म्,
उष्ट्रं च पीठं यतयो वै वदन्ति ।३६।

भावार्थ - नीचे को मुंह करके लेटे और पैरों को उलट कर पीठ पर रक्खे फिर दोनों हाथों से पैरों को पकड़कर मुंह और पैरों को दृढ़ता से सकोड़े; इसे उष्ट्रासन कहते हैं ।36।

भुजंगासनम्

अंगुष्ठनाभिपर्यन्तमधौभूमौविनिन्यसेत्।
करतलाभ्यांधरां धृत्वा उर्ध्वशीर्ष फणीवहि।।

देहाग्निवर्धते नित्यं सर्वरोग विनाशनम्।
जागर्ति भुजगी देवी भुजंगासन साधनात् ।३७।

भावार्थ - नाभि से लेकर चरण के अंगूठे तक शरीर को नीचे भूमि पर रक्खे, हथेलियों को जमीन पर टेक कर सर्प की तरह शिर को ऊंचा करे, इसको भुजङ्गासन कहते हैं। इससे सब रोग दूर होते हैं, जठराग्नि बढ़ती है और इससे कुण्डलिनी भी जाग जाती है। ।37।

योगासनम्

उत्तानौ चरणौ कृत्वा संस्थाप्य जानुनोपरि।
आसनोपरि संस्थाप्य उत्तानं करयुग्मकम्॥
पूरकैर्वायुमाकृष्य नासाग्रमवलोकयेत्।
योगासनं भवेदेतद् योगिनां योगसाधनम् ।३८।

भावार्थ - दोनों चरण उत्तान करके दोनों घुटनों पर रक्खे, दोनों हाथों को चित्त करके आसन पर रखे, फिर पूरक के द्वारा वायु को खींचकर कुम्भक करता हुआ नासाग्र भाग को देखे; इसका नाम योगासन है। योगी को इसे अवश्य करना चाहिए ।38।

卐 卐 卐

॥ द्वितीयोपदेशः समाप्तः ॥

तृतीयोपदेशः

卐 卐 卐

मुद्राकथनम्

श्री घरेण्ड उवाच

महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयानं जलन्धरम्।
मूलबन्धं महाबन्धं महावेधश्च खेचरी ।१।
विपरीतकारिणी योनिः वज्रोली शक्तिचालिनी ।
तडागीमाण्डवीमुद्रा शाम्भवीपञ्चधारणा ।२।
आश्विनी पाशिनी काकी मातंगी च भुजंगिनी।
पञ्चविंशति मुद्रावै सिद्धिदाश्चेहयोगिनाम् ।३।

भावार्थ - घेरण्ड ऋषि कहने लगे, महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयान, जालन्धर, मूलबन्ध, महाबेध, खेचरी, विपरीतकरिणी, योनिवज्रोली, शक्तिचालिनी, तड़ागी, माण्डवी, शाम्भवी, पंचधारणा, अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातंगी और भुजङ्गिनी - ये पच्चीस मुद्राएँ योगियों को सिद्धि देने वाली हैं ।1,2,3।

इस विषय पर तन्त्रों में कहा है-

'सशैलबनधात्रीणां यथा धारोहि नायकः।
सर्वेषांहठतन्त्राणां तथा धाराहि कुण्डली॥

सुप्तागुरूप्रसादेन यथा जागर्ति कुण्डली।
तदापद्मानि सर्वाणि भिद्यन्तेग्रन्थयोऽपिच।।
प्राणस्यशून्यपदवी तदा राजपथायते।
यदाचितं विनालम्बं तदाकालस्यबन्धनम्।।
तस्मात्सर्व प्रयत्नेन प्रबोधायितुमीश्वरीम्।
ब्रह्मरन्ध्रमुखे सुत्पा मुद्राभ्यासं समाचरेत्।।

अर्थात् जैसे शेषराज सशल वन-पृथ्वी आदि सभी के आधार है, उसी तरह हठ तथा तन्त्र का आधार कुण्डलिनी महाशक्ति है। श्री गुरू की कृपा से जब कुण्डलिनी जागती है, तब षट्चक्र तथा तीनों ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं। प्राण की शून्य पदवी हो जाती है। बिना आलम्ब के ही चित्त स्थिर हो जाता है। इसलिए परमेश्वरी कुण्डलिनी को जगाने के लिए मुद्राभ्यास करना चाहिए।

मुद्राफलकथनम्

मुद्राणां पटलं देवि कथितं तव संनिधौ।
येनविज्ञातमात्रेण सर्वसिद्धिः प्रजायते ।४।
गोपनीयं प्रयत्नेन न देयं यस्यकस्यचित्।
प्रीतिदं योगिनां चैव दुर्लभं मरूतामपि ।५।

भावार्थ - श्री महादेव ने कहा है कि हे देवि मैंने मुद्राओं का विषय कहा जिनके ज्ञान से सभी सिद्धियाँ मिलती हैं। यह ज्ञान परम गुह्य है, हर-एक को नहीं कहना। ये मुद्राएँ योगियां को परम प्रिय ओर देवताओं को भी दुर्लभ हैं । 4,5,।

अन्य ग्रन्थों में भी मुद्राओं के विषय पर कहा है-

'मुद्राणां दशकं ह्येत्तद्व्याधिमृत्युविनाशकम्।
देवेशि कथितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकम्।।
बल्लभं योगिनामेतद्दुर्लभं मरूतामपि।

गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरण्डकम्।।
कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा।'

अर्थात् ये दश मुद्राएँ व्याधि रोग को नष्ट करने वाली है। अणिमादि सिद्धियाँ देती हैं। ये योगी तथा देवताओं को भी प्रिय हैं; इन्हें रत्न की पेटी की तरह रखना चाहिए।

महामुद्रा

पायुमूलं वामगुल्फे संपीड्य दृढयत्नतः।
याम्यपादं प्रसार्याथ करेधृत पदांगुलः ।६।
कण्ठ संकोचनं कृत्वा भ्रुवोर्मध्ये निरीक्षयेत्।
महामुद्राभिधामुद्रा कथ्यते चैव सूरिभिः ।७।

भावार्थ - गुह्यप्रदेश को दृढ़तापूर्वक बायीं एड़ी से दबावे और दाहिने पैर को फैलाकर हाथ से पैर की अंगुलियों को पकड़े और कण्ठ को सिकोड़ कर भौंहों के बीच के स्थान को देखे; इसे महामुद्रा कहते हैं ।6,7।

ग्रहयामल में इसे यों कहा गया है-

'पादमूलेन वामेन योनिं सम्पीड्य दक्षिणे।
पादं प्रसारितं कृत्वा कराभ्यां धारयेद्दृढम्।।
कण्ठेवक्त्रं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः।
यथादण्डाहतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते।।
ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसाभवेत्।
तदासामरणावस्था जायते द्विपुटाश्रिता।
तदाशनैःशनैः रेवरेचयेतं नवेगतः।
इयं खलुमहामुद्रा तवस्नेहात् प्रकाश्यते।।

अर्थात् योनिप्रदेश को बायीं एड़ी से दबाकर, दक्षिण पाँव को फैलाकर, मुंह को दोनों हाथों से पकड़े, कण्ठ में सकोड़ कुम्भक करके वायु को रोके। इस मुद्रा का अभ्यास करने से, दण्ड से आहत सर्प जैसे दण्ड के समान खड़ा हो जाता है;

ऐसे ही कुण्डलिनी भी सरल भाव को धारण कर लेती है। तदनन्तर कुम्भक की भरी वायु को धीरे-धीरे निकाल दे; इसे ही महामुद्रा कहते हैं। और भी कहा है-

'अनेनविधिनायोगी मन्दभाग्योऽपि सिध्यति।
सर्वांसामेवनाडीनां चालनं विन्दुमारणम्।
जारणं तु कषायाय पातकानां विनाशकम्।
सर्वं रोगोपशमनं जठराग्निविवर्धनम्।।
बपुषः कान्तिममलां जरामृत्यु विनाशनम्।
वाञ्छितार्थ फलं सौख्यमिन्द्रियाणां च मारणाम्।।
एतदुक्तानि सर्वाणि योगारूढस्य योंगिनः।
भवेदभ्यासतोवश्यं नात्रकार्य विचारणा।।
गोपनीया प्रयत्नेन मुद्रेयं सुरपूजिते।
यांतु प्राप्यभवाम्भोधेः पारंगच्छन्ति योगिनः।।
मुद्राकामदुधाह्येषा साधकानांमयोदिता।
गुप्तचारेण कर्त्तव्या न देयायस्यकस्यचित्।।

ग्रहयामल में कहा गया है-

'महाक्लेशादयो दोषः क्षीयन्ते मरणादयः।
महामुद्रातु तेनैव समाख्याता महेश्वरि।।
चन्द्रांगेन समभ्यस्य सूर्यांगेन समभ्यसेत्।
यावत्संख्याभवेत्तस्या ततः संख्यां विसर्जयेत्।।
नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपिनीरसाः।
अभिभुक्तं विषंघोरं पीयूषमपि जीर्यति।।
क्षयकुष्ट गुदावर्त गुदप्लीहा पुरोगमाः।
तस्यदोषाः क्षयंयान्ति महामुद्रां च योभ्यसेत्।।
कथितेयं महामुद्रा जरामरण नाशिनी।
गोपनीया प्रयत्नेन न देयायस्यकस्यचित्।।

अर्थात् महाक्लेशादि और मरणादि दोष, महामुद्रा के आचरण से नष्ट होते हैं। चन्द्रस्वर से अभ्यास करके सूर्यांग से निश्चित संख्या पर्यन्त अभ्यास करने से

पथ्य-अपथ्य विषादि भी भक्षण करने पर पच जाते हैं। क्षयादि रोग महामुद्रा के अभ्यास से नष्ट होते हैं। जरामरण के नाश वाली यह महामुद्रा है। इसे गोपनीय रखना चाहिए।

नभोमुद्रा

यत्र-तत्र स्थितो योगी सर्वकार्येषु सर्वदा।
ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरोभूत्वाधारयेत्पवनं सदा ।८।
नभोमुद्राभवेदेषा योगिनां रोगनाशिनी।

भावार्थ - . योगी निरन्तर सब कामों में स्थिर ऊर्ध्वजिह्व होकर कुम्भक द्वारा वायु को रोके। इसको नभोमुद्रा कहते हैं, इससे योगी के सभी रोग नष्ट हो जाते हैं।8।

उड्डीयानबन्ध

उदरे पश्चिमे तानं नाभेरुर्ध्वन्तुकारयेत्।९।
उड्डीयानं कुरुतेयत् तदविश्रान्त महाखगः।
उड्डीयानं त्वसौ बन्धो मृत्युमातंग केशरी।१०।

भावार्थ - नाभि के ऊपर के भाग और पश्चिम द्वार को उदर के समभाव में संकोच करे अर्थात् उदर के अधोभाग में स्थिर गुह्यदि चक्र की सब नाड़ियों को नाभि के ऊपर को उठावे- इसका ही नाम उड्डीयान बन्ध हैं यह बन्ध मृत्युरूप हाथी के लिए सिंह के समान है ।9,10।

अन्यत्र उड्डीयान का फल ऐसा भी लिखा है-

'नित्यंयः कुरूतेयोगी चतुर्वारं दिने-दिने।
तस्यनाभेस्तु शुद्धिः स्याद्येनशुद्धोभवेन्मरूत्॥
षण्मासमभ्यसेद् योगी मृत्युं जयति निश्चितम्।
तस्योदराग्निर्ज्वलति रसवृद्धिश्चजायते॥

रोगाणां संक्षयश्चापि योगिनां भवति ध्रुवम्।
गुरौर्लब्ध्वातु यत्नेन साधयेच्चविचक्षणः॥
निर्जनेसुस्थिते देशे बन्धं परम दुर्लभम्।

अर्थात् दिन में चार बार इस उड्डीयान-बन्ध को जो करता है, उसकी नाभि-शुद्धि और मरूत्-शुद्धि होती है। छः मास तक इसका अभ्यास करने से मृत्यु पर विजय प्राप्त होती है। इसके अभ्यास से जठराग्नि तीव्र होती है, शरीर पुष्ट कर रस संचार होता है। इसका उपदेश प्राप्त कर एकान्त में अभ्यास करना चाहिए। दत्तात्रेय संहिता में कहा है-

'अभ्यसेद्यस्तु सत्त्वस्थो वृद्धोऽपि तरूणायते।
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः॥'

अर्थात् उड्डीयान के अभ्यास से बूढ़ा भी जवान हो जाता है। छः महीने के अभ्यास से अवश्य मृत्यु पर विजय होती है।

समग्राद् बन्धनाद्धयेतदुड्डीयानं विशिष्यत।
उड्डीयाने समभ्यस्ते मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ।११।

भावार्थ - जितने बन्ध हैं उनमें उड्डीयान प्रधान है। इसके अभ्यास से मुक्ति अनायास ही हो जाती है ।।11।।

जालंधर बन्ध

कण्ठ संकोचनं कृत्वा चिवुकं हृदयेन्यसेत्।
जालन्धरे कृते बन्धे षोडशाधारबन्धनम्।
जालन्धरं महामुद्रामृत्योश्चक्षय कारिणीं ।१२।

भावार्थ - कण्ठ को संकोच कर, हृदय पर ठोड़ी को रखकर जालन्धर बन्ध होता है। इससे सोलह तरह का आधार - बन्ध होता है और यह मृत्यु को पराजित करता है ।12।

ग्रहयामल में कहा है-

'कण्ठमाकुञ्चयहृदये स्थापयेतु चिवुकं दृढ़म्।
बन्धोजालन्धराख्योऽयममृता व्ययकारकः॥'

अर्थात् कण्ठ को संकोच कर, ठोड़ी को दृढ़ता के साथ हृदय पर रक्खे। इसे जालन्धर-बन्ध कहते हैं। इसके द्वारा शरीरस्थ अमृत निरन्तर परिपूर्ण रहता है।

सिद्धं जालन्धरं बन्धं योगिनां सिद्धिदायकम्।
षण्मासमभ्यसेद्यो हि स सिद्धो नात्र संशयः ।१३।

भावार्थ - यह जालन्धर - बन्ध योगियों को सिद्धि प्रदान करता है। इसके छः महीने के अभ्यास से योगी सिद्ध हो जाता है ।13।
अन्य ग्रंथों में कहा है-

'बन्धनानेन पीयूषंस्वयं पिबति बुद्धिमान्।
अमरत्वं च सम्प्राप्य मोदते भुवनत्रये॥
जालन्धर बन्ध एष सिद्धानां सिद्धिदायकः।
अभ्यासः क्रियते नित्यं योगिनासिद्धिमिच्छता॥'

अर्थात् इस जालन्धर-बन्ध से योगी अमृत पान करता है और इससे अमृतत्व प्राप्त कर योगी भुवन-त्रय में विचरता है। इसलिए योग-सिद्धि चाहने वाले को इसका अभ्यास सदैव करना चाहिए।

मूलबन्ध

पार्ष्णिना वामपादस्त योनिमाकुञ्चयेत्ततः।
नाभिग्रंथिमेरूदण्डे संपीड्य यत्नतः सुधीः ।१४।
मेढ्रं दक्षिणगुल्फे तु दृढ़बन्धं समाचरेत्।
जराविनाशिनी मुद्रा मूलबन्धो निगद्यते ।१५।

भावार्थ - बायीं एड़ी से गुह्यप्रदेश की सिकोड़े और यत्नतः मेरूदण्ड में नाभिग्रन्थि को लगाकर दबावे तथा दाहिनी एड़ी से उपस्थ को दृढ़ता के साथ दाब कर रक्खे; इसको मूलबन्ध कहते हैं। इससे बुढ़ापा दूर हो जाता है। 14,15।

'पादमूलेन सम्पीड्य गुदमार्गं सुयंत्रितम्
बलादपानमाकृष्य क्रमादूर्ध्व समभ्यसेत्॥
कल्पितोऽयं मूलबन्धो जरामरणनाशनः।'

अर्थात् गुह्यप्रदेश को गुल्फ (एड़ी) से दबाकर भली भांति बांधे हुए अपान वायु को बल के साथ धीरे-धीरे ऊपर को खींचे, इसका नाम मूलबन्ध है। यह बुढ़ापा तथा मृत्यु को हटाता है।

संसार समुद्रं तर्त्तुमभिलषति यः पुमान्।
विजनेषु गुप्तो भूत्वा मुद्रामेनां समभ्यसेत् ।१६।
अभ्यासाद् बन्धनस्यास्य मरूत्सिद्धिर्भवेद् ध्रुवम्।
साधयेद्यत्नतो तर्हिं मौनी तु विजितालसः ।१७।

भावार्थ - जो संसार से तरना चाहते हैं, वे निर्जन में छिपकर इस मुद्रा का अभ्यास करें। इसका अभ्यास करने से निश्चय ही मरूत्-सिद्धि होती है। अतएव आलस्यरहित मौनी होकर यत्नपूर्वक इसका अभ्यास करना चाहिए ।16,17।

इस मूलबन्ध से योनिमुद्रा की सिद्धि होती है। इसके प्रसाद से साधक आकाश में उड़ता है।

महाबन्धः

वामपादस्य गुल्फे तु पायुमूलं निरोधयेत्।
दक्षपादेन तद् गुल्फे सम्पीड्य यत्नतः सुधीः ।१८।

शनैः शनैश्चलयेत् पार्ष्णि योनिमाकुञ्चयेच्छनैः।
जालन्धरे धारयेत्प्राणं महाबन्धोनिगद्यते ।१९।

भावार्थ - बायीं एड़ी से गुदामूल का निरोध करके, दाहिने पैर से यत्नपूर्वक बायीं एड़ी को दबाता हुआ धीरे-धीरे गुह्यदेश को चलावे और धीरे-धीरे गुह्यदेश को सिकोड़े तथा जालन्धर - बन्ध से प्राण वायु को धारण करे, इसका नाम महाबन्ध है ।18,19।

तन्त्रों में इस प्रकार कहा है-

'ततः प्रसारितपादो विन्यस्यतमूरूपरि।
गुदायोनिं समाकुञ्च्य कृत्वा चापानमूर्ध्वगम्॥
योजयित्वासमानेन कृत्वाप्राणमधोमुखम्।
बन्धयेदूदरेऽत्यर्थ प्राणापानाभ्यां यः सुधीः॥
कथितोऽयं महाबन्धः सिद्धिमार्गप्रदर्शकः।'

अर्थ उक्त श्लोक के अनुकूल ही है।

महाबन्धः परोबन्धो जरामरणनाशनः।
प्रसादादस्य बन्धस्य साधयेत् सर्ववाञ्छितम् ।२०।

भावार्थ - यह महावन्ध सब मुद्राओं में श्रेष्ठ है। यह जरा मृत्यु को दूर करती है, इसके प्रभाव से सभी मनोरथ सिद्ध होते हैं।20।

महावेधः

रूपयौवन लावण्यं नारीणां पुरूषं बिना।
मूलबन्ध महाबन्धो महावेधं विना यथा ।२१।
महाबन्धं समासाद्य उड्डीनकुम्भकं चरेत्।
महावेधः समाख्यातो योगिनां सिद्धि दायकः ।२२।

भावार्थ - पुरूष के बिना जैसे स्त्री का रूप यौवन और लावण्य व्यर्थ है, ऐसे ही महावेध के बिना मूलबन्ध और महाबन्ध निष्फल है। प्रथम महाबन्धमुद्रा का अभ्यास कर उड्डीयान-बन्ध कर कुम्भक से वायु को रोके, इसे महावेध कहते हैं ।22।

महाबन्धमूलबन्धौ महावेधसमन्वितौ।
प्रत्यहं कुरूतेयस्तु स योगीयोगवित्तमः ।२३।
न च मृत्यु भयं तस्य न जरा तस्य विद्यते।
गोपनीयः प्रयत्नेन वेधोऽयं योगिपुंगवैः ।२४।

भावार्थ - जो योगी प्रतिदिन महावेध के साथ महाबन्ध और मूलबन्ध का आचरण करते हैं, वे योगी योगियों में श्रेष्ठ हो जाते हैं; मृत्यु बुढ़ापा उन पर आक्रामण नहीं करता। यह परमगुह्य है, इसे गुप्त रखना चाहिए ।23,24।

खेचरी मुद्रा

जिह्वाधोनाड़ीं संछिन्नां रसनां चालयेत् सदा।
दोहयेन्नवनीतेन लोहयन्त्रेण कर्षयेत् ।२५।
एवं नित्यं समाभ्यासाल्लम्बिकादीर्घतां ब्रजेत्।
यावद्गच्छेद्भ्रुवोर्मध्ये तथा गच्छति खेचरी ।२६।
रसनां तालुमध्ये तु शनैः शनैः प्रवेशयेत्।
कपालकुहरेजिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोर्मध्येगता दृष्टिर्मुद्राभवति खेचरी ।२७।

भावार्थ - जिह्वा के नीचे, जिह्वा और उसकी जड़ को मिलाने वाली जो नाड़ी है, उसको छेदता हुआ निरन्तर रसना के अग्र भाग को परिचालित करे, प्रतिदिन ऐसा करने से जिह्वा बड़ी हो जाती है। क्रम से अभ्यास द्वारा जिह्वा को इतना लम्बा करे कि वह भौंह के मध्य तक पहुंच जाय, जिह्वा को क्रमशः तालुमूल में ले जाय। तालु के बीच के गड्ढे को कपाल-कुहर कहते हैं। जिह्वा को इस कपाल-कुहर

के मध्य में ऊपर को उल्टी करके ले जाय और दोनों भौंहों के मध्य-स्थल को देखता रहे; इसे खेचरी मुद्रा कहते हैं ।25,26,27।

शास्त्रान्तर में खेचरी मुद्रा का वर्णन इस प्रकार भी है-

'भ्रुवोरन्तर्गतां दृष्टि विधायसुदृढ़ां सुधीः।
उपविश्यासने वज्रे नानोपद्रववर्जिते॥
लाम्बिकोर्ध्वस्थितेगतंलां रसनां विपरीतगाम्।
संयोजयेत्प्रयत्नेन सुधाकूपे विचक्षणः॥
मुद्रैषा खेचरी प्रोक्ता भक्तानामनुरागतः।'

अर्थ उक्त श्लोकों के अनुसार ही है।

न च मूर्च्छा क्षुधा तृष्णा नैवालस्यं प्रजायते।
न च रोगो जरामृत्युर्देवदेहं प्रपद्यते ।२८।

नाग्निनादह्यतेगात्रं न शोषयति मारूतः।
न देहं क्लेदयन्त्यापो दंशयेन्न भुङ्गमः ।२९।

लावण्यं च भवेद् गात्रे समाधिर्जायते ध्रुवम्।
कपाल वक्त्रसंयोगे रसना रसमाप्नुयात् ।३०।

नाना रससमुद्भूतमानन्दं च दिने-दिने।
आदौ लवणक्षारं च ततस्तिक्त कषायकम् ।३१।

नवनीतं घृतं क्षीरं दधितक्रमधूनि च।
द्राक्षा रसं च पीयूषं जायते रसनोदकम् ।३२।

भावार्थ - खेचरी के अभ्यासी को मूर्च्छा, क्षुधा और प्यास नहीं सताते, न आलस्य आता है। रोग, बुढ़ापा और मौत का भय नहीं रहता। शरीर देव तुल्य हो जाता है। खेचरी-अभ्यासी को अग्नि नहीं जला सकती, न वायु सुखा सकता, न

जल भिगा सकता, न सर्प काटता है। शरीर में लावण्य (सौन्दर्य) आता है। समाधि-सिद्धि होती है। कपाल और रसना के योग होने पर अनेक रस पैदा होते हैं। जो इसका अभ्यास करते हैं उनकी जिह्वा से विलक्षण रस का संचार होता है। नये-नये आनंद उत्पन्न होते है। पहले-पहल लवण, पश्चात् क्षाररस, फिर तिक्त, फिर कषाय, इसके बाद मक्खन, घी, दूध, दही-मट्ठा, मधु (शहद), दाख, अमृत आदि स्वादिष्ट रसों का आविर्भाव होता है ।28,29,30,31,32।

विपरीतकरिणी मुद्रा

नाभिमूलेवसेत्सूर्यस्तालुमूले च चन्द्रमा:।
अमृतं ग्रसते मृत्युस्ततो मृत्युवशो नरः ।३३।
ऊर्ध्व च जायते सूर्यचन्द्र च अध आनयेत्।
विपरीतकरीमुद्रा सर्वतन्त्रेषुगोपिता ।३४।
भूमौ शिरश्च संस्थाप्य करयुग्मा समाहितः।
ऊर्ध्वपादः स्थिरोभूत्वा विपरीतकरीमता ।३५।

भावार्थ - नाभि में सूर्य नाड़ी और तालुमूल में चन्द्र नाड़ी है। सहस्रार में सुधा-धारा प्रवाह होता है। सूर्य नाड़ी के अमृत पान से जीव मरता है। यदि चन्द्र नाड़ी से उसे पीले तो मृत्यु का भय नहीं रहता। इसलिए सूर्य नाड़ी को ऊपर तथा चन्द्र नाड़ी को नीचे कर लेना चाहिए। इस विपरीतकरिणी को करने से उक्त बात सिद्ध होती है। शिर को पृथ्वी में लगा कर दोनों हाथों को टेक ले, दोनों पाँवों को ऊपर उठा कुम्भक द्वारा वायु रोके-इसे ही विपरीतकरिणी कहते हैं ।33,34,35।

मुद्रैयं साधिता नित्यं जरां मृत्युं च नाशयेत्।
ससिद्धः सर्वलोकेषु प्रलयेऽपि न सीदति।३६।

भावार्थ - इस मुद्रा के अभ्यास से जरा-मृत्यु नष्ट होते हैं। इसका अभ्यासी सब लोकों में सिद्ध होकर प्रलय में भी दुखी नहीं होता ।36।

योनिमुद्रा

सिद्धासनं समासाद्य कर्णचक्षुर्न सोमुखम्।
अंगुष्ठ तर्जनी मध्यानामाभिश्चैव साधयेत् ।३७।

काकीभिः प्राणं संकृष्य अपाने योजयेत् ततः।
षट्चक्राणि क्रमाद्ध्यात्वा हूं हंसमनुना सुधीः ।३८।

चैतमन्यमानयेद् देवीं निद्रितां यां भुजङ्गिनीम्।
जीवेन सहितांशक्ति समुत्थाप्यकराम्बुजे ।३९।

शक्तिमयः स्वयंभूत्वा परशिवेन संगमम्।
नाना सुखं विहारं च चिन्तयेत् परमं सुखम्।४०।

शिव शक्ति समायोगादेकान्तेभुविभावयेत्।
आनन्दं च स्वयं भूत्वा अहं ब्रह्मेति सम्भवेत्।४१।

भावार्थ - सिद्धासन से बैठकर दोनों हाथ के अंगूठों से कानों की, दोनों तर्जनी से नेत्रों को, मध्यमा से मुंह को तथा अनामिका से नाक निरूद्ध करे। प्राण को काकीमुद्रा से खींचता हुआ अपान से मिला दे। देहस्थ षट्चक्रों का ध्यान करता हुआ 'हूं' या 'हंस' इन दोनों मन्त्रों से कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत कर जीवात्मा को उसके साथ सहस्रार में ले जावे; उस समय ऐसी भावना करे कि 'मैं शिव के साथ शक्तिमय होकर परम सुखमय विहार कर रहा हूं। शिवशक्ति के योग से ही आनन्दमय ब्रह्म हूं'- इसे योनिमुद्रा कहते हैं। यह मुद्रा गोपनीय तथा देवताओं को भी दुर्लभ है। इसका अभ्यास करके साधक सिद्धि प्राप्त करता है और अनायास ही समाधिस्थ हो जाता है ।37,38,39,40,41।

ब्रह्महाभ्रूणहाचैव सुरापीगुरूतल्पगः।
एतैपापैर्नलिप्येत योनिमुद्रा निबन्धनात् ।४२।

यानि पापानि घोराणि उपपापानि यानिच।
तानिसर्वाणि नश्यन्ति योनिमुद्रानिबन्धनात् ।४३।
तस्मादभ्यासनं कुर्याद्यदि मुक्तिं समिच्छति ।४४।

भावार्थ - योनिमुद्रा के साधन से ब्रह्महत्या, भ्रूणहत्या, मद्यपान, गुरूदारागमन आदि पापों से रहित हो जाता है। पृथ्वी के समस्त महापातक उपपातक योनिमुद्रा के बांधने से नष्ट हो जाते हैं; इसलिए मुक्ति चाहने वालों को इसका अभ्यास करना योग्य है ।42,43,44।

शास्त्रान्तर्गत योनिमुद्रा

आदौपूरकयोगेन स्वाधारेपूरयेन्मनः।
गुदमेढ्रान्तरे योगिस्तमांकुञ्च्य प्रवर्तते।
ब्रह्मयोनि गतंध्यात्वा कामंबन्धूकसन्निमम्॥
सूर्यकोटि प्रतीकाशं चन्द्रकोटिसुशीतलं।
तस्योर्ध्वेतु शिखासूक्ष्मा चिद्रूपापरमाकला॥
तत्रापिहितमात्मामेकीभूतं विचिन्तयेत्।
गच्छन्ति ब्रह्म मार्गेण सिद्धित्रयक्रमेणवै॥
अमृतं तद्विसर्गस्थं परमानन्द लक्षणम्।
श्वेतरक्तं तेजसाढ्यं सुधाधाराप्रवर्षणम्॥
पीत्वा कुलामृतं दिव्यं पुनरेव विशेत् कुलम्।
पुनरेव कुलं गच्छेन्मात्रा योगेन नान्यथा।
सा च प्राणसमाख्याताह्यस्मिन् तन्त्रे मयोदिता।
पुनः प्रलीयते तस्यां कालाग्न्यादिशि वात्मकम्॥
योनिमुद्रापरा ह्येषाबन्धतस्याः प्रकीर्तितः।
तस्यास्तुबन्धमात्रेण तन्नास्ति यत्र साधयेत्॥

अर्थात् पहले-पहल पूरक के प्रभाव से मूलाधार वायु को पूर्ण करे। गुदा से उपस्थपर्यन्त योनिदेश कहा जाता है। इसी के संकोच से योनि-मुद्रा होती है। ब्रह्मयोनि में लाल बन्धूक पुष्प सदृश काम का ध्यान, कोटि सूर्य के सदृश कान्तिमान तथा कोटिचन्द्र के समान शीतल रूप में करें।

इसके अनन्तर अग्नि के लपट के सदृश महाशक्ति का चिंतन करें, जो सूक्ष्म चैतन्य परमात्मा के साथ सूक्ष्म रूप में जीव के साथ एक होती है। जीव ब्रह्म मार्ग से सुषुम्नाछिद्र द्वारा गमन करता है। सहस्रार में कुन्डलिनी शिव के साथ मिलकर रहती है, वहां से अमृतधारा टपकती है। ऊपर उठकर जीव कुलामृत का पान कर मूलाधार की ब्रह्मयोनि में जाकर घुस जाता है। इस प्रकार जीव प्राणायाम से गमनागमन करता है। इसे तीन बार करने से मूलाधार पद्म में ब्रह्मयोनि गत कुण्डलिनी परमात्मा की प्राणस्वरूपिणी होकर रहती है। पुनः यह जीवात्मा कालाग्नि आदि शिवात्मक ब्रह्मयोनि मे लीन रूप से उसकी चिंता होती है। इसे ही योनिमुद्रा कहते हैं। इसके प्रभाव से समस्त कामों की सिद्धि होती है। यह मुद्रा सर्वश्रेष्ठ है।

वज्राली मुद्रा

धरामवष्टभ्य करयोस्तलाभ्याम् ऊर्ध्व क्षिपेत्पादयुगंशिरःखे।
शक्तिप्रबोधाय चिरजीवनाय वज्रालिमुद्रा कवयो वदन्ति।४५।

भावार्थ - दोनों हाथों को पृथ्वी पर स्थिर भाव से टेक कर दोनों पैरों और मस्तक को आकाश में उठा देने को वज्राली मुद्रा कहते हैं। इससे बल-संचार तथा दीर्घ-जीवन प्राप्त होता है।45।

अयं योगो योगश्रेष्ठो योगिनां मुक्तिकारणम्।
अयंहितप्रदोयोगो योगिनां सिद्धिदायकः ।४६।

एतद्योगप्रसादेन विन्दुसिद्धिर्भवेद् ध्रुवम्।
सिद्धेविन्दौ महायत्ने किं न सिध्यति भूतले ।४७।

भोगेन महता युक्तो यदि मुद्रा समाचरेत्।
तथापि सकलासिद्धिस्तस्य भवतिनिश्चितम् ।४८।

भावार्थ - यह योग मुद्रा में श्रेष्ठ, मुक्ति का कारण, परम उपकारी सिद्धिप्रद है। इससे बिन्दु सिद्धि, ऊर्ध्वरेतस्त्व सिद्धि होकर वीर्यपात नहीं होता, विन्दु सिद्धि

होने पर कौन सा कार्य नहीं हो सकता। भोगियों को इसे करने से निःसंदेह सभी सिद्धियां मिलती हैं। 46,.47, 48

शक्तिचालिनी मुद्रा

मूलाधारे आत्मशक्तिः कुण्डली परदेवता।
शयिता भुजगाकारा सार्ध त्रिवलयान्विताः।४९।

यावत् सा निद्रिता देहे तावज्जीवो पशुर्यथा।
ज्ञानं न जायते तावत् कोटियोगं समभ्यसेत्।५०।

उद्घांटयेत् कपाटं च यथाकुञ्चिकयाहठात्।
कुण्डलिन्या प्रबोधेन ब्रह्मद्वारं प्रभेदयेत् ।५१।

नाभिं सम्वेष्ट्य वस्त्रेण न च नग्नो वहिः स्थितः।
गोपनीयगृहे स्थित्वा शक्तिचालनमभ्यसेत्।५२।

भावार्थ - मूलाधार में कुण्डलिनी सार्ध त्रिवलय होकर सर्पिणी के रूप में सोयी हुई है। उसकी सुप्तावस्था में योगी अज्ञ अवस्था में रहता है। जैसे चाभी से ताला खुलता है; इसी तरह कुण्डलिनी के जागरण से ब्रह्मरन्ध्र खुलता है। नाभि को वस्त्र से लपेट कर एकान्त स्थान में शक्चिालिनी मुद्रा का अभ्यास करें। नग्नावस्था में बाहर इसका साधन नहीं करना चाहिए। 49,50,51,52।

वितस्तिप्रमितं दीर्घं विस्तारे चतुरंगुलम्।
मृदुलं धवलं सूक्ष्मं वेष्टनाम्वर लक्षणम्।५३।

एवमम्वरयुक्तं च कटिसूत्रेणयोजयेत्।
भस्मनागात्र संलिप्तं सिद्धासनं समाचरेत्।५४।

नासाभ्यां प्राणामाकृष्य अपानेयोजयेदवलात्।
तावदाकुञ्चयेद् गुह्यं शनैरश्वनिमुद्रया ।५५।

यावद्गच्छेत् सुषुम्नायां वायुः प्रकाश्येत् हठात्।
तदा वायुप्रबन्धेन कुम्भिका च भुजङ्गिनी।५६।

वद्धश्वासस्ततोभूत्वा उर्ध्वमार्ग प्रपद्यते।
शक्तोर्विनाचालनेन योनिमुद्रा न सिध्यति।५७।

भावार्थ - बालिश्त भर चौड़ा, चार अंगुल लम्बा सफेद मुलायम वस्त्र नाभि पर रख कर कटिसूत्र में बांध दें। शरीर में भस्म लेपन कर, सिद्धासन पर बैठाकर, प्राण को खींच कर अपान से युक्त करें। जब तक सुषुम्ना द्वार से वायु गमन करती हुई प्रकाशित न हो, तब तक अश्विनी मुद्रा से गुह्य का संकोच करता रहे। इस प्रकार श्वास रुकने से कुम्भक के प्रभाव से सर्पाकार कुण्डलिनी जागकर ऊपर मार्ग में खड़ी हो जाती है, अर्थात् सहस्रार में परमात्मा के साथ मिल जाती है। इस शक्ति चालिनी मुद्रा के बिना योनि मुद्रा सिद्ध नहीं होती। 53,54,55,56,57।

आदौ चालनमभ्यस्य योनिमुद्रां समभ्यसेत्।
इतिते कथितं चण्डकापाले शक्तिचालनम्।५८।

गोपनीयं प्रयत्नेन दिने-दिने समभ्यसेत्।
मुद्रेयं परमागोप्याजरामरणनाशिनी।५९।

तस्मादभ्यासनं कार्य योगिभिः सिद्धिकांक्षिभिः।
नित्यं योऽभ्यसतेयोगी सिद्धिस्तस्य करेस्थिता।
तस्यविग्रहसिद्धिः स्याद् रोगाणां संक्षयो भवेत्।६०।

भावार्थ - चालिनी के बाद ही योनिमुद्रा का अभ्यास करना चाहिए। हे चण्डकापाले! इस प्रकार शक्तिचालिनी मुद्रा को मैंने कहा। इसे यत्नपूर्वक रखना और प्रतिदिन अभ्यास करना। जो योगी इसका अभ्यास करता है उसे सिद्धियां प्राप्त होती हैं। विग्रह-सिद्धि हो जाती है और रोग नष्ट हो जाते हैं।

तंत्रों में दूसरी तरह भी यह मुद्रा कही गयी है –

'आधारे कमले गुप्तां चालयेत् कुण्डलीं दृढ़ाम्।
अपान वायुमारुह्य वलादाकृष्य बुद्धिमान्।।
शक्तिचालन मुद्रेयं सर्वशक्तिप्रदायिनी।'

अर्थात कुन्डलिनीशक्ति आधार कमल में सो रही है, उसे जगाकर बलपूर्वक अपान वायु को खींचे। यही शक्तिचालिनी मुद्रा है; यह सर्वशक्ति देने वाली हें 58, 59, 60।

ताड़ागी मुद्रा

उत्तरं पश्चिमोत्तानं कृत्वा च तडागाकृतिम्।
ताडागी सा परामुद्रा जरामृत्यु विनाशिनी।६१।

भावार्थ – पश्चिमोत्तान आसन से बैठकर पेट को तड़ाग के समान करने को ताड़ागी मुद्रा कहते हैं। इससे जरामृत्यु नष्ट हो जाती है।61।

माण्डुकी मुद्रा

मुखं समुद्रितं कृत्वा जिह्वामूलं प्रचालयेत्।
शनैर्ग्रसेदमृतं तां माण्डूकीं मुद्रिकां विदुः।६२।

वलितं पलितं नैव जायते नित्ययौवनम्।
न केशे जायते पाको यः कुर्यान्नित्यमाण्डुकीम्।६३।

भावार्थ मुंह बंद कर तालु में जिह्वा को घुमाने और जिह्वा से शनै-शनै सहस्रदल से टपकते हुए अमृत का पान करे, इसे माण्डुकी मुद्रा कहते हैं। इसके अभ्यास से वलिपलित, झुर्री तथा सफेद बाल का होना दूर हो जाता है। 62, 63।

शाम्भवीमुद्रा

नेत्राञ्जनं समालोक्य आत्मारामं निरीक्षयेत्।
साभवेच्छाम्भवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषुगोपिता।६४।
वेदशास्त्र पुराणानि सामान्य गणिका इव।
इयन्तु शाम्भवीमुद्रा गुप्ताकुलवधूरिव।६५।

स एव आदिनाथश्च स च नारायणः स्वयम्
स च ब्रह्मा सृष्टिकारी यो मुद्रां वेत्ति शाभ्भवीम्।६६।
सत्यं सत्यं पुनः सत्यं सत्यमुक्तं महेश्वरः।
शाम्भवीं यो विजानाति स च ब्रह्म न चान्यथा।६७।

भावार्थ - भ्रूयुगल के बीच में दृष्टि को स्थिर कर, एकाग्र मन से चिंता योग पूर्वक परमात्मा का दर्शन करें; इसे शाम्भवीमुद्रा कहते हैं। यह सब तंत्रों में गुप्त रूप से कही गयी है। वेदादि शास्त्र सामान्य गणिका की तरह प्रकाशित है, परन्तु यह शाम्भवी मुद्रा कुलवधू की तरह परम गोपनीय है। जो इसका अभ्यास करता है वह आदिनाथ है, वह नारायण तथा सृष्टिकर्ता ब्रह्म स्वरूप है। मैं सत्य कहता हूं, शाम्भवी को जानने वाला साक्षात् ब्रह्म स्वरूप ही है। 64, 65, 66, 67।

पञ्चधारणामुद्रा

कथिता शाम्भवी मुद्रा शृणुष्व पञ्चधारणाम्।
धारणानि समामाद्य किं न सिध्यतिभूतले।६८।

अनेन नरदेहेन स्वर्गेषुगमनागमम्।
मनोगतिर्भवेत्तस्य खेचरत्वं न चान्यथा।६९।

भावार्थ - शाम्भवी मुद्रा कही गयी, अब पञ्चधारणा कहते हैं। इन पांचों धारणाओं के सिद्ध होने पर ऐसा कोई भी कार्य नहीं है जो सिद्ध न हो सके। इन धारणाओं की सिद्धि होने से मनुष्य शरीर से ही स्वर्ग में आना-जाना होता है। मनुष्य

इससे मनोगति और खेचरीत्व को पा सकता है। 68,69।

पार्थिवीधारणा

यत्तत्वं हरितालदेश रचितं भौमं लकारान्वितं,
वेदास्तंकमलासनेन सहितम्कृत्वाहृदिस्थापिनम्।

प्राणांस्तत्रविनीय पंचघटिकां चिन्तान्वितां धारये-
देषास्तंभकरीं ध्रुवंक्षितिजयं कुर्यादधोधारणाम्।७०।

भावार्थ - पृथ्वी तत्व का वर्ण हरताल के समान है। वीज 'लँ', चौकोन आकृति, ब्रह्मदेवता है। योग बल से इसे उदय कर हृदय में धारण कर, दो घंटे प्राण के निरोध-पूर्वक, कुम्भक करें; इसे पार्थिवी मुद्रा कहते हैं। इसे ही अधोधारणा-मुद्रा भी कहते हैं। इसके सिद्ध होने पर योगी पृथ्वी जय होता है। अर्थात् पृथ्वी सम्बन्धी घटना से उसकी मृत्यु नहीं होती ।70।

पार्थिवीधारणामुद्रां य करोति हि नित्यशः।
मृत्युञ्जयः स्वयं सोऽपि स सिद्धो विचरेद्भुवि।७१।

भावार्थ - जो इस पार्थिवीधारणा को करता है वह मृत्यु को जीतकर, सिद्ध होकर पृथ्वी में विचरता है।71।
तंत्रों में इसे अन्य प्रकार से भी कहा है -

'पृथिवीधारणां वक्ष्ये पार्थिवेभ्योभयापहाम्।
नाभेरधो गुदस्योर्ध्व घटिकां पंचधारयेत्॥

वायुं ततो भवेत् पृथिवी धारणां तद्भयापहाम्।
पृथिवीसम्भवात् तस्य न मृत्युयोगिनी भवेत्।'

इस पद्य में मूलाधार से वायु-धारण कहा गया है, यह विशेष है और सब लक्षण एक सें हैं।

आम्भसीधारणामुद्रा

शंखेन्दु प्रतिमं च कुन्दधवलं तत्त्वं किलालं शुभं।
तत्पीयूष बकार बीजसहितं युक्तं सदा विष्णुना।

प्राणांस्तत्रविनीयपंचघटिकां चिन्तान्विता धारयेत्।
एषा दुःसहतापपापहरिणी स्यादाम्भसी धारणा।७२।

भावार्थ - जल का वर्ण शंख, चन्द्र, कुन्द के समान शुभ्र है। बकार इसका बीज है, विष्णु देवता। योग-बल से हृदय में इसे उदय कर, प्राण को, एकाग्र चित्त से पांच घड़ी कुम्भक द्वारा धारण करे- इसे आम्भसी धारणा कहते हैं। इसके अभ्यास से जल से मृत्यु नहीं होती। असह्य संसार-पीड़ा नष्ट होती है। इसका दूसरा लक्षण ऐसा भी है -

'नाभिस्थाने ततो वायुं धारयेत् पंचघंटिकाम्।
ततो जललयंनास्ति जलमृत्युर्नयोगिनः॥'

इस लक्षण में नाभि स्थान में वायु-धारण कहना विशेष है ।72।

आम्भसीं परमां मुद्रा यो जानाति स योगवित्।
जले च गंभीरे घोरे मरणं तस्यनोभवेत्।७३।
इयं तु परमा मुद्रा गोपनीया प्रयत्नतः।
प्रकाशात् सिद्धि हानिः स्यात् सत्यं वच्मिच तत्वतः।७४।

भावार्थ - आम्भसी धारणा मुद्रा का वेत्ता योगी, भीषण गंभीर जल में पड़कर भी नहीं मरता। यह मुद्रा सब मुद्राओं में मुख्य है; इसका यत्न से गोपन करे मैं यह सत्य कहता हूं। इसे प्रकाशित करने से सिद्धि की हानि होती है।73,74।

आग्नेयीधारणामुद्रा

तन्नाभिस्थितमिन्द्रगोपसदृशं बीजं त्रिकोणान्वितं,
तत्त्वं वह्निमयं प्रदीप्तमरुणं रुद्रेणयत्सिद्धिदम्।
प्राणांस्तत्रविनीयपञ्चघटिकां चिन्तान्वितां धारये-
देषा कालगभीरभीतिहरिणी वैश्वानरीधारणा।७५।

भावार्थ - नाभि में अग्नि का वास है। इसका वर्ण इन्द्रगोप कीड़े के तुल्य है, अर्थात् लाल रंग है। रकार इसका बीज है, आकृति त्रिकोण है, रुद्र इसका देवता है। यह तत्व तेज:पुञ्जमय दीप्तिमान और सिद्धिप्रद है। योग से उदय कर चित्त के एकाग्र से पाँच घड़ी तक कुम्भक करके, प्राण को धारण करे- इसे आग्नेयीधारणा कहते हैं। इसके अभ्यास होने पर काल-भय नष्ट हो जाता है और इसके अभ्यासी की अग्नि से मृत्यु नहीं होती।75।

इसे और प्रकार से भी कहते हैं-

'नाभ्यूर्ध्वमण्डले वायुं धारयेत् पंचघटिकाम्।
आग्नेयीधारणा सेयं न मृत्युस्तस्य वह्निना॥
नदह्यते शरीरं हि प्रक्षिप्ते वह्नि कुन्डके।'

अर्थात् नाभि के ऊर्ध्व में पाँच घड़ी कुम्भक करके वायु धारण करे, इसे आग्नेयी धारणा कहते हैं। इसके अभ्यास से अग्नि से मृत्यु नहीं होती। यदि साधक को जलते हुए अग्नि-कुण्ड में भी डाल दें, तो वह नहीं जलता।

प्रदीप्ते ज्वलिते वह्नौ पतितो यदि साधकः।
एन्तमुद्राप्रसादेन स जीवति न मृत्युभाक्।७६।

भावार्थ - यदि साधक प्रदीप्त अग्नि में भी गिर जाए, तो भी इस मुद्रा के प्रभाव से जीवित रहेगा।76।

वायवीयधारणा

यद्भिन्नाञ्जनपुञ्जसन्निभमिदंधूम्रावभासं परे,
तत्त्वंसत्त्वमयं यकारसहितं यत्रेश्वरो देवता।

प्राणांस्तत्र विनीय पञ्चघटिकां चिन्तान्वितां धारयेत्।
एषाखेगमनं करोति यामिमांस्याद् वायवीधारणा।७७।

भावार्थ - घुटे हुए अंजन और धुएं के समान कृष्ण वर्ण। यकार बीज और देवता ईश्वर है। यह वायु तत्व सत्व गुणमय है। योग से इसके उदय होने पर एकाग्र मन से कुम्भक कर दो घण्टे तक प्राण को धारण करने से, वायवीयधारणा होती है। इसके अभ्यास होने पर वायु से मृत्यु नहीं होती और साधक को आकाश-गमन प्राप्त होता है।

इसका दूसरा लक्षण ऐसा भी है -

'नाभिभ्रुवोर्मध्ये तु प्रादेशद्वयसम्मिते।
धारयेत् पंचघटिकां वायुं सैवहिवायवी।।'

नाभि और भ्रूमध्य में दो बालिश्त स्थान में, कुम्भक द्वारा पांच घटिका वायु धारण करने से, यह वायवी धारणा होती है, इसका साधन सब विपत्तियों का विनाशक है।77।

इयं तु परमा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी।
वायुनाम्रियतेनापि खे च गति प्रदायिनी।७८।

शठायभक्तिहीनाय न देया यस्यकस्यचित्।
दत्तेचसिद्धिहानिः स्यात् सत्यं वच्मिच चण्डते।७९।

भावार्थ - यह मुद्रा जरा मृत्यु को दूर करती है। वायु से साधक की मृत्यु नहीं होती और आकाशगति प्राप्त होती है। भक्तिहीन शठ को इसे नहीं बताना चाहिये। हे चण्ड! ऐसा करने पर सिद्धि की हानि होती है, यह मैं सत्य कहता हूं। 78,79।

आकाशीधारणा

यत्सिद्धौवर शुद्धवारिसदृशं व्योमं परंभासितं,
तत्त्वंदेवसदाशिवेन सहितं बीजं हकारान्वितम्।

प्राणांस्तत्रविनीय पंचघटिकां चिन्तान्वितां धारयेत्,
एतां मोक्षकपाटभेदनकरीं कुर्यान्नभोधारणाम्।८०।

भावार्थ - आकाश तत्व का वर्ण विशुद्ध सागर जल सदृश है। सदाशिव देवता, हकार बीज है। प्राण संयम पूर्वक पांच घड़ी तक कुम्भक करने से इसकी सिद्धि होती है। इसकी सिद्धि से देवत्व और मुक्ति प्राप्त होती है।

'भ्रू मध्यादुपरिष्टात् धारयेत् पंचनाडिकाम्।
वायुं योगी प्रयत्नेन आकाशी धारणा शुभा।।
आकाश धारणां कुर्वन् मृत्युं जयति तत्त्वतः।
यत्रयत्रस्थितो योगी सुखमत्यन्तमश्नुते।'

यह मुद्रा पांच घड़ी तक भ्रूमध्य के ऊपर कुम्भक करने से होती है। इसे आकाशीधारणा कहते हैं। इससे मृत्यु को भी जीता जा सकता है। वासानुसार योगी को सौख्यवृद्धि होती है।80।

आकाशीधारणा मुद्रां यो वेत्ति स योगवित्।
न मृत्युर्जायते तस्य प्रलयेऽपि न सीदति।८१।

भावार्थ - जो योगवेता आकाशीधारणा को जानता है उसकी मृत्यु नहीं होती है। प्रलय में भी उसे खेद नहीं होता।81।

इस पंचधारणा की प्रशंसा योग ग्रन्थों में इस प्रकार की गयी है -

'मेधावीपंचभूतानां धारणांयः समभ्यसेत्।
शतब्रह्मागतेनापि मृत्युस्तस्य नविद्यते।।
एवं च धारणाः पंच कुर्याद् योगी विधानतः।
ततोदृढ़ शरीरस्यमृत्युस्यस्य न जायते।
इत्येवं पञ्चभूतानां धारणांयः समभ्यसेत्।।
ब्रह्मणः प्रलये चापिमृत्युस्तस्य न विद्यते।'

इसका अर्थ स्पष्ट है

आश्विनीमुद्रा

आकुंञ्चयेद् गुदाद्वारं प्रकाशयेत् पुनः पुनः।
साभवेदाश्विनीमुद्रा शक्तिप्रबोधकारिणी।८२।
आश्विनीपरमामुद्रा गुह्यरोगविनाशिनी।
वलपुष्टिकरीचैव अकालमरणंहरेत्।८३।

भावार्थ- बारबार गुह्येन्द्रिय का संकोच-प्रसारण करने को आश्विनी मुद्रा कहते हैं। इससे कुण्डलिनी जागती है, गुह्य रोग नष्ट होते हैं। बल पुष्टि की प्राप्ति होती है। और असमय की मौत टल जाती है। 82,83।

पाशिनीमुद्रा

कण्ठपृष्ठे क्षिपेत्पादौ पाशवद् दृढ़बन्धनम्।
सा एव पाशिनीमुद्रा शक्तिप्रवोधकारिणी।८४।
पाशिनी महतीमुद्रा बलपुष्टि विधायिनी।
साधिनीया प्रयत्नेन साधकैः सिद्धिकांक्षिभिः।८५।

भावार्थ- दोनों पाँवों को पाश की तरह गले में दृढ़ रूप से बाँधे, इसे पाशिनी कहते हैं। यह शक्ति को जगाती है। यह श्रेष्ठ मुद्रा है, बल पुष्टि चाहने वाले योगी को यत्नपूर्वक इसकी साधना करनी चाहिए। 84,85।

काकीमुद्रा

काकचञ्चु वदास्येन पिवेद् वायुं शनैः शनैः।
काकी मुद्रा भवेदेषा सर्वरोगविनाशिनी।८६।
काकीमुद्रा परामुद्रा सर्वतन्त्रेषुगोपिता।
अस्याः प्रसाद मात्रेण काकवन्नीरुजो भवेत्।८७।

भावार्थ- कौए की तरह चोंच (as a pipe) के समान मुँह को, जिह्वा निकाल कर बनावे। पुनः धीरे-धीरे वायु का पान करे- इसे काकीमुद्रा कहते हैं। इससे सभी रोग नष्ट होते हैं। यह परम गोपनीय मुद्रा है, इसके करने से योगी कौए के समान सर्वदा नीरोग रहता है।86,87।

मातंगिनीमुद्रा

कण्ठमग्ने जले स्थित्वा नासाभ्यां जलमाहरेत्।
मुखान्निर्गमयेत् पश्चात् पुनर्वक्त्रेण चाहरेत्।८८।

नासाभ्यां रेचयेत् पश्चात् कुर्यादेवं पुनः-पुनः।
मातङ्गिनी परामुद्रा जरामृत्युविनाशिनी।८९।

विरले निर्जने देशे स्थित्वा चैकाग्रमानसः।
कुर्यान्मातङ्गिनी मुद्रां मातङ्ग इव जायते।९०।

यत्र-यत्र स्थितो योगी सुखमत्यन्तमश्नुते।
तस्मात् सर्वं प्रयत्नेन साधयेत् मुद्रिकामिमाम्।९१।

भावार्थ- कण्ठ तक जल में खड़े होकर, नासिका के दोनों छेदों से जल खींचे और मुँह से निकाले; इसे बारम्बार करने से मातङ्गिनीं मुद्रा होती है। इससे जरामृत्यु का आक्रमण नहीं होता। निर्जनस्थान में बैठकर एकाग्रचित्त से इसे करे। इसके सिद्ध

होने से साधक हाथी के समान बली हो जाता है। इसके प्रभाव से योगी सर्वदा सुखी रहता है। अतः यत्नपूर्वक इस मुद्रा का साधन करें। 88, 89, 90, 91।

भुजंगिनी मुद्रा

वक्त्रंकिंचित् सुप्रसार्यं चानिलं गलयापिवेत्।
साभवेद्भुजंगिनीमुद्रा जरा मृत्यु विनाशिनी।९२।
यावच्ख उदरेरोगमजीर्णादिविशेषतः।
तत्सर्वनाशयेदाशु यत्रमुद्रा भुजङ्गिनी।९३।

भावार्थ- मुख को फैलाकर गले से वायु को पिए- इसे ही भुजङ्गिनी मुद्रा कहते हैं। इससे बुढ़ापा-मृत्यु दूर होते हैं। उदर के अजीर्णादि रोग इसके अभ्यास से नष्ट होते हैं।92,93।

माहात्म्यम्

इदं तु मुद्रा पटलं कथितं चण्डकापाले।
वल्लभंसर्वसिद्धानां जरामरणनाशकम्।९४।

शठायभक्तिहीनाय न देयं यस्यकस्यचित्।
गोपनीयं प्रयत्नेन दुर्लभं मरुतामपि।९५।

ऋजवेशान्तचित्ताय गुरुभक्तिपराय च।
कुलीनाय प्रदातव्यं भोगमुक्ति प्रदायकम्।९६।

मुद्राणां पटलं ह्येतत् सर्वव्याधि विनाशकम्।
नित्यमभ्यासशीलस्य जठराग्निविविर्धनम्।९७।

तस्य न जायते मृत्युर्नास्य वार्धक्यमायते।
न चाग्निजलमयं तस्य वायोरपिकुतोभयम्।९८।

कासः श्वासः प्लीहा श्लेष्मरोगाश्चविंशतिः।
मुद्राणां साधनाच्चैव विनश्यन्ति न संशयः।९९।

वहुनाकिमिहोक्तेनसारं वच्मि च चण्ड! ते।
नास्तिमुद्रा समंकिञ्चित् सिद्धिदंक्षितिमण्डले।१००।

भावार्थ- हे चण्डकापाले! यह मुद्रापटल जरा-मरण का नाश करने वाला, सब सिद्धों का प्रिय, तुम्हें बताया गया। इसे शठ भक्तिहीन जिस किसी को नहीं देना, देवताओं को भी दुर्लभ हैं इसकी प्रयत्न पूर्वक रक्षा करना। सरल, शान्त गुरुभक्तियुक्त कुलीन अधिकारी को ही, भुक्ति-मुक्ति प्रद इस योग को देना चाहिए। मुद्राओं का यह पटल सब रोगों का नाशक है। इसका जो नित्य पाठ करेगा उसकी जठराग्नि बढ़ेगी। उसकी मृत्यु-बुढ़ापा नहीं होगा। अग्नि, जल का भय उसे नहीं होगा। वायु का भय तो होगा ही कैसे। कास-श्वास प्लीहा श्लेष्म रोग जो बीस प्रकार के हैं; मुद्रा के साधन से नष्ट हो जाते हैं। हे चण्ड! बहुत कहाँ तक कहें मुद्राओं के समान पृथ्वी में कोई भी सिद्धिप्रद साधन नहीं है। 94 से 100 पर्यन्त।

卐 卐 卐

।तृतीयोपदेशः समाप्तः।।

चतुर्थोपदेशः

卐 卐

प्रत्याहारः

घेरण्ड-उवाच

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि प्रत्याहारमनुत्तमम्।
यस्य विज्ञान मात्रेण कामादिरिपुनाशनम्।१।

भावार्थ- हे चण्ड! अब प्रत्याहार का वर्णन करता हूं, जिसके करने से काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य--ये छः शत्रु नष्ट होते हैं।1।

यतो-यतो मनश्चरति चाञ्चल्यवशतः सदा।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशंनयेत्।२।

भावार्थ- चंचल मन जहाँ-जहाँ विचरे उसे वहाँ-वहाँ से लौटाकर आत्मा के वश में लावे।2।

पुरस्कारं तिरस्कारं सुश्राव्यंदुःश्रुतं तथा।
मनस्तस्मान्नियम्यैतदात्मन्येव वशंनयेत्।३।

भावार्थ- तिरस्कार-पुरस्कार, सुनने योग्य तथा अयोग्य की तरफ से मन को हटाकर आत्म-वश करे।3।

सुगन्धौ वापि दुर्गन्धो घ्राणेषुजायतेमनः।
तस्मात् प्रत्याहरेदेतदात्मन्येव वशंनयेत्।४।

मधुराम्लकतिक्तादिरसान्याति यदामनः।
तदाप्रत्याहरेत्तेभ्य आत्मन्येव वशंनयेत्।५।

भावार्थ- सुगन्ध दुर्गन्ध से भी मन को हटावे, मीठा, खट्टा, तीखा आदि रसों में मन चांचल्य हो तो उसे वहां से लौटाकर आत्मा में लगावे; इसे प्रत्याहार कहते हैं।4,5।

।चतुर्थोपदेशः समाप्तः।।

पञ्चमोपदेशः

卐 卐

प्राणायामः

घेरण्ड उवाच

अथातः संप्रवक्ष्यामि प्राणायामस्य यद् विधिम्।
यस्य साधनमात्रेण देवतुल्योभवेन्नरः।१।
आदौ स्थानं तथा कालं मिताहारं तथा परम्।
नाड़ीशुद्धिश्च तत् पश्चात् प्राणायामंच साधयेत्।२।

भावार्थ- अब प्राणायाम की विधि कहता हूँ, जिसके साधन से मनुष्य देवतुल्य हो जाता है। पहले-पहले स्थान तथा काल, मिताहार तथा नाड़ी शुद्धि करनी चाहिए। इन चारों के सिद्ध होने पर प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए।1,2।

स्थान निर्णयः

दूरदेशे तथारण्ये राजधान्यां तथान्तिके।
योगारम्भं न कुर्वीत कृतेच सिद्धिहाभवेत्।३।
अविश्वासंदूरदेशे अरण्येरक्षिवर्जितम्।
लोकाकुले प्रकाशश्चतस्मात् त्रीणिविवर्जयेत्।४।

भावार्थ- दूर देश में अविश्वास होता है, अरण्य में रक्षक-शून्य, जन समूह में प्रकाश होने का भय होता है। अतः इन तीनों स्थानों का परित्याग करना चाहिए।3,4।

सुदेशेधार्मिके राज्ये सुभक्ष्ये निरुपद्रवे।
कुटीं तत्र विनिर्माय प्राचीरैः परिवेष्टिताम्।५।

वापीकूपतड़ागं च प्राचीन मध्यवर्ति च।
नात्युच्चं नातिनीचं कुटीरं कीटवर्जितम्।६।

सम्यग्गोमयालिप्तं च कुटीरं तत्रनिर्मितम्।
एवं स्थानेषु गुप्तेषु प्राणायामं समभ्यसेत्।७।

भावार्थ- सुन्दर धार्मिक राज्य में, खाद्य पदार्थों की जहाँ सुलभता हो, ऐसे उपद्रव रहितदेश में कुटी बनाकर, चहार दीवार बनावे, जिसके अन्दरूनी भाग में तालाब, कुवां आदि भी हो। वह कुटी न बहुत नीची न बहुत ऊँची ही हो। गोबर से लिपी हुयी हो, कोई जानवर उसमें न हो; ऐसे गुप्त स्थान में प्राणायाम का अभ्यास करे।5,6,7।

काल निर्णयः

हेमन्तेशिशिरे ग्रीष्मे वर्षायां च ऋतौतथा।
योगारम्भं न कुर्वीत कृते योगोहि रोगदः।८।

वसन्ते शरदिप्रोक्तं योगारम्भं समाचरेत्।
तथा योगी भवेत् सिद्धी रोगान्मुक्तो भवेत् ध्रुवम्।९।

भावार्थ- हेमन्त, शिशिर, ग्रीष्म और वर्षा ऋतुओं में योगारम्भ न करे, इनके करने से रोग उत्पन्न करता है। वसन्त-शरद में ही योगाभ्यास करें, इनमें करने से सिद्धि तथा रोग निवृत्ति होती है।8,9।

चैत्रादि फाल्गुनान्ते माघादि फाल्गुनान्तिके।
द्वौ-द्वौ मासौ ऋतुभागौ अनुभावश्चतुश्चतुः।१०।
वसन्तश्चैत्र वैशाखौ ज्येष्ठाषाढ़ौ च ग्रीष्मकः।

वर्षा श्रावण भाद्राभ्यां शरदाश्विन कार्तिकौ।
मार्गपौषौ च हेमन्तः शिशिरोमाघफाल्गुनौ।११।

भावार्थ-चैत्र से लेकर फाल्गुन तक बारह मास, इनमें दो-दो मास की 6 ऋतुएँ होती हैं। माघ से लेकर दूसरे फाल्गुन तक चौदह मास होते हैं दो-दो मास की एक-एक ऋतु तथा चार-चार मास की भी अनुभूति होती है। चैत्र-वैसाख बसन्त, ज्येष्ठ-आषाढ़ ग्रीष्म, श्रावण, भादों वर्षा, कुंवार-कार्तिक शरद, अगहन-पौष हेमन्त और माघ-फाल्गुन शिशिर कहलाते है।10,11।

अनुभावं प्रवक्ष्यामि ऋतूनां च मयोदितम्।
माघादि माघवान्तेषु वसन्तानुभवस्तथा।१२।

चैत्रादिचाषाढान्तं च निदाघानुभवश्चतुः
आषाढ़ादिचाश्विनान्तं च प्रावृषानुभवश्चतुः।१३।

भाद्रादिमार्गशीर्षान्तं शरदानुभवश्चतुः।
कार्तिकादिमाघमासान्ते हेमन्तानुभवश्चतुः।१४।

वसन्ते वापिशरदि योगारम्भं समाचरेत्।
तदायोगीभवेत्सिद्धो विनायासेन कथ्यते।१५।

भावार्थ- माघ से लेकर वैसाख पर्यन्त वसन्त का अनुभव होता है। चैत्र आषाढ़ तक ग्रीष्म, आषाढ़ से कुंवार तक बर्षा, भादों से अगहन तक शरद, कार्तिक से माघ तक शीत् का अनुभव होता है। वसन्त और शरद ऋतु में योगारम्भ करे तब योग सिद्ध होता है। 12,13,14,15।

मिताहारः

मिताहारं विनायस्तु योगारम्भं तु कारयेत्।
नानारोगाभवन्त्यस्य किंचिद्योगो न सिध्यति।१६।

भावार्थ- जो मिताहार न करके योगारम्भ करता है; उसको नाना रोग उत्पन्न होते हैं। उसका योग सिद्ध नहीं होता।16।

शाल्यन्नं यवपिंड वा गोधूमपिंडकं तथा।
मुद्गं माषचणकादि शुभ्रं च तुषवर्जितम्।१७।

पटोलं पनसं मानं कंकोलं च शुकाशकम्।
द्राढ़िका कर्क्करी रम्भोदुम्वरी कंट कंटकम्।१८।

आमरम्भावालरम्भा रम्भादण्डं च मूलकम्।
वार्ताकी मूलकं ऋद्धि योगी भक्षणमाचरेत्।१९।

वालशाकं कालशाकं तथा पटोलपत्रकम्।
पंचशाकं प्रशंसीयात् वास्तुकं हिलमोचिकाम्।२०।

शुद्धं सुमधरं स्निग्धं उदरार्धविवर्जितम्।
भुज्यते सुरसं प्रीत्या मिताहारमिमं विदुः।२१।

भावार्थ- योगी चावल, जौ का सत्तू, गेहूं का आटा, मूंग, उड़द, चना आदि साफ भूसीरहित करके खावे। परवल, कटहल, मानकन्द, शीतलचीनी, करेला, कन्दुर, अरहर, ककड़ी,केला, गूलर और चौराई आदि का शाक खावे। कच्चा, पक्का, केले के गुच्छे का दण्ड, उसकी जड़, बैंगन, ऋद्धि इन्हें खावे। कच्चा शाक, सामयिक शाक, परवल के पत्ते, बथुआ और हुरहुर ये पाँच शाक खावे। निर्मल, सुमधुर और स्निग्ध सुरस द्रव्य से, सन्तोष के साथ आधे पेट को भरे, आधे को खाली रक्खे- इसे मिताहार कहते हैं।17 से 21।

अनेन पूरयेदर्धं तोयेन तु तृतीयकम्।
उदंरस्य तृतीयाशं संरक्षेद् वायुचारणे।२२।

भावार्थ- उदर के आधे भाग को अन्न से भरे, तीसरे को जल से, चौथे को वायु संचार के लिए रिक्त रक्खे।22।

अब इसके आगे त्याग करने की बातें बताते हैं।

निषिद्ध आहार

कट्वम्ले लवणं तिक्तं भ्रष्टं च दधितक्रकम्।
शाकोत्कटं तथामद्यं तालं च पनसंतथा।२३।

कुलत्थं मसूरं पाण्डुं कूष्माण्डं शाकदण्डकम्।
तुम्वीकोल कपित्थं च कंटविल्वपलाशकम्।२४।

कदम्वं जम्वीरं लिम्वं लकुचं लशुनं विषम्।
कामरङ्गं प्रियालं च हिंगुशाल्मलिकेमुकम्।२५।

भावार्थ- कड़ुआ, अम्ल, लवण, तिक्त ये चार रस वाली चीजें, भुनी हुई चीजें, दही-मट्ठा, शक्कर, शाक, पेठा, शाकदण्ड घीयाबेर, कैथ, काँटेदार बेल, ढाक, कदम्ब के फूल, जम्वीरी, लकुच, लहसुन, विष, कमरख, प्याज, हींग, सेमर गोभी-इनका योगारम्भ के समय सेवन न करे। 23,24,25।

योगारम्भे वर्जयेत् पथस्त्रीवह्नि सेवनम्।
नवनीतंघृतंक्षीरं गुडशक्रादिचैक्षवम्।
द्राक्षातु नवनीधात्रीं रसमम्लं विवर्जितम्।
पञ्चरम्भा नारिकेलं दाडिमंमशिवांरसम्।२६।

भावार्थ- योगारम्भ के समय मार्गश्रम, स्त्री-सेवन, अग्नि से तापना आदि का परित्याग करे। मक्खन, घी, गुड़, ईख से निर्मित शक्कर, पाँच प्रकार के केले, नारियल, अनार, सौंफ, नोनियाँ, आंवले और अम्लरस वाली वस्तुएें न खावे।26।

एलां जातिलवङ्गं च पौरुषं जम्बुजाम्बुलम्।
हरीतकीं च खर्जूरं योगी भक्षणमाचरेत्।२७।

लघुपाकं प्रियंस्निग्धं तथा धातुप्रपोषणम्।
मनोऽभिलषितं योग्यं योगी भोजनमाचरेत्।२८।

भावार्थ- इलायची, जायफल, लोंग, तेजोदायक पदार्थ, जामुन, कटजामुन, हर्रे, खर्जूर-इन्हें खावे। सरलता से पचने वाले, चिकने, धातु पौष्टिक, मन के अनुकूल पदार्थ को योगी सेवन करे। 27, 28।

काठिन्यं दुरितं पूतिमुष्णं पर्युषितं तथा।
अतिशीतं चातिचोग्रं भक्ष्यं योगीविवर्जयेत्।२९।

प्रातः स्नानोपवासादि कायक्लेशविधिं विना।
एकाहारं निराहारं यामान्ते च न कारयेत्।३०।

भावार्थ- कड़ी चीज खाने से पाप-वासना-जनक दुर्गन्ध, अति-उष्ण, बासी-ठंडा और उग्र भोजन-इनका त्याग करे। शरीर को कष्ट पहुंचाना, प्रातःस्नान, उपवास, एकाहार, एक पहर बाद भोजन करना इन बातों को योगी छोड़ दे।29,30।

एवं विधिविधानेन प्राणायामं समाचरेत्।
आरम्भे प्रथमं कुर्यात् क्षीराज्यं नित्य भोजनम्।
मध्यान्हे चैव सायान्हे भोजनद्वयमाचरेत्।३१।

भावार्थ- इस प्रकार नियमानुकूल प्राणायाम का अभ्यास करे। प्राणायाम करने से पहिले प्रतिदिन घी और दूध का सेवन करे। मध्याह्न एवं सायं दो ही बार भोजन करें।31।

नाड़ी शुद्धिः

कुशासने मृगाजिने व्याघ्राजिने च कम्वले।
स्थलासनेसमासीनः प्राङमुखोवाप्युदङ मुखः।
नाड़ीशुद्धिं समासाद्य प्राणायामं समभ्यसेत्।३२।

भावार्थ- कुशासन, मृग, ब्याघ्र, कम्बल, स्थल इनमें से कोई आसन पर पूर्वमुख या उत्तरमुख स्थित होकर नाड़ी-शुद्धि करके प्राणायाम का साधन करे।32।

चण्डकापालिरुवाच

नाड़ीशुद्धिंकथं कुर्यान्नाड़ीशुद्धिश्च कीदृशी।
तत्सर्व श्रोतुमिच्छामि तद्वदस्वदंयानिधे।३३।

भावार्थ- चण्डकापालि ने घेरण्ड मुनि से पूंछा कि नाड़ी-शुद्धि कैसे करना चाहिए। उसका स्वरूप क्या है? इसे विस्तार से सुनना चाहता हूँ; उसे आप कहें।33।

घेरण्ड उवाच

मलाकुलासुनाड़ीसु मारुतो नैवगच्छति।
प्राणायामः कथं सिद्धस्तत्त्वज्ञानं कथं भवेत्।३४।
नाड़ीशुद्धिर्द्विधाप्रोक्ता समनुर्निर्मनुस्तथा।
वीजेन समनुं कुर्यान्निर्मनुँ धौतिकर्मणा।३५।

धौतिकर्मपुराप्रोक्तं षट्कर्मसाधनं यथा।
श्रुणुष्व समनुं चण्ड नाड़ीशुद्धिंयथाभवेत्।३६।

भावार्थ- मल से भरी हुई नाड़ियों में पवन का प्रवाह नहीं होता। फिर प्राणायाम साधन कैसा, और तत्वज्ञान ही कैसे हो, इसलिए पहले नाड़ी-शोधन करना चाहिए। नाड़ी शोधन समनु और निर्मनु भेद से दो प्रकार का है। बीज मन्त्र से जो नाड़ी शोधन होता है- उसे समनु और धौति-कर्म से होने वाले शोधन को निर्मनु कहते हैं। धौति कर्म का पहिले निरूपण किया जा चुका है। समनु नाड़ी-शुद्धि को सुनो।34,35,36,।

उपविश्यासने योगी पद्मासनमाचरेत्।
गुर्वादिन्यासनं कुर्याद्यथैव गुरुभाषितम्।३७।

नाड़ीशुद्धिं प्रकुर्वीत प्राणायामविशुद्धये।
वायुवीजं ततोध्यात्वा धूम्रवर्ण सतैजसम्।३८।

चन्द्रेणपूरयेद्वांयुं वीजैः षोडशकैः सुधीः।
चतुःषष्टयामात्रया च कुम्भकेनैव धारयेत्।
द्वाविंशन्मात्रयावायुं सूर्यनाड्या च रेचयेत्।३९।

भावार्थ- पद्मासन से बैठकर गुर्वादिन्यास करे। गुरु की आज्ञा से प्राणायाम के साधन के लिए नाड़ी शुद्धि करे। फिर वायु-बीज 'यँ' का ध्यान करे। इसे सोलह बार जपता हुआ बायीं नासिका से वायु को खींचें ध्यान के समय इस वायु-बीज को तेजोमय धूम्रवर्ण का मानना चाहिए। पूरक के बाद चौंसठ बार जपने से कुम्भक करे, बत्तीस बार जपता हुआ, दाहिनी नासिका से रेचक करे। 37 से 39।

नाभिमूलाद्वह्निमुत्थाप्य धारयेत्तेजोवनीयुतम्।
वह्निवीजषोडशेन सूर्यनाडया च पूरयेत्।४०।

चतुः षष्ट्या मात्रया च कुम्भकेनैवधारयेत्।
द्वात्रिशन्मात्रयावायुं चन्द्रनाड्या च रेचयेत्।४१।

भावार्थ- नाभि में अग्नितत्व को उदित कर 'लँ' युक्त पृथिवी तत्त्व को मिलाकर ध्यान करें। षोडशमात्रा 'रँ' बीज का ध्यान कर दाहिने नासापुट को भरे, चौंसठ मात्रा से कुम्भक करे, बत्तीस मात्रा से जप करता हुआ रेचक करे।40,41।

नासाग्रेशशधृग्विम्बे ध्यात्वा ज्योत्स्नासमन्वितम्।
हं वीजषोडशेनैव इड्यापूरयेन्मरुत्।४२।

चतुःषष्ट्या मात्रया च वं वीजेनैवधारयेत्।
अमृतं प्लावितं ध्यात्वा नाड़ीधौतिं विभावयेत्।४३।

भावार्थ- नासिका के अग्रदेश में चन्द्रबिम्ब के ध्यान पूर्वक 'हँ' बीज को सोलह मात्रा से जप करे, और वामनासिका से 'यँ' बीज वायु को भरे, पुनः 'वँ' बीज-इस बीज से चौंसठ बार बोलता हुआ, सुषुम्ना नाड़ी में कुम्भक द्वारा वायु धारण करें। नासिकाग्र से अमृत टपक रहा है, उससे शरीर की सभी नाड़ियाँ धुल रही हैं। इस प्रकार ध्यान करके 'लँ' बीज का बत्तीस बार जपता हुआ भरे हुए वायु को दक्षिण नासा से रेचक करे।42,43।

एवं विधां नाड़ीशुद्धिं कृत्वा नाड़ी विशोधयेत्।
दृढ़ोभूत्वासनं कृत्वा प्राणायामं समाचरेत्।४४।

भावार्थ- इस प्रकार नाड़ी शुद्धि से नाड़ी का शोधन करके आसन पर दृढ़ता से बैठकर प्राणायाम का अभ्यास करे।44।

सहितः सूर्यभेदश्च उज्जायीशीतली तथा।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा केवली चाष्टकुम्भकाः।४५।

भावार्थ- सहित, सूर्यभेद, उज्जायी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा और केवली कुम्भक, ये आठ कुम्भक हैं।45।

सहितो द्विविधः प्रोक्तः प्राणायामं समाचरेत।
सगर्भोवीजमुच्चार्य निगर्भो वीजवर्जितः।४६।

भावार्थ- सहित कुम्भक दो प्रकार का है, जो बीज मन्त्र के साथ कुम्भक होता है, उसे सगर्भ तथा बीजमन्त्र रहित को निगर्भ कुम्भक कहते हैं।46।

प्राणायामं सगर्भं हि प्रथमं कथयामिते।
सुखासने चोपविश्य प्राङ्मुखोवाप्युदङ्मुखः।
ध्यायेद् विधिं रजोगुण्यं रक्तवर्णमवर्णकम्।४७।

भावार्थ- सगर्भ प्राणायाम की विधि प्रथम कहता हूं, सुनो, पूर्वमुख या उत्तरमुख होकर, सुख पूर्वक आसन पर बैठकर ब्रह्मा का ध्यान करें, ब्रह्मा लालवर्ण आकार रूपी और रजोगुण युक्त है।47।

इडया पूरयेद्वायुं मात्रया षोडशैः सुधीः।
पूरकान्ते कुम्भकान्ते कर्त्तव्यस्तूड्डीनकः।४८।

सत्वमयं हरिं ध्यात्वा उकारं कृष्णवर्णकम्।
चतुःषट्या मात्रया च कुम्भकेनैव धारयेत्।४९।

तमोमयं शिवं ध्यात्वा मकारंशुक्लवर्णकम्।
द्वात्रिंशन्मात्रया चैव रेचयेद् विधिनापुनः।५०।

भावार्थ- बायें नासापुट से 'अँ' बीज को सोलह बार जपता हुआ वायु भरे, कुम्भक के पूर्व और पूरक के अन्त में उड्डीयान बन्ध करे। फिर सत्त्वगुण युक्त उंकार बीज कृष्णरूप हरि का ध्यान कर चौंसठ बार जप करता हुआ कुम्भक करे। तमोगुणी मकार रूपी शिव के ध्यान के साथ 'मँ' बीज को बत्तीस बार जपता हुआ रेचक करे।48,49,50।

पुनः पिंगलयापूर्व कुम्भकेनैव धारयेत्।
इडयारेचयेत् पश्चात् तद्वीजेन यथाक्रमः।५१।

अनुलोमविलोमेन वारं वारं च साधयेत्।
पूरकान्ते कुम्भकान्ते धृतनाशापुटद्वयम्।
कनिष्ठिकानामिकांगुष्ठैस्तर्जनीमध्यमांविना।५२।

भावार्थ- फिर दाहिने स्वर से पूरक आदि उक्त रीति से करके कुम्भक करे, एवं बायीं से रेचक करे। इस प्रकार अनुलोम विलोम रीति से करता हुआ, तर्जनी, मध्यमा इन अंगुलियों को न लगावे। अर्थात् बाम नासिका को कनिष्ठिका और अनामिका से और दक्षिण नासिका को केवल अंगूठे से पकड़े।51,52।

निगर्भः

प्राणायामं निगर्भं तु विनावीजेन जायते।
एकादिशतपर्यन्तं पूरककुम्भकरेचनम्।५३।

उत्तमा विंशति मात्रा षोडशी मध्यमा तथा।
अधमा द्वादशी मात्रा प्राणायामास्त्रिधामताः।५४।

अधमाज्जायते धर्म मेरुकम्पं च मध्यमात्।
उत्तमाद् भूमित्यागं च त्रिविधं सिद्धिलक्षणम्।५५।

भावार्थ- बिना बीज मन्त्र के निगर्भ प्राणायाम होता है। पूरक-कुम्भक, रेचक इन तीन अङ्ग वाले प्राणायाम की एक से सौ तक मात्राएँ हैं। पूरक एक गुण मात्रा, रेचक द्विगुण मात्रा, कुम्भक चतुर्गुण मात्रा का होता है। इसी प्रकार उत्तम प्राणायाम बीस मात्रा का, सोलह का मध्यम, बारह का अधर्म है। उत्तम के साधन में पूरक 20 मात्रा का, कुम्भक 80 मात्रा का, रेचक 40 का है। ऐसा ही मध्यम अधम है। अर्थात् सोलह और बारह के हिसाब से करना चाहिए। अधम के साधन में पसीना आता है, मध्यम के साधन में मेरुकम्पन होता है। उत्तम में भूमि त्यागकर आकाश

में विचरता है। पसीना, मेरुकम्प और भूमित्याग, ये तीनों सिद्धि-लक्षण हैं। 53,54,55।

प्राणायामात् खेचरत्वं प्राणायामाद् रोगनाशनम्।
प्राणायामाद् बोधयेच्छक्तिं प्राणायामान्मनोन्मनी।
आनंदोजायते चित्ते प्राणायामी सुखी भवेत्।५६।

भावार्थ- प्राणायाम साधन से आकाश-गमन, रोग की निवृत्ति तथा कुण्डलिनी शक्ति का जागरण होता है। जो प्राणायाम का साधन करता है, उसके चित्त में अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है और वह सुखी रहता है।56।

सूर्यभेदः

घेरण्ड उवाच

कथितं सहितं कुम्भं सूर्यभेदनकं श्रृणु।
पूरयेत् सूर्यनाड्या च यथा शक्ति बहिर्मरुत्।५७।

धारयेत् वहुयत्नेन कुम्भकेन जलन्धरैः।
यावत्स्वेदनखकेशाभ्यां तावत्कुर्यात् हि कुम्भकम्।५८।

भावार्थ- घेरण्ड मुनि ने कहा, हे चण्ड! सहित कुम्भक कह चुका। अब सूर्यभेद कहता हूं, सुनो, पहले जालन्धर-बन्ध से दक्षिण नासिका से वायु भरे, अति यत्न से कुम्भक करके इसे धारण करे। जब तक पैर से केश पर्यन्त पसीना न आ जावे, तब तक कुम्भक द्वारा वायु को धारण करे।57।58।

प्राणोऽपानः समानश्च व्यानोदानौ तथैव च।
नागः कूर्मः कृकरो देवदत्तो धनंजयः।५९।

हृदिप्राणो वहेन्नित्यं अपानो गुदमण्डले।
समानो नाभिदेशेतु उदानः कण्ठमध्यमः।६०।

व्यानो व्याप्य शरीरे तु प्रधानाः पंचवायवः।
प्राणाद्याः पंच विख्याता नागाद्याः पंचवायवः।६१।

तेषामपि च पंचानां स्थानानि च वदाम्यहम्।
उद्गारे नाग आख्यातः कूर्मस्तून्मीलनेस्मृतः।६२।

कृकरःक्षुत्कृतेज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे।
न जहाति मृतेक्वापि सर्वव्यापी धनञ्जयः।६३।

नागोगृह्णाति चैतन्यं कूर्मश्चवनिमेषणम्।
क्षुत्तृट् कृकरश्चैव चतुर्थेन तु जृम्भणम्।६४।
भवेत् धनञ्जयाच्छब्दं क्षणमात्रं न निःसरेत्।

भावार्थ- प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान, नाग, कूर्म, कृकर, दैवदत्त, धनञ्जय, ये दश प्राण हैं। हृदय में प्राण, गुदा में अपान, नाभि में समान, कण्ठ में उदान, सारे शरीर में व्यान, ये पांचों प्राण प्रसिद्ध हैं। नागादि भी प्राण कहे जाते हैं। इन्हें उपप्राण कहते हैं। उद्गार में नाग, उन्मीलन में कूर्म, क्षुधा में कृकर, जँभाई में देवदत्त, मरने पर भी जो शरीर त्याग नहीं करता उसे धनञ्जय कहते हैं। नाग से चेतनता, कूर्म से निमेषण, क्षुधा-तृषा कृकर से, देवदत्त से जँभाई, धनञ्जय से शब्द होता है। यदि क्षण मात्र भी वह न निकले।59 से 64।

सर्वेते सूर्यसम्भिन्ना नाभिमूलात्समुद्धरेत्।
इडयारेचयेत् पश्चात् धैर्येणाखण्डवेगतः।६५।

पुनः सूर्येणचाकृष्य कुम्भयित्वा यथाविधि।
रेचयित्वा प्रसाधयेत् क्रमेणच पुनः-पुनः।६६।

कुम्भकः सूर्यभेदश्च जरामृत्युविनाशकः।
बोधयेत् कुण्डलीं शक्तिं देहानल विवर्धनम्।६७।
इतिते कथितं चण्डं सूर्यभेदनमुत्तमम्।

भावार्थ- कुम्भक करते समय उक्त प्राणादि वायुओं को पिंगला नाड़ी से विभिन्न कर नाभि-मूल देश से समान वायु को उठावे, फिर धैर्य पूर्व बाम नासा से रेचन करे। पुनः दक्षिण नासापुट से वायु भर, सुषुम्ना से कुम्भक कर, वाम नासा से रेचन करे; बारम्बार इसे करे- इसे ही सूर्यभेद कहते हैं। यह कुम्भक जरा-मृत्यु को नष्ट करता है। इससे कुण्डली शक्ति जागती है और देहस्थ अग्नि उठती हैं। हे चण्ड, इस प्रकार सूर्य भेद नामक उत्तम कुम्भक तुम्हें बताया। 65,66,67।

उज्जायीकुम्भकः

नासाभ्यां वायुमाकृष्य वायुं वक्त्रेण धारयेत्।
हृद्गलाभ्यां समाकृष्य मुखमध्ये च धारयेत्।६८।

मुखं प्रक्षाल्य संबन्धं कुर्याज्जालन्धरं ततः।
अशक्तिकुम्भकं कृत्वा धारयेदविरोधतः।६९।

उज्जायी कुम्भकं कृत्वा सर्वकार्याणि साधयेत्।
न भवेत् कफरोगं च क्रूरवायुरजीर्णकम्।७०।

आमवातं क्षयं कासं ज्वर प्लीहा न विद्यते।
जरामृत्युविनाशाय चोज्जायीसाधयेन्नरः।७१।

भावार्थ- बाहर रहे हुए वायु को नासिका-द्वय से खींचकर, अन्तस्थ वायु को हृदय, गले से खींचकर, कुम्भक योग द्वारा भीतर धारण करे। मुख प्रक्षालन कर जालन्धर मुद्रा को बांधकर निर्विघ्न रीति से शक्ति के अनुसार धारण करे। इसे उज्जायी कुम्भक कहते हैं। इससे सर्वकर्म सिद्ध होते हैं। श्लेष्म रोग, दुष्ट वायु, अजीर्ण, आमवात, क्षय, कास, जवर, प्लीहा ये सब रोग दूर होते हैं। जो व्यक्ति जरा-व्याधि को पराजित करना चाहता है- उसे उज्जायी कुम्भक का अभ्यास अवश्य करना चाहिए।68 से 71।

शीतलीकुम्भकः

जिह्वयावायुमाकृष्य उदरे पूरयेच्छनैः।
क्षणं च कुम्भकं कृत्वा नासाभ्यां रेचयेत् पुनः।७२।

सर्वदा साधयेद्योगीशीतली कुम्भक शुभम्।
अजीर्णं कफपित्तं च नैव देहे प्रजायते।७३।

भावार्थ- जिह्वा द्वारा वायु को खींचकर पेट को वायु से पूर्ण करदे, फिर कुछ समय तक कुम्भक योग से वायु को धारण कर दोनों नासापुट से निकाल दे, इसे शीतली कहते हैं। साधक को इसका अनुष्ठान करना चाहिए। इसके साधन से अजीर्ण, कफ और पित्त से उत्पन्न हुए सब रोग नष्ट हो जाते हैं।72,73।

भस्त्रिकाकुम्भकः

भस्त्रैव लौहकारणां यथाक्रमेण सम्भ्रमेत्।
ततो वायुः च नासाभ्यामुभाभ्यां चालयेच्छनैः।७४।

एवं विंशतिवर च कृत्वा कुर्याच्चा कुम्भकम्।
तदन्ते चालयेद्वायुः पूर्वोक्तं च यथाविधि।७५।

त्रिवारं साधयेदेनंभस्त्रिका कुभकं सुधीः।
न च रोगं न च क्लेशमारोग्यं च दिने-दिने।७६।

भावार्थ- जैसे लोहार धोंकनी द्वारा वायु भरता है। उसी तरह नासिका द्वारा वायु को पेट में भर, धीरे-धीरे पेट में चालित करे। इस प्रकार बीस बार करके कुम्भक कर, वायु को धारण करें। फिर लोहार की धोंकनी से जैसे वायु निकलती है, वैसे ही नासिका से वायु को निकाले इसे ही भस्त्रिका कुम्भक कहते हैं। इसी प्रकार यथानियम तीन बार करे, इसके प्रभाव से किसी प्रकार की व्याधि नहीं होती। आरोग्य दिन-दिन बढ़ता।74,75,76।

भ्रामरीकुम्भकः

अर्धरात्रिगतेयोगी जन्तूनांशब्दवर्जिते।
कर्णौपिधाय हस्ताभ्यां कुर्यात् पूरक कुम्भकम्।७७।

ऋणुयाद् दक्षिणे कर्णे नादमन्तर्गतंशुभम्।
प्रथमं झिंझिनाद च वंशीनादं ततः परम्।७८।

मेघझर्झरभ्रमरीघंटा कास्यं ततः परम्।
तुरीभेरी मृदङ्गादि निनादानक दुंदुभिः।७९।

एवं नानाविधं नादं जायते नित्यमभ्यसात।
अनाहतस्य शब्दस्य तस्य शब्दस्य योध्वनिः।८०।

ध्वनेरन्तर्गतज्योतिर्ज्योत्तिरन्तर्गतं मनः।
तन्मनोविलयंयाति तद्विष्णोः परमं पदम्।८१।
एवं च भ्रामरी सिद्धिः समाधि सिद्धिमाप्नुयात्।

भावार्थ- आधीरात होने पर जब किसी जीव का शब्द न सुनाई दे, तब ऐसे स्थान में जाकर योगी अपने हाथों से दोनों कानों को बन्द करके पूरक-कुम्भक का अनुष्ठान करे। ऐसा करने से साधक को दाहिने कान में नाना प्रकार के शब्द सुनायी देते हैं। पहले झींगुर का शब्द, इसके बाद वंशीनाद, फिर मेघ, फिर झर्झर, बाजे की ध्वनि, फिर भ्रमर की ध्वनि, फिर घण्टा, फिर काँसे के पात्र, तुरही, भेरी, मृदङ्ग और नगाड़ा का शब्द सुनायी देता है। हृदय में द्वादश दल कमल में होने वाले शब्द की प्रतिध्वनि सुनायी देती है। निमीलित नेत्र से हृदय में द्वादशदल कमल की प्रतिध्वनि के बीच ज्योति का निरीक्षण करता है। यह ज्योति ही ब्रह्म है। इसमें योगी का मन लय होकर उसे विष्णु का परमपद प्राप्त होता है। इस प्रकार भ्रामरी मुद्रा सिद्ध होती है। इसके सिद्ध होने पर समाधि सिद्ध होती है।77 से 81।

मूर्च्छाकुम्भकः

मुखेन कुम्भकं कृत्वा मनश्च भ्रूवोरन्तरम्।
सन्त्यज्य विषयान् सर्वान् मनोमूर्च्छासुखप्रदम्।
आत्मनि मनसो योगादानन्दो जायते ध्रुवम्।८२।

भावार्थ- पहिले मुख से, पूर्व कहे हुए कुम्भक करके, विषयों से मन को हटाकर भ्रूमध्य में स्थित आज्ञाचक्र में मन को लगाकर, इस पद्म में स्थित परमात्मा में लय करदे-इसे मूर्च्छा कहते हैं। इस कुम्भक से आनन्द लाभ होता है।82।

केवलीकुम्भकः

हंकारेण वहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः।
षट् शतानिदिवारात्रौ सहस्राणियेक विंशतिः।
अजपानाम गायत्रीं जीवोजपति सर्वदा।८३।

भावार्थ- श्वास के निकलने पर 'हँ' प्रवेश पर सकार इस तरह 21600 संख्या में होते हैं। इसी हंस या सोहं को अजपा नाम गायत्री कहते हैं, इसे जीव बराबर जपता रहता हैं। यह संख्या दिन रात की है। 83।

मूलाधारे यथा हंसस्तथाहि हृदिपंकजे।
तथानासापुटे द्वन्द्वे त्रिविधं संगमागमम्।८४।

षण्णवत्यंगुलीमानं शरीरं कर्मरूपकम्।
देहाद्वहिर्गतोवायुः स्वभावो द्वादशांगुलिः।८५।

गायने षोडशांगुल्यं भोजने विंशतिस्तथा।
चतुर्विंशांगुलिर्मार्गे निद्रायां त्रिशदंगुलिः।
मैथुने षट्त्रिंशदुक्तं व्यायामे च ततोऽधिकम्।८६।

भावार्थ- मूलाधार, हृदय पद्म एवं नासापुट में, इन तीनों स्थानों में हंस स्वरूप अजपा का जप होता है, क्योंकि इन तीनों स्थानों में वायु का आना-जाना होता है। स्थूल शरीर का परिमाण 96 अंगुल का है। स्वाभाविक वर्हिगत वायु की गति बारह अंगुल है। यही गति गायन में सोलह अंगुल, भोजन में बीस, मार्ग चलने में चौबीस, निद्रा में तीस, मैथुन में छत्तीस और व्यायाम में इससे भी अधिक हो जाती है।84,85,86।

स्वभावेऽस्यगते न्यूनं परमायुः प्रवर्धते।
आयुःक्षयोऽधिके प्रोक्तो मरुतोचान्तराद्गते।८७।

तस्मात्प्राणे स्थिते देहे मरणं नैव जायते।
वायुनाघट सम्बन्धे भवेत् केवलकुम्भकः।८८।

यावज्जीवोजपेन्मन्त्रमजपासंख्यकेवलम्।
अद्यावधिधृतं संख्या विभ्रमं केवली कृते।८९।

अतएव हि कर्त्तव्यः केवलीकुम्भको नरैः।
केवली चाजपासंख्या द्विगुणाच मनोन्मनो।९०।

भावार्थ- स्वाभाविक प्राण की गति द्वादश अंगुल की होती है। यदि इससे कम गति हो तो आयु बढ़ जाती है। बारह अंगुल से अधिक होने पर आयु क्षीण हो जाती हैं। जब तक शरीर में प्राण वायु रहता है, तब तक मृत्यु नहीं होती। कुम्भक अभ्यास से प्राणवाुय को ही मुख्य जानना चाहिए। जीव का शरीर जब तक रहे, केवली करके परिमित्त संख्या में अजपा मन्त्र जपे। केवली करने पर (21600) गति संख्या में कमी हो जाती है और आयु बढ़ जाती है। अतः इसे अवश्य करना चाहिए। अजपा की संख्या से दुगुनी करे, तो चित्त में बड़ा आनन्द होता है।87 से 90।

नासाभ्यां वायुमाकृष्य केवलं कुम्भकं चरेत्।
एकादिकचतुःषष्टि धारयेत् प्रथमे दिने।९१।

केवलीमष्टधा कुर्याद् यामे-यामे दिने-दिने।
अथवा पञ्चधा कुर्याद् यथातत्कथयामि ते।९२।

प्रातर्मध्याह्नसयाह्ने मध्यैरात्रिचतुर्थके।
त्रिसन्ध्यमथवा कुर्यात् सममाने दिने दिने।९३।

पञ्च वारं दिने वृद्धिवरिकं च दिने तथा।
अजपापरिमाणं च यावत् सिद्धिः प्रजायते।९४।

प्राणायामं केवलीं च तदावदति योगवित्।
कुम्भके केवली सिद्धौ किं न सिध्यति भूतले।९५।

भावार्थ- नासापुटों से वायु को खींचकर केवल कुम्भक का अनुष्ठान करे। पहले दिन इस कुम्भक का साधन करने पर चौंसठ बार तक, श्वास प्रश्वास वायु को धारण करे। इस कुम्भक को आठ प्रहर में रोज आठ बार अभ्यास करें। अर्थात प्रातः, मध्याह्न, सायं और रात्रि के शेष भाग में इसका साधन करें। अथवा प्रातः, मध्याह्न, सायं इन तीनों कालों में समान संख्या में साधे। जब तक यह कुम्भक सिद्ध न हो तब तक अजपा के साथ, प्रमाण से पांच बार के क्रम से बढ़ाता जाय।91,92,93,94,95

卐 卐 卐

।।पञ्चमोपदेशः समाप्तः।।

षष्ठोपदेशः

卐 卐

ध्यानयोगः

घेरण्ड-उवाच

स्थूलं ज्योतिस्तथासूक्ष्मं ध्यानस्य त्रिविधं विदुः।
स्थूलं मूर्तिमयं प्रोक्तं ज्योतिस्तेजोमयं तथा।
सूक्ष्मं विन्दुमयं ब्रह्मकुण्डली पर देवता।१।

भावार्थ- ध्यान तीन प्रकार का होता है- स्थूल ध्यान, ज्योतिर्ध्यान और सूक्ष्म ध्यान। जिसमें मूर्ति, इष्ट देवता अथवा गुरु का चिंतन हो उसे स्थूल और जिसमें तेजोमय ब्रह्म या शक्ति की भावना हो उसे ज्योतिर्ध्यान कहते हैं। जिस ध्यान द्वारा विन्दुमय ब्रह्म कुण्डलिनी शक्ति का ध्यान हो उसे सूक्ष्म ध्यान कहते हैं।।१।

स्थूलध्यानम्

स्वकीयहृदयेध्यायेत् सुधासागरमुत्तमम्।
तन्मध्ये रत्नद्वीपं तु सुरत्नवालुकामयम्।२।

चतुर्दिक्षुन्नीपतरु वहुपुष्पसमन्वितः।
नीपोपवन संकूले वेष्टितं परिखा इव।३।

मालती मल्लिका जातीकेशरैश्चम्पकैस्तथा।
पारिजातैः स्थूलैः पद्मैर्गन्धामोदितदिङ्मुखैः।४।

भावार्थ- नेत्र बन्द करके अपने हृदय में सुधा-सागर का ध्यान करे। उसके मध्य में रत्नमय द्वीप का तथा वह द्वीप रत्नमयी बालुका से शोभा दे रहा है। उसके चारों ओर कदम्ब वृक्षों से शोभा हो रही है, पुष्पों के खिलने से वृक्ष शोभित हो रहे हैं। कदम्ब वन के चारों ओर मालती, चमेली, केशर, चम्पा, पारिजात, पद्म से इस द्वीप की खाई बनी है तथा इनके सुगन्ध से चारों दिशाएं मँहक रही है।। 2,3,4।

तन्मध्ये संस्मरेद्योगी कल्पवृक्षं मनोहरम्।
चतुः शाखचतुर्वेदं नित्य पुष्पफलान्वितम्।५।

भ्रमराःकोकिलास्तत्र गुंजन्तिनिगदन्ति च।
ध्यायेत्तत्रस्थिरोभूत्वा महामाणिक्यमण्डपम्।६।

तन्मध्येतुस्मरेद्योगी पर्यङ्कं सुमनोहरम्।
तत्रेष्टदेवतांध्यायेद् यद्ध्यानंगुरुभाषितम्।७।

यस्यदेवस्ययद्रूपं यथा भूषण वाहनम्।
तद्रूपं ध्यायते नित्यं स्थूलध्यानमिदं विदुः।८।

भावार्थ- योगी ऐसा चिन्तन करे। कि उस वन के मध्य भाग में एक कल्प वृक्ष है, उसकी चार शाखाएं हैं, वे चतुर्वेदमय हैं। तत्काल उत्पन्न पुष्प फलों से वे सब शोभित हैं उन पर भ्रमर गुँजार कर रहे हैं। कोकिल शाखाओं पर बैठकर कुहू-कुहू शब्द कर, मन को लुब्ध कर लेती हैं। इस कल्पवृक्ष के नीचे महामाणिक्य जटित एक रत्न-मण्डित मण्डप परम शोभा दे रहा है। उसके बीच में मनोहर 'पलंग' बिछ रहा है, उस पर इष्टदेव विराज रहे हैं। गुरुदेव जैसा उपदेश दिए हों उसी के अनुकूल योगी भूषण वाहन आदि का ध्यान करे- इसे स्थूल ध्यान कहते हैं।5 से 8।

प्रकारान्तरेणस्थूलध्यानम्

सहस्रारे महापद्मे कर्णिकायां विचिन्तयेत्।
विलग्नसहितं पद्मं द्वादशैर्दलसंयुतम्।९।

शुक्लवर्णं महातेजो द्वादशैर्बीजभासितम्।
ह स क्ष म ल व र यूं ह स ख फ्रें यथाक्रमम्।१०।

तन्मध्ये कर्णिकांयां तु अकथादिरेखात्रयम्।
ह ल क्ष कोण संयुक्तं प्रणवं तत्रवर्तते।११।

नाद विन्दुमयं पीठं ध्यायेत्तत्र मनोहरम्।
तत्रोपरि हंसयुग्मं पादुका तत्र वर्तते।१२।

ध्यायेत्तत्रगुरुं देवं द्विभुजं च त्रिलोचनम्।
श्वेताम्वरधरं देवं शुक्लगन्धानुलेपनम्।१३।

शुक्लपुष्पमयं माल्यं रक्तशक्तिसमन्वितम्।
एवंविध गुरोर्ध्यानात् स्थूल ध्यानं प्रसिध्यति।१४।

भावार्थ- एक प्रकार का एक और स्थूल ध्यान है। ब्रह्मरन्ध्र में सहस्रार नामक सहस्र दल वाला महापद्म है, इसके मध्य में बारह दल का एक कमल है। यह शुभ्रवर्ण तथा परम तेज सम्पन्न है। इसके बारह दल में क्रमशः ह स क्ष म ल व र यूँ ह स ख फ्रें- ये बारह अक्षर लिखे हैं। उसकी कर्णिका में अ क थ इन तीन अक्षरों की तीन रेखाएं हैं। मध्य में ह ल क्ष इन त्रिकोणाकार अक्षरों मे मण्डल में 'ॐ' बना है। पुनः नादविन्दुमय एक पीठ विराजमान है। उस पीठ पर दो हंस खड़े हैं। वहीं पादुका भी है। इसी स्थल पर गुरुदेव विराजित हैं। उनकी दो भुजा हैं। शुक्ल वस्त्र पहने हैं। शुभ्र चन्दन चर्चित हैं। शुभ्र वर्ण की माला धारण किये हैं। उनके बाम भाग में रक्त वर्ण की शक्ति शोभा पा रही है। ऐसा ध्यान करने से स्थूल ध्यान सिद्ध होता है। 9 से 14।

ज्योतिर्मयध्यानम्

कथितं स्थूलध्यानं तु तेजोध्यानं श्रुणुष्वमे।
यद्ध्यानेन योगसिद्धिरात्म प्रत्यक्षमेव च।१५।
मूलाधारे कुण्डलिनी भुजगाकाररूपिणी।
जीवात्मातिष्ठति तत्र प्रदीप कलिकाकृतिः।१६।
ध्यायेत्तेजोमयं ब्रह्म तेजोध्यानात् परात्परम्।

भावार्थ- हे चण्ड! स्थूल ध्यान कहा गया; अब तेजोध्यान कहता हूं। इससे योग - सिद्धि तथा आत्म-प्रत्यक्ष होता है। मूलाधार में सर्पाकार कुण्डलिनी शक्ति हैं इस स्थान में दीप कलिकाकार में जीव रहता है। यहाँ पर ज्योति रूप ब्रह्म का ध्यान ज्योतिर्ध्यान कहा जाता है।15,16।

भ्रुवोर्मध्ये मनोर्ध्वे च यत्तेजः प्रणवात्मकम्।
ध्यायेज्ज्वालावलीयुक्तं तेजोध्यानं तदेवहि।१७।

भावार्थ- भ्रूमध्य में और मन के ऊर्ध्व भाग में 'ॐ' कार मय और शिखामालायुक्त ज्योति है। उसका ध्यान ज्योतिर्ध्यान है। इसे ही ज्योतिर्ध्यान या तेजोध्यान कहते हैं।17।

तेजोध्यानं श्रुतं चण्ड सूक्ष्मं ध्यानं वदाम्यहम्।
वहुभाग्यवशाद्यस्य कुण्डलीजागृता भवेत्।४८।
आत्मनः सहयोगेन नेत्र रन्ध्रविनिर्गता।
विहरेत् राजमार्गे च चंचलत्वान्नदृश्यते।१९।

शाम्भवीमुद्रया योगी ध्यानयोगेनसिध्यति।
सूक्ष्मध्यानमिदं गोप्यं देवानामपि दुर्लभम्।२०।

स्थूलध्यानाच्छतगुणं तेजोध्यानं प्रचक्षते।
तेजोध्यानाल्लक्षगुणं सूक्ष्मध्यानं विशिष्यते।२१।

इतिते कथितं चण्ड ध्यान योगं सुदुर्लभम्।
आत्मसाक्षाद् भवेद्यस्मात् तस्माद् ध्यानं विशिष्यते।२२।

भावार्थ- हे चण्ड, तेजोध्यान कहने के बाद सूक्ष्य ध्यान कहता हूं। सुनो, बड़े भाग्य से साधक की कुण्डली जाग्रत होती है। आत्मा के साथ मिलकर नेत्ररन्ध्र से निकलकर ऊर्ध्वभागस्थ राजमार्ग नामक स्थल में घूमती है। घूमते समय सूक्ष्मत्व चंचलत्व के कारण उसे देखना कठिन होता है। योगी शाम्भवी मुद्रा के अभ्यास द्वारा कुण्डलिनी का ध्यान करे, इसे ही सूक्ष्म ध्यान कहते हैं। यह गोपनीय और देवताओं को भी दुर्लभ है। स्थूल से ज्योति ध्यान सौ गुना श्रेष्ठ है। ज्योतिध्यान से सूक्ष्मध्यान लाख गुना श्रेष्ठ है। हे चण्ड, यह दुर्लभ ध्यान-योग तुम्हें सुनाया, इससे आत्मासाक्षात्कार तथा ध्यानसिद्धि होती है।18 से 22।

卐 卐 卐

।।षष्ठोपदेशः समाप्तः।।

सप्तमोपदेशः

卐卐

समाधियोगः

घेरण्य उवाच

समाधिश्च परंयोगं बहुभाग्येन लभ्यते।
गुरोः कृपा प्रसादेन प्राप्यते गुरु भक्तितः।१।

विद्या प्रतीतिः स्वगुरुप्रतीतिरात्मप्रतीतिर्मनसः प्रबोधः।
दिने दिने यस्यभवेत् सयोगी सुशोमनाभ्यासमुपैत्तिसद्यः।२।

भावार्थ- हे चण्ड, समाधि सब से बड़ा योग है। बड़े भाग्योदय होने पर वह गुरु-भक्ति एवं उनकी कृपा से ही प्राप्त है। विद्या की प्रतीति, स्वगुरु की प्रतीति और आत्मा की प्रतीति एवं मन का प्रबोध जिसको दिन-दिन बढ़ता है- वही योगी समाधि-योग-साधन के अभ्यास का अधिकारी होता है।1,2।

घटाद्भिन्नमनः कृत्वा ऐक्यंकुर्यात्परात्मनि।
समाधिं तद्विजानीयाद् मुक्त संज्ञोदशादिभिः।३।

अहं ब्रह्म न चान्योस्मि ब्रह्मैवाहं नशोकभाक्।
सच्चिदानन्दरूपोऽहं नित्यमुक्त स्वभाववान्।४।

भावार्थ- मन को शरीर से पृथ्क करके परमात्मा में लगावे, ऐसा करके योगी मुक्त हो जाता है। मैं ब्रह्म से भिन्न नहीं हूं। मैं ब्रह्म ही हूँ, शोक युक्त नहीं हूं। मैं सच्चिदानन्दरूप नित्यमुक्त स्वभाव वाला हूं। 3,4।

शाम्भव्य चैवखेचर्या भ्रामर्या योनिमुद्रया।
ध्यानं नादं रसानन्दं लयसिद्धिश्चतुर्विधा।५।

पंचधाभक्तियोगेन मनोमूर्च्छाच षड्विधा।
षड्विधोऽयं राजयोगः प्रत्येकमवधारयेत्।६।

भावार्थ- समाधि-योग छः प्रकार का है- ध्यानयोग-समाधि, नादयोग-समाधि रसानन्दयोग-समाधि, लयसिद्धि-योग-समाधि, भक्ति-योग-समाधि और राजयोग-समाधि। शाम्भवी मुद्रा से ध्यान योग की खेचरी से नादयोग की, भ्रामरी से रसानन्द की, योग-मुद्रा से लययोग, भक्ति से सिद्धि-योग, मनोमूर्च्छा से भक्ति योग-समाधि एवं कुम्भक से राजयोग समाधि होती है।5,6।

ध्यानयोगसमाधिः

शाम्भवीं मुद्रिकां कृत्वा आत्मप्रत्यक्षमानयेत्।
बिन्दुब्रह्म सकृद्दृष्ट्वा मनस्तत्र नयोजयेत्।७।

खमध्ये कुरुचात्मानं आत्ममध्ये च खं कुरु।
आत्मनं खमयं दृष्ट्या न किंचिदपि वाध्यते।८।
सदानन्दमयो भूत्वा समाधिस्थोभवेन्नरः।

भावार्थ- शाम्भवी के अनुष्ठान से पहले आत्म-प्रत्यक्ष करे, फिर विन्दुमय ब्रह्म का प्रत्यक्ष करता हुआ, विन्दु में मन को लगावे, शिर में स्थित ब्रह्मलोकमय आकाश के मध्य में आत्मा को लावे, फिर उस आकाश को जीव में लय करें, जीव को परमात्मा में लय करें, इससे नित्यानन्द मुक्त हो जाए। इसे ही ध्यान-योग कहते हैं।7,8।

नादयोगसमाधिः

साधनात् खेचरीमुद्रा रसनोर्ध्वगतासदा।
तदासमाधिसिद्धिः स्याद् हित्वा साधारणक्रियाम्।९।

भावार्थ- खेचरी-मुद्रा का अनुष्ठान करके रसना को ऊपर रक्खे इससे साधारण क्रियाएँ छूटकर समाधि-सिद्धि होती है। इससे नादयोग समाधि सिद्धि होती है।9।

रसानन्दयोगसमाधिः

अनिलं मन्दवेगेन भ्रामरी कुम्भकं चरेत्।
मन्दं मन्दरेचयेद् वायुं भृङ्गनादं ततोभवेत्।१०।

अन्तःस्थं भ्रामरीनादं श्रुत्वा तत्र मनोनयेत्।
समाधिर्जायते तत्र आनन्दः सोहमित्युत।११।

भावार्थ- भ्रामरी करके धीरे-धीरे श्वास को निकाल दे, इस योग को करते समय देह के अन्दर भ्रमर समान गुंजार होता है। जहां यह नाद हो वहीं पर मन लगावे, इसे रसानन्द-योग-समाधि कहते हैं। इसके द्वारा 'सोऽहं' ज्ञान होता है और योगी सदैव आनन्द में रहता है।10,11।

लयसिद्धियोगसमाधिः

योनिमुद्रा समासाद्य स्वयं शक्तिमयोभवेत्।
सुश्रृंगाररसेनैव विहरेत् परमात्मनि।१२।

आनन्दमयः सम्भूय ऐक्यं ब्रह्मणि संभवेत्।
अहं ब्रह्मेति वाद्वैतं समाधिस्तेनजायते।१३।

भावार्थ- योनि मुद्रा करता हुआ योगी अपने में शक्ति भावना, परमात्मा में पुरुष भावना करे। पुनश्चं मेरा तथा परमात्मा का शक्ति पुरुषमय-बिहार हो रहा है-ऐसी भावना करे। आनन्द मय एकता प्राप्त कर ब्रह्म में 'मैं अद्वैत ब्रह्म हूं' ऐसा चिन्तन करे, इससे समाधि होती है। इसे लयसिद्धि योग-समाधि कहते हैं। 12,13।

भक्तियोगसमाधिः

स्वकीय हृदये ध्यायेदिष्टदेव स्वरूपकम्।
चिन्तयेद् भक्तियोगेन परमाह्लाद पूर्वकम्।१४।

आनन्दाश्र पुलकेन दशाभावः प्रजायते।
समाधिः सम्भवत्तेन सम्भवेच्चमनोन्मनी।१५।

भावार्थ- अपने हृदय से परमाह्लाद पूर्वक भक्तियोग से इष्ट देव के स्वरूप का चिन्तन करे, इससे आनन्दाश्रु बहने लगते हैं। शरीर पुलकित होता है। इससे मन अचेत और एकाग्र हो जाता है। ब्रह्म साक्षात्कार होता है। इसे भक्तियोग-समाधि कहते हैं। 14,15।

राजयोगसमाधिः

मनोमूर्च्छा समासाद्य मन आत्मनियोजयेत्।
परात्मनः समायोगात् समाधि समवाप्नुयात्।१६।

भावार्थ- मनोमूर्च्छा कुम्भक के अभ्यास से मन को ब्रह्म में एकाग्र करे। इस प्रकार परमात्मा के योग से राजयोग-समाधि होती है।16।

समाधियोगमाहात्म्यम्

इतितेकथितंचण्ड समाधि मुक्ति लक्षणम्।
राजयोगः समाधिः स्यादेकात्मन्येव साधनम्।१७।
उन्मनी सहजावस्था सर्वेचैकार्थवाचकाः।

भावार्थ- हे चण्ड! इस प्रकार मैंने मुक्ति देने वाली समाधि कही। एकात्मा में साधन से राजयोग-समाधि होती हैं। उन्मनी सहजावस्था ये सब नाम समाधि के ही हैं।17।

जले विष्णुः स्थले विष्णु र्विष्णुः पर्वतमस्तके।
ज्वालामालाकुले विष्णुःसर्व विष्णुमयं जगत्।१८।

भूचराः खेचराश्चामी यावन्तो जीवजन्तवः।
वृक्षगुल्मलतावल्लीस्तृणाद्यवारि पर्वताः।१९।

सर्व ब्रह्ममयं पश्येत् सर्व पश्यति चात्मनि।
आत्मनघटस्थ चैतन्यद्वैतं शाश्वतं पदम्।
घटाद् विभिन्न तो ज्ञात्वा वीतरागो विवासनः।२०।

भावार्थ- जल में विष्णु, स्थल में विष्णु, पर्वत शिखर में विष्णु, ज्योति में विष्णु-यह सम्पूर्ण जगत विष्णुमय है। भूचर, खेचर आदि जीव जन्तु, वृक्ष, वेल, लता, तृण, पर्वत ये सब ब्रह्मरूप हैं। योगी सब को आत्मा में तथा सब में आत्मा को देखता है। शरीर में चैतन्य सनातन आत्मा है। शरीर से भिन्न आत्मा को जानकार वीतराग वासना रहित होता है।18 से 20।

एवं विधः समाधिः स्यात् सर्वसंकल्पवर्जितः।
स्वदेहे पुत्रदारादिबान्धवेषु धनादिषु।२१।

सर्वेषु निर्ममोभूत्वा समाधिसमवाप्नुयात्।
तत्त्वं लयामृतं गोप्यं शिवोक्तं विविधानि च।२२।

वाचां संक्षेपमादाय कथितं मुक्ति लक्षणम्।
इतिते कथितं चण्ड समाधिर्दुर्लभः परः।२३।
यज्ज्ञात्वान पुनर्जन्म जायते भूमिमण्डले।

भावार्थ- अपने देह में, पुत्र वान्धवादि धनादि में निर्ममत्व हो कर समाधि को प्राप्त करे। इस प्रकार सब संकल्पों से रहित समाधि होती है। लयामृत-यह तत्त्व शिव से कहा हुआ संक्षेप में मुक्ति का लक्षण कहा गया। हे चण्ड! यह दुर्लभ समाधि मैंने तुम्हें बतायी जिसे जानकर फिर पुनर्जन्म नहीं होता।21 से 23।

卐 卐 卐

श्री घेरण्ड-संहिता समाप्तः॥

क्रम.	पुस्तक का नाम		मूल्य
1.	श्री गुरुपूजन पद्धति	(संस्कृत)	10.00
2.	रेणुका तन्त्रम्	(संस्कृत)	15.00
3.	श्री विद्यारत्न सूत्रम्	(संस्कृत)	5.00
4.	माण्डूकोपनिषद्	(हिन्दी)	5.00
5.	तारा कर्पूर राज स्तोत्रम्	(हिन्दी)	5.00
6.	त्रिपुरा महिम्न स्तोत्रम्	(हिन्दी)	15.00
7.	पीताम्बरा अर्चन पद्धति	(संस्कृत)	10.00
8.	दर्शन शास्त्र संग्रह	(हिन्दी)	15.00
9.	अथर्ववेदिय ज्योतिष	(हिन्दी)	10.00
10.	योग विज्ञान I	(हिन्दी)	30.00
11.	योग विज्ञान II	(हिन्दी)	20.00
12.	लेख संग्रह	(हिन्दी)	30.00
13.	लेख संग्रह	(अंग्रेजी)	40.00
14.	ललिता सहस्त्रनाम (भास्करभाष्य)	(संस्कृत)	40.00
15.	*सिद्धान्त रहस्य (पंचस्थ)	(हिन्दी)	15.00
16.	सिद्धान्त रहस्य	(अंग्रेजी)	10.00
17.	सिद्धान्त रहस्य	(मराठी)	10.00
18.	बगलामुखी रहस्य	(संस्कृत)	60.00
19.	भैरव सर्वस्व	(संस्कृत)	75.00
20.	भैरव विज्ञान	(हिन्दी)	25.00
21.	नारदीय शिक्षा	(हिन्दी)	8.00
22.	*हनुमत् उपासना	(संस्कृत)	18.00
23.	*केपोनिषद्	(हिन्दी)	5.00
24.	*ईषावास्योपनिषद	(हिन्दी)	5.00

*उपलब्ध नहीं है।

क्रम.	पुस्तक का नाम		मूल्य
25.	कठोपनिषद्	(हिन्दी)	20.00
26.	मुण्डकोपनिषद्	(हिन्दी)	10.00
27.	प्रश्नोपनिषद्	(हिन्दी)	10.00
28.	प्रश्नोपनिषद्	(अंग्रेजी)	10.00
29.	प्रश्नोपनिषद्	(संस्कृत)	5.00
30.	वेदान्त प्रबोध	(हिन्दी/संस्कृत)	15.00
31.	ईश्वर गीता	(हिन्दी)	20.00
32.	सिद्धान्त रहस्य	(संस्कृत)	10.00
33.	वैदिक उपदेश	(हिन्दी)	20.00
34.	वैदिक उपदेश	(अंग्रेजी)	25.00
35.	स्वरोदय विज्ञान	(हिन्दी)	15.00
36.	पुरश्चरण पद्धति	(हिन्दी)	10.00
37.	चिद्विलास	(हिन्दी/संस्कृत)	10.00
38.	*चिद्विलास	(अंग्रेजी सजिल्द)	10.00
39.	चिद्विलास	(अंग्रेजी अजिल्द)	10.00
40.	घेरंडसंहिता	(हिन्दी/संस्कृत)	20.00
41.	*धूमवती सपर्याणव	(संस्कृत)	20.00
42.	वातूलनाथ सूत्र	(हिन्दी/संस्कृत)	5.00
43.	शिव सूत्र भक्ति सूत्र	(संस्कृत)	10.00
44.	योग दर्शन	(अंग्रेजी)	10.00
45.	योग दर्शन	(संस्कृत)	5.00
46.	महात्रिपुरसुन्दरी पूजा	(हिन्दी/संस्कृत)	20.00
47.	सप्तविंशति रहस्य	(संस्कृत)	20.00
48.	काली कर्पूर स्तोत्रम	(हिन्दी/संस्कृत)	10.00

*उपलब्ध नहीं है।

क्रम.	पुस्तक का नाम		मूल्य
49.	देवी सहस्त्रनाभ संग्रह II	(संस्कृत)	15.00
50.	वरिवस्या रहस्य	(हिन्दी)	15.00
51.	गुरु तत्व एवं पादुका पंचक	(हिन्दी)	20.00
52.	सौन्दर्य लहरी स्तोत्र (ललिता)	(सं.)	5.00
53.	*महागणपति तर्पण	(संस्कृत)	5.00
54.	*गुरुनवरत्न माला	(संस्कृत)	5.00
55.	निगमागम समन्वय	(हिन्दी)	20.00
56.	*शाक्य सौरभ (ज्ञानखण्ड)I	(हिन्दी)	15.00
57.	*शाक्त सौरभ (ज्ञानखण्ड)II	(हिन्दी)	20.00
58.	मातृकाचक्रविवेक	(हिन्दी)	45.00
59.	कामकला विलास	(संस्कृत)	15.00
60.	*सौन्दर्स लहरी (लक्ष्मीधरी)	(संस्कृत)	25.00
61.	ज्योतिषतत्व विवेक	(हिन्दी)	120.00
62.	*स्वामी चरित्र चिंतामणि	(हिन्दी)	50.00
63.	*स्वामी कथासार	(हिन्दी)	60.00
64.	स्वामी स्मृति ग्रन्थ	(हिन्दी)	151.00
65.	तान्त्रिक पंञ्चांग	(संस्कृत)	15.00
66.	शरभ तंत्र	(संस्कृत)	13.00
67.	महाविद्या चतुष्टय	(संस्कृत)	20.00
68.	पञ्चस्तवी	(संस्कृत)	5.00
69.	तीर्थ भारतम्	(पद्य)	20.00
70.	सौन्दर्य लहरी (डिंडिम)	(संस्कृत)	18.00
71.	*दार्शनिक चिंतन और शाक्त सिद्धान्त	(हिन्दी)	20.00

*उपलब्ध नहीं है।

क्रम.	पुस्तक का नाम		मूल्य
72.	*दार्श. चंतन और शाक्त सिद्धान्त	(अंग्रेजी)	मुद्रणाधीन
73.	ललिता सहस्त्रनाभ स्तोत्र	(मूल)	11.00
74.	*पराप्रवेशिका	(हिन्दी)	2.00
75.	दुर्लभ स्तोत्र	(संस्कृत)	10.00
76.	पीताम्बरा चालीसा	(हिन्दी)	2.00
77.	परश्चरण	(पद्य)	5.00
78.	पञ्चोपनिषद्	(संस्कृत)	15.00
79.	लघुस्तव राज	(हिन्दी/संस्कृत)	15.00
80.	गुरु पादुका प्रसाद	(हिन्दी)	2.00
81.	गुरु महिमा स्तवन	(हिन्दी)	2.00
82.	*शाक्त तंत्र साधना	(हिन्दी)	50.00

*उपलब्ध नहीं है।

श्री 1008 श्री स्वामी जी कृत अन्य रचनायें

❖	Vaidik Upadesh (English)	25-00
❖	Chida Vilasa (English)	10/-Bound 10-00
1.	श्री बंगलामुखी रहस्य	60–00
2.	पञ्चोपनिषद् (प्रकाश भाष्य)	15.00
3.	प्रश्नोपनिषद् (प्रकाश भाष्य)	5.00
4.	सौन्दर्य लहरी (डिण्डिम भाष्य)	18.00
5.	शिवसूत्रं भक्ति सूत्रञ्च	5.00
6.	नारदीय शिक्षा (संस्कृत टीका)	8.00
7.	घेरण्ड संहिता (भाषानुवाद सहित)	20.00
9.	ईश्वर-गीता (भाषानुवाद सहित)	20.00
10.	वैदिक उपदेश (हिन्दी)	20.00
11.	पुरश्चरण पद्धति	10.00
12.	अथर्ववेदाङ्ग ज्योतिष (भाषानुवाद सहित)	10.00
13.	वेदान्त प्रबोध (सानुवाद)	15.00
15.	लेख-संग्रह (हिन्दी)	30.00
16.	सिद्धान्त-रहस्य (हिन्दी)	यंत्रस्थ 15.00
17.	त्रिपुरा-महिम्न स्तोत्र (भाषानुवाद)	15.00
18.	तान्त्रिक पञ्चाङ्ग	15.00
19.	पञ्चस्तवी	5.00
20.	महात्रिपुर सुन्दरी पूजा पद्धति	20.00
21.	श्री चिद्विलास (श्री विद्या रहस्य)	10.00
22.	श्री परश्चरण	5.00
23.	सप्तविंशति रहस्य	20.00
24.	स्वरोदयविज्ञान	यंत्रस्थ 20.00

श्री पीताम्बरा पीठ

दतिया (म.प्र.)

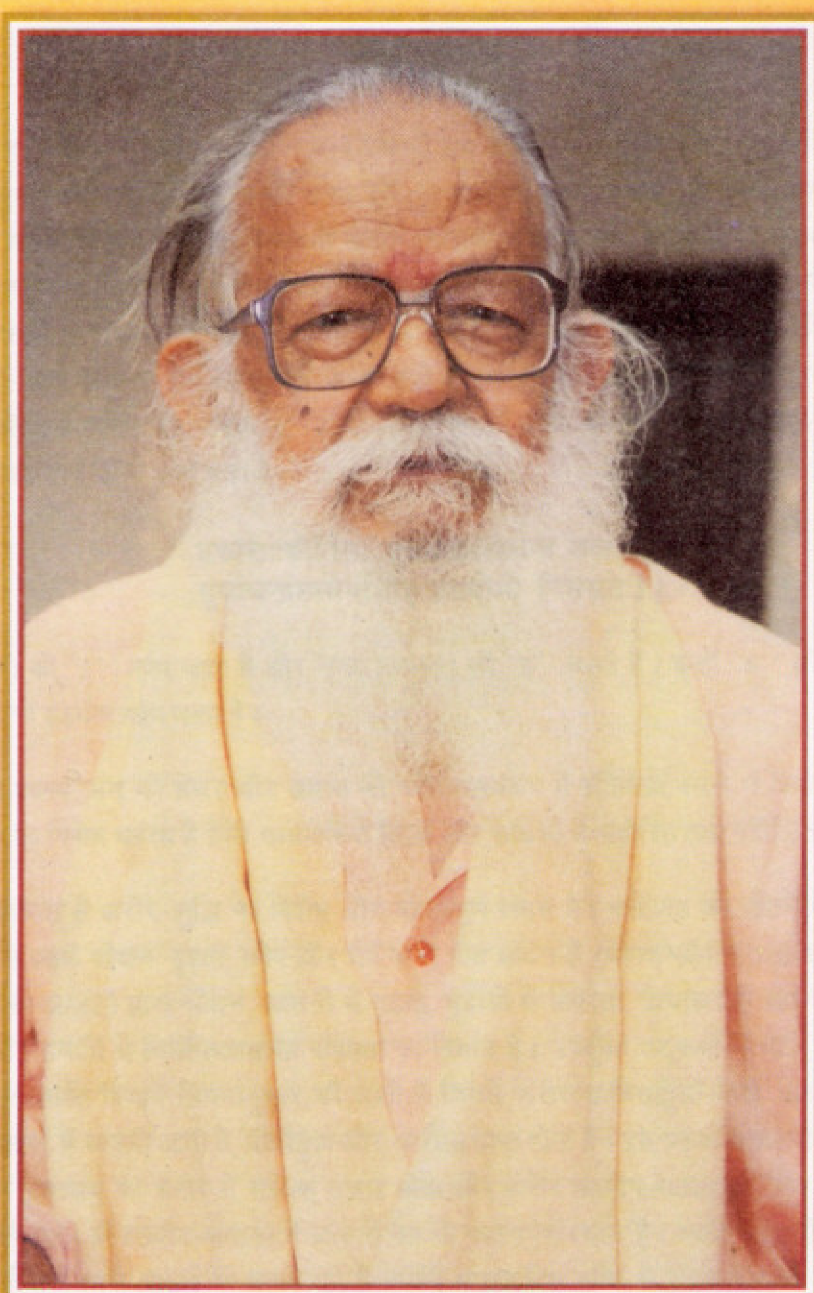

गोरक्षपीठाधीश्वर महन्त श्री अवेद्यनाथ जी महाराज

आशीर्वचन

योग-साधना के क्षेत्र में हठयोग- साधना नाथ पंथ की एक अनुपम और मौलिक देन है। आदिनाथ भगवान् शिव ने तत्त्व-जिज्ञासु भगवती पार्वती के प्रश्नो का उत्तर देते हुए सर्वप्रथम योग-विषयक जो गुप्त-ज्ञान प्रकाशित किया था उसे दैवयोग से मछली के पेट में स्थित महायोगी मत्स्येन्द्रनाथजी ने ग्रहण कर अपने शिष्य महायोगी गोरक्षनाथ को प्रदान किया। तदनन्तर शिवोपज्ञ यह योग-विद्या शिवावतार महायोगी गुरु गोरक्षनाथ और उनकी परम्परा के अन्य योगेश्वरों के माध्यम से लोक-कल्याण के लिए महलों से कुटियों तक प्रचारित और प्रतिष्ठित की गयी। हठयोग की साधना मुख्यत: प्राण-साधना है। ('' हश्च ठश्च हठौ-सूर्चचन्द्रौ तयोर्योग: हठयोग:। एतेन हठशब्दवाच्ययो: प्राणापानयोरैक्यलक्षण: प्राणायामो हठयोग: ।'' हठयोग-प्रदीपिका में ब्रह्मानन्द की व्याख्या) सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति में महायोगी गुरु गोरक्षनाथ जी ने स्वयं कहा है-

हकार: कीर्तित: सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगाद् हठयोगो निगद्यते।। अर्थात्

सूर्य (प्राण) को ''ह'' कहा जाता है और चन्द्र (अपान) को ''ठ'' कहते हैं। इन्हीं ''ह'' और ''ठ'' (प्राण तथा अपान) के योग को हठयोग कहा जाता है।

शरीर को स्वस्थ, मन को स्थिर और आत्मा को परमात्मस्वरूप में प्रतिष्ठित करने में अमोघ साधन के रूप में हठयोग-साधना का विशेष महत्त्व है जिसे नाथयोगियों सिद्धों और साधकों ने प्रचारित तथा प्रतिष्ठित किया है।

हठयोग-साधना में शरीर-शुद्धि का विशेष और महत्त्वपूर्ण स्थान है। कायागढ़ को जीतने के अभियान का यह प्रथम सोपान है। इसके शोधन, दृढ़ता, स्थैर्य और धैर्य आदि सात साधन हैं (घेरण्ड संहिता-1/9-11) जिनमें षट्कर्मों (हठयोग-प्रदीपिका-2/22) द्वारा शोधन, आसनो से दृढ़ता, मुद्राओं से स्थिरता, प्रत्याहार से लाघव, ध्यान से ध्येय का प्रत्यक्ष दर्शन और समाधि से निर्लिप्तआसक्ति रहितता का विधान है। उपर्युक्त षट्कर्मो में धौति, बस्ति, नेति, नौलि, त्राटक और कपालभाति क्रियायें नियमानुसार की जाती हैं जिनसे शरीरस्थ त्रिधातुओं-कफ, वात और पित्त का दोष नष्ट होता है, शरीर में ताजगी आती है, दीर्घायुष्य और आरोग्य प्राप्त होता है। इस प्रकार मलापनोदन द्वारा नाड़ियों के निर्दोष होने पर प्राणवायु का शरीर में सम्यक् संचार होता और शरीर हठयोग-साधना के लिए तैयार हो जाता है। शरीर-शोधन की तरह ही हठयोग-साधना में आसनों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि चौरासी लाख जीव-योनियों के बराबर ही चौरासी लाख आसन भी बताये गये हैं तथापि व्यावहारिक दृष्टि से इनमें चौरासी आसनों की ही चर्चा आती है जिनमें छत्तीस आसन प्रमुख हैं। आसनों के नियमित अभ्यास से शारीरिक एवं मानसिक आधि-व्याधियों से मुक्ति मिलती है और इस प्रकार शरीर हठयोग-साधना के लिए और योग्य हो जाता है।

आसनों की सिद्धि के बाद हठयोग-साधना में प्राणायाम का विशेष महत्त्व है। इसके पूरक, रेचक और कुम्भक

तीन प्रमुख भेद भी हैं। श्वास अन्दर भरना पूरक कहलाता है, इसे बाहर निकालना रेचक कहलाता है तथा बाहर से भरी हुई श्वास को भीतर ही रोकना कुम्भक कहा जाता है। प्राणायाम से नाड़ी-शोधन होता है और जब समस्त नाड़ी समूह प्राणायाम के अभ्यास से शुद्ध हो जाता है तभी योगी प्राणों को नियन्त्रित करने में समर्थ होता है। इस साधना में सूर्य-चन्द्र नाड़ियों-इड़ापिंगला-के शोधन के बाद प्राणवायु का मध्य नाड़ी (सुषुम्णा) में संचार नितान्त आवश्यक है क्योंकि ब्रह्म-रन्ध्र में सुषुम्णा नाड़ी से प्राण-शक्ति के स्थिर न होने पर मन की चंचलता दूर नहीं हो सकती और साधक उन्मनी अवस्था में प्रतिष्ठित होकर आत्मसाक्षात्कर नहीं कर सकता है। इसलिए हठयोग-साधना में प्राणायाम का असाधारण महत्त्व है। क्योंकि इससे शरीर और मन की स्थिरता सिद्ध होती है। इसीलिए महायोगी गुरु गोरक्षनाथ जी का स्पष्ट कथन है कि-महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डियान बन्ध, जालन्धर बन्ध और मूलबन्ध के अभ्यास में जो योगी कुशल होता है वही मुक्ति का पात्र है। अस्तु हठयोगी को सुषुम्णा के मुख के अग्रभाग में सोयी हुई कुण्डलिनी शक्ति को जगाने के लिए मुद्राओं का भलीभाँति अभ्यास करना चाहिए।

षट्कर्म, आसन, प्राणायाम और मुद्राओं के बाद हठयोग-साधना में प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का क्रम आता है। इन्द्रियों को उनके बाह्य विषयों से विमुख कर अन्तर्मुखी करना, उन्हें आत्मा में लीन करना प्रत्याहार है। (यतोयत: मनश्चरति चाञ्चल्यवशत: सदा। ततस्ततो नियम्येतदात्मन्येव वशं नयेत्। घेरण्ड संहिता 4/2) नाभि, हृदय, नासिकाग्रभाग, भृकुटी और ब्रह्मरन्ध्र आदि अभीष्ट स्थानों में चित्त को बाँधना-स्थिर रखना-धारणा है। (एवं-बन्धश्चित्तस्य धारणा। तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। - योग दर्शन 3:12) धारणा और ध्यान समाधि के ही अंग हैं और इनकी सिद्धि के बाद समाधि की स्थिति में आत्मा को अपने परमात्म स्वरूप का-चिदानन्द स्वरूप का-साक्षात्कार और अनुभव होता है जिसे हठयोगियों ने शिव और शक्ति के संगम के रूप में निरूपित किया है।

हठयोग-साधना का चरम-परम लक्ष्य षट्चक्र-भेदन द्वारा कुण्डलिनी-जागरण कर सहस्रार में शिव का साक्षात्कार है। इसलिए कुण्डलिनी-जागरण की प्रक्रिया के विवरण के बिना हठयोग-साधना का कोई अध्ययन पूरा नहीं कहा जा सकता। अस्तु इस की दिङ्मात्र चर्चा यहाँ अभीष्ट है। मेरूदण्ड जहाँ सीधे जाकर पायु (मलद्वार) और उपस्थ (मूत्रद्वार) के बीच में लगता है वहाँ स्वयंभूलिंग है जो त्रिकोणचक्र में स्थित है। इसे अग्नि-चक्र भी कहते हैं। इसी अग्निचक्र या त्रिकोण में स्थित स्वयंभू लिंग को तीन वलयों में लपेट कर सर्पिणी की भाँति कुण्डलिनी अवस्थित है। यह ब्रह्मद्वार-सुषुम्णा- को रोककर सोयी हुई है। मुद्रा-बन्ध के द्वारा नादानुसन्धान तथा जागरण में सहायता मिलती है। नादानुसन्धान प्राणायाम की सिद्धि का परिणाम है। अपानवायु के संकोच से बन्धों की मदद से कुण्डलिनी सुषुम्णा-ब्रह्मरन्ध्र-का मार्ग छोड़ देती है। मूलाधार में ब्रह्मचक्र है। इसमें अग्नि के समान दीप्त शक्ति का ध्यान करने से कुण्डलिनी जाग्रत हो जाती है जिसके बाद स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा चक्र का भेदन करते हुए वह सहस्रार में पहुँच जाती है। अमनस्कता के धरातल पर जीवात्मा और परमात्मा-शिव और शक्ति-की अभेदता है। यही हठयोग-सिद्धि है।

मेरे उत्तराधिकारी एवं पट्टशिष्य योगी आदित्यनाथ पर्याप्त स्वाध्याय एवं साधना कर हठयोग के सैद्धान्तिक एवं

व्यावहारिक पक्ष को अपनी इस नयी रचना-हठयोग: स्वरूप एवं साधना - के रूप में गोरक्षपीठ के प्रकाशन विभाग से प्रकाशित करवा रहे हैं यह अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है। आशा है कि योग-जिज्ञासुगण इस कृति के माध्यम से हठयोग साधना के विभिन्न विषयों को आसानी से समझ सकेंगे। योग-साधना सम्पूर्ण मानवता के कल्याण के लिए हमारे ऋषियों-महर्षियों और महान योगियों द्वारा प्रचारित विशिष्ट रसायन है जिसका सेवन हर देश, काल, जाति, लिंग, वर्ण, समुदाय, सम्प्रदाय एवं पंथ के लोगों के लिए सुलभ और उपादेय है। भवरोग के इस दुर्लभ रसायन को नये कलेवर में प्रस्तुत कर इसे सर्वसुलभ बनाने के लिये मैं ग्रन्थ लेखक को आशीर्वाद और साधुवाद देते हुए यह मंगल कामना करता हूँ कि वह अपनी परंपरागत सांस्कृतिक थाती को सुरक्षित और समृद्ध करते हुए निरन्तर देश और समाज की सेवा में समर्पित रहे।

शुभंभूयात्।

श्री गोरक्षनाथ मन्दिर
गोरखपुर (उ०प्र०)

महन्त अवेद्यनाथ
गोरक्षपीठाधीश्वर

प्राक्कथन

''हठयोग: स्वरूप एवं साधना'' आप के हाथों में है। योगसाधना के सम्बन्ध में आज भी बहुत सी भ्रान्त धारणाएँ जन-साधारण के बीच प्रचलित हैं। आम जन-मानस योग का सम्बन्ध विरक्त साधु-सन्यासियों के उपयोग तक ही सीमित मानता है। इसी प्रकार हठयोग के सम्बन्ध में भी जन-साधारण में यही भ्रान्त धारणा है कि हठयोग का अर्थ हठात् अर्थात् हठ (विशेष आग्रह) पूर्वक योगाभ्यास करने से है। योग तथा हठयोग से सम्बन्धित इन सभी भ्रान्त धाराणाओं को निर्मूल सिद्ध करने तथा इनसे सम्बन्धित सभी आवश्यक तथ्यों और तत्त्वों से जन साधारण को अवगत कराने के लिए अपने परम पूज्य गुरुदेव गोरक्षपीठाधीश्वर श्री महन्त अवेद्यनाथ जी महाराज के आशीर्वाद से उन्हीं के निर्देशन में मैनें हठयोग विषयक अपने ज्ञान को ''हठयोग: स्वरूप एवं साधना'' शीर्षक से एक पुस्तकाकार रूप देने का प्रयास किया है। प्रस्तुत पुस्तक में प्रथम अध्याय योग से सम्बन्धित है जिसमे योग के स्वरूप एवं उसके विविध आयामों की चर्चा की गयी है। द्वितीय अध्याय में हठयोग क्या है? प्रथमत: इसी विषय पर विचार किया गया है तदनन्तर क्रमश: हठयोग के विभिन्न अंगो पर प्रकाश डाला गया है। तृतीय अध्याय हठयोग के प्रथम अंग षट्कर्म पर विचार से सम्बन्धित है जिसमें षट् कर्मो-धौति, वस्ति, नेति, नौलि, त्राटक तथा कपालभाति का विस्तार से निरूपण करते हुए इनके सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक पक्षों के साथ-साथ शरीर एवं मन पर पड़ने वाले इन के प्रभावों को भी उजागर किया गया है। चतुर्थ अध्याय हठयोग के द्वितीय प्रमुख अंग आसनों के निरूपण से सम्बन्धित है जिस में हठयोग के प्रमुख बत्तीस आसनों के साथ-साथ कुल पैंतालिस आसनों पर इनके भौतिक तथा आध्यात्मिक लाभों पर सम्यक् विचार किया गया है। पञ्चम अध्याय हठयोग के तृतीय प्रमुख अंग मुद्रा के विवेचन से सम्बन्धित है जिसमें पच्चीस प्रकार की विभिन्न मुद्राओं का, शरीर की अन्त: स्रावी ग्रन्थियों पर इनके प्रभावों तथा इनके भौतिक एवं आध्यात्मिक महत्त्व का निरूपण किया गया है। षष्ठ अध्याय हठयोग के चतुर्थ प्रमुख अंग ''प्रत्याहार'' से सम्बन्धित है। इसमें मन की विभिन्न अवस्थाओं के निरूपण के साथ-साथ इन्द्रियों की बहिर्मुखी स्वाभाविक वृत्ति को अन्तर्मुखी बनाने पर विचार किया गया है। सप्तम अध्याय में प्रत्याहार की एक प्रमुख क्रिया योग-निद्रा पर इसके महत्त्व को देखते हुए पृथक् रूप से विचार किया गया है। अष्टम अध्याय हठयोग के पाँचवे महत्त्वपूर्ण अंग ''प्राणायाम'' से सम्बन्धित है। हठयोग की साधना मुख्यत: प्राणायाम से जुड़ी है इसलिए इस अध्याय में जहाँ प्राणायाम की विभिन्न क्रियाओं की और इनके विभिन्न प्रकारों की विवेचना की गयी है वहीं इनके द्वारा मन की सूक्ष्मवृत्तियों पर कैसे आसानी से नियन्त्रण किया जा सकता है इसका भी निरूपण किया गया है। नवम अध्याय हठयोग के छठें महत्वपूर्ण अंग ''ध्यान'' पर केन्द्रित है जिसमें चेतना के विविध आयामों, मन के विभिन्न रूपों के साथ ही ''कुण्डलिनी शक्ति'' पर भी विचार किया गया है। दशम अध्याय में हठयोग के सप्तम महत्त्वपूर्ण अंग ''समाधि'' पर विचार किया गया है जिसे हठयोग साधना के सन्दर्भ में ''महाबोध'' कहते हैं। यहाँ समाधि की विभिन्न अवस्थाओं तथा विभिन्न साधनाओं से प्राप्त अलग-अलग समाधियों की भी चर्चा है। एकादश अध्याय में हठयोग की प्रमुख साधना ''नाद-विन्दुसाधना'' पर विस्तृत रूप से विचार किया गया है तथा पुस्तक के अन्तिम द्वादश अध्याय में हठयोग-साधना की एक अन्य महत्त्वपूर्ण क्रिया ''अजपा-जप'' का विस्तार से निरूपण किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक को लिखने में जहाँ अपने परम पूज्य गुरुदेव का उपयोगी मार्गदर्शन प्राप्त हुआ वहीं योग-सम्बन्धी विविध ग्रन्थों-शिव संहिता, गोरक्ष-संहिता, घेरण्ड-संहिता, हठयोग प्रदीपिका, सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति, गोरक्ष-शतक और गोरखवाणी आदि से भी आवश्यक जानकारी तथा दृष्टि प्राप्त हुई है। वस्तुत: यह सब कुछ सद्गुरु की कृपा और सद्ग्रन्थों से प्राप्त आलोक का ही प्रतिफल है जिसे मैंने कृतज्ञतापूर्वक प्रस्तुत करने का विनम्र प्रयास मात्र किया है। हठयोग की साधना से सम्बन्धित इस पुस्तक में प्रकाशित विभिन्न चित्र ''महायोगी गुरू गोरक्षनाथ योग-संस्थान'' के योग-साधकों के हैं। योग-साधना में रुचि रखने वाले जिज्ञासुओं-सुधीजनो को इस प्रस्तुति से यदि यथेष्ट सन्तुष्टि हो तो मैं अपना प्रयास सफल और सार्थक मानूँगा।

श्री गोरक्षनाथ मन्दिर, गोरखपुर (उ० प्र०)
चैत्र शुक्ल रामनवमी
सं० २०५६ वि०

योगी आदित्यनाथ
उत्तराधिकारी शिष्य गोरक्षपीठ,
संसद् सदस्य (लोक सभा), गोरखपुर (उ० प्र०)

योग

योग का भारतीय तत्त्व-चिन्तन और आध्यात्मिक साधना में अनादिकाल से गौरवशाली स्थान रहा है। अतीत की किसी अज्ञात काल से अब तक, संध्या-वन्दना से लेकर समाधि तक, प्रवृत्ति मार्गियों से लेकर निवृत्ति मार्गियों तक, आस्तिकों-नास्तिकों से लेकर विदेशियों तक इसकी व्यापकता, इसकी महत्ता और उपयोगिता के अकाट्य प्रमाण हैं। अर्थात् योग आज की उपभोक्तवादी संस्कृति की देन नहीं अपितु यह उतनी ही प्राचीन हैं, जितनी भारतीय संस्कृति। इसका विकास उन महान ऋषि-मुनियों, सन्तों और योगियों के अनुभवों और प्रयत्नों से हुआ, जिन्हें विभिन्न युगों में उत्पन्न करने का श्रेय हमारे देश भारत को है।

योग शब्द "युज्" धातु से बना है जिसका अर्थ है जोड़ना अर्थात् जो युक्त करे मिलावे उसे योग कहते हैं। इस सम्बन्ध में योग सूत्र के रचनाकार महर्षि पतञ्जलि ने **'योगः समाधिः'** कहकर योग को समाधि के रूप में परिभाषित किया है अर्थात् कामना,वासना, आसक्ति, सस्कार आदि सब प्रकार की आगन्तुक मलिनता को दूर कर स्वरूप में प्रतिष्ठित होना-जीव का ब्रह्म होना-समाधि है। विभिन्न आचार्यों ने भिन्न-भिन्न साधनों द्वारा इस लक्ष्य अर्थात्-"समाधि" की स्थिति को प्राप्त किया है। भारतीय तत्त्व-चिन्तको, दार्शनिकों ने आत्मा की पवित्रता के उत्तम साधन के रूप में योग की महत्ता को निर्विवाद रूप से स्वीकार किया है। हमें वेद, उपनिषद् , स्मृतिपुराण, रामायण, महाभारत तथा लगभग सभी धार्मिक ग्रन्थों के साथ-साथ हड़प्पा, मोहन जोदड़ो तथा मध्य प्रदेश के नर्मदा नदी के तट पर प्राचीन माहिष्मती नगरी के प्राचीन सास्कृतिक अवशेषों में योग-साधना के प्रमाण दृष्टिगोचर होते हैं ।

वेद विश्व के सबसे प्राचीन ग्रन्थ हैं। ये मंत्रदष्टा ऋषियों के अर्न्तज्ञान के , आत्मसाक्षत्कार के प्रमाण हैं। वेद के प्रत्येक विभाग में योग को किसी न किसी रूप में मान्यता मिली है। वेद के तीन काण्ड हैं 1. कर्मकाण्ड 2. ज्ञानकाण्ड, 3. उपासना काण्ड ।

1. कर्मकाण्ड के अनुसार -योग : कर्मसुकौशलम् अर्थात् कर्मो में कुशलता योग है।
2. ज्ञानकाण्ड के अनुसार - संयोगो योग इत्युक्तो जीवत्मपरमात्मनोः अर्थात् जीवात्मा - परमात्मा का संयोग- एकीकरण- योग है।
3. उपासनाकाण्ड के अनुसार - योगः चित्तवृत्ति निरोधः । अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध योग है।

समस्त उपनिषदों में किसी न किसी रूप में योग का वर्णन मिलता हैं। कठोपनिषद् में इन्द्रियों की स्थिर धारणा को योग कहा गया है। इसके अनुसार -

यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ।।
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रिय धारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ।।

जब पंच ज्ञानेन्द्रियाँ मन सहित आत्मा में स्थिर होकर बैठती हैं, बुद्धि भी कोई चेष्टा नहीं करती, तब उस अवस्था को परमागति कहते हैं। उसी स्थिर इन्द्रिय-धारणा को योग कहते हैं। उस अवस्था में साधक प्रमाद रहित होता है।

अमृतनादोपनिषद् तथा मैत्रायणी उपनिषद के अनुसार -प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा,तर्क और समाधि के रूप में षडङ्गयोग का वर्णन मिलता है-

प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामोथ धारणा ।
तर्कश्चैव समाधिश्च षडङ्गो योग उच्चते ।।

ध्यानविन्दूपनिषद् के अनुसार -

आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा ।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि भवन्ति षट् ।।

योग कुण्डल्युपनिषद् के अनुसार -

हेतुद्वयं हि चित्तस्य वासना च समीरणः।
तयोर्विनष्टे एकस्मिंस्तद्द्वावपि विनश्यतः ।।

चित्त के दो हेतु है- वासना और प्राण। इनसे से किसी एक पर नियंत्रण होने से दोनो नियंत्रित हो जाते हैं ।

योगतत्त्वोपनिषद् के अनुसार -मोक्ष प्राप्ति के लिये ज्ञान तथा योग दोनो आवश्यक हैं-

योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षो वा भवति ध्रुवम् ।
योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि ।।

योग के बिना ज्ञान या ध्रुव मोक्ष भला कैसे हो सकता है ? उसी प्रकार ज्ञानहीन योग भी मोक्षकर्म में असमर्थ हैं। योगतत्त्वोपनिषद् में योग के चार विभाग बताये हैं- मंत्रयोगो लयश्चैव हठोऽसौ राजयोगकः।। याज्ञवल्क्य जी कहते हैं-

इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम् ।
अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ।।

यज्ञाचार, दम, अहिंसा, दान और स्वाध्याय, प्रभृति कर्मो में योग के द्वारा आत्मदर्शन ही परम धर्म है।

रामायण तथा महाभारत जैसे ऐतिहासिक महाकाव्यों में भी योग के विभिन्न रूपों का वर्णन मिलता है। अध्यात्म रामायण में कहा गया है-

मार्गास्त्रयो मया प्रोक्ताः पुरा मोक्षाप्तिसाधनाः।
कर्मयोगो ज्ञानयोगो भक्तियोगश्च शाश्वतः।

महाभारत के जिस भीष्मपर्व में गीता का उपदेश है वहाँ योग के किसी एक स्वरूप को परिभाषित करना अत्यन्त कठिन है। श्रीमद्भगवद् गीता, अध्यात्मशास्त्र और योगशास्त्र का एक अपूर्व ग्रन्थ है वहाँ प्रत्येक अध्याय ही अपने आप में एक योग है। फिर भी गीता में योग के तीन विभाग मुख्य हैं-

क. "समत्वं योग उच्यते" अर्थात् सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों के बीच चित्त या मन का समान बने रहना
ख. तत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया अर्थात् चित्त की स्थिरता
ग. "पश्य मे योगमैश्वर्यम्" अर्थात् संयमन सामर्थ्य, प्रभाव ।

गीता में योग शब्द का अर्थ उपयुक्त तीनों में से एक की मुख्यता तथा शेष दो अर्थों की गौणता है। योगवासिष्ठ जो आध्यात्मिक ग्रन्थों में उच्च कोटि का ग्रन्थ है में संसार सागर से पार होने की युक्ति को ही योग कहा गया है। इसमें योग की तीन विधियाँ बताई गई है-1. एक तत्व की दृढ़ भावना, 2. मन की शान्ति और 3. प्राणों के स्पन्दन का निरोध।

इन तीनों में किसी एक की सिद्धि होने पर तीनों सिद्ध हो जाते हैं।

तंत्र में साधना के दो मार्ग बताये गये हैं-

1. भावना द्वारा, 2. कुल-कुण्डलिनी के जागरण द्वारा। कौल-साधना में कहा है-

कुलं शक्तिरिति प्रोक्तमकुलं शिव उच्च्ते।
कुलाकुलस्य सम्बन्धः कौलमित्यभिधीयते।।

"कुल" शब्द शक्ति का वाचक है और "अकुल" शब्द से "शिव" का बोध होता है। "कुल" और "अकुल" के सम्बन्ध को "कौल" अथवा ब्रह्मज्ञान कहते हैं।

योग की इन विशिष्टताओं का वर्णन उपनिषदुत्तर कालीन नास्तिक एवं आस्तिक दर्शन-सम्प्रदायों के अन्दर भी देखने को मिलता है। इन दार्शनिक-सम्प्रदायों में तात्त्विक और वैचारिक रूप से चाहे जो भी मतभेद रहे हों लेकिन उनके आचार-शास्त्रों में योगपरक जीवन-पद्धति की स्वीकृति समान रूप से विद्यमान मिलती है। नास्तिक चावार्क ने जहाँ पौराणिक कर्मकाण्ड, वेद और तत्त्व-मीमांसा को आत्मवंचना मानकर उपहास किया है वहीं योग-साधना की क्रियाओं का अगर समर्थन नहीं तो कहीं परिहास भी नहीं किया है।

जैन दर्शन में योग को सम्यक् जीवन का आधार मानकर सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र को मोक्ष के मार्ग के रूप में स्वीकार किया गया है। बौद्ध दर्शन में क्षणिक और दुःखमय संसार से मुक्त हो जाने के प्रयास को योग-जीवन का आरम्भ माना गया है जिसकी चरम परिणति "समाधि" में होती है।

अत: प्रज्ञा, शील और समाधि को बौद्धों ने योग का परिभाषित स्वरूप माना है।

न्याय-दर्शन के अनुसार आत्मा युक्त शरीर में दु:ख का आत्यन्तिक अभाव ही योग की पराकाष्ठा हैं।

वैशेषिक-दर्शन के अनुसार-मन के आत्मा मात्र में स्थित हो जाने पर मन कर्म के अभाव से आत्मा युक्त शरीर में दु:खानुभव का अभाव ही आत्मा का परमात्मा से संयोग अर्थात् योग है

सांख्य-दर्शन में पुरुष और प्रकृति की पृथक्ता के ज्ञान को योग कहा गया है। जब पुरुष त्रिगुणत्मिका प्रकृति से ऊपर उठकर अर्थात् जब जीवात्मा मल, विक्षेप तथा आवरण को दूर कर सचिदानन्द परमात्म-स्वरूप को प्राप्त हो जाता है तब इसे सनातनी ''ब्राह्मी स्थिति'' कहते हैं। जैनी इसे ''केवली'' और बौद्ध ''निर्वाण'' कहते है।

पतंजलि का दर्शन-सम्प्रदाय तो वस्तुत: योगदर्शन और साधना का ही एक सुविचारित, समन्वित और परिनिष्ठित रूप है। महर्षि पतंजलि ने भारतीय परम्परा में प्रवहमान योग की संस्कृति को एक व्यवस्थित और वैज्ञानिक रूप प्रदान किया। महर्षि पतंजलि ने **''योगश्चित्तवृत्तिनिरोध:''** अर्थात् चित्त की वृत्तियों को रोकना ही योग है ऐसा अपने दर्शन में प्रतिपादित किया है। चित्त की पाँच अवस्थायें होती हैं-

1. क्षिप्तावस्था, 2. मूढ़ावस्था, 3. विक्षिप्तावस्था, 4. एकाग्रता, 5. निरुद्धता, । निरुद्धता को प्राप्त करना ही योग का लक्ष्य है।चित्त की विभिन्न अवस्थाओं को रोकने के लिये महर्षि पतंजलि ने तीन तरह के साधन भी बतलायें हैं- 1. उत्तम अधिकारी के लिये उत्तम साधन, जिसमें अभ्यास, वैराग्य, ईश्वर प्रणिधान आदि हैं। 2. मध्यम अधिकारी के लिये मध्यम साधन, जिसमें तप, स्वाध्याय, और ईश्वर प्रणिधान आदि हैं तथा 3. अधम अधिकारी के लिये अधम साधन जिसमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये आठ अंग है- जिन्हें अष्टाङ्ग-योग के नाम से जाना जाता है।

पूर्वमीमांसा में आचार्य जैमिनि ने वेदविहित कर्मों के आधार पर मोक्ष की प्राप्ति पर बल दिया है। इस में योग साधना का प्रमुख आधार कर्म है। उत्तरमीमांसा में आचार्य शंकर ने ज्ञान को ही योग कहा है। सांख्य जहाँ पुरुष और प्रकृति के वियोग (पृथक्ता के ज्ञान) को योग कहता है, वहीं शांकर वेदान्त में आत्मा-परमात्मा के संयोग को योग माना गया है। वस्तुत: योग-साधना के द्वारा हम अपनी अन्त: और बाह्य प्रकृति पर नियंत्रण स्थापित करके दिव्यता को प्राप्त कर अपने चरम लक्ष्य ''मोक्ष'' को प्राप्त कर सकते हैं। हमारे तमाम ऋषि-मुनियों, सन्तों, योगियों के इतिहास योग-शक्ति के अद्भुत और चमत्कारिक प्रयोगों से भरे पड़े है जिनके बल पर वे त्रिकाल दर्शी, और अष्टसिद्धि, नवनिधि सम्पन्न विभूति के रूप में विख्यात हुये। योग-साधना के द्वारा ही आज मानव समाज को मानसिक-शारीरिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक रूप से समुन्नत और स्वस्थ बनाया जा सकता है। इस सम्बन्ध में श्रुति भी कहती है-

न तस्य रोगो न जरा न मृत्यु: ।
प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् । । श्वेताश्वतर उपनिषद्

योगाग्निमय शरीर जिसको प्राप्त होता है, उसे कोई रोग नहीं होता, बुढ़ापा नहीं आता और मृत्यु भी नहीं होती।

योग-साधना की मुख्यत: अधोलिखित चार प्रसिद्ध शैलियाँ हैं-

1. मंत्रयोग 2. हठयोग 3. लययोग और 4. राजयोग। योग -साधना की उपर्युक्त शैलियों का मूल अष्टाङ्ग-योग है।

हठयोग

आध्यात्मिक साधना-जगत् में हठयोग का विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह साधना मुख्य रूप से प्राणों की साधना है। यह योग-विद्या आदिनाथ भगवान् शिव से योगिराज मत्स्येन्द्रनाथ जी को प्राप्त हुई। परम्परा से प्राप्त योग-विद्या को योगिराज मत्स्येन्द्रनाथ जी ने महायोगी गुरु गोरक्षनाथजी को दिया और गुरु गोरक्षनाथजी ने त्रिताप से पीड़ित मानवता के कल्याण के लिये इसे जन सामान्य तक पहुँचाया। सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति में हठयोग के सम्बन्ध में महायोगी गोरक्षनाथजी कहते हैं-

हकार: कीर्तित: सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगाद् हठयोगो निगद्यते।

''ह'' कार सूर्य स्वर या नाड़ी का द्योतक है और ''ठ'' कार चन्द्र स्वर है। सूर्य एवं चन्द्र स्वरों के योग से ही **''हठयोग''** शब्द निष्पन्न होता है। सूर्य स्वर जिसे पिंगला नाड़ी भी कहते है पौरुष प्रवृत्ति का प्रतीक है तथा दाहिनी नासिका से प्रवाहित होता है। इसका बीज मंत्र ''ह'' है। चन्द्र स्वर जिसे इड़ा नाड़ी भी कहते हैं स्त्रैण प्रवृत्ति का प्रतीक है तथा बायीं नासिका से प्रवाहित होता है। इसका बीज मंत्र ''ठ'' है।

जब हम श्वास लेते हैं तब सामान्य रूप से दोनों स्वर एक साथ कार्य नहीं करते। कभी एक स्वर चलता है तो कभी दूसरा, लेकिन इसमें कोई सन्तुलन नहीं होता है। हठयोग की साधना से दोनों स्वरों (सूर्य और चन्द्र) में संतुलन स्थापित होता है। जब हमारा दायाँ स्वर चलता है अर्थात् सूर्य नाड़ी चलती है तब हमारे शरीर की प्राण-शक्ति क्रियाशील होती है। अधिकांश शारीरिक क्रियायें, विकास, रक्षण एवं संचालन आदि इसी शक्ति द्वारा सम्पन्न होती हैं। श्वसन, पाचन-संस्थान अवयव एवं ग्रन्थि से इसका सीधा सम्बन्ध है। पशु-पक्षियों एवं अन्य जीव-जन्तुओं में यह शक्ति अधिक सक्रिय होती है। इस शक्ति के अधिक सक्रिय होने से प्राणिक शक्ति एवं शारीरिक क्षमता तो बढ़ जाती है, परन्तु मानसिक शक्ति उसी अनुपात में कम होने लगती है। इसी प्रकार जब हमारा बाँया स्वर चलता है अर्थात् चन्द्र नाड़ी चलती है तो चेतना-शक्ति क्रियाशील होती है। मानसिक क्रिया-कलापों का संचालन इसके माध्यम से होता है। मनुष्य मे अन्य प्राणियों की तुलना में इस शक्ति का विकास अधिक होता है। इस शक्ति के अधिक क्रियाशील होने पर शारीरिक क्रिया-कलापों के प्रति व्यक्ति की उदासीनता तथा प्राणिक क्षमता भी कम हो जाती है। हठयोग की साधना से दोनों शक्तियों (नाड़ियों) में सन्तुलन स्थापित होता है जिसके फलस्वरुप तीसरा स्वर (सुषुम्णा) जागृत होता है- जिसे सुषुम्णा नाड़ी, सरस्वती नाड़ी आदि कहतें है। हठ-योग में आध्यात्मिक शक्ति-सुषुम्णा-का जागरण आवश्यक होता है।

हठयोग की साधना पिण्ड में ही ब्रह्माण्ड दर्शन अर्थात् जो कुछ ब्रह्माण्ड में है, वह सब हमारे व्यष्टि शरीर में भी है, इसका प्रतिपादन करती है। स्वयं महायोगी गोरक्षनाथ जी का कथन है कि षट्चक्र, त्रिलक्ष्य, पंच-व्योम, षोडश आधार, नवद्वार, पंचाधिदैव की अपने शरीर में ही विद्यमानता का जिन्हें ज्ञान नहीं है, वे हठयोग के द्वारा किस सिद्धि

की बात करते हैं- हमारा शरीर ब्रह्माण्ड का ही एक रूप है। यद्यपि गोरक्षनाथ जी ने सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति में नवचक्रों का वर्णन किया है तथापि छ: चक्रों पर ही हठयोग की साधना आधारित है। उन्हीं के भेदन से साधक सहस्रार में शिव का साक्षात्कार करता है जिनके नाम मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञाचक्र हैं। इसी तरह षोडश आधार- पादाङ्गुष्ठाधार, मूलाधार, गुदाधार, मेढ्राधार, उड्डियानबन्धाधार, नाभिआधार, हृदयाधार, कण्ठाधार, घण्टिकाधार, तालुकाधार, जिह्वाधार, भ्रूमध्याधार, नासाधार, नासिकामूलाधार और ब्रह्मरन्ध्र आधार है। इसी तरह बाह्य और आभ्यन्तर दो लक्ष्य हैं। तीसरा लक्ष्य मध्य भी कहा जाता है। आत्मा के स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए पञ्चाकाश-आकाश, पराकाश, महाकाश, तत्त्वाकाश और सूर्याकाश-के महत्त्व पर भी यहाँ बल दिया जाता है। एक मुख, दो नेत्र, दो कान, दो नासारन्ध्र, एक उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय) एक गुदा शरीर के ये नव द्वार हैं। पाँच अधिदेवता का अभिप्राय आकाश, वायु, तेज, जल, और पृथ्वी से है। ये ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर तथा सदाशिव हैं। हठयोग में इन तत्त्वों का ज्ञान आवश्यक है।

हठयोग तन को स्वस्थ, मन को स्थिर और आत्मा को परमपद में प्रतिष्ठित करने तथा अमृतत्व को प्राप्त करने का अमोघ साधन तथा महाज्ञान है। हठयोग-साधना मानवीय जीवन को सहज और नैसर्गिक प्राकृतिक वातावरण के अनुकूल संयोजित करने का शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक प्रयोग है। इसमें शरीर-शुद्धि के सात साधन बताये गये हैं -

शोधनं दृढ़ता चैव स्थैर्यं धैर्यं च लाघवम्।
प्रत्यक्षं निर्लिप्तं च घटस्थं सप्त साधनम्।।

अर्थात् शोधन, दृढ़ता, स्थैर्य, धैर्य, लाघव, प्रत्यक्ष और निर्लिप्तता ये सात साधन हैं जो शरीर में ही स्थित बताये गये हैं। इन में -

षट्कर्मणा शोधनं च आसनेन भवेद् दृढ़म्।
मुद्रया स्थिरता चैव प्रत्याहारेण धीरता।।
प्राणायामाल्लाघवं च ध्यानात्प्रत्यक्षमात्मनि।
समाधिना च निर्लिप्तं मुक्तिरेव न संशय:।।

अर्थात् शरीर के शोधन के लिए षट्कर्म, दृढ़ता के लिये आसनों का अभ्यास, स्थैर्य के लिये मुद्रायें, धैर्य के लिये प्रत्याहार, लाघव के लिये प्राणायाम, ध्येय के प्रत्यक्ष दर्शनार्थ ध्यान और निर्लिप्तता (आसक्तिहीनता) के लिये समाधि आवश्यक है। इस क्रम से अभ्यास करने पर अवश्य ही मुक्ति होती है, इसमे संशय नहीं है।

हठयोग में कायाशोधन अथवा घटशोधन या शरीर की शुद्धि एक आवश्यक साधन-तत्त्व है। इसमें षट्कर्म, आसन, मुद्राबन्ध, प्राणायाम की क्रियायें महत्त्वपूर्ण हैं। इनके द्वारा शरीर योगाग्नि में शुद्ध होकर पक्वदेह कहलाता है। षट्कर्म के अंग हैं- धौति, वस्ति, नेति, नौलि, त्राटक और कपालभाति। इनके द्वारा कफ-पित्त-वात के दोष नष्ट होते

हैं। शरीर में ताजगी आती है, आरोग्यता बढ़ती है और शरीर के मल का शोधन होता है। नाड़ियों के शोधन से प्राणवायु का शरीर मे सम्यक् संचार होता है। वायु का यथेष्ट धारण, जठराग्नि का प्रदीपन, नाद की अभिव्यक्ति और आरोग्य आदि शरीर के नाड़ियों के शोधन के ही परिणाम है। हठयोग-साधना में आसन, प्राणायाम तथा मुद्रा का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। गोरक्ष-संहिता में कहा गया है-

आसनेन रुजो हन्ति प्राणायामेन पातकम्। द्वितीयशतक

अर्थात् आसनों से शारीरिक और मानसिक रोग तथा प्राणायाम से पाप नष्ट होते हैं। मुद्रा से शरीर और मन की स्थिरता सिद्ध होती है। उसी संहिता में गोरक्षनाथ जी पुन: कहते हैं कि महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डियानबन्ध, जालन्धरबन्ध और मूलबन्ध के अभ्यास में जो योगी कुशल होता है, वह मुक्ति का पात्र होता है।

महामुद्रां नभोमुद्रां उड्डियानं जालन्धरम्।
मूलबन्धं चयो वेत्ति स योगी मुक्तिभाजन:।।

सिद्ध -सिद्धान्त-पद्धति में कहा गया है- ''**प्राणायाम इति प्राणस्य स्थिरता**'' अर्थात् प्राणायाम से प्राण स्थिर होता है। पाँचों इन्द्रियों को अपने विषय से पृथक् कर लेना ही प्रत्याहार है। साधक प्रत्याहार के द्वारा इन्द्रियों को तत्तद विषयों से हटाकर आत्माभिमुखी कर देता है। अपने चित्त में आत्मतत्त्व का चिन्तन हठयोग की साधना में ध्यान कहा जाता है। आत्मध्यान से अमरत्व की प्राप्ति होती है। चक्रभेदन करते हुये ध्यान द्वारा कुण्डलिनी को जाग्रत करने से जीवात्मा परम शिव का साक्षात्कार कर लेता है। समाधि में आत्मा के यथार्थ स्वरूप का अनुभव होता है तथा ध्याता, ध्येय और ध्यान तीनों एक हो जाते हैं। इस प्रकार का साक्षात्कार ही समाधि है।

हठयोग का परमलक्ष्य कुण्डलिनी-जागरण द्वारा षट्चक्रभेदन तथा कैवल्य की प्राप्ति है। कुण्डलिनी शक्ति पायु और उपस्थ के बीच मूलाधार चक्र में त्रिकोण के आकार के योनिकामपीठ के मध्य शिवलिंग को साढ़े तीन वलयों में लपेटकर नीचे की ओर मुंह कर विद्युत् की प्रभा के समान चमकती सुषुम्णा के मार्ग को रोककर अप्रबुद्ध और सुप्त रूप में स्थित रहती है। यद्यपि देह में स्थित कुण्डलिनी स्वभाव से चेतन है तथापि प्रबुद्ध न होने की अवस्था तक जीवात्मा को सांसारिक द्वन्द्वों में विमोहित करने के कारण बन्धकारिणी है। जब तक वह सुप्तावस्था है तब तक जन्म-मरण के बन्धन में जीवात्मा भटकता रहता है और जागने पर सहस्रदल तक संचार करती हुई यह साधक को उस के शुद्ध व्यापक आत्मा के स्वरूप का ज्ञान करा देती है। अपानवायु निकुंचन से, मूलबन्ध, उड्डियानबन्ध और जालन्धरबन्ध के अभ्यास से जब कुण्डलिनी-शक्ति का उत्थान किया जाता है तब वह सुषुम्णा के द्वार को छोड़ कर ऊर्ध्वमुखी होकर षट्चक्रभेदन करते हुए सहस्रार में पहुँच जाती है। मूलाधार में ब्रह्मचक्र है इसमें अग्नि के दीप्त शक्ति का ध्यान करने से कुण्डलिनी जग जाती है। इसके बाद स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध से होकर आज्ञाचक्र का भेदन करते हुये यह सहस्रार में पहुँच जाती है। सहस्रार में शक्ति-चन्द्रामृत-का पान करने में साधक प्रवृत्त होता है। यहाँ सहस्रार में ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच कर कुण्डलिनी शिव में अन्तर्भूत हो जाती है। यही जीवात्मा का शिव पद में अभिन्न होना हठयोग का परम लक्ष्य है। यही उन्मनी सहजावस्था है तथा अमनस्कता के धरातल पर जीवात्मा और परमात्मा की

एकता-अभेदता है।

आज जब विश्व स्वास्थ्य और मानसिक शान्ति की प्राप्ति के लिये उद्विग्न है तथा इस समस्या का समाधान ढूंढने के लिये भारतीय योग-साधना से प्रेरणा ग्रहण करने के लिये उत्सुक हैं तब ऐसे समय में हठयोग की साधना से मानसिक और शारीरिक आधियों-व्याधियों का समाधान विश्व मानवता का मार्ग प्रशस्त कर सकती है। हठयोग की साधना सर्वाङ.पूर्ण साधना है। इस साधना के माध्यम से हम न केवल लोक-कल्याण तथा आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त कर सकते हैं अपितु इस सम्बन्ध में प्रचलित गलत धारणाओं और मनमाने मिथ्या विचारों का निराकरण भी कर सकते हैं।

षट्कर्म

प्रकृति और स्वास्थ्य का अति सन्निकट का सम्बन्ध है। उत्तम स्वास्थ्य प्रकृति के साथ ही प्राप्त हो सकता है। मूल प्रकृति के त्रिगुणात्मक होने से प्राणि मात्र के शरीर भी वात, पित्त और कफ इन त्रिधातुओं के नाना प्रकार के रूपान्तरों के सम्मिश्रण हैं। आयुर्वेद में स्वास्थ्य की परिभाषा वात, पित्त और कफ के सन्तुलन से की गई है-

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते।।

अर्थात् जब वात, पित्त और कफ सन्तुलित हों, शरीरगत अग्नि सम हो, सप्त-धातु और मल-निष्कासन-क्रिया सम अवस्था में हो तथा पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और आत्मा प्रसन्न हों तब ही मनुष्य स्वस्थ है, ऐसा कहा जाता है।

कुछ शरीर वातप्रधान, कुछ पित्तप्रधान और कुछ कफप्रधान होते हैं। वातप्रधान शरीरों में आहार-विहार के दोष से तथा देश-कालादि हेतु से प्रायः वातवृद्धि हो जाती है, पित्त-प्रधान शरीरों में पित्त-विकृति और कफ-प्रधान शरीरों में प्रायः कफ-प्रकोप हो जाता है जिससे दूषित श्लेष्मा, आमवृद्धि या मेद का संग्रह हो जाता है, जबकि शरीर में वात, पित्त, कफ क्रमशः 4:2:1 के अनुपात में हो तभी सम अवस्था मानी जाती है। इस अनुपात मे जब भी असन्तुलन होता है तब शरीर में विकार उत्पन्न हो जाता है। इन विकारों के लिये तथा देह को पूर्ववत् स्वस्थ बनाने के लिये जैसे आयुर्वेद में स्नेहन, स्वेदन के अतिरिक्त वमन, विरेचन, वस्ति, नस्य और अनुवासन ये पंचकर्म बताये गये हैं- वैसे ही हठयोग के आचार्यो ने भी शरीर-शोधन के लिये षट्कर्म बताये हैं। षट्कर्म हठयोग का प्रथम साधन है। इसके द्वारा शरीर के मलों एवं विषाक्त तत्त्वों को दूर किया जाता है। हठयोग की ये 6 क्रियायें जिन्हें षट्कर्म कहते हैं इस प्रकार हैं-

धौतिर्वस्तिस्तथा नेतिर्नौलिकंत्राटकस्तथा।
कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि समाचरेत्।।

अर्थात् योग के लिये धौति, वस्ति, नेति, नौलि, त्राटक और कपालभाति इन षट्कर्मों का अभ्यास करना चाहिए।

षट्कर्म की इन क्रियाओं द्वारा विभिन्न प्रकार के कफ, वात और पित्त-जनित दोषों को, कण्ठ, प्लीहा, फेफड़े तथा उदर आदि के आन्तरिक विकारों को दूर कर शरीर को पूर्ण रूप से नीरोग रखा जा सकता है। इस कायशोधन से शरीर स्वस्थ रहता है और सभी नाड़ियाँ मलरहित होती हैं। इस प्रकार षट्कर्मो की उपयोगिता केवल शरीर-शोधन में ही नहीं अपितु शोधित शरीर से किये गये योगाभ्यास से कुण्डलिनी-जागरण तथा षट्चक्रभेदन पूर्वक शिव-शक्ति के समरसीकरण की अभीष्ट सिद्धि में भी है। अतः इनका क्रमशः विस्तृत निरूपण आवश्यक है।

1. धौति – धौति शब्द का अर्थ है- धोना या साफ करना। योग-शास्त्र में षट्कर्मों के अन्तर्गत मुंह से लेकर गुदा द्वार तक विधिवत् आन्तरिक सफाई करना धौति क्रिया कहलाती है। काया-शोधन की यह एक महत्त्वपूर्ण क्रिया है। मुख्य रूप से धौति-कर्म चार प्रकार का माना गया है। यथा-

अन्तर्धौतिर्दन्त-धौतिर्हृद्धौतिर्मूलशोधनम्।
धौतिश्चतुर्विधा कृत्वा घटं कुर्वन्ति निर्मलम्।।

अर्थात् अन्तर्धौति, दन्त-धौति, हृदयधौति और मूल-शोधन के भेद से धौति-कर्म चार प्रकार का है जिसके द्वारा साधक अपने शरीर को स्वच्छ (स्वस्थ) बनाते हैं। इससे अपच, मलावरोध, अतिसार, संग्रहणी आदि विकार तो दूर होते ही हैं, साथ ही उदरस्थ फोड़ों तक को धौति कर्म से ठीक किया जा सकता है। इन चारों का विवरण इस प्रकार है-

(क) **अन्तर्धौति**- इस का शाब्दिक अर्थ है भीतर की सफाई। अत: जिस धौति से शरीर के भीतर प्रक्षालन किया जाता है उसे अन्तर्धौति कहते हैं। इसके भी चार प्रकार हैं। यथा-

वातसारं वारिसारं वह्निसारं बहिस्कृतम्।
घटस्य निर्मलतार्थम् अन्तर्धौतिश्चतुर्विधा।।

अर्थात्- वातसार, वारिसार, वहिन्सार और बहिष्कृत भेद से अन्तर्धौति चार प्रकार की होती है।

1. वातसार अन्तर्धौति – इसमें सिद्धासन, पद्मासन या वज्रासन में बैठ कर दोनो होठों को कौवे की चोंच की तरह करके धीरे-धीरे पेट में वायु भरते हैं। वायुपान करने के बाद कुम्भक (श्वास रोकने की क्रिया) की स्थिति में पेट के अन्दर की वायु का चारों ओर संचालन करते हैं। उसके पश्चात् धीरे-धीरे नासिका से उस वायु को निकाल देते हैं। अन्दर की वायु को चलाने से संबंधित होने के कारण इसे वातसार अन्तर्धौति कहते हैं। इस क्रिया को काकी-मुद्रा या काकी-प्राणायाम भी कहते हैं।

लाभ- यह क्रिया-

(क) जठराग्नि को प्रदीप्त करके क्षुधा-वृद्धि कर, मंदाग्नि आदि को दूर करती है।
(ख) शरीर को सब रोगों से रहित करके स्वस्थ बनाती है।
(ग) मुंह, जीभ, टान्सिल आदि गले के रोगों में लाभदायक है।
(घ) इस क्रिया के सिद्ध होने पर दूर-श्रवण, दूर-दर्शन और आत्मदर्शन की शक्ति प्राप्त होती है।

2. वारिसार अन्तर्धौति – वारि अर्थात् जल सार अर्थात् चलाना। इस प्रकार मुंह से धीरे-धीरे जल पीने, उसे परिचालित करके जल को गुदा द्वारा से बाहर निकालने की क्रिया को वारिसार अन्तर्धौति कहते हैं। इससे आँतों की सफाई होती है। यह शंख धौति का एक प्रमुख अंग है।

शंख-धौति अथवा शंख-प्रक्षालन : आँतों को पूर्ण रूप से जिस क्रिया से स्वच्छ किया जाता है, उसे शंख-धौति अथवा शंख-प्रक्षालन कहते हैं। इस क्रिया से मुंह से लेकर गुदा तक शरीर की विधिवत् सफाई-धुलाई होती है। चूँकि आँतों की आकृति शंखनुमा होती है इसलिये आँतों को शंख भी कहा जाता है। अत: इस क्रिया से आँतों की सफाई को शंख-धौति अथवा शंख-प्रक्षालन भी कहते हैं। यह काया-कल्प की एक महत्त्वपूर्ण क्रिया है। शरीर-शोधन एवं शारीरिक स्वास्थ्य के लिये इस क्रिया के चमत्कारिक प्रभाव व लाभ प्राप्त हुए हैं। एक प्रकार से यह शरीर रूपी मशीन की सर्विसिंग तथा ओवरहालिंग जैसी क्रिया है जो उस मशीन को नवजीवन प्रदान करती है। इस क्रिया के सम्बन्ध में महायोगी गुरू गोरक्षनाथजी ने कहा है-

आहार तोड़ौ निद्रा मोड़ौ कबहुँ न होइबा रोगी।
छठै छमासै काया पलटिबा ज्यूँ कोइ बिरला बिजोगी।।

मिताहार, यथोचित निद्रा और छ:छ: माह के अन्तर में काया-कल्प के द्वारा शरीर को नीरोग रखते हुये योगी अपनी साधना में सिद्धि प्राप्त करता है।

साँस उसाँस बाई को भषिबा, रोकि लेहु नव द्वारं।
छठै छमासे काया पलटिबा, तब उनमनी जोग अपारं।।

कुम्भक प्राणायाम के द्वारा शरीर के भीतर श्वासोच्छवास का भक्षण करना चाहिए। इस कार्य में जितनी अधिक सफलता मिलेगी, उतनी ही प्राणशक्ति अक्षुण्ण होती जायेगी और मृत्यु का भय दूर होता जायेगा। नवों द्वारों को रोक कर वायु को शरीर में पचा लेने से काया-कल्प तो आनायास हो ही जाता है, और साथ ही साथ साल भर में दो बार, छ: छ: माह की अवधि में योगिक विधि से काया-कल्प करने से शरीर में परिष्कृत ऊर्जस्वल प्राण दौड़ने लगता है। इससे उन्मनी-योग सिद्ध होता है। मन स्थिर हो जाता है, ब्रह्मरन्ध्र-दशवें द्वार-के खुल जाने पर निष्कल, निरंजन, चिन्मय, परमात्मतत्त्व प्रकाशित हो उठता है। इस तरह उन्मनी अवस्था सिद्ध होती है।

अस्तु जिस दिन शंख-प्रक्षालन करना हो उसके पहले दिन रात्रि में हल्का सुपाच्य भोजन ही लेना चाहिए। रात्रि में पीने के लिये जल का अधिक से अधिक प्रयोग करें। सुबह सूर्योदय से पूर्व नित्य-क्रिया से निवृत्त होने के बाद एक गिलास नमकीन गरम पानी पी कर 5-5 बार निम्नलिखित आसनों का अभ्यास करें-

1. **ताड़ासन-** दोनों पैर मिलाकर खड़े हो जाइए, दोनो हाथ की अँगुलियों को आपस में फँसा कर हथेली को सिर की सीध में ऊपर रखिए। श्वास अन्दर लेते हुए पंजे के बल खड़े हो जाइए तथा हथेली को उल्टा कर के यानी आसमान की ओर रखते हुए पूरे शरीर को ऊपर की ओर तानें। दृष्टि सामने रखें तथा श्वास अन्दर रोक कर (जितनी देर हो सके) फिर श्वास छोड़ते हुए वापस आ जावें। ताड़ वृक्ष की सी स्थिति के कारण इसे ताड़ासन कहते हैं।

3. **तिर्यक् ताड़ासन-** दोनो पैरों के मध्य एक से डेढ़ फुट का फासला रखते हुए दोनों हाथों की अँगुलियों को आपस मे

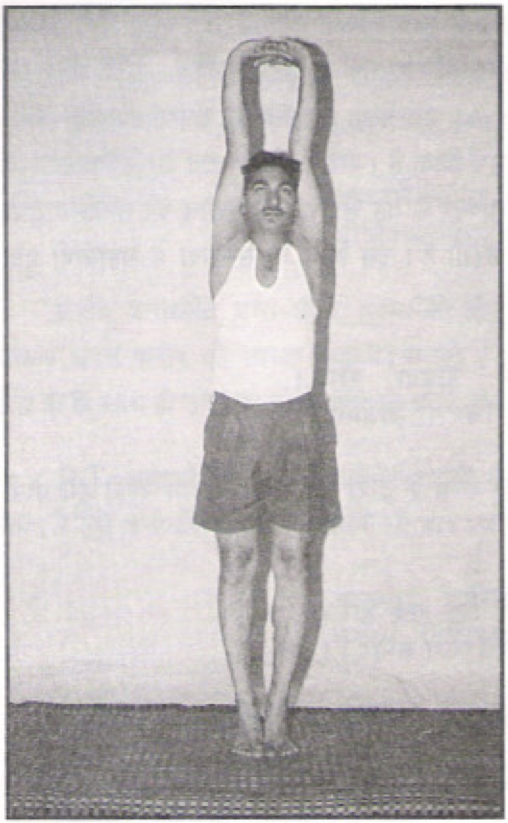

ताड़ासन

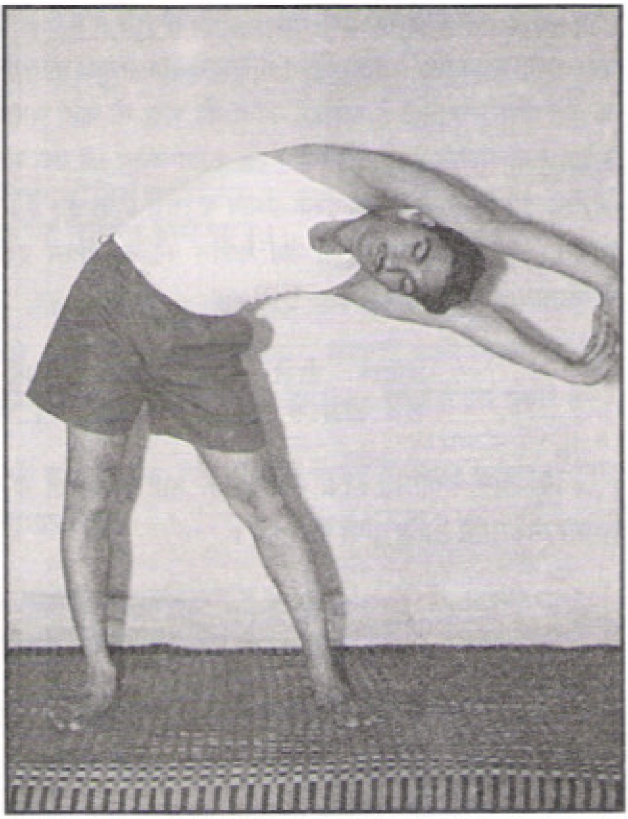

तिर्यक् ताड़ासन

फँसा कर हथेली को सिर के ऊपर सीधा ऊपर उठा कर खड़े हो जाइए। कमर के ऊपर के हिस्से (धड़) को दायीं तरफ झुकायें, फिर पूर्व अवस्था में आकर बायीं ओर इसी प्रकार झुकाइये, हाथ सीधा रखें, मोड़ें नहीं।

3. **कटिचक्रासन** – दोनों हाथों को सामने सीधे बाजू से फैला कर दोनों पैरो के मध्य 2-3 फुट का फासला रखते हुए खड़े हो जाइए। सर्वप्रथम दाहिने हाथ को सामने से घुमाते हुए बायें कंधे पर रखें और उसी वक्त बायें हाथ को पीछे कमर से घुमाते हुए दाहिनी जाँघ तक ले आयें, सिर को बायें कंधे की ओर ले जाकर कंधे के ऊपर से दाहिने पैर की एँड़ी को देखें। इसी तरह वापस पूर्व स्थिति में आकर दूसरी ओर से भी यही क्रिया करें।

4. **तिर्यक् भुजंगासन**– पेट के बल लेट कर दोनों हथेलियों को अपने दोनों बगल में छाती के समकक्ष रखें। दोनों कोहनियाँ पीठ से लगी हुई हों, सिर जमीन पर रहे, दोनों पैरों के बीच डेढ़ से दो फुट की जगह हो तथा पंजा जमीन से

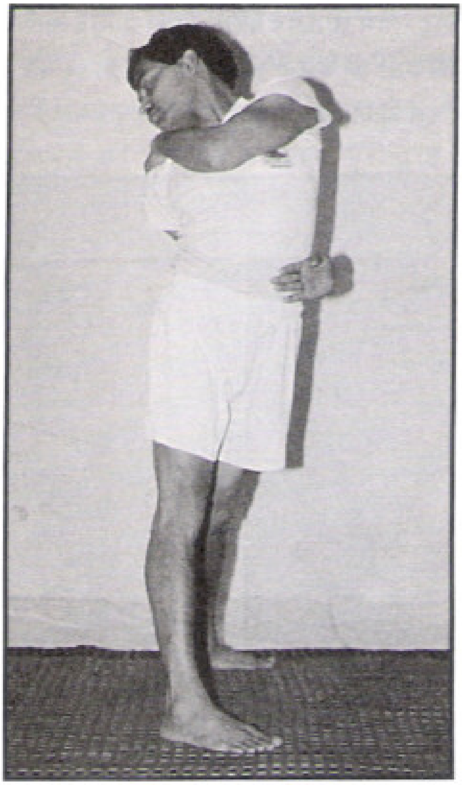

कटिचक्रासन

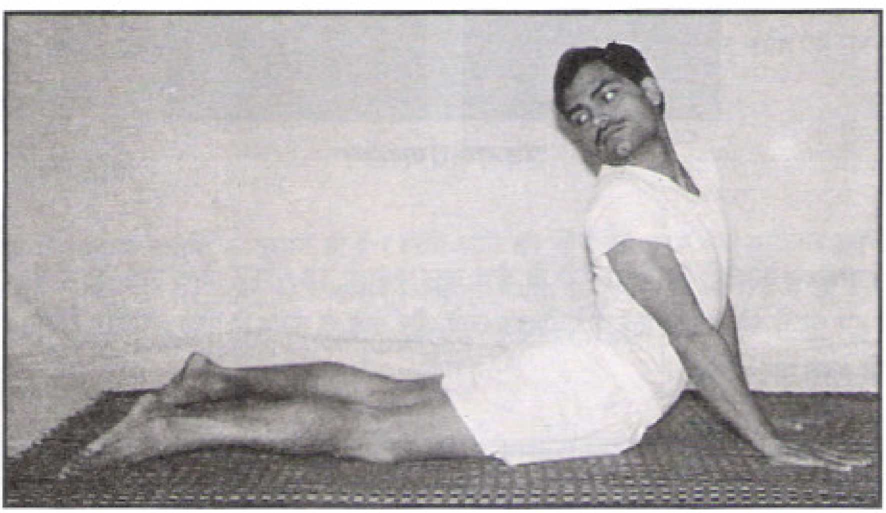

तिर्यक् भुजंगासन

सुलाकर रखें। श्वास लेते हुए धीरे-धीरे नाभि से ऊपर गर्दन, छाती व सिर को जमीन से ऊपर उठा कर सिर को बायें कन्धे की ओर मोड़ कर दाहिनें पैर की एँड़ी को देखने का प्रयत्न करें। सिर को पूर्व की स्थिति में लाकर श्वास छोड़ते हुए सामान्य स्थिति में आ जायें। पुन: इस क्रिया को दूसरी ओर से करें।

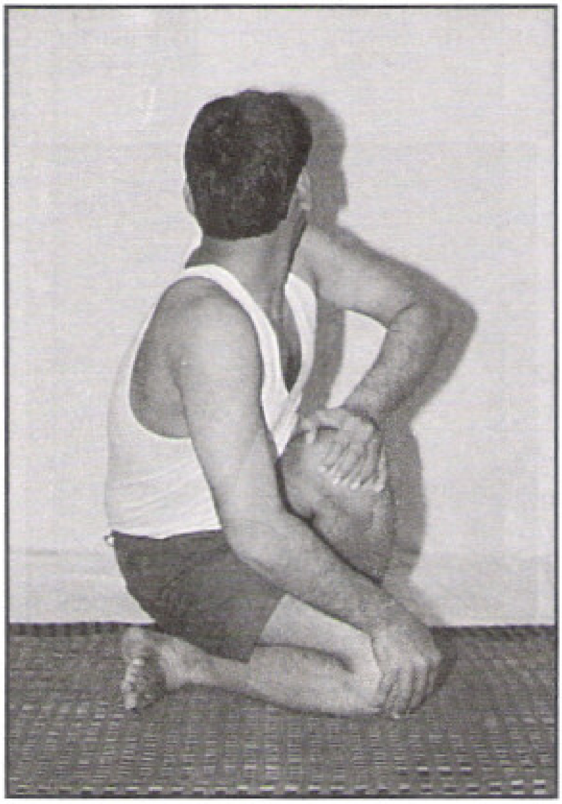

उदराकर्षणासन

5. **उदराकर्षणासन-** ऐसे बैठें कि दोनों पैरों के बीच कुछ फासला रहे। फिर दोनों हाथ घुटने पर रखें तथा बायीं एँड़ी को उठाते हुए घुटने को दाहिनें पंजे के पास तक लायें और कंधे के ऊपर से पीछे की ओर देखने की चेष्टा करें। यही क्रिया स्थिति बदल कर भी करें।

हर 5-5 बार अभ्यास के बाद 1-2 गिलास हल्का गरम नमकीन जल पी लें। लगभग 2 लीटर गरम नमकीन जल पी लेने पर अभ्यास के बाद शौच अवश्य जायें। उसके बाद पुन: गरम नमकीन जल पीकर अभ्यास जारी रखें। 3-4 लीटर जल पी लेने पर शौच की जरुरत महसूस होगी। शौच भी पहले सूखी, फिर गीली, फिर पतली तत् पश्चात्

कणयुक्त जलीय और अन्त में जल के समान साफ होने लगेगी। नमकीन गरम जल का अभ्यास तब तक जारी रखना चाहिए, जब तक शौच पानी की तरह नहीं आने लग जाय। इसके बाद 5-7 गिलास साफ गरम जल पीकर कुंजर क्रिया कर लेनी चाहिए। तत् पश्चात् एक घण्टे तक कुछ भी सेवन न करें। एक घण्टे के बाद शुद्ध देशी घी में पकाई हुई मूंग की दाल की खिचड़ी का सेवन स्वेच्छानुसार करें। लगभग 3-4 घण्टे पूरी तरह आराम करने के बाद अन्न-जल का सेवन करें। 3-4 घण्टे तक सोयें भी नहीं। लगभग एक सप्ताह गरिष्ठ भोजन (भारी भोजन), चाय तथा नशीले मादक पदार्थों का भी सेवन नहीं करना चाहिए।

लाभ – यह क्रिया -
1. शरीर-शोधन की उत्तम क्रिया है और सभी प्रकार के रोग दूर करने में सक्षम है।
2. कब्ज, मंदाग्नि को दूर कर आँतों के साथ मांस पेशियों को भी सक्रिय एवं मजबूत बनाती है।
3. रक्त के शुद्धीकरण में सहायक है।
4. मधुमेह, श्वास रोग, अपेन्डिसाइटिस, सिरदर्द, मुख, आँख, गला, जिह्वा और दन्त रोगों में लाभकारी है।

विशेष -
1. सामान्यजनों को तीन या छः माह में एक बार इसका अवश्य अभ्यास करना चाहिए।
2. मधुमेह के रोगियों को पन्द्रह दिन में एक बार इसका अभ्यास करना चाहिए।
3. कुष्ठ रोगियों को सप्ताह में दो दिन इसका अभ्यास करना चाहिए।
4. बहुत कमजोर व्यक्ति, प्रसूता महिला, गुर्दे, अल्सर, ऊँचे या नीचे रक्तचाप तथा हृदय के रोगियों को इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए।

3. वह्निसार अन्तर्धौति (अग्निसार धौति)

वज्रासन में बैठकर अथवा थोड़ा सामने झुके हुए खड़े होकर प्राण वायु को रोककर नाभि को मेरु के पृष्ठ भाग में लगायें तथा फिर फुलायें। इससे सभी उदर रोग नष्ट होते हैं और जठराग्नि तीव्र होती है।

4. बहिष्कृत अन्तर्धौति

यह क्रिया वातसार अन्तर्धौति के समान ही है। इसमें कौवे की चोंच की तरह मुख बनाकर इतनी मात्रा में वायु पीते जायें की पेट पूरी तरह भर जाये, फिर अन्तर्कुम्भक द्वारा यथा सामर्थ्य वायु को पेट में ही धारण करके रखें, पश्चात् इसे गुदा से बाहर निकालना चाहिए। इससे नाड़ियों का शुद्धीकरण होता है।

सावधानी-
1. यह क्रिया कठिन है, तथा ठीक से अभ्यास न होने पर वायु कुपित होने की अधिक सम्भावना होती है। इसलिए किसी जानकार के निर्देशन में ही करें।
2. इस क्रिया के अभ्यास में अन्तर्कुम्भक के साथ जालन्धर बन्ध अवश्य लगायें।

दन्त-धौति- मुख के अन्दर या बाहर के भागों को धोकर साफ व स्वस्थ रखने की क्रिया को दन्तधौति कहते है। यह पाँच प्रकार की होती है-

दन्तमूलं जिह्वामूलं रन्ध्रं च कर्णयुग्मयो:।
कपालरन्ध्रं पंचैतै: दन्तधौतिर्विधीयते ।।

अर्थात्- दन्तमूल, जिह्वामूल, कर्णरन्ध्र (दोनों कानों के रन्ध्रों से होने वाली दो धौति है) तथा कपाल रन्ध्र इन पाँचों से दन्तधौति होती है।

1. दन्तमूलधौति- इसमे प्रतिदिन प्रात: एवं सायंकाल नीम की टहनी से दाँतो की सफाई तथा हाथ की तर्जनी अँगुली से मसूढ़ों को खूब रगड़ते हैं (सभी प्रकार के दन्त रोग, पाइरिया आदि में लाभ होता है) अथवा सेन्धा नमक व सरसो का तेल मिलाकर दाँत एवं मसूढ़ों की मालिश दाहिने हाथ की तर्जनी अँगुली से खूब रगड़ते हुए करनी चाहिए, उसके बाद गाय के मक्खन से बार-बार जिह्वा का मार्जन तथा दोहन करना चाहिए।

लाभ : इस से-
1. कफ-दोष का निवारण होता है।
2. जिह्वा का दोहन करने से वाक्शक्ति तथा स्वादशक्ति की क्षमता बढ़ती है।

3. कर्णरन्ध्र-धौति- दोंनों हाथों की तर्जनी अथवा अनामिका अंगुलियों से दोनो कानों के छिद्रों की मालिश व सफाई करना कर्णरन्ध्रधौति कहलाती है।

लाभ: इससे-
यह श्रवण शक्ति को बढ़ाती है तथा इस से शरीर में व्याप्त नाद की साधना करने में सुगमता रहती है।

4. कपालरन्ध्र-धौति- दाहिने हाथ के अँगूठे या अँगुली से खोपड़ी के मध्यम में कपालरन्ध्र की जल या किसी विशिष्ट तेल से मालिस करने की क्रिया कपालरन्ध्र धौति कहलाती है। यह क्रिया मध्याह्न काल तथा सायंकाल में होती है।

लाभ: इस क्रिया से-
1. कफ-दोष का निवारण होता है।
2. शारीरिक तथा मानसिक दोनों प्रकार की पवित्रता प्राप्त होती है।

हृद्धौति - हृदय का शोधन जिस क्रिया से होता है उसे हृद् या हृदयधौति कहते हैं। मानसिक शुद्धि के लिये हृदय की शुद्धि अत्यन्त आवश्यक है। इसके बिना न तो योगसाधना हो सकती है और न ही तृष्णा, ममता और वासना के बन्धन से छुटकारा मिल सकता है। हृदय में साक्षात् विष्णु का निवास बताया गया है। इसके शोधन की मुख्य तीन क्रियायें हैं-

"**हृद्धौतिं त्रिविधं कुर्याद् दण्डवमन वाससा**"। अर्थात् दण्ड आदि तीन साधनों के कारण हृदय धौति के तीन भेद

हैं- दण्डधौति, वमनधौति और वसनधौति।

1. **दण्डधौति-** केले के दण्ड, चिकने बेंत के दण्ड, हल्दी अथवा वटवृक्ष की जटा जिसकी मोटाई १ सेमी० तथा

दण्डधौति

वमनधौति

लम्बाई लगभग २ फुट तक हो- को अन्न की नली के रास्ते धीरे-धीरे हृदयस्थल तक प्रविष्ट कर थोड़ी देर सावधानी से दण्ड को चारों ओर घुमा कर धीरे-धीरे ही बाहर निकालने की क्रिया दण्ड-धौति अर्थात् दण्ड से हृदय की सफाई कहलाती है। दण्ड यदि मुलायम न हो तो उसमें गाय का मक्खन अवश्य लगा लेना चाहिए। यह क्रिया भोजन से पूर्व ही करनी चाहिए।

लाभ- इस क्रिया से-

1. कफ और पित्त आदि मल बाहर निकल जाते हैं।
2. फेफड़े व हृदय रोगों जैसे श्वास, दमा आदि में लाभ होता है।
3. घबड़ाहट आदि तमाम दोष शान्त हो जाते हैं।

2. **वमनधौति-** प्रात: काल अथवा भोजन करने के 3-4 घण्टे बाद गर्म नमकीन जल तब तक पीयें जब तक जल कंठ तक न भर जाय और जल पीने की गुंजायश बिल्कुल न रह जाय। फिर उकड़ूँ बैठ कर अथवा खड़े होकर थोड़ा सामने लगभग 120 अंश झुक कर दाहिने हाथ की दो अँगुलियों को जिह्वामूल में प्रविष्ट कर धीरे-धीरे रगड़ना

चाहिए। नये अभ्यासी बायें हाथ से पेट को दबायें और दाहिने हाथ की अँगुलियों से छोटी जीभ पकड़ें। उदरस्थ सारा जल बाहर आ जायेगा। इससे आमाशय, अन्न- नली और गले की धुलाई हो जाती है। उच्च रक्तचाप वाले रोगी, वात रोगी, हृदय व फेफड़े के कमजोर रोगी को यह क्रिया नहीं करनी चाहिए। सामान्य साधक को सप्ताह में एक बार, पित्त एवं कफ के रोगी को सप्ताह में दो बार तथा दमा के रोगी को कुछ दिन तक नित्य करना चाहिए।

लाभ- इस से-
1. वात, पित्त एवं कफ से सम्बन्धित रोग दूर होते हैं।
2. अम्लपित्त, अल्सर, खट्टी डकार आदि विकार दूर होते हैं।
3. दमा तथा श्वासरोग में आराम पहुँचता है।

वस्त्रधौति

3. **वसनधौति अथवा वस्त्रधौति-** प्रात: काल भोजन करने के पूर्व 5-6 सेमी० चौड़ा 8 मी० लम्बा महीन से महीन नया कपड़ा गोल लपेट कर नमकीन गरम जल में भिगोकर एक बर्तन में रख दें। कपड़े के एक सिर को मुंह में डालकर लार से अच्छी तरह मिलाकर धीरे-धीरे निगलें। प्रथम दिन एक फुट, दूसरे दिन दो फुट और तीसरे दिन तीन फुट वस्त्र अन्दर ले जायें क्रमश: अभ्यास बढ़ावें। ध्यान रहे कि एक-दो फूट वस्त्र बाहर दाँत से पकड़ कर रखें। वस्त्र अन्दर जाने पर नौलि क्रिया करें। फिर धीरे-धीरे वस्त्र को बाहर निकालें। अगर कठिनाई हो तो जल की मदद से निकालें। ध्यान रहे वस्त्र को 10-15 मिनट से ज्यादा अन्दर नहीं रखना चाहिए। यह क्रिया भोजन के पूर्व करनी चाहिए और क्रिया के एक घण्टे के बाद भोजन या नाश्ते में गाय के घी का अधिक से अधिक प्रयोग करें।

लाभ- इस से-

1. गुल्म, ज्वर, प्लीहा, कुष्ठ एवं कफ, पित्त आदि विकारों का शमन होता है।
2. हृदय-शोधन की क्रिया होने से यह मन की एकाग्रता में सहयोगी है।
3. दमा, श्वासरोग, कुष्ठरोग में लगातार इसका अभ्यास करें। अल्सर रोगी परामर्श लेकर ही करें। वस्त्र को बाहर निकालते समय वस्त्र के अन्तिम भाग में अम्ल अधिक होने पर गले में खरखराहट, जलन आदि होने का भय रहता है। अत: ऐसी स्थिति आने पर जल अधिक पियें।

मूल-शोधन (गणेश-क्रिया)- अपानवायु को कुपित होने से रोकने के लिये, मलावरोध आदि के निवारण के लिये जिस क्रिया का उपयोग किया जाता है उसे मूल-शोधन अथवा गणेश-क्रिया कहतें हैं। इस क्रिया में कच्ची मूली की जड़ अथवा हल्दी की जड़ के चूर्ण को जल में मिलाकर मध्यमा अँगुली से गुदा मार्ग की सफाई जल के साथ की जाती है। हल्दी रक्त शोधक होने के कारण लाभदायक है।

लाभ: इस से-

1. जठराग्नि प्रदीप्त होती है।
2. बवासीर (अर्शरोग) में लाभ होता है।
3. आमजनित या कफ एवं अजीर्ण जनित रोग उत्पन्न नहीं होते और शरीर की पुष्टि तथा कान्ति में वृद्धि होती है।
4. वीर्य दोष भी दूर होते हैं।

वस्ति:

यह षट्कर्म के अन्तर्गत शरीर-शोधन की दूसरी क्रिया है। वस्ति शरीर में मूलाधार के समीप नाभि के नीचे वाले (पेडू) भाग को कहते हैं जहाँ मूत्राशय है और इस वस्ति प्रदेश की सफाई जिस क्रिया से होती है, उसे स्थान के कारण वस्ति कहते हैं। इस क्रिया को अंग्रेजी में एनिमा भी कहते हैं।

जलवस्ति: शुष्कवस्तिर्वस्ति: स्याद् द्विविधास्मृता।
जलवस्तिर्जले कुर्यात् शुष्कवस्ति: सदा क्षितौ।।

अर्थात् वस्ति क्रिया दो प्रकार की होती है-

1. जलवस्ति जल में तथा 2. शुष्कवस्ति भूमि पर की जाती है। शुष्कवस्ति को पवन-वस्ति भी कहते हैं

1. **जलवस्ति-** एक चिकनी नली को गुदा में डालकर नौलि-कर्म की सहायता से वस्ति में जल को चढ़ाया और निकाला जाता है। इसके लिये एनिमा लेना अपेक्षाकृत आसान विधि है। इससे आँतो में जमा मल घुल कर पतला होकर निकल जाता है। जल चढ़ाने के पूर्व सिरिंज द्वारा गुदा में तेल चढ़ाना उपयोगी बताया गया है। एनिमा न उपलब्ध हो तो ग्लिसरीन की बत्ती चढ़ाने से भी मल तथा ऑव के निष्कासन में आसानी होती है। रोग के अनुसार वस्ति में

तरह-तरह के क्वाथों (काढ़ों) को चढ़ाने की बात भी बतायी गयी है। परन्तु सामान्य रूप के कवोष्ण (गुनगुने) जल में साबुन और लवण अथवा पोटैशियम परमैग्नेट मिलाने की बात ही बतायी गयी है।

विधि- किसी बड़े टब (बड़ा जलपात्र विशेष) में, किसी नदी या सरोवर में नाभि तक जल में उत्कटासन में बैठ कर गुदा मार्ग का आकुन्चन और प्रसारण (सिकोड़ने-फैलाने की क्रिया) करें। नली अथवा सिरिंज द्वारा जल अन्दर चढ़ा कर मूलबन्ध वस्ति प्रदेश को नौलि क्रिया द्वारा चालित कर भीतर चढ़ाये गये जल को बाहर निकाल सफाई का यह काम किया जाता है।

लाभ- इस से-

गुल्म, प्लीहा, उदर-रोग तथा वात, पित्त और कफ का दूषित रूप में बनना नष्ट हो जाता है।

2. **स्थल-वस्ति-** जमीन पर पश्चिमोत्तान आसन में बैठकर आश्वनी मुद्रा के द्वारा गुदा का आकुंचन और प्रसारण करने की क्रिया स्थलवस्ति कहलाती है।

लाभ: इससे-

1. कब्ज दूर होता है।
2. गठिया आदि रोग दूर होते हैं।
3. जठराग्नि प्रदीप्त होती है।

सावधानी-

1. नौलि क्रिया तथा स्थलवस्ति के ठीक अभ्यास के बाद ही जलवस्ति का अभ्यास करना चाहिए। अन्यथा उदर में प्रविष्ट हुआ सम्पूर्ण जल बाहर नहीं आ पायेगा और उसके बाहर न आने से धातुक्षय आदि नाना दोष होने की सम्भावना रहती है।
2. जलवस्ति के तुरन्त बाद भोजन अवश्य करें जिससे वृहद् आंत्र में बचा हुआ जल का अंश धीरे-धीरे मूत्र द्वारा बाहर आ जायेगा। भोजन नहीं करने की स्थिति में दूषित जल आँतो से सम्बद्ध सूक्ष्म नाड़ियों द्वारा शोषित रक्त में मिल जायेगा और रक्त को दूषित करेगा।
3. जलवस्ति के लिये शुद्ध जल का ही प्रयोग करना चाहिए। अधिक गरम जल तथा अधिक शीतल जल का प्रयोग नहीं करना चाहिए।
4. राजयक्ष्मा (क्षय), संग्रहणी, अधोरक्तपित्त, भगन्दर, मलाशय और गुदा में शोथ, आंत्र सन्निपात, कफ-वृद्धि जनित तीक्ष्ण श्वास प्रकोप में वस्ति क्रिया नहीं करनी चाहिए।

नेति

विभिन्न द्रव पदार्थों द्वारा नासिका मार्ग की सफाई करने की क्रिया को नेति कहते हैं। यह षट्कर्म की तीसरी

क्रिया है। यह नाक, कान, कण्ठ और मस्तिष्क से सम्बन्धित रोगों में लाभदायक है। जलनेति, सूत्रनेति, दूग्धनेति, तेल या घृतनेति आदि भेद से यह अनेक प्रकार की होती है।

जलनेति

1. **जलनेति-** गुनगुने जल में आवश्यकतानुसार नमक मिलाकर एक टोंटीनुमा लोटे में जल भर कर सिर को थोड़ा झुका कर ऊपर वाली नासिका में लोटे की टोंटी को लगाकर जल डालते हैं। जल दूसरी नासिका से अपने आप बाहर आ जायेगा। इस क्रिया मे यह ध्यान विशेष रूप से रहे कि श्वास नासिका से न लेकर थोड़ा मुंह खोलकर रखें, ताकि आवश्यकतानुसार श्वास अन्दर बाहर हो सके। इसी क्रिया को क्रमशः दूसरी नासिका से भी करते हैं। इसके बाद भस्त्रिका नेति अवश्य करें।

लाभ- यह-

1. आँख, कान, नाक, गला, दाँत एवं मस्तिष्क से सम्बन्धित रोगों को दूर करता है।
2. चर्मरोग में लाभ पहुँचाता है।
3. मानसिक तनावों को दूर करता है।
4. सिरदर्द, खाँसी, जुकाम, नजला (सर्दी), नाक में फोड़े, फुंसी आदि में लाभ पहुँचाता है।
5. सुषुम्णा नाड़ी को जाग्रत करता है।

सावधानी-

1. नये अभ्यासियों को शुरू में ही शीतल जल प्रयोग नहीं करना चाहिए। शुरू में ही शीतल जल का प्रयोग करने से सर्दी, जुकाम, सिर का भारीपन इत्यादि कष्ट हो जाते हैं।
2. नज़ला, जुकाम होने पर नमकीन गरम जल से ही नेति क्रिया करनी चाहिए।
3. जलनेति के बाद भस्त्रिका-नेति अवश्य करनी चाहिए अन्यथा कालान्तर में जल वाष्प बनकर फेफड़े में प्लुरिसी आदि रोग उत्पन्न कर सकता है।

सूत्रनेति

2. **सूत्रनेति-** मुलायम धागे की रस्सी या रबर की कैथेटर नं० 4 को गरम जल से धोकर धीरे-धीरे एक नासिका छिद्र में डालकर गले के पास आने पर दायें हाथ की दो अँगुलियों से कैथेटर या सूत्र को मुंह से धीरे-धीरे बाहर निकाल कर सूत्र या कैथेटर के एक-एक कोने को दोनों हाथों से पकड़ कर 8-10 बार अन्दर बाहर करके धीरे-धीरे मुंह से बाहर निकाल लेना चाहिए। इसके बाद घृतनेति अवश्य करनी चाहिए।

लाभ- यह-
1. सिरदर्द, खाँसी, जुकाम, नाक में फोड़े-फुंसी आदि में लाभ पहुँचाता है।
2. नाक के अन्दर मांस वृद्धि को रोककर नाक को खोलता है।

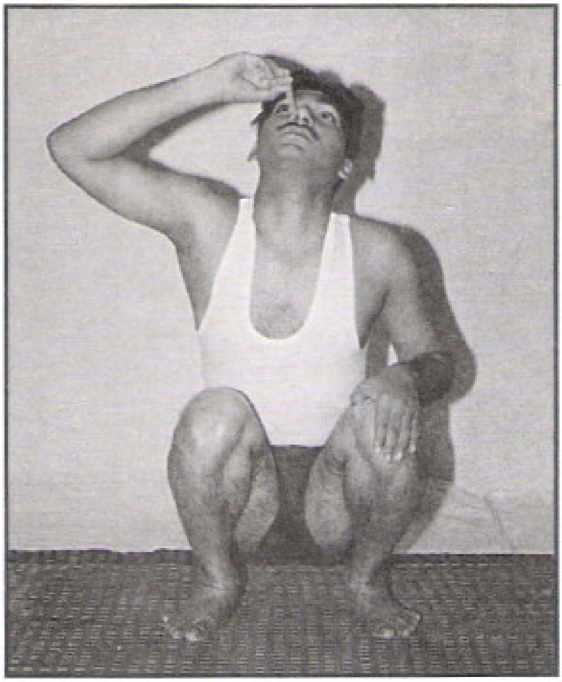

घृतनेति

3. **घृतनेति/कपालनेति-** किसी आसन पर बैठकर अथवा कुर्सी पर बैठकर अथवा चारपाई पर लेटकर सिर को पीछे लटका कर ड्रापर द्वारा बारी-बारी से प्रत्येक नासिका छिद्र से 8-10 बूँद ताजा गाय का घृत डालने की क्रिया को घृतनेति कहते हैं। यही क्रिया तेल से करने पर तेलनेति, दुग्ध से करने पर दुग्धनेति कहलाती है अथवा नासिका से दुग्धपान करना ही दुग्धनेति कहलाती है। मुंह में पानी भर कर नासिका के छिद्रों से निकलने की विधि को कपालनेति कहते हैं।

लाभ- यह-

1. आँख, नाक, कान, गला एवं मस्तिष्क के सभी रोगों में लाभ पहुँचाता है।
2. सिर दर्द, खांसी, जुकाम, नाक में फोड़े-फुंसी को दूर करता है।
3. मिर्गी, चक्कर, स्मरणशक्ति की कमी आदि में लाभदायक है।
4. दुग्धनेति बालों की सुरक्षा में सहायक होती है। बाल सफेद नहीं होते हैं, झड़ते नहीं हैं।

नौलिका या नौलि-क्रिया

हठयोग के षट्कर्मो की यह चतुर्थ तथा उत्तम क्रिया है। यह क्रिया उदर-रोगों को दूर करने में प्रभावकारी सिद्ध हुई है। सुगमता से करने के लिये इसे छः भागों में बाँटा जा सकता है। सबसे पहले सीधे खड़े होकर दोनों पैरों के बीच

डेढ़-दो फुट का अन्तर रखें। धड़ को थोड़ा सामने झुका कर दोनों हाथों को घुटने से ऊपर बाँध कर रखना चाहिए। इसके मध्य, दक्षिण और वाम आदि कई भेद हैं।

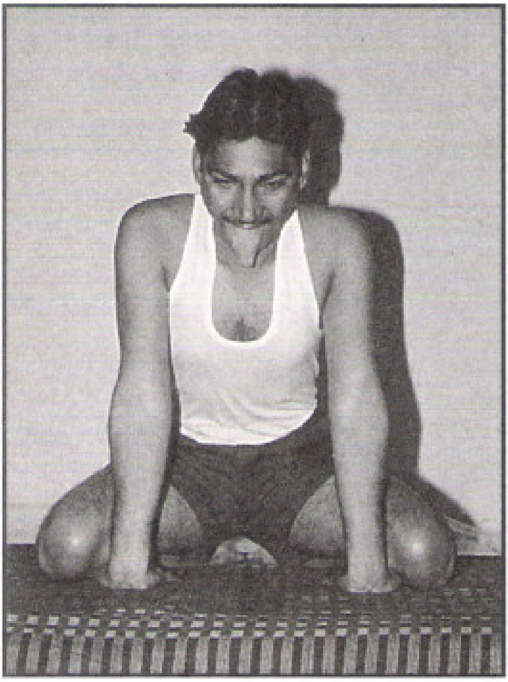

अग्निसारक्रिया

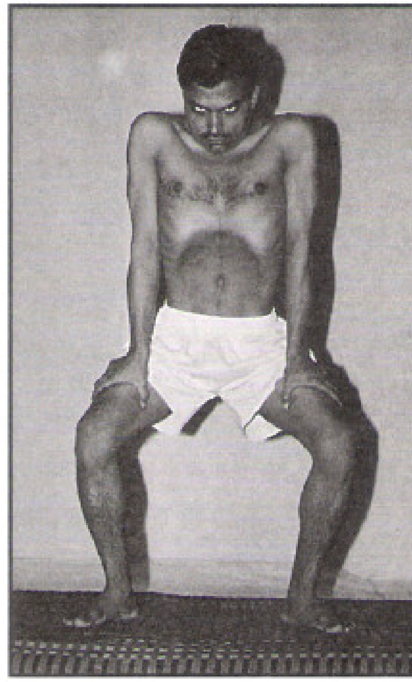

उड्डीयानबन्ध

अग्निसारक्रिया- वज्रासन में बैठकर दोनो घुटनों के बीच दूरी बढ़ा कर दोनो हाथों की हथेलियों को पेट की ओर उल्टा कर के दोनो घुटनों के बीच रखें। जालन्धर बन्ध लगाकर पेट को अधिक से अधिक क्रमश: पिचकायें-फैलायें (फुलायें) अर्थात् नाभि प्रदेश का आकुंचन और प्रसारण जल्दी-जल्दी करें। यह क्रिया जितनी देर आसानी से कर सकते हैं करें तत् पश्चात् श्वास लें।

लाभ- यह-

1. उदर की मांसपेशियों को लचीली बनाती हैं तथा इससे मांसपेशियों व नसनाड़ियों पर नियंत्रण प्राप्त होता है।
2. उदर सम्बन्धी विकारों को दूर कर पाचन-शक्ति बढ़ाती है।

उड्डीयानबन्ध- सीधे खड़े होकर दोनों पैरों के बीच एक-डेढ़ फुट का फासला रखें आगे झुकते हुये दोनों हाथों को घुटनों के ऊपर जाँघ पर रखकर रेचक करके श्वास बाहर निकालें और बहिष्कुम्भक करें। पेट को अन्दर की ओर इतना खींचें कि पीठ से सट सा जाय। जितनी देर रुक सकते हैं, रुकने के बाद धीरे-धीरे पेट को ढीला छोड़ने पर

श्वास धीरे-धीरे लें।

लाभ- यह-
1. आँतों के रोगों में लाभ पहँचाता है।
2. कब्ज तथा गैस्टिक को दूर करता है।

मध्य-नौलि

दक्षिण-नौलि

मध्य-नौलि - उड्डीयानबन्ध के अभ्यास के बाद पेट के मध्य मांसपेशियों की नाल जैसी शक्ल उभरती है। इसे मध्य-नौलि कहते हैं।

दक्षिण-नौलि - इसी नौलि को बायें हाथ के दबाव को कम करके पेट के दाहिनी ओर निकालना दक्षिण-नौलि कहलाती है।

वाम-नौलि - मध्य-नौलि को दाहिने हाथ के दबाव को कम करके बायीं ओर निकालने की क्रिया को वाम-नौलि कहते हैं।

चक्र-नौलि - नौलि को बायें से दायें और दायें से बायें वर्तुलाकार घुमाने की क्रिया को चक्र-नौलि कहते हैं।

वाम-नौलि

चक्र-नौलि

लाभ- यह-

1. उदर सम्बन्धी वात, तिल्ली, मंदाग्नि, आमवात, पेट का कड़ापन, कब्ज आदि रोग दूर करती है।
2. आँतों को सक्रिय स्वस्थ एवं मजबूत बनाने की उत्तम क्रिया है।
3. प्राण-अपान वायु का योग कराने वाली कुण्डलिनी-योग की महत्त्वपूर्ण क्रिया है।

सावधानी -

1. पेट के अल्सर, शल्य-क्रिया, गर्भकाल और उपवास में इस क्रिया का अभ्यास वर्जित है।
2. अभ्यास प्रातः काल खाली पेट षट्कर्म की अन्य क्रियाओं से पूर्व करना चाहिए।

त्राटक

किसी लक्ष्य विशेष को एकाग्रता के साथ आँसू निकलने तक अपलक देखने की क्रिया को त्राटक कहते हैं। यथा-

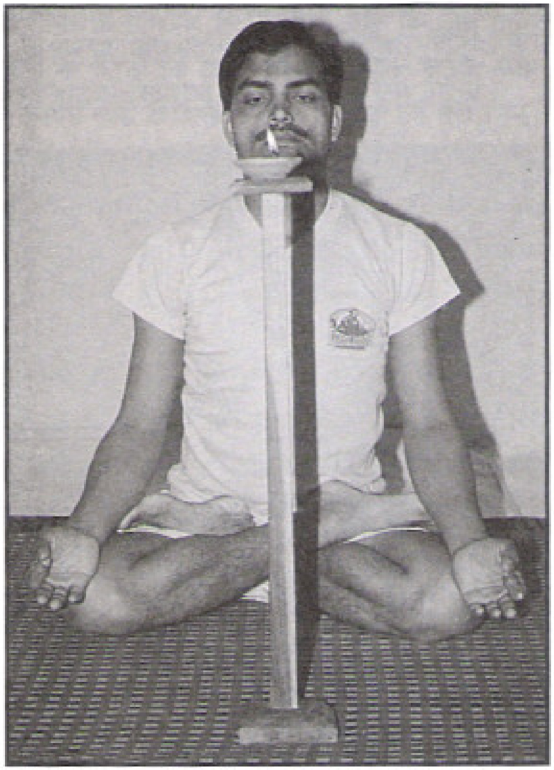

त्राटक

निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्म-लक्ष्यं समाहित: ।
अश्रुसम्पात-पर्यन्तमाचार्येस्त्राटकं स्मृतम् ।।

त्राटक क्रिया तीन प्रकार की होती है-

1. अन्त: त्राटक
2. मध्य-त्राटक
3. बाह्य-त्राटक

1. **अन्त: त्राटक-** हृदय अथवा भ्रूमध्य में नेत्र बन्द रख कर एकाग्रता पूर्वक धारणा शक्ति को बढ़ाने की क्रिया को अन्त: त्राटक कहते हैं। भ्रूमध्य में त्राटक करने से आरम्भ में कुछ दिनों तक कपाल में दर्द तथा नेत्रो की बरौनियो में चंचलता की शिकायत हो सकती है। परन्तु कुछ दिनों के अभ्यास के बाद नेत्रवृत्ति में स्थिरता आ जाती है।

2. **मध्य-त्राटक-** जब त्राटक क्रिया का अभ्यास देवमूर्ति, सफेद कागज में काला बिन्दु अथवा ऊँ, मोमबत्ती अथवा

तिल के तेल की अचल बत्ती अथवा धातु की मूर्ति, नासिका के अग्रभाग या समीपवर्ती किसी अन्य लक्ष्य पर दृष्टि रखकर की जाती है तब उसे मध्य-त्राटक कहते हैं। इस क्रिया को करने के लिये किसी भी आसन (पद्मासन, सिद्धासन या स्वस्तिकासन) में बैठकर एक डेढ़ फुट की दूर पर आँखों के ठीक सामने किसी स्टैण्ड में एक दीपक (तिल के तेल आदि से युक्त) रखते हैं। अपलक नेत्रों से दीपक की लौ को तब तक देखते हैं जब तक आसानी से देख सकें। आँखों से आँसू आने पर आँखें बन्द करके दीपक की लौ को भ्रूमध्य में धारण करें। कुछ देर बाद पुनः इस क्रिया को दुहरायें। धीरे-धीरे अभ्यासकाल बढ़ाते जायें। यह क्रिया देवमूर्ति, सफेद कागज पर काला बिन्दु अथवा ॐ आदि समीपवर्ती लक्ष्य पर भी की जा सकती है।

3. **बाह्य-त्राटक-** जब त्राटक क्रिया का अभ्यास किसी दूरवर्ती लक्ष्य पर यथा-चन्द्र, प्रकाशित नक्षत्र, पर्वत के तृणाच्छादित शिखर आदि पर किया जाता है, तब उसे बाह्यत्राटक कहते हैं। केवल सूर्य पर त्राटक नहीं करना चाहिए क्योंकि सूर्य और नेत्र ज्योति में एक ही प्रकार की शक्ति होने से नेत्र-शक्ति सूर्य में आकर्षित होती रहेगी जिससे नेत्र कुछ ही दिनों में कमजोर हो जायेंगे। यदि सूर्य पर त्राटक करना हो तो जल में पड़े हुए सूर्य के प्रतिबिम्ब पर अभ्यास किया जा सकता है।

लाभ-यह

1. स्मरण-शक्ति, धारणा-शक्ति, अतीन्द्रिय क्षमता को बढ़ाता है।
2. मन की हलचल को शान्त, स्थिर तथा अन्तर्मुख करता है।
3. दिव्य-दृष्टि तथा सम्मोहन-शक्ति पैदा करने में सहायक है।
4. उच्च आध्यात्मिक क्रियाओं के लिये पृष्ठभूमि तैयार करता है।
5. शाम्भवी-मुद्रा की सिद्धि में सहायक है।

सावधानी-

1. त्राटक क्रिया का अभ्यास करते समय आसन एकदम स्थिर हो तथा शरीर में किसी भी प्रकार की हलचल नहीं होनी चाहिए।
2. त्राटक क्रिया के बाद नेत्र और मस्तिष्क में उष्णता बढ़ जाती है इसलिये इस क्रिया के बाद जलनेति करनी चाहिए।

त्राटक के अधिकारी-

1. जिस साधक की पित्त प्रकृति हो, जिसके मस्तिष्क, नेत्र, नासिका या हृदय में दाह रहता है वह केवल अन्तः त्राटक का अधिकारी है।
2. जिनकी दृष्टि दूर की वस्तुओं के लिये कमजोर हो, जिनकी वातप्रधान प्रकृति हो या जिन्हें शुक्र की निर्बलता हो, वे बाह्य त्राटक के अधिकारी हैं।
3. जिनकी दृष्टि दोष-रहित हो, त्रिधातु सम हो, कफ-प्रधान प्रकृति हो, नेत्रों की ज्योति पूर्ण हो, वे मध्य त्राटक के

अधिकारी हैं।

विशेष- अम्लपित्त, जीर्णज्वर, विषमज्वर, मज्जातन्तु-विकृति, पित्ताशय-विकृति इत्यादि किसी रोग से पीड़ित अथवा तम्बाकू, गाँजा आदि के व्यसनी को त्राटक-क्रिया का अभ्यास नहीं करना चाहिए।

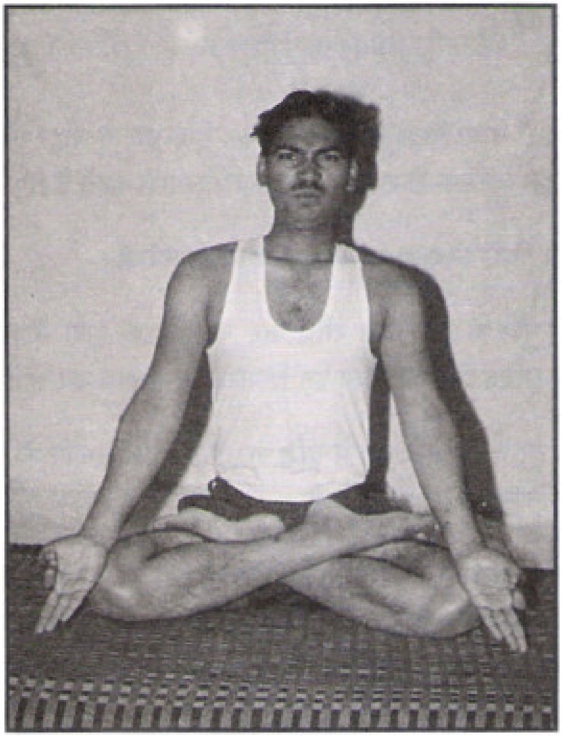

कपालभाति

कपालभाति- वृहत् मस्तिष्क के सामने के हिस्से को कपाल कहते हैं। भाति यानी धौंकनी, अर्थात् मस्तिष्क के समस्त विकारों को दूर कर प्राण शक्ति द्वारा कपाल का शोधन जिस क्रिया से होता है, उसे कपालभाति कहते हैं।

वातक्रमेण व्युत्क्रमेण शीत्क्रमेण विशेषत:।
कपालभातिस्त्रिधाकुर्यात् कफदोषं निवारयेत्।।

वातक्रम (कपालभाति), व्युत्क्रम (कपालभाति) और शीतक्रम (कपालभाति) के भेद से कपाल भाति तीन प्रकार की होती है। इसकी साधना करने से कफ से उत्पन्न विकारों का निवारण होता है।

1. **वातक्रम-कपालभाति** – इड़ा नाड़ी (बायीं नासिका) मे वायु भर कर पिंगलानाड़ी (दाहिनी नासिका) से बाहर निकाल दें। इड़ा नाड़ी बायीं नासिका में और पिंगला दायीं नासिका में होती है। इड़ा नाड़ी तमोगुण-प्रधान तथा पिंगला

रजोगुण-प्रधान होती है तथा पिंगला नाड़ी से वायु खींच कर इड़ा नाड़ी से निकालने की अनुलोम-विलोम क्रिया को वातक्रम कपालभाति कहते हैं।

लाभ-इस से-
1. कफ-दोष का निवारण होता है।
2. मन एकाग्र होता है।

2. **व्युत्क्रम-कपालभाति** -दोनों नासा छिद्रों से जल खींच कर मुख-द्वार से बाहर निकालने और मुख से जल खींच कर इस नाड़ी से निकालने की इस व्युत्क्रम-क्रिया को व्युत्क्रम-कपालभाति कहते हैं।

लाभ: यह कंठ, मुख और नासा छिद्रों को शुद्ध करने में अत्यन्त उपयोगी है।

3. **शीतक्रम-कपालभाति** - मुख के द्वारा जल खींच कर नासिका के द्वारा निकालने की क्रिया को शीतक्रम-कपालभाति कहते हैं। धीरे-धीरे उचित निर्देशन में ही इन क्रियाओं का अभ्यास करना हितकर है।

लाभ: यह चेहरे पर झुर्री आदि दूर करके सुन्दरता में वृद्धि करती है। कपालभाति की उपर्युक्त क्रियाओं के अतिरिक्त सबसे सरल तथा उपयोगी क्रिया निम्नलिखित प्रकार से है-

किसी भी आसन (पद्मासन, सुखासन या वज्रासन) में बैठकर हाथ घुटने पर रखकर नासिका से श्वास खींचकर झटके के साथ कई हिस्सों में विभाजित करते हुए छोड़ते हैं। अन्तिम बार दीर्घ प्रश्वास से फेफड़े की पूरी वायु बाहर निकाल देते हैं फिर तीनों बन्ध लगाकर (सबसे पहले जालन्धर बन्ध, उसके बाद मूललबन्ध, उसके पश्चात् उडिड्यानबन्ध लगाकर) तथा छोड़ने के लिये सबसे पहले उडिड्यानबन्ध फिर मूलबन्ध और अन्त में जालन्धर बन्ध छोड़ना चाहिए। बहिष्कुम्भक भी करना चाहिए। इस क्रिया का अभ्यास प्राणायाम के बाद खाली पेट ही करना चाहिए।

लाभ - यह-
1. श्वास-रोग, तपेदिक, दमा आदि में लाभकारी है।
2. सिर-दर्द तथा मस्तिष्क सम्बन्धी रोग दूर करता है।
3. फेफड़े की शुद्धि करके रक्त-शोधन, मस्तिष्क के विकास और मन की चंचलता आदि दूर करता है।

षट्कर्म योगाभ्यास के क्षेत्र में नि:सन्देह अत्यन्त आवश्यक अंग है। इनके सम्यक् और विधि पूर्वक अभ्यास से आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि के साधन से कायाशोधन होने पर सुषुम्णा में अपान-प्राण के प्रवेश से षट्चक्र प्राणित होते हैं, मूलाधार में सोयी कुण्डलिनी जाग जाती है और षट्चक्रों को मुद्राबन्ध के अभ्यास के सहारे भैदन करती हुई शरीर में नव प्राण-शक्ति भरती हुई सहस्रार में परब्रह्म अलखनिरंजन शिव से सामरस्य स्थापित कर तत् स्वरूप हो जाती है।

शरीर में त्रिधातु सम होने पर षट्कर्म नहीं करना चाहिए। शरीर-शुद्धि के लिये अथवा इन क्रियाओं पर

अधिकार रखने के लिये प्रारम्भ में कुछ समय तक अभ्यास किया जा सकता है जिससे भविष्य में देशकाल-परिवर्तन, प्रमाद या आहार-विहार से वातादि धातुओं के विकृत हो जाने पर इन क्रियाओं द्वारा इनका शमन किया जा सकता है। परन्तु आवश्यकता न होने पर नित्य करते रहने से समय का अपव्यय, शारीरिक निर्बलता और मानसिक प्रगति में शिथिलता आ जाती है। इसलिए षट्कर्म आवश्यकतानुसार तथा आवश्यक सावधानी के साथ ही करना चाहिए। अतः इसे किसी जानकार व्यक्ति या गुरु के निर्देशन में करना ही निरापद एवं उचित है।

आसन

हठयोग-साधना का द्वितीय साधन **"आसन"** है। मन और शरीर को पुष्ट, दृढ़ एवं आरोग्य प्रदान करने की शरीर की विशेष स्थिति आसन कहलाती है। सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति में गोरक्षनाथ जी ने **"आसन"** को स्वरूप-चेतन आत्मा-में स्थित हो जाना कहा है। यथा "आसनमिति स्वस्वरूपे समासन्नता।" योगिराज मत्स्येन्द्रनाथ जी ने संतोष को ही "आसन" कहा है अर्थात् जो स्थिति साधना के लिये साधक को सन्तुष्ट करती हो वही आसन है। मछीन्द्रगोरख बोध' में मत्सयेन्द्रनाथ जी कहते हैं-

अवधू सन्तोष सो आसन विचार सो ग्यान।

महर्षि पतंजलि ने योग-सूत्र में आसन की सरल व्याख्या इस प्रकार की है-

"स्थिरसुखमासनम्"

जो स्थिर सुखदायी हो शरीर की वह स्थिति आसन है। आसनो के अभ्यास से शरीर की स्थिरता अथवा सुगमता सुदृढ़ता ही नहीं मानसिक स्थिरता भी प्राप्त होती है। हठयोग के आचार्य महर्षि घेरण्ड का कथन है- "आसनेन भवेद् दृढ़म्"

अर्थात् आसनों से शरीर में सुदृढ़ता आती है। शरीर के अंग-प्रत्यंग पुष्ट और स्वस्थ होते है। गोरखवानी में गोरक्षनाथ जी कहते है- **जीविताकैतलि मूवा बिछावन यूं बोल्या गोरष वांणी।**

जीविता का तात्पर्य आत्मा से है और "मूवता" का अभिप्राय जड़ शरीर से है। आसन के द्वारा शरीर वश में रहता है। हठ्योग-प्रदीपिका में "आसन" के सम्बन्ध में कहा है-

कुर्यात्तदासनं स्थैर्यमारोग्यं चांगलाधवम्। - (१/१९)

आसनों के अभ्यास से शरीर में स्थैर्य, आरोग्य और अंगस्फूर्ति की प्राप्ति होती है। गोरखवाणी में आसन के सम्बन्ध में कहा है-

निश्चय आसन पवनां ध्यान अगनी कंद न जाई।

(आसन, प्राण और ध्यान के स्थिर होने पर अथवा सिद्ध होने पर शरीर की जीवनी-शक्ति, अग्नि और वीर्य नष्ट नहीं होते।) तथा "आसन दृढ़ करि धरौ धियानं"

अस्तु आसन की दृढ़ता का परमफल है ध्यान की साधना में सिद्धि प्राप्त करना।

आसनों के नियमित अभ्यास से शरीर पर पूर्ण नियंत्रण स्थापित किया जा सकता है तथा शरीर के अंग-प्रत्यंग के क्रियाशील होने से आरोग्यता बढ़ती है। आसनों से मांसपेशियों के तन्तु और सेल सक्रिय होते है जिनसे उनकी ग्रहणशीलता में वृद्धि होती है तथा जठराग्नि प्रदीप्त होने से पाचन क्रिया भी तेज होती है जिससे शरीर की अनावश्यक चर्बी कम होती है तथा मोटापा दूर होता है। रीढ़ की हड्डी जो पूरे शरीर का आधार तथा जिससे होकर सुषुम्णा का प्रवाह है वह योगासन से सीधे प्रभावित होती है। शरीर की हड्डियों को लचीला तथा स्वस्थ करने मे आसनों की महत्त्वपूर्ण भूमिका हो सकती है। आसनों के नियमित अभ्यास से रीढ़ की हड्डी से होने वाले दुष्प्रभाव जैसे कूबड़ निकलना, लकवा ग्रस्त होना, स्लिप डिस्क, आर्थराइटिस, स्पोंडलाइटिस, कम्पन आदि रोगो से बचा जा सकता है। आसनों से शरीर में स्थित विभिन्न अन्तःस्रावी ग्रंथियाँ- जैस पीयूष-ग्रन्थि, पीनियल-ग्रन्थि, थुल्लिका-ग्रन्थि, थाइमस और यौन-ग्रन्थि आदि सक्रिय होती है जो इन ग्रन्थियों से होने वाले हार्मोन आदि के स्राव को नियंत्रित रखती है जिनका प्रभाव शारीरिक व मानसिक स्थिति पर पड़ता है।

योग के आदि प्रवर्तक आदिनाथ भगवान् शिव ने जीव-जगत् की चौरासी लाख योनियों के अनुसार आसनों की संख्या भी चौरासी लाख बतायी है। जीव अपनी जीवन-यात्रा में इन चौरासी लाख योनियों में भटकता हुआ अन्त में ''मोक्ष'' को प्राप्त कर सकता है। चौरासी लाख संख्या में अधिक होने के कारण वर्तमान में केवल चौरासी आसन ही व्यवहार में उपयोगी माने गये है। इन चौरासी प्रमुख आसनों में भी बत्तीस प्रमुख आसन घेरण्ड-संहिता के अनुसार इस प्रकार है-

सिद्धं पद्मं तथा भद्रं मुक्तं बज्रं च स्वास्तिकम्।
सिंहं च गोमुखं वीरं धनुरासनमेव च।।
मृतं गुप्तं तथा मत्स्यं मत्स्येन्द्रासनमेव च।
गोरक्षं पश्चिमोतानं उत्कटं संकटं तथा
मयूरं कुक्कुटं कूर्मं तथा चोत्तानकूर्मकम्।
उत्तानमण्डुकं वृक्षं मण्डूकं गरुणं वृषम्।।
शालभं मकरं चोष्ट्रं भुजंगं योगमासनम्।
द्वात्रिंशदासनानि तु मर्त्ये सिद्धि प्रदानि च।।

अर्थात् सिद्ध, पद्म, भद्र, मुक्त, वज्र, स्वास्तिक, सिंह, गोमुख, वीर, धनुष, मृत, गुप्त, मत्स्य, मत्स्येन्द्र, गोरक्ष, पश्चिमोत्तान, उत्कट, संकट, मयूर, कुक्कुट, कूर्म, उत्तानकूर्म, उत्तानमण्डूक, वृक्ष, मण्डूक, गरुड़, वृषभ, शलभ, मकर, उष्ट्र, भुजंग, और योगासन यह बत्तीस आसन मृत्यु-लोक में सिद्धि प्रदान करने वाले है।

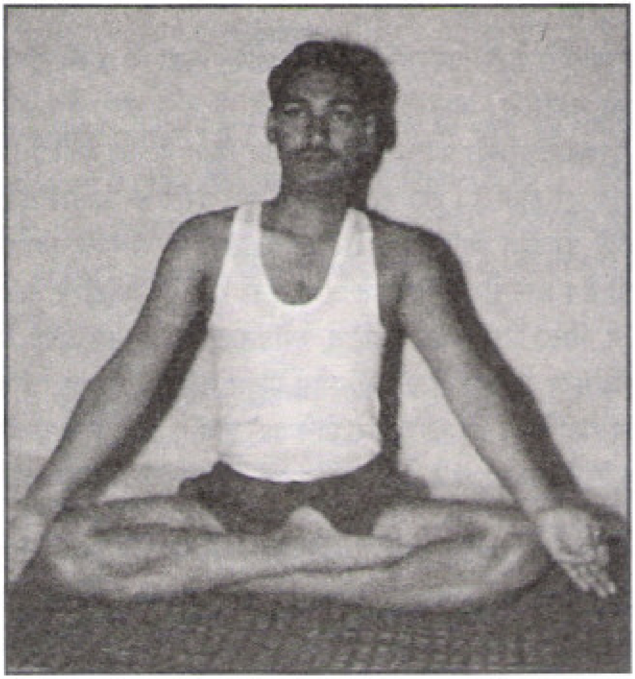

सिद्धासन

हठयोग-साधना के इन प्रमुख आसनों का विवरण इस प्रकार है-

1. सिद्धासन

विधि- सर्वप्रथम दोनो पैरों को सामने फैलाकर बैठते हैं। बायें पैर को मोड़कर एँड़ी को पायु (गुदा) और उपस्थ के मध्य स्थित सीवनी नाड़ी पर इस प्रकार रखना चाहिये कि उसका तलवा दाहिने जाँघ की पिंडली के बीच स्थित हो जाय। इसी प्रकार दाहिनी एँड़ी को उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय) के ऊपर रखकर उसके अँगूठे और तर्जनी को बांयी जाँघ और पिंडली के बीच स्थित करना चाहिए। दोनों हाथ दोनों घुटनों पर ज्ञानमुद्रा की स्थिति में रखें तथा ठोड़ी को कंठमूल में लगाकर हृदय के ऊपर स्थिर करें, मेरूदण्ड और गर्दन को सीधी और स्थिर रखें, दृष्टि भ्रूमध्य पर रखें।

लाभ -

1. सिद्धासन के अभ्यास से सीवनी नाड़ी सीधे प्रभावित होती है जो मन की काम-वासना शान्त करती है जिससे ब्रह्मचर्य बना रहता है।
2. यह प्राण और मन पर संयम बनाये रखता है तथा
3. स्नायु-संस्थान को शान्त, स्थिर और सशक्त बनाता है।

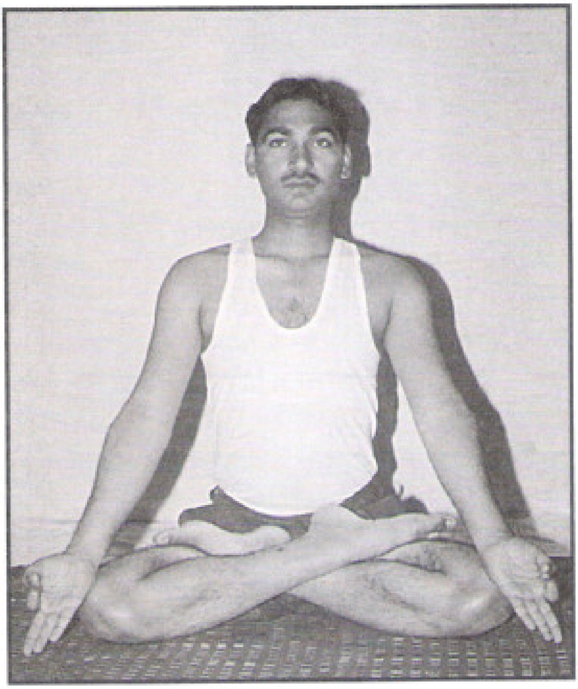

पद्मासन

सावधानी -

1. साइटिका और रीढ़ के नीचे के भाग के विकार से पीड़ित व्यक्ति को यह आसन नहीं करना चाहिए।
2. आध्यात्मिक प्रयोजन के लिये इस आसन को 3-4 घन्टे तक किया जा सकता है परन्तु बच्चे तथा विवाहित युवा इसका अभ्यास 30 मिनट से अधिक कदापि न करें।

2. **पद्मासन** – कमलपुष्प के नाम पर इस आसन का नाम पड़ा है। चूँकि इस आसन में शरीर की आकृति **''कमल''** की तरह हो जाती है इसीलिये इसे पद्मासन कहते हैं।

विधि: – सामान्य स्थिति में दोनों पैरों को सामने फैलाकर बैठें। बांये पैर को मोड़कर दाहिनी जांघ पर तथा दाहिने पैर को मोड़कर बाँयी जाँघ पर रखें। दोनों हाथ दोनों घुटनों पर ज्ञान-मुद्रा की स्थिति में रखें। मेरुदण्ड और गर्दन सीधी ओर रखकर दृष्टि को नासिका के अग्रभाग पर केन्द्रित करना चाहिये। श्वास सहज रखें। पद्मासन के अनेक भेद हैं। जैसे- अर्द्धपद्मासन, उत्थितपद्मासन, गुप्तपद्मासन, बद्धपद्मासन आदि।

लाभ-

1. इस आसन के अभ्यास से पैर की नाड़ियाँ तथा नसें शुद्ध और पुष्ट होती हैं जो फाइलेरिया, और गठिया में लाभ पहुँचाती हैं।

2. पद्मासन में बैठकर पेट की पसलियों को ऊपर खींचने तथा फिर यथा स्थित रखने से पाचन शक्ति बढ़ती है, पैर के भी दोष और रोग दूर होते हैं, भूख बढ़ती है।
3. पद्मासन में पायु (गुदा) और उपस्थ के आस-पास की नाड़ियों और नसों को ऊपर खीचने से वीर्य विकार नष्ट होते हैं। आमवात रोग नष्ट होता है।
4. मेरुदण्ड सीधा रखने से सुषुम्णा नाड़ी गतिशील होती है।
5. पद्मासन से शरीर की स्थिरता से मन स्थिर और एकाग्र होता है।

सावधानी-
1. साइटिका, मेरुदण्ड के निचले हिस्से में दर्द की स्थिति में पद्मासन नहीं लगाना चाहिए।
2. पद्मासन को प्रारम्भ में अधिक देर तक नहीं करना चाहिये। धीरे-धीरे इस का अभ्यास बढ़ाना चाहिये।

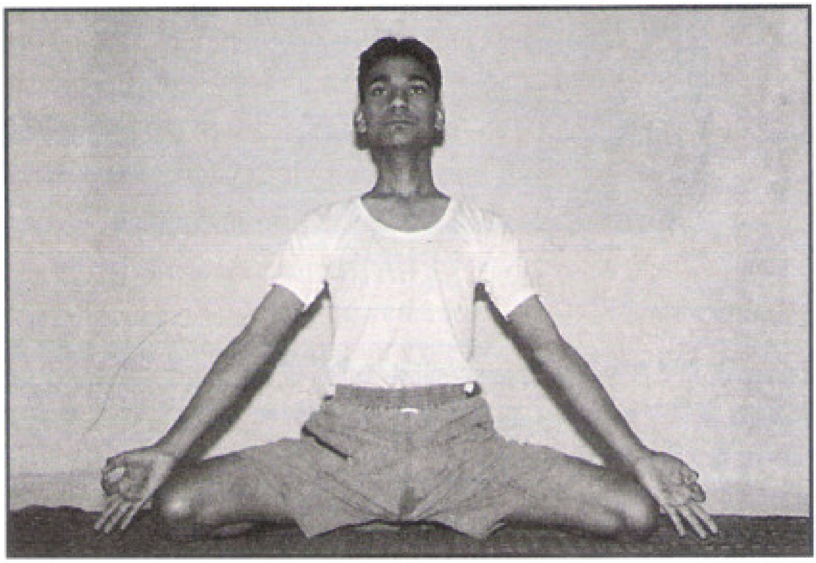

भद्रासन

3. भद्रासन - वज्रासन में बैठकर दोनों घुटनों की दूरी यथासम्भव बढ़ायें, पैर की अँगुलियाँ जमीन छूती रहें, पंजो को इतने अन्तर पर रखना चाहिए कि उनके बीच में नितम्ब रखकर बैठा जा सके, दोनो हाथों को दोनों घुटनों पर रखना चाहिये, दृष्टि नासिका के अग्रभाग पर होनी चाहिये।

लाभ-
1. इस आसन के अभ्यास से साधक की आध्यात्मिक शक्ति और साधना की सात्विक प्रवृत्ति बढ़ती है और मूलाधार-चक्र क्रियाशील होता है।
2. पैरों की नसें मुलायम होती हैं तथा वातब्याधि और मलावरोध का नाश होता है।

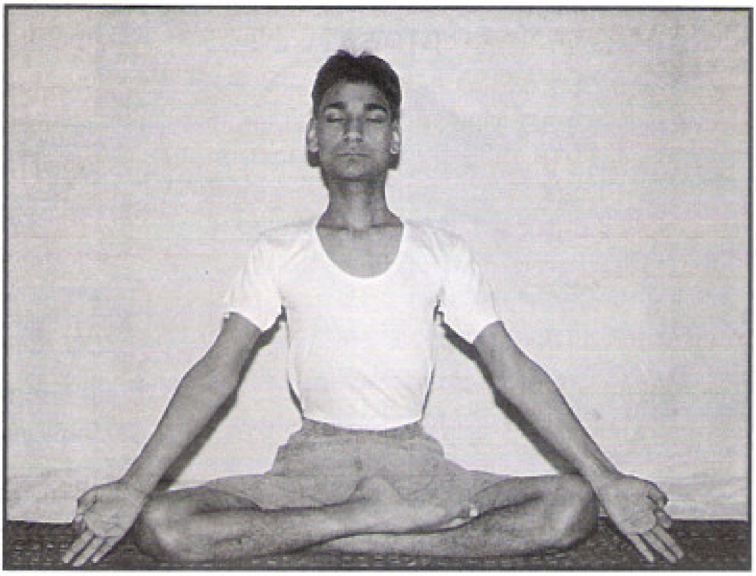

मुक्तासन

4. **मुक्तासन** – सिद्धासन का ही सामान्य रूप मुक्तासन है। दोनों पैरों को सामने फैलाकर सबसे पहले दायें पैर को घुटने से मोड़कर बायें पैर पर रखें। दोनों पैरों के पंजो को एक-दूसरे की जाँघ और पिण्डली के बीच इस प्रकार लगायें कि पैर के पंजे दिखाई न दें। दोनों हाथों को दोनों घुटनों पर ज्ञान-मुद्रा की स्थिति में रखें।

लाभ –

1. इससे सीवनी नाड़ी के सीधे प्रभावित होने से ब्रह्मचर्य की शक्ति बढ़ती है।
2. यह स्नायु-संस्थान को शान्त, स्थिर और सशक्त बनाता है।

5. **वज्रासन** – इस आसन का सीधा सम्बन्ध वज्र नाम की नाड़ी से होने के कारण इसे वज्रासन कहते हैं। वज्र नाड़ी का सीधा सम्बन्ध पाचन-संस्थान से होता है जिससे जठराग्नि प्रदीप्त होती है।

विधि – दोनों पैरों को मोड़कर घुटनों के बल इस प्रकार बैठें कि दोनों पैरों के अंगुष्ठ मिले हों, एँड़ी अलग-अलग हो तथा दोनों घुटने परस्पर सटे हों। नितम्ब दोनों एँड़ियों के बीच होना चाहिये। मेरुदण्ड एवं गर्दन सीधी रखकर दोनों हाथों को घुटने पर रखें। यह एक मात्र आसन है जिसे भोजन के बाद करने से लाभ मिलता है।

लाभ-

1. वज्रासन के अभ्यास से जठराग्नि प्रदीप्त होती है जिससे पाचन शक्ति बढ़ती हैं
2. कमरदर्द, कटिस्तम्भ और पीठ की वेदना में यह आसन बड़ा उपयोगी है।
3. घुटनों का दर्द साइटिका और रीढ़ के निचले भाग के विकारों में भी यह लाभ पहुँचाता है।

4. हार्निया से कष्ट में आराम पहुंचाता है।

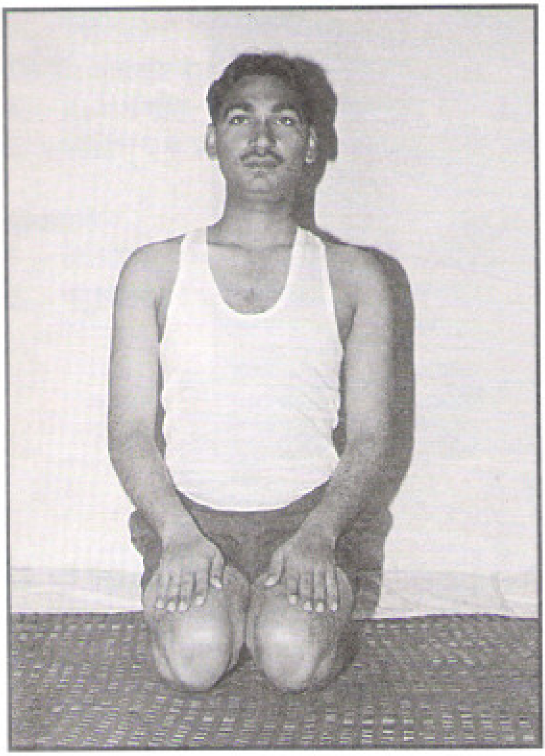

वज्रासन

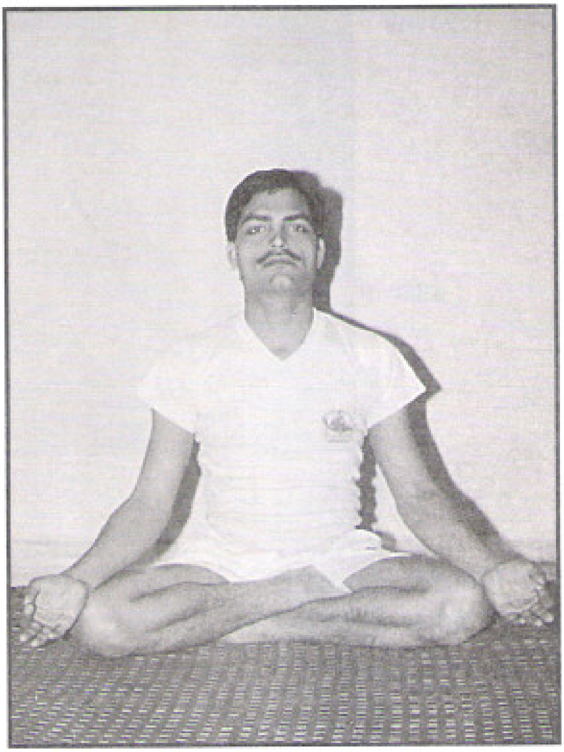

स्वास्तिकासन

5. **स्वास्तिकासन** – सर्वप्रथम दोनों पैरों को सामने की तरफ फैलाकर बैठें। इसके बाद बायें पैर को मोड़कर पंजे को दायीं जाँघ की मांसपेशियों के पास रखें। इसी तरह दायें पैर को मोड़कर उसकी अँगुलियो को बायीं जाँघ और पिंडलियों की मांसपेशियों के बीच रखें। अर्थात् दोनों पैरों की अंगुलियाँ दोनों जाँघों और पिंडलियों के बीच में रहनी चाहिए। दोनों हाथ दोनों घुटनों पर ज्ञान-मुद्रा की स्थिति में रखें और श्वास सहज रखें।

लाभ -
1. इस आसन से रीढ़ की स्थिरता बनी रहती है जो ध्यान के लिये उपयोगी है।
2. यह सुषुम्णा नाड़ी में प्राण का उचित प्रवाह करने में सहायक है जिससे मन एकाग्र होता है।

सावधानी - साइटिका तथा रीढ़ की हड्डी के निचले भाग में फोड़ा आदि विकार होने पर यह आसन वर्जित है।

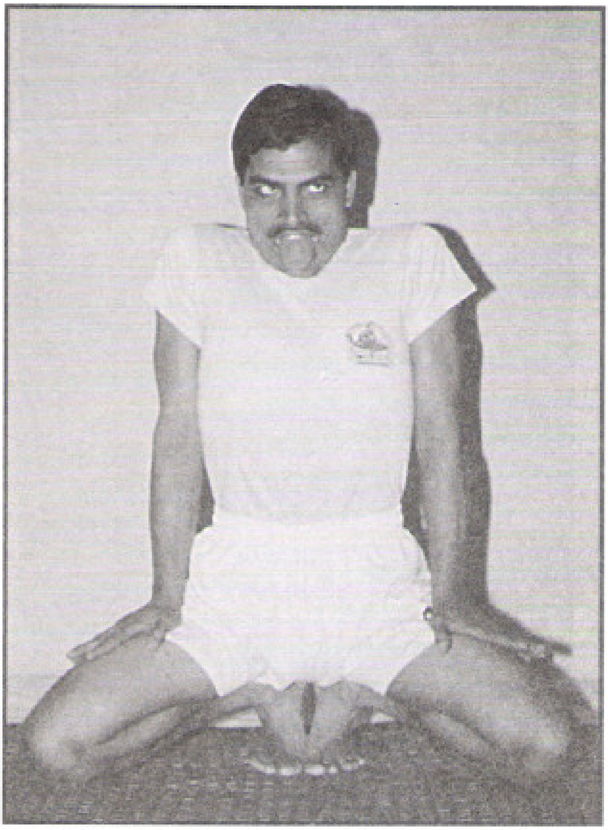

सिंहासन

7. **सिंहासन** – वज्रासन की स्थिति में बैठकर दोनों घुटनों को फैलाकर दोनों भुजाओं को दोनों घुटनों के बीच इस प्रकार रखें कि हाथों की अँगुलियां अन्दर की ओर रहें फिर सिर ऊपर करके जीभ को जितना सम्भव हो बाहर निकालें और दृष्टि भ्रूमध्य पर हो। श्वास नासिका से लें तथा गले से सिंह जैसी आवाज निकालते हुये मुंह से श्वास बाहर निकालते रहें।

लाभ–

1. यह गले के प्रायः सभी रोगों में लाभदायक है और आखों की ज्योति बढ़ाने में सहायक है।
2. यह मुंह की झुर्रियों को दूर कर चेहरे के सौन्दर्य को बढ़ाता है।
3. यह हकलाकर बोलने वालों के लिये उपयोगी आसन है।

सावधानी – सिंहासन का अभ्यास सूर्योदय के समय सूर्य की ओर मुंह करके किया जाय तो उत्तम रहता है।

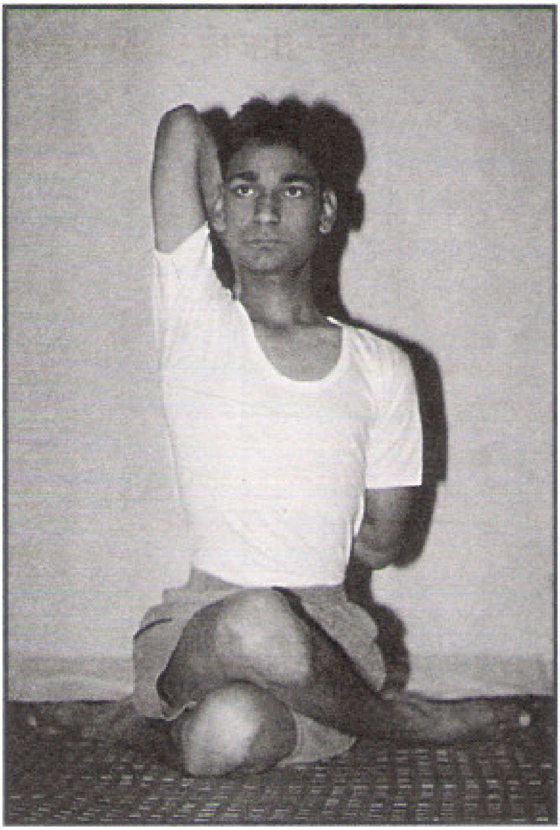

गोमुखासन

8. **गोमुखासन –** इस आसन में शरीर की आकृति गौ के मुख के सदृश बनने के कारण इसे गोमुखासन कहते हैं।

विधि – सर्वप्रथम दोनों पैरों को सामने फैलाकर सामान्य स्थिति में बैठें। इसके बाद बायें पैर को घुटनों से मोड़कर दायें पैर के नीचे ले जाकर बायें पैर की एँड़ी को दायें नितम्ब के नीचे रखें तथा दायें पैर को भी घुटने से मोड़कर बायें पैर के ऊपर ले जाकर दायीं एँड़ी को बायें नितम्ब के नीचे रखने का प्रयास करें। इससे दायें पैर का घुटना बायें पैर के घुटने पर आ जायेगा और दोनों एँड़ियाँ परस्पर विपरीत दिशा में नितम्ब के नीचे रहेंगी। मेरुदण्ड को सीधा रखकर दायें हाथ की कुहनी को दायें कान से सटाते हुये ऊपर इस तरह उठायें कि हथेली गर्दन के नीचे पीठ पर मेरुदण्ड पर आ जाय तथा बायें हाथ की कुहनी को नीचे रखते हुये हथेली गर्दन के नीचे पीठ पर इस प्रकार ले जायें कि दोनों हाथों की अँगुलियाँ आपस में बँध जायें सिर, गर्दन और मेरुदण्ड सीधी रखें तथा आँखें बन्द करके श्वास भी सामान्य रखते हुए मन को आज्ञा-चक्र में केन्द्रित करें।

लाभ – यह-
1. वात-रोगों को दूर करने में उपयोगी आसन है।
2. हाइड्रोशील का बढ़ना रोकता है।
3. मधुमेह से छुटकारा दिलाने में सहायक है।
4. किडनी के दोषों को दूर करके कार्यक्षमता बढ़ाने में सहायक है।

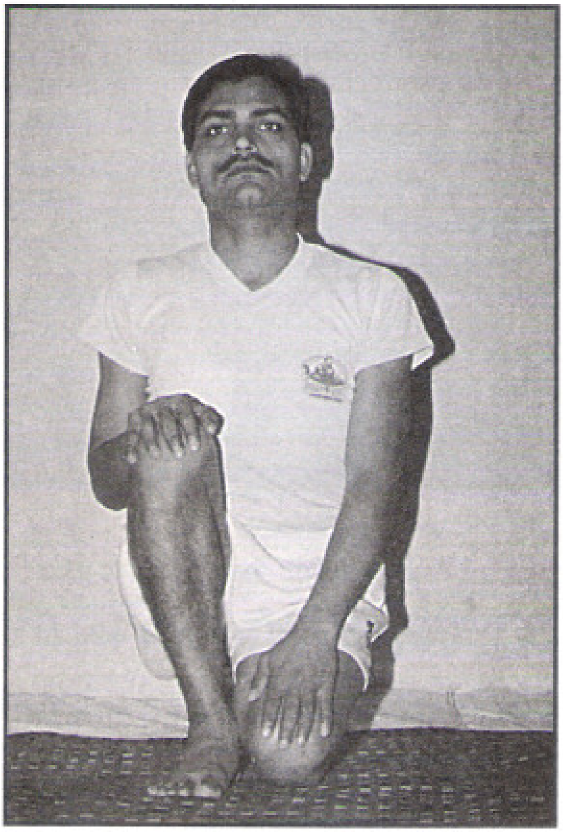

वीरासन

वीरासन –

विधि – वज्रासन में बैठकर दाहिने पंजे को बायें घुटने के पास रखकर दायें हाथ की कुहनी दायें घुटने पर, हथेली को ठोड़ी पर रखें तथा बाँया हाथ बाँयें घुटने पर रखें। श्वास सामान्य रहे। इस स्थिति को बदल कर भी करें।

लाभ –
1. गहन चिन्तन-मनन के लिये यह उत्तम आसन है।

2. जिनका एक पैर पोलियो अथवा गठिया से पीड़ित हो उस पैर को मोड़कर अभ्यास करने से मन एकाग्र करने में सफलता मिलेगी।
3. यह आसन मन में निर्भीकता का भाव पैदा करता है तथा चिन्ता-निराशा को दूर करता है।

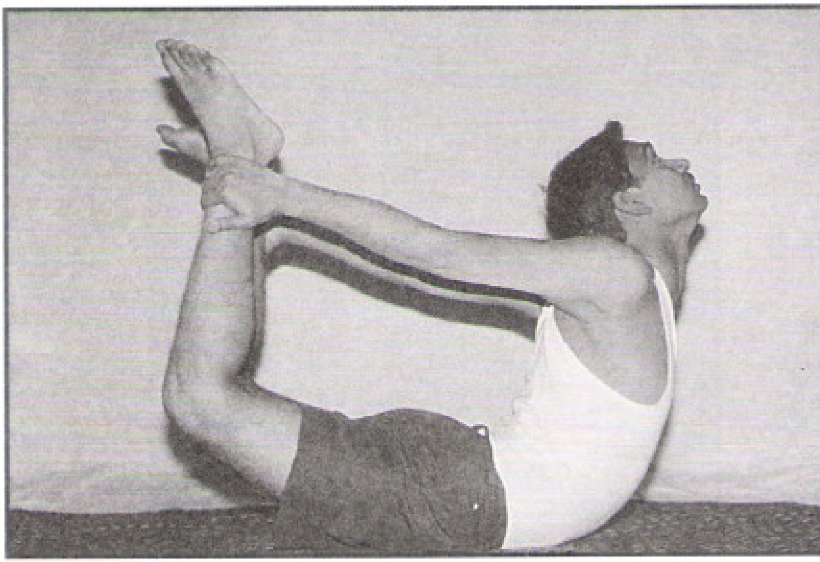

धनुरासन

10. **धनुरासन** – इस आसन से शरीर की आकृति धनुष की तरह होने के करण इसे धनुरासन कहते हैं।

विधि: – सबसे पहले पेट के बल लेट कर दोनों हाथों को पीठ की ओर ले जाकर दोनों पैरों को घुटनों से मोड़कर पैरों के टखनों को दोनों हाथों से पकड़ें श्वास लेते हुये सिर, छाती और जाँघ को पृथ्वी से ऊपर जितना सम्भव हो उठायें तथा तनाव दें। पूरा शरीर केवल पेट के सहारे रखें। पश्चात् श्वास छोड़ते हुये पूर्व स्थिति में आवें।

लाभ –
1. पेट सम्बन्धित सभी प्रकार के विकारों-कब्ज, गैस, वायु की रूकावट को दूर करने में यह सहायक है।
2. इससे शरीर की स्थूलता में कमी आ जाती है और मोटापा नष्ट होकर शरीर सुडौल बनाने में सहायता मिलती है।
3. यह शरीर की लम्बाई बढ़ाने में भी सहायक है।

विशेष – धनुरासन के अभ्यास के बाद शरीर में एक विशेष प्रकार की थकावट का अनुभव होता है इसलिये इस के बाद शवासन अवश्य करें।

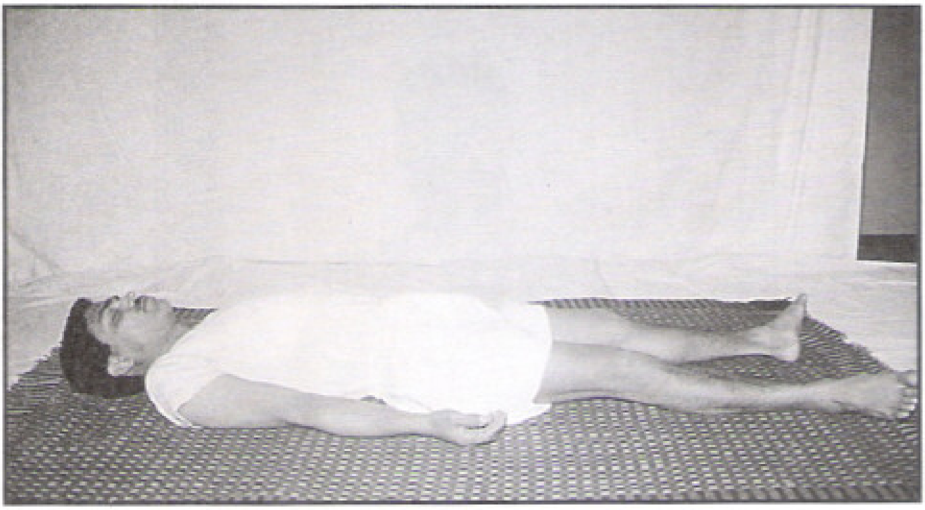

मृतासन

11. मृतासन (शवासन) - इस आसन में शरीर के शव के समान निश्चेष्ट होने के कारण इसे शवासन या मृतासन कहते हैं।

विधि - पीठ के बल चित्त लेटकर शरीर के अंग-प्रत्यंग को ढ़ीला रखें। दोनों हाथ बगल में ऐसे रखें कि हथेलियाँ ऊपर की ओर रहें तथा दोनों पैरों के बीच लगभग एक फुट की दूरी रहे। श्वास सामान्य रूप से और धीरे-धीरे लें। मन शान्त रहे, नेत्र बन्द रहे।

लाभ -
1. शवासन के अभ्यास से शरीर की थकावट दूर हो जाती है, मन की चिन्ता समाप्त होती है।
2. यह उच्च रक्त-चाप में उपयोगी है।
3. यह अनिद्रा को दूर करता है।

12. गुप्तासन - सामान्य स्थिति में दोनों पैरों को सामने फैलाकर बैठ जायें। बायें पैर के पंजे को उपस्थ (अण्डकोश) के नीचे इस प्रकार रखें कि एँड़ी जमीन पर रहे। इसके बाद बायें पैर के तलवे पर दायें पैर की एँड़ी रखें। इस के उपरान्त दोनों घुटनों पर शरीर का भार लेते हुये ऊपर की एँड़ी पर गुदाद्वार को रखें। दोनों हाथ ज्ञानमुद्रा की स्थिति में दोनों घुटनों पर रहें।

लाभ -
1. इस आसन के अभ्यास से पुरुषों में वीर्य-दोष ठीक होते हैं।

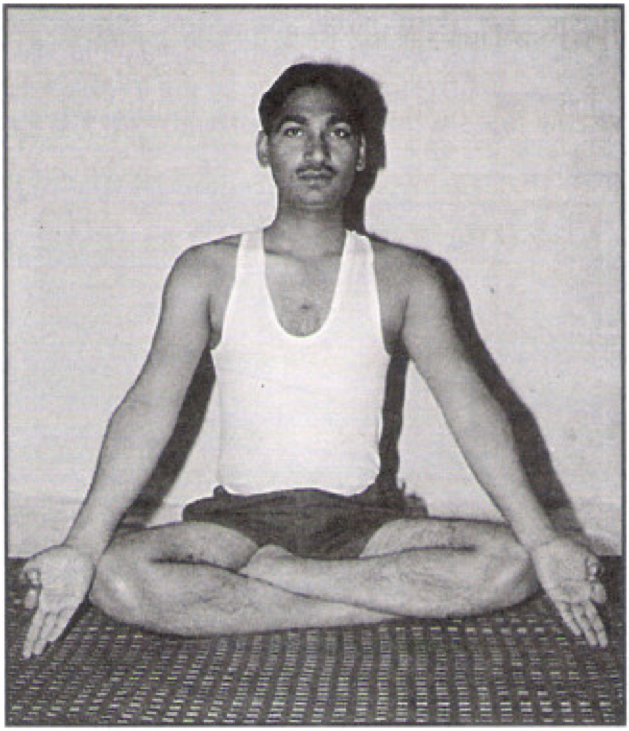

गुप्तासन

2. कब्ज, मन्दाग्नि अनेक उदर रोग प्रमेह, मधुमेह, स्वप्नदोष, धातुक्षय आदि ठीक होते हैं।
3. महिलाओं के गर्भाशय के रोगों तथा अन्य स्त्री रोगों में यह आसन उपयोगी है।

13. **मत्स्यासन** – पद्मासन में बैठकर दोनों हाथों को ऊपर उठायें दोनों हथेलियाँ खुली हों, श्वास लेते हुये पीछे की ओर तब तक झुकें जब तक सिर का ऊपरी हिस्सा जमीन पर न टिक जाय। इसमे गर्दन से लेकर कमर तक की रीढ़ की हड्डी धनुषाकार ऊपर रहनी चाहिये। जमीन से स्पर्श इस हिस्से का न हो। दोनों घुटनों को जमीन पर सटाकर दोनों हाथों से पैरों के अँगूठे को पकड़ें। श्वास सामान्य रहे।

लाभ –
1. इससे हाथ, पैर और कन्धों में शक्ति का संचार होता है।
2. यह शरीर की अनावश्यक चर्बी को हटाकर शरीर को सुडौल बनाता है।
3. इस आसन के अभ्यास से मन एवं चित्त एकाग्र होता है।
4. यह कमर दर्द, यकृत विकार में उपयोगी है।

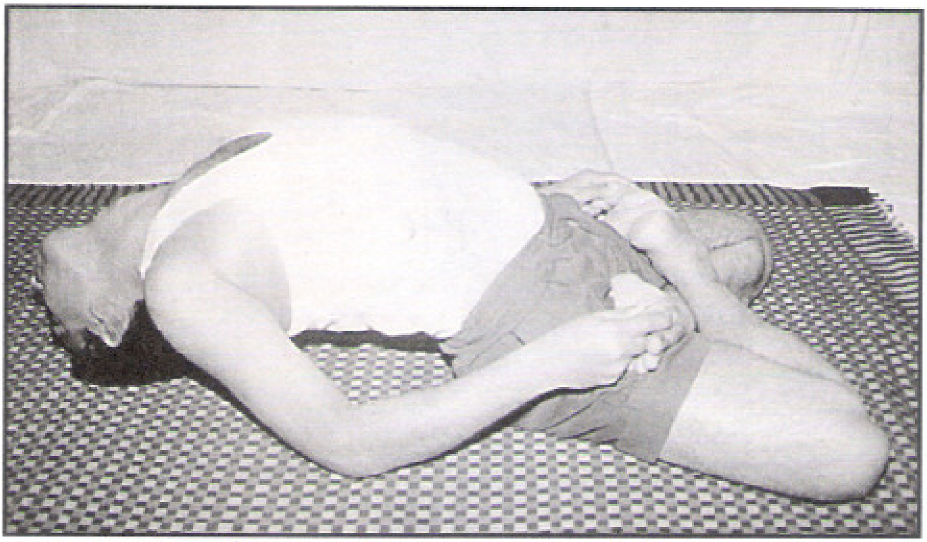

मत्स्यासन

विशेष – मत्स्यासन का अभ्यास सर्वांगासन और हलासन के बाद करने पर विशेष लाभ होता है।

14. **मत्स्येन्द्रासन** – योगिराज मत्स्येन्द्रनाथ जी ने इस आसन को आविष्कृत और सिद्ध किया था इसलिये उन्हीं के नाम पर इसका नाम मत्स्येन्द्रासन पड़ा है।

विधि – सामान्य स्थिति में बैठकर दाहिने पैर को बायीं जाँघ के मूल में रखें। बायें पैर को घुटना से मोड़कर दाहिने घुटने के दांई ओर इस प्रकार खड़ा करें कि उसका तलवा जमीन को स्पर्श करे। अब दाहिने हाथ को बायें पैर के बायीं ओर ले जाकर बायें पैर के अंगूठे को पकड़ें तथा हाथ को पीठ की ओर से कमर को लपेटते हुये दायीं जाँघ की ओर ले जायें। गर्दन को भी बायीं ओर जितना घुमा सकें, घुमायें। शरीर को मोड़ते समय श्वास बाहर निकालें (रेचक), आसन की पूर्णता की स्थिति में श्वास सामान्य रखें। इस आसन को पैर एवं हाथों की स्थिति बदलकर पुन: करें। दृष्टि नासिका के अग्र भाग पर रखें।

लाभ –

1. मत्स्येन्द्रासन मांस पेशियों को लचीला बनाता है, मेरुदण्ड की संधियों, कशेरूकाओं का कड़ापन दूर कर नाड़ी तन्तुओं को तनाव रहित करता है।
2. इस से रक्त-संचार बढ़ता है और शरीर में स्फूर्ति बढ़ती है।
3. इससे अपच और मधुमेह का निवारण होता है।
4. इससे कमर और वातजन्य दर्द दूर होता है।
5. यह गर्दन, सिर और पीठ के दर्द का नाश करता है।

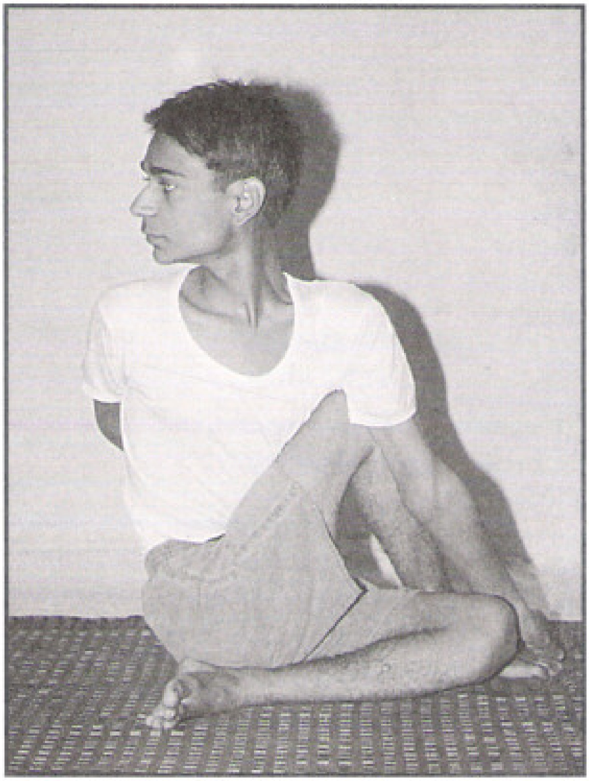

मत्स्येन्द्रासन

15 **गोरक्षासन** – गुरू गोरक्षनाथजी ने इस आसन को आविष्कृत और सिद्ध किया था इसलिये उन्हीं के नाम पर इसका नाम "गोरक्षासन" पड़ा है।

विधि – दोनों पैरों के तलुओं को सटाकर दोनों जाँघे दोनों तरफ फैलाकर बैठें। एँड़ियों को दोनों नितम्बों के नीचे पैरों के तलुओं को पीछे की ओर मोड़कर रखें। दोनों हाथों को ज्ञानमुद्रा की स्थिति मे रखें। मेरुदण्ड सीधा तथा मुख सामने की ओर रहे। दृष्टि नासिका के अग्र भाग पर हो।

लाभ –
1. यह ब्रह्मचर्य के लिये उत्तम आसन है।
2. यह जाँघ, पिंडली, पैर, सीवनी और अण्डकोष से सम्बन्धित दोषों में उपयोगी है।
3. इस से मन स्थिर तथा एकाग्र और इन्द्रिय संयमित रहती है।

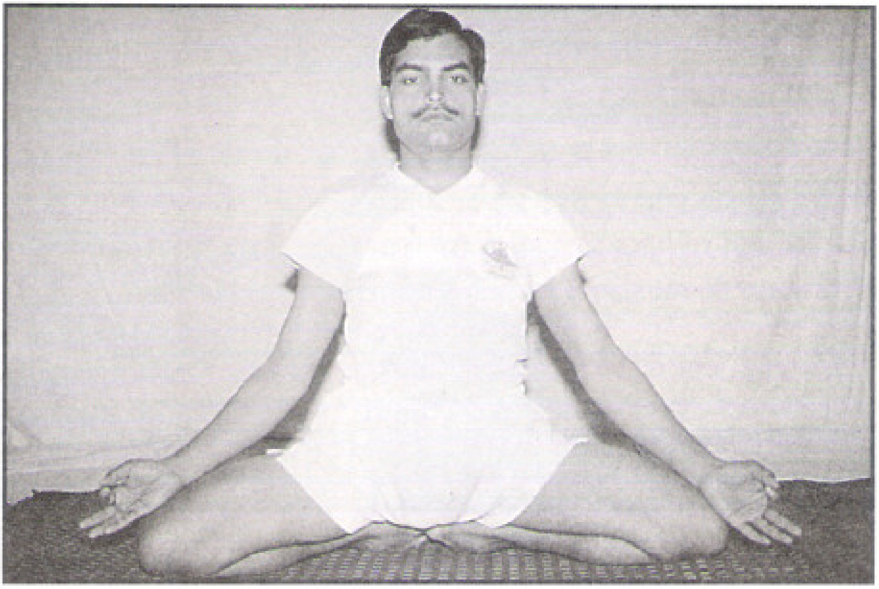

गोरक्षासन

16 **पश्चिमोत्तानासन** – सर्वप्रथम दोनों पैरों को सामने फैलाकर इस प्रकार बैठें कि दोनों हाथ बगल में हों और दोनों पैरों के अंगुष्ठ आपस में मिले हों। इसके बाद दोनों हाथों को सिर के ऊपर ले जाकर श्वास छोड़ते हुये दोनों हाथों से दोनों पैरों के अंगुष्ठों को पकड़ें फिर सिर को घुटने पर लगाने का प्रयास करें तथा श्वास लेते हुये सामान्य स्थिति में आवें।

लाभ –

1. इस आसन के अभ्यास से आलस्य नष्ट होता है, शरीर में ताजगी आती है।

2. यह आसन पेट को हल्का कर और आरोग्य प्रदान कर जठराग्नि को प्रदीप्त करता है तथा पाचन शक्ति को बढ़ाता है। पेट की अनावश्यक चर्बी को कम करके मोटापा को दूर करता है।

3. यह मधुमेह में उपयोगी है।

4. यह मानसिक सन्तुलन स्थिर रखकर आध्यात्मिक शक्ति को बढ़ाता है।

सावधानी –

1. तीन मास के ऊपर की गर्भवती महिलाओं को इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए।

2. जिन लोगों की आँत बढ़ गई हो, जिन के जिगर तिल्ली में विकार हो, जिन्हें पेटसे सम्बन्धित रोग अल्सर आदि हों

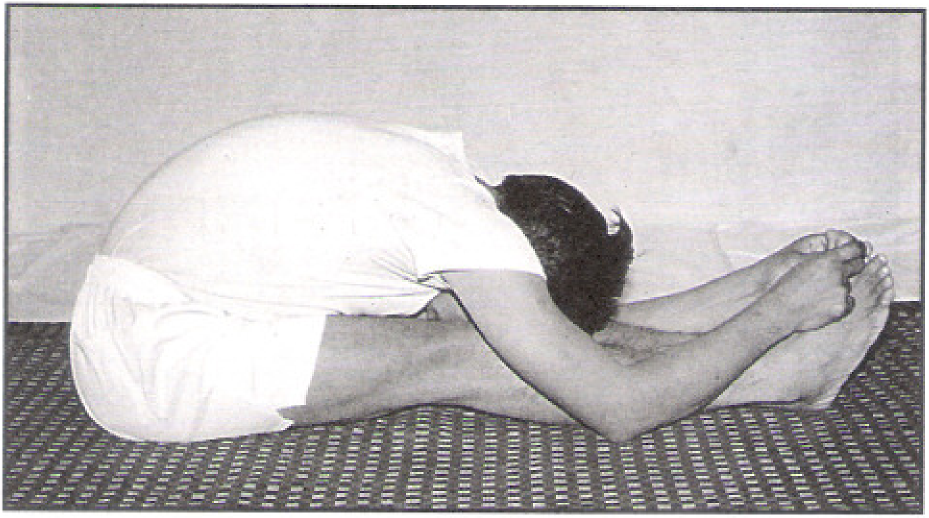

पश्चिमोत्तानासन

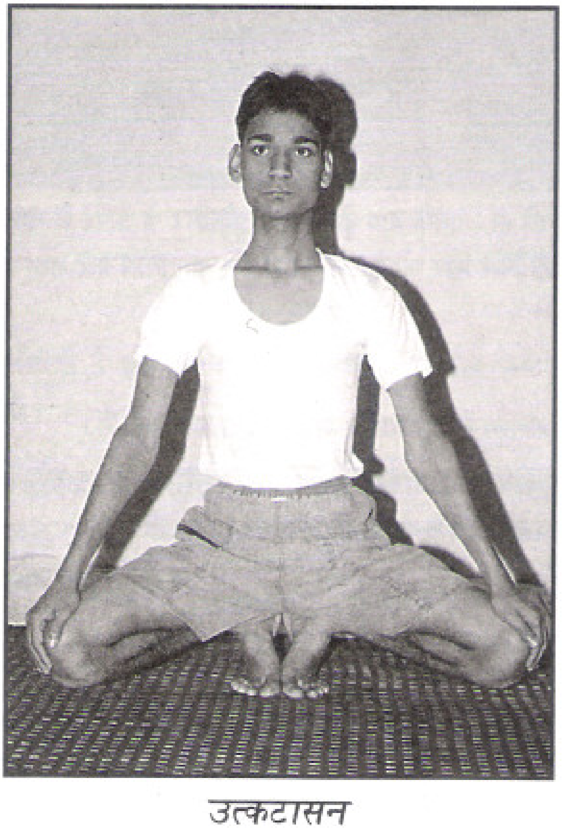

उत्कटासन

जिन की पीठ में दर्द हो, जिन्हें सायटिका हो तथा जिन की जोड़ो में दर्द हो उन्हें भी यह आसन नहीं करना चाहिए।

17. उत्कटासन: -

विधि: - जिस तरह कुर्सी पर बैठा जाता है, उसी तरह बिना कुर्सी के ही बैठने की शैली उत्कटासन कहलाती है। सर्वप्रथम सीधे खड़े हों, उसके बाद शरीर को धीरे-धीरे नीचे की ओर करते हुये जाँघों और घुटनों को समरेखा में लाने का अभ्यास करें। जब यह सम्भव हो जाये तब केवल दोनों पैरों के अंगूठों को जमीन पर टिका कर एँड़ी उठाकर दोनों पैरों के पंजों या अंगूठों पर ही शरीर का पूरा भार डालकर अभ्यास करें। इस आसन को बैठकर करने पर गुदास्थान को एँड़ियों के ऊपर रखा जाता है लेकिन एँड़ियां जमीन पर न रहें।

लाभ -
1. जिन लोगों के पैर कमजोर होते हैं, उन्हें इस आसन से लाभ होता है।
2. इस आसन के अभ्यास से मलाशय शुद्ध होता है, मल विसर्जन खुलकर होता है।

सावधानी: - महिलाओं को इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए।

18. **संकटासन** -

विधि - संकटासन खड़े होकर तथा बैठकर दोनों स्थितियों में किया जा सकता है। इसे यदि खड़ा होकर करना हो तो खडे होकर एक पैर से दूसरे पैर को लपेटकर दोनों घुटनो तथा पैरों के अंगूठों को जमीन पर रखकर अँगूठों पर ही शरीर का भार डाल कर तथा दोनों हाथों को दोनों घुटनों पर रखा जाता है।

लाभ -यह आसन वायु के विकार को नष्ट करता है।

सावधानी महिलाओं को इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए।

19. **मयूरासन** - मयूर पक्षी की शरीर-स्थिति की अनुकृति के कारण इस आसन विशेष का नाम मयूरासन है।

विधि - पेट के बल लेटकर दोनो हाथों की कोहनियों को नाभि के अगल-बगल रखकर पैरों को सीधा करके पेट को अन्दर की ओर सिकोड़ कर पूरे शरीर का सन्तुलन दोनों हाथों पर लेने का अभ्यास किया जाता है। इस में पैर को जमीन से ऊपर रख कर छाती और मुख को थोड़ा आगे झुकाना चाहिये। इस आसन की पूर्णता इसमें है कि सारे शरीर का भार दोनों हथेलियों पर ही रहे। यथाशक्ति पैरों को धरातल से अधिक से अधिक ऊपर उठाये रहने का अभ्यास करें। शरीर को ऊपर उठाते समय श्वास बाहर छोड़ना चाहिए और शरीर को नीचे की ओर करने पर श्वास लेना चाहिए।

Page (12)

जिन की पीठ में दर्द हो, जिन्हें सायटिका हो तथा जिन की जोड़ो में दर्द हो उन्हें भी यह आसन नहीं करना चाहिए।

17. उत्कटासन: -

विधि: - जिस तरह कुर्सी पर बैठा जाता है, उसी तरह बिना कुर्सी के ही बैठने की शैली उत्कटासन कहलाती है। सर्वप्रथम सीधे खड़े हों, उसके बाद शरीर को धीरे-धीरे नीचे की ओर करते हुये जाँघों और घुटनों को समरेखा में लाने का अभ्यास करें। जब यह सम्भव हो जाये तब केवल दोनों पैरों के अंगूठों को जमीन पर टिका कर एँड़ी उठाकर दोनों पैरों के पंजों या अंगूठों पर ही शरीर का पूरा भार डालकर अभ्यास करें। इस आसन को बैठकर करने पर गुदास्थान को एँड़ियों के ऊपर रखा जाता है लेकिन एँड़ियां जमीन पर न रहें।

लाभ -

1. जिन लोगों के पैर कमजोर होते हैं, उन्हें इस आसन से लाभ होता है।
2. इस आसन के अभ्यास से मलाशय शुद्ध होता है, मल विसर्जन खुलकर होता है।

सावधानी: - महिलाओं को इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए।

18. संकटासन -

विधि - संकटासन खड़े होकर तथा बैठकर दोनों स्थितियों में किया जा सकता है। इसे यदि खड़ा होकर करना हो तो खडे होकर एक पैर से दूसरे पैर को लपेटकर दोनों घुटनो तथा पैरों के अंगूठों को जमीन पर रखकर अँगूठों पर ही शरीर का भार डाल कर तथा दोनों हाथों को दोनों घुटनों पर रखा जाता है।

लाभ -यह आसन वायु के विकार को नष्ट करता है।

सावधानी महिलाओं को इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए।

19. **मयूरासन** - मयूर पक्षी की शरीर-स्थिति की अनुकृति के कारण इस आसन विशेष का नाम मयूरासन है।

विधि - पेट के बल लेटकर दोनो हाथों की कोहनियों को नाभि के अगल-बगल रखकर पैरों को सीधा करके पेट को अन्दर की ओर सिकोड़ कर पूरे शरीर का सन्तुलन दोनों हाथों पर लेने का अभ्यास किया जाता है। इस में पैर को जमीन से ऊपर रख कर छाती और मुख को थोड़ा आगे झुकाना चाहिये। इस आसन की पूर्णता इसमें है कि सारे शरीर का भार दोनों हथेलियों पर ही रहे। यथाशक्ति पैरों को धरातल से अधिक से अधिक ऊपर उठाये रहने का अभ्यास करें। शरीर को ऊपर उठाते समय श्वास बाहर छोड़ना चाहिए और शरीर को नीचे की ओर करने पर श्वास लेना चाहिए।

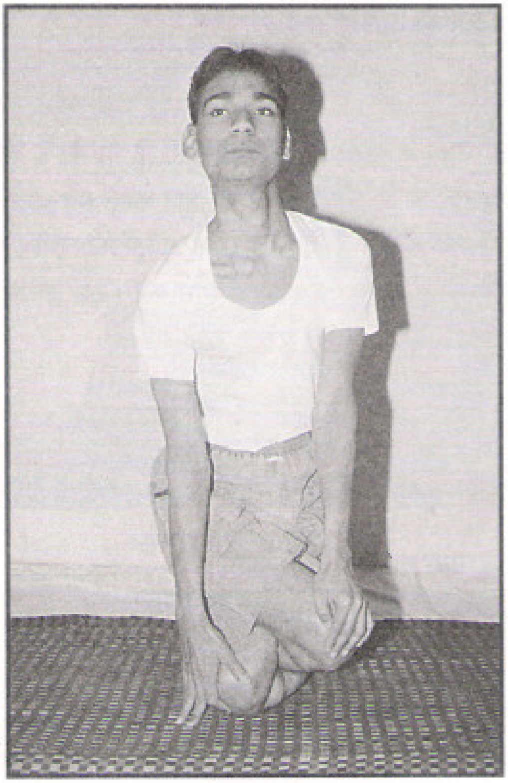

संकटासन

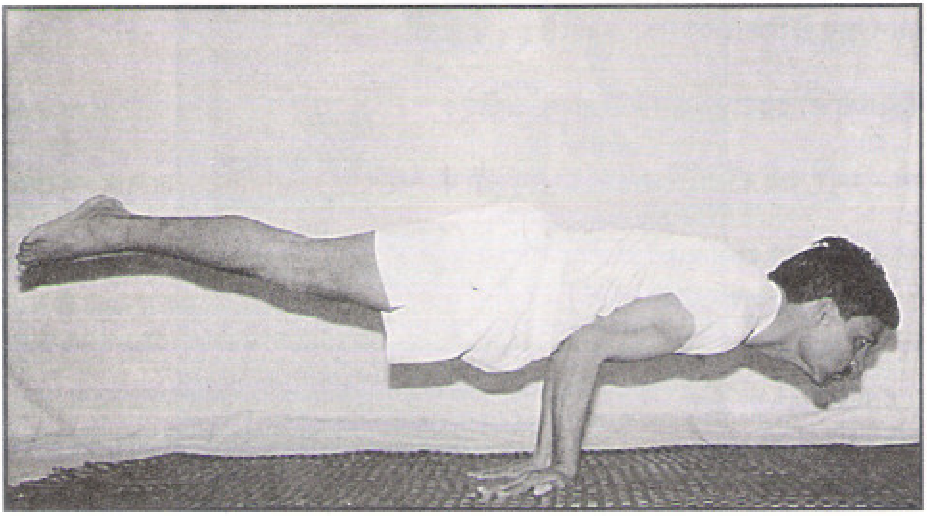

मयूरासन

लाभ -

1. यह आसन शरीर के विषैले द्रव्यों का शोधन कर उसे स्वास्थ्य और शक्ति प्रदान करता है।
2. यह उदर-विकार को नष्ट कर आँतो को दोषों से मुक्त रखता है।
3. यह मधुमेह में लाभ पहुंचाता है।

सावधानी -

1. इस आसन के बाद सिर के बल किये जाने वाले आसनों का अभ्यास नहीं करना चाहिए।
2. उच्च रक्तचाप हार्निया या पेट में घाव होने पर भी इसका अभ्यास वर्जित है।

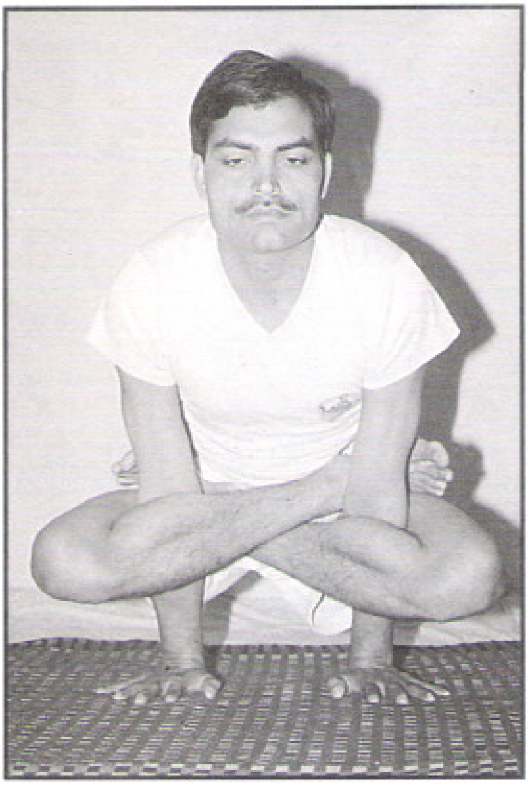

कुक्कुटासन

20. **कुक्कुटासन** - कुक्कुट का अर्थ है मुर्गा और मुर्गे की सी स्थिति बनाकर बैठने का नाम कुक्कुटासन है।

विधि - इसमें पद्मासन में बैठकर दाहिने-बायें हाथ को दाहिने-बायें पैर की जाँघ और पिंडली के बीच में कोहनी तक ले जाकर दोनों हाथों के पंजों को जमीन पर टिका कर हाथों के ऊपर शरीर को निर्भर कर उसे ऊपर उठाना चाहिए। इस आसन से शरीर की आकृति मुर्गे की तरह बनती है।

लाभ -
1. यह आसन हाथ, कंधों और सीने को पुष्ट करता है।
2. जिन लोगों के पेट में कीड़े हों उनके लिये यह आसन बड़ा लाभकारी है।
3. इससे जठराग्नि प्रदीप्त होती है और नाड़ी की शुद्धि होती है।

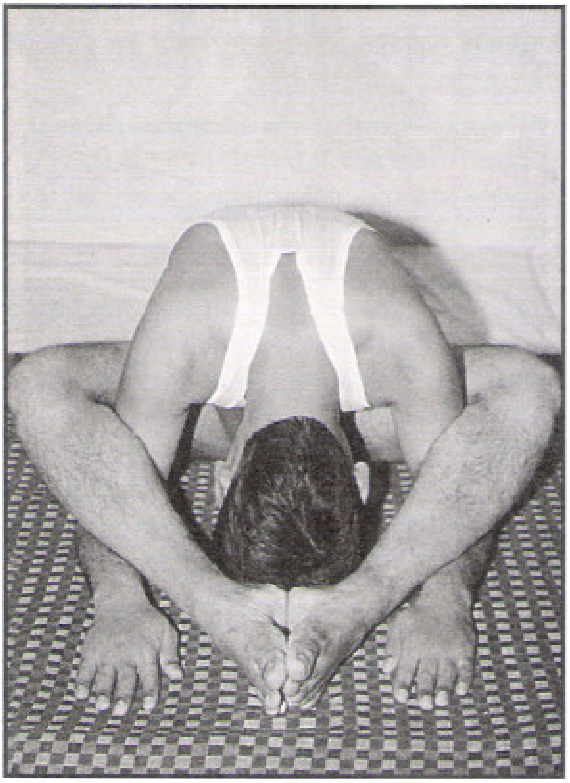

कूर्मासन

21. **कूर्मासन** – इस आसन में शरीर की आकृति कूर्म अर्थात् कछुआ की तरह होने के कारण इसे कूर्मासन कहते हैं।

विधि – दोनों पैरों को सामने फैलाकर इस तरह बैठें कि दोनों पैरों के बीच कुछ दूरी रहे। इसके बाद सामने झुकें और हाथों को घुटनों के नीचे ले जायें, हथेलियां खुली रहें, मस्तक जमीन पर रखें। इसके उपरान्त दोनों हाथों को जाँघों के नीचे पूर्व जैसी स्थिति में ही पीठ के पीछे ले जाकर एक-दूसरे से सम्बद्ध कर लें। घुटनों को ऊपर उठाकर तलवों को भूमि पर समतल रखें। एँड़ियों को उठाकर हाथों को शिथिल करें इसके बाद पूर्व की स्थिति में वापस आ जायें।

लाभ -

1. यह मन की वृत्तियों को एकाग्र करने में सहायक हैं।
2. इस आसन से पेट के विकार और रोग नष्ट होते हैं तथा यह भूख बढ़ाने में सहायक है।
3. इससे यकृत और प्लीहा के रोगों का निवारण होता है।
4. इससे शरीर का मोटापा दूर होता है और प्रमेह, मधुमेह, रजोविकार, अण्डकोष-वृद्धि आदि में इसके अभ्यास से नियंत्रण होता है।
5. हार्निया, बवासीर और भगन्दर आदि में भी यह लाभ पहुँचाता है।

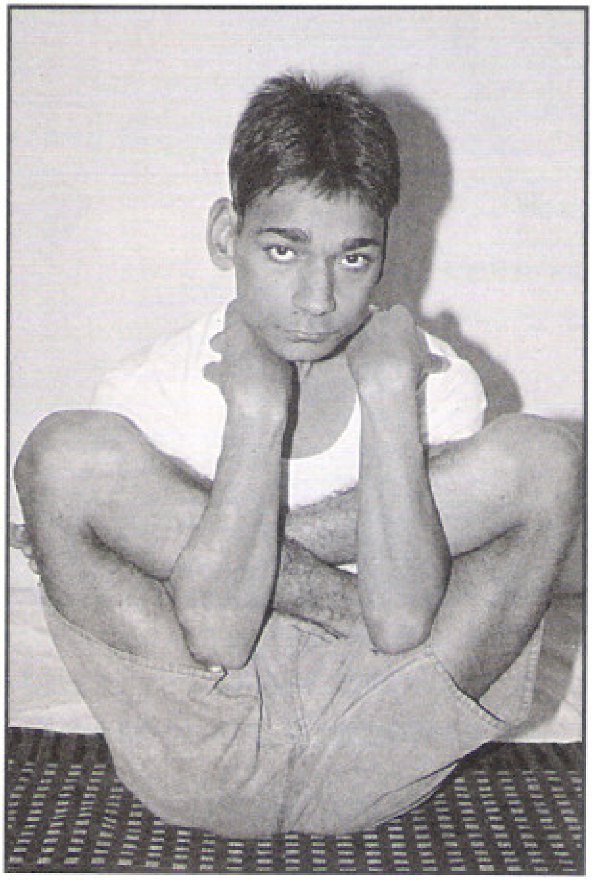

उत्तानकूर्मासन

22. उत्तानकूर्मासन -

विधि - पद्मासन में बैठकर दोनो जाँघों और पिण्डलियों के बीच से दोनों हाथों को डालकर कुक्कुटासन की स्थिति में

आ जायें। इसके बाद इसी स्थिति में पीठ के बल लेटकर दोनों हाथों की हथेलियों से ग्रीवा अथवा कन्धों को पकड़ने का अभ्यास करें। श्वास की स्थिति सहज रहे। जितनी देर आराम से हो सके करें।

लाभ -
1. यह मन की एकाग्रता में सहायक है।
2. इस से उदर के विकार दूर होते हैं।
3. इस से वक्ष पुष्ट होता है और हृदय दुर्बलता मिटती है।

मण्डूकासन

23. **मण्डूकासन** – इस आसन में शरीर की आकृति मण्डूक (मेंढ़क) की तरह हो जाती है इसलिये इसे मण्डूकासन कहते हैं।

विधि – वज्रासन में बैठकर दोनों हाथों को पैरों के बगल में रखें। हाथ की अँगुलियाँ सामने की ओर हों, सिर को जाँघ व घुटने के समानान्तर तब तक झुकावें जब तक कि शरीर की स्थिति मेंढ़क के समान न दिखाई देने लगे। श्वास सहज हो।

लाभ -
1. यह हाथों एवं पैरों की मांस पेशियों को मजबूत बनाता है।
2. यह मन को एकाग्र करने में सहायक है।

उत्तानमण्डूकासन

23. **उत्तानमण्डूकासन** – इसके लिये वज्रासन में बैठकर मण्डूकासन की स्थिति में आ जायें। उसके बाद बायें से दाहिने हाथ की कोहनी को और दायें हाथ से बायें हाथ की कोहनी को पकड़ कर सिर पर रखें। यह आकार ऐसा लगेगा मानो मेढ़क जल पर तैर रहा हो।

लाभ– इस आसन के अभ्यास से शरीर सन्तुलित रहता है और पानी में तैरने की शक्ति बढ़ती है।

25. **वृक्षासन** – वृक्ष के समान सीधे शरीर की आकृति इस आसन से बनती है इसलिये इसे वृक्षासन कहते हैं। इस आसन का अभ्यास दो तरह से किया जा सकता है।

विधि – (1) सीधे खड़े होकर अन्दर श्वास भरते हुए दोनों हाथों को उठाकर सिर के अगल-बगल ऊपर एक सीध में रखें। यह वृक्षासन की पहली विधि है। (2) सीधे खड़े होकर बायें पैर को जानु-मूल पर दायें पैर पर रखकर एक ही पैर से वृक्ष के समान सीधा खड़ा रहें। इसे पैरों को परस्पर बदलकर भी किया जा सकता है। यह वृक्षासन की दूसरी विधि है।

लाभ –
1. इस आसन से पैरों का कम्पन और सीने का दर्द नष्ट होता है।
2. इस आसन से शरीर में बल एवं मन में स्थिरता आती है।

26. **गरुडासन** – इस आसन में शरीर की आकृति गरुड की तरह बन जाने के कारण इसे गरुडासन कहते हैं।

विधि: – सीधे खड़े होकर दाहिने पैर को सामने से बायें पैर पर इस प्रकार लपेटें कि जाँघ के ऊपर जाँघ एवं घुटने के

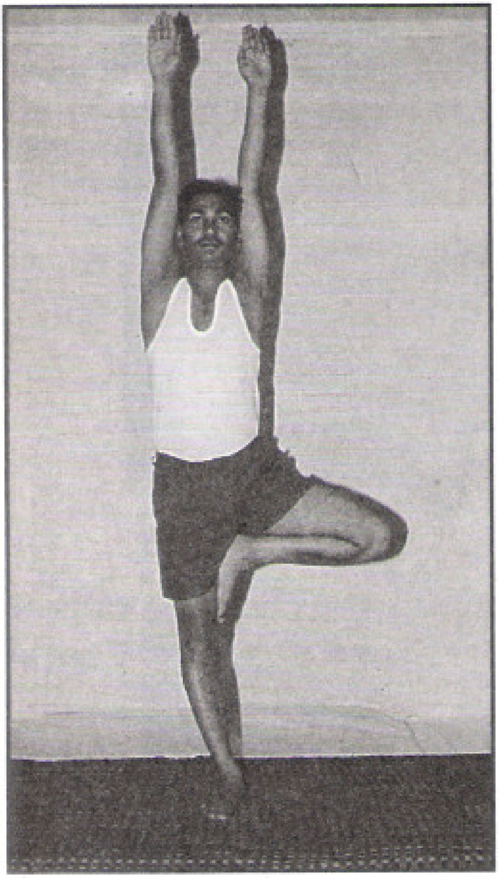

वृक्षासन

गरुडासन

ऊपर घुटना रहे। इसी प्रकार दाहिने हाथ को भी बायें हाथ पर लपेटकर दोनों हाथों को नमस्कार की मुद्रा में मिलाकर रखें। शरीर की इस स्थिति में धीरे-धीरे नीचे बैठने का प्रयास करें। कुछ समय रुककर सामान्य स्थिति में आ जायें। पैर बदल कर भी यह अभ्यास किया जा सकता है।

लाभ -

1. यह घुटनों एवं पैर के दर्द को ठीक करता है, साइटिका और हाथ-पैर के वात का निवारण करता है।
2. यह पैर की सन्धियों को लचीला बनाता है।
3. यह बहुमूत्र तथा किडनी के विकारों को दूर करता है।

वृषासन

सावधानी – गर्भवती महिलाओं को इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए।

27. **वृषासन** – इस आसन में शरीर की आकृति वृष (बैल) की तरह होने से इसे वृषासन कहते हैं।

विधि – दाहिनी एँड़ी पर गुदा को टिकाकर उसके बाद दूसरे पैर को बांयी ओर से घुमाकर पीछे की ओर जमीन पर स्पर्श करायें।

लाभ –
1. इससे पैरों में शक्ति आती है।
2. इससे शरीर में वीर्य का वर्धन होता है और ब्रह्मचर्य का तेज बढ़ता है।

28. **शलभासन** – इस आसन में शरीर की आकृति शलभ-टिड्डा (पतंगविशेष)- की तरह होने से इसे शलभासन कहते है।

विधि – पेट के बल लेटकर दोनों हाथों को बाँधकर कमर जोड़ पर (नाभि के नीचे) रखें। प्रारम्भ में श्वास लेते हुये बांये एवं दायें पैर को क्रम से अधिकाधिक जमीन से ऊपर उठावें। इसके बाद पुनः श्वास लेते हुये दोनों पैर, धड़, सिर को ऊपर उठावें। जब तक श्वास रोक कर इस स्थिति में रह सकें, रहने का प्रयास करें। श्वास छोडते हुये वापस पूर्व की स्थिति में आवें।

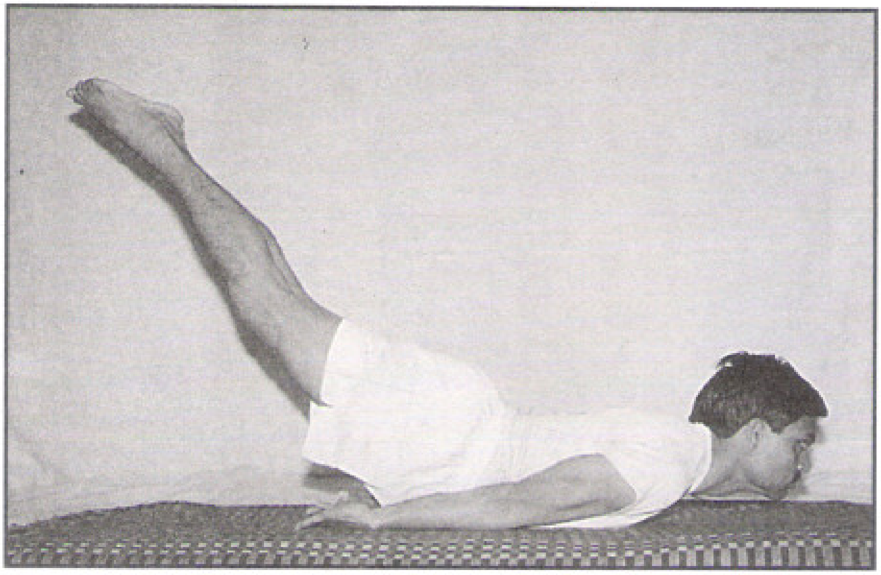

शलभासन

लाभ –
1. यह मेरुदण्ड के कड़ेपन एवं टेढ़ेपन को दूर करके दर्द दूर करता है।
2. यह उदर से सम्बन्धित विकारों में लाभ पहुँचाता है।
3. यह लीवर, पैन्क्रियास, किडनी तथा पैर के सभी अवयवों को पुष्ट तथा सबल बनाने में सहायक है।

सावधानी – जिस व्यक्ति को पेप्टिक अल्सर, हार्निया तथा आँत का कष्ट हो उसे शलभासन का अभ्यास करना चाहिए।

29. **मकरासन** – इस आसन में शरीर की आकृति मकर-मगर नामक जलजीव विशेष-की तरह हो जाने के कारण इसे मकरासन कहते हैं।

विधि – पेट के बल लेटकर हाथ की कोहनियों के सहारे सिर और कन्धों को उठाकर हथेलियों से ठोड़ी को सहारा दें। श्वास सामान्य रहे। दृष्टि नासिका के अग्र भाग पर रहनी चाहिए।

लाभ –
1. यह कमर दर्द दूर करता है, मेरूदण्ड को लचीला बनाने में सहायक है।
2. यह दमा, श्वास तथा फेफड़े की बीमारियों में लाभदायक है।

30. **उष्ट्रासन** – इस आसन में शरीर की आकृति उष्ट्र की तरह बनने से इसे उष्ट्रासन कहते हैं।

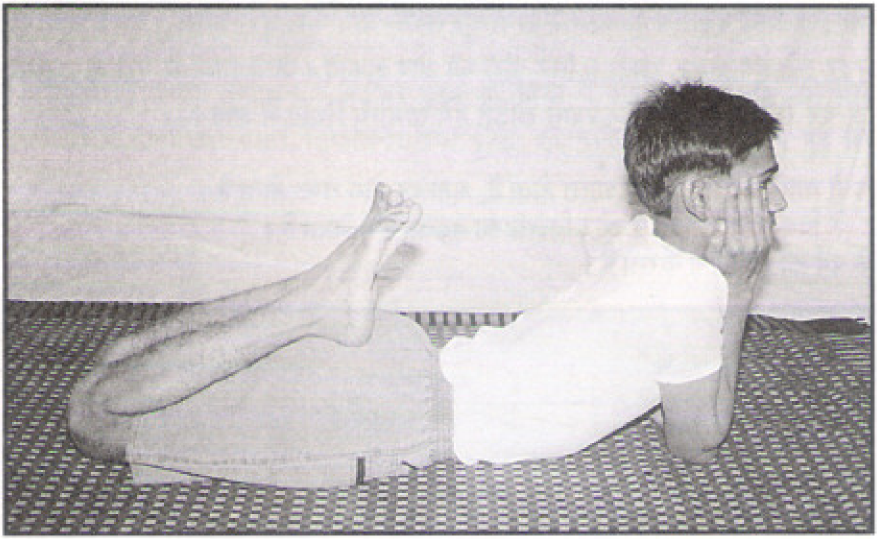

मकरासन

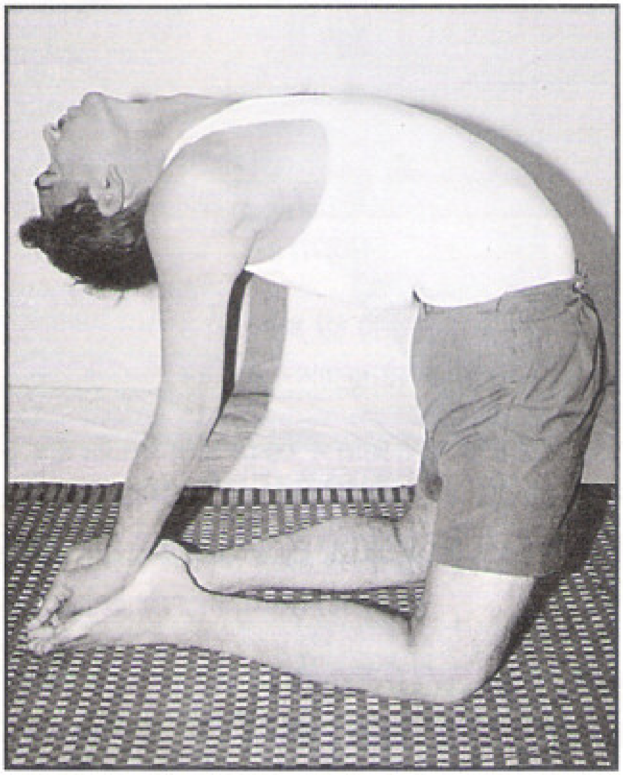

उष्ट्रासन

विधि – इस आसन के लिये वज्रासन में बैठकर दोनों घुटनों के बीच कुछ दूरी बनायें। इसके बाद घुटने के बल खडे होकर श्वास अन्दर लेते हुये कमर, छाती व सिर पीछे की ओर झुकायें। दोनों हाथों से पैरों के टखनों को पकड़ें और जब तक श्वास अन्दर रोक सकें रोकें फिर श्वास छोड़ते हुये सामान्य स्थिति में आवें।

लाभ –

1. इस आसन से वात-पित्त का प्रकोप शान्त होता है, भगन्दर रोग नष्ट होता है।
2. इस से पेट के विकार नष्ट होते हैं और तिल्ली का बढ़ना रूक जाता है।
3. यह पीठ के दर्द का निवारण करता है।

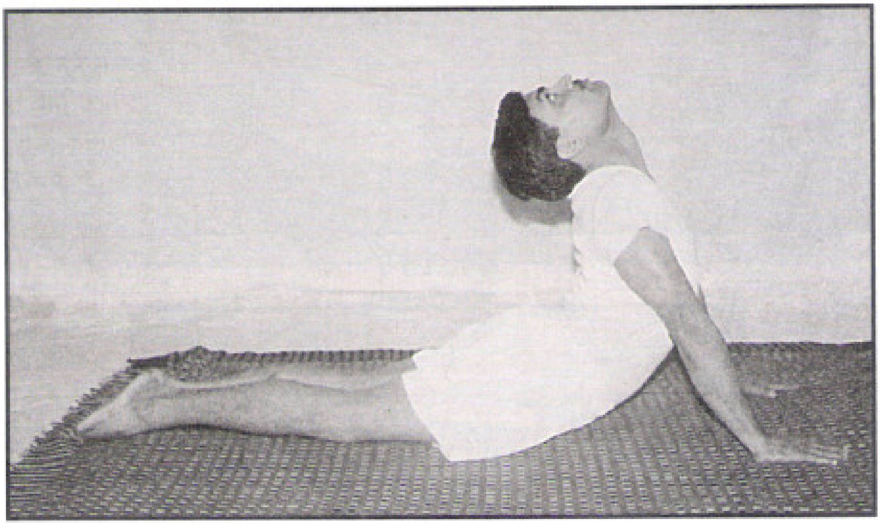

भुजंगासन

31. **भुजंगासन**– भुजंग का अर्थ सर्प होता है इसलिये इस आसन को सर्पासन भी कहते हैं। इस आसन में शरीर की आकृति सर्प के फण की तरह हो जाती है इसलिये इसे भुजंगासन (सर्पासन) कहते हैं।

विधि – पेट के बल लेटकर दोनों हाथों को दोनो बगल में रखकर दोनों पैरों को सीधे रखें। इसके बाद हथेलियों को दोनों बगल में लगाकर श्वास लेते हुये धीरे-धीरे नाभि से ऊपर छाती, गर्दन एवं सिर को जमीन से ऊपर उठायें। हाथों पर बल देते हुये पीठ एवं सिर को पीछे की ओर यथासम्भव ले जायें। जब तक श्वास अन्दर रोक सकें राकें, फिर श्वास छोड़ते हुये पूर्व स्थिति में आ जायें।

लाभ –

1. यह मेरुदण्ड को लचीला बनाता है।
2. यह जठराग्नि को प्रदीप्त कर पाचन शक्ति बढ़ाता है और कब्ज दूर करता है।
3. यह लीवर को पुष्ट व शक्तिशाली बनाता है।
4. यह स्त्रियों के अण्डाशय तथा गर्भाशय को सबल बनाने में उपयोगी है।

सावधानी – जिस व्यक्ति के पेट में घाव हो, जिसे हार्निया की शिकायत हो या आँत की बीमारी हो उसके लिये यह आसन वर्जित है।

32. योगासन – पद्मासन अथवा सुखासन में बैठकर पूरक की क्रिया में वायु अन्दर लेना, उसे थोड़े समय के लिये रोकना और रेचक क्रिया द्वारा उसे बाहर निकालना तथा दृष्टि को नासिका के अग्र भाग पर स्थिर रखना यही योगासन है।

लाभ –

1. इस से उदर विकार नष्ट होते हैं।
2. यह हृदय को शक्ति प्रदान करता है।

उपर्युक्त 32 आसन हठयोग-साधना में विशेष उपयोगी बताये गये हैं। जिज्ञासु साधकों की जानकारी के लिए कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण आसन इस प्रकार हैं-

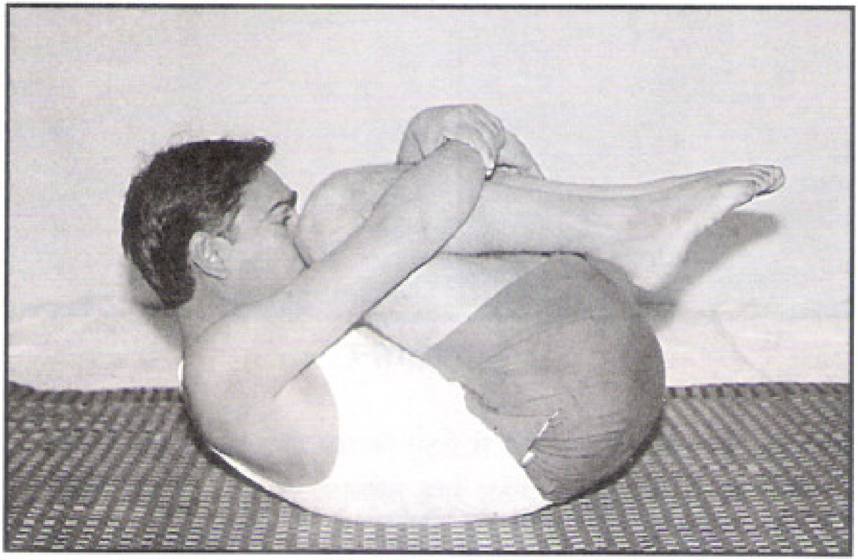

पवन-मुक्तासन

33. पवन-मुक्तासन – जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है इस आसन द्वारा मुख और गुदा द्वार से उदान और अपान वायु शरीर से बाहर निकाली जाती है इसलिये इसे पवन मुक्तासन कहते हैं।

विधि – पेट के बल लेटकर श्वास छोड़ते हुये बाँये पैर को घुटने से मोड़ते हुए पेट को दबायें तथा बाँयें पैर के घुटने पर नाक को लगायें, जितनी देर तक हो सके रोकें फिर श्वास लेते हुए सामान्य स्थिति में आ जायें। पुन: इस क्रिया को दाँयें पैर के साथ और फिर दोनों पैरों के साथ एक साथ दुहरायें।

लाभ -

1. यह वात-जन्य पीड़ाओं और रोगों का नाश करता है।
2. यह वात, पित्त और कफ के प्रकोपों का निवारण करता है।
3. इससे पेट की शुद्धि होती है और यह गठिया के रोग में बड़ा लाभप्रद है।

सावधानी: - गर्भवती महिलाओं को इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए।

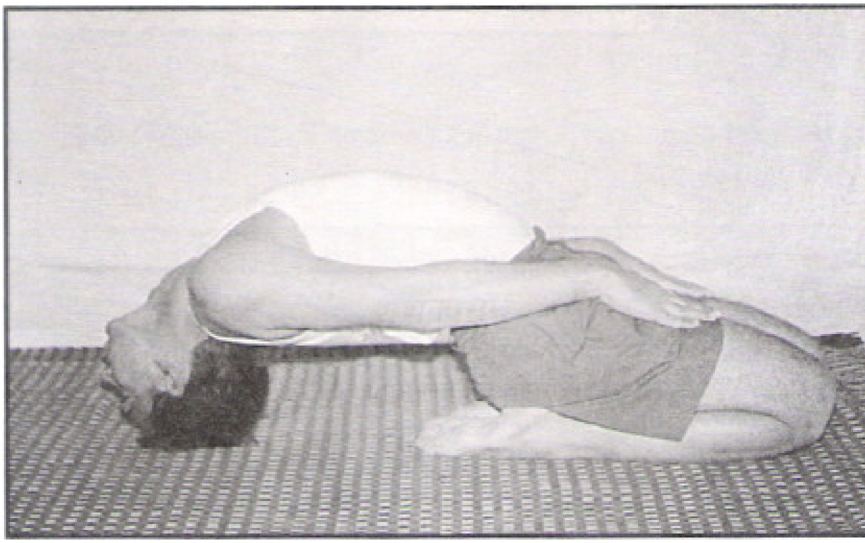

सुप्तवज्रासन

34. **सुप्तवज्रासन -**

विधि - वज्रासन में बैठकर श्वास लेते हुये भुजाओं और कोहनियों के सहारे पीछे की ओर तब तक झुकें जब तक सिर जमीन में धनुषाकार न बन जाये, घुटने जमीन पर सटे हों, हाथों को वक्ष या जाँघ पर रखें। नेत्र बन्द करके शरीर को ढ़ीला छोड़ दें। यही सुप्त-वज्रासन है।

लाभ -

1. इस आसन के अभ्यास से आमाशय के रोग, कब्ज आदि ठीक होते हैं।
2. शरीर को मस्तिष्क से जोड़ने वाली रीढ़ की मुख्य स्नायुओं में दबाव सामान्य रखने के लिये यह आसन उपयोगी है।

सावधानी - रीढ़ के निचले भाग के रोग, हड्डी की टी०बी० से पीड़ित रोगियों को इसके अभ्यास में सावधानी बरतनी चाहिये।

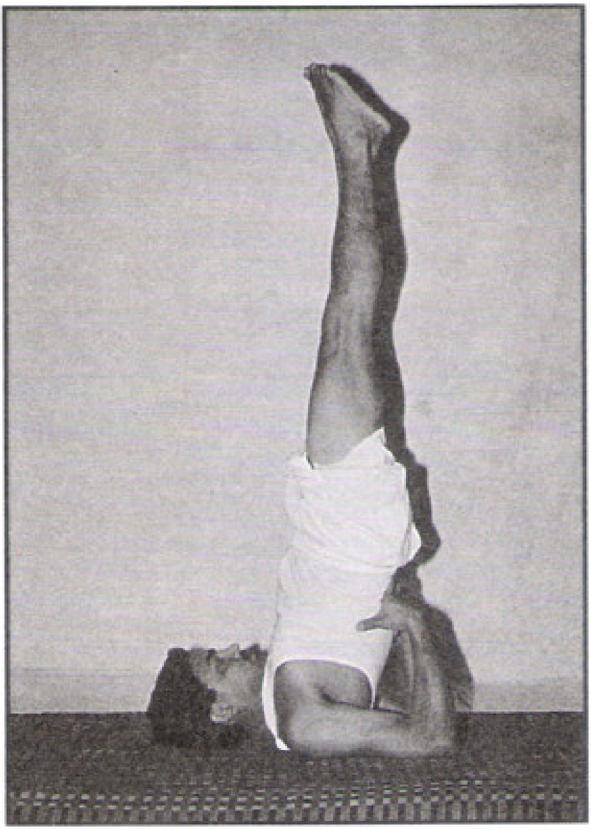

सर्वांगासन

35. **सर्वांगासन-** पीठ के बल लेटकर दोनों पैरों को घुटने से मोड़ें तथा दोनों पैरों को ऊपर करें इसके बाद दोनों हाथों से कमर को सहारा देते हुये शरीर को यथाशक्ति ऊपर उठायें। दोनों हाथों को कमर के आस-पास इस प्रकार लगायें कि ऊपर उठा कंठ तक का शरीर समसूत्र (सीधा) रहे। जितनी देर इस स्थिति में रुक सकें रुककर पैर को वापस जमीन पर धीरे-धीरे ले आइये। इस आसन से प्रायः सभी अंगों का व्यायाम हो जाता है इसलिए इसे सर्वांगासन कहते हैं।

लाभ -

1. इस आसन के अभ्यास से थायराइड और पैरा थायराइड ग्रन्थियों के सीधे प्रभावित होने के कारण शरीर का सन्तुलित विकास होता है।
2. इससे सभी प्रकार के वात के रोग नष्ट होते हैं।
3. यह यकृत, तिल्ली के रोग में लाभ पहुँचाता है।
4. यह पैरों की थकान और कमजोरी को दूर करता है और हायड्रोसील तथा हाथी पाँव रोग मे लाभ करता है।

विशेष – सर्वांगासन के बाद इसके विपरीत आसन मत्स्यासन, उष्ट्रासन अथवा सुप्तवज्रासन का अभ्यास करना चाहिए।

सावधानी – जिस व्यक्ति को उच्चरक्तचाप और हृदय का रोग हो, यकृत और तिल्ली का कार्य ठीक से न होता हो उसे इस आसन का अभ्यास नहीं करना चाहिए।

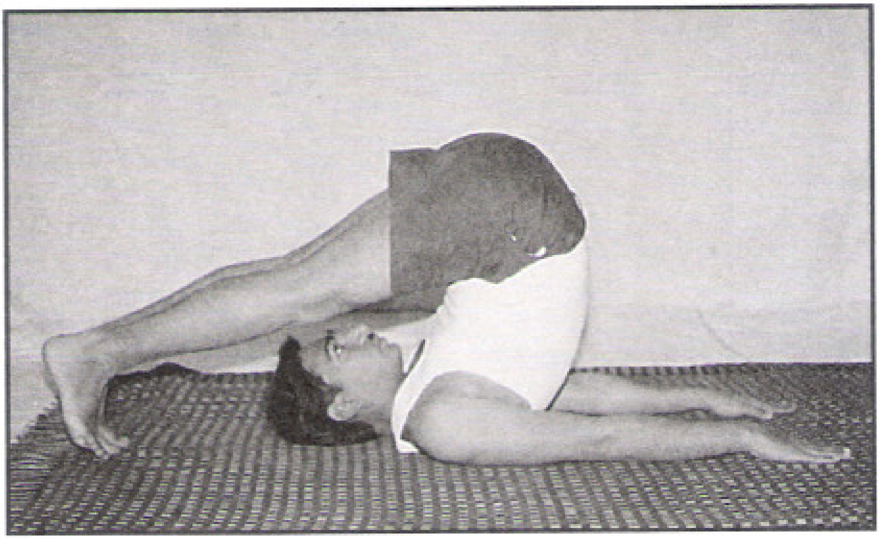

हलासन

36. हलासन – इस आसन में शरीर की आकृति हल के समान दिखायी पड़ती है इसलिए इसे हलासन कहते हैं। इसके लिए सर्वांगासन की स्थिति में जाकर पैरों को पीछे तब तक ले जायें जब तक कि पैरों की अँगुलियां जमीन का स्पर्श न करें फिर दोनों हाथों से पैरों के अंगूठों को पकड़े रहें या उन्हें पीठ पर सहारा देने के लिये रख लें। यही हलासन है। पूर्व की स्थिति में आने के लिये दोनों हाथों से कमर पर सहारा देकर धीरे-धीरे वापस आ जायें।

लाभ –

1. हलासन से उदर विकार दूर होते हैं, जठराग्नि प्रदीप्त होती है और मधुमेह दूर होता है।
2. इससे आँतो की क्रियाशीलता बढ़ती है, पीठ कमर की कमजोरी दूर होती है।
3. इससे बवासीर ठीक रहता है और
4. मेरुदण्ड लचीला बनता है।

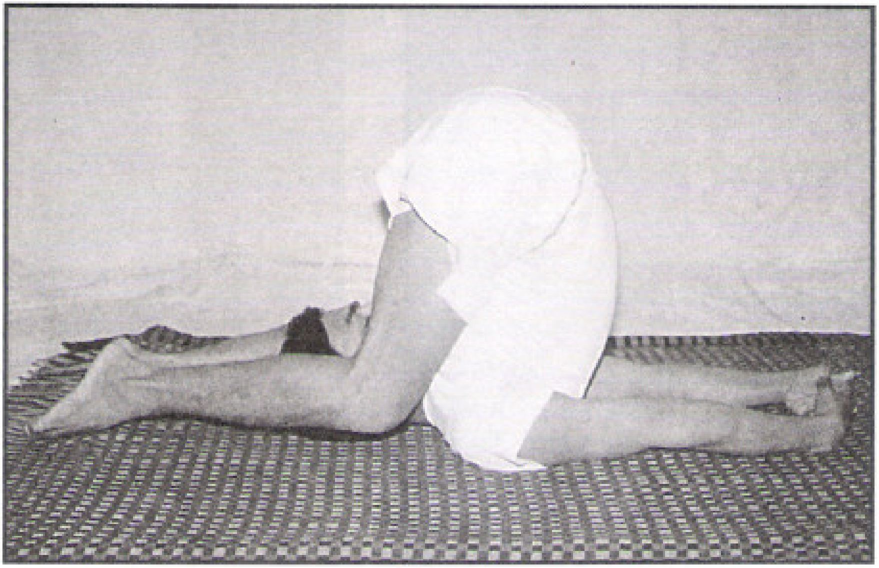

कर्णपीडासन

37. कर्णपीडासन – हलासन की स्थिति में जाकर दोनों हाथ दोनों बगल में एक सीध में फैलाकर पैरों को सिर के पीछे धीरे-धीरे ले जाते हुये जमीन पर इस प्रकार स्थिर करें कि दोनों पंजे जमीन पर टिक जायँ तथा दोनों कानों से दोनों घुटने सट जायँ। घुटनों से कानों के दबाव के कारण इसे कर्णपीड़ासन कहते हैं।

लाभ –

1. इस आसन से रक्त विकार नष्ट होते हैं।
2. यह कर्णशूल, बहिरेपन आदि में लाभ पहुँचाता है।
3. इससे नेत्र ज्योति बढ़ती है
4. पेट साफ रहता है तथा भूख अच्छी लगती है।

38. चक्रासन – पीठ के बल लेटकर दोनों पैरों को घुटनों से मोड़कर तलुवों के सहारे शरीर को खड़ा रखें। दोनों हाथों को दोनों कानों के पास इस प्रकार रखें कि अँगुलियँ कन्धे की ओर हो, फिर श्वास लेते हुये हाथ व पैर के सहारे पूरे शरीर को अब ऊपर उठायें। हाथों को पैरों की ओर ले जाकर शरीर को गोलाकार बनाने का प्रयास करें। इस प्रकार चक्राकार आकृति के कारण यह चक्रासन है। पूर्व स्थिति में आने के लिये श्वास छोड़ते हुये धीरे-धीरे जमीन पर वापस आ जायें।

लाभ –

1. इस आसन के अभ्यास से हाथ, पैर व जाँघ के स्नायु-तन्त्र सबल होते हैं।

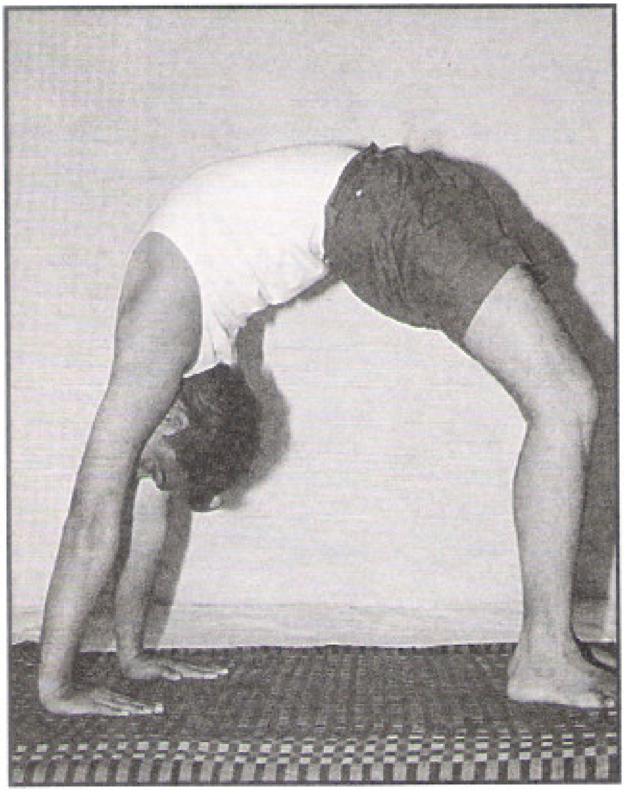

चक्रासन

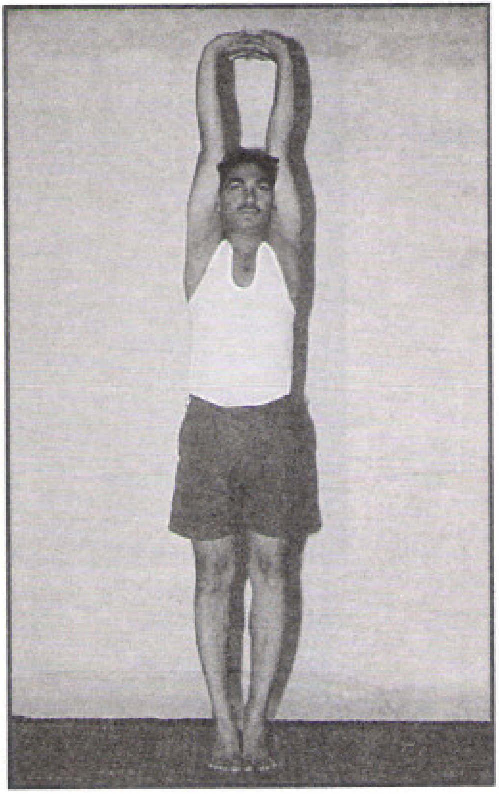

ताड़ासन

2. नाड़ियाँ शुद्ध होती हैं।
3. यह मधुमेह, प्रमेह, कण्ठमाला में लाभ पहुँचाता है।

सावधानी –

1. इस आसन का अभ्यास उन लोगों को नहीं करना चाहिए जिन्हें उच्च रक्त चाप, हृदय रोग, पेट के भीतर घाव, दूषित आँत, अस्थिदोष एवं नेत्र दोष हों।

39. **ताड़ासन** – शरीर की ताड़वृक्ष जैसी स्थिति के कारण यह आसन ताड़ासन कहलाता है।

विधि – दोनों पैरों में आधा फीट का फासला बनाकर खड़े हों। हाथों को ऊपर उठाकर अँगुलियों को आपस में इस

प्रकार फँसा लें कि हथेलियाँ ऊपर रहें और उन्हें सिर पर रख लें। अब श्वास अन्दर लेते हुये हाथों को ऊपर फैलायें तथा पंजो के बल अधिक से अधिक ऊपर उठाकर सम्पूर्ण शरीर में तनाव पैदा करें।

लाभ -
1. यह लम्बाई बढ़ाने में सहायक है तथा इस से मोटापा दूर होता है।
2. इस से मेरूदण्ड लचीला एवं सक्रिय होता है तथा स्नायु-संस्थान सशक्त बनता है।

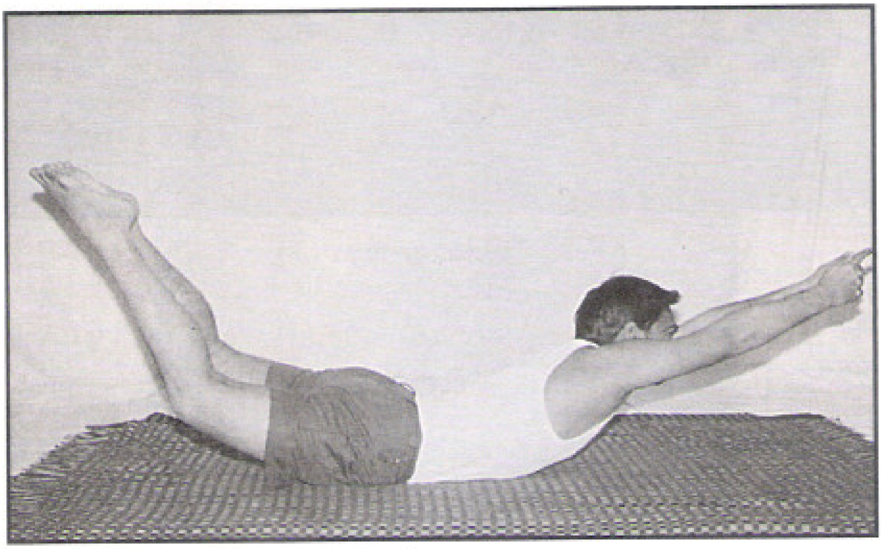

नौकासन

40. **नौकासन -** इस आसन से शरीर की आकृति नौका की तरह बनने के कारण इसे नौकासन कहते हैं।

विधि - पेट क बल लेटकर दोनों पैरों को सीधा रखें, दोनों हाथों को भी सिर के ऊपर से आगे करके नमस्कार की मुद्रा में सीधे रखें। फिर श्वास लेकर पेट को फुला लें तथा हाथ और पैर में तनाव से शरीर को इस तरह से ऊपर उठायें कि आगे से नमस्कार की मुद्रा में दोनों हाथ सिर और वक्ष स्थल नाभि तक ऊपर उठे तथा पीछे की ओर से दोनों पैर, जाँघ पूरा उठा रहें। फिर पेट के बल आगे पीछे नौका की तरह शरीर को हिलायें।

लाभ -
1. स्नायु की दुर्बलता और तनाव से पीड़ित व्यक्ति के लिये यह आसन उपयोगी है।
2. पेट और आँतों के कृमि इसके अभ्यास से बाहर निकल जाते हैं।

वीर्यस्तम्भासन

41. **वीर्यस्तम्भासन -**

विधि - सीधे खड़े होकर दोनों पैरों को फैला दें। इसके बाद दोनों हाथों को कमर के पीछे ले जाकर बायें हाथ से दायें हाथ को पकड़ लें। बायें पैर को घुटने से मोड़कर स्थापित करें तथा उसके पंजे को नाक से स्पर्श करें। इस क्रिया को दूसरे पैर के साथ भी दुहरायें।

लाभ -
1. इस आसन के अभ्यास से भुजदण्डों, कमर तथा हथेलियों में शक्ति आती है, सुदृढ़ता का संचार होता है।
2. वीर्य के सभी विकार नष्ट होते हैं।
3. मूत्र-विकारों का निवारण होता है।
4. मधुमेह आदि अनेक रोगों में इस से लाभ होता है।

42. **वृश्चिकासन -** इस आसन से शरीर की आकृति् वृश्चिक् अर्थात् बिच्छू की तरह दिखाई देती है इसलिये इसे वृश्चिकासन कहते हैं।

विधि - इस आसन का अभ्यास पेट के बल लेट कर, कन्धों को कोहनियों के सहारे ऊपर उठाकर, पैरों की ओर सिरपर्यन्त मोड़कर किया जाता है। पैरों को पीठ की ओर से सिरपर्यन्त उठाने के लिये धीरे-धीरे अभ्यास बढ़ाना चाहिये। प्रारम्भ में किसी दीवार आदि का सहारा लिया जा सकता है।

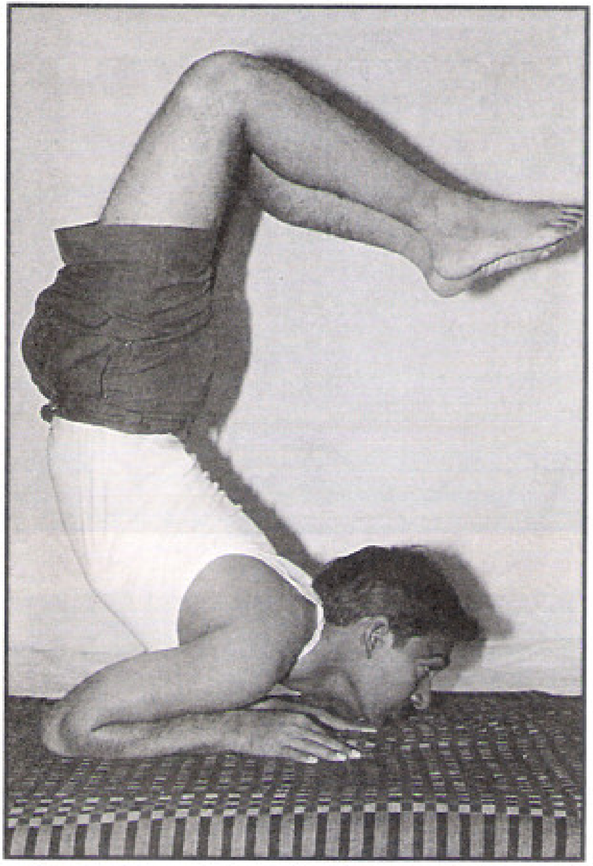

वृश्चिकासन

लाभ -

1. इस आसन के अभ्यास से हाथ और बाहु में बल आता है, पेट और आँत की शुद्धि होती है, तथा शरीर में स्फूर्ति आती है।
2. इससे मस्तिष्क और पीयूष-ग्रन्थि में पर्याप्त रक्त-संचार होता है।
3. इससे बवासीर रोग नष्ट होता है तथा शरीर में व्याप्त विषैले तत्त्व नष्ट होते हैं।

सावधानी – महिलाओं को इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए।

43. **शशकासन** – इस आसन में शरीर की आकृति खरगोश की तरह होने के कारण इसे शशकासन कहते हैं।

विधि – बज्रासन में बैठकर दोनों हाथों को श्वास लेते हुये सिर के ऊपर उठायें, रीढ़ की हड्डी सीधी रहे। श्वास

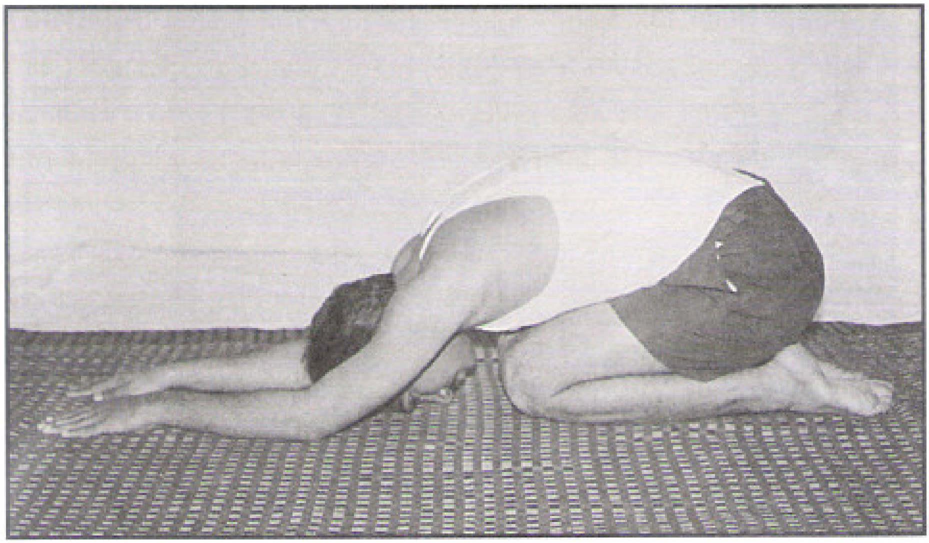

शशकासन

रोककर जितनी देर सम्भव हो सके स्थित रहें फिर श्वास लेते हुये वापस पूर्व स्थिति में आ जायें।

लाभ – यह मानसिक चिन्ता एवं तनाव को दूर करके क्रोध पर नियंत्रण करने में सहायक है।

44. **हंसासन** – इस आसन में शरीर की आकृति हंस की तरह होने के कारण इसे हंसासन कहते हैं।

विधि – उकड़ूँ बैठकर हाथों की कुहनियों को नाभि के दोनों ओर लगायें। हथेलियाँ जमीन पर लगाकर भुजाओं एवं कुहनियों पर उदर-प्रदेश को टिका दें। धीरे-धीरे सामने झुकें, पैरों को पीछे की ओर सीधा कर घुटनों से मोड़ लें।

लाभ –
1. इस आसन के अभ्यास से स्नायुओं को शक्ति मिलती है।
2. अरुचि, अपच, खाँसी आदि रोगों का इस आसन से शमन होता है।

45. **शीर्षासन** – शीर्ष अर्थात् शिर के बल खड़े होकर किये जाने के कारण इसे शीर्षासन कहते हैं।

शीर्षासन एक प्रमुख आसन ही नहीं, आसनों का राजा है। योगी और गृहस्थ दोनों जीवन को संयमित और शरीर तथा मन को स्वस्थ रखने के लिये शीर्षासन का अभ्यास कर सकते हैं। हठयोग में शीर्षासन विपरीतकरणी मुद्रा के रूप में स्वीकार किया गया है। इस महत्त्वपूर्ण यौगिकक्रिया में सम्पूर्ण शरीर का भार सिर को हथेलियों के सहारे जमीन पर लगाते हुये स्थिर किया जाता है। इसका सिद्धान्त है कि ब्रह्मरन्ध्र स्थित सहस्रार से द्रवित अमृत का नाभिदेश में स्थित सूर्य द्वारा शोषण न हो जाय, इसलिये शीर्षासन अथवा विपरीतकरणी मुद्रा का विधान है।

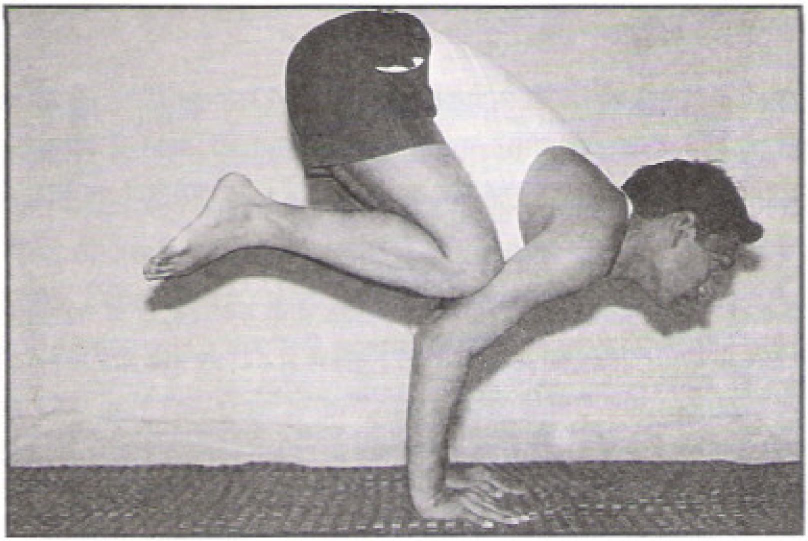

हंसासन

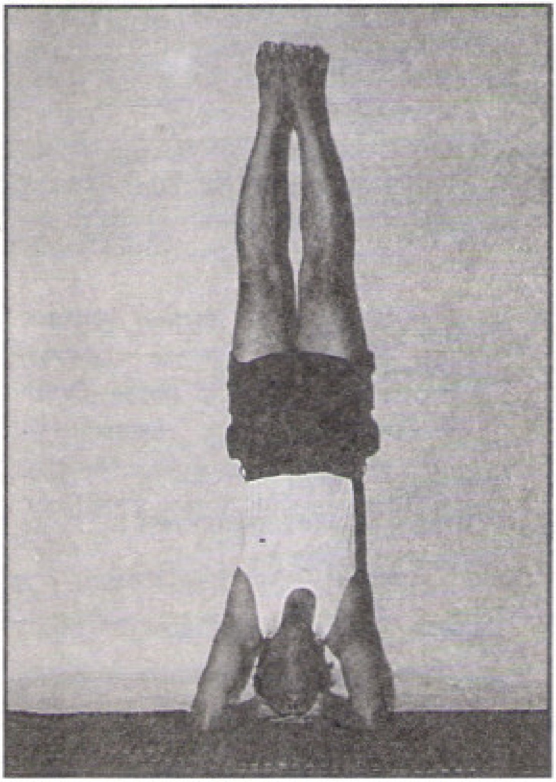

शीर्षासन

विधि -

1. सबसे पहले बैठकर दोनों पैरों को घुटनों से मोड़कर पीछे ले जाकर वज्रासन में बैठें। इसके बाद सामने की ओर झुकते हुये कोहनियों को थोड़े अन्तर पर जमीन पर टिकाकर हथेलियों को आपस में बाँधकर जमीन पर रखना चाहिए। दोनों कोहनियों के बीच कम से कम एक फुट का अन्तर रहे। बँधी हथेलियों पर सिर का शीर्ष भाग स्थित करें।
2. सिर दोनों हाथों के मध्य में रखकर घुटनों को जमीन से ऊपर उठायें।
3. धीरे-धीरे पैरों को धड़ के समीप लायें, घुटनों को मोड़ें, पीठ सीधी तनी रहे, जाँघों का दबाव उदर एवं वक्ष के निचले भाग पर रहे फिर धीरे-धीरे शरीर का वजन पैरों की अँगुलियों से हटाकर हाथ और सिर पर निर्भर करें। पहले एक पैर को फिर दूसरे पैर को जमीन से कुछ ऊपर उठायें। नितम्बों को उठाकर सीधा करें। इससे पैर ऊपर उठ जायेंगे। घुटनों को सीधा करें इस तरह शरीर सीधा एवं उलटा हो जायेगा। यही शीर्षासन है। इसी प्रकार धीरे-धीरे रूकते हुये सामान्य स्थिति में आवें। श्वास सामान्य रहे।

लाभ -
1. इस आसन के अभ्यास से मस्तिष्क में पर्याप्त रक्त पहुँचता है जिससे मस्तिष्क के सूक्ष्म सेल, तन्तु आदि पर्याप्त मात्रा में पोषक तत्वों को ग्रहण करके सक्रिय और स्वस्थ होते हैं जिस से कार्यक्षमता बढ़ती है, स्मरण शक्ति का विकास होता है।
2. इस से शरीर में रक्त-संचार ठीक से होता है जिससे शरीर की प्रतिरोधक शक्ति में वृद्धि होती है।
3. महिलाओं के गर्भाशय के विकार, मासिक की गड़बड़ी आदि रोग इस से नष्ट होते हैं।
4. मेरूदण्ड के भीतर नीचे की ओर का सुषुम्णा का प्रवाह मस्तिष्क की ओर हो जाता है। वीर्य उर्ध्वगामी होता है।

विशेष -
1. शीर्षासन के बाद ताड़ासन एवं शवासन अवश्य करें।
2. शरीर-शोधन के बाद ही शीर्षासन का अभ्यास करना चाहिए।

सावधानी -
1. मस्तिष्क सम्बन्धी विकारों में इसका अभ्यास न करें।
2. उच्च रक्तचाप, चक्कर आने की स्थिति में भी इसका अभ्यास न करें।
3. रीढ़ की हड्डी के विकार में भी इसका अभ्यास वर्जित है।

मुद्रा

हठयोग-साधना में योग-सिद्धि के जो सात साधन बताये गये हैं उनमें मुद्रा तीसरे स्थान पर है। शरीर की वह विशिष्ट क्रिया जिस से शरीर के किसी अवयव विशेष को स्थिति विशेष में रखा जाता है, "**मुद्रा**" कहलाती है। यह शरीर को स्वस्थ रखने के साथ-साथ आत्मिक बल में भी वृद्धि करती है, जो चित्त को एकाग्र करने तथा कुण्डलिनी शक्ति के जागरण में भी सहायक है। मुद्राओं के अभ्यास से इन्द्रियाँ बाह्य जगत् से सम्बन्ध विच्छेद कर अर्न्तमुखी होकर प्रत्याहार की स्थिति निर्मित करती है। यद्यपि मुद्राओं का उद्देश्य आध्यात्मिक है तथापि मानसिक एवं शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से भी इनका उपयोग नकारा नहीं जा सकता। हठयोग के ग्रन्थों में मुद्रा और बन्ध का संयुक्त विवरण एक साथ प्राप्त होता है। बन्ध का शाब्दिक अर्थ है "**बाँधना**" अर्थात् शरीर के अंग विशेष को धीरे-धीरे शक्तिपूर्वक संकुचित कर बांधना ही बन्ध है। यह अन्त: शारीरिक प्रक्रिया है। इसके द्वारा शरीर के विभिन्न अंगों तथा नाड़ियों को नियंत्रित किया जा सकता है। हठयोग-प्रदीपिका में मुद्राओं का विवरण इस प्रकार मिलता है। यथा-

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी।
उड्डीयानं मूलबन्धश्च बंधो जालन्धराभिध:।
करणी विपरीताख्या बज्रोली शक्तिचालनम्।
इदं हि मुद्रादशकं जरामरण-नाशकम्।

अर्थात् महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, उड्डीयान, मूलबन्ध, जालन्धरबन्ध, विपरीतकरणी, व्रजोली, शक्तिचालनी यह दश मुद्रायें जरा-मरण को नष्ट करने वाली बतायी गयी है। इसी प्रकार घेरण्ड-संहिता में मुख्य रूप से पच्चीस मुद्राओं का वर्णन प्राप्त होता है। यथा-

महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयानं जलन्धरम् ।
मूलबन्धं महाबन्धं महावेधश्च खेचरी।
विपरीतकरिणी योनि वज्रोली शक्तिचालिनी।
तडागीमाण्डवी मुद्रा शाम्भवीपञ्चधारणा।।
आश्विनी पाशिनी काकी मातंगी च भुजंगिनी।
पञ्चविंशति मुद्रा:वै सिद्धिदाश्चेहयोगिनाम्।।

अर्थात् महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयान-बन्ध, जालन्धर-बन्ध, मूलबन्ध, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, विपरीतकरिणी, योनि, वज्रोली, शक्तिचालिनी, तड़ागी, माण्डवी, शांभवी, पंचधारणा, अश्विनी, पाशनी, काकी, मातंगी और भुजंगिनी इत्यादि पच्चीस मुद्रायें हैं जो योगियों को सिद्धि प्रदान करने वाली हैं। हठयोग के ग्रन्थों में विभिन्न मुद्राओ एवं बन्धों का विस्तार से वर्णन मिलता है। यहाँ सबसे पहले "**बन्ध**" पर चर्चा करेगें। बन्ध मुख्य रूप से तीन हैं, परन्तु इनके संयुक्त होने पर एक बन्ध और हो जाता है। बन्धों का मुख्य कार्य शक्ति के बाह्य प्रवाह को जो व्यर्थ हो रहा है रोककर सूक्ष्म व महत्त्वपूर्ण केन्द्रों की ओर उन्मुख करना है जिससे सुषुप्त शक्ति-केन्द्र क्रियाशील होकर

व्यक्तित्व के विकास में योगदान दे सकें। विभिन्न बन्ध एवं मुद्रायें इस प्रकार हैं-

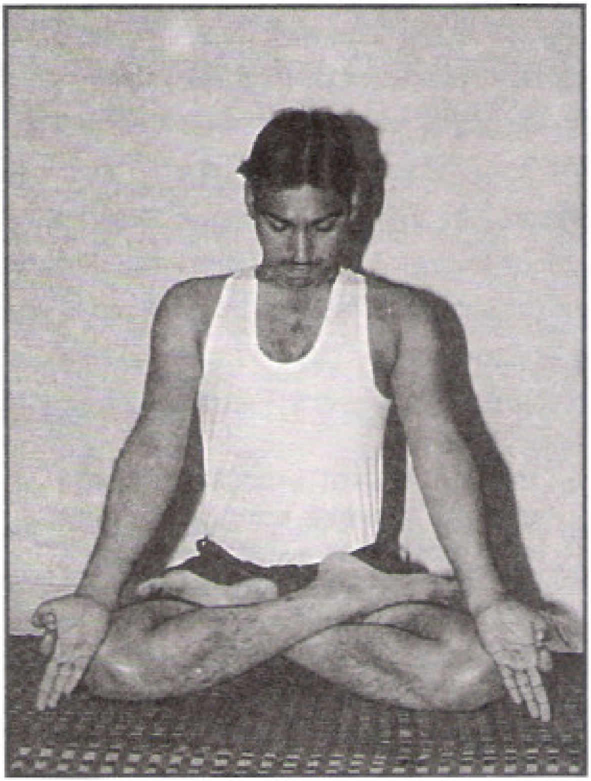

जालन्धर बन्ध

1. **जालन्धर बन्ध -**

कंठमाकुंच्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढ़म्।
बंधो जालंधराख्योयं जरामृत्यु-विनाशक:।

कंठ का संकोच करके हृदय पर ठोड़ी को दृढ़ता से लगावे, यह जरामृत्यु का नाश करने वाला जालन्धर बन्ध है।

विधि - किसी भी ध्यान के आसन में बैठकर दोनों हाथों को घुटनों पर रखें। आँखे बन्द तथा रीढ़ की हड्डी सीधी रहनी चाहिए। गहरी श्वास लेकर कुम्भक करें और कंठ की आन्तरिक मांस-पेशियों को संकोच करेक ठुड्डी को छाती से सटा लेना चाहिए, तथा दोनों कन्धों को कुछ ऊपर उठायें। जब तक आसानी से कुम्भक की स्थिति में रह सकें रहें, तत्पश्चात् हाथों तथा कंधों को शिथिल करके सिर को ऊपर उठाकर सामान्य स्थिति मे आ जायें, धीरे-धीरे लय के साथ श्वास बाहर निकालना चाहिए।

लाभ-
1. यह गले के रोगों का नाश करता है।
2. थॉयरॉयड एवं पैराथायरॉयड ग्रन्थियों को क्रियाशील बनाकर यह हार्मोन्स के स्राव को सन्तुलित करता है जिससे शरीर की चय-अपचय की क्रिया ठीक रहती है और स्फूर्ति, उत्साह एवं युवावस्था बहुत दिनों तक बनी रहती है।
3. यह विशुद्ध चक्र को जागृत करने में सहायक है।

2. मूलबन्ध -

पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुंचयेद्गुदम्।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोमिधीयते।।
अधोगतिमपानं वा ऊर्ध्वगं कुरुते बलात्।
आंकुचनेन तं प्राहुर्मूलबन्धं हि योगिनः।

एँड़ी से योनि स्थान (पायु एवं उपस्थ के मध्य भाग) को दबाकर गुदा का आंकुचन-सिकोड़-कर अपानवायु को ऊपर की ओर आकर्षित करें, इसे मूलबन्ध कहते हैं अथवा जिस विधि से अधोगति वाले अपानवायु को बल पूर्वक आकुंचन द्वारा ऊर्ध्वगामी किया जाता है, उसे योगीजन मूलबन्ध कहते हैं।

विधि- सिद्धासन में बैठकर दोनों हाथों को घुटनों पर रखकर मेरुदण्ड को सीधी रखें, आँखे बन्द रहें, मन को मूलाधार चक्र पर केन्द्रित करें, अन्तः कुम्भक अथवा बाह्यकुम्भक करके गुदा का आंकुचन कर इसे अधिक से अधिक ऊपर की ओर खींचे। यथासम्भव कुम्भक की स्थिति में रहकर अभ्यास करें, जब कुम्भक की स्थिति में न रह सकें तब गुदा के आंकुचन को शिथिल कर दें।

लाभ -
1. इससे बड़ी आँत की निष्क्रियता दूर होती है जिससे कब्ज और अपच दूर होता है।
2. इससे मल द्वार के सभी प्रकार के दोष जैसे बबासीर, भगंदर आदि दूर होते हैं।
3. अपान वायु ऊपर खींचने पर जठराग्नि प्रदीप्त होती है जो पाचन शक्ति बढ़ाती है।
4. यह मूलाधार चक्र को जागृत करने में सहायक है।

विशेष – इस क्रिया में जालंधर बन्ध भी किया जा सकता है जो अधिक लाभ पहुँचाता है।

3. उड्डीयानबन्ध-

बद्धोयेन सुषुम्णायां प्राणस्तूड्डीयते यतः।
तस्मादुड्डीयानाख्योयं योगिभिः समुदाहृतः।।
उड्डीयानं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगा:।
उड्डीयानं तदेव स्यात्तत्र बंधोभिधीयते।।

जिससे बंधा हुआ प्राण ऊर्ध्वमुख होकर सुषुम्णा में होकर पहुँच जाय, उस बन्ध को उड्डीयान कहते हैं। देहावकाश में गतिशील महाखग रूप प्राण जिस बन्ध से सुषुम्णा में उड़ता (गति करता) है उसे उड्डीयानबन्ध कहते हैं।

विधि – किसी भी ध्यान के आसन में बैठकर हथेलियों को घुटनों पर जमायें। रेचक क्रिया से पेट के अन्दर की श्वास पूरी तरह बाहर निकालकर बहिष्कुम्भक करें, पेट की हथेलियों का अधिक से अधिक संकोच करके उन्हें मेरुदण्ड से स्पर्श कराने का प्रयत्न करें। बहिष्कुम्भक की स्थिति में आराम से जितनी देर तक रह सकें रहें। जब श्वास को बाहर न रोक सकें तो उदर पेशियों को सामान्य स्थिति में लायें तथा धीरे-धीरे श्वास लें।

लाभ –
1. यह अजीर्ण को दूर कर, पाचन क्रिया को बढ़ाता है।
2. इससे दूषित वायु का निष्कासन तथा कृमि रोग का नाश होता है।
3. यह यकृत, गुर्दे, आमाशय आदि पाचन शक्ति को प्रभावित करने वाले अंगो को सक्रिय करता है।
4. यह मणिपूर चक्र को जागृत करने में सहायक है।

सावधानी –
1. गर्भवती महिलाओं को इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए।
2. पेट के अल्सर, उच्च रक्तचाप, हृदय रोग आदि में भी इसक अभ्यास वर्जित है।

विशेष – उड्डीयान बन्ध का अभ्यास करने से पूर्व शंख-प्रक्षालन व अग्निसार क्रिया का अभ्यास कर लेना चाहिए जिससे पेट में कब्ज आदि की शिकायत न रहे तथा पेट साफ रहे।

4. **महाबन्ध** – जालन्धरबन्ध, मूलबन्ध और उड्डियानबन्ध तीनों को क्रमशः संयुक्त रूप से करने पर "महाबन्ध" बनता हैं।

विधि – इस बन्ध के लिये पहले ध्यान के किसी भी आसन में बैठकर जालन्धर बन्ध लगाते हैं। तत्पश्चात् क्रमशः मूलबन्ध उड्डियानबन्ध लगाते हैं। कुम्भक की स्थिति तक इस स्थिति में रहें। अब बन्ध खोलने के लिये सबसे पहले उड्डियान बन्ध को शिथिल करें, फिर मूलबन्ध को और अन्त में जालन्धर बन्ध को, धीरे-धीरे श्वास लीजिए।

लाभः –
1. यह हृदय की धड़कन को नियंत्रित करके, मन को शान्त एवं एकाग्र करता है जिससे शरीर के स्नायु सबल होते हैं।
2. यह प्रजनन अंगो एवं उनसे सम्बन्धित स्नायुओं की अनावश्यक उत्तेजना और शिथिलता को दूर करके स्तम्भन की शक्ति बढ़ाता है।
3. यह आँतों की निष्क्रियता को दूर कर जठराग्नि प्रदीप्त करता है जिससे कब्ज और अपच दूर होता है।
4. यह मन व शरीर को ध्यान के लिये तैयार करता है तथा चक्रों के जागरण में भी सहायक है।

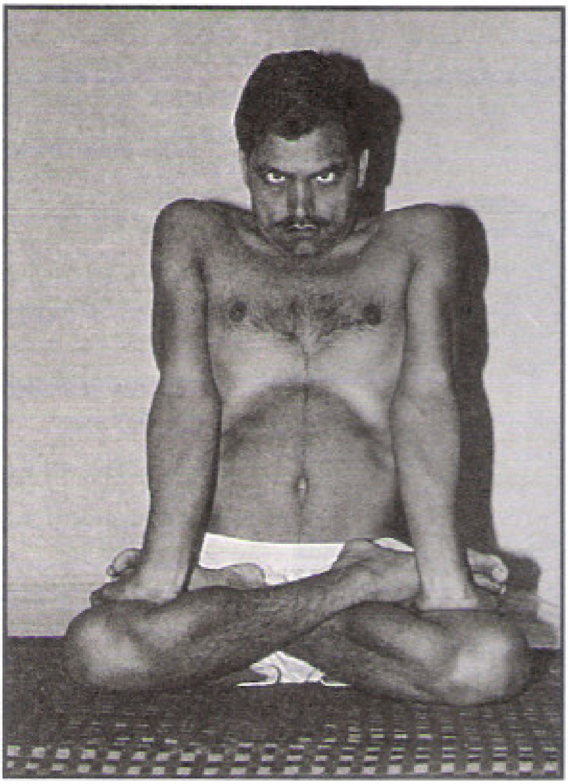

महाबंध

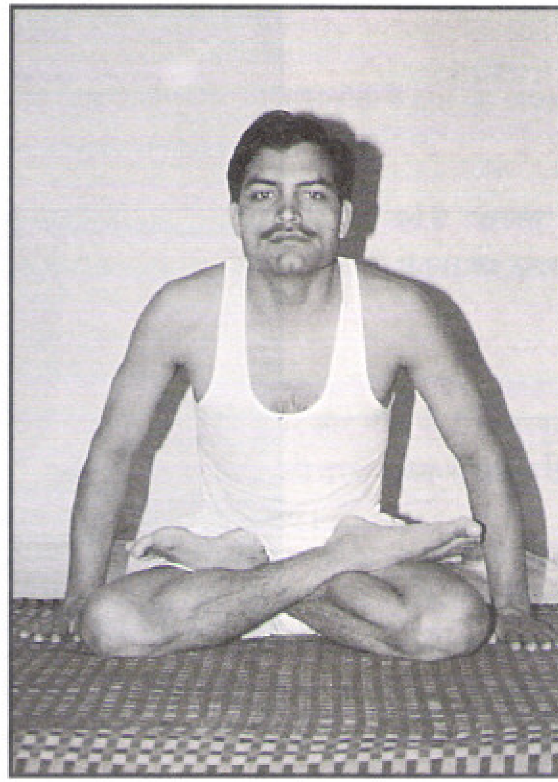

महाबेध

5. महावेध -

विधि: - दोनों पैर फैलाकर बैठें। दायें पैर की एँड़ी को पायु और उपस्थ के मध्य सीवनी नाड़ी पर रखकर दबायें तथा सामने झुककर दोनों हाथों से बायें पैर के अंगूठे को पकड़ें। श्वास अन्दर लेकर उसके बाद पूरी तरह श्वास बाहर निकालकर सबसे पहले जालन्धर बन्ध, फिर मूलबन्ध और उसके बाद उड्डीयान बन्ध लगायें। दृष्टि नासिका के अग्र भाग पर हो। जब तक सम्भव हो इसका अभ्यास करें।

लाभ -
1. यह चित्त को एकाग्र कर, मन को ध्यान हेतु तैयार करता है।
2. यह वात तथा उदर-विकारों में लाभप्रद है।

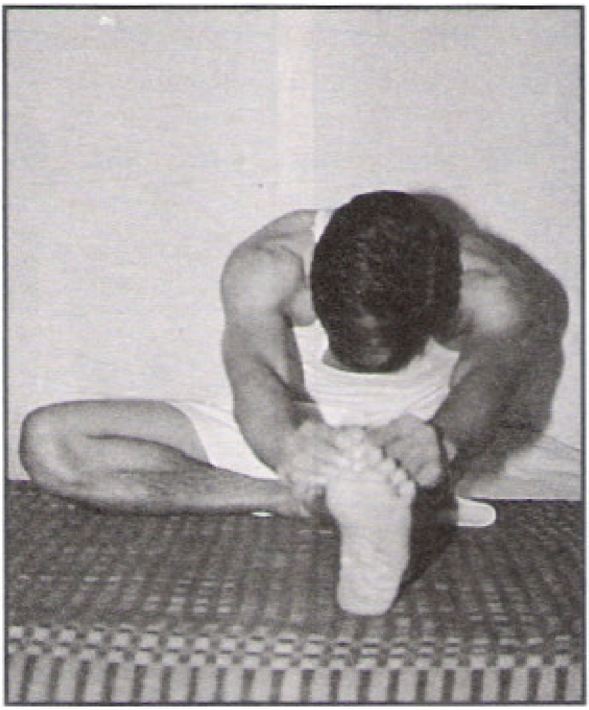

महामुद्रा

6. महामुद्रा –

विधि: – सर्वप्रथम दोनों पैर सामने फैलाकर बैठें। तत्पश्चात् दायें पैर की एड़ी को पायु और उपस्थ के मध्य सीवनी नाड़ी के नीचे रखें। सामने झुककर दोनों हाथों से बायें पैर के अंगूठे को पकड़ें। दीर्घ श्वास लेकर जालन्धर-बन्ध तथा मूलबन्ध लगावें। दृष्टि भ्रूमध्य पर रखें। अन्त: कुम्भक की स्थिति में जब तक सम्भव हो रहें। तत्पश्चात् धीरे से श्वास बाहर निकालें। पैर की स्थिति भी बदलकर इसका अभ्यास किया जा सकता है।

लाभ –
1. यह चित्त को एकाग्र करके, मन को ध्यान के लिये पृष्ठभूमि बनाता है।
2. यह उदर से सम्बन्धित विकार में लाभ पहुँचाता है।
3. यह प्राण-शक्ति का विकास करके आन्तरिक शक्ति को जागृत करता है।

7. नभोमुद्रा –

विधि: – ध्यान के किसी आसन में बैठकर जिह्वा को तालूमूल में लगायें, उज्जायी प्राणायाम के साथ दृष्टि भ्रूमध्य अथवा आकाश की ओर करें।

लाभ –

1. यह मुद्रा मन को शान्त एवं स्थिर करती है।
2. इस मुद्रा में एक साथ उज्जायी प्राणायाम, शाम्भवी मुद्रा तथा खेचरी मुद्रा का लाभ प्राप्त होता है तथा यह साधक को चेतना की उच्च स्थिति में ले जाने में सहायक है।

8. **खेचरी मुद्रा** – खेचरी शब्द "**खे**" और "**चरी**" दो शब्दों के मेल से बना है जिसमें "**खे**" का अर्थ है "आकाश" तथा "**चरी**" का अर्थ है "भ्रमण" करने वाला। अर्थात् सूक्ष्म और स्थूल शरीर के बीच मन की चेतना का भ्रमण आकाश में भ्रमण है, इसलिये इसे "खेचरी" मुद्रा कहते हैं।

विधि – खेचरी मुद्रा का अभ्यास दो प्रकार से किया जा सकता है।

1. प्रथम विधि सरल है। इसमें ध्यान के किसी आसन में बैठकर मुंह बन्द रखें तथा ऊपर और नीचे के दाँत परस्पर सटे हों, आंखे बन्द हों। तत्पश्चात् जिह्वा के अग्र भाग को ऊपर उठाते हुये पीछे तालूमूल की तरफ अधिक से अधिक ले जाकर तालुमूल से स्पर्श करवाने का अभ्यास करें। इस क्रिया में श्वास सामान्य रहनी चाहिए।
2. दूसरी विधि कुछ कठिन है। किसी योग्य योगाचार्य के मार्ग-दर्शन में ही इसका अभ्यास किया जा सकता है। इस विधि में जिह्वा को लम्बी करने के लिये इस के छेदन, दोहन और कर्षण की क्रिया की जाती है। छेदन-क्रिया में जिह्वा के निम्न मूल को काटा जाता है। प्रत्येक सप्ताह बाल के बराबर स्फटिक अथवा धारदार शुद्ध वस्तु से काटा जाता है। लगभग ६ माह के अभ्यास में जिह्वा का निम्न-मूल से बन्धन कट जायेगा। इसके बाद जिह्वा के अग्र भाग को वस्त्र से लपेटकर धीरे-धीरे दोहन करें और क्रमशः जिह्वा को नासिका के अग्र भाग तक, फिर नासिका के मध्य भाग तथा फिर भ्रूमध्य तक लम्बी करने का अभ्यास करें इस प्रकार जिह्वा के बढ़ने पर तालुमूल में धीरे-धीरे इसे, प्रविष्ट करवायें। फिर कपाल-रन्ध्र में जिह्वा को ऊपर की ओर उलटी करके ले जाना चाहिए। दृष्टि भ्रूमध्य में रहे।

लाभ –

1. खेचरी का अभ्यास करने वाले साधक को मूर्च्छा, क्षुधा, तृष्णा, आलस्य आदि नहीं सताते हैं।
2. इससे शरीर की अनावश्यक गर्मी दूर होती है और शरीर के तन्तुओं के क्षय होने की गति रूकती है।
3. इस क्रिया के अभ्यास से श्वास-प्रश्वास की गति दीर्घ होती है जिससे मन स्वतः शान्त और स्थिर होता है।

9. **विपरीतकरणी मुद्रा** – यह मुद्रा इस सिद्धान्त पर आधारित है कि प्रत्येक मनुष्य के नाभिमूल में सूर्यनाड़ी और तालुमूल में चन्द्रनाड़ी का स्थान है। सहस्रार से जब चन्द्रामृत का प्रवाह होता है तब सामान्य रूप से नाभि में स्थित सूर्य के तेज से वह नष्ट हो जाता है। यदि सहस्रार से निकलने वाला चन्द्रामृत तालुमूल में सुरक्षित रखा जा सके तो शरीर अमरता को प्राप्त होता है।

विधि– पहले दोनों हाथों को परस्पर बाँध कर सिर को उनके बीच कर भूमि में रखकर शीर्षासन की स्थिति में आ जायें पैर ऊपर की ओर सीधे रहें। फिर कुम्भक के द्वारा वायु को रोकने का अभ्यास करें। प्रारम्भ में कुछ क्षणों के लिये करें, धीरे-धीरे अभ्यास बढ़ायें।

लाभ- यह-

1. शरीर के ताप को सन्तुलित रखकर सभी प्रकार के आधि-व्याधि का नाश करती है।
2. जठराग्नि प्रदीप्त करती है।
3. स्मरण शक्ति को बढ़ाने में सहायक है।
4. शरीर की प्रतिरोधक क्षमता बढ़ाने में सहायक है।
5. सुषुम्णा का प्रवाह मस्तिष्क की ओर करती है।

सावधानी- उच्च रक्त चाप तथा, हृदय के रोगी इसका अभ्यास न करें।

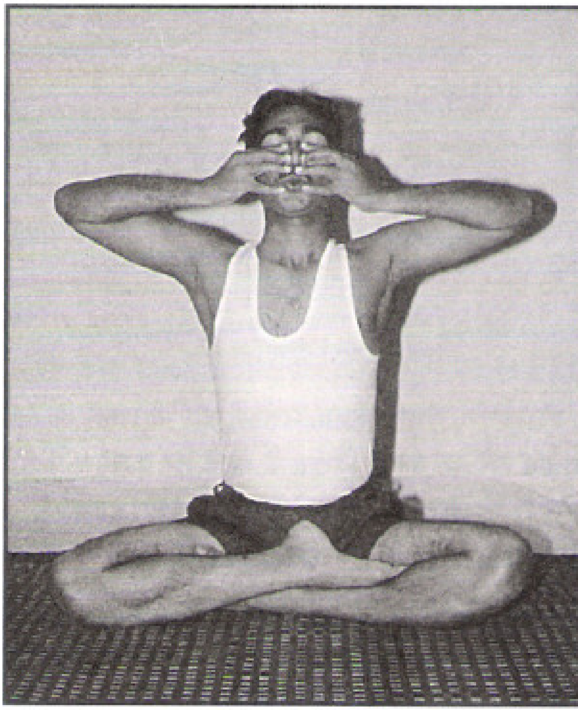

योनि मुद्रा

10. योनिमुद्रा- सिद्धासन अथवा ध्यान के किसी आसन में बैठकर दोनों हाथों के अँगूठे से कानों को, दोनों हाथों की तर्जनी से नेत्रों को, मध्यमा से मुख को और अनामिका से नासिका को बन्द करें। काकी मुद्रा की स्थिति में मुह से प्राण वायु लेकर श्वास को भीतर रोकते हुए बिन्दु चक्र पर मन को एकाग्र करने का प्रयास करें। आराम दायक स्थिति तक श्वास को रोकने के पश्चात् नासिका से अँगुलियों को हटा लें। रेचक क्रिया द्वारा श्वास निकाल लें। अन्य अँगुलियां अपने स्थानों पर यथावत् रहेगीं पुनः श्वास लेकर इसका अभ्यास करें। यही योनिमुद्रा है। चूँकी इस मुद्रा में साधक की स्थिति इन्द्रिय जन्य क्रिया-कलापों से रहित-जिस तरह बच्चा गर्भ अर्थात् योनि मे रहता है उस तरह-होने के कारण इस मुद्रा को योनिमुद्रा कहते हैं।

लाभ-
1. इस मुद्रा के अभ्यास से शरीर में नाद प्रकट होता है।
2. यह मानसिक तनाव में राहत पहुँचाती है।
3. यह नेत्र, नाक, कान के रोगों में राहत पहुँचाती है।
4. यह चित्त को एकाग्र कर ध्यान के लिये मन को तैयार करती है।

11. वज्रोली-मुद्रा- वज्र नाड़ी जो कि यौन-ग्रन्थि से जुड़ी है से सम्बन्धित मुद्रा होने के कारण इसे वज्रोली मुद्रा कहते है।

विधि- इस मुद्रा का अभ्यास दो तरह से किया जा सकता है-
1. सिद्धासन अथवा वज्रासन में बैठकर दोनों हाथों को घुटनों पर रखें। कुम्भक की स्थिति में निम्न उदर प्रदेश के, पायु और उपस्थ से सम्बन्धित भाग का ऊपर की ओर आकुंचन करें। फिर श्वास छोड़ते हुये निम्न उदर प्रदेश को शिथिल करके बहिष्कुम्भक की स्थिति में भी निम्न उदर प्रदेश का आकुंचन करें। इस क्रिया को कुम्भक की स्थिति में बार-बार दोहरायें।

2. इस विधि का अभ्यास किसी योग्य योगाचार्य के निर्देशन मे ही करना चाहिए। इस क्रिया में मूत्रमार्ग में पहले कैथेटर नं०-4 अथवा 5 को डालकर प्रतिदिन 1 इंच अन्दर की ओर डालें। जब कैथेटर 10-12 इंच अन्दर जाने लगे तो चाँदी अथवा काँच की लगभग 15 इंच वाली नली को मूत्रमार्ग से धीरे-धीरे प्रवेश कराकर अभ्यास करें। जब नली 10-12 इंच अन्दर चली जाय तो नली के मार्ग से जल को ऊपर खींचने का अभ्यास करें। जब यह अभ्यास सध जाय तो दूध से इसका अभ्यास करें। जब दूध से भी अभ्यास सिद्ध हो जाय तब मधु और अन्त में पारद से अभ्यास किया जाता है। जब अभ्यास सिद्ध हो ज़ाय तब बिना नली के भी उपर्युक्त विधि के अनुसार अभ्यास किया जा सकता है।

लाभ
`1. यह ब्रह्मचर्य पालन के लिये उपयोगी क्रिया है।
2. यह पायु और उपस्थ से सम्बन्धित सभी प्रकार के रोगों में लाभ पहुँचाती है।
3. इससे स्नायु नियंत्रण और स्थिरता प्राप्त होती है जिससे ध्यान आदि योग के उच्च साधन के लिये भूमिका तैयार होती है।

सावधानी - सामान्य वज्रोली-मुद्रा में अभ्यास सरल होने के कारण कोई खतरा नहीं है, परन्तु दूसरी विधि योग्य व्यक्ति के निर्देशन में ही करनी चाहिए।

12. शक्तिचालिनी मुद्रा- सिद्धासन में बैठकर दोनों हाथों को दोनों घुटनों के ऊपर रखें। श्वास के द्वारा प्राण वायु अन्दर लें तथा पायु और उपस्थ का, निम्न उदर प्रदेश का ऊपर की ओर आकुंचन करके उड्डीयान बन्ध लगायें। निम्न उदर प्रदेश के आकुंचन और शिथिलन से सुषुम्णा का प्रवाह प्रारम्भ होता है जो कुण्डलिनी शक्ति के जागरण में सहायक है।

लाभ–

1. यह आन्तरिक शक्ति के जागरण में सहायक है।
2. यह बवासीर, गुदा से सम्बन्धित विकारों में उपयोगी है।

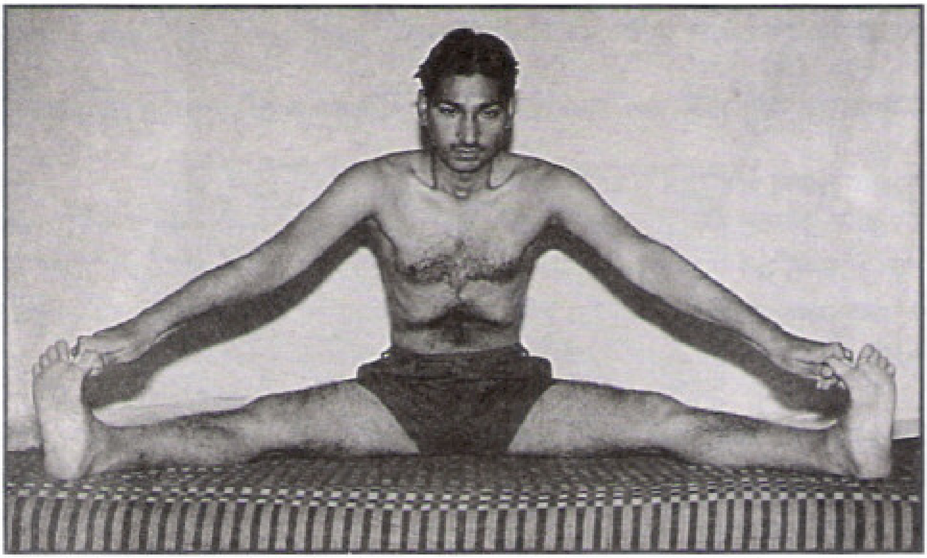

तड़ागीमुद्रा

13. तड़ागीमुद्रा– पश्चिमोत्तान आसन की स्थिति में दोनों पैरों के बीच कुछ दूरी बनाकर दोनों हाथों से दोनों पैरों के अँगुठों को पकड़ें। दीर्घ पूरक करके पेट की स्नायुओं को बाहर की ओर फैलायें। जब तक सम्भव हो अन्त: कुम्भक लगायें, तदुपरान्त रेचक कीजिये।

लाभ–

1. यह उदर से सम्बन्धित विकारों को दूर करता है और पाचन-शक्ति को बढ़ाती है।
2. यह शरीर की प्रतिरोधक क्षमता को बढ़ाकर, कार्यक्षमता हो बढ़ाने में सहायक है।

14. माण्डूकीमुद्रा– ध्यान के किसी आसन में बैठकर दोनों हाथों को दोनों घुटनों पर रखें अथवा चिन्मुद्रा की स्थिति में रखें, मुह को बन्द करें। मुंह को बन्द करके जिह्वा को मुंह के अन्दर चारों ओर घुमाकर चिह्वा को तालूमूल में लगाकर चन्द्रामृत का पान हो रहा है ऐसा आभास करें।

लाभ

1. इससे लार ग्रन्थि सक्रिय होती है जो भोजन के पचाने में सहायक है।
2. यह स्वास्थ्य उत्तम करने का साधन है।
3. इससे चेहरे की झुर्रियाँ दूर होती हैं।

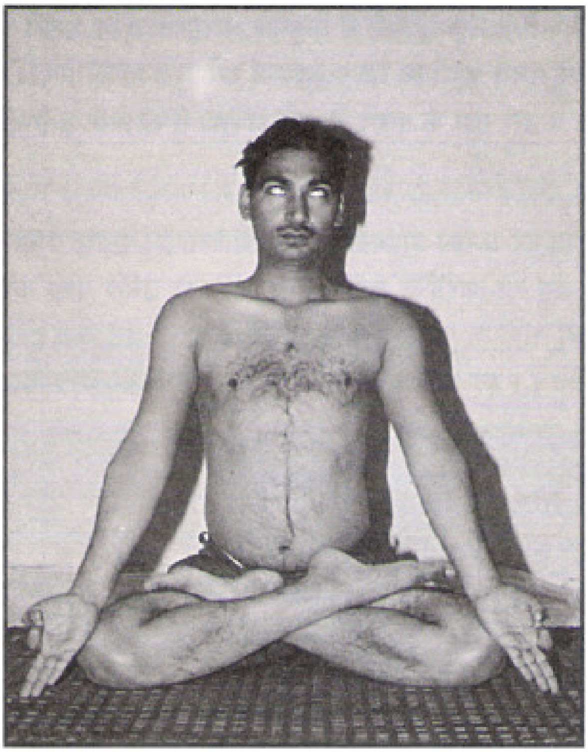

शाम्भवीमुद्रा

15. शाम्भवीमुद्रा- ध्यान के किसी आसन में बैठकर मेरुदण्ड को सीधा करें। दोनों हाथ दोनों घुटनों पर ज्ञानमुद्रा में रहें। श्वास सामान्य रहे। दोनों नेत्रों को दोनो भौहों के मध्य स्थान में स्थिर रखने का अभ्यास करें। पहली बार ही आँखों पर ज्यादा तनाव न दें, धीरे-धीरे अभ्यास बढ़ायें, आँखें थकने पर बन्द कर दें। फिर अभ्यास करें।

लाभ

1. यह मानसिक तनाव को दूर कर मन को एकाग्र करने में सहायक है
2. यह स्मरण-शक्ति बढ़ाने में सहायक हैं।
3. इससे नेत्रों के विकार दूर होकर, नेत्रों में सम्मोहन की शक्ति प्राप्त होती है।

16. पञ्चधारणामुद्रा - ध्येय विषय पर चित्त की वृत्ति को एकाग्र करना "**धारणा**" कहलाती है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पंच तत्वों पर धारणा पञ्चधारणा कहलाती है। धारणा अष्टांग योग का छठवां अंग है परन्तु हठयोग में मुद्राओं में ही "**धारणा**" का वर्णन पञ्चधारणा के रूप में प्राप्त होता है। ये पञ्चधारणाएँ इस प्रकार है- पार्थिवी, आम्भसी, आग्नेयी, वायवीय और आकाशी।

1. पार्थिवीधारणा- पृथ्वी तत्त्व पर धारणा पार्थिवीधारणा कहलाती है। पृथ्वी के आदि रचयिता ब्रह्मा जी हैं। इस

तत्त्व का स्थान पाँव से जानु पर्यन्त है। पृथ्वी तत्त्व में वायु को आरोपित करके उसमें बीज ''लं'' को युक्त करें और स्वर्ण के समान चतुर्भुज एवं चतुरानन ब्रह्मा का ध्यान हृदय में कर कुम्भक की स्थिति को बढ़ाने का प्रयास करें। दो घंटे पर्यन्त कुम्भक की स्थिति में इस मुद्रा के करने से पार्थिवी मुद्रा सिद्ध होती है तथा साधक पृथ्वी तत्त्व पर विजय प्राप्त करता है।

2. आम्भसीधारणा– जलतत्त्व पर धारणा आम्भसी धारणा कहलाती है। इस तत्त्व का स्थान जानु से गुदा स्थान तक माना जाता है। जलतत्त्व में वायु को आरोपित करके बीज ''वं'' को उसमें युक्त करें तथा पीताम्बर एवं कौस्तुभ मालाधारी चर्तुभुज भगवान श्री नारायण का पॉच घड़ी पर्यन्त अर्थात् 2 घंटे तक हृदय में ध्यान करने से आम्भसी धारणा नाम की मुद्रा सिद्ध होती है। इस धारणा की सिद्धि से शरीर में किसी भी प्रकार के विष का प्रभाव नही पड़ता है।

3. आग्नेयी या वैश्वानरी-धारणा– अग्नितत्त्व पर धारणा ''**आग्नेयी-धारणा**'' कहलाती है। अग्नि का स्थान नाभि, आकृति त्रिकोण, वर्ण इन्द्रगोप घोड़े के समान लाल और बीज ''रं'' है। इसके देवता त्रिनेत्र भगवान रुद्र हैं। गुदा से हृदय तक अग्नि का स्थान है। अग्नि तत्त्व में वायु को आरोपित कर बीज ''रं'' को उसमें युक्त कर त्रिनेत्र रुद्र का ध्यान पाँच घड़ी अर्थात् २ घंटे तक करने से अग्नि तत्त्व पर साधक विजय प्राप्त करता है। अर्थात् अग्नि से उसे कोई हानि नहीं होती है।

4. वायवीयधारणा– वायु तत्व पर धारणा ''वायवीयधारणा'' कहलाती है। वायु का स्थान हृदय से भृकुटियों तक माना गया है। बीज ''यं'', देवता ईश्वर और सत्त्वगुण से युक्त है। योगबल से इसका आविर्भाव होने पर एकाग्र चित्त से कुम्भक द्वारा पाँच घड़ी अर्थात् 2 घंटे तक प्राण-वायु का ध्यान करें। इस मुद्रा के सिद्ध होने पर साधक को वायु गमन की शक्ति प्राप्त होती है और साधक वायु से नहीं मरता।

5. आकाशीधारणा– आकाशतत्त्व पर धारणा ''**आकाशीधारणा**'' कहताती है। आकाशतत्त्व का स्थान भृकुटी से मूर्द्धान्त पर्यन्त माना गया है। आकाशतत्त्व में वायु को आरोपित कर बीज ''हं'' को युक्त करके भौहों के मध्य दो घंटा कुम्भक की स्थिति में भगवान शंकर का ध्यान करें। इस मुद्रा के सिद्ध होने पर साधक को आकाश गमन की शक्ति प्राप्त होती है।

17. आश्विनी मुद्रा–

आकुञ्चंयेद् गुदाद्वारं प्रसारयेत् पुनः पुनः।
साभवेदाश्विनीमुद्रा शक्तिप्रवोधकारणी।
आश्विनीपरमामुद्रा गुह्यरोगविनाशिनी।
बलपुष्टिकरीचैव अकालमरणंहरेत्।।

गुदा-द्वार का बार-बार संकोच और प्रसार करें। अश्वों द्वारा ऐसी क्रिया की जाती है इसलिए यह आश्विनीमुद्रा कहलाती है। इससे कुण्डलिनी का जागरण होता है। यह मुद्रा गुह्य रोगों को नष्ट करने वाली, शारीरिक शक्ति को बढ़ाने वाली तथा अकाल मृत्यु को हरण करने वाली है।

विधि- ध्यान के किसी भी आसन अथवा वज्रासन में बैठकर गुदाद्वार की मांस-पेशियों का आकुंचन एवं प्रसारण करें। श्वास समान रहनी चाहिए। ध्यान मूलाधर चक्र पर केन्द्रित करें।

लाभ-
1. यह निम्न उदर प्रदेश से सम्बन्धित सभी विकारों में लाभ पहुँचाती है।
2. यह ब्रह्मचर्य को स्थिर करने में सहायक है।

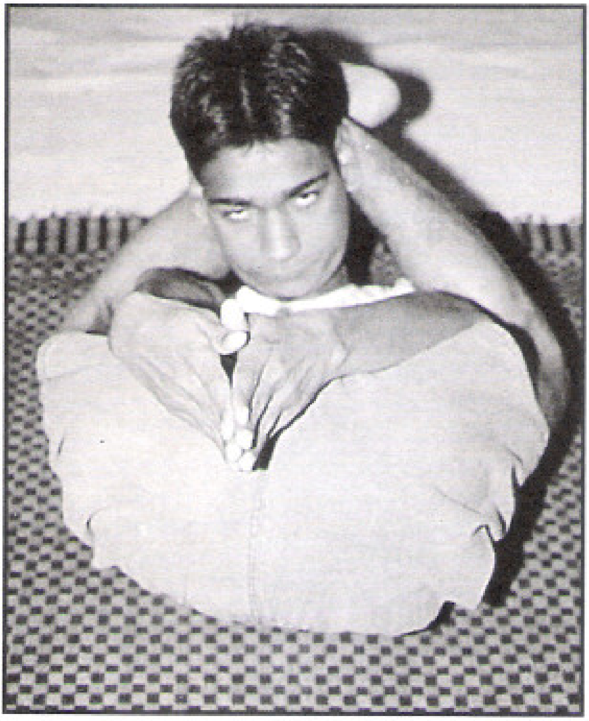

पाशिनीमुद्रा

18 पाशिनीमुद्रा-

कण्ठपृष्ठे क्षिपेत्पादौ पाशवद् दृढ़बन्धनम्।
सा एव पाशिनीमुद्रा शक्ति प्रबोधकारिणी।।

दोनों पाँवों को कण्ठ के पीछे की ओर ले जाकर उन्हें परस्पर मिलाकर पाश के समान दृढता से बांध लें। यह शक्ति को जाग्रत करने वाली पाशिनी-मुद्रा है।

लाभ-

1. रक्त चिकार को दूर करने मे सहायक है।
2. मेरुदण्ड को लचीला बनाकर सक्रिय रखती है।
3. मन की एकाग्रता में सहायक है

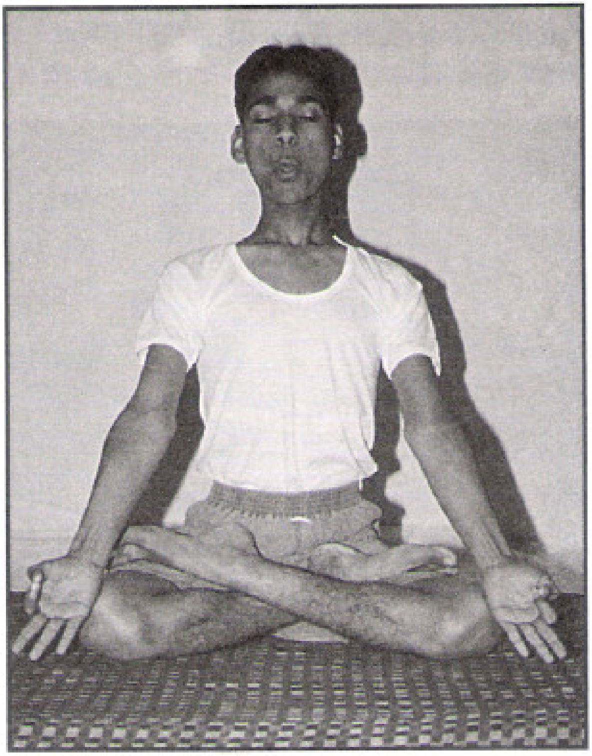

काकीमुद्रा

19 काकीमुद्रा-

काकचञ्चुवदास्येन पिवेद् वायुं शनैः शनैः।
काकी मुद्रा भवेदेषा सर्वरोग विनाशिनी।।

मुख को कौवे की चोंच के समान करके उसके द्वारा शनैः शनैः वायु पान करें। यह सभी रोगों को नष्ट करने वाली काकीमुद्रा है।

विधि - ध्यान के किसी आसन अथवा वज्रासन में बैठकर मुंह को कौवे की चोंच की तरह गोल करते हुये मुंह से श्वास लें और धीरे-धीरे नाक से निकालें। दृष्टि नासिकाग्र पर रहे।

लाभ-

1. यह पाचन-शक्ति को बढ़ाने में सहायक है।
2. यह मुंह और गले सम्बन्धित विकारो में लाभ पहुँचाती है।

20. **मातंगिनीमुद्रा** -

विधि - हाथियों की तरह इस मुद्रा में कण्ठ तक जल में खड़े होकर नासिका से जल खींचकर मुख से बाहर निकालें। प्रारम्भ में कठनाई होगी। इसलिये जलनेति का अच्छा अभ्यास होने के बाद ही इस मुद्रा का अभ्यास करना चाहिए।

लाभ - मन एवं शरीर को स्वस्थ बनाने में सहायक है।

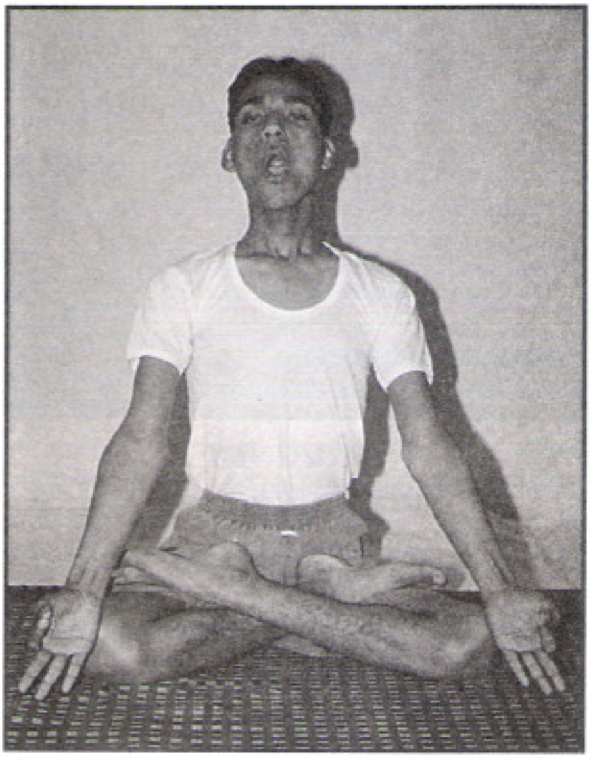

भुजंगिनीमुद्रा

21. **भुजंगिनीमुद्रा** - ध्यान के किसी आसन अथवा वज्रासन में बैठकर मुंह खोलकर सर्प के समान कण्ठ से वायु का पान करें। पेट भर जाने पर डकार के साथ वायु बाहर निकाल दें।

लाभ: -

1. यह सभी प्रकार के उदर रोगों को नष्ट करती है।
2. यह मुंह की लार ग्रन्थियों को सक्रिय बनाती है।

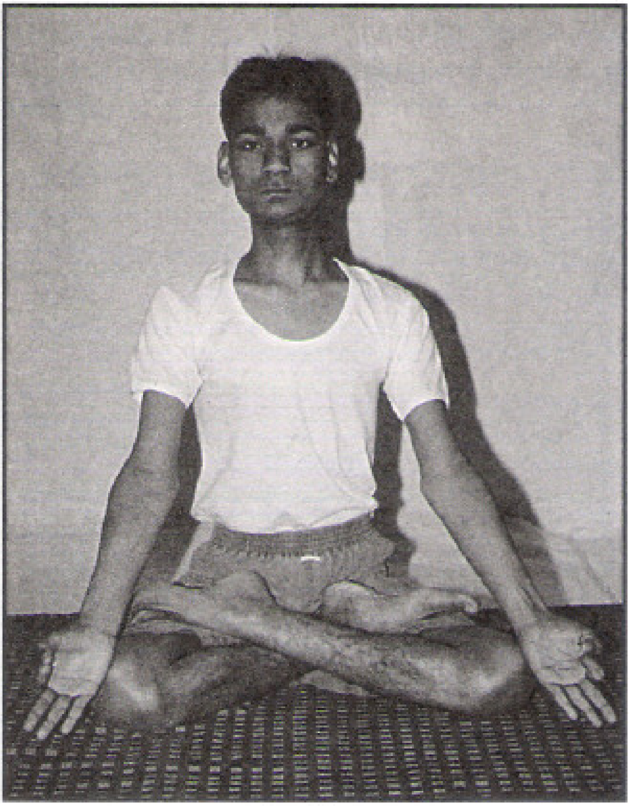

अगोचरी मुद्रा

22. **अगोचरीमुद्रा -**

विधि - ध्यान के किसी भी आसन में बैठकर कुम्भक की स्थिति में दृष्टि को नासिका के अग्र भाग पर केन्द्रित करने की क्रिया अगोचरी मुद्रा है।

लाभ - यह मन की चंचल वृत्तियों को एकाग्र करने में सहायक है।

23. **भूचरीमुद्रा** - ध्यान के किसी आसन में बैठकर नासिका से लगभग 4 अंगुल दूरी पर शून्य आकाश में दृष्टि को केन्द्रित करने का प्रयास करें। यही भूचरीमुद्रा है।

लाभ – यह मन को एकाग्र करती है।

उपर्युक्त विशिष्ट मुद्राओं के अतिरिक्त कुछ हस्त मुद्रायें भी हैं जिनका योग-साधना में अपना विशिष्ट स्थान है। इन मुद्राओं का अभ्यास कहीं भी किसी भी परिस्थिति में करके मनोकायिक दृष्टि से स्वस्थ एवं नीरोग बना जा सकता है। गुरू गोरक्षनाथ जी देह-पिण्ड अर्थात् शरीर के सम्बन्ध में कहते हैं कि **''पिण्ड माहिं ब्रह्माण्ड समाया''** अर्थात् जो कुछ इस ब्रह्माण्ड में है वह इस मानव शरीर में मौजूद हैं। आवश्यकता है उसे यौगिक क्रियाओं द्वारा प्राप्त करने की। यह ब्रह्माण्ड पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश जैसे पंच तत्त्वों के मेल से बना है उसी प्रकार हमारा शरीर भी इन्हीं पंच तत्त्वों के मेल से बना है। शरीर में किसी एक तत्त्व की कमी होने अथवा इसमें असन्तुलन उत्पन्न होने से शरीर रोग ग्रस्त हो जाता है। आजकल तमाम प्रकार की चिकित्सा पद्धतियों का विकास होने से शरीर में जिस तरह की कमी होती है चिकित्सा से उस तत्त्व की कमी को पूरा किया जाता है, जिससे रोग से मुक्ति मिलती है। लेकिन कभी-कभी रोग की सही पहचान न होने पर गलत चिकित्सा का दुष्परिणाम भी हमें भुगतना पड़ता है। योगिक क्रियाओं के माध्यम से इस प्रकार के दुष्परिणामों से तो बचा ही जा सकता है साथ-साथ आध्यात्मिक क्षेत्र में भी हम सफलता प्राप्त कर सकते हैं। हमारे हाथ की पांचों अँगुलियाँ पंच तत्त्व की प्रतीक हैं। हमारा अंगुष्ठ अग्नि तत्त्व का, तर्जनी वायु तत्त्व का, मध्यमा-आकाश तत्त्व का, अनामिका-पृथ्वी तत्त्व का तथा कनिष्ठा-जल तत्त्व का प्रतिनिधित्व करती है। इन्हें आपस में किसी विशिष्ट उद्देश्य और रूप से मिलाने पर तत्त्व विशेष की कमी को तो दूर किया ही जा सकता है साथ ही साथ आध्यात्मिक क्षेत्र में भी सहयोग मिलता है। कुछ उपयोगी हस्त मुद्रायें इस प्रकार हैं-

1. **ज्ञान-मुद्रा** – अंगुष्ठ जो अग्नि तत्त्व का प्रतिनिधित्व करता है और तर्जनी जो वायु तत्त्व का प्रतिनिधित्व करती है इन दोनों के अग्र भागों को मिलाने पर जो मुद्रा बनती है उसे ज्ञान-मुद्रा कहते हैं। इस मुद्रा के अभ्यास में शेष तीनों अंगुलियां सीधी रहें।

लाभ: -
1. इस मुद्रा में अग्नि और वायु तत्त्व के मिलने से शरीर में प्राण शक्ति का संचार होता है तथा तेजस्विता बढ़ती है।
2. इस मुद्रा के अभ्यास से स्मरण शक्ति बढ़ाई जा सकती है।

2. **चिन्मुद्रा** – ध्यान के किसी भी आसन में बैठकर दोनों घुटनों पर दोनों हथेलियों को ऊपर की ओर रखें अथवा नाभि के कुछ नीचे बायें हथेली पर दायीं को रखें। यही चिन्मुद्रा है।

लाभ –
1. यह मन को शान्त और स्थिर रखने में सहायक है।
2. सम्पूर्ण शरीर में प्राण के प्रवाह को बनाने में सहायक है।

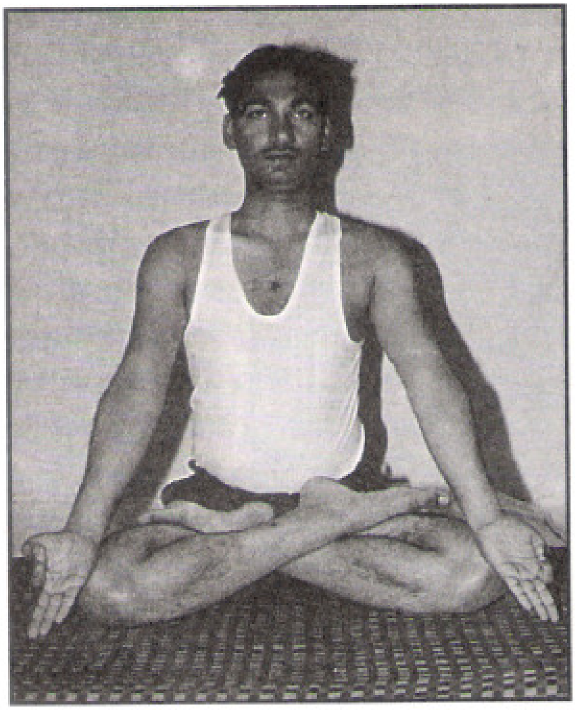

ज्ञानमुद्रा

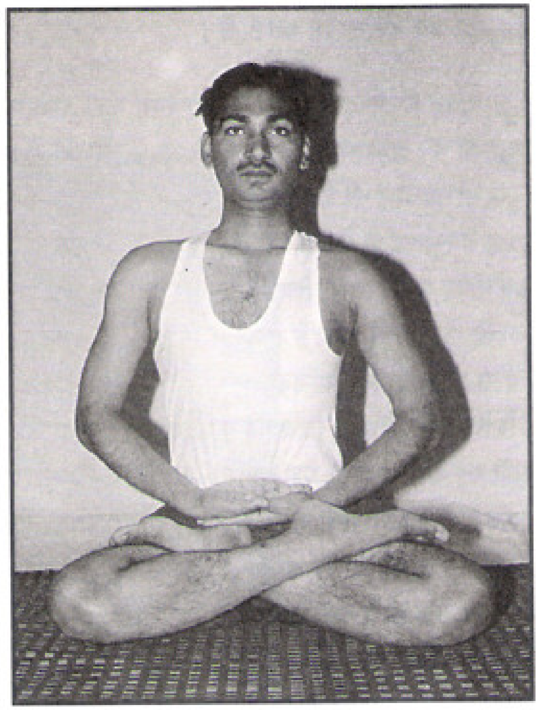

चिन्मुद्रा

3. **वायुमुद्रा** – तर्जनी जो वायु का प्रतिनिधित्व करती है को अंगुष्ठ की जड़ में लगाकर अंगुष्ठ से हल्का दबाव देना चाहिये, शेष अँगुलियाँ सीधी रहें। इस प्रकार जो हस्त मुद्रा बनती है उसे वायुमुद्रा कहते हैं।

लाभ –

1. यह मुद्रा वायु तत्त्व की कमी को दूर करती है।
2. समस्त वायु विकारों जैसे-गठिया, शरीर कम्पन में लाभ पहुंचाती है।

4. **शून्यमुद्रा** – मध्यमा जो आकाश तत्त्व का प्रतिनिधित्व करती है को अंगुष्ठ की गद्‌डी पर लगाकर अंगुष्ठ से हल्का दबाव डालें, शेष तीनों अंगुलियां सीधी रहें। इस प्रकार जो मुद्रा बनती है उसे शून्य मुद्रा कहते हैं।

लाभ –

1. इस मुद्रा के अभ्यास से शरीर में आकाश तत्त्व की कमी दूर होती है।
2. कान के रोग जैसे-कान बहना, कम सुनाई देना, दर्द होना आदि विकार दूर होते हैं।

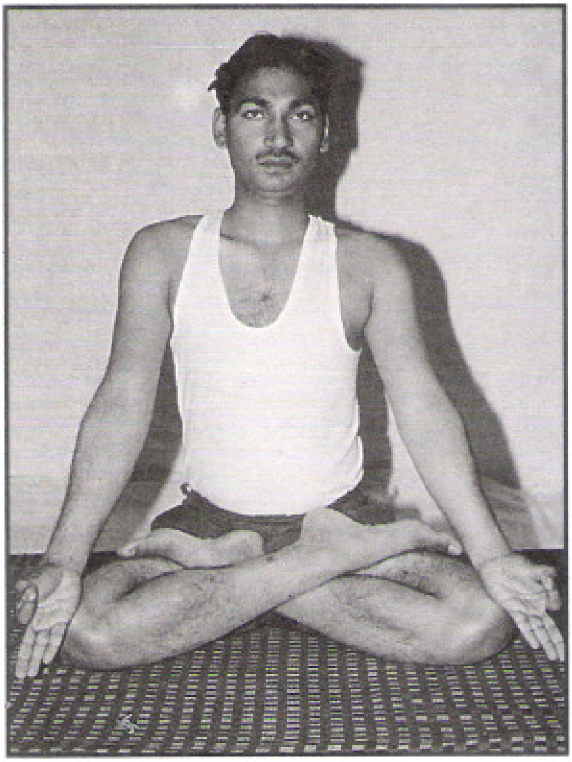

वायुमुद्रा

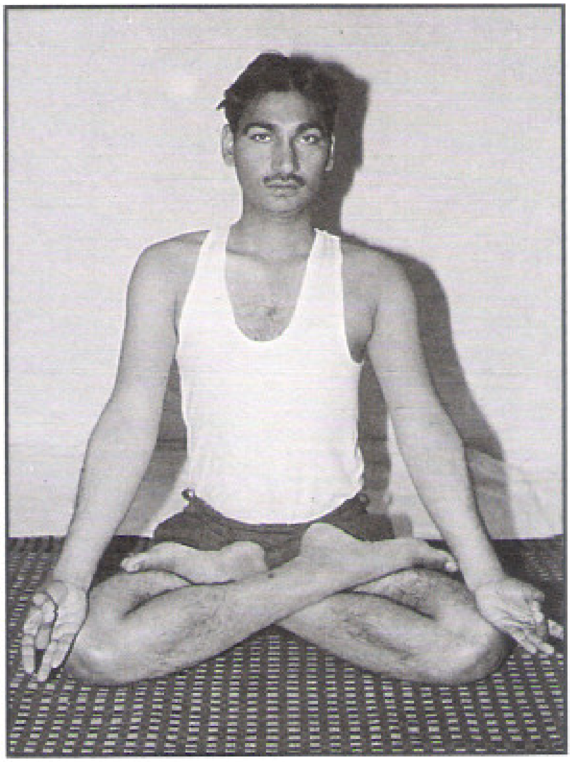

शून्यमुद्रा

5. **पृथ्वी-मुद्रा** – अनामिका जो पृथ्वी तत्त्व का प्रतिनिधित्व करती है को अंगुष्ठ के अग्र भाग से मिलाने पर तथा शेष तीनों अंगुलियों को सीधा रखने से जो हस्त-मुद्रा बनती है उसे पृथ्वी-मुद्रा कहते हैं।

लाभ – इस मुद्रा के अभ्यास से शरीर में पृथ्वी तत्त्व की कमी दूर होती है, इस मुद्रा के नियमित अभ्यास से शरीर की दुर्बलता व कमजोरी दूर की जा सकती है।

6. **प्राण-मुद्रा** – अंगुष्ठ, अनामिका तथा कनिष्ठा इन तीनों अँगुलियों के अग्रभागों को मिलाने पर जो हस्त-मुद्रा बनती है उसे प्राण-मुद्रा कहते हैं। इस अभ्यास में शेष अँगुलियाँ सीधे रहे।

लाभ – इस मुद्रा के अभ्यास से शरीर में प्राण तत्त्व की कमी को दूर किया जा सकता है और शरीर की शक्तिहीनता को दूर करके नई शक्ति का संचार किया जा सकता है।

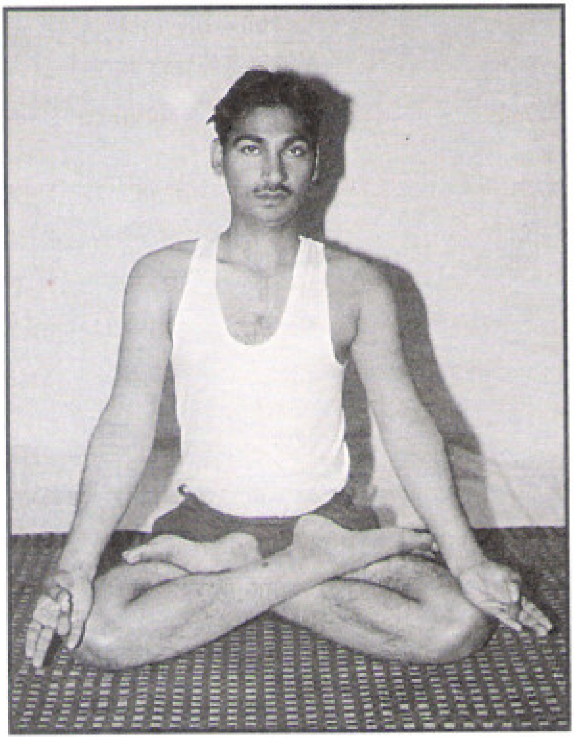

पृथ्वीमुद्रा

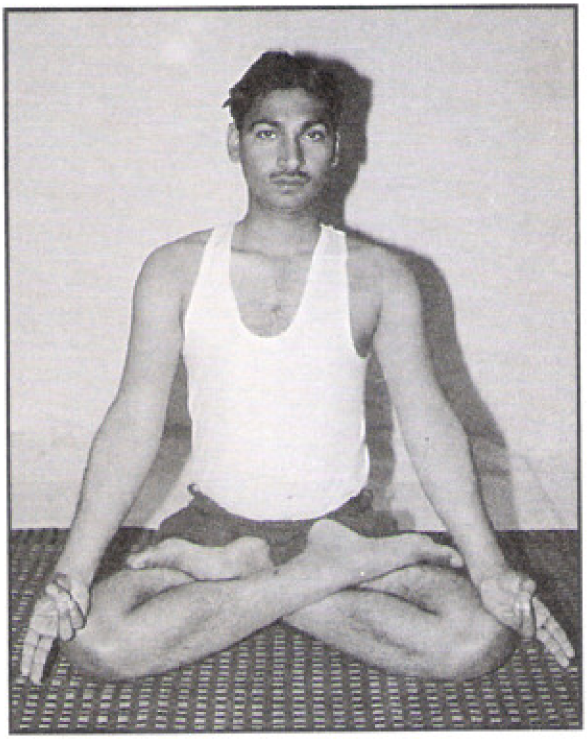

प्राणमुद्रा

7. **अपान-मुद्रा** – अंगुष्ठ के साथ मध्यमा और अनामिका के अग्रभाग को मिलाने पर तथा शेष दोनों अंगुलियों को सीधा रखने पर जो मुद्रा बनती है उसे अपान-मुद्रा कहते हैं।

लाभ – इस मुद्रा के नियमित अभ्यास से शरीर के विजातीय द्रव्य बाहर निकलते हैं और शरीर मल रहित बनता है।

8. **अपानवायु-मुद्रा** – वायु-मुद्रा तथा अपान-मुद्रा के संयुक्त होने से यह मुद्रा बनती है। तर्जनी को अंगुष्ठ की जड़ में लगाकर हल्का दबाव डालें तथा मध्यमा और अनामिका के अग्रभाग को अंगुष्ठ के अग्रभाग से मिलावें। यही अपान-वायु मुद्रा है।

लाभ – दो मुद्राओं के मेल से बनी यह मुद्रा शरीर में स्थित विभिन्न ग्रन्थियों को जाग्रत करती है। इस मुद्रा का नियमित अभ्यास हृदय रोग से बचाव कर सकता है।

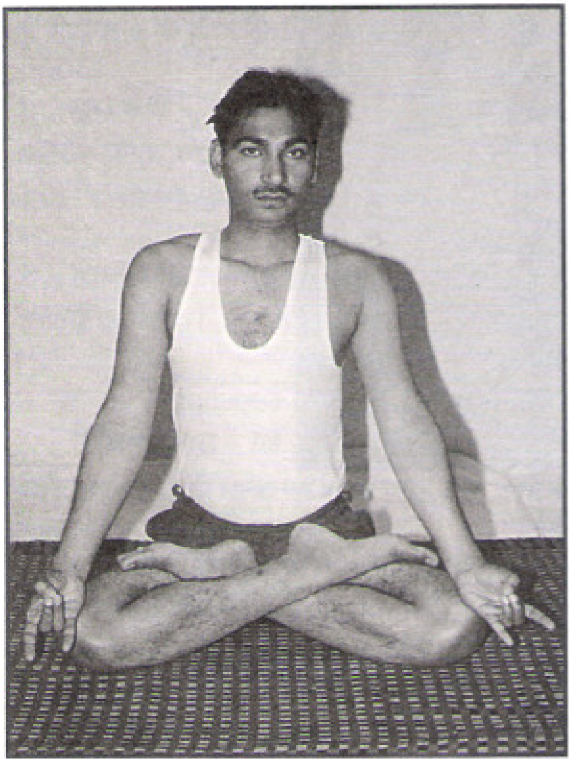

अपानमुद्रा

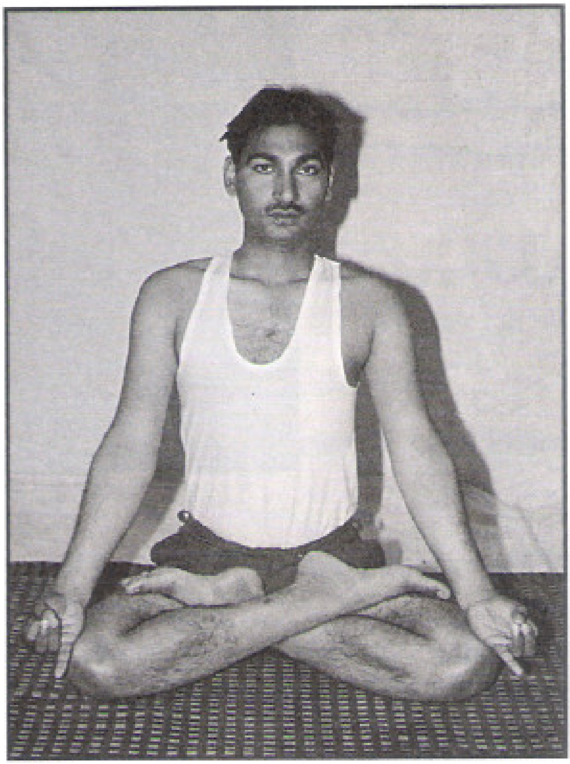

अपानवायु-मुद्रा

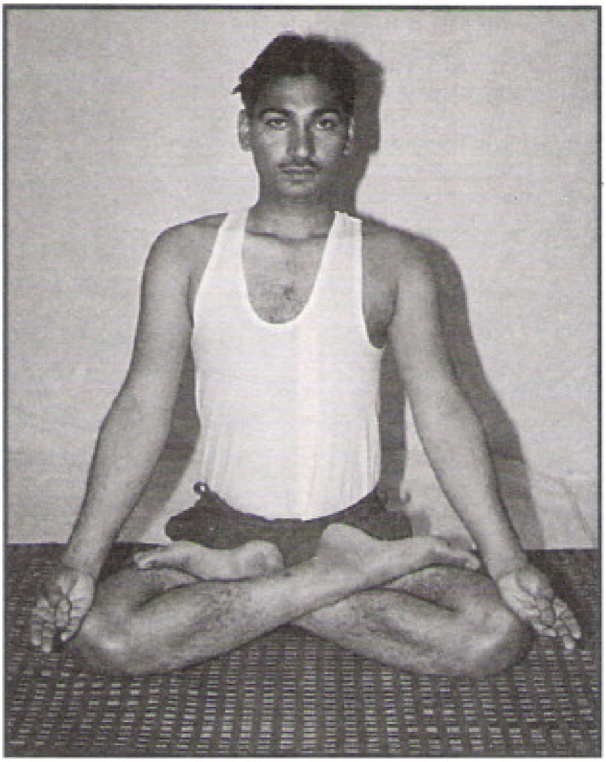

सूर्यमुद्रा

9. **सूर्यमुद्रा** - अनामिका अँगुली को मोड़कर उसके बीच के जोड़ों के ऊपर वाले भाग को अँगूठे से दबायें। अन्य अँगुलियाँ सीधी रहनी चाहिये। यही सूर्यमुद्रा है।

लाभ -
1. यह मन को स्थिर रखने में सहायक है।
2. यह शरीर की स्थूलता को कम करने में सहायक है।

प्रत्याहार

हठयोग-साधना में योग-सिद्धि के सप्त-साधनो में प्रत्याहार का चौथा स्थान है। मन की बहिर्मुखी वृत्ति को अन्तर्मुखी करने के साधन को प्रत्याहार कहते हैं। मनुष्य के बन्धन और मोक्ष का कारण मन ही है (मन एव मुनष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो:) मन (चित्त) की स्थिति हमेशा एक जैसी नहीं रहती वरन् देश, काल और परिस्थिति तथा व्यक्ति की प्रकृति का प्रभाव भी मन की स्थिति पर पड़ता है। योग-साधना द्वारा नियमित अभ्यास से मन: स्थिति को साधना में उच्चतम स्थिति में ले जाया जा सकता है। मन की पाँच विभिन्न अवस्थायें इस प्रकार हैं-

1. **मूढ़ावस्था –** यह मन की वह स्थिति है जब शरीर में तमोगुण प्रधान होता है जिससे मनोकायिक रूप से व्यक्ति आलस्य, प्रमाद, निद्रा आदि के प्रभाव में रहता है जिसका प्रभाव मन की क्रियाशीलता पर पड़ता है। इस अवस्था में व्यक्ति की सोचने-समझने एवं निर्णय लेने की शक्ति नहीं के बराबर होती है।

2. **क्षिप्तावस्था –** यह मन की वह स्थिति है जब शरीर में रजो गुण प्रधान होता है जिसमें मनोकायिक रूप से व्यक्ति अशान्त एवं अस्थिर रहता है। मन के अशान्त एवं अस्थिर रहने से काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विकार प्रबल हो जाते हैं।

3. **विक्षिप्तावस्था –** यह मन की वह स्थिति है जो तमोगुण, रजोगुण एवं सत्त्वगुण के मध्य रहती है। इस स्थिति में व्यक्ति का मन कभी शान्त एवं स्थिर रहता है तो कभी अशान्त एवं अस्थिर हो जाता है।

4. **एकाग्रता –** यह मन की वह स्थिति है जो सत्वगुण प्रधान होती है। इस स्थिति में मन एकाग्र एवं शान्त रहता है। व्यक्ति प्रबल धार्मिक बनता है और मानसिक चेतना सक्रिय होकर अन्तर्मुखी होती है।

5. **निरुद्धता –** यह मन की वह स्थिति है जिसमें मन की वृत्तियों का निरोध हो जाता है। मन एवं प्राण शान्त एवं सौम्य हो जाते हैं। योग-साधना की उच्चतम स्थिति ही निरुद्धता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद एवं मत्सर ये छ: विकार ही मन की चंचलता के प्रमुख कारण हैं। यदि मन को इनकी ओर से निरुद्ध कर दिया जाय तो फिर ऐसा कारण नहीं जो मन की निश्चलता में बाधा उत्पन्न कर सके। शास्त्र में कहा भी गया है-

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो: ।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ।।

अर्थात् मन ही मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण है। जो मन विषयों में आसक्त हो वह बन्धन का और जो विषयों से पराड.मुख हो वह मोक्ष का कारण होता है। प्रत्याहार के सम्बन्ध में महर्षि पतंजलि कहते हैं-

''स्वविषयासम्प्रयोगेचित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहार:''

अर्थात् अपने विषयों से सम्बन्ध न रहने पर इन्द्रियों का चित्त के स्वरूप में तदाकार हो जाना प्रत्याहार हैं। इन्द्रियाँ सदैव अपने-अपने विषयों में लीन होने के लिये तत्पर रहती हैं। जिस इन्द्रिय का जो विषय है उसका उस विषय में तदाकार हो जाना स्वाभाविक है। परन्तु उस इन्द्रिय के स्वभाव को नियंत्रित करके उसे उसके विषय में लीन न होने देना और ध्येय के आकार में उसे विलीन कर देना ही प्रत्याहार का स्वरूप है। योगवाशिष्ठ जो योग-शास्त्र का अनुपम ग्रंथ है में चित्त की चंचल वृत्ति के निरोध के दो उपाय बताये गये हैं-

''द्वौ क्रमौ चित्त-नाशस्य योगो ज्ञानं च राघव''

अर्थात् चित्त की चंचल वृत्ति के निरोध के दो उपाय हैं- 1. योग, 2. ज्ञान

इन्द्रियों का अपने विषयों से रहित हो जाना ही इन्द्रियों को जीतना है। यह तभी सम्भव है जब चित्त एकाग्र हो जाता है और चित्त के निरोध होने पर इन्द्रियों का भी निरोध हो जाता है। यही इन्द्रियों का निग्रह योग की परम आवश्यकता है। प्रत्याहार की स्थिति में साधक का अपनी इन्द्रियों पर पूर्ण नियंत्रण रहता है तथा मन पवित्र होता है।

प्रत्याहार एक मानसिक क्रिया है तथा ध्यान की प्रारम्भिक अवस्था है। मन की उपर्युक्त पांच अवस्थायें योग साधना में सफलता के क्रमिक विकास की अवस्थायें अथवा मानसिक विकास की अवस्थायें हैं। प्रत्याहार की स्थिति विक्षिप्तावस्था से एकाग्रता की ओर की अवस्था है। यह वह अवस्था है जो साधक के चित्त की चंचल वृत्तियों को जो बहिर्मुखी थीं अर्न्तमुखी करने की ओर प्रेरित करती है।

हठयोग की साधना में षट्कर्म, आसन, मुद्रा से शरीर को मल रहित, व्याधि रहित करके शक्ति सम्पन्न किया जाता है। इस प्रकार शरीर को व्यवस्थित करके प्रत्याहार द्वारा इन्द्रियों और मन को संयमित किया जाता है जिससे ध्यान और समाधि का सफलतापूर्वक साधन किया जा सके।

योग-निद्रा

योग-साधना में उच्चतर सोपान की क्रियाओं प्रत्याहार, धारणा, ध्यान आदि के लिये भूमिका तैयार करने में योग-निद्रा एक महत्वपूर्ण क्रिया है। चूंकि ''योग-निद्रा'' में साधक की चित्त की वृत्तियाँ कुछ क्षण के लिये अन्तर्मुखी होती है इसलिये इसे प्रत्याहार की ही एक महत्त्वपूर्ण क्रिया कह सकते हैं।

योग-निद्रा एक प्रकार से आध्यात्मिक निद्रा है जो शरीर को न केवल बाह्य रूप से अपितु आन्तरिक रूप से भी, आराम पहुँचाती है इस से शरीर प्रसन्न एवं प्रफुल्लित बनी रहती है। योग-निद्रा की स्थिति में साधक न पूर्ण जाग्रत स्थिति में रहता है और न ही पूर्ण सुषुप्ति की अवस्था में। इसके अभ्यास में बाह्य जगत् से सम्बन्ध विच्छेद होकर आन्तरिक अनुभूति होकर अन्त: जगत् से अवचेतन तथा अचेतन सम्बन्ध जोड़ने लगता है जो शरीर एवं मन को तनाव रहित बनाता है। यह क्रिया शारीरिक तनाव को तो दूर करती ही है साथ की मानसिक, प्राणिक, भावनात्मक तनावों को भी दूर करने में सहयोगी है। थकावट, निष्क्रियता आदि में इस क्रिया का अभ्यास शरीर में नई स्फूर्ति एवं ताजगी का संचार करता है। नींद ठीक से आयेगी। शरीर में अनावश्यक भारीपन एवं क्लान्तता नहीं रहेगी। यह शरीर की पाचन क्रिया को तो सामान्य बनाने में तो सहायक है ही प्राण एवं रक्त-संचार को भी व्यवस्थित, सहज एवं समरूपता प्रदान कर हृदय रोग, रक्तचाप आदि में लाभ पहुँचाती है। सामान्य रूप से योगनिद्रा का अभ्यास निम्न लिखित विधि से किया जा सकता है।

विधि – सर्वप्रथम शवासन की स्थिति में लेटकर दोनों पैरों के बीच लगभग एक फिट की दूरी रखकर दोनों हाथों को कमर के बगल में रखकर हथेलियों को ऊपर की ओर खुला रखें। आँखें बन्द करके श्वास सहज एवं सामान्य रखें। श्वास सहज एवं सामान्य होने पर मन स्वत: सहज एवं सामान्य स्थिति में हो जायेगा। अब मन से शरीर के विभिन्न अंगों की क्रमिक रूप से स्पष्ट एवं जीवन्त कल्पना करें। शरीर के प्रत्येक अंग को, रंग, रूप, बनावट आदि को पूरी सजगता, स्पष्टता और जीवन्तता के साथ सतत रूप से, साक्षी भाव से देखें परन्तु यह प्रयास करें कि मन सुषुप्ति की स्थिति में न जाय। योग-निद्रा का इसी प्रकार अभ्यास किसी प्रिय वस्तु, देव-प्रतिमा अथवा किसी प्राकृतिक दृश्य आदि पर भी किया जा सकता है। शरीर पर योग-निद्रा का अभ्यास करने के लिये शरीर के प्रत्येक अंग के रूप, रंग, बनावट पर क्रमश: अन्तश्चक्षु से कल्पना करते हुए इसे देखें। सर्वप्रथम दायें पैर को लें, पूरे पैर की मन से कल्पना करते हुये उसकी बनावट आदि की कल्पना करें। अब पैर के एक-एक भाग की कल्पना करें। दायें पैर का अँगूठा, अँगूठे के बगल की अंगुली, दूसरी अंगुली, तीसरी अंगुली चौथी अंगुली, पंजा, टखना, घुटना, जाँघ, दाँयां पैर, पूरा दाँयां पैर जमीन से स्पर्श कर रहा है इसी प्रकार बायें पैर का अंगूठा, अंगूठे के बगल की अंगुली, दूसरी अंगुली, तीसरी अंगुली, चौथी अंगुली, बाँयें पैर का पंजा, टखना, घुटना, जाँघ, दायें पैर का टखना आदि बाँयां पैर जमीन से स्पर्श कर रहा है बाँयां पैर की जमीन से स्पर्श रेखा, कमर, पेट, छाती, पीठ, गर्दन, दाँयां कान, बाँयां कान, दायीं आँख की ऊपरी पलक, निचली पलक दोनों पलकों की स्पर्श रेखा बाँयी आँख की ऊपरी पलक, निचली पलक दोनों पलकों की स्पर्श-रेखा, दायी

नाक, बाँयी नाक, दाँयां बाँयां गला, बाँया गाल, दाँयां गाल, ऊपर का ओष्ठ, नीचे का ओष्ठ दोनों ओष्ठों की स्पर्श-रेखा, ठुड्डी, अपना पूरा चेहरा, दाँया हाथ, दाँयें हाथ का अँगूठा, तर्जनी अँगूली, मध्यमा, अनामिका, कनिष्ठा हथेली, कोहनी, कंधा, दायां हाथ जमीन से स्पर्श कर रहा है दायां हाथ तथा जमीन की स्पर्श रेखा। दांया हाथ, बांया हाथ का अँगूठा, तर्जनी, मध्यमा, बनामिका, कनिष्ठा, हथेली, कलाई, कोहनी, कंधा, पूरा बाँया हाथ तथा जमीन की स्पर्श रेखा पूरा शरीर जो शव के समान पड़ा है उस की सतत कल्पना, श्वास-प्रश्वास की स्वाभाविक सहज स्थिति का मनन।

पूरी क्रिया समाप्त होने पर आँखे धीरे-धीरे से खोलें। पूरी क्रिया में जो आन्तरिक शान्ति और आनन्द की प्राप्ति हुई उसकी अनुभूति करें। इस का अभ्यास समयानुसार किया जा सकता है।

इस प्रकार योग-निद्रा का अभ्यास शवासन में लेटकर किसी देव-प्रतिमा अथवा प्राकृतिक दृश्य पर भी किया जा सकता है।

प्राणायाम

श्वास-प्रश्वास की स्वाभाविक गति को अवरूद्ध कर शास्त्रीय विधि से श्वसन की क्रिया प्राणायाम कहलाती है। "प्राणायाम" शब्द से ही स्पष्ट है प्राण+आयाम अर्थात् प्राण का आयाम अथवा विस्तार। प्राणायाम वह क्रिया है जिसमें प्राणिक ऊर्जा का शरीर में अधिक से अधिक विस्तार हो सके। "प्राण" वायु का सूक्ष्म रूप है। जो सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है। प्राण ही मन और आत्मा के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है। "मन" स्थूल शरीर का अंग है तो "आत्मा" सूक्ष्म शरीर का। जब प्राण शरीर से अलग हो जाता है तब सूक्ष्म शरीर (आत्मा) भी शरीर से अलग हो जाती है और जीव की मृत्यु हो जाती है।

प्राण ही शरीर की सभी प्रकार की क्रियाओं का संचालन करता है। शरीर के अन्दर अलग-अलग स्थान एवं कार्य की दृष्टि से यही विभिन्न नामों से जाना जाता है जिन्हें पंच प्राण कहते हैं। ये पंच प्राण इस प्रकार हैं-

1. प्राण, 2. अपान, 3. उदान, 4. समान, 5. व्यान

1. **प्राण** – श्वसन की क्रिया में श्वास के साथ जोवायु अन्दर जाती है वह "प्राण" कहलाती है। यह शरीर की मांस पेशियों की कार्यशीलता व शक्ति को बढ़ाती है। शरीर में इसका स्थान हृदय में है।

2. **अपान** – श्वसन की क्रिया में जोवायु नाक, मुंह अथवा गुदा द्वार से बाहर निकलती है उसे "अपान" कहते हैं। इसके द्वारा आंतो को बल मिलता है। यह उपस्थ एवं मूत्रेन्द्रिय की क्रियाओं को संचालित करती है इसका स्थान नाभि प्रदेश के नीचे स्थित है।

3. **उदान** – वह वायु जो कंठ के ऊपर के अंगों पर नियंत्रण रखती है उदान वायु कहलाती है। यह नेत्र, नासिका, कान, मस्तिष्क आदि की कार्यशीलता व शक्ति को बढ़ाती है।

4. **समान** – वह वायु जिसके माध्यम से सभी प्रकार की प्राण शक्तियों का संचालन एवं नियोजन होता है वह समान वायु कहलाती है। यह वायु यकृत, आंत, क्लोम, जठराग्नि व पेट में रसस्राव को प्रेरित एवं नियंत्रित करता है यह हृदय तथा परिभ्रमण संस्थान को भी क्रियाशील रखता है और इसका स्थान शरीर में छाती व नाभि का मध्यवर्ती प्रदेश है।

5. **व्यान** – यह वायु सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। इसका मुख्य कार्य जठराग्नि एवं चयापचय क्रिया का संचालन है।

उपरोक्त पंच प्राणों के अतिरिक्त पांच उपप्राण भी हैं जो शरीर की छोटी-छोटी क्रियाओं को सम्पादित करते हैं-ये हैं-

1. देवदत्त-छींकना, 2. नाग-पलक झपकाना, 3. कृकल-जँभाई लेना, 4. कूर्म-खुजलाना, 5. धनंजय-हिचकी लेना आदि।

प्राण का सम्बन्ध सूक्ष्म एवं स्थूल शरीर से होने के कारण सभी इन्द्रियों तथा मन का संचालन भी ''प्राण'' की क्रिया पर निर्भर करता है। अर्थात् अगर प्राण पर नियंत्रण हो जाय तो स्वत: ही मन तथा अन्य इन्द्रियों पर नियंत्रण हो जायेगा। प्राणायाम के द्वारा ''प्राण'' पर नियंत्रण स्थापित कर ''मन'' की सूक्ष्म तथा चंचल वृत्तियों को नियंत्रित किया जा सकता है। महर्षि पतंजलि प्राणायाम के सम्बन्ध में कहते हैं-

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेद: प्राणायाम:।

अर्थात् आसन के स्थिर होने पर श्वास-प्रश्वास की गति को रोकना प्राणायाम है। नासिका से वायु अन्दर खींचना श्वास कहलाती है तथा नासिका से वायु बाहर छोड़ना प्रश्वास कहलाती है। प्राणायाम में श्वास अन्दर लेना, श्वास को अन्दर अथवा बाहर रोककर रखना तथा श्वास को बाहर छोड़ना तीन क्रियायें होती है। श्वास को अन्दर लेने की क्रिया पूरक, श्वास रोकने की क्रिया कुम्भक तथा श्वास बाहर छोड़ने की क्रिया रेचक कहलाती है। महर्षि पतंजलि ने भी प्राणायाम के भेद के सम्बन्ध में स्पष्ट किया है-

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभि: परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्म:।

अर्थात् प्राणायाम बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृत्ति और स्तम्भवृत्ति भेद से तीन प्रकार का होता है। देश, काल और संख्या से देखा हुआ (नापा), लम्बा और हल्का (दीर्घ सूक्ष्म) होता है।

बाह्यवृत्ति-प्राणायाम- श्वास को बाहर निकालना, इसे 'रेचक'' कहते हैं।
आभ्यन्तरवृत्ति-प्राणायाम- श्वास को अन्दर लेना, इसे ''पूरक'' कहते हैं।
स्तम्भवृत्ति-प्राणायाम- श्वास-प्रश्वास दोनों की गति को रोक देना, इसे कुम्भक कहते हैं।

''पूरक'' में एक मात्रा श्वास लेकर मूलाधार तक श्वास को ले जाना, ''कुम्भक'' में चार मात्रा श्वास को नाभि स्थल में रोकना तथा 'रेचक'' में दो मात्रा में नासिका तक श्वास को छोड़ना विहित हैं। प्राणायाम की इस क्रिया को एक निश्चित संख्या में करना ही देशकाल संख्या परिदृष्ट कहलाता है। देशकाल संख्या की दीर्घसूक्ष्म जानकारी के लिये जब ''रेचक'' की क्रिया में नासिका के सामने लगभग 12 अंगुल की दूरी पर पतली रूई रखने से अगर रूई हिलाने लगे तो रेचक दीर्घसूक्ष्म होता है। पूरक की क्रिया में श्वांस लेने पर शरीर में हल्की सनसनाहट का अनुभव हो तो ''पूरक'' दीर्घसूक्ष्म होता है। कुम्भक की क्रिया में स्थिरता बनी रहती है। श्वास-प्रश्वास की गति को 36 मात्रा तक (1 मात्रा हाथ को घुटने से चारों ओर घुमाकर एक चुटकी बजा देने में जितना समय लगे उसे कहते हैं) तथा 36 संख्या तक ले जाने पर ही दीर्घसूक्ष्म होता है।

सामान्य स्थिति में मनुष्य जो श्वास छोड़ता है उसकी लम्बाई 6 अंगुल होती - विभिन्न क्रियाओं के समय श्वास छोड़ने की लम्बाई इस प्रकार होती है-

सामान्य अवस्था - 6 अंगुल
गायन काल - 16 अंगुल
घूमते समय - 24 अंगुल
व्यायाम के समय - 36 अंगुल
भावनात्मक तनाव की अवस्था - 12 अंगुल
भोजन करते समय - 20 अंगुल
सोते समय - 30 अंगुल
काम क्रिया के समय - 36 अंगुल

किसी भी जीव की आयु उसके श्वास की क्रिया पर निर्भर करती है। यदि जीव के श्वास की लम्बाई व गति कम है तो वह दीर्घायु होता है और यदि जीव के श्वास की लम्बाई व गति तेज हो तो वह अल्पायु होता है। प्राणायाम का नियमित अभ्यास श्वास की लम्बाई व गति को कम करने में सहायक है जो शरीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य के साथ दीर्घायुष्य में भी सहायक है। प्राणायाम के अभ्यास से श्वास-प्रश्वास की लम्बाई व गति को नियंत्रित काना चाहिये। प्राणायाम का अभ्यास करने से पूर्व निम्न लिखित बातों का ध्यान रखना आवश्यक है। घेरण्ड संहिता में इस सम्बन्ध में लिखा है-

आदौ स्थानं तथा कालं मिताहारं तथा परम्।
नाड़ी शुद्धिश्च तत् पश्चात् प्राणायामं च साधयेत्।।

अर्थात प्रथमतः स्थान, काल, मिताहार और नाड़ी की शुद्धि करें। इसके पश्चात् प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए।

प्राणायाम का स्थान – प्राणायाम का अभ्यास एकान्त, शुद्ध वातावरण तथा सुरक्षित स्थान पर करना चाहिये। दूर देश, अरण्य, कोलाहल की जगह तथा गन्दगी की जगह, धूल-धुएं वाली जगह पर प्राणायाम का अभ्यास नहीं करना चाहिए।

काल – नये साधक के लिये बसन्त और शरद ॠतु उपयोगी है। अनुभवी साधक के लिये कोई बन्धन नहीं। प्राणायाम का अभ्यास सूर्योदय से पूर्व है। नित्य-क्रिया से निवृत्त होने के बाद सबसे पहले आसन करें तत्पश्चात् प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए।

आहार – साधक का आहार शुद्ध एवं सात्विक होना चाहिये। मद्य, मांस, चटपटा, गरिष्ठ, बासी, उत्तेजक, कटु, और खट्टे पदार्थों का आहार त्याग करें।

नाड़ीशुद्धि – कुश का आसन, मृगछाला अथवा कम्बल में से किसी आसन पर पूर्व या उत्तर की ओर मुख करके नाड़ी शुद्धि होने पर प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये। नाड़ीशुद्धि के दो साधन हैं-

1. षट्कर्म द्वारा
2. बीजमंत्र द्वारा

आसन – प्राणायाम का अभ्यास करने के लिये पद्मासन, सिद्धासन, स्वास्तिकासन अथवा सुखासन से चार मुख्य आसन हैं। उक्त चार आसनों में से किसी में बैठकर रीढ़ की हड्डी सीधी रखें आसन दृढ़ एवं स्थिर रहना चाहिये।

प्राणायाम की मुद्रा – प्राणायाम के किसी भी आसन में बैठकर बायें हाथ को बायें पैर के घुटने पर रखें। दायें हाथ की मध्यमा और तर्जनी अंगुली को मोड़कर अंगुष्ठ, अनामिका और कनिष्ठा को खुली रखें। जब नासिका के दायें छिद्र को बंद करना हो तो अंगुष्ठ से और बायें छिद्र को अनामिका अँगूली से बंद करें। यदि दोनों नासिका छिद्र बन्द करने हों तो अंगुष्ठ और अनामिका से बन्द करें।

प्राणायाम से लाभ –

1. प्राणायाम के अभ्यास से शरीर की आक्सीजन लेने की क्षमता बढ़ती है जिससे शरीर के सभी अवयव एवं रक्त संचार आदि के संस्थान सक्रिय व तेज होते हैं तथा शरीर पुष्ट, स्वस्थ एवं क्रियाशील बनता है।
2. प्राणायाम के अभ्यास से नाड़ी शुद्धि होती है। आक्सीजन पर्याप्त मात्रा में मिलने पर रक्त शुद्ध होता है। रक्त शुद्धि से शरीर शोधन स्वत: हो जाता है।
3. प्राणायाम के अभ्यास से श्वास-प्रश्वास की स्वाभाविक गति को अवरूद्ध कर प्राण पर नियंत्रण किया जा सकता है। प्राण पर नियंत्रण होने से मन पर स्वत: नियंत्रण हो जाता है।
4. प्राणायाम के अभ्यास से मन की चंचलता पर नियंत्रण स्थापित करके मस्तिष्क की कार्यक्षमता को बढ़ाया जा सकता है।
5. प्राणायाम के अभ्यास से शरीर में स्थित अन्त:स्रावी ग्रन्थियों के साथ-साथ विभिन्न शक्ति केन्द्रों को जागृत कर साधक अपनी आन्तरिक प्रतिभा का जागरण कर सकता है।

प्राणायाम के लिये आवश्यक सावधानी –

प्राणायाम का अभ्यास करने से पूर्व कुछ आवश्यक सावधानी आवश्यक है।

1. प्राणायाम का अभ्यास सुरक्षित, एकान्त तथा स्वच्छ जगह पर ही करना चाहिये।
2. प्राणायाम का अभ्यास समतल जमीन अथवा चौकी पर कम्बल बिछाकर करें।
3. प्राणायाम का अभ्यास एक निश्चित आसन में शान्त मन से करना चाहिये।
4. रोग की अवस्था में तथा गर्भवती महिलाओं को प्राणायाम का अभ्यास नहीं करना चाहिये।

मुद्रा एवं प्रभाव की दृष्टि से प्राणायामों को तीन वर्गों में बांटा जा सकता है-

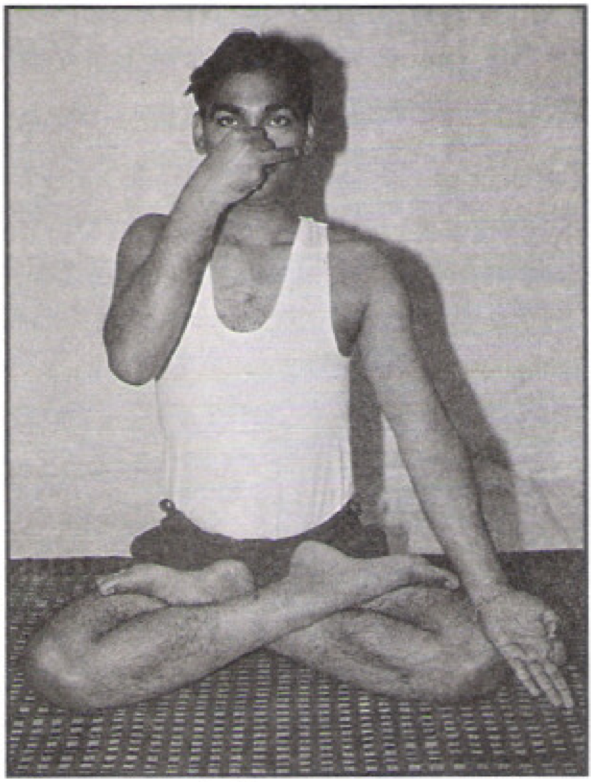

नाडीशोधनप्राणायाम

1. **सामान्य प्राणायाम** – नाड़ी शोधन, उज्जायी तथा भ्रामरी आदि सामान्य प्राणायाम हैं। इन का अभ्यास हर मौसम में किया जा सकता है।
2. **शीतलता प्रदान करने वाला प्राणायाम** – शीतली, सीत्कारी एवं चन्द्रभेदी आदि प्राणायाम इस वर्ग में आते हैं। इन का अभ्यास ग्रीष्म ॠतु में ही करना चाहिए।
3. **उष्णता प्रदान करने वाले प्राणायाम** – सूर्यभेदी, भस्त्रिका तथा कपालभाति आदि प्राणायाम उष्णताप्रदायी हैं इसलिए इन्हें शीत ॠतु में ही करने चाहिए । विभिन्न प्रकार के प्राणायामों की विधि तथा उन के लाभ इस प्रकार हैं-

1. **नाडीशोधनप्राणायाम** – हमारे सम्पूर्ण शरीर में तमाम सूक्ष्म नस-नाड़ियों का जाल बिछा है जो शरीर एवं मस्तिष्क में रक्त, आक्सीजन आदि लाने तथा अशुद्ध रक्त विषाक्त तत्वों को वापस ले जाने का कार्य करती है। सम्पूर्ण शरीर में पैरों से मस्तिष्क तक फैली इन सूक्ष्म नस-नाड़ियों का शोधन जिस प्राणायाम के द्वारा होता है उसे नाड़ी शोधन प्राणायाम कहते हैं।

प्रथम स्थिति – इस प्राणायाम के लिये निर्धारित किसी भी आसन में बैठकर बायें हाथ की हथेली बायें पैर के घुटने पर

रखें तथा दायें हाथ से प्राणायाम की मुद्रा बनाते हुये दाहिनी नासिका को बन्द करें तथा बायीं नासिका को बन्द करके दायीं नासिका से भी 10 आवृत्ति पूरक-रेचक की करें। पूरक-रेचक की क्रिया में श्वास गहरी एवं लम्बी करने का अभ्यास करें। अभ्यास के अनुसार 15-20 दिन तक बराबर करें।

द्वितीय स्थिति – नाडी शोधन-प्राणायाम की प्रथम स्थिति का सफलतापूर्वक अभ्यास होने पर द्वितीय चरण में आवें। प्राणायाम के लिये निर्धारित आसन में प्राणायाम की मुद्रा के साथ बैठ जाय। प्रथम स्थिति का अभ्यास करके द्वितीय स्थिति के लिये अपने आप को तैयार करें। द्वितीय स्थिति में दायी नासिका को बन्द करके बायीं नासिका से पूरक करें फिर बायीं नासिका बन्द रखते हुये दायी नासिका से धीरे-धीरे रेचक करें। बायीं नासिका बन्द रखते हुये दायीं नासिका से पूरक करें। पुन: दायीं नासिका को बन्द करके बायीं नासिका से रेचक करें। इस प्रकार बायीं नासिका से पूरक, दायी से रेचक दायीं से पूरक बायीं से रेचक की क्रिया को एक आवृत्ति कहते हैं। प्रतिदिन 10 आवृत्ति का अभ्यास करें। इस बात का ध्यान अवश्य दें कि अभ्यास बढ़ाने के साथ-साथ श्वास गहरी, लम्बी व लययुक्त हो 15-20 दिन तक पूरी तन्मयता के साथ बराबर इसका अभ्यास करें।

तृतीय स्थिति – पूर्व की दो स्थितियों में प्राणायाम की पूरक-रेचक क्रिया के साथ अभ्यास किया गया। तृतीय स्थिति में "कुम्भक" के साथ प्राणायाम होगा। पूर्व की दोनों स्थितियों के समान प्राणायाम के लिये निर्धारित आसन में बैठकर दायीं नासिका को बन्द करके, बायीं नासिका से पूरक करें कुछ समय श्वास अन्दर रोककर, दायीं से रेचक करें। पुन: दायीं से पूरक करके, श्वास अन्दर रोककर बायीं नासिका से रेचक करें। यह एक आवृत्ति हुई। प्रारम्भ में नये अभ्यासी पूरक, कुम्भक तथा रेचक बराबर मात्रा में करें, कुछ दिन कुम्भक का अभ्यास होने पर इस स्थिति को 1:2:2 में करें। धीरे-धीरे अभ्यास के बाद इस अनुपात को 1:4:2 तक ले जायें।

चतुर्थ स्थिति – तृतीय स्थिति में अन्त: कुम्भक का अभ्यास किया जाता है। नाड़ी शोधन की चतुर्थ स्थिति पूरक अन्त: कुम्भक, रेचक के बाद बाह्य कुम्भक के साथ होती है। जब नाड़ी शोधन प्राणायाम की तृतीय स्थिति सध जाय तब उसी मुद्रा में पूरक, अन्त: कुम्भक, रेचक तथा बाह्य कुम्भक का अनुपात 1:4:2:2 में अभ्यास करें जितनी आवृत्ति बढ़ा सकें सहज रूप से बढ़ायें।

लाभ –

1. हमारे शरीर में 72 हजार नाड़ियों का जाल बिछा है। नाड़ी शोधन प्राणायाम से सभी नाड़ियों का शोधन होता है जिससे शुद्ध रक्त के साथ आक्सीजन सम्पूर्ण शरीर के अवयवों तक पहुँचता है जो शरीर एवं मन को स्वस्थ एवं प्रसन्न रखता है।
2. इस प्राणायाम से उन मानसिक शक्तियों का विकास होता है जो मन को शान्त, स्थिर एवं एकाग्र करने में सहायक है।
3. इस प्राणायाम का नियमित अभ्यास हृदयरोग, उच्च रक्तचाप, मानसिक तनाव में लाभ पहुंचाता है।
4. इस प्राणायाम का नियमित अभ्यास इड़ा और पिंगला नाड़ी के असन्तुलन को दूर करके शारीरिक एवं मानसिक

क्रियाओं में संयोजन स्थापित करता है।

2. **उज्जायी-प्राणायाम** – प्राणायाम के लिये निर्धारित किसी आसन में बैठकर खेचरी मुद्रा की स्थिति में ऊपर-नीचे के दातों को सटाकर जिह्वा को पीछे की ओर मोड़कर तालुमूल से लगा लें। ग्रीवा का संकोच करते हुये गले से खर्राटे की आवाज पूरक-रेचक के साथ करें। प्रारम्भ में इस प्राणायाम का अभ्यास 15-20 बार करें। धीरे-धीरे अभ्यास

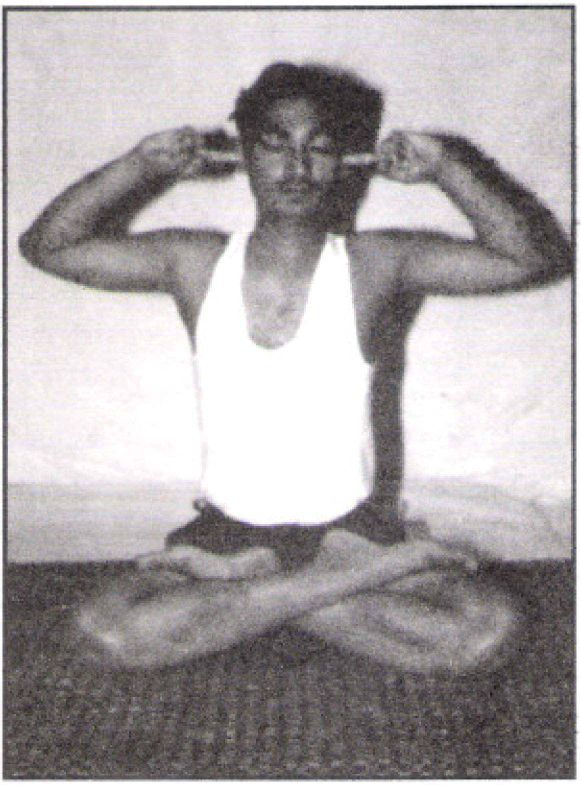

भ्रामरीप्राणायाम

बढ़ायें। यही उज्जायी प्राणायाम है।

लाभ –

1. इस प्राणायाम के अभ्यास से गले से सम्बन्धित समस्त रोगों जैसे टांसलाइटिस आदि में लाभ पहुंचता है।
2. अनिद्रा की स्थिति, मानसिक तनाव की स्थिति में इस प्राणायाम के अभ्यास से लाभ होता है।
3. इस प्राणायाम का नियमित अभ्यास नाड़ी संस्थान की अनावश्यक उत्तेजना व तनाव का दूर करता है।
4. यह विशुद्धि चक्र के जागरण में सहायक है।

3. **भ्रामरीप्राणायाम** – चूंकि इस प्राणायाम में भ्रमर गुंजन जैसी ध्वनि निकलती है इसलिये इसे "**भ्रामरी-प्राणायाम**" कहते हैं। इस प्राणायाम के लिये निर्धारित किसी आसन में बैठकर आंखे बन्द करके दोनों हाथों की तर्जनी

अँगुलियों से दोनों कानों को बन्द कर लें, गहरी श्वास लेते हुये कुछ देर के लिये श्वास अन्दर रोकें फिर गले से भ्रमर की तरह आवाज निकालते हुये धीरे-धीरे रेचक करें। जब तक पूरी श्वास बाहर न निकल जाये तब तक भ्रमर की आवाज करें। मुंह बन्द रखते हुये रेचक नाक से करना चाहिए।

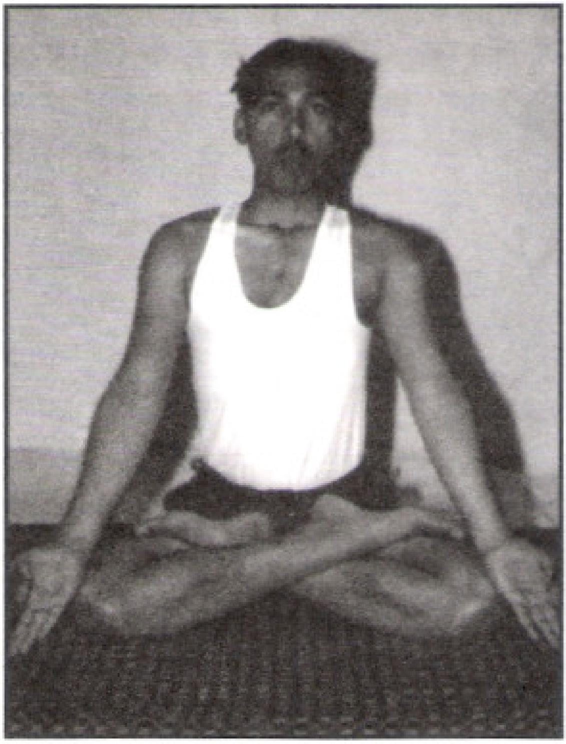

शीतलीप्राणायाम

लाभ -

1. भ्रामरी प्राणायाम का नियमित अभ्यास "नाद योग" की भूमिका तैयार करता है जो मन को स्थिर एवं एकाग्र करने में सहायक है।
2. यह गले के साथ-साथ नाक, कान और आंख के रोगों में भी लाभ पहुँचाता है।
3. उच्च रक्त चाप में लाभ पहुँचाता है, स्वर को मधुर, स्पष्ट और प्रभावशाली बनाता है।

4. **शीतलीप्राणायाम** - प्राणायाम के लिये निर्धारित किसी भी आसन में बैठकर दोनों हाथों की हथेली को दोनों घुटनों पर रखें। जिह्वा को नालीनुमा मोड़कर मुंह खुला रखते हुये जिह्वा की सहायता से मुंह से धीरे-धीरे श्वास को फेफड़ों में भरकर "पूरक" करें। कुछ क्षण कुम्भक की स्थिति में रहकर मुंह बन्द करके नासिका से रेचक करें। इस क्रिया का अभ्यास प्रारम्भ में 8-10 बार करें। धीरे-धीरे आवश्यकतानुसार अभ्यास बढ़ाया जा सकता है।

लाभ: -

1. यह प्राणायाम मुंह व गले के रोगों में लाभ पहुँचाता है।

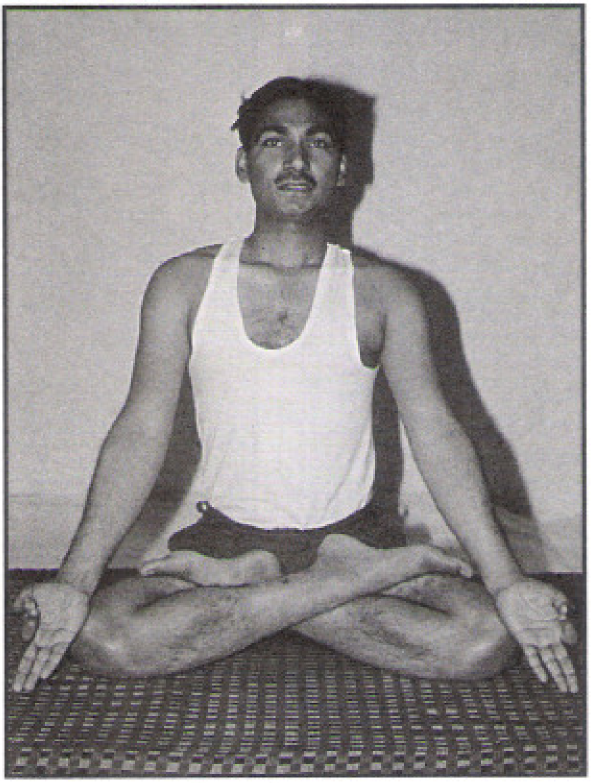

सीत्कारीप्राणायाम

2. उच्च रक्तचाप को नियंत्रित करता है।
3. कफ व पित्त के रोगों को दूर कर रक्त-शोधन करता है।
4. यह प्राणायाम नियमित अभ्यास से मुख-प्यास पर विजय प्राप्त कराता है।

विशेष: - इस प्राणायाम का अभ्यास योगासन तथा अन्य प्राणायामों के अन्त में करना चाहिये जिससे शरीर में उत्पन्न अनावश्यक ताप कम हो सके।

5. **सीत्कारीप्राणायाम** - प्राणायाम के लिये निर्धारित आसन में बैठकर दोनों हाथों को ज्ञानमुद्रा मे दोनों घुटनों पर रखें। अब खेचरी मुद्रा की तरह जिह्वा को तालूमूल में लगाकर ऊपर-नीचे के दन्त पंक्ति को एकदम सटाकर ओठों को खोलकर धीरे-धीरे सी-सी की आवाज करते हुये मुंह से श्वास लेकर फेफड़ों को पूरी तरह भर लें। जालन्धर बन्ध लगाकर जितनी देर आराम से रुक सकें रुकें फिर मुंह बन्द कर नाक से धीरे-धीरे रेचक करें। इस क्रिया को अभ्यास प्रारम्भ में 8-10 बार करें।

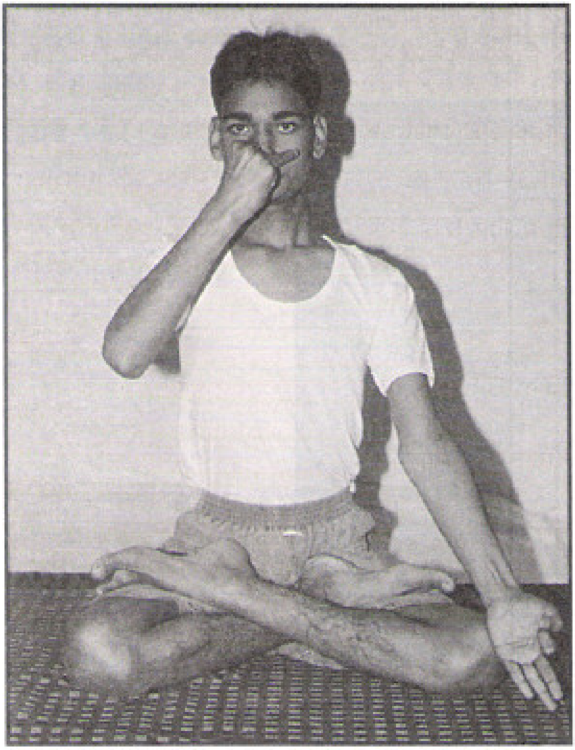

चन्द्रभेदीप्राणायाम

सूर्यभेदीप्राणायाम

लाभ –

1. नाड़ी संस्थान की अनावश्यक उष्णता और उत्तेजना को दूर कर उसे शान्त, सौम्य और शक्तिशाली बनाता है।
2. यह गले, मुंह, नाक, जिह्वा, दन्त आदि रोगों को दूर करने में सहायक है।
3. यह कफ व पित्त के रोगों को दूर कर रक्त शोधन करता है।
4. ग्रीष्म ऋृतु में इस प्राणायाम का अभ्यास अधिक करना चाहिये।

6. **चन्द्रभेदीप्राणायाम** – चन्द्र स्वर से पूरक की क्रिया होने से इसे ''चन्द्रभेदी प्राणायाम'' कहते हैं। प्राणायाम के लिये निर्धारित किसी भी आसन में बैठकर बायें हाथ को बायें घुटने पर रखें। दायें हाथ को प्राणायाम की मुद्रा में ले जाकर बायीं नासिका से पूरक करें फिर अन्त: कुम्भक जितनी देर कर सकें करें तत्पश्चात् दायीं नासिका से रेचक करें। इसका अभ्यास कम से कम 10-15 बार करें।

लाभ –

1. इस प्राणायाम का अभ्यास ग्रीष्म ऋृतु में करना चाहिये।
2. इस प्राणायाम के अभ्यास से शरीर की थकावट व उष्णता दूर होती है।
3. यह प्राणायाम शरीर में शीतलता प्रदान कर मन की अनावश्यक उत्तेजना को शान्त करता है।

7. **सूर्यभेदी प्राणायाम** – इस प्राणायाम में ''सूर्य स्वर'' अथवा पिंगला नाड़ी से पूरक की क्रिया की जाती है इसलिये इसे सूर्यभेदी प्राणायाम कहते हैं। इस प्राणायाम का अभ्यास करने के लिये प्राणायाम के लिये निर्धारित किसी भी आसन में बैठकर दायीं नासिका से पूरक करें फिर अन्त:-कुम्भक करें, जितनी देर कर सकें करें तत्पश्चात् बायीं नासिका से रेचक करें। 5-10 बार इसका अभ्यास करें।

लाभ –

1. इस प्राणायाम के अभ्यास से सूक्ष्म प्राणवाहिनी नाड़ियां मजबूत एवं सक्रिय बनती है।
2. यह प्राणायाम कुष्ठ, सुजाक, कब्ज, अपच आदि में लाभ पहुँचाता है।
3. इस प्राणायाम के अभ्यास से वात, कफ से उत्पन्न होने वाले रोग, रक्त एवं त्वचा-विकार आदि दूर होते हैं।

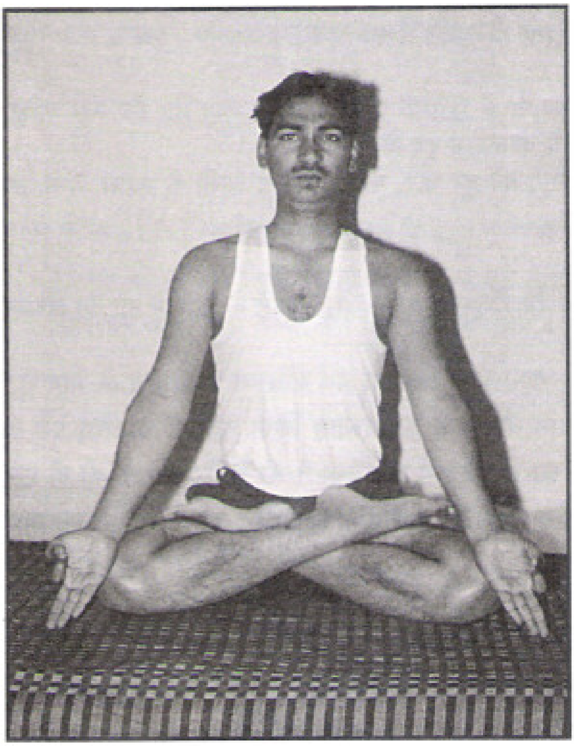

भस्त्रिकाप्राणायाम

4. यह प्राणायाम प्राणिक ऊर्जा को सक्रिय करके शारीरिक स्वास्थ्य को बढ़ाता है जो बुढ़ापा दूर भगाता है।

सावधानी – इस प्राणायाम का अभ्यास गर्मी के दिनों में तथा पित्त-प्रधान-प्रकृति, अल्सर रोगी आदि को नहीं चाहिये।

8. **भस्त्रिकाप्राणायाम:** इस प्राणायाम में श्वास-प्रश्वास की गति लोहार की धौकनी भाथी की तरह तेज होती है इसलिये इसे ''**भस्त्रिका प्राणायाम**'' कहते हैं। प्राण शक्ति की वृद्धि के लिये यह बड़ी सशक्त क्रिया है। इस प्राणायाम का अभ्यास निम्न चरणों के अनुसार सरलता से किया जा सकता है।

प्रथम स्थिति – प्राणायाम के लिये निर्धारित किसी भी आसन में बैठकर बायें हाथ को बायें घुटने के ऊपर रखें। दायें हाथ को प्राणायाम की मुद्रा में लेकर दायीं नासिका को बन्द करके बायीं नासिका से पूरक व रेचक तेज गति से करें 10-15 बार इस पूरक-रेचक की क्रिया को तेजी से करने के बाद दीर्घ लम्बी श्वास लेकर अन्त:कुम्भक की स्थिति में आ जाय। जब तक सम्भव हो अन्त: कुम्भक की स्थिति में रहें तत्पश्चात लम्बी गहरी रेचक क्रिया करें। इसी प्रकार इस क्रिया का अभ्यास बायीं नासिका बन्द करके दायीं नासिका के साथ भी करें।

द्वितीय स्थिति – प्रथम स्थिति का सफलता पूर्वक अभ्यास करने के बाद अब दोनो नासिका छिद्रों से एक साथ रेचक-पूरक का अभ्यास करें तथा दीर्घ श्वास लेकर अन्त: कुम्भक की स्थिति में आ जायँ, जब तक सम्भव हो अन्त: कुम्भक की स्थिति में रहें तत्पश्चात् धीरे-धी 'रेचक'' करें।

लाभ –

1. इस प्राणायाम के अभ्यास से कफ रोग दूर होता है।
2. यह फेफड़ो की विषाक्त वायु को दूर कर, फेफड़े गले व छाती के श्वास, दमा, क्षय, प्लुरिसी आदि रोगों को दूर भगाता है।

सावधानी – हृदय रोगी , उच्च रक्त चाप तथा कमजोर फेफड़े के रोगियों को यह अभ्यास नहीं करना चाहियें।

9. कपालभाति प्राणायाम:- कपाल का सामान्य अर्थ मस्तिष्क के सामने के भाग से है। चूँकि इस क्रिया में मस्तिष्क के सामने वाले भाग से प्राणायाम की क्रिया का अभ्यास किया जाता है इसलिए इसे कपालभाति प्राणायाम कहते है। कपालभाति की क्रिया सामान्य रुप से षट्कर्म की क्रिया है जो शरीर शोधन की ही एक प्रक्रिया है परन्तु प्राणायाम से समानता रखने के कारण इसे कपालभाति प्राणायाम कहते हैं। इस प्राणायाम का अभ्यास निम्न चरणों के अनुसार सरलता से किया जा सकता है।

प्रथम स्थिति– प्राणायाम के लिये निर्धारित किसी भी आसन में बैठकर बायें हाथ को बायें घुटने के ऊपर रखें। दायें हाथ को प्राणायाम की मुद्रा में लेकर दायीं नासिका को बन्द करके बायीं नासिका से जल्दी श्वास बाहर छोड़े (रेचक) रेचक के पूर्व थोड़ा पूरक स्वत: ही होता जायेगा। 20-25 बार रेचक की क्रिया जल्दी-जल्दी करके अन्त में दीर्घ रेचक के साथ बहि:कुम्भक तथा महाबन्ध लगावें। महाबन्ध छोड़ने के बाद बायीं नासिका से पूरक करके दायीं नासिका से रेचक करें।

इसी प्रकार बायीं नासिका को बन्द करके दायीं नासिका से जल्दी-जल्दी रेचक की क्रिया करें, 20-25 बार रेचक क्रिया करने के बाद दीर्घ रेचक के साथ बहि:कुम्भक तथा महाबन्ध लगायें। महाबन्ध छोड़ने के बाद दायी नसाकि से पूरक करे बायी नासिका से रेचक करें।

द्वितीय स्थिति– प्रथम स्थिति में अलग-अलग नासिकाओं से क्रमश: इस क्रिया का अभ्यास करें। द्वितीय स्थिति में दोनो

नासिका से एक साथ 10-15 बार जल्दी-जल्दी रेचक की क्रिया करके अन्त में दीर्घ रेचक करें। तथा बहि:कुम्भक के साथ महाबन्ध लगायें।

लाभ-
1. कपालभाति प्राणायाम से मस्तिष्क के अग्रभाग का शोधन होता है जो मन की चंचलता को दूर करने में सहायक है।
2. कफ के कुपित होने के कारण होने वाली बीमारियों में यह लाभ पहुचाता है।
3. यह फेफड़ों से कफ को दूर करके उन्हें शुद्ध करता है।
4. यह नाक, कान, गले से सम्बन्धित बीमारियों में लाभ पहुंचाता है।
5. यह चेहरे की त्वचा में प्राण के संचार को बढ़ाकर मुहांसे, झाँई और झुर्रियों को दूर करता है।
6. यह मस्तिष्क को सक्रिय एवं स्वस्थ बनाकर मस्तिष्क के रक्त जमने या थक्का बनने की प्रवृत्ति को भी दूर करता है।

सावधानी- उच्चरक्त चाप, हृदय रोग एवं मस्तिष्क जनित गम्भीर बीमारी में कपालभाति प्राणायाम का अभ्यास नहीं करना चाहिये।

10. काकीप्राणायाम- प्राणायाम के लिये निर्धारित किसी भी आसन में बैठकर दोनों हाथों को दोनों घुटनों पर रखें। रीढ़ की हड्डी तथा गर्दन सीधें रहे। मुंह को कौवे की चोंच की तरह बनाकर मुंह से धीरे-धीरे पूरक करके फेफड़ो को पूरा भरें। कुम्भक की स्थिति में जालन्धर बन्ध लगा सकते हैं। कुछ क्षण के बाद दोनों नासिका से रेचक करें। इस क्रिया को 8-10 बार करें।

लाभ-
1. यह मुंह एवं गले के रोगों में लाभ पहुंचाता है।
2. यह उच्च रक्त चाप में लाभदायक है।
3. यह कफ एवं पित्त जनित रोगो को दूर करता है।

11. भुजंगीप्राणायाम- प्राणायाम के लिये निर्धारित आसन में बैठकर साँप की तरह मुँह से पूरक करें। जब श्वास फेंफड़ो मे भर जाये तब मुंह बन्द करके दोनों नासिका से रेचक कर दें। इस क्रिया का अभ्यास 5-6 बार करें।

लाभ-
1. यह मुंह वह गले के रोग में लाभप्रद है।
2. यह उच्च रक्त चाप नियंत्रित करता है।

12. मूर्च्छाप्राणायाम- प्राणायाम के लिए निर्धारित किसी भी आसन में बैठकर दोनो हाथों को दोनों घुटनों पर रखें। सिर को ऊपर उठाते हुये दृष्टि आकाश की ओर करके दोनों नासिका से पूरक करें। अन्त: कुम्भक लगाकर दृष्टि शाम्भवी मुद्रा में करें। जब तक सम्भव हो अन्त: कुम्भक की स्थिति में रहकर पुन: सामान्य स्थिति में आकर धीरे-धीरे रेचक करें। बिना विश्राम लिए इसकी पुनरावृत्ति 5-7 बार करें।

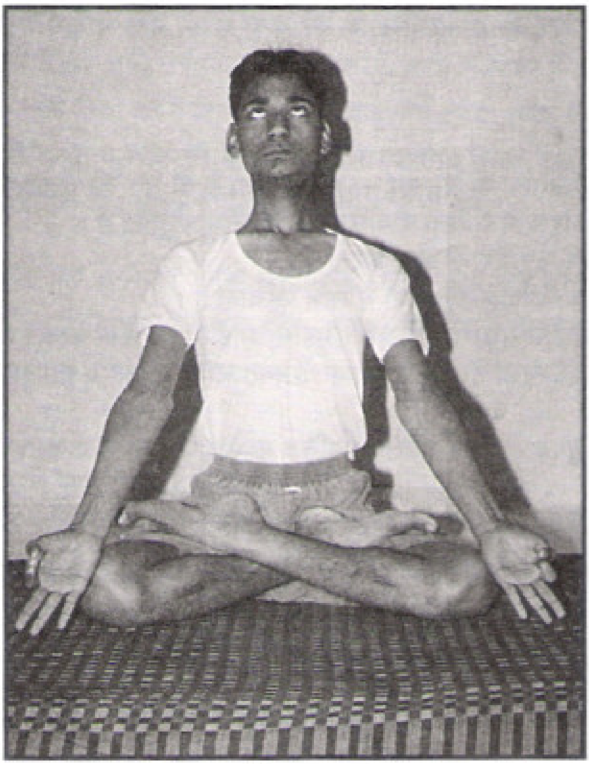

मूर्छाप्राणायाम

लाभ

1. इस प्राणायाम के अभ्यास से मन की वहिर्मुखी वृत्ति को अन्तर्मुखी करने में सहायता मिलती है।
2. यह नेत्र ज्योति बढ़ाने सहायक है।
3. यह स्मरण शक्ति को बढ़ाता है।

13. प्लाविनीप्राणायाम- प्राणायाम के लिये निर्धारित असान में बैठकर दोनो हाथो को दोनों घुटनों पर रखें। अब मुंह से जल पीने की तरह ही वायु को लगातर पीते जायें। इस वायु सेवन की क्रिया को तब तक करें जब तक पेट पूरा वायु से भर न जाय। पुन: पेट की वायु से डकार लेकर बाहर निकालें। यह धौति क्रिया का ही एक रूप है। शंख प्रक्षालन की क्रिया के बाद इसका अभ्यास लाभदायक है।

लाभ -

1. यह पेट के समस्त रोगों में लाभदायक है तथा इस से जठराग्नि प्रदीप्त होती है।
2. यह पेट की कृमि का नाश करके अनावश्यक बदबू को दूर करता है।

14. केवलीप्राणायाम – इस के लिये प्राणायाम के लिये निर्धारित आसन में बैठकर पूरक व रेचक की क्रिया का अभ्यास करतें हैं। पूरक की क्रिया के साथ ''सो'' शब्द का मानसिक जप तथा रेचक के साथ ''हं'' का मानसिक जप करें। जब पूरक-रेचक लाभयुक्त होगा तो **''सोऽहम्''** का मानसिक जप निरन्तर होता है। इसे ही केवलीप्राणायाम कहते हैं। यह महत्त्वपूर्ण प्राणायाम अजपा-जप का ही एक रूप है।

लाभ: –
1. यह मन की चंचलता को दूर कर एकाग्र एवं स्थिर करता है।
2. उच्चरक्तचाप में लाभप्रद है।
3. मानसिक तनाव को दूर करता है।
4. अनिद्रा आदि बीमारियों में लाभ पहुँचाता है।

15. चतुर्थ प्राणायाम – प्राणायाम के लिये निर्धारित किसी भी आसन में बैठकर दोनों हाथों को दोनों घुटने के ऊपर रखें। पूरक व रेचक में गति व समय समान रखें। पूरक व रेचक में गति व समय समान रखने के लिये एक निश्चित संख्या में पूरक तथा उतनी ही संख्या में रेचक करें। जब तक श्वास प्रश्वास लययुक्त न हो, तब तक गिनती से अभ्यास हो। श्वास-प्रश्वास लययुक्त होने पर मंत्र के साथ भी इसका अभ्यास किया जा सकता है। प्रारम्भ में 5 मिनट तक अभ्यास करें फिर धीरे-धीरे आध्यात्मिक लाभ के लिये समय बढ़ायें।

लाभ: –
1. मन की चंचलता को नष्ट करके मन को शान्त एवं स्थिर बनाता है।
2. उच्च रक्तचाप में लाभप्रद है।
3. मानसिक तनाव व अनिद्रा की स्थिति को दूर करता है।

16. केवल-कुम्भक-प्राणायाम – पूरक रेचक की क्रिया को किये बिना प्राणवायु को जहाँ का तहाँ रोकने की क्रिया केवल-कुम्भक प्राणायाम कहलाती है।

विधि – प्राणायाम के लिये निर्धारित आसन में बैठकर दोनों हाथों को दोनों घुटनों पर रखें सामान्य अवस्था में ही श्वास-प्रश्वास की स्वाभाविक स्थिति को रोककर जालन्धर बन्ध लगायें। जालन्धर बन्ध लगाकर प्राणवायु को हृदय से नीचे ले जाकर तथा मूलबन्ध लगाकर अपान वायु को मूलाधार से ऊपर उठाकर नाभि प्रदेश में स्थित समान वायु से मिलायें और उड्डीयान बन्ध लगायें। इसका अभ्यास योग्य गुरू के निर्देशन में ही करें।

लाभ – यह-
1. मन की एकाग्रता में सहायक है।
2. शरीर की अन्त:स्रावी ग्रन्थियों को जाग्रत करता है।
3. कुण्डलिनी-जागरण में भी सहायक है।

''ध्यान''

हठयोग-साधना का छठाँ साधन ध्यान है। ध्येय विषय पर चित्त की वृत्ति को एकाग्र करके, उससे एकतानता स्थापित करके मन का निर्विषय होना **''ध्यान''** है। ध्यान की स्थिति में ध्याता, ध्यान और ध्येय रूपी त्रिकुटी के सिवाय और कुछ नहीं रहता है।

मनुष्य के मन का एक छोटा सा भाग ही सक्रिय है। यदि मानव मन के अधिकतम भाग को सक्रिय और चैतन्य बना दिया जाय तो मानव समाज अपनी सम्यता और संस्कृति के सर्वोच्च शिखर पर प्रतिष्ठित हो सकता है। ध्यान की विभिन्न क्रियायें मानव मन को समग्र रूप से सक्रिय और चैतन्य बनाने में सहायक है। सामान्य रूप से मनुष्य के मन के तीन भाग हैं-

1. चेतन मन
2. अवचेतन मन
3. अचेतन मन

1. चेतनमन- मन का जो भाग चेतन, सजग और सक्रिय प्रतीत होता है उसे ही हम **''चेतन मन''** कहते हैं। चेतन मन सम्पूर्ण मन का एक छोटा सा हिस्सा है जिसकी शक्ति और सीमा शेष हिस्से की तुलना में बहुत ही कम है।

2. अवचेतनमन- मन का वह हिस्सा जो पूरी तरह से चेतन, सजग व सक्रिय तो नहीं रहता परन्तु प्रयास करने पर कुछ-कुछ सजग और सक्रिय हो सकता है अवचेतन कहा जाता है। हमारी स्मृति का सम्बन्ध इस अवचेतन मन से ही है।

3. अचेतन-मन- मन का यह हिस्सा प्रसुप्त और निष्क्रिय सा रहता है। यह मन का सबसे विराट भाग है। प्रयास करने पर भी उसके संचित रहस्य चेतन मन पर नहीं उभरते। चेतन मन और अवचेतन मन के आधार के रूप में यह हिस्सा व्यक्ति के समग्र अस्तित्व के तल में निष्क्रिय सा रहते हुये भी सक्रिय रहता है पर इसकी सक्रियता का कोई आभास तक नहीं मिलता। पूर्व जन्म के संस्कार इसी अचेतन मन से जुड़े रहते हैं जो यदा-कदा अनजाने में परिचालित होते रहते हैं।

योग साधना के द्वारा जब मन का अवचेतन तथा अचेतन भाग विभिन्न यौगिक क्रियाओं के द्वारा सजग, सक्रिय एवं चैतन्य होता है तब वह स्थिति अविचेतन मन कहलाती है और इस स्थिति में साधक के लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं होता है। मन की वह स्थिति निर्विषय होते हुये भी चैतन्य रहती है। सांख्य सूत्र ने भी ध्यान के सम्बन्ध में कहा है-

''ध्यानं निर्विषयं मन:'' अर्थात् चेतना का ध्येय के अतिरिक्त किसी अन्य विषय-वस्तु से रहित होना ही ध्यान है। मन का निर्विचार होना साथ ही चैतन्य रहना ध्यान है।

सामान्य रूप से हमारे मन में अनचाहे विचारों की तरंगे सतत चलती रहती है जिनकी आवृत्ति और वेग बदलते रहने से हमारी मन: स्थिति ही नहीं शरीर की आन्तरिक संरचना में होने वाली प्रक्रियायें भी अव्यवस्थित होती हैं। मन की तरंगो का रूप, रंग, आवृत्ति, वेग और घनत्व प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है जिसके कारण मनुष्य का व्यक्तित्व अव्यस्थित और असंतुलित होता है जिसका प्रभाव मन और शरीर पर विभिन्न रोगों के माध्यम से दिखाई भी पड़ता है। इसलिये शारीरिक स्वास्थ्य के लिये मन का सन्तुलित एवं एकाग्र होना आवश्यक है जो ध्यान से ही सम्भव हैं। हमारी मानसिक चेतना के विविध आयाम हैं। योग-साधना से चेतना को स्वत: नैसर्गिक विकास के क्रम से उच्च स्तर पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है। योग-साधना में चेतना के विविध आयाम इस प्रकार है-

1. **जाग्रतावस्था-** चेतना की यह सामान्य स्थिति है जिसमें हमें जीव एवं जगत् का बोध होता है। इस स्थिति में शारीरिक एवं मानसिक सक्रियता के बावजूद सजगता और चेतनता का स्तर हर व्यक्ति में उसकी प्रकृति के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है।

2. **स्पप्नावस्था-** चेतना की यह स्थिति जिसमें शरीर तो निश्चिेष्ट सा पड़ा रहता है परन्तु शरीर की आन्तरिक सभी क्रियाएँ स्वाभविक पर धीमी गति से चलती रहती हैं। इस स्थिति कें जहां चेतन मन का नियंत्रण समाप्त सा हो जाता है वहीं अवचेतन और अचेतन मन में प्रछन्न रूप से वहीं इच्छायें, आकांक्षायें और वासनायें स्वप्न के रूप में सक्रिय हो जाती हैं।

3. **सुषुप्ति अवस्था-** स्वप्न रहित निद्रा ही सुषुप्ति अवस्था है। इस स्थिति में चेतना का विस्तार अन्य दोनों अवस्थाओं से ज्यादा होता है। सुषुप्ति अवस्था में हमारी चेतना का एक सूक्ष्म अंश प्रछन्न रूप से साक्षी भाव के रूप में उपस्थित रहता है। इसी से जागने पर हमें पता चलता है कि हम गहरी नींद में सोये थे।

4. **तुरीयावस्था-** यह चेतना की सबसे महत्त्वपूर्ण स्थिति है। चेतना का जो अंश अत्यन्त सूक्ष्म और प्रछन्न रूप से साक्षी भाव के रूप में जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति की अवस्था में रहता है वह तुरीयावस्था में विराट् बन जाता है। ध्यान की स्थिति इसी अवस्था को प्राप्त करने का चरम पुरूषार्थ है। यह अवस्था चित्त की वृत्ति को एकाग्र व लययुक्त बनाती है। महर्षि पतंजलि ने भी योग-सूत्र में ध्यान के स्वरूप के सम्बन्ध में बताया है कि-

''तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्'' अर्थात् जहाँ चित्त ठहराया जाय उस स्थान पर वृत्ति का एक सा बना रहना ही ध्यान है। मुख्य रूप से ध्यान के तीन प्रकार हैं-

1. स्थूल ध्यान
2. ज्योति ध्यान
3. सूक्ष्म ध्यान

1. **स्थूलध्यान-** वह ध्यान जिसमें मूर्तिमय इष्टदेव का ध्यान किया जाता है, दृश्य अथवा अदृश्य पदार्थों की ज्ञान प्राप्ति

के लिये जो ध्यान जाता है, वही स्थूल ध्यान है। जैसे-राम, कृष्ण, शिव अन्यान्य देवी-देवता आदि अथवा किसी इष्टदेव या गुरु आदि की मूर्ति आदि को आन्तरिक चक्षुओं से देखने का अभ्यास करना। यह ध्यान प्राय: सभी प्रकार के साधनों के लिये सुगम होता है। नये साधकों के लिये तो यह सबसे उपयुक्त विधि है क्योंकि आरम्भ में ध्यान का अभ्यास करने के लिये किसी प्रकार की आकृति अथवा वस्तु आवश्यक है।

स्थूल ध्यान की विधि- ध्यान के किसी आसन में बैठकर नेत्रों को बन्द करके हृदय में, नासिका के अग्र भाग में अथवा दोनों भौहों के मध्य में दृष्टि को स्थिर करें और अपने इष्टदेव की मूर्ति के स्वरूप का ध्यान करें, मूर्ति की नखशिख पर्यन्त आकृति, धारण किये वस्त्र, माला, रत्न, आभूषण, किरीट, कुण्डल एवं विराजमान होने के सिंहासन अथवा मूर्ति के चारों ओर रखी हुई साज सामग्री आदि का भी ध्यान करना चाहिये जिससे धीरे-धीरे उस मूर्ति-विशेष पर मन एकाग्र होने लगेगा। किसी ध्येय विषय पर मन का तन्मय हो जाना ही ध्यान है।

2. साकार उपासकों के लिये शेषनाग रूपी शय्या पर शान्त आकार से शयन करते हुये भगवान विष्णु के सगुण ध्यान को ''**शान्ताकारं भुजगशयनम्....**'' इत्यादि मंत्र के जप तथा आकृति को अन्त: चक्षुओं से देखने का अभ्यास करें। धीरे-धीरे अभ्यास से मन की बाह्य वृत्तियाँ एकाग्र होकर अन्त: मुख हो जायेगी। इससे मन की चंचलता समाप्त होकर मन शान्त एवं स्थिर हो जायेगा।

किसी साकार रूप का ध्यान करना ही स्थूल ध्यान है और यह ध्यान ही परिपक्व होकर साधक को ज्योतिर्मय ध्यान और सूक्ष्म ध्यान के योग्य बनाता है।

2. ज्योतिर्ध्यान- तेजोमय ज्योति रूप ब्रह्म का ध्यान ही ज्योतिर्ध्यान कहलाता है। घेरण्ड संहिता में इसका विवेचन ''मूलाधारे कुण्डलिनी भुजंगाकाररूपिणी'' इत्यादि से किया गया है। इसके अनुसार मूलाधार में सर्पाकार सी कुण्डलिनी शक्ति रहती है, वहीं दीपकलिका के आकार में जीवात्मा की विद्यमानता है। इसके अतिरिक्त भौहों के मध्य और मन के ऊर्ध्व भाग में जो प्रणवात्मक ज्योति है उसका ध्यान ही तेजोध्यान है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में ज्योति ध्यान के सम्बन्ध में बताया गया है कि हृदय में अन्तर्यामी रूप से अंगुष्ठ परिमाण वाली ज्योति विद्यमान रहती है। पवित्र मन एवं हृदय वाले साधक ध्यान के माध्यम से उसकी अनुभूति कर सकता है। इस प्रकार आत्मा का ध्यान ही ज्योतिर्ध्यान है। स्थूल ध्यान के परिपक्व होने पर ही ज्योतिर्ध्यान का अभ्यास करना चाहिये।

3. सूक्ष्मध्यान- बिन्दुमय ब्रह्मकुण्डलिनी शक्ति का ध्यान ही सूक्ष्म ध्यान कहलाता है। सूक्ष्म ध्यान के सम्बन्ध में महर्षि घेरण्ड ने कहा है कि कुण्डलिनी शक्ति आत्मा के साथ संयुक्त होकर नेत्र रन्ध्रों से निकलती और ऊर्ध्वभाग में स्थित राजमार्ग में विचरण करती है, परन्तु वह अपने सूक्ष्मत्व और चंचलत्व के कारण दिखाई नहीं देती। इसी लिये कुण्डलिनी शक्ति का ध्यान शाम्भवी मुद्रा के साथ करना चाहिये। सूक्ष्म ध्यान के अभ्यास के लिये शरीर में स्थित षट्चक्रों और सहस्रार पर क्रमश: ध्यान का अभ्यास करना चाहिये।

कुण्डलिनी शक्ति नाभिकन्द के ऊर्ध्व भाग में साढ़े तीन कुण्डल मारे हुये सुप्तावस्था में रहती है। इससे सुषुम्णा नाड़ी का मार्ग बन्द रहता है। योग-साधना से जब कुण्डलिनी-शक्ति जाग्रत होती है तो वह सुषुम्णा के मार्ग से सुई के समान षट्चक्र भेदन करती हुई सहस्रार रूपी शिव के साथ सामरस्य प्राप्त करती है। हमारे शरीर में षट्चक्रों की स्थिति इस प्रकार है-

1. **मूलाधारचक्र-** स्थूल शरीर में गुदा में स्थित गानाड्स ग्रन्थि में ही सूक्ष्म शरीर में चार दल वाले मूलाधार चक्र की स्थिति है। अग्नि के समान रक्त वर्ण वाला यह बीजाक्षर "लं" से युक्त त्रिकोणाकार है। इसके अधिष्ठाता ब्रह्मा हैं।

2. **स्वाधिष्ठान चक्र –** स्थूल शरीर में लिंग अथवा योनि के मूल में स्थित प्रोस्टेट ग्रन्थि में ही सूक्ष्म शरीर में छः दल वाले स्वाधिष्ठान चक्र की स्थिति है। यह सूर्य के प्रकाश की तरह सिन्दूर वर्ण तथा बीजाक्षर "वं" से युक्त अंकुर के समान है। इसके अधिष्ठाता विष्णु हैं।

3. **मणिपूरकचक्र –** स्थूल शरीर में नाभि स्थान में स्थित सुप्रारेनल ग्रन्थि में ही सूक्ष्म शरीर में दश दल का नील वर्ण तथा बीजाक्षर "रं" से युक्त मणिपूरक चक्र है। इसके अधिष्ठाता विष्णु हैं।

4. **अनाहतचक्र-** स्थूल शरीर में हृदय में स्थित थाइमस ग्रन्थि में ही सूक्ष्म शरीर में बारह दल युक्त अनाहत चक्र की स्थिति है। यह चक्र स्वर्ण के समान कान्ति वाला बीजाक्षर "मं" से युक्त एवं वर्तुलाकार है। इसके अधिष्ठाता शिव हैं।

5. **विशुद्धचक्र-** स्थूल शरीर में कंठ में स्थित थायराइड ग्रन्थि में ही सूक्ष्म शरीर में सोलह दल युक्त विशुद्ध चक्र स्थित है। यह धूम्रवर्ण का वर्तुलाकार एवं बीजाक्षर "हं" से युक्त है। इसके अधिष्ठाता रुद्र हैं।

6. **आज्ञाचक्र-** स्थूल शरीर में दोनों भौहों के मध्य पीनियल ग्रन्थि में ही सूक्ष्म शरीर में दो दल युक्त श्वेत वर्ण का आज्ञा चक्र स्थित है। इसका बीजाक्षर "ॐ" है। इसके अधिष्ठाता महेश्वर हैं।

7. **सहस्रार-** स्थूल शरीर में मस्तिष्क में पिट्यूटरी ग्रन्थि का स्थान सूक्ष्म शरीर में सहस्रार चक्र का है। यह हजार दल युक्त श्वेत वर्ण का है। इसके अधिष्ठाता श्री गुरु माने जाते हैं।

उपर्युक्त छः चक्रों पर क्रमशः ध्यान का अभ्यास करने से कुण्डलिनी जाग्रत होकर षट्चक्र भेदन का अभ्यास सिद्ध होने पर सातवें चक्र सहस्रार का अभ्यास स्वतः सिद्ध होता है।

"समाधि"

जब ध्याता, ध्यान से ध्येय विषय में मिलकर लय हो जाता है तब उस द्वैतभावरहित वृत्ति निरोध की अन्तिम अवस्था को "समाधि" कहते हैं। समाधि की अवस्था में ध्येय मात्र की प्रतीति होती है और चित्त का अपना रूप शून्य हो जाता है।

ध्यान की अवस्था में साधक को यह बोध रहता है कि मैं "**ध्येय**" का "**ध्यान**" कर रहा हूँ किन्तु जब ध्यान करते-करते चित्त ध्येय के रूप में बदलने लगता है और उसमें अपने रूप का अभाव सा हो जाता है तब साधना की वह अवस्था जिसमें ध्येय मात्र की प्रतीति हो "**समाधि**" कहलाती है। समाधि की दो अवस्थायें हैं-

1. **सविकल्प समाधि** - यह समाधि की प्रारम्भिक अवस्था है। इसमें ध्याता, ध्येय और ध्यान की त्रिकुटी के लय की, नियमित काल पर्यन्त चित्त की वृत्तियों की एक तदाकार स्थिति होती है। यद्यपि इस अवस्था में द्वैतभाव रहता है, तथापि अद्वैत भाव की इस प्रकार प्रतीति होती है जैसे मिट्‌टी से बनी किसी वस्तु में मिट्‌टी का ही भान हो उसी प्रकार द्वैत में अद्वैत का भान होता है। समाधि की इस अवस्था में किसी न किसी अवलम्बन की आवश्यकता रहती है। इस स्थिति में प्रज्ञा के संस्कार शेष रहते हैं। यह समाधि चित्त की एकाग्र अवस्था में होती है।

2. **निर्विकल्पसमाधि** - जब ध्याता, ध्येय और ध्यान भेद की अपेक्षा से रहित चित्त की वृत्तियों की स्थिति एक अद्वितीय ध्येय वस्तु में अत्यन्त ऐक्यभाव से तदाकार रूप में चिर काल पर्यन्त होती है तब निर्विकल्प समाधि होती है। समाधि की इस अवस्था में द्वैत भाव का सर्वथा अभाव रहता है। इस स्थिति में किसी अवलम्बन की भी आवश्यकता नहीं रहती तथा प्रज्ञा के संस्कार भी शेष नहीं रहते। सब वृत्तियां विलीन हो जाती हैं। यह स्थिति चित्त की निरुद्धावस्था में होती है। यह समाधि दुख की अत्यन्त निवृत्ति और आत्यन्तिक सुख की पूर्ण रूप से प्राप्ति कराने वाली है।

समाधि की उपर्युक्त क्रमशः प्रारम्भिक और अन्तिम अवस्थायें हैं। विभिन्न साधनों से समाधि की स्थिति प्राप्त होने से समाधि के भी अनेक प्रकार हैं-

1. ध्यान-योग-समाधि 2.नाद-योग-समाधि 3. मंत्रयोग-समाधि 4. लययोग-समाधि 5. भक्तियोग-समाधि 6. राजयोग-समाधि

1. **ध्यानयोगसमाधि** - यह समाधि की प्रारम्भिक अवस्था है। ध्यान की परिपक्वता के बिना समाधि नहीं हो सकती। इसीलिये इस साधना में मन को ध्येय विशेष पर केन्द्रित कर ध्यान की सिद्धि प्राप्त करनी चाहिये। ध्यान की सिद्धि से मन दोष-रहित होता है जो साधक को पापों से मुक्त करता है। घेरण्ड संहिता में इस सम्बन्ध में बताया है कि-

शाम्भवीं मुद्रिकां कृत्वा आत्मप्रत्यक्षमानयेत्।
बिन्दुब्रह्म सकृद्दृष्टवा मनस्तत्रनियोजयेत्।।

खमध्ये कुरुचात्मानं आत्ममध्ये च खं कुरु।
आत्मानं खमयं दृष्टवा न किंचदपि बाध्यते।।
सदानन्दमयो भूत्वा समाधिस्थो भवेन्नरः।

अर्थात शाम्भवी मुद्रा करके प्रथम आत्मा का प्रत्यक्ष करें और बिन्दुमय ब्रह्म का साक्षात्कार करते हुए मन को बिन्दु में लगा दें। तत्पश्चात् मस्तक में विद्यमान ब्रह्मलोकमय आकाश (सहस्रार) के मध्य में आत्मा को ले जायें, जीवात्मा में आकाश (सहस्त्रार) को लय करें और परमात्मा में जीवात्मा का लय करें इससे योगी सदानन्दमय एवं समाधि की स्थिति को प्राप्त करता है।

2. **नादयोगसमाधि** – हठयोग समाधि को ही नादयोग समाधि कहते हैं। मन को शरीर में स्थित अनाहत शब्द से पूरे "नाद" में लीन कर लेना ही नादयोग समाधि है। मन जब नाद के अक्षर में लीन होता है तब उस स्थिति में निःशब्द समाधि रूप परमपद की प्राप्ति हो जाती है। नादयोग-समाधि के सम्बन्ध में घेरण्ड संहिता में कहा है-

साधनात् खेचरीमुद्रा रसनोर्ध्वगतासदा।
तदा समाधि सिद्धिःस्याद् हित्वा साधारण क्रियाम्।।

अर्थात् खेचरी मुद्रा का अभ्यास करते हुये जिह्वा को ऊर्ध्व की ओर (ब्रह्मरन्ध्र में) स्थित करें। इससे साधारण क्रियाओं के हटने पर जो समाधि सिद्ध होती है, वही नादयोग समाधि है। इस प्रकार हठयोग साधना से प्राप्त हुई समाधि को "**महाबोध**" समाधि भी कहते हैं।

3. **मंत्रयोगसमाधि** – मन को श्वास-प्रश्वास के साथ लय कर लेना मंत्रयोग समाधि कहलाती है। नित्य प्रति प्रत्येक मनुष्य इक्कीस हजार छः सौ बार श्वास लेता है। श्वास "सकार" ध्वनि के साथ बाहर निकलती है तथा "हकार" ध्वनि के साथ अन्दर आती हैं। इस प्रकार "सकार" और "हकार" काक्रम चलते-चलते "सोऽहं"और "हंस" दोनों के ही श्रवण का भान होता है। दोनों में कोई भेद भी नहीं। जो साधक नित्य प्रति इक्कीस हजार छः सौ संख्या में "हंस" का जाप करता है वह "सोऽहम्" रूप ही हो जाता है। इस प्रकार मंत्रयोग की समाधि को "महाभाव" समाधि भी कहते हैं। वाल्मीकि के पूर्व जन्म की कथा इसी प्रसंग से जुड़ी है जब नारद मुनि ने रत्नाकर डाकू को "राम" शब्द का उच्चारण न कर पाने पर उसकी प्रवृत्ति तथा उसके पेशे को देखते हुये "मरा" का लगातार जप करने की सलाह दी। वही रत्नाकर आगे चलकर मरा-मरा से राम-राम कहने वाला महामुनि वाल्मीकि बना।

4. **लययोगसमाधि** – नाभि कन्द में कुण्डलिनी सुषुम्णा नाडी का मार्ग बन्द करके साढ़े तीन कुण्डल मारे सुप्तावस्था में रहती है। शरीर में स्थित कुण्डलिनी "शक्ति" का प्रतीक है। यौगिक साधना से कुण्डलिनी-शक्ति को जाग्रत कर षट्चक्रों का भेदन करते हुये सहस्त्रार में स्थित "शिव" से उसका लय होना ही लययोग-समाधि का स्वरूप है। घेरण्ड-संहिता में लययोग समाधि के सम्बन्ध में कहा है-

योनिमुद्रां समासाद्य स्वयंशक्तिमयोभवेत् ।
सुश्रृंगाररसेनैव विहरेत् परमात्मनि ।।
आनन्दमयः सम्भूय ऐक्यं ब्रह्मणि संभवेत् ।
अहं ब्रह्मेति वाद्वैतं समाधिस्तेन जायते ।।

अर्थात् योनिमुद्रा का साधन करके योगी स्वयं में शक्ति की भावना और परमात्मा में पुरूष की भावना करे । फिर यह भावना करे कि मुझ में और परमात्मा में शक्ति और पुरूष रूप में बिहार हो रहा है । फिर आनन्दमय ऐक्य स्थापित करता हुआ यह चिन्तन करें कि "**मैं अद्वैत ब्रह्म हूँ ।**" इससे जो समाधि होती है उसे लय योग समाधि कहते हैं । लययोग से प्राप्त समाधि को "महालय" समाधि भी कहते हैं ।

5. **भक्तियोगसमाधि** – जब साधक इष्टदेव की भक्ति में अपने चित्त को लगा देता है उस स्थिति में उसे अपने शरीर का भी कोई ज्ञान नहीं रहता । अर्थात् वह बाह्य विषयों से सर्वथा पृथक संज्ञाशून्य हो जाता है । शरीर पुलकित हो जाता है और आनन्द के आँसू बहने लगते हैं । वह स्थिति भक्तियोग समाधि की है । घेरण्ड संहिता में भी इस समाधि के सम्बन्ध में कहा है–

स्वकीय हृदये ध्यायेदिष्टदेव स्वरूपकम् ।
चिन्तयेद् भक्तियोगेन परमाह्लाद पूर्वकम् ।।
आनन्दाश्रु पुलकेन दशाभावः प्रजायते ।
समाधिः सम्भवेत्तेन सम्भवेच्चमनोन्मनि ।।

अर्थात् अपने हृदय में परम आह्लाद सहित भक्तियोग के द्वारा इष्टदेव के स्वरूप का चिन्तन करना चाहिये । इससे आनन्द के आँसू बहने लगते हैं और शरीर पुलकायमान होता है तथा मन में उन्मनी भाव और एकाग्रता आकर ब्रह्म से साक्षात्कार होता है यह भक्तियोग समाधि कहलाती है ।

6. **राजयोगसमाधि** – मन बड़ा चंचल है । यौगिक क्रियाओं से मन की चंचल वृत्तियों पर नियंत्रण स्थापित कर उसे निरुद्ध करके आत्मा में लय करें तथा आत्मा को परमात्मा में लय कर दें । निरुद्ध मन का आत्मा के साथ तथा आत्मा का अखण्ड रूप से परमात्मा के साथ मिलन ही "राजयोग" समाधि है । घेरण्ड संहिता में इस समाधि का वर्णन इस रूप में मिलता है–

मनोमूर्च्छां समासाद्य मन आत्मनियोजयेत् ।
परात्मनः समायोगात् समाधिः समवाप्नुयात् ।।

अर्थात् मनोमूर्च्छा कुम्भक करता हुआ साधक मन को एकाग्र करके ब्रह्म में लगावे । इस प्रकार परमात्मा के साथ समायोग सम्मिलित होने को "**राजयोग-समाधि**" कहते हैं ।

नाद-विन्दु-साधना

नाद-साधना वस्तुत: ध्वनि-विज्ञान है। इसका सिद्धान्त है कि पूरा विश्व एक नाद पर आधारित है। अर्थात् सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ध्वनि सिद्धान्तों का रचनात्मक रूप है। ये ध्वनियां केवल वाह्य वातावरण में ही नहीं, वरन् हमारे शरीर में भी चेतना के विभिन्न स्तरों पर ध्वनि तरंगे हैं। उनके मिश्रण तथा अदल-बदल से शरीर निर्मित होता है। नादयोग के अनुसार प्रारम्भ में केवल एक पवित्र ध्वनि ''ॐ'' की थी। इसके पश्चात् ध्वनि तरंगों के द्वारा ब्रह्माण्ड की रचना हुई।

भारतीय आध्यात्मिक साधना की सभी पद्धतियों ने सर्व सम्मति से ''ॐ'' को अति प्राचीन काल से ही परमात्मा का अद्धितीय ध्वनि प्रतीक माना है। चाहे विविध साधना मार्गों में वह जिस किसी भी पवित्र नाम से अभिहित किया जाता है किन्तु इसे सभी प्रकार की विशिष्ट ध्वनियों का मूल स्रोत माना जाता है। यह वेदों का आधार है। इसमें वेदों की आत्मा और उसका वास्तविक अर्थ निहित है। इस ''ॐ'' के सम्बन्ध में महायोगी गुरू गोरखनाथ जी कहते हैं-

अलेष लेषंत अदेष देषंत अरस-परस ते दरस जाणी।
सुनि गरजंत बाजंत नादं अलेष लेषंत ते निज प्रवाणीं।।

अखल निरंजन अर्थात् ''ॐ'' शून्य पद में स्थित परब्रह्म परशिव अक्षर है। वह वर्णन में नहीं आता, वह नेति-नेति शब्द द्वारा श्रुति में प्रतिपादित है। वह निराकार है, उसे चक्षु आदि इन्द्रियों से देखा नहीं जा सकता है। वह ज्ञान चक्षु द्वारा आभ्यन्तरिक अनुशीलन में दर्शनीय है, ब्रह्मरन्ध्र में, सहस्रार में अनाहतनाद का श्रवण करते हुए योगी उसकी महिमा और व्यापकता का शब्दांकन करते हैं। वे वर्णनातीत परमब्रह्म का निरूपण करते हैं, पर यह निरूपण उनकी परमात्म अनुभूति का ही परम फल है, यह निर्विवाद है, समस्त ब्रह्माण्ड में व्यापक ब्रह्म पिण्ड में अनुभव संवेद्य है। परब्रह्म का साक्षात्कार, स्वरूप चिन्तन अनुभव गम्य है।

इस सामान्य ध्वनि रूप में शक्तियुक्त परमात्मा की आत्मा अभिव्यक्ति को ''अनाहतनाद'' कहा जाता है, क्योंकि यह एक ऐसी ध्वनि है जो किसी प्रकार के आघात या रगड़ से नहीं उत्पन्न होती और न ही यह विभिन्न भागों में विभाजित ही हो सकती है। यह अनादि-अनन्त एवं पूर्ण है। यह उच्चारण के लिये नहीं वरन् मन की एकाग्रता के अभ्यास के द्वारा परिलक्षित किये जाने के लिये है। प्रत्येक उच्चारित ध्वनि स्वर-यंत्रियों के आघात से उत्पन्न होती है, वह विभाजित होती है किन्तु ''ॐ'' सभी विशिष्ट खण्डित ध्वनियों के मूल में निहित सर्व व्यापक अखण्ड ध्वनि है। परमात्मा के इस ध्वनि प्रतीक के अनुसन्धान को ही नादानुसन्धान कहते हैं। यह एक अन्यन्त महत्वपूर्ण और प्रभावशाली योग पद्धति है। ध्यानबिन्दूपनिषद में कहा गया है कि-

बीजाक्षरं परं बिन्दु र्नादस्तस्योपरि स्थितम्।
सशब्देचाक्षरे क्षीणे नि:शब्दं परमं पदम्।।

अनाहतं तु यच्छन्दस्तस्य शब्दस्य यत्परम्।
तत्परं विन्दते यस्तु स योगी छिन्न-संशयः।।

बीजाक्षर परम बिन्दु है और उसके ऊपर नाद की स्थिति है, वह नाद (शब्द) अक्षर में लय हो जाता है तब शब्द रहित परम पद का रूप होता है। अनाहत शब्द से भी परे जो शब्द है, उसके पाने से ही योगी के संशय की निश्चित समाप्ति होती है। गोरखबानी में महायोगी गोरखनाथ जी कहते हैं-

नाद-नाद सब कोई कहे, नादहि लै कोइ बिरला रहे।
नाद बिन्दु है फीकी सिला, जिहि साध्या ते सिधै मिला।।

नाद का अनुसन्धान साक्षात "ॐ" शब्द ब्रह्म परमात्मा की उपासना है। केवल नाद-नाद रटने से साधना की सिद्धि नहीं होती, उसमें मन को सम्पूर्ण रूप से एकाग्र कर, अमनस्क कर चित्तवृत्ति का पूर्ण निरोध कर नाद की अन्तिम अवस्था, शब्दातीत अवस्था में प्रवाहित अनाहत में अपने आत्मस्वरूप को लयकर परमात्मा में तादात्म्य किया जाता है। यह साधना कोई विरला योगी ही कर पाता है। नाद-विन्दु दोनो सूखे पाषाण खण्ड के समान हैं, पर उनकी साधना से आत्मरस परमामृत तत्त्व के बोध में योगसाधना सिद्धावस्था में समाहित अथवा स्वरूपस्थ हो जाता है। योगिराज भर्तृहरिनाथजी कहते भी हैं-

नाद विंद बजाइले दोऊ पूरिले अनहद बाजा।
एकंतिका वासा सोधिले भरथरी कहै गोरष मछिंद्र का दासा।।

महायोगेश्वर परम सद्गुरू मत्स्येन्द्रनाथ जी के सेवक महायोगी गुरू गोखनाथजी का योगिराज भर्तृहरि के प्रति योगोपदेश है कि हे भर्तृहरि! प्राणायाम के द्वारा नाड़ियों के मल का शोधन कर तथा चित्तवृत्ति को निरूद्ध कर नाद-बिन्दु की साधना में तत्पर हो जाना चाहिए। हे भर्तृहरि इस तरह ना-बिन्दु की साधना में निरन्तर एकान्त स्थान में निवास कर अथवा सहज शून्य गगनस्थ सहस्रार में आत्मा का लय कर सिद्धावस्था में रमण करना चाहिए। नादबिन्दुसाधना ही पूर्ण योग-सिद्धि का साधन-पथ है।

अनाहत नाद साधक के हृदय में अन्तरतम प्रदेश के बिना किसी प्रयत्न के सतत् रूप से विद्यमान रहता है। परमात्मा निश्चय ही इस रूप में अपनी गौरवमयी उपस्थिति प्रकट करता है। यह शब्द ब्रह्म है अर्थात ब्रह्म की शब्द या ध्वनि रूप में अभिव्यक्ति। योग-साधना के शब्द (नाद) साधना के महत्त्व के सम्बन्ध में महायोगी गोरक्षनाथजी कहते हैं-

सबदहिं ताला सबदहिं कूंची सबदहिंसबद जगाया।
सबदहिं सबद सूं परचा हूआ सबदहिं सबद समाया।।

योग-साधना की दृष्टि से शब्द (नाद) ही ताला है क्योंकि यह परमात्मतत्त्व को गुप्त रखता है। शब्द की धारा ही

सूक्ष्म परमात्मतत्त्व पर स्थूल आवरणों को बाँध कर सृष्टि का संयोजन तथा निर्माण करती है। मूलअधिष्ठान तक पहुँचने के लिये शब्द की धार पकड़कर वापस आना पड़ता है। इसलिये शब्द कुंजी भी है। इसके द्वारा परमात्म रहस्य अभिव्यक्त होता है। गुरू-उपदेश से ही शब्द (नाद) का जागरण होता है। जीव आत्म शब्द का स्थूल और सूक्ष्म स्तर क्रम से श्रवण कर अमृतपद में प्रतिष्ठित हो जाता है। नादानुसन्धान के फलस्वरूप अनाहत ध्वनि सुनाई पड़ती है। स्थूल शब्द का सूक्ष्म शब्द में यही लय है। प्राणवायु के सुषुम्णा-पथ से ब्रह्मरन्ध्र में स्थिर होने पर घण्टे, वंशी, वीणा, भ्रमरादि के नाद की तरह सूक्ष्मतर नाद सुनाई पड़ते हैं, इसके उपरान्त साधक की समाधि अवस्था आती है। प्राण ब्रह्मरन्ध्र में स्थित हो जाता है और योगी शून्य पद में आत्मामृतपान कर शिव का साक्षत्कार लाभ करता है। रहित शब्द तत्व के रूप में ''ऊँ'' अथवा ब्रह्म का प्रकाश होने पर जीवात्मा-परमात्मा में अभेद हो उठता है।

नाद का अनुसन्धान वस्तुत: ब्रह्म का हृदय में अन्वेषण है। एक साधक के लिये आवश्यक है कि वह अपना ध्यान स्थिरता पूर्वक इस नाद पर केन्द्रित करे जिसकी धारणा प्रारम्भिक स्थिति में अस्पष्ट होती है, हृदय इच्छाओं, पूर्वकृत कर्मो के प्रभावों तथा अनेक प्रकार की भावनाओं और प्रवृत्तियों का केन्द्र होता है जिनसे अनेक प्रकार की हलचलें उत्पन्न होती हैं। फलस्वरूप सामान्य जीवन-क्रम में यह नाद न तो सुना जा सकता है और न ही अनुभव किया जा सकता है। इन कठिनाईयों को दूर करने के लिये सर्तकता और संयम पूर्वक अभ्यास करना चाहिए। हृदय के भीतर शुद्ध और शान्त वातावरण उत्पन्न करना चाहिए और ध्यान को सतत् रूप से **''नाद''** की ओर केनिद्रत करने की चेष्टा करनी चाहिए।

हृदय के भीतर ''नाद'' अनुसन्धान तथा उस पर ध्यान के केन्द्रीकरण के लिये सर्व प्रथम प्राणायाम द्वारा प्राण का संयम करना चाहिए। कहा भी है-

पवन ही जोग, पवन ही भोग, पवन ही हरे छतीसों रोग।
या पवन का जो जानै भेव, सो आपै करता आपै देव।।

योग-साधना का एक प्रमुख अंग पवन का संयम है। प्राणायाम के साधन से योग-भोग दोनों में निपुणता और सिद्धि मिलती है जिसका शरीर प्राण का संयम करने से स्वस्थ और निर्विकार रहता है उसके सारे रोग नष्ट हो जाते हैं। जो साधक प्राण को अपने शरीर में स्थिर रखता है और इसका रहस्य समझ लेता है वह सिद्ध हो जाता है। वह सृष्टि रचने की शक्ति रखता है और शिव स्वरूप हो जाता है। गोरखबानी में कहा भी है-

अवधू दंग को रहिबा उनमने रहिवा ज्यूं बाजवा अनहद तूरं।
गगन मंडल में तेज चमंकै चांद नहीं तहां सूरं।।

तथा

अवधू सहस्र नाड़ी पवन चलैगा, कोटि झमंकै नादं।

बहतरि चंदा बाई सोष्या किरणि प्रगटी जब आदं।।

हे अवधूत! प्राण का संयम करना चाहिए। दम अथवा प्राण का संयम प्राणायाम के अभ्यास से ही सिद्ध होता है। नवद्वार-मुख, नेत्र, नासारन्ध्र, कान, उपस्थ, गुदा-तो प्रत्यक्ष हैं पर ब्रह्मरन्ध्र दशवां द्वार अप्रत्यक्ष है। दशम द्वार में ही योगी उन्मन होता है। नाद विन्दु के मेल से उत्पन्न अनाहत नाद का श्रवण कर वह निराकार पर ब्रह्मशिव के प्रकाश का ब्रह्मरन्ध्र में दर्शन करता है। ब्रह्मरन्ध्र में सूर्य और चन्द्रमा की ज्योति के बिना ही अलख निरंजन, चिन्मय तत्व भासित होता है।

प्राणायाम के अभ्यास के बाद नाद अनुसन्धान के लिये प्रणव जप करना चाहिए। अनाहत नाद के अनुश्रवण में आंख, और कान सतर्कतापूर्वक बन्द करके प्रणव को नियमित और दीर्घ उच्चारणा (उदाहरणार्थ अ-अ-उ-उ-म-म-) तथा इस एक स्वर उच्चारित ध्वनि पर ध्यान की एकाग्रता का अभ्यास साधना की प्रक्रिया में अत्यधिक उपयोगी है। रात्रि की नीवरता तथा पर्वत-गुहाद्वारों एवं निर्जन वन-प्रदेशों की शान्ति इसके लिये उपयुक्त वातावरण प्रस्तुत करते हैं। साधक को किसी उपयुक्त स्थान में सतर्क मुद्रा एवं शान्त मन: स्थिति में बैठ जाना चाहिए। सभी प्रकार की बाह्य ध्वनियों को कान में प्रविष्ट होने से रोक देना चाहिए "ऊँ" के मधुर एवं संगीतमय ध्वनि से सम्पूर्ण वातावरण को गुंजायमान कर देना चाहिए और इस नीरव ध्वनि प्रवाह पर अपना ध्यान पूर्णत: केन्द्रित कर देना चाहिए। फिर उसे चिन्तन शक्ति द्वारा हृदय में स्थित परमतत्व से इस नाद की अभिन्नता स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिए और इसी रूप में परमात्मा का ध्यान अधिक गहराई से करना चाहिए। यह प्रक्रिया एक ही साथ प्रत्याहार, धारणा और ध्यान को समेट लेती है। यह ध्वनि क्रमश: सूक्ष्मतर और मधुरतर तथा सम्पूर्ण चेतना से अभिन्नतर होती जाती है। अन्तत: ध्वनि और चेतनता एक हो जाती है। अहं-इदम् का भेद मिट जाता है और एक ही आनन्दमयी चेतनता रह जाती है। जब यह चेतना के दिव्य स्तर तक पहुँच जाती है तब साधक परमत्व शिव से पूर्णत: मिल कर एक हो जाता है।

धन जोवन की करै न आस, चित्त न राखै कामिनिं पास।
नाद बिंद जाके घटि जरै, ताकी सेवा पारवती करै।

शक्ति ही नाद है, शिव ही बिन्दु है, कुण्डलिनी जागृत होकर जब शून्य पद में परमशिव का योग पाती है, तब योगी अमृतरस का पान करता है। कहा जाता है कि इच्छा ही नाद है, सगुण या परमात्मा में इच्छा ही स्पन्द है, कम्पन है इसका स्थूल कर्ण से नहीं बौद्धिक ज्ञान से आस्वादन होता है। इच्छा के साथ जो क्रिया है, वह बिन्दु है। शिव की शक्ति से नाद और नाद से बिन्दु उत्पन्न होता है। शिवस्वरूप बिन्दु और बीज-स्वरूप शक्ति का सम्बन्ध नाद है। बिन्दु के स्वाद और नादानुसन्धान से योगी जीवन्मुक्त होकर सिद्ध देह में स्थित रहता है।

गोरक्षसिद्धान्त संग्रह के अनुसार प्राणायाम के अभ्यास से ब्रह्मग्रन्थि का भेदन हो जाता है तब शरीर के भीतर हृदयाकाश से उत्पन्न आभूषण की सी विचित्र आनन्दायिनी अनाहत ध्वनि सुनाई पड़ती है। उस समय साधक के शरीर से दिव्य गन्ध निकलती है। वह दिव्य चक्षु युक्त हो जाता है। इस स्थिति में साधक के हृदय में योग ज्ञान का प्रकाश भर

जाता है। यह योग साधना की दिशा में प्राणायाम, मुद्राबन्ध, चक्रभेदन और कुण्डलिनी के प्रबोधन द्वारा आरम्भावस्था कहलाती है।

ब्रह्म-ग्रन्थिर्भवेद्‌भिन्ना ह्यानन्द:शून्य सम्भव: ।
विचित्र: क्वणको देहेऽनाहत: श्रूयते ध्वनि: ।।
दिव्य गन्धो दिव्यचक्षुस्तेजस्वी स्यादरोगवान् ।
सम्पूर्ण हृदय: शून्य आरम्भे योगवान्भवेत् ।।

दूसरी घटावस्था है, इसमें प्राण वायु अपानवायु, नाद और बिन्दु को सम्मिलित करके विशुद्ध चक्र में प्रवेश करती है। उस समय आसन सिद्ध योगी योग-ज्ञान-सम्पन्न तथा देवता के समान हो जाता है, तब विष्णु ग्रन्थि का भास होता है और इस तरह अतिशून्य कंठदेश में स्थित विशुद्ध चक्र का भेदन हो जाता है, तब परमानन्द की प्राप्ति कराने वाली भेरी का सा शब्द सुनाई पड़ता है जिसमें योगी पूर्ण निमग्न हो उठता है।

द्वितीयायां घटीकृत्य वायुर्भवति मध्यग: ।
दृढ़ासनो भवेद्योगी ज्ञानी देवसमस्तथा ।।
विष्णुग्रन्थिर्यदा भिन्ना परमानन्द सूचक: ।
अतिशून्य विभेदश्च भेरीशव्दस्तथा भवेत् ।।

तीसरी पश्चिम अवस्था है, इसमें जब प्राणवायु विशुद्ध चक्र का भेदन कर सम्पूर्ण सिद्धियों के केन्द्र महाशुन्य अर्थात भौहों के मध्यवती आकाश में प्रवेश करती है, तब मर्दल नामक बाद्य-विशेष की सी ध्वनि सुनाई पड़ती है, इसके बाद चित्तानन्द को जीत लेने पर अमनस्क अवस्था उन्मनी समाधि की प्राप्ति हो जाने पर योगी को सहजानन्द की प्राप्ति हो जाती है, जिससे दोष (चित्त के विकार अथवा मल) दु:ख, सुख, निद्रा, बुढ़ापा और मृत्यु से योगी छूट जाता है।

तृतीयायां ततो भित्वा विहायो मर्दल ध्वनि: ।
महाशून्यं तदायाति सर्वसिद्धिसमाश्रयम् ।।
चित्तानन्दं ततो जित्वा सहजानन्द सम्भव: ।
दोषदु:ख-क्षुधानिद्राजरा मृत्यु विवर्जित: ।

नाद की चौथी अवस्था निष्पत्ति है। इसमें जब प्राणवायु रूद्र ग्रन्थि भेदन करके ब्रह्मरन्ध्र में जाती है, तब उसे निष्पत्ति-अवस्था कहते हैं। इस अवस्था में वंशी और वीणा का सा शब्द सुनाई पड़ता है।

रूद्रग्रन्थिं ततो भित्वा शर्वपीठगतोऽनिल: ।
निष्पत्तौ वैणव: शब्द: क्वणवीणाक्वणो भवेत् ।।

नादानुसन्धान का अभ्यास करने वाले साधक को पहले अनेक प्रकार के शब्दों के श्रवण का अनुभव होता है और फिर सूक्ष्मातिसूक्ष्म शब्द सुनने की क्षमता आ जाती है। समुद्र, मेघ, भेरी आदि के श्रवण का अभ्यास बढ़ने पर अन्त में

वंशी, वीणा, भ्रमर गुंजनादि सुनाई देने लगता है। जब मेघ गर्जनादि जैसी महान ध्वनि सुनाई देने लगे, तब सूक्ष्मातिसूक्ष्म ध्वनि के सुनने का अभ्यास करें और जब वह भी दृढ़ हो जाय, तब सूक्ष्मनाद को छोड़कर स्थूल नाद के और स्थूल नाद को छोड़कर सूक्ष्म नाद के श्रवण का अभ्यास करे। इस प्रकार विभिन्न नादों को सुनते-सुनते जिस नाद में मन लगे, उसी में चित्त को लगा ले और फिर किसी अन्य नाद में चित्त न लगावे तो चित्त का लय उसी नाद में हो जाता है और फिर वह अन्यत्र किसी विषय की ओर आकर्षित नहीं होता। भ्रामरी प्राणायाम का अभ्यास करते हुए निम्न स्थितियों में क्रमशः नाद साधना का अभ्यास सरलता से किया जा सकता है।

भ्रामरीप्राणायाम – किसी आसन में बैठकर आंख बन्द करके दोनो तर्जनी ऊँगलियों से कानों को बन्द कर लेना चाहिए। गहरी श्वांस अन्दर रोकें, फिर गले से भ्रमर की तरह आवाज निकालते हुए धीरे-धीरे रेचक करना चाहिए। जब तक पूरी श्वांस बाहर न निकल जावे तब तक भ्रमर की सी आवाज करते रहें। रेचक नाक से करना चाहिए और मुंह बन्द रखना चाहिए।

नाद-साधना की चार स्थितियाँ –

प्रथमस्थिति – गहरी श्वास लीजिए। श्वास छोड़ते समय धीरे-धीरे भ्रमर की तरह आवाज कीजिए। गले में विशुद्ध चक्र पर आवाज पर ध्यान कीजिए, जब तक प्रथम आवाज की उत्पत्ति न हो तब तक इसी ध्वनि पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए।

द्वितीयस्थिति – द्वितीय स्थिति में तर्जनी अंगुलियों से कानो को बन्द करे। श्वास लीजिए और पहले की तरह श्वास छोड़ते समय भ्रमर की तरह आवाज कीजिए। प्रथम आवाज के बाद द्वितीय आवाज का पता लगाने का प्रयास कीजिए जो इस आवाज के पार्श्व में है। प्रथम अवस्था में यदि "ऊँ" का उच्चारण करेंगे तो थोड़ी सर्तकता रखने पर चिड़ियों की सी धीमी आवाज सुनाई पड़ती है।

तृतीयस्थिति – तृतीय स्थिति में कानो को बन्द रखिए। आवाज मुंह से न करके पहले वाली अवाज को सुनने का प्रयत्न कीजिए। धीरे-धीरे अभ्यास से आप को प्रथम आवाज समीप आती अनुभव होगी। यह प्रथम ध्वनि है। फिर पार्श्व में दूसरी आवाज का अनुभव कीजिए। यह दूसरी ध्वनि होगी।

चतुर्थस्थिति – कान बन्द मत कीजिए और न ही मुंह से आवाज निकालें। रात्रि की नीरवता में अथवा प्रातः काल एकान्त में किसी आराम दायक आसन में बैठक कर प्रथम ध्वनि को पकड़ने का अभ्यास कीजिए। पहली आवाज सुनिए और उसे तेज होने दीजिए, तब द्वितीय मन्द ध्वनि उत्पन्न होगी। उस पर ध्यान कीजिए और प्रथम ध्वनि पर ध्यान करना बन्द कर दीजिए। द्वितीय आवाज को तेज होने दीजिए। तत्पश्चात् तृतीय ध्वनि निर्मित होगी। इस तरह ध्वनियों पर ध्यान करना चाहिए। इस तरह नाद योग का अभ्यास करने से मस्तिष्क की निराशा दूर होती है, ध्यान सफल होता है तथा मन शान्त होता है।

नाद योग से लाभः -

(1) नादानुसंधानसमाधिभाजाम् ।
योगीश्वराणां हृदि वर्धमानम् ।।
आनंदमेकं वचसामगम्यम् ।
जानीत तं श्रीगुरूनाथ एकः ।।
कर्णौ पिघाय हस्ताभ्यां यं श्रृणोति ध्वनिं मुनिः ।
तत्रचित्तं स्थिरीकुर्याद्यत्स्थिरपदं व्रजेत् ।।
अभ्यस्यमानो नादोऽयं ।
पक्षाद्विक्षेपमखिलं जित्वा योगी सुखी भवेत् ।। (हठयोग प्रदीपिका)

नाद के अनुसन्धान से जो समाधि होती है, उसके कर्ता योगेश्वरो के हृदय में बदला हुआ एक आनन्द होता है जो कि वाणी से अगम्य है, उसे एक मात्र श्री गोरखनाथ जी ही जानते हैं। हाथों से कानों को ढ़ककर जो मुनि ध्वनि का श्रवण करता है वह वहाँ चित्त को स्थिर करके स्थिर पद को प्राप्त हो जाता है। अभ्यास किया हुआ यह नाद बाह्य शब्द का आवरण करता हैं, जिससे योगी पल भर में सब विक्षेपों को जीतकर सुखी हो जाता है।

(2) बद्धं तु नादबंधेन मनः संत्यक्तचापलम् ।
प्रयाति सुरतां स्थैर्यं छिन्नपक्षः खगो यथा ।।
सर्वचिंतां परित्यज्य सावधानेन चेतसा ।
नाद एवानुसंधेयो योग साम्राज्यमिच्छता ।।

शब्दादि विषयों के महान उद्यान में मद से उन्मत्त हुआ जो मन हाथी के समान स्वच्छन्द विचरण करता है उसका वश में आना बहुत कठिन है। परन्तु नाद रूपी अंकुश द्वारा उसे वश में किया जा सकता है, फिर वह मन विषयों की ओर न दौड़ पर स्थिर हो जाता है। इसलिये योगरूपी साम्राज्य की आकांक्षा करने वाले साधक को नाद के अनुसन्धान में तत्पर होना चाहिए।

सदा नादानुसन्धानात्क्षीयन्ते पापसंचयाः ।
निरंजने विलीयते निश्चितं चित्तमारूतो ।।

(नाद के अनुसन्धान से सदा संचित पापों का क्षय होता है)

अजपा-जप

भारतीय आध्यात्मिक साधना में जप का प्राचीन काल से ही महत्वपूर्ण स्थान रहा है। इसका विकास समय-समय पर भारत के महान् सन्तों और योगियों ने विभिन्न युगों में अपने अनुभवों से किया है। जप उतना ही प्राचीन है, जितना भारतीय संस्कृति। उपनिषदों तथा अन्य प्राचीन ग्रंथों में इनका विवरण किसी न किसी रूप में प्राप्त होता है। जप कोई भी हो नित्य दोषों को दूर कर चित्त शुद्ध करता है। जप अनेक प्रकार के होते हैं। मुख्य जप इस प्रकार हैं-

नित्य जप: - गुरू मंत्र का प्रतिदिन प्रात: सायं जप करना नित्य जप कहलाता है।

वैखरी जप: - मंत्रों का जोर से उच्चारण करते हुए किया जाने वाला जप वैखरी जप कहलाता है।

उपांशु जप: - मंत्रों को बिना जोर से बोले मुंह के अन्दर ही जप करना उपांशु जप कहलाता है।

मानस जप:.- मन से मंत्रों का उच्चारण करना मानस जप कहलाता है।

अजपा जप: - श्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया पर अपनी चेतना को केन्द्रित करके किया जाने वाला जप अजपा-जप कहलाता है। यह जप सबसे सरल और उच्च कोटि का माना गया है।

योग में चित्त शुद्धि की बहुत सी साधनाएं हैं। परन्तु हर साधना का प्रभाव अलग-अलग होता है अर्थात कुछ साधनाएं ऐसी हैं जिन्हें साधारण व्यक्ति नहीं सह सकता, इसलिये प्रत्येक को या चाहे जिसको शक्तिपात नहीं कराया जा सकता, क्योकि मनुष्य की प्रकृति तीन प्रकार की होती है-सात्त्विक, राजसिक और तामसिक।

इन तीनों प्रकृतियों के मनुष्यों के लिये आध्यात्मिक क्षेत्र में साधनायें भी अलग-अलग हैं। यदि तामसिक प्रकृति के मनुष्य को सात्विक प्रकृति की साधना करवायी जायेगी या सात्त्विक प्रकृति के मनुष्य को तामसिक प्रकृति की साधनायें करवायी जाय तो वह निश्चित पागल या रोगी हो जायेगा। परतु अजपा एक ऐसी साधना है जो हर प्रकृति के व्यक्ति के लिये उपयुक्त है। यह जप अपने आप में एक पूर्ण साधना है। गोरक्षशतक में महायोगी गुरू गोरक्षनाथ जी ने स्वयं कहा है कि-

हकारेण बर्हिर्याति सकारेण विशेत् पुन:।
हंसहंसेत्यमुं मंत्रं जीवो जपति सर्वदा।।
अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदायिनी।
अस्या: संकल्पमात्रेण सर्वपापै: प्रमुच्यते।
कुण्डलिन्यां समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी।
प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स योगवित्।।

अर्थात् प्राण-वायु के हकार की ध्वनि से बाहर जाने पर और सकार की ध्वनि से भीतर आने पर हंस-हंस मंत्र की उत्पत्ति शरीर में 21600 बार होती है। इस हंस मंत्र से सोऽहं शब्द की उत्पत्ति होती है। हंस मंत्र का जप ही अजपा गायत्री है। यह योगियों को मोक्ष प्रदान करती है। इसके संकल्प मात्र से उसके समस्त पाप नष्ट होते हैं। कुण्डलिनी से उत्पन्न यह गायत्री, प्राण-विद्या महाविद्या है। गोरखबानी में महायोगी कहते हैं-

अजपा जपै सुनि मन धरै, पांचो इन्द्री निग्रह करे।
ब्रह्म अगनि में होमै काया, तास महादेव बन्दे पाया।।

अर्थात् जो योग साधक अजपा जप करता है जिसकी चित्तवृत्ति तेलधारावत् अनवरत "ऊँ" "सोऽहं" तथा परमात्मा के इष्ट नाम मंत्र के जप में लगी रहती है जिसका मन ब्रह्मरन्ध्र (शून्यवाद) में रमण करता है, अर्थात ऊर्ध्वमुखी रहता है, जिसके इन्द्रिय समूह चंचलता को छोड़कर स्ववश रहते हैं, जो विनश्वर शरीर को ब्रह्मानुभूति रूपी अग्नि में परिशुद्ध कर देता है उस योगी की वन्दना साक्षात् भगवान शिव करते हैं।

वस्तुत: जब जीव श्वास लेता है तब "स" शब्द के साथ प्राणवायु पेट के अन्दर जाती है और "ह" शब्द के साथ बाहर निकलती है। एक व्यक्ति साधारण स्वरूप स्थिति में स्वभावत: प्रत्येक चौबीस घण्टे के भीतर 21600 बार श्वास लेता है। जैसा कि ब्रह्मविद्योपनिषद् में कहा गया है-

सहस्रमेकमयुतं षट् शतं चैव सर्वदा।
उच्चरन्पतितो हंस: सोऽहमित्यभिधीयते।।

अर्थात् नित्य प्रति इक्कीस हजार छ: सौ की संख्या में "हंस" का जप करने वाला साधक "सोऽहं" रूप हो जाता है।

एक आध्यात्मिक जिज्ञासु के लिये यह आवश्यक है कि वह अपनी प्रत्येक श्वास पर ध्यान दे और उसके महत्त्व को समझे। श्वास प्रक्रिया के यमित-नियमित-दीर्घकालिक-अल्पकालिक करने के लिये किसी बाहरी प्रयत्न पर नहीं बल्कि श्वास प्रक्रिया पर ध्यान देना होता है। जिज्ञासु की कोशिश होनी चाहिए कि उसकी कोई भी श्वास कम से कम जाग्रत अवस्था में व्यर्थ न होने पाये। यही वह सत्य है जिसे प्रत्येक श्वास अव्यक्त रूप में उसके हृदय में ध्वनित करती है। यह अजपा-जप है। महायोगी गोरखनाथ जी कहते हैं कि अजपा की तुलना में कोई भी अन्य विद्या, कोई भी अन्य जप और कोई भी ज्ञान नहीं रखा जा सकता है। जैसा कि एक सन्त ने कहा भी है कि-

ऐसा जाप जपो मन लाई, सोऽहं-सोऽहं सुरता गाई।
छ: सौ सहस इकिसौ जाप, अनहद उपजै आपहि आप।।

अजपा के नियमित अभ्यास से श्वास प्रक्रिया सामान्य होती है जो समाधि अवस्था में पहुँचाने में सहायक होती है।

हमारे इस भौतिक शरीर में दस प्रधान वायु हैं। हृदय देश में प्राण वायु उच्छवास और नि:श्वास का संचालन करती है। यही प्राण वायु हकार की ध्वनि के साथ बाहर तथा सकार की ध्वनि के साथ भीतर आती है। गुदा देश में अपान वायु रेचक, पूरक, कुम्भक की सामर्थ्य से युक्त होती है। नाभिप्रदेश मे समानवायु रहती है। यह जठराग्नि को दीप्ति करती है और भोजन के रूप में ग्रहण किये गये पदार्थों को रसयुक्त करती तथा पचाती है। व्यानवायु शरीर में व्याप्त नाड़ियो का शोधन कर कान्ति और तेज को बढ़ाती है। कंठ में उदान वायु रहती है। इसका कार्य वमन, भाषण और शरीर से प्राण का उत्क्रमण है। प्राणवायु शरीर में व्याप्त रह कर अंग-प्रत्यंग के संचालन में सहायता करती है। कूर्म वायु का कार्य आंखों की पलकों को खोलना और बन्द करना होता है। कृकल वायु का कार्य है डकार उत्पन्न करना तथा मूत्र बढ़ाना। देवदत्त वायु जँभाई लेने में सहायता करती है तथा धनंजयवायु समस्त शरीर में व्याप्त रह कर अव्यक्तनाद उत्पन्न करती है- सिद्धसिद्धान्तपद्धति के अनुसार-

हकार: कीर्तित: सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगाद् हठयोगो निगद्यते।।

हमारी दाहिनी नासिका से होकर जाने वाली नाड़ी सूर्य अथवा पिंगला है तथा बायीं नासिका से होकर जाने वाली नाड़ी चन्द्र अथवा इड़ा है। स्वर विज्ञान के अनुसार जब इड़ा पिंगला दोनों नाड़ियां समान रूप से चलती हैं तो वह समय सभी प्रकार की आध्यात्मिक साधना अथवा शुभ कार्य के लिये उत्तम होता है।

अजपा में सर्वप्रथम आने-जाने वाली श्वास के प्रति चैतन्य रहना चाहिए। श्वास सहज नहीं रहेगी। स्वाभाविक श्वास रात्रि में भी रहती है। परन्तु वह अजपा नहीं है। सचेतन मन से आने-जाने वाली श्वास को देखना होगा कि श्वास कहां तक जा रही है। जब श्वास लेते हैं तो वायु नाभि तक जाती है तथा छोड़ते समय नाभि से आती है। इसे करने के लिए किसी आरामदायक आसन में बैठते हैं। अंगो को ढ़ीला छोड़ कर गहरी श्वांस लेते हैं। भीतर जाने वाली श्वास के साथ "सो" और आने वाली श्वास के साथ "ह" जोड़ते हैं। "सो" और "ह" के बीच मानसिक रूप से कोई अन्तर न आये। "ह" के बाद कुछ आराम की स्थिति में आते हैं। पुन: "सो" के साथ श्वास लेते हैं तथा "ह" के साथ छोड़ते हैं। यह "सोऽहं" की एक आवृत्ति है। कुछ समय पश्चात् अजपा बन्द करिये और शून्य में अपनी चेतना को ले जाकर चक्र पर ध्यान करिये, जो भी विचार आये उन्हें हटाकर केवल शून्य का ध्यान रखिये, कुछ देर बाद पुन: अजपा प्रारम्भ कीजिए। श्रीमद्‌भागवत् में भी अजपा के सन्दर्भ में स्पष्ट कहा गया है-

अपाने जुह्वते प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रूद्ध्वा प्राणायामपरायण:।
अपरे नियताहारा: प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषा:।।

अर्थात कुछ साधक प्राण को अपान में मिलाते हैं और अन्य अपान को प्राण में, दूसरे प्राण को प्राण से ही मेल करते

हैं, अन्दर जाने वाली श्वास प्राण है तथा बाहर आने वाली अपान। "सो" प्राण का प्रतिनिधित्व करती है और "ह"अपान का सो को "ह" से जोड़ते हैं जिससे हंसो बनता है। कुछ ऐसे भी साधक हैं जो प्राण का मिलन प्राण से कराते हैं।

अजपा के सतत अभ्यास से आत्मा ब्रह्म की एकता "जीव" और "शिव" की एकता का साथ आध्यात्मिक क्षेत्र में अनुभूत होता है। सभी प्रकार की विषय कामना, घृणा, ईर्ष्या, भय, चिन्ता, अनमनस्कता दूर हो जाती है और हृदय में आत्मपूर्णता की चेतना के आनन्द का अनुभव होता है। अजपा के अभ्यास की उच्चतर स्थिति में श्वास के ऊपर अधिक ध्यान देना आवश्यक नहीं रह जाता। आत्मा और ब्रह्म की आनन्दमयी एकता की भावना में श्वास पर केन्द्रित ध्यान क्रमश: लय हो जाता है। अहं की चेतना समाप्त हो जाती है और केवल एक ज्योति से प्रकाशित अभेदात्मक आनन्दमयी चेतना रह जाती है। इस प्रकार अजपा के अभ्यास से समाधि की प्राप्ति हो जाती है। गोरखबानी में गोरखनाथ जी कहते हैं -

पवनां रे तू जासी कौने बाटी।
जोगी अजपा जपै त्रिवेणी के घाटी।।
चंद गोग टीका करिलै, सूर करिले बाटी।
मूंनी राजा लूगा धोवै, गंग जमुन की घाटी।।

अर्थात हे पवन (प्राण) तुम किस रास्ते जाओगे। त्रिवेणी (त्रिकुटी) में योगी अजपा जप कर रहा है। यह मार्ग बन्द है। चन्द्र और सूर्य नाड़ी से प्राण अवरूद्ध कर सुषुम्णा में प्राण को प्रवाहित कर इस शरीर रूपी कपडे को धोता जा।

अजपा के सतत अभ्यास से साधक उच्चतर स्थिति में पहुँच कर सच्चिदानन्दमय हो जाता है। विभिन्न चरणों में इसका अभ्यास करके साधक वास्तविक शान्ति प्राप्त कर सकता है। अजपा का अभ्यास कुर्सी पर, जमीन पर या किसी आसन (पद्मासन, सिद्धासन या सुखासन) में किया जा सकता है। अजपा के समय ध्यान के केन्द्र पर मस्तिष्क को एकाग्र करना चाहिए। यह ध्यान का केन्द्र आज्ञाचक्र, भ्रूमध्य, अनाहत चक्र या शरीर का कोई अन्य केन्द्र हो सकता है। अजपा में श्वास गहरी तथा आराम दायक होनी चाहिए। विभिन्न चरणों में सफलता पूर्वक अजपा अभ्यास इस प्रकार किया जा सकता है।

प्रथम चरण -

1. किसी आरामदायक आसन में बैठ कर आँखे बन्द करके पूर्णत: शान्ति सुख और आराम का अनुभव कीजिए तथा पेट के भीतर तथा बाहर जाने वाली श्वास पर अपने को केन्द्रित करें।

2. गहरी एवं आरामपूर्वक श्वास लेकर अनुभव करिये कि श्वास नाभि तक जाती है और बाहर जाने वाली श्वास नाभि से आती है।

3. अन्दर जाने वाली श्वास में "सो'' और बाहर जाने वाली श्वास में "हं'' को जोड़िये इस प्रकार श्वास-प्रश्वास के साथ "सोऽहं बनता है।

4. एक आवृत्ति के बाद मानसिक शून्यता की स्थिति में आइए और अपनी चेतना को आज्ञा (भ्रूमध्य) अथवा अनाहतचक्र (हृदयमध्य) पर एकाग्र करिये।

5. पुन: आने जाने वाली श्वास के साथ "सोऽहं'' का अभ्यास करिए। कुछ दिनों के अभ्यास के बाद पूर्णता प्राप्त होने पर द्वितीय चरण में अभ्यास प्रारम्भ करें।

द्वितीय चरण –

1. प्रथम चरण का अभ्यास करते समय पहले श्वास लेते समय "सो'' तथा बाहर निकालते समय "ह'' को जोड़ते हैं जो "सोऽहं'' बनाता है। अब द्वितीय चरण में पहले श्वास "ह'' के साथ बाहर निकालते हैं और फिर श्वास सो के साथ लेते हैं जो हंसो बनाता है।

2. एक आवृत्ति के बाद मानिसक शून्यता की स्थिति में आइए और चेतना को आज्ञाचक्र (भ्रूमध्य) अथवा अनाहतचक्र (हृदयमध्य) पर एकाग्र कीजिए।

3. पुन: आने-जाने वाली श्वास के साथ हंसो का अभ्यास करिए। कुछ दिनों तक लगातार अभ्यास से पूर्णता प्राप्त होने पर तृतीय चरण में जाइए।

तृतीय चरण: –

1. किसी स्थिर आसन में सुखपूर्वक बैठकर भीतर तथा बाहर आने वाली श्वास पर चेतना को केन्द्रित कीजिए।

2. अनुभव करिये कि अपनी श्वास नासिका से नाभि तक जा रही है और नाभि से नासिका तक वापस आ रही है।

3. भीतर जाने वाली श्वास के साथ "सो'' तथा बाहर आने वाली श्वास के साथ "हं'' का ध्यान करिये।

4. लययुक्त "सो'' को "हं'' की तरंगों से इस तरह जोडें कि सोऽहं-हंसो की एक आवृत्ति बने।

5. एक आवृत्ति के बाह्य मानसिक शून्यता की स्थिति में आकर अपनी चेतना को भ्रूमध्य पर केन्द्रित करें।

6. पुन: सोऽहं-हंसो की आवृत्ति को दुहरायें।
तृतीय चरण के पूर्ण अभ्यास के बाद अगले चरण का अभ्यास करें।

चतुर्थ चरण: -

1. किसी स्थिर तथा आरामदायक आसन में बैठकर लम्बी श्वास लेकर चेतना को मूलाधार चक्र में केन्द्रित कीजिए।

2. अनुभव कीजिए कि मूलाधार चक्र में कुण्डलिनी त्रिभुजाकार आकृति के अन्दर मुंह नीचे तथा पूंछ ऊपर किये सुप्त है।

3. अब "सो" के साथ श्वास लीजिए चेतना को "सो" की तरंग के साथ मूलाधार चक्र से स्वाधिष्ठान चक्र, फिर मणिपूरचक्र-अनाहतचक्र-विशुद्धिचक्र तथा अन्त में आज्ञाचक्र में केन्द्रित कीजिए।

4. आज्ञा चक्र में श्वास की चेतना को रोक कर "हं" की मानसिक तरंगों के साथ श्वास छोड़ते हुए मेरुदण्ड होते हुए मूलाधार में चेतना को केन्द्रित करें।

5. मूलाधार चक्र से आज्ञाचक्र तक " सो" के साथ आरोहण करते हैं तथा आज्ञा चक्र से मूलाधार चक्र तक "हं" की तरंग के साथ अवरोहण होता है।

इस चतुर्थ चरण का पूर्ण अभ्यास होने पर आगे के चरण में अभ्यास करें।

पंचम चरण -

1. षण्मुखी मुद्रा अथवा योनि मुद्रा (पद्मासन या वज्रासन में बैठ कर दोनों अंगूठे से दोनों कानों को बन्द करें, दोनों तर्जनी से दोनों आंखों, मध्यमा से दोनों नाक के छिद्रों, दोनों अनामिका के ऊपर के ओठ कनिष्ठा से नीचे ओठ अन्द करने पर) की स्थिति में आइए।

2. "सो" की तरंगों को रीढ़ प्रदेश में मूलाधार चक्र से आज्ञाचक्र तक ले जाइए।

3. आज्ञाचक्र में मानसिक शून्यता की स्थिति में आइए।

4. आज्ञाचक्र में मानसिक शून्यता की स्थिति के बाद "हं" की तरंग के साथ आज्ञा चक्र से मूलाधार में मानसिक शून्यता की स्थिति के बाद "हं" की तरंग के साथ आज्ञा चक्र से मूलाधार चक्र तक चेतना को रीढ़ प्रदेश होते हुए ले जाइए।

5. एक आवृत्ति के बाद श्वास छोड़ कर आराम की स्थिति में आइए।

6. पुनः योनि-मुद्रा की स्थिति में आकर "सो" की तरंग को मूलाधार से आज्ञाचक्र तथा "हं" की तरंग को आज्ञा

चक्र से विभिन्न चक्रों से होते हुए मूलाधार चक्र तक की आवृत्ति का अभ्यास करें।

इस प्रकार अजपा के सतत अभ्यास से साधक आत्मा और ब्रह्म की एकता का, हृदय में आत्म पूर्णता की चेतना के आनन्द का अनुभव करके सच्चिदानन्दमय हो जाता है। अर्थात् मानव-चेतना विकास की उच्चतम स्थिति समाधि में पहुँच जाती है।

अजपा द्वारा रोगोपचार -

1. प्राण, मंत्र और चेतना को संयुक्त करने से अजपा बनता है। यह केवल पूजा और जप का एक तरीका मात्र नहीं है। अजपा केवल साधना नहीं है। अजपा सिर्फ समाधि भी नहीं है। अजपा सिर्फ प्राणायाम भी नहीं वरन् अजपा मनुष्य के तीनों आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक-तापों का शमन करता है तथा विभिन्न तनावों क्रमश: शारीरिक तनावों, मानसिक तनावों तथा भावनात्मक तनावों को दूर कर शान्ति प्रदान करता है।

2. अजपा का सतत अभ्यास कुण्डलिनी-जागरण में सहायक हो सकता है।

3. अजपा अनिद्रा, हृदय-रोग, सिर-दर्द आदि अनेक रोगों में भी रामबाण साबित हुई है। तीन प्रकार के तापों को शमन करने के लिये नाथ सिद्धों ने एक मंत्र दिया जिसे अजपा गायत्री कहते हैं। इसके विभिन्न चक्रों के स्थान, देवता तथा अजपा की संख्या बताई गयी है। इसका अभ्यास करने से साधक सभी प्रकार के तापों का शमन करके परम सुख और शान्ति का अनुभव करता है।

हटयोग स्वरशास्त्रग्रंथः

श्रीगणेशायनमः श्रीदेव्युवाच कैलासशिखरासीनंदेवदेवंजगद्गुरुं पृच्छाम्यहंमहंस्वामिब्रूहिमेपरमेश्वरः १ कथंसृष्टिसमुत्पन्नाकथंसृष्टिर्विनश्यति कथंचब्रह्मणोज्ञानंसृष्टिसंहारवर्जितं २ श्रीईश्वरउवाच अविघ्नंचभवेत्सृष्टिविघ्नंचैवविनश्यति अविघ्नंब्रह्मणोज्ञानंसृष्टिसंहारवर्जितं ३ श्रीदेव्युवाच ॐकारादिकथंदेवकथंविद्याचतुर्दश मंत्रपूजातपोध्यानंधर्मकर्मतथैवच ४ ईश्वरउवाच ॐकारादित्रिवेदेविस्पष्टविद्याचतुर्दश मंत्रपूजातपोध्यानंधर्मकर्मचइद

श ५ षडंगवेदचत्वारिमीमांसान्निहितीयकं धर्मशास्त्रपुराणानिविद्याएतेचतुर्दश ६ वेदशास्त्रंभवेत्तावत्यावत्ज्ञानंनविद्यते ब्रह्मज्ञानपदंज्ञात्वाविद्यासर्वेचरेवहि ७ वेदशास्त्रपुराणानिसामान्यगणिकास्वयं यत्तुएषांशांकरीविद्याकल्पमिदंतुषोडश ८ देहस्थसर्वविद्यानांदेहस्थसर्वदेवता देहस्थसर्वतीर्थानीगुरुवचनेषुलभ्यते ९ अध्यात्मविद्याविद्यानांसोक्षंमोक्षंकरंनृणां धर्मकर्मस्तपोजाप्यंपत्रास्थितोनिवर्त्तते १० काष्ट

य

मध्येयूावह्निपुष्पेगंधंपयोघृतं देहमध्येस्तपाज्ञानपापपुण्यवि
वर्जितं ११ खेचरीचभवेन्मुद्रामनोदंडस्तपेवच शालिग्रामसह
जंतुपंचपुष्पेणपूजयेत् १२ धूपंदीपंप्रकत्संचब्रह्मचर्येणितोत्त
मः ब्रह्मज्ञानंस्तपोध्यानंपरंब्रह्मनमोस्तुते १३ इडाभगवती
गंगापिंगलायमुनानदी इडापिंगलयोर्मध्येसुषुम्णाचसरस्व
ती १४ त्रिवेणीसंगमंयत्रतीर्थराजस्यउच्यते तत्रस्नानंप्रकुर्वं
तिसर्वपापैःप्रमुच्यते १५ श्रीदेव्युवाच कीदृशीखेचरीमुद्राकिं २

विद्यास्वेकरीपुनः कीदृशंध्यानमित्याज्ञानंएतद्ब्रूहिमहेश्वरं १६
ईश्वरउवाच शैवंमुद्राजटाबंधमंत्रघोरेणजल्पिते पूजिते‍ऽसर्द्ध
शंखंतु‍ऽर्द्धशंखंतुवादिनं १७ मध्यवायुप्रसंतेचतत्वन्नेदंचतुर्द
शं सर्वनास्तिचरेवाकंपंकल्पतेविषयाश्रितं १८ स्त्रियासौख्यं
क्षीणचित्तंइत्येतैश्चविमोहितं एवंभ्रांतिमयंसर्वंशास्त्रमोहेवि
मोहितं १९ तस्मात्सर्वप्रयत्नेनशास्त्रभ्रांतिपरित्यजेत् २०
यस्यज्ञानस्वभावेन सौख्यमोक्षंभविष्यति त्यक्ताश्चपुण्यपा

पानिमुद्राध्यायंतिखेचरी २१ समंचैवभवेत्मोक्षंसमेचांडाल
पंडितः श्रीदेव्युवाच उमापृष्छमहादेवपिंडब्रह्मांडलक्षणं
२२ पंचतत्वंकथंदेवगुणानिपंचविंशति ईश्वरउवाच अ
स्तिमांसनखश्चैवत्वचारोमस्तथैवच २३ पृथ्वीपंचगुणाप्रो
क्तंब्रह्मज्ञानेनभाषितं शुक्रशोणितमध्येदंमूललालाश्वपंच
मं २४ आपःपंचगुणाप्रोक्तंब्रह्मज्ञानेनभाषितं निद्राक्षुधातृषा ३
श्चैवआलस्यमैथुनेनच २५ तेजःपंचगुणाप्रोक्तंब्रह्मज्ञानेन

भाषितं आकाशेउत्पद्यतेवायुवायुरुत्पद्यतेरविः २६ रविरु
त्पद्यतेवायुवायुरुत्पद्यतेरविः २७ रविरुत्पद्यतेस्तोयंतोयंरुत्प
द्यतेमहि महिविलयतेस्तोयंस्तोयंविलयतेरविः २९ रविविलय
तेवायुवायुविलयतेनभं पंचतत्वंभवेसृष्टितत्वेतत्वेविलीयते
३० पंचतत्वंपरंतत्वंतत्वातीतंनिरंजनं एभैस्थंभनवकारंत्रि
शून्यंपंचदेवता ३१ पंचेंद्रियकुटंबंचयआत्मतत्रमेगृहं ब्रह्मां
डलिखितंसर्वेपिंडमध्येव्यवस्थितं ३२ सर्वाकारविनरूपंतिस

विनाशीनिरंजन निराकारंविनाचित्तंनिराकारंचमन्यते ३३
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन आकारंपरिवर्जयेत् श्रीदेव्युवाच आ
दिनाथममब्रूहिसप्तधातुकथंभवेत् ३४ आत्मापरमात्मा
श्चैव अंतरात्माकथंभवेत् ईश्वरउवाच शुक्रंशोणितमस्थि
दंरोमंचनाडिकास्त्वचं मेदोरसस्तथासप्तधातुएतेप्रकीर्त्तिताः
३५ शरीरंचभवेदात्मा अंतरात्माभवेन्मनः परमात्माचभ
वेच्छून्यंमनोयत्रविलीयते ३६ रक्तधातुभवेन्माशुक्रधातुपि

ताभवेत् शून्यधातुप्रभावेनगर्भपिंडप्रजायते ३७ व्यक्तउत्प
द्यतेपिंडं अव्यक्तंचविनश्यति गर्भाधानंनजानातितत्रसंस्थो
वरानने ३८ यथास्वप्नविनानिद्रायथाचिंताविनामनः तंद
ष्ट्वाचजगत्सर्वंगर्भाधानवरानने ३९ इंद्रियाणिजितायेनम
नंयेनवशीकृतं तंजित्वाचजगत्सर्वंसदेह अजरामरं ४० श्री
देव्युवाच कथंउत्पद्यतेप्राणकथंउत्पद्यतेमनः कथंउत्पद्यते
वाचाकथंवाचाविलीयते ४१ ईश्वरउवाच अविद्योत्पद्यतेप्रा

एप्राणउत्पद्यतेमनः मनउत्पद्यतेवाचावाचामनसिलीयते
४२ श्रीदेव्युवाच कस्यस्थानेवसेच्चंद्रकस्यस्थानेदिवाकर
कस्यस्थानेवसेद्वायुकस्यस्थानेवसेन्नभं ४३ ईश्वरउवाच
तालुमूलेवसेच्चंद्रःनाभिमूलेदिवाकरः सूर्यमूलेवसेद्वायुचंद्रमूलेवसेन्नभं ४४ सूर्याग्रेतुवसेच्चित्तंचंद्राग्रेजीवउच्यते एतेषांगोप्यभेदंचगुरुवचनैर्लभ्यते ४५ श्रीदेव्युवाच कस्यस्थानेवसेच्छक्तिःकस्यस्थानेवसेच्छिवः कस्यस्थानेवसेत्कालंजराकेन ५

प्रजापते ४६ ईश्वरउवाच पातालेवसतेशक्तिर्ब्रह्मांडेवसतेशिवः अंतरिक्षेवसेत्कालोजरातेनप्रजापते ४७ शिवशक्तियदादेवीसंमसंक्रियतेस्वयं नरोगोमरणंतस्यसर्वपापैःप्रमुच्यते ४८ श्रीदेव्युवाच कस्यनामभवेच्छक्तिकस्यनामंभवेच्छिवः एतेषांनिश्चयंब्रूहियदितुष्टोसिभैरवं ४९ ईश्वरउवाच चलंचित्तंभवेच्छक्तिःस्थिरंचित्तंभवेच्छिवः स्थिरचित्तंसदादेवीसदेहंसिध्यतेध्रुवं ५० श्रीदेव्युवाच कस्यस्थानेत्रिधारा

क्तिषट्चक्रसमेवच एकविंशकपंस्वर्गास्सप्तपातालभैरव
५१ ईश्वरउवाच ऊर्द्ध्वशक्तिभवेत्तालुमध्यशक्तिभवेद्धृदं अ
धशक्तिभवेन्नाभिशस्तातीतंनिरंजनं ५२ आधारेगुह्यचक्रं
तुस्वाधिस्थानचलिंगकं मणिःपूर्णनाभिचक्रंहृदिचक्रमनाहृ
तं ५३ विशुद्धिकंठचक्रंतुऊर्द्ध्वचक्रंतुऊर्द्ध्वचक्रंभ्रुवोस्तथा चक्र
भेदंतुयेज्ञात्वाचक्रातीतंनिरंजनं ५४ कथ्योर्द्ध्वचक्रंह्मांडश्व
अधपातालमेवच ऊर्द्ध्वमूलमधःशाखावृक्षाकारकलेवरं ५५ ६

श्रीदेव्युवाच शिवंशंकरमीशानंब्रह्मिमेपरमेश्वरः दशवायु
कथंदेवदशद्वारस्वनिश्चयं ५६ श्रीईश्वरउवाच हृदिप्राण
स्थितोवायुअपानगुह्यसंस्थितं समानंनाभिदेशेतुउदानंकंठ
देशकाः ५७ व्यानंचसर्वगात्रेषुसर्वगात्रेषुसंस्थितं नागंसं
५नी चरतेकूर्मशीलयतेस्वयं ५८ क्रियतंकिंकरंदेविदेवदत्तवसंस्थि
तं धनंजयंतुघोषेणक्षणमात्रेणविस्मृतो ५९ एतावाता
निवातंचसएवयोगलक्षणं नवद्वारप्रत्यक्षेणदशमंगोप्यउ

च्यते ६० श्रीदेव्युवाच नाडिभेदंतुमेब्रूहि सर्वगात्रेषुसं
स्थितं ईश्वरउवाच शक्तिकुंडलिनीचैवप्रसुप्तदशना
डिका इडाचपिंगलाचैवसुषुम्णामूर्द्धसंस्थिता ६१ गांधा
रीहस्तिनीजिह्वापुष्पयोगमनंतथा अलंबाकुहुकाशंखेवचा
मदक्षिणमाश्रयेत् ६२ एतेवाताद्नाशनाडिकारंध्रसव्यते
द्वारंसप्तसहस्राणिशरीरेनाडिसंस्थितं ६३ एतायोवक्तिते
योगीसयोगीयोगलक्षणं बीजमंत्रंचयोवेत्तिसदेवोनचमा

नव ६४ भक्तनाथमहादेवब्रूहिमेपरमेश्वर त्रयोदेवकथंना
मत्रयोभावत्रयोगुण ६५ ईश्वरउवाच बालभावेस्थितोब्र
ह्मायौवनेचजनार्दनः वृद्धावस्थाभवेद्रुद्रत्रयोदेवात्रयोगु
णाः ६६ सत्वभावेस्थितोब्रह्मा रजोभावेजनार्दनं तमोभा
वेस्थितोरुद्रत्रयोमूर्त्तित्रयोगुण ६७ दयाभावेस्थितोब्रह्मा
दानभावेजनार्दनः क्रोधभावेस्थितोरुद्रत्रयोमूर्त्तित्रयोगु
णः ६८ देहरूपांस्थितोब्रह्मानाद्युरूपंजनार्दनं मनरूप

स्थितोरुद्रत्रयोमुर्त्तित्रयोगुण ६९ जरामरणभवेत्तावत्तया
वस्तुत्रिगुणसमं त्रिगुणंचसमंकृत्वाजरामरणविनाशनं
७० एकमूर्त्तित्रयोदेवाब्रंह्माविस्नुमहेश्वर नानाभाव
मनोयस्यमोक्षस्तस्यनविद्यते ७१ वर्षाकालेस्थितोब्रंह्मा
शीतकालेजनार्दनः उष्णकालेस्थितोरुद्रत्रयोदेवात्रयोगुण
७२ एकभूतेपरंब्रह्मत्रैलोक्यंसचराचरं नानाभावमनो
यस्यमोक्षंतस्यनविद्यते ७३ अहंत्रिष्टअहंकालअहंस ८

र्वगतिशिव अहंब्रह्माअहंविस्नुअहंभून्यंनिरंजनं ७४
यथासर्वार्थिकोदेविमनिर्मेघगमोपम स्वभावनिर्मलंशुद्धंस
एवाहंनसंशयः ७५ पुत्रसुतात्मकंमेकंशरीरंसचआत्मकं
तत्वंनापविजानातितत्वएतानसंशय ७६ जितेंद्रियभवे
कूराधर्मिष्ठोसोपिपंडित ससंभवोसत्काघातास्वर्गेहिताहिता
७७ ब्रह्मचर्यंतपोमूलंधर्ममूलंदयापरं सर्वसंगपरित्या
गीब्रह्मेकस्यमाचरेत ७८ श्रीदेव्युवाच सर्वदेवाधिदेव

रं सर्वलोकमहेश्वरं भगनीभ्राताकथंदेवकथंमाताकथंपि
ता ७९ ईश्वरउवाच पिताज्ञानंदयामाताभ्रातायश्चापि
संज्ञयमं भगिनीशांतिसुतंसत्यंचिरंतिष्ठतियोगिनां ८०
श्रीदेव्युवाच योगेश्वरंजगन्नाथउमयापृष्ठतिश्रवम्
वेदसंज्ञास्तपोध्यानंहोमकर्मकथंप्रभुः ८१ ईश्वरउवाच
नवेदोवेदइत्याहुर्वेदब्रह्मस्थिरंमनः ब्रह्मविद्याचवेद्याचस
विप्रोवेदपारगः ८२ मथित्वाचतुरोवेदासर्वशास्त्राणिनिश्च ९

यः सारंचयोगीनंपीत्वातक्रंपिबतिपंडिता ८३ उच्छिष्टंवे
दशास्त्राणिसर्वविद्यामुखेसुखे नोच्छिष्टंब्रह्मविद्याचअविघ्नं
चअनामयं ८४ त्रिसंध्यायत्रसंध्येषुयत्रसंधिगतोगत
यत्रस्नानतपोजाप्यंजरामृत्युनलिप्यते ८५ अपर्वणंत्रयो
संधिनिराकारनिराश्रयं परंब्रह्मयपालीनंसासंध्यासंधि
उच्यते ८६ विषमेचगतेप्राणेनष्टेचंद्रदिवाकरं कालोपिक
थितायांतिसासंध्यासंधिउच्यते ८७ नतपोतपमित्याहुर्ब्रह्म

विद्यातपोत्तम ऊर्ध्वरेतभवेद्यस्तु सदीप्त नचमानवा ८८
नध्यानंध्यानमित्याहु ध्यानंभ्रू न्यगतोमन यस्यध्यान
प्रभावेनसदेहंसिध्यति ध्रुवं ८९ नहोमंहोममित्याहु समा
धिहोमउच्यते ब्रह्मज्ञीहोमयेत्प्राणं होमकर्मस्तदुच्यते ९०
नधर्मंधर्ममित्याहु धर्मस्य आत्मउच्यते यस्यधर्मप्रभाव
नसौख्यमोक्षप्रजायते ९१ नपापीपुण्यमित्याहु पापपुण्य
भवेन्मन तस्मात्सर्वप्रयत्नेन पापपुण्यविवर्जयेत् ९२

नकुलंकुलमित्याहु अकुलंभवतेकुलं क्षयामोक्षोभवेयस्य
कुलवंशप्रकीर्त्तितं ९३ दानंतपस्यशौर्यंचविद्यामोहेविनि
स्पृषु कामं उत्पद्यतेषड्ज्ञानहीनेविनश्यति ९४ यावत्व
र्णानिसर्वेषांयावत्ज्ञाननविंदति ब्रह्माज्ञानंपदंज्ञात्वास
र्ववर्णविवर्जयेत् ९५ श्रीदेव्युवाच यत्वयाकथितंनाथना
हंजानामिशंकर निश्चयंब्रूहिमेदेवब्रह्मज्ञानस्यलक्षणं
९६ ईश्वरउवाच मनोवाचानिकर्माणित्रयोयत्रविलीय

ते विना स्वप्नेभवेन्निद्रा ब्रह्मज्ञानस्यलक्षणं ९१ इतिश्रीब्रह्म
ज्ञानेउमाईश्वरसंवादेप्रथमोध्यायः श्रीदेव्युवाच घोरा
शीलक्षभूतानि सृष्टिनाथस्यचेतसां शुद्धंभवसमोलोके
चिंताहीनंनदृश्यति १ ईश्वरउवाच श्लोकार्द्धंचप्रवक्ष्यामि
यथोक्तंग्रंथकोटिभिः सर्वचिंतापरित्यक्त्वानिश्चितंखगमोप
मं २ निमिषंनिमिषार्द्धंचसमाधिमनगच्छति जन्मजन्म ११
निक्रियतेपापंनातिविनश्यति ३ एषांचखेचरीमुद्रा एषांवि

घाचशांकरी महामुद्राभवेद्देवि यत्रचिंताविनाशनि ४ एवं
समाधियोगेन एतदाध्यात्मउच्यते एतेषुपदनिर्वाणं यत्रचिं
ताविनाशयेत ५ शिवशक्तिसमागंगाशक्तिसूर्यसमागमं
एतेषुब्रह्मणेज्ञानं यत्रचिंताविनश्यति ६ इत्येतत्कथितंज्ञा
नंगर्भध्यानंचचिंतनं एतेषांसहजंदेवि यत्रचिंताविनाशनं
७ मोक्षमार्गइदंदेविइदंचआत्मशल्य एकोपिसृष्टिकर्त्ता
चयत्रचिंताविनाशनी ८ अश्वमेधसहस्त्राणि राजसूयश

तानिच ब्रह्मज्ञानं स्थिरं पुण्यं कलां नार्हंती षोडशीं ९ सर्वदाने
षु यत्पुण्यं सर्वतीर्थेषु यत्फलं ब्रह्मज्ञानमिदं पुण्यं कलां नार्हति
षोडशीं १० नामित्रं गुरु समानं न पिता गुरु बांधवा तस्यापि गु
रुसन्मानं दर्शनं परमं पदं ११ एकाक्षरमयं वस्तु गुरुः शिष्यं।
निवेदयेत् पृथिव्यां नास्ति तद्द्रव्यं यद्दत्वा मनृणी भवेत् १२ अ
तिसौख्यं अत्याहारं अतिनिद्रा अतिजल्पनं कल्पनासंगवच
नो योगी षट्कर्म वर्जयेत् १३ मंत्रपूजा तपोध्यानं होमजाप्य १२

चलिखिते त्यजंति सर्वकर्माणि लोकमार्ग परित्यजेत् १४ स॰
संगो बहवो दोषाः निःसंगो बहवो गुणाः आत्मा सर्वप्रयत्नेन यती
नां संगवर्जयेत् १५ स्थिरं मन न भवेन्नित्यं जाग्रतोपि दिवा
निशि सर्वचिंताविनाशाय त्यक्तसंगजितेंद्रियः १६ काष्टमा
रसहस्राणि पावको दहते स्वयं पापपुण्य उभौ पक्षौ दह्यते ज्ञा॰
नवह्निना १७ अज्ञानेन कृतं पापं ज्ञानभावे विनश्यति ज्ञान
भावे कृतं पापं जललेपो न विष्यति १८ भेदं यस्य न जानाति शा

स्नांतस्यकरोतिकिं मनोयत्रलयंयांतित्यक्त्वातत्रकपंभवेत्
१९ सर्वशून्यमनंकृत्वानचिंताचिंतयेत्सुनः चिंताहीने
मनंभूत्वामोक्षंतत्रनसंशयः २० सर्ववस्तुविनिर्मुक्तोसर्व
चिंताविवर्जितः सतंवातिष्टतेयोगीसमुक्तोनात्रसंशयः २१
ननादेनबिंदुश्चैवनचिंतानपिबेत सम्यासंदुष्करंघोरं
राजयोगस्यविदितं २२ जाग्रतापियावत्निंद्रातावन्मत्य ७
भयंकुतः यावत्बंधोनभोमुद्रास्तावत्मृत्युभयंकुतः २३

यावत्वायुस्थितोदेहेस्तावत्मृत्युभयंकुतः यावत्बंधुन
भोमुद्रातावद्बिंदुनगच्छति २४ यावद्बिंदुस्थितोदेहेतावत्
मृत्युभयंकुतः आलस्यंचतथानिद्राचंचलोपिपपात्मनः त्रि
भिःकालंनपश्यंतित्रयोत्पत्त्यात्वसिध्यति ग्रामेवायदिवारण्ये
शुचिवायदिवाशुचि २५ स्नात्वावायदिवास्नात्वाब्रह्मज्ञानेस
दाशुचि ऊर्ध्वनेत्रयतीश्चैवस्वभावोयदिदृश्यते २६ यतीनिं
दाभवेद्यस्तुस्नानेनैवविशुद्धयेत् भिक्षाहारीनिराकारीभि

ज्ञानैवप्रतिग्रहः अवधूतत्वियंप्रोक्तं सोमपानंदिनेदिने
२८ अल्पाहारंभवेन्मस्कनिराहारंतपेवच तस्मात्सर्वप्रय
त्नेनसंयमेनप्रवर्त्तते २९ ब्रह्मचारित्वएंनारीत्वएंप्र
स्यजीवनं ब्रह्मज्ञानीत्वएंशास्त्रंनिस्प्रहस्यत्वएंजगत्
३० ब्रह्मज्ञानंरसंस्वादंत्यप्यंतेपरमात्मनि इंद्रियस्यमन्य
तेशंकः काकपानंपकीटकं ३१ चलंचित्तंचलंरूपंस्थिरंचि १४
त्तेषुयोगिनः देहंविलीयतेच्चित्तंविज्ञानंब्रह्ममात्मनं ३२

देहंविलियतेचित्तंविज्ञानंब्रह्ममात्मनं यत्रयत्रमनोयांतित
त्रतत्रसमाधयेत् ३३ यत्रयत्रगताद्दष्टितत्रतत्रगतंमनः
यत्रयत्रशिवस्थानंयत्नेनतत्वदर्शनं ३४ स्थिरसोमोस्थितो
योगीचिंतानिद्राविवर्जितः षष्टमासात्भवेत्सिद्धिनान्यथा
श्ववरानने ३५ श्रीदेव्युवाच आदिभूतंकथंनाथंकेनसृ
ष्टिचनिर्मितं व्यापकंचकथंभूतंतन्मेब्रूपरमेश्वर ३६ ईश्वर
उवाच शून्यमध्येमहेदेवि शून्यमाकाशमन्यते स्वभावंचस्व

रूपंचभूतंपांतिनसंशयः ३७ भूतेननशपंतेदेविभवं।बीजंन्च
मध्यतु शब्भूत्वामियंसृष्टिभावमाकाशसंभवं ३८ देव्यु
वाच केनरूपंभवेछून्यंकपंचशब्दउच्यते व्यापकंचकपंश
ष्टंकपंतेचमहेश्वर ४० कपंचभवतेवायुकपंचवह्निसंभ
वं कपंउत्पद्यतेचापंक्षितिमेवकपंप्रभु ४१ ईश्वरउवाच
वृत्तीकारंचशून्यंचगोलकारंचसंभवं तन्मध्येउद्भवोसर्व १५
व्यापकंसन्मुखोभवेत् ४२ पूर्वेचभवतेवायुदक्षिणेवह्निसंभव

पश्चिमेसंभवेचापंउत्तरस्यापियोगयेत् ४३ यत्रयाजग
तिनास्तितत्रस्थानेनतिष्टति भवशून्यसमाश्रित्यसत्यंसा
धनमारुतं ४४ आपुर्वद्धिस्तपाप्तोक्तंयपादशपतिचंद्रमा
स्तपातुपुण्यभावेननान्यथाचिरविंदति ४५ अकारबिंदुरू
पेणउकारंनामउच्यते मकारंमारुतंवह्नियकारंविजसंस्थि
तं ४६ वकारंवरुणंचैवसकारंशिवउच्यते जीवशीवसमाधानं
वेदशास्त्रप्रकाशितं ४७ शब्दाक्षरमयासिद्धिमंत्रसिद्धिप्रका

त्यितं शुभासिद्धिमया ज्ञातं भुक्तिमुक्तिफलप्रदं ४८ शून्यस्य ज
न्मदातारं शून्यं शून्यस्यमेव च समस्तगुणसंपन्नं निष्कलं सक
लंकृतं ४९ शून्यमध्ये समुत्पन्नं त्रैलोक्यं सचराचरं गुरुदी
नानपश्यंति विवेकार्थस्य उच्यते ५० शून्यं भावं च कर्त्तव्यं मु
क्तिमार्गं च मिच्छति बीजमपि स्थितो सोपि कुरुते नाव मक्ष
यं ५१ शून्यभावसमाश्रित्य दृश्यंते वाह्नि योगिनां भावशून्यं च १५
मेकस्तु जन्मशुद्धिप्रदापकं ५२ कथ्यस्य कर्मबंधस्य याति

लोकमनेकधा एकाक्षरम पश्यंति भिन्ना लावान भाषितं ५३
असोदरं समुत्पन्नं ब्रह्मांड लोकसप्त अयोनीचमहामाया भग
लिंगसमोपम ५४ मुखयोनिसमोक्तेन जिह्वालिंग समाचरे
त् उभयोः कर्मणे जन्म वेदशास्त्र विनिर्जितः ५५ मनं च क्रियते
शून्यं त्रयनास्ति स्वरूपकं भावश्च निष्कलं यत्र मोक्षस्तत्र न संश
यः ५६ रूपगंधरसस्पर्श्व स्वादं परस्यमेव च गुणं त्यक्त्वा भवेज्जीव
मोक्षस्तत्र न संशयः ५७ कल्पना सर्वसंत्यक्त्वा मनोविकारवर्जि

त्थितं शुभासिद्धिमयाज्ञातं भुक्तिमुक्तिफलप्रदं ४८ शून्यस्यज
न्मदातारं शून्यं शून्यस्यमेव च समस्तगुणसंपन्नं निष्कलं सक
लं कृतं ४९ शून्यमध्येसमुत्पन्नं त्रैलोक्यं सचराचरं गुरुदी
नानपश्यंति विवेकार्थस्य उच्यते ५० शून्यंभावंचकर्त्तव्यंमु
क्तिमार्गंचमिच्छति बीजमपिस्थितोसोपिकुरुतेनावमक्ष
यं ५१ शून्यभावसमाश्रित्य दृश्यंतेवह्नियोगिनां भावशून्यंच
मेकस्तु जन्मशुद्धिप्रदायकं ५२ कथ्यस्यकर्मबंधस्ययांति १५

लोकमनेककथा एकाक्षरमपश्यंति भिन्नाभावानभाषितं ५३
असोदरं समुत्पन्नं ब्रह्मांड लोकसप्त अयोनीचमहामायाभग
लिंगसमोपमम् ५४ मुखयोनिसमोक्तेन जिह्वालिंगसमाचरे
त् उभयोःकर्मणो जन्म वेदशास्त्रविनिर्जितः ५५ मनंचक्रियते
शून्यंत्रयनास्तिस्वरूपकं भावश्च निष्कलं यत्रमोक्षस्तत्रनसंश
यः ५६ रूपगंधरसश्चैवस्वादं परस्यमेवच गुणं त्यक्त्वा भवेज्जीव
मोक्षस्तत्रनसंशयः ५७ कल्पनासर्वसंत्यक्त्वामनोविकारवर्जि

तं क्षुधास्वप्नस्तस्यापा निद्रास्तक्तामोक्षनसंशय ५८ लोभ
मोहपरित्यक्तासुखदुःखविवर्ज्जितः अन्यपवर्गेक्षपित्वाचस
योगीमुक्तिउच्य ५९ चलंचनिश्चलंभुत्वाविषमंमनउच्यते
दंरचैवदुराध्यानंतपादिदुरकर्मणि ६० श्रीदेव्युवाच भूतसि
द्धिकथंदेवकायसिद्धिकथंपुनः भावसिद्धिकथंनाथदययाकुरु
मेप्रभु ६१ ईश्वरउवाच भावनासाधयेत्साढूप्राणन्यवह्निसं
भवं वह्निस्तुसाधयेत्तोयंतोयमध्येजनत्रयं ६२ तत्रश्रेष्ठंच

तं सुषुप्तस्वप्नस्तस्मापा निद्रास्तस्मामोक्षनसंशय ५८ लोभ
मोहपरित्यक्तासुखदुःखविवर्जितः अन्यपवर्गेक्षिपित्वाचस
योगीमुक्तिउच्यते ५९ चलंचनिश्चलंभूत्वाविषमंमनउच्यते
दरंचैवदुराध्यानंतपादिदुरकर्मणि ६० श्रीदेव्युवाच भक्तसि
द्धिकथंदेवकायसिद्धिकथंपुनः भावसिद्धिकथंनाथदययाकुरु
मेप्रभु ६१ ईश्वरउवाच भावनासाधयेत्स्मात्प्राणन्यवर्द्धिसं
भवं वह्निस्तत्साधयेत्तोयंतोयमध्येजनत्रयं ६२ तत्रश्रेष्ठंच

भक्तानांजीवरूपंश्वरेश्वरी अनेनअभ्यसयेदापंत्र्यापस्यसर्व
देवता ६३ भावस्यसाधनंमोक्षंभावंभावस्यदीयते सगति
चस्थितोयोगीयोगीचित्तविनश्यति ६४ क्षेत्रस्यजन्ममा
कारंभावनीयंपरंहितं स्वभावंसलिलंतस्यात् दह्यंतेसर्व
किल्बिषं ६५ अदेहश्चगतोभावदेहंचैवपरित्यजेत् मतस्त
त्स्वैवतुगच्छतितन्मोक्षंपरमेश्वरी ६६ देहीनांचत्वयाभावा
प्रकृष्टंभ्रमितोमहि गात्रेनविद्यतेयोगीतस्मादेहनिरंजनं

६७ भावस्यभावतीतस्यकर्मणप्रतिमां चरेत् जीवन्मु
क्तभवेसोहंसत्यंसत्यंवरानने ६८ स्वयंब्रह्मा स्वयंविष्णुस्व
यंदेवमहेश्वरः स्वयंचंद्रस्वयंसूर्यपुण्यपापस्वयंस्वयं
७० श्रीदेव्युवाच कथंव्रतंकथंचित्तंकथंहोमोपिल
क्षणं कथंपूजाकथंज्ञानंकथंमोक्षंचभैरवं ७१ ईश्वरउ
वाच भावाग्निद्रवसंन्यासंव्रतानांव्रतमुत्तमं उत्तमव्रत १८
योगस्यजीवन्मुक्तिश्चलक्षणं ७२ दीक्षामेकेवलंप्रोक्तंतपो

निष्ठाचकेवलं देवताश्चगुरुभक्तोजन्मानिप्रतिमाचरेत्
७३ उत्तमंआत्मचित्तस्यमध्यमंवेदपारगं कनिष्ठगीतवा
द्यंचवाक्यवांश्चधमाधमं ७४ स्तालुकाग्रेचितंध्यात्वायोगाभ्या
सेनयोगिनां तत्रस्यंसर्वसिद्धिश्च सयुक्तोनात्रसंशयः ७५
श्रीदेव्युवाच कस्यमुक्तिभवेन्मोक्षंकस्यमुक्तिश्चबंधनं नोपली
नंयथानिष्ठाआसासिआत्मकारकं ७६ ईश्वरउवाच अस्मि
न्सनरयंरूढामायारूढं तनंत्यजेत् नतस्यजायतेमोक्षंपूर्व

जन्मभविष्यति ७७ ज्वलेन जायते देवि व्याघ्रसर्पेवि
घे तथा मुक्तिस्तत्र न विद्यते शोकसंतापकारक ७८ आ
धिरोगप्रपीड्यंते मद्यपानात्तथैव च स्त्रीपानां लिंगने मत्स्य
निद्रामोक्षन गच्छति ७९ सुते मृते तथा मत्स्य क्षेत्र संज्ञाश्चमेव
च उत्तमं मध्यमं चैव कनिष्ठं मुक्ति उच्यते ८० उत्तमं योग
मस्तुश्च रोग मत्स्यश्च मध्यमं कनिष्ठं रग्नि मत्स्यश्च कष्टेन
कश्च विद्यते ८१ कनिष्ठमध्यमं चैव उभौ जन्म प्रजायते यो ९

गमत्स्यश्च ये मुक्ति ते मुक्ति नात्र संशयः ८२ श्रीदेव्युवाच
कथं वायुसमुत्पन्नं कथं वायुविलीयते कथं वक्त्रे च वायुश्च ब्रू
हि मे परमेश्वर ८३ ईश्वरउवाच नाभिपद्मोच्यते वायुकंठ
पद्मे विलीयते तालुकजिह्वा संयुक्ता वायुकं वदस्यति ८४
श्रीदेव्युवाच आहारं भुंजते केन कोसौ वापिबले जलं जा
ग्रतं स्वपितं केन कोसौ वा प्रति बुध्यति ८५ ईश्वरउवाच ज
लं च पिबते प्राण भक्षितो पि हुताशनः सोहं च सुप्तते देवी जा

स्तोयातिनिर्भया ८६ श्रीदेव्युवाच आगतोदयकोदिदं ग
त्वाकेनयिमागतं अप्रवायुचकपंनापमलपंकं कथंभवेत्
८७ ईश्वरउवाच ॐकारोसौपियोगींद्रशून्यंचनिर्मलंपदं
मत्रलपंकमृयोपत्रस्तत्रदेवोनिरंजन ८८ श्रीदेव्युवाच
किंफलंजायतेवृक्षं किंवृक्षंजायतेफलं कोतत्रप्रथमोजा
तवृक्षानिफलमेवच ८९ ईश्वरउवाच वृक्षस्यजायतेशा
खाशाखायांफलउच्यते इतिप्रवर्त्तितेलोकेवृक्षाकारकले २०

वरं ९० मूलंचभवतेकस्यबीजंचममसुंदरी मूलंचब्रह्मदेव
स्यत्रिदेवदेहसंभवं ९१ इतिश्रीब्रह्मज्ञानेउमामहेश्वर
संवादेद्वितीयोध्याय: २ ईश्वरउवाच स्तनमध्येस्थितंपद्मं
पद्ममध्येस्थितोमन मनमध्येस्थितंचित्तंचित्तमध्येततो
रिपु १ रिपुमध्येभवेत्पिंडंपिंडमध्येभवेद्धरा धरामध्ये
भवेद्ज्ञानंभावंचमोक्षगामिन २ एतानिव्यापितादेवि ऊर्द्ध मे
दसमोखग शरीरंसर्वतोसर्वशुभाशुभानिउच्यते ३ अस्थि

गतोयातिनिर्भया ८६ श्रीदेव्युवाच आगतोदेवकीदेहंग
त्वाकेनधिमागतं अवायुचकर्पनापमलपंकं कपंभवेत्
८७ ईश्वरउवाच ॐकारोसोपियोगींद्रश्चन्यंचनिर्मलपदं
मनलपंकमप्योपत्रस्तत्रदेवोनिरंजन ८८ श्रीदेव्युवाच
किंफलंजायतेवृक्षं किंवृक्षंजायतेफलं कोतत्रप्रथमोजा
तवृक्षानिफलमेवच ८९ ईश्वरउवाच वृक्षस्यजायतेशा
खाशाखापांफलउच्यते इतिप्रवर्त्तलोकेवृक्षाकारकले २०

वरं ९० भलंचभवतेकस्यबीजंचममसुंदरी मूलंचब्रह्मदेव
स्यत्रिदेवदेहलंभवं ९१ इतिश्रीब्रह्मज्ञानेउमामहेश्वर
संवादेद्वितीयोध्यायः २ ईश्वरउवाच स्तनमध्येस्थितंपद्मं
पद्ममध्येस्थितोमन मनमध्येस्थितंचित्तंचित्तमध्येततो
रिपु १ रिपुमध्येभवेत्पिंडंतपिंडमध्येभवेद्घट्रां पद्ममध्ये
भवेद्भावंभावंचमोक्षगामिन २ एतानिश्रापितादेवि ऊर्द्धमे
दसमोरवग शरीरंसर्वतोसर्वशुभाशुभानिउच्यते ३ अस्थि

श्वरक्तमेदश्चमांसचर्मस्तथैवच पंचकंचस्थितंदेहंपंच
धातुश्चमेवच ४ क्षुधातृषातथानिद्राआलस्यंरतिमेवच
प्रकृतिश्चभवेन्नीचशरीरेनात्रसंशयः ५ प्राणपानोत
थाव्यानोसमानोदानएवच शरीरेजायतेपंचवायवोत्रप्र
कीर्तितं ६ ॐभूर्भुवः ॐस्वः ॐमहः ॐजनः ॐतपः ॐसत्यको
ॐकारंसर्वदेवस्यगुरुवचनेनलभ्यते ७ शरीरेविंदतेयेन
सयोगीकुलनंदन लोकातःकवयोमध्येवक्त्रंचव्यवस्थित २१

सरस्वतीचजिह्वाचप्रत्यक्षंजीवउच्यते तात्रैवतिष्ठतिदेवि
बिंदुश्चसूक्ष्मरूपिणं ८ संपूर्णसत्यकपालंआधानंमध्यमेव
च ९ पिप्पलायानितीर्थानिसमरेपोविलंबितं १० शरीरेवस
तेदेवगुरुवाक्येनलभ्यते वामभागेवसेच्चंद्रः दक्षिणेसूर्यउच्य
ते ११ तत्रमध्येस्थितोबिंदुलिंगशुक्लेस्तथैवच वक्रनेत्रसमा
ख्यातंसर्वसंसारसावहं १२ एतानिनवग्रहंप्रोक्तंमूलचक्रेषु
संस्थितं गुरुवचनेनलभ्यंते दुर्धरस्यकलेवर १३ सत्यध्या

कथ्यामश्वमहाचक्राणिलक्षयेत् योगंतस्यक्षयंनास्तिअक्षयं
परमेश्वरं १४ श्रीदेव्युवाच मोक्षंभवतुकस्मात्तुसुरासुरस्य
केवलं गंधर्वयक्षनागाश्चब्रूहिमेपरमेश्वरः १५ ईश्वरउवा
च शृणुदेविप्रवक्ष्यामियोगिनांसर्वकारणं एवंचलभंतेमोक्षं
स्मरणंध्यानधारणात् १६ भवेन्मुक्तिफलंतस्ययोभवेद्गुरुसे
वकं युगेयुगेस्वयंतिष्ठंध्यायंतेपरमेश्वरं १७ ब्रह्माविष्णुश्चरु
द्रस्यअन्येयेकोपिदेवता युगेयुगेक्षयंयातिअक्षयंपरमेश्वरं १२

१८ चंद्रस्यतारकाश्चैवग्रहनक्षत्रएवच क्षयंयांतितेसर्वेतिष्ठं
तोपिनिरामयं १९ क्षयंतेपर्वताःशैलाक्षयंतेसागरासह युगे
युगेक्षयंयांतिअक्षयंपरमेश्वरं २० क्षयंस्वयंपरित्याज्यंध्यायं
तस्यमहेश्वरं योगयुक्तःसदातिष्ठन्निर्भयंभयवर्जितं २१ अभा
वंभावसंचित्तंतस्यमुक्तिनसंशय अपारंमोक्षकर्माणिसत्यंचै
वनिरामयं २२ श्रीदेव्युवाच किंचित्वापिनरास्तस्यकिंचित्कर्म
कराणिच किंचित्पिंडप्रदानेनकिंचित्होमंफलंस्फुटं २३

ईश्वरउवाच नदेवं अर्चितं देवि पिंडक्षेत्रं रूपाकृति ज्ञानेनकु
र्वते चित्तं नपुनर्गर्भसंभवं २४ एषां चलभंते धर्मं भुक्तिमुक्तिन
संशय यदिवाहृततेदेहं सुखं वस्त्रं पनं लभेत २५ सर्वकर्मप
रित्यक्त्वा ध्यानं कुर्वन्निरामयं नेदशास्त्रं वसौगोवं संगोपं तिष्ठ
तिसदा २६ अश्वमेधसहस्राणि राजसूयशतानिच विना
ज्ञानेनमोक्षं चसफलं निःफलं भवेत २७ तेषां नलभते मोक्षं ध
र्मस्त्रिवर्गाननेन मूलं चयेनजानातिनसेव्यं परमंपदं २८ निः २३

फलं जायते देवि कष्टेनैव फलं भवेत गयाप्रयागं कुरुक्षेत्रं के
दारं उदकं पिबेत २९ तपं नैव भवेत्तावत यावद्गुरुनसेव्यते अ
समर्थे न जानाति अविघ्नं परमेश्वरं ३० अध्यिपत्वं मनोभूत्वा
योगिन्योसोपिउच्यते अन्यमूर्त्ति निराकारं तं नाथं प्रणमाम्यहं
३१ कैवल्यं केवलं शांतं सच्छंदो परमं पदं चतुर्युगसमानित्यं तं
नाथं प्रणमाम्यहं ३३ यस्यमोहं क्रियानास्ति पुण्यपापस्तथैव
च नसमं विषमं चैव तं नाथं प्रणमाम्यहं ३४ अविघ्नं परमं देवं

निरालंबंनिरामयं पदासर्वसदास्वयंतंनाथंप्रणमाम्यहं ३५
एतद्बोरुमुखोज्ञानंतत्वरूपंनिरंजनं अंतरेवफिजानातितं
नाथंप्रणमाम्यहं ३६ श्रीदेव्युवाच एकत्वादेवमयासर्वेहंसदा
नंचसुत्तमं भूयोहंसोपिमिछामिमोक्षतत्वमनामयं ३७
रजबिंदुदूज्ञानस्याहंसाभेदेनसंभवं विदितेदेवसद्भावंप्रसादं
कुरुमेप्रभो ३८ ईश्वरउवाच साधुसाधुमहादेविसर्वस्यापि
प्रबोधिता तत्वंहंसप्रवक्ष्यामितवस्नेहंतुपार्वती ३९ दुर्लभं

२४

सर्वदेवानांयोगीनांचतपेवच आयतेसूर्यनादेनसमंबिंदुस्य
निर्मितं ४० जीवोभूतात्मनश्चैववामदक्षिणमस्तिते सएवंपर
मंहंससर्वदेवंसनातनं ४१ सब्रह्माचस्वयंविष्णुसोपिशंभुसदा
शिवं सोशाकस्यमहाध्यानंगंगायमुनसंस्थितं ४२ सुषुम्णगत
स्यमध्येतुपवनंचवायुसंस्थितं तस्यऊर्ध्वेशिवस्थानंदिशापार्श्व
मलक्षयेत ४३ तालुकाग्रेनवायुनतंज्ञानंचेष्टमेष्टितं अनंतो
सोपिमार्गेणतन्मध्येसप्तसागरा ४४ आकाशेउदयेनित्यंसो

निरालंबंनिरामयं यदासर्वसदास्वयंतंनापंपरममाम्पदं ३५
एतद्योरुद्युकोज्ञानंतत्वस्वरूपंनिरंजनं अंतरेवष्टिजानातितं
नापंपरममाम्पदं ३६ श्रीदिक्षवाच श्रुत्वादेवमयासर्वेहं सधा
नंचमुत्तमं भूयोहंसोपिमिच्छामिमोक्षतत्वंअनामयं ३७
रजबिंदुर्द्ध्यानस्यहंसोभेदेनसंभवं विदितेदेवसद्भावंप्रसादं
कुरुमेप्रभो ३८ ईश्वरउवाच साधुसाधुमहादेविसर्वस्यापि
प्रबोधिता तत्वंहंसप्रवक्ष्यामितवस्नेहंतुपार्वती ३९ दुर्लभं
२४

सर्वदेवानांयोगीनांचतथैवच जायतेसूर्यनादेनसमंबिंदुस्य
निर्मितं ४० जीवोभूतात्मनश्चैववामदक्षिणमस्तिते सएवंपर
मंहंससर्वदेवंसनातनं ४१ सब्रह्माचस्वयंविष्णुसोपिशंभुसदा
शिवं सोचाक्षस्यमध्यानंगंगायमुनसंस्थितं ४२ सुषुम्णागत
स्यमध्येतुपद्मंचवायुसंस्थितं तस्यऊर्ध्वशिवस्थानंदिशापार्श्व
मलक्षयेत ४३ तालुमार्गेनवायुनतंज्ञानंचेष्टमेष्टितं अनंतो
सोपिमार्गेणतन्मध्येसप्तसागरा ४४ आकाशेउदयेनित्यंसो

मबिंदुसशोभनं गंतव्यंतेनमार्गेणयदिछेन्मुक्तिमुत्तमं ४५
साधनंविषमादेविख्यातंव्यंहितकारकं गंगास्नानंभवेन्नित्यं
मुच्यतेसर्वकिल्बिषं ४६ संकोच्यंनाभिचक्रंतुतालुकास्यपिलिं
गकं दातव्यंसगरेगंगासपितेजोसदाबुधे ४७ तेनैवसंचरेत्स्मा
हुराजपंथंसुशोभनं पद्मंचसंस्थितेगुह्यंपुष्पंचसयमुत्तमं
४८ उदयंध्वनिशब्दंतुध्वनिबिंदुव्यवस्थितं बिंदुमध्येभवे
ज्योतिज्योतिमध्येभवेछिव ४९ शिवमध्येभवेल्लिंगंअलक्षंश्च

नसंतितं सास्वत्त्वंभवेत्सोपिपवनोसूर्यसंस्थितं ५० बंधये
त्वेनचंद्रस्यरंचित्ताविसमन्वितं भूमिगंस्थापयेल्लिंगंमोक्षं
दक्षिणनासिके ५१ लभ्यंतेतः शिववाक्यंहंसस्यपरमंपदं
भवतेसर्वभूतेषुदत्रपतेनतुलभ्यते ५२ येकोपिविंदतेतस्यांसदे
वोनचमानव नतस्यपुनरेजन्मलभेन्मोक्षमनामयं ५३ सबाह्या
भ्यंतरेलक्षंअभ्यासंतिदिनेदिने तस्यमोक्षलभेदेविसांतिसांश
पनंयदि ५४ अतःपरंनहिस्तिपांअपणेरात्रंचसर्वशः आका

शंस्तवते स्तोयं तस्येव पूर्णमोक्षदं ५५ सर्वकर्म परित्यज्यक
र्तव्यं लिंगपूजनं आकोचनं सर्वदेहं नमोस्तु सूर्यमंडलं ५५
तं ५ गंधं तं सपुष्पं च तं धूपं दीपमुत्तमं दातव्यं सोपि नैवेद्यं हं स
वानस्य उच्यते ५७ त्वं होमं त्वं समिधाग्नि त्वों कारं मंत्र उच्य
ते प्रभगं पूजयेल्लिंगं एतस्य परमेश्वरं ५८ इदं वेदमिदं शास्त्रं
इदं ज्ञानाच मोक्षदं इदं ब्रह्मा इदं विष्णु इदं शक्ति इदं शिव ५९ इ
दं हं साक्षरं देवि इदं ध्यानं इदं तपं इदं मंत्र इदं पूजा एवं देवस्मना २६

मयं ६० इदं बलि इदं होमं इदं स्नानं च तर्पणं इदं तीर्थं इदं क्षेत्रं इ
दं देवस्य विंदति ६१ श्रीदेव्युवाच आदिनाथस्य को नाथ त
स्य नाथस्य को गुरु एतन्मे संशयं देव स्वदनामव दप्रभु ६२ ईश्व
र उवाच आदिगुरु अनादिश्च अनादिश्च निरंजन निरंजन
स्य गुरु नास्ति किं देवि नाति प्रछति ६३ श्रीदेव्युवाच चराचरि
त्र विस्तीर्णं ध्यायं ध्यानलयं गत विलयं स्तत्र सद्भावं कथं तिष्ट
ति योगिना ६४ ईश्वर उवाच स्वभावस्य स्वरूपश्च सुसंदेव

स्यतेजसा सानंदं सहजाक्षरं स्वयं तिष्ठंतियोगीना ६५ देव्युवाच कालाग्निदह्यते सर्वं पिथ्वांवनकाननं तृषातोयेस्वयं नास्तिकिंवाभक्षंतियोगिना ६६ ईश्वरउवाच शिशिमध्येकलासूक्ष्मसुप्रवाहंसुधामयं तद्रसंयोगिनंपीत्वाकलाभुंजंति तेध्रुवं ६७ देव्युवाच कालश्चैवतुकिंरूपंविकालंकिंचरूपते अहन्यमनेजानामिब्रूहिमेपरमेश्वरं ६८ ईश्वरउवाच कालश्चैवज्ञानेनास्तिविकालस्यतथैवच कल्पनाकालमादायसोयंति ३७

ष्टंअपहोनिरं ६९ श्रीदेव्युवाच सदाश्चकल्पनानास्तितथा चित्तमनामयं केनोपायंदेवदेवंचित्तस्यनिर्मलंभवेत् ७० ईश्वरउवाच अपेयंचित्तमाख्यातंसर्वरूपरित्यजेत् सोहंचित्ताग्निपीत्वाचनिर्मलंजायतेध्रुवं ७१ श्रीदेव्युवाच कथंमुत्पद्यतेचित्तं किंवाचित्तस्यलक्षणं स्थिरंभवतिकिंरूपंविक्षामिगुरुशंकरं ७२ ईश्वरउवाच आकाशोत्पद्यतेचित्तंचंचलंचित्तलक्षणं पत्तस्यकल्पनानास्तितत्रदेवलयंकुरु ७३ श्रीदेव्युवाच क॰

ल्पनासर्वमाख्यातंत्रैलोक्येसचराचरं कथंउत्पद्यतोऽन्यन्मिन
जानामिमहेश्वर ७४ ईश्वरउवाच आत्मानास्तितथारू
पंनास्तिकिंचिज्जगत्रयं बुद्धिवाचामनोनास्तितत्रदेविकल्पक
ल्पितं ७५ यत्रकिंचित्क्षयानास्तितत्रकालेनगच्छति पापपु
ण्यनतत्रस्यजरामरणनलिप्यते ७६ पापपुण्यजरामरणस्थू
लसूक्ष्मत्वयामया एतद्भ्रांतिपरित्यज्यस्वरूपंभवपार्वती ७७ श्री
देव्युवाच जगत्प्रभुजगन्नाथत्वमेवजगतांगुरु निर्भ्रांतिनिर्म १८

लंज्ञानंस्वरूपंयदिविंदति ७८ ईश्वरउवाच स्वरूपंपदप्रसा
देनविंदतिपरमंपदं शरीरेबंधमुद्राचसत्यंक्षयतंप्रभु ७९
श्रीदेव्युवाच ब्रह्मद्वारंचकिंरूपंगम्यतेकेनबंधुनात् अहि
मेदेवदेवेशरजोवीर्यप्रसाधनं ८० ईश्वरउवाच इडापिंगल
योर्मध्येसुषुम्णाधारमंडलं मुद्राबंधविशेषेणवायुमूर्ध्वस्यका
रय ८१ यदिऊर्ध्वगतोवायुर्भेदतेषट्चक्रकं यदाऽभ्याग
तोवायुऊर्ध्वगच्छतिदेहिनां ८२ सतंभवतिचिरंदेहियोध्य

संतिचयोगिना अन्यंनलिप्यतेचित्तंसिद्धिर्भवतिनान्यथा ८३
श्रीदेव्युवाच बंधमुद्राकिमाख्यंकिंवाबंधस्यधारणं किंभ
वेत्ज्ञानमात्रेणनराणांसारसूरकं ८४ ईश्वरउवाच वामप
दंमूलेदत्वाब्रह्मद्वारंनिरूंधयेत् कंठसंकोचनंकृत्वावायुसर्वांग
चालये ८५ गुदमूलसमाकुंचक्षिप्रंकारयेत्पश्चिमे द्रवंतिसर्व
गात्राणिकंपतेमेरुपर्वता ८६ मेरुश्चकंपमात्रेणभेद्यंतेषट्चक्र
कं दृढमभ्यासतेयोगीशरीरंवज्रपंजरं ८७ विनामभ्यास २९

तेयोगीतस्ययोगनिरर्थकं एवंबुद्धिबलोदेविसत्यंचसत्यकार
णं ८८ त्यक्त्वाभ्यासश्चशास्त्राणिअभ्यासबिंदुसाधनं बिंदु
श्चसाधतेयोगीसिद्धिर्भवतिनान्यथा ८९ यथाबुद्धिविहीनस्यध
नस्यनिःफलंभवेत् तथाभ्यासविहीनस्यतपस्यनिःष्फलंभवेत्
९० कथितंसर्वएतानिशरीरकर्मसाधनं सिद्धिश्चसिद्धयेदेविस
जंतेबहुवादिना ९१ श्रीदेव्युवाच अधमेसफलंजन्मअधमेस
फलंतपः अधमेसफलंमुक्तिगुरुपादप्रसादतः ९२ गुरुनाथ

गुरुदेवगुरुस्त्रैलोक्यदर्पणः गुरुर्विनानरासर्वेवर्त्ततेपशुभिःस
म ९३ गुरुरादिरनादिश्चगुरुश्चपरमदेवता अज्ञानति
मिरांधश्चदिव्यचक्षुर्दायकं ९४ गुरुश्चसर्वतीर्थानितंमोक्षं
गुरुनर्चितं गुरुपादप्रसादेनभ्रांतिबंधनमुच्यते ९५ यथाष
रस्यसारेणभणिरत्नसुगंधिना तथाशास्त्रंपठेद्विप्रगुरुर्हिने
षरंयथा ९६ यथाधाराविनाकाश्चोसमुद्रेनैवगच्छति सर्ववि 30
द्यासंपूर्णगुरुहीनानसिध्यति ९७ गुणीमनेकविद्वांसोतपद

हठयोगप्रदीपिका।

संस्कृतटीका और भाषाटीकासे

सहित।

॥ श्रीः ॥

हठयोगप्रदीपिका ।

सा च

सहजानन्दसंतानचिन्तामणिस्वात्माराम-
योगीन्द्रविरचिता

ब्रह्मानन्दकृतज्योत्स्नाभिधया टीकया समलंकृता

दाधीचकुलोत्पन्नेन स्वर्वासिना श्रीधरेण कृतया

मनोभिलाषिण्या भाषाव्याख्ययोपेता च ।

मुम्बईनगरे

प्रबोधरत्नाकरसमाख्ये मुद्रणयन्त्रालये

मुनि ७ वसुधा १ पुराण १८ प्रमिते शालीवाहनशके १८१७

परलोकनिवासिनो जटाशंकरात्मजश्रीधरस्य धर्मपत्न्या

ताराबाई संज्ञया

मुद्रयित्वा प्रकाशिता ।

तृतीयं संस्करणम् ।

मूल्यं रूप्यकद्वयम् २

विज्ञापन.

यह ग्रंथ निचें लिखे पत्ते पर नगद दाँम देनेंसें मिलेगा.

मुंबईमें.

भुलेश्वरचकला अनंतवाडी गल्लीके सांमनें " **यदुवंशीय पुस्तकालय** " मे. रामवाडीके पास पंडित **ज्येष्ठारामसुकुंदजी** तथा **हरिप्रसादभगीरथजी**की दुकानमे. कालिकादेवीरस्तेपर, **रामदासकाशीदास** मोदीकी कंपनीकी दुकानमे. मिलेगा.

॥ श्री ॥

भारतमार्तंड श्रीमद्वेदान्तभट्टाचार्यप्रसिद्धपंडितशिरोमणि श्रीगट्टूलालजीकी तरफसूं प्रसिद्ध किये भये ग्रंथ विक्रयार्थ सिद्ध हैं.

			किं. रु.	आ.	ट. आ.	पै.
१	वेदांतचिंतामणि.	संस्कृत	०	८	१	०
२	श्रीवल्लभस्तुतिरत्नावलीपर टीका	,,	१	०	१	६
३	सत्सिद्धांतमार्तंड	,,	५	०	६	०
४	मारुतशक्ति (सहस्राक्षका खंडन)	,,	५	०	८	०
५	गुजराती नवाख्याननी श्रीजीवनजी महाराजकृत टीकापर टीप्पण.	गुजराती	३	०	६	०
६	वैष्णव व्रतोत्सवकी टीप (वार्षिक)	,,	०	१	०	६
७	भुकुंडचरित्र	,,	०	२	०	६
८	सुमनोबिनोद [गद्यपद्यात्मकविषयो]	,,	१	०	२	०
९	हृदयदूतसार [ग्रंथकारनाचरित्रसहित]	,,	०	३	०	६
१०	नीतिनिदर्शन.	,,	०	४	०	६
११	श्रीमद्भगवद्गीता समश्लोकी [न्यासध्यानसहित]		१	०	२	०
१२	कामंदकीनीतिसार [सार्थ तथा सटीक सर्ग १ लो]	,,	०	५	०	६
१३	वैराग्यशतक अप्पयदीक्षितकृत. भाषांतर	,,	०	४	०	६
१४	कच्छमहोदय, भाषांतर	,,	०	४	०	६
१५	बृहत्कथासार लंबक पेहेलो कथापीठ	,,	२	४	२	०
१६	दशावतारस्तोत्र	,,	०	४	०	६
१७	रसिकवल्लभ दयारामकृत	,,	०	१०	१	०
१८	प्रहलादाख्यान भाणदासकृत	,,	०	१०	१	०
१९	आर्यसमुदय प्रथमस्तबक	,,	५	०	८	०

उपर लिखे भये ग्रंथ मुंबई भुलेश्वरचकला अनंतवाडी गल्लीके सामने हमारे "यदुवंशीय पुस्तकालय" में या कालिकादेवीरस्तेपर "रामदास काशीदास मोदीकी कंपनी" की दुकानमे नगद दाम देनेसे मिलसकेंगे. वेल्यु पेबल रु. १० तक आने २ जादें पडेगे.

गोवर्धनदास लक्ष्मीदास,

अप्रसिद्ध और प्राचीन ग्रंथप्रकाशक–मुंबई.

प्रस्तावना.

योगविषयमैं हठप्रदीपिका अतिसुंदर है. स्वात्माराम योगींद्रनें या समयके मनुष्यनकूं सुबोधके लियें जो शिवजीनें पार्वतीजीकूं हठविद्याको उपदेश कियो ये प्रसंग महाकाल योगशास्त्रमैं वर्णन किया है और परम महान् ब्रह्माजीनैंबी ये हठविद्या सेवन करी है. जिस ऊपर योगीयाज्ञवल्क्यस्मृती है "हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः" और श्रीकृष्णनैं अर्जुनकूं गीताजीमैं योग कह्यो है और श्रीमद्भागवतमैं उद्धवजीकूं कह्यो है और शिवजी तो योगी प्रशिद्ध हैं या प्रकार सर्वोत्तम ब्रह्मा विष्णु शिव इनन्नें ये विद्या सेवन करी है यातैं या विद्याकूं नारदादिक और श्रीशुकादिक और याज्ञवल्क्यादिक ज्ञानीनमैं मुख्य इनन्नें सेवन करी है और शिवजीसूं मत्स्येंद्रनाथनैं योग श्रवण कियो. मत्स्येंद्रनाथ और गोरक्षनाथ ये दोनों हठविद्याके जानवेवाले हुये और गोरक्षनाथकी कृपासूं स्वात्माराम योगींद्र हठविद्या प्राप्त हुये. जा स्वात्मारामनैं मुमुक्षू जननकें हितके लियें हठप्रदीपिकानामक योगका ग्रंथ किया है. जिसमैं उपदेश ४ च्यार हैं तिनमैं प्रथम उपदेशमैं यमनियमसहित आसनप्रकर्ण कह्यो है हठको प्रथमांग आसन है यातैं प्रथम आसन कहै और ये आसन देहको और मनको चाञ्चल्यरूप जो रजोधर्म ताकूं नाशकरकें स्थिरता करें हें यातें प्रथम आसन कहे.

दूसरें उपदेशमैं प्राणायामको प्रकर्ण कह्यो हे और प्राणायामके करनेसूं मलशुद्धी होय हे और मलशुद्धी हुयेसूं हठसिद्धी होय हे और प्राणायामसूं वायु स्थिर होय हे और वायुके स्थिर होयवेसूं चित्त स्थिर होय है और वायु और चित्त इन दोनोनके स्थिर होयवेसूं योगी दीर्घजीवी होय और ईशताकूंबी प्राप्त होय है और मनकी स्थिरतासूं सर्व सिद्धी होय हैं यातें प्राणायामविधान कह्यो.

और तृतीय उपदेशमैं महामुद्रादिक दशमुद्रा कही हैं. मुद्रानके उपदेशकर्त्ता गुरूनके वाक्यमैं तत्पर रहै और आसन कुंभकादिकनकूं करै और आहार विहार चेष्टादिक विषयनमैं तत्पर रहै और महामुद्रादिकनको अभ्यास वारंवार आवर्तन तामैं सावधान रहे तो अणिमादिक सिद्धीनकरकैं सहित मृत्युकूं बचाय जाय.

और चतुर्थ उपदेशमैं प्रत्याहारादिरूप समाधिक्रम कह्यो है. वो समाधिक्रम केसो है. बहोत उत्तम है और आदिनाथ शिवजीनें संपादन किये कोटिनसमाधिके प्रकार

तिनमैं उत्कृष्ट है और कालकूं निवारण करवेवालो है और योगींकूं स्वेच्छापूर्वक देहत्याग करवेमें योग्य है और तत्त्वज्ञानके उदयकरकें वासनाको क्षयपूर्वक जीवन्मुक्तिसुखको उपाय है और प्रारब्धकर्मको क्षय करकैं जीव और ब्रह्मको अभेदकरकें आत्यंतिक ब्रह्मानंदप्राप्तिरूप मुक्तिको करवेवालो है एसो समाधिक्रम कह्यो है.

एसी ये हठप्रदीपिका योगमार्गके जानवेवारे लोगोंकूं बहोत योग्य है याके ऊपर ब्रह्मानंदकी करीहुई जोत्स्नाभिधा टीका संस्कृत है सो हठप्रदीपिका प्राचीन हे. हमनैं बडे श्रमसूं ये संपादन करी है सो ये हमनें लोगोंकूं उपयोगके तांई छपायी है कारण ये है के योगवर्णन श्रीमद्भागवतादिकनमैं किया है और योगका काम सब शास्त्रमैं पडता हैं और लोग योगकूं जानते नहीं हैं. कारण योगशास्त्र सहसा मिलते नहीं हे इस्सें योगमार्ग प्रवर्त नही हुया यातैं हमनैं लोगोंकूं ये उपयोग होनेकेवास्ते हठप्रदीपिका मूल और संस्कृत टीका और इसका भाषांतर टीका हमनैं बनायकरकें और खूब श्रमसूं शुद्ध करकै हमने छपाया है सो सब सज्जन पुरुषनकूं मेरे ऊपर कृपाकरकै इसकूं मान्य करवेमें आवे ॥

तृतीयावृत्तिकी भूमिका.

ईश्वर कृपासें इस ग्रंथकी दो आवृत्ति खप जानेंसें सज्जनोंनें मेरे पतीके श्रमका सार्थक किया उससैं मै उनका बडा आभार मानती हूं और यह लोकमान्य ग्रंथ सांप्रत दुष्प्राप्य होनेसें बहोत सज्जनोंने पुनरपि छपवाय सिद्ध करके मेरे परलोकवासी पतीके नामके साथ मेराभी नाम ग्रंथद्वारा अमर करनेका बडा आग्रह करनेंसें इस ग्रंथकी यह त्रतियाव्रती छपवा प्रसिद्ध करी हे सो आप महाशयोनें जिसतरा पूर्व प्रकाशित इस ग्रंथकी दोनों आवृत्तिकों उत्तेजन दे हमकों कृतार्थ किया तद्वत् इस आवृत्तिकोभी उत्तेजन दे आप मुजे कृतार्थ करेंगे ऐशी पूर्ण आशा है.

इस तृतीयावृत्तिके छपानेका यत्न शेठ **ईश्वरदास त्रिभुवनदास** सट्टावाले तथा पं० **माधवजी रामप्रसादके** सहायतासें और फारम वगैरा तपासनेका शेठ **गोवर्धनदास लक्ष्मीदास** प्राचीन ग्रंथ प्रकाशकने श्रम लेनेसें सिद्ध हुवा वास्ते में उनकी बडी उपकृत भइ हूं.

आपकी कृपाकांक्षिणी

परलोकवासी पं. श्रीधरजटाशंकरकी धर्मपत्नि

ताराबाई.

हठयोगप्रदीपिकानुक्रमणिका.

॥ अथ प्रथमोपदेशः ॥

इति प्रथमोपदेशः ॥ १ ॥

॥ अथ द्वितीयोपदेशः ॥

॥ इति द्वितीयोपदेशः ॥ २ ॥

॥ अथ तृतीयोपदेशः ॥

॥ श्रीः ॥

॥ हठयोगप्रदीपिका ॥

॥ टीकाभाषाभ्यां समेता ॥

प्रथमोपदेशः ।

मू० श्रीआदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै येनोपदिष्टा हठयोगविद्या॥
विभ्राजते प्रोन्नतराजयोगमारोढुमिच्छोरधिरोहिणीव ॥ १ ॥

॥ टीका ॥

श्रीगणेशाय नमः ॥ गुरुं नत्वा शिवं साक्षाद्ब्रह्मानंदेन तन्यते ॥ हठप्रदीपिकाज्योत्स्ना योगमार्गप्रकाशिका ॥ १ ॥ इदानींतनानां सुबोधार्थमस्याः सुविज्ञाय गोरक्षसिद्धांतहार्दम् । मया मेरुशास्त्रिप्रमुख्याभियोगात्स्फुटं कथ्यतेऽत्यंतगूढोऽपि भावः ॥ २ ॥ मुमुक्षुजनहितार्थं राजयोगद्वारा कैवल्यफलां हठप्रदीपिकां विधित्सुः परमकारुणिकः स्वात्मारामयोगींद्रस्तत्प्रत्यूहनिवृत्तये हठयोगप्रवर्तकश्रीमदादिनाथनमस्कारलक्षणं मंगलं तावदाचरति॥ **श्रीआदिनाथायेत्यादिना** ॥ तस्मै श्रीआदिनाथाय नमोऽस्त्वित्यन्वयः । आदिश्चासौ नाथश्च आदिनाथः सर्वेश्वरः शिव इत्यर्थः । श्रीमान् आदिनाथः तस्मै श्रीआदिनाथाय । श्रीशब्द आदिर्यस्य सः श्रीआदिः श्रीआदिश्चासौ नाथश्च श्रीआदिनाथः तस्मै श्रीआदिनाथाय । श्रीनाथाय विष्णव इति वार्थः । श्रीआदिनाथायेत्यत्र यणभावस्तु 'अपि माषं मषं कुर्याच्छंदोभंगं त्यजेद्गिराम्' इति च्छंदोविदां संप्रदायादुच्चारणसौष्ठवाच्चेति बोध्यम् । वस्तुतस्तु असंहितपाठस्वीकारापेक्षया श्रीआदिनाथायेति पाठस्वीकारेऽप्रवृत्तनित्यविध्यु-

॥ भाषा ॥

श्रीगणेशाय नमः ॥ श्रीगुरुचरणकमलेभ्यो नमः ॥ मोक्षकी इच्छावालेनके हितके लिये राजयोगद्वारा मोक्षफल जामें ऐसी जो हठप्रदीपिका ताय कन्यो चाहे ऐसे जो परमकरुणावान् स्वात्माराम योगींद्र सो हठयोगप्रवर्तक श्रीमान् आदिनाथ शिवजीकूं नमस्कारपूर्वक मंगलाचरण करै है ॥ **श्रीआदिनाथायेति** ॥ श्रीआदिनाथ जो शिवजी तिनके अर्थ नमस्कार हो. अथवा श्री आदिमे जिनके ऐसे जो नाथ श्रीविष्णु तिनके अर्थ नमस्कार हो. जा शिवजीने हठयोगविद्या पार्वतीजीकूं कही. (ह) कहिये सूर्य (ठ) कहिये

सू० प्रणम्य श्रीगुरुं नाथं स्वात्मारामेण योगिना ॥
केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते ॥ २ ॥

॥ टीका ॥

देश्यतावच्छेदकानाक्रांतत्वेन परिनिष्ठितत्वसंभवात् संप्रत्युदाहृतदृष्टांतद्वयस्यापीदृग्विषयवैषम्यान्नित्यसाहित्यभंगजनितदोषस्य शाब्दिकाननुमतत्वाच्चासंमृष्टविधेयांशतारूपदोषस्य साहित्यकारैरुक्तत्वेऽपि क्वचित्तैरपि स्वीकृतत्वेन शाब्दिकाचार्यैरेकाजित्यादौ कर्मधारयस्वीकारेण सर्वथानादृतत्वाच्च लाघवातिशय इति सुधियो विभावयंतु । नमः प्रह्वीभावोऽस्तु । प्रार्थनायां लोट् । तस्मै कस्मै इत्यपेक्षायामाह ॥ येनेति ॥ येन आदिनाथेन उपदिष्टा गिरिजायै हठयोगविद्या हश्च ठश्च हठौ सूर्यचंद्रौ तयोर्योगो हठयोगः । एतेन हठशब्दवाच्ययोः सूर्यचंद्राख्ययोः प्राणापानयोरैक्यलक्षणः प्राणायामो हठयोग इति हठयोगस्य लक्षणं सिद्धं । तथा चोक्तं गोरक्षनाथेन सिद्धसिद्धांतपद्धतौ । हकारः कीर्तितः सूर्यष्ठकारश्चंद्र उच्यते । सूर्याचंद्रमसोर्योगाद्धठयोगो निगद्यते ॥ इति । तत्प्रतिपादिका विद्या हठयोगविद्या हठयोगशास्त्रमिति यावत् । गिरिजायै आदिनाथकृतो हठविद्योपदेशो महाकालयोगशास्त्रादौ प्रसिद्धः । प्रकर्षेण उन्नतः प्रोन्नतः मंत्रयोगहठयोगादीनामधरभूमीनामुत्तरभूमित्वाद्राजयोगस्य प्रोन्नतत्वम् । राजयोगश्च सर्ववृत्तिनिरोधलक्षणोऽसंप्रज्ञातयोगः । तमिच्छोर्मुमुक्षोरधिरोहिणीव अधिरुह्यतेऽनयेत्यधिरोहिणी निःश्रेणीव विभ्राजते विशेषेण भ्राजते शोभते । यथा प्रोन्नतसौधमारोढुमिच्छोरधिरोहिण्यनायासेन सौधप्रापिका भवति एवं हठदीपिकापि प्रोन्नतराजयोगमारोढुमिच्छोरनायासेन राजयोगप्रापिका भवतीति । उपमालंकारः । इंद्रवज्राख्यं वृत्तम् ॥ १ ॥

एवं परमगुरुनमस्कारलक्षणं मंगलं कृत्वा विघ्नबाहुल्ये मंगलबाहुल्यस्याप्यपे-

॥ भाषा ॥

चंद्रमा जो प्राण ओर अपान इन दोनोंनकूं ऐक्य करवेवालो प्राणायाम ताकूं हठयोग कहे हे. हठयोगकूं प्रतिपादन करे सो हठयोगविद्या. ये विद्या प्रकर्षकरके उन्नत जो राजयोग सो मंत्रयोग हठयोगकूं आदिले अठारे योग हें वे अधरभूमी हे. उनके ऊंची भूमी राजयोग हे राजयोग समाधीकूं कहे हे. ये सबके ऊपर हे यापें चढवेकूं इच्छाकरें जो मुमुक्षु तिनकूं ये हठविद्या प्रकाशे हे. केसी जेसें ऊंचे स्थानपे चढवेवारेकूं निसेनी कहा काष्ठकी चढवेकी ऐसें ये हठप्रदीपिका प्रकाशे हे. ॥ १ ॥

अब अपने गुरुकूं नमस्काररूप मंगलाचरण कर ग्रंथके विषय प्रयोजनादिक दिखा-

मू० भ्रांत्या बहुमतध्वांते राजयोगमजानताम् ॥

॥ टीका ॥

क्षितत्वात्स्वगुरुनमस्कारात्मकं मंगलमाचरन्नस्य ग्रंथस्य विषयप्रयोजनादीन्प्रदर्शयति । प्रणम्येति । श्रीमंतं गुरुं श्रीगुरुं नाथं श्रीगुरुनाथं स्वगुरुमिति यावत् । प्रणम्य प्रकर्षेण भक्तिपूर्वकं नत्वा स्वात्मारामेण योगिना योगोऽस्यास्तीति तेन । केवलं राजयोगाय केवलं राजयोगार्थं हठविद्योपदिश्यत इत्यन्वयः । हठविद्याया राजयोग एव मुख्यं फलं न सिद्धय इति केवलपदस्याभिप्रायः । सिद्धयस्त्वानुषंगिक्यः । एतेन राजयोगफलसहितो हठयोगोऽस्य ग्रंथस्य विषयः । राजयोगद्वारा कैवल्यं चास्य फलं । तत्कामश्चाधिकारी । ग्रंथविषययोः प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः संबंधः । ग्रंथस्य कैवल्यस्य च प्रयोज्यप्रयोजकभावः संबंधः । ग्रंथाभिधेयस्य सफलयोगस्य कैवल्यस्य च साध्यसाधनभावः संबंध इत्युक्तम् ॥ २ ॥

ननु मंत्रयोगसगुणध्याननिर्गुणध्यानमुद्रादिभिरेव राजयोगसिद्धौ किं हठविद्योपदेशेनेत्याशंक्य व्युत्थितचित्तानां मंत्रयोगादिभी राजयोगासिद्धेर्हठयोगादेव राजयोगसिद्धिं वदन् ग्रंथं प्रतिजानीते ॥ भ्रांत्येति ॥ मंत्रयोगादिबहुमतरूपे ध्वांते गाढांधकारे या भ्रांतिर्भ्रमस्तया । तैस्तैरुपायै राजयोगार्थं प्रवृत्तस्य तत्रतत्र तदलाभात् । वक्ष्यति च 'विना राजयोग' इत्यादिना । तथा राजयोगं अजानतां न जानंतीत्यजानंतः तेषां अजानतां पुंसां राजयोगज्ञानमिति शेषः । करोतीति करः कृपायाः करः कृपाकरः । कृपाया आकर इति वा । तादृशः । अनेन हठप्रदीपिकाकरणे अज्ञानुकंपैव हेतुरित्युक्तम् । स्वात्मन्यारमते इति स्वात्मारामः हठस्य हठयोगस्य प्रदीपिकेव प्रकाशकत्वात् हठप्रदीपिका ताम् । अथवा हठ एव प्रदीपिका राजयोगप्रकाशकत्वात् । तां धत्ते विधत्ते करोतीति यावत् । स्वात्माराम इत्यनेन ज्ञानस्य सप्तमभूमिकां प्राप्तो

॥ भाषा ॥

बेहें ॥ प्रणम्येति ॥ अपने श्रीमान् गुरुनाथ ताय नमस्कार करकें योगी स्वात्मारामकरकें केवल राजयोगके अर्थ हठविद्या कहीजाय हे राजयोग फलसहित हठयोग या ग्रंथको विषय हे । राजयोगद्वारा कैवल्य याको फल हे । याकी कामना करे सोई अधिकारी । ओर ग्रंथ विषय इनको प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव है सो संबंध है ॥ २ ॥

मंत्रयोग सगुणध्यान निर्गुणध्यान मुद्रादिकनकरकें राजयोगसिद्धि होय जाय, फिर हठविद्याके उपदेशकरकें कहा प्रयोजन के मंत्रयोगादिकनकरकें राजयोग नही सिद्ध होय हे हठयोगसेंही राजयोगसिद्धि हे ये कहे हे ॥ भ्रांत्येति ॥ मंत्रयोगादिक बहुमतरूप

हठप्रदीपिकां धत्ते स्वात्मारामः कृपाकरः ॥ ३ ॥

॥ टीका ॥

ब्रह्मविद्वरिष्ठ इत्युक्तं। तथा च श्रुतिः । 'आत्मक्रीडा आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः' इति। सप्त भूमयश्चोक्ता योगवासिष्ठे। 'ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता । विचारणा द्वितीया स्यात्तृतीया तनुमानसा ॥ सत्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका। परार्थाभाविनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता ॥' इति। अस्यार्थः। शुभेच्छा इत्याख्या यस्याः सा शुभेच्छाख्या । विवेकवैराग्ययुता शमादिपूर्विका तीव्रमुमुक्षा प्रथमा ज्ञानस्य भूमिः भूमिका उदाहृता कथिता योगिभिरिति शेषः । १ । विचारणा श्रवणमननात्मिका द्वितीया ज्ञानभूमिः स्यात् ।२। अनेकार्थग्राहकं मनो यदाऽनेकार्थान्परित्यज्य सदेकार्थवृत्तिप्रवाहवद्भवति तदा तनुमानसे यस्यां सा तनुमानसा निदिध्यासनरूपा तृतीया ज्ञानभूमिः स्यादिति शेषः। ३। इमास्तिस्रः साधनभूमिकाः। आसु भूमिषु साधक इत्युच्यते। तिसृभिर्भूमिकाभिकाभिः शुद्धसत्वेऽतःकरणेऽहं ब्रह्माऽस्मीत्याकारिकाऽपरोक्षवृत्तिरूपा सत्वापत्तिनामिका चतुर्थी ज्ञानभूमिः स्यात् । चतुर्थीयं फलभूमिः । अस्यां योगी ब्रह्मविदित्युच्यते । इयं संप्रज्ञातयोगभूमिका । ४ । वक्ष्यमाणास्तिस्रोऽसंप्रज्ञातयोगभूमयः । सत्वापत्तेरनंतरा सत्वापत्तिसंज्ञिकायां भूमावुपस्थितासु सिद्धिषु असंसक्तस्यासंसक्तिनामिका पंचमी ज्ञानभूमिःस्यात्। अस्यां योगी स्वयमेव व्युत्तिष्ठते। एतां भूमिं प्राप्तो ब्रह्मविद्वर इत्युच्यते।५। परब्रह्मातिरिक्तमर्थं न भावयति यस्यां सा परार्थाभाविनी षष्ठी ज्ञानभूमिः स्यात् । अस्यां योगी परप्रबोधित एव व्युत्थितो भवति । एतां प्राप्तो ब्रह्मविद्वरीयानित्युच्यते । ६ । तुर्यगा नाम सप्तमी भूमिः स्मृता । अस्यां योगी स्वतः परतो वा न व्युत्थानं प्राप्नोति । एतां प्राप्तो ब्रह्मविद्वरिष्ठ इत्युच्यते । तत्र प्रमाणभूता श्रुतिरत्रैवोक्ता । 'पूर्वमयमेव जीवन्मुक्त इत्युच्यते, स एवाऽत्र स्वात्मारामपदेनोक्तः' इत्यलं बहूक्तेन ॥ ३ ॥

॥ भाषा ॥

जो वह अंधकार तामे जो भ्रांति भ्रम ताकरिकें राजयोगकूं नही जाने ऐसे पुरुषोंकूं राजयोगज्ञान हे सो कृपाके करवेवारे स्वात्माराम हे सो हठयोगके प्रकाशकी करवेवाली हठप्रदीपिका ताय करें है स्वात्मारामका अर्थ ये है अपने आत्मामें रमणकरे ओर ज्ञानकी सात भूमिका ताय प्राप्त होय ब्रह्मवेत्तानमे श्रेष्ठ होय वो स्वात्माराम होय हें. योगवासिष्ठमे ज्ञानकी सात भूमी कहे है ज्ञानभूमि १ विचारणा २ तनुमानसा ३ सत्वापत्ति ४ संसक्तिनामिका ५ पदार्थाभाविनी ६ तुर्यगा ७ ये सात ज्ञानभूमिकाके अर्थ विवेक वैराग्य-

मू० हठविद्यां हि मत्स्येंद्रगोरक्षाद्या विजानते ॥
स्वात्मारामोऽथवा योगी जानीते तत्प्रसादतः ॥ ४ ॥

॥ टीका ॥

महत्सेवितत्वाद्धठविद्यां प्रशंसन्स्वस्यापि महत्सकाशाद्धठविद्यालाभाद्गौरवं द्योतयति ॥ हठविद्यां हीति ॥ हीति प्रसिद्धं मत्स्येंद्रश्च गोरक्षश्च तौ आद्यौ येषां ते मत्स्येंद्रगोरक्षाद्याः आद्यशब्देन जालंधरनाथभर्तृहरिगोपीचंद्रप्रभृतयो ग्राह्याः । ते हठविद्यां हठयोगविद्यां विजानते विशेषेण साधनलक्षणभेदफलैर्जानंतीत्यर्थः । स्वात्मारामः स्वात्मारामनामा । अथवा शब्दसमुच्चये । योगी योगवान् तत्प्रसादतः गोरक्षप्रसादाज्जानीत इत्यन्वयः । परममहता ब्रह्मणापीयं विद्या सेवितेत्यत्र योगियाज्ञवल्क्यस्मृतिः । 'हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः ।' इति वक्तृत्वं च मानसव्यापारपूर्वकं भवतीति मानसो व्यापारोऽर्थादागमः । तथा च श्रुतिः । 'यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति' इति । भगवतेयं विद्या भागवतानुद्धवादीन् प्रत्युक्ता । शिवस्तु योगी प्रसिद्ध एव । एवं च सर्वोत्तमैर्ब्रह्मविष्णुशिवैः सेवितेयं विद्या । न च ब्रह्मसूत्रकृता व्यासेन योगी निराकृत इति शंकनीयम् । प्रकृतिस्वातंत्र्यविद्भिर्भेदांशमात्रस्य निराकरणात् । न तु भावनाविशेषरूपयोगस्य । भावनायाश्च सर्व-

॥ भाषा ॥

युक्त शमदमादिक पूर्व जामे तीव्र मुमुक्षारूपा प्रथमा १ श्रवणमननरूपा द्वितीया २ अनेक अर्थनकूं ग्रहण करवेवालो मन हे जब अनेक अर्थनकूं त्याग करके सत् एकार्थ वृत्तिप्रवाह किसी होय सो तृतीया ३ ये तीन तो साधनभूमि हे इन तीनो साधनभूमीने करके जब अंतःकरण शुद्धसत्व होय तब 'अहं ब्रह्मास्मि' में ब्रह्म हूं या प्रकार कहे हे योगी. चतुर्थी सत्वापत्ति ज्ञानभूमि येही फलभूमि यामे प्राप्त हुयो जो योगी ताकूं ब्रह्मविद् या प्रकार कहे हे ४ याके अनंतर या सत्वापत्ति भूमीमेंही समीप उठी हुई जे सिद्धि तिनमें नही आसक्त होय वाय असंसक्तिक नाम पांचमी ज्ञानभूमि कहे हें यामे योगी प्राप्त होय ताकूं ब्रह्मवेत्तानमे ब्रह्मविद्वर कहे हें ५ जामें परब्रह्म सुंव्यतिरिक्त अर्थकूं नही भावना करे वो परार्थाभाविनी नाम छटी ज्ञानभूमि हे यामें प्राप्त हुये योगीकूं दूसरो बोध करावे जब उठे हे यामें प्राप्त योगीकूं ब्रह्मविद्वरीयान् कहे हें ६ तुर्यगा नाम सातमी भूमी यामे योगी प्राप्त होय ताकूं ब्रह्मविद्वरिष्ठ कहे हें पहले ये जीवन्मुक्त कहे हें सोही यामें स्वात्माराम पद कहें है ॥ ३ ॥

महात्मानकरकें सेवन करी जाय हे यातें हठविद्याकूं श्लाघा करत आपकूंबी महा

मू० श्रीआदिनाथमत्स्येंद्रशाबरानंदभैरवाः ॥
चौरंगीमीनगोरक्षविरूपाक्षबिलेशयाः ॥ ५ ॥

॥ टीका ॥

संमतत्वात्तां विना सुखस्याप्यसंभवात् । तथोक्तं भगवद्गीतासु ' नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चाऽयुक्तस्य भावना । न चाभावयतः शांतिरशांतस्य कुतः सुखम् ॥ ' इति । नारायणतीर्थैरप्युक्तम् । 'स्वातंत्र्यसत्यत्वमुखं प्रधाने सत्यं च चिद्भेदगतं च वाक्यैः । व्यासो निराचष्ट न भावनाख्यं योगं स्वयं निर्मितब्रह्मसूत्रैः ॥ अपि चात्मप्रदं योगं व्याकरोन्मतिमान्स्वयम् । भाष्यादिषु ततस्तत्र आचार्यप्रमुखैर्मतः । मतो योगो भगवता गीतायामधिकोऽन्यतः । कृतः शुकादिभिस्तस्मादत्र संतोऽतिसादराः ॥ ' इति । ' वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टं । अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥ ' इति भगवदुक्तेः । किं बहुना ' जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते । ' इति वदता भगवता योगजिज्ञासोरप्यौत्कृष्ट्यं वर्णितं किमुत योगिनः । नारदादिभक्तश्रेष्ठैर्याज्ञवल्क्यादिज्ञानिमुख्यैश्चास्याः सेवनाद्भक्तज्ञानिनामप्यविरुद्धेत्युपरम्यते ॥ ४ ॥

हठयोगे प्रवृत्तिं जनयितुं हठविद्यया प्राप्तैश्वर्यान्सिद्धानाह ॥ श्रीआदिनाथेत्यादिना ॥ आदिनाथः शिवः सर्वेषां नाथानां प्रथमो नाथः । ततो नाथसंप्रदायः प्रवृत्त इति नाथसंप्रदायिनो वदंति । मत्स्येंद्राख्यश्च आदिनाथशिष्यः । अत्रैवं किंवदंती । कदाचिदादिनाथः कस्मिंश्चिद्द्वीपे स्थितः तत्र विजनमिति मत्वा गिरिजायै योगमुपदिष्टवान् । तीरसमीपनीरस्थः कश्चन मत्स्यः तं योगोपदेशं श्रुत्वा एकाग्रचित्तो निश्चलकायोऽवतस्थे । तं तादृशं दृष्ट्वानेन योगः श्रुत इति तं मत्वा कृपालुरादि-

॥ भाषा ॥

त्मानते हठविद्याको लाभ हुये सो गौरवता कहे हैं ॥ हठविद्यां हीति ॥ मत्स्येंद्र गोरक्ष ये हें आदिमें जिनके ऐसे जालंधरनाथ भर्तृहरि गोपीचंद्रकूं आदिलेके जो हे ते हठविद्याताय विशेषकर साधन लक्षण भेदफलकरजाने है योगवान् स्वात्माराम जो में हूं सो गोरक्षके कृपातें जानुहूं ये विद्या परम महान् ब्रह्माजीबी सेवन करते हुये और भगवाननेंबी उद्धवादिकन प्रति कही हे ओर शिवजी तो योगी प्रसिद्धही हैं या प्रकार सर्वोत्तम ब्रह्मा विष्णु शिव इनकरकें सेवित ये विद्या हे ॥ ४ ॥

हठयोगमें प्रवृत्तिहोयवेकूं हठविद्याकरकै प्राप्त हुये हें ऐश्वर्य जिनें ऐसे जो सिद्ध तिनै कहें हैं ॥ श्रीआदिनाथेत्यादिना ॥ श्रीआदिनाथ शिवजी संपूर्णनाथनके मध्यमें प्रथम

मू० मंथानो भैरवो योगी सिद्धिर्बुद्धश्च कंथडिः ॥
कोरंटकः सुरानंदः सिद्धपादश्च चर्पटिः ॥ ६ ॥
कानेरी पूज्यपादश्च नित्यनाथो निरंजनः ॥
कपाली बिंदुनाथश्च काकचंडीश्वराह्वयः ॥ ७ ॥

॥ टीका ॥

नाथो जलेन प्रोक्षितवान् । स च प्रोक्षणमात्राद्दिव्यकायो मत्स्येंद्रः सिद्धोऽभूत् । तमेव मत्स्येंद्रनाथ इति वदंति । शावरनामा कश्चित्सिद्धः । आनंदभैरवनामान्यः । एतेषामितरेतरद्वंद्वः । छिन्नहस्तपादं पुरुषं हिंदुस्थानभाषायां चौरंगीति वदंति । कदाचिदादिनाथाल्लब्धयोगस्य भुवं पर्यटतो मत्स्येंद्रनाथस्य कृपावलोकनमात्रात्कुत्रचिदरण्ये स्थितश्चौरंग्यंकुरितहस्तपादो बभूव । स च तत्कृपया संजातहस्तपादोऽहमिति मत्वा तत्पादयोः प्रणिपत्य ममानुग्रहं कुर्विति प्रार्थितवान् । मत्स्येंद्रोपि तमनुगृहीतवान् तस्यानुग्रहाच्चौरंगीति प्रसिद्धः सिद्धः सोऽभूत् । मीनो मीननाथः गोरक्षो गोरक्षनाथः विरूपाक्षनामा बिलेशयनामा च । चौरंगीप्रभृतीनां द्वंद्वसमासः ॥ ९ ॥
मन्थान इति । मंथानः भैरवः योगीति मंथानप्रभृतीनां सर्वेषां विशेषणम् ॥ ६ ॥
कानेरीति । काकचंडीश्वर इत्याह्वयो नाम यस्य स तथा । अन्ये स्पष्टाः ॥ ७ ॥

॥ भाषा ॥

नाथहै इनतेंही नाथसंप्रदाय प्रवृत्त हुयो ओर मत्स्येंद्र आदिनाथके शिष्य हें कैसें कोईसमयमें महादेवजी कोई द्वीपमें स्थित हे तहां पार्वतीजीके अर्थ योग कहरहेहे वहां तीरसमीप जलमें कोई मत्स्य योगोपदेश सुनकर एकाग्रचित्त निश्चलकाय होय गयो ताय देखकर शिवजीने विचार्यो याने योग श्रवण कियो ताय ऐसो मानकर कृपालु आदिनाथने जलकरके प्रोक्षण कियो वा जलके प्रोक्षणमात्रतें दिव्यदेह मत्स्येंद्र सिद्ध हुयो ताय मत्स्येंद्रनाथ कहेहैं शाबरनाथ आनंदभैरवनाथ चौरंगी ये आदिनाथतें योग प्राप्त हुये पीछें कदी पृथ्वीमें विचर रहेहे तिनके कृपालोकनतेंही कोई एक वनमें चौर हातपाम जाके कटहुये सो हातपामसहित होगयो जब वो इनकी कृपा करकें मेरे हात पाम हुये ऐसें मनमें मान उनके चरणमे नमस्कार कर कह्यो मोपे कृपा करो यह प्रार्थना करतो हुयो तब मत्स्येंद्र अनुग्रह करते भये उनकी अनुग्रहतें चौरंगी या नामकर प्रसिद्ध हुयो ओर मीननाथ गोरक्षनाथ विरूपाक्ष बिलेशय ॥ ९ ॥

मंथान इति । मंथान भैरव योगी सिद्धि बुद्ध कंथडि कोरंटक सुरानंद सिद्धपाद चर्पटी ॥६॥
कानेरीति । कानेरी पूज्यपाद नित्यनाथ निरंजन कपाली बिंदुनाथ काकचंडीश्वर ॥ ७ ॥

सू० अल्लामः प्रभुदेवश्च घोडा चोली च टिंटिणिः ॥
भानुकी नारदेवश्च खंडः कापालिकस्तथा ॥ ८ ॥
इत्यादयो महासिद्धा हठयोगप्रभावतः ॥
खंडयित्वा कालदंडं ब्रह्मांडे विचरंति ते ॥ ९ ॥
अशेषतापतप्तानां समाश्रयमठो हठः ॥
अशेषयोगयुक्तानामाधारकमठो हठः ॥ १० ॥

॥ टीका ॥

अल्लाम इति । तथाशब्दः समुच्चये ॥ ८ ॥

इत्यादय इति । इति पूर्वोक्ता आदयो येषां ते तथा । आदिशब्देन तारानाथादयो ग्राह्याः । महांतश्च ते सिद्धाश्च अप्रतिहतैश्वर्या इत्यर्थः । हठयोगस्य प्रभावात्सामर्थ्यादिति हठयोगप्रभावतः । पंचम्यास्तसिल् । कालो मृत्युः तस्य दंडनं दंडः देहप्राणवियोगानुकूलो व्यापारः तं खंडयित्वा छित्त्वा । मृत्युं जित्वेत्यर्थः । ब्रह्मांडमध्ये विचरंति विशेषेणाव्याहतगत्या चरंतीत्यर्थः । तदुक्तं भागवते । ' योगेश्वराणां गतिमाहुरंतर्बहिस्त्रिलोक्याः पवनांतरात्मनाम् । ' इति ॥ ९ ॥

हठस्याशेषतापनाशकत्वमशेषयोगसाधकत्वं च मठकमठरूपकेणाह ॥अशेषेति ॥ अशेषाः आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकभेदेन त्रिविधाः । तत्राध्यात्मिकं द्विविधं । शारीरं मानसं च । तत्र शारीरं दुःखं व्याधिजं मानसं दुःखं कामादिजं । आधिभौतिकं व्याघ्रसर्पादिजनितं । आधिदैविकं ग्रहादिजनितं । ते च ते तापाश्च तैस्तप्तानां संतप्तानां पुंसां हठो हठयोगः सम्यगाश्रीयत इति समाश्रयः आश्रयः आश्रयभूतो मठः मठ एव । तथा हठः अशेषयोगयुक्तानां अशेषयोगयुक्ताः मंत्रयोगकर्मयोगादियुक्तास्तेषामाधारभूतः कमठः एवं । त्रिविधतापतप्तानां पुंसां आश्रयो हठः । यथा च विश्वाधारः कमठः एवं निखिलयोगिनामाधारो हठ इत्यर्थः ॥ १०॥

॥ भाषा ॥

अल्लाम इति । अल्लाम प्रभुदेव घोडा चोली टिंटिणि भानुकी नारदेव खंड कापालिक ॥८॥

इत्यादय इति । ये हैं आदिमें जिनके ऐसे तारानाथादिक औरबी महांत सिद्ध अखंड ऐश्वर्य जिनके ते सब हठयोगके प्रभावतें मृत्युको दंड ताय छेदन कर कहा मृत्युकूं जीतकर ब्रह्मांडमें विचरें हें अखंडगतीकरकें ॥ ९ ॥

अशेषेति । आध्यात्मिक आधिभौतिक आधिदैविक इन भेदनकर तीन प्रकारकी

मू० हठविद्या परं गोप्या योगिना सिद्धिमिच्छता ॥
भवेद्वीर्यवती गुप्ता निर्वीर्या तु प्रकाशिता ॥ ११ ॥

॥ टीका ॥

अथाखिलविद्यापेक्षया हठविद्याया अतिगोप्यत्वमाह॥ हठविद्येति॥ सिद्धिमणिमाद्यैश्वर्यमिच्छता यद्वा सिद्धिं कैवल्यसिद्धिमिच्छता वांछता योगिना हठयोगविद्या परमत्यंतं गोप्या गोपनीया गोपनार्हास्तीति । तत्र हेतुमाह । यतो गुप्ता हठविद्या वीर्यवत्यप्रतिहतैश्वर्यजननसमर्था स्यात् । कैवल्यजननसमर्था कैवल्यसिद्धिजननसमर्था वा स्यात् । अथ योगाधिकारी । 'जिताक्षाय शांताय सक्ताय मुक्तौ विहीनाय दोषैरसक्ताय मुक्तौ । अहीनाय दोषेतरैरुक्तकर्त्रे प्रदेयो न देयो हठश्चेतरस्मै ॥' याज्ञवल्क्यः । 'विध्युक्तकर्मसंयुक्तः कामसंकल्पवर्जितः । यमैश्च नियमैर्युक्तः सर्वसंगविवर्जितः॥कृतविद्यो जितक्रोधः सत्यधर्मपरायणः । गुरुशुश्रूषणरतः पितृमातृपरायणः ॥स्वाश्रमस्थः सदाचारो विद्वद्भिश्च सुशिक्षितः॥' इति । 'शिश्नोदररतायैव न देयं वेषधारिणे' इति कुत्रचित् । अत्र योगचिंतामणिकाराः यद्यपि । 'ब्राह्मणक्षत्रियविशां स्त्रीशूद्राणां च पावनं । शांतये कर्मणामन्यद्योगान्नास्ति विमुक्तये ॥' इत्यादि पुराणवाक्येषु प्राणिमात्रस्य योगेऽधिकार उपलभ्यते । तथापि मोक्षरूपं फलं योगे विरक्तस्यैव भवति । अतस्तस्यैव योगाधिकार उचितः । तथा च वायुसंहितायां । 'दृष्टे तथानुश्रविके विरक्तं विषये मनः । यस्य तस्याधिकारोऽस्मिन्योगे नान्यस्य कस्यचित् ॥' सुरेश्वराचार्यः । 'इहामुत्र विरक्तस्य संसारं प्रजिहासतः । जिज्ञासोरेव कस्यापि योगेऽस्मिन्नधिकारिता॥' इत्याहुः । वृद्धैरप्युक्तं । 'नैतद्देयं दुर्विनीताय जा-

॥ भाषा ॥

ताप हे तामें अध्यात्म दो प्रकारकी ताप शरीरमें रोगादिककरकें व्यथा होय सो शारीर दुःख और मनमें कामादिककरकें ताप होय जाकूं मानस दुःख कहें हें ओर व्याघ्रसर्पादिकनकरके ताप होय वाकूं आधिभौतिक कहैं हें ओर ग्रहादिकनकर हुई जो पीडा ताकूं आधिदैविक कहें हैं इन सब तापनकर तपित हो रहे जे पुरुष तिनकूं हठयोग आश्रयभूत मठ हे मठ गुफाकूं कहे हे मंत्रयोग कर्मयोगादिकनकर युक्त जे पुरुष तिनके आधारभूत कमठ कहा कूर्मचक्र ओर जैसें विश्वको कूर्म आधार है ऐसेंही सर्व योगनको आधार हठयोग है ॥ १० ॥

याके अनंतर सर्व विद्यानकी अपेक्षाकरकें हठविद्याकूं अतिगोप्यपनो है ताय कहें हें ॥ हठविद्येति ॥ अणिमा महिमा गरिमा लघिमा प्राप्ति प्राकाम्य ईशित्व वशित्व ये आठ

सुराज्ये धार्मिके देशे सुभिक्षे निरुपद्रवे ॥
धनुःप्रमाणपर्यंतं शिलाग्निजलवर्जिते ॥
एकांते मठिकामध्ये स्थातव्यं हठयोगिना ॥ १२ ॥

॥ टीका ॥

तु ज्ञानं गुप्तं तद्धि सम्यक्फलाय । अस्थाने हि स्थाप्यमानैव वाचां देवी कोपान्निर्दहेन्नो चिराय ॥' इति ॥ ११ ॥

अथ हठाभ्यासयोग्यं देशमाह सार्धेन ॥ सुराज्य इति ॥ राज्ञः कर्म भावो वा राज्यं तच्छोभनं यस्मिन्स सुराज्यस्तस्मिन्सुराज्ये । 'यथा राजा तथा प्रजा' इति महदुक्तेः राज्ञः शोभनत्वात्प्रजानामपि शोभनत्वं सूचितम् । धार्मिके धर्मवति । अनेन हठाभ्यासिनोऽनुकूलाहारादिलाभः सूचितः । सुभिक्ष इत्यनेनानायासेन तल्लाभः सूचितः । निरुपद्रवे चौरव्याघ्राद्युपद्रवरहिते । एतेन देशस्य दीर्घकालवासयोग्यता सूचिता । धनुषः प्रमाणं धनुःप्रमाणं चतुर्हस्तमात्रं तत्पर्यंतं शिलाग्निजलवर्जिते शिला प्रस्तरः अग्निर्वन्हिः जलं तोयं तैर्वर्जिते रहिते । यत्रासनं ततश्चतुर्हस्तमात्रे शिलाग्निजलानि न स्युरित्यर्थः । तेन शीतोष्णविकाराभावः सूचितः । एकांते विजने । अनेन जनसमागमाभावात्कलहाद्यभावः सूचितः । जनसंमर्दे

॥ भाषा ॥

विभूती हैं जो ये आठ सिद्धि इच्छाकरे अथवा कैवल्यसिद्धि इच्छाकरे ता योगीकरकें हठ विद्या अत्यंत गोप्यकरनो योग्य है. क्योंकि गुप्त रही हठविद्या अखंड ऐश्वर्य प्रगट करवेमें समर्थ होय ओर कैवल्यसिद्धि प्रगट करवेमें समर्थ होय ओर जो प्रकाश हुई विद्या सती निर्वीर्य हो जाय है ॥ ११ ॥

हठाभ्यासके योग्य देश ताय कहें हें सार्द्धेन ॥ सुराज्ये इति ॥ राजाको कर्म भाव राज्य सर्व शोभन जामें ऐसो सुराज्य होय धर्मवान् होय ओर राजा हठाभ्यासीकूं अनुकूल आहारादिक लाभ होय जामें ओर सुकाळ होय ओर चौर व्याघ्रादिक उपद्रवरहित होंय ओर जहां आसन होय तहांसुं धनुष्यप्रमाण अर्थात् च्यार हात मात्र पर्यंत शिला, अग्नि, जल ये न होंय ओर एकांत होय मनुष्यनको समागम न होय जनोंनके समागमतें कलह होय हे यातें ऐसी जगें मठिका अल्प छोटीसी बनायकें ताके मध्यमें हठयोगी अर्थात् हठाभ्यासको करवेवाले जो योगी ताकरकें स्थित होयवेकूं योग्य है मठमें बेठेंसुं शीत, उष्ण, वर्षा इनको क्लेश नही होय हैं ॥ १२ ॥

अल्पद्वारमरंध्रगर्तविवरं नात्युच्चनीचायतं ॥
सम्यग्गोमयसांद्रलिप्तममलं निःशेषजंतूज्झितम् ॥
बाह्ये मंडपवेदिकूपरुचिरं प्राकारसंवेष्टितं ॥
प्रोक्तं योगमठस्य लक्षणमिदं सिद्धैर्हठाभ्यासिभिः ॥ १३ ॥

॥ टीका ॥

तु कलहादिकं स्यादेव । तदुक्तं भागवते । 'वासे बहूनां कलहो भवेद्वार्ता द्वयोरपि ' इति । तादृशे मठिकामध्ये । अल्पो मठो मठिका । अल्पीयसि कन् । तस्याः मध्ये हठयोगिना हठाभ्यासी योगी हठयोगी तेन । शाकपार्थिवादित्वत्समासः । स्थातव्यं स्थातुं योग्यं । मठिकामध्य इत्यनेन शीतातपादिजनितक्लेशाभावः सूचितः । अत्र 'युक्ताहारविहारेण हठयोगस्य सिद्धये । 'इत्यर्धं केनचित्क्षिप्तत्वान्न व्याख्यातम् । मूलश्लोकानामेव व्याख्यानम् । एवमग्रेऽपि ये मया न व्याख्याताः श्लोका हठप्रदीपिकायामुपलभ्येरंस्ते सर्वे क्षिप्ता इति बोद्धव्यम् ॥ १२ ॥

अथ मठलक्षणमाह ॥ अल्पद्वारमिति ॥ अल्पं द्वारं यस्मिंस्तत्तादृशं । रंध्रो गवाक्षादिः गर्तो निम्नप्रदेशः विवरो मूषकादिबिलं ते न संति यस्मिंस्तत्तादृशं । अत्युच्चं च तन्नीचं चात्युच्चनीचं तच्च तदायतं चात्युच्चनीचायतं । विशेषणं विशेष्येण बहुलमित्यत्र बहुलग्रहणाद्विशेषणानां कर्मधारयः । ननूच्चनीचायतशब्दानां भिन्नार्थकानां कथं कर्मधारयः । तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारय इति तल्लक्षणादिति चेन्न । मठे तेषां सामानाधिकरण्यासंभवात् । न चात्युच्चनीचायतं नात्युच्चनीचायतं नशब्देन समासान्नलोपाभावः नेति पृथक्पदं वा । अत्युच्चे आरोहणे श्रमः स्यादतिनीचेऽवरोहणे श्रमो भवेत् । अत्यायते दूरं दृष्टिर्गच्छेत्तन्निराकरणार्थमुक्तं नात्युच्चनीचायतमिति । सम्यक्समीचीनतया गोमयेन गोपुरीषेण सांद्रं यथा भवति तथा लिप्तं । अमलं निर्मलं निःशेषा निखिला ये जंतवो मशकमत्कुणाद्यास्तैरुज्झितं त्यक्तं रहितं बाह्ये मठाद्बहिःप्रदेशे मंडपः शालाविशेषः वेदिः परिष्कृता भूमिः कूपो जलाशयविशेषः तैः रुचिरं रमणीयं प्राकारेण वरणेन सम्यग्वेष्टितं परितो

॥ भाषा ॥

याके अनंतर मठको लक्षण कहें हैं ॥ अल्पद्वारमिति ॥ छोटो द्वार जामें होय ओर जाली, झरोखा, मोखा, नीची ऊंची पृथ्वी मूसादिकनको बिलो जामें न होय ओर अति नीचो अति उंचो अति चोडोबी स्थान न होय (क्यो) चढवेमे उतरवेमे श्रम होय

एवंविधे मठे स्थित्वा सर्वचिंताविवर्जितः ॥
गुरूपदिष्टमार्गेण योगमेव समभ्यसेत् ॥ १४ ॥

॥ टीका ॥

भितियुक्तमित्यर्थः । हठाभ्यासिभिः हठयोगाभ्यसनशीलैः सिद्धैः । इदं पूर्वोक्तमल्पद्वारादिकं योगमठस्य लक्षणं स्वरूपं प्रोक्तं कथितम् । नंदिकेश्वरपुराणे त्वेवं मठलक्षणमुक्तं । 'मंदिरं रम्यविन्यासं मनोज्ञं गंधवासितं । धूपामोदादिसुरभि कुसुमोत्करमंडितं ॥ मुनितीर्थनदीवृक्षपद्मिनीशैलशोभितम् । चित्रकर्मनिबद्धं च चित्रभेदविचित्रितम् ॥ कुर्याद्योगगृहं धीमान्सुरम्यं शुभवर्त्मना । दृष्ट्वा चित्रगतांच्छांतान्मुनीन्याति मनःशमम् ॥ सिद्धान्दृष्ट्वा चित्रगतान्मतिरभ्युद्यमे भवेत् । मध्ये योगगृहस्याथ लिखेत्संसारमंडलं ॥ श्मशानं च महाघोरं नरकांश्च लिखेत्कचित् । तान्दृष्ट्वा भीषणाकारान्संसारेसारवर्जिते । अनवसादो भवति योगी सिद्ध्यभिलाषुकः । पश्यंश्च व्याधितान् जंतून्नतान्मत्तांश्चलद्रणान्' ॥ १३ ॥

मठलक्षणमुक्त्वा मठे यत्कर्तव्यं तदाह ॥ एवंविध इति ॥ एवं पूर्वोक्ता विधा प्रकारो यस्य स तथा पूर्वोक्तलक्षण इत्यर्थः । तस्मिन्स्थित्वा स्थितिं कृत्वा सर्वा याश्चितास्ताभिर्विशेषेण वर्जितो रहितोऽशेषचिन्तारहितः । गुरुणोपदिष्टो यो मार्गः हठाभ्यासप्रकाररूपस्तेन सदा नित्यं योगमेवाभ्यसेत् । एवशब्देनाभ्यासांतरस्य योगे विघ्नकरत्वं सूचितं । तदुक्तं योगबीजे । 'मरुज्जयो यस्य सिद्धस्तं सेवेत गुरुं सदा । गुरुवक्त्रप्रसादेन कुर्यात्प्राणजयं बुधः ॥' राजयोगे । 'वेदांततर्कोक्तिभिरागमैश्चनानाविधैः शास्त्रकदंबकैश्च । ध्यानादिभिः सत्करणैर्न गम्यश्चितामणिरेकगुरुं विहाय ॥' स्कंदपुराणे । 'आचार्याद्योगसर्वस्वमवाप्य स्थिरधीःस्वयम् । यथोक्तं लभते

॥ भाषा ॥

चोडेमे दूरदृष्टी जाय यासुं सुंदर मोंवरसुं सघन लिप्यो होय ओर निर्मल होय सर्व जंतू मच्छर खटमलादिक कछूबी न होय ओर मठके बहार मंडपशाला, वेदीकीसीनाई, एक कूप जलाशय वृक्षावली पुष्पावली इनकरकें रमणीय स्थल होय च्यारोमेर भींतियुक्त होय हठाभ्यासमे शील स्वभाव जिनको ऐसे जो सिद्ध तिनें छोटे द्वारें जामें होय ऐसे जोगमठके लक्षण स्वरूप कह्यो हे ॥ १३ ॥

मठलक्षण कहकरकें मठमें कहाकरवो योग्य ताय कहैं हैं ॥ एवंविधे इति ॥ या प्रकारके मठमैं स्थित होयकरकें सर्व चिंता कर वर्जित होय ओर गुरूकरकें उपदेश दियो गयो जो हठाभ्यासप्रकाररूप मार्ग ताकरकें सदा सर्वदा योगाभ्यास करे ॥ १४ ॥

अत्याहारः प्रयासश्च प्रजल्पो नियमग्रहः ॥
जनसंगश्च लौल्यं च षड्भिर्योगो विनश्यति ॥ १५ ॥
उत्साहात्साहसाद्धैर्यात्तत्त्वज्ञानाच्च निश्चयात् ॥
जनसंगपरित्यागात्षड्भिर्योगः प्रसिद्ध्यति ॥ १६ ॥

॥ टीका ॥

तेन प्राप्नोत्यपि च निर्वृतिं ॥' सुरेश्वराचार्यः । 'गुरुप्रसादाल्लभते योगमष्टांगसंयुतम् । शिवप्रसादाल्लभते योगसिद्धिं च शाश्वतीम् ॥ यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशंते महात्मनः ॥ ' इति । श्रुतिश्च ' आचार्यवा न्पुरुषो वेद ' इति च ॥ १४ ॥

अथ योगाभ्यासप्रतिबंधकानाह ॥ अत्याहार इति ॥ अतिशयित आहारो-ऽत्याहारः क्षुधापेक्षयाधिकभोजनम् । प्रयासः श्रमजननानुकूलो व्यापारः । प्रकृष्टो जल्पः प्रजल्पो बहुभाषणं शीतोदकेन प्रातःस्नाननक्तभोजनफलाहारादिरूपनियमस्य ग्रहणं नियमग्रहः । जनानां संगो जनसंगः । कामादिजनकत्वात् । लोलस्य भावः लौल्यं चांचल्यं । षड्भिरत्याहारादिभिरभ्यासप्रतिबंधात् । योगो विनश्यति विशेषेण नश्यति ॥ १५ ॥

अथ योगसिद्धिकरानाह ॥ उत्साहादिति ॥ विषयप्रवणं चित्तं निरोत्स्याम्येवेत्युद्यम् उत्साहः।साध्यत्वासाध्यत्वे परिभाव्य सहसा प्रवृत्तिः साहसम्।यावज्जीवनं सेत्स्यत्येवेत्यखेदो धैर्यम्।विषया मृगतृष्णाजलवदसंतः, ब्रह्मैव सत्यमिति वास्त-

॥ भाषा ॥

अब योगाभ्यासके प्रतिबंधकनकूं कहेहैं ॥ अत्याहार इति ॥ अत्याहार कहा फिर भूक नलगे या लिये अधिक भोजन करले सो अत्याहार ओर श्रम जामें बोहोत होय सो प्रयास बोहोत बोलवो सो प्रजल्प ओर शीतल जलकर प्रातःस्नान रात्रिमें भोजन फलाहार इनकूं आदिलेकें जो नियम ग्रहण करनो सो ओर जननके संग ओर चांचल्यता इन छयोगनकरकें योग विनाश होय हे ॥ १५ ॥

अब योगसिद्धीके करवेवारेनकूं कहै हैं ॥ उत्साहादिति ॥ उत्साह १ साहस २ धैर्य ३ तत्त्वज्ञान ४ निश्चय ५ जनसंगपरित्याग ६ इनका अर्थ विषययुक्त चित्तकूं रोकनोई या उद्यममें सो उत्साह ओर ये साधनयोग्य है ओर ये नही साधनके योग्य है ऐसे विचार नही कर सहसा प्रवृत्ति होना सो साहस ओर धैर्यता और विषय मृगतृष्णाजल

॥ अथ यमनियमाः ॥

" अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं क्षमा धृतिः ॥
दयार्जवं मिताहारः शौचं चैव यमा दश ॥ १ ॥
तपः संतोष आस्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम् ॥
सिद्धांतवाक्यश्रवणं ह्रीमती च तपो हुतम् ॥ २ ॥
नियमा दश संप्रोक्ता योगशास्त्रविशारदैः " ॥
हठस्य प्रथमांगत्वादासनं पूर्वमुच्यते ॥
कुर्यात्तदासनं स्थैर्यमारोग्यं चांगलाघवम् ॥ १७ ॥

॥ टीका ॥

विकं ज्ञानं तत्त्वज्ञानं योगानां वास्तविकं ज्ञानं वा । शास्त्रगुरुवाक्येषु विश्वासो निश्चयः श्रद्धेति यावत् । जनानां योगाभ्यासप्रतिकूलानां यः संगस्तस्य परित्यागात् । षड्भिरेभिर्योगः प्रकर्षेणाविलंबेन सिद्ध्यतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

आदावासनकथने संगतिं सामान्यतस्तत्फलं चाह ॥हठस्येति॥ हठस्य । 'आसनं कुंभकं चित्रं मुद्राख्यं करणं तथा । अथ नादानुसंधानम्' इति वक्ष्यमाणानि चत्वार्यंगानि । प्रत्याहारादिसमाध्यंतानां नादानुसंधानेऽतर्भावः । तन्मध्ये आसनस्य प्रथमांगत्वात्पूर्वमासनमुच्यत इति संबंधः । तदासनस्थैर्यं देहस्य मनसश्चाञ्चल्यरूपरजोधर्मनाशकत्वेन स्थिरतां कुर्यात् । 'आसनेन रजो हंति' इति वाक्यात् । आरोग्यं चित्तविक्षेपकरोगाभावः । रोगस्य चित्तविक्षेपकत्वमुक्तं पातंजलसूत्रे । 'व्याधिरुत्थानसंशयप्र-

॥ भाषा ॥

कीसीनाई असत्य है ब्रह्महीं सत्य है ये वास्तव ज्ञान सो तत्त्वज्ञान ओर शास्त्र गुरुवाक्य इनमें विश्वास श्रद्धा सो निश्चय और योगाभ्यासमें विघ्नकर्ता जननके संगकों परित्याग इन छयोगनकरकें हठाभ्यासीके योग प्रकर्षकरकें शीघ्रही सिद्धि होय ॥ १६ ॥

अब आसननको फल कहे हे ॥ हठस्येति ॥ हठके चार अंग हैं आसन १ कुंभक २ मुद्राकरणं ३ ओर नादको अनुसंधान ४ ये अगाडी कहेंगे इनके मध्यमें आसन प्रथमांग हे यातें पूर्व आसन कहे हैं ये आसन जो हे सो देहको मनको चंचलरूप जो रजोगुण धर्म ताय दूरकरकें स्थिरता करे हे ओर रोगकूंबी दूर करे हे ओर अंगनमें गौरवरूप तमोगुण धर्म हें ताय दूरकरे हे ओर अंगनकूं लघुता करे हे ओर क्षुधा प्यासकी वृद्धीकूंबी दूर करे हे ॥ १७ ॥

वसिष्ठाद्यैश्च मुनिभिर्मत्स्येंद्राद्यैश्च योगिभिः ॥
अंगीकृतान्यासनानि कथ्यंते कानिचिन्मया ॥ १८ ॥
जानूर्वोरंतरे सम्यक्कृत्वा पादतले उभे ॥
ऋजुकायः समासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते ॥ १९ ॥

॥ टीका ॥

मादालस्याविरतिभ्रांतिदर्शनालब्धभूमिकत्वाऽनवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽतरायाः ' इति । अंगानां लाघवं लघुत्वं गौरवरूपतमोधर्मनाशकत्वमप्येतेनोक्तम् । चकारात्क्षुद्वृद्ध्यादिकमपि बोध्यम् ॥ १७ ॥

वसिष्ठादिसंमतासनमध्ये श्रेष्ठानि मयोच्यंत इत्याह ॥ **वसिष्ठाद्यैरिति** ॥ वसिष्ठ आद्यो येषां याज्ञवल्क्यादीना तैर्मुनिभिर्मननशीलैः । चकारान्मंत्रादिपरैः । मत्स्येंद्र आद्यो येषां जालंधरनाथादीनां तैः । योगिभिः हठाभ्यासिभिः । चकारान्मुद्रादिपरैः । अंगीकृतानि चतुरशीत्यासनानि तन्मध्ये कानिचित् श्रेष्ठानि मया कथ्यंते । यद्यप्युभयोरपि मननहठाभ्यासौ स्तस्तथापि वसिष्ठादीनां मननं मुख्यं मत्स्येंद्रादीनां हठाभ्यासो मुख्य इति पृथग्ग्रहणम् ॥ १८ ॥

तत्र सुकरत्वात्प्रथमं स्वस्तिकासनमाह ॥ **जानूर्वोरिति**॥ जानु च ऊरुश्च । अत्र जानुशब्देन जानुसंनिहितो जंघाप्रदेशो ग्राह्यः । जंघोर्वोरिति पाठस्तु साधीयान् । तयोरंतरे मध्ये उभे पादयोस्तले तलप्रदेशौ कृत्वा ऋजुकायः समकायः यत्र समासीनो भवेत्तदासनं स्वस्तिकं स्वस्तिकाख्यं प्रचक्षते वदंति । योगिन इति शेषः । श्रीधरेणोक्तं । ' ऊरुजंघांतराधाय प्रपदे जानुमध्यगे । योगिनो यदवस्थानं

॥ भाषा ॥

वसिष्ठाद्यैरिति ॥ वसिष्ठ आदिमें जिनके ऐसे याज्ञवल्क्यादिक मननमें हे शील जिनके मंत्रादिकनमें परायण मुनी तिनकरकें ओर मत्स्येंद्र जालंधरादिक हठाभ्यासी योगी तिनकरकें ओर मुद्रादिकनमे परायण तिनकर अंगीकार किये चोराशी आसन तिनके मध्यमेंसुं कोईएक श्रेष्ठ आसन तिने में कहुहुं ओर वसिष्ठ याज्ञवल्क्यादिकनकूं मननमें मुख्यपनो हे ओर मत्स्येंद्रादिक हठाभ्यासमें मुख्य हें यातें दोनोंनके नाम न्यारे न्यारे आसन ग्रहण किये ॥ १८ ॥

सबमें सुगम हे यातें प्रथम स्वस्तिकासन कहें हैं ॥ **जानूर्वोरिति** ॥ जानु ऊरू इनके मध्यमें दोनो पामके तलु आनकूं करकें फिर सरल देहकर बेठजाय ताय स्वस्तिक आसन कहें हैं॥१९॥

सव्ये दक्षिणगुल्फं तु पृष्ठपार्श्वे नियोजयेत् ॥
दक्षिणेऽपि तथा सव्यं गोमुखं गोमुखाकृति ॥ २० ॥
एकं पादं तथैकस्मिन्विन्यसेदुरुणि स्थितम् ॥
इतरस्मिंस्तथा चोरुं वीरासनमितीरितम् ॥ २१ ॥
गुदं निरुद्ध्य गुल्फाभ्यां व्युत्क्रमेण समाहितः ॥
कूर्मासनं भवेदेतदिति योगविदो विदुः ॥ २२ ॥

॥ टीका ॥

स्वस्तिकं तद्विदुर्बुधाः ॥ ' इति ॥ १९ ॥

गोमुखासनमाह ॥ सव्य इति ॥ सव्ये वामे पृष्ठस्य पार्श्वे संप्रदायात्कटेरधोभागे दक्षिणं गुल्फं नितरां योजयेत् । गोमुखस्याकृतिर्यस्य तत्तादृशं गोमुखसंज्ञकमासनं भवेत् ॥ २० ॥

वीरासनमाह ॥ एकमिति ॥ एकं दक्षिणं पादं । तथा पादपूरणे । एकस्मिन्वामोरुणि स्थितं विन्यसेत् । इतरस्मिन्वामे पादे ऊरुं दक्षिणं विन्यसेत् । तद्वीरासनमितीरितं कथितम् ॥ २१ ॥

कूर्मासनमाह ॥ गुदमिति ॥ गुल्फाभ्यां गुदं निरुद्ध्य नियम्य व्युत्क्रमेण यत्र सम्यगाहितः स्थितो भवेत् । एतत्कूर्मासनं भवेत् । इति योगविदो विदुरित्यन्वयः ॥ २२ ॥

॥ भाषा ॥

अब गोमुख आसन कहें है ॥ सव्येति ॥ वांई ओर कटिके नीचें दक्षिण गुल्फ अर्थात् टकना ताय धरकें ओर जेमनी कटिके नीचे वांये पामको टकना धरके बेठजाय गोमुखकीसी आकृति जाकी सो गोमुखसंज्ञक आसन होय है ॥ २० ॥

वीरासन कहें हैं ॥ एकमिति ॥ जैमनो पाम ताकूं वांये उरूमें स्थितकरकें फिर वांयो पाम दक्षिण उरू धरतीमें धरकैं स्थित होय जाय याये वीरासन कहें हैं ॥ २१ ॥

अब कूर्मासन कहें है ॥ गुदमिति ॥ दोनों पामनकी एढीनतें गुदाकूं रोककर सावधान स्थित होयजाय ये कूर्मासन हे याके भेद अगाडी कहेंगे ॥ २२ ॥

मू० पद्मासनं तु संस्थाप्य जानूर्वोरंतरे करौ ॥
निवेश्य भूमौ संस्थाप्य व्योमस्थं कुक्कुटासनम् ॥ २३ ॥
कुक्कुटासनबंधस्थो दोर्भ्यां संबध्य कंधराम् ॥
भवेत्कूर्मवदुत्तान एतदुत्तानकूर्मकम् ॥ २४ ॥
पादांगुष्ठौ तु पाणिभ्यां गृहीत्वा श्रवणावधि ॥
धनुराकर्षणं कुर्याद्धनुरासनमुच्यते ॥ २५ ॥

॥ टीका ॥

कुक्कुटासनमाह ॥ पद्मासनं त्विति ॥ पद्मासनं तु ऊर्वोरुपरि उत्तानचरणस्थापनरूपं सम्यक् स्थापयित्वा । जानुपदेन जानुसंनिहितो जंघाप्रदेशः । तच्च ऊरुश्च जानूरू तयोरंतरे मध्ये करौ निवेश्य भूमौ संस्थाप्य । करावित्यत्रापि संबध्यते । व्योमस्थं खस्थं पद्मासनसदृशं यत्तत्कुक्कुटासनम् ॥ २३ ॥

उत्तानकूर्मकासनमाह ॥ कुक्कुटासनेति ॥ कुक्कुटासनस्य यो बंधः पूर्वश्लोकोक्तस्तस्मिन् स्थितः दोर्भ्यां बाहुभ्यां कंधरां ग्रीवां संबध्य कूर्मवदुत्तानो यस्मिन्भवेदेतदासनमुत्तानकूर्मकं नाम ॥ २४ ॥

धनुरासनमाह ॥ पादांगुष्ठौ त्विति ॥ पाणिभ्यां पादयोरंगुष्ठौ गृहीत्वा श्रवणावधि कर्णपर्यंतं धनुष आकर्षणं यथा भवति तथा कुर्यात् । गृहीतांगुष्ठमेकं पाणिं प्रसारितं कृत्वा गृहीतांगुष्ठमितरं पाणिं कर्णपर्यंतमाकुंचितं कुर्यादित्यर्थः । एतद्धनुरासनमुच्यते ॥ २५ ॥

॥ भाषा ॥

अब कुक्कुटासन कहें हे ॥ पद्मासनं त्विति ॥ दोनों पामके ऊरूनके ऊपर उंचें चरणस्थापन करकें दोनों हाथ जानु ऊरूनके बीचमें करकें पृथ्वीमें स्थापन कर हाथनके बल भूमिसें उठ अधरस्थित होय जाय ये कुक्कुटासन हें ॥ २३ ॥

उत्तानकूर्मासन कहे हें ॥ कुक्कुटासनेति ॥ कुक्कुटासनको जो बंध पूर्व कह्यो तेंसेंही स्थित होय वेसीही भुजानकर नाड पकडकर कूर्मकीसी नाई उत्तान जामें होय सो ये उत्तानकूर्मक नाम आसन कहें हैं ॥ २४ ॥

अब धनुरासन कहें हैं ॥ पादांगुष्ठौ त्विति ॥ दोनों हस्तकर दोनों पामके अंगूठा ग्रहण करके कर्णपर्यंत धनुषके आकर्षणकीसीनाई करे ओर ग्रहण कीनो हे अंगुष्ठ जामें

मू० वामोरुमूलार्पितदक्षपादं जानोर्बहिर्वेष्टितवामपादम् ॥
प्रगृह्य तिष्ठेत्परिवर्तितांगः श्रीमत्स्यनाथोदितमासनं स्यात् २६
मत्स्येंद्रपीठं जठरप्रदीप्तिं प्रचंडरुग्मंडलखंडनास्त्रम् ॥
अभ्यासतः कुंडलिनीप्रबोधं चंद्रस्थिरत्वं च ददाति पुंसाम् २७

॥ टीका ॥

मत्स्येंद्रासनमाह॥वामोर्विति॥वामोरुमूलेऽर्पितः स्थापितो यो दक्षपादः तं संप्रदायात्पृष्ठतोगतवामपाणिना गुल्फस्योपरिभागे परिगृह्य । जानोर्दक्षिणपादजानोर्बहिः प्रदेशे वेष्टितो यो वामपादस्तं वामपादजानोर्बहिर्वेष्टितदक्षिणपाणिनांगुष्ठे प्रगृह्य । परिवर्तितांगः वामभागेन पृष्ठतो मुखं यथा स्यादेवं परिवर्तितं परावर्तितमंगं येन स तथा तादृशो यत्र तिष्ठेत् स्थितिं कुर्यात्तदासनं मत्स्येंद्रनाथेनोदितं कथितं स्यात् । तदुदितत्वात्तन्नामकमेव वदंति । एवं दक्षोरुमूलार्पितवामपादं पृष्ठतोगतदक्षिणपाणिना प्रगृह्य वामजानोर्बहिर्वेष्टितदक्षपादं दक्षिणपादजानोर्बहिर्वेष्टितवामपाणिना प्रगृह्य । दक्षभागेन पृष्ठतो मुखं यथा स्यादेवं परिवर्तितांगश्चाभ्यसेत् ॥ २६ ॥

मत्स्येंद्रासनस्य फलमाह॥मत्स्येंद्रेति॥प्रचंडं दुःसहं रुजां रोगाणां मंडलं समूहः तस्य खंडने छेदनेऽस्त्रमस्त्रमिव तादृशं मत्स्येंद्रपीठं मत्स्येंद्रासनम् । अभ्यासतः प्रत्य-

॥ भाषा ॥

ऐसो एक हस्त फैलायकरकें ओर ग्रहण कीनो हे अंगुष्ठ जामें एसो दूसरो हस्त ताय कर्णपर्यंत आकुंचित करे ये धनुरासन कहैं है ॥ २५ ॥

मत्स्येंद्रासन कहें हें ॥ वामोरुमूलेति ॥ वांये ऊरूके मूलमें धऱ्यो जो जेमनो पाम ताय पीठमाहूंतें गयो जो हस्त ताकर एडीको ऊपरलो भाग ताय ग्रहणकरके फिर जैमने पामके जानूके बहिःप्रदेशमे वेष्टित जो वामपादको जानू ताके बहार वेष्टित जैमनो हस्त कर अंगूठा पकड कर वर्त्त रह्यो है अंग जाको ऐसो योगी या आसनमें स्थिति करे ये आसन मत्स्येंद्रनाथनें कह्यो हे यातें याहि नामकर आसन कहें हें ऐसेंही जैमने पामके ऊरूके मूलमें धऱ्यो जो वामपाद ताय पृष्ठमाहूंतें दक्षिण हस्तकर ग्रहणकर वामजानूके बहार वेष्टित दक्षिणपामको जानुके बहार वेष्टित वामहस्तकर ग्रहणकरकें स्थित होय ऐसें अभ्यास करें ये मत्स्येंद्रासन हे ॥ २६ ॥

अब मत्स्येंद्रासनको फल कहें हैं ॥ मत्स्येंद्रेति ॥ प्रचंड दुःसह ऐसे जो रोगनको मंडलरूप समूह ताके छेदन करवेकूं अस्त्रकीसी नाई मत्स्येंद्रासन हे ओर जो नित्य याको आवर्तनरूप अभ्यास करो करैं जिन पुरुषनकूं उदरमें जो जाठराग्नि ताकी प्रकृष्ट वृद्धि

**मू० प्रसार्य पादौ भुवि दंडरूपौ दोर्भ्यां पदाग्रद्वितयं गृहीत्वा ॥
जानूपरि न्यस्तललाटदेशो वसेदिदं पश्चिमतानमाहुः॥२८॥
इति पश्चिमतानमासनाग्र्यं पवनं पश्चिमवाहिनं करोति ॥
उदयं जठरानलस्य कुर्यादुदरे कार्श्यमरोगतां च पुंसाम्॥२९**

॥ टीका ॥

द्मावर्तनरूपादभ्यासात् पुंसां जठरस्य जठराग्नेः प्रकृष्टां दीप्तिं वृद्धिं ददाति । तथा कुंडलिन्या आधारशक्तेः प्रबोधं निद्राभावं तथा चंद्रस्य तालुन उपरिभागे स्थितस्य नित्यं क्षरतः स्थिरत्वं क्षरणाभावं च ददातीत्यर्थः ॥ २७ ॥

पश्चिमतानासनमाह ॥ **प्रसार्येति** ॥ भुवि भूमौ दंडस्य रूपमिव रूपं ययोस्तौ दंडाकारौ श्लिष्टगुल्फौ प्रसार्य प्रसारितौ कृत्वा । दोर्भ्यामाकुंचिततर्जनीभ्यां भुजाभ्यां पदोः पदयोश्चाग्रे अग्रभागौ तयोर्द्वितयं द्वयमंगुष्ठप्रदेशयुग्मं बलादाकर्षणपूर्वकं यथा जान्वधोभागस्य भूमेरुत्थानं न स्यात्तथा गृहीत्वा । जानोरुपरि न्यस्तो ललाटदेशो येन तादृशो यत्र वसेत् । इदं पश्चिमताननामकमासनमाहुः॥२८॥

अथ तत्फलम् ॥ **इतीति** ॥ इति पूर्वोक्तमासनेष्वग्र्यं मुख्यं पश्चिमतानं पवनं प्राणं पश्चिमवाहिनं पश्चिमेन पश्चिममार्गेण सुषुम्नामार्गेण वहतीति पश्चिमवाही तं तादृशं करोति । जठरानलस्य जठरे योऽनलोऽग्निस्तस्योदयं वृद्धिं कुर्यात् । उदरे मध्यप्रदेशे कार्श्यं कृशत्वं कुर्यात् । अरोगतामारोग्यं चकारान्नाडीवलनादिसाम्यं कुर्यात् ॥ २९ ॥

॥ भाषा ॥

देवे हे ओर तेसेंही कुंडलिनी जो आधारशक्ती ताकूं प्रबोध अर्थात् निद्राको अभाव करें हे ओर तेसेंही फिर चंद्र जो तालुवेके उपरि भागमें स्थित नित्य क्षरो करे हे ताकूं क्षरणको अभाव स्थिर करे है ॥ २७ ॥

अब पश्चिमतान आसन कहें है ॥ **प्रसार्येति** ॥ दोनों हस्त पृथ्वीमें दंडकीसीनाई लंबे करै दोनों पाम लंबे करें भुजानकर दोनों पामनके अग्रभागके दोनों अंगूठा बलतें खेचें रहै फिर जानूनकें ऊपर ललाटधरकैं स्थित होय जाय ये पश्चिमतान नाम आसन हें ॥ २८ ॥

अथ फलम् ॥ **इतीति** ॥ पहलें कहे जो आसन तिनमें मुख्य हे यह पश्चिमतान आसन सो सुषुम्नामार्गकरकें बहरह्यो जो प्राण ताय सुषुम्ना कर वहनलगै ऐसो प्राणकूं करदे ओर उदरमें जो अग्नि ताकी वृद्धि करे हें ओर उदरके मध्यदेशमें कृशता करें है ओर आरोग्य करै हे ओर प्रकारतें नाडीवलनादिककूं समान करै है ॥ २९ ॥

मू० धरामवष्टभ्य करद्वयेन तत्कूर्परस्थापितनाभिपार्श्वः ॥
उच्चासनो दंडवदुत्थितः स्यान्मयूरमेतत्प्रवदंति पीठम्॥३०॥
हरति सकलरोगानाशु गुल्मोदरादीनभिभवति च दोषाना-
सनं श्रीमयूरम्॥ बहु कदशनभुक्तं भस्म कुर्यादशेषं जन-
याति जठराग्निं जारयेत्कालकूटम् ॥ ३१ ॥

॥ टीका ॥

अथ मयूरासनमाह ॥ धरामिति ॥ करद्वयेन करयोर्द्वयं युग्मं तेन धरां भूमिं अवष्टभ्यावलंब्य प्रसारितांगुली भूमिसंलग्नतलौ सन्निहितौ करौ कृत्वेत्यर्थः। तस्य करद्वयस्य कूर्परयोर्भुजमध्यसंधिभागयोः स्थापिते धृते नाभेः पार्श्वे पार्श्वभागौ येन स उच्चासन उच्चमुन्नतमासनं यस्यैतादृशः खे शून्ये दंडवद्दंडेन तुल्यमुत्थित ऊर्ध्वं स्थितो यत्र भवति तन्मायूरं मयूरस्येदं तत्संबंधित्वात्तन्नामकं प्रवदंति। योगिन इति शेषः ॥ ३० ॥

मयूरासनगुणानाह ॥ हरतीति ॥ गुल्मो रोगविशेषः उदरं जलोदरं ते आदिनी येषां प्लीहादीनां ते तथा तान्सकलरोगान् सकला ये रोगास्तानाशु झटिति हरति नाशयति। श्रीमयूरमासनमिति सर्वत्र संबध्यते। दोषान्वातपित्तकफानालस्यदांश्चाभिभवति तिरस्करोति। बहतिशयितं कदशनं कदन्नं यद्भुक्तं तदशेषं समस्तं भस्म कुर्यात्पाचयेदित्यर्थः। जठराग्निं जठरानलं जनयाति प्रादुर्भावयति। कालकूटं विषं कालकूटवदपकारकान्नं समस्तं जारयेज्जीर्णं कुर्यात्पाचयेदित्यर्थः ॥ ३१ ॥

॥ भाषा ॥

अब मयूरासन कहें है ॥ धरामिति ॥ दोनों भुजा पृथ्वीमें धरकरकैं दोनों भुजानकी मध्य संधिखोनीके यहांतक धारण कियो हे नाभिको पार्श्वभाग जाने ओर उंचो हे आसन जाको पृथ्वीतें उंचो उठ करकैं ऊर्ध्व स्थित जामे होय ताकूं मयूरासन कहें है मयूरके संबंधि कहे हे ॥ ३० ॥

अब मयूरासनके गुण कहे हें ॥ हरतीति ॥ जलोदर प्लीहकूं आदिले सकल रोगनकूं शीघ्र हरे ओर वात पित्त कफ इने ओर आलस्यकूं देवेवारे तिने तिरस्कार करे हे ओर बहोत कुत्सित अन्न भोजन कियो होय ताय भस्म करे ओर जाठराग्निकूं प्रगट करे विषकी समान अपकार करवेवारे अन्नकूं पचायदे ॥ ३१ ॥

मू० उत्तानं शववद्भूमौ शयनं तच्छवासनम् ॥
शवासनं श्रांतिहरं चित्तविश्रांतिकारकम् ॥ ३२ ॥
चतुरशीत्यासनानि शिवेन कथितानि च ॥
तेभ्यश्चतुष्कमादाय सारभूतं ब्रवीम्यहम् ॥ ३३ ॥
सिद्धं पद्मं तथा सिंहं भद्रं चेति चतुष्टयम् ॥
श्रेष्ठं तत्रापि च सुखे तिष्ठेत्सिद्धासने सदा ॥ ३४ ॥

॥ टीका ॥

शवासनमाहार्धेन ॥ उत्तानमिति ॥ शवेन मृतशरीरेण तुल्यं शववदुत्तानं भूमिसंलग्नं पृष्ठं यथा स्यात्तथा शयनं निद्रायामिव सन्निवेशो यत्तच्छवासनं शवाख्यमासनम् । शवासनप्रयोजनमाह । उत्तरार्धेन । शवासनं श्रांतिहरं श्रांतिं हठाभ्यासश्रमं हरतीति श्रांतिहरं चित्तस्य विश्रांतिर्विश्रामस्तस्याः कारकम् ॥ ३२ ॥

वक्ष्यमाणासनचतुष्टयस्य श्रेष्ठत्वं वदन्नाह ॥चतुरशीतीति॥ शिवेनेश्वरेण चतुरधिकाशीतिसंख्याकान्यासनानि कथितानि चकाराच्चतुरशीतिलक्षणानि च । तदुक्तं गोरक्षनाथेन । ' आसनानि च तावंति यावंत्यो जीवजातयः । एतेषामखिलान्भेदान्विजानाति महेश्वरः ॥ चतुरशीतिलक्षाणि एकैकं समुदाहृतम् । ततः शिवेन पीठानां षोडशोनं शतं कृतम् ॥' इति । तेभ्यः शिवोक्तचतुरशीतिलक्षासनानां मध्ये प्रशस्तानि यानि चतुरशीत्यासनानि तेभ्य आदाय गृहीत्वा । सारभूतं श्रेष्ठभूतं चतुष्कमहं ब्रवीमीत्यन्वयः ॥ ३३ ॥

तदेव चतुष्कं नाम्ना निर्दिशति ॥ सिद्धमिति ॥ सिद्धं सिद्धासनं । पद्मं

॥ भाषा ॥

शवासनमाह ॥ उत्तानमिति ॥ शवकीसीनाई पीठ पृथ्वीमै लगाय शयन करजाय निद्रा कीसीनाई स्थित होय सो शवासन आसन है याके करवेको प्रयोजन कहा ये आसन हठाभ्यासके श्रमकूं दूर करे हे ओर चित्तकूं विश्रामको करवेवारो हे ॥ ३२ ॥

कहेंगे च्यार आसन तिनकूं श्रेष्ठपनो कहें हें ॥ चतुरशीतीति ॥ चोराशी लक्ष आसन हें जितने जीवजाती हें तितनेही आसन हें उनके भेद शिवजी जाने हे उनमेंतें चोराशी विख्यात हे चोराशीनमेंतै ग्रहण करकै सारभूत श्रेष्ठ च्यार आसन मे कहूहूं इनकूं चतुष्क नाम करकै कहे हें ॥ ३३ ॥

सिद्धमिति ॥ सिद्धासन १ पद्मासन २ सिंहासन ३ भद्रासन ४ ये च्यार आसन श्रेष्ठ हें

मू० योनिस्थानकमंघ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसेन्मेंढ्रे पादमथैकमेव हृदये कृत्वा हनुं सुस्थिरम् ॥ स्थाणुः संयमितेंद्रियोऽचलदृशा पश्येद्भ्रुवोरंतरं ह्येतन्मोक्षकपाटभेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते ॥ ३५ ॥

॥ टीका ॥

पद्मासनं । सिंहं सिंहासनं । भद्रं भद्रासनं । इति चतुष्टयं श्रेष्ठमतिशयेन प्रशस्यं तत्रापि चतुष्टये सुखे सुखकरे सिद्धासने सदा तिष्ठेत् । एतेन सिद्धासनं चतुष्टयेप्युत्कृष्टमिति सूचितम् ॥ ३४ ॥

आसनचतुष्टयेप्युत्कृष्टत्वात्प्रथमं सिद्धासनमाह ॥ योनिस्थानकमिति॥ योनिस्थानमेव योनिस्थानकं । स्वार्थे कप्रत्ययः । गुदोपस्थयोर्मध्यमप्रदेशे पदं योनिस्थानं तत् अंघ्रिर्वामश्चरणस्तस्य मूलेन पार्ष्णिभागेन घटितं संलग्नं कृत्वा । स्थानांतरं एकं पादं दक्षिणं पादं मेंढ्रेंद्रियस्योपरिभागे दृढं यथा स्यात्तथा विन्यसेत् । हृदये हृदयसमीपे हनुं चिबुकं सुस्थिरं सम्यक्स्थिरं कृत्वा हनुहृदययोश्चतुरंगुलमंतरं यथा भवति तथा कृत्वेति रहस्यं । संयमितानि विषयेभ्यः परावृत्तानींद्रियाणि येन स तथा । अचला या दृक् दृष्टिस्तथा भ्रुवोरंतरं मध्यं पश्येत् । हि प्रसिद्धं मोक्षस्य यत्कपाटं प्रतिबंधकं तस्य भेदं नाशं जनयतीति तादृशं सिद्धानां योगिनां । आस्तेऽत्रास्यतेऽनेनेति वा आसनं सिद्धासननामकमिदं भवेदित्यर्थः ॥ ३५ ॥

॥ भाषा ॥

विख्यात हें ये सुखके करवेवारे इन च्यारोनमेंतेंबी सुखकारी सिद्धासन है ये च्यारोनमें श्रेष्ठ हे याए सदा करोकरे ॥ ३४ ॥

च्यारो आसनमें उत्कृष्ट हे यातें प्रथम सिद्धासन कहें हें ॥ योनिस्थानकमिति ॥ गुदा ओर उपस्थ इनको मध्यदेश सो योनीस्थान है वांये पामकी एढी योनीस्थानमें लगाय स्थित करे ऐसेंही जेमनो पाम इंद्रियके ऊपर भागमें एढी लगाय स्थित करे ओर हृदयके च्यार अंगुल उपर चिबुक जो ठोढी स्थित करे विषयनतें इंद्रियनकूं एक अचलदृष्टी कर भ्रुकुटीको मध्य देखे निश्चय मोक्षको कपाट, ताकूं दूर करे हे ये आसन सिद्धासन नाम कह्यो है ॥ ३५ ॥

मतांतरे तु ॥

मेंढ्रादुपरि विन्यस्य सव्यं गुल्फं तथोपरि ॥
गुल्फांतरं च निक्षिप्य सिद्धासनमिदं भवेत् ॥ ३६ ॥
एतत्सिद्धासनं प्राहुरन्ये वज्रासनं विदुः ॥
मुक्तासनं वदंत्येके प्राहुर्गुप्तासनं परे ॥ ३७ ॥
यमेष्विव मिताहारमहिंसां नियमेष्विव ॥
मुख्यं सर्वासनेष्वेकं सिद्धाः सिद्धासनं विदुः ॥ ३८ ॥

॥ टीका ॥

मत्स्येंद्रसंमतं सिद्धासनमुक्त्वाऽन्यसंमतं वक्तुमाह ॥ मतांतरे त्विति ॥ तदेव दर्शयति ॥ मेंढ्रादिति ॥ मेंढ्रादुपस्थादुपर्यूर्ध्वभागे सव्यं वामगुल्फं विन्यस्य तथा सव्यवदुपरि मुख्यपादस्योपरि न तु सव्यगुल्फस्य । गुल्फांतरं दक्षिणगुल्फं च निक्षिप्य वसेदिति शेषः । इदं सिद्धासनं मतांतराभिमतमित्यभेद इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

तत्र प्रथमं महासिद्धसंमतमिति स्पष्टीकर्तुमस्यैव मतभेदान्नामभेदानाह ॥ एतदिति ॥ एतत्पूर्वोक्तं सिद्धासनं सिद्धासननामकं प्राहुः । केचिदित्यध्याहारः । अन्ये वज्रासनं वज्रासनसंज्ञकं विदुः जानंति । एके मुक्तासनं मुक्तासनाभिधं वदंति । परे गुप्तासनं गुप्तासनाख्यं प्राहुः । अत्रासनाभिज्ञाः । यत्र वामपादपार्ष्णि योनिस्थाने नियोज्य दक्षिणपादपार्ष्णिर्मेंढ्रादुपरि स्थाप्यते तत्सिद्धासनं । यत्र वामपादपार्ष्णि योनिस्थाने नियोज्य दक्षिणपादपार्ष्णिर्मेंढ्रादुपरि स्थाप्यते तद्वज्रासनं । यत्र तु दक्षिणसव्यपार्ष्णिद्वयमुपर्यधोभागेन संयोज्य योनिस्थानेन संयोज्यते तन्मुक्तासनं । यत्र च पूर्ववत्संयुक्तं पार्ष्णिद्वयं मेंढ्रादुपरि निधीयते तद्गुप्तासनमिति॥३७॥

अथ सप्तभिः श्लोकैः सिद्धासनं प्रशंसति ॥ यमेष्वित्यादिभिः ॥ यमेषु मिता-

॥ भाषा ॥

मत्स्येंद्रसंमत सिद्धासन कह करके मतांतरके संमत कहें हें ॥ मेंढ्रादिति ॥ उपस्थतें उपरि भागमें वामो गुल्फ धरकरके वामपामके ऊपर दक्षिण पाम धरकें स्थित होय ये सिद्धासन मतांतरके अभिमत हे ॥ ३६ ॥

एतदिति ॥ पूर्व कह्यो जो सिद्धासन ताय सिद्धासन कोई कहें हैं ओर कोई वज्रासनसंज्ञक जाने हें कोई मुक्तासन नाम कहें हें ओर कोई गुप्तासन कहे हैं ॥ ३७ ॥

अब सात श्लोकनकर सिद्धासनकी प्रशंसा करें हें ॥ यमेष्वित्यादिभिः ॥ यमनके

चतुरशीतिपीठेषु सिद्धमेव सदाभ्यसेत् ॥
द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधनम् ॥ ३९ ॥
आत्मध्यायी मिताहारी यावद्द्वादशवत्सरम् ॥
सदा सिद्धासनाभ्यासाद्योगी निष्पत्तिमाप्नुयात् ॥ ४० ॥
किमन्यैर्बहुभिः पीठैः सिद्धे सिद्धासने सति ॥
प्राणानिले सावधाने बद्धे केवलकुंभके ॥ ४१ ॥

॥ टीका ॥

हारमिव । मिताहारो वक्ष्यमाणः । 'सुस्निग्धमधुराहारः' इत्यादिना । नियमेषु अहिंसामिव । सर्वाणि यान्यासनानि तेषु सिद्धाः एकं सिद्धासनं मुख्यं विदुरिति संबंधः ॥ ३८ ॥

॥ चतुरशीतीति ॥ चतुरधिकाशीतिसंख्याकानि यानि पीठानि तेषु सिद्धमेव सिद्धासनमेव सदा सर्वदाभ्यसेत् । सिद्धासनस्य सदाभ्यासे हेतुगर्भं विशेषणं । द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधनं शोधकम् ॥ ३९ ॥

आत्मध्यायीति॥आत्मानं ध्यायतीत्यात्मध्यायी मित आहारोऽस्यास्तीति मिताहारी यावंतो द्वादश वत्सराः यावद्द्वादशवत्सरं । 'यावदवधारणे' इत्यव्ययीभावः समास । द्वादशवत्सरपर्यंतमित्यर्थः । सदा सर्वदा सिद्धासनस्याभ्यासाद्योगी योगाभ्यासी निष्पत्तिं योगसिद्धिमाप्नुयात्प्राप्नुयात् । योगांतराभ्यासमंतरेण सिद्धासनाभ्यासमात्रेण सिद्धिं प्राप्नुयादित्यर्थः ॥ ४० ॥

किमन्यैरिति ॥ सिद्धासने सिद्धे सत्यन्यैर्बहुभिः पीठैरासनैः किं । न किमपी-

॥ भाषा ॥

बीचमे नियमित आहार कीसीनाई ओर नियमनमें अहिंसा कीसीनाई योगी संपूर्ण आसननमें सिद्धासन मुख्य कहें हें ॥ ३८ ॥

चतुरशीतीति ॥ चौराशी आसननमेंसुं सिद्ध ये सिद्धासन हे याये सदां अभ्यास करे क्यों के बहत्तर हजार नाडीनके मैलकूं शोधन करे हे ॥ ३९ ॥

आत्मध्यायीति ॥ आत्माये ध्यावे सो आत्मध्यायी ओर प्रमाणको भोजन करे सो मिताहारी ऐसो होय द्वादश वर्षपर्यंत सर्वदा सिद्धासनको अभ्यास करै तो योगाभ्यासी योगसिद्धि प्राप्त होय ओर योगांतराभ्यास विनाहि या सिद्धासनके अभ्यास मात्र कर केंहिं सिद्धि प्राप्त होय ॥ ४० ॥

किमन्यैरिति ॥ जो सिद्धासन सिद्ध होय जाय तो फिर ओर आसन बोहोतनकरकें कहा

मू० उत्पद्यते निरायासात्स्वयमेवोन्मनी कला ॥
तथैकस्मिन्नेव दृढे सिद्धे सिद्धासने सति ॥
बंधत्रयमनायासात्स्वयमेवोपजायते ॥ ४२ ॥
नासनं सिद्धसदृशं न कुंभः केवलोपमः ॥
न खेचरीसमा मुद्रा न नादसदृशो लयः ॥ ४३ ॥

अथ पद्मासनं ॥

वामोरूपरि दक्षिणं च चरणं संस्थाप्य वामं तथा ॥
दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढम् ॥

॥ टीका ॥

स्यर्थः । सावधाने प्राणानिले प्राणवायौ केवलकुंभके बद्धे सति ॥ ४१ ॥

उत्पद्यत इति ॥ उन्मनी उन्मन्यवस्था सा कलेवाह्लादकत्वाचंद्रलेखेव निरायासादनायासात्स्वयमेवोत्पद्यत उदेति ॥ तथेति ॥ तथोक्तप्रकारेणैकस्मिन्नेव सिद्धे दृढे बद्धे सति बंधत्रयं मूलबंधोड्डीयानबंधजालंधरबंधरूपमनायासात् 'पार्ष्णिमार्गेण संपीड्य योनिमाकुंचयेद्गुदम्' इत्यादिवक्ष्यमाणमूलबंधादिष्वायासस्तं विनैव स्वयमेवोपजायते स्वत एवोत्पद्यत इत्यर्थः ॥ ४२ ॥

नासनमिति ॥ सिद्धेन सिद्धासनेन सदृशमासनं । नास्तीति शेषः । केवलेन केवलकुंभकेनोपमीयत इति केवलोपमः कुंभः कुंभको नास्ति । खेचरीमुद्रासमा मुद्रा नास्ति नादसदृशो लयो लयहेतुर्नास्ति ॥ ४३ ॥

पद्मासनं वक्तुमुपक्रमते ॥ अथेति ॥ पद्मासनमाह ॥ वामोरूपरीति ॥ वामो य ऊरुस्तस्योपरि दक्षिणं । चकारः पादपूरणे । संस्थाप्य सम्यगुत्तानं स्थापयित्वा

॥ भाषा ॥

कछु नही सावधान होय प्राणवायु पुरकरेचकविना केवल कुंभककर बद्धक होय तो–॥४१॥

तुर्य अवस्था ये आल्हादकूं देवे हे चंद्रलेखाकीसी नाई सो अनायासतेंही आपही प्रगट होय जाय ओर कहे प्रकारकर एक सिद्धासन सिद्ध होय तो बंधत्रय अर्थात् मूलबंध उड्डियानबंध जालंधरबंध ये तीनों बंध अगाडी खोलेगे सो इन तीनों बंधनमें श्रम करे बिना अपने आप तीनों बंध प्रगट होय जाय ॥ ४२ ॥

नासनमिति । सिद्धासनकी समान आसन नही. कुंभकसमान प्राणायाम नही. ओर खेचरीसमान मुद्रा नही. ओर नादसमान लय नही. कहा लयको हेतु नही है ॥ ४३ ॥

अब पद्मासन कहे है ॥ वामोरूपरीति ॥ वाम जो ऊरु ताके ऊपरि दक्षिण चरण स्था-

मू० अंगुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकये-
देतद्व्याधिविनाशकारि यमिनां पद्मासनं प्रोच्यते॥४४॥
उत्तानौ चरणौ कृत्वा ऊरुसंस्थौ प्रयत्नतः ॥
ऊरुमध्ये तथोत्तानौ पाणी कृत्वा ततो दृशौ ॥ ४५ ॥
नासाग्रे विन्यसेद्राजदंतमूले तु जिव्हया ॥

॥ टीका ॥

वामं सव्यं चरणं तथा दक्षिणचरणवद्दक्षो दक्षिणो य ऊरुस्तस्योपरि संस्थाप्य पश्चिमेन भागेन पृष्ठभागेनेति । विधिर्विधानं करयोरित्यर्थात् । तेन कराभ्यां हस्ताभ्यां दृढं यथा स्यात्तथा पादांगुष्ठौ धृत्वा गृहीत्वा । दक्षिणं करं पृष्ठतः कृत्वा । वामोरुस्थितदक्षिणचरणांगुष्ठं गृहीत्वा वामकरं पृष्ठतः कृत्वा । दक्षिणोरुस्थितवामचरणांगुष्ठं गृहीत्वेत्यर्थः । हृदये हृदयसमीपे । सामीपिकाधारे सप्तमी । चिबुकं हनुं निधायोरसश्चतुरंगुलांतरे चिबुकं निधायेति रहस्यं । नासाग्रं नासिकाग्रमालोकयेत्पश्येद्यत्रैतद्यमिनां योगिनां व्याधेर्विनाशं करोतीति व्याधिविनाशकारि पद्मासनमेतन्नामकं प्रोच्यते सिद्धैरिति शेषः ॥ ४४ ॥

मत्स्येंद्रनाथाभिमतं पद्मासनमाह ॥ उत्तानाविति ॥ उत्तानौ ऊरुसंलग्नपृष्ठभागौ चरणौ पादौ प्रयत्नतः प्रकृष्टाद्यत्नादूरुसंस्थावूर्वोः सम्यक् तिष्ठत इत्यूरुसंस्थौ तादृशौ कृत्वा । ऊर्वोर्मध्ये उरुमध्ये । तथा चार्थे । पाणी करावुत्तानौ कृत्वा । ऊरुसंस्थोत्तानपादोभयपार्ष्णिसंलग्नपृष्ठं सव्यं पाणिमुत्तानं कृत्वा तदुपरि दक्षिणं पाणिं चोत्तानं कृत्वेत्यर्थः । ततस्तदनंतरं दृशौ दृष्टी—॥ ४५ ॥

नासाग्र इति । नासाग्रे नासिकाग्रे विन्यसेद्विशेषेण निश्चलतया न्यसेदित्यर्थः॥

॥ भाषा ॥

पन करकें वाम चरण दक्षिण ऊरूके उपरि स्थापन करकें दक्षिण हस्त पीठमाऊंकर वाम उरूकें उपरि स्थित चरणको अंगुष्ठ ताय ग्रहण करे ओर ऐसेही वामहस्त पृष्ठभाग कर दक्षिण उरूके उपरि स्थित वामचरणको अंगुष्ठ ग्रहण करकें ओर हृदयसमीप ढोडी धरकें नासिकाको अग्र ताय देखे ये योगीनकी व्याधीकूं दूर करे ऐसो पद्मासन सिद्धनने कह्यो है ॥ ४४ ॥

अब मत्स्येंद्रनाथके संमत पद्मासन कहें हैं ॥ उत्तानाविति ॥ ऊरूनमें लग रह्यो हे पृष्ठभाग जिनको ऐसे चरण ऊरूनमें स्थित करकें दोनो हस्त सूधे एढीनके ऊपर पहलें बांयो हस्त ताके ऊपरि जेमनो हस्त धरे ता पीछै दृष्टी—॥ ४५ ॥

नासिकाके अग्रपे निश्चल राखे फिर डाढानको मूल दक्षिण वाम भागमें स्थित दोन

मू० उत्तंभ्य चिबुकं वक्षस्युत्थाप्य पवनं शनैः ॥ ४६ ॥
इदं पद्मासनं प्रोक्तं सर्वव्याधिविनाशनम् ॥
दुर्लभं येन केनापि धीमता लभ्यते भुवि ॥ ४७ ॥
कृत्वा संपुटितौ करौ दृढतरं बध्वा तु पद्मासनं गाढं वक्षसि सन्निधाय चिबुकं ध्यायंश्च तच्चेतसि ॥ वारंवारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोत्सारयन्पूरितं न्यंचन्प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्तिप्रभावान्नरः ॥ ४८ ॥

॥ टीका ॥

राजदंतानां दंष्ट्राणां सव्यदक्षिणभागे स्थितानां मूले उभे मूलस्थाने जिव्हया उत्तंभ्य ऊर्ध्वं स्तंभयित्वा। गुरुमुखादवगंतव्योऽयं जिव्हाबंधः चिबुकं वक्षसि निधायेति शेषः। शनैर्मंदंमंदं पवनं वायुमुत्थाप्य । अनेन मूलबंधः प्रोक्तः । मूलबंधोऽपि गुरुमुखादेवावगंतव्यः । वस्तुतस्तु जिव्हाबंधेनैवायं चरितार्थ इति हठरहस्यविदः ॥ ४६ ॥

इदमिति ॥ एवं यत्रास्यते तदिदं पद्मासनं पद्मासनाभिधानं प्रोक्तं । आसनज्ञैरिति शेषः । कीदृशं सर्वेषां व्याधीनां विशेषेण नाशनं येनकेनापि भाग्यहीनेन दुर्लभं । धीमता भुवि भूमौ लभ्यते प्राप्यते ॥ ४७ ॥

एतच्च महायोगिसंमतमिति स्पष्टयितुमन्यदपि पद्मासने कृत्य विशेषमाह ॥ कृत्वेति ॥ संपुटितौ संपुटीकृतौ करावुत्संगस्थाविति शेषः । दृढतरमतिशयेन दृढं सुस्थिरं पद्मासनं बध्वा कृत्वेत्यर्थः । चिबुकं हनुं गाढं दृढं यथा स्यात्तथा वक्षसि वक्षःसमीपे सन्निधाय संनिहितं कृत्वा चतुरंगुलांतरेणेति योगिसंप्रदायाज्ज्ञेयं । जालंधरबंधं कृत्वेत्यर्थः । तत्स्वस्वेष्टदेवतारूपं ब्रह्म वा । 'ओंतत्सदिति निर्देशो

॥ भाषा ॥

मूलस्थानमें जिव्हा कर ऊर्ध्व स्तंभनकरके गुरुमुखतें जिव्हाबंध जानने योग्य हे. फिर ढोढी वक्षःस्थलमें चतुरंगुल अंतर रहे ऐसी धरकर शनेशने मंदमंद पवन उठाय करके ये मूलबंध हे सोबी गुरुमुखतें जानने योग्य हे ॥ ४६ ॥

इदमिति । ये पद्मासन कैसो हे सर्वव्याधीनकूं नाश करे हे ये भाग्यहीनकर दुर्लभ हे. पृथ्वीमे पुण्यवान् धीमान् पुरुषोंको प्राप्त होय हैं ॥ ४७ ॥

ये महायोगीनके संमत हे याते ओरबी पद्मासनमें कृत्य विशेष कहें हें ॥ कृत्वेति ॥ दोनों हस्तसंपुटकर गोदमें स्थितकरके फिर अतिस्थिर पद्मासन बांधकर चिबुक कहिये ढोढी

मू० पद्मासने स्थितो योगी नाडीद्वारेण पूरितम् ॥
मारुतं धारयेद्यस्तु स मुक्तो नात्र संशयः ॥ ४९ ॥

अथ सिंहासनं ॥

गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् ॥
दक्षिणे सव्यगुल्फं तु दक्षगुल्फं तु सव्यके ॥ ५० ॥

॥ टीका ॥

ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ' इति भगवदुक्तेः । चेतसि चित्ते ध्यायन् चिंतयन् । अपानमनिलं अपानवायुं ऊर्ध्वं प्रोत्सारयन्मूलबंधं कृत्वा सुषुम्नामार्गेण प्राणमूर्ध्वं नयन् पूरितं पूरकेण अंतर्धारितं प्राणंन्यंचन्नीचैरधोंचन् गमयन् । अंतर्भावितण्यर्थोऽचतिः । प्राणापानयोरैक्यं कृत्वेत्यर्थः । नरः पुमानतुलं बोधं निरुपमज्ञानं शक्तिप्रभावाच्छक्तिराधारशक्तिः कुंडलिनी तस्याः प्रभावात्सामर्थ्यादुपैति प्राप्नोति । प्राणापानयोरैक्ये कुंडलिनीबोधो भवति । कुंडलिनीबोधे सुषुम्नामार्गेण प्राणो ब्रह्मरंध्रं गच्छति। तत्र गते चित्तस्थैर्यं भवति चित्तस्थैर्ये संयमादात्मसाक्षात्कारो भवतीत्यर्थः ॥ ४८ ॥

पद्मासन इति ॥ पद्मासने स्थितो योगी योगाभ्यासी पूरितं पूरकेणांतर्नीतं मारुतं वायुं सुषुम्नामार्गेण मूर्धानं । नीत्वेति शेषः । धारयेत्स्थिरीकुर्यात्स मुक्तः अत्र संशयो नास्तीत्यन्वयः ॥ ४९ ॥

सिंहासनमाह ॥ गुल्फौ चेति॥वृषणस्याधः अधोभागे सीवन्याः पार्श्वयोः सीवन्या उभयभागयोः क्षिपेत्प्रेरयेत्स्थापयेदिति यावत् । गुल्फस्थापनप्रकारमेवाह ॥

॥ भाषा ॥

हृदयसमीप स्थितकर ये जालंधर बंध करकें फिर अपने अपने इष्टदेवरूप अथवा ब्रह्म ताय चित्तमें ध्यान चिंतन करत अपानवायु ताय ऊपरि चढावत मूलबंध कर सुषुम्नामार्गकरके प्राण ऊपरि प्राप्त करे ओर पूरक करकें अंतर धारण कऱ्यो जो प्राण ताय नीचें प्राप्त करत प्राण ओर अपना इनकूं ऐक्य करकें पुरुष अतुलबोध ओर नहीं हें उपमा जाकी ऐसो ज्ञान शक्ति अर्थात् कुंडलिनीके प्रभावतें प्राप्त होय ओर प्राण अपानके ऐक्यतें कुंडलिनीको बोध होय हे ॥ ४८ ॥

कुंडलिनीको बोध होतेंही सुषुम्नामार्गकरकें प्राण ब्रह्मरंध्रकूं जायहे प्राण ब्रह्मरंध्रकूं जाय हें तब चित्त स्थिर होय तब संयमतें आत्मसाक्षात्कार होय है इत्यर्थः पद्मासनमें स्थित योगी पूरककरकें भीतर प्राप्त हुयो जो वायु ताय सुषुम्नामार्गकरकें मस्तकमें ले जायकर स्थिर करे सो मुक्त होय यामें संशय नाहीं ॥ ४९ ॥

अब सिंहासन कहें हें ॥ गुल्फौ चेति ॥ वृषणके नीचें सीवनिके दक्षिणभागमें वांये

मू० हस्तौ तु जान्वोः संस्थाप्य स्वांगुलीः संप्रसार्य च ॥
व्यात्तवक्त्रो निरीक्षेत नासाग्रं सुसमाहितः ॥ ५१ ॥
सिंहासनं भवेदेतत्पूजितं योगिपुंगवैः ॥
बंधत्रितयसंधानं कुरुते चासनोत्तमम् ॥ ५२ ॥

अथ भद्रासनं ॥

गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् ॥
सव्यगुल्फं तथा सव्ये दक्षगुल्फं तु दक्षिणे ॥ ५३ ॥

॥ टीका ॥

दक्षिण इति । सीवन्या दक्षिणे भागे सव्यगुल्फं स्थापयेत् सव्यके सीवन्याः सव्यभागे दक्षिणगुल्फं स्थापयेत् ॥ ५० ॥

हस्ताविति ॥ जान्वोरुपरि हस्तौ तु संस्थाप्य सम्यक् जानुसंलग्नतलौ यथा स्यातां तथा स्थापयित्वा । स्वांगुलीः हस्तांगुलीः संप्रसार्य सम्यक् प्रसारयित्वा । व्यात्तवक्त्रः संप्रसारितललज्जिव्हमुखः सुसमाहितः एकाग्रचित्तः नासाग्रं नासिकाग्रं यस्मिन्निरीक्षेत ॥ ५१ ॥

सिंहासनमिति । एतत्सिंहासनं भवेत् । कीदृशं योगिपुंगवैः योगिश्रेष्ठैः पूजितं प्रस्तुतमासनेषूत्तमं सिंहासनं बंधानां मूलबंधादीनां त्रितयं तस्य संधानं संनिधानं कुरुते ॥ ५२ ॥

भद्रासनमाह ॥ गुल्फाविति ॥ वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः सीवन्या उभयतः । गुल्फौ पादग्रंथी क्षिपेत् । क्षेपणप्रकारमेवाह । सव्यगुल्फमिति । सव्ये सीवन्याः पार्श्वे सव्यगुल्फं क्षिपेत् । तथा पादपूरणे । दक्षगुल्फं तु दक्षिणे सीवन्याः पार्श्वे क्षिपेत् ॥ ५३ ॥

॥ भाषा ॥

पामकी एडी स्थापन करे ओर सीवनिके वामभागमे दक्षिणपामकी एडी स्थापन करै ॥ ५० ॥

हस्ताविति ॥ फिर जानुके उपरि दोनों हस्त औंधे धरकर अंगुली फेलाया कर मुख फाडकर जिव्हा बहार निकास एकाग्र चित्त होय नासिकाको अग्र ताय देखे ॥ ५१ ॥

सिंहासनमिति । ये सिंहासन केसोहे योगीनमें श्रेष्ठ तिनकर पूजित आसननमें उत्तम सिंहासन सो मूलबंधादिक तीन तिनकूं प्रगट करे हें ॥ ५२ ॥

अब भद्रासन कहें हें ॥ गुल्फौ चेति॥ वृषणके नीचे सीवनिके वाम भागमें वाम पामकी एढी धरे ओर सीवनिके दक्षिणभागमें जेमने पामकी एढी धरे ॥ ५३ ॥

मू० पार्श्वपादौ च पाणिभ्यां दृढं बध्वा सुनिश्चलम् ॥
भद्रासनं भवेदेतत्सर्वव्याधिविनाशनम् ॥ ५४ ॥
गोरक्षासनमित्याहुरिदं वै सिद्धयोगिनः ॥
एवमासनबंधेषु योगींद्रो विगतश्रमः ॥ ५५ ॥
अभ्यसेन्नाडिकाशुद्धिं मुद्रादिपवनक्रियाम् ॥
आसनं कुंभकं चित्रं मुद्राख्यं करणं तथा ॥ ५६ ॥

॥ टीका ॥

पार्श्वपादाविति ॥ पार्श्वपादौ च पार्श्वसमीपगतौ पादौ पाणिभ्यां भुजाभ्यां दृढं बध्वा । परस्परसंलग्नांगुलिभ्यामुदरसंलग्नतलाभ्यां पाणिभ्यां बध्वेत्यर्थः । एतद्भद्रासनं भवेत् । कीदृशं सर्वेषां व्याधीनां विशेषेण नाशनम् ॥ ५४ ॥

गोरक्षेति ॥ सिद्धाश्च ते योगिनश्च सिद्धयोगिनः इदं भद्रासनं गोरक्षासनमित्याहुः । गोरक्षेण प्रायशोऽभ्यस्तत्वाद्गोरक्षासनमिति वदंति । आसनान्युक्तानि । तेषु यत्कर्तव्यं तदाह । एवमिति । एवमुक्तेष्वासनबंधेषु बंधनप्रकारेषु विगतः श्रमो यस्य स विगतश्रम आसनानां बंधेषु श्रमरहितः । योगिनामिंद्रो योगींद्रः ॥ ५५ ॥

अभ्यसेदिति ॥ नाडिकानां नाडीनां शुद्धिं । 'प्राणं चेदिडया पिबेन्नियमितम्' इति वक्ष्यमाणरूपा मुद्रा आदिर्यस्याः सूर्यभेदादेस्तादृशीं । पवनस्य प्राणवायोः क्रियां प्राणायामरूपां चाभ्यसेत् । अथ हठाभ्यसनक्रममाह ॥ आसनमिति ॥ आसनमुक्तलक्षणं चित्रं नानाविधं कुंभकं 'सूर्यभेदनमुज्जायी' त्यादिवक्ष्यमाणं । मुद्रा इत्याख्या तस्य तन्मुद्राख्यं महामुद्रादिरूपकरणं हठसिद्धौ प्रकृष्टोपकारकं । तथा चार्थे ॥ ५६ ॥

॥ भाषा ॥

पार्श्वपादाविति ॥ फिर पार्श्वसमीप आये जे पाम तिने दोनो भुजानकरकें बांध ले ये भद्रासन केसो हे संपूर्ण व्याधीनकूं विशेषकरके नाश करै हे ये भद्रासनको बंध एकसो हे यामें वामें फरक नहीं हें निश्चय ॥ ५४ ॥

गोरक्षेति ॥ सिद्धयोगी या भद्रासनकूं गोरक्षासन कहें हें गोरक्षनाथनें अधिककरकें भद्रासनको अभ्यास कियो हे यातें उनके नामतें प्रसिद्ध हे कहे हे जे आसनबंधनप्रकार तिनमें श्रमरहित एसे जो योगींद्र– ॥ ५५ ॥

अभ्यसेदिति ॥ सो नाडीनकी शुद्धी जातें होय मुद्राहे आदि जाकी सूर्यचंद्रभेद जाके एसी प्राणायामरूप जो क्रिया ताय अभ्यासकरे हे ओर चित्रविचित्र आसन ओर कुंभक ओर मुद्राकरणो ये तीनो हठसिद्धीमें उपकारकें करवेवाली हैं ॥ ५६ ॥

मू० अथ नादानुसंधानमभ्यासानुक्रमो हठे ॥
ब्रह्मचारी मिताहारी त्यागी योगपरायणः ॥
अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्र कार्या विचारणा ॥ ५७ ॥
सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांशविवर्जितः ॥
भुज्यते शिवसंप्रीत्यै मिताहारः स उच्यते ॥ ५८ ॥

॥ टीका ॥

अथेति । अथैतत्रयानुष्ठानानंतरं नादस्यानाहतध्वनेरनुसंधानमनुचिंतनं हठे हठयोगेऽभ्यासोऽभ्यसनं तस्यानुक्रमः पौर्वापर्यक्रमः । हठसिद्धेरवधिमाह ॥ ब्रह्मचारीति ॥ ब्रह्मचर्यवान् मिताहारो वक्ष्यमाणः सोऽस्यास्तीति मिताहारी त्यागी दानशीलो विषयपरित्यागी वा योगपरायणः योगाभ्यसनपरः । अब्दाद्वर्षादूर्ध्वं सिद्धः सिद्धहठो भवेत् । अत्रोक्तेऽर्थे विचारणा स्यान्न वेति संशयप्रयुक्ता न कार्या । एतन्निश्चितमेवेत्यर्थः ॥ ५७ ॥

पूर्वश्लोके मिताहारीत्युक्तं तत्र योगिनां कीदृशो मिताहार इत्यपेक्षायामाह ॥ सुस्निग्धेति ॥ सुस्निग्धोऽतिस्निग्धः स चासौ मधुरश्च तादृश आहारश्चतुर्थांशविवर्जितश्चतुर्थभागरहितः । तदुक्तमभियुक्तै । 'द्वौ भागौ पूरयेदन्नैस्तोयेनैकं प्रपूरयेत् । वायोः संचरणार्थाय चतुर्थमवशेषयेदि' ति । शिवो जीव ईश्वरो वा । 'भोक्ता देवो महेश्वरः' इति वचनात् । तस्य संप्रीत्यै सम्यक्प्रीत्यर्थं यो भुज्यते स मिताहार इत्युच्यते ॥ ५८ ॥

॥ भाषा ॥

अथेति ॥ आसन । कुंभक । मुद्राकरण । इन तीनोंनके करे पीछै नादको अनुसंधान करनो हठयोगके अभ्यासको अनुक्रम अर्थात् पूर्वापरक्रम येही. हे अब हठसिद्धीकी अवधी कहें हैं ब्रह्मचर्यमे रहे ओर प्रमाणको आहार करे त्यागी दानमें शील होय. ओर विषयनको परित्यागकरे. ओर योगमें परायण होय. योगांगके अभ्यासमें परायण रहे तो वर्षतें ऊपरि हठसिद्ध होय ये कह्यो जो अर्थ तामें विचार संदेहयुक्त नही करनो योग्य हे ये निश्चय हे ॥ ५७ ॥

सुस्निग्धेति ॥ योगीनको मिताहार केसो होय ? अति स्निग्ध ओर मधुर आहार होय चतुर्थ आहार रहित होय अर्थात् दोय भाग अन्नकर उदर भरे एक भाग जलकरकें भरे एक भाग खाली रहे वायुके चलवेके लियें शिवकहिये जीव वा ईश्वर ताकी प्रीतीके अर्थ जो यारीत भोजन करे सो मिताहारी कहे हें ॥ ५८ ॥

मू० कट्वम्लतीक्ष्णलवणोष्णहरीतशाक-
सौवीरतैलतिलसर्षपमद्यमत्स्यान् ॥
आजादिमांसदधितक्रकुलत्थकोल-
पिण्याकहिंगुलशुनाद्यमपथ्यमाहुः ॥ ५९ ॥
भोजनमहितं विद्यात्पुनरस्योष्णीकृतं रूक्षम् ॥
अतिलवणमम्लयुक्तं कदशनशाकोत्कटं वर्ज्यम् ॥६०॥

॥ टीका ॥

अथ योगिनामपथ्यमाह द्वाभ्यां ॥ कट्विति ॥ कटु कारवेल्ल इत्यादि अम्लं चिंचाफलादि तीक्ष्णं मरीचादि लवणं प्रसिद्धं उष्णं गुडादि हरीतशाकं पत्रशाकं सौवीरं कांजिकं तैलं तिलसर्षपादिस्नेहः तिलाः प्रसिद्धाः सर्षपाः सिद्धार्थाः मद्यं सुरा मत्स्यो झषः । एषामितरेतरद्वंद्वः । एतानपथ्यानाहुः । अजस्येदमाजं तदादिर्यस्य सौकरादेस्तदाजादि तच्च तन्मांसं चाजादिमांसं दधि दुग्धपरिणामविशेषः तक्रं गृहीतसारं दधि कुलत्थादिर्द्विदलविशेषः कोलं कोल्याः फलं बदरं । 'कर्कंधूर्बदरी कोलिरि'त्यमरः । पिण्याकं तिलपिंडं हिंगु रामठं लशुनं । एषामितरेतरद्वंद्वः । एतान्याद्यानि यस्य तत्तथा । आद्यशब्देन पलांडुगृंजनमादकद्रव्यमाषान्नादिकं ग्राह्यं । अपथ्यमहितं । योगिनामिति शेषः । आहुर्योगिन इत्यध्याहारः ॥ ५९ ॥

भोजनमिति । पश्चादग्निसंयोगेनोष्णीकृतं यद्भोजनं सूपौदनरोटिकादि रूक्षं घृतादिहीनं अतिशयितं लवणं यस्मिंस्तदतिलवणं यद्वा लवणमतिक्रांतमतिलवणं चाकूवा इति लोके प्रसिद्धं शाकं यवक्षारादिकं च । लवणस्य सर्वथा वर्जनीयत्वादुत्तरपक्षः

॥ भाषा ॥

अब योगीनको अपथ्य दोन श्लोकोनसें कहे हें ॥ कट्विति कटु निंबादि कडुवो पदार्थ अम्ल आमलीकूं आदिले । तीक्ष्ण मरीचादि लवण उष्ण अतिउष्ण ओर गुडादि हरितशाक पत्रशाक कांजि तैल तिल सर्षप सिरस्यों मद्य सुरा मत्स्य इनें अपथ्य कहें हें. बकरीकूं आदिले इनको मांस दही दूध छाछ कुलथा वेर तिलपिंड लशुन ये हें आदिमे जिनके धीपा गाजर उडदादि ये सब योगीनकूं अपथ्य हें अहित हें ॥ ५९ ॥

भोजनमिति ॥ पहलें पाककर लियो फिर ठंडोजान अग्निके संयोगकर उष्णाकियो जो पदार्थ सो अहित जाननो ओर रूखो घृतरहित अन्न अधिकलवण जामें होय सो ओर अत्यंत भोजन अत्यंत निद्रा अत्यंत भाषण बोलवो बास्यो अन्न दूषित अन्न गंध जामें आयगयो होय एसो अन्न ये सब योगीकूं अहितकारी जाननो ॥ ६० ॥

मू० वह्निस्त्रीपथिसेवानामादौ वर्जनमाचरेत् ॥ ६१ ॥
तथाहि गोरक्षवचनं ॥
"वर्जयेद्दुर्जनप्रांतं वह्निस्त्रीपथिसेवनम्॥
प्रातःस्नानोपवासादि कायक्लेशविधिं तथा ॥"

॥ टीका ॥

साधुः । तथा च दत्तात्रेयः । 'अथ वर्ज्यानि वक्ष्यामि योगविघ्नकराणि च । लवणं सर्षपं चाम्लमुग्रं तीक्ष्णं च रूक्षकं ॥ अतीव भोजनं त्याज्यमतिनिद्रातिभाषणम् ।' इति । स्कंदपुराणेऽपि। 'त्यजेत्कट्वम्ललवणं क्षीरभोजी सदा भवेत् ' इति । अम्लयुक्तमम्लद्रव्येण युक्तं । अम्लद्रव्येण युक्तमपि त्याज्यं किमुत साक्षादम्लं। अत्र तृतीयपदं पललं वा तिलपिंडमिति केचित्पठंति तस्यायमर्थः। पललं मांसं तिलपिंडं पिण्याकं कदशनं कदन्नं यावनालकोद्रवादि शाकं विहितेतरशाकमात्रं उत्कटं विदाहि मिरचीति लोके प्रसिद्धं । मिरचा इति हिंदुस्थानभाषायां । कदशनादीनां समाहारद्वंद्वः । अतिलवणादिकं वर्ज्यं वर्जनार्हं । दुष्टमिति पाठे दुष्टं पूतिपर्युषितादि। अहितमिति योजनीयं ॥ ६० ॥

एवं योगिनां सदा वर्ज्यान्युक्त्वाभ्यासकाले वर्ज्यान्याहार्धेन ॥ वह्नीति ॥ वह्निश्च स्त्री च पंथाश्च तेषां सेवा वह्निसेवनस्त्रीसंगतीर्थयात्रागमनादिरूपास्तासां वर्जनमादावभ्यासकाल आचरेत् । सिद्धेऽभ्यासे तु कदाचित् । शीते वह्निसेवनं गृहस्थस्य ऋतौ स्वभार्यागमनं तीर्थयात्रादौ मार्गगमनं च न निषिद्धमित्यादिपदेन सूच्यते । तत्र प्रमाणं गोरक्षवचनमवतारयति ॥ तथाहीति तत्पठति ॥ वर्जयेदिति ॥ दुर्जनप्रांतं दुर्जनसमीपवासं । दुर्जनप्रीतिमिति क्वचित्पाठः । वह्निस्त्रीपथिसेवनं व्याख्यातं प्रातःस्नानं उपवासश्चादिर्यस्य फलाहारादेः तच्च तयोः समाहारद्वंद्वः । प्रथमाभ्यासिनः प्रातःस्नाने शीतविकारोत्पत्तेः। उपवासादिना पित्ताद्युत्पत्तेः । कायक्लेशविधिं कायक्लेशकरं विधिं क्रियां बहुसूर्यनमस्कारादिरूपां बहुभारोद्वहनादिरूपां च । तथा समुच्चये । अत्र प्रतिपदं वर्जयेदिति क्रियासंबंधः ॥ ६१ ॥

॥ भाषा ॥

वह्नीति ॥ योगी अभ्यासकालमें प्रथमही अग्निसेवन स्त्रीसंग तीर्थयात्रादि मार्गमें गमनादिक तिनकूं वर्जित करे जब अभ्यास सिद्ध होय जाय तब कदाचित् शीतकालमें अग्नितपनो ओर गृहस्थ होय तो ऋतुकालमें स्वभार्यागमन तीर्थयात्रादिकमें मार्ग चलनो ये निषिद्ध नही ॥ यामें प्रमाण गोरक्षवचनको हे ॥ वर्जयेदिति ॥ दुर्जनके पास बेठनो वा दुर्जनतें प्रीती ओर अग्निको संगतपनो ओर स्त्रीसंग ओर मार्गगमन प्रातःकालको स्नान

मू० गोधूमशालियवषाष्टिकशोभनान्नं क्षीराज्यखंडनवनीत-
सितामधूनि ॥ शुंठीपटोलकफलादिकपंचशाकं मुद्गा-
दि दिव्यमुदकं च यमींद्रपथ्यम् ॥ ६२ ॥
पुष्टं सुमधुरं स्निग्धं गव्यं धातुप्रपोषणम् ॥
मनोभिलषितं योग्यं योगी भोजनमाचरेत् ॥ ६३ ॥

॥ टीका ॥

अथ योगिपथ्यमाह ॥ गोधूमेत्यादिना ॥ गोधूमाश्च शालयश्च यवाश्च षाष्टिकाः षष्ट्या दिनैर्ये पच्यंते तंदुलविशेषास्ते शोभनमन्नं पवित्रान्नं श्यामाकनीवारादि तच्चैतेषां समाहारद्वंद्वः । क्षीरं दुग्धमाज्यं घृतं खंडः शर्करा नवनीतं मथितदधिसारं सिता तीव्रपदी खंडशर्करेति लोके प्रसिद्धा मिसरीति हिंदुस्थानभाषायां । मधु क्षौद्रं एषामितरेतरद्वंद्वः । शुंठी प्रसिद्धा पटोलफलं परवर इति भाषायां प्रसिद्धं शाकं तदादिर्यस्य कोशातक्यादेस्तत्पटोलकफलादिकं "शेषाद्विभाषे" ति कप्प्रत्ययः । पंचानां शाकानां समाहारः पंचशाकं । तदुक्तं वैद्यके । 'सर्वशाकमचाक्षुष्यं चाक्षुष्यं काशपंचकं । जीवंतीवास्तुमूल्याक्षी मेघनाद पुनर्नवा ॥' इति । मुद्गा द्विदलविशेषा आदिर्यस्य तन्मुद्गादि आदिपदेन आढकी ग्राह्या । दिव्यं निर्दोषमुदकं जलं । यम एषामस्तीति यमिनः तेष्विंद्रो देवश्रेष्ठो यो योगींद्रस्तस्य पथ्यं हितं ॥ ६२ ॥

अथ योगिनो भोजननियममाह ॥ पुष्टमिति ॥ पुष्टं देहपुष्टिकरमोदनादि

॥ भाषा ॥

ओर व्रतादिक फलाहारादिक ये दोनों प्रथम अभ्यासके करवेवालेकूं प्रातःस्नानतें शीतविकारकी उत्पत्ति होय हे उपवासादिकनतें पित्तादिरोगकी उत्पत्ती होय हे ओर कायक्लेशकी करवेवारी क्रिया बोहोतसी सूर्यनारायणकूं नमस्कारादिरूपा वा बहोत भारको उठावनो इत्यादिक सब वर्जित करे ॥ ६१ ॥

अब योगीकूं पथ्यवस्तु कहें हें ॥ गेंहु चांवल जव शाठी चांवल पवित्रअन्न शमा नीवार दूध दही घृत शर्करा माखन मिश्री सहत शूंठी परवर पनस जिमीकंद सूरण रतालु पत्रशाक चोंलाई मूंग अहेड निर्दोष फलादिक ग्रहणकरणो ओर निर्दोष उदक जल ये योगींद्रकूं पथ्य हें हित हें ॥ ६२ ॥

अब योगीकूं भोजनको नियम कहें हें ॥ पुष्टमिति ॥ देहकी पुष्टी करें एसो ओदनादि शर्करासहित होय घृत दूध गौको होय न मिले तो भैसको दुग्धादि ग्राह्य धातुकूं पोषण करें

मू० युवा वृद्धोऽतिवृद्धो वा व्याधितो दुर्बलोऽपि वा ॥
अभ्यासात्सिद्धिमाप्नोति सर्वयोगेष्वतंद्रितः ॥ ६४ ॥
क्रियायुक्तस्य सिद्धिः स्यादक्रियस्य कथं भवेत् ॥
न शास्त्रपाठमात्रेण योगसिद्धिः प्रजायते ॥ ६५ ॥

॥ टीका ॥

सुमधुरं शर्करादिसहितं स्निग्धं सघृतं गव्यं गोदुग्धघृतादियुक्तं गव्यालाभे माहिषं दुग्धादि ग्राह्यं । धातुप्रपोषणं लड्डुकापूपादि मनोभिलषितं पुष्टादिषु यन्मनोरुचि-करं तदेव योगिना भोक्तव्यं । मनोभिलषितमपि किमविहितं भोक्तव्यं नेत्याह । योग्यमिति । विहितमेवेत्यर्थः । योगी भोजनं पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टमाचरेत्कुर्या-दित्यर्थः । न तु सक्तुभर्जितान्नादिना निर्वाहं कुर्यादिति भावः ॥ ६३ ॥

योगाभ्यासिनो वयोविशेषारोग्याद्यपेक्षा नास्तीत्याह ॥ युवेति ॥ युवा तरुणः वृद्धो वृद्धावस्थां प्राप्तः अतिवृद्धोऽतिवार्द्धकं गतो वा । अभ्यासादासनकुंभकादी-नामभ्यसनात्सिद्धिं समाधितत्फलरूपामाप्नोति । अभ्यासप्रकारमेव वदन्विशिनष्टि ॥ सर्वयोगेष्विति ॥ सर्वेषु योगेषु योगांगेष्वतंद्रितोऽनलसः । योगांगाभ्यासात्सिद्धि-माप्नोतीत्यर्थः । जीवनसाधने कृषिवाणिज्यादौ जीवनशब्दप्रयोगवत्साक्षात्परंपर-या वा योगसाधनेषु योगांगेषु योगशब्दप्रयोगः ॥ ६४ ॥

अभ्यासादेव सिद्धिर्भवतीति द्रढयन्नाह द्वाभ्यां ॥ क्रियायुक्तस्येति ॥ क्रिया योगांगानुष्ठानरूपा तया युक्तस्य सिद्धिर्योगसिद्धिः स्यात् । अक्रियस्य योगांगानु-ष्ठानरहितस्य कथं भवेन्न कथमपीत्यर्थः । ननु योगशास्त्राध्ययनेन योगसिद्धिः

॥ भाषा ॥

लड्डु पूआदिक मनकूं रुचि करे सोही योगीकरकें भोजनकरनो योग्य हे योग्य होय अयो-ग्यवस्तू हे मनवांछित हे तो नही भोजन करे ओर सक्तुही खायकर रहजाय अथवा च-नादिक खायकेंही निर्वाह करलें एसो योगी कदापि नही करे ॥ ६३ ॥

युवेति ॥ युवान होय वृद्ध होय अतिवृद्ध होय आसन कुंभकादिकनके अभ्यास करतें सिद्धि समाधि प्राप्त होय हे ओर सर्व योगमें योगांगमें आलस्यरहित होय अभ्यासतेंही सिद्धि होय हे ॥ ६४ ॥

क्रियायुक्तस्येति ॥ योगयोगके अंगनकी क्रिया ताकरकें युक्त ताकूं योगसिद्धी होय हे ओर जो क्रियारहित हें ताकूं कैसें सिद्धी होय ? नही होय ओर योगशास्त्रके केवल पाठ-मात्रकरकें योगकी सिद्धि नही होय इत्यर्थः ॥ ६९ ॥

मू० न वेषधारणं सिद्धेः कारणं न च तत्कथा ॥
क्रियैव कारणं सिद्धेः सत्यमेतन्न संशयः ॥ ६६ ॥
पीठानि कुंभकाश्चित्रा दिव्यानि करणानि च ॥
सर्वाण्यपि हठाभ्यासे राजयोगफलावधि ॥ ६७ ॥
॥इति श्रीसहजानंदसंतानचिंतामणिस्वात्मारामयोगींद्रविरचितायां हठयोगप्रदीपिकायामासनविधिकथनं नाम प्रथमोपदेशः ॥ १ ॥

॥ टीका ॥

स्यान्नेत्याह ॥ नेति ॥ शास्त्रस्य योगशास्त्रस्य पाठमात्रेण केवलेन पाठेन योगस्य सिद्धिर्न प्रजायते नैव जायत इत्यर्थः ॥ ६५ ॥

नेति ॥ वेषस्य काषायवस्त्रादेः धारणं सिद्धेर्योगसिद्धेः कारणं न । तस्य योगस्य कथा वा कारणं न । किं तर्हि सिद्धेः कारणमित्यत आह ॥ क्रियैवेति ॥ ६६ ॥

योगांगानुष्ठानस्यावधिमाह ॥ पीठानीति॥ पीठान्यासनानि चित्रा अनेकविधाः कुंभकाः सूर्यभेदादयः दिव्यान्युत्कृष्टानि कारणानि महामुद्रादीनि हठसिद्धौ प्रकृष्टोपकारकत्वं कारणत्वं हठाभ्यासे सर्वाणि पीठकुंभककरणानि राजयोगफलावधि राजयोग एव फलं तदवधि तत्पर्यंतं कर्तव्यानीति शेषः ॥ ६७ ॥

इति श्रीहठप्रदीपिकायां ब्रह्मानंदकृतायां ज्योत्स्नाभिधायां टीकायां प्रथमोपदेशः॥१॥

॥ भाषा ॥

नेति ॥ योगसिद्धीको कारण वस्त्रादिक धारणकर वेष बनाय लेनो ये नही हे अथवा योगकी कथा कहलेनों ये सिद्धीको कारण नहीं हे सिद्धीको कारण क्रियाकरनो येही हे ये सत्य हे यामें संदेह नही हे ॥ ६६ ॥

पीठानीति ॥ चित्रविचित्र आसन ओर कुंभक ओर उत्कृष्ट महामुद्रादिक ये हठसिद्धीमें प्रकर्षकरकें कारण हें हठाभ्यासमे आसन कुंभक मुद्रा ये संपूर्ण राजयोगफल प्राप्त होय तब तलक करनो योग्य हे ॥ ६७ ॥

इति श्रीहठप्रदीपिकायां ज्योतिर्विच्छ्रीधरकृतभाषाटीकायां प्रथमोपदेशः ॥ १ ॥

मू० अथासने दृढे योगी वशी हितमिताशनः ॥
गुरूपदिष्टमार्गेण प्राणायामान्समभ्यसेत् ॥ १ ॥
चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत् ॥
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत् ॥ २ ॥
यावद्वायुः स्थितो देहे तावज्जीवनमुच्यते ॥
मरणं तस्य निष्क्रांतिस्ततो वायुं निरोधयेत् ॥ ३ ॥

॥ टीका ॥

अथासनोपदेशानंतरं प्राणायामान्वक्तुमुपक्रमते ॥ अथेति ॥ अथेति मंगलार्थः । आसने दृढे सति वशी जिताक्षः हितं पथ्यं च तन्मितं च पूर्वोपदेशोक्तलक्षणं तत्तादृशमशनं यस्य स हितमिताशनः गुरुणोपदिष्टो यो मार्गः प्राणायामाभ्यासप्रकारस्तेन प्राणायामान् वक्ष्यमाणान्सम्यगुत्साहसाहसधैर्यादिभिरभ्यसेत् । दृढे स्थिरे कुक्कुटादिविवर्जिते सिद्धासनादाविति वा योजना ॥ १ ॥

'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मंदोऽपि प्रवर्तते' इति महदुक्तेः प्रयोजनाभावेन प्रवृत्त्यभावात्प्राणायामप्रयोजनमाह ॥ चले वात इति ॥ वाते चले सति चित्तं चलं भवेत् । निश्चले वाते निश्चलं भवेच्चित्तमित्यत्रापि संबध्यते । वाते चित्ते च निश्चले योगी स्थाणुत्वं स्थिरदीर्घजीवित्वमिति यावत् । ईशत्वं वाप्नोति । ततस्तस्माद्वायुं प्राणं निरोधयेत्कुंभयेत् ॥ २ ॥

यावदिति ॥ देहे शरीरे यावत्कालं वायुः प्राणः स्थितः तावत्कालपर्यंतं जी-

॥ भाषा ॥

आसनको उपदेश कहे के अनंतर प्राणायाम कहवेकूं आरंभ करें हें ॥ अथेति ॥ जा योगीके आसन दृढ होय गयो होय इंद्रिय जानें जीत लीनी होय पूर्व कह्या ये ऐसो पथ्य हितकारी प्रमाणको आहारको करवेवालो होय सो योगी गुरूनकर उपदेश दियो जो मार्ग ताकरकें प्राणायाम अभ्यास करे ॥ १ ॥

अब प्राणायामको प्रयोजन कहें हे ॥ चले वात इति ॥ जो वायु चलायमान होय तो चित्तबी चलायमान होय ओर जो वात निश्चल होय तो चित्तबी निश्चल होय जाय ओर जो वात ओर चित्त ये निश्चल होय तो योगी स्थिर दीर्घजीवी होय वा ईशभाव प्राप्त होय तातें वायू जो प्राण ताय रोके ॥ २ ॥

यावदिति ॥ शरीरमें जबतांई वायु स्थित हे तबतांई जीवन हे ता प्राणको देहकौ वि-

मू० मलाकुलासु नाडीषु मारुतो नैव मध्यगः ॥
कथं स्यादुन्मनीभावः कार्यसिद्धिः कथं भवेत् ॥ ४ ॥
शुद्धिमेति यदा सर्वं नाडीचक्रं मलाकुलम् ॥
तदैव जायते योगी प्राणसंग्रहणे क्षमः ॥ ५ ॥
प्राणायामं ततः कुर्यान्नित्यं सात्विकया धिया ॥

॥ टीका ॥

वनमुच्यते लोकैः । देहप्राणसंयोगोस्यैव जीवनपदार्थत्वात् । तस्य प्राणस्य निष्क्रांतिर्देहाद्वियोगे मरणमुच्यते । ततस्तस्माद्वायुं निरोधयेत् ॥ ३ ॥

मलशुद्धेर्हठसिद्धिजनकत्वं व्यतिरेकेणाह ॥ मलाकुलास्विति ॥ नाडीषु मलैराकुलासु व्याप्तासु सतीषु मारुतः प्राणो मध्यगः सुषुम्नामार्गवाही नैव स्यात् । अपि तु शुद्धमलास्वेव मध्यगो भवतीत्यर्थः । उन्मनीभाव उन्मन्या भावो भवनं कथं स्यान्न कथमपीत्यर्थः । कार्यस्य कैवल्यरूपस्य सिद्धिर्निष्पत्तिः कथं भवेन्न कथंचिदपीत्यर्थः ॥ ४ ॥

अन्वयेनापि मलशुद्धेर्हठसिद्धिहेतुत्वामाह ॥ शुद्धिमेतीति ॥ यदा यस्मिन्कले मलैराकुलं व्याप्तं सर्वं समस्तं नाडीनां चक्रं समूहः शुद्धिं मलराहित्यमेति प्राप्नोति तदैव तस्मिन्नेव काले योगी योगाभ्यासी प्राणस्य ग्रहणे क्षमः समर्थो जायते ॥ ५ ॥

मलशुद्धिःकथं भवतीत्याकांक्षायां तच्छोधकं प्राणायाममाह । प्राणायाममिति। यतो मलशुद्धिं विना प्राणसंग्रहणे क्षमो न भवति ततस्तस्मादीश्वरप्रणिधानोत्साहसा-

॥ भाषा ॥

योग होय जब मरण कहें हें तातें वायुको निरोध कुंभक करे ॥ ३ ॥

मलाकुलास्विति ॥ मलनकरकें नाडी व्याप्त होय तब पवन सुषुम्ना नाडीकरके नहीं चले फिर उन्मनीभाव अर्थात् तूर्य अवस्थामें कैसें प्राप्त होय फिर मोक्षकी सिद्धी कैसें होय कै मलशुद्धी विना नही होय ॥ ४ ॥

शुद्धिमेतीति ॥ जा कालमें मलनकरकें युक्त समस्त नाडीनको समूह सो मलरहित होय जाय तब योगाभ्यासी प्राणवायुके ग्रहण करवेमें समर्थ होय है ॥ ५ ॥

मलशुद्धी कैसें होय ये अपेक्षा हुई तब मलशोधक प्राणायाम कहैं है ॥ प्राणायाममिति ॥ मलशुद्धीविना प्राणके ग्रहण करवेमें समर्थ नहीं होय तातें ईश्वरके ध्यानमें

मू० यथा सुषुम्नानाडीस्था मलाः शुद्धिं प्रयांति च ॥ ६ ॥
बद्धपद्मासनो योगी प्राणं चंद्रेण पूरयेत् ॥
धारयित्वा यथाशक्ति भूयः सूर्येण रेचयेत् ॥ ७ ॥
प्राणं सूर्येण चाकृष्य पूरयेदुदरं शनैः ॥
विधिवत्कुंभकं कृत्वा पुनश्चंद्रेण रेचयेत् ॥ ८ ॥

॥ टीका ॥

हसादिप्रयत्नाभिभूतविक्षेपालस्यादिराजसतामसधर्मया सात्विकया प्रकाशप्रसादशीलया धिया बुद्ध्या नित्यं प्राणायामं कुर्यात् । यथा येन प्रकारेण सुषुम्नानाड्यां स्थिता मलाः शुद्धिमपगमं प्रयांति नश्यंतीत्यर्थः ॥ ६ ॥

मलशोधकप्राणायामप्रकारमाह द्वाभ्यां ॥ **बद्धपद्मासन** इति ॥ बद्धं पद्मासनं येन तादृशो योगी प्राणं प्राणवायुं चंद्रेण चंद्रनाड्येडया पूरयेत् । शक्तिमनतिक्रम्य यथाशक्ति धारयित्वा कुंभयित्वा । भूयः पुनः सूर्येण सूर्यनाड्या पिंगलया रेचयेत् । बाह्यवायोः प्रयत्नविशेषादुपादानं पूरकः । जालंधरादिबंधपूर्वकं प्राणनिरोधः कुंभकः । कुंभितस्य वायोः प्रयत्नविशेषाद्गमनं रेचकः । प्राणायामांगरेचकपूरकयोरेवेमे लक्षणे इति । 'भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससंभ्रमौ' इति गौणरेचकपूरकयोर्नाव्याप्तिः । तयोर्लक्ष्यत्वाभावात् ॥ ७ ॥

प्राणमिति॥ सूर्येण सूर्यनाड्या पिंगलया प्राणमाकृष्य ग्रहीत्वा शनैर्मंदंमंदमुदरं जठरं पूरयेत् । विधिवद्बंधपूर्वकं कुंभकं कृत्वा पुनर्भूयश्चंद्रेणेडया रेचयेत् ॥ ८ ॥

॥ भाषा ॥

उत्साह साहसादिक यत्न करवेसें विक्षेप करवेवाले आलस्यादिक राजस तामस ये दूर होय प्रकाश और प्रसन्नता करवेमें शील स्वभाव जाको एसी सात्विक बुद्धिकरकें नित्य प्राणायाम करे जा प्रकारकरकें सुषुम्नानाडीमें स्थित जो मैल हैं ते नाशकूं प्राप्त होय हें ॥ ६ ॥

बद्धपद्मासन इति ॥ कियो हे पद्मासन जाने एसो योगी प्राणवायुकूं चंद्रनाडी जो इडा ताकरकें पूरण करें फिर यथाशक्ति धारणकरकें फिर रेचक करे सूर्यनाडी पिंगलाकरकें बोहोत यत्नतें बाहारके वायुकूं ऊपर ग्रहण करे ताकूं पूरक कहे हें और जालंधरादिकबंधपूर्वक प्राणकूं रोकनो ताकूं कुंभक कहें हें फिर वो धारण कियो जो वायु ताकूं यत्नविशेषतें अर्थात् होलें होलें छोडै ताकूं रेचक कहें हें ॥ ७ ॥

प्राणमिति ॥ सूर्यनाडी पिंगलाकरकें प्राणकूं खेंचकरकें मंदमंद उदरमें पूरक करे

मू० येन त्यजेत्तेन पीत्वा धारयेदतिरोधतः ॥
रेचयेच्च ततोऽन्येन शनैरेव न वेगतः ॥ ९ ॥
प्राणं चेदिडया पिबेन्नियमितं भूयोऽन्यया रेचये-
त्पीत्वा पिंगलया समीरणमथो बध्वा त्यजेद्वामया ॥
सूर्याचंद्रमसोरनेन विधिनाभ्यासं सदा तन्वतां
शुद्धा नाडिगणा भवंति यमिनां मासत्रयादूर्ध्वतः॥१०॥

॥ टीका ॥

उक्ते प्राणायामे विशेषमाह ॥ येनेति ॥ येन चंद्रेण सूर्येण वा त्यजेद्रेचयेत्तेन पीत्वा तेनैव पूरयित्वा । अतिरोधतोऽतिशायितेन रोधेन स्वेदकंपादिजननपर्यंतेन । सार्वविभक्तिकस्तसिल् । येन पूरकस्ततोऽन्येन शनै रेचयेन्न तु वेगतः ॥ वेगाद्रेचने बलहानिः स्यात् । येन पूरकः कृतस्तेन रेचको न कर्तव्यः । येन रेचकः कृतस्तेनैव पूरकः कर्तव्य इति भावः ॥ ९ ॥

बद्धपद्मासन इत्याद्युक्तमर्थं पिंडीकृत्यानुवदन्प्राणायामस्यावांतरफलमाह ॥ प्राणमिति ॥ चेदिडया वामनाड्या प्राणं पिबेत्पूरयेत्तर्हि नियमितं कुंभितं प्राणं भूयः पुनरन्यया पिंगलया रेचयेत् । पिंगलया दक्षनाड्या समीरणं वायुं पीत्वा पूरयित्वाथो पूरणानंतरं बध्वा कुंभयित्वा वामयेडया त्यजेद्रेचयेत् । सूर्यश्च चंद्रमाश्च सूर्याचंद्रमसौ तयोः । "देवताद्वंद्वे च" त्यानङ् । अनेनोक्तेन विधिना प्रकारेण सदा नित्यमभ्यासं चंद्रेणापूर्य कुंभयित्वा सूर्येण रेचयेत्सूर्येणापूर्य कुंभयित्वा च चंद्रेण रेचयेदित्याकारकं तन्वतां विस्तारयतां यमिनां यमवतां नाडीगणा नाडीसमूहा मासत्रयादूर्ध्वतो मासानां त्रयं तस्मादुपरि शुद्धा मलरहिता भवंति ॥ १० ॥

॥ भाषा ॥

फिर विधिवत् बंधपूर्वक कुंभककरकें फिर चंद्र जो इडा ताकरकें रेचन करे ॥ ८ ॥

येनेति ॥ जा चंद्रकरकें अथवा सूर्यकरकें रेचन करे ताईकरकें पूरण करे अति रोधकरकें धारण करे जब तलक प्रस्वेद कंपा होय तब तांई फिर जाकरकें पूरक करे तातें अन्य नाडीकर शनै शनै रेचक करे वेगतें रेचक नकरे वेगतें रेचक करवेमें बलकी हानि होय जाकरकें पूरक करे ताकरकें रेचन नही करवो योग्य हे ओर जाकरकें रेचक करे ताकरकें पूरक कर्त्तव्य हे ॥ ९ ॥

प्राणमिति ॥ इडा जो वामनाडी ताकरकें प्राणकूं पूरक करे फिर कुंभक कियो जो प्राण ताय फेर दूसरी पिंगलाकरकें दक्षिण नाडीकरकें वायू रेचन करे फिर दक्षिण

मू० प्रातर्मध्यंदिने सायमर्धरात्रे च कुंभकान् ॥
शनैरशीतिपर्यंतं चतुर्वारं समभ्यसेत् ॥ ११ ॥
कनीयसि भवेत्स्वेदः कंपो भवति मध्यमे ॥

॥ टीका ॥

अथ प्राणायामाभ्यासकालं तदवधिं चाह ॥ प्रातरिति ॥ प्रातररुणोदयमारभ्य सूर्योदयाद्घटिकात्रयपर्यंते प्रातःकाले मध्यंदिने मध्याह्ने पंचधा विभक्तस्य दिनस्य मध्यभागे सायंसंध्या त्रिनाडीप्रमितार्कास्तादधस्तादूर्ध्वं चेत्युक्तलक्षणे संध्याकाले रात्रेरर्धमर्धरात्रं तस्मिन्नर्धरात्रे रात्रेर्मध्ये मुहूर्तद्वये च शनैरशीतिपर्यंतमशीतिसंख्यावधि चतुर्वारं वारचतुष्टयं 'कालाध्वनोरत्यंतसंयोगे' इति द्वितीया । चतुर्षु कालेष्वेकैकस्मिन्कालेऽशीतिप्राणायामाः कार्याः । अर्धरात्रे कर्तुमशक्तश्चेत्रिसंध्यं कर्तव्या इति संप्रदायः । चतुर्वारं कृताश्चेद्दिनेदिने ३२० विंशत्यधिकशतत्रयपरिमिताः प्राणायामा भवंति । वारत्रयं कृताश्चेच्चत्वारिंशदधिकशतद्वय २४० परिमिता भवंति॥११॥

कनिष्ठमध्यमोत्तमानां प्राणायामानां क्रमेण व्यापकविशेषमाह ॥ कनीयसीति ॥ कनीयसि कनिष्ठे प्राणायामे स्वेदः प्रस्वेदो भवेद्भवति । स्वेदानुमेयः कनिष्ठः । मध्यमे प्राणायामे कंपो भवति । कंपानुमेयो मध्यमः । उत्तमे प्राणायामे स्थानं

॥ भाषा ॥

जो पिंगला ताकरकें वायू पूरण करकें फिर कुंभक करे फिर वाम इडाकरकें रेचक करे सूर्य चंद्रमाकी ये पूर्व कही जो विधि ताकरकें नित्य जो अभ्यास चंद्रकरकें वायू पूरनो कुंभक कर सूर्यकरकें रेचन कर देतो ओर सूर्यकरकें वायू पूरनो कुंभक कर फिर चंद्रकरकें रेचन करनो यारीतसुं अभ्यास करवेवारे योगी तिनकी नाडीनके समूह तीन मासतें ऊपरि शुद्ध होय हें ॥ १० ॥

अब प्राणायामके अभ्यासको काल ओर प्राणायामकी अवधि कहे हें ॥ प्रातरिति ॥ अरुणोदयतें लेकर सूर्योदयतें तीन घडीपर्यंत प्रातःकाल होय हे सो प्रातःकालमें ओर मध्यान्हकालमें दिनके पांच विभाग कर मध्यभाग होय तामें संध्या सूर्यास्तके पहलेंकी तीन घडी तीन घडी पीछेंकी सायंसंध्या होय हे सो संध्याकालमें ओर अर्द्धरात्रीमें मुहूर्तद्वय समयमें इन च्यारों समयमें एक एक कालमें अशी ८० अशी प्राणायाम करनो योग्य है अर्धरात्रिमें करवेकूं असमर्थ होय तो संध्यातांई कर्तव्य हे दिनदिनमें च्यारों समयके ३२० प्राणायाम होय हें ओर जो तीनपोतहीं करे तो २४० प्राणायाम होय हें ॥ ११ ॥

कनीयसीति ॥ कनिष्ठ प्राणायाममें पसीना आवे हे ओर मध्यम प्राणायाममें कंप

मू० उत्तमे स्थानमाप्नोति ततो वायुं निबंधयेत् ॥ १२ ॥

॥ टीका ॥

ब्रह्मरंध्रमाप्नोति । स्थानप्राप्त्यनुमेय उत्तमः । ततस्तस्माद्वायुं प्राणं निबंधयेन्नितरां बंधयेत् । कनिष्ठादीनां लक्षणमुक्तं लिंगपुराणे । 'प्राणायामस्य मानं तु मात्राद्वादशकं स्मृतम् । नीचो द्वादशमात्रस्तु सकृदुद्घात ईरितः ॥ मध्यमस्तु द्विरुद्घातश्चतुर्विंशतिमात्रकः । मुख्यस्तु यस्त्रिरुद्घातः षट्त्रिंशन्मात्र उच्यते ॥ प्रस्वेदकंपनोत्थानजनकश्च यथाक्रमम् । आनंदो जायते चात्र निद्रा घूमस्तथैव च ॥ रोमांचो ध्वनिसंविग्निरंगमोटनकंपनम् । भ्रमणस्वेदजल्पाद्यं संविन्मूर्छा जयेद्यदा ॥ तदोत्तम इति प्रोक्तः प्राणायामः सुशोभनः।' इति । घूमश्चित्तांदोलनम् । गोरक्षोऽपि। 'अधमे द्वादश प्रोक्ता मध्यमे द्विगुणाः स्मृताः । उत्तमे त्रिगुणा मात्राः प्राणायामे द्विजोत्तमैः ॥' उद्घातलक्षणं तु । 'प्राणेनोत्सर्पमाणेन अपानः पीड्यते यदा । गत्वा चोर्ध्वं निवर्तेत एतदुद्घातलक्षणम् ।' मात्रामाह याज्ञवल्क्यः । 'अंगुष्ठांगुलिमोक्षं त्रिस्त्रिर्जानुपरिमार्जनम् । तालत्रयमपि प्राज्ञा मात्रासंज्ञां प्रचक्षते ॥' स्कंदपुराणे ।' एकश्वासमयी मात्रा प्राणायामो निगद्यते । 'एतद्व्याख्यातं योगचिंतामणौ । निद्रावशंगतस्य पुंसो यावता कालेनैकः श्वासो गच्छत्यागच्छति च तावत्कालप्राणायामस्य मात्रेत्युच्यत इति । अर्धश्वासाधिकद्वादशश्वासावच्छिन्नः कालः प्राणायामकालः । षड्भिः श्वासैरेकं पलं भवति । एवं च सार्धश्वासपलद्वयात्मकः कालः प्राणायामकालः सिद्धः । सार्धद्वादशमात्रामितः प्राणायामो यः स एवोत्तमः प्राणायाम इत्युच्यते । न च पूर्वोदाहृतलिंगपुराणगोरक्षवाक्यविरोधः । तत्र द्वादशमात्रकस्य प्राणायामस्याधमत्वोक्तेरिति शंकनीयं । 'जानुं प्रदक्षिणीकुर्यान्न द्रुतं न विलंबितं । प्रदद्याच्छोटिकां यावत्तावन्मात्रेति गीयते ॥' इति स्कंदपुराणात् । 'अंगुष्ठांगुलिमोक्षं च जानोश्च परिमार्जनं । प्रदद्याच्छोटिकां यावत्तावन्मात्रेति गीयते ॥' इति च स्कंदपुराणात् ।' अंगुष्ठो मात्रा संख्यायते तदा' इति दत्तात्रेयवचनाच्च । लिंगपुराणगोरक्षादिवाक्येष्वेकच्छोटिकावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वेन विवक्षितत्वात् । याज्ञवल्क्यादिवाक्येषु छोटि-

॥ भाषा ॥

होय हे उत्तम प्राणायाममें ब्रह्मरंध्र प्राप्त होय हे तातें योगी वायुकूं निरंतर बंध करै ओर कछूक कम बेंयालीस विपल कुंभक रहे सो कनिष्ठ प्राणायाम काल ओर कछूक ऊन चोराशी विपल कुंभक रहे सो मध्यम प्राणायाम काल ओर बंधपूर्वक एकसो पच्चीस विपल कुंभक रहे ताकूं उत्तम प्राणायाम काल कहें हें जब प्राणायाम स्थिर

मू० जलेन श्रमजातेन गात्रमर्दनमाचरेत् ॥
दृढता लघुता चैव तेन गात्रस्य जायते ॥ १३ ॥

॥ टीका ॥

कात्रयावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वेन विवक्षणात् त्रिगुणस्याधमस्योत्तमत्वं तत्राप्युक्तमित्यविरोधः । सर्वेषु योगसाधनेषु प्राणायामो मुख्यस्तत्सिद्धौ प्रत्याहारादीनां सिद्धेः । तदसिद्धौ प्रत्याहाराद्यसिद्धेश्च । वस्तुतस्तु प्राणायाम एव प्रत्याहारादिशब्दैर्निगद्यते । तथा चोक्तं योगचिंतामणौ । प्राणायाम एवाभ्यासक्रमेण वर्धमानः प्रत्याहारध्यानधारणासमाधिशब्दैरुच्यत इति । तदुक्तं स्कंदपुराणे । ' प्राणायामद्विषट्केन प्रत्याहार उदाहृतः । प्रत्याहारद्विषट्केण धारणा परिकीर्तिता ॥ भवेदीश्वरसंगत्यै ध्यानं द्वादशधारणं । ध्यानद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते ॥ यत्समाधौ परं ज्योतिरनंतं स्वप्रकाशकम् । तस्मिन्दृष्टे क्रियाकांडयातायातं निवर्तते ॥ ' इति ॥ तथा । 'धारणा पंचनाडीभिर्ध्यानं स्यात्षष्टिनाडिकम् । दिनद्वादशकेन स्यात्समाधिः प्राणसंयमात् ॥' इति च । गोरक्षादिभिरप्येवमेवोक्तम् । अत्रैवं व्यवस्था । किंचिदूनद्विचत्वारिंशद्विपलात्मक कनिष्ठप्राणायामकालः । अयमेवैकच्छोटिकावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वविवक्षया द्वादशमात्रकः कालः । किंचिदूनचतुरशीतिविपलात्मको मध्यमप्राणायामकालः । अयमेकच्छोटिकावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वविवक्षया चतुर्विंशतिमात्रकः काल । पंचविंशत्युत्तरशतविपलात्मक उत्तमः प्राणायामकालः । अयमेकच्छोटिकावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वविवक्षया षट्त्रिंशन्मात्रककालः । छोटिकात्रयावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वविवक्षया तु द्वादशमात्रक एव । बंधपूर्वकं पंचविंशत्युत्तरशतविपलपर्यंतं यदा प्राणायामस्थैर्यं भवति तदा प्राणो ब्रह्मरंध्रं गच्छति । ब्रह्मरंध्रं गतः प्राणो यदा पंचविंशतिपलपर्यंत तिष्ठति तदा प्रत्याहारः । यदा पंचघटिकापर्यंतं तिष्ठति तदा धारणा । यदा षष्टिघटिकापर्यंतं तिष्ठति तदा ध्यानं । यदा द्वादशदिनपर्यंतं तिष्ठति तदा समाधिर्भवतीति सर्वं रमणीयम् ॥१२॥

प्राणायामानभ्यसतः स्वेदे जाते विशेषमाह ॥ जलेनेति ॥ श्रमात्प्राणायामा-

॥ भाषा ॥

होय तब प्राण ब्रह्मरंध्रकूं प्राप्त होय हें ओर ब्रह्मरंध्रमें गयो जो प्राण पच्चीस पलपर्यंत स्थित रहे तब प्रत्याहार कहें हें ओर जब पच्चीस पलतांई स्थित रहे तब धारणा होय हे ओर जब छ घडीतांई स्थिर रहे तब ध्यान होय हे और जब बारह दिनतांई स्थित रहे तव समाधि होय हे ॥ १२ ॥

जलेनेति ॥ प्राणायामके अभ्यास तें हुयो जो पसीना ताकरकें शरीरको मर्दन तैला-

मू० अभ्यासकाले प्रथमे शस्तं क्षीराज्यभोजनम् ॥
ततोऽभ्यासे दृढीभूते न तादृङ्नियमग्रहः ॥ १४ ॥
यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैःशनैः ॥
तथैव सेवितो वायुरन्यथा हंति साधकम् ॥ १५ ॥
प्राणायामादियुक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत् ॥
अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगसमुद्भवः ॥ १६ ॥

॥ टीका ॥

भ्यासश्रमाज्जातं तेन जलेन प्रस्वेदेन गात्रस्य शरीरस्य मर्दनं तैलाभ्यंगवदाचरेत्कुर्यात् । तेन मर्दनेन गात्रस्य दृढता दाढर्यं लघुता जाड्याभावो जायते प्रादुर्भवति ॥ १३ ॥

अथ प्रथमोत्तराभ्यासयोः क्षीरादिनियमानाह ॥ अभ्यासकाल इति । क्षीरं दुग्धमाज्यं घृतं तद्युक्तं भोजनं क्षीराजभोजनं । शाकपार्थिवादिवत्समासः । केवले कुंभके सिद्धेऽभ्यासो दृढो भवति । स्पष्टमन्यत् ॥ १४ ॥

सिंहादिवच्छनैरेव प्राणं वशयेन्न सहसेत्याह ॥ यथेति ॥ यथा येन प्रकारेण सिंहो मृगेंद्रो गजो वनहस्ती व्याघ्रः शार्दूलः शनैः शनैरेव वश्यः स्वाधीनो भवेन्न सहसा तथैव तेनैव प्रकारेण सेवितोऽभ्यस्तो वायुः प्राणो वश्यो भवेत् । अन्यथा सहसा गृह्यमाणः साधकमभ्यासिनं हंति सिंहादिवत् ॥ १५ ॥

युक्तायुक्तयोः फलमाह ॥ प्राणायामेति ॥ आहारादियुक्तिपूर्वको जालंधरादिबंधयुक्तिविशिष्टः प्राणायामो युक्त इत्युच्यते । तेन सर्वरोगक्षयः सर्वेषां रो-

॥ भाषा ॥

भ्यंगकीसीनांई करे ता मर्दनकरकें शरीरकूं दृढता ओर लघुता नाम जडताको अभाव होय हे ॥ १३ ॥

अभ्यास काल इति ॥ योगी प्रथम अभ्यासकालमें दूध घृत इनकर युक्त भोजन करे. ओर केवल कुंभकसिद्ध अभ्यास दृढ होय जाय तब नियमको कछु आग्रह नहींहे १४

यथेति । जा प्रकारकरकें सिंह वनहस्ती शार्दूल ये शनें शनें वशीभूत होय हें इनके सहसा नही होय है ओर या प्रकारकरकें सेवन कर्‌यो जो वायूसे वशीभूत होय हे अन्यथा सहसा ग्रहण करे तो साधककूं सिंहादिकनकीसीनाई नाश करे ॥ १५ ॥

प्राणायामेति । आहारादिक युक्त जालंधरादिक बंधयुक्त प्राणायामकरकें सर्व रोगनको

मू॰ हिक्का श्वासश्च कासश्च शिरःकर्णाक्षिवेदनाः ॥
भवंति विविधा रोगाः पवनस्य प्रकोपतः ॥ १७ ॥
युक्तं युक्तं त्यजेद्वायुं युक्तं युक्तं चपूरयेत् ॥
युक्तं युक्तं च बध्नीयादेवं सिद्धिमवाप्नुयात् ॥ १८ ॥
यदा तु नाडीशुद्धिः स्यात्तथा चिह्नानि बाह्यतः ॥
कायस्य कृशता कांतिस्तदा जायेत निश्चितम् ॥ १९ ॥

॥ टीका ॥

गाणां क्षयो नाशोभवेत् । अत्युक्त उक्तयुक्तिरहितो योऽभ्यासस्तद्युक्तेन प्राणायामेन सर्वरोगसमुद्भवः सर्वेषां रोगाणां सम्यगुद्भव उत्पत्तिर्भवेत् ॥ १६ ॥

अयुक्तेन प्राणायामेन के रोगा भवंतीत्यपेक्षायामाह ॥ हिक्केति ॥ हिक्काश्वासकासा रोगविशेषाः शिरश्च कर्णौ चाक्षिणी च शिरःकर्णाक्षि शिरःकर्णाक्षिणि वेदनाः शिरःकर्णाक्षिवेदना विविधा नानाविधा रोगा ज्वरादयः पवनस्य वायोः प्रकोपतो भवंति ॥ १७ ॥

यतः पवनस्य प्रकोपतो विविधा रोगा भवंत्यतः किं कर्तव्यमत आह ॥ युक्तं युक्तमिति ॥ वायुं प्राणं युक्तं युक्तं त्यजेत् । रेचनकाले शनैःशनैरेव रेचयेन्न वेगत इत्यर्थः । युक्तं युक्तं न चाल्पं नाधिकं च पूरयेत् । युक्तं युक्तं च जालंधरबंधादियुक्तं बध्नीयात्कुंभयेत् । एवमभ्यसेच्चेत्सिद्धिं हठसिद्धिमवाप्नुयात् ॥ १८ ॥

युक्तं प्राणायाममभ्यसतो जायमानाया नाडीशुद्धेर्लक्षणमाह द्वाभ्यां ॥ यदा त्विति ॥ यदा तु यस्मिन्काले तु नाडीनां शुद्धिर्मलराहित्यं स्यातदा बाह्यतो बा-

॥ भाषा ॥

क्षय होय हे ओर जो युक्ति कही हें उन युक्तीकर रहित जो योगाभ्याससहित प्राणायाम ताकरकें सर्व रोगनकी उत्पत्ति होय हे ॥ १६ ॥

हिक्केति । हिचकी श्वास कास मस्तक कर्ण नेत्र इनमें वेदना ओर नाना प्रकारके रोग-ज्वरादिक वायुके कोपकर होय हैं ॥ १७ ॥

युक्तं युक्तमिति ॥ वायुकूं रेचनकालमें शनैंशनैं रेचन कर वेग करे नही ओर पूरक अल्पबी नही करे ओर अधिकबी नहीं करे योग्य योग्य करे ओर जालंधरबंधादियुक्त योग्य ही कुंभक करे या प्रकार करे हठसिद्धी प्राप्त होय हे ॥ १८ ॥

नाडी शुद्धीनकूं लक्षण दो श्लोकोंनसें कहे हे॥यदा त्विति॥जब नाडीनकी शुद्धि होय

मू० यथेष्टधारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम् ॥
नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधनात् ॥ २० ॥
मेदःश्लेष्माधिकः पूर्वं षट्कर्माणि समाचरेत् ॥
अन्यस्तु नाचरेत्तानि दोषाणां समभावतः ॥ २१ ॥
धौतिर्बस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा ॥
कपालभातिश्चैतानि षट् कर्माणि प्रचक्षते ॥ २२ ॥
कर्मषट्कमिदं गोप्यं घटशोधनकारकम् ॥

॥ टीका ॥

श्चानि । सार्वविभक्तिकस्तसिः । चिह्नानि लक्षणानि तथाशब्देनांतराण्यपि चिह्नानि भवंतीत्यर्थः । तान्येवाह ॥ कायस्येति ॥ कायस्य देहस्य कृशता कार्श्यं कांतिः सुरुचिर्निश्चितं जायेत ॥ १९ ॥

यथेष्टमिति । वायोः प्राणस्य यथेष्टं बहुवारं धारणं कुंभकेषु । अनलस्य जठराग्नेः प्रदीपनं प्रकृष्टा दीप्तिर्नादस्य ध्वनेरभिव्यक्तिः प्राकट्यमारोग्यमरोगता नाडिशोधनान्नाडीनां शोधनान्मलराहित्याज्जायते ॥ २० ॥

मेदआद्याधिक्ये उपायांतरमाह ॥ मेदःश्लेष्माधिक इति ॥ मेदश्च श्लेष्मा च मेदःश्लेष्माणौ तावधिकौ यस्य स तादृशः पुरुषः । पूर्वं प्राणायामाभ्यासात्प्राक् तु प्राणायामाभ्यासकाले । षट् कर्माणि वक्ष्यमाणानि समाचरेत्सम्यगाचरेत् । अन्यस्तु मेदःश्लेष्माधिक्यरहितस्तु तानि षट् कर्माणि नाचरेत् तत्र हेतु माह । दोषाणां वातपित्तकफानां समस्य भावः समभावः समत्वं तस्माद्दोषाणां समत्वादित्यर्थः ॥२१

षट् कर्माण्युपदिशति ॥ धौतिरिति ॥ स्पष्टम् ॥ २२ ॥

इदं रहस्यमित्याह ॥ कर्मषट्कमिति ॥ घटस्य शरीरस्य शोधनं मलापनयनं

॥ भाषा ॥

हे तब बहार चिन्ह होय हें देहकूं कृशता ओर कांति निश्चैही होय हें ॥ १९ ॥

यथेष्टमिति । वायुकूं बोहोत वेर कुंभकमें धारण करे तो जाठराग्निको दीपन होय नादकी प्रगटता ओर आरोग्य ये सर्व नाडीनकी शुद्धीतें होय हे ॥ २० ॥

मेदःश्लेष्माधिक इति ॥ मेद श्लेष्म दोनो अधिक जाके होय वो पुरुष प्राणायामके अभ्यासतें पूर्व षट्कर्म अगाडी कहेंगे तिनें करे ओर जो वात पित्त कफ इनकोही समको भाव होय मेद श्लेष्म ये अधिक जाके नही होय सो न करे ॥ २१ ॥

अब षट्कर्म कहें हें ॥ धौतिरिति॥ धौति१ बस्ति२ नेति ३ त्राटक४नौलिक ५ कपाल

मू० विचित्रगुणसंधायि पूज्यते योगिपुंगवैः ॥ २३ ॥

तत्र धौतिः ॥

चतुरंगुलविस्तारं हस्तपंचदशायतम् ॥
गुरूपदिष्टमार्गेण सिक्तं वस्त्रं शनैर्ग्रसेत् ॥ २४ ॥
पुनः प्रत्याहरेच्चैतदुदितं धौतिकर्म तत् ॥

॥ टीका ॥

करोतीति घटशोधनकारकमिदमुद्दिष्टं कर्मणां षट्कं धौत्यादिकं गोप्यं गोपनीयं । यतः ॥ विचित्रगुणसंधायीति ॥ विचित्रं विलक्षणं गुणं षट्कर्मरूपं संधातुं कर्तुं शीलमस्येति विचित्रगुणसंधायि योगिपुंगवैर्योगिश्रेष्ठैः पूज्यते सत्क्रियते । गोपनाभावे तु षट्कर्मकमन्यैरपि विहितं स्यादिति योगिनः पूज्यत्वाभावः प्रसज्जेतेति भावः ॥ एतेनेदमेव कर्मषट्कस्य मुख्यं फलमिति सूचितं । मेदःश्लेष्मादिनाशस्य प्राणायामैरपि संभवात् । तदुक्तं । ' षट्कर्मयोगमाप्नोति पवनाभ्यासतत्परः ।' इति पूर्वोत्तरग्रंथस्याप्येवमेव स्वारस्याच्च ॥ २३ ॥

धौतिकर्माह ॥ चतुरंगुलमिति ॥ चतुर्णामंगुलानां समाहारश्चतुरंगुलं चतुरंगुलं विस्तारो यस्य तादृशं हस्तानां पंचदशैरायतं दीर्घं सिक्तं जलार्द्रं किंचिदुष्णं वस्त्रं पटं तच्च सूक्ष्मं नूतनोष्णीषादेः खंडं ग्राह्यं । गुरुणोपदिष्टो यो मार्गो वस्त्रग्रसनप्रकारस्तेन शनैर्मंदंमंदं किंचित्किंचिद्ग्रसेत् । द्वितीये दिने हस्तद्वयं तृतीये दिने हस्तत्रयं । एवं दिनवृद्ध्या हस्तमात्रमधिकं ग्रसेत् ॥ २४ ॥

पुनरिति ॥ तस्य प्रांतं राजदंतमध्ये हठे संलग्नं कृत्वा नौलीकर्मणोदरस्थवस्त्रं सम्यक् चालयित्वा । पुनः शनैः प्रत्याहरेच्च तद्वस्त्रमुद्गिरेन्निष्कासयेच्च । तद्धौतिकर्मोदितं कथि-

॥ भाषा ॥

भाति ६ ये षट्कर्मके नाम हें ॥ २२ ॥

कर्मषट्कमिति ॥ ये षट् कर्म गुप्त करवेके योग्य हे शरीरके मैलकूं दूर करे हे ओर चित्र विचित्र गुण करवेकूं स्वभाव जाको सो उत्तम योगिनकरकें सत्कार कियो जाय हे२३

अब धौतिकर्म कहें हे ॥ चतुरंगुलमिति ॥ चार अंगुल चोडो ओर पंद्रह अंगुल लंबो ओर कछूक उष्ण जलकरकें आर्द्र होय सूक्ष्म होय नवीन पगडीको टूक होय ऐसो वस्त्र ले फिर गुरूने दिषायो वस्त्रग्रास करवेको प्रकार ताकरके मंद मंद किंचित् किंचित् ग्रास करे द्वितीय दिन दो हाथ तृतीय दिन तीन हाथ ऐसें नित्य एक हाथ या दो हाथ ग्रास करे२४

पुनरिति । ता वस्त्रको प्रांत कहिये एक विलस्तको छोड पिछाडीको ताय दांतनके बीचमें

मू० कासश्वासप्लीहकुष्ठं कफरोगाश्च विंशतिः ॥ २५ ॥
धौतिकर्मप्रभावेन प्रयांत्येव न संशयः ॥
नाभिदघ्नजले पायौ न्यस्तनालोत्कटासनः ॥ २६ ॥

॥ टीका ॥

तं सिद्धैः । धौतिकर्मणः फलमाह ॥ कासश्वासेति ॥ कासश्च श्वासश्च प्लीहश्च कुष्ठं च । समाहारद्वंद्वः । कासादयो रोगविशेषाः विंशतिसंख्याकाः कफरोगाश्च ॥ २५ ॥

धौतीति ॥ धौतिकर्मणः प्रभावेन गच्छंत्येव न संशयः । निश्चितमेतदित्यर्थः । अथ बस्तिकर्माह । नाभिदघ्नेति ॥ नाभिपरिमाणं नाभिदघ्नं । परिमाणे दघ्नच् प्रत्ययः । तस्मिन्नाभिदघ्ने नाभिपरिमाणे जले नद्यादितोये पायुर्गुदं तस्मिन्न्यस्तो नालो वंश नालो येन कनिष्ठिकाप्रवेशयोग्यरंध्रयुक्तं षडंगुलदीर्घं वंशनालं गृहीत्वा चतुरंगुलं पायौ प्रवेशयेत् । अंगुलिद्वयमितं बहिः स्थापयेत् । उत्कटमासनं यस्य स उत्कटासनः । पार्ष्णिद्वये स्फिचौ विन्यस्य पादांगुलिभिः स्थितिरुत्कटासनं । आधारस्याकुंचनं यथा जलमंतः प्रविशेत्तथा संकोचनं कुर्यात् । अंतः प्रविष्टं जलं नौलिककर्मणा चालयित्वा त्यजेत् । क्षालनं बस्तिकर्मोच्यते । धौतिबस्तिकर्मद्वयं भोजनात्प्रागेव कर्तव्यं । तदनंतरं भोजने विलंबोऽपि न कार्यः । केचित्तु । पूर्वं मूलाधारेण वायोराकर्षणमभ्यस्य जले स्थित्वा पायौ नालप्रवेशनमंतरेणैव बस्तिकर्माभ्यसंति । तथा करणे सर्वं जलं बहिर्नायाति । अतो नानारोगधातुक्षयादिसंभवाच्च तथा बस्तिकर्म नैव विधेयम् । किमन्यथा स्वात्मारामः पायौ न्यस्तनाल इति ब्रूयात् ॥ २६ ॥

॥ भाषा ॥

दाव होठसुं लगाय फिर नौलीकर्म करे नौलीके करवेसुं वस्त्र छातीपे जमोहुयो नीचे उदरमें उतर जाय फिर वस्त्रकूं उदरमें भ्रमाले नोलीसुई भ्रम जाय पुनः शनैं शनैं वस्त्रकूं निकासे ये धौतिकर्म कहें हें याके करेतें कास श्वास प्लीह कुष्ठादिक विषरोग हैं ते ओर कफ रोग– ॥ २९ ॥

धौतिति । ये सर्व रोग धौतिक कर्मके प्रभावकरके निश्चेही दूर होंय॥अब बस्तिकर्म कहें हें ॥ नाभिदघ्नेति ॥ नाभिमात्र जलमें स्थित होय छोटी अंगुली जामें माय जाय इतनों छिद्र होय और छै अंगुल लंबो ऐसो एक वांसको नाल लेकरकें च्यार अंगुल गुदामें प्रवेश करे ओर दो अंगुल बहार राखै फिर उत्कटासन करकें आधारकूं आकुंचनकर जल भीतर प्रवेश होय फिरवा जलकूं नौलीकर्म कर भ्रमाय त्याग करे ये बस्तिकर्म हे धौ-

मू० आधाराकुंचनं कुर्यात्क्षालनं बस्तिकर्म तत् ॥
गुल्मप्लीहोदरं चापि वातपित्तकफोद्भवाः ॥
बस्तिकर्मप्रभावेन क्षीयंते सकलामयाः ॥ २७ ॥
धात्विंद्रियांतःकरणप्रसादं दद्याच्च कांतिं दहनप्रदीप्तिम् ॥
अशेषदोषोपचयं निहन्यादभ्यस्यमानं जलबस्तिकर्म॥२८

॥ टीका ॥

बस्तिकर्मगुणानाह द्वाभ्याम् ॥गुल्मप्लीहोदरमिति॥ गुल्मश्च प्लीहश्च रोगविशेषावुदरं जलोदरं च तेषां समाहारद्वंद्वः । वातश्च पित्तं च कफश्च तेभ्य उद्भवा एकैकस्माद्द्वाभ्यां सर्वेभ्यो वा जाताः सकलाः सर्व आमया रोगा बस्तिकर्मणः प्रभावः सामर्थ्यं तेन क्षीयंते नश्यंति ॥ २७ ॥

धात्विति ॥ अभ्यस्यमानमनुष्ठीयमानं जले बस्तिकर्म जलबस्तिकर्म ॥ कर्तृ । दद्यादनुष्ठातुरिति शेषः । धातवो रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातव इत्युक्ता इंद्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थानि पंच कर्मेंद्रियाणि श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिव्हाघ्राणानि पंच ज्ञानेंद्रियाणि च अंतःकरणानि मनोबुद्धिचित्ताहंकाररूपाणि तेषां परितापविक्षेपशोकमोहगौरवावरणदैन्यादिराजसतामसधर्मविनिवर्तनेन सुखप्रकाशलाघवादिसात्विकधर्माविर्भावः प्रसादस्तं कांतिं द्युतिं दहनस्य जठराग्नेः प्रदीप्तिं प्रकृष्टां दीप्तिं च तथा। अशेषाः समस्ता ये दोषा वातपित्तकफास्तेषामुपचयम् । एतदपचयस्याप्युपलक्षणं । उपचयापचयौ निहन्यान्नितरां हन्यात्। दोषसाम्यरूपमारोग्यं कुर्यादित्यर्थः२८

॥ भाषा ॥

ति बस्तिकर्म ये दोनो भोजनतें पूर्व करनो योग्य हे ये करे पीछैं भोजनमें विलंब नही करनो योग्य हे ॥ २६ ॥

आधारेति । अब बस्तिकर्मके गुण दोयश्लोकनसें कहें हें।।गुल्मप्लीहोदरमिति॥ गुल्म प्लीह जलोदर वात पित्त कफ इनतें उत्पन्न हुये सकल रोग ते बस्तिकर्मके प्रभाव कर नाश होय हे ॥ २७ ॥

धात्विति ॥ जलमें बस्तिकर्मकूं अभ्यास करे ताकै सात धातू रस असृक् मांस मेद अस्थी मज्जा शुक्र ये और पांच ज्ञानेंद्री पांच कर्मेंद्री और अंतःकरण मन बुद्धी चित्त अहंकार इनके ताप विक्षेप शोकादि मोह गौरव आवरण दीनता राजसतामसका धर्म ये सब निवृत्त होय हें ओर प्रसन्नता कांती जाठराग्निदीप्ती ताय देवें हें ओर समस्त जे वात पित्त कफ तिनकी वृद्धि दूर करें हें ओर आरोग्यता करे हे ॥ २८ ॥

अथ नेतिः ॥

सू० सूत्रं वितस्ति सुस्निग्धं नासानाले प्रवेशयेत् ॥
मुखान्निर्गमयेच्चैषा नेतिः सिद्धैर्निगद्यते ॥ २९ ॥
कपालशोधिनी चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनी ॥
जत्रूर्ध्वजातरोगौघं नेतिराशु निहंति च॥ ३० ॥

॥ टीका ॥

अथ नेतिकर्माह॥सूत्रमिति ॥ वितस्ति वितस्तिमितं वितस्तिरित्युपलक्षणमधिकस्यापि । यावता सूत्रेण सम्यक् नेतिकर्म भवेत्तावद् ग्राह्यं । सुस्निग्धंसुष्ठु स्निग्धं ग्रंथ्यादिरहितं सूत्रं तच्च नवधा दशधा पंचदशधा वा गुणितं सुदृढं ग्राह्यं । नासा नासिकैव नालः सच्छिद्रत्वात्तस्मिन्प्रवेशयेत् । मुखान्निर्गमयेन्निष्कासयेत् । तत्प्रकारस्त्वेवं । सूत्रप्रांतं नासानाले प्रवेश्येतरनासापुटमंगुल्या निरुध्य पूरकं कुर्यात् । पुनश्च मुखेन रेचयेत् । पुनःपुनरेवं कुर्वतो मुखे सूत्रप्रांतमायाति । तत्सूत्रप्रांतं नासाबहिःस्थसूत्रप्रांतं च गृहीत्वा शनैश्चालयेदिति । चकारादेकस्मिन्नासानाले प्रवेश्येतरस्मिन्निर्गमयेदित्युक्तं तत्प्रकारस्त्वेकस्मिन्नासानाले सूत्रप्रांतं प्रवेश्येतरनासापुटमंगुल्या निरुध्य पूरकं कुर्यात्पश्चादितरनासानालेन रेचयेत् । पुनःपुनरेवं कुर्वत इतरनासानाले सूत्रप्रांतमायाति तस्य पूर्ववच्चालनं कुर्यादिति । अयं प्रकारस्तु बहुवारं कुर्वतः कदाचिद्भवति । एषोक्ता सिद्धैरणिमादिगुणसंपन्नैः । तदुक्तं । 'अवाप्ताष्टगुणैश्वर्याः सिद्धाः सद्भिर्निरूपिताः' इति । नेतिर्निगद्यते नेतिरिति कथ्यते ॥ २९ ॥

नेतिगुणानाह ॥ कपालशोधिनीति ॥ कपालं शोधयति शुद्धं मलरहितं करोतीति कपालशोधिनी । चकारान्नासानालादीनामपि । एवशब्दोऽवधारणे । दिव्यां

॥ भाषा ॥

अब नेतीकर्म कहें हें ॥ सूत्रमिति ॥ विलस्त मात्र सचिक्कण होय ग्रंथ्यादि रहित होय ऐसो सूत्र लेनो वा नो गुणो दश गुणो पंद्रह गुणो दृढ ग्रहण करनो फिर नासिकामें प्रवेश करे फिर मुखमेंतें निकासे याको प्रकार ये हे सूत्रको अंत नासिकामें प्रवेशकरके दूसरी नासापुट अंगुलीकरकें रोककर पूरक करे फिर मुखकरकें रेचन करे वारंवार ऐसें करे तो मुखमें सूत्रको छोड आय जाय वो सूत्रको छोड और नासिकाके बहार स्थित जो सूत्रको छोड ये दोनो छोड पकडकरकें शनै शनै चलावे ये नेती सिद्धननें कही हे ॥ २९ ॥

अब नेतीके गुण कहें हें ॥ कपालशोधिनीति ॥ ये नेती क्रिया कपालके मैलकूं शुद्ध करे हे और नासिकादिकनके मैलकूं बी दूर करे हे और सूक्ष्म पदार्थ जासुं दीख-

अथ त्राटकम् ॥

मू० निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः ॥
अश्रुसंपातपर्यंतमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम् ॥ ३१ ॥
मोचनं नेत्ररोगाणां तंद्रादीनां कपाटकम् ॥
यत्नतस्त्राटकं गोप्यं यथा हाटकपेटकम् ॥ ३२ ॥

॥ टीका ॥

सूक्ष्मपदार्थग्राहिणीं दृष्टिं प्रकर्षेण ददातीति दिव्यदृष्टिप्रदायिनी नेतिक्रिया जत्रुणोः स्कंधसंध्योरूर्ध्वमुपरिभागे जातो जत्रूर्ध्वजातः स चासौ रोगाणामोघश्च तमाशु झटिति निहंति । चकारः पादपूरणे । 'स्कंधो भुजशिरो ऽसोऽस्त्री संधी तस्यैव जत्रुणि ।' इत्यमरः ॥ ३० ॥

त्राटकमाह ॥ निरीक्षेदिति ॥ समाहितः एकाग्रचित्तः निश्चला चासौ दृक्च दृष्टिस्तया सूक्ष्मं च तल्लक्ष्यं च सूक्ष्मलक्ष्यमश्रूणां सम्यक् पातः पतनं तत्पर्यंतं । अनेन निरीक्षणस्यावधिरुक्तः । निरीक्षेत्पश्येत् । आचार्यैर्मत्स्येंद्रादिभिरिदं त्राटकं त्राटककर्म स्मृतं कथितम् ॥ ३१ ॥

त्राटकगुणानाह ॥ मोचनमिति ॥ नेत्रस्य रोगा नेत्ररोगास्तेषां मोचनं नाशकं तंद्रा आदिर्येषामालस्यादीनां तेषां कपाटकं कपाटवदंतर्धायकमभिभावकमित्यर्थः । तंद्रा तामसश्चित्तवृत्तिविशेषः । त्राटकं त्राटकाख्यं कर्म यत्नतः प्रयत्नतः प्रयत्नाद्गोप्यं गोपनीयं । गोपने दृष्टांतमाह ॥ यथेति ॥ हाटकस्य सुवर्णस्य पेटकं पेटी इति लोके प्रसिद्धं यथा येन प्रकारेण गोप्यते तद्वत् ॥ ३२ ॥

॥ भाषा ॥

नलमे ऐसी दिव्यदृष्टि देवे हे और कंधानकी संधीके ऊपरले भागमें उत्पन्न हुयो जो रोगनको समूह ताय दूर करे हे ॥ ३० ॥

अब त्राटक कहें हें ॥ निरीक्षेदिति ॥ एकाग्र चित्त होय निश्चल दृष्टीकर सूक्ष्म लक्ष्य जो कछूही पदार्थ ताय देखो करे जब तलक जल नेत्रमें नही आवे तब तलक देखो करे नेत्रमें जल आवे तब बंध होय जाय मत्स्येंद्रादिकनने ये त्राटक कर्म कह्यो हे ॥ ३१ ॥

अब त्राटकके गुण कहें हें ॥ मोचनमिति ॥ नेत्रके रोगनकूं नाशको करवेवालो हे और आलस्य बहोत निद्रादिकनके कपाटसरीखो हे. ओर तंद्राकूं अर्थात् तमोगुणी चित्तकी वृत्ती जो क्रोधादिक तिनकूं दूर करे है. ओर जैसें सुवर्णकी पेटीकूं छिपायके राखें हें तैसेंही या त्राटक कर्मकूं बडे यत्नतें गोप्य राखे ॥ ३२ ॥

अथ नौलिः ॥

मू० अमंदावर्तवेगेन तुंदं सव्यापसव्यतः ॥
नतांसो भ्रामयेदेषा नौलिः सिद्धैः प्रचक्ष्यते ॥ ३३ ॥
मंदाग्निसंदीपनपाचनादिसंधापिकानंदकरी सदैव ॥
अशेषदोषामयशोषणी च हठक्रियामौलिरियं च नौलिः ३४
भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससंभ्रमौ ॥

॥ टीका ॥

अथ नौलिकर्माह ॥ अमंदेति ॥ नतौ नम्रीभूतावंसौ स्कंधौ यस्य स नतांसः पुमानमंदोऽतिशयितो य आवर्तस्तस्येव जलभ्रमस्येव वेगो जवस्तेन तुंदमुदरं । 'पिचंडकुक्षी जठरोदरं तुंदं स्तनौ कुचौ ।' इत्यमरः । सव्यं चापसव्यं च सव्यापसव्ये दक्षिणवामभागौ तयोः सव्यापसव्यतः । सप्तम्यर्थे तसिः । भ्रामयेद्भ्रमंतं प्रेरयेत् । सिद्धैरेषा नौलिः प्रचक्ष्यते कथ्यते ॥ ३३ ॥

नौलिगुणानाह ॥ मंदाग्नीति ॥ मंदश्चासावग्निर्जठराग्निस्तस्य दीपनं सम्यग्दीपनं च पाचनं च भुक्तान्नपरिपाकश्च मंदाग्निसंदीपनपाचने ते आदिनी यस्य तन्मंदाग्निसंदीपनपाचनादि तस्य संधापिका विधात्री । आदिशब्देन मलशुद्ध्यादि । सदैव सर्वदैवानंदकरी सुखकरी । अशेषाः समस्ताश्च ते दोषाश्च वातादय आमयाश्च रोगास्तेषां शोषणी शोषणकर्त्री हठस्य क्रियाणां धौत्यादीनां मौलिर्मौलिरिवोत्तमा धौतिबस्त्योर्नौलिसापेक्षत्वात् । इयमुक्ता नौलिः ॥ ३४ ॥

अथ कपालभातिं तद्गुणं चाह ॥ भस्त्रावदिति॥ लोहकारस्य भस्त्राग्नेर्धमनसाध-

॥ भाषा ॥

अब नौलि कहें हें ॥ अमंदेति ॥ नीचे करे हें दोनो कंधा जाने ऐसो पुरुष अधिक जो जलको भ्रमर ताकीसीनाई वेगकरकें उदरकूं वांयो जेमनो भागकरकें भ्रमावे सिद्धनकरकें नौलि ये कही हें ॥ ३३ ॥

नौलीके गुण कहे हें ॥ मंदाग्नीति ॥ मंद जाठराग्नीकूं बढायवेवाली और भोजन कियो जो अन्न ताके परिपाकादिकनकूं करवेमाली और आनंदके करवेवाली और समस्त जे दोष रोग वातादिकनकूं सुकायवेवारी हठकी क्रिया धौत्यादिक तिनमें मुकुटकीसीनाई उत्तम हे और धौती और बस्ती इन दोनोनमें नौली करणी पडे हे यातें ये नौली कही है ॥ ३४ ॥

अब कपालभाति और याके गुण कहें हें ॥ भस्त्रावदिति ॥ लुहारकी धोंकनी कीसी-

मू० कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषणी ॥ ३५ ॥
षट्कर्मनिर्गतस्थौल्यकफदोषमलादिकः ॥
प्राणायामं ततः कुर्यादनायासेन सिद्ध्यति ॥ ३६ ॥
प्राणायामैरेव सर्वे प्रशुष्यंति मला इति ॥
आचार्याणां तु केषांचिदन्यत्कर्म न संमतम् ॥ ३७ ॥

॥ टीका ॥

नीभूतं चर्म तद्वत्संभ्रमेण सहवर्तमानौ ससंभ्रमावमंदौ यौ रेचपूरौ रेचकपूरकौ कपालभातिरिति विख्याता । कीदृशी कफदोषविशोषणी कफस्य दोषा विंशतिभेदभिन्नाः । तदुक्तं निदाने । ' कफरोगाश्च विंशतिः ' इति । तेषां विशोषणी विनाशिनी ॥ ३५ ॥

षट्कर्मणां प्राणायामत्वोपकारकत्वमाह ॥ षट्कर्मेति ॥ षट्कर्मभिर्धौतिप्रभृतिभिर्निर्गताः । स्थौल्यं स्थूलस्य भावः स्थूलत्वं । कफदोषा विंशतिसंख्याका मलादयश्च यस्य स तथा 'शेषाद्विभाषा' इति क प्रत्ययः । आदिशब्देन पित्तादयः। प्राणायामं कुर्यात् । ततस्तस्मात्षट्कर्मपूर्वकात्प्राणायामादनायासेनाश्रमेण सिद्ध्यति । योग इति शेषः । षट्कर्माकरणे तु प्राणायामे श्रमाधिक्यं स्यादिति भावः ॥ ३६ ॥

मतभेदेन षट्कर्मणामनुपयोगमाह ॥ प्राणायामैरिति ॥ प्राणायामैरेव । एवशब्दः षट्कर्मव्यवच्छेदार्थः । सर्वे मलाः प्रशुष्यंति । मला इत्युपलक्षणं स्थौल्यकफपित्तादीनाम् इति हेतोः केषांचिदाचार्याणां याज्ञवल्क्यादीनामन्यत्कर्म षटकर्म न संमतं नाभिमतं । आचार्यलक्षणमुक्तं वायुपुराणे । ' आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयेदपि । स्वयमाचरते यस्मादाचार्यस्तेन चोच्यते ॥ ' इति ॥ ३७ ॥

॥ भाषा ॥

नाई शीघ्र जो रेचक पूरक करे ताकूं कपालभाति कहें हें और ये कपालभाति कफके दोष वीश हे तिने सुखायवेवारी हे ॥ ३५ ॥

षट्कर्मेति । धौतिकूं आदिले जो षट् कर्म तिनकरकें निकसे हें स्थूल भाव कफ दोष मलादिक पित्तादिक जाके ऐसो होय फिर प्राणायाम करे इनके करेतें विना श्रमकरें योग सिद्ध होय हे ॥ ३६ ॥

प्राणायामैरिति । प्राणायामनकर संपूर्ण मैल दूर होय हें और याज्ञवल्क्यादिकनके और कर्मरूपी ये षट्कर्म संमत नही हें. ॥ ३७ ॥

मू० उदरगतपदार्थमुद्वमंति पवनमपानमुदीर्य कंठनाले ॥
क्रमपरिचयवश्यनाडिचक्रा गजकरणीति निगद्यते हठज्ञैः ३८
ब्रह्मादयोऽपि त्रिदशाः पवनाभ्यासतत्पराः ॥
अभूवन्नंतकभयात्तस्मात्पवनमभ्यसेत् ॥ ३९ ॥
यावद्बद्धो मरुद्देहे यावच्चित्तं निराकुलम् ॥
यावद्दृष्टिर्भ्रुवोर्मध्ये तावत्कालभयं कुतः ॥ ४० ॥

॥ टीका ॥

गजकरणीमाह ॥ उदरगतमिति ॥ अपानं पवनमपानवायुं कंठनाले कंठो नाल इव कंठनालस्तस्मिन्नुदीर्योत्क्षिप्योदरे गतः प्राप्तः स चासौ पदार्थश्च भुक्तपीतान्नजलादिस्तं परयोद्वमंत्युद्गिरंति यया योगिन इत्यध्याहारः । क्रमेण यः परिचयोऽभ्यासस्तेनावश्यं स्वाधीनं नाडीनां चक्रं यस्यां सा तथा । सा क्रिया हठज्ञैर्हठयोगाद्यभिज्ञैर्गजकरणीति निगद्यते कथ्यते । क्रमपरिचयवश्यनाडिमार्ग इति क्वचित्पाठस्तस्यायमर्थः क्रमपरिचयेन वश्यो नाड्याः शंखिन्या मार्गः कंठपर्यंतो यस्यां सा तथा ॥ ३८ ॥

प्राणायामोऽवश्यमभ्यसनीयः सर्वोत्तमैरभ्यस्तत्वान्महाफलत्वाच्चेति सूचयन्नाह चतुर्भिः ॥ ब्रह्मादय इति ॥ ब्रह्मा आदिर्येषां ते ब्रह्मादयस्तेऽपि । किमुतान्य इत्यर्थः । त्रिदशा देवाः अंतयतीत्यंतकः कालस्तस्माद्भयमंतकभयं तस्मात्पवनस्य प्राणवायोरभ्यासो रेचकपूरककुंभकभेदभिन्नप्राणायामानुष्ठानरूपस्तस्मिंस्तत्परा अवहिता अभूवन्नासन् । तस्मात्पवनमभ्यसेत्प्राणमभ्यसेत् ॥ ३९ ॥

यावदिति ॥ यावद्यावत्कालपर्यंतं मरुत्प्राणानिलो देहे शरीरे बद्धः श्वासोच्छ्वा-

॥ भाषा ॥

अब गजकरणी कहे हें ॥ उदरगतमिति ॥ अपान जो वायु ताकूं कंठनालमें चढाय फिर उदरमें प्राप्त हुयो जो भुक्तपीत भोजन पान कियो अन्न जलादिक ताय निकाल डारे या क्रमकरकें जो अभ्यास ताकरकें वशीभूत हे नाडीनको समूह जामें ऐसी क्रिया सो हठके जानवेवारे योगीनकरकें गजकरणी कही हे ॥ ३८ ॥

ब्रह्मादय इति ॥ ब्रह्मा हें आदिमें जिनके ऐसे देवता तेवी कालके भयतें पवनाभ्यासमें तत्पर होते भये. तातें पवनाभ्यास करे ॥ ३९ ॥

यावदिति ॥ जबतांई वायु शरीरमें रुको रहे. जबतांई अंतःकरण व्याकूल नही

मू० विधिवत्प्राणसंयामैर्नाडीचक्रे विशोधिते ॥
सुषुम्नावदनं भित्त्वा सुखाद्विशति मारुतः ॥ ४१ ॥
मारुते मध्यसंचारे मनःस्थैर्यं प्रजायते ॥
यो मनःसुस्थिरीभावः सैवावस्था मनोन्मनी ॥ ४२ ॥
तत्सिद्धये विधानज्ञाश्चित्रान्कुर्वंति कुंभकान् ॥

॥ टीका ॥

सक्रियाशून्यः । यावच्चित्तमंतःकरणं निराकुलमविक्षिप्तं समाहितम् । यावद्भ्रुवोर्मध्ये दृष्टिरंतःकरणवृत्तिः । दृशिरत्र ज्ञानसामान्यार्थः । तावत्तावत्कालपर्यंतं कलयतीति कालोऽतकस्तस्माद्भयं कुतः । न कुतोऽपीत्यर्थः । तथा च वक्ष्यति । 'खाद्यते न च कालेन बाध्यते न च कर्मणा । साध्यते न स केनापि योगी युक्तः समाधिना ॥' इति । स्वाधीनो भवतीत्यर्थः ॥ ४० ॥

विधिवदिति॥ विधिवत्प्राणसंयामैरासनजालंधरबंधादिविधियुक्तप्राणायामैर्नाडीचक्रे नाडीनां चक्रं समूहस्तस्मिन्विशोधिते निर्मले सति मारुतो वायुः सुषुम्ना इडापिंगलयोर्मध्यस्था नाडी तस्या वदनं मुखं भित्त्वा सुखादनायासाद्विशति । सुषुम्नांतरिति शेषः ॥ ४१ ॥

मारुत इति ॥ मारुते प्राणवायौ मध्ये सुषुम्नामध्ये संचारः सम्यक्चरणं गमनं मूर्धपर्यंतं यस्य स मध्यसंचारस्तस्मिन् सति मनसः स्थैर्यं ध्येयाकारवृत्तिप्रवाहो जायते प्रादुर्भवति । यो मनसः सुस्थिरीभावः सुष्ठुस्थिरीभवनं सैव मनोन्मन्यवस्था । मनोन्मनीशब्द उन्मनीपर्यायः । तथाग्रे वक्ष्यति । 'राजयोगः समाधिश्च' इत्यादिना॥४२॥

विचित्रेषु कुंभकेषु प्रवृत्तिं जनयितुं तेषां मुख्यफलमवांतरफलं चाह । **तत्सि-**

॥ भाषा ॥

होय. जबताई भ्रुकुटीनके मध्यमें दृष्टी रहे. तबतांई कालतें भय कहांतें होयहे तो नही ही होयहे ॥ ४० ॥

विधिवदिति ॥ आसन जालंधरबंधादिक विधियुक्त जो प्राणायाम तिनकरकें नाडीनको समूह शुद्ध होय जब वायु इडा पिंगलाके मध्यमै सुषुम्ना नाडी ताको मुखभेदकरके सुषुम्नाके भीतर सुखपूर्वक प्रवेश करे हे ॥ ४१ ॥

मारुत इति ॥ जब वायु सुषुम्नाके भीतर गमन करे तब मनकूं स्थैर्य होय हे अर्थात ध्यानके योग्य आकारमें वृत्तिप्रवाह होय हे जो मनकूं स्थिर भाव होय सोहि मनोन्मनी अवस्था कहें हें तूर्य अवस्थाकूं उन्मनी और मनोन्मनी अवस्था कहें हें ॥ ४२ ॥

तत्सिद्धय इति ॥ और जे कुंभकके अनुष्ठान प्रकारकूं जाने हें ते उन्मनी अवस्था

मू० विचित्रकुंभकाभ्यासाद्विचित्रां सिद्धिमाप्नुयात् ॥ ४३ ॥

अथ कुंभकभेदाः ॥

सूर्यभेदनमुज्जायी सीत्कारी सीतली तथा ॥
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा प्लाविनीत्यष्ट कुंभकाः ॥ ४४ ॥
पूरकांते तु कर्तव्यो बंधो जालंधराभिधः ॥
कुंभकांते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डिनायकः ॥ ४५ ॥

॥ टीका ॥

द्धयइति ॥ विधानं कुंभकानुष्ठानप्रकारस्तज्जानंतीति विधानज्ञास्तत्सिद्धये उन्मन्यवस्थासिद्धये चित्रान्सूर्यभेदनादिभेदेन नानाविधान्कुंभकान्कुर्वंति । विचित्राश्च ते कुंभकाश्च विचित्रकुंभकास्तेषामभ्यासादनुष्ठानाद्विचित्रामणिमादिभेदेन नानाविधां विलक्षणां वा जन्मौषधिमंत्रतपोजातां । तदुक्तं भागवते । 'जन्मौषधितपोमंत्रैर्यावतीरिह सिद्धयः । योगेनाप्नोति ताः सर्वा नान्यैर्योगगतिं व्रजेत् ॥' इति । आप्नुयात्प्रत्याहारादिपरंपरयेति भावः ॥ ४३ ॥

अथाष्टकुंभकान्नामभिर्निर्दिशति ॥ सूर्यभेदनमिति ॥ स्पष्टम् ॥ ४४ ॥

अथ हठसिद्धावनन्यसिद्धां पारमहंसीं सर्वकुंभकसाधारणयुक्तिमाह त्रिभिः ॥ पूरकांत इति ॥ जालंधर इत्यभिधा नाम यस्य स जालंधराभिधो बंधो बध्नाति प्राणवायुमिति बंधः कंठाकुंचनपूर्वकं चिबुकस्य हृदि स्थापनं जालंधरबंधः पूरकांते पूरकस्यांते पूरकानंतरं झटिति कर्तव्यः । तुशब्दात्कुंभकादावुड्डियानकस्तु कुंभकांते कुंभकस्यांते किंचित्कुंभकशेषे रेचकस्यादौ रेचकादौ रेचकात्पूर्वं कर्तव्यः । प्रयत्न-

॥ भाषा ॥

की सिद्धिके अर्थ विचित्र जें सूर्यभेदनादि भेदकरकें नानाप्रकारके कुंभक तायकरें हें और विचित्र कुंभकके अभ्यासतें विचित्र सिद्धी प्राप्त होय है ॥ ४३ ॥

अब कुंभकके भेद कहें हें ॥ सूर्यभेदनमिति ॥ सूर्यभेदनं १ उज्जायी २ सीत्कारी ३ सीतली ४ भस्त्रिका ५ भ्रामरी ६ मूर्छा ७ प्लाविनी ८ ये आठ कुंभक हें ॥ ४४ ॥

पूरकांत इति ॥ आदिमें मूलबंध करे फिर पूरकके अंतमें शीघ्रही जालंधरबंध करे नाड नीचीकर ठोडीकूं हृदयके ऊपरि स्थापन करनो ये जालंधरबंध हे और कुंभकके अंतमें कछूक कुंभक शेष रहे रेचककी आदिमें उड्डीयानबंध करे यत्नतें नाभीकूं पीछें खेंचनों ये उड्डियान बंध हे ॥ ४५ ॥

मू० अधस्तात्कुंचनेनाशु कंठसंकोचने कृते ॥
मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः ॥ ४६ ॥

॥ टीका ॥

विशेषेण नाभिप्रदेशस्य पृष्ठत आकर्षणमुड्डियानबंधः ॥ ४५ ॥

अधस्तादिति ॥ कंठस्य संकोचनं कंठसंकोचनं तस्मिन्कृते सति जालंधरबंधे कृते सतीत्यर्थः । आश्वव्यवहितोत्तरमेवाधस्तादधःप्रदेशादाकुंचनेनाधाराकुंचनेन मूलबंधेनेत्यर्थः । मध्ये नाभिप्रदेशे पश्चिमतः पृष्ठतस्तानं ताननमाकर्षणं तेनोड्डियानबंधेनेत्यर्थः । उक्तरीत्या कृतेन बंधत्रयेण प्राणो वायुर्ब्रह्मनाडीं सुषुम्नां गच्छतीति ब्रह्मनाडिगः सुषुम्नानाडिगामी स्यादित्यर्थः । अत्रेदं रहस्यं । यदि श्रीगुरुमुखाज्जिह्वाबंधः सम्यक् परिज्ञातस्तर्हि जिव्हाबंधपूर्वकेन जालंधरबंधेनैव प्राणायामः सिध्यति । वायुप्रकोपेनैवमधातुवपुःकृशत्वं वदने प्रसन्नतेत्यादीनि सर्वाणि लक्षणानि जायंत इति मूलबंधोड्डियानबंधौ नोपयुक्तौ । तयोर्जिव्हाबंधपूर्वकेण जालंधरबंधेनान्यथा सिद्धत्वात् । जिव्हाबंधो न विदितश्चेदधस्तात्कुंचनेनेति श्लोकोक्तरीत्या प्राणायामाः कर्तव्याः । त्रयोऽपि बंधा गुरुमुखाज्ज्ञातव्याः । मूलबंधस्तु सम्यगज्ञातो नानारोगोत्पादकः । तथा हि । यदि मूलबंधे कृते धातुक्षयो विष्टंभोऽग्निमांद्यं नादमांद्यं गुटिकासमूहाकारमजस्येव पुरीषं स्यात्तदा मूलबंधः सम्यक् न ज्ञात इति बोध्यं । यदि तु धातुपुष्टिः सम्यक् मलशुद्धिरग्निदीप्तिः सम्यक् नादाभिव्यक्तिश्च स्यात्तदा ज्ञेयं मूलबंधः सम्यक् जात इति ॥ ४६ ॥

॥ भाषा ॥

अधस्तादिति ॥ अधोदेशतें मूलबंध कर आधारको आकुंचनकरकें फिर जालंधरबंध करे फिर उड्डियानबंध करे इन तीनो बंधकरकें वायु ब्रह्मनाडी जो सुषुम्ना ताय प्राप्त होय. ओर ये रहस्य कहें हें जो गुरुमुखतें जिव्हाबंध जाननो तो जिव्हाबंधपूर्वक जालंधरबंधकरकेंही प्राणायाम सिद्ध होय हे. और वायुप्रकोप नही होय आधीन देह रहे कृश रहे मुख प्रसन्न रहे ये सर्व चिन्ह होय हें मूलबंध उड्डियानबंध उपयोगी नही हे. इन दोनोनकूं जिव्हाबंधपूर्वक जालंधरबंधकरकें सिद्ध होय जाय. और जो जिव्हाबंध नही आतो होय तो ' अधस्तात् कुंचनेन ' या श्लोकमें कही जो रीती ता रीती कर प्राणायाम करनो योग्य हैं तीनो बंध गुरुमुखतें जाननो योग्य हे. और मूलबंध अछीतरें नही जानते होय तो नानारोगनकूं प्रगट करे. विना आये जो मूलबंध करे तो धातुक्षय विष्टंभ अग्नीको मंदपनो नादको मंदपनो और गुटिकाके समूह आकार होय

मू० अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्राणं कंठादधो नयेत् ॥
योगी जराविमुक्तः सन्षोडशाब्दवयो भवेत् ॥ ४७ ॥

अथ सूर्यभेदनम् ॥

आसने सुखदे योगी बध्वा चैवासनं ततः ॥

॥ टीका ॥

अपानमिति ॥ अपानमपानवायुमूर्ध्वमुत्थाप्याधाराकुंचनेन प्राणं प्राणवायुं कंठादधः अधोभागे नयेत्प्रापयेद्यः स योगी योगोऽस्यास्ति अभ्यस्यत्वेनेति योगी योगाभ्यासी जरया वार्धक्येन विमुक्तो विशेषेण मुक्तः सन् । षोडशानामब्दानां समाहारः षोडशाब्दं षोडशाब्दं वयो यस्य स तादृशो भवेत् । यद्यपि 'पूरकांते तु कर्तव्यः' इत्यादिना त्रयाणां श्लोकानामेक एवार्थः पर्यवस्यति तथापि 'पूरकांते तु कर्तव्यः' इत्यनेन बंधानां काल उक्तः । 'अधस्तात्कुंचनेन' इत्यनेन बंधानां स्वरूपमुक्तम् । 'अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य' इत्यनेन बंधानां फलमुक्तमिति विशेषः । जालंधरबंधे मूलबंधे च कृते नाभेरधोभाग आकर्षणाख्यो बंध उड्डियानबंधो भवत्येवेत्यस्मिञ्श्लोके नोक्तः । तथाचोक्तं ज्ञानेश्वरेण गीताषष्ठाध्यायव्याख्यायां । मूलबंधे जालंधरबंधे च कृते नाभेरधोभाग आकर्षणाख्यो बंधः स्वयमेव भवति ' इति ॥ ४७ ॥

' योगाभ्यासक्रमं वक्ष्ये योगिनां योगसिद्धये । उषःकाले समुत्थाय प्रातःकालेऽथवा बुधः ॥ १ ॥ गुरुं संस्मृत्य शिरसि हृदये स्वेष्टदेवताम् । शौचं कृत्वा दंतशुद्धिं विदध्याद्भस्मधारणम् ॥ २ ॥ शुचौ देशे मठे रम्ये प्रतिष्ठाप्यासनं मृदु । तत्रोपविश्य संस्मृत्य मनसा गुरुमीश्वरम् ॥ ३ ॥ देशकालौ च संकीर्त्य संकल्प्य विधिपूर्वकम् । अद्येत्यादि श्रीपरमेश्वरप्रसादपूर्वकं समाधितत्फलसिद्ध्यर्थमासनपूर्वकान् प्राणायामादीन् करिष्ये । अनंतं प्रणमेद्देवं नागेशं पीठसिद्धये ॥ ४ ॥ मणिभ्राजत्फणासहस्रविधृतविश्वंभरामंडलायानंताय नागराजाय नमः । ततोऽभ्यसेदासनानि श्रमे जाते शवासनम् । अंते समभ्यसेत्तत्तु श्रमाभावे तु नाभ्य-

॥ भाषा ॥

बकरियाकीसी मेंगनी होय तब ये मूलबंध अछी तरें नही जानें हे. ऐसो जाननो जब धातु पुष्ट होय सुंदर मैलकी शुद्धी होय जाठराग्निकी दीप्ती होय सुंदर नादकी प्रगटता होय तब जाननो मूलबंध सुंदर जाने हे ॥ ४६ ॥

अपानमिति ॥ अपानवायुकूं ऊपर उठायकरकें आधारकूं आकुंचनकरकें वायुकूं कंठतें नीचै लेजाय वो योगी वृद्ध अवस्थातें छूटकें षोडश वर्षकोसो होय जाय ॥ ४७ ॥

आठ प्रकारके कुंभक तिनमें प्रथम सूर्यभेदन और याके गुण कहें हें ॥ आसन

मू० दक्षनाड्या समाकृष्य बहिःस्थं पवनं शनैः ॥ ४८ ॥

॥ टीका ॥

सेत् ॥ ५ ॥ करणीं विपरीताख्यां कुंभकात्पूर्वमभ्यसेत् । जालंधरप्रसादार्थं कुंभकात्पूर्वयोगतः ॥ ६ ॥ विधायाचमनं कृत्वा कर्मांगं प्राणसंयमम् । योगींद्रादीन्नमस्कृत्य कौर्माच्च शिववाक्यतः ॥ ७ ॥' कूर्मपुराणे शिववाक्यं । 'नमस्कृत्याथ योगींद्रान्सशिष्यांश्च विनायकं । गुरुं चैवाथ मां योगी युंजीत सुसमाहितः ॥ ८ ॥ बध्वाभ्यासे सिद्धपीठं कुंभकाबंधपूर्वकम् । प्रथमे दश कर्तव्याः पंचवृद्ध्या दिनेदिने ॥ ९ ॥ कार्या अशीतिपर्यंतं कुंभकाः सुसमाहितैः । योगींद्रः प्रथमं कुर्यादभ्यासं चंद्रसूर्ययोः ॥ १० ॥ अनुलोमविलोमाख्यमेतं प्राहुर्मनीषिणः । सूर्यभेदनमभ्यस्य बंधपूर्वकमेकधीः ॥ ११ ॥ उज्जायिनं ततः कुर्यात्सीत्कारीं शीतलीं ततः । भस्त्रिकां च समभ्यस्य कुर्यादन्यान्नवापरान् ॥ १२ ॥ मुद्राः समभ्यसेद्बध्वा गुरुवक्त्राद्यथाक्रमम् । ततः पद्मासनं बध्वा कुर्यान्नादानुचिंतनम् ॥ १३ ॥ अभ्यासं सकलं कुर्यादीश्वरार्पणमादृतः । अभ्यासादुत्थितः स्नानं कुर्यादुष्णेन वारिणा ॥ १४ ॥ स्नात्वा समापयेन्नित्यं कर्म संक्षेपतः सुधीः । मध्याह्नेऽपि तथाभ्यस्य किंचिद्विश्रम्य भोजनं ॥ १५ ॥ कुर्वीत योगिनां पथ्यमपथ्यं न कदाचन । एलां वापि लवंगं वा भोजनांते च भक्षयेत् ॥ १६ ॥ केचित्कर्पूरमिच्छंति तांबूलं शोभनं तथा । चूर्णेन रहितं शस्तं पवनाभ्यासयोगिनां ॥ १७ ॥ इति चिंतामणेर्वाक्यं स्वारस्यं भजते नहि । केचित्पदेन यस्मात्तु तयोः शीतोष्णहेतुना ॥ १८ ॥ भोजनानंतरं कुर्यान्मोक्षशास्त्रावलोकनम् । पुराणश्रवणं वापि नामसंकीर्तनं विभोः ॥ १९ ॥ सायंसंध्याविधिं कृत्वा योगं पूर्ववदभ्यसेत् ॥ यदा त्रिघटिकाशेषो दिवसोऽभ्यासमाचरेत् ॥ २० ॥ अभ्यासानंतरं कार्या सायंसंध्या सदा बुधैः । अर्धरात्रे हठाभ्यासं विदध्यात्पूर्ववद्यमी ॥ २१ ॥ विपरीतां तु करणीं सायंकालार्धरात्रयोः । नाभ्यसेद्भोजनादूर्ध्वं यतः सा न प्रशस्यते ॥ २२ ॥' अथोद्देशानुक्रमणं कुंभकान्विवक्षुस्तत्र प्रथमोदितं

॥ भाषा ॥

इति ॥ योगी सुखदेवे ऐसो पवित्र देश तामें स्थित होय आपको आसन स्थिर होय अत्यंत ऊंचो नही होय अति नीचो नही होय एकांतमें सुखपूर्वक आसनमें स्थित होय फिर स्वस्तिकासन वीरासन सिद्धासन पद्मासन औरबी आसन हैं सबमें मुख्य आसन सिद्धासन हे ताय बांधकरकें आसन बांधेके पीछें दक्षिणभागमें स्थित नाडी पिंगलाकरकें देहतें बहार वर्तमान वायु ताय शनै शनै खेंचकरकें पूरक करें ॥ ४८ ॥

मू॰ आकेशादानखाग्राच्च निरोधावधि कुंभयेत् ॥
ततः शनैः सव्यनाड्या रेचयेत्पवनं शनैः ॥ ४९ ॥

॥ टीका ॥

सूर्यभेदनं तद्गुणांश्चाह त्रिभिः ॥ आसन इति ॥ सुखं ददातीति सुखदं तस्मिन्सुखदे ।'शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः । नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥' इत्युक्तलक्षणे विविक्तदेशे सुखासनस्थः शुचिः 'समग्रीवशिरःशरीरं' इति श्रुतेश्च चैलाजिनकुशोत्तर आसने । आस्तेऽस्मिन्नित्यासनं आस्यतेऽनेनेति वा तस्मिन् योगी योगाभ्यासी । आसनं स्वस्तिकवीरसिद्धपद्माद्यन्यतमं मुख्यत्वात्सिद्धासनमेव वा बध्वैव बंधनेन संपाद्यैत्र कृत्वैवेत्यर्थः । तत आसनबंधानंतरं दक्षादक्षिणभागस्था या नाडी पिंगला तया बहिःस्थं देहाद्बहिर्वर्तमानं पवनं वायुं शनैर्मंदंमंदमाकृष्य पिंगलया मंदंमंदं पूरकं कृत्वेत्यर्थः ॥ ४८ ॥

आकेशादिति ॥ केशाना मर्यादीकृत्याकेशं तस्मान्नखाग्राना मर्यादीकृत्येत्यानखाग्रं तस्माच्च निरोधस्य वायोरवरोधस्यावधिर्मर्यादा यस्मिन्कर्मणि तत्तथा कुंभयेत् । केशपर्यंतं नखाग्रपर्यंतं च वायोर्निरोधो यथा भवेत्तथातिप्रयत्नेन कुंभकं कुर्यादित्यर्थः । ननु 'हठान्निरुद्धः प्राणोऽयं रोमकूपेषु निःसरेत् । देहं विदारयत्येष कुष्ठादि जनयत्यपि ॥ ततः प्रत्यापितव्योऽसौ क्रमेणारण्यहस्तिवत् । वन्यो गजो गजारिर्वा क्रमेण मृदुतामियात् ॥ करोति शास्त्रनिर्देशान्न च तं परिलंघयेत् । तथा प्राणो हृदिस्थोऽयं योगिनां क्रमयोगतः ॥ गृहीतः सेव्यमानस्तु विश्रंभमुपग-

॥ भाषा ॥

आकेशादिति ॥ केशपर्यंत नखाग्रपर्यंत वायुको निरोध करे अर्थात अतियत्नकर कुंभक करे तो रुको हुयो वायु रोमनमेंसुं निकस देहकूं विदीर्ण करे हे और कुष्ठादि रोगकूं प्रगट करे हे. जेसें वनमें हाथि सिंव इनकूं होलेहोले पकडे रीतसुं तो सुखपूर्वक पकडले और जो जल्दी करे तो दुःख होय जाय पकडवेमेंबी नही आवे ऐसेंही यत्नकरकें कुंभक करे ॥ औ में शीघ्रही प्राणवायुको जय करूंगो या बुद्धीकर बहुत अभ्यासमें परायण होय यातें कह्यो वनके हाथी कीसीनाई क्रमतें करे और कहुं ऐसोबी कहें हें अतियत्नकरकें कुंभक करे जेसो अधिक करे तेसो गुण अधिक होय जेसो जेसो शिथिल कुंभक होय तेसो तेसो गुण अल्प होय यामें योगीनको अनुभव प्रमाण हे पूरक तो शनें शनें करनो योग्य हे अथवा वेगतेंबी करे तो दोष नहीं और रेचक तो शनें शनें वेगतें रेचक करे तो बलहानी होय यातें वामनाडी जो इडा ताकरकें वायुकूं मंदमंद रेचक करे ॥ ४९ ॥

सू० कपालशोधनं वातदोषघ्नं कृमिदोषहृत् ॥
पुनः पुनरिदं कार्यं सूर्यभेदनमुत्तमम् ॥ ५० ॥
अथोज्जायी ॥
मुखं संयम्य नाडीभ्यामाकृष्य पवनं शनैः ॥
यथा लगति कंठात्तु हृदयावधि सस्वनम् ॥ ५१ ॥

॥ टीका ॥

च्छति' इति वाक्यविरुद्धमिति प्रयत्नेन कुंभकं कुर्यादिति कथमुक्तमिति चेन्न । 'हठान्निरुद्धः प्राणोऽयम्' इति वाक्यस्य बलादचिरेण प्राणजयं करिष्यामीति बुद्ध्यारंभः॥ एवंच बव्हभ्यासासक्तपरत्वात्क्रमेणारण्यहस्तिवदिति दृष्टांतस्वारस्याच्च । अत एव सूर्याचंद्रमसोरभ्यासे धारयित्वा यथाशक्ति निधारयेदिति निरोधत इति चोक्तं संगच्छते । तस्मात्कुंभकस्त्वतिप्रयत्नपूर्वकं कर्तव्यः । यथायथातियत्नेन कुंभकः क्रियते तथातथा तस्मिन्गुणाधिक्यं भवेत् । यथायथा च शिथिलः कुंभकः स्यात्तथातथा गुणाल्पत्वं स्यात् । अत्र योगिनामनुभवोऽपि मानं । पूरकस्तु शनैः शनैः कार्यः वेगाद्वा कर्तव्यः । वेगादपि कृते पूरके दोषाभावात् । रेचकस्तु शनैः शनैरेव कर्तव्यः । वेगात्कृते रेचके बलहानिप्रसंगात् । ततः शनैशनैःरेव रेचयेन्न तु वेगतः । इत्याद्यनेकधा ग्रंथकारोक्तेश्च । ततो निरोधावधि कुंभकानंतरं शनैशनैःर्मंदंमंदं सव्ये वामभागे स्थिता नाडी सव्यनाडी तया सव्यनाड्या इडया पवनं वायुं रेचयेद्बहिर्निःसारयेत् । पुनः शनैरित्युक्तिस्तु शनैरेव रेचयेदित्यवधारणार्था । तदुक्तं । 'विस्मये च विषादे च दैन्ये चैवावधारणे । तथा प्रसादने हर्षे वाक्यमेकं द्विरुच्यते ॥' इति॥४९॥

कपालशोधनमिति॥ कपालस्य मस्तकस्य शोधनं शुद्धिकरं वातजा दोषा वातदोषा अशीतिप्रकारास्तान् हंतीति वातदोषघ्नं कृमीणामुदरे जातानां दोषो विकारस्तं हरतीति कृमिदोषहृत् । पुनःपुनर्भूयोभूयः कार्यं । सूर्येणापूर्य कुंभयित्वा चंद्रेण रेचनमिति रीत्येदमुत्तममुत्कृष्टं सूर्यभेदनं सूर्यभेदनाख्यमुक्तं । योगिभिरिति शेषः ५०

उज्जायिनमाह सार्धेन ॥ मुखमिति ॥ मुखमास्यं संयम्य संयतं कृत्वा

॥ भाषा ॥

सूर्यभेदनके गुण कहें हें ॥ कपालशोधनमिति ॥ मस्तककी शुद्धी करे हे और वातें उत्पन्न हुये जे अशी दोष तिने दूर करे हे. और उदरमें पडगये जे कीडा तिनके विकार दोषनकूं दूर करे हे. यातें ये वारंवार करे सूर्यकरकें पवनपूरक करे चंद्रकरकें वायुकूं रेचन करे यारीतकर उत्कृष्ट हे योगीनकरकें प्रथम सूर्यभेदन कह्यो हे ॥ ५० ॥

अब दूसरो उज्जायिकुंभक कहें हें ॥ मुखमिति ॥ मुख मूंदकरकें पवन कंठतें ले कर

मू० पूर्ववत्कुंभयेत्प्राणं रेचयेदिडया ततः ॥
श्लेष्मदोषहरं कंठे देहानलविवर्धनम् ॥ ५२ ॥
नाडीजलोदराधातुगतदोषविनाशनम् ॥
गच्छता तिष्ठता कार्यमुज्जाय्याख्यं तु कुंभकम् ॥ ५३ ॥

॥ टीका ॥

मुद्रयित्वेत्यर्थः । कंठात्तु कंठादारभ्य हृदयावधि हृदयमवधिर्यस्मिन्कर्मणि तत्तथा स्वनेन सहितं यथा स्यात्तथा । उभे क्रियाविशेषणे । लगति श्लिष्यति पवन इत्यर्थात् । तथा तेन प्रकारेण नाडीभ्यामिडापिंगलाभ्यां पवनं वायुं शनैर्मंदमाकृष्याकृष्टं कृत्वा पूरयित्वेत्यर्थः ॥ ५१ ॥

पूर्ववदिति॥प्राणं पूर्ववत्पूर्वेण सूर्यभेदनेन तुल्यं पूर्ववत् । 'आकेशादानखाग्राच्च निरोधावधि कुंभयेत् ।' इत्युक्तरीत्या कुंभयेद्रोधयेत् । ततः कुंभकानंतरमिडया वामनाड्या रेचयेत्त्यजेत् । उज्जायिगुणानाह सार्धश्लोकेन॥श्लेष्मदोषहरमिति॥ कंठे कंठप्रदेशे श्लेष्मणो दोषाः श्लेष्मदोषाः कासादयस्तान् हरतीति श्लेष्मदोषहरस्तं देहानलस्य देहमध्यगतानलस्य जाठरस्य विवर्धनं विशेषेण वर्धनं दीपनमित्यर्थः ॥५२॥

नाडीति ॥ नाडी शिरा जलं पीतमुदकमुदरं तुंदमासमंताद्देहे वर्तमाना धातव आधातवः । एषामितरेतरद्वंद्वः । तेषु गतः प्राप्तो यो दोषो विकारस्तं विशेषेण नाशयतीति नाडीजलोदराधातुगतदोषविनाशनम् । गच्छता गमनं कुर्वता तिष्ठता स्थितेन वापि पुंसा उज्जाय्याख्यमुज्जायीत्याख्या यस्य तत् । तु इत्यनेन नास्य वैशिष्ट्यं द्योतयति । कार्यं कर्तव्यं । उज्जापीति क्वचित्पाठः । गच्छता तिष्ठता तु बंधरहितः कर्तव्यः । कुंभकशब्दस्त्रिलिंगः । पुंलिंगपाठे तु विशेषणेष्वपि पुंलिंगः पाठः कार्यः ॥ ५३ ॥

॥ भाषा ॥

हृदयपर्यंत शब्दसाहित लगे ऐसो इडाकरकें पिंगलाकरकें वायुकूं शनैं शनैं खेंच करके पूरक करे फिर केशपर्यंत नखपर्यंत कुंभक करे ता पीछें इडा जो वांई नासिका ताकरके रेचन करे ॥ ५१ ॥

उज्जायीके गुण कहें हें ॥ श्लेष्मदोषहरमिति ॥ कंठमें कफके दोष तिनें हरे हे. और देहमें भीतर जाठराग्नीकूं दीपन करे हे ॥ ५२ ॥

नाडीति ॥ नाडीमें जलकी व्यथा देहमें वर्तमान धातूनमें दोष विकार ताय नाश करे और गमन करे और स्थित होय ता पुरुषकरकें उज्जायी करनो योग्य हे ॥ ५३ ॥

अथ सीत्कारी ॥

मू० सीत्कां कुर्यात्तथा वक्त्रे घ्राणेनैव विजृंभिकाम् ॥
एवमभ्यासयोगेन कामदेवो द्वितीयकः ॥ ५४ ॥
योगिनीचक्रसामान्यः सृष्टिसंहारकारकः ॥
न क्षुधा न तृषा निद्रा नैवालस्यं प्रजायते ॥ ५५ ॥

॥ टीका ॥

सीत्कारीकुंभकमाह ॥ सीत्कामिति ॥ वक्त्रे मुखे सीत्कां सीदेव सीत्का सीदिति शब्दःसीत्कारस्तां कुर्यात् । ओष्ठयोरंतरे संलग्नया जिह्वया सीत्कारपूर्वकं मुखेन पूरकं कुर्यादित्यर्थः । घ्राणेनैव नासिकयैवेत्यनेनोभाभ्यां नासापुटाभ्यां रेचकःकार्यइत्युक्तम् । एवशब्देन वक्त्रस्य व्यवच्छेदः । वक्त्रेण वायोर्निःसारणं त्वभ्यासानंतरमपि न कार्यं । बलहानिकरत्वात् । विजृंभिकां रेचकं कुर्यादित्यत्रापि संबध्यते । कुंभकस्त्वनुक्तोऽपि सीत्कार्याः कुंभकत्वादेवावगंतव्यः । अथ सीत्कार्याः प्रशंसा । एवमुक्तप्रकारेणाभ्यासः पौनःपुन्येनानुष्ठानं स एव योगः योगसाधनत्वात्तेन द्वितीय एव द्वितीयकः कामदेवः कंदर्पः । रूपलावण्यातिशयेन कामदेवसादृश्यात् ॥ ५४ ॥

योगिनीति ॥ योगिनीनां चक्रं योगिनीचक्रं योगिनीसमूहः तस्य सामान्यः संसेव्यः । सृष्टिःप्रपंचोत्पत्तिः संहारस्तल्लयः तयोः कारकः कर्ता । क्षुधा भोक्तुमिच्छा न । तृषा जलपानेच्छा न । निद्रा सुषुप्तिर्न । आलस्यं कायचित्तगौरवात्प्रवृत्त्यभावः । कायगौरवं कफादिना चित्तगौरवं तमोगुणेन । नैव प्रजायते नैव प्रादुर्भवति । एवमभ्यासयोगेनेति प्रजायत इति च प्रतिवाक्यं संबध्यते ॥ ५५ ॥

॥ भाषा ॥

अब तीसरो सीत्कारी कुंभक कहें हें ॥ सीत्कामिति ॥ मुखमें ओष्ठनके मध्यमें लगी जिव्हा ताकर सीत्कारकरकें पवनकूं मुखकर पूरक करे फिर दोनो नासिकाके पुटनकरकें रेचक करे और मुखकरकें वायुको निकासनो अभ्यासके पीछेबी नही करनो बलकी हानी करे हे, यातें विजृंभिका रेचक करे अर्थात् मुख नही खोले दोनो नासिका कर रेचन करनो याकूं विजृंभिका रेचक कहें हें. और कुंभक यामें कह्यो नही हे तोबी सीत्कार पूरककर कुंभक करले और या प्रकार वारंवार करेंतें रूप लावण्यकी अधिकताकर दुसरे कामदेव कीसीनाई होय जाय ॥ ५४ ॥

योगिनीति ॥ योगिनीयोनके समूहकूं सेवन करवेकूं योग्य होय. और सृष्टिसंहारको कर्ता हों. और क्षूधा तृषा निद्रा आलस्य ये नही होंय ॥ ५५ ॥

मू० भवेत्सत्वं च देहस्य सर्वोपद्रववर्जितः ॥
अनेन विधिना सत्यं योगींद्रो भूमिमंडले ॥ ५६ ॥

अथ शीतली ॥

जिह्वया वायुमाकृष्य पूर्ववत्कुंभसाधनम् ॥
शनकैर्घ्राणरंध्राभ्यां रेचयेत्पवनं सुधीः ५७ ॥
गुल्मप्लीहादिकान् रोगाञ्ज्वरं पित्तं क्षुधां तृषाम् ॥
विषाणि शीतलीनाम कुंभिकेयं निहंति हि ॥ ५८ ॥

॥ टीका ॥

भवेदिति ॥ देहस्य शरीरस्य सत्वं बलं च भवेत्। अनेनोक्तेन विधिनाभ्यासविधिना योगींद्रो योगिनामिंद्र इव योगींद्रो भूमिमंडले सर्वैरुपद्रवैर्वर्जितः सर्वोपद्रववर्जितो भवेत्सत्यम् । सर्वं वाक्यं सावधारणमिति न्यायाद्यदुक्तं फलं तत्सत्यमेवेत्यर्थः॥५६॥

शीतलीकुंभकमाह॥ जिव्हयेति । जिव्हयोष्ठयोर्बहिर्निर्गतया विहंगमाधरचंचुसदृशया वायुमाकृष्य शनैः पूरकं कृत्वेत्यर्थः । पूर्ववत्सूर्यभेदनवत्कुंभस्य कुंभकस्य साधनं विधानं कृत्वेत्यध्याहारः । सुधीः शोभमा धीर्यस्य सः घ्राणस्य रंध्रे ताभ्यां नासापुटविवराभ्यां शनकैः शनैरेव।' अव्ययसर्वनाम्नां–' इत्यकच्। पवनं वायुं रेचयेत्॥५७॥

शीतलीगुणानाह ॥ गुल्मेति ॥ गुल्मश्च प्लीहश्च गुल्मप्लीहौ रोगविशेषावादी येषां ते गुल्मप्लीहादिकास्तान् रोगानामयान् ज्वरं ज्वराख्यं रोगं पित्तं पित्तविकारं क्षुधां भोक्तुमिच्छां तृषां जलपानेच्छां विषाणि सर्पादिविषयजनितविकारान् । शीतलीनामेति प्रसिद्धार्थिकमव्ययं । इयमुक्ता कुंभिका निहंति नितरां हंति । कुंभशब्दःस्त्री-

॥ भाषा ॥

भवेदिति ॥ शरीरकूं बल होय और कही जो ये अभ्यासविधि ताकरकें योगीनमें इंद्र कीसीनाई पृथ्वीमें सर्वोपद्रवर्जित होय जो ये कह्यो हे सो फल सत्य हे ॥ ५६ ॥

अब चोथो शीतलीकुंभक कहें हें ॥ जिव्हयेति । पक्षींकी नीचली चोंचकी समान अपनी जिव्हा होठनके बहार निकास वायुकूं खेंचके पूरकरकें फिर पहलें सूर्यभेदनमें कह्यो तेसेंही कुंभकको साधन करे फिर सुंदर हे बुद्धी जाकी सो नासिकाके छिद्रनकरके शनै शनै वायुकुं रेचक करे ॥ ५७ ॥

शीतलीके गुण कहें हें ॥ गुल्मेति । गुल्म प्लीह ये रोग हें आदिमें जिनके ऐसे रोग और ज्वर पित्तको विकार और भोजनकी इच्छा जलपानकी इच्छा और सर्पके काटेको विष औरबी विष इन सबनकूं ये शीतलीनाम कुंभिका दूर करे हे ॥ ५८ ॥

अथ भस्त्रिका ॥

मू० ऊर्वोरुपरि संस्थाप्य शुभे पादतले उभे ॥
पद्मासनं भवेदेतत्सर्वपापप्रणाशनम् ॥ ५९ ॥
सम्यक्पद्मासनं बध्वा समग्रीवोदरं सुधीः ॥
मुखं संयम्य यत्नेन घ्राणं घ्राणेन रेचयेत् ॥ ६० ॥
यथा लगति हृत्कंठे कपालावधि सस्वनम् ॥
वेगेन पूरयेच्चापि हृत्पद्मावधि मारुतम् ॥ ६१ ॥

॥ टीका ॥

लिंगोऽपि । तथा च श्रीहर्षः । ‘ उदस्य कुंभीरथ शातकुंभजा ’ इति ॥ ५८ ॥

भस्त्राकुंभकस्य पद्मासनपूर्वकमेवानुष्ठानात्तदादौ पद्मासनमाह ॥ ऊर्वोरिति ॥ उपर्युत्ताने शुभे शुद्धे उभे द्वे पादयोस्तलेऽधःप्रदेशे ऊर्वोः संस्थाप्य सम्यक् स्थापयित्वा वसेत् । एतत्पद्मासनं भवेत् । कीदृशं सर्वेषां पापानां प्रकर्षेण नाशनं । अत्रोपरीत्यव्ययमुत्तानवाचकं । तथा च कारकेषु मनोरमायां ‘उपर्युपरि बुद्धीनामि’-त्यत्रोपरिबुद्धीनामित्यस्योत्तानबुद्धीनामिति व्याख्यानं कृतम् ॥ ५९ ॥

भस्त्रिकाकुंभकमाह ॥ सम्यगिति ॥ ग्रीवा च उदरं च ग्रीवोदरं । प्राण्यंगत्वादेकवद्भावः । समं ग्रीवोदरं यस्य स समग्रीवोदरः सुस्थिता धीर्यस्य स सुधीः पद्मासनं सम्यक् स्थिरं बध्वा मुखं संयम्य संयतं कृत्वा यत्नेन प्रयत्नेन घ्राणेन घ्राजस्यै कतरेण रंध्रेण प्राणं शरीरांतःस्थितं वायुं रेचयेत् ॥ ६० ॥

रेचकप्रकारमाह ॥ यथेति ॥ हृच्च कंठश्च हृत्कंठं तस्मिन् हृत्कंठे । समाहारद्वंद्वः । कपालावधि कपालपर्यंतं स्वनेन सहितं सस्वनं यथा स्यात्तथा येन प्रकारेण

॥ भाषा ॥

अब पांचमो भस्त्राकुंभकको भेद कहें हें ॥ ऊर्वोरिति ॥ ऊरूनके उपरि दोनों पामनके तलुआ उत्तानपूर्वक स्थापनकरकें स्थित होय ये पद्मासन हे केसो हे संपूर्ण पापनके नाशको करवेवालो हे ॥ ५९ ॥

सम्यगिति ॥ समान हे ग्रीवा उदर जाके सुंदर हे बुद्धी जाकी एसो पुरुष स्थिर पद्मासन बांधकरकें मुख मूदकरकें यत्नसुं नासिकाके एकमाऊंकें रंध्रकर वायुकूं रेचक करे ॥ ६० ॥

कपालपर्यंत शब्दसहित हृदय कंठमें वायुलगे तेसो रेचन करे फिर हृदयकमलपर्यंत वेगकरकें वायुकूं पूरक करे ॥ ६१ ॥

मू० पुनर्विरेचयेत्तद्वत्पूरयेच्च पुनः पुनः ॥
यथैव लोहकारेण भस्त्रा वेगेन चाल्यते ॥ ६२ ॥
तथैव स्वशरीरस्थं चालयेत्पवनं धिया ॥
यदा श्रमो भवेद्देहे तदा सूर्येण पूरयेत् ॥ ६३ ॥
यथोदरं भवेत्पूर्णमनिलेन तथा लघु ॥
धारयेन्नासिकां मध्यातर्जनीभ्यां विना दृढम् ॥ ६४ ॥

॥ टीका ॥

लगति । प्राण इति शेषः । तथा रेचयेत् । हृत्पद्ममवधिर्यस्मिन् कर्मणि तत् हृत्पद्मावधि वेगेन तरसा मारुतं वायुं पूरयेत् । चापीति पादपूरणार्थम् ॥ ६१ ॥

पुनरिति ॥ तद्वत्पूर्ववत्पुनर्विरेचयेत्पुनः पुनः पूरयेच्चेत्यन्वयः । उक्तेऽर्थे दृष्टांतमाह ॥ यथैवेति ॥ लोहकारेण लोहविकाराणां कर्त्रा भस्त्राग्नेर्धमनसाधनीभूतं चर्म यथैव येन प्रकारेण वेगेन चाल्यते ॥ ६२ ॥

तथैवेति ॥ तथैव तेनैव प्रकारेण स्वशरीरस्थं स्वशरीरे स्थितं पवनं प्राणं धिया बुद्ध्या चालयेत् । रेचकपूरकयोर्निरंतरावर्तनेन चालनस्यावधिमाह ॥ यदा श्रम इति ॥ यदा यस्मिन् काले देहे शरीरे श्रमो रेचकपूरकयोर्निरंतरावर्तनेनायासो भवेत्तदा तस्मिन् काले । यथेति ॥ ६३ ॥

यथेति ॥ यथा येन प्रकारेण पवनेन वायुना लघु क्षिप्रमेवोदरं पूर्णं भवेत्तथा तेन प्रकारेण सूर्यनाड्या पूरयेत् । 'लघुक्षिप्रमरं द्रुतमि' त्यमरः । पूरकानंतरं यत्कर्तव्यं तदाह ॥ धारयेदिति ॥ मध्यतर्जनीभ्यां मध्यमातर्जनीभ्यां विनांगुष्ठानामिकाकनिष्ठिकाभिर्नासिकां दृढं धारयेत् । अंगुष्ठेन दक्षिणनासापुटं निरुध्यानामिकाकनिष्ठिकाभ्यां वामनासापुटं निरुध्य नासिकां दृढं गृह्णीयादित्यर्थः ॥ ६४ ॥

॥ भाषा ॥

पुनरिति ॥ पहलें कीसीनाई फिर रेचक करे फिर पूरक करे फिर रेचक करे जेंसें लुहार चामकी धोकनीकूं जेसे वेगकरकें चलावे हे तेंसेंही वेगकर पूरक रेचक करे ॥ ६२ ॥

यदा श्रम इति ॥ पूरक और रेचक इनको निरंतर एसें आवर्तन करतें करतें जा कालमें देहमें श्रम होय ताई कालमें जा प्रकार कर वायुकरकें शीघ्रही उदर भर जाय ता प्रकारकर सूर्यनाडीकरकें पूरक करे ॥ ६३ ॥

धारयेदिति । पूरक करे पीछें अंगूठाकरकें जेमनी नासापुट रोककरकें और अनामि-

मू० विधिवत्कुंभकं कृत्वा रेचयेदिडयानिलम् ॥ वातपित्तश्लेष्महरं शरीराग्निविवर्धनम् ॥ ६९ ॥

॥ टीका ॥

विधिवदिति ॥ बंधपूर्वकं कुंभकं कृत्वेडया चंद्रनाड्याऽनिलं वायुं रेचयेत् । भस्त्राकुंभकस्यैवं परिपाटी । वामनासिकापुटं दक्षिणभुजानामिकाकनिष्ठिकाभ्यां निरुध्य दक्षिणनासिकापुटेन भस्त्रावद्वेगेन रेचकपूरकाः कार्याः । श्रमे जाते तेनैव नासापुटेन पूरकं कृत्वांगुष्ठेन दक्षिणं नासापुटं निरुध्य यथाशक्ति कुंभकं धारयेत् । पश्चादिडया रेचयेत् । पुनर्दक्षिणनासापुटमंगुष्ठेन निरुध्य वामनासिकापुटेन भस्त्रावज्झटिति रेचकपूरकाः कर्तव्याः । श्रमे जाते तेनैव नासिकापुटेन पूरकं कृत्वानामिकाकनिष्ठिकाभ्यां वामनासिकापुटं निरुध्य यथाशक्ति कुंभकं कृत्वा पिंगलया रेचयेदित्येका रीतिः । वामनासिकापुटमनामिकाकनिष्ठिकाभ्यां दक्षिणनासिकापुटेन पूरकं कृत्वा झटित्यंगुष्ठेन निरुध्य वामनासापुटेन रेचयेत् । एवं शतधा कृत्वा श्रमे जाते तेनैव पूरयेत् । बंधपूर्वकं कृत्वेडया रेचयेत् । पुनर्दक्षिणनासापुटमंगुष्ठेन निरुध्य वामनासापुटेन पूरकं कृत्वा झटिति वामनासिकापुटमनामिकाकनिष्ठिकाभ्यां निरुध्य पिंगलया रेचयेद्भस्त्रावत् । पुनःपुनरेवं कृत्वा रेचकपूरकावृत्तिश्रमे जाते वामनासापुटेन पूरकं कृत्वानामिकाकनिष्ठिकाभ्यां धृत्वा कुंभकं कृत्वा पिंगलया रेचयेदिति द्वितीया रीतिः । भस्त्रिकागुणानाह ॥ वातपित्तेति ॥ वातश्च पित्तं च श्लेष्मा च वातपित्तश्लेष्माणस्तान्हरतीति तादृशं शरीरे देहे योऽग्निर्जठरानलस्तस्य विशेषेण वर्धनं दीपनम् ॥ ६९ ॥

॥ भाषा ॥

का कनिष्ठिकाकरकें वाम नासापुटकूं रोककरकें दृढ नासिकाग्रहण करे ॥ ६४ ॥

विधिवदिति ॥ बंधपूर्वक कुंभककरकें फिर चंद्र जो इडानाडी ताकरकें वायुकूं रेचक करे या भस्त्राकुंभककी ये रीत हे सो जानो वांई नासिकापुटकूं दक्षिण भुजाकी अनामिकाकनिष्ठिकाकर रोक ले फिर दक्षिण नासिकाके पुटकरकें धोंकनीकीसीनाई वेगकरकें रेचक पूरक करे फिर श्रम होय तब ताई नासापूटकरकें पूरक करे अंगूठाकर जेमनी नासिका मूंदकरकें जेसी शक्ति होंय तेसो कुंभक करें फिर इडाकरकें रेचक करे फिर दक्षिण नासापूटकूं अंगूठाकूं रोक वाम नासापुटकरकें धोंकनीकीसीनाई शीघ्रही रेचक पूरक करे फिर श्रम होय तो वांई नासिकापुटकरकें फिर पूरक करे फिर अनामिका कनिष्ठिकाकर वामनासापुट रोककरकें कुंभक करे फिर पिंगलाकर रेचक करे ये एक-

मू० कुंडलीबोधकं क्षिप्रं पवनं सुखदं हितम् ॥
ब्रह्मनाडीमुखेसंस्थकफाद्यर्गलनाशनम् ॥ ६६ ॥

॥ टीका ॥

कुंडलीति । क्षिप्रं शीघ्रं कुंडल्याः सुप्ताया बोधकं बोधकर्तृ पुनातीति पवनं पवित्रकारकं सुखं ददातीति सुखदं हितं त्रिदोषहरत्वात्सर्वेषां हितं सर्वदा च हितं सर्वेषां कुंभकानां सर्वदा हितत्वेऽपि सूर्यभेदनोज्जायिनावुष्णौ प्रायेण हितौ । शीत्कारीशीतल्यौ शीतले प्रायेणोष्णे हिते । भस्त्राकुंभकः समशीतोष्णः सर्वदा हितः सर्वेषां कुंभकानां सर्वरोगहरत्वेऽपि सूर्यभेदनं प्रायेण वातहरं । उज्जायी प्रायेण श्लेष्महरः । सीत्कारीशीतल्यौ प्रायेण पित्तहरे । भस्त्राख्यः कुंभकः त्रिदोषहर इति बोध्यं । ब्रह्मनाडी सुषुम्ना ब्रह्मप्रापकत्वात् । तथा च श्रुतिः । 'शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका । तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वगन्या उत्क्रमणे भवंति ॥' इति तस्या मुखेऽग्रभागे संस्थः सम्यक् स्थितो यः कफादिरूपोऽर्गलः प्राणगतिप्रतिबंधकस्तस्य नाशनं नाशकर्तृ ॥ ६६ ॥

॥ भाषा ॥

रीति हे अब दुसरी रीति कहें हें वाम नासापुटकूं अनामिका कनिष्ठिकाकर रोककर दक्षिण नासिकाके पुटकर पूरककरकें शीघ्रही अंगुठासुं रोककर वांई नासिकाके पुटकर रेचक करे या प्रकार सोपोत करे फिर श्रम होय तो वाईकरकें पूरक करे बंधपूर्वक पूरककरकें इडाकरकें रेचक करे दक्षिण नासिकाको पुट अंगूठाकरकें रोककर वाम नासापुटकर पूरककरकें शीघ्र वामनासिकापुटकूं अनामिका कनिष्ठिकासुं रोककरकें पिंगलाकरकें रेचक करे धोकनीकीसीनाई वारंवार एसेंकरकें रेचक पूरक कर श्रम होय तो वामनासापुटकरकें पूरककरकें अनामिकाकनिष्ठिकाकरकें कुंभक कर पिंगलाकरकें रेचक करे ये दूसरी रीति हे भस्त्रिकाके गुण कहें हें ॥ वात पित्त श्लेष्म इनें दूर करे हें और शरीरमें जठराग्नीकूं दीपन करे हे ॥ ६९ ॥

कुण्डलीति॥ और शीघ्रही कुंडली सूतीकूं बोधकरे हे और पवित्रको करवेवारो हे सुखको करवेवारो हे और त्रिदोषकूं हरे हें यातें सर्वको हितकारि हे और सब कुंभकनकूं हितकारी हे कैंसें सो कहें हें सूर्यभेदन उज्जायी ये दोनो उष्ण हे शीतकालमें करे हितकारी हें और सीत्कारी और शीतली ये दोनों शीतल हें ये गरमीनमें अधिक हितकारी हें और भस्त्राकुंभक ये समान हे शीत उष्ण जामे एसो हे सब समे हितकारी हे और सबलें सबलें कुंभक सर्व रोगकूं हरें हें सूर्यभेदन तो बोहोत करकें वात रोगकूं हरे हे और उज्जायी अधिक कर

मू० सम्यग्गात्रसमुद्भूतंग्रथित्रयविभेदकम् ॥
विशेषेणैव कर्तव्यं भस्त्राख्यं कुंभकं त्विदम् ॥ ६७ ॥

अथ भ्रामरी ॥

वेगाद्घोषं पूरकं भृंगनादं भृंगीनादं रेचकं मंदमंदम् ॥
योगींद्राणामेवमभ्यासयोगाच्चित्ते जाता काचिदानंदलीला ६८

॥ टीका ॥

सम्यगिति । सम्यग्दृढीभूतं गात्रे गात्रमध्ये सुषुम्नायामेव सम्यगुद्भूतं समुद्भूतं जातं यद्ग्रंथीनां त्रयं ग्रंथित्रयं ब्रह्मग्रंथिविष्णुग्रंथिरुद्रग्रंथिरूपं तस्य विशेषेण भेदजनकं । अत एव इदं भस्त्रा इत्याख्या यस्येति भस्त्राख्यं कुंभकं तु विशेषेणैव कर्तव्यं अवश्यकर्तव्यमित्यर्थः । सूर्यभेदनादयस्तु यथासंभवं कर्तव्याः ॥ ६७ ॥

भ्रामरीकुंभकमाह ॥ वेगादिति ॥ वेगात्तरसा घोषं सशब्दं यथा स्यात्तथा भृंगस्य भ्रमरस्य नाद इव नादो यस्मिन्कर्मणि तत्तथा पूरकं कृत्वा। भृंग्यो भ्रमर्यस्तासां नाद इव नादो यस्मिंस्तत्तथा मंदंमंदं रेचकं कुर्यात् । पूरकानंतरं कुंभकस्तु भ्रामर्याः कुंभकत्वादेव सिद्धो विशेषाच्च नोक्तः । पूरकरेचकयोस्तु विशेषोऽस्तीति तावेवोक्तौ। एवमुक्तरीत्याभ्यसनमभ्यासस्तस्य योगो युक्तिस्तस्माद्योगींद्राणां चित्ते काचिदनिर्वाच्या आनंदे लीला क्रीडा आनंदलीला जातोत्पन्ना भवति ॥ ६८ ॥

॥ भाषा ॥

श्लेष्मकूं हरे हे, और सीत्कारी शीतली ये दोनो पित्तकूं हरे हे. और भस्त्राख्य कुंभक त्रिदोषकूं हरे ये जाननो. और ब्रह्मकूं प्राप्तकी करवेवारी हे. यातें सुषुम्नाकूं ब्रह्मनाडी कहे हें ता सुषुम्ना नाडीके मुखमें अर्थात् अग्रभागमें स्थित जो कफादिकरूप जो आगल वायुकी गतीकूं रोकवेवाली ताकूं नाश करे हे ॥ ६६ ॥

सम्यगिति । दृष्ट शरीरमें जो सुषुम्ना नाडी तामें उत्पन्न हुई जो तीन ग्रंथी ब्रह्मग्रंथी विष्णुग्रंथी रुद्रग्रंथी तिनकूं विशेषकरकें भेदन करे हे यातें ये भस्त्रानामककुंभक हे. सो अवश्य करनो योग्य हे. और सूर्यभेदनादिक जेसो बने तेसोई करनो ॥ ६७ ॥

अब छटो भ्रामरीनाम कुंभक कहें हें ॥ वेगादिति ॥ जो पूरक वेगसुं करे तो भ्रमरकोसो नाद होय हे और जो होले करे तो भ्रमरीकोसो नाद होय हे. जो वेगसूं भ्रमरकोसो नाद जामें होय तेसो पूरककरकें फिर भ्रमरीकोसो नाद जामें तेसो मंदमंद रेचक करे रेचक पूरक इनकी विशेषता हे यातें येही लिखे हें और पूरकके पीछें कुंभकतो भ्रामरीकूं कुंभक स्वभावसिद्ध हे यातें विशेष नहीं लिख्यो या रीतकर अभ्यासके योगतें योगींद्रनके चित्तमें नही कहवेमें आवे एसी आनंद लीला होय हे ॥ ६८ ॥

अथ मूर्छा ॥

मू० पूरकांते गाढतरं बध्वा जालंधरं शनैः ॥
रेचयेन्मूर्छनाख्येयं मनोमूर्छा सुखप्रदा ॥ ६९ ॥

अथ प्लाविनी ॥

अंतः प्रवर्तितोदारमारुतापूरितोदरः ॥
पयस्यगाधेऽपि सुखात्प्लवते पद्मपत्रवत् ॥ ७० ॥
प्राणायामस्त्रिधा प्रोक्तो रेचपूरककुंभकैः ॥
सहितः केवलश्चेति कुंभको द्विविधो मतः ॥ ७१ ॥

॥ टीका ॥

मूर्छाकुंभकमाह ॥ पूरकांत इति ॥ पूरकस्यांतेऽवसानेऽतिशयेन गाढतरं जालंधराख्यं बंधं बध्वा शनैर्मंदंमंदं रेचयेत् । इयं कुंभिका मूर्छनाख्या मूर्छना इत्याख्या यत इति मूर्छनाख्या कीदृशी मनो मूर्छयतीति मनोमूर्छा एतेन मूर्छनाया विग्रहदर्शनपूर्वकं फलमुक्तम्।पुनः कीदृशी सुखप्रदा सुखं प्रददातीति सुखप्रदा॥६९॥
प्लाविनीकुंभकमाह ॥ अंतरिति ॥ अंतः शरीरांतः प्रवर्तितः पूरित उदारोऽतिशयितो यो मारुतः समीरस्तेनासमंतात्पूरितमुदरं येन स पुमानगाधेऽप्यतलस्पर्शेऽपि पयसि जले पद्मपत्रवत्पद्मपत्रेण तुल्यं सुखादनायासात् प्लवते तरति गच्छति७०
अथ प्राणायामभेदानाह ॥ प्राणायाम इति ॥ प्राणस्य शरीरांतःसंचारिवायोरायमनं निरोधनमायामः प्राणायामः । प्राणायामलक्षणमुक्तं गोरक्षनाथेन । 'प्राणः स्वदेहजीवायुरायामस्तन्निरोधनमिति' । रेचकश्च पूरकश्च कुंभकश्च तैर्भेदैस्त्रिधा

॥ भाषा ॥

अब सातवो कुंभक मूर्छानाम कहें हें ॥ पूरकांते इति ॥ पूरककरके अंतमें जालंधरनाम बंध बांधकरकें शनैं शनैं रेचक करे ये कुंभिका मूर्छनानाम हे मनकुं मूर्छा करे हे जासुं मनोमूर्छा कहे हें केसी हे ये सुखके देनेवाली हे ॥ ६९ ॥

अब आठवो प्लाविनीकुंभक कहें हें ॥ अंतरिति ॥ शरीरके भीतर भर्यो जो अधिक वायू ताकरकें च्यारोंमेंरतें भर लियो हे उदर जानें एसो पुरुष अगाध जलमें कमलके पत्र कीसीनाई सुखतें गमन करे ॥ ७० ॥

अब प्राणायामके भेद कहें हें ॥ प्राणायाम इति ॥ प्राण जो शरीरके भीतर वायू ताकूं रोकनो जाकूं प्राणायाम कहें हें. सो प्राणायाम रेचक पूरक कुंभक इन भेदनकर तीन प्रकारको हे उदरमें तें वायुकूं रेचन करे ताकूं रेचक कहें हें और बहारतें वायुकूं उदरमें भरे ताकूं पूरक कहे हें. और पूरककरकें वायुकूं घटकीसीनाई धारण करे

मू० यावत्केवलसिद्धिः स्यात्सहितं तावदभ्यसेत् ॥
रेचकं पूरकं मुक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम् ॥ ७२ ॥

॥ टीका ॥

त्रिप्रकारकः रेचकप्राणायामः पूरकप्राणायामः कुंभकप्राणायामश्चेति । रेचकलक्षणमाह याज्ञवल्क्यः । 'बहिर्यद्रेचनं वायोरुदराद्रेचकः स्मृतः' इति रेचकप्राणायामलक्षणं । 'निष्क्रम्य नासाविवरादशेषं प्राणं बहिः शून्यमिवानिलेन।निरुध्य संतिष्ठति रुद्धवायुः स रेचकोनाम महानिरोधः॥' पूरकलक्षणं॥ 'बाह्यादापूरणं वायोरुदरे पूरको हि सः ।' पूरकप्राणायामलक्षणं। 'बाह्ये स्थितं प्राणपुटेन वायुमाकृष्य तेनैव शनैः समंतात् । नाडीश्च सर्वाः परिपूरयेद्यः स पूरको नाम महानिरोधः ॥' कुंभकलक्षणं । 'संपूर्य कुंभवद्वायोर्धारणं कुंभको भवेत् ।' अयं कुंभकस्तु पूरकप्राणायामादभिन्नः । भिन्नस्तु । 'न रेचको नैव च पूरकोऽत्र नासापुटे संस्थितमेव वायुम् । सुनिश्चलं धारयते क्रमेण कुंभाख्यमेतत्प्रवदंति तज्ज्ञाः ॥' अथ प्रकारांतरेण प्राणायामं विभजते ॥ सहित इति ॥ कुंभको द्विविधः । सहितः केवलश्चेति । मतोऽभिमतो योगिनामिति शेषः । तत्र सहितो द्विविधः । रेचकपूर्वकः कुंभकपूर्वकश्च । तदुक्तं । 'आरेच्यापूर्य वा कुर्यात्स वै सहितकुंभकः ।' तत्र रेचकपूर्वको रेचकप्राणायामादभिन्नः । पूरकपूर्वकः कुंभकः पूरकप्राणायामादभिन्नः केवलकुंभकः कुंभकप्राणायामादभिन्नः । प्रागुक्ताः सूर्यभेदनादयः पूरकपूर्वकस्य कुंभकस्य भेदा ज्ञातव्या ॥ ७१ ॥

सहितकुंभकाभ्यासस्यावधिमाह॥ यावदिति ॥ केवलस्य केवलकुंभकस्य सिद्धि-

॥ भाषा ॥

ताकूं कुंभक कहें हें और कुंभक दो प्रकारको हे एक सहित और दूसरो केवल ये योगीनके संमत हे, तामें सहित दो प्रकारको हे रेचकपूर्वक और कुंभकपूर्वक. रेचकपूर्वक रेचक प्राणायामतें न्यारो नही हे. पूरकपूर्वक कुंभक पूरक प्राणायामतें अभिन्न हे. केवल कुंभक कुंभक प्राणायामतें न्यारो नही हे. ये पहलें सूर्यभेदनादिक कहे हें. उनमेंसूं पूरकपूर्वक कुंभकके भेद जान लेनो योग्य हे ॥ ७१ ॥

यावदिति ॥ केवलकुंभककी सिद्धी जबतलक होय तबतलक सहित कुंभक सूर्यभेदादिक करे सुषुम्नाके भेदनके पीछें सुषुम्नाके भीतर घटकोसो शब्द होय तब केवल कुंभक सिद्ध होय ताके पीछें सहित कुंभक दश करे फिर बीस करे एसे अस्सीसंख्या तक करनो फिर सामर्थ्य होय तो अस्सीतें अधिक करे अब केवलकुंभकको लक्षण कहें हें ॥ रेचक पूरक त्यागकरकें सुखपूर्वक वायूकुं धारण करे सो केवलकुंभक कहें हें ॥ ७२ ॥

मू० प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुंभकः ॥
कुंभके केवले सिद्धे रेचपूरकवर्जिते ॥ ७३ ॥
न तस्य दुर्लभं किंचित्त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥
शक्तः केवलकुंभेन यथेष्टं वायुधारणात् ॥ ७४ ॥
राजयोगपदं चापि लभते नात्र संशयः ॥
कुंभकात्कुंडलीबोधः कुंडलीबोधतो भवेत् ॥ ७५ ॥

॥ टीका ॥

केवलसिद्धिर्यावत्पर्यंतं स्यात्तावत्पर्यंतं रहितकुंभकं सूर्यभेदादिकमभ्यसेदनुतिष्ठेत् । सुषुम्नाभेदानंतरं यदा सुषुम्नांतर्घटशब्दा भवंति तदा केवलकुंभकः सिद्ध्यति तदनंतरं सहितकुंभका दश विंशतिर्वा कार्याः अशीतिसंख्यापूर्तिः केवलकुंभकैरेव कर्तव्या । सति सामर्थ्ये केवलकुंभका अशीतेरधिकाः कार्याः । केवलकुंभकस्य लक्षणमाह ॥ रेचकमिति ॥ रेचकं पूरकं मुक्त्वा त्यक्त्वा सुखमनायासं यथा स्यात्तथा वायोर्धारणं वायुधारणं यत् ॥ ७२ ॥

॥ प्राणायाम इति ॥ स वै मिश्रितः केवलकुंभकः प्राणायाम इत्ययमुक्तः केवलं प्रशंसंति ॥ केवल इति ॥ रेचो रेचकः रेचश्च पूरकश्च रेचपूरकौ ताभ्यां वर्जिते रहिते केवले कुंभके सिद्धे सति ॥ ७३ ॥

नेति॥तस्य योगिनस्त्रिषु लोकेषु दुर्लभं दुष्प्रापं किंचित्किमपि यथेष्टं यथेच्छं वायोर्धारणं वापि न विद्यते । तस्य सर्वं सुलभमित्यर्थः ॥ शक्त इति ॥ केवलकुंभकेन कुंभकाभ्यासेन शक्तः समर्थो यथेष्टं यथेच्छं वायोर्धारणं तस्माद्वायुधारणात् ॥ ७४ ॥

राजेति ॥ राजयोगपदं राजयोगात्मकं पदं लभते । अत्र संशयो न । निश्चितमेतदित्यर्थः।कुंभकाभ्यासस्य परंपरया कैवल्यहेतुत्वमाह ॥ कुंभकादिति ॥ कुंभकात्कुंभकाभ्या-

॥ भाषा ॥

प्राणायाम इति ॥ रेचक पूरक इनकरकें वर्जित केवल कुंभक सिद्ध होय जाय॥ ७३ ॥

नेति ॥ ता योगीकूं तीनों लोकनमें दुर्लभ कछू नही हे केवल कुंभकके अभ्यासकरके समर्थ होय यथायोग्य वायूके धारण करे तें ॥ ७४ ॥

राजेति । राजयोग पद प्राप्त होय हे यामें संदेह नही हे. निश्चय होय. और कुंभककें अभ्यासतें कुंडलनी जो आधार शक्ति ताको बोध होय. और कुंडलनीके बोधतें निद्रा आलस्यादिक मिटे हें ॥ ७५ ॥

मू० अनर्गला सुषुम्ना च हठसिद्धिश्च जायते ॥
हठं विना राजयोगो राजयोगं विना हठः ॥
न सिध्यति ततो युग्ममा निष्पत्तेः समभ्यसेत् ॥ ७६ ॥
कुंभकप्राणरोधांते कुर्याच्चित्तं निराश्रयम् ॥
एवमभ्यासयोगेन राजयोगपदं व्रजेत् ॥ ७७ ॥

॥ टीका ॥

सात्कुंडल्याधारशक्तिस्तस्या बोधो निद्राभंगो भवेत् । कुंडल्या बोधः कुंडलीबोधस्तस्मात्कुंडलीबोधतः ॥ ७५ ॥

अनर्गलेति ॥ सुषुम्नानाड्यनर्गला कफाद्यर्गलरहिता भवेत् । हठस्य हठाभ्यासस्य सिद्धिः प्रत्याहारादिपरंपरया कैवल्यरूपा सिद्धिर्जायते । हठयोगराजयोगसाधनयोः परस्परोपकार्योपकारकत्वमाह ॥ हठं विनेति ॥ हठं हठयोगं विना राजयोगो न सिध्यति राजयोगं विना हठो न सिध्याति ततोऽन्यतरस्य सिद्धिर्नास्ति । तस्मान्निष्पत्तिं राजयोगसिद्धिमा मर्यादीकृत्य या निष्पत्तिस्तस्या राजयोगसिद्धिपर्यंतं युग्मं हठयोगराजयोगद्वयमभ्यसेदनुतिष्ठेत् । हठातिरिक्ते साक्षात्परंपरया वा राजयोगसाधनेऽत्र राजयोगशब्दः । जीवनसाधने लांगले जीवनशब्दप्रयोगवत् । राजयोगसाधनं चतुर्थोपदेशे वक्ष्यमाणमुन्मनीशांभवीमुद्रादिरूपमपरोक्षानुभूतावुक्तं पंचदशांगरूपं दशांगरूपं च । वाक्यसुधायामुक्तं दृश्यानुविद्धादिरूपं च ॥ ७६ ॥

हठाभ्यासाद्राजयोगप्राप्तिप्रकारमाह ॥ कुंभकेति ॥ कुंभकेन प्राणस्य यो रोधस्तस्यांते मध्ये चित्तमंतःकरणं निराश्रयं कुर्यात् । संप्रज्ञातसमाधौ जातायां ब्रह्माकारस्थितेः परं वैराग्येण विलयं कुर्यादित्यर्थः । एवमुक्तरीत्याभ्यासस्य योगो युक्तिस्तेन । 'योगः संनहनोपायध्यानसंगतियुक्तिष्वि' ति कोशः । राजयोगपदं राजयोगात्मकं पदं व्रजेत्प्राप्नुयात् ॥ ७७ ॥

॥ भाषा ॥

और सुषुम्नानाडीके कफादिक आगल दूर होय जाय. और हठसिद्धि होय कहां मोक्ष होय. हठयोग विना राजयोगसिद्धि नही होय. और राजयोग विना हठयोग नही सिद्ध होय और राजयोगसिद्धि न होय तबताई हठयोग और राजयोग ये दोनोनको अभ्यास करे ॥ ७६ ॥

कुंभकेति ॥ कुंभककरकें प्राणको रोकनो ताके अंतमें चित्तकूं आश्रयरहित करे. या रीत कर अभ्यासयोगकरकें राजयोगपद ताय प्राप्त होय ॥ ७७ ॥

मू० वपुःकृशत्वं वदने प्रसन्नता नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले॥
अरोगता बिंदुजयोऽग्निदीपनं नाडीविशुद्धिर्हठयोगलक्षणम्॥७८
इति हठप्रदीपिकायां द्वितीयोपदेशः ॥ २ ॥

॥ टीका ॥

हठसिद्धिज्ञापकमाह ॥ वपुःकृशत्वमिति ॥ वपुषो देहस्य कृशत्वं कार्श्यं वदने मुखे प्रसन्नता प्रसादो नादस्य ध्वनेः स्फुटत्वं प्राकट्यं नयने नेत्रे सुष्ठु निर्मले अरोगस्य भावोऽरोगता आरोग्यं बिंदोर्धातोर्जयः क्षयाभावरूपः अग्नेरौदर्यस्य दीपनं दीप्तिर्नाडीनां विशेषेण शुद्धिर्मलापगमः एतद्धठस्य हठाभ्याससिद्धेर्भाविन्या लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणम् ॥ ७८ ॥

॥ इति श्रीहठप्रदीपिकाव्याख्यायां ज्योत्स्नाभिधायां ब्रह्मानंदकृतायां द्वितीयोपदेशः ॥ २ ॥

॥ भाषा ॥

वपुःकृशत्वमिति ॥ देहकूं कृशता होय और मुखमें प्रसन्नता नादकी प्रगटकता नेत्र निर्मल होय और रोगरहित होय धातुको जय होय उदरमें जाठराग्नीकी दीप्ती कहा वृद्धि होय. और नाडीनकी शुद्धि होय ये हठयोगको लक्षण है ॥ ७८ ॥

इति श्रीहठप्रदीपिकायां भाषाव्याख्यायां द्वितीयोपदेशः ॥ २ ॥

मू० सशैलवनधात्रीणां यथाधारोऽहिनायकः ॥
सर्वेषां योगतंत्राणां तथाधारो हि कुंडली ॥ १ ॥
सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुंडली ॥
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यंते ग्रंथयोऽपि च ॥ २ ॥
प्राणस्य शून्यपदवी तथा राजपथायते ॥
तदा चित्तं निरालंबं तदा कालस्य वंचनम् ॥ ३ ॥

॥ टीका ॥

अथ कुंडल्याः सर्वयोगाश्रयत्वमाह ॥सशैलेति॥ शैलाश्च वनानि च शैलवनानि तैः सह वर्तमानाः सशैलवनास्ताश्च ता धात्र्यश्च भूमयस्तासां । धात्र्या एकत्वेऽपि देशभेदाद्भेदमादाय बहुवचनं । अहीनां सर्पाणां नायको नेताहिनायकः शेषो यथा यद्वदाधार आश्रयस्तथा तद्वत् । सर्वेषां योगस्य तंत्राणि योगतंत्राणि योगोपायास्तेषां कुंडल्याधारशक्तिराश्रयः । कुंडलीबोधं विना सर्वयोगोपायानां वैयर्थ्यादिति भावः ॥ १ ॥

कुंडलीबोधस्य फलमाह द्वाभ्यां ॥ सुप्तेति ॥ सुप्ता कुंडली गुरोः प्रसादेन यदा जागर्ति बुध्यते तदा सर्वाणि पद्मानि षट्चक्राणि भिद्यंते भिन्नानि भवंति । ग्रंथयोऽपि च ब्रह्मग्रंथिविष्णुग्रंथिरुद्रग्रंथयो भिद्यंते भेदं प्राप्नुवंतीत्यन्वयः ॥ २ ॥

प्राणस्येति ॥ तदा शून्यपदवी सुषुम्ना प्राणस्य वायो राज्ञां पंथा राजपथं राजपथमिवाचरति राजपथायते राजमार्गायते । सुखेन गमनसंभवात् । तदा चित्तमालंबनमाश्रयस्तस्मान्निर्गतं निरालंबं निर्विषयं भवति । तदा कालस्य मृत्योर्वंचनं प्रतारणं भवति ॥ ३ ॥

॥ भाषा ॥

अब कुंडलीकूं सर्व उपायनको आधार कहें हें ॥ सशैलेति ॥ जेसें पर्वत वन नगर ग्रामसहित जो पृथ्वी तिनको आधार सर्पनके नायक शेषजी हे तेसेंही संपूर्ण जो योगके उपाय तिनकी कुंडली आधार हे विना कुंडलीके जागें सब योगनके उपाय व्यर्थ होय हें ॥ १ ॥

अब कुंडलीके जागवेको फल कहें हें ॥ सुप्तेति ॥ सूति हुई कुंडली गुरूनके अनुग्रहकरकें जाग उठै तब संपूर्ण जे षट्चक्र ते भेदकूं प्राप्त होंय हें याके पीछें ब्रह्मग्रंथि विष्णुग्रंथि रुद्रग्रंथि ये तीनो ग्रंथिभेदनकूं प्राप्त होंय हें ॥ २ ॥

प्राणस्येति ॥ तब सुषुम्ना नाडी वायुकूं राजमार्गकीसीनाई आचरण करे हें और

मू० सुषुम्ना शून्यपदवी ब्रह्मरंध्रं महापथः ॥
श्मशानं शांभवी मध्यमार्गश्चेत्येकवाचकाः ॥ ४ ॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम् ॥
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ॥ ५ ॥
महामुद्रा महाबंधो महावेधश्च खेचरी ॥
उड्यानं मूलबंधश्च बंधो जालंधराभिधः ॥ ६ ॥
करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम् ॥
इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशनम् ॥ ७ ॥

॥ टीका ॥

सुषुम्नापर्यायानाह ॥ सुषुम्नेति ॥ इत्युक्ताः शब्दा एकस्य एकार्थस्य वाचकाः एकवाचकाः । पर्याया इत्यर्थः । स्पष्टः श्लोकार्थः ॥ ४ ॥

तस्मादिति ॥ यस्मात्कुंडलीबोधेनैव षट्चक्रभेदादिकं भवति तस्मात्सर्वप्रयत्नेन सर्वेण प्रयत्नेन ब्रह्म सच्चिदानंदलक्षणं तस्य द्वारं प्राप्त्युपायः सुषुम्ना तस्या मुखेऽग्रभागे मुखेन सुषुम्नाद्वारं पिधाय सुप्तामीश्वरीं कुंडलीं प्रबोधयितुं प्रकर्षेण बोधयितुं मुद्राणां महामुद्रादीनामभ्यासमावृत्तिं समाचरेत्सम्यगाचरेत् ॥ ५ ॥

मुद्रा उद्दिशति । महामुद्रेत्यादिना सार्धेन ॥ सार्धार्थः स्पष्टः ॥ ६ ॥

मुद्राफलमाह सार्धद्वाभ्यां ॥ इदमिति ॥ इदमुक्तं मुद्राणां दशकं जरा च मरणं च

॥ भाषा ॥

तब चित्तबी निर्विषय होय हे. और तब काल जो मृत्यु ताकूंबी तिर जाय अर्थात् मृत्युकूं बचायजाय ॥ ३ ॥

सुषुम्नेति ॥ सुषुम्ना शून्यपदवी ब्रह्मरंध्र महामार्ग श्मशान शांभवी मध्यमार्ग ये सुषुम्नाके पर्यायवाचक शब्द हे ॥ ४ ॥

तस्मादिति ॥ कुंडलीके बोधतें षट्चक्रभेदादिक होय हैं तातें संपूर्ण यत्नकरकें ब्रह्मको द्वार सुषुम्ना ताको मुख कहा अग्रभागमें सुषुम्नाको द्वार ताय रोककर सूती हुई जो कुंडली ताय प्रकर्षकरकें बोध करवेकूं महामुद्रादिकनको अभ्यास करे ॥ ५ ॥

महामुद्रेत्यादिना ॥ महामुद्रा १ महाबंध २ महावेध ३ खेचरी ४ उड्डीयान ५ मूलबंध ६ और जालंधर नाम बंध ७ ॥ ६ ॥

विपरीत नाम जाको एसी करणी ८ वज्रोली ९ शक्तिचालन १० ये दश मुद्रा हैं

मू० आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकम् ॥
वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्लभं मरुतामपि ॥ ८ ॥

॥ टीका ॥

जरामरणे तयोर्नाशनं निवारकम् ॥ ७ ॥

आदिनाथेनेति ॥ आदिनाथेन शंभुनोदितं कथितं । दिवि भवं दिव्यमुत्तमं । अष्टौ च तान्यैश्वर्याणि चाष्टैश्वर्याणि अणिमामहिमागरिमालघिमाप्राप्तिप्राकाम्येशतावशिताख्यानि । तत्राणिमा संकल्पमात्रेण प्रकृत्यपगमे परमाणुवद्देहस्य सूक्ष्मता । १ । महिमा प्रकृत्यापूरेणाकाशादिवन्महद्भावः ।२ । गरिमा लघुतरस्यापि तूलादेः पर्वतादिवद्गुरुभावः । ३ । लघिमा गुरुत्तरस्यापि पर्वतादेस्तूलादिवल्लघुभावः ।४। प्राप्तिः सर्वभावसान्निध्यम् । यथा भूमिस्थ एवांगुल्यग्रेण स्पृशति चंद्रमसम् । ५ । प्राकाम्यमिच्छानभिघातः । यथा उदक इव भूमौ निमज्जत्युन्मज्जति च । ६ । ईशता भूतभौतिकानां प्रभवाप्ययसंस्थानविशेषसामर्थ्यम् । ७ । वशित्वं भूतभौतिकानां स्वाधीनकरणं । ८ । तेषां प्रदायकं प्रकर्षेण ददातीति तथा तं सर्वे च ते सिद्धाश्च कपिलादयस्तेषां वल्लभं प्रियं मरुतां देवानामपि दुर्लभं दुष्प्रापं किमुतान्येषामित्यर्थः ॥ ८ ॥

॥ भाषा ॥

जरामरणकूं नाश करें हें ॥ ७ ॥

और ये दिव्य आदिनाथ जो शिवजी तिननें कह्योहुयो मुद्रानको दशक हे. सो आठ ऐश्वर्य अणिमा १ महिमा २ गरिमा ३ लघिमा ४ प्राप्ति ५ प्राकाम्य ६ ईशिता ७ वशिता ८ ये आठ सिद्धि हें इनें देवे हे ॥ अब इन आठों सिद्धिनके लक्षण कहें हें ॥ योगीके संकल्पमात्रकरकें प्रकृति दूर होय जाय. परमाणुकीसीनाई देह सूक्ष्म होय जाय ताकूं अणिमा कहें हें ॥ १ ॥ और जो प्रकृतिके आपूरकरकें अर्थात् प्रकृतीकूं अपने भीतर भर ले फिर आकाशादिककीसीनाई स्थूल महान् होय जाय ताकूं महिमा कहें हें ॥ २ ॥ बोहोत हलको रुईकूं आदिलेके तिनकूं पर्वतादिकनकोसो भारीपन होनो ताकूं गरिमा कहें हें ॥ ३ ॥ जो भारी पर्वतादिक हें तिनकूं रुईकीसीनाई लघु कहा हलको होय ताकूं लघिमा कहें हें ॥ ४ ॥ और जो सर्व पदार्थ सन्निध होय जाय अर्थात् जेसें पृथ्वीमें तो ठाडो होय और अंगुलीके अग्रकरकें चंद्रमाकूं स्पर्श करे ताकूं प्राप्ति कहें हें ॥ ५ ॥ और इच्छाको अनभिघात जेसें जलमें डूबे निकसि आवे तेसें पृथ्वीमें कदी दीखवे दीखवे लगे जानो कदी नही दीखनो ताकूं प्राकाम्य कहें हें ॥ ६ ॥ और भूत भौतिक पदार्थनको जन्ममरणकी

मू० गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरंडकम् ॥
कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा ॥ ९ ॥

॥ अथ महामुद्रा ॥

पादमूलेन वामेन योनिं संपीड्य दक्षिणं ॥
प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां धारयेद्दृढम् ॥ १० ॥
कंठे बंधं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः ॥
यथा दंडहतः सर्पो दंडाकारः प्रजायते ॥ ११ ॥

॥ टीका ॥

गोपनीयमिति ॥ प्रयत्नेन प्रकृष्टेन यत्नेन गोपनीयं । गोपनीयत्वे दृष्टांतमाह ॥ यथेति ॥ रत्नानां हीरकादीनां करंडकं रत्नकरंडकं यथा येन प्रकारेण गोप्यते तद्वत् । कस्यापि जनमात्रस्य यद्वा कस्यापि ब्रह्मणोऽपि नैव वक्तव्यं नैव वाच्यं किमुतान्यस्य । तत्र दृष्टांतः । कुलस्त्रियाः सुरतं कुलस्त्रीसुरतं संगमनं यथा तद्वत्॥९॥

दशविधमुद्रादिषु प्रथमोद्दिष्टत्वेन महामुद्रां तावदाह ॥ पादमूलेनेति ॥ वामेन सव्येन पादस्य मूलं पादमूलं पार्ष्णिस्तेन पादमूलेन वामपादपार्ष्णिनेत्यर्थः । योनिं योनिस्थानं गुदमेढ्रयोर्मध्यभागं संपीड्याकुंचितवामपादपार्ष्णिना योनिस्थानं दृढं संयोज्येत्यर्थः । दक्षिणं सव्येतरं पदं चरणं प्रसारितं भूमिसंलग्नपार्ष्णिकमूर्ध्वांगुलिकं दंडवत्कृत्वा कराभ्यां संप्रदायादाकुंचितकरतर्जनीभ्यां दृढं गाढं धारयेदंगुष्ठप्रदेशे गृह्णीयात् ॥ १० ॥

कंठ इति ॥ कंठे कंठदेशे बंधनं सम्यगारोप्य कृत्वा । जालंधरबंधं कृत्वेत्यर्थः ।

॥ भाषा ॥

रचना करवेमें समर्थ होय ताकूं ईशता कहें हें ॥ ७ ॥ और भूत भौतादिकनकूं अपने आधीन करणो ताकूं वशित्व सिद्धि कहें हें ॥ ८ ॥ इनकूं देवेवारो हे और सिद्ध जो कपिलादिक तिनकूं प्रिय हे मरुत् जे देवता तिनकूंबी दुर्लभ हे ॥ ८ ॥

यथेति ॥ जेसें रत्ननकी पेटीकूं गोप्य राखें हें तेसेंहि गोप्य राखे काहूकूं कहे नही जेसें कुलकी स्त्रीके मैथुन संगमकूं नही कहे हे. तेसें येबी नही कहवेकूं योग्य हे ॥ ९ ॥

अब पहली महामुद्राकूं कहें हें ॥ पादमूलेनेति ॥ वामपादकी एडीकरकें गुदा शिश्नइंद्री इनको मध्यम भाग जो योनिस्थान ताय रोककरकें जेमनो पाद फेलाय लंबो करदे पृथ्वीमें एडी लगाय अंगुली ऊंची दंडकीसीनाई करकें अंगुठा तर्जनी कर दक्षिण पामको अंगूठा पकड धारण करे ॥ १० ॥

कंठ इति ॥ फिर कंठमें जालंधर बंध बांधकरकें फिर बायूकूं उपरि सुषुम्नामें धारण करे

मू० ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुंडली सहसा भवेत् ॥
तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया ॥ १२ ॥
ततः शनैःशनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः ॥
महामुद्रां च तेनैव वदंति विबुधोत्तमाः ॥ १३ ॥
इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता ॥
महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयंते मरणादयः ॥

॥ टीका ॥

वायुं पवनमूर्ध्वंत उपरि सुषुम्नायां धारयेत् । अनेन मूलबंधः सूचितः । स तु योनिसंपीडनेन जिव्हाबंधनेन चरितार्थ इति सांप्रदायिकाः । यथा दंडेन हतस्ताडितो दंडहतः सर्पः कुंडली दंडाकारः दंडस्याकार इवाकारो यस्य स तादृशः । दंडाकारं त्यक्त्वा सरल इत्यर्थः । प्रकर्षेण जायते भवति ॥ ११ ॥

ऋज्वीभूतेति॥तथा कुंडल्याधारशक्तिः सहसा शीघ्रमेव।ऋज्वी संपद्यते तथाभूता ऋज्वीभूता सरला भवेत् । तदा सेति ॥ द्वे पुटे इडापिंगले आश्रयो यस्याः सा मरणावस्था जायते। कुंडलीबोधे सति सुषुम्नायां प्रविष्टे प्राणे द्वयोः प्राणवियोगात् ॥ १२॥

तत इति ॥ इयमिति ॥ ततस्तदनंतरं शनैःशनैरेव रेचयेत् । वायुमिति संबध्यते वेगतस्तु वेगान्न रेचयेत्। वेगतो रेचने बलहानिप्रसंगात्। खल्विति वाक्यालंकारे । इयं महामुद्रा महासिद्धैरादिनाथादिभिः प्रदर्शिता प्रकर्षेण दर्शिता । महामुद्राया अन्वर्थमाह । महांतश्च ते क्लेशाश्च महाक्लेशा अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पंच त आदयो

॥ भाषा ॥

या कर मूलबंधबी होय हे जहां योनिस्थानकूं पीडन करकें जिव्हा बंधनकरकें मूलबंध होय जाय. जैसें सर्प दंडके प्रहारकरकें दंडाकार त्याग कर सरल होजाय हे तैसेंही जाननो ॥ ११ ॥

ऋज्वीभूतेति ॥ तैसेंही कुंडली जो आधारशक्ति सो शीघ्रही सरल होय और कुंडलीके बोधतेंही सुषुम्नामें प्रवेश प्राणको होय हे दोनोनकूं प्राणके वियोगतें इडा पिंगला ये दोनों हे आश्रय जाके एसी मरणावस्था होय हे ॥ १२ ॥

ततइति ॥ **इयमिति** ॥ ता पीछें शनैं शनैं रेचन करे वायुकूं वेगतें नहीं करे बलकी हानि होय हे यातें ये महामुद्रा आदिनाथादिक महासिद्धननें दिखाई हे महाक्लेश अविद्या रागद्वेषादिक शोकमोहादिकनके दोष क्षीण होय हें. और मरण जरादिक तेबी क्षीण होय

मू० महामुद्रां च तेनैव वदंति विबुधोत्तमाः ॥ १४ ॥
चंद्रांगे तु समभ्यस्य सूर्यांगे पुनरभ्यसेत् ॥
यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥ १५ ॥

॥ टीका ॥

येषां ते तत्कार्याणां शोकमोहादीनां ते दोषाः क्षीयंते । मरणमादिर्येषां जरादीनां तेऽपि च क्षीयंते नश्यंति । यतस्तेनैव हेतुना विशिष्टा बुधा विबुधास्तेषूत्तमा विबुधोत्तमा महामुद्रां वदंति । महाक्लेशान्मरणादींश्च दोषान्मुद्रयति शमयतीति महामुद्रेति व्युत्पत्तेरित्यर्थः ॥ १३ ॥ १४ ॥

महामुद्राभ्यासक्रममाह ॥ चंद्रांग इति ॥ चंद्रेण चंद्रनाड्योपलक्षितमंगं चंद्रागं तस्मिन् चंद्रांगे वामांगे । तुशब्दः पादपूरणे । सम्यगभ्यस्य सूर्येण पिंगलयोपलक्षितमंगं सूर्यांगं तस्मिन् सूर्यांगे दक्षांगे पुनर्वामांगाभ्यासानंतरं यावद्यावत्कालपर्यंतं तुल्या वामांगे कुंभकाभ्याससंख्यासमा संख्या भवेत्तावदभ्यसेत् । ततःसंख्यासाम्यानंतरं मुद्रां महामुद्रां विसर्जयेत् । अत्रायं क्रमः । आकुंचितवामपादपार्ष्णि योनिस्थाने संयोज्य प्रसारितदक्षिणपादांगुष्ठमाकुंचिततर्जनीभ्यां गृहीत्वाभ्यासो वामांगेऽभ्यासः । अस्मिन्नभ्यासे पूरितो वायुर्वामांगे तिष्ठति । आकुंचितदक्षपादपार्ष्णि योनिस्थाने संयोज्य प्रसारितबामपादांगुष्ठमाकुंचिततर्जनीभ्यां गृहीत्वाभ्यासो दक्षांगेऽभ्यासः । अस्मिन्नभ्यासे पूरितो वायुर्दक्षांगे तिष्ठति ॥ १५ ॥

॥ भाषा ॥

यातें बडे बडे ज्ञानी याये महामुद्रा कहें हें ॥ १३ ॥ १४ ॥

या महामुद्राको अभ्यासक्रम कहें हें ॥ चंद्रांग इति ॥ चंद्रांग जो वामांग तामें अभ्यासकरकें फिर सूर्यांग जो दक्षांग तामें अभ्यास करे और वामांगके अभ्यास करे पछि जबतांई वामांगमें कुंभकके अभ्यासकी संख्या समान होय तावत् पर्यंत अभ्यास करे और जब संख्या समान होय जाय तापीछें महामुद्रा विसर्जन कर दे यामें ये क्रम हे वांये पामकी एडीकूं योनिस्थानमें लगायकर जेमने पामकूं लंबो फेलाय वाके अंगूठाकूं तर्जनी अंगुली अंगूठासूं पकडकरकें अभ्यास करे ताकूं वामांगमें अभ्यास कहें हें या अभ्यासमें पूऱ्यो जो वायू सो वामांगमें स्थित रहे हे और फिर जेमने पामकूं समेट वाकी एडीकूं योनिस्थानमें लगायकरकें वांयो पाम लंबो कर वाके अंगूठाकूं आकुंचित तर्जनी अंगूठासूं पकडकर अभ्यास करे ताकूं दक्षिणांगमें अभ्यास कहें हें या अभ्यासमें पूऱ्यो हुयो जो वायू सो दक्षांगमेंही रहे है ॥ १५ ॥

मू० नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ॥
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमपि जीर्यति ॥ १६ ॥
क्षयकुष्टगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ॥
तस्य दोषाः क्षयं यांति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ॥ १७ ॥
कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरा नृणाम् ॥
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्यकस्यचित् ॥ १८ ॥

॥ टीका ॥

महामुद्रागुणानाह त्रिभिः ॥ नहीति ॥ हि यस्मान्महामुद्राभ्यासिन इत्यध्याहारः । पथ्यमपथ्यं वा न । पथ्यापथ्यविचारो नास्तीत्यर्थः । तस्मात्सर्वे भुक्ता रसाः कट्वम्लादयो जीर्यंते इति विभक्तिविपरिणामेनान्वयः । नीरसा निर्गतो रसो येभ्यस्तेयातयामाः पदार्था जीर्यंते । घोरमिति दुर्जरं भुक्तमन्नं विषं क्ष्वेडमपि पीयूषमिवामृतमिव जीर्यति जीर्णं भवति । किमुतान्यदिति भावः ॥ १६ ॥

क्षयेति॥यः पुमान् महामुद्रामभ्यसेत्तस्य क्षयो राजरोगः कुष्ठगुदावर्तगुल्मा रोगविशेषाः । अजीर्णं भुक्तान्नापरिपाकस्तानि पुरोगमान्यग्रेसराणि येषां महोदरज्वरादीनां तथा तादृशा दोषा दोषजनिता रोगाः क्षयं नाशं यांति प्राप्नुवंति ॥१७॥

महामुद्रामुपसंहरंस्तस्या गोप्यत्वमाह ॥ कथितेति ॥ इयमेषा महामुद्रा क-

॥ भाषा ॥

महामुद्राके गुण कहें हें ॥ नहीति ॥ महामुद्राके अभ्यासीकूं पथ्य अपथ्यको विचार नही तातें संपूर्ण रस कटु अम्लादिक जो भोजन करे सोई जीर्ण होय जाय और रस जाको सूक गयो होय एक दो दिनको होय पदार्थ सो जीर्ण होय जाय और दुर्जर होय घोर विष भोजन कियो होय सोबी अमृतकीसीनाई जीर्ण होय ॥ १६ ॥

क्षयेति ॥ जो पुरुष महामुद्राकूं अभ्यास करे ताकूं क्षयरोग कोढ गुल्मरोग अजीर्ण ये हें अग्रमें जिनकें एसे ज्वरादिक प्रमेह उदररोग एसे एसे रोगदोष नाशकूं प्राप्त होय ॥ १७ ॥

कथितेति ॥ अभ्यासके करवेवाले मनुष्यनकूं महान् सिद्धि आणिमादिक तिनकी करवेवाली ये महामुद्रा मेंनें कही हे ये गोप राखनो योग्य हे जाकाऊ अनधिकारीकूं नही देनो योग्य हे ॥ १८ ॥

मू० पार्ष्णि वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ॥
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ॥ १९ ॥
इति महाबंधः ॥
पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चुबुकं दृढम् ॥
निष्पीड्य वायुमाकुंच्य मनो मध्ये नियोजयेत् ॥ २० ॥
धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः ॥
सव्यांगे तु समभ्यस्य दक्षांगे पुनरभ्यसेत् ॥ २१ ॥

॥ टीका ॥

थितोक्ता । मयेति शेषः । कीदृशी नृणामभ्यसतां नराणां महत्यश्च ताः सिद्धयश्चाणिमाद्यास्तासां करी कर्त्रीयम् । प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नस्तेन प्रयत्नेन गोपनीया गोपनार्हा यस्यकस्यचिद्यस्यकस्याप्यनधिकारिणोऽसंबंधस्य । सामान्ये षष्ठी । न देया दातुं योग्या न भवतीत्यर्थः ॥ १८ ॥

महाबंधमाह॥पार्ष्णिमिति॥ वामस्य सव्यस्य पादस्य चरणस्य पार्ष्णि गुल्फयोरधोभागम् । 'तद्ग्रंथी गुल्फौ पुमान्पार्ष्णिस्तयोरधः' इत्यमरः । योनिस्थाने गुदमेढ्योरंतराले नियोजयेन्नितरां योजयेत् । वामः सव्यो य ऊरुस्तस्योपरि दक्षिणं चरणं पादं संस्थाप्य सम्यक् स्थापयित्वा । तथाशब्दः पादपूरणे ॥ १९ ॥

पूरयित्वेति ॥ ततस्तदनंतरं वायुं पूरयित्वा हृदये चुबुकं दृढं निष्पीड्य गाढं संस्थाप्य । एतेन जालंधरबंधः प्रोक्तः । योनिं गुदमेढ्योरंतरालमाकुंच्य । अनेन मूलबंधः सूचितः । स तु जिह्वाबंधेन गतार्थत्वान्न कर्तव्यः । मनः स्वांतं मध्ये मध्यनाड्यां नियोजयेत्प्रवर्तयेत् ॥ २० ॥

धारयित्वेति ॥ शक्तिमनतिक्रम्य यथाशक्ति धारयित्वा कुंभयित्वा शनैर्मंद-

॥ भाषा ॥

अब दूसरी महाबंध मुद्रा कहे हे ॥ पार्ष्णिमिति ॥ बांये पामकी एडी योनिस्थानमें लगायके फिर बांये पामको ऊरु ताके उपरि जेमनो पाम धरकरकें ॥ १९ ॥

पूरयित्वेति ॥ ता पीछैं वायुकूं पूरककरकें फिर हृदयमें ढोडी दृढ लगायकरकें ये जालंधरबंध कह्यो और वा एडीकरकें योनिस्थानकूं नेंक दाबकें याकरकें मूलबंध कह्यो मनकूं मध्यनाडीमें प्रवर्त करे ॥ २० ॥

धारयित्वेति ॥ यथाशक्ति कुंभककरकें फिर मंद मंद वायुकूं रेचक करे फेर वामांगमें आवर्तनकरकें फिर दक्षिणांगमें जितनें तुल्य संख्या होय तितनें अभ्यास करे ॥ २१ ॥

मू० मतमत्र तु केषां चित्कंठबंधं विवर्जयेत् ॥
राजदंतस्थजिह्वाया बंधः शस्तो भवेदिति ॥ २२ ॥
अयं तु सर्वनाडीनामूर्ध्वं गतिनिरोधकः ॥
अयं खलु महाबंधो महासिद्धिप्रदायकः ॥ २३ ॥
कालपाशमहाबंधविमोचनविचक्षणः ॥

॥ टीका ॥

मंदमनिलं वायुं रेचयेत् । सव्यांगे वामांगे समभ्यस्य सम्यगावर्त्य दक्षांगे दक्षिणांगे पुनर्यावत्तुल्यामेव संख्यां तावदभ्यसेत् ॥ २१ ॥

अथ जालंधरबंधे कंठसंकोचस्यानुपयोगमाह ॥ मतमिति ॥ केषांचित्त्वाचार्याणामिदं मतम् । किंतदित्याह । अत्र जालंधरबंधे कंठस्य बंधनं बंधः । संकोचस्तं विवर्जयेद्विशेषेण वर्जयेत् । कुतः यतो दंतानां राजानो राजदंता राजदंतेषु तिष्ठतीति राजदंतस्था राजदंतस्था चासौ जिह्वा च तस्यां राजदंतस्थजिह्वायां बंधस्तदुपरिभागस्य संबंधः शस्तः । कंठाकुंचनापेक्षया प्रशस्तो भवेदिति हेतोः॥२२॥

अयंत्विति ॥ अयं तु राजदंतस्थजिह्वायां बंधस्तु सर्वाश्च ता नाड्यश्च सर्वनाड्यो द्वासप्ततिसहस्रसंख्याकास्तासां सुषुम्नातिरिक्तानामूर्ध्वमुपरि वायोर्गतिरूर्ध्वं गतिस्तस्या निरोधकः प्रतिबंधकः । एतेन 'बध्नाति हि शिराजालमि' ति जालंधरोक्तं फलमनेनैव सिद्धमिति सूचितम् महाबंधस्य फलमाह ॥ अयं खल्विति ॥ अयमुक्तः खलु प्रसिद्धः महासिद्धीः प्रकर्षेण तदातीति तथा ॥ २३ ॥

कालेति॥कालस्य मृत्योः पाशो वागुरा तेन यो महाबंधो बंधनं तस्य विशेषेण

॥ भाषा ॥

मतमिति ॥ कोई आचार्यनको मत ये हे कहा जालंधर बंधमें कंठको बंध ताय विशेष कर वर्जित करे अर्थात् ढोढीकूं हृदय पे स्थापित नही करनो क्यों राजदंत जो अग्रदंत सामनेंई दो दांत हें तिनकूं राजदंत कहें हें राजदंतमें स्थित जो जिव्हा तामें बंध दांतनके ऊपर जिव्हाकूं लगानो ये प्रशस्त हे ॥ २२ ॥

अयंत्विति ॥ ये जो जिव्हाबंध हे सो सुषुम्नानाडीरहित जे संपूर्ण बहत्तर हजार नाडी तिनके ऊपर वायुकी गतीको निरोध करे हे याकरकें नसाजाल बंध जाय हे तातें ही जालंधरबंध कहें हे. अब याको फल कहें हें ये महाबंध महासिद्धी देवें हे ॥ २३ ॥

कालेति ॥ और मृत्युकी पाशकरकें जो बंधन ताकूं दूर करवेमें निपुण इडा पिंगला सु-

मू० त्रिवेणीसंगमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः ॥ २४ ॥
रूपलावण्यसंपन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना ॥
महामुद्रामहाबंधौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ॥ २५ ॥

अथ महावेधः ॥

महाबंधस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः ॥
वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कंठमुद्रया ॥ २६ ॥

॥ टीका ॥

मोचने मोक्षणे विचक्षणः प्रवीणः । तिसृणां नदीनां वेणी समुदायः स एव संगमः प्रयागस्तं धत्ते विधत्ते । केदारं भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं केदारशब्दवाच्यं तं मनः स्वांतं प्रापयेत् । 'गतिबुद्धी' त्यादिना अणौ कर्तुर्मनसो णौ कर्मत्वम् ॥ २४ ॥

महावेधं वक्तुमादौ तस्योत्कर्षं तावदाह ॥ रूपेति ॥ रूपं सौंदर्यं चक्षुःप्रियो गुणो लावण्यं कांतिविशेषः । तदुक्तं 'मुक्ताफलेषु च्छायायास्तरलत्वमिवांतरम् । प्रतिभाति यदंगेषु तल्लावण्यमिहोच्यते' इति । ताभ्यां संपन्ना विशिष्टा स्त्री युवती पुरुषं भर्तारं विना यथा यादृशी निष्फला तथा महामुद्रा च महाबंधश्च तौ महावेधेन । 'विनापि प्रत्ययपूर्वोत्तरपदयोर्लोपो वक्तव्य' इति भाष्यकारोक्तेर्महच्छब्दस्य लोपः । वर्जितौ रहितौ निष्फलौ व्यर्थावित्यर्थः ॥ २५ ॥

महावेधमाह ॥ महाबंधेति ॥ महाबंधे महाबंधमुद्रायां स्थितो महाबंधस्थितः । एका एकाग्रा धीर्यस्य स एकाग्रधीर्योगी योगाभ्यासी पूरकं नासापुटाभ्यां वायोर्ग्रहणं कृत्वा कंठे मुद्रा कंठमुद्रा तया जालंधरमुद्रया वायूनां प्राणादीनां गतिम्

॥ भाषा ॥

षुम्ना इन तीनो नदीनको संगम ताय धारण करे हें और मनकूं केदार जो भ्रुकुटीनके बीचमें शिवस्थान ताय प्राप्त करे हे ॥ २४ ॥

रूपेति ॥ रूप लावण्य कांति गुन इन शोभानकर युक्त स्त्री होय युवा न होय वो जेसें भर्त्तार विना निष्फल तेसेंही महामुद्रा महाबंध ये दोनो महावेधकर रहित होंय तों निष्फल हें कहा व्यर्थ हें ॥ २५ ॥

अब तीसरी महावेध मुद्रा कहें हें ॥ महावेधेति ॥ महावेध मुद्रामें स्थित एकाग्र हे बुद्धि जाकी एसो योगी नासिकाके पुटकरकें पूरककरकें कंठमें मुद्रा जो जालंधर मुद्रा ताकरकें वायुकी ऊपर नीचें गमन रूप जो गती ताय रोक कुंभककरकें ॥ २६ ॥

मू० समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ संताडयेच्छनैः ॥
पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः ॥ २७ ॥
सोमसूर्याग्निसंबंधो जायते चामृताय वै ॥
मृतावस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेचयेत् ॥ २८ ॥
महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः ॥

॥ टीका ॥

र्ध्वाधोगमनादिरूपां निभृतं निश्चलं यथा भवति तथावृत्य निरुध्य कुंभकं कृत्वेत्यर्थः ॥ २६ ॥

समहस्तेति ॥ भूमौ भुवि हस्तयोर्युगं हस्तयुगं समं हस्तयुगं यस्य स समहस्तयुगः भूमिसंलग्नतलौ सरलौ हस्तौ यस्य तादृशः सन्नित्यर्थः । स्फिचौ कटिप्रोथौ । 'स्त्रियां स्फिचौ कटिप्रोथावि' त्यमरः । भूमिसंलग्नतलयोर्हस्तयोरवलंबनेन योनिस्थानसंलग्नपार्ष्णिना वामपादेन सह भूमेः किंचिदुत्थापितौ शनैर्मंदं संताडयेत्सम्यक् ताडयेत् । भूमावेव पुटयोर्द्वयमिडापिंगलयोर्युग्ममतिक्रम्योल्लंघ्य मध्ये सुषुम्नामध्ये गच्छतीति मध्यगो वायुः स्फुरति ॥ २७ ॥

सोमेति ॥ सोमश्च सूर्यश्चाग्निश्च सोमसूर्याग्नयः सोमसूर्याग्निशब्दैस्तदधिष्ठिता नाड्य इडापिंगलासुषुम्ना ग्राह्यास्तेषां संबंधः । तद्वायुसंबंधात्तेषां संबंधः । अमृताय मोक्षाय जायते । वै इति निश्चयेऽव्ययम् । मृतस्य प्राणवियुक्तस्यावस्था मृतावस्था समुत्पन्ना भवति । इडापिंगलयोः प्राणसंचाराभावात् । ततस्तदनंतरं वायुं विरेचयेन्नासिकापुटाभ्यां शनैस्त्यजेत् ॥ २८ ॥

महावेध इति ॥ अयं महावेधोऽभ्यासात्पुनःपुनरावर्तनान्महासिद्ध्योऽणिमाद्या-

॥ भाषा ॥

समहस्तेति ॥ पृथ्वीमें लगरहे हें तलुआ जिनके एसे दोनो हाथ समान धरकरकें फिर योनिस्थानमें लगरही हे एढी जाकी ता पामकर सहित दोनो हाथके सहारे कछूक उठकरकें फिर मंद मंद ताडन करे भूमिमें इडा पिंगला दोनोनकूं उल्लंघनकरकें सुषुम्नाके मध्यमें वायु प्राप्त होय ॥ २७ ॥

सोमेति ॥ सोम सूर्य अग्नि इनमें अधिष्ठित नाडी इडा पिंगला सुषुम्ना तिनको संबंध मोक्षके अर्थ होय हे निश्चयता प्राण वियोगकी अवस्था मृतावस्था उत्पन्न होय हे अर्थात् मरोसो होजाय ता पीछें वायुकूं नासिका पुटनकरकें शनैं शनैं रेचक करे ॥ २८ ॥

महावेध इति ॥ ये जो महावेध हे सो अभ्यास करेतें महासिद्धी जो अणिमादिक

मू० वलीपलितवेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः ॥ २९ ॥
एतत्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम् ॥
वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम् ॥ ३० ॥
अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने ॥
पुण्यसंभारसंधायि पापौघभिदुरं सदा ॥

॥ टीका ॥

स्तासां प्रदायकः प्रकर्षेण समर्धकः । वली जरया चर्मसंकोचः पलितं जरसा केशेषु शौक्ल्यं वेपः कंपस्तान् हंतीति वलीपलितवेपघ्नः । अत एव साधकेष्वभ्यासिषूत्तमाः साधकोत्तमास्तैः सेव्यतेऽभ्यस्यत इत्यर्थः ॥ २९ ॥

महामुद्रादीनां तिसृणामतिगोप्यत्वमाह ॥ एतदिति ॥ एतत्रयं महामुद्रादित्रयं महागुह्यमतिरहस्यम् । अत्र हेतुगर्भाणि विशेषणानि हि यस्माज्जरा वार्धकं मृत्युश्चरमः प्राणदेहवियोगः तयोर्विशेषेण नाशनं वह्नेर्जाठरस्य वृद्धिर्दीप्तिस्तस्याः करं कर्तृ अणिमा आदिर्येषां तेऽणिमादयस्ते च ते गुणाश्च तान् प्रकर्षेण ददातीत्यणिमादिगुणप्रदम् । चकार आरोग्यबिंदुजयादिसमुच्चयार्थः एवशब्दोऽवधारणार्थः॥ ३० ॥

अथैतत्रयस्य पृथक्साधनविशेषमाह ॥ अष्टधेति ॥ दिने दिने प्रतिदिनं । यामे यामे प्रहरे प्रहरे पौनःपुन्ये द्विर्वचनम् । अष्टभिः प्रकारैरष्टधा क्रियते चशब्दोऽवधारणे । एतत्रयमित्यत्रापि संबध्यते । कीदृशं पुण्यसंभारः समूहस्तस्य संधायि विधायि पुनः कीदृशं पापानामोघः पूरः समूह इति यावत् । तस्य भिदुरं कुलिशमिव नाशनं सदा सर्वदा यदाभ्यस्तं तदैव पापनाशनम् ॥

॥ भाषा ॥

तिनकूं देवेमें समर्थ हे और वली पलित कंप अर्थात् बुढो होय जाके देहमें त्रिवलीसी पडे जाकूं वली कहे हें और बुढापेकर केश सुपेद होय जाय ताकूं पलित कहें हें. और बुढापेसूं देह कांपन लगे तासूं कंप कहें हें इन तीनोनकूं नाश करे हे यातें अभ्यासीनमें जे उत्तम हें तिनकरकें अभ्यास करिये हे ॥ २९ ॥

एतदिति ॥ ये महामुद्राकूं आदिले तीन मुद्रा महा गोप्य हें और बुढापेकूं मृत्यूकूं विशेष दूर करे हे. और जाठराग्नीकूं वृद्धी करे हे. अणिमादिक सिद्धीकूं देवे हे ॥ ३० ॥

अष्टधेति ॥ एक दिनमें आठ प्रहर होय हे सो नित्य प्रहर प्रहरमें आठ करे और

मू० सम्यक्शिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनम् ॥ ३१ ॥

अथ खेचरी ॥

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ॥
भ्रुवोरंतर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥ ३२ ॥
छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेण वर्धयेत्तावत् ॥
सा यावद्भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः ॥ ३३ ॥

॥ टीका ॥

सम्यक् संप्रदायिकी शिक्षा गुरूपदेशो विद्यते येषां ते तथा । एवं दिने दिने यामे यामेऽष्टधेत्युक्तरीत्या पूर्वसाधनं स्वल्पस्वल्पमेव कार्यम् ॥ ३१ ॥

खेचरीं विवक्षुरादौ तत्स्वरूपमाह ॥ कपालेति ॥ कपाले मूर्ध्नि कुहरं सुषिरं तस्मिन्कपालकुहरे विपरीतं प्रतीपं गच्छतीति विपरीतगा पराङ्मुखीभूता जिह्वा रसना स्यात् । भ्रुवोरंतर्गता भ्रुवोर्मध्ये प्रविष्टा दृष्टिर्दर्शनं स्यात् । सा खेचरी मुद्रा भवति । कपालकुहरे जिव्हाप्रवेशपूर्वकं भ्रुवोरंतर्दर्शनं खेचरीति लक्षणं सिद्धं ॥३२॥

खेचरीसिद्धेर्लक्षणमाह ॥ छेदनेति ॥ छेदनं अनुपदमेव वक्ष्यमाणं । चालनं हस्तयोरंगुष्ठतर्जनीभ्यां रसनां गृहीत्वा सव्यापसव्यतः परिवर्तनं दोहः करयोरंगुष्ठतर्जनीभ्यां गोदोहनवत्तद्दोहनं तैः कलां जिव्हां तावद्वर्धयेद्दीर्घां कुर्यात् । तावत् कियत् । यावत्सा कला भ्रूमध्यं बहिर्भ्रुवोर्मध्यं स्पृशति यदा तदा खेचर्याः सिद्धिः खेचरीसिद्धिर्भवति ॥ ३३ ॥

॥ भाषा ॥

पुण्यके समूहकूं वढावे हे फिर पापनको ओव समूह ताकूं वज्रकीसीनाई नाशको करवेवारो हे शिक्षावान पुरुषनकूं या प्रकार दिन दिनमें प्रहर प्रहरमें आठ प्रकार यारीती कर पूर्व साधन अल्प अल्पही करनो योग्य हे ॥ ३१ ॥

अब खेचरी चोथी मुद्रा कहें हें ॥ कपालेति ॥ कपालमें जो छिद्र तामें विपरीत जिव्हा प्रवेश करे और भृकुटीके मध्यमें नेत्रनकरकें देखनो ये खेचरी मुद्रा हे ॥ ३२ ॥

अब खेचरीकी सिद्धिको लक्षण कहें हें ॥ छेदनेति ॥ छेदन अगाडी कहेंगे और चालन हस्तके अंगुठा तर्जनी कर जिव्हाकूं पकडकरके हलानो सो चालन और दोनो हाथके अंगूठा तर्जनी कर गौके थनकूं दुहें हें तेसेंही खेंच खेंचके जिव्हाकूं बढावे कहा लंबी करे कितनी जबतक बहार निकास भृकुटीके मध्यकूं स्पर्श करे तबतांई बढावे तब खेचरीकी सिद्धी होय ॥ ३३ ॥

मू० स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ॥
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥३४॥
ततः सैंधवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत् ॥
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३५ ॥
एवं क्रमेण षण्मासं नित्यं युक्तः समाचरेत् ॥
षण्मासाद्रसनामूलशिलाबंधः प्रणश्यति ॥ ३६॥

॥ टीका ॥

तत्साधनमाह ॥ स्नुहीति ॥ स्नुही गुडा तस्याः पत्रं दलं स्नुहीपत्रेणसदृशं स्नुहीपत्रनिभं सुतीक्ष्णमतितीक्ष्णं स्निग्धं च तन्निर्मलं च स्निग्धनिर्मलं शस्त्रं छेदनसाधनं समादाय सम्यगादाय गृहीत्वा ततः शस्त्रग्रहणानंतरं तेन शस्त्रेण रोमप्रमाणं रोममात्रं समुच्छिनेत्सम्यगुच्छिनेच्छिद्यात् । रसनामूलशिरामिति कर्माध्याहारः । ' मिश्रेयाप्यथ सिंहुंडो वज्रस्नुक् स्त्री स्नुही गुडे ' त्यमरः ॥ ३४ ॥

तत इति ॥ ततश्छेदनानंतरं चूर्णिताभ्यां चूर्णीकृताभ्यां सैंधवं सिंधुदेशोद्भवं लवणं पथ्यं हरीतकी ताभ्यां प्रघर्षयेत्प्रकर्षेण घर्षयेच्छिन्नं शिराप्रदेशं । सप्तदिनपर्यंतं छेदनं सैंधवपथ्याभ्यां घर्षणं च सायंप्रातर्विधेयं । योगाभ्यासिनो लवणनिषेधात्खदिरपथ्याचूर्णं गृह्णंति । मूले सैंधवोक्तिस्तु हठाभ्यासात्पूर्वं खेचरीसाधनाभिप्रायेण । सप्तानां दिनानां समाहारः सप्तदिनं तस्मिन् प्राप्ते गते सति अष्टमे दिन इत्यर्थात् । ये प्राप्त्यर्थास्ते गत्यर्थाः । पूर्वं छेदनापेक्षयाधिकं रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३५ ॥

एवमिति ॥ एवं क्रमेण पूर्वं रोममात्रच्छेदनं सप्तदिनपर्यंतं तावदेव सायंप्रातश्छे-

॥ भाषा ॥

अब खेचरीको साधन कहे हैं ॥ स्नुहीति ॥ थूहरके पत्रकी तुल्य अति तीक्ष्ण होय सचिक्कण होय निर्मल होय एसो शस्त्र लेकरकें जिव्हाके नीचे नसकूं रोममात्र छेदन करे ॥ ३४ ॥

तत इति ॥ छेदन करे पीछे लवण सेंधो और हरडे इनको चूर्णकरके छेदनकीजे मलदेवे सायंकाल प्रातःकाल दोनो समे योगीकूं लवणको निषेध हे यातें खदिर हरडे इन दोनोनकूं पीसके मलदेवे सातादिन तांई फिर सातदिन पीछें आठमे दिन फिर अधिक छेदन करे ॥ ३५ ॥

एवमिति ॥ या क्रमकरकें फिर सात दिन लवण हरडेकर घर्षण करे योगाभ्यासी पु-

मू० कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत् ॥
सा भवेत्खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ॥ ३७ ॥
रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति ॥
विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ॥ ३८ ॥

॥ टीका ॥

दनं घर्षणं च । अष्टमे दिनेऽधिकं छेदनमित्युक्तक्रमेण षण्मासं षण्मासपर्यंतं नित्ययुक्तः सन् समाचरेत्सम्यगाचरेत् । छेदनघर्षणे इति कर्माध्याहारः । षण्मासादनंतरं रसना जिह्वा तस्या मूलमधोभागो रसनामूलं तत्र या शिरा कपालकुहररसनासंयोगे प्रतिबंधिकाभूता नाडी तया बंधो बंधनं प्रणश्यति प्रकर्षेण नश्यति ॥ ३६ ॥

छेदनादिना जिह्वावृद्धौ यत्कर्तव्यं तदाह ॥ कलामिति ॥ कलां जिह्वां पराङ्मुखमास्यं यस्याः सा तथा तां पराङ्मुखीं प्रत्यङ्मुखीं कृत्वा तिसृणां नाडीनां पंथाः त्रिपथस्तस्मिंस्त्रिपथे कपालकुहरे परियोजयेत्संयोजयेत् । सा त्रिपथे परियोजनरूपा खेचरी मुद्रा तद्व्योमचक्रमित्युच्यते । व्योमचक्रशब्देनोच्यते ॥ ३७ ॥

अथ खेचरीगुणाः ॥ रसनामिति ॥ ऊर्ध्वं तालुपरि विवरं गच्छतीति तां तादृशीं रसनां जिह्वां कृत्वा क्षणार्धं क्षणस्य मुहूर्तस्य अर्धं क्षणार्धं घटिकामात्रमपि खेचरी मुद्रा तिष्ठति चेत्तर्हि योगी विषैः सर्पवृश्चिकादिविषैर्विमुच्यते विशेषेण मुच्यते । व्याधिर्धातुवैषम्यं मृत्युश्चरमः प्राणदेहवियोगो जरा वृद्धावस्था ता आदयो येषां वल्यादीनां तैश्च विमुच्यते । 'उत्सवे च प्रकोष्ठे च मुहूर्ते नियमे तथा । क्षणशब्दोऽव्यवस्थायां समयेऽपि निगद्यते' इति नानार्थः ॥ ३८ ॥

॥ भाषा ॥

दिन अधिक छेदन करे ऐसें छै महीनापर्यंत नित्य युक्तीसुं करे तो छै महीना पीछें जिव्हाकी मूलमें जो नाडी अर्थात् कपालके छिद्रमें जिव्हाके संयोगकूं नहीं होय वे नाडीकरकें बंध नाशकूं प्राप्त होय ॥ ३६ ॥

कलामिति ॥ जिव्हा तिरछिकरकें तीनो नाडीनको मार्ग जो कपालको छिद्र तामें योजना करे ये खेचरी मुद्रा होय हे याहीकूं व्योमचक्र कहें हें ॥ ३७ ॥

अब खेचरीके गुण कहें हें ॥ रसनामिति ॥ तालुएके उपरि छिद्रमें जाय एसी जिव्हाकरकें एक घडीमात्र खेचरीमुद्रा स्थित रहे तो योगी सर्प वींछू इनकूं आदिलेकर जो जंतू तिनके बिषकर छूट जाय. और व्याधी मृत्यु और बुढापो ये हें आदि जिनके एसे त्रिवली पलितं इनकरकें छूट जाय ॥ ३८ ॥

मू० न रोगो मरणं तंद्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा ॥
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥ ३९ ॥
पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा ॥
बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥ ४० ॥
चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता ॥
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता ॥ ४१ ॥
खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लंबिकोर्ध्वतः ॥
न तस्य क्षरते बिंदुः कामिन्याश्लेषितस्य च ॥ ४२ ॥

॥ टीका ॥

न रोग इति ॥ यः खेचरीं मुद्रां वेत्ति तस्य रोगो न मरणं न तंद्रा तामसांतःकरणवृत्तिविशेषः न निद्रा न क्षुधा न तृषा पिपासा न मूर्च्छा चित्तस्य तमसाभिभूतावस्थाविशेषश्च न भवेत् ॥ ३९ ॥

पीड्यत इति ॥ यः खेचरीं मुद्रां वेत्ति स रोगेण ज्वरादिना न योज्यते॥४०॥

चित्तमिति ॥ यस्माद्धेतोश्चित्तमंतःकरणं खे भ्रुवोरंतरवकाशे चरति जिह्वां खे तत्रैव गता सती चरति । तेन हेतुना एषा कथिता मुद्रा खेचरी नाम खेचरीति प्रसिद्धा । नामेति प्रसिद्धावव्ययम् । सिद्धैः कपिलादिभिर्निरूपिता । खे भ्रुवोरंतर्व्योम्नि चरति गच्छति चित्तं जिह्वा च यस्यां सा खेचरीत्यवयवशः सा व्युत्पादिता । उक्तेषु त्रिषु श्लोकेषु व्याध्यादीनां पुनरुक्तिस्तु तेषां श्लोकानां संगृहीतत्वान्न दोषाय ॥ ४१ ॥

खेचर्येति ॥ येन योगिना खेचर्या मुद्रया लंबिकाया ऊर्ध्वमिति लंबिकोर्ध्वतः ।

॥ भाषा ॥

नरोग इति ॥ जो खेचरीमुद्राए जानै हे ताकै रोग मरण आलस्य निद्रा क्षुधा तृषा मूर्च्छा ये विशेषकरकें नही होय ॥ ३९ ॥

पीड्यत इति ॥ जो खेचरी मुद्राकूं जाने हे सो रोगकरकें नही पीडायमान होय कर्मकरकें लिप्त नही होय कालकरकें बाधाकूं नही प्राप्त होय ॥ ४० ॥

चित्तमिति ॥ अंतःकरण भ्रुकुटीके भीतर जो छिद्र तामें विचरे और जिव्हा भ्रुकुटीके मध्यमें विचरे ताकरकें कपिलादिक सिद्धनकरकें ये खेचरी कहें हें ॥ ४१ ॥

खेचर्येति ॥ जा योगीनें तालुवेके उपरि जो छिद्र ताय खेचरी मुद्राकरकें ढक दियो तो

मू० चलितोऽपि यदा बिंदुः संप्राप्तो योनिमंडलम् ॥
व्रजत्यूर्ध्वं हृतः शक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया ॥ ४३ ॥
ऊर्ध्वजिव्हः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः ॥
मासार्धेन न संदेहो मृत्युं जयति योगवित् ॥ ४४ ॥
नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरे यस्य योगिनः ॥

॥ टीका ॥

सार्वविभक्तिकस्तसिः । लंबिका तालु तस्या ऊर्ध्वंत उपरिभागे स्थितं विवरं छिद्रं मुद्रितं पिहितम् । कामिन्या युवत्याश्लेषितस्यालिंगितस्यापि । च शब्दोऽप्यर्थे । तस्य बिंदुर्वीर्यं न क्षरते न स्खलति ॥ ४२ ॥

चलित इति ॥ चलितोऽपि स्खलितोऽपि बिंदुर्यदा यस्मिन् काले योनिमंडलं योनिस्थानं संप्राप्तः संगतस्तदैव योनिमुद्रया मेढ्राकुंचनरूपया । एतेन वज्रोली मुद्रा सूचिता । निबद्धो नितरां बद्धः शक्त्याकर्षणशक्त्याहृतः प्रकृष्ट ऊर्ध्वं व्रजति । सुषुम्नामार्गेण बिंदुस्थानं गच्छति ॥ ४३ ॥

ऊर्ध्वजिव्ह इति ॥ ऊर्ध्वालंबिकोर्ध्वविवरोन्मुखा जिह्वा यस्य स ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो निश्चलो भूत्वा । सोमस्य लंबिकोर्ध्वविवरगलितचंद्रामृतस्य पानं सोमपानं यः पुमान् करोति । योगं वेत्तीति योगवित् स मासस्यार्धं मासार्धं तेन मासार्धेन पक्षेण मृत्युं मरणं जयति अभिभवति । न संदेहः । निश्चितमेतदित्यर्थः ॥ ४४ ॥

नित्यमिति ॥ यस्य योगिनः शरीरं नित्यं प्रतिदिनं सोमकलापूर्णं चंद्रकलामृ-

॥ भाषा ॥

स्त्रीकरकें आलिंगन हो रह्यो ताको बिंदु नही स्खलित होय ॥ ४२ ॥

चलित इति ॥ और जो बिंदु स्खलित होय गयो जा कालमें योनिमंडलमें प्राप्त हुयो फिर वो योगी मेढ्रकूं आकुंचन जामें करे सो मुद्रा योनिमुद्रा याकरकें वज्रोली मुद्रा दिखायदिनी बंध्यो हुयो और शक्तिकरकें खिच्यो हुयो सुषुम्नामार्गकरकें ऊपरकूं खेंच ले अर्थात बिंदुस्थानकूं प्राप्त होय हे ॥ ४३ ॥

ऊर्ध्वजिव्हेति ॥ तालूके ऊपरि छिद्रके सन्मुख जिव्हा लगाय स्थिर होय जो तालूके ऊपर छिद्रमेंसूं पडे एसो जो चंद्रामृत भ्रुकुटीनके मध्यमें चंद्रमा रहे तामेंतें अमृत स्रवे हे ता चंद्रामृतकूं पान करे योगवेत्ता सो मासको अर्द्ध जो पक्ष ताकरकें मृत्युकूं जीतले यामें संदेह नही निश्चय हे ॥ ४४ ॥

नित्यमिति ॥ और जा योगीको शरीर नित्य प्रति चंद्रामृतकरकें पूर्ण होय ता यो-

मू० तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ॥ ४५ ॥
इंधनानि यथा वह्निस्तैलवर्त्तिं च दीपकः ॥
तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुंचति ॥ ४६ ॥
गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् ॥
कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकाः ॥ ४७ ॥

॥ टीका ॥

तत्पूर्णं तस्य तक्षकेण सर्पविशेषेणापि दष्टस्य दंशितस्य योगिनः शरीरे विषं गरलं तज्जन्यं दुःखं न सर्पति न प्रसरति ॥ ४५ ॥

इंधनानीति ॥ यथा वह्निः इंधनानि काष्ठादीनि न मुंचति दीपको दीपः तैलवर्तिं च तैलयुक्तां वर्त्तिं न मुंचति । तथा सोमकलापूर्णं चंद्रकलामृतपूर्णं देहं शरीरं देही जीवो न मुंचति न त्यजति ॥ ४६ ॥

गोमांसमिति ॥ गोमांसपरिभाषिकं वक्ष्यमाणं यो भक्षयेन्नित्यं प्रतिदिनममरवारुणीमपि वक्ष्यमाणां पिबेत्तं योगिनं । अहमिति ग्रंथकारोक्तिः । कुले जातः कुलीनः तंसत्कुलोत्पन्नं मन्ये । तदुक्तं ब्रह्मवैवर्ते । ' कृतार्थौ पितरौ तेन धन्यो देशः कुलं च तत् । जायते योगवान्यत्र दत्तमक्षय्यतां व्रजेत् । दृष्टः संभाषितः स्पृष्टः पुंप्रकृत्योर्विवेकवान् । भवकोटिशतापातं पुनाति वृजिनं नृणाम् ॥' ब्रह्मांडपुराणे । ' गृहस्थानां सहस्रेण वानप्रस्थशतेन च । ब्रह्मचारिसहस्रेण योगाभ्यासी विशिष्यते ॥' राजयोगे वामदेवंप्रति शिववाक्यं । 'राजयोगस्य माहात्म्यं को विजानाति तत्त्वतः । तज्ज्ञानी वसते यत्र स देशः पुण्यभाजनम् । दर्शनादर्चनादस्य त्रिसप्तकुलसंयुताः।अज्ञा मुक्तिपदं यांति किं पुनस्तत्परायणाः । अंतर्योगं बहिर्योगं यो जानाति विशेषतः ।

॥ भाषा ॥

गीको शरीर तक्षक सर्पकरकें डस्यो हुयो ताकूं विष नही प्रभाव करे और दुःखवी नही होय ॥४५॥

इंधनानीति ॥ जेसें अग्नि काष्ठकूं नही छोडे हे और दीपक तेलसहित जो वत्ती ताय नही छोडे हे तेंसेंही चंद्रामृतकरकें पूर्ण जो देह ताय जीव नही त्याग करे ॥ ४६ ॥

गोमांसमिति ॥ जो योगी गोमांस नित्य प्रति भक्षण करे अमरवारुणीको नित्य पान करे ता योगीकूं ग्रंथकर्ता कहें हें में उत्तम कुलमें उत्पन्न हुयो मानुहूं और जो गोमांस भक्षण अमर वारुणी इनके भक्षण पानकर रहित हे वो अयोगी हे ते कुलके नाश करवे-

मू० गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ॥
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ॥ ४८ ॥
जिह्वाप्रवेशसंभूतवह्निनोत्पादितः खलु ॥
चंद्रात्स्रवति यः सारः स स्यादमरवारुणी ॥ ४९ ॥
चुंबंती यदि लंबिकाग्रमनिशं जिह्वारसस्पंदिनी ॥

॥ टीका ॥

त्वया मयाप्यसौ बंधः शेषैर्बंधस्तु किं पुनः ॥'इति । कूर्मपुराणे । 'एककालं द्विकालं वा त्रिकालं नित्यमेव वा । ये युंजते महायोगं विज्ञेयास्ते महेश्वराः॥'इति । इतरे वक्ष्यमाणगोमांसभक्षणामरवारुणीपानरहिता अयोगिनस्ते कुलघातकाः कुलनाशकाः सत्कुले जातस्य जन्मनो वैयर्थ्यात् ॥ ४७ ॥

गोमांसशब्दार्थमाह ॥ गोशब्देनेति । गोशब्देन गोइत्याकारकेन शब्देन गोपदेनेत्यर्थः । जिह्वा रसनोदिता कथिता तालुनीति सामीपिकाधारे सप्तमी । तालुसमीपोर्ध्वविवरे तस्या जिह्वायाः प्रवेशो गोमांसभक्षणं गोमांसभक्षणशब्दवाच्यं तत्तु तादृशं गोमांसभक्षणं तु महापातकानां स्वर्णस्तेयादीनां नाशनम् ॥ ४८ ॥

अमरवारुणीशब्दार्थमाह ॥ जिव्हेति ॥ जिह्वायाः प्रवेशो लंबिकोर्ध्वविवरे प्रवेशनं तस्मात्संभूतो यो वह्निरूष्मा तेनोत्पादितो निष्पादितः । अत्र वह्निशब्देनौष्ण्यमुपलक्ष्यते । यः सारः चंद्राद्भ्रुवोरंतर्वामभागस्थात्सोमात्स्रवति गलति सा अमरवारुणी स्यादमरवारुणीपदवाच्या भवेत् ॥ ४९ ॥

चुंबंतीति ॥ यदि चेल्लंबिकाग्रं लंबिकोर्ध्वविवरं चुंबंती स्पृशन्ती । अनिशं निरं-

॥ भाषा ॥

वाले हैं सत्कुलमें उत्पन्न हुये तोहु उनको जन्म वृथा है ॥ ४७ ॥

गोमांस शब्दको अर्थ कहें हें ॥ गोशब्देनेति ॥ गोपदकरकें यहां जिव्हा कही हे. तालुके समीपमे जो छिद्र तामें जिव्हाको प्रवेश ताकूं गोमांसभक्षण कहे हें. एसो जो गोमांस भक्षण सो महापातकनकूं नाश करे हे ॥ ४८ ॥

अमरवारुणी शब्दको अर्थ कहे हें ॥ जिह्वेति ॥ तालुवेके ऊपर छिद्रमें जिव्हाको प्रवेश तातें हुयो जो अग्नि कहा ऊष्मा ताकरके उत्पन्न हुयो जो सार भ्रुकुटीके भीतर वामभागमें स्थित जो चंद्रमा तातें स्रवे हे सो अमरवारुणी कहें हें ॥ ४९ ॥

चुंबंतीति ॥ जो तालुवेके ऊपर छिद्रकूं निरंतर स्पर्श करे और चंद्रामृतको स्राव जामें

मू० सक्षारा कटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा ॥
व्याधीनां हरणं जरांतकरणं शस्त्रागमोदीरणं
तस्यस्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धांगनाकर्षणम् ॥ ९० ॥
मूर्ध्नः षोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठा-
दूर्ध्वास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्तिं परां चिंतयन् ॥
उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामयं यः पिबे-
न्निर्व्याधिः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जीवति॥ ९१॥

॥ टीका ॥

तरं । अत एव रसस्य सोमकलामृतस्य स्पंदः स्पंदनं प्रस्रवणमस्यामस्तीति रसस्पं-दिनी यस्य जिह्वा । क्षारेण लवणरसेन सहिता सक्षारा कटुकं मरीचादि आम्लं चिं-चाफलादि दुग्धं पयस्तैः सदृशी समाना । मधु क्षौद्रमाज्यं घृतं ताभ्यां तुल्या समा-तथाशब्दः समुच्चये । एतैर्विशेषणै रसस्यानेकरसत्वान्मधुरत्वास्निग्धत्वाच्च जिह्वाया अपि रसस्पंदने तथात्वमुक्तम् । तर्हि तस्य व्याधीनां रोगाणां हरणमपगमो जराया वृद्धावस्थाया अंतःकरणं नाशनं शस्त्राणामायुधानामागमः स्वाभिमुखागमनं तस्यो-दीरणं निवारणम् । अष्टौ गुणा अणिमादयस्ते अस्य संजाता इत्यष्टगुणितममरत्व-ममरभावः । सिद्धानामंगनाः सिद्धांगनाः सिद्धाश्च ता अंगनाश्चेति वा तासामाकर्ष-णमाकर्षणशक्तिः स्यात् ॥ ९० ॥

मूर्ध्न इति ॥ रसनां जिह्वां विवरे कपालकुहरे नियम्य संयोज्य । ऊर्ध्वमुत्तान-

॥ भाषा ॥

होय एसी जिव्हा और लवणसहित मरिचादि चिंचाफलादि दुग्ध इन कर समान मधु स-हत घी इनकर समान अर्थात् जिव्हामें मूलछेदनके पीछैं एसे एसे स्वाद अमृतके स्राव ग्रहणतें स्वभावतें ही होंय तब वा योगीकूं रोगनको दूर होनो वृद्धावस्थाको नाश और शस्त्रनको अपने सम्मुख आगमन तिनकूं निवारण करणो आठोंसिद्धीनकी प्राप्त होनो और देवभाव होनो सिद्धांगनानको आकर्षण करनो इतनी शक्ति होय ज्ञाय ॥ ९० ॥

मूर्ध्न इति ॥ जिव्हाकूं कपालके छिद्रमें लगायकरकें फिर ऊंचो मुखकरकें यामें विप-रीत करणी दिखाय दीनी कुंडलिनीकूं ध्यान करत साधनभूत प्राण तातें भ्रुकुटीके मध्यमें द्विदल कमलमेंतें नीचे कंठमें वर्तमान षोडशदल कमल तामें पडो हठयोगतें प्राप्त हुयो निर्मल धारामय तरंगसहित चंद्रामृतरस ताय जो पुरुष पीवे सो योगी ज्वरादिक

मू० यत्प्रालेयं प्रहितसुषिरं मेरुमूर्धांतरस्थं
तस्मिंस्तत्त्वं प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम् ॥
चंद्रात्सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां
तद्बध्नीयात्सुकरणमथो नान्यथा कायसिद्धिः ॥ ९२ ॥

॥ टीका ॥

मास्यं यस्य सः । ऊर्ध्वास्य-इत्यनेन विपरीतकरणी सूचिता । परां शक्तिं कुंडलिनीं चिंतयन्ध्यायन्सन् प्राणान्साधनभूतान् । षोडश पत्राणि दलानि यस्य तत् षोडशपत्रं तच्च तत्पद्मं कंठस्थाने वर्तमानं तस्मिन्गलितं हठाद्धठयोगादवाप्तं प्राप्तं विमलं निर्मलं धारामयं धारारूपमुत्कल्लोलमुत्तरंगं च तत्कलाजलं सोमकलारसं यः पुमान् पिबेत् धयेत्स योगी निर्गता व्याधयो ज्वरादयो यस्मात्स निर्व्याधिः सन् यद्वा निर्गता विविधा आधिर्मानसी व्यथा यस्मात्स तादृशः सन् मृणालं बिसमिव कोमलं मृदु वपुः शरीरं यस्य स मृणालकोमलवपुश्च सन् चिरं दीर्घकालं जीवति प्राणान् धारयति । हठाद्धठयोगात् । प्राणात्साधनभूतादवाप्तमिति वा योजना प्राणैरिति क्वचित्पाठः ॥ ९१ ॥

यत्प्रालेयमिति ॥ मेरुवत्सर्वोन्नता सुषुम्ना मेरुस्तस्य मूर्धोपरिभागस्तस्यांतरे मध्ये तिष्ठतीति मेरुमूर्धांतरस्थं यत्प्रालेयं सोमकलाजलं प्रहितं निहितं यस्मिंस्तत्तथा तच्च तत्सुषिरं विवरं तस्मिन्विवरे सुधीः शोभना रजस्तमोभ्यामनभिभूतसत्त्वा धीर्बुद्धिर्यस्य सः । तत्त्वमात्मतत्त्वं प्रवदति प्रकर्षेण वदति । 'तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः' इति श्रुतेः । आत्मनो विभुत्वे खेचरीमुद्रायां तत्राभिव्यक्तिस्तस्मिंस्तत्त्व-

॥ भाषा ॥

व्याधीकर रहित होय और कमलके गाबेकोसो कोमल देह जाको एसो होय दीर्घ काल तांई जीवे ॥ ९१ ॥

यत्प्रालेयमिति ॥ मेरु पर्वतकीसीनाई संपूर्णतें ऊंची सुषुम्ना ताके उपरिभागमें स्थित जो चंद्रामृतरूप जल सो हे स्थित जामें एसो छिद्र तामें सतोगुणी हे बुद्धी जाकी सो आत्मतत्व कहें हे. और गंगा यमुना सरस्वती नर्मदा जो इडा पिंगला सुषुम्ना गांधारीकूं आदिले जो नाडी तिनकूं ता विवरमें अग्रपनो हे सो चंद्रमंडलतें शरीरको सार स्रवे हे. ता चंद्रामृतके स्रावकरकें मनुष्यनकी मृत्यु होय हे. यातें प्रथम कह्याए हें सुकरण नाम खेचरी मुद्रा ताय बांधे या खेचरीके बांधेतें चंद्रामृत नहीं स्रवे तब मृत्यु नहीं होय जो खेचरी मुद्राको अभाव कहा नहीं बांधे तो देहकी सिद्धिरूप लावण्य बल वज्रकीसी नाई दृढ होनो ये नहीं होय ॥ ९२ ॥

मू० सुषिरं ज्ञानजनकं पंचस्रोतःसमन्वितम् ॥
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन् शून्ये निरंजने ॥ ५३ ॥
एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी ॥
एको देवो निरालंब एकावस्था मनोन्मनी ॥ ५४ ॥

॥ टीका ॥

मित्युक्तम् । निम्नगानां गंगायमुनासरस्वतीनर्मदादिशब्दवाच्यानामिडापिंगलासुषुम्नागांधारीप्रभृतीनां तत्तास्मिन्विवरे तत्समीपे मुखमग्रमस्ति चंद्रात्सोमाद्वपुषःशरीरस्य सारः स्रवति क्षरति तेन चंद्रसारक्षरणेन नराणां मनुष्याणां मृत्युर्मरणं भवति । अतो हेतोस्तत्पूर्वोदितं सुकरणं शोभनं करणं खेचरीमुद्राख्यं बध्नीयात् । सुकरणे बद्धे चंद्रसारस्रवणाभावान्मृत्युर्न स्यादिति भावः अन्यथा सुकरणबंधनाभावे कायस्य देहस्य सिद्धी रूपलावण्यबलवज्रसंहननरूपा न स्यात् ॥ ५२ ॥

सुषिरमिति ॥ पंच यानि स्रोतांसीडादीनां प्रवाहास्तैः समन्वितं सम्यगनुगतम् । सप्तस्रोतःसमन्वितमिति क्वचित्पाठः । ज्ञानजनकमलौकिकबोधितात्मसाक्षात्कारजनकं यत्सुषिरं विवरं तस्मिन्सुषिरेऽजनमविद्या तत्कार्यं शोकमोहादि च निर्गतं यस्मात्तन्निरंजनं तस्मिन्निरंजने शून्ये सुषिरावकाशे खेचरी मुद्रा तिष्ठते स्थिरीभवति । 'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्चे' त्यात्मनेपदम् ॥ ५३ ॥

एकमिति ॥ सृष्टिमयं सृष्टिरूपं प्रणवाख्यं बीजमेकं मुख्यं । तदुक्तं मांडूक्योपनिषदि । 'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वमि' ति । खेचरी मुद्रा एका मुख्या । निरालंब आलंबनशून्य एको मुख्यो देवः । आलंबनपरित्यागेनात्मनः स्वरूपावस्थानात् । उन्मन्यवस्थैका मुख्या । 'एके मुख्यान्यकेवलाः' इत्यमरः । बीजादिषु प्रणवादिवन्मुद्रासु खेचरी मुख्येत्यर्थः ॥ ५४ ॥

॥ भाषा ॥

सुषिरमिति ॥ पांच जो इडा पिंगला सुषुम्ना गांधारी हस्तिजिव्हा इन पांच नाडीनको प्रवाह ऊपर है ये ऊपरकूं वहें हें सो इनके प्रवाह कर संयुक्त और आत्माकूं साक्षात्कार प्रगट करे ऐसो विवर हे सो अविद्या और अविद्याके कार्यशोक मोहादिक ये जाते दूर होंय पोलरूप जो विवर तामें खेचरी मुद्रा स्थिर होय ॥ ५३ ॥

एकमिति ॥ सृष्टिरूप बीज प्रणव नाम एकही हैं. सब बीजनमें मुख्य हे. और सर्व देवतानमें देव भगवान् मुख्य हैं. जैसें मनोन्मनी अवस्था मुख्य हे. तैसेंही मुद्रानमें खेचरी मुद्रा मुख्य हे ॥ ५४ ॥

अथोड्डीयानबंधः ॥

मू० बद्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः ॥
तस्मादुड्डीयनाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ॥ ५५ ॥
उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रांतं महाखगः ॥
उड्डीयानं तदेव स्यात्तत्र बंधोऽभिधीयते ॥ ५६ ॥
उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत् ॥
उड्डीयानो ह्यसौ बंधो मृत्युमातंगकेसरी ॥ ५७ ॥

॥ टीका ॥

उड्डीयानबंधं विवक्षुस्तावदुड्डीयानशब्दार्थमाह ॥ बद्ध इति ॥ यतो यस्माद्धेतोर्येन बंधेन बद्धो निरुद्धः प्राणः सुषुम्नायां मध्यनाड्यामुड्डीयते सुषुम्नां विहायसा गच्छति तस्मात्कारणादयं बंधो योगिभिर्मत्स्येंद्रादिभिरुड्डीयनमाख्याभिधा यस्य स उड्डीयनाख्यः समुदाहृतः सम्यग्व्युत्पत्त्योदाहृतः कथितः । सुषुम्नायामुड्डीयतेऽनेन बद्धः प्राण इत्युड्डीयनम् । उत्पूर्वा 'डीङ् विहायसा गतावि' त्यस्मात्करणे ल्युट् ॥५५॥

उड्डीनमिति ॥ महांश्चासौ खगश्च महाखगः प्राणः । सर्वदा देहावकाशे गतिमत्त्वात् । यस्माद्बंधादविश्रांतं यथा स्यात्तथोड्डीनं विहंगमगतिं कुरुते । सुषुम्नायामित्यध्याहार्यम् । तदेव बंधविशेषमुड्डीयानमुड्डीयाननामकं स्यात् । तत्र तस्मिन्विषये बंधोऽभिधीयते बंधस्वरूपं कथ्यते मयेति शेषः ॥ ५६ ॥

उड्डीयानबंधमाह ॥ उदर इति ॥ उदरे तुंदे नाभेरूर्ध्वं चकारादधः उपरिभागेऽधोभागे च पश्चिमं तानं पश्चिममाकर्षणं नाभेरूर्ध्वाधोभागौ यथा पृष्ठसंलग्नौ स्यातां तथा तानं तननं नामाकर्षणं कारयेत्कुर्यात् । णिजर्थोऽविवक्षितः । असौ नाभेरूर्ध्वाधोभागयोस्ताननरूप उड्डीयान उड्डीयानाख्यो बंधः । कीदृशः मृत्युरेव मातंगो गजस्तस्य केसरी सिंहः सिंह इव निवर्तकः ॥ ५७ ॥

॥ भाषा ॥

उड्डियानबंधकूं कह्यो चाहे है सो प्रथम उड्डियान शब्दको अर्थ कहें हैं ॥ बद्ध इति ॥ जा हेतुतें वा जा बंधनकरके रुको हुयो वायु सुषुम्नामें मध्यनाडीकरकें उड जायकें सुषुम्ना आकाशमार्गकरकें गमन करे तातें ये बंध योगी मत्स्येंद्रादिनकरकें उड्डियानबंध कह्यो है॥५५॥

उड्डीयानमिति ॥ महान् जो खग कोन प्राण सो जा बंध करेतें श्रम जामें न होय सुषुम्नामें होय पक्षीनकी गती करे वा बंधनकूं उड्डियान नाम कहें हें तामें बंधस्वरूप कह्यो हे ॥५६॥

उदर इति ॥ नाभिको उपरलो भाग नीचलो भाग इनकूं उदरमें पीठमें लग जाय एसो

मू० उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा ॥
अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते ॥ ५८ ॥
नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः ॥
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥ ५९ ॥
सर्वेषामेव बंधानामुत्तमो ह्युड्डियानकः ॥
उड्डियाने दृढे बंधे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ॥ ६० ॥

॥ टीका ॥

उड्डीयानं त्विति ॥ गुरुर्हितोपदेष्टा तेन गुरुणा उड्डीयानं तु सदा सर्वदा सहजं स्वाभाविकं कथितं प्राणस्य बहिर्गमनम् । सर्वदा सर्वस्यैव जायमानत्वात् । यस्तु यः पुरुषस्तु सततं निरंतरमभ्यसेत् । उड्डीयानमित्यत्रापि संबध्यते । स तु वृद्धोऽपि स्थविरोऽपि तरुणायते तरुण इवाचरति तरुणायते ॥ ५८ ॥

नाभेरिति ॥ नाभेरूर्ध्वमुपरिभागेऽधश्चाप्यधोभागेऽपि प्रयत्नतः प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नस्तस्मात्प्रयत्नतः । यत्नविशेषात्तानं पश्चिमतानं कुर्यात् । पूर्वार्धेनोड्डीयानस्वरूप मुक्तं । अथ तत्प्रशंसा । षण्मासं षण्मासपर्यंतं । उड्डीयानमित्यध्याहारः । अभ्यसेत्पुनःपुनरनुतिष्ठेत्स मृत्युं जयत्येव संशयो न । अत्र संदेहो नास्तीत्यर्थः ॥ ५९ ॥

सर्वेषामिति ॥ सर्वेषां बंधानां मध्ये उड्डियानकः उड्डियानबंध एव । स्वार्थे कप्रत्ययः । उत्तमः उत्कृष्टः हि यस्मादुड्डियाने बंधे दृढे सति स्वाभाविकी स्वभावसिद्धैव मुक्तिर्भवेत् । उड्डियानबंधे कृते विहंगमगत्या सुषुम्नायां प्राणस्य मूर्ध्नि गमनात् । 'समाधौ मोक्षमाप्नोती' ति वाक्यात्सहजैव मुक्तिः स्यादिति भावः ॥ ६० ॥

॥ भाषा ॥

पीछेकूं खेंचे ये बंधन उड्डियान नाम हे. केसो हे मृत्युरूपी हाथीकूं सिंहकीसीनाई निवर्त करवेवारो हे ॥ ९७ ॥

उड्डियानं त्विति ॥ हितके उपदेशकर्ता गुरु ता गुरुकरकें सहजस्वभाव कह्यो हुयो उड्डियान ताय अभ्यास करे निरंतर तो वृद्ध पुरुषबी तरुण होय जाय ॥ ९८ ॥

नाभेरिति नाभीको उपरिभाग नीचलो भाग यत्नतें पीठमें लगे एसो तान करे अर्थात् पीछेंकूं खेंचे या उड्डियानकूं छे महिनापर्यंत एसें अभ्यास करे वारंवार तो मृत्युकूं जीतले यामें संदेह नहीं ॥ ९९ ॥

सर्वेषामिति ॥ संपूर्ण बंधननके मध्यमें उड्डियान बंधन उत्तम हे ये उड्डियान बंधन दृढ

अथ मूलबंधः ॥

मू० पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुंचयेद्गुदम् ॥
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबंधोऽभिधीयते ॥ ६१ ॥
अधोगतिमपानं वा ऊर्ध्वगं कुरुते बलात् ॥
आकुंचनेन तं प्राहुर्मूलबंधं हि योगिनः ॥ ६२ ॥
गुदं पार्ष्ण्या तु संपीड्य वायुमाकुंचयेद्बलात् ॥

॥ टीका ॥

मूलबंधमाह ॥ **पार्ष्णिभागेनेति** ॥ पार्ष्णेर्भागो गुल्फयोरधःप्रदेशस्तेन योनिं योनिस्थानं गुदमेढ्रयोर्मध्यभागं संपीड्य सम्यक् पीडयित्वा गुदं पायुमाकुंचयेत्संकोचयेत् । अपानमधोगतिं वायुमूर्ध्वमुपर्याकृष्याकृष्टं कृत्वा मूलबंधोऽभिधीयते कथ्यते । पार्ष्णिभागेन योनिस्थानसंपीडनपूर्वकं गुदस्याकुंचनं मूलबंध इत्युच्यत इत्यर्थः॥६१॥

अधोगतिमिति ॥ यः अधोगतिं अधोऽर्वाग्गतिर्यस्य स तथा तमपानमपानवायुमाकुंचनेन मूलाधारस्य संकोचनेन बलाद्धठादूर्ध्वं गच्छतीत्यूर्ध्वगस्तमूर्ध्वगं सुषुम्नायामूर्ध्वगमनशीलं कुरुते । वै इति निश्चयेऽव्ययम् । योगिनो योगाभ्यासिनस्तं मूलबंधं मूलस्य मूलस्थानस्य बंधनं मूलबंधस्तं मूलबंधमित्यन्वर्थं प्राहुः । अनेन मूलबंधशब्दार्थ उक्तः । पूर्वश्लोकेन तु तस्य बंधनप्रकार उक्त इत्यपौनरुक्त्यम् ॥ ६२ ॥

अथ योगबीजोक्तरीत्या मूलबंधमाह ॥ **गुदमिति** ॥ पार्ष्ण्योर्गुल्फयोरधोभागेन् गुदं वायुं संपीड्य सम्यक् पीडयित्वा संयोज्येत्यर्थः । तुशब्दः पूर्वस्मादस्य

॥ भाषा ॥

होय जाय तो स्वभावसिद्धही मुक्ति होय उड्डियानके करेतें पक्षीनकीसी गतीकरकें सुषुम्नामें होय प्राणकूं मस्तकमें लेजायेतें समाधीमें मोक्ष होय हे या प्रकार स्वाभाविकी मुक्ति होय ॥ ६० ॥

अब मूलबंध कहें हें ॥ **पार्ष्णिभागेनेति** ॥ एडीकर योनिस्थानकूं दाबकरकें गुदाकूं संकोचकरे फिर अपान जो वायु कोन नीचेकूं जाय जो वायु ताय ऊपर चढावे ये मूलबंध कह्यो हे ॥ ६१ ॥

अधोगतिमिति ॥ नीचें गती जाकी एसो जो अपानवायु ताकूं मूलाधार संकोचककरकें बलतें ऊर्ध्वगमन करे अर्थात् सुषुम्नामें प्राप्त करे योगाभ्यासी याकूं मूलबंधन कहें हें मूलस्थानको बंधन जामें होय सो मूलबंध कहें हें ॥ ६२ ॥

योगबीजमें कही जो रीती ताकरकें मूलबंध कहें हें ॥ गुदमिति ॥ एडीकरकें

मू० बारंवारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ॥ ६३ ॥
प्राणापानौ नादबिंदू मूलबंधेन चैकताम् ॥
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः ॥ ६४ ॥
अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः ॥

॥ टीका ॥

विशेषत्वद्योतकः । यथा येन प्रकारेण समीरणो वायुरूर्ध्वं सुषुम्नाया उपरिभागे याति गच्छति तथा तेन प्रकारेण बलाद्धठाद्वारंवारं पुनःपुनर्वायुमपानमाकुंचयेद्गुदस्याकुंचनेनाकर्षयेत् । अयं मूलबंध इति वाक्याध्याहारः ॥ ६३ ॥

अथ मूलबंधगुणानाह ॥ प्राणापानाविति ॥ प्राणश्चापानश्च प्राणापानावूर्ध्वाधोगती वायू । नादोऽनाहतध्वनिः बिंदुरनुस्वारस्तौ मूलबंधेनैकतां गत्वैकीभूय योगस्य संसिद्धिः सम्यक् सिद्धिस्तां योगसंसिद्धिं यच्छतो ददतः । अभ्यासिन इति शेषः । अत्रास्मिन्नर्थे संशयो न । संदेहो नास्तीत्यर्थः । अयं भावः । मूलबंधे कृतेऽपानः प्राणेन सहैकीभूय सुषुम्नायां प्रविशति । ततो नादाभिव्यक्तिर्भवति ततो नादेन सह प्राणापानौ हृदयोपरि गत्वा नादस्य बिंदुना सहैक्यं बिंदुनाधाय मूर्ध्नि गच्छतः । ततो योगसिद्धिः ॥ ६४ ॥

अपानप्राणयोरिति ॥ सततं मूलबंधनान्मूलबंधमुद्राकरणादपानप्राणयोरैक्यं

॥ भाषा ॥

गुदाकूं दाबकरकें फिर जा प्रकार कर वायु सुषुम्नाके उपरिभागमें प्राप्त होय ता प्रकार कर बलतें वारंवार अपान वायुकूं गुदाकूं आकुंचन करकें खेंचे ये मूलबंध हे ॥ ६३ ॥

अब मूलबंधके गुण कहें हें ॥ प्राणापानाविति ॥ प्राण अपान प्राण तो ऊर्ध्वगति वायु और अपान अधोगती वायु और नाद कहा मेघकीसी ध्वनि और बिंदु कहा अनुस्वार ये च्यारों मूलबंधकरकें एकत्र होय योगकी सिद्धी ताय देवे. यामें संदेह नही. याको ये भाव हे मूलबंध करेतें अपानवायु प्राणवायुकरकें सहित एक होय सुषुम्नामें प्रवेश करे तातें नाद प्रगट होय ता नादकरकें सहित प्राण और अपान दोनो वायु हृदयके ऊपर जाय नादकूं बिंदुकरकें सहित ऐक्यकरकें मस्तकमें प्राप्त होय तातें योगसिद्धि होय हे ॥ ६४ ॥

अपानप्राणयोरिति ॥ निरंतर मूलबंध मुद्रा करेतें अपानवायु और प्राणवायु

मू० युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबंधनात् ॥ ६५ ॥
अपाने ऊर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्निमंडलम् ॥
तदाऽनलशिखा दीर्घा जायते वायुनाऽऽहता ॥ ६६ ॥
ततो यातो वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम् ॥
तेनात्यंतप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा ॥ ६७ ॥

॥ टीका ॥

भवति । मूत्रपुरीषयोः संचितयोः क्षयः पतनं भवति । वृद्धोऽपि स्थविरोऽपि युवा तरुणो भवति ॥ ६५ ॥

अपान इति ॥ मूलबंधनादपाने अधोगमनशीले वायौ ऊर्ध्वगे ऊर्ध्वं गच्छतीत्यूर्ध्वगस्तस्मिन्तादृशे सति वह्निमंडलं वह्नेर्मंडले त्रिकोणं नाभेरधोभागेऽस्ति । तदुक्तं याज्ञवल्क्येन । ' देहमध्ये शिखिस्थानं तप्तजांबूनदप्रभम् । त्रिकोणं तु मनुष्याणां चतुरस्रं चतुष्पदाम् । मंडलं तु पतंगानां सत्यमेतद्ब्रवीमि ते । तन्मध्ये तु शिखा तन्वी सदा तिष्ठति पावके ' इति । तदा तस्मिन्काले वायुना अपानेनाहता संगता सत्यनलशिखा जठराग्निशिखा दीर्घा आयता जायते । वर्धत इति क्वचित्पाठः॥६६॥

तत इति ॥ ततस्तदनंतरं वह्निश्चापानश्च वह्न्यपानौ । उष्णं स्वरूपं यस्य स तथा तमनलं शिखादैर्घ्यादुष्णस्वरूपं प्राणमूर्ध्वगतिमनिलं यातो गच्छतः । ततोऽनलशिखादैर्घ्यादुष्णस्वरूपकादिति वा योजना । तेन प्राणसंगमनेन देहे जातो देहजो ज्वलनोऽग्निरत्यंतमधिकं दीप्तो भवति । तथेति पादपूरणे । अपानस्योर्ध्वगमने दीप्त एव ज्वलनः प्राणसंगत्याऽत्यंतं प्रदीप्तो भवतीत्यर्थः ॥ ६७ ॥

॥ भाषा ॥

इनकूं ऐक्यता होय जाय हे. तब संचय कियो हुयो मूत्र और पुरीष इनको पतन होय. या मूलबंधके करेतें बूढो पुरुष युवान होय जाय ॥ ६५ ॥

अपान इति ॥ मूलबंधन करेतें अपानवायु ऊपर चलन लगे तब नाभितें नीचे त्रिकोण हे वो अग्निको मंडल हे वामें अग्नी रहे हे वा अग्निमंडलमें अपानवायु जाय हे तब वायुकरकें मिली हुई जाठराग्निकी शिखा कोन ज्वाला बढ जाय हे ॥ ६६ ॥

तत इति ॥ ता पीछें अग्नि और अपानवायु ये दोनो उष्णस्वरूप जाको एसो प्राणवायु तामें जाय हे ताकरकें देहमें होय एसो अग्नि अत्यंत अधिक दीप्त होय हे ॥ ६७ ॥

मू० तेन कुंडलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते ॥
दंडाहता भुजंगीव निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ॥ ६८ ॥
बिलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यंतरं व्रजेत् ॥
तस्मान्नित्यं मूलबंधः कर्तव्यो योगिभीः सदा ॥ ६९ ॥
कंठमाकुंच्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ॥
बंधो जालंधराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः ॥ ७० ॥

॥ टीका ॥

तेनेति ॥ तेनज्वलनस्यात्यंतं प्रदीपनेन संतप्ता सम्यक् तप्ता सती सुप्ता निद्रिता कुंडलिनी शक्तिः संप्रबुध्यते सम्यक् प्रबुद्धा भवति । दंडेनाहता दंडाहता चासौ भुजंगीव सर्पिणीव निश्वस्य निश्वासं कृत्वा ऋजुतां सरलतां व्रजेद्गच्छेत् ॥ ६८ ॥

बिलं प्रविष्टेति ॥ ततो ऋजुताप्राप्त्यनंतरं बिलं विवरं प्रविष्टा भुजंगीव ब्रह्मनाडी सुषुम्ना तस्या अंतरं मध्यं गच्छेत्तस्माद्धेतोर्योगिभिर्योगाभ्यासिभिर्मूलबंधो नित्यं प्रतिदिनं सदा सर्वस्मिन्काले कर्तव्यः कर्तुं योग्यः ॥ ६९ ॥

जालंधरबंधमाह ॥ कंठमिति ॥ कंठे गले बिलमाकुंच्य हृदये वक्षःसमीपे चतुरंगुलांतरितप्रदेशे चुबुकं हनुं दृढं स्थिरं स्थापयेत् स्थिरं कुर्यात् । अयं कंठाकुंचनपूर्वकं चतुरंगुलांतरितहृदयसमीपेऽधोनमनयत्नपूर्वकं चुबुकस्थापनरूपो जालंधर इत्याख्यायत इति जालंधराख्यो जालंधरनामा बंधः । कीदृशः जरा वृद्धावस्था मृत्युर्मरणं तयोर्विनाशको विशेषेण नाशयतीतिविनाशको विनाशकर्ता ॥ ७० ॥

॥ भाषा ॥

तेनेति ॥ ता अग्निको अत्यंत दीपनताकरकें तापकूं प्राप्त हुई और सूती हुई जो कुंडलिनी शक्ति सो जाग उठै हे. जैसें दंडके प्रहारकरकें सूती सर्पिणी बडे बडे श्वास लेकर सूधी सरल होय जाय ॥ ६८ ॥

बिलं प्रविष्टेति ॥ तापीछैं बिलेमें प्रवेश कर जाय सर्पिणी ताकीसीनाई कूंडलिनी सुषुम्नामें प्रवेश कर जाय ता कारणतें योगाभ्यासीनकरकें मूलबंध दिनदिन प्रति सर्वकालमें करनो योग्य हे ॥ ६९ ॥

अब जालंधर बंध कहें हैं ॥ कंठमिति ॥ कंठकूं नीचो नमाय हृदयके च्यार अंगुल अंतरये ढोढी यत्न कर दृढ स्थिर स्थापन करे ये जालंधर नाम बंध हे ये कैसो हे वृद्धावस्था और मृत्यु इनकूं नाश करे हे ॥ ७० ॥

मू० बध्नाति हि शिराजालमधोगामि नभोजलम् ॥
ततो जालंधरो बंधः कंठदुःखौघनाशनः ॥ ७१ ॥
जालंधरे कृते बंधे कंठसंकोचलक्षणे ॥
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ॥ ७२ ॥
कंठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तंभयेद्दृढम् ॥

॥ टीका ॥

जालंधरपदस्यार्थमाह ॥ बध्नातीति ॥ हि यस्माच्छिराणां नाडीनां जालं समुदायं बध्नाति । अधो गंतुं शीलमस्येत्यधोगामी नभसः कपालकुहरस्य जलममृतं च बध्नाति प्रतिबध्नाति । ततस्तस्माज्जालंधरो जालंधरनामकोऽन्वर्थो बंधः जालं दृशाजालं जलानां समूहो जालं धरतीति जालंधरः । कीदृशः कंठे गलप्रदेशे यो दुःखौघो विकारजातो दुःखसमूहस्तस्य नाशनो नाशकर्ता ॥ ७१ ॥

जालंधरगुणानाह ॥ जालंधर इति ॥ कंठस्य गलबिलस्य संकोचनं संकोच आकुंचनं तदेव लक्षणं स्वरूपं यस्य स कंठसंकोचलक्षणः तस्मिन् तादृशे जालंधरे जालंधरसंज्ञके बंधे कृते सति पीयूषममृतमग्नौ जाठरेऽनले न पतति न सरति । वायुश्च प्राणश्च न कुप्यति नाड्यंतरे वायोर्गमनं प्रकोपस्तं न करोतीत्यर्थः ॥ ७२ ॥

कंठसंकोचनेनेति ॥ दृढं गाढं कंठसंकोचनेनैव कंठसंकोचनमात्रेण द्वे नाड्यौ इडापिंगले स्तंभयेदयं जालंधर इति कर्तृपदाध्याहारः । इदं कंठस्थाने स्थितं

॥ भाषा ॥

अब जालंधर पदको अर्थ कहें हें ॥ बध्नातीति ॥ नाडीनको जाल जो समूह ताय बांधे और नीचेकूं गमन करे एसो कपालको कुहर जो छिद्र ताको जल जो अमृत ताय बांधे तातें ये जालंधरबंध हे जलनको समूह होय ताकूं जाल कहें हें जाल जो नशनको जाल ताय धारन करे यातें जालंधर कहे हे ये जालंधर बंध कंठमें जो दुःखनको समूह विकारमात्र कंठके ताकूं नाश करे हे ॥ ७१ ॥

अब जालंधरके गुण कहे हें ॥ जालंधर इति ॥ कंठके नीचै नमानो येही स्वरूप जाको एसो जालंधर बंध करे तब ऊपरसुं अमृत जाठराग्नीमें नही पडे तब प्राणवायु नाडीके भीतर गमन कर प्रकोप नही करे ॥ ७२ ॥

कंठसंकोचनेनेति ॥ दृढ कंठके संकोचनमात्रकरकें दोनो नाडी इडा पिंगला तिनै स्तंभन करे ये जालंधर बंध हे कंठस्थानमें स्थित विशुद्ध नाम चक्र हें सोमध्यम चक्र जाननो

मू० मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबंधनम् ॥ ७३ ॥
मूलस्थानं समाकुंच्य उड्डियानं तु कारयेत् ॥
इडां च पिंगलां बध्वा वाहयेत्पश्चिमे पथि ॥ ७४ ॥
अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनो लयम् ॥
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ॥ ७५ ॥

॥ टीका ॥

विशुद्धाख्यं चक्रं मध्यचक्रं मध्यमं चक्रं ज्ञेयं । कीदृशं षोडशाधारबंधनं षोडशसंख्याका ये आधारा अंगुष्ठाधारादिब्रह्मरंध्रांतास्तेषां बंधनं बंधनकारकम् । 'अंगुष्ठगुल्फजानूरुसीवनीलिंगनाभयः । हृद्ग्रीवा कंठदेशश्च लंबिका नासिका तथा ॥ भ्रुमध्यं च ललाटं च मूर्धा च ब्रह्मरंध्रकम् । एते हि षोडशाधाराः कथिता योगिपुंगवैः ॥' तेष्वाधारेषु धारणायाः फलविशेषस्तु गोरक्षसिद्धांतादवगंतव्यः ॥ ७३ ॥

उक्तस्य बंधत्रयस्योपयोगमाह ॥ मूलस्थानमिति ॥ मूलस्थानमाधारभूतमाधारस्थानं समाकुंच्य सम्यगाकुंच्य उड्डियानं नाभेः पश्चिमतानरूपं बंधं कारयेत्कुर्यात् । णिजर्थोऽविवक्षितः । इडां पिंगलां गंगां यमुनां च बध्वा । जालंधरबंधेनेत्यर्थः । कंठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तंभयेदि ' त्युक्तेः । पश्चिमे पथि सुषुम्नामार्गे वाहयेद्गमयेत्प्राणमिति शेषः ॥ ७४ ॥

अनेनेति ॥ अनेनैवोक्तेनैव विधानेनैव पवनः प्राणो लयं स्थैर्यं प्रयाति । गत्यभावपूर्वकं रंध्रे स्थितिः प्राणस्य लयः । ततः प्राणस्य लयान्मृत्युर्जरारोगादिकम् ।

॥ भाषा ॥

योग्य हे केसो हें चक्र षोडश संख्या जिनकी ऐसे आधार अंगुष्ठकूं आदिले ब्रह्मरंध्र तक सोले हे सोलेनकूं गिनावे हे अंगुष्ठ गुल्फ जानू ऊरू सीवनी लिंग नाभि हृदय ग्रीवा कंठदेश लंबिका नासिका भ्रुमध्य ललाट मूर्धा ब्रह्मरंध्र ये सोले आधार योगीनमें श्रेष्ठ तिनकरकें कही है. इन आधारमें धारणाको फलविशेष हें सो गोरक्षसिद्धांततें जान लेनो ॥ ७३ ॥

मूलस्थानमिति ॥ मूलस्थानकूं नाभिको पश्चिमतानरूप उड्डियान बंध करे और जालंधर बंध कर इडा पिंगलाकूं बांधकरके अर्थात् कंठ नमाय दोनो नाडीनकूं स्तंभन करे फिर पश्चिममार्ग जो सुषुम्नामार्ग तामें प्राणवायुकूं प्राप्त करे ॥ ७४ ॥

अनेनेति ॥ या विधानकरकें प्राणवायु स्थिर होय जाय अर्थात् वायुकी गति बंध होय

मू० बंधत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितम् ॥
सर्वेषां हठतंत्राणां साधनं योगिनो विदुः ॥ ७६ ॥
यत्किंचित्स्रवते चंद्रादमृतं दिव्यरूपिणः ॥
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिंडो जरायुतः ॥ ७७ ॥

॥ टीका ॥

तथा चार्थे । न जायते नोद्भवति । आदिपदेन वलीपलिततंद्रालस्यादि ग्राह्यम् ॥ ७५ ॥

बंधत्रयमिति ॥ इदं पूर्वोक्तं बंधत्रयं श्रेष्ठं षोडशाधारबंधेऽतिप्रशस्तं महासिद्धैर्मत्स्येंद्रादिभिश्चकाराद्वसिष्ठादिमुनिभिः सेवितं सर्वेषां हठतंत्राणां हठोपायानां साधनं सिद्धिजनकं योगिनो गोरक्षाद्या विदुर्जानंति ॥ ७६ ॥

विपरीतकरणीं विवक्षुस्तदुपोद्घातत्वेन पिंडस्य जराकरणं तावदाह ॥ यत्किंचिदिति ॥ दिव्यमुत्कृष्टं सुधामयं रूपं यस्य स तथा तस्माद्दिव्यरूपिणश्चंद्रात्सोमात्तालुमूलस्थाद्यत्किंचिद्यत्किमप्यमृतं पीयूषं स्रवते पतति तत्सर्वं सर्वं तत्पीयूषं सूर्यो नाभिस्थोऽनलात्मकः ग्रसते ग्रासीकरोति । तदुक्तं गोरक्षनाथेन । 'नाभिदेशे स्थितो नित्यं भास्करो दहनात्मकः । अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमूले च चंद्रमाः ॥ वर्षत्यधोमुखश्चंद्रो ग्रसत्यूर्ध्वमुखो रविः । करणं तच्च कर्तव्यं येन पीयूषमाप्यते ॥' इति । तेन सूर्यकर्तृकामृतग्रसनेन पिंडो देहो जरायुतः जरसा युक्तो भवति ॥ ७७ ॥

॥ भाषा ॥

रंध्रमें स्थिति रहें ताकूं प्राणलय होनो कहें हें ता प्राणके लयतें मृत्यु जरा रोग देहकी त्रिवली श्वेत वाल होनो मूर्छा आलस्यादिक ये नहीं होंय ॥ ७५ ॥

बंधत्रयमिति ॥ ये पहलें कह्या ए जो तीन बंध सो श्रेष्ठ हें मत्स्येंद्रादिक महासिद्धनकर वसिष्ठादिक मुनीनकरकें सेवन करे गये. और संपूर्ण हठके उपायनकी सिद्धीकूं प्रगट करवेवाले हें. या प्रकार गोरक्षकूं आदि लेकें जे सिद्ध हें ते जाने हे ॥ ७६ ॥

यत्किंचिदिति ॥ तालूके मूलमें स्थित दिव्यरूप जाको एसो चंद्रमा तामेंतें कछूक अमृत स्रवे हे वा अमृतकूं नाभिमें स्थित जो अग्निरूप सूर्य सो ग्रास करे हे ता सूर्यके अमृत ग्रास करेतें ये देह जरा जो वृद्धावस्था ताकर युक्त होय हे ॥ ७७ ॥

मू० तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवंचनम् ॥
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ॥ ७८ ॥
ऊर्ध्वं नाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी ॥
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ॥ ७९ ॥
नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्धिनी ॥
आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य च ॥ ८० ॥

॥ टीका ॥

तत्रेति ॥ तत्र तद्विषये सूर्यस्य नाभिस्थानलस्य मुखं वंच्यतेऽनेनेति तादृशं दिव्यमुत्तमं करणं वक्ष्यमाणमुद्राख्यमस्ति तद्गुरूपदेशतः गुरूपदेशाज्ज्ञेयं ज्ञातुं शक्यं । शास्त्रार्थानां कोटिभिः न तु नैव ज्ञातुं शक्यम् ॥ ७८ ॥

विपरीतकरणीमाह ॥ ऊर्ध्वं नाभेरिति ॥ ऊर्ध्वमुपरिभागे नाभिर्यस्य स ऊर्ध्वनाभिस्तस्योर्ध्वनाभेरधः अधोभागे तालु तालुस्थानं यस्य सोऽधस्तालुस्तस्याधस्तालोर्योगिन ऊर्ध्वमुपरिभागे भानुर्दहनात्मकः सूर्यो भवति । अधः अधोभागे शश्यमृतात्मा चंद्रो भवति । प्रथमांतपाठे तु यदा ऊर्ध्वनाभिरधस्तालुर्योगी भवति तदोर्ध्वं भानुरधः शशी भवति । यदातदापदयोरध्याहारेणान्वयः । इयं विपरीताख्या विपरीतनामिका करणी । ऊर्ध्वाधःस्थितयोश्चंद्रसूर्ययोरधऊर्ध्वकरणेनान्वर्था गुरूवाक्येन गुरोर्वाक्येनैव लभ्यते प्राप्यते नान्यथा ॥ ७९ ॥

नित्यमिति ॥ नित्यं प्रतिदिनमभ्यासो ऽभ्यसनं तस्मिन् युक्तस्यावहितस्य जठ-

॥ भाषा ॥

तत्रेति ॥ या प्रकर्णमें नाभिमें स्थित जा अग्निरूपी सूर्यको मुख वंचाय जानो जाकरकें एसो दिव्य उत्तम जो करण मुद्रा अगाडी कहेंगे जो विपरीतकरणी मुद्रा हे सो गुरूनके उपदेशतें जानवेकूं योग्य हे. ओर कोटिन शास्त्रनके अर्थनकर नही जानवेकूं समर्थ हें ॥ ७८ ॥

अब विपरीतकरणी मुद्रा कहें हें ॥ ऊर्ध्वं नाभेरिति ॥ उपरि भागमें नाभि जाके और अधोभागमें तालुस्थान जाके एसे योगीके उपरि भागमें दहनरूप सूर्य होय हे और अधोभागमें अमृतरूपी चंद्रमा होय हें ये विपरीत नाम करणी हे ऊपर चंद्रमा नीचें सूर्य ताको ऊपर सूर्य नीचें चंद्रमा करनो ये गुरूनके वाक्यकरकें प्राप्त होय हे और प्रकार नहीं होय ॥ ७९ ॥

नित्यमिति ॥ याको नित्य अभ्यास करे ताकी जाठराग्निकूं वृद्धी करवेवाली विप-

मू० अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात् ॥
अधःशिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ॥ ८१ ॥
क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने ॥
वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते ॥
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित् ॥ ८२ ॥

॥ टीका ॥

राग्निरुदराग्निस्तस्य विवर्धिनी विशेषेण वर्धिनीति विपरीतकरणीविशेषणम् । तस्य साधकस्य विपरीतकरण्यभ्यासिन आहारो भोजनं बहुलो यथेच्छः संपाद्यः संपादनीयः । चः पादपूरणे ॥ ८० ॥

अल्पाहार इति ॥ यद्यल्पाहारः अल्पो भोक्तुमिष्टान्नस्याहारो भोजनं यस्य तादृशो भवेत्स्यात्तदाऽग्निर्जठरानलो देहं क्षणमात्राद्दहेत् । शीघ्रं दहेदित्यर्थः । ऊर्ध्वाधः स्थितयोश्चंद्रसूर्ययोरधऊर्ध्वकरणक्रियामाह ॥ अधःशिरा इति ॥ अधः अधोभागे भूमौ शिरो यस्य सोऽधःशिराः कराभ्यां कटिप्रदेशमवलंब्य बाहुमूलादारभ्य कूर्परपर्यंताभ्यां बाहुभ्यां स्कंधाभ्यां गलपृष्ठभागशिरःपृष्ठभागाभ्यां च भूमिमवष्टभ्याधःशिरा भवेत् । ऊर्ध्वमुपर्यंतरिक्षे पादौ यस्य स ऊर्ध्वपादः प्रथमदिने आरंभदिने क्षणं क्षणमात्रं स्यात् ॥ ८१ ॥

क्षणादिति ॥ दिनेदिने प्रतिदिनं क्षणात्किंचिदधिकं द्विक्षणं त्रिक्षणं एकदिनवृद्ध्याऽभ्यसेदभ्यासं कुर्यात् ॥ विपरीतकरणीगुणानाह ॥ वलितमिति ॥ वलितं चर्मसंकोचः पलितं केशेषु शौक्ल्यं च । षण्णां मासानां समाहारः षण्मासं तस्मादूर्ध्व-

॥ भाषा ॥

रीतकरणी है विपरीतकरणीके अभ्यास करवेवालेकूं भोजन बोहोत इच्छापूर्वक करनो योग्य हे ॥ ८० ॥

अल्पाहार इति ॥ जो विपरीतकरणी करवेवालो थोडो भोजन करे तो प्रज्वलित हुई जाठराग्नि देहकूं शीघ्र जलाय दे अब क्रिया कहे हैं पृथ्वीमें मस्तक धरकरकें दोनो भुजा कटिमें प्रवेशकरकें ऊपर अंतरिक्षमें पामकरकें स्थित होय आरंभके प्रथम दिनतो क्षणमात्र रहे ॥ ८१ ॥

क्षणादिति ॥ फिर दिनदिन प्रतिक्षणतें कछू अधिक दूसरे दिन दो क्षण तीसरे दिन तीन क्षण ऐसें दिनवृद्धीकर अभ्यास करे अब विपरीतकरणीके गुण कहें हें याके करवेवालेके देहमें वली चर्ममें पडजाय सो और श्वेतकेश छे महीना पीछे नहीं दीखें जो

अथ वज्रोली ॥

मू० स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना ॥
वज्रोलीं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम् ॥ ८३ ॥
तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित् ॥
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी ॥ ८४ ॥

॥ टीका ॥

पुपरि नैव दृश्यते नैवावलोक्यते । साधकस्य देह इति वाक्याध्याहारः ॥ यस्तु साधको याममात्रं प्रहरमात्रं नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित्कालं मृत्युं जयतीति कालजिन्मृत्युजेता भवेत् । एतेन योगस्य प्रारब्धकर्मप्रतिबंधकत्वमपि सूचितम् । तदुक्तं विष्णुधर्मे । 'स्वदेहारंभकस्यापि कर्मणः संक्षयावहः । यो योगः पृथिवीपाल शृणु तस्यापि लक्षण' मिति । विद्यारण्यैरपि जीवन्मुक्तावुक्तम् । यथा प्रारब्धकर्मतत्त्वज्ञानात्प्रबलं तथा तस्मादपि कर्मणो योगाभ्यासः प्रबलः । अत एव योगिनामुद्दालकवीतहव्यादीनां स्वेच्छया देहत्याग उपपद्यत इति। भागवतेऽप्युक्तं। 'देहं जह्यात्समाधिने'ति॥८२॥

वज्रोल्यां प्रवृत्तिं जनयितुमादौ तत्फलमाह ॥ स्वेच्छयेति ॥ योऽभ्यासी वज्रोलीं वज्रोलीमुद्रां विजानाति विशेषेण स्वानुभवेन जानाति स योगी योगे योगशास्त्रे उक्ता योगोक्तास्तैर्योगोक्तैर्नियमैर्ब्रह्मचर्यादिभिर्विना ऋते स्वेच्छया निजेच्छया वर्तमानोऽपि व्यवहरन्नपि सिद्धिभाजनं सिद्धीनामणिमादीनां भाजनं पात्रं भवति ॥ ८३ ॥

तत्साधनोपयोगि वस्तुद्वयमाह॥तत्रेति ॥ तत्र वज्रोल्यभ्यासे वस्तुनोर्द्वयं वस्तुद्वयं

॥ भाषा ॥

विपरीतकरणी एसें अभ्यास करत करत एक प्रहर मात्रकरकें लग जाय तब वो योगी मृत्युकों जीतवेवारो होय जाय. याकरकें ये दिखायो योग प्रारब्धकर्मकूं दूर करे हे. जैसें प्रारब्धकर्म तत्त्वज्ञानतें प्रबल हे तेसेंही ता प्रारब्धकर्मतें योगाभ्यास प्रबल हे. उद्दालक और वीतहव्यादिक योगीनकूं स्वेच्छाकरकें देह त्याग कह्यो हे. यातें योग श्रेष्ठ हे ॥८२॥

अब वज्रोलीके आदिमें याको फल कहे हें ॥ स्वच्छयेति ॥ जो योगाभ्यासी वज्रोली मुद्राकूं विशेषकर अपने अनुभव करकें जाने सो योगी योगशास्त्रमें कहे जे ब्रह्मचर्यादिक करे विना अपनी इच्छाकरकें वर्तमान रहे अणिमादिक अष्टसिद्धीनके भोगवेवारो होय ॥ ८३ ॥

तत्रेति ॥ वज्रोलीके अभ्यासमें दोय वस्तु कहें हें जा काउ निर्धन पुरुषकूं दुर्लभ हें

मू० मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुंचनमभ्यसेत् ॥
पुरुषोऽप्यथवा नारी वज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात् ॥ ८९ ॥
यत्नतः शस्तनालेन फुत्कारं वज्रकंदरे ॥
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसंचारकारणात् ॥ ८६ ॥

॥ टीका ॥

वक्ष्ये कथयिष्ये । कीदृशं वस्तुद्वयं यस्यकस्यचित् यस्यकस्यापि धनहीनस्य दुर्लभं दुःखेन लब्धुं शक्यं दुःखेनापि लब्धुमशक्यमिति वा । 'दुःस्यात्कष्टनिषेधयोरि' ति कोशात् ॥ किं तद्वस्तुद्वयमित्यपेक्षायामाह ॥ क्षीरमिति ॥ एकं वस्तु क्षीरं पानार्थं मेहनानंतरमिंद्रियनैर्बल्यात्तद्बलार्थं क्षीरपानम् युक्तम् । केचित्तु अभ्यासकाले आकर्षणार्थमित्याहुः । तस्यांतर्गतस्य घनीभावे निर्गमनासंभवात्तदयुक्तं । द्वितीयं तु वस्तु वशवर्तिनी स्वाधीना नारी वनिता ॥ ८४ ॥

वज्रोलीमुद्राप्रकारमाह ॥ मेहनेनेति ॥ मेहनेन स्त्रीसंगानंतरं बिंदोः क्षरणेन साधनभूतेन पुरुषः पुमानथवा नार्यपि योषिदपि शनैर्मंदं सम्यक् यत्नपूर्वकमूर्ध्वाकुंचनमूर्ध्वमुपर्याकुंचनं मेढ्राकुंचनेन बिंदोरुपर्याकर्षणमभ्यसेद्वज्रोलीमुद्रासिद्धिमाप्नुयात्सिद्धिं गच्छेत् ॥ ८९ ॥

अथ वज्रोल्याः पूर्वांगप्रक्रियामाह॥ यत्नत इति ॥ शस्तः प्रशस्तो यो नालस्तेन शस्तनालेन सीसकादिनिर्मितेन नालेन शनैः शनैर्मंदंमंदं यथाग्नेर्धमनार्थं फूत्कारः क्रियते तादृशं फूत्कारं वज्रकंदरे मेढ्रविवरे वायोः संचारः सम्यग्वज्रकंदरे चरणं गमनं तत्कारणात्तद्धेतोः प्रकुर्वीत प्रकर्षेण पुनः पुनः कुर्वीत । अथ वज्रोलीसाधनप्र-

॥ भाषा ॥

एक तो दूध पीवेके अर्थ स्त्री संगके पीछै इंद्रिय निर्बल होय जाय हे याते दूधपान करनो योग हे द्वितीय वस्तु अपनै आज्ञाकारी वशवर्तिनी स्त्री ॥ ८४ ॥

अब वज्रोली मुद्राको प्रकार कहें हें ॥ मेहनेनेति ॥ स्त्रीसंगके पीछै बिंदुको क्षरण कहा पडनो ताकूं पुरुष अथवा स्त्रीबी यत्नपूर्वक इंद्रीकूं ऊपर आकुंचनकरके वीर्यकूं ऊपरि खेंच लेवेको अभ्यास करे तो वज्रोली मुद्राकी सिद्धी प्राप्त होय ॥ ८९ ॥

अब वज्रोली मुद्राकी पूर्वांग क्रिया कहें हे ॥ यत्नत इति ॥ चांदीकी बनी हुई नाल शनै शनै जेसें अग्नीके सिलगायवेकूं फूंक मारे तेसोही फूत्कार इंद्रीके छिद्रमें वायूको संचार वारंवार करे । अब वज्रोलीकी साधनप्रक्रिया कहें है. सीसेकी बनी होय सचिक्कण होय इंद्रीमें प्रवेशके योग्य होय ऐसी चोधे अंगुलकी शलाका कराय-

मू० नारीभगे पतद्बिंदुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत् ॥
चलितं च निजं बिंदुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ॥ ८७ ॥

॥ टीका ॥

क्रिया । सीसकनिर्मितां स्निग्धां मेढ्रप्रवेशयोग्यां चतुर्दशांगुलमात्रां शलाकां कारयित्वा तस्या मेढ्रे प्रवेशनमभ्यसेत् । प्रथमदिने एकांगुलमात्रां प्रवेशयेत् । द्वितीयदिने द्व्यंगुलमात्रां तृतीयदिने त्र्यंगुलमात्राम् । एवं क्रमेण वृद्धौ द्वादशांगुलमात्रप्रवेशे मेढ्रमार्गः शुद्धो भवति । पुनस्तादृशीं चतुर्दशांगुलमात्रां द्व्यंगुलमात्रवक्रामूर्ध्वमुखां कारयित्वा तां द्वादशांगुलमात्रां प्रवेशयेत् । वक्रमूर्ध्वमुखं द्व्यंगुलमात्रं बहिः स्थापयेत् । ततः सुवर्णकारस्य अग्निधमनसाधनीभूतनालसदृशं नालं गृहीत्वा तदग्रं मेढ्रप्रवेशितद्वादशांगुलस्य नालस्य वक्रोर्ध्वमुखद्व्यंगुलमध्ये प्रवेश्य फूत्कारं कुर्यात् । तेन सम्यक् मार्गशुद्धिर्भवति । ततो जलस्य मेढ्रेणाकर्षणमभ्यसेत् । जलाकर्षणे सिद्धे पूर्वोक्तश्लोकरीत्या बिंदोरूर्ध्वाकर्षणमभ्यसे । बिंद्वाकर्षणे सिद्धे वज्रोलीमुद्रासिद्धिः । इयं जितप्राणस्यैव सिध्यति नान्यस्य । खेचरीमुद्राप्राणजयोभयसिद्धौ तु सम्यक् भवति ॥ ८६ ॥

एवंवज्रोल्यभ्यासे सिद्धे तदुत्तरं साधनमाह॥नारीभग इति॥ नारीभगे स्त्रीयो-

॥ भाषा ॥

करकें ताकूं इंद्रीमें प्रवेश करवेको अभ्यास करे पहिले दिन एक अंगुल प्रवेश करे दूसरे दिन दो अंगुल प्रवेश करे तीसरे दिन तीन अंगुल प्रवेश करे या रीतकर क्रमसूं बारे अंगुल मात्रा प्रवेश होय तब इंद्रियमार्ग शुद्ध होय वो चोघे अंगुलकी शलाका तामें दोय अंगुल टेढी ओर ऊंचो मुख जाको एसी करायले फिर वो द्वादश अंगुल भीतर प्रवेश करे और टेढी ऊंचो मुख जाको वो दो अंगुल बहार स्थापन करे ता पीछें सुनारकी अग्नी सिलगायवेकी नाल ताकीसदृश नाल ग्रहणकरकें ता नालको अग्रभाग इंद्रीमें प्रतेश कियो जो द्वादशांगुलकी नाल ताको टेढी ऊंचे मुखकी बहार स्थित दो अंगुलकी नाल ताके मध्यमें प्रवेश करके फिर फूत्कार करे ताकरकें भलि प्रकार इंद्रियमार्ग शुद्ध होय. तापीछै इंद्रीसूं जलको उपर चढायवेको अभ्यास करे जब जलको आकर्षण होयवे लगजाय अछी तरहसूं तब पहले श्लोकमें कही जो रीती ताकरकें वीर्यके आकर्षणको अभ्यास करे जब वीर्यको आकर्षण खेंच लेनो सिद्ध होय जाय तब वज्रोली मुद्रा सिद्ध होय है. जाके खेचरी मुद्रा ओर प्राणजय ये दोनो सिद्धी जाकूं होंय ताकूं वज्रोली मुद्रा सिद्ध होय औरकूं नही होय ॥ ८६ ॥

एसें वज्रोली मुद्राको अभ्यास सिद्ध होय जाय ताके अगाडीको साधन कहें हें ॥ नारी-

मू० एवं संरक्षयेद्बिंदुं मृत्युं जयति योगवित् ॥
मरणं बिंदुपातेन जीवनं बिंदुधारणात् ॥ ८८ ॥
सुगंधो योगिनो देहे जायते बिंदुधारणात् ॥
यावद्बिंदुः स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुतः ॥ ८९ ॥

॥ टीका ॥

नौ पततीति पतन् पतंश्चासौ बिंदुश्च पतद्बिंदुस्तं पतद्बिंदुं रतिकाले पतंतं बिंदुमभ्यासेन वज्रोलीमुद्राभ्यासेनोर्ध्वमुपर्याहरेदाकर्षयेत् । पतनात्पूर्वमेव । यदि पतनात्पूर्वं बिंदोराकर्षणं न स्यात्तर्हि पतितमाकर्षयेदित्याह ॥ चलितं चेति ॥ चलितं नारीभगे पतितं निजं स्वकीयं बिंदुं चकारात्तद्रजः ऊर्ध्वमुपर्याकृष्याहृत्य रक्षयेत् स्थापयेत्॥८७॥
वज्रोलीगुणानाह ॥ एवमिति ॥ एवमुक्तरीत्या बिंदुं यः संरक्षयेत् सम्यक् रक्षयेत् स योगविद्योगाभिज्ञो मृत्युं जयत्यभिभवति । यतो बिंदोः शुक्रस्य पातेन पतनेन मरणं भवति । बिंदोर्धारणं बिंदुधारणं तस्माद्बिंदुधारणाज्जीवनं भवति । तस्माद्बिंदुं संरक्षयेदित्यर्थः ॥ ८८ ॥
सुगंध इति ॥ योगिनो वज्रोल्यभ्यासिनो देहे बिंदोः शुक्रस्य धारणं बिंदुधारणं तस्मात्सुगंधः शोभनो गंधो जायते प्रादुर्भवति । देहे यावद्बिंदुः स्थिरस्तावत्कालभयं मृत्युभयं कुतः । न कुतोऽपीत्यर्थः ॥ ८९ ॥

॥ भाषा ॥

भगे इति ॥ रतिकालमें स्त्रीकी योनिमें जानें पड्यो और पडे नही जा पहलें जो बिंदु नाम वीर्य ताय वज्रोलीके अभ्यासकरकें ऊपरि आकर्षण करे जो पडे पहलें बिंदुको आकर्षण न होय तो नारीके भगमें गिरपड्यो जो अपनो बिंदु ताय और स्त्रीको जो रज ताकूंबी ऊपर खेंचकर स्थापन करे ॥ ८७ ॥
अब वज्रोलीके गुण कहें हें ॥ एवमिति ॥ या रीतकर जो बिंदुकूं स्थिर करे सो योगवेत्ता होय हे. और वो मृत्युकूं जय करे. और बिंदुजो वीर्य ताके पतनकरकें तो मरण होय हे. और जो वीर्यकूं यारीतसूं धारण करे तातें जीवन होय हे. तातें बिंदुकूं या रीतकर स्थित करे ॥ ८८ ॥
सुगंध इति ॥ वज्रोलीके अभ्यास करवेबालेके देहमें वीर्यके धारणतें बोहोत सुंदर सुगंध प्रगट होय हे. और जबतांई बिंदु स्थिर रहे तबतांई कालको भय नहीं होय ॥८९॥

मू० चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम् ॥
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥ ९० ॥
ऋतुमत्या रजोऽप्येवं बीजं बिंदुं च रक्षयेत् ॥
मेढ्रेणाकर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्यासयोगवित् ॥ ९१ ॥
सहजोलिश्चामरोलिर्वज्रोल्या भेद एकतः ॥
जले सुभस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसंभवम् ॥ ९२ ॥

॥ टीका ॥

चित्तायत्तमिति ॥ हि यस्मान्नृणां शुक्रं वीर्यं चित्तायत्तं चित्ते चले चलत्वाच्चित्ते स्थिरे स्थिरत्वाच्चित्ताधीनं जीवितं जीवनं शुक्रायत्तं शुक्रे स्थिरे जीवनाच्छुक्रे नष्टे मरणं शुक्राधीनं तस्माच्छुक्रं बिंदुं मनश्च मानसं च प्रकृष्टाद्यत्नादिति प्रयत्नतः रक्षणीयमेव । अवश्यं रक्षणीयमित्यर्थः । एवशब्दो भिन्नक्रमः ॥ ९० ॥

ऋतुमत्या इति ॥ एवं पूर्वोक्तेनाभ्यासेन ऋतुर्विद्यते यस्याः सा ऋतुमती तस्या ऋतुमत्या ऋतुस्नातायाः स्त्रियो रेतः निजं स्वकीयं बिंदुं च रक्षयेत् । पूर्वोक्ताभ्यासं दर्शयति ॥ मेढ्रेणेति ॥ अभ्यासो वज्रोल्यभ्यासः स एव योगो योगसाधनत्वात्तं वेत्तीत्यभ्यासयोगवित् मेढ्रेण गुह्येंद्रियेण सम्यग्यत्नपूर्वकमूर्ध्वमुपर्याकर्षयेत् । रजो बिंदुं चेति कर्माध्याहारः । अयं श्लोकः क्षिप्तः ॥ ९१ ॥

सहजोल्यमरोल्यौ विवक्षुस्तयोर्वज्रोलीविशेषत्वमाह ॥ **सहजोलिश्चेति** ॥ वज्रोल्या भेदो विशेषः सहजोलिरमरोलिश्च । तत्र हेतुः एकतः एकत्वादेकफलत्वादित्यर्थः । एकशब्दाद्भावप्रधानात्पंचम्यास्तसिः । सहजोलिमाह ॥ जलेष्विति ॥ गोः पुरीषाणि गोमयानि दग्धानि च तानि गोमयानि च दग्धगोमयानि तेषु संभव

॥ भाषा ॥

चित्तायत्तमिति ॥ निश्चय ही जो चित्त चलायमान होय तो मनुष्यनको वीर्य चलजाय. और जो चित्त स्थिर होय तो वीर्यबी स्थिर होय. चित्तके आधीन वीर्य हे. और शुक्र जो स्थिर होय तो जीवन स्थिर होय. जो शुक्र नष्ट होय जाय तो मरण होय. तों शुक्राधीन जीवन हे. तातें शुक्र और बिंदु इने यत्नतें अवश्य रक्षा करनो योग्य हे ॥ ९० ॥

ऋतुमत्या इति ॥ ऋतुमती स्त्रीको रज और अपनो बिंदु ताय यारीतसूं स्थिर करे इंद्रीकरकें यत्नपूर्वक रज और बिंदुकूं ऊपर आकर्षण करे सो वज्रोलीके अभ्यासयोगवेत्ता जाननो ॥ ९१ ॥

अब सहजोलि अमरोली कहें हें ॥ सहजोलिश्चेति ॥ वज्रोलीके भेदविशेष सह-

मू० वज्रोलीमैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसोः स्वांगलेपनम् ॥
आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणात् ॥ ९३ ॥
सहजोलिरियं प्रोक्ता श्रद्धेया योगिभिः सदा ॥
अयं शुभकरो योगो भोगयुक्तोऽपि मुक्तिदः ॥ ९४ ॥
अयं योगः पुण्यवतां धीराणां तत्त्वदर्शिनाम् ॥
निर्मत्सराणां सिध्येत न तु मत्सरशालिनाम् ॥ ९५ ॥

॥ टीका ॥

उत्पत्तिर्यस्य तद्दग्धगोमयसंभवं शोभनं भस्म विभूतिः तत् जले तोये निक्षिप्य तोयमिश्रं कृत्वोत्तर उत्तर श्लोकेनान्वेति ॥ ९२ ॥

वज्रोलीति ॥ वज्रोलीमुद्रार्थं मैथुनं तस्मादूर्ध्वमनंतरं सुखेनैवानंदेनैवासीनयोरुपविष्टयोः क्षणाद्रत्युत्सवान्मुक्तस्त्यक्तो व्यापारो रतिक्रिया याभ्यां तौ मुक्तव्यापारौ तयोर्मुक्तव्यापारयोः स्त्री च पुमांश्च स्त्रीपुंसौ तयोः स्त्रीपुंसोः स्वांगलेपनं शोभनान्यंगानि स्वांगानि मूर्धललाटनेत्रहृदयस्कंधभुजादीनि तेषु लेपनम् ॥ ९३ ॥

सहजोलिरिति ॥ इयमुक्ता क्रिया सहजोलिरिति प्रोक्ता कथिता योगिभिर्मत्स्येंद्रादिभिः । कीदृशी सदा श्रद्धेया सर्वदा श्रद्धातुं योग्या । अयं सहजोल्याख्यो योग उपायः शुभकरः शुभं श्रेयः करोतीति शुभकरः । 'योगः संहननोपायध्यानसंगतियुक्तिषु' त्यभिधानात् । कीदृशो योगः भोगेनः युक्तोऽपि मुक्तिदो मोक्षदः ॥ ९४ ॥

अयं योग इति ॥ अयमुक्तो योगः पुण्यं विद्यते येषां ते पुण्यवंतः सुकृतिनस्तेषां-

॥ भाषा ॥

जोली अमरोली हे. क्यों जो वज्रोलीके फल सोई इनके फल हें यातें और गोबर जलाय वाकी भस्म श्वेत होय हे. सुंदर होय हे. यातें वा भस्मकूं जल मिलायकरकें ॥ ९२ ॥

वज्रोलीति ॥ वज्रोलीके अर्थ मैथुनकरे पीछे आनंदपूर्वक बेठे क्षणमात्र रतिके उत्सवतें त्याग कीनी हे रतिक्रिया जिनने एसे जो स्त्रीपुरुष तिनकूं सुंदर अंग जो मस्तक ललाट नेत्र हृदय स्कंध भुजादिकनमें लेपन करनो योग्य हे ॥ ९३ ॥

सहजोलिरिति ॥ मत्स्येंद्रादिक योगीनकरकें ये क्रिया सहजोली नाम कही हे यै श्रद्धा करवेके योग्य हे. और शुभकों करे हे. और जो स्त्रीसंगकरकें युक्त हे तोबी ये योग मोक्षको देवेवारो हे ॥ ९४ ॥

अयं योग इति ॥ ये योग पुण्यवाननकूं धैर्यवाननकूं तत्त्वदर्शीनकूं दूसरेके गुण दोष-

अथामरोली ॥

मू० पित्तोल्बणत्वात्प्रथमाम्बुधारां विहाय निःसारतयांत्यधारा ॥
निषेव्यते शीतलमध्यधारा कापालिके खंडमतेऽमरोली ९६
अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन्दिने दिने ॥
वज्रोलीमभ्यसेत्सम्यगमरोलीति कथ्यते ॥ ९७ ॥

॥ टीका ॥

पुण्यवतां धीराणां धैर्यवतां तत्त्वं वास्तविकं पश्यंतीति तत्त्वदर्शिनस्तेषां तत्त्वदर्शिनां मत्सरान्निष्क्रांता निर्मत्सरास्तेषां निर्मत्सराणामन्यगुणद्वेषरहितानाम् । 'मत्सरोऽन्य गुणद्वेषः' इत्यमरः । तादृशानां पुंसां सिध्येत सिद्धिं गच्छेत् । मत्सरशालिनां मत्सरवतां तु न सिध्येत् ॥ ९५ ॥

अमरोलीमाह ॥ पित्तोल्बणत्वादिति ॥ पित्तेनोल्बणोत्कटा पित्तोल्बणा तस्या भावः पित्तोल्बणत्वं तस्मात् । यथा प्रथमा पूर्वा यांऽबुनः शिवांबुनो धारा तां विहाय शिवांबुनिर्गमनसमये किंचित्पूर्वां धारां त्यक्त्वा । निर्गतः सारो यस्याः सा निःसारा तस्या भावो निःसारता तया निःसारतया निःसारत्वेनांत्यधारा अंत्या चरमा या धारा तां विहाय किंचिदंत्यां धारां त्यक्त्वा । शीतला पित्तादिदोषसारत्वरहिता या मध्यधारा मध्यमा धारा सा निषेव्यते नितरां सेव्यते । खंडो योगविशेषो मतोऽभिमतो यस्य स खंडमतस्तस्मिन् खंडमते कापालिकस्यायं कापालिकस्तस्मिन् कापालिके खंडकापालिकसंप्रदाय इत्यर्थः । अमरोली प्रसिद्धेति शेषः ॥ ९६ ॥

अमरोलीमिति ॥ अमरीं शिवांबु यः पुमान् नित्यं पिबेत् । नस्यं कुर्वन् श्वासे-

॥ भाषा ॥

कर रहित होय तिनकूं सिद्ध होय हे और दूसरेके गुण ऐश्वर्यादिककूं देखकर द्वेषादिक करे ओर जरोकरें तिनकूं नही होय ॥ ९५ ॥

अब अमरोली कहें हें ॥ पित्तोल्बणत्वादिति ॥ शिवांबुके निर्गमन समयमें पित्त करकें उत्कटभाव जाको एसी जो प्रथम धारा किंचित् उष्णता जामें ताय त्यागकरकें फिर नही हें सार जामें एसी अंत्यधारा ताय त्यागकरकें फिर शीतल पित्तादिक दोषकरकें रहित जो मध्यधारा सो निरंतर सेवन करै. योग हे अभिमत जाके एसी जो कापालिका क्रिया सोही अमरोली या नामकर प्रसिद्ध है ॥ ९६ ॥

अमरोलीमिति ॥ जो पुरुष अमरी जो अमरवारुणी ताकूं नासिकाके अंतमें ग्रहण

मू० अभ्यासान्निःसृता चांद्रीं विभूत्या सह मिश्रयेत् ॥
धारयेदुत्तमांगेषु दिव्यदृष्टिः प्रजायते ॥ ९८ ॥
पुंसो बिंदुं समाकुंच्य सम्यगभ्यासपाटवात् ॥
यदि नारी रजो रक्षेद्वज्रोल्या सापि योगिनी ॥ ९९ ॥

॥ टीका ॥

नामर्या घ्राणांतर्ग्रहणं कुर्वन् सन् दिनेदिने प्रतिदिनं वज्रोलीं 'मेहनेन शनैरि' ति श्लोकेनोक्तां सम्यगभ्यसेत्साऽमरोलीति कथ्यते । कापालिकैरिति शेषः । अमरीपातामरी । नस्यपूर्विका वज्रोल्यमरोलीशब्देनोच्यत इत्यर्थः ॥ ९७ ॥

अभ्यासादिति ॥ अभ्यासादमरोल्यभ्यासान्निःसृतां निर्गतां चांद्रीं चंद्रस्येयं चांद्री तां चांद्रीं सुधां विभूत्या भस्मना सह साकं मिश्रयेत्संयोजयेत् । उत्तमांगेषु-शिरःकपालनेत्रस्कंधकंठहृदयभुजादिषु धारयेत् । भस्ममिश्रितां चांद्रीमिति शेषः । दिव्या अतीतानागतवर्तमानव्यवहितविप्रकृष्टपदार्थदर्शनयोग्या दृष्टिर्यस्य स दिव्यदृष्टिर्दिव्यदृक् प्रजायते प्रकर्षेण जायते । अमरीसेवनप्रकारविशेषाः शिवांबुकल्पादवगंतव्याः ॥ ९८ ॥

पुंसो वज्रोलीसाधनमुक्त्वा नार्यास्तदाह ॥ पुंसो बिंदुमिति॥ सम्यगभ्यासस्य सम्यगभ्यसनस्य पाटवं पटुत्वं तस्मात्पुंसः पुरुषस्य बिंदुं वीर्यं समाकुंच्य सम्यगाकृष्य नारी स्त्री यदि रजो वज्रोल्या वज्रोलीमुद्रया रक्षेत् । सापि नारी योगिनी प्रशस्तयोगवती ज्ञेया । पुंसो बिंदुसमायुक्तमिति पाठे तु एतद्रजसो विशेषणम्॥९९॥

॥ भाषा ॥

करत अमरीकूं पान करे और दिन दिन प्रति वज्रोलीकूं अभ्यास करे सो कापालिककी अमरोली कही हें ॥ ९७ ॥

अभ्यासादिति ॥ अमरोलीके अभ्यासतें निकसी चंद्रमाकी सुधा ताय पहली कही जो भस्म तामें मिलायकरकें उत्तम अंग जो मस्तक नेत्र स्कंध हृदय भुजादिकनमें धारण करे तो भूत भविष्य वर्तमान देखवेके योग्य दृष्टि जाकी एसो दिव्यदृष्टि होय जाय ॥९८॥

अब पुरुषकूं वज्रोली साधन कहकरकें अब स्त्रीकूं वज्रोली साधन कहे हें ॥ पुंसो बिंदुमिति ॥ जो स्त्री अभ्यासकी चातुर्यतातें पुरुषके बिंदुकूं खेंचकरकें अपने रजकूं वज्रोली मुद्राकरकें रक्षा करे वा स्त्रीकूं योगिनी नाम योग हे विद्यमान जाके एसी योगवती माननो ॥ ९९ ॥

मू० तस्याः किंचिद्रजो नाशं न गच्छति न संशयः ॥
तस्याः शरीरे नादश्च बिंदुतामेव गच्छति ॥ १०० ॥
स बिंदुस्तद्रजश्चैव एकीभूय स्वदेहगौ ॥
वज्रोल्यभ्यासयोगेन सर्वसिद्धिं प्रयच्छतः ॥ १ ॥

॥ टीका ॥

नारीकृताया वज्रोल्याः फलमाह ॥ तस्या इति॥ तस्या वज्रोल्यभ्यसनशीलाया नार्या रजः किंचित् किमपि स्वल्पमपि नाशं न गच्छति नष्टं न भवति पतनं न प्राप्नोतीत्यर्थः । अत्र संशयो न संदेहो न । तस्या नार्याः शरीरे नादश्च बिंदुतामेव गच्छति मूलाधारादुत्थितो नादो हृदयोपरि बिंदुभावं गच्छति । बिंदुना सहैकीभवतीत्यर्थः । अमृतसिद्धौ । ' बीजं च पौरुषं प्रोक्तं रजश्च स्त्रीसमुद्भवम् । अनयोर्बाह्ययोगेनः सृष्टिः संजायते नृणाम् ॥ यदाभ्यंतरयोगः स्यात्तदा योगीति गीयते । बिंदुश्चंद्रमयः प्रोक्तो रजः सूर्यमयं तथा ॥ अनयोः संगमादेव जायते परमं पदम् । स्वर्गदो मोक्षदो बिंदुर्धर्मदोऽधर्मदस्तथा ॥ तन्मध्ये देवताः सर्वास्तिष्ठंते सूक्ष्मरूपतः ' ॥ इति ॥ १०० ॥

स बिंदुरिति ॥ स पुंसो बिंदुस्तद्रजो नार्या रजश्चैव वज्रोलीमुद्राया अभ्यासो वज्रोल्यभ्यासः स एव योगस्तेनैकीभूय मिलित्वा स्वदेहगौ स्वदेहे गतौ सर्वसिद्धिं प्रयच्छतः दत्तः ॥ १ ॥

॥ भाषा ॥

स्त्रीकरकें करीगई जो वज्रोली ताको फल कहें हें ॥ तस्या इति ॥ वज्रोलीके अभ्यासमें शील स्वभाव जाको ता स्त्रीको रज कछूबी अल्पबी नष्ट पतन नही होय. यामें संदेह नही. ता स्त्रीके शरीरमें नाद बिंदुभावकूं प्राप्त होय जाय. मूलाधारतें उठ्यो जो नाद सो हृदयके उपरि बिंदुकरकें साहित ऐक्य होय हे. पुरुषको बीज और स्त्रीको रज इनको बाहार योग होय ताकरकें तो मनुष्यनकै सृष्टि होय हे. और जब अभ्याससूं भीतर रज बिंदुको योग होय तब वाकूं योगी कहें हें. और बिंदु तो चंद्रमय हे. और रज सूर्यमय हे. इनके संगमतें परम पद होय हे. ये बिंदुसंगम स्वर्ग मोक्ष धर्म इनको देवेवारो हे तेसेंही सूक्ष्मरूपकरकें बिंदु रजके संगममें समग्र देवता स्थित रहें हें ॥ १०० ॥

स बिंदुरिति ॥ पुरुषको बिंदु और स्त्रीको रज ये दोनो वज्रोलीके अभ्यासतें मिलकरकें अपने देहमें प्राप्त होंय तो सर्व सिद्धी देवे हें ॥ १ ॥

मू० रक्षेदाकुंचनादूर्ध्वं या रजः सा हि योगिनी ॥
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद्ध्रुवम् ॥ २ ॥
देहसिद्धिं च लभते वज्रोल्यभ्यासयोगतः ॥
अयं पुण्यकरो योगो भोगे भूक्तेऽपि मुक्तिदः ॥ ३ ॥

अथ शक्तिचालनम् ॥

कुटिलांगी कुंडलिनी भुजंगी शक्तिरीश्वरी ॥
कुंडल्यरुंधती चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः ॥ ४ ॥

॥ टीका ॥

रक्षेदिति ॥ या नार्याकुंचनाद्योनिसंकोचनादूर्ध्वमुपरिस्थाने नीत्वा रजो रक्षेत् । हीति प्रसिद्धं योगशास्त्रे । सा योगिन्यतीतानागतं भूतं भविष्य च वस्तु वेत्ति जानाति । ध्रुवमिति निश्चीतं । खेंऽतरिक्षे चरतीति खेचर्यंतरिक्षचरी भवेत् ॥ २ ॥

देहसिद्धिमिति ॥ वज्रोल्या अभ्यासस्य योगो युक्तिस्तस्माद्देहस्य सिद्धिं रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वरूपां लभंते । अयं योगो वज्रोल्यभ्यासयोगः पुण्यकरोऽदृष्टविशेषजनकः । कीदृशो योगः भुज्यत इति भोगो विषयस्तस्मिन् भुक्तेऽपि मुक्तिदो मोक्षदः ॥ ३ ॥

शक्तिचालनं विवक्षुस्तदुपोद्घाततया कुंडलीपर्यायान् तया मोक्षद्वारविभेदनादिकं चाह सप्तभिः ॥ कुटिलांगीति ॥ कुटिलांगी १ कुंडलिनी २ भुजंगी ३ शक्तिः ४ ईश्वरी ५ कुंडली ६ अरुंधती ७ चैते सप्त शब्दाः पर्यायवाचका एकार्थवाचकाः ॥ ४ ॥

॥ भाषा ॥

रक्षेदिति ॥ जो स्त्री योनिकूं संकोचन करेतें उपरि स्थानमें लेजायकर रजकी रक्षाकरे योगशास्त्रमें वाकूं योगिनी कहें हैं. और वो स्त्री भूत भविष्य वस्तुकूं जाने हे. निश्चय ही और ख जो अंतरिक्ष तामें विचरे एसी नाम वैमानिक गतीकूं प्राप्त होनेवारी होय ॥२॥

देहसिद्धिमिति ॥ वज्रोलीके अभ्यासकी युक्तीतें देहकी सिद्धी कोनसी रूप लावण्य बल वज्रकासो संहननभाव ताय प्राप्त होय ये वज्रोली अभ्यासरूपी योग सो पुण्यको करवेवालो हे फिर कैसो हे योग विषयभोग भोगे हें तोवी ये मोक्षको देवेवारो हे ॥ ३ ॥

अब शक्तिचालन कहें हें ॥ कुटिलांगीति ॥ कुटिलांगी १ कुंडलिनी २ भुजंगी ३ शक्तिः ४ ईश्वरी ५ कुंडली ६ अरुंधती ७ ये सात शब्द एक अर्थके वाचक हे ॥ ४ ॥

मू० उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुंचिकया हठात् ॥
कुंडलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ॥ ५ ॥
येन मार्गेण गंतव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम् ॥
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥ ६ ॥
कंदोर्ध्वे कुंडली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम् ॥
बंधनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित् ॥ ७ ॥

॥ टीका ॥

उद्घाटयेदिति ॥ यथा येन प्रकारेण पुमान् कुंचिकया कपाटार्गलोत्सारणसाधनीभूतया हठाद्बलात्कपाटमररमुद्घाटयेदुत्सारयेत् । हठादिति देहलीदीपन्यायेनोभयत्र संबध्यते । तथा तेन प्रकारेण योगी हठाद्धठाभ्यासात्कुंडलिन्या शक्त्या मोक्षद्वारं मोक्षस्य द्वारं प्रापकं सुषुम्नामार्गं विभेदयेद्विशेषेण भेदयेत् । 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेती' ति श्रुतेः ॥ ५ ॥

येनेति ॥ आमयो रोगजन्यं दुःखं दुःखमात्रोपलक्षणं तस्मान्निर्गतं निरामयं दुःखमात्ररहितं ब्रह्मस्थानं ब्रह्माविर्भावजनकं स्थानं ब्रह्मस्थानं ब्रह्मरंध्रं । 'तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः' इति श्रुतेः । येन मार्गेण सुषुम्नामार्गेण गंतव्यं गमनार्हमस्ति तद्द्वारं तस्य मार्गस्य द्वारं प्रवेशमार्गं मुखेनास्येनाच्छाद्य रुध्वा परमेश्वरी कुंडलिनी । प्रसुप्ता निद्रितास्ति ॥ ६ ॥

कंदोर्ध्वमिति ॥ कुंडली शक्तिः कंदोर्ध्वे कंदस्योपरिभागे योगिनां मोक्षाय सुप्ता मूढानां बंधनाय सुप्ता । योगिनस्तां चालयित्वा मुक्ता भवंति । मूढास्तदज्ञानाद्बद्धास्तिष्ठंतीति भावः । तां कुंडलिनीं यो वेत्ति स योगवित् । सर्वेषां योगतंत्राणां कुंडल्याश्रयत्वादित्यर्थः ॥ ७ ॥

॥ भाषा ॥

उद्घाटयेदिति ॥ जा प्रकारकर पुरुष बलतें कूंचीकरकें किवाड खोले हे तैसें ही योगी हठाभ्यासतें कुंडलिनी शक्तिकरकें मोक्षको द्वार सुषुम्नामार्ग ताय भेदन करे ॥ ५ ॥

येनेति ॥ दुःखमात्रकरकें रहित जो ब्रह्मरंध्र सो जा सुषुम्नाके मार्गकरकें जायवेकूं योग्य ता मार्गको द्वार कुंडलिनीको प्रवेश करवेको मार्ग हे ता मार्गके द्वारकूं अपने मुखकर रोककरकें परमेश्वरी कुंडलिनी सूती हुई स्थित हे ॥ ६ ॥

कंदोर्ध्व इति ॥ कुंडली शक्ति कंदके उपरिभागमें योगीनके मोक्षके अर्थ सूती और

मू० कुंडली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्तिता ॥
सा शक्तिश्चालिता येन स युक्तो नात्र संशयः ॥ ८ ॥
गंगायमुनयोर्मध्ये बालरंडा तपस्विनी ॥
बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ ९ ॥
इडा भगवती गंगा पिंगला यमुना नदी ॥
इडापिंगलयोर्मध्ये बालरंडा च कुंडली ॥ ११० ॥

॥ टीका ॥

कुंडलीति ॥ कुंडली शक्तिः सर्पवद्भुजगवत्कुटिल आकारः स्वरूपं यस्याः सा कुटिलाकारा परिकीर्तिता कथिता योगिभिः । सा कुंडली शक्तिर्येन पुंसा चालिता मूलाधारादूर्ध्वं नीता स मुक्तोऽज्ञानबंधान्निवृत्तः । अत्रास्मिन्नर्थे संशयो न संदेहो नास्तीत्यर्थः । 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेती' ति श्रुतेः ॥ ८ ॥

गंगायमुनयोरिति ॥ गंगायमुनयोराधाराधेयभावेन तयोर्भावनाद्गंगायमुनयोर-भेदेन भावनाद्वा गंगायमुने इडापिंगले तयोर्मध्ये सुषुम्नामार्गे तपस्विनी निरशनस्थितेः। बालरंडां बालरंडाशब्दवाच्यां कुंडलीं बलात्कारेण हठेण गृह्णीयात् । तत्तस्या गंगाय-मुनयोर्मध्ये ग्रहणं विष्णोर्हरेर्व्यापकस्यात्मनो वा परमं पदं परमपदप्रापकम् ॥ ९ ॥

गंगायमुनादिपदार्थमाह ॥ इडेति ॥ इडा वामनिःश्वासा नाडी भगवत्यैश्वर्या-दिसंपन्ना गंगा गंगापदवाच्या पिंगला दक्षिणनिःश्वासा यमुना यमुनाशब्दवाच्या

॥ भाषा ॥

मूढनके बंधनके अर्थ सूती हे योगी वा कुंडलिनीकूं चलायकरकें मुक्त होय हें और मूढ पुरुष कुंडलिनीकूं जाने नही तातें बंधनमें स्थित रहें हें ता कुंडलिनीकूं जो जाने हे सो योगवेत्ता जाननो. क्यों संपूर्ण योगतंत्रनकूं कुंडलीको आश्रयपनो हे ॥ ७ ॥

कुंडलीति ॥ कुंडली शक्ति सर्पकीसीनाई कुटिल हे आकार स्वरूप जाको एसी योगी-नकरकें कही हे कुंडली जा पुरुषने चलायमान करी अर्थात् मुलाधारतें ऊपर प्राप्तकीनी सो मुक्त कहीये हे यामें संदेह नही ॥ ८ ॥

गंगायमुनयोरिति ॥ गंगा यमुना जो इडा पिंगला इनके मध्यमें सुषुम्ना हे सो केसी हे तपस्विनी हे और बालरंडा हे सो ये बलात्कारकरकें कुंडलीकूं ग्रहण करे हे और विष्णु जो हरि व्यापक आत्मा ताको परमपद ताय प्राप्तकी करवेवाली ॥ ९ ॥

गंगायमुना यापदको अर्थ बतावते है. ॥इडेति॥ इडा जो वामश्वासा नाडी भगवती कहा

मू० पुच्छे प्रगृह्य भुजगीं सुप्तामुद्बोधयेच्च ताम् ॥
निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात् ॥ ११ ॥
अवस्थिता चैव फणावती सा प्रातश्च सायं प्रहरार्धमात्रम्॥
प्रपूर्य सूर्यात्परिधानयुक्त्या प्रगृह्य नित्यं परिचालनीया १२
ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरंगुलम् ॥

॥ टीका ॥

नदी । इडापिंगलयोर्मध्ये मध्यगता या कुंडली सा बालरंडा बालरंडाशब्द-वाच्या ॥ ११० ॥

शक्तिचालनमाह ॥ पुच्छे इति ॥ सुप्तां निद्रितां भुजगीं तां कुंडलिनीं पुच्छे प्रगृहीत्वोद्बोधयेत्प्रबोधयेत्सा शक्तिः कुंडली निद्रां विहाय हठादूर्ध्वं तिष्ठत इत्यन्वयः। एतद्रहस्यं तु गुरुमुखादवगंतव्यम् ॥ ११ ॥

अवस्थिता इति ॥ अवस्थितार्वाक् स्थिता मूलाधारस्थिता फणावती भुजंगी सा कुंडलिनी सूर्यादापूर्य सूर्यात्पूरणं कृत्वा परिधाने युक्तिस्तया परिधानयुक्त्या प्रगृह्य गृहीत्वा । सायं सूर्यास्तसमये प्रातः सूर्योदयवेलायां नित्यमहरहः प्रहरस्य यामस्यार्धं प्रहरार्धं प्रहरार्धमेव प्रहरार्धमात्रं मुहूर्तद्वयमात्रं परिचालनीया परितश्चालयितुं योग्या । परिधानयुक्तिर्देशिकाद्बोध्या ॥ १२ ॥

कंदसंपीडनेन शक्तिचालनं विवक्षुरादौ कंदस्य स्थानं स्वरूपं चाह ॥ ऊर्ध्वमिति॥

॥ भाषा ॥

ऐश्वर्यादिकनकर संपन्न हे वाकूं गंगा कहे हें और पिंगला जो दक्षिणश्वासा ताकूं यमुना कहें हें और इडा पिंगलाके जो मध्यमें हे कुंडली सो बालरंडा हे ॥ ११० ॥

अब शक्तिचालन कहें हे ॥ पुच्छे इति ॥ सूती जो भुजंगी कोन कुंडलिनी ताय पूंछ पकडकर बोध करावे फिर वो कुंडलिनी निद्रा छोडकर हठतें ऊपर स्थिर रहे हे ये रहस्य गुरुमुखतें जाननो योग्य हे ॥ ११ ॥

अवस्थिता इति ॥ मूलाधारमें स्थित फल हें विद्यमान जाके भुजंगी सोई कुंडली सूर्यतें पूरणकरकें फिर परिधान युक्ती कर ग्रहणकरकें सूर्यास्तसमयमें और सूर्योदयवेलामें नित्य प्रतिप्रहरको अर्धमात्र च्यार घडीमात्र च्यारोंमेर चलायवेकूं योग्य हे परिधानयुक्ति गुरुमुखतें जाननो योग्य हे ॥ १२ ॥

कंदकूं पीडनकरकें शक्तिचालन कह्यो चांय हें सो आदौ कहिये प्रथम कंदको स्थान

मू० मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टितांबरलक्षणम् ॥ १३ ॥
सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढम् ॥
गुल्फदेशसमीपे च कंदं तत्र प्रपीडयेत् ॥ १४ ॥
वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुंडलीम् ॥

॥ टीका ॥

मूलस्थानाद्वितस्तिमात्रं वितस्तिप्रमाणमूर्ध्वमुपरि नाभिमेढ्रयोर्मध्ये । एतेन कंदस्य स्थानमुक्तं । तथाचोक्तं गोरक्षशतके । "ऊर्ध्वं मेढ्रादधो नाभेः कंदयोनिः खगांडवत् । तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिरि"ति । याज्ञवल्क्यः । "गुदात्तु द्व्यंगुलादूर्ध्वं मेढ्रात्तु द्व्यंगुलादधः । देहमध्यं तनोर्मध्यमनुजानामितीरितम् । कंदस्थानं मनुष्याणां देहमध्यान्नवांगुलम् । चतुरंगुलविस्तारमायामं च तथाविधम् । अंडाकृतिवदाकारभूषितं च त्वगादिभिः । चतुष्पदां तिरश्चां च द्विजानां तुंदमध्यगमि"ति । गुदाद्व्यंगुलोपर्येकांगुलं मध्यं तस्मान्नवांगुलं कंदस्थानं मिलित्वा द्वादशांगुलप्रमाणं वितस्तिमात्रं जातम् । चतुर्णामंगुलीनां समाहारश्चतुरंगुलं चतुरंगुलप्रमाणं विस्तारम् । विस्तारो दैर्घ्यस्याप्युपलक्षणम् । चतुरंगुलं दीर्घं च मृदुलं कोमलं धवलं शुभ्रं वेष्टितं वेष्टनाकारीकृतं यदंबरं वस्त्रं तस्य लक्षणं स्वरूपमिव लक्षणं स्वरूपं यस्य तादृशं प्रोक्तं कथितम् । कंदस्वरूपं योगिभिरिति शेषः ॥ १३ ॥

सतीति ॥ वज्रासने कृते सति कराभ्यां हस्ताभ्यां गुल्फौ पादग्रंथी तयोर्देशौ प्रदेशौ तयोः समीपे गुल्फाभ्यां किंचिदुपरि । 'तद्ग्रंथी घुटिके गुल्फावि'त्यमरः । पादौ चरणौ दृढं गाढं धारयेत् गृह्णीयात् । चकाराद्धृताभ्यां पादाभ्यां तत्र कंदस्थाने कंदं प्रपीडयेत्प्रकर्षेण पीडयेत् । गुल्फादूर्ध्वं कराभ्यां पादौ गृहीत्वा नाभेरधोभागे कंदं पीडयेदित्यर्थः ॥ १४ ॥

वज्रासन इति ॥ वज्रासने स्थितो योगी कुंडलीं चालयित्वा शक्तिचालनमुद्रां

॥ भाषा ॥

स्वरूप ताय कहे हे ॥ ऊर्ध्वमिति ॥ मूलस्थानतें वितस्तिमात्र प्रमाण ऊपरि नाभि और मेढ्र इनके मध्यमें कंदको स्थान हे मनुष्यनके देहके मध्यमें नवांगुल कंदस्थान हे च्यार अंगुल चोडो पक्षीके अंडाकोसो आकार और कोमल हे श्वेत हे वेष्टनकरकें वस्त्राकोसो हे स्वरूप जाको ऐसो योगीनकरकें कंदस्वरूप कह्यो हे ॥ १३ ॥

सतीति ॥ वज्रासनकरकें हस्तसूं एडीनके ऊपर टकनानमें पाम पकडकरकें नाभिके नीचें कंदकूं पीडायमान करे ॥ १४ ॥

वज्रासन इति ॥ वज्रासनमें स्थित जो योगी कुंडलीनीकूं चलायमानकरकें अर्थात्

मू० कुर्यादनंतरं भस्त्रां कुंडलीमाशु बोधयेत् ॥ १५ ॥
भानोराकुंचनं कुर्यात्कुंडलीं चालयेत्ततः ॥
मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ॥ १६ ॥
मुहूर्तद्वयपर्यंतं निर्भयं चालनादसौ ॥
ऊर्ध्वमाकृष्यते किंचित्सुषुम्नायां समुद्गता ॥ १७ ॥
तेन कुंडलिनी तस्याः सुषुम्नाया मुखं ध्रुवम् ॥
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः ॥ १८ ॥

॥ टीका ॥

कृत्वेत्यर्थः । अनंतरं शक्तिचालनानंतरं भस्त्रां भस्त्राख्यं कुंभकं कुर्यात् । एवंरीत्या कुंडलीं शक्तिमाशु शीघ्रं बोधयेत्प्रबुद्धां कुर्यात् । वज्रासने शक्तिचालनस्य पूर्वं विधानेऽपि पुनर्वज्रासनोपपादनं शक्तिचालनानंतरं भस्त्रायां वज्रासनमेव कर्तव्यमिति नियमार्थम् ॥ १५ ॥

भानोरिति ॥ भानोर्नाभिदेशस्थस्य सूर्यस्याकुंचनं कुर्यात् । नाभेराकुंचनेनैव तस्याकुंचनं भवति । ततो भानोराकुंचनात्कुंडलीं शक्तिं चालयेत् । एवं यः करोति मृत्योर्वक्त्रं मुखं गतस्यापि प्राप्तस्यापि तस्य पुंसो मृत्युभयं कालभयं कुतः । न कुतोऽपीत्यर्थः ॥ १६ ॥

मुहूर्तद्वयमिति ॥ मुहूर्तयोर्द्वयं युग्मं घटिकाचतुष्टयात्मकं तत्पर्यंतं तदवधि निर्भयं निःशंकं चालनादसौ शक्तिः सुषुम्नायां समुद्गता सती किंचिदूर्ध्वमाकृष्यते आकृष्टा भवति ॥ १७ ॥

तेनेति ॥ तेनोर्ध्वमाकर्षणेन कुंडली तस्याः प्रसिद्धायाः सुषुम्नाया मुखं प्रवेश-

॥ भाषा ॥

शक्तिचालन मुद्राकरकें ताके पीछें भस्त्रा नाम जो कुंभक ताय करे या रीतकर कुंडली शक्तिकूं शीघ्र बोध करावे अर्थात् जगावे ॥ १५ ॥

भानोरिति ॥ नाभिदेशमें स्थित जो सूर्य ताकूं आकुंचन करे नाभिकूं आकुंचनकरकें ही सूर्यको आकुंचन होय हे सूर्यके आकुंचनतें कुंडली शक्तिकूं चलावे तो मृत्युके मुखमें प्राप्त हुयो जो पुरुष ताकूं कालभय नही होय ॥ १६ ॥

मुहूर्तद्वयमिति ॥ च्यार घडीपर्यंत निर्भय होय चालनतें ये शक्ति सुषुम्नामें उठती सती कछुक ऊपरकूं खिचे हे ॥ १७ ॥

तेनेति ॥ ऊपरकूं खिचवेकरकें कुंडलीनी सुषुम्नाको अपनो प्रवेशको मार्ग ताय निश्चय

मू० तस्मात्संचालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुंधतीम् ॥
तस्याः संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ॥ १९ ॥
येन संचालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम् ॥
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ॥ २० ॥
ब्रह्मचर्यरतस्यैव नित्यं हितमिताशिनः ॥
मंडलाद्दृश्यते सिद्धिः कुंडल्यभ्यासयोगिनः ॥ २१ ॥

॥ टीका ॥

मार्गं ध्रुवं निश्चितं जहाति त्यजति । तस्मान्मार्गत्यागादयं प्राणवायुः स्वतः स्वयमेव सुषुम्नां व्रजति गच्छति । सुषुम्नामुखात्प्रागेव कुंडलिन्या निर्गतत्वादिति भावः ॥ १८ ॥

तस्मादिति ॥ यस्माच्छक्तिचालनेन प्राणः सुषुम्नां व्रजति तस्मात्सुखेन सुप्ता सुखसुप्ता तां सुखसुप्तामरुंधतीं शक्तिं नित्यं प्रतिदिनं संचालयेत्सम्यक् चालयेत् । तस्याः शक्तेः संचालनेनैव संचालनमात्रेण योगी रोगैः कासश्वासजरादिभिः प्रमुच्यते प्रकर्षेण मुक्तो भवति ॥ १९ ॥

येनेति ॥ येन योगिना शक्तिः कुंडली संचालिता स योगी सिद्धीनामणिमादीनां भाजनं पात्रं भवति । अत्रास्मिन्नर्थे बहुक्तेन बहुप्रशंसनेन किं । न किमपीत्यर्थः । कालं मृत्युं लीलया क्रीडयानायासेनैव जयत्यभिभवतीत्यर्थः ॥ २० ॥

ब्रह्मचर्येति ॥ ब्रह्मचर्यं श्रोत्रादिभिः सहोपस्थसंयमस्तस्मिन् रतस्य तत्परस्य

॥ भाषा ॥

त्याग करे हे ता मार्गके त्यागतें ये प्राणवायु आपसूं आपही सुषुम्नामें गमन करे हे ॥ १८ ॥

तस्मादिति ॥ तातें सुखकरकें सुती अरुंधती जो कुंडली ताय दिनदिनप्रति नित्य चलावे ता शक्तिके चलायवे मात्रकरकें योगी रोग जो कास श्वास जरादिकनकरकें छुट जाय ॥ १९ ॥

येनेति ॥ जा योगीकरकें शक्ति कुंडली चालन करी जाय वो योगी अणिमादिक सिद्धीनको पात्र होय हे यामें बहोत प्रशंसाकरकें कहा हे कालकूं सहजही जीतले अर्थात् तिरस्कार कर दे ॥ २० ॥

ब्रह्मचर्येति ॥ श्रोत्रादिक इंद्रीनकरकें सहित उपस्थ इंद्रीको रोकनो तामें तत्पर होय नित्य हित पथ्य करे होय प्रमाणको चतुर्थांशकर वर्जित एसो भोजन करे कुंडली शक्ती

मू० कुंडलीं चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद्विशेषतः ॥
एवमभ्यसतो नित्यं यमिनो यमभीः कुतः ॥ २२ ॥
द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधने ॥
कुतः प्रक्षालनोपायः कुंडल्यभ्यसनादृते ॥ २३ ॥
इयं तु मध्यमा नाडी दृढाभ्यासेन योगिनाम् ॥

॥ टीका ॥

नित्यं सर्वदा हितं पथ्यं मितं चतुर्थांशवर्जितमश्नातीति तस्य कुंडल्यभ्यासः शक्तिचालनाभ्यासः स एव योगः सोऽस्यास्तीति स तथा तस्य मंडलाच्चत्वारिंशद्दिनात्मकादनंतरं सिद्धिः प्राणायामसिद्धिर्दृश्यते ॥ "नासादक्षिणमार्गवाहिपवनात्प्राणोऽतिदीर्घीकृतश्चंद्राभः परिपूरितामृततनुः प्राग्घंटिकायास्ततः । छित्वा कालविशालवह्निवशगं भ्रूरंध्रनाडीगतं तत्कायं कुरुते पुनर्नवतरं छिन्नं ध्रुवं स्कंधवत्" ॥ २१ ॥

कुंडलीमिति ॥ कुंडलीं चालयित्वा शक्तिचालनं कृत्वा । अथानंतरमेव भस्त्रां भस्त्राख्यं कुंभकं कुर्यात् । नित्यं प्रतिदिनं । एवमुक्तप्रकारेणाभ्यसतो यमिनो योगिनो यमभीर्यमाद्भयं कुतः । न कुतोऽपीत्यर्थः । योगिनो देहत्यागस्य स्वाधीनत्वादिति तात्पर्यम् ॥ २२ ॥

द्वासप्ततीति ॥ द्वाभ्यामधिका सप्ततिः द्वासप्ततिसंख्याकानि सहस्राणि द्वासप्ततिसहस्राणि तेषां तत्संख्याकानां नाडीनां मलशोधने कर्तव्ये सति कुंडल्यभ्यसनाच्छक्तिचालनाभ्यासादृते विना कुतः प्रक्षालनोपायः । न कुतोऽपि । शक्तिचालनाभ्यासेनैव सर्वासां नाडीनां मलशोधनं भवतीत्यभिप्रायः ॥ २३ ॥

इयं त्विति ॥ इयं मध्यमा नाडी सुषुम्ना योगिनां दृढाभ्यासेनासनं स्वस्तिकादि

॥ भाषा ॥

चालनको अभ्यास सोई हे योग जाके ता एसे योगीकूं चालीस दिनको मंडल ताके अनंतर प्राणायामसिद्धी दीखे हे ॥ २१ ॥

कुंडलीमिति ॥ शक्तिचालनकरकें ता पीछैं भस्त्रानाम कुंभक करे नित्य या प्रकारकरकें अभ्यास कर रह्यो जो योगी ताकूं यमराजतें भय नही होय योगीकूं देहत्याग करनो स्वाधीनपनो हे यातें ॥ २२ ॥

द्वासप्ततीति ॥ बहत्तर हज्जार नाडीनको मलशोधन कियो चाहैं तो शक्तिचालनके अभ्यास विना मलशोधनको उपाय नही होय. शक्तिचालनके अभ्यासकरकें ही संपूर्ण नाडीनको मलशोधन होय हे ॥ २३ ॥

इयं त्विति ॥ योगिनकूं दृढ अभ्यासकरकें आसन प्राणायाम महामुद्रादिकनकरकें ये

मू० आसनप्राणसंयाममुद्राभिः सरला भवेत् ॥ २४ ॥
अभ्यासे तु विनिद्राणां मनो धृत्वा समाधिना ॥
रुद्राणी वा यदा मुद्रा भद्रां सिद्धिं प्रयच्छति ॥ २५ ॥
राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा ॥
राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापि न शोभते ॥ २६ ॥

॥ टीका ॥

प्राणसंयामः प्राणायामः मुद्रा महामुद्रादिका तैः सरला ऋज्वी भवेत् ॥ २४ ॥

अभ्यास इति ॥ समाधिनेतरवृत्तिनिरोधरूपेणैकाग्र्येण मनो धृत्वांतःकरणं धारणानिष्ठं कृत्वाभ्यासे मनःस्थितौ यत्ने विगता निद्रा येषां ते तथा तेषां । निद्रापदमालस्योपलक्षणम् । अनलसानामित्यर्थः । रुद्राणी शांभवी मुद्रा वा अथवा परान्या उन्मन्यादिका भद्रां शुभां सिद्धिं योगसिद्धिं प्रयच्छति ददाति । एतेन हठयोगोपकारको राजयोगः प्रोक्तः ॥ २५ ॥

राजयोगं विना आसनादीनां वैयर्थ्यमौपचारिकश्लेषेणाह ॥ राजयोगमिति ॥ वृत्त्यंतरनिरोधपूर्वकात्मगोचरधारावाहिकनिर्विकल्पकवृत्ती राजयोगः । ' हठं विना राजयोगः ' इत्यत्र सूचितस्तत्साधनाभ्यासो वा तं विना तमृते पृथ्वीशब्देन स्थैर्यगुणः राजयोगादासनं लक्ष्यते । राजयोगं विना परमपुरुषार्थफलासिद्धेरिति हेतुरग्रेऽपि योजनीयः राजयोगं विना निशेव निशा कुंभको न राजते निशायां प्रायेण राजजनसंचाराभावात् । निशाशब्देन प्राणसंचाराभावलक्षणः कुंभको लक्ष्यते । राजयोगं विना मुद्रा महामुद्रादिरूपा विचित्रापि विविधापि विलक्षणापि वा न राजते न शोभते । पक्षांतरे । राज्ञो नृपस्य योगो राजयोगो राजसंबंधस्तं विना पृथ्वी भूमिर्न राजते । शास्तारं विना भूमौ नानोपद्रवसंभवात् । राजा

॥ भाषा ॥

मध्यमा नाडी सुषुम्ना सरल होय है ॥ २४ ॥

अभ्यास इति ॥ समाधि जो एकाग्रकरकें मनकूं अभ्यासमें धारणकरकें गई है निद्रा आलस्य जिनको तिनकुं रुद्राणी मुद्रा जो कुंडली सो शुभ जो योगसिद्धी ताय देवे हे ॥२५॥

राजयोगमिति ॥ राजयोग विना आसन नही शोभाकूं प्राप्त होय हें और राजयोग विना निशा जो कुंभक सो नही शोभे हे. राजयोग विना चित्रविचित्र मुद्रा नही शोभे हे ॥ २६ ॥

मू० मारुतस्य विधिं सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत् ॥
इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा ॥ २७ ॥
इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शंभुना ॥
एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी ॥ २८ ॥
उपदेशं हि मुद्राणां यो दत्ते सांप्रदायिकम् ॥
स एव श्रीगुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः ॥ २९ ॥

॥ टीका ॥

चंद्रः । 'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजे'ति श्रुतेः । तस्य योगं संबंधं विना निशा रात्रिर्न राजते । राजयोगं विना नृपसंबंधं विना मुद्रा राजभिः पत्रेषु क्रियमाणश्चिह्नविशेषः । विचित्रापि । पृथ्वीपक्षे रत्नादिजनकत्वेन विलक्षणापि । निशापक्षे ग्रहनक्षत्रादिभिर्विचित्रापि । मुद्रापक्षे रेखाभिर्विचित्रापि न राजते ॥ २६ ॥

मारुतस्येति ॥ मारुतस्य वायोः सर्वं विधिं कुंभकमुद्राविधानं मनोयुक्तं मनसा युक्तं समभ्यसेत्सम्यगभ्यसेत् । मनीषिणा बुद्धिमता पुंसा इतरत्र मारुतस्य विधेरन्यस्मिन्विषये मनोवृत्तिर्मनसो वृत्तिः प्रवृत्तिर्न कर्तव्या न कार्या ॥ २७ ॥

मुद्रा उपसंहरति ॥ इतीति ॥ आदिनाथेन सर्वेश्वरेण शंभुना शं सुखं भवत्यस्मादिति शंभुस्तेन । इत्युक्तरीत्या दश दशसंख्याका मुद्राः प्रोक्ताः कथिताः । तासु मुद्रासु मध्ये एकैकापि प्रत्येकमपि याकाचन मुद्रा यमिनां यमवतां योगिनां महासिद्धिप्रदायिन्यणिमादिप्रदात्री वा ॥ २८ ॥

मुद्रोपदेष्टारं गुरुं प्रशंसति ॥ उपदेशमिति ॥ यः पुमान्मुद्राणां महामुद्रादीनां

॥ भाषा ॥

मारुतस्येति ॥ मारुत जो वायु ताकी सर्वविधि कुंभक मुद्रा विधान सो मनकरकें युक्त अभ्यास करे बुद्धिमान पुरुषकरकें प्राणायाम विधितें और विषयमें मनकी वृत्तिकी प्रवृत्ति नही करनो योग्य हे ॥ २७ ॥

इतीति ॥ आदिनाथ सर्वेश्वर शंभुकरकें दश मुद्रा कही हें तिन मुद्रानमें एक एक मुद्रा योगीनकूं महासिद्धी जो अणिमादिक तिनकी देवेवारी हें ॥ २८ ॥

उपदेशमिति ॥ जो पुरुष महामुद्रादिकनकी संप्रदाय जो योगीनकी गुरुपरंपरातें उपदेश देवे सो पुरुष सर्वगुरूनतें श्रेष्ठ स्वामी सोही साक्षात् प्रत्यक्ष ईश्वर हें ॥ २९ ॥

मू० तस्य वाक्यपरो भूत्वा मुद्राभ्यासे समाहितः ॥
अणिमादिगुणैः सार्धं लभते कालवंचनम् ॥ १३० ॥
इति श्रीस्वात्मरामयोगींद्रविरचितायां हठप्रदीपिकायां
मुद्राविधानंनाम तृतीयोपदेशः ॥ ३ ॥

॥ टीका ॥

संप्रदायाद्योगिनां गुरुपरंपरारूपादागतं सांप्रदायिकमुपदेशं दत्ते ददाति । स एव स पुमानेव श्रीगुरुः श्रीमान् गुरुः सर्वगुरुभ्यः श्रेष्ठ इत्यर्थः । स्वामी प्रभुः स एव साक्षात्प्रत्यक्ष ईश्वर एव सः । ईश्वराभिन्न एव स इत्यर्थः ॥ २९ ॥

तस्येति ॥ तस्य मुद्राणामुपदेष्टुर्गुरोर्वाक्यपरो वाक्यमासनकुंभकाद्यनुष्ठानविषयकं युक्ताहारविहारचेष्टादिविषयकं च तस्मिन् परस्तत्परः तत्परश्चादरवान् । आदरश्च विहिततपःकरणं भूत्वा संभूय मुद्राणां महामुद्रादीनामभ्यासः पौनःपुन्येनावर्तनं तस्मिन् मुद्राभ्यासे समाहितः सावधानः पुरुषोऽणिमादिगुणैरणिमादिसिद्धिभिः सार्धं सार्कं कालस्य मृत्योर्वंचनं प्रतारणं लभते प्राप्नोति ॥ १३० ॥

इति श्रीहठप्रदीपिकाव्याख्यायां ब्रह्मानंदकृतायां ज्योत्स्नाभिधायां मुद्राकथनं नाम तृतीयोपदेशः ॥ ३ ॥

॥ भाषा ॥

तस्येति ॥ मुद्रानको उपदेशकर्त्ता गुरूको वाक्य जो आसन कुंभकादिकनको करवेकी रीत योग्य आहार विहार चेष्टादिक विषयरूप जो वाक्य तामें तत्पर आदरवान् होयकरके महामुद्रादिकनको अभ्यास तामें सावधान होय अणिमादिक सिद्धीनकरकें सहित काल जो मृत्यु ताको वंचन जो तिरणो सो प्राप्त होय ॥ १३० ॥

इति श्रीहठप्रदीपिकाभाषाव्याख्यायां मुद्राकथनंनाम तृतीयोपदेशः ॥ ३ ॥

मू० नमः शिवाय गुरवेनादबिंदुकलात्मने ॥
निरंजनपदं याति नित्यं यत्र परायणः ॥ १ ॥
अथेदानीं प्रवक्ष्यामि समाधिक्रममुत्तमम् ॥
मृत्युघ्नं च सुखोपायं ब्रह्मानंदकरं परम् ॥ २ ॥

॥ टीका ॥

प्रथम द्वितीयतृतीयोपदेशोक्तानामासनकुंभकमुद्राणां फलभूतं राजयोगं विवक्षुः स्वात्मारामः श्रेयांसि बहुविघ्नानीति तत्र विघ्नबाहुल्यस्य संभवात्तन्निवृत्तये शिवाभिन्नगुरुनमस्कारात्मकं मंगलमाचरति ॥ नम इति ॥ शिवाय सुखरूपायेश्वराभिन्नाय वा । तदुक्तं । 'नमस्ते नाथ भगवन् शिवाय गुरुरूपिणे' इति । गुरवे देशिकाय यद्वा गुरवे सर्वांतर्यामितया निखिलोपदेष्ट्रे शिवायेश्वराय । तथा च पातंजलसूत्रं । 'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' । नमः षष्ठी भावोऽस्तु । कीदृशाय शिवाय गुरवे नादबिंदुकलात्मने कांस्यघंटानिर्ह्रादवदनुरणनं नादः । बिंदुरनुस्वारोत्तरभावी ध्वनिः । कला नादैकदेशस्ता आत्मा स्वरूपं यस्य स तथा तस्मै । नादबिंदुकलात्मना वर्तमानायेत्यर्थः । तत्र नादबिंदुकलात्मनि शिवे गुरौ नित्यं प्रतिदिनं परायणोऽवहितः पुमान् । एतेन नादानुसंधानपरायण इत्युक्तं पूर्वपादेन गुरुशिवयोरभेदश्च सूचितः । अंजनं मायोपाधिस्तद्रहितं निरंजनं शुद्धं पद्यते गम्यते योगिभिरिति पदं ब्रह्म याति प्राप्नोति । तथा च वक्ष्यति । 'नादानुसंधानसमाधिभाजमि'त्यादिना ॥ १ ॥

समाधिक्रमं प्रतिजानीते ॥ अथेति ॥ अथासनकुंभकमुद्राकथनानंतरमिदानीम-

॥ भाषा ॥

प्रथम द्वितीय तृतीय जे उपदेश तिनमें कहे आसन कुंभक मुद्रा इनको फलभूत राजयोग ताय कह्यो चांहे एसे स्वात्माराम हें सो विघ्नकी निवृत्तीके अर्थ शिवजी और गुरु इनमें अभेद जितायो जामें एसो गुरुनमस्काररूप मंगल आचरण करें हें ॥ नमः शिवायेति ॥ सुखरूप ईश्वरतें अभिन्न और गुरू कहिये उपदेशके देवेवारे एसे शिवस्वरूप जो गुरू तिनके अर्थ नमस्कार हो केसे हें शिवरूप गुरू घंटानादको सो शब्द जाको एसो नादबिंदु जो अनुस्वार और कला नादको एकदेश ये हे आत्मा कहिये स्वरूप जाको और शिवस्वरूप गुरूनमें नित्यप्रति परायण जो पुरुष सो मायाकी उपाधिरहित शुद्ध योगीनकरकें प्राप्त होयवेके योग्य पद जो ब्रह्मपद ताय प्राप्त होय ॥ १ ॥

अथेति ॥ आसन कुंभक मुद्रा इनके कहेके अनंतर अब प्रत्याहारादिरूप समाधि-

॥ टीका ॥

स्मिन्नवसरे समाधिक्रमं प्रत्याहारादिरूपं प्रवक्ष्यामि प्रकर्षेण विविच्य वक्ष्यामी-त्यन्वयः । कीदृशं समाधिक्रमं । उत्तमं श्रीआदिनाथोक्तसंपादनकोटिसमाधिप्र-कारेषूत्कृष्टं । पुनः कीदृशं मृत्युं कालं हंति निवारयतीति मृत्युघ्नं स्वेच्छया देह-त्यागजनकं तत्त्वज्ञानोदयमनोनाशवासनाक्षयैः सुखस्य जीवन्मुक्तिसुखस्योपायं प्राप्तिसाधनं पुनः कीदृशं परं ब्रह्मानंदकरं प्रारब्धकर्मक्षये सति जीवब्रह्मणोरभेदे नात्यंतिकब्रह्मानंदप्राप्तिरूपविदेहमुक्तिकरं । तत्र निरोधः समाधिना चित्तस्य ससं-स्काराशेषवृत्तिनिरोधे शांतघोरमूढावस्थानिवृत्तौ ' जीवन्नेवेह विद्वान् हर्षशोकाभ्यां विमुच्यते ' इत्यादिश्रुत्युक्तनिर्विकारस्वरूपावस्थितिरूपा जीवन्मुक्तिर्भवति । परम-मुक्तिस्तु प्राप्तभोगांतेऽतःकरणगुणानां प्रतिप्रसवेनौपाधिकरूपात्यंतिकनिवृत्तावा-त्यंतिकं स्वरूपावस्थानं प्रतिप्रसवासिद्धं । व्युत्थाननिरोधसमाधिसंस्कारा मनसि लीयंते । मनोऽस्मितायामस्मिता महति महान् प्रधान इति चित्तगुणानां प्रति-प्रसवः प्रतिसर्गः स्वकारणे लयः । ननु जीवन्मुक्तस्य व्युत्थाने ब्राह्मणोऽहं मनुष्योऽहमित्यादिव्यवहारदर्शनाच्चित्तादिभिरौपाधिकभावजननादम्लेन दुग्धस्येव स्वरूपच्युतिः स्यादिति चेन्न । संप्रज्ञातसमाधावनुभूतात्मसंस्कारस्य तात्त्विकत्वनि-श्चयात् । अतात्त्विकान्यथाभावस्याविकारित्वाप्रयोजकत्वात् । अम्लेन दुग्धस्य दधिभावस्तु तात्त्विक इति । दृष्टांतवैषम्याच्च पुरुषस्य त्वंतःकरणोपाधिकोऽहं ब्रा-ह्मण इत्यादिव्यवहारः स्फटिकस्य जपाकुसुमसन्निधानोपाधिरूपक एव न तात्त्वि-कः । जपाकुसुमापगमे स्फटिकस्य स्वस्वरूपस्थितिवदंतःकरणस्य सकलवृत्तिनिरोधे स्वरूपावस्थितिरच्युतैव पुरुषस्य ॥ २ ॥

॥ भाषा ॥

क्रम ताय विवेचनाकरके कहूं हूं केसो हे समाधिक्रम श्री आदिनाथने कहे संपादन करे कोटिन समाधिके प्रकार तिनमें श्रेष्ठ हे फिर केसो हे समाधिक्रम मृत्यु जो काल ताकूं निवारण करे योगी समाधिके प्रभावतेंही अपनी इच्छापूर्वक देहत्याग करे हे और तत्त्वज्ञानको उदय मनको वासनाको क्षय इनकरके जीवन्मुक्ति सुखको उपाय कहा प्रा-प्तीको साधन हे फिर केसो हे समाधिक्रम प्रारब्ध कर्मको क्षय होय फिर जीव और ब्र-ह्मको भेद दूर होय फिर आत्यंतिक ब्रह्मानंदकी प्राप्तिको करवेवारो हे ॥ २ ॥

मू० राजयोग समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी ॥
अमरत्वं लयस्तत्त्वं शून्याशून्यं परं पदम् ॥ ३ ॥
अमनस्कं तथाद्वैतं निरालंबं निरंजनम् ॥
जीवन्मुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचकाः ॥ ४ ॥
सलिले सैंधवं यद्वत्साम्यं भजति योगतः ॥
तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते ॥ ५ ॥
यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते ॥
तदा समरसत्वं च समाधिरभिधीयते ॥ ६ ॥
तत्समं च द्वयोरैक्यं जीवात्मापरमात्मनोः ॥
प्रनष्टसर्वसंकल्पः समाधिः सोऽभिधीयते ॥ ७ ॥

॥ टीका ॥

समाधिपर्यायान् विशेषेणाह ॥ राजयोग इत्यादिना श्लोकद्वयेन ॥ स्पष्टम् ३।४ त्रिभिःसमाधिमाह ॥ सलिल इति ॥ यदेति ॥ तत्सममिति ॥ यद्वद्यथा सैंधवं सिंधुदेशोद्भवं लवणं सलिले जले योगतः संयोगात्साम्यं सलिलसाम्यं सलिलैक्यत्वं भजति प्राप्नोति तथा तद्वदात्मा च मनश्चात्ममनसी तयोरात्ममनसोरैक्यमेकाकारता । आत्मनि धारितं मन आत्माकारं सदात्मसाम्यं भजति तादृशमात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते समाधिशब्देनोच्यत इत्यर्थः ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥

॥ भाषा ॥

अब समाधिके पर्याय कहें हें ॥ राजयोगेति श्लोकद्वयेन ॥ राजयोग, समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्वं, लय, शून्याशून्यपरंपद ॥ ३ ॥ अमनस्क, अद्वैत, निरालंब, निरंजन, जीवन्मुक्ति, सहजा और तुर्या ये सब समाधीकेही वाचक हें ये भेद आगे कहे हें ॥ ४ ॥

सलिल इति ॥ यदेति ॥ तत्सममिति ॥ जेसें सिंधुदेशमें हुयो सो सेंधव लवण सो जलमें योगकरकें जलकोई समान भाव होय जाय हे तेसेंही आत्मामें लगायो जो मन सो आत्माकी समान होय हे और आत्मा और मन इनके ऐक्य होनो ताकूं समाधी कहे हें ॥ ५ ॥ जब प्राण क्षीण होय मनमें लीन होय तब अमरभावकूं प्राप्त होय ताकूंबी समाधि कहें हें ॥ ६ ॥ और जीवात्मा और परमात्माको सम ऐक्यभाव होय हे तब नष्ट होय हें सर्व संकल्प जाके ताकूं समाधि कहें हें ॥ ७ ॥

मू० राजयोगस्य माहात्म्यं को वा जानाति तत्त्वतः ॥
ज्ञानं मुक्तिः स्थितिः सिद्धिर्गुरुवाक्येन लभ्यते ॥ ८ ॥
दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम् ॥
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना ॥ ९ ॥
विविधैरासनैः कुंभैर्विचित्रैः करणैरपि ॥
प्रबुद्धायां महाशक्तौ प्राणः शून्ये प्रलीयते ॥ १० ॥

॥ टीका ॥

अथ राजयोगप्रशंसा ॥ राजयोगस्येति ॥ राजयोगस्यानंतरमेवोक्तस्य माहात्म्यं प्रभावं तत्त्वतो वस्तुतः को वा जानाति । न कोऽपि जानातीत्यर्थः । तत्त्वतो वक्तुमशक्यत्वेऽप्येकदेशेन राजयोगप्रभावमाह । ज्ञानं स्वस्वरूपापरोक्षानुभवे मुक्तिर्विदेहमुक्तिः स्थितिर्निर्विकारस्वरूपावस्थितिरूपा जीवन्मुक्तिः सिद्धिरणिमादिर्गुरुवाक्येन गुरुवचसा लभ्यते । राजयोगादिति शेषः ॥ ८ ॥

दुर्लभ इति ॥ विशेषेण षिण्वंत्यवबध्नंति प्रमातारं स्वसंगेनेति विषया ऐहिका दारादय आमुष्मिकाः सुधादयस्तेषां त्यागो भोगेच्छाभावो दुर्लभः । तत्त्वदर्शनमात्मापरोक्षानुभवः दुर्लभं सहजावस्था तुर्यावस्था सद्गुरोः 'दृष्टिः स्थिरा यस्य विनैव दृश्यमि' ति वक्ष्यमाणलक्षणस्य करुणां दयां विनेति सर्वत्र संबध्यते। दुर्लभा लब्धुमशक्या 'दुः स्यात्कष्टनिषेधयोरि' ति कोशः । गुरुकृपया तु सर्वं सुलभमिति भावः ॥ ९ ॥

विविधैरिति ॥ विविधैरनेकविधैरासनैर्मत्स्येंद्रादिपीठैर्विचित्रैर्नानाविधैः कुंभकैः । विचित्रैरिति काकाक्षिगोलकन्यायेनोभयत्र संबध्यते । विचित्रैरनेकप्रकारैः करणैर्हठसिद्धौ प्रकृष्टोपकारकैर्महामुद्रादिभिर्महाशक्तौ कुंडलिन्यां प्रबुद्धायां गत-

॥ भाषा ॥

अब राजयोगकी प्रशंसा कहें हें ॥ राजयोगस्येति ॥ राजयोगको माहात्म्य जो प्रभाव ताय तत्वकरकें कोई नही जाने हे. ज्ञानमुक्ति स्थिति जो जीवन्मुक्ति और सिद्धी जो अणिमादिक ये सब गुरूनके वाक्यकरकें राजयोगतें प्राप्त होय हे ॥ ८ ॥

दुर्लभ इति ॥ उत्तम गुरूनकी कृपाबिना विषय त्याग भोगवेकी इच्छाको अभाव दुर्लभ हे. तत्वदर्शन आत्माको परोक्ष अनुभव दुर्लभ हे. सहजावस्था जो तुर्यावस्था सोबी दुर्लभ हे. और गुरुकी कृपाकरकें तो संपूर्ण सुलभ है ॥ ९ ॥

विविधैरिति ॥ नानाप्रकारके आसन मत्स्येंद्रादिक और नानाप्रकारके कुंभक और

मू० उत्पन्नशक्तिबोधस्य त्यक्तनिःशेषकर्मणः ॥
योगिनः सहजावस्था स्वयमेव प्रजायते ॥ ११ ॥
सुषुम्नावाहिनि प्राणे शून्ये विशति मानसे ॥
तदा सर्वाणि कर्माणि निर्मूलयति योगवित् ॥ १२ ॥

॥ टीका ॥

निद्रायां सत्यां प्राणो वायुः शून्ये ब्रह्मरंध्रे प्रलीयते प्रलयं प्राप्नोति । व्यापाराभावः प्राणस्य प्रलयः ॥ १० ॥

उत्पन्नेति ॥ उत्पन्नो जातः शक्तिबोधः कुंडलीबोधो यस्य तस्य त्यक्तानि परिहृतानि निःशेषाणि समग्राणि कर्माणि येन तस्य योगिनः । आसनेन कायिकव्यापारे त्यक्ते प्राणेंद्रियेषु व्यापारस्तिष्ठति । प्रत्याहारधारणाध्यानसंप्रज्ञातसमाधिभिर्मानसिकव्यापारे त्यक्ते बुद्धौ व्यापारस्तिष्ठति 'असंगो ह्ययं पुरुषः' इति श्रुतेरपरिणामी शुद्धः पुरुषः सत्त्वगुणात्मिका परिणामिनि बुद्धिरिति ॥ ११ ॥

परवैराग्येण दीर्घकालसंप्रज्ञाताभ्यासेनैव वा बुद्धिव्यापारे परित्यक्ते निर्विकारस्वरूपावस्थितिर्भवति सैव सहजावस्था तुर्यावस्था जीवन्मुक्तिः स्वयमेव प्रयत्नांतरं विनैव प्रजायते प्रादुर्भवति । 'येन त्यजसि तत्त्यजेति निःसंगः प्रज्ञया भवेदि' ति च श्रुतेः । सुषुम्नेति ॥ प्राणे वायौ सुषुम्नावाहिनि मध्यनाडीप्रवाहिनि सति

॥ भाषा ॥

नानाप्रकारकी महामुद्रादिक इनकरकें महाशक्ति जो कुंडलिनी सो जब जाग उठे हे तब प्राणवायु शून्य जो ब्रह्मरंध्र तामें लयकूं प्राप्त होय हे ॥ १० ॥

उत्पन्नेति ॥ उत्पन्न हुयो हे कुंडलीको बोध जिनके दूर किये हें समग्र कर्म जाने ता योगीके आसनकरकें देहके व्यापार दूर होय जाय और प्राणेंद्रिय इनमें व्यापार स्थित रहे हे और प्रत्याहार धारणा ध्यान संप्रज्ञात समाधि इनकरकें मनके व्यापार दूर होय जाय तब बुद्धीमें व्यापार स्थित रहे हें तब सत्वगुणरूपा बुद्धी होय हे वैराग्यकरकें दीर्घ काल संप्रज्ञातके अभ्यासकरकें बुद्धीके व्यापार दूर होय जाय तब निर्विकार स्वरूपमें स्थिति होय हे याकूं सहजाऽवस्था कहें हे. और याहीकूं तुर्यावस्था कहें हें और या योगीकूं जीवन्मुक्ति अपने आप और यत्नकरे विनाई प्राप्त होय हे ॥ ११ ॥

सुषुम्नेति ॥ और जब प्राणवायु सुषुम्ना जो मध्यनाडी तामें चलन लगे हे तब अंतःकरण शून्य जो ब्रह्म तामें प्रवेश करजाय ता कालमें योगवेत्ता संपूर्ण जे प्रारब्धकर्म तिनें निर्मूल करे हे ॥ १२ ॥

मू० अमराय नमस्तुभ्यं सोऽपि कालस्त्वया जितः ॥
पतितं वदने यस्य जगदेतच्चराचरम् ॥ १३ ॥
चित्ते समत्वमापन्ने वायौ व्रजति मध्यमे ॥
तदामरोली वज्रोली सहजोली प्रजायते ॥ १४ ॥
ज्ञानं कुतो मनसि संभवतीह ताव-
त्प्राणोऽपि जीवति मनोम्रियते न यावत् ॥

॥ टीका ॥

मानसेंऽतःकरणे शून्ये देशकालवस्तुपरिच्छेदहीने ब्रह्मणि विशति सति तदा तस्मिन् काले योगविच्चित्तवृत्तिनिरोधज्ञः सर्वाणि कर्माणि समारब्धानि निर्मूलानि करोति निर्मूलयति निर्मूलशब्दा 'तत्करोती'ति णिच् ॥ १२ ॥

समाध्यभ्यासेन प्रारब्धकर्मणोऽप्यभिभवाज्जितकालं योगिनं नमस्करोति ॥ अमरायेति ॥ न म्रियत इत्यमरः । तस्मा अमराय चिरंजीविने तुभ्यं योगिने नमः। सोऽपि दुर्वारोऽपि कालो मृत्युस्त्वया योगिना जितोऽभिभूतः । इदं वाक्यं नमस्करणे हेतुः । स कः यस्य कालस्य वदने मुखे एतदृश्यमानं चराचरं स्थावरजंगमं जगत्संसारः पतितः । सोऽपि जगद्भक्षकोऽपीत्यर्थः ॥ १३ ॥

पूर्वोक्तममरोल्यादिकं समाधिसिद्धावेव सिद्ध्यतीति समाधिनिरूपणानंतरं समाधिसिद्धौ तत्सिद्धिरित्याह ॥ चित्त इति ॥ चित्तेंऽतःकरणे समत्वं ध्येयाकारवृत्तिप्रवाहत्वं आपन्ने प्राप्ते सति वायौ प्राणे मध्यमे सुषुम्नायां व्रजति सतीति चित्तसमत्वे हेतुः । तदा तस्मिन् काले अमरोली वज्रोली सहजोली च पूर्वोक्ताः प्रजायंते नाजितप्राणस्य न चाजितचित्तस्य सिद्ध्यंतीति भावः ॥ १४ ॥

हठाभ्यासं विना ज्ञानं मोक्षश्च न सिद्ध्यतीत्याह ॥ ज्ञानमिति ॥ यावत्प्राणो

॥ भाषा ॥

अब समाधिके अभ्यासकरकें प्रारब्धकर्मकूं तिरस्कार करे हे यातें जीत्यो हे काल जाने ता योगीकूं नमस्कार करें हें ॥ अमरायेति ॥ जा कालके मुखमें थावर जंगम सहित संसार पड्यो हे वो काल जगतकूं भक्षण करे हे और काऊतें निवारण नहीं होय सो काल मृत्यु तुम योगीनकरकें तिरस्कार कियो गयो एसे अमरयोगी जो तुम ता तुह्मारे अर्थ नमस्कार हो॥ १३॥

चित्त इति ॥ चित्तजो अंतःकरण सो आत्मामें समभावकूं प्राप्त होय जाय और प्राणवायु सुषुम्नामें चलवे लगजाय तब अमरोली वज्रोली सहजोली प्रगट होय हें ॥ १४ ॥

हठाभ्यास विना ज्ञान मोक्ष नही सिद्ध होय हे ये कहें हें ॥ ज्ञानमिति ॥ इडा पिंग-

मू० प्राणो मनो द्वयमिदं विलयं नयेद्यो
मोक्षं स गच्छति नरो न कथंचिदन्यः ॥ १९ ॥

॥ टीका ॥

जीवति । अपिशब्दादिंद्रियाणि जीवंति न तु म्रियंते । यावन्मनो न म्रियते किंतु जीवत्येव । इडापिंगलाभ्यां वहनं प्राणस्य जीवनं स्वस्वविषयग्रहणमिंद्रियाणां जीवनं नानाविषयाकारवृत्त्युत्पादनं मनसो जीवनं तत्तद्भावतत्तन्मरणमत्र विवक्षितम् । ननु स्वरूपतस्तेषां नाशस्तावन्मनस्यंतःकरणे ज्ञानमात्मापरोक्षानुभवः कुतः संभवति न । कर्तापि प्राणेंद्रियमनोवृत्तीनां ज्ञानप्रतिबंधकत्वादिति भावः । प्राणो मनः इदं द्वयं यो योगी विलयं नाशं नयेत्स मोक्षमात्यंतिकस्वरूपावस्थानलक्षणं गच्छति प्राप्नोति । ब्रह्मरंध्रे निर्व्यापारस्थितिः प्राणस्य लयः । ध्येयाकारावेशात् । विषयांतरेणापारेण मनसो लयोऽन्यः । अलीनप्राणोऽलीनमनाश्च कथंचिदुपायशतेनापि न मोक्षं प्राप्नोतीत्यर्थः । तदुक्तं योगबीजे । 'नानाविधैर्विचारैस्तु न साध्यं जायते मनः । तस्मात्तस्य जयः प्रायः प्राणस्य जय एव ही' ति । नानामार्गैः सुखदुःखमार्यं कैवल्यं परमं पदं 'सिद्धमार्गेण लभ्येत नान्यथा शिवभाषितमि' ति च । सिद्धमार्गो योगमार्गः । एतेन योगं विना ज्ञानं मोक्षश्च न सिद्ध्यतीति सिद्धं । श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणादिषु चेदं प्रसिद्धं । तथाहि अथ तद्दर्शनाभ्युपायो योग इति तद्दर्शनमात्मदर्शनं । 'अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरोहर्षशोकौ जहाती' ति । 'श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवेद' इति 'यदा पंचावतिष्ठंते ज्ञानानि मनसा सह । बुद्धिश्च न विचेष्टेत तामाहुः परमां गतिम् ॥ तां योगमिति मन्यंते स्थिरामिंद्रियधारणाम् । अप्रमत्तस्तदा भवती' ति । 'यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दयोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत् । अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः । ब्रह्मणे त्वा महस ओमित्यात्मानं युंजीतेति त्रिरुन्नतः स्थाप्य समशरीरः हृदींद्रियाणि मनसा सन्निवेश्य ब्रह्मोड्पेन प्रतरेत

॥ भाषा ॥

लान कर वायु चले ये प्राणको जीवन हे और इंद्रिय अपने अपने विषयनकूं ग्रहण करे ये इंद्रीनको जीवन हे और अनेक विषयनकी वृत्तीनकूं प्रगट करनो ये मनको जीवन हे तो जब तांई प्राण जीवे हें इंद्रिय जीवे हें जब तांई मन जीवे हे ये सब जब तांई मरें नही तब तलक ज्ञान जो आत्माको परोक्ष अनुभव नही होय और प्राण और मन इन दोनोनकूं जो योगी नाश करदे सो योगी मोक्षकूं प्राप्त होय और नही लीन हे प्राण जाको और नही लीन हे मन जाको वो पुरुष सौ उपाय करकेंबी मोक्षकूं नही प्राप्त होय ॥ १९ ॥

॥ टीका ॥

विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानी'ति । ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानमित्याद्याः श्रुतयः । यतिधर्मप्रकरणे मनुः । 'भूतभाव्यानवेक्षेत योगेन परमात्मनः । देहद्वयं विहायाशु मुक्तो भवति बंधनात् ॥' याज्ञवल्क्यस्मृतौ । 'इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणां । अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥' महर्षिमातंगः । 'अग्निष्टोमादिकान् सर्वान् विहाय द्विजसत्तमः । योगाभ्यासरतः शांतः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ ब्राह्मणक्षत्रियवैशां स्त्री शूद्राणां च पावनम् । शांतये कर्मणामन्यद्योगान्नास्ति विमुक्तये॥' दक्षस्मृतौ व्यतिरेकमुखेनोक्तं । 'स्वसंवेद्यं हि तद्ब्रह्म कुमारी स्त्रीसुखं यथा । अयोगी नैव जानाति जात्यंधो हि यथा घटमि' त्याद्याः स्मृतयः । महाभारते योग मार्गे व्यासः । 'अपि वर्णावकृष्टस्तु नारी वा धर्मकांक्षिणी । तावप्येतेन मार्गेण गच्छेतां परमां गतिम् ॥ यदि वा सर्वधर्मज्ञो यदि वाप्यकृती पुमान । यदि वा धार्मिकः श्रेष्ठो यदि वा पापकृत्तमः ॥ यदि वा पुरुषव्याघ्रो यदि वा क्लैब्यधारकः । नरःसेव्यं महादुःखं जरामरणसागरम् । अपि जिज्ञासमानोऽपि शब्दब्रह्मातिवर्तते' इति । भगवद्गीतायां ।'युंजन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः । शांतिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानमि' त्यादि च । आदित्यपुराणे । 'योगात्संजायते ज्ञानं योगो मय्येकचित्तता ।' स्कंदपुराणे । 'आत्मज्ञानेन मुक्तिः स्यात्तच्च योगादृते नहि । स च योगश्चिरं कालमभ्यासादेव सिद्ध्यति ॥' कूर्मपुराणे शिववाक्यम् । 'अतःपरं प्रवक्ष्यामि योगं परमदुर्लभं । येनात्मानं प्रपश्यंति भानुमंतमिवेश्वरम् । योगाग्निर्दहति क्षिप्रमशेषं पापपंजरम् । प्रसन्नं जायते ज्ञानं ज्ञानान्निर्वाणमृच्छति ॥' गरुडपुराणे । तथा यतेत मतिमान्यथा स्यान्निर्वृत्तिः परा । योगेन लभ्यते सा तु न चान्येन तु केनचित् ॥ भवतापेन तप्तानां योगो हि परमौषधम् । परावरप्रसक्ता धीर्यस्य नैवदसंभवा ॥ स च योगाग्निना दग्धसमस्तक्लेशसंचयः । निर्वाणं परमं नित्यं प्राप्नोत्येव न संशयः ॥ संप्राप्तयोगसिद्धिस्तु पूर्णो यस्त्वात्मदर्शनात् । न किंचिद्दृश्यते कार्यं तेनैव सकलं कृतम् । आत्मारामः सदा पूर्णः सुखमात्यंतिकं गतः । अतस्तस्यापि निर्वेदः परानंदमयस्य च ॥ तपसा भावितात्मानो योगिनः संयतेंद्रियाः । प्रतरंति महात्मानो योगेनैव महार्णवम् ॥' विष्णुधर्मेषु । 'यच्छ्रेयः सर्वभूतानां स्त्रीणामप्युपकारकम् । अपि कीटपतंगानां तन्नः श्रेयः परं वद ॥ इत्युक्तः कपिलः पूर्वं देवैर्देवर्षिभिस्तथा । योग एव परं श्रेयस्तेषामित्युक्तवान् पुरा ॥' वासिष्ठे । 'दुःसहा राम संसारविषवेगविषूचिका । योगगारुडमंत्रेण पावनेनोपशाम्यति ॥' ननु तत्त्वमस्यादिवाक्यैरप्यपरोक्षप्रमाणं भवतीति किमर्थमतिश्रमसाध्ये योगे प्रयासः

॥ टीका ॥

कार्यः । न च वाक्यजन्यज्ञानस्यापरोक्षत्वे प्रमाणासंभव इति वाच्यम् । तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यं ज्ञानमपरोक्षम् । अपरोक्षविषयकत्वात् । चाक्षुसघटादिप्रत्यक्षवदित्यनुमानस्य प्रमाणत्वात् । न च विषयगतापरोक्षत्वस्य नीरूपत्वाद्धेत्वसिद्धिरिति वाच्यम् । अज्ञानविषयचित्त्वतत्तादात्म्यापन्नत्वान्यतररूपस्य तस्य सुनिरूपत्वात् । यथा हि घटादौ चक्षुःसन्निकर्षेणांतःकरणवृत्तिदशायां तदधिष्ठानचैतन्याज्ञाननिवृत्तौ तच्चैतन्यस्याज्ञानविषयता तद्घटस्याज्ञानविषयचैतन्यतादात्म्यापन्नत्वं चापरोक्षत्वम् । तथा तत्त्वमस्यादिवाक्येन शुद्धचैतन्याकारांतःकरणवृत्त्युत्थापने सति तदज्ञानस्य निवृत्तत्वेनैव तत्त्वस्याज्ञानविषयत्वाच्चैतन्यस्यापरोक्षत्वमिति न हेत्वसिद्धिः । न चाप्रयोजकत्वं ज्ञानगम्यत्वापरोक्षत्वं प्रत्यक्षपरोक्षविषयकत्वेन प्रयोजकत्वात् । नत्विंद्रियजन्यत्वं मनस इंद्रियत्वाभावेन सुखादिपरत्वेऽव्यभिचारात् । अथवाभिव्यक्तचैतन्याभिन्नतया भासमानत्वं विषयस्यापरोक्षत्वम् । अभिव्यक्तत्वं च निवृत्त्यावरणकत्वं परोक्षवृत्तिस्थले वावरणनिवृत्त्यभावन्नातिव्याप्तिः । सर्पादिभ्रमजनकदोषवतस्तु नायं सर्पः किंतु रज्जूरिति वाक्येन जायमाना वृत्तिस्तु नावरणं निवर्तयतीति तत्र परोक्ष एव विषयः । वेदांतवाक्यजन्यं च ज्ञानमावरणनिवर्तकत्वादपरोक्षमेव तन्मननादेः पूर्वमुत्पन्नम् । ज्ञाननिवर्तकप्रमाणासंभावनादिदोषसामान्याभावविशिष्टस्यैव तस्याज्ञाननिवर्तकत्वात् । किंच 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामी' ति श्रुतिप्रतिपन्नमुपनिषन्मात्रागम्यत्वं योगगम्यत्वेनोपपन्नं स्यात् । तस्मात्तत्त्वमस्यादिवाक्यादेवापरोक्षमिति चेन्न । अनुमानस्याप्रयोजकत्वात् । न च प्रत्यक्षं प्रति निरुक्ताक्षसामान्यं प्रतींद्रियत्वेन कारणतया तज्जन्यत्वस्यैव प्रयोजकत्वान्नित्यानित्यसाधारणप्रत्यक्षत्वे तु नकिंचित्प्रयोजकत्वमिति, तन्मते तु प्रत्यक्षविशेषे इंद्रियं कारणं तद्विशेषे च शब्दविशेष इत्येवं कार्यकारणभावद्वयं स्यात् । न च मनसोऽनिंद्रियत्वं मनस इंद्रियत्वे बाधकाभावादिंद्रियाणां मनोनाथ इति मनुष्यमिवोद्दिश्य मनुष्याणामयं राजेत्यादिवदिंद्रियेष्वेव किंचिदुत्कर्षं ब्रवीति । न तु तस्याप्यनिंद्रियत्वं तत्त्वं च षट्स्वखंडोपाधिविशेष एव । अत एव 'कर्मेंद्रियं तु पाय्वादि मनोनेत्रादि धींद्रियमि' ति 'प्रत्यक्षं स्यादैंद्रियकमप्रत्यक्षमतींद्रियमि'ति च शक्तिप्रमाणभूतकोशेऽपींद्रियाप्रमाणकज्ञानस्याप्रत्यक्षत्वं वदन् मनस इंद्रियत्वज्ञापकत्वं संगच्छते । 'इंद्रियाणि दशैकं चे' ति गीतावचनं मनस इंद्रियत्वे प्रमाणम् । किंच तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यं ज्ञानं शाब्दम् । शब्दजन्यत्वा 'द्यजेते' त्यादिवाक्यजन्यज्ञानवदित्यनेनापरोक्षविरोधिशाब्दत्वसाधनेन सत्प्रतिपक्षः । न चेदमप्रयोजकम् । शाब्दं प्रत्येव शब्दस्य जनकत्वेन लाघवमु-

॥ टीका ॥

लकानुकूलतर्कात् । त्वन्मते तु शब्दादपि प्रत्यक्षस्वीकारेण कार्यकारणभावद्वयकल्पने गौरवम् । अपि च मनननिदिध्यासनाभ्यां पूर्वमप्युत्पन्नम् । तव मते परोक्षमपि नाज्ञाननिवर्तकमित्यज्ञाननिवृत्तिं प्रति बाधज्ञानत्वेनैव हेतुत्वमिति गौरवम् । मम तु समाध्यभ्यासपरिपाकेनासंभावनादिसकलमलरहितेनांतःकरणेनात्मनि दृष्टे सति दर्शनमात्रादेवाज्ञाने निवृत्ते न कश्चिद्गौरवावकाशः । 'एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते । दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः । यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञ' इत्यारभ्याज्ञाननिवृत्त्यर्थकेन 'मृत्युमुखात्प्रमुच्यते । इत्येतेन कठवल्लीस्थमृत्यूपदेशेन संमतोऽयमर्थ इति न कश्चिदत्र विवादः ' इति यदि तु मननादेः पूर्वमुत्पन्नं ज्ञानं परोक्षमेवेति न प्रतिबद्धत्वकृतगौरवमिति मतमाद्रियते तदपि श्रवणादिभिर्मनःसंस्कारे सिद्धेऽव्यवहितोत्तरमात्मदर्शनसंभवात्तदुत्तरं वाक्यस्मरणादिकल्पनं महद्गौरवापादकमेव । ननु न वयं केवलेन तर्केण शब्दजन्यज्ञानस्यापरोक्षत्वं वदामः किंतु श्रुत्यापि । तथाहि । 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामी' ति श्रुत्या चौपनिषदत्वं पुरुषस्य नोपनिषज्जन्यबुद्धिविषयत्वमात्रं प्रत्यक्षादिगम्येप्यौपनिषदत्वे व्यवहारापत्तेः । यथा हि द्वादशकपालेऽष्टानां कपालानां सत्त्वेऽपि द्वादशकपालसंस्कृतेनाष्टाकपालादिव्यवहारः । यथा द्विपुत्रादावेकपुत्रादिव्यवहारः । तथात्रापि । नान्यत्र तथा व्यवहार इति । उपनिषन्मात्रगम्यत्वमेव प्रत्ययार्थः । तच्चमनोगम्यत्वेऽनुपपन्नमिति चेन्न । नहि प्रत्ययेनोपनिषद्भिन्नं सर्वं कारणत्वेन व्यावर्त्यते । शब्दापरोक्षवादिना त्वयाप्यात्मपरोक्षे मनआदीनां करणत्वस्यांगीकारात् । किंतु पुराणादिशब्दांतरमेव 'श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः' इति स्मरणात्स चार्थो ममापि संमत इति न किंचिदेतत् । प्रमाणांतरव्यावृत्तौ तात्पर्यकल्पनं चात्मपरोक्षे शब्दस्य प्रमाणत्वे सिद्ध एव वक्तुमुचितम् । शब्दांतरव्यावृत्तितात्पर्यं तु श्रुत्यादिसंमतत्वात्कल्पयितुमुचितमेव । एवं स्थिते 'मनसैवानुद्रष्टव्यं मनसैवेदमाप्तव्यमि' त्यादिश्रुतयोऽप्यांजस्येन प्रतिपादिता भवेयुः । यत्तु कैश्चिदुक्तं । दर्शनवृत्तिं प्रति मनोमात्रस्योपादानत्वपरायत्ताः श्रुतयो न विरुध्यंत इति तदतीव विचारासहम् । यतः प्रमाणाकांक्षायां प्रवृत्तास्ताः कथमुपादानपरा भवेयुः । 'कामः संकल्पो विचिकित्से' त्यादिश्रुत्या सावधारणया सर्वासां वृत्तीनां मनोमात्रोपादानकत्वे बोधिते आकांक्षाभावेनोपादानतात्पर्यकत्वेन वर्णयितुं कथं शक्येरन् । पूर्वं द्वितीयवल्यां प्रणवस्य ब्रह्मबोधकत्वेनोक्तेस्तस्याप्यपरोक्षहेतुत्वमिति शंका

॥ टीका ॥

निवारयितुं 'मनसैवानुद्रष्टव्यमि' त्यादि सावधारणवाक्यानीत्येव वर्णयितुं शक्यानि स्युरित्यलमतिवाग्जालेन । वस्तुतस्तु योगिनां समाधौ दूरविप्रकृष्टपदार्थज्ञानं सर्वशास्त्रप्रसिद्धं न परोक्षं । तदानीं परोक्षसामग्र्यभावात् । नापि स्मरणं । तेषां पूर्वविशिष्याननुभवात् । नापि सुखादिज्ञानवत्साक्षिरूपं । अपसिद्धांतात् । नाप्यप्रमाणकं प्रमासामान्ये करणनियमात् । नापि चक्षुरादिजन्यं । तेषामसन्निकर्षात् । तस्मान्मानसिकी प्रमैव सा वाच्येति मनस इंद्रियत्वं प्रमाणत्वं च दूरमपह्नवमेवेति । येऽपि योगश्रुत्योः समुच्चयं कल्पयंति तेषामपि पूर्वोक्तदूषणगणस्तदवस्थ एव । तस्माद्योगजन्यसंस्कारसचिवमनोमात्रगम्य आत्मेति सिद्धं । न च कामिनीं भावयतो व्यवहितकामिनीसाक्षात्कारस्येव भावनाजन्यत्वेनात्मसाक्षात्कारस्याप्रमात्वप्रसंगः । अबाधितविषयत्वात् दोषजन्यत्वाभावाच्च । कामिनीसाक्षात्कारस्य तु बाधितविषयत्वाद्दोषजन्यत्वाच्चाप्रामाण्यं न । भावनाजन्यत्वात् । न च भावनासमाधेर्ज्ञापकत्वे प्रमाणांतरापातः । तस्या मनःसहकारित्वात्प्रमाणनिरूपणानिपुणैर्नैयायिकादिभिरपि योगजप्रत्यक्षस्यालौकिकप्रत्यक्षेऽतर्भावः कृतः । योगजालौकिकसन्निकर्षेण योगिनो व्यवहितविप्रकृष्टसूक्ष्मार्थमात्मानमपि यथार्थं पश्यंति । तथा च पातंजले सूत्रे । "ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषयाविशेषार्थत्वात्" तत्र समाधौ या प्रज्ञास्याः श्रुतं श्रवणं शाब्दबोधः । अनुमननमनुमानं यौक्तिकज्ञानं तद्रूपप्रज्ञाभ्यामन्यविषया । कुतः । विशेषार्थत्वात् । विशेषो निर्विकल्पोऽर्थो विषयो यस्याः सा तथा तस्या भावस्तथात्वं तस्माच्छब्दस्यापदार्थतावच्छेदकपुरस्कारेणैवानुमानस्य व्यापकत्वावच्छेदकपुरस्कारेणैव धीजनकत्वनियमेन तद्ग्रहणे योग्यविशेष्यमात्रपरत्वादित्यर्थः । अत्र बादरायणकृतं भाष्यं । श्रुतमागमविज्ञानं तत्सामान्यविषयं नह्यागमेन शक्यो विशेषोऽभिधातुं कस्मान्नहि विशेषेण कृतसंकेतः शब्द इत्यारभ्य समाधिप्रज्ञानिर्ग्राह्य एव सविशेषो भूतसूक्ष्मगतो वा पुरुषगतो वेति । योगबीजे । 'ज्ञाननिष्ठो विरक्तोऽपि धर्मज्ञोऽपि जितेंद्रियः । विना योगेन देवोऽपि न मोक्षं लभते प्रिये ।' किंच । 'तदेव सक्तः सह कर्मणेति लिंगं मनो यत्र निषिक्तमस्ये' ति श्रुतेः । 'कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु' इति स्मृतेश्च देहावसानसमये यत्र रागाद्युद्बुद्धो भवति तामेव योनिं जीवः प्राप्नोतीति योगहीनस्य जन्मांतरं स्यादेव मरणसमये समुद्भुतवैक्लव्यस्यायोगिना वारयितुमशक्यत्वात् । तदुक्तं योगबीजे । 'देहावसानसमये चित्ते यद्यद्विभावयेत् । तत्तदेव भवेज्जीव इत्येवं जन्मकार-

॥ टीका ॥

रणम् । देहांते किं भवेज्जन्म तन्न जानंति मानवाः । तस्माज्ज्ञानं च वैराग्यं जपश्च केवलं श्रमः । पिपीलिका यदा लग्ना देहे ज्ञानाद्विमुच्यते । असौ किं वृश्चिकैर्दष्टो देहांते वा कथं सुखी ॥' इति । योगिनां तु योगबलेनांतकालेऽप्यात्मभावनया मोक्ष एवेति न स्याज्जन्मांतरं । तदुक्तं भगवता । 'प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।' इत्यादिना । 'शतं चैका हृदयस्य नाड्यः' इत्यादि श्रुतेश्च । न च तत्त्वमस्यादिवाक्यस्यापरोक्षज्ञानजनकत्वे तद्विचारस्य वैयर्थ्यमेवेति शक्यम् । वाक्यविचारजन्यज्ञानस्य योगद्वाराऽपरोक्षज्ञानसाधनत्वात् । अत्र च योगबीजे गौरीश्वरसंवादो महानस्ति ततः किंचिल्लिख्यते । 'देव्युवाच । ज्ञानिनस्तु मृता ये वै तेषां भवति कीदृशी । गतिः कथय देवेश कारुण्यामृतवारिधे ॥ ईश्वर उवाच ॥ देहांते ज्ञानिना पुण्यात्पापात्फलमवाप्यते । यादृशं तु भवेत्तत्तद्भुक्त्वा ज्ञानी पुनर्भवेत् ॥ पश्चात्पुण्येन लभते सिद्धेन सह संगतिम् । ततः सिद्धस्य कृपया योगी भवति नान्यथा । ततो नश्यति संसारो नान्यथा शिवभाषितम् ॥ देव्युवाच ॥ ज्ञानादेव हि मोक्षं च वदंति ज्ञानिनः सदा ॥ न कथं सिद्धयोगेन योगः किं मोक्षदो भवेत् ॥ ईश्वर उवाच ॥ ज्ञानेनैव हि मोक्षो हि तेषां वाक्यं तु नान्यथा ॥ सर्वे वदंति खड्गेन जयो भवति तर्हि किम् । विना युद्धेन वीर्येण कथं जयमवाप्नुयात् । तथा योगेन रहितं ज्ञानं मोक्षाय नो भवेत् ॥' इत्यादि । ननु जनकादीनां योगमंतरेणाप्यप्रतिबद्धज्ञानमोक्षयोः श्रवणात्कथं योगादेवाप्रतिबद्धज्ञानं मोक्षश्चेति चेत् । उच्यते । तेषां पूर्वजन्मानुष्ठितयोगजसंस्काराज्ज्ञानप्राप्तिरिति पुराणादौ श्रूयते । तथाहि ॥ 'जैगीषव्यो यथा विप्रो यथा चैवासितादयः । क्षत्रिया जनकाद्यास्तु तुलाधारादयो विशः । संप्राप्ताः परमां सिद्धिं पूर्वाभ्यस्तस्वयोगतः । धर्मव्याधादयः सप्त शूद्राः पैलवकादयः । मैत्रेयी सुलभा शार्ङ्गी शांडिली च तपस्विनी । एते चान्ये च बहवो नीचयोनिगता अपि । ज्ञाननिष्ठां परां प्राप्ताः पूर्वाभ्यस्तस्वयोगतः ॥' इति । किंच । पूर्वजन्मानुष्ठितयोगाभ्यासपुण्यतारतम्येन केचिद्ब्रह्मत्वं केचिद्ब्रह्मपुत्रत्वं केचिद्देवर्षित्वं केचिद्ब्रह्मर्षित्वं केचिन्मुनित्वं केचिद्भक्तत्वं च प्राप्ताः संति । तत्रोपदेशमंतरेणैवात्मसाक्षात्कारवंतो भवेयुः । तथाहि । हिरण्यगर्भवसिष्ठनारदसनत्कुमारवामदेवशुकादयो जन्मसिद्धा इत्येव पुराणादिषु श्रूयते । यत्तु ब्राह्मण एव मोक्षाधिकारीति श्रूयते पुराणादौ तद्योगिपरं । तदुक्तं गरुडपुराणे । "योगाभ्यासो नृणां येषां नास्ति जन्मांतराहृतः । योगस्य प्राप्तये तेषां

मू० ज्ञात्वा सुषुम्नासद्भेदं कृत्वा वायुं च मध्यगम् ॥
स्थित्वा सदैव सुस्थाने ब्रह्मरंध्रे निरोधयेत् ॥ १६ ॥
सूर्याचंद्रमसौ धत्तः कालं रात्रिंदिवात्मकम् ॥
भोक्त्री सुषुम्ना कालस्य गुह्यमेतदुदाहृतम् ॥ १७ ॥

॥ टीका ॥

शूद्रवैश्यादिकक्रमः । स्त्रीत्वाच्छूद्रत्वमभ्येति ततो वैश्यत्वमाप्नुयात् । ततश्च क्षत्रियो विप्रः कृपाहीनस्ततो भवेत् । अनूचानः स्मृतो यज्वा कर्मन्यासी ततः परम् । ततो ज्ञानित्वमभ्येति योगी मुक्तिं क्रमाल्लभेदि' ति । शूद्रवैश्यादिक्रमाद्योगी भूत्वा मुक्तिं लभेदित्यर्थः । इत्थं च योगे सर्वाधिकारश्रवणाद्योगोत्पन्नतत्त्वज्ञानेन सर्व एव मुच्यंत इति सिद्धं । योगिनस्तु भ्रष्टस्यापि न शूद्रादिक्रमः । ' शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ अथवा योगिनामेवे ' त्यादि भगवद्वचनादित्यलम् ॥ १५ ॥

प्राणमनसोर्लयं विना मोक्षो न सिध्यतीत्युक्तं । तत्र प्राणलयेन मनसोऽपि लयः सिध्यतीति तल्लयरीतिमाह ॥ ज्ञात्वेति ॥ सदेव सर्वदैव सुस्थाने शोभने स्थाने 'सुराज्ये धार्मिके देशे ' इत्याद्युक्तलक्षणे स्थित्वा स्थितिं कृत्वा वसतिं कृत्वेत्यर्थः । सुषुम्ना मध्यनाडी तस्याः सद्भेदं शोभनं भेदनप्रकारं ज्ञात्वा गुरुमुखाद्विदित्वा वायुं प्राणं मध्यगं मध्यनाडीसंचारिणं कृत्वा ब्रह्मरंध्रे मूर्धावकाशे निरोधयेन्नितरां रुद्धं कुर्यात् । प्राणस्य ब्रह्मरंध्रे निरोधो लयः प्राणलये जाते मनोऽपि लीयते । तदुक्तं वासिष्ठे । 'अभ्यासेन परिस्पंदे प्राणानां क्षयमागते । मनः प्रशममायाति निर्वाणमवशिष्यते ॥' इति । प्राणमनसोर्लये सति भावनाविशेषरूपसमाधिसहकृतेनांतःकरणेनाबाधितात्मसाक्षात्कारो भवति तदा जीवन्नेव मुक्तः पुरुषो भवति ॥ १६ ॥

प्राणलये कालजयो भवतीत्याह ॥ सूर्याचंद्रमसाविति ॥ सूर्यश्च चंद्रमाश्च सूर्या-

॥ भाषा ॥

ज्ञात्वेति ॥ सदा सर्वदा सुंदर राज्यहोय धर्मात्मा देश होय सुंदर स्थान होय तहां निवास करकें फिर सुषुम्ना मध्यनाडीके सुंदर भेदन प्रकार गुरुमुखसें जानकरकें प्राणवायुकूं मध्यनाडी सुषुम्नामें चलन लगे एसो करकें फिर ब्रह्मरंध्रमें लय करदे प्राणको लय होतेंही मनकोबी लय होय हे ॥ १६ ॥

अब प्राणको लय होय तब कालकोबी जय होय हे ये कहें हें ॥ सूर्याचंद्रमसावि-

मू० द्वासप्ततिसहस्राणि नाडीद्वाराणि पंजरे ॥
सुषुम्ना शांभवी शक्तिः शेषास्त्वेव निरर्थकाः ॥ १८ ॥

॥ टीका ॥

चंद्रमसौ ॥ "देवताद्वंद्वे चे" त्यानङ् । रात्रिश्च दिवा च रात्रिंदिवं । 'अचतुर' त्यादिना निपातितः । रात्रिंदिवं आत्मा स्वरूपं यस्य स रात्रिंदिवात्मकस्तं रात्रिंदिवात्मकं कालं समयं धत्तो विधत्तः कुरुतः । सुषुम्ना सरस्वती कालस्य सूर्याचंद्रमोभ्यां कृतस्य रात्रिंदिवात्मकस्य समयस्य भोक्त्री भक्षिका विनाशिका । एतद्गुह्यं रहस्यमुदाहृतं कथितं । अयं भावः । सार्धं घटिकाद्वयं सूर्यो वहति सार्धं घटिकाद्वयं चंद्रो वहति । यदा सूर्यो वहति तदा दिनमुच्यते । यदा चंद्रो वहति तदा रात्रिरुच्यते । पंचघटिकामध्ये रात्रिंदिवात्मकः कालो भवति । लौकिकाहोरात्रमध्ये योगिनां द्वादशाहोरात्रात्मकः कालव्यवहारो भवति । तादृशकालमानेन जीवानामायुर्मानमस्ति । यदा सुषुम्नामार्गेण वायुर्ब्रह्मरंध्रे लीनो भवति तदा रात्रिंदिवात्मकस्य कालस्याभावादुक्तं 'भोक्त्री सुषुम्ना कालस्ये'ति । यावद्ब्रह्मरंध्रे वायुर्लीयते तावद्योगिन आयुर्वर्धते । दीर्घकालाभ्यस्तसमाधिर्योगी पूर्वमेव मरणकालं ज्ञात्वा ब्रह्मरंध्रे वायुं नीत्वा कालं निवारयति स्वेच्छया देहत्यागं च करोतीति॥१७॥

द्वासप्ततीति ॥ पंजरे पंजरवच्छिरास्थिभिर्बद्धे शरीरे द्वाभ्यामधिकासप्ततिः

॥ भाषा ॥

ति ॥ सूर्य चंद्रमा ये दोनो रात्रि दिवस रूप जो समय ताय करें हें और सुषुम्ना जो सरस्वती सो सूर्यचंद्रमाकरके कियो गयो जो रात्रिदिवात्मक काल समय ताकूं नाशके करवेवाली हे. ये गोप्य कह्यो हे याको भाव ये हे. ढाई घडी सूर्य चले हे और ढाई घडी चंद्रस्वर चले जब सूर्य चले हे तबतो दिन कहे हें और जब चंद्र चले हे तब रात्रि कहे हें पांच घडीको रात्रिदिवात्मक काल होय हे लौकिक मनुष्यनको रात्रिंदिन तामें द्वादशदिन रात्रिरूप काल होय हे एसें कालके प्रमाणकरके जीवनको आयु प्रमाण है जब सुषुम्नामार्गकरकें वायु ब्रह्मरंध्रमें लीन होय हे तब रात्रिदिवसात्मक कालको अभाव रहे हे यातेंही सुषुम्ना कालकी नाशकर्त्ता कही जबताईं ब्रह्मरंध्रमें वायु लीन होय तितनें योगीकी आयु बढे. और दीर्घकाल तांई समाधिको अभ्यास करबेवालो योगी पूर्वही मरणकाल जानकरकें ब्रह्मरंध्रमें वायुकूं प्राप्तकरकें कालकूं निवारण करे फिर देहत्याग अपनी इच्छासूं करे हें ॥ १७ ॥

द्वासप्ततीति ॥ पिंजराकीसीनाईं नसेंकरके बंधो जो शरीर तामें बहत्तर हजार नाडीनके

मू० वायुः परिचितो यस्मादग्निना सह कुंडलीम् ॥
बोधयित्वा सुषुम्नायां प्रविशेदनिरोधतः ॥ १९ ॥
सुषुम्नावाहिनि प्राणे सिद्ध्यत्येव मनोन्मनी ॥
अन्यथा त्वितराभ्यासाः प्रयासायैव योगिनाम् ॥ २० ॥

॥ टीका ॥

द्वासप्ततिः द्वासप्ततिसंख्याकानि सहस्राणि द्वासप्ततिसहस्राणि नाडीनां शिराणां द्वाराणि वायुप्रवेशमार्गाः संति सुषुम्ना मध्यनाडी शांभवी शक्तिरस्ति शं सुखं भवत्यस्माद्भक्तानामिति शंभुरीश्वरस्तस्येयं शांभवी । ध्यानेन शंभुप्रापकत्वात् । शंभोराविर्भावजनकत्वाद्वा शांभवी । यद्वा शं सुखरूपो भवति तिष्ठतीति शंभुरात्मा तस्येयं शांभवी चिदभिव्यक्तिस्थानत्वाद्ध्यानेनात्मसाक्षात्कारहेतुत्वाच्च । शेषा इडापिंगलादयस्तु निरर्थका एव निर्गतोऽर्थःप्रयोजनं यासां ता निरर्थकाः । पूर्वोक्तप्रयोजनाभावात् ॥ १८ ॥

वायुरिति ॥ यस्मात्परिचितोऽभ्यस्तो वायुस्तस्मादग्निना जठराग्निना सह कुंडलीं शक्तिं बोधयित्वा अनिरोधतोऽप्रतिबंधात्सुषुम्नायां सरस्वत्यां प्रविशेत् वायोः सुषुम्नाप्रवेशार्थमभ्यासः कर्तव्य इत्यर्थः ॥ १९ ॥

सुषुम्नेति ॥ प्राणे सुषुम्नावाहिनि सति मनोन्मनी उन्मन्यवस्था सिद्ध्यत्येव । अन्यथा प्राणे सुषुम्नावाहिन्यसति तु इतराभ्यासाः सुषुम्नेतराभ्यासा योगिनां योगाभ्यासिनां प्रयासायैव श्रमायैव भवंतीत्यर्थः ॥ २० ॥

॥ भाषा ॥

द्वार वायुके प्रवेशमार्ग हे. और सुषुम्ना शांभवी शक्ती हे भक्तनकूं शं जो सुख सो जातें होय सो शंभू ईश्वर ताकी ये शक्ती तासूं शांभवी नाम हे ध्यानकरकें शंभूकूं प्राप्त करे हे वा शंभूकूं प्रगट करे हे यातें शांभवी नाम हे. अथवा शं कहिये सुखरूप स्थित होय सो शंभू नाम आत्मा ताकी शक्ति यें चैतन्यकूं ध्यानकरकें ही आत्मसाक्षात्कार करे हे याते शांभवी नाम हे. और जे इडा पिंगलादिक नाडीतें गयो हे प्रयोजन जिनको एसी निरर्थक हे ॥ १८ ॥

वायुरिति ॥ अभ्यास कियो जो वायु तातें जाठराग्निकरकें सहित कुंडली ये बोधकरायकरकें और काऊकरकें रुके नही एसे वायुकूं कुंडली सरस्वतीमें प्रवेश करे वायुकूं सुषुम्नामें प्रवेशके अर्थ अभ्यास करनो योग्य हे ॥ १९ ॥

सुषुम्नेति ॥ प्राणवायु सुषुम्नामें चलवे लगजाय तब मनोन्मनी उन्मनी अवस्था सिद्ध

मू० पवनो बध्यते येन मनस्तेनैव बध्यते ॥
मनश्च बध्यते येन पवनस्तेन बध्यते ॥ २१ ॥
हेतुद्वयं तु चित्तस्य वासना च समीरणः ॥
तयोर्विनष्ट एकस्मिंस्तौ द्वावपि विनश्यतः ॥ २२ ॥

॥ टीका ॥

पवन इति ॥ येन योगिना पवनः प्राणवायुर्बध्यते बद्धः क्रियते तेनैव योगिना मनो बध्यते । येन मनो बध्यते तेन पवनो बध्यते । मनः पवनयोरेकतरे बद्धे उभयं बद्धं भवतीत्यर्थः ॥ २१ ॥

हेतुद्वयं तु चित्तस्येति ॥ चित्तस्य प्रवृत्तौ हेतुद्वयं कारणद्वयमस्ति किं तदित्याह वासना भावनाख्यः संस्कारः समीरणः प्राणवायुश्च तयोर्वासनासमीरणयोरेकस्मिन्विनष्टे सति क्षीणे सति तौ द्वावपि विनश्यतः । अयमाशयः । वासनाक्षये समीरणचित्ते क्षीणे भवतः । समीरणे क्षीणे चित्तवासने क्षीणे भवतः । चित्ते क्षीणे समीरणवासने क्षीणे भवतः । तदुक्तं वासिष्ठे । 'द्वे बीजे राम चित्तस्य प्राणस्पंदनवासने । एकस्मिंश्च तयोर्नष्टे क्षिप्रं द्वे अपि नश्यतः ॥' तत्रैव व्यतिरेकेणोक्तं । 'यावद्विलीनं न मनो न तावद्वासनाक्षयः । न क्षीणा वासना यावच्चित्तं तावन्न शाम्यति ॥ न यावद्याति विज्ञानं न तावच्चित्तसंशयः । यावन्न चित्तोपशमो न तावत्तत्त्ववेदनम् । यावन्न वासनानाशस्तावत्तत्त्वागमः कुतः ॥ यावन्न तत्त्वसंप्राप्तिर्न तावद्वासनाक्षयः । तत्त्वज्ञानं मनोनाशो वासनाक्षय एव च ॥ मिथः कारणतां गत्वा दुःसाध्यानि स्थितान्यतः । त्रय एते समं यावन्न स्वभ्यस्ता मुहुर्मुहुः ॥ तावन्न तत्त्वसंप्राप्तिर्भवत्यपि समाश्रितैः' ॥ इति ॥ २२ ॥

॥ भाषा ॥

होय हे. नही तो प्राण सुषुम्नामें नही वहे तो सुषुम्ना विना और जे अभ्यास हें ते योगीनके श्रमके अर्थ हें ॥ २० ॥

पवन इति ॥ जा योगीकरकें प्राणवायु बद्ध कियो जाय ता योगीकरकें मन बद्ध होय हे. और जाकरकें मन बद्ध होय हे ताकरकें प्राणवायु बद्ध होय हे ॥ २१ ॥

हेतुद्वयं तु चित्तस्येति ॥ चित्तकी प्रवृत्तिमें दोय कारण हे कोनसे एकतो वासना और एक प्राणवायु इन दोनोंनमेंसें एकबी क्षीण होय तो दोनोही नाशकूं प्राप्त होंय ये. भाव हे वासनाको क्षय होय तो प्राण और चित्त दोनोंही क्षीण होंय. और प्राण क्षीण होय तो चित्त और वासना ये दोनो क्षीण होय हें. और चित्त क्षीण होय तब प्राणवायु और वासना ये दोनों क्षीण होय हें ॥ २२ ॥

मू० मनो यत्र विलीयेत पवनस्तत्र लीयते ॥
पवनो लीयते यत्र मनस्तत्र विलीयते ॥ २३ ॥
दुग्धांबुवत्संमिलितावुभौ तौ तुल्यक्रियौ मानसमारुतौ हि ॥
यतो मरुत्तत्र मनःप्रवृत्तिर्यतो मनस्तत्र मरुत्प्रवृत्तिः ॥ २४ ॥
तत्रैकनाशादपरस्य नाश एकप्रवृत्तेरपरप्रवृत्तिः ॥
अध्वस्तयोश्चेंद्रियवर्गवृत्तिः प्रध्वस्तयोर्मोक्षपदस्य सिद्धिः॥२५

॥ टीका ॥

मन इति ॥ यत्र यस्मिन्नाधारे मनो लीयते तत्र तस्मिन्नाधारे पवनो विलीयत इत्यन्वयः ॥ २३ ॥

दुग्धांबुवदिति ॥ दुग्धांबुवत्क्षीरनीरवत्संमिलितौ सम्यक् मिलितौ ताबुभौ द्वावपि मानसमारुतौ मानसं च मारुतश्च मानसमारुतौ चित्तप्राणौ तुल्यक्रियौ तुल्या समा क्रिया प्रवृत्तिर्ययोस्तादृशौ भवतः । तुल्यक्रियत्वमेवाह । यत इति । यतःयत्र सार्वविभक्तिकस्तसिः । यस्मिन् चक्रे मरुद्वायुः प्रवर्तते तत्र तस्मिन् चक्रे मनःप्रवृत्तिः मनसः प्रवृत्तिर्भवति । यतो यस्मिन् चक्रे मनःप्रवर्तते तत्र तस्मिन् चक्रे मरुत्प्रवृत्तिः वायोः प्रवृत्तिर्भवतीत्यर्थः । तदुक्तं वासिष्ठे । 'अविनाभाविनी नित्यं जंतुनां प्राणचेतसी । कुसुमामोदवन्मिश्रे तिलतैले इवास्थिते । कुरुतश्च विनाशेन कार्यं मोक्षाख्यमुत्तममि'ति ॥ २४ ॥

तत्रेति ॥ तत्र तयोर्मानसमारुतयोर्मध्ये एकस्य मानसस्य मारुतस्य वा नाशाल्ल-

॥ भाषा ॥

मन इति ॥ जा आधारमें मन लीन होय ताही आधारचक्रमें पवन लीन होय और जामे पवन लीन होय तामें मन लीन होय हे ॥ २३ ॥

दुग्धांबुवदिति ॥ और जल दुधकीसी नाई मिले हुये चित्त और प्राण ये दोनो समान हे प्रवृत्ति जिनकी एसे होंय हें अब इनकी समान प्रवृत्ति कहें हें जा चक्रमें वायु वर्त्ते हे तामें मनकी प्रवृत्ति होय हें और जा चक्रमें मन वर्त्ते हे ता चक्रमें वायुकी प्रवृत्ति होय हे ॥२४॥

तत्रेति ॥ मन और प्राणवायु इन दोनोंनमेंसूं एकके लयतें दूसरोबी लय होय जाय एसेंही एक मनकी अथवा पवनकी प्रवृत्ति होय तो दूसरेकी बी प्रवृत्ति होय जाय मन और पवन ये दोनो नही लीन होय तो इंद्रीनके समूहकूं अपने अपने विषयमें प्रवृत्ति होय हे. और मन प्राणवायु ये दोनों प्रकर्षकरके लीन होय जाय तो मोक्षपदकी सिद्धी

मू० रसस्य मनसश्चैव चंचलत्वं स्वभावतः ॥
रसो बद्धो मनो बद्धं किं न सिद्ध्यति भूतले ॥ २६ ॥
मूर्छितो हरते व्याधीन्मृतो जीवयति स्वयम् ॥
बद्धः खेचरतां धत्ते रसो वायुश्च पार्वति ! ॥ २७ ॥

॥ टीका ॥

यादपरस्यान्यस्य मारुतस्य मानसस्य वा नाशो लयो भवति। एकप्रवृत्तेरेकस्य मानसस्य मारुतस्य वा प्रवृत्तेर्व्यापाराद्परप्रवृत्तिरपरस्य मारुतस्य मानसस्य वा प्रवृत्तिर्व्यापारो भवति । अध्वस्तयोरलीनयोर्मानसमारुतयोः सतोरिंद्रियवर्गवृत्तिरिंद्रियसमुदायस्य स्वस्वविषये प्रवृत्तिर्भवति । प्रध्वस्तयोः प्रलीनयोस्तयोः सतोर्मोक्षपदस्य मोक्षाख्यपदस्य सिद्धिर्निष्पत्तिर्भवति । तयोर्लये पुरुषस्य स्वरूपेऽवस्थानादित्यर्थः । 'तत्रापि साध्यः पवनस्य नाशः षडंगयोगादिनिषेवणेन । मनोविनाशस्तु गुरोः प्रसादान्निमेषमात्रेण सुसाध्य एव ॥' योगबीजे मूलश्लोकस्यायमुत्तरः श्लोकः ॥ २५ ॥

रसस्येति ॥ रसस्य पारदस्य मनसो मानसस्य भावतः स्वभावाचंचलत्वं चांचल्यमस्ति । रसः पारदो बद्धश्चेन्मनश्चित्तं बद्धं भवति । ततो भूतले पृथिवीतले किं न सिद्ध्यति सर्वं सिद्ध्यतीत्यर्थः ॥ २६ ॥

तदेवाह ॥ मूर्छित इति ॥ औषधिविशेषयोगेन गतचापलो रसो मूर्छितः कुंभकांते रेचकनिवृत्तो वायुर्मूर्छित इत्युच्यते । हे पार्वतीति पार्वतीसुबोधायेश्वरवाक्यं । मूर्छितो रसः पारदो वायुः प्राणश्च व्याधीन् रोगान् हरते नाशयति । भस्मीभूतो रसो ब्रह्मरंध्रे लीनो वायुश्च मृतः स्वयमात्मना स्वसामर्थ्येनेत्यर्थः । जीवयति दीर्घकालं जीवनं करोति । क्रियाविशेषेण गुटिकाकारकृतो रसः बद्धो भ्रूमध्यादौ धारणाविशेषेण धृतो वायुश्च बद्धः खेचरतामाकाशगतिं धत्ते विधत्ते करोतीत्यर्थः ।

॥ भाषा ॥

होय अर्थात् इन दोनोंनके लय होयवेसूं पुरुषकूं स्वरूपमें स्थिति होय है ॥ २५ ॥

रसस्येति ॥ पारेकूं और मनकूं स्वभावतेंही चंचलपनो हे. और पारो बंध जाय और मन बद्ध हो जाय तो पृथ्वीतलमें वा प्राणीकूं सर्वसिद्धी होय हे ॥ २६ ॥

वही कहतेहै मूर्छित इति ॥ औषधीके योगकरके चपलता जाकी जाती रही एसो पारो सो मूर्छित बाजे हे. और कुंभकके अंतमें रेचक करे ये वायु मूर्छित कहें हें. शिवजी कहें हें हे पार्वती ! मूर्छित पारदकी भस्म रोगनकूं दूर करे हे. और मूर्छित वायु फिर ब्रह्मरंध्रमें

मू० मनःस्थैर्ये स्थिरो वायुस्ततो बिंदुः स्थिरो भवेत् ॥
बिंदुस्थैर्यात्सदा सत्त्वं पिंडस्थैर्यं प्रजायते ॥ २८ ॥
इंद्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुतः ॥
मारुतस्य लयो नाथः स लयो नादमाश्रितः ॥ २९ ॥
सोऽयमेवास्तु मोक्षाख्यो मास्तु वापि मतांतरे ॥
मनः प्राणलये कश्चिदानंदः संप्रवर्तते ॥ ३० ॥

॥ टीका ॥

तदुक्तं गोरक्षकशतके । 'यद्भिन्नांजनपुंजसन्निभमिदं वृत्तं भ्रुवोरंतरे तत्त्वं वायुमयं पकारसहितं तत्रेश्वरो देवता । प्राणं तत्र विलाप्य पंचघटिकं चित्तान्वितं धारये- देषा खे गमनं करोति यमिनां स्याद्वायुना धारणे'ति ॥ २७ ॥

मनःस्थैर्ये इति ॥ मनसः स्थैर्ये सति वायुः प्राणः स्थिरो भवेत् । ततो वायुस्थै- र्याद्बिंदुर्वीर्यं स्थिरो भवेत् । बिंदोः स्थैर्यात्सदा सर्वदा सत्त्वं बलं पिंडस्थैर्यं देहस्थैर्यं प्रजायते ॥ २८ ॥

इंद्रियाणामिति ॥ इंद्रियाणां श्रोत्रादीनां मनोऽतःकरणं नाथः प्रवर्तकः । म- नोनाथो मनसो नाथो मारुतः प्राणः । मारुतस्य प्राणस्य लयो मनोविलयो नाथः । स लयो मनोलयः नादमाश्रितो नादे मनो लीयत इत्यर्थः ॥ २९ ॥

सोऽयमिति॥सोऽयमेव चित्तलय एव मोक्षाख्यो मोक्षपदवाच्यः । मतांतरेऽन्य- मते मास्तु वा । चित्तलयस्य सुषुप्तावपि सत्त्वान्मनःप्राणयोर्लये सति कश्चिदनि-

॥ भाषा ॥

लीन हुयो मृतपुरुषकूं अपनी सामर्थ्यकरकें दीर्घकालतांई जिवावे हे. और क्रियासूं गुटिकाके आकारकरकें बंधो हुयो पारो मोढेमें धारण करेसूं आकाश गती करे हे. और धारणकरकें भृकुटीके मध्यमें धारण कियो और बंधो हुयो वायु आकाश गतीकूं करे हे ॥ २७ ॥

मनःस्थैर्य इति ॥ मन स्थिर होय तो प्राण स्थिर होय हे. और वायुके स्थिर हुयेतें वीर्य स्थिर होय हे. वीर्य स्थिर होयवेसूं सर्वदा बल देह स्थिर होय हें ॥ २८ ॥

इंद्रियाणामिति ॥ इंद्रिय जे श्रोत्रादिक तिनको अंतःकरण नाथ हे. अर्थात् प्रवर्त्तको करवेवालो हे. और मनको नाथ प्राण हे. और प्राणको नाथ लय और लय जो हे सो नादकूं आश्रय करे हे. अर्थात नादमें मन लीन होय हे ॥ २९ ॥

सोयमिति ॥ नादमें चित्तको लय सोही मोक्ष हे. और मतांतरमें एसो कहे हें सुषुप्ती

मू० प्रनष्टश्वासनिश्वासः प्रध्वस्तविषयग्रहः ॥
निश्चेष्टो निर्विकारश्च लयो जयति योगिनाम् ॥ ३१ ॥
उच्छिन्नसर्वसंकल्पो निःशेषाशेषचेष्टितः ॥
स्वावगम्यो लयः कोऽपि जायते वागगोचरः ॥ ३२ ॥

॥ टीका ॥

र्वाच्य आनंदः संप्रवर्तते सम्यक् प्रवृत्तो भवति । अनिर्वाच्यानंदाविर्भावे जीवन्मुक्तिसुखं भवत्येवेति भावः ॥ ३० ॥

प्रनष्टेति ॥ श्वासश्च निश्वासश्च श्वासनिश्वासौ प्रनष्टौ लीनौ श्वासनिश्वासौ यस्मिन् स तथा बाह्यवायोरंतःप्रवेशनं श्वासः अंतःस्थितस्य वायोर्बहिर्निःसरणं निश्वासः प्रध्वस्तः प्रकर्षेण ध्वस्तो नष्टो विषयाणां शब्दादीनां ग्रहो ग्रहणं यस्मिन् निर्गता चेष्टा कायक्रिया यस्मिन् निर्गतो विकारोऽतःकरणक्रिया यस्मिन् एतादृशो योगिनां लयोऽतःकरणवृत्तेर्ध्येयाकारा वृत्तिर्जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते ॥ ३१ ॥

उच्छिन्नेति ॥ उच्छिन्ना नष्टाः सर्वे संकल्पा मनःपरिणामा यस्मिन् स तथा निर्गतः शेषो येभ्यस्तानि निःशेषाण्यशेषाणि चेष्टितानि यस्मिन् स तथा स्वेनैवावगंतुं बोद्धुं शक्यः स्वावगम्यः वाचामगोचरो विषयः कोऽपि विलक्षणो लयः जायते योगिनां प्रादुर्भवति ॥ ३२ ॥

॥ भाषा ॥

अवस्थामें चित्तको लय हे सोबीमोक्ष हे. ताये कहे हें ये मोक्ष नहीं हे. क्योंके मन प्राण इनको लय होय हे तब कोईसूंवी नही कहवेमें आवे एसो आनंद प्रवृत्त होय हे. जब अनिर्वाच्य आनंद प्रगट होय हे तब जीवन्मुक्ती सुख होय हे. यामें संदेह नहीं हे ॥ ३० ॥

प्रनष्टेति ॥ दूर हुयो हे श्वास निश्वास जामें बहारकी वायुकूं भीतर खेंचनों सो श्वास और भीतरकी वायुकूं बहार निकासनो सो निश्वास और दूर हुये हे विषयनकूं ग्रहण करनो जामे देहकी क्रिया जामे दूर हुई निर्विकार एसो योगीनको लय अंतःकरणकी वृत्तीकूं ब्रह्मप्राप्तीके अर्थ संपूर्णतें उत्कर्षकरके वर्त्ते हें ॥ ३१ ॥

उच्छिन्नेति ॥ नष्ट हुये हें संपूर्ण संकल्प जामें निवृत्त हुई हे संपूर्ण चेष्टा जामें और आपकरके ही जानवेकूं समर्थ और वाणीसूं कहवेमे नही आवे एसो विलक्षण लय योगीनकूं प्रगट होय हे ॥ ३२ ॥

मू० यत्र दृष्टिर्लयस्तत्र भूतेंद्रियसनातनी ॥
सा शक्तिर्जीवभूतानां द्वे अलक्ष्ये लयं गते ॥ ३३ ॥
लयो लय इति प्राहुः कीदृशं लयलक्षणम् ॥
अपुनर्वासनोत्थानाल्लयो विषयविस्मृतिः ॥ ३४ ॥
वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव ॥
एकैव शांभवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव ॥ ३५ ॥

॥ टीका ॥

यत्र दृष्टिरिति ॥ यत्र यस्मिन्विषये ब्रह्मणि दृष्टिरंतःकरणवृत्तिस्तत्रैव लयो भवति । भूतानि पृथिव्यादीनि इंद्रियाणि श्रोत्रादीनि सनातनानि शाश्वतानि यस्यां सा सत्कार्यवादेऽविद्यायां कार्यजातस्य सत्त्वात् । जीवभूतानां प्राणिनां शक्तिर्विद्या इमे द्वे अलक्ष्ये ब्रह्मणि लयं गते योगिनामिति शेषः ॥ ३३ ॥

लय इति ॥ लय इति प्राहुर्वदंति बहवः । लयस्य लक्षणं लयस्वरूपं कीदृशमिति प्रश्नपूर्वकं लयस्वरूपमाह ॥ अपुनरिति ॥ अपुनर्वासनोत्थानात्पुनर्वासनास्थानाभावाद्विषयविस्मृतिर्विषयाणां शब्दादीनां ध्येयाकारस्य विषयस्य वा विस्मृतिर्लयो लयशब्दार्थ इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

वेदेति ॥ वेदाश्चत्वारः शास्त्राणि षट् पुराणान्यष्टादश सामान्या गणिका इव वेश्या इव । बहुपुरुषगम्यत्वात् । एका शांभवी मुद्रैव कुलवधूरिव कुलस्त्रीव गुप्ता । पुरुषविशेषगम्यत्वात् ॥ ३५ ॥

॥ भाषा ॥

यत्र दृष्टिरिति ॥ जा ब्रह्ममें अंतःकरणकी वृत्ती होय ता ब्रह्ममें लय होय हे. और पंचमहाभूत और दशो इंद्रिय ये निरंतर जामें रहें एसी अविद्या और प्राणीनकी शक्ती विद्या ये दोनो योगीनके ब्रह्ममें लय होय हे ॥ ३३ ॥

लय इति ॥ बहोतसे जन या लयकूं लय कहें हें और लयको स्वरूप कहा हे सो कहें हें. फिर वासनाको उदय नहो तातें शब्दादिक विषयनकी विस्मृति होय ताकूं लय कहें हें ॥ ३४ ॥

वेदेति ॥ च्यारों वेद और छे शास्त्र अठारे पुराण ये वेश्याकीसी नाई हे. क्यों बोहोत पुरुषनकूं प्राप्त हें. यातें और शांभवी मुद्रा एकही हे ये कुलकी स्त्रीकीसीनाई गोप राखवेकूं योग्य हे ॥ ३५ ॥

मू० अंतर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता ॥
एषा सा शांभवी मुद्रा वेदशास्त्रेषु गोपिता ॥ ३६ ॥
अंतर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी यदा वर्तते
दृष्ट्या निश्चलतारया बहिरधः पश्यन्नपश्यन्नपि ॥
मुद्रेयं खलु शांभवी भवति सा लब्धा प्रसादाद्गुरोः
शून्याशून्यविलक्षणं स्फुरति तत्तत्वं परं शांभवम् ॥३७॥

॥ टीका ॥

चित्तलयाय प्राणलयसाधनीभूतां मुद्रां विवक्षुस्तत्र शांभवीं मुद्रामाह ॥ अंतर्लक्ष्यमिति ॥ अंतः आधारादिब्रह्मरंध्रांतेषु चक्रेषु मध्ये स्वाभिमते चक्रे लक्ष्यमंतःकरणवृत्तिः । बहिर्देहाद्बहिःप्रदेशे दृष्टिः चक्षुःसंबंधः । कीदृशी दृष्टिः निमेषोन्मेषवर्जिता निमेषः पक्ष्मसंयोगः उन्मेषः पक्ष्मसंयोगविश्लेषः ताभ्यां वर्जिता रहिता चित्तस्य ध्येयाकारावेशे निमेषोन्मेषवर्जिता दृष्टिर्भवति । सोक्तैषा मुद्रा शांभवी शंभोरियं शांभवी शिवप्रिया शिवाविर्भावजनिका वा भवति । कीदृशी वेदशास्त्रेषु गोपिता वेदेषु ऋगादिषु शास्त्रेषु सांख्यपातंजलादिषु गोपिता रक्षिता ॥ ३६ ॥

शांभवीं मुद्रामभिनीय दर्शयति ॥ अंतर्लक्ष्यमिति ॥ यदा यस्यामवस्थायामंतः अनाहतपद्मादौ यल्लक्ष्यं सगुणेश्वरमूर्त्यादिकं तत्त्वमस्यादिवाक्यलक्ष्यं जीवेश्वराभि-

॥ भाषा ॥

अंतर्लक्ष्यमिति ॥ भीतर आधारसूं लेके ब्रह्मरंध्रपर्यंत जे चक्र तिनके मध्यमें अपुनकूं वांछित चक्र तामें जो लक्ष्य कोन ब्रह्म तामें अंतःकरणकी वृत्ति और देहतें बहार जो दृष्टि सो पलकनको खोलनो मूंदनो तिनकरकें वर्जित दृष्टि होय सो ये शांभवी मुद्रा हे केसी हे. ऋग्वेदकूं आदि ले वेदनमें और शास्त्रजो सांख्य पातंजलादिक तिनमें गुप्त हे ॥ ३६ ॥

अंतर्लक्ष्येति ॥ जब भीतर अनाहत चक्रादिनमें जो लक्ष्य जो सगुण ईश्वरकी मूर्ति अथवा ब्रह्म तामें लीन हुयो हे मन और प्राण जाके एसो योगी स्थिर हे भीतरली दृष्टि जाकी एसी दृष्टिकरकें देहके बहार नीचो ऊंचो देखे हे तोहु बहारके विषयनकूं नही ग्रहण करे हे, ये शांमवी मुद्रा हे सो ये गुरुनकी कृपासूं प्राप्त होय हे तब शांभवीमें प्रकाशमान पद और वास्तव वस्तु सो प्रतीतमें आवे हे ॥ ३७ ॥

मू० श्रीशांभव्याश्च खेचर्या अवस्थाधामभेदतः ॥
भवेच्चित्तलयानंदः शून्ये चित्सुखरूपिणि ॥ ३८ ॥
तारे ज्योतिषि संयोज्य किंचिदुन्नमयेद्भ्रुवौ ॥

॥ टीका ॥

अयमहं ब्रह्मास्मीति वाक्यार्थभूतं ब्रह्म वा तस्मिन्विलीनौ विशेषेण लीनौ चित्तपवनौ मनोमारुतौ यस्य स तथा योगी वर्तते निश्चलतारया निश्चला स्थिरा तारा कनीनिका यस्यां तादृश्या दृष्ट्या बहिर्देहाद्बहिःप्रदेशे पश्यन्नपि चक्षुःसंबंधं कुर्वन्नपि अपश्यन् बाह्यविषयग्रहणमकुर्वन् वर्तते आस्ते । खल्विति वाक्यालंकारे । इयमुक्ता शांभवी मुद्रा शांभवीनामिका मुद्रयति क्लेशानिति मुद्रा गुरोर्देशिकस्य प्रसादात्प्रीतिपूर्वकादनुग्रहाल्लब्धा प्राप्ता चेत्तदिदमिति वक्तुमशक्यं शांभवं शांभवीमुद्रायां भासमानं पदं पद्यते गम्यते योगिभिरिति पदमात्मस्वरूपं शून्याशून्यविलक्षणं ध्येयाकारवृत्तेः सद्भावाच्छून्यविलक्षणं तस्या अपि भानाभावादशून्यविलक्षणं तत्त्वं वास्तविकं वस्तु स्फुरति प्रतीयते । तथाचोक्तं । ‘अन्तर्लक्ष्यमनन्यधीरविरतं पश्यन्मुदा संयमी दृष्ट्यन्मेषनिमेषवर्जितमियं मुद्रा भवेच्छाम्भवी ॥ गुप्तेयं गिरिशेन तंत्रविदुषा तंत्रेषु तत्त्वार्थिनामेषा स्याद्यमिनां मनोलयकरी मुक्तिप्रदा दुर्लभा ॥ १ ॥ ऊर्ध्वदृष्टिरधोदृष्टिरूर्ध्ववेधो ह्यधःशिराः । राधायंत्रविधानेन जीवन्मुक्तो भवेत्क्षितौ । २ । ॥ ३७ ॥

श्रीशांभव्या इति ॥ श्रीशांभव्याः श्रीमत्याः शांभवीमुद्रायाः खेचरीमुद्रायाश्चावस्थाधामभेदतः अवस्थाऽवस्थितिर्धाम स्थानं तयोर्भेदाच्छांभव्यां बहिर्दृष्ट्या बहिःस्थितिः खेचर्यां भ्रूमध्यदृष्ट्याऽवस्थितिः । शांभव्यां हृदयभावनादेशः खेचर्यां भ्रूमध्य एव देशः । तयोर्भेदाभ्यां शून्ये देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्ये सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्ये या चित्सुखरूपिणि चिदानंदस्वरूपिण्यात्मानि चित्तलयानंदो भवेत्स्यात् । श्रीशांभवीखेचर्योरवस्थाधामरूपसाधनांशेभेदः, नतु चित्तलयानंदरूपफलांश इति भावः ॥ ३८ ॥

उन्मनीमुद्रामाह ॥ तारे इति ॥ तारे नेत्रयोः कनीनिके ज्योतिषी तारयोर्नासाग्रे

॥ भाषा ॥

श्रीशांभव्या इति ॥ श्रीशांभवीमुद्राके और खेचरीमुद्राके अवस्था और धाम इनके भेदकरके रहित चैतन्य आनंदरूप आत्मा तामें चित्तको लय ताको आनंद होय हे ॥ ३८ ॥

उन्मनी मुद्रा कहे हे ॥ तारे इति ॥ दृष्टी नासिकाके अग्रमें युक्त करेमूं प्रकाश-

मू० पूर्वयोगं मनो युंजन्नुन्मनीकारकः क्षणात् ॥ ३९
केचिदागमजालेन केचिन्निगमसंकुलैः ॥
केचित्तर्केण मुह्यंति नैव जानंति तारकम् ॥ ४० ॥
अर्धोन्मीलितलोचनः स्थिरमना नासाग्रदत्तेक्षण-
श्चंद्रार्कावपि लीनतामुपनयन्निस्पंदभावेन यः ॥

॥ टीका ॥

योजनात्प्रकाशमाने तेजिसि संयोज्य संयुक्ते कृत्वा भ्रुवौ किंचित्स्वल्पमुन्नयेदूर्ध्वं नयेत् । पूर्वः पूर्वोक्तोऽतर्लक्ष्यबहिर्दृष्टिरित्याकारको योगो युक्तिर्यस्मिन् तत्तादृशं मनोऽतःकरणं युंजन् युक्तं कुर्वन् योगी क्षणान्मुहूर्तादुन्मनीकारण उन्मन्यवस्था-कारको भवति ॥ ३९ ॥

उन्मनीमंतराऽन्यस्तरणोपायो नास्तीत्याह ॥ केचिदिति ॥ केच्छिास्त्रतंत्रा-दिविदः आगच्छंति बुद्धिमारोहंत्यर्था एभ्य इत्यागमाः शास्त्रतंत्रादयस्तेषां जालै-र्जालवद्बंधनसाधनैस्तदुक्तैः फलैर्मुह्यंति मोहं प्राप्नुवंति । तत्रासक्ता बध्यंत इति भावः । केचिद्वैदिका निगमसंकुलैर्निगमानां निगमोक्तानां संकुलैः फलबाहुल्यैर्मु-ह्यंति । केचिद्वैशेषिकादयस्तर्केण स्वकल्पितयुक्तिविशेषेण मुह्यंति । तारयतीति तारकस्तं तारकं तरणोपायं नैव जानंति । उक्तोन्मन्येव तरणोपायस्तं न जानंती-त्यर्थः ॥ ४० ॥

अर्धोन्मीलितेति ॥ अर्धं उन्मीलिते अर्धोन्मीलिते अर्धोन्मीलिते लोचने येन

॥ भाषा ॥

मान तेज होय हे तामेंही दृष्टीकूं युक्त करकें कछूक भृकुटीकूं ऊंची चढावे पहलें कह्यो अंतर्लक्ष्य बहिर्दृष्टि योग जामें एसो अंतःकरणकूं युक्त करे तो योगी क्षणमात्रमें उन्मनी अवस्था होय हे ॥ ३९ ॥

उन्मनी विना और तिरवेको उपाय नही हे कहें हें ॥ केचिदिति ॥ जे कोई शास्त्र तंत्रादिकनके वेत्ता हें ते शास्त्र तंत्रादिकनके फल तिनकरकें मोहकूं प्राप्त होय हें और जो कोई वेदके जानवेवारे हें ते वेदमें कहे जे बहोतसे फल तिनकरकें मोहकूं प्राप्त होय रहे न्यायशास्त्री हें ते तर्ककरकें मोहकूं प्राप्त होय रहे हें और पूर्व कही जो उन्मनीही तरणको उपाय ताय नही जाने हे ॥ ४० ॥

अर्धोन्मीलितेति ॥ आधे खोले हें नेत्र जाने और स्थिर हे मन जाको और नासि-

मू॰ ज्योतीरूपमशेषबीजमखिलं देदीप्यमानं परं
तत्त्वं तत्पदमेति वस्तु परमं वाच्यं किमत्राधिकम् ॥४१॥
दिवा न पूजयेल्लिंगं रात्रौ चैव न पूजयेत् ॥
सर्वदा पूजयेल्लिंगं दिवारात्रिनिरोधतः ॥ ४२ ॥

॥ टीका ॥

स अर्धोन्मीलितलोचनः अर्धोद्घाटितलोचन इत्यर्थः । स्थिरं निश्चलं मनो यस्य स स्थिरमना नासाया नासिकाया अग्रेऽग्रभागे नासिकायां द्वादशांगुलपर्यंते वा दत्ते प्रहिते ईक्षणे येन स नासाग्रदत्तेक्षणः । तथाह वसिष्ठः । 'द्वादशांगुलपर्यंते नासाग्रे विमलेंऽबरे । संविद्दशोः प्रशाम्यंत्योः प्राणस्पंदो निरुध्यते' इति । निस्पंदस्य निश्चलस्य भावो निस्पंदभावः कायेंद्रियमनसां निश्चलत्वं तेन चंद्रार्कौ चंद्रसूर्यावपि लीनतां लीनस्य भावो लीनता लयस्तमुपनयन्प्रापयन्कायेंद्रियमनसां निश्चलत्वेन प्राणसंचारमपि स्तंभयन्नित्यर्थः । तदुक्तं प्राक् । 'मनो यत्र विलीयेते' त्यादिपूर्वोक्तविशेषणसंपन्नो योगी ज्योतीरूपं ज्योतिरिवाखिलप्रकाशकं रूपं यस्य स तथा तमशेषबीजमाकाशाद्युत्पत्तिद्वारा सर्वकारणमखिलं पूर्णं देदीप्यमानमतिशयेन दीप्यत इति देदीप्यमानं तत्तथा स्वप्रकाशकं परं कायेंद्रियमनसां साक्षिणं तत्त्वमनारोपितं वास्तविकमित्यर्थः । तदिदमिति वक्तुमशक्यं पद्यते गम्यते योगिभिरिति पदं परमं सर्वोत्कृष्टं वस्तु आत्मस्वरूपं एति प्राप्नोति । उन्मन्यवस्थायां स्वस्वरूपावस्थितो योगी भवतीत्यर्थः । अत्राधिकं किं वाच्यं । अपरं वस्तु प्राप्नोतीत्यत्र किं वक्तव्यमित्यर्थः ॥ ४१ ॥

उन्मनीभावनायाः कालनियमाभावमाह ॥ दिवा नेति ॥ दिवा सूर्यसंचारे लिंगं

॥ भाषा ॥

काके अग्रभागमें लगाये हें नेत्र जाने और कर्मेंद्रिय और मन इनके निश्चल भावकरके चंद्रमा सूर्य ये लय करत योगी ज्योतीकीसीनाई अखिल विश्वकूं प्रकाश करवेवालो संपूर्णको कारण पूर्णरूप अतिशयकर प्रकाशके करवेवालो स्वप्रकाश करवेवालो वास्तव वस्तुरूप योगीनकरकें प्राप्त होयवेके योग्य संपूर्णतें उत्कृष्ट परमपद जो आत्मस्वरूप ताय प्राप्त होय हे. और वस्तु प्राप्त होय ताको कहनो कहा ॥ ४१ ॥

दिवा नेति ॥ सूर्यस्वर चले तामें आत्माकूं ध्यान नही करे. और चंद्रस्वर चले तामेंबी आत्माकूं ध्यान नही करे. क्यों चंद्र सूर्य वायू चले तब स्थिर चित्त नही रहे हे. तासूं सूर्य चंद्र ये दोनोनकूं रोककरकें आत्माकूं सर्वकालमें ध्यान करे इनके रोकेतें सुषु-

अथ खेचरी ॥

मू० सव्यदक्षिणनाडिस्थो मध्ये चरति मारुतः ॥
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन् स्थाने न संशयः ॥ ४३ ॥
इडापिंगलयोर्मध्ये शून्यं चैवानिलं ग्रसेत् ॥
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तत्र सत्यं पुनः पुनः ॥ ४४ ॥

॥ टीका ॥

सर्वकारणमात्मानं । 'एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' इत्यादिश्रुतेः । न पूजयेत् न भावयेत् । ध्यानमेवात्मपूजनं । तदुक्तं वासिष्ठे । 'ध्यानोपहार एवात्मा ध्यानमस्य महार्चनम् । विना तेनेतरेणायमात्मा लभ्यत एव नो' इति । रात्रौ चंद्रसंचारे च नैव पूजयेन्नैव भावयेत् । चंद्रसूर्यसंचारे चित्तस्थैर्याभावात् । 'चले वाते चलं चित्तमि' त्युक्तत्वात् । दिवारात्रिनिरोधतः सूर्यचंद्रौ निरुध्य । ल्यब्लोपे पंचमी तस्यास्तसिल् । सर्वदा सर्वस्मिन् काले लिंगं आत्मानं पूजयेद्भावयेत् । सूर्यचंद्रयोर्निरोधे कृते सुषुम्नांतर्गते प्राणे मनःस्थैर्यात् । तदुक्तं । 'सुषुम्नांतर्गते वायौ मनःस्थैर्यं प्रजायते' इति ॥ ४२ ॥

खेचरीमाह ॥ सव्येति ॥ सव्यदक्षिणनाडिस्थो वामतदितरनाडिस्थो मारुतो वायुर्यत्र मध्ये चरति यस्मिन्मध्यप्रदेशे गच्छति तस्मिन्स्थाने तस्मिन्प्रदेशे खेचरी मुद्रा तिष्ठते स्थिरा भवति । 'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्चे'त्यात्मनेपदम् । न संशयः उक्तेऽर्थे संदेहो नास्तीत्यर्थः ॥ ४३ ॥

इडापिंगलयोरिति ॥ इडापिंगलयोः सव्यदक्षिणनाड्योर्मध्ये यच्छून्यं खं । कर्तृ । अनिलं प्राणवायुं यत्र ग्रसेत् । शून्ये प्राणस्य स्थिरीभाव एव ग्रासः । तत्र तस्मिञ्छून्ये खेचरी मुद्रा तिष्ठते । पुनः पुनः सत्यमिति योजना ॥ ४४ ॥

॥ भाषा ॥

म्नामें अंतर्गत प्राण होंय हे तब मन स्थिर होय हे यातें ॥ ४२ ॥

अब खेचरीमुद्रा कहें हें ॥ सव्येति ॥ वामदक्षिण नाडीनमें स्थित वायु जा भृकुटीके मध्यदेशमें गमन करें हे ताही स्थानमें खेचरी मुद्रा स्थित रहे हे ॥ ४३ ॥

इडापिंगलयोरिति ॥ इडा पिंगलाके मध्यमें जो आकाश सो प्राणवायुकूं ग्रास करे हे. शून्य जो आकाश तामें प्राणवायु स्थिर होय हे. ताकूं ही ग्रास कहे हें. ता शून्यमें खेचरी मुद्रा स्थित रहे हे. ये सत्य हे ॥ ४४ ॥

मू० सूर्याचंद्रमसोर्मध्ये निरालंबांतरं पुनः ॥
संस्थिता व्योमचक्रे या सा मुद्रा नाम खेचरी ॥ ४५ ॥
सोमाद्यत्रोदिता धारा साक्षात्सा शिववल्लभा ॥
पूरयेदतुलां दिव्यां सुषुम्नां पश्चिमे मुखे ॥ ४६ ॥
पुरस्ताच्चैव पूर्येत निश्चिता खेचरी भवेत् ॥
अभ्यस्ता खेचरी मुद्राप्युन्मनी संप्रजायते ॥ ४७ ॥

॥ टीका ॥

सूर्याचंद्रमसोरिति ॥ सूर्याचंद्रमसोरिडापिंगलयोर्मध्ये निरालंबं यदंतरमवकाशस्तत्र । पुनः पादपूरणे । व्योम्नां खानां चक्रे समुदाये । भ्रूमध्ये सर्वखानां समन्वयात् । तदुक्तं 'पंचस्रोतःसमन्विते' इति । या संस्थिता सा मुद्रा खेचरीनाम ॥ ४५ ॥

सोमादिति ॥ सोमाच्चंद्राद्यत्र यस्यां खेचर्यां धाराऽमृतधारा उदितोद्भूता सा खेचरी साक्षाच्छिववल्लभा शिवस्य प्रियेति पूर्वेणान्वयः । अतुलां निर्मलां निरुपमां दिव्यां सर्वनाड्युत्तमां सुषुम्नां पश्चिमे मुखे पूरयेत् । जिह्वयेति शेषः ॥ ४६ ॥

पुरस्ताच्चैवेति ॥ पुरस्ताच्चैव पूर्वतोऽपि पूर्येत । सुषुम्नां प्राणेनेति शेषः । यदि तर्हि निश्चिताऽसंदिग्धा खेचरी खेचर्याख्या मुद्रा भवेदिति । यदि तु पुरस्तात्प्राणेन न पूर्येत जिह्वामात्रेण पश्चिमतः पूर्येत तर्हि मूढावस्थाजनिका । न निश्चिता खेचरी स्यादिति भावः । खेचरीमुद्राप्यभ्यस्ता सती उन्मनी संप्रजायते चित्तस्य ध्येयाकारावेशात्तुर्यावस्था भवतीत्यर्थः ॥ ४७ ॥

॥ भाषा ॥

सूर्याचंद्रमसोरिति ॥ सूर्य चंद्रमा जो इडा पिंगला तिनके मध्यमें जो सबले आकाशनको समूह तामें जो स्थित सो मुद्रा खेचरी नाम कहें हैं ॥ ४५ ॥

सोमादिति ॥ चंद्रमातें जा खेचरीमें अमृतधारा प्रगट हुई वो खेचरी शिवजीकूं बडी प्यारी हे. निर्मल और सर्वनाडीनमें उत्तम एसी सुषुम्ना ताय भीतर मुखमें जिह्वाकरकें रोक देवे ॥ ४६ ॥

पुरस्ताच्चैवेति ॥ बहारतें सुषुम्नाकूं प्राणकरकें जो रोक देवे तो निश्चैंही खेचरी नाम मुद्रा होय हे और जो बहार प्राणकरकें नही रोके भीतरही जिह्वामात्रकरकें रोक देवे तो मूढ अवस्थाकूं प्रगट करे हे. निश्चै खेचरी मुद्रा नही होय. खेचरी मुद्राबी अभ्यास करे तें उन्मनी होय हे. और चित्तकूं ध्यान करवेके योग्य वस्तूके आवेशसूं तुर्यावस्था होय हे ॥ ४७ ॥

मू० भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं मनस्तत्र विलीयते ॥
ज्ञातव्यं तत्पदं तुर्यं तत्र कालो न विद्यते ॥ ४८ ॥
अभ्यसेत्खेचरीं तावद्यावत्स्याद्योगनिद्रितः ॥
संप्राप्तयोगनिद्रस्य कालो नास्ति कदाचन ॥ ४९ ॥
निरालंबं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिंतयेत् ॥
स बाह्याभ्यंतरे व्योम्नि घटवत्तिष्ठति ध्रुवम् ॥ ५० ॥

॥ टीका ॥

भ्रुवोरिति ॥ भ्रुवोर्मध्ये भ्रुवोरंतराले शिवस्थानं शिवस्येश्वरस्य स्थानं शिवस्य सुखरूपस्यात्मनोऽवस्थानमिति शेषः । तत्र तस्मिन् शिवे मनो लीयते । शिवाकारवृत्तिप्रवाहवद्भवति तच्चित्तलयरूपं तुर्यं पदं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिभ्यश्चतुर्थाख्यं ज्ञातव्यम् । तत्र तस्मिन् पदे कालो मृत्युर्न विद्यते । यद्वा सूर्यचंद्रयोर्निरोधादायुःक्षयकारकः कालः समयो न विद्यत इत्यर्थः । तदुक्तं । 'भोक्त्रि सुषुम्ना कालस्ये' ति ॥ ४८ ॥

अभ्यसेदिति ॥ तावत्खेचरीं मुद्रामभ्यसेत् । यावद्योगनिद्रितः । योगः सर्ववृत्तिनिरोधः सैव निद्रा योगनिद्राऽस्य संजाता इति योगनिद्रितः तादृशः स्यात् । संप्राप्ता योगनिद्रा येन स संप्राप्तयोगनिद्रस्तस्य कदाचन कस्मिंश्चिदपि समये कालो मृत्युर्नास्ति ॥ ४९ ॥

निरालंबमिति ॥ यो निरालंबमालंबशून्यं मनः कृत्वा किंचिदपि न चिंतयेत् खेचरीमुद्रायां जायमानायां ब्रह्माकारामपि वृत्तिं परवैराग्येण परित्यजेदित्यर्थः । स योगी बाह्याभ्यंतरे बाह्ये बहिर्भवे आभ्यंतरेऽभ्यंतर्भवे च व्योम्न्याकाशे घटवत्ति-

॥ भाषा ॥

भ्रुवोरिति ॥ भ्रुकुटीके मध्यमें शिवजीको स्थान है ता शिवमें मन लीन होय है वो चित्तलयरूप जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ति इनतें तुर्य पद जाननो योग्य हैं. ता पदमें काल जो मृत्यु सो नहीं प्राप्त होय है ॥ ४८ ॥

अभ्यसेदिति ॥ संपूर्ण वृत्तीनको निरोध जबतांई होय तबतांई खेचरी मुद्राको अभ्यास करे सर्ववृत्ती जाकी रुक गई ताकूं कदेबी काऊ समयके बीचमेंबी काल जो मृत्यु सो नहीं होय ॥ ४९ ॥

निरालंबमिति ॥ जो योगी आश्रयरहित मनकरकें कछूबी चिंतमन न करे सो योगी बहार भीतर आकाशमें घटकीसी नाई स्थित निश्चयही रहे है. जेसें घटमें भीतर और

मू० बाह्यवायुर्यथा लीनस्तथा मध्ये न संशयः ॥
स्वस्थाने स्थिरतामेति पवनो मनसा सह ॥ ५१ ॥
एवमभ्यसमानस्य वायुमार्गे दिवानिशम् ॥
अभ्यासाज्जीर्यते वायुर्मनस्तत्रैव लीयते ॥ ५२ ॥
अमृतैः प्लावयेद्देहमापादतलमस्तकम् ॥

॥ टीका ॥

ष्ठति ध्रुवं । निश्चितमेतत् । यथाकाशे घटो बहिरंतश्चाकाशपूर्णो भवति तथा खेचर्यामालंबनपरित्यागेन योगी ब्रह्मणा पूर्णस्तिष्ठतीत्यर्थः ॥ ५० ॥

बाह्येति ॥ बाह्यो देहाद्बहिर्भवो वायुर्यथा लीनो भवति खेचर्यां । तस्यांतःप्रवृत्त्यभावात् । तथा मध्यो देहमध्यवर्ती वायुर्लीनो भवति । तस्य बहिःप्रवृत्त्यभावात् । न संशयः । अस्मिन्नर्थे संदेहो नास्तीत्यर्थः । स्थीयते स्थिरीभूयतेऽस्मिन्निति स्थानं स्वस्य प्राणस्य स्थानं स्थैर्याधिष्ठानं ब्रह्मरंध्रं तत्र मनसा चित्तेन सह पवनः प्राणः स्थिरतां निश्चलतामेति प्राप्नोति ॥ ५१ ॥

एवमिति ॥ एवमुक्तप्रकारेण वायुमार्गे प्राणमार्गे सुषुम्नायामित्यर्थः । दिवानिशं रात्रिंदिवमभ्यसमानस्याभ्यासं कुर्वतो योगिनोऽभ्यासाद्यत्र यस्मिन्नाधारे वायुः प्राणो जीर्यते क्षीयते लीयत इत्यर्थः । तत्रैव वायोर्लयाधिष्ठाने मनश्चित्तं लीयते जीर्यत इत्यर्थः ॥ ५२ ॥

अमृतैरिति ॥ अमृतैः सुषिरनिर्गतैः पादतलं च मस्तकं च पादतलमस्तकं । 'द्वंद्वश्च

॥ भाषा ॥

बहार आकाश पूर्ण हे तेसेंही खेचरी में आलंबन परित्यागकरकें योगी ब्रह्मकरकें पूर्ण स्थित रहे हे ॥ ५० ॥

बाह्येति ॥ देहतें बहार जो वायु हे सो जेसें लीन होय हे खेचरीमें ता वायुकूं भीतर प्रवृत्तिको अभाव हे तेसेंही देहमें रहे जो वायु सो लीन होय हे ता वायुकूं बहार प्रवृत्तिको अभाव हे यामें संदेह नही हे प्राणके स्थिर होयवेको स्थान ब्रह्मरंध्र तामें मनकरके सहित प्राण स्थिर होय जाय हे ॥ ५१ ॥

एवमिति ॥ या प्रकारकरकें वायुमार्ग जो सुषुम्ना तामें रात्रिदिन अभ्यास कर रह्यो ता योगीकूं अभ्यासतें जा आधारमें वायु लीन होय हे, और वायु जामें लीन होय हे तामेंही मन लीन होय हे ॥ ५२ ॥

अमृतैरिति ॥ पामतें लेकर मस्तक पर्यंत देहकूं अमृतकरकें सींच देवे उत्कृष्ट हे

मू० सिद्ध्यत्येव महाकायो महाबलपराक्रमः ॥ ५३ ॥
इति खेचरी ॥
शक्तिमध्ये मनः कृत्वा शक्तिं मानसमध्यगाम् ॥
मनसा मन आलोक्य धारयेत्परमं पदम् ॥ ५४ ॥
खमध्ये कुरु चात्मानमात्ममध्ये च खं कुरु ॥
सर्वं च खमयं कृत्वा न किंचिदपि चिंतयेत् ॥ ५५ ॥

॥ टीका ॥

प्राणितूर्यसेनांगानामि'त्येकवद्भावः । पादतलमस्तकमभिव्याप्येत्यापादतलमस्तकं देहमाप्लावयेदाप्लावितं कुर्यात् । महानुत्कृष्टः कायो यस्य स महाकायः महांतौ बलपराक्रमौ यस्येत्येतादृशो योगी सिद्ध्यत्येव । अमृताप्लावनेन सिद्धो भवत्येव ॥ ५३॥

शक्तिमध्य इति ॥ शक्तिः कुंडलिनी तस्या मध्ये मनः कृत्वा तस्यां मनो धृत्वा तदाकारं मनः कृत्वेत्यर्थः । शक्तिं मानसमध्यगां कृत्वा । शक्तिध्यानावेशाच्छक्तिं मनस्येकीकृत्य तेन कुंडलीं बोधयित्वेति यावत् । 'प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मरुता सहे'ति गोरक्षोक्तेः । मनसांतः करणेन मन आलोक्य बुद्धिं मनसाऽवलोकनेन स्थिरीकृत्वेत्यर्थः । परमं पदं सर्वोत्कृष्टं स्वरूपं धारयेद्धारणाविषयं कुर्यादित्यर्थः ॥ ५४ ॥

खमध्य इति ॥ खमिव पूर्णं ब्रह्म खं तन्मध्ये आत्मानं स्वस्वरूपं कुरु । ब्रह्माहमिति भावयेत्यर्थः । आत्ममध्ये स्वस्वरूपे च खं पूर्णं ब्रह्म कुरु । अहं ब्रह्मेति च भावयेत्यर्थः । सर्वं च खमयं कृत्वा ब्रह्ममयं विभाव्य किमपि न चिंतयेत् । अहं ब्रह्मेति ध्यानमपि परित्यजेदित्यर्थः ॥ ५५ ॥

॥ भाषा ॥

देह जाको महान हे बल पराक्रम जाके एसो योगी वा अमृतके सींचवेकरकें सिद्ध होय हे ॥ ५३ ॥

शक्तिमध्य इति ॥ कुंडलिनीमें मन धारणकरकें और मनमें कुंडली धारणकरकें कुंडलिनीके ध्यानावेशतें शक्ति मनकी हे एसें कुंडलिनी और मनकूं एककरकें कुंडलीकूं बोध करायकरकें अंतःकरणकरकें मनकूं देखकरकें सर्वोत्कृष्ट स्वरूप ताय धारण करे ॥ ५४ ॥

खमध्य इति ॥ आकाशकीसी नाई पूर्ण ब्रह्म हे सो ब्रह्ममें अपनो स्वरूप जो आत्मा ताय करे ब्रह्माहं या प्रकार भावना करे और अपनो स्वरूप जो आत्मा तामें पूर्णब्रह्म करे अहंब्रह्म या प्रकार भावना करे फिर संपूर्ण ब्रह्ममय भावनाकरकें फिर कछूबी चिंतमन न करे अर्थात् अहंब्रह्म ये जो ध्यान तायबी त्याग करदे ॥ ५५ ॥

मू० अंतःशून्यो बहिः शून्यः शून्यः कुंभ इवांबरे ॥
अंतः पूर्णो बहिः पूर्णः पूर्णः कुंभ इवार्णवे ॥ ५६ ॥
बाह्यचिंता न कर्तव्या तथैवांतरचिंतनम् ॥
सर्वचिंतां परित्यज्य न किंचिदपि चिंतयेत् ॥ ५७ ॥
संकल्पमात्रकलनैव जगत्समग्रं

॥ टीका ॥

एवं समाहितस्य स्वरूपे स्थितिमाह ॥ अंतःशून्य इति॥अंतःअंतःकरणे शून्यः। ब्रह्मातिरिक्तवृत्तेरभावाद्द्वितीयशून्यः। बहिरंतःकरणाद्बहिरपि शून्यः। द्वितीयादर्शनात्। अंबरे आकाशे कुंभो घटो यथांतर्बहिःशून्यस्तद्वदंतःकरणे हृदाकाशे वायुपूर्णः ब्रह्माकारवृत्तेः सद्भावाद्ब्रह्मवासत्वाद्वा । बहिःपूर्णोऽतःकरणाद्बहिर्हृदवकाशाद्बहिर्वा पूर्णः। सत्तया ब्रह्मातिरिक्तवृत्तेरभावाद्ब्रह्मपूर्णत्वाद्वा । अर्णवे नमुद्रे कुंभो घटो यथा सर्वतो जलपूर्णो भवत्येवं समाधिनिष्ठो योगी ब्रह्मपूर्णो भवतीत्यर्थः ॥ ५६ ॥

बाह्यचिंतेति ॥ समाहितेन योगिनेत्यध्याहारः। बाह्यचिंता बाह्यविषया चिंता न कर्तव्या तथैव बाह्यचिंताकरणवदांतरचिंतनमांतराणां मनसा परिकल्पितानामाशामोदकसौधवाटिकादीनां चिंतनं न कर्तव्यमिति लिंगविपरिणामेनान्वयः। सर्वचिंतां बाह्याभ्यंतरचिंतनं परित्यज्य किंचिदपि न चिंतयेत्परवैराग्येणात्माकारवृत्तिमपि परित्यजेत्। तत्त्यागे स्वरूपावस्थितिरूपा जीवन्मुक्तिर्भवतीति भावः ॥ ५७ ॥

बाह्याभ्यंतरचिंतापरित्यागे शांतिश्च भवतीत्यत्र वसिष्ठवाक्यं प्रमाणयति । सं-

॥ भाषा ॥

अंतःशून्य इति ॥ अंतःकरणमें बी शून्यहे क्यों ब्रह्मतें न्यारो कछू नही हे. और अंतःकरणतें बहारबी शून्य हे क्यों ब्रह्मतें दूसरो दीखेही नही हे यातें यामें दृष्टांत हे जेसें आकाशमें घट घटके भीतरबी आकाश हे और घटके बहारबी आकाश हे और अंतःकरणमेंबी पूर्ण क्यों ब्रह्मको सद्भाव हे. यातें और बहारबी पूर्ण हे क्यों ब्रह्मकरकें पूर्ण हे. यातें यामें दृष्टांत जेसें समुद्रमें कुंभ बहारबी जलभर रह्यो और भीतरबी जलभर रह्यो एसेंही समाधिनिष्ठ योगी ब्रह्मकरकें पूर्ण होय हे ॥ ५६ ॥

बाह्यचिंतेति ॥ योगीकूं बहारकी विषय चिंता नही करनो योग्य हे. एसेंही भीतर मनकरकें कल्पना करे जाय अनेक चिंतमन सो नही करनो योग्य हे. बहार भीतरकी चिंता परित्यागकरकें कछूबी नही चिंतमन करे ॥ ५७ ॥

बहार भीतर चिंताके परित्याग करवेमें शांतिहोय हे यामें वसिष्ठको वाक्य रामजी

संकल्पमात्रकलनैव मनोविलासः ॥
संकल्पमात्रमतिमुत्सृज निर्विकल्प-
माश्रित्य निश्चयमवाप्नुहि राम शांतिम् ॥ ५८ ॥
कर्पूरमनले यद्वत्सैंधवं सलिले यथा ॥
तथा संधीयमानं च मनस्तत्त्वे विलीयते ॥ ५९ ॥
ज्ञेयं सर्वं प्रतीतं च ज्ञानं च मन उच्यते ॥

॥ टीका ॥

कल्पेति । संकल्पो मानसिको व्यापारः स एव संकल्पमात्रं तस्य कलनैव रचनैवेदं दृश्यमानं समग्रं जगत् बाह्यप्रपंचो मनोमात्रकल्पित इत्यर्थः । मनसो मानसस्य विलासो नानाविषयाकारकल्पना आशामोदकसौधवाटिकादिकल्पनारूपो विलासः संकल्पमात्रकलनैव । मानसः प्रपंचोऽपि संकल्पमात्ररचनैवेत्यर्थः । संकल्पमात्रे बाह्याभ्यंतरप्रपंचे या मतिःसत्यत्वबुद्धिस्तामुत्सृज । तर्हि किं कर्तव्यमित्यत आह । निर्विकल्पमिति । विशिष्टकल्पना विकल्पः । आत्मनि कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखित्वसजातीयविजातीयस्वगतभेददेशकालवस्तुपरिच्छेदकल्पनारूपः तस्मान्निष्क्रांतो निर्विकल्पस्तमात्मानमाश्रित्य धारणादिविषयं कृत्वा हेराम! निश्चयमसंदिग्धं शांतिं परमोपरतिमवाप्नुहि । ततः सुखमपि प्राप्स्यसीति भावः । तदुक्तं भगवता व्यतिरेकेण । 'न चाभावयतः शांतिरशांतस्य कुतः सुखमि'ति ॥ ५८ ॥

कर्पूरमिति ॥ यद्वद्यथाऽनलेऽग्नौ संधीयमानं संयोज्यमानं कर्पूरं विलीयते विशेषेण लीयते लीनं भवति । अग्न्याकारं भवति । यथा सलिले जले संधीयमानं सैंधवं लवणं विलीयते लवणाकारं परित्यज्य जलाकारं भवति तथा तद्वत्तत्त्वे आत्मनि संधीयमानं कार्यमानं मनो विलीयते आत्माकारं भवति ॥ ५९ ॥

मनसो विलये जाते द्वैतमपि लीयत इत्याह त्रिभिः ॥ ज्ञेयमिति ॥ सर्वं सकलं

॥ भाषा ॥

प्रति कह्यो ताको प्रमाण दे हैं ॥ संकल्पेति ॥ बाह्य प्रपंच मनोमात्र कल्पित हे. और मनको जो प्रपंच अनेक विकार रूप सोवी संकल्पमात्रकरकें हीं रचना हे. और बहार भीतर जो प्रपंच तामें जो सत्यबुद्धि ताय त्याग करो भेदरहित जो आत्मा ताय आश्रय लेकरके हे राम ! निस्संदेह शांति सुख ताय तुम प्राप्त होओगे ॥ ५८ ॥

कर्पूरमिति ॥ जैसें अग्नीमें युक्त कियो कपूर अग्नीके आकार होय जाय हे और जलमें धर्‍यो लवण सो लवणके आकारकूं परित्यागकरकें जलाकार होय जाय हे. तेसेंहि मनकूं आत्मामें लगावें तो मन आत्माकार होय हे ॥ ५९ ॥

ज्ञेयमिति ॥ संपूर्ण ज्ञानके योग्य प्रतीतमें आप रह्यो. ओर ज्ञान सो मनकूंही कहें हे.

मू० ज्ञानं ज्ञेयं समं नष्टं नान्यः पंथा द्वितीयकः ॥ ६० ॥
मनोदृश्यमिदं सर्वं यत्किंचित्सचराचरम् ॥
मनसो ह्युन्मनीभावाद्वैतं नैवोपलभ्यते ॥ ६१ ॥
ज्ञेयवस्तुपरित्यागाद्विलयं याति मानसम् ॥
मनसो विलये जाते कैवल्यमवशिष्यते ॥ ६२ ॥

॥ टीका ॥

ज्ञेयं ज्ञानार्हं प्रतीतं च ज्ञातं च ज्ञानं च इदं सर्वं मन उच्यते । सर्वस्य मनःकल्पनामात्रत्वान्मनः शब्देनोच्यते । ज्ञानं ज्ञेयं च समं मनो विलीयते मनसा सार्धं नष्टं यदि तर्हि द्वितीयकः द्वितीय एव द्वितीयकः पंथा मनोविषयो नास्ति । द्वैतं नास्तीति फलितार्थः ॥ ६० ॥

मनोदृश्यमिति ॥ इदमुपलभ्यमानं यत्किंचिद्यत्किमपि चरं जंगममचरं स्थावरं चरं चाचरं च चराचरे ताभ्यां सहवर्तत इति सचराचरं यज्जगत्सर्वं मनोदृश्यं मनसा दृश्यं । मनःसंकल्पमात्रमित्यर्थः । मनःकल्पनासत्त्वे प्रतीतेस्तदभावे चाप्रतीतेर्भ्रम एव सर्वं जगत् । भ्रमस्य प्रतीतकशरीरत्वात् । न च बौद्धमतप्रसंगः । भ्रमाधिष्ठानस्य ब्रह्मणः सत्यत्वाभ्युपगमात् । मनस उन्मनीभावाद्विलयाद्द्वैतं भेदः नैवोपलभ्यते नैव प्रतीयेत । द्वैतभ्रमहेतोर्मनःसंकल्पस्याभावात् । हि तद्धेतावव्ययम्॥६१॥

ज्ञेयमिति ॥ ज्ञेयं ज्ञानविषयं यद्वस्तु सर्वं चराचरं यद्दृश्यं तस्य परित्यागान्नामरूपात्मकस्य तस्य परिवर्जनाद्विलयं सच्चिदानंदरूपात्माकारं भवति । मनसो विलये जाते सति कैवल्यं केवलस्यात्मनो भावः कैवल्यमवशिष्यते । अद्वितीयात्मस्वरूपमवशिष्टं भवतीत्यर्थः ॥ ६२ ॥

॥ भाषा ॥

मनको लय होतें ही द्वैत जो प्रपंच ताकोबी लय होय हे ॥ ६० ॥

मनोदृश्यमिति ॥ स्थावर जंगम सहित जो जगत् सो संपूर्ण मनके संकल्पमात्रकरकें हे सो मनके लयतें प्रपंचभेद नही प्रतीतमें आवे हे ॥ ६१ ॥

ज्ञेयमिति ॥ स्थावर जंगम सहित दृश्यवस्तु जो जगत् ताके परित्याग करेतें मनबी सच्चिदानंदरूप आत्माकार होय हे. और मनके लय होतेंही अद्वितीय आत्मस्वरूप अवशेष रहे हे ॥ ६२ ॥

मू० एवं नानाविधोपायाः सम्यक्स्वानुभवान्विताः ॥
समाधिमार्गाः कथिताः पूर्वाचार्यैर्महात्मभिः ॥ ६३ ॥
सुषुम्नायै कुंडलिन्यै सुधायै चंद्रजन्मने ॥
मनोन्मन्यै नमस्तुभ्यं महाशक्त्यै चिदात्मने ॥ ६४ ॥
अशक्यतत्त्वबोधानां मूढानामपि संमतम् ॥

॥ टीका ॥

एवमिति ॥ एवमंतर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिरित्याद्युक्तप्रकारेण महान् समाधिपरिशीलनशुद्ध आत्मांतःकरणं येषां ते महात्मानस्तैर्महात्मभिः पूर्वे च ते आचार्याश्च पूर्वाचार्या मत्स्येंद्रादयस्तैः समाधेश्चित्तवृत्तिनिरोधस्य मार्गाः प्राप्त्युपायाः कथिताः । कीदृशाः समाधिमार्गाः । नानाविधोपायाः नानाविधा उपायाः साधनानि येषां ते तथा सम्यक् समीचीनतया संशयविपर्ययराहित्येन यः स्वानुभव आत्मानुभवस्तेनान्विता युक्ताः ॥ ६३ ॥

सुषुम्नादिभ्यः कृतकृत्यस्ताः प्रणमति ॥ सुषुम्नायै इति ॥ सुषुम्ना मध्यनाडी तस्यै कुंडलिन्यै आधारशक्त्यै चंद्राद्भ्रूमध्यस्थाज्जन्म यस्यातस्यै सुधायै पीयूषायै मनोन्मन्यै तुर्यावस्थायै चिच्चैतन्यमात्मा स्वरूपं यस्याः सा तथा तस्यै । महती जडानां कार्येंद्रियमनसां चैतन्यसंपादकत्वात्सर्वोत्तमा या शक्तिश्चिच्छक्तिः पुरुषरूपा तस्यै । तुभ्यमिति प्रत्येकं संबध्यते । नमः प्रह्वीभावोऽस्तु ॥ ६४ ॥

नानाविधान्समाध्युपायानुक्त्वा नादानसंधानुरूपं मुख्योपायं प्रतिजानीते ॥

॥ भाषा ॥

एवमिति ॥ या प्रकार समाधिकरकें शुद्ध हे अंतःकरण जिनके एसे महात्मा पूर्व आचारी तिनने नानाप्रकारके साधन जिनके संदेह रहित आत्माको अनुभव ताकरकें युक्त समाधिके मार्ग कहे हें ॥ ६३ ॥

सुषुम्नायै इति ॥ सुषुम्ना जो मध्यनाडी ताके अर्थ नमस्कार हे. और कुंडलिनीके अर्थ नमस्कार हे. सुधारूप तुमारे अर्थ नमस्कार हे. भृकुटीके मध्यमें चंद्रमातें जन्म जाको एसी चंद्रजन्मा तुमारे अर्थ नमस्कार हे. और मनोन्मनी तुमारे अर्थ नमस्कार हे. और चैतन्य हे स्वरूप जाको और संपूर्णमें उत्तम शक्ति पुरुषरूप ता तुमारे अर्थ नमस्कार हो ॥ ६४ ॥

अब नानाप्रकारके समाधिके उपाय तिनें कहकरकें अब नादको अनुसंधानरूप मुख्य उपाय

मू० प्रोक्तं गोरक्षनाथेन नादोपासनमुच्यते ॥ ६५ ॥
श्रीआदिनाथेन सपादकोटि
लयप्रकाराः कथिता जयंति ॥
नादानुसंधानकमेकमेव
मन्यामहे मुख्यतमं लयानाम् ॥ ६६ ॥
मुक्तासने स्थितो योगी मुद्रां संधाय शांभवीम् ॥
श्रुणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमंतस्थमेकधीः ॥ ६७ ॥

॥ टीका ॥

अशक्येति ॥ अव्युत्पन्नत्वादशक्यस्तत्त्वबोधस्तत्वज्ञानं येषां ते तथा तेषां मूढानामनधीतानां संमतम् । अपिशब्दात्किमुताधीतानामिति गम्यते । गोरक्षनाथेन प्रोक्तमित्यनेन महदुक्तत्वादुपादेयत्वं गम्यते । नादस्यानाहतध्वनेरुपासनेऽनुसंधानरूपं सेवनमुच्यते कथ्यते ॥ ६५ ॥

श्रीआदिनाथेनेति ॥ श्रीआदिनाथेन शिवेन कथिताः प्रोक्ताः पादेन चतुर्थांशेन सह वर्तमानाः कोटिसंख्याका लयप्रकाराश्चित्तलयसाधनभेदा जयंत्युत्कर्षेण वर्तंते । वयं तु नादानुसंधानकं नादानुचिंतनमेव एकं केवलं लयानां लयसाधनानां मध्ये मुख्यतममतिशयेन मुख्यं मन्यामहे जानीमहे उत्कृष्टानां लयसाधनानां मध्ये उत्कृष्टतमत्वाद्गोरक्षाभिमतत्वाच्च नादानुसंधानमेव अवश्यं विधेयमिति भावः ॥ ६६ ॥

शांभवीमुद्राया नादानुसंधानमाह ॥ मुक्तासन इति ॥ मुक्तासने सिद्धासने स्थि-

॥ भाषा ॥

ताय कहें हें ॥ अशक्येति ॥ नही उत्पन्न हें तत्त्वज्ञान जिनकूं और नही अध्ययन किये हें जिनने एसेनकूं संमत हे. और जो अध्ययनके करवेवाले हे तिनकूं प्राप्त होय ताको कहा कहनो. ये गोरक्षनाथनें कह्यो हे. और नादकी उपासनामें अनुसंधानरूप सेवन कहिये हे॥६९

श्रीआदिनाथेनेति ॥ श्रीआदिनाथ शिवजीनें सवाकोटि चित्तके लय होयवेके साधनभेद कहे हे. ते उत्कर्षकरकें वर्त्ते हे ओर हमतो नादको वारंवार चिंतमन सोही केवल लय साधननके मध्यमें अधिक मुख्य जाने हे. और गोरक्षके अभिमत हे यातें नादको अनुसंधानही अवश्य करनो योग्य हे ॥ ६६ ॥

मुक्तासन इति ॥ सिद्धासनमें स्थित योगी शांभवी मुद्राकरकें एकाग्रचित्तहोत दक्षिण कर्णमें सुषुम्ना नाडीमें स्थित जो नाद ताय श्रवण करे ॥ ६७ ॥

---

१ अत्र संध्यभावः स्वाभाविकोऽवैयाकरणविषयकः

मू० श्रवणपुटनयनयुगलघ्राणमुखानां निरोधनं कार्यम् ॥
शुद्धसुषुम्नासरणौ स्फुटममलः श्रूयते नादः ॥ ६८ ॥
आरंभश्च घटश्चैव तथा परिचयोऽपि च ॥
निष्पत्तिःसर्वयोगेषु स्यादवस्थाचतुष्टयम् ॥ ६९ ॥

॥ टीका ॥

तो योगी शांभवीं मुद्रा'मंतर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिरि'त्यादिनोक्तां संधाय कृत्वा । एकधी-रेकाग्रचित्तः सन् दक्षिणे कर्णेऽतस्थसुषुम्नानाड्यां संतमेव नादं शृणुयात् । तदुक्तं त्रिपुरासारसमुच्चये । 'आदौ मत्तालिमालाजनितरवसमस्तारसंस्कारकारी नादोऽसौ वांशिकस्यानिलभरितलसद्वंशनिःस्वानतुल्यः । घंटानादानुकारी तदनु च जलधिध्वानधीरो गभीरो गर्जन्पर्जन्यघोषः पर इह कुहरे वर्तते ब्रह्मनाड्या' इति॥६७॥

पराङ्मुखीमुद्रया नादानुसंधानमाह ॥ श्रवणेति ॥ श्रवणपुटे नयनयोर्नेत्रयो-र्युगलं युग्मं घ्राणशब्देन घ्राणपुटे मुखमास्यमेषां । द्वंद्वे प्राण्यंगत्वादेकवद्भावे प्राप्तेऽपि सर्वस्यापि' 'द्वंद्वैकवद्भावस्य वैकल्पिकत्वान्न भवति । तेषां निरोधनं करांगुलिभिः कार्यम् । निरोधनं चेत्थं । 'अंगुष्ठाभ्यामुभौ कर्णौ तर्जनीभ्यां च चक्षुषी । नासापुटौ तथान्याभ्यां प्रच्छाद्य करणानि चे' ति । चकारात्तदन्याभ्यां मुखं प्रच्छाद्येति समुच्चीयते । शुद्धा प्राणायामैर्मलरहिता या सुषुम्नासरणिः सुषुम्नापद्धतिस्तस्याममलो नादः स्फुटं व्यक्तं श्रूयते ॥ ६८ ॥

अथ नादस्य चतस्रोऽवस्थाः प्राह ॥ आरंभश्चेति ॥ आरंभावस्था घटावस्था परिचयावस्था निष्पत्त्यवस्था इति । सर्वयोगेषु सर्वेषु चित्तवृत्तिनिरोधोपायेषु शांभव्यादिषु व्यवस्थाचतुष्टयं स्यात् । चचैवतथापिचाः पादपूरणार्थाः ॥ ६९ ॥

॥ भाषा ॥

श्रवणेति ॥ कर्णयुगल नेत्रयुगल नासिका मुख इनकूं हाथकी अंगुष्ठ अंगुलिनकरकें रोकले फिर प्राणायामकरकें मलरहित जो सुषुम्नाको मार्ग तामें निर्मल नाद प्रगट श्रवण करवेमे आवे हे ॥ ६८ ॥

आरंभश्चेति ॥ आरंभावस्था, घटावस्था, परिचयावस्था, निष्पत्त्यवस्था संपूर्ण योगनमें ये च्यार अवस्था हें ॥ ६९ ॥

---

१ इयं हि टीकाकर्तुरसत्कल्पना–यत्–महाविभाषायाः सामान्यतो द्वन्द्वे प्रवृत्तौ समाहारस्यैकत्वादेकत्वे सिद्धे पुनर्द्वन्द्वश्चेति योगारम्भणवैयर्थ्यान्यथानुपपत्त्या प्राणितूर्यसेनांगेषु नित्यैकत्वभवनज्ञापनेन प्रकृतवैकल्पिकत्वादिति व्याख्यानमसंगतम् । अपि च–छन्दःसंनिवेशनसारल्यार्थमनेकवद्भाव इति वक्तुं शक्यम् ॥

अथारंभावस्था ॥

मू० ब्रह्मग्रंथेर्भवेद्भेदो ह्यानंदः शून्यसंभवः ॥
विचित्रः क्वणको देहेऽनाहतः श्रूयते ध्वनिः ॥ ७० ॥
दिव्यदेहश्च तेजस्वी दिव्यगंधस्त्वरोगवान् ॥
संपूर्णहृदयः शून्य आरंभो योगवान् भवेत् ॥ ७१ ॥

अथ घटावस्था ॥

द्वितीयायां घटीकृत्य वायुर्भवति मध्यगः ॥

॥ टीका ॥

तत्रारंभावस्थामाह ॥ ब्रह्मग्रंथेरिति ॥ ब्रह्मग्रंथेरनाहतचक्रे वर्तमानाया भेदः प्राणायामाभ्यासेन भेदनं यदा भवेत्तदेति यत्तदोरध्याहारः । आनंदयतीत्यानंदः आनंदजनकः शून्ये हृदाकाशे संभवतीति शून्यसंभवो हृदाकाशोत्पन्नो विचित्रो नानाविधः क्वणो भूषणनिनदः स एव क्वणकः । भूषणनिनदसदृश इत्यर्थः । 'भूषणानां तु शिंजितम् । निक्वाणो निक्वणः क्वाणः क्वणः क्वणनमित्यपी' त्यमरः । अनाहतो ध्वनिरनाहतो निर्ह्रादो देहे देहमध्ये श्रूयते श्रवणविषयो भवतीत्यर्थः ॥७०॥

दिव्यदेह इति ॥ शून्ये हृदाकाशे य आरंभो नादारंभस्तस्मिन् सति हृदाकाशविशुद्धाकाशभ्रूमध्याकाशाः शून्यातिशून्यमहाशून्यशब्दैर्व्यवह्रियंते योगिभिः ॥ संपूर्णहृदयः प्राणवायुना सम्यक् पूर्णं हृदयं यस्य स तथा आनंदेन पूर्णे हृदये योगवान् योगी दिव्यो रूपलावण्यबलसंपन्नो देहो यस्य स दिव्यदेहः तेजस्वी प्रतापवान् दिव्यगंधः दिव्य उत्तमो गंधो यस्य स तथा अरोगवान् रोगरहितो भवेदिति संबंधः ॥ ७१ ॥

घटावस्थामाह ॥ द्वितीयामिति ॥ द्वितीयायां घटावस्थायां वायुः प्राणः घटी-

॥ भाषा ॥

अथारंभावस्था ताय कहे हैं ॥ ब्रह्मग्रंथेरिति ॥ ब्रह्मग्रंथीको भेदन जब होय है तब आनंदको देवेवालो हृदयाकाशमें उत्पन्न हुयो नाना प्रकारके भूषणनके शब्दकी सदृश अनाहत ध्वनी देहमें श्रवण करवेमें आवे हे ॥ ७० ॥

दिव्यदेह इति ॥ शून्यहृदयाकाशमें नादको आरंभ होय हे और प्राणवायुकरकें भर रह्यो हे हृदय जाको अथवा आनंदकरकें पूर्ण हे हृदय जाको एसो योगी दिव्यदेह और तेजस्वी दिव्य हे गंध जाके और रोगरहित होय हे ॥ ७१ ॥

अब घटावस्था कहे हैं ॥ द्वितीयायामिति ॥ घटावस्थामें प्राणवायु और नादकूं एक-

मू० दृढासनो भवेद्योगी ज्ञानी देवसमस्तदा ॥ ७२ ॥
विष्णुग्रंथेस्ततो भेदात्परमानंदसूचकः ॥
अतिशून्ये विमर्दश्च भेरीशब्दस्तथा भवेत् ॥ ७३ ॥

अथ परिचयावस्था ।

तृतीयायां तु विज्ञेयो विहायो मर्दलध्वनिः ॥
महाशून्यं तदा याति सर्वसिद्धिसमाश्रयम् ॥ ७४ ॥

॥ टीका ॥

कृत्य आत्मना सहापानं नादबिंदू चैकीकृत्य मध्यगो मध्यचक्रगतः कंठस्थाने मध्यचक्रं । तदुक्तमत्रैव जालंधरबंधे । 'मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबंधनमि' ति । यदाभवेदित्यध्याहारः । तदास्यामवस्थायां योगी योगाभ्यासी दृढमासनं यस्य स दृढासनः स्थिरासनो ज्ञानी पूर्वापेक्षया कुशलबुद्धिर्देवसमो रूपलावण्याधिक्याद्देवतुल्यो भवेत् । तदुक्तमीश्वरोक्ते राजयोगे । 'प्राणापानौ नादबिंदू जीवात्मपरमात्मनोः । मिलित्वा घटते यस्मात्तस्मात्स घट उच्यते ॥' इति ॥ ७२ ॥

विष्णुग्रंथेरिति ॥ ततो ब्रह्मग्रंथिभेदनानंतरं विष्णुग्रंथेः कंठे वर्तमानाया भेदात्कुंभकैर्भेदनात्परमानंदस्य भाविनो ब्रह्मानंदस्य सूचको ज्ञापकः । अतिशून्ये कंठावकाशे विमर्दोऽनेकनादसंमर्दो भेर्याः शब्द इव शब्दो भेरीशब्दो भेरीनादश्च तदा तस्मिन्काले भवेत् ॥ ७३ ॥

परिचयावस्थामाह सार्धद्वाभ्यां ॥ तृतीयायामिति ॥ तृतीयायां परिचयावस्थायां विहायोमर्दलध्वनिर्विहायसि भ्रूमध्याकाशे मर्दलस्य वाद्यविशेषस्य ध्वनिरिव ध्वनिर्विज्ञेयो विशेषेण ज्ञानार्हो भवति । तदा तस्यामवस्थायां सर्वसिद्धिसमाश्रयं सर्वासां सिद्धीनामणिमादीनां समाश्रयं स्थानम् । तत्र संयमादणिमादिप्राप्तेः महाशून्यं भ्रूमध्याकाशं याति गच्छति प्राण इति शेषः ॥ ७४ ॥

॥ भाषा ॥

करकें कंठस्थानमें मध्यचक्र तामें स्थित होय तब या अवस्थामें योगी दृढ हे आसन जाको और ज्ञानी और रूपलावण्यमें अधिक होय जाय यातें देवतुल्य एसो होय हे ॥ ७२ ॥

विष्णुग्रंथेरिति ॥ ब्रह्मग्रंथी भेदनके अनंतर कंठमें वर्तमान जो विष्णुग्रंथीके कुंभककरकें भेदन तातें ब्रह्मानंदको जाननो होय हे. अनेक नादनको संमर्द होय और भेरीको नाद जो शब्द ताकोसो शब्द सो भेरीनाद शब्द ता कालमें होय हे ॥ ७३ ॥

अब परिचयावस्था कहें हें ॥ तृतीयायामिति ॥ तीसरी जो परिचयावस्था तामें भृकु-

मू० चित्तानंदं तदा जित्वा सहजानंदसंभवः ॥
दोषदुःखजराव्याधिक्षुधानिद्राविवर्जितः ॥ ७५ ॥
रुद्रग्रंथिं यदा भित्त्वा शर्वपीठगतोऽनिलः ॥
निष्पत्तौ वैणवः शब्दः क्वणद्वीणाक्वणो भवेत् ॥ ७६ ॥
एकीभूतं तदा चित्तं राजयोगाभिधानकम् ॥

॥ टीका ॥

चित्तानंदमिति ॥ चित्तानंदं नादविषयांतःकरणवृत्तिजन्यं सुखं जित्वाभिभूय सहजानंदसंभवः सहजानंदः स्वाभाविकात्मसुखं तस्य संभव आविर्भावः स दोषा वातपित्तकफा दुःखं तज्जन्या वेदना आध्यात्मिकादि च जरा वृद्धावस्था व्याधि ज्वरादिः क्षुधा बुभुक्षा निद्रा स्वाप एतैर्विवर्जितो रहितस्तदा योगी भवतीति॥७५॥

तदा कदेत्यपेक्षायामाह ॥ रुद्रेति ॥ यदा रुद्रग्रंथिं भित्त्वा आज्ञाचक्रे रुद्रग्रंथिः शर्वस्येश्वरस्य पीठं स्थानं भ्रूमध्यं तत्र गतः प्राप्तोऽनिलःप्राणो भवति तदा । निष्पत्त्यवस्थामाह ॥ निष्पत्ताविति ॥ निष्पत्तौ निष्पत्त्यवस्थायां ; ब्रह्मरंध्रे गते प्राणे निष्पत्त्यवस्था भवति । वैणवः वेणोरयं वैणवो वंशसंबंधी शब्दो निनादः क्वणंती शब्दायमाना या वीणा तस्याः क्वणः शब्दो भवेत् ॥ ७६ ॥

एकीभूतमिति ॥ तदा तस्यामवस्थायां चित्तमंतःकरणमेकीभूतमेकविषयीभूतम् । विषयविषयिणोरभेदोपचारात् । तद्राजयोगाभिधानकं राजयोग इत्यभिधानं

॥ भाषा ॥

टीके मध्यमें जो आकाश तामें बाजेनको सो शब्द जानवेकूं योग्य होय हे ताई अवस्थामें संपूर्ण सिद्धी जे अणिमादिक तिनको आश्रयरूप स्थान भ्रुकुटीके मध्यमें आकाश ताप्रति प्राणवायु प्राप्त होय हे ॥ ७४ ॥

चित्तानंदमिति ॥ अंतःकरणकी बृत्तीतें हुयो सुख ताय तिरस्कारकरकें स्वाभाविक आत्मसुखको उदय होय हे तब दोष दुःख जरा व्याधी क्षुधा निद्राकरकें वार्जित योगी होय हे ॥७५॥

रुद्रेति ॥ आज्ञाचक्रमें रुद्रग्रंथि हे सो जब रुद्रग्रंथिकूं भेदकरकें शिवजीको स्थान भ्रुकुटिमध्य तामें प्राणवायु प्राप्त होय हे तब योगी कहे गुण तेसो होय हे अब निष्पत्ति अवस्था कहें हें ॥ ब्रह्मरंध्रमें प्राणवायु जाय तब निष्पत्ति अवस्था होय हे जब निष्पत्ति अवस्था होय तब वांशकोसो शब्द और शब्दायमान वीणाकोसो शब्द होय हे ॥ ७६ ॥

एकीभूतमिति ॥ ता अवस्थामें अंतःकरण एकविषयीभूत हो जाय हे. चित्तके एकाग्रताकूं ही राजयोग कहें हें. नादके अनुसंधानमें परायण जो योगी सो सृष्टि और संहार

मू० सृष्टिसंहारकर्तासौ योगीश्वरसमो भवेत् ॥ ७७ ॥
अस्तु वा मास्तु वा मुक्तिरत्रैवाखंडितं सुखम॥
लयोद्भवमिदं सौख्यं राजयोगादवाप्यते ॥ ७८ ॥
राजयोगमजानंतः केवलं हठकर्मिणः ॥
एतानभ्यासिनो मन्ये प्रयासफलवर्जितान् ॥ ७९ ॥
उन्मन्यवाप्तये शीघ्रं भ्रूध्यानं मम संमतम् ॥
राजयोगपदं प्राप्तं सुखोपायोऽल्पचेतसाम् ॥
सद्यः प्रत्ययसंधायी जायते नादजो लयः ॥ ८० ॥

॥ टीका ॥

यस्य तद्राजयोगाभिधानकं चित्तस्यैकाग्रतैव राजयोग इत्यर्थः ॥ सृष्टिसंहारेति ॥ असौ नादानुसंधानपरो योगी सृष्टिसंहारकर्ता सृष्टिं संहारं च करोतीति तादृशः । अतएवेश्वरसम ईश्वरतुल्यो भवेत् ॥ ७७ ॥

अस्तु वेति ॥ राजयोगमिति ॥ उभौ प्राग्व्याख्यातौ ॥ ७८ ॥ ७९ ॥

उन्मन्यवाप्तय इति ॥ शीघ्रं त्वरितमुन्मन्या उन्मन्यवस्थाया अवाप्तये प्राप्त्यर्थं भ्रुध्यानं भ्रुवोर्ध्यानं भ्रूमध्ये ध्यानं मम स्वात्मारामस्य संमतम् । राजयोगो योगानां राजा तदेव पदं राजयोगपदं तुर्यावस्थाख्यं प्राप्तुं लब्धुं पूर्वोक्तभ्रूध्यानरूपः सुखोपायः सुखसाध्यः उपायः सुखोपायः अल्पचेतसामल्पबुद्धीनामपि । किमुतान्येषामित्यभिप्रायः । नादजः नादाज्जातो लयश्चित्तविलयः सद्यः शीघ्रं प्रत्ययं प्रतीतं संदधातीति प्रत्ययसंधायी प्रतीतिकरो जायते प्रादुर्भवति ॥ ८० ॥

॥ भाषा ॥

करे हे. एसो योगी यातेंही ईश्वरकी तुल्य होय हे ॥ ७७ ॥

अस्तु वेति ॥ मुक्तिहो वा मत हो यामेंही अखंड सुख हे. लयतें हुयो जो सुख सोवी राजयोगतें प्राप्त होय हे ॥ ७८ ॥

राजयोगमिति ॥ राजयोगकूं नही जाने हे और केवल हठकर्मकूं करे हें जे अभ्यासी हें तिने श्रमके फलकरकें वर्जित मानूं हुं ॥ ७९ ॥

उन्मन्यवाप्तय इति ॥ शीघ्रही उन्मनी अवस्थाकी प्राप्तिके अर्थ भ्रुकुटीनके मध्यमें जो ध्यान सो स्वात्माराम जो मे सो मेरे संमत हे. राजयोगपद जो तुर्यावस्था ताय प्राप्त होयवेकूं भ्रुकुटीमध्य ध्यान अल्पबुद्धीवारेनकूं सुखपूर्वक उपाय हे. और नादतें हुयो जो चित्तको लय सो शीघ्रही प्रतीतिको करवेवारो होय हे ॥ ८० ॥

मू॰ नादानुसंधानसमाधिभाजां योगीश्वराणां हृदि वर्धमानम्॥
आनंदमेकं वचसामगम्यं जानाति तं श्रीगुरुनाथ एकः८१
कर्णौ पिधाय हस्ताभ्यां यं शृणोति ध्वनिं मुनिः ॥
तत्र चित्तं स्थिरीकुर्याद्यावत्स्थिरपदं व्रजेत् ॥ ८२ ॥

॥ टीका ॥

नादानुसंधानेति ॥ नादस्यानाहतध्वनेरनुसंधानमनुचिंतनं तेन समाधिश्चित्तैकाग्र्यं तं भजंतीति नादानुसंधानसमाधिभाजस्तेषां योगिषु योगयुक्तेष्वीश्वराः समर्थास्तेषां हृदि हृदये वर्धत इति वर्धमानस्तं वर्धमानं वचसां वाचामगम्यं। इदमिति वक्तुमशक्यं तं योगशास्त्रप्रसिद्धमेकं मुख्यमानंदमाह्लादमेकोऽनन्यः श्रीगुरुनाथः श्रीमान् गुरुरेव नाथो जानाति वेत्ति। एतेन नादानुसंधानानंदो गुरुगम्य एवेति सूचितम् ॥ ८१ ॥

नादानुसंधानात्प्रत्याहारादिक्रमेण समाधिमाह ॥ कर्णावित्यादिभिः ॥ मुनिर्मननशीलो योगी हस्ताभ्यामित्यनेन हस्तांगुष्ठौ लक्ष्येते । ताभ्यां कर्णौ श्रोत्रे पिधाय। हस्तांगुष्ठौ श्रोत्रविवरयोः कृत्वेत्यर्थः। यं ध्वनिमनाहतनिःस्वनं शृणोत्याकर्णयति तत्र तस्मिन् ध्वनौ चित्तं स्थिरीकुर्यादस्थिरं स्थिरं संपद्यमानं कुर्यात्। यावत्स्थिरं पदं स्थिरपदं तुर्याख्यं गच्छेत्। तदुक्तं। तुर्यावस्था चिदभिव्यंजकनादस्य वेदनं प्रोक्तमिति नादानुसंधानेन वायुस्थैर्यमणिमादयोऽपि भवंतीति। उक्तं च त्रिपुरासारसमुच्चये। 'विजितो भवतीह तेन वायुः सहजो यस्य समुत्थितः प्रणादः। अणिमादिगुणा भवंति तस्यामितपुण्यं च महागुणोदयस्य । सुरराजतनूजवैरिरंध्रे विनिरुध्य स्वकरांगुलिद्वयेन । जलधेरिव धीरनादमंतः प्रसरंतं सहसा शृणोति मर्त्यः' इति। सुरराज इंद्रस्तस्य तनूजोऽर्जुनस्तस्य वैरी कर्णस्तद्रंध्रे स्पष्टमन्यत् ॥८२॥

॥ भाषा ॥

नादानुसंधानेति ॥ नादको वारंवार चिंतमनकरकें जो चित्तकी एकाग्रता ताय भजैं एसे जे योगीश्वर तिनकें हृदयमें वढ रह्यो वाणीकरकें कहवेमें नही आवे एसो मुख्य आनंद ताय एक श्री गुरुनाथ ही जाने हे. और नही जाने या कहवेमें ये हे नादके अनुसंधानको आनंद गुरूनतेंही जानो जाय हे ॥ ८१ ॥

कर्णावित्यादि ॥ योगी हाथके अंगुठानकूं कर्णमें धरके अर्थात् कान मुंदकरकें ध्वनी जो अनाहत शब्द श्रवण करे ताध्वनिमें चित्त स्थिर करे जब तांई तुर्यपदकूं प्राप्त होय॥८२॥

मू० अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्यमावृणुते ध्वनिम् ॥
पक्षाद्विक्षेपमखिलं जित्वा योगी सुखी भवेत् ॥ ८३ ॥
श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो महान् ॥
ततोऽभ्यासे वर्धमाने श्रूयते सूक्ष्मसूक्ष्मकः ॥ ८४ ॥
आदौ जलधिजीमूतभेरीझर्झरसंभवाः ॥
मध्ये मर्दलशंखोत्था घंटाकाहलजास्तथा ॥ ८५ ॥

॥ टीका ॥

अभ्यस्यमान इति ॥ अभ्यस्यमानोऽनुसंधीयमानोऽयं नादोऽनाहताख्यो बाह्यं ध्वनिं बहिर्भवं शब्दमावृणुते श्रुत्योर्विषयं । योगी नादाभ्यासी पक्षान्मासार्धादखिलं सर्वं विक्षेपं चित्तचांचल्यं जित्वाऽभिभूय सुखी स्वानंदो भवेत् ॥ ८३ ॥

श्रूयत इति ॥ प्रथमाभ्यासे पूर्वाभ्यासे नानाविधोऽनेकविधो महान् जलधिजीमूतभेर्यादिसदृशो नादोऽनाहतस्वनः श्रूयते आकर्ण्यते । ततोऽनंतरमभ्यासे नादानुसंधानाभ्यासे वर्धमाने सति सूक्ष्मसूक्ष्मकः सूक्ष्मः सूक्ष्म एव श्रूयते श्रवणविषयो भवति ॥ ८४ ॥

नानाविधं नादमाह द्वाभ्याम् ॥ **आदाविति** ॥ आदौ वायोर्ब्रह्मरंध्रगमनसमये जलधिः समुद्रो जीमूतो मेघो भेरा वाद्यविशेषः । 'भेरी स्त्री दुंदुभिः पुमानि' त्यमरः। झर्झरो वाद्यविशेषः । 'वाद्यप्रभेदा डमरुमड्डुडिंडिमझर्झराः । मर्दलः पणवोऽन्येऽपी' त्यमरः । जलधिप्रमुखेभ्यः संभव इव संभावो येषां ते तथा मध्ये ब्रह्मरंध्रे वायोः स्थैर्यानंतरं मर्दलो वाद्यविशेषः शंखो जलजस्ताभ्यामुत्था इव मर्दलशंखोत्थाः । घंटाकाहलौ वाद्यविशेषौ ताभ्यां जाता इव घंटाकाहलजाः ॥ ८५ ॥

॥ भाषा ॥

अभ्यस्यमान इति ॥ अभ्यास कियो हुयो नादबारेंके शब्दकूं आवरण करे हे. और नादाभ्यासी योगी पक्षमात्रमें संपूर्ण चित्तको चांचल्यता ताय जीतकरकें सुखी होय ॥ ८३ ॥

श्रूयत इति ॥ प्रथम अभ्यासमें अनेक प्रकारको महान् समुद्र और मेघ और भेरीकूं आदिलेके जे शब्द तिनकीसदृश नाद श्रवण करिये हे ता पीछें नादानुसंधानको अभ्यास वढे जब सूक्ष्म सूक्ष्मही श्रवण करवेमें आवे हे ॥ ८४ ॥

नानाप्रकारको नाद कहे हें ॥ **आदाविति** ॥ जब वायु ब्रह्मरंध्रकूं गमन करे हे ता समयमें आदिमेंतो समुद्र मेघ भेरी डमरु इनके शब्दकोसो शब्द होय हे. और मध्यमें पणव और

मू० अंते तु किंकिणिवंशवीणाभ्रमरनिःस्वनाः ॥
इति नानाविधा नादाः श्रूयंते देहमध्यगाः ॥ ८६ ॥
महति श्रूयमाणेऽपि मेघभेर्यादिके ध्वनौ ॥
तत्र सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नादमेव परामृशेत् ॥ ८७ ॥
घनमुत्सृज्य वा सूक्ष्मे सूक्ष्ममुत्सृज्य वा घने ॥
रममाणमपि क्षिप्तं मनो नान्यत्र चालयेत् ॥ ८८ ॥

॥ टीका ॥

अंते त्विति ॥ अंते तु प्राणस्य ब्रह्मरंध्रे बहुस्थैर्यानंतरं तु किंकिणी क्षुद्रघंटिका वंशो वेणुः वीणा तंत्री भ्रमरो मधुपः तेषां निःस्वना इति पूर्वोक्ताः नानाविधा अनेकप्रकारका देहस्य मध्ये गताः प्राप्ताः श्रूयंते ॥ ८६ ॥

महतीति ॥ मेघश्च भेरी च ते आदी यस्य स मेघभेर्यादिकस्तस्मिन् । मेघभेरी-शब्दौ तज्जन्यनिर्घोषपरौ । महति बहुले ध्वनौ निनादे श्रूयमाणे आकर्ण्यमाने सत्यपि तत्र तेषु नादेषु सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरमतिसूक्ष्मं नादमेव परामृशेच्चिंतयेत् । सूक्ष्मस्य नादस्य चिरस्थायित्वात्तत्रासक्तचित्तश्चिरं स्थिरमतिर्भवेदितिभावः ॥ ८७ ॥

घनमिति ॥ घनं महांतं नादं मेघभेर्यादिकमुत्सृज्य घने वा नादे रममाणं घन-सूक्ष्मान्यतरनादग्रहणपरित्यागाभ्यां क्रीडंतमपि क्षिप्तं रजसात्यंतचंचलं मनोऽन्यत्र विषयांतरे न चालयेन्न प्रेरयेत् । क्षिप्तं मनो विषयांतरासक्तं न समाधीयते नादेषु रममाणं तु समाधीयत इति भावः ॥ ८८ ॥

॥ भाषा ॥

शंख घंटा काहलको रव जो है सो इनके शब्दकोसो शब्द होय है ॥ ८५ ॥

अंतेत्विति ॥ और अंतमें तो प्राणकूं ब्रह्मरंध्रमें बहोत स्थिर हुयेके अनंतरतो किंकिणी जो क्षुद्रघंटिका वेणु वीणा भ्रमर इनके शब्दकेसे शब्द नानाप्रकारके देहमध्यमें प्राप्त हुये श्रवण करवेमें आवे है ॥ ८६ ॥

महतीति ॥ मेघ भेरी इनकूं आदिले वाजे इनके शब्द श्रवण करे तब नादनमें सू-क्ष्मसूंबी सूक्ष्म नाद ताय चिंतमन करे ॥ ८७ ॥

घनमिति ॥ मेघ भेरी इनकूं आदि ले तिनको महान् नाद ताय महान्नादमें छोडक-रकें और सूक्ष्ममें सूक्ष्म नाद ताय छोडकरकें रजोगुणकरकें अत्यंत चंचल मन ताय और विषयनमें प्रेरणा न करे ॥ ८८ ॥

मू० यत्रकुत्रापि वा नादे लगति प्रथमं मनः ॥
तत्रैव सुस्थिरीभूय तेन सार्धं विलीयते ॥ ८९ ॥
मकरंदं पिबन्भृंगो गंधं नापेक्षते यथा ॥
नादासक्तं तथा चित्तं विषयान्नहि कांक्षते ॥ ९० ॥
मनोमत्तगजेंद्रस्य विषयोद्यानचारिणः ॥
नियन्त्रणे समर्थोऽयं निनादनिशितांकुशः ॥ ९१ ॥

॥ टीका ॥

यत्रेति ॥ वा अथवा यत्रकुत्रापि नादे यस्मिन्कस्मिंश्चिद्धने सूक्ष्मे वा नादे प्रथमं पूर्वं मनो लगति लग्नं भवति तत्रैव तस्मिन्नेव नादे सुस्थिरीभूय सम्यक् स्थिरं भूत्वा तेन नादेन सार्धं साकं विलीयते लीनं भवतीत्यर्थः । अत्र पूर्ववाक्येन प्रत्याहारा द्वितीयेन धारणा तृतीयेन ध्यानद्वारा समाधिरुक्तः ॥ ८९ ॥

मकरंदमिति ॥ मकरंदं पुष्परसं पिबन् धयन् भृंगो भ्रमरो गंधं यथा नापेक्षते नेच्छति । तथा नादासक्तं नाद आसक्तं चित्तमंतःकरणं विषयान् विषण्वंत्यवबध्नंति प्रमातारं स्वसंगेनेति विषयाः स्रक्चंदनवनितादयस्तान् न कांक्षते नेच्छति । हीति निश्चये ॥ ९० ॥

मन इति ॥ विषयः शब्दादिरेवोद्यानं वनं तत्र चरतीति विषयोद्यानचारी तस्य मन एव मत्तगजेंद्रः । दुर्निवारत्वात् । तस्य निनाद एवानाहतध्वनिरेव निशितांकुशः तीक्ष्णांकुशः नियत्रणे परावर्तने समर्थः शक्तः । एतैः श्लोकैः । 'चरतां चक्षुरादीनां विषयेषु यथाक्रमम् । यत्प्रत्याहरणं तेषां प्रत्याहारःप्रकीर्तितः॥' इंद्रियाणां विषयेभ्यः प्रत्याहरणं प्रत्याहार इत्युक्तलक्षणः प्रत्याहारः प्रोक्तः ॥ ९१ ॥

॥ भाषा ॥

यत्रेति ॥ जा काउ महान्नादमें और सूक्ष्मनादमें पूर्व मन लगो होय ताही नादमें स्थिर होयकरकें ता नादकरकें सहित लीन होय हे ॥ ८९ ॥

मकरंदमिति ॥ जैसे भ्रमर पुष्पको रस ताय पानकरत गंधकूं नही इच्छा करे हे तेसेंही नादमें आसक्त हुयो चित्त सो विषय जे पुष्प चंदन स्त्रियादिक तिने नही कांक्षा करे हे निश्चय होय ॥ ९० ॥

मन इति ॥ विषयरूपी वनमें विचरे ताको मन सोही हुयो मतवालो गजेंद्र ताके पीछें बगदायवेमें समर्थ तीक्ष्ण अंकुशरूप नादही हे ॥ ९१ ॥

मू० बद्धं तु नादबंधेन मनः संत्यक्तचापलम् ॥
प्रयाति सुतरां स्थैर्यं छिन्नपक्षः खगो यथा ॥ ९२ ॥
सर्वचिंतां परित्यज्य सावधानेन चेतसा ॥
नाद एवानुसंधेयो योगसाम्राज्यमिच्छता ॥ ९३ ॥
नादोऽतरंगसारंगबंधने वागुरायते ॥
अंतरंगकुरंगस्य वधे व्याधायतेऽपि च ॥ ९४ ॥

॥ टीका ॥

बद्धं त्विति ॥ नाद एव बंधः बध्यतेऽनेनेति बंधः बंधनसाधनं तेन स्वशक्तया स्वाधीनकरणेन बद्धं बंधनमिव प्राप्तं । नादधारणादावासक्तमित्यर्थः । अत एव सम्यक् त्यक्तं चापलं क्षणेक्षणे विषयग्रहणपरित्यागरूपं येन तत्तथा मनः सुतरां स्थैर्यं प्रयाति नितरां धारणमेति । तत्र दृष्टांतमाह । छिन्नौ पक्षौ यस्य तादृशः खे गच्छतीति खगः पक्षी यथा । एतेन । 'प्राणायामेन पवनं प्रत्याहारेण चेंद्रियम् । वशीकृत्य ततः कुर्याच्चित्तस्थैर्यं शुभाश्रये ॥' शुभाश्रये चित्तस्थापनं धारणेत्युक्तलक्षणा धारणा प्रोक्ता ॥ ९२ ॥

सर्वचिंतामिति ॥ सर्वेषां बाह्याभ्यंतरविषयाणां या चिंता चिंतनं तां परित्यज्य त्यक्त्वा सावधानेनैकाग्रेण चेतसा योगानां साम्राज्यं सम्राजो भावः । योगशब्दोऽर्शाद्यजंतः । राजयोगित्वमिति यावत् । इच्छता वांछता पुंसा नाद एवानाहतध्वनिरेवानुसंधेयोऽनुचिंतनीयः । नादाकारवृत्तिप्रवाहः कर्तव्य इत्यर्थः । एतेन । 'तद्रूपप्रत्ययैकाग्र्यसंततिश्चान्यनिस्पृहा । तद्ध्यानं प्रथमैरंगैः षड्भिर्निष्पाद्यते नृप ॥' तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानमित्युक्तलक्षणं ध्यानमुक्तम् ॥ ९३ ॥

नादोऽतरंगेति ॥ नादः अंतरंगं मन एव सारंगो मृगस्तस्य बंधने चांचल्यहरणे वागुरायते वागुरेवाचरति वागुरा जालं । यथा वागुरा बंधनेन सारंगस्य चांचल्यं

॥ भाषा ॥

बद्धं त्विति ॥ नादरूपी बंधनकरकें बंधो हुयो भली प्रकार त्याग कियो हे चपलता जाने एसो मन अधिककर स्थिरताकूं प्राप्त होय हे. छिन्न हुये हें पक्ष जाके एसो पक्षी स्थिर होय हे तेसें ॥ ९२ ॥

सर्वचिंतामिति ॥ एकाग्रचित्तकरकें संपूर्ण बहारभीतरकी चिंता ताय परित्यागकरकें राजयोगपदकूं इच्छा करे ता पुरुषकरकें नादही अनुसंधान करनो योग्य हे ॥ ९३ ॥

नादोऽतरंगेति ॥ये नाद अंतरंग मनरूपी जो सारंग मृग ताके बांधवेमें वा चंचलता ताई

मू० अंतरंगस्य यमिनो वाजिनः परिघायते ॥
नादोपास्तिरतो नित्यमवधार्या हि योगिना ॥ ९५ ॥
बद्धं विमुक्तचांचल्यं नादगंधकजारणात् ॥
मनः पारदमाप्नोति निरालंबाख्यखेऽटनम् ॥ ९६ ॥

॥ टीका ॥

हरति तथा नादोंऽतरंगस्य स्वशक्त्या चांचल्यं हरतीत्यर्थः । अंतरंगं मन एव सारंगो हरिणस्तस्य बंधने नानावृत्त्युत्पादनापनयनमेव मनसो बंधस्तस्मिन् व्याधायते व्याध इवाचरति । यथा व्याधो वागुराबद्धं मृगं हंति एवं नादोऽपि स्वासक्तं मनो हंतीत्यर्थः ॥ ९४ ॥

अंतरंगस्येति ॥ यमिनो योगिनोंऽतरंगं मनस्तस्य चपलत्वाद्वाजिनोऽश्वस्य परिघायते वाजिशालाद्वारपरिघ इवाचरति नाद इति शेषः । यथा वाजिशालापरिघो वाजिनोऽन्यत्र गतिं रुणद्धि तथा नादोंऽतरंगस्येत्यर्थः । अतःकारणाद्योगिना नादस्योपास्तिरुपासना नित्यं प्रत्यहमवधार्यावधारणीया । हीति निश्चयेऽव्ययम् ॥ ९५ ॥

बद्धमिति ॥ नाद एव गंधक उपधातुविशेषस्तेन जारणं जारणीकरणं नादगंधकसंबंधेन चांचल्यहरणं तस्माद्बद्धं नादैकासक्तं । पक्षे गुटिकाकृति । प्राप्तं अत एव विमुक्तं त्यक्तं चांचल्यमनेकविषयाकारपरिणामरूपं येन । पक्षे विमुक्तलौल्यं मनः पारदं मन एव पारदं चंचलं निरालंबं ब्रह्म तदेवाख्या यस्य तन्निरालंबाख्यं त-

॥ भाषा ॥

दूर करवेमें जालकीसीनाई हे जेसें जालके बंधनकरकें सारंगको चांचलपनो दूर होय हे तेसेंही नाद अंतरंग मनकी चांचलयताकूं अपनी शक्तिकरकें दूर करे हे अंतरंग मन सोही हुयो हरिण ताके बंधनमें व्याधकीसीनाई आचरण करे हे ॥ ९४ ॥

अंतरंगस्येति ॥ योगीको अंतरंग मनरूपी घोडा ताय रोकवेकी लोहेकी आगलकीसीनाई नाद हे जेसें घोडाशालाके द्वारमें लोहेकी आगल लगाय घोडाकी बहारगतीकूं रोके हे तेसेंही अंतरंग मनकूं विषयनतें रोकवेवालो नाद हे यातें योगी करकें नादउपासना नित्यप्रति निश्चयकरकें धारण करनो योग्य हे ॥ ९५ ॥

बद्धमिति ॥ नादके जारणतें बंधो हुयो और दूर होय गयो हे चंचलता जाको एसो मन निरालंब ब्रह्माकार वृत्तिको प्रवाह अखंड करे हे. जेसें गंधकके जारणतें बंधो हुयो पारदको गुटिका मुखमें राखेतें आकाशगती करें हे तेसेंही ॥ ९६ ॥

मू॰ नादश्रवणतः क्षिप्रमंतरंगभुजंगमः ॥
विस्मृत्य सर्वमेकाग्रः कुत्रचिन्नहि धावति ॥ ९७ ॥
काष्ठे प्रवर्तितो वह्निः काष्ठेन सह शाम्यति ॥
नादेप्रवर्तितं चित्तं नादेन सह लीयते ॥ ९८ ॥
घंटादिनादसक्तस्तब्धांतःकरणहरिणस्य ॥
प्रहरणमपि सुकरं शरसंधानप्रवीणश्चेत् ॥ ९९ ॥

॥ टीका ॥

देव खमपरिच्छिन्नत्वात्तस्मिन्नटनं गमनं तदाकारवृत्तिप्रवाहम् । पक्षे आकाशगमनं प्राप्नोति । यथा बद्धं पारदमाकाशगमनं करोति, एवं बद्धं मनो ब्रह्माकारवृत्तिप्रवाहमविच्छिन्नं करोतीत्यर्थः ॥ ९६ ॥

नादेति ॥ नादस्यानाहतस्वनस्य श्रवणतः श्रवणात् क्षिप्रं द्रुतमंतरंगं मन एव भुजंगमः सर्पश्चपलत्वान्नादप्रियत्वाच्च भुजंगमरूपत्वं मनसः । सर्वं विश्वं विस्मृत्य विस्मृतिविषयं कृत्वैकाग्रो नादाकारवृत्तिप्रवाहवान् सन्कुत्रापि विषयांतरे नहि धावति नैव धावनं करोति । ध्यानोत्तरैः श्लोकैः । 'तस्यैव कल्पनाहीनं स्वरूपग्रहणं हि यत् । मनसा ध्याननिष्पाद्यः समाधिः सोऽभिधीयते' इति विष्णुपुराणोक्तलक्षण 'स्तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिरि' ति पातंजलसूत्रोक्तलक्षणेन च संप्रज्ञातलक्षणः समाधिरुक्तः ॥ ९७ ॥

काष्ठ इति ॥ काष्ठे दारुणि प्रवर्तितः प्रज्वालितो वह्निः काष्ठेन सह शाम्यति ज्वालारूपं परित्यज्य तन्मात्ररूपेणावतिष्ठते यथा तथा । नादे प्रवर्तितं चित्तं नादेन सह लीयते । राजसतामसवृत्तिनाशात्सत्त्वमात्रावशेषं संस्कारशेषं च भवति । तत्र च मैत्रायणीयमंत्रः । 'यथा निरिंधनो वह्निः स्वयोनावुपशाम्यति । तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यती' ति ॥ ९८ ॥

घंटादीति ॥ घंटा आदिर्येषां शंखमर्दलझर्झरदुंदुभिजीमूतादीनां ते घंटादयः

॥ भाषा ॥

नादेति ॥ अनाहत नादके श्रवणकरकें शीघ्र अंतरंग मनरूपी सर्प संपूर्ण विस्मरण होयकरकें एकाग्रचित्त होय कहूंबी विषयांतरमें नही डोरे ॥ ९७ ॥

काष्ठ इति ॥ काष्ठमें प्रवर्त हुयो अग्नि काष्ठकरकें सहित ज्वालारूप परित्यागकरकें शांति होय हे तेसेंही नादमें प्रवर्त हुयो चित्त नादकरकें सहित लीन होय हे ॥ ९८ ॥

घंटादीति ॥ घंटादिकनके शब्दनमें आसक्त यातेंही निश्चल अंतःकरणरूप हरिणको

मू० अनाहतस्य शब्दस्य ध्वनिर्य उपलभ्यते ॥
ध्वनेरंतर्गतं ज्ञेयं ज्ञेयस्यांतर्गतं मनः ॥
मनस्तत्र लयं याति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ १०० ॥
तावदाकाशसंकल्पो यावच्छब्दः प्रवर्तते ॥
निःशब्दं तत्परं ब्रह्म परमात्मेति गीयते ॥ १ ॥

॥ टीका ॥

स्तेषां नादस्तेषु सक्तः । अत एव स्तब्धो निश्चलो योऽतःकरणमेव हरिणो मृगस्तस्य प्रहरणं नानावृत्तिप्रतिबंधनमंतःकरणपक्षे । हरिणपक्षे तु प्रहरणं हननमपि शरवद्द्रुतगामिनो वायोः संधानसुषुम्नामार्गेण ब्रह्मरंध्रे निरोधनपक्षे शरस्य बाणस्य संधानं धनुषि योजनं तस्मिन् प्रवीणः कुशलश्चेसुत्करं सुखेन कर्तुं शक्यम् ॥ ९९ ॥
अनाहतस्येति ॥ अनाहतस्य शब्दस्यानाहतस्वनस्य यो ध्वनिर्निर्ह्राद उपलभ्यते श्रूयते तस्य ध्वनेरंतर्गतं ज्ञेयं ज्योतिः स्वप्रकाशचैतन्यं ज्ञेयस्यांतर्गतं ज्ञेयाकारतामापन्नं मनोऽतःकरणं तत्र ज्ञेये मनो विलयं याति परवैराग्येण सकलवृत्तिशून्यं संस्कारशेषं भवति । तद्विष्णोर्विभोरात्मनः परममंतःकरणवृत्त्युपाधिराहित्यान्निरुपाधिकं पद्यते गम्यते योगिभिरिति पदं स्वरूपम् ॥ १०० ॥

तावदिति ॥ यावच्छब्दोऽनाहतध्वनिः प्रवर्तते श्रूयते तावदाकाशस्य सम्यक्कल्पनं भवति । शब्दस्याकाशगुणत्वाद्गुणगुणिनोरभेदाद्वा मनसा सह शब्दस्य विलयान्निःशब्दं शब्दरहितं यत्परं ब्रह्म परं ब्रह्मशब्दवाच्यं परमात्मेति गीयते परमात्मशब्देन स उच्यते । सर्ववृत्तिविलये यः स्वरूपेणावस्थितः स एव परब्रह्मपरमात्मशब्दाभ्यामुच्यत इति भावः ॥ १ ॥

॥ भाषा ॥

प्रहार नानावृत्तिनको रोकनो सहज हे ॥ ९९ ॥

अनाहतस्येति ॥ अनाहत शब्दकी जो ध्वनी श्रवण करे हे ता ध्वनीके भीतर स्वप्रकाश चैतन्य तामें अंतर्गत प्राप्त मन सो मन चैतन्यमें लय होय हे सो विष्णुको परमपद योगीनकरके प्राप्त होय हे ॥ १०० ॥

तावदिति ॥ जितनें नाद श्रवण करवेमें आवे हे तब तलक आकाश रहे हे. जब मन करकें सहित शब्दको लय होय हे और नादके लय हो तेंहीं चित्त अपने स्वरूपकरकें स्थित होय हे शब्दरहित जो ब्रह्म हे ताय परमात्मा कहे हें ॥ १ ॥

मू० यत्किंचिन्नादरूपेण श्रूयते शक्तिरेव सा ॥
यस्तत्त्वांतो निराकारः स एव परमेश्वरः ॥ २ ॥
सर्वेहठलयोपाया राजयोगस्य सिद्धये ॥
राजयोगसमारूढः पुरुषः कालवंचकः ॥ ३ ॥
तत्वं बीजं हठः क्षेत्रमौदासीन्यं जलं त्रिभिः ॥
उन्मनी कल्पलतिका सद्य एव प्रवर्तते ॥ ४ ॥

॥ टीका ॥

यत्किंचिदिति ॥ नादरूपेणानाहतध्वनिरूपेण यत्किंचिच्छ्रुयते आकर्ण्यते सा शक्तिरेव यस्तत्त्वांतस्तत्त्वानामंतो लयो यस्मिन् सः तथा निराकार आकाररहितः स एव परमेश्वरः सर्ववृत्तिक्षये स्वरूपावस्थितो यः स आत्मेत्यर्थः । काष्ठे प्रवर्तितो वह्निरित्यादिभिः श्लोकैः राजयोगापरपर्यायोऽसंप्रज्ञातः समाधिरुक्तः ॥ २ ॥

सर्वे इति ॥ हठश्च लयश्च हठलयौ तयोरुपाया हठलयोपाया हठोपाया आसन-कुंभकमुद्रारूपा लयोपाया नादानुसंधानशांभवीमुद्रादयः । राजयोगस्य मनसः सर्व-वृत्तिनिरोधलक्षणस्य सिद्धये निष्पत्तये प्रोक्ता इति शेषः । राजयोगसमारूढः सम्य-गारूढः प्राप्तवान् यः पुरुषः स कालवंचकः कालं मृत्युं वंचयति जयतीति तादृशः स्यादिति शेषः ॥ ३ ॥

तत्त्वमिति ॥ तत्त्वं चित्तं बीजं बीजवदुन्मन्यवस्थांकुराकारेण परिणममानत्वात्। हठः प्राणापानयोरैक्यलक्षणः प्राणायामः क्षेत्रे इव प्राणायामे उन्मनी कल्पलतिको-

॥ भाषा ॥

यत्किंचिदिति ॥ नादरूप करके जो कछू श्रवण करवेमें आवे हे सो शक्ती है ओर जो तत्त्वनको लय जामें और आकाररहित होय सोही परमेश्वर हे ॥ २ ॥

सर्वे इति ॥ ये संपूर्ण हठ लयके उपाय आसन कुंभक मुद्रा ये हठके उपाय हैं और नादानुसंधान शांभवीमुद्रादिक ये लयके उपाय हें ये राजयोग जो सर्ववृत्तीनको रोकनो ताकी सिद्धीके अर्थ कहें हें राजयोगकूं प्राप्त हुयो जो पुरुष सो मृत्युकूं जीतवेवारो होय हे ॥ ३ ॥

तत्त्वमिति ॥ तत्त्वतो चित्त और बीज उन्मनी अवस्थाको अंकुर ओर हठ प्राणायाम और क्षेत्र उदासीनता जल इन तीनोमकरकें उन्मनीअवस्था सोहि कल्पलतिका संपूर्ण इष्टकी करवेवाली सो शीघ्रही उत्पन्न होय हे ॥ ४ ॥

मू० सदा नादानुसंधानात्क्षीयंते पापसंचयाः ॥
निरंजने विलीयेते निश्चितं चित्तमारुतौ ॥ ५ ॥
शंखदुंदुभिनादं च न शृणोति कदाचन ॥
काष्ठवज्जायते देह उन्मन्यावस्थया ध्रुवम् ॥ ६ ॥
सर्वावस्थाविनिर्मुक्तः सर्वचिंताविवर्जितः ॥
मृतवत्तिष्ठते योगी स मुक्तो नात्र संशयः ॥ ७ ॥

॥ टीका ॥

त्पत्तेरौदासीन्यं परवैराग्यं जलं तस्या उत्पत्तिकारणत्वात् । परवैराग्यहेतुकः संस्कारविशेषश्चित्तस्यासंप्रज्ञात इति तल्लक्षणात् । एतैस्त्रिभिरुन्मन्यसंप्रज्ञातावस्था सैव कल्पलतिका सकलेष्टसाधनत्वात्सद्य एव शीघ्रमेव प्रवर्तते प्रवृत्ता भवति उत्पन्ना भवति ॥ ४ ॥

सदेति ॥ सदा सर्वदा नादानुसंधानान्नादानुचिंतनात्पापसंचयाः पापसमूहाः क्षीयंते नश्यंति निरंजने निर्गुणे चैतन्ये निश्चितं ध्रुवं चित्तमारुतौ मनःप्राणौ विलीयेते विलीनौ भवतः ॥ ६ ॥

उन्मन्यवस्थां प्राप्तस्य योगिनः स्थितिमाहाष्टभिः ॥ शंखदुंदुभीति ॥ शंखो जलजो दुंदुभिर्वाद्यविशेषस्तयोर्नादं घोषं कदाचन कस्मिंश्चिदपि समये न शृणोति । शंखदुंदुभीत्युपलक्षणं नादमात्रस्य । उन्मन्यवस्थया देहो ध्रुवं काष्ठवज्जायते । निश्चेष्टत्वादित्यर्थः ॥ ६ ॥

सर्वेति ॥ जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिमूर्च्छामरणलक्षणाः पंच व्युत्थानावस्थास्ताभिर्विशेषेण मुक्तो रहितः सर्वा याश्चिताः स्मृतयस्ताभिर्विवर्जितो विरहितो यः योगः सकलवृ-

॥ भाषा ॥

सदेति ॥ सदा सर्वदा नादके अनुसंधानतें पापनको समूह नाशकूं प्राप्त होय हे निर्गुण चैतन्यमें निश्चेंही चित्त और वायु ये दोनो लीन होय हे ॥ ५ ॥

शंखदुंदुभीति ॥ उन्मनी अवस्थाकरकें योगीको देह काष्ठकीसी नाई निश्चेष्टावान् होजाय हे. तब शंखदुंदुभीनको नाद ताय कोई समयमें नही श्रवण करेहें ॥ ६ ॥

सर्वेति ॥ जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति मूर्छा मरण ये पांच अवस्थानकरकें रहित होय. और संपूर्ण चिंताकरकें रहित होय. और मृतकीसी नाई स्थित होय सो तुर्य अवस्थावान् योगी जीवतोही मुक्त हे ॥ ७ ॥

मू० खाद्यते न च कालेन बाध्यते न च कर्मणा ॥
साध्यते न स केनापि योगी युक्तः समाधिना ॥ ८ ॥
न गंधं न रसं रूपं न च स्पर्शं न निःस्वनम् ॥
नात्मानं न परं वेत्ति योगी युक्तः समाधिना ॥ ९ ॥
चित्तं न सुप्तं नो जाग्रत्स्मृतिविस्मृतिवर्जितम् ॥

॥ टीका ॥

त्तिनिरोधोऽस्यास्तीति योगी तुर्यावस्थावान् स मुक्तो जीवन्नेव मुक्तः । सकलवृत्तिनिरोधे आत्मनः स्वरूपावस्थानात् । तदुक्तं पातंजले सूत्रे । 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानमि'ति । स्पष्टमन्यत् ॥ ७ ॥

खाद्यत इति ॥ समाधिना युक्तो योगी कालेन मृत्युना न खाद्यते न भक्ष्यते । न हन्यत इत्यर्थः । कर्मणा कृतेन शुभेनाशुभेन वा न बाध्यते जन्ममरणादिजनने न क्लेश्यते । तथा च समाधिप्रकरणे पातंजलसूत्रं । 'ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिरि'ति । केनापि पुरुषांतरेण यंत्रमंत्रादिना वा न साध्यते साधयितुं शक्यते ॥ ८ ॥

न गंधमिति ॥ समाधिना युक्तो योगी गंधं सुरभिमसुरभिं वा न रसं मधुराम्ललवणकटुकषायतिक्तभेदात् षड्विधं न रूपं शुक्लनीलपीतरक्तहरितकपिशचित्रभेदात्सप्तविधं न स्पर्शं शीतमुष्णमनुष्णाशीतं वा न निःस्वनं शंखदुंदुभिजलधिजीमूतादिनिनादं बाह्यमाभ्यंतरं वा न आत्मानं देहं न परं पुरुषांतरं वेत्तीति सर्वत्रान्वेति । 'आत्मा देहे धृतौ जीवे स्वभावे परमात्मनी'त्यमरः ॥ ९ ॥

चित्तमिति ॥ यस्य योगिनश्चित्तमंतःकरणं न सुप्तं । आवरकस्य तमसोऽभावा

॥ भाषा ॥

खाद्यत इति ॥ समाधिकरकें मुक्त योगी मृत्युकरकें नहीं नाशकूं प्राप्त होय हे. कियेहुये जे शुभ अशुभ कर्मकरकें जन्ममरणादिककरकें जे क्लेशते नही ही होय. कोई पुरुषकरकें अथवा यंत्र तंत्र मंत्रादिककरकें नही साधन करवेकूं समर्थ होय हे ॥ ८ ॥

न गंधमिति ॥ समाधिकरकें युक्त योगी गंध दुर्गंध ताय नही जाने हें. और मीठो कडवो कषायलो तीखो लवण अम्ल इनकूं नही जाने हें. और रूप जो श्वेत नील लाल हरित पीलों इनें नही जाने हें. और स्पर्श जो शीत उष्ण इनकूं नही जाने. और शब्द शंख नगाडे समुद्र मेघादिकनके शब्द और आत्मा जो देह ताय और पुरुषांतर इनकूं नही जाने हे ॥ ९ ॥

चित्तमिति ॥ जा योगीको चित्तसूतो न होय जागतोबी न होय और स्मृतीबी न होय

मू० न चास्तमेति नोदेति यस्यासौ मुक्त एव सः ॥ १० ॥
न विजानाति शीतोष्णं न दुःखं न सुखं तथा ॥
न मानं नापमानं च योगी युक्तः समाधिना ॥ ११ ॥
स्वस्थो जाग्रदवस्थायां सुप्तवद्योऽवतिष्ठते ॥
निःश्वासोच्छ्वासहीनश्च निश्चितं मुक्त एव सः ॥ १२ ॥

॥ टीका ॥

त्रिगुणेंऽतःकरणे यदा सत्त्वरजसी अभिभूय समस्तकरणावरकं तम आविर्भवति तदांतःकरणस्य बिषयाकारपरिणामाभावात्तत्सुप्तमित्युच्यते । नो जाग्रत् इंद्रियैरर्थग्रहणाभावात् । स्मृतिश्च विस्मृतिश्च स्मृतिविस्मृनी ताभ्यां वर्जितं । वृत्तिसामान्याभावादुद्बोधकाभावाच्च स्मृतिवर्जितम् । स्मृत्यनुकूलसंस्काराभावाद्विस्मृतिवर्जितं । न चास्तं नाशमेति प्राप्नोति । संस्कारशेषस्य चितस्य सत्त्वात् । नोदेत्युद्भवति । वृत्त्यनुत्पादनात् । सोऽसौ मुक्त एव जीवन्मुक्त एव ॥ १० ॥

न विजानातीति ॥ समाधिना युक्तो योगी शीतं च उष्णं च शीतोष्णं । समाहारद्वंद्वः । शीतमुष्णं वा पदार्थं न दुःखं दुःखजनकं परकृतं ताडनादिकं न सुखं सुखसाधनं सुरभिचंदनाद्यनुलेपनादिकं । तथा चार्थे । मानं परकृतं सत्कारं न अपमानमनादरं च न विजानातीति क्रियापदं प्रतिवाक्यमन्वेति ॥ ११ ॥

स्वस्थ इति ॥ स्वस्थः प्रसन्नेंद्रियांतःकरणः । एतेन तंद्रामूर्छादिव्यावृत्तिः । जाग्रदवस्थायामित्यनेन स्वप्नसुषुप्त्योर्निवृत्तिः । सुप्तवत् सुप्तेन तुल्यं कायेंद्रियव्यापारशून्यो यो योगी अवतिष्ठते स्थितो भवति । 'समवप्रविभ्यः स्थः' इत्यात्मनेपदम् । निश्वासोच्छ्वासहीनः बाह्यवायोः कोष्ठे ग्रहणं निश्वासः कोष्ठस्थितस्य वायोर्बहिर्निःसारणमुच्छ्वासस्ताभ्यां हीनश्चावतिष्ठत इत्यत्रापि संबध्यते । स निश्चितं निःसं-

॥ भाषा ॥

विस्मृतीबी नहोय नाशकूंबी प्राप्त नहोय और उदयबी नहोय एसो योगी जीवन्मुक्त हे ॥ १० ॥

न विजानातीति ॥ समाधियुक्त योगी शीत उष्ण सुख मान अपमान इनकूं नही जाने हे ॥ ११ ॥

स्वस्थ इति ॥ प्रसन्न हे अंतःकरण जाको एसो योगी जाग्रद् अवस्थामें सुप्तकीतुल्य स्थित होय श्वासनिश्वासकरकें रहित स्थित होय सो जीवन्मुक्त हे ॥ १२ ॥

मू० अवध्यः सर्वशस्त्राणामशक्यः सर्वदेहिनाम् ॥
अग्राह्यो मंत्रयंत्राणां योगी युक्तः समाधिना ॥ १३ ॥

॥ टीका ॥

दिग्धं मुक्त एव । जीवन्मुक्तस्वरूपमुक्तं दत्तात्रेयेण । 'निर्गुणध्यानसंपन्नः समाधिं च ततोऽभ्यसेत् । दिनद्वादशकेनैव समाधिं समवाप्नुयात् । वायुं निरुध्य मेधावी जीवन्मुक्तो भवेद्ध्रुवम्' इति ॥ १२ ॥

अवध्य इति ॥ समाधिना युक्तो योगी । सर्वशस्त्राणामिति संबंधसामान्ये षष्ठी । सर्वशस्त्रैरित्यर्थः । अवध्यो हंतुमशक्य इत्यर्थः । सर्वदेहिनामित्यत्रापि संबंधमात्रविवक्षायां षष्ठी । अशक्यः सर्वदेहिभिः बलेन शक्यो न भवतीत्यर्थः । मंत्रयंत्राणां वशीकरणमारणोच्चाटनादिफलैर्मंत्रयंत्रैरग्राह्यः वशीकर्तुमशक्यः । एवं प्राप्तयोगस्य योगिनो विघ्ना बहवः समायांति । तन्निवारणार्थं तज्ज्ञानस्यापेक्षितत्त्वात्तेऽपि प्रदर्श्यंते । दत्तात्रेयः । 'आलस्यं प्रथमो विघ्नो द्वितीयस्तु प्रकथ्यते । पूर्वोक्तधूर्तगोष्ठी च तृतीयो मंत्रसाधनम् । चतुर्थो धातुवादः स्यादिति योगविदो विदुरि'ति । मार्कंडेयपुराणे । 'उपसर्गाः प्रवर्तंते दृष्टा ह्यात्मनि योगिनः । ये तांस्ते संप्रवक्ष्यामि समासेन निबोध मे । काम्याः क्रियास्तथा कामान्मनुष्यो योऽभिवांछति । स्त्रियो दानफलं विद्यां मायां कुप्यं धनं वसु । देवत्वममरेशत्वं रसायनवयः क्रियाम् । मेरुं प्रयतनं यज्ञं जलाग्न्यावेशनं तथा । श्राद्धानां शक्तिदानानां फलानि नियमास्तथा । तथोपवासात्पूर्ताच्च देवपित्रर्चनादपि । अतिथिभ्यश्च कर्मभ्य उपसृष्टोऽभिवांछति । विघ्नमित्थं प्रवर्तंत यत्नाद्योगी निवर्तयेत् । ब्रह्मासंगि मनः कुर्वन्नुपसर्गैः प्रमुच्यते ॥' इति । पद्मपुराणे । 'यदैभिरंतरायैर्न क्षिप्यतेऽस्य हि मानसं । तदाग्रे तमवाप्नोति परं ब्रह्मातिदुर्लभम् ।' योगभास्करे । 'सात्त्विकीं धृतिमालंब्य योगी सत्त्वेन सुस्थिरः । निर्गुणं मनसा ध्यायन्नुपसर्गैः प्रमुच्यते॥ एवं योगमुपासीनः शक्रादिपदनिस्पृहः । सिद्ध्यादिवासनात्यागी जीवन्मुक्तो भवेन्मुनिः । विस्तरस्य भिया नोक्ताः संति विघ्ना ह्यनेकशः । ध्यानेन विष्णुहरयोर्वारणीया हि योगिने'ति ॥ १३ ॥

॥ भाषा ॥

अवध्य इति ॥ समाधिकरकें युक्त योगी सबले शस्त्रनकरकें नाश होयवेकूं अशक्य हे और सर्व देहधारीनकर पराक्रमकरकें समर्थ नही हे और मंत्र यंत्र तंत्रादिकनकर वशीकरण मरणादिक करवेकूं समर्थ नही ॥ १३ ॥

मू० यावन्नैव प्रविशति चरन्मारुतो मध्यमार्गे यावद्बिंदुर्न भवति दृढप्राणवातप्रबंधात् ॥

॥ टीका ॥

अयोगिनां ज्ञानं निराकुर्वन्योगिनामेव ज्ञानं भवतीत्याह ॥ यावदिति ॥ मध्यमार्गे सुषुम्नायां चरन् गच्छन् मारुतः प्राणवायुः यावत् यावत्कालपर्यंतं न प्रविशति प्रकर्षेण ब्रह्मरंध्रपर्यंतं न विशति । ब्रह्मरंध्रं गतस्य स्थैर्याद्ब्रह्मरंध्रं गत्वा न स्थिरो भवतीत्यर्थः । सुषुम्नायामसंचरन् वायुरसिद्ध इत्युच्यते । तदुक्तममृतसिद्धौ । 'यावद्धि मार्गतो वायुर्निश्चलो नैव मध्यगः । असिद्धं तं विजानीयाद्वायुं कर्मवशानुगमि' ति । प्राणयति जीवयतीति प्राणः स चासौ वातश्च प्राणवातः तस्य प्रबंधात्कुंभकेन स्थिरीकरणाद्बिंदुर्वीर्यं दृढः स्थिरो न भवति प्राणवातस्थैर्ये बिंदुस्थैर्यमुक्तमत्रैव प्राक्। 'मनःस्थैर्ये स्थिरो वायुस्ततो बिंदुः स्थिरो भवेदि' ति। तदभावे त्वसिद्धत्वं योगिनः। उक्तममृतसिद्धौ । 'तावद्बद्धोऽप्यसिद्धोऽसौ नरः सांसारिको मतः । यावद्भवति देहस्थो रसेंद्रो ब्रह्मरूपकः । असिद्धं तं विजानीयान्नरमब्रह्मचारिणम् । जरामरणसंकीर्णं सर्वक्लेशसमाश्रयमि'ति । यावत्तत्वं चित्तं ध्याने ध्येयचित्तं न सहजसदृशं स्वाभाविकध्येयाकारवृत्तिप्रवाहानैव जायते नैव भवति प्राणवातप्रबंधादिति देहलीदीपन्यायेनात्रापि संबध्यते। वायुस्थैर्ये चित्तस्थैर्यमुक्तममृतसिद्धौ । 'यदासौ भ्रियते वायुर्मध्यमां मध्ययोगतः । तदा बिंदुश्च चित्तं च भ्रियते वायुना सह । तदभावेऽह्यसिद्धत्वमुक्तममृतसिद्धौ । 'यावत्प्रस्यंदते चित्तं बाह्याभ्यंतरवस्तुषु । असिद्धं तद्विजानीयाचित्तं कर्मगुणान्वितमि' ति । तावद्यज्ज्ञानं शाब्दं वदति कश्चित् तदिदं ज्ञानं कथं दंभमिथ्याप्रलापः दंभेन ज्ञानकथनेनाहं लोके पूज्यो भविष्यामीति धिया मिथ्याप्रलापो मिथ्याभाषणं दंभपूर्वकं मिथ्याभाषणमित्यर्थः । प्राणबिंदुचित्तानां जयाभावे ज्ञानस्याभावात्संसृतिर्दुर्वारा । तदुक्तममृतसिद्धौ । 'चलत्येष यदा वायुस्तदा बिंदुश्चलः स्मृतः । बिंदुश्चलति यस्यांगे चित्तं तस्यैव चंचलम् । चले बिंदौ चले चित्ते चले वायौ च सर्वदा । जायते भ्रियते लोकः सत्यं सत्यमिदं वचः ॥' इति। योगबीजेऽप्युक्तम् । 'चित्तं प्रनष्टं यदि भासते वै तत्र प्रतीतो मरुतोऽपि नाशः । न वा यदि स्यान्न तु तस्य शास्त्रं नात्मप्रतीतिर्न गुरुर्न मोक्षः ॥ इति । एतेन प्राणबिंदुमनसां जये तु ज्ञा-

॥ भाषा ॥

यावदिति ॥ सुषुम्नामार्गमें गमन करत प्राणवायु जबतांई ब्रह्मरंध्रपर्यंत नही प्रवेश करे हे. और प्राणवायुकूं कुंभककरकें स्थिर करवेतें वीर्य जबतांई स्थिर नही होय. और

मू॰ यावद्ध्याने सहजसदृशं जायते नैव तत्त्वं तावज्ज्ञानं वदति तदिदं दंभमिथ्याप्रलापः ॥ १४ ॥ इति श्रीसहजानंदसंतानचिंतामणिस्वात्मारामयोगींद्रविरचितायां हठप्रदीपिकायां समाधिलक्षणं नाम चतुर्थोपदेशः ॥ ४ ॥ मूलश्लोकसंख्या ॥ ३९३ ॥ ॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥

॥ टीका ॥

नद्वारा योगिनो मुक्तिः स्यादेवेति सूचितम् । तदुक्तममृतसिद्धौ । 'यामवस्थां व्रजेद्वायुर्बिंदुस्तामधिगच्छति । यथाहि साध्यते वायुस्तथा बिंदुप्रसाधनम् । मूर्छितो हरति व्याधिं वृद्धः खेचरतां नयेत् । सर्वसिद्धिकरो लीनो निश्चलो मुक्तिदायकः । यथावस्था भवेद्बिंदोश्चित्तावस्था तथा तथा ॥' ननु । 'योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया । ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचिदि'ति भगवदुक्तास्त्रयो मोक्षोपायास्तेषु सत्सु कथं योग एव मोक्षोपायत्वेनोक्त इतिचेन्न । तेषां योगांगेष्वंतर्भावात् । तथाहि । 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यःश्रोतव्यो मंतव्यो निदिध्यासितव्यः' इति श्रुत्या परमपुरुषार्थसाधनात्मसाक्षात्कारहेतुतया श्रवणमनननिदिध्यासनान्युक्तानि तत्र श्रवणमनने नियमांतर्गते स्वाध्यायेंऽतर्भवतः । स्वाध्यायश्च मोक्षशास्त्राणामध्ययनम् । स च तात्पर्यार्थनिश्चयपर्यवसायो ग्राह्यः । तात्पर्यार्थनिर्णयश्च श्रवणमननाभ्यां भवतीति श्रवणमननयोः स्वाध्यायेंऽतर्भावः । नियमविवरणे याज्ञवल्क्येन । 'सिद्धांतश्रवणं प्रोक्तं वेदांतश्रवणं बुधैरि'ति स्पष्टमेव श्रवणस्य नियमांतर्गतिरुक्ता । 'अधीतवेदं सूत्रं वा पुराणं सेतिहासकम् । पदेष्वध्ययनं यश्च सदाभ्यासो जपः स्मृतः ॥' इति युक्तिभिरनवरतमनुचिंतनलक्षणस्य सदाभ्यासरूपस्य मननस्यापि नियमांतर्गतिरुक्ता । विजातीयप्रत्ययनिरोधपूर्वकसजातीयप्रत्ययप्रवाहरूपस्य निदिध्यासनस्य उक्तलक्षणे ध्यानेंऽतर्भावः । तस्यापि तत्परिपाकरूपसमाधिनात्मसाक्षात्कारद्वारा मोक्षहेतुत्वमीश्वरार्पणबुद्ध्या निष्कामकर्मानुष्ठानलक्षणस्य कर्मयोगस्य 'तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः' इति पतंजलिप्रोक्ते नियमांतर्गते क्रियायोगेंऽतर्भावः । तत्र तप उक्तमीश्वरगीतायाम् ।

॥ भाषा ॥

जबतांई तत्त्वके चिंतमनमें चित्त ब्रह्मके आकार वृत्तिप्रवाह नहीं होय तबतांई जो ज्ञान कहे ज्ञानके कहवेकरकें में पूजवेके योग्य होय जाउंगो या बुद्धीकरकें कहे तो वी क-

॥ टीका ॥

'उपवासपराकादिकृच्छ्रचांद्रायणादिभिः । शरीरशोषणं प्राहुस्तापसास्तप उत्तममि'-ति । स्वाध्यायोऽपि तत्रोक्तः । 'वेदांतशतरुद्रीयप्रणवादिजपं बुधाः । सत्त्वशुद्धिकरं पुंसां स्वाध्यायं परिचक्षते' इति । ईश्वरप्रणिधानं च तत्रोक्तं । 'स्तुतिस्मरणपूजाभिर्वाङ्मनःकायकर्मभिः । सुनिश्चला भवेद्भक्तिरेतदीश्वरपूजनमि'ति । क्रियायोगश्च परंपरया समाधिनात्मसाक्षात्कारद्वारैव मोक्षहेतुरिति समाधिभावनार्थः । क्लेशतनूकरणार्थश्चेत्युत्तरसूत्रेण स्पष्टीकृतं पतंजलिना । भजते सेव्यते भगवदाकारमंतःकरणं क्रियतेऽनयेति भक्तिरिति करणव्युत्पत्त्या 'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनं । अर्चनं वंदनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनमि'ति । नवधोक्ता साधनभक्तिरभिधीयते । तस्या ईश्वरप्रणिधानरूपे नियमेंऽतर्भावः । तस्याश्च समाधिहेतुत्वं चोक्तं पतंजलिना । ईश्वरप्रणिधानाद्वे'ति । ईश्वरविषयकात्प्रणिधानाद्भक्तिविशेषात्समाधिलाभः समाधिफलं भवतीति सूत्रार्थः । भजनमंतःकरणस्य भगवदाकारतारूपं भक्तिरिति भावव्युत्पत्त्या फलभूता भक्तिरभिधीयते । सैव प्रेमभक्तिरित्युच्यते । तल्लक्षणमुक्तं नारायणतीर्थैः । 'प्रेमभक्तियोगस्तु ईश्वरचरणारविंदविषयकैकांतिकात्यंतिकप्रेमप्रवाहोऽविच्छिन्नः' इति । मधुसूदनसरस्वतीभिस्तु । 'द्रवीभावपूर्विका मनसो भगवदाकारतारूपा सविकल्पकवृत्तिर्भक्तिरि'ति । 'तस्यास्तु श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवेही'ति श्रुतेः । 'भक्त्या मामभिजानाती'ति स्मृतेश्च । आत्मसाक्षात्कारद्वारा मोक्षहेतुत्वम् । भक्तास्तु सुखस्यैव पुरुषार्थत्वाद्दुःखासंभिन्ननिरतिशयसुखदारारूपा प्रेमभक्तिरेव पुरुषार्थ इत्याहुः । तस्यास्तु संप्रज्ञातसमाधावंतर्भावः । एवं च अष्टांगयोगातिरिक्तं किमपि परमपुरुषार्थसाधनं नास्तीति सिद्धम् ॥ ११४ ॥

ग्राह्यमेव विदुषां हितं यतो भाषणं समयदर्श्यसंस्कृतम् । रक्ष गच्छति पयो न लेहितं ह्यंब इत्यभिहितं शिशोर्यथा ॥ १ ॥ सदर्थद्योतनकरी तमःस्तोमविनाशिनी ॥ ब्रह्मानंदेन ज्योत्स्नेयं शिवांघ्रियुगलेऽर्पिता ॥ २ ॥

इति श्रीहठप्रदीपिकाव्याख्यायां ब्रह्मानंदकृतायां ज्योत्स्नाभिधायां समाधिनिरूपणं नाम चतुर्थोपदेशः ॥ ४ ॥ टीकाग्रंथसंख्या ॥ २४५० ॥

॥ भाषा ॥

हनो कपटपूर्वक मिथ्याभाषण जाननो या अष्टांग योगतें न्यारो कछूबी परम पुरुषार्थ साधन नहीं हें ॥ १४ ॥

इति श्रीहठप्रदीपिकाव्याख्यायां दध्यङ्कुलोत्पन्नजटाशंकरात्मजश्रीधरकृतायां **मनोभिलाषिण्यभिधायां** समाधिनिरूपणं नाम चतुर्थोपदेशः ॥४॥ भाषाग्रंथसंख्या ॥ १६९७ ॥

इदं पुस्तकं १८१७ परिमिते शालिवाहन शके तथा १९५१ परिमिते विक्रमादित्यसंवत्सरे वैशाख मासे कृष्णपक्षे प्रतिपत्तिथौ गुरु वासरे मुम्बापुर्यां 'प्रबोधरत्नाकरा'ख्ये मुद्रणालये मुद्राप्य शास्त्रितः संशोध्य प्राकाश्यमनायि ।

अनेन श्रीराधारमणः प्रीयताम् ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥

No. ४३८३

Title हठ प्रदीपिका

Author श्री स्वात्मा रामः

Extent २३ Age ×

Subject योगशास्त्रं

हठप्रदीपिका

५२५२

पुराण

पुस्तकमिदं पाठको
पादृयै घनश्यामण:

योग २

हठ॰ १ श्रीगणेशाय नमः श्रीआदिनाथाय नमोस्तु तस्मै येनोपदिष्टा हठयोगविद्या विराजते
प्रोन्नतराजयोगमारोढुमिच्छोरधिरोहिणीव १ प्रणम्य श्रीगुरुं नाथं स्वात्मारामेण
योगिना केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते २ भ्रांत्या बहुमतध्वांते राजयोगम
जानतां हठप्रदीपिकां धत्ते स्वात्मारामः कृपाकरः ३ हठविद्यां महाविद्यां गोरक्षाद्या
विजानते स्वात्मारामोथवा योगी जानीते तत्प्रसादतः ४ श्रीआदिनाथमत्स्येंद्रशाबा
रानंदभैरवाः चौरंगीमीनगोरक्षविरूपाक्षबिलेशयाः ५ मंथानभैरवो योगी सिद्ध
बुद्धश्च कंथडिः कोरंटकः सुरानंदः सिद्धपादश्च चर्पटिः ६ कानेरी पूज्यपादश्च नि
नाथ ३ त्यनाथो निरंजनः कपाली बिंदुनाथश्च काकचंडीश्वराह्वयः ७ अल्लामः प्रभुदेवश्च
घोडाचोलीच टिंटिणिः भालुकी नागबोधश्च खंडकापालिकस्तथा ८ इत्यादयो म
हासिद्धा हठयोगप्रभावतः खंडयित्वा कालदंडं ब्रह्मांडे विचरंति ते ९ अशेषताप १।१

पादयः ३

तप्तानांसमाश्रयमठोहठः अशेषयोगयुक्तानामाधारकमठोहठः १० हठविद्यापरंगोप्या
योगिनासिद्धिमिच्छता भवेद्वीर्यवतीगुप्तानिर्वीर्यातुप्रकाशिता ११ सुराज्येधार्मि
केदेशेसुभिक्षेनिरुपद्रवे धनुःप्रमाणपर्यंतंशिलाग्निजलवर्जिते एकांतमठिका
मध्येस्थातव्यंहठयोगिना १२ अल्पद्वारमरंध्रगर्तविवरंनात्युच्चनीचायतंसम्यग्गो
मयसांद्रलिप्तममलंनिःशेषबाधोज्झितं बाह्येमंडपवेदिकूपरुचिरंप्राकारसंवेष्टितं
प्रोक्तंयोगमठस्यलक्षणमिदंसिद्धैर्हठाभ्यासिभिः १३ एवंविधेमठेस्थित्वासर्वचिं
ताविवर्जितः गुरूपदिष्टमार्गेणयोगमेवसदाभ्यसेत १४ अत्याहारःप्रयासश्च
प्रजल्पोनियमग्रहः जनसंगश्चलौल्यंचषड्भिर्योगोविनश्यति १५ उत्साहात्क्ष
मयाधैर्यात्तत्वज्ञानाच्चनिश्चयात् जनसंगपरित्यागात्षड्भिर्योगःप्रसिध्यति १६
हठस्यप्रथमांगत्वादासनंपूर्वमुच्यते कुर्यात्तदासनंस्थैर्यमारोग्यंचांगलाघवं १७

ह.प्र. २ वसिष्ठाद्यैश्च मुनिभिर्मत्स्येंद्राद्यैश्च योगिभिः अंगीकृतान्यासनानि कथ्यंते कानिचिन्मया
१८ जानूर्वोरंतरे सम्यक् कृत्वा पादतले उभे ऋजुकायः समासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते
१९ सव्ये दक्षिणगुल्फं तु पृष्ठपार्श्वे नियोजयेत् दक्षिणेपि तथा सव्यं गोमुखं गोमुखं तथा
२० एकपादमथैकस्मिन्विन्यस्योरुणि संस्थितं इतरस्मिंस्तथा चोरुं वीरासनमुदीरि
तं २१ गुदं निरुध्य गुल्फाभ्यां व्युत्क्रमेण समाहितः कूर्मासनं भवेदेतदिति योगविदो विदुः
२२ पद्मासनं तु संस्थाप्य जानूर्वोरंतरे करौ निवेश्य भूमौ संस्थाप्य व्योमस्थं कुक्कुटास
नं २३ कुक्कुटासनबंधस्थो दोर्भ्यां संबध्य कंधरं भवेत्कूर्मवदुत्तान एतदुत्तानकूर्मकं २४
तु पादांगुष्ठौ तु पाणिभ्यां गृहीत्वा श्रवणावधि धनुराकर्षणं कृत्वा धनुरासनमुच्यते
२५ वामोरुमूलार्पितदक्षपादं जानोर्बहिर्वेष्टितदक्षहस्ता प्रगृह्य तिष्ठेत्परिवर्तितांगं
श्रीमत्स्यनाथोदितमासनं स्यात् २६ मत्स्येंद्रपीठं जठरप्रचंडरुग्मंडलखंडनास्त्रं २

ग्यम्यासतः कुंडलिनीप्रबोधं दंडस्थितश्चैव हस्तलिंगं सा २७ भ्रामार्धपादेऽपि गदिंदश्रूपो दे
र्धं वदत्यन्ह्नितपं गहीत्वा जानूपरिन्यस्तललाटदेशो प्रसिद्धिदं वक्रिमतानमाकुः
२८ इति पश्चिमतानमासनं स्यात्एवं पश्चिमपाहि न्वेतोऽस्ति उदयं जठरानल
स्य कुर्याद्दुदरोऽर्थं मरोगतां च कुर्यात् २९ धरामवष्टभ्य कराभ्यां ततः कूर्परस्थापि
वितनाभिपार्श्वः उच्चासनो दंडवदुत्थितः स्यान्मायूरमेतत्प्रवदंति पीठं ३० हरति स
कलरोगानाशु गुल्मोदरादीनपि भवति च दोषानासनं श्रीमयूरं बहुकदशनभुक्तं भ
स्म कुर्याद्दशेषं जनयति जठराग्निं जारयेत्कालकूटं ३१ उत्तानश्शववद्भूमौ शयनं तच्छवासनं व
शवा पाद्यो: शवासनं श्रांतिहरं चित्तविश्रांतिकारकं ३२ चतुराशीत्यासनानि शिवेन क
थितानि च तेभ्यश्चतुष्कमादाय सारभूतं ब्रवीम्यहं ३३ सिद्धं पद्मं तथा सिंहं भद्रं चेव
चतुष्टयं श्रेष्ठं तत्रापि च सुखे तिष्ठेत्सिद्धासने सदा ३४ योनिस्थानकमंघ्रिमूलघटि

न१

तंकृत्वादृढंविन्यसेतमेढ्रेपादमथैकमेवहृदयेकृत्वासमंविग्रहं स्थाणुःसंयमितेंद्रियो
चलदृशोपश्यनभ्रुवोरंतरं चेतन्मोक्षकपाटभेदजनकं सिद्धासनंप्रोच्यते ३५ मतांतरे
मेढ्रादुपरिविन्यस्य सव्यंगुल्फंतथोपरि गुल्फांतरंचनिक्षिप्य सिद्धाःसिद्धासनंविदुः
३६ एतेसिद्धासनंप्राहुरन्येवज्रासनंविदुः मुक्तासनंवदंत्येके प्राहुर्गुप्तासनंपरे ३७
यमेष्विवमिताहारःमहिंसानियमेःस्थिता तथासर्वासनेषुस्यैसिद्धःसिद्धासनेविदुः
३८ चतुराशीतिपीठेषुसिद्धमेवसदाभ्यसेत द्वासप्ततिसहस्रेषुसुषुम्णाइवनाडिषु
३९ आत्मध्यायीमिताहारीयावद्द्वादशवत्सरं सदासिद्धासनाभ्यासात्योगनिष्पत्ति
माप्नुयात ४० किमन्यैर्बहुभिःपीठैःकिंसदासेवनेनतु प्राणानिलेसावधानेबद्धेकेवल
कुंभके ४१ उत्पद्यतेनिरायासात्स्वयमेवमनोन्मनी तथैकस्मिन्नेवदृढेबद्धेसिद्धास
नेतथा ४२ बंधत्रयमनायासात्स्वयमेवोपजायते नचासनंसिद्धसमंनकुंभसदृशो २

५ द्वासप्ततिसहस्राणांनाडीनांमलशोधनं

।निलः शरीरे वृद्धिं समाप्नुयान्नवनाडीसंशोधनार्थं ५३ अथ पद्मासनं वामोरूपरि दक्षिणं
च चरणं संस्थाप्य वामं तथा याम्योरूपरि पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढं अंगुष्ठौ
हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकयेदेतद्व्याधिविकारनाशकरं पद्मासनं प्रोच्यते
५४ मतांतरे उत्तानौ चरणौ कृत्वा ऊरुसंस्थौ प्रयत्नतः ऊरुमध्ये तथोत्तानौ पाणि
कृत्वा ततो दृशौ ५५ नासाग्रे विन्यसेद्राजदंतमूलं च जिह्वया उत्तम्य चिबुकं वक्षः स्थाप
येत्पवनं शनैः ५६ इदं पद्मासनं प्रोक्तं सर्वव्याधिविनाशनं दुर्लभं येन केनापि धीमता
भुवि लभ्यते ५७ कृत्वा संपुटितौ करौ दृढतरं बध्वा तु पद्मासनं गाढं वक्षसि संनिधाय
चिबुकं ध्यानं च तच्चेतसि वारंवारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोच्चालयन्न्यंचन्प्राणमुपैति बो
धमतुलं शक्तिप्रभावान्नरः ५७ पद्मासने स्थितो योगी नाडीद्वारेषु पूरयेत् मारुतं धा
धृते पवने स मुक्तो नात्र संशयः ५८ अथ सिंहासनं गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पा

र्श्वयोः क्षिपेत् दक्षिणे सव्यगुल्फं तु दक्षगुल्फं तु सव्यके ४९ हस्तौ तु जान्वोः संस्थाप्य स्वांगु-
लीः संप्रसार्य च व्यात्तवक्त्रो निरीक्षेत नासाग्रं सुसमाहितः सिंहासनं भवेदेतत् पूजितं
योगिपुंगवैः ५० अथ भद्रासनं गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् स-
व्यगुल्फं तथा चैव सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् पार्श्वपादौ च पाणिभ्यां दृढं बद्ध्वा सुनिश्च-
लं ५१ भद्रासनं भवेदेतत् सर्वव्याधिविनाशनं गोरक्षासनमित्याहुरिदं वै सिद्धयोगिनः
५२ एवमासनबंधेषु योगींद्रो विगतश्रमः ऽभ्यसेन्नाडिकाशुद्धिं मुद्रादिपवनक्रि-
याः ५३ क्रियायुक्तस्य सिद्धिः स्यादक्रियस्य कथं भवेत् न शास्त्रपाठमात्रेण योगसि-
द्धिः प्रजायते ५४ न वेषधारणं सिद्धेः कारणं न च तत्कथा क्रियैव कारणं सिद्धेः सत्य-
मेतन्न संशयः ५५ पीठान्यादरपराय हठ्याद्वैव धानितो आसनं कुंभकं चित्रं मुद्रा-
ख्यं करणं तथा अथ नादानुसंधानमभ्यासानुक्रमो हठे ५६ ब्रह्मचारी मिताहारी यो ५

गीः योगपरायणः । अश्वहस्त्यं दिमवेत्स्वस्थं स्त्रीकार्यो विचारतः ५५ सुस्निग्धमधुराहार
स्तनुर्थी पापिवर्जितः । भुज्यते पिरसंप्रीतेमितांहारः स उच्यते ५६ कटूष्णतीक्ष्णल
वणं स्मृहरितं शाकं मोचीरं तैलतिलसर्षपं मत्स्यमद्यं आजाविमांसदधितक्रकुल
त्थकोल पिण्याकं हिंगुलशुनादिम पथ्यमाहुः ५७ भोजनमहितं पित्ताद्युष्णं रसपूर्णं
स्ततं तथा रूक्षं अतिलवणांम्रमितं च स्वप्नपाकोत्तरं च वर्ज्यं ५८ वर्जयेद्दुर्जनं प्रीतिं
वह्निस्त्रीपथसेवनं प्रातःस्नानोपवासादिकायक्लेशविधिंस्त्यजेत् ५९ गोधूमशालि
यवषष्टिकपयोमनोज्ञैः क्षीराज्यमंड्वनीतमितान्नधनि । शुण्ठीपयोलवणकेलादिरूपं
वेशाकं मुद्गादि दिव्यमुद्गं च शुद्धोदकं पथ्यं ६० इष्टं सुमधुरं स्निग्धं गव्यं धातुप्रपोषणां
मनोभिलषितं पेयं पेयाभोजनमाचरेत् ६१ एवं यः कुरुते रूक्षो वायव्याधितो ऽपि वी
लोऽपि वा अभ्यासात्सिद्धिमाप्नोति सर्वयोगफलं हितं ६२ पीतानि सर्वमशाल्मलिकन्याः इ

ह.प्र.
५

व्यानि करणानि च सर्वाण्यपि हठाभ्यासे राजयोगफलावधि ६६ इति सहजानंदसंता-
नचिंतामणिस्वात्मारामविरचितायां हठप्रदीपिकायां प्रथमोपदेशः अथासने दृढे
योगी वशी हितमिताशनः गुरूपदिष्टमार्गेण प्राणायामं समभ्यसेत् १ चले वा-
ते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत् योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत् २ याव-
द्वायुः स्थितो देहे तावज्जीवनमुच्यते मरणं तस्य निष्क्रान्तिस्ततो वायुं निरोधयेत् ३
मलाकुलासु नाडीषु मारुतो नैव मध्यगः कथं स्यादुन्मनीभावः कार्यसिद्धिः कथं भवेत्
शुद्धमेति यथा सर्वं नाडीचक्रं मलाकुलं तदैव जायते योगी प्राणसंग्रहणे क्षमः ५
प्राणायामं ततः कुर्यान्नित्यं सात्विकया धिया यथा सुषुम्णानाडीस्था मलाः शुद्धिं प्रयां-
ति च ६ बद्धपद्मासनो योगी प्राणं चंद्रेण पूरयेत् धारयित्वा यथाशक्ति भूयः सूर्येण रेचये-
त् ७ प्राणं सूर्येण चाकृष्य पूरयेदुदरं शनैः विधिवत्कुंभकं कृत्वा पुनश्चंद्रेण रेचयेत् ० ५

तेनत्यजेत्तेनापूर्यधारयेदविरोधतः रेचयेच्च ततोन्येन शनैरेव न वेगतः ८ प्राणंचेदि
डयापिबेन्नियमितंभूयोन्यया रेचयेत्पीत्वा पिंगलया समीरणमथो बध्वा त्यजेद्वामतः
सूर्याचंद्रमसोरनेन विधिनाभ्यासं सदा तन्वतां शुद्धा नाडिगणा भवंति यमिनां मा
सत्रयादूर्ध्वतः ९ प्रातर्मध्यंदिने सायमर्धरात्रे च कुंभकान् शनैरशीतिपर्यंतं चतुर्वा
रं समभ्यसेत् १० कनीयसि भवेत्स्वेदः कंपो भवति मध्यमे उत्तिष्ठत्युत्तमे प्राणो वद्धप
द्मासने दृढे ११ जलेन श्रमजातेन गात्रमर्दनमाचरेत् दृढता लघुता चापि तेन गात्रस्य
जायते १२ अभ्यासकाले प्रथमं शस्तं क्षीराज्यभोजनं ततोभ्यासे दृढीभूते न तादृङ्नि
यमग्रहः १३ यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैः शनैः तथैव सेवितो वायुरन्यथा
हंति साधकं १४ प्राणायामेन युक्तेन सर्वरोगपरिक्षयः अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोग
समुद्भवः १५ युक्तं युक्तं त्यजेद्वायुं युक्तं युक्तं च पूरयेत् युक्तं युक्तं च बध्नीयादेवं सिद्धिम

ह.ठ. वायुयात १६ हिक्काश्वासश्च कासश्च शिरःकर्णाक्षिवेदनाः भवंति विविधा रोगाः पवनस्य
६ अतिक्रमात १७ यदा तु नाडीशुद्धिः स्यात तदा चिह्नानि बाह्यतः कायस्य कृशता कांतिस्त
था जायेत निश्चितं १८ यथेष्टं धारणं वायोरनलस्य प्रदीपनं नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जाय
ते नाडिशोधनात १९ मेदश्लेष्माधिकः पूर्वं षट्कर्माणि समाचरेत अन्यथा नाचरेत्तानि
६५ दोषाणां समभावतः २० धौतीबस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा कपालभातीचैता
नि षट्कर्माणि प्रचक्षते २१ कर्मषट्कमिदं गोप्यं घटशोधनकारकं विचित्रगुणसंधायि पू
ज्यते योगिपुंगवैः २२ अथ धौती चतुरंगुलविस्तारं हस्तपंचदशायतं गुरूपदिष्टमार्गे
ण सिक्तं वस्त्रं शनैर्ग्रसेत २३ पुनः प्रत्याहरेच्चैत[illegible]र्ध्वसा धौतिकर्म तत २३ कासश्वा ८
सप्लीहकुष्टं कफरोगाश्च विंशतिः धौतिकर्मप्रभावेन यांत्येव न संशयः २४ उदरगत
पदार्थमुद्वहंति पवनमपानमुदीर्य कंठनाले क्रमपरिचयवश्यवायुवेगा गजकरणी
६

४

तिर्निगद्यते हठ[illegible] २५ अथ बस्तिकर्म नाभिदघ्नजले पायौ न्यस्तनालोत्कटासनः आ
धाराकुंचनं कुर्यात्क्षालनं बस्तिकर्म तत् २६ गुल्मप्लीहोदरं चापि वातपित्तकफोद्भवं ब
स्तिकर्मप्रभावेन क्षीयते सकलामयाः २७ धात्विन्द्रियान्तःकरणप्रसादं दद्याच्च कांतिं दहन
प्रदीप्तिं अशेषदोषोपचयं निहन्यादभ्यस्यमानं जलबस्तिकर्म २८ अथ नेतिकर्म
सूत्रं वितस्तिसुस्निग्धं नासानाले प्रवेशयेत् मुखान्निर्गमयेच्चैषा नेतिः सिद्धैर्निगद्यते
२९ कपालशोधनी चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनी जत्रूर्ध्वजातरोगौघं नेतिराशु निहन्ति च ३०
अथ त्राटकं निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः अश्रुसंपातपर्यन्तमाचार्यैस्त्राटकं स्मृ
तं ३१ मोचनं नेत्ररोगाणां तन्द्रादीनां कपाटकं यत्नतस्त्राटकं गोप्यं यथा हाटकपेटकं ३२
अथ नौलिः अमन्दावर्तवेगेन तुन्दं सव्यापसव्यतः नतांसो भ्रामयेदेषा नौलिः सिद्धैः प्रश
स्यते ३३ मन्दाग्निसंदीपनपाचनादिसंधापिकानन्दकरी सदैव अशेषदोषामयशोष

६८ णी च हठक्रियामौलिरियं हि नौली ३४ अथ कपालभाती भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ
ससंभ्रमौ कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषणी ३५ षट्कर्मनिर्गतस्थौल्य
कफदोषमलादिकः प्राणायामं ततः कुर्यादनायासेन सिध्यति ३६ प्राणायामैरेव स
र्वे प्रशुष्यन्ति मला इति आचार्याणां तु केषांचिदन्यत्कर्म न संमतं ३७ ब्रह्मादयोपि त्रिद
शाः पवनाभ्यासतत्पराः तेन सिद्धिं गतास्तस्मात्पवनमभ्यसेत यावद्बद्धो मरुद्देहे याव
च्चित्तं निरामयं यावद्दृष्टिर्भ्रुवोर्मध्ये तावत्कालभयं कुतः ३९ विधिवत्प्राणसंयामैर्नाडी
चक्रे विशोधिते सुषुम्नावदनं भित्वा सुखाद्विशति मारुतः ४० मारुते मध्यसंचारे मनः
स्थैर्यं प्रजायते यो मनःसुस्थिरीभावः सैवावस्था मनोन्मनी ४१ तत्सिद्धये विधान
ज्ञाः विचित्रान्कुर्वन्ति कुम्भकान् सूर्यभेदनमुज्जायी सीत्कारी शीतली भस्त्रिका भ्रा
मरी मूर्छा केवलप्लावष्टकुम्भकाः ४२ पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालंधराभिधः कुम्भकां

ते रेचकादौ कर्त्तव्यस्तूड्डियानकः ४३ अपानमूर्द्ध्वमुत्थाप्य प्राणं कण्ठादधो नयेत् योगीज
राविमुक्तः सन् षोडशाब्दवया भवेत् ४४ सूर्यभेदनं॥ आसने सुखदे योगी बद्ध्वा चैवास
नं ततः दक्षनाड्या समाकृष्य बहिस्थं पवनं शनैः ४५ आकेशादानखाग्राच्च निरोधा
वधि कुंभकान् ततः शनैः सव्यनाड्या रेचयेत्पवनं पुनः ४६ कपालशोधनं वातदोषघ्नं कृ
मिदोषहं पुनः पुनरिदं कुर्यात्सूर्यभेदमुदाहृतं ४७ उज्जायी॥ मुखं संयम्य नाडीभ्यामा
कृष्य पवनं शनैः यथा लगति कंठात्तु हृदयावधि सस्वनः ४८ पूर्ववत्कुंभयेत्प्राणं रेचयेदि
डया ततः श्लेष्मदोषहरं कंठे देहानलविवर्द्धनं ४९ नाडीजलोदराधातुगतदोषविनाशनं
गच्छता तिष्ठता कार्यमुज्जाय्याख्यं तु कुंभकं ५० अथ सीत्कारः सीत्कां कुर्यात्तथा वक्त्रे घ्राणे
नैव विसर्जयेत् एवमभ्यासयोगेन कामदेवो द्वितीयकः ५१ योगिनीचक्रमान्यः सृ
ष्टिसंहारकारकः न क्षुधा न तृषा निद्रा नैवालस्यं प्रजायते ५२ भवेत्स्वच्छंददेहस्तु

ह. प्र.
८
सर्वेपि स्वेदवर्जितः अनेन विधिना यस्तु पेयूषं द्रोणभिमंडले ५३ रसना तालुमध्येन यः
प्राणं सततं पिबेत् [illegible] भवेत्तस्य सर्वरोगपरिक्षयः ५४ अथ शीतली जिह्वया वा
यु माकृष्य पूर्ववत्कुंभकान्तु शनैस्तु घ्राणरंध्राभ्यां रेचयेदनिलं सुधीः ५५ गुल्मप्लीहा
दिकं वापि ज्वरं पित्तं क्षुधां तृषां विषाणि शीतली नाम कुंभकोयं निहंति वै ५६ अथ भस्त्रिका
ऊर्वोरुपरि संस्थाप्य उभे पादतले तथा पद्मासनं भवेत्सम्यक् सर्वपापप्रणाशनं ५७ स
म्यक्पद्मासनं बध्वा समग्रीवोदरं सुधीः मुखं संयम्य यत्नेन प्राणं घ्राणेन रेचयेत् ५८
अथैवेत्स शरीरस्थं चालयेत्पवनं बलात् यथा लगति हृत्कंठे कपाले सघनं तथा वेगे
न पूरयेत्सम्यक् हृत्पद्मावधिमारुतं ५९ पुनर्विरेचयेत्तद्वत्पूरयेच्च पुनः पुनः यथैव
लोहकाराणां भस्त्रा वेगेन चाल्यते ६० तथैव स्वशरीरस्थं चालयेत्पवनं धिया यथा
श्रमो भवेद्देहे तथा सूर्येण पूरयेत् ६१ यथोदरं भवेत्पूर्णं पवनेन तथा लघु धारये ८

नासिकामध्यतर्जनीभ्यां विनादृढं ६२ कुंभकं सर्ववत्कृत्वा रेचयेदिडयानिलं वातपित्त
श्लेष्महरं शरीराग्निविवर्द्धनं ६३ कुंडलीबोधकं क्षिप्रं पवनं सुखदं हितं ब्रह्मनाडीमु
खे संस्थकफाद्यर्गलनाशनं ६४ सम्यग्गात्रसमुद्भूतग्रंथित्रयविभेदकं विशेषेणै
व कर्तव्यं भस्त्राख्यं कुंभकं त्विदं ६५ अथ भ्रामरी वेगाद्घोषं पूरकं भृंगनादं भृंगीनादं रेच
कं मंदमंदं योगींद्राणामेवमभ्यासयोगाच्चित्ते जाता काचिदानंदलीला ६६ अथ मू
र्छा पूरकांते गाढतरं बध्वा जालंधरं शनैः रेचयेन्मूर्छाख्येयं मनोमूर्छा सुखप्र
दः अंतःप्रवर्तितोदारमारुतापूरितोदरः पयस्यगाधेपि सुखात्प्लवते पद्मपत्रवत्
अथ केवलं प्राणायामस्त्रिधा प्रोक्तो रेचपूरककुंभकैः सहितः केवलश्चेति कुंभको द्वि
विधो मतः ६८ रेचपूरकौ कुर्यात् शनैः सहितकुंभकः यावत्केवलसिद्धिः स्यात्ता
वत्सहितमभ्यसेत् ६९ रेचकं पूरकं मुक्त्वा सुखं यद्वायुधारणं प्राणायामोयमित्युक्तः

हठ. ९

सवेकेवलकुंभकः ७० केवले कुंभके सिद्धे रेचपूरकवर्जिते न तस्य दुर्लभं किंचित्त्रिषु
लोकेषु विद्यते ७१ शक्तः केवलकुंभेन यथेष्टं वायुधारणात् राजयोगपदं चैव लभते ना
त्र संशयः ७२ हठं विना राजयोगो राजयोगं विना हठः न सिध्यति ततो युग्ममानिष्प
त्तिः समभ्यसेत् ७३ कुंभकप्राणरोधांते कुर्याच्चित्तं निराश्रयं एवमभ्यासयोगेन राजयो
गपदं व्रजेत् ७४ कुंभकात्कुंडलीबोधः कुंडलीबोधतो भवेत् अनर्गला सुषुम्ना च हठ
सिद्धिश्च जायते ७५ वपुः कृशत्वं वदने प्रसन्नता नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले अरो
गता बिंदुजयोग्निदीपनं नाडीविशुद्धिर्हठयोगलक्षणं ७६ इति सहजानंदसंतान
चिंतामणिस्वात्मारामयोगिविरचितायां हठप्रदीपिकायां द्वितीयोपदेशः सशैलवनधा
त्रीणां यथाधारोहिनायकः सर्वेषां योगतंत्राणां तथाधारो हि कुंडली १ सुप्ता गु
रुप्रसादेन बोधिता सुखदा भवेत् तथा सर्वाणि पद्मानि भिद्यंते ग्रंथयोपि च २ प्रा ९

णास्य शून्यपदवी तदा राजपथायते तथा चित्तं निरालंबं तथा कालस्य वंचनं ३ शून्य
पदवी चेति शुषुम्णा शून्यपदवी ब्रह्मरंध्रं महापथः श्मशानं शांभवी मध्यमार्गश्चे
त्येकवाचकं ४ तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीं ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्या
सेन बोधयेत ५ महामुद्रा महाबंधो महावेधश्च खेचरी उड्डियाणं मूलबंधो बंधो जा
लंधराभिधः ६ करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनं एतद्धि मुद्रादशकं जरा
मरणनाशनं ७ आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकं वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्ल
भं मरुतामपि ८ गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरंडकं कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुर
तं यथा ९ वज्रोलिममरोलिञ्च सहजोलिस्त्रिधा मतः एतेषां लक्षणं चैव स्वरूपं तत्त्वं च वि
शेषतः १० अथ महामुद्रा पादमूलेन वामेन योनिं संपीड्य दक्षिणं पादं प्रसारितं धृ
त्वा कराभ्यां पदपेन्मुखं कंठे बंधं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः यथा दंडहतः सर्पो दंडाका

हठ. रः प्रजायते ११ ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुंडली सहसा भवेत् तथा सा मरणावस्था जायते
२० द्विपुटाश्रया १२ ततः शनैः शनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रद
र्शिता १३ नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमि
10 व जीर्यते १४ चंद्रांगे तु समभ्यस्य सूर्यांगे तु समभ्यसेत् यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मु
द्रां विसर्जयेत् १५ क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः तस्य दोषाः क्षयं यान्ति महामु
द्रां च योऽभ्यसेत् १५ कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरा नृणां गोपनीया प्रयत्नेन न
देया यस्य कस्यचित् १६ अथ महाबंधः पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नि
योजयेत् १६ वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा १७ पूरयित्वा ततो वायुं हृद
मा ये चिबुकं दृढं निःपीड्य योनिमाकुंच्य मनो मध्ये नियोजयेत् १८ रेचयेच्छनैरेष महा
बंधोऽयमुच्यते अयं खलु महाबंधो महासिद्धिप्रदायकः १९ कालपाशमहाबंधो २०

विमोचनविचक्षणः बन्धं तु सर्वनाडीनामूर्ध्वं गतिनिरोधकः २० त्रिवेणीसंगमं धत्ते
केदारं प्रापयेन्मनः रूपलावण्यसंपन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना महा
मुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ २१ तस्मात्सर्वप्रयत्नेन महावेधं समभ्यसेत्
महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कण्ठमुद्रया २२
समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ संताडयेच्छनैः पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः
२३ सोमसूर्याग्निसंबन्धो जायते चामृताय वै मृतावस्था समुत्पन्ना ततो मरुतमथ
वृतः २४ महावेधोयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः वलीपलितवेपघ्नः सेव्यते
साधकोत्तमैः २५ एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनं वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणि
मादिगुणप्रदं २६ अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने पुण्यसंभारसंधायि पापौ
घभिदुरं सदा २७ सम्यक्शिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनं वह्निस्त्रीपथसे

६६. यानामाद्येवर्जीनमकचोत २८ अथ खेचरी ॐ निवालनदोहैः कलांक्रमेणावर्द्धयेत्साव
११ त पावद्भ्रूमध्यमाक्रम्य तदाखेचरीसिद्धिः २९ स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्नि
ग्धनिर्मलं समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत ३० ततः सैन्धवपथ्याभ्यां चूर्णि
ताभ्यां प्रघर्षयेत पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत ३१ एवं क्रमेण षाण्मासा
न्नित्ययुक्तः समाचरेत षाण्मासैः रसनामूलशिराबन्धः प्रणश्यति ३२ कपालकुहरे जि
ह्वा प्रविष्टा विपरीतगा भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ३३ कलां पराङ्मुखीं
कृत्वा क्षणार्द्धमपि तिष्ठति विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ३४ कलां प
राङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत सा भवेत्खेचरीमुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ३५ र
सनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्द्धमपि तिष्ठति विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः
३६ न रोगो मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा न च मूर्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीं ११

३३ पीड्यतेनचरोगेणलिप्यतेनचकर्मणा बाध्यतेनचकालेनयोमुद्रांवेत्तिखेचरीं
३४ चित्तंचरतिखेयस्मात्जिह्वाचरतिखेगता तेनैषाखेचरीनाममुद्रासिद्धैर्नमस्कृता
३५ खेचर्यामुद्रितोयस्तुविवरंलंबिकोर्ध्वतः तस्यनाक्षरतेबिंदुःकामिन्याश्लेषित
स्यच ३६ पातालेयष्ठितयमुद्रिंमेहमप्येतसंस्पर्शैस्तलैर्वेतस्ववरहितेधीस्तनमुद्रंगमि
त्रगात्रं चंद्रास्तार्कस्वयतिबिंदुर्योगविपश्चिन्नेनिरोधंतद्भ्रूयामध्यमहोन्नामथाम
योनिमुद्रि: ३७ चलितोपियदाबिंदुःसंप्राप्तोयोनिमंडलं व्रजत्यूर्ध्वंहृतःशक्त्यानिबद्धो
योनिबद्धया ३८ रूपान्तरुहोजिह्वाकालसंहारभुद्गया ऊर्ध्वजिह्वःस्थिरोभूत्वासो
मपानंकरोतियः मासार्धेनसंदेहोमृत्युंजयतियोगवित् ३९ नित्यंसोमकला
पूर्णंशरीरंयस्ययोगिनः तक्षकेणापिदष्टस्यविषंतस्यनसर्पति ४० इंधनानियथा
वह्निःतैलवर्तिंचदीपवत् तथासोमकलापूर्णंदेहीदेहंनमुंचति ४१ गोमांसंभ

ह॰ठ॰ त्यं पिबेदमरवारुणीं कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकाः ५२ गोशब्देनोदि
१२ ता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि गोमांसभक्षणं चैतत्तु महापातकनाशनं ५३ जिह्वा
प्रवेशसंभूतवह्निनोत्पादितः खलु चंद्रात्स्रवति यः सारः स स्यादमरवारुणी ५४
मूर्ध्नः षोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठादूर्ध्वास्ये रसनां नियम्य विवरे शक्तिं प
रां चिंतयेत् उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामयं यः पिबेत् निर्व्याधिः समृणालको
मलवपुर्योगी चिरं जीवति ५५ चुंबंती यदि लंबिकाग्रमनिशं जिह्वारसस्यंदिनी
रक्षारा कटुतिक्तदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा व्याधीनां हरणं जरांतकरणं शस्त्रा
गमोदीरणं तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धांगनाकर्षणं ५६ एकं सृष्टिमयं वीजं
एका मुद्रा च खेचरी एको देवो निरालंबो एकावस्था मनोन्मनी ५७ सुषिरं ज्ञानज
नकं पंचस्रोतःसमन्वितं तिष्ठते खेचरीमुद्रा तस्मिन्शून्ये निरंजने ५८ पश्चात्पद्म १२

हितसुखिरंभेन्मृत्युं स्थितं तस्मिंस्तलं प्रवदले सुधीस्तत्सुखं निमृगानां चंद्रसाः
स्त्रवति षडुसैन मृत्युं निराणं तेबधीयात्सकरागमपोनान्यथाक्ताविधिः अथमूल
बंधः पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुंचयेद्गुदं अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबंधोभिधीय
ते ५८ अधोगतमपानं वै ऊर्ध्वगं कुरुते हठात् आकुंचनेन तं प्राहुर्मूलबंधं तु योगिनः
५९ गुदं पार्ष्ण्या तु संपीड्य वायुमाकुंचयेद्बलात् वारंवारं यथा चोर्ध्वं समायाति समी
रणः ५० प्राणापानौ नादबिंदू मूलबंधेन चैकतां गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छते
नात्र संशयः ५१ अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः युवा भवति वृद्धोपि
सततं मूलबंधनात् ५२ अपाने चोर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्निमंडले तथानलशिखा
दीर्घा वर्धते वायुनाहता ५३ ततो यातो वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकं तेना
संताप्रदीप्तोसौ ज्वलनो देहजस्तथा ५४ तेन कुंडलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते ६

ह.ठ.
१३

13

डाहतभुजंगीव निस्वस्य ऋजुतां व्रजेत ५५ विलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यांतरं व्रजेत त
स्मान्नित्यं मूलबंधः कर्तव्यो योगिभिः सदा ५६ अथ उड्यानबंधः बद्धो येन सुषु
म्नायां प्राणस्तु उड्डीयते यतः तस्मादुड्डीयानाख्योयं योगिभिः समुदाहृतः ५७ उड्डी
नं कुरुते यस्मादविश्रांतो महाखगः उड्डीयानं तदेव स्यात्तत्र बंधोभिधीयते ५८
उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं तु कारयेत उड्डीयानो ह्यसौ बंधो मृत्युमातंगकेसरी
५९ उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं तथा अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोपि तरुणाय
ते ६० नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव
न संशयः ६१ सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढं गुल्फदेशसमीपे च कं
दं तत्र प्रपीडयेत ६२ पश्चिमं ताननमुदरे धारयेद्धृदये गले शनैः शनैर्यथा प्रा
णः रंध्रसंधिं न गच्छति ६३ सर्वेषामेव बंधानामुत्तमो ह्युड्डीयानकः उड्डीयाने १३

द्धे बंधे मूलसंज्ञे पाकवृद्धिं भवेत् ६४ अथ जालंधरबंधः कंठमाकुंच्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढमि
त्थं बंधो जालंधराख्योयं जरामृत्युविनाशकः ६५ बध्नाति हि शिराजालमधोगामि
नभोजलं ततो जालंधरो बंधः कंठदुःखौघनाशनः ६६ जालंधरे कृते बंधे कंठसंको
चलक्षणे न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रधावति ६७ कंठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तं
भयेद्ध्रुवं मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबंधनं ६८ बंधत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवि
तं सर्वेषां हठतंत्राणां साधनं योगिनो विदुः ६९ मूलस्थानं समाकुंच्य उड्डियानं तु
कारयेत् इडां च पिंगलां बद्ध्वा वाहयेत्पश्चिमे पथि ७० अधस्तात्कुंचनेनैव कंठसंको
चने कृते मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो मध्यनाडिगः मूलस्थानस्थितो रोधः प्र
याति पवनो लयं अनेनैव विधानेन सेवये पवनो लयं ततो न जायते मृत्युर्ज
रारोगादिकं तथा ७१ अथ विपरीतकरणी यत्किंचित्स्रवते चंद्रादमृतं दिव्यरूपिणां

ह.ठ. तत्सर्वं गुरुसते सर्वस्ते न पिंडं विना शिव ७२ तत्रास्ति परमं दिव्यं सर्वेषां श्रुतवर्धनं ग
१५ रूप देहान्तो होयं न गुणाश्चार्य को विधिः ७३ ऊर्ध्वं नाभि रधस्तालु ऊर्ध्वं भानुरधः शशी क
रणी विपरीता ख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ७४ करणी विपरीता ख्या सर्वव्याधि विना
शिनी नित्यमभ्यास युक्तस्य जठराग्नि विवर्धनी ७५ आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः
साधकस्य तु अल्पाहारो यदि भवेत् अग्निर्दहति तत्क्षणात् ७६ अधः शिरश्चोर्ध्वपादः
क्षणं स्यात्प्रथमे दिने क्षणाच्च किंचिदधिकं अभ्यसेच्च दिने दिने ७७ वलितं पलितं
चैव षण्मासार्धं न दृश्यति याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित् ७८ ग्रथ
परोक्षी स्वेच्छया वर्तमानोपि योगोक्तैर्नियमैर्विना वज्रोलीं यो विजानाति स यो
गी सिद्धिभाजनं ७९ तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित् क्षीरं चैकं द्वितीयं च
नारी च वशवर्तिनी ८० मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुंचनमभ्यसेत् पुरुषोप्यथवा नारी १५

सैयावज्रोलीसिद्धिभाजनं ८१ प्रयत्नतः शस्तेनालेन फूत्कारं वज्रकंदरे शनैः शनैः प्रकुर्वी
त वायुसंचारकारणात् ८२ नारीभगे पतद्बिंदुमभ्यासेनोर्द्ध्वमाहरेत् चलितंतु स्वकंबिं
दुमूर्द्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ८३ एवंतु रक्षयेद्बिंदुं मृत्युंजयति योगवान् मरणंबिंदुपाते
न जीवितं बिंदुधारणात् ८४ सुगंधो योगिनो देहे जायते बिंदुधारणात् यावद्बिंदुः
स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुतः ८५ चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तंतु जीवितं तस्मा
च्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ८६ ऋतुमत्या रजोप्येवं स्त्री बिंदुं च सुरक्षयेत् मे
ढ्रेणाकर्षयेदूर्द्ध्वं सम्यगभ्यासयोगवान् ८७ अयं योगः पुण्यवतां धन्यानां तत्वशालि
नां निर्मत्सराणां सिद्ध्येत् न तु मत्सरशालिनां ८८ सहजोलिश्चामरोलिर्वज्रोल्या भेद एव
यतः जले सुभस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसंभवं वज्रोलीमैथुनादूर्द्ध्वं स्त्रीपुंसोः स्वांग
लेपनं ८९ आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणात् सहजोलिरियं प्रोक्ता सेव

हाथविःस्नातयोस्धारं लिवेक्ष्यते शीतलमध्य ५

९८. ते योगिभिः स्मृता ९० शुक्लो बिंदुस्समायुक्त्वा समभ्यगभ्यासपारधार्न पद्मिनारीरजोरहोत
१५ वज्रोल्यभ्यासे हयोगिनो ९१ तस्माल्लिंगि जो नाशं न गच्छति नरसंशयः स्वपिंडस्तद
जाभ्यैव एवास्य स्वदेहजो ९२ वज्रोल्यभ्यासयोगेन सर्वसिद्धिश्च जायते ९३ वि
तोल्लागलात्पृथमांचधारं सापकास्रिये: षंडमसे: समर्थः ९४ मेहनाकुंचनादूर्ध्वमे
स्तापि हि योगिनी अतीतानागतं धत्ते खेचरी च प्रजायते ९५ देहसिद्धिं च लभते वज्रो
ल्याभ्यासयोगतः अयं पुण्यकरो योगो भोगिनो मुक्तिमुक्तिदिः ९६ तस्मात्तुरायवस्तामे
व अयं योगः प्रसिध्यति ९७ अथ शक्तिचालनं कुटिलांगी कुंडलिनी भुजंगी शक्ति
रीश्वरी कुंडल्यरुंधती चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः ९८ उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुंचिक
या हठात् कुंडलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ९९ येन मार्गेण गंतव्यं ब्रह्मस्था
नं निरामयं मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी १०० कंदोर्ध्वे कुंडलीशक्तिसुप्ता मोक्षा १५

य योगिनां बंधनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित् १ ऊर्ध्वोधिश्शीलद्वीपानां आधारः श्चे
ष कुंडली सुप्ताव योगतेजस्तां आधार कुंडलीतथा मूढानां च योगी २ कुंडली कुटिलाकारा
सर्पवत्परिकीर्तिता सा शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशयः ३ गंगायमुनयोर्मध्ये
बालरंडां तपस्विनी बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदं ४ इडा भगवती गंगा पिं
गला यमुना नदी तन्मध्ये बालरंडा च कुंडली पिंगलेड्योः ५ पुच्छे प्रगृह्य भुजगीं सुप्ताउ
अ द्बोधयेद्दृभिः निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात् ६ अवस्थिता चैव फणावती सा
प्रातश्च सायं प्रहरार्धमात्रं प्रपूर्य सूर्यात्परिधानयुक्त्या प्रगृह्य नित्यं परिचालनीया ७
वितस्ति व मितं दीर्घं विस्तारे चतुरंगुलं मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टनांबरलक्षणं ८
वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा तु कुंडलीं कुर्यादनंतरं भस्त्रां कुंडलीमाशु बोधयेत्
९ भानोराकुंचनं कुर्यात्कुंडलीं चालयेत्ततः मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ९

ह.ठ. नासादृष्टिर्मूर्ध्नि पवनाभ्यासतो निरोधैस्तत्र कुंभकः परिपूरितामृतलतं प्राप्तं हि
१६ कृपाणस्तथा छिद्रे२ बालविशालवन्हि वपाग्ना२ मूर्द्धनाडीगतान् तं कायं पुरतेऽत्र
नेयत हंजीतादिमस्त्वं वत १० कुंडलीबालपिता धकुर्वाहुद्रम्यं विशेतः एवमभ्यासतो
नित्यं यमिनः शंकते यमः ११ तदभ्यासेन सर्वपरं मुक्ताधो चापि शीतली एवमभ्यास
वशात्स्वयम्भूवमप्य यमिनः कृतः १२ कुहस्तैक्यपर्पतं सिद्धिपद्मलनाडसौ ऊर्ध्वमारुह्यते
विचित्सुषुम्णापासपुच्छताः तेन कुंडलिनी तस्मात्सुषुम्णामायाति सकृष्टः रयातितस्मात्सा
तोऽन्यं सुषुम्णापाद्मनिरपराः तस्मात्सैवालयेन्नित्यं सुषुम्णाकामधंधती यत्नात्संवले
पदाभ्यां योगी रोगात्प्रमुच्यते येन संधौ सिता [illegible] सपाणि सिद्धिभाजनं [illegible]
तेन धारां जयति लीलया ब्रह्मचर्यव्रतस्यैव नित्यं संहितामितहारिणः १३ मंडलाद्दृश्यते
सिद्धिः कुंडल्यभ्यासयोगतः अभ्यासे विदुरभ्यासं विपस्यासहमिमप्येत १४ तदारंभे चात्र १६

मंगोद्दिष्टद्दष्टिदृढतयर्वं द्विसप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधनं कुतः प्रक्षालनोपायः कुं
डल्यभ्यासनादृते १५ इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शंभुना एकैका तासु यमिनां म
हासिद्धिप्रदायिनी १६ राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा राजयोगं विना
मुद्रा विचित्रापि न शोभते १७ मारुतस्य विधिं सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत् इतरत्र न कर्तव्या
मनोवृत्तिर्मनीषिणा १८ विलापि मध्यमानाडी दृढाभ्यासेन योगिनां आसनप्राण
संयममुद्राभिः सरला भवेत् १९ अभ्यासनिर्विनिद्राणां राजयोगः समुद्राः इन्द्राणिस
वनमुद्रायन्त्रं सिद्धिं प्रयच्छति २० उपदेशो हि मुद्राणां यो दत्ते सांप्रदायिकः स एव श्री
गुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः २१ तस्य वाक्यपरो भूत्वा मुद्राभ्यासे समाहितः अणि
मादिगुणैः सार्धं लभते कालवंचनात् २२ इति सहजानंदसंतानचिंतामणिस्वात्मारामप
विरचितायां हठप्रदीपिकायां तृतीयोपदेशः नमः शिवाय गुरवे नादबिंदुकलात्मने

ह.दी. १७

निरंजनपदं यान्ति नित्यं तत्र परायणाः १ अथेदानीं प्रवक्ष्यामि समाधिक्रममुत्तमं मृत्यु
घ्नं च सुखोपायं ब्रह्मानन्दकरं परं २ अमनस्कं तथाद्वैतं निरालम्बं निरंजनं जीवन्मुक्ति
श्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचकं ३ सलिले सैन्धवं यद्वत्साम्यं भजति योगतः तथात्मम
नसोरैक्यं समाधिः सोऽभिधीयते ४ राजयोगस्य माहात्म्यं को वा जानाति तत्त्वतः ज्ञा
नं मुक्तिः स्थितिः सिद्धिः गुरुवाक्येन लभ्यते ५ दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनं
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना ६ विविधैरासनैः कुम्भैर्विचित्रैः करणैरपि
प्रबुद्धायां महाशक्तौ प्राणः शून्ये प्रलीयते ७ उत्पन्नशक्तिबोधस्य त्यक्तनिःशेषकर्म
णः योगिनः सहजावस्था स्वयमेव प्रजायते ८ यावन्नैव प्रविशति चरन्मारुतो म
ध्यमार्गं यावद्बिन्दुर्न भवति दृढः प्राणवातप्रबन्धः यावद्ध्याने सहजसदृशं जायते नैव चि
त्तं तावज्ज्ञानं वदति यदिदं दम्भमिथ्याप्रलापः ९ सुषुम्नावाहिनि प्राणे शून्ये विशति मानस ७

ते तथा समत्त्वमौनिनिर्मलायपत्रिमर्मवित १० समतयन्मस्तुमध्ये सोपिकालभया
हतः पतितंवनेयस्यजगदेतस्तुत्वरं ११ शालाखुषुम्णासहृदंस्लावाखुंचमध्यमं
देस्थलासराध्रुवस्थाने प्राणाद्धिरोधयेत १२ स्फूर्पाक्षिंदमसोधत्वादत्वाकारात्मपंज
रे सुषुम्णाख्यंमध्योपाधिःशोभात्त्वयंनिर्थका: १३ हालशक्तिसहस्राणिनाडीनामाति
पंजरे सुषुम्णाख्यंमध्योपाधिः शोभा° १४ वायुःप्रविवितोयस्मात्दृष्टिनासहृत्कुंडलो
ग्रथवित्रांतरेप्पासासस्यात्तीवयोगिना १५ पवनोबध्यतेयेनतेनैवबध्यतेमनः हेतु
द्वयंचवित्तस्यवासनाचसमीरणः १६ द्वयोर्मिलषु एकस्मिन्नहादेषिविनश्यति पवेवनी
पतेवायुस्तत्रैवलीयतेमनः १७ दुग्धांबुवत्संमिलितावुभौ तौ तुल्यक्रियामानससमाहृतौ
हि पतोमस्तत्रैवमनः प्रवृत्तिर्यतोमनस्तत्रमरुत्प्रवृत्तिः १८ एवस्यनाशादपरस्यनाशः स्यात्
देवप्रवृत्तेरपरप्रवृत्तिः ध्वस्तयोर्मेंद्रियवर्गवृत्तिर्विनाशतोमोक्षपदस्यसिद्धिः १९ प्रि

ह॰ तै समत्वमापन्नैर्वायुर्व्रजति मध्यमे । एषा मे लीनवतो लीयते सत्यमभिनयातीव २० स्वा
१२ तं कृत्वा मनः स्थिरीभवति देहे यावत् प्राणोऽपि जीवति मनो म्रियते न तावत् प्राणो म-
18 नो दयापि द्विलयं प्रयाति मोक्षं स गच्छति नेतरो नवं विकल्पः २१ रसस्य मनसश्चैव
चंचलत्वं स्वभावतः । रसो बद्धो मनो बद्धं किं न सिध्यति भूतले २२ मूर्छितो हरते व्या-
धिं मृतो जीवयति स्वयं । बद्धः खेचरतां धत्ते रसो वायुश्च भैरवि २३ वायुमार्गेण संसा-
र स्थलेऽस्मिन्नतो महः । ततो ह्यगुणा मे सर्वं सस मिसा हरांबरः २४ मनः स्थैर्ये स्थिरो
वायुस्ततो बिंदुः स्थिरो भवेत् । बिंदुस्थैर्यात्सदा सत्त्वं पिंडस्थैर्यं प्रजायते २५ इंद्रियाणां
मनो नाथो मनोनाथो हि मारुतः । मारुतस्य लयो नाथस्तं नाथं लयमाश्रयेत् २६ इंद्रियाणां
मनो नाथो मनोनाथस्य मारुतः । मारुतस्य लयो नाथः स लयो नादमाश्रितः २७ सोऽय-
मेवास्तु मोक्षाख्यो मास्तु वापि मतांतरे । मनःप्राणलये कश्चिदानंदः सम्प्रवर्तते २८ प्रन १२

प्रणष्टश्वासनिश्वासाः प्रध्वस्तविषयग्रहाः निश्चेष्टा निर्विकाराश्च लयं यान्ति योगिनः
२९ उच्छिन्नसर्वसंकल्पो निःशेषाशेषचेष्टितः स्वावगम्यो लयः कोपि मनसां वागगोच
रः ३० यत्र दृष्टिर्लयस्तत्र भूतेन्द्रियसनातनः सा शक्तिः सर्वभूतानां द्वे लक्ष्ये लयं गता
३१ वेदशास्त्रपुराणाद्याः सामान्यगणिका इव एकैव शांभवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव ३२
अंतर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता सैषा तु शांभवी मुद्रा सर्वतंत्रेषु गोपिता ३३
अंतर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी यदा वर्तते दृष्ट्या निश्चलतारया बहिरधः पश्यन्नप
श्येत्ततः मुद्रेयं खलु शांभवी भवति सा लब्धा प्रसादाद्गुरोः शून्याशून्यविवर्जितं स्फुरति
यत्तत्त्वं परं शांभवं ३४ श्रीशांभव्याश्च खेचर्या अवस्थाधामभेदतः तारज्योतिषि संयो
ज्यापि किंचिदुन्नमयेद्भ्रुवौ पूर्वयोगस्य मार्गोयमुन्मनीकारकः क्षणात् केचिदागमयोगेन केचि
न्निगमसंकुलैः केचित्तर्केण मुह्यन्ति नैव जानन्ति तारणं अर्धोन्मीलितलोचनः स्थिर

ह. १९

रमनानासाग्रहृद्वैतहृताग्रं द्वाकीवपिलीनतामुपनयेत्त्रिहि प्यनासोतरे ज्योतीरूपम
प्रोपवानल एहितं दे दीप्यमानं परं ततत्वं तस्य मेतिय स्तुपामेवा चंद्विमन्नाधिवं २२
प्रीषहतांभप्रा: तेच वर्णस्त्रिवस्थातुनमेदत: तागज्योतिषिसंपूज्यविंविद्वालये
भुवो २३ पातालास्यहृपतिष्ठविंमेहमलेतदस्तितत्वंवेततत्रवदतिसुधीस्तन्मुदं
निस्तगानां चंद्रात्सात्प्रवतिवशुषस्तेनमहस्त्रुभ्राणांतंवध्रीपास्वरूपमहलानाना
थाकाप्रसिद्धि: २४ श्रीआदिनाथेनसपादकोटिः लयःप्रकाराःकथितानर्पते ना
दानुसंधानमेकमेवकार्यमन्यामहेमान्यतमंलयानां २५ मनुपादहस्तितोकुर्यानादमे
व स्वमेकधीः कालेप्रवर्तितोवन्हिःकाष्ठेनसहशाम्यति २६ नादप्रवर्तितं चित्तं ना
देनसहलीयते विस्मृत्य सकलं बाह्यं नादे दुग्धांबुवन्मनः २७ एवमभ्यस्यमानस्य
लाविनाकालविलीयते उदासीन्यपरोभत्वासदाभ्यासेनसंयमी २८ उन्मनीक १९

णः सघोनादस्मे यावधारयेत् कीदृशमेहासीत्वं २९ शीतकाले चैव परीया परीवा पथ्या तो
गे मये चापथ्योवा भोजयेभिक्षान्नं दमत्यपवेदं वातीतोड्डुलिको पिताभोज्यपात्रे ३० सर्वचि
न्तां परित्यज्य सर्वकाले च सर्वदा नादमेवानुसंधत्ते नादे चित्ते विलीयते ३१ आरंभश्च
घटश्चैव तथा परिचयस्तथा निष्पत्तिः सर्वयोगेषु योगावस्था प्रकीर्तिता ३२ ब्रह्मग्रंथि
र्भेदे छिन्ने आनंदः शून्यसंभवः विचित्रः क्वणको देहे अनाहतः श्रूयते ध्वनिः ३३ संपूर्णहृ
२५ दयः शून्ये आरंभे योगवान् भवेत् ३३ अथ घटावस्था द्वितीयायां घटीकृत्य वायुर्भवति
मध्यगः दृढासनो भवेद्योगी ज्ञानी देवसमस्तथा ३४ विष्णुग्रंथिर्यदा भिन्ना परमानं
दसूचकः अतिशून्ये विमर्दश्च भेरीशब्दस्तदा भवेत् ३५ अथ परिचयः महाशून्यं
तदा याति सर्वसिद्धिः समाश्रयं चित्तानंदं ततो जित्वा सहजानंदसंभवः ३६ दोषदुः
खजरामृत्युक्षुधानिद्राविवर्जितः रुद्रग्रंथिं ततो भित्त्वा सर्वपीठगतो निशः ३७ अथ नि

ह.र. ष्यन्त्यावस्था निष्पत्तौ वैणवः शब्दः क्वणन्वीणाक्वणो भवेत् एकीभूतं तथा चित्तं राजयोगा
२० भिधायकं ३८ सृष्टिसंहारकर्त्तासौ योगीश्वरसमो भवेत् अस्तु वा मास्तु वा मुक्तिरत्रैवा
खण्डितं सुखं महत् ३९ लयोद्भवमिदं सौख्यं राजयोगादवाप्यते हठं विना राजयोगो राजयोगं
विना हठः ५० येवं निश्चितता मन्यप्रयासफलवर्जिता ५१ तत्त्वबीजं हठं क्षेत्रमौदासी
न्यं जलं स्मृते ५१ उन्मनी कल्पलतिका सद्य एव प्ररोहति ५२ राजयोगः समाधिश्च उ
न्मनी च मनोन्मनी अमरत्वं लयस्तत्त्वं निरालंबं निरंजनं ५३ अमनस्कोल्पमेवम
न्यामन्यपरं पदं जीवन्मुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचकं ५४ तत्त्वं परमसो ... नादो
पासनमेव वा सोऽयं प्रविशति ... तानां मूढानामपि संमतं ५५ नादानुसंधानसमाधि
भाजां योगीश्वराणां हृदये प्ररूढे आनन्दमेकं वचसामगम्यं जानाति तं श्रीगुरुनाथ ए
व ५६ सर्वचिन्तां परित्यज्य सावधानेन चेतसा नाद एवानुसंधेयो योगसाम्राज्यमिच्छता २०

४७ कर्णौ पिधाय हस्ताभ्यां यः शृणोति ध्वनिं मुनिः तत्र चित्तं स्थिरीकुर्याद्यावत्स्थिरपदं व्रजे-
त् ४८ अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्यमावृणुते ध्वनिं पक्षाद्विक्षेपमखिलं जित्वा योगी सु-
खी भवेत् ४९ श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो महान् वर्धमाने ततोऽभ्यासे श्रूयते
सूक्ष्मसूक्ष्मतः ५० अंते तु किंकिणीवंशवीणाभ्रमरनिःस्वनः इति नानाविधा नादाः श्रूय-
न्ते देहमध्यगाः ५१ महति श्रूयमाणेऽपि मेघभेर्यादिके ध्वनौ तत्र सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नाद-
मेव परामृशेत् ५२ घनमुत्सृज्य सूक्ष्मं वा सूक्ष्ममुत्सृज्य वा घनं रममाणमपि क्षिप्तं मनो
नान्यत्र चालयेत् ५३ यत्र कुत्रापि वा नादे लगति प्रथमं मनः तत्रैव तत्स्थिरीभूत्वा तेन सा-
र्धं विलीयते ५४ मकरंदं पिबन्भृंगो गंधं नापेक्षते यथा नादासक्तं तथा चित्तं विषया-
न्न हि कांक्षति ५५ मनः पारदवद्याति निरालंबाख्यघोरतां नादश्रवणतो चित्तमंतरं-
गभुजंगमाः ५६ संस्मृत्य सर्वमेकाग्रं कुत्रचिन्न हि धावति मनोमत्तगजेंद्रस्य विषयोद्यान-

ह॰ठ॰ वारितः ५७ निःपथेन समर्थोयं निनादो निर्मितां कुरुताः नादो यावत्स्थिरतो निस्पन्दवदायाप ज्योतिः
२१ विक्रमिनः ५८ घंटादिनादसक्तस्य शब्दांतःकरणस्य तु यथा हतस्य प्रादुस्यतस्य प्राद्
21 स्यपेक्षितः ५९ घ्राणेंद्रियगतं ज्योतिरंतर्गतं मनः तन्मनो विलयं याति तद्विष्णोः परमं
पदं ६० तावदाकाशसंकल्पो यावच्छब्दः प्रवर्तते निःशब्दं परमं ब्रह्म परमात्मा समीयते
६१ यत्किंचिन्नादरूपेण श्रूयते शक्तिरेव सा यस्तत्त्वान्तो निराकारः स एव परमेश्वरः ६२
सर्वचिन्तासमुत्पन्नानां निरोधनं चैवयत्नतः शुद्धसुषुम्नाशरणे स्फुरन्मनसि लभ्यते नादः
६३ कालाग्नौ ब्रह्मसंयोगजन्मा रमंते गतं स्मरणु गमनं संदधोधायाप्यादिनाथोदितं वचः ६४
पवनेन त्रिविशति नचारस्तानप्यमार्गे वायुहृद्गुर्भवति ६४ प्राणवातः प्रबद्धः प
यो मासहस्रदशोजापते नैव तत्वं तावत्सर्वं यदि तिपदिदं ६ मिथ्या प्रलापः ६५
यावत्सुषुम्ना ते देहि स्तावत्पंचमध्यगं त्वा तावत्सर्वं स्थाने प्राणांधं निरंधपेत २१

६६ इडायां पिंगलायां च चरतश्चन्द्रभास्करौ चंद्रस्तामसस्स्मृतः सूर्यो राजस उच्यते ६७
तावदेव धनः सर्वलोकानां त्रिदिवात्मके योगी सुषुम्ना कालस्य गुह्यमेतदुदाहृतं ६८
तथाहि वेपडनाम एवं स्मोल चतुष्टय षट्चक्रं षोडशाधारं त्रिधारा स्वं गलत्रयम् ६९
शेषस्तत्र स्थितो विस्तारं बिन्दुरूपं परं पदं कुंडलीभुक्ति लाभात्सर्वदेवमये स्थिता साच
क्षिस्वाललितायेन सषुक्रे नात्र संशयः ७० द्वासप्ततिसहस्राणि नाडीद्वाराणि पंजरे सुषु-
म्ना शाम्भवी शक्तिः शेषास्त्वेव निरर्थकाः ७१ सुषुम्नायां हि निश्चलो सिद्धेरेव मनोन्म-
नी अन्यथा विविधाभ्यासाः प्रयासायैव योगिनां ७३ पवनो बध्यते येन मनस्तेनैव बध्-
यते मनस्तु बध्यते येन पवनस्तेन बध्यते ७४ हेतुद्वयं हि मनसो वासना च समीरणः
तयोर्विनष्ट एकस्मिन् तौ द्वावपि विनश्यतः ७५ मनो यत्र विलीयेत पवनस्तत्र लीयते
पवनो लीयते यत्र मनस्तत्र विलीयते ७६ दुग्धाम्बुवत्संमिलितौ तथैव तुल्यक्रियौ मा

ह० २२

न समाधौ च यावन्न वसत्व्रमरुत्प्रवृत्तिः यावन्मनस्यापि मनः प्रवृत्तिः ७७ तत्रैव च ना
शाद्वचस्य नाशः एवं प्रवृत्तेः परां प्रवृत्तिः यथा ध्यानयोगेन द्विपवर्गशुद्धिः विधिस्तयो
र्मेलनयत्न्यसिद्धिः ७८ यावद्ब्रह्मार्गलं वा सवलं लभते महीं तथा ब्रह्मरन्ध्रं
यत्संस्थस्य प्राणाने ७९ विश्वरूपावाप्तिः यथा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रली
यते तथा समरसत्वं च समाधिः सोऽभिधीयते ८१ कर्पूरमनले यद्वत्सैन्धवं स
लिले यथा तथा संधीयमानं तु मनस्तत्त्वे विलीयते ८२ मनःस्थैर्ये स्थिरो वा
युस्ततो बिन्दुः स्थिरो भवेत् बिन्दुस्थैर्यात्सदा सत्त्वं पिण्डस्थैर्यं प्रजायते ८३ दृष्टिः स्थिरा
यस्य विनैव बोधं वायुः स्थिरो यस्य विना प्रयत्नात् चित्तं स्थिरं यस्य विनावलम्ब
नात् स एव योगी स गुरुः स सेव्यः ८४ प्रबोधो निर्गमे वायुर्मरुत्ते वायुर्देहमध्यगः
न यस्य वायुर्देहस्थः स युक्तो नात्र संशयः ८५ सर्वे लयहठाभ्यासा राजयोगस्य सि २२

ह॰ २३ ध्येये राजयोगसमारूढः [illegible] कालवञ्चकः ८६ इति [illegible] योगशास्त्र [illegible] परिम
[illegible]
इति श्रीमद्गुरुसहजानन्दसन्तानचिन्तामणिस्वात्मारामयोगीन्द्रविरचितायां हठप्रदीपिकायां च
तुर्थोपदेशः ॥ श्रीरस्तु श्रीरामाय नमः श्रीगणेशाय नमः ॥

९३

२३

के

प्रस्तारछन्ददीपिकाकीपत्र २३
रामचंद्रकृतोवैद्यनाथस्य

स्तो
४२५

No. ४३८३

Title हठ प्रदीपिका

Author श्री स्वात्मा रामः

Extent २३ Age १

Subject योगशास्त्रं

हठप्रदीपिका

४३८३

पुराण

पुस्तकमिदं पाठको
पाद्वै घनश्यामर्मणः

ह॰प्र॰ १ श्रीगणेशाय नमः श्रीआदिनाथाय नमोस्तु तस्मै येनोपदिष्टा हठयोगविद्या विराजते
प्रोन्नतराजयोगमारोढुमिच्छोरधिरोहिणीव १ प्रणम्य श्रीगुरुं नाथं स्वात्मारामेण
योगिना केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते २ भ्रांत्या बहुमतध्वांते राजयोगम
जानतां हठप्रदीपिकां धत्ते स्वात्मारामः कृपाकरः ३ हठविद्यां महाविद्यां गोरक्षाद्या
विजानते स्वात्मारामोथवा योगी जानीते तत्प्रसादतः ४ श्रीआदिनाथमत्स्येंद्रशाब
रानंदभैरवाः चौरंगीमीनगोरक्षविरूपाक्षबिलेशयाः ५ मंथानो भैरवो योगी सिद्धिर्बु
द्धश्च कंथडिः कोरंटकः सुरानंदः सिद्धपादश्च चर्पटिः ६ कानेरी पूज्यपादश्च नि
नाथ ३ त्यनाथो निरंजनः कपाली बिंदुनाथश्च काकचंडीश्वराह्वयः ७ अल्लामः प्रभुदेवश्च
घोडाचोलीच टिंटिणिः वालुकी नारदेवश्च खंडः कापालिकस्तथा ८ इत्यादयो म
हासिद्धा हठयोगप्रभावतः खंडयित्वा कालदंडं ब्रह्मांडे विचरंति ते ९ अशेषताप ।१।

तप्तानांसमाश्रयमठोहठः अशेषयोगयुक्तानामाधारकमठोहठः १० हठविद्यापरंगोप्या
योगिनासिद्धिमिछता भवेद्वीर्यवतीगुप्तानिर्वीर्यातुप्रकाशिता ११ सुराज्येधार्मि
केदेशेसुभिक्षेनिरुपद्रवे धनुःप्रमाणपर्यंतंशिलाग्निजलवर्जिते एकांतमठिका
मध्येस्थातव्यंहठयोगिना १२ अल्पद्वारमरंध्रगर्तविवरंनात्युच्चनीचायतंसम्यग्गो
मयसांद्रलिप्तममलंनिःशेषबाधोज्झितं बाह्येमंडपवेदिकूपरुचिरंप्राकारसंवेष्टितं
प्रोक्तंयोगमठस्यलक्षणमिदंसिद्धैर्हठाभ्यासिभिः १३ एवंविधेमठेस्थित्वासर्वचिं
ताविवर्जितः गुरूपदिष्टमार्गेणयोगमेवसदाभ्यसेत १४ अत्याहारःप्रयासश्चप्र
जल्पोनियमग्रहः जनसंगश्चलौल्यंचषड्भिर्योगोविनश्यति १५ उत्साहात्सा
हसाद्धैर्यात्तत्त्वज्ञानाच्चनिश्चयात् जनसंगपरित्यागात्षड्भिर्योगःप्रसिध्यति १६
हठस्यप्रथमांगत्वादासनंपूर्वमुच्यते कुर्यात्तदासनंस्थैर्यमारोग्यंचांगलाघवं १७

ह॰प्र॰ २

वसिष्ठाद्यैश्च मुनिभिर्मत्स्येंद्राद्यैश्च योगिभिः अंगीकृतान्यासनानि कथ्यंते कानिचिन्मया
१८ जानूर्वोरंतरे सम्यक्कृत्वा पादतले उभे ऋजुकायः समासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते
१९ सव्ये दक्षिणगुल्फं तु पृष्ठपार्श्वे नियोजयेत् दक्षिणेपि तथा सव्यं गोमुखं गोमुखं तथा
२० एकं पादमथैकस्मिन्विन्यस्योरुणि संस्थितं इतरस्मिंस्तथा चोरुं वीरासनमितीरि-
तं २१ गुदं निरुध्य गुल्फाभ्यां व्युत्क्रमेण समाहितः कूर्मासनं भवेदेतदिति योगविदो विदुः
२२ पद्मासनं तु संस्थाप्य जानूर्वोरंतरे करौ निवेश्य भूमौ संस्थाप्य व्योमस्थं कुक्कुटास-
नं २३ कुक्कुटासनबंधस्थो दोर्भ्यां संबध्य कंधरां भवेत्कूर्मवदुत्तान एतदुत्तानकूर्मकं २४
तु
पादांगुष्ठौ तु पाणिभ्यां गृहीत्वा श्रवणावधि धनुराकर्षणं कुर्याद्धनुरासनमुच्यते
२५ वामोरुमूलार्पितदक्षपादं जानोर्बहिर्वेष्टितवामपादं प्रगृह्य तिष्ठेत्परिवर्तितांगं
श्रीमत्स्यनाथोदितमासनं स्यात् २६ मत्स्येंद्रपीठं जठरप्रदीप्तं प्रचंडरुग्मंडलखंडनास्त्रं २

भ्यासतः कुंडलिनीप्रबोधं दंडस्थिरत्वं च ददाति पुंसां २७ प्रसार्य पादौ भुवि दंडरूपौ दो
र्भ्यां पदाग्रद्वितयं गृहीत्वा जानूपरिन्यस्तललाटदेशो वसेदिदं पश्चिमतानमाहुः
२८ इति पश्चिमतानमासनाग्र्यं पवनं पश्चिमवाहिनं करोति उदयं जठरानल
स्य कुर्याद् उदरे कार्श्यमरोगतां च पुंसां २९ धरामवष्टभ्य करस्थलाभ्यां तत्कूर्परस्था
पितनाभिपार्श्वः उच्चासनो दंडवदुत्थितः स्यान्मायूरमेतत्प्रवदंति पीठं ३० हरति स
कलरोगानाशु गुल्मोदरादीनभिभवति च दोषानासनं श्रीमयूरं बहुकदशनभुक्तं भ
स्म कुर्यादशेषं जनयति जठराग्निं जारयेत्कालकूटं ३१ उत्तानं शववद्भूमौ शवं स्याति व
२ वा पाद्यो: शवासनं श्रांतिहरं चित्तविश्रांतिकारकं ३२ चतुराशीत्यासनानि शिवेन क
थितानि तु तेभ्यश्चतुष्कमादाय सारभूतं ब्रवीम्यहं ३३ सिद्धं पद्मं तथा सिंहं भद्रं चेति च
तुष्टयं श्रेष्ठं तत्रापि च सुखे तिष्ठेत्सिद्धासने सदा ३४ योनिस्थानकमंघ्रिमूलघटि

न१

ह॰ ठ॰ २

तंदृढत्वाद्दृढंविन्यसेतमेढ्रेपादमथैकमेवहृदयेकृत्वासमंस्थिरन्हं स्थाणुःसंयमितेन्द्रियो
चलदृशोपश्यन्भ्रुवोरंतरं चैतन्मोक्षकपाटभेदजनकंसिद्धासनंप्रोच्यते ३५ मतांतरे
मेढ्रादुपरिविन्यस्यसव्यंगुल्फंतथोपरि गुल्फांतरंचनिक्षिप्यसिद्धाःसिद्धासनंविदुः
३६ एतत्सिद्धासनंप्राहुरन्येवज्रासनंविदुः मुक्तासनंवदंत्येकेप्राहुर्गुप्तासनंपरे ३७
यमेष्विवमिताहारःअहिंसानियमेष्विव तथासर्वासनेषुस्थैसिद्धाःसिद्धासनंविदुः
३८ चतुराशीतिपीठेषुसिद्धमेवसदाभ्यसेत द्वासप्ततिसहस्रेषुषुषुम्णाइवनाडिषु
३९ आत्मध्यायीमिताहारीयावद्द्वादशवत्सरं सदासिद्धासनाभ्यासातयोगनिष्पत्ति
माप्नुयात ४० किमन्यैर्बहुभिःपीठैःकिंसदासिद्धेनेनतु प्राणानिलेसावधानेबद्धेकेवल
कुंभके ४१ उत्पद्यतेनिरायासातस्वयमेवमनोन्मनी तथैकस्मिन्नेवदृढंवद्धेसिद्धास
नेतथा ४२ बंधत्रयमनायासात्स्वयमेवोपजायते नचासनंसिद्धसमंनकुंभसदृशो २

५ द्वासप्ततिसहस्राणांनाडीनांमलशोधनं

ऽनिलः नवैव तिसमाख्यानं नाद्दस दशोत्तमं ५३ अथ पद्मासनं वामोरूपरि दक्षिणं
च चरणं संस्थाप्य वामं तथा याम्योरूपरि पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढं अंगुष्ठौ
हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकयेदेतद्व्याधिविकारनाशनकरं पद्मासनं प्रोच्यते
५४ मतांतरे उत्तानौ चरणौ कृत्वा ऊरुसंस्थौ प्रयत्नतः ऊरुमध्ये तथोत्तानौ पाणी
कृत्वा तु तादृशौ ५५ नासाग्रे विन्यसेद्राजदंतमूलं च जिह्वया उत्तम्य चिबुकं वक्षः स्थाप
येत्पवनं शनैः ५६ इदं पद्मासनं प्रोक्तं सर्वव्याधिविनाशनं दुर्लभं येन केनापि धीमता
लभ्यते ५७ कृत्वा संपुटितौ करौ दृढतरं बध्वा तु पद्मासनं गाढं वक्षसि संनिधाय
चिबुकं ध्यानं च तच्चेतसि वारं वारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोत्सारयन्पूरितं न्यंचन्प्राणमुपैति बो
धमतुलं शक्तिप्रभावान्नरः ५७ पद्मासने स्थितो योगी नाडीद्वारेषु पूरयेत् मारुतं धा
रयेद्यस्तु स मुक्तो नात्र संशयः ५८ अथ सिंहासनं गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पा

ह.प्र.
४

र्श्वयोः क्षिपेत् दक्षिणे सव्यगुल्फं तु दक्षगुल्फं तु सव्यके ४९ हस्तौ जान्वोस्तु संस्थाप्य स्वांगु
लीः संप्रसार्य च व्यात्तवक्त्रो निरीक्षेत नासाग्रं सुसमाहितः सिंहासनं भवेदेतत् पूजितं
योगिपुंगवैः ५० अथ भद्रासनं गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् स
व्यगुल्फं तथा चैव सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् पार्श्वपादौ च पाणिभ्यां दृढं बद्ध्वा सुनिश्च
लं ५१ भद्रासनं भवेदेतत् सर्वव्याधिविनाशनं गोरक्षासनमित्याहुरिदं वै सिद्धयोगिनः
५२ एवमासनबंधेषु योगींद्रो विगतश्रमः अथाभ्यसेन्नाडिशुद्धिं मुद्रादिपवनक्रि
याः ५३ क्रियायुक्तस्य सिद्धिः स्यादक्रियस्य कथं भवेत् न शास्त्रपाठमात्रेण योगसि
द्धिः प्रजायते ५४ न वेषधारणं सिद्धेः कारणं न च तत्कथा क्रियैव कारणं सिद्धेः सत्य
मेतन्न संशयः ५५ [illegible] आसनं कुंभकं चित्रं मुद्रा
ख्यं करणं तथा अथ नादानुसंधानमभ्यासानुक्रमो हठे ५६ ब्रह्मचारी मिताहारी त्यागी यो ४

गी योगपरायणः अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्र कार्या विचारणा ५५ सुस्निग्धमधुराहार
श्चतुर्थांशविवर्जितः भुज्यते शिवसंप्रीत्यै मिताहारः स उच्यते ५६ कट्वम्लतीक्ष्णल
वणोष्णहरीतशाकसौवीरतैलतिलसर्षपमत्स्यमद्यं अजादिमांसदधितक्रकुल
त्थकोलपिण्याकहिङ्गुलशुनादिमपथ्यमाहुः ५७ भोजनमहितं विद्यात्पुनरप्युष्णी
कृतं तथा रूक्षं अतिलवणमम्लयुक्तं कदशनशाकोत्कटं वर्ज्यं ५८ वर्जयेद्दुर्जनप्रीतिं
वह्निस्त्रीपथिसेवनं प्रातःस्नानोपवासादिकायक्लेशविधिं त्यजेत ५९ गोधूमशालि
यवषष्टिकशोभनान्नं क्षीराज्यखण्डनवनीतसितामधूनि शुण्ठीपटोलकफलादिकपञ्च
शाकं मुद्गादिदिव्यमुदकं च यमीन्द्रपथ्यं ६० पुष्टं सुमधुरं स्निग्धं गव्यं धातुप्रपोषणं
मनोभिलषितं योग्यं योगी भोजनमाचरेत ६१ युवा वृद्धोऽतिवृद्धो वा व्याधितो दुर्व
लोऽपि वा अभ्यासात्सिद्धिमाप्नोति सर्वयोगेष्वतन्द्रितः ६२ पीठानि कुम्भकाश्चित्राः दि

ण्यानि करणानि च सर्वेण्यपि हठाभ्यासाद्राजयोगफलावधि ६९ इति सहजानंदसंता
नचिंतामणिस्वात्मारामविरचितायां हठप्रदीपिकायां प्रथमोपदेशः ॥ अथासने दृढे
योगी वशी हितमिताशनः गुरूपदिष्टमार्गेण प्राणायामं समभ्यसेत् १ चले वा
ते चलं चित्तं निश्चले हृदबंधनं योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत् २ याव
द्वायुः स्थितो देहे तावज्जीवनमुच्यते मरणं तस्य निष्क्रांतिस्ततो वायुं निरोधयेत ३
मलाकुलासु नाडीषु मारुतो नैव मध्यगः कथं स्यादुन्मनीभावः कार्यसिद्धिः कथं भवेत
शुद्धमेति यथा सर्वं नाडीचक्रं मलाकुलं तथैव जायते योगी प्राणसंग्रहणक्षमः ५
प्राणायामं ततः कुर्यान्नित्यं सात्विकया धिया यथा सुषुम्नानाडीस्था मलाः शुद्धिं प्रयां
ति च बद्धपद्मासनो योगी प्राणं चंद्रेण पूरयेत धारयित्वा यथाशक्ति भूयः सूर्येण रेचये
त ६ प्राणं सूर्येण चाकृष्य पूरयेदुदरं शनैः विधिवत्कुंभकं कृत्वा पुनश्चंद्रेण रेचयेत ७

तेनत्यजेत्तेनापूर्य धारयेदतिरोधतः रेचयेच्च ततोन्येन शनैरेव न वेगतः ८ प्राणंचेदि
डयापिबेन्नियमितं भूयोन्यया रेचयेत्पीत्वा पिंगलया समीरणमथो बध्वा त्यजेद्वामतः
सूर्याचंद्रमसोरनेन विधिनाभ्यासं सदा तन्वतां शुद्धा नाडिगणा भवंति यमिनां मा
सत्रयादूर्ध्वतः ९ प्रातर्मध्यंदिने सायमर्धरात्रे च कुंभकान् शनैरशीतिपर्यंतं चतुर्वा
रं समभ्यसेत् १० कनीयसि भवेत्स्वेदः कंपो भवति मध्यमे उत्तिष्ठत्युत्तमे प्राणो बद्धप
द्मासने हठे ११ जलेन श्रमजातेन गात्रमर्दनमाचरेत् दृढता लघुता चापि तेन गात्रस्य
जायते १२ अभ्यासकाले प्रथमे शस्तं क्षीराज्यभोजनं ततोभ्यासे दृढीभूते न तादृङ्नि
यमग्रहः १३ यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैः शनैः तथैव सेवितो वायुरन्यथा
हंति साधकं १४ प्राणायामेन युक्तेन सर्वरोगपरिक्षयः अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोग
समुद्भवः १५ युक्तं युक्तं त्यजेद्वायुं युक्तं युक्तं च पूरयेत् युक्तं युक्तं च बध्नीयादेवं सिद्धिम

ह.प्र. वाप्नुयात १६ हिक्का श्वासश्च कासश्च शिरःकर्णाक्षिवेदनाः भवंति विविधा दोषाः पवनस्य
२ अतिक्रमात १७ यदा तु नाडीशुद्धिः स्यात्तदा चिह्नानि बाह्यतः कायस्य कृशता कांतिस्त
था जायेत निश्चितं १८ यथेष्टं धारणं वायोरनलस्य प्रदीपनं नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जाय
ते नाडिशोधनात १९ मेदःश्लेष्माधिकः पूर्वं षट्कर्माणि समाचरेत अन्यथा नाचरेत्तानि
२५ दोषाणां समभागतः २० धौतीवस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा कपालभाती चैता
नि षट्कर्माणि प्रचक्ष्यते २१ कर्मषट्कमिदं गोप्यं घटशोधनकारकं विचित्रगुणसंधायि प
ज्यते योगिपुंगवैः २२ अथ धौती चतुरंगुलविस्तारं हस्तपंचदशायतं गुरूपदिष्टमार्गे
ण सिक्तं वस्त्रं शनैर्ग्रसेत २३ पुनः प्रत्याहरेच्चैतदुदितं धौतिकर्म तत २३ कासश्वा ८
सप्लीहकुष्ठं कफरोगाश्च विंशतिः धौतिकर्मप्रभावेण यांत्येव न संशयः २४ उदरगत
पदार्थमुद्वहंती पवनमपानमुदीर्य कंठनाले क्रमपरिचयवश्यनाडिचक्रा गजकरणी ६

तिमिरग्रुपतेहरे[illegible] २५ अथयवक्षारकर्म नागमिदम्भ्रुजेरोपाणुप्रसन्ननाशोनलरास्नः श्रा
धागसुंवनंकुपाद्यपाभाद्धक्षारकर्मविर २६ उलमङ्गेहोदरंघाविवातपित्तकफोद्भवं व
स्निकर्मप्रभावेनवार्यतेसकलामयाः २७ धान्निपिण्डितः करणाप्रसादद्द्यथञ्चत्तितिरहन्
प्रदीप्तिं अप्टेषुदोषोपद्रवंनिहन्यात्अथस्वमानंविलवक्षारकर्म २८ अथनेत्रकर्म
सत्रेवित्ततिपुष्टिमूर्धन्नासानालेप्रवेपाद्येर पुखान्निराममपेतनादिनेत्तिसिद्धेर्निगद्यते
२९ कपालपीठधनीवैवपद्धिघ्रहृष्टिवृहफिनी पत्त्रर्धीजातरोगोयंजपंस्तासस्तुंविकृता ३०
अथधारहयं निरीहुनिम्फलदशासन्मलत्वसमाहितः अमुसेपत्तपर्वतमाचूवाहार्कम
तं ३१ मोचनंनेत्रैतेगातांतंशाहीनांवपाटयं पत्रेतस्त्राहयंगोधुंपथाहारकपाठयं ३२
अथनेत्रति श्रामंहृयत्तवेगेनतुरंसव्यापसव्ययोः पाकशोधामपदोषानेत्तिगोली प्रय
द्वये ३३ मंदाग्निसंदीपनपाचनादिविधापिकर्मदकीतथेव अदोषवेतघामपशोध

हर. णीचकृत्यश्रियापोल्लिचिवंहितेली ३४ पृथक्पयातमाती मन्त्रिवलोहस्तारातां देवैः परैः
पुरस्कृमे: कृपालमाती विस्थातानुपहतो यविहितो वगीं ३५ यद्दृमिथ्यिगतस्थोत्स्य
कृमेहेमदाधिकः शारमायामंततः कुर्पुदेना पालेन सिध्यति ३६ प्रालापामेदेवस
र्वैत्र स्पृष्यति मलानुलं श्राचार्यांणांचवेक्षांविदनपलमन्त्रसंमतं ३७ अस्तादयोपिचित्र
शाः पवनाभ्यासतत्पराः तेनसिद्धिंगतस्तेऽस्मात्सयत्नमभ्यसेत् पावद्देहमहर्द्देहेयाव
च्चित्तंस्थिरमयं यावद्दृष्टिर्योगमध्येतावत्कालपर्यन्तुतः ३९ विधिवत्प्राणसंयामेर्नाडी
चक्रेविशोधिते सुषुम्नावदनंभित्वा सुखाद्विशति मारुतः ४० मारुतेमध्यसंचारेमनः
स्थैर्यंप्रजायते यौमनःसुस्थिरीभावः सेवावस्थामनोन्मनी ४१ तत्सिद्धयेविधान
ज्ञाः चित्रान्कुर्वन्तिकुंभकान् सर्वभेदनमुद्रापीतत्वाभीत्कारशीतलीमन्त्रिकान्ता
मरीमूर्छाकेवलःकाबहुकुंभकाः ४२ पूरकोतेकुर्वकर्तव्यो बंधोजालंधराभिधः कुंभका ७

तेस्वेव काले कर्त्तव्यस्सूड्पाणाकः ४३ अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्राणं कण्ठादधो नयेत योगीज
राविमुक्तस्सन् षोडशाब्दवयो भवेत ४४ सूर्यभेदनं ॥ आसने सुखदे योगी बद्ध्वा चैवास
नं ततः दक्षनाड्या समाकृष्य बहिस्थं पवनं शनैः ४५ आकेशादानखाग्राच्च निरोधा
वधि कुम्भकान् ततः शनैः सव्यनाड्या रेचयेत्पवनं शनैः ४६ कपालशोधनं वातदोषघ्नं कृ
मिदोषहृत् पुनः पुनरिदं कुर्यात्सूर्यभेदमुदाहृतं ४७ उज्जायी ॥ मुखं संयम्य नाडीभ्यामा
कृष्य पवनं शनैः यथा लगति कण्ठात्तु हृदयावधि सस्वनः ४८ पूर्ववत्कुम्भयेत्प्राणं रेचयेदि
डया ततः श्लेष्मदोषहरं कण्ठे देहानलविवर्धनं ४९ नाडीजलोदराधातुगतदोषविनाशनं
गच्छता तिष्ठता कार्यमुज्जाय्याख्यं तु कुम्भकं ५० अथ सीत्कारः सीत्कां कुर्यात्तथा वक्त्रे घ्राणे
नैव विजृम्भिकां एवमभ्यासयोगेन कामदेवो द्वितीयकः ५१ योगिनीचक्रसामान्य सृ
ष्टिसंहारकारकः न क्षुधा न तृषा निद्रा नैवालस्यं प्रजायते ५२ भवेत्सत्त्वं च देहस्तु

हठ॰ २

४०

सर्वोपद्रववर्जितः अनेनविधिनायस्तुयेत्संड्डोमभ्रमिमंडले ५३ रसनातालुमूलेनयः
प्राणंसततंपिबेत् अभ्यासेनभवेत्तस्यसर्वरोगपरिक्षयः ५४ अथशीतली जिव्हयावा
युमाकृष्यपूर्ववत्कुंभसाधनं शनैस्तुघ्राणरंध्राभ्यांरेचयेदनिलंसुधीः ५५ गुल्मप्लीहा
दिकान्रोगान्ज्वरंपित्तंक्षुधांतृषां विषाणिशीतलीनामकुंभकोयंनिहंतिवै ५६ अथभस्त्रिका
ऊर्वोरुपरिसंस्थाप्यउभेपादतलेतथा पद्मासनंभवेदेतत्सर्वपापप्रणाशनं ५७ स
म्यक्पद्मासनंबध्वासमग्रीवोदरःसुधीः मुखंसंयम्ययत्नेनप्राणंघ्राणेनरेचयेत् ५८
अथैवैस्पशरीरस्थंवातयेद्यवनंचलात् यथालगतिहृत्कंठेकपालेसघनंतथा वेगे
नपूरयेत्सम्यक्हृत्पद्मावधिमारुतं ५९ पुनर्विरेचयेत्तद्वत्पूरयेच्चपुनःपुनः यथैव
लोहकाराणांभस्त्रावेगेनचाल्यते ६० तथैवस्वशरीरस्थंचालयेत्पवनंधिया यथा
श्रमोभवेद्देहेतथासूर्येणपूरयेत् ६१ यथोदरंभवेत्पूर्णंपवनेनतथालघु धारये २

नासिकासंपुटं तर्जन्यां विनादृढं ६२ कुंभकं पूर्ववत्कृत्वा रेचयेदिडयानिलं वातपित्त-
श्लेष्महरं शरीराग्निविवर्धनं ६३ कुंडलीबोधकं क्षिप्रं पवनं सुखदं हितं ब्रह्मनाडीमु-
खे संस्थं कफाद्यर्गलनाशनं ६४ सम्यग्गात्रसमुद्भूतग्रंथित्रयविभेदकं विशेषेणै-
व कर्तव्यं भस्त्राख्यं कुंभकं त्विदं ६५ अथ भ्रामरी वेगाद्घोषं पूरकं भृंगनादं भृंगीनादं रेच-
कं मंदमंदं योगींद्राणामेवमभ्यासयोगात् चित्ते जाता काचिदानंदलीला ६६ अथ मू-
र्छा पूरकांते गाढतरं बद्ध्वा जालंधरं शनैः रेचयेन्मूर्छनाख्येयं मनोमूर्छा सुखप्र-
दा ६७ अंतः प्रवर्तितोदारमारुतापूरितोदरः पयस्यगाधेऽपि सुखात्प्लवते पद्मपत्रवत्
अथ केवलं प्राणायामस्त्रिधा प्रोक्तो रेचपूरककुंभकैः सहितः केवलश्चेति कुंभको द्वि-
विधो मतः ६८ रेचपूरकौ कुर्यात् शनैः सहितकुंभकः यावत्केवलसिद्धिः स्यात्ता-
वत्सहितमभ्यसेत् ६९ रेचकं पूरकं मुक्त्वा सुखं यद्वायुधारणं प्राणायामोऽयमित्युक्तः

ह.प्र.
९

सर्वथा केवलकुंभकः ७० केवले कुंभके सिद्धे रेचपूरकवर्जिते न तस्य दुर्लभं किंचित्त्रिषु
लोकेषु विद्यते ७१ शक्तः केवलकुंभेन यथेष्टं वायुधारणात् राजयोगपदं चैव लभते ना-
त्र संशयः ७२ हठं विना राजयोगो राजयोगं विना हठः न सिध्यति ततो युग्ममानिष्प-
त्तेः समभ्यसेत् ७३ कुंभकप्राणरोधांते कुर्याच्चित्तं निराश्रयं एवमभ्यासयोगेन राजयो-
गपदं व्रजेत् ७४ कुंभकात्कुंडलीबोधः कुंडलीबोधतो भवेत् अनर्गला सुषुम्ना च हठ-
सिद्धिश्च जायते ७५ वपुः कृशत्वं वदने प्रसन्नता नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले आरो-
ग्यता बिंदुजयोग्निदीपनं नाडीविशुद्धिर्हठयोगलक्षणं ७६ इति सहजानंदसंतान-
चिंतामणिस्वात्मारामयोगींद्रविरचितायां हठप्रदीपिकायां द्वितीयोपदेशः सशैलवनधा-
त्रीणां यथाधारोहिनायकः सर्वेषां योगतंत्राणां तथाधारो हि कुंडली १ सुप्ता गु-
रुप्रसादेन बोधिता सुखदा भवेत् तथा सर्वाणि पद्मानि भिद्यंते ग्रंथयोपि च २ प्रा ९

णस्य शून्यपदवी तदा राजपथायते तथा चित्तं निरालंबं तथा कालस्य वंचनं ३ शून्य
पदवीति किं सुषुम्णा शून्यपदवी ब्रह्मरंध्रं महापथः श्मशानं शांभवी मध्यमार्गश्चे
त्येकवाचकं ४ तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीं ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्या
सेन बोधयेत् ५ महामुद्रा महाबंधो महावेधश्च खेचरी उड्डियानं मूलबंधो बंधो जा
लंधराभिधः ६ करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनं ९ तदिदं मुद्रादशकं जरा
मरणनाशनं ७ आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकं वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्ल
भं मरुतामपि ८ गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरंडकं कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसु
रतं यथा ९ वज्रोलिमतेलिङ्ग सहजोली त्रिधा मतः एतेषां लक्षणं वक्ष्ये तैर्बलं च वि
शेषतः १० अथ महामुद्रा पादमूलेन वामेन योनिं संपीड्य दक्षिणां पादं प्रसारितं कृ
त्वा कराभ्यां धारयेत्पदं कंठे बंधं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः यथा दंडहतः सर्पो दंडाका

६६. रः प्रजायते ११ ऋज्वीभूता यथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत् तथा सा मरणावस्था जायते
२० द्विपुटाश्रया १२ ततः शनैः शनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रद
र्शिता १३ नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेपि नीरसाः अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमि
10 व जीर्यते १४ चन्द्राङ्गे तु समभ्यस्य सूर्याङ्गे तु समभ्यसेत् यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मु
द्रां विसर्जयेत् १५ क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः तस्य दोषाः क्षयं यान्ति महामु
द्रां च योऽभ्यसेत् १५ कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरा नृणां गोपनीया प्रयत्नेन न
देया यस्य कस्यचित् १६ अथ महाबन्धः पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नि
योजयेत् १६ वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा १७ पूरयित्वा ततो वायुं हृद
मा ये चिबुकं दृढं निःपीड्य योनिमाकुञ्च्य मनो मध्ये नियोजयेत् १८ रेचयेत्तु ततोऽनेन एष महा
बन्धोऽयमुच्यते अयं खलु महाबन्धो महासिद्धिप्रदायकः १९ कालपाशमहाबन्धो २०

शिमोत्पन्नशिवप्रदाः ॥ अयं तु सर्वनाडीनां मूर्ध्वंगमनरोधकः २० त्रिवेणीसंगमं धत्ते
केदारं प्रापयेन्मनः ॥ अथ महावेधः ॥ रूपलावण्यसंपन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना ॥ महा
मुद्रामहाबंधौ निष्फलौ वेधवर्जितौ २१ तस्मात्सर्वप्रयत्नेन महावेधं समभ्यसेत्
महाबंधस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः ॥ वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कंठमुद्रया २२
समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ संताडयेच्छनैः ॥ पुटद्वयं समाक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यमे
२३ सोमसूर्याग्निसंबंधो जायते चामृताय वै ॥ मृतावस्था समुत्पन्ना ततो मरुतमुत्स
जेतः २४ महावेधोयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः ॥ वलीपलितवेपघ्नः सेव्यते
साधकोत्तमैः २५ एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनं ॥ वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणि
मादिगुणप्रदं २६ अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने ॥ पुण्यसंभारसंधायि पा
पौघभिदुरं सदा २७ सम्यक्शिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनं ॥ वह्निस्त्रीपथसे

६६. यानामाद्योवज्रीनकथ्यते २८ अथ खेचरी छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेणाथ वर्द्धयेत्ताव
त् सा यावद्भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः २९ स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्नि
ग्धनिर्मलं समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ३० ततः सैन्धवपथ्याभ्यां चूर्णि
ताभ्यां प्रघर्षयेत् पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ३१ एवं क्रमेण षण्मासान्
नित्ययुक्तः समाचरेत् षण्मासै रसनामूलशिराबन्धः प्रणश्यति ३२ कपालकुहरे जि
ह्वा प्रविष्टा विपरीतगा भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ३३ रसनामूर्ध्वां
कृत्वा क्षणार्द्धमपि तिष्ठति विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ३४ रसनाम
ूर्ध्वां कृत्वा त्रिपथं परिवर्तयेत् सा च खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ३५ र
सनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्द्धमपि तिष्ठति विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः
३६ न रोगो मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा न च मूर्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीं ११

३३ पीयूषतेन च योगेनान वलिप्य त्रिकर्मणा वाद्यस्तेन च कालेन पोण्ड्रं वेष्टिं खेचरीं
३४ चिन्तैवरति विपस्यात्र जिह्वाग्रं लिंगता तेनैव खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्नमस्कृता
३५ खेचर्या मुद्रितो यस्तु विवरं लम्बिकोर्ध्वतः तस्य न नाहरते बिंदुः कामिन्याश्लेषितस
स्य च ३६ पातालेपद्धितयमुखविंमेन मलेन तस्मिंस्तलेवेतस्ववदतिमुधौस्तन्मुद्रं गि
गगनां चंद्रास्यांस्ववक्तिविकुशोपो यमस्मुर्नराणां तद्बीयाग्रोकराणामहोनास्मथाम
योनिमुद्रिः ३७ चलितोपि यदा बिंदुः संप्राप्तो योनिमंडलं व्रजत्यूर्ध्वं हठात्शक्त्यानिबद्धो
योनिमुद्रया ३८ ऊर्ध्वः पाललतुहाजिह्वाग्रस्रसंकालमुद्रया ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरोभूत्वा सो
मपानं करोति यः मासार्धेन न संदेहो मृत्युं जयति योगवित ३९ नित्यं सोमकला
पूर्णं शरीरं यस्य योगिनः तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ४० इंधनानि यथा
वह्निः तैलवर्तिं च दीपवत तथा सोमकलापूर्णो देही देहं न मुंचति ४१ गोमांसभ

ह.ठ. क्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीं कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकाः ५२ गोशब्देनोदि
१२ ता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि गोमांसभक्षणं चैतत् महापातकनाशनं ५३ जिह्वा
प्रवेशसंभूतवह्निनोत्पादितः खलु चंद्रात्स्रवति यः सारः स स्यादमरवारुणी ५४
मूर्ध्नः षोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठादूर्ध्वास्ये रसनां नियम्य विवरे शक्तिं
परां चिंतयेत् उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामयं यः पिबेत् निर्व्याधिः समृणालको
मलवपुर्योगी चिरं जीवति ५५ चुंबंती यदि लंबिकाग्रमनिशं जिह्वारसस्यंदिनी
सक्षारा कटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा व्याधीनां हरणं जरांतकरणं शस्त्रा
गमोदीरणं तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धांगनाकर्षणं ५६ एकं सृष्टिमयं बीजं
एका मुद्रा च खेचरी एको देवो निरालंब एकावस्था मनोन्मनी ५७ सुषिरं ज्ञानज
नकं पंचस्रोतःसमन्वितं तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन् शून्ये निरंजनः ५८ प्रालेयप्र १२

हितस्तुष्टिरंमेहमूर्ध्नास्तिनाथं तस्मिंस्तत्वं प्रवृत्ते सुधीस्तन्मुखं निमग्नानां बंधस्तस्मा:
स्ववृत्तिर्वायुबंधस्तेन मृत्युर्नैरागांतं वध्नीयात्सकरागामपो नान्यथा वक्त्रसिद्धिः अथ मूल
बंधः पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुंचयेद्गुदं अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबंधोभिधीय
ते ५८ अधोगतिमपानं वै ऊर्ध्वगं कुरुते हठात आकुंचनेन तं प्राहुर्मूलबंधं हि योगिनः
५९ गुदं पार्ष्ण्या तु संपीड्य वायुमाकुंचयेद्बलात वारंवारं यथा चोर्ध्वं समायाति समी
रणः ५० प्राणापानौ नादबिंदू मूलबंधेन चैकतां गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छते
नात्र संशयः ५१ अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः युवा भवति वृद्धोपि
सततं मूलबंधनात ५२ अपाने चोर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्निमंडले तथानलशि
खा दीर्घा वर्धते वायुनाहता ५३ ततो यातो वह्निरपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकं तेना
संतात्रदीप्तासो ज्वलनो देहजस्तथा ५४ तेन कुंडलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते ६

ह.ठ. १३ 13

ग्रहतभुजंगीवनिस्वस्यऋजुतांव्रजेत ५५ विलंप्रविष्टेवततोब्रह्मनाड्यांतरंव्रजेत त
स्मान्नित्यंमूलबंधः कर्तव्योयोगिभिःसदा ५६ अथउड्यानबंधः बद्धोयेनसुषु
म्णायांप्राणस्तुड्डीयतेयतः तस्मादुड्डीयानाख्योयंयोगिभिःसमुदाहृतः ५७ उड्डी
नंकुरुतेयस्मादविश्रांतोमहाखगः उड्डीयानंतदेवस्यात्तत्रबंधोभिधीयते ५८
उदरेपश्चिमंतानंनाभेरूर्ध्वंतुकारयेत उड्डीयानोह्यसौबंधोमृत्युमातंगकेसरी
५९ उड्डीयानंतुसहजंगुरुणाकथितंतथा अभ्यसेत्सततंयस्तुवृद्धोपितरुणाय
ते ६० नाभेरूर्ध्वमधश्चापितानंकुर्यात्प्रयत्नतः षण्मासादभ्यसेन्मृत्युंजयत्येव
नसंशयः ६१ सतिवज्रासनेपादौकराभ्यांधारयेद्दृढं गुल्फदेशसमीपेचकं
दंतत्रप्रपीडयेत ६२ पश्चिमंतानमुदरेधारयेद्धृदयेगले शनैःशनैर्यथाप्रा
णः रंध्रसंधिंनगच्छति ६३ सर्वेषामेवबंधानामुत्तमोह्युड्डीयानकः उड्डीयाने १३

दृढं बंधे मलं साक्षात् पाक्षिकं भवेत् ६४ अथ जालंधरो बंधः कंठमाकुंच्य हृदये स्थापयेच्चिबुकमि
च्छया बंधो जालंधराख्योऽयं अमृताप्यकारकः ६५ बध्नाति हि शिराजालं अधोयानि
नभोजलं ततो जालंधरो बंधः कंठदुःखौघनाशनः ६६ जालंधरे कृते बंधे कंठसंको
चलक्षणे न पीयूषं पतत्यग्नौ न वायुः प्रधावति ६७ कंठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तं
भयेद्ध्रुवं मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबंधनं ६८ बंधत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवि ४
तं सर्वेषां हठतंत्राणां साधनं योगिनो विदुः ६९ मलस्थानं समाकृष्य उड्डियानं तु
कारयेत् इडां च पिंगलां बध्वा वाहयेत्पश्चिमे पथि ७० अधस्तात्कुंचनेनैव कंठसंको
चने कृते मध्यपश्चिमतानेन स्यात् प्राणो मध्यनाडिगः मूलस्थानस्थितो रोधः प्र
णानिलपवनोऽनलं अनेनैव विधानेन सेवयेत्पवनानलं ततो न जायते मृत्युः ज्वर
रोगादिकं तथा ७१ अथ विपरीतकरणी पश्चिमे स्रवते चंद्रो ह्यमृतं दिव्यरूपिणी

ह.ठ. तत्सर्वं गुप्तमेतत्सर्वं स्तेन पिण्डं विना ह्यम्व ७२ तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवंचनं ग
१५ रूपदेशात्तु लभ्यं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ७३ ऊर्ध्वनाभिरधस्तालुरूर्ध्वं भानुरधः शशी क
रणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ७४ करणी विपरीताख्या सर्वव्याधिविनाशि
नी नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्धनी ७५ आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः
साधकस्य तु अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात् ७६ अधःशिरश्चोर्ध्वपादः
क्षणं स्यात्प्रथमे दिने क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने ७७ वलितं पलितं
चैव षण्मासार्धेन दृश्यते याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित् ७८ अथ
वज्रोली स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना वज्रोलीं यो विजानाति स यो
गी सिद्धिभाजनं ७९ तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित् क्षीरं चैकं द्वितीयं च
नारी च वशवर्तिनी ८० मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुंचनमभ्यसेत् पुरुषो वापि ना १५

देयावज्रोलीसिद्धिप्रदायकं ८१ यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकंदरे शनैः शनैः प्रकुर्वी-
त वायुसंचारकारणात् ८२ नारीभगे पतद्बिंदुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत् चलितं तु स्वकं बिं-
दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ८३ एवं संरक्षयेद्बिंदुं मृत्युं जयति योगवान् मरणं बिंदुपाते-
न जीवितं बिंदुधारणात् ८४ सुगंधो योगिनो देहे जायते बिंदुधारणात् यावद्बिंदुः
स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुतः ८५ चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं तु जीवितं तस्मा-
च्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ८६ ऋतुमत्या रजोप्येवं निजं बिंदुं च रक्षयेत् मे-
ढ्रेणाकर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्यासयोगवान् ८७ अयं योगः पुण्यवतां धीराणां तत्त्वदर्शि-
नां निर्मत्सराणां सिध्यत न तु मत्सरशालिनां ८८ सहजोलिश्चामरोलिश्च वज्रोल्या एव
भेदतः जले शुभस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसंभवं वज्रोलीमैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसोः स्वांग-
लेपनं ८९ आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणात् सहजोलीरियं प्रोक्ता सेव-

विहाय निःसारतयांत्यधारां निषेव्यते शीतलमध्यधारा ८

हठ. ते योगिभिः सदा ९० पुंसो बिंदुं समाकुंच्य सम्यगभ्यासपाटवात् यदि नारी रजो रक्षेत्
१५ वज्रोल्यभ्यासे हि योगिनी ९१ तस्याः किंचिद्रजो नाशं न गच्छति न संशयः सबिंदुस्तद्
रजश्चैव एकीभूय स्वदेहजौ ९२ वज्रोल्यभ्यासयोगेन सर्वसिद्धिश्च जायते ९३ पि
त्तोल्बणत्वात्प्रथमांबुधारां कापालिकैः खंडमतैः समर्थैः ९४ येन्नाकुंचनादूर्ध्वं रजः
सापि हि योगिनी अतीतानागतं धत्ते खेचरी च प्रजायते ९५ देहसिद्धिं च लभते वज्रो
ल्यभ्यासयोगतः अयं पुण्यकरो योगो भोगे भुक्तिमुक्तिभिः ९६ तस्मात्सुरायवक्षामि
व अयं योगः प्रसिद्ध्यति ९७ अथ शक्तिचालनं कुटिलांगी कुंडलिनी भुजंगी शक्ति
रीश्वरी कुंडल्यरुंधती चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः ९८ उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुंचिक
या हठात् कुंडलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ९९ येन मार्गेण गंतव्यं ब्रह्मस्था
नं निरामयं मुखेनाच्छादितद्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी १०० कंदोर्ध्वं कुंडलीशक्तिः सुप्ता मोक्षा १५

य योगिनां बंधनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित् १ योऽधिशैले लघीयसां आधारः शे-
षकुंडली भुजगाकार योगतेजसां आधार कुंडली तथा योगिनां योगे २ कुंडली कुटिलाकारा
सर्पवत्परिकीर्तिता सा शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशयः ३ गंगायमुनयोर्मध्ये
बालरंडां तपस्विनी बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदं ४ इडा भगवती गंगा पिं-
गला यमुना नदी तन्मध्ये बालरंडा च कुंडली पिंगलेड्योः ५ पुच्छे प्रगृह्य भुजगीं सुप्ताम्
अ द्बोधयेत्प्रिये निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात् ६ अवस्थिता चैव फणावती सा
प्रातश्च सायं प्रहरार्धमात्रं प्रपूर्य सूर्यात्परिधानयुक्त्या प्रगृह्य नित्यं परिचालनीया ७
वितस्ति च मितं दीर्घं विस्तारे चतुरंगुलं मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टनांबरलक्षणं ८
वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा तु कुंडलीं कुर्यादनंतरं भस्त्रीं कुंडलीमाशु बोधयेत्
९ भानोराकुंचनं कुर्यात्कुंडलीं चालयेत्ततः मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ९

ह.ठ.
१६

16

नासादृष्टिललाटगंधाक्षिपवनाघ्राते तिर्यग्घ्रस्तनभ्रूः पः परिपूरितामृतलतां प्राप्य ह
कृपाणस्तथा छिन्नं चालयित्वा लंबिकाग्रं न धुनात्रिग णान् तं कार्यं गुरुतेजस
नैव तु रसज्ञांगुल्याः समस्तं वरं १० कुंडलीचालयित्वाथ गुदवा विशेषतः एवमभ्यासतो
नित्यं प्रयमिनः शोधनं तेषां ११ तदभ्यासस्सर्वथा मुखे मुद्राभ्यो चापि शीतली एवमभ्यास
योगस्य स्वमभ्यासयमिनः स्फुटः १२ गुह्यं तन्मयापयेत्तं दग्धलनादसो ऊर्ध्वमारुह्यते
विविधस्सुषुम्णा पार्श्वे तेन कुंडलिनी तस्यास्सुषुम्णायाः समुद्धृतः नयाति तस्मात्सु
ग्राह्यं सुषुम्णा पार्श्वनिःस्पृशः तस्मात्संचालयेन्नित्यं सुषुम्णा कामदं धृती यत्नात् संचाल
यता भ्रूयोगी रोगात्प्रमुच्यते येन संध्यासिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनं किमत्र बहुनो
क्तेन कालं जयति लीलया ब्रह्मचर्यव्रतस्थस्य नित्यं हितमिताशिनः १३ मंडलाद्दृश्यते
सिद्धिः कुंडल्यभ्यासयोगतः अभ्यासं कुर्वतो दीक्षितस्य सहजमिदम्प्रयेत १५ तदा तं चापि १६

मंगेंद्रियं दृढीकृत्य प्रयत्नतः शिवस्त्रीभिः सह स्वांगानां नाडीनां मलशोधनं कुरुते प्रक्षालनो पापं पुं
ऽस्य प्राणसनाशते १५ इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शंभुना एकैका तासु यमिनां म
हासिद्धिप्रदायिनी १६ राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा राजयोगं विना
मुद्रा विचित्रापि न शोभते १७ मारुतस्य विधिं सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत् इतरत्र न कर्तव्या
मनोवृत्तिर्मनीषिणा १८ स्थितापि मध्यमा नाडी दृढाभ्यासेन योगिनां आसनप्राणा
संयाममुद्राभिः सरला भवेत् १९ अभ्यासनिद्रितानां राजयोगः स मुद्राः रुद्राणि स
धनाच्छ्रद्धायुक्तां सिद्धिं प्रयच्छति २० उपदेशो हि मुद्राणां यो दत्ते सांप्रदायिकं स एव श्री
गुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः २१ तस्य वाक्यपरो भूत्वा मुद्राभ्यासे समाहितः अणि
मादिगुणैः सार्धं लभते कालवंचनात् २२ इति सहजानंदसंतानचिंतामणिस्वात्माराम
विरचितायां हठप्रदीपिकायां तृतीयोपदेशः नमः शिवाय गुरवे नादबिंदुकलात्मने

ह.ठ. निरंजनपदं यांति नित्यं तत्र परायणः १ अथेदानीं प्रवक्ष्यामि समाधिक्रममुत्तमं मृत्यु
१० घ्नं च सुखोपायं ब्रह्मानन्दकरं परं २ अमनस्कं तथाद्वैतं निरालंबं निरंजनं जीवन्मुक्ति
श्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचकं ३ सलिले सैंधवं यद्वत्साम्यं भजति योगतः तथात्मम
नसोरैक्यं समाधिः सोऽभिधीयते ४ राजयोगस्य माहात्म्यं को वा जानाति तत्त्वतः ज्ञा
नान्मुक्तिः स्थितिः सिद्धिः गुरुवाक्येन लभ्यते ५ दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनं
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना ६ विविधैरासनैः कुंभैर्विचित्रैः करणैरपि
प्रबुद्धायां महाशक्तौ प्राणः शून्ये प्रलीयते ७ उत्पन्नशक्तिबोधस्य त्यक्तनिःशेषकर्म
णः योगिनः सहजावस्था स्वयमेव प्रकाशते ८ यावन्नैव प्रविशति चरन्मारुतो म
ध्यमार्गे यावद्बिंदुर्न भवति दृढः प्राणवातप्रबंधात् यावद्ध्याने सहजसदृशं जायते नैव चि
त्तं तावज्ज्ञानं वदति यदिदं दम्भमिथ्याप्रलापः ९ सुषुम्नावाहिनि प्राणे शून्ये विशति मानस् ७

ते तथा समस्तकर्माणि निर्मलाशयस्तिमर्मवित १० अमतप्रनमस्तुभ्यं सोपि कालाभया
हृतः पतितं वने यस्य जगदेतच्चराचरं ११ ह्यालाशुषुम्णा सहेदं इलाचाशुंच मध्यमं
वेस्थिता सराधुसस्थाने प्राणार्धस्त्रिरोधयेत १२ सूर्याचंद्रमसोधत्ता दलाकारास्य पंज
रे सुषुम्णा शांभवी शक्तिः शेषास्त्वेव निरर्थिकाः १३ द्वासप्ततिसहस्राणि नाडीद्वाराणि
पंजरे सुषुम्णा शांभवी शक्तिः शेषा॰ १४ वायुः परिचितो यस्मादग्निना सह कुंडली
प्रबोधितान्तरे प्यासा सुसास्यात्तीव्रयोगिना १५ पवनो बध्यते येन तेनैव बध्यते मनः हेतु
द्वयं च चित्तस्य वासना च समीरणः १६ द्वयोर्विनष्ट एकस्मिन् तदा द्वेपि विनश्यति पवने ली
यते वायुस्तत्रैव लीयते मनः १७ दुग्धांबुवत्संमिलितावुभौ तौ तुल्यक्रियौ मानसमारुतौ
हि यतो मरुत्तत्र मनः प्रवृत्तिर्यतो मनस्तत्र मरुत्प्रवृत्तिः १८ एकस्य नाशादपरस्य नाश एक
प्रवृत्तेरपरप्रवृत्तिः अध्वस्तयोश्चेन्द्रियवर्गवृत्तिर्विनाशतो मोक्षपदस्य सिद्धिः १९ चि

ह० तैस्समत्वमापन्नो वायुर्व्रजति मध्यमे एषा मोन्मनीव स्तोली सत्राप्यभिनयातिव १९ ज्ञा
१२ नं कुतो मनसि संभवतीह तावत्प्राणोऽपि जीवति मनो म्रियते न यावत् प्राणो म
नो द्वयमिदं विलयं प्रयाति मोक्षं स गच्छति नरो न कथंचिदन्यः २१ रसस्य मनसश्चै
व चंचलत्वं स्वभावतः रसो बद्धो मनो बद्धं किं न सिध्यति भूतले २२ मूर्छितो हरते व्या
धीन्मृतो जीवयति स्वयं बद्धः खेचरतां धत्ते रसो वायुश्च भैरवि २३ वायुमार्गेषु संस्था
रस्य लये स्यमतेमहः ततो भृङ्गमे स्थैर्यं सप्तमिसाहपांवरः २४ मनःस्थैर्ये स्थिरो
वायुस्ततो बिन्दुः स्थिरो भवेत् बिन्दुस्थैर्यात्सदा सत्त्वं पिण्डस्थैर्यं प्रजायते २५ इन्द्रियाणां
मनो नाथो मनोनाथो हि मारुतः मारुतस्य लयो नाथस्तं नाथं लयमाश्रयेत् २६ इन्द्रियाणां
मनो नाथो मनोनाथश्च मारुतः मारुतस्य लयो नाथः स लयो नादमाश्रितः २७ सोय
मेवास्तु मोक्षाख्यो मास्तु वापि मतान्तरे मनःप्राणलयानन्दो मयि निष्प्रसंवर्त्तते २८ प्रन १२

श्रोत्रघ्राणनिश्वासाः प्रध्वस्तविषयग्रहाः निष्प्रत्याहारविज्ञानाल्लयं यान्ति योगिनः
२९ उच्छिन्नसर्वसंकल्पो निःशेषाशेषचेष्टितः स्वात्मारामोऽल्पकः कोपि मनस्सम्यग्गोच
रः ३० यद्दृष्टिर्लयस्तत्र प्रवृत्तिर्विषयस्य नातनः सा शक्तिः सर्वभूतानां दृष्टिर्लक्ष्योलयंगता
३१ वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव एकैव शांभवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव ३२
अंतर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता सैषा तु शांभवी मुद्रा सर्वतंत्रेषु गोपिता ३३
अंतर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी यदा वर्तते दृष्ट्या निश्चलतारया बहिरधः पश्यन्नप
श्यन्नपि मुद्रेयं खलु शांभवी भवति सा लब्धा प्रसादाद्गुरोः शून्याशून्यविवर्जितं स्फुरति
यत्तत्त्वं परं शांभवं ३४ श्रीशांभव्याश्च खेचर्या अवस्थाधामभेदतः तयोर्ज्योतिषि संयो
ज्यापि विदुश्चापि यद्भ्रुवौ पूर्वयोगस्य मार्गोयमुन्मनीकारकः क्षणात् केचिदागमयोगेन के
चिन्निगमसंकुलैः केचित्तर्केण मुह्यन्ति नैव जानन्ति तारकं अर्द्धोन्मीलितलोचनः स्थि

रमनानासामध्ये हृत्पद्मं द्वादशान्ते विलीनतामुपनयेत् त्रिहृत्पद्मनासान्तरे ज्योतीरूपम्
ध्येयवान् एहितं दीप्यमानं परं तत्त्वं तत्स्मरे मेलितं यत्सुपरमं याचं लिमन्नाधियं २२
श्रीगुरूक्तं मध्यमाः स्वेच्छया पर्यङ्कं धवस्थानं तु नयेद्यतः तावज्ज्योतिषि संपूज्य विदिक्षु द्वादशे
मुखो २३ पातालाम्बुजपतिबिन्दुविमलेन कमलेन हस्तितत्त्वं वेतत्प्रवदतिसुधीस्तत्कृतं
निस्त्रगानां चंद्रात्सारं स्रवन्तिबिन्दुषड्त्तेन महस्रुभीरागां तंय श्रीपादस्वरूपमत्तानाना
थाकायसिद्धिः २४ श्रीमदादिनाथेन सपादकोटिलयः प्रकाराः कथिताजयंते ना
दानुसंधानमेकमेवकार्यं मन्यामहे मान्यतमं लयानां २५ मुक्तासनस्थितो योगी मुद्रां
कृत्वा मनःसुधीः कर्णश्रवणे तान्विन्निःशब्दे न सदृशाम्यति २६ नादप्रवर्तितं चित्तं ना
देन सह लीयते विस्मृत्य सकलं बाह्यं नादे दुग्धाम्बुवल्लयः २७ एकीभूय पाथपह
लाविदाकारं विलीयते उहसौ निःस्पदतो मत्वा सदा प्राम्य सम संयमी २८ उन्मनीकर

णाः सद्योनादस्मेयावधानात् क्षीणाभमोहामोसोखं २९ शीतेकालेचैवपशीवापरोवापथ्यात्ते
गेन मर्येवा पश्योवा भोजेभिन्नार्दं मतालपवें स्वातीनिद्राकोपिवाभोज्यपात्रे ३० सर्वरि
तं परिस्तु सर्वेकाले च सर्वदा एवमेवानुसंधत्ते नादं चित्ते विलीयते ३१ आरंभश्च
घटश्चैव तथा परिचयस्तथा निष्पत्तिः सर्वयोगेषु योगावस्था प्रकीर्तिता ३२ ब्रह्मग्रंथि
र्भवेद्भिन्ना आनंदः शून्यसंभवः विचित्रः क्वणको देहेऽनाहतः श्रूयते ध्वनिः ३३ संपूर्णहृ
२५ दयः शून्यः आरंभे योगवान्भवेत् ३३ अथ घटावस्था द्वितीयायां घटीकृत्य वायुर्भवति
मध्यगः दृढासनो भवेद्योगी ज्ञानी देवसमास्तथा ३४ विष्णुग्रंथिर्भवेद्भिन्ना परमानं
दसूचिका अतिशून्य विमर्दश्च भेरीशब्दस्तथा भवेत् ३५ अथ परिचयः महाशून्यं
तथा याति सर्वसिद्धिः समाश्रयं चित्तानंदं ततो जित्वा सहजानंदसंभवः ३६ दोषदुः
खजरामृत्युः क्षुधानिद्राविवर्जितः रुद्रग्रंथिं ततो भित्वा सर्वपीठगतोनिलः ३७ अथ नि

हठ. २०

ध्यात्वावस्था निष्पत्तौ वैराग्यः शम्भुः सुरान्धोऽवस्तोपभवेत् ९ कीमतं तथा चित्तं राजयोगा
भिधायकं ३८ सृष्टिसंहारकर्ता सो योगी स्वरसमो भवेत् ? अस्तु वा मास्तु वा मुक्तिरत्रैव
खंडितं महत् ३९ सुपाभ्रतामिहैतो ख्ल राजयोगाख्यामते हठं विना राजयोगो राजयोगं
विना हठः ४० ये चांभ्रिचतान्यमन्यप्रयासफलवर्जिता ४१ तत्त्वबीजं हठं क्षेत्रमौदासी
न्यं जलं स्मृते ४२ उन्मनी कल्पलतिका सद्य एवोद्यविष्यति ४३ राजयोगसमाधिश्च उ
न्मनी च मनोन्मनी अमनस्कं तथापि चाद्वैतं निरालंबं निरंजनं ४३ अमरत्वं लयस्तत्त्वं शू
न्याशून्यं परंपदं जीवन्मुक्तिश्च सहजं तुर्या चेत्येकवाचकं ४४ तत्त्वं परमसो ख्यं चनाद्
पासनमेव वा सोऽयं प्रविष्टश्चिन्तानां मुक्तानामपि संमतं ४५ नादानुसंधानसमाधि
भाजां योगीश्वराणां हृदये प्ररूढे आनंदमेकं वचसामगम्यं जानाति तं श्रीगुरुनाथ ए
व ४६ सर्वचिन्तां परित्यज्य सावधानेन चेतसा नादमेवानुसंधत्ते योगसाम्राज्यमिच्छता २०

४७ कर्णौ पिधाय हस्ताभ्यां यः शृणोति ध्वनिं मुनिः तत्र चित्तं स्थिरीकुर्याद्यावत्स्थिरपदं व्रजे-
त् ४८ अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्यमावृणुते ध्वनिं पक्षाद्विक्षेपमखिलं जित्वा योगी सु-
खी भवेत् ४९ श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो महान् वर्धमाने ततोऽभ्यासे श्रूयते
सूक्ष्मसूक्ष्मतः ५० अन्ते तु किंकिणीवंशवीणाभ्रमरनिस्वनाः इति नानाविधा नादाः श्रूय-
न्ते देहमध्यगाः ५१ महति श्रूयमाणेऽपि मेघभेर्यादिके ध्वनौ तत्र सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नाद-
मेव परामृशेत् ५२ घनमुत्सृज्य वा सूक्ष्मे सूक्ष्ममुत्सृज्य वा घने रममाणमपि क्षिप्तं मनो
नान्यत्र चालयेत् ५३ यत्र कुत्रापि वा नादे लगति प्रथमं मनः तत्रैव सुस्थिरीभूय तेन सा-
र्धं विलीयते ५४ मकरन्दं पिबन्भृंगो गंधं नापेक्षते यथा नादासक्तं तथा चित्तं विषया-
न्नहि कांक्षति ५५ मनः पारमया श्रोति मिलसंगाख्यघोरतां नादश्रवणतो चित्तमन्तरं-
गभुजंगमाः ५६ संस्मरसर्वमेकाग्रं कुत्रचिन्न हि धावति मनो मत्तगजेन्द्रस्य विषयोद्यान

ह०ट०
२१

चारिणः ५७ निर्मलेन स्वमर्थीयं विनाशे विशिष्टां गुरुः नादोपास्तिरतो नित्यमव्यापा ज्योतिः
विकोगिनः ५८ घंटानिनादरसलस्यशब्दांतः करणस्य तु प्रना हतस्य शब्दस्य तस्य शब्द
स्वरूपेऽध्वनिः ५९ ब्रह्मणि लगितं योनिरंतर्गतं मनः तस्मानो विलयं याति हि स्मोः परमं
पदं ६० तावदाकाशसंकल्पो यावच्छब्दः प्रवर्तते निःशब्दं परमं ब्रह्म परमात्मा समीयते
६१ यत्किंचिन्नादरूपेण श्रूयते शक्तिरेव सा यस्तत्त्वांतो निराकारः स एव परमेश्वरः ६२
श्रवणपुटनयननासानिरोधनं चैव यत्सर्वं शुद्धसुषुम्नासरणौ स्फुटममलः श्रूयते नादः
६३ कालुगो स्त्रीत्रसंगेन सा दमेतर्गतं ब्रह्म उपमसैं दुवोधाय ग्राहित्वाथो दितं वचः ६४
यावन्नैव प्रविशति चरन्मारुतो मध्यमार्गे यावद्विंदुर्न भवति दृढः प्राणवातः प्रबंधः य
यध्यो माने सहजसदृशं जायते नैव तत्वं तावत्सर्वं यदति पदिदं दंभमिथ्या प्रलापः ६५
मोक्षाय गुरुमतेर्दं हि यस्वाप्राणं च मध्यगं स्वात्मानं दिवस्थाने प्राणं बंधं विनिं धपेत २१

21

६६ इडायां पिङ्गलायां च चरतश्चन्द्रभास्करौ चन्द्रस्तामस इत्युक्तः सूर्यो राजस उच्यते ६७
तावेव बध्नतः सर्वं लोकं कालरात्रिदिवात्मकं भोक्त्री सुषुम्ना कालस्य गुह्यमेतदुदाहृतं ६८
तथाहि ब्रह्मरन्ध्रस्य मार्गमेवं प्रलोकचतुष्टय षट्चक्रे षोडशाधारास्त्रिधारास्थं गुणत्रयम ६९
शेषस्तम्भ[illegible]विस्तारं बिन्दुरूपं परं पदं कुण्डलीतु हि लायमानं सर्वं व्यापि[illegible]जीवितं साफ-
ह्निस्फालिता येन सषुम्ना नाम संज्ञया ७० द्वासप्ततिसहस्राणि नाडीद्वाराणि पञ्जरे सुषु-
म्नां शाम्भवी शक्तिः शेषास्त्वेव निरर्थकाः ७१ सुषुम्नायां हि निश्वासो यः सिद्धे सैव मनोन्म-
नी अन्यथा विविधाभ्यासाः प्रयासायैव योगिनां ७३ पवनो बध्यते येन मनस्तेनैव बध्-
यते मनस्तु बध्यते येन पवनस्तेन बध्यते ७४ हेतुद्वयं हि मनसो वासना च समीरणः
तयोर्विनष्ट एकस्मिन् हतं द्वावपि नश्यतः ७५ मनो यत्र विलीयेत पवनस्तत्र लीयते
पवनो लीयते यत्र मनस्तत्र विलीयते ७६ दुग्धाम्बुवत्संमिलितौ तथैव तुल्यक्रियौ मा

ध

ह. ४. २२ न समाधिस्तेन च यावन्न नश्यन्ते मरुद्वृत्तिः यावन्नाशोपि मनःप्रवृत्तिः ७७ तेनैव ना
शाद्द्वयोरप्यनाशः ... वृत्तिः यथास्य पोषं ... बुद्धिः विश्वस्य यो
गीन्द्र ... सिद्धिः ७८ वायुर्मार्गेण ... लीयते महीं तथा ...
यस्य ... ७९ ... यथा संलीयते ... लीयते
यते तथा समरसत्वं च समाधिः सोभिधीयते ८१ ... सैन्धवं स
लिले यथा तथा संधीयमानं तु मनस्तत्त्वे विलीयते ८२ मनःस्थैर्यं स्थिरो वा
युस्ततो बिन्दुः स्थिरो भवेत् बिन्दुस्थैर्यात्सदा सत्त्वं पिण्डस्थैर्यं प्रजायते ८३ दृष्टिः स्थि
रा यस्य विनैव रोधनं वायुः स्थिरो यस्य विना प्रयत्नात् चित्तं स्थिरं यस्य विनावलंब
नात् स एव योगी स गुरुः स सेव्यः ८४ प्रबोधो निर्गमे याम ...
न यस्य वायुर्वहति स मुक्तो नात्र संशयः ८५ सर्वं ... योगस्यापि २२

ह॰ ध्येयो राजयोगसमाहृतः भूतव्रतकालवंचकः ॥२६॥ इति श्रीसकलयोगशास्त्रसिंधोः परिम
२३ थितात् स्वसूक्तसारमृतं ॥ अनुभवन्तु हठप्रदीपं पीत्वा यदि भवतामजरामृतत्वं वो ह्यो ॥१॥
इति श्रीसहजानंदसंतानचिंतामणिस्वात्मारामयोगीन्द्रविरचितायां हठप्रदीपिकायां च
तुर्थोपदेशः ॥ श्रीरस्तु श्रीरस्मापनमः श्रीगणमापनमः ॥

93

२३

के

पुस्तं ८८ प्रदीपिकाकीपत्र २३

रामचंद्रकृतनौर्वैधनापस्य

प्रो
४२५

॥ श्रीः ॥

शिवसंहिता.

(भाषाटीकासहिता.)

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकयोगिराजश्री ६ स्वा-
मिस्वयंप्रकाशानन्दसरस्वतीनामाज्ञानुसा-
रेण गोस्वामिश्रीरामचरणपुरीकृतेन
भाषानुवादेन सहिता ।

सेयं

खेमराज श्रीकृष्णदासश्रेष्ठिना

मुम्बय्यां

स्वकीये "श्रीवेङ्कटेश्वर" (स्टीम) यन्त्रालये
मुद्रयित्वा प्रकाशं नीता.

श्रावण संवत् १९६०, शके १८२५.

प्रस्तावना.

सर्व मोक्षकांक्षी महापुरुषोंको विदित होय कि, यह "शिवसंहिता" नामक ग्रंथ जो संसारके उपकारार्थ पूर्व श्रीपार्वतीजीके प्रश्नोत्तर योगमार्गउत्पत्तिकर्त्ता श्रीशिवजीने कृपापूर्वक योगोपदेश किया सो यह ग्रंथ योगाभ्यासी जनोंको अति उपकारक है इस हेतुसे कि, श्रीशिवजीने इसमें ब्रह्मज्ञान और हठयोगक्रिया राजयोगसहित उत्तम सरलरीतिसे उपदेश किया है इसको परिश्रमसे लाभ करके योगाभ्यासी और मोक्षकांक्षी जनोंके उपकारार्थ श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकयोगीराज श्री ६ स्वामी स्वयंप्रकाशानन्दसरस्वतीजीके साधक शिष्य काशीनिवासी गोस्वामी रामचरणपुरीजीके द्वारा भाषानुवाद कराय अब तीसरी वार शुद्ध करके निज "श्रीवेङ्कटेश्वर" (स्टीम्) मुद्रायन्त्रालयमें मुद्रित कर प्रसिद्ध किया। अब सर्व शास्त्रवेत्ता बुद्धिमान् जनोंसे प्रार्थना है कि, इस ग्रंथके मूल वा टीकामें जहां कहीं दृष्टिदोषसे अशुद्ध रहा होय उसको कृपापूर्वक सुधारदें.

भवदीय शुभाकांक्षी–

खेमराज श्रीकृष्णदास,

"श्रीवेङ्कटेश्वर" यन्त्रालयाध्यक्ष–मुंबई.

शिवसंहितास्थविषयानुक्रमणिका ।

इत्यनुक्रमणिका ।

ओ ३ म्

श्रीगणेशाय नमः ।

अथ शिवसंहिता ।

मंगलाचरणम् ।

विघ्नहरण गणनाथजी, बुद्धिगेह तुअ माहिं ॥
विघ्न बुद्धि दोनों विकल, नशत जात जगमाहिं ॥ १ ॥
बुद्धिराज दीजे हमें, बुद्धि पुत्र गौरीश ॥
योगयुक्ति भाषा करौं, धरि गुरुआज्ञा शीश ॥ २ ॥
शिव आलयमें जायके, होत जीव भवपार ॥
पाय कृपा गुरु शम्भुकी, भञ्जन चहों केंवार ॥ ३ ॥
गौरी अब मोहिं दीजिए, अनुशासन सुत जानि ॥
शिवभाषित भाषा रचों, छूटों भवभ्रम जानि ॥ ४ ॥
फिर नहिं आवों जगतमें, योग युक्ति सब जानि ॥
मातु कृपा मोपर करहु, शिक्षहुदेहुमोहिंज्ञान ॥ ५ ॥
नाम हमारोहै नहीं, नहीं कर्म गुण त्रास ॥
मातु पुकारत पै अहौं, रामचरणपुरि दास ॥ ६ ॥

श्लोक-यंज्ञातुमेवयातिनो मतिपूर्वमेतत्
संसारसृत्वरकलत्रसुतादिसर्वम् ॥
त्यक्त्वासमाधिविधिमेवसमाश्रयन्ते
वन्देकमप्यहमजञ्जगदादिबीजम् ॥ १ ॥

शिवसंहिता

भाषाटीका ।

प्रथमपटलः

मूलम्–एकंज्ञानं नित्यमाद्यन्तशून्यं नान्यत् किञ्चिद्वर्त्तते वस्तु सत्यम् ॥ यद्भेदोऽस्मिन्निन्द्रियोपाधिना वै ज्ञानस्यायं भासते नान्यथैव ॥ १ ॥

टीका–केवल एक ज्ञान नित्य आदि अन्तरहित है ज्ञानसे अलग अन्य कोई वस्तु सत्य संसारमें वर्त्तमान नहीं है केवल इन्द्रियोपाधिद्वारा संसार जो भिन्न भिन्न बोध होताहै सो यह ज्ञानमात्रही प्रकाश होता है और कुछ नहीं है अर्थात् ज्ञानसे भिन्न कुछ नहीं है ॥ १ ॥

मूलम्–अथ भक्तानुरक्तोऽहं वक्ष्ये योगानुशासनम् ॥ ईश्वरः सर्वभूतानामात्ममुक्तिप्रदायकः ॥ २ ॥ त्यक्त्वा विवादशीलानां मतं दुर्ज्ञानहेतुकम् ॥ आत्मज्ञानाय भूतानामनन्यगतिचेतसाम् ॥ ३ ॥

टीका–सर्व प्राणिमात्रके ईश्वर आत्ममुक्तिप्रदायक भक्तवत्सल जिन मनुष्योंको सिवाय आत्मज्ञानके अन्य गति नहीं है उनके हेतु कृपापूर्वक योगोप-

दश करतेहैं विवादशील लोगोंका मत दुर्ज्ञानका हेतु है यह त्यागनेके योग्य है ॥ २ ॥ ॥ ३ ॥

मूलम्—सत्यं केचित्प्रशंसन्ति तपः शौचं तथापरे ॥ क्षमां केचित्प्रशंसांति तथैव शममार्ज्जवम्॥४॥ केचिद्दानं प्रशंसन्ति पितृकर्म तथापरे ॥ केचित्कर्म प्रशंसन्ति केचिद्वैराग्यमुत्तमम् ॥ ५ ॥

टीका—कोई सत्यकी प्रशंसा करते हैं, कोई तपस्याकी, कोई शौचाचारकी, कोई क्षमाकी प्रशंसा, कोई समताकी, कोई सरलताकी, कोई दानकी प्रशंसा, कोई पितृकर्मकी, कोई सकाम उपासनाकी, कोई पुरुष वैराग्यको उत्तम कहतेहैं ॥ ४ ॥ ५ ॥

मूलम्—केचिद्गृहस्थकर्माणि प्रशसन्ति विचक्षणाः ॥ अग्निहोत्रादिकं कर्म तथा केचित्परं विदुः ॥ ६ ॥ मन्त्रयोगं प्रशंसन्ति केचित्तीर्थानुसेवनम् ॥ एवं बहूनुपायांस्तु प्रवदन्ति विमुक्तये ॥ ७ ॥

टीका—कोई पुरुष गृहस्थकर्मकी प्रशंसा करते हैं, कोई बुद्धिमान् पुरुष अग्निहोत्रादिक कर्मकी प्रशंसा करतेहैं कोई मंत्रादिक कोई तीर्थसेवन करना मुख्य

समझते हैं इसी प्रकार मनुष्य बहुतसे उपाय मुक्तिके हेतु अपने मतिके अनुसार करते हैं ॥ ६ ॥ ७ ॥

मूलम्–एवं व्यवसिता लोके कृत्याकृत्यावि-
दो जनाः ॥ व्यामोहमेव गच्छंति विमु-
क्ताः पापकर्मभिः ॥८ ॥एतन्मतावलम्बी
यो लब्ध्वा दुरितपुण्यके ॥ भ्रमतीत्यव-
शः सोऽत्र जन्ममृत्युपरम्पराम् ॥ ९ ॥

टीका–इसीतरह विधिनिषेध कर्मके जाननेवाले लोग पापकर्मसे रहित होके मोहमेंही पड़तेहैं और जो मनुष्य पुण्यपापका अनुष्ठान पहिले जो मत कहा है उसके आसरे होके करते हैं उसका फल यह होता है कि, मनुष्य वारंवार संसारमें जनमता और मरता है अर्थात् शुभाशुभ कर्म करनेसे कदापि मोक्ष नहीं होता परन्तु शुभकर्म करनेसे केवल चित्तकी शुद्धि होतीहै ॥ ८ ॥ ९ ॥

मूलम्–अन्यैर्मतिमतां श्रेष्ठैर्गुप्तालोकनतत्प-
रैः॥ आत्मानो बहवः प्रोक्ता नित्याः सर्व-
गतास्तथा ॥ १० ॥ यद्यत्प्रत्यक्षविषयं
तदन्यन्नास्ति चक्षते ॥ कुतः स्वर्गादयः
सन्तीत्यन्ये निश्चितमानसाः ॥ ११ ॥

टीका-कोई कोई बुद्धिमान् गुप्तशास्त्रके जाननेमें तत्पर अर्थात् गूढदर्शी बहुत आत्मा नित्य और सर्व-व्यापक कहते हैं बहुत प्रत्यक्षवादी यह कहते हैं कि, जो वस्तु प्रत्यक्ष देखनेमें आताहै वही सत्य है और कुछ नहीं है जिनकी बुद्धि स्वर्गादिकके न माननेमें निश्चित है ॥ १० ॥ ११ ॥

मूलं-ज्ञानप्रवाह इत्यन्ये शून्यं केचित्परं वि-
दुः ॥ द्वावेव तत्त्वं मन्यन्तेऽपरे प्रकृति-
पूरुषौ ॥ १२ ॥

टीका-कोई मनुष्य कहते हैं कि, सिवाय ज्ञान-धाराके और कुछ नहीं है जो वस्तु संसारमें वर्तमान देखने या सुननेमें आती है या किसी प्रकारसे उसका होना निश्चय होताहै वह सब ज्ञानही है कोई पुरुष यही जानता है कि, सिवाय शून्यके और कुछ नहीं है इसीतरह कोई मनुष्य प्रकृतिपुरुष दोनोंको तत्त्व मानते हैं ॥१२॥

मूलम्-अत्यन्तभिन्नमतयः परमार्थपराङ्-
मुखाः ॥ एवमन्ये तु संचिन्त्य यथामति य-
थाश्रुतम् ॥ १३ ॥ निरीश्वरमिदं प्राहुः
सेश्वरञ्च तथापरे ॥ वदन्ति विविधैर्भेदैः
सुयुक्त्याति स्थिताकातराः ॥ १४ ॥

टीका-बहुतसे परमार्थसे बहिर्मुख जिनकी भिन्न भिन्न मति है अपने मतिके अनुसार कर्मोंको मानते और करते हैं कोई कहते हैं कि, ईश्वर नहीं है इसीतरह बहुत लोग कहते हैं कि, यह संसार बिना ईश्वरके नहीं है अर्थात् ईश्वरहीसे है यही निश्चय जानते हैं अपनी युक्तिसे बहुत २ भेद कहते और उसमें स्थिरतासे तत्पर रहते हैं ॥ १३ ॥ १४ ॥

मूलम्-एते चान्ये च मुनिभिः संज्ञाभेदाः पृथग्विधाः ॥ शास्त्रेषु कथिता ह्येते लोकव्यामोहकारकाः॥१५॥एताद्विवादशीलानां मतं वक्तुं न शक्यते ॥ भ्रमन्त्यस्मिञ्जनाः सर्वे मुक्तिमार्गबहिष्कृताः ॥ १६ ॥

टीका-ऐसे बहुत मुनिलोगोंने नानाप्रकारके मत शास्त्रमें स्थापन किये हैं यह संसारके मोह भ्रममें पड़नेका हेतु है अर्थात् शास्त्रमें बहुतप्रकारके मत देखनेसे मनुष्यके चित्तमें भ्रम उत्पन्न होता है उस भ्रमका फल यह है कि, अपनी बुद्धिके अनुसार कोई एक मत ग्रहण करके मरणपर्यंत उसमें तत्पर मनुष्य रहताहै परंतु अमृत लाभ नहीं होता ऐसे विवादशील लोगोंका मत वर्णन करनेको हम शक्य नहीं हैं ।

मुक्तिमार्गसे विमुख होके सब मनुष्य संसारमें भ्रमण करते हैं ॥ १५ ॥ १६ ॥

मूलम्–आलोक्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः ॥ इदमेकं सुनिष्पन्नं योगशास्त्रं परं मतम् ॥ १७ ॥

टीका–श्रीमहादेवजी कहते हैं कि, सब शास्त्रोंको देखके और वारंवार विचारके यह निश्चित्त हुआ कि, एक यह योगशास्त्र उत्तम परमसंमत है अर्थात् यह सबसे उत्तम है तात्पर्य यह है कि, ऐसे मतको छोड़कर जिसकी प्रशंसा ईश्वर अपने मुखारविन्दसे करते हैं और जिसके ग्रहण करनेसे ब्रह्म करामलकवत् जानपडता है मनुष्य विक्षिप्तके तरह इधर उधर चित्तको दौड़ाते हैं और बहुत लोग यह विचारते हैं कि, यह बड़ा कठिन है आश्चर्यकी बात है कि, मनुष्यशरीरसे जब ऐसा उत्तम श्रम न होगा तो जान पडता है कि, रोगादिकसे शरीरके नाश होनेसे पीछे फिर जब पशुका जन्म होगा तब कुछ ईश्वरके जाननेमें श्रम करेंगे ॥ १७ ॥

मूलम्–यस्मिञ्ज्ञाते सर्वमिदं ज्ञातं भवति निश्चितम् ॥ तस्मिन्परिश्रमः कार्यः किमन्यच्छास्त्रभाषितम् ॥ १८ ॥

टीका-निश्चय जिसके जाननेसे सब संसार जाना जाता है ऐसे योगशास्त्रके जाननेमें परिश्रम करना अवश्य उचितहै फिर अन्य शास्त्र जो कहेहैं उनका क्या प्रयोजन है अर्थात् कुछ प्रयोजन नहीं तात्पर्य यह है कि, पंडित लोग वृथा विवाद करके जो लोग सुमार्गमें जानेकी इच्छा करतेहैं उनको भी भ्रष्ट कर देते हैं ॥ १८ ॥

मूलम्-योगशास्त्रमिदं गोप्यमस्माभिः परिभाषितम् ॥ सुभक्ताय प्रदातव्यं त्रैलोक्ये च महात्मने ॥ १९ ॥

टीका-यह योगशास्त्र जो हमने कहाहै सो परम गोपनीय है यह त्रैलोक्यमें महात्मा और अच्छे भक्त जनोंको देना उचित है तात्पर्य यह है कि, विना ईश्वरके भक्तिके यह शुभकर्म सिद्ध नहीं होता न उधर चित्तकी वृत्ति जातीहै इस हेतुसे अभक्तजनोंको देना उचित नहींहै ॥ १९ ॥

मूलम्-कर्मकाण्डं ज्ञानकाण्डमिति वेदो द्विधा मतः ॥ भवति द्विविधो भेदो ज्ञानकाण्डस्य कर्मणः ॥ २० ॥ द्विविधः कर्मकाण्डः स्यान्निषेधविधिपूर्वकः ॥ निषिद्धकर्मकरणे पापं भवति निश्चितम् ॥ विधि-

ना कर्मकरणे पुण्यं भवति निश्चितम्॥२१॥

टीका-कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड वेदके दो मत हैं इसमेंभी दो दो भेद कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्डमें भये हैं ॥ २० ॥ उस कर्मकाण्डमें दो प्रकार हैं एक निषेध दूसरा विधि तहाँ निषेध कर्म करनेसे निश्चय पाप होता है विहित कर्म करनेसे निश्चय करके पुण्य होताहै ॥२१॥

मूलम्-त्रिविधो विधिकूटःस्यान्नित्यनैमित्तिकाम्यतः॥नित्येऽकृते किल्बिषं स्यात्काम्ये नैमित्तिके फलम् ॥ २२ ॥

टीका-विधि कर्ममें तीन प्रकारका भेद कहाहै नित्य १ नैमित्तिक २ सकाम ३ नित्यकर्म संध्या देवार्चन आदि न करनेसे पाप होता है सकाम अर्थात् जो कर्म फलके इच्छासे किया जाताहै और नैमित्तिक जो तीर्थों में पर्वादिकमें स्नानादिक करते हैं इनके न करनेसे पाप नहीं होता परन्तु करनेसे फल होताहै ॥ २२ ॥

मूलं-द्विविधन्तु फलं ज्ञेयं स्वर्गो नरक एव च ॥ स्वर्गो नानाविधश्चैव नरकोपि तथा भवेत् ॥ २३ ॥

टीका-फल दो प्रकारका होताहै स्वर्ग और नरक स्वर्ग नानाप्रकारका है ऐसेही नरकभी बहुत प्रकारका

है तात्पर्य यह है कि, जैसा जो मनुष्य शुभाशुभ कर्म करता है वैसेही नरक वा स्वर्गमें जाताहै ॥ २३ ॥

मूलम्—पुण्यकर्माणि वै स्वर्गो नरकः पापकर्माणि ॥ कर्मबंधमयी सृष्टिर्नान्यथा भवति ध्रुवम् ॥ २४ ॥

टीका—पुण्यकर्म करनेसे स्वर्गमें जाताहै और पापकर्मसे नरकमें जाताहै. संसार कर्मसे निश्चय करके बंधाहै दूसरा हेतु नहीं है तात्पर्य यह है कि, जो ईश्वरको जानके कर्माकर्मसे अपनेको रहित समझेगा वह इस बंधसे छूटजायगा ॥ २४ ॥

मूलम्—जन्तुभिश्चानुभूयंते स्वर्गे नानासुखानि च ॥ नानाविधानि दुःखानि नरके दुःसहानि वै ॥ २५ ॥

टीका—प्राणी स्वर्गमें नानाप्रकारके सुखका अनुभव करता है ऐसेही बहुत प्रकारके दुःसह दुःख नरकमें भी भोगता है ॥ २५ ॥

मूलम्—पापकर्मवशाद्दुःखंपुण्यकर्मवशात्सुखं तस्मात्सुखार्थी विविधं पुण्यं प्रकुरुते ध्रुवं२६

टीका—पापकर्म करनेसे दुःख होता है और पुण्यकर्म करनेसे सुख होताहै इस हेतुसे निश्चय करके सुखार्थी पुरुष नानाप्रकारके पुण्य करते हैं ॥ २६ ॥

मूलम्—पापभोगावसाने तु पुनर्जन्म भवे-
त्खलु ॥ पुण्यभोगावसाने तु नान्यथा
भवति ध्रुवम् ॥ २७ ॥

टीका—पापका फल भोगनेके पीछे अवश्य फिर जन्म होताहै ऐसेही पुण्यफल भोगनेके अंतमें निश्चय फिर जन्म होता है अन्यथा नहीं होता ॥ २७ ॥

मूलम्—स्वर्गेऽपि दुःखसंभोगः परस्त्रीदर्शना-
द्ध्रुवम् ॥ ततो दुःखमिदं सर्वं भवेन्नास्त्यत्र
संशयः ॥ २८ ॥

टीका—स्वर्गमेंभी दुःखहैं इस कारणसे कि, उस स्थानमें परस्त्रीका दर्शन अवश्य होताहै उसकी अप्राप्तिमें मानसिक व्यथा उत्पन्न होती है अन्य भी राग द्वेषादि बहुतसे कारण हैं कि, प्राणीके चित्तको स्वर्गमें भी स्थिर नहीं रहने देते इस हेतुसे संसारमें सिवाय दुःखके सुख नहीं है ॥ २८ ॥

मूलम्—तत्कर्मकल्पकैः प्रोक्तं पुण्यंपापमि-
ति द्विधा ॥ पुण्यपापमयो बन्धो देहिनां
भवति क्रमात् ॥ २९ ॥

टीका—बुद्धिमान् लोगोंने पुंण्य और पाप दोप्रकारक

कर्म कहाहै इसी पुण्य पापसे शरीर बंधायमान है अर्थात् वारंवार शरीरधारण करनेका कारण है ॥ २९ ॥

मूलम्–इहामुत्र फलद्वेषी सफलं कर्म संत्यजेत् ॥ नित्यनैमित्तिके संगं त्यक्त्वा योगे प्रवर्तते ॥ ३० ॥

टीका–इस लोकका भोग वा परलोकके फलकी इच्छा और नित्य नैमित्तिक आदि कर्मोंको फलसहित त्यागके योगाभ्यास अर्थात् परब्रह्मके विचारमें महात्मा जनोंके तत्पर रहना उचित है ॥ ३० ॥

मूलं–कर्मकाण्डस्य माहात्म्यं ज्ञात्वा योगी त्यजेत्सुधीः ॥ पुण्यपापद्वयं त्यक्त्वा ज्ञानकाण्डे प्रवर्तते ॥ ३१ ॥

टीका– कर्मकाण्डके माहात्म्यको जानके योगीको उचितहै कि, पुण्य पाप दोनोंको तृणवत् विचारके त्याग दे और ज्ञानकाण्डमें तत्पर होरहे ॥ ३१ ॥

मूलम्–आत्मा वारे च श्रोतव्यो मंतव्य इति यच्छ्रुतिः ॥ सा सेव्या तत्प्रयत्नेन मुक्तिदा हेतुदायिनी ॥ ३२ ॥

टीका– यह श्रुतिका वाक्य है कि, आत्माको सुनो और आत्माको मनन करो अर्थात् जो कुछ

है सो आत्माही है सो श्रुति मुक्तिकी देनेवाली है यत्न करके सेवनके योग्य है ॥ ३२ ॥

मूलम्-दुरितेषु च पुण्येषु यो धीवृत्तिं प्रचोदयात् ॥ सोऽहं प्रवर्त्तते मत्तो जगत्सर्वं चराचरम् ॥ ३३ ॥ सर्वं च दृश्यते मत्तः सर्वं च मयि लीयते ॥ न तद्भिन्नोऽहमस्मीह मद्भिन्नो न तु किंचन ॥ ३४ ॥

टीका-पाप पुण्य दोनोंमें समानरूपकी बुद्धिको जो वृत्ति प्रेरणा करती है सो हम हैं और हमसेही सब जगत् चराचर उत्पन्न है ॥ ३३ ॥ और जो देख पड़ताहै वह सब हम हैं हममेंही सब लीन होताहै न वह हमसे भिन्न है न हम उससे किंचित्मात्र भिन्न हैं तात्पर्य यह है कि, वह आत्मा जिससे यह जगत् उत्पन्नहै हमसे भिन्न नहीं है इस हेतुसे इस संसारके स्थिति संहार कर्त्ता हम हैं ऐसी वृत्ति योगीकी रहती है ॥ ३४ ॥

मूलम्--जलपूर्णेष्वसंख्येषु शरावेषु यथा भवेत् ॥ एकस्य भात्यसंख्यत्वं तद्भेदोऽत्र न दृश्यते ॥ ३५ ॥ उपाधिषु शरावेषु या संख्या वर्त्तते परा ॥ सा संख्या भवति यथा रवौ चात्मनि तत्तथा ॥ ३६ ॥

टीका—जलसे भरा असंख्य शराब अर्थात् मृत्तिका आदिके पात्रमें एक सूर्यका अनेक प्रतिबिंब देख-पडता है वास्तवमें भेद नहीं है जो भेद देख-पडता है वह शरावके संख्याका भेद है ॥ ३६ ॥ जिस प्रकारसे शरावके संख्यासे सूर्यमें भेद जान पडता है उसी प्रकार मायाकी उपाधिसे ब्रह्म भिन्न भिन्न जान पडता है वस्तुतः केवल एक ब्रह्म है ॥३६॥

मूलम्—यथैकः कल्पकः स्वप्ने नानावि-धतयेष्यते ॥ जागरेऽपि तथाप्येकस्तथैव बहुधा जगत् ॥ ३७ ॥

टीका—जैसे स्वप्न अवस्थामें एकसे अनेक कल्पना होतीहै निद्राच्युत होजानेपर कुछ नहीं रहता उसी प्रकार मायाके आवरणसे अनेक संसार जान पडता है जब ज्ञानरूपी खड्गसे मायाका पटल कटजाता है तब सिवाय शुद्धब्रह्मके और कुछ नहीं रहजाता ॥ ३७ ॥

मूलम्-सर्पबुद्धिर्यथा रज्जौ शुक्तौ वा रजतभ्र-मः ॥३८॥ तद्वदेवमिदं विश्वं विवृतं पर-मात्मनि ॥ रज्जुज्ञानाद्यथा सर्पो मिथ्या रूपो निवर्तते ॥ ३९ ॥ आत्मज्ञानात्तथा याति मिथ्याभूतमिदं जगत् ॥ रौप्यभ्रा-न्तिरियं याति शुक्तिज्ञानाद्यथा खलु ४०

टीका—रस्सीमें सर्पकी भ्रान्ति और सीपीमें चाँदीकी भ्रान्ति होतीहै ॥३८॥उसी प्रकार शुद्धब्रह्ममें संसारकी झूँठी भ्रान्ति होती है रस्सीके ज्ञान होनेसे झूँठे सर्पका अभाव होजाता है॥३९॥ उसी तरह आत्मज्ञान होनेसे यह संसार नहीं रहजाता सीपीकोभी अच्छी तरह निश्चय जानलेनेसे चाँदीकी भ्रांति दूर होती है ॥ ४० ॥

मूलम्-जगद्भ्रान्तिरियं याति चात्मज्ञानाद्य-
था तथा ॥ यथा रज्जूरगभ्रान्तिर्भवेद्भे-
दवशाज्जगत् ॥ ४१ ॥ तथा जगदिदं
भ्रांतिरध्यासकल्पनाज्जगत् ॥ आत्मज्ञा-
नाद्यथा नास्ति रज्जुज्ञानाद्भुजङ्गमः ॥४२॥

टीका—वैसेही आत्मज्ञान होनेसे जगत्की भ्रान्ति दूर होती है जैसे रस्सीमें सर्पकी भ्रांति होतीहै ॥ ४१ ॥ उसी तरह आत्मामें अध्यास कल्पनामात्र जगत्की भ्रांति है रज्जुवत् ज्ञान होनेसे फिर जगत्का तीनों कालसे अभाव हो जाताहै ॥ ४२ ॥

मूलम्-यथा दोषवशाच्छुक्लः पीतोभवति ना-
न्यथा ॥ अज्ञानदोषादात्मापि जगद्भवति
दुस्त्यजम् ॥ ४३ ॥ दोषनाशे यथा शुक्लो

मूलम्-मैव योगिना स्वयम्॥ शुद्धज्ञानात्तथाऽज्ञाननाशादात्मा तथा कृतः ॥ ४४ ॥

टीका-जैसे मनुष्यको कवलकी व्याधि अर्थात् पित्तादिकके दोषसे सब वस्तु निश्चय पीतवर्ण देख पड़ती हैं उसी प्रकार अज्ञानरूपी दोषसे शुद्ध आत्मा नहीं प्रतीत होताहै परन्तु यह झूँठा संसार देख पड़ता है ऐसा अज्ञान बड़े कष्टसे दूर होताहै जैसे पित्तादिक दोषके नाश होनेसे फिर यथार्थ देखपडता है उसी प्रकार अज्ञान दूर होनेसे शुद्धब्रह्म निर्विकार जानपडता है तात्पर्य यह है कि, मनुष्यके पीछे एक अज्ञान की व्याधि वहुत बडी लगी है इसकी औषधि आत्मज्ञान है यह बात निश्चय है कि, व्याधि विना औषधिके दूर नहीं होती ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

मूलम्-कालत्रयेऽपि न यथा रज्जुःसर्पो भवेदिति ॥ तथात्मा न भवेद्विश्वं गुणातीतो निरञ्जनः ॥ ४५ ॥

टीका-जिस तरह रस्सी तीनों कालमें सर्प नहीं हो सकती उसी तरह आत्माभी तीनों कालमें कदापि संसार नहीं हो सक्ता अर्थात् नहीं है इस हेतुसे कि, आत्मा गुणातीत है अर्थात् गुणसे रहित है ॥ ४५ ॥

मूलम्-आगमाऽपायिनोऽनित्यानाश्यत्वेने-
श्वरादयः ॥ आत्मबोधेन केनापि शास्त्रा-
देतद्विनिश्चितम् ॥ ४६ ॥

टीका-वह शास्त्र जिसमें आत्मबोधका निरूपण किया है उससे निश्चय है कि, इंद्रादि देवताभी जो ईश्वर कहे जाते हैं नित्यभावसे रहित हैं अर्थात् उनकाभी जनन मरण होताहै ॥ ४६ ॥

मूलम्-यथा वातवशात्सिन्धावुत्पन्नाः फेन-
बुद्बुदाः ॥ तथात्मनि समुद्भूतं संसारं
क्षणभंगुरम् ॥ ४७ ॥

टीका-जैसे वायुकी उपाधिसे समुद्रमें फेन और बुद्बुदे उत्पन्न होते हैं क्षणभरमें फिर उसीमें लय होजाते हैं तैसेही आत्मासे संसार मायाकी उपाधिसे क्षणभंगी उत्पन्न होताहै फिर उसीमें लय होजाताहै ॥ ४७ ॥

मूलम्-अभेदो भासते नित्यं वस्तुभेदो न
भासते ॥ द्विधात्रिधादिभेदोऽयं भ्रमत्वे
पर्यवस्यति ॥ ४८ ॥

टीका-परमात्माका संसारसे सदा अभेद है और किसी वस्तुमें भेद नहीं है एक दो तीन ऐसा जो वस्तुका भेद जानपडताहै वह भ्रमका कारण है ॥ ४८ ॥

मूलम्--यद्भूतं यच्च भाव्यं वै मूर्तामूर्तं तथैव च ॥ सर्वमेव जगदिदं विवृतं परमात्मनि ॥ ४९ ॥

टीका-- जो भया है और जो होगा मूर्तिमान् वा अमूर्तिमान् यह सब जगत् आत्मासे मिलाहै अर्थात् उससे भिन्न नहीं है ॥ ४९ ॥

मूलम्--कल्पकैः कल्पिता विद्या मिथ्या जाता मृषात्मिका ॥ एतन्मूलं जगदिदं कथं सत्यं भविष्यति ॥ ५० ॥

टीका--यह संसार मिथ्याभूत अविद्याकल्पनासे कल्पित भया है बडे आश्चर्यकी बात है कि, जिसकी जड मिथ्या है वह आप कब सत्य होसक्ता है अर्थात् सब झूँठ है ॥ ५० ॥

मूलं--चैतन्यात्सर्वमुत्पन्नं जगदेतच्चराचरम् ॥ तस्मात्सर्वं परित्यज्य चैतन्यं त समाश्रयेत् ॥ ५१ ॥

टीका--केवल एक चैतन्य ब्रह्मसे जरायुज, अंडज, स्वेदज, उद्भिज्ज आदि सकल चराचर संसार उत्पन्न भया है इस हेतुसे सबको त्यागिके केवल उसी एक

चैतन्य आत्माके आसरे होना उचित है क्यों कि वही चैतन्य सबका कारण है ॥ ५१ ॥

मूलम्–घटस्याभ्यंतरे बाह्ये यथाकाशं प्रवर्तते ॥ तथात्माभ्यंतरे बाह्ये ब्रह्मांडस्य प्रवर्तते ॥ ५२ ॥

टीका–जैसे घटके भीतर बाहर आकाश व्याप्त है तैसेही इस ब्रह्माण्डके भीतर बाहर आत्मा परिपूर्ण व्याप्त है ॥ ५२ ॥

मूलम्–सततं सर्वभूतेषु यथाकाशं प्रवर्तते॥ तथात्माभ्यंतरे बाह्ये ब्रह्मांडस्य प्रवर्तते ॥ ५३ ॥ वर्तते सर्वभूतेषु यथाकाशं समंततः ॥ तथात्माभ्यंतरे बाह्ये कार्यवर्गेषु नित्यशः ॥ ५४ ॥

टीका–जिसप्रकार आकाश सब चराचरमें व्याप्त है उसीतरह आत्माभी इस जगत्में व्याप्त है अर्थात् आकाशवत् सब वस्तुमें आत्मा परिपूर्ण व्याप्त है॥५३॥ ५४॥

मूलम्–असंलग्नं यथाकाशं मिथ्याभूतेषु पंचसु ॥ असंलग्नस्तथात्मा तु कार्यवर्गेषु नान्यथा ॥ ५५ ॥

टीका-जिसतरह आकाश सब वस्तुमें मिला है और सबसे अलग है उसीतरह परमात्मा सब वस्तु चराचरमें व्याप्त है और सबसे अलग है ॥ ५५ ॥

मूलम्-ईश्वरादिजगत्सर्वमात्मव्याप्यं समन्ततः ॥ एकोऽस्ति सच्चिदानंदः पूर्णो द्वैतविवर्जितः ॥ ५६ ॥

टीका-ब्रह्मा आदि सब जगत्में वही एक आत्मा परिपूर्ण व्याप्त है वह एक सच्चिदानन्दपरिपूर्ण द्वैतरहित है अर्थात् दूसरा कुछ नहीं है ॥ ५६ ॥

मूलम्-यस्मात्प्रकाशको नास्ति स्वप्रकाशो भवेत्ततः ॥ स्वप्रकाशो यतस्तस्मादात्मा ज्योतिःस्वरूपकः ॥ ५७ ॥

टीका-जिसका कोई प्रकाशक नहीं है वह आपही प्रकाशमान है जो आपही प्रकाशमान है वह आत्मा ज्योतिःस्वरूप है ॥ ५७ ॥

मूलम्-अवच्छिन्नो यतो नास्ति देशकालस्वरूपतः ॥ आत्मनः सर्वथा तस्मादात्मा पूर्णो भवेत्खलु ॥ ५८ ॥

टीका-देश करके वा कालके प्रमाणसे वह परिच्छिन्न नहीं है अर्थात् उसका इयत्तापरिमाण नहीं है न

उसमें कालका नियम है इस हेतुसे आत्मा सर्वथा निश्चय परिपूर्ण है ॥ ५८ ॥

मूलम्–यस्मान्न विद्यते नाशः पंचभूतैर्वृथा-
त्मकैः॥ तस्मादात्मा भवेन्नित्यस्तन्नाशो
न भवेत्खलु ॥ ५९॥

टीका–यह जो मिथ्या पंचभूत हैं इनसे उसका नाश नहीं है इस कारणसे आत्मा नित्य है और यह निश्चय है कि उसका कभी नाश नहीं होता ॥ ५९ ॥

मूलम्--यस्मात्तदन्यो नास्तीह तस्मादेकोऽ-
स्ति सर्वदा॥यस्मात्तदन्यो मिथ्या स्या-
दात्मा सत्यो भवेत्खलु ॥६० ॥

टीका–जब दूसरा कुछ नहीं है तो एक वही सर्वदा अद्वैत है जब उसके सिवाय अर्थात् उससे अन्य सब मिथ्या है तो वही एक शुद्ध आत्मा सत्य है ॥ ६० ॥

मूलम्--अविद्याभूते संसारे दुःखनाशे सुखं
यतः ॥ ज्ञानादाद्यंतशून्यं स्यात्तस्मा-
दात्मा भवेत्सुखम् ॥ ६१ ॥

टीका–यह संसार अविद्यासे उत्पन्न भया है इसमें दुःखका नाश होनेपर सुख होता है और ज्ञानसे

दुःखका आदि अंत शून्य है इस हेतुसे निश्चय आत्मा सुखस्वरूप है ॥ ६१ ॥

मूलम्-यस्मान्नाशितमज्ञानं ज्ञानेन विश्वकारणम् ॥ तस्मादात्मा भवेज्ज्ञानं ज्ञानं तस्मात्सनातनम् ॥ ६२ ॥

टीका-जिसकरके अज्ञान नाश होताहै और यह जान पडताहै कि अज्ञानही संसारका कारण है सोई आत्मज्ञान है और ज्ञानही नित्य है ॥ ६२ ॥

मूलम्-कालतो विविधं विश्वं यदा चैव भवेदिदम् ॥ तदेकोऽस्ति स एवात्मा कल्पनापथवर्जितः ॥ ६३ ॥

टीका-काल पायके अनेक प्रकारका संसार उत्पन्न होताहै, सो वह एक आत्मा है वह कल्पनापथवर्जित है अर्थात् कल्पना नहीं होसक्ती ॥ ६३ ॥

मूलम्-बाह्यानि सर्वभूतानि विनाशं यान्ति कालतः ॥ यतो वाचो निवर्त्तते आत्मा द्वैतविवर्जितः ॥ ६४ ॥

टीका-आत्मासे जो अतिरिक्त वस्तु उत्पन्न है वह काल पायके नाश होजाती हैं आत्मा द्वैतरहित है,

अर्थात् एक है इसका वर्णन नहीं होसक्ता तात्पर्य यह है कि यावत् वस्तु उत्पन्न होती है उसको काल खाजाताहै परन्तु आत्मामें कालकाभी नाश होजाताहै ॥६४॥

मूलम्--न खं वायुर्न चाग्निश्च न जलं पृथिवी न च ॥ नैतत्कार्यं नेश्वरादि पूर्णैकात्मा भवेत्खलु ॥ ६५ ॥

टीका-वह आकाश नहीं है इस हेतुसे कि उसमें शब्द नहीं है वायु नहीं है क्यों कि उसमें स्पर्श नहीं है अग्नि नहीं है काहेसे कि उसमें तेजभाव नहीं है जल नहीं है क्यों कि उसमें रस नहीं है वह पृथ्वी नहीं है क्यों कि गन्धरहित है वह कार्य नहीं है क्यों कि उसका कारण नहीं है वह ब्रह्मा इंद्र आदि ईश्वर नहीं है इस हेतुसे कि उसका नाश नहीं होता अर्थात् वह आत्मा न आकाश न वायु न अग्नि न जल न पृथ्वी कुछ नहीं है निश्चय केवल एक परिपूर्णब्रह्म है ॥ ६५ ॥

मूलम्--आत्मानमात्मनो योगी पश्यत्यात्मनि निश्चितम् ॥ सर्वसंकल्पसंन्यासी त्यक्तमिथ्याभवग्रहः ॥ ६६ ॥

टीका-यह मिथ्यासंसाररूपी गृहको त्यागके सर्व

संकल्पसे रहित होके योगी आत्मासे आत्माको आत्मामें देखता है ॥ ६६ ॥

मूलम्--आत्मनात्मनि चात्मानं दृष्ट्वानन्तं सुखात्मकम्॥विस्मृत्य विश्वं रमते समाधेस्तीव्रतस्तथा ॥ ६७ ॥

टीका-संसार विस्मृति करके अर्थात् भुलाके आत्मासे आत्माको आत्मारूप होके देखता और आत्माके आनन्द सुखरूपी तीव्रसमाधिमें योगी रमण करता है ॥ ६७ ॥

मूलम्--मायैव विश्वजननी नान्या तत्त्वधिया परा ॥ यदा नाशं समायाति विश्वं नास्ति तदा खलु ॥ ६८ ॥

टीका-माया संसारकी माता है अर्थात् मायासेही संसार उत्पन्न भयाहै यह निश्चय है कि दुसरा हेतु इस जगत्के उत्पत्तिका नहीं है ज्ञान करके इस मायाके नाश होनेसे संसारका अभाव निश्चय जानपडताहै॥६८॥

मूलम्-हेयं सर्वमिदं यस्य मायाविलसितं यतः ॥ ततो न प्रीतिविषयस्तनुवित्तसुखात्मकः ॥ ६९ ॥

टीका-यह जूँठा मायाका प्रपंच विषयसुख धन शरीर है इनमें प्रीति करना उचित नहीं है यह सब त्यागनेके योग्य है ॥ ६९ ॥

मूलम्-अरिर्मित्रमुदासीनास्त्रिविधं स्यादिदं जगत् ॥ व्यवहारेषु नियतं दृश्यते नान्यथा पुनः ॥ ७० ॥

टीका-शत्रु मित्र उदासीनता यही तीन प्रकारके व्यवहारका प्रवाह इस संसारमें निश्चय देखपड़ता है॥७०॥

मूलम्-प्रियाप्रियादिभेदस्तु वस्तुषु नियतः स्फुटम् ॥ आत्मोपाधिवशादेवं भवेत्पुत्रादि नान्यथा ॥७१॥ मायाविलसितं विश्वं ज्ञात्वैवं श्रुतियुक्तितः ॥ अध्यारोपापवादाभ्यां लयं कुर्वन्ति योगिनः ॥ ७२ ॥

टीका-और प्रिय अप्रिय यही दो भेदसे जगत् बँधा है ॥ आत्माके उपाधिसे पिता पुत्रादि होतेहैं यह जगत् मायासे विलसितहै यह श्रुति प्रमाणसे जानके योगी लोग अध्यारोप अपवादसे आत्मामें लय करतेहैं अर्थात् शुद्धचैतन्यका मनन करते हैं ॥ ७१ ॥ ७२ ॥

मूलम्-कर्मजन्यं विश्वमिदं नत्वकर्मणि

वेदना ॥ निखिलोपाधिहीनो वै यदा भवति पूरुषः ॥ ७३ ॥

टीका--इस जगत्की स्थिति कर्मसे है अर्थात् सुख दुःख जन्म मरण आदि क्लेशोंका कारण कर्मही है अकर्म होजानेसे फिर कुछ दुःख नहीं है यावत् मायाके उपाधिको जब पुरुष जीतके उससे रहित होजाताहै ॥ ७३ ॥

मूलम्--तदा विजयतेऽखंडज्ञानरूपी निरंजनः ॥ स हि कामयते पुरुषः सृजते च प्रजाः स्वयम् ॥ ७४ ॥

टीका--तब अखंडज्ञानरूपी निरंजनका भान होताहै ॥ आत्मा अपने इच्छासे जगत् सृजता अर्थात् उत्पन्न करता है ॥ ७४ ॥

मूलम्--अविद्या भासते यस्मात्तस्मान्मिथ्या स्वभावतः ॥ शुद्धे ब्रह्मणि संबद्धो विद्यया सहजो भवेत् ॥ ७५ ॥

टीका--यह इच्छा अविद्याका कार्य है अविद्या नाम मिथ्याका है तो जब इच्छाही मिथ्या मायासे उत्पन्न है तो उस इच्छाका कार्य कब सत्य होसक्ताहै तात्पर्य यह है कि, मायाके उपाधिसे आत्माका यह इच्छाभूत

संसार मनोराज्यवत् है. जैसे मनुष्यका मनोराज्य मिथ्या है, उसी प्रकार आत्माका इच्छाभूत यह जगत्भी मिथ्याहै शुद्धब्रह्ममें ज्ञानरूपी विद्याका संबन्ध है ॥७५॥

मूलम्–ब्रह्मतेजोंऽशतो याति तत आभासते नभः ॥ तस्मात्प्रकाशते वायुर्वायोरग्निस्ततो जलम् ॥ ७६ ॥ प्रकाशते ततः पृथ्वी कल्पनेयं स्थिता सति ॥ आकाशाद्वायुराकाशपवनादग्निसंभवः ॥ ७७ ॥

टीका–उस ब्रह्मके तेजअंशसे आकाश उत्पन्नभया, आकाशसे वायु उत्पन्न भया, वायुसे अग्नि उत्पन्न भया अग्निसे जल भया, जलसे पृथ्वी उत्पन्न भई, यह कल्पना है आकाशसे वायु उत्पन्न भया और आकाश वायुसे तेज उत्पन्न भया ॥ ७६ ॥ ७७ ॥

मूलम्–खवाताग्नेर्जलं व्योमवाताग्निवारितोमही ॥ खंशब्दलक्षणं वायुश्चंचलः स्पर्शलक्षणः ॥ ७८ ॥ स्याद्रूपलक्षणं तेजः सलिलं रसलक्षणम् ॥ गन्धलक्षणिका पृथ्वी नान्यथा भवति ध्रुवम् ॥ ७९ ॥

विशेषगुणाः प्रस्फुरंति यतः शास्त्रादि-
निर्णयः ॥ शब्दैकगुणमाकाशं द्विगुणो
वायुरुच्यते॥ ८० ॥तथैव त्रिगुणं तेजो भ-
वन्त्यापश्चतुर्गुणाः ॥ शब्दः स्पर्शश्च रूपं
च रसो गन्धस्तथैव च ॥८१॥ एतत्पंच-
गुणा पृथ्वी कल्पकैः कल्प्यतेऽधुना॥चक्षु-
षा गृह्यते रूपं गन्धो घ्राणेन गृह्यते॥८२॥

टीका—और आकाश वायु अग्निसे जल उत्पन्न भया और इन चारोंसे पृथ्वी उत्पन्न भई, शब्दगुण आकाश-का है और स्पर्श गुण वायुका है, रूपगुण तेजका है, रसगुण जलका है और पृथ्वीका गुण गंध है. इन पांच तत्त्वोंमें यह गुण जो ऊपर कहा है विशेष है यह शास्त्रसे निर्णय भयाहै अन्यथा नहीं है निश्चय है कि, आकाशमें एक शब्द गुणहै, वायुमें दो गुण हैं, अग्निमें तीन गुण हैं और जलमें चार गुण हैं, पृथ्वीमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, यह पांचों गुण कल्पित हैं नेत्र रूपको ग्रहण करताहै और नासिका गंध ग्रहण करती है ॥ ७८ ॥ ७९ ॥ ८० ॥ ८१ ॥ ८२ ॥

मूलम्—रसो रसनया स्पर्शस्त्वचा संगृह्यते

परम्॥श्रोत्रेण गृह्यते शब्दो नियतं भाति नान्यथा ॥ ८३ ॥

टीका-और जिह्वासे रस ग्रहण होताहै और स्पर्श त्वचा अर्थात् शरीरके चर्मसे ग्रहण होताहै वा बोध होताहै और शब्द कर्णसे ग्रहण होता है यह निश्चयहै इसमें अन्यथा नहीं है ॥ ८३ ॥

मूलम्-चैतन्यात्सर्वमुत्पन्नं जगदेतच्चराचरम् ॥ अस्तिचेत्कल्पनेयं स्यान्नास्ति चेदस्ति चिन्मयम् ॥ ८४ ॥

टीका-सब जगत् चराचर उसी एक चैतन्यसे उत्पन्न भयाहै यदि संसार सत्य मानाजाय तो इस प्रकारसे कल्पना भईहै और जो संसारका अभावहै अर्थात् नहीं है तो वही एक चैतन्य आत्माहै और कुछ नहीं है ॥ ८४ ॥

मूलम्-पृथ्वी शीर्णा जले मग्ना जलं मग्नञ्च तेजसि ॥ लीनं वायौ तथा तेजो व्योम्नि वातो लयं ययौ ॥ ८५ ॥

टीका-पृथ्वी जलमें मग्न अर्थात् लय होजाती है जला

अग्निमें लयभावको प्राप्त होताहै और अग्नि वायुमें लय होजाताहै और वायु आकाशमें लीन होजाताहै ॥ ८५ ॥

मूलम्—अविद्यायां महाकाशो लीयते परमे पदे ॥ विक्षेपावरणाशक्तिर्दुरन्ता दुःखरूपिणी॥८६॥जडरूपा महामाया रजःसत्त्वतमोगुणा ॥ सा मायावरणाशक्त्यावृताविज्ञानरूपिणी ॥ ८७ ॥

टीका—और आकाश अविद्यामें लयभावको प्राप्त होजाताहै और यह अविद्या मायाभी परमपदको पहुँच जाती है अर्थात् आत्मामें लय होजातीहै. तात्पर्य यह है कि, जो उत्पन्न भयाहै उसका अवश्य नाशहै. ईश्वरकी यह दो शक्ति विक्षेप और आवरण हैं, इनका अंत नहींहैं यह महामाया दुःखरूपिणीमें रज, सत्त्व, तम, तीनों गुण हैं समय समयपर इन गुणोंको धारण कर लेतीहै सो माया आवरणशक्ति ज्ञानको आवृत करके अर्थात् छिपाके अज्ञानरूपिणी होजातीहै ॥ ८६ ॥ ८७ ॥

मूलम्—दर्शयेज्जगदाकारं तं विक्षेपस्वभावतः॥तमोगुणाधिकाविद्या या सा दुर्गा भवेत्स्वयम्॥८८॥ईश्वरं तदुपहितं चैतन्यं तद-

भूद्भुवम्॥सत्त्वाधिका च या विद्या लक्ष्मीः स्याद्दिव्यरूपिणी॥८९॥चैतन्यं तदुपहितं विष्णुर्भवति नान्यथा ॥ रजोगुणाधिका विद्या ज्ञेया सा वै सरस्वती ॥ यश्चित्स्वरूपो भवति ब्रह्मातदुपधारकः ॥९०॥

टीका—और संसारके आकारको देखातीहै यह विक्षेप करना उसका स्वभाव है माया जब तमोगुण धारण करतीहै तब दुर्गारूप होके चैतन्य ईश्वरको उत्पन्न करतीहै और जब सतोगुणको धारण करतीहै तब लक्ष्मी रूप होके चैतन्य जो विष्णु हैं उनको उत्पन्न करतीहै जब रजोगुणको धारण करतीहै तब सरस्वतीरूप होके चैतन्य जो ब्रह्मा हैं उनको उत्पन्न करतीहै अर्थात् सबके उत्पत्तिका कारण यही जगन्माता महामाया है ॥ ८८ ॥ ८९ ॥ ९० ॥

मूलम्—ईशाद्याः सकला देवा दृश्यन्ते परमात्मनि ॥ शरीरादिजडं सर्वं सा विद्या तत्तथा तथा॥९१॥एवंरूपेण कल्पन्ते कल्पका विश्वसम्भवम्॥तत्त्वातत्त्वं भवंतीह कल्पनान्येन मोदिता ॥ ९२ ॥

टीका–हमारे आदि सकल देवता उसी एक परमात्मामें देख पड़ते हैं और शरीरआदि सब जड पदार्थ उसी एक विद्या अर्थात् आत्मामें भिन्न भिन्न जान पड़तेहैं इसी तरह बुद्धिमान् लोगोंने संसारके स्थितिकी कल्पना कियाहै कि, तत्त्व अतत्त्व दोनों भयाहै अर्थात् आत्मासेही सब सृष्टिकी उत्पत्ति केवल कल्पनामात्रहै और कुछ किसीने कहा नहीं है ॥ ९१ ॥ ९२ ॥

मूलम्–प्रमेयत्वादिरूपेण सर्वं वस्तु प्रकाश्यते॥तथैव वस्तुनास्त्येव भासको वर्तकः परः ॥९३॥स्वरूपत्वेन रूपेण स्वरूपं वस्तु भाष्यते ॥ विशेषशब्दोपादाने भेदो भवति नान्यथा ॥ ९४ ॥

टीका–प्रमेयरूप . अर्थात् यावत् वस्तु संसारमें दृश्यमान हैं वह सबके प्रकाशका कारण वही एक आत्मा है उपाधिभेदसे भिन्न भिन्न स्वरूपदेखपड़ता है विशेष करके नामभेदसे भेद है अर्थात् ज्ञान और ज्ञेय दोनों वहीहै और कुछ नहीं है ॥ ९३ ॥ ९४ ॥

मूलम्–एकः सत्तापूरितानन्दरूपः पूर्णो व्यापी वर्त्तते नास्ति किञ्चित्॥एतज्ज्ञानं

यः करोत्येव नित्यं मुक्तः स स्यान्मृत्युसंसारदुःखात् ॥ ९५ ॥

टीका-एक सत्तामात्र पूरित आनन्दस्वरूप परिपूर्ण व्यापी सर्वदा वर्त्तमानहै और दूसरा कुछ नहीं है ऐसा ज्ञान जिसको है और सर्वदा वह यही मनन करताहै सो मुक्त है अर्थात् संसारके जन्ममरणआदि दुःखसे वह रहित है ॥ ९५ ॥

मूलम्-यस्यारोपापवादाभ्यां यत्र सर्वे लयं गताः ॥ स एको वर्तते नान्यत्तच्चित्तेनावधार्यते ॥ ९६ ॥

टीका-जहां ज्ञानद्वारा संसारके कार्योंका लय होजाता है अर्थात् उससे अभेद होजाते हैं उसी एक सर्वदा वर्तमान आत्मामें मनको लय करे अर्थात् आत्माकाही ध्यान धारण करे ॥ ९६ ॥

मूलम्-पितुरन्नमयात्कोशाज्जायते पूर्वकर्मणः ॥ शरीरं वै जडं दुःखं स्वप्राग्भोगाय सुन्दरम् ॥ ९७ ॥

टीका-पूर्वकर्मके अनुसार प्राणी पिताके अन्नमय कोशसे दुःख भोगनेके कारण जड शरीर सुन्दर भोगरूप उत्पन्न होताहै ॥ ९७ ॥

मूलम्-मांसास्थिस्नायुमज्जादिनिर्मितं भोगमन्दिरम् ॥ केवलं दुःखभोगाय नाडीसंततिगुंफितम् ॥ ९८ ॥

टीका-मांस अस्थि स्नायु मज्जा आदि नाडियोंसे बँधाहुआ यह भोगमन्दिर अर्थात् शरीर केवल दुःखका कारण है, तात्पर्य यह है कि, ऐसा शरीर जिसके उत्पत्ति स्थितिके स्मरण करनेसे घृणा होतीहै उसमें व्यर्थ मनुष्य मायामें फँसके मोह और अभिमान करताहै ॥९८॥

मूलम्--पारमेष्ठ्यमिदं गात्रं पंचभूतविनिर्मितम्॥ब्रह्माण्डसंज्ञकं दुःखसुखभोगाय कल्पितम् ॥ ९९ ॥

टीका--यह शरीर ब्रह्माके द्वारा पंचभूतसे निर्मित ब्रह्मांडसंज्ञा सुख दुःख भोगनेके हेतु कल्पितहै ॥९९ ॥

मूलम्--बिन्दुः शिवो रजः शक्तिरुभयोर्मिलनात्स्वयम् ॥ स्वप्नभूतानि जायन्ते स्वशक्त्या जडरूपया ॥ १०० ॥

टीका-शिवरूप बिन्दु और शक्तिरूप रज इन दोनोंके संबन्धसे ईश्वरकी शक्ति जडरूपा महामाया अपनी प्रभुतासे शरीरोंको उत्पन्न करती है ॥ १०० ॥

मूलम्—तत्पञ्चीकरणात्स्थूलान्यसंख्यानि चराचरम् ॥ ब्रह्मांडस्थानि वस्तूनि यत्र जीवोऽस्तिकर्मभिः ॥ १०१ ॥ तद्भूतपञ्चकात्सर्वं भोगाय जीवसंज्ञिता ॥ १०२ ॥

टीका—उसी पंचीकरणसे अनेक स्थूल वस्तु इस संसारमें चराचर उत्पन्न होती हैं यह जीवभी अपने कर्मके अनुसार भोग भोगनेके हेतु उसी पांच भूतसे जीवसंज्ञा करके प्रगट होता है ॥ १०१ ॥ १०२ ॥

मूलम्—पूर्वकर्मानुरोधेन करोमि घटनामहं॥ अजडः सर्वभूतान्वै जडास्थित्या भुनक्ति तान् ॥ १०३ ॥

टीका—ईश्वर कहते हैं कि, प्राणीको पूर्व कर्मके अनुसार हम उत्पन्न करतेहैं और सर्व. भूतोंसे हम अजड अर्थात् भिन्न और अविनाशी हैं परंतु जडरूप होके सबको हम खाजाते हैं अर्थात् सबका नाश करतेहैं ॥१०३॥

मूलम्—जडात्स्वकर्मभिर्बद्धो जीवाख्यो विविधो भवेत् ॥ भोगायोत्पद्यते कर्म ब्रह्मांडाख्ये पुनः पुनः॥जीवश्च लीयते भोगावसाने च स्वकर्मणः ॥ १०४ ॥

टीका-जीव अपने कर्ममें बंधके नाना प्रकारके जड शरीर धारण करता है और अपने कर्मके फल भोगनेके हेतु संसारमें वारंवार उत्पन्न होता है और सब कर्मोंके अवसानमें अर्थात् जब ज्ञानद्वारा सब कर्मोंसे रहित होजाता है तब उसी ज्ञानस्वरूप आत्मामें लय होजाताहै ॥ १०४ ॥

इति श्रीशिवसंहितायां हरगौरीसंवादे लयप्रकरणे भाषाटीकायां प्रथमः पटलः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयपटलः ।

मूलम्-देहेऽस्मिन्वर्तते मेरुःसप्तद्वीपसमन्वितः॥सरितःसागराः शैलाःक्षेत्राणि क्षेत्रपालकाः॥१॥ऋषयो मुनयः सर्वे नक्षत्राणि ग्रहास्तथा ॥ पुण्यतीर्थानि पीठानि वर्तन्ते पीठदेवताः ॥ २ ॥

टीका-प्राणीके इस शरीरमें सप्तद्वीपसहित सुमेरु है और नदी समुद्रआदि पर्वत और क्षेत्र क्षेत्रपाल ऋषि मुनि और सब नक्षत्र ग्रह पुण्यतीर्थ और पीठ देवता आदि सब इसी शरीरमें वर्तमान हैं । तात्पर्य यह है कि, मनुष्य तीर्थोंमें स्नान दर्शनके हेतु भटकता फिरता है, परंतु इस शरीरस्थ तीर्थ और देवताको नहीं जानता न

मनको शुद्ध करके उनके जाननेमें प्रयास करताहै॥१॥२॥

मूलम्--सृष्टिसंहारकर्तारौ भ्रमन्तौ शशि-भास्करौ॥नभो वायुश्च वह्निश्च जलं पृथ्वी तथैव च ॥ ३ ॥

टीका—सृष्टिके स्थिति संहारके कर्ता चन्द्रमा और सूर्य इस शरीरमें भ्रमण करते हैं और आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, अर्थात् पांचों तत्त्व सर्वदा शरीरमें वर्तमान रहतेहैं. तात्पर्य यह है कि, सब इसी शरीरमें हैं परंतु विना गुरुकी कृपाके देख नहींपड़ते ॥ ३ ॥

मूलम्--त्रैलोक्ये यानि भूतानि तानि सर्वाणि देहतः ॥ मेरुं संवेष्ट्य सर्वत्र व्यवहारः प्रवर्तते ॥ जानाति यः सर्वमिदं स योगी नात्र संशयः ॥ ४ ॥

टीका—जो त्रैलोक्यमें चराचर वस्तु हैं सो सब इसी शरीरमें मेरुके आश्रय होके सर्वत्र अपने २ व्यवहार को वर्तते हैं जो मनुष्य यह सब जानताहै सो योगी है इसमें संशय नहीं है ॥ ४ ॥

मूलम्—ब्रह्माण्डसंज्ञके देहे यथादेशं व्यवस्थितः ॥ मेरुशृंगे सुधारश्मिर्बहिरष्टकलायुतः ॥ ५ ॥

टीका-यह शरीर ब्रह्माण्डसंज्ञकहै जिस तरह संसारमें सब देश और सुमेरु पर्वतहै उसी तरह शरीरमें मेरु है उसके ऊपर सुधाकर अर्थात् चन्द्रमा आठ कलासे स्थितहै ॥ ५ ॥

मूलम्-वर्ततेऽहर्निशं सोऽपि सुधांवर्षत्यधोमुखः ॥ ६॥ ततोऽमृतं द्विधाभूतं याति सूक्ष्मं यथा च वै ॥ इडामार्गेण पुष्ट्यर्थं याति मन्दाकिनीजलम्॥पुष्णाति सकलं देहमिडामार्गेण निश्चितम् ॥ ७ ॥

टीका-सोई चन्द्रमा रात्रि दिवस अधोमुख होके अमृतकी वर्षा करते हैं वह अमृत सूक्ष्म दो भाग होजाता है सो मन्दाकिनीके जलके समान देहके रक्षार्थ इडा जो वामनाडी है उसके रन्ध्रसे सकल शरीरको पोषण करता है ॥ ६ ॥ ७ ॥

मूलम्-एष पीयूषरश्मिर्हि वामपार्श्वे व्यवस्थितः ॥ ८ ॥ अपरः शुद्धदुग्धाभो हठात्कर्षति मण्डलात् ॥ रन्ध्रमार्गेण सृष्ट्यर्थं मेरौ संयाति चन्द्रमाः ॥ ९ ॥

टीका-वही सुधाकिरण संयुक्त इडा नाडीकी स्थिति वामभागमें है और शुद्ध दूधके समान मेरुमें चन्द्रम

प्रसन्नतापूर्वक अपने मण्डलसे इडाके रन्ध्रमार्गसे आ-यके देहीका पोषण करते हैं॥ ८ ॥ ९ ॥

मूलम्–मेरुमूले स्थितः सूर्यः कलाद्वादशसं-
युतः ॥ दक्षिणे पथि रश्मिभिर्वहत्यूर्ध्वं प्र-
जापतिः ॥ १० ॥

टीका–मेरुदण्डके मूलमें अर्थात् नीचे बारह कला-संयुक्त सूर्य स्थित हैं दक्षिणपथ अर्थात् पिङ्गलानाडी द्वारा प्रजापति स्वरूपकी गति ऊपरको है ॥ १० ॥

मूलम्–पीयूषरश्मिनिर्यासं धातूंश्च ग्रसति
ध्रुवम् ॥ समीरमण्डले सूर्यो भ्रमते सर्व-
विग्रहे ॥ ११ ॥

टीका–सूर्य अमृतधातुको अपने किरण शक्तिसे ग्रास करजातेहैं और वायुमण्डलके साथ सब शरीरमें भ्रमण करतेहैं ॥ ११ ॥

मूलम्–एषा सूर्यपरामूर्तिर्निर्वाणं दक्षिणे प-
थि ॥ वहते लग्नयोगेन सृष्टिसंहारका-
रकः ॥ १२ ॥

टीका–यह सूर्यकी अपर निर्वाण मूर्ति है अर्थात् पिङ्गलानाडी दक्षिणभागमें स्थितहै सूर्य सृष्टिसंहार करता लग्नयोगसे नाडीद्वारा प्रवाह करतेहैं ॥ १२ ॥

मूलम्-सार्धलक्षत्रयं नाड्यः सन्ति देहान्तरे नृणाम् ॥ प्रधानभूता नाड्यस्तु तासु मुख्याश्चतुर्दश ॥ १३ ॥ सुषुम्णेडा पिंगला च गांधारी हस्तिजिह्विका ॥ कुहूः सरस्वती पूषा शंखिनी च पयस्विनी ॥१४॥ वारुणालम्बुसा चैव विश्वोदरी यशस्विनी ॥ एतासु तिस्रो मुख्याः स्युः पिङ्गलेडा सुषुम्णिका ॥ १५ ॥

टीका-शरीरमें बहुत नाडी हैं परंतु उनमें प्रधान नाडी साढेतीन लक्षहैं उनमेंसे मुख्य यह चौदह नाडी हैं १ सुषुम्णा २ इडा ३ पिङ्गला ४ गान्धारी ५ हस्तिजिह्वा ६ कुहू ७ सरस्वती ८ पूषा ९ शंखिनी १० पयस्विनी ११ वारुणा १२ अलंबुसा १३ विश्वोदरी १४ यशस्विनी इन चौदहमें भी तीन नाडी मुख्यहैं इडा, पिङ्गला, सुषुम्णा ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥

मूलम्-तिसृष्वेका सुषुम्णैव मुख्या सा योगिवल्लभा ॥ अन्यास्तदाश्रयं कृत्वा नाड्यः सन्ति हि देहिनाम् ॥ १६ ॥

टीका-इडा, पिङ्गला, सुषुम्णा इन तीन नाडियोंमें

भी एकही सुषुम्णा मुख्य है इस कारणसे कि, परमपदकी दाताहै योगी लोगोंको हितकारी है अन्य नाडी उसके आश्रय शरीरमें रहती हैं ॥ १६ ॥

मूलम्--नाड्यस्तु ता अधोवदनाःपद्मतन्तु-
निभाः स्थिताः ॥ पृष्ठवंशं समाश्रित्य
सोमसूर्याग्निरूपिणी ॥ १७ ॥

टीका-यह तीनों नाडी अधोवदनाहैं अर्थात् नीचेको मुख कमलतन्तुके सदृश हैं और चन्द्र सूर्य अग्निके समान हैं अर्थात् इडा चन्द्ररूप और पिङ्गला सूर्यरूप और सुषुम्णा अग्निरूप है यह तीनों नाडी मेरुदंडके आश्रय स्थित हैं ॥ १७ ॥

मूलम्--तासां मध्ये गता नाडी चित्रा सा
मम वल्लभा ॥ ब्रह्मरन्ध्रञ्च तत्रैव सूक्ष्मा-
त्सूक्ष्मतरं शुभम् ॥ १८ ॥

टीका-उन तीनों नाडियोंके मध्यमें जो चित्रा नाडी है वह हमको प्रिय है उसी स्थानमें बहुत सूक्ष्म ब्रह्मरंध्र शोभायमान है ॥ १८ ॥

मूलम्-पञ्चवर्णोज्ज्वला शुद्धा सुषुम्णा
मध्यचारिणी ॥ देहस्योपाधिरूपा सा
सुषुम्णा मध्यरूपिणी ॥ १९ ॥

टीका–वह चित्रानाडी पंचवर्ण अतिउज्ज्वल शुद्ध है और देहके उपाधिका कारणभी वही सुषुम्णान्तर्गता अर्थात् चित्रा नाडी है. तात्पर्य यह है कि, आत्मस्वरूप वही है ॥ १९ ॥

मूलम्–दिव्यमार्गमिदं प्रोक्तममृतानन्दकारकम् ॥ ध्यानमात्रेण योगींद्रो दुरितौघं विनाशयेत् ॥ २० ॥

टीका–यह मार्ग बहुत श्रेष्ठ अमृतानन्दकारक मुक्तिका दाता हमने कहा है जिसके ध्यानमात्रसे योगी लोगोंके पापका समूह नाश होजाताहै ॥ २० ॥

मूलम्–गुदात्तु द्व्यंगुलादूर्ध्वं मेढ्रात्तु द्व्यंगुलादधः ॥ चतुरंगुलविस्तारमाधारं वर्तते समम् ॥ २१ ॥

टीका–गुदासे दो अंगुल ऊपर और मेढ्रसे दो अंगुल नीचे मध्यमें चार अंगुल विस्तार आधारपद्म है ॥ २१ ॥

मूलम्–तस्मिन्नाधारपद्मे च कर्णिकायां सुशोभना ॥ त्रिकोणा वर्त्तते योनिः सर्वतंत्रेषु गोपिता ॥ २२ ॥

टीका–उस आधारपद्मके कर्णिकामें अर्थात् डंडीमें

त्रिकोण योनि है यह योनि सब तंत्रों करके गोपित है अर्थात् इसके प्रकाशकरनेकी आज्ञा किसी शास्त्रमें नहीं है ॥ २२ ॥

मूलम्—तत्र विद्युल्लताकारा कुण्डली परदेवता ॥ सार्द्धत्रिकरा कुटिला सुषुम्णा मार्ग संस्थिता ॥ २३ ॥

टीका—उसी स्थानमें कुण्डलिनी देवता साढेतीन हात कुटिला अर्थात् टेढी जिसकी प्रभा विद्युत्के समान है सुषुम्णाके मार्गमें स्थित है ॥ २३ ॥

मूलम्—जगत्संसृष्टिरूपा सा निर्माणे सततोद्यता ॥ वाचामवाच्या वाग्देवी सदा देवैर्नमस्कृता ॥ २४ ॥

टीका—सोई कुण्डलिनी जगत्के बहुत प्रकारसे उत्साहपूर्वक रचना करनेकी रूप है और वाग्देवी है अर्थात् उसीसे वाक्यका उच्चारण होताहै इस कुण्डलिनी देवीको देवतालोग नमस्कार करते हैं ॥ २४ ॥

मूलम्—इडानाम्नी तु या नाडी वाममार्गे व्यवस्थिता ॥ सुषुम्णायां समाश्लिष्य दक्षनासापुटे गता ॥ २५ ॥

टीका—जो इडा नाम नाड़ी वामभागमें है वह सु-

षुम्णाको आवृत करती हुई अर्थात् उससे मिलीहुई नासिकाके दक्षिणद्वारको गई है ॥ २५ ॥

मूलम्--पिङ्गला नाम या नाडी दक्षमार्गे व्यवस्थिता ॥ सुषुम्णा सा समाश्लिष्य वामनासापुटे गता ॥२६ ॥

टीका-दक्षिणमार्गमें जो पिङ्गला नाडी है वह सुषुम्णाके आसरे होके नासिकाके वामद्वारको गई है॥२६॥

मूलम्--इडापिंगलयोर्मध्ये सुषुम्णा या भवेत्खलु ॥ षट्स्थानेषु च षट्शक्तिं षट्पद्मं योगिनो विदुः ॥ २७ ॥

टीका-इडा पिङ्गलाके मध्यमें सुषुम्णा है इस सुषुम्णाके छः स्थानमें छः शक्ति हैं इनके नाम यह हैं डाकिनी, हाकिनी, काकिनी, लाकिनी; राकिनी, शाकिनी, और इन्हीं छः स्थानोंमें छः पद्म हैं उनके नाम यह हैं आधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा यह अपने ज्ञानसे योगी लोग जानते हैं ॥ २७ ॥

मूलम्--पंचस्थानं सुषुम्णाया नामानि स्युर्बहूनि च ॥ प्रयोजनवशात्तानि ज्ञातानीह शास्त्रतः ॥ २८ ॥

टीका--सुषुम्णाके पांच स्थान हैं उनके नाम बहुत हैं प्रयोजनसे शास्त्रकरके जाना जाताहै ॥ २८ ॥

मूलम्--अन्या याऽस्त्यपरा नाडी मूलाधारात्समुत्थिताः॥रसनामेढ्रनयनं पादांगुष्ठे च श्रोत्रकम् ॥ २९ ॥ कुक्षिकक्षांगुष्ठकर्णं सर्वांगं पायुकुक्षिकम्॥लब्ध्वातां वै निवर्तन्ते यथादेशसमुद्भवाः ॥ ३० ॥

टीका--और अन्य नाडी मूलाधारसे उठीहैं और जिह्वा, मेढ्र, नेत्र, पादका अङ्गुष्ठ, कर्ण, कुक्षि, कक्ष, हस्ताङ्गुष्ठ, पायु, उपस्थ, इन सब अङ्गोंमें इनका अन्त भयाहै अर्थात् मूलाधारसे उत्पन्न होके अपने अपने स्थानमें जाके निवृत्त होगई हैं ॥ २९ ॥ ३० ॥

मूलम्--एताभ्य एव नाडीभ्यः शाखोपशाखतः क्रमात् ॥ सार्धलक्षत्रयं जातं यथाभागं व्यवस्थितम् ॥३१॥ एता भोगवहा नाड्यो वायुसञ्चारदक्षकाः ॥ ओतप्रोताः सुसंव्याप्य तिष्ठन्त्यस्मिन्कलेवरे ॥ ३२ ॥

टीका--इन्हीं नाडियोंमेंसे शाखोपशाख क्रमसे साढेतीनलक्ष नाडी उत्पन्न होके अपने अपने स्थानमें स्थित हैं यह सब भोगवहांनाडी वायुके संचारमें

दक्षहैं ओतप्रोत अर्थात् संयोग वियोगसे इस शरीरमें व्याप्त हैं ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

मूलम्–सूर्यमण्डलमध्यस्थः कलाद्वादशसंयुतः॥बस्तिदेशे ज्वलद्वह्निर्वर्तते चान्नपाचकः ॥ ३३ ॥ वैश्वानराग्निरेषो वै मम तेजोंशसम्भवः ॥ करोति विविधं पाकं प्राणिनां देहमास्थितः ॥ ३४ ॥

टीका–द्वादशकलासंयुक्त सूर्यमण्डलके मध्यमें प्रज्वलित अग्नि है सो बास्तिदेशमें अन्नका पाचन करती है वह वैश्वानर अग्नि हमारे तेजसे उत्पन्न है प्राणीके शरीरमें स्थित होकर नाना प्रकारका पाक करती है ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

मूलम्– आयुःप्रदायको वह्निर्बलं पुष्टिं ददाति सः ॥ शरीरपाटवञ्चापि ध्वस्तरोग समुद्भवः ॥ ३५ ॥

टीका–सो वैश्वानर अग्नि आयु, बल और पुष्टता और शरीरमें कान्तिका देनेवाला है और यावत् रोगोंको नाश करनेवाला है ॥ ३६ ॥

मूलम्–तस्माद्वैश्वानराग्निञ्च प्रज्वाल्य वि-

धिवत्सुधीः ॥ तस्मिन्नन्नं हुनेद्योगी प्रत्य-
हं गुरुशिक्षया ॥ ३६ ॥

टीका—इस वैश्वानर अग्निको गुरुके शिक्षापूर्वक प्रज्वलित करके नित्य उसमें अन्नका होम करै अर्थात् भोजन करै ॥ ३६ ॥

मूलम्--ब्रह्माण्डसंज्ञके देहे स्थानानि स्युर्ब-
हूनि च ॥ मयोक्तानि प्रधानानि ज्ञात-
व्यानीह शास्त्रके ॥३७॥ नानाप्रकारना-
मानि स्थानानि विविधानि च ॥ वर्तन्ते
विग्रहे तानि कथितुं नैव शक्यते ॥ ३८॥

टीका—यह शरीर ब्रह्माण्डसंज्ञक है इसमें बहुत स्थान हैं हमने प्रधान प्रधान स्थान कहे हैं ये शास्त्रसे जाने जाते हैं बहुत प्रकारके स्थान और नाम उन स्थानोंके हैं जो इस शरीरमें वर्तमानहैं उनके वर्णन करनेको हम शक्य नहींहै अर्थात् बहुत विस्तारहै उसके कहनेमें व्यर्थ परिश्रम है ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

मूलम्--इत्थं प्रकल्पिते देहे जीवो वसति
सर्व्वगः ॥ अनादिवासनामालाऽलंकृतः
कर्मशृङ्खलः ॥ ३९ ॥

टीका—इसी तरह शरीर कल्पित है और जीव पूर्व-

वासनारूपी बेडीमें फँसके मालाके तरह घूमा करता है ॥ ३९ ॥

मूलम्--नानाविधगुणोपेतः सर्वव्यापारकारकः ॥ पूर्वार्जितानि कर्माणि भुनक्ति विविधानि च ॥ ४० ॥

टीका—सोई जीव नानाप्रकारके गुण ग्रहण करताहै और संसारमें बहुत प्रकारके व्यापार करताहै यह सब पूर्वार्जित शुभाशुभ कर्मके फल भोगताहै ॥ ४० ॥

मूलम्--यद्यत्संदृश्यते लोके सर्वं तत्कर्मसम्भवम् ॥ सर्वः कर्मानुसारेण जन्तुर्भोगान्भुनक्ति वै ॥ ४१ ॥

टीका—जो जो शुभाशुभ कर्म संसारमें देखपडताहै वह सबका आदिकारण कर्मही है प्राणीमात्र अपने कर्मके अनुसार भोग भोगता है ॥ ४१ ॥

मूलम्--ये ये कामादयो दोषाः सुखदुःखप्रदायकाः॥ ते ते सर्वे प्रवर्तन्ते जीवकर्मानुसारतः ॥ ४२ ॥

टीका—जो जो काम क्रोध आदिसे सुख दुःख होताहै सो सब जीवके कर्महीके अनुसार वर्तताहै ॥ ४२ ॥

मूलम्--पुण्योपरक्तचैतन्ये प्राणान्प्रीणाति केवलम् ॥ बाह्ये पुण्यमयं प्राप्य भोज्यवस्तु स्वयम्भवेत् ॥ ४३ ॥

टीका--पुण्यकर्मके अनुष्ठान करनेसे प्राणीको सुख होता है और बाह्य वस्तु श्रेष्ठ भोजनआदि नानाप्रकारकी वस्तु आपही मिल जातीहै ॥ ४३ ॥

मूलम्--ततः कर्मबलात्पुंसः सुखं वा दुःखमेव च ॥ पापोपरक्तचैतन्यं नैव तिष्ठति निश्चितम् ॥४४॥ न तद्भिन्नो भवेत्सोऽपि तद्भिन्नो न तु किञ्चन ॥ मायोपहितचैतन्यात्सर्वं वस्तु प्रजायते ॥ ४५ ॥

टीका--यह प्राणी अपने कर्मके बलसे सुख वा दुःख भोगताहै, जीव जब पापमें आसक्त होताहै तब दुःख भोगताहै, फिर उसको सुखलाभ नहीं होता. जीव अपने कर्मके अनुसार सुख वा दुःख भोगताहै इसमें भिन्नता नहीं है अर्थात् कर्ता भोक्तामें भेद नहीं. चैतन्य आत्मा जब मायोपहित होताहै तब सब वस्तु उत्पन्न होताहै ॥ ४४ ॥ ४५ ॥

मूलम्--यथाकालेपि भोगाय जन्तूनां विवि-

धोद्भवः ॥ यथा दोषवशाच्छुक्तौ रजता-
रोपणं भवेत् ॥ तथा स्वकर्मदोषाद्वै ब्रह्म-
ण्यारोप्यते जगत् ॥ ४६ ॥

टीका-जैसा काल भोगके हेतु निश्चय रहता है उसमें प्राणी नानाप्रकारसे भोग भोगनेके लिये उत्पन्न होताहै जैसे नेत्रके विकारके कारणसे सीपीमें चाँदीका आरोप होताहै वैसेही अपने कर्मके दोषसे प्राणी ब्रह्ममें मिथ्या जगत्का आरोप करताहै ॥ ४६ ॥

मूलम्-सवासनाभ्रमोत्पन्नोन्मूलनातिस-
मर्थनम् ॥ उत्पन्नश्चेदीदृशं स्याज्ज्ञानं
मोक्षप्रसाधनम् ॥ ४७ ॥

टीका-वासनासे भ्रम उत्पन्न होताहै जबतक वासनाकी जड नहीं जाती तबतक कदापि भ्रम दूर नहीं होता इसी तरह जब ज्ञान उत्पन्न होताहै तब कुछ नहीं रह जाता इस हेतुसे ज्ञानही मोक्षका साधन है ॥ ४७ ॥

मूलम्-साक्षाद्वैशेषदृष्टिस्तु साक्षात्कारिणि
विभ्रमे ॥ करणं नान्यथा युक्त्या सत्यं
सत्यं मयोदितम् ॥ ४८ ॥

टीका-विशेष करके दृष्टिसे साक्षात् जो देखपड-

ताहै वही साक्षात् भ्रमका कारणहै अर्थात् इसी साक्षात्में मनुष्य फँसाहै मायाके आवरणसे बुद्धि आगे नहीं जाती और दूसरा कारण कुछ नहीं है यह हम सत्य कहते हैं ॥ ४८ ॥

मूलम्--साक्षात्कारिभ्रमे साक्षात्साक्षात्कारिणि नाशयेत् ॥ सो हि नास्तीति संसारे भ्रमो नैव निवर्तते ॥ ४९ ॥

टीका–यह साक्षात् घटपट आदिका भ्रम ब्रह्मके प्रत्यक्ष होनेसे नाश होताहै विना आत्माके प्रत्यक्ष भये ब्रह्म संसारमें नहीं है यह भ्रम निवृत्त नहीं होता ॥ ४९ ॥

मूलम्–मिथ्याज्ञाननिवृत्तिस्तु विशेषदर्शनाद्भवेत् ॥ अन्यथा न निवृत्तिः स्याद्दृश्यते रजतभ्रमः ॥ ५० ॥

टीका–यह मिथ्या संसारका ज्ञान आत्माका विशेष दर्शन होनेसे निवृत्त होता है और किसीप्रकार इस अज्ञानकी निवृत्ति नहीं होती. जैसे सीपीमें चाँदीका भ्रम विना सीपीके निश्चय भये दूर नहीं होता ॥ ५० ॥

मूलम्–यावन्नोत्पद्यते ज्ञानं साक्षात्कारे निरञ्जने ॥ तावत्सर्वाणि भूतानि दृश्यन्ते विविधानि च ॥ ५१ ॥

टीका-जबतक आत्माका साक्षात्कार ज्ञान नहीं होता तबतक सब प्राणी संसार आदि नाना प्रकारके देखपडते हैं ॥ ५१ ॥

मूलम्-यदा कर्मार्जितं देहं निर्वाणे साधनं भवेत् ॥ तदा शरीरवहनं सफलं स्यान्न चान्यथा ॥ ५२ ॥

टीका-जो यह कर्मार्जित शरीर है इससे निर्वाण अर्थात् आत्मज्ञानका साधन होय तब इसका जन्म और स्थिति सुफल है नहीं तो व्यर्थ है. तात्पर्य यह है कि, जिस मनुष्यको आत्मज्ञान नहीं हुआ या इस विषयका उसने साधन नहीं किया उसका जन्म केवल माताके दुःख देने और पृथ्वीपर भारके हेतु भया॥५२॥

मूलम्-यादृशी वासना मूला वर्त्तते जीवसंगिनी ॥ तादृशं वहते जन्तुः कृत्याकृत्यविधौ भ्रमम् ॥ ५३ ॥

टीका-जैसी वासना जीवके संग रहती है वैसेही प्राणी शुभाशुभ कर्म भ्रमके वश होके करताहै और उसी वासनासे उत्पन्न और नाश होता रहताहै ॥ ५३ ॥

मूलम्-संसारसागरं तर्त्तुं यदीच्छेद्योगसाधकः ॥ कृत्वा वर्णाश्रमं कर्म फलवर्जं तदाचरेत् ॥ ५४ ॥

टीका-योगसाधक यदि संसारसे तरनेकी इच्छा करे तो यावत् वर्णाश्रमका कर्म फलरहित करना उचित है ॥ ५४ ॥

मूलम्-विषयासक्तपुरुषा विषयेषु सुखेप्सवः ॥ वाचाभिरुद्धनिर्वाणा वर्तन्ते पापकर्मणि ॥ ५५ ॥

टीका-विषयासक्त पुरुष सुख और विषयकी इच्छा में सर्वदा रहते हैं और पापकर्ममें ऐसे तत्पर रहते हैं कि, वाक्यभी उनका परमार्थ विषयमें रुद्ध रहता है अर्थात् मोक्षका साधन तो बहुत दूर है परन्तु परमार्थकी चर्चासेभी उनको ज्वर चढ़ताहै ॥ ५५ ॥

मूलम्-आत्मानमात्मना पश्यन्न किञ्चिदिह पश्यति॥तदा कर्मपरित्यागे न दोषोऽस्ति मतं मम ॥ ५६ ॥

टीका-जब ज्ञानी आत्मासे आत्माको देखे और सब वस्तुका अभाव जानपडे तब कर्मको त्यागदेनेमें कुछ दोष नहीं है यह हमारा मतहै ऐसा श्रीशिवजी जगन्माता पार्वतीजीसे कहते हैं ॥ ५६ ॥

मूलम्-कामादयो विलीयन्ते ज्ञानादेव न चान्यथा ॥ अभावे सर्वतत्त्वानां स्वयं तत्त्वं प्रकाशते ॥ ५७ ॥

टीका–ज्ञानमें कामक्रोधादि सकल पदार्थ लय होजाते हैं इसमें अन्यथा नहीं है, जब स्वयंतत्त्व अर्थात् आत्मज्ञान प्रकाश होताहै तब सब तत्त्वोंका अभाव होजाताहै ॥ ९७ ॥

इति श्रीशिवसंहितायां हरगौरीसंवादे योगप्रकथने तत्त्वज्ञानोपदेशो नाम द्वितीयः पटलः ॥ २ ॥

अथ तृतीयपटलः ।

मूलम्–हृद्यस्ति पङ्कजं दिव्यं दिव्यलिङ्गेन भूषितम् ॥ कादिठान्ताक्षरोपेतं द्वादशार्णविभूषितम् ॥ १ ॥

टीका–प्राणीके हृदयस्थानमें एक पद्म सुन्दर दिव्यलिङ्गसे शोभायमानहै यह पद्म क-से-ठ-तक द्वादश वर्ण करके शोभित है अर्थात् क-ख-ग-घ-ङ-च-छ-ज-झ-ञ-ट-ठ ॥ १ ॥

मूलम्–प्राणो वसति तत्रैव वासनाभिरलंकृतः ॥ अनादिकर्मसंश्लिष्टः प्राप्याहङ्कारसंयुतः ॥ २ ॥

टीका–उसी पद्ममें प्राणकी स्थितिहै और अनादि कर्म अहंकारसंयुक्त वासनासे अलंकृतहै ॥ २ ॥

मूलम्--प्राणस्य वृत्तिभेदेन नामानि विविधानि च ॥ वर्तन्ते तानि सर्वाणि कथितुं नैव शक्यते ॥ ३ ॥

टीका--प्राणके वृत्तिभेदसे जो इस शरीरमें वायु वर्तमान हैं उनके बहुतप्रकारके नाम हैं जिनके वर्णन करनेको हम शक्य नहीं हैं अर्थात् यहां उनके वर्णन का प्रयोजन नहीं है ॥ ३ ॥

मूलम्--प्राणोऽपानः समानश्चोदानो व्यानश्च पञ्चमः ॥ नागः कूर्मश्चकृकरो देवदत्तो धनञ्जयः॥ ४ ॥दशनामानिमुख्यानि मयोक्तानीह शास्त्रके ॥ कुर्वन्तितेऽत्रकार्याणि प्रेरितानि स्वकर्मभिः ॥ ५ ॥

टीका--प्राणके मुख्य भेदोंका नाम प्राण, अपान, समान, उदान, पांचवां व्यान और नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त, धनञ्जय, यह दश वायु मुख्य हैं हम शास्त्रप्रमाणसे कहते हैं शरीरमें यह वायु अपने कर्मसे प्रेरित होके कार्य करते हैं ॥ ४ ॥ ५ ॥

मूलम्--अत्रापि वायवः पञ्च मुख्याः स्युर्दशतः पुनः ॥ तत्रापि श्रेष्ठकर्त्तारौ प्राणापानौ मयोदितौ ॥ ६ ॥

टीका-वह दश वायुमें पांच मुख्य हैं फिर उनमेंभी निश्चय करके श्रेष्ठ करता श्रीमहादेवजी कहते हैं कि, हमने प्राण और अपानको कहाहै ॥ ६ ॥

मूलम्-हृदि प्राणोगुदेऽपानः समानोनाभिमण्डले ॥ उदानः कण्ठदेशस्थो व्यानः सर्वशरीरगः ॥ ७ ॥ नागादिवायवः पञ्च कुर्वन्ति ते च विग्रहे ॥ उद्गारोन्मीलनंक्षुत्तृड्जृम्भा हिक्का च पञ्चमः ॥ ८ ॥

टीका-हृदयस्थानमें प्राणकी स्थिति है और गुदामें अपान और नाभिमण्डलमें समान और कण्ठमें उदान और व्यान सब शरीरमें व्याप्तहै और नाग आदि जो पांच वायु हैं वह शरीरमें डकार, हिचकी, जँभाई, क्षुधा, पिपासा, उन्मीलन अर्थात् निद्रासे जाग्रत् होनेके समय जो नेत्रके खुलनेका हेतु है यह सब कार्य करतेहैं ॥ ७ ॥ ८ ॥

मूलम्-अनेन विधिना यो वै ब्रह्माण्डं वेत्ति विग्रहम् ॥ सर्वपापविनिर्मुक्तः स याति परमां गतिम् ॥ ९ ॥

टीका-इस विधानसे जो पहिले कहा है शरीरको जो मनुष्य ब्रह्माण्ड जानता है वह सर्व पापोंसे मुक्त होके

परमगतिको प्राप्त होताहै अर्थात् मोक्ष होताहै ॥ ९ ॥

मूलम्--अधुना कथयिष्यामि क्षिप्रं योगस्य सिद्धये ॥ यज्ज्ञात्वा नावसीदन्ति योगिनो योगसाधने ॥ १० ॥

टीका--अब जो हम कहते हैं इस विधिसे बहुत शीघ्र योग सिद्ध होता है और इसके जान लेनेसे योगीको योगसाधनमें कष्ट नहीं होता ॥ १० ॥

मूलम्--भवेद्वीर्यवती विद्या गुरुवक्त्रसमुद्भवा॥ अन्यथा फलहीना स्यान्निर्वीर्याप्यतिदुःखदा ॥ ११ ॥

टीका--जो विद्या गुरुके मुखसे सुनी वा जानी जाती है वह वीर्यवती होतीहै और अन्य प्रकारसे विद्या फलहीन निर्वीर्या और अतिदुःखकी देनेवाली होती है. तात्पर्य यह है कि, योगविद्या वा अन्यविद्या भलेप्रकार गुरुसे जानकरके करना उचित है जो लोक पुस्तकसे वा किसीको करते देखते योगादिक क्रिया आरम्भ करदेते हैं उनका कल्याण नहीं होता यथार्थ न जाननेसे कष्टही होताहै ॥ ११ ॥

मूलम्--गुरुं सन्तोष्य यत्नेन ये वै विद्यामुपासते ॥ अवलम्बेन विद्यायास्तस्याः फलमवाप्नुयुः ॥ १२ ॥

टीका—गुरुको सब तरहसे प्रसन्न करके जो विद्या मिलतीहै उस विद्याका फल शीघ्र होताहै अर्थात् थोडे कालमें सिद्ध होजातीहै ॥ १२ ॥

मूलम्--गुरुः पितागुरुर्माता गुरुर्देवो नसंशयः ॥ कर्मणा मनसा वाचा तस्मात्सर्वैः प्रसेव्यते ॥१३॥ गुरुप्रसादतः सर्वं लभ्यते शुभमात्मनः ॥ तस्मात्सेव्यो गुरुर्नित्यमन्यथा न शुभं भवेत् ॥ १४॥ प्रदक्षिणत्रयं कृत्वा स्पृष्ट्वा सव्येन पाणिना ॥ अष्टांगेननमस्कुर्याद्गुरुपादसरोरुहम्॥१५॥

टीका—गुरु पिता और गुरु माता और गुरु देवता है इसमें संशय नहीं है इस हेतुसे गुरुको कर्मसे मनसे वाक्यसे सब प्रकारसे सेवा करना उचितहै गुरुके प्रसादसे आत्माका सब शुभ होजाता है. इसलिये गुरुकी नित्य सेवा करना उचित है. दूसरी तरह शुभ नहीं है गुरुको तीन प्रदक्षिणा करके दक्षिण हाथसे स्पर्श करके गुरुके चरणकमलमें साष्टांग नमस्कार करना उचित है ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥

मूलम्—श्रद्धयात्मवतां पुंसां सिद्धिर्भवति नान्यथा ॥ अन्यथाश्च न सिद्धिः स्यात्तस्माद्यत्नेन साधयेत् ॥ १६ ॥

टीका—जिस पुरुषको श्रद्धा है उसको निश्चय करके विद्या सिद्ध होती है दूसरेको नहीं होती. इस हेतुसे साधकको उचित है कि यत्नसे साधन करे ॥ १६ ॥

मूलम्--न भवेत्संगयुक्तानां तथाऽविश्वासिनामपि ॥ गुरुपूजाविहीनानां तथा च बहुसंगिनाम् ॥१७॥ मिथ्यावादरतानां च तथा निष्ठुरभाषिणाम् ॥ गुरुसन्तोषहीनानां न सिद्धिः स्यात्कदाचन ॥ १८ ॥

टीका—जिस पुरुषका किसी व्यवहारी मनुष्यसे अतिसङ्ग है उसको योगविद्या सिद्ध नहीं होती ऐसेही अविश्वासी और जो गुरुपूजासे हीन हैं और जिनका बहुत लोगोंसे संग है और वह लोग जो झूठ और कठोर वचन बोला करते हैं और वह लोग जो गुरुको प्रसन्न नहीं करते इन लोगोंको, कदापि सिद्धि नहीं होती ॥ १७ ॥ १८ ॥

मूलम्--फलिष्यतीति विश्वासः सिद्धेः प्रथमलक्षणम्॥ द्वितीयं श्रद्धया युक्तं तृतीयं गुरुपूजनम्॥१९॥चतुर्थं समताभावं पञ्चमेन्द्रियनिग्रहम् ॥ षष्ठं च प्रमिताहारं सप्तमं नैव विद्यते ॥ २० ॥

टीका-योगसिद्धि होनेका प्रथम लक्षण यह है कि, उसके सिद्धिमें विश्वास हो दूसरे श्रद्धायुक्त तीसरे गुरुपूजारत हो चौथे प्राणीमात्रमें समताभाव रक्खे पांचवें इन्द्रियोंका निग्रह रहे छठवें परिमित भोजन करै यह छः लक्षण योगसिद्धिके हैं और सातवाँ नहीं है ॥१९॥२०॥

मूलम्-योगोपदेशं संप्राप्य लब्ध्वा योगविदं गुरुम् ॥ गुरूपदिष्टविधिना धिया निश्चित्य साधयेत् ॥ २१ ॥

टीका-योगवेत्ता गुरुसे योग उपदेश लेके जिस विधिसे गुरु उपदेश करे उस विधिसे बुद्धि निश्चय करके साधन करे ॥ २१ ॥

मूलम्-सुशोभने मठे योगी पद्मासनसमन्वितः ॥ आसनोपरि संविश्य पवनाभ्यासमाचरेत् ॥ २२ ॥

टीका-उपद्रवरहित सुन्दर स्वच्छ और उसका सूक्ष्म रन्ध्र होय उस मठमें पद्मासनसंयुक्त आसनपर बैठके योगी पवनका अभ्यास करे ॥ २२ ॥

मूलम्-समकायः प्राञ्जलिश्च प्रणम्य च गुरून् सुधीः ॥ दक्षे वामे च विघ्नेशं क्षेत्रपालांबिकां पुनः ॥ २३ ॥

टीका-समकायः अर्थात् सीधा शरीर करके हाथ जोडके गुरुको प्रणाम करे और दक्षिण वामभागमें गणेशजीको प्रणाम करे और क्षेत्रपाल और जगन्माता देवीको प्रणाम करना उचित है ॥ २३ ॥

मूलम्--ततश्च दक्षाङ्गुष्ठेन निरुद्ध्य पिंगलां सुधीः ॥ इडया पूरयेद्वायुं यथाशक्त्या तु कुम्भयेत् ॥ २४ ॥ ततस्त्यक्त्वा पिंगलया शनैरेव न वेगतः ॥ पुनः पिंगलयाऽऽपूर्य यथाशक्त्या तु कुम्भयेत्॥२५॥इडया रेचयेद्वायुं न वेगेन शनैःशनैः॥इदं योगविधानेन कुर्याद्विंशतिकुम्भकान् ॥ सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तः प्रत्यहं विगतालसः ॥२६॥

टीका-इसके पश्चात् दहिने हाथके अंगुष्ठसे पिंगलाको रोककरके इडासे वायुपूरक करे अर्थात् ग्राह्य करे और यथाशक्ति वायुको रोके फिर पिंगलासे शनैः शनैः रेचक अर्थात् वायुको बाहरकरे इसीप्रकार फिर पिंगलासे पूरक करके यथाशक्ति कुम्भक करे फिर इडासे धीरे धीरे रेचक करे वेगसे कदापि न करे इस योगविधानसे बीस कुम्भक करे और सर्वद्वन्द्वसे रहित होजाय अर्थात् एकाकार वृत्ति रक्खे और नित्य आलस्यको त्याग करके अभ्यास करे ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥

मूलम्–प्रातःकाले च मध्याह्ने सूर्यास्ते चार्द्धरात्रके ॥ कुर्यादेवं चतुर्वारं कालेष्वेतेषु कुम्भकान् ॥ २७ ॥

टीका–पूर्वोक्त विधिसे प्रातःकाल और मध्याह्नमें और सायंकालमें और अर्द्धरात्रिमें इसीतरह चार बार नित्य कुम्भक करना उचित है ॥ २७ ॥

मूलम्–इत्थं मासत्रयं कुर्यादनालस्योदिने दिने ॥ ततो नाडीविशुद्धिः स्यादविलम्बेन निश्चितम् ॥ २८ ॥

टीका–इसीप्रकार आलस्यको छोडकरके तीन मास नित्यकरे तो उस पुरुषकी नाडी बहुत शीघ्र शुद्ध होजाय यह निश्चय है ॥ २८ ॥

मूलम्–यदा तु नाडीशुद्धिः स्याद्योगिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ तदा विध्वस्तदोषश्च भवेदारम्भसम्भवः ॥ २९ ॥

टीका–तत्त्वदर्शी योगीकी जब नाडी शुद्ध होगी तब सर्व दोषका नाश होगा और आरम्भका सम्भव होगा ॥ २९ ॥

मूलम्–चिह्नानि योगिनो देहे दृश्यन्ते नाडिशुद्धितः ॥ कथ्यन्ते तु समस्तान्यङ्गानि संक्षेपतो मया ॥ ३० ॥

टीका–नाडी शुद्ध होनेपर जो योगीके शरीरमें चिह्न देखपडतेहैं उन सबको हम संक्षेपसे वर्णन करते हैं ॥ ३० ॥

मूलम्–समकायः सुगन्धिश्चसुकान्तिःस्वरसाधकः ॥३१॥ आरम्भघटकश्चैव यथा परिचयस्तदा ॥ निष्पत्तिः सर्वयोगेषु योगावस्था भवन्ति ताः ॥ ३२ ॥

टीका–जब योगीकी नाडी शुद्ध होगी तब समकाय होजायगा अर्थात् न स्थूल न कृश न वक्र रहेगा और शरीरमें सुगंधिसंयुक्त अच्छी कान्ति अर्थात् तेज रहेगा और वायुस्वरका साधन होजायगा और आरम्भका लक्षण जान पडेगा और सब योगका ज्ञान होजायगा इसको योगावस्था कहते हैं ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

मूलम्–आरम्भःकथितोऽस्माभिरधुना वायुसिद्धये ॥ अपरः कथ्यते पश्चात्सर्वदुःखौघनाशनः ॥ ३३ ॥

टीका–अभी जो हमने कहा है सो प्राणवायु सिद्ध होनेके आरम्भमें यह चिह्न होता है और इसके पीछे जो सर्व दुःखका नाश होता है सो कहते हैं ॥ ३३ ॥

मूलम्–प्रौढवह्निःसुभोगी च सुखीसर्वाङ्गसु-

न्दरः ॥ संपूर्णहृदयो योगी सर्वोत्साहब-
लान्वितः ॥ जायते योगिनोऽवश्यमेत-
त्सर्वं कलेवरे ॥ ३४ ॥

टीका–साधकके शरीरमें जठराग्नि विशेष प्रज्वलित होगी और सर्व अङ्ग सुन्दर सुखपूर्वक सुन्दर भोजन करेगा और बलसंयुक्त सर्व उत्साहसे हृदय योगीका प्रसन्न रहेगा इतने गुण योगीके शरीरमें अवश्य होंगे ॥ ३४

मूलम्–अथ वर्ज्यं प्रवक्ष्यामि योगविघ्नकरं
परम् ॥ येन संसारदुःखाब्धिं तीर्त्वा या-
स्यन्ति योगिनः ॥ ३५ ॥

टीका–अब जो योगमें विघ्न हैं उनको हम कहते हैं जिनको त्यागके यह संसाररूपी जो दुःखका समुद्र है योगी उसके पार होजाताहै ॥ ३५ ॥

मूलम्–आम्लं रूक्षं तथा तीक्ष्णंलवणंसार्ष-
पं कटुम्॥बहुलं भ्रमणं प्रातः स्नानं तैल-
विदाहकम्॥३६॥स्तेयं हिंसां जनद्वेषञ्चा-
हङ्कारमनार्जवम्॥उपवासमसत्यञ्च मोह-
ञ्च प्राणिपीडनम् ॥३७॥ स्त्रीसङ्गमग्निसेवां
च बह्वालापं प्रियाप्रियम्॥अतीव भोजनं
योगी त्यजेदेतानि निश्चित ॥ ३८ ॥

टीका—खट्टा रूखा तीक्ष्ण लोन सरसों कडुआ बहुत भ्रमण करना प्रातःकाल स्नान शरीरमें तेल मर्दन करना ॥ ३६ ॥ स्वर्णआदिककी चोरी हिंसा मनुष्यसे द्वेष व अहंकार अनार्जव अर्थात् मनुष्यसे प्रेम न रखना,उपवास,झूठ,ममता,प्राणीको पीडा देना॥३७॥ स्त्रीका सङ्ग, अग्निसेवन, प्रिय,अप्रिय,बहुत बोलना, बहुत भोजन करना योगीको उचित है कि, यह सब अवश्य त्यागदे ॥ ३८ ॥

मूलम्—उपायं च प्रवक्ष्यामि क्षिप्रं योगस्य सिद्धये ॥ गोपनीयं साधकानां येन सिद्धिर्भवेत्खलु ॥ ३९ ॥

टीका—अब हम बहुत शीघ्र योग सिद्ध होनेका उपाय कहते हैं इसको गोप्य रखनेसे साधकको योग निश्चय सिद्ध होजायगा ॥ ३९ ॥

मूलम्—घृतं क्षीरं च मिष्टान्नं ताम्बूलं चूर्णवर्जितम्॥कर्पूरं निष्ठुरं मिष्टं सुमठं सूक्ष्मवस्त्रकम् ॥४०॥ सिद्धान्तश्रवणं नित्यं वैराग्यगृहसेवनम् ॥ नामसङ्कीर्तनं विष्णोः सुनादश्रवणं परम् ॥४१॥ धृतिः क्षमा तपः शौचं ह्रीर्मतिर्गुरुसेवनम् ॥ सदैतानि परं योगी नियमेन समाचरेत् ॥ ४२ ॥

टीका–घृत दूध मधुर पदार्थ ताम्बूल कर्पूरवासित चूर्णरहित, कठोर शब्दरहित मधुर बोलना, सुन्दर सूक्ष्मरन्ध्रके स्थानमें रहना, सूक्ष्म वस्त्र अर्थात् महीन और थोडा वस्त्र धारण करे नित्य सिद्धांत अर्थात् वेदान्त श्रवण करे और वैराग्यसे गृहमें रहे ईश्वरका स्मरण करे अच्छा शब्द श्रवण करे धैर्य क्षमा तप शौच लज्जा गुरुकी सेवा योगी सदैव इसप्रकार नियमसंयुक्त रहे तो कल्याण होगा ॥ ४० ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

मूलम्–अनिलेऽर्कप्रवेशे च भोक्तव्यं योगिभिः सदा ॥ वायौ प्रविष्टे शशिनि शयनं साधकोत्तमैः ॥ ४३ ॥

टीका–जब सूर्यनाडी अर्थात् पिंगलानाडीका प्रवाह रहे तब योगी सदैव भोजन करे और जब चन्द्र अर्थात् इडानाडीसे वायुका प्रवाह रहे तब साधकके प्रति शयन करना उचित है ॥ ४३ ॥

मूलम्–सद्यो भुक्तेऽपि क्षुधिते नाभ्यासः क्रियते बुधैः ॥ अभ्यासकाले प्रथमं कुर्यात्क्षीराज्यभोजनम् ॥ ४४ ॥

टीका–भोजन करके तुरंत उसी समय अथवा जब क्षुधित होय तब साधक कदापि अभ्यास न करे और अभ्यास कालमें प्रथम दूध घृत भोजन करे ॥ ४४ ॥

मूलम्–ततोऽभ्यासे स्थिरीभूते न तादृङ्नियमग्रहः ॥ ४५ ॥ अभ्यासिना विभोक्तव्यं स्तोकं स्तोकमनेकधा ॥ पूर्वोक्तकाले कुर्यात्तु कुम्भकान्प्रतिवासरे ॥ ४६ ॥

टीका–जब अभ्यास स्थिर होजाय तब पूर्वोक्त नियमका कुछ प्रयोजन नहीं है ॥ ४५ ॥ और अभ्यासीको उचित है कि, थोडा थोडा कईबार भोजनकरे और जिसप्रकार पहिले कहा है इसीतरह नित्य कुम्भक करे॥४६॥

मूलम्–ततो यथेष्टा शक्तिः स्याद्योगिनो वायुधारणे ॥ यथेष्टं धारणाद्वायोः कुम्भकः सिद्ध्यति ध्रुवम् ॥ केवले कुम्भके सिद्धे किं न स्यादिह योगिनः ॥ ४७ ॥

टीका–योगीको वायु धारण करनेकी शक्ति इच्छाके अनुसार होजायगी. जब इच्छानुसार धारणशक्ति होजायगी तब कुंभक निश्चय सिद्ध होगा और केवल कुम्भक सिद्ध होनेसे योगी क्या नहीं करसकता अर्थात् सब सिद्ध करसकता है ॥ ४७ ॥

मूलम्–स्वेदःसंजायते देहे योगिनः प्रथमोद्यमे ॥ ४८ ॥ यदा संजायते स्वेदो मर्दनं

कारयेत्सुधीः ॥ अन्यथा विग्रहे धातुर्नष्टो भवति योगिनः ॥ ४९ ॥

टीका—योगीके शरीरमें प्रथम स्वेद अर्थात् पसीना उत्पन्न होता है जब स्वेद उत्पन्न होय तो उसको शरीरमें मर्दन करे अन्यथा अर्थात् मर्दन न करनेसे योगीके शरीरका धातु नष्ट होजाता है ॥ ४८ ॥ ४९ ॥

मूलम्—द्वितीये हि भवेत्कम्पो दार्दुरी मध्यमे मतः ॥ ततोऽधिकतराभ्यासाद्गगनेचरसाधकः ॥ ५० ॥

टीका—दूसरे भूमिकामें कंप होताहै तीसरेमें दार्दुरीवृत्ति होती है अर्थात् आसन उठता है फिर भूमिपर आमजाता है उससे अधिक अभ्यास होनेसे योगी गगनमें स्वेच्छाचारी होजाताहै ॥ ५० ॥

मूलम्—योगी पद्मासनस्थोऽपि भुवमुत्सृज्य वर्तते॥ वायुसिद्धिस्तदा ज्ञेया संसारध्वान्तनाशिनी ॥ ५१ ॥

टीका—योगी पद्मासनस्थ होके पृथ्वीको त्यागके आकाशमें स्थिर रहे तब जाने कि, संसारके अन्धकार नाश करनेवाली वायु सिद्ध होगई ॥ ५१ ॥

मूलम्—तावत्कालं प्रकुर्वीत योगोक्तनियम-

ग्रहम् ॥ अल्पनिद्रा पुरीषं च स्तोकं मूत्रं
च जायते ॥ ५२ ॥

टीका-उस कालतक योगके हेतु पूर्वोक्त नियम करना उचित है जबतक वायु न सिद्ध होय और योगीको थोड़ी निद्रा और थोड़ा मलमूत्र होता है ॥ ५२॥

मूलम्-अरोगित्वमदीनत्वं योगिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥स्वेदो लाला कृमिश्चैव सर्वथैव न जायते ॥ ५३ ॥ कफपित्तानिलाश्चैव साधकस्य कलेवरे ॥ तस्मिन्काले साधकस्य भोज्येष्वनियमग्रहः ॥ ५४ ॥

टीका-तत्त्वदर्शी योगीको कायिक वा मानसिक व्यथा उत्पन्न नहीं होती और स्वेद लाला कृमिआदि उत्पन्न नहीं होते और साधकके शरीरमें कफ पित्त वातका दोषभी नहीं होता पूर्वोक्त कालतक साधक भोजन आदिका नियम करे ॥ ५३ ॥ ५४ ॥

मूलम्--अत्यल्पं बहुधा भुक्त्वा योगी न व्यथते हि सः॥अथाभ्यासवशाद्योगी भूचरीं सिद्धिमाप्नुयात् ॥ यथाददुरजन्तूनां गतिः स्यात्पाणिताडनात् ॥ ५५ ॥

टीका-योगीको बहुत थोड़ा या विशेष भोजन क-

रनेसे कष्ट न होगा और योगीको अभ्याससे भूचरी सिद्धि होजायगी जैसे दर्दुरजन्तु पाणि ताडन करनेसे पृथ्वीपर उड्डान करताहै उसी प्रकार योगीभी पृथ्वीपर उड्डान करता है ॥ ५५ ॥

मूलम्--सन्त्यत्र बहवो विघ्ना दारुणा दुर्नि-
वारणाः ॥ तथापि साधयेद्योगी प्राणैः
कंठगतैरपि ॥ ५६ ॥

टीका--इस योगसाधनमें बहुत दारुण विघ्न होते हैं जिसका निवारण बहुत कठिन है. परन्तु साधकको उचित है कि, यदि कंठगतभी प्राण होजाँय तोभी साधन न छोड़े ॥ ५६ ॥

मूलम्--ततो रहस्युपाविष्टः साधकः संयते-
न्द्रियः॥प्रणवं प्रजपेद्दीर्घं विघ्नानां नाशहे-
तवे ॥ ५७ ॥

टीका-साधकको उचित है कि, विघ्नोंके नाशके हेतु इन्द्रियोंके संयममें अर्थात् उनके कार्यको रोकके विधि-पूर्वक एकान्तमें बैठके दीर्घमात्रासे अर्थात् स्पष्ट अक्षरके उच्चारणसे प्रणवका जप करे ॥ ५७ ॥

मूलम्--पूर्वार्जितानि कर्माणि प्राणायामेन
निश्चितम् ॥ नाशयेत्साधको धीमानिह
लोकोद्भवानि च ॥ ५८ ॥

टीका—पूर्वार्जित कर्म और जो इस जन्ममें किया है यह दोनोंके फलको बुद्धिमान् साधक प्राणायामसे निश्चय है कि, नाश करदेता है ॥ ५८ ॥

मूलम्—पूर्वार्जितानि पापानि पुण्यानि विविधानि च ॥ नाशयेत्षोडशप्राणायामेन योगिपुंगवः ॥ ५९ ॥

टीका—श्रेष्ठयोगी पूर्वार्जित नानाप्रकारका पाप और पुण्य केवल सोलह प्राणायामसे नाश करदेताहै ॥ ५९ ॥

मूलम्—पापतूलचयानाहोप्रलयेत्प्रलयाग्निना ॥ ततः पापविनिर्मुक्तः पश्चात्पुण्यानि नाशयेत् ॥ ६० ॥

टीका—साधक पाप राशिको तूलके समान प्राणायामरूपी अग्निसे प्रलय करदेताहै अर्थात् जलादेताहै. इसप्रकारसे मुक्तहोके पश्चात् पुण्यकोभी उसी अग्निमें नाश करदेताहै ॥ ६० ॥

मूलम्—प्राणायामेन योगीन्द्रो लब्ध्वैश्वर्याष्टकानि वै ॥ पापपुण्योदधिं तीर्त्वा त्रैलोक्यचरतामियात् ॥ ६१ ॥

टीका—योगी प्राणायामके प्रभावसे आठ ऐश्वर्य

जिसको अष्टसिद्धि कहते हैं अर्थात् अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशिता और वशिता प्राप्त करता है अब इन आठों सिद्धिके लक्षण कहते हैं योगीका शरीर इच्छामात्रसे परमाणुवत् होजाय उसको अणिमा कहते हैं और योगी इच्छापूर्वक प्रकृतिको अपनेमें करके आकाशवत् स्थूल होजाय उसको महिमा कहतेहैं और अति हलके शरीरका पर्वतके समान भारी होजाना उसको गरिमा कहते हैं और वहुत भारी पर्वतके समानको रुईके सदृश होजाना इसको लघिमा कहते हैं और सर्व पदार्थ इच्छामात्रसे योगीके समीप होजाय उसको प्राप्ति कहते हैं और दृश्यादृश्य अर्थात् कभी देख पडे कभी न देखपडे इसको प्राकाम्य कहतेहैं और भूत भविष्य पदार्थको जन्म मरणकी रचना करनेमें समर्थ होय उसको ईशिता कहते हैं और भूत भविष्य वर्तमान पदार्थको इच्छा से अपने आधीन करलेना इसको वशित्वसिद्धि कहते हैं और योगी पाप पुण्यके समुद्रको तरके अपनी इच्छा पूर्वक त्रैलोक्यमें विचरताहै ॥ ६१ ॥

मूलम्--ततोऽभ्यासक्रमेणैव घटिकात्रितयं भवेत् ॥ येन स्यात्सकलासिद्धिर्योगिनः स्वेप्सिता ध्रुवम् ॥ ६२ ॥

टीका-पूर्वोक्त क्रमसे प्राणायाम जब तीन घडीतक स्थिर होजायगा तब योगीको उसके इच्छाके अनुसार सब सिद्ध होजायगा यह निश्चय है ॥ ६२ ॥

मूलम्-वाक्सिद्धिः कामचारित्वं दूरदृष्टिस्तथैव च ॥ दूरश्रुतिः सूक्ष्मदृष्टिः परकायप्रवेशनम् ॥६३॥ विण्मूत्रलेपने स्वर्णमदृश्यकरणं तथा ॥ भवन्त्येतानि सर्वाणि खेचरत्वं च योगिनाम् ॥६४॥

टीका-वाक्यसिद्धी स्वेच्छाचारी दूरदृष्टी दूर शब्द श्रवण अतिसूक्ष्म दर्शन दूसरेके शरीरमें प्रवेश करनेकी शक्ति होय और योगी अन्यधातुमें अपने मल मूत्र लेपनमात्रसे स्वर्ण करे और योगीको अदृश्य होजानेकी शक्ति और आकाशमें गमन करनेकी सिद्धि यह सब योगीको कुम्भक सिद्ध होजानेसे स्वयं सिद्ध होजायगा इसमें संशय नहीं है ॥ ६३ ॥ ६४ ॥

मूलम्-यदा भवेद्घटावस्था पवनाभ्यासने परा ॥ तदा संसारचक्रेऽस्मिंस्तन्नास्ति यन्न साधयेत् ॥ ६५ ॥

टीका-जब योगीकी घटावस्था होगी अर्थात् उसमें

योगकी घटना होगी तब यह संसारचक्र योगीको कुछ असाध्य न रहैगा ॥ ६५ ॥

मूलम्–प्राणापाननादबिंदुजीवात्मपरमात्मनः ॥ मिलित्वा घटते यस्मात्तस्माद्वै घट उच्यते ॥ ६६ ॥

टीका–प्राण अपान नाद बिन्दु जीव आत्मा और परमात्मा इनको एकत्र घटना होनेसे इसको घटावस्था कहते हैं ॥ ६६ ॥

मूलम्–याममात्रं यदा धर्तुं समर्थः स्यात्तदाद्भुतः ॥ प्रत्याहारस्तदैव स्यान्नांतरा भवति ध्रुवम् ॥ ६७ ॥

टीका–एक प्रहर मात्र जब वायु धारण करनेकी सामर्थ्य होगी तब अद्भुत प्रत्याहारकी शक्ति होगी और साधनसे न होगी निश्चय है ॥ ६७ ॥

मूलम्–यं यं जानाति योगीन्द्रस्तं तमात्मेति भावयेत् ॥ यैरिन्द्रियैर्यद्विधानस्तदिन्द्रियजयो भवेत् ॥ ६८ ॥

टीका–योगी जो जो पदार्थ जाने सो सो पदार्थमें आत्माकाही भावना करे जो इंद्रियसे जिस पदार्थका बोध होगा उस पदार्थमें वही आत्मभावनासे वह इंद्रिय

जय हो जायगी अर्थात् जैसे नेत्रसे रूपका बोध होताहै तो जब रूपमें आत्मभावना होगी तब उस भावनासे चक्षु इन्द्रिय रूपमें कदापि आसक्त न होगी जब वह आसक्त न भई तब वह इन्द्रिय आपही जय होगई ॥६८॥

मूलम्–याममात्रं यदा पूर्णं भवेदभ्यासयोगतः॥एकवारं प्रकुर्वीत तदा योगी च कुम्भकम्॥६९॥दण्डाष्टकं यदा वायुर्निश्चलो योगिनो भवेत् ॥ स्वसामर्थ्यात्तदांगुष्ठे तिष्ठेद्वातुलवत्सुधीः ॥ ७० ॥

टीका–जब एकवारमें पूर्ण एक प्रहरतक योगीका अभ्याससे कुम्भक स्थिर रहेगा अर्थात् आठ घडीतक योगीका वायु निश्चल रहे तब वह अपने सामर्थ्यसे अङ्गुष्ठमात्रके बलसे अचल अबोधवत् खडा रहसक्ता है अर्थात् यह सामर्थ्य भी योगीको होगी और अपने सामर्थ्यको गोप्य रखनेके हेतु विक्षिप्तकी चेष्टा योगी दिखलावैगा ॥ ६९ ॥ ७० ॥

मूलम्–ततःपरिचयावस्था योगिनोऽभ्यासतो भवेत् ॥यदा वायुश्चंद्रसूर्यं त्यक्त्वा तिष्ठति निश्चलम् ॥ ७१ ॥ वायुः परिचितो वायुः सुषुम्ना व्योम्नि संचरेत् ॥

टीका—इस अन्तरमें योगीकी अभ्याससे परिचयावस्था होगी जब वायु इडा पिङ्गलाको त्यागके निश्चल स्थिर रहेगा ॥ ७१ ॥ तब परिचित होके सुषुम्नाके रन्ध्रसे प्राणवायु आकाशको गमन करेगा ॥

मूलम्—क्रियाशक्तिं गृहीत्वैव चक्रान्भित्त्वा सुनिश्चितम् ॥ ७२ ॥ यदा परिचयावस्था भवेदभ्यासयोगतः ॥ त्रिकूटं कर्मणां योगी तदा पश्यति निश्चितम् ॥ ७३ ॥

टीका—क्रियाशक्तिको ग्रहण करके योगी निश्चय सब चक्रको वेधेगा ॥७२॥ और जब योग अभ्याससे परिचयावस्था होगी तब त्रिकूट कर्मोंको योगी निश्चय देखेगा तात्पर्य यह है कि, जब योगीका पूर्वोक्त अभ्यास सिद्ध होजायगा तब त्रिकूट अर्थात् आध्यात्मिक आधिभौतिक आधिदैविक मानसिक दुःखको आध्यात्मिक कहते हैं और भूत पिशाचादिसे जो कष्ट होता है उसको आधिभौतिक कहते हैं और देवता आदिसे जो कर्मानुसार कष्ट होताहै उसको आधिदैविक कहते हैं यह त्रिकूटकर्मोंका ज्ञान योगीको होजाता है ॥ ७३ ॥

मूलम्—ततश्चकर्मकूटानि प्रणवेन विनाशयेत् ॥ स योगी कर्मभोगाय कायव्यूहं समाचरेत् ॥ ७४ ॥

टीका–इस कर्मकूटको योगी प्रणवद्वारा नाश करदेताहै और यदि पूर्वकृत कर्मफल भोगनेकी इच्छा करे तो अपने इच्छानुसार इसी जन्ममें इसी शरीरसे भोगलेगा ॥ ७४ ॥

मूलम्–अस्मिन्कालेमहायोगी पंचधा धारणं चरेत् ॥ येन भूरादिसिद्धिः स्यात्ततो भूतभयापहा॥७५॥आधारे घटिकाः पंचलिंगस्थाने तथैव च ॥ तदूर्ध्वं घटिकाः पञ्च नाभिहृन्मध्यके तथा ॥७६॥ भ्रूमध्योर्ध्वं तथा पंच घटिका धारयेत्सुधीः ॥ तथा भूरादिना नष्टो योगीन्द्रो न भवेत्खलु ॥ ७७ ॥

टीका–जिसकालमें महायोगी पञ्चधाधारणा सिद्ध करलेगा तब यह पञ्चभूत सिद्ध होजायँगे और इनसे कोई कष्टका भय नहोगा. अब धारणाका निर्णय करतेहैं कि, आधारचक्रमें पांचघडी वायू धारणकरे इसी क्रमसे स्वाधिष्ठान मणिपूर अनाहत विशुद्ध आज्ञाचक्रमें अर्थात् गुदा लिङ्ग नाभि हृदय कंठ भृकुटीके मध्यमें ऊपर कहेहुए प्रमाणसे वायु धारणकरेगा तो योगी पञ्चभूतसे निश्चय नाश न होगा ॥ ७५ ॥ ७६ ॥ ७७ ॥

मूलम्–मेधावी सर्वभूतानां धारणांयः सम-
भ्यसेत् ॥ शतब्रह्ममृतेनापि मृत्युस्त-
स्य न विद्यते ॥ ७८ ॥

टीका–बुद्धिमान् योगी अभ्याससे पञ्चभूतकी धारणा करेगा तो यदि एकशत ब्रह्माभी मृत्युको प्राप्त होंगे तबभी उसकी मृत्यु न होगी ॥ ७८ ॥

मूलम्–ततोऽभ्यासक्रमेणैव निष्पत्तिर्योगि-
नो भवेत् ॥ अनादिकर्मबीजानि येन ती-
र्त्वाऽमृतं पिबेत् ॥ ७९ ॥

टीका–इस अभ्यासक्रमसे योगीको ज्ञान होता है और अनादिकर्म बीजको तरके अर्थात् नाश करके योगी अमृतपान करताहै ॥ ७९ ॥

मूलम्–यदा निष्पत्तिर्भवति समाधेः स्वेन
कर्मणा ॥ जीवन्मुक्तस्य शांतस्य भवेद्धी-
रस्य योगिनः ॥ ८० ॥ यदा निष्पत्तिसं-
पन्नः समाधिःस्वेच्छया भवेत् ॥ ८१ ॥
गृहीत्वा चेतनां वायुः क्रियाशक्तिं च वेग-
वान् ॥ सर्वांश्चक्रान्विजित्वा च ज्ञान-
शक्तौ विलीयते ॥ ८२ ॥

टीका—जब अपने अभ्यासकर्मसे योगीको समाधीका ज्ञान होगा तब जीवन्मुक्त शान्त होके योगीको ज्ञानसम्पन्न स्वेच्छासमाधी होगी और मन वायु क्रियाशक्तिसहित सर्व चक्रोंको वेधके ज्ञानशक्तीमें लीन होजायगा ॥ ८० ॥ ८१ ॥ ८२ ॥

मूलम्--इदानीं क्लेशहान्यर्थं वक्तव्यं वायुसाधनम् ॥ येन संसारचक्रेऽस्मिन्रोगहानिर्भवेद्ध्रुवम् ॥ ८३ ॥

टीका—हे देवि ! अब क्लेशहानीके अर्थ वायुसाधन कहते हैं जिससे इस संसारचक्रमें निश्चय रोगादिक नाश होजाय और साधकको कष्ट न हो ॥ ८३ ॥

मूलम्--रसनां तालुमूले यः स्थापयित्वा विचक्षणः ॥ पिबेत्प्राणानिलं तस्य रोगाणां संक्षयो भवेत् ॥ ८४ ॥

टीका—जिह्वाको तालुके मूलमें स्थितकरके बुद्धिमान साधक यदि प्राणवायुको पान करे तो उसके सर्व रोगोंका नाश होजायगा ॥ ८४ ॥

मूलम्--काकचंच्वा पिबेद्वायुं शीतलं यो विचक्षणः ॥ प्राणापानविधानज्ञः स भवेन्मुक्तिभाजनः ॥ ८५ ॥

टीका–जो बुद्धिमान साधक प्राण अपानके विधानका ज्ञाता काकचञ्चू अर्थात् अधरको काकके चोंचके समान लम्बा करके शीतल वायु पान करता है सो योगी मुक्तिभाजन है अर्थात् मुक्तिपात्र है ॥ ८५ ॥

मूलम्--सरसं यः पिबेद्वायुं प्रत्यहं विधिना सुधीः ॥नश्यंति योगिनस्तस्य श्रमदाहजरामयाः ॥ ८६ ॥

टीका–जो साधक नित्य विधानपूर्वक रससहित वायुपान करता है उसके सर्व रोग और श्रम दाह जरा अर्थात् वृद्धावस्थादि नाश होजाते हैं अर्थात् यह सब उसके समीप नहीं आते ॥ ८६ ॥

मूलम्--रसनामूर्ध्वगांकृत्वा यश्चन्द्रे सलिलं पिबेत् ॥ मासमात्रेण योगीन्द्रो मृत्युं जयति निश्चितम् ॥ ८७ ॥

टीका–जो योगी जिह्वाको ऊपर करके चंद्रमासे विगलित सुधारसको पान करताहै सो योगी एक मासमें निश्चय मृत्युको जीत लेता है इस जगह जिह्वा ऊपर करनेसे तात्पर्य खेचरी मुद्रासे है सो खेचरीमुद्रा गुरु मुखसे जानना उचितहै ॥ ८७ ॥

मूलम्--राजदंतबिलं गाढं संपीडच विधिना

पिबेत् ॥ ध्यात्वा कुण्डलिनीं देवीं षण्मासेन कविर्भवेत् ॥ ८८ ॥

टीका—जो साधक राजदन्तको नीचेके दांतसे दबायके उसके रन्ध्रद्वारा विधिसे वायुपान करे और उस कालमें कुण्डलिनी देवीका ध्यान करेगा तो निश्चय छः मासमें कवि होगा ॥ ८८ ॥

मूलम्—काकचंच्वा पिबेद्वायुं सन्ध्ययोरुभयोरपि ॥ कुण्डलिन्या मुखे ध्यात्वा क्षयरोगस्य शान्तये ॥ ८९ ॥

टीका—पूर्वोक्त काकचञ्चूसे विधिसे दोनों सन्ध्यामें जो कुण्डलनीकी मुखका ध्यान करके वायुपान करेगा उसका क्षयरोग नाश होजायगा ॥ ८९ ॥

मूलम्—अहर्निशं पिबेद्योगी काकचंच्वा विचक्षणः ॥ पिबेत्प्राणानिलं तस्य रोगाणां संक्षयो भवेत् ॥ दूरश्रुतिर्दूरदृष्टिस्तथा स्याद्दर्शनं खलु ॥ ९० ॥

टीका—जो योगी बुद्धिमान् रात्रि दिवस काकचञ्चूसे प्राणवायु पान करतेहैं उनके रोगोंका नाश होजाताहै और दूरका शब्द श्रवण होताहै और दूरकी वस्तु देख पडती है तथा निश्चय सूक्ष्म दर्शन होताहै॥ ९०॥

मूलम्--दन्तैर्दन्तान्समापीडय पिबेद्वायुं शनैः शनैः ॥ ऊर्ध्वजिह्वः सुमेधावी मृत्युं जयति सोऽचिरात् ॥ ९१ ॥

टीका--जो बुद्धिमान् दांतसे दांतको पीडित करके धीरे धीरे वायुपान करेगा और जिह्वा ऊपर करके अमृतपान करेगा सो शीघ्र मृत्युको जीतलेगा ॥ ९१ ॥

मूलम्-षण्मासमात्रमभ्यासं यः करोति दिनेदिने ॥ सर्वपापविनिर्मुक्तो रोगान्नाशयते हि सः ॥ ९२ ॥ संवत्सरकृताभ्यासान्मृत्युं जयति निश्चितम्॥ तस्मादतिप्रयत्नेन साधयेद्योगसाधकः ॥९३॥ वर्षत्रयकृताऽभ्यासाद्भैरवो भवति ध्रुवम् ॥ अणिमादिगुणाल्लब्ध्वा जितभूतगणः स्वयम् ॥ ९४ ॥

टीका--जो पहिले कहेहुए अभ्यासको नित्य छः मास करे तो सब रोगोंका नाश होजायगा और सब पापसे मुक्त होजाय और उसी अभ्यासको एकवर्ष करे तो मृत्युको निश्चय जीतले इस हेतुसे साधक इस क्रियाका यत्न करके अवश्य साधन करे और यदि इसका अभ्यास तीनवर्ष करे तो निश्चय भैरव होजाय और

अष्टसिद्धिका लाभ होय और सर्व भूतगण आपही वश में होजाय ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥

मूलम्–रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धं यदि तिष्ठति ॥ क्षणेन मुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ॥ १५ ॥

टीका–योगीकी जिह्वा यदि क्षणमात्र ऊपर स्थिर होजाय तो उसी क्षणसे सर्वव्याधि और वृद्धावस्था और मृत्युका नाश होजाय. तात्पर्य यह है कि, खेचरीमुद्रासे किञ्चित्मात्र भी अमृतपान करलेगा तो उसकी मृत्यु न होगी ॥ १५ ॥

मूलम्–रसनां प्राणसंयुक्तां पीड्यमानां विचिंतयेत् ॥ न तस्य जायते मृत्युः सत्यं सत्यं मयोदितम् ॥ १६ ॥

टीका–जिह्वाको प्राणसहित पीडित करके जो पुरुष ब्रह्मरन्ध्रमें ध्यानसंयुक्त स्थिर करेगा. हेदेवी ! हम वारंवार कहतेहैं कि, निश्चय उसकी मृत्यु न होगी ॥ १६ ॥

मूलम्–एवमभ्यासयोगेन कामदेवो द्वितीयकः ॥ न क्षुधा न तृषा निद्रा नैव मूर्च्छा प्रजायते ॥ १७ ॥

टीका–इस योगअभ्याससे जो पहिले कहाहै वह

पुरुष दूसरा कामदेव होजायगा अर्थात् कामदेवके समान शोभितहोगा और उसको क्षुधा तृषा निद्रा मूर्च्छा कभी न उत्पन्न होगी ॥ ९७ ॥

मूलम्–अनेनैव विधानेन योगीन्द्रोऽवनिमण्डले ॥ भवेत्स्वच्छन्दचारी च सर्वापत्परिवर्जितः ॥ ९८ ॥ न तस्य पुनरावृत्तिर्मोदते ससुरैरपि ॥ पुण्यपापैर्न लिप्येत एतदाचरणेन सः ॥ ९९ ॥

टीका–इस विधानसे योगी संसारमें सर्व दुःखसे रहित होके स्वेच्छाचारी होजायगा और इस आचरणसे योगी पुण्यपापमें लिप्त नहीं होगा न फिर संसारमें उसका जन्म होगा और देवतोंके साथ आनन्दपूर्वक विचरेगा ॥ ९८ ॥ ९९ ॥

मूलम्–चतुरशीत्यासनानि सन्ति नानाविधानि च ॥ १०० ॥ तेभ्यश्चतुष्कमादाय मयोक्तानि ब्रवीम्यहम् ॥ सिद्धासनं ततः पद्मासनञ्चोग्रं च स्वस्तिकम् ॥ १०१ ॥

टीका–बहुत प्रकारके चौऱ्याशी आसनहैं उनमें उत्तम जो चार आसन हैं उनको हम कहतेहैं, सिद्धासन, पद्मासन, उग्रासन,स्वस्तिकासन.तात्पर्य यह है कि, और

आसन करनेसे नाडी शुद्ध होतीहै परन्तु यह चार आसनसे वायु धारण करके बैठनेमें कष्ट नहीं होता और प्रधान नाडी शीघ्र वश होजाती है ॥ १०० ॥ १०१ ॥

मूलम्—योनिं संपीड्य यत्नेन पादमूलेन साधकः ॥ मेढ्रोपरि पादमूलं विन्यसेद्योगवित्सदा ॥ १०२ ॥ ऊर्ध्वं निरीक्ष्य भ्रूमध्यं निश्चलः संयतेन्द्रियः ॥ विशेषोऽवक्रकायश्च रहस्युद्वेगवर्जितः ॥ एतत्सिद्धासनं ज्ञेयं सिद्धानां सिद्धिदायकम् ॥१०३॥

टीका—योगवेत्ता साधक पादमूल अर्थात् एडीसे योनिस्थानको पीडित करे और दूसरे पादके एडीको मेढ्र अर्थात् लिंगके मूलस्थानपर रक्खे और ऊपर भ्रूके मध्यमें निश्चल दृष्टि रक्खे जितेन्द्रियपुरुष विशेष सीधा शरीर करके विधानपूर्वक वेगवर्जित सावधान होके बैठे इसको सिद्धासन कहते हैं यह आसन सिद्धोंको सिद्धि देनेवालाहै ॥ १०२ ॥ १०३ ॥

मूलम्—येनाभ्यासवशाच्छीघ्रं योगनिष्पत्तिमाप्नुयात् ॥ सिद्धासनं सदा सेव्यं पवनाभ्यासिना परम् ॥ १०४ ॥

टीका—इस अभ्याससे जो पहिले कहाहै शीघ्र योग-

का ज्ञान होताहै इस हेतुसे यह सिद्धासन पवनाभ्या-
सीको सदा सेवनेके योग्यहै ॥ १०४ ॥

मूलम्-येन संसारमुत्सृज्य लभते परमां गतिम् ॥१०५॥ नातः परतरं गुह्यमासनं विद्यते भुवि ॥ येनानुध्यानमात्रेण योगी पापाद्विमुच्यते ॥ १०६ ॥

टीका-इस सिद्धासनके प्रभावसे साधक संसारको छोडके परमगतिको पाताहै और इससे उत्तम वा गोप्य संसारमें दूसरा आसन नहीं है जिसके ध्यानमात्रसे योगी सर्व पापसे मुक्त होजाताहै ॥ १०५ ॥ १०६ ॥

मूलम्-उत्तानौ चरणौ कृत्वा ऊरुसंस्थौ प्रयत्नतः ॥ ऊरुमध्ये तथोत्तानौ पाणी कृत्वा तु तादृशौ ॥ १०७ ॥ नासाग्रे विन्यसेद्दृष्टिं दन्तमूलञ्च जिह्वया ॥ उत्तोल्य चिबुकं वक्ष उत्थाप्य पवनं शनैः ॥१०८॥ यथाशक्त्या समाकृष्य पूरयेदुदरं शनैः॥ यथा शक्त्यैव पश्चात्तु रेचयेदविरोधतः ॥ १०९ ॥ इदं पद्मासनं प्रोक्तं सर्वव्याधिविनाशनम् ॥ दुर्लभं येन केनापि धीमता लभ्यते परम् ॥ ११० ॥

टीका-दोनों चरणोंको उत्तान करके यत्नसे ऊरू अर्थात् जंघापर रक्खे उसीप्रकार दोनों हाथको सीधा करके ऊरूके मध्यमें रक्खे और नासिकाके अग्रभागमें दृष्टि और दांतके मूलमें जिह्वा स्थितकरे और वक्ष अर्थात् हृदयस्थानपर चिबुक अर्थात् ठोडी स्थापन करे और अपानवायुको उठाके प्राणको शनैःशनैः यथाशक्ति पूरक करके धारणाकरे पश्चात् धीरे धीरे रेचक अर्थात् वायुको त्यागदे इसको पद्मासन कहतेहैं यह सर्व व्याधिका नाशक है यह आसन बहुत दुर्लभहै परंतु कोई बुद्धिमान् साधकको प्राप्त होताहै ॥१०७॥१०८॥१०९॥११०॥

मूलम्-अनुष्ठाने कृते प्राणः समश्चलति तत्क्षणात् ॥ भवेदभ्यासने सम्यक्साधकस्य न संशयः ॥ १११ ॥

टीका-पूर्वोक्त अनुष्ठान करनेसे उसी समय प्राण सम होके सुषुम्णामें प्रवेश करेगा अभ्याससे साधकका वायु सम होजायगा इसमें संशय नहीं ॥ १११ ॥

मूलम्-पद्मासने स्थितो योगी प्राणापान विधानतः ॥ पूरयेत्स विमुक्तः स्यात्सत्यं सत्यं वदाम्यहम् ॥ ११२ ॥

टीका-ईश्वर श्रीपार्वतीजीसे कहते हैं कि पद्मासन-

स्थित योगी प्राण अपानके विधानसे वायु पूरण करेगा सो संसारबन्धसे मुक्तहोजायगा इसमें संशय नहीं है हम सत्य कहते हैं ॥ ११२ ॥

मूलम्--प्रसार्य चरणद्वन्द्वं परस्परमसंयुतं। स्वपाणिभ्यां दृढं धृत्वा जानूपरि शिरो न्यसेत् ॥ ११३ ॥ आसनोग्रमिदं प्रोक्तं भवेदनिलदीपनम् ॥ देहावसानहरणं पश्चिमोत्तानसंज्ञकम् ॥११४॥ यएतदासनं श्रेष्ठं प्रत्यहं साधयेत्सुधीः ॥ वायुः पश्चिममार्गेण तस्य सञ्चरति ध्रुवम् ॥ ११५ ॥

टीका-दोनों चरणोंको संग परस्पर लम्बाकरके दोनों हाथोंसे बलसे धरे और जानु पर शिरको स्थितकरे उसको उग्रासन कहतेहैं, और पश्चिमतान भी संज्ञा है इससे वायुदीपन होताहै और मृत्युका नाशकरता है यह सब आसनोंमें श्रेष्ठ है और बुद्धिमान् इसको नित्य साधन करे तो उसका वायु पश्चिम मार्गसे अवश्य सञ्चार करेगा ॥ ११३ ॥ ११४ ॥ ११५ ॥

मूलम्—एतदभ्यासशीलानां सर्वसिद्धिः प्रजायते ॥ तस्माद्योगी प्रयत्नेन साधयेत्सिद्धमात्मनः ॥ ११६ ॥

टीका–ऐसे पूर्वोक्त अभ्यासमें जो लोग तत्परहैं उनको सर्व सिद्धि उत्पन्न होती है. इस हेतुसे यत्न करके योगी आत्माके सिद्धहोनेकी साधना करे ॥ ११६ ॥

मूलम्-गोपनीयं प्रयत्नेन न देयं यस्यकस्यचित् ॥ येन शीघ्रं मरुत्सिद्धिर्भवेद्दुःखौघनाशिनी ॥ ११७ ॥

टीका–यह आसन जो पहिले कहा है यत्नसे गोपनीयहै सबको देना उचित नहीं है परंतु अधिकारीको देना योग्यहै इससे बहुत शीघ्र वायु सिद्ध होजाताहै और यह सिद्धि दुःखके समूहको नाश करनेवाली है ॥ ११७ ॥

मूलम्–जानूर्वोरन्तरे सम्यग्धृत्वा पादतले उभे ॥ समकायः सुखासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते ॥ ११८ ॥ अनेन विधिना योगी मारुतं साधयेत्सुधीः ॥ देहे न क्रमते व्याधिस्तस्य वायुश्च सिध्यति ॥ ११९ ॥ सुखासनमिदं प्रोक्तं सर्वदुःखप्रणाशनम् ॥ स्वस्तिकं योगिभिर्गोप्यं स्वस्तीकरणमुत्तमम् ॥ १२० ॥

टीका–जानु और, ऊरूके मध्यमें बराबर पादको

ऊपर नीचे धरे और समकाय अर्थात् बराबर शरीर करके सुखपूर्वक बैठे उसको स्वस्तिकासन कहतेहैं. इस विधानसे बुद्धिमान् योगी वायुका साधनकरे तो उसके शरीरमें व्याधी प्रवेश नहीं करती और उसको वायु सिद्धहोजातीहै इसको सुखासन कहतेहैं यह सर्वदुःखका नाशक है यह स्वस्तिकासन योगी लोगोंको गोप्य रखना उचितहै इसकारणसे की उत्तम कल्याणका कारकहै ॥ ११८ ॥ ११९ ॥ १२० ॥

इति श्रीशिवसंहितायां हरगौरीसंवादे योगाभ्यासतत्त्व-
कथनं नाम तृतीयः पटलः समाप्तः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थपटलः ।

मूलम्–आदौ पूरकयोगेन स्वाधारे पूरये-न्मनः ॥ गुदमेढ्रान्तरे योनिस्तामाकुंच्य प्रवर्तते ॥ १ ॥

टीका–पहिले पूरक योगविधानसे आधारपद्ममें वायुको मन सहित पूरक करके स्थित करे और गुदामेढ्के मध्यमें जो योनिस्थान है उसको यत्नसे आकुञ्चन करनेमें प्रवृत्तहोय ॥ १ ॥

मूलम्–ब्रह्मयोनिगतं ध्यात्वा कामं कन्दुक-सन्निभम्॥सूर्यकोटिप्रतीकाशं चन्द्रकोटि-

सुशीतलम् ॥२॥तस्योर्ध्वं तु शिखासूक्ष्मा चिद्रूपा परमाकला ॥ तया सहितमात्मानमेकीभूतं विचिन्तयेत् ॥ ३ ॥

टीका–ब्रह्मयोनिके मध्यमें कामपुष्प अर्थात् कामबाणके समान कोटिसूर्यके सदृश प्रकाश और कोटि चन्द्रमाके समान शीतल कामदेवका ध्यान करे और उसके ऊर्ध्व भागमें सूक्ष्म ज्योति शिखा चैतन्यस्वरूपा परमाशक्तिसहित एक परमात्माका चिन्तन करै ॥ २ ॥ ३ ॥

मूलम्–गच्छतिब्रह्ममार्गेण लिंगत्रयक्रमेण वै॥ सूर्यकोटिप्रतीकाशं चन्द्रकोटिसुशीतलम्॥४॥अमृतं तद्धि स्वर्गस्थं परमानन्दलक्षणम्॥श्वेतरक्तं तेजसाढ्यं सुधाधाराप्रवर्षिणम् ॥ ५ ॥ पीत्वा कुलामृतं दिव्यं पुनरेव विशेत्कुलम् ॥

टीका–उसी ब्रह्मयोनिसे जीव सुषुम्णा रन्ध्रद्वारा क्रमसे तीन लिङ्ग अर्थात् स्थूल सूक्ष्म कारणस्वरूपसे प्रस्थान करताहै और स्वर्गस्थ अमृत परम आनन्दका लक्षण श्वेत रक्त वर्ण कोटि सूर्यके सदृश तेज प्रकाश और कोटि चन्द्रमाके समान शीतल सुधाधारा-

वर्षी दिव्यकुलामृतको पान करके फिर योनिमंडल-
में स्थित होजाताहै ॥ ४ ॥ ५ ॥

मूलम्–पुनरेव कुलं गच्छेन्मात्रायोगेन ना-
न्यथा ॥ सा च प्राणसमाख्याता ह्यस्मि-
स्तन्त्रे मयोदिता ॥ ६ ॥

टीका–फिर ब्रह्मयोनिसे प्राणायामयोग करके प्राण
कुलमंडलमें जाताहै इस तंत्रमें जो हमने कहाहै हे देवी !
उस ब्रह्मयोनिको प्राणके समान कहते हैं ॥ ६ ॥

मूलम्–पुनःप्रलीयते तस्यां कालाग्न्यादि-
शिवात्मकम् ॥ ७ ॥ योनिमुद्रा पराह्येषा
बन्धस्तस्याः प्रकीर्तितः ॥ तस्यास्तु
बन्धमात्रेण तन्नास्ति यन्न साधयेत् ॥ ८ ॥

टीका- फिर तीसरे बार काल अग्नि आदि शिवा-
त्मक जीव प्रस्थानपूर्वक चंद्रमण्डलमें दिव्य अमृत-
पान करके फिर ब्रह्मयोनिमें लय होजाता है हे देवी !
इस बन्धको योनिमुद्रा कहते हैं केवल बन्धमात्रसे
संसारमें असाध्य कोई वस्तु नहीं है अर्थात् सब सिद्ध
होसक्ताहै ॥ ७ ॥ ८ ॥

मूलम्–छिन्नरूपास्तु ये मन्त्राः कीलिताः
स्तंभिताश्च ये ॥ दग्धा मन्त्राः शिरोहीना

मलिनास्तु तिरस्कृताः ॥ ९ ॥ मन्दा बालास्तथा वृद्धाः प्रौढा यौवनगर्विताः ॥ भेदिनो भ्रमसंयुक्ताः सप्ताहं मूर्च्छिताश्च ये ॥ १० ॥ अरिपक्षे स्थिता ये च निर्वीर्याः सत्त्ववर्जिताः॥ तथा सत्त्वेन हीनाश्च खण्डिताः शतधाकृताः ॥ ११ ॥ विधानेन च संयुक्ताः प्रभवन्त्यचिरेण तु ॥ सिद्धिमोक्षप्रदाः सर्वे गुरुणा विनियोजिताः ॥ १२ ॥ यद्यदुच्चरते योगी मंत्ररूपं शुभाशुभम्॥ तत्सिद्धिं समवाप्नोति योनिमुद्रानिबन्धनात् ॥ १३ ॥ दीक्षयित्वा विधानेन अभिषिच्य सहस्रधा ॥ ततो मंत्राधिकारार्थमेषा मुद्रा प्रकीर्तिता ॥ १४ ॥

टीका-जो मन्त्र छिन्नरूप हैं और कीलित हैं स्तम्भित हैं और जो मन्त्र दग्ध हैं शिरहीन हैं मलीन हैं और जिनका अनादर है और मन्द हैं बाल हैं वृद्धहैं प्रौढहैं और जो यौवनगर्वित हैं और भेदितहैं भ्रमसंयुक्त हैं सप्ताहसे मूर्च्छित हैं और जो शत्रुके पक्षमें हैं निर्वीर्य हैं

सत्वरहित हैं खण्डितहैं सो खण्ड होगएहैं इस विधिसे युक्त होके साधन करनेसे शीघ्र प्रकर्ष करके सिद्ध होजायगा गुरुशिक्षासे सब सिद्ध और मोक्षप्रद होजाताहै योगीसे जो मन्त्र शुभ वा अशुभरूप उच्चारण होताहै सो सब योनिमुद्राके बन्धनमात्रसे सिद्ध होजाताहै विधानपूर्वक मंत्रके अधिकारार्थ गुरुको उचितहै कि इस योनिमुद्राके दीक्षाका अभिषेक सहस्रधा शिष्यको करे ॥९॥ १० ॥११॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥

मूलम्–ब्रह्महत्यासहस्राणि त्रैलोक्यमपि घातयेत् ॥ नासौ लिप्यति पापेन योनिमुद्रानिबन्धनात् ॥ १५ ॥

टीका–यदि एक सहस्र ब्रह्महत्याकरके और त्रैलोक्यकाभी घात करदे अर्थात् प्राणिमात्रका नाश करदे तो भी वह इस योनिमुद्राके बन्धमात्रसे पापमें लिप्त न होगा अर्थात् उसको पाप नलगेगा ॥ १५ ॥

मूलम्–गुरुहा च सुरापी च स्तेयी च गुरुतल्पगः ॥ एतैः पापैर्न बध्येत योनिमुद्रानिबन्धनात् ॥ १६ ॥

टीका–गुरुघातक मद्यपाई चोर गुरुकी शय्यामें रमण करनेवाला ऐसे अनेक पातकसेभी साधक योनिमुद्राके बन्धप्रभावसे बन्धायमान नहोगा ॥ १६ ॥

मूलम्—तस्मादभ्यसनं नित्यं कर्तव्यं मोक्ष-काङ्क्षिभिः ॥ अभ्यासाज्जायते सिद्धिर-भ्यासान्मोक्षमाप्नुयात् ॥ १७ ॥

टीका—इस हेतुसे मोक्षकांक्षीको उचित है कि, नित्य अभ्यास करे अभ्याससे सिद्धि होती है और अभ्यासही-से मुक्ति प्राप्त होती है ॥ १७ ॥

मूलम्-संविदं लभतेऽभ्यासाद्योगोभ्यासात्प्र-वर्तते ॥ मुद्राणां सिद्धिरभ्यासादभ्यासा-द्वायुसाधनम् ॥१८ ॥ कालवञ्चनमभ्या-सात्तथा मृत्युञ्जयो भवेत् ॥ वाक्सिद्धिः कामचारित्वं भवेदभ्यासयोगतः ॥१९॥

टीका—अभ्याससे ज्ञान प्राप्त होताहै और अभ्याससे योगमें प्रवृत्ति होती है और अभ्याससे मुद्रा सिद्ध होती हैं और अभ्याससे वायुका साधन होताहै और अभ्याससे मनुष्य कालसे बचताहै और अभ्याससे मृत्युंजय होजाताहै और अभ्यासयोगसे वाक्यसिद्धि और मनुष्य इच्छाचारी होजाताहै. तात्पर्य यह है कि, सब वस्तुके सिद्धिका कारण अभ्यास है. इस हेतुसे आ-लस्यको छोडके जिस वस्तुमें मनुष्य अभ्यास करेगा वह अवश्य सिद्ध होजायगा ॥ १८ ॥ १९ ॥

मूलम्--योनिमुद्रा परं गोप्या न देया यस्य कस्यचित् ॥ सर्वथा नैव दातव्या प्राणैः कण्ठगतैरपि ॥ २० ॥

टीका--यह योनिमुद्रा परमगोपनीय है अनधिकारीको कदापि न दे यह सर्वथा देनेके योग्य नहीं है यदि कण्ठगत प्राण होजायँ तो भी देना उचित नहीं है ॥२०॥

मूलम्--अधुना कथयिष्यामि योगसिद्धिकरं परम् ॥ गोपनीयं सुसिद्धानां योगं परमदुर्लभम् ॥ २१ ॥

टीका--हे देवी ! अब जो योग कहेंगे वह परमसिद्धिका देनेवाला है सिद्ध लोगोंको इस परम दुर्लभ योगको गोप्य रखना उचितहै ॥ २१ ॥

मूलम्--सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली ॥ तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोपि च ॥ २२ ॥

टीका--गुरुके प्रसादसे निद्रिता कुण्डलिनी देवी जब जागृत होती है तब सर्व पद्म और सर्व ग्रंथी वेधित हो जाती हैं अर्थात् सुषुम्णा रन्ध्रद्वारा प्राणवायु ब्रह्मरन्ध्रपर्यंत संचार करने लगजाताहै ॥ २२ ॥

मूलम्--तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्व-

रीम् ॥ ब्रह्मरन्ध्रमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं स
माचरेत् ॥ २३ ॥

टीका—इसकारणसे यत्नपूर्वक ब्रह्मरन्ध्रके मुखमें जो ईश्वरी कुण्डलिनी देवी शयन करती हैं उनको उठानेके अर्थ मुद्राका अभ्यास उचित है ॥ २३ ॥

मूलम्—महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खे-
चरी ॥ जालंधरो मूलबंधो विपरीतकृति-
स्तथा ॥२४॥ उड्डानं चैव वज्रोली दशमे
शक्तिचालनम् ॥ इदं हि मुद्रादशकं मुद्रा
णामुत्तमोत्तमम् ॥ २५ ॥

टीका—अब उत्तम मुद्राबन्ध वेध कहते हैं महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरीमुद्रा, जालन्धरबन्ध, मूल-बन्ध, विपरीतकरणीमुद्रा, उड्डानबन्ध, वज्रोलीमुद्रा और दशवीं शक्तिचालनमुद्रा, यह दशों मुद्रा सबमें अतिउत्तम हैं ॥ २४ ॥ २५ ॥

अथ महामुद्राकथनम् ।

मूलम्—महामुद्रां प्रवक्ष्यामि तन्त्रेऽस्मिन्मम-
मवल्लभे ॥ यां प्राप्य सिद्धाः सिद्धिं च
कपिलाद्याः पुरा गताः ॥ २६ ॥

टीका—हे प्रिये पार्वती ! इस तन्त्रमें महामुद्रा जो हम कहतेहैं इसको लाभ करके पूर्व कपिलआदिक सिद्धवरको सिद्धि प्राप्त भई ॥ २६ ॥

मूलम्--अपसव्येन संपीडच पादमूलेन सादरम् ॥ गुरूपदेशतो योनिं गुदमेढ्रान्तरालगाम् ॥२७॥सव्यं प्रसारितं पादं धृत्वा पाणियुगेन वै ॥ नवद्वाराणि संयम्य चिबुकं हृदयोपरि ॥ २८ ॥ चित्तं चित्तपथे दत्त्वा प्रभवेद्वायुसाधनम् ॥ महामुद्रा भवेदेषा सर्वतन्त्रेषु गोपिता॥ २९ ॥वामाङ्गेन समभ्यस्य दक्षाङ्गेनाभ्यसेत्पुनः ॥ प्राणायामं समं कृत्वा योगी नियतमानसः ॥ ३० ॥

टीका—वामपादके एडीसे गुदा और मेढ्रके मध्यमें जो योनि है उसको आदरसहित गुरुके उपदेशपूर्वक पीडितकरे अर्थात् दबावे और दक्षिणपाद प्रसारके अर्थात् लम्बा करके दोनों हाथोंसे धरे और नवद्वारोंको रोक करके चिबुक अर्थात् ठोडीको हृदयपर स्थित करे और चित्तवृत्तिको चैतन्यमें स्थिर करके वायुका साधन करना उचित है यह महामुद्रा सर्वतन्त्रोंके प्रमाणसे गो-

प्यहै पहिले वामांगसे अभ्यास करके फिर दक्षिण अंगसे अभ्यास करे योगी स्थिरबुद्धिको उचित है कि, इस प्रकारसे प्राणायामको समकरे ॥२७॥२८॥२९॥३०॥

मूलम्--अनेन विधिना योगी मन्दभाग्योऽपि सिध्यति॥ सर्वासामेव नाडीनां चालनं बिन्दुमारणम् ॥३१॥जीवनन्तु कषायस्य पातकानां विनाशनम् ॥ कुण्डलीतापनं वायोर्ब्रह्मरन्ध्रप्रवेशनम् ॥ ३२ ॥ सर्वरोगोपशमनं जठराग्निविवर्धनम् ॥ वपुषा कान्तिममलांजरामृत्युविनाशनम्॥३३॥ वांछितार्थफलं सौख्यमिन्द्रियाणाञ्च मारणम् ॥एतदुक्तानि सर्वाणि योगारूढस्य योगिनः ॥ ३४ ॥ भवेदभ्यासतोऽवश्यं नात्र कार्या विचारणा ॥

टीका—इस विधानसे मन्दभाग्य योगीभी सिद्ध होजायगा और इस महामुद्राके प्रभावसे सर्व नाडीका चलन सिद्ध होजायगा और बिन्दु स्थिर होगा और जीवनको आकर्षित रक्खेगा और सर्व पातकका नाश होजायगा और कुण्डलिनीको हठात् उठाय वायुको ब्रह्मरन्ध्रमें प्रवेश करेगा और ज़ठराग्नि प्रज्वालित होके सर्वरो-

गोंका नाश करदेगा और शरीरमें सुन्दर कान्ति होगी और वृद्धावस्थासहित मृत्युका नाश होजायगा और सुखसहित वाञ्छित फल लाभ होगा और इन्द्रियोंका निग्रह रहेगा यह सब जो कहा है सो योगारूढ योगीको अभ्याससे वश होजाताहै इसमें संशय नहीं है निश्चय है ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

मूलम्–गोपनीया प्रयत्नेन मुद्रेयं सुरपूजिते ॥ यां तु प्राप्य भवाम्भोधेः पारं गच्छन्ति योगिनः ॥ ३५ ॥

टीका–हेसुरपूजिते देवी ! यह मुद्रा यत्न करके गोपनीय है योगीलोग इसको लाभ करके संसाररूपी समुद्रके पार होजाते हैं ॥ ३५ ॥

मूलम्–मुद्रा कामदुघा ह्येषा साधकानां मयोदिता ॥ गुप्ताचारेण कर्त्तव्या न देया यस्य कस्यचित् ॥ ३६ ॥

टीका–हेदेवी ! यह मुद्रा जो हमने कही है साधकोंको कामधेनुरूप है अर्थात् वाञ्छितफलकी दाता है इसको गुप्त करके अभ्यास करना उचित है और सबको अर्थात् अनधिकारीको देना उचित नहीं है ॥ ३६ ॥

अथ महाबन्धकथनम् ।

मूलम्–ततः प्रसारितः पादो विन्यस्य तमुरू-

परि ॥ ३७ ॥ गुदयोनिं समाकुंच्य कृत्वा चापानमूर्ध्वगम् ॥ योजयित्वा समानेन कृत्वा प्राणमधोमुखम् ॥ ३८ ॥ बन्धयेदूर्ध्वगत्यर्थं प्राणापानेन यः सुधीः ॥ कथितोऽयं महाबन्धः सिद्धिमार्गप्रदायकः ॥ ॥ ३९ ॥ नाडीजालाद्रसव्यूहो मूर्धानं याति योगिनः ॥ उभाभ्यां साधयेत्पद्भ्यामेकैकं सुप्रयत्नतः ॥ ४० ॥

टीका–तदनन्तर पादको प्रसारके अर्थात् फैलाके दक्षिणचरणको वाम ऊरूपर स्थित करके और गुदा और योनिको आकुञ्चन करके अपानको ऊर्ध्व करके समानवायुके साथ सम्बन्ध करके और प्राणवायुको अधोमुख करे यह बन्ध प्राण अपानके ऊर्द्धगतिके हेतु बुद्धिमान् साधकके प्रति कहाहै और यह महाबन्ध सिद्धिमार्गका दाता है और योगीलोगोंके नाडियोंका रससमूह इस बन्धसे ऊपरको गमन करताहै यह दोनों मुद्रा और बन्ध एक एकको दोनों अंगसे यत्न करके करना उचितहै ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ ४० ॥

मूलम्–भवेदभ्यासतो वायुः सुषुम्नामध्यसङ्गतः ॥ अनेन वपुषः पुष्टिर्दृढबन्धोऽस्थि-

पञ्जरे ॥ ४१ ॥ संपूर्णहृदयो योगी भवन्त्येतानि योगिनः ॥ बन्धेनानेन योगीन्द्रः साधयेत्सर्वमीप्सितम् ॥ ४२ ॥

टीका–अभ्याससे प्राणवायु सुषुम्णाके मध्यमें स्थित होगा और इस महाबंधके प्रभावसे शरीर पुष्ट रहैगा और अस्थिपंजर और शरीरका सब बन्ध दृढ अर्थात् बलिष्ठ होजायगा और योगीका हृदय सन्तोषसे पूर्ण और आनन्दित रहेगा. यह सब योगीको इस महाबन्धके प्रभावसे स्वयं लाभ होजायगा और इसी बन्धके साधनसे योगी अपनी इच्छाके अनुसार सब सिद्ध करलेगा ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

अथ महावेधकथनम् ।

मूलम्--अपानप्राणयोरैक्यं कृत्वा त्रिभुवनेश्वरि॥महावेधस्थितो योगी कुक्षिमापूर्य वायुना॥ स्फिचौ संताडयेद्धीमान्वेधोऽयं कीर्तितो मया ॥ ४३ ॥

टीका–हे त्रिभुवनेश्वरी ! अपान और प्राणको एक करके महावेधस्थित योगी उदरको वायुसे पूर्ण करके बुद्धिमान् दोनों स्फिच अर्थात् पार्श्वको ताडन करे इसको हमने वेध कहा है ॥ ४३ ॥

मूलम्–वेधेनानेन संविध्य वायुना योगिपुंगवः ॥ ग्रंथिं सुषुम्णामार्गेण ब्रह्मग्रंथिं भिनत्त्यसौ ॥ ४४ ॥

टीका–बुद्धिमान् योगी इस वेधद्वारा वायुसे सर्व ग्रन्थीको वेधन करके सुषुम्णारन्ध्रद्वारा ब्रह्मग्रंथीको भेदन करताहै ॥ ४४ ॥

मूलम्–यः करोति सदाभ्यासं महावेधं सुगोपितम् ॥ वायुसिद्धिर्भवेत्तस्य जरामरण नाशिनी ॥ ४५ ॥

टीका–जो मनुष्य इस उत्तम महावेधको गोपित करके सर्वदा अभ्यास करेगा उसकी जरामरण नाशिनी वायुसिद्धि होजायगी ॥ ४५ ॥

मूलम्–चक्रमध्ये स्थिता देवाः कम्पन्ति वायुताडनात् ॥ कुण्डल्यपि महामाया कैलासे सा विलीयते ॥ ४६ ॥

टीका–शरीरस्थ चक्रमें जो देवता हैं वह वायुके ताडनसे कम्पायमान होते हैं और महामाया कुण्डलिनी देवी कैलास अर्थात् ब्रह्मस्थानमें लय होती है तात्पर्य यह है कि, चक्रस्थित देवता अर्थात् गणेशजी, ब्रह्मा, विष्णु, महादेवजी, मायाधीश ज्योतिस्वरूप ईश्वर क्रमसे

आधार,स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञाचक्रमें जो स्थित हैं वायुके वेगसे चक्ररन्ध्रको छोडदेते हैं तब वायुका प्रवेश होताहै इसहेतुसे यह महावेध अवश्य करना उचित है ॥ ४६ ॥

मूलम्–महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ॥ तस्माद्योगी प्रयत्नेन करोति त्रितयं क्रमात् ॥ ४७ ॥

टीका–महामुद्रा और महाबन्ध विना वेधके निष्फल हैं अर्थात् वेध न करनेसे मुद्रा और बन्धका कुछ फल नहोगा इसहेतुसे योगीको उचित है कि, यत्नपूर्वक क्रमसे मुद्रा, बन्ध, वेध तीनोंका अभ्यास करे ॥ ४७ ॥

मूलम्–एतत्त्रयं प्रयत्नेन चतुर्वारं करोति यः ॥ षण्मासाभ्यन्तरं मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥ ४८ ॥

टीका-जो यह मुद्रा बन्ध वेध तीनोंका अभ्यास यत्न करके रात्रि दिवसमें चारवार करेगा सो छःमासमें निश्चय मृत्युको जीतलेगा इसमें संशय नहीं है ॥४८॥

मूलम्–एतत्त्रयस्य माहात्म्यं सिद्धो जानाति नेतरः ॥ यज्ज्ञात्वा साधकाः सर्वे सिद्धिं सम्यग्लभन्ति वै ॥ ४९ ॥

टीका—यह तीनोंके माहात्म्यको सिद्धलोक जानते हैं इतरलोग अर्थात् सांसारिक मनुष्य नहीं जानते इसके जानलेनेसे साधकलोगोंको सर्वसिद्धिलाभ होती है ॥४९॥

मूलम्--गोपनीया प्रयत्नेन साधकैः सिद्धि-
मीप्सुभिः ॥ अन्यथा च न सिद्धिः
स्यान्मुद्राणामेष निश्चयः ॥ ५० ॥

टीका—सिद्धिकांक्षी साधकको उचित है कि, यह सब मुद्राको यत्नपूर्वक गोप्य रक्खे इनको प्रकाश करनेसे कदापि सिद्धि नहोगी यह निश्चय है ॥ ५० ॥

अथ खेचरीमुद्राकथनम् ।

मूलम्—भ्रुवोरन्तर्गतां दृष्टिं विधाय सुदृढां
सुधीः ॥ ५१ ॥ उपविश्यासने वज्रे नानो-
पद्रववर्जितः ॥ लम्बिकोर्ध्वं स्थिते गर्ते
रसनां विपरीतगाम् ॥ ५२ ॥ संयोजये-
त्प्रयत्नेन सुधाकूपे विचक्षणः ॥ मुद्रैषा
खेचरी प्रोक्ता भक्तानामनुरोधतः ॥५३॥

टीका—बुद्धिमान् साधक दोनों भ्रू अर्थात् भ्रुकुटी-के मध्यमें दृढ करके दृष्टिको स्थिर करके और नाना-उपद्रवरहित होके वज्रासन अर्थात् सिद्धासनसे स्थित होयके जिह्वाको विपरीत अर्थात् ऊपर सुधाकूप स्वरूप

तालूविवरमें यत्नसे बुद्धिमान् साधक संयोजित करे अर्थात् संबन्धकरे हेपार्वती ! भक्तोंके प्रति हमने प्रकाश करके यह खेचरीमुद्रा कही है ॥ ८१ ॥ ८२ ॥ ८३ ॥

मूलम्-सिद्धीनां जननी ह्येषा मम प्राणाधिकप्रिया ॥ निरन्तरकृताभ्यासात्पीयूषं प्रत्यहं पिबेत् ॥ तेन विग्रहसिद्धिः स्यान्मृत्युमातङ्गकेसरी ॥ ८४ ॥

टीका-यह खेचरीमुद्रा सर्वसिद्धिकी माता है और हेदेवी ! हमको प्राणसेभी अधिक प्रिय है जो निरंतर इसके अभ्याससे नित्य अमृतपान करताहै उस कारणसे शरीर सिद्ध होजाताहै अर्थात् नाश नहीं होता और मृत्युरूप हस्तीको यह खेचरीरूपी सिंह हन्ताहै ॥ ८४ ॥

मूलम्-अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा ॥ खेचरी यस्य शुद्धा तु स शुद्धो नात्र संशयः ॥ ८५ ॥

टीका-अपवित्र होय वा पवित्र होय अथवा किसी अवस्थामें होय जिसको यह खेचरीमुद्रा सिद्ध है वह सर्वदा शुद्ध है इसमें संशय नहीं है ॥ ८५ ॥

मूलम्--क्षणार्धं कुरुते यस्तु तीर्त्वा पापमहार्णवम् ॥ दिव्यभोगान्प्रभुक्त्वा च सत्कुले स प्रजायते ॥ ८६ ॥

टीका–जो इस खेचरीमुद्राको क्षणार्धभी करेगा वह महापापसागरके पार होके सुखपूर्वक स्वर्गका भोग भोगेगा पश्चात् उत्तमकुलमें उसका जन्म होगा ॥५६॥

मूलम्–मुद्रैषा खेचरी यस्तु स्वस्थचित्तो ह्यतन्द्रितः ॥ शतब्रह्मगतेनापि क्षणार्धं मन्यते हि सः ॥ ५७ ॥

टीका–जो मनुष्य इस खेचरीमुद्राको स्वस्थचित्त ब्रह्मपरायणहोके करेगा उसको यदि शतब्रह्माभी गत भावको प्राप्तहों क्षणार्ध प्रतीत होगा ॥ ५७ ॥

मूलम्–गुरूपदेशतो मुद्रां यो वेत्ति खेचरी-मिमाम् ॥ नानापापरतो धीमान्स याति परमां गतिम् ॥ ५८ ॥

टीका–गुरूपदेशसे जिसको यह खेचरीमुद्रा लाभ होगी वह यदि नानापापरत होगा तो भी बुद्धिमान् साधक परमगतिको प्राप्तहोगा अर्थात् मोक्ष होजा-यगा ॥ ५८ ॥

मूलम्–सा प्राणसदृशी मुद्रा यस्मिन्क-स्मिन्न दीयते ॥ प्रच्छाद्यते प्रयत्नेन मुद्रेयं सुरपूजिते ॥ ५९ ॥

टीका–हे सुरपूजिते पार्वती ! यह खेचरीमुद्रा प्राणके

बराबर है सामान्य मनुष्यको देना उचित नहीं है इस मुद्राको यत्न करके गोपित रखनेमें कल्याण है ॥ ५९ ॥

अथ जालन्धरबन्ध ।

मूलम्–बद्धागलशिराजालं हृदये चिबुकं न्यसेत् ॥ बन्धो जालन्धरः प्रोक्तो देवानामपि दुर्लभः ॥ ६० ॥ नाभिस्थवह्निर्जन्तूनां सहस्रकमलच्युतम् ॥ पिबेत्पीयूषविस्तारं तदर्थं बन्धयेदिमम् ॥ ६१ ॥

टीका–गुरूपदेशद्वारा गलशिराजालको बांधके चिबुक अर्थात् ठोडीको हृदयमें स्थित करे इसको जालन्धरबन्ध कहते हैं यह देवतोंकोभी दुर्लभ है नाभीस्थित जीव जठरानल सहस्रदल कमलसे जो अमृत स्रवताहै उसको पान करजाताहै इस हेतुसे यह जालन्धरबन्ध करना उचित है तात्पर्य यह है कि, नाभिस्थित सूर्य अमृतको पान करजाते हैं इसीकारणसे मृत्यु होतीहै इस जालन्धरबन्धके करनेसे चंद्रमण्डलच्युत अमृत सूर्यमण्डलमें नहीं जाता योगी आपही पान करके चिरंजीव रहताहै ॥ ६० ॥ ६१ ॥

मूलम्–बन्धेनानेन पीयूषं स्वयं पिबति बुद्धिमान् ॥ अमरत्वञ्च सम्प्राप्य मोदते भुवनत्रये ॥ ६२ ॥

टीका—इस जालन्धरबन्धके प्रभावसे बुद्धिमान् योगी स्वयं अमृत पान करताहै और अमरत्वको पायके तीनोंलोकमें आनन्दपूर्वक विचरता है ॥ ६२ ॥

मूलम्—जालन्धरो बन्ध एष सिद्धानां सिद्धिदायकः॥ अभ्यासः क्रियते नित्यं योगिना सिद्धिमिच्छता ॥ ६३ ॥

टीका—यह जालन्धरबन्ध सिद्धोंको सिद्धिदेनेवाला है इस कारणसे सिद्धिकांक्षी योगीको इसका नित्य अभ्यास करना उचित है ॥ ॥ ६३ ॥

अथ मूलबन्धः ।

मूलम्—पादमूलेन संपीडय गुदमार्गेषु यन्त्रितम् ॥६४॥ बलादपानमाकृष्य क्रमादूर्ध्वं सुचारयेत्॥ कल्पितोऽयं मूलबन्धो जरामरणनाशनः ॥ ६५ ॥

टीका—पादमूल अर्थात् एडीसे गुदामार्गको आकुञ्चन करके पीडितकरे और बलसे अपानवायुको आकर्षण करके ऊर्ध्वको लेजाय अर्थात् प्राणके साथ सम्बन्धकरे इसको मूलबन्ध कहतेहैं यहबन्ध जरा मरणका नाश करनेवाला ह ॥ ६४ ॥ ६५ ॥

मूलम्—अपानप्राणयोरैक्यं प्रकरोत्यधि-

कल्पितम् ॥ बन्धेनानेन सुतरां योनिमुद्रा प्रसिद्ध्यति ॥ ६६ ॥

टीका—इस कल्पितबन्धसे अपान और प्राणको एक करे और इसी मूलबन्धके प्रभावसे योनिमुद्रा आपही सिद्ध होजायगी ॥ ६६ ॥

मूलम्—सिद्धायां योनिमुद्रायां किं न सिध्यति भूतले ॥ बन्धस्यास्य प्रसादेन गगने विजितानिलः ॥ पद्मासने स्थितो योगी भुवमुत्सृज्य वर्तते ॥ ६७ ॥

टीका—योनिमुद्राके सिद्ध होनेसे सिद्धलोगोंको इस संसारमें सब सिद्ध होसक्ताहै इस मूलबन्धके प्रसादसे वायुको योगी जीतके पद्मासनस्थित होके भूमिको त्याग देगा और आकाशमें गमन करेगा ॥ ६७ ॥

मूलम्—सुगुप्ते निर्जने देशे बन्धमेनं समभ्यसेत् ॥ संसारसागरं तर्तुं यदीच्छेद्योगिपुंगवः ॥ ६८ ॥

टीका—पवित्र योगी यदि संसारसागरसे पार होनेकी इच्छा करे तो निर्जनदेश और गुप्तस्थानमें इस मूलबन्धका अभ्यास करना उचित है ॥ ६८ ॥

अथ विपरीतकरणी मुद्रा ।

मूलम्—भूतले स्वशिरो दत्त्वा खे नयेच्चरणद्व-

यम् ॥ विपरीतकृतिश्चैषा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥ ६९ ॥

टीका–साधक अपने शिरको भूमिपर धरे और दोनों चरणोंको ऊपर आकाशमें निरालम्ब स्थिर करे यह विपरीतकरणी मुद्रा सर्वतन्त्रोंकरके गोपित है अर्थात् प्रकाश करने योग्य नहीं है ॥ ६९ ॥

मूलम्–एतद्यः कुरुते नित्यमभ्यासं याममात्रतः ॥ मृत्युं जयति योगीशः प्रलये नापि सीदति ॥ ७० ॥

टीका–इसप्रकारसे इस मुद्राका अभ्यास नित्य एक प्रहर करे तो योगी निश्चय मृत्युको जीतलेगा और प्रलयमेंभी उसको कुछ कष्ट न होगा ॥ ७० ॥

मूलम्–कुरुतेऽमृतपानं यः सिद्धानां समतामियात् ॥ स सेव्यः सर्वलोकानां बन्धमेनं करोति यः ॥ ७१ ॥

टीका–जो पुरुष शरीरस्थअमृतपान करता है उसको सिद्धोंकी समता प्राप्त होती है और इस मुद्राबन्धको जो करताहै वह सर्वलोकमें पूजनीय है ॥ ७१ ॥

मूलम्–नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं पश्चिममाचरेत् ॥ उड्डयानबंध एष स्यात्सर्वदुः-

खौघनाशनः ॥ ७२ ॥ उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं तु कारयेत् ॥ उड्डचानाख्योऽत्र बन्धोयं मृत्युमातङ्गकेसरी ॥ ७३ ॥

टीका—नाभिसे ऊपर और नीचेको आकुञ्चन करे इसको उड्डचानबन्ध कहते हैं यह दुःखके समूहको नाशकरनेवाला है उदरको पीछे आकर्षण करे और नाभिसे ऊपर भागमें आकुञ्चन करे यह उड्डचानबन्ध है और मृत्युरूपी मातङ्गका नाशकरनेवाला यह बंधरूपी सिंह है ॥ ७२ ॥ ७३ ॥

मूलम्—नित्यं यः कुरुते योगी चतुर्वारं दिने दिने॥ तस्य नाभेस्तु शुद्धिः स्याद्येन सिद्धो भवेन्मरुत् ॥ ७४ ॥

टीका—जो योगी नित्य इस बंधको चारवार अभ्यास करेगा उसका नाभिचक्र शुद्ध होके वायु सिद्ध होजायगा ॥ ७४ ॥

मूलम्—षण्मासमभ्यसन्योगी मृत्युं जयति निश्चितम् ॥ तस्योदराग्निर्ज्वलति रसवृद्धिः प्रजायते ॥ ७५ ॥

टीका—योगी यदि छः मास इस बंधका अभ्यास करे तो निश्चय मृत्युको जीतलेगा और उसका जठरा-

नल विशेष प्रज्वलित होगा और रसकी वृद्धि उत्पन्न होगी ॥ ७५ ॥

मूलम्—अनेन सुतरां सिद्धिर्विग्रहस्य प्रजायते ॥ रोगाणां संक्षयश्चापि योगिनो भवति ध्रुवम् ॥ ७६ ॥

टीका—इस उड्डयानबंधके प्रभावसे योगीका शरीर आपही सिद्ध हो जायगा अर्थात् अमर होजायगा और सर्व रोगोंका निश्चय क्षय होजायगा ॥ ७६ ॥

मूलम्—गुरोर्लब्ध्वा प्रयत्नेन साधयेत्तु विचक्षणः ॥ निर्जने सुस्थिते देशे बन्धं परमदुर्लभम् ॥ ७७ ॥

टीका—गुरुसे यत्नपूर्वक इस परमदुर्लभ बन्धको लाभ करके बुद्धिमान् साधक एकांतस्थानमें स्वस्थचित्त होके साधन करे ॥ ७७ ॥

अथ वज्रोलीमुद्रा ।

मूलम्—वज्रोलीं कथयिष्यामि संसारध्वान्तनाशिनीम् ॥ स्वभक्तेभ्यः समासेन गुह्याद्गुह्यतमामपि ॥ ७८ ॥

टीका—हे देवी ! संसारतमनाशिनी परमगोपनीय वज्रोली मुद्रा भक्तलोगोंके प्रति हम कहते हैं ॥ ७८ ॥

मूलम्-स्वेच्छया वर्तमानोपि योगोक्तनिय-
मैर्विना॥ मुक्तो भवति गार्हस्थो वज्रोल्य-
भ्यासयोगतः ॥ ७९ ॥

टीका-गृहस्थ अपनी इच्छापूर्वक गृहमें भोग करेगा और योगमें जो नियम कहा है उसके विना इस वज्रोलीमुद्राके योग अभ्याससे मुक्त होजायगा ॥ ७९ ॥

मूलम्-वज्रोल्यभ्यासयोगोऽयं भोगयुक्ते-
पि मुक्तिदः ॥ तस्मादतिप्रयत्नेन कर्त-
व्यो योगिभिः सदा ॥ ८० ॥

टीका-यह वज्रोलीका योगअभ्यास भोगयुक्त मनुष्योंके प्रति मुक्तिका दाता है इसकारणसे अतियत्न करके सर्वदा योगीको अभ्यास करना उचित है ॥ ८० ॥

मूलम्-आदौ रजः स्त्रियो योन्या यत्नेन वि-
धिवत्सुधीः ॥ आकुंच्य लिंगनालेन स्व-
शरीरे प्रवेशयेत् ॥ ८१ ॥ स्वकं बिंदुञ्च स-
म्बन्ध्य लिंगचालनमाचरेत् ॥ दैवाच्चल-
ति चेदूर्ध्वं निबद्धो योनिमुद्रया ॥ ८२ ॥
वाममार्गेऽपि तद्बिन्दुं नीत्वा लिङ्गं निवार-
येत् ॥ क्षणमात्रं योनितो यः पुमांश्चालन-

माचरेत् ॥ ८३ ॥ गुरूपदेशतो योगी हुंहु-
ङ्कारेण योनितः ॥ अपानवायुमाकुंच्य
बलादाकृष्य तद्रजः ॥ ८४ ॥

टीका-प्रथम बुद्धिमान् साधक यत्न करके विधान पूर्वक स्त्रीके योनिसे रजको लिङ्गनालमें आकर्षण करके अपने शरीरमें प्रवेश करे और अपने बिन्दुको निरोध करके लिङ्ग चालनकरे यदि दैवात् बिन्दु अपने स्थानसे चले तो योनिमुद्रासे निरोध करके ऊपरको आकर्षण करे और उस बिन्दुको वामभागमें स्थित करके क्षणमात्र लिङ्गचालन निवारण करे फिर गुरूपदेशद्वारा योगी हुंहुंकार शब्द उच्चरणपूर्वक योनिमें लिङ्ग चालन करे और बलसे अपानवायुको आकुञ्चन करके स्त्रीके रजको आकर्षण करे इसको वज्रोली मुद्रा कहते हैं ॥ ८१ ॥ ८२ ॥ ८३ ॥ ८४ ॥

मूलम्-अनेन विधिना योगी क्षिप्रं योगस्य
सिद्धये ॥ गव्यभुक्कुरुते योगी गुरुपा-
दाब्जपूर्वकः ॥ ८५ ॥

टीका-इस विधानसे योगीको शीघ्र योग सिद्ध होगा और गुरुपादपद्मपूजक योगी शरीरस्थ अमृतपान करेगा ॥ ८५ ॥

मूलम्–बिन्दुर्विधुमयो ज्ञेयो रजः सूर्यमय-
स्तथा ॥ उभयोर्मेलनं कार्यं स्वशरीरे प्र-
वेशयेत् ॥ ८६ ॥

टीका–बिन्दुरूपी चन्द्र और रजरूपी सूर्य यह जानकर दोनोंका सम्बन्ध करके अपने शरीरमें प्रवेश करना उचित है ॥ ८६ ॥

मूलम्–अहं बिन्दू रजः शक्तिरुभयोर्मेलनं
यदा ॥ योगिनां साधनावस्था भवेद्दिव्यं
वपुस्तदा ॥ ८७ ॥

टीका–यदि शिवरूपी बिन्दु और रजरूपी शक्ति यह दोनोंका सम्बन्ध होगा तब योगीका साधनसे दिव्य शरीर अर्थात् देवतोंके समान शरीर होगा तात्पर्य यह है कि शिवशक्ति अर्थात् माया ईश्वरके सम्बन्ध वा मायाको ईश्वरमें लय करनेसे जिसको अध्यारोप अपवाद कहते हैं योगी मोक्ष होता है अभिप्राय यह है कि, रजबिन्दुका सम्बन्ध जिस साधकको सिद्ध होजाताहै वह मुक्त है ॥ ८७ ॥

मूलम्–मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधा-
रणे ॥ तस्मादतिप्रयत्नेन कुरुते बिन्दुधा-
रणम् ॥ ८८ ॥

टीका-बिन्दुपात होनेसे मृत्यु होती है और बिन्दुके धारणसे प्राणी जीवताहै इस कारणसे यत्नसे बिन्दुको धारण रखना उचित है ॥ ८८ ॥

मूलम्-जायते म्रियते लोके बिन्दुना नात्र संशयः ॥ एतज्ज्ञात्वा सदा योगी बिन्दुधारणमाचरेत् ॥ ८९ ॥

टीका-प्राणीका जन्म मरण बिन्दुसे होताहै इसमें संशय नहीं है. इस हेतुसे इसको विचारके योगीको उचित है कि, बिन्दुको सर्वदा धारण रक्खे ॥ ८९ ॥

मूलम्-सिद्धे बिन्दौ महायत्ने किं न सिध्यति भूतले ॥ यस्य प्रसादान्महिमा ममाप्येतादृशो भवेत् ॥ ९० ॥

टीका-हे पार्वती ! यत्नपूर्वक बिन्दुके सिद्ध होनेसे संसारमें क्या नहीं सिद्ध होसक्ता अर्थात् सब सिद्ध हो सक्ताहै इसीके प्रसादसे हमारी ऐसी महिमा है ॥ ९० ॥

मूलम्-बिन्दुः करोति सर्वेषां सुखं दुःखञ्च संस्थितः ॥ संसारिणां विमूढानां जरामरणशालिनाम् ॥ ९१ ॥ अयंच शांकरो योगो योगिनामुत्तमोत्तमः ॥ ९२ ॥

टीका-बिन्दु संसारी मनुष्योंके सुख और दुःखका

कारण है और मूढलोगोंके मूढताका और जरामरण शील लोगोंका अर्थात् सबका यही बिन्दु हेतु है योगी लोगोंके प्रति यह हमारा उत्तम योग है ॥ ९१ ॥ ९२ ॥

मूलम्–अभ्यासात्सिद्धिमाप्नोति भोगयु-
क्तोऽपि मानवः ॥ सकलः साधितार्थोऽपि
सिद्धो भवति भूतले ॥ ९३ ॥

टीका–भोगयुक्त मनुष्योंकोभी अभ्याससे सिद्धि प्राप्त होतीहै और सकल वाञ्छितफल संसारमें सिद्ध होजाते हैं ॥ ९३ ॥

मूलम्–भुक्त्वा भोगानशेषान् वै योगेनानेन
निश्चितम् ॥ अनेन सकला सिद्धिर्योगिनां
भवति ध्रुवम् ॥ सुखभोगेन महता तस्मा-
देनं समभ्यसेत् ॥ ९४ ॥

टीका–इस योगअभ्यासद्वारा निश्चय अशेषभोग भोगनेसे सुखी होगा और योगीलोगोंको इस वज्रो-लीमुद्रासे सकल सिद्धी अवश्य प्राप्तहोती हैं और महानसुख भोगते हुए यह साधना सिद्ध होगी इसलि-ये इसका अभ्यास करना उचित है ॥ ९४ ॥

मूलम्–सहजोल्यमरोली च वज्रोल्या भेद-
तो भवेत् ॥ येन केन प्रकारेण बिन्दुं योगी
प्रधारयेत् ॥ ९५ ॥

टीका—वज्रोलीके भेदसे सहजोली और अमरोली मुद्राकी संज्ञा है योगीको उचित है कि सवप्रकारसे बिन्दुको धारण करे ॥ ९५ ॥

मूलम्-दैवाच्चलति चेद्वेगे मेलनं चन्द्रसूर्ययोः ॥ अमरोलिरियं प्रोक्ता लिंगनालेन शोषयेत् ॥ ९६ ॥

टीका—यदि हठात् वेगवश बिन्दु चले और रजबिन्दुका सम्बन्ध होजाय तो इसको अमरोली कहते हैं परंतु लिङ्गनालद्वारा रजबिन्दु दोनोंको शोषण करे ॥ ९६ ॥

मूलम्--गतं बिन्दुं स्वकं योगी बन्धयेद्योनिमुद्रया ॥ सहजोलिरियं प्रोक्ता सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥ ९७ ॥

टीका—निजबिन्दु चलायमान होय तो योगी योनिमुद्राके बन्धसे अवरोध करे इसको सहजोली कहते हैं यह सर्वतन्त्रों करके गोपनीय है ॥ ९७ ॥

मूलम्--संज्ञाभेदाद्भवेद्भेदः कार्यं तुल्यगतिर्यदि ॥ तस्मात्सर्वप्रयत्नेन साध्यते योगिभिः सदा ॥ ९८ ॥

टीका—यदि कार्य एक समान है परन्तु संज्ञासे अमरोली और सहजोली दो भेद भया है इस हेतुसे

योगीको उचित है कि, यह दोनों अमरोली और सहजो-
लीका यत्नपूर्वक सर्वदा साधन करे ॥ ९८ ॥

मूलम्-अयं योगो मया प्रोक्तो भक्तानां स्नेहतः प्रिये ॥ गोपनीयः प्रयत्नेन न देयो यस्य कस्यचित् ॥ ९९ ॥

टीका-हे प्रिये पार्वती! हम भक्तोंपर प्रेम करके यह योग जो कहा है यत्नपूर्वक गोपनीय है सामान्य मनुष्यको कदापि देना उचित नहीं है ॥ ९९ ॥

मूलम्--एतद्गुह्यतमं गुह्यं न भूतं न भविष्यति ॥ तस्मादेतत्प्रयत्नेन गोपनीयं सदा बुधैः ॥ १०० ॥

टीका-इस वज्रोलीमुद्रासे अधिक गोपनीय न कुछ भया है न होगा. इसकारणसे बुद्धिमान साधकको यत्नपूर्वक इसको गोप्य रखना उचित है ॥ १०० ॥

मूलम्-स्वमूत्रोत्सर्गकाले यो बलादाकृष्य वायुना ॥ स्तोकं स्तोकं त्यजेन्मूत्रमूर्ध्वमाकृष्य तत्पुनः ॥ १०१ ॥ गुरूपदिष्टमार्गेण प्रत्यहं यः समाचरेत् ॥ बिन्दुसिद्धिर्भवेत्तस्य महासिद्धिप्रदायिका ॥ १०२ ॥

टीका–गुरूके उपदेशपूर्वक सर्वदा मूत्रत्यागनेके समय बलकरके वायुसे आकर्षणपूर्वक थोडा थोडा मूत्र त्यागकरे फिर ऊपरको आकर्षण करे तो उसका बिन्दु सिद्ध होजायगा यह बिन्दुकी सिद्धी महासिद्धीकी दाता है अर्थात् परमपदको प्राप्त करती है ॥ १०१ ॥ १०२ ॥

मूलम्–षण्मासमभ्यसेद्यो वै प्रत्यहं गुरुशिक्षया ॥ शतांगनेपि भोगेपि तस्य बिन्दुर्न नश्यति ॥ १०३ ॥

टीका–गुरूके शिक्षापूर्वक योगी यदि छः मास नित्य इसका अभ्यासकरे तो शत स्त्रीसे भोगकरेगा तो भी उसका बिन्दुपात नहोगा ॥ १०३ ॥

मूलम्–सिद्धे बिन्दौ महायत्ने किं न सिद्ध्यति पार्वति ॥ ईशत्वं यत्प्रसादेन ममापि दुर्लभं भवेत् ॥ १०४ ॥

टीका–हेपार्वती ! जब महायत्नसे बिन्दु सिद्ध होजायगा तब क्या नहीं सिद्धहोगा अर्थात् सब सिद्ध होजायगा इसके प्रसादसे यह दुर्लभ ईशत्व हमको प्राप्त भयाहै ॥ १०४ ॥

अथ शक्तिचालनमुद्रा ।

मूलम्–आधारकमले सुप्तां चालयेत्कुण्ड-

लीं दृढाम्॥ अपानवायुमारुह्य बलादाकृष्य बुद्धिमान् ॥ १०५ ॥ शक्तिचालनमुद्रेयं सर्वशक्तिप्रदायिनी ॥ १०६ ॥

टीका—आधारकमलमें घोर निद्रित कुण्डलिनीको बुद्धिमान् अपानवायुपर आरूढहोके आकर्षणपूर्वक हठात् चलावे अर्थात् भ्रमावे यह शक्तिचालनमुद्रा सर्वशक्तिकी दाता है ॥ १०५ ॥ १०६ ॥

मूलम्—शक्तिचालनमेवं हि प्रत्यहं यः समाचरेत् ॥ आयुर्वृद्धिर्भवेत्तस्य रोगाणां च विनाशनम् ॥ १०७ ॥

टीका—यह शक्तिचालनमुद्रा जो प्रतिदिन करे तो उसके आयुकी वृद्धी होगी और सर्वरोगोंका इस मुद्राके प्रभावसे नाश होजायगा ॥ १०७ ॥

मूलम्—विहाय निद्रां भुजगी स्वयमूर्ध्वं भवेत्खलु ॥ तस्मादभ्यासनं कार्यं योगिना सिद्धिमिच्छता ॥ १०८ ॥

टीका—इस शक्तिचालनके साधनसे कुण्डलिनी निद्राको त्यागके आपही ऊर्ध्वगामी होजायगी यह निश्चय है. इस हेतुसे सिद्धिकी इच्छा करनेवाले योगीको उचित है कि, इसका अभ्यास करे ॥ १०८ ॥

मूलम्—यः करोति सदाभ्यासं शक्तिचालनमुत्तमम् ॥ येन विग्रहासिद्धिः स्यादणिमादिगुणप्रदा ॥ गुरूपदेशविधिना तस्य मृत्युभयं कुतः ॥ १०९ ॥

टीका—यदि इस उत्तमशक्तिचालनमुद्राका सदा अभ्यासकरे तो उसका शरीर सिद्ध अर्थात् अमर होजायगा और यह मुद्रा अणिमादिक सिद्धिकी दाता है. गुरूके उपदेशपूर्वक विधानसे जो इसका अभ्यास करे तो उसको मृत्युका भय नहीं है ॥ १०९ ॥

मूलम्—मुहूर्तद्वयपर्यन्तं विधिना शक्तिचालनम् ॥११०॥ यः करोति प्रयत्नेन तस्य सिद्धिरदूरतः ॥ युक्तासनेन कर्तव्यं योगिभिः शक्तिचालनम् ॥ १११ ॥

टीका—जो विधानपूर्वक यत्नसे यदि दोमुहूर्तपर्यंत शक्तिचालन करे तो उसको सर्वसिद्धिकी प्राप्ति होगी. योगीको उचित है कि, गुरूके उपदेशानुसार योगासनसे युक्त होके शक्तिचालनका अभ्यास करे ॥११०॥१११॥

मूलम्—एतत्सुमुद्रादशकं न भूतं न भविष्यति ॥ एकैकाभ्यासने सिद्धिः सिद्धो भवति नान्यथा ॥ ११२ ॥

टीका-हे पार्वती! यह दशमुद्रा जो हमने कहा है इसके समान न कुछ भया है न होगा इसके एक एकके अभ्यास सिद्ध होनेसे साधक सिद्ध होजायगा ॥ ११२ ॥

इति श्रीशिवसंहितायां हरगौरीसंवादे मुद्राकथनं नाम चतुर्थपटलः समाप्तः ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमः पटलः ।

मूलम्-श्रीदेव्युवाच ॥ ब्रूहि मे वाक्यमीशान परमार्थधियं प्रति॥ ये विघ्नाः सन्ति लोकानां वद मे प्रिय शङ्कर ॥ १ ॥

टीका-श्रीपार्वतीजी कहती है कि, हे ईश्वर! हे प्रिय शङ्कर! योगाभ्यासी लोगोंके प्रति जो विघ्न संसारमें हैं सो भक्तोंपर कृपा करके हमको कहो ॥ १ ॥

मूलम्-ईश्वर उवाच ॥ शृणु देवि प्रवक्ष्यामि यथा विघ्नाः स्थिताः सदा ॥ मुक्तिं प्रति नराणाञ्च भोगः परमबन्धनः ॥ २ ॥

टीका-श्रीईश्वर कहते हैं कि, हे देवी! योगसाधनमें जो विघ्न हैं सो हम कहते हैं सुनो मनुष्योंके मुक्तिके प्रति भोग परमबन्धन है ॥ २ ॥

अथ भोगरूपयोगविघ्नविद्याकथनम् ॥

मूलम्-नारी शय्यासनं वस्त्रं धनमस्यं विड-

म्बनम्॥ ताम्बूलभक्षयानानि राज्यैश्वर्यविभूतयः ॥३॥हैमं रौप्यं तथा ताम्रं रत्नश्चागुरुधेनवः॥पाण्डित्यं वेदशास्त्राणि नृत्यं गीतं विभूषणम् ॥४॥ वंशी वीणा मृदङ्गाश्च गजेंद्रश्चाश्ववाहनम्॥ दारापत्यानि विषया विघ्ना एते प्रकीर्तिताः॥ भोगरूपा इमे विघ्ना धर्मरूपानिमाञ्छृणु ॥ ५ ॥

टीका–नारीसंसर्ग शय्या उत्तमआसन वस्त्र धन यह सब मोक्षके प्रति विडम्बना हैं ताम्बूलसेवन रथ शिबिका आदि सवारी राजऐश्वर्य भोग स्वर्ण रजत ताम्र अनेकप्रकारके रत्न गोधन आदिका संग्रह पाण्डित्य करना वेदशास्त्रमें तर्क करना नृत्य गीत भूषण वंशी वीणा मृदङ्गादिक वाद्य बजाना गज अश्व आदि वाहन स्त्री पुत्र केवल गुरूकी सेवा छोडके हे पार्वती यह जो कहा है सो भोगरूप विघ्न है अब धर्मरूप विघ्न कहतेहैं श्रवण करो॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥

अथ धर्मरूपयोगविघ्नकथनम् ।

मूलम्–स्नानं पूजाविधिर्होमं तथा मोक्षमयी स्थितिः ॥ व्रतोपवासनियममौ-

नमिन्द्रियनिग्रहः॥६॥ध्येयो ध्यानं तथा मन्त्रो दानं ख्यातिर्दिशासु च ॥ वापीकूप- तडागादिप्रासादारामकल्पना ॥७॥ यज्ञं चान्द्रायणं कृच्छ्रं तीर्थानि विविधानि च॥ दृश्यन्ते च इमे विघ्ना धर्मरूपेण सं- स्थिताः ॥ ८ ॥

टीका–स्नानविधि पूजा होम और सुखपूर्वक स्थिति व्रत उपवास नियम मौन इन्द्रियनिग्रह ध्येय किसीका ध्यान करना मन्त्र जप दान सर्वत्र प्रसिद्धहोना बावडी कूप तालाव मंदिर बगीचाआदिक बनवाना यज्ञ करना पापक्षयके हेतु चांद्रायण कृच्छ्र व्रत करना तीर्थों में भ्रमण करना यह सब धर्मरूप विघ्न हैं॥ ६॥ ७॥ ८॥

अथ ज्ञानरूपविघ्नकथनम् ।

मूलम्–यत्तु विघ्नंभवेज्ज्ञानं कथयामि वरा- नने ॥ ९ ॥ गोमुखं स्वासनं कृत्वा धौति- प्रक्षालनं च तत् ॥ नाडीसञ्चारविज्ञानं प्रत्याहारनिरोधनम्॥१०॥ कुक्षिसंचालनं क्षिप्रं प्रवेश इन्द्रियाध्वना ॥ नाडीकर्मा- णि कल्याणि भोजनं श्रूयतांमम ॥११॥

टीका–हे देवी ! हे वरानने ! अब ज्ञानरूप विघ्न कहतेहैं

सुनो—अन्तःशुद्धिके अर्थ गोमुखके सदृश वस्त्र भक्षण करके तब धौति प्रक्षालन करना अर्थात् धौतियोग करना नाडीचालनका ज्ञान वायुका प्रत्याहार निरोध करना कुण्डलिनीके बोधार्थ उदरको भ्रमावना इन्द्रिय-द्वारा शीघ्र प्रवेश नाडीकर्म अर्थात् नाडीशुद्धिके हेतु आहारीय विचार यह सब ज्ञानरूप विघ्न हैं हेदेवी कल्याणी ! नाडीशुद्धिके अर्थ जो भोजनविधि है सो हम कहतेहैं सुनो ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥

मूलम्--नवधातुरसं छिन्धि शुण्ठिकास्ताडयेत्पुनः ॥ एककालं समाधिः स्याल्लिंगभूतमिदं शृणु ॥ १२ ॥

टीका—नवीन रससहित भोजन वस्तु और शुण्ठीचूर्ण भोजनकरे इससे शीघ्र समाधि होजायगी. हे देवी ! अब उसका चिह्न कहतेहैं सुनो ॥ १२ ॥

मूलम्—सङ्गमं गच्छ साधूनां सङ्कोचं भज दुर्जनात् ॥ प्रवेशनिर्गमे वायोर्गुरुलक्षं विलोकयेत् ॥ १३ ॥

टीका—साधुके सङ्गकी अभिलाषा और दुर्जनसे अलग रहनेका विचार रखना और वायुके प्रवेश निर्गममें और वायुके निरोध समय मात्रासे गुरुलघुके विचारार्थ संख्या करना ॥ १३ ॥

मूलम्–पिण्डस्थं रूपसंस्थञ्च रूपस्थं रूप-
वर्जितम् ॥ ब्रह्मैतस्मिन्मतावस्था हृदयञ्च
प्रशाम्यति ॥ इत्येते कथिता विघ्ना ज्ञान-
रूपे व्यवस्थिताः ॥ १४ ॥

टीका–शरीरस्थरूपका विचार रखना और रूप कुरूपका निर्णय करना और यह जगत् ब्रह्म है ऐसे विचारसे हृदयमें स्थिरता रखना. हेपार्वती ! यह जो कहा है सो सब ज्ञानरूप विघ्न हैं ॥ १४ ॥

अथ चतुर्विधयोगकथनम् ।

मूलम्–मन्त्रयोगोहठश्चैवलययोगस्तृतीय-
कः ॥ चतुर्थो राजयोगः स्यात्स द्विधा
भाववर्जितः ॥ १५ ॥

टीका–योग चार प्रकारका है–मन्त्रयोग, हठयोग, और तीसरा लययोग और चौथा राजयोग है. यह राजयोग द्वैतभावसे रहित है अर्थात् राजयोग सिद्धहो जानेसे जीव ईश्वरमें लयहोजाता है और कुछ बोध नहीं होता ॥ १६ ॥

मूलम्–चतुर्धा साधको ज्ञेयो मृदुमध्याधि-
मात्रकाः ॥ अधिमात्रतमः श्रेष्ठो भवा-
ब्धौ लंघनक्षमः ॥ १६ ॥

टीका–यह योगचतुष्टयके साधकभी चार प्रकारके होते हैं अर्थात् मृदु मध्यम अधिमात्र और अधिमात्रतम यह अधिमात्रतम साधक सबमें श्रेष्ठ है एही साधक संसाररूपी समुद्रके पार होनेमें समर्थ होताहै॥१६॥

अथ मृदुसाधकलक्षणम् ।

मूलम्--मन्दोत्साही सुसंमूढो व्याधिस्थो गुरुदूषकः ॥ लोभी पापमतिश्चैव बह्वाशी वनिताश्रयः ॥ १७ ॥ चपलः कातरो रोगी पराधीनोऽतिनिष्ठुरः ॥ मन्दाचारो मन्दवीर्यो ज्ञातव्यो मृदुमानवः ॥ १८ ॥ द्वादशाब्दे भवेत्सिद्धिरेतस्य यत्नतः परम् ॥ मन्त्रयोगाधिकारी स ज्ञातव्यो गुरुणा ध्रुवम् ॥ १९ ॥

टीका–अब मृदुसाधकलक्षण कहते हैं मन्द उत्साही मूढचित्त व्याधिग्रसित गुरुनिन्दक लोभी जिसकी सर्वदा पापबुद्धि रहै बहुत भोजन करनेवाला स्त्रीके वशमें हो चञ्चल हो कातर हो रोगी हो पराधीन हो कठोर बोलनेवाला हो जिसके मन्द कर्म हों मंदवीर्यवाला हो ऐसे पुरुषको मृदु मानव कहते हैं यह मन्त्रयोगका अधिकारी है यत्नकरनेसे और गुरुकी कृपासे इसकोभी

बारह वर्षमें सिद्धि प्राप्त होगी ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥

मूलम्–समबुद्धिः क्षमायुक्तः पुण्यकांक्षी प्रियंवदः॥ मध्यस्थः सर्वकार्येषु सामान्यः स्यान्न संशयः ॥ २० ॥ एतज्ज्ञात्वैव गुरुभिर्दीयते मुक्तितो लयः ॥ २१ ॥

टीका–अब मध्यसाधकलक्षण कहतेहैं–सामान्य बुद्धि हो क्षमावानहो पुण्यकर्म करनेमें इच्छा रखताहो प्रिय बोलताहो सर्वकार्यमें मध्यस्थ रहताहो अर्थात् न हर्ष न विषाद इसको मध्यसाधक कहतेहैं यह निश्चय है गुरु इसको विचारके मुक्तिमार्ग जो लययोग है उसका उपदेश करे ॥ २० ॥ २१ ॥

अथ अधिमात्रसाधकलक्षणम् ।

मूलम्–स्थिरबुद्धिर्लये युक्तः स्वाधीनो वीर्यवानपि ॥ महाशयो दयायुक्तः क्षमावान् सत्यवानपि ॥२२॥ शूरो वयःस्थः श्रद्धावान् गुरुपादाब्जपूजकः ॥ योगाभ्यासरतश्चैव ज्ञातव्यश्चाधिमात्रकः ॥ २३ ॥ एतस्य सिद्धिः षड्वर्षैर्भवेदभ्यासयोगतः ॥ एतस्मै दीयते धीरो हठयोगश्च साङ्गतः ॥ २४ ॥

टीका–अब अधिमात्र साधक लक्षण कहतेहैं स्थिर

बुद्धि हो लययोगमें समर्थहो स्वतन्त्र हो अर्थात् किसीके आधीन न हो वीर्यवान हो महाशय हो दयावान हो क्षमावान हो सत्यवादी हो शूर हो समाधियोगमें श्रद्धा हो गुरुपादपद्मपूजक हो योगाभ्यासरत हो ऐसे गुणवाले पुरुषको अधिमात्र कहतेहैं योगाभ्याससे ऐसे पुरुषको छः वर्षमें सिद्धि प्राप्त होगी. गुरुको उचित है कि, ऐसे धीर पुरुषको अङ्गसहित हठयोगका उपदेश करे ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥

अथ अधिमात्रतमसाधकलक्षणम् ।

मूलम्—महावीर्यान्वितोत्साही मनोज्ञः शौर्यवानपि॥ शास्त्रज्ञोऽभ्यासशीलश्च निर्मोहश्च निराकुलः ॥ २५ ॥ नवयौवनसम्पन्नो मिताहारी जितेंद्रियः ॥ निर्भयश्च शुचिर्दक्षो दाता सर्वजनाश्रयः ॥२६॥ अधिकारी स्थिरो धीमान् यथेच्छावस्थितः क्षमी॥ सुशीलो धर्मचारी च गुप्तचेष्टः प्रियँव्वदः ॥ २७ ॥ शास्त्रविश्वाससम्पन्नो देवतागुरुपूजकः ॥ जनसंगविरक्तश्च महाव्याधिविवर्जितः ॥ २८ ॥ अधिमात्रतमो ज्ञेयःसर्वयोगस्य साधकः ॥ त्रिभिः

सँव्वत्सरैः सिद्धिरेतस्य नात्र संशयः ॥ सर्वयोगाधिकारी स नात्र कार्या विचारणा ॥ २९ ॥

टीका–महावीर्यवान् उत्साहयुक्त स्वरूपवान् शूरतासम्पन्न शास्त्रज्ञ अभ्यासशील अर्थात् श्रुतिधर मोहसे हीन आकुलतारहित अर्थात् सावधान नवीन यौवनसम्पन्न अर्थात् तरुण प्रमाणभोजी जितेन्द्रिय निर्भय पवित्रआचार सर्वकर्ममें निपुण दानशील शरणागतपालक स्थिरचित्त बुद्धिमान् सन्तोषयुक्त क्षमावान् शीलवान् धार्मिक कर्मोंको गोप्य रखनेवाला प्रियसत्यवादी शास्त्रमें विश्वास देवता और गुरुपूजक जनसङ्गरहित महाव्याधिरहित ऐसे गुण जिसमें हो वह अधिमात्रतम है और सर्व योगका साधक है इसको तीनवर्षमें सिद्धि प्राप्त होगी इसमें संशय नहीं है. यह सर्वयोगका अधिकारी है ऐसे पुरुषको गुरु समस्त योगका उपदेश करदें इसमें विचारका कुछ प्रयोजन नहीं है ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥

अथ प्रतीकोपासनम् ।

मूलम्–प्रतीकोपासना कार्या दृष्टादृष्टफलप्रदा ॥ पुनाति दर्शनादत्र नात्र कार्या विचारणा ॥ ३० ॥

टीका–अब प्रतीकउपासना कहतेहैं प्रतीकउपासनासे दृष्टादृष्टफल लाभ होताहै और उसके दर्शनसे मनुष्य पवित्र होताहै इसमें संशय नहीं है ॥ ३० ॥

मूलम्–गाढातपे स्वप्रतिबिम्बितेश्वरं निरीक्ष्य विस्फारितलोचनद्वयम् ॥ यदा नभः पश्यति स्वप्रतीकं नभोङ्गणे तत्क्षणमेव पश्यति ॥ ३१ ॥

टीका–गाढआतपमें अर्थात् गहरेधूपमें स्वईश्वरका प्रतिबिम्ब नेत्रास्थिरकरके देखे जब अपने छायाका प्रतिबिम्ब शून्यमें देखपडे तब ऊपर आकाशमें अपना प्रतिबिम्ब अवश्य देखेगा ॥ ३१ ॥

मूलम्–प्रत्यहं पश्यते यो वै स्वप्रतीकं नभोङ्गणे॥आयुर्वृद्धिर्भवेत्तस्य न मृत्युः स्यात्कदाचन ॥ ३२ ॥

टीका–जो नित्य आकाशमें स्वप्रतीक अर्थात् अपना प्रतिबिम्ब देखेगा उसके आयुकी वृद्धि होगी और उसकी मृत्यु कभी न होगी अर्थात् चिरंजीवी हो जायगा ॥ ३२ ॥

मूलम्–यदापश्यतिसम्पूर्णंस्वप्रतीकंनभो-

ङ्गणे ॥ तदा जयं सभायाञ्च युद्धे निर्जित्य सञ्चरेत् ॥ ३३ ॥

टीका-जब सम्पूर्ण अपना प्रतिबिम्ब आकाशमें देखे तब सभामें उसकी जय होय और युद्धमें शत्रुको जीतलेगा ॥ ३३ ॥

मूलम्-यः करोति सदाभ्यासं चात्मानं वन्दते परम् ॥ पूर्णानन्दैकपुरुषं स्वप्रतीकप्रसादतः ॥ ३४ ॥

टीका-जो सर्वदा स्वप्रतीक उपासनाका अभ्यास करे तो उसको आत्माकी प्राप्ति होगी और उसी स्वप्रतीकके प्रसादसे पूर्णानन्द स्वरूप अर्थात् आत्माका दर्शन होगा. तात्पर्य यह है कि जब हृदयाकाशमें अपने स्वरूपका अनुभव होगा तब आत्माकी परम ज्योतिका प्रकाश होगा ॥ ३४ ॥

मूलम्-यात्राकाले विवाहे च शुभे कर्माणि सङ्कटे ॥ पापक्षये पुण्यवृद्धौ प्रतीकोपासनञ्चरेत् ॥ ३५ ॥

टीका-यात्राकालमें और विवाहके समयमें और शुभकर्ममें और पापक्षयमें और पुण्यवृद्धिके अर्थ स्वप्रतीक अर्थात् अपने प्रतिबिम्बका दर्शन करे तो सर्वदा कल्याण होगा ॥ ३५ ॥

मूलम्--निरन्तरकृताभ्यासादन्तरे पश्यति ध्रुवम् ॥ तदा मुक्तिमवाप्नोति योगी नियतमानसः ॥ ३६ ॥

टीका--सर्वदा प्रतीकोपासनाके अभ्यास करनेसे निश्चय हृदयाकाशमें अपना प्रतिबिंब भान होगा तब निश्चयआत्मा योगीको मुक्ति प्राप्त होगी ॥ ३६ ॥

मूलम्--अंगुष्ठाभ्यामुभे श्रोत्रे तर्जनीभ्यां द्विलोचने ॥ नासारन्ध्रे च मध्याभ्यामनामाभ्यां मुखं दृढम् ॥ ३७ ॥ निरुध्य मारुतं योगी यदैव कुरुते भृशम् ॥ तदा तत्क्षणमात्मानं ज्योतीरूपं स पश्यति ३८

टीका--दोनों अंगुष्ठसे दोनों कर्ण बंद करे और दोनों तर्जनीसे दोनों नेत्रोंको बंद करे और दोनों मध्यमा अंगुलीसे दोनों नासारंध्रको बंद करे और दोनों अनामिका अंगुली और कनिष्ठासे मुखको बंद करे यदि इसप्रकार योगी वायुको निरोध करके इसका वारंवार अभ्यास करे तो आत्मा ज्योतिस्वरूपका हृदयाकाशमें भान होगा ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

मूलम्--तत्तेजो दृश्यते येन क्षणमात्रं निराकुलम् ॥ सर्वपापविनिर्मुक्तः स याति परमां गतिम् ॥ ३९ ॥

टीका—आत्माका यह परमतेज जो पुरुष स्थिर-चित्त होके क्षणमात्रभी देखेगा वह सर्वपापसे मुक्त होके परमगतिको प्राप्तहोगा ॥ ३९ ॥

मूलम्—निरन्तरकृताभ्यासाद्योगीविगतकल्मषः ॥ सर्वदेहादि विस्मृत्य तदभिन्नः स्वयं गतः ॥ ४० ॥

टीका—निरंतर जो योगी शुद्धचित्त होके यह प्रतीकोपासनाका अभ्यास करेगा वह सर्व देहादिकर्मसे रहित होके आत्मासे अभिन्न होजायगा अर्थात् आत्मास्वरूप होजायगा ॥ ४० ॥

मूलम्—यः करोति सदाभ्यासं गुप्ताचारेण मानवः ॥ स वै ब्रह्मविलीनः स्यात्पापकर्मरतो यदि ॥ ४१ ॥

टीका—जो मनुष्य गुप्ताचारसे इसका सर्वदा अभ्यास करताहै सो यदि पापकर्मरतभी हो तथापि उसका मोक्ष होगा ॥ ४१ ॥

मूलम्—गोपनीयः प्रयत्नेन सद्यः प्रत्ययकारकः ॥ निर्वाणदायको लोके योगोयं मम वल्लभः ॥ नादः संजायते तस्य क्रमेणाभ्यासतश्च यः ॥ ४२ ॥

टीका—जो इसका अभ्यास करेगा उसको क्रमसे नाद उत्पन्न होगा. हेदेवी ! यह प्रतीकोपासना निर्वाण योगका दाता है इससेहतुसे हमको अतिप्रिय है यह शीघ्र फलदाता है इसको यत्नसे गोप्य रखना उचित है ॥ ४२ ॥

मूलम्--मत्तभृङ्गवेणुवीणासदृशः प्रथमोध्वनिः ॥ ४३ ॥ एवमभ्यासतः पश्चात् संसारध्वान्तनाशनम् ॥ घण्टानादसमः पश्चात् ध्वनिर्मेघरवोपमः ॥ ४४ ॥ ध्वनौ तस्मिन्मनो दत्त्वा यदा तिष्ठति निर्भरः ॥ तदा संजायते तस्य लयस्य मम वल्लभे ॥ ४५॥

टीका—योगअभ्यासद्वारा प्रथम मत्त भ्रमरकी नाईं शब्द और वेणु और वीणाके समान शब्द उत्पन्न होगा इसी तरह संसारतम नाशक योगअभ्याससे फिर घंटानाद समान शब्द होगा. फिर मेघ गर्जनके समान ध्वनि होगी. हे प्रिये पार्वती ! उस ध्वनिमें यदि मन निश्चल स्थित हो जाय तब मोक्षका दाता लय उत्पन्न होगा ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ ४५ ॥

मूलम्--तत्र नादे यदा चित्तं रमते योगिनो भृशम् ॥ विस्मृत्य सकलं बाह्यं नादेन सह शाम्यति ॥ ४६ ॥

टीका–जब योगीका चित्त उस नादमें निरंतर रमणकरेगा तब सकल विषयसे स्मरणरहित होके चित्त समाधिमें लय होजायगा ॥ ४६ ॥

मूलम्–एतदभ्यासयोगेन जित्वा सम्यग्गुणान्बहून् ॥सर्वारम्भपरित्यागी चिदाकाशे विलीयते ॥ ४७ ॥

टीका–इसीप्रकार योगअभ्यासद्वारा सर्व गुणोंको जीतके और सब कार्योंके आरंभको त्यागके योगी आनंदपूर्वक चैतन्यस्वरूप हृदयाकाशमें लय होजायगा ॥ ४७ ॥

मूलम्–नासनं सिद्धसदृशं न कुम्भसदृशं बलम् ॥ न खेचरीसमा मुद्रा न नादसदृशो लयः ॥ ४८ ॥

टीका–हेदेवी ! सिद्धासनके समान कोई और आसन नहीं है और न कुम्भकके समान कोई बल है और न खेचरीके समान कोई मुद्रा है और न नादके समान कोई दूसरा लय है ॥ ४८ ॥

अथ मूलाधारपद्मविवरणम् ।

मूलम्–इदानीं कथयिष्यामि मुक्तस्यानुभवं

प्रिये ॥ यज्ज्ञात्वा लभते मुक्तिं पापयुक्तो-
पि साधकः ॥ ४९ ॥

टीका–हे प्रिये पार्वती ! अब मुक्तिका अनुभव तुमसे कहतेहैं जिसके ज्ञानसे पापयुक्त साधकभी मुक्तिलाभ करताहै ॥ ४९ ॥

मूलम्–समभ्यर्च्यैश्वरं सम्यक्कृत्वा च
योगमुत्तमम् ॥ गृह्णीयात्सुस्थितो भूत्वा
गुरुं सन्तोष्य बुद्धिमान् ॥ ५० ॥

टीका–योगाकांक्षी साधक सम्यक्प्रकारसे ईश्वरकी पूजा करके स्वस्थचित्तसे योगासनपर बैठके बुद्धिमान् गुरुको सर्वप्रकारसे प्रसन्न करके यह उत्तम योग ग्रहणकरे ॥ ५० ॥

मूलम्–जीवादि सकलं वस्तु दत्त्वा योग-
विदं गुरुम्॥ सन्तोष्यादिप्रयत्नेन योगोयं
गृह्यते बुधैः ॥ ५१ ॥

टीका–बुद्धिमान् साधक जीवादि सकल पदार्थ योगविद् गुरुके अर्पण करके उनके प्रसन्नतापूर्वक यत्न करके यह योग ग्रहण करते हैं ॥ ५१ ॥

मूलम्–विप्रान्सन्तोष्य मेधावी नानामं-
गलसंयुतः ॥ ममालये शुचिर्भूत्वा गृह्णी-
याच्छुभमात्मनः ॥ ५२ ॥

टीका-योगग्रहणके समय बुद्धिमान् साधक ब्राह्मणको सन्तोष करके अर्थात् द्रव्यादिक प्रदानपूर्वक प्रसन्न करके अनेक आशीर्वाद श्रवण करके पवित्रता से शिवमंदिरमें बैठके आत्माके अर्थ जो यह शुभयोग है इसको ग्रहणकरे ॥ ५२ ॥

मूलम्-संन्यस्यानेन विधिना प्राक्तनं विग्रहादिकम् ॥ भूत्वा दिव्यवपुर्योगी गृह्णीयाद्वक्ष्यमाणकम् ॥ ५३ ॥

टीका-साधक इस विधानसे पूर्व शरीर गुरुकी कृपासे त्यागके दिव्य शरीर होके जो आगे कहेंगे वह योग ग्रहण करे. तात्पर्य यह है कि, योगग्रहणके समयसे साधकका शरीर दिव्य होजाताहै व्याधि और अज्ञानका शरीर नहीं रहजाता इस हेतुसे योगग्रहणके समय साधक यह चिंतनकरे कि, पूर्व शरीरको हमने त्यागके दिव्यशरीर धारण किया ॥ ५३ ॥

मूलम्-पद्मासनस्थितो योगी जनसंगविवर्जितः ॥ विज्ञाननाडीद्वितयमङ्गुलीभ्यां निरोधयेत् ॥ ५४ ॥

टीका-योगी संगरहित पद्मासनमें स्थित होके दोनों विज्ञाननाडी अर्थात् इडा और पिंगलाको दो अंगुलीसे निरोध करे ॥ ५४ ॥

मूलम्–सिद्धेस्तदाविर्भवति सुखरूपी निर-
ञ्जनः ॥ तस्मिन्परिश्रमः कार्यो येन सि-
द्धो भवेत्खलु ॥ ५५ ॥

टीका–यह योग सिद्ध होनेसे साधकके हृदयमें सुखरूपी निरंजन परब्रह्म चैतन्यस्वरूपका प्रकाशहोगा इस हेतुसे यह योगमें साधकको परिश्रम कर्तव्य है, इससे निश्चय यह योग सिद्ध होजायगा ॥ ५५ ॥

मूलम्–यः करोति सदाभ्यासं तस्य सिद्धि-
र्न दूरतः ॥ वायुसिद्धिर्भवेत्तस्य क्रमादेव
न संशयः ॥ ५६ ॥

टीका–जो मनुष्य इस योगका सर्वदा अभ्यास करेगा उसको सर्वसिद्धि प्राप्त होगी और निश्चय आपही क्रमसे वायु सिद्ध होजायगा ॥ ५६ ॥

मूलम्–सकृद्यः कुरुते योगी पापौघं नाशये-
द्ध्रुवम् ॥ तस्य स्यान्मध्यमे वायोः प्रवेशो
नात्र संशयः ॥ ५७ ॥

टीका–जो योगी प्रतिदिन एकवार यह अभ्यास करे तो उसके सर्व पापोंका नाश होजायगा और उसका प्राणवायु निश्चय सुषुम्णामें प्रवेश करेगा ॥ ५७ ॥

मूलम्–एतदभ्यासशीलो यः स योगी देव-

पूजितः ॥ अणिमादिगुणाँल्लब्ध्वा विचरे-
द्भुवनत्रये ॥ ५८ ॥

टीका–यह अभ्यासशील योगी देवतोंसे पूजित है और अणिमादिक सिद्धि लाभ करके तीनों लोकमें इच्छापूर्वक विचरेगा ॥ ५८ ॥

मूलम्–यो यथास्यानिलाभ्यासात्तद्भवेत्त-
स्य विग्रहः ॥ तिष्ठेदात्मनि मेधावी संयुतः
क्रीडते भृशम् ॥ ५९ ॥

टीका–जिस प्रकार वायुका अभ्यास करेगा उसी तरह साधकका शरीर सिद्ध हो जायगा और बुद्धिमान पुरुष आत्मामें स्थितहोके सर्वदा क्रीडा करेगा ॥ ५९ ॥

मूलम्–एतद्योगं परं गोप्यं न देयं यस्य
कस्यचित् ॥ यःप्रमाणैः समायुक्तस्तमेव
कथ्यते ध्रुवम् ॥ ६० ॥

टीका–यह योग परमगोपनीयहै अनधिकारीको कदापि देनेके योग्य नहीं है परन्तु प्रमाणयुक्त अर्थात् पूर्वोक्त लक्षणयुक्त साधकको अवश्य देना उचितहै॥६०॥

मूलम्–योगी पद्मासने तिष्ठेत्कण्ठकूपे य-
दा स्मरन्॥जिह्वां कृत्वा तालुमूले क्षुत्पि-
पासा निवर्तते ॥ ६१ ॥

टीका—पद्मासनस्थित योगी जब कण्ठकूपका स्मरण अर्थात् उस स्थानमें मनको लय करके जिह्वाको तालुमूलमें स्थित करेगा तब क्षुधा और पिपासासे रहित हो जायगा ॥ ६१ ॥

मूलम्—कण्ठकूपादधः स्थाने कूर्मनाड्यस्ति शोभना ॥ तस्मिन् योगी मनो दत्त्वा चित्तस्थैर्यं लभेद्भृशम् ॥ ६२ ॥

टीका—कंठकूपके नीचे कूर्मनाडी शोभित है उस नाडीमें योगी मनको स्थिर करके अत्यंत चित्तकी स्थिरता पावेगा ॥ ६२ ॥

मूलम्—शिरःकपाले रुद्राक्षं विवरं चिन्तयेद्यदा ॥ तदा ज्योतिःप्रकाशः स्याद्विद्युत्पुञ्जसमप्रभः ॥ ६३ ॥ एतच्चिन्तनमात्रेण पापानां संक्षयो भवेत् ॥ दुराचारोऽपि पुरुषो लभते परमं पदम् ॥ ६४ ॥

टीका—शिर कपालमें जो रुद्राक्ष विवर है उसमें यदि चिंतना करे तो विद्युत्पुञ्जके समान आत्मज्योतिका प्रकाश होगा और इसके चिन्तनमात्रसे योगीका सर्व पाप नष्ट होजायगा. यदि दुराचारमेंभी जो पुरुष आसक्त है वहभी परमगतिको प्राप्त होगा ॥ ६३ ॥ ६४ ॥

मूलम्--अहर्निशं यदा चिन्तां तत्करोति विचक्षणः ॥ सिद्धानां दर्शनं तस्य भाषणञ्च भवेद्ध्रुवम् ॥ ६५ ॥

टीका--जो बुद्धिमान् साधक रात्रि दिवस यह चिन्तवन करते हैं उनको सिद्धलोगोंका अवश्य दर्शन और उनसे भाषण होताहै ॥ ६५ ॥

मूलम्--तिष्ठन् गच्छन् स्वपन् भुञ्जन् ध्यायेच्छून्यमहर्निशम् ॥ तदाकाशमयो योगी चिदाकाशे विलीयते ॥ ६६ ॥

टीका--जो पुरुष चलते बैठते सोते भोजन करते रात्रिदिवस यह ध्यान करते हैं सो आकाशस्वरूप योगी चिदाकाश अर्थात् परमात्मामें लय होजाते हैं ॥ ६६ ॥

मूलम्--एतज्ज्ञानं सदा कार्यं योगिना सिद्धिमिच्छता ॥ निरन्तरकृताभ्यासान्मम तुल्यो भवेद्ध्रुवम् ॥ एतज्ज्ञानबलाद्योगी सर्वेषां वल्लभो भवेत् ॥ ६७ ॥

टीका--सिद्धिकांक्षी योगीको इस ध्यानका सर्वदा अभ्यास करना उचित है सर्वदा अभ्यास करनेसे हेपार्वती ! हमारे तुल्य होजायगा निश्चय, इस ज्ञानबलसे योगी सबको अर्थात् त्रैलोक्यको प्रिय होजाताहै ॥ ६७ ॥

मूलम्-सर्वान् भूतान् जयं कृत्वा निराशीरपरिग्रहः ॥ ६८ ॥ नासाग्रे दृश्यते येन पद्मासनगतेन वै ॥ मनसो मरणं तस्य खेचरत्वं प्रसिद्ध्यति ॥ ६९ ॥

टीका-योगी सर्व भूतोंको जय करके और क्षुधा और इच्छाको जीतके पद्मासनसे स्थितहोके जो नासाग्रमें देखता है उसका मन स्थिर होजाताहै तब खेचरत्व सिद्धहोताहै ॥ ६८ ॥ ६९ ॥

मूलम्-ज्योतिः पश्यति योगीन्द्रः शुद्धं शुद्धाचलोपमम् ॥ तत्राभ्यासबलेनैव स्वयं तद्रक्षको भवेत् ॥ ७० ॥

टीका-शुद्ध अचलके समान परमज्योति योगी देखताहै तब अभ्यासबलसे आपही उसका रक्षक होताहै अर्थात् ज्योतिर्मय होता है ॥ ७० ॥

मूलम्-उत्तानशयने भूमौ सुप्त्वा ध्यायन्निरन्तरम् ॥सद्यः श्रमविनाशाय स्वयं योगी विचक्षणः ॥७१ ॥ शिरः पश्चात्तु भागस्य ध्याने मृत्युञ्जयो भवेत् ॥ भ्रूमध्ये दृष्टिमात्रेण ह्यपरः परिकीर्तितः ॥ ७२ ॥

टीका—बुद्धिमान् योगी भूमिमें उत्तानशयन करके निरन्तर ध्यान करे तो तत्काल आपही श्रमका नाश होजायगा और शिरके पृष्ठभागका ध्यान करनेसे योगी मृत्युका जीतनेवाला होजायगा और भ्रूके मध्यमें जो दृष्टिमात्रसे फल होताहै सो हेदेवि! हम पहले कहचुके हैं ॥ ७१ ॥ ७२ ॥

मूलम्—चतुर्विधस्य चान्नस्य रसस्त्रेधा विभज्यते ॥तत्र सारतमो लिंगदेहस्य परिपोषकः ॥ ७३ ॥ सप्तधातुमयं पिण्डमेति पुष्णाति मध्यगः ॥ याति विण्मूत्ररूपेण तृतीयः सप्ततो बहिः ॥७४॥ आद्यभागद्वयं नाड्यः प्रोक्तास्ताः सकला अपि ॥ पोषयन्ति वपुर्वायुमापादतलमस्तकम् ॥ ७५ ॥

टीका—चार विधि अन्नभोजन करनेसे तीनप्रकारका रस उत्पन्नहोताहै उसमें जो प्रथम सारभूत रस है वह लिङ्गशरीरको पोषण करता है और जो दूसरा रस है वह सप्तधातुमय पिण्डको पोषण करताहै और तीसरा रस सप्तधातुके बाहर मल मूत्ररूप है पहिले जो दोभाग रस कहाहै वही सकल नाडीरूप है और

पादसे लेकर मस्तकपर्यंत शरीरके वायुका पोषणकरते हैं ॥ ७३ ॥ ७४ ॥ ७५ ॥

मूलम्–नाडीभिराभिः सर्वाभिर्वायुः सञ्चरते यदा ॥ तदैवान्नरसो देहे साम्येनेह प्रवर्त्तते ॥ ७६ ॥

टीका–जब सब नाडीके साथ वायु चलताहै तब अन्नका रस शरीरमें समभावसे प्रवृत्त होता है ॥ ७६ ॥

मूलम्–चतुर्दशानां तत्रेह व्यापारे मुख्यभागतः ॥ ता अनुग्रत्वहीनाश्च प्राणसञ्चारनाडिकाः ॥ ७७ ॥

टीका–सर्व नाडियोंमें पूर्वोक्त चौदह नाडी शरीरके मुख्य व्यापारको करती हैं यह प्राण सञ्चार करनेवाली चौदह नाडीमें परस्पर कोई किसीसे न्यून अधिक नहीं है ॥ ७७ ॥

मूलम्–गुदाद्व्यंगुलतश्चोर्ध्वं मेढ्रैकांगुलतस्त्वधः ॥ एवञ्चास्ति समं कन्दं समता चतुरंगुलम् ॥ ७८ ॥

टीका–गुदासे दो अङ्गुल ऊपर और मेढ्र अर्थात् लिङ्गमूलसे एक अंगुल नीचे चार अंगुल विस्तारकन्दका प्रमाण है ॥ ७८ ॥

मूलम्-पश्चिमाभिमुखी योनिर्गुदमेढ्रान्तरालगा ॥ तत्र कन्दं समाख्यातं तत्रास्ति कुण्डली सदा ॥ ७९ ॥ संवेष्टय सकला नाडीः सार्द्धत्रिकुटिलाकृतिः ॥ मुखे निवेश्य सा पुच्छं सुषुम्णाविवरे स्थिता॥८०॥

टीका-गुदा और मेढ्रके मध्यमें जो योनि है वह पश्चिमाभिमुखी अर्थात् पीछेको मुख है उसी स्थानमें कन्दहै और उसी स्थानमें सर्वदा कुण्डलनीकी स्थिति है यह कुण्डलनी सकल नाडीको घेरके साढे तीन फेरा कुटिल आकृतिसे अपने मुखमें पुच्छको लेके सुषुम्णा विवरमें स्थित है ॥ ७९ ॥ ८० ॥

मूलम्-सुप्ता नागोपमा ह्येषा स्फुरन्ती प्रभया स्वया ॥ अहिवत्सन्धिसंस्थाना वाग्देवी बीजसंज्ञिका ॥ ८१ ॥

टीका-यह कुण्डलिनी सर्पके समान निद्रिता अपनी प्रभासे प्रकाशमान है और सर्पके सदृश संधिमें स्थित है और वाग्देवी है अर्थात् कुण्डलिनीहीसे वाक्य उच्चारण होताहै और बीज संज्ञक है अर्थात् संसारकी बीज है ॥ ८१ ॥

मूलम्-ज्ञेया शक्तिरियं विष्णोर्निर्मला स्वर्ण

भास्वरा॥सत्त्वं रजस्तमश्चेति गुणत्रयप्र-
सूतिका ॥ ८२ ॥

टीका--यह कुण्डलिनी देवी ईश्वरकी शक्तिमें तप्त स्वर्णके समान निर्मल तेजप्रभा है और सत्व, रज, तम, यह तीनों गुणकी माता है ॥ ८२ ॥

मूलम्--तत्र बन्धूकपुष्पाभं कामबीजं प्रकी-
र्तितम् ॥ कलहेमसमं योगे प्रयुक्ताक्षररू-
पिणम् ॥ ८३ ॥

टीका--जिस स्थानमें कुण्डलिनी है उसी स्थानमें बन्धूकपुष्पके समान रक्तवर्ण कामबीजकी स्थिति कहीगई है वह कामबीज तप्तस्वर्णके समान स्वरूप-योगयुक्तद्वारा चिंतनीय है ॥ ८३ ॥

मूलम्--सुषुम्णापि च संश्लिष्टा बीजं तत्र वरं
स्थितम्॥शरच्चंद्रनिभंतेजस्स्वयमेतत्स्फु-
रत्स्थितम्॥८४ ॥सूर्यकोटिप्रतीकाशं च-
न्द्रकोटिसुशीतलम् ॥ एतत्त्रयं मिलित्वैव
देवी त्रिपुरभैरवी ॥बीजसंज्ञं परंतेजस्तदे-
व परिकीर्तितम् ॥ ८५ ॥

टीका--जिस स्थानमें कुण्डलिनी स्थित है सुषुम्णा उसी स्थानमें कामबीजके साथ स्थित है और वह बीज

शरच्चन्द्रके समान प्रकाशमान तेज है और वह आपही कोटि सूर्यके समान प्रकाश और कोटिचंद्रके समान शीतल है यह तीनों मिलके अर्थात् कुण्डलिनी सुषुम्णा, बीजकुण्डलिनीका नाम त्रिपुरभैरवी देवी है यह कुण्डलिनी परमतेजमानहै और उसकी बीजसंज्ञाहै॥८४॥८५॥

मूलम्--क्रियाविज्ञानशक्तिभ्यां युतं यत्परितो भ्रमत्॥८६॥ उत्तिष्ठद्विशतस्त्वम्भः सूक्ष्मं शोणशिखायुतम्॥योनिस्थं तत्परं तेजः स्वयंभूलिंगसंज्ञितम् ॥ ८७ ॥

टीका—वह बीज क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्तिसे युक्त होके शरीरमें भ्रमण करताहै और कभी ऊर्ध्वगामी होताहै और कभी जलमें प्रवेश करताहै और सूक्ष्म प्रज्वलित अग्निके समान शिखायुत परमतेजवीर्यकी स्थिति योनिस्थानमें है और स्वयम्भू लिङ्गसंज्ञा है॥८६॥८७॥

मूलम्--आधारपद्ममेतद्धि योनिर्यस्यास्ति कन्दतः ॥ परिस्फुरद्वादिसान्तचतुर्वर्णं चतुर्दलम् ॥ ८८ ॥

टीका—यह जो कहाहै इसको आधारपद्म कहते हैं और इस पद्मके मूलमें योनिकी स्थितिहै यह पद्म परम प्रकाशमान-व-से स-तक अर्थात् व-श-ष-स चारवर्ण और चारदल करके शोभित है ॥ ८८ ॥

मूलम्–कुलाभिधं सुवर्णाभं स्वयम्भूलिङ्गसंगतम् ॥ द्विरण्डो यत्र सिद्धोस्ति डाकिनी यत्र देवता ॥८९॥ तत्पद्ममध्यगा योनिस्तत्र कुण्डलिनी स्थिता ॥ तस्याऊर्ध्वे स्फुरत्तेजः कामबीजं भ्रमन्मतम् ॥ ९०॥ यः करोति सदा ध्यानं मूलाधारे विचक्षणः ॥ तस्य स्याद्दार्दुरी सिद्धिर्भूमित्यागक्रमेण वै ॥ ९१ ॥

टीका–यह कमल कुलाभिध है अर्थात् कुलनाम है और स्वर्णके समान कांतिहै और स्वयंभूलिङ्गसे युक्त है और उस पद्ममें द्विरण्डनामक सिद्ध और डाकिनी देवता अधिष्ठात्री है और गणेश देवता है और उस पद्मके मध्यमें योनि है उस योनिमें कुण्डलिनीकी स्थितिहै और उस कुण्डलिनीके ऊपर दीप्तिमान् तेजस्वरूप कामबीज भ्रमण करताहै जो बुद्धिमान् पुरुष इस मूलाधार पद्मका सर्वदा ध्यान करते हैं उनको दार्दुरी वृत्ति सिद्ध होती है और क्रमसे भूमिको त्यागके आकाशगमन करते हैं ॥ ८९ ॥ ९० ॥ ९१ ॥

मूलम्–वपुषः कान्तिरुत्कृष्टा जठराग्निविव-

र्धनम् ॥ आरोग्यञ्च पटुत्वञ्च सर्वज्ञत्वञ्च जायते ॥ ९२ ॥

टीका–यह ध्यान करनेसे शरीरमें उत्तम कांति होती है और जठराग्नि वर्धित होताहै और शरीर आरोग्य रहताहै और पटुता और सर्वज्ञता अर्थात् सर्व वस्तुका ज्ञान उत्पन्न होता है ॥ ९२ ॥

मूलम्-भूतं भव्यं भविष्यच्च वेत्ति सर्वं सकारणम् ॥ अश्रुतान्यपि शास्त्राणि सरहस्यं वदेद्ध्रुवम् ॥ ९३ ॥

टीका–फिर भूत, भविष्य, वर्तमान तीनोंकाल और सर्व वस्तुके कारणका ज्ञान होताहै और जो शास्त्र कभी श्रवण नहीं कियाहै उसको रहस्यसहित व्याख्या करनेकी शक्ति निश्चय उत्पन्न होती है ॥ ९३ ॥

मूलम्–वक्रे सरस्वती देवी सदा नृत्यति निर्भरम् ॥ मन्त्रसिद्धिर्भवेत्तस्य जपादेव न संशयः ॥ ९४ ॥

टीका--योगीके मुखमें सर्वदा निरंतर सरस्वती देवी नृत्य करती है और योगीकी जपमात्रसे मन्त्रादिकी सिद्धि होती है इसमें संशय नहीं है ॥ ९४ ॥

मूलम्–जरामरणदुःखौघान्नाशयति गुरोर्व-

चः ॥इदं ध्यानं सदा कार्यं पवनाभ्यासि-
ना परम् ॥ ध्यानमात्रेण योगीन्द्रो मु-
च्यते सर्वकिल्बिषात् ॥ ९५ ॥

टीका—गुरुका वचन जरा मृत्यु आदि जो दुःखका समूह है उसको नाश करदेताहै पवनाभ्यासी साधकको यह परमध्यान सर्वदा करनेके योग्य है ध्यानमात्रसे योगीन्द्र सर्वपापसे मुक्त होजाताहै ॥ ९५ ॥

मूलम्--मूलपद्मं यदा ध्यायेद्योगी स्वायं-
म्भुलिङ्गकम् ॥ तदा तत्क्षणमात्रेण पापौ-
घं नाशयेद्ध्रुवम् ॥ ९६ ॥

टीका—योगी जब मूलाधार पद्म स्वयम्भूलिङ्गसंयुक्तका ध्यानकरे तो उसीक्षण निश्चय पापके समूहका नाश करदेगा ॥ ९६ ॥

मूलम्—यं यं कामयते चित्ते तं तं फलमवा-
प्नुयात् ॥ निरन्तरकृताभ्यासात्तं पश्यति
विमुक्तिदम् ॥९७॥ बहिरभ्यन्तरे श्रेष्ठं पू-
जनीयं प्रयत्नतः ॥ ततः श्रेष्ठतमं ह्येतन्ना-
न्यदस्ति मतं मम ॥ ९८ ॥

टीका--जो साधक मूलाधार पद्मका ध्यान करते हैं वह अपने चित्तमें जोजो वस्तुकी इच्छा करते हैं सो सो

सर्व वस्तु उनको प्राप्त होती हैं और सर्वदा यत्नपूर्वक यह अभ्यास करनेसे बाहर भीतर श्रेष्ठ पूजनीय मुक्तिदायी परमात्माको देखते हैं हे पार्वति ! इससे श्रेष्ठतम दूसरा योग नहीं है यह हमारा मतहै ॥ ९७ ॥ ९८ ॥

मूलम्–आत्मसंस्थं शिवं त्यक्त्वा बहिःस्थं यः समर्चयेत् ॥ हस्तस्थं पिण्डमुत्सृज्य भ्रमते जीविताशया ॥ ९९ ॥

टीका–मनुष्य शरीरस्थ शिवको त्यागके बाहरके देवताको पूजते हैं जैसे हाथके पिंडको त्यागके जीवके रक्षार्थ अन्य पिंडके हेतु लोग भ्रमण करतेहैं ॥ ९९ ॥

मूलम्–आत्मलिंगार्चनं कुर्यादनालस्यं दिने दिने ॥ तस्य स्यात्सकलासिद्धिर्नात्र कार्या विचारणा ॥१००॥ निरन्तरकृताभ्यासात्षण्मासैः सिद्धिमाप्नुयात् ॥ तस्य वायुप्रवेशोपि सुषुम्णायाम्भवेद्ध्रुवम् ॥ ॥ १०१ ॥ मनोजयञ्च लभते वायुबिन्दुविधारणात् ॥ ऐहिकामुष्मिकीसिद्धिर्भवेन्नैवात्र संशयः ॥ १०२ ॥

टीका–जो आलस्यको त्यागके शरीरस्थ परमात्माका नित्य पूजन करेगा उसको सकलसिद्धि प्राप्त-

होगी इसमें संशय नहीं है यदि इसका अभ्यास निरन्तर करे तो छःमासमें सिद्धि प्राप्तहोगी और उसके सुषुम्णानाडीमें निश्चय वायु प्रवेश करेगा और मनको जीतलेगा और वायु बिन्दुका धारण सिद्धहोगा और इसलोक और परलोककी सिद्धि प्राप्त होगी इसमें संशय नहीं है ॥ १०० ॥ १०१ ॥ १०२ ॥

अथ स्वाधिष्ठानचक्रविवरणम्।

मूलम्–द्वितीयन्तु सरोजञ्च लिंगमूले व्यवस्थितम्॥बादिलान्तं च षड्वर्णं परिभास्वरषड्दलम् ॥ १०३ ॥ स्वाधिष्ठानाभिधं तत्तु पंकजं शोणरूपकम्॥ बाणाख्यो यत्रासिद्धोऽस्ति देवी यत्रास्ति राकिणी १०४

टीका–दूसरा पद्म जो लिङ्गमूलमें स्थितहै वह- ब से लतक- अर्थात्-ब-भ-म-य-र-ल-यह-छःवर्णोंकरके युक्त है और छः दलसे शोभितहै-यह रक्तवर्णपद्मका नाम स्वाधिष्ठानहै और इस स्थानमें बाणनामक सिद्ध और राकिणी देवी अधिष्ठात्रीहै और ब्रह्मा देवता हैं॥१०३॥१०४॥

मूलम्–यो ध्यायति सदा दिव्यं स्वाधिष्ठानारविन्दकम् ॥ तस्य कामाङ्गनाः सर्वा भजंन्ते काममोहिताः ॥ १०५ ॥

टीका—जो पुरुष यह दिव्य स्वाधिष्ठानपद्मका सर्वदा ध्यान करते हैं उनको कामरूपिणी स्त्री कामसे मोहित होके भजतीहैं अर्थात् सेवा करती हैं ॥ १०५ ॥

मूलम्—विविधश्चाश्रुतं शास्त्रं निःशङ्को वै वदेद्ध्रुवम् ॥ सर्वरोगविनिर्मुक्तो लोके चरति निर्भयः ॥ १०६ ॥

टीका—विविधशास्त्र जो कभी श्रवण नहीं किय हो उसकोभी इस पद्मके ध्यानके प्रभावसे निःशंक कहेगा और सर्वरोगसे मुक्तहोके आनन्दपूर्वक संसारमें विचरेगा ॥ १०६ ॥

मूलम्—मरणं खाद्यते तेन स केनापि न खाद्यते ॥ तस्य स्यात्परमा सिद्धिरणिमादिगुणप्रदा ॥१०७॥ वायुः सञ्चरते देहे रसवृद्धिर्भवेद्ध्रुवम् ॥ आकाशपङ्कजगलत्पीयूषमपि वर्द्धते ॥ १०८ ॥

टीका—यह साधक मृत्युको नाश करदेताहै और वह किसीसे नष्ट नहीं होता और उस साधकको गुण देनेवाली अणिमादि सिद्धि प्राप्त होती हैं और उसके शरीरमें वायु संचार करताहै अर्थात् सुषुम्णामें प्रवेश करताहै और निश्चय रसकी वृद्धि होतीहै और सह-

स्रदलकमलसे जो अमृत स्रवताहै उसकी वृद्धि होती है ॥ १०७ ॥ १०८ ॥

अथ मणिपूरचक्रविवरणम् ।

मूलम्—तृतीयं पङ्कजं नाभौ मणिपूरकसंज्ञकम्॥दशारंडादिफान्तार्णं शोभितं हेमवर्णकम् ॥ १०९ ॥ रुद्राख्यो यत्र सिद्धोऽस्ति सर्वमङ्गलदायकः ॥ तत्रस्था लाकिनीनाम्नी देवी परमधार्मिका ॥ ११० ॥

टीका—मणिपूरनामक तीसरा पद्म जो नाभिस्थलमें है वह हेमवर्ण दशदलकरके शोभितहै और-ड-से फ-तक अर्थात् ड-ढ-ण-त-थ-द-ध-न-प-फ-यह दशवर्णसे युक्त है और उस स्थानमें सर्वमंगलदाता रुद्रनामक सिद्ध और लाकिनी देवी अधिष्ठात्री और विष्णुदेवता हैं ॥ १०९ ॥ ११० ॥

मूलम्—तस्मिन् ध्यानं सदा योगी करोति मणिपूरके ॥ तस्य पातालसिद्धिः स्यान्निरन्तरसुखावहा ॥१११॥ ईप्सितञ्च भवेल्लोके दुःखरोगविनाशनम् ॥ कालस्य वञ्चनञ्चापि परदेहप्रवेशनम् ॥ ११२ ॥

टीका—जो साधक इस मणिपूरचक्रको सर्वदा ध्या-

न करतेहैं सो सर्वसिद्धिदात्री जो पातालसिद्धि है उसको लाभ करते हैं और उनका दुःख रोगविनाश होके सकल मनोरथ सिद्ध होते हैं और कालको निरादर कर देतेहैं और परदेहमें प्रवेश करनेकी शक्ति उत्पन्न होती है ॥ १११ ॥ ११२ ॥

मूलम्–जाम्बूनदादिकरणं सिद्धानां दर्शनं भवेत् ॥ ओषधीदर्शनञ्चापि निधीनां दर्शनं भवेत् ॥ ११३ ॥

टीका–यह साधकको स्वर्णआदि रचना करनेकी शक्ति होतीहै और देवतोंका दर्शन और निधि और ओषधीका दर्शन होताहै ॥ ११३ ॥

मूलम्–हृदयेऽनाहतंनाम चतुर्थं पङ्कजं भवेत् ॥११४॥कादिठान्तार्णसंस्थानं द्वादशारसमन्वितम् ॥ अतिशोणं वायुबीजं प्रसादस्थानमीरितम् ॥ ११५ ॥

टीका–हृदयस्थानमें जो अनाहतनामक चतुर्थ पद्म है वह-क-से-ठ-तक अर्थात् क-ख-ग-घ-ङ-च-छ-ज-झ-ञ-ट-ठ-यह बारह वर्ण और बारहदलसे युक्त है और अति उज्ज्वल रक्तवर्णसे शोभायमान है और

वह प्रसन्नस्थान वायुका बीज अर्थात् प्राणवायुका आधार है ॥ ११४ ॥ ११५ ॥

मूलम्-पद्मस्थं तत्परं तेजो बाणलिंगं प्रकीर्तितम् ॥ यस्य स्मरणमात्रेण दृष्टादृष्टफलं लभेत् ॥ ११६ ॥

टीका-उस हृदयकमलमें जो परमतेज है उसीको बाणलिङ्ग कहते हैं जिसके ध्यानमात्रसे साधक इस लोक और परलोकका उत्तमफल आनंदपूर्वक लाभ करते हैं ॥ ११६ ॥

मूलम्-सिद्धः पिनाकी यत्रास्ते काकिनी यत्र देवता ॥ एतस्मिन्सततं ध्यानं हृत्पाथोजे करोति यः ॥ क्षुभ्यन्ते तस्य कान्ता वै कामार्ता दिव्ययोषितः ॥११७॥

टीका-जिस पद्ममें पिनाकी, सिद्ध और काकिनी देवी अधिष्ठात्री हैं उस हृदयस्थपद्ममें जो साधक सर्वदा ध्यान करताहै उसके समीप कामार्ता सुन्दर स्त्री अप्सरा आदि मोहित होजाती हैं ॥ ११७ ॥

मूलम्-ज्ञानञ्चाप्रतिमं तस्य त्रिकालविषयम्भवेत् ॥ दूरश्रुतिर्दूरदृष्टिः स्वेच्छया खगतां व्रजेत् ॥ ११८॥

टीका-उस साधकको अपूर्वज्ञान उत्पन्न होताहै और त्रिकालदर्शी होताहै और दूरशब्द श्रवण करने और दूरकी सूक्ष्मवस्तु देखनेकी शक्ति उत्पन्न होती है और स्वेच्छासे आकाशमें गमन करताहै ॥ ११८ ॥

मूलम्-सिद्धानां दर्शनञ्चापि योगिनीदर्शनं तथा ॥ भवेत्खेचरसिद्धिश्च खेचराणां जयन्तथा॥११९॥यो ध्यायति परं नित्यं बाणलिंगं द्वितीयकम् ॥ खेचरी भूचरी सिद्धिर्भवेत्तस्य न संशयः ॥ १२० ॥

टीका-जो साधक यह दूसरे परमबाणलिङ्गका नित्य ध्यान करताहै उसको देवता और योगिनीका दर्शन होताहै और आकाशमें गमन करनेकी शक्ति होजाती है और आकाशगामीसे जय प्राप्त होतीहै और खेचरी भूचरी सिद्ध होती है इसमें संशय नहीं है ॥११९ ॥१२०॥

मूलम्-एतद्ध्यानस्य माहात्म्यं कथितुं नैव शक्यते॥ ब्रह्माद्याः सकला देवा गोपायन्ति परान्त्विदम् ॥ १२१ ॥

टीका-हे देवी! इस अनाहत पद्मके ध्यानके माहात्म्यको कोई नहीं कहसकता और इस ध्यानको ब्रह्मा आदि सकलदेवता गोप्य रखते हैं ॥ १२१ ॥

अथ विशुद्धचक्रविवरणम् ।

मूलम्–कण्ठस्थानास्थितं पद्मं विशुद्धं नामपञ्चमम् ॥ १२२ ॥ सुहेमाभं स्वरोपेतं षोडशस्वरसंयुतम् ॥ छगलाण्डोऽस्ति सिद्धोत्र शाकिनी चाधिदेवता ॥ १२३ ॥

टीका–कंठस्थानमें जो पांचवां विशुद्धनामक कमल है वह स्वर्णके समान कांतिसे शोभित है और सोलह स्वर अर्थात् अ-आ-इ-ई-उ-ऊ-ऋ-ॠ-ऌ-ॡ-ए-ऐ-ओ-औ-अं-अः-से युक्त है और छगलांड सिद्ध और शाकिनीदेवी अधिष्ठात्री और जीवात्मा देवता इस स्थानमें सदा विराजमान है ॥ १२२ ॥ १२३ ॥

मूलम्–ध्यानं करोति यो नित्यं स योगीश्वरपण्डितः॥ किन्त्वस्य योगिनोऽन्यत्र विशुद्धाख्ये सरोरुहे ॥ चतुर्वेदा विभासन्ते सरहस्या निधेरिव ॥ १२४ ॥

टीका–जो पुरुष इस विशुद्धपद्मका नित्य ध्यान करतेहैं सो योगीश्वर पंडित हैं और इस विशुद्धपद्ममें उस पुरुषको चारोंवेद रहस्यसहित समुद्रके रत्नवत् प्रकाश होते हैं ॥ १२४ ॥

मूलम्–इह स्थाने स्थितो योगी यदा क्रोध-

वशो भवेत् ॥ तदा समस्तं त्रैलोक्यं कम्पते नात्र संशयः ॥ १२५ ॥

टीका—यह विशुद्धपद्ममें जब योगी मन और प्राणको स्थित करके यदि क्रोध करे तो अवश्य चराचर त्रैलोक्य कम्पायमान होजाय इसमें सन्देह नहीं ॥ १२५ ॥

मूलम्—इह स्थाने मनो यस्य दैवाद्याति लयं यदा ॥ तदा बाह्यं परित्यज्य स्वान्तरे रमते ध्रुवम् ॥ १२६ ॥

टीका—यह कमलमें साधकका मन दैवात् जब लय होताहै तब सकल बाह्यविषयको त्यागके योगीका मन और प्राण शरीरके अंतरहीमें निश्चय रमण करताहै ॥ १२६ ॥

मूलम्—तस्य न क्षतिमायाति स्वशरीरस्य शक्तितः ॥ संवत्सरसहस्रेऽपि वज्रातिकठिनस्य वै ॥ १२७ ॥ यदा त्यजति तद्ध्यानं योगींद्रोऽवनिमण्डले ॥ तदा वर्षसहस्राणि मन्यते तत्क्षणं कृती ॥ १२८ ॥

टीका—उस योगीका शरीर वज्रसेभी कठोर होजाताहै और उसको स्वशरीरकी शक्तिसे किसीप्रकारकी हानि नहीं होतीहै और सहस्रवर्ष समाधिके पीछे जब

उस ध्यानको छोडके योगीकी चित्तवृत्ति संसारमें आ-
वेगी तब उस सहस्रवर्षके योगी एकक्षण व्यतीत
भया मानेगा ॥ १२७ ॥ १२८ ॥

अथ आज्ञाचक्रविवरणम् ।

मूलम्--आज्ञापद्मं भ्रुवोर्मध्ये हक्षोपेतं द्विप-
त्रकम्॥शुक्लाभं तन्महाकालः सिद्धो दे-
व्यत्र हाकिनी ॥ १२९ ॥

टीका—भ्रूके मध्यमें जो आज्ञापद्म है उसमें हं-क्षं-
दो बीज हैं और सुंदर श्वेतवर्ण दो पत्र हैं और उस स्था-
नमें महाकाल सिद्ध है और हाकिनीदेवी अधिष्ठात्री
और परमात्मा देवता है ॥ १२९ ॥

मूलम्—शरच्चंद्रनिभं तत्राक्षरबीजं विजृंभितं॥
पुमान् परमहंसोऽयं यज्ज्ञात्वा नावसी-
दति ॥ १३० ॥ तत्र देवः परन्तेजः सर्वत-
न्त्रेषु मन्त्रिणः ॥ चिन्तयित्वा परां सिद्धिं
लभते नात्र संशयः ॥ १३१ ॥

टीका—उस आज्ञापद्मके मध्यमें शरच्चंद्रके समा-
न परमतेज चंद्रबीज अर्थात् ठं बीज विराजमान है
इसके ज्ञान होनेसे परमहंस पुरुषको कभी कष्ट नहीं
होता यह परमतेजका प्रकाश सर्वतंत्रोंकरके गो-

पित है इसके चिंतनमात्रसे अवश्य परम सिद्धिलाभ होताहै ॥ १३० ॥ १३१ ॥

मूलम्–तुरीयं त्रितयं लिंगं तदाहं मुक्तिदायकः ॥ ध्यानमात्रेण योगीन्द्रो मत्समो भवति ध्रुवम् ॥ १३२ ॥

टीका–हे पार्वती ! उस स्थानमें तुरीया तृतीयलिंग हमीं मुक्तिके दाता हैं इसके ध्यानमात्रसे योगीन्द्र निश्चय हमारे तुल्य होजायगा ॥ १३२ ॥

मूलम्–इडा हि पिंगला ख्याता वरणासीति होच्यते ॥ वाराणसी तयोर्मध्ये विश्वनाथोत्र भाषितः ॥ १३३ ॥

टीका–इस शरीरमें जो दो इडा और पिंगला नाडी हैं उनको वरणा और असी कहते हैं यह वरणा और असीके मध्यमें स्वयं विश्वनाथजी विराजमान हैं. तात्पर्य यह है कि , यह इडा और पिंगलाके मध्यमें जो स्थानहै उसीको शिवजीने वाराणसी कहाहै ॥ १३३ ॥

मूलम्–एतत्क्षेत्रस्य माहात्म्यमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ शास्त्रेषु बहुधा प्रोक्तं परं तत्त्वं सुभाषितम् ॥ १३४ ॥

टीका–यह वाराणसी क्षेत्रके माहात्म्यको तत्त्वद-

शीं ऋषिलोगोंने अनेक शास्त्रोंमें बहुत प्रकारसे परम-तत्त्व कहाहै ॥ १३४ ॥

मूलम्--सुषुम्णा मेरुणा याता ब्रह्मरन्ध्रं यतोऽस्ति वै ॥ ततश्चैषा परावृत्त्य तदाज्ञापद्मदक्षिणे ॥ १३५ ॥ वामनासापुटं याति गंगेति परिगीयते ॥ १३६ ॥

टीका--सुषुम्णानाडी मेरुदंडद्वारा जहां ब्रह्मरन्ध्र है उस स्थानमें गई है और इडानाडी मेरुतक जायके लौटीहै और आज्ञाचक्रके दक्षिणभाग होके वामनासापुटको गई है इसको गङ्गा कहतेहैं ॥ १३५ ॥ १३६ ॥

मूलम्--ब्रह्मरन्ध्रे हि यत्पद्मं सहस्रारं व्यवस्थितम्॥तत्र कन्दे हि या योनिस्तस्यां चन्द्रो व्यवस्थितः ॥१३७॥ त्रिकोणाकारतस्तस्याः सुधा क्षरति सन्ततम्॥इडायाममृतं तत्र समं स्रवति चन्द्रमाः॥१३८॥ अमृतं वहति द्वारा धारारूपं निरन्तरम् ॥ वामनासम्पुटं याति गंगेत्युक्ता हि योगिभिः ॥ १३९ ॥

टीका--ब्रह्मरन्ध्रमें जो सहस्रदल पद्म है उस पद्मके कन्दमें योनि है उस योनिमें चन्द्रमा विराजमान है

और वही त्रिकोणाकार योनीसे चन्द्रविगलित अमृत सर्वदा स्रवता है सो अमृत चंद्रमासे इडानाडीद्वारा समभावसे निरन्तर धारारूप गमन करता है और उस इडानाडीकी गति वामनासापुटमें है उस हेतुसे योगी लोग इस नाडीको गंगा कहतेहैं ॥१३७॥१३८॥१३९॥

मूलम्–आज्ञापङ्कजदक्षांसाद्वामनासापुटंगता ॥ उदग्वहेति तत्रेडा गंगेति समुदाहृता ॥ १४० ॥

टीका–वह इडानाडी आज्ञापद्मके दक्षिणभागसे वामनासापुटको गमन करती है इसीको उदग्वाहिनी गंगा कहते हैं ॥ १४० ॥

मूलम्–ततो द्वयोर्हि मध्ये तु वाराणसी विचिन्तयेत् ॥ तदाकारा पिंगलापि तदाज्ञाकमलोत्तरे ॥ दक्षनासापुटे याति प्रोक्तास्माभिरसीति वै ॥ १४१ ॥

टीका–यह इडा और पिङ्गलाके मध्यस्थानको वाराणसी चिन्तनाकरे और इडानाडीके समान पिङ्गलाभी उस आज्ञाकमलके वामभागसे दक्ष नासापुटको गई है इस हेतुसे हेदेवी ! इस पिङ्गलाको हमने असी कहाहै ॥ १४१ ॥

मूलम्-मूलाधारे हि यत्पद्मं चतुष्पत्रं व्यवस्थितम्॥तत्र कन्देऽस्ति या योनिस्तस्यां सूर्यो व्यवस्थितः ॥ १४२ ॥

टीका-जो मूलाधारपद्म चारदलसे युक्तहै उस कमलके कन्दमें जो योनिहै इस योनिमें सूर्य स्थितहै ॥१४२॥

मूलम्-तत्सूर्यमण्डलद्वाराद्विषं क्षरति सन्ततम्॥१४३॥पिंगलायां विषं तत्र समर्पयति तापनः ॥ विषं तत्र वहन्ती या धारारूपं निरन्तरम् ॥ दक्षनासापुटे याति कल्पितेयन्तु पूर्ववत् ॥ १४४ ॥

टीका-वही सूर्यमण्डलसे निरन्तर विष स्रवताहै और पिङ्गलाद्वारा गमन करताहै और वह विष सर्वदा धारारूप पिङ्गलानाडीसे प्रवाहित रहताहै और यह पिङ्गलानाडी दक्षिणनासापुटमें गईहै ॥ १४३ ॥१४४ ॥

मूलम्-आज्ञापङ्कजवामास्याद्दक्षनासापुटं गता ॥ उदग्वहापिंगलापि पुरासीति प्रकीर्तिता ॥ १४५ ॥

टीका-यह नाडी आज्ञाकमलके वामभागसे दक्षिण नासिकापुटको गई है इस हेतुसे यह पिङ्गलानाडीको असी कहते हैं ॥ १४५ ॥

मूलम्-आज्ञापद्ममिदं प्रोक्तं यत्र देवो महे-
श्वरः ॥ १४६ ॥ पीठत्रयं ततश्चोर्ध्वं निरु-
क्तं योगचिन्तकैः ॥ तद्विन्दुनादशक्त्या-
ख्यं भालपद्मे व्यवस्थितम् ॥ १४७ ॥

टीका-इस स्थानमें महेश्वर देवताहै इसको आज्ञापद्म कहते हैं और योगचिन्तक लोग कहते हैं कि, इस पद्मके ऊपर पीठत्रयकी स्थिति है अर्थात् नाद, बिंदु, शक्ति, यह तीनों इस भालपद्ममें विराजमान हैं ॥ १४६ ॥ १४७ ॥

मूलम्-यः करोति सदाध्यानमाज्ञापद्मस्य
गोपितम् ॥ पूर्वजन्मकृतं कर्म विनश्येद-
विरोधतः ॥ १४८ ॥ ॥

टीका-जो पुरुष सर्वदा गोपित करके इस आज्ञाकमलका ध्यान करते हैं उनका पूर्वजन्मकृत कर्मफल सकल निर्विघ्न नाश होजाताहै ॥ १४८ ॥

मूलम्-इह स्थितः सदा योगी ध्यानं कुर्या-
न्निरन्तरम् ॥ तदा करोति प्रतिमां प्रति-
जापमनर्थवत् ॥ १४९ ॥

टीका-जब योगी यह ध्यान सर्वदा निरन्तर करे

तो उसका प्रतिमापूजन करना वा जप करना सर्वथा अनर्थवत् है ॥ १४९ ॥

मूलम्-यक्षराक्षसगन्धर्वा अप्सरोगणकिन्नराः ॥ सेवन्ते चरणौ तस्य सर्वे तस्य वशानुगाः ॥ १५० ॥

टीका-यक्ष और राक्षस और गन्धर्व और अप्सरा और किन्नर आदि सब इस ध्यानयुक्त योगीके वशमें होजाते हैं और उसके चरणकी सेवा करते हैं ॥१५०॥

मूलम्-करोति रसनां योगी प्रविष्टां विपरीतगाम्॥ लम्बिकोर्ध्वेषु गर्तेषु धृत्वा ध्यानं भयापहम् ॥ १५१ ॥ अस्मिन् स्थाने मनो यस्य क्षणार्धं वर्ततेऽचलम् ॥ तस्य सर्वाणि पापानि संक्षयं यान्ति तत्क्षणात् ॥ १५२ ॥

टीका-जो योगी विपरीतगामी जिह्वाको ऊपर तालुमूलमें प्रवेश करके यह भयनाशक आज्ञाकमलका ध्यान अर्धक्षणभी मन अचल स्थिरतापूर्वक करते हैं उनका सकल पातक उसीक्षण नाश होजाताहै ॥ १५१ ॥ १५२ ॥

मूलम्-यानि यानि हि प्रोक्तानि पंचपद्मे फ-

लानि वै ॥ तानि सर्वाणि सुतरामेतज्ज्ञा-
नाद्भवन्ति हि ॥ १५३ ॥

टीका —पंच पद्मका जो जो फल पहिले कहाहै सो सबका समस्त फल आपही इस आज्ञाकमलके ध्यानसेही प्राप्त होजायगा ॥ १५३ ॥

मूलम्--यः करोति सदाभ्यासमाज्ञापद्मे वि-
चक्षणः ॥ वासनाया महाबन्धं तिरस्कृ-
त्य प्रमोदते ॥ १५४ ॥

टीका—जो बुद्धिमान् सर्वदा मन स्थिर करके यह आज्ञापद्मका अभ्यास करते हैं वह वासनारूपी महाबन्धको निरादर करके आनन्द लाभ करते हैं ॥१५४॥

मूलम्—प्राणप्रयाणसमये तत्पद्मं यः स्मर-
न्सुधीः॥ त्यजेत्प्राणं स धर्मात्मा परमा-
त्मनि लीयते ॥ १५५ ॥

टीका—जो बुद्धिमान् मृत्युके समय उस आज्ञापद्मका ध्यान करेगा सो धर्मात्मा प्राणको त्यागके परमात्मामें लय होजायगा ॥ १५५ ॥

मूलम्—तिष्ठन् गच्छन् स्वपन् जाग्रत् यो-
ध्यानं कुरुते नरः ॥ पापकर्म विकुर्वाणो
नहि मज्जति किल्बिषे ॥ १५६ ॥

टीका-जो मनुष्य बैठे चलते जाग्रतमें स्वप्नमें सर्वदा इस कमलका ध्यान करते हैं सो यदि पापकर्म रतभी हों तोभी मोक्षको प्राप्त होते हैं ॥ १५६ ॥

मूलम्-राजयोगाधिकारी स्यादेतच्चिन्तनतो ध्रुवम्॥योगी बन्धाद्विनिर्मुक्तः स्वीयया प्रभया स्वयम् ॥१५७॥ द्विदलध्यानमाहात्म्यं कथितुं नैव शक्यते ॥ ब्रह्मादिदेवताश्चैव किञ्चिन्मत्तो विदन्ति ते ॥१५८॥

टीका-जो इस कमलका ध्यान करता है वह निश्चय राजयोगका अधिकारी है योगी स्वयं अपने प्रभासे सकलबन्धसे मुक्त होजाता है हे देवि ! इस द्विदलपद्मके माहात्म्यको कोई कहनेमें समर्थ नहीं है ब्रह्मा आदि देवता इस पद्मके माहात्म्यको किञ्चित् हमारे द्वारा जानते हैं ॥ १५७ ॥ १५८ ॥

मूलम्-अत ऊर्ध्वं तालुमूले सहस्रारं सरोरुहम् ॥ अस्ति यत्र सुषुम्णाया मूलं सविवरं स्थितम् ॥ १५९ ॥

टीका-इस आज्ञापद्मके ऊपर तालुमूलमें सहस्रदल कमल शोभायमान है उसी स्थानमें ब्रह्मरन्ध्रके विवरमूलमें सुषुम्णा स्थित है॥ १५९ ॥

मूलम्-तालुमूले सुषुम्णास्य अधोवक्त्रा प्रवर्तते ॥ मूलाधारेण योन्यस्ताः सर्वनाड्यः समाश्रिताः ॥ ता बीजभूतास्तत्त्वस्य ब्रह्ममार्गप्रदायिकाः ॥ १६० ॥

टीका-वह सुषुम्णाका मुख तालुमूल अर्थात् ब्रह्मरन्ध्रमें नीचेको वर्तमान है और मूलाधारसे योनि पर्यंत जो सकल नाडी हैं वह इस तत्त्वज्ञानबीजस्वरूप ब्रह्ममार्गकी दाता सुषुम्णाके अधोवदनके अवलम्बसे स्थित हैं ॥ १६० ॥

मूलम्-तालुस्थाने च यत्पद्मं सहस्रारं पुरोदितम्॥तत्कन्दे योनिरेकास्ति पश्चिमाभिमुखी मता॥ १६१॥ तस्य मध्ये सुषुम्णाया मूलं सविवरं स्थितम् ॥ ब्रह्मरन्ध्रं तदेवोक्तमामूलाधारपङ्कजम् ॥ १६२ ॥

टीका-तालुस्थानमें जो सहस्रदल कमल कहागया है उसके कन्दमें एक योनि पश्चिमाभिमुखी है अर्थात् पीछेको मुख है उस योनिके मध्यमें जो मूलविवर है उसमें सुषुम्णा ज्ञाननाडी स्थित है हे देवी ! इसको ब्रह्मरन्ध्र और इसीको मूलाधारपद्मभी कहते हैं ॥ १६१ ॥ १६२ ॥

मूलम्-तत्रांतरन्ध्रे चिच्छक्तिः सुषुम्णा कु-

ण्डली सदा ॥१६३॥ सुषुम्णायां स्थिता नाडी चित्रास्यान्मम वल्लभे ॥ तस्यां मम मते कार्या ब्रह्मरन्ध्रादिकल्पना॥१६४॥

टीका—यह सुषुम्णानाडीके रन्ध्रमें कुण्डलिनी शक्ति सर्वदा विराजमान है वह सुषुम्णा अन्तर्गता शक्तिको चित्रानाडी कहते हैं हे प्रिये पार्वति ! हमारे मतमें इसी चित्रासे ब्रह्मरन्ध्र आदि कल्पना भई है ॥१६३॥१६४॥

मूलम्—यस्याः स्मरणमात्रेण ब्रह्मज्ञत्वं प्रजायते ॥ पापक्षयश्च भवति न भूयः पुरुषो भवेत् ॥ १६५ ॥

टीका—यह चित्रानाडीके ध्यानमात्रसे ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होता है और पाप क्षय होजाता है और फिर संसाररूपी बन्धमें योगी नहीं पडता अर्थात् मोक्ष होजाता है ॥ १६५ ॥

मूलम्—प्रवेशितं चलाङ्गुष्ठं मुखे स्वस्य निवेशयेत् ॥ तेनात्र न वहत्येव देहचारी समीरणः ॥ १६६ ॥

टीका—दक्षिणहाथके अङ्गुष्ठको मुखमें प्रवेश करके मुखको बन्द करलेनेसे देहचारी जो प्राणवायु है वह निश्चय स्थिर होजाता है ॥ १६६ ॥

मूलम्–तेन संसारचक्रेस्मिन्न भ्रमन्ते च सर्वदा॥तदर्थं ये प्रवर्तन्ते योगिनः प्राणधारणे॥१६७॥तत एवाखिला नाडी निरुद्धा चाष्टवेष्टनम्॥ इयं कुण्डलिनी शक्ती रन्ध्रं त्यजति नान्यथा ॥ १६८ ॥

टीका–यह प्राणवायुके स्थिर होजानेसे इस संसार चक्रमें सर्वदा भ्रमण करना छूटजाता है अर्थात् मोक्ष होजाता है इसहेतुसे योगी प्राणवायुके धारण करनेमें प्रवृत्त होते हैं और इसधारणसे सकलनाडी जो मल और काम क्रोधादि आठप्रकारसे बन्धनमें हैं वह खुल जाती हैं तब यह कुण्डलिनीशक्ति ब्रह्मरन्ध्रको निश्चय त्याग देती है इसके त्यागदेनेसे जीव ब्रह्मका सम्बन्ध होजाता है ॥ १६७ ॥ १६८ ॥

मूलम्–यदा पूर्णासु नाडीषु सन्निरुद्धानिलास्तदा ॥ बन्धत्यागेन कुण्डल्या मुखं रन्ध्राद्बहिर्भवेत् ॥ सुषुम्णायां सदैवायं वहेत्प्राणसमीरणः ॥ १६९ ॥

टीका–जब वायु निरोध होके सकलनाडीमें पूर्ण होजायगा तब कुण्डलिनी अपने बन्धको त्यागके ब्रह्मरन्ध्रके मुखको त्यागदेगी तब प्राणवायुका

प्रवाह सदैव सुषुम्णामें होजायगा ॥ १६९ ॥

मूलम्–मूलपद्मस्थिता योनिर्वामदक्षिण-कोणतः॥इडापिंगलयोर्मध्ये सुषुम्णा योनिमध्यगा ॥ १७० ॥ ब्रह्मरध्रन्तु तत्रैव सुषुम्णाधारमण्डले ॥ यो जानाति स मुक्तः स्यात्कर्मबन्धाद्विचक्षणः ॥१७१॥

टीका–मूलाधारपद्मस्थित जो योनि है उस योनिके वाम दक्षिण भागमें इडा और पिंगला नाडी स्थित हैं और दोनों नाडीके बीचमें अर्थात् योनिके मध्यमें सुषुम्णाकी स्थिति है उसी सुषुम्णाके आधारमंडलमें अर्थात् उसके मध्यमें ब्रह्मरन्ध्र है जो इसको जानता है सो बुद्धिमान् कर्मबन्धसे मुक्त है ॥ १७० ॥ १७१ ॥

मूलम्-ब्रह्मरन्ध्रमुखे तासां संगमः स्यादसंशयः॥ तस्मिन्स्नाने स्नातकानां मुक्तिः स्यादविरोधतः ॥ १७२ ॥

टीका–ब्रह्मरन्ध्रके मुखमें इन तीनों नाडीका निश्चय सम्बन्ध है इसमें स्नान करनेसे ज्ञानीलोगोंको मुक्तिलाभ होगी ॥ १७२ ॥

मूलम्–गंगायमुनयोर्मध्ये वहत्येषा सरस्वती ॥तासां तु संगमे स्नात्वा धन्यो याति परांगतिम् ॥ १७३ ॥

टीका– गंगा यमुनाके मध्यमें सरस्वतीका प्रवाह है यह त्रिवेणीसंगममें स्नान करनेसे मनुष्य परमगतिको प्राप्त होता है ॥ १७३ ॥

मूलम्-इडा गंगा पुरा प्रोक्ता पिंगला चार्कपुत्रिका ॥ मध्या सरस्वती प्रोक्ता तासां संगोऽतिदुर्लभः ॥ १७४ ॥

टीका–इडा गंगा है और पिंगला यमुना है और मध्यमें सुषुम्णा सरस्वती है यह त्रिवेणी संगम कहा गया है इसका स्नान अतिदुर्लभ है ॥ १७४ ॥

मूलम्–सितासिते संगमे यो मनसा स्नानमाचरेत् ॥ सर्वपापविनिर्मुक्तो याति ब्रह्मसनातनम् ॥ १७५ ॥

टीका–यह इडा और पिंगलाके संगममें मानसिक स्नान करनेसे साधक सर्व पापसे मुक्त होके सनातन ब्रह्ममें लय होजाताहै ॥ १७५ ॥

मूलम्–त्रिवेण्यां संगमे यो वै पितृकर्म समाचरेत् ॥ तारयित्वा पितॄन्सर्वान्स याति परमां गतिम् ॥ १७६ ॥

टीका–जो पुरुष इस त्रिवेणीसंगममें पितृकर्मका

अनुष्ठान करते हैं वह सर्व पितृकुलको तारके परम गतिको लाभ करते हैं ॥ १७६ ॥

मूलम्--नित्यं नैमित्तिकं काम्यं प्रत्यहं यः समाचरेत्॥मनसा चिन्तयित्वा तु सोऽक्षयं फलमाप्नुयात् ॥ १७७ ॥

टीका—उसी संगमस्थानमें जो साधक नित्य और नैमित्तिक और काम्य कर्मका अनुष्ठान सर्वदा मनसे चिन्तनपूर्वक करते हैं सो अक्षय फललाभ करते हैं ॥ १७७ ॥

मूलम्—सकृद्यः कुरुते स्नानं स्वर्गे सौख्यं भुनक्ति सः ॥ दग्ध्वा पापानशेषान्वै योगी शुद्धमतिः स्वयम्॥१७८॥अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोपि वा ॥स्नानाचरणमात्रेण पूतो भवति नान्यथा ॥ १७९ ॥

टीका—जो पवित्रमति योगी एकवार इस संगममें स्नान करते हैं वह सर्व पापको दग्धकरके स्वर्गका दिव्य भोग भोगते हैं और यह साधक पवित्र हो वा अपवित्र हो वा किसी अवस्थामें हो यह संगमके ध्यानरूपी स्नानमात्रसे निश्चय पवित्र होजायगा ॥ १७८॥१७९॥

मूलम्--मृत्युकाले प्लुतं देहं त्रिवेण्याःसलि-

ले यदा ॥ विचिन्त्य यस्त्यजेत्प्राणान्स तदा मोक्षमाप्नुयात् ॥ १८० ॥

टीका-मृत्युके समयमें साधक जो यह चिंतन करे कि हमारा शरीर त्रिवेणीके सलिलमें मग्न है तो उसी क्षण प्राणको त्यागके मोक्षगतिको प्राप्त होगा ॥१८०॥

मूलम्-नातः परतरं गुह्यं त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥ गोप्तव्यं तत्प्रयत्नेन न व्याख्येयं कदाचन ॥ १८१ ॥

टीका-इस तीर्थसे परे त्रिभुवनमें दूसरा गुप्त तीर्थ नहीं है इसको यत्नसे गोपित रखना उचित है यह कदापि प्रकाश करनेके योग्य नहीं है ॥ १८१ ॥

मूलम्-ब्रह्मरन्ध्रे मनो दत्त्वा क्षणार्धं यदि तिष्ठति ॥ सर्वपापविनिर्मुक्तः स याति परमां गतिम् ॥ १८२ ॥

टीका-ब्रह्मरन्ध्रमें मन देकरके यदि क्षणार्धभी स्थिर रक्खे तो सर्वपापसे मुक्त होके साधक परमगतिको अर्थात् मोक्षको प्राप्त होजाय ॥ १८२ ॥

मूलम्-अस्मिन् लीनं मनो यस्य स योगी मयि लीयते॥ अणिमादिगुणान्भुक्त्वा स्वेच्छया पुरुषोत्तमः ॥ १८३ ॥

टीका-हे पार्वती! इस ब्रह्मरन्ध्रमें जिसका मन लीन होंय सो पुरुषोत्तम योगी अणिमादिगुणोंको भोगके इच्छापूर्वक हमारेमें लय होजायगा ॥ १८३ ॥

मूलम्-एतद्रन्ध्रध्यानमात्रेण मर्त्यः संसारे स्मिन्वल्लभो मे भवेत्सः ॥ पापान् जित्वा मुक्तिमार्गाधिकारी ज्ञानं दत्त्वा तारयत्यद्भुतं वै ॥ १८४ ॥

टीका-हे देवी! इस ब्रह्मरन्ध्रके ध्यानमात्रसे यह संसारमें प्राणी हमको प्रिय होजाता है और पापराशिको जीतके यह साधक मुक्तिमार्गका अधिकारी होजाता है और अनेक मनुष्योंको ज्ञान उपदेश करके संसारसे परित्राण करदेता है ॥ १८४ ॥

मूलम्-चतुर्मुखादित्रिदशैरगम्यं योगिवल्लभम् ॥ प्रयत्नेन सुगोप्यं तद्ब्रह्मरन्ध्रं मयोदितम् ॥ १८५ ॥

टीका-हे देवी! यह ब्रह्मरन्ध्रका ध्यान जो हमने कहा है इसको यत्न करके गोपित रखना उचित है यह ज्ञान योगीलोगोंको अतिप्रिय है इसका मार्ग ब्रह्मा आदि देवताओंकोभी अगम्य है॥ १८५ ॥

मूलम्-पुरा मयोक्ता या योनिः सहस्रारे स-

रोरुहे ॥ तस्याऽधो वर्तते चन्द्रस्तद्ध्यानं क्रियते बुधैः ॥ १८६ ॥

टीका-हे देवि ! पहिले जो सहस्रदलकमलके मध्यमें योनिमण्डल हमने कहा है उस योनिके अधोभागमें चन्द्रमा स्थित हैं यह चन्द्रमण्डलका बुद्धिमान् लोग सर्वदा ध्यान करते हैं ॥ १८६ ॥

मूलम्-यस्य स्मरणमात्रेण योगीन्द्रोऽवनिमण्डले॥पूज्यो भवति देवानां सिद्धानां सम्मतो भवेत् ॥ १८७ ॥

टीका-इस चन्द्रमंडलके ध्यानमात्रसे योगीन्द्र संसारमें पूजनीय होजाता है और देवता और सिद्धलोगोंके तुल्य होजाता है ॥ १८७ ॥

मूलम्-शिरःकपालविवरे ध्यायेद्दुग्धमहोदधिम् ॥ तत्र स्थित्वा सहस्रारे पद्मे चन्द्रं विचिन्तयेत् ॥ १८८ ॥

टीका-शिरस्थित जो कपालविवर है उसमें क्षीर समुद्रका ध्यान करे उसी स्थानमें स्थितिपूर्वक सहस्रदलकमलमें चन्द्रमाका चिन्तन करे ॥ १८८ ॥

मूलम्-शिरःकपालविवरे द्विरष्टकलयायुतः ॥ पीयूषभानुहंसाख्यं भावयेत्तं निरं-

जनम् ॥ १८९ ॥ निरन्तरकृताभ्यासात्त्रि-
दिने पश्यति ध्रुवम्॥ दृष्टिमात्रेण पापौघं
दहत्येव स साधकः ॥ १९० ॥

टीका–वह शिरःस्थित कपालविवरमें सोलह कलासंयुक्त अमृतकिरणसे युक्त हंससंज्ञक निरंजनका चिन्तन करे निरन्तर तीन दिन यह अभ्यास करनेसे निरञ्जनका साक्षात् साधकको अवश्य प्रकाश होगा सो साधकदृष्टिमात्रसे सर्व पातकोंको दहन करडालेगा ॥ १८९ ॥१९०॥

मूलम्--अनागतञ्च स्फुरति चित्तशुद्धिर्भवे-
त्खलु ॥ सद्यः कृत्वापि दहति महापात-
कपञ्चकम् ॥ १९१ ॥

टीका–यह ध्यान करनेसे अनागतविषयकी स्फूर्ति होगी अर्थात् जो विषय कभी उत्पन्न नहीं भया है उसकी स्फूर्ति होगी और चित्तकी शुद्धि होगी और साधक ध्यानमात्रसे उसी क्षण पञ्चमहापातक दहन करडालेगा ॥ १९१ ॥

मूलम्--आनुकूल्यं ग्रहा यान्ति सर्वे नश्य-
न्त्युपद्रवाः ॥ उपसर्गाः शमं यान्ति युद्धे
जयमवाप्नुयात् ॥ १९२ ॥ खेचरीभूचरी-
सिद्धिर्भवेत्क्षीरेन्दुदर्शनात् ॥ ध्यानादेव

भवेत्सर्वं नात्र कार्या विचारणा ॥ १९३ ॥ सन्तताभ्यासयोगेन सिद्धो भवति मानवः॥ सत्यं सत्यं पुनः सत्यं मम तुल्यो भवेद्ध्रुवम् ॥ योगशास्त्रं च परमं योगिनां सिद्धिदायकम् ॥ १९४ ॥

टीका—शिरःस्थचन्द्रमाका ध्यान करनेसे सर्व ग्रह अनुकूल होजाते हैं और समस्त उपद्रवका नाश होजाताहै और उपसर्ग प्रशमित होते हैं और युद्धमें जय लाभ होता है और खेचरी भूचरीकी सिद्धि प्राप्त होती है इसमें सन्देह नहीं है और निरन्तर यह योगाभ्यास करनेसे अवश्य साधक सिद्ध होजाता है हे पार्वती! हम सत्य सत्य वारंवार कहते हैं कि हमारे तुल्य होजायगा इसमें सन्देह नहीं है यह परमयोग योगीलोगोंके सिद्धिका दाता है ॥ १९२ ॥ १९३ ॥ १९४ ॥

अथ राजयोगकथनम् ।

मूलम्--अत ऊर्ध्वं दिव्यरूपं सहस्रारं सरोरुहम् ॥ ब्रह्माण्डाख्यस्य देहस्य बाह्ये तिष्ठति मुक्तिदम् ॥१९५ ॥ कैलासो नाम तस्यैव महेशो यत्र तिष्ठति॥अकुलाख्योऽविनाशी च क्षयवृद्धिविवर्जितः ॥ १९६ ॥

टीका–तालुके ऊपरभागमें दिव्य सहस्रदल कमल है यह कमल मुक्तिदाता ब्रह्माण्डरूपी शरीरके बाहर स्थित है अर्थात् शरीरके ऊपर अंतमें है इसी कमलको कैलास कहते हैं इसी स्थानमें महेश्वरकी स्थिति है यह ईश्वर निराकुल अविनाशी और क्षयवृद्धिरहित है ॥ १९५ ॥ १९६ ॥

मूलम्–स्थानस्यास्य ज्ञानमात्रेण नृणां संसारेऽस्मिन्सम्भवो नैव भूयः ॥ भूतग्रामं सन्तताभ्यासयोगात्कर्तुं हर्तुं स्याच्च शक्तिः समग्रा ॥ १९७ ॥

टीका–इस स्थानके ज्ञानमात्रसे जीवका यह संसारमें फिर जन्म नहीं होता और सर्वदा यह ज्ञानयोग अभ्यास करनेसे जीवमात्रके स्थिति संहार करनेकी शक्ति उत्पन्न होती है ॥ १९७ ॥

मूलम्–स्थाने परे हंसनिवासभूते कैलासनाम्नीह निविष्टचेताः॥ योगी हृतव्याधिरधः कृताधिर्वायुश्चिरं जीवति मृत्युमुक्तः१९८॥

टीका–यह कैलासनामक स्थानमें परमहंसका निवास है सो सहस्रदलकमलमें जो साधक मनको स्थिर करता है उसकी सकल व्याधि नाश होजाती है और मृत्युसे छूटके अमर होजाताहै ॥ १९८ ॥

मूलम्–चित्तवृत्तिर्यदा लीना कुलाख्ये परमेश्वरे॥तदा समाधिसाम्येन योगी निश्चलतां व्रजेत् ॥१९९॥

टीका–जब साधक यह कुलनामक ईश्वरमें चित्तको लीन करदेगा तब योगीकी समाधि निश्चल सम होजायगी ॥ १९९ ॥

मूलम्–निरन्तरकृते ध्याने जगद्विस्मरणं भवेत् ॥ तदा विचित्रसामर्थ्यं योगिनो भवति ध्रुवम् ॥ २०० ॥

टीका–यह निरन्तर ध्यान करनेसे जगत् विस्मरण होजायगा तब योगीको अवश्य विचित्र सामर्थ्य होजायगी ॥ २०० ॥

मूलम्–तस्माद्गलितपीयूषं पिबेद्योगी निरन्तरम्॥ मृत्योर्मृत्युं विधायाशु कुलं जित्वा सरोरुहे ॥ २०१ ॥ अत्र कुण्डलिनी शक्तिर्लयं याति कुलाभिधा ॥ तदा चतुर्विधा सृष्टिर्लीयते परमात्मनि ॥ २०२ ॥

टीका–सहस्रदलकमलसे जो अमृत स्रवता है उसको योगी निरन्तर पान करता है सो योगी अपने मृत्युका मृत्युविधानपूर्वक कुलसहित जय करके चिरं-

जीवी होजाता है और यही सहस्रदलकमलमें कुलरूपा कुण्डलिनी शक्तिका लय होजाता है तब यह चतुर्विध सृष्टिभी परमात्मामें लय होजाती है ॥ २०१ ॥ २०२ ॥

मूलम्--यज्ज्ञात्वा प्राप्य विषयं चित्तवृत्ति-
विलीयते ॥ तस्मिन्परिश्रमं योगी करो-
ति निरपेक्षकः ॥ २०३ ॥

टीका–यह सहस्रदलकमलके ज्ञान होनेसे अर्थात् इस विषयको प्राप्त करनेसे चित्तवृत्तिका लय होजाता है इस हेतुसे इसके ज्ञानार्थ निरपेक्षरूपसे योगी परिश्रम करे ॥ २०३ ॥

मूलम्–चित्तवृत्तिर्यदा लीना तस्मिन्योगी
भवेद्ध्रुवम्॥ तदा विज्ञायतेऽखण्डज्ञानरूपो
निरञ्जनः ॥ २०४ ॥

टीका–जब योगीकी चित्तवृत्ति इसमें निश्चय लय होजायगी तब अखण्ड ज्ञानरूपी निरञ्जनका प्रकाश होगा अर्थात् ज्ञान होगा ॥ २०४ ॥

मूलम्–ब्रह्मांडबाह्ये संचिंत्य स्वप्रतीकं य-
थोदितम् ॥ तमावेश्य महच्छून्यं चिन्त-
येदविरोधतः ॥ २०५ ॥

टीका–ब्रह्माण्डके बाहर अर्थात् ब्रह्मांडरूप शरीरके

बाहर पूर्वोक्त स्वप्रतीकका चिन्तन करे उससे चित्तको स्थिर करके महत शून्यका शुद्धवृत्तिसे चिन्तन करे२०५

मूलम्--आद्यन्तमध्यशून्यं तत्कोटिसूर्यसमप्रभम् ॥ चन्द्रकोटिप्रतीकाशमभ्यस्य सिद्धिमाप्नुयात् ॥ २०६ ॥

टीका-आदि अंत मध्य शून्य यह सर्वत्र शून्यमें कोटि सूर्यके समान प्रभा और कोटिचन्द्रके समान शीतलप्रकाशके देखनेका अभ्यास करनेसे साधकको परमसिद्धि लाभ होगी ॥ २०६ ॥

मूलम्-एतद्ध्यानं सदा कुर्यादनालस्यं दिने दिने ॥ तस्य स्यात्सकला सिद्धिर्वत्सरान्नात्र संशयः ॥ २०७ ॥

टीका-जो पुरुष आलस्यको त्यागके सर्वदा प्रतिदिन इस शून्यका ध्यान करेगा उसको निश्चय एकवर्ष में सकल सिद्धि लाभ होगी ॥२०७ ॥

मूलम्-क्षणार्धं निश्चलं तत्र मनो यस्य भवेद्ध्रुवम्॥स एव योगी सद्भक्तः सर्वलोकेषु पूजितः ॥ तस्य कल्मषसङ्घातस्तत्क्षणादेव नश्यति ॥ २०८ ॥

टीका-जो साधक इस शून्यमें अर्धक्षणभी मनको

निश्चल स्थिर रक्खेगा वही निश्चय यथार्थ भक्त योगी है और वह सर्वलोकमें पूजित होता है और उसके पापका समूह उसी क्षण नष्ट होजाता है ॥ २०८ ॥

मूलम्-यं दृष्ट्वा न प्रवर्त्तते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥अभ्यसेत्तं प्रयत्नेन स्वाधिष्ठानेन वर्त्मना ॥ २०९ ॥

टीका-इसके अवलोकन करनेसे मृत्युरूप जो संसारपथ है इसमें भ्रमण करना छूट जायगा अर्थात् जन्ममरणसे रहित होजायगा इसका अभ्यास स्वाधिष्ठानमार्गसे यत्न करके करना उचित है ॥ २०९ ॥

मूलम्-एतद्ध्यानस्य माहात्म्यं मया वक्तुं न शक्यते ॥ यः साधयति जानाति सोऽस्माकमपि सम्मतः ॥ २१० ॥

टीका-हे देवी ! इस शून्यके ध्यानके माहात्म्यको हम नहीं कहसकते अर्थात् बहुत विशेष है जो योगी इसका अभ्यास करते हैं सो जानते हैं और वह हमारे बराबर हैं ॥ २१० ॥

मूलम्-ध्यानादेव विजानाति विचित्रफलसम्भवम् ॥ अणिमादिगुणोपेतो भवत्येव न संशयः ॥ २११ ॥

टीका–यह शून्यके ध्यानका विचित्र फल ध्यानसे ही जाना जाता है इसके प्रभावसे साधकको अणिमादि अष्टसिद्धि अवश्य प्राप्त होती है ॥ २११ ॥

मूलम्–राजयोगो मयाख्यातः सर्वतन्त्रेषु गोपितः ॥राजाधिराजयोगोऽयं कथयामि समासतः ॥ २१२ ॥

टीका–हे पार्वती ! यह राजयोग सर्वतन्त्रोंकरके गोपित है सो तुमसे हमने कहा है अब राजाधिराज योग विस्तारसहित कहते हैं श्रवण करो ॥ २१२ ॥

मूलम्-स्वस्तिकञ्चासनं कृत्वा सुमठे जन्तुवर्जिते ॥ गुरुं संपूज्य यत्नेन ध्यानमेतत्समाचरेत् ॥ २१३ ॥

टीका–साधक एकांतस्थान जनरहित सुन्दर मठमें यत्नपूर्वक गुरुकी पूजा करके स्वस्तिकासनसे स्थित होके यह ध्यान करे ॥ २१३ ॥

मूलम्–निरालम्बं भवेज्जीवं ज्ञात्वा वेदान्तयुक्तितः॥निरालम्बं मनः कृत्वा न किञ्चिच्चिन्तयेत्सुधीः ॥ २१४ ॥

टीका–बुद्धिमान् योगी वेदांतयुक्ति अनुसार जीवको और मनको निरालम्ब करके चिन्तन करे इसके सिवाय और कुछ चिन्तना न करे ॥ २१४ ॥

मूलम्–एतद्ध्यानान्महासिद्धिर्भवत्येव न संशयः ॥ वृत्तिहीनं मनः कृत्वा पूर्णरूपं स्वयं भवेत् ॥ २१५ ॥

टीका–इसप्रकार ध्यान करनेसे महासिद्धि उत्पन्न होगी इसमें संशय नहीं है ऐसेही मनको वृत्तिहीन करके साधक आपही पूर्ण आत्मस्वरूप होजायगा ॥ २१५ ॥

मूलम्–साधयेत्सततं यो वै सयोगी विगत-स्पृहः ॥ अहंनाम न कोप्यस्ति सर्वदा-त्मैव विद्यते ॥ २१६ ॥

टीका–जो योगी निरन्तर इसप्रकार साधन करे सो इच्छारहित है अर्थात् उसको किसी वस्तुकी इच्छा न होगी और उसके वदनसे अहंशब्द कभी उच्चारण न होगी वह सर्वदा सर्ववस्तुको आत्मस्वरूपही देखेगा ॥ २१६ ॥

मूलम्-को बन्धः कस्य वा मोक्ष एकं पश्ये-त्सदा हि सः ॥ २१७ ॥ एतत्करोति यो नित्यं स मुक्तो नात्र संशयः॥स एव योगी सद्भक्तः सर्वलोकेषु पूजितः ॥ २१८ ॥

टीका–कौन बन्ध है और क्या मोक्ष है सर्वदा एक परिपूर्ण आत्माको देखे जो योगी यह नित्य चिन्तन क-

रता है सो मुक्त है इसमें संशय नहीं है और निश्चय वही योगी सद्भक्त है और सर्वलोकमें पूजनीय है २१७॥२१८॥

मूलम्-अहमस्मीति यन्मत्वा जीवात्मपरमात्मनोः॥अहं त्वमेतदुभयं त्यक्त्वाखण्डं विचिन्तयेत्॥२१९॥ अध्यारोपापवादाभ्यां यत्र सर्वं विलीयते ॥ तद्बीजमाश्रयेद्योगी सर्वसंगविवर्जितः ॥ २२० ॥

टीका-योगी अपनेको और जीवात्मा और परमात्माको तुल्य माने अर्थात् भेदरहित होजाय और हम और तुम यह दोनों भावको त्यागके एक अखण्ड ब्रह्मका चिन्तन करे अध्यारोपअपवादद्वारा जिसमें सर्व वस्तुका लय होजाता है योगी सर्वसङ्गसे रहित होके उसी बीजके आश्रय होजाय अर्थात् चित्तवृत्तिको आत्मामें लय करदे ॥ २१९ ॥ २२० ॥

मूलम्-अपरोक्षं चिदानन्दं पूर्णं त्यक्त्वा भ्रमाकुलाः ॥ परोक्षं चापरोक्षं च कृत्वा मूढा भ्रमन्ति वै ॥ २२१ ॥

टीका-मूढबुद्धिके मनुष्य अपरोक्ष अर्थात् प्रत्यक्ष परिपूर्णब्रह्मको छोड करके भ्रममें पडके परोक्ष और अपरोक्षका रात्रि दिवस निर्णय करते फिरते हैं ॥ २२१ ॥

मूलम्-चराचरमिदं विश्वं परोक्षं यः करोति च ॥ अपरोक्षं परं ब्रह्म त्यक्तं तस्मिन् प्रलीयते ॥ २२२ ॥

टीका-जो मनुष्य यह चराचरसंसारको शास्त्रसे विवाद करके परोक्ष करते हैं और अपरोक्ष परब्रह्मको त्यागदेते हैं अर्थात् ब्रह्मभी प्राप्त नहीं होता वह अज्ञानी संसारमें लय होते हैं अर्थात् उनका मोक्ष नहीं होता है ॥ २२२ ॥

मूलम्-ज्ञानकारणमज्ञानं यथा नोत्पद्यते भृशम् ॥ अभ्यासं कुरुते योगी सदा सङ्गविवर्जितम् ॥ २२३ ॥

टीका-जिससे ज्ञान उत्पन्न होता है और अज्ञानका नाश होता है इसी योगअभ्यासको योगी सर्वदा सङ्गरहित होके अभ्यास करे ॥ २२३ ॥

मूलम्-सर्वेन्द्रियाणि संयम्य विषयेभ्यो विचक्षणः॥ विषयेभ्यः सुषुप्त्यैव तिष्ठेत्संगविवर्जितः ॥ २२४ ॥

टीका-बुद्धिमान् योगी विषयोंसे इंद्रियोंको रोकके सङ्गरहित होके विषयके त्यागमें सुषुप्तिके समान स्थिर रहते हैं ॥ २२४ ॥

मूलम्-एवमभ्यासतो नित्यं स्वप्रकाशं प्रकाशते ॥ श्रोतुं बुद्धिसमर्थार्थं निवर्तन्ते गुरोर्गिरः ॥ तदभ्यासवशादेकं स्वतो ज्ञानं प्रवर्तते ॥ २२५ ॥

टीका-इसी प्रकार नित्य अभ्यास करनेसे साधकको आपही ज्ञानका प्रकाश होगा तब गुरुके वचनकी निवृत्ति होगी अर्थात् गुरुके उपदेशका अंत हो जायगा अब इतरवाक्य श्रवण करनेकी इच्छा निवृत्त होजायगी तब यह योगअभ्यासद्वारा आपही एक अद्वैतज्ञानमें प्रवृत्ति होगी ॥ २२५ ॥

मूलम्-यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह॥ साधनादमलं ज्ञानं स्वयं स्फुरति तद्ध्रुवम् ॥ २२६ ॥

टीका-यह ब्रह्म किसी प्रकार प्राप्त नहीं होता मन वाक्यकाभी गमन नहीं है परन्तु यह योगसाधनसे आपही निर्मल ज्ञान प्रकाश होता है ॥ २२६ ॥

मूलम्-हठं विना राजयोगो राजयोगं विना हठः ॥ तस्मात्प्रवर्तते योगी हठे सद्गुरुमार्गतः ॥ २२७ ॥

टीका-हठयोगके विना राजयोग और राजयोगके विना हठयोग सिद्ध नहीं होता इस हेतुसे योगीको उचित है कि, योगवेत्ता सद्गुरुद्वारा हठयोगमें प्रवृत्त हो ॥ २२७ ॥

मूलम्-स्थिते देहे जीवात च योगं न श्रियते भृशम् ॥ इन्द्रियार्थोपभोगेषु स जीवति न संशयः ॥ २२८ ॥

टीका-जो मनुष्य इस शरीरसे योगका आसरा नहीं ग्रहण करते हैं वह केवल इंद्रियोंके भोग भोगनेके अर्थ संसारमें जीते हैं इसमें संशय नहीं है ॥ २२८ ॥

मूलम्-अभ्यासपाकपर्यन्तं मितान्नं स्मरणं भवेत् ॥ अन्यथा साधनं धीमान्कर्तुं पारयतीह न ॥ २२९ ॥

टीका-बुद्धिमान् साधक योगी अभ्यासके आरंभसे अभ्याससिद्धिपर्यंत मिताहारी रहे अर्थात् प्रमाणका भोजन करे अन्यथा अर्थात् अप्रमाण भोजन करनेसे योग अभ्यासके पार न होगा अर्थात सिद्ध न होगा ॥ २२९ ॥

मूलम्-अतीवसाधुसंलापं साधुसम्मातिबुद्धिमान् ॥ करोति पिण्डरक्षार्थं बह्वालाप-

विवर्जितः ॥२३०॥ त्याज्यते त्यज्यते सङ्गं सर्वथा त्यज्यते भृशम्॥अन्यथा न लभेन्मुक्तिं सत्यं सत्यं मयोदितम् ॥२३१॥

टीका-बुद्धिमान् साधक सभामें साधुके समान थोडा और प्रमाण वाक्य बोले और शरीरके रक्षार्थ थोडा भोजन करे और संगको सर्व प्रकारसे तजदे कदापि किसीके संगमें लिप्त न होय हे पार्वति ! और दूसरे प्रकार कदापि मुक्ति नहीं पावेगा यह हम सर्वथा सत्य कहते हैं इसमें संशय नहीं है ॥२३० ॥ २३१ ॥

मूलम्-गुप्त्यैव क्रियतेऽभ्यासः संगं त्यक्त्वा तदन्तरे ॥ व्यवहाराय कर्तव्यो बाह्यसंगो न रागतः ॥ २३२ ॥ स्वे स्वे कर्माणि वर्तन्ते सर्वे ते कर्मसम्भवाः॥निमित्तमात्रं करणे न दोषोस्ति कदाचन ॥ २३३ ॥

टीका-साधक संगरहित होके एकान्त स्थानमें योगसाधन करे यदि संसारी मनुष्योंसे व्यवहार वर्तनेकी इच्छा करे तो अन्तर प्रीतिरहित होके, बाह्यसंग करे और अपना आश्रम धर्म कर्मभी इसी प्रकार करता रहै इस हेतुसे कि, ज्ञानादि यावत् कर्म हैं सब कर्मानुसार होते हैं फलइच्छारहित होके केवल निमित्त

मात्र कर्म करनेसे कदापि दोष नहीं है ॥२३२॥२३३॥

मूलम्—एवं निश्चित्य सुधिया गृहस्थोपि यदाचरेत् ॥ तदा सिद्धिमवाप्नोति नात्र कार्या विचारणा ॥ २३४ ॥

टीका—इसी प्रकार निश्चयबुद्धिसे यदि गृहस्थभी योगअभ्यास करे तो वह अवश्य सिद्धि लाभ करेगा इसमें संशय नहीं है ॥ २३४ ॥

मूलम्-पापपुण्यविनिर्मुक्तः परित्यक्ताङ्गसाधकः ॥यो भवेत्स विमुक्तः स्याद्गृहे तिष्ठन्सदा गृही ॥ २३५ ॥ न पापपुण्यैर्लिप्येत योगयुक्तो यदा गृही ॥ कुर्वन्नपि तदा पापान्स्वकार्यं लोकसंग्रहे ॥२३६ ॥

टीका—जो साधक पाप पुण्यसे निर्लिप्त इन्द्रियसंगत्यागी है सोई गृही साधक गृहमें रहके मुक्त है योगयुक्त गृही पाप पुण्यमें बद्ध नहीं होता यदि संसारके संग्रहमें पापभी करेगा तो वह पाप उसको स्पर्श न करेगा ॥ २३५ ॥ २३६ ॥

मूलम्—अधुना संप्रवक्ष्यामि मन्त्रसाधनमुत्तमम् ॥ ऐहिकामुष्मिकसुखं येन स्यादविरोधतः ॥ २३७ ॥

टीका-हे देवि ! अब उत्तम मन्त्रसाधन हम कहते हैं जिससे इस लोक और परलोक दोनों स्थानमें साधक आनन्दपूर्वक सुख भोगेगा ॥ २३७ ॥

मूलम्-यस्मिन्मन्त्रे वरे ज्ञाते योगसिद्धिर्भ-
वेत्खलु ॥ योगेन साधकेन्द्रस्य सर्वैश्वर्य-
सुखप्रदा ॥ २३८ ॥

टीका-यह उत्तम मन्त्रके ज्ञान होनेसे निश्चय योग सिद्ध होता है साधकेन्द्रको यह योग सर्व ऐश्वर्य सुखका दाता है ॥ २३८ ॥

मूलम्-मूलाधारेऽस्ति यत्पद्मं चतुर्दलसम-
न्वितम् ॥ तन्मध्ये वाग्भवं बीजं विस्फु-
रन्तं तडित्प्रभम् ॥२३९॥ हृदये कामबी-
जं तु बन्धूककुसुमप्रभम् ॥ आज्ञारविन्दे
शक्त्याख्यं चन्द्रकोटिसमप्रभम्॥२४०॥
बीजत्रयमिदं गोप्यं भुक्तिमुक्तिफलप्र-
दम् ॥ एतन्मन्त्रत्रयं योगी साधयेत्सि-
द्धिसाधकः ॥ २४१ ॥

टीका-जो मूलाधार चतुर्दलसंयुक्त पद्म है उसमें विद्युतके समान प्रभायुक्त वाग्बीजकी स्थिति है और हृदयकमलमें बन्धूकपुष्पके समान प्रभायुक्त कामबी-

जकी स्थिति है और आज्ञाकमलमें कोटिचन्द्रके समान प्रभायुक्त शक्तिबीजकी स्थिति है यह बीजत्रय परम गोपनीय भोग और मुक्तिके दाता हैं यह तीनों मन्त्रका साधक योगी अवश्यसाधन करे॥२३९॥२४०॥२४१॥

मूलम्--एतन्मन्त्रं गुरोर्लब्ध्वा न द्रुतं न विलम्बितम्॥ अक्षराक्षरसन्धानं निःसन्दिग्धमना जपेत् ॥ २४२ ॥

टीका—साधक गुरुसे यह मन्त्रका उपदेश लेके धीरे धीरे अक्षर अक्षर स्पष्ट उच्चारणपूर्वक स्थिर मन होके जप करे ॥ २४२ ॥

मूलम्--तद्गतश्चैकचित्तश्च शास्त्रोक्तविधिना सुधीः।। देव्यास्तु पुरतो लक्षं हुत्वा लक्षत्रयं जपेत् ॥ २४३ ॥

टीका—बुद्धिमान् साधक एकाग्रचित्तसे शास्त्रविधिअनुसार देवीके समीपमें एक लक्ष होम करके तीनलक्ष जप करे ॥ २४३ ॥

मूलम्--करवीरप्रसूनन्तु गुडक्षीराज्यसंयुतम् ॥ कुण्डे योन्याकृते धीमाञ्जपान्ते जुहुयात्सुधीः ॥ २४४ ॥

टीका—बुद्धिमान् साधक जपके पीछे योन्याकार-

कुण्ड बनायके कनेरपुष्पके साथ गुड और दूध और घृत मिलायके होम करे ॥ २४४ ॥

मूलम्—अनुष्ठाने कृते धीमान्पूर्वसेवा कृता भवेत् ॥ ततो ददाति कामान्वै देवी त्रिपुरभैरवी ॥ २४५ ॥

टीका—बुद्धिमान् साधक इसीप्रकार अनुष्ठानपूर्वक आराधना करके त्रिपुरभैरवी देवीको सन्तुष्ट करे तो उसको इच्छापूर्वक देवी फल देती है ॥ २४५ ॥

मूलम्—गुरुं सन्तोष्य विधिवल्लब्ध्वा मन्त्रवरोत्तमम् ॥ अनेन विधिना युक्तो मन्दभाग्योऽपि सिद्ध्यति ॥ २४६ ॥

टीका—साधक विधिपूर्वक गुरुको संतोष करके यह उत्तम मन्त्र ग्रहण करे इस विधानसंयुक्त ग्रहण करनेसे मन्दभाग्य साधकभी सिद्धि लाभ करते हैं ॥२४६॥

मूलम्—लक्षमेकं जपेद्यस्तु साधको विजितेन्द्रियः ॥ २४७ ॥ दर्शनात्तस्य क्षुभ्यन्ते योषितो मदनातुराः ॥ पतन्ति साधकस्याग्रे निर्लज्जा भयवर्जिताः॥ २४८ ॥

टीका—योगी इन्द्रियनिग्रहपूर्वक एक लक्ष जप करे तो उसके दर्शनमात्रसे कामातुर स्त्रियें मोहित

होयके साधकके आगे निर्लज्ज और भयरहित होके गिरती हैं ॥ २४७ ॥ २४८ ॥

मूलम्--जप्तेन च द्विलक्षेण ये यस्मिन्विषये स्थिताः ॥ आगच्छन्ति यथातीर्थं विमुक्तकुलविग्रहाः ॥ ददाति तस्य सर्वस्वं तस्यैव च वशे स्थिताः ॥ २४९ ॥

टीका-यह मन्त्र दो लक्ष जप करनेसे कामिनी स्त्रियें साधकके समीप इसप्रकार आतीहैं कि, जैसे कुलीना तीर्थोंमें भय लज्जा रहित होके जाती हैं और साधकके वशमें होके अपना सर्वस्व उसको देती हैं ॥ २४९ ॥

मूलम्-त्रिभिर्लक्षैस्तथाजप्तैर्मण्डलीका समण्डलाः ॥ २५० ॥ वशमायान्ति ते सर्वे नात्र कार्या विचारणा ॥ षड्भिर्लक्षैर्महीपालं सभृत्यबलवाहनम् ॥ २५१ ॥

टीका-तीन लक्ष जप करनेसे मंडलसहित मंडलपती राजा साधकके वशमें होजाँयगे इसमें संशय नहीं है और छः लक्ष जप करनेसे बल वाहन संयुक्त राजा साधकके वश होजायगा ॥ २५० ॥ २५१ ॥

मूलम्-लक्षैर्द्वादशभिर्जप्तैर्यक्षरक्षोरगेश्व-

राः ॥ वशमायान्ति ते सव आज्ञां कुर्वन्ति नित्यशः ॥ २५२ ॥

टीका—यह मन्त्र बारह लक्ष जप करनेसे यक्ष और राक्षस और पन्नग यह सब वशमें होके साधककी नित्य आज्ञा पालन करतेहैं ॥ २५२ ॥

मूलम्—त्रिपञ्चलक्षजप्तैस्तु साधकेन्द्रस्य धीमतः ॥ सिद्धविद्याधराश्चैव गन्धर्वाप्सरसांगणाः ॥ २५३ ॥ वशमायान्ति ते सर्वे नात्र कार्या विचारणा ॥ हठाच्छ्रवणविज्ञानं सर्वज्ञत्वं प्रजायते ॥ २५४ ॥

टीका—पन्द्रहलक्ष जप करनेसे सिद्ध और विद्याधर और गंधर्व और अप्सरा यह सब बुद्धिमान् साधकके वशमें होजातेहैं इसमें संदेह नहीं है और साधकको हठसे विशेष श्रवणशक्ति होगी और सर्ववस्तुका ज्ञान उत्पन्न होगा ॥ २५३ ॥ २५४ ॥

मूलम्—तथाष्टादशभिर्लक्षैर्देहेनानेन साधकः ॥ उत्तिष्ठेन्मेदिनीं त्यक्त्वा दिव्यदेहस्तु जायते ॥ भ्रमते स्वेच्छया लोके छिद्रां पश्यति मेदिनीम् ॥ २५५ ॥

टीका—जो साधक अठारह लक्ष जप करेगा वह भू-

मिको त्यागके दिव्य देह होके आकाशमार्गसे संसारमें इच्छापूर्वक भ्रमण करेगा और पृथ्वीके छिद्रोंको देखेगा अर्थात् पृथ्वीमें प्रवेश करनेके मार्ग देखेगा ॥२५५॥

मूलम्—अष्टाविंशतिभिर्लक्षैर्विद्याधरपतिर्भवेत् ॥ साधकस्तु भवेद्धीमान्कामरूपो महाबलः ॥ २५६ ॥ त्रिंशल्लक्षैस्तथाजप्तैर्ब्रह्मविष्णुसमो भवेत् ॥ रुद्रत्वं षष्टिभिर्लक्षैरमरत्वमशीतिभिः ॥ २५७॥ कोट्यैकया महायोगी लीयते परमे पदे ॥ साधकस्तु भवद्योगी त्रैलोक्ये सोऽतिदुर्लभः॥२५८ ॥

टीका—जो बुद्धिमान् साधक अट्ठाईस लक्ष जप करेगा वह महाबल कामरूपी और विद्याधरपति होजायगा और तीस लक्ष जप करनेसे साधक ब्रह्मा विष्णुके समान होजायगा और साठ लक्ष जप करनेसे रुद्रके समान होजायगा और अस्सी लक्ष जप करनेसे साधक सर्व भूतोंको प्रिय देव होजायगा और एककोटि जप करनेसे साधक महायोगी होयके परमपदमें लीन होजाताहै हे पार्वति ! इसप्रकार योगी त्रिभुवनमें दुर्लभहै॥२५६।२५७।२५८॥

मूलम्—त्रिपुरे त्रिपुरन्त्वेकं शिवं परमकारणम् ॥ २५९ ॥ अक्षयं तत्पदं शान्तमप्र-

मेयमनामयम् ॥ लभतेऽसौ नसन्देहोधी-
मान्सर्वमभीप्सितम् ॥ २६० ॥

टीका-हे पार्वति ! त्रिपुरस्थानमें एक शिवही परम कारण स्वरूप हैं उनका चरणकमल अक्षय शान्त अप्रमेय अर्थात् प्रमाणरहित अनामय अर्थात् रोगरहित है उनका पद बुद्धिमान् योगीलोगही इच्छापूर्वक लाभ करहते हैं इसमें संदेह नहीं है ॥ २५९ ॥ २६० ॥

मूलम्-शिवविद्या महाविद्या गुप्ता चाग्रे महेश्वरी ॥ मद्भाषितमिदं शास्त्रं गोपनीयमतो बुधैः ॥ २६१ ॥

टीका-हे महादेवि ! यह हमारी कहीहुई महाविद्याकोही शिवविद्या कहते हैं यह विद्या सर्वप्रकार गोपनीय है इस योगशास्त्रको बुद्धिमान् लोग कदापि प्रकाश नहीं करते हैं ॥ २६१ ॥

मूलम्-हठविद्या परंगोप्या योगिना सिद्धिमिच्छता ॥ भवेद्वीर्यवती गुप्ता निर्वीर्या च प्रकाशिता ॥ २६२ ॥

टीका-सिद्धिकांक्षी योगीलोग इस हठविद्याको अतिगोपित रक्खें यह गोप्य रखनेसे वीर्यवती रहतीहै और प्रकाश करनेसे निर्वीर्या होजातीहै ॥ २६२ ॥

मूलम्-य इदं पठते नित्यमाद्योपान्तं विचक्षणः ॥ योगसिद्धिर्भवेत्तस्य क्रमेणैव न संशयः ॥ स मोक्षं लभते धीमान्य इदं नित्यमर्चयेत् ॥ २६३ ॥

टीका-जो विद्वान् यह शिवसंहिताका नित्य आद्योपान्त पाठ करेगा उसको क्रमसे अवश्य योगसिद्धि होगी और जो बुद्धिमान् इस ग्रन्थका नित्य पूजन करेगा उसको मुक्ति लाभ होगी ॥ २६३ ॥

मूलम्-मोक्षार्थिभ्यश्च सर्वेभ्यः साधुभ्यः श्रावयेदपि॥२६४॥क्रियायुक्तस्य सिद्धिः स्यादक्रियस्य कथम्भवेत्॥ तस्मात्क्रिया विधानेन कर्तव्या योगिपुंगवैः ॥ २६५॥ यदृच्छालाभसन्तुष्टः सन्त्यक्तान्तरसंगकः॥ गृहस्थश्चाप्यनासक्तः स मुक्तो योगसाधनात् ॥ २६६॥

टीका-मोक्षार्थी और सर्व साधु मनुष्य उनको यह शिवसंहिताग्रंथ सुनाना. जो क्रियासे युक्त होगा उसको सिद्धि प्राप्त होगी क्रियाहीन मनुष्यको क्या होसक्ताहै अर्थात् सिद्धि लाभ नहीं होसकैती विधानपूर्वक क्रियाका अनुष्ठान करे तो इच्छापूर्वक लाभसे सन्तुष्ट होगा और

जो गृहस्थ होगा और इन्द्रियोंमें आसक्त न होगा सो मनुष्य योगसाधनसे मुक्तहोगा ॥ २६४ ॥ २६५ ॥ २६६ ॥

मूलम्–गृहस्थानां भवेत्सिद्धिरीश्वराणां जपेन वै ॥ योगक्रियाभियुक्तानां तस्मात्संयतते गृही ॥ २६७ ॥

टीका–योगक्रियावान् गृहस्थ लोगोंको जप करनेसे सिद्धि प्राप्तहोगी इस हेतुसे योगसाधनमें गृहस्थ मनुष्यको यत्न करना उचित है ॥ २६७ ॥

मूलम्–गेहे स्थित्वा पुत्रदारादिपूर्णः सङ्गं त्यक्त्वा चान्तरे योगमार्गे॥ सिद्धेश्चिह्नं वीक्ष्य पश्चाद् गृहस्थः क्रीडेत्सो वै सम्मतं साधयित्वा ॥ २६८ ॥

टीका–जो गृहस्थ गृहमें रहके स्त्रीपुत्रादिसे पूर्ण होके अंतरीय सबसे त्यागपूर्वक योगसाधनसे प्रवृत्त होय सो सिद्धिचिह्न अवलोकनपूर्वक साधना करके सर्वदा आनन्दमें क्रीडा करेगा ॥ २६८ ॥

इति श्रीशिवसंहितायां हरगौरीसंवादे योगशास्त्रे पंचमः पटलः समाप्तः ॥ ५ ॥ शुभम् ॥

समाप्तोऽयं ग्रन्थः ।

पुस्तक मिलनेका ठिकाना–
खेमराज, श्रीकृष्णदास,
"श्रीवेङ्कटेश्वर" छापाखाना, खेतवाड़ी–बंबई.

श्रीः ।

उमामहेश्वरमाहात्म्यम् ।

उमा भगवतीयेयं ब्रह्मविद्याति कीर्तिता ।
रूपयौवनसम्पन्ना वधूर्भूत्वात्र सा स्थि-
ता ॥ १ ॥ नानाजातिवधूनां हि बिंबभूताम-
हेश्वरी ॥ २ ॥ यस्याः प्रसादतः सर्वः स्वर्गं
मोक्षं च गच्छति ॥ इह लोके सुखं तद्वज्जं-
तुर्देवादिकोपि वा ॥ ३ ॥ ब्रह्मा विष्णुस्त-
था रुद्रः शक्राद्याः सर्वदेवताः ॥ कटाक्षपा-
ततो यस्या भवंति न भवंति च ॥ ४ ॥ पीनो-
न्नतस्तनी प्रौढजघना च कृशोदरी ॥ चंद्रा-
नना मीननेत्रा केशभ्रमरमंडिता ॥ ५ ॥
सर्वांगसुंदरी देवी धैर्यपुंजविनाशिनी ॥
कांचीगुणेन चित्रेण वलयांगदनूपुरैः ॥ ६ ॥
हारैर्मुक्तादिसंजातैः कंठाद्याभरणैरपि ॥
मुकुटेनापि चित्रेण कुंडलाद्यैः सहस्र-
शः ॥ ७ ॥ विराजिता ह्यनौपम्यरूपा भूष-
णभूषणा ॥ जननी सर्वजगतो ह्यष्टव-
र्षा चिरंतनी ॥ ८ ॥ तया समेतं पुरुषं तत्प-

तिं तद्गुणाधिकम् ॥ ब्रह्मादीनां प्रभुं नाना-
सर्वभूषणभूषितम् ॥ ९ ॥ द्वीपिचर्मावृतं
शश्वदथवापि दिगंबरम् ॥ भस्मोद्धूलितस-
र्वांगं ब्रह्ममूर्धौघमालिनम् ॥ १० ॥ तथैव चं-
द्रखंडेन विराजितजटातटम् ॥ गंगाधरं
स्मरमुखं गोक्षीरधवलोज्ज्वलम् ॥ ११ ॥
कंदर्पकोटिसदृशं सूर्यकोटिसमप्रभम् ॥
सृष्टिस्थित्यंतकरणं सृष्टिस्थित्यंतवर्जि-
तम् ॥ १२ ॥ पूर्णेन्दुवदनांभोजं सूर्यसो-
माग्निवर्चसम् ॥ सर्वांगसुंदरं कंबुग्रीवं चा-
तिमनोहरम् ॥ १३ ॥ आजानुबाहुं पुरुषं
नागयज्ञोपवीतिनम् ॥ पद्मासनसमासी-
नं नासाग्रन्यस्तलोचनम् ॥ १४ ॥ वाम-
देवं महादेवं गुरूणां प्रथमं गुरुम् ॥ स्वयं-
ज्योतिःस्वरूपं तमानंदात्मानमद्वयम्
॥ १५ ॥ यतो हिरण्यगर्भोयं विराजो
जनकः पुमान् ॥ जातः समस्तदेवानाम-
न्येषां च नियामकः ॥ १६ ॥ नीलकंठम-
मुं देवं विश्वेशं पापनाशनम् ॥ हृदि पद्मे

थवा सूर्ये वह्नौ वा चंद्रमंडले ॥१७॥कैला
सादिगिरौ वापि चिंतयेद्योगमाश्रितः ॥
एवं चिंतयतस्तस्य योगिनो मानसं स्थि-
रम्॥१८॥ यदा जातं तदा सर्वप्रपंचरहितं
शिवम् ॥ प्रपंचकरणं देवमवाङ्मनसगो-
चरम् ॥१९॥ प्रयाति स्वात्मना योगी पु-
रुषं दिव्यमद्भुतम्॥तमसः स्वात्ममोहस्य
परं तेन विवर्जितम्॥२०॥साक्षिणं सर्वबु-
द्धीनां बुद्ध्यादिपरिवर्जितम् ॥ उमासहा-
यो भगवान्सगुणः परिकीर्तितः॥२१॥नि-
र्गुणश्च स एवायं न यतोन्योस्ति कश्चन॥
ब्रह्मा विष्णुस्तथा रुद्रः शक्रो देवसमन्वि
तः ॥ २२॥ अग्निः सूर्यस्तथा चंद्रः कालः
सृष्ट्यादिकारणम्॥ एकादशेंद्रियाण्यंतः
करणं च चतुर्विधम्॥२३॥प्राणाः पंचम-
हाभूतपंचकेन समन्विताः ॥ दिशश्च प्र-
दिशस्तद्वदुपरिष्टादधोपि च ॥२४ ॥स्वे-
दजादीनि भूतानि ब्रह्मांडं च विराड्वपुः॥

विराड्हिरण्यगर्भश्च जीव ईश्वर एव च ॥२५॥ मायातत्कार्यमखिलं वर्तते सदसच्च यत् ॥ यच्च भूतं यच्च भव्यं तत्सर्वं स महेश्वरः ॥ २६ ॥

इति श्रीमदुमामहेश्वरमाहात्म्यं संपूर्णम् ।

पुस्तक मिलनेका ठिकाना.

खेमराज श्रीकृष्णदास,

श्रीवेङ्कटेश्वर छापखाना (मुंबई.)

क्रय्यपुस्तकें-(योगशास्त्रग्रंथाः ।)

नाम.	की. रु. आ.
पातंजलयोगदर्शन-अत्युत्तम भाषानुवाद सहित	१–०
सांख्यदर्शन अत्युत्तम भाषानुवाद सहित ...	१–८
वैशेषिकदर्शन सुबोध भाषानुवाद समेत ...	०–१२
हठयोगप्रदीपिका उत्तम भाषाटीका सहित ...	१–४
शिवस्वरोदय भाषाटीका	०–८
शिवसंहिता भाषाटीका सह (योगशास्त्र) ...	१–०
गोरखपद्धति भाषाटीका (योगसाधनविधि)	०–१२
स्वरोदयसार चरणदासकृत	०–२
योगतत्त्वप्रकाशभाषा (योगाभ्यासकी प्रणाली परमोपयोगी है)	०–२
स्वरदर्पण सटीक १ स्वर प्रश्नवर्णित हैं ...	०–४

वेदान्तग्रन्थाः ।

ब्रह्मसूत्र (शारीरक) वेदान्ततत्त्वप्रकाश भाषाभाष्य समेत श्रीप्रभुदयालुविरचित बहुत सरल सुबोध है	४–०
ब्रह्मसूत्र (शारीरक) भाषाटीका	१–८
वेदान्तपरिभाषा शिखामणि टीका और मणिप्रभा टीकासमेत	२–८
वेदान्तपरिभाषा अर्थदीपिका टीकासमेत ...	१–०
वेदान्तपरिभाषा अत्युत्तम भाषाटीका समेत ...	१–४
वेदान्तसार संस्कृत मूल और संस्कृतटीका तथा भाषाटीकासहित	०–१२
पंचदशीसटीक (संस्कृत टीका)	२–०

बिट्ठलदास संस्कृत सीरीज ९

शिव संहिता

'हरि' हिन्दी व्याख्या सहित

सम्पादक एवं व्याख्याकार
पं. हरिहरप्रसाद त्रिपाठी

चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी

बिट्ठलदास संस्कृत सीरीज
९
****

शिव संहिता

'हरि' हिन्दी व्याख्या सहित

सम्पादक एवं व्याख्याकार

पं० हरिहरप्रसाद त्रिपाठी

चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी

प्रकाशक : चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी
मुद्रक : चौखम्बा प्रेस, वाराणसी
संस्करण : प्रथम, संवत् २०६३, सन् २००६
मूल्य : रू० ६०.००

ISBN : 81-218-0211-3

पुस्तक-प्रकाशक एवं वितरक
पोस्ट बॉक्स नं० ११९८, के. ३७/११८,
गोपाल मन्दिर लेन, गोलघर (मैदागिन) के पास
वाराणसी - २२१००१ (भारत)
फोन : २३३५०२०
Fax : 0542-2333458
e-mail : cssoffice@satyam.net.in
Web-site : www.chowkhambasanskritseries.com

अपरं च प्राप्तिस्थानम्

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस

के. ३७/९९, गोपाल मन्दिर लेन
गोलघर (मैदागिन) के पास
(गोपाल मंदिर के उत्तरी फाटक पर)
पोस्ट बॉक्स नं० १००८, वाराणसी-२२१००१ (भारत)
फोन : (आफिस) (०५४२) २३३३४५८, आवास : २३३५०२०, २३३४०३२
Fax : 0542-2333458
Web-site : www.chowkhambasanskritseries.com

BITTHALDAS SANSKRIT SERIES

9

ŚIVA SAṀHITA

with

'Hari' Hindi Commentary

By

Pt. Hariharprasad Tripathi

CHOWKHAMBA KRISHNADAS ACADEMY
VARANASI

Publisher : Chowkhamba Krishnadas Academy, Varanasi,
Printer : Chowkhamba Press, Varanasi.

ISBN : 81-218-0211-3

Oriental Publishers & Distributors
K.37/118, Gopal Mandir Lane
P.Box. No. 1118, Varanasi-221001 (India)
Phone : (0542) 2335020
Fax : 0542-2333458
e-mail : cssoffice@satyam.net.in
Web-site : www.chowkhambasanskritseries.com

अनेक ग्रन्थों के लेखक, सम्पादक एवं व्याख्याकार

पं० हरिहरप्रसाद त्रिपाठी

प्राक्कथन

प्राचीन यौगिक ग्रन्थों के अन्तर्गत 'शिव संहिता' का भी अपना एक विशिष्ट स्थान रहा है। इसमें योगसाधना की दश प्रमुख मुद्राओं का वर्णन सरल हिन्दी में विस्तारपूर्वक किया गया है। इसके द्वारा योग-जिज्ञासुओं की जिज्ञासा-पूर्ति समुचित रूप से हो सकती है। इस ग्रन्थ में कुल पाँच पटल दिये गये हैं जिसमें प्रथम पटल में आत्मा का लयत्व वर्णन, द्वितीय पटल में तत्त्वज्ञानोपदेश, तृतीय पटल में योगाभ्यास कथन, चतुर्थ पटल में मुद्रावर्णन और पंचम पटल में योगसाधना कथन नामक शीर्षक से योग साधक के सभी विघ्नों का विस्तृत निरूपण किया गया है। अतः योगसाधकों के लिए यह पुस्तक सभी दृष्टियों से परमोपयोगी सिद्ध होगी। ग्रन्थोक्त विधियों का अनुपालन करने से योगाभ्यासी निश्चय ही अपने लक्ष्य तक पहुँचने में सफल हो सकता है।

ऐसी दुर्लभ एवं उपयोगी पुस्तक के प्रकाशनार्थ इसके प्रकाशक महोदय भी धन्यवाद के पात्र हैं।

हरिहरप्रसाद त्रिपाठी
सी.के. ५८/३५, रेशम कटरा
वाराणसी- २२१००१

—

विषयानुक्रमणी

◆

शिव-वन्दना

नागेन्द्रहाराय त्रिलोचनाय, भस्माङ्गरागाय महेश्वराय ।
नित्याय शुद्धाय दिगम्बराय, तस्मै 'न' काराय नमः शिवाय ।।१।।
मन्दाकिनी सलिल चन्दनचर्चिताय नन्दीश्वर प्रमथनाथ महेश्वराय ।
मन्दार पुष्प बहुपुष्प सुपूजिताय तस्मै 'म' काराय नमः शिवाय ।।२।।

भावार्थ—जिनके गले में सर्पों का हार विभूषित है, जो त्रिनेत्रधारी हैं, भस्म ही जिनके शरीर का अंगराज (उबटन) है, जो दिगम्बर हैं यानी समस्त दिशाएँ ही जिनके वस्त्र हैं उन विशुद्ध अविनश्वर महेश्वर 'न' कार स्वरूप शिवजी को मेरा प्रणाम है। जिनका पूजन-अर्चन गंगाजल और चंदन से हुआ है, मन्दार तथा अन्य प्रकार के सुन्दर पुष्पों से जिनकी पूजा हुई हैं, उन नन्दीश्वर प्रमथगणनायकों के स्वामी महेश्वर 'म' काररूप शिवजी को मेरा नमस्कार है ॥१-२॥

शिवाय गौरीवदनाब्जवृन्द सूर्याय दशाध्वरनाशकाय ।
श्रीनीलकण्ठाय वृषध्वजाय ।
तस्मै 'शि' काराय नमः शिवाय ।।३।।
वसिष्ठ कुम्भोद्भवगौतमार्य मुनीन्द्र देवार्चित शेखराय ।
चन्द्रार्कवैश्वानरलोचनाय तस्मै 'व' काराय नमः शिवाय ।।४।।

भावार्थ—जिनका स्वरूप कल्याणकारी है, जो हिमतनया पार्वतीजी के मुख-कमल को विकसित करने के लिए सूर्य के समान हैं, जो दक्ष प्रजापति के यज्ञ-विध्वंसक हैं, जिनकी पताका में वृषभ का चिह्न अंकित है, उन शोभावान नीलकण्ठ 'शि' कार स्वरूप शिवजी की मैं वन्दना करता हूँ।

वसिष्ठ, अगस्त्य और गौतमादि मुनिश्रेष्ठों तथा इन्द्रादि देवगणों ने जिनके मस्तक की पूजा-अर्चना की है, जिनके नेत्रद्वय चन्द्र एवं सूर्य के समान हैं, उन 'व' काररूप शिवजी को मेरा प्रणाम है ॥३-४॥

यक्षस्वरूपाय जटाधराय पिनाकहस्ताय सनातनाय ।
दिव्याय देवाय दिगम्बराय तस्मै 'य' काराय नमः शिवाय ।।५।।

भावार्थ—जो यक्षरूपधारी तथा जटाधारी हैं, जो अपने हाथ में पिनाक नामक धनुष धारण किये हुए हैं तथा जो दिव्य शाश्वत पुरुष हैं, उन दिगम्बर देव 'य' कारस्वरूप शिवजी को मेरा नमस्कार है ॥५॥

॥ ॐ नमः शिवाय ॥

शिव संहिता

***

प्रथम पटलः

आत्मा का लयत्व वर्णन

एकं ज्ञानं नित्यमाद्यन्तशून्यं नान्यत् किंचिद्वर्तते वस्तु सत्यम् ।
यद्भेदोस्मिन्निन्द्रियोपाधिना वै ज्ञानस्यायं भासते नान्यथैव ।।१।।

इस नश्वर जगत में एकमात्र ज्ञान ही शाश्वत और आदि-अन्त से रहित होता है। ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई भी वस्तु जगत में विद्यमान नहीं है। संसार में इन्द्रियोंपाधि द्वारा जो कुछ भी भिन्न-भिन्न रूपों में भासित होता है वह केवल ज्ञान का ही आलोक है। अर्थात् ज्ञान से परे कुछ भी नहीं है ॥१॥

अथ भक्तानुरक्तोऽहं वक्ष्ये योगानुशासनम् ।
ईश्वरः सर्वभूतानामात्ममुक्तिप्रदायकः ।।२।।
त्यक्त्वा विवादशीलानां मतं दुर्ज्ञानहेतुकम् ।
आत्मज्ञानाय भूतानामनन्यगतिचेतसाम् ।।३।।

मैंने भक्तों पर अनुग्रह करने के अभिप्राय से इस योगानुशासन का कथन किया है। समस्त प्राणियों का आत्म परमेश्वर ही केवल मोक्षप्रदायक होता है। सभी विवादास्पद मतों और दुर्ज्ञान के मूलभूत कारणों का परित्याग करके आत्मज्ञान का आश्रय ग्रहण करना चाहिए। समस्त जीवों के हितार्थ यही अनन्य गति है ॥२-३॥

सत्यं केचित् प्रशंसन्ति तपः शौचं तथापरे ।
क्षमां केचित्प्रशंसन्ति तथैव सममार्ज्जवम् ।।४।।
केचिद्दानं प्रशंसन्ति पितृकर्म तथापरे ।
केचित् कर्म प्रशंसन्ति केचिद्वैराग्यमुत्तमम् ।।५।।

कुछ लोग सत्य की सराहना करते हैं तो कुछ लोग तपश्चर्या की। इसके विपरीत कुछ व्यक्ति शुद्धाचरण, क्षमाशीलता, सरलता तथा सभी जीवों में समत्व की भावना रखना ही श्रेयस्कर समझते हैं। किन्तु कोई-कोई दानशीलता, पितृ कर्मानुष्ठान (तर्पण, श्राद्धादि कर्म) तथा सगुणोपासना के प्रशंसक हुआ करते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ मनुष्य मोह-माया से विरत होकर मन में वैराग्य धारण करना ही श्रेष्ठ मानते हैं ॥४-५॥

केचिद्गृहस्थकर्माणि प्रशंसन्ति विचक्षणाः ।
अग्निहोत्रादिकं कर्म तथा केचित्परं विदुः ।।६।।
मन्त्रयोगं प्रशंसन्ति केचित्तीर्थानुसेवनम् ।
एवं बहूनुपायांस्तु प्रवदन्ति विमुक्तये ।।७।।

कुछ बुद्धिमान पुरुष गार्हस्थ्य धर्म तथा अग्निहोत्र कर्म (आवासस्थल में निरन्तर अग्नि जलाये रखना) के प्रशंसक होते हैं। कुछ विद्वानों के मतानुसार मन्त्रजाप तथा तीर्थस्थान का भ्रमण करना ही मोक्ष का कारण बनता है। इस प्रकार अपने-अपने अभिमत के अनुसार लोगों ने मुक्ति के अनेक साधन बतलाये हैं ।।६-७।।

एवं व्यवसिता लोके कृत्याकृत्यविदो जनाः ।
व्यामोहमेव गच्छन्ति विमुक्ताः पापकर्मभिः ।।८।।
एतन्मतावलम्बी यो लब्ध्वा दुरितपुण्यके ।
भ्रमतीत्यवशः सोऽत्र जन्ममृत्युपरम्पराम् ।।९।।

इसी भाँति विधिनिषेध कर्मों (करणीय-अकरणीय कर्म) के मर्मज्ञ व्यक्ति पापकर्मों से विमुख रहकर भी माया के भ्रमजाल में पड़े रहकर पाप-पुण्य के अनुष्ठानरूप उक्त मतों का सहारा लेते रहते हैं, जिसके फलस्वरूप अनुष्ठानकर्ता बार-बार आवागमन के चक्रव्यूह में फँसकर संसार में परिभ्रमित होता रहता है। अर्थात् अभिप्राय यह है कि शुभ कार्यों के सम्पादन से चित्त का शुद्धिकरण तो सम्भव हो जाता है किन्तु मोक्षमार्ग की ओर अग्रसर होना कदापि सम्भव नहीं होता ।।८-९।।

अन्यैर्मतिमतां श्रेष्ठैर्गुप्तालोकनतत्परैः ।
आत्मानो बहवः प्रोक्ता नित्याः सर्वगतास्तथा ।।१०।।
यद्यत्प्रत्यक्षविषयं तदन्यन्नास्ति चक्षते ।
कुतः स्वर्गादयः सन्तीत्यन्ये निश्चितमानसाः ।।११।।
ज्ञानप्रवाह इत्यन्ये शून्यं केचित्परं विदुः ।
द्वावेव तत्त्वं मन्यन्तेऽपरे प्रकृतिपुरुषौ ।।१२।।

कुछेक विद्वान गुप्तशास्त्रों में अध्ययनरत रहने को ही उत्तम मानते हैं, किन्तु कुछ मनुष्यों की ऐसी अवधारणा होती है कि आत्मा ही शाश्वतस्वरूप है और वह सर्वत्र गमनशील भी है। प्रत्यक्षवादियों के मतानुसार इस जगत में दिखायी पड़ने वाली वस्तुएँ ही केवल सत्य हैं, शेष सभी मिथ्या हैं। वे निश्चयतापूर्वक यही कहते हैं कि इस पृथिवी के अतिरिक्त स्वर्गादि लोक नहीं होते। कुछ विद्वानों का ऐसा अभिमत है कि प्रवहमान ज्ञानधारा ही सब कुछ है। उसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। शून्यवादियों का मानना है कि जगत में शून्य के सिवाय दूसरा कुछ नहीं है। कोई-कोई प्रकृति और पुरुष को तत्त्वरूप में समझते हैं ।।१०-१२।।

अत्यन्तभिन्नमतयः परमार्थपराङ्मुखाः ।
एवमन्ये तु संचिन्त्य यथामति यथाश्रुतम् ।।१३।।
निरीश्वरमिदं प्राहुः सेश्वरं च तथापरं ।
वदन्ति विविधैर्भेदैः सुयुक्त्यास्थितिकातराः ।।१४।।

परमार्थविरोधी मनुष्यों की मति भी भिन्न-भिन्न प्रकार की हुआ करती है और उसी

मति का आश्रय लेकर वे कर्मों में निरत रहा करते हैं। जहाँ कुछ लोग ईश्वरीय सत्ता को नहीं मानते, वहीं कुछ व्यक्ति समस्त जगत को ईश्वरमय देखते हैं। इस प्रकार अनेक लोग अनेक प्रकार के मतों का कथन करते तथा अपने-अपने मत पर अटल रहकर कार्य करते हैं ॥१३-१४॥

एते चान्ये च मुनयः संज्ञाभेदाः पृथग्विधाः ।
शास्त्रेषु कथिता ह्येते लोकव्यामोहकारकाः ॥१५॥
एतद्विवादशीलानां मतं वक्तुं न शक्यते ।
भ्रमन्त्यस्मिन् जनाःसर्वे मुक्तिमार्गबहिष्कृताः ॥१६॥

इस प्रकार अनेक ऋषि-मुनियों ने विविध प्रकार के मत-मतान्तरों का प्रतिपादन शास्त्रों में किया है, किन्तु ऐसे शास्त्र मानव को भ्रम में डाल दिया करते हैं। ऐसी स्थिति में मनुष्य ग्राह्य-अग्राह्य मतों का विश्लेषण नहीं कर पाता। फलत: वह जीवन-पर्यन्त भ्रमित होकर भटकता रहता है और मोक्षमार्ग तक नहीं पहुँच पाता। ऐसे विवादी पुरुषों का मत वर्णन करने में मैं सर्वथा ही अपने को असमर्थ पाता हूँ। अर्थात् प्राणी मुक्तिमार्ग की राह छोड़कर व्यर्थ ही इतस्तत: भटकता फिरता है ॥१५-१६॥

आलोक्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः ।
इदमेकं सुनिष्पन्नं योगशास्त्रं परं मतम् ॥१७॥
यस्मिन् ज्ञाते सर्वमिदं ज्ञातं भवति निश्चितम् ।
तस्मिन् परिश्रमः कार्यः किमन्यच्छास्त्रभाषितम् ॥१८॥

समस्त शास्त्रावलोकन के पश्चात् यही विचार दृढ़ीभूत होता है कि योगशास्त्र ही एकमात्र परमश्रेष्ठ मत है, क्योंकि बार-बार विचारने पर यही बात सिद्ध होती है। इस विषय में ज्ञानोपलब्धि होने पर इसके लिए परिश्रम करना उचित तथा आवश्यक है। जब इसके अतिरिक्त अन्य शास्त्र निरुद्देश्य सिद्ध होते हैं तो उन शास्त्रों में ज्ञानप्राप्ति हेतु किया जाने वाला परिश्रम भी व्यर्थ ही है ॥१७-१८॥

योगशास्त्रमिदं गोप्यमस्माभिः परिभाषितम् ।
सुभक्ताय प्रदातव्यं त्रैलोक्ये च महात्मने ॥१९॥

देवी पार्वती से शिवजी कहते हैं कि मेरे द्वारा कथित यह योगशास्त्र अत्यन्त गोपनीय है। अत: इसे त्रैलोक्य में ऐसे व्यक्ति को बतलाना चाहिए जो ईश्वरभक्तिपरायण और सन्त हो ॥१९॥

कर्मकाण्डं ज्ञानकाण्डमिति वेदो द्विधा मतः ।
भवति द्विविधो भेदो ज्ञानकाण्डस्य कर्मणः ॥२०॥
द्विविधः कर्मकाण्डः स्यान्निषेधविधिपूर्वकः ।
निषिद्धकर्मकरणे पापं भवति निश्चितम् ।
विधिना कर्मकरणे पुण्यं भवति निश्चितम् ॥२१॥

वेद के दो भाग किये गये है, जिसमें पहला कर्मकाण्ड और दूसरा ज्ञानकाण्ड है। इनमें कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड के भी दो-दो भाग कर दिये गये हैं। कर्मकाण्ड भी निषेधित और विधिक भेदानुसार दो प्रकार का कहा गया है। निषिद्ध कर्म करने से मनुष्य अवश्य ही पातकी कहलाता है तथा विधिक कर्म करने के फलस्वरूप वह निश्चय ही पुण्यलाभ का भागी बनता है ॥२०-२१॥

त्रिविधो विधिकूटः स्यान्नित्यनैमित्यकाम्यतः ।
नित्येऽकृते किल्बिषं स्यात्काम्ये नैमित्तिके फलम् ।।२२।।

विधिक कर्म तीन प्रकार के माने जाते हैं, जैसे— नित्यकर्म, नैमित्तिक कर्म और सकाम कर्म। नित्यकर्म वह है जिसके अन्तर्गत प्रतिदिन देवार्चन तथा सन्ध्या-वन्दन करने का विधान है। नैमित्तिक कर्म वह है जिसे किसी विशिष्ट पर्वकाल (ग्रहण आदि) अथवा किसी तीर्थस्थान के जलाशय में मार्जन, स्नान-दानादि के द्वारा किया जाता है, किन्तु सकाम कर्म फलप्राप्ति के उद्देश्य से सम्पन्न किये जाते हैं ॥२२॥

द्विविधं तु फलं ज्ञेयं स्वर्गं नरकमेव च ।
स्वर्गे नानाविधं चैव नरके च तथा भवेत् ।।२३।।
पुण्यकर्मणि वै स्वर्गो नरकं पापकर्मणि ।
कर्मबन्धमयी सृष्टिर्नान्यथा भवति ध्रुवम् ।।२४।।

कर्मफल की प्राप्ति दो रूपों में हुआ करती है। एक है स्वर्गभोग और दूसरा है नरकभोग। ये दोनों ही अनेक प्रकार के कहे जाते हैं। इस जीव द्वारा पुण्यकार्य किये जाने पर स्वर्ग-सुख की प्राप्ति तथा पापकर्म के करने से नरकवास के कष्टों को भुगतना पड़ता है। यह बात निर्विवाद रूप से सिद्ध है। यह सम्पूर्ण जगत ही कर्म-बन्धन में बँधा हुआ है। अर्थात् मर्त्यलोक में शरीर धारण करने पर मानव द्वारा जाने-अनजाने पाप-पुण्य कर्म होते ही रहते हैं, किन्तु उन शुभाशुभ कर्मों का पूर्ण फल जब तक भुगत नहीं लिया जाता तब तक सांसारिक आवागमन से मुक्ति नहीं मिलती, जैनदर्शन में भी इसी मत का प्रतिपादन किया गया है ॥२३-२४॥

जन्तुभिश्चानुभूयन्ते स्वर्गे नानासुखानि च ।
नानाविधानि दुःखानि नरके दुःसहानि वै ।।२५।।
पापकर्मवशाद्दुःखं पुण्यकर्मवशात्सुखम् ।
तस्मात्सुखार्थी विविधं पुण्यं प्रकुरुते ध्रुवम् ।।२६।।

इस जीव को स्वर्गलोक की प्राप्ति होने पर उसे नाना प्रकार के सुखों का उपभोग करना पड़ता है, किन्तु नरकगामी होने पर उसे अनेक प्रकार के कठोर दुःखों की यातना भी सहनी पड़ती है। अर्थात् पापकर्मों के द्वारा दुःख तथा पुण्यकर्मों के द्वारा सुखोपलब्धि होती है। अतएव सुखाभिलाषी व्यक्ति सदैव पुण्यकर्म में ही तत्पर रहा करते हैं ॥२५-२६॥

पापभोगावसाने तु पुनर्ज्जन्म भवेत्खलु ।
पुण्यभोगावसाने तु नान्यथा भवति ध्रुवम् ।।२७।।
स्वर्गेऽपि दु:खसम्भोग: परस्त्रीदर्शनाद्ध्रुवम् ।
ततो दु:खमिदं सर्वं भवेन्नास्त्यत्र संशय: ।।२८।।

जिस प्रकार पापफल का भोग भुगत लेने पर जीव का इस संसार में पुनरावर्तन होता है उसी प्रकार पुण्यफल भोग लेने के पश्चात् पुण्यात्मा जीव को भी पुनर्जन्म लेना पड़ता है। इस प्रकार जन्म-मरण का चक्र बराबर घूमता रहता है। यदि गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो स्वर्ग भी दु:ख का ही एक स्थान है, क्योंकि स्वर्ग में पहुँचकर स्वर्गीय ललनाओं (अप्सराओं) के दर्शन तो होते हैं किन्तु उनकी प्राप्ति सम्भव नहीं होती जिसके कारण मानसिक क्लेश भोगने पड़ते हैं। अत: स्वर्गप्राप्ति भी दु:ख का ही कारण है। इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं रखना चाहिए ॥२७-२८॥

तत्कर्म कल्पकै: प्रोक्तं पुण्यपापमिति द्विधा ।
पुण्यपापमयो बन्धो देहिनां भवति क्रमात् ।।२९।।
इहामुत्र फलद्वेषी सकलं कर्म संत्यजेत् ।
नित्यनैमित्तिके सङ्गं त्यक्त्वा योगे प्रवर्तते ।।३०।।

सुविज्ञ पुरुषों ने पाप-पुण्य के रूप में दो प्रकार के कर्मों की परिकल्पना की है। उन्हीं पाप-पुण्य के कर्मानुसार शरीर आबद्ध है जिसके परिणामस्वरूप जीव को संसार में बार-बार जन्म लेना पड़ता है। मनुष्य को इहलोक तथा परलोक के फलों एवं नित्य-नैमित्तिक फलों की इच्छा का परित्याग कर केवल योगाभ्यास की साधना में निरत रहना ही मोक्षप्राप्ति का कारण बनता है ॥२९-३०॥

कर्मकाण्डस्य माहात्म्यं ज्ञात्वा योगी त्यजेत्सुधी: ।
पुण्यपापद्वयं त्यक्त्वा ज्ञानकाण्डं प्रवर्तते ।।३१।।
आत्मा वा रे च श्रोतव्यो मंतव्य इति यच्छ्रुति: ।
सा सेव्या तत्प्रयत्नेन मुक्तिदा हेतुदायिनी ।।३२।।

कर्मकाण्ड की महत्ता को जान लेने के पश्चात् पाप-पुण्य के कर्मों का परित्याग कर योगसाधना में प्रवृत्त होना चाहिए। श्रुतियों का कथन है कि आत्मा ही श्रवणीय और मननीय है। आत्मा ही मुक्तिप्रदायिनी और सभी की उत्पन्नकर्त्री है। अत: प्राणी को चेष्टापूर्वक आत्मा का सेवन करना ही उचित है ॥३१-३२॥

दुरितेषु च पुण्येषु यो धीवृत्तिं प्रचोदयात् ।
सोऽहं प्रवर्तते मत्तो जगत्सर्वं चराचरम् ।।३३।।
सर्वं च दृश्यते मत्त: सर्वं च मयि लीयते ।
न तद्भिन्नोऽहमस्मिन्नो यद्भिन्नो न तु किंचन ।।३४।।

जिस बुद्धि के कारण पाप-पुण्य, इन दोनों में समान रूप से प्रेरणा मिलती है,

'वह मैं ही हूँ'—मुझसे ही इस जगत की उत्पत्ति होती है। यह समस्त दृश्यमान जगत मैं ही हूँ। यह सब मुझसे ही उत्पन्न होता और मेरे में ही विलीन हो जाता है। मैं किसी से भिन्न नहीं हूँ और न मुझसे ही कुछ भिन्न है। तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण जग़त को इसी भावना से देखना और समझना योगाभ्यासी के लिए आवश्यक है ।।३३-३४।।

जलपूर्णेष्वसंख्येषु शरावेषु यथा भवेत्।
एकस्य भात्यसंख्यत्वं तद्भेदोऽत्र न दृश्यते ।।३५।।
उपाधिषु शरावेषु या संख्या वर्तते परा।
सा संख्या भवति यथा रवौ चात्मनि तत्तथा ।।३६।।

जिस प्रकार जल से परिपूरित घड़े में एक ही सूर्य के अनेक प्रतिविम्ब भासित होते हैं, किन्तु यथार्थत: वे अनेक न होकर केवल एक ही होते हैं। उनमें अनेकता का आभास तो मिट्टी के घड़े और उनकी संख्याओं के कारण होते हैं। उसी प्रकार यह दृश्यमान जगत भी एकात्म होते हुए भी अनेक रूपों में परिलक्षित हुआ करता है। यथार्थ में परब्रह्म भी एक ही होता है ।।३५-३६।।

यथैकः कल्पकः स्वप्ने नानाविधतयेष्यते।
जागरेऽपि तथाप्येकस्तथैव बहुधा जगत् ।।३७।।
सर्पबुद्धिर्यथा रज्जौ शुक्तौ वा रजतभ्रमः।
तद्वदेवमिदं विश्वं विवृतं परमात्मनि ।।३८।।

जिस प्रकार स्वप्नावस्था में मानव-मन में अनेक प्रकार की परिकल्पनाएँ उठती रहती हैं, किन्तु नींद खुल जाने पर कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता, उसी प्रकार मायाग्रस्तता के फलस्वरूप जगत भी अनेक रूपों में प्रतिभासित होता है। पुन: माया का आवरण हट जाने पर केवल एक ब्रह्म ही शेष रह जाता है। जिस प्रकार रस्सी में साँप और सीप में चाँदी का बोध होता है उसी भाँति परब्रह्म में माया के आवरण से जगत का भ्रम उत्पन्न होता है ।।३७-३८।।

रज्जुज्ञानाद्यथा सर्पो मिथ्यारूपो निवर्तते।
आत्मज्ञानात्तथा याति मिथ्याभूत मिदं जगत् ।।३९।।
रौप्यभ्रान्तिरियं यांति शुक्तिज्ञानाद् यथा खलु।
जगद्भ्रान्तिरियं यांति चात्मज्ञानाद्यथा तथा ।।४०।।

किन्तु जिस समय रस्सी के वास्तविक रूप का ज्ञान हो जाता है उस समय सर्प का मिथ्या ज्ञान दूर हो जाता है, उसी प्रकार आत्म ज्ञानोदय होने पर मिथ्या जगत की बुद्धि नहीं रह जाती। इसी भाँति जब मन में यह दृढ़ निश्चय हो जाता है कि यह वस्तुत: सीप है तो उसमें चाँदी के होने वाला भ्रम नहीं रहता। इसी प्रकार आत्मबोध हो जाने पर संसार का भ्रम दूर हो जाता है ।।३९-४०।।

यथा रज्जूरगभ्रान्तिर्भवेद्भेदवशाज्जगत् ।।४१।।
तथा जगदिदं भ्रान्तिरध्यासकल्पनाजगत् ।
आत्मज्ञानाद्यथा नास्ति रज्जुज्ञानाद्भुजङ्गमः ।।४२।।

जिस प्रकार रस्सी को साँप समझ लेने का मिथ्या ज्ञान उत्पन्न होता है उसी प्रकार संसार भी अज्ञान के वशीभूत है अर्थात् जगत् में विभिन्नता के रूप में होने वाला भ्रम भी रस्सी में साँप होने के भ्रम के सदृश ही होता है । यह केवल सांसारिक कल्पना ही होती है, इसमें रंचमात्र भी सत्यता नहीं रहती । किन्तु रज्जुज्ञान की तरह आत्मज्ञान के उदय होते ही मिथ्या जगत की प्रतीति नहीं होती ॥४१-४२॥

यथा दोषवशाच्छुक्लः पीतो भवति नान्यथा ।
अज्ञानदोषादात्मापि जगद्भवति दुरस्त्यजम् ।।४३।।
दोषनाशे यथा शुक्लो गृह्यते रोगिणा स्वयम् ।
शुक्लज्ञानात्तथाज्ञाननाशादात्मा तथा कृतः ।।४४।।

जिस प्रकार पित्तविकार के कारण पाण्डुरोग (कामला रोग) हो जाने से शरीर का वर्ण पीला दिखाई देता है उसी प्रकार ज्ञानदोष के फलस्वरूप यह आत्मा भी मिथ्या जगत के रूप में जान पड़ने लगता है । इस प्रकार की अज्ञानता सहज ही नहीं मिट पाती । अज्ञान के नाश होने पर शुद्ध ब्रह्म का बोध उसी प्रकार होने लगता है जिस प्रकार पित्तविकार के नष्ट होने पर शरीर का वर्ण भी श्वेत हो जाता है । तात्पर्य यह है कि अज्ञानरूप रोग का शमन आत्मज्ञानरूप औषध सेवन से ही सम्भव हो पाता है ॥४३-४४॥

कालत्रयेऽपि न यथा रज्जुः सर्पो भवेदिति ।
तथात्मा न भवेद्विश्वं गुणातीतो निरञ्जनः ।।४५।।
आगमाऽपायिनोऽनित्या नाश्यत्वे नेश्वरादयः ।
आत्मबोधेन केनापि शास्त्रादेतद्विनिश्चितम् ।।४६।।

यह बात निश्चित रूप से सत्य है कि तीनों कालों में (भूत, वर्तमान एवं भविष्य) रस्सी कभी भी सर्परूप में परिवर्तित नहीं हो सकती, उसी प्रकार गुणातीत शुद्धात्मा भी कभी विश्वरूप में नहीं बदल सकता । आत्मज्ञान-सम्बन्धी शास्त्रों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि ईश्वर की उपाधि से युक्त इन्द्रादि देव भी अनित्य हैं अर्थात् उनका भी संसार में जन्म-मरण होता रहता है ॥४५-४६॥

यथा वातवशात्सिन्धावुत्पन्नाः फेनबुद्बुदाः ।
तथात्मनि समुद्भूतं संसारं क्षणभङ्गुरम् ।।४७।।
अभेदो भासते नित्यं वस्तुभेदो न भासते ।
द्विधात्रिधादिभेदोऽयं भ्रमत्वे पर्यवस्यति ।।४८।।

जिस प्रकार वायु के थपेड़ों से सागर में झाग उठते और बुलबुले उत्पन्न होते

रहते हैं तथा पुनः तत्क्षण ही उसमें समा जाते हैं, उसी प्रकार माया की उपाधि से विभूषित आत्मा के द्वारा नश्वर संसार की उत्पत्ति होती और पुनः उसी आत्मा में विलुप्त हो जाती है । आत्मा की विभेदता किसी पदार्थ या संसार से नहीं है, किन्तु उसमें भ्रमवश ही दो-तीन इत्यादि की प्रताति होती है । इस प्रकार के भ्रम के मिट जाने पर अनेकता का भेद नहीं रह जाता ॥४७-४८॥

यद्भूतं यच्च भाव्यं वै मूर्तामूर्ते तथैव च ।
सर्वमेव जगदिदं विवृतं परमात्मनि ।।४९।।
कल्पकैः कल्पिता विद्या मिथ्या जाता मृषात्मिका ।
एतान्मूलं जगदिदं कथं सत्यं भविष्यति ।।५०।।

संसार के मूर्त-अमूर्त जो भी पदार्थ हैं वे सभी माया के आवरण से आत्मा द्वारा ही प्रकटित हुए हैं । यह समस्त जगत अविद्या का ही एक काल्पनिक रूप है जिसकी नींव ही असत्य पर आधारित हो वह स्वयं सत्य किस प्रकार से हो सकता है? ॥४९-५०॥

चैतन्यात् सर्वमुत्पन्नं जगदेतच्चराचरम् ।
तस्मात् सर्वे परित्यज्य चैतन्य तु समाश्रयेत् ।।५१।।
घटस्याभ्यन्तरे बाह्ये यथाकाशं प्रवर्तते ।
तथात्माभ्यन्तरे बाह्ये ब्रह्माण्डस्य प्रवर्तते ।।५२।।

इस सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति केवल चेतन आत्मा के द्वारा ही होती है । ऐसा जानकर चैतन्य आत्मा का आश्रय ग्रहण करना ही विहित माना जाता है । जिस प्रकार घट के अन्दर और बाहर आकाश परिव्याप्त रहा करता है उसी प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के अन्तरंग और बहिरंग भाग में केवल एक आत्मा ही पूर्णतया परिव्याप्त रहती है ॥५१-५२॥

सततं सर्वभूतेषु यथाकाश प्रवर्तते ।
तथात्माभ्यंतरे बाह्ये ब्रह्माण्डस्य प्रवर्तते ।।५३।।
वर्तते सर्वभूतेषु यथाकाशं समन्ततः ।
तथात्माभ्यंतरे बाह्ये कार्यवर्गेषु नित्यशः ।।५४।।

जिस प्रकार चराचर जगत् में आकाश की परिव्याप्ति रहती है उसी प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड के अन्दर और बाह्य में आत्मा भी व्याप्त रहता है । अर्थात् जैसे आकाश सभी भूतों से समाविष्ट रहता है वैसे ही संसार के समग्र प्रादुर्भूत पदार्थों में आत्मा का समावेश रहता है ॥५३-५४॥

असंलग्न यथाकाशं मिथ्याभूतेषु पञ्चसु ।
असंलग्नस्तथात्मा तु कार्यवर्गेषु नान्यथा ।।५५।।
ईश्वरादिजगत्सर्वमात्मव्याप्तं समन्ततः ।
एकोऽस्ति सच्चिदानन्दः पूर्णो द्वैतविवर्जितः ।।५६।।

जिस प्रकार आकाश पंचभूतात्मक होते हुए भी उसमें सन्निहित नहीं रहता उसी भाँति आत्मा भी समस्त वस्तुओं में परिव्याप्त रहते हुए भी उसमें लिप्त न होकर पृथक् रूप से स्थित रहता है। अखिल विश्व में एक ही आत्मा परिव्याप्त है। वही एक आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप द्वैधीभाव से रहित है। अर्थात् वह अद्वैतरूप कहा गया है।।५५-५६।।

यस्मात्प्रकाशको नास्ति स्वप्रकाशो भवेत्ततः ।
स्वप्रकाशोयतस्तस्मादात्मा ज्योतिः स्वरूपकः ।।५७।।
अवच्छिन्नो यतो नास्ति देशकालस्वरूपतः ।
आत्मनः सर्वथा तस्मादात्मापूर्णो भवेत्खलु ।।५८।।

उस अद्वैत आत्मा को प्रकाशित करने वाला कोई नहीं होता, बल्कि वह अपनी प्रभा से ही प्रकाशमान रहता है। स्वयं प्रभावान होने के फलस्वरूप ही वह ज्योतिस्वरूप होता है। देश-काल के विचार से वह अवच्छिन्न नहीं है। अर्थात् उसमें न तो देश-कालादिकों के कोई नियम होते हैं और न ही संकुचन और विस्तरण के। अत: आत्मा सदैव ही अपने आप में परिपूर्ण रहता है।।५७-५८।।

यस्मान्न विद्यते नाशः पञ्चभूतैर्वृथात्मकैः ।
तस्मादात्मा भवेन्नित्यस्तन्नाशो न भवेत्खलु ।।५९।।
यस्मात्तदन्यो नास्तीह तस्मादेकोऽस्ति सर्वदा ।
यस्मात्तदन्योमिथ्यास्यादात्मासत्योभवेत्खलु ।।६०।।

पंचभूतों के नष्ट हो जाने पर भी इस आत्मा का विनाश नहीं होता, क्योंकि आत्मा सर्वदा ही आविनश्वर और अविकारी होता है। किसी भी अवस्था में आत्मा का नाश होना असम्भव है। आत्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ भी न होने पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आत्मा ही अद्वैतरूप है। इस प्रकार जब जगत में सभी पदार्थ असत्य हैं तो केवल शुद्धात्मा को ही सत्य माना जा सकता है।।५९-६०।।

अविद्या भूतसंसारे दुःखनाशे सुखं यतः ।
ज्ञानादाद्यंतशून्यं स्थात्तस्मादात्मा भवेत्सुखम् ।।६१।।
यस्मान्नाशितमज्ञानं ज्ञानेन विश्वकारणम् ।
तस्मादात्मा भवेत् ज्ञानं ज्ञानं तस्मात्सनातनम् ।।६२।।

सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति में एकमात्र कारण अविद्या को माना गया है। सांसारिक दु:खों के निवारण होने के पश्चात् सुखागमन माना जाता है। किन्तु दु:ख के आदि-अन्त का सम्बन्ध ज्ञान से नहीं रहता। ज्ञान के द्वारा ही अज्ञान का विनष्टीकरण हुआ करता है। इससे यह सिद्ध होता है कि विश्व का मूलभूत कारण ज्ञान ही है। अत: आत्मा ही ज्ञानरूप, नित्य और शाश्वत है।।६१-६२।।

कालतो विविधं विश्वं यदा चैव भवेदिदम् ।
तदेकोऽस्ति स एवात्मा कल्पनापथवर्जितः ।।६३।।
बाह्यानि सर्वभूतानि विनाशं याति कालतः ।
तो वाचो निवर्त्तन्ते आत्मा द्वैतविवर्जितः ।।६४।।

कालानुसार अनेक रूपों वाले संसार की उत्पत्ति होती है, अत: वह एक प्रकार का आत्मा ही है । इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आत्मा कोई काल्पनिक वस्तु न होकर सत्यस्वरूप है । आत्मा से अलग जो भी पदार्थ होते हैं वे सभी समयानुसार नाश को प्राप्त हो जाया करते हैं । अत: आत्मा द्वैधीभाव से रहित है । उसे वाणी द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता ॥६३-६४॥

न खं वायुर्न चाग्निश्च न जलं पृथिवी न च ।
नैतत्कार्यं नेश्वरादि पूर्णकात्मा भवेत्खलु ।।६५।।
आत्मानमात्मना योगी पश्यत्यात्मनि निश्चितम् ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी त्यक्तमिथ्याभवग्रहः ।।६६।।

आत्मा अकाशरहित होने के परिणामस्वरूप नि:शब्द, वायु के अभाव से स्पर्शहीन, अग्नि के अभाव से तेजहीन, जलविहीन होने के कारण रसहीन तथा पृथिवीतत्त्व के अभाव में गंधहीन भी है । वह कारण से रहित होने के फलस्वरूप कोई कार्य भी नहीं है और न तो ब्रह्मादि ईश्वर ही है । वह आत्मा अपने आप में पूर्णकाम है अर्थात् वह सभी कामनाओं से परे है । इस प्रकार आत्मा के द्वारा आत्मा को आत्मा में झाँककर देखने वाला ऐसा योगी जो सभी संकल्प-विकल्प का परित्याग कर देता है वही समाधिस्थ हो सकता है ॥६५-६६॥

आत्मनात्मनि चात्मानं दृष्ट्वानन्तं सुखात्मकम् ।
विस्मृत्य विश्वं रमते समाधेस्तीव्रतस्तथा ।।६७।।
मायैव विश्वजननी नान्या तत्त्वधिया परा ।
यदि नाश समायाति विश्वं नास्ति तदा खलु ।।६८।।

इस प्रकार का योगसाधक अपने आत्मा से आत्मा को आत्मा में देखता हुआ संसार को विस्मृत कर देता है और आनन्दस्वरूपा समाधि में तेजी से रमण करने लग जाता है । इस सम्पूर्ण जगत की जनयित्री माया को माना गया है, क्योंकि उसके द्वारा ही विश्वोत्पत्ति सम्भव है । इसके अतिरिक्त अन्य कोई कारण नहीं है, यह बात सुनिश्चित है । अत: आत्मबोध होने पर इस नाशवान विश्व की पूर्णरूप से परिसमाप्ति हो जाती है ॥६७-६८॥

हेयं सर्वमिदं यस्य मायाविलसितं यतः ।
ततो न प्रीतिविषयस्तनुवित्तसुखात्मकः ।।६९।।
अरिर्मित्रमुदासीनस्त्रिविधं स्यादिदं जगत् ।

व्यवहारेषु नियतं दृश्यते नान्यथा पुनः ।
प्रियाप्रियादिभेदस्तु वस्तुषु नियतस्फुटम् ।।७०।।

यह समस्त मिथ्या जगत केवल माया का ही हास-विलास होता है । अत: इसे सुख का साधन न मानकर इसकी प्रीति से मुँह मोड़ लेना चाहिए । इस संसार में मुख्यत: तीन प्रकार के व्यवहार परिलक्षित होते हैं, जैसे—शत्रु, मित्र और उदासीन । इससे विलग अन्य कुछ भी नहीं है । यह समस्त संसार प्रियता-अप्रियता भेदरूप बन्धन में जकड़ा हुआ है ॥६९-७०॥

आत्मोपाधिवशादेवं भवेत् पुत्रादि नान्यथा ।।७१।।
मायाविलसितं विश्वं ज्ञात्वैवं श्रुतियुक्तितः ।
अध्यारोपापवादाभ्यां लयं कुर्वन्ति योगिनः ।।७२।।
कर्मजन्यं विश्वमिदं नत्वकर्मणि वेदना ।
निखिलोपाधिहीनो वै यदा भवति पूरुषः ।
तदा विजयतेऽखण्डज्ञानरूपी निरञ्जनः ।।७३।।

इस जगत में सभी पारिवारिक सम्बन्ध (पुत्र, कलत्रादि) आत्मा की उपाधि से ही सम्भव होते हैं । यह समस्त विश्व-प्रपंच माया के द्वारा विलसित है, ऐसा ज्ञान श्रुति-वाक्य से प्राप्त कर योगाभ्यासी अध्यारोप और अपवाद से आत्मविलीन रहते हैं । सम्पूर्ण संसार की उत्पत्ति-स्थिति का एकमात्र कारण कर्म ही होता है अर्थात् कर्म के द्वारा क्लेशादि उत्पन्न होते हैं । कर्म के अभाव में किसी प्रकार के दु:ख की सम्भावना नहीं रह जाती । जिस क्षण आत्मा माया की उपाधि को विजित कर मायाविहीन हो जाता है तभी उसे अखण्ड ज्ञानरूप विशुद्ध ब्रंह्म की प्रतीति होने लगती है ॥७१-७३॥

स हि कामयते पुरुषः सृजते च प्रजाः स्वयम् ।
अविद्या भासते यस्मात्तस्मान्मिथ्या स्वभावतः ।।७४।।
शुद्धे ब्रह्मणि सम्बद्धो विद्यया सहजो भवेत् ।
ब्रह्मतेजोंऽशतो याति तत आभासते नभः ।।७५।।

आत्मा अपनी इच्छा से स्वयं ही जीवों की सृष्टि करता है । ऐसी इच्छा अविद्या के फलस्वरूप उत्पन्न होती है और वह स्वभावत: मिथ्या होती है । इसका तात्पर्य यह है कि मिथ्या माया से आविर्भूत यह सृष्टि भी मिथ्या ही है । विद्या का सम्बन्ध शुद्ध ब्रह्म में होना स्वाभाविक है और उस ब्रह्म के तेजांश से ही आकाश-मण्डल का आविर्भाव हुआ है ॥७४-७५॥

तस्मात्प्रकाशते वायुर्वायोरग्निस्ततो जलम् ।
प्रकाशते ततः पृथ्वीकल्पनेयं स्थिता सति ।।७६।।
आकाशाद्वायुराकाशः पवनादग्निसम्भवः ।
खेवाताग्नेर्जलं व्योमवाताग्नेर्वारितो मही ।।७७।।

आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल तथा जल के द्वारा पृथिवी की उत्पत्ति हुई, ऐसी कल्पना की गयी। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आकाश से वायु तथा आकाश-वायु के सम्मिलन से अग्नि की उत्पत्ति हुई। तदनन्तर आकाश, वायु अग्नि—इन तीनों के संयोग से जल एवं आकाश, वायु, अग्नि तथा जल के एकीकृत होने के परिणामस्वरूप पृथिवी का आविर्भाव हुआ ॥७६-७७॥

खं शब्दलक्षणं वायुश्चञ्चलः स्पर्शलक्षणः ।
स्याद्रूपलक्षणं तेजः सलिलं रसलक्षणम् ॥७८॥
गंधलाणिका पृथिवी नान्यथा भवति ध्रुवम् ।
विशेषगुणा स्फुरति यतः शास्त्रादिनिर्णयः ॥७९॥

आकाश में केवल एक शब्द गुण ही विद्यमान है, किन्तु वायु के दो गुण हैं। एक चपलता और दूसरा स्पर्शशीलता। अग्नि का गुण केवल रूप और जल का गुण रस होता है। पृथिवी में गन्ध का गुण होता है। इस प्रकार की निश्चयता में कुछ भी अन्यथा नहीं है। शास्त्रों के निर्णयानुसार ही पंचतत्त्वों में इन विशिष्ट गुणों का होना माना गया है ॥७८-७९॥

शब्दैकगुणमाकाशं द्विगुणो वायुरुच्यते ।
तथैव त्रिगुणं तेजो भवन्त्यापश्चतुर्गुणाः ॥८०॥
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धस्तथैव च ।
एतत्पंचगुणा पृथ्वी कल्पकैः कल्प्यतेऽधुना ॥८१॥

इस प्रकार यह निश्चय हुआ कि आकाश में केवल एक शब्द गुण, वायु में दो गुण, अग्नि में तीन और जल में चार गुण हुआ करते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन पंचगुणों की वर्तमानता पृथिवी के द्वारा कल्पित की गयी है ॥८०-८१॥

चक्षुषा गृह्यते रूपं गन्धो घ्राणेन गृह्यते ॥८२॥
रसो रसनया स्पर्शस्त्वचा संगृह्यते परम् ।
श्रोत्रेण गृह्यते शब्दो नियतं भाति नान्यथा ॥८३॥

चक्षुओं (नेत्रों) के द्वारा रूप का ग्रहण तथा घ्राण (नासिका) के द्वारा गन्ध का बोध, जिह्वा से रस का ग्रहण, त्वचा से स्पर्श का ज्ञान तथा कर्णेन्द्रिय से शब्द का ग्रहण किया जाता है, यह नियम निश्चित और अकाट्य है ॥८२-८३॥

चैतन्यात्सर्वमुत्पन्नं जगदेतच्चराचरम् ।
अस्ति चेत्कल्पनेयं स्यान्नास्ति चेदस्ति चिन्मयम् ॥८४॥
पृथ्वी शीर्णा जले मग्ना जलं मग्नं च तेजसि ।
लीनं वायौ तथा तेजो व्योम्नि वातो लयं ययौ ।
अविद्यायां महाकाशो लीयते परमे पदे ॥८५॥

यह समग्र चराचर जगत एक ही चैतन्य से आविर्भूत हुआ है, ऐसी कल्पना

करने से संसार की सत्यता प्रतीत होती है, किन्तु संसार के न रह जाने पर उस शुद्ध चेतन आत्मा के सिवाय अन्य कुछ भी अवशिष्ट नहीं रह जाता, जैसे—पृथिवी जल में निमग्न हो जाती और जल में अग्नि का विलय हो जाता है वैसे ही अग्नि का वायु में और वायु का आकाश में विलयन सुनिश्चित होता है। तदनन्तर वह आकाश भी अविद्या में विलीन हो जाता है और अविद्यास्वरूपा माया महाकाश में पहुँचकर अर्थात् परमपद में जाकर विलुप्त हो जाती है। अर्थात् पंच भूतात्मक जगत अपने-अपने कारणों में लय को प्राप्त हो जाता है। ऐसी अवस्था आने पर केवल एक ब्रह्म ही शेष रह जाता है ॥८४-८५॥

विक्षेपावरणाशक्तिर्दुरन्ता दुःखरूपिणी ।
जडरूपा महामाया रजः सत्त्वतमोगुणाः ॥८६॥
सा मायावरणाशक्त्य वृता विज्ञानरूपिणी ।
दर्शयेज्जगदाकारं तं विक्षेपस्वभावतः ॥८७॥

परमेश्वर की दो शक्तियाँ मानी गयी हैं—एक विक्षेप और दूसरा आवरण। ये शक्तियाँ अनन्त दुःखदायिनी होती हैं। माया को त्रिगुणात्मस्वरूपा (सत्त्व, रज एवं तम) कहा गया है। वह इन तीन गुणों में से अपनी इच्छा के अनुसार कोई भी ग्रहण करती रहती है। इसी को आवरणशक्ति कहते हैं। यह शक्ति जब ज्ञानावरण धारण कर लेती है तब वह स्वतः ही अज्ञानमयी बन जाती है। पुनः यह विक्षेप स्वभावशीला शक्ति जगदाकृति का प्रदर्शन करने लगती है ॥८६-८७॥

तमोगुणात्मिका विद्या या सा दुर्गा भवेत्स्वयम् ।
ईश्वरं तदुपहितं चैतन्यं तदभूद्ध्रुवम् ॥८८॥
सत्त्वाधिका च या विद्या लक्ष्मीःस्याद्दिव्यरूपिणी ।
चैतन्यं तदुपहितं विष्णुर्भवति नान्यथा ॥८९॥
रजोगुणाधिका विद्या ज्ञेया सा वै सरस्वती ।
कश्चित्स्वरूपो भवति ब्रह्मा तदुपधारकः ॥९०॥

यही महामाया तमोगुण धारण करके दुर्गास्वरूपिणी बन जाती है और चेतनस्वरूप ईश्वर को उत्पन्न करती है। यही माया जब सत्त्वगुण को ग्रहण कर लेती है तब वह दिव्यस्वरूपिणी लक्ष्मी बनकर विष्णुरूप चैतन्य का आविर्भाव करती है, किन्तु जब यह रजोगुणप्रधान सरस्वती रूप धारण करती है तब ब्रह्मारूप चैतन्य का प्रादुर्भाव करती है। अभिप्राय यह है कि तमोगुण की प्रबलता से यही शक्ति दुर्गास्वरूपा बनकर सृष्टि संहारक शिव को, सत्त्वगुण की बहुलता से सृष्टिपालक विष्णु को तथा रजोगुण की प्रधानता से सरस्वतीरूपा होकर सृष्टिरचयिता ब्रह्मा को उत्पन्न करती है। इस प्रकार इस शक्ति को ही जगत की उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार में मूलभूत कारण माना गया है ॥८८-९०॥

ईशाद्याः सकला देवा दृश्यन्ते परमात्मनि ।
शरीरादिजडं सर्वं सा विद्या तत्तथा तथा ।।९१।।
एवंरूपेण कल्पन्ते कल्पका विश्वसम्भवम् ।
तत्त्वात्तत्त्वं भवन्तीह कल्पनान्येन नोदिता ।।९२।।

इस जगत में जितने भी नाम और रूप के देवता हैं वे सभी एक परमात्मा में ही दिखाई पड़ते हैं, किन्तु शरीरादि समस्त जड़ वस्तुएँ उसी एक आत्मा में अवस्थित होने के फलस्वरूप आत्मा से भिन्न जान पड़ती हैं। सृष्टि के सम्बन्ध में विद्वानों ने इस प्रकार की कल्पना की है। संसार में सभी कुछ आत्मा से ही आविर्भूत है। अतएव आत्मा से भिन्न सभी वस्तुएँ काल्पनिक होती हैं। उसकी सत्यता को किसी ने भी स्वीकार नहीं किया है ॥९१-९२॥

प्रमेयत्वादिरूपेण सर्वं वस्तु प्रकाश्यते ।
तथैव वस्तु नास्त्येव भासको वर्तकः परः ।।९३।।
स्वरूपत्वेन रूपेण स्वरूपं वस्तु भास्यते ।
विशेषशब्दोपादाने भेदो भवति नान्यथा ।।९४।।

संसार में प्रमेयस्वरूप अर्थात् जो कुछ भी दृष्टिगोचर होता है उसको प्रकाशमान करने वाला केवल एक आत्मा ही है। भिन्न-भिन्न रूपों में दृष्टिगत होने वाली वस्तुएँ उपाधि-भेद के कारण ही भिन्न प्रतीत होती हैं, किन्तु यथार्थतः उनमें किसी प्रकार का भेद नहीं होता। उनमें ऐसा भेद केवल विशिष्ट शब्दों के प्रयोग से ही जान पड़ता है ॥९३-९४॥

एक सत्तापूरितानन्दरूपः पूर्णो व्यापी वर्तते नास्ति किञ्चित् ।
एतज्ज्ञानं यः करोत्येव नित्यं मुक्तः स स्यान्मृत्युसंसारदुःखात् ।।९५।।

एकं सत्ता से परिपूरित वह आत्मा ही सम्पूर्ण स्थानों में वर्तमान रहता है। उससे पृथक् कहीं कुछ भी नहीं है, जिसने ऐसा ज्ञान प्राप्त कर लिया है उसे ही जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त समझना चाहिए। ऐसे ज्ञानी पुरुष को कभी दुःख की अनुभूति नहीं होती ॥९५॥

यस्यारोपापवादभ्यां यत्र सर्वे लयं गताः ।
स एको वर्तते नान्यत् तच्चित्तेनावधार्यते ।।९६।।

आरोप-प्रत्यारोप से आविर्भूत समस्त कार्यों का ज्ञान के द्वारा विलीन हो जाना सुनिश्चित रहता है। अतः उस एक आत्मा में ही मन का विलय कर देना उचित है। अर्थात् आत्म-चिंतन में ही चित्त को सदैव लगाये रखना चाहिए ॥९६॥

पितुरन्नमयात्कोषाज्जायते पूर्वकर्मणः ।
शरीरं वै जडं दुःखं स्वप्राग्भोगाय सुन्दरम् ।।९७।।
मांसास्थिस्नायुमज्जादिनिर्मितं भोगमन्दिरम् ।
केवलं दुःखभोगाय नाडीसंततिगुम्फितम् ।।९८।।

यह जीव अपने पूर्व कर्मार्जित फलानुसार पिता के अन्नमय कोश से सुन्दर जड़

शरीर लेकर दुःखभोग रूप में उत्पन्न होता है। मांस, अस्थि, स्नायु (नस) तथा मज्जा आदि नाड़ियों से आबद्ध शरीर भोग-मन्दिर के रूप में बनकर दुःख का कारण बनता है। तात्पर्य यह है कि यह शरीर ही दुःखरूप है। अतः मायाजाल में पड़कर शरीराभिमान करना निरर्थक है ॥९७-९८॥

पारमैष्ठ्यमिदं गात्रं पञ्चभूतविनिर्मितम्।
ब्रह्माण्डसंज्ञकं दुःखसुखभोगाय कल्पितम्॥९९॥
बिन्दुः शिवो रजः शक्तिरूभयोर्मिलनात् स्वयम्।
स्वप्नभूतानिजायन्ते स्वशक्त्याजडरूपया॥१००॥

इस शरीर का निर्माण पंचतत्त्वों से ब्रह्मा के द्वारा किया गया है। इस ब्रह्माण्डसंज्ञक शरीर की कल्पना दुःख-सुखभोग हेतु ही की गयी है। शिवरूप बिन्दु (वीर्य) और शक्तिरूप रज—इन दोनों के मिलन से ही यह शक्तिरूपा जड़ माया अपने प्रभुत्व से स्वप्नवत् शरीरोत्पत्ति किया करती है ॥९९-१००॥

तत्पञ्चीकरणात्स्थूलान्यसंख्यानिचराचरम्॥१०१॥
ब्रह्माण्डस्थानि वस्तूनि यत्र जीवोऽस्ति कर्मभिः।
तद्भूतपंचकात्सर्वं भोगाय जीवसंज्ञिता॥१०२॥

इस संसार में पंचभूतों के पंचीकरण के फलस्वरूप स्थूल रूप से चराचर जगत की अनेक रूपों में सृष्टि होती है। अपने सद-असद् कर्मानुसार फलोपभोग करने के लिए ही यह जीव पंचभूतों के द्वारा निर्मित इस संसार में जन्म लेता है ॥१०१-१०२॥

पूर्वकर्मानुरोधेन करोमि घटनामहम्।
अजडः सर्वभूतान्वैजडस्थित्याभुनक्तितान्॥१०३॥
जडात्स्वकर्मभिर्बद्धो जीवाख्यो विविधो भवेत्।
भोगायोत्पद्यते कर्म ब्रह्माण्डाख्ये पुनः पुनः।
जीवश्च लीयते भोगावसाने च स्वकर्मणः॥१०४॥

शिवजी कहते हैं कि मैं समस्त जीवों को उनके कर्मानुसार ही उत्पन्न किया करता हूँ। मैं सभी भूतों से भिन्न और अविनाशी होते हुए भी जड़स्वरूप होकर उन सभी को अपना ग्रास बना लेता हूँ। यह जीव कर्मबन्धन की आबद्धता से अनेक रूपों में होकर जड़शरीर धारण करता है, कयोंकि वह अपने कृतकर्मों के फलभोग हेतु ही इस संसार में बार-बार जन्म लेता रहता है। पुनः शुभाशुभ कर्मों का अन्त हो जाने पर उसी आत्मा में विलीन हो जाता है ॥१०३-१०४॥

इति श्रीशिवसंहितायां हरगौरीसंवादे लयत्वप्रकरणे नाम प्रथम पटलः सम्पूर्णम्॥१॥

इस प्रकार श्री शिवसंहिता के लयत्ववर्णन नामक प्रथम पटल की पं० हरिहरप्रसाद त्रिपाठीकृत हिन्दी व्याख्या समाप्त हुई ॥१॥

द्वितीय पटलः

तत्त्वज्ञानोपदेश

(तात्त्विक ज्ञान का निरूपण)

देहेऽस्मिन् वर्तते मेरुः सप्तद्वीपसमन्वितः ।
सरितः सागराः शैलाः क्षेत्राणि क्षेत्रपालकः ।।१।।
ऋषयो मुनयः सर्वे नक्षत्राणि ग्रहास्तथा ।
पुण्यतीर्थानि पीठानि वर्तन्ते पीठदेवताः ।।२।।

मानव शरीर के अन्दर ही सात द्वीपों (जम्बू, शाक, कुश, क्रौंच, शाल्मलि, प्लक्ष और पुष्कर) तथा सुमेरु पर्वत का निवास स्थान है । नदी, समुद्र, गिरि, क्षेत्रपाल, समस्त ऋषि-मुनि, सम्पूर्ण ग्रह, नक्षत्र, पुण्यदायक तीर्थस्थल, पीठस्थान तथा पीठदेवता आदि सभी की वर्तमानता है । तात्पर्य यह है कि इस शरीर में ही सभी पुण्यस्थली, तपोभूमि तथा देवविग्रहालय की अवस्थिति है । अतः साधक को शरीरस्थ उन सभी स्थानों से सुपरिचित होकर पुण्य का संचयन करना चाहिए । उसे किसी अन्य स्थान में मन को नहीं दौड़ाना चाहिए ।।१-२।।

सृष्टिसंहारकर्तारौ भ्रमन्तौ शशिभास्करौ ।
नभोवायुश्च वह्निश्च जलं पृथ्वी तथैव च ।।३।।
त्रैलोक्ये यानि भूतानि तानि सर्वाणि देहतः ।
मेरुं संवेष्ट्य सर्वत्र व्यवहारः प्रवर्तते ।
जानाति यः सर्वमिदं स योगी नात्र संशयः ।।४।।

सृष्टिकर्ता तथा संहारकर्ता चन्द्र-सूर्य इस शरीर में निरन्तर परिभ्रमण किया करते हैं । शरीरस्थ पंचतत्त्वों (आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथिवी) की विद्यमानता भी शरीर में सदैव बनी रहती है । त्रैलोक्य (स्वर्ग, मर्त्य, पाताल) के समस्त प्राणी शरीरस्थ सुमेरु के आश्रित होकर अपने अपने कर्मों में लगे रहते हैं । जो पुरुष इन सब बातों को भली प्रकार से जान लेता है वही यथार्थ योगी समझा जाता है ।।३-४।।

ब्रह्माण्डसंज्ञके देहे यथादेशं व्यवस्थितः ।
मेरुशृङ्गे सुधारश्मिर्बहिरष्टकलायुतः ।।५।।
वर्ततेऽहर्निशं सोऽपि सुधां वर्षत्यधोमुखः ।
ततोऽमृतं द्विधाभूतं याति सूक्ष्मं यथा च वै ।।६।।

जिस प्रकार ब्रह्माण्ड में सम्पूर्ण प्रदेश और सुमेरु पर्वत वर्तमान रहते हैं उसी प्रकार इस देह में भी सब कुछ विद्यमान रहता है । अर्थात् ब्रह्माण्ड और शरीर के मध्य कुछ भी भेद नहीं रहता । इसी कारण शरीर को ब्रह्माण्डसंज्ञक कहा जाता है । इस शरीरस्थ सुमेरु पर्वत के शिखर पर आठ कलाओं से युक्त चन्द्रमा की स्थिति रहती

है। वह चन्द्रमा नीचे की ओर मुख किये निरन्तर अमृत-वर्षा किया करता है। उस अमृत के दो प्रकार होते हैं—एक सूक्ष्म और दूसरा स्थूल ॥५-६॥

इडामार्गेण पुष्ट्यर्थं याति मन्दाकिनीजलम्।
पुष्णाति सकलंदेहमिडामार्गेण निश्चितम्॥७॥
एष पीयूषरश्मिर्हि वामपार्श्वे व्यवस्थितः॥८॥

इस शरीर के परितोषणार्थ इड़ा नाम्नी नाड़ीपथ से जलरूपी मंदाकिनी प्रवहमान रहा करती है जिसके फलस्वरूप शरीर का अभिरक्षण तथा पोषण हुआ करता है। अमृत किरणों से भरपूर यह इड़ा नाड़ी नासिका के वाम पार्श्व में अवस्थित रहा करती है ॥७-८॥

अपरःशुद्धदुग्धामो हठात्कर्षति मण्डलात्।
रन्ध्रमार्गेण सृष्ट्यर्थं मेरौ संयाति चन्द्रमाः॥९॥
मेरुमूले स्थितः सूर्यः कलाद्वादशसंयुतः।
दक्षिणे पथि रश्मिभिर्वहत्यूर्ध्वं प्रजापतिः॥१०॥

वह विशुद्ध दूध के समान कांतिवान् चन्द्रमा हर्षोल्लासपूर्वक अपने मण्डल से मेरु पर आकर इड़ा नाड़ी के छिद्रमार्ग से शरीर का पोषण करता है। मेरुदण्ड (रीढ़ास्थि) से नीचे की ओर द्वादश कलाओं से संयुक्त सूर्य की अवस्थिति रहती है। दक्षिणपथ अर्थात् पिंगला नाड़ीपथ से प्रजापति ऊर्ध्वगामी होता है ॥९-१०॥

पीयूषरश्मिनिर्यासं धातूंश्च ग्रसति ध्रुवम्।
समीरमण्डले सूर्यो भ्रमते सर्वविग्रहे॥११॥
एषा सूर्यपरा मूर्तिर्निर्वाणं दक्षिणे पथि।
वहते लग्नयोगेन सृष्टिसंहारकारकः॥१२॥

चन्द्रमा द्वारा क्षरित होते हुए अमृत को सूर्य अपनी रश्मियों के बल पर अपना ग्रास बनाकर वायुमण्डल में घुल-मिल जाता और समग्र शरीर में परिभ्रमण किया करता है। यह निर्वाणमूर्ति सूर्य पिंगला नाड़ी के दाएँ भाग में वर्तमान रहता है। यह सृष्टिकारक और संहारक सूर्य लग्नयोग से नाड़ी से द्वारा प्रवाहित रहता है ॥११-१२॥

सार्धलक्षत्रयं नाड्यः सन्ति देहान्तरे नृणाम्।
प्रधानभूता नाड्यस्तु तासु मुख्याश्चतुर्दश॥१३॥
सुषुम्णेडा पिंगला च गान्धारी हस्तिजिह्वका।
कुहू सरस्वती पूषा शंखिनी च पयस्विनी॥१४॥
वारुणालम्बुषा चैव विश्वोदरी यशस्विनी।
एतासु तिस्रो मुख्याः स्युः पिङ्गलेडा सुषुम्णिका॥१५॥

मनुष्य के शरीर में प्रधानतया साढ़े तीन लाख नाड़ियाँ होती हैं जिनमें चौदह नाड़ियों को मुख्य माना गया है जो इस प्रकार से हैं,जैसे— सुषुम्ना, इड़ा, पिंगला,

गांधारी, हस्तजिह्वका, कुहू,सरस्वती, पूषा, शंखिनी, पयस्विनी, करुणा, अलम्बुषा, विश्वोदरी तथा यशस्विनी। इन चतुर्दश नाड़ियों में भी पिंगला, इड़ा और सुषुम्ना—इन तीनों की प्रमुखता होती है ॥१३-१५॥

तिसृष्वेका सुषुम्णैव मुख्या सा योगिवल्लभा।
अन्यास्तदाश्रयं कृत्वा नाड्यः सन्ति हि देहिनाम् ॥१६॥
नाड्यस्तु ता अधोवदनाः पद्मतन्तुनिभाः स्थिताः।
पृष्ठवंशं समाश्रित्य सोमसूर्याग्निरूपिणी ॥१७॥

उक्त कथित त्रिनाड़ियों (पिंगला, इड़ा, सुषुम्ना) में सुषुम्ना नाड़ी ही सर्वोपरि होती हैं, क्योंकि यह योगियों के लिए परमप्रिय कही गयी है। इसके अतिरिक्त अन्य जितनी भी नाड़ियाँ हैं वे सभी शरीर में ही अवस्थित रहती हैं। ये तीनों नाड़ियाँ अधोमुखी होकर कमल-तन्तु के समान स्थित रहा करती हैं। ये तीनों ही चन्द्र, सूर्य और अग्निस्वरूपिणी होती हैं तथा मेरुदण्ड के आश्रित रहती हैं ॥१६-१७॥

तासां मध्ये गता नाडी चित्रा सा मम वल्लभा।
ब्रह्मरन्ध्रं च तत्रैव सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरं शुभम् ॥१८॥
पञ्चवर्णोज्ज्वला शुद्धा सुषुम्णा मध्यरूपिणी।
देहस्थोपाधिरूपा सा सुषुम्णा मध्यरूपिणी ॥१९॥
दिव्यमार्गमिदं प्रोक्तममृतानन्दकारकम्।
ध्यानमात्रेण योगीन्द्रो दुरितौघं विनाशयेत् ॥२०॥

उन तीनों नाड़ियों के मध्य स्थित रहने वाली चित्रा नाड़ी मुझे परमप्रिय है, क्योंकि वहीं पर सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर ब्रह्मरन्ध्र की विद्यमानता होती है। वह चित्रा नाड़ी पाँच वर्णों वाली, उज्ज्वल और विशुद्ध है। सुषुम्ना के बीच में अवस्थित वही चित्रा नाड़ी शरीर की उपाधि का मूलभूत कारण भी है। यही वह दिव्यपथ भी है जिसे मैंने अमृत तथा आनन्दोत्पादक बतलाया है। केवल उसके ध्यानमात्र से ही योगीन्द्रों के पातक विनष्ट हो जाते हैं ॥१८-२०॥

गुदात्तु व्यङ्गुलादूर्ध्वं मेढ्रात्तु व्यङ्गुलादधः।
चतुरङ्गुलविस्तारमाधारं वर्तते समम् ॥२१॥
तस्मिन्नाधारपद्मे च कर्णिकायां सुशोभना।
त्रिकोणा वर्तते योनिः सर्वतंत्रेषु गोपिता ॥२२॥

गुदाद्वार से दो अंगुल ऊपर तथा मेढ्र से दो अंगुल नीचे की ओर चार अंगुल विस्तृत एक आधार-कमल वर्तमान रहता है जिसे मूलाधार चक्र भी कहा जाता है। उस आधार पद्म की कर्णिका में एक त्रिकोणाकार योनि अवस्थित रहती है जिसे सभी शास्त्रों ने परम गोपनीय कहा है। अर्थात् इसे किसी अयोग्य व्यक्ति से नहीं कहना चाहिए ॥२१-२२॥

तत्र विद्युल्लताकारा कुण्डली परदेवता ।
सार्द्धत्रिकारा कुटिला सुषुम्णामार्गसंस्थिता ।।२३।।
जगत्संसृष्टिरूपा सा निर्माणे सततोद्यता ।
वाचामवाच्या वाग्देवी सदा देवैनमस्कृता ।।२४।।

वह परम देवतास्वरूपिणी कुंडलिनी साढ़े तीन गेंडुरी (घेरा) लगाये सुषुम्ना नाड़ी के बीच में अवस्थित रहती है । वह वक्राकार तथा विद्युत्रेखा वाली होती है । वह कुंडलिनी सृष्टि संरचना में सतत ही संलग्न रहा करती है । वही वाग्देवीस्वरूपा भी होती है । क्योंकि उसी की सहायता से वाक्योच्चार सम्भव होता है । वह सभी देवों के द्वारा स्तुत्य एवं प्रणमित होती है ॥२३-२४॥

इडानाम्नी तु या नाडी दक्षमार्गे व्यवस्थिता ।
सुषुम्णायां समाश्लिष्य दक्षनासापुटे गता ।।२५।।
पिङ्गला नाम या नाडी दक्षमार्गे व्यवस्थिता ।
सुषुम्णा सा समाश्लिष्य वामनासापुटेगता ।।२६।।

वाम पार्श्वस्थ इड़ा नाम्नी नाड़ी सुषुम्ना को संश्लिष्ट कर दाएँ नासारन्ध्र में चली गयी है । इसी प्रकार दक्षिण नासारन्ध्र में स्थित पिंगला नाड़ी सुषुम्ना का आश्रय ग्रहण कर वाम नासारन्ध्र में चली जाती है ॥२५-२६॥

इडापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्णा या भवेत् खलु ।
षट्स्थानेषु च षट्शक्तिं षट्पद्मं योगिनो विदुः ।।२७।।
पञ्चमस्थानं सुषुम्णाया नामानि स्युर्बहूनि च ।
प्रयोजनवशात्तानि ज्ञातव्यानीह शास्त्रतः ।।२८।।

सुषुम्ना नाड़ी की अवस्थिति इड़ा और पिंगला नाड़ियों के मध्य रहती है । इस सुषुम्ना के छह स्थानों में क्रमशः छह शक्तियाँ भी विद्यमान रहती हैं जिन्हें डाकिनी, हाकिनी, काकिनी, लाकिनी, राकिनी और शाकिनी के नाम से जाना जाता है । इन्हीं छह स्थानों में छह कमल भी होते हैं जिसे मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञाचक्र कहा जाता है । इन सबका ज्ञान योगी अपने योगाभ्यास के द्वारा प्राप्त करता है । सुषुम्ना के भी पाँच स्थान और अनेक नाम बतलाये गये हैं जिसे आवश्यकता पड़ने पर शास्त्रों के द्वारा जाना जा सकता है ॥२७-२८॥

अन्या याऽस्त्यपरा नाडी मूलाधारात्समुत्थिताः ।
रसनामेढ्रनयनं पादाङ्गुष्ठे च श्रोत्रकम् ।।२९।।
कुक्षिकक्षाङ्गुष्ठवर्णं सर्वाङ्गं पायुकुक्षिकम् ।
लब्ध्यान्ता वै निवर्तन्ते यथादेशसमुद्भवाः ।।३०।।

इसके अतिरिक्त अन्य नाड़ियाँ मूलाधार से निकलकर जीभ, मेढ़, नेत्र, पैर के

अंगूठे, कान, कोख, कक्ष, हाथों के अंगूठे, मलद्वार तथा जननेंद्रिय आदि स्थानों में जाकर समाप्त हुई हैं ॥२९-३०॥

एताभ्य एव नाडीभ्यः शाखोपशाखतः क्रमात् ।
सार्धं लक्षत्रयं जातं यथाभागं व्यवस्थितम् ॥३१॥
एता भोगवहा नाड्यो वायुसञ्चारदक्षकाः ।
ओतप्रोताभिसंव्याप्य तिष्ठन्त्यस्मिन् कलेवरे ॥३२॥

इन नाड़ियों की शाखा-प्रशाखाओं से उत्पन्न होकर साढ़े तीन लाख नाड़ियाँ क्रमशः अपने-अपने स्थानों में अवस्थित हो जाया करती हैं । इन सभी भोगवहा नाड़ियों में वायु का संचरण होता रहता है तथा संयोग-वियोग से ओत-प्रोत होकर मानव शरीर में परिव्याप्त रहती हैं ॥३१-३२॥

सूर्यमंडलमध्यस्थः कला द्वादशसंयुतः ।
बस्तिदेशे ज्वलद्वह्निर्वर्तते चान्नपाचकः ॥३३॥
वैश्वानराग्निरेषो वै मम तेजोंशसम्भवः ।
करोति विविधं पाकं प्राणिनां देहमास्थितः ॥३४॥

द्वादश कलाओं से परिपूर्ण सूर्यमण्डल के मध्य में जो अग्नि दहकती रहती है उसी के द्वारा भक्षित अन्नों का परिपाक होता है । वह वैश्वानर अग्नि मेरे ही तेजोद्भूत है । यह अग्नि समस्त प्राणियों के शरीर में व्याप्त रहकर विविध प्रकार से पाचनं-क्रिया का कार्य करती रहती है ॥३३-३४॥

आयुः प्रदायको वह्निर्बलं पुष्टिं ददाति सः ।
शरीर पाटवं चारि ध्वस्तरोगसमुद्भवः ॥३५॥
तस्माद्वैश्वानरग्निं च प्रज्वाल्य विधिवत्सुधीः ।
तस्मिन्नं हुनेद् योगी प्रत्यहं गुरुशिक्षया ॥३६॥

इसी वैश्वानर नामक अग्नि के फलस्वरूप आयु, बल और पुष्टि का वर्धन होता तथा इसी के द्वारा समस्त रोगों का विनष्टीकरण भी हो जाता है । इस अग्नि को प्रज्वलित करने हेतु किसी सुयोग्य गुरु से दीक्षा लेने के पश्चात् इसमें अन्नाहुति देनी चाहिए । अर्थात् गुरु से ज्ञान प्राप्त कर मानव को संतुलित आहार ग्रहण करने चाहिए ॥३५-३६॥

ब्रह्माण्डसंज्ञकेदेहे स्थानानि स्युर्बहूनि च ।
मयोक्तानि प्रधानानि ज्ञातव्यानीह शास्त्रके ॥३७॥
नानाप्रकार नामानि स्थानानि विविधानि च ।
वर्तन्ते विग्रहे तानि कथितुं नैव शक्यते ॥३८॥

इस ब्रह्माण्डसंज्ञक देह में अगणित स्थान विद्यमान हैं तथा उन स्थानों के अनेक नाम भी हैं, किन्तु मैंने कुछ प्रमुख स्थानों का ही वर्णन किया है । शेष सभी

शास्त्रानुशीलन से जाने जा सकते हैं। सम्पूर्ण स्थानों एवं उनके नामों का कथन करना मेरे बल-बूते के बाहर है ॥३७-३८॥

इत्थं प्रकल्पिते देहे जीवो वसति सर्वगः ।
अनादिवासनामालाऽलंकृतः कर्मशृङ्खलः ॥३९॥
नानाविधगुणोपेतः सर्वव्यापारकारकः ।
पूर्वार्जितानि कर्माणि भुनक्ति विविधानि च ॥४०॥

इस प्रकार प्रकल्पित शरीर में निवसित जीव अनन्तकाल से चली आ रही वासनारूपी माला में भ्रमण करता हुआ कर्म-बन्धन की जंजीर में जकड़ा रहता है। वह अनेक प्रकार के गुणों का ग्राही बनकर जगत् के सभी व्यापारों का सम्पादन करता रहता है तथा पूर्वार्जित शुभाशुभ कर्मफलों का भोग भोगता रहता है ॥३९-४०॥

यद्यत्संदृश्यते लोके सर्वं तत्कर्मसम्भवम् ।
सर्वः कर्मानुसारेण जन्तुर्भोगान् भुनक्ति वै ॥४१॥
ये ये कामादयो दोषाः सुखदुःखप्रदायकाः ।
ते ते सर्वे प्रवर्तन्ते जीवकर्मानुसारतः ॥४२॥

इस संसार में जितने भी शुभाशुभ कर्म दृष्टिगत होते हैं, उनका मूलभूत कारण केवल कर्म ही होता है। समस्त जीव अपने-अपने कर्मानुसार फलों को भोगते रहते हैं। काम-क्रोधादि से उत्पन्न मानव-मन में होने वाली सुख-दुःख की अनुभूति का होना भी उसके कर्म का ही फल होता है। अर्थात् शुभ कर्मों द्वारा सुखोपलब्धि तथा अशुभ कर्मों द्वारा दुःखोपलब्धि का होना सुनिश्चित है ॥४१-४२॥

पुण्योपरक्त चैतन्ये प्राणान् प्रीणाति केवलम् ।
बाह्ये पुण्यतमं प्राप्य भोज्यवस्तु स्वयं भवेत् ॥४३॥
ततः कर्म बलात्पुंसः सुखं वा दुःखमेव च ।
पापोपरक्तचैतन्यं नैव तिष्ठति निश्चितम् ॥४४॥

पुण्यदायक कर्मों के करने से मनुष्य को सुख की प्राप्ति होती है। पुण्यकारक कर्मों के द्वारा उसे उत्तम भोज्य पदार्थ एवं अन्यान्य बाहरी वस्तुएँ भी स्वयं ही मिल जाया करती हैं। यह जीव अपने कर्म फलानुसार ही सुख-दुःख भोगने के लिए बाध्य रहता है। पाप-कर्म में आसक्ति से दुःख तथा अनासक्ति से सुख मिलता है ॥४३-४४॥

न तद्भिन्नो भवेत् सोऽपि तद्भिन्नो न तु किञ्चन ।
मायोपहितचैतन्यात्सर्वं वस्तु प्रजायते ॥४५॥
यथाकालेऽपि भोगाय जन्तूनांविविधोद्भवः ।
यथा दोषवशाच्छुक्तौ रजतारोपणं भवेत् ।
तथा स्वकर्मदोषाद्वै ब्रह्मण्यारोप्यते जगत् ॥४६॥

प्राणी द्वारा कृत कर्म ही सुख-दुःख के रूप में उभर कर उसके समक्ष आता है।

कर्ता और भोक्ता में कोई विभेद नहीं होता। अर्थात् प्राणी जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल मिलना भी उसे सुनिश्चित रहता है। आत्मा के माया द्वारा उपहित होने पर इस सृष्टि की उत्पत्ति होती है। जीव के फलोपभोग का जो समय पहले से निश्चित रहता है उसी समय में जीव को जन्म ग्रहण कर अपने कर्मों के फल का भोग करना पड़ता है। जिस प्रकार दृष्टिदोष के परिणामस्वरूप सीपी में चाँदी का आभास होता है उसी प्रकार कर्मदोष के कारण ही जीव को ब्रह्म में इस मिथ्या जगत का आभास होने लगता है ॥४५-४६॥

स वासनाभ्रमोत्पन्नोन्मूलनातिसमर्थनम् ।
उत्पन्नं चेदीदृशं स्याज्ज्ञानंमोक्ष प्रसाधनम् ॥४७॥
साक्षाद्वै शेषदृष्टिस्तु साक्षात्कारिणि विभ्रमे ।
करणंनान्यथायुत्त्या सत्यंसत्यंमयोदितम् ॥४८॥

इस संसार में जो कुछ भी वस्तुएँ प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगोचर होती हैं, वे सभी भ्रमात्मक होती हैं। इस भ्रम के न मिटने तक यथार्थ ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती। प्रत्येक मनुष्य इसी भ्रम-जाल में उलझकर रह जाता है और यही बंधन का मूल कारण बनता है। मनुष्य की बुद्धि माया के आवरण से आच्छादित रहने के फलस्वरूप वह आत्म-साक्षात्कार नहीं कर पाता, यह कथन नितान्त सत्य है ॥४७-४८॥

साक्षात्कारिभ्रमे साक्षात् साक्षात्कारिणि नाशयेत् ।
स हि नास्तीति संसारे भ्रमो नैव निवर्तते ॥४९॥
मिथ्याज्ञाननिवृत्तिस्तु विशेषदर्शनाद्भवेत् ।
अन्यथा न निवृत्तिः स्यादृश्यते रजतभ्रमः ॥५०॥

जगत् के दृश्यमान पदार्थ के नष्ट न हो जाने तक ब्रह्मात्म का अनुभव कदापि नहीं हो सकता। आत्मा के प्रत्यक्षीकरण द्वारा ही ब्रह्म की प्रत्यक्षता सम्भव होती है, किन्तु सांसारिक भ्रम का निवारण होना अत्यन्त दुष्कर है। इस भ्रम का विनाश तभी हो सकता है जब आत्म-दर्शन हो जाय। सीप में चाँदी होने का भ्रम तभी मिट सकता है जब सीप का प्रत्यक्षीकरण हो जाय ॥४९-५०॥

यावन्नोत्पद्यते ज्ञानं साक्षात्कारे निरञ्जने ।
तावत्सर्वाणि भूतानि दृश्यन्ते विविधानि च ॥५१॥
यदा कर्मार्जितं देहं निर्वाणे साधनं भवेत् ।
तदा शरीरवहनं सफलं स्यान्न चान्यथा ॥५२॥

मनुष्य में जबतक आत्म-ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो जाती तब तक उसे सभी जीव अनेक रूपों में दृष्टिगत होते रहते हैं। अतः इस कर्मार्जित शरीर की विद्यमानता रहने

तक मानव को मोक्षसाधन का मार्ग ढूँढ लेना चाहिए। यदि वह मुक्ति-साधना में अग्रसर न हो सके तो उसका जन्म लेना ही निरर्थक है। ऐसी स्थिति में वह धरती पर् केवल भार-स्वरूप बना रहता है ॥५१-५२॥

यादृशी वासना मूला वर्त्तते जीवनसङ्गिनी।
तादृशं वहते जन्तुः कृत्याकृत्यविधौ भ्रमम्॥५३॥
संसार सागरं तर्तुं यदीच्छेद्योगसाधकः।
कृत्वा वर्णाश्रमं कर्म फलवर्जं तदाचरेत्॥५४॥

मानव-मन में जिस प्रकार की वासना निहित रहती है उसी से प्रेरित होकर वह शुभाशुभ कर्म करने में निरत रहता है और यही वासना उसके जन्म-मरण का कारण भी बनती है। अतः इस अथाह संसार-सागर से पार जाने के अभिलाषी पुरुष को सदैव ही निष्काम भाव से कर्म करने चाहिए ॥५३-५४॥

विषयासक्तपुरुषा विषयेषु सुखेप्सवः।
वाचाभिरुद्धनिर्वाणा वर्तन्ते पापकर्मणि॥५५॥

विषयासक्त तथा विलासी व्यक्ति सर्वदा ही विषय-भोग के सुख में निमग्न रहा करते हैं। उनके मुख से मोक्ष-विषयक एक शब्द भी उच्चरित नहीं होते। अर्थात् वे सदैव ही पापकर्म में लिप्त रहा करते हैं ॥५५॥

आत्मानमात्मना पश्यन्न किंचिदिह पश्यति।
तदा कर्मपरित्यागे न दोषोऽस्ति मतं मम॥५६॥
कामादयो विलीयन्ते ज्ञानादेव न चान्यथा।
अभावे सर्वतत्त्वानां स्वयं तत्त्वं प्रकाशते॥५७॥

आत्मा के द्वारा आत्मदर्शन करने वाले ज्ञानवान पुरुष को जब कोई अन्य पदार्थ दिखलाई न दे तो उसे कर्मत्याग करने में कोई दोष नहीं होता, ऐसा मेरा अभिमत है। ज्ञानोत्पत्ति होने पर काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद तथा मात्सर्य आदि सभी मनोविकार ज्ञान में विलीन हो जाते हैं और केवल आत्मज्ञान का आलोक ही शेष रह जाता है ॥५६-५७॥

इति श्रीशिवसंहितायां हरगौरीसंवादे तत्त्वज्ञानोपदेशो नाम द्वितीय पटलः सम्पूर्णम्॥२॥

इस प्रकार श्री शिवसंहिता के तत्त्वज्ञानोपदेश नामक दूसरे पटल की पं० हरिहरप्रसाद त्रिपाठीकृत हिन्दी व्याख्या समाप्त हुई ॥२॥

तृतीय पटलः

योगाभ्यास कथन

हृदयस्ति पङ्कजं दिव्यं दिव्यलिंगेन भूषितम् ।
कादिठान्ताक्षरोपेतं द्वादशार्णविभूषितम् ।।१।।
प्राणो वसति तत्रैव वासनाभिरलंकृतः ।
अनादिकर्मसंश्लिष्टः प्राप्याहङ्कार संयुतः ।।२।।

प्रत्येक प्राणी के हृत्प्रदेश में दिव्य चिह्नों से युक्त एक दिव्य कमल की अवस्थिति रहती है। यह कमल 'क' वर्ण से लेकर 'ठ' वर्ण तक बारह अक्षरों से शोभायमान रहता है। अर्थात् कमल में क्रमशः क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज झ, ञ, ट और ठ वर्ण उसकी बारह पंखुडियों पर नामांकित रहा करते हैं। इसी कमल में अनादि कर्म से परिप्लुत तथा अहंकारपूर्ण वासना से परिपूरित प्राण का निवासस्थल माना जाता है ॥१-२॥

प्राणस्य वृत्तिभेदेन नामानि विविधानि च ।
वर्तन्ते तानि सर्वाणि कथितुं नैव शक्यते ।।३।।
प्राणोऽपानः समानश्चोदानो व्यानश्च पञ्चमः ।
नागः कूर्मश्च कृकलो देवदत्तो धनञ्जयः ।।४।।

इस शरीर में प्राण के वृत्तिभेद से जो अनेक नामसंज्ञक वायु वर्तमान रहते हैं उन सभी का उल्लेख करने में मैं सर्वदा ही अपने को असमर्थ पाता हूँ। अर्थात् उन समस्त वायुओं का नामोल्लेख करना यहाँ अनावश्यक है। अतः उनमें जिनकी प्रमुखता है उन्हें ही यहाँ बतलाया जा रहा है। प्राण के दश भेद इस प्रकार से हैं, जैसे—प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय ॥३-४॥

दश नामानि मुख्यानि मयोक्तानीह शास्त्रके ।
कुर्वन्ति तेऽत्र कार्याणि प्रेरितानि स्वकर्मभिः ।।५।।
अत्रापि वायवः पञ्च मुख्याः स्युर्दर्शिताः पुनः ।
तत्रापि श्रेष्ठकर्त्तारौ प्राणापानौ मयोदितौ ।।६।।

शास्त्रों में वर्णित उक्त दश प्राण ही प्रमुख माने गये हैं। ये समस्त वायु अपने-अपने कर्मों से प्रेरित होकर शरीर में क्रियाशील रहते हैं। उक्त कथित दश वायुओं में भी पाँच वायुओं (प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान) की विशेष रूप से महत्ता रहती है, किन्तु मैंने यहाँ केवल प्राण और अपान—इन दो को ही कहे हैं ॥५-६॥

हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिमण्डले ।
उदानः कण्ठदेशस्थो व्यानः सर्वशरीरगः ।।७।।

नागादिवायवः पञ्च कुर्वन्ति ते च विग्रहे ।
उद्गारोन्मीलनं क्षुतृट् जृम्भा हिक्का च पञ्चमः ।।८।।

अब यहाँ पंच प्राणों के वासस्थान तथा अन्य पाँच वायुओं के कार्यक्षेत्र का कथन किया जा रहा है जो इस प्रकार से है—हृत्प्रदेश में प्राणवायु, गुदाद्वार में अपान वायु, नाभिस्थल में समान वायु, कंठप्रदेश में उदान वायु तथा सम्पूर्ण शरीर में व्यान वायु परिव्याप्त होकर भ्रमणशील रहता है । इनके अतिरिक्त नागादि पंचवायुओं का कार्य क्रमशः डकार, हिक्का (हिचकी), जृम्भा (जँभाई लेना), क्षुधा-पिपासा तथा उन्मीलन अर्थात् निद्रितावस्था में नेत्र-पटलों को बन्द कर देना होता है ।।७-८।।

अनेन विधिना यो वै ब्रह्माण्डं वेत्ति विग्रहम् ।
सर्वपापविनिर्मुक्तः स याति परमां गतिम् ।।९।।
अधुना कथयिष्यामि क्षिप्रं योगस्य सिद्धये ।
यज्ज्ञात्वा नावसीदन्ति योगिनो योगसाधने ।।१०।।

इस प्रकार जो व्यक्ति इस शरीर को ब्रह्माड रूप समझ लेता है, वह सभी पापों से रहित होकर निर्वाणपद प्राप्त कर लेता है । इस रीति से सद्यः योगसिद्धि सुलभ हो जाती है । इस प्रक्रिया को जानने वाला योगाभ्यासी योगसाधना काल में किसी प्रकार के कष्ट का अनुभव नहीं करता । इसका तात्पर्य यह है कि योगसाधना की प्रक्रिया का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर साधक को कष्ट नहीं झेलना पड़ता, किन्तु अज्ञानता की अवस्था में योगसाधना करना साधक के लिए कष्टप्रद सिद्ध होता है ।।९-१०।।

भवेद्वीर्यवती विद्या गुरुवक्त्रसमुद्भवा ।
अन्यथाफलहीनास्यान्निर्वीर्याप्यतिदुःखदा ।।११।।
गुरुं सन्तोष्य यत्नेन य वै विद्यामुपासते ।
अवलम्बेन विद्यायास्तस्याः फलमवाप्नुयुः ।।१२।।

गुरुमुख से श्रवण की हुई विद्या निश्चय ही फलवती सिद्ध होती है । गुरुवाणी से रहित विद्या सर्वदा ही निष्क्रिय और फलविहीन होती है । यदि गुरुज्ञान से हीन योगाभ्यासी किसी के अनुकरणवश योग साधन करने लगे तो वैसी साधना उसके लिए कष्टकारिणी बन जाती है, किन्तु जो विद्या गुरु की परितुष्टि से प्राप्त की जाती है वह शीघ्र ही सिद्धिदायिनी तथा सफलताकारिणी होती है ।।११-१२।।

गुरुः पिता गुरुर्माता गुरुर्देवो न संशयः ।
कर्मणा मनसा वाचा तस्मात् सर्वैः प्रसेव्यते ।।१३।।
गुरुप्रसादतः सर्वं लभ्यते शुभमात्मनः ।
तस्मात् सेव्योगुरुर्नित्यमन्यथा न शुभं भवेत् ।।१४।।

निस्सन्देह रूप से गुरु ही पिता, माता और देवस्वरूप होता है । अतः शिष्य

को मनसा, वाचा, कर्मणा गुरु की सेवा-शुश्रूषा करनी चाहिए। गुरु की प्रसन्नता के फलस्वरूप आत्मा का कल्याण होता है। अतएव निश्छल भाव से गुरु की नित्य ही सेवा करनी चाहिए। अश्रद्धान्वित होकर की जाने वाली गुरु की सेवा से कोई लाभ नहीं होता ॥१३-१४॥

प्रदक्षिणात्रयं कृत्वा स्पृष्ट्वा सव्येन पाणिना ।
अष्टांगेन नमस्कुर्याद्गुरुपादसरोरुहम् ।।१५।।
श्रद्धयात्मवतां पुंसां सिद्धिर्भवति नान्यथा ।
अन्येषां च न सिद्धिः स्यात्तस्माद्यत्नेन साधयेत् ।।१६।

अपने गुरु की तीन बार प्रदक्षिणा करके दाहिने हाथ से उनके शरीर का स्पर्श कर उनके चरण-कमलों में साष्टांग प्रणाम करना चाहिए। इस प्रकार श्रद्धासमन्वित होकर कार्य करने वाले शिष्य को अवश्य ही सिद्धि मिलती है, किन्तु इसके विपरीत अश्रद्धालु को कभी भी सफलता नहीं मिलती। प्रत्येक साधक को चेष्टावान् होकर अपनी साधना पूर्ण करनी चाहिए। साष्टांग प्रणाम निवेदित करने का विधान शास्त्रों में निम्न प्रकार से किया गया है—

दोर्भ्यां पदाभ्यां जानुभ्यां उरसा शिरसा दृशा ।
मनसा वक्षसा चेति प्रणामोऽष्टांग ईरितः ।।

अर्थात् पैर, जाँघ, हृदय, शिर, दृष्टि, मन तथा वक्षःस्थल—इन आठ अंगों से जो प्रणाम किया जाय उसे अष्टांग प्रणाम कहा जाता है। किन्तु यह साष्टांग प्रणाम केवल पुरुषों के लिए ही करणीय होता है, महिलाओं को इस प्रकार का प्रणाम करना वर्जित है ॥१५-१६॥

न भवेत् सङ्गयुक्तानां तथाविश्वासिनामपि ।
गुरुपूजाविहीनानां तथा च बहुसंगिनाम् ।।१७।।
मिथ्यावादरतानां च तथा निष्ठुरभाषिणाम् ।
गुरुसन्तोषहीनानां न सिद्धिः स्यात् कदाचन ।।१८।।

जो पुरुष सांसारिक कार्यों में निरत रहने वाले व्यक्तियों से अत्यधिक सम्पर्क रखते हैं तो उनसे भी सिद्धियाँ दूर रहती हैं। इसी प्रकार अविश्वासी तथा अश्रद्धालु पुरुष भी सिद्धियों को प्राप्त करने से वंचित रह जाया करते है। मिथ्यावादी, कर्कश वाणी बोलने वाले तथा गुरु के परितोष का ध्यान न रखने वाले व्यक्तियों की भी यही दशा होती है। अर्थात् वे सिद्धि-प्राप्ति हेतु सदा ही अयोग्य साबित होते हैं ॥१७-१८॥

फलिष्यतीति विश्वासः सिद्धेः प्रथमलक्षणम् ।
द्वितीयं श्रद्धया युक्त तृतीयं गुरुपूजनम् ।।१९।।
चतुर्थं समताभावं पञ्चमेन्द्रियनिग्रहम् ।
षष्ठं च प्रमिताहारं सप्तमं नैव विद्यते ।।२०।।

योगशास्त्र में सिद्धि-प्राप्ति के छह लक्षण बतलाये गये हैं जो इस प्रकार से हैं—(१) मन में विश्वास की भावना, (२) श्रद्धावान होना, (३) गुरु-पूजा परायणता, (४) समस्त प्राणियों में समभाव, (५) इन्द्रियों का दमन तथा (६) संतुलित आहार-ग्रहण। ये ही छह लक्षण मुख्यतया कहे गये हैं। इनके अतिरिक्त कोई सातवाँ लक्षण नहीं होता ॥१९-२०॥

योगोपदेशं सम्प्राप्य लब्ध्वा योगविदं गुरुम्।
गुरूपदिष्टविधिनाधियानिश्चित्य साधयेत्॥२१॥
सुशोभने मठे योगी पद्मासनसमन्वितः।
आसनोपरि संविश्य पवनाभ्यासमाचरेत्॥२२॥

साधक को किसी योगवेत्ता गुरु से योगोपदेश लेकर उनके द्वारा कथित विधानानुसार निश्चयात्मक बुद्धि से साधना में तल्लीन रहना चाहिए। उसे साधना हेतु किसी ऐसे मठ का चयन करना चाहिए जो सुन्दर और साफ-सुथरा हो तथा दीवारों में छोटे छिद्र हों। ऐसे स्थान में साधक पद्मासन लगाकर बैठ जाय और वहीं प्राणायाम का अभ्यास प्रारम्भ कर दें ॥२१-२२॥

प्राणायाम की प्रक्रिया

समकायः प्राञ्जलिश्च प्रणम्य च गुरून् सुधीः।
दक्षे वामे च विघ्नेशं क्षेत्रपालाम्बिकां पुनः॥२३॥
ततश्च दक्षाङ्गुष्ठेन निरुद्ध्य पिङ्गलां सुधीः।
इडया पूरयेद्वायुं यथाशक्ति तु कुम्भयेत्॥२४॥

सर्वप्रथम अपने शरीर को एक सीध में रखकर करबद्ध हो गुरु को प्रणाम करना चाहिए। पुनः दाएँ-बाएँ पार्श्व में विघ्नहर्ता गणेशजी को, क्षेत्रपाल को तथा जगज्जननी देवी अम्बिका को प्रणाम करे। तदनन्तर दाहिने हाथ के अँगूठे द्वारा पिंगला नाड़ी (दायाँ नासिकारन्ध्र) को रोककर इड़ा नाड़ी (चन्द्रनाड़ी, वाम नासापुट) से वायु को शक्त्यानुसार ऊपर की ओर खींचकर कुछ क्षण तक उसे रोके रहें। पुनः उसे पिंगला नाड़ी (सूर्यनाड़ी) द्वारा धीरे-धीरे बहिर्गत कर दें। अर्थात् वाम नासा से पूरक प्राणायाम (श्वास को ऊपर की ओर खींचना) करने के पश्चात् कुम्भक प्राणायाम (कर्षित वायु को रुद्ध करना) करें। तत्पश्चात् वाम नासिका से रेचक प्राणायाम (दाएँ नासारन्ध्र से शनैः शनैः अवरुद्ध वायु का निष्कासन) करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि पूरक, कुम्भक और रेचक—ये तीनों ही प्राणायाम के अभिन्न अंग माने गये हैं ॥२३-२४॥

ततस्त्यक्त्वा पिङ्गलया शनैरेव न वेगतः।
पुनः पिङ्गलयापूर्य यथाशक्ति तु कुम्भयेत्॥२५॥
इडया रेचयेद्वायुं न वेगेन शनैः शनैः।

इदं योगविधानेन कुर्याद्विंशतिकुम्भकान् ।
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तः प्रत्यहं विगतालसः ।।२६।।

इस प्रकार बारम्बार पिंगला नाड़ी (दायाँ नासापुट) से पूरक प्राणायाम करे। पुनः इड़ानाड़ी (वाम नासापुट) द्वारा वायु का कर्षण करके कुम्भक प्राणायाम की क्रिया सम्पन्न करें। तत्पश्चात् इड़ा नाड़ी से अवरुद्ध वायु का निष्कासन धीरे-धीरे करें। वायु को निकालते समय शीघ्रता न करें। इस रीति से बीस बार आलस्यरहित होकर कुम्भक प्राणायाम करने वाला साधक सभी द्वन्द्वों से विमुक्त हो जाता है। अभिप्राय यह है कि कुम्भक प्राणायाम का अभ्यास क्रमशः बढ़ाता हुआ उस पर अपना आधिपत्य कर ले तो वह समस्त क्लेशों से छूट जाता है ।।२५-२६।।

प्रातःकाले च मध्याह्ने सूर्यास्ते चार्धरात्रके ।
कुर्यादेवं चतुर्वारं कालेष्वेतेषु कुम्भकान् ।।२७।।

इस रीति से नित्यप्रति प्रातः, मध्याह्न, सायंकाल तथा आधीरात में अर्थात् कुल चार बार साधक को प्राणायाम करने चाहिए ।।२७।।

नाड़ी का शुद्धिकरण

इत्थं मासद्वयं कुर्यादनालस्यो दिने दिने ।
ततोनाडीविशुद्धिःस्यादविलम्बेन निश्चितम् ।।२८।।

उक्त कथित रीति से आलस्यविहीन होकर निरन्तर दो मास तक नियमपूर्वक प्राणायाम करने के परिणामस्वरूप साधक के नाड़ी-मल का परिष्कार हो जाता है ।।२८।।

यदा तु नाडीशुद्धिः स्याद् योगिनस्तत्त्वदर्शिनः ।
तदा विध्वस्तदोषश्च भवेदारम्भसम्भवः ।।२९।।
चिह्नानि योगिनो देहे दृश्यन्ते नाडिशुद्धितः ।
कथ्यन्ते तु समस्तान्यङ्गानि संक्षेपतो मया ।।३०।।

तत्वदर्शी योगी की नाड़ी का परिशोधन हो जाने पर उसके सभी विकार मिट जाते हैं और योगसाधना का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। नाड़ी का शुद्धिकरण होने के पश्चात् योगी में जो लक्षण प्रकट होते हैं उन्हें मैं संक्षेपतया कह रहा हूँ ।।२९-३०।।

समकायः सुगन्धिश्च सुकान्तिः स्वरसाधकः ।।३१।।
आरम्भघटकश्चैव यथा परिचयस्तदा ।
निष्पत्तिः सर्वयोगेषु योगावस्था भवन्तिताः ।।३२।।

नाड़ीशुद्धि के पश्चात् योगी का शरीर साम्यावस्था में आ जाता है। अर्थात् उसकी देह में स्थूलता, दुर्बलता या वक्रता नहीं रह जाती और सभी अंग एक समान दीख पड़ने लगते हैं। उसके शरीर में सुगन्धि तथा मुखमण्डल पर तेजस्विता की कान्ति झलकने लगती है। ऐसी अवस्था आने पर उसके स्वर में भी मिठास आ जाती है।

इन प्रारम्भिक लक्षणों के साथ-साथ उसे योग का पूर्णरूपेण ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इसी को योगावस्था भी कहा जाता है ।।३१-३२।।

आरम्भः कथितोऽस्माभिरधुना वायुसिद्धये ।
अपरः कथ्यते पश्चात्सर्वदुःखौघनाशनः ।।३३।।
प्रौढवह्निः सुभोगी च सुखी सर्वाङ्गसुन्दरः ।
सम्पूर्णहृदयो योगी सर्वोत्साहबलान्वितः ।
जायते योगिनोऽवश्यमेते सर्वकलेवरे ।।३४।।

प्राणवायु की सिद्धि होने पर पूर्व कथित सभी लक्षण आरम्भिक काल में पाये जाते हैं। अब मैं उनसे मिलने वाले उस लाभ का कथन करता हूँ जिससे समस्त दुःखों का नाश हो जाता है। ऐसे योगी में जठराग्नि की प्रज्वलिता, अंग-सौष्ठव, आहार-ग्राह्यता, हर्षोल्लासिता एवं मन की प्रसन्नता उत्पन्न हो जाती है ।।३३-३४।।

अथ वर्ज्यं प्रवक्ष्यामि योगविघ्नकरं परम् ।
येन संसारदुःखाब्धिंतीर्त्वा यास्यन्ति योगिनः ।।३५।।
आम्लं रूक्षं तथा तीक्ष्णं लवणं सार्षपं कटुम् ।
बहुलं भ्रमणं प्रातः स्नानं तैलविदाहकम् ।।३६।।

अब मैं उन विघ्नकारी कारकों का वर्णन करता हूँ जिसके परित्याग से योगी इस संसार-सागर से पार चला जाता है। योगी के लिए खट्टे, रूखे, तीक्ष्ण, नमकीन, सरसों आदि पदार्थों का सेवन, कड़ुए पदार्थ का भोजन, अत्यधिक भ्रमण, प्रातःस्नान तथा शरीर में तैलादि का मर्दन करना निषिद्ध है ।।३५-३६।।

स्तेयं हिंसा जनद्वेषं चाहङ्कारमनार्जवम् ।
उपवासमसत्यञ्च मोहञ्च प्राणपीडनम् ।।३७।।
स्त्रीसङ्गमग्निसेवां च बह्वालापं प्रियाप्रियम् ।
अतीव भोजनं योगी त्यजेदेतानि निश्चितम् ।।३८।।

किसी की वस्तु की चोरी करना, जीवहिंसा, मानव के प्रति विद्वेष, अहंकार, प्राणिमात्र के प्रति प्रेमाभाव, व्रतोपवास, मिथ्या-भाषण, मोहग्रस्तता, प्राणों का परिपीड़न, स्त्री-संसर्ग, अग्नि-सेवन, वाचालता, प्रिय-अप्रिय भाषण तथा अतिभोजन योगी के लिए सर्वदा ही अग्राह्य हैं। उसे इनका परित्याग अवश्य ही कर देना चाहिए ।।३७-३८।।

उपायं च प्रवक्ष्यामि क्षिप्रं योगस्य सिद्धये ।
गोपनीयं साधकानां येन सिद्धिर्भवेत् खलु ।।३९।।
घृतं क्षीरं च मिष्टान्नं ताम्बूलं चूर्णवर्जितम् ।
कर्पूरं निष्ठुरं मिष्टं सुपठं सूक्ष्मवस्त्रकम् ।।४०।।

अब मैं योगसाधना में शीघ्र ही सिद्धिलाभ के उपाय का कथन कर रहा हूँ। इसे सर्वदा ही गुप्त रखना चाहिए। योगाभ्यासी को घी, दूध, मिठाई, पान-सुपारी तथा

चूर्ण से रहित आहार लेने चाहिए। उसे कभी भी उत्तेजक पदार्थ, जैसे—कपूर आदि नहीं खाने चाहिए। योगी को कर्कश वाणी का परित्याग कर मधुर वाणी का अभ्यासी बनना चाहिए। साधक को उत्तम कुटिया और स्वस्थ वातावरण में निवास करते हुए महीन वस्त्र पहनने चाहिए। अर्थात् सादे वेश-भूषा में रहना ही उसे आवश्यक होता है ॥३९-४०॥

सिद्धान्तश्रवणं नित्यं वैराग्यगृहसेवनम् ।
नामसङ्कीर्तनं विष्णोः सुसादश्रवणे परम् ।।४१।।
धृतिः क्षमा तपः शौचं ह्रीर्मतिगुरुसेवनम् ।
सदैतांश्च परं योगी नियमांश्च समाचरेत् ।।४२।।

योगाभ्यासी पुरुषों के लिए नित्य वेदान्त-वाक्यों का श्रवण, वैराग्य भाव का धारण तथा ईश्वर नामस्मरण करना उचित है। उसे मांगलिक वचनों का श्रवण, धैर्य, क्षमा, तप, शुचिता तथा लज्जा का भाव रखना आवश्यक बतलाया गया है। गुरु की सेवा में निरन्तर निरत रहकर कथित नियमों का अनुपालन करना आवश्यक होता है। इस प्रकार का साधक अल्पकाल में ही सिद्धि को पा लेता है ॥४१-४२॥

अनिलोऽर्कप्रवेशे च भोक्तप्व्यं योगिभिः सदा ।
वायौ प्रविष्टे शशिनि शयनं साधकोत्तमैः ।।४३।।
सद्यो भुक्तेऽपि क्षुधितेनाभ्यासः क्रियते बुधैः ।
अभ्यासकालेप्रथमं कुर्यात् क्षीराज्यभोजनम् ।।४४।।

योगी को दक्षिण नासापुटस्थ पिंगला नाड़ी (सूर्यनाड़ी) के प्रवहमान रहने पर भोज्य पदार्थों का ग्रहण तथा वाम नासापुटस्थ इड़ा नाड़ी (चन्द्रनाड़ी) के प्रवाहित रहने पर शयन करना उचित कहा गया है। उसे भोजनोपरान्त तत्काल ही अथवा क्षुधातुर रहने पर खाली पेट अभ्यास करना वर्जित है, क्योंकि ऐसा करना हानिकारक सिद्ध होता है। अभ्यास- काल से पूर्व उसे घी और दूध का सेवन करना उपयोगी होता है ॥४३-४४॥

ततोऽभ्यासे स्थिरीभूते न तादृङ्नियमग्रहः ।
अभ्यासिना विभोक्तव्यं स्तोकं स्तोकमनेकधा ।।४५।।
पूर्वोक्तकाले कुर्यात्तु कुम्भकान् प्रतिवासरे ।
ततो यथेष्टाशक्तिःस्याद्योगिनो वायुधारणे ।।४६।।

योगाभ्यास में दृढ़ता आ जाने पर उसे कथित नियमों के पालन की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। उसे बार-बार अल्प मात्रा में भोज्य पदार्थ ग्रहण करते रहना चाहिए। इस प्रकार प्रतिदिन कुम्भक प्राणायाम का अभ्यास करते रहने से कुम्भक की सिद्धि मिल जाती है। तत्पश्चात् उसमें वायुधारण की यथेष्ट शक्ति आ जाती है ॥४५-४६॥

यथेष्टं मारणाद्वायोः कुम्भकः सिध्यति ध्रुवम् ।
केवले कुम्भके सिद्धे किं न स्यादिह योगिनः ।।४७।।
स्वेदः संजायते देहे योगिनः प्रथमोद्यमे ।।४८।।
यदा संजायते स्वेदो मर्दनं कारयेत्सुधीः ।
अन्यथा विग्रहे धातुर्नष्टो भवति योगिनः ।।४९।।

योगी में वायुधारण की यथेच्छ शक्ति आ जाने पर उसका कुम्भक सिद्ध हो जाता है अर्थात् वह समस्त कार्यों में सामर्थ्यवान् बन जाता है। उसके लिए कुछ भी दुष्प्राप्य नहीं रह जाता। प्रथम बार के अभ्यास-काल में अभ्यासी के शरीर से पसीना छूटने लगता है। उस क्षण उसके लिए यह आवश्यक होता है कि वह देहनिर्गत पसीने को शरीर में ही मलकर सुखा ले। यदि वह ऐसा करने से हिचकता है तो उसके शरीरस्थ धातुओं का विनाश हो जाता है ॥४७-४९॥

द्वितीये हि भवेत् कम्पो दार्दुरी मध्यमे मतः ।
ततोऽधिकतराभ्यासाद्गगने चरसाधकः ।।५०।।
योगी पद्मासनस्थोऽपि भुवमुत्सृज्य वर्तते ।
वायुसिद्धिस्तदाज्ञेया संसारध्वान्तनाशिनी ।।५१।।

साधक द्वारा दूसरी बार अभ्यास किये जाने पर उसकी देह में कँपकपी तथा तीसरी बार में मेंढकी चाल उत्पन्न हो जाती है। अर्थात् जिस प्रकार मेंढक भूमि से ऊपर उछल-कूदकर पुनः धरती पर आ जाता है वैसे ही योगाभ्यासी का आसन भी किंचित् ऊपर उठकर पुनः अपने स्थान पर स्थिर हो जाता है। अभ्यास के दृढ़तर हो जाने पर साधक स्वेच्छानुसार गगनचारी बन सकता है ॥५०-५१॥

तावत्कालं प्रकुर्वीत योगोक्तनियमग्रहम् ।
अल्पनिद्रा पुरीषं च स्तोकं मूत्रं च जायते ।।५२।।
अरोगित्वमदीनत्वं योगिनस्तत्त्वदर्शिनः ।
स्वेदो लाला कृमिश्चैव सर्वथैव न जायते ।।५३।।

योगसिद्धाभिलाषी के लिए शास्त्रोक्त नियमों का अनुपालन उस समय तक अनिवार्य होता है जब तक उसे यथेच्छ वायुधारण की शक्ति, अल्पकालिक निद्रा तथा अल्प परिमाण में मल-मूत्र का निस्सरण न होने लगे। अर्थात् जब उसमें निद्रा की अनुभूति कम हो तथा मल-मूत्र के निस्सरण की मात्रा भी घट जाय तो उसे योगसिद्धि की ओर उत्तरोत्तर अग्रसर होते हुए जानना चाहिए। तत्ववेत्ता योगियों में शारीरिक और मानसिक व्यथा का बोध नहीं होता और न तो उसके शरीर से पसीना ही छूटता है। मुख से लार भी नहीं टपकती और न ही उसमें उदरकृमियों की उत्पत्ति होती है ॥५२-५३॥

कफपितानिलाश्चैव साधकस्य कलेवरे ।
तस्मिन्कालेसाधकस्य भोज्येष्वनियमग्रहः ।।५४।।
अत्यल्पं बहुधा भुक्त्वा योगी न व्यथते हि सः ।
अथाभ्यासवशाद्योगी भूचरीं सिद्धिमाप्नुयात् ।
यथा दर्दुरजन्तूनां गतिः स्यात्पाणिताडनात् ।।५५।।

उसके शरीर में कफ, पित्त और वात—इन तीनों की दोषग्रस्तता भी नहीं होती। पूर्व निर्धारित काल तक योगी को भोजनादि ग्रहण में संयम रखने चाहिए। ऐसी अवस्था में साधक द्वारा अतिभोजन या लघुभोजन किये जाने पर भी उसे कष्ट का अनुभव नहीं होता, बल्कि अभ्यास के फलस्वरूप उसमें भूचरी विद्या की सिद्धि आ जाती है। अर्थात् जिस प्रकार मेढ़क अपने हाथ पटककर भूमि में प्रविष्ट हो जाता है उसी प्रकार योगी भी हस्तताड़नमात्र से ही भूमि में प्रवेश कर जाता है ।।५४-५५।।

सन्त्यत्र बहवो विघ्ना दारुणा दुर्निवारणाः ।
तथापि साधयेद्योगी प्राणैः कण्ठगतैरपि ।।५६।।

योगसाधना काल में साधक के समक्ष ऐसी अनेक प्रकार की बाधाएँ आती रहती हैं जिनका निवारण करना अत्यन्त दुष्कर होता है। ऐसी स्थिति में भी साधक को निराश न होकर अपनी साधना में तब तक संलग्न रहना चाहिए जब तक प्राण कंठ तक न आ जाय ।।५६।।

ततो रहस्युपाविष्टः साधकःसंयतेन्द्रियः ।
प्रणवं प्रजपेद्दीर्घं विघ्नानां नाशहेतवे ।।५७।।
पूर्वार्जितानि कर्माणि प्राणायामेन निश्चितम् ।
नाशयेत् साधको धीमानिह लोकोद्भवानि च ।।५८।।

अपने सम्मुख उपस्थित विघ्नों के शमनार्थ साधक को अपनी इन्द्रियों का दमन करना आवश्यक होता है। इसके साथ ही उसे किसी एकांत स्थान में बैठकर उच्च स्वर से प्रणव मंत्र का जाप मन लगाकर करना उचित है। योगाभ्यासी साधक पूर्व जन्मार्जित तथा वर्तमानकालिक कृत समस्त कर्मों का प्राणायाम के द्वारा विनाश कर डालता है। अतः प्राणायाम के बल पर योगी के लिए समस्त कर्मों का विनष्टीकरण कर देना सम्भव हो जाता है ।।५७-५८।।

पूर्वार्जितानि पापानि पुण्यानि विविधानि च ।
नाशयेत् षोडशप्राणायामेन योगिपुङ्गवः ।।५९।।
पापतूलचयानाहो प्रलयेत्प्रलयाग्निना ।
ततः पापविनिर्मुक्तः पश्चात्पुण्यानि नाशयेत् ।।६०।।

उत्तम योगी अपने पूर्वार्जित पाप-पुण्य के कर्म-समूहों का नाश केवल सोलह प्राणायाम के द्व ही कर डालता है। प्राणायाम के फलस्वरूप पाप-पुंज उसी भाँति

जलकर राख हो जाते हैं जिस प्रकार आग में पड़कर तिनका भस्म हो जाता है। प्राणायाम द्वारा पापरहित योगी अपने पुण्यकर्मों का भी उसी अग्नि में आहुति दे देता है। तात्पर्य यह है कि सभी पाप-पुण्य कर्मों का पूर्णरूप से क्षय हो जाता है। जब कुछ भी फलभोग शेष नहीं रह जाता तभी उसे मोक्ष की उपलब्धि होती है ।।५९-६०।।

प्राणायामेन योगीन्द्रो लब्ध्वैश्वर्याष्टकानि वै ।
पापपुण्योदधिं तीर्त्वा त्रैलोक्यचरतामियात् ।।६१।।

उत्तम योगाभ्यासी पुरुष प्राणायाम की महत्ता के फलस्वरूप अष्टसिद्धियों (अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व तथा वशित्व) को हस्तगत कर इस संसार-सागर से पार चला जाता है और तब वह त्रैलोक्य में अपनी इच्छा के अनुसार परिभ्रमण कर सकता है। यहाँ अष्टसिद्धियों की प्राप्ति का उल्लेख क्रमश: नीचे किया जा रहा है ।।६१।।

अणिमा—मन में इच्छा करते ही शरीर को परमाणु के समान सूक्ष्मतम बना लेना।

महिमा—इच्छामात्र से शरीर को विस्तृत कर लेना ही महिमा सिद्धि कहलाती है।

गरिमा— हलका होते हुए भी इच्छामात्र से पर्वत से भी अधिक भारवान हो जाना।

लघिमा— अत्यधिक भारवान होकर भी हलका-फुलका प्रतीत होना।

प्राप्ति—मनोनुकूल पदार्थों की तत्क्षण होनेवाली उपलब्धि।

प्राकाम्य—संकल्पमात्र से अभिलषित वस्तु की परिपूर्णता।

ईशित्व—सम्पूर्ण भौतिक पदार्थों के निर्माण एवं विनष्टीकरण की क्षमता का होना।

वशित्व—किसी को अपने वशवर्ती बना लेने की समर्थता।

ततोऽभ्यासक्रमेणैव घटिकात्रितयं भवेत् ।
येनस्यात्सकला सिद्धिर्योगिनः स्वेप्सिता ध्रुवम् ।।६२।।
वाक्सिद्धिः कामचारित्वं दूरदृष्टिस्तथैव च ।
दूरश्रुतिः सूक्ष्मदृष्टिः परकायप्रवेशनम् ।।६३।।

प्राणायाम के क्रमानुसार अभ्यासी पुरुष में जब तीन घड़ी (घटी) तक प्राणवायु के अवधारण की शक्ति उत्पन्न हो जाय तो वह अपनी इच्छानुसार सभी सिद्धियों को प्राप्त कर लेने में समर्थ हो जाता है। यह बात निश्चित रूप से सत्य है। ऐसे योगी में स्वेच्छाचरण की समर्थता, किसी दूरस्थ वस्तु की दर्शन-शक्ति, दूरगामी शब्दों की श्रवण-शक्ति, सूक्ष्म से सूक्ष्मतम पदार्थ के अवलोकन की शक्ति तथा किसी अन्य व्यक्ति के शरीर में प्रविष्ट होने की शक्ति भी आ जाती है ।।६२-६३।।

विण्मूत्रलेपनं स्वर्णमदृश्यं करणं तथा ।
भवन्त्येतानि सर्वाणि खेचरत्वं च योगिनाम् ।।६४।।
यदा भवेद् घटावस्था पवनाभ्यासने परा ।
तदा संसारचक्रेऽस्मिन् तन्नास्ति यन्न साधयेत् ।।६५।।

कुम्भक प्राणायाम की सिद्धि पा लेने वाले योगी में धातु-परिवर्तन की शक्ति भी आ जाती है । यदि वह अपने मल-मूत्र का लेपन स्वर्ण से इतर किसी अन्य धातु पर कर दे तो वह धातु निश्चय ही स्वर्ण बन जाता है । उसमें किसी की आँखों से ओझल होने (अदृश्यता) तथा आकाशगमन करने की क्षमता भी आ जाती है । ऐसी अवस्था को घटावस्था कहते हैं । अर्थात् ऐसी स्थिति में योगी के लिए संसार की कोई भी वस्तु अलभ्य नहीं रह जाती ।।६४-६५।।

प्राणापाननादबिन्दू जीवात्मपरमात्मनोः ।
मिलित्वा घटते यस्मात्तस्माद्वै घट उच्यते ।।६६।।
याममात्रं यदा धर्तुं समर्थः स्यात्तदाद्भुतः ।
प्रत्याहारस्तदैव स्यान्नान्तरा भवति ध्रुवम् ।।६७।।

घटावस्था का आशय यह होता है कि जब योगी में प्राण, अपान, नाद, बिन्दु, जीवात्मा तथा परमात्मा का सन्निवेश एक साथ हो जाय । योगी में एक प्रहर (३घण्टा) तक वायुधारण की शक्ति उत्पन्न होने पर उसमें प्रत्याहार (योग का एक अंग) की शक्ति आ जाती है जिसके फलस्वरूप साधन में कोई अन्तर नहीं रहता, यह बात सुनिश्चित है ।।६६-६७।।

यं यं जानाति योगीन्द्रस्तं तमात्मेति भावयेत् ।
यैरिन्द्रियैर्यद्विधानस्तदिन्द्रियजयो भवेत् ।।६८।।

योगी में जिन-जिन पदार्थों का ज्ञान हो, उसे उन-उन पदार्थों में आत्मभावना रखनी चाहिए । जिस इन्द्रिय की सहायता से जिस वस्तु का बोध होता हो, उसमें आत्मभाव रखने से इन्द्रिय पर विजयश्री मिलती है । अर्थात् जिस प्रकार नेत्र के द्वारा रूप, कर्ण के द्वारा शब्द या घ्राणं के द्वारा गंधादि का बोध होता है उसी प्रकार उन सब में आत्मभाव रखने पर वे इन्द्रियाँ अपने विषयों का ग्रहण नहीं करेंगी । तात्पर्य यह है कि विषयों से विमुख रहने पर स्वतः ही इन्द्रियों पर विजय-लाभ हो जायगा ।।६८।।

याममात्रं यदा पूर्णं भवेदभ्यासयोगतः ।
एकवारं प्रकुर्वीत तदा योगी च कुम्भकम् ।।६९।।
दण्डाष्टकं यदा वायुर्निश्चलो योगिनो भवेत् ।
स्वसामर्थ्यात्तदांगुष्ठे तिष्ठेद्वातुलवत् सुधीः ।।७०।।

एक बार में कुम्भक प्राणायाम द्वारा आठ घटी (३ घण्टा) तक प्राणवायु को

रोक रखने वाला योगी पैर के अंगूठे पर निश्चल भाव से खड़ा रह सकता है। किन्तु उसे इस अलौकिक शक्ति की गोपनीयता बनाये रखने के लिए अपनी विक्षिप्तावस्था प्रकट करनी चाहिए। अर्थात् योगी को अपनी शक्तिसम्पन्नता का प्रदर्शन कदापि नहीं करना चाहिए ॥६९-७०॥

ततः परिचयावस्था योगिनोऽभ्यास्तो भवेत् ।
यदा वायुश्चन्द्रसूर्यं त्यक्त्वा तिष्ठति निश्चलम् ।
वायुःपरिचितो वायुःसुषुम्णा व्योम्नि सञ्चरेत् ॥७१॥
क्रियाशक्तिं गृहीत्वैव चक्रान् भित्वा सुनिश्चितम् ॥७२॥

तत्पश्चात् निरन्तर अभ्यास-रत रहने वाले योगी में परिचयावस्था का आविर्भाव हो जाता है। जिस समय वायु इड़ानाड़ी (चन्द्रनाड़ी) पिंगला नाड़ी (सूर्यनाड़ी) का परित्याग कर अचल हो उठता है तब वह परिचित वायु सुषुम्ना मार्ग से आकाश में संचरण करने लगता है। ऐसी स्थिति में क्रियाशक्तिग्राही योगी चक्रभेदन में निश्चय ही सामर्थ्यवान बन जाता है। अर्थात् परिचयावस्था में योगी षट्चक्र (आज्ञाचक्र, विशुद्धचक्र, अनाहत चक्र, मणिपूरचक्र, स्वाधिष्ठान चक्र तथा मूलाधार चक्र) भेदन में अवश्य ही सक्षम हो जाता है। ऐसी अवस्था की प्राप्ति अभ्यास के द्वारा ही सम्भव हो सकती है ॥७१-७२॥

यदा परिचयावस्था भवेदभ्यासयोगतः ॥
त्रिकूटं कर्मणां योगी तदा पश्यति निश्चितम् ॥७३॥
ततश्च कर्मकूटानि प्रणवेन विनाशयेत् ।
स योगी कर्मभोगाय कायव्यूहं समाचरेत् ॥७४॥

अभ्यास के परिणामस्वरूप योगी में परिचयावस्था आ जाने पर वह निश्चित रूप से त्रिकूट कर्मों को देखने में सफल हो सकता है। त्रिकूट कर्म के तीन भेद कहे गये हैं, जैसे—आध्यात्मिक (मानसिक क्लेश), आधिभौतिक (भूत-प्रेत पिशाचादि से मिलने वाला कष्ट) और आधिदैविक (कर्म फलानुसार देवताओं से होने वाला कष्ट)। योगी में इन त्रिकूट कर्मों का बोध हो जाता है जिसे वह ओंकारं मंत्रजाप के फलस्वरूप विनाश करने में भी सक्षम हो जाता है। यदि वह पूर्व जन्मार्जित कर्मफलों के भोगने का अभिलाषी हो तो उसे अपनी इच्छा के अनुसार भोग भी सकता है ॥७३-७४॥

अस्मिन्काले महायोगी पञ्चधा धारणं चरेत् ।
येन भूरादिसिद्धिः स्यात्ततो भूतभयापहा ॥७५॥
आधारे घटिकाः पञ्च लिङ्गस्थाने तथैव च ।
तदूर्ध्वं घटिका पञ्च नाभिहृन्मध्यकं तथा ॥७६॥
भ्रूमध्याध्र्वं तथा पञ्च घटिका धारयेत् सुधीः ।
तथा भूरादिना नष्टो योगीन्द्रो भवेत् खलु ॥७७॥

मेधावी सर्वभूतानां धारणां यः समभ्यसेत् ।
शतब्रह्ममृतेनापि मृत्युस्तस्य न विद्यते ।।७८।।

योगी द्वारा पाँच प्रकार की धारणा की सिद्धि हो जाने पर उसमें पंचभूतों की धारणा भी सिद्ध हो जाती है। पंचभूतों की सिद्धि मिल जाने के पश्चात् उसे भूतों से कोई भय नहीं रह जाता। वायुधारण के अभ्यास का विधान यह है कि सर्वप्रथम आधारचक्र, पुनः उससे ऊपर स्वाधिष्ठानचक्र, मणिपूरचक्र, अनाहतचक्र, विशुद्धचक्र और आज्ञाचक्र में क्रमश पाँच-पाँच घटी (२-२ घंटे) तक वायुधारण करने का अभ्यासी बने। इस प्रकार गुदाद्वार, शिश्न, नाभिस्थल, हृदय, कण्ठप्रदेश और भौंहों के मध्य स्थित षट्चक्रों में वायुधारण के अभ्यास को सिद्ध कर लेने वाला योगी अविनश्वर हो जाता है। अर्थात् उसका विनाश पंचभूतों के द्वारा कभी सम्भव नहीं होता। इस प्रकार पंचभूतों का दृढ़ाभ्यासी योगी के निकट मृत्यु सौ ब्रह्माओं का आयुकाल पूर्ण हो जाने पर भी नहीं जाती ।।७५-७८।।

ततोऽभ्यासक्रमेणैव निष्पत्तिर्योगिनो भवेत् ।
अनादिकर्मबीजानि येन तीर्त्वाऽमृतं पिबेत् ।।७९।।
यदा निष्पत्तिर्भवति समाधेः स्वेन कर्मणा ।
जीवन्मुक्तस्य शान्तस्य भवेद्धीरस्य योगिनः ।।८०।।

इस प्रकार के निरन्तराभ्यास द्वारा योगी में निष्पत्यावस्था आ जाती है। वह अनन्त काल से अंकुरित हुए कर्म-बीज को नष्ट कर अमृतपान करने में समर्थ हो जाता है। अपने अभ्यासरूप कर्म द्वारा जब योगी में समाधि-ज्ञान उत्पन्न हो जाता है तब वह समाधि में निमग्न हो जाया करता है ।।७९-८०।।

यदानिष्पत्तिसंपन्नःसमाधिः स्वेच्छया भवेत् ।।८१।।
गृहीत्वा चेतनां वायुः क्रियाशक्तिं च वेगवान् ।
सर्वान् चक्रान् विजित्वा च ज्ञानशक्तौ विलीयते ।।८२।।

योगी में इस प्रकार की निष्पत्यावस्था आ जाने पर उसकी समाधि भी इच्छा के अनुरूप होती है। वह समाधि की अवस्था में जिसका चिन्तन करता है उसी में उसके चित्त का विलय भी हो जाया करता है। ऐसा योगाभ्यासी मन, वायु और क्रियाशक्ति के साथ सभी चक्रों का भेदन कर अन्त में ब्रह्मज्ञान में समाहित हो जाता है ।।८१-८२।।

इदानीं क्लेशहान्यर्थं वक्तव्यं वायुसाधनम् ।
येन संसार चक्रेऽस्मिन् रोगहानिर्भवेद्ध्रुवम् ।।८३।।
रसनां तालुमूले यः स्थापयित्वा विचक्षणः ।
पिबेत् प्राणानिलं तस्य रोगाणां संक्षयो भवेत् ।।८४।।

देवी पार्वती से शिवजी कहते हैं कि हे देवि ! अब मैं सम्पूर्ण क्लेशनिवारक प्राणवायु के उस विधि को बतलाता हूँ जिसके द्वारा सांसारिक रोगों का अवश्य ही

विनष्टीकरण हो जाता है। यदि प्रबुद्ध साधक अपनी जिह्वा को पलटकर तालुमूल में लगा ले और प्राणवायु का पान करे तो उसके सभी रोगों का विनाश सुनिश्चित रहता है ॥८३-८४॥

काकचञ्च्वा पिबेद्वायुं शीतलं यो विचक्षणः।
प्राणापानविधानज्ञः स भवेन्मुक्ति भाजनः॥८५॥
सरसं यः पिबेद्वायुं प्रत्यहं विधिना सुधीः।
नश्यन्ति योगिनस्तस्य श्रमदाहजरामयाः॥८६॥

यदि प्राण-अपान का विधि-विधिज्ञ साधक अपने होंठ को कौए की चोंच के समान लम्बोतरा बनाकर शीतल वायु को पान करे तो वह निश्चय ही मोक्ष का अधिकारी हो जाता है। जो पुरुष विधानपूर्वक नित्यप्रति रसान्वित वायु का पान करता है, उसके श्रम (परिश्रम से उत्पन्न होने वाली थकावट), दाह (शारीरिक जलन) तथा जरा (वृद्धावस्था) आदि सभी रोग निर्मूल हो जाते हैं। अर्थात् उसे उक्त प्रकार के कष्टदायक रोग नहीं झेलने पड़ते॥८५-८६॥

रसनामूर्ध्वगां कृत्वा यश्चन्द्रे सलिलं पिबेत्।
मासमात्रेण योगीन्द्रो मृत्युं जयति निश्चितम्॥८७॥
राजदन्तबिलं गाढं संपीड्य विधिना पिबेत्।
ध्यात्वा कुण्डलिनी देवीं षण्मासेन कविर्भवेत्॥८८॥

जो योगी अपनी जिह्वा को ऊपर की ओर उठाकर चन्द्रमा से स्रवित होते हुए अमृत का रसास्वादन करता है वह निश्चित रूप से एक महीने के अन्दर ही मृत्यु पर विजय पा लेता है। जीभ को उलटकर गलघंटिका के पीछे तालुमूल में लगाकर उससे टपकते हुए अमृत का पान करना खेचरी मुद्रा कहलाती है।

अपने निचले दाँत से राजदन्त को दबाकर उसके छिद्र से विधिपूर्वक वायुपान तथा कुण्डलिनी देवी का ध्यान करने वाला साधक छह महीने में ही कवि बन जाता है ॥८७-८८॥

काकचञ्च्वा पिबेद्वायुं सन्ध्ययोरुभयोरपि।
कुण्डलिन्या मुखे ध्यात्वा क्षयरोगस्य शान्तये॥८९॥
अहर्निशं पिबेद्योगी काकचञ्च्वा विचक्षणः।
पिबेत्प्राणानिलं तस्य रोगानां संक्षयो भवेत्।
दूरश्रुतिर्दूरदृष्टिस्तथा स्याद्दर्शनं खलु॥९०॥

उक्त कथित काकचंचु की मुद्रा द्वारा दोनों सन्ध्याओं में कुंडलिनी की मुखाकृति का ध्यान करता हुआ प्राणवायु का पान करने वाला साधक क्षयरोग (तपेदिक, टी.बी.) से शीघ्र ही मुक्त हो जाता है। जो योगसाधक काकचंचु मुद्रा की सहायता से दिन-रात प्राणवायु का पान किया करता है उसके सभी रोग निःसन्देह रूप से

विनष्ट हो जाते हैं। उसमें दूर की बातें सुनने तथा दूर तक देखने की शक्ति भी आ जाती है। ऐसा योगी सूक्ष्म से सूक्ष्मतर पदार्थों के अवलोकन में भी सक्षम हो जाता है ॥८९-९०॥

दन्ते दंतान् समापीड्य पिबेद्वायुं शनैः शनैः ।
उर्द्ध्वजिह्वः सुमेधावी मृत्युं जयति सोऽचिरात् ॥९१॥
षण्मासमात्रमभ्यासं यः करोति दिने दिने ।
सर्वपापविनिर्मुक्तो रोगान्नाशयते हि सः ॥९२॥

जो प्रबुद्ध पुरुष दाँत से दाँत का संपीड़न कर तथा जीभ को ऊपर उठाकर धीरे-धीरे प्राणवायु को पीता है वह शीघ्र ही मृत्यु को विजित कर दीर्घायु बन जाता है। इस प्रकार का अभ्यास प्रतिदिन करने वाला व्यक्ति छह महीने में ही समस्त पापों से रहित होकर सभी रोगों का उन्मूलन कर डालता है ॥९१-९२॥

संवत्सरकृताभ्यासान्मृत्युं जयति निश्चितम् ।
तस्मादतिप्रयत्नेन साधयेद्योगसाधकः ॥९३॥
वर्षत्रयकृताभ्यासाद्भैरवो भवति ध्रुवम् ।
अणिमादिगुणान् लब्ध्वा जितभूतगणःस्वयम् ॥९४॥

उक्त प्रकार का अभ्यास निरन्तर एक वर्ष तक करने वाला साधक निश्चय ही मृत्यु को विजित कर लेता है। अतः योगसाधक को इस क्रिया की अवश्य ही साधना करनी चाहिए। ऐसी साधना लगातार तीन वर्ष तक करने वाला भैरव के समान पराक्रमी होकर अणिमादिक अष्टसिद्धियों को हस्तगत कर लेता है। साधक के अधीन समस्त प्राणी स्वतः ही हो जाया करते हैं ॥९३-९४॥

रसनामूर्द्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धं यदि तिष्ठति ।
क्षणेन मुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ॥९५॥
रसनां प्राणसंयुक्तां पीड्यमानां विचिन्तयेत् ।
न तस्य जायते मृत्युः सत्यं सत्यं मयोदितम् ॥९६॥

यदि योगी अपनी जिह्वा को क्षणार्ध मात्र पलटकर तालुमूल में लगा ले तो वह सभी रोगों से विमुक्त होकर वृद्धावस्था पर विजय पा लेता है। अर्थात् खेचरी मुद्रा के द्वारा अमृतपान के फलस्वरूप वह अमरत्व की सिद्धि कर लेता है। हे देवि ! प्राण के साथ जिह्वा का संपीड़न कर ब्रह्मरन्ध्र में ध्यानावस्थित हो जाने वाले साधक को कभी मरण का भय नहीं सताता। मेरा यह कथन बिलकुल ही सत्य है ॥९५-९६॥

एवमभ्यासयोगेन कामदेवो द्वितीयकः ।
न क्षुधा न तृषा निद्रा नैव मूर्च्छा प्रजायते ॥९७॥
अनेनैव विधानेन योगीन्द्रोऽवनिमण्डले ।
भवेत्स्वच्छन्दचारी च सर्वापत्परिवर्जितः ॥९८॥

न तस्य पुनरावृत्तिर्मोदते स सुरैरपि ।
पुण्यपापैर्न लिप्येत एतदाचरणेन सः ।।९९।।

उक्त प्रकार का योगाभ्यासी दूसरे कामदेव के समान रूपवान बन जाता है । उसे क्षुधा-पिपासा, निद्रा या मूर्च्छा रोग से क्लेशित नहीं होना पड़ता । इस रीति से अभ्यास करने वाला, पुरुष समस्त सांसारिक कष्टों से विरहित होकर स्वेच्छानुसार आचरण करने में सक्षम हो जाता तथा विपत्तियों की छाया से दूर रहता है । ऐसे योगी में, किसी प्रकार के पाप-पुण्य में फँसने की सम्भावना भी नहीं रह जाती और न ही उसे इस संसार में पुनर्जन्म ही लेना पड़ता है । वह देवलोक में देवताओं के साथ नित्य ही विहार किया करता है ।।९७-९९।।

योगासन के प्रकार

चतुरशीत्यासनानि सन्ति नानाविधानि च ।
तेभ्यश्चतुष्कमादाय मयोक्तानि ब्रवीम्यहम् ।।
सिद्धासनं ततः पद्मासनं चोग्रं च स्वस्तिकम् ।।१००।।

योगासन के अनेक भेद बतलाये गये हैं जिसमें मुख्यतया चौरासी आसनों को माना गया है, किन्तु उनमें भी चार आसन सिद्धासन, पद्मासन, उग्रासन और स्वस्तिकासन अतिविशिष्ट कहे गये हैं । इन आसनों के अभ्यास द्वारा नाड़ी-मल का विशुद्धिकरण हो जाता है । प्राणायाम-काल में वायु धारण करने पर साधक को कष्ट की प्रतीति नहीं होती । इन आसनों के प्रयोग से प्रधान नाड़ी शीघ्र ही वशवर्तिनी हो जाती है ।।१००।।

सिद्धासन

योनिं संपीड्य यत्नेन पादमूलेन साधकः ।
मेढ्रोपरि पादमूलं विन्यसेत् योगवित्सदा ।।१०१।।
ऊर्ध्वं निरीक्ष्य भ्रूमध्यं निश्चलः संयतेन्द्रियः ।
विशेषोऽवक्रकायश्च रहस्युद्वेगवर्जितः ।
एतत्सिद्धासनं ज्ञेयं सिद्धानां सिद्धिदायकम् ।।१०२।।

योगविद् साधक को चाहिए कि वह योनिस्थल को एक पैर की एड़ी से संपीड़ित कर दूसरे पैर की एड़ी को जननेन्द्रिय के मूल भाग में लगा ले । तदनन्तर विजितेन्द्रियावस्था में अपने शरीर को एक सीध में रखकर दोनों भौंहों के बीच में निर्निभेष दृष्टि (अपलक दृष्टि) जमा ले । ऐसे समय में उसके लिए यह भी आवश्यक है कि वह अपने में किसी प्रकार की मानसिक विशृंखला न उत्पन्न होने दे । अर्थात् उसे शांत मन और निश्चल दृष्टि से आसन लगाकर बैठना चाहिए । इसे सिद्धगणों के लिए सिद्धिप्रदायक सिद्धासन के नाम से जाना जाता है ।।१०१-१०२।।

येनाभ्यासवशात् शीघ्रं योगनिष्पत्तिमाप्नुयात् ।
सिद्धासनं सदासेव्यं पवनाभ्यासिना परम् ।।१०३।।
येन संसारमुत्सृज्य लभते परमां गतिम् ।
नातः परतरं गुह्यमासनं विद्यते भुवि ।।
येनानुध्यानमात्रेण योगी पापाद्विमुच्यते ।।१०४।।

इस प्रकार के अभ्यास से शीघ्र ही योग का ज्ञान प्राप्त हो जाता है । इस आसन का प्रयोग वायुरोधी अभ्यासकर्ता के लिए परमावश्यक है । इसके परिणामस्वरूप साधक भव-सागर से उत्तीर्ण होकर परमपद को पा लेता है । यह सिद्धासन समस्त आसनों में अत्यन्त गोपनीय एवं सर्वोत्तम माना जाता है । इसके ध्यानमात्र से ही योगी सभी पापों से विमुक्त हो जाता है ।।१०३-१०४।।

पद्मासन

उत्तानौ चरणौ कृत्वा ऊरुसंस्थौ प्रयत्नतः ।
ऊरुमध्ये तथोत्तानौ पाणी कृत्वा तु तादृशौ ।।१०५।।
नासाग्रे विन्यसेद्दृष्टिं दन्तमूलं च जिह्वया ।
उत्तोल्य चिबुकं वक्ष उत्थाप्य पवनं शनैः ।।१०६।।
यथाशक्त्या समाकृष्य पूरयेदुदरं शनैः ।
यथाशक्त्यव पश्चात्तु रेचयेदविरोधतः ।।१०७।।
इदंपद्मासनं प्रोक्तं सर्व व्याधिविनाशनम् ।
दुर्लभं येन केनापि धीमता लभ्यते परम् ।।१०८।।

सर्वप्रथम दोनों पैरों को सीधा फैलाकर उन्हें चेष्टापूर्वक जाँघ पर रख लें । पुनः दोनों हाथों को भी पैर की ही भाँति सीधा फैलाकर जाँघों के बीच में से निकालें और अपनी दृष्टि को नासिका के अगले भाग पर जमा लें । तदनन्तर जिह्वा को दंतमूल में रखकर वक्षःस्थल पर ठुड्डी को बैठा ले तथा अधोवायु को ऊपर की ओर उत्थित कर शक्त्यानुसार धीरे-धीरे पूरक प्राणायाम द्वारा प्राणवायु को स्थिर करे । तत्पश्चात् रेचक प्राणायाम द्वारा अवरुद्ध वायु को धीरे-धीरे निष्कासित कर दें ।

इसी प्रकार के अभ्यास को पद्मासन कहा जाता है । यह पद्मासन समस्त रोगों का विनाशक और परम दुर्लभ होता है । इस आसन की प्रक्रिया का भलीभाँति ज्ञान रखने वाला साधक ही इसमें सफल हो सकता है ।।१०५-१०८।।

अनुष्ठाने कृते प्राणः समश्चलति तत्क्षणात् ।
भवेदभ्यासने सम्यक् साधकस्य न संशयः ।।१०९।।
पद्मासने स्थितो योगी प्राणापानविधानतः ।
पूरयेत्स विमुक्तःस्यात्सत्यं सत्यं वदाम्यहम् ।।११०।।

पद्मासन के अभ्यासी साधक के प्राण समरूप होकर सुषुम्ना नाड़ी में प्रविष्ट हो

जाया करते हैं जिसके फलस्वरूप नि:सन्देह ही साधक की साम्यावस्था हो जाती है। देवी पार्वती से शिवजी कहते हैं कि पद्मासन लगाकर अपने प्राण-अपान वायु को एकीकृत कर लेने वाला साधक निश्चय ही इस संसार-सागर से पार उतर जाता है ॥१०९-११०॥

उग्रासन

प्रसार्य चरणद्वन्द्वं परस्परमसंयुतम् ।
स्वपाणिभ्यां दृढं धृत्वा जानूपरि शिरोन्यसेत् ।।१११।।
आसनोग्रमिदं प्रोक्तं भवेदनिलदीपनम् ।
देहावसानहरणं पश्चिमोत्तानसंज्ञकम् ।।११२।।
य एतदासनं श्रेष्ठं प्रत्यहं साधयेत् सुधीः ।
वायुः पश्चिममार्गेण तस्य संचरति ध्रुवम् ।।११३।।

इस आसन का अभ्यास करने के लिए दोनों पैरों को परस्पर मिलाकर उन्हें फैला दें। पुन: दोनों हाथों से पैर के अँगूठों को कसकर पकड़ें और घुटने पर शिर को टिका दें। इसी को उग्रासन कहा जाता है। इसके द्वारा वायु का प्रज्वलन तथा मृत्यु का भी निवारण होता है। इस आसन को पश्चिमोत्तान आसन के नाम से भी जाना जाता है, क्योंकि इसके अभ्यासी का वायु पश्चिममार्गवाही होकर शरीर में संचरण करने लगता है। अत: प्रबुद्ध साधकों को प्रतिदिन इसका अभ्यास नियमपूर्वक करना चाहिए ॥१११-११३॥

एतदभ्यासशीलानां सर्वसिद्धिः प्रजायते ।
तस्माद्योगी प्रयत्नेन साधयेत् सिद्धमात्मनः ।।११४।।
गोपनीयं प्रयत्नेन न देयं यस्य कस्यचित् ।
येन शींघ्र मरुत्सिद्धिर्भवेद्दुःखौघनाशिनी ।।११५।।

इस प्रकार के अभ्यासशील साधक में समस्त सिद्धियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। यह आसन परम गोपनीय है। इसे किसी अनधिकारी और अयोग्य व्यक्ति से नहीं बतलाना चाहिए। इस आसन के परिणामस्वरूप वायु को शीघ्र ही वश में लाया जा सकता है तथा सभी प्रकार के रोगों और कष्टों से सहज ही छुटकारा मिल जाया करता है। अतएव आत्मसिद्धि हेतु इस आसन का अभ्यास प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य कहा गया है ॥११४-११५॥

स्वस्तिकासन

जानूर्वोरन्तरे सम्यग् धृत्वा पादतले उभे ।
समकायः सुखासीनः स्वस्तिकंतत्प्रचक्षते ।।११६।।
अनेन विधिना योगी मारुतं साधयेत् सुधीः ।
देहेन क्रमते व्याधिस्तस्य वायुश्च सिध्यति ।।११७।।

सुखासनमिदं प्रोक्तं सर्वदुःखप्रणाशनम् ।
स्वस्तिकंयोगिभिर्गोप्यं स्वस्तीकरणमुत्तमम् ।।११८।।

स्वस्तिकासन के लिए घुटनों और जाँघों के बीच में भली प्रकार से पैर के तलुए को जमाकर साम्यावस्था में बैठना ही स्वस्तिकासन कहा जाता है । इस आसन के द्वारा साधक शरीरस्थ वायु को अविलम्ब वशवर्ती बना लेने में सक्षम हो जाता है। इसके द्वारा शरीर में रोगोत्पत्ति नहीं होती । इस आसन को सहज रूप से सम्पन्न कर लिये जाने के कारण ही इसे सुखासन भी कहा जाता है । इस सर्वोत्तम आसन को सदैव ही गुप्त रखना उचित है ॥११६-११८॥

इति श्रीशिवसंहितायां शिवगौरीसंवादे योगाभ्यासकथनं नाम तृतीय पटलः सम्पूर्णम् ॥३॥

इस प्रकार श्रीशिवसंहिता के योगाभ्यास कथन नामक तीसरे पटल की पं० हरिहरप्रसाद त्रिपाठीकृत हिन्दी व्याख्या समाप्त हुई ॥३॥

◆

चतुर्थ पटलः

मुद्रा वर्णन

आदौ पूरकयोगेन स्वाधारे पूरयेन्मनः ।
गुदमेढ्रान्तरे योनिस्तामाकुञ्च्य प्रवर्तते ।।१।।

सर्वप्रथम योगाभ्यासी ओंकारमूलक प्राणायाम के द्वारा वायु को कर्षित करके उसे मूलाधार चक्र में स्थापित कर दे । तत्पश्चात् मलद्वार तथा जननेन्द्रिय के मध्यवर्ती योनिस्थान का चेष्टापूर्वक संकोचन करे । अब यहाँ नीचे की पंक्तियों में योनिमुद्रा का विशद वर्णन किया जा रहा है ॥१॥

योनिमुद्रा

ब्रह्मयोनिगतं ध्यात्वा कामं कन्दुकसन्निभम् ।
सूर्यकोटिप्रतीकाशं चन्द्रकोटिसुशीतलम् ।।२।।
तस्योर्ध्वं तु शिखा सूक्ष्मा चिद्रूपा परमा कला ।
तथा सहितमात्मानमेकीभूतं विचिन्तयेत् ।।३।।

ब्रह्मयोनि के मध्य गेंद के समान धवल तथा करोड़ों-करोड़ सूर्य की आभा के सदृश देदीप्यमान एवं करोड़ चन्द्रमाओं के समान शीतलतायुक्त कामदेव का ध्यान धारण करना चाहिए । उसी के ऊपर सूक्ष्म ज्योति के समान चमकीली, चिद्रूप तथा परमकला के सहित एक ही आत्मा का ध्यान करे, क्योंकि ब्रह्मयोनि के ऊपर सूक्ष्म जयोतिशिखा के रूप में आत्मा की वर्तमानता रहती है । अतः साधक के लिए वही ध्यातव्य है ॥२३॥

गच्छति ब्रह्ममार्गेण लिङ्गत्रयक्रमेण वै ।
सूर्यकोटिप्रतीकाशं चन्द्रकोटिसुशीतलम् ।।४।।
अमृतं तद्धि स्वर्गस्थं परमानन्दलक्षणम् ।
श्वेतरक्तं तेजसाढ्यं सुधाधाराप्रवर्षिणम् ।
पीत्वा कुलामृतं दिव्यं पुनरेव विशेत्कुलम् ।।५।।

प्रत्येक जीव उसी ब्रह्मयोनिपथ से सुषुम्ना नाड़ी मार्ग द्वारा क्रमानुसार लिंगत्रय से गमन करता है । देहधारी में तीन प्रकार के लिंग कहे गये हैं, जैसे— १. स्थूल, २. सूक्ष्म और ३. कारण । मृत्यु के उपरान्त ये तीनों लिंग अर्थात् स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर नहीं रह जाते है । करोड़ों सूर्य की कांति वाले, करोड़ों चन्द्र की शीतलता वाले, श्वेत तथा रक्त वर्ण वाले परमानन्दरूप एवं अमृत की धारावाही वर्षा करने वाले स्वर्गस्थ अलौकिक कलामृत का पान करके पुनः योनिमण्डल में अवस्थित हो जाता है ।।४-५।।

पुनरेव कुलं गच्छेन्मात्रायोगेन नान्यथा ।
सा च प्राणसमाख्याता ह्यस्मिंस्तन्त्रे मयोदिता ।।६।।
पुनः प्रलीयते तस्यां कालाग्न्यादिशिवात्मकम् ।
योनिमुद्रा परा ह्येषा बन्धस्तस्याः प्रकीर्तितः ।।७।।
तस्यास्तु बन्धमात्रेण तन्नास्ति यं न साधयेत् ।।८।।

इसके अनन्तर प्राणायाम के द्वारा प्राणवायु ब्रह्मयोनिमार्ग से प्रस्थित होता है । इसे मिथ्या नहीं समझना चाहिए । मैंने उसी ब्रह्मयोनि को प्राणसंज्ञक भी कहा है । तत्पश्चात् वह जीव कालाग्नि से समन्वित शिवरूप होकर गमन करता हुआ चन्द्रमण्डल में जाकर अमृतपान करता तथा पुनः लौटकर ब्रह्मयोनि में ही अवस्थित हो जाया करता है । इसी बन्ध को योनिमुद्रा कहते हैं । केवल एक अकेले इस बन्ध के करने से प्राणी के लिए इस जगत में कोई भी वस्तु अलभ्य नहीं रह जाती है । इस योनिमुद्रा की सिद्धि होने पर सभी सिद्धियाँ सहज ही आ जाती हैं ।।६-८।।

छिन्नरूपास्तु ये मन्त्राः कीलिताः स्तम्भिताश्च ये ।
दग्धामन्त्राः शिरोहीना मलिनास्तु तिरस्कृताः ।।९।।
मन्दा बालास्तथा वृद्धाः प्रौढा यौवनगर्विताः ।
भेदिनो भ्रमसंयुक्ताः सप्ताहं मूर्च्छिताश्च ये ।।१०।।

जो मंत्र छिन्न-भिन्नस्वरूप, कीलित, स्तम्भित, दग्ध, मुंडविहीन, मलिन या अनादृत है अथवा जो बाल (अल्प प्रभावयुक्त), वृद्ध (समग्र प्रभाव वाले), प्रौढ़ (मध्यम प्रभावशील), यौवनगर्वित (प्रचण्ड स्वभाव वाले), भेदयुक्त (भ्रमान्वित करने वाले) तथा सप्ताहों से निष्क्रिय पड़े हैं ।।९-१०।।

अरिपक्षे स्थिता ये च निर्वीर्यः सत्त्ववर्जिताः ।
तथा सत्त्वेन हीनाश्च खंडिताः शतधाकृताः ।।११।।
विधिनानेन संयुक्तः प्रभवन्त्यचिरेण तु ।
सिद्धिमोक्षप्रदाः सर्वे गुरुणा विनियोजिताः ।।१२।।

अथवा ऐसे मन्त्र जो शत्रु के लिए लाभकारी हैं या जो निस्तेज और सत्त्वहीन हैं या जो सत्त्वविहीन होने के साथ-ही-साथ खंडित होकर सैकड़ों टुकड़ों में बिखर गये हैं, वे सभी मन्त्र उक्त योनिमुद्रा की सिद्धि होने या गुरु द्वारा प्रदत्त उपदेशानुसार कार्य करने पर सिद्ध, प्रभावशाली और मोक्षदाता हो जाते हैं ॥११-१२॥

यद्यदुच्चरते योगी मंत्ररूपं शुभाशुभम् ।
तत्सिद्धिंसमवाप्नोति योनिमुद्रानिबन्धनात् ।।१३।।
दीक्षयित्वा विधानेन अभिषिञ्च्य सहस्रधा ।
ततो मंत्राधिकारार्थमेषा मुद्रा प्रकीर्तिता ।।१४।।

योगी के द्वारा मन्त्रोच्चार काल में जो भी मन्त्र शुद्धाशुद्ध रूप से उच्चरित हुआ करते हैं वे सभी इस योनिमुद्रा के बन्ध से शुद्ध एवं सिद्धिप्रद हो जाते हैं। अपने जिज्ञासु साधक शिष्य के प्रति गुरु का भी यह कर्तव्य होता है कि वह शिष्य के मन्त्र ग्रहणार्थ उसे इस योनिमुद्रा की दीक्षा देकर उससे इसका अभ्यास सहस्रों बार कराता रहे। गुरु को अपने शिष्य से किसी रहस्य का गोपन करना भी उचित नहीं है ॥१३-१४॥

ब्रह्महत्यासहस्राणि त्रैलोक्यमपि घातयेत् ।
नासौ लिप्यति पापेन योनिमुद्रानिबन्धनात् ।।१५।।
गुरुहा च सुरापी च स्तेयी च गुरुतल्पगः ।
एतैः पापैर्न बध्येत् योनिमुद्रानिबन्धनात् ।।१६।।

साधक द्वारा सहस्रों जीवहिंसा करने या त्रैलोक्य के समस्त प्राणियों का वध कर डालने पर भी उसे इस मुद्रा के फलस्वरूप पाप में लिप्त नहीं होने पड़ते। गुरुहन्ता, सुरापानक, चौरकर्मकारक, गुरुशैय्या में रमणकर्ता या इसी प्रकार के अन्य पापों का पातकी साधक भी योनिमुद्रा की सिद्धि पा लेने पर पापकर्मों का फल नहीं भोगता ॥१५-१६॥

तस्मादभ्यासनं नित्यं कर्तव्यं मोक्षकांक्षिभिः ।
अभ्यासाज्जायते सिद्धिरभ्यासान्मोक्षमाप्नुयात् ।।१७।।
संविदं लभतेऽभ्यासात् योगोऽभ्यासात्प्रवर्तते ।
मुद्रिणां सिद्धिरभ्यासादभ्यासाद्वायुसाधनम् ।।१८।।

मोक्षार्थी साधक का यह आवश्यक कर्म है कि वह नित्यप्रति योनिमुद्रा की साधना में संलग्न रहे। अभ्यास की सिद्धि मिलने पर अन्य सिद्धियाँ भी मिलती तथा उसी के द्वारा वह मुक्ति पाने का अधिकारी भी बनता है। अभ्यास के द्वारा ही ज्ञानोत्पत्ति, योग में प्रवृत्ति तथा वायुसाधना की सिद्धि भी सम्भव होती है ॥१७-१८॥

कालवञ्चनमभ्यासात्तथा मृत्युञ्जयो भवेत् ।
वाक्सिद्धिः कामचारित्वं भवेदभ्यासयोगतः ।।१९।।
योनिमुद्रा परं गोप्या न देया सस्य कस्यचित् ।
सर्वथा नैव दातव्या प्राणैः कण्ठगतैरपि ।।२०।।

अभ्यास के द्वारा ही काल को लाँघकर मृत्युजयी बनने का गौरव भी प्राप्त किया जा सकता है। उसी से वाक्सिद्धि तथा अभीप्सित आचरण की शक्ति भी मिलती है। अतएव योगाभ्यासी को निरन्तर अभ्यासपरायण रहना चाहिए। यह योनिमुद्रा अतीव गोपनीय होती है। इसे कभी किसी अयोग्य या अनधिकारी व्यक्ति से प्राण के कंठगत हो जाने पर भी नहीं बतलाना चाहिए ॥१९-२०॥

अधुना कथयिष्यामि योगसिद्धिकरं परम् ।
गोपनीयं सुसिद्धानां योगं परमदुर्लभम् ।।२१।।
सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली ।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च ।।२२।।

शिवजी कहते हैं कि हे देवि ! अब में जिस योग-प्रक्रिया का वर्णन करने जा रहा हूँ वह परमोत्कर्षकारक और अत्यन्त सिद्धिप्रदायक है। कठिनता से सिद्ध होने वाली इस दुर्लभ विद्या को गुप्त रखना ही उत्तम सिद्ध पुरुषों का आवश्यक कर्तव्य है। गुरु के अनुग्रह से अर्थात् उनके कथनानुसार जब सोयी हुई कुंडलिनी जाग उठती है तब सभी पद्म-दलों (चक्रों) तथा सभी गाँठों का भेदन हो जाता है। तात्पर्य यह है कि कुंडलिनी के साथ सुषुम्नापथ से ब्रह्मरन्ध्र तक प्राणवायु का संचरण सुगमतापूर्वक होने लगता है ॥२१-२२॥

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम् ।
ब्रह्मरन्ध्रमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ।।२३।।

साधक को सभी प्रयासों के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र-विवर को अवरुद्ध कर सुप्तावस्था में पड़ी हुई कुंडलिनी को जगाने के लिए उसे मुद्राभ्यास में लग जाना चाहिए, क्योंकि कुंडलिनी के जाग्रत न होने तक मोक्षद्वार के कपाट नहीं खुलते ॥२३॥

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी ।
जालन्धरो मूलबन्धो विपरीतकृतिस्तथा ।।२४।।
उड्डानं चैव वज्रोली दशमं शक्तिचालनम् ।
इदं हि मुद्रादशकं मुद्राणामुत्तमोत्तमम् ।।२५।।

योगसाधना में प्रमुखतः दश मुद्राएँ बतलायी गयी हैं जो इस प्रकार से हैं, जैसे— (१) महामुद्रा, (२) महाबन्ध, (३) महावेध, (४) खेचरी मुद्रा, (५) जालंधरबन्ध, (६) मूलबन्ध, (७) विपरीतकरणी मुद्रा, (८) उड्डीयान बन्ध, (९)

वज्रोली मुद्रा तथा (१०) शक्तिचालिनी मुद्रा। उक्त दश प्रकार की मुद्राएँ समस्त मुद्राओं में सर्वोत्तम हैं ॥२४-२५॥

महामुद्रा

महामुद्रां प्रवक्ष्यामि तन्त्रेऽस्मिन्मम वल्लभे।
यां प्राप्य सिद्धाः सिद्धिं च कपिलाद्याः पुरागताः ॥२६॥

शिवजी देवी पार्वती के प्रति उन्मुख होकर कहते हैं—हे प्राणवल्लभे ! मैं इस तन्त्र में जिन-जिन मुद्राओं का कथन कर रहा हूँ उन-उन मुद्राओं की साधना से ही सांख्यशास्त्र के प्रवर्तक कपिल आदि प्राचीन ऋषि-मुनियों ने सिद्धि उपलब्ध की थी ॥२६॥

अपसव्येन संपीड्य पादमूलेन सादरम्।
गुरूपदेशतो योनिं गुदमेढ्रान्तरालगाम् ॥२७॥
सव्यं प्रसारितं पाद धृत्वा पाणियुगेन वै।
नव द्वाराणि संयम्य चिबुकं हृदयोपरि ॥२८॥
चित्तं चित्तपथे दत्त्वा प्रभवेद्वायुसाधनम्।
महामुद्रा भवेदेषा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥२९॥
वामाङ्गेन समभ्यस्य दक्षाङ्गेनाभ्यसेत्पुनः।
प्राणायामं समं कृत्वा योगी नियतमानसः ॥३०॥

इस मुद्रा की सम्पन्नता हेतु बाएँ पैर को मोड़कर उसकी एड़ी को गुदाद्वार और शिश्न के मध्य वाले योनिस्थान (सीवन) से लगाकर आदरपूर्वक गुरु के उपदेशानुसार दबाएँ। अब दाहिना पैर सीधा फैलाकर उसे दोनों हाथों से पकड़ लें। तदनन्तर शरीर के अन्य नव द्वारों (छिद्रों) को रोककर अपनी ठुड्डी को हृदय पर स्थापित कर दें। पुनः चैतन्यस्वरूप में अपनी चित्तवृत्ति को स्थिर करके वायु की साधना करे। इस महामुद्रा को सभी तन्त्रों में गुप्त रखने का आदेश दिया गया है। इस मुद्रा का अभ्यास पहले वामांग और पुनः दक्षिणांग से करने का विधान है। संयत चित्त वाले योगाभ्यासी को यह प्राणायाम समान रूप से करणीय है ॥२७-३०॥

अनेन विधिना योगी मन्दभाग्योऽपि सिध्यति।
सर्वासामेव नाडीनां चालनं बिन्दुमारणम् ॥३१॥
जीवनं तु कषायस्य पातकानां विनाशनम्।
कुण्डलीतापनं वायोर्ब्रह्मरन्ध्रप्रवेशनम् ॥३२॥

इस प्रक्रिया के अपनाने से हतभाग्य योगी भी सिद्धिलाभ कर लेना है, क्योंकि इसकी प्रभावशालिता से सम्पूर्ण नाड़ियों का परिचालन होकर बिन्दु (वीर्य) का स्थिरीकरण हो जाता है। उक्त प्रकार का अभ्यास जीवन में स्थिरता लाने तथा समस्त पाप-पुंजों का नाश करने हेतु होता है। इसके परिणामस्वरूप उसमें कुंडलिनी को

जाग्रत कर प्राण के साथ ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचाने की शक्ति आ जाती है ॥३१-३२॥

सर्वरोगोपशमनं जठराग्निविवर्धनम् ।
वपुषा कान्तिममलां जरामृत्युविनाशनम् ॥३३॥
वांछितार्थफलंसौख्यमिंद्रियाणाञ्च मारणम् ।
एतदुक्तानि सर्वाणि योगारूढस्य योगिनः ।
भवेदभ्यासतोऽवश्यं नात्र कार्या विचारणा ॥३४॥

इस प्रकार की युक्ति से समग्र रोग उपशमित होकर क्षुधाग्नि का वर्धन होता है। इसके द्वारा शरीर सौन्दर्यमय, स्वच्छ तथा दीप्तिमान हो उठता है और इसके साथ ही जरा-मरण का भी उन्मूलन हो जाता है। ऐसा साधक समस्त अभिलषित पदार्थों को प्राप्त कर सुखानुभव करता हुआ इन्द्रियदमन में भी सक्षम हो जाता है। इससे मिलने वाले जो भी लाभ कहे गये हैं वे सभी योगाभ्यासी को उपलब्ध होते हैं। इसमें सोच-विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं है ॥३३-३४॥

गोपनीया प्रयत्नेन मुद्रेयं सुरपूजिते ।
यान्तु प्राप्य भवाम्भोधेः पारं गच्छन्ति योगिनः ॥३५॥
मुद्रा कामदुघा ह्येषा साधकानां मयोदिता ।
गुप्ताचारेण कर्तव्या न देया यस्य कस्यचित् ॥३६॥

शिवजी ने पार्वती से कहा—हे देवों द्वारा पूजित देवि ! मेरे द्वारा कथित इस मुद्रा को सदैव ही गुप्त रखना चाहिए। इसका कथन उन्हीं लोगों से करना चाहिए जिनमें इसके प्रति अभिरुचि हो। इसकी उपलब्धि से योगिजन भवार्णव (संसार-सागर) से पार हो जाते हैं। यह मुद्रा कामधेनु गाय (एक स्वर्गीय गाय जो सभी आंकाक्षाओं की पूर्ति कर देती है) के समान सभी फलों को देने वाली है। इसका साधन चुपचाप गुप्त रूप से करना आवश्यक होता है। इसे कभी किसी अनधिकारी या अयोग्य पुरुष से नहीं कहना चाहिए ॥३५-३६॥

महाबन्ध मुद्रा

ततः प्रसारितः पादो विन्यस्य तमुरूपरि ॥३७॥
गुदयोनिं समाकुञ्च्य कृत्वा चापानमूर्ध्वगम् ।
योजयित्वा समानेन कृत्वा प्राणमधोमुखम् ॥३८॥

तत्पश्चात् पैर को फैलाकर बायीं जाँघ पर दाएँ पैर को स्थापित कर दें और गुदाद्वार तथा योनिस्थान (सीवन) का संकोचन कर अपानवायु को ऊपर की ओर ले जायँ ताकि वह समान वायु के साथ मिलित होकर प्राणवायु को नीचे की ओर उतार दे। अर्थात् प्राणवायु का गमन नीचे की ओर हो जाय ॥३७-३८॥

बन्धयेदूर्ध्वगत्यर्थं प्राणापानेन यः सुधीः ।
कथितोऽयं महाबन्धः सिद्धिमार्गप्रदायकः ॥३९॥

नाडीजालाद्रसव्यूहो मूर्धानं यान्ति योगिनः ।
उभाभ्यां साधयेत्पद्भ्यामेकैकं सुप्रयत्नतः ।।४०।।

प्राण-अपान को एकीकृत करने हेतु जो प्रबुद्ध साधक इस बन्ध का अभ्यास करता है उसके लिए यह सकलीभूत होता है। अथवा योगी के नाड़ीजाल से रस-समूह शिरोभाग में प्रवाहित होता है अर्थात् ऊर्ध्व भाग में गमनशील हो उठता है। अत: मुद्रा एवं बन्ध— इन दोनों को ही प्रत्येक अंग द्वारा भली प्रकार से करना आवश्यक हैं ।।३९-४०।।

भवेदभ्यासतो वायुः सुषुम्णामव्यसङ्गतः ।
अनेन वपुषः पुष्टिर्दृढबन्धोऽस्थिपञ्जरे ।।४१।।
सम्पूर्णहृदयो योगी भवन्त्येतानि योगिनः ।
बन्धेनानेन योगीन्द्रः साधयेत्सर्वमीप्सितम् ।।४२।।

इस प्रकार का अभ्यास सुषुम्ना नाड़ी में प्राणवायु को स्थिर कर देता है तथा अभ्यासी के शरीर का पुष्टिवर्धन भी करता है। इसके द्वारा योगाभ्यासी के सभी अस्थि-समूहों तथा बन्धनों का दृढ़ीकरण हो जाता है। ऐसे योगी का हृदय पूरी तरह से परितुष्ट रहता और उसकी अभिलाषाएँ पूरी हो जाती है। वह अपने सर्वाभीष्ट को प्राप्त कर लेता है ।।४१-४२।।

महावेध

अपानप्राणयोरैक्यं कृत्वा त्रिभुवनेश्वरि ।
महावेधस्थितो योगी कुक्षिमापूर्य वायुना ।
स्फिचौसंताडयेद्धीमान् वेधोऽयं कीर्तितो मया ।।४३।।
वेधेनानेन संविध्य वायुना योगिपुङ्गवः ।
ग्रन्थिं सुषुम्णामार्गेण ब्रह्मग्रन्थिं भिनत्त्यसौ ।।४४।।

हे त्रिभुवनेश्वरि ! महाबन्ध में अवस्थित योगी के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने प्राण-अपान वायु का एकीकरण करके उदर में वायु का संचयन कर ले। तत्पश्चात् वह दोनों कूल्हों के दोनों ओर का ताड़न करे। यह वेध मेरे द्वारा कथित है। योगियों में उत्तम साधक इस वेध का अभ्यास करता हुआ सुषुम्ना-पथ से ब्रह्मग्रन्थि के भेदन का प्रयास करता है। इस बन्ध में कुशल योगी ही सफल होकर अभीप्सित पदार्थों की उपलब्धि कर सकता है ।।४३-४४।।

यः करोति सदाभ्यासं महावेधं सुगोपितम् ।
वायुसिद्धिर्भवेत्तस्य जरामरणनाशिनी ।।४५।।
चक्रमध्ये स्थिता देवाः कम्पन्ति वायुताडनात् ।
कुण्डल्यपि महामाया कैलासे सा विलीयते ।।४६।।

जो प्राणी इस श्रेष्ठतम महावेध को गुप्त रखकर निरन्तर अभ्यासशील रहा

करता हैं उसे जरा-मरणनाशक वायु की सिद्धि मिल जाती है। शरीरस्थ षट्चक्रों (आधार, स्वाधिठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध तथा आशाचक्र) में निवसित देवता—गणेश, ब्रह्मा, विष्णु, शिव तथा अग्नि आदि वायु के प्रताड़न से कम्पित हो उठते हैं और महामायास्वरूपा कुंडलिनी शक्ति ब्रह्मस्थान में विलीन हो जाती है। तात्पर्य यह है कि वायु का दबाव वेगपूर्वक पड़ने के फलस्वरूपं वे सभी देवता अपने-अपने स्थान का परित्याग का देते हैं जिससे उन स्थानों में प्राणवायु का प्रवेश सुगमता से हो सकता है ॥४५-४६॥

महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलो वेधवर्जितौ ।
तस्माद्योगी प्रयत्नेन करोति त्रितयं क्रमात् ।।४७।।
एतत्त्रयं प्रयत्नेन चतुर्वारं करोति यः ।
षण्मासाभ्यन्तरं मृत्युं जयत्येव न संशयः ।।४८।।

वेध के अभाव में महामुद्रा और महाबन्ध— ये दोनों ही सफल नहीं हो सकते। अतएव योगाभ्यासी को चेष्टापूर्वक इन तीनों ही साधनों का अभ्यास प्रतिदिन करना चाहिए। जो पुरुष मुद्रा, बन्ध और वेध— इन तीनों का चार बार अभ्यास नित्य करता है वह छह महीने के अभ्यास द्वारा मृत्यु पर विजय पा लेता है। इस विषय में किसी प्रकार का सन्देह करना अनावश्यक होता है ॥४७-४८॥

एतत्त्रयस्य माहात्म्यं सिद्धो जानाति नेतरः ।
यज्ज्ञात्वा साधकाः सर्वेसिद्धिं सम्यक् लभन्ति वै ।।४९।।
गोपिनीया प्रयत्नेन साधकैः सिद्धिमीप्सुभिः ।
अन्यथाचन सिद्धिः स्यान्मुद्राणामेष निश्चयः ।।५०।।

मुद्रा, बन्ध और वेध—इन तीनों की महत्ता से केवल सिद्ध पुरुष ही परिचित होते हैं, अन्य कोई भी इसे नहीं जान सकता। उक्त तीनों साधनों के ज्ञानोपरान्त साधक सम्पूर्ण सिद्धियों को प्राप्त करने में सफल हो जाता है। सिद्धाभिलाषी साधक के लिए उचित है कि वह ऐसे अभ्यास को सदैव गुप्त ही रखे। इस अभ्यास का कथन किसी सामान्य व्यक्ति से करने पर साधक को सिद्धि मिलना सम्भव नहीं होता ॥४९-५०॥

खेचरीमुद्रा

भ्रुवोरन्तर्गतां दृष्टिं विधाय सुदृढा सुधीः ।।५१।।
उपविश्यासने वज्रे नानोपद्रववर्जितः ।
लंबिकोर्ध्व स्थिते गर्ते रसनां विपरीतगाम् ।।५२।।
संयोजयेत् प्रयत्नेन सुधाकूपे विचक्षणः ।
मुद्रैषा खेचरी प्रोक्ता भक्तानामनुरोधतः ।।५३।।

इस मुद्रा के लिए प्रबुद्ध साधक को दोनों भौंहों के मध्यवर्ती स्थान में अपनी दृष्टि जमाकर उपद्रवविहीन सिद्धासन में बैठना आवश्यंक है। अपनी जीभ को जिह्वाविवर

में ले जाकर अमृतरूप उस कूप में अर्थात् तालुमूल में स्थापित कर दें। अभिप्राय यह है कि जीभ को पलटकर गलघंटिका के पीछे तालु से सटा दें तो यह खेचरी मुद्रा कही जाती है। इसे मैंने भक्तों के हितार्थ ही प्रकाशित किया है ।।५१-५३।।

सिद्धीनां जननी ह्येषा मम प्राणाधिकप्रिया ।
निरन्तरकृताभ्यासात्पीयूष प्रत्यहं पिबेत् ।
तेन विग्रहसिद्धिः स्यान्मृत्युमातङ्गकेसरी ।।५४।।

शिवजी ने कहा—हे देवि ! यह मुद्रा मुझे अपने प्राणों से भी अधिक प्यारी है। यह समस्त सिद्धियों की उत्पन्नकर्त्री है। इस मुद्रा की साधना करने वाला साधक निश्चित रूप से अमृत-पान करता रहता है। इसके द्वारा साधक को शरीरस्थ देवताओं की सिद्धि मिल जाया करती है और उसे शारीरिक पुष्टता भी प्राप्त होती है। अर्थात् यह खेचरी मुद्रा मृत्युरूप हाथी के वधार्थ सिंह के समान है ।।५४।।

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा ।
खेचरी यस्य शुद्धा तु स शुद्धो नात्र संशयः ।।५५।।
क्षणार्धं कुरुते यस्तु तीर्त्वा पापमहार्णवम् ।
दिव्यभोगान् प्रभुक्त्वाच सत्कुले स प्रजायते ।।५६।।

कोई भी योगाभ्यासी पवित्र-अपवित्र या किसी भी अवस्था में क्यों न हो, इस खेचरी मुद्रा की सिद्धि से वह सर्वथैव पावन हो जाता है। यह बात निःसन्देह रूप से सत्य है। जो साधक इस मुद्रा का अभ्यास क्षणभर भी कर लेता है वह पापरूपी महासागर से पार जाकर देवलोक में सुखोपभोग करता है। तदनन्तर पुनर्जन्म धारध करने पर उसकी उत्पत्ति किसी कुलीन वंश में होती है ।।५५-५६।।

मुद्रैषा खेचरी यस्तु सुस्थचित्तो ह्यतन्द्रितः ।
शतब्रह्मगतेनापि क्षणार्धं मन्यते हि सः ।।५७।।
गुरूपदेशतो मुद्रां यो वेत्ति खेचरीमिमाम् ।
नानापापरतो धीमान् स याति परमां गतिम् ।।५८।।

जो योगाभ्यासी इस खेचरी मुद्रा की साधना करता हुआ स्वस्थ-चित्त से ब्रह्मपरायण रहता है उसे सैकड़ों ब्रह्मा के आयुकाल के विगत हो जाने पर भी वह दीर्घावधि क्षणमात्र ही प्रतीत होती है। जिस साधक को गुरुदीक्षा के फलस्वरूप यह खेचरी मुद्रा सिद्ध हो जाती है उसे अनेक प्रकार के पापाचरण में लिप्त रहने पर भी निर्वाणपद की उपलब्धि हो जाती है। अर्थात् इस मुद्रा की साधना से साधक के सभी पापों का उन्मूलन हो जाता है ।।५७-५८।।

सा प्राणसदृशी मुद्रा यस्मै कस्मै न दीयते ।
प्रच्छाद्यते प्रयत्नेन मुद्रेयं सुरपूजिते ।।५९।।

शिवजी कहते हैं कि हे सुरवन्दिते देवि ! यह मुद्रा प्राणों से भी अधिक प्रिय

है। अत: इसे किसी अयोग्य व्यक्ति से न कहकर सदैव गुप्त ही रखना चाहिए ॥५९॥

जालन्धरबन्ध

बद्धा गलशिराजालं हृदये चिबुकं न्यसेत् ।
बन्धो जालन्धरः प्रोक्तो देवानामपि दुर्लभः ॥६०॥
नाभिस्थवह्निर्जन्तूनां सहस्त्रकमलच्युतम् ।
पिबेत्पीयूषविस्तारं तदर्थं बन्धयेदिमम् ॥६१॥

इस बन्ध के लिए कंठप्रदेश की शिराओं को आबद्ध कर हृदय से ठुड्डी को मिला लें तो यह जालंधरबन्ध कहा जाता है। यह देवताओं के लिए भी दुर्लभ होता है। अर्थात् इसके अभ्यासकाल में गले को नीचे झुकाकर ठोड़ी को हृदय से लगाना पड़ता है। सहस्रार (सहस्रदल कमल) से क्षरित होने वाले अमृत को नाभिप्रदेश में स्थित जठराग्नि सुखा दिया करता है, किन्तु उसे रोकने के लिए जालन्धरबन्ध करना आवश्यकता होता है। इस बन्ध के द्वारा साधक चन्द्रमा से स्त्रवित होने वाले अमृत का पान स्वयं ही करके कालजयी बन जाता है, क्योंकि जठराग्नि द्वारा अमृत का शोषण कर लेने से ही प्राणी की मृत्यु होती हैं ॥६०-६१॥

बन्धेनानेन पीयूषं स्वयं पिबति बुद्धिमान् ।
अमरत्वञ्चं सम्प्राप्य मोदते भुवनत्रये ॥६२॥
जालंधरो बन्ध एष सिद्धानां सिद्धिदायकः ।
अभ्यासः क्रियते नित्यं योगिनासिद्धिमिच्छता ॥६३॥

इस जालंधरबन्ध के परिणामस्वरूप साधक स्वयं ही अमृतपान करने में सक्षम हो जाता और अमरत्व को प्राप्त करता है। इसके द्वारा वह त्रैलोक्य में सुखपूर्वक विहार करता रहता है। यह जालन्धरबन्ध सिद्धिप्राप्त पुरुषों के लिए भी सिद्धिदायक प्रमाणित होता है। इसका निरन्तर अभ्यास करने वाला योगी सिद्धिलाभ करता है ॥६१-६३॥

विशेष सावधानी—पूरक प्राणायाम करने के पश्चात् कुम्भक प्राणायाम-काल में प्राणवायु के अवरोधीकरण में इससे सरलता होती है, किन्तु रेचक के समय इसे खोल देना चाहिए। इस बन्ध की प्रक्रिया अत्यन्त सरल है, किन्तु इसमें सावधानी रखने की आवश्यकता है। इसके अभ्यासकाल में रीढ़ की हड्डी को सीधा रखना चाहिए, अन्यथा उसके टेढ़ी होने की सम्भावना बनी रहती है।

मूलबन्ध

पादमूलेन सम्पीड्य गुदमार्गेषु यन्त्रितम् ॥६४॥
बलादपानमाकृष्य क्रमादूर्ध्वं सुचारयेत् ।
कल्पितोऽयं मूलबन्धो जरामरणनाशनः ॥६५॥
अपानप्राणयोरैक्यं प्रकरोत्यधिकल्पितम् ।
बन्धेनानेन सुतरां योनिमुद्रा प्रसिद्ध्यति ॥६६॥

गुदाद्वार को सिकोड़कर उसे पैर की एड़ी से दबाएँ तथा अपानवायु को बलात् ऊपर की ओर खींचे। इस क्रिया के द्वारा प्राण-अपान का एकीकरण होता है। इस बन्ध को जरा-मृत्युविनाशक मूलबन्ध के नाम से जाना जाता है। इस प्रकार प्राण-अपान वायु के मिलन से योनिमुद्रा स्वयं ही सिद्ध हो जाया करती है ॥६४-६६॥

सिद्धायां योनिमुद्रायां किं न सिध्यति भूतले ।
बन्धस्यास्य प्रसादेन गगने विजितानिलः ।
पद्मासने स्थितो योगी भुवमुत्सृज्य वर्तते ।।६७।।
सुगुप्ते निर्जने देशे बन्धमेनं समभ्यसेत् ।
संसारसागरं तर्तुं यदीच्छेद्योगिपुङ्गवः ।।६८।।

इस योनिमुद्रा की सिद्धि हो जाने पर सिद्ध पुरुषों के लिए इस धरातल पर कोई भी वस्तु दुष्प्राप्य नहीं रह जाती। इस बन्ध के अभ्यास से वायु को सहज ही वश में लाया जा सकता है। ऐसी स्थिति में यदि साधक पद्मासन लगाकर बैठ जाय तो उसमें आकाश-गमन की शक्ति आ जाती है। वह धरती से ऊपर उठकर नभ-मण्डल में विचरने लगता है। इस प्रकार का उत्तम योगी यदि भवसागर से पार जाने का इच्छुक हो तो उसे इसका अभ्यास किसी निर्जन वन में गुप्त रहकर करना उचित होता है ॥६७-६८॥

विपरीतकरणीमुद्रा

भूतले स्वशिरो दत्त्वा खे नयेच्चरणद्वयम् ।
विपरीतकृतिश्चैषा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ।।६९।।
एतद् यः कुरुते नित्यमभ्यासं याममात्रतः ।
मृत्युं जयति योगीशः प्रलयेनापि सीदति ।।७०।।
कुरुतेऽमृतपानं यः सिद्धानां समतामियात् ।
स सेव्यः सर्वलोकानां बन्धमेनं करोति यः ।।७१।।

यदि कोई योगी अपने शिर को भूमि पर स्थापित कर (शिर के नीचे वस्त्रादि रखकर) अपने दोनों पैरों को आकाश की ओर सीधा खड़ा कर दे तो इसे विपरीतकरणी मुद्रा कहते हैं। इसी को कुछ लोग कपालीमुद्रा भी कहते हैं। इसे अत्यन्त गोपनीय कहा गया है। इस प्रकार की मुद्रा को प्रतिदिन एक प्रहार (३ घण्टा) तक करने वाला योगी मृत्यु पर भी विजय पा लेता है और सृष्टि के प्रलयान्त में भी उसे किसी प्रकार का कष्ट नहीं उठाना पड़ता। इस भाँति शरीरस्थ अमृत का जो साधक निरन्तर पान करता रहता है वह निश्चय ही सिद्ध हो जाता है। इस बन्ध का अभ्यासी साधक सर्वत्र पूजनीय माना जाता है ॥६९-७१॥

उड्डयानबन्ध

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं पश्चिममाचरेत् ।
उड्डयानबन्ध एष स्यात्सर्वदुःखौघनाशनः ।।७२।।

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं तु कारयेत् ।
उड्डयानाख्योऽत्रबन्धोऽयं मृत्युमातङ्गकेसरी ।।७३।।

इस बन्ध में नाभिस्थल को नीचे-ऊपर से खींचकर आँतों को पीठ से सटा दिया जाता है। इसको उड्डयानबन्ध कहा जाता है। इसके अभ्यास द्वारा पंचवायुओं (प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान) का शुद्धिकरण हो जाता है। इसे बैठकर, खड़े होकर या घुटनों के बल भी किया जा सकता है। यह बन्ध मृत्युरूप हाथी को वश में लाने के लिए सिंह के सदृश है। इसके निरन्तर अभ्यास से यौवन चिरस्थायी रहता है और साधक जन्म-मरण के आवागमन से छूट जाता है ॥७२-७३॥

नित्यं यः कुरुते योगी चतुर्वारं दिने दिने ।
तस्य नाभेस्सु शुद्धिः साद्येन सिद्धोभवेन्मरुत् ।।७४।।
षण्मासमभ्यसन्योगी मृत्युं जयति निश्चितम् ।
तस्योदराग्निर्ज्वलति रसवृद्धिः प्रजायते ।।७५।।

इस बन्ध का प्रतिदिन चार बार अभ्यास करनेवाले साधक के नाभिप्रदेश का परिशोधन होकर वायु भी परिशोधित हो जाता है। जो योगी इसका अभ्यास सतत छह मास तक कर लेता है वह मृत्यु को विजित करने में भी सक्षम हो जाता है। इसके अभ्यास से क्षुधाग्नि का दीपन, रसवर्धन एवं शरीरस्थ सम्पूर्ण धातुओं का पुष्टिकरण होता है ॥७४-७५॥

अनेन सुतरां सिद्धिर्विग्रहस्य प्रजायते ।
रोगाणां संक्षयश्चापि योगिनो भवति ध्रुवम् ।।७६।।
गुरोर्लब्ध्वा प्रयत्नेन साधयेत्तु विचक्षणः ।
निर्जने सुस्थिते देशे बन्धं परमदुर्लभम् ।।७७।।

उक्त बन्ध की प्रभावशालितावश योगी का शरीर स्वयमेव ही सिद्धि की ओर अग्रसर होने लगता है जिसके फलस्वरूप उसकी समस्त व्याधियों का नाश हो जाता है। इसकी प्राप्ति गुरु के अनुग्रह से ही सम्भव होती है। इसकी सिद्धि के निमित्त प्रबुद्ध साधक को शान्तचित्त से किसी एकान्त स्थान में बैठकर साधना करनी चाहिए ॥७६-७७॥

वज्रोलीमुद्रा

वज्रोलीं कथयिष्यामि संसारध्वान्तनाशिनीम् ।
स्वभक्तेभ्यः समासेन गुह्याद्गुह्यतमामपि ।।७८।।
स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तनियमैर्विना ।
मुक्तो भवति गार्हस्थो वज्रोल्यभ्यासयोगतः ।।७९।।
वज्रोल्यभ्यासयोगोऽयं भोगे युक्तेऽपि मुक्तिदः ।
तस्मादतिप्रयत्नेन कर्तव्यो योगिभिः सदा ।।८०।।

शिवजी पार्वती से कहते हैं कि हे देवि ! अब मैं अपने भक्तों के हितार्थ सांसारिक अंधकार (अज्ञान) को मिटाने वाली गुह्य से गुह्यतम वज्रोली मुद्रा का कथन कर रहा हूँ। इसके अभ्यास-से शास्त्रकथित नियमों का अनुपालन न करते हुए भी योगी मोक्ष का अधिकारी बन जाता है तथा गृहस्थाश्रमी घर में रहकर स्वेच्छया सभी भोगों का उपभोक्ता हो जाता है। इस वज्रोली मुद्रा की साधना से जब भोगी पुरुष भी मुक्तिलाभ कर लेता है तो फिर योगी का क्या कहना है? अर्थात् योगी के लिए तो इसका अभ्यास करणीय कर्म होता है ॥७८-८०॥

आदौ रजः स्त्रियो योन्याः यत्नेन विधिवत्सुधीः ।
आकुंच्य लिंगनालेन स्वशरीरे प्रवेशयेत् ॥८१॥
स्वकं बिन्दुश्च सम्बन्ध्य लिंगचालनमाचरेत् ।
दैवाच्चलति चेदूर्ध्वं निबद्धो योनिमुद्रया ॥८२॥

सर्वप्रथम साधक को योनिमार्ग से स्रवित होने वाले रज को अपने लिंगेन्द्रिय-नाल में खींचकर उसे अपने शरीर में प्रविष्ट कराना चाहिए। तदनन्तर वीर्यस्खलन को रोककर जननेन्द्रिय-चालन की क्रिया करता रहे। ऐसी अवस्था में यदि अपने स्थान से वीर्यक्षरण हो जाय तो उसे योनिमुद्रा के द्वारा कदाचित् ऊपर की ओर कर्षित कर लेना चाहिए ॥८१-८२॥

वाममार्गेऽपि तद्बिन्दुं नीत्वा लिंगं निवारयेत् ।
क्षणमात्रं योनितो यः पुमांश्चालनमाचरेत् ॥८३॥
गुरूपदेशतो योगी हुंहुंकारेण योनितः ।
अपानवायुमाकुंच्य बलादाकृष्य तद्रजः ॥८४॥

उक्त रीति से वीर्यक्षरण को रोककर उसे ऊपर की ओर खींचे और वाम भाग में स्थिर कर क्षणमात्र के लिए लिंगचालन की क्रिया को रोक दे। पुनः गुरु के कथनानुसार उसे हुंहुंकार शब्दोच्चार करते हुए दोबारा लिंगचालन क्रिया में संलग्न होना चाहिए। तत्पश्चात् बलपूर्वक अधोवायु का निरोध करके नारी-रज को खींचे। इसी क्रिया को वज्रोली मुद्रा के नाम से जाना जाता है ॥८३-८४॥

अनेन विधिना योगी क्षिप्रं योगस्य सिद्धये ।
भव्यभुक् कुरुते योगी गुरुपादाब्जपूजकः ॥८५॥
बिन्दुर्विधुमयो ज्ञेयो रजः सूर्यमयस्तथा ।
उभयोर्मेलनं कार्यं स्वशरीरे प्रवेशयेत् ॥८६॥

इस प्रकार के अभ्यासी साधक को शीघ्र ही योगसिद्धि मिल जाती है तथा वह गुरु चरणकमलानुरागी योगी शरीरस्थ अमृतपान करने में सक्षम बन जाता है। वीर्य को चन्द्ररूप तथा रज को सूर्यरूप समझकर दोनों का संयोजन कर अपने शरीर में प्रवेशित करा देना चाहिए ॥८५-८६॥

अहं बिन्दू रजः शक्तिरुभयोर्मेलनं यदा ।
योगिनां साधनावस्था भवेद्दिव्यं वपुस्तदा ।।८७।।
मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणे ।
तस्मादतिप्रयत्नेन कुरुते बिन्दुधारणम् ।।८८।।

जो साधक बिन्दु (वीर्य) को शिवरूप और रज को शक्तिरूप समझकर दोनों का समयोजन करता है वह दिव्य शरीरवान बन जाता है । शिवशक्ति मायास्वरूपिणी होती है । अर्थात् इस माया का सम्बन्ध ईश्वर के साथ स्थापित करा देने या उसमें विलय कर देने पर ही मोक्षप्राप्ति सम्भव होती है । इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि बिन्दु और रज का सम्मिलन ही शिव और शक्ति का संगमस्थल है । इसके अभ्यास की सिद्धि पा लेने वाला साधक भवसागर से पार हो जाता है । वीर्यस्खलन से ही साधक की मृत्यु तथा उसके धारण से जीवन की स्थिरता बनी रहती है । तात्पर्य यह है कि रज-वीर्य के मिलनकाल में वीर्यपात होने से उसकी साधना व्यर्थ चली जाती है । अतः साधक के लिए प्रयत्नपूर्वक वीर्य का अभिरक्षण करना अनिवार्य होता है ।।८७-८८।।

जायते म्रियते लोके बिन्दुना नात्र संशयः ।
एतज्ज्ञात्वा सदा योगी बिन्दुधारणमाचरेत् ।।८९।।
सिद्धे बिन्दौ महायत्ने किं न सिद्धति भूतले ।
यस्य प्रसादान्महिमा ममाप्येतादृशो भवेत् ।।९०।।

प्रत्येक जीवधारी का जन्म-मरण बिन्दु (वीर्य) के ही आश्रित होता है, क्योंकि शरीरोत्पत्ति में वीर्य ही प्रमुख कारण होता है । अतः इसके धारण से जीवन और स्खलन से मरण सुनिश्चित होता है । साधक में वीर्यस्खलन की अवरोधक शक्ति आ जाने पर उसके लिए भूमण्डल में कुछ भी दुष्प्राप्य नहीं होता । अर्थात् वीर्यरक्षण में समस्त सिद्धियाँ समाहित रहती हैं । हे देवि ! वीर्यरक्षण के फलस्वरूप ही जगत् में मेरी महत्ता स्थापित है । अतः बिन्दुरक्षण करने वाला साधक भी मेरे ही समान गरिमामय हो जाता है ।।८९-९०।।

संसारिणां विमूढानां जरामरणशालिनाम् ।।९१।।
अयं च शांकरो योगो योगिनामुत्तमोत्तमः ।।९२।।
अभ्यासात्सिद्धिमाप्नोति भोगयुक्तोऽपि मानवः ।
सकलः साधितार्थोऽपि सिद्धो भवति भूतले ।।९३।।

सांसारिक जीवों के सुख-दुःख का मूलभूत कारण बिन्दु को ही माना जाता है । इस प्रकार मूढ़जनों की अज्ञानता का निवारण करने तथा मरणशील मनुष्यों को जरा-मरण के कष्ट से छुड़ाने हेतु यह एक उत्तम साधन का मार्ग है । इसके अभ्यास से भोगी मनुष्य भी अपनी अभिलषित वस्तुओं को निश्चित रूप से पा लेता है । ऐसे साधक को इस भूतल पर कोई भी पदार्थ दुर्लभ नहीं होता ।।९१-९३।।

भुक्त्वा भोगानशेषान् वै योगेनानेन निश्चितम् ।
अनेन सकला सिद्धिर्योगिनां भवति ध्रुवम् ।
सुखभोगेन महता तस्मादेनं समभ्यसेत् ।।९४।।

इस वज्रोली मुद्राभ्यास द्वारा विलासी व्यक्ति अशेष फलभोगों का उपभोग कर निश्चय ही सुखी बन जाता है तथा योगियों द्वारा अभ्यास किये जाने पर उसे निःसंदेह रूप से सम्पूर्ण सिद्धियाँ उपलब्ध हो जाती हैं । अतः इस मुद्रा का अभ्यास निरन्तर करते रहना चाहिए । इसके द्वारा अशेष अशुभकारी कर्मफलों का भोग भी सुखपूर्वक भुगता जा सकता है ।।९४।।

अमरोली मुद्रा

सहजोल्यमरोली च वज्रोल्या भेदतो भवेत् ।
येन केन प्रकारेण बिन्दुं योगी प्रचारयेत् ।।९५।।
दैवाच्चलति चेद्वेगे मेलनं चन्द्रसूर्ययोः ।
अमरोलिरियं प्रोक्ता लिंगनालेन शोषयेत् ।।९६।।

वज्रोलीमुद्रा के भेदानुसार ही सहजोली और अमरोली मुद्रा का नामकरण किया गया है। सभी बातों का सारांश यही है कि योगी को हर प्रकार से बिन्दुधारण करना आवश्यक है । यदि अपने स्थान से दैवात् बिन्दु (वीर्य) चलित हो जाय और साथ ही रज-वीर्य का सम्मिलन भी हो जाय तो ऐसी अवस्था को अमरोली मुद्रा कहा जाता है । इस मुद्रा में वीर्यवाहिनी नली द्वारा रज-वीर्य का कर्षण किया जाता है ।।९५-९५।।

सहजोली मुद्रा

गतं बिन्दुं स्वकं योगी बन्धयेद्योनिमुद्रया ।
सहजोलीरियं प्रोक्ता सर्वतन्त्रेषु गोपिता ।।९७।।
संज्ञाभेदाद्भवेद्भेदः कार्यं तुल्यगतिर्यदि ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन साध्यते योगिभिः सदा ।।९८।।

योगी को वीर्य के चलायमान हो जाने पर योनिमुद्रा की सहायता से उसका अवरोधीकरण करना आवश्यक है । यह सहजोली मुद्रा सभी तन्त्रों में गोपनीय कही गयी है और इसे ही सहजोली मुद्रा के नाम से अभिहित किया जाता है । अमरोली और सहजोली— इन दोनों मुद्राओं का कार्य एक समान ही होता है, फिर भी इनको दो नामों में विभक्त कर दिया गया है । अतः इन दोनों के अभ्यास प्रयत्नपूर्वक करने चाहिए ।।९७-९८।।

अयं योगो मया प्रोक्तो भक्तानां स्नेहतः प्रिये ।
गोपनीयः प्रयत्नेन न देयो यस्य कस्यचित् ।।९९।।
एतद्गुह्यतमं गुह्यं न भूतं न भविष्यति ।
तस्मादेतत्प्रयत्नेन गोपनीयं सदा बुधैः ।।१००।।

देवी पार्वती से शिवजी कहते है कि हे प्रिये ! मैंने इस मुद्रा का प्रकटन केवल भक्तों के स्नेहार्थ किया है, किन्तु यह अत्यन्त गोपनीय है । इसकी गोपनीयता बनाये रखने के लिए इसे हर किसी से नहीं कहना चाहिए । इस वज्रोली मुद्रा से अधिक गुप्त अन्य कोई साधन नहीं है । इतनी गोपनीय मुद्रा न तो कभी भूतकाल में थी और न ही भविष्यत् में होगी । अत: इसे प्रबुद्ध साधक सर्वदा ही गुप्त रखे ॥९९-१००॥

स्वमूत्रोत्सर्गकाले यो बलादाकृष्य वायुना ।
स्तोकं स्तोकं त्यजेन्मूत्रमूर्ध्वमाकृष्यतत्पुनः ॥१०१॥
गुरूपदिष्टमार्गेण प्रत्यहं यः समाचरेत् ।
बिन्दुसिद्धिर्भवेत्तस्य महासिद्धिप्रदायिका ॥१०२॥

साधक को गुरूपदिष्ट विधि के अनुसार स्वमूत्र त्यागकाल में मूत्र को वायु द्वारा बलात् खींचकर धीरे-धीरे निकालना चाहिए । तदनन्तर उसे ऊपर की ओर ले जाने का अभ्यास करे । इस प्रक्रिया के द्वारा बिन्दु-साधना सफल हो जाती है । यही बिन्दुसाधना आगे चलकर साधक के लिए परम सिद्धिदायिनी बन जाती है । अभिप्राय यह है कि मूत्रत्याग के समय मूत्रधार को धीरे-धीरे निकालना चाहिए ॥१०१-१०२॥

षण्मासमभ्यसेद्यो वै प्रत्यहं गुरुशिक्षया ।
शताङ्गनानांभोगेऽपि तस्य बिन्दुर्न नश्यति ॥१०३॥
सिद्धे बिन्दौ महायत्ने किं न सिध्यति पार्वति ।
ईशत्वं यत्प्रसादेन ममापि दुर्लभं भवेत् ॥१०४॥

यदि उक्त क्रिया का अभ्यास योगी छह महीने तक पूरा कर ले तो सैकड़ों स्त्रियों के समागम से भी उसका शुक्रक्षरण न होगा । हे पार्वति ! प्रयत्नपूर्वक इस सिद्धि को प्राप्त कर लेने पर योगी के लिए अन्य किसी सिद्धि की प्राप्ति शेष नहीं रह जाती । अर्थात् उसमें सम्पूर्ण सिद्धियाँ निहित हो जाती है, क्योंकि इसी वीर्यसिद्धि के प्रभाव से मुझे ईश्वरता की उपलब्धि हुई है ॥१०३-१०४॥

शक्तिचालन मुद्रा

आधारकमले सुप्तां चालयेत्कुण्डलीं दृढाम् ।
अपानवायुनारुह्य बलादाकृष्य बुद्धिमान् ।
शक्तिचालनमुद्रेयं सर्वशक्तिप्रदायिनी ॥१०५॥
शक्तिचालनमेवं हि प्रत्यहं यः समाचरेत् ।
आयुर्वृद्धिर्भवेत्तस्य रोगाणां च विनाशनम् ॥१०६॥

मूलाधार चक्रस्थ कुंडलिनी शक्ति सुषुप्तावस्था में पड़ी रहती है । उस सोयी हुई कुंडलिनी को जागृत करने के लिए प्रबुद्ध साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह अपानवायु पर आरोहण कर उसे बलात् कर्षित करके चालित करे । यह समस्त

शक्तियों की प्रदात्री शक्तिचालित मुद्रा है। प्रतिदिन इस मुद्रा के अभ्यास करते रहने से सभी व्याधियों का विनष्टीकरण होकर आयुवर्धन होता है ॥१०५-१०६॥

विहाय निद्रां भुजगी स्वयमूर्ध्वं भवेत्खलु ।
तस्मादभ्यासनं कार्यं योगिना सिद्धिमिच्छता ।।१०७।।
यः करोति सदाभ्यासं शक्तिचालनमुत्तमम् ।
येन विग्रहसिद्धिः स्यादणिमादिगुणप्रदा ।।१०८।।

इस शक्तिचालन की मुद्रा के अभ्यास द्वारा सर्पाकृति सुप्त कुंडलिनी जागकर स्वतः ही सुषुम्नानाड़ी से ऊपर चढ़ने लगती है। अतः सिद्धाकांक्षी योगी को इसका अभ्यास नित्यप्रति करते रहना चाहिए। इसके अभ्यासी का शरीर निःसंदेह रूप से अमरत्व की प्राप्ति कर लेता है और उसे अणिमादिक अष्ट सिद्धियाँ (अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्य, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व) भी हस्तगत हो जाया करती है ॥१०७-१०८॥

विशेष—इस मुद्रा के अभ्यास-काल में सिद्धासन से बैठकर दोनों हाथ की हथेलियों को भूमि पर टिका देना चाहिए। तदनन्तर हाथों के बल दोनों नितम्बों को भूमि से ऊपर उठाकर बीस या पचीस बार पृथिवी पर ताड़न करें। पुनः प्राणवायु को अवरुद्ध कर मूलबन्ध का प्रयोग कर प्राणवायु को अपानवायु के साथ समायोजित कर दें। इस प्रक्रिया द्वारा कुंडलिनी का जागरण हो जाता है, क्योंकि अपानवायु की ऊष्मा पाकर वह सुप्तावस्था से चलायमान हो जाती है। इस मुद्रा के फलस्वरूप शरीरस्थ बहत्तर सहस्र नाड़ियों का मल संशोधित हो जाता है। इस अभ्यास के द्वारा कुंडलिनी का सुषुम्ना मार्ग में प्रवेश करना सम्भव हो जाता है।

गुरूपदेशविधिना तस्य मृत्युभयं कुतः ।
मुहूर्तद्वयपर्यन्तं विधिनाशक्तिनाशनम् ।।१०९।।
यः करोति प्रयत्नेन तस्य सिद्धिरदूरतः ।
युक्तासनेन कर्तव्यं योगिभिः शक्तिचालनम् ।।११०।।
एतत्सुमुद्रादशकं न भूतं न भविष्यति ।
एकैकाभ्यासने सिद्धि सिद्धो भवति नान्यथा ।।१११।।

इस मुद्रा का अभ्यास गुरु के उपदेशानुसार करने वाले प्राणी को मरण-भय नहीं रह जाता। यदि इस मुद्रा को साधक दो मुहूर्त तक कर ले तो शक्ति का ह्रास नहीं होने पाता। इसका अभ्यास निरन्तर करते रहने पर तो सम्पूर्ण सिद्धियाँ उपलब्ध हो जाती हैं। अतः किसी उपयुक्त आसन में बैठकर इसका अभ्यास करना योगी के लिए आवश्यक करणीय कर्म होता है। अतः हे पार्वति ! मेरे द्वारा कथित इन दश अभूतपूर्व मुद्राओं के समान अन्य कोई साधना अब तक न हुई है और न तो आगे

होने की सम्भावना है । इन दशों मुद्राओं में से क्रमश: एक-एक मुद्रा का अभ्यासी साधक निश्चय ही सिद्ध पुरुष हो जाता है ॥१०९-१११॥

इति श्रीशिवसंहितायां हरगौरीसंवादे मुद्रावर्णनं नाम चतुर्थ पटल: सम्पूर्णम् ॥४॥

इस प्रकार श्रीशिवसंहिता के मुद्रावर्णन नामक चौथे पटल की पं० हरिहरप्रसाद त्रिपाठीकृत हिन्दी व्याख्या समाप्त हुई ॥४॥

◆

पञ्चम पटल:

योगसाधना कथन

श्री देव्युवाच

ब्रूहि मे वाक्यमीशान परमार्थधियं प्रति ।
ये विघ्ना:सन्ति लोकानां वद मे प्रिय शंकर ॥१॥

देवी पार्वती ने शिवजी से कहा—हे ईश्वर, हे परमप्रिय शंकर ! योगाभ्यास-काल में उपस्थित होने वाले विघ्नों को आप मुझसे कहिए, क्योंकि योगसाधना के समय साधक के समक्ष अनेक प्रकार की विघ्न-बाधाएँ आकर खड़ी हो जाती हैं । अत: आप अपने भक्तों के कल्याणार्थ उन विघ्नों के निवारण का उपाय कहिए ॥१॥

ईश्वर उवाच

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि यथा विघ्नः स्थिताः सदा ।
मुक्तिं नराणां च भोगः परमबन्धनः ॥२॥

शिवजी बोले—हे देवि ! योगसाधना काल में साधक के सम्मुख जो-जो बाधाएँ आती हैं,उन्हें तुम एकाग्रतापूर्वक श्रवण करो । मनुष्यों के मोक्षमार्ग में भोग ही सबसे बड़ा बाधक होता है । इसके बन्धन में आबद्ध हो जाने के परिणामस्वरूप वह अपने लक्ष्य की प्राप्ति में असफल सिद्ध हो जाता है ॥२॥

नारी शय्यासनं वस्त्रं धनमस्य विडम्बनम् ।
ताम्बूलभक्षयानानि राज्यैश्वर्यविभूतयः ॥३॥
हैमं रौप्यं तथा ताम्रं रत्नं चागुरुधेनवः ।
पाण्डित्यं वेदशास्त्राणि नृत्यं गीतं विभूषणम् ॥४॥
वंशी वीणा मृदङ्गाश्च गजेन्द्रश्चाश्ववाहनम् ।
भोगरूपा इमे विघ्ना धर्मरूपानिमान् शृणु ॥५॥

स्त्री-प्रसंग, सुखद शैय्या पर शयन, उत्तम आसन, वस्त्र तथा धनादि वस्तुएँ मोक्षसाधन में बाधा-स्वरूप हैं । ताम्बूल-भक्षण, राज्यैश्वर्य-सम्बन्धी वाहनों का प्रयोग, सोना, चाँदी, ताँबा तथा अगरु आदि सुगन्धित पदार्थों का सेवन और गोधन आदि

का संग्रहण भी मोक्ष हेतु बाधक हैं। वक्तृता, वेद-वाक्यों पर तर्क-वितर्क, नर्तन, गायन,दैहिक साज-सज्जा, बाँसुरी, वीणा (तारयुक्त एक वाद्यविशेष), मृदंग आदि वाद्य-श्रवण, हाथी-घोड़े आदि वाहनों पर आरोहण—ये सभी भोगरूपी बाधाएँ कही गयी हैं। अब इसके अनन्तर मैं धर्मरूप विघ्नों का कथन करता हूँ जिसे तुम श्रवण करो ॥३-५॥

धर्मरूप विघ्नवर्णन

स्नानं पूजाविधिर्होमं तथा मोक्षमयी स्थितिः ।
व्रतोपवासनियमा मौनमिन्द्रियनिग्रहः ॥६॥
ध्येयो ध्यानं तथा मन्त्रो दानं ख्यातिर्दिशासु च ।
वापीकूपतडागादिप्रासादारामकल्पना ॥७॥
यज्ञं चान्द्रायणं कृच्छ्रं तीर्थानि विविधानि च ।
दृश्यन्ते च इमे विघ्ना धर्मरूपेणसंस्थिताः ॥८॥

स्नान, पूजन, हवन, मोक्षमयी अर्थात् द्वन्द्वातीत स्थिति में रहना, व्रत, उपवास, नियमादि का पालन, मौनव्रत धारण, इन्द्रिय-निग्रहण, अपने ध्येय का ध्यान, मन्त्रोच्चारण में संलग्नता, दानादि कर्म करना, चारों ओर अपनी कीर्ति-पताका फहराना, बावली, कूप, तालाब तथा भवन निर्माण की कल्पना, यज्ञीय कर्मों का सम्पादन, पापक्षयार्थ कृच्छ्र चांद्रायण व्रत करना तथा अनेक तीर्थस्थानों में भ्रमणशील रहना—ये सभी कार्य धर्मरूप विघ्न की श्रेणी में आते हैं ॥६-८॥

ज्ञानरूपविघ्ननिरूपण

यत्तु विघ्नं भवेज्ज्ञानं कथयामि वरानने ।
गोमुखं स्वासनं कृत्वा धौतिप्रक्षालनं च तत् ॥९॥
नाडीसञ्चारविज्ञानं प्रत्याहारनिरोधनम् ।
कुक्षिसञ्चालनं क्षिप्रं प्रवेश इन्द्रियाध्वना ।
नाडीकर्माणि कल्याणि भोजनं श्रूयतां मम ॥१०॥

शिवजी देवी पार्वती के प्रति उन्मुख होकर कहते हैं कि वरानने, हे सुमुखि ! अब मैं ज्ञानरूप विघ्न का निरूपण कर रहा हूँ। अन्तरात्मा की शुद्धि हेतु वस्त्र को गोमुख के समान रखते हुए धौति (षट्कर्मों के अन्तर्गत धौति, नेति आदि क्रियाओं में से एक) का प्रक्षालन करना, नाड़ीचालन-क्रिया की ज्ञानोपलब्धि, वायु के प्रत्याहार का निरोध, कुंडलिनी शक्ति के उद्बोधनार्थ उदर का संचालन, इन्द्रिय द्वारा सद्यःप्रवेश, नाड़ी परिशोधनार्थ आहार के प्रति आचार-विचार का अनुपालन—ये सभी ज्ञानरूप विघ्न कहे जाते हैं। इसके आगे अब मैं नाड़ी परिशोधनार्थ उस आहार-विधि का वर्णन करता हूँ जिसे तुम सुनो ॥९-१०॥

नवधातुरसं छिन्धि शुण्ठिकाश्ताडयेत् पुनः ।
एककालं समाधिः स्याल्लिंगभूतमिदं शृणु ।।११।।
संगमं गच्छ साधूनां संकोचं भज दुर्जनात् ।
प्रवेशनिर्गमे वायोर्गुरुलक्षं विलोकयेत् ।।१२।।
पिण्डस्थं रूपसंस्थञ्च रूपस्थं रूपवर्जितम् ।
ब्रह्मैतस्मिन्मतावस्था हृदयं च प्रशाम्यति ।
इत्येते कथिता विघ्ना ज्ञानरूपे व्यवस्थिताः ।।१३।।

योगाभ्यासी को नवीन रसपूरित पदार्थ शुंठी (सोंठ) चूर्ण के साथ आहार में ग्रहण करने चाहिए । भोजनोपरान्त सोंठ चूर्ण का सेवन करने के फलस्वरूप शीघ्र ही समाधि लग जाती है । अब मैं उसका लक्षण बतला रहा हूँ जिसे तुम ध्यान से सुनो इसके लिए सत्संगति, दुर्जनों से दूरीकरण, निर्गम में प्रवेश तथा कुम्भक प्राणायाम के समय गुरु और लघु संख्या का विचार करना आवश्यक होता है । शरीरस्थ आत्मस्वरूप का विचार करते हुए इस बात का निश्चय करना कि रूपवान और कुरुपवान क्या है? यह सम्पूर्ण जगत ही ब्रह्ममय है—ऐसा विचार हृदयगम करना चाहिए । हे पार्वति ! ये सभी लक्षण ज्ञानरूप विघ्न में पाये जाते हैं ।।११-१३।।

चतुर्विधयोग

मन्त्रयोगो हठश्चैव लययोगस्तृतीयकः ।
चतुर्थोराजयोगः स्यात्स द्विधाभाववर्जितः ।।१४।।
चतुर्धा साधको ज्ञेयो मृदुमध्याधिमात्रकः ।
अधिमात्रतमः श्रेष्ठो भवाब्धौ लंघनक्षमः ।।१५।।

योग के चार भेद कहे गये हैं, जैसे— (१) मंत्रयोग, (२) हठयोग, (३) लययोग और (४) राजयोग । इन चारों में चौथा राजयोग द्वैधीभाव से रहित होता है । आशय यह है कि राजयोग के साधक में द्वैतभाव नहीं रह जाता जिसके परिणामस्वरूप वह ईश्वर के साथ एकीकृत हो जाता है । उक्त चार प्रकार के योग सिद्धयर्थ चार प्रकार के साधक भी होते हैं, जैसे— (१) मृदुसाधक, (२) मध्यम साधक, (३) अधिमात्र साधक तथा (४) अधिमात्रतम साधक । इन चतुर्विध साधकों में अधिमात्रतम साधक सर्वोत्तम माना जाता है, क्योंकि वह संसार-सागर पार करने में शीघ्र ही समर्थ बन जाता है ।।१४-१५।।

मृदुसाधक लक्षण

मन्दोत्साही सुसंमूढो व्याधिस्थो गुरुदूषकः ।
लोभी पापमतिश्चैव बह्वाशी वनिताश्रयः ।।१६।।
चपलःकातरो रोगी पराधीनोऽतिनिष्ठुरः ।
मन्दाचारो मन्दवीर्यो ज्ञातव्यो मृदुमानवः ।।१७।।

द्वादशाब्दे भवेत्सिद्धिरेतस्य यत्नतः परम् ।
मन्त्रयोगाधिकारी स ज्ञातव्योगुरुणा ध्रुवम् ।।१८।।

मृदुसाधक मन्दोत्साही, मूढ़बुद्धि, रोगग्रस्त, गुरुनिन्दक, लालची, पाप-परायण, चंचल चित्त, कायर, रुग्ण, अन्याश्रित, अत्यन्त निर्दय, मन्दाचारी तथा मन्द वीर्य (शक्ति) होता है। ऐसे पुरुष मृदुमानव कहलाते हैं। इस प्रकार का साधक मन्त्र योग करने का अधिकारी होता है। गुरु के अनुग्रह वश प्रयत्न पूर्वक साधना करने वाले ऐसे पुरुष की साधना बारह वर्षों में फलीभूत हुआ करती है ॥१६-१८॥

मध्यम साधक लक्षण

समबुद्धि क्षमायुक्तः पुण्यकांक्षी प्रियंवदः ।
मध्यस्थः सर्वकार्येषु सामान्यः स्यान्न संशयः ।
एतज्ज्ञात्वैव गुरुभिर्दीयते मुक्तितो लयः ।।१९।।

जो साधक सामान्य बुद्धि, क्षमाशील, पुण्यकर्म करने का अभिलाषी, मृदुभाषी तथा समस्त विषयों या कार्यों में तटस्थ रहने वाला हो उसे मध्यम साधक कहा जाता है। इस प्रकार के लक्षणान्वित अभ्यासरत साधक को देखकर गुरु उसे लययोग की शिक्षा प्रदान करे, क्योंकि लययोग की साधना ही मुक्तिद्वार का एकमात्र साधन होता है ॥१९॥

अधिमात्रसाधक लक्षण

स्थिरबुद्धिर्लये युक्तः स्वाधीनो वीर्यवानपि ।
महाशयो दयायुक्तः क्षमावान् सत्यवानपि ।।२०।।
शूरो वयस्थः श्रद्धावान् गुरुपादाब्ज पूजकः ।
योगाभ्यासरतश्चैव ज्ञातव्यश्चाधिमात्रकः ।।२१।।
एतस्य सिद्धिः षड्वर्षैर्भवेदभ्यासयोगतः ।
एतस्मै दीयते धीरो हठयोगश्च साङ्गतः ।।२२।।

ऐसा साधक जो स्थितप्रज्ञ, लययोग में तत्पर, स्वाधीन, पराक्रमशाली, उदारमना, दयालु, क्षमाशील, सत्यभाषी, शूर-वीर, समाधि के प्रति श्रद्धावान, गुरुचरणानुरागी तथा योगाभ्यास-रत हो उसे ही अधिमात्रसाधक समझना चाहिए। ऐसे साधक निरन्तर छह वर्षों के अभ्यास द्वारा सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। ऐसे धैर्यवान् साधक को गुरु हठयोग की सांगोपांग विधि से उपदेशित करे ॥२०-२२॥

अधिमात्रतमसाधक लक्षण

महावीर्यान्वितोत्साही मनोज्ञः शौर्यवानपि ।
शास्त्रज्ञोऽभ्यासशीलश्च निर्मोहश्च निराकुलः ।।२३।।
नवयौवनसम्पन्नो मिताहारी जितेन्द्रियः ।
निर्भयश्च शुचिर्दक्षो दाता सर्वजनाश्रयः ।।२४।।
अधिकारी स्थिरो धीमान् यथेच्छावस्थितः क्षमी ।

सुशीलो धर्मचारी च गुप्तचेष्टः प्रियंवदः ।।२५।।

अधिमात्रतम साधक के लक्षण इस प्रकार से हैं, जैसे—महान पराक्रमी, उत्साही, शूर-वीर, शास्त्रज्ञ, अभ्यास-परायण, मोहविहीन, आकुलता से रहित अर्थात् सावधान- चित्त, नवयौवन-सम्पन्न, मिताहारी अर्थात् संतुलित आहारग्राही,विजितेन्द्रिय, निर्भीक, शुद्धाचारी अर्थात् पवित्र आचरण वाला, सभी कार्यों को करने में निपुण, दानशील अर्थात् निःसंकोच भाव से उदारतापूर्वक दान देने वाला, शरणागतजनों का प्रतिपालक, स्थिर बुद्धि अर्थात् दृढ़निश्चयी, बुद्धिशाली, सन्तोषी, क्षमाशीलता के गुण से समन्वित, सौम्य, धर्माचारी, धार्मिक कर्मों का गोपन करने वाला तथा सभी लोगों के प्रति प्रियभाषण करने वाला होता है ।।२३-२५।।

शास्त्रविश्वाससम्पन्नो देवतागुरुपूजकः ।
जनसङ्गविरक्तश्च महाव्याधिविवर्जितः ।।२६।।
अधिमात्रतरो ज्ञेयः सर्वयागस्य साधकः ।
त्रिभिस्संवत्सरैः सिद्धिरेतस्य नात्र संशयः ।
सर्वयोगाधिकारी स नात्र कार्या विचारणा ।।२७।।

इसके अतिरिक्त उक्त प्रकार का साधक शास्त्र-वचनों के प्रति निष्ठावान, देव तथा गुरुपूजक तथा जनसमाज से दूरी बनाये रखनेवाला होता है । उसे किसी प्रकार की महाव्याधि (कुष्ठादि रोग) भी नहीं सताती । इस प्रकार का योगाभ्यासी साधक ही अधिमात्रतम साधक कहा जाता है । ऐसे साधक को तीन वर्ष की साधना के पश्चात् सिद्धिप्राप्त होना सुनिश्चित रहता है । इस प्रकार के अभ्यासी समस्त योगसाधना हेतु उपयुक्त कहे जाते हैं ।।२६-२७।।

प्रतीकोपासना का वर्णन

प्रतीकोपासना कार्या दृष्टादृष्टफलप्रदा ।
पुनाति दर्शनादत्र नात्र कार्या विचारणा ।।२८।।
गाढातपे स्वप्रतिबिम्बितेश्वरं निरीक्ष्य विस्फारितलोचनद्वयम् ।
यदा नभः पश्यति स्वप्रतीकं नभोऽङ्गणे तत्क्षणमेव पश्यति ।।२९।।

अब यहाँ प्रतीक उपासना का उल्लेख किया जा रहा है । यह प्रतीक उपासना देखी-अनदेखी फल को देती है एवं उसके केवल दर्शनभात्र से ही आराधक निःसन्देहरूप से पवित्र हो जाता है । जो साधक कड़ी धूप में अपलक नेत्रों से अपने ईश्वर के प्रतिविम्ब को देख ले और जब उस शून्य में अपनी प्रतिच्छाया भी उसे दिखायी देने लगे तब उस प्रतिविम्ब को गगन-मण्डल में अवलोकन करने में भी वह सक्षम हो जाता है ।।२८-२९।।

प्रत्यहं पश्यते यो वै स्वप्रतीकं नभोऽङ्गणे ।
आयुर्वृद्धिर्भवेत्तस्य न मृत्युः स्यात्कदाचन ।।३०।।

यदा पश्यति सम्पूर्णं स्वप्रतीकं नभोऽङ्गणे ।
तदा जयं सभायां च युद्धे निर्जित्य सञ्चरेत् ।।३१।।

जो साधक स्वप्रतीकरूप अपनी प्रतिच्छाया को नभमण्डल में देखता है उसमें आयुवर्धन होता है तथा उसके निकट कभी मृत्यु कहीं जाती । यदि ऐसे अभ्यासी को अपना सम्पूर्ण प्रतिविम्ब आकाश-मण्डल में भासित होने लगे तो सभास्थल में उसे विजय-श्री मिलती है और वह युद्धभूमि में अपने शत्रुओं को पराजित करता है ।।३०-३१।।

यः करोति सदाभ्यासं चात्मानं विन्दते परम् ।
पूर्णानन्दैकपुरुषं स्वप्रतीकप्रसादतः ।।३२।।
यात्राकाले विवाहे च शुभे कर्मणि सङ्कटे ।
पापक्षये पुण्यवृद्धौ प्रतीकोपासनं चरेत् ।।३३।।

जो पुरुष सदैव ही प्रतीकोपासना के अभ्यास में निरत रहता है उसे आत्म-तत्त्व की उपलब्धि होती है । अर्थात् पूर्णानन्दस्वरूप आत्मा का उसे साक्षात्कार होता है । आत्म-दर्शन के पश्चात् हृदयाकाश में परमज्योति का प्रकाश फैल जाता है । यात्राकाल में, वैवाहिक काल में, मांगलिक कार्य के समय, संकटापन्न स्थिति में अथवा पाप के क्षयार्थ और पुण्य के वर्धनार्थ प्रतीकोपासना निश्चय ही श्रेयस्कर होता है ।।३२-३३।।

निरन्तरकृताभ्यासादन्तरे पश्यति ध्रुवम् ।
तदा मुक्तिमवाप्नोति योगी नियतमानसः ।।३४।।

प्रतीकोपासना के निरन्तर अभ्यास के परिणामस्वरूप निश्चय ही अपने हृदय में स्वप्रतिविम्ब भासमान हो उठता है । ऐसी अवस्था में दृढ़ात्मा योगी मोक्ष का अधिकारी बन जाता है ।।३४।।

अङ्गुष्ठाभ्यामुभे श्रोत्रे तर्जनीभ्यां द्विलोचने ।
नासारन्ध्रे च मध्याभ्यामनामाभ्यां मुखं दृढम् ।।३५।।
निरुध्य मारुतं योगी यदैव कुरुते भृशम् ।
तदा तत्क्षणमात्मानं ज्योतीरूपं स पश्यति ।।३६।।

साधक को अपने हाथ के दोनों अँगूठों से दोनों कानों को, दोनों तर्जनी उँगलियों से दोनों नेत्रों को तथा दोनों मध्यमाओं से दोनों नासारन्ध्रों को बन्द कर लेना चाहिए । तत्पश्चात् दोनों अनामिकाओं के द्वारा दृढ़तापूर्वक मुखावरोध कर देना चाहिए । जो साधक इस प्रकार वायु के अवरोधन का बारम्बार अभ्यास करता रहता है उसे अपने हृदयाकाश में निश्चय ही आत्मा के दर्शन होते हैं ।।३५-३६।।

तत्तेजो दृश्यते येन क्षणमात्रं निराकुलम् ।
सर्वपापविनिर्मुक्तः स याति परमां गतिम् ।।३७।।
निरन्तरकृताभ्यासाद्योगी विगतकल्मषः ।
सर्वदेहादि विस्मृत्य तदभिन्नः स्वयं गतः ।।३८।।

ऐसा योगभ्यासी पुरुष जो क्षणभर भी इस तेजपुंज के दर्शन कर लेता है वह समस्त पापों से विमुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। जो पुरुष इस प्रकार की साधना में सतत अभ्यासशील रहकर चित्त की विशुद्धता बनाये रखता है वह सभी देहादि कर्मों से पृथक् होकर आत्मस्वरूप को प्राप्त हो जाता है। अर्थात् वह अपने को आत्मा से अलग नहीं समझता ॥३७-३८॥

यः करोति सदाभ्यासं गुप्ताचारेण मानवः ।
स वै ब्रह्मविलीनः स्यात्पापकर्मरतो यदि ॥३९॥
गोपनीयः प्रयत्नेन सद्यः प्रत्ययकारकः ।
निर्वाणदायको लोके योगोऽयं मम वल्लभः ।
नादः संजायते तस्य क्रमेणाीयासतश्च यः ॥४०॥

यदि इसका अभ्यास गुप्तरूप से पापकर्म में लिप्त रहने वाला प्राणी भी नित्य करता रहे तो वह भी मोक्षद्वार तक पहुँच जाता है। हे प्राणवल्लभे ! यह प्रतीकोपासना अभ्यासी के लिए निर्वाण पद दिलाने वाली होती है। अतः मुझे यह साधना अत्यन्त प्रिय है। इसकी साधना करने वाले पुरुष में क्रमानुसार नाद (शब्द-ध्वनि, वाद्य-ध्वनि, मेघ-गर्जन आदि) की अनुभूति होने लग जाती है, किन्तु इसे सर्वदा गुप्त ही रखना चाहिए ॥३९-४०॥

मत्तभृङ्गवेणुवीणासदृशः प्रथमो ध्वनिः ।
एवमभ्यासतः पश्चात् संसारध्वान्तनाशनम् ।
घण्टानादसमः पश्चात् ध्वनिर्मेघरवोपमः ॥४१॥
ध्वनौ तस्मिन्मनो दत्त्वा यदा तिष्ठति निर्भरः ।
तदा संजायते तस्य लयस्य मम वल्लभे ॥४२॥

इस प्रकार से योगाभ्यास में निरत रहने पर प्रथमावस्था में साधक को मतवाले भौंरों की गुनगुनाहट के समान शब्द सुनाई पड़ते हैं। पुनः बाँसुरी, वीणा आदि की झंकार-जैसे शब्द का बोध होने लगता है। तदनन्तर सांसारिक तिमिर को हटानेवाला घंटानाद जैसा शब्द श्रुतिगोचर होता है। इसके पश्चात् अन्त में मेघगर्जन-जैसी ध्वनि का अनुभव होने लगता है। ऐसी अवस्था आने पर मन में पूर्ण रूप से स्थिरता आ जाती है और वही मोक्ष का कारण बनता है। अतः हे देवी पार्वति ! ऐसी साधना मेरे लिए परम प्रियकारक है ॥४१-४२॥

तत्र नादे यदा चित्तं रमते योगिनो भृशम् ।
विस्मृत्य सकलं बाह्यं नादेन सह शाम्यति ॥४३॥
एतदभ्यासयोगेन जित्वा सम्यक् गुणान् बहून् ।
सर्वारम्भपरित्यागी चिदाकाशे विलीयते ॥४४॥

जिस समय योगी का चित्त स्थिरतापूर्वक नाद के अनुश्रवण में लग जाता है तब वह सभी बाह्य विषयों को भूलकर केवल नाद में ही विलीन हो जाता है। अर्थात्

उसका चित्त किसी दूसरी ओर नहीं भटकता। इस प्रकार के अभ्यास द्वारा योगी समस्त गुणों को विजित कर तथा सभी प्रकार के कार्यारम्भ को छोड़कर हृदयाकाश में विलीन हो जाता है ।।४३-४४।।

नासनं सिद्धसदृशं न कुम्भसदृशं बलम् ।
न खेचरीसमा मुद्रा न नादसदृशो लयः ।।४५।।

सिद्धासन के समान अन्य कोई आसन नहीं होता। कुम्भक प्राणायाम के समान कोई दूसरा बल नहीं है, क्योंकि इसमें प्राणवायु को भीतर की ओर खींचकर उसे रोकने का अभ्यास किया जाता है जिससे बलोपलब्धि होती है। खेचरी मुद्रा के बराबर न कोई दूसरी मुद्रा होती है और न ही नाद के सदृश कोई दूसरा लयस्थान होता है ।।४५।।

षट्चक्र विवरण

मूलाधारपद्मनिरूपण

इदानीं कथयिष्यामि मुक्तस्यानुभवं प्रिये ।
यज्ज्ञात्वा लभते मुक्तिं पापयुक्तोऽपिसाधकः ।।४६।।
समभ्यर्च्येश्वरं सम्यक् कृत्वा च योगमुत्तमम् ।
गृह्णीयात्सुस्थितोभूत्वा गुरुं सन्तोष्य बुद्धिमान् ।।४७।।

शिवजी ने कहा— हे पार्वति ! अब मैं तुमसे मोक्षानुभव का कथन कर रहा हूँ जिसके ज्ञानोपलब्धि से पापिष्ठ साधक भी मुक्तिलाभ प्राप्त कर लेता है। प्रबुद्ध साधक को भली-भाँति ईश्वरार्चन करने के पश्चात् स्थिरचित्त से आसन पर बैठ गुरु की प्रसन्नता प्राप्त कर इस योग को ग्रहण करना आवश्यक है ।।४६-४७।।

जीवादि सकलं वस्तु दत्त्वा योगविदं गुरुम् ।
सन्तोष्यतिप्रयत्नेन योगोऽयं गृह्यते बुधैः ।।४८।।
विप्रान् सन्तोष्य मेधावी नानामङ्गलसंयुतः ।
ममालये शुचीर्भूत्वा गृह्णीयाच्छुभमात्मनः ।।४९।।
संन्यस्यानेन विधिना प्राक्तनं विग्रहादिकम् ।
भूत्वा दिव्यवपुर्योगी गृह्णीयाद्वक्ष्यमाणकम् ।।५०।।

प्रज्ञावान योगसाधक का यह कर्तव्य है कि वह समस्त जीवादिक पदार्थों का परित्याग कर उसे योग-मर्मज्ञ गुरु को समर्पित कर दे और गुरु को भली-भाँति परितुष्ट कर उनसे योग की दीक्षा ले। योगग्राही, मनस्वी साधक का यह कर्तव्य है कि वह सर्वप्रथम विप्रों को दान-दक्षिणा से संतुष्ट कर उनसे मांगलिक अनुष्ठान सम्पन्न कराये। तदनन्तर पवित्रतापूर्वक शिवमन्दिर में बैठकर आत्म-विषयक योग को ग्रहण करे। इस विधि से साधक गुरु के अनुग्रह को प्राप्त कर अपने पूर्व शरीर को त्याग दिव्यशरीर में आकर योगोपदेश ग्रहण करे। अर्थात् योगग्रहणकाल में साधक का शरीर दिव्यकाय बन जाता है। उसकी समस्त व्याधियाँ तथा अज्ञानता दूर हो जाती

है। अभिप्राय यह है कि योग ग्रहण के समय साधक को इस बात की चिन्तना करनी चाहिए कि अब मैं पूर्व शरीर को छोड़कर दिव्यशरीर में प्रविष्ट हो गया हूँ ॥४८-५०॥

पद्मासनस्थितो योगी जनसङ्गविवर्जितः ।
विज्ञाननाडीद्वितयमङ्गुलीभ्यां निरोधयेत् ।।५१।।
सिद्धेस्तदाविर्भवति सुखरूपी निरञ्जनः ।
तस्मिन् परिश्रमः कार्यो येन सिद्धोभवेत्खलु ।।५२।।

योगी को जनसमूह के सम्पर्क से रहित होकर किसी सुनसान स्थान में पद्मासन लगाकर बैठ जाना चाहिए। तत्पश्चात् उसे दोनों विज्ञान नाड़ियों अर्थात् इड़ा और पिंगला नाड़ियों का हाथ की अंगुलियों से प्राणवायु का अवरोधन करना चाहिए। इस प्रक्रिया के द्वारा योगसिद्धाभिलाषी साधक के हृदयस्थल में सुखरूप निरंजन चैतन्य आत्म-प्रकाश का आभास होने लगेगा, किन्तु परिश्रम के फलस्वरूप ही योग की सिद्धि मिल सकती है ॥५१-५२॥

यः करोति सदाभ्यासं तस्य सिद्धिर्न दूरतः ।
वायुसिद्धिभवेतस्य क्रमादेव न संशयः ।।५३।।
सकृद्यः कुरुते योगी पापौघं नाशयेद् ध्रुवम् ।
तस्य स्यान्मध्यमे वायोः प्रवेशो नात्रसंशयः ।।५४।।

जो साधक इस विधि का अभ्यास प्रतिदिन नियमित रूप से करता रहता है उसे सभी प्रकार की सिद्धियाँ हस्तगत हो जाती हैं और उसे क्रमशः वायु की सिद्धि भी अपने-आप हो जाया करती हैं। जो योगसाधक इसे नित्य एक बार भी करता है उसके समस्त पातक क्षीण हो जाते हैं। तदनन्तर उसके प्राणवायु का प्रवेश सुषुम्ना नाड़ी में हो जाता है ॥५३-५४॥

एतदभ्यासशीलो यः स योगी देवपूजितः ।
अणिमादिगुणान् लब्ध्वा विचरेद्भुवनत्रये ।।५५।।
यो यथास्यानिलाभ्यासात्तद्भवेत्तस्य विग्रहः ।
तिष्ठेदात्मनि मेधावी संयुतः क्रीडते भृशम् ।।५६।।

इस प्रकार का अभ्यासी साधक देवताओं द्वारा सेवित हुआ करता है। ऐसा साधक अष्ट सिद्धियों को प्राप्त कर त्रिलोक में भ्रमण करने की भी शक्ति पा लेता है। जो साधक जिस किसी रीति से प्राणवायु को नियंत्रित करने का अभ्यास करता है उसे समस्त शारीरिक सिद्धियाँ उपलब्ध हो जाती हैं तथा वह बुद्धिमान साधक आत्मस्थ होकर सर्वदा ही क्रीड़ाशील रहा करता है ॥५५-५६॥

एतद्योगं परं गोप्यं न देयं यस्य कस्यचित् ।
सप्रमाणः समायुक्तस्तमेव कथ्यते ध्रुवम् ।।५७।।

इस प्रकार से यह योगसाधना अत्यन्त गोपनीय कही गयी है। इसे किसी

अयोग्य या अनधिकारी व्यक्ति से नहीं कहना चाहिए। किन्तु जो शिष्य इस योगविद्या ग्रहण करने का उपयुक्त पात्र हो उसे इस विद्या को देने में गुरु को संकोच भी नहीं करना चाहिए ॥५७॥

योगी पद्मासने तिष्ठेत् कण्ठकूपे यदा स्मरन्।
जिह्वां कृत्वा तालुमूले क्षुत्पिपासा निवर्तते ॥५८॥
कण्ठकूपादधःस्थाने कूर्मनाड्यस्ति शोभना।
तस्मिन् योगी मनोदत्त्वा चितस्थैर्यंलभेद् भृशम् ॥५९॥

जो पद्मासनस्थ योगी अपने मन को कंठकूप (कंठविवर) के स्मरण में लगाकर जिह्वा को तालुमूल में सटा देता है वह क्षुधा-पिपासा से रहित हो जाता है, क्योंकि कंठविवर के निचले भाग में कूर्मनाड़ी की अवस्थिति रहती है। जो योगी अपने चित्त को उस कूर्मनाड़ी में समायोजित कर लेता है, उसके चित्त की चपलता मिट जाती है ॥५८-५९॥

शिरः कपाले रुद्राक्ष विवरं चिन्तयेद्यदा।
तदा ज्योतिः प्रकाशः स्याद्विद्युत्पुञ्जसमप्रभः ॥६०॥
एतच्चिन्तनमात्रेण पापानां संक्षयो भवेत्।
दुराचारोऽपि पुरुषो लभते परमं पदम् ॥६१॥

मानव के शिर और कपाल (खोपड़ी) में रुद्राक्ष-विवर की विद्यमानता रहती है। उस स्थान के चिन्तन से योगी में विद्युत्पुंज के समान आत्मज्योति का प्रकाश उद्‌भासित होता है। उस आत्मज्योति की चिन्तना करने से योगी सभी पापों से विमुक्त हो जाता है। यदि ऐसा योगी विषयासक्त भी रहा हो तो भी वह मोक्षप्राप्ति का अधिकारी बन जाता है और उसे सद्‌गति मिलती है ॥६०-६१॥

अहर्निशं यदा चिन्तां तत्करोति विचक्षणः।
सिद्धानां दर्शनं तस्य भाषणं च भवेद् ध्रुवम् ॥६२॥
तिष्ठन् गच्छन् स्वपन् भुञ्जन् ध्यायेच्छून्यमहर्निशम्।
तदाकाशमयो योगी चिदाकाशे विलीयते ॥६३॥

इस प्रकार से जो साधक दिन-रात आत्मतत्त्वबोध के चिंतन में निरत रहा करते हैं उन्हें सिद्धजनों के दर्शन और उनसे सम्भाषण करने का सुअवसर अवश्य ही प्राप्त होता है। इस रीति से जो साधक उठते-बैठते, चलते-फिरते, सोते-जागते तथा भोजनादि सभी कालों में सतत आत्म-चिन्तना में लगे रहते हैं, वे आकाशस्वरूप होकर परमात्मा में विलीन हो जाते हैं ॥६२-६३॥

एतज्ज्ञानं सदा काय योगिना सिद्धिमिच्छता।
निरन्तरकृताभ्यासान्मम तुल्यो भवेद् ध्रुवम्।
एतज्ज्ञानबलाद्योगी सर्वेषां वल्लभो भवेत् ॥६४॥

इस ध्यान का निरन्तर अभ्यास करना सिद्धाभिलाषी पुरुषों के लिए आवश्यक होता है। हे पार्वति ! इसका ध्यान सदैव करने वाला योगी मेरे समतुल्य हो जाता है । इस ज्ञान की प्रभावशालिता के कारण निश्चय ही वह साधक त्रैलोक्य का प्रियभाजन बन जाता है । अर्थात् उसका कोई भी प्राणी विद्रोही नहीं रह जाता ॥६४॥

सर्वान् भूतान् जयं कृत्वा निराशीरपरिग्रहः ।
नासाग्रे दृश्यते येन पद्मासनगतेन वै ।
मनसो मरणं तस्य खेचरत्वं प्रसिद्ध्यति ॥६५॥
ज्योतिः पश्यति योगीन्द्रः शुद्धं शुद्धाचलोपमम् ।
तत्राभ्यासबलेनैव स्वयं तद्रक्षको भवेत् ॥६६॥

यदि ऐसा योगी पद्मासन लगाकर नासिका की नोक पर अपनी दृष्टि जमा ले तो वह समस्त प्राणियों को विजित कर क्षुधा-तृषा से रहित हो जाता है । ऐसी अवस्था में चित्त की स्थिरता के परिणामस्वरूप उसमें खेचरता अर्थात् आकाश-गमन की क्षमता प्राप्त हो जाती है । ऐसा योगीन्द्र विशुद्ध मन से उस शुद्धाचल के समान परमज्योतिपुंज के दर्शन पा लेता है । ऐसी दशा में योगसाधना के फलस्वरूप वह स्वयं ही उसका रक्षक बन जाता है । अर्थात् वह ज्योतिदर्शन के अभ्यास का सदैव ही अभिरक्षण किया करता है ॥६५-६६॥

उत्तानशयने भूमौ सुप्त्वा ध्यायन्निरन्तरम् ।
सद्यः श्रमविनाशाय स्वयं योगी विचक्षणः ॥६७॥
शिरः पश्चात्तु भागस्य ध्याने मृत्युञ्जयो भवेत् ।
भ्रूमध्ये दृष्टिमात्रेण ह्यपरः परिकीर्तितः ॥६८॥

यदि बुद्धिमान साधक भूतल पर पीठ के बल सीधा लेटकर लगातार ध्यान में निमग्न रहता है तो उसकी थकावट शीघ्र ही मिट जाती है अर्थात् वह स्फूर्ति का अनुभव करने लगता है । जो योगसाधक शिर के पिछले भाग का ध्यान करता है वह कालजयी बन जाता है । इस प्रकार के सभी फल भ्रूमध्य में दृष्टि जमाने के फलस्वरूप होते हैं, इस बात को हम पहले ही बतला चुके हैं ॥६७-६८॥

चतुर्विधस्य चान्नस्य रसस्त्रेधा विभज्यते ।
तत्र सारतमो लिंगदेहस्य परिपोषकः ॥६९॥
सप्तधातुमयं पिण्डमेति पुष्णाति मध्यगः ।
याति विण्मूत्ररूपेण तृतीयः सप्तमो बहिः ॥७०॥

चतुर्विध अन्नाहार से तीन प्रकार के रसों की उत्पत्ति होती है । उनमें से पहला जो सारतत्त्व रूप रस है, उसके द्वारा लिंगशरीर की पुष्टि होती है । दूसरे रस से सप्तधातुओं से संयुक्त पिण्ड का परिपोषण हुआ करता है तथा तीसरा रस सप्तधातुओं (रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र) से पृथक् मल-मूत्रादि के रूप में होता है ॥६९-७०॥

आद्यभागं द्वयं नाड्यः प्रोक्तास्ताः सकला अपि ।
पोषयन्ति वपुर्वायुमापादतलमस्तकम् ।।७१।।
नाडीभिराभिः सर्वाभिर्वायुः सञ्चरते यदा ।
तदैवान्नरसो देहे साम्येनेह प्रवर्तते ।।७२।।

पूर्वकथित दो प्रकार के रस ही सम्पूर्ण नाड़ीरूप होते हैं । वे ही पैर से लेकर शिरोभाग तक शरीरस्थ वायु के पुष्टिकरण में निरत रहा करते हैं। जब समस्त नाड़ियों में रस का संचरण होता है,तब उसके परिणामस्वरूप पूरे शरीर में अन्न द्वारा परिवर्तित रस प्रवृत्त हो उठता है। अर्थात् अन्न-रस के द्वारा ही शरीर का पुष्टिकरण सम्भव होता है ॥७१-७२॥

चतुर्दशानां तत्रेह व्यापारे मुख्यभागतः ।
ता अनुग्रहत्वहीनाश्च प्राणसञ्चारनाडिकाः ।।७३।।

समस्त नाड़ियों में जो प्रमुख रूप से चौदह नाड़ियाँ कही गयी हैं वे ही सम्पूर्ण देह-व्यापार को चलाती हैं । इन प्राण-संचारिणी नाड़ियों में सभी एक-दूसरे के समान होती हैं । अर्थात् कोई भी किसी से कम नहीं मानी जाती ॥७३॥

गुदाद्व्यङ्गुलतश्चोर्ध्वं मेढ्रैकाङ्गुलतस्त्वधः ।
एवं चास्ति समं कन्दं समता चतुरङ्गुलम् ।।७४।।
पश्चिमाभिमुखी योनिगुदमेढ्रान्तरालगा ।
तत्र कन्दं समाख्यातं तत्रास्ति कुण्डली सदा ।।७५।।
संवेष्ट्य सकला नाडी सार्द्धत्रिकुटिलाकृतिः ।
मुखे निवेश्य सा पुच्छं सुषुम्णाविवरे स्थिता ।।७६।।

गुदाद्वार से दो अंगुल ऊपर की ओर तथा शिश्नमूल से एक अंगुल नीचे की ओर एक कंद चार अंगुल विस्तारवाला स्थित रहता है। गुदा और जननेन्द्रिय के बीच में अवस्थित योनि पीछे की ओर मुख वाली होती है । उसी स्थान में वह कन्द वर्तमान रहता है और वही कुंडलिनी शक्ति का आवासीय स्थान भी होता है । यह कुंडलिनी शक्ति सभी नाड़ियों को आच्छादित करके कुटिलाकार रूप में साढ़े तीन फेरे लगाकर तथा पूँछ को मुखस्थ करके सुषुम्ना नाड़ी के विवर में पड़ी रहती है ॥७४-७६॥

सुप्ता नागोपमा ह्येषा स्फुरन्ती प्रभया स्वया ।
अहिवत् सन्धिसंस्थानां वाग्देवी बीजसंज्ञिका ।।७७।।
ज्ञेया शक्तिरियं विष्णोर्निर्मला स्वर्णभास्वरा ।
सत्त्वं रजतमश्चेति गुणत्रयप्रसूतिका ।।७८।।

यह सर्पाकर, कुंडलिनी शक्ति निद्रितावस्था में पड़ी रहती है । यह स्वयंप्रभा कहलाती है। अर्थात् अपने प्रकाश से ही प्रकाशमान रहकर सर्प के समान विवर में स्थित रहा करती है । यह वाग्देवी बीजसंज्ञक होती है । इसके द्वारा ही वाणी की सिद्धि

मिलती है। यही विश्व की बीजस्वरूपा भी है। यह कुंडलिनी ही जगदाधार विष्णु की परम शक्ति तथा तप्त कांचन के समान निर्मल तेजयुक्ता होती है। यह सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणों की उत्पन्नकर्त्री होती है ॥७७-७८॥

तत्र बन्धूकपुष्पाभं कामबीजं प्रकीर्तितम् ।
कलहेमसमं योगे प्रयुक्ताक्षररूपिणम् ॥७९॥
सुषुम्णापि च संश्लिष्टो बीजं तत्र वरं स्थितम् ।
शरच्चन्द्रनिभं तेजस्स्वयमेतत्स्फुरत्स्थितम् ॥८०॥

जिस स्थान में कुंडलिनी शक्ति अवस्थित होती है, उसी स्थान में बन्धूक पुष्प (गुलदुपहरिया) के सदृश रक्तवर्णीय आभायुक्त कामबीज की भी स्थिति होती है। वह आग में तपाये हुए स्वर्ण के समान चमकीला और प्रयुक्त अक्षर स्वरूप होता है। कुंडलिनी शक्ति के आवासस्थल में ही कामबीज के सहित सुषुम्ना नाड़ी भी स्थित रहती है। वह कामबीज शरद् पूर्णिमा के चाँद के समान तेजोमय, करोड़ों सूर्य के समान प्रकाशवान तथा करोड़ों चन्द्रमा के समान सुशीतल रहता है ॥७९-८०॥

सूर्यकोटिप्रतीकाशं चन्द्रकोटिसुशीतलम् ।
एतत्त्रयं मिलित्वैव देवी त्रिपुरभैरवी ।
बीजसंज्ञं परं तेजस्तदेव परिकीर्तितम् ॥८१॥
क्रियाविज्ञानशक्तिभ्यां युतं यत्परितो भ्रमत् ।
उत्तिष्ठद्विशतस्त्वम्भः सूक्ष्मं शोणशिखायुतम् ।
योनिस्थं तत्परं तेजः स्वयम्भूलिंगसंज्ञितम् ॥८२॥

कुंडलिनी, कामबीज और सुषुम्ना—इन तीनों का पारस्परिक मिलन होना ही देवी त्रिपुरभैरवी नामसंज्ञक कहलाता है। वह बीजसंज्ञक देवी परम तेजशीला कही जाती है। वही बीज कभी क्रियाशक्ति और कभी ज्ञानशक्ति से समायोजित होकर देह में भ्रमणशील रहा करता है। वह कभी तो ऊर्ध्वगामी होता, कभी जल में प्रविष्ट होता तथा कभी सूक्ष्म रूप में परिवर्तित हो जाता है। वह प्रज्वलित अग्निशिखा के समान अत्यन्त तेजोमय बिन्दुरूप से योनिस्थान में स्वयंभू लिंग की संज्ञा से समन्वित रहता है ॥८१-८२॥

आधारपद्ममेतद्धि योनिर्यस्यास्ति कन्दतः ।
परिस्फुरत् वादिसान्तचतुर्वर्णं चतुर्दलम् ॥८३॥
कुलाभिधं सुवर्णाभं स्वयम्भूलिङ्गसंगतम् ।
द्विरण्डो यत्रसिद्धोऽस्ति डाकिनी यत्रदेवता ॥८४॥

उक्त कथित प्रकार आधार पद्मसंज्ञक कहा जाता है। पद्म के मूलभाग में योनि की अवस्थिति होती है। यह परम दीप्तिमान पद्म अपने चार दलों (पंखुड़ियों) से विभूषित रहता है। उन पंखुडियों पर क्रमशः 'व' से 'स' तक अर्थात् व श ष स —ये चार वर्ण

होते है। इस पद्म को मूलाधार चक्र के नाम से जाना जाता है। वह पद्म कुलाभिध अर्थात् कुलसंज्ञक होता है। 'कुल' शब्द का एक अर्थ स्थान भी होता है। अतः इसका अर्थ कुंडलिनी के स्थान से भी लिया जाता है। उसकी दीप्ति स्वर्ण सदृश होती है। वह स्वयंभू लिंग में समाहित है। उसमें द्विरण्डसंज्ञक सिद्धों का आवास माना जाता है तथा डाकिनी को उसका अधिष्ठात् देवता बतलाया गया है ॥८३-८४॥

तत्पद्ममध्यगा योनिस्तत्र कुण्डलिनी स्थिता ।
तस्य ऊर्ध्वे स्फुरत्तेजः कामबीजं भ्रमन्मतम् ।।८५।।
यः करोति सदा ध्यानं मूलाधारे विचक्षणः ।
तस्य स्याद्दार्दुरी सिद्धिर्भूमित्यागक्रमेण वै ।।८६।।

उस पद्म के मध्यवर्ती भाग के योनिस्थान में कुंडलिनीशक्ति की अवस्थिति रहती है जिसके ऊर्ध्वभाग में परम तेजवान कामबीज विचरणशील रहा करता है। इस मूलाधार कमल के ध्यान में निरत रहने वाले प्रबुद्ध साधक में दादुरी वृत्ति की सिद्धि आ जाती है। अर्थात् जिस प्रकार मेढ़क भूमि से कुछ ऊपर की ओर उछलकर पुनः पृथिवी पर आ जाता है। उसी प्रकार इस साधना की प्रारम्भिक अवस्था में साधक भूमि से थोड़ा ऊपर उठकर फिर भूमि पर आ जाया करता है। इस प्रकार निरन्तर अभ्यास करते रहने पर अन्ततोगत्वा वह आकाश-गमन की शक्ति भी प्राप्त कर लेता है ॥८५-८६॥

वपुषः कान्तिरुत्कृष्टा जठराग्निविवर्धनम् ।
आरोग्यं च पटुत्वं च सर्वज्ञत्वं च जायते ।।८७।।
भूतं भव्यं भविष्यच्च वेत्ति सर्वं सकारणम् ।
अश्रुतान्यपि शास्त्राणि सरहस्यं वदेद् ध्रुवम् ।।८८।।

इस मूलाधार चक्र की ध्यानपरायणता से शारीरिक सौन्दर्य में निखार आ जाता है तथा क्षुधाग्नि भी प्रज्वलित हो उठती है। इसके द्वारा रोगोत्पत्ति की सम्भावना नहीं रह जाती और साधक में कार्यक्षमता तथा सर्वज्ञता की उत्पत्ति होती है। उसमें समस्त पदार्थों का ज्ञान स्वयं ही आ जाता तथा वह त्रिकालदर्शी बन जाता है। जिन शास्त्रों के श्रवण करने का उसे कभी सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ होता उन्हें भी वह सांगोपांग रूप से जान लेता है ॥८७-८८॥

वक्त्रे सरस्वती देवी सदा नृत्यति निर्भरम् ।
मन्त्रसिद्धिर्भवेत्तस्य जपादेव न संशयः ।।८९।।
जरामरणदुःखौघान्नाशयति गुरोर्वचः ।
इदं ध्यानं सदा कार्यं पवनाभ्यासिना परम् ।
ध्यानमात्रेण योगीन्द्रो मुच्यते सर्वकिल्बिषात् ।।९०।।

ऐसे साधक के मुख-गह्वर में सदैव ही वाणी की अधिष्ठातृ देवी सरस्वती का वास रहा करता है अर्थात् उसे वाणी की सिद्धि उपलब्ध रहती है। उसे केवल मंत्रजाप

से ही सिद्धि मिल जाया करती है। गुरु-वाक्य के द्वारा वृद्धता, मरणशीलता, क्लेशता तथा समस्त रोगों का शमन होता है। प्राणवायु के धारक अभ्यासी साधक को इस परमोच्च ध्यान में सदा ही सन्नद्ध रहना आवश्यक होता है। इसके ध्यानमात्र से ही श्रेष्ठ योगियों के सभी पातकों का क्षय हो जाता है ॥८९-९०॥

मूलपद्मं यदा ध्यायेत् योगी स्वयम्भुलिङ्गकम्।
तदातत्क्षणमात्रेण पापौघं नाशयेद् ध्रुवम् ॥९१॥
यं यं कामयते चित्ते तं तं फलमवाप्नुयात्।
निरन्तरकृताभ्यासात्तं पश्यति विमुक्तिदम् ॥९२॥

उक्त मूलाधार कमलवत् स्वयंभू लिंग का ध्यान जिस क्षण योगी करता है, उसी क्षण वह समस्त पापों से विमुक्त हो जाता है। जो साधक इस मूलाधार पद्म का ध्यान धारण करते हुए जिन-जिन पदार्थों की अभिलाषा करता है उसे उन सभी इच्छित पदार्थों की उपलब्धि होती है। इसके अभ्यास में सर्वदा तत्पर रहने वाले योगी निश्चय ही मोक्ष- प्रदायक आत्म-दर्शन करने में सफल होते हैं ॥९१-९२॥

बहिरभ्यन्तरे श्रेष्ठं पूजनीय प्रयत्नतः।
ततः श्रेष्ठतमं ह्येतन्नान्यदस्ति मतं मम ॥९३॥
आत्मसंस्थं शिवं त्यक्त्वा बहिःस्थं य समर्चयेत्।
हस्तस्थं पिण्डमुत्सृज्य भ्रमते जीविताशया ॥९४॥

हे पार्वति ! वह आत्मा निश्चय ही बाह्याभ्यन्तर रूप से प्रयत्नपूर्वक पूजनीय होता है, ऐसा मेरा अभिमत है। इससे बढ़कर अन्य कोई भी योग नहीं है। स्वदेहस्थ शिव-स्वरूप आत्मा का परित्याग कर बाह्य देवताओं का पूजन-अर्चन करना उसी प्रकार समझना चाहिए जिस प्रकार करस्थ पिण्ड को त्याग कर अन्य पिण्ड-प्राप्ति हेतु भ्रमण- शील रहना ॥९३-९४॥

आत्मलिंगार्चनं कुर्यादनालस्यं दिने दिने।
तस्य स्यात्सकला सिद्धिर्नात्रकार्याविचारणा ॥९५॥
निरतरकृताभ्यासात्षणमासे सिद्धिमाप्नुयात्।
तस्य वायुप्रवेशोऽपि सुषुम्णायां भवेद् ध्रुवम् ॥९६॥
मनोजयं च लभते वायुबिन्दुविधारणाम्।
ऐहिकामुष्मिकी सिद्धिर्भवन्नैवात्र संशयः ॥९७॥

जो साधक नित्यप्रति आलस्यरहित होकर शरीरस्थ आत्मा की पूजा-अर्चना करता है उसे समस्त सिद्धियाँ अनायास ही मिल जाया करती हैं। इस विषय में सोच-विचार की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। निरन्तर छह मास तक इसके अभ्यास के फलस्वरूप साधक में ऐसी सिद्धि आ जाती है कि उसका प्राणवायु सुषुम्ना नाड़ी में प्रविष्ट हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप वह पुरुष अपने चित्त को अधिकृत करके

वायु और बिन्दु (वीर्य) धारण में भी सक्षम बन जाता है ।

इसके अतिरिक्त उसे लौकिक सिद्धियाँ भी निःसंदेह रूप से उपलब्ध हो जाता हैं। आशय यह है कि आत्म-पूजक प्राणी अपने लौकिक एवं पारलौकिक—इन दोनों लोकों को सुधार लेता है । वह जब तक इस लोक में रहता है तब तक समस्त सुखों को भोगकर अन्य में निर्वाण पद को प्राप्त कर लेता है । इस प्रकार वह योगी 'एक तीर से दो निशाना' की कहावत भी चरितार्थ करता है ॥९५-९७॥

स्वाधिष्ठानचक्र वर्णन

द्वितीयन्तु सरोजं चलिङ्गमूले व्यवस्थितम् ।
बादि लान्तं च षड्वर्ण परिभास्वरषड्दलम् ॥९८॥
स्वाधिष्ठानाभिधं तत्तु पंकजं शोणरूपकम् ।
बाणाख्यो यत्र सिद्धोऽस्ति देवो यत्रास्ति राकिणी॥९९॥

दूसरा छह पंशुड़ियों वाला कमल शिश्नमूल में स्थित रहता है । इसकी प्रत्येक पंखुड़ियों पर क्रमशः 'ब' से 'ल' तक के वर्ण विभूषित रहते हैं । अर्थात् 'ब भ म य र ल' —इन वर्णों से संयुक्त रहता है । यह रक्तवर्णीय पद्म स्वाधिष्ठान के नाम से अभिहित होता है । इस स्थान में बाण नामक सिद्ध और राकिणी नाम्नी अधिष्ठातृ देवी विद्यमान रहती है । इस कमल के देवता ब्रह्मा कहे गये हैं ॥९८-९९॥

यो ध्यायति सदा दिव्यं स्वाधिष्ठानारविन्दकम् ।
तस्य कामाङ्गनाः सर्वा भजन्ते काममोहिताः ॥१००॥
विविधं चाश्रुतं शास्त्रं निःशंको वै वदेद् ध्रुवम् ।
सर्वरोगविनिर्मुक्तो लोके चरति निर्भयः ॥१०१॥

जो पुरुष इस स्वाधिष्ठानसंज्ञक कमल का सदैव ध्यान किया करते हैं उनके रूप- लावण्य पर कामरूपिणी मुग्धा नारियाँ सदा ही उनकी अनुगामिनी बनी रहती हैं । ऐसा साधक अश्रुत शास्त्रों की सर्वांगीण व्याख्या करने में भी सक्षम हो जाता है । वह दुःसाध्य रोगों से विमुक्त होकर स्वास्थ्य-लाभ करता तथा निर्भय भाव से संसार में भ्रमण करता है ॥१००-१०१॥

मरणं खाद्यते तेन स केनापि न खाद्यते ।
तस्य स्यात्परमा सिद्धिरणिमादिगुणप्रदा ॥१०२॥
वायुः सञ्चरते देहे रसवृद्धिर्भवेद् ध्रुवम् ।
आकाशपङ्कजगलत्पीयूषमपि वर्द्धते ॥१०३॥

इस प्रकार की साधना के परिणामस्वरूप साधक कालजयी बन जाता है । उसका वध किसी प्रकार से भी सम्भव नहीं होता । उसे गुणप्रदायिनी अणिमादिक अष्ट सिद्धियों (अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्य, प्राकाम्य, ईशित्व एवं वशित्व) की उपलबिध हो जाती है । उसके समूचे शरीर में स्वाभाविक गति से वायु का संचरण

होने के फलस्वरूप उसमें रस का वर्धन होता है। तात्पर्य यह है कि उसका प्राणवायु सुषुम्ना में प्रवेशित हो जाता है। उसके सहस्रदल कमल से निरन्तर स्रवित होने वाले अमृत में भी वृद्धि होती है ॥१०२-१०३॥

मणिपूरचक्र वर्णन

तृतीयं पङ्कजं नाभौ मणिपूरकसंज्ञकम् ।
दशारण्डादिफान्तार्णं शोभितं हेमवर्णकम् ॥१०४॥
रुद्राख्यो यत्र सिद्धोऽस्ति सर्वमङ्गलदायकः ।
तत्रस्था लाकिनी नाम्नी देवी परमधार्मिका ॥१०५॥

नाभिस्थल में अवस्थित रहने वाला तीसरा पद्म मणिपूरचक्र के नाम से सम्बोधित किया जाता है। यह कांचन वर्ण के समान चमकीला और दश पंखुड़ियों से युक्त रहता है। इस कमल के दल पर 'ड' से 'फ' तक के वर्ण अर्थात् ड ढ ण त थ द ध न प और फ वर्ण क्रमानुसार अक्षरान्वित रहते हैं। उस स्थान में सर्वमंगलदायक रुद्र नामक सिद्ध और परमधर्मिणी लाकिनी नाम्नी देवी का निवास रहता है। इसके देवता भगवान विष्णु कहे गये हैं ॥१०४-१०५॥

तस्मिन् ध्यानं सदा योगी करोति मणिपूरके ।
तस्य पाताल सिद्धिः स्यान्निरन्तरसुखावहा ॥१०६॥
ईप्सितं च भवेल्लोके दुःखरोगविनाशनम् ।
कालस्य वञ्चनं चापि परदेहप्रवेशनम् ॥१०७॥
जाम्बूनदादिकरणं सिद्धानां दर्शनं भवेत् ।
औषधीदर्शनं चापि निधीनां दर्शनं भवेत् ॥१०८॥

जो साधक इस मणिपूर नामक कमलचक्र का सर्वदा ध्यान करते रहते हैं, वे सर्व सिद्धियों की खान पाताल नाम्नी सिद्धि को प्राप्त कर लेते हैं। उनकी सभी अभिलाषाएँ पूरी होती और उनके रोग-शोकादि दुःखों का निवारण होता है। वह कालजयी बनकर परकाया-प्रवेश की शक्ति भी पा लेता है। इस साधना के द्वारा किसी धातु को स्वर्ण में परिवर्तित करने की क्षमता आ जाती है। सिद्ध पुरुषों के दर्शन करने तथा अदृष्ट औषधियों को देखने और उन्हें पहचानने में भी सफल हो जाता है। इसके अतिरिक्त वह पृथिवी में गुप्त रूप से रखे हुए धन को देखने की शक्ति भी पा लिया करता है ॥१०६-१०८॥

अनाहतचक्र वर्णन

हृदयेऽनाहतं नामचतुर्थं पङ्कजं भवेत् ।
कादिठान्तार्णसंस्थानं द्वादशारसमन्वितम् ।
अतिशोणं वायुबीजं प्रसादस्थानमीरितम् ॥१०९॥
पद्मस्थं तत्परं तेजो बाणलिङ्गं प्रकीर्तितम् ।
यस्य स्मरणमात्रेण दृष्टादृष्टफलं लभेत् ॥११०॥

यह अनाहतसंज्ञक चतुर्थ पद्म हृत्प्रदेश में अवस्थित रहा करता है। इसकी बारह पंशुड़ियाँ पर क्रमशः 'क' से 'ठ' तक अर्थात् क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट और ठ के अक्षरों से अंकित रहता है। यह कमल परमोज्ज्वल और रक्तवर्णीय होता है। यह प्रसन्नस्थल वायु के बीज का अर्थात् प्राणवायु का आधार-स्तम्भ होता है। इस कमल के तेजोराशि को बाणलिंग कहा जाता है। इसके स्मरणमात्र से ही साधक लौकिक एवं पारलौकिक सुखों का उपभोग करने में समर्थ हो जाता है ॥१०९-११०॥

सिद्धः पिनाकी यत्रास्ते काकिनी यत्र देवता ।
एतस्मिन् सततं ध्यानं हृत्पाथोजे करोति यः ।
क्षुभ्यन्ते तस्य कान्ता वै कामार्तादिव्ययोषितः ।।१११।।
ज्ञानं चाप्रतिमं तस्य त्रिकालविषयं भवेत् ।
दूर श्रुतिर्दूरदृष्टिः स्वेच्छया खगतां व्रजेत् ।।११२।।

जिस अनाहत नामक पद्म के सिद्ध शिवजी और अधिष्ठातृ देवी काकिनी है उस हृत्कमल में जो सर्वदा ध्यानावस्थित रहते हैं उनके निकट देवांगनाएँ भी कामासक्त भाव से आती हैं। इस साधन के द्वारा योगी त्रिकालज्ञ बन जाता है। अर्थात् उसमें दूर शब्दश्रवण, दूरदर्शन तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म दूरस्थ वस्तुओं के अवलोकन की क्षमता आ जाती है। वह नभचारी जीवों की भाँति स्वेच्छया आकाश में भी उड़ान भर सकता है ॥१११-११२॥

सिद्धानां दर्शनं चापि योगिनां दर्शनं तथा ।
भवेत् खेचरसिद्धिश्च खेचराणां जयं तथा ।।११३।।
यो ध्यायति परं नित्यं बाणलिङ्गं द्वितीयकम् ।
खेचरी भूचरी सिद्धिर्भवेत्तस्य न संशयः ।।११४।।
एतद्ध्यानस्य माहात्म्यं कथितुं नैव शक्यते ।
ब्रह्माद्याः सकलादेवा गोपयन्ति परन्त्विदम् ।।११५।।

ऐसे साधक को सिद्ध पुरुषों तथा योगियों के दर्शन मिलते हैं। खेचरी मुद्रा की सम्पन्नतावश वह आकाशगामी जीवों को भी अपने अधीन बना लेता है। जो साधक इस परम अविनश्वर द्वितीय बाणलिंग का ध्यान धारण करता है उसे खेचरी और भूचरी मुद्रा की सिद्धि मिल जाया करती है। इस अनाहत पद्म के माहात्म्य का वर्णन करना नितांत असम्भव है। इसे ब्रह्मादि देवता भी किसी के प्रति व्यक्त नहीं करते ॥११३-११५॥

विशुद्धचक्र वर्णन

कण्ठस्थानस्थितं पद्मं विशुद्धं नाम पञ्चमम् ।
सुहेमाभं स्वरोपेतं षोडशस्वरसंयुतम् ।
छगलाण्डोऽस्ति सिद्धोऽत्र शाकिनीचाधिदेवता ।।११६।।

विशुद्ध नामधारी पंचम पद्म की अवस्थिति कंठप्रदेश में रहती है जिसका रंग सोने के समान सुनहला तथा सोलह स्वरों से युक्त षोडश पंखुड़ियों वाला कहा गया है। इसकी

पंखुडियों पर 'अ' अक्षर से लेकर 'अ:' तक के सोलह स्वर अर्थात् अ,आ, इ,ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं तथा अ: स्वर विभूषित रहते हैं। इस स्थान में छगलांड नामक सिद्ध तथा अधिष्ठातृ देवी शाकिनी सदैव निवसित रहते हैं ॥११६॥

ध्यानं करोति यो नित्यं स योगीश्वरपण्डितः ।
किन्त्वस्य योगिनोऽन्यत्र विशुद्धाख्ये सरोरुहे ।
चतुर्वेदा विभासन्ते सरहस्या निधेरिव ॥११७॥
इह स्थाने स्थितो योगी यदा क्रोधवशो भवेत् ।
तदा समस्तं त्रैलोक्यं कम्पते नात्र संशयः ॥११८॥

इस विशुद्ध चक्र में प्रतिदिन ध्यानरत रहने वाले पुरुष ही योगीश्वर तथा पंडित कहलाते हैं। इस विशुद्ध पद्म के ध्यान धारण के फलस्वरूप उसे चारों वेदों (ऋक्, यजु:, साम एवं अथर्व) की सांगोपांग उपलब्धि उसी प्रकार हो जाती है जिस प्रकार किसी को धनागार की होती है। यदि विशुद्ध पद्म में अवस्थित योगी कदाचित् क्रोधित हो उठे तो उसके क्रोधावेश से सम्पूर्ण त्रैलोक्य थर्रा उठता है। यह बात निश्चित रूप से सत्य है ॥११७-११८॥

इह स्थाने मनो यस्य दैवात् याति लयं यदा ।
तदा बाह्यं परित्यज्य स्वान्तरे रमते ध्रुवम् ॥११९॥
तस्य न क्षतिमायाति स्वशरीरस्य शक्तितः ।
संवत्सरसहस्रेऽपि वज्रातिकठिनस्य वै ॥१२०॥
यदा त्यजति तद्ध्यानं योगीन्द्रोऽवनिमण्डले ।
तदा वर्षसहस्राणि मन्यते तत्क्षणं कृती ॥१२१॥

संयोगवश जब साधक का चित्त इस कमल में विलीन हो जाता है तब वह समस्त बाह्य विषयों को छोड़कर शरीर के अन्दर ही प्राणवायु के साथ रमणशील रहा करता है। उसमें इतनी दृढ़ता आ जाती है कि उसका क्षय नहीं होता तथा उसका शरीर वज्रवत् कठोर हो जाता है। जब सहस्र वर्षों की समाधि पूर्ण कर लेने के पश्चात् उसकी समाधि टूटती है तो उसकी मनोवृत्ति का पुनरावर्तन संसार में हो जाता है। इतना लम्बा समय व्यतीत होने पर भी उसे विगत काल क्षणभर व्यतीत होने-सा जान पड़ता है। अर्थात् समाधि की अवस्था में योगी को काल का बोध नहीं होता ॥११९-१२१॥

आज्ञाचक्र वर्णन

आज्ञापद्मं भ्रुवोर्मध्ये हक्षोपेतं द्विपत्रकम् ।
शुक्लाभं तन्महाकालः सिद्धो देव्यत्र हाकिनी ॥१२२॥

भौंहों के मध्यवर्ती भाग में स्थित आज्ञा पद्म में दो श्वेतवर्णीय दल होते हैं जिन पर 'हं' और 'क्षं' बीजाक्षर अंकित रहते हैं। उस स्थान में महाकाल नामक सिद्ध तथा अधिष्ठातृ देवी हाकिनी का निवास रहता है। इस आज्ञाचक्रसंज्ञक कमल के अधिष्ठाता देवता परमात्मा कहे जाते हैं ॥१२२॥

शरच्चन्द्रनिभं तत्राक्षरबीजं विजृम्भितम् ।
पुमान् परमहंसोऽयं यज्ज्ञात्वा नावसीदति ।।१२३।।
तत्र देवः परन्तेजः सर्वतन्त्रेषु मन्त्रिणः ।
चिन्तयित्वा परां सिद्धिं लभते नात्र संशयः ।।१२४।।

उस आज्ञापद्म के बीच में शारदीय चंद्र की आभावाला परम तेजवान् चंद्रबीज अर्थात् 'ठं' बीज की अवस्थिति रहती है। उस बीज का बोध हो जाने पर परमहंस पुरुष में कभी न तो थकावट आती है और न ही किसी प्रकार की क्लेशानुभूति होती है। इस महान तेजवान् प्रकाश को सदा ही गुप्त रखना आवश्यक होता है। इसके चिंतनमात्र से निश्चय ही परमसिद्धि की उपलब्धि होती है ।।१२३-१२४।।

तुरीयं त्रितयं लिङ्गं तदाहं मुक्तिदायकः ।
ध्यानमात्रेण योगीन्द्रो मत्समो भवति ध्रुवम् ।।१२५।।
इडा हि पिङ्गला ख्याता वरणासीति होच्यते ।
वाराणसी तयोर्मध्ये विश्वनाथोऽत्रभाषितः ।।१२६।।

शिवजी ने कहा—हे पार्वति! उस स्थान में तुरीयावस्था वाले तृतीय लिंग के रूप में मुक्तिप्रदाता मैं स्वयं ही विराजमान रहा करता हूँ। इसके ध्यानमात्र से साधक मेरे समान योगीन्द्र बन जाता है। अर्थात् जो योगी तुरीयावस्था में तृतीय लिंगरूप मेरा ध्यान करता है वह सायुज्य मुक्ति (सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य और सायुज्य—इन चार प्रकार की मुक्तियों में से एक। सायुज्य मुक्ति में साधक परमात्म-स्वरूप होकर उसी में समा जाता है) पाने का अधिकारी बन जाता है। शरीरस्थ इड़ा और पिंगला नाम्नी नाड़ियों को वरणा और असी (एक नदी) अर्थात् वाराणसी कहा जाता है। इसी वाराणसी नगर के मध्य में 'विश्वनाथ' के नाम से स्वयं ही प्रतिष्ठित रहता हूँ ।।१२५-१२६।।

एतत् क्षेत्रस्य माहात्म्यं मृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ।
शास्त्रेषु बहुधा प्रोक्तं परं तत्त्वं सुभाषितम् ।।१२७।।
सुषुम्णा मेरुणा याता ब्रह्मरन्ध्रं यतोऽस्ति वै ।
ततश्चैषा परावृत्त्या तदाज्ञापद्मदक्षिणे ।
वामनासापुटं याति गङ्गेति परिगीयते ।।१२८।।

तत्त्ववेत्ता ऋषियों ने अनेक शास्त्रों में अनेक बार वाराणसी क्षेत्र के महत्त्व का निरूपण परमतत्त्व के रूप में किया है। अर्थात् सभी शास्त्रों और ऋषियों ने वाराणसी को परमतत्त्व के रूप में स्वीकार किया है। मेरुदण्ड (रीढ़ की हड्डी) के द्वारा सुषुम्ना नाड़ी ब्रह्मरन्ध्र तक चली गयी है तथा इड़ा नाड़ी सुषुम्ना को आवृत करती हुई आज्ञाचक्र के दक्षिणी ओर से चलकर वाम नासारन्ध्र में जा पहुँचती है। इसी को 'गंगा' की संज्ञा दी गयी है ।।१२७-१२८।।

ब्रह्मरन्ध्रे हि यत् पद्मं सहस्रारं व्यवस्थितम् ।
तत्र कन्दे हि या योनि तस्यां चन्द्रोव्यवस्थितः ।।१२९।।
त्रिकोणाकारतस्तस्याः सुधा क्षरति सन्ततम् ।
इडायाममृतं तत्र समं स्रवति चन्द्रमाः ।।१३०।।
अमृतं वहति द्वारा धारारूपं निरन्तरम् ।
वामनासापुटं याति गंगेत्युक्ता हि योगिभिः ।।१३१।।

ब्रह्मरन्ध्रस्थ सहस्रसार कमल-कंद में अवस्थित योनि में सदैव ही चन्द्रमा सुशोभित रहता है । उस त्रिकोणाकार योनि द्वारा निरन्तर चन्द्रामृत का स्राव होता रहता है । उस चन्द्रमा से क्षरित होने वाला अमृत इड़ा नाड़ी द्वारा सदा ही धारारूप में गमनशील रहता है । इड़ा नाड़ी का बहाव वाम नासापुट में होने के फलस्वरूप योगीवृन्द इसे गंगा के नाम से संबोधित करते हैं ॥१२९-१३१॥

आज्ञापङ्कजदक्षांसाद्वामनासापुटं गता ।
उदग्वहेति तत्रेडा गङ्गेति समुदाहृता ।।१३२।।
ततो द्वयमिह स्थाने वाराणस्यान्तु चिन्तयेत् ।
तदाकारा पिङ्गलापितदाज्ञाकमलोत्तरे ।
दक्षनासापुटे याति प्रोक्तास्माभिरसीति वै ।।१३३।।

जब इड़ा नाड़ी आज्ञाचक्र के दक्षिण भाग से चलकर वाम नासापुट में प्रस्थान करती है तब इसी को उद्‌गवाहिनी गंगा कहते हैं । अतः इड़ा और पिंगला नाड़ी के मध्यवर्ती स्थान को वाराणसी समझकर चिन्तना करनी चाहिए । इस इड़ा नाड़ी की भाँति पिंगला नाड़ी भी आज्ञाचक्र के वाम भाग से चलकर दाएँ नासापुट में चली जाती है । अतएव हे देवि ! इसी कारण मैंने पिंगला का असी नामकरण किया है ॥१३२-१३३॥

मूलाधारे हि यत् पद्मं चतुष्पत्रं व्यवस्थितम् ।
तत्र कन्देऽस्ति या योनिस्तस्यां सूर्यो व्यवस्थितः ।।१३४।।

चार पंखुड़ियों वाले मूलाधार कमल-कंद में योनि की विद्यमानता रहती है और वही सूर्य का आवास-स्थान है ॥१३४॥

तत् सूर्यमण्डलद्वारं विषं क्षरति सन्ततम् ।
पिंगलायां विषं तत्र समर्थयति तापनः ।।१३५।।
विषं तत्र वहन्ती या धारारूपं निरन्तरम् ।
दक्षनासापुटे याति कल्पितयन्तु पूर्ववत् ।।१३६।।

उस सूर्यमण्डल से लगातार विष का क्षरण होता रहता है । वह विष पिंगला नाड़ी द्वारा धारारूप में सदा प्रवहमान रहा करता है । यह पिंगला नाड़ी दाएँ नासापुट की ओर चली जाती है ॥१३५-१३६॥

आज्ञापङ्कजवामा स्याद्दक्षनासापुटं गता ।
उदग्वहा पिङ्गलापि पुरासीति प्रकीर्तिता ।।१३७।।
आज्ञापद्ममिदं प्रोक्तं यत्र देवो महेश्वरः ।
पीठत्रयं ततश्चोर्ध्वं निरुक्त योगचिन्तकैः ।
तद्बिन्दुनादशक्त्याख्यं भालपद्मे व्यवस्थितम् ।।१३८।।

यह पिंगला नाम्नी नाड़ी आज्ञापद्म के बाएँ भाग से चलकर दाहिने नासापुट में चली गयी है । इसी हेतु इसे असी नाम से पुकारा जाता है । इस आज्ञाचक्र के अधिष्ठाता देव महेश्वर कहे गये हैं । योग-चिन्तक साधकों का कहना है कि इस आज्ञा नामक कमल के ऊपर तीन पीठस्थानों की अवस्थिति है जिन्हें नाद, बिन्दु और शक्ति के नाम से सम्बोधित किया जाता है । ये तीनों ही दोनों भौंहों के बीच में स्थित भालपद्म में शोभायमान रहते हैं ॥१३७-१३८॥

यः करोति सदा ध्यानमाज्ञापद्मस्य गोपितम् ।
पूर्वजन्मकृतं कर्म विनश्येदविरोधतः ।।१३९।।
इह स्थितः सदा योगी ध्यानं कुर्यान्निरन्तरम् ।
तदा करोति प्रतिमां प्रतिजापमनर्थवत् ।।१४०।।
यक्षराक्षसगन्धर्वा अप्सरोगणकिन्नराः ।
सेवन्ते चरणौ तस्य सर्वे तस्य वशानुगाः ।।१४१।।

जो साधक इस आज्ञापद्म के ध्यान में गुप्त रूप से संलग्न रहा करते हैं उनके पूर्व जन्मार्जित सभी फल निर्बाध रूप से विनष्ट हो जाया करते हैं । अर्थात् उन्हें किसी फल को भोगने की आवश्यकता नहीं रह जाती । इस आज्ञाकमल के ध्यान में निरन्तर साधनारत रहने वाले योगी के लिए मूर्तिपूजन या मंत्रजाप करना अनावश्यक होता है । ऐसे साधक के प्रति यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, अप्सरा तथा किन्नरादिगण उसके अधीन रहकर उसकी चरण-सेवा में निरत रहा करते हैं ॥१३९-१४१॥

करोति रसनां योगी प्रविष्टां विपरीतगाम् ।
लम्बिकोऽर्ध्वेषु गर्तेषु धृत्वा ध्यानं भयापहम् ।।१४२।।
अस्मिन् स्थाने मनो यस्य क्षणार्द्धं वर्ततेऽचलम् ।
तस्य सर्वाणि पापानि संक्षयं यान्ति तत्क्षणात् ।।१४३।।
यानि यानीह प्रोक्तानि पञ्चपद्मे फलानि वै ।
तानि सर्वाणि सुतरामेतज्ज्ञानाद्भवन्ति हि ।।१४४।।

जो योगसाधक अपनी जिह्वा को ऊपर की ओर पलटकर तालुमूल अर्थात् गलघंटिका से सटा दे और स्थिरचित्त से क्षणभर भी उस भयविनाशक आज्ञाचक्र के ध्यान में निमग्न हो जाय तो उसके समस्त पाप-पुंज उसी समय नाश को प्राप्त हो जाते हैं। पूर्वकथित पंच पद्मों के जो-जो फल वर्णित किये गये हैं वे सभी फल केवल

इस आज्ञाचक्र के ध्यान से एक साथ ही मिल जाया करते हैं ॥१४२-१४४॥

यः करोति सदाभ्यासमाज्ञापद्मे विचक्षणः ।
वासनाया महाबन्धं तिरस्कृत्य प्रमोदते ।।१४५।।
प्राणप्रयाणसमये तत्पद्मं यः स्मरन्सुधीः ।
त्यजेत्प्राणं स धर्मात्मा परमात्मनिलीयते ।।१४६।।

इस आज्ञापद्म के ध्यान में सदा ही रत रहने वाल प्रतिभाशाली साधक वासनारूपी महाबन्धन को तोड़कर आनंदविभोर रहा करते हैं । अर्थात् इसके निरन्तराभ्यास से वासना के बंधन का उन्मूलन हो जाता है । जो प्रबुद्ध और धर्मनिष्ठ योगी अन्तकाल में इस आज्ञापद्म का ध्यान करता है उसके प्राण परमेश्वर में समाहित हो जाते हैं ॥१४५-१४६॥

तिष्ठन् गच्छन् स्वपन् जाग्रत् यो ध्यानं कुरुते नरः ।
पापकर्मविकुर्वाणो न हि मज्जति किल्बिषे ।।१४७।।
राजयोगाधिकारी स्यादेतच्चिन्तनतो ध्रुवम् ।
योगीबन्धाद्विनिर्मुक्तः स्वीयया प्रभया स्वयम् ।।१४८।।
द्विदलध्यानमाहात्म्यं कथितुं नैव शक्यते ।
ब्रह्मादिदेवताश्चैव किञ्चिन्मत्तो वदन्ति ते ।।१४९।।

जो पुरुष उठते-बैठते, चलते-फिरते, सोते-जागते इस आज्ञाचक्र के ध्यान में सदैव निरत रहते हैं,वे यदि पाप-परायण भी हों तो भी उनकी मुक्ति सुनिश्चित रहती है । इस आज्ञापद्म का ध्यानी साधक निश्चय ही राजयोग का अधिकारी बनता है । यह बात नितान्त ही सत्य है । वह अपने तेज के फलस्वरूप समस्त बंधनों से स्वत: ही मुक्त हो जाता है । उसे मोक्षलाभ के लिए किसी अन्य उपाय का सहारा नहीं लेना पड़ता । हे देवि ! इस दो पंखुड़ी वाले कमल के माहात्म्य का वर्णन करने में कोई भी प्राणी सक्षम नहीं हो सकता । इसके माहात्म्य का अल्प मात्रा में ज्ञान रखने वाले ब्रह्मादि देवगण भी मेरे ही द्वारा जान सके हैं ॥१४७-१४९॥

सहस्रपदलीय पद्म का वर्णन

अत ऊर्ध्वं तालुमूले सहस्रारं सरोरुहम् ।
अस्ति यत्र सुषुम्णाया मूलं सविवरं स्थितम् ।।१५०।।
तालुमूले सुषुम्णास्य अधोवक्त्रा प्रवर्तते ।
मूलाधारेण योन्यन्ताः सर्वनाड्यः समाश्रिताः ।
तां बीजभूतास्तत्त्वस्य ब्रह्ममार्गप्रदायिकाः ।।१५१।।

इसी आज्ञाचक्र के ऊपर तालुमूल में सहस्रदलीय कमल की अवस्थिति रहती है । वहीं पर ब्रह्मरन्ध्र के विवर मूल में सुषुम्ना नाड़ी की भी स्थिति होती है । उसका मुख नीचे की ओर तालुमूल में वर्तमान रहता है । मूलाधार से योनिस्थान तक अन्य

जितनी भी नाड़ियाँ हैं वे सभी इस तत्त्वबोध की बीजरूपिणी तथा ब्रह्मपंथ-प्रदायिनी सुषुम्ना नाड़ी के आश्रयभूत रहती हैं ॥१५०-१५१॥

तालुस्थाने च यत्पद्मं सहस्त्रारं पुरोदितम् ।
तत्कन्दे योनिरेकास्ति पश्चिमाभिमुखी मता ।।१५२।।
तस्य मध्ये सुषुम्णाया मूलं सविवरं स्थितम् ।
ब्रह्मरन्ध्र तदेवोक्तमामूलाधारपङ्कजम् ।।१५३।।

तालुस्थान में स्थित रहने वाले सहस्त्रार के कमल-कन्द में एक योनि उसके पृष्ठभाग में अर्थात् पीछे की ओर मुखवाली होकर रहती है। उस योनि के बीच वाले रन्ध्र में सुषुम्ना नाड़ी की अवस्थिति रहा करती है। उस रन्ध्र को ही ब्रह्मरन्ध्र का नाम दिया गया है तथा मूलाधार पद्म भी कहा जाता है ॥१५२-१५३॥

तत्रान्तरन्ध्रे चिच्छक्तिः सुषुम्णाकुण्डली सदा ।।१५४।।
सुषुम्णायां स्थिता नाडी चित्रा स्यान्मम वल्लभे ।
तस्यां मम मते कार्या ब्रह्मरन्ध्रादिकल्पना ।।१५५।।

यह कुंडलिनी, सुषुम्ना नाड़ी के विवर में सदैव ही सुशोभित रहती है। सुषुम्ना के आन्तरिक भाग में स्थित रहने वाली इस नाड़ी को चित्रा नाड़ी कहा जाता है। हे पार्वति! इसी चित्रा नाड़ी से ही ब्रह्मरन्ध्र की कल्पना की गयी है, ऐसा मेरा अभिमत है ॥१५४-१५५॥

यस्याः स्मरणमात्रेण ब्रह्मज्ञत्वं प्रजायते ।
पापक्षयश्च भवति न भूयः पुरुषो भवेत् ।।१५६।।
प्रवेशितं चलाङ्गुष्ठं मुखे स्वस्य निवेशयेत् ।
तेनात्र न वहत्येव देहचारी समीरणः ।।१५७।।

इस चित्रानाड़ी के ध्यानमात्र से ब्रह्मज्ञानोत्पत्ति होती है जिसके फलस्वरूप योगाभ्यासी अपने समस्त पापों का उन्मूलन कर सांसारिक आवागमन के बंधन में नहीं आता। यदि दाएँ हाथ के अँगूठे को मुख में प्रविष्ट कराकर पूरा मुख पूरी तरह से बन्द कर लिया जाय तो शरीर में संचरित होने वाला वायु स्थिरत्व पा लेता है। इस वायुरोधी प्रक्रिया के द्वारा निश्चय ही वायु का स्थिरीकरण होता है ॥१५६-१५७॥

तेन संसारचक्रेऽस्मिन्न भ्रमन्ते च सर्वदा ।
तदर्थं ये प्रवर्तन्ते योगिनः प्राणधारणे ।।१५८।।
तत एवाखिला नाडी निरुद्धा चाष्टवेष्टनम् ।
इयं कुण्डलिनी शक्ती रन्ध्रंत्यजति नान्यथा ।।१५९।।

प्राणवायु के स्थिरीकरण के पश्चात् अभ्यासी को सांसारिक आवागमन के चक्र में परिभ्रमण करने से छुटकारा मिल जाता है अर्थात् उसे जन्म-मरण के फन्दे में बँधना नहीं होता। इसी कारण योगीजन प्राणवायुधारक प्रक्रिया की ओर उन्मुख हुआ करते

हैं। इस प्रकार के अभ्यास से समस्त मलावृत नाड़ियाँ खुल जाती हैं। आशय यह है कि काम, क्रोध, लोभ, मोहादि अष्ट विकारों के परिणामस्वरूप बन्द पड़े हुए मुख अनावृत हो जाते हैं तथा कुंडलिनी शक्ति भी ब्रह्मरन्ध्र का त्याग कर देती है जिसके फलस्वरूप जीव का परमात्मा के साथ एकत्व स्थापित हो जाता है ॥१५८-१५९॥

यदा पूर्णासु नाडीषु संनिरुद्धानिलास्तदा ।
बन्धत्यागेन कुण्डल्या मुखं रन्ध्राद्बहिर्भवेत् ।
सुषुम्णायां सदैवायं वहेत्प्राणसमीरणः ।।१६०।।

वायु के सन्निरोध होने से समस्त नाड़ियाँ उस वायु से परिपूर्ण हो उठती हैं। तदनन्तर कुंडलिनी शक्ति अपने बंधन को परित्याग कर ब्रह्मरन्ध्र के मुख को खुला छोड़कर बाहर निकल आती है। ऐसी अवस्था आने पर सुषुम्ना नाड़ी में सदैव ही अबाध गति से प्राणवायु का प्रवाह होने लगता है ॥१६०॥

मूलपद्मस्थिता योनिर्वामदक्षिणकोणतः ।
इडापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्णा योनिमध्यगा ।।१६१।।
ब्रह्मरन्ध्रन्तु तत्रैव सुषुम्णाधारमण्डले ।
यो जानाति स मुक्तः स्यात्कर्मबन्धाद्विचक्षणः ।।१६२।।

मूलाधार पद्म में स्थित रहनेवाली योनि के बायीं ओर इड़ा और दायीं ओर पिंगला नाड़ी का निवास माना गया है। इन्हीं द्वय नाड़ियों के बीच में रहने वाली सुषुम्ना नाड़ी योनिस्थान तक चली जाती है। उस सुषुम्ना के मध्य भाग में ब्रह्मरन्ध्र की स्थिति होती है। इसकी ज्ञानोपलब्धि होने पर प्रबुद्ध साधक सांसारिक कर्मबंधन से रहित हो जाता है ॥१६१-१६२॥

ब्रह्मरन्ध्रमुखे तासां सङ्गमः स्यादसंशयः ।
तस्मिन् स्नाने स्नातकानां मुक्तिः स्यादविरोधतः ।।१६३।।
गंगायमुनयोर्मध्ये वहत्येषा सरस्वती ।
तासान्तुसङ्गमेस्नात्वा धन्योयाति पराङ्गतिम् ।।१६४।।

उक्त तीनों नाड़ियों—इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना का मिलन-स्थल ब्रह्मरन्ध्र का मुख होता है। अर्थात् ये तीन नाड़ियाँ त्रिवेणी संगम के समान होती हैं। इस संगम में स्नान करने वाले ज्ञानीजन निश्चय ही उत्तम मुक्ति पाने के पदाधिकारी होते है। गंगा-यमुनारूपी इड़ा-पिंगला के मध्य सरस्वतीस्वरूपा सुषुम्ना नाड़ी अदृश्य रूप से वर्तमान रहा करती है। इसमें स्नान करने वाला स्नानार्थी धन्य हो जाता है और उसे परम दुर्लभ गति प्राप्त होती है ॥१६-१६४॥

इडा गङ्गा पुरा प्रोक्ता पिङ्गला चार्कपुत्रिका ।
मध्या सरस्वती प्रोक्ता तासां सङ्गोऽतिदुर्लभः ।।१६५।।

सितासिते सङ्गमे यो मनसा स्नानमाचरेत् ।
सर्वपापविनिर्मुक्तो याति ब्रह्म सनातनम् ।।१६६।।

इन तीन प्रकार की नाड़ियाँ में इड़ा गंगा, पिंगला यमुना तथा इनके मध्य भाग में सुषुम्ना सरस्वती के रूप में प्रवाहित होती रहती है । इन्हीं तीनों को त्रिवेणी संगम का नाम दिया गया है । इस संगम में स्नान करना परम दुर्लभ है । इस इड़ा और पिंगला के संगमस्थल में मानसिक रूप से स्नानकर्ता साधक सम्पूर्ण पापों से विमुक्त होकर शाश्वत ब्रह्म में विलीन हो जाता है ॥१६५-१६६॥

त्रिवेण्यां सङ्गमे यो वै पितृकर्म समाचरेत् ।
तारयित्वा पितॄन्सर्वान्स याति परमां गतिम् ।।१६७।।
नित्य नैमित्तिकं काम्यं प्रत्यहं यः समाचरेत् ।
मनसा चिंतयित्वा तु सोऽक्षयं फलमाप्नुयात् ।।१६८।।

इस त्रिवेणी संगम में स्नानोपरांत जो पितृकर्म अर्थात् श्राद्धादि कर्मों की क्रिया करते हैं वे इसके फलस्वरूप अपने पितरों का उद्धार कर स्वयं मोक्षलाभ करते हैं । जो साधक इस त्रिवेणी संगम में नित्य (प्रतिदिन किया जाने वाला), नैमित्तिक (किसी विशेष पर्व पर किया जाने वाला) तथा काम्य कर्मों (विशिष्ट इच्छापूर्ति हेतु किया जाने वाला) प्रतिपादन करते हुए मनसा चिंतन करते हैं, उन्हें अमोघ फल की प्राप्ति होती है ॥१६७-१६८॥

सकृद्यः कुरुते स्नानं स्वर्गो सौख्यं भुनक्ति सः ।
दग्ध्वापापानशेषान्वै योगीशुद्धमतिः स्वयम् ।।१६९।।
अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा ।
स्नानाचरणमात्रेण पूतो भवति नान्यथा ।।१७०।।

यदि विशुद्ध बुद्धि वाले योगाभ्यासी इस त्रिवेणी संगम में एक बार भी स्नानार्थ डुबकी लगा लेते हैं तो वे अपने शेष सभी पापों को जलाकर सुखोपभोक्ता बन जाते हैं । वे पवित्रा अथवा अपवित्रा अवस्था में रहकर भी इस संगम-स्नान से पूर्णतया पवित्र हो जाते हैं । इस बात को कभी मिथ्या नहीं जानना चाहिए ॥१६९-१७०॥

मृत्युकाले प्लुतं देहं त्रिवेण्याः सलिले यदा ।
विचिन्त्य यस्त्यजेत्प्राणान्स तदामोक्षमाप्नुयात् ।।
नातः परतरं गुह्यं त्रिषु लोकेषु विद्यते ।
गोप्तव्यं तत्प्रयत्नेन न व्याख्येयं कदाचन ।।१७२।।

जो योगी मृत्युकाल में, अपने मन में ऐसी भावना रखता है कि मैं इस त्रिवेणी संगम में डुबकी लगा रहा हूँ तो वह उसी क्षण अपने प्राणपखेरू को छोड़कर मुक्ति प्राप्त कर लेता है । इस तीर्थ से उत्तम अन्य कोई भी तीर्थ त्रैलोक्य में नहीं होता । इस त्रिवेणी संगम में मानसिक स्नान की रीति को सदैव ही गुप्त रखना चाहिए ।

अर्थात् इसे किसी अयोग्य व्यक्ति के समक्ष प्रकट नहीं करना चाहिए ॥१७१-१७२॥

ब्रह्मरन्ध्रे मनो दत्त्वा क्षणार्द्धं यदि तिष्ठति ।
सर्वपापविनिर्मुक्तः स याति परमां गतिम् ।।१७३।।
अस्मिन् लीनं मनो यस्य स योगी मयि लीयते ।
अणिमादिगुणान् भुक्त्वा स्वेच्छया पुरुषोत्तमः ।।१७४।।

जो साधक आधे क्षण भी अपने चित्त को ब्रह्मरन्ध्र में स्थिर कर ले तो वह सर्व पापों से रहित होकर मोक्ष को पा लेता है। हे पार्वति ! ब्रह्मरन्ध्र में मन को स्थिर रखनेवाला योगाभ्यासी अणिमादिक सिद्धियों का भोक्ता बनकर स्वेच्छया मुझमें ही विलीन हो जाता है। अर्थात् इस प्रकार के अभ्यास द्वारा सिद्धाभिलाषी सिद्धि को तथा मोक्षाभिलाषी मोक्ष को प्राप्त कर लिया करता है ॥१७३-१७४॥

एतद्रन्ध्रध्यानमात्रेण मर्त्यः संसारेऽस्मिन् वल्लभो मे भवेत्सः ।
पापान् जित्वा मुक्तिमार्गाधिकारी ज्ञानं दत्त्वा तारयत्यद्भुतं वै ।।१७५।।

शिवजी बोले—हे देवि ! ब्रह्मरन्ध्र का ध्यानकर्ता प्राणी मेरा प्रियपात्र बन जाता है तथा वह पाप-पुंजों को विजित कर मोक्षमार्गगामी हो जाता है। वह अपने ज्ञानोपदेश द्वारा अन्य मोक्षार्थियों का भी सांसारिक आवागमन से उद्धार कर दिया करता है ॥१७५॥

चतुर्मुखादित्रिदशैरगम्यं योनिवल्लभम् ।
प्रयत्नेन सुगोप्यं तद्ब्रह्मरन्ध्र मयोदितम् ।।१७६।।
पुरा मयोक्ता या योनिः सहस्रारे सरोरुहे ।
तस्याधो वर्तते चन्द्रस्तद्ध्यानं क्रियते बुधैः ।।१७७।।

हे देवि ! मेरे द्वारा कथित इस ब्रह्मरन्ध्र का ध्यान योगिजनों के लिए परम प्रियकारक होता है। अतः इसे सावधानीपूर्वक गुप्त रखना आवश्यक है। इस अगम्य पथ का पथिक बनना ब्रह्मादि देवों के लिए भी दुष्कर कार्य होता है। मैंने पूर्व में सहस्रार पद्म के मध्य में जिस योनिमंडल को बतलाया है, उसी के नीचे चन्द्रमा का अवस्थान है। इस चन्द्रमा का ध्यान प्रबुद्ध योगी सदा ही किया करते हैं ॥१७६-१७७॥

यस्य स्मरणमात्रेण योगीन्द्रोऽवनिमण्डले ।
पूज्यो भवति देवानां सिद्धानां सम्मतो भवेत् ।।१७८।।
शिरः कपालविवरे ध्यायेद्दुग्धमहोदधिम् ।
तत्र स्थित्वा सहस्रारे पद्मे चन्द्रं विचिन्तयेत् ।।१७९।।

इस चन्द्रमण्डल के स्मरणमात्र से श्रेष्ठ योगी देवताओं और सिद्धों के समान संसार में पूजनीय बन जाता है। अर्थात् वह समस्त ऐश्वर्यों का स्वामी बन जाता है। योगी को शिरस्थ कपाल-कुहर में क्षीरसागर का ध्यान करना चाहिए। साथ ही वहीं पर स्थित सहस्रार पद्म में चन्द्रमा का चिन्तन करना भी आवश्यक है ॥१७८-१७९॥

शिरः कपालविवरे द्विरष्टकलया युतः ।
पीयूषभानुहंसाख्यं भावयेत्तं निरञ्जनम् ।।१८०।।
निरन्तरकृताभ्यासात्त्रिदिने पश्यति ध्रुवम् ।
दृष्टिमात्रेण पापौघं दहत्येव स साधकः ।।१८१।।

उक्त शिरस्थ कपाल-कुहर में षोडश कलाओं तथा अमृत-किरणों से परिपूर्ण हंस नामक निरंजन आत्मा का स्मरण करे। इस प्रकार तीन दिनों के सतत अभ्यास द्वारा निःसंशय ही आत्म-साक्षात्कार होता है। उस आत्म-दर्शन के फलस्वरूप साधक के सभी पातक जलकर राख हो जाते हैं ॥१८०-१८१॥

अनागतञ्च स्फुरति चित्तशुद्धिर्भवेत्खलु ।
सद्यः कृत्वापि दहति महापातकपञ्चकम् ।।१८२।।
आनुकूल्यं ग्रहा यान्ति सर्वे नश्यन्त्युपद्रवाः ।
उपसर्गाः शमं यान्ति युद्धे जयमवाप्नुयात् ।।१८३।।

शिरस्थ चंद्रमा में चिंतन के परिणामस्वरूप चिंतक में अनुत्पन्न विषयों की अनुभूति होने लगती है। इस प्रकार की चिन्तना से चित्त का विशुद्धिकरण होकर पाँच प्रकार के पापों का विनाश हो जाता है। उसके सभी अनिष्टकारी ग्रह अनुकूल हो जाते, सभी उपद्रवों के औपसर्गिक लक्षण शमित होते तथा योद्धाओं को रणभूमि में विजय-लाभ के अवसर मिलते हैं ॥१८२-१८३॥

खेचरी भूचरी सिद्धिर्भवेच्छीरेन्दुदर्शनात् ।
ध्यानादेव भवेत्सर्वं नात्र कार्य विचारणा ।।१८४।।
सन्तताभ्यासयोगेन सिद्धो भवति मानवः ।
सत्यं सत्यं पुनः सत्यं मम तुल्यो भवेद्ध्रुवम् ।।
योगशास्त्रं च परमं योगिनां सिद्धिदायकम् ।।१८५।।

इस शिरस्थ चंद्र में ध्यान-परायण योगी को खेचरी-भूचरी की सिद्धि अवश्य ही मिलती है। हे देवी पार्वति ! इसका ध्यानाभ्यासी साधक निश्चय ही सिद्ध पुरुष हो जाता है। मेरा यह कथन बारम्बार सत्य है। ऐसा साधक मेरे समतुल्य हो जाता है। यही परम योग और साधकों का सिद्धिदाता है ॥१८४-१८५॥

राजयोग वर्णन

अत ऊर्ध्वं दिव्यरूपं सहस्रारं सरोरुहम् ।
ब्रह्माण्डाख्यस्य देहस्य बाह्ये तिष्ठति मुक्तिदम् ।।१८६।।
कैलासो नाम तस्यैव महेशो यत्र तिष्ठति ।
अकुलाख्योऽविनाशी च क्षयवृद्धिविवर्जितः ।।१८७।।

तालु के ऊपरी भाग में दिव्य रूप सहस्त्रार कमल ब्रह्माण्डरूप शरीर के बाह्य भाग में स्थित रहता है। यह मुक्तिप्रदाता कमल कैलास नाम से विख्यात है।

शरीररूपी कैलासशिखर पर महेश्वर का निवास कहा गया है। यह कुलहीन नामक ईश्वर सदैव अविनश्वर होता है। इसमें किसी प्रकार का घटाव-बढ़ाव या परिवर्तन नहीं होता ॥१८६-१८७॥

स्थानस्यास्य ज्ञानमात्रेण नृणां संसारेऽस्मिन् सम्भवो नैव भूयः ।
भूतग्रामं सन्तताभ्यासयोगात् कर्तुं हर्तुं स्याच्च शक्तिः समग्राः ॥१८८॥

इस कैलासीय स्थान का ज्ञान ग्रहण कर लेने पर मानव का संसार में पुनरागमन नहीं होता। इस ज्ञान के अभ्यासी साधक में समस्त प्राणियों के हेतु उत्पादक और संहारक शक्ति आ जाती है। अर्थात् इस प्रकार का ज्ञान-सम्पन्न योगी समस्त कर्म-अकर्म करने में सक्षम हो जाता है ॥१८८॥

स्थाने परे हंसनिवासभूते कैलासनाम्नीह निविष्टचेताः ।
योगी हृतव्याधिरधः कृताधिर्वायुश्चिरं जीवति मृत्युमुक्तः ॥१८९॥

यह कैलाससंज्ञक स्थान परमहंस का आवासीय स्थल होता है। अतः इस स्थान में अपने चित्त का स्थिरीकरण करने वाला साधक समस्त रोगों से मुक्ति दिलाने तथा मृत्यु पर विजय प्राप्त कराने वाला हो जाता है। अर्थात् वह दीर्घजीवी बन जाता है ॥१८९॥

चितवृत्तिर्यदा लीना कुलाख्ये परमेश्वरे ।
तदा समाधिसाम्येन योगी निश्चलतां व्रजेत् ॥१९०॥
निरन्तरकृते ध्याने जगद्विस्मरणं भवेत् ।
तदा विचित्रसामर्थ्यं योगिनो भवति ध्रुवम् ॥१९१॥

इस कुलसंज्ञक ईश्वर में अपनी मनोवृत्ति का विलयन कर लेने वाला योगी अचल समाधि में निमग्न हो जाया करता है। उसमें जागतिक विषयों की विस्मृति तथा विचित्र प्रकार की क्षमता की उत्पत्ति हो जाती है। यह कथन बिलकुल ही सत्य है ॥१९०-१९१॥

तस्माद्गलितपीयूषं पिबेद्योगी निरन्तरम् ।
मृत्योर्मृत्युं विधायाशु कुलं जित्वा सरोरुहे ॥१९२॥
अत्र कुण्डलिनीशक्तिर्लयं याति कुलाभिधा ।
तदा चतुर्विधा सृष्टिर्लीयते परमात्मनि ॥१९३॥

सहस्रदल कमल से टपकते हुए अमृत का सतत पान करने वाला साधक अपने कुल सहित मृत्यु पर भी विजय-लाभ कर लेता है। अर्थात् वह मृत्यु से भी अवध्य हो जाता है। इसी सहस्रार कमल में कुलस्वरूपिणी कुंडलिनी का विलय होता है। उस कुंडलिनी के विलयोपरान्त चारों प्रकार की सृष्टि (अण्डज, पिण्डज, स्वेदज तथा उद्भिज्ज) भी ईश्वर में समाहित हो जाती है ॥१९२-१९३॥

यज्ज्ञात्वा प्राप्य विषयं चित्तवृत्तिर्विलीयते ।
तस्मिन्परिश्रमं योगी करोति निरपेक्षकः ॥१९४॥

चित्तवृत्तिर्यदा लीना तस्मिन् योगी भवेद् ध्रुवम् ।
तदा विज्ञायतेऽखण्डज्ञानरूपी निरञ्जनः ।।१९५।।

इस सहस्रार कमल का बोध हो जाने पर मनोवृत्तियों का लय हो जाता है। इसी हेतु योगी के लिए यह अनिवार्य है कि वह इस ज्ञानोपलब्धि में निरपेक्ष भाव से सदा लगा रहे। चित्तवृत्ति के विलय होने के अनन्तर अविभक्त ज्ञानरूप निरंजन आत्मा की ज्योति योगी के हृदय में प्रकाशित होने लगती है ॥१९४-१९५॥

ब्रह्माण्डबाह्ये संचिन्त्य स्वप्रतीकं यथोदितम् ।
तमावेश्य महच्छून्यं चिन्तयेदविरोधतः ।।१९६।।
आद्यन्तमध्यशून्यं तत्कोटिसूर्यसमप्रभम् ।
चन्द्रकोटिप्रतीकाशमभ्यस्य सिद्धिमाप्नुयात् ।।१९७।।
एतत् ध्यानं सदा कुर्यादनालस्यं दिने दिने ।
तस्य स्यात्सकला सिद्धिर्वत्सरान्नात्र संशयः ।।१९८।।

पूर्वकथित रीति से शरीर के बाहरी भाग में अपने प्रतीक स्वरूप का साधक को ध्यान करना उचित है। जब ध्यानावस्था में चित्त का स्थिरीकरण हो जाय तब उसे महान शून्य का चिन्तन करना आवश्यक होता है। अनन्तरूप शून्याकाश में करोड़ों सूर्य के समान दीप्तिमान तथा करोड़ों चन्द्रमा की सुशीतलता के समान प्रकाशवान आत्मदर्शन के अभ्यासी साधक में सिद्धि सुलभ होती है। जो प्राणी आलस्यविहीन होकर प्रतिदिन उस शून्य के ध्यान में तत्पर रहता है वह एक वर्ष के अन्दर ही सम्पूर्ण सिद्धियों की प्राप्ति निःसन्देह रूप से कर लिया करता है ॥१९६-१९८॥

क्षणार्द्धं निश्चलं तत्र मनो यस्य भवेद् ध्रुवम् ।
स एव योगी सद्भक्तः सर्वलोकेषु पूजितः ।
तस्य कल्मषसङ्घातस्तत्क्षणादेव नश्यति ।।१९९।।
यं दृष्ट्वा न प्रवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ।
अभ्यसेत्तं प्रयत्नेन स्वाधिष्ठानेन वर्त्मना ।।२००।।

जो साधक इस शून्य में आधे क्षण भी अपने चित्त को निश्चल बना लेता है, वह निश्चय ही समस्त भुवनों में भक्त और पूजनीय माना जताा है। उसके दर्शनमात्र से ही मानव सांसारिक आवागमन के चक्र में भ्रमण करने से मुक्त हो जाता है। अर्थात् उसका पुनर्जन्म पुनः सम्भव नहीं होता। स्वाधिष्ठान पथ का अनुसरण करते हुए इसका अभ्यास किया जाना चाहिए ॥१९९-२००॥

एतत् ध्यानस्य माहात्म्यं मया वक्तुं न शक्यते ।
यः साधयति जानातिसोऽस्माकमपि सम्मतम् ।।२०१।।
ध्यानादेव विजानाति विचित्रफलसम्भवम् ।
अणिमादिगुणोपेतो भवत्येव न संशयः ।।२०२।।

शिवजी बोले— हे देवि ! मैं इसके माहात्म्य वर्णन में सर्वथा ही अशक्य हूँ। इसका अभ्यासी कोई योगी ही इसके महत्त्व को जान सकता है। इसकी महत्ता को जानने वाले योगी मेरे ही समतुल्य होते हैं। इसकी साधना करने से निश्चय ही साधक को अष्टसिद्धियों की उपलब्धि होती है ॥२०१-२०२॥

राजाधिराजयोग निरूपण

राजयोगो मया ख्यातः सर्वतन्त्रेषु गोपितः ।
राजाधिराजयोगोऽयं कथयामि समासतः ॥२०३॥
स्वस्तिकञ्चासनं कृत्वा सुमठे जन्तुवर्जिते ।
गुरु संपूज्य यत्नेन ध्यानमेतत्समाचरेत् ॥२०४॥

हे देवी पार्वति ! मैंने जिस राजयोग का कथन किया है वह सभी प्रकार से गोपनीय है। अब मैं जिस राजाधिराज योग का विस्तृत वर्णन कर रहा हूँ जिसे तुम श्रणग करो। इसके लिए किसी निर्जन स्थान में अवस्थित मठ में जाकर साधक को गुरुपूजन के पश्चात् स्वस्तिकासन (दोनों घुटनों तथा जाँघों के बीच पैर के दोनों तलुओं को लगाकर बैठने की विधि) की स्थिति में बैठकर ध्यान में लग जाना चाहिए ॥२०३-२०४॥

निरालम्बं भवेज्जीवं ज्ञात्वा वैदान्तयुक्तितः ।
निरालम्बं मनः कृत्वा न किञ्चिच्चिन्तयेत् सुधीः ॥२०५॥
एतद्ध्यानान्महासिद्धिर्भवत्येव न संशयः ।
वृत्तिहीनं मनः कृत्वा पूर्णरूपं स्वयं भवेत् ॥२०६॥

वेदान्त शास्त्र में कथित विधियों के अनुसार प्रबुद्ध साधक अपने चित को निराधार करके केवल जीव की ही चिंतना करे। इस प्रकार के ध्यानाभ्यास से महान सिद्धि की उपलब्धि होंती है। ऐसी दशा में साधक मनोवृत्तियों का निरोध करके स्वयं में परिपूर्ण हो जाता है। अर्थात् वह आत्मस्वरूप बन जाया करता है ॥२०५-२०६॥

साधयेत्सततं यौ वै स योगी विगतस्पृहः ।
अहंनाम न क्रोऽप्यस्ति सर्वदात्मैव विद्यते ॥२०७॥
को बन्धः कस्य वा मोक्ष एकं पश्येत्सदा हि सः ।
एतत् करोति यो नित्यं स मुक्तो नात्र संशयः ॥
स एव योगो सद्भक्तः सर्वलोकेषु पूजितः ॥२०८॥

उक्त प्रकार की साधना में निरत रहने वाला योगी पूर्णतया कामनारहित हो जाता हैं। अर्थात् उसके मन में कुछ भी पाने की लालसा नहीं रह जाती। उसके मुख से कभी अहंकारपूर्ण शब्द भी नहीं निकलते। वह समस्त सांसारिक पदार्थों को आत्मवत् ही समझता है। जिसके मन से बंधन और मोक्ष का भेद मिट जाता है तथा जो नित्य ही आत्मदर्शन हेतु चिन्तनशील रहता है वह निश्चय ही मोक्ष का भागी होता है। ऐसा योगी उत्तम भक्त कहलाता और समस्त भुवनों में पूज्य माना जाता है ॥२०७-२०८॥

अहमस्मीति यन्मत्वा जीवात्मपरमात्मनोः ।
अहं त्वमेतदुभयं त्यक्त्वा खण्डं विचिन्तयेत् ।।२०९।।
अध्यारोपापवादाभ्यां यत्र सर्वं विलीयते ।
तद्बीजमाश्रयेद्योगी सर्वसङ्गविवर्जितः ।।२१०।।

योगी को स्वयं में जीवात्मा-परमात्मा की समरूप भावना रखकर चिंतन करना चाहिए। उसे 'मेरा और तेरा' का भेदभाव मिटाकर एक अखण्ड ब्रह्म के ध्यान में ही चित्त को समाविष्ट करना चाहिए। जिस अध्यारोप-प्रत्यारोप में सभी वस्तुओं का विलय होता है उसी बीज का आश्रय ले जन-समुदाय से दूर रहकर एकाकी रूप से साधना पूरी करनी चाहिए ।।२०९-२१०।।

अपरोक्षं चिदानन्दं पूर्णं त्यक्त्वा भ्रमाकुलाः ।
परोक्षं चापरोक्षं च कृत्वा मूढा भ्रमन्ति वै ।।२११।।
चराचरमिदं विश्वं परोक्षं यः करोति च ।
अपरोक्षं परं ब्रह्म त्यक्तंतस्मिन्प्रलीयते ।।२१२।।

भ्रमातुर व्यक्ति साक्षात् ब्रह्म को छोड़कर प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष के चक्कर में पड़कर भ्रमित रहा करते हैं। ऐसे लोग इस संसार को ही सत्य मान लेते हैं और उसी में विलीन हो जाते हैं। अर्थात् वे सांसारिक बंधन से कभी नहीं छूट पाते ।।२११-२१२।।

ज्ञानकारणमज्ञानं यथा नोत्पद्यते भृशम् ।
अभ्यासं कुरुते योगी सदा सङ्गविवर्जितः ।।२१३।।
सर्वेन्द्रियाणि संयम्य विषयेभ्यो विचक्षणः ।
विषयेभ्यः सुषुप्त्येव तिष्ठेत्संगविवर्जितः ।।२१४।।

जिस अभ्यास के द्वारा अज्ञान का विनाश और ज्ञान का प्रकाश होता हो वैसे अभ्यास को निःसंग होकर योगसाधक को करने चाहिए। बुद्धिमान साधक विषय-वासनाओं से इन्द्रियों को विमुख करके संगरहित होकर उसी में सुषुप्ति के समान विलीन हो जाते हैं ।।२१३-२१४।।

एवमभ्यासतो नित्यं स्वप्रकाशं प्रकाशते ।
श्रोतुं बुद्धिसमर्थार्थं निवर्तन्ते गुरोर्गिरः ।
तदभ्यासवशादेकं स्वतो ज्ञानं प्रवर्तते ।।२१५।।

इस प्रकार के अभ्यासी साधक में स्वयं ही ज्ञानोदय हो जाया करता है। उन्हें गुरु द्वारा कथित मार्ग के अनुसरण करने की भी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। पुनः उसे अन्य प्रकार की बातों में रुचि नहीं रहती। उस विस्मयकारी ज्ञान में उसकी प्रवृत्ति स्वतः ही हो जाती है ।।२१५।।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।
साधनादमलं ज्ञानं स्वयं स्फुरति तद् ध्रुवम् ।।२१६।।

हठं विना राजयोगो राजयोगं विना हठः ।
तस्मात् प्रवर्तते योगी हठे सद्गुरुमार्गतः ।।२१७।।

यह ब्रह्म, मन और वाणी से सदा परे होता है । योगसाधन तथा स्वच्छ ज्ञान के द्वारा वह स्वत: ही आलोकित होने लगता है, यह कथन अटल सत्य है । हठयोग के अभाव में राजयोग तथा राजयोग के अभाव में हठयोग की सिद्धि का मिलना असम्भव होता है । अत: साधक को श्रेष्ठ गुरु के उपदेशानुसार हठयोग के मार्ग में अग्रसर होना चाहिए ।।२१६-२१७।।

स्थिते देहे जीवति च योगं न श्रियते भृशम् ।
इन्द्रियार्थोपभोगेषु स जीवति न संशयः ।।२१८।।

जो प्राणी इस देह में वर्तमान रहकर भी योग का आश्रयण नहीं करते वे केवल इन्द्रिय-सुख के उपभोग हेतु ही संसार में जीवित रहा करते हैं । यह बात नि:सन्देह रूप से सत्य है कि ऐसे लोग झूठे सुख के मोह में पड़कर सम्पूर्ण जीवन को बेकार बना देते हैं ।।२१८।।

अभ्यासपाकपर्यन्तं मितान्नं स्मरणं भवेत् ।
अन्यथा साधनं धीमान्कर्तुं पारयतीह न ।।२१९।।
अतीव साधुसंलापं साधुसम्मतिबुद्धिमान् ।
करोति पिण्डरक्षार्थं बह्वालापविवर्जितः ।।२२०।।

योगाभ्यास के प्रारम्भिक काल से लेकर योगसिद्धि मिलने तक विचारवान साधक को अल्पाहारी होना चाहिए, क्योंकि अपरिमित आहार से योग साधन सफल नहीं होता । योगसाधन की सफलता हेतु साधक को अल्पाहारी तथा अल्पभाषी होना परम आवश्यक होता है । इसके बिना उसे सिद्धिप्राप्ति से वंचित रह जाना पड़ता हैं ।।२१९-२२०।।

त्याज्यते त्यज्यते सङ्गं सर्वथा त्यज्यते भृशम् ।
अन्यथा न लभेन्मुक्तिं सत्यं सत्यं मयोदितम् ।।२२१।।
गुह्यैव क्रियतेऽभ्यासः सङ्गं त्यक्त्वा तदन्तरे ।
व्यवहाराय कर्तव्यो बाह्यसंगो न रागतः ।।२२२।।

योगसाधक के लिए यह आवश्यक है कि वह जन-सम्पर्क से दूर रहकर अल्पभोजी और अल्पभाषी बने । इस आचरण के प्रतिकूल कार्य करने पर उसे मुक्ति नहीं मिल सकती। हे देवी पार्वति ! मैं इस बात को पूर्णरूप से सत्य ही कहता हूँ । उसे संगरहित होकर सुनसान स्थान में अपनी साधना का अभ्यास करना उचित है । उसे संसारी व्यक्तियों से उतना ही व्यवहार रखना चाहिए जितना आवश्यक हो ।।२२१-२२२।।

स्वे स्वे कर्मणि वर्तन्ते सर्वे ते कर्मसम्भवाः ।
निमित्तमात्रं करणे न दोषोऽस्ति कदाचन ।।२२३।।
एवं निश्चित्य सुधिया गृहस्थोऽपि यदा चरेत् ।
तदा सिद्धिमवाप्नोति नात्र कार्या विचारणा ।।२२४।।

आश्रमधर्म का पालन करना भी तभी तक उचित कहा गया है जब तक उसकी आवश्यकता बनी रहे। इस प्रकार कर्म के द्वारा सम्भव होने वाले जितने भी ज्ञानादि कर्म हैं, उन्हें केवल निमित्तमात्र समझकर करने वाले को दोष का भागी नहीं बनना पड़ता। यदि कोई गृहस्थाश्रमी स्थिरचित्त से स्वगृह में ही योगसाधना करे तो उसे भी निःसन्देह रूप से सिद्धि सुलभ हो सकती है। इसमें किसी प्रकार का सोच-विचार करना अनावश्यक होता है ॥२२३-२२४॥

पापपुण्यविनिर्मुक्तः परित्यक्ताङ्गसाधकः ।
यो भवेत्स विमुक्तः स्याद् गृहे तिष्ठन्सदा गृही ।।२२५।।
न पापपुण्यैर्लिप्येत योगयुक्तो यदा गृही ।
कुर्वन्नपि तदा पापान्स्वकार्ये लोकसंग्रहे ।।२२६।।

ऐसा गृहस्थाश्रमी जो पाप-पुण्य से निर्लिप्त रहकर सभी प्रकार के संग-साथ का परित्याग कर देता है वह घर में वास करता हुआ भी पाप-पुण्य के जाल में नहीं फँसता। यदि उस गृहस्थ योगी के द्वारा सांसारिक पदार्थों के संग्रहण में किंचित् पाप भी हो जाय तो भी उस पर पाप की छाया नहीं पड़ती ॥२२५-२२६॥

अधुना संप्रवक्ष्यामि मन्त्रसाधनमुत्तमम् ।
ऐहिकामुष्मिकसुखं येन स्यादविरोधितः ।।२२७।।
यस्मिन्मंत्रवरे ज्ञाते योगसिद्धिर्भवेत् खलु ।
योगेन साधकेन्द्रस्य सर्वैश्वर्यसुखप्रदा ।।२२८।।

शिवजी बोले—हे देवि ! अब मैं ऐसे उत्तम मंत्र साधन का कथन करता हूँ जिसके द्वारा साधक को ऐहिक और पारलौकिक—दोनों सुखों की प्राप्ति एक साथ हो सके। इस सर्वश्रेष्ठ मंत्र का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर उसे योगसिद्धि अवश्य ही मिलती है। योग के सहित उसकी साधना करने पर वह सर्वाभीष्ट सुख का दाता होता है ॥२२७-२२८॥

मूलाधारेऽस्ति यत्पद्मं चतुर्दलसमन्वितम् ।
तन्मध्ये वाग्भवं बीजं विस्फुरन्तं तडित्प्रभम् ।।२२९।।
हृदये कामबीजन्तु बन्धूककुसुमप्रभम् ।
आज्ञरविन्दे शक्त्याख्यं चन्द्रकोटिसमप्रभम् ।।२३०।।

चतुर्दल मूलाधार पद्म के मध्य विद्युत्कांति के समान वाग्भवबीज, हृत्कमल में बन्धूक पुष्प (गुलदुपहरिया) के सदृश प्रभायुक्त कामबीज तथा आज्ञाचक्र में शक्तिसंज्ञक

बीज की अवस्थिति रहती है जो करोड़ों चन्द्रमा की ज्योति के समान प्रभावान होता है ॥२२९-२३०॥

बीजत्रयमिदं गोप्यं भुक्तिमुक्तिफलप्रदम् ।
एतन्मन्त्रत्रयं योगी साधयेत्सिद्धिसाधकः ।।२३१।।
एतन्मन्त्रं गुरोर्लब्ध्वा न द्रुतं न विलम्बितम् ।
अक्षराक्षरसन्धानं निःसंदिग्धमना जपेत् ।।२३२।।

उक्त प्रकार के ये तीनों ही बीज परम गोपनीय तथा भोग-मोक्षप्रदायक कहे गये हैं। अत: यह योगियों के लिए साधनीय है। इन तीनों मंत्रों की शिक्षा गुरु से लेकर मंत्रजाप में संलग्न होना चाहिए। मंत्रों का जप द्रुत-विलम्बित (कभी शीघ्र या कभी देर से) रूप से न करके प्रत्येक अक्षरों का स्पष्ट उच्चारण करते हुए स्थिरचित्त से मन्त्रोच्चार करना आवश्यक बतलाया गया है ॥२३१-२३२॥

तद्गतश्चैकचित्तश्च शास्त्रोक्तविधिना सुधीः ।
देव्यास्तु पुरतो लक्षं हुत्वा लक्षत्रयं जपेत् ।।२३३।।
करवीरप्रसूनन्तु गुडक्षीराज्यसंयुतम् ।
कुण्डेयोन्याकृतौधीमान् जपान्तेजुहुयात्सुधीः ।।२३४।।

शास्त्रोक्त विधानानुसार देवी के समक्ष एकाग्रतापूर्वक बैठकर तीन लाख की संख्या में हवन तथा एक लाख मंत्रजाप साधक को करने चाहिए। जपान्त में सुविज्ञ साधक को योनि के आकार का एक कुण्ड बनाकर उसमें करवीर (कनेर, कनइल) पुष्प के साथ गुड़, दूध और घी मिलाकर अग्नि में आहुति देनी चाहिए ॥२३३-२३४॥

अनुष्ठाने कृते धीमान् पूर्वसेवा कृता भवेत् ।
ततो ददाति कामान्वै देवी त्रिपुरभैरवी ।।२३५।।
गुरुं सन्तोष्य विधिवत् लब्ध्वा मन्त्रवरोत्तमम् ।
अनेन विधिना युक्तो मन्दभाग्योऽपि सिध्यति ।।२३६।।

यदि इस प्रकार प्रज्ञावान साधक अनुष्ठानपूर्वक देवी त्रिपुरसुन्दरी की उपासना करे तो उसे अभीष्ट फल की उपलब्धि होती है। इस सिद्धि-लाभ हेतु पूर्वकथित विधि से गुरु को प्रसन्न करके मंत्रदीक्षा लेनी चाहिए। इस प्रक्रिया को अपनाने वाला मंदभागी साधक भी बड़भागी बनने का गौरव प्राप्त कर लेता है ॥२३५-२३६॥

लक्षमेकं जपेद्यस्तु साधको विजितेन्द्रियः ।
दर्शनात्तस्य क्षुभ्यन्ते योषितो मदनातुराः ।।
पतन्ति साधकस्याग्रे निर्लज्जा भयवर्जिताः ।।२३७।।
जप्तेन च द्विलक्षेण ये यस्मिन्विषये स्थिताः ।
आगच्छन्ति यथा तीर्थं विमुक्तकुलविग्रहाः ।
सर्वस्वं तस्य ददति तस्यैव च वशे स्थिताः ।।२३८।।

इंद्रियनिग्रहपूर्वक एक लाख जप पूर्ण करने वाले साधक के दर्शनमात्र से ही कामातुरा नारियाँ लज्जाविहीन एवं निर्भय होकर साधक के समक्ष अवनत हो जाया करती हैं। इस मंत्रजाप को दो लाख की संख्या में पूरा करने वाले जापक के निकट कुलांगनाएँ भी उसी प्रकार गमन करती हं जिस प्रकार वे किसी तीर्थस्थान में नि:संकोच भाव से करती हैं। अर्थात् ऐसी नारियाँ भी उस साधक को अपना सर्वस्व लुटा देती हैं ॥२३७-२३८॥

त्रिभिर्लक्षैस्तथा जप्तैर्मण्डलीकं समण्डलम् ।
वशमायान्ति ते सर्वे नात्र कार्या विचारणा ।।
षड्भिर्लक्षैर्महीपालं सभृत्यबलवाहनम् ।।२३९।।

जो मंत्रजापक इसका तीन लाख जप कर लेता है उसके सामने मंडलाधिपति राजा भी नतमस्तक होकर उसके अधीन हो जाया करते हैं। छह लाख जप पूर्ण कर लेने पर वह स्वयं ही बल, वाहन और सेनाओं से युक्त भूमिपति बन जाता है ॥२३९॥

लक्षैर्द्वादशभिर्जप्तैर्यक्षरक्षोरगेश्वराः ।
वशमायान्ति ते सर्वे आज्ञां कुर्वन्ति नित्यशः ।।२४०।।
त्रिपञ्चलक्षजप्तैस्तु साधकेन्द्रस्य धीमतः ।
सिद्धिविद्याधराश्चैव गन्धर्वाप्सरसाङ्गणाः ।।२४१।।

इस मंत्र के बारह लाख जप कर लेने के पश्चात् यक्ष, राक्षस तथा नागादि सभी जीव सदा ही उसके आदेश का अनुपालन किया करते हैं। साधक के पन्द्रह लाख जप कर लेने पर सिद्ध, विद्याधर, गंधर्व (देवगायक) और अप्सरा (देव नृत्यांगना) आदि सभी प्राणी उसके अनुगामी बन जाते हैं। यह बात नि:सन्देह रूप से सत्य कही गयी है ॥२४०-२४१॥

वशमायान्ति ते सर्वे नात्र कार्या विचारणा ।
हठात् श्रवणविज्ञानं सर्वज्ञत्वं प्रजायते ।।२४२।।
तथाष्टादशभिर्लक्षैर्देहेनानेन साधकः ।
उत्तिष्ठेन्मेदिनीं त्यक्त्वा दिव्यदेहस्तु जायते ।
भ्रमते स्वेच्छया लोके छिद्रां पश्यति मेदिनीम् ।।२४३।।

हठयोगी को विशिष्ट प्रकार की श्रवण-शक्ति तथा सर्वज्ञान की शक्ति मिलती है। अर्थात् उसमें सूक्ष्मतम शब्दों के सुनने की तथा सूक्ष्म वस्तुओं के ज्ञान की शक्ति आ जाती है। उक्त कथित विधि से अट्ठारह लाख मंत्रजाप करने वाले साधक में देह की दिव्यता आ जाती है। वह भूमि से ऊपर उठकर इच्छानुसार आकाश में चक्कर लगा सकता है। वह भूमि-विवर का अवलोकन करने में भी सक्षम हो जाता है। आशय यह है कि वह पाताल-प्रवेश के मार्गों को देखने की क्षमता पा लेता है ॥२४२-२४३॥

शिवसंहिता की फलोपलब्धि का वर्णन

अष्टाविंशतिभिर्लक्षैर्विद्याधरपतिर्भवेत् ।
साधकस्तु भवेद्धीमान्कामरूपो महाबलः ।।२४४।।
त्रिंशल्लक्षैस्तथा जप्तैर्ब्रह्मविष्णुसमो भवेत् ।
रुद्रत्वं षष्टिभिर्लक्षैरमरत्वमशीतिभिः ।।२४५।।
कोट्यैकया महायोगी लीयते परमे पदे ।
साधकस्तु भवेद्योगी त्रैलोक्ये सोऽतिदुर्लभः ।।२४६।।

यदि प्रबुद्ध साधक उक्त मंत्र का अट्ठाइस लाख जप कर ले तो वह महाबली, कामदेव के समान रूपवान तथा विद्याधरों का अधिपति बन जाता है। तीस लाख जप करने के पश्चात् वह सृष्टिकर्ता ब्रह्मा तथा पालनकर्ता विष्णु के समान हो जाता है। साठ लाख जप करने के बाद रुद्रत्व तथा अस्सी लाख जप करने पर वह सर्वभूतों का प्रियभाजन बनकर अमरता पा लेता है। एक करोड़ का मंत्रजापक परमपद में विलीन हो जाया करता है। किन्तु इस प्रकार की साधना सम्पन्न करने वाले साधक तीनों भुवनों में बिरले ही हुआ करते हैं ॥२४४-२४६॥

त्रिपुरे त्रिपुरन्त्वेकं शिवं परमकारणम् ।
अक्षयं तत्पदं शान्तमप्रमेयमनामयम् ।।२४७।।
लभतेऽसौ न सन्देहो धीमान् सर्वमभीप्सितम् ।
शिवविद्या महाविद्या गुप्ता चाग्रे महेश्वरि ।।२४८।।

हे पार्वति ! त्रिपुररूप शिव ही परम कारण है। उनका चरणारबिन्द क्षयरहित, शान्तिकारक, प्रमाणरहित तथा रोगरहित है। उनकी प्राप्ति केवल योगियों के लिए सुलभ होती है। सभी मनोरथों की पूर्ति करने वाली शिवविद्या ही महाविद्या कही जाती है। हे महेश्वरि यह अत्यन्त श्रेष्ठ और गोपनीय विद्या है ॥२४७-२४८॥

मद्भाषितमिदं शास्त्रं गोपनीयमतो बुधैः ।
हठविद्या परं गोप्या योगिना सिद्धिमिच्छता ।।२४९।।
भवेद्वीर्यवती गुप्ता निर्वीर्या च प्रकाशिता ।
य इदं पठते नित्यमाद्योपान्तं विचक्षणः ।।२५०।।
योगसिद्धिर्भवेत्तस्य क्रमेणैव न संशयः ।
स मोक्षं लभते धीमान् य इदं नित्यमर्चयेत् ।।२५१।।

शिवजी बोले—हे देवि ! मेरे द्वारा कथित यह शास्त्र परम गोपनीय है। इसे विद्वान सदैव गुप्त ही रखते हैं। सिद्धाभिलाषी साधकों के लिए यह परमावश्यक है कि वे इसे किसी के समक्ष प्रकट न करें। विद्या को गुप्त रखने से वह फलवती तथा प्रकटन से फलविहीन हो जाती है। इस शास्त्र का नित्यप्रति आद्योपात्त पाठ करने वाले सुविज्ञ साधकों में शनैः शनैः योग की सिद्धि प्राप्त हो जाती है। इस ग्रन्थ का

नित्य पूजन करने वाला बुद्धिमान पुरुष अवश्य ही मोक्ष की प्राप्ति कर लेता है ॥२४९-२५१॥

मोक्षार्थिभ्यश्च सर्वेभ्यः साधुभ्यः श्रावयेदपि ।
क्रियायुक्तस्यसिद्धिः स्यादक्रियस्यकथम्भवेत् ।।२५२।।
तस्मात् क्रियाविधानेन कर्तव्या योगपुङ्गवैः ।
यदृच्छालाभसन्तुष्टः सन्त्यक्तान्तरसंगकः ।।२५३।।

इसके द्वारा सभी मोक्षार्थियों, सज्जनों, श्रवण करने वालों तथा क्रियाशील मनुष्यों को निश्चय ही सिद्धि मिलती है, किन्तु निश्चेष्ट और निष्क्रिय व्यक्ति के लिए किस प्रकार सम्भव हो सकता है ? विधिपूर्वक किये जाने वाले सत्कर्म से अभीप्सित फल की प्राप्ति सम्भव होती है । इसके अनुष्ठानकर्ता को कभी इन्द्रियासक्त नहीं होना चाहिए ॥२५२-२५३॥

गृहस्थश्चाप्यनासक्तः स मुक्तो योगसाधनात् ।
गृहस्थानां भवेत् सिद्धिरीश्वराणां जपेन वै
योगक्रियाभियुक्तानां तस्मात्संयतते गृही ।।२५४।।

विषयासक्ति से दूर रहने वाला गृहस्थाश्रमी योगसाधन द्वारा विमुक्त हो जाता है । इसकी साधना गृहस्थों के लिए सिद्धिदायक होती है । अतः सभी गृहस्थाश्रमी को मंत्रजाप के सहित इसकी साधना निष्पन्न करनी चाहिए ॥२५४॥

गेहे स्थित्वा पुत्रदारादिपूर्णः सङ्गं त्यक्त्वा चान्तरे योगमार्गे ।
सिद्धे चिह्नं वीक्ष्य पश्चाद्गृहस्थः क्रीडेत्सं वै सम्मतं साधयित्वा ।।२५५।।

यदि स्त्री-पुत्रादि से युक्त गृहस्थाश्रमी संसर्ग का परित्यागकर भोगपथ में प्रवृत्त हो जाय तो उसमें भी सिद्धि के लक्षण भासित होने लगते तथा वह सदैव आनंदित रहकर क्रीड़ाशील रहा करता है । आशय यह है कि योगाभ्यासी को सर्वदा निःसंग रहकर जीवन-यापन करना उचित है ॥२५५॥

इति श्रीशिवसंहितायां हरगौरीसंवादे योगप्रकरणे नाम पञ्चमः पटलः सम्पूर्णम् ॥५॥

इस प्रकार श्रीशिवसंहिता के अन्तर्गत योगप्रकरण नामक पाँचवें पटल की पं० हरिहरप्रसाद त्रिपाठीकृत हिन्दी व्याख्या समाप्त हुई ॥५॥

शिव संहिता

प्राचीन यौगिक ग्रन्थों के अन्तर्गत 'शिव संहिता' का भी अपना एक विशिष्ट स्थान रहा है। इसमें योगसाधना की दश प्रमुख मुद्राओं का वर्णन सरल हिन्दी में विस्तारपूर्वक किया गया है। इसके द्वारा योग-जिज्ञासुओं की जिज्ञासा-पूर्ति समुचित रूप से हो सकती है। इस ग्रन्थ में कुल पाँच पटल दिये गये हैं जिसमें प्रथम पटल में आत्मा का लयत्व वर्णन, द्वितीय पटल में तत्त्वज्ञानोपदेश, तृतीय पदल में योगाभ्यास कथन, चतुर्थ पटल में मुद्रावर्णन और पंचम पटल में योगसाधना कथन नामक शीर्षक से योग साधक के सभी विघ्नों का विस्तृत निरूपण किया गया है। अतः योगसाधकों के लिए यह पुस्तक सभी दृष्टियों से परमोपयोगी सिद्ध होगी। ग्रन्थोक्त विधियों का अनुपालन करने से योगाभ्यासी निश्चय ही अपने लक्ष्य तक पहुँचने में सफल हो सकता है।

designed by Shreyashi GRAPHICS, mo. 9839814784

ISBN : 81-218-0211-3 Price : Rs. 60.00

HAṬHARATNĀVALĪ

(*A Treatise on haṭhayoga*)

of

ŚRĪNIVĀSAYOGĪ

Critically Edited
By

Dr. M. L. Gharote
Dr. Parimal Devnath
Dr. Vijay Kant Jha

2002
The Lonavla Yoga Institute (India)
Lonavla

First Edition, 2002.

Printed by -
Capt. N. Dass (Retd),
XL Images,
S-74 MIDC, Bhosari,
Pune - 411 026.
India.

Published by -
Dr. Manmath M. Gharote,
Secretary,
The Lonavla Yoga Institute (India),
A-7, Gulmohar Apartment,
Bhangarwadi, Lonavla,
Pune.
India - 410 401.

Rs. 245/-
Euro 15
US $ 15

ISBN 81-901176-96

Contents

List of Figures

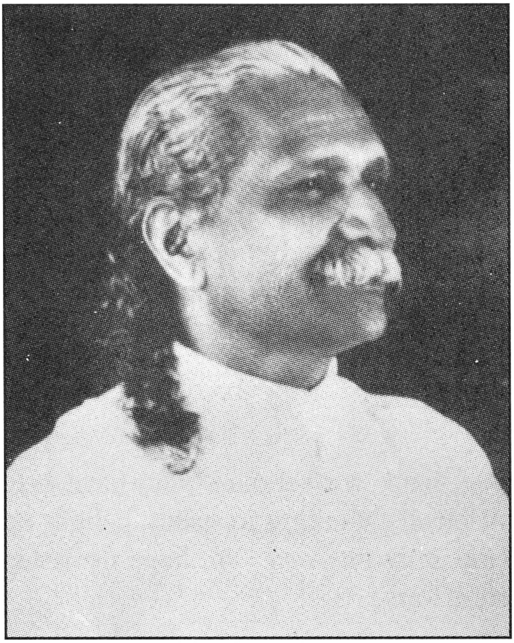

Dedicated

with

profound respect

to

Swāmī Kuvalayānanda

the Source of our Inspiration

for Literary Research in Yoga

Publisher's Note

We are happy to present our readers this seventh research publication of *haṭharatnāvalī,* which is an important text of *haṭhayoga* after *haṭhapradīpikā.*

We feel extremely happy to receive encouraging support and appreciation from the scholars of *yoga* for our research publications so far and we reiterate our promise to publish and present other important titles of *yoga* works to the readers.

We thank our scholars who have been sincerely and enthusiastically working to bring to light important unpublished literature on *yoga.* We hope the readers will appreciate their efforts.

Dr. Manmath M. Gharote

Abbreviations

AhS —*ahirbudhnya-saṃhitā*
BYS— *bṛhadyogasopāna*
DBU— *dhyānabindūpaniṣad*
GhS— *gheraṇḍasaṃhitā*
GŚ -- *gorakṣaśataka*
HP— *haṭhapradīpikā*
HP (10 chapters)—*haṭhapradīpikā,* Lonavla Yoga Institute (India)
HP(J)—*haṭhapradīpikā* (Ms. No.6756 deposited in RORI, Jodhpur)
HR— *haṭharatnāvalī*
HSC—*haṭhasaṅketacandrikā* (Ms. No. R 3239 deposited in Madras Govt. Oriental Library).
HY— *haṭhayoga*
JP—*jogapradīpakā*
JUp—*jābāla-darśanopaniṣad*
KP— *kumbhaka paddhati*
KKHP— *kapālakuraṇṭaka-haṭhābhyāsa-paddhati*
MMPP—Maharaja Mansingh Pustak Prakash, Jodhpur
MYS— *mahākāla-yogaśāstra*
NP— *nirañjana purāṇa*
PS—*pārada-saṃhitā*
PYS —*patañjala yogasūtra*
RORI—Rajasthan Oriental Research Institute, Jodhpur
RRS— *rasaratnasamuccaya*
SKS— *satkarma-saṃgraha*
ŚS-- *śivasaṃhitā*
SSP— *siddhasiddhāntapaddhati*
ŚUp-- *śāṇḍilyopaniṣad*
TBU— *triśikhi-brāhmaṇopaniṣad*

TUp — *tejobindūpaniṣad*
TVd — *tatvavaiśāradī*
VS — *vasiṣṭha-saṃhitā*
VU — *varāhopaniṣad*
YB — *yukta-bhavadeva*
YM — Yoga Mīmāṃsā
YSC — *yoga siddhānta candrikā*
YŚU-- *yogaśikhopaniṣad*
YV — *yogavārtika*

Scheme of Transliteration

Letters, their sounds and description of these sounds

Simple Vowels--

ॐ	om	like	o	in	home
अ	a	,,	a	,,	but
आ	ā	,,	a	,,	far
इ	i	,,	i	,,	pin
ई	ī	,,	ee	,,	feel
उ	u	,,	u	,,	fulsome
ऊ	ū	,,	oo	,,	wool
ऋ	ṛ	,,	r	,,	German

Dipthongs---

ए	e	,,	a	,,	fate
ऐ	ai	,,	ai	,,	aisle (but not drawled out)
ओ	o	,,	o	,,	over
औ	au	,,	ou	,,	ounce (but not drawled out)

Gutturals---

क	k	,,	k	,,	kill
ख	kh	,,	kh	,,	ink-horn
ग	g	,,	g	,,	girl
घ	gh	,,	gh	,,	long-house
ङ	ṅ	,,	n	,,	king or ink

Palatals--

च	c	,,	ca	,,	church
छ	ch	,,	like the sound in Churchill		
ज	j	,,	j	in	join
झ	jh	,,	palatal 'z' in azure		
ञ	ñ	,,	n	in	pinch

Cerebrals--

ट	ṭ	,,	t	,,	tub
ठ	ṭh	,,	th	,,	pot-house
ड	ḍ	,,	dh	,,	dog
ढ	ḍh	,,	dh	,,	mad-house
ण	ṇ	,,	n	,,	splinter or and

Dentals---

त	t	,,	dental 't' as in 'thin' or like the French 'T'		
थ	th	,,	th	in	thunder
द	d	,,	th	,,	then
ध	dh	,,	th	,,	this
न	n	,,	n	,,	no

Labials---

प	p	,,	p	,,	paw
फ	ph	,,	ph	,,	top-heavy or gh in laugh
ब	b	,,	b	,,	balm
भ	bh	,,	bh	,,	hob-house
म	m	,,	m	,,	mat

Semi-vowels--

य	y	,,	y	,,	yawn
र	r	,,	r	,,	rub
ल	l	,,	l	,,	lo
व	v	,,	w	,,	wane

Spirants---

श	ś	,,	r	sh	ashes
ष	ṣ	,,	a strong lingual with rounded lips		
स	s	,,	s	,,	sun

Aspirate---

ह	h	,,	h	h	hum

Nasalised म् as in संयम (*saṃyama*) --ṃ

visarga--------------------------ḥ

haṭharatnāvalī

Introduction

haṭharatnāvalī is an important text of *haṭhayoga* written by *śrīnivāsa* but not widely known to the students of *yoga*. The author has undoubtedly received the inspiration like many later writers from *svātmārāma's haṭhapradīpikā* which occupies a unique position among the texts of *haṭhayoga*.

The text of *haṭharatnāvalī* was first critically edited and published in 1982 by M. Venkata Reddy who is to be congratulated for bringing this text to light. During the last 20 years after its publication more copies of the manuscripts were available including one commentary in Nepali language. It was considered necessary to edit the text once again on the basis of the available material and improve upon the text by giving transliteration of the Sanskrit text avoiding certain lacunae in the previous edition. For the practical students of *yoga*, it was felt necessary to provide illustrations of the practices, especially of the selected *āsanas*. Some significant readings from the newly acquired manuscripts were also profitably used in this edition.

Materials used for this edition

Eight manuscripts and one printed edition of the text were availed of for collation and noting variations in reading. A brief description of these is given below:

I. Ms. No. 2243 *haṭharatnāvalī* of *śrīnivāsa yogīśvara* containing 4 chapters. Size 24.0 x 12 cm., folios 31, lines 9, letters 24, Nagari script, paper, loose, undated, deposited in the Maharaja Mansimha Pustak Prakash Shodha Kendra, Jodhpur. Indicated as **'J'**.

II. Ms. No. Sa413 *haṭharatnāvalī* of *śrīnivāsa yogīśvara*, size 27.4x13.1 cm., folios 53, lines 12,

letters 32-40, Nagari script, Nepali paper, light brown yellow, loose, Vikram Samvat 1919, scribe Cakraman, together with Nepalese translation, deposited in the Rastriya Abhilekhagar, Kathmandu, Nepal. Indicated as '**N**'.

III. Ms. No. 4-39 *haṭharatnāvalī,* deposited in National Archives, Kathmandu, Nepal, size 38x6 cm., folios 35, lines 4, letters 58, Nagari script, paper, dated Saṃvat 1895, *śrīśaka saṃvatsara* 1760, *śrī* Nepal *saṃvat* 959, *mārgaśīrṣa śukla pañcamī, bṛhaspativāre idaṃ ratnāvalī nāma grantha likhitaṃ saṃpūrṇam.* Indicated as '**n1**'.

IV. Ms. No. 5-6846, *haṭharatnāvalī,* deposited in the National Archives, Kathmandu, Nepal, size 27.5x6.5, folios 35 (fol. 20th missing), lines 5, letters 32-35, Nagari script, paper, incomplete, undated. Indicated as '**n2**'.

V. Ms. No. 6-1744, *haṭharatnāvalī + śyāmāviṃ śāṅkākhya yantravidhi*, fol. 20, incomplete, size 29.5x11.5 cm., lines 10-13, letters 40-44, paper, damaged by water, undated. Indicated as '**n3**'.

VI. *haṭharatnāvalī* in private collection of Yadu Sarma Gorakha, microfilmed by the Nepal-German Manuscript Preservation Project, Reel No. F-30/12, fol. 11, (6-16, 25), incomplete, size 23.5x10 cm., script Nagari, Nepali paper. Indicated as '**n4**'.

VII. *haṭharatnāvalī* critically edited by M. Venkata Reddy and published by M. Ramakrishna Reddy, Arthmuru (Andhra Pradesh) in 1982. This edition is based on the Ms. No. 6714 of the MSSM

Library, Thanjavur, Ms. No. 5833 from Bikaner Branch of the RORI, Jodhpur. Ms. No. 29860 from Sampurnananda Sanskrit University, Varanasi and Ms. No. 13118-13 of Oriental Institute, Baroda. This last one is incomplete of which nearly half of the text is missing. Indicated as 'P'.

VIII. Ms. No. 6393 (b), *śrīnivāsena kṛtā haṭharatnāvalī,* deposited in the Sarasvati Mahal Library, Thanjavur, copied by hand. Indicated as '**T**'.

IX. Ms. No. Re-332-73, *haṭharatnāvalī* of *śrīnivāsa*, paper, script Devanagari, pages 1 to 68, obtained from Prof. M. Venkata Reddy. Indicated as '**t1**'.

Prof. M. Venkata Reddy in his Introduction to the critical edition of *haṭharatnāvalī* has referred to Shri O. Y. Dorasamayya's Commentary of *haṭhayogapradīpikā* where some *kriyās* like *kilikarma* and *śaṅkhaprakṣālana* from *haṭharatnāvalī* are mentioned. These *kriyās* are not found described in any of the manuscripts used by us. Similarly, Dorasamayya mentions that he could not find some *āsanas* like *pādapīḍana, nirālambana, vidhūnanam, vicitrakaraṇī, piṇḍamayūra* described in the *haṭharatnāvalī.*

This indicates that there must be other copies of HR about which we are not aware of. There is a need of locating further copies with different readings of the text.

About the date of composition of HR nothing can definitely be said. However, on the basis of the description of internal and external evidence Prof. Venkata Reddy has tentatively arrived at the period of composition of HR between 1625 to 1695 AD. We also more or less agree to this period of HR.

About the author

śrīnivāsa, the author of *haṭharatnāvalī* has given some details about himself in the text. On the basis of this we learn that he was an erudite scholar well versed in the *vedas, vedānta, tantra, nyāya* and *yoga.* From his narration, it appears that he wrote commentaries on the works of *śaśadhara* and *maṇikānta miśra.* He also composed the work called *vedāntaparibhāṣā.*

He was the resident of the Tirabhukta region. His father was a great astrologer, probably named *saravara* as per the Nepali commentator and the name of his mother was *somāmbā.* He adores himself with the titles such as *kalitārkika-cuḍāmaṇī, sakala-nyāyaśāstra-saṃpradāya-pravartaka, nyāyācārya, sakala-haṭhayoga-pravartaka, jayalakṣmī* and *mahāyogīndra.*

From the frequent quotations of *haṭhapradīpikā,* it is clear that he received an inspiration to compose *haṭharatnāvalī* from *svātmārāma* although *śrīnivāsa* criticises him on some points.

Contents of the text

śrīnivāsa calls his treatise of *haṭhayoga* as *haṭharatnāvalī.* Alternatively he also calls his work as *haṭhayogaratnasaraṇī* or *ratnāvalī.* The contents are divided into four chapters. The distribution of various topics is as follows:

Chapter I

In this chapter after introducing himself, *śrīnivāsa* gives the purpose of his treatise HR. He gives various definitions of *yoga* and explains *mahāyoga* under which he describes *mantrayoga, layayoga, rājayoga* and *haṭhayoga.* He explains the relationship of *rājayoga* with *haṭhayoga* on the same lines as of HP. He gives elaborate description of eightfold

purificatory processes called *aṣṭakarmas* in place of usual *ṣaṭkarmas,* according to the tradition of his *guru.* He criticizes *svātmārāma* for not including *cakrikarma* under the purificatory processes. He gives a great importance to the practice of *cakrikarma* and recommends it to be practised during *jalabasti* instead of using a tube to be inserted in the rectum for which he also quotes the authority of *yogī carpaṭi.* He provides additional information on the *karmas* like *nauli, basti* and *kapālabhrānti* by giving different varieties. Under *nauli* he describes two types, namely, *bāhya nauli* and *antarā.* But the distinction between the two is not clear. *basti* is also described of two types—*jalabasti* and *vāyubasti* for which the use of *cakrikarma* is recommended. In *kapālabhāti* a variety is given wherein the head is moved towards left and right while exhaling rapidly. In the practice of *gajakaraṇī,* instead of plain water, jaggery water or coconut water is recommended.

The purpose of these *karmas* is not only to remove the excess of fat and mucus but to purify six *cakras,* to provide basis for *prāṇāyāma,* to remove all kinds of disorders and to contribute to the healthy body which is an instrument on the path of liberation. It is also described how different *karmas* purify specific *cakras.*

The other topics dealt with in this chapter are description of a hut for *yoga* practice, *mitāhāra*, recommended and prohibited food items, helpful and harmful things in attaining the success in *yoga* and ultimately the list of great *siddhas* who attained success through *haṭhayoga* and conquered death.

Chapter II

This chapter elaborately describes nine *kumbhakas* and ten *mudrās.* Alongwith the eight well-known *kumbhakas,*

one more *kumbhaka* is described under the name of *bhujangīkaraṇa. uḍḍiyāna* is called *bāhyoḍḍyāna. vajroli* and *khecarī mudrās* have been dealt with in great detail. The synonyms of *iḍā, piṇgalā* and *suṣumnā* given here are not usually found in other *haṭha* texts.

Chapter III

This is mainly devoted to the elaborate description of 84 *āsanas*. The author starts with the topic of *aṣṭāṅgayoga,* but describes only *mānasa niyamas* and *kāyika niyamas*. No explanation of these is given.

āsana being the first component of *haṭhayoga* the author deals with this topic elaborately. He gives the list of 84 *āsanas*, but explains the techniques of only 36 *āsanas*. He mentions in the list four types of *padmāsana*, six types of *mayūrāsana*, three types of *kūrmāsana*, and five types of *kukkuṭāsana*. After dealing with the topic of *āsanas*, he discusses the importance, technique and the effects of *prāṇāyāma.*

Chapter IV

It deals with *samādhi* and the techniques like *nādānusandhāna*, four states of progress in *yoga,* such as *ārambha, ghaṭa, paricaya* and the *niṣpatti* and the experiences during each of these states.

There is a discussion of *piṇḍa* and *brahmāṇḍa* in which elaborate description of 14 *nāḍīs* is given as well as philosophical statements from different sources like *sūtasaṃ hitā, viṣṇupurāṇa, bhagavadgītā* and different schools of philosophy such as *nyāya, prābhākara, sāṃkhya, advaita* have been briefly mentioned. This chapter seems to be hurriedly and abruptly ended.

About the Nepali Commentary

Out of the five Nepali manuscripts collected for this critical edition, the 'N' manuscript is all the more important. This manuscript not only contains the text of *haṭharatnāvalī* but also a commentary on every verse by one *ambaragīra yogī*. Who this *yogī* was, is not known. But the scribe *cakramāna* has copied it in Samvat 1919, i.e. 1862 AD. Except the mention in the beginning about the name of the commentator, no information about his period, his personality, his tradition or his works is available. It seems that he has written a commentary on *yuktabhavadeva* of *bhavadeva miśra*, but we have not been able to go through it. However, it is of great importance for us, since it provided substantial help in preparing this critical edition. *ambaragira yogī's* commentary is the only commentary available to us so far. We could not obtain more than one copy of this commentary.

Special Features and Contributions

The characteristic feature of the commentary is its language and style which is clear, lucid and flowing as if he is explaining the contents to a common man.

The explanation about the topics discussed reflects on his experience and rational outlook. Some of the examples are given below.

The term *mahodara* is explained as 'gastric trouble' (i.30). Similarly, while explaining the effects of *neti*, a mention is made about the disturbances in head due to the disturbances of the gastric fire (i.42). In i.44, the explanation regarding filling the stomach with air and pass it out through the anus using *cakrikarma* reflects on his personal experience in the *kriyās* or purificatory processes. Same thing is true also about

basti on which he comments that after performing the *cakrikarma,* one should contract the *ādhāra cakra.* His mention about the control of fickle mind through the purification of *vāyu* by performing *basti* is certainly valuable (i.52). In the performance of *kapālabhastrī,* suggestion of moving the head to the left and right with the speed of wind denotes a different technique (i.57). In relation to *prāṇāyāma,* the mention of holding the air in the mouth may give surprise to the *yoga* practitioners (ii.43). To attribute *mahāmudrā* to *vasiṣṭha* is a revelation of new information (ii.41). Invigoration of gastric fire by *jālandhara bandha* may reflect on his own experience. He also suggests adoption of three *bandhas* during *viparītakaraṇī.* These are some of the thoughts exposed by him worth consideration.

Some drawbacks of the Commentary

Despite some of the characteristic points mentioned above, there are many places of errors, which reflect on the ignorance of the commentator. For example, alongwith the mention of 84 *āsanas*, he also mentions 84 *prāṇāyāmas* which do not seem to have any traditional bearing. It is possible that it may be an error of the scribe. While enumerating six *cakras,* the *svādhiṣṭhāna* has not been mentioned. *brahmacakra* has been mentioned as the sixth *cakra.* These points create perplexity in the minds of the *yoga* readers. He considers *karaṇī* and *viparīta* as separate *mudrās.* In relation to *śakticālana mudrā,* where the reference is made to the length and breadth of the cloth, he considers it the description of *kuṇḍalinī* whose hood is six digits wide and twelve digits long when it is aroused. This seems to be quite irrational. In ii.156, instead of considering the synonyms of *iḍā,* he tried to give the meanings of the terms. There are also errors in the enumeration and description of the names of the *āsanas.* He

writes *śilāsana* for *śilpāsana, ardhanāryāsana* and *īśvarāsana* separately *for ardhanārīśvara, śuddhāsana* and *pakṣīsamandrakāsana* separately for *śuddhapakṣī* and *sumandraka*. This creates confusion in the minds of the readers. Although *śrīnivāsa,* the author enumerates 84 *āsanas*, the number of *āsanas* is much less that is mentioned by the commentator. While describing *vīrāsana*, he strangely calls it *maṇḍukāsana*. In iv.38, he equates *iḍā* with *yamunā* and *piṅgalā* with *gaṅgā,* which is contrary and misleading.

In spite of all these shortcomings, we are thankful to the commentator for the help we derived from it in this critical edition.

A Critical Appraisal of the Text

haṭhapradīpikā and *haṭharatnāvalī:* A Comparison

śrīnivāsa is very well acquainted with HP of *svātmārāma*. He has quoted the verses from the HP almost verbatim, sometimes acknowledging the source, but many-a-time without mentioning the source. The use of verses from HP in the HR may be mentioned below:

Chapter	no. of verses	percentage
I	23	26.4%
II	53	35.8%
III	43	43.4%
IV	18	28.5%
		134.1 / 33%

Thus it will be found that *śrīnivāsa* leans very much on the material from HP.

He differs from HP in giving additional information on the following points:

Instead of *ṣaṭkarmas* he describes *aṣṭakarmas*. He includes *cakrikarma* and a variety of *gajakaraṇī* called *gurugajakaraṇī* in the *karmas* or purificatory processes.

HP describes 15 *āsanas,* while HR gives a list of 84 *āsanas* and actually describes 36 *āsanas.*

Although both the texts describe ten *mudrās,* HR has more elaborately described *vajrolī* and *khecarī mudrās.* The mention and description of *saṅketa* is unique in HR because it is not found elsewhere.

The philosophical discussion on the *piṇḍa-brahmāṇḍa* (microcosm and macrocosm) that we find in the HR, is missing in HP.

The synonyms for *kuṇḍalinī, iḍā, piṅgalā* and *suṣumnā* given in the HR is not found in HP.

Contributions of *śrīnivāsa* in *haṭharatnāvalī*

In spite of the fact that about one-third portion of the text comes from the HP, there are many special points in this text, which make it an important treatise on *haṭhayoga.* These points are mentioned below.

The concept of *yoga*

The foremost contribution of HR is to remove the misunderstanding about the conceptual definition of *yoga* and to give the clear exposition of *yoga.* The author gives greatest importance to *patañjali's* definition '*cittavṛttinirodha*' and describes it as *mahāyoga* of which he mentions four

kinds, namely, *mantrayoga, layayoga, rājayoga* and *haṭhayoga.* He has defined them adequately as follows:

i. ***mantrayoga***—In the composition of the word *mantra* '*m*' signifies '*manas*' and '*tra*' signifies '*prāṇa*'. The union of '*manas*' (mind) and '*prāṇa*' is necessary in '*mantra*'. When *mantra* is recited after assigning it in the various parts of the body, it is *mantrayoga.*

ii. ***layayoga***—Absorption of mind is *layayoga*, which is attained through '*saṅketa*'. To concentrate at the back of the head at the level of the center of the eyebrows is '*saṅketa*'. Forgetting the objects of experience and absence of their regeneration is the characteristic feature of *laya.*

iii. ***rājayoga***—In *rājayoga, prāṇa* having attracted *apāna* upwards, establishes itself in the lotus of *ākāśa* in the head. In the state of *samādhi,* there are neither the objects of perception nor the activities of the mind. There is an absence of the perception of space and time. One who is established in *rājayoga,* all his awareness is lost.

iv. ***haṭhayoga***-- In *haṭha* the words '*ha*' and '*ṭha*' symbolically represent 'sun' and the 'moon' or '*iḍā*' and '*piṅgalā*' *nāḍīs* and establishing equilibrium between these two is *haṭhayoga.* For this, ten *mudrās*, eight *kriyās, kuṃbhakas* and 84 *āsanas* are the topics discussed in *haṭhayoga.*

In the light of the characteristics of the four *yogas* described above, it could be said that the scope and the content has been clearly presented that is rarely seen in other treatises of *haṭhayoga.*

<u>*aṣṭakarmas*</u>

Another characteristic feature of the text is the description of '*aṣṭakarmas*'. Normally a student of *haṭhayoga* is conversant with the '*ṣaṭkarmas*' described in the *haṭha* texts. But *śrīnivāsa* recognizes '*aṣṭakarmas*' in which *cakri* and *gajakaraṇī* are included. *śrīnivāsa's* insistence on the practice of *cakrikarma* is so strong that he criticises *svātmārāma* for having not described it in his HP. He considers the importance of *cakrikarma* in all the *karmas*. He claims that the *cakrikarma* comes from the tradition of his *guru*.

i. Under *aṣṭakarmas*, *nauli* has been described as twofold as *bhārī* and *antarā*. *śrīnivāsa* has stated that the *bhārī nauli*, which is generally practiced, belongs to *gauḍa* tradition, while *antarā nauli* has been propogated by him. Thus, we find the two traditions in the performance of *nauli*. SKS (114) also talks about *āntra nauli*. However, none of the descriptions is clear to follow the technique.

ii. Another *karma* described is *basti*, which is of two types, *jalabasti* and *vāyubasti*. Although we get their description in GhS also, *śrīnivāsa* talks about the two traditions in *basti*. One is *kāpālika* tradition and the other is *carpaṭa* tradition. In *kāpālika* tradition, a wooden tube is used for *basti*, while in *carpaṭa* tradition instead of tube, one resorts to *cakrikarma*. This information is new. *śrīnivāsa* also gives some useful suggestions regarding the practice of *basti*. For example, he suggests that after *basti*, one should stay in a place protected from draught of wind and should not consume food for about an hour or so.

iii. The technique of *neti-karma* described here is

somewhat different from the technique given in the HP and GhS. It not only requires longer thread, but the technique consists of simultaneous friction of both the nostrils, which does not seem to have been described elsewhere.

iv. Under *gajakaraṇī* he gives different technique calling it *gurugajakaraṇī,* in which instead of plain water, coconut water or sweet water mixed with jaggery is used.

v. Commonly known *kapālabhāti* is called *kapālabhastrikā. śrīnivāsa* describes altogether a different technique of *kapālabhastrikā,* not commonly known and practised. It involves moving of the head to the left and right while doing *pūraka* and *recaka.* This movement of head during *kapālabhastrikā* is called *bhrāntibhastrā* in SkS (52). *śrīnivāsa* attributes the following effects to *kapālabhastrī :* alleviation of the phlegmatic and bilious disorders and diseases caused due to water and cleansing of the forehead and *brahmacakra.*

vi. **Purification of the *cakras*:** In relation with *aṣṭakarmas, śrīnivāsa* has stated how each *karma* brings purification of specific *cakra*. For example, purification of *mūlādhāra* by *cakrikarma*, purification of *svādhiṣṭhāna* by *vajroli karma*, purification of *nābhi cakra* by *nauli,* purification of *anāhata cakra* and *viśuddha cakras* by *dhauti* and purification of *ājñācakra* by *neti* and *trāṭaka.* Similarly *basti* and *kapālabhāti* bring purification of all the *cakras.* Hopefully, this suggestion of purification of the *cakras* through the practice

of various *karmas* may open new vistas of investigation.

<u>*kuṃbhakas*</u>

To present traditional facts in a new perspective shows *śrīnivāsa's* critical outlook. Thus, while describing *kuṃ bhakas,* instead of eight accepted *kuṃbhakas,* he includes one more *bhujaṅgakaraṇī kuṃbhaka* and makes the total number of *kuṃbhakas* nine. In this enumeration he omits *plāvinī kuṃ bhaka,* but includes *kevala kuṃbhaka.*

<u>*mudrās*</u>

While discussing *mudrās,* he provides some new information such as *mahāmudrā* described by *vasiṣṭha,* practice of *mahāvedha* eight times a day, emphasis on the necessity of a master-disciple relationship for the practice of *vajroli* etc. Detailed description of preparing the tube for *vajroli* practice is also a special feature which we do not come across in other texts. There is quite significant difference about the technique of *śakticālana mudrā.* As against prevalent notion, *srīnivāsa* considers *'jihvācālana'* as *'śakticālana'* and calls it *'śabdagarbhācālana'.* Similarly, he gives different synonyms for *suṣumnā, iḍā* and *piṅgalā* which are not seen described elsewhere.

<u>*aṣṭāṅgayoga*</u>

It seems that *yama* as a separate *aṅga* under the classification of *aṣṭāṅgayoga* was not acceptable to *śrīnivāsa.* So he divided *niyama* into two parts and *ahiṃsā* and *brahmacarya* were included under *mānasa niyamas* and *satya* under the *kāyika niyamas.* Thus he does not blindly follow the concepts of ancient tradition on one hand and presents his

independent outlook on the other. This independent approach is seen at several places in the text.

<u>*āsanas*</u>

In the modern *yogic* perspective, *śrīnivāsa's* major contribution is in the form of *āsanas*. In many texts of *haṭhayoga*, there is a mention of 84 *āsanas*. But actually they do not give their names and describe only a few *āsanas*. In HR *śrīnivāsa* not only gives the list of 84 *āsanas* but also describes many of them. Some of these *āsanas* have been mentioned and described for the first time here. The *āsanas* which have been described by him are as follows:

saṃpuṭita paṅkaja, daṇḍamayūra, pārśvamayūra, padmamayūra, baddhakekī, piṇḍamayūra, ekapādamayūra, bhairavāsana, kāmadahana, pāṇipātrāsana, markaṭāsana, pārśvamatsyendra, baddhamatsyendra, nirālaṃbana, saurāsana, ekapādāsana, phaṇīndrāsana, śayitapaścimatāna, vicitrakaraṇī, vidhūnana, pādapīḍanāsana, vṛścikāsana.

It will not be an exaggeration to say that elaborate description of the *āsanas* is a special feature of HR, which distinguishes itself from the other *haṭha* texts.

<u>*saṅketa*</u>

In connection with *layayoga* and *khecarī śrīnivāsa* has used an important term *'saṅketa'* which needs special explanation. *saṅketa* means a key through which secret behind any esoteric practices is revealed. In HR, only at two places the word *'saṅketa'* has been used. But *sundaradeva* has named his treatise as *'haṭha- saṅketacandrikā'* where right in the beginning he says that to reveal the secrets of *haṭhayoga* the treatise has been named 'HSC'

It has been stated in HR that absorption of mind takes

place through *'saṅketa'* and to gaze at *bhrūmadhya* is the highest form of *'saṅketa'*. Importance of the practice of *bhrūmadhya-dṛṣṭi* has been accepted and recommended in all the *haṭha* texts. But *śrīnivāsa* for the first time revealed the secret of *bhrūmadhya-dṛṣṭi* through *saṅketa.* He has stated that the place of concentration during *bhrūmadhya-dṛṣṭi* is in the back of the head at the level of the center of the eyebrows. It seems that *śrīnivāsa* considers the place of *citta* here and the concentration at this point may easily lead to the absorption of mind. To explain this point he has used the word *saṅketa.*

Second time he has used the term *saṅketa* in connection with *khecarī,* where the tongue is inserted in the cranial cavity and fixed at the particular place. He has supposed the cranial cavity as zigzag, spiral and consisting of the two chains of *iḍā* and *piṅgalā.* He explains *saṅketa* as inserting the tongue in the spiral of these two chains which reaches the place of *suṣumnā* resulting in absorption of the nectar oozing out of the moon situated there. Students of *yoga* very well know that *citta, khecarī mudrā, candra* are such esoteric terms which are not clearly explained and there is much ambiguity about them. *śrīnivāsa* has made an attempt to throw some light on these secrets. Therefore, his attempt is very valuable in the field of *yoga.*

For the fear of inflation of the text although elaborate discussion of all the topics could not be attempted by the author, yet there are some new topics like *piṇḍa-brahmāṇḍa-nirūpaṇa, pañcīkaraṇa,* number of *tattvas,* which seem essential for the students of spiritual culture, which have been included in the fourth chapter.

In the light of the above discussion, it can be unhesitatingly said that boldly refuting the prevalent ideas and introduction of new thoughts in a lucid manner, gives a special place to HR among the texts of *haṭhayoga.*

Therapeutical Effects of *haṭhayogic* Practices

śrīnivāsa **has attributed certain therapeutical effects to the various *yogic* practices which are mentioned below:**

Name of the practices	Therapeutical benefits
aṣṭakarmas	Effective in cleansing the body, removes the impurities such as fat and phlegm contributing physical well-being.
cakri-karma	Removes piles, diseases of spleen, abdominal disorders, cleanses the morbidities, stimulates gastric fire, purifies perineal region.
nauli	Stimulates gastric fire, improves digestion, feeling of well-being, removes the disorders of the three humours.
dhauti	Removes the diseases like cough, asthma, spleen disorders, skin diseases, all the twenty varieties of phlegmatic disorders.
neti	Cleanses the frontal sinuses, offers keen eyesight, removes the diseases above the neck.
basti	Removes spleen disorders, abdominal disorders, disorders caused by the three humours.
jalabasti	Streamlines the bodily constituents, brings about poise to the sense organs, offers lustre to the body, stimulates digestive fire, alleviates the chronic disorders.
gajakaraṇī	Cleanses the whole tract from stomach to the throat.
trāṭaka	Removes eye-disorders and drowsiness.
kapālabhastrikā	Alleviates the phlegmatic and bilious disorders and diseases caused due to water, cleanses the forehead and *brahmacakra.*

Name of the practices	Therapeutical benefits
vajrolī karma	Cleanses the generative organ.
prāṇāyāma	Purification of the *nāḍīs*, alleviates all the diseases.
sūryabhedana	Removes lethargy, rheumatism and worms.
ujjāyī	Cures the phlegmatic disorders of the throat, increases the bodily fire, removes the morbidities of the *nāḍīs*, stomach and the bodily constituents.
sītkāra	One becomes like a cupid, does not suffer from hunger, thirst, sleep and drowsiness.
śītalī	Removes dropsy, disorders of the spleen, fever, acidity, toxicity, controls hunger and thirst.
bhastrikā	Cures the disorders due to vitiation of *vāta, pitta* and *kapha* humours, stimulates the gastric fire.
mahāmudrā	Ailments like consumption, skin-diseases, constipation, glandular enlargement, indigestion are cured. Removes old age and fear from death.
mahābandha	Promotes the currents of the *nāḍīs* moving in the upward direction, fixes the mind between the eyebrows.
mahāvedha	Destroys multitude of sins, alleviates old age and fear from death.
uḍḍiyānabandha	Complexion.
mūlabandha	*apāna* and *prāṇa vāyus* get unified, urine and faeces are reduced.

Name of the practices	Therapeutical benefits
jālandharabandha	Removes old age and premature death.
viparītakaraṇī	Stimulates gastric fire, alleviates all the disorders, removes grey hair and wrinkles.
vajrolī	Unifies *apāna* and *prāṇa*, cleanses the *nāḍīs*, makes the genital strong, stable and offers increment of semen. Awakens *kuṇḍalinī.*
śakticālana	Removal of diseases.
khecarī	One remains unaffected by diseases, sleep, hunger, thirst, stupor, poison and death.
āsanas	Contributes to stability, health and efficient body. Contributes to a sense of well-being.
bhadrāsana	Removes all the diseases and toxins.
padmāsana	Alleviates all the diseases.
mayūrāsana	Removes diseases of the spleen, stomach, balances the three humours in the body, digests excess food, stimulates gastric fire.
pīṇḍamayūra	Cures all the ailments.
maṇḍūkāsana	Removes the diseases of the legs.
matsyendrāsana	Enhances the gastric fire, removes severe diseases, brings stability to the spine.
phaṇīndrāsana	Removes all the ailments.
paścimatāna	Stimulates gastric fire, reduces the belly, brings good health.
śavāsana	Relieves fatigue.
nādānusandhāna	Contributes to steadiness of the mind.

śrīnivāsa's Shortcomings

Notwithstanding special contributions of *śrīnivāsa* described above there are some places which reflect on the shortcomings of *śrīnivāsa.* They may be stated below:

The author reflects on his egotistic personality when he egotises his scholarly background and talks about his versatility in *veda, vedānta,* grammar, philosophy, *tantra*, astrology, etc. At the end of the first chapter, he claims to be a great promoter of *haṭhayoga.*

He unnecessarily critcises *svātmārāma* for not describing the *cakrikarma* calling it as his ignorance about *haṭhakriyās.*

Although *śrīnivāsa* talks about the two types of *nauli,* the description of *antarā* type does not differentiate its technique from that of *bhārī* or *bāhya* type of *nauli.*

He says that *svādhiṣṭhāna cakra* is purified by *vajrolī karma*, but does not describe the process.

Similarly, he adds *bhujaṅgakaraṇī kuṃbhaka* in the list of *kuṃbhakas*, but the description is not clear.

He gives great importance to *śāṃbhavī-mudrā* (iv.27). But he describes neither in the description of *mudrās,* nor elsewhere he to it.

In the beginning of the 3rd chapter *śrīnivāsa* undertakes to describe *aṣṭāṅga-yoga.* But he does not discuss any thing about *yama, pratyāhāra, dhāraṇā, dhyāna* which are included under *aṣṭāṅgayoga.* He mentions *niyamas* and divides them into *kāyika* (physical) and *mānasika* (mental). There is no justification given for this classification. He does not also feel the need of explaining them. Curiously enough, *ṛta* and *satya* are included under *kāyika-niyamas* and *ahiṃsā* and *brahmacarya* are included under the *mānasa-niyamas.*

While considering *aṣṭāṅgayoga,* he talks about *āsana* as the first component of *haṭhayoga* and further elaborately deals with the 84 *āsanas.* This reflects not only on the propriety but also on absence of the coordination in the topics of presentation.

śrīnivāsa gives the list of 84 *āsanas* but describes only 34 *āsanas.* There too he changes the names of some *āsanas* while describing them. So there is a disparity between the names of *āsanas* mentioned in the list and the names mentioned in the description. For example, instead of *bandhamayūra,* he uses the name *baddhakekī.* Similarly, for *kārmuka* he uses *dhanurāsana.* He describes *saurāsana,* but it is not included in the list of 84 *āsanas.*

In chapter iii.77, he mentions the effects of *pratyāhāra* as destroying mental disturbances but nowhere he explains the term *pratyāhāra.* Same thing is true about *samādhi* (iv.3). He frequently says that due to the fear of expansion of the text, all the details are not described. Such statements do not satisfy the inquisitiveness of the readers.

Even the fourth concluding chapter seems to have hurriedly finished. Since *śrīnivāsa* claims himself to be the scholar of so many sciences *(śāstras),* readers expect some illumination on such philosophical topics like *piṇḍa-brahmāṇḍa-nirṇaya, pañcīkaraṇa, tatvas* and different traditions and schools of philosophy. But they are disappointed due to the lack of elaboration and explanations.

Plan of Presentation

The original *saṃskṛta* verse is given first followed by the transliteration in Roman characters. Then against the number of verses is given the translation in English. After this is given against the same number critical note on the topic

wherever it was found necessary. Variant readings are given in the footnotes.

In the Appendix-1 are given the extra lines appearing in the Tanjavur ms. No.6393(b) in the chapter iv. Appendix-2 gives the variations of the names of *siddhas* found in different manuscripts of HR and HP. Appendix-3 gives some of the *āsanas* mentioned in the list but not described in the text are described here from other sources.

The important terms have been explained in the Glossary. The index of half-verses gives at a glance all of the verses alphabetically arranged. The index of the words will facilitate the readers to locate information related to the word or topic.

Grateful acknowledgements are extended to the following:

Prof. M. Venkata Reddy for providing a copy of the manuscript and a paper on the text. Dr. Mahesh Raj Pant and Dr. Catherina Kienlhe for arranging to supply the photocopies of the manuscripts deposited in the National Archives, Kathmandu, Nepal; Director, Maharaja Mansimha Pustak Prakash, Jodhpur, for the supply of photocopy of the manuscript deposited with them; Director, Sarasvati Mahal Library, Tanjavur.

We also thank our friends who helped us in the project but prefer to remain anonymous.

Dr. M. L. Gharote
Dr. Parimal Devnath
Dr. Vijay Kant Jha

हठरत्नावली

प्रथमोपदेशः

श्रीगणेशाय नमः[1]

śrī-gaṇeśāya namaḥ !

Tr. Salutation to *śrī-gaṇeśa* !

[2]श्रीआदिनाथं नत्वाऽथ श्रीनिवासो महामतिः ॥
हठरत्नावलीं[3] धत्ते योगिनां कण्ठभूषिताम्[4] ॥ 1 ॥

śrī-ādināthaṃ natvā'tha śrīnivāso mahāmatiḥ ॥
haṭharatnāvalīṃ dhatte yogināṃ kaṇṭhabhūṣitām ॥ 1 ॥

Tr. After saluting *śrī-ādinātha*, the great scholar *śrīnivāsa* composes *haṭharatnāvalī,* which adorns the neck of the *yogīs*. 1.

वेदे[5] वेदान्तशास्त्रे फणिपतिरचिते शब्दशास्त्रे स्वशास्त्रे
तन्त्रे प्राभाकरीये कणभुगभिहिते[6] न्यायरत्नार्णवेन्दुः[7] ॥
सांख्ये सारस्वतीये विविधमतिमते[8] तत्वचिन्तामणिज्ञः
श्रीमज्ज्योतिर्विदग्रे सरवर[9]तनुजो राजते श्रीनिवासः ॥ 2 ॥

vede vedāntaśāstre phaṇipatiracite śabdaśāstre svaśāstre
tantre prābhākarīye kaṇabhugabhihite nyāyaratnārṇavendūḥ //
sāṃkhye sārasvatīye vividhamatimate tattvacintāmaṇijñaḥ
śrīmajjyotirvidagre saravaratanujo rājate śrīnivāsaḥ // 2 //

Tr. The son of *saravara*, the great astrologer, *śrīnivāsa* is a scholar of the *veda, vedānta, pātañjala yoga, grammar, yoga, tantra, prābhākarīya, vaiśeṣika (of kaṇāda), nyāyaratna*, (of *maṇikānta miśra*), *sāṃkhya, sārasvatīya, vaiśeṣika* and *tatvacintāmaṇi* (of *gaṅgeśa upādhyāya*). 2.

Note : ***veda***— The primary scriptures of Hindus are revered as "of divine origin". *vedas* are four in number, named as *ṛgveda, yajurveda, sāmaveda* and *atharvaveda. vedas* consist primarily of four collections, which are generally classified as

---

1.श्री रामब्रह्मणे नमः-P,T,t1, श्रीगणेशाय नमः-n1,n2. 2.ॐ अधिकः पाठः-P,T,t1. 3.हठरत्नावलिं-P,n1. 4.कर्णभूषिताम्-T,t1. 5.वेद–T. 6.शशधररचिते-P,T,t1, विविधश्रुतिमते-J,N,n1,n2. 7.न्यायरत्नार्णवेन्दौ-P. 8.कणभुगभिहिते-P,T,t1. 9.श्रीमज्ज्योतिर्विदग्रेश्वर–P, ज्योतिर्विदग्रेसरवर-J,N,-सरवर-n1,t1.

saṃhitā, brāhmaṇa, āraṇyaka and *upaniṣad. vedas* were not written but 'heard' and transferred to the next generation by oral method.

vedānta — It is one of the six orthodox systems of Indian philosophy, founded on the *upaniṣads.* It is also called '*uttara mīmāṃsā'.* It was first formulated by *bādarāyaṇa* in the form of *brahma-sūtra*, also called *vedāntasūtra. vedānta* is uncompromisingly monistic. *śaṅkara's* interpretation and exposition is regarded as the culmination of the *vedānta* system. He turned the *vedānta* into the strictest form of monism.

phaṇipati — A synonym for *patañjali*, who in tradition is considered as an incarnation of lord of the serpents.

śabdaśāstra — It refers to the grammar, particularly, a commentary by *patañjali* on the *saṃskṛta* grammar of *pāṇini.*

svaśāstra — Refers to *yoga-śāstra* of *patañjali.* Nepali commentator *ambargira yogī* reads this as *svaraśāstra* which means science of *svaras.*

śaśadhara — A famous author of *nyāya-siddhānta-dīpa* on which *śrīnivāsa* wrote a commentary.

tantra — The canon of Tantrism is called *tantra,* which is believed to have been revealed by *śiva* as the specific scripture for the present times. A large part of the *tantra* scriptures is written in the form of a dialogue between *śiva* and his consort *pārvatī.* Conventionally the topics treated by the *tantras* are: i) creation of the universe (*sṛṣṭi*), ii) its dissolution (*pralaya*), iii) worship of the deities, iv) spiritual practices (*sādhanā*), v) rituals, vi) supernatural powers (*siddhis*), vii) meditation (*dhyāna*). The literature of *tantras* is abundant and was composed from 7th century to 17th century and

is still untranslated. Much of the literature is couched in crude form of *saṃskṛta* and more often using double entendres which makes the meaning difficult to understand.

prābhākarīya — It is a school of the *mīmāṃsā* system of philosophy founded by *prabhākara*. It admits five different sources of knowledge, namely, perception (*pratyakṣa*), inference (*anumāna*), comparison (*upamāna*), testimony (*śabda*) and postulation (*arthāpatti*). The first four are admitted as in the *nyāya* system. According to this school, knowledge arises by postulation (*arthāpatti*) also. Although it believes in the reality of the souls, it does not believe in the supreme soul or God. It admits the law of *karma* as a spontaneous moral law that rules the world. Therefore, any ritual performed by man creates a potency in his soul, which produces the fruit of the action at an appropriate time in future.

kaṇabhug— A system of *kaṇāda* known as *vaiśeṣika*. *kaṇāda* is also known as *ulūka*. It is allied to *nyāya* system of philosophy. It divides all objects of knowledge under the seven categories, namely, substance (*dravya*), quality (*guṇa*), action (*karma*), generality (*sāmānya*), particularity (*viśeṣa*), the relation of inherence (*samavāya*) and nonexistence (*abhāva*). With regard to God and the liberation of the individual soul, the *vaiśeṣika* theory is substantially the same as that of *nyāya*.

nyāyaratna— *maṇikānta* is the author of an important text on *navya-nyāya* entitled '*nyāya-ratna*'.

sāṃkhya—An ancient system of Indian philosophy of dualistic realism, attributed to the sage *kapila*. It admits two ultimate realities, *puruṣa* and *prakṛti*, which are independent of each other. *puruṣa* is the power of consciousness, while *prakṛti* is material cause of the world. *prakṛti* consists of three *guṇas*, namely, *satva*, *rajas* and *tamas*. The evolution of the world starts by the

association of the *puruṣa* with *prakṛti* which disturbs the original equilibrium of *prakṛti* and it moves to action. In the course of evolution 24 principles are evolved including *prakṛti. sāṃkhya* does not admit the existence of God. *puruṣa*, according to it, is neither the cause nor the effect of anything.

sārasvatīya—Well-versed in the grammar composed by *anubhūtisvarūpācārya.*

tatvacintāmaṇi— An important text written by *gaṅgeśa upādhyāya* of 14th century.

saravara— The Nepali commentator *ambargira yogī* considers *saravara* as the name of the father of *śrīnivāsa.* 2.

हठविद्यां हि[1] गोरक्षमत्स्येन्द्राद्या[2] विजानते ||
आत्मारामोऽपि जानीते श्रीनिवासस्तथा स्वयम् || 3 ||
haṭhavidyāṃ hi gorakṣamatsyendrādyā vijānate //
ātmārāmo'pi jānīte śrīnivāsastathā svayam // 3 //

Tr. *gorakṣa, matsyendra* and *ātmārāma* know the science of *haṭha.* So also *śrīnivāsa* himself. 3.

Note: *gorakṣanātha*— He was a *yogī* par excellence, famous religious leader, reformer and leading exponent of *nāthapantha.* There is a mass of literature associated with his name. 10th century has been considered the date of *gorakṣanātha.* SSP and GŚ are important texts on his name.

matsyendra— He probably flourished in 5th or 6th century AD. He is regarded as the disciple of *ādinātha.* He taught *yoga* to *gorakṣanātha* in 10th century AD. The text called *matsyendrasaṃ hitā* ascribed to him states that he was a fisherman

1. हि – अनुपलब्धः -n1. 2. मत्स्येन्द्रगोरक्षाद्या-P,T,t1.

who lived on an island surrounded by the sea and rivers and often used to go on fishing expedition. *abhinavagupta* mentions him to be the originator of *kaula* tradition preceding him by 18 generations. The following works are ascribed to *matsyendranātha*:

1. *kaulajñānanirṇaya,*
2. *akulavīratantra,*
3. *kulārṇavatantra,*
4. *jñānakārikā,*
5. *kāmākhyāguhyasiddhi,*
6. *matsyendrasaṃhitā.*

In *śābaratantra*, he is described as one of the 12 *kāpālika gurus* renowned for *yoga.* He is accorded the first place in the list of Tibetan *siddhas.*

ātmārāma — A synonym used for *svātmārāma.* We find the name *ātmārāma* used in several MSS of HP instead of *svātmārāma. bālakṛṣṇa*, a commentator of HP (10 chapters), uses the name *rāmanātha* for *svātmārāma.* 3.

भ्रान्त्या बहुमतध्वान्ते[1] राजयोगमजानताम्[2] ॥
केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते ॥ 4 ॥

bhrāntyā bahumatadhvānte rājayogamajānatām //
kevalaṃ rājayogāya haṭhavidyopadiśyate // 4 //

Tr. The science of *haṭhayoga* is being imparted only to explain *rājayoga* to those who are perplexed by the varied opinions and are ignorant of *rājayoga.* 4.

अथातो योगजिज्ञासा[3] शास्त्रमाद्यमिदं कृतम् ॥
योगस्य विषयं वक्तुं योगशास्त्रे[4] प्रयोजनम् ॥ 5 ॥

athāto yogajijñāsā śāstramādyamidaṃ kṛtam //
yogasya viṣayaṃ vaktuṃ yogaśāstre prayojanam // 5 //

---

1. बहुमतध्वान्तै-J,N,n1.2. राजमार्गमजानतः-P,T,t1. 3. योगविज्ञासा-N.
4. योगशास्त्र-J,N,n1,n2.

Tr. With the desire of knowing traditional *yoga* this foremost treatise has been written. The purpose of this treatise of *yoga* is to explain the contents of *yoga*.5.

Note: The expression "*athāto yoga-jijñāsā*" seems to have been used on the lines common to the opening verse or line of different philosophical systems in which *śrīnivāsa* was well-versed. This expression seems to be an influence similar to the one expressed in the texts studied by him. 5.

अपान[1]प्राणयोश्चापि जीवात्मपरमात्मनोः[2] ॥
योगश्चायं हि[3] योगार्थं केचिदाचक्षते बुधाः[4] ॥ 6 ॥

apānaprāṇayoścāpi jīvātmaparamātmanoḥ //
yogaścāyaṃ hi yogārthaṃ kecidācakṣate budhāḥ // 6 //

Tr. Some scholars opine that *yoga* is the union of *apāna* and *prāṇa*, while others say that it is the union of *jīvātmā* and *paramātmā*. Yet according to some, *yoga* is for the sake of *yoga* itself.6.

चित्तवृत्तिनिरोधस्तु महायोगः प्रकीर्तितः ॥
योगश्चतुर्विधः प्रोक्तो योगज्ञैः सर्वसिद्धिदः ॥ 7 ॥

cittavṛttinirodhastu mahāyogaḥ prakīrtitaḥ //
yogaścaturvidhaḥ prokto yogajñaiḥ sarvasiddhidaḥ // 7 //

Tr. Control of the mental fluctuations is called *mahāyoga*. The adepts of *yoga* classify this (*mahā*) *yoga* into four types, which bring about all the *siddhis* (supernatural powers).7.

Note: In these verses, the author tries to give definition of *yoga* in different traditions. *cittavṛttinirodha* is the definition given by *patañjali* (PYS-i.2). 6-7.

मन्त्रयोगो लयश्चैव राजयोगस्तृतीयकः ॥
हठयोगश्चतुर्थः स्यात् प्राणिनां मोक्षदायकः[5] ॥ 8 ॥

---

1. अपाण-N,n1. 2. जीवात्मपरमात्मनो- N.3. हि-अनुपलब्धपाठः-n1. 4. वुधाः-N.
5. मोक्षसाधकः-P,T,t1.

mantrayogo layaścaiva rājayogastṛtīyakaḥ //
haṭhayogaścaturthaḥ syāt prāṇināṃ mokṣadāyakaḥ // 8 //

Tr. The four types of *yoga* are – *mantrayoga, laya, rājayoga* the third and *haṭha-yoga* the fourth, which offer salvation to the living beings. 8.

Note: The fourfold *yoga* is designated as *mahāyoga*, which consists of *mantrayoga, layayoga, rājayoga* and *haṭhayoga*. However, the sequence given here differs from the other traditions in which *mahāyoga* is described as follows in YŚU- i.129:

मन्त्रो लयो हठो राजयोगान्ता भूमिकाः क्रमात् ॥
एक एव चतुर्द्धायं महायोगोऽभिधीयते ॥

mantro layo haṭho rājayogāntā bhūmikāḥ kramāt //
eka eva caturddhā'yaṃ mahāyogo'bhidhīyate //
(*mantra, laya, haṭha* and *rājayoga* in this sequence, are fourfold *yoga* known as *mahāyoga*). 8.

अथ मन्त्रयोगः[1] –
अंगेषु मन्त्रं विन्यस्य[2] पूर्वमन्त्रं[3] जपन् सुधीः ॥
येन केनापि सिद्धः स्यात् मन्त्रयोगः स उच्यते ॥ 9 ॥
atha mantrayogaḥ –
aṅgeṣu mantraṃ vinyasya pūrvamantraṃ japan sudhīḥ //
yenakenāpi siddhaḥ syāt mantrayogaḥ sa ucyate // 9 //

Tr. The wise should recite a *mantra* after assigning it on the limbs. Thus all can attain success. This is called *mantra-yoga.* 9.

Note: It has been emphasized that in *mantrayoga* it is not only the repetition of *mantra* but also placing different parts of *mantra* in the form of *nyāsa* in different regions of the body. 9.

---

1. अनुपलब्ध –N,n1,n2. 2. मन्त्रमभ्यस्य-P,t1. 3. पूर्वमंत्र-N,T.

अथ लययोगः —

लययोगश्चित्तलयात्[1] संकेतैस्तु प्रजायते ॥
आदिनाथेन तु लयाः[2] सार्द्धकोटिरुदीरिताः[3] ॥ 10 ॥

atha layayogaḥ —

layayogaścittalayāt saṃketaistu prajāyate //
ādināthena tu layāḥ sārddhakoṭirudīritāḥ // 10 //

Tr. Absorption of mind is *layayoga* which is attained through *saṃketa.* This is *layayoga. ādinātha* has propagated one and half-crore variations of *laya.* 10.

भ्रूमध्ये दृष्टिमात्रेण परः संकेत उच्यते ॥
शिरः[4]पाश्चात्यभागस्य ध्याने मृत्युञ्जयः परः ॥ 11 ॥

bhrūmadhye dṛṣṭimātreṇa paraḥ saṃketa ucyate //
śiraḥ pāścātyabhāgasya dhyāne mṛtyuñjayaḥ paraḥ // 11 //

Tr. Fixing of the gaze at the center of the eyebrows is the finest *saṃketa.* By concentrating at the rear side of the head, one overcomes death. 11.

एतदेव[5] मतं सम्मतं[6] हठप्रदीपिकायामपि –

श्रीआदिनाथेन सपादकोटिलयप्रकाराः कथिता जयन्तु ॥
नादानुसन्धानकमेव कार्यं[7] मन्यामहे मान्यतमं लयानाम् ॥ 12 ॥

etadeva matam sammatam haṭhapradīpikāyāmapi —

śrīādināthena sapādakoṭilayaprakārāḥ kathitā jayantu //
nādānusandhānkameva kāryaṃ manyāmahe mānyatamaṃ layānāṃ // 12 //

The same opinion is endorsed in HP also—

Tr. *śrī-ādinātha* has explained one crore and a quarter methods of *laya.* We consider *nādānusandhāna* as the most efficacious of all the *layas.* 12.

---

1. लययोगच्चित्तलयात्-N.2. लयः-n2,n3,n4,J . 3 . सार्धकोटिरुदीरितः-n2,n3,n4,J.
4 . शिर-T,n1. 5.तदेव-J,n1 . 6 . मत्सम्मतम्-P,T,t1, मत्स्येन्द्रमतं–J,n1.
7 . नादानुसन्धानमेकमेव-P,T,n1,t1, नादानुसन्धानमेव–N.

Note : *saṃketa* is a technical term used here, which refers to the technique used for the absorption of the mind (*laya*). Although *śrīnivāsa* refers to one and half crores of the techniques of *laya* (absorption of mind) and states that HP also quotes similarly, we find in HP (iv-66) the mention of one crore and a quarter types of absorption. 10-12.

लयो लय इति प्राहुः कीदृशं लयलक्षणम्[1] ||
अपुनर्भवसंस्थानं[2] लयो विषयविस्मृतिः || 13 ||
layo laya iti prāhuḥ kīdṛśaṃ layalakṣaṇam //
apunarbhavasaṃsthānaṃ layo viṣayavismṛtiḥ // 13 //

Tr. *laya* has been emphasized. But what are the characteristics of *laya* ? *laya* is not to come back to the world of senses. *laya* is forgetting the objects of experience. 13.

अथ राजयोगः[3] —
न दृष्ट[4]लक्षाणि[5] न चित्तभंगो[6] न देशकालौ न च वायुरोधः ||
न धारणाध्यानपरिश्रमो वा समेधमाने सति राजयोगे || 14 ||

atha rājayogaḥ —
na dṛṣṭalakṣāṇi na cittabhaṅgo
na deśakālau na ca vāyurodhaḥ //
na dhāraṇādhyānapariśramo vā
samedhamāne sati rājayoge // 14 //

Tr. On attainment of the state of *rājayoga*, there remains no object for the eyes (senses), *citta* does not undergo further modification, one transcends time and space, there is no need to control the breath or undergo the hardship of practicing *dhāraṇā* and *dhyāna*. 14.

न जागरो नास्ति सुषुप्तिभावो न जीवितं[7] न[8] मरणं न[9] चित्तम्[10] ||
अहं ममत्वाद्यपहाय सर्वे[11] श्रीराजयोगस्थिरचेतनानाम् || 15 ||

---

1. कोटी वा लक्षणं-P, कोटीनां लयलक्षणं–J,n1,n2. 2. अपुनर्भावसंस्थाने-P, अपुनर्भावसंस्थानं–T. 3. अथ भण्यते राजयोगः-P,T. 4. दृष्टि-P,J,T,n2,t1. 5. लक्ष्याणि-P,T,t1. 6. चित्तबन्धो-P,T,t1. 7. नाजीवितं -J. 8. नो –P,t1. 9. नामरणं न चित्तं-P,n1, 10. चित्रं–T. 11. सर्व –P,T,J,n1,n2,t1.

na jāgaro nāsti suṣuptibhāvo
na jīvitaṃ na maraṇaṃ na cittam //
ahaṃ mamatvādyapahāya sarve
śrīrājayogasthiracetanānām // 15 //

Tr. Those who attain the absolute state of consciousness through *rājayoga*, their *citta* does not experience awakening or sleep, living or dying states. They transcend the sense of 'I' and 'mine'. 15.

राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा ‖
राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापि न राजते[1] ‖ 16 ‖
rājayogaṃ vinā pṛthvī rājayogaṃ vinā niśā //
rājayogaṃ vinā mudrā vicitrāpi na rājate // 16 //

Tr. Without *rājayoga* as an objective, *āsanas* (*pṛthvī*) or *kumbhaka* (*niśā*) or even the amazing *mudrās* are useless. 16.

Note: This verse is the repetition of the verse from HP. The terms *pṛthvī, niśā* and *mudrā* have been used respectively for the *āsanas, prāṇāyāmas* and the *mudrās* or *karaṇas,* which form the curriculum of *haṭhayoga* and lead to the results of *rājayoga.* 16.

पीठानि कुम्भकाश्चित्रा दिव्यानि करणानि च ‖
सांगोऽपि[2] **च हठाभ्यासो राजयोगफलार्थदः** ‖ 17 ‖
pīṭhāni kumbhakāścitrā divyāni karaṇāni ca //
sāṅgo'pi ca haṭhābhyāso rājayogaphalārthadaḥ // 17 //

Tr. A consistent practice of the techniques of the *āsanas*, various *kumbhakas* and valuable *mudrās* which are the components of *haṭhayoga*, brings about success in *rājayoga.* 17.

अथ हठयोगः[3] —
महामुद्रादिदशकं कर्माण्यष्टौ च कुम्भकाः ‖
चतुरशीत्यासनानि[4] **प्राहुश्चैतद्धठास्वयम्** ‖ 18 ‖

1. जायते -J. 2. सर्वोपि –T,t1, संगोऽपि -P . 3. अथ श्री हठयोगः-P,T,t1.
4. चतुराशीत्यासनानि-P,t1.

atha haṭhayogaḥ —
mahāmudrādidaśakaṃ karmāṇyaṣṭau ca kumbhakāḥ //
caturaśītyāsanāni prāhuścaitaddhaṭhāhvayam // 18 //

Tr. The *haṭha* course of practices as propagated, comprises the ten *mudrās* like *mahāmudrā*, the eight *kriyās*, eight *kumbhakas* and eightyfour *āsanas.* 18.

हठं[1] विना राजयोगो राजयोगं विना हठः ॥
व्याप्तिः स्यादविनाभूता श्रीराज[2]हठयोगयोः ॥ 19 ॥

haṭhaṃ vinā rājayogo rājayogaṃ vinā haṭhaḥ //
vyāptiḥ syādavinābhūtā śrīrājahaṭhayogayoḥ // 19 //

Tr. Without *haṭha, rājayoga* cannot be accomplished; so also without *rājayoga* as an objective, *haṭhayoga* cannot be perfected. Therefore, *rājayoga* and *haṭhayoga* are inter-dependent. 19.

Note: This verse describes mutual relationship and interdependance of *haṭhayoga* and *rājayoga.* 19.

मतान्तरे तु —
मकारेण मनः प्रोक्तं त्रकारः प्राण उच्यते ॥
मनःप्राणसमायोगाद् योगो वै मन्त्रसञ्ज्ञकः ॥ 20 ॥

matāntare tu —
makāreṇa manaḥ proktaṃ trakāraḥ prāṇa ucyate //
manaḥprāṇasamāyogād yogo vai mantrasañjñakaḥ // 20 //

Another opinion —

Tr. '*ma*' denotes mind, '*tra*' stands for '*prāṇa*'. *mantrayoga* is the synthesis of '*manas*' and '*prāṇa*'. 20.

अपान[3]वृत्तिमाकृष्य प्राणो[4] गच्छति मध्यमे[5] ॥
राजते गगनाम्भोजे राजयोगस्तु तेन वै ॥ 21 ॥

apānavṛttimākṛṣya prāṇo gacchati madhyame //
rājate gaganāmbhoje rājayogastu tena vai // 21 //

---

1. हठ –N. 2. श्रीराजं – N. 3. अपाण-N. 4. प्राणं – N,n1. 5. मध्यगं – N,n1, मध्यमं -J.

Tr. By controlling the activity of *apāna, prāṇa* enters into the middle (*suṣumnā*). When it (*prāṇa*) is established into the space (*bramarandhra*), one attains *rājayoga*. 21.

हकारेणोच्यते सूर्यष्ठकारश्चन्द्रसञ्ज्ञकः[1] ॥
चन्द्रसूर्ये समीभूते हठश्च परमार्थदः[2] ॥ 22 ॥

hakāreṇocyate sūryaṣṭhakāraścandrasañjñakaḥ //
candrasūrye samībhūte haṭhaśca paramārthadaḥ // 22 //

Tr. '*ha*' stands for *sūrya* (sun), while '*ṭha*' stands for *candra* (moon). When through *haṭha* (practices) *candra* and *sūrya* are unified, it yieds to liberation. 22.

युवा भवति वृद्धोऽपि[3] व्याधितो दुर्बलोऽपि वा ॥
अभ्यासात्सिद्धिमाप्नोति सर्वयोगेष्वतन्द्रितः ॥ 23 ॥

yuvā bhavati vṛddho'pi vyādhito durbalo'pi vā //
abhyāsāt siddhimāpnoti sarvayogeṣvatandritaḥ // 23 //

Tr. Through a diligent practice, one attains success in all the *yogas,* irrespective of one's being young, old, diseased or decrepit. 23.

अभ्यासकाले प्रथमे शस्तं क्षीरादिभोजनम् ॥
ततोऽभ्यासे दृढीभूते न तावन्नियमग्रहः[4] ॥ 24 ॥

abhyāsakāle prathame śastaṃ kṣīrādibhojanam //
tato'bhyāse dṛḍhībhūte na tāvanniyamagrahaḥ // 24 //

Tr. In the initial stage of practice, it is right to consume food prepared of milk and the like. As one gradually progresses, sticking to such food may not be necessary. 24.

अभ्यासकाले प्रथमे निषिञ्चन्ति कफादयः ॥
अकार्य[5]कर्मभावेन भविष्यन्त्यखिलामयाः ॥ 25 ॥

1.----चन्द्रसूचकः-P,T,t1. 2.--हठयोगोऽभिधीयते–P,T,t1. 3.वृद्धोवा-P,T,t1.
4.तावान्नियमग्रहः-P. 5.अर्कार्य -N.

abhyāsakāle prathame niṣiñcanti kaphādayaḥ //
akāryakarmabhāvena bhaviṣyantyakhilāmayāḥ // 25 //

Tr. In the first phase of practice, a practitioner should overcome phlegmatic disorders. If purificatory practices (*karmas*) are ignored, a host of diseases would result. 25.

अत्र वयं गुरुसम्प्रदायानुसारेण चक्र्याद्य[1]ष्टकर्माणि ब्रूमः—

चक्रि[2]नौलिर्धौतिनेतिबस्तिश्च[3] गजकरिणी[4] ॥
त्राटकं[5] मस्तकभ्रान्तिः[6] कर्माण्यष्टौ प्रचक्षते ॥ 26 ॥[7]

atra vayaṃ gurusampradāyānusāreṇa cakryādyaṣṭakarmāṇi brūmaḥ —

cakrinaulirdhautinetibastiśca gajakariṇī //
trāṭakaṃ mastakabhrāntiḥ karmāṇyaṣṭau pracakṣate // 26 //

Now we will narrate the eight karmas, (purificatory processes) like cakri etc., following the tradition of our guru—

Tr. The eight *karmas* are – *cakri, nauli, dhauti, neti, basti, gajakariṇī, trāṭaka* and *mastakabhrānti.* 26.

Note: In this verse *śrīnivāsa* has mentioned eightfold cleansing processes according to his own tradition, in which *cakri-karma* is given great importance. 26.

हठप्रदीपिकायाम्[8] —

बस्तिर्धौति[9]स्तथा नेतिस्त्राटकं[10] नौलिकं[11] तथा ॥
कपालभ्रान्तिरेतानि[12] षट्कर्माणि प्रचक्षते ॥ 27 ॥

haṭhapradīpikāyām —

bastirdhautistathā netistrāṭakaṃ naulikaṃ tathā //
kapālabhrāntiretāni ṣaṭkarmāṇi pracakṣate // 27 //

According to *haṭhapradīpikā*—

Tr. The *ṣaṭ-karmas* are – *basti, dhauti, neti, trāṭaka, naulika* and *kapāla-bhrānti.* 27.

---

1. नौल्याद्य-P,T,t1. 2. चक्रिर्-T,t1. गजकारिणी-N,T, गजधारिणी–J, 3. चक्रिर्नौलिधौतिर्नेतिर्वस्तिर्ग-जकरिणी–P. 4. नीतिबस्ति -T. 5. त्रोटनं-P, त्रौटनं -T. 6. मस्तकभातिः-P,n1, मस्तकं भ्रान्तिः-J. 7. अनुपलब्धश्लोकः-n1. 8. स्वात्माराममते तु' - अधिकपाठः-P,T,t1. 9. धौतिर्वस्ति–P,J,T,t1. 10. स्त्रटकं–P, नीतिः त्रोटकं-T. 11. नौलिका -P,T,t1. 12. कपालभ्रान्तिश्चैतानि –P,T,t1.

Note : HP describes sixfold purificatory processes in which *cakri-karma* is not mentioned, to which *śrīnivāsa* has taken a great objection and criticised about his ignorance. Although, HP talks about sixfold purificatory processes, it also describes *gajakaraṇī* in addition to the six processes. *śrīnivāsa* quotes HP and mentions *kapālabhrānti* instead of *kapālabhāti*, which we get in most of the copies of HP. *śrīnivāsa* uses the term *mastakabhrānti* as a synonym for widely used term *kapālabhāti.* In the HP text with 10 chapters (iii. 23), we also get another term as *kapālabhastrī.* 27.

इदं मतं चिन्तनीयं चक्र्यभावे[1] कथं भवेत् ? उद्देश्यस्य विरोधित्वादसंगतमिदं मतम् । हठप्रदीपिकोक्तदूषण[2]निराकरणप्रयासस्तु 'उत्तुंगशृंग-वपुर्भंग' प्रसंगमनुकरोति[3] । अलं नखच्छेद्ये[4] परशु[5]प्रहारेणेत्युपरम्यते ।

idaṃ mataṃ cintanīyaṃ cakryabhāve kathaṃ bhavet ? uddeśyasya virodhitvādasaṅgatamidaṃ matam / haṭhapradīpikoktadūṣaṇa nirākaraṇaprayāsastu ' uttuṅgaśṛṅga-vapurbhaṅga ' prasaṅgamanukaroti / alaṃ nakhacchedye paraśu-prahāreṇetyuparamyate //

Tr. How can this opinion be accepted without *cakrī* ? This is inappropriate as it contradicts the very purpose. To counteract the faulty opinion expressed in HP is like 'breaking ones own limbs in an attempt to climb a lofty mountain'. One need not use an axe to trim the nails.

कर्माष्टकमिदं गोप्यं घटशोधनकारकम् ॥
कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा ॥ 28 ॥

karmāṣṭakamidaṃ gopyaṃ ghaṭaśodhanakārakam //
kasyacinnaiva vaktavyaṃ kulastrīsuratam yathā // 28 //

Tr. The eight *karmas* are to be kept secret, as they are effective in cleansing the body (*ghaṭa*). These should not be disclosed to anybody, like a noble woman who would not disclose her sexual pleasures to anybody. 28.

---

1. चक्र्यभावं -P. 2. दूषणानि– P,T. 3. उत्तुंगशृंग प्रसंगमनुकरोति -N,T. 4. नखछेदे – J,N,n1. 5. पर्शु–N,n1.

अथ चक्रिकर्म[1] —
पायुनाले प्रसार्यार्द्धमंगुलीं [2] भ्रामयेदभीः ||
यावद् गुद[3]विकासः स्याच्चक्रिकर्म निगद्यते || 29 ||

atha cakrikarma—
pāyunāle prasāryārddhamaṅgulīṃ bhrāmayedabhīḥ //
yāvad gudavikāsaḥ syāccakrikarma nigadyate // 29 //

Tr. One should insert the half-length of the finger in the anus by opening it and move the finger round until the anal sphincters are fully relaxed. This is *cakri-karma.* 29.

Note: SKS(15) describes three kinds of *cakri*, namely, *ūrdhva-cakri, madhya-cakri* and *adhaścakri.* The *cakri-karma* described here represents *adhaścakri* of SKS(37-38).

This process of *cakri-karma* is described as *mūlaśodhana* in GhS (I.41-42). 29.

मूलव्याधिः गुल्मरोगो[4] नश्यत्यत्र महोदरः ||
मलशुद्ध्युद्दीपनं[5] च जायते चक्रिकर्मणा || 30 ||

mūlavyādhiḥ gulmarogo naśyatyatra mahodaraḥ //
malaśuddhyuddīpanaṃ ca jāyate cakrikarmaṇā // 30 //

Tr. Practice of *cakri-karma* removes the diseases like piles, (enlargement of) spleen and abdominal disorders, cleanses the morbidities and stimulates gastric fire. 30.

सर्वेषां कर्मणां[6] चक्रिसाधनं[7] प्रोच्यते मया ||
स्वात्मारामप्रभूणां तु चक्रिकर्म न सम्मतम् || 31 ||

sarveṣāṃ karmaṇāṃ cakrisādhanaṃ procyate mayā //
svātmārāmaprabhūṇāṃ tu cakrikarma na sammatam // 31 //

Tr. Among all the *karmas,* I emphasise practice of *cakri-karma.* Learned *svātmārāma* does not approve of *cakri-karma.* 31.

---

1. अनुपलब्धपाठः–N,J,n1,n2. 2. मंगुलिं-T. 3. यावद् दृढ-N,J,T,n1. 4. गुल्मरोगौ–T. 5. मलशुद्धिर्दीपनं-P,N,t1. 6. कर्मचक्राणां-N,J,T,n1, कर्मचक्रिसाधनं–n2. 7. कर्मचक्राणां साधनं–N.

साधकैस्तत्[1] प्रकर्तव्यं[2] सर्वकर्माभिसिद्धये[3] ॥
तस्मान्मदुक्तरीत्यैव ज्ञातव्यं योगिपुंगवैः ॥ 32 ॥

sādhakaistat prakartavyaṃ sarvakarmābhisiddhaye //
tasmānmaduktarītyaiva jñātavyaṃ yogipuṅgavaiḥ // 32 //

Tr. To attain success in all the *karmas*, the practioners should follow the technique as laid down by me, which may also be noted by the eminent *yogīs.* 32.

अथ नौलिः—

सा च नौलिर्द्विधा प्रोक्ता भारी चैकान्तराभिधा[4] ॥
भारी स्याद् बाह्यरूपेण जायन्तेऽन्तस्तु सा तथा[5] ॥ 33 ॥

atha nauliḥ —
sā ca naulirdvidhā proktā bhārī caikāntarābhidhā //
bhārī syād bāhyarūpeṇa jāyante'ntastu sā tathā // 33 //

Tr. *bhārī* and *antarā* are the two varieties of *nauli. bhārī* is external, while the *antarā* is internal. 33.

[6]अमन्दावर्तवेगेन तुन्दं[7] सव्यापसव्यतः ॥
नतांसो भ्रामयेदेषा[8] नौलिः गौडैः[9] प्रशस्यते[10] ॥ 34 ॥

amandāvartavegena tundaṃ savyāpasavyataḥ //
natāṃso bhrāmayedeṣā nauliḥ gauḍaiḥ praśasyate // 34 //

Tr. One rapidly rotates the abdomen to right and left (clockwise) and left to right (anti-clockwise) while bending down the shoulders. According to the *gauḍa,* this great practice is *nauli.* 34

तुन्दाग्निसन्दीपनपाचनादि[11]सन्दीपिकाऽऽनन्दकरी सदैव[12] ॥
अशेषदोषामयशोषिणी[13] च हठक्रियामौलिरियं च[14] नौलिः ॥ 35 ॥

---

1 . साधकैस्तत्र-P,T,t1. 2 . कर्तव्यं-P,T,t1. 3 . सर्वकर्मापि सिद्धये-P,T,t1. 4 . चैकान्तिकान्तरा-P. 5.जायते तथा–J, जायते गुन्द्र सा तथा–N,n1. 6. अथ बाह्याख्या नौलिः -P, अथ भार्याख्या नौलिः-T,n2. 7 . गुदं–J,N. 8. भ्रामयत्येषा–P, भ्रामयेदेषां–T,t1. 9 . गौड-N. 10. भ्रामयेच्चैष नौलिगौडः प्रशस्यत–J.. 11 . पाचनानि-N,J. 12. तदैव–T. 13 . . . . . शोषणी-P,T,t1. 14 . हि–J.

tuṇḍāgnisandīpanapācanādi-sandīpikā'nandakarī sadaiva //
aśeṣadoṣāmayaśoṣiṇī ca haṭhakriyāmauliriyaṃ ca nauliḥ /35/

Tr. This *nauli* is the crown of all the *haṭha-kriyās,* which stimulates gastric fire, improves digestion, brings about a deep sense of well-being and completely removes all the disorders caused by vitiation of the three humours. 35.

अथ अन्तरा —
इडया[1]वर्तवेगेन[2] तथा पिंगलया पुनः ॥
उभाभ्यां भ्रामयेच्चैव[3] ह्यन्तरा कीर्तिता मया ॥ 36 ॥

atha antarā —
iḍayāvartavegena tathā piṅgalayā punaḥ //
ubhābhyāṃ bhrāmayeccaiva hyantarā kīrtitā mayā // 36 //

Tr. Quick rotation (of the abdomen) like a whirlpool on both sides, with the *iḍā* (left), followed by *piṅgalā* (right) is called *antarā* by me. 36.

Note : GhS (i.51) uses the term *laulikī* for *nauli.* HP describes only one type of *nauli.* Here two types of *nauli* have been described, namely, *bhārī* and *antarā.* We do not come across these terms elsewhere. SKS (110-114) describes different varieties of *nauli* such as *bāhya-nauli, nāla-nauli, āntra-nauli.* Although *śrīnivāsa* describes two types of *nauli* such as *bhārī* and *antarā,* the difference between the two is not clear. The terms *āntranauli* and *antarānauli* seem to have similarity. But the technique of *āntranauli* has been clearly described by SKS (114). The description of *antarānauli* by *śrīnivāsa* does not show any difference in the technique of *bhārīnauli* and *antarānauli*, except the use of different terms like *savyāpasavyataḥ* and *iḍayā piṅgalayā.* Both these terms indicate the same process of rotating the nauli clockwise and anticlockwise. *nauli* was one of the first *haṭhayogic* practices subjected to scientific investigation by Swāmī Kuvalayānanda in 1920s. It is now known that high sub-atmospheric pressure (partial vacuum) is created

1. ईड्या–T, इडाया –t1. 2. हठायावर्त्तवेगेन–T. 3. भ्रामयेश्चैषा–P, भ्रामणेश्चैषा–T.

in all the cavities of the abdomen during *nauli.* The discovery of partial vacuum in the colon during *nauli* was named '*mādhavadāsa* vacuum' by Swāmī Kuvalayānanda. For scientific studies on *nauli,* refer to YM vol. 1. 33-36.

अथ धौतिः —
विंशद्धस्तप्रमाणेन धौतवस्त्रं[1] सुदीर्घितम् ॥
चतुरंगुलविस्तारं सिक्तं चैव शनैः[2] ग्रसेत् ॥ 37 ॥
ततः प्रत्याहरेच्चैतदभ्यासाद्[3]धौतिरुच्यते ॥
दिने दिने ततः कुर्याज्जठराग्निः प्रवर्द्धते[4] ॥ 38 ॥
atha dhautiḥ —
viṃśaddhastapramāṇena dhautavastraṃ sudīrghitam //
caturaṅgulavistāraṃ siktaṃ caiva śanaiḥ graset // 37 //
tataḥ pratyāhareccaitadabhyāsāddhautirucyate //
dine dine tataḥ kuryājjaṭharāgniḥ pravarddhate //38 //

Tr. One should slowly swallow a clean wet cloth measuring twenty cubits in length and four digits in width, and thereafter pull the same out. This is called *dhauti*, which has to be mastered over day by day. This enhances gastric fire. 37-38.

कासश्वासप्लीहकुष्ठं[5] कफरोगाश्च[6] विंशतिः ॥
धौतिकर्मप्रभावेन धावन्त्येव[7] न संशयः ॥ 39 ॥
kāsaśvāsaplīhakuṣṭhaṃ kapharogāśca viṃśatiḥ //
dhautikarmaprabhāvena dhāvantyeva na saṃśayaḥ // 39 //

Tr. Practice of *dhauti* undoubtedly removes the diseases like cough, asthma, spleen (disorders), skin diseases and all the twenty varieties of phlegmatic disorders. 39.

Note : The length of the cloth for *dhauti* seems to vary in different traditions. HP(ii.24) describes the length of the cloth to be 15 cubits, while HSC suggests the measure to be anywhere between 15 to 20 cubits. GhS(I.39), however, suggests it to be between 19 to 25 cubits. This form of *dhauti* is generally considered as *vastradhauti.* GhS (i.35) considers *vastra-dhauti* under the category

---

1. धौतेर्वस्त्र-P,T,t1. 2. शनैः शनैः-T. 3. प्रत्याहरेच्चैदुत्खातं-P,T,n2.. 4. जठराग्निप्रवर्धनम्-P,T,n1,n2,t1. 5. कुष्ठ–n1,n2,n3,n4,P,T. 6 ....कफरोगोष्म -P,T,t1. 7. धावत्येव–J.

of *hṛd-dhauti.*

GhS(i.13-14) also elaborately describes *dhauti* into 13 types, which we do not find elsewhere.

vastra-dhauti has been found greatly efficacious in the treatment of respiratory and metabolic disorders like asthma, obesity etc. For scientific experiments on *dhauti,* refer to YM vol. 2, pp. 168-195 and vol. 11, pp. 9-14. 37-39.

अथ नेतिकर्म[1] —

आखुपुच्छाकारनिभं सूत्रं सुस्निग्धनिर्मितम् ‖
षड्वितस्तिमितं[2] सूत्रं नेति[3]सूत्रस्य लक्षणम् ‖ 40 ‖

atha netikarma —

ākhupucchākāranibhaṃ sūtraṃ susnigdhanirmitam //
ṣaḍvitastimitaṃ sūtraṃ netisūtrasya lakṣaṇam // 40 //

Tr. A sheaf of smooth cotton thread resembling the tail of a mouse, which is six *vitasti* (1 *vitasti* = 12 digits) in length, is the characteristic of the thread used for *neti.* 40.

नासानाले प्रविश्यैनं मुखान्निर्गमयेत् क्रमात् ‖
सूत्रस्यान्तं[4] प्रबद्ध्वा तु[5] भ्रामयेन्नासनालयोः ‖
मथनं[6] च ततः कुर्यान्नेतिः[7] सिद्धैर्निगद्यते ‖ 41 ‖

nāsānāle praviśyainaṃ mukhānnirgamayet kramāt //
sūtrasyāntaṃ prabaddhvā tu bhrāmayennāsanālayoḥ //
mathanaṃ ca tataḥ kuryānnetiḥ siddhairnigadyate // 41 //

Tr. Insert it in one of the nostrils and pull it out through the mouth. By holding the ends of the thread and tying their ends, it should be rotated in the nasal passage and given friction. According to *siddhas,* this is *neti.* 41.

कपालशोधिनी[8] कार्या[9] दिव्यदृष्टिप्रदायिनी ‖
जत्रूर्ध्वजातरोगघ्नी[10] जायते नेतिरुत्तमा[11] ‖ 42 ‖[12]

---

1. अथ नेति–n1, अथ नीतिकर्म—T,n2. 2. षड्वित्तनिर्मितं -N,J,n1, षड्विधस्तिमितं - T. 3. नीति-N,J,T,n1,n2,t1. 4. सूत्रा . .– J. 5. प्रवर्द्धन्तु-N,n1,J, प्रबध्वाशु -T. 6. मन्थनं–n1,t1. 7. कुर्या-न्नीति-N,n1,J,T,t1. 8. कपालशोधनी-P,T. 9. चैव–P, कण्ठ्या-T. 10. जत्रूर्ध्वजातरोगघ्ना–P,T,t1. 11. नीतिरुत्तमा-N,J,T,t1. 12. अनन्तरं 'नेतिस्वरूपं कथितं श्रीनिवासेन योगिना' अधिकपाठः-P, अनन्तरं 'नीतिस्वरूपं कथितं श्रीनिवासेन योगिना' अधिकपाठः-T,t1.

kapālaśodhinī kāryā divyadṛṣṭipradāyinī //
jatrūrdhvajātarogaghnī jāyate netiruttamā // 42 //

Tr. This excellent practice cleanses the frontal sinuses, offers keen eyesight and removes the diseases above the neck. 42.

Note: The word *neti* refers to a smooth sheaf of cotton having different lengths used for purification of the nasal cavity. HP(ii-30) describes the length of it measuring approximately 23 cms. This process is popularly known as *sūtra-neti.* SKS (68) mentions two types of *neti* distinguished by the thread rolled and not rolled. The technique described by *śrīnivāsa* is different from the generally known technique. It resembles *netri-karaṇa* described in SKS (44-45).

The purpose of *neti* is not only to cleanse the nasal passage, but also to render the nasal mucus membrane resistant to the environmental changes. 40-42.

अथ बस्तिः[1] —
बस्तिस्तु द्विविधो[2] प्रोक्तः[3] जलवायुप्रभेदतः ॥
चक्रिं कृत्वा यथाशक्त्या बस्तिञ्चैव तु कारयेत् ॥ 43 ॥
atha bastiḥ —
bastistu dvividho proktaḥ jalavāyuprabhedataḥ //
cakriṃ kṛtvā yathāśaktyā bastiñcaiva tu kārayet // 43 //

Tr. *basti* is of two types: *vāyu-basti* and *jala-basti.* After practising *cakri,* one must undertake the practice of *basti.* 43.

Note: It is to be noted that *śrīnivāsa* recommends the practice of *cakrikarma* before the practice of *basti.* 43.

वायुमाकुञ्च्य जठरे गुदनाले विसर्जयेत् ॥
वायुबस्तिरियं प्रोक्ता[4] जलबस्तिमथ[5] ब्रुवे[6] ॥ 44 ॥

vāyumākuñcya jaṭhare gudanāle visarjayet //
vāyubastiriyaṃ proktā jalabastimatha bruve // 44 //

1. अथ बस्तिकर्म-J,n1. 2. द्विविधा –P,J,N,n1,T,t1. 3. प्रोक्ता–J,N,n1,P,T,t1. 4. प्रोक्तं –T,t1. 5. मथो–n1,t1. 6 जलबस्तिमथोच्यते-T.

Tr. Filling the abdomen with air, one should release it through the anal canal. This is *vāyu-basti. jala-basti* follows. 44.

Note: GhS (i.44) calls this *śuṣka-basti* in which the use of *aśvini-mudrā* is recommended (GhS-i.47). 44.

[1]नाभिदघ्ने[2] जले स्थित्वा पायुनाले[3] स्थिताङ्गुलिः ॥
चक्रिमार्गेण जठरं पायुनालेन पूरयेत् ॥ 45 ॥
विचित्रकरणीं[4] कृत्वा निर्भीतः[5] रेचयेज्जलम् ॥
यावद्बलं प्रपूर्यैव[6] क्षणं स्थित्वा विरेचयेत् ॥ 46 ॥
nābhidaghne jale sthitvā pāyunāle sthitāṅguliḥ //
cakrimārgeṇa jaṭharaṃ pāyunālena pūrayet // 45 //
vicitrakaraṇīṃ kṛtvā nirbhītaḥ recayejjalam //
yāvadbalaṃ prapūryaiva kṣaṇaṃ sthitvā virecayet // 46 //

Tr. Remain in the naval-deep water, insert the finger in the anus by the process of *cakri,* fill up the abdomen with water sucked through the anus. After practising *vicitra karaṇī* without fear, expell the water. One should fill up the water to the capacity, wait for sometime before it is expelled. 45-46.

Note : In this technique of *jalabasti,* it is recommended to insert the finger into the rectum and with the help of *cakrikarma* to take the water in. For this technique *śrīnivāsa* brings the support of the *yogīs* like *carpaṭi* etc. However, HP (ii.27) and GhS (i.45) clearly mention the use of insertion of a tube in the rectum to draw the water into the rectum.

The term *vicitra-karaṇī* has not been explained here. However, it involves the purging out of the water drawn into the rectum. 45-46.

घटीत्रयं[7] न भोक्तव्यं बस्तिमभ्यसता[8] ध्रुवम् ॥
निवातभूमौ[9] सन्तिष्ठेद् वशी हितमिताशनः ॥ 47 ॥

---

1. 'अथ जलवस्तिः' अधिकपाठ-P. 2. जानुदघ्ने -J. 3. वायुनाले –J. 4. विचित्रकरणी -N.J. 5. विभीतो –N,J. 6. पूर्यैव -P,पूरयित्वा-T. 7. घटित्रयं–T. 8. वस्तिमभ्यस्यतो–P.T.t1. 9. निवासभूमौ–T,N.

ghaṭītrayaṃ na bhoktavyaṃ bastimabhyasatā dhruvam //
nivātabhūmau santiṣṭhed vaśī hitamitāśanaḥ // 47 //

Tr. After the practice of *basti,* one should not eat for three *ghaṭis* (1 *ghaṭi* =24 minutes). Moreover, he should stay in a place not exposed to draught of air and consume wholesome and small quantity of food. 47.

Note: We do not find these hints and guidelines given in other texts like HP and GhS. 47.

गुल्मप्लीहोदरं[1] वापि[2] वातपित्तकफादिकम् ॥
बस्तिकर्मप्रभावेन धावन्त्येव[3] न संशयः ॥ 48 ॥

gulmaplīhodaraṃ vāpi vātapittakaphādikam //
bastikarmaprabhāvena dhāvantyeva na saṃśayaḥ // 48 //

Tr. Practice of *basti-karma* certainly removes the diseases like inflammation of spleen, abdominal disorder and also the disorders caused by the three humours of *vāta, pitta* and *kapha.* 48.

धात्विन्द्रियान्तःकरणप्रसादं दद्याच्च कान्तिं दहनप्रदीप्तिम् ॥
अशेषदोषोपचयं[4] निहन्यादभ्यस्यमानं जलबस्तिकर्म[5] ॥ 49 ॥

dhātvindriyāntaḥkaraṇaprasādaṃ
dadyācca kāntiṃ dahanapradīptim //
aśeṣadoṣopacayaṃ nihanyād-
abhyasyamānaṃ jalabastikarma // 49 //

Tr. Practice of *jala-basti* streamlines the body constituents, brings about poise to the internal (sense) organs, offers brightness, stimulates digestive power and completely alleviates the chronic disorders. 49.

---

1. गुल्मोमहोदरं-P,T,t1. 2. चापि-P,T,J,t1. 3. धावत्येव-N,n1,J,T,. 4. असेषदोषापचयं-T,t1. 5. वस्तिकार्य –J,n1,2.

अथ हठप्रदीपिकाकारमते तु[1] —

नाभिदघ्नजले पायुं[2] न्यस्त[3]नालोत्कटासनः ॥
आधाराकुञ्चनं[4] कुर्यात् कापालं बस्तिकर्म तत् ॥ 50 ॥

atha haṭhapradīpikākāramate tu —
nābhidaghnajale pāyuṃ nyastanālotkaṭāsanaḥ //
ādhārākuñcanaṃ kuryāt kāpālaṃ bastikarma tat // 50 //

According to the author of HP —

Tr. One adopts *utkaṭāsana* in navel-deep water. After inserting a tube in the anus, one manipulates the anus to raise the water upwards. This is *kāpāla-basti-karma.* 50.

अस्माकं तु पायुन्यस्तनालेन[5] जलाकुञ्चनमेकदेशयोगीन्द्रमार्गबस्तिकर्म प्रकारापेक्षया पायुनाले[6] न्यस्ताङ्गुल्या[7] आकुञ्च्य जलबस्तिमार्गः[8] चर्पट्यादि[9]सर्व योगीन्द्रसाधारणो अयमेव प्रकारः समीचीन इव प्रतिभाति ॥

asmākaṃ tu pāyunyastanālena jalākuñcanamekadeśa-yogīndra-mārga-bastikarma-prakārāpekṣayā pāyunāle nyastāṅgulyā ākuñcya jalabastimārgaḥ carpaṭyādisarvayogīndrasādhāraṇo ayameva prakāraḥ samīcīna iva pratibhāti //

Tr. We hold that instead of insertion of a tube in the anal canal and drawing the water through the tube in the *basti-karma* as practised by some adepts of *yoga,* one should practise *jala-basti* by inserting the finger in the anus, which was widely accepted by all eminent *yogīs* like *carpaṭi* etc. This (latter) version seems to be the proper one.

अथ गजकरणी[10] —

उदरगतपदार्थमुद्वमन्ती[11] पवनमपानमुदीर्य कण्ठनाले ॥
क्रमपरिचयतस्तु[12] वायुमार्गे गजकरणीति[13] निगद्यते हठज्ञैः ॥ 51 ॥

---

1. हठप्रदीपिकामते तु–J,n2. 2. पायुः-P, पायु -T. 3. न्यस्ता–J. 4. आधारकुंचनं -P,T. 5. पायुन्यस्तनाले -P,T,t1. 6. पायुनाल–P,T,t1. 7. न्यस्तांगुलया –P. 8. मार्ग –N,n1,J. 9. यथेछादि –N,J. 10. गजकरिणी -N. 11 ...मुद्वहंत्या –N,n1,J. 12. क्रमपरिचरितस्तु – N. 13. गजकरिणी –N, गजकरणी- P.

***atha gajakaraṇī* —**
udaragatapadārthamudvamantī
pavanamapānamudīrya kaṇṭhanāle //
kramaparicayatastu vāyumārge
gajakaraṇīti nigadyate haṭhajñaiḥ // 51 //

Tr. One vomits the contents of the stomach by stimulating and raising the *apāna-vāyu* upto the throat, through a gradual practice of gaining control over the passage of the air. The experts of *haṭha* call this *gajakaraṇī.* 51.

Note: This verse has the similarity of the verse in HP (ii.26). 51.

अथवा —
पीत्वाऽऽकण्ठं सतिलगुडजलं[1] नालिकेरोदकं वा
[2]वायुमार्गे पवनजलयुतं[3] कुम्भयेद्वाथ शक्त्या ॥
निःशेषं शोधयित्वा परिभवपवनो[4] बस्तिवायुप्रकाशात्[5]
कुम्भाम्भः कण्ठनाले गुरुगजकरणी[6] प्रोच्यतेऽयं हठज्ञैः ॥ 52 ॥

***athavā* —**
pītvā'kaṇṭhaṃ satilaguḍajalaṃ nālikerodakaṃ vā
vāyumārge pavanajalayutaṃ kumbhayedvātha śaktyā/
niḥśeṣaṃ śodhayitvā paribhavapavano bastivāyuprakāśāt
kumbhāmbhaḥ kaṇṭhanāle gurugajakaraṇī -
procyate'yaṃ haṭhajñaiḥ // 52 //

Moreover—

Tr. One should drink water mixed up with jaggery and sesame or coconut water up to the throat and retain both water and air to the limit. With an objective to control '*pavana*', one should thoroughly cleanse the whole tract from stomach to the throat. This is called *guru-gajakaraṇī*, by the experts of *haṭha.* 52.

---

1. पीत्वाकंदंमतिजलल-N,n1, सतिगुडजलं –ṭ1, पीत्वाकण्ठं सति –P,T. 2. पूर्व 'क्षीराम्भो' अधिकपाठः-P,T,t1. 3. युतः -Ṫ,t1. 4. शोधयेद्वापरिभवनमनो–N,n1,J. 5. वस्तिवायुप्रकारात् -J,N,n1. 6. गजकरण इति–N,n1, J.

Note: The technique of *gajakaraṇī* described here is called *guru-gajakaraṇī,* which requires drinking of coconut water or the water mixed with jaggery and sesame. This technique is not found described elsewhere. 52.

यथैव गजयूथानां[1] राजते राजकुञ्जरः ॥
तथैव हठतन्त्राणां मुख्या हि गजकरिणी[2] ॥ 53 ॥

yathaiva gajayūthānāṃ rājate rājakuñjaraḥ //
tathaiva haṭhatantrāṇāṃ mukhyā hi gajakariṇī // 53 //

Tr. As the leader of the elephants shines among the herd of the elephants, similarly, *gajakariṇī* is the foremost among the *haṭha* practices. 53.

अथ त्राटकम्[3] —
निरीक्ष्य निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः[4] ॥
अश्रुसम्पातपर्यन्तमाचार्यैस्त्राटकं[5] स्मृतम् ॥ 54 ॥

atha trāṭakaṃ —
nirīkṣya niścaladṛśā sūkṣmalakṣyaṃ samāhitaḥ //
aśrusampātaparyantamācāryaistrāṭakaṃ smṛtam // 54 //

Tr. One should constantly gaze at a very minute object, remaining one-pointed, until tears roll down. According to the adepts, this is *trāṭaka.* 54.

स्फोटनं नेत्ररोगाणां तन्द्रादीनां[6] कपाटकम्[7] ॥
प्रयत्नात्त्राटकं[8] गोप्यं यथा रत्नसुपेटकम्[9] ॥ 55 ॥

sphoṭanaṃ netrarogāṇāṃ tandrādīnāṃ kapāṭakam //
prayatnāt-trāṭakaṃ gopyaṃ yathā ratnasupeṭakam // 55 //

Tr. This technique removes eye diseases drowsiness and the like. Therefore, it should be carefully guarded like a casket of jewels. 55.

---

1. गजयूधानां-T,t1. 2. गजकारिणी-n1,T,t1. 3. त्रोटकं-P,t1; त्रोटनं-T. 4. समीहितः-T. 5. ...त्रोटकं-P,T. 6. तन्द्राणां तु-n1,n2,n3,n4,J. 7. कवाटकम्-P,T,t1. 8. त्रोटनं-t1. 9. 'प्रयत्ना त्राटक पेटकं'–N,J,n1,n2, रत्नं सुपेटकं –P,T,t1.

Note: In some copies of Mss, instead of *trāṭaka*, the term *troṭaka* and *troṭana* are used. The technique of *trāṭaka* described in SKS (40-41) requires the *bījamantra vaṃ* and *glauṃ* to be accompanied during this process for the manifestation of the inner light. 55.

अथ कपालभस्त्रिका[1] –
भस्त्रिवल्लोहकाराणां रेचपूरसुसम्भ्रमौ ॥
कपालभस्त्री[2] **विख्याता सर्वरोगविशोषणी ॥ 56 ॥**

atha kapālabhastrikā —
bhastrivallohakārāṇāṃ recapūrasusambhramau //
kapālabhastrī vikhyātā sarvarogaviśoṣaṇī // 56 //

Tr. One should rapidly inhale and exhale like the bellows of an ironsmith. This is the famous *kapāl-bhastrī*, which removes all the diseases. 56.

अथवा –
कपालं भ्रामयेत्सव्यमपसव्यं[3] **तु वेगतः ॥**
रेचपूरकयोगेन[4] **कपालभस्त्रिरुच्यते**[5] **॥ 57 ॥**
athavā —
kapālaṃ bhrāmayetsavyamapasavyaṃ tu vegataḥ //
recapūrakayogena kapālabhastrirucyate // 57 //
Or,

Tr. One moves the head quickly on right and left by inhalation and exhalation. This is *kapālabhastri.* 57.

Note: This process of *kapālabhastrī* or *kapālabhastrikā* has been termed as *kapālabhrānti* earlier in i. 27. The term *kapālabhrānti* seems appropriate with the technique given in i.57, where forceful and rapid exhalations and inhalations are accompanied with the movement of the head on left and right. SKS (50-54) calls this process as *bhastrā* and describes it of three kinds,namely, *shtirabhastrā, bhrāntibhastrā* and *antarbhastrā.* The technique

---

1 . कपालभातिः-P; कपालभ्रान्त्रिः-T,t1. 2 . कपालभ्रान्तिः-P,T,t1. 3 . भ्रामयेत्सर्वमपसव्यं-T.
4 . रेचपूर्व-कमुक्तेन-T,t1,P, रेचपूरकयुक्तेन–J. 5 . कपालभ्रान्तिरुच्यते-T,t1,P.

of *bhrāntibhastrā* resembles the technique given here by *śrīnivāsa.*

GhS(i.54) describes this process under *kapālabhāti* and gives three varieties of it, namely, *vātakrama, vyutkrama* and *śītkrama.* The *vātakrama kapālabhāti* requires the use of alternate nostrils. This variety is used in *bhastrikā prāṇāyāma.* The *vyutkrama kapālabhāti* and *śītkrama kapālabhāti* are done with water. In *vyutkrama kapālabhāti,* the water is drawn through the nose and expelled through the mouth, while in *śītkrama kapālabhāti*, the water is taken through the mouth and expelled through the nose.

sundaradeva, the author of HSC, calls *vyutkrama kapālabhāti* as *śaṅkhaprakṣālana*, in which the water is drawn through one nostril and expelled through the other nostril. Popularly, this is known as *jalaneti.* In SKS(55), it is called *nāsādanti.* 57.

कफदोषं निहन्त्येव[1] पित्तदोषं जलोद्भवम् ॥
कपालशोधनञ्चापि[2] ब्रह्मचक्रं विशुद्ध्यति[3] ॥ 58 ॥

इत्यष्टकर्माणि[4] ॥

kaphadoṣaṃ nihantyeva pittadoṣaṃ jalodbhavam //
kapālaśodhanañcāpi brahmacakraṃ viśudhyati // 58 //

ityaṣṭakarmāṇi.

Tr. This practice alleviates the phlegmatic and bilious disorders and diseases caused due to water like (pleurisy etc.). Moreover, it cleanses the forehead and *brahmacakra.* 58.

Thus end the eight *karmas.*

वपुः[5]कृशत्वं वदने प्रसन्नता
नाद[6]स्फुटत्वं नयने च निर्मले[7] ॥
अरोगता बिन्दुजयोऽग्निदीपनं
नाडीषु शुद्धि[8]र्हठसिद्धिलक्षणम् ॥ 59 ॥

---

1. निहत्येव–J. 2. कपालशोधनंवापि-N,n1,T,t1,J. 3. विशु–N, विशुध्यते–J,n1, विशोध्यति–P,T. 4. इत्यष्टकर्मनिरूपणम्-P,T, इत्यष्टकर्म -J,n2. 5. वपु –N. 6. नादे –N,n1,J. 7. निर्मलं –N,n1. 8. सिद्धि -P,T,t1.

vapuḥkṛśatvaṃ vadane prasannatā
nādasphuṭatvaṃ nayane ca nirmale //
arogatā bindujayo'gnidīpanaṃ
nāḍīṣu śuddhirhaṭhasiddhilakṣaṇam // 59 //

Tr. The signs of success in *haṭhayoga* are:— slimness of the body, cheerful face, hearing of the mystical sound, shining eyes, a sense of wellness, control over the *bindu*, increase in gastric fire and purification of the *nāḍīs.* 59.

Note: This verse is similar to the verse of HP (ii.78). 59.

कर्माष्टभिर्गतस्थौल्यं[1] कफमेदोमलादिकम्[2] ॥
प्राणायामं ततः कुर्यादनायासेन सिद्ध्यति ॥ 60 ॥
karmāṣṭabhirgatasthaulyaṃ kaphamedomalādikam //
prāṇāyāmaṃ tataḥ kuryādanāyāsena siddhyati // 60 //

Tr. After removing the impurities, such as fat and phlegm, through the practice of the eight *karmas*, one should undertake the practice of *prāṇāyāma*, which is easily accomplished. 60.

षट्चक्रशोधनं सम्यक् प्राणायामस्य कारणम् ॥
नाशनं सर्वरोगाणां मोक्षमार्गस्य[3] साधनम् ॥ 61 ॥

ṣaṭcakraśodhanaṃ samyak prāṇāyāmasya kāraṇam //
nāśanaṃ sarvarogāṇāṃ mokṣamārgasya sādhanam // 61 //

Tr. (As a result of these eight *karmas*) the practice of *prāṇāyāma* becomes succeesful, all the six *cakras* are properly purified, all the diseases are removed, and liberation is achieved.61.

देहारोग्यं च लभते ह्यष्टकर्मप्रभावतः ॥
आधारशोधनं चक्र्या लिंगं वज्रोलिकर्मणा[4] ॥ 62 ॥

dehārogyaṃ ca labhate hyaṣṭakarmaprabhāvataḥ //
ādhāraśodhanaṃ cakryā liṅgaṃ vajrolikarmaṇā // 62 //

---

1. कर्माष्ट निर्गतं स्थौल्यं –N,n1. 2. कफमेदोमलाधिकः-P; कफमेदोमलादिकः-T,t1.
3. मोक्षकर्मस्य-T,t1. 4. वरयोलिकर्मणा-T.

Tr. As a result of *aṣṭa-karmas*, one gains physical wellness. *cakri-karma* purifies the *ādhāra,* while *vajrolī-karma* cleanses the generative organ. 62.

मणिपूरं नाभिगतं नौल्याख्येन तु कर्मणा ॥
हृदयं कण्ठचक्रं[1] च धौत्याख्येन तु कर्मणा ॥ 63 ॥

maṇipūraṃ nābhigataṃ naulyākhyena tu karmaṇā //
hṛdayaṃ kaṇṭhacakraṃ ca dhautyākhyena tu karmaṇā // 63//

Tr. *nauli-karma* brings purification to *maṇipūra* located at the navel. *dhauti-karma* purifies the *hṛdaya cakra* and *kaṇṭha-cakra* at the throat. 63.

शोधनं कार्यमाज्ञायां नेतित्राटककर्मणा[2] ॥
सर्वांगशोधनं कार्यं बस्तिभस्त्रैककर्मणा[3] ॥ 64 ॥

śodhanaṃ kāryamājñāyāṃ netitrāṭakakarmaṇā //
sarvāṅgaśodhanaṃ kāryaṃ bastibhastraikakarmaṇā // 64 //

Tr. *ājñā-cakra* is purified by *neti* and *trāṭaka-karmas.* Entire body is purified by *basti* and *bhastrā-karma* (*kapālabhāti*). 64.

स्यादाधारं स्वाधिष्ठानं मणिपूरमनाहतम् ॥
विशुद्धं कण्ठचक्रस्थमाज्ञाचक्रं भ्रुवोर्मुखे ॥[4]
चक्रभेदमिति ज्ञात्वा चक्रातीतं[5] निरञ्जनम् ॥ 65 ॥

syādādhāraṃ svādhiṣṭhānaṃ maṇipūramanāhatam //
viśuddhaṃ kaṇṭhacakrasthamājñācakraṃ bhruvormukhe //
cakrabhedamiti jñātvā cakrātītaṃ nirañjanam // 65 //

Tr. *ādhāra, svādhiṣṭhāna, maṇipūra, anāhata, viśuddha* in the throat and *ājñā-cakra* at the center of the eyebrows—is the scheme of *cakras,* which one should know. *nirañjana*—the Absolute—is beyond (the ambit) of *cakras.* 65.

---

1. कण्ठचक्रस्थं-P,T,t1. 2. नेतित्रोटनकर्मणा-P, नीतिस्त्राटककर्मणा–J, नीतित्राटककर्मणा–N,n1, कार्य-माज्ञायामिति त्रोटनकर्मणा –t1. 3. वस्तिभस्त्रिककर्मणा -P,T,t1. 4. पंक्ति अनुपलब्धा –N, विशुद्धचक्राज्ञाचक्रे .... J,n1. 5. चकातीत -P,N.

Note: Note the purpose of *karmas* given here as purification of the six *cakras*. This is a special contribution of the *karmas* highlighted by the author. 61-65.

सुराष्ट्रे धार्मिके देशे सुभिक्षे निरुपद्रवे ‖
एकान्तमठिकामध्ये[1] स्थातव्यं हठयोगिना ‖ 66 ‖

surāṣṭre dhārmike deśe subhikṣe nirupadrave //
ekāntamaṭhikāmadhye sthātavyaṃ haṭhayoginā // 66 //

Tr. A practioner of *haṭhayoga* should reside in a peaceful righteous country, which is free from troubles and where alms are easily available. He should stay alone in a small cottage. 66.

अल्पद्वारमरन्ध्रगर्तपिठरं[2] नात्युच्चनीचायतम्
सम्यग्गोमयसान्द्रलिप्तविमलं निःशेषबाधोज्झितम् ‖
बाह्ये मण्डप[3] वेदिकूपरुचिरं[4] प्राकारसंवेष्टितम्[5]
प्रोक्तं योगमठस्य लक्षणमिदं सिद्धैर्हठाभ्यासिभिः ‖ 67 ‖

alpadvāramarandhragartapiṭharaṃ nātyuccanīcāyatam
samyaggomayasāndraliptavimalaṃ niḥśeṣabādhojjhitam //
bāhye maṇḍapavedikūparuciraṃ prākārasaṃveṣṭitam
proktaṃ yogamaṭhasya lakṣaṇamidaṃ siddhairhaṭhābhyāsibhiḥ //67 //

Tr. According to the experts of *haṭhayoga*, an ideal cottage for *yoga* practice should have a small entrance, having no pits or holes, not too high or low, nicely smeared with a paste of cow dung, clean and free from all insects, having a canopied platform outside and a well (with pure water) and a fencing wall around. 67.

एवंविधे मठे स्थित्वा सर्वचिन्ताविवर्जितः ‖
गुरूपदिष्टमार्गेण[6] योगमेव सदाऽभ्यसेत् ‖ 68 ‖

---

1. एकान्तमलिकामध्ये –T,t1. 2. पिटकं –J,n2, गर्त्तपिटकं –N. 3. मण्टप-T. 4. वेदिकोपरिचिरं –T, मण्डपे वेदिकूपरिचिरं –t1. 5. प्राकारसंवेष्टिनं -T. 6. गुरूपदेशमार्गेण-P,T,J.

evaṃvidhe maṭhe sthitvā sarvacintāvivarjitaḥ //
gurūpadiṣṭamārgeṇa yogameva sadā'bhyaset // 68 //

Tr. Staying in such a cottage, one should constantly devote only to the practice of *yoga* as guided by the teacher, giving up all the worries. 68.

त्यक्तनिद्रो मिताहारो[1] जितश्वासो जितेन्द्रियः ॥
हठाभ्यासपरो नित्यं योगी ब्रह्मसमो भवेत् ॥ 69 ॥

tyaktanidro mitāhāro jitaśvāso jitendriyaḥ //
haṭhābhyāsaparo nityaṃ yogī brahmasamo bhavet // 69 //

Tr. A devoted practitioner of *haṭha*, who is consistent in his practice, has gained control over sleep, food, breath and senses, attains *brahma.* 69.

योगीश्वरस्य योगस्य योगशास्त्रस्य पार्वति ॥
निन्दाञ्च ये प्रकुर्वन्ति राक्षसास्ते नराः[2] क्षितौ ॥ 70 ॥

yogīśvarasya yogasya yogaśāstrasya pārvati //
nindañca ye prakurvanti rākṣasāste narāḥ kṣitau // 70 //

Tr. O *pārvati* ! One who denounces an adept of *yoga* and science of *yoga*, is like a demon on the earth. 70.

गोधूमशालियवषष्टिकशोभनान्नं[3]
क्षीराज्यमण्ड[4]नवनीतसितामधूनि ॥
शुण्ठीपटोलफलपत्रज[5]पञ्चशाकं
मुद्गादिदिव्यमुदकं च यमीन्द्र[6]पथ्यम् ॥ 71 ॥

godhūmaśāliyavaṣaṣṭikaśobhanānnaṃ
kṣīrājyamaṇḍanavanītasitāmadhūni //
śuṇṭhīpaṭolaphalapatrajapañcaśākaṃ
mudgādidivyamudakaṃ ca yamīndrapathyam // 71 //

Tr. The recommended food items for a *yogī* should comprise

---

1. मितहारो -N.2.नरा –P,N. 3.शोभवान्नं -N. 4.मन्द -T.4.शुण्ठीपटौकफलादिक – N,n1,J. 6.यतीन्द्र-N,n1,J.

good grains like— wheat, rice, barley, *ṣaṣṭika* (a particular variety of rice which takes sixty days to harvest), milk, ghee, cream, butter, sugar candy, honey, dry ginger, *paṭola* fruits (a species of cucumber), the set of five recommended leafy vegetables, green gram and rain water. 71.

Note: The meaning of *maṇḍa* is scum of the boiled rice. The Nepali commentary mentions it as '*motha*', a kind of beans similar to green gram. 71.

कट्वम्लतीक्ष्ण[1]लवणोष्णहरीतशाकं[2]
सौवीरतैलतिलसर्षपमत्स्यमद्यम्[3] ||
अजादि[4]मांसदधितक्रकुलत्थकोद्र-
पिण्याकहिंगुलशुनाद्यमपथ्यमाहुः || 72 ||[5]

kaṭvamlatīkṣṇalavaṇoṣṇaharītaśākam
sauvīratailatilasarṣapamatsyamadyam //
ajādimāṃsadadhitakrakulatthakodra-
piṇyākahiṅgulaśunādyamapathyamāhuḥ // 72 //

Tr. The list of unwholesome food items consists of (tastes like) bitter, sour, pungent, salty, hot, green leafy vegetables, sour gruel, oil, mustard, sesame, fish, alcohol, meat like mutton etc., curd, butter-milk, *kulattha* (a type of lentil), *kodra* (a species of grain), oil-cake, asafoetida, garlic etc. 72.

तथा च[6] गोरक्षवचनम् —
[7]वर्जयेद् दुर्जनप्रीति[8]वह्निस्त्रीपथसेवनम् ||
प्रातःस्नानोपवासादिकायक्लेशादिकं[9] तथा || 73 ||

tathā ca gorakṣavacanam —
varjayeddurjanaprītivahnistrīpathasevanam //
prātaḥsnānopavāsādikāyakleśādikaṃ tathā // 73 //

According to *gorakṣa*—

Tr. One should shun company of wicked people, fire, women, (long) walk, morning bath, skipping meals and excessive physial strain. 73.

---

1. तित्त-P. 2. शाक–P,T,t1. 3. 'मपथ्यमाहुः' अधिकपाठः- N. 4. आजादि – P,N,n1.
5. अजादि.......शुनाद्यम् — अनुपलब्धः -N. 6. 'च' अनुपलब्धः-P,T,J.
7. तैलाम्ललोणिभीतिभालुकभा- अधिकपाठः-P,T,n2,t1. 8. प्रान्तं-P; प्राप्तं-T,t1.
9. कायक्लेशविधिं -P,T.

मत्स्येन्द्रवचनमपि —

रसमारे मारे हेमकरे मलजारे जारे रोगहरे ॥
वायुपूरे पूरे आयुकरे आत्मध्याने[1] ध्याने मोक्षकरे ॥ 74 ॥

matsyendravacanamapi —
rasamāre māre hemakare malajāre jāre rogahare //
vāyupūre pūre āyukare ātmadhyāne dhyāne mokṣakare //74 //

According to *matsyendra*—

Tr. Through alchemy of mercury, gold can be produced, purification of the morbidities brings about a disease-free body, longevity can be attained by practice of breathing techniques (*kumbhaka*) and liberation is attained by meditation on the Self. 74.

श्रेष्ठं सुमधुरं स्निग्धं गव्यं धातुप्रपोषणम् ॥
मनोऽभिलषितं योग्यं चतुर्थांशविवर्जितम् ॥
शिवार्पितं च नैवेद्यं योगी भोजनमाचरेत् ॥ 75 ॥

śreṣṭhaṃ sumadhuraṃ snigdhaṃ gavyaṃ dhātupraposaṇam //
mano'bhilaṣitaṃ yogyaṃ caturthāṃśavivarjitam //
śivārpitaṃ ca naivedyaṃ yogī bhojanamācaret // 75 //

Tr. A *yogī* should consume food which is wholesome, sweet, unctuous, containing milk-products, nutritious, food items one relishes, after leaving one-fourth of the stomach empty and after offering of the food to *śiva.* 75.

अयमेव मिताहारी[2] कदन्नेन[3] विवर्जितः ॥ 76 ॥

ayameva mitāhārī kadannena vivarjitaḥ // 76 //

Tr. A person consuming moderate diet is the one who eschews bad food. 76.

अत्याहारः प्रयासश्च[4] प्रजल्पो नियमग्रहः[5] ॥
जनसंगञ्च लौल्यञ्च षड्भिर्योगो[6] विनश्यति ॥ 77 ॥

---

1. अआघट–N, घटध्याने-J,n1. 2. मितहारी–P. 3. कदन्ने तु-P. 4. प्रवासश्च–N,n1, प्रवाशश्च–J. 5. नियमाग्रहः-N,J. 6. योगी –P.

atyāhāraḥ prayāsaśca prajalpo niyamagrahaḥ //
janasaṅgañca laulyañca ṣaḍbhiryogo vinaśyati // 77 //

Tr. Excess eating, over-exertion, talkativeness, extreme austerity, public contact, and greed— these six ruin *yoga* practice. 77.

उत्साहान्निश्चयाद्[1] धैर्यात्तत्त्वज्ञानार्थदर्शनात्
बिन्दुस्थैर्यान्मिताहाराज्जनसंगविवर्जनात् ॥
निद्रात्यागाज्जितश्वासात् पीठस्थैर्यादनालसात्
गुर्वाचार्यप्रसादाच्च एभिर्योगस्तु[2] सिद्ध्यति ॥ 78 ॥

utsāhānniścayād dhairyāttatvajñānārthadarśanāt
bindusthairyānmitāhārājjanasaṅgavivarjanāt //
nidrātyāgājjitaśvāsāt pīṭhasthairyādanālasāt
gurvācāryaprasādācca ebhiryogastu siddhyati // 78 //

Tr. Success in *yoga* can be attained through these means:— enthusiasm, firm resolution, patience, correct understanding of the principles underlying the phenomenal creation, stability of *bindu*, consumption of moderate food, avoiding public contact and sleep, having control over breath, attaining stability in an *āsana*, diligence, pleasing the *guru* and *ācārya.* 78.

श्रुत्याचार्यप्रसादाच्च योगाभ्यासबलेन च ॥
ईश्वरानुग्रहेणैव[3] योगसिद्धिस्तु[4] जायते ॥ 79 ॥

śrutyācāryaprasādācca yogābhyāsabalena ca //
īśvarānugraheṇaiva yogasiddhistu jāyate // 79 //

Tr. Success in *yoga* can be attained by favour of the (lessons of the) scriptures, grace of *ācārya, yoga* practice and grace of *īśvara.* 79.

श्रीआदिनाथमत्स्येन्द्रशाबरानन्द[5]भैरवाः ॥
शारंगी[6]मीनगोरक्षविरूपाक्षबिलेशयाः ॥ 80 ॥

---

1. निश्चला-P,T. 2. एभिर्योगश्च-N,J. 3. ईश्वरानुग्रहणेनैव–t1,n4. 4. योगसिद्धिश्च–N,n4,J.
5. सवरानन्द-N, शवरानन्द–n4. 6. सरंगी–N,n1, सारंगी–P, शरंगि-J, सरंगि–n4.

मन्थान[1]भैरवो योगी सिद्धबुद्धिश्च[2] कन्दली ॥
कोरन्दकः[3] सुरानन्दः सिद्धिपादश्च[4] चर्पटी[5] ॥ 81 ॥
करोटिः पूज्यपादश्च नित्यनाथो निरञ्जनः ॥
कपाली[6] बिन्दुनाथश्च काकचण्डीश्वराह्वयः[7] ॥ 82 ॥
अल्लमः प्रभुदेवश्च[8] नैटचूटिश्च[9] टिण्टिणिः[10] ॥
भालुकि[11]र्नागबोधश्च[12] खण्डकापालिकस्तथा[13] ॥ 83 ॥
इत्यादयो महासिद्धाः हठयोगप्रसादतः ॥
खण्डयित्वा कालदण्डं ब्रह्माण्डे विचरन्ति ते ॥ 84 ॥

śrī ādināthamatsyendraśābarānandabhairavāḥ //
śāraṅgī mīnagorakṣavirūpākṣabileśayāḥ // 80 //
manthānabhairavo yogī siddhabuddhiśca kandalī //
korandakaḥ surānandaḥ siddhipādaśca carpaṭī // 81 //
karoṭiḥ pūjyapādaśca nityanātho nirañjanaḥ //
kapālī bindunāthaśca kākacaṇḍīśvarāhvayaḥ // 82 //
allamaḥ prabhudevaśca naiṭacūṭiśca ṭiṇṭiṇiḥ //
bhālukirnāgabodhaśca khaṇḍakāpālikastathā // 83 //
ityādayo mahāsiddhāḥ haṭhayogaprasādataḥ //
khaṇḍayitvā kāladaṇḍaṃ brahmāṇḍe vicaranti te // 84 //

Tr. *śrīādinātha, matsyendra, śābara, ānandabhairava, śāraṅgī, mīna, gorakṣa, virūpākṣa, bileśaya, manthānabhairava, siddhabuddhi, kandalī, korandaka, surānanda, siddhipāda, carpaṭī,*

karoṭi, pūjyapāda, nityanātha, nirañjana, kapālī, bindunātha, kākacaṇḍīśvara, allama, prabhudeva, naiṭacūṭi, ṭiṇṭiṇi, bhāluki, nāgabodha, khaṇḍakāpālika etc. are the great *siddhas*, who by the power of *haṭha-yoga* defied the whip of *kāla* (death) and freely move in the universe. 80-84.

---

1. मथान-N,n4. 2. सिद्धिबुद्धिश्च-J. 3. गोनन्दक-P,T,J,n1,n4. 4. सिद्धपादश्च–T. 5. पर्पटी–T,t1. 6. कापाली–T, कपालि-n4. 7. काकचण्डश्चरोमकः-J,n1,n4, काकचण्डीश्वरोमयः-T,t1, चण्डीश्वरात्मकः -n2. 8. अल्लमप्रभुदेवश्च-P,T,t1. 9. फैटीछोटी च-P; फैटीछ्रोटी च-T,t1, भैटचूटि च–n4. 10. टिंटिभिः-N,n1,n4, भैवचुटिंटिभिः-**J**. 11. तालुकिर्-P,T,t1. 12. नागलोधश्च–n4. 13. खण्डःकापालिकस्तथा P,T.

Note: Some of the names of *siddhas* seem to have been erroneously written by the scribe. For example, *kandalī, korandaka, karoṭi, naiṭacūṭi.* It is obvious that these names have been taken from HP(I-5-8). The names of the *siddhas* have different variations in different copies of HP also. However, from the text of HP critically edited by the Lonavla Yoga Institute (India) and on the basis of available information about the names of the *siddhas*, we give below the information available on them.

ādinātha— A synonym for *śiva*, who is regarded as the propounder of many *śāstras* including *yoga*. The famous MYS describing *haṭhayoga* is ascribed to *ādinātha* from whom the *nāthasampradāya* was originated, according to its followers.

matsyendra—See note on i.3.

śābara—He was an alchemist and in a text called *śābaratantra*, 12 *kāpālikagurus* renowned for *yoga*, are described.

ānandabhairava— A *rasasiddha* mentioned in RRS (xvi.7-10). The drugs *ānandabhairavī-vaṭī* and *ānanda-bhairava-rasa* are ascribed to him in RRS.

śāraṅgī— This seems to be mis-spelt for *cauraṅgī*, a famous disciple of *matsyendranātha*. A work called *prāṇasaṅkalī* in Hindī is available on his name. There is also *cauraṅgīvākyaṃ* on his name, which is included in NP, deposited in RORI, Jodhpur (vide MS No. 16780).

mīna—There is no agreement about who *mīnanātha* was. In some traditions *mīnanātha* is considered as the same as *matsyendranātha*, but since *mīna* is separately mentioned here, it seems that he is different from *matsyendra*. The two works available on his name are *yogaviṣaya* and *yogasaṃgraha*.

gorakṣa— See note on i.3.

virūpākṣa— On his name three works are available, namely, *aṣṭasiddhi-vivaraṇam, amṛtasiddhiyoga* and *virūpākṣa-pañcāśikā.*

bileśaya— No information about him is available.

manthānabhairava— One of the alchemists mentioned in RRS (i.5-7, xii.76-78, xviii.172). The drug *manthānabhairavarasa* is ascribed to him in RRS (xii.72-74).

siddhabuddhi— Also described as *siddhibuddhi.* In some MSS of HP, *siddha* and *buddha* are separately mentioned. In RRS, both *siddha* and *buddha* have been named as alchemists (v.144, xx.107).

kandalī— Seems wrongly spelt for *kanthaḍī.* A famous *śaiva-yogī,* who was a contemporary of *matsyendra* and *gorakṣa.* He was related to Cola and Cālukya dynasty. His disciples were in Bīḍa region of Mahārāṣṭra. There is *kanthaḍībodha* on his name deposited in MMPP (1069-70/559-60).

korandaka— Seems to have been wrongly spelt for *koranṭaka.* He is variously referred to as *karaṇḍaka, kuranṭaka, pauranṭaka* in other MSS of HP. There is a text called *kapālakuranṭaka-haṭhābhyāsapaddhati*, which may be ascribed to him. It describes different *haṭhayogic* practices, especially 112 *āsanas.*

surānanda— One of the 27 *rasasiddhas* mentioned in RRS (i.225, vi.51-54).

siddhipāda— He is described as a *rasācārya* in RRS (xvii.120).

carpaṭi— One of the *rasasiddhas* mentioned in RRS (vi.49-

53). *śrīnivāsa* mentions *carpaṭi's* view on *jalabasti* (i.50). He was a contemporary of *gorakṣa.* King Sāhillavarmā of Cambala Kingdom was his disciple.

karoṭi— Seems to be mis-spelt for *kaneri.* He was a disciple of *nāgārjuna* and residing at Nevāsā in Mahārāṣṭra, which was then the main centre of *raseśvara* tradition. He was residing there between 1078 to 1138 AD and took *samādhi* there around the year 1138 AD.

pūjyapāda— Probably mis-spelt for *pūrvapāda.* On his name are found *yoga* and medical treatises such as — *ratnākarādi-auṣadha-yoga-saṃgraha, vaidyaka-grantha, siddhānta-bhāṣya, nidānamuktāvali* and *samādhi-śataka.*

nityanātha— One of the *rasasiddhas* mentioned in PS. He is the author of *rasaratnākara.* He calls himself *pārvatī-putra.* According to P. C. Roy, he belongs to about 1300 AD. There is also SSP available on his name. Another work available on his name is *siddhikhaṇḍa.*

nirañjana— Mentioned as a *rasasiddha* in PS.

kapālī— A *rasasiddha* mentioned in RRS (i.2).

bindunātha—A *rasasiddha,* probably the author of *rasapaddhati.*

kākacaṇḍīśvara— He was a *rasasiddha* mentioned in the RRS (i.6). There is a published work called *kākacaṇḍīśvaratantra.* It describes several *kalpas.* Another MS named *kākacaṇḍeśvaramataṃ* is deposited in the Nepāl Library.

allamaprabhudeva— He was a contemporary of *gorakṣa.*

He propounded *liṅgāyata* cult about 1150 AD. His colleague *revaṇasiddha* was related to *nāthasaṃpradāya.*

naiṭa-cūṭi— Seems to have been mis-spelt for *ghorācoli* or *ghoḍācoli.* He is also referred to as *colika* or *coli.* He was alive in 1266 AD and was staying on *kiṣkindhā* mountain in Karṇāṭaka. He was a contemporary of *gorakṣa.* He was more inclined towards *tantra.* A small treatise called *ghoḍācolivākyaṃ* is included in NP. There is a drug called *aśvakañcuki* attributerd to him. He is mentioned as a *rasasiddha* in PS.

tiṇṭiṇi— A *rasasiddha* mentioned in PS. In some copies of HP, we find the name *ciñcini.* There is a text called *ciñcinimatasāra-samuccaya* deposited in Nepāl Library.

bhāluki— In RRS (ii.143) *bhāluki* is mentioned as a *rasācārya.*

nāgabodha— Also called *nāgabuddhi* mentioned in RRS (i.2-5, vi.49-53, xv.58-65) as an eminent *rasācārya.*

khaṇḍa— One of the *rasasiddhas* mentioned in the list of 27 *rasācāryas* in RRS (i.5).

kāpālika— Mentioned as a *rasācārya* in the list of 27 *ācāryas* in RRS (vi.52).

mahā-siddhas:-

Most of the *siddhas* referred to here are the famous *rasa-siddhas* (alchemists). They were experts in the use of chemical drugs, especially those prepared from mercury, which makes possible the rejuvenation of the body conducive to liberation within the span of life. There is a science called *raseśvara-darśana* based on the idea of rendering the human body deathless and also the spiritual

liberation of man by his nomadic transformation by varied psycho-chemical processes. It is believed that the preservation of the body could be achieved by the use of medicaments. 80-84.

प्राणायामैरेव सर्वे प्रशुष्यन्ति[1] मला इति ॥
आचार्याणान्तु केषाञ्चित् अन्यत्कर्म[2] न सम्मतम्[3] ॥ 85 ॥
prāṇāyāmaireva sarve praśuṣyanti malā iti //
ācāryāṇāntu keṣāñcit anyatkarma na sammatam // 85 //

Tr. *prāṇāyāma* alone purifies all the morbidities. According to some adepts, no other technique is necessary. 85.

इदं वचनं हठाभ्यासकरणासामर्थ्यमिति[4] बोध्यम्[5] ॥
idaṃ vacanaṃ haṭhābhyāsakaraṇāsāmarthyamiti bodhyam //

Tr. This statement applies to those who are unable to undertake *haṭha* practices.

Note: *śrīnivāsa* does not agree with the view that *prāṇāyāma* alone removes all kinds of impurities. According to him, efficacy of the purificatory processes cannot be denied. To do so, reflects on the inability of a person to undergo *haṭhayogic* practices.

सम्प्रदायाब्धिमथनाज्जायते रत्नमालिका ॥
सुवर्णखचिता सेयं को वा[6] योगी ह्युपेक्षते[7] ॥ 86 ॥
sampradāyābdhimathanājjāyate ratnamālikā //
suvarṇakhacitā seyaṃ ko vā yogī hyupekṣate // 86 //

Tr. By churning the ocean of different traditions the garland of gems with golden works has been prepared. Which *yogī* would like to ignore this? 86.

Note: After this verse, in some MSS, we come across, the qualifications and background of the author, as given in the colophon. 86.

---

1. प्रशुध्यन्ते-P,T,t1, प्रशुध्यन्ति-N,n1. 2. अन्यकर्म-N. 3. शंसतं –n4. 4. हठाभ्यासकरणासामर्थ्य-विषयमिति-P,T,t1. 5. बोद्धव्यम् -T,P,t1. 6. सुवर्णखचिता चेत्स्यात्कोवा -P,T,t1. 7. ह्यपेक्षते -T; नुपेक्षते –N,n1, उपेक्षते -J.

इति श्रीनिवासयोगिविरचितायां[1] हठरत्नावल्यां प्रथमोपदेशः[2] .[3]

iti śrīnivāsayogī viracitāyāṃ haṭharatnāvalyāṃ
prathamopadeśaḥ

Here ends the first chapter of haṭharatnāvalī written by
śrīnivāsayogī

1. इति श्रीनिवासविरचितायां –J,n2,n4.

2. इति श्रीमत्स्यकलितार्किकचूडामणिसकलन्यायशास्त्रसम्प्रदायप्रवर्तकन्यायाचार्यसकलहठयोगैः प्रवर्तक–तीरभुक्ते देशीयमहादेवमिश्रादिसकलतार्किक्रकवादजयजन्ययशलक्ष्मीविराजमानवैदिकमार्गप्रतिष्ठैकधुर्यशशधर–मणिकण्ठ-व्याख्यात वेदान्तपरिभाषाद्यनेकग्रन्थकरणजन्यजययशःपुञ्जविद्योतमानतिम्मयज्योतिषिकसोमाम्बात्मज –श्रीनिवासभट्ट- महा -योगीन्द्रविरचितायां हठरत्नावल्यां प्रथमोपदेशः ||
वेधश्चन्द्रमुखी कराम्बुजलसन्माणिक्यवीणारणत्
तन्त्रे कोमलनाथभंगलहरीमाधुर्यसल्लापिनीम् |
नानार्थांकितचित्रपद्यरचितां वैदग्ध्यविद्योतितां
धत्ते तां हठयोगरत्नसरणीं श्रीश्रीनिवासः स्फुटम् ||P,T,t1. 3. अनुपलब्धपंक्तिः -t1.

nauli

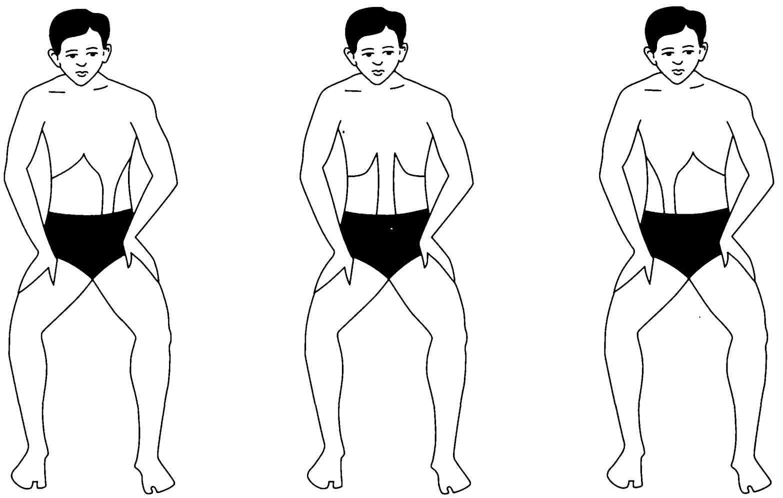

vāma nauli *madhya nauli* *dakṣiṇa nauli*

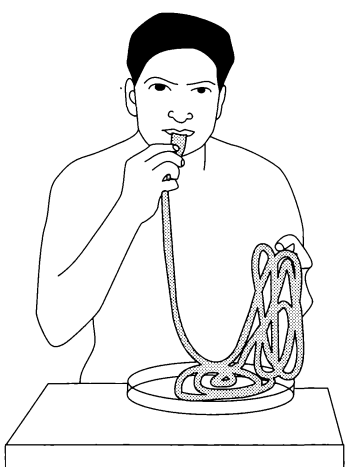

vastra dhauti

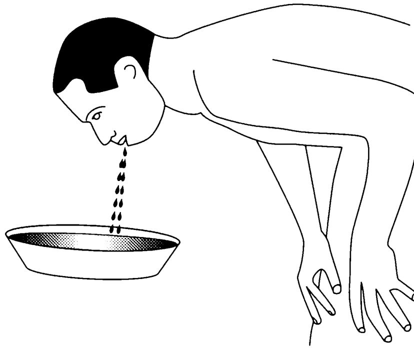

gajakaraṇī

neti

sūtraneti

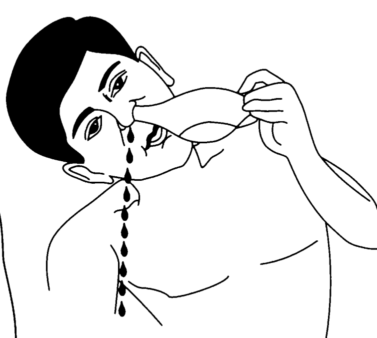

jalaneti

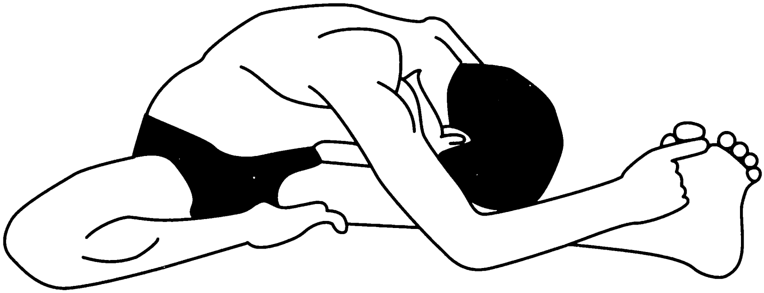

mahāmudrā

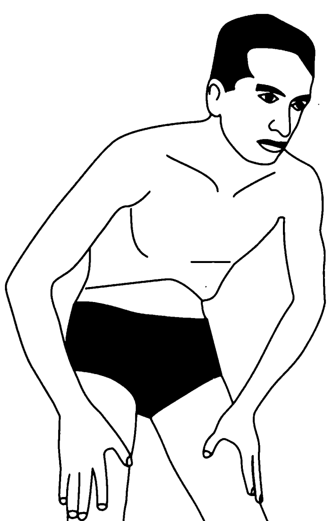

uḍḍiyāna

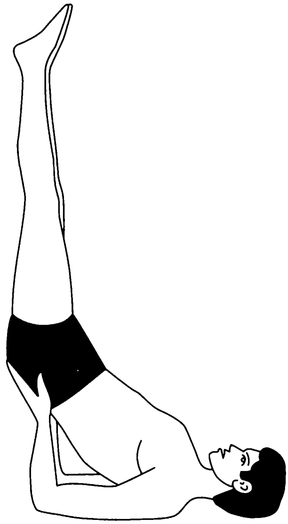

viparītakaraṇī

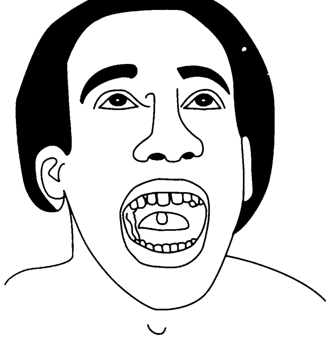

khecarī

prāṇāyāma

द्वितीयोपदेशः[1]

अष्टानां कुम्भकानां तु लक्षणं लक्ष्यते मया[2] ॥
अपूर्वाधिकसिद्ध्यर्थं[3] कुम्भकानभ्यसेत्सुधीः ॥ 1 ॥

aṣṭānāṃ kumbhakānāṃ tu lakṣaṇaṃ lakṣyate mayā //
apūrvādhikasiddhyarthaṃ kumbhakānabhyasetsudhīḥ // 1 //

Tr. The characteristics of eight *kumbhakas* are being narrated by me. A wise should practise the *kumbhakas* to achieve amazing *siddhis.* 1.

अथवा —
विधिवत् प्राणसंयामैः नाडीचक्रे विशोधिते ॥
सुषुम्नावदनं भित्वा सुखाद्विशति[4] मारुतः ॥ 2 ॥[5]

athavā —
vidhivat prāṇasaṃyāmaiḥ nāḍīcakre viśodhite //
suṣumnāvadanaṃ bhitvā sukhādviśati mārutaḥ // 2 //

Or,

Tr. When the group of *nāḍīs* is purified through the prescribed practice of *prāṇāyāma, prāṇa* easily pierces the opening of *suṣumnā* and enters into it. 2.

मारुते मध्यमे जाते[6] मनःस्थैर्यं प्रजायते[7] ॥
मनसः सुस्थिरीभावः सैवावस्था मनोन्मनी ॥ 3 ॥[5]

mārute madhyame jāte manaḥsthairyaṃ prajāyate //
manasaḥ susthirībhāvaḥ saivāvasthā manonmanī // 3 //

Tr. Mind becomes steady as the *prāṇa* moves into the middle path (i.e. *suṣumnā*). This poised state of the mind is called *manonmanī.* 3.

---

1. अथ द्वितीयोपदेशः प्रारभ्यते-R. 2. लक्ष्यतेऽधुना-P,T,t1. 3. आयुष्याधिकसिद्ध्यर्थं-P; आयुषोधिकसिद्ध्यर्थं-T,t1. 4. मुखाद्विशति-J,N,n1,n4. 5. अनुपलब्धश्लोकः -n2. 6. मध्यसंजाते-T,t1. 7. च जायते-T,t1.

तत्सिद्धये विधानज्ञः सदा[1] कुर्वीत कुम्भकान्[2] ||
विचित्रकुम्भकाभ्यासाद्विचित्रां सिद्धि[3]माप्नुयात् || 4 ||*

tatsiddhaye vidhānajñaḥ sadā kurvīta kumbhakān //
vicitrakumbhakābhyāsādvicitrāṃ siddhimāpnuyāt // 4 //

Tr. For attaining such a state (of *manonmanī)* the experts practise varieties of *kuṃbhakas.* Amazing results can be achieved by practising various *kumbhakas.* 4.

भस्त्रिका भ्रामरी[4] सूर्यभेदोज्जायी च[5] शीतली ||
मूर्च्छानामकसीत्कारं[6] केवल[7]श्चाष्टकुम्भकाः ||
भुजंगकरणी[8] चेति कुम्भका नवसंख्यकाः || 5 || *

bhastrikā bhrāmarī sūryabhedojjāyī ca śītalī //
mūrcchānāmakasītkāraṃ kevalaścāṣṭakumbhakāḥ //
bhujaṅgakaraṇī ceti kumbhakā navasaṅkhyakāḥ // 5 //

Tr. *bhastrikā, bhrāmarī, sūryabheda, ujjāyī, śītalī, mūrcchā, sītkāra* and *kevala* are the eight *kumbhakas. bhujaṅgakaraṇī* is the ninth *kumbhaka.* 5.

अथवा —
सूर्यभेदनमुज्जायी[9] तथा सीत्कारशीतली ||[10]
भस्त्रिका[11] भ्रामरी[12] मूर्च्छा केवलश्चाष्टकुम्भकाः || 6 ||[13] *

athavā —
sūryabhedanamujjāyī tathā sītkāraśītalī //
bhastrikā bhrāmarī mūrcchā kevalaścāṣṭakumbhakāḥ // 6 //
Or,

Tr. *sūryabhedana, ujjāyī, sītkāra, śītalī, bhastrikā, bhrāmarī, mūrcchā* and *kevala* are the eight *kumbhakas.* 6.

---

1. चित्रकान्-T,t1. 2. कुम्भकाः-T,t1. 3. बुद्धि–N,n1,J, बुद्धिं–n4. 4. भ्रामरीं–T, भ्रमरीं -t1. 5. सूयभेदोझायाति –T,t1. 6. सीतकारौ–N,n1,n4,J, सीत्कारां–T,t1. 7. केवला-T; कवल-N. 8. भुजंगकरिणी-T. 9. सूर्यभेदनमनुझया–t1. 10. पंक्तिः अनुपलब्धा–N,n1,J. 11. भस्त्रिकां–T,t1. 12. भ्रामरीं –T,t1. 13. अनुपलब्धश्लोकः–N,n1,J. * अनुपलब्धश्लोकः-n2,n4.

Note : This is a quotation from HP. While enumerating eight *kumbhakas*, we find in many other copies of HP *plāvinī* included in place of *kevala.* GhS(v.46) omits *sītkārī* and *plāvinī* and substitutes *sahita* and *kevala.* KP describes more than fifty *kumbhakas,* which are not found in any other texts. For details, refer to KP of *raghuvīra* published by Lonavla Yoga Institute (India). 6.

पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालन्धराभिधः ॥
कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डियानकः ॥ 7 ॥ [1]

pūrakānte tu kartavyo bandho jālandharābhidhaḥ //
kumbhakānte recakādau kartavyastūḍḍiyānakaḥ // 7 //

Tr. *jālandhara* should be practised after *pūraka*, while *uḍḍiyāna* should be practised at the end of *kumbhaka*, but before *recaka* starts. 7.

Note : GhS (v.49) has another version for the practice of *uḍḍiyāna.* According to it, *uḍḍiyāna* should be performed after inhalation and before *kumbhaka* begins. 7.

अधस्तात्कुञ्चनेनाशु कण्ठसंकोचने कृते ॥
मध्ये[2] पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः ॥ 8 ॥[1]

adhastātkuñcanenāśu kaṇṭhasaṅkocane kṛte //
madhye paścimatānena syātprāṇo brahmanāḍigaḥ // 8 //

Tr. By contraction of the anal muscles (*mūlabandha*), by contraction of the throat (*jālandhara bandha*) and by pulling the abdominal wall backwards (*uḍḍiyāna bandha*), the *prāṇa* enters into the *brahma-nāḍī* (*suṣumnā*). 8.

Note: In this verse, the application of *mūlabandha, jālandhara bandha* and *uḍḍiyāna bandha* is suggested. 8.

अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य[3] प्राणं[4] कण्ठादधो नयेत् ॥
योगी जराविमुक्तः स्यात् षोडशो वयसा[5] भवेत् ॥ 9 ॥[1]

1. अनुपलब्धश्लोकः -n2. 2. मध्या –N,n1,J. 3. अपानमूर्ध्वमास्थाय -P,T,t1. 4. घ्राणं –J. 5. वयसो –N,n1,n4,J.

apānamūrdhvamutthāpya prāṇaṃ kaṇṭhādadho nayet //
yogī jarāvimuktaḥ syāt ṣoḍaśo vayasā bhavet // 9 //

Tr. One should raise the *apāna* upwards and take the *prāṇa* downwards below the throat (*jālandhara bandha*). This makes the *yogī* free from old age and he becomes as young as of sixteen years. 9.

Note : Here *mūlabandha* and *jālandhara bandha* are indicated. 9.

अथ सूर्यभेदनं नाम कुम्भकः[1]—
दक्षनाड्या[2] समाकृष्य बहिःस्थं[3] पवनं शनैः ॥
यथा लगति कण्ठात्तु[4] हृदयावधि सस्वनम्[5] ॥ 10 ॥*
यथेष्टं कुम्भयेद्वायुं रेचयेदिडया ततः ॥
कपालं शोधनं चापि रेचयेत्पवनं शनैः[6] ॥ 11 ॥ *
आलस्यं वातदोषघ्नं कृमिकीटं निहन्ति च ॥ [7]
पुनः पुनरिदं कार्यं सूर्यभेदाख्यकुम्भकम् ॥ 12 ॥ [8] *

atha sūryabhedanaṃ nāma kumbhakaḥ —
dakṣanāḍyā samākṛṣya bahiḥsthaṃ pavanaṃ śanaiḥ //
yathā lagati kaṇṭhāttu hṛdayāvadhi sasvanam // 10 //
yatheṣṭaṃ kumbhayedvāyuṃ recayediḍayā tataḥ //
kapālaṃ śodhanaṃ cāpi recayetpavanaṃ śanaiḥ // 11 //
ālasyaṃ vātadoṣaghnaṃ kṛmikīṭaṃ nihanti ca //
punaḥ punaridaṃ kāryaṃ sūryabhedākhyakumbhakam //12 //

Tr. Slowly draw the external air through the right nostril in such a manner that the air causes a friction in the throat upto the heart and a sonorous sound is produced. Retain the air in to the capacity and thereafter slowly exhale through the left nostril. This cleanses the frontal sinuses. This further removes lethargy, rheumatism and worms. This *sūryabhedana kumbhaka* should be practised again and again. 10-12.

---

1. अथसूर्यभेदः-J,N,n1,n4. 2.दक्षनाड्यां–T,t1. 3. बहिस्थं–T,t1,n4. 4.हृत्कण्ठे–N,n1,n4,J. 5.सस्वनः-N,n4,J. 6.कपालशोधनं वातदोषघ्नं कृमिनाशनं –N,n1,n4, कृमिनाशकं-J. 7. अनुपलब्धपंक्तिः-N,n1,n4,J.8....सूर्यभेदाख्यं कुंभमभ्यसेत्-N, पुनः पुनरिदं सूर्यभेदनाख्यं कुम्भमभ्यसेत्-J,n1,n4. *अनुपलब्धश्लोकः -n2.

अथोज्जायी[1] —

मुखं संयम्य[2] नाडीभ्यामाकृष्य[3] पवनं शनैः ॥
यथा लगति हृत्कण्ठं[4] हृदयावधि[5] सस्वनः[6] ॥ 13 ॥ *
पूर्ववत्कुम्भयेत्प्राणं रेचयेदिडया ततः ॥
गले श्लेष्महरं[7] प्रोक्तं[8] देहानलविवर्धनम्[9] ॥ 14 ॥ *
नाडीजालोदराधातुगत[10]दोषविनाशनम् ॥
गच्छता तिष्ठता कार्य[11]मुज्जाय्याख्यं हि कुम्भकम् ॥ 15 ॥ *

athojjāyī—

mukhaṃ saṃyamya nāḍībhyāmākṛṣya pavanaṃ śanaiḥ //
yathā lagati hṛtkaṇṭhaṃ hṛdayāvadhi sasvanaḥ // 13 //
pūrvavatkumbhayetprāṇaṃ recayediḍayā tataḥ //
gale śleṣmaharaṃ proktaṃ dehānalavivardhanam // 14 //
nāḍījālodarādhātugatadoṣavināśanam //
gacchatā tiṣṭhatā kāryamujjāyyākhyaṃ hi kumbhakam // 15 //

Tr. Close the mouth. Slowly inhale fully through both the nostrils with a frictional sound felt from the throat upto the chest. Retain the breath in the manner told before and thereafter exhale through the left nostril. This is *ujjāyī kumbhaka*, which cures the phlegmatic disorders of the throat, increases the bodily fire, removes the morbidities of the network of the *nāḍīs*, stomach and the bodily constituents (*dhātus*). This should be practised all the time. 13-15.

Note The term '*gacchatā tiṣṭhatā*' is not to be understood literally as 'while walking and standing', but to be taken to mean 'all the time'. 13-15.

अथ शीत्कारः[12]—

सीत्कां[13] कुर्य्यात्तथा वक्त्रे[14] घ्राणेनैव[15] विसर्ज्जयेत्[16] ॥
एवमभ्यासयोगेन कामदेवो द्वितीयकः[17] ॥ 16 ॥ *

---

1. अथोज्जायं–T,t1. 2. सन्नम्य-P,t1. 3. नासाभ्यामाकृष्य-J,n1,n4, आकर्ष्य—T,t1. 4. हृत्कण्ठे-N,n1,n4,J; हृत्कण्ठ-T. 5. हृयावधि-N. 6. संस्थितः-P,T,t1. 7. गलेश्लेष्मकफहरं-T; गलश्लेदोषहरं-N,n1,n4;गलश्लेष्मदोषहरं-J. 8. अनुपलब्ध-N,n1,n4,T,t1. **9**. देहामलविवर्धनम्-T,t1. **10**. नाडीजलोदर-धातुगत-J,P; नाडीजलोदरंधातुगत-N,n1,n4. 11. गच्छन् तिष्ठन् प्रतीकार्य-P,T,t1, गच्छतः-n4. 12. अथ सीत्काराख्यकुंभकस्वरूपं निरूप्यते-P,T,t1. 13. सित्कं-T,t1, सित्कं-P. 14. दद्यात् स्वक्रान्ते-P,t1; दद्यात् स्वके क्रान्ते-T. 15. घ्राणेचैव-P,T,t1. 16. विजृंभणं -P,T,t1. 17. कामदेवाद्वितीयकः-N. * अनुपलब्धश्लोकः-n2.

योगिनीचक्रसंसेव्यः[1] सृष्टिसंहारकारकः[2] ॥
न क्षुधा न तृषा निद्रा नैवालस्यं प्रजायते ॥ 17 ॥ *

atha sītkāraḥ —

sītkāṃ kuryāttathā vaktre ghrāṇenaiva visarjjayet //
evamabhyāsayogena kāmadevo dvitīyakaḥ // 16 //
yoginīcakrasaṃsevyaḥ sṛṣṭisaṃhārakārakaḥ //
na kṣudhā na tṛṣā nidrā naivālasyaṃ prajāyate // 17 //

Tr. One should always inhale through the mouth producing the sound '*sīt*', hold the air in and exhale through the nostrils. With this practice, one becomes like a cupid. He is respected by the *yoginī-cakra*, becomes capable to create and destroy and does not suffer from hunger, thirst, sleep and drowsiness. 16-17.

भवेत्स्वच्छन्ददेहस्तु[3] सर्वोपद्रववर्जितः ॥
अनेन विधिना सत्यं[4] योगीन्द्रो भाति भूतले ॥ 18 ॥ *
bhavetsvacchandadehastu sarvopadravavarjitaḥ //
anena vidhinā satyaṃ yogīndro bhāti bhūtale // 18 //

Tr. Moreover, by this practice, an eminent *yogī* becomes physically fit, remains free from all the worldly sufferings and excells in life. 18.

अथ शीतली[5] —

जिह्वया[6] वायुमाकृष्य पूर्ववत्कुम्भकादनु ॥
शनैरशीतिपर्य्यन्तं[7] रेचयेदनिलं सुधीः ॥ 19 ॥ *

atha śītalī—

jihvayā vāyumākṛṣya pūrvavatkumbhakādanu //
śanairaśītiparyyantaṃ recayedanilaṃ sudhīḥ // 19 //

Tr. One draws the air in through the tongue, retains it in the manner told before and thereafter slowly exhales (through the nostrils). This is performed for eighty rounds. 19.

---

1. योगिनीचक्रसाम्राज्यं-P,T,t1, योगिनीचक्रसंसेव्यं–n4. 2. सृष्टिसंहारकारणं-P,T,t1, कारकं–n4. 3. भवेत्स्वच्छन्ददेहः स्यात्-P. भवेत्स्वच्छन्ददेहस्यात् -T,t1. 4. नित्यं-N, यस्तु- J,n1. 5. अथ शीतली लक्ष्यते-P,T, अनुपलब्धपंक्तिः-t1. शीतली-J. 6. इडया-P,T,t1. 7. शनैस्त्वशीतिपर्यन्त–J, शनैस्तु घ्राणरन्ध्राभ्यां सीतिपर्य-न्तं-n4. * अनुपलब्धश्लोकः -n2.

Note: *śrīnivāsa* has emphasized on practising *śītalīkumbhaka* upto 80 rounds. This is not mentioned specifically with other types of *kumbhakas.* This indicates great importance he attaches to *śītalī.* KP(143) calls it *kākacañcu kumbhaka* and includes *śītalī* and *sītkārī* under it. KP(144) also attaches a great importance to this *kumbhaka.* 19.

गुल्मप्लीहोदरं[1] दोषं[2] ज्वरपित्तक्षुधातृषाः[3] ॥
विषाणि शीतली नाम कुम्भकोऽयं निहन्ति च ॥ 20 ॥

gulmaplīhodaraṃ doṣaṃ jvarapittakṣudhātṛṣāḥ //
viṣāṇi śītalī nāma kumbhako'yaṃ nihanti ca // 20 //

Tr. *śītalī kumbhaka* removes dropsy, disorders of the spleen, fever, acidity, and toxicity and controls hunger and thirst. 20.

अथ भस्त्रिका—
रेचकः पूरकश्चैव[4] कुम्भकः प्रणवात्मकः[5] ॥
रेचकोऽजस्रनिःश्वासः पूरकस्तन्निरोधकः[6] ॥
समानसंस्थितो योऽसौ[7] कुम्भकः परिकीर्तितः ॥ 21 ॥

atha bhastrikā—
recakaḥ pūrakaścaiva kumbhakaḥ praṇavātmakaḥ //
recako'jasraniḥśvāsaḥ pūrakastannirodhakaḥ //
samānasaṃsthito yo'sau kumbhakaḥ parikīrtitaḥ // 21 //

Tr. *prāṇāyāma*, which is of the nature of *praṇava*, is three fold, i.e. *recaka, pūraka* and *kumbhaka. recaka* stands for exhalation to the limit. *pūraka* means opposite of it, while *kumbhaka* is maintenance of stillness of breath. 21.

यथैव[8] लोहकाराणां भस्त्री[9] वेगेन चाल्यते ॥
तथैव स्वशरीरस्थं चालयेत्पवनं सुधीः ॥ 22 ॥

---

1. गुल्मप्लीहादिकान्-P,T,t1,n2. 2. दोषान्-P,T,t1,n2. 3. तृषा–J,n1, तृषः-T,t1. 4. पूरकं चैव–T. 5. प्राणसंयमः-P,T,t1. 6. पूरकस्तन्निरोधतः-T. 7. समान संस्थिति रूप-P,T,t1. 8. यथैष-P. 9. भस्त्रा-n4.

यथा[1] श्रमो भवेद् देहे तथा[2] सूर्येण[3] पूरयेत् ॥
यथोदरं भवेत्पूर्णं पवनेन तथा लघु ॥ 23 ॥
धारयेन्नासिकां[4] मध्या[5]तर्जनीभ्यां विना दृढम् ॥
कुम्भकं पूर्ववत्कृत्वा रेचयेदिडयानिलम् ॥ 24 ॥

yathaiva lohakārāṇāṃ bhastrī vegena cālyate //
tathaiva svaśarīrasthaṃ cālayetpavanaṃ sudhīḥ // 22 //
yathā śramo bhaveddehe tathā sūryeṇa pūrayet //
yathodaraṃ bhavet pūrṇaṃ pavanena tathā laghu //23//
dhārayennāsikāṃ madhyātarjanībhyāṃ vinā dṛḍham //
kumbhakaṃ pūrvavat kṛtvā recayediḍayānilam // 24 //

Tr. A wise should rapidly blow the bodily air like the bellows of an ironsmith until he becomes exhausted. Thereafter, he should slowly inhale through the right nostril so that the cavity fully fills up with air. Now using the fingers other than the middle and the index fingers, he should firmly hold the nose and retain the air as told before and exhale through the left nostril. 22-24.

वातपित्तश्लेष्महरं शरीराग्निविवर्धनम् ॥
ब्रह्मनाडीमुखेसंस्थ[6]कफाद्यर्गल[7]नाशनम् ॥
विशेषेणैव कर्तव्यं भस्त्राख्यं कुम्भकं त्विदम् ॥ 25 ॥

vātapittaśleṣmaharaṃ śarīrāgnivivardhanam //
brahmanāḍīmukhesaṃsthakaphādyargalanāśanam //
viśeṣeṇaiva kartavyaṃ bhastrākhyaṃ kumbhakaṃ tvidam /25/

Tr. This *bhastrā-kumbhaka* cures the disorders caused due to vitiation of *vāta, pitta* and *kapha* humours, stimulates the gastric fire, removes the obstacles like phlegm etc. stuck up at the opening of *brahma-nāḍī* (*suṣumnā*). This practice should be given a special emphasis. 25.

---

1. यदा -T. 2. तदा–T,t1,P. 3. वेगेन –N,n1,n3,n4,J. 4. धारयेन्नासिका -N,J,T,t1. 5. मध्ये-N,n1,n3,n4,J,T,t1. 6. संस्थं –P,T,t1,n3. 7. कफादिगद –N,n3,n4,J.

Note: There are different varieties of *bhastrikā* described in different texts and traditions. Scientific investigation on *bhastrikā prāṇāyāma* indicated that even prolonged practice of 45 minutes does not lead to an increase in the urinary acidity. For details, refer to YM (vol. 1, No. 1, pp. 9-18).

It has been specifically mentioned in the tradition not to use the index and middle fingers for closing the nose during *kumbhaka.* The rationale of it is not clear. This arrangement of fingers is called *omkāra-mudrā.* 21-25.

अथ भ्रामरी[1]—
वेगोद्घोषं पूरकं[2] भृंगनादं भृंगीनादं रेचकं[3] मन्दमन्दम् ॥
योगीन्द्राणां नित्यमभ्यास[4]योगाच्चित्ते जाता काचिदानन्दलीला[5] ॥ 26 ॥

atha bhrāmarī—
vegodghoṣaṃ pūrakaṃ bhṛṅganādaṃ-
bhṛṅgīnādaṃ recakaṃ mandamandam //
yogīndrāṇāṃ nityamabhyāsayogāc -
citte jātā kācidānandalīlā // 26 //

Tr. One inhales forcefully producing a sonorous sound resembling that of a male bee and exhales quite slowly, while making the sound like that of a female bee. This technique, if practised daily, fills the mind of the *yogī* with exceptionally ecstatic feeling. 26.

Note: The humming sound resembling that of a male bee and a female bee during *pūraka* and *recaka* is produced by pronouncing the nasalised sound as in the word *gaṅgā,* accompanied by the vibrations of the soft palate. GhS (v.73-77) gives a different technique of *bhrāmarī.* 26.

---

1. अथ भ्रामरी नाम कुम्भकं निरूप्यते –P,t1; अथ भ्रमरी नाम कुंभकं निरूप्यते-T, भ्रमरी – n3, अथ भ्रमरी –n4. 2. रेचकं -P,T,t1. 3. पूरकं -P,T,t1. 4. एवमभ्यास –P,T,t1. 5. काचिदानन्दमूर्च्छा -N,n1,n2,n3,n4,J,T,t1.

अथ मूर्च्छा[1] —

पूरकान्ते गाढतरं बद्ध्वा[2] जालन्धरं[3] शनैः ॥

रेचयेन्मूर्च्छनाख्योऽयं[4] मनोमूर्च्छा सुखप्रदा ॥ 27 ॥

atha mūrcchā —

pūrakānte gāḍhataraṃ baddhvā jālandharaṃ śanaiḥ //

recayenmūrcchanākhyo'yaṃ manomūrcchā sukhapradā //27 //

Tr. *jālandhara bandha* (chin lock) should be practised after the *pūraka* and thereafter one should exhale (while maintaining *jālandhara bandha*). This is *mano-mūrcchā,* which is very pleasing. 27.

अथ केवलः[5] —

रेचकं पूरकं मुक्त्वा सुखं[6] यद्वायुधारणम् ॥

प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै[7] केवलकुम्भकः[8] ॥ 28 ॥

atha kevalaḥ—

recakaṃ pūrakaṃ muktvā sukhaṃ yadvāyudhāraṇam //

prāṇāyāmo'yamityuktaḥ sa vai kevalakumbhakaḥ // 28 //

Tr. Retention of breath with great comfort, irrespective of inhalation or exhalation, is called *kevala-kumbhaka* which is real *prāṇāyāma* . 28.

Note: HP(ii.71) classifies *kumbhaka* into *sahita* and *kevala.* The eight varieties of *kumbhaka* described in HP belong to *sahita* category, in which the breath is retained after inhalation and followed by exhalation. *kevala kumbhaka* is an advanced stage of *sahita kumbhaka* and is attained irrespective of inhalation or exhalation. Thus *sahita* variety is voluntary, whereas *kevala* is involuntary.

In this verse, the *kevala kumbhaka* is included in the nine *kumbhakas* described by *śrīnivāsa.*

In GhS(v.84-91), the words *kevalī* and *kevala* seem synonymous and it is a voluntary type of *kumbhaka.* Attainment of

---

1. मूर्च्छा–n3. 2. बन्धो-J,P,n1,n3, बन्धा-n4. 3. जालन्धरः–N,J,t1. 4. मूर्च्छनाख्येयं–P, मूर्च्छनाख्ये च–T, मूर्च्छनाख्ये –t1. 5. केवलः-J,n3, अथ केवल कुंभकः-P,T. 6. मुखे-N,n1,n3,n4,J. 7. सर्वैः -n3,n4. 8. केवलकुम्भेण-n4.

kevala stage is an indication of high progress in *yoga,* where the mind gets absorbed completely. 28.

केवले[1] कुम्भके सिद्धे रेचपूरकवर्जिते[2] ॥
न तस्य दुर्लभं किञ्चित्[3] त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥ 29 ॥[4]

kevale kumbhake siddhe recapūrakavarjite //
na tasya durlabhaṃ kiñcit triṣu lokeṣu vidyate // 29 //

Tr. For the one who masters the *kevala-kumbhaka* without inhalation or exhalation, nothing remains unachievable for him in the three worlds. 29.

शक्तः केवलकुम्भेन[5] यथेष्टं वायुधारणम्[6] ॥
एतादृशो राजयोगो[7] कथितो नात्र संशयः ॥ 30 ॥

śaktaḥ kevalakumbhena yatheṣṭaṃ vāyudhāraṇam //
etādṛśo rājayogo kathito nātra saṃśayaḥ // 30 //

Tr. Through the technique of *kevala-kumbhaka*, one can easily hold the breath to one's desire. This is undoubtedly *rājayoga.* 30.

अथ भुजंगीकरणम्[8] —
कण्ठेन पूरयेद्वायुं रेचयेत्कण्ठनालतः ॥
भुजंगीकरणं चेति कुम्भकोऽयं नवमः[9] स्मृतः[10] ॥ 31 ॥ [11]

atha bhujaṅgīkaraṇam—
kaṇṭhena pūrayedvāyuṃ recayetkaṇṭhanālataḥ //
bhujaṅgīkaraṇaṃ ceti kumbhako'yaṃ navamaḥ smṛtaḥ //31 //

Tr. Inhale the air through the throat and exhale also through the throat. This is *bhujaṅgī-karaṇa*, the ninth *kumbhaka.* 31.

Note: *śrīnivāsa* enumerates *bhujaṅgīkaraṇa* as the ninth

---

1. केवलं–n3. 2. रेचपूरविवर्जिते-P,T,t1, वर्जितः-N,n1. 3. कश्चित्-T. 4. अनुपलब्धश्लोकः -n4. 5. केवले कुंभके-P, शक्तः केवलकुम्भेन–अनुपलब्धः–n4. 6. वायुधारणे-P,T. 7. राजयोगी-P,J,N,n1,n4. 8. अथ भुजंगी–J,N,n1,n2,n3,n4. 9. कुंभको नव-P,T, कुम्भको नवम–t1. 10. कुम्भकोऽयं नव स्मृतः-J,N,n1,n4, 11. इति कुम्भकः-N.

variety of *kumbhaka.* HP(J) calls *sītkārī kumbhaka* as *bhujaṅga-kumbhaka.* HY also refers to *bhujaṅgīkaraṇa. jayatarāma* calls it *bhuyaṅgama* in JP(chapter-v). The technique of *bhujaṅgīkaraṇa* seems to have some similarity with *bhujaṅginī mudrā* described by GhS in (iii.3,69) and *plāvinī kumbhaka* mentioned in HP-ii.70. 31.

महामुद्रा महाबन्धो महावेधस्तृतीयकः ॥
उड्डियानं मूलबन्धो[1] बन्धो जालन्धराभिधः [2] ॥ 32 ॥
करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम् ॥
सम्प्रदाया[3] खेचरी सा[4] दश मुद्राः प्रकीर्तिताः ॥ 33 ॥

mahāmudrā mahābandho mahāvedhastṛtīyakaḥ //
uḍḍiyānaṃ mūlabandho bandho jālandharābhidhaḥ // 32 //
karaṇī viparītākhyā vajrolī śakticālanaṃ //
sampradāyā khecarī sā daśa mudrāḥ prakīrtitāḥ // 33 //

Tr. The well-known ten traditional *mudrās* are: *mahāmudrā, mahābandha, mahāvedha, uḍḍiyāna, mūlabandha, jālandhara, viparītakaraṇī, vajrolī, śakti-cālana* and *khecarī.* 32-33.

Note: Different texts give different number of *mudrās.* GhS (iii.1-3) describes 25 *mudrās*, in which are also included the 10 *mudrās* mentioned here. The nature of the *mudrās* given by GhS is physical at one hand and psychological at the other. JP gives 24 *mudrās* which are different from the list of GhS. These are — *saṃ kṣobhaṇī, drāvaṇī, ākarṣaṇī, vaśyā, unmanī, mahāṅkuśā, trikhaṇḍā, virajā, vīparīta-karaṇa, mūlabandha, kāmarāja, uḍḍiyāna, jālandhara, mahāmudrā, mahābandha (pūrṇagirā), mahāvedha, khecarī, varaṇaka, sahajolī, ṣaṇmukhī, cācarī, bhūcarī, agocarī* and *unmanī.*

JP(603)suggests that *mahāmudrā, mahābandha* and *mahāvedha* are to be practised together. The description of *mahābandha* and *mahāvedha* is differently given.

---

1. महावंधो-N,J. 2. उड्डियानं मूलबन्धो जालन्धराभिधः-T,t1. 3. सन्ति या -P,T,t1.
4. मुद्रा-P,T,t1, अनुपलब्ध –N.

The place of *mahāmudrā* is said to be *yoni-sthāna*, that of *mahābandha* is *kantha-sthāna* and that of *mahāvedha* is *daśama-sthāna* (*brahma-randhra*). 32-33.

आदिनाथोदिता मुद्रा अष्टैश्वर्यप्रदायकाः[1] ||
वल्लभाः सर्वसिद्धानां दुर्लभा महतामपि[2] || 34 ||

ādināthoditā mudrā aṣṭaiśvaryapradāyakāḥ //
vallabhāḥ sarvasiddhānāṃ durlabhā mahatāmapi // 34 //

Tr. These *mudrās*, propagated by *ādinātha*, bestow upon one the eight supernatural powers and are highly respected by all the *siddhas*, but are difficult to be achieved even by the great. 34.

इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शम्भुना ||
एकैका तासु मुख्या स्यान्महासिद्धिप्रदायिनी || 35 ||

iti mudrā daśa proktā ādināthena śambhunā //
ekaikā tāsu mukhyā syānmahāsiddhipradāyinī // 35 //

Tr. This is the set of ten *mudrās* told by *ādinātha śambhu.* Each one of them is of great significance, which brings about great *siddhis* (supernatural powers). 35.

अथ महामुद्रा —
महामुद्रां प्रवक्ष्यामि वशिष्ठेनोक्तमादरात् || 36 ||

atha mahāmudrā—
mahāmudrāṃ pravakṣyāmi vaśiṣṭhenoktamādarāt // 36 //

Tr. With all respect, I now narrate *mahāmudrā,* as told by *vaśiṣṭha.* 36.

Note : The reference to *vaśiṣṭha* on *mahāmudrā* is not traceable.

The technique of *mahāmudrā* given here resembles the technique given in śś (iv.16-17).

---

1. प्रदायिकाः-P,T,t1. 2. त्रिदशामपि -P,T,t1; मरुतामपि –N,n1.

There are different traditions giving different techniques of *mahāmudrā.* The general technique of *mahāmudrā* consists of the combination of four different practices, namely, *siddhāsana, paścimatāna, kumbhaka* and application of *bandhas.* We find the following variations in different traditions:—

śivasaṃhitā tradition— It prescribes only *jālandhara-bandha* omitting both *uḍḍiyāna* and *mūla-bandha.* During *jālandharabandha* the *bhrūmadhya-dṛṣṭi* is not required.

gheraṇḍa saṃhitā tradition— In this tradition, *mūlabandha* and *uḍḍiyāna-bandha* do not form a part of *mahāmudrā* technique. It advises only *jālandhara-bandha* combined with *bhrūmadhya-dṛṣṭi* or gazing in between the eyebrows.

brahmānanda's tradition— *brahmānanda*, the commentator of HP, who is trained in a tradition different from that of *svātmārāma*, differs on two points. He wants big toe and not the foot to be caught hold of in the hooks of the index fingers and not in the finger lock. Secondly, he advises *jihvā-bandha* to be coupled with *kumbhaka* and not three *bandhas.*

haṭhapradīpikā tradition—The technique described by *svātmārāma* requires only two *bandhas*, namely *mūlabandha* and *jālandhara-bandha* during the practice of *mahāmudrā.* He omits *uḍḍiyāna-bandha.*

bālakṛṣṇa's tradition— While commenting upon *mahāmudrā, bālakṛṣṇa*, the commentator of HP, mentions another variety of the technique in which *mūlabandha* and *jālandhara-bandha* are hinted and the *vāyu* is to be held in the *brahmarandhra.* He suggests that after practising with *candra-nāḍī* (left nostril), it should be repeated with *sūrya-nāḍī* (right nostril).

mādhavīya tradition— In the *mādhavīya* tradition mentioned by Swāmī Kuvalyānanda, the extended leg is caught at the foot with finger-lock. Inhalation is done with sound by partial contraction of glottis as in *ujjāyī*. There is simultaneous practice of all the three *bandhas* namely *mūla, uḍḍiyāna* and *jālandhara* during *kumbhaka*.

A comparison of the various techniques prescribed by different traditions noted above will show that the *mādhavīya* tradition makes the practice of *mahāmudrā* most difficult. However, it is the most perfect of the lot. As a progression based on simple to difficult principle, the sequence of the practice of *mahāmudrā* may be mentioned as follows—1) ŚS tradition, 2) GhS tradition, 3) *brahmānanda's* tradition, 4) HP tradition, 5) *bālakṛṣṇa's* tradition and 6) *mādhavīya* tradition.

For detailed discussion on *mahāmudrā*, refer to YM (V-1:59-76).

In these techniques, the practice of *mahāmudrā* is to be repeated on both the sides – left and right, for equal number of times. This important point has not been mentioned here by *śrīnivāsa*. 36.

पादमूलेन वामेन योनिं सम्पीड्य दक्षिणम्[1] ॥
पादं प्रसारितं कृत्वा कराभ्यां पूरयेन्मुखम्[2] ॥
कण्ठे बन्धं[3] समारोप्य पूरयेद्वायुमूर्ध्वतः ॥ 37 ॥

pādamūlena vāmena yonim sampīdya dakṣiṇam //
pādam prasāritam kṛtvā karābhyām pūrayenmukham //
kaṇṭhe bandham samāropya pūrayedvāyumūrdhvataḥ // 37 //

Tr. Press the perineum with the left heel, extend the right leg and hold it with both the hands, inhale the air and apply *jālandhara bandha* and retain the air in the upper region. 37.

---

1. दक्षिणे-N,J,n1,n4. 2. पूरयेन्मुखे-P,T,t1. 3. वेधं -J.

यथा दण्डाहतः[1] सर्पो दण्डाकारः प्रजायते ॥
ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहजा[2] भवेत् ॥ 38 ॥
yathā daṇḍāhataḥ sarpo daṇḍākāraḥ prajāyate //
ṛjvībhūtā tathā śaktiḥ kuṇḍalī sahajā bhavet // 38 //

Tr. *kuṇḍalī śakti* becomes straight, just as a snake hit by a stick, becomes straight. 38.

तथा सा[3] मरणावस्था[4] जायते द्विपुटीस्थिता[5] ॥ 39 ॥
tathā sā maraṇāvasthā jāyate dvipuṭīsthitā // 39 //

Tr. This brings about the cessation of the functioning of the two *nāḍīs* (*iḍā* and *piṅgalā*). 39.

न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ॥
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते ॥ 40 ॥
na hi pathyamapathyaṃ vā rasāḥ sarve'pi nīrasāḥ //
api bhuktaṃ viṣaṃ ghoraṃ pīyūṣamiva jīryate // 40 //

Tr. For such a person, there is nothing like recommended or prohibited food. All that is tasteless becomes tasty. Even deadliest poison is digested like milk. 40.

क्षयकुष्ठगुदावर्त[6]गुल्माजीर्णपुरोगमाः[7] ॥
दोषाः सर्वे[8] क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत्[9] ॥ 41 ॥
kṣayakuṣṭhagudāvartagulmājīrṇapurogamāḥ //
doṣāḥ sarve kṣayaṃ yānti mahāmudrāṃ tu yo'bhyaset // 41 //

Tr. All the ailments like consumption, skin disease, constipation, glandular enlargement, indigestion and many others are cured by the practice of *mahāmudrā*. 41.

कथितेयं महामुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ॥
गोपनीया[10] प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥ 42 ॥

---

1. दण्डाकृतः-P,t1. 2. सहसा-P,T,n2,t1. 3. तदासौ-N,n1,n3,n4,J. 4. मरणावस्थां–n4. 5. हरते वियदास्थिताम्-N,n1,J, द्विपुटाश्रिता–n2, विपदास्थिताम्-n3,n4. 6. क्षयकुष्ठ उदावर्त -P. 7. गुल्मप्लीहपुरोगमाः-P; गुल्मौ प्लीहपुरोगमाः-T,t1, गुल्मजीर्णपुरोगमाः-J. 8. तस्य दोषां-T; तस्य दोषाः-P,t1. 9. यो न्यसेत्-P,T,t1. 10. गोपनीयं-T,t1.

kathiteyaṃ mahāmudrā jarāmṛtyuvināśinī //
gopanīyā prayatnena na deyā yasya kasyacit // 42 //

Tr. *mahāmudrā* removes old age and fear from death. Therefore, it should be carefully guarded and should not be imparted to all and sundry. 42.

अथ महाबन्धः[1] —
पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनि[2]स्थाने नियोजयेत् ॥
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ॥ 43 ॥ [3]

atha mahābandhaḥ —
parṣṇiṃ vāmasya pādasya yonisthāne niyojayet //
vāmorūpari saṃsthāpya dakṣiṇaṃ caraṇaṃ tathā // 43 //

Tr. Place the left heel at the perineum, and the right foot on the left thigh. 43.

पूरयेन्मुखतो[4] वायुं हृदये चिबुकं दृढम् ॥
निभृत्य योनिमाकुञ्च्य मनो मध्ये नियोजयेत् ॥
रेचयेच्च शनैरेवं महाबन्धोऽयमुच्यते ॥ 44 ॥

pūrayenmukhato vāyuṃ hṛdaye cibukaṃ dṛḍham //
nibhṛtya yonimākuñcya mano madhye niyojayet //
recayecca śanairevaṃ mahābandho'yamucyate // 44 //

Tr. Inhale through the mouth and firmly apply *jālandhara bandha.* Carefully contract the perineum (applying *mūlabandha*) and direct the mind towards the middle path (*suṣumnā)* and slowly exhale. This is *mahābandha.* 44.

---

1. महाबन्धः-n3. 2 योनिं–J.

3. पूरयित्वा मुखं वायुं हृदये चिबुकं तथा ॥
निष्पीड्य योनिमाकुञ्च्य मनो मध्ये नियोजयेत् ॥–अधिकः पाठः-N,n1,n4, पार्ष्णिवामेन योनिमाकुञ्च्य मनोमध्ये नियोजयेत्-n3,n4. 4. पूरितोन्मुखतो–n4, पूरयित्वा मुखं–J.

अयं योगो[1] महाबन्धस्सर्वसिद्धिप्रदायकः[2] ॥
सव्यांगे[3] च समभ्यस्य दक्षिणांगे समभ्यसेत् ॥ 45 ॥

ayaṃ yogo mahābandhassarvasiddhipradāyakaḥ //
savyāṅge ca samabhyasya dakṣiṇāṅge samabhyaset // 45 //

Tr. This technique of *mahābandha* bestows upon one all the *siddhis* (supernatural powers). This should be practised first on the left and then on the right. 45.

अयं च सर्वनाडीनामूर्ध्व[4]गतिविबोधकः ॥
त्रिवेणीसंगमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः[5] ॥ 46 ॥

ayaṃ ca sarvanāḍīnāmūrdhvagativibodhakaḥ //
triveṇīsaṅgamaṃ dhatte kedāraṃ prāpayenmanaḥ // 46 //

Tr. This promotes all the currents of *nāḍīs* moving in upward direction, brings about the confluence of the three *nāḍīs* (*iḍā, piṅgalā* and *suṣumnā*) and fixes the mind between the eye-brows (*kedāra*). 46.

Note: The expression '*trīveṇī saṅgama*' indicates the confluence of the three rivers, i.e., *gaṅgā, yamunā* and *sarasvatī.* This analogy is implied here in case of confluence of *iḍā, piṇgalā* and *suṣumnā.* The place of confluence here is called *kedāra*, which is the center of the eyebrows. 46.

रूपलावण्यसम्पन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना ॥
महामुद्रामहाबन्धौ[6] निष्फलौ[7] वेधवर्जितौ[8] ॥ 47 ॥

rūpalāvaṇyasampannā yathā strī puruṣaṃ vinā //
mahāmudrāmahābandhau niṣphalau vedhavarjitau // 47 //

Tr. Just as a woman with beauty serves no purpose without a man, similarly, *mahāmudrā* and *mahābandha* are futile without the practice of *vedha* (*mahāvedha*). 47.

---

1. योगी -P,T,t1. 2. महाबंधं सर्वसिद्धिप्रदायकं-P,n2,T,t1. 3. सर्वांगे-T.4.मूर्ध्व ँ-T,t1. 5. प्रापयेत्पुनः-N,n1,n3. 6. महाबन्धो–P,t1. 7. निष्फला-T,t1, निषरौ–n4.8. वेधवर्जिता-T,t1.

अथ महावेधः[1]—

महाबन्धस्थितो[2] योगी कृत्वा पूरकमेकधीः[3] ॥
वायूनां गतिमाकृष्य निभृतं कण्ठमुद्रया ॥ 48 ॥

atha mahāvedhaḥ—

mahābandhasthito yogī kṛtvā pūrakamekadhīḥ //
vāyūnāṃ gatimākṛṣya nibhṛtaṃ kaṇṭhamudrayā // 48 //

Tr. Having adopted *mahābandha*, a *yogī* should carefully inhale the air and apply *jālandhara bandha*. 48.

अष्टधा क्रियते चैतत् यामे यामे दिने दिने ॥
पुण्यसंघात[4]सन्धायी[5] पापौघभिदुरः[6] सदा ॥ 49 ॥

aṣṭadhā kriyate caitat yāme yāme dine dine //
puṇyasaṅghātasandhāyī pāpaughabhiduraḥ sadā // 49 //

Tr. If it is practised eight times a day every three hours (*yāma* = 3 hours), it helps accumulating merits and destroys multitude of sins. 49.

सम्यक् श्रद्धावतामेव सुखं प्रथमसाधने ॥
वह्निस्त्रीपथसेवां च प्रथमं परिवर्जयेत्[7] ॥ 50 ॥

samyak śraddhāvatāmeva sukhaṃ prathamasādhane //
vahnistrīpathasevāṃ ca prathamaṃ parivarjayet // 50 //

Tr. Even for those who are devoted should avoid in the beginning contact with fire, woman and taking long walk, which is beneficial. 50.

समहस्तयुगो[8] भूमौ स्फिचौ[9] सन्ताडयेच्छनैः[10] ॥
अयमेव महावेधः सिद्धिदोऽभ्यासतो[11] भवेत् ॥ 51 ॥

samahastayugo bhūmau sphicau santāḍayecchanaiḥ //
ayameva mahāvedhaḥ siddhido'bhyāsato bhavet // 51 //

---

1. अथ महाबन्धः-n2, महावेधः-n3. 2. महावेधस्थितो-J. 3. पूरकमेकधा-N,n1,n3,n4,J. 4. सन्धान-N,J. 5. सन्ध्यायां-N,n1,n4,J. 6. पापौघभिदुरं-P,T,t1. 7. वह्निस्त्रीपथसेवानामादौ वर्जनमादिशेत्-P,T,t1. 8. समहस्तयुगौ–P,T,t1. 9. स्फितौ-T; स्फिजौ-P,t1; स्फिवोति-J. 10. ताडयेच्छनैः-N,J. 11. सिद्धिदोऽभ्यासदो-P, सिद्धिदाभ्यासतो–J.

Tr. Firmly placing the palms on the ground, one carefully strikes the floor with the posteriors. This is *mahāvedha*, which is accomplished by practice. 51.

एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम्[1] ॥
वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम् ॥ 52 ॥
etattrayaṃ mahāguhyaṃ jarāmṛtyuvināśanam //
vahnivṛddhikaraṃ caiva hyaṇimādiguṇapradam // 52 //

Tr. This secret triad alleviates old age and fear of death, stimulates gastric fire and offers the supernatural powers like *aṇimā* etc. 52.

अथोड्यानबन्धः[2]—

बद्धो[3] येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डियते यतः ॥
तस्मादुड्डियानाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ॥ 53 ॥[4]

athoḍyānabandhaḥ—

baddho yena suṣumnāyāṃ prāṇastūḍḍiyate yataḥ //
tasmāduḍḍiyānākhyo'yaṃ yogibhiḥ samudāhṛtaḥ // 53 //

Tr. The lock confined to *suṣumnā* which causes the *prāṇa* to rise upwards is called *uḍḍiyāna* by the *yogīs.* 53.

उड्डीनं[5] कुरुते यस्मादविश्रान्तं[6] महाखगः ॥
उड्डियानं तदेव स्यात् तत्र बन्धोऽभिधीयते[7] ॥ 54 ॥[8]
uḍḍīnaṃ kurute yasmādaviśrāntaṃ mahākhagaḥ //
uḍḍiyānaṃ tadeva syāt tatra bandho'bhidhīyate // 54 //

Tr. The practice which takes the great bird (*prāṇa*) always moving upwards incessantly, is called *uḍḍiyāna* , which is explained as under. 54.

Note: This verse has been obviously taken from HP (iii.55), where we get the reading '*tatra bandho'bhidhīyate*' instead of '*mūlabandho'bhidhīyate*'. The same reading is found in DBU-76, VU-v.7, which being appropriate, has been accepted here. 54.

1. विनाशकम् -n4. 2. अथ उड्डियानबन्धो निरुप्यते-P,T. 3. बद्ध्वा-P,T,t1,J.
4. अनुपलब्धपंक्तिः-P,T,t1. 5. उड्याणं-P,T,t1, उड्डिनं-n4. 6. अविश्रान्तो–T,t1.
7. मूलबन्धोऽभिधीयते –N,J,P,T, तस्मादुड्डियानं बन्धं –n2, उड्डियानबन्धः-n3.
8. अनुपलब्धपंक्तिः-P,T,t1.

उदरे पश्चिमं तानं[1] नाभेरूर्ध्वं च धारयेत् ॥
उड्डियानो ह्यसौ[2] बन्धो मृत्युमातंगकेसरी ॥ 55 ॥
udare paścimaṃ tānaṃ nābherūrdhvaṃ ca dhārayet //
uḍḍiyāno hyasau bandho mṛtyumātaṅgakesarī // 55 //

Tr. Pull the abdominal wall above the navel towards the back. This is *uḍḍiyāna-bandha,* which removes fear of death, like a lion killing an elephant. 55.

गुरुणा सहजं प्रोक्तं वृद्धोऽपि तरुणो भवेत् ॥
बाह्योड्याणं च कुरुते बाह्यालंकारवर्धनम् ॥ 56 ॥[3]
guruṇā sahajaṃ proktaṃ vṛddho'pi taruṇo bhavet //
bāhyoḍyāṇaṃ ca kurute bāhyālaṅkāravardhanam // 56 //

Tr. As a result of diligent practice of *uḍḍiyāna*, as per the instruction of the *guru*, even an old person becomes young. This is called *bāhyoḍyāṇa*, which enhances the external beauty. 56.

नाभेरूर्ध्वमधो वापि तानं कुर्यात् प्रयत्नतः ॥[4]
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥ 57 ॥
nābherūrdhvamadho vāpi tānaṃ kuryāt prayatnataḥ //
ṣaṇmāsamabhyasenmṛtyuṃ jayatyeva na saṃśayaḥ // 57 //

Tr. Effortfully contract (the abdomen) above and below the navel. Thus, in six months, one undoubtedly overcomes (premature) death. 57.

Note: *uḍḍiyāna* is an exercise of the diaphragm and the ribs. It is practised either in sitting or standing positions. There is no mention about the phase of respirations, but the term *'bāhyoḍyāna'* suggests that it is done under exhalatory condition. However, when *uḍḍiyāna* is practised with *prāṇāyāma*, it is done under inhalatory condition. The anatomico-physiological mechanism differs in these two techniques. For detailed scientific investigation on exhalatory type of *uḍḍiyāna*, refer to YM (vol. 1,2,3,6 & 8). 57.

---

1. ताणं–P,t1. 2. ह्ययं -P,T,t1. 3. अन्यश्लोकः उपलब्धः-
उड्डियानं च सहजं गुरुणा कथितं यथा ॥
अभ्यसेत्तदतन्द्रस्तु वृद्धोऽपि तरुणो भवेत् ॥ -J,N,n1,n3,n4. 4. अनुपलब्धपंक्तिः-P,T,t1,n1,n2.

अथ मूलबन्धः —

पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद् गुदम् ॥
अपानमूर्ध्वमाकुञ्च्य[1] मूलबन्धोऽयमुच्यते[2] ॥ 58 ॥

atha mūlabandhaḥ —

pārṣṇibhāgena sampīḍya yonimākuñcayed gudam //
apānamūrdhvamākuñcya mūlabandho'yamucyate // 58 //

Tr. Press the perineum with the heel, contract the anal sphincters and pull the *apāna vāyu* upwards. This is *mūlabandha.* 58.

अधोगतिमपानं वै ऊर्ध्वगं[3] कुरुते बलात् ॥
आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धं हि योगिनः ॥ 59 ॥[4]

adhogatimapānaṃ vai ūrdhvagaṃ kurute balāt //
ākuñcanena taṃ prāhurmūlabandhaṃ hi yoginaḥ // 59 //

Tr. *apāna*, which has a downward movement, is forcefully raised upwards by contraction. *yogīs* call this *mūlabandha.* 59.

गुदं पार्ष्ण्या च सम्पीड्य[5] वायुमाकुञ्चयेद् बलात् ॥
वारं वार्ं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ॥ 60 ॥[6]

gudaṃ pārṣṇyā ca sampīḍya vāyumākuñcayed balāt //
vāraṃ vāraṃ yathā cordhvaṃ samāyāti samīraṇaḥ // 60 //

Tr. Press the anus with the heel and forcefully contract *apāna vāyu* repeatedly, so that the *vāyu* moves upwards. 60.

प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम् ॥
गतौ तदा योगसिद्धिं[7] प्राप्नोत्येव न संशयः[8] ॥ 61 ॥

prāṇāpānau nādabindū mūlabandhena caikatām //
gatau tadā yogasiddhiṃ prāpnotyeva na saṃśayaḥ // 61 //

Tr. Thus, with the practice of *mūlabandha, prāṇa* and *apāna, nāda* and *bindu* are united. Then one certainly attains success in *yoga.* 61.

---

1. अपानवृत्तिमाकृष्य-P,T,t1, अपानमूर्ध्वमाकृष्य–J,n4. 2. मूलबन्धोऽयमिष्यते-P,T,t1. 3. मूर्ध्वगं –n4. 4. श्लोकअनुपलब्धः-T,t1. 5. पार्ष्णिना गुदमापीड्य–n3. 6 अनुपलब्धपंक्तिः -P,T,t1. 7. गत्वा योगस्य संसिद्धिं –n4. 8. ततो योगस्य संसिद्धि यच्छतां नात्र संशयः-T, t1,P.

अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः ||
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् || 62 ||
apānaprāṇayoraikyaṃ kṣayo mūtrapurīṣayoḥ //
yuvā bhavati vṛddho'pi satataṃ mūlabandhanāt // 62 //

Tr. As a result of consistent practice of *mūlabandha, apāna* and *prāṇa* are unified, urine and faeces are reduced and even an old person becomes young. 62.

अपाने चोर्ध्वगे[1] जाते प्रयाते वह्निमण्डले ||
तथानलशिखादीप्ति[2]र्वायुना प्रेरिता यथा[3] || 63 ||[4]
apāne cordhvage jāte prayāte vahnimaṇḍale //
tathānalaśikhādīptirvāyunā preritā yathā // 63 //

Tr. When *apāna* rises up and reaches the region of fire (navel region), the flame of the fire blazes forth, being fanned by *vāyu*. 63.

Note: *vahnimaṇḍala* refers to the navel region and *analaśikhā* refers to *jaṭharāgni* or gastric fire. 63.

यातायातौ वह्न्यपानौ[5] मूलरूपस्वरूपकौ ||
तेनाभ्यन्तः प्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा || 64 ||[6]
yātāyātau vahnyapānau mūlarūpasvarūpakau //
tenābhyantaḥ pradīptastu jvalano dehajastathā // 64 //

Tr. Then the fire and *apāna* take their original form, which intensify the bodily fire. 64.

[7]दण्डाहता[8] भुजंगीव निश्चितं[9] ऋजुतामियात्[10] ||
बिलं प्रविष्टेव[11] ततो[12] ब्रह्मनाड्यन्तरं[13] व्रजेत् ||
तस्मान्नित्यं[14] मूलबन्धः कर्तव्यो योगिभिः सदा || 65 ||[15]

1. चोर्ध्वगं–P,n1,n2,n4. 2. दीप्ता-P. 3. तथा–N,n1,n2. 4 . श्लोकअनुपलब्धः-T,t1. 5. बाह्यपानौ–J,N,n4. 6 . श्लोकअनुपलब्धः- T,P,t1. 7. तेन कुण्डलिनी सुप्ता सन्तप्ता सम्प्रबुध्यते–J,N,n1,n2,n3,n4. 8. दण्डाहतो –T,t1. 9 . निश्वस्य-T,P,t1. 10 . ऋजुतां व्रजेत्-T,P,t1. 11 . प्रविश्य -T,P. 12 . तत्रैव-T,P. 13 . भुजंगी नान्तरं-T,P,t1, ब्रह्मनाड्यन्तरे–n4. 14. तस्मादयं –n3. 15 . अनुपलब्धपंक्तिः-T,P,t1.

daṇḍāhatā bhujaṅgīva niścitaṃ ṛjutāmiyāt //
bilaṃ praviṣṭeva tato brahmanāḍyantaraṃ vrajet //
tasmānnityaṃ mūlabandhaḥ kartavyo yogibhiḥ sadā // 65 //

Tr. Thus, *kuṇḍalinī* certainly becomes straight, like a snake beaten by a stick, and enters the *brahmarandhra* (*suṣumnā*). Therefore, the *yogīs* should always practise *mūlabandha*. 65.

Note: These verses give a rationale of arousal of *kuṇḍalinī* by the practice of *mūlabandha*. 64-65.

अथ जालन्धरः[1]**—**
कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम्[2] **॥**
बन्धो जालन्धराख्योऽयं[3] **जरामृत्युविनाशकः**[4] **॥**
बध्नाति हि शिराजालं[5] **नाधो याति नभोजलम्** * **॥ 66 ॥**

atha jālandharaḥ—
kaṇṭhamākuñcya hṛdaye sthāpayeccibukaṃ dṛḍham //
bandho jālandharākhyo'yaṃ jarāmṛtyuvināśakaḥ //
badhnāti hi śirājālaṃ nādho yāti nabhojalam // 66 //

Tr. Contract the throat and press the chin against the chest. This is *jālandhara bandha*, which removes old age and premature death. Moreover, it ties up the nervous network, which restricts the downward flow of the nectar oozing from the space. 66.

ततो जालन्धरो बन्धः कण्ठसंकोचने कृते ॥ [6]
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति * **॥ 67 ॥**

tato jālandharo bandhaḥ kaṇṭhasaṅkocane kṛte //
na pīyūṣaṃ patatyagnau na ca vāyuḥ prakupyati // 67 //

Tr. *jālandhara bandha* adopted by contracting the throat does not allow the nectar to fall into the fire and *vāyu* does not go astray. 67.

---

1. अथ जालन्धरबन्धः -n2, जालन्धरबन्धः -n3. 2. स्थापयेद् दृढमिच्छया -P,T,t1. 3. जालन्धरस्त्वेष-P,T,t1, जालन्धराख्यो य–J. 4. विद्यते येन मारुतः-P,T,t1. 5. शिराज्वालं –J. शिरोजालं–n4. 6. बध्नाति .... कृते -अनुपलब्ध-P,T,n2. * अनुपलब्धपंक्तिः -t1.

Note: The word *jāla* refers to the network of the nerves going through the neck into the brain and *dhara* denotes holding back the nectar by working upon the brain. The purpose of *jālandhara* during *prāṇāyāma* is to exercise considerable pressure on the carotid sinus leading to the stimulation of the carotid nerves, which slow down the heart and with constant practice, a trance like condition may supervene. *jālandhara bandha* is not only practised during *kumbhaka*, but also during *recaka* in *mūrcchā prāṇāyāma,* bringing about stupor. This technique also indicates the principle of *viparītakaraṇī* involved in it. 66-67.

बन्धत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितम् ||[1]
सर्वेषां योगतन्त्राणां साधनं योगिनो विदुः || 68 || *

bandhatrayamidaṃ śreṣṭhaṃ mahāsiddhaiśca sevitam //
sarveṣāṃ yogatantrāṇāṃ sādhanaṃ yogino viduḥ // 68 //

Tr. The set of three *bandhas* is of great importance in all the *yogic* treatises and is even practised by the eminent *siddhas.* 68.

अधस्तात्कुञ्चनेनाशु कण्ठसंकोचने कृते ||[2]
मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः[3] || 69 || *

adhastātkuñcanenāśu kaṇṭhasaṅkocane kṛte //
madhye paścimatānena syāt prāṇo brahmanāḍigaḥ // 69 //

Tr. Firmly contract the lower region (apply *mūlabandha*), contract the throat (apply *jālandhara bandha*) and retract in the middle (apply *uḍḍiyāna bandha*). Thus, *prāṇa* moves in the *brahmanāḍī.* 69.

Note : This verse indicates the application of three *bandhas*, namely, *mūlabandha, jālandhara bandha* and *uḍḍiyāna bandha*, which are practised simultaneously. 69.

---

1. न पीयूषं .... सेवितम् -अनुपलब्धः-P,T. 2. सर्वेषां ....कृते - अनुपलब्धः P,T. 3. मध्ये नाडिगः -n4. * अनुपलब्धश्लोकः -t1.

मूलस्थानं समाकुञ्च्य उड्डियानं तु कारयेत् ॥ [1]
इडां च पिंगलां बद्ध्वा वाहयेत् पश्चिमं पथम् ॥ 70 ॥[2]

mūlasthānaṃ samākuñcya uḍḍiyānaṃ tu kārayet //
iḍāṃ ca piṅgalāṃ baddhvā vāhayet paścimaṃ patham //70 //

Tr. Adopt *mūlabandha* and practise *uḍḍiyāna.* This closing of *iḍā* and *piṅgalā* directs the *prāṇa* into the posterior path (*suṣumnā*). 70.

अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनो लयम् ॥
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ॥ 71 ॥ [3]

anenaiva vidhānena prayāti pavano layam //
tato na jāyate mṛtyurjarārogādikaṃ tathā // 71 //

Tr. Adherence to such techniques alone merges the *pavana* into the *laya* state, which retards untimely death, diseases and old age etc. 71.

अथ विपरीतकरणी[4] —

यत्किञ्चित् स्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपि च[5] ॥
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डं[6] विनाशि च[7] ॥ 72 ॥

atha viparītakaraṇī —
yatkiñcit sravate candrādamṛtaṃ divyarūpi ca //
tatsarvaṃ grasate sūryastena piṇḍaṃ vināśi ca // 72 //

Tr. Whatever divine ambrosia is secreted from the moon, all of that is devoured by the sun. That is why the human body decays. 72.

तत्रास्ति दिव्यं करणं सूर्यस्य मुखबन्धनम् ॥
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः[8] ॥ 73 ॥

tatrāsti divyaṃ karaṇaṃ sūryasya mukhabandhanam //
gurūpadeśato jñeyaṃ na tu śāstrārthakoṭibhiḥ // 73 //

---

1. मध्ये ...कारयेत् . . अनुपलब्धः-P,T. 2. अनुपलब्धपंक्तिः-P,T,t1.
3. श्लोकअनुपलब्धः- 'कंठ संकोचनेनैव द्वि नाड्या भवति ध्रुवम् / सर्वेषां योगतन्त्राणां कर्तव्यं च मुहुर्मुहुः // अधिकपाठः-P,T,t1. 4. विपरीतकरणी –n3. 5. दिव्यरूपिणः-P,T,t1. 6. बन्धं-P,T,t1. 7. जरायुतं -P,T,t1, विनश्यति-n3. 8. शास्त्रार्धकोटिभिः-P.

Tr. There is a special way to seal the mouth of the sun, which can only be learnt from a *guru* and not by going through millions of scriptures. 73.

ऊर्ध्वं नाभिरधस्तालुरूर्ध्वं भानुरधः शशी ॥
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ॥ 74 ॥[1]
ūrdhvaṃ nābhiradhastālurūrdhvaṃ bhānuradhaḥ śaśī //
karaṇī viparītākhyā guruvākyena labhyate // 74 //

Tr. The technique which puts the navel up and palate down, that is, the sun up and the moon down, is called *viparītakaraṇī,* which can be learnt from a *guru.* 74.

करणी विपरीताख्या सर्वव्याधिविनाशिनी ॥
नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्धिनी[2] ॥ 75 ॥[3]
karaṇī viparītākhyā sarvavyādhivināśinī //
nityamabhyāsayuktasya jaṭharāgnivivardhinī // 75 //

Tr. A daily practice of *viparītakaraṇī* alleviates all the diseases and stimulates gastric fire 75.

आहारो बहुलस्तस्य सम्पाद्यः साधकेन[4] वै[5] ॥
अल्पाहारो यदि भवेद्देहमग्निर्दहेत्[6] क्रमात्[7] ॥ 76 ॥[8]
āhāro bahulastasya sampādyaḥ sādhakena vai //
alpāhāro yadi bhaveddehamagnirdahet kramāt // 76 //

Tr. Such a practitioner should consume adequate amount of food or else due to inadequate consumption of food, the body will gradually be consumed by the fire. 76.

अधःशिरश्चोर्ध्वपादौ[9] क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ॥
क्षणाच्च[10] किञ्चिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने ॥ 77 ॥[11]

1.पत्रमनुपलब्धम्-N, अनुपलब्धश्लोकः -n3. 2.प्रवर्धिनी-P,T. 3.पत्रमनुपलब्धम् -N. 4.साधकस्य-P,T,t1. 5.च-P,T,t1. 6.भवेदग्निर्देहं दहेत्-P,T. 7.क्षणात्-P,T,t1,n3. 8.पत्रमनुपलब्धम्-N. 9.शिरा ऊर्ध्वपादः-P,T,t1. 10.क्षणाच्चेत्-P,T. 11. पत्रमनुपलब्धम्-N.

adhaḥ śiraścordhvapādau kṣaṇaṃ syāt prathame dine //
kṣaṇācca kiñcidadhikamabhyasecca dine dine // 77 //

Tr. On the first day, one should remain in the topsy-turvy position for a short while. Each day one should maintain the posture longer, increasing the time little by little. 77.

वलितं[1] पलितं चैव षण्मासान्न तु[2] दृश्यते ॥
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत् स तु कालजित् ॥ 78 ॥[3]

valitaṃ palitaṃ caiva ṣaṇmāsānna tu dṛśyate //
yāmamātraṃ tu yo nityamabhyaset sa tu kālajit // 78 //

Tr. In six months, grey hair and wrinkles disappear. A daily practice of three hours retards premature death. 78.

स्वस्थं यो वर्तमानोऽपि[4] योगोक्तैर्नियमैर्विना ॥
करणी विपरीताख्या श्रीनिवासेन लक्षिता ॥ 79 ॥ [5]

svasthaṃ yo vartamāno"pi yogoktairniyamairvinā //
karaṇī viparītākhyā śrīnivāsena lakṣitā // 79 //

Tr. *viparītakaraṇī* has been propagated by *śrīnivāsa*, which can be taken up by the healthy person without adhering to *yogic* injunctions. 79.

Note: *viparītakaraṇī* is not only a technique, but also an important concept in *haṭhayoga.* This is involved in different *yogic* practices like *jālandhara, khecarī* and *jihvābandha. pratyāhāra* is considered as *viparītakaraṇī* in GŚ (59), which emphasizes on the reversal process. The rationale of reversal of *sūrya* at the navel and *candra* at the root of the palate, leading to the protection of oozing nectar from the moon, is not yet properly understood in terms of modern concept of anatomy and physiology.

The technique of *viparītakaraṇī* is extended to any pose which has its head down and pelvic region raised up, such as

---

1. वली च-P,T,t1. 2. षण्मासोर्ध्वं न-P,T,t1. 3. पत्रमनुपलब्धम्-N. 4. परस्वदेववर्त्तमाने- n1,n2,n3,n4 . 5. पत्रमनुपलब्धम् -N.

śīrṣāsana and *sarvāṅgāsana.* KKHP describes the technique of *viparītakaraṇī* as upside down position of the body in which one is advised to swallow the air by mouth and expel it through the anus. 79.

अथ वज्रोली[1]—
वज्रोलीं कथयिष्यामि गोपितां सर्वयोगिभिः ॥
अतीव तद्रहस्यं हि न देयं[2] यस्य कस्यचित् ॥ 80 ॥[3]

atha vajrolī —
vajrolīṃ kathayiṣyāmi gopitāṃ sarvayogibhiḥ //
atīva tadrahasyaṃ hi na deyaṃ yasya kasyacit // 80 //

Tr. I shall explain the technique of *vajrolī,* which has been kept secret by all the *yogīs.* This has to be highly guarded and should not be imparted to anybody. 80.

स्वमानैस्तु[4] समो यस्मात् तस्यैव कथयेद् ध्रुवम् ॥
पुत्रस्यापि न दातव्यं[5] गुरुशिष्यक्रमं विना ॥ 81 ॥[6]

svamānaistu samo yasmāt tasyaiva kathayed dhruvam //
putrasyāpi na dātavyaṃ guruśiṣyakramaṃ vinā // 81 //

Tr. This should be imparted only to the one who is equally meritorious. Without following the tradition of *guru-śiṣya,* this should not be taught even to the son. 81.

कुण्डलीबोधनं सम्यक् नाडीनां परिशोधनम्[7] ॥
अपानप्राणयोरैक्यं कार्यं वज्रोलिकर्मणा ॥ 82 ॥

kuṇḍalībodhanaṃ samyak nāḍīnāṃ pariśodhanam //
apānaprāṇayoraikyaṃ kāryaṃ vajrolikarmaṇā // 82 //

Tr. *vajrolī* awakens *kuṇḍalī,* thoroughly cleanses the *nāḍīs* and unifies *apāna* and *prāṇa.* 82.

---

1. अथ वज्रोलिः सम्प्रदायानुरोधेन लक्ष्यते–P,t1. अथ वज्रोलिः सम्प्रदायानुसारेण लक्ष्यते-T, वज्रोली –n3. 2. देया-P.T,t1,n1,n4. 3. पत्रमनुपलब्धम्-N. 4. स्वप्राणैस्तु-P,T,t1,n3,n4. 5. दातव्या-P,T,t1. 6. पत्रमनुपलब्धम्-N. 7. परशोधनम्-P,T.

अभ्यासस्य क्रमं वक्ष्ये सम्प्रदायानुसारतः ॥
कामिनी[1] वा नरो वाथ वज्रोलीं बुद्धिमान्नयेत्[2] ॥ 83 ॥

abhyāsasya kramaṃ vakṣye sampradāyānusārataḥ //
kāminī vā naro vātha vajrolīṃ buddhimānnayet // 83 //

Tr. I shall explain the order of the practice according to the tradition, which should be followed by a wise, whether young woman or man. 83.

फूत्कारोचितं लिंगं रन्ध्राग्रे[3] बहिः स्थाप्यमेकं लिंगरन्ध्रमध्ये[4] स्थाप्यमपरं[5] मिलित्वा नाल[6]द्वयनिरूपणमादौ क्रियते ॥ तयोर्मध्ये फूत्कारो[7]चितं नालस्वरूपं प्रदर्श्यते ॥

phūtkārocitaṃ liṅgaṃ randhrāgre bahiḥ sthāpyamekaṃ liṅgarandhramadhye sthāpyamaparaṃ militvā nāladvayanirūpaṇamādau kriyate // tayormadhye phūtkārocitaṃ nālasvarūpaṃ pradarśyate //

Tr. One hollow tube should be placed in front of the glans penis and the other one should be inserted in the urethra in such a manner that both the ends of the tube meet. The particulars of the tube suitable for blowing are as follows:

काञ्चनेस्य च रूपस्य[8] ताम्रस्याप्यथवाऽयसः ॥
नालं[9] कुर्यात्प्रयत्नेन फुत्कारकरणोचितम्[10] ॥ 84 ॥

kāñcanasya ca rūpasya tāmrasyāpyathavā'yasaḥ //
nālaṃ kuryātprayatnena phutkārakaraṇocitam // 84 //

Tr. A hollow tube of gold, silver, copper or iron should be carefully made suitable for blowing. 84.

विंशत्यंगुलदीर्घमानरुचिरं त्वादौ सुवृत्ताल्पगम्
फूत्कारोचितकालरूपसदृशं[11] नालं हठाभ्यासिभिः ॥
प्रोक्तं तादृशमेव लिंगविवरे यत्नेन संस्थापयेत्
फूत्कारं[12] तदनन्तरं प्रकुरुतां[13] वायुर्यथा सञ्चरेत् ॥ 85 ॥

---

1. कामिनीव–N. 2. बुद्धिमांश्चरेत्-J. 3. पूत्कारोचितलिंगरन्ध्राग्रे–P,T,t1. 4. मध्य–P,T,t1. 5. स्थाप्यमानमपरं–P. 6. नाली–T,t1. 7. पूत्कारो-t1. 8. रौप्यस्य–P, रूप्यस्य–T. 9. नालीं –P,T,t1. 10. पूत्कारकरणोचिताम्-P,T,t1. 11. पूत्कारोचित कोलरूपसदृशं-P,T,t1. 12. पूत्कारं–P,T,t1. 13. प्रकुरुते-P,T,t1.

viṃśatyaṅguladīrghamānaruciraṃ tvādau suvṛttālpagam
phūtkārocitakālarūpasadṛśaṃ nālaṃ haṭhābhyāsibhiḥ //
proktaṃ tādṛśamevaliṅgavivare yatnena saṃsthāpayet
phūtkāraṃ tadanantaraṃ prakurutāṃ vāyuryathā sañcaret/85/

Tr. The *haṭha* practitioners should select the tube which is twenty digits in length, smooth, fine, small and rounded at one end, which is suitable for blowing the air forcibly after the hissing of a cobra. Such a tube should be cautiously inserted into the genital. Then one should blow through the tube so that the air enters in. 85.

हठप्रदीपिकाकारस्तु—
यत्नतः शरनालेन फूत्कारं[1] वज्रकन्धरे ॥
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसञ्चारकारणात् ॥ 86 ॥

haṭhapradīpikākārastu—
yatnataḥ śaranālena phūtkāraṃ vajrakandhare //
śanaiḥ śanaiḥ prakurvīta vāyusañcārakāraṇāt // 86 //

According to the author of *haṭhapradīpikā* —

Tr. One should effortfully and slowly blow through the tube into the urethra so that the air enters in. 86.

हठप्रदीपिकाकारमतं[2] हठयोगाभ्यासे[3]ऽज्ञानविलसितमित्युपेक्षणीयम् ॥
haṭhapradīpikākāramataṃ haṭhayogābhyāse'jñānavila - sitamityupekṣaṇīyam //

Tr. The opinion of the author of *haṭhapradīpikā* should be discarded like the utterance of an ignorant person.

यदि स्याच्छरनाले[4] हि भृशं वायुर्न सञ्चरेत् ॥
वायुसञ्चारणे त्याज्ये[5] शरनालादिकं[6] मतम् ॥ 87 ॥
yadi syāccharanāle hi bhṛśaṃ vāyur na sañcaret //
vāyusañcāraṇābhyāse śaranālādikaṃ matam // 87 //

---

1. पूत्कारं–P,T,t1. 2. हठप्रदीपिकाकारोक्तमतं–P,T. 3. हठयोगांगाभ्यासे–P. 4. स्याच्छरनालं-P. 5. वायुसञ्चारणात्त्याज्यं-T,t1; वायुसञ्चारणाभ्यासार्थ-N,n1,n2,n3,n4; वायुसञ्चारणाभ्यासे–N,n1,n2,n3,n4,J,T,t1. 6. शरं नालोदितं–P, शरनालोदितं मतं–T,t1.

Tr. Since the passing of air is desirable and if the air does not pass sufficiently through the *śaranāla* (reed stalk), then the use of a reed stalk should be avoided. 87.

Note: The criticism of *śrīnivāsa* about the ignorance regarding *haṭhayoga* practice of *vajrolī* using *śaranāla* seems to be unwarranted. Although the word *śaranāla* occurs in some of the MSS of HP, there are also other copies in which we find the term *śastanāla.* The term *śastanāla* means appropriate tube, which is accepted also by *śrīnivāsa.* The main purpose of *śaranāla* is to widen the passage of urethra so that the air blown into it could pass through easily. Although the tubes made up of different metals like gold, silver, copper and iron, as suggested by *śrīnivāsa,* are convenient for blowing the air through them, for *yogīs* who were living in isolated places, had to depend on the natural sources. The *śaranāla* could be easily available on the banks of the rivers. 87.

लिंगरन्ध्रमध्ये[1] स्थापनीयनालस्वरूपं लिंगरन्ध्रविस्तारार्थं निरूप्यते ||

liṅgarandhramadhye sthāpanīyanālasvarūpaṃ liṅgarandhra-vistārārthaṃ nirūpyate //

Tr. A tube is inserted in the genital to expand the urethra, details of which are as follows:

तन्तुवत्[2] कनकं नालं[3] नागं[4] ताम्रातिनिर्मलम् ||
नालद्रव्यमिदं प्रोक्तं श्रीनिवासेन योगिना || 88 ||

tantuvat kanakaṃ nālaṃ nāgaṃ tāmrātinirmalam //
nāladravyamidaṃ proktaṃ śrīnivāsena yoginā // 88 //

Tr. According to *yogī śrīnivāsa*, the materials ideally required for the tube should be very fine, the purest form of gold, lead or copper. 88.

1.लिंगमध्यरन्ध्रं -J, लिंगरन्ध्रमध्य –P,T,t1,n3,n4. 2. जतुवत्-T,t1,P. 3.नागं-T,t1,P. 4.भागं-N,n1

निर्मितं त्रिपलैर्नागैर्द्वादशांगुलदीर्घकम्[1] ॥
छत्राकारं प्रकुर्वीत नालं स्निग्धं सितं मृदु ॥ 89 ॥

nirmitaṃ tripalairnāgairdvādaśāṅguladīrghakam //
chatrākāraṃ prakurvīta nālaṃ snigdhaṃ sitaṃ mṛdu // 89 //

Tr. Make the lead tube weighing three *palas* (about 280 gms), twelve digits in length, shaped like an umbrella, smooth, white and fine. 89.

नियोज्यं[2] लिंगरन्ध्रे च निर्भीतः स्थापयेत् क्षणम् ॥
लिंगस्थैर्यं लिंगदार्ढ्यं बहुवीर्यविवर्धनम्[3] ॥ 90 ॥

niyojyaṃ liṅgarandhre ca nirbhītaḥ sthāpayet kṣaṇam //
liṅgasthairyaṃ liṅgadārḍhyaṃ bahuvīryavivardhanam // 90 //

Tr. Insert the tube in the genital without fear and hold it for a moment. This makes the genital stable, strong and offers increment of semen. 90.

नालं काञ्चननिर्मितं मृदुतरं सांगं च नागैः कृतम् ॥
छत्राकारमतः[4] पलत्रययुतं दैर्घ्यं वितस्तैर्मितम्[5] ॥ 91 ॥

nālaṃ kañcananirmitaṃ mṛdutaraṃ sāṅgaṃ ca nāgaiḥ kṛtam //
chatrākāramataḥ palatrayayutaṃ dairghyaṃ vitastairmitam // 91 //

Tr. A tube made up of gold should be very smooth and the part made up of lead, shaped like an umbrella, weighing three *palas* (about 280 gms) and 12 digits in length could be there. 91.

नालं तादृशमेव लिंगविवरे यत्नेन संस्थापयेत् ॥ 92 ॥

nālaṃ tādṛśameva liṅgavivare yatnena saṃsthāpayet // 92 //

Tr. Cautiously insert such a tube in the urethra. 92.

विस्तारं[6] तदनन्तरं दृढतरं लिंगं ततो जायते ॥
वायुसञ्चारणे जाते ऊर्ध्वमाकृष्यते बलात् ॥ 93 ॥

---

1. दीर्घितम्-T,t1,P. 2. नियोग्यं-T,t1, नियोज्य–**P.** 3. बहुवीर्यप्रवर्द्धनम्-J. 4. सर्पाकारमतः-N, छत्राकारमथ-T,t1.; 5. वितस्तेर्मितं –J,P,T. 6. द्विस्तरात् -P, विस्तरात् -T.

vistāraṃ tadanantaraṃ dṛḍhataraṃ liṅgaṃ tato jāyate //
vāyusañcāraṇe jāte ūrdhvamākṛṣyate balāt // 93 //

Tr. This widens the urethra, which makes the penis strong, and the air has a free passage so that one can suck *(rajas)* with force. 93.

नारीं रम्यामधःस्थाप्य रहस्ये तु दिगम्बराम् ॥
स्वयं दिगम्बरो भूत्वा उत्तानायास्तथोपरि[1] ॥
शयित्वा कुम्भकं कृत्वा[2] किञ्चिन्नारी स्वयं च हि[3] ॥ 94 ॥
nārīṃ ramyāmadhaḥsthāpya rahasye tu digambarām //
svayaṃ digambaro bhūtvā uttānāyāstathopari //
śayitvā kumbhakaṃ kṛtvā kiñcinnārī svayaṃ ca hi // 94 //

Tr. In a desolate place, having placed a beautiful naked woman below and oneself also being naked, one lies in prone position. The woman also should practise *kumbhaka* a little. 94.

अन्योऽन्यं गाढमालिंग्य योनौ लिंगं निरोपयेत्[4] ॥
मिथस्त्वधरपानं च कुर्यात् गलरवादिकम्[5] ॥ 95 ॥
anyo'nyaṃ gāḍhamāliṅgya yonau liṅgaṃ niropayet //
mithastvadharapānaṃ ca kuryāt galaravādikam // 95 //

Tr. Both should closely embrace each other and the penis should be penetrated in the vagina. Both should kiss and make whinning sounds. 95.

विलिखेच्च नखेनैव धारयेत्स्वेद[6]सम्भवम् ॥
नार्या[7] भगात् पतदबिन्दुम[8]भ्यासेनोदर्ध्वमाहरेत्[9] ॥ 96 ॥
vilikhecca nakhenaiva dhārayetsvedasambhavam //
nāryā bhagāt patadbindumabhyāsenordhvamāharet // 96 //

Tr. Both should pinch (each other) with nails, hold the perspiration, mastering the technique one should suck the *bindu*

---

1. उत्तानायास्तथायतिः-N,n1,n2,n4,J 2. कुर्यात्-T,t1,P. 3. बहिः-T,N,n1,J. 4. निवेशयेत्-n3. 5 ....रहरदिकम्-J,N,n1,n4. 6. घातयेत् -T,P. 7. नालात् -n4. 8. पतद बिन्दुर –T,n1,n2,n3,n4,J. 9 ......नोदर्धमावहेत्-T,n1, नालाद भगात्यतेद्बिंदुरभ्यासेनोर्द्ध मावहेत् -J,N,n3.

back from the vagina and also pull back and preserve one's own *bindu,* which is being secreted. 96.

चलितं च निजं[1] बिन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ॥
एवं संरक्षयेद् बिन्दुं मृत्युं जयति योगवित् ॥ 97 ॥

calitaṃ ca nijaṃ bindumūrdhvamākṛṣya rakṣayet //
evaṃ saṃrakṣayed binduṃ mṛtyuṃ jayati yogavit // 97 //

Tr. One should suck one's own *bindu* which is flowing and preserve it. Thus, preserving the *bindu,* an adept of *yoga* overcomes untimely death. 97.

मरणं बिन्दुपातेन जीवितं[2] बिन्दुधारणात् ॥
चित्तायत्तं नृणां शुक्रं[3] शुक्रायत्तं च जीवितम् ॥
तस्माच्छुक्रं[4] मनश्चैव[5] रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥ 98 ॥

maraṇaṃ bindupātena jīvitaṃ bindudhāraṇāt //
cittāyattaṃ nṛṇāṃ śukraṃ śukrāyattaṃ ca jīvitam //
tasmācchukraṃ manaścaiva rakṣaṇīyaṃ prayatnataḥ // 98//

Tr. Secretion of *bindu* causes death, while preservation brings about longevity. Semen of a human being is under mind's control, while longevity is under the control of semen. Therefore, semen and mind should be carefully controlled. 98.

एवं यो भजते नारी[6] तामेव मनसा स्मरेत्[7] ॥ 99 ॥

evaṃ yo bhajate nārī tāmeva manasā smaret // 99 //

Tr. Such a woman, who is favourable, should be mentally perceived. 99.

सिन्दूरसदृशं योनौ स्त्रीणामास्थायिकं रजः ॥
ऋतुमत्या रजोऽप्येवं रजो बिन्दुं च रक्षयेत् ॥ 100 ॥

---

1. चलितं चलितं-T,P,J,n1,n2,n4, वलितं वलितं -T,P.. 2. जीविते – J. 3. चित्तायत्तं भवेन्नृणां –P,T,t1. 4. तस्माच्छुक्लं -t1. 5. मतश्चैव –J. 6. नारीं –P,T,t1,n2,n4. 7. रमेत् -T,P, स्मरन् -n3.

sindūrasadṛśaṃ yonau strīṇāmāsthāyikaṃ rajaḥ //
ṛtumatyā rajo'pyevaṃ rajo binduṃ ca rakṣayet // 100 //

Tr. *rajas* (menstrual discharge), which is like red lead, is located in the female genital organ. A menstruating woman should preserve both *rajas* and *bindu.* 100.

ऋतुकाले यथा शुक्रं[1] निर्दोषं योनिसंगतम् ॥
तथा तन्मारुतेनैव स्त्रीरक्तेनैकतामियात्[2] ॥ 101 ॥
ṛtukāle yathā śukraṃ nirdoṣaṃ yonisaṅgatam //
tathā tanmārutenaiva strīraktenaikatāmiyāt // 101 //

Tr. At the time of monthly cycle, the pure semen, which is ejaculated in the vagina, mixes up with woman's menstrual discharge, being moved by *vāyu.* 101.

आयुः कर्म च वित्तं च विद्या चैव चतुष्टयम्[3] ॥
आधानकाले लिखितं[4] गर्भस्थस्यैव देहिनः ॥ 102 ॥
āyuḥ karma ca vittaṃ ca vidyā caiva catuṣṭayam //
ādhānakāle likhitaṃ garbhasthasyaiva dehinaḥ // 102 //

Tr. Span of life, *karma* (profession), wealth and education— these four are destined at the very time of conception. 102.

यावद् यावदयं देहो धि"यते गर्भशायिनः[5] ॥
तावत्तावदभिव्यक्तिर्लिंगस्यास्य प्रजायते ॥ 103 ॥ *
yāvadyāvadayaṃ deho dhriyate garbhaśāyinaḥ //
tāvattāvadabhivyaktirliṅgasyāsya prajāyate // 103 //

Tr. Whenever a creature takes a (gross) body, the causal body gets manifested. 103.

आयुष्यं वर्धते नित्यं यदि बिन्दुः स्थिरो[6] भवेत् ॥
उत्पत्तिस्थितिसंहारे बिन्दुरेको हि कारणम् ॥ 104 ॥ *

---

1. शुक्लं-P,t1. 2. स्त्रीरेतेनैकतामियात्-P. 3. विद्या निधनमेव च-J,n1,n2,n3,n4, विद्यां चैव चतुष्टयं–P,T,t1. 4. लिखति-P,T. 5. गर्भशायिना–J,N,n1,n3,n4. 6. बिन्दुस्थिरो– T,n1. * अनुपलब्धश्लोकः -n2.

āyuṣyaṃ vardhate nityaṃ yadi binduḥ sthiro bhavet //
utpattisthitisaṃhāre bindureko hi kāraṇam //104 //

Tr. The span of life becomes prolonged if the *bindu* is stabilized. In all the states of birth, sustenance and death, *bindu* alone is responsible. 104.

ततो भवेद्राजयोगी नान्तरा भवति ध्रुवम् ॥
न चिन्मात्रेण सिद्धिः स्यादभ्यासात् पवनस्य वै[1] ॥ 105 ॥ *

tato bhavedrājayogī nāntarā bhavati dhruvam //
na cinmātreṇa siddhiḥ syādabhyāsāt pavanasya vai // 105 //

Tr. Thus (following this method) alone, one can certainly become a *rājayogī* and not otherwise. Neither the practice of *prāṇāyāma* nor thinking alone brings about quick success. 105.

अभ्यासस्य क्रमं वक्ष्ये नारीणां च शनैः शनैः ॥ 106 ॥ *

abhyāsasya kramaṃ vakṣye nārīṇāṃ ca śanaiḥ śanaiḥ /106/

Tr. The order of the (gradual) practice, even for the woman, is being narrated by me. 106.

लिंगं कराभ्यामाकुञ्च्य मणिं[2] चान्तः[3] प्रवेशयेत् ॥
यावन्मणिप्रवेशः स्यात्तावदभ्यासमाचरेत् ॥
ततः परं समर्था चेदूर्ध्वमाकुञ्चयेद्रजः[4] ॥ 107 ॥ *

liṅgaṃ karābhyāmākuñcya maṇiṃ cāntaḥ praveśayet //
yāvanmaṇipraveśaḥ syāttāvadabhyāsamācaret //
tataḥ paraṃ samarthā cedūrdhvamākuñcayedrajaḥ // 107 //

Tr. She should hold the penis with the hands and insert the glans (penis) in. This should be practised till penetration is perfected. After succeeding in it, one should suck the *rajas*. 107.

तस्याः शरीरे नादस्तु[5] बिन्दुतामेव गच्छति ॥
स बिन्दुस्तद्रजश्चैव एकीकृत्य स्वदेहजौ ॥ 108 ॥ *

---

1. पवनः स्वनैः-P,T,t1. 2. मणि -P,T. 3. वातः-T. 4. .....समर्थः स्यादूर्ध्व......P,T. 5. अनुपलब्धः–J. * अनुपलब्धश्लोकः -n2.

tasyāḥ śarīre nādastu bindutāmeva gacchati //
sa bindustadrajaścaiva ekīkṛtya svadehajau // 108 //

Tr. In her body, the *nāda* gets transformed into *bindu,* when *bindu* and *rajas* produced in the body become united. 108.

वज्रोल्यभ्यासयोगेन योगसिद्धिः करे स्थिता ॥
अज्ञातयोगशास्त्रेण[1] वज्रोलीं स्त्री तु नाभ्यसेत् ॥ 109 ॥
vajrolyabhyāsayogena yogasiddhiḥ kare sthitā //
ajñātayogaśāstreṇa vajrolīṃ strī tu nābhyaset // 109 //

Tr. With the practice of *vajrolī,* success in *yoga* becomes easy. A woman should not take up the practice of *vajrolī,* if she is not well-versed in the *yogic* techniques. 109.

अयं योगः पुण्यवतां धन्यानां तत्त्वशालिनाम् ॥
निर्मत्सराणां सिध्येत न तु मत्सरशालिनाम् ॥ 110 ॥
ayaṃ yogaḥ puṇyavatāṃ dhanyānāṃ tattvaśālinām /
nirmatsarāṇāṃ sidhyeta na tu matsaraśālinām // 110 //

Tr. Those who are pious, courageous, have gained insight into reality and are free from jealousy, attain success in *yoga*, but not those who'are envious. 110.

सर्वेषामेव योगानामयं योगः शुभंकरः ॥
तस्मादयं वरिष्ठोऽसौ भुक्तिमुक्तिफलप्रदः ॥ 111 ॥
sarveṣāmeva yogānāmayaṃ yogaḥ śubhaṅkaraḥ //
tasmādayaṃ variṣṭho'sau bhuktimuktiphalapradaḥ // 111 //

Tr. Among all types of *yoga*, this one is auspicious. This is supreme since it brings success both in material as well as in spiritual realms. 111.

सुगन्धिर्योगिनो[2] देहे जायते बिन्दुधारणात्[3] ॥ 112 ॥
sugandhir yogino dehe jāyate bindudhāraṇāt // 112 //

---

1. अज्ञातयोगशास्त्रस्तु –J. 2. सुगन्धो योगिनो –P. 3. दुग्धधारणात् -T.

Tr. Preservation of *bindu* creates pleasant smell in the body of a *yogī.* 112.

अथ सहजोलिः[1]—
सहजोली चामरोली वज्रोल्या एव भेदतः ॥ 113 ॥

atha sahajoliḥ—
sahajolī cāmarolī vajrolyā eva bhedataḥ // 113 //

Tr. *sahajolī* and *amarolī* are merely the variations of *vajrolī.* 113.

Note: *bhavadeva* in his YB (vii-292), commenting on *vajrolī, sahajolī* and *amarolī* remarks that *sahajolī, amarolī, vajrolī* comprise a composite process. There is no difference between them. They differ in names. But the function remains the same. When the union of *candra* and *sūrya* takes place in the *yonisthāna*, it is called *amarolī.* When one's *bindu* is held inside with the help of *yonimudrā,* it is termed as *sahajolī.* To suck one's *bindu* and raise it upwards is *vajrolī.* 113.

जले सुभस्म[2] निक्षिप्य दग्धगोमयसम्भवम्[3] ॥
वज्रोली मैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसोश्चांगलेपनम् ॥ 114 ॥

jale subhasma nikṣipya dagdhagomayasaṃbhavam //
vajrolī maithunādūrdhvaṃ strīpuṃsoścāṅgalepanam // 114 //

Tr. Both man and woman should besmear the body with clean ashes of cow-dung mixed up with water after the practice of *vajrolī.* 114.

आसीनयोः सुखेनैव[4] मुक्त[5]व्यापारयोः क्षणम् ॥
सहजोलिरियं[6] प्रोक्ता कर्तव्या[7] योगिभिः सदा[8] ॥ 115 ॥

āsīnayoḥ sukhenaiva muktavyāpārayoḥ kṣaṇam //
sahajoliriyaṃ proktā kartavyā yogibhiḥ sadā // 115 //

---

1. सहजोली –P,T,n2,n3. 2. जलेषु भस्म–J,n1,n4. 3. अनुपलब्धपंक्तिः –T,t1. 4. मुखेनैव -J. 5. मुक्तः -n1. 6. सहजोलिरिति-n1. 7. श्रद्धया-P.T,t1. 8. तथा -P,T.

Tr. Thus, one remains in a state of Bliss unmindful of the worldly affairs. This is called *sahajolī*, which should always be practised by the *yogīs*. 115.

अथामरोली[1] —
विहाय नित्यां प्रथमां[2] च धारां
विहाय निःसारतयान्त्यधाराम्[3] ॥
निषेव्यते[4] शीतलमध्यधारां
कापालिकैः खण्डमतैरनर्घ्याम्[5] ॥ 116 ॥

athāmarolī —
vihāya nityāṃ prathamāṃ ca dhārāṃ
vihāya niḥsāratayāntyadhārām //
niṣevyate śītalamadhyadhārāṃ
kāpālikaiḥ khaṇḍamatairanarghyām // 116 //

Tr. The first and the last flow, which is useless, should be avoided and the cool middle flow be consumed. This is highly respected by the *khaṇḍa kāpālikas.* 116.

अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्याद्दिने[6] दिने ॥
वज्रोलीमभ्यसेन्नित्यममरोलीति[7] कथ्यते ॥ 117 ॥
amarīṃ yaḥ pibennityaṃ nasyaṃ kuryād dine dine //
vajrolīmabhyasennityamamarolīti kathyate // 117 //

Tr. While undergoing the course of *vajrolī*, when one daily drinks and snuffs *amarī* (urine), it is called *amarolī.* 117.

Note: The description of *vajrolīmudrā* is grossly misunderstood by the masses and uninitiated. This has led to consider *vajrolī* as an obsene practice and in some editions of HP, it is completely omitted.

Although *śrīnivāsa* has elaborately described *vajrolī*, it is important in this connection to note the remarks of *bhavadeva miśra*

---

1. अनुपलब्धः–N,n1,n2,n3,n4,J. 2. पित्तोल्बणत्वात्प्रथमं-P.T,t1. 3. विहारनिःसारतयाल्पधारां –J. निःसरयतां तु धारणं–P,T,t1. 4. निषिंचते-P.T,t1. 5. खंडमतैकमय्यां-P.T,t1, खण्डमतैरनर्घ्या -J. 6. कुर्वन्दिने-P.T. 7. ....मभ्यसेदेवममरोलीति-P.T.

in his YB. He says, "The practice of *bindusiddhi* through *vajrolī* is for the infatuated and ignorant people. For the spiritual knowledge, the behaviour consisting of renouncing all the desires, attachments, and ego consciousness leads to Bliss and Ultimate Peace." 80-117.

अथ शक्तिचालनम् —

पुच्छे[1] प्रगृह्य भुजगीं सुप्तामुद्बोधयेदभीः ॥
निद्रां विहाय सा ऋज्वी ऊर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात् ॥ 118 ॥

atha śakticālanam —

pucche pragṛhya bhujagīṃ suptāmudbodhayedabhīḥ //
nidrāṃ vihāya sā ṛjvī ūrdhvamuttiṣṭhate haṭhāt // 118 //

Tr. Just as one catches hold of the sleeping serpent by the tail and pulls it up, similarly, one should awaken the *kuṇḍalī* from its slumber. Then she suddenly rises up. 118.

द्वादशांगुल[2]दैर्घ्यञ्च विस्तृतं[3] च षडंगुलम् ॥
हठज्ञैः मृदुलं प्रोक्तं वेष्टनाम्बरलक्षणम्[4] ॥ 119 ॥

dvādaśāṅgula dairghyañca vistṛtaṃ ca ṣaḍaṅgulam //
haṭhajñaiḥ mṛdulaṃ proktaṃ veṣṭanāmbaralakṣaṇam //119//

Tr. An expert of *haṭha* should cover the tongue with a thin, smooth and clean cloth of twelve digits in length and six digits in width. 119.

विस्तारितेन तां जिह्वां वेष्टयित्वा ततः सुधीः[5] ॥
अङ्गुष्ठतर्जनीभ्यां च[6] हस्ताभ्यां धारयेद् ध्रुवम् ॥
स्वशक्त्या चालयेद्वामे दक्षिणे च पुनः पुनः ॥ 120 ॥

vistāritena tāṃ jihvāṃ veṣṭayitvā tataḥ sudhīḥ //
aṅguṣṭhatarjanībhyāṃ ca hastābhyāṃ dhārayed dhruvam //
svaśaktyā cālayedvāme dakṣiṇe ca punaḥ punaḥ // 120 //

---

1. पुच्छं–P,T,t1,n2.2.द्वादशांगुलि–P,t1.3.अन्तरं–P,t1. 4.वेष्टिताम्बरलक्षणम्-J.5.अनन्तर्रविस्तारितेन ......सुधीः-अनुपलब्धपाठः-N,n1,n2,n3,n4,J,t1. वितस्तिप्रमितं दीर्घ विस्तारे च षडंगुलम् ॥ अधिकः पाठः-P.T,t1. 6. तु–T,t1.

Tr. After spreading and covering the tongue with the cloth, a wise should firmly catch hold of it with thumb and index fingers of both the hands and frequently move it to right and left to the capacity. 120.

मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भीत[1]श्चालयेदसौ ॥
ऊर्ध्वमाकृष्यते[2] किञ्चित्सुषुम्णां[3] कुण्डलीगताम्[4] ॥
षण्मासाच्चालनेनैव[5] शक्तिस्तस्योर्ध्वगा[6] भवेत् ॥ 121 ॥
muhūrtadvayaparyantaṃ nirbhītaścālayedasau //
ūrdhvamākṛṣyate kiñcitsuṣumṇāṃ kuṇḍalīgatām //
ṣaṇmāsāccālanenaiva śaktistasyordhvagā bhavet // 121 //

Tr. If one fearlessly undertakes this practice for six hours, *kuṇḍalī* rises a little and enters into *suṣumnā.* A six month's practice alone makes the *śakti* rising upwards. 121.

सूर्येण पूरयेद्वायुं[7] सरस्वत्यास्तु चालयेत्[8] ॥
शब्दगर्भाचालनेन[9] योगी रोगैः प्रमुच्यते ॥ 122 ॥
sūryeṇa pūrayedvāyuṃ sarasvatyāstu cālayet //
śabdagarbhācālanena yogī rogaiḥ pramucyate // 122 //

Tr. One should inhale air through right nostril and activate the *sarasvatī* (*kuṇḍalī*), by manipulation of the tongue. Thus, the *yogī* frees himself from the diseases. 122.

Note: The process of *śakticālana* does not seem to have been clearly described and is mixed with *khecarī.* HP(iii.110-116) suggests different practices like inhalation through the right nostril, pressing of *kanda* and practice of *bhastrā* in the process of *śakticālana.* 122.

येन सञ्चालिता[10] शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनः ॥
किमत्र बहुनोक्तेन मृत्युं जयति लीलया ॥ 123 ॥
yena sañcālitā śaktiḥ sa yogī siddhibhājanaḥ //
kimatra bahunoktena mṛtyuṃ jayati līlayā // 123 //

1. विभीत-P.T. 2. ऊर्ध्वमाकृष्य तौ-P.T,t1. 3. सुषुम्नां–T,t1. 4. कुण्डलीगता-P.T,t1. 5. अभ्यासाच्चालनेनैव-N,n1,n2,n3,n4,J. 6. शक्तिःस्यादूर्ध्वगा-P.T. 7. सूर्येणापूरयेद्वायुं–J.N. 8. चालनम्-P.T,t1,n2,n4.J. 9. शब्दगर्भचालनेन–P. 10. संचारिता P.T,t1.

Tr. A *yogī,* who stimulates *śakti* (*kuṇḍalī*), accomplishes supernatural powers (*siddhis*). He easily transcends *kāla* (death). What to speak more ? 123.

सशैलवनधात्र्यास्तु[1] यथाधारोऽहि नायकः[2] ॥
अशेषयोगतन्त्राणां तथाधारो हि कुण्डली ॥ 124 ॥
saśailavanadhātryāstu yathādhāro'hi nāyakaḥ //
aśeṣayogatantrāṇāṃ tathādhāro hi kuṇḍalī // 124 //

Tr. Just as the Lord of serpents is the support of the earth, with all her forests and mountains, similarly, *kuṇḍalinī* forms the very substratum of the entire science of *yoga*. 124.

फणी कुण्डलिनी[3] नागी चक्री[4] वक्री सरस्वती ॥
ललना[5] रसना क्षत्री ललाटी[6] शक्तिः शंखिनी[7] ॥ 125 ॥
रज्वी[8] भुजंगी शेषा च कुण्डली सर्पिणी मणिः ॥
आधारशक्तिः कुटिला[9] कराली[10] प्राणवाहिनी[11] ॥ 126 ॥
अष्टवक्रा[12] षडाधारा व्यापिनी कलनाधरा[13] ॥
कुरीत्येवं[14] च विख्याताः शब्दाः पर्यायवाचकाः ॥ 127 ॥
इति शक्तिचालनम्[15] ॥

phaṇī kuṇḍalinī nāgī cakrī vakrī sarasvatī //
lalanā rasanā kṣatrī lalāṭī śaktiḥ śaṅkhinī // 125 //
rajvī bhujaṅgī śeṣā ca kuṇḍalī sarpiṇī maṇiḥ //
ādhāraśaktiḥ kuṭilā karālī prāṇavāhinī // 126 //
aṣṭavakrā ṣaḍādhārā vyāpinī kalanādharā //
kurītyevaṃ ca vikhyātāḥ śabdāḥ paryāyavācakāḥ // 127 //
iti śakticālanam //

Tr. *phaṇī, kuṇḍalinī, nāgī, cakrī, vakrī, sarasvatī, lalanā,*

---

1. सशैलवनधात्रीणां–P,T,t1. 2. यथाधारः सुराचलः-P.T,t1, कुण्डली–n2. 3. फणी कुण्डलिनी-अनुपलब्ध-N,n1,n3. 4. चक्री-अनुपलब्धः-J,n2. 5. लभना-P,n1,n2,n3, दलना-T,t1. **6.** क्षेत्रललाटी-P,T,t1. 7. शंकिणी-P,t1; शंकणी-T. 8. रुजी P; रजी-T,t1. 9. कुंडली-P.T,t1. 10. फनाली–n1,2,3, फलाली –n4. अनुपलब्धः-J. 11. माणवहिनी-J, फणवाहिनी–N. 12. अष्टावक्रा-P.T,t1, अष्टवक्त्रा-J,N. 13. ककनोधरा-P.T, कलनोधरा-t1. 14. कुंतीत्येवं-P.T,t1,J, कुरीत्येवं -J. 15. इति चालन विधिः-N,n1, अनुपलब्धपाठः -n2.

rasanā, kṣatrī, lalāṭī, śakti, śaṅkhinī, rajvī, bhujaṅgī, śeṣā, kuṇḍalī, sarpiṇī, maṇi, ādhāraśakti, kuṭilā, karālī, prāṇavāhinī, aṣṭavakrā, ṣaḍādhārā, vyāpinī, kalanādharā, kurī are the wellknown synonyms of *kuṇḍalinī*. 125-127.

Thus finishes *śakticālanam* .

Note: The synonyms of *kuṇḍalinī* given here are not found in other available texts. 125-127.

अथ खेचरीमुद्रा[1]**—**

खेचरी चान्तिमा मुद्रा अचिराद् ब्रह्मरन्ध्रगा ॥
सुषुम्णगामृता मूर्ध्वा[2] लम्बिका वाचकाः[3] स्मृताः ॥ 128 ॥

atha khecarīmudrā —

khecarī cāntimā mudrā acirādbrahmarandhragā //
suṣumṇagāmṛtā mūrdhvā lambikā vācakāḥ smṛtāḥ // 128 //

Tr. *khecarī* forms the ultimate *mudrā,* which quickly makes the *prāṇa* move into *brahmarandhra. suṣumnagā, amṛtā, mūrdhvā, lambikā* are its synonyms. 128.

न क्रमेण विना शास्त्रं[4] नैव शास्त्रं[5] विना क्रमः ॥
शास्त्रं क्रमयुतं[6] ज्ञात्वा तन्यते[7] श्रीमतां भुवि ॥ 129 ॥

na krameṇa vinā śāstraṃ naiva śāstraṃ vinā kramaḥ //
śāstraṃ kramayutaṃ jñātvā tanyate śrīmatāṃ bhuvi // 129 //

Tr. Without a proper order, there is no science and a science cannot be learnt without an order. By learning the science in proper order, one attains success in life. 129.

जिह्वाकृतिनिभं शस्त्रमल्पं तच्छेदने क्षमम्[8] ॥
स्नुहीपत्रनिभं बल्यं[9] शस्त्रं कुर्याद्विचक्षणः[10] ॥ 130 ॥

1.अथ खेचरी–J,n1,n4, अथ खेचरी महामुद्रा दिङ्मात्रं प्रदर्श्यते–P,T,t1. 2. सुषुम्ना गम्यता मूर्ध्वा-P.T, सुषुम्णागामृतामूर्च्छा–J,N,n3. 3. वाचकः-P,T,t1. 4. शास्त्रा-J. 5. न शास्त्रेण-n3. 6. शास्त्रक्रमयुतं–J,P,T,t1. 7. वर्ण्यते-P.T,t1. 8. शस्त्रमाहोस्विच्छेदने क्षमः-P; शास्त्रं आटे ...स्विच्छेदने क्षमं-T,t1. 9.चाल्यं–P,T,t1. 10. अनुपलब्धपंक्तिः-T.

jihvākṛtinibhaṃ śastramalpaṃ tacchedane kṣamam //
snuhīpatranibhaṃ balyaṃ śastraṃ kuryādvicakṣaṇaḥ // 130//

Tr. A wise person should collect a strong weapon resembling the leaf of milk-hedge, appearing like a tongue, which would be able to cut the tongue very little. 130.

Note: The word *śastra* not only refers to weapon, but also is employed for all the ingredients used during the process of *khecarī*. KKHP refers to various *śastras* with the names given to them according to the ingredients used. For example, black pepper is *sūryaśastra*, rock-salt (*saindhava*) is *candra-śastra*, chebulic myrobalan (*harītakī*) is *dhanvantarī śastra*, spear-headed shape of the weapon is *indra-śastra*, cardamom (*elā*) is *brahma-śastra,* scissors are *caurāsī-śastra*, weapon prepared with sulpher (*gandhaka*) or orpiment (*haritāla*) or vermilion (*hiṅgula*) is *bhavānī-śastra*, extract of white leadwort (*citraka-arka*) is *agni-śastra*. 130.

[1]इडायाः पिङ्गलायाश्च सुषुम्णायाश्च मध्यतः ॥
प्रज्ञावताङ्गुलिं दत्वा ग्रन्थिमध्यं[2] समुच्छिनेत् ॥ 131 ॥
iḍāyāḥ piṅgalāyāśca suṣumṇāyāśca madhyataḥ //
prajñāvatāṅgulim datvā granthimadhyaṃ samucchinet //131//

Tr. The wise should place a finger at the center of *iḍā, piṅgalā* and *suṣumnā* and cut the center of the knot. 131.

द्विनिष्कं निष्कनिष्कार्द्धं[3] पथ्यानागरसैन्धवान्[4] ॥
चूर्णयित्वा तु तच्चूर्णं तेन चूर्णेन घर्षयेत्[5] ॥ 132 ॥
dviniṣkaṃ niṣkaniṣkārddhaṃ pathyānāgarasaindhavān //
cūrṇayitvā tu taccūrṇaṃ tena cūrṇena gharṣayet // 132 //

Tr. Take 2 *niṣkas* of *pathyā* (chebulic myrobalan), one *niṣka* of *nāgara* (dried ginger) and half *niṣka* of rock salt and powder them. Rub this powder (on the tongue). 132. (1 *niṣka* = 25gms).

---

1. जिह्वाधो ग्रन्थिमालोक्य तिलमात्रं समुच्छिनेत् -अधिकः पाठः-P,T,t1,n1,n2,n3,n4.
2. ग्रन्थे मध्यं-P.T,t1. 3. निष्कपादार्थ-P,T,t1. 4. पथ्यासागरसैंधवान्-P,T,t1. 5. 'चूर्ण यित्वा तु ये चूर्ण तेन चूर्णेन् घर्षयेत्' -P,T,t1; ......धारयेत् -N,n1,n3,n4,J.

पूर्वोक्तेन प्रकारेण शक्तिचालनमाचरेत् ||
गोदोहनं यथा तद्वच्छक्तिचालनमाचरेत्[1] || 133 ||

pūrvoktena prakāreṇa śakticālanamācaret //
godohanaṃ yathā tadvacchakticālanamācaret // 133 //

Tr. Practise *śakticālana* as told before, like one milks a cow. 133.

पुनः सप्तदिने प्राप्ते तिलमात्रं समुच्छिनेत् || 134 ||

punaḥ saptadine prāpte tilamātraṃ samucchinet // 134 //

Tr. On the seventh day again cut (the frenum) to the thinness of a sesame. 134.

छेदनादिक्रमेणैव यावद् भ्रूमध्यगा भवेत्[2] ||
तावच्छनैः प्रकर्तव्यं श्रीनिवासस्य भाषणम् || 135 ||

chedanādikrameṇaiva yāvadbhrūmadhyagā bhavet //
tāvacchanaiḥ prakartavyaṃ śrīnivāsasyabhāṣaṇam // 135 //

Tr. One should cautiously follow the processes of *chedana* (cutting) etc., so that the tongue touches the center of the eyebrows. This is told by *śrīnivāsa.* 135.

अत्रायं हठयोगसम्प्रदायः—

शिशुर्लम्बिकायोगेनातीतानागतं[3] जानाति[4] / गर्भनिःसरणाद् भूमिपाते लम्बिकायोगे[5] जिह्वाबन्धो पातिनी[6] भवति / लम्बिका प्रतिबिम्बत्वेन[7] जिह्वायाम्[8] अधोग्रन्थि[9]-सूक्ष्मरूपतया[10] सर्वेषां नराणां प्रत्यक्षतया अद्यापि दृश्यते || तत्रैव लम्बिका प्रतिबन्धकसूक्ष्मग्रन्थिभेदनं कार्यमिति मम[11] प्रतिभाति ||

atrāyaṃ haṭhayogasampradāyaḥ —

śiśurlambikāyogenātītānāgataṃ jānāti / garbha-niḥsaraṇād-bhūmipāte lambikāyoge jihvābandho pātinī bhavati / lambikā pratibimbatvena jihvāyāṃ adhogranthisūkṣmarūpatayā / sarveṣāṃ narāṇāṃ pratyakṣatayā adyāpi dṛśyate / tatraiva lambikā pratibandhakasūkṣmagranthibhedanaṃ kāryamiti mama pratibhāti //

---

1. तद्वत् जिह्वादोहनमाचरेत्-P,T,t1. 2. भ्रूमध्यभाग्भवेत्-P,T,t1. 3. . . नातींतं नागतं-P. 4. योगेनातं ...नाति–T. 5. लम्बिकायोग-P; लम्बिका जिह्वा योगे-T. 6. याति-N,n1,n3,J. 7. प्रतिबिबकत्वेन–P,T,t1. 8. जिह्वाया:-P,T. 9. अत्र ग्रन्थः-P,T, अथोग्रन्थः-n3. 10. सूक्ष्मसूयतमा–J. 11. अनुपलब्धः-N,n3.

According to the tradition of *haṭhayoga*—

Tr. Through *lambikā yoga,* an infant knows the past and the future. On coming out of the womb and taking birth, *lambikā yoga* turns out to be *jihvā-bandha*, which is subtly reflected below the tongue as a knot. This can be verified in all the human beings. I feel that one should pierce the band at this subtle knot which obstructs *lambikā.*

परमेश्वरप्रोक्तखेचरीनामपटले तु[1]—

स्नुहीपत्रनिभं[2] शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ॥
समनायां[3] तु जिह्वायां[4] रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ 136 ॥

parameśvaraprokta khecarīnāmapaṭale tu —

snuhīpatranibhaṃ śastraṃ sutīkṣṇaṃ snigdhanirmalam //
samanāyāṃ tu jihvāyāṃ romamātraṃ samucchinet // 136 //

In *khecarī-paṭala as told by parameśvara*—

Tr. Get a sharp, clean and smooth weapon of the shape of the leaf of milk-hedge. With this the tongue (frenum) has to be evenly cut to a hair's breadth. 136.

रोममात्रछेदने[5] न विलम्बेन हि लम्बिका ॥
हृदये[6] ग्रन्थकाराणामाकूतं[7] भणितं[8] मया ॥ 137 ॥

romamātrachedane na vilambena hi lambikā //
hṛdaye granthakārāṇāmākūtaṃ bhaṇitaṃ mayā // 137 //

Tr. *lambikā* (*yoga*) is soon attained if one cuts (the frenum) to a hair's breadth. I have explained what has been left unsolved by the writers in the texts. 137.

दत्तात्रेयस्तु —

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा[9] विपरीतगा ॥
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥ 138 ॥[10]

1. परमेश्वर प्रोक्तं पटले तु-N,n1,n2,J. 2. स्नुहीपत्रनिभे–J, स्नुहिपत्रनिभं–P. 3. समतायास्तु-P,T,t1, समतायान्तु-n1. 4. जिह्वा-P, जिह्वाया-T,t1. 5. रोममात्रभेदेन-P,T,t1, रोममात्रच्छेदनेन-n4. 6. हृदयं –n4. 7. हृदयग्रन्थकारणमत्कृतं-P,T,t1. 8. फणितं-T,t1, कथितं–J. 9. अनुपलब्ध ःP. 10. कपालकुहरे जिह्वा विपरीता गोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी-**t1**.

***dattātreyastu*—**
kapālakuhare jihvā praviṣṭā viparītagā //
bhruvorantargatā dṛṣṭirmudrā bhavati khecarī // 138 //

According to *dattātreya*—

Tr. Fold the tongue and insert it into the nasopharyngeal cavity and fix the gaze between the eyebrows. This is called *khecarī mudrā.* 138.

न रोगो मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा ॥
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥ 139 ॥[1]
na rogo maraṇaṃ tasya na nidrā na kṣudhā tṛṣā //
na ca mūrcchā bhavettasya yo mudrāṃ vetti khecarīm / 139 /

Tr. One who masters *khecarī mudrā,* does not get affected by diseases, death, sleep, hunger, thirst and stupor. 139.

पीड्यते न स[2] **रोगेण**[3] **लिप्यते न च कर्मणा ॥**
बाध्यते[4] **न च कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥ 140 ॥**
pīḍyate na sa rogeṇa lipyate na ca karmaṇā //
bādhyate na ca kālena yo mudrāṃ vetti khecarīm // 140 //

Tr. One who attains *khecarī mudrā,* does not suffer from disease, does not get bound by *karma* and is not affected by (untimely) death. 140.

हठप्रदीपिकायाम्[5]**—**
छेदनचालनदोहैः कलां[6] **क्रमेण वर्धयेत्तावत् ॥**
यावदियं भ्रूमध्ये स्पृशति[7] **तदानीं**[8] **खेचरीसिद्धिः ॥ 141 ॥**
***haṭhapradīpikāyām* —**
chedanacālanadohaiḥ kalāṃ krameṇa vardhayettāvat //
yāvadiyaṃ bhrūmadhye spṛśati tadānīṃ khecarīsiddhiḥ /141/

---

1. श्लोकः अनुपलब्धः-P,T,t1. 2. च-P,T,t1. 3. योगेन-P,T,t1. 4. बध्यते–t1,n4. 5. हठप्रदीपिकाकारोऽपि-P,T. 6. कला–P. 7. सा यावत् भूमध्यं स्पृशति-P; सा याति यावद् भूमध्यं स्पृशति हि–T,t1,n2. 8. तदा-P,n4.

According to HP—

Tr. The tongue should be gradually lengthened by cutting, moving and milking, till it touches the center of the eyebrows. Then alone *khecarī* is attained. 141.

छेदनस्य प्रकारोक्तेरभावान्मूढता यतः ॥
साधारणोक्त्या[1] दुर्बोधान्नांगीकार्यमिदं मतम् ॥ 142 ॥
chedanasya prakārokterabhāvānmūḍhatā yataḥ //
sādhāraṇoktyā durbodhānnāṅgīkāryamidaṃ matam // 142 //

Tr. The opinion given above is unacceptable as it does not provide details, which may lead to confusion of a layman. 142.

गुरुदर्शितमार्गेण संकेतः कथ्यते मया ॥
संकेतशृंखलाभावे खेचरी तु कथं भवेत् ॥ 143 ॥
gurudarśitamārgeṇa saṅketaḥ kathyate mayā //
saṅketaśṛṅkhalābhāve khecarī tu kathaṃ bhavet // 143 //

Tr. I am explaining *saṅketa* as per the guidelines of *guru*. How *khecarī* can be attained without *saṅketa* and *śṛṅkhalā*? 143.

सर्पाकारं सवलयं शृंखलाद्वयसेवितम्[2] ॥
सखर्परं[3] षड्वितस्तिदैर्घ्यं संकेतलक्षणम् ॥ 144 ॥
sarpākāraṃ savalayaṃ śṛṅkhalādvayasevitam //
sakharparaṃ ṣaḍvitastidairghyaṃ saṅketalakṣaṇam // 144 //

Tr. The characteristics of a *saṅketa* are: shaped like a snake, rounded, containing two *śṛṅkhalās* (chains?), (providing) rest for elbow, measuring six *vitastis* (72 digits) in length. 144.

Note: *śrīnivāsa* gives here the technique and use of *saṅketa* according to the tradition of his *guru*. The characteristics of *saṅketa* are not found described in the available texts of *yoga*. Although *śrīnivāsa* describes '*saṅketa*' in the form of two spiral rings for the insertion of the tongue into it, the description is not clear. 144.

---

1. साधारकृणोक्त -P; साधारणोक्ति-T,t1. 2. श्रृंखलाद्वयसंमितं-P,T,t1. 3. सकूर्परं-P,T,t1.

शृंखलाद्वितयनिर्मितां परां[1]
सर्पवद्वलयखर्परान्विताम् ॥
विंशदंगुलमितां सुदीर्घिकां
लम्बिकाभ्युदयकारिणीं[2] विदुः ॥ 145 ॥[3]

śṛṅkhalādvitayanirmitāṃ parāṃ
sarpavadvalayakharparānvitām //
viṃśadaṅgulamitāṃ sudīrghikāṃ
lambikābhyudayakāriṇīṃ viduḥ // 145 //

Tr. (A *saṃketa* is) finely made up of two *śṛṅkhalās,* rounded like a snake, containing *kharpara* (a rest), measuring twenty digits in length, which brings success in *lambikā.* 145.

शृंखलायाश्च वलये जिह्वां तत्र प्रवेशयेत् ॥[4]
यथा भवेत्सुषुम्णागा[5] तथा भवति खेचरी ॥ 146 ॥

śṛṅkhalāyāśca valaye jihvāṃ tatra praveśayet //
yathā bhavet suṣumṇāgā tathā bhavati khecarī // 146 //

Tr. Insert the tongue in the circle of *śṛṅkhalā.* As the tongue is able to enter *suṣumnā, khecarī* is perfected. 146.

Note: *khecarī mudrā* has been greatly eulogized in *haṭhayogic* texts. There are six processes involved in the perfection of *khecarī mudrā* which are *chedana, cālana, dohana, manthana, praveśana* and *mantra.* The processes of *chedana, cālana* and *dohana* are to start simultaneously. *manthana* or *gharṣaṇa* consists of rubbing with thumb on the four places, three times a day. The four places are frenum under the tongue, root of the tongue, palate and uvula. A detailed description of *khecarī* is found in MYS by *ādinātha.*

These six verses (ii.141-146) seem to have been taken from *khecarīpaṭala* as stated in AR (xxvii.4742-4745). 146.

खेचर्या मुद्रणे जाते देही देहं न मुञ्चति ॥
कायं[6] त्यक्त्वा तु कल्पान्ते ब्रह्मस्थानं व्रजत्यसौ ॥ 147 ॥

---

1. निर्मितां बरां–T,t1. 2. लम्बिकोत्पातकारिणीं –t1. 3. अनुपलब्धश्लोकः-P. 4. एतदनन्तरं – कपालकुहरे यस्तु ततो जिह्वां प्रवेशयेत् - अधिकः पाठः -P,T,t1. 5. भवेत्सुषुम्णागौ-P,T,t1. 6. कामं–P,T,t1.

khecaryā mudraṇe jāte dehī deham na muñcati //
*kāyaṃ tyaktvā tu kalpānte brahmasthānaṃ vrajatyasau//*147//

Tr. As the *khecarī* is attained, a mortal does not face (premature) death. Rather, at the end of a *kalpa*, he renounces the body and goes to *brahmasthāna.* 147.

प्राणे सुषुम्णा[1]सम्प्राप्ते नादं तु[2] श्रूयतेऽष्टधा ॥
घण्टादुन्दुभिशंखादि[3]वीणावेणुनिनादवत्[4] ॥
तनूनपात्तडित~ तारेशपवनोपमम् [5] ॥ 148 ॥
prāṇe suṣumṇāsamprapte nādaṃ tu śrūyate'ṣṭadhā //
ghaṇṭādundubhiśaṅkhādivīṇāveṇuninādavat //
tanūnapāttaḍittāreśapavanopamam // 148 //

Tr. When *prāṇa* enters into *suṣumnā,* eight types of *nādas* are heard, like sounds resembling that of a bell, trumpet, conch, *vīṇā,* flute, tiny bell, tinkling of ua very fine pot, cracking sound of the fire, loud thunders and shrill sound of blowing air. 148.

वासुक्याद्यैश्च नागैश्च तक्षकेनाथवा पुनः ॥
दष्टस्य योगिनो देहे न विषं कर्तुमर्हति ॥ 149 ॥
vāsukyādyaiśca nāgaiśca takṣakenāthavā punaḥ //
daṣṭasya yogino dehe na viṣaṃ kartumarhati // 149 //

Tr. Such a *yogī,* even being bitten by (deadliest of) the serpents like *vāsukī, nāga* or *takṣaka,* will not be affected by poison. 149.

उत्कल्लोल[6]कलामृतं[7] च विमलं धारामृतं यः पिबेत् ॥
निर्दोषः स मृणालकोमलतनु[8]र्योगी चिरं जीवति ॥ 150 ॥
utkallolakalāmṛtaṃ ca vimalaṃ dhārāmṛtaṃ yaḥ pibet //
nirdoṣaḥ sa mṛṇālakomalatanuryogī ciraṃ jīvati // 150 //

---

1. सुषुम्नां–P,T,t1,n1,n3. 2. नादस्तु–P,T,n3. 3. . .शंखाभिः-P,T,t1,...शंखाद्दै-N,J. 4. वीणावेण्वग्नितालवत्-P,T,t1. 5. तनूनपात्रविस्तारतारेशपवनोपमम् -J,T,t1,n1,n2,n3,n4. 6. तत्कल्लोल–N,n1,n4,J; उत्कंलोक-T. 7. कलभृतं–P. 8. वपुर्-P,T,t1.

Tr. The *yogī,* who sucks the divine ambrosia secreting from the moon, maintains the body as tender as the lotus stalk and lives long without diseases. 150.

सेवन्ते यदि लम्बिकाग्रमनिशं जिह्वा रसस्यन्दिनी
सक्षाराकटुतिक्तदुग्धसदृशं मध्वाज्यतुल्यं यदा[1] ‖ 151 ‖
sevante yadi lambikāgramaniśaṃ jihvā rasasyandinī //
sakṣārākaṭutiktadugdhasadṛśaṃ madhvājyatulyaṃ yadā /151/

Tr. The tip of the elongated tongue tastes the nectar, as salt, pungent, sour or milk, honey or ghee. 151.

अशेषाणां च नाडीनां जिह्वाग्रे रन्ध्रमागतः[2] ‖
विधत्ते[3] येन मार्गेण तेन चान्द्री[4] कलां व्रजेत् ‖ 152 ‖
aśeṣāṇāṃ ca nāḍīnāṃ jihvāgre randhramāgataḥ //
vidhatte yena mārgeṇa tena cāndrī kalāṃ vrajet // 152 //

Tr. Entire set of the *nāḍīs* has its base at the tip of the tongue, wherefrom the *yogī* enjoys (ambrosia oozing from *candra*). 152.

कन्यावादाखिला[5]वादरसवादादि[6]सिद्धयः ‖
योगिनः[7] सम्प्रवर्तन्ते तेषां वज्रोलि[8]खेचरी ‖ 153 ‖
kanyāvādākhilāvādarasavādādisiddhayaḥ //

yoginaḥ sampravartante teṣāṃ vajrolikhecarī // 153 //

Tr. All the *siddhis* attained through *kanyāvāda* (*kuṇḍalī*), *rasavāda* (alchemy) etc. are for those *yogīs* who attain *vajrolī* and *khecarī.* 153.

त्रिकटुम्बी[9] हठा चैव[10] गोलीढं[11] शिखरं तथा ‖
त्रिशंखी[12] वज्रमोंकारी[13] मूर्ध्वनालं[14] भ्रुवोर्मुखे ‖ 154 ‖

---

1. मध्वाज्यतुल्याथवा–P,T,t1. 2. रन्ध्रगामता-N,n1,n3,n4,J,T,t1. 3. विद्यते-P,t1; विद्यन्ते-T. 4. चान्द्रीं–J, चाण्डीं -n1,n3. 5. बिलवाद–T,t1,n2. 6. रसवादस्तु–P,T. 7. योगिनां–P,T,t1. 8. वज्रोलि-J, वज्रली–T. 9. त्रिकुंड-P,T,t1. 10. सुचिहठा चैव-P,T,t1. 11. गोवीठं-P. 12. त्रिशंखि – P, श्रीशंखी –T,t1. 13. वज्रिमोंकारी-P,T,t1. 14. मूर्ध्वा नालं-P,T,t1.

trikaṭumbī haṭhā caiva golīḍhaṃ śikharaṃ tathā //
triśaṅkhī vajramoṅkārī mūrdhvanālaṃ bhruvormukhe //154 //

Tr. The opening between two eyebrows is called *trikaṭumbī, haṭhā, golīḍha, śikhara, triśaṅkhī, vajra, oṃkārī, mūrdhvanāla.* 154.

पिंगला दम्भिनी[1] सूर्या यमिना काक्षरा[2] तथा[3] ॥
कालाग्निः रुद्री[4] चण्डी च[5] ते[6] स्युः पिंगलनामकाः[7] ॥ 155 ॥
piṅgalā dambhinī sūryā yaminā kākṣarā tathā //
kālāgniḥ rudrī caṇḍī ca te syuḥ piṅgalanāmakāḥ // 155 //

Tr. The synonyms of *piṅgalā* are: *piṅgalā, dambhinī, sūryā, yaminā, kākṣarā, kālāgni, rudrī* and *caṇḍī.* 155.

इडा चन्द्रा सिनीवाली[8] गंगा[9] चामरबोधिता[10] ॥
इडायाः वाचकाः शब्दाः पर्यायेण प्रकीर्तिताः ॥ 156 ॥
iḍā candrā sinīvālī gaṅgā cāmarabodhitā //
iḍāyāḥ vācakāḥ śabdāḥ paryāyeṇa prakīrtitāḥ // 156 //

Tr. The synonyms of *iḍā* are: *iḍā, candrā, sinīvālī, gaṅgā* and *amarabodhitā.* 156.

गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि[11] तालुनि ॥
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ॥ 157 ॥
gośabdenoditā jihvā tatpraveśo hi tāluni //
gomāṃsabhakṣaṇaṃ tattu mahāpātakanāśanam // 157 //

Tr. The term '*go*' denotes tongue, which is to be inserted in the '*tālu*' (roof of the nasopharyngeal cavity). This literally means 'consuming *gomāṃsa*', which eliminates the severest of the sins. 157.

---

1. दुंभिनी-P. 2. यमिनाक्षरा-P; यमिकाक्षरा-T. 3. यथा –N,J. 4. कालाग्निरुद्री –P. 5. कालाग्नी रुद्रचण्डीं च –T. 6. चेते -N,J. 7. पिंगलना तथा –T, अनुपलब्धपंक्तिः-t1. 8. चन्द्राशचीवाली -T; चन्द्राशशीवाली –P,t1. 9. गलगा –T,t1. 10. मधुबोधिता –T,t1; वामस्तुबोधिता -P. 11. अपि -P,T,t1.

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् ||
कुलीनं तमहं मन्ये अन्ये तु[1] कुलघातकाः || 158 ||
gomāṃsaṃ bhakṣayennityaṃ pibedamaravāruṇīm //
kulīnaṃ tamahaṃ manye anye tu kulaghātakāḥ // 158 //

Tr. I consider him the noble, who consumes '*gomāṃsa*' (insertion of the tongue) and sucks the divine ambrosia (secretion from the moon). Others are black-sheep. 158.

जिह्वाप्रवेशसम्भूत[2]वह्निनोत्थापिता[3] खलु ||
चन्द्रात् स्रवति[4] यः सारः सा स्यादमरवारुणी || 159 ||[5]
jihvāpraveśasaṃbhūtavahninotthāpitā khalu //
candrāt sravati yaḥ sāraḥ sā syādamaravāruṇī //159 //

Tr. *amara-vāruṇī* (the divine ambrosia) is the secretion of the nectar, which is made to flow from the moon by the stimulation of fire through insertion of the tongue in the cavity. 159.

इति श्रीनिवासयोगी[6]विरचितायां[7] हठरत्नावल्यां द्वितीयोपदेशः[8]

iti śrīnivāsayogīviracitāyāṃ haṭharatnāvalyāṃ dvitīyopadeśaḥ
This is the second chapter of haṭharatnāvalī composed by śrīnivāsayogī

---

1. इतरे P; त्वितरे –T,t1. 2. जिह्वाप्रवेशनं भूतं-P,T,t1. 3. वह्निनोद्घापिताखलु-P,T,t1, वह्निनोत्थापितः-n3. 4. द्रवति–T. 5. 'इति खेचरी मुद्रा'-P,T,t1. 6. योगीन्द्र-P,T. 7. श्रीनिवासविरचितायां–n2,n3,n4. 8. एतदनन्तरम्–
"वज्रोली वर—– दश महामुद्रान्वितैः कुम्भकैः
युक्तिः केवलकुम्भकेण महता क्षेमंकरेणाधिकम् ||
ख्याते रम्यसुवर्णराजकथिते रत्नावलीनामके
ग्रन्थेऽस्मिन्नुपदेश एष विहितारम्भो (विविधारम्भो-t1) द्वितीयो गतः || "
अधिकः पाठः -P,T,t1.

तृतीयोपदेशः[1]

अथाष्टांगयोगः[2]—

अथातोऽष्टांगयोगानां स्वरूपं किञ्चिदुच्यते[3] ||
बहवो योगिनः सिद्धा अङ्गैरेतैश्च शोभनैः || 1 ||

***athāṣṭāṅgayogaḥ* —**

athāto'ṣṭāṅgayogānāṃ svarūpaṃ kiñciducyate //
bahavo yoginaḥ siddhā aṅgairetaiśca śobhanaiḥ // 1 //

Tr. Now the nature of *aṣṭāṅga-yoga* is being explained. Many *yogīs* have attained *siddhis* through these efficacious methods. 1.

मनःप्रसादसन्तोषो मौनमिन्द्रियनिग्रहः ||
दया दाक्षिण्यमास्तिक्यमार्जवं मार्द्दवं क्षमा || 2 ||
भावशुद्धिरहिंसा च ब्रह्मचर्यं स्मृतिर्धृतिः[4] ||
इत्येवमादयश्चान्ये[5] मानसा[6] नियमाः स्मृताः || 3 ||

manaḥprasādasantoṣo maunamindriyanigrahaḥ //
dayā dākṣiṇyamāstikyamārjavaṃ mārddavaṃ kṣamā // 2 //
bhāvaśuddhirahiṃsā ca brahmacaryaṃ smṛtirdhṛtiḥ //
ityevamādayaścānye mānasā niyamāḥ smṛtāḥ // 3 //

Tr. Pacification of the mind, contentment, silence, control of sense organs, kindness, politeness, belief in God, straightforwardness, gentleness, forgiveness, purification of the thoughts, non-violence, celebacy, memory, forbearance and some such more—are known as *niyamas* for the mind. 2-3.

---

1. अनुपलब्धपाठः-N,J,P,T. 2. अष्टांगयोगमाह–J,n2, अथाष्टांगयोगमाह-P,J,T,n4, अथाष्टांगयोगः-n2,n3,n4, अनुपलब्धपाठः-P,T. 3. अनुपलब्धपाठः-N,n1,J, अनुपलब्धपंक्तिः-n2,n3,t1. 4. स्मृतिधृतिः-N. 5. इत्येवमाद्या येऽन्ये च–T,t1. 6. मनसो–P,T.

स्नानं शौचं ऋतं[1] सत्यं जप[2]होमश्च तर्पणम् ||
तपोदान्तिस्तितिक्षा च नमस्कारः[3] प्रदक्षिणम् ||
व्रतोपवासकाद्याश्च कायिका नियमाः स्मृताः || 4 ||

snānaṃ śaucaṃ vrataṃ satyaṃ japahomaśca tarpaṇam //
tapodāntistitikṣā ca namaskāraḥ pradakṣiṇam //
vratopavāsakādyāśca kāyikā niyamāḥ smṛtāḥ // 4 //

Tr. Bath, cleanliness, vow, truthfulness, recitation (of *mantras*), fire worship, libation of water, penance, self-control, endurance, reverential salutation, circumambulation, observance of vows, fasting etc.—are the *niyamas* for the body. 4.

Note: *śrīnivāsa* introduces *aṣṭāṅgayoga*, but he has given only *niyamas* under two heads as *mānasa-niyama* and *kāyika-niyama.* He does not elaborate on *yamas* and *niyamas* separately. He has included *yamas* like *ahimsā* and *brahmacarya* in the *mānasa-niyamas*, while *satya* in *kāyika-niyamas.* The *niyamas* like *śauca, tapas* are included under *kāyika-niyamas.* This seems to be quite different type of classification under *niyamas.* 1-4.

हठस्य प्रथमांगत्वादासनं दर्श्यते[4] मया ||
तत्कुर्यादासनं स्थैर्यमारोग्यं चांगपाटवम् || 5 ||
haṭhasya prathamāṅgatvādāsanaṃ darśyate mayā //
tatkuryādāsanaṃ sthairyamārogyaṃ cāṅgapāṭavam // 5 //

Tr. *āsana*, being the first part of *haṭha-yoga* curriculam, is being narrated here by me. Practice of *āsanas* alleviates diseases and contributes to stability, health and efficient body. 5.

वसिष्ठाद्यैश्च मुनिभि[5]र्मत्स्येन्द्राद्यैश्च योगिभिः ||
अंगीकृतान्यासनानि लक्ष्यन्ते कानिचिन्मया[6] || 6 ||

---

1. व्रतं–J,N,n1,n3, शौचावृतं–T,t1. 2. जपो–t1. 3. नमस्कार–P,T,t1,n2. 4. लक्ष्यते-P,T,t1; दृश्यते–N,n1. 5. 'मुनिभिः'-अनुपलब्धपाठः-N,J. **6.** अनुपलब्धपंक्तिः-n2,n4.

vasiṣṭhādyaiśca munibhirmatsyendrādyaiśca yogibhiḥ //
aṅgīkṛtānyāsanāni lakṣyante kānicinmayā // 6 //

Tr. Some of the *āsanas* accepted by the sages like *vaśiṣṭha* and *yogīs* like *matsyendra* are being described by me. 6.

Note: This verse is a repetition from HP and suggests two traditions of *āsanas*, namely, one of *munis* like *vaśiṣṭha* etc., and the other of *yogīs* like *matsyendra* etc. 6.

चतुरशीतिलक्षेषु एकैकं जीवजन्तुषु ॥
उद्धृत्य शम्भुना प्रोक्ताश्[1]चतुरशीति पीठिकाः[2] ॥ 7 ॥
caturaśītilakṣeṣu ekaikaṃ jīvajantuṣu //
uddhṛtya śambhunā proktāścaturaśīti pīṭhikāḥ // 7 //

Tr. *śambhu* has culled only eighty four *āsanas* representing one from each lac of the eighty four lacs of species. 7.

Note: It is customary in the *haṭha* texts, while describing *āsanas* to talk about the number of *āsanas* being eighty four lacs representing different species of creatures. GŚ (6) states that *śiva* has enumerated eighty four *āsanas* representing one from each lac of the species. However, very few texts give the list of eighty four *āsanas*. This is one of the texts which enumerates eighty four *āsanas*. 7.

[3]चतुरशीतिपीठेषु[4] केषाञ्चिल्लक्षणं ब्रुवे ॥
आदिनाथोदिताः पीठाः देहारोग्यसुखप्रदाः ॥ 8 ॥
caturaśītipīṭheṣu keṣāñcillakṣaṇaṃ bruve //
ādināthoditāḥ pīṭhāḥ dehārogyasukhapradāḥ // 8 //

Tr. From among eighty four *pīṭhas*, I give the characteristics of a few. These *pīṭhas* are recommended by *ādinātha*, and contribute to the sense of wellbeing. 8.

Note: *śrīnivāsa* has used *pīṭha* as a synonym for *āsana*.

Although *śrīnivāsa* enumerates eighty four *āsanas* in further verses, he does not describe the techniques of all the *āsanas*.

---

1. ' मत्स्येन्द्राद्यैश्च —-शम्भुना प्रोक्ताश्' –अनुपलब्धः –J,N,n1,n2,n3. 2. पीठकाः-J,P, चतुरशीतपीठिका–n2. 3. चतुरशीतिपीठकाः-t1,n4. 4. पीठानां–P,T,t1.

JP also describes eighty four *āsanas*, but most of the names vary from the list given by *śrīnivāsa*. 8.

सिद्धं भद्रं[1] तथा[2] वज्रं सिंह[3]शिल्पासनं परम् ||[4]
बन्धं करः[5] सम्पुटितं[6] शुद्धं[7] पद्मचतुष्टयम्[8] || 9 ||
दण्डपार्श्वं[9] च सहजं बन्धपिण्डं मयूरकम् ||
एकपादं मयूरं[10] च षण्मयूरमिहोच्यते || 10 ||
भैरवं कामदहनं पाणिपात्रं च कार्मुकम् ||
स्वस्तिकं गोमुखं वीरं मण्डूकं[11] मर्कटासनम् || 11 ||
मत्स्येन्द्रं पार्श्वमत्स्येन्द्रं बद्ध[12]मत्स्येन्द्रमेव च ||
निरालम्बनं[13] चान्द्राख्यं[14] काण्ठवं[15] चैकपादकम् || 12 ||
फणीन्द्रं पश्चिमं तानं[16] शयितपश्चिमतानकम्[17] ||
करणी चित्रनामासौ योगनिद्रा[18] विधूननम्[19] || 13 ||[20]
पादपीडन[21]हंसाख्ये[22] नाभीतलमतःपरम् ||
आकाशमुत्पादतलं नाभीलसितपादकम् || 14 ||[20]
वृश्चिकासनं चक्राख्य[23]मुत्फालकमितीर्यते ||
उत्तानकूर्मं कूर्मं च बद्धकूर्मं च नार्जवम्[24] || 15 ||
कबन्धासनमित्याहुः गोरक्षासनमेव च ||
अंगुष्ठमुष्टिकं ज्ञेयं[25] ब्रह्मप्रासादितं[26] तथा || 16 ||
पञ्चचूलिं[27] कुक्कुटं च एकपादककुक्कुटम् ||
आकारितं बन्धचूली पार्श्वकुक्कुटमेव च || 17 ||

---

1. पद्मं–n2,n3,n4. 2. करं–T. 3. सिंहं-n2,n3,n4. 4. सिद्धं भ्रदं वज्रसिंह शिल्पसिहासनं परम्'-P,T,t1. 5. बन्धकरं–n2, करं–t1. 6. बन्धं करसम्पुटितं–P,T,J,n1,n3,n4. 7. बन्धकरसम्पुटितशुद्धपद्मं–P, शुद्धपद्मं–T,t1. 8. शुद्धपद्मचतुष्टयं–n2. 9. दत्तपार्श्व-J,N,n3; दन्तपार्श्व-T,n1. 10. एकपादमयूरं–P,T,t1,n2. 11. माण्डूकं–P,T. 12. बन्ध–P,T,t1. 13. निरालम्बन–P,t1. 14. सान्द्राक्षौ–N,n1,n2,n3,J; शाद्राख्यं-T,t1, निरालम्बनसान्द्राक्षौ–n4. 15. भौण्डवं–N,n1,n3,n4,J. 16. ताणेः-t1. 17. शैतपश्चिमतानकम्-T,t1. 18. योगमुद्रा–P,T,N,J. 19. वधानने-T,t1. 20. श्लोक संख्या 12 तथा 13 अनुपलब्धा-N,n1,n2,n3,n4,J. 21. पादपिण्डन–t1. 22. पादपिण्डनहिंसाख्ये–P,T. 23. वृश्चिकासनचक्राख्ये –P,T,t1. 24 वनार्जवम्-J. 25. अंगुष्ठमुष्ठिकाज्ञेये–T,t1. 26. ब्रह्मप्रासारितं-N,J,t1. 27. पञ्चूचूली–J,N,n2,n3,n4,t1, पञ्चचूली–P,T.

अर्धनारीश्वरश्चैते[1] बकासन[2]धरावहे ||
चन्द्रकान्तं[3] सुधासारं[4] व्याघ्रासनमतः[5] परम् || 18 ||
राजासनमथेन्द्राणी शरभासनमेव च ||
रत्नासनं चित्रपीठं बद्धपक्षीश्वरासनम् || 19 ||
विचित्र[6]नलिनं कान्तं शुद्धपक्षी सुमन्द्रकम्[7] ||
चौरंगी च[8] तथा[9] क्रौञ्चं दृढासनखगासने ||
ब्रह्मासनं नागपीठमन्तिमं च शवासनम्[10] || 20 ||
एवं मिलित्वा चतुरशीत्यासनानि[11] ||

siddhaṃ bhadraṃ tathā vajraṃ siṃhaśilpāsanaṃ param //
bandhaṃ karaḥ samputitaṃ śuddhaṃ padmacatuṣṭayam / 9 /
daṇḍapārśvaṃ ca sahajaṃ bandhapiṇḍaṃ mayūrakam //
ekapādaṃ mayūraṃ ca ṣaṇmayūramihocyate //10 //
bhairavaṃ kāmadahanaṃ pāṇipātraṃ ca kārmukam //
svastikaṃ gomukhaṃ vīraṃ maṇḍūkaṃ markaṭāsanam /11//
matsyendraṃpārśvamatsyendraṃ baddhamatsyendrameva ca
nirālambanaṃ cāndrākhyaṃ kāṇṭhavaṃ caikapādakam //12 //
phaṇīndraṃ paścimaṃ tānaṃ śayitapaścimatānakam //
karaṇī citranāmāsau yoganidrā vidhūnanam // 13 //
pādapīḍanaṃ haṃsākhye nābhītalamataḥparam //
ākāśamutpādatalaṃ nābhīlasitapādakam // 14 //
vṛścikāsanaṃ cakrākhyamutphālakamitīryate //
uttānakūrmaṃ kūrmaṃ ca baddhakūrmaṃ ca nārjavam /15 //
kabandhāsanamityāhuḥ gorakṣāsanameva ca //
aṅguṣṭhamuṣṭikaṃ jñeyaṃ brahmaprāsāditaṃ tathā // 16 //
pañcacūliṃ kukkuṭaṃca ekapādakakukkuṭam //
ākāritaṃ bandhacūlī pārśvakukkuṭameva ca // 17 //
ardhanārīśvaraścaite bakāsanadharāvahe //
candrakāntaṃ sudhāsāraṃ vyāghrāsanamataḥ param // 18 //

---

1. अर्द्ध-नारीश्वर ' चैते–P,T,t1. 2. वकासनं–T1J,n1,n2,n3,n4. 3. चन्द्रकान्त-P. 4. सुरासारं –N,n3,J. 5. मितः -P,T,t1. 6. विचित्रं –P. 7. सुमन्दकम् -P,T,t1,n1,n2,n3. 8. चौरण्डकं –n3. 9. चौरं —-तथा –J,n1, चौरासनं तथा –N. 10. शरासनं –T,t1. 11. अनुपलब्धपंक्तिः-J,N,n1,n2,n3.

rājāsanamathendrāṇī śarabhāsanameva ca //
ratnāsanaṃ citrapīṭhaṃ baddhapakṣīśvarāsanam // 19 //
vicitranalinaṃ kāntaṃ śuddhapakṣī sumandrakam //
caurangī ca tathā krauñcaṃ dṛḍhāsanakhagāsane //
brahmāsanaṃ nāgapīṭhamantimaṃ ca śavāsanam // 20 //
evaṃ militvā caturaśītyāsanāni //

Tr. *siddha, bhadra, vajra, siṃha, śilpāsana*, four types of *padmāsana*, such as- *bandha, kara, samputita* and *śuddha*, six types of *mayūrāsana* such as *daṇḍa, pārśva, sahaja, bandha, piṇḍa, ekapāda; bhairava, kāmadahana, pāṇipātra, kārmuka, svastika, gomukha, vīra, maṇḍūka, markaṭa, matsyendra, pārśvamatsyendra, baddhamatsyendra, nirālambana, cāndra, kāṇṭhava, ekapādaka, phaṇīndra, paścimatāna, śayitapaścimatāna, citrakaraṇī, yoganidrā, vidhūnana, pādapīḍana, haṃsa, nābhītala, ākāśa, utpādatala, nābhīlasitapādaka, vṛścikāsana, cakra, utphālaka, uttānakūrma, kūrma, baddhakūrma, nārjava, kabandha, gorakṣāsana, anguṣṭha, muṣṭika, brahmaprāsādita*; five *kukkuṭas* such as — *pañcacūli-kukkuṭa, ekapādakakukkuṭa, ākārita, bandhacūlī and pārśvakukkuṭa; ardhanārīśvara, bakāsana, dharāvaha, candrakānta, sudhāsāra, vyāghrāsana, rājāsana, indrāṇī, śarabhāsana, ratnāsana, citrapīṭha, baddhapakṣī, īśvarāsana, vicitranalina, kānta, śuddhapakṣī, sumandraka, caurangī, krauñca, dṛḍhāsana, khagāsana, brahmāsana, nāgapīṭha,* and lastly *śavāsana*. 9-20.
Thus altogether there are eightyfour *āsanas*.

एवमुक्तेषु पीठेषु[1] मुख्याः प्रोक्तास्तथा दश ॥
स्वस्तिकं गोमुखं पद्मं वीरं[2] सिद्धासनं[3] तथा ॥ 21 ॥
मयूरं[4] कुक्कुटं चैव भद्रं सिंहासनं तथा ॥
मुक्तासनं तु विख्यातं तेषु मुख्यं[5] चतुष्टयम् ॥ 22 ॥
evamukteṣu pīṭheṣu mukhyāḥ proktāstathā daśa //
svastikaṃ gomukhaṃ padmaṃ vīraṃ siddhāsanaṃ tathā /21/

---

1. पीठेषु – अनुपलब्धः–N. 2. वीर–P. 3. सिंहासनं -T,J,N,n2. 4. मायूरं–P,T. 5. मध्यं–P,T,t1.

mayūraṃ kukkuṭaṃ caiva bhadraṃ siṃhāsanaṃ tathā //
muktāsanaṃ tu vikhyātaṃ teṣu mukhyaṃ catuṣṭayam //22//

Tr. Among these *āsanas*, ten are considered important, which are : *svastika, gomukha, padma, vīra, siddhāsana, mayūra, kukkuṭa, bhadra, siṃhāsana* and *muktāsana.* Out of these, four are more important. 21-22.

हठप्रदीपिकायाम्[1]—
चतुरशीत्यासनानि शिवेन कथितानि तु[2] ॥
तेभ्यश्चतुष्कमादाय[3] सारभूतं ब्रवीम्यहम् ॥ 23 ॥
haṭhapradīpikāyām —
caturaśītyāsanāni śivena kathitāni tu //
tebhyaścatuṣkamādāya sārabhūtaṃ bravīmyaham // 23 //

According to HP—

Tr. *śiva* has narrated eighty four *āsanas,* out of which, I describe four most excellent ones. 23.

सिद्धं पद्मं तथा सिंहं भद्रं चेति चतुष्टयम् ॥
श्रेष्ठं तत्रापि[4] च तथा[5] तिष्ठेत्सिद्धासने[6] सदा ॥ 24 ॥
siddhaṃ padmaṃ tathā siṃhaṃ bhadraṃ ceti catuṣṭayam //
śreṣṭhaṃ tatrāpi ca tathā tiṣṭhetsiddhāsane sadā // 24 //

Tr. The four *āsanas* are: *siddha, padma, siṃha* and *bhadra. siddhāsana* is the best among these four, which one should always adopt. 24.

तत्र[7] सिद्धासनम् —
योनिस्थानक[8]मंघ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसेन्
मेढ्रे पादमथैकमेव नियतं[9] कृत्वा समं विग्रहम् ॥
स्थाणुः संयमितेन्द्रियोऽचलदृशा पश्यन्[10] भ्रुवोरन्तरं
चैतन्मोक्षकपाट[11]भेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते ॥ 25 ॥

---

1. एतदेवोक्तं हठप्रदीपिकायामपि -P,T,t1; अनुपलब्धः-J. 2. च -J. 3. तेषां मध्ये चतुष्कं तु–N,n1,n3,n4,J,T,t1, तस्माच्चतुष्कमादाय–n2. 4. तथापि -P,T,t1. 5. सत्वे -P; सखे–T,t1; तदा -N. 6. तिष्ठे सिद्धासने-P; तिष्ठ सिद्धासने-T,t1. 7. अत्र -P,T. 8. योनिद्वारकम–P,T. 9. हृदयं-N,J, हृदये–T,t1,n2. 10. पश्येद् -P,T,t1. 11. कवाट–P,T,t1.

***tatra siddhāsanam*—**
yonisthānakamaṅghrimūlaghaṭitaṃ kṛtvā dṛḍhaṃ vinyasen
meḍhre pādamathaikameva niyataṃ kṛtvā samaṃ vigraham //
sthāṇuḥ saṃyamitendriyo'caladṛśā paśyan bhruvorantaraṃ
caitanmokṣakapāṭabhedajanakaṃ śiddhāsanaṃ procyate / 25/

Tr. One should press the heel firmly against the perineum and place the other foot over the genital. He should remain straight and steady, control the senses, and keep the gaze fixed between the eyebrows. This is *siddhāsana,* which opens the door to liberation (*mokṣa*). 25.

मतान्तरे तु[1] —
मेढ्रादुपरि निःक्षिप्य[2] सव्यं गुल्फं[3] तथोपरि ॥
गुल्फान्तरं तु[4] निःक्षिप्य सिद्धाः सिद्धासनं विदुः ॥ 26 ॥

***matāntare tu* —**
meḍhrādupari niḥkṣipya savyaṃ gulphaṃ tathopari //
gulphāntaraṃ tu niḥkṣipya siddhāḥ siddhāsanaṃ viduḥ //26 //

According to others—

Tr. One places the left ankle over the genital and the other ankle over the first one. According to the *siddhas*, this is *siddhāsana.* 26.

एतत्सिद्धासनं प्राहुरन्ये वज्रासनं विदुः ॥
मुक्तासनं वदन्त्यन्ये[5] प्राहुर्गुप्तासनं परे ॥ 27 ॥
etat siddhāsanaṃ prāhuranye vajrāsanaṃ viduḥ //
muktāsanaṃ vadantyanye prāhurguptāsanaṃ pare // 27 //

Tr. This same *siddhāsana* is variously known as *vajrāsana, muktāsana* and *guptāsana* by others. 27.

Note: Although in this verse, *vajrāsana, muktāsana* and *guptāsana* are considered synonyms of *siddhāsana,* other authorities, however, make differentiation in these four variations of *siddhāsana.*

---

1. अनुपलब्धपाठः-N,n1,2,3,J. 2. **विन्यस्य**-P,T,t1. 3. **सव्यगुल्फं**–n2. 4. **च**-P,T,t1.
5. **वदन्त्येके**-P,T,t1,n2.

1. When left heel is placed at the perineum and the right heel is placed on the organ of generation, it is *siddhāsana.*
2. When right heel is placed at the perineum and the left heel is placed on the organ of generation, it is *vajrāsana.*
3. When the right heel is placed on the left heel and both the heels are placed at the perineum, it is *muktāsana.*
4. When right heel is placed on the left heel and both the heels are placed on the organ of generation, it is *guptāsana.*

GhS (ii.20) gives another technique of *guptāsana,* in which one hides the two feet between the knees and thighs in such a manner that the feet come under the anus. 27.

ब्रह्मचारी मिताहारी त्यागी[1] योगपरायणः ॥
अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो[2] नात्र कार्या विचारणा ॥ 28 ॥

brahmacārī mitāhārī tyāgī yogaparāyaṇaḥ //
abdādūrdhvaṃ bhavetsiddho nātra kāryā vicāraṇā // 28 //

Tr. There is no doubt that one, who observes celibacy, consumes moderate food, is detached (to worldy objects) and devoted to *yoga*, attains success after one year. 28.

नासनं सिद्धसदृशं न कुम्भकं केवलोपमः[3] ॥
न खेचरीसमा[4] मुद्रा न नादसदृशो लयः ॥ 29 ॥

nāsanaṃ siddhasadṛśaṃ na kumbhakaṃ kevalopamaḥ //
na khecarīsamā mudrā na nādasadṛśo layaḥ // 29 //

Tr. There is no *āsana* like *siddha,* no *kumbhaka* like *kevala,* no *mudrā* like *khecarī* and no *laya* (absorption) like *nāda.* 29.

---

1. योगी-P,T,t1. 2. भवेत्सिद्धिः-P,T,t1. 3. नासनं सिद्धसदृशं न कुंभसदृशोऽनिलः-N,n1,n2,n3,J. 4. खेचर्या समा –P,T,t1.

अथ भद्रासनम् —

गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः[1] पार्श्वयोः क्षिपेत् ॥
पार्श्वपादौ[2] च पाणिभ्यां दृढं बद्ध्वा सुनिश्चलम्[3] ॥
भद्रासनं भवेदेतत् सर्वव्याधिविषापहम् ॥ 30 ॥

atha bhadrāsanam —
gulphau ca vṛṣaṇasyādhaḥ sīvanyāḥ pārśvayoḥ kṣipet //
pārśvapādau ca pāṇibhyāṃ dṛḍhaṃ baddhvā suniścalam //
bhadrāsanaṃ bhavedetat sarvavyādhiviṣāpaham // 30 //

Tr. The two ankles are put under the scrotum on the two sides of the perineum. One catches hold of the feet with hands and remains steady. This is *bhadrāsana,* which removes all the diseases and toxins. 30.

Note: GhS(ii.9-10) gives a different variety of *bhadrāsana.* In this, instead of two ankles placed on the two respective sides of the perineum, the ankles are everted with the toes turned backwards. For detailed discussion, refer to YM (vol. x, No. 1, pp.28-33). 30.

अथ सिंहासनम्[4] —

गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः[5] पार्श्वयोः क्षिपेत् ॥ [4]
दक्षिणे सव्यगुल्फं च दक्षिणे तु तथेतरम्[6] ॥ 31 ॥
हस्तौ च जान्वोः[7] संस्थाप्य स्वाङ्गुलीः[8] सम्प्रसार्य च ॥
व्यात्तवक्त्रो निरीक्षेत नासाग्रं सुसमाहितः ॥ 32 ॥

atha siṃhāsanam–
gulphau ca vṛṣaṇasyādhaḥ sīvanyāḥ pārśvayoḥ kṣipet //
dakṣiṇe savyagulphaṃ ca dakṣiṇe tu tathetaram // 31 //
hastau ca jānvoḥ saṃsthāpya svāṅgulīḥ samprasārya ca //
vyāttavaktro nirīkṣeta nāsāgraṃ susamāhitaḥ // 32 //

---

1. स्विवन्यां –T. 2. पार्श्वे पादौ-P,T,t1. 3. सुनिश्चलां –P,t1. 4. अनुपलब्धपंक्तिः-T. 5. सीवन्यां –P, स्विवन्यां –t1. 6. दक्षिणे सव्यगुल्फं तु दक्षगुल्फं तु वामके -P,T,t1,n2. 7. जानौ-N,J. 8. स्वाङ्गुलीं-P,T,t1.

Tr. The ankles are placed under the scrotum on both the sides of the perineum in such a manner that the left ankle is on the right side and the right on the left. The palms are placed on the knees, spreading the fingers and the mouth kept wide open. One fixes the gaze on the tip of the nose. 31-32.

सिंहासनं भवेदेतत्सेवितं[1] योगिभिः सदा ॥
बन्धत्रितयसंस्थानं कुरुते चासनोत्तमम् ॥ 33 ॥

siṃhāsanaṃ bhavedetatsevitaṃ yogibhiḥ sadā //
bandhatritayasaṃsthānaṃ kurute cāsanottamam // 33 //

Tr. This is *siṃhāsana* practised by all the *yogīs.* This is an excellent *āsana,* which facilitates the application of the three *bandhas.* 33.

अथ पद्मासनम् —

वामोरूपरि दक्षिणं च चरणं संस्थाप्य वामं तथा
याम्योरूपरि पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढम् ॥
अंगुष्ठौ[2] हृदये निधाय चिबुकं[3] नासाग्रमालोकयेद्
एतद् व्याधिविनाशकारि[4] यमिनां[5] पद्मासनं प्रोच्यते ॥ 34 ॥

atha padmāsanam —

vāmorūpari dakṣiṇaṃ ca caraṇaṃ saṃsthāpya vāmaṃ tathā
yāmyorūpari paścimena vidhinā dhṛtvā karābhyāṃ dṛḍham //
aṅguṣṭhau hṛdaye nidhāya cibukaṃ nāsāgramālokayed
etad vyādhivināśakāri yamināṃ padmāsanaṃ procyate /34/

Tr. The right foot is placed on the left thigh and the left on the right, the big toes are held with the respective hands crossed behind the back, chin pressed against the chest and the gaze is directed towards the tip of the nose. This is *padmāsana,* which alleviates diseases of the *yogīs.* 34.

---

1. भवेदेतत् भजन्तं-P,T,t1, सेविते–T,n3,n4. 2. अंगुष्ठं-P,T,t1. 3. चुबुकं–T,t1. 4. एतद्व्याधिविनाशी–t1. 5. नाशनकरं–n3.

Note: The *padmāsana* described here and also in GhS (ii.8) and GŚ (9) is popularly known as *baddhapadmāsana.* TBU (*mantra*-39-40) describes *padmāsana* and *baddhapadmāsana* separately. 34.

तथा च याज्ञवल्क्यः —
पादाङ्गुष्ठौ[1] निबध्नीया[2]द्धस्ताभ्यां व्युत्क्रमेण[3] तु ||
ऊर्वोरुपरि विप्रेन्द्र कृत्वा पादतले उभे ||
पद्मासनं भवेदेतत् सर्वेषामपि पूजितम्[4] || 35 ||

***tathā ca yājñavalkyaḥ* —**
pādāṅguṣṭhau nibadhnīyāddhastābhyāṃ vyutkrameṇa tu //
ūrvorupari viprendra kṛtvā pādatale ubhe //
padmāsanaṃ bhavedetat sarveṣāmapi pūjitam // 35 //

According to *yājñavalkya* —

Tr. Place both the feet on the opposite thighs and catch hold of the big toes with the respective hands crossed. This is *padmāsana* respected by all. 35.

दत्तात्रेयोऽपि —
उत्तानौ चरणौ[5] कृत्वा ऊर्वोः संस्थाप्य यत्नतः ||
ऊरुमध्ये तथोत्तानौ[6] पाणी[7] कृत्वा ततो दृशौ || 36 ||
नासाग्रे विन्यसेद्राजदन्तमूलं च[8] जिह्वया ||
उत्तम्भ्य चिबुकं[9] वक्षःसंस्थाप्य पवनं शनैः || 37 ||

***dattātreyo'pi* —**
uttānau caraṇau kṛtvā ūrvoḥ saṃsthāpya yatnataḥ //
ūrumadhye tathottānau pāṇī kṛtvā tato dṛśau // 36 //
nāsāgre vinyasedrājadantamūlaṃ ca jihvayā //
uttambhya cibukaṃ vakṣaḥsaṃsthāpya pavanaṃ śanaiḥ //37//

---

1. पादांगुष्ठौ च-P, पदांगुष्ठौ न–t1. 2. निबध्नीया-T; बध्नीया-P,t1. 3. क्रमेण-P,T,t1. 4. पूज्यते -P,T. 5. चरणौ –अनुपलब्धः –N. 6. ततो स्थानौ -P; ततोत्थानौ-T. 7. पाणिं –J,N. 8. तु-P,T,t1,n2. 9. चुबुके –P,T,t1.

According to *dattātreya*—

Tr. Firmly place the upturned feet on the opposite thighs. Place the upturned palms between the thighs. Fix the gaze on the tip of the nose. Press the tongue against the root of the front teeth, press the chin against the chest and gently raise the *pavana* (*prāṇa*) up. 36-37.

इदं पद्मासनं प्रोक्तं सर्वव्याधिविनाशनम्[1] ‖
दुर्लभं येन केनापि धीमता लभ्यते भुवि ‖ 38 ‖
idaṃ padmāsanaṃ proktaṃ sarvavyādhivināśanam //
durlabhaṃ yena kenāpi dhīmatā labhyate bhuvi // 38 //

Tr. This is *padmāsana*, which cures all the diseases. This is difficult to be attained even by the wise. 38.

Note: In the earlier verse, there is a specific mention of placing the right foot on the left thigh and the left foot on the right thigh. Here there is no such mention. It only suggests that the feet should be on the opposite thighs and hands are placed one over the other. In this technique *jālandhara bandha* is to be accompanied with *jihvābandha*. There is no mention of *uḍḍiyāna bandha*. *brahmānanda*, commenting on this verse in HP(i.47), suggests that *jālandhara bandha* accompanied with *jihvā bandha* alone serves the purpose of *mūlabandha* and *uḍḍiyāna bandha*. 36-38.

कृत्वा सम्पुटितौ करौ दृढतरं बद्ध्वा[2] तु पद्मासनम्
गाढं वक्षसि सन्निधाय[3] चिबुकं[4] ध्यानं च तच्चेतसि ‖
वारंवारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोच्चारयेत्[5] पूरितम्
मुञ्चत्प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्तेः प्रभावान्नरः ‖ 39 ‖

kṛtvā sampuṭitau karau dṛḍhataraṃ baddhvā tu padmāsanam
gāḍhaṃ vakṣasi sannidhāya cibukaṃ dhyānaṃ ca taccetasi //
vāraṃvāramapānamūrdhvamanilaṃ proccārayet pūritam
muñcatprāṇamupaiti bodhamatulaṃ śakteḥ prabhāvānnaraḥ // 39//

---

1. सर्वव्याधिनिवारणम् -P,T,t1. **2.** कृत्वा –N,J. 3. संविधाय –J,n2. 4. चुबुके – N,J,t1. 5. प्रोच्चालयत् -P,T,t1,n2.

Tr. Firmly adopt *padmāsana*, fold the hands, firmly press the chin against the chest and repeatedly raise the *apāna* upwards forcefully so that it unites with *prāṇa.* Thus, one attains unparallel wisdom of the highest order through the arousal of *śakti (kuṇḍalī)* and by intense concentration on the Supreme Reality. 39.

Note: This verse is included under the description of *mudrās* in HP (10 ch. v. 145) published by Lonavla Yoga Institute (India). 39.

पद्मासने स्थितो[1] योगी नाडीद्वारेषु पूरयेत् ||
पूरितं ध्रियते यस्तु[2] स मुक्तो[3] नात्र संशयः || 40 ||
padmāsane sthito yogī nāḍīdvāreṣu pūrayet //
pūritaṃ dhrīyate yastu sa mukto nātra saṃśayaḥ // 40 //

Tr. Adopting *padmāsana*, a *yogī* should inhale through the two nostrils and hold the breath. Thus one undoubtedly becomes liberated. 40.

करौ सम्पुटितौ कुर्यात् तत्सम्पुटितपंकजम् || 41 ||
karau saṃpuṭitau kuryāt tat saṃpuṭitapaṅkajam // 41 //

Tr. When palms are folded forming a cavity, it is *saṃpuṭita-paṅkaja.* 41.

Note: *śrīnivāsa*, while commenting on the *āsanas*, gives four types of *padmāsanas*, namely, *baddhapadmāsana, karapadma, saṃ puṭitapadma,* and *śuddhapadma*, but he does not describe all of them. 41.

अथ मयूरम्[4] —
धरामवष्टभ्य करद्वयेन तत्कूर्परे[5] स्थापितनाभिपार्श्वः ||
उच्चासनो दण्डवदुत्थितः खे मयूरमेतत्प्रवदन्ति[6] पीठम् || 42 ||

---

1. पद्मासनस्थितो –P,T,t1. 2. पूरितं क्रियते यस्तु -P; मारुतं पीयते येन -N. 3. भुक्तो – P. 4. मायूरम् -P,N,n1,n2,n3,T. 5. तत्कूर्पर -P, करस्थूलाभ्यां तत्कूर्पर –T,t1. 6. मायूरमेतत् -P,t1, मायूरमेतद्वदन्ति -T.

atha mayūram —
dharāmavaṣṭabhya karadvayena
tatkūrpare sthāpitanābhipārśvaḥ //
uccāsano daṇḍavadutthitaḥ khe
mayūrametat pravadanti pīṭham // 42 //

Tr. The two palms are placed on the ground. Elbows are placed on the respective sides of the navel and the body is lifted in the air like a horizontal stick. This is known as *mayūra-pīṭha.* 42.

हरति सकलरोगानाशु गुल्मोदरादीन्
अभिभवति च[1] दोषानासनं श्रीमयूरम् ॥
बहुकदशनभुक्तं भस्मकुर्याद्विचित्रम्
जनयति जठराग्निं जीर्यते कालकूटम् ॥ 43 ॥

harati sakalarogānāśu gulmodarādīn
abhibhavati ca doṣānāsanaṃ śrīmayūram //
bahukadaśanabhuktaṃ bhasmakuryādvicitraṃ
janayati jaṭharāgniṃ jīryate kālakūṭam // 43 //

Tr. *mayūrāsana* enables quick relief from all the diseases of the spleen and the stomach and cures the imbalances caused by the humours. It further digests excess food and bad food, stimulates gastric fire and even digests the deadly poison. 43.

मयूरं दण्डवत्कुर्यान्मायूरं[2] दण्डनामकम्[3] ॥
कुर्यान्मायूरं पार्श्वाभ्यां मायूरपार्श्वनामकम्[4] ॥ 44 ॥

mayūraṃ daṇḍavatkuryānmāyūraṃ daṇḍanāmakam //
kuryānmāyūraṃ pārśvābhyāṃ māyūrapārśvanāmakam //44//

Tr. When *mayūra* is practised like a (horizontal) stick, it is called *daṇḍa-māyūra.* This same when practised on both the sides, is *pārśva-māyūra.* 44.

---

1. च- अनुपलब्धः–J,T. 2. मयूरं –T. 3. दण्डवन्मतम् -J,n3, दण्डवर्त्मकम्-n2. 4. मायूरं पार्श्वनामकम्-P, मायूरं पार्श्वनामवत् -T,t1.

मयूरं[1] पद्मकं कुर्यात् बद्धकेकीति[2] कथ्यते ॥ 45 ॥
mayūraṃ padmakaṃ kuryāt baddhakekīti kathyate // 45 //

Tr. With *padmāsana, mayūra* is called *baddhakekī.* 45.

अथ पिण्डमयूरासनम्[3] —

एकं पादं[4] मयूराग्रे प्रसार्यैकं मयूरवत्[5] ॥
इदं पिण्ड[6]मयूराख्यं सर्वव्याधिविनाशकम्[7] ॥ 46 ॥

atha piṇḍamayūrāsanam —

ekaṃ pādaṃ mayūrāgre prasāryaikaṃ mayūravat //
idaṃ piṇḍamayūrākhyaṃ sarvavyādhivināśakam // 46 //

Tr. Stretch one leg infront and the other stretched out like a peacock. This is *piṇḍa-mayūra,* which cures all the ailments. 46.

एकपादमयूरासनम्[8] —

कण्ठे पादं[9] प्रसार्यैकमेकपादं[10] मयूरके ॥ 47 ॥

ekapādamayūrāsanam —

kaṇṭhe pādaṃ prasāryaikamekapādaṃ mayūrake // 47 //

Tr. One leg is placed over the neck and the other stretched out, forming *ekapāda-mayūra.* 47.

Note: *śrīnivāsa* gives six varieties of *mayūrāsana* but describes only five. The *sahajamayūra* has not been described. 47.

अथ भैरवासनम् —

गुल्फौ सम्पीड्य चान्योऽन्यं व्युत्क्रमेणोत्थितं शनैः ॥
जान्वोः पार्श्वगतौ हस्तौ दण्डवद् भैरवासनम् ॥ 48 ॥

atha bhairavāsanam —

gulphau sampīḍya cānyo'nyaṃ vyutkrameṇotthitaṃ śanaiḥ //
jānvoḥ pārśvagatau hastau daṇḍavad bhairavāsanam // 48 //

Tr. Press the two ankles with each other and raise them up. Place the hands straight by the sides of the knees. This is *bhairavāsana.* 48.

---

1. मायूरं–T,n3. 2. बंधेकेकीति-N,J, बद्धकेकेति-T. 3. पिण्डमयूरम्-P,T,J,n2. 4. एकपादं–N,P,T. 5. मयूरतः-P,T,t1. 6. पिण्डं–P. 7. विनाशनम्-P,T. 8. अनुपलब्धः–J,T,n1,n2,n3. 9. पदं-P. 10. प्रसार्यैकपादं-n1,n2,n3,n4,T1; प्रसार्यैव एकपादं-T.

अथ कामदहनम्[1] —

भद्रासनं सुखं स्थाप्य विपरीते तु द्वे पदे[2] ॥

अनेन यदि कुर्याच्चैतत्[3] कामदहनं[4] भवेत् ॥ 49 ॥

atha kāmadahanam —

bhadrāsanaṃ sukhaṃ sthāpya viparīte tu dve pade //

anena yadi kuryāccaitat kāmadahanaṃ bhavet // 49 //

Tr. Comfortably adopt *bhadrāsana* and place the toes turned backwards. This posture is *kāmadahana.* 49.

Note: The arrangement of the feet resembles the technique of *bhadrāsana* described in GhS (ii.9-10). 49.

अथ पाणिपात्रासनम्[5] —

नाभौ संस्थाप्य गुल्फौ च तन्मध्ये करपात्रताम् ॥

शनैर्यत्नेन कुर्वीत पाणिपात्रं तदुच्यते ॥ 50 ॥

atha pāṇipātrāsanam —

nābhau saṃsthāpya gulphau ca tanmadhye karapātratām //

śanairyatnena kurvīta pāṇipātraṃ taducyate // 50 //

Tr. Gently press the ankles against the navel and arrange the hands like a water pot there. This is *pāṇipātra.* 50.

अथ धनुरासनम् —

पादांगुष्ठौ तु पाणिभ्यां गृहीत्वा श्रवणावधि ॥

धनुराकर्षणं कृत्वा[6] धनुरासनमुच्यते[7] ॥ 51 ॥

atha dhanurāsanam —

pādāṅguṣṭhau tu pāṇibhyāṃ gṛhītvā śravaṇāvadhi //

dhanurākarṣaṇaṃ kṛtvā dhanurāsanamucyate // 51 //

Tr. The big toes are held with the hands and are pulled upto the ears (alternately). Thus, one assumes the shape of a stretched bow. This is *dhanurāsana.* 51.

---

1. अथ कामदहनासनम्-n1. 2. पदोः-J,P,T, पदौ–n2, पदयोः -n3. 3. कुयद्धि-P,t1, कुर्या द्वे-T. 4. तत्कामदहनो-N,J,t1. 5. पाणिपात्रे-J, पाणिपात्रम् -P,T,n2. 6. धनुशकर्षणाकृष्टं-P; धनुराकारणाकृष्टं-T,t1. 7. धनुरासनमेव च-P.

Note: This variety is called *ākarṣaṇa-dhanurāsana* to differentiate it from the variety of *dhanurāsana* described in GhS (ii.18). The technique of *dhanurāsana* described in GhS is different and is done in prone lying position. For detailed discussion, see YM (vol.ix, No. 4, pp. 42-54). 51.

अथ स्वस्तिकासनम् —
जानूर्वोरन्तरं सम्यक् कृत्वा पादतले उभे ॥
ऋजुकायसमासीनः[1] स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते ॥ 52 ॥[2]

atha svastikāsanam —
jānūrvorantaraṃ samyak kṛtvā pādatale ubhe //
ṛjukāyasamāsīnaḥ svastikaṃ tat pracakṣate // 52 //

Tr. Arrange both the soles (feet) properly between the thighs and the shanks and sit erect. This is called *svastikāsana*. 52.

Note: *brahmānanda* in his commentary *jyotsnā* suggests the reading '*jaṅghorvor*' instead of '*jānūrvor*', meaning 'between the thigh and the shank', rather than 'thigh and the knee'. 52.

अथ गोमुखासनम् —
सव्ये दक्षिणगुल्फं तु पृष्ठपार्श्वे नियोजयेत् ॥
दक्षिणेऽपि तथा सव्यं गोमुखं गोमुखासनम्[3] ॥ 53 ॥

atha gomukhāsanam —
savye dakṣiṇagulphaṃ tu pṛṣṭhapārśve niyojayet //
dakṣiṇe'pi tathā savyaṃ gomukhaṃ gomukhāsanam // 53 //

Tr. Place the right ankle by the side of the left hip and the left ankle by the right hip, thus imitating the shape of a cow's head. This is *gomukhāsana*. 53.

Note: Another popular variety of *gomukhāsana* requires the hands to be braced on the back, left hand coming from below and the right hand coming from above over the right shoulder. This

---

1. ऋजुकायः सुखासीनः-P,T,t1, ऋजुकायः समासीनः-n3. 2. श्लोकोऽयं गोमुखासनानन्तरं-P. 3. गोमुखाकृति-P.

arrangement of the hands is described in BYS-19,20 and generally it is practised. This may be called *baddhahasta-gomukhāsana.* HY, however, suggests to hold the big toes by crossing the hands behind. For detailed discussion on varieties of *gomukhāsana*, refer to YM (vol.xviii, No. 1, pp.41-44). 53.

अथ वीरासनम्[1] —

एकं पादमथैकस्मिन् विन्यसेदूरुणि स्थिरम्[2] ||
इतरस्मिंस्तथा चोरुं[3] **वीरासनमितीरितम्** || 54 ||[4]

***atha vīrāsanam* —**

ekaṃ pādamathaikasmin vinyasedūruṇi sthiram //
itarasmiṃstathā coruṃ vīrāsanamitīritam // 54 //

Tr. Place one foot on the opposite thigh and the other foot under the opposite thigh and remain steady. This is called *vīrāsana.* 54.

Note: This is also known as *ardhāsana* in YV (II: 46). Besides HP(i.21), this variety is described in other *yogic* texts such as SUp (i: 2-4), TBU (37), AhS (xxxi: 39) and TVd (ii: 46). The technique of *vīrāsana* differs in GhS(ii.17) from the one given here. In GhS variety, one foot is placed on the opposite thigh while turning the other foot backwards. Traditions differ in the use of the upper foot being placed on the opposite thigh. JUp (iii: 6) prescribes left foot to be kept on the right thigh, while *brahmānanda* in his commentary *jyotsnā,* recommends right foot to be placed on the left thigh. But HP permits both these variations. Although, there is no mention about the arrangement of hands in *vīrāsana*, its being a meditative pose, the hands are comfortably placed on the knees. 54.

अथ मण्डूकासनम्[5] —

पृष्ठं[6] **सम्पीड्य गुल्फाभ्यां जान्वंगे सवलयाकृतिः**[7] ||
हस्तौ पादतले क्षिप्तौ मण्डूकं पाददोषहृत् || 55 ||

---

1. अनुपलब्धः–J. 2. स्थितं–T. 3. इतरेऽस्मिन् तथा चोक्तं–T,t1. 4. अनुपलब्धः-N,n1,n2,n3,J. 5. अनुपलब्धः-N,n1,n2,n3,J. 6. पादौ-P. 7. सरलाकृतिः-N,n1,n3,J.

atha maṇḍūkāsanam —
pṛṣṭhaṃ sampīḍya gulphābhyāṃ jānvaṅge savalayākṛtiḥ //
hastau pādatale kṣiptau maṇḍūkaṃ pādadoṣahṛt // 55 //

Tr. The ankles are placed under the buttocks. The knees are kept wide apart. Hands are placed under the feet. This is *maṇḍūkāsana,* which removes diseases of the legs. 55.

अथ मर्कटासनम्[1] —
पादौ सम्पीड्य[2] **हस्ताभ्यां अंगुष्ठौ**[3] **धारयेद् दृढम्** ॥
पादमध्ये शिरः क्षिप्त्वा धनुर्वन्मर्कटासनम्[4] ॥ 56 ॥

atha markaṭāsanam —
pādau sampīḍya hastābhyāṃ aṅguṣṭhau dhārayed dṛḍham //
pādamadhye śiraḥ kṣiptvā dhanurvanmarkaṭāsanam // 56 //

Tr. Pressing the legs with the hands, firmly hold the big toes (from behind) and drop the head between the legs, imitating the form of a bow. This is *markaṭāsana.* 56.

अथ मत्स्येन्द्रासनम्[5] —
वामोरुमूलार्पितदक्षपादो[6] **जान्वोर्बहिर्वेष्टितदक्षदोष्णा** ॥
प्रगृह्य तिष्ठेत्परिवर्तिताङ्गः श्रीमत्स्यनाथोदितमासनं स्यात् ॥ 57 ॥

atha matsyendrāsanam —
vāmorumūlārpita dakṣapādo
jānvorbahirveṣṭitadakṣadoṣṇā //
pragṛhya tiṣṭhetparivartitāṅgaḥ
śrīmatsyanāthoditamāsanaṃ syāt // 57 //

Tr. Place the right foot at the root of the left thigh and place the left leg by the side of the right knee. Hold the left leg by the right hand and twist the body and remain steady. This *āsana* is propagated by *matsyendranātha.* 57.

---

1. अथ कमठासनं –n2. 2. संस्थाप्य –n1. 3. अंगुष्ठे -P,T,t1. 4. कमठासनम् -n2. 5. मत्स्येन्द्रासन –J. 6. दक्षपादं-P, दक्षपादौ –t1.

मत्स्येन्द्रपीठं जठरप्रदीप्तं[1] प्रचण्डरुग्मण्डलखण्डनास्त्रम् ॥
अभ्यासतः कुण्डलिनीप्रबोधं दण्डस्थिरत्वं च ददाति पुंसाम् ॥ 58 ॥

matsyendrapīṭhaṃ jaṭharapradīptaṃ
pracaṇḍarugmaṇḍalakhaṇḍanāstram //
abhyāsataḥ kuṇḍalinīprabodhaṃ
daṇḍasthiratvaṃ ca dadāti puṃsām // 58 //

Tr. *matsyendra-pīṭha* enhances the gastric fire and works like a weapon to destroy hosts of severe diseases. Moreover, it helps arousal of *kuṇḍalinī* and offers stability to the spine. 58.

Note: The technique of *matsyendrāsana* given here differs from the one available in GhS. In GhS (ii.22-23), the hand is bent in the elbow crossing the raised knee and the chin rests on the palm of the hand.

In the technique of *matsyendrāsana,* though only the left twist is described, it is to be repeated on the other side also giving the right twist, as suggested by *brahmānanda*. 58.

पार्श्वाभ्यां ध्रियते यस्तु पार्श्वमत्स्येन्द्रमुत्तमम् ॥ 59 ॥

pārśvābhyāṃ dhriyate yastu pārśvamatsyendramuttamam/59/

Tr. When held by the sides, it forms *pārśva-matsyendra*, which is excellent. 59.

करेण बन्धयेत् तत्तु[2] बद्धमत्स्येन्द्रासनम्[3] ॥ 60 ॥

kareṇa bandhayet tattu baddhamatsyendrāsanam // 60 //

Tr. When tied with the hand, it makes *baddha-matsyendra*. 60.

Note: In these verses, two more varieties of *matsyendrāsana* are given, but the techniques are not clearly described. 59-60.

---

1 . जठरप्रदीप्तं –P, जठर प्रवृत्तं –T,t1, ज्वलनप्रवृत्तः -N,n1,n3,J. **2.** तं तु –P,T,t1. 3. बद्धमत्स्येन्द्रमासनं –J,N,P.

अथ निरालम्बनम् —

कराभ्यां पंकजं कृत्वा तिष्ठेत्कूर्परया सुधीः ॥
मुखमुन्नमयन्नुच्चै[1]र्निरालम्बनमासनम् ॥ 61 ॥

atha nirālambanam —

karābhyāṃ paṅkajaṃ kṛtvā tiṣṭhetkūrparayā sudhīḥ //
mukhamunnamayanuccair nirālambanamāsanam // 61 //

Tr. Hands forming like a lotus and supporting on the elbows, raise the face up. This is called *nirālambanāsana*. 61.

निरालम्बनयोगी स्यान्निरालम्बनमासनम् ॥[2]
निरालम्बनता ध्यानं[3] निरालम्बनमासनम्[4] ॥ 62 ॥
nirālambanayogī syānnirālambanamāsanam //
nirālambanatā dhyānaṃ nirālambanamāsanam // 62 //

Tr. Practising *nirālambana āsana*, a *yogī* attains the state of *nirālambana*. The posture *nirālambana* culminates into *nirālambana dhyāna*. 62.

अथ सौराशनम्[5] —

प्रसार्यैकं पादतलं[6] संस्थाप्य त्वेकपादकम्[7] ॥ 63 ॥

atha saurāsanam —

prasāryaikaṃ pādatalaṃ saṃsthāpya tvekapādakam // 63 //

Tr. Stretch out one leg and place the other foot on the ground. 63.

अथैकपादाशनम्[8] —

एक[9]पादमथो कण्ठे उत्थाप्यैकं च दण्डवत् ॥
करौ सम्पुटितौ[10] कृत्वा एकपादं तदुच्यते ॥ 64 ॥

athaikapādāsanam —

ekapādamatho kaṇṭhe utthāpyaikaṃ ca daṇḍavat //
karau sampuṭitau kṛtvā ekapādaṃ taducyate // 64 //

---

1. मुखमुन्नमयेच्च-N, सुखमुन्नमयन्नुच्चैः-T, मुखमुन्नमयन्नुच्च–J. 2. अनुपलब्धापंक्तिः-N,n1,n2,n3,J,t1. 3. शेषः-T. 4. अनुपलब्धपाठः-T. 5. अथ एकपादासनम्-T. 6. पादतले–J. 7. संस्थाप्यौकपादकम्-P. 8. एकपादासनम्-T. 9. एकं–P. 10. सम्पुटितं -N.

Tr. Having placed one leg over the neck, the other leg is raised up like a stick. The hands are folded on the chest. This is called *ekapāda.* 64.

अथ फणीन्द्रासनम्[1] —
पादाभ्यां वेष्टयेत्कण्ठं करयोः संस्थितोन्मुखम्[2] ॥
फणीन्द्रं सर्वदोषघ्नं वोभूयात्[3] सुखदं सदा ॥ 65 ॥ [4]

atha phaṇīndrāsanam —
pādābhyāṃ veṣṭayetkaṇṭhaṃ karayoḥ saṃsthitonmukham //
phaṇīndraṃ sarvadoṣaghnaṃ vobhūyāt sukhadaṃ sadā //65 //

Tr. The neck is encircled with two legs and supporting (the body) with the hands, the face is turned upwards. This *phaṇīndra* removes all the ills and bestows upon one wellness for ever. 65.

अथ पश्चिमतानासनम्[5] —
प्रसार्य पादौ भुवि दण्डरूपौ दोर्भ्यां पदाग्र[6]द्वितयं गृहीत्वा[7] ॥
जानूपरि न्यस्तललाटदेशो वसेदिदं पश्चिमतानमाहुः ॥ 66 ॥ [4]

atha paścimatānāsanam —
prasārya pādau bhuvi daṇḍarūpau
dorbhyāṃ padāgradvitayaṃ gṛhītvā //
jānūpari nyastalalāṭadeśo
vasedidaṃ paścimatānamāhuḥ // 66 //

Tr. Stretch both the legs on the ground. Hold the big toes by the respective hands and put the forehead on the knees. This forms *paścimatāna.* 66.

इति पश्चिमतानमासनाग्र्यं पवनं पश्चिमवाहिनं[8] करोति ॥
उदयं जठरानलस्य कुर्यादुदरे कार्श्यमरोगतां च पुंसाम् ॥ 67 ॥ [4]

---

1. फणीन्द्रम्-J,P,T. 2. संस्थितो मुनिः-P,T. 3. वाभूयात्-J. 4. अनुपलब्धश्लोकः -n2. 5. पश्चिमतानम्-J,P,T. 6. द्वाभ्यां कराभ्यां –n1,3. 7. द्वाभ्यां कराभ्यां द्वितयं गृहीत्वा-N,J. 8. वाहनं –J.

iti paścimatānamāsanāgryaṃ
pavanaṃ paścimavāhinaṃ karoti //
udayaṃ jaṭharānalasya kuryā
udare kārśyamarogatāṃ ca puṃsām // 67 //

Tr. *paścimatāna* causes the currents of *prāṇa* to flow through *suṣumnā*, stimulates gastric fire, reduces the belly and brings good health to a person. 67.

Note: This is an important traditional *āsana*, which tones up nerves supplying the pelvic organs and arising from lumbo-sacral region. GhS(ii.26) calls it *paścimottānāsana.* ŚS (iii. 113-114) says that *ugrāsana* is a synonym for *paścimottānāsana,* although, there is a slight difference in the technique. 66-67.

शयितपश्चिमतानकम्[1] —
तानं शयित्वा[2] तु कुर्वीत शयितपश्चिमतानकम्[3] ‖ 68 ‖ *
śayitapaścimatānakam —
tānaṃ śayitvā tu kurvīta śayitapaścimatānakam // 68 //

Tr. Lie supine and practise *paścimatāna* to form *śayita-paścimatāna.* 68.

Note: For discussion on the varieties of *paścimatāna*, see YM (vol. 20, No. 4, pp. 56-66). 68.

अथ विचित्रकरणीनामासनम्[4] —
शयितपश्चिमतानस्थे[5] हस्तौ[6] तत्र[7] प्रसारयेत् ‖
पादौ दण्डसमौ कृत्वा[8] विचित्रकरणी भवेत् ‖ 69 ‖*
atha vicitrakaraṇīnāmāsanam —
śayitapaścimatānasthe hastau tatra prasārayet //
pādau daṇḍasamau kṛtvā vicitrakaraṇī bhavet // 69 //

Tr. Adopting *śayita-paścimatāna,* extend the hands and straighten the legs like stick. This is *vicitra-karaṇī.* 69.

---

1 . शयिततताणम्-P, शयितासनम् -N,n1; शेशे ताणं-T; शयीनासनम्-J. 2 . शेत्वा-P, ताणे शेत्वा-T. 3 . शैत- पश्चिमाताणकं-T; सैवपश्चिमताणकम्-N,J. 4 . विचित्रीनामासनं-J. 5 . शतपाश्चिमतारस्थः-J,N. 6 . करौ-P,T,t1,.7 . तत्-P,T,t1. 8 . कार्यौ -P,T,t1. * अनुपलब्धश्लोकः-n2,n3.

अथ योगनिद्रासनम्[1] —

पादाभ्यां वेष्टयेत्कण्ठं हस्ताभ्यां पृष्ठबन्धनम् ||
तन्मध्ये शयनं कुर्याद् योगनिद्रा सुखप्रदा || 70 ||

atha yoganidrāsanam —
pādābhyāṃ veṣṭayetkaṇṭhaṃ hastābhyāṃ pṛṣṭhabandhanam /
tanmadhye śayanaṃ kuryād yoganidrā sukhapradā // 70 //

Tr. Wind the legs around the neck, tie up the hands on the back and lie down. This is *yoganidrā,* which offers wellbeing. 70.

अथ विधूननम्[2] —

गुल्फ[3]स्थितौ पादमेकं प्रसार्य
तत्पादाग्रं संस्पृशेत्तत्करेण[4] ||
गुल्फं चान्यं धारयेत्तत्करेण
धूनं पीठं चाभ्यसेच्चोभयत्र || 71 ||

atha vidhūnanam —
gulphasthitau pādamekaṃ prasārya
tatpādāgraṃ saṃspṛśettatkareṇa //
gulphaṃ cānyaṃ dhārayettatkareṇa
dhūnaṃ pīṭhaṃ cābhyaseccobhayatra // 71 //

Tr. Resting on the heels, stretch one leg and touch its toes with the respective hand. The other heel is held with the other hand. This is *dhūna-pīṭha,* which should be practised on both the sides. 71.

अथ पादपीडनासनम्[5] —

स्थित्वैकस्मिन् पादतले कराभ्यां वेष्टयेत्तनुम् ||
पृष्ठे संस्थाप्य यत्नेन पादपीडनमासनम्[6] || 72 ||

atha pādapīḍanāsanam —
sthitvaikasmin pādatale karābhyāṃ veṣṭayettanum //
pṛṣṭhe saṃsthāpya yatnena pādapīḍanamāsanam // 72 //

---

1. अथ योगनिद्रा –J,P,T, अनुपलब्धपंक्तिः-n2,n3 . 2. अथ विधूनासनम् -N,n1. 3. गुल्फौ -P,T,t1. 4. पादौ –J,N,T. 5. पादपीठासनम् -P,T,n1,n2. 6. पादपीठनमासनम्-P,T,t1.

Tr. Stand on one leg. Fold the other leg at the back and hold it with the hands. This is called *pādapīḍanāsana*. 72.

अथ कुक्कुटासनम् —
पद्मासनं सुसंस्थाप्य[1] जानूर्वोरन्तरे करौ[2] ॥
निवेश्य भूमौ संस्थाप्य व्योमस्थः[3] कुक्कुटासनम् ॥ 73 ॥
atha kukkuṭāsanam —
padmāsanaṃ susaṃsthāpya jānūrvorantare karau //
niveśya bhūmau saṃsthāpya vyomasthaḥ kukkuṭāsanam /73/

Tr. Adopt *padmāsana*, insert the arms between the knees and the thighs and firmly place the palms on the ground and remain aloft. This is known as *kukkuṭāsana*. 73.

Note: *śrīnivāsa* mentions five varieties of *kukkuṭāsana*, namely, *pañcaculī-kukkuṭa, ekapāda-kukkuṭa, ākārita-kukkuṭa, bandhaculī-kukkuṭa* and *pārśva-kukkuṭa*, but does not describe them. In this verse, he describes only one variety, but which is this variety, is not clear. KKHP describes *paṅgu-kukkuṭāsana*, where the foot-lock is raised by balancing on one hand, the other hand grasping the wrist of the balancing hand. 73.

अथोत्तानकूर्मासनम्[4] —
कुक्कुटासनबन्धस्थो दोर्भ्यां सम्बध्य कन्धराम्[5] ॥
शेते कूर्मवदुत्तानमेतदुत्तानकूर्मकम्[6] ॥ 74 ॥
athottānakūrmāsanam —
kukkuṭāsanabandhastho dorbhyāṃ saṃbadhya kandharām //
śete kūrmavaduttānametaduttānakūrmakam // 74 //

Tr. Assume *kukkuṭāsana*, wind the arms around the neck and lie on the back like a tortoise. This is *uttāna-kūrmāsana*. 74.

Note: *nārāyaṇatīrtha* in YSC(ii.46-{12}) calls it *uttāna-kukkuṭāsana*. 74.

---

1. सुखं स्थाप्य –N,n1. 2. तथा –P,T,t1. 3. व्योमस्थ –J, व्योमस्थं –P,t1. 4. अथोत्तानकूर्म कम् -T, अथोत्तानकूर्म -n2. 5. कन्धरम् -N,n2, कन्दरम् -T. 6 .एतदुत्थानकूर्मकम् T, कूर्मके –J.

अथ वृश्चिकासनम् —

हस्तौ[1] धरामवष्टभ्य चरणौ भालसंस्थितौ[2] ||
गुल्फौ स्यातामुन्मुखः सन् वृश्चिकासनमीर्यते || 75 ||

atha vṛścikāsanam —

hastau dharāmavaṣṭabhya caraṇau bhālasaṃsthitau //
gulphau syātāmunmukhaḥ san vṛścikāsanamīryate // 75 //

Tr. Fix the hands on the ground, place the feet on the forehead, keeping the heels upturned. This is called *vṛścikāsana.* 75.

ग्रन्थविस्तारभीत्या तु सर्वेषां च न लक्षितम्[3] ||
granthavistārabhītyā tu sarveṣāṃ ca na lakṣitam //

Tr. All the *āsanas* are not described due to the apprehension that it may inflate the size of the book.

अथान्तिमं शवासनम्[4] —

प्रसार्य हस्तपादौ[5] च विश्रान्त्या शयनं तथा ||
सर्वासन[6]श्रमहरं शयितं तु शवासनम् || 76 ||

इत्यासननिरूपणम्[7] ||

athāntimaṃ śavāsanam —

prasārya hastapādau ca viśrāntyā śayanaṃ tathā //
sarvāsanaśramaharaṃ śayitaṃ tu śavāsanam // 76 //

ityāsananirūpaṇam //

Lastly *śavāsana*—

Tr. Spread out the hands and legs, while lying relaxed. *śavāsana,* which is practised in lying position, relieves fatigue caused due to practice of (all the) *āsanas.* 76.

Thus ends the description of *āsanas.*

---

1. पादौ –J,N,n1,n2,n3,T,t1. 2. फालसंस्थितौ –P,T,t1. 3. सर्वेषान्नचलक्षणम् -N,n3,J. 4. अन्तिमं शवासनम् -N. 5. हस्तौ पादौ -P,T,t1. 6. सवासन -J,N,n1. 7. अनुपलब्धपंक्तिः -T.

आसनेन रुजं हन्ति प्राणायामेन पातकम् ॥
प्रत्याहारेण योगीन्द्रो विकारं हन्ति मानसम् ॥ 77 ॥
āsanena rujaṃ hanti prāṇāyāmena pātakam //
pratyāhāreṇa yogīndro vikāraṃ hanti mānasam // 77 //

Tr. *āsanas* alleviate diseases, *prāṇāyāma* removes the sins and practice of *pratyāhāra* brings an end to mental ills of a *yogī*. 77.

Note: The sequence of verse No. 76 and 77 has been changed by the Editors to suit the proper presentation of the text. 77.

अथ प्राणायामः[1] **—**
अथासने दृढे योगी वशी हितमिताशनः[2] ॥
गुरूपदिष्टमार्गेण प्राणायामान्[3] समभ्यसेत् ॥ 78 ॥
atha prāṇāyāmaḥ —
athāsane dṛḍhe yogī vaśī hitamitāśanaḥ //
gurūpadiṣṭamārgeṇa prāṇāyāmān samabhyaset // 78 //

Tr. Having attained perfection in *āsana*, a *yogī*, who is self-restrained and who consumes wholesome and moderate food, should undertake the practice of *prāṇāyāma*, as instructed by the *guru*. 78.

[4]चले वाते चलं चित्तं[5] निश्चले[6] निश्चलं तथा[7] ॥ [8]
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरुन्धयेत्[9] ॥ 79 ॥
cale vāte calaṃ cittaṃ niścale niścalaṃ tathā //
yogī sthāṇutvamāpnoti tato vāyuṃ nirundhayet // 79 //

Tr. Mind becomes unstable as the breathing increases. When breathing is controlled, mind becomes stable and a *yogī* attains steadiness. Therefore the *vāyu* should be restrained. 79.

यावद्वायुः स्थितो देहे तावज्जीवितमुच्यते ॥
मरणं तस्य निष्क्रान्ति[10]स्ततो वायुं निरोधयेत्[11] ॥ 80 ॥

---

1. अथ प्राणायामप्रकरणं –n3. 2. मितहिताशनः-J. 3. प्राणायामं –n2. 4. अथ दृढबन्धनम्-अनुपलब्धपाठः -N,P. 5. सर्व-P,T,t1, बिन्दु-n2. 6. निश्चिते-P; अनुपलब्ध-T. 7. तथा-N. निश्चलं तथा-J,n1, निश्चलं भवेत-n3. हठबन्धनम्-P,n1,n2,t1. 8. दृढबन्धनम्-अधिकपाठः-P, इत्यासननिरूपणम्- अधिकपाठः-T,t1. 9. वायुनिबन्धनात्-P,T,t1, निबन्धयेत्-n2. 10. निष्क्रान्ते–P,T,t1. 11. निरुन्धयेत्-N,n1,n3,J.

yāvadvāyuḥ sthito dehe tāvajjīvitamucyate //
maraṇaṃ tasya niṣkrāntistato vāyuṃ nirodhayet // 80 //

Tr. Life exists so long as the *vāyu* (*prāṇa*) remains in the body. Death means the exit of *prāṇa*. Therefore, *prāṇa* should be controlled. 80.

मलाकुलासु नाडीषु मारुतो नैव मध्यगः ॥
कथं स्यादुन्मनीभावः कायसिद्धिः[1] कथं भवेत् ॥ 81 ॥ *
malākulāsu nāḍīṣu māruto naiva madhyagaḥ //
kathaṃ syādunmanībhāvaḥ kāyasiddhiḥ kathaṃ bhavet /81/

Tr. The *māruta* (*prāṇa*) cannot freely pass through the middle *nāḍī* (*suṣumnā*) due to morbidities in it. How can then one attain *unmanī* state and supernormal bodily powers. 81.

ब्रह्मादयोऽपि त्रिदशाः पवनाभ्यासतत्पराः ॥
अभूवन्मृत्युरहिता[2]स्तस्मात्पवनमभ्यसेत् ॥ 82 ॥
brahmādayo'pi tridaśāḥ pavanābhyāsatatparāḥ //
abhūvanmṛtyurahitāstasmātpavanamabhyaset // 82 //

Tr. Even the gods like *brahmā* etc. became free from death through consistent practice of *prāṇāyāma*. Therefore, one should practise *prāṇāyāma*. 82.

[3]सिद्धे वा बद्धपद्मे वा स्वस्तिके चाथवासने[4] ॥
ऋजुकायः समासीनः प्राणायामान्समभ्यसेत् ॥ 83 ॥ *
siddhe vā baddhapadme vā svastike cāthavāsane //
ṛjukāyaḥ samāsīnaḥ prāṇāyāmānsamabhyaset // 83 //

Tr. Adopt *siddha, baddha-padma* or *svastikāsana* and keeping the body erect, practise *prāṇāyāma*. 83.

---

1. कार्यसिद्धिः-J,N,t1. 2. अभूवन्नन्तकभयात्त-P,T,t1. 3. अथ प्राणायामप्रकार-P,T, अथ प्राणायामः -n2. 4. वा भवासने–P, वाथवासने–T,t1,n1. * अनुपलब्धश्लोकः -n3.

पद्मासनस्थितो योगी प्राणं चन्द्रेण पूरयेत् ॥[1]
प्राणं सूर्येण[2] चाकृष्य पूरयित्वोदरं शनैः ॥ 84 ॥
विधिवत्कुम्भकं कृत्वा पुनश्चन्द्रेण रेचयेत् ॥
येन त्यजेत्तेनापूर्य[3] धारयेदविरोधतः[4] ॥ 85 ॥[5]

padmāsanasthito yogī prāṇaṃ candreṇa pūrayet //
prāṇaṃ sūryeṇa cākṛṣya pūrayitvodaraṃ śanaiḥ // 84 //
vidhivatkumbhakaṃ kṛtvā punaścandreṇa recayet //
yena tyajettenāpūrya dhārayedavirodhataḥ // 85 //

Tr. Sit in *padmāsana*, draw *prāṇa* in through *candra* (left nostril) {See note}. Gently draw the *prāṇa* through *sūrya* (right nostril) and fill up the cavity. Retain the air in the prescribed manner and exhale through *candra* (left nostril). Inhale through the same nostril, through which exhalation is done and comfortably hold the breath. 84-85.

Note: After the first line, the next line seems to be missing. HP-iv.11 (10 chapters) properly gives this missing line as "**धारयित्वा यथाशक्ति पुनः सूर्येण रेचयेत्**", which means, "one should exhale through the *sūryanāḍī* (right nostril) after holding the breath to the capacity". 84-85.

प्राणं चेदिडया पिबेन्नियमितं[6] भूयोऽन्यया[7] रेचयेत्
पीत्वा पिंगलया समीरणमथो बद्ध्वा[8] त्यजेद्वामया[9] ॥
सूर्याचन्द्रमसोरनेन विधिना बिम्बद्वयं ध्यायताम्
शुद्धा नाडिगणा[10] भवन्ति यमिनां मासत्रयादूर्ध्वतः ॥ 86 ॥

prāṇaṃ cediḍayā pibenniyamitaṃ bhūyo'nyayā recayet
pītvā piṅgalayā samīraṇamatho baddhvā tyajedvāmayā//
sūryācandramasoranena vidhinā bimbadvayaṃ dhyāyatām
śuddhā nāḍigaṇā bhavanti yamināṃ māsatrayādūrdhvataḥ 86

Tr. Regularly inhale *prāṇa* through *iḍā* and exhale through the other. Thereafter, draw the air in through *piṅgalā*, retain and

---

1. येन त्यजेत्तेन पूर्य धारयेदनिरोधतः- अधिकः पाठः -P,T,t1. 2. चन्द्रेण-N. 3. त्यजेत्तेन सूर्य-J. तेन पूर्य ˙ –P. 4. धारयेदनिरोधतः-P. 5. अनुपलब्धः-P,T,t1. 6. परिमितं –n3. 7. भूयोऽन्यथा–J,T. 8. बद्धं-N,n1,J. 9. त्येजेन्प्राप्नुयात्-P,T,t1. 10. नाडीगणा–P.

exhale through the left (nostril). This practice is done through *sūrya* and *candra*, while visualizing the two discs (of the Sun and Moon). The *yogīs* attain purification of the group of the *nāḍīs* after three months. 86.

Note: The term '*bimbadvaya*' refers to two disks of the sun and moon. 86.

प्रातर्मध्यन्दिने सायमर्धरात्रे[1] च कुम्भकान् ॥
शनैरशीतिपर्यन्तं चतुर्वारं समभ्यसेत् ॥ 87 ॥
prātarmadhyandine sāyamardharātre ca kumbhakān //
śanairaśītiparyantaṃ caturvāraṃ samabhyaset // 87 //

Tr. One should practise eighty rounds of *kumbhakas* increasing gradually four times in a day, in the morning, noon, evening and midnight. 87.

कनीयसि भवेत्स्वेदः कम्पो भवति मध्यमे ॥
उत्तिष्ठत्युत्तमे[2] प्राणरोधे पद्मासने[3] मुहुः ॥ 88 ॥
kanīyasi bhavetsvedaḥ kampo bhavati madhyame //
uttiṣṭhatyuttame prāṇarodhe padmāsane muhuḥ // 88 //

Tr. Lower type of *prāṇāyāma* generates perspiration, medium one causes tremors, while one levitates during the practice of superior type of *prāṇāyāma* when adopting *padmāsana*. 88.

जलेन श्रमजातेन अङ्गमर्दनमाचरेत् ॥
दृढता लघुता चापि तथा गात्रस्य जायते ॥ 89 ॥[4]
jalena śramajātena aṅgamardanamācaret //
dṛḍhatā laghutā cāpi tathā gātrasya jāyate // 89 //

Tr. One will do well by rubbing the body with the sweat generated by exertion (of *prāṇāyāma*). This makes the body strong and light. 89.

---

1. मर्द्धरात्रौ–J,N. 2. उत्तिष्ठेदुत्तमे-P,T. 3. पद्मासनं-P,T,t1. 4. अनुपलब्धः-T,t1,N,n1,n2,n3,J.

यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः[1] शनैः शनैः ॥
तथैव सेवितो वायुर्भवेद्वश्यः[1] शनैः शनैः[2] ॥ 90 ॥
yathā siṃho gajo vyāghro bhavedvaśyaḥ śanaiḥ śanaiḥ //
tathaiva sevito vāyurbhavedvaśyaḥ śanaiḥ śanaiḥ // 90 //

Tr. As one can gradually tame a lion, an elephant or a tiger, similarly, *prāṇa* must be controlled slowly through a gradual practice. 90.

प्राणायामेन युक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत्
अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगसमुद्भवः ॥ 91 ॥[3]
हिक्का[4] श्वासश्च[5] कासश्च शिरःकर्णाक्षिवेदनाः ॥
भवन्ति विविधा रोगाः पवनस्य व्यतिक्रमात् ॥ 92 ॥
prāṇāyāmena yuktena sarvarogakṣayo bhavet //
ayuktābhyāsayogena sarvarogasamudbhavaḥ // 91 //
hikkā śvāsaśca kāsaśca śiraḥkarṇākṣivedanāḥ //
bhavanti vividhā rogāḥ pavanasya vyatikramāt // 92 //

Tr. Proper practice of *prāṇāyāma* alleviates all the diseases, whereas improper practice of *prāṇāyāma* invites all the disorders. An incorrect practice of *prāṇāyāma* causes several disorders, like—hiccup, cough, asthma and pain in the head, ears and eyes. 91-92.

युक्तं युक्तं त्यजेद्वायुं युक्तं युक्तं प्रपूरयेत्[6] ॥
युक्तं युक्तं च बध्नीयादेवं सिद्धिमवाप्नुयात् ॥ 93 ॥
yuktaṃ yuktaṃ tyajedvāyuṃ yuktaṃ yuktaṃ prapūrayet //
yuktaṃ yuktaṃ ca badhnīyādevaṃ siddhimavāpnuyāt // 93 //

Tr. To get success, one should inhale, retain and exhale in a very judicious and controlled manner. 93.

यदा तु नाडीशुद्धिः स्यात् तदा चिह्नानि बाह्यतः ॥
कायस्य कृशता कान्तिर्जायते तस्य निश्चितम्[7] ॥ 94 ॥

---

1. वश्यं–J,N. 2 ....वायुरन्यथा हन्ति साधकः-P,T,t1, अनुपलब्धपंक्तिः -n2.. 3. अनुपलब्धश्लोकः-J,N,n1,n2,n3. 4. वायुः-N,n1,n3,J. 5 . भ्यासश्च -T. 6 . च पूरयेत् -P,T,t1. 7 . कान्तिस्तथा जायेत निश्चितं -P,T,t1.

yadā tu nāḍīśuddhiḥ syāt tadā cihnāni bāhyataḥ //
kāyasya kṛśatā kāntirjāyate tasya niścitam // 94 //

Tr. When the *nāḍīs* are purified, the external signs certainly seen are – slimness and lustre of the body. 94.

यथेष्टं धारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम् ॥
नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधनात् ॥ 95 ॥
yatheṣṭaṃ dhāraṇaṃ vāyoranalasya pradīpanam //
nādābhivyaktirārogyaṃ jāyate nāḍiśodhanāt // 95 //

Tr. As a result of purification of the *nāḍīs*, one is able to retain the breath longer, (one enjoys) increase in (bodily) fire, manifestation of the internally aroused sound and feeling of well-being. 95.

योगी[1] याज्ञवल्क्येनोक्तम् —
सव्याहृतिं[2] सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह ॥
त्रिः पठेदायतः प्राणः प्राणायामः स उच्यते ॥ 96 ॥

yogī yājñavalkyenoktam —
savyāhṛtiṃ sapraṇavāṃ gāyatrīṃ śirasā saha //
triḥ paṭhedāyataḥ prāṇaḥ prāṇāyāmaḥ sa ucyate // 96 //

According to *yogī yājñavalkya*—

Tr. During the retention of breath, recite *gāyatrī* for three times alongwith *vyāhṛtis, praṇava* and *śiras*. This is called *prāṇāyāma*. 96.

Note: The technique of *prāṇāyāma* described in this verse refers to the *smārta prāṇāyāma*, in which the *prāṇāyāma* is accompanied with the recitation of *om* (*praṇava*), *vyāhṛti, gāyatrī* and *śiras*. 96.

---

1. योगि -P,J, योगयाज्ञवल्क्याचार्यैरुक्तम्-T. 2. सव्याहृतीं –P,T.

अत्र शिववचनम् —
प्राणायामपरो योगी सोऽपि विष्णुर्महेश्वरः ||
सर्वदेवमयो योगी तस्यावज्ञां न कारयेत् || 97 ||
इति प्राणायामनिरूपणम्[1] ||

atra śivavacanam —
prāṇāyāmaparo yogī so'pi viṣṇurmaheśvaraḥ //
sarvadevamayo yogī tasyāvajñāṃ na kārayet // 97 //
iti prāṇāyāmanirūpaṇam *//*

According to *śiva*—

Tr. A *yogī,* who is devoted to the practice of *prāṇāyāma* is like *viṣṇu* and *maheśvara.* Such a *yogī* is a representation of all the gods. One should not disrespect such a *yogī.* 97.

Thus ends the description of *prāṇāyāma.*

[2]इति श्रीनिवासयोगीविरचितायां[3] हठरत्नावल्यां तृतीयोपदेशः[4]

iti śrīnivāsayogīviracitāyāṃ haṭharatnāvalyāṃ tṛtīyopadeśaḥ

Here ends the third chapter of haṭharatnāvalī composed by yogī śrīnivāsa

---

1. इति प्राणायामनियमः -n2.
2. इति श्रीनिवासयोगीश्वरविरचितायाम् -n2.
नानास्वस्तिकसिद्धपद्मकमहावीरासनाद्यान्वितः
प्राणायामसमन्वितश्च ललितः श्रीश्रीनिवासोदितः ||
ख्याते रम्यसुवर्णराजखचिते रत्नावलीनामके
ग्रन्थेऽस्मिन्नुपदेश एष विहितारम्भस्तृतीयो गतः || अधिकः पाठः-P,T.
3. इति श्रीनिवासयोगीन्द्रविरचितायां-P,T. 4. इति हठरत्नावल्यां तृतीयोपदेशः-J,n3.

हठरत्नावली

चतुर्थोपदेशः

अत्र समाधिः[1] —
सलिले सैन्धवं यद्वत् साम्यं भवति योगवित् ‖
तथात्ममनसोरैक्यं[2] समाधिः सोऽभिधीयते ‖ 1 ‖

***atra samādhiḥ* —**
salile saindhavaṃ yadvat sāmyaṃ bhavati yogavit //
tathātmamanasoraikyaṃ samādhiḥ so'bhidhīyate // 1 //

Tr. As salt is dissolved in water, likewise, a learned *yogī* attains unity of soul and mind. This is called *samādhi.* 1

मतान्तरेऽपि[3] —
तत्समत्वं भवेदत्र जीवात्मपरमात्मनोः ‖
समस्तनष्टसंकल्पः[4] समाधिः सोऽभिधीयते ‖ 2 ‖

***matāntare'pi* —**
tatsamatvaṃ bhavedatra jīvātmaparamātmanoḥ //
samastanaṣṭasaṅkalpaḥ samādhiḥ so'bhidhīyate // 2 //

Another opinion —

Tr. Union of *jīvātmā* and *paramātmā* eliminates all mental constructions. This is called *samādhi.* 2.

ध्यानादस्पन्दमनसः समाधिः सोऽभिधीयते ‖ 3 ‖
dhyānādaspandamanasaḥ samādhiḥ so'bhidhīyate // 3 //

Tr. In the state of *dhyāna*, mind becomes steady. This is called *samādhi.* 3.

अतिविस्तारभीत्या[5] तु न सर्वमिह लिख्यते ‖

---

1. अनुपलब्धः -N,n1,n2,n3,J. 2. तथातन्मनसोरैक्यं-N,J. 3. अनुपलब्धपंक्तिः-n2.
4. समस्तनष्टसंकल्पं -J. 5. अतिविस्तारवृत्या-J; अविस्तारवृत्या-N,n1.

ativistārabhītyā tu na sarvamiha likhyate //

Tr. Details are avoided, for the fear of great elaboration.

इन्द्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुतः ॥
मारुतस्य लयो नाथः[1] स लयो नादमाश्रितः[2] ॥ 4 ॥
indriyāṇāṃ mano nātho manonāthastu mārutaḥ //
mārutasya layo nāthaḥ sa layo nādamāśritaḥ //4 //

Tr. Mind is the lord of the senses, *māruta* (*prāṇa*) is the lord of the mind, while *laya* is the lord of *māruta* and that *laya* is sustained by *nāda* (sound). 4.

Note: This verse seems to have been taken from HP (iv.29), where we get the reading '*sa layo nādamāśritaḥ*'. Although this reading is not available in any of the Mss, we have adopted it, since it is more appropriate. 4.

अथ नादानुसन्धानम् —
नादानुसन्धानसमाधिभाजां
योगीश्वराणां हृदये प्ररूढम् ॥
आनन्दमेकं[3] वचसोऽप्यगम्यं[4]
जानाति तं श्रीगुरुनाथ एव[5] ॥ 5 ॥
atha nādānusandhānam —
nādānusandhānasamādhibhājāṃ
yogīśvarāṇāṃ hṛdaye prarūḍham //
ānandamekaṃ vacaso'pyagamyaṃ
jānāti taṃ śrīgurunātha eva // 5 //

Tr. The great *yogīs,* who experience the state of *samādhi* by meditating on *nāda*, experience an inexplicable joy in their heart, which only *śrī gurunātha* knows. 5.

उदासीनपरो भूत्वा सदाभ्यासेन संयमी ॥
उन्मनीकरणं[6] सद्यो नादमेवावधारयेत्[7] ॥ 6 ॥

1. नादः-P,T,t1 नाथो–n2. 2. तन्नाथं-N,n2,J, तन्नादं लयमाश्रयेत्-P,T,n1, नाथस्तस्मात्तं–n3. 3. अनन्तमेकं-P,T,t1. 4. वचसामगम्यं-P,T,t1. 5. श्रीगुरुनाथमेकं–n2. 6. उन्मनी कारणं–P. 7. नादमेवानुधारयेत् -P,T,t1.

udāsīnaparo bhūtvā sadābhyāsena saṃyamī //
unmanīkaraṇaṃ sadyo nādamevāvadhārayet // 6 //

Tr. Through constant practice, being indifferent and with restraint, a *yogī* should take recourse to *nāda* alone, which instantly brings about the state of *unmanī*. 6.

शीते काले द्वौ पटी वा पटी वा[1]
पथ्याहारे गोपयो[2] वा पयो वा ॥
भक्ष्ये भोज्ये[3] वृत्तिमारण्यकं वा[4]
पाणी[5] द्रोणी कोऽपि[6] वा भक्ष्यपात्रे [7] ॥ 7 ॥

śīte kāle dvau paṭī vā paṭī vā
pathyāhāre gopayo vā payo vā //
bhakṣye bhojye vṛttimāraṇyakaṃ vā
pāṇī droṇī ko'pi vā bhakṣyapātre // 7 //

Tr. In the winter season, one may wear a single sheet of cloth or a folded one, he may consume cow milk or water, he may subsist on alms or on roots available in the forest, he may eat in the hands or in any (vessel) plate. 7.

कर्णौ पिधाय तूलेन[8] यः शृणोति[9] ध्वनिं यमी[10] ॥
तत्र चित्तं स्थिरं[11] कुर्याद्यावत् स्थिरपदं व्रजेत् ॥ 8 ॥

karṇau pidhāya tūlena yaḥ śṛṇoti dhvaniṃ yamī //
tatra cittaṃ sthiraṃ kuryādyāvat sthirapadaṃ vrajet // 8 //

Tr. A *yogī* plugs the ears with cotton and listens to the sound (*nāda*). He should focus the mind on that (*nāda*) till he attains steadiness of mind. 8.

श्रूयते[12] प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो बहुः[13] ॥
वर्धमाने ततोऽभ्यासे श्रूयते सूक्ष्मसूक्ष्मतः ॥ 9 ॥

śrūyate prathamābhyāse nādo nānāvidho bahuḥ //
vardhamāne tato'bhyāse śrūyate sūkṣmasūkṣmataḥ // 9 //

---

1. कुटी वा-T,t1. 2. गोमयो–J. 3. भोज्ये भक्ष्ये–P,t1. 4. वृंत्तमारण्यकं वा-P,n1. 5. पाणि–J,N,n1. 6. द्रोणीपि–J, कापि–N,n1. 7. भोज्यपत्रे–P,T,t1. 8. मूलेन-P,T,t1. 9. यं शृणोति–P, संशृणोति–N, n1,n2,n3,n4. 10. मुनिः-P,T. 11. स्थिरी-P. 12. श्रूयतां–T,t1. 13. बहून्-T,n2, बहु–J,n1, नादान्नानाविधान् बहून्-P,T,t1.

Tr. In the initial stages various sounds are heard. As one progresses, subtle and subtler sounds are heard. 9.

आदौ जलधिजीमूतभेरीनिर्झरसम्भवाः[1] ||
मध्ये मर्द्दलशंखोत्था घण्टाकाहलकास्तथा[2] || 10 ||
अन्ते[3] **तु किंकिणीवृन्द**[4]**वीणाभ्रमरनिःस्वनाः** ||
इति नानाविधा नादाः श्रूयन्ते देहमध्यतः || 11 ||
ādau jaladhijīmūtabherīnirjharasaṃbhavāḥ //
madhye marddalaśaṅkhotthā ghaṇṭākāhalakāstathā // 10 //
ante tu kiṅkiṇīvṛndavīṇābhramaraniḥsvanāḥ //
iti nānāvidhā nādāḥ śrūyante dehamadhyataḥ // 11 //

Tr. In the beginning, sounds resembling those of the ocean, thunder, big drum and waterfall are heard. In the intermediate stage, sounds like those of small drum, conch, bell and gong are heard. While in the end, sounds like those of tiny bells, *vīṇā* and humming of bees are heard. Thus, various sounds are heard within the body. 10-11.

मकरन्दं पिबेद् भृंगो गन्धो न प्रेक्ष्यते यथा[5] ||
नादासक्तं तथा चित्तं विषयान्नहि[6] **कांक्षते** || 12 ||
makarandaṃ pibedbhṛṅgo gandho na prekṣyate yathā //
nādāsaktaṃ tathā cittaṃ viṣayānnahi kāṅkṣate // 12 //

Tr. A bee who enjoys the nectar, would not care for fragrance. In the same manner, the mind having been absorbed in *nāda*, would not run after the objects. 12.

सर्वचिन्तां[7] **समुत्सृज्य सर्वचेष्टां च सर्वदा** ||
नादमेवानुसन्धानान्नादे[8] **चित्तं विलीयते** || 13 ||
sarvacintāṃ samutsṛjya sarvaceṣṭāṃ ca sarvadā //
nādamevānusandhānānnāde cittaṃ vilīyate // 13 //

Tr. On giving up all the thoughts and all the efforts, while always following the *nāda*, the *citta* merges into *nāda*. 13.

---

1. सन्निभाः-n3. 2. घण्टाकाहालकास्तथा-N,n1,J. 3. अन्ये-P; अन्त्ये-T,t1. 4. वंश–P. 5. गन्धान्नापेक्ष्यते यथा–n3, गंधानपि पिबेत्तथा-P,t1; (लुप्त) न्नपि पिबेत्तथा -T. 6. विषया न हि -J. 7. सर्व चिन्त्यं -P,T, सर्वचित्तं–J,N,n1. 8. नादमेवानुसंदध्यान्नादे-P.

सर्वचिन्तां[1] परित्यज्य सावधानेन चेतसा ॥
नाद एवानुसन्धेयः[2] योगसाम्राज्यसिद्धये[3] ॥ 14 ॥
sarvacintāṃ parityajya sāvadhānena cetasā //
nāda evānusandheyaḥ yogasāmrājyasiddhaye // 14 //

Tr. To attain the kingdom of *yoga*, one should relinquish all thoughts and carefully follow *nāda* alone. 14.

काष्ठे प्रवर्तितो वह्निः काष्ठेन सह लीयते ॥
नादे प्रवर्त्तितं चित्तं नादेन सह शाम्यति ॥ 15 ॥
kāṣṭhe pravartito vahniḥ kāṣṭhena saha līyate //
nāde pravartitaṃ cittaṃ nādena saha śāmyati // 15 //

Tr. Just as fire in the burning wood extinguishes alongwith the wood, similarly, *citta,* which is concentrated on *nāda*, merges with *nāda* itself. 15.

अस्तु वा मास्तु वा मुक्तिरत्रैवाखण्डितं महत् ॥
लयामृतं लये सौख्यं[4] राजयोगादवाप्यते ॥ 16 ॥
astu vā māstu vā muktiratraivākhaṇḍitaṃ mahat //
layāmṛtaṃ laye saukhyaṃ rājayogādavāpyate // 16 //

Tr. There might be or might not be a state of liberation, but this certainly is the state of profound and uninterrupted Bliss. This Blissful state of absorption is attained through *rājayoga.* 16.

अथ योगावस्था[5] —
आरम्भश्च घटश्चैव तथा परिचयस्तथा[6] ॥
निष्पत्तिः[7] सर्वयोगेषु योगावस्था भवन्ति ताः ॥ 17 ॥
atha yogāvasthā —
ārambhaśca ghaṭaścaiva tathā paricayastathā /
niṣpattiḥ sarvayogeṣu yogāvasthā bhavanti tāḥ // 17 //

Tr. *ārambha, ghaṭa, paricaya* and *niṣpatti* are the states of *yoga* described in all the (traditions of) *yoga.* 17.

1. सर्वचित्तं–T, सर्वचिन्त्यं –t1. 2. नादो यैरनुसंधेयो-N,n1,J, नाद एवानुसन्धेयाः-T. 3. योगसाम्राज्यमिच्छता-P,T, योगसाम्राज्यसिद्धये–n3. 4. सांख्यं -N,J, लयामृतलये सौख्यं–n1. 5. अनुपलब्धपंक्तिः-J. 6. ततः -n3. 7. निवृत्तिः-N,n1,n2,J.

ब्रह्मरन्ध्रे[1] भवेद् भेदो यो नादः[2] सूर्यसम्भवः ॥
विचित्रक्वणदो[3] देहेऽनाहतः श्रूयते ध्वनिः[4] ॥ 18 ॥
दिव्यदेहः सुतेजस्वी दिव्यगन्धस्त्वरोगवान्[5] ॥
सम्पूर्णहृदये[6] शून्ये त्वारम्भे योगवान् भवेत् ॥ 19 ॥
brahmarandhre bhavedbhedo yo nādaḥ sūryasambhavaḥ //
vicitrakvaṇado dehe'nāhataḥ śrūyate dhvaniḥ // 18 //
divyadehaḥ sutejasvī divyagandhastvarogavān //
sampūrṇahṛdaye śūnye tvārambhe yogavān bhavet // 19 //

Tr. Attaining the *ārambha* state, a *yogī* develops a lustrous physique, profound insight, complete wellness, sweet fragrance, contentment in heart, while enjoying void. He has the *brahmarandhra* pierced, *nāda* emanating from *sūrya* and he hears a divine unstruck tinkling sound. 18-19.

Note: This verse has a similarity with the verse in HP (iv. 70). However, instead of the word '*brahmarandhre*', HP gives '*brahmagranther*', which seems to be appropriate in the light of the mention of *viṣṇugranthi* and *rudragranthi* in the verses 21 and 24 respectively. 18.

[7]द्वितीयायां घटीकृत्य वायुर्भवति मध्यगः ॥
दृढासनो[8] भवेद् योगी कामदेवसमस्तदा[9] ॥ 20 ॥
विष्णुग्रन्थेस्तथा[10] भेदः परमानन्दसूचकः ॥
अतिशून्ये विमर्दश्च भेरीशब्दस्तथा भवेत्[11] ॥ 21 ॥
dvitīyāyāṃ ghaṭīkṛtya vāyurbhavati madhyagaḥ //
dṛḍhāsano bhavedyogī kāmadevasamastadā // 20 //
viṣṇugranthestathā bhedaḥ paramānandasūcakaḥ //
atiśūnye vimardaśca bherīśabdastathā bhavet // 21 //

Tr. In the second state of *ghaṭa*, the *vāyu* (*prāṇa*) passes through the middle path (*suṣumnā*), stability in *āsana* is gained and

---

1. ब्रह्मरन्ध्रै र्-t1. 2. आनन्दः-N,n1,J. 3. विचित्रक्वणको-P,T,t1. 4. धृतिः-J. 5. दिव्यगंधात्तवेगवान् -N,n1,J. 6. सम्पूर्णहृदयं-T,t1. 7. अथ घटावस्था–P. 8. दृढासने–P. 9. कामदेवसमस्तथा-P; ज्ञानं देवसमस्तदा-N,n1,n2,J. 10. तदा–P,T. 11. भेरी सदृशस्तदा भवेत्-N,J, भेरीसदृक् सदा -J.

the *yogī* becomes like a cupid. Moreover, the *viṣṇu-granthi* is pierced through, various sounds like that of kettle drum etc. are heard in the void (*atiśūnya*), bringing in Absolute Bliss. 20-21.

[1]तृतीयायां ततो नित्यं[2] आविष्कारो[3] मर्द्दलध्वनिः[4] ‖
महाशून्यं ततो याति सर्वसिद्धिसमाश्रयः ‖ 22 ‖
चिदानन्दं ततो जित्वा[5] परमानन्दसम्भवः ‖
दोषदु:खजरामृत्यु[6]क्षुधा[7]निद्राविवर्जित: ‖ 23 ‖

tṛtīyāyāṃ tato nityaṃ āviṣkāro marddaladhvaniḥ //
mahāśūnyaṃ tato yāti sarvasiddhisamāśrayaḥ // 22 //
cidānandaṃ tato jitvā parmānandasambhavaḥ //
doṣaduḥkhajarāmṛtyukṣudhānidrāvivarjitaḥ // 23 //

Tr. In the third state, one hears the sound of kettle drum, (*prāṇa*) reaches the *mahāśūnya* (center of the eyebrows), which results in attainment of all the *siddhis* (supernatural powers). The *yogī* achieves mental happiness, which springs from Absolute Bliss and becomes free from all disorders, sufferings, old age, (premature) death, hunger and thirst. 22-23.

[8]रुद्रग्रन्थिं ततो भित्वा शर्वपीठगतोऽनिलः[9] ‖
निष्पत्तौ वैणवः शब्दः क्वणद्वीणाक्वणो[10] भवेत् ‖ 24 ‖

इत्यारम्भादियोगावस्थानिरूपणम् । [11]

rudragranthiṃ tato bhitvā śarvapīṭhagato'nilaḥ //
niṣpattau vaiṇavaḥ śabdaḥ kvaṇadvīṇākvaṇo bhavet // 24 //

ityārambhādiyogāvasthānirūpaṇam //

Tr. When the *anila* (*prāṇa*) courses to the *śarvapīṭha* after piercing through the *rudragranthi*, one attains the state of *niṣpatti* in which he hears the notes of finely tuned *vīṇā*. 24.

---

1. अथ परिचयावस्था–P. 2. भित्वा-P,T. 3. विष्करो –t1. 4. नित्यं विश्रामो मर्द्दलध्वनेः-N,J. 5. भित्वा-n3. 6. मृत्युः-P. 7. क्रोध N,n1,n3,J. 8. अथ निष्पत्यवस्था–P. 9. सर्व पीडाविवर्जितः-J,N,T. 10. क्वणाणि तत्क्षणं–J,N,n3, क्वणन्नीतः क्षणं–T,t1. 11. इत्यारम्भादियोगं च-स्थाननिरूपणं–J,N,n1, इत्यारम्भादियोगं च चक्रस्थाननिरूपणम् -n3.

Here ends the description of the yogic states like *ārambha* etc.

Note: The verse iv.24 seems to have been obviously taken from HP (iv-76) where the reading is *śarvapīṭha* instead of *sarvapīṭha*, which is appropriate and hence it is adopted here.

The different developmental stages in *yoga* have been stated to characterize listening of the internally produced sound from grosser to subtler levels.

AR (xxvii.4807-4812) while quoting another *tantra* text describes four stages (*avasthās*) of *yoga*, which are: *dhvasti, prāpti, saṃvit*, and *prasāda*, which are apperantly quite different from the *avasthās* commonly available in *haṭhayogic* texts. In the stage of *dhvasti*, the results of both good and bad *karma* are attenuated, and the *cetas* (mind) becomes disinterested in the objects. In the *prāpti* stage, all the desires related to perceptible and spiritual world and also those of greed and infatuation are restrained. In the stage of *saṃvit*, the *yogī* knows all the events of the past and future. In the stage of *prāsāda*, the *manas*, five *vāyus*, senses including their objects become pacified. 18-24.

दृष्टिः स्थिरा[1] यस्य विनैव लक्ष्यात्[2]
वायुः स्थिरो यस्य विना प्रयत्नात् ॥
चित्तं स्थिरं यस्य विनावलम्बात्[3]
स एव योगी स गुरुः स सेव्यः ॥ 25 ॥

dṛṣṭiḥ sthirā yasya vinaiva lakṣyāt
vāyuḥ sthiro yasya vinā prayatnāt //
cittaṃ sthiraṃ yasya vināvalambāt
sa eva yogī sa guruḥ sa sevyaḥ // 25 //

Tr. A *yogī* is considered a *guru*, whose gaze is fixed without an object, *vāyu* is steady without effort and the mind is stable without an object of concentration. Such a *yogī* should be accepted as a *guru*. 25.

---

1. धृष्टस्थिरो-T,t1, दृष्टिः स्थिरो –P. 2. लक्ष्या-N,n1,J, लक्ष्ये –n3. 3. विनावलंबनात् -P,t1.

तत्वं बीजं हठं क्षेत्रमौदासीन्यं जलं त्रिभिः ॥
उन्मनी कल्पलतिका सद्य एव फलिष्यति ॥ 26 ॥
tattvaṃ bījaṃ haṭhaṃ kṣetramaudāsīnyaṃ jalaṃ tribhiḥ //
unmanī kalpalatikā sadya eva phaliṣyati // 26 //

Tr. *tatva* (Self) is the seed, *haṭha* is the soil and indifference is water. This triad facilitates quick growth of the creeper *unmanī.* 26.

वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव ॥
एकैव शाम्भवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव[1] ॥ 27 ॥
vedaśāstrapurāṇāni sāmānyagaṇikā iva //
ekaiva śambhavī mudrā guptā kulavadhūriva // 27 //

Tr. The *vedas,* the *śāstras* and the *purāṇas* are like public women. *śāmbhavī mudrā* alone is like a noble woman, not exposed to anyone. 27.

एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा[2] च खेचरी ॥
एको देवो निरालम्बः एकावस्था मनोन्मनी ॥ 28 ॥
ekaṃ sṛṣṭimayaṃ bījamekā mudrā ca khecarī //
eko devo nirālambaḥ ekāvasthā manonmanī // 28 //

Tr. There is only one all-pervading *bīja* of the creation (*OM*), there is only one *mudrā* called *khecarī,* there is only one deity— *nirālamba* (*brahman*) and only one state — *unmanī* (*samādhi*). 28.

मनो यत्र विलीयेत पवनस्तत्र लीयते ॥ **29** ॥
mano yatra vilīyeta pavanstatra līyate // 29 //

Tr. *pavana* (*prāṇa*) merges therein where mind merges. 29.

पाताले यद्विशति[3] सुषिरं[4] मेरुमूलं[5] तदस्ति[6]
तत्वं चैतद्वदति सुधा[6] तन्मुखं निम्नगानाम् ॥
चन्द्रात्सारं[7] स्रवति[8] वपुषस्तेन मृत्युर्नराणाम्
तदबध्नीयात्सुखरतिमृदु[9]र्नान्यथा कार्यसिद्धिः[10] ॥ 30 ॥

---

1. सामान्य - धूरिव -अनुपलब्ध-J,n1,n2,n3. 2.एकं सृष्टिसमुद्बीजमेकावस्था-P,T,t1. 3.चद्वितीयं-P; यद्वितीयं-T. 4. सुषिरे–J. 5.ममरुमूले-P,T, मेरुमूले–J,n1,n3,t1. 6.तदस्मिन्-P,T,t1. 7.तच्चैतन्यं प्रवदति सुधीस्-J,N,n1,n2,n3,n4. 7.चंन्द्रासारं-P,T. 8.पिबति-P,T,t1, श्रवति–J. 9. मृत्युर्-P. 10.कार्यसिद्धः-P.

pātāle yadviśati suṣiraṃ merumūlaṃ tadasti
tatvaṃ caitadvadati sudhā tanmukhaṃ nimnagānām //
candrātsāraṃ sravati vapuṣastenamṛtyurnarāṇām
tadbadhnīyātsukharatimṛdurnānyathā kāryasiddhiḥ // 30 //

Tr. The learned holds that the aperture, which is located at the base of the spine, is the fountain-head of consciousness. A mortal dies because the ambrosia flowing from the moon moves down. By restraining this with the process giving pleasure (*khecarī mudrā)*, one can attain success (in *laya*) and not otherwise. 30.

Note: This verse seems to have been adopted from HP (iii.51) with a variant reading which is rather confusing. The verse in HP runs as follows:

yatprāleyaṃ prahitasuṣiraṃ merumūrdhāntarastham
tasminstatvaṃ pravadati sudhīstanmukhaṃ nimnagānām /
candrāt sāraḥ sravati vapuṣastena mṛtyurnarāṇāṃ
taṃ badhnīyāt sukaraṇamatho nānyathā kāryasiddhiḥ //

The location of *ātmatatva* is stated to be up in the head and not down below according to *śrutis* and other traditional texts. But here the mention of the location of *ātmatatva* at the base of the spine is misleading.

Similarly, the word *sukaraṇa,* which is a synonym of *khecarī,* is appropriate rather than *sukharati.* 30.

[1]ब्रह्माण्डपिण्डाण्डयोः[2] सांगोपासनयोः[3] पिण्डाण्डस्वरूपं दिङ्मात्रं प्रदर्श्यते[4] ।

brahmāṇḍapiṇḍāṇḍayoḥ sāṅgopāsanayoḥ piṇḍāṇḍasvarūpaṃ diṅmātraṃ pradarśyate //

Tr. A little description follows regarding the microcosmic (individual self) and the macrocosmic nature (of creation) alongwith the technique of its worship :

Note: *piṇḍa-brahmāṇḍa* is the course taken in the upward march of *kuṇḍalinī.* It is also known as *ṣaṭcakra-mārga.*

शरीरं तावदेवं हि षण्णवत्यंगुलात्मकम् ॥
विद्यते सर्वजन्तूनां स्वांगुलिभिरिति प्रिये ॥ 31 ॥

---

1. वचनम् -P. 2. ब्रह्माण्डपिण्डयोः-n1. 3 . संख्योपासनाय-P,T,t1. 4. प्रदृश्यते–J,N,n1, इह प्रदर्श्यते–T.

śarīraṃ tāvadevaṃ hi ṣaṇṇavatyaṅgulātmakam //
vidyate sarvajantūnāṃ svāṅgulibhiriti priye // 31 //

Tr. O beloved ! The body of all the creatures would measure nintysix digits by one's own fingers. 31.

Note: The measure of the human body is considered here to be of 96 digits. *aṅguli* is a measure of three-fourth of an inch. Thus, the body measures six feet. 31.

देहे द्वात्रिंशदस्थीनि शस्तं[1] स्यात्पार्श्वयोर्द्वयोः ॥
द्वासप्तति[2]सहस्राणि नाड्यश्चरति मारुतः ॥ 32 ॥
dehe dvātriṃśadasthīni śastaṃ syātpārśvayordvayoḥ //
dvāsaptatisahasrāṇi nāḍyaśacarati mārutaḥ // 32 //

Tr. There are thirtytwo bones on both the sides (in the back). There are seventytwo thousand *nāḍīs* through which the *māruta* (*prāṇa*) courses. 32.

Note: Instead of the word *śasta*, VS (ii.6) gives the reading *vaṃśasya* (of the bamboo i.e. spine), which is more appropriate. 32.

मूलाधारे स्थितं[3] चक्रं कुक्कुटाण्डमिव स्थितम् ॥
नाडीचक्रमिति प्रोक्तं तस्मान्नाड्यः समागताः ॥ 33 ॥
mūlādhāre sthitaṃ cakraṃ kukkuṭāṇḍamiva sthitaṃ //
nāḍīcakramiti proktaṃ tasmānnāḍyaḥ samāgatāḥ // 33 //

Tr. The *cakra*, resembling an egg of a hen, is located at the *mūlādhāra*, which is called *nāḍīcakra*, wherefrom the *nāḍīs* originate. 33.

नाडीनामपि सर्वासां मुख्यास्तत्र चतुर्दश ॥
सुषुम्णा पिंगला चैव सरस्वती तथा कुहुः[4] ॥ 34 ॥
यशस्विनी वारुणी[5] च गान्धारी शंखिनी[6] तथा ॥
पूषा विश्वोदरी जिह्वा अलम्बुषा च हंसिनी[7] ॥
इडा नाडी च सर्वासां मुख्याश्चैताश्चतुर्दश ॥ 35 ॥
nāḍīnāmapi sarvāsāṃ mukhyāstatra caturdaśa //
suṣumṇā piṅgalā caiva sarasvatī tathā kuhuḥ // 34 //

1. शतं -n1, शतं (शस्तं)-P, स्थानशतं–T, द्वात्रिंशतस्थाने शतं –t1. 2. द्विसप्तति–P. 3. स्थिरं-N,n3,J. 4. कुहूः-J,P,n1. 5. दारुणी-N,n3,J; तारुणी-T,t1. 6. शंकिनी-P,T,t1. 7. सिंहिनी-N,n1,n3, J .

yaśasvinī vāruṇī ca gāndhārī śaṅkhinī tathā //
pūṣā viśvodarī jihvā alambuṣā ca haṃsinī //
iḍā nāḍī ca sarvāsāṃ mukhyāścaitāścaturdaśa // 35 //

Tr. Among all the *nāḍīs,* fourteen are prominent, which are— *suṣumṇā, piṅgalā, sarasvatī, kuhu, yaśasvinī, vāruṇī, gāndhārī, śaṅkhinī, pūṣā, viśvodarī, jihvā, alambuṣā, haṃsinī* and *iḍā.* These fourteen are the most significant. 34-35.

तासां मुख्यतमास्तिस्रः तिसृष्वेकोत्तमा[1] स्थिता ||
इडायां पिंगलायां च सोमसूर्यौ प्रतिष्ठितौ || 36 ||
tāsāṃ mukhyatamāstisraḥ tisṛṣvekottamā sthitā //
iḍāyāṃ piṅgalāyāṃ ca somasūryau pratiṣṭhitau // 36 //

Tr. Among these three *nāḍīs* are of great significance, out of which one is the most important. *soma* and *sūyra* are situated in *iḍā* and *piṅgalā* (respectively). 36.

तामसो राजसश्चैव सव्यदक्षिणसंस्थितौ[2] ||
इडा निशाकरी ज्ञेया[3] पिंगला[4] सूर्यरूपिणी[5] || 37 ||
tāmaso rājasaścaiva savyadakṣiṇasaṃsthitau //
iḍā niśākarī jñeyā piṅgalā sūryarūpiṇī // 37 //

Tr. *nāḍīs* located at the left and right are known as *tāmasa* and *rājasa* respectively. *iḍā* is of the nature of moon and *piṅgalā* is of the nature of sun. 37.

वीणादण्डमयो मेरुरस्थीनि[6] कुलपर्वताः ||
इडा भागीरथी प्रोक्ता पिंगला यमुना नदी[7] || 38 ||
सरस्वती सुषुम्नोक्ता नाड्योऽन्या निम्नगाः स्मृताः ||
द्वीपाः स्युर्धातवस्[8]सप्त स्वेदलालादयोर्मयः[9] || 39 ||
vīṇādaṇḍamayo merurasthīni kulaparvatāḥ //
iḍā bhāgīrathī proktā piṅgalā yamunā nadī // 38 //
sarasvatī suṣumnoktā nāḍyo'nyā nimnāgḥ smṛtāḥ //
dvīpāḥ syurdhātavassapta svedalālādayormayaḥ // 39 //

---

1. तिसृष्वेकतमा-N,n1,n2,n3,n4,J. 2. सव्यदक्षिणसंज्ञकौ–N,n2n3,J,P,T, सम्यग्दक्षिसञ्ज्ञकौ –t1. 3. ज्ञेयौ–P. 4. सुषुम्ना-P,T,J. 5. सुखरूपिणी-P,T, इडा निशाकरी ज्ञेयः सुषुम्नासुखरूपिणी– t1. 6. दारुरस्थिनी-P,T,t1. 7. द्वे प्रकीर्त्तिते–P,T,t1, गंगा च पिंगला नाडी यमुनेडा प्रकीर्त्तिताः–N,J. 8. द्धानवस्-J. 9. स्वेदलाला द्वयोर्द्वयोः -P,T,t1.

Tr. Bones of the spine resemble a *vīṇā,* wherein the *kulaparvatas* (mountains) are located. The *piṅgalā nāḍī* is *gaṅgā,* while *iḍā* is *yamunā* and *suṣumnā* is *sarasvatī.* Other (*nāḍīs*) flow downwards. The seven *dhātus* (body constituents) are *dvīpas* (islands) replete with saliva, sweat etc. 38-39.

मूले तिष्ठति कालाग्निः[1] कपाले चन्द्रमण्डलम् ॥
नक्षत्राण्यपराण्याहुरेवं योज्यं तु धीमता ॥ 40 ॥
mūle tiṣṭhati kālāgniḥ kapāle candramaṇḍalam //
nakṣatrāṇyaparāṇyāhurevaṃ yojyaṃ tu dhīmatā // 40 //

Tr. *kālāgni* (fire) is located at the base (*mūlādhāra*), while *candra* (moon) is located in the forehead. The wise should similarly locate other stars also. 40.

ग्रन्थविस्तारभीत्या तु नास्माभिरिह लिख्यते ॥
granthavistārabhītyā tu nāsmābhiriha likhyate //

Tr. All the details are not put forth considering that it would inflate the volume of the book.

श्रुत्यागमपुराणाद्यैः पिण्डब्रह्माण्डनिर्णयः ॥[2]
ज्ञातव्यः[3] सर्वयत्नेन मोक्षसाम्राज्यमिच्छता[4] ॥ 41 ॥

इति पिण्डाण्डयोः किञ्चित् साम्यदर्शनम् ॥

śrutyāgamapurāṇādyaiḥ piṇḍabrahmāṇḍanirṇayaḥ //
jñātavyaḥ sarvayatnena mokṣasāmrājyamicchatā // 41 //

iti piṇḍāṇḍayoḥ kiñcit sāmyadarśanam //

Tr. The account of microcosmic (individual body) and macrocosmic nature should be known from the *śrutis, āgamas* and *purāṇas* etc., which one should learn to reign over the kingdom of emancipation. 41.

Here ends the terse but accurate account of mirocosmic *(piṇḍa)* and macrocosmic *(brahmāṇḍa)* body.

---

1. ' —-वस्ति मध्ये तु (बांधवः) वाडवः | वैद्युताग्निः सुषुम्नायां पार्थिवो नाभिमण्डले | हृदि तिष्ठति कालाग्निः'- P,T,t1. 2. द्रष्टव्यम् परिशिष्टम् **1**. 3. ज्ञेयं –n3. 4. इच्छुना-P.

[1]अथ पञ्चीकरणम्[2] —
शब्दाद् व्योम स्पर्शतत्वेन[3] वायुस्ताभ्यां[4] रूपाद् वह्निरेतैरसाच्च ||
अम्भांस्येभिर्गन्धतो भूधराद्या भूताः पञ्च स्युर्गुणानुक्रमेण || 42 ||

atha pañcīkaraṇam —
śabdād vyoma sparśatatvena vāyus-
tābhyāṃ rūpād vahniretairasācca //
ambhāṃsyebhirgandhato bhūdharādyā
bhūtāḥ pañca syurguṇānukrameṇa // 42 //

Tr. From *śabda* emanated *ākāśa* (space), from *sparśa* (touch) emanated *vāyu*, from these two and *rūpa* (form) emanated *vahni* (fire), from these and *rasa* (taste) emanated *ambhas* (water) and from these and *gandha* (smell) emanated *bhū* (earth). Thus the five *bhūtas* evolved from these *guṇas* in their order. 42.

Note: This process is clearly mentioned in HP (10 chapters i.18-25, published by Lonavla Yoga Institue, India), which is as follows:

"*ākāśa* (ether) is the foremost of the immutable evolutes, characterised by *śabda*. *vāyu*, which is emanated from *ākāśa*, is fickle and has the quality of touch. *tejas*, which is the evolute of both *ākāśa* and *vāyu*, is qualified by form. *āpa* (water), which is originated from *ākāśa, vāyu* and *agni*, is characterized by taste. *pṛthvī,* which has been evolved from *ākāśa, vāyu, tejas* and *āpa*, has the quality of smell".

This is the evolution of the five *mahābhūtas* according to their *guṇas* (qualities). 42.

कर्पूरमनले[5] यद्वत् सैन्धवं सलिले यथा ||[6]
तथा सन्धीयमानं हि मनस्तत्रैव लीयते || 43 ||

---

1. वचनम् - अथ पिण्डीकरणम् प्रक्रिया दिङमात्रं प्रदर्श्यते-P,T,t1. 2. वचनम्-P. 3. शब्दाद्व्योमरस स्पर्शस्तेन-P,T, n1. 4. 'रूपाद इत्यादि' ... 'गुणानुक्रमेण' अनुपलब्ध-P,T. 5. कर्पूरं सलिले –N,n1,n3,n4,J, कर्पूरकमनले -P. 6. पंक्तिः अनुपलब्धा-T.

karpūramanale yadvat saindhavaṃ salile yathā //
tathā sandhīyamānaṃ hi manastatraiva līyate // 43 //

Tr. Just as camphor merges in fire and salt dissolves in water, similarly, mind focused on it (*brahman*), gets merged with it . 43.

ज्ञेयवस्तुपरित्यागाद्विलयं[1] याति मानसः[2] ॥
मानसे विलयं याते कैवल्यमुपजायते ॥ 44 ॥[3]
jñeyavastuparityāgādvilayaṃ yāti mānasaḥ //
mānase vilayaṃ yāte kaivalyamupajāyate // 44 //

Tr. On giving up the objects of perception, mind merges (in the Absolute). On dissolution of mind, *kaivalya* alone prevails. 44.

खमध्ये कुरु चात्मानमात्ममध्ये च खं कुरु ॥
सर्वं च खमयं कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्[4] ॥ 45 ॥
khamadhye kuru cātmānamātmamadhye ca khaṃ kuru //
sarvaṃ ca khamayaṃ kṛtvā na kiñcidapi cintayet // 45 //

Tr. Merge the *ātman* into void and void into *ātman*. Perceive the void everywhere and do not think of anything else. 45.

अन्तः पूर्णो बहिः पूर्णः पूर्णकुम्भ इवाम्भसि ॥[5]
अन्तः शून्यं बहिः शून्यं शून्यकुम्भ इवाम्बरे ॥ 46 ॥
antaḥ pūrṇo bahiḥ pūrṇaḥ pūrṇakumbha ivāmbhasi //
antaḥ śūnyaṃ bahiḥ śūnyaṃ śūnyakumbha ivāmbare // 46 //

Tr. Just as a filled pitcher drowned in water has the water in and out, similarly perceive the void in and out like an empty pitcher in the space. 46.

स्वगतेनैव कालिम्ना दर्पणं मलिनं यथा[6] ॥
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥[7]
एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ॥ 47 ॥
svagatenaiva kālimnā darpaṇaṃ malinaṃ yathā //
ajñānenāvṛtaṃ jñānaṃ tena muhyanti jantavaḥ //
eka eva hi bhūtātmā bhūte bhūte vyavasthitaḥ // 47 //

1. ज्ञेयवस्तुपरित्यागः विलयं–P. 2. मानसं–J,P,n4. 3. उत्तरार्धः अनुपलब्धः-P,T,t1. 4. 'चिन्तयेत्' अनुपलब्धः-T. 5. पंक्तिः अनुपलब्धा -P,T,t1. 6. तथा–N,J. 7. अनुपलब्धपंक्तिः-N,n1,n4,J.

Tr. Just as the reflection (mirror) appears tarnished due to the face having been coloured, similarly, ignorance conceals wisdom due to which people are illusioned. The same cosmic Self is located in every creature. 47.

एकधा बहुधा चैव दृश्यते[1] जलचन्द्रवत् ॥
मायायुक्तस्तथा जीवो मायाहीनस्तथा शिवः[2] ॥ 48 ॥
ekadhā bahudhā caiva dṛśyate jalacandravat //
māyāyuktastathā jīvo māyāhīnasadāśivaḥ // 48 //

Tr. As the reflection of the moon in water is perceived as one as well as many, so also, the *jīva* (embodied self) being attached to attributes (*māyā*= illusion) is *jīva* and without attributes it is *sadāśiva*. 48.

बन्ध[3]मोक्षोपदेशादिव्यवहारोऽपि मायया ॥
मायाच्छेदः[4] प्रकर्तव्यः सुदृढं ज्ञानयोगतः[5] ॥ 49 ॥
bandhamokṣopadeśādivyavahāro'pi māyayā //
māyācchedaḥ prakartavyaḥ sudṛḍhaṃ jñānayogataḥ // 49 //

Tr. Even the attributes like bondage and liberation, as conventionally used, are due to *māyā* (ignorance). *māyā* should be severed by firm resolution of *jñāna-yoga*. 49.

अत्र सूतसंहितायाम्[6] —
एतदात्ममिदं[7] सर्वं नेह नानास्ति किञ्चन[8] ॥
अद्वैतमेव शास्त्रार्थः शम्भोः पादं स्पृशाम्यहम् ॥ 50 ॥
atra sūtasaṃhitāyām —
etadātmamidaṃ sarvaṃ neha nānāsti kiñcana //
advaitameva śāstrārthaḥ śambhoḥ pādaṃ spṛśāmyaham /50/
According the *sūtasaṃhitā*—

Tr. It is all but one *ātman*, and there is no multiplicity. The contention of all the scriptures is the one Absolute (*advaita*). I touch the feet of *śaṃbhu*. 50.

---

1. दृश्यतेव-J. 2. तथाशिवः-P,T,n4. 3. बिन्दु-P,T,t1. 4. मायाच्छेद–J,T,n1. 5. योगमिच्छता-N,n1,n3,n4,J. 6. अत्र सूतसंहिता–P,n4. 7. तत्तदात्ममिदं–P,T,t1. 8. नेहनानास्तिकं च-N.

विष्णुपुराणे[1] —

कनकमुकुटकर्णिकादिभेदः कनकमभिन्नमपीष्यते यथैकम्[2] ॥
बुधपशुमनुजादिकल्पभिन्नो हरिरखिलाभिरुदीर्यते तथैकम्[3] ॥ 51 ॥
जीवात्मपरमात्मनोरपि भेदोपासनायामपि[4] ॥

viṣṇupurāṇe —
kanakamukuṭakarṇikādibhedaḥ
kanakamabhinnamapīṣyate yathaikaṃ //
budhapaśumanujādikalpabhinno
harirakhilābhirudīryate tathaikaṃ // 51 //
jīvātmaparamātmanorapi bhedopāsanāyāmapi //

According to *viṣṇupurāṇa*—

Tr. As gold can be found in bracelet, crown, earring etc., similarly, Cosmic Soul, called *hari*, is pervading in planets (lit. Mercury), animals and human beings. 51.

In the same manner, the difference in *jīvātma* and *paramātmā* persists even in *upāsanā*.

भगवद्गीतायाम् [5] —

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ॥
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ 52 ॥
तन्मते[6] **दिङ्मात्र**[7]**स्वरूपप्रदर्शननिराकरणम्** ॥

bhagavadgītāyām —
uttamaḥ puruṣastvanyaḥ paramātmetyudāhṛtaḥ //
yo lokatrayamāviśya bibhartyavyaya īśvaraḥ // 52 //
tanmate diṅmātrasvarūpapradarśananirākaraṇam //

According to *bhagavadgītā* —

Tr. The Superior *puruṣa* is called *paramātmā.* One, that pervades and sustains the three worlds, that is immutable, is *īśvara*. 52.

---

1. विष्णुपुराणेऽपि –P,T. 2. यथैकम् -अनुपलब्धः-P,T,t1. 3. तथैकः-P,t1. 4. जीवत्मपरमात्मनोरपि भेदोपासनामपि –N,J. 5. भगवद्गीता–J,N,n4,T. 6. तत्तन्मते-P,T. 7. दिङ्मात्रं –P,T.

This much is enough to repudiate diversities of the views.

भूतैश्च पञ्चभिर्प्राणै[1]श्चतुर्विंशद्भि[2]रिन्द्रियैः ॥
चतुर्विंशति तत्वानि सांख्यशास्त्रविदो विदुः ॥ 53 ॥
bhūtaiśca pañcabhirprāṇaiścaturviṃśadbhirindriyaiḥ //
caturviṃśati tatvāni sāṃkhyaśāstravido viduḥ // 53 //

Tr. The twenty-four *tatvas* include five *bhūtas, prāṇas* and *indriyas.*

According to *sāṃkhya*, the *tatvas* are twenty four. 53.

अहंकारं प्रधानं च माया विद्या च पूरुषः ॥
इति पौराणिकाः प्राहुः त्रिंशत्तत्वानि तैः सह ॥ 54 ॥
ahaṃkāraṃ pradhānaṃ ca māyā vidyā ca pūruṣaḥ //
iti paurāṇikāḥ prāhuḥ triṃśattatvāni taiḥ saha // 54 //

Tr. *paurāṇikas* consider thirty *tatvas* inclusive of *ahaṃkāra, māyā, vidyā* and *puruṣa* etc. 54.

बिन्दुनादौ शक्तिशिवौ शाम्भवीति ततः परम् ॥
षट्त्रिंशत्तत्वमित्युक्तं[3] शैवागमविशारदैः ॥ 55 ॥
bindunādau śaktiśivau śāṃbhavīti tataḥ param //
ṣaṭtriṃśattatvamityuktaṃ śaivāgamaviśāradaiḥ // 55 //

Tr. The experts of *śaivāgama* have stated thirty six *tatvas*, in which *bindu, nāda, śiva, śakti* and *śāṃbhavī* are included. 55.

Note: the number of *tatvas* differ in different tradition and different texts. The narration of *tatvas* by *śrīnivāsa* may be considered as optional. 53-55.

उपादानं प्रपञ्चस्य संसक्ताः परमाणवः ॥
पूर्णरूपादयस्तेषां[4] तेभ्यो जाता घटादयः ॥ 56 ॥
upādānaṃ prapañcasya saṃsaktāḥ paramāṇavaḥ //
pūrṇarūpādayasteṣāṃ tebhyo jātā ghaṭādayaḥ // 56 //

---

1. प्राणाश्च-P,T. 2. चतुर्विंशतिरि–P,t1. 3. षड्विंशत्तत्वमित्युक्तं–n1. 4. गुणरूपादयस्तेषां-P.

Tr. The *paramāṇus* (atoms), coming together, are the cause of the *prapañca* (perceptible world). They contain the quality and form, wherefrom *ghaṭa* (pot) etc., take shape. 56.

यत्कार्यं जायते यस्मात्तत्तत्तस्मिन् प्रतिष्ठितम्[1] ॥
मृत्तिकायां घटस्तन्तौ पटस्स्वर्णेऽङ्गुलीयकम् ॥ 57 ॥[2]
इति वैशेषिकाः[3] प्राहुस्तथा नैयायिका अपि[4] ॥
जनार्दनाख्यमिश्राश्च भट्टाः प्राभाकरादयः ॥ 58 ॥

yatkāryaṃ jāyate yasmāttattattasmin pratiṣṭhitam //
mṛttikāyāṃ ghaṭastantau paṭassvarṇe'ṅgulīyakam // 57 //
iti vaiśeṣikāḥ prāhustathā naiyāyikā api //
janārdanākhyamiśrāśca bhaṭṭāḥ prābhākarādayaḥ // 58 //

Tr. The effect is embedded therein wherefrom it has been originated, like a pot is embedded in soil, cloth in fibre and a ring in gold. This is supported both by *vaiśeṣikas* and *naiyāyikas*, so also by the followers of *janārdana miśras* and *bhāṭṭa-prābhākara* etc. 57-58.

ईश्वरस्य तु कर्तृत्वं नांगीचक्रुश्च मण्डनाः[5] ॥ 59 ॥
īśvarasya tu kartṛtvaṃ nāṅgīcakruśca maṇḍanāḥ // 59 //

Tr. The followers of *maṇḍana* do not agree that *īśvara* is the cause (of the phenomenal creation). 59.

सत्वं रजस्तमश्चेति प्रधानास्त्रिगुणास्त्रयः ॥
तेभ्यो जातमिदं[6] विश्वं सृष्टिस्थित्यन्तहेतवः ॥ 60 ॥
sattvaṃ rajastamaśceti pradhānastriguṇāstrayaḥ //
tebhyo jātamidaṃ viśvaṃ sṛṣṭisthityantahetavaḥ // 60 //

Tr. Primarily, there are three *guṇas*, such as *satva, rajas* and *tamas,* wherefrom this Universe has been evolved and which hold the key to creation, sustenance and dissolution. 60.

---

1. यस्मात्तस्मिन्प्रतितिष्ठति-P. 2. श्लोकः अनुपलब्धः-T. 3. वैशेषिकः-P. 4. अपिच -P. 5. मण्डलाः-P,T. 6. तेभ्यो जायते-P,T,t1.

मायाप्रधानमव्यक्तमविद्याज्ञानमक्षरम्[1] ॥
अव्याकृतं[2] च प्रकृतिस्तम इत्यभिधीयते ॥ 61 ॥
māyāpradhānamavyaktamavidyājñānamakṣaram //
avyākṛtaṃ ca prakṛtistama ityabhidhīyate // 61 //

Tr. *māyā, pradhāna, avyakta, avidyā, ajñāna, akṣara, avyākṛta, prakṛti* and *tamas* are the synonymous. 61.

इति सांख्याश्च भाषन्ते तेषां दूषणमुच्यते ॥
चैतन्यं परमाणूनां प्रधानस्यापि नेष्यते ॥ 62 ॥
iti sāṃkhyāśca bhāṣante teṣāṃ dūṣaṇamucyate //
caitanyaṃ paramāṇūnāṃ pradhānasyāpi neṣyate // 62 //

Tr. This (view) is held by the *sāṃkhyas*, drawback of which is as follows. It is not acceptable that *paramāṇu* (atoms) or even *pradhāna* (the Primal) should have Consciousness (*caitanya*). 62.

ज्ञानशक्तिक्रियाशक्त्या[3] दृश्यते चेतनाश्रयः[4] ॥
तस्मादात्मन[5] आकाशः सम्भूत इति विश्रुतः[6] ॥ 63 ॥
jnānaśaktikriyāśaktyā dṛśyate cetanāśrayaḥ //
tasmādātmana ākāśaḥ sambhūta iti viśrutaḥ // 63 //

Tr. Consciousness can be perceived through *jñānaśakti* and *kriyāśakti*. It is held in the *śruti* that *ākāśa* is originated from *ātman*. 63.

Note: *kriyāśakti*—There are three forms of occult power, namely, *manojavitva* (doing any act at any time), *kāmarūpitva* (assuming any form at will), and *vikaraṇadharmitva* (infinite mental power to consume and transmit).

jñānaśakti—The power of knowledge, which according to *vīra-śaivas*, is associated with *guruliṅga*, symbolizing the perspective modification of the supreme being. 63.

---

1. ज्ञानमक्षरी –t1. 2. अव्याकृतिं–P,T,t1. 3. ज्ञानक्रिया क्रियाशक्त्या -P,T,t1, ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्त्या -n1. 4. चेतनाश्रये –P,T,t1, चेतनाश्रया–n1. 5. तस्मादात्मनश्चा-N. 6. विश्रुतिः-J,N,n1,n3.

शैवाः पाशुपता महाव्रतधराः कालामुखा जंगमाः
शाक्ताः कौल[1]कुलार्चना विधिरताश्चान्येऽपि वा[2] वादिनः ||[3]
एते कृत्रिमतन्त्रतत्वनिरता[4]स्तत्तत्वतो वञ्चितास्
तस्मात्सिद्धिपदं स्वभावनिरतं धीरः सदा[5] संश्रयेत् || 64 ||

śaivāḥ pāśupatā mahāvratadharāḥ kālāmukhā jaṅgamāḥ
śāktāḥ kaulakulārcanā vidhiratāścānye'pi vā vādinaḥ //
ete kṛtrimatantratatvaniratāstattatvato vañcitās
tasmāt siddhipadaṃ svabhāvaniratam dhīraḥ sadā saṃśrayet
// 64 //

Tr. The *śaivas, pāśupatas, mahāvratadharas, kālāmukhas, jaṅgamas, śāktas, kaulakulārcanas, vidhiratas* and such other learned are engaged in futile courses of artificial sciences and hence are far away from the Truth (*tatva*). Therefore, the wise should always take recourse to *siddhipada* (*yoga*), which is very much innate. 64.

Note: ***śaiva***— Followers of *śaivism*, the most influential cult in south India. *śaivite* scriptures are collectively referred to as the *śaivāgama*. *śaivite* cults are generally more ascetic. There are orthodox forms as well as perverted forms of *śaivite* sects. They radically differ from each other. The veneration of *liṅga* is an integral part of most *śaivite* sects.

pāśupata—One of the earlier forms of *śaiva* system. The ultimate cause is believed to be *śiva,* who is omniscient, omnipresent and almighty. The world, or individual (*paśu*) fails to recognize him owing to *pāśa* or fetters. All the problems and conditions of worldly existence can be solved by a proper comprehension of the five main tenets of this system—*kārya, kāraṇa, yoga, vidhi* and *duḥkhānta.*

---

1. काल -P,N,n1. 2. यो -P. 3. पंक्तिः अनुपलब्धाः-T,t1. 4. तन्त्रनिरतास् -P,T, कृत्रिमतन्त्रनित्यनिरतास् -t1. 5. धीरस्य वा-P.

mahāvratadhara—Followers of the (persons participating in) functions on the second day in a *satra* ritual in which certain features of primitive collective life can be clearly observed. A *mahāvrata* cup of *soma* is offered and *mahāvratasāman* is chanted, while the priests sway in tune with the rhythmic chanting during the ritual. An *ārya* and a *śūdra* should engage themselves in a mock fight while a harlot and a *brahmacārī* should abuse each other. Sexual intercourse between a selected man and woman should take place in a screened shed after which there is drum-beating, singing and dancing.

mahāvratadhara is a designation for the *kāpālikas.*

kālamukha—An extremist *śaiva* sect mentioned by *rāmānuja, keśava kaśmirī, haribhadra* and others. This sect existed together with *pāśupata* order between 11th and 13th centuries in South India at Kāñcī, Tiruvariyur, Melpadi, Kodambalur and other places. *kālamukhas* existed in two big divisions known as *śakti-pariṣad* and *siṃha-pariṣad,* each of which had its own sub-divisions. They had a special relationship with *nyāya* school of thought.

kaulamārga—The last of the seven *tāntric ācāras,* which is so influential that it is often equated with Tantrism itself. It is the exclusive cult of *śakti* as the Female principle with the rituals of five Ms or *pañcamakāras*, the aim being the realization of *sāmarasya* of *śiva* and *śakti* within the Self. *śrīvidyā* and her forms are the principal objects of this cult. In some texts, it is regarded as anti-vedic and imported from China. The Tantric texts distinguish two categories of *kaulamārga.* They also describe in detail the qualification and competence of aspirants, nature of spiritual exercise, physical and mental fitness required in this cult, the *kaula* theory of knowledge, its attitude towards woman, its secrecy, warr against its misuse.

kulārcanā— Followers of the cult of *śakti* as the female Principle with the rituals of Five Ms or *pañcamakāras,* the aim being the realization of *sāmarasya* (identity) of *śiva* and *śakti* within the Self.

jaṅgama—A *śaiva* sect mentioned in *ānandagiri's śaṅkaravijaya.*

vidhirata—Those who are engaged in the fourth category of the *pāśupata* system which means the ways to achieve the end. The important *vidhis* are known as *caryās*, which are again subdivided into *vratas* (vows) and *dvāra* (door). *vidhi* is also the term for injunction. *vidhimārga* means the way of injunctions and prohibitions or the path of duties. *vidhis* are variously classified as *apūrva, niyama* and *parisaṃkhyā* or into *puruṣārtha* and *kratvartha.* 64.

इति श्रीनिवासयोगीश्वरविरचितायां हठरत्नावल्यां चतुर्थोपदेशः[1]

iti śrīnivāsayogīśvaraviracitāyāṃ haṭharatnāvalyāṃ caturthopadeśaḥ

Here ends the fourth chapter of haṭharatnāvalī, composed by śrīnivāsa yogīśvara

1. श्रीमत्तार्किकचूडामणिधरणीशकर्णव्याख्यावेदान्तपरिभाषाद्यनेकप्रबन्धकरणजन्यजयलक्ष्मीविराजमानहठयोग-प्रवर्त्तकाचार्यः तिम्मयज्योतिषिकसोमाम्बात्मजश्रीनिवासभट्टयोगीन्द्रविरचितायां श्रीहठरत्नावल्यां चतुर्थोपदेशः // शुभं भवतु // -T, समाप्तस्सम्पूर्णम् शुभम् -N, सम्पूर्णं समाप्तः -J.

स्वस्तिश्रीसम्वत् १८९५ श्रीशाकसम्वत्सर १७६0 / श्रीनेपालसम्वत् ९५९ / मार्गशिरशुपञ्चमीवृहस्पतिवारे इदं रत्नावलीनामग्रन्थलिखितं सम्पूर्णम् / स्वस्ति श्रीविक्रमाब्दे शरग्रहगजभूसम्मिते मार्गशुक्ले पच्चम्यां पूर्ण तिथौ गुरुदिनदिवसे विश्वमक्षे च गण्डे / धन्वर्के कुम्भलग्ने शशिमकरगते वाग्मतीपूर्वभागे गोडावर्य्युत्तरेहिः हिमगिरियमगे गण्डकीपश्चिमे च /1/ नेपाले मध्यदेशे नगरभगत्पुरे भैरवीमातृकाग्रे दैवज्ञे लेखनियं हठरत्नावलीधर्ममोक्षार्थसिद्धि //- n1.

समाप्तोऽयं ग्रन्थः / श्रीगुरुपादारबिन्दद्वयं नमः / श्रीगोविन्दार्पणमस्तु / इदं पुस्तकं श्रीश्री.....// -n3.

List of Figures

siddhāsana

bhadrāsana

siṃhāsana

padmāsana

karasaṃpuṭitapadma

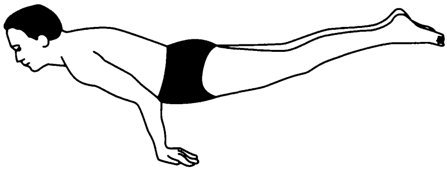

mayūrāsana- (daṇḍa)mayūra

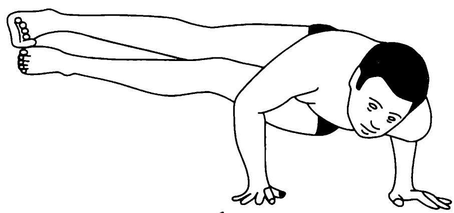

pārśvamayūra

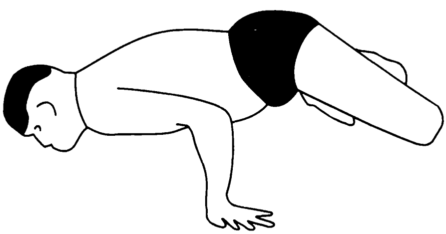

baddhakekī

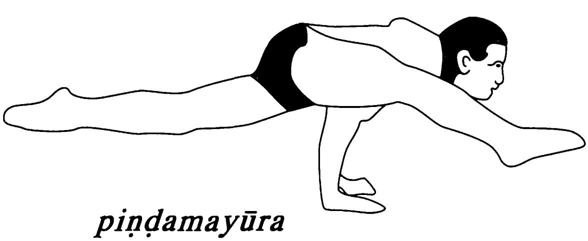

piṇḍamayūra

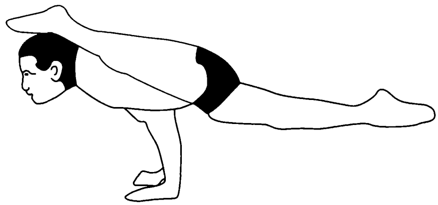

ekapādamayūra

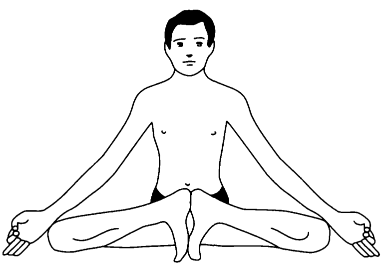

bhairavāsana

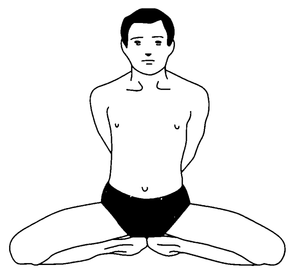

kāmadahana

pāṇipātra

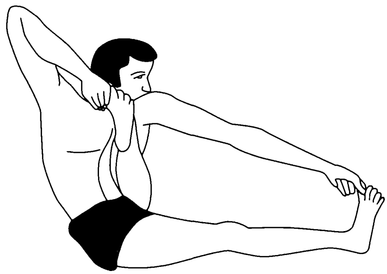

dhanurāsana (kārmuka)

svastikāsana

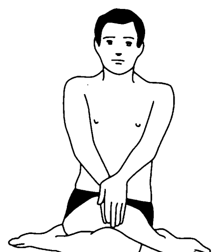

gomukhāsana

vīrāsana

maṇḍūkāsana

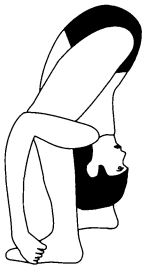

markaṭāsana

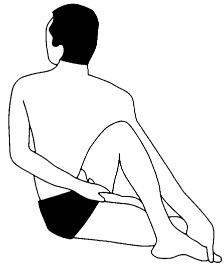

matsyendrāsana

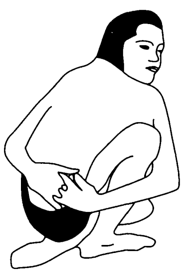

pārśvamatsyendrāsana

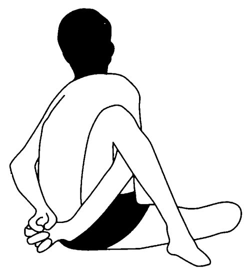

baddhamatsyendra

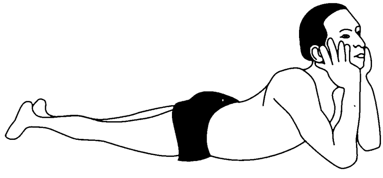

nirālaṃbanāsana

Appendix-1

[In Tanjavur Ms. No. 6393 (b) the following extra lines appear after this line of verse No. 41 of chapter iv] .

"ननु ईश्वरस्यापि पञ्चवक्त्रस्थितपञ्चदृगित्यादिनागमेषु शरीरेन्द्रिययोगः श्रूयते | अत आह पञ्चमन्त्रतनुः | अयमभिप्रायः | ध्यानार्थमेवेश्वरस्य पञ्चवक्त्राद्याकारः श्रूयते | निराकारे ध्यानपूजाद्ययोगात् | यदाहुः | आकारवांस्त्वं नियमादुपास्यो नस्त्वनाकारमुपैति बुद्धिरिति | श्रीमत्पौष्करे साधकस्य तु लक्षार्थं तस्य रूपमिदं स्मृतमिति | अतः पञ्चमन्त्रात्मिकाः पञ्चकृत्योपयोगिन्यः | ईशानाद्याः शुक्तय एव शरीरकार्यं कुर्वाणाः तनुरित्यपचारादुच्यन्ते | यच्छ्रयते | तद्वपुः पञ्चभिर्मन्त्रैः पञ्चकृत्योपयोगिभिः | ईशतत्पुरुषा घोरवामाद्यैर्मस्तकादिकमिति | अत एवाह पञ्चविधं तत्कृत्यं सृष्टिस्थितिसंहृतितिरोभावाः | तद्वदनुग्रहकरणं प्रोक्तम् सततोदितस्यास्य | एतच्च कृत्य पञ्चकं शुद्धा साक्षाच्छिवकर्तृकमशुद्ध्वा ध्वनित्वसंगादि द्वारेन्युक्तम् | श्रीमत्किरणे शुद्धेऽध्वनिः शिवः कर्ता प्रोक्ताऽनन्तो सिते प्रभुरिति | तत्र शिवस्य इष्टिबिन्द्वात्मकादुपादानाच्छुद्धतत्वभुवनाद्युत्पादनपूर्वं तदभवनवासिनां विद्यां विद्येश्वराणां च बैन्दव- शरीरयोन्मननादिक्रमेण शब्दोत्पादश्च | अनन्तादि- द्वारासु मायाख्याद्यशुद्धं तत्वाद्युत्पादनपूर्व- पशुसंघानां सूक्ष्मतात्विकशरीरेण स्वकर्मा नुगुण- भौवशरीरेण च योजनम् | मन्त्रेश्वराणामधिकारे निबन्धनशरीरोत्पादनस्थितिस्वशक्त्या निरुद्धस्य सर्वस्य जगतः स्वविषय एव स्थानम् | संसृतिः शुद्धा शुद्धाशुद्धकार्यवर्गयोर्बिन्दु मामात्मनो रूपसंहारः | तिरोभावश्च पाशानुग्रहेणात्मना यथागुणभोगभाजनम् | अनुग्रहोऽपि पाशतिरोधानेनाणूनां परापरमोक्षदानमिति | ननु स्थितिसंरक्षणादान् भावानुग्रहकाराश इति | श्रीमद्रौरवातिश्रुते विद्येशानामपि पञ्चकृत्यकारत्वात् कथं स ततोदितस्येति प्राप्तिसाधने दीक्षादिनोपाय- कलापेन प्रतिपदार्थे संग्रहः कथ्यते | अनवश्चात्मन इत्यनेन पशुत्ववियोगिनां विज्ञानाक नां बन्धात्मनां पशुपदार्थत्वमुच्यते | अर्थपञ्चकमित्यनेन मलरोधशक्तिकर्ममायाबिन्दवः प्रोच्यन्ते | ततस्तेषां पञ्चानां बिन्दुमायोद्भूतैः शुद्धाशुद्धरूपैस्तन्व- भुवनभूतभावैः सह पाशपदार्थैः संग्रहः | ननु कथमेकस्याः एव शिवशक्तेः प्रतिपदार्थे च संग्रहं उच्यते परमार्थतः प्रतिपदार्थ एव शक्तेरन्तर्भावः पाशत्वं तु तस्याः पाशधर्मानुवर्त नेनोपचारात् | यदुक्तम् तासां माहेश्वरीशक्तिः सर्वानुग्राहिका शिवा | धर्मानुवर्तना

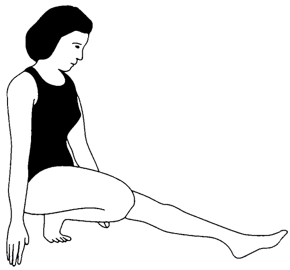

saurāsana

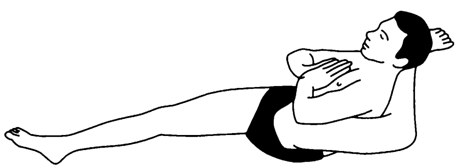

ekapādāsana

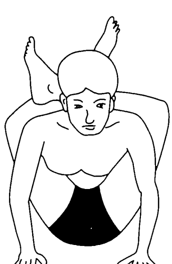

phaṇīndrāsana

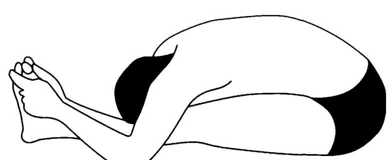

paścimatāna

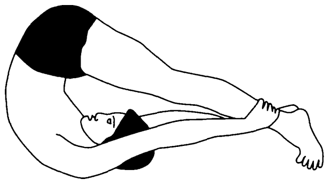

śayitapaścimatāna

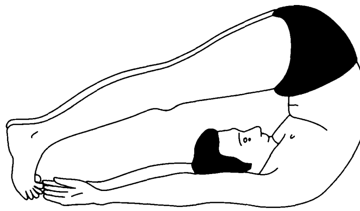

vicitrakaraṇī

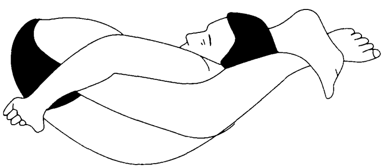

yoganidrā

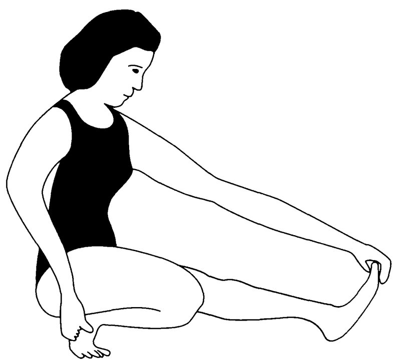

dhūnapīṭha (vidhūnana)

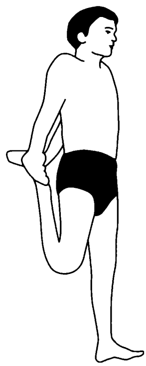

pādapīḍanāsana

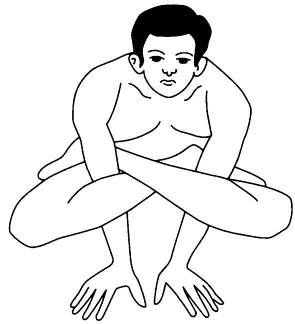

kukkuṭāsana

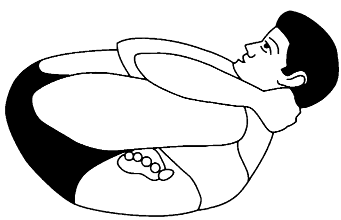

uttānakūrma

vṛścikāsana

śavāsana

इत्यपचार्य इति। अस्तु तर्हि मुक्तात्मनां पाशसंसर्गरहितत्वात् शिवत्वम्। विश्वेश्वरादीनाम् बैन्दवशरीरयोगेऽपि कथं पशुत्वापगमः। मुक्तात्मनोऽपि शिवा मुक्तात्मानं सम्प्राप्य शिवसाम्याः। अपि शब्दाद्विश्वेश्वरादयश्च शिवा एव पशुत्वाख्येन मलेन विरहात्। तद्योगिनां हि पशुत्वं पशुसंयोगादिति श्रुतिः। अत एषां शिवत्वेन सर्वज्ञत्वादिना योगाच्छिवत्वमेवम्। बैन्दवादिशरीरयोगस्त्वधिकारमलांशातशेषतोऽधिकार- निबन्धन एव। अतएव च मायोत्रीर्नत्वान्मलरहितत्वाच्च विद्या विश्वेश्वर– पदप्राप्ते परमुक्तित्वम्। कथं पुनर्मन्त्रेश्वराणां कलादियोगात् मलरहितत्वात् कलादीनां योगस्य मायागर्भाधिकारत्वे बन्धनत्वेन तेषामवश्यत्वाच्च। यदुक्तं कालयोगेऽपि नो वश्याः कलानां पशुसंघवदिति। यद्येवं शिवत्वे समाने मुक्तात्मादिभ्योऽस्य परमे। किन्त्वेते प्रसादतः मुक्ताः सोऽनादिमुक्त एको विज्ञेय अनादिमुक्तस्वभाव–सिद्धनित्यानिर्मलनिरतिशय सर्वार्थः॥"

Variations in the names of *siddhas* mentioned in the *haṭharatnāvalī* and *haṭhapradīpikā*

Nos	*haṭharatnāvalī* (Lonavla Yoga Institute Ed.)	*haṭhapradīpikā* (Kaivalyadhama Ed. (Hp-Kdm)	*haṭhapradīpikā* (10 chapters-Lonavla Yoga Institute Ed.)	Variant readings from foot-notes of these books	
1	*śrīādinātha*	*śrīādinātha*	*ādinātha*		
2	*matsyendra*	*matsyendra*	*matsyendra*		
3	*śābara*	*śābara*	*śārada*	*śāradā* (HP,Kdm)	*śāradā* (HP, 10ch)
4	*ānandabhairava*	*ānandabhairava*	*ānandabhairava*		
5	*śāraṅgī*	*cauraṅgī*	*cauraṅgī*		
6	*mīna*	*mīna*	*mīna*		
7	*gorakṣa*	*gorakṣa*	*gorakṣa*		
8	*virūpākṣa*	*virūpākṣa*	*virūpākṣa*		
9	*bileśaya*	*bileśaya*	*bileśaya*		
10	*manthānabhairava*	*manthānabhairava*	*manthānabharava*		
11	*siddhabuddhi*	*siddhi* (ii.1) *buddhi* (ii.11)	*siddhabuddhi*	*siddhibuddhi*-HR	*siddhabuddha* (HP-Kdm)
12	*kandalī*	*kanthaḍī*	*kanthaḍī*		*kadalā* (HP-Kdm)
13	*korandaka*	*koraṇṭaka*	*kauraṇṭaka*	*gonandaka*-HR	*pauraṇthaka,ghor aṇṭaka* (HP-Kdm)
14	*surānanda*	*surānanda*	*surānanda*		
15	*siddhipāda*	*siddhipāda*	*siddhapāda*		
16	*carpaṭi*	*carpaṭi*	*carpaṭi*	*parpaṭi*-HR	*sarpati* (HP-Kdm)
17	*karoṭi*	*kānerī*	*kānerī*		*kāvārī, karaṇī* (HP-Kdm)

Nos	*haṭharatnāvalī* (Lonavla Yoga Institute Ed.)	*haṭhapradīpikā* (Kaivalyadhama Ed. (Hp-Kdm)	*haṭhapradīpikā* (10 chapters-Lonavla Yoga Institute Ed.)	Variant readings from foot-notes of these books	
18	*pūjyapāda*	*pūjyapāda*	*siddhipāda*		
19	*nityanātha*	*nityanātha*	*nityanātha*		*bilvanātha, dhvaninātha* (HP-Kdm)
20	*nirañjana*	*nirañjana*	*nirañjana*		
21	*kapālī*	*kapālī*	*kapālī*		*kāpālī* (HP-Kdm)
22	*bindunātha*	*bindunātha*	*bindunātha*		
23	*kākacaṇḍīśvara*	*kākacaṇḍīśvara*	*kākacaṇḍīśvara*	*kākacaṇḍaścaromakaḥ*	*kākacaṇḍīkharādi* (HP-Kdm)
24	*allama*	*allāma*	*allamāprabhudeva*		*āllamaprabhu* (HP-Kdm)
25	*prabhudeva*	*prabhudeva*			
26	*naiṭacūṭi*	*ghoḍācolī*	*ghorācolī*	*phaiṭichoṭi* (HR)	*ghoḍācūlī, pogavālī* (HP-Kdm)
27	*ṭiṇṭiṇi*	*ṭiṇṭiṇī*	*ṭiṇṭiṇi*		*ṭhiṇṭhiṇi* (HP-Kdm)
28	*bhāluki*	*bhānukī*	*vāsukī*	*tāluki* (HR)	*bāluki, tālukī, mallakī* (HP-Kdm)
29	*nāgabodha*	*nāradeva*	*nāgabodha*	*nāgalodha* (HR)	*namideva, nāgadeva* (HP-Kdm)
30	*khaṇḍakāpālika*	*khaṇḍa*	*khaṇḍa*	*kaṇḍī* (HP-10ch)	
31		*kāpālika*	*kāpālika*		

Appendix—3

(Some of the āsanas mentioned in the list but not described in the text are described here from other sources.)

kārmukāsana—Following technique is described in the *yogāsanam*: "Sit in a cross-legged position. Hold the right big toe with the right hand and left big toe with the left hand and sit erect."

haṃsāsana— *kiraṇabhāṣya* of *śrīkṛṣṇa vallabhācārya* on PYS (i.46) describes this *āsana* as follows: "Place the two palms on the ground, bring the elbows together and rest the navel region of the abdomen on the elbows. Stretch the legs on the ground and remain steady."

However, *kapālakuraṇṭaka* gives a different technique. "Assuming *kukkuṭāsana* raise the thighs upto the shoulders. This is *haṃsāsana*".

cakrāsana—*kiraṇabhāṣya* of *śrīkṛṣṇa-vallabhācārya* on PYS (ii.46) describes *cakrāsana* as follows: "Hold the toes of the two feet with the fingers of respective hands. With this position lie on the back imitating the moving wheel."

yogasiddhāntacandrikā gives a little different technique: "In *śavāsana* the two legs should be taken quickly behind the head and are crossed."

ahirbudhnyasaṃhitā (31033) and *varāhopaniṣad* (v.17) describe *cakrāsana* as a meditative posture. They give the technique as follows: "Place the left thigh on the right ankle and the right thigh on the left ankle and keep the trunk erect."

kūrmāsana— *haṭhapradīpikā* describes the *kūrmāsana* as follows: "Pressing the anus well with the two ankles, feet everted, one should sit in a calm and composed manner."

triśikhibrāhmaṇopaniṣad (38) gives the same technique but under the name of *yogāsana*.

citrapītha—*jogapradīpakā* of *jayatarāma* and *yogāsanamālā* describe this *āsana* as below: "Bring the two soles together. With the help of the left elbow raise both the feet over the head and hold them there. With the right hand hold the neck on the left and bring its elbow upto the navel and abdomen. Direct the gaze at the nose."

gorakṣāsana—*gheraṇḍasaṃhitā* (ii.24-25) describes this *āsana* as follows: "Keeping the two feet turned upwards between the knees and the thighs, hiding the ankles with upturned hands and contracting the throat, one should gaze at the tip of the nose."

aṅguṣṭhāsana—*kiraṇaṭikā* by *śrīkṛṣṇa-vallabhācārya* on PYS (ii.46) gives the technique as follows: "Sit on the toes and touch the two knees together on the ground. Place the buttocks on the heels and fold the hands on the chest."

vyāghrāsana—*kiraṇaṭikā* by *śrīkṛṣṇa-vallabhācārya* on PYS (ii.46) describes it as follows: "Arrange the legs as in *siṃhāsana*. Place the two hands on the ground by the side of the knees. Bend a little forward, open the mouth, put the tongue out and sit with the eyes dilated."

śara(la)bhāsana—The text '*cauryāsī āsane*' describes this *āsana* as follows: "Lie prone. Place both the palms under the chest. Raise the head up and hold the position."

gheraṇḍa saṃhitā (ii.359) describes the technique as follows: "Lie prone pressing the ground with the palms placed on either side of the chest and raise legs together nine inches high in the air. This is called *śalabhāsana* by eminent sages."

krauncāsana—The following description of *krauncāsana* is found in the *śrītatvanidhi* (67) edited by N.E. Sjoman under the title "The Yoga Tradition of the Mysore Palace". "Open the closed fists between the thighs and knees and take hold of a rope with

them. Hold a weight in the teeth and ascend the rope. This is *krauncāsana*, the crane."

The same description is found also in the *kapālakuraṇṭaka*.

drḍhāsana—*kiraṇabhāṣya* of *śrīkṛṣṇa-vallabhācārya* on PYS (i46) describes its technique as follows: "Lie on the left side. Bend the left arm in the elbow and support the head with the hand, elbow resting on the ground."

Glossary

ādhāracakra—a synonym for *mūlādhāra.*
advaita—the one Absolute.
āgama—a traditional doctrine or precept, a sacred writing or scripture.
ajñāna—ignorance which conceals wisdom, making people illusioned.
amaravāruṇī— the divine ambrosia, the secretion from the moon.
akṣara—a synonym for *māyā* and *prakṛti.*
amarī- -urine, drinking and snuffing of which is recommended while undergoing the course of *vajrolī.* This practice is called *amarolī.*
amarolī— daily practice of tasting and snuffing of urine which forms a part of *vajrolī* practice.
antaḥkaraṇa—the internal organs which are *manas, buddhi, citta* and *ahaṅkāra.*
apathya—food that is contradicted for consumption.
ārambha—the first of the four states of *yoga.*
avyākṛta—a synonym for *prakṛti.*

bandha—the attribute of bondage which is attached to an embodied soul.
bhānu—a synonym for the sun located at the navel which saps up the nectar flowing from the moon in the head.
bhūta—the elements which are five, i.e., earth, water, fire, air and ether.
bhūta—the living creature.
bhūtātmā— the Cosmic Self which pervades everything.
bimba(dvaya)—the (pair of) discs of sun and moon.
bindu—used for *rajas*; also for the centrally aroused light which a *yogī* sees within; generally used for semen; a secretion of the spinal fluid in the *yonisthāna.*
bindujaya—control of *bindu*—the vital energy of the body.
bindusthairya—stabilization of *bindu.*

brahmacakra—a synonym for *brahmarandhara.*
brahmanāḍī— synonym for *suṣumnā.* Movement of *prāṇa* in this *nāḍī* is highly emphasized as essential for higher achievements in the path of *yoga.*
brahmāṇḍa—the macrocosmic body.

candra—the moon or *iḍā* which is cool in effect. The moon located in the space above the soft palate wherefrom the divine ambrosia oozes.
candramaṇḍala—the moon located at the *kapāla* (forehead).
cāndrī— the divine ambrosia oozing from the *candra* (moon) located in the cavity above the soft palate.
cittavṛttinirodha—control of the modifications of the mind.

dehānala—bodily fire.

dhātu—the bodily constituents which are called *dvīpa* (islands), which are seven in number, i.e., *rasa, rakta, māṃsa, asthi, majjā, śukra* and *medas.*
dhyāna—generally understood as practice of meditation, wherein the mind is made still.
gāyatrī— a Vedic metre of 24 syllables,. The Vedic *mantra* which is as follows—"*oṃ tat savitur vareṇyaṃ bhargo devasya dhīmahi* / *dhiyo yo naḥ pracodayāt* //
ghaṭa—the second of the four states of *yoga.*
go—the tongue.
guṇa—the individual quality or qualities of the five elements which are sound, touch, form, taste and smell. The eight supernatural powers like *aṇimā* etc., acquired by an accomplished *yogī.*

hari—the Cosmic soul which pervades everything.

haṭhayoga—the discipline of *yoga* comprises the practice of *ṣaṭkarmas, āsana, kuṃbhaka, mudrā, nādānusandhāna* etc.

iḍā— the left nostril which is of the nature of moon and is *tāmasika* denoting night or inertia. It is also known as *bhāgīrathī.*
indriya—the sense organs.
īśvara—the Supreme Self called *paramātman.*

jaṭharāgni—the gastric fire.
jitaśvāsa—one who has mastered the practice of *prāṇāyāma.*
jitendriya—one who has restrained the sense organs.
jīva—the embodied soul attached with *māyā* (illusion).
jīvātman—the embodied soul, the individual Self which has to be freed from the bondage.
jñāna—wisdom.
jñānaśakti—the power of knowledge.
jñānayoga—*yoga* of wisdom, which can sever the relation of attributes attached to an embodied soul.

kaivalya—the Absolute state which arises on dissolution of the mind.
kalā— the tongue which has to be elongated upto the center of the eyebrows by cutting, moving and milking, to attain *khecarī.*
kāladaṇḍa—whip of *kāla*—death or time—that controls all living beings.
kālāgni—fire located at the base *mūlādhāra.*
kālakūṭa—the deadliest of the poisons.
kalpānta—the time of dissolution of the Universe. A *kalpa* is a day of *brahmā* or 1000 *yugas* being a period of 432 million years of mortals and measuring the duration of the world.
kapāla—the forehead wherein the moon is located.
karaṇa—synonym for *mudrā.*
karma—purificatory process.
kāyasiddhi—attainment of the supernatural bodily powers.

kedāra—the center of the eyebrows which is the confluence of the three rivers, i.e., *nāḍīs—iḍā, piṅgalā* and *suṣumnā.*
kha— the void, wherein the *ātman* has to be merged and which has to be perceived everywhere.

kriyāśakti—the three forms of occult power which are *manojavitva* (doing any act any time), *kāmarūpitva* (assuming any form at will) and *vikaraṇabhāva* (infinite mental power to consume and transmit).
kumbhaka—retention of the breath, varieties of *prāṇāyāma* which differ according to *haṭha* texts.

lambikā— the tongue, the practice of cutting, rubbing etc., of the tongue so that it can touch the center of the eyebrows.
laya—it means (i) not to come back to life again, (ii) to forget the objects of experience, (iii) absorption.
layayoga—absorption of the mind in the unstruck sound *(anāhata-nāda).*

mahākhaga—the great bird *prāṇa.*
mahāsiddha—great adepts of *yoga* of the past.
mahāyoga—a synonym for *pātañjalayoga.*
manaḥsthairya—stability of the mind which is the result of *prāṇāyāma* and which is equated with the state of *manonmanī.*
mantra—a sacred syllable or sentence to be chanted in the prescribed manner.
mantrayoga—*yoga* chiefly comprising chanting of *mantra.*
māruta—*prāṇa* the vital force of life.
maṭha—a hermitage ideal for undertaking *yoga* practices.
maṭhikā— a small cottage which is located in a desolate place where a *yogī* is supposed to reside for *yoga* practices.
māyā— illusion attached to *jīva*—the embodied Self bereft of which, a *jīva* is *sadāśiva* (ever Blissful).

mitāhāra—moderate diet. Consumption of prescribed quality and quantity of food which does not make one feel hungry nor cause drowsiness.
mokṣa—liberation, a state wherein the embodied soul gets freed from all attributes.
mukti—the state of liberation.

nabhojala—the nectar that oozes from the space above the soft palate, onto the fire at the navel causing decay of the human body.
nāda—various sounds heard within the body. The unstruck sound heard within the body, concentration on which results in quick absorption of the mind. It has various levels starting from gross to the subtlest of sounds.
nādānusandhāna—hearing of the unstruck sound *(nāda)* for the absorption of the mind.
nāḍī— conduits in the body through which the vital air *prāṇa* moves. These are considered 72,000 in number.
nāḍīcakra—a *cakra* located at the *mulādhāra* wherefrom the *nāḍīs* originate. It resembles an egg of a hen. The network of the *nāḍīs.* Its purification has been greatly emphasized in *haṭhayoga.*
nāḍīśuddhi—purification of the *nāḍīs* in the body which is judged by the external signs like slimness and luster of the body etc.
nirālamba—a synonym for *brahman.*
nirañjana—one that is without blemish. A synonym for *brahman.*
niśā— used as a *kumbhaka*
niṣpatti—the last of the four states of *yoga* which a *yogī* experiences.

paramāṇu—the atoms which come together to form the Universe.
paramātman—the Universal or Cosmic Soul which is ever free.
paricaya—the third of the four states of *yoga* experienced by a *yogī.*

paścimapatha—the posterior path. The *suṣumnā nāḍī.* Moving of *prāṇa* in this *nāḍī* merges the *prāṇa* into the state of *laya* (absorption of the mind) and one overcomes diseases and premature death.

pātāla—the void at the base of the spine wherein consciousness is located.

pathya—recommended food.

piṇḍa—the human body. The microcosmic (individual) body.

piṅgalā— the right nostril which is of the nature of sun and is *rājasika* denoting agility. It is also known as *yamunā.*

pīṭha—a synonym for *āsana.*

pradhāna—the primordial state of *prakṛti*, a synonym for *māyā* or *avyakta.*

praṇava—the sacred syllable *OM.*

prapañca—the perceptible world made out of the *paramāṇus* (atoms).

pratyāhāra—withdrawal of the sense from the sense object.

pṛthvī— the term used for *āsana.*

purāṇa—a legendary history, certain wellknown sacred works which are 18 in number, supposed to have been composed by *vyāsa* and contain the whole body of Hindu mythology.

puruṣa—the superior Self called *paramātman.*

rājadanta—the front teeth.

rajas—one of the triad of *guṇas* standing for activity. Menstrual discharge.

rājayoga—a synonym for *pātañjalayoga* comprising eight *aṅgas* or components for practice.

śabdagarbhā— tongue, movement of which in a prescribed manner plays a significant role in arousal of *kuṇḍalinī.*

sadāśiva—the Self which is bereft of all attributes.

śakti—a synonym for *kuṇḍalinī* which has to be awakened from its latent and coiled position.

samādhi—Ultimate state of *yogic* endeavour. End of mental construction.

śāṃbhavī— a *mudrā* in which one gazes in between the eyebrows and concentrates his mind inside.

śambhu—an epithet of *śiva*.

saṅketa—a special apparatus which is shaped like a snake, rounded, having two *śṛṅkhalās* which provides rest for elbow, measuring 72 digits, possession of which is integral for attainment of *khecarī*. Special secret instructions given by a *guru* which have to be incorporated while doing the practice of *āsana, mudrā* etc.

sarasvatī— a synonym for *kuṇḍalinī*.

śaśī— the moon wherefrom the divine nectar flows.

ṣaṭcakra—the six *cakras* or plexuses — *ādhāra, svādhiṣṭhāna, maṇipūra, anāhata, viśuddha* and *ājñā*.

satva—one of the triad of *guṇas* denoting illumination.

siddha—one who has attained success in *yoga*.

siddhipada—the course of *yoga*.

śirājāla—the network of the nerves tying up of which restricts the downward flow of the nectar oozing from the space.

śiras—a Vedic *mantra* attached to the end of the popular *gāyatrī mantra* which is—*om āpo jyoti raso'mṛtaṃ brahma bhūr bhuvaḥ svarom.*

śruti—a sacred Vedic text, the scripture that has been transferred through oral communication.

sūrya—the right nostril or *piṅgalā*. The sun located at the navel which consumes the divine nectar flowing from the moon situated above the soft palate.

suṣira—an aperture located at the base of the spine which is the fountain head of the Consciousness.

suṣupti—one of the four states of Consciousness.

tamas—One of the triad of the *guṇas* representing the quality of inertia.

tatva—basic elements which are twenty four according to *sāṃkhya*, thirty according to *paurāṇikas* and thirty six as per the experts of *śaivāgama*. The Self.

tatvajñāna— knowledge of the Self.

tridaśa—the deities like *brahmā* etc.

triguṇa—the triad of *guṇas*, namely, *satva, rajas* and *tamas*, which is the cause of the Universe and which holds the key to creation, sustenance and dissolution.

triveṇīsaṅgama—the confluence of the three rivers, i.e. *nāḍīs*—*iḍā, piṅgalā* and *suṣumnā* at the center of the eyebrows which is called *kedāra.*

unmanībhāva—state of *yoga* wherein the mental fluctuation is completely stopped by moving the *prāṇa* through *suṣumnā.*

vahnimaṇḍala—the navel region wherein the gastric fire is based.

vajrakandara—the urethra.

viṣaya—the objects (of senses).

vyāhṛti—a mystic word from the *Vedas.* They are seven in number like—*bhūḥ, bhuvaḥ, svaḥ, mahaḥ, janaḥ, tapaḥ* and *satyaṃ.*

yogamaṭha—an ideal cottage used by a *yogī* for undertaking *yoga* practices.

yogasiddhi—success in *yoga* which is attained through knowledge of the scriptures, grace of the *guru*, practice of *yoga* and grace of *īśvara.*

yoginīcakra—powers of the deities presiding over the *cakras.* Important nerve plexus.

yonisthāna—the perineum, the place between the genital and anus wherein coiled *kuṇḍalī* is supposed to be lying latent.

Index of Half-verses

Word Index

(Numbers stand for page numbers).

N

T

U

THE LONAVLA YOGA INSTITUTE (INDIA)
(Regd. No. 1439/1998/Pune)
A-7, Gulmohar Apartment, Bhangarwadi
Lonavla-410 401, Pune (India)
Tel: 0091-02114-70263
E-mail: dr_gharote1@rediffmail.com
lonayogalnl@vsnl.net

The Lonavla Yoga Institute (India) was founded in May 1996 by Dr. M. L. Gharote who was a student and collaborator of Swami Kuvalayananda, Founder of Kaivalyadhama Yoga Institute and a Pioneer of Scientific Yoga.

Activities of the Lonavla Yoga Institute (India)

1. To conduct or help conducting research in the field of pure and applied Yoga.
2. To edit or get edited text books on Yoga with notes and translations and publish them.
3. To prepare and publish catalogues, digests, indices or glossaries of Yogic texts and subjects allied to Yoga with a view to help critical studies of Yogic texts.
4. To publish Newsletter "Yoga Pradipa".
5. To organize seminars and conduct courses in Yoga and provide facilities for training individuals or groups of individuals in India or abroad.
6. To establish contacts and co-operate with the individuals and associations or organizations working in the field of Yoga in different aspects.
7. To give adequate guidance to the individuals and groups in the Yogic therapeutic matters.

Projects at hand

i. Encyclopaedia of Traditional Asanas.
ii. Publication of Yoga texts with translations in different languages.
iii. Catalogue of Yoga Manuscripts.
iv. Organization of Yoga Therapy Courses in different places with the help of affiliated or related Associations and Institutions.
vi. Organization of Yoga workshops for groups visiting India.

Publications

Within a short period of its existence the Institute has published the following books:

1. **Glossary of Yoga Texts** --Part-I & II—Dr. M. L. Gharote.
2. **Swami Kuvalayananda—A Pioneer of Scientific Yoga and Physical Education—**Dr. M. L. Gharote and Dr. M. M. Gharote.
3. **Yogic Techniques**—Dr. M. L. Gharote.
4. **Hatha Pradipika Vrtti by Bhojatmaja (Marathi)—**Ed. Dr. M. L. Gharote.
5. **Kumbhaka Paddhati or Science of Pranayama**—Ed. Dr. M. L. Gharote & Parimal Devnath.
6. **Hathapradipika (10 chapters) with the Commentary Yogaprakasika by Balakrishna**—Ed. Dr. M. L. Gharote & Parimal Devnath.
7. **Yuktabhavadeva of Bhavadeva Mishra** (Original Sanskrit Text, English Summary and Critical Appraisal)—Ed. Dr. M. L. Gharote & Dr. V. K. Jha.
8. **An Introduction to Yuktabhavadeva of Bhavadeva Mishra** (English Summary and Critical Appraisal)—Ed. Dr. M. L. Gharote & Dr. V. K. Jha.
9. **Hatharatnavali** by Srinivasa—Critical edition, transliteration, translation, figures, notes and appendices.
10. **Posters of Yoga Practices** (Asanas & Kriyas.) In colour and black and white.

Future Publications

The Institute is working on the following texts and soon they will be published.

i. Siddha-siddhanta Paddhati by Goraksanatha with transliteration, translation, notes and index.
ii. Traditional Asanas and their Varieties with illustrations and sequences.
iii. Hathatattvakaumudi of Sundaradeva.
iv. Encyclopaedia of Traditional Asanas.

हठतत्वकौमुदी

Haṭhatatvakaumudī

A treatise on
Haṭhayoga
by
Sundaradeva

Editor-in-chief
Dr. M. L. Gharote
Editors
Dr. Parimal Devnath
Dr. Vijay Kant Jha

2007
The Lonavla Yoga Institute (India)
Lonavla--410401

First Edition, 2007

Printed by-

XL Images
S.No. 411/1, Plot No. 11, Jc Satish Agarwal Path
Dapodi, Pune-411 012 (INDIA)

Published by
Dr. Manmath M. Gharote
Director,
The Lonavla Yoga Institute (India),
A-7, Gulmohar Apartment,
Bhangarwadi, Lonavla (India),
410401

ISBN 81-901617-5-X
Rs. 695/-
$ 46
€ 38

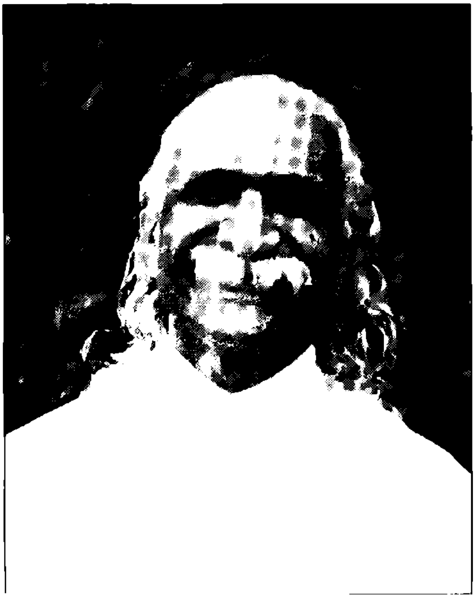

Dedicated with profound respect to

Swami Kuvalayananda-ji

who initiated the process of bringing out critical editions of Hathayogic texts

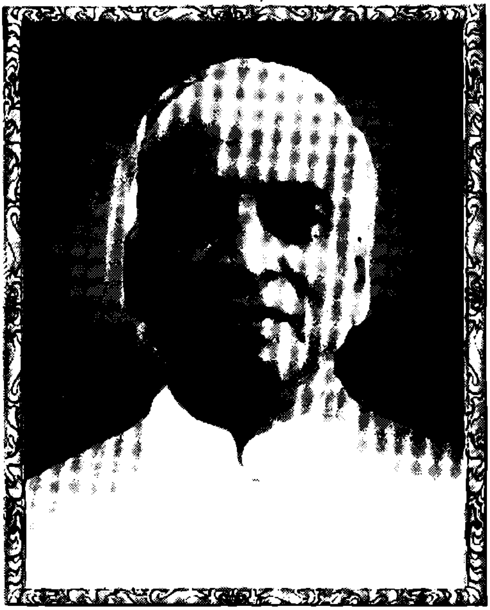

Dr. M. L. Gharote

(21.05.1931--17.01.2005)

We offer our grateful thanks to the
Ministry of Health and Family Welfare
(Department of ISM&H,
now known as AYUSH),
New Delhi,
for supporting the project of
"Haṭhatatvakaumudī— A Critical Edition"
under Extra Mural Research Scheme
with liberal grant–in-aid without which the
project could have not been successfully
completed.

Publisher's Note

I have great pleasure in offering **Haṭha-tatva-kaumudī** at the hands of the followers of Yoga tradition. This is a large compendium on haṭhayoga written by **Sundaradeva** who hailed approximately 200 years ago (around 1700-1800 AD). This text, so far neither edited or published, is a fairly less known work of Sundaradeva (there is another work by the same author named Haṭha-saṅketa-candrikā which is much known to the scholars of Yoga). The work expands to 56 chapters which elaborately describes the intricacies of haṭha practices by way of providing in-depth knowledge of the subject which is scattered over the traditional texts and scriptures. The author demonstrates superb acumen hands on in compiling all the available related knowledge from the reliable, authoritative sources. In support of his contentions, this medieval author appropriately refers to and synthesizes the diverse views of more than sixty authorities.

Moreover, the author of Haṭha-tatva-kaumudī supplements the existing knowledge of Yoga with many techniques of Haṭhayoga which are yet unknown and are not in use in general. This further enriches the knowledge bank.

On the subject of Haṭhayoga there are not many texts available in published form. As there is a greater demand for Haṭhayoga in today's time, there seems to be also some prevailing confusion among the modern teachers of Yoga. This is due to non availability of such authentic and authoritative works on the subject which might provide conceptual clarity, in-depth knowledge and also much required insight into the true nature of this ancient subject to the scholars, teachers and serious students, which was developed chiefly by the ascetics exclusively as a part of their spiritual progress.

This need was long felt by Dr. M. L. Gharote, the Founder-Director of The Lonavla Yoga Institute (India), Lonavla, who took initiative in bringing out such ancient works to the benefit of the serious students of Yoga. Under the auspices of Dr. M. L. Gharote, in the short span of last one decade of its existence, the Institute has worked on a large number of such texts and published them. The present text of Sundaradeva is one more sincere effort on the same line.

However, it is sad that Dr. M. L. Gharote could not survive publication of this text which he loved very much.

The very vastness and intricate style of the present text evidently stand in witness to the hardship that the research scholars of the LYI had to undergo to produce the work to the benefit of the Yoga fraternity of the world which they, we hope, will equivocally appreciate. The Institute takes pride in their commitment towards research work. With kind co-operation from all our associates, friends, well-wishers and patrons we wish to bring out many more such rare texts on Haṭhayoga in future.

I express my heartfelt thanks to **Shri Shriram B. Sakhalkar** who painstakingly helped in typesetting a major part of the text and also all our friends who have directly or indirectly co-operated in bringing out this publication.

17th January, 2007 -- ***Dr. Manmath M. Gharote***

Contents

Contents

***

Haṭhatatvakaumudī

Introduction

There are very few traditional texts on *haṭhayoga* available in print. However, there are many other texts which are in manuscript form deposited in the Oriental libraries awaiting the light of the day. These are not very known to the *yoga* community.

haṭhatatvakaumudī is such a text which is not known to many. This is a text composed by a very versatile Sanskrit scholar, an Ayurvedic physician and a practical student who has studied extensive literature on *yoga*. We have undertaken to bring out the Critical Edition of this text for the benefit of the *yoga* community.

Critical apparatus

With an exhaustive search for the manuscripts of the *haṭhatatvakaumudī* of *sundaradeva* we could obtain only three manuscripts mentioned below for preparing the present critical edition of the text.

'a' Ms. No. 29853 deposited in the Varanaseya Sanskrit University Library, Sarasvati Bhavan, Varanasi. It has 121 folios, size 10.1'x4.5, 9-10 lines, 44 letters approximately per line, script Devanagari, Samvat 1946, complete, name of the scribe not given, handwriting good and readable. It was treated as the base (vulgate) for this edition.

'b' Transcript of Ms. No. 93896 which is deposited in the Sarasvati Bhavan Library of the Sampurnananda Sanskrit University, Varanasi. This transcript was obtained through the kind help of Prof. Dr. Dhanaraj Sharma of the Sanskrit Department, Punjab University, Chandigarh. It was copied by Tribhuvan Mishra. It is written legibly in Devanagari script and is complete.

It contains different and extra readings as compared to 'a' Ms. Similarly there is an absence of the repetition of verses as we find in the 'a' Ms. This transcription proved to be very helpful in deciding the correct readings in the text.

Probably both the above copies follow some other manuscript which is not known.

Apart from the above two we have been able to obtain a zerox copy of the Ms. of *haṭhatatvakaumudī* No. Chambers 455-a,b from Berlin (Germany). This is quite different from the two copies referred to above. This is not complete. The readings are faulty. The number of pages are also irregular. It appears that the contents of two Hatha texts are combined as a result of which it is not possible to decide the original readings of the *haṭhatatvakaumudī*. Due to lack of clarity, absence of sequence, inconsistency in readings, we could not use this copy for the critical study.

Thus, from the point of the utility of the contents of the text we have depended on the two copies for this critical edition.

About the author

From the colophons of the *haṭhatatvakaumudī* (HTK) it is seen that the name of the father of the author *sundaradeva* was *govindadeva* and his grandfather's name *viśvanāthadeva*. He belonged to *kāśyapa* clan *(gotra)* and the name of his family was *deva*. He originally was a *brāhmaṇa* of the south, but settled in *kāśī* or *vārāṇāsī*. He had earned the degree of *vaidyavidyā-viśārada* and possibly *āyurvedic* physician was his profession. From the quotations of several texts in the HTK, it becomes clear that he had extensively studied *sanskṛta* literature. He had the mastery over different branches of

saṁskṛta literature such as prosody, grammar, astrology, *purāṇas, upaniṣads, darśana, tantra, āyurveda*. However, he was greatly interested in the study and propagation of *yoga* which can be seen from the mention of different texts on *yoga*. He was feeling proud of residing in *kāśī*, the holy place of *śiva* and a place of the learned. His spiritual guide was *viśvarūpa* who was a great personality in *yoga* at his time and *sundaradeva* had a great reverence for him and considered him as the lord of the *yogīs*. Many of the unknown secrets of *yoga* were revealed by him at various places in his texts of HTK and *haṭhasaṅketacandrikā* (HSC). There are many such indications in HTK which are very important for the realisation and understanding of *haṭhayogic* topics.

Fixing the period of the Author

Although the author has supplied some information about his family, teacher and education in his treatises of HTK and HSC, he does not indicate about the time of his birth etc. It is, therefore, difficult to say anything definitely about his period. In HTK he has referred to the work of *haṭharatnāvalī* (HR) in the context of the discussion of *aṣṭakarmas* and also quoted some verses from the text. This suggests that HTK is a later composition than *haṭharatnāvalī*. *śrīnivāsa*'s *haṭharatnāvalī* was first published by M. Venkata Reddy in 1982. In this publication the period of *śrīnivāsa* has been fixed as 1625-1695 on the basis of several evidences. *haṭharatnāvalī* was again critically edited and published by the Lonavla Yoga Institute (India) in 2002. In this publication also the period of *śrīnivāsa* was accepted similarly. On this basis the period of *sunderadeva* should be fixed about 100 years later, that is 1700-1800 AD.

Name of the text

The author himself has addressed this text by three different names as *haṭhatatvakaumudī, haṭhasarvasvakaumudī*

and *haṭhahṛttatvakaumudī*. Thus, it is natural to ask the question about the real name of the text. The name of *haṭhasarvasvakaumudī* has been referred to only twice in the whole text, while the name of *haṭhahṛttatvakaumudi* is mentioned only once in the last chapter. In the colophons of all the chapters the text has been referred to as *haṭhatatvakaumudī*. Thus the author considers the name of his text as *haṭhatatvakaumudi*, although looking to the importance of the topic and its characteristics, occasionally he used the two other names.

Other contributions by the author

In addition to HTK the other treatises available on the name of *sunderadeva* may be mentioned as follows:

1. *muktipariṇaya nāṭaka*,
2. *vinodaraṅga prahasana*,
3. *bhūpālavallabha or bhūpacaryā*,
4. *rāmasundara mahākāvya*,
5. *sūktisundara*,
6. *haṭhasaṅketacandrikā*,
7. *praṇava kuṇḍalī*,
8. *vairāgyasāmrājyodaya*,
9. *haṭhaśruti*,
10. *yogahṛdaya*.
11. *bhavārtamanoviśrānti*

Out of these *muktipariṇaya nāṭaka*,· *vinodaraṅga prahasana*, *rāmasundara mahākāvya* and *sūktisundara* are literary compositions, while *bhūpālavallabha* is related to dietetics. Other compositions are related to *yoga*. About *yogahṛdaya*, it is said that the text of HTK is the essence of *yogahṛdaya*. This indicates that the text of *yogahṛdaya* must be bigger than the HTK. It is surprising to note that the two texts HSC and HTK do not refer to each other. However, there is no doubt that both these treatises are the compositions of *sundaradeva*.

Language and style

The authors of *haṭha* texts in *sanskṛta* are seen using

anuṣṭupa metre to make the presentation easy and intelligible. From the texts like HP (Haṭhapradīpikā), GhS (Gheraṇḍa Saṃhitā), GŚ (Gorakṣa śataka), HR (Haṭharatnāvalī) it seems clear. But this is not applicable in case of *sundaradeva*. Being a great scholar of *sanskṛta* as well as a poet we find in HTK the reflections of his poetic inspirations. He was quite skilful in using appropriate metre suited to the subject matter. He has profusely used metres like *vasantatilakā, indravajrā, vaṃ śastha, mālinī, āryā, śārddulavikriḍita, bhujaṅgaprayāta, śikhariṇī, mandākrāntā, anuṣṭup* etc. Similarly, he has used many synonyms for technical terms, such as, *pīṭha, viṣṭara* for *āsana, abja, saroja, ambuja* for *padmāsana, manomitra* for *vāyu, ibhajihvā, vetaṇḍajihvā* for *hastijihvā nāḍī, surarājatanu-bhavārivaktra* and *triadśādhīśa-tanujavairijāta* for *karṇa* (ears) and *nāda*. The figure of speech such as *upamā, utprekṣā, rūpaka* are seen scattered throughout the text. This distinguishes uniqueness of the author from the other writers on *yoga*.

He frequently uses figures of speech like alliteration *(anuprāsa)*. Sometimes he uses prose order to explain the deeper meaning of the verses which are not clear. Thus, this treatise is a mixture of prose and poetry.

References to the other works used in HTK

In order to substantiate the narration and explanations *sundaradeva* has mentioned many works and authors which may be listed as follows:

1. *chāndogya śruti (upaniṣad),*
2. *svetāśvatara upaniṣad,*
3. *bhagavadgītā,*
4. *vaśiṣṭhagītā,*
5. *uttaragītā,*
6. *mahabhārata,*
7. *skanda purāṇa,*
8. *mārkaṇḍeya purāṇa,*
9. *kālikā purāṇa,*
10. *viṣṇupurāṇa,*
11. *bhāgavata purāṇa,*
12. *kūrma purāṇa,*
13. *jīvanmuktiviveka,*
14. *viraktasarvasva,*
15. *siddhāntaśekhara,*

16. *tripurāsārasamuccaya,*
17. *khecarīpaṭala,*
18. *tripurabhairavīvidyā,*
19. *pañcīkaraṇavārtika,*
20. *keralatantra,*
21. *yājñavalkyasmṛti,*
22. *śārīrollāsa,*
23. *sūtasaṃhitā,*
24. *mānasollāsa,*
25. *vāyusaṃhitā,*
26. *yogahṛdaya,*
27. *rājayoga,*
28. *haṭhayoga,*
29. *yogatārāvalī,*
30. *pātañjalabhāṣya,*
31. *yogāmṛta,*
32. *yogatatvaprakāśa*
33. *yogasaṃgraha,*
34. *yogayājñavalkya,*
35. *yogabīja,*
36. *nāthasaṅketa,*
37. *pātañjalasūtra,*
38. *yogadīpikā,*
39. *yogabhāskara,*
40. *yogasāra,*
41. *sparśayogaśāstra,*
42. *vairāgyasāmrājyodaya,*
43. *amanaskayoga,*
44. *śivasaṃhitā,*
45. *kumbhaka paddhati,*
46. *haṭharatnāvalī,*
47. *yogacandrikā,*
48. *haṭhapradīpikā,*
49. *īśvaramīnanātha-saṃvāda.*
50. *nandikeśvara purāṇa.*
51. *keralatantra.*

Other than the above works, the following authorities have also been quoted:

- i. *śiva,*
- ii. *gorakṣa,*
- iii. *guravaḥ,*
- iv. *muniprokta,*
- v. *vasiṣṭha,*
- vi. *pātañjalamata,*
- vii. *dattātreya,*
- viii. *gauḍapādācārya,*
- ix. *vidyāraṇyaśrīpāda,*
- x. *śruti,*
- xi. *vāgbhaṭa,*
- xii. *yājñavalkya,*
- xiii. *vārtikācārya.*

Out of the works and authorities quoted above, *sundaradeva* has frequently quoted HP, *yogacandrikā, siddhāntaśekhara, kuṃbhaka paddhati, yājñavalkya, gorakṣa, śivasaṃhitā, gītā, yogasūtra.*

There are other quotations names and sources of which are not mentioned. They are indicated by such terms as '*taduktam*', '*uktaṃ ca*', '*granthāntare*', '*kecit tu*'.

All these references confirm that *sundaradeva* had studied extensive *yoga* literature for writing his treatise.

Contents of the text

sundaradeva calls his treatise of *haṭhayoga* as *haṭhatatvakaumudī* which means 'Light on the Principles of *haṭhayoga*'. The contents of the text are divided into 57 chapters for which he uses the term '*udyota*'. The distribution of various topics is as follows:

Chapter I:

According to the Indian tradition, in this introductory chapter, the author starts his treatise with the salutation to Lord *gaṇeśa* and *ādinātha īśa*. Recognising the importance of *prāṇa* in the practice of *haṭhayoga*, the author also offers his salutation to *prāṇa*. The purpose of the treatise, according to the author, is to help the ordinary aspirants to practice *haṭhayoga* without any delusion. Therefore he has composed this treatise based on the essential principles of *yoga* drawn from various sources. He emphasises on the fact that the knowledge of '*saṅketa*' in the traditional texts is essential for the success in *haṭhayoga*, which is possible only through the grace of a *guru*. Mere knowledge of the texts is not enough. He mentions about the fortified and unfortified bodies and emphasises on the need of fortifying the body by a *yogī* through the fire of *yogic* practices. This is not possible without the control of *prāṇa* which pervades all the parts of the body.

Chapter II:

For the success in *yoga*, the knowledge of *āsana*,

kumbhaka, *mudrā* etc. through the mouth of the *guru* and their practice is essential. Then only there can be the entry of *prāṇā* into *suṣumnā* and attaining the void state of the mind possible. For this union of *prāna* and mind is necessary. They are interdependent. Mind controls all the sense organs and mind is governed by *prāna*.

This chapter also mentions the characteristics of the *guru* and *śiṣya* meaning the teacher and the taught.

Liking solitude, indifference towards sensual objects, devoid of lethargy, courage, firm determination, inquisitiveness about the Ultimate Reality, follower of the *vratas*, firm faith on *guru* like God, control of the senses, consuming moderate diet, are the characteristics of a good disciple.

He is considered as real *guru* whose gaze is fixed without the help of any object, whose *vāyu* becomes stable without any effort and whose mind becomes steady without the object of concentration.

To be continuously engaged in *yogic* practices and to behave according to the guidance of the *guru* is the source of success in *yoga*.

Chapter III:

While explaining the importance of various *yogic* practices, selection of appropriate season and region or place has been emphasised. Any disregard to these factors can result in various complaints like loss of memory, dumbness, blindness, fever, loss of hearing, respiratory troubles etc. In order to overcome such problems as a result of faulty practices, some remedies have also been described.

Chapter IV:

This chapter deals with the importance of moderate diet during *yogic* practices. Consumption of excess food, or undesirable items in the food or fasting and their ill-effects have been elaborately discussed.

Chapter V:

According to the propensities of the individual aspirants they are classified as *mandādhikārī* (lower category), *adhimātra* (moderate) and *uttara* (superior). Their characteristics and period required for the success in *yoga* have also been mentioned. A daily routine and precautions have been described for the *sādhaka*.

Chapter VI:

This chapter relates to the discussion of *yamas* and *niyamas*. Ten kinds of *yamas* and *niyamas* according to *yājñavalkya* have been discussed. *ahimsā* has been treated as *mahāvrata*.

Chapter VII:

This chapter deals with the topic of *āsanas*. After mentioning suitable place, importance and effects various *āsanas* have been described with their utility in different disorders. For example, *dhanurāsana* and *kukkuṭāsana* for *nāḍīśuddhi* or purification of the *nāḍīs*, *matsyendrapīṭha* for pain and fever, *mayūrāsana* for pain, fever, indigestion and removal of toxins, *śavāsana* for mental rest, *siṃhāsana* in the disorders of *vāta* humour, *bhadrāsana* in the disorders of *kapha* and *vāta* humours, *vīrāsana* for the stability of the mind, *kūrmāsana* for eighty types of disorders of *vāta* humour, *prasāritāsana* for the attainment of *rājayoga* state, *padmāsana* for *prāṇāyāma*, *baddhapadmāsana* in the disorders of *vāta* and *kapha* humours and in fever. *yonyāsana* or *siddhāsana* for

the control of *apāna*. *paścimatāna āsana* for the control of *vāyu*, improving digestion and removing flatulence. *svastikāsana* for the peace of mind. *padmāsana* and *siddhāsana* have been greatly eulogised from the point of *yoga*. Along with the practice of *āsanas*, practice of *prāṇāyāma*, *mudrā*, *dhāraṇā* are also recommended.

Chapter VIII:

It describes eight purificatory processes which include *dhauti*, *cakrī*, *basti*, *neti*, *gajakaraṇī*, *trāṭaka* and two forms of *nauli* as *āntar nauli* and *bāhya nauli*.

Chapter IX:

Before the practice of *prāṇāyāma* some special practices are recommended which include *meru-cālana*, *cakrībandha*, *tānābhyāsa* and *cāraṇā*. *cāraṇā* has been described of ten types. This is a new information for the readers.

Chapter X:

This chapter deals with *kumbhaka* and its varieties. After discussing the importance and effects of *kumbhaka* eight known varieties like *sūryabhedana*, *ujjāyī* etc. have been described. Apart from these some unknown varieties have also been described. These are—*utkarṣa kumbhaka*, *apakarṣa*, *sahaja kumbhaka*, *cakra kumbhaka*, *gadā kumbhaka*, *nāḍīviśuddhi kumbhaka*, *bhūtaśuddhi kumbhaka*, *śṛṅkhalā kumbhaka*, *jīvacāla kumbhaka*, *merucāla kumbhaka* and *ghaṭibandha kumbhaka*.

Chapter XI:

Importance of practice in *yoga* has been described here. Whether it is the cure of diseases, or purification of the *nāḍīs*, or leading *prāṇa* into the *suṣumnā* or attaining the state of *unmanī*, one cannot get success without practice. As the

practice increases and maturity develops, an individual progresses towards the attainment of desired goal.

Chapter XII:

Before one progresses further in his *sādhanā* it is necessary to remove the physical distress. Varieties of practices of *vāyusādhana* have been described. These practices include sucking of the air through the mouth making it like a beak of the crow, sucking the air through the crevices of the teeth, *prāṇadhāraṇā* at the toes, navel and nose, etc.

Chapter XIII:

Utility of *haṭhayogic* practices, especially that of *mudrās* has been explained.

Chapter XIV:

After defining the word '*mudrā*' ten *mudrās* have been enumerated. However, only two *mudrās*, namely, *viparītakaraṇī* and *khecarī* have been mentioned. The process of *lambikākaraṇā* has been specially described.

Chapter XV: .

In this chapter three *bandhas*, namely, *mūlabandha*, *uḍḍiyānabandha* and *jalandharabandha* and three *mudrās*, namely, *mahāmudra*, *mahabandha* and *mahāvedha* have been elaborately described.

Chapter XVI:

It deals with the topic of *bindu*. For the control of *bindu vajroli* and its two types *sahajoli* and *amaroli* have been recommended.

Chapter XVII:

Control of *bindu* has been greatly eulogised. It gives physical beauty, strength etc. There is a correspondence

between *nāda*, *bindu* and *manas* and control of one brings control of the other.

Chapter XVIII:

In this chapter again there is a description of *khecarī* and for the success of *khecarī* the *khecari mantra* has been prescribed. Repetition of this *mantra* five hundred thousand times is said to bring *siddhi*. To attain success through *mantra* there is also a description of the repetition of *bījamantras*, especially *vākbīja* at *mūlādhāra*, *kāmabīja* at *hṛdaya* and *śaktibīja* at the *ājñācakra*. Eighteen hundred thousand repetition of these *bījamantras* are said to bestow all the supernormal attainments.

Chapter XIX:

Man becomes miserable due to his ignorance, his *karmas* and attachment with worldly objects. When he develops detachment or *vairāgya* and the knowledge dawns upon him, he becomes liberated.

Chapter XX:

Man receives the perishable body depending upon the impressions of his past *karmas*. In this body the *mantra haṃ* and *saḥ* is continuously repeated in the form of inhalations and exhalations. In the eight petalled lotus of the heart the *jīva* is constantly moving 21600 times in the form of inhalations and exhalations. This kind of repetition of *mantra* is called *ajapā*. This body is in the form of *haṃsa* and *prāṇā* and *apāna* are its two wings.

Chapter XXI:

In order to keep the body fit and free from diseases two *kalpa* treatments have been referred to which are *muṇḍi kalpa* and *vārāhi kalpa*. It is also described how the *jīva* moves in the *dvādaśāra cakra* and how and why this body in the

form of abode of *brahman* perishes.

Chapter XXII:

This chapter describes how the ten vital airs as *prāṇa*, *apāna* etc. conduct different functions in the body including the absorption of *vāyu*, distribution of the nourishment through food-intake.

Chapter XXIII:

Elaborate description is given of the fourteen main channels (*nāḍis*) their location and functions, especially the location and working of *iḍā*, *piṅgalā* and *suṣumnā*.

Chapter XXIV:

In this chapter is given the description of 16 *ādhāras* in two forms. One form includes six *cakras* like *mūlādhāra* etc. and the ten *nāḍis* which maintain efficient working of the body. The other from includes *netrādhāra*, *vyomādhāra*, *nāsikā* (nose), *jihvā* (tongue) which are commonly known among the *yogis*. Knowledge of these *ādhāras* is essential for the *yogis*.

Chapter XXV:

From this chapter onwards starts the discussion of *cakras*. Piercing of *cakras* leads to the state of *laya* (absorption). This chapter deals with the description of *mūlādhāra* with its location, colour, *bījākṣaras*, deity etc. Similarly, there is a description of *kanda*, *yoni* and *suṣumnā*.

Chapter XXVI:

Here description of *svādhiṣṭhāna cakra* with its petals, colour, *akṣara*, deity etc. is given.

Chapter XXVII to XXXI:

These chapters describe the *cakras* like *maṇipūra*,

viśuddha, *ājñā* and *sahasrāra* along with the significance of *ājñā* and *sahasradala*.

Chapter XXXII:

Referring to the other texts the *ṣaṭcakras* are called *jyotisthāna*, *nābhimūla* (root of the navel) as *bindusthāna* which is the source of the production of *nāda*.

Chapter XXXIII:

For the attainment of *abhyudaya* and *niḥśreyas* elaborate description and discussion of *yonimudrā* is given in this chapter. *bindu*, *nāda* and *śakti* have been considered as the three *mātrās* of *prāṇā* itself.

Chapter XXXIV:

It describes the importance of *nāḍīśuddhi* in *yoga* which is attained through the practice of *aṣṭakarmas*. Purification of *nāḍīs* is essential for the success in *prāṇāyāma*, control of mental activities and *bindujaya*.

Chapter XXXV:

In this chapter is described the importance of preliminaries before the *nāḍīśuddhi*. In this is suggested the use of *vallijacūrṇā* mixed with ghee to be kept in the mouth before the practice of *prāṇāyāma*. Similarly, it is suggested to start *nāḍīśodhana* on an auspicious day after remembering one's tutelary deity like *gaṇeśa* etc.

Chapter XXXVI:

There is an elaborate discussion on the topic of *nāḍīśuddhi*. Before the practice of *nāḍīśuddhi prāṇāyāma* importance of *mitāhāra* (moderate diet) and its influence has been discussed in the light of varied opinions on it.

Chapter XXXVII:

From this chapter onwards a discussion on *prāṇāyāma* begins. The measure of the body is stated to be 96 *aṅgulas* (digits) and the measure of *prāṇa* is 12 *aṅgulas* (digits) more. One who reduces the measure of *prāṇā* to the minimum is considered a real *yogī*. *prāṇā* should be held through *candranāḍī* after performing *nāḍīśuddhi*.

Chapter XXXVIII:

This chapter gives the definition of *prāṇāyāma*, describes the three phases of *pūraka*, *kumbhaka*, *recaka*, examining the length and subtleness of *prāṇāyāma*, selection of suitable *āsana*, effects of *prāṇāyāma* on sense organs and mind, technique of increasing the duration of *kumbhaka*, effects of *sagarbha* and *agarbha* types of *prāṇāyāma*, control of *prāṇa* and *apāna*, characteristics of *bahiṣṭha kumbhaka*, *udghāta lakṣaṇa*, measures of *prāṇāyāma* and elevation of *prāṇāyāma* on the basis of *kāla* and *saṃkhyā*.

Chapter XXXIX:

Out of the four stages in *yoga* the first stage called *arambhāvasthā* has been discussed here. *prāṇāyāma* is one of the means of attainment of this stage. In this *meru kumbhaka* has been given great importance. This *kumbhaka* in the longer run culminates in *nisarga kumbhaka*. The importance, characteristics, results of this has been elaborately discussed along with the technique of piercing of *ādhāracakra*, *pithotthāna*, *agnijaya* etc.

Chapter XL:

There is a description of the techniques of controlling ten *vāyus* such as *prāṇa*, *apāna*, *nāga*, *kūrma* etc. Different practices like *pratyāhāra*, *dhāraṇā*, *dhyāna* etc. are discussed on the basis of their duration. Thus the importance of *kāla* in the attainment of *siddhis* in *haṭhayoga* is explained.

Chapter XLI:

This chapter describes stages of *pratyāhāra* and *ghaṭāvasthā*. There is a mention of *marmas* or vital points in the body and their relationship with the removal of certain disorders by practising *pratyāhāra* on those vital points. Thus here we find the description of *pratyāhāra* according to *yājñavalkya* and *sūtasaṃhitā*.

Chapter XLII:

It describes the state of *paricayāvasthā* in which the *prāṇā* enters the *suṣumnā* and travels up. To reach this state, the intensity of *nisarga kumbhaka* required is mentioned.

Chapter XLIII:

There is a discussion about the effects of the process of *śakticālana*. Through the long practice of *prāṇāyāma*, *kuṇḍalinī* is aroused and it ascends to the *sahasrāra* after piercing the three knots, as a result of which one attains the success in the stability of *bindu*, stability of mental activities and in *vajrolī* etc.

Chapter XLIV:

The process of *śakticālana* is elaborately described. Arousal of *kuṇḍalinī* through *prāṇāyāma*, the process of *sarasvatī cālana*, piercing of the *cakras* and *granthis* (knots) are the topics discussed with their results.

Chapter XLV:

utkarṣa prṇāyāma forms an integral part of *śakticālana*. An elaborate narratioon of utkarṣa *prṇāyāma* has been provided in this chapter.

Chapter XLVI:

It deals with the state of *niṣpatti*, mainly related to *dhāraṇā*. An attempt has been made to co-ordinate the concept

and practice of *dhāraṇā* as explained in the PYS and in *haṭha* texts. On the basis of duration of *dhāraṇā* leading to proficiency in it and following the results a co-ordination is attempted with the results of *saṃyama*. Therefore, this chapter is named as *saṃyamasiddhikāla vivecana*.

Chapter XLII:

In the light of the supernatural powers resulting from the process of *saṃyama* as described in the PYS different kinds of *dhāraṇā* of *haṭhayoga* are described in this chapter. It is indicated that different *dhāraṇās* of *haṭhayoga* on five elements lead to the attainment of *vivekakhyāti*. In an attempt of co-ordination with the PYS the terms of PYS like *madhumati*, *upasarga*, *kleśabīja*, *viśoka* etc. have been profusely used.

Chapter XLVIII:

This chapter also discusses the attainment of supernatural powers through *dhāraṇā* in which seven and ten types have been mentioned. Thus by the practice of *dhāraṇā* how various disorders are removed and how one attains the feeling of well-being has been described.

Chapter XLIX:

This chapter elaborately discusses the topic of *dhyāna* in the light of description of PYS. Views of other authorities like *purāṇas* etc. on *dhyāna* have been synthesised. Different topics related with *dhyāna* such as definition, characteristics, *saguṇa-nirguṇā dhyāna*, duration of *dhyāna*, *sūkṣma-sthūla dhyāna*, *sabīja-nirbīja dhyāna*, *dhyāna* on the various *cakras* according to *haṭhayoga*, *nirguṇā dhyāna* in *śāṃbhavī-mudrā*, *saguṇa dhyāna-mudrā*, *dhyāna* ultimately leading to the state of *saṃprajñāta* and *asaṃprajñāta* or void state etc. are elaborately discussed.

Chapter L:

This chapter is also related to the description of *dhyāna* in which elaborate techniques and experiences of *saguṇa* and *nirguṇā dhyāna* are discussed. To attain *agarbha-dhyāna* from *sagarbha-dhyāna* and from *sabīja-dhyāna* to *nirbīja-dhyāna* the mind has to be stabilised which is done by *dhyāna* of *īśvara* with loving devotion. It is a superior technique along with *viveka, vairāgya, abhyāsa* and control of *prāṇa*. There is an elaborate description of *bhrūmadhya-dhyāna, nāsāgra-dhyāna, jyotir-dhyāna, ātma-dhyāna, śiva-dhyāna* etc. Similarly, *sadhūma* and *nirdhūma dhyāna* in the *nirguṇā* type has been presented along with its experiences in a lucid manner.

Chapter LI:

It describes characteristics of *samādhi* and its varieties of *saṃprajñāta, asaṃprajñāta, sabīja* and *nirbīja*. The process of going to *samādhi* from *dhyāna* has been described in terms of duration the state is held. In this context a co-ordination has been attempted with *unmanī* state, union of *kuṇḍalinī* in the *sahasrāra*, balanced state of *guṇas, vyuthāna* state and *saṃ skāranirodha* as mentioned in the PYS.

Chapter LII:

Description of *apakarṣa prāṇāyāma* is found here in which there is a discussion about how the *prāṇa* is ascended to *sahasrāra* through *suṣumnā* channel while piercing different *cakras* and descended downwards. There is also a description of the technique of absorbing *prāṇā* into the three units of OM, namely, A, U and M.

Chapter LIII:

Technique of *utkrānti prāṇāyāma* is given here. When a *yogī* wishes to leave his mortal coil at will he uses this type of *prāṇāyāma*. He withdraws all his sense organs into the

mind and with the combination of *prāṇā* leads through all the *cakras* to the *sahasrāra* where with the union of *parama śiva* and contemplating on *praṇava* leaves his *prāṇa* through *brahmarandhra*. Similarly, when the *yogī* becomes aware that his death is approaching and if he does not want to leave his body, resorts to the same technique and holds the *prāṇa* in *sahasrāra* until the time of death passes off. Thus he can voluntarily avoid the time of death.

Chapter LIV:

This chapter on *nādānusandhāna* discusses the technique of listening to the *anāhatanāda* and absorption of the mind into it. In the context of *nāda* the four stages of *ārambha*, *ghaṭa*, *paricaya* and *niṣpatti* have been described. There is a description of the experiences of different kinds of *nāda* resulting from the piercing of every knot. In this connection, the four stages of *nāda*, namely, *parā*, *paśyantī*, *madhyamā* and *vaikharī* and their conditions have been described.

Chapter LV:

In this chapter on *rājayoga* how the various practices of *haṭhayoga* lead to the attainment of the state of *rājayoga* has been described. The topics such as the conditions of a *rājayogī*, transformation of *haṃsa mantra* into *sohaṃ mantra*, union of *prāṇa* and *apāna*, are discussed at length.

Chapter LVI:

How to know the time of approaching of death has been explained with the help of the quotations from different *purāṇas*. The life-span has been decided on the basis of flow of breath through the nostrils. In this connection *chāyā-puruṣa lakṣaṇa* and other indications of death have been described.

With this the text ends.

Chapter L:

This chapter is also related to the description of *dhyāna* in which elaborate techniques and experiences of *saguṇa* and *nirguṇā dhyāna* are discussed. To attain *agarbha-dhyāna* from *sagarbha-dhyāna* and from *sabīja-dhyāna* to *nirbīja-dhyāna* the mind has to be stabilised which is done by *dhyāna* of *īśvara* with loving devotion. It is a superior technique along with *viveka, vairāgya, abhyāsa* and control of *prāṇa*. There is an elaborate description of *bhrūmadhya-dhyāna, nāsāgra-dhyāna, jyotir-dhyāna, ātma-dhyāna, śiva-dhyāna* etc. Similarly, *sadhūma* and *nirdhūma dhyāna* in the *nirguṇā* type has been presented along with its experiences in a lucid manner.

Chapter LI:

It describes characteristics of *samādhi* and its varieties of *saṃprajñāta, asaṃprajñāta, sabīja* and *nirbīja*. The process of going to *samādhi* from *dhyāna* has been described in terms of duration the state is held. In this context a co-ordination has been attempted with *unmanī* state, union of *kuṇḍalinī* in the *sahasrāra*, balanced state of *guṇas, vyuthāna* state and *saṃskāranirodha* as mentioned in the PYS.

Chapter LII:

Description of *apakarṣa prāṇāyāma* is found here in which there is a discussion about how the *prāṇa* is ascended to *sahasrāra* through *suṣumnā* channel while piercing different *cakras* and descended downwards. There is also a description of the technique of absorbing *prāṇā* into the three units of OM, namely, A, U and M.

Chapter LIII:

Technique of *utkrānti prāṇāyāma* is given here. When a *yogī* wishes to leave his mortal coil at will he uses this type of *prāṇāyāma*. He withdraws all his sense organs into the

mind and with the combination of *prāṇā* leads through all the *cakras* to the *sahasrāra* where with the union of *parama śiva* and contemplating on *praṇava* leaves his *prāṇa* through *brahmarandhra*. Similarly, when the *yogī* becomes aware that his death is approaching and if he does not want to leave his body, resorts to the same technique and holds the *prāṇa* in *sahasrāra* until the time of death passes off. Thus he can voluntarily avoid the time of death.

Chapter LIV:

This chapter on *nādānusandhāna* discusses the technique of listening to the *anāhatanāda* and absorption of the mind into it. In the context of *nāda* the four stages of *ārambha*, *ghaṭa*, *paricaya* and *niṣpatti* have been described. There is a description of the experiences of different kinds of *nāda* resulting from the piercing of every knot. In this connection, the four stages of *nāda*, namely, *parā*, *paśyantī*, *madhyamā* and *vaikharī* and their conditions have been described.

Chapter LV:

In this chapter on *rājayoga* how the various practices of *haṭhayoga* lead to the attainment of the state of *rājayoga* has been described. The topics such as the conditions of a *rājayogī*, transformation of *haṃsa mantra* into *sohaṃ mantra*, union of *prāṇa* and *apāna*, are discussed at length.

Chapter LVI:

How to know the time of approaching of death has been explained with the help of the quotations from different *purāṇas*. The life-span has been decided on the basis of flow of breath through the nostrils. In this connection *chāyā-puruṣa lakṣaṇa* and other indications of death have been described.

With this the text ends.

Critical Appraisal of the Text

During the period of *sundaradeva* there were innumerable cults and traditions working on the name of '*ādhyātma*' (spirituality). Apart from the influence of Buddhism and Jainism on the masses, there were also branches and sub-branches of the *saḍdarśanas*. However, the secular and practical nature of *yoga* was acceptable to all. They not only adopted *yoga* but also contributed towards development of *yoga*. Thus the principles of all these various cults were so intermingled with *yoga* that the original nature of *yoga* was difficult to be recognised. The influence of *bhakti, laya, tantra, Jaina, vedānta, purāṇa* is seen on *yoga*. To isolate *yoga* from these mutations and present in its chaste form was done by scholars like *sundaradeva*. Without refuting any system *sundaradeva* accepted all the authoritative opinions about *haṭhayoga* but maintained its original nature. This is why we find various quotations in his treatise that support the principles of *haṭhayoga*.

All the principles of *haṭhayoga* are based on the concept of '*prāṇa*'. *prāṇa* is the most essential feature of life. Since mind is controlled by *prāṇa*, it is the controller of mind. Thus the whole efforts of *haṭhayoga* consists of controlling the mind through *prāṇa*. That is why the author has offered his salutations to '*prāṇa*' in the beginning of his treatise.

The author has rightly·emphasised the need and importance of controlling *prāṇa* by means of *prāṇāyāma* for attaining success in *yoga*. In this regard he refers to *apakva* (unbaked) state and *pakva* (baked) state. The state of *pakva* body is attained best through the practice of *prāṇāyāma*.

The author had a practical experience of *yogic* practices which he performed under the guidance of his *guru*. Therefore, he was aware of the difficulties faced by the

beginners of *yoga* and without ignoring these he has tried to explain them in detail.

For the effective practice of yoga selection of suitable place and season is very important in the absence of which one is likely to suffer from such problems as loss of memory, dumbness, deafness, blindness, fever, lethargy etc. The author has emphasised on this point and has supported the suggestions given in *haṭhapradīpikā*.

Due to some faults in the practice of *yoga*, if a *sādhaka* suffers from any difficulties he relies on such methods as *pañcabhūta dhāraṇā*, especially on the troubled spot, *prāṇāyāma*, etc. in absence of adequate medical aid. The remedies suggested are based on the natural principles. In this discussion we find the reflections of his medical knowledge which we do not find in other texts.

***

Diet

All the *yoga* texts emphasize on the importance of a particular diet for the practice of *yoga*. However, the detailed discussion with subtleties on diet that one finds here is not available in other texts. From Vedic times it has been recognised that purity of diet brings increase and purity of *sattvaguṇa* which refines memory. While explaining this view the author discusses and analyses the effects of meagre eating or overeating on the body and mind. There is a novelty in the description of the prescribed rules of diet for *bhikṣus*, *sanyāsī* and *paramahaṃsa*, as also the effects of heavy food on the *prāṇasādhanā* and details of selected or prohibited food items. During the period of *sādhanā*, salt intake is prohibited except the use of rock-salt whenever felt necessary. Food

with pungent, sour, bitter tastes is prohibited on account of its production of heat in the body. These considerations are based on the principles of *āyurveda*.

Characteristics of a *sādhaka*

By way of characteristics of the *śadhaka* the author discusses the daily routine for him, the time and the duration of the practice according to the nature of practice. On the basis of the inclination towards the practice the *śadhakas* are divided into three categories out of which '*uttara*' *sādhaka* is considered to be superior. It has also been explained why in the place of practice at night *ghee* lamp should be lighted in place of oil lamp.

yamas* and *niyamas

According to the author the observance of *yamas* and *niyamas* should be done until one attains *vivekakhyāti*. He accepts the division of *yamas* and *niyamas* as ten each according to *yājñavalkya*. However, the description of *hiṃsā* and *asatya*, are elaborately classified as direct (*kṛta*), indirect (*kārita*) and consented (*anumodita*).

āsanas

'If *yamas* and *niyamas* are considered as seeds of *yoga*, then the *āsanas* and *prāṇāyāmas* are their sprouts,' says the author in the poetical language. The special feature about the discussion on *āsanas* by the author is that he describes and classifies *āsanas* according to diseases based on *vāta* and *kapha*. Similarly he classifies them according to their utility in *nādiśuddhi*, arousal of *kuṇḍalinī*, practice of *prāṇāyāma* and for the peace of mind. The description of *śavāsana* is some what different in that both the hands are rested on the chest and gaze directed at the tip of the nose. In one place he used three synonyms for *padmāsana* as *ambujāsana*, *saroruha* and *abja*. Similarly, he uses '*viṣṭara*' as a synonym for *āsana*. Such synonyms are rarely used by the same author. During

the practice of *āsanas* he recommends rice and buttermilk with rock-salt. It is also suggested to practice *prāṇāyāma* and *mudrās* along with the practice of *āsanas*.

aṣṭakarma

There seems to be two traditions in the practice of purificatory processes or *kriyās*. One is that of *aṣṭakarmas* and the other *ṣaṭkarma*. *haṭhaprdīpikā* describes *ṣaṭkarmas* while *haṭharatnāvlī* and *haṭhatattvakaumudī* are the advocate of *aṣṭakarmas*. In addition to *ṣaṭkarmas* described by the *haṭhapradīpikā*, *cakrīkarma* and *āntarnauli* are the two extra *kriyās* included in *aṣṭakarmas*. (For details refer to *haṭharatnāvalī* published by the Lonavla Yoga Institute (India), 2002). Apart from these *kriyās sundaradeva* has included such *kriyās* or practices which are preliminary to *prāṇāyāma* and helps in purification of *nāḍīs* and easy entrance of *prāṇa* into the *suṣumnā*. These are not known to the modern *yoga* practitioners. Such practices include *merucālana*, *cakrībandha*, *tānābhyāsa* and *cāraṇā*.

kumbhaka

The eight varieties such as *sūryabhedana*, *ujjāyī* etc. are well-known. But their application in theory has been discussed by *sundaradeva* on the basis of his medical experience. *sūryabhedana* and *ujjāyī* produce heat in the body as a result of which disorders of *kapha*, *vāta*, worms are removed. Similarly, *śītalī* and *sītkārī* are capable of removing fever, heat, thirst etc. due to their cooling effect. Other less known varieties of *kumbhaka* such as *utkarṣa*, *apakarṣa*, *sahaja*, *bhūtaśuddhi*, *jīvacāla*, *merucāla* are taken from 'Kumbhaka Paddhati'. (For details see Kumbhaka Paddhati published by Lonavla Yoga Institute (India), 2000).

Importance of the Practice

For the regulation of *prāṇic* activity in the body

practice of *prāṇāyāma* plays a prominent role. One chapter is devoted to emphasize on this fact. With the intensive practice all the impurities are removed from the body, physical lethargy is overcome, group of diseases is destroyed and one attains desired utility of espcecially that of *kākacañcu kumbhaka*, where one sucks the air through mouth, which is greatly praised. Similarly, controlling the *vāyu* in different parts of the body has been advocated for removal of different disorders. This is important from the therapeutical point of view.

mudrās

According to the author just as following of *yamas* etc. is useful in *samādhi*, similarly, in *haṭhayoga* tradition *aṣṭakarmas* and *mudrās* have a great utility. The topic of *mudrās* has been elaborately discussed in six chapters out of which one chapter is devoted to the significance of *mudrās* in *yoga*. Another chapter defines *mudrā* and discusses *viparītakaraṇī* and *khecarī mudrā*. In the practice of *viparītakaraṇī* the suggestion of closing the right nostril (*sūryanāḍī*) with cotton gives new information. Similarly, for the elongation of the tongue for the practice of '*lambikā vidhi*' has been described. In this connection it is to be noted that the *khecarī* is described as *bāhya* (external) and *ābhyantara* (internal). In *bāhya* variety the tongue is elongated and directed into the nasopharyngeal cavity, while the *ābhyantara* variety renders the mind void. For the success in *khecarī* there is an elaborate description of the technique using *mantra*.

mūlabandha, *uḍḍyānabandha*, *jālandharabandha*, *mahāmudrā*, *mahāvedha*, *mahābandha* have been described in one chapter where their techniques and effects are given in detail. It is stated that one which practices *uḍḍiyānabandha* four times a day, destroys group of diseases by purifying the *vāyu* at the navel region. The effects of *jālandharabandha*

and *khecarī mudrā* have been differentiated. The practice of *mudrās* in *yoga* lead to *nāḍīcālana* (activation of *nāḍīs*), *bindudhāraṇa*, removal of demerits, annihilation of diseases, increase in the energy and entrance of *prāṇa* into the *brahmarandhra*.

In recognition of the great utility of the triad of *vajrolī*, *amarolī* and *sahajolī* in *bindusiddhi*, it has been dealt with separately. It contributes to the great strength and beauty. Since there is a mutual correlation among *nāda*, *bindu* and *manas* control of one brings control and success in others. Thus *bindusiddhi* also contributes to the desired effects in *yoga*.

Like the utility of *prāṇa-sādhana* in *yoga*, *mantra-sādhanā* is equally important. The nature of *kuṇḍalinī* is not only that of *prāṇa* but also that of *mantra*. Thus with the help of *mantra*, it is possible to arouse *kuṇḍalinī* and successfully lead it upto *sahasrāra*. On the basis of the *tāntric* authorities the author has thrown light on the utility of *kuṇḍalinī sādhnā* in the form of *mantra*. However, for the successful results one requires to develop *vairāgya* and freedom from the instinctual urges.

yoga-śārīra

In any *yogic* practice body plays a prominent role. Therefore, it is necessary to have adequate knowledge of the structure and function of the various parts of the body. Although all texts of *yoga* more or less give description of body useful in *yoga*, this text discusses the topic of body extensively. It describes the locations in the body of *candra* and *sūrya*, *iḍā* and *piṅgalā* and flow of nectar or poison through them, *jīva*, *kanda*, *brahmarandhra*, *jaṭharāgni*. *kuṇḍalinī* etc. in a detailed manner. This information is useful for deriving the benefits of the *yogic* practices.

The body is called *brahmapura* because Brahman in the form of *jīva* resides in it bound by the past karmas and *saṃskāras*. This *jīva* governs the body through the inspirations and expirations 21600 times a day from the *candranāḍī* and *sūryanāḍī* and expresses himself in the form of '*haṃ*' and '*saḥ*'. This is known as *ajapājapa*. Through the various techniques of *yoga* this sequence is changed in '*saḥ*' and '*ahaṃ*' meaning '*so'haṃ*'.

One and the same *prāṇa* pervading throughout the body is classified into ten *vāyus* according to their different functions. Out of these *prāṇa* and *apāna* are the chief. These play a vital role in digestion, absorption of food, nutrition and elimination.

In this connection there is an elaborate description of 14 *nāḍīs*, their location and functions. Despite being an Ayurvedic physician *sundaradeva* does not discriminate in the terms *śirā*, *dhamanī* and *nāḍī* and consider them as synonyms. However, *āyurveda* makes difference between these three. Out of these *nāḍīs*, the utility of *iḍā*, *piṅgalā* and *suṣumnā* in *sādhanā* has been greatly emphasised.

The sixteen *ādhāras* (vital points) have also an important place. These have been elaborately described with their location, function and effects which is important not only in *sādhanā* but also removing some disorders.

Without piercing through the *cakras* the practice of *haṭhayoga* is incomplete. The location of *cakras* has been considered within the *suṣumnā nāḍī*. Although the description of *cakras* forms a separate topic in other *haṭha* texts, *sundaradeva* has preferred to deal with it in the chapter on *yoga-śārīra* which is significant. The author considers the *mūlādhāra*, *ājñā* and *sahasrāra* as most important *cakras* and

has elaborately described their petals, colour, presiding deity and their effects. In this connection the location of *kanda* and utility of *yonimudrā* in piercing *mūlacakra* described is worth noting. The piercing of *cakras* lead to the state of equilibrium in the three *guṇas* of *sattva*, *rajas* and *tamas* and control over thirst, hunger, old age, premature death etc. discussion of *yoga-śārīra* is a special contribution of *sundaradeva*.

nāḍīśuddhi

While differentiating between *aṣṭakarma* and *nāḍīśodhana* the author says that through the practice of *aṣṭakarmas* the morbidities like *kapha* etc. in the gross body are removed which is a gross purificatory process. But the impurities from the *nāḍīs* could be removed only through the process of *nāḍīśodhana*. Without *nāḍīśuddhi* one does not succeed in the practice of *prāṇāyāma* etc. The emphasis given by the author on the *nāḍīśuddhi* can be noted from the fact that he has devoted 90 verses to explain the significance of *nāḍīśuddhi*, caution to be exercised before its practice, region, place, season for the practice and the diet explained in a great detail.

The discussion on various methods of *nāḍīśuddhi*, helpful special diet etc. gives quite a new information. In addition to the types of *nāḍīśuddhi* advocated by *brahmā*, *viṣṇu* and *rudra*, the author described four more types of *nāḍīsuddhi* which we find here for the first time. Similarly, while suggesting items of food there is a special mention of *moong-dāla* , *ṣaṣṭika* (a special variety of rice which harvests in six months), *maṇḍa*, cow-*ghee*, *pālaka* (spinach), *dried ginger*, *cumin*, *khicadi*, *yavavāṭa*, *pāyasa* etc.

The period required for attaining success in *nāḍīśuddhi* depends on the quality of the *sādhaka*. If one practises it

along with following the *yamas* and *niyamas*, the success is attained in three months according to the author. Otherwise one may take more time even upto one year.

prāṇāyāma

According to *yogic* tradition the measure of the body is considered 96 digits of one's own fingers. The measure of *prāṇa* is stated to be 12 digits more outside the body. A *yogī* attains proficiency in yoga as he reduces this measure of 12 digits as far as possible. Mental activity depends on the activity of *prāṇa*. By controlling the activity of *prāṇa* one is able to regulate the activities of *citta* and sense organs. Therefore, *prāṇāyāma* is considered as a potential means for the control of *prāṇic* activity. On the basis of the definition of *prāṇāyāma* by the *patañjala yogasūtras sundaradeva* has classified *prāṇāyāma* as *pūraka*, *kumbhaka* and *recaka* which are made prolonged and subtle on the basis of *deśa*, *kāla* and *saṃkhyā*. This has been discussed on practical level. Since the control of *prāṇic* impulses regulate mental activities various methods of regulation of *prāṇa* have been suggested. In this respect characteristics of *udghāta* and its *mātrās* have been discussed. Nine methods of measuring *mātrās* in *prāṇāyāma* are found mentioned only in this text. Thus all details about *prānāyāma* desried by the practitioner are found here.

Real states of *yoga* start after the control of *prāṇa* and *agni* through the practice of *prāṇāyāma* and *āsanajaya*. These states of progress in *yoga* are called *avasthā-catuṣṭaya* which are named as i. *ārambhāvasthā*, ii. *ghaṭāvasthā*, iii. *paricayāvasthā* and iv. *niṣpatti-avasthā*. In these states are included *pratyāhāra*, *dhāraṇā*, *dhyāna*, *samādhi*, *saṃyama* and helpful practices like *śakticālana*, *utkarṣa prānāyāma* etc.

i. ***ārambhāvasthā***

Before the beginning of this state it is necessary that

the *sādhaka* has attained *nāḍīśuddhi* through the practice of *mitāhāra, yama, niyama, āsana, mudrā, kumbhaka,* recitation of OM, *īśvarapraṇidhāna* etc. During *ārambhāvasthā* when *kumbhaka* is prolonged the hunger increases, sweating, tremors and levitation are experienced. According to *sundaradeva* one should engage in arousal of *kuṇḍalinī* and piercing of *cakras* only after attaining *āsanajaya* and *vāyujaya* during *ārambhāvasthā*.

Although different *yoga* texts refer to the ten *vāyus* and their functions, it is only in this text that we find the techniques described of controlling the ten *vāyus*. Also we get scholarly explanation of the '*sapta-prānta-bhūmi*' mentioned in the *yogasūtras* of *patañjali*.

ii. *ghaṭāvasthā*

sundaradeva does not consider any difference between *ghaṭāvasthā* and *pratyāhāra*. As the *sattvaguṇa* in *sādhaka* increases by the practice of *yamas* and *niyamas*, his mind attains stability. *prāṇa* ascends to the *brahmarandhra*, leaving the channels of *sūrya* and *candra* and there forms the union of *prāṇa* with *apāna* and *jīvātmā* with *paramātmā*. As a result of this *sādhaka* attains such powers as clair-audience, entering into the body of others, memory of the past life, and power of speech. The author refers to various vital spots in the body with their locations and discusses various disorders related to these and their remedies.

iii. *pariycayāvasthā*

While discussing the results of *paricayāvasthā* it is said that the *sādhaka* could see his 'Triad of *karma*' for which it is necessary to develop capacity of *nisarga-kumbhaka* for ten *ghaṭikās* meaning 4 hours. After attaining this state one attains the control over the *prāṇa* and modifications of the mind and the *vāsanās* characterised by the *kevala-kumbhaka* and

awakening of the *kuṇḍalinī*. Since *śakticālana* and *utkarṣa-kumbhaka* are used in attaining the state of *paricayāvasthā*, these have been elaborately discussed. With *śakticālana* the three *granthis* are pierced and the *yogī* attains the stability of *bindu* and the body. The effects of *utkarṣa prāṇāyāma* have been mentioned in terms of piercing of *cakras* and its effect on the whole body.

iv. *niṣpatti-avasthā*

During this state when *jīva* along with *prāṇa* and *manas* enters *suṣumṇā* after the arousal of *kuṇḍalinī* one gets the experience of '*so'ham*' state. This is referred to as a state of *saṃyama* in *pātanjala yoga* under which are included *dhāraṇā*, *dhyāna* and *samādhi*. This is also known as *antaraṅga yoga*. *dhāraṇā* to be effective has to be of five *ghaṭikās*, i.e., two hours. The results obtained from the different durations of practice of *dhāraṇā* are found mentioned only in this text. Similarly, kinds of *dhāraṇā* on different spots of *dhāraṇā*, *pañcabhūta dhāraṇā*, *mānasī dhāraṇā*, *sapta dhāraṇā* and their results have been elaborately discussed in one place here.

The difference between *dhyāna* and *samādhi* by the author thus: so long as there exist the subtle *tanmātrās* like *śabda* etc. in the *indriyas* like ear etc, it is the state of *dhyāna*, while the absorption of *tanmātrās* leads to *samādhi*. In support of this view the author has quoted the references to *dhyāna* from *patañjali*, *purāṇas* etc. and presented the synthetic view. Similarly, he has discussed *saguṇa-nirguṇa dhyānamudrā* according to *haṭhayoga* under which are included *dhyāna* on various aspects of *īśvara* and the experiences of the *yogīs* in *sadhūma* and *vidhūma dhyāna*.

The final stage in *niṣpatti* is *samādhi*. In this both *saṃprajñāta* and *asaṃprajñāta* types have been critically appraised on the basis of various characteristics of *sabīja-*

nirbīja samādhi, the ultimate condition during *samādhi* and procedures to be followed to return from the state of *samādhi* have been elaborately discussed.

During the process of return from *samādhi* practice of *apakarṣa prāṇāyāma* is used. By using this *prāṇāyāma*, the *prāṇa* centred in the *sahasrāra* is gradually brought back to its original position and the *yogī* returns to the normal condition.

If a *yogī* decides to leave his body he resorts to the *utkrānti prāṇāyāama*. The author explains vividly the process of leaving the body. However, when he perceives the moment of his death but does not want to leave, his body the process to be followed is also specially described.

In a separate chapter the author has described the above mentioned four stages in relation to the discussion of *nādānusandhāna* in *haṭhapradīpikā* where he has mentioned different *nādas* are produced when various *cakras* in sequence are pierced.

Thus the practice of *haṭhayoga* culminates into *rājayoga*. The similarities between *laya* and *rājayoga* have been described in a separate chapter.

The last chapter deals with the perception of the time of death on the basis of certain omens and the characteristics of '*chāyāpuruṣa*'.

When we consider the contents of the text we find that the doctrines of *haṭhayoga* have been elaborately explained and an attempt has been made by the author to establish co-ordination between the concepts in *yogasūtras*, *purāṇas* etc. and about the concepts of *yoga*. In this endeavour *sundaradeva* has succeeded and his efforts are laudable.

Method of editing —

The editors had to manage editing this text despite certain limitations.

i) Even though we have tried our best we could collect only two MSS. The third Ms. Obtained from Chambers has not been of any significant help in any way as it is very much an alien to the MSS 'a' and 'b'.

ii) There are number of corrupt readings, might be due to mistake of the scribe. We have tried to present a fairly compromised version based on the pair of MSS consulted. However, we have tried to give the correct translation on the basis of the demand of a particular technique or topic/ subject. Our object is to explore the hitherto unknown areas of Haṭhayoga. We decided not to interfere much with the original reading of the text.

iii) The book has been divided broadly into nine Ullāsas by the author. This is not done by the author on the basis of the subject dealt in an Ullāsa. Beginning and end of the first Ullāsa is not mentioned, therefore, could not be determined by the editors. It is also not mentioned where the third, fourth and fifth Ullāsa would begin.

iv) This text is divided into fifty-six Udyotas or Chapters. Each Udyota ends with 'various' reading such as – vivdecanodyotaḥ, —vivecano nāmodyotaḥ, —kathanodyotaḥ, —norūpakodyotaḥ.

***

We wish that the wise readers will derive adequate benefit from this vast pool of knowledge.

--Dr. M. L. Gharote
--Dr. Parimal Devnath
--Dr. Vijay Kant Jha

Scheme of Transliteration

Letters, their sounds and description of these sounds

Simple Vowels—					
ॐ	om	like	o	in	home
अ	a	,,	a	,,	but
आ	ā	,,	a	,,	far
इ	i	,,	i	,,	pin
ई	ī	,,	ee	,,	feel
उ	u	,,	u	,,	fulsome
ऊ	ū	,,	oo	,,	wool
ऋ	ṛ	,,	r	,,	German
Dipthongs—					
ए	e	,,	a	,,	fate
ऐ	ai	,,	ai	,,	aisle (but not drawled out)
ओ	o	,,	o	,,	over
औ	au	,,	ou	,,	ounce but not drawled out)
Gutturals—					
क	k	,,	k	,,	kill
ख	kh	,,	kh	,,	ink-horn
ग	g	,,	g	,,	girl
घ	gh	,,	gh	,,	longhouse
ङ	ṅ	,,	n	,,	king or ink
Palatals—					
च	c	,,	ca	,,	church
छ	ch	,,	like the sound in Churchill		
ज	j	,,	j	in	join
झ	jh	,,	palatal 'z' in azure		
ञ	ñ	,,	n	in	pinch
Cerebrals—					
ट	ṭ	,,	t	,,	tub
ठ	ṭh	,,	th	,,	pot-house
ड	ḍ	,,	dh	,,	dog

ढ	ḍh	,,	dh	,,	mad-house
ण	ṇ	,,	n	,,	splinter or and

Dentals—-

त	t	,, dental 't' as in 'thin' or like the French 'T'			
थ	th	,,	th	in	thunder
द	d	,,	th	,,	then
ध	dh	,,	th	,,	this
न	n	,,	n	,,	no

Labials—-

प	p	,,	p	,,	paw
फ	ph	,,	ph	,,	top-heavy or gh in lough
ब	b	,,	b	,,	balm
भ	bh	,,	bh	,,	hob-house
म	m	,,	m	,,	mat

Semi-vowels—

य	y	,,	y	,,	yawn
र	r	,,	r	,,	rub
ल	l	,,	l	,,	lo
व	v	,,	w	,,	wane

Spirants—-

श	ś	,,	r	sh	ashes
ष	ṣ	,,	a strong lingual with rounded lips		
स	s	,,	s	,,	sun

Aspirate—-

ह	h	,,	h	h	hum

nasalised म् as in संयम (*saṃyama*) —ṃ

visarga————————————————ḥ

हठतत्वकौमुदी

Haṭhatatvakaumudī

Chapter—1

॥ [1]श्रीगणेशाय नमः ॥

॥ *śrīgaṇeśāya namaḥ* ॥

Tr. Salutation to *śrīgaṇeśa* !

सानन्दं हृदि मुनिभिः स्वरूपनिष्ठैस्

तादात्म्यं चिरसहजे गतैः स्वरूपे ॥

यो ध्यातः परसुखमूर्निज[2]प्रकाशो-

दयात्[3] स शमसुखमादिनाथ ईशः ॥ १ ॥

sānandaṃ hṛdi munibhiḥ svarūpaniṣṭhais

tādātmyaṃ cirasahaje gataiḥ svarūpe ॥

yo dhyātaḥ parasukhabhūrnijaprakāśo-

dayāt sa śamasukhamādinātha īśaḥ ॥ 1 ॥

Tr. *munis*, who are devoted to their own selves, who have attained the innate (natural) state forever, and who have become one with that (*brahman*), who is meditated upon by them as the Self through enlightenment, is *īśa* the *ādinātha*, (full of) peace and Bliss. 1.

प्रणम्य योगीश्वरविश्वरूपगुरोः पदाम्भोजमभीष्टसिद्धिदम् ।

आरोढुमिच्छोः परराजसौधनिःश्रेणिकां[4] यष्टिमिवाऽवलम्बदाम् ।२।

praṇamya yogīśvaraviśvarūpa-

guroḥ padāmbhojamabhīṣṭasiddhidam ॥

ārodhumicchoḥ pararājasaudha-

niḥśreṇikāṃ yaṣṭimivāvalambadām ॥ 2 ॥

Tr. With a desire to climb the rungs of the Supreme Royal Palace with the support of a stick (the state beyond), I salute the lotus feet of the Universal *guru* of the great *yogīs*, who fulfills the (ultimate) accomplishment and take him as the (final) support. 2.

आकृष्य योगहृदयात् सारं कुर्वेऽस्तसंशयाम् ।

हठाभ्यासायाल्पधियां हठ[5]सर्वस्वकौमुदीम् ॥ ३ ॥

---

1. ओम् —b. 2. मूर्त्तिज —b. 3. प्रकाशोदयात् —b. 4. तिःश्रेणिकां —b. 5. नोहठ —b.

ākṛṣya yogahṛdayāt sāraṃ kurve'stasaṃśayām |
haṭhābhyāsāyālpadhiyāṃ haṭhasarvasvakaumudīm || 3 ||

Tr. I prepare *haṭhasarvasvakaumudī*, a condensation of *yogahṛdaya*, removing all the doubts for the dull-witted for the practice of *haṭha*. 3.

Note: *yogahṛdaya* is one of the author's important texts. 3.

युग्मम् —
yugmam —
(Here follows) a *śloka*—

यश्चेष्टया स्वप्रियया[1] स्थितोऽन्तर्व्याप्यात्मिनं[2] ब्रम्हपुरं शरीरम्[3]
नमोऽस्तु कालामृतरूपिणे मे प्राणाय तस्मै मनसोऽधिपाय ॥४॥

yaścceṣṭayā svapriyayā sthito'ntar-
vyāpyātminaṃ brahmapuraṃ śarīram ||
namo'stu kālāmṛtarūpiṇe me
prāṇāya tasmai manaso'dhipāya || 4 ||

Tr. I salute that *prāṇa*, the form of *kāla* (time) and *amṛta* (immortality), the lord of mind which volitionally dwells in the corporeal body, the abode of *brahma*, pervading within. 4.

गुरूपदेशादधिलब्धशास्त्रसंकेतकः प्राणनिरोधदक्षः[4] ।
ज्ञातात्मतत्वो जितचित्तवृत्तिः स राजयोगं हठकर्मणैति[5] ॥ ५ ॥

gurūpadeśādadhilabdhaśāstra-
saṃketakaḥ prāṇanirodhadakṣaḥ ||
jñātātmatatvo jitacittavṛttiḥ
sa rājayogaṃ haṭhakarmaṇaiti || 5 ||

Tr. Acquiring the terse lessons laid down in the scriptures, through the teachings of the *guru*, one who is able to control the *prāṇa*, realize *ātman*, controls the modifications of the *citta*, attains *rājayoga* through *haṭha* practices. 5.

कुतर्कवादैर्बहुशास्त्रजालैर्विमोहदैस्तद् गदितुं न शक्ये ।
स्वात्मप्रकाशं हृदि जीवरूपं कर्मावृतं योगमृते न वेत्ति ॥ ६ ॥

kutarkavādairbahuśāstrajālair-
vimohadaistad gadituṃ na śakye ||

---

1. स्वयियया-**a. 2.** व्यर्याप्यात्मिमां –b. 3. ब्रह्मपुरशरीरम् —b. 4. दक्ष्यः —b.
5. कर्मणेति –b.

svātmaprakāśaṃ hṛdi jīvarūpaṃ
karmāvṛtaṃ yogamṛte na vetti ॥ 6 ॥

Tr. The Light of the Self in the heart, which is in the form of *jīva* and is wrapped up in *karma*, cannot be known through absurd logic or debate, or through numerous confusing scriptural arguments, but only through *yoga*. 6.

जीवाभिधश्रीपरमात्मभिन्नं विकारजातं सकलं तनौ मुधा ।
रुद्धाम[1] लोभादिसुखं[2] च दुःखं ज्ञानं विनैत्यस्तमिदं तु योगजम् ॥ ७ ॥

jīvābhidhaśrīparamātmabhinnaṃ
vikārajātaṃ sakalaṃ tanau mudhā ॥
ruddhāma lobhādisukhaṃ ca duḥkhaṃ
jñānaṃ vinaityastamidaṃ tu yogajam ॥ 7 ॥

Tr. Pleasure or pain, of greed etc., which are but distortions happening in the Self (body), called *jīva*, which is alien to *śrīparamātman*, cannot be annihilated without acquiring and inculcating the wisdom of *yoga*. 7.

ज्ञानं न योगोज्झित[3]मस्ति मोक्षदं
योगोऽपि न ज्ञानमृतेऽस्ति मुक्तये ॥
जितेन्द्रियो ज्ञानपरो विरागवान्
देवोऽपि योगे[4]न विना न मोक्षभाक् ॥ ८ ॥

jñānaṃ na yogojjhitamasti mokṣadaṃ
• yogo'pi na jñānamṛte'sti muktaye ॥
jitendriyo jñānaparo virāgavān
devo'pi yogena vinā na mokṣabhāk ॥ 8 ॥

Tr. There exists no wisdom without *yoga* which offers liberation, so also there exists no *yoga* for liberation without knowledge. Even a god does not qualify for emancipation without *yoga*, even though he has restricted the senses, is wise and detached. 8.

अपक्व उक्तः खलु योगहीनः पक्वस्तु योगेन बुधो विरागवान् ।
योगाग्निना पक्व उदस्तशोके जड[5]स्त्वपक्वोऽर्त्तिगृहं स पार्थिवः ॥ ९ ॥

apakva uktaḥ khalu yogahīnaḥ
pakvastu yogena budho virāgavān ॥

---

1. रूप्काम –b. 2. भाद्विमुखं –b. 3. योगोस्मित –b. 4. योगो –b. 5. उदास्तशोकोजः स्त्वऽ –b.

yogāgninā pakva udastaśoko
jaḍastvapakvo'rttigṛhaṃ sa pārthivaḥ ॥ 9 ॥

Tr. Bereft of *yoga*, one is known as *apakva*. A wise and detached through *yoga* is *pakva*. He who is *pakva* in the fire of *yoga* has transcended all sufferings. *apakva* is the mundane one, who is apathetic (inert) and is source of suffering for himself. 9.

Note: cf. Gh.S. I-8, *yogabīja* 34.

ध्यानस्थः[1] खे विवशोऽसौ हि योगी
द्वन्द्वैः शीतोष्णा[2]दिभिः पीड्यते न ॥
अन्यैः शस्त्रादिभिः चाप्यनेकै[3]श्
चित्तं ज्ञानात् क्षोभ्यते चान्तकाले ॥ १० ॥

dhyānasthaḥ khe vivaśo'sau hi yogī
dvandvaiḥ śītoṣṇādibhiḥ pīḍyate na ॥
anyaiḥ śastrādibhiḥ cāpyanekaiś-
cittaṃ jñānāt kṣobhyate cāntakāle ॥ 10 ॥

Tr. A *yogī*, in the state of oblivion, does not suffer from the dualities like heat and cold or even numerous weapons. At the time of death his *citta* may not get disturbed due to knowledge.10.

प्राणा यदि क्षोभमुपैति वातो दुःखैस्ततः क्षुब्धमदमनो नृणाम् ।
देहावसाने हृदि भावयेद्यत्तदेव[4] जीवस्य भवाय कारणम् ॥ ११ ॥

prāṇā yadi kṣobhamupaiti vāto
duḥkhaistataḥ kṣubdhamadamano nṛṇām ॥
dehāvasāne hṛdi bhāvayed-yat-
tadeva jīvasya bhavāya kāraṇam ॥ 11 ॥

Tr. Due to grief *prāṇas* are agitated which further vitiates *vāta* disturbes the mind also of a person. At the time of departure from the body whatever one thinks forms the cause of following birth. 11.

जिता शरीरेण सखेऽखिला नरा
योगीश्वरै[5]स्तद्विजितं[6] शरीरम् ॥
तेषां[7] कथं तत्सुखदुःखमूलकं
फलं विधत्ताज्जितसर्वतत्वैः ॥ १२ ॥

1. ध्यानस्थ b. 2. शीतोष्मा –b. 3. श्चाद्यनेकै –b. 4. द्यतद्देव –a. 5. योगेश्वरै a. 6. विजित a. 7. अनुपलब्धपाठः —b.

jitā śarīreṇa sakhe'khilā narā
yogīśvaraistadvijitaṃ śarīram ॥
teṣāṃ kathaṃ tatsukhaduḥkhamūlakaṃ
phalaṃ vidhattājjitasarvatatvaiḥ ॥ 12 ॥

Tr. O dear! Man achieves everything through his body which is controlled by the great *yogīs*. How will they be afflicted by the very cause of happiness and suffering since they have transcended the very effects by controlling all the *tattvas*? 12.

योगाग्निना यैः परिदग्धसप्तधात्वात्मकं पुद्गल[1]मस्तदोषैः ।
न दृश्यते योगतनुस्तु[2] तेषामिच्छाविहारा अमरा रमन्ते ॥१३॥

yogāgninā yaiḥ paridagdhasapta-
dhātvātmakaṃ pudgalamastadoṣaiḥ ॥
na dṛśyate yogatanustu teṣām
icchāvihārā amarā ramante ॥ 13 ॥

Tr. Those who have purified the body (*pudgala*) constituted of the seven bodily constituents (*dhātus*) with the fire of *yoga*, their *yogic* body is not visible. These immortals wander at their free will. 13.

यत्राखिलानां मरणं स तत्र[3] योगी चिरं जीवति नास्य मृत्युः ।
जीवन्ति[4] यस्मिन् म्रियते[5] स तत्र सदा[6] मुदा योगबलेन धीरः ॥१४॥

yatrākhilānāṃ maraṇaṃ sa tatra
yogī ciraṃ jīvati nāsya mṛtyuḥ ॥
jīvanti yasmin mriyate sa tatra
sadā mudā yogabalena dhīraḥ ॥ 14 ॥

Tr. Whereas all (ordinary) human beings perish, a *yogī* does not face death, rather he lives long. On the other hand, in the matters wherein mortals live long(get entangled in the mundane world), a wise (*yogī*) happily transcends that through *yogic* powers. 14.

ज्ञानेन पूर्णा अपरे विरक्ता विवर्धिता नश्वरपुद्गलेन ।
ते योगिभिः स्युस्तु कथं सदक्षाः[7] कुदेहिनः शोणितमांसपिण्डाः ॥१५॥

jñānena pūrṇā apare viraktā
vivardhitā naśvarapudgalena ॥

1. वमुद्गल –b. 2. तनुस्न –a. 3. तीव –a. 4. जीवति –b. 5. विद्यते –b. 6. अनुपलब्धपाठः –b. 7. सदृक्ष्याः –b.

te yogibhiḥ syustu katham sadakṣāḥ
kudehinaḥ śoṇitamāṃsapiṇḍāḥ ॥ 15 ॥

Tr. Some *yogīs* got evolved with wisdom and some through detachment. How can they, who live a mundane life, excel in *yoga* with the bad physique which is merely a bundle of flesh and blood? 15.

युद्धेन वीर्येण विनासिनैव कथं जयं वीर उपैतु धीरः ।
जयः सुखड्गेन[1] वदन्ति[2] योगं विना न हि ज्ञानमिहास्ति मुक्त्यै ।१६।

yuddhena vīryeṇa vināsinaiva
kathaṃ jayaṃ vīra upaitu dhīraḥ ॥
jayaḥ sukhaḍgena vadanti yogaṃ
vinā na hi jñānamihāsti muktyai ॥ 16 ॥

Tr. A warrior requires sword along with the valour. Wise say that victory is attained through appropriate weapon. Similarly, one cannot attain knowledge without *yoga* for liberation. 16.

योगोऽपि न ज्ञानमृतेऽत्र सिध्यति कदापि पुंसां चलमानसानाम् ।
विद्योगयोस्तत्र हि भेद ईक्ष्यते तस्मात्तयोर्भेदमवैति मूढः ॥ १७ ॥

yogo'pi na jñānamṛte'tra sidhyati
kadāpi puṃsāṃ calamānasānām ॥
vidyogayostanna hi bheda īkṣyate
tasmāttayorbhedamavaiti mūḍhaḥ ॥ 17 ॥

Tr. *yoga* alone does not bring success without wisdom to the man having a fickle mind. No distinction is desirable between wisdom and *yoga*. Only a fool would discriminate. 17.

भवैर्भृशैर्ज्ञानमुदेति[3] योगो भवेन चैकेन सुसंविदेति नु[4] ।
अतो न योगान्न परोऽस्ति मार्गो मोक्षप्रदः सिद्धिपदं नराणाम् ॥१८॥

bhavairbhṛśairjñānamudeti yogo
bhavena caikena susaṃvidaiti nu ॥
ato na yogānna paro'sti mārgo
mokṣapradaḥ siddhipadaṃ narāṇām ॥ 18 ॥

Tr. Knowledge acquired in several lives can be attained just in one life through *yoga*. There is no other way except *yoga* which brings success in liberation to the human being. 18.

---

1. सुखहेन –b. 2. वदन्दि –b. 3. मदेति –a. 4. नुः –b.

देहं धातुमयं भुवो दहनतः सञ्जारये[1]द्योगिराद्
नश्यन्त्यस्य[2] गदाः परात्मनि लयाद् ध्यानादिकं वेधतः ॥
देह्येषो गगनस्वरूप इव[3] वै सन्तिष्ठतेऽप्राणनो
लोके दग्धकपालवत् स्वयमहो देही वशं दृश्यते ॥ १९ ॥

deham dhātumayaṃ bhuvo dahanataḥ sañjārayedyogirāṭ
naśyantyasya gadāḥ parātmani layād dhyānādikaṃ vedhataḥ ॥
dehyeṣo gaganasvarūpa iva vai santiṣṭhate'prāṇano
loke dagdhakapālavat svayamaho dehī vaśaṃ dṛśyate ॥ 19 ॥

Tr. A great *yogī* should purify the bodily constituents with the fire (of *yoga*). Thus the diseases are alleviated through absorption in *paramātmā* and meditation through *vedha* etc. In such a state, one remains like the pure sky, without *prāṇika* movement, and alas! lives in the world as if forehead burnt. 19.

रज्वेव रज्वा परिवर्द्धयन्तः[4] प्राणेन चित्तं[5] तनुषु व्यवस्थितम् ।
नानाविचारैर्न हि साध्यमेतत्तज्जायते[6] तदुपाय उच्यते ॥ २० ॥

rajveva rajvā parivardhayantaḥ
prāṇena cittaṃ tanuṣu vyavasthitam ॥
nānāvicārairna hi sādhyametat-
taj-jāyate tadupāya ucyate ॥ 20 ॥

Tr. As the fibres of a rope fasten a rope (closely), similarly, *citta* is fastened to the body by *prāṇa*. This (*prāṇa*) cannot be controlled through different views. A technique is being narrated. 20.

प्राणरोधनमृते तदुपायोऽन्यो न युक्तिमनु भेषजादिकः ।
प्राण एष[7] न हि सिध्यति सिद्धोपायमार्गमिह देहिनां विना ।२१।

prāṇarodhanamṛte tadupāyo'nyo
na yuktimanu bheṣajādikaḥ ॥
prāṇa eṣa na hi sidhyati siddhopāya-
mārgamiha dehināṃ vinā ॥ 21 ॥

Tr. There is no effective technique like medicine etc. than control of *prāṇa*. For human beings, control of *prāṇa* is not possible without an efficient technique as narrated by the experts. 21.

---

1. सन्तारये –b. 2. न प्रपन्त्यऽस्य –b. 3. श्च –b. 4. परिबद्धमन्तः –b. 5. प्राणनचिन्तं –b. 6. मेतद्वज्जायते –a. 7. पष –b.

अज्ञातोपायमादौ कलयति धिषणां योगमार्गे विमूढः
खण्डज्ञा तेन[1] तेनापतति बहुतरं क्लेशराशौ मनुष्यः ॥
योऽजित्वा वायुमुच्चैः स्पृहयति तमसा योगमेषस्त्वपक्वं
योगं चारुह्य मन्दः सलिलपतिमिवाकांक्षते[2] तर्तुमुग्रम्[3]।२२।

ajñātopāyamādau kalayati dhiṣaṇāṃ yogamārge vimūḍhaḥ
khaṇḍajñātena tenāpatati bahutaraṃ kleṣarāśau manuṣyaḥ ॥
yo'jitvā vāyumuccaiḥ spṛhayati tamasā yogameṣastvapakvam
yogaṃ cāruhya mandaḥ salilapatimivākāṅkṣate tartumugram॥22॥

Tr. Without knowing the techniques of *yoga* even intellectually, a man, due to ignorance (*tamas*), gathering half knowledge suffers immensely, who sets a lofty aim (in *yoga*) without controlling *prāṇa*. This is *apakva-yoga*. One who wishes to cross a rough ocean (of life) with the help of (*apakva-*) *yoga* is unwise. 22.

जीविते सति हि साधके मरुत् लैन्यमेति पतते न पुद्गलम् ।
यस्य तस्य कुमनोमलनाशः स्याच्छुचौ[4] मनसि संविदुदेति ।२३।

jīvite sati hi sādhake marut
lainyameti patate na pudgalam ॥
yasya tasya kumanomalanāśaḥ
syāc-chucau manasi saṃvidudeti ॥ 23 ॥

Tr. While alive, a *sādhaka* experiences absorption of *prāṇa*, yet the body is not destroyed. When the impurities of the mind are removed and it attains purity, one attains super conscious state. 23.

आत्मज्ञानं जन्मनैकेन तस्मात्
स्याद्योगोऽतः साधकेन्द्रोऽभ्यसेत् प्राक् ॥
प्राणायामो मोक्षलब्ध्यै[5] यतीन्द्रैः
सेव्यो नित्यं पुण्यदो मुक्तिदश्च ॥ २४ ॥

ātmajñānaṃ janmanaikena tasmāt
syādyogo'taḥ sādhakendro'bhyaset prāk ॥
prāṇāyāmo mokṣalabdhyai yatīndraiḥ
sevyo nityaṃ puṇyado muktidaśca ॥ 24 ॥

1. खण्डाज्ञानेन a. 2. कांक्ष्यते –b. 3. मुग्रः —b. 4. स्याच्छवौ –a. 5. मोक्षलब्धौ –b.

Tr. A good *sādhaka* should first practise *yoga* to attain *ātmajnāna* in this very life itself. Therefore, a *sādhaka* should always practise *prāṇāyāma* regularly which is auspicious and which begets liberation. 24.

योगाग्निना दग्धमिदं शरीरं योगी स वै पक्व उपैति सिद्धी[1] ।
न केवलं ज्ञानमिहास्ति सिध्यै वैराग्ययुक्तं यमिनः खतुल्यम् ॥२५॥

yogāgninā dagdhamidaṃ śarīraṃ
yogī sa vai pakva upaiti siddhī ॥
na kevalaṃ jñānamihāsti siddhyai
vairāgyayuktaṃ yaminaḥ khatulyaṃ ॥ 25 ॥

Tr. A *yogī* should temper his body in the fire of *yoga* so that he becomes fortified and attains success. For success knowledge alone is not enough. Complete detachment like space is also essential. 25.

अतोऽष्टांगयोगोऽपि ज्ञानान्तर्गतो मुख्यं ज्ञानांगं ज्ञानान्तर्गत एव द्रष्टव्यः ॥

ato'ṣṭāṅgayogo'pi jñānāntargato mukhyaṃ jñānāṅgaṃ jñānāntargata eva draṣṭavyaḥ ॥

Tr. Therefore, *aṣṭāṅgayoga* should be considered included in the mainstream of knowledge itself.

तदुक्तम् —

taduktaṃ —

It has been said—

मन एकत्र संयुज्य जितश्वासो जितासनः ।
वैराग्याभ्यासयोगेन ध्रियमाण[2]मतन्द्रितम् ॥ इति ॥ २६ ॥

mana ekatra saṃyujya jitaśvāso jitāsanaḥ ।
vairāgyābhyāsayogena dhriyamāṇamatandritam ॥*iti*॥26 ॥

Tr. Through an intense and diligent practice of concentration of mind and detachment, gain mastery over *prana* *āsanas* and integrate both (knowledge and detachment). 26.

॥ इति सुन्दरदेवविरचितायां हठतत्वकौमुद्यां योगबीजविवेचनोद्योतः ॥

1. सिद्धीः b. 2. प्रियमाण a.

|| iti sundaradevaviracitāyāṃ haṭhatatvakaumudyāṃ yogabījavivecanodyotaḥ ||

Here ends the chapter *yogabījavivecana* of *haṭhatatvakaumudī* composed by *sundaradeva*.

Chapter — 2

अथ योगमाहात्म्यम् —

atha yogamāhātmyam—

The importance of *yoga*—

यावन्मुद्राभ्यसन[1]ममलं सम्प्रदायान्न यातं
यावत् पीठान्यथ गदहराण्युच्चकैर्नो जितानि ॥
यावत् कुम्भो निजगुरुमुखान्नोपलब्धो न दीर्घस्
तावद्योगो न भवति कलौ लोलचित्तस्य सूरैः[2] ॥१॥

yāvanmudrābhyasanamamalaṃ sampradāyānna yātam
yāvat pīṭhānyatha gadaharāṇyuccakairno jitāni ॥
yāvat kumbho nijagurumukhānnopalabdho na dīrghas
tāvadyogo na bhavati kalau lolacittasya sūraiḥ ॥ 1 ॥

Tr. So long as sublime *mudrās*, according to the tradition are not perfected, so long as superb *āsanas* which remove the diseases are not accomplished, so long as prolonged *kumbhaka* (*prāṇāyāma*) has not been learnt from a *guru*, even a learned person with a fickle mind would not attain success in *yoga* in this *kaliyuga*. 1.

यावन्नैव प्रविशति चरन्मारुतो मध्यमार्गं
यावत् सूक्ष्मो न भवति दृढः प्राणवातप्रबन्धः ॥
यावद् व्योम्ना सहजसदृशं[3] जायते नैव चित्तं
तावत् सर्वं वदति तदिदं दम्भमिथ्याप्रलापः ॥ २ ॥

yāvannaiva praviśati caranmāruto madhyamārgam
yāvat sūkṣmo na bhavati dṛḍhaḥ prāṇavātaprabandhaḥ ॥
yāvad vyomnā sahajasadṛśaṃ jāyate naiva cittaṃ
tāvat sarvaṃ vadati tadidaṃ dambhamithyāpralāpaḥ ॥ 2

Tr. So long as *prāṇa* does not move into the middle path (*suṣumnā*), so long as *prāṇa* does not become subtle and steady by the control of *prāṇāyāma*, and so long as the *citta* does not attain the state of *sahaja* merged with *ākāśa*, (the state of self-realization is not attained), it is hypocrisy and boast, to talk of *jñāna*. 2.

ज्ञानं कुतो मनसि जीवति दुर्विकल्पे
प्राणोऽपि जीवति मनो म्रियते न यावत् ॥

1. भ्यासन –a. 2. सूरेः –b. 3. सदशं –b.

प्राणो मनो द्वयमिदं न विलीयतेऽत्र
मोक्षं न गच्छति नरोऽत्र कथञ्चिदेव ॥ ३ ॥

jñānaṃ kuto manasi jīvati durvikalpe
prāṇo'pi jīvati mano mriyate na yāvat ॥
prāṇo mano dvayamidaṃ na vilīyate'tra
mokṣaṃ na gacchati naro'tra kathañcideva ॥ 3 ॥

Tr. How can wisdom descend on the defiled mind, so long as the *prāṇa* remains active and the mind does not cease its activities? When mind and *prāṇa* cease to act, then alone one attains liberation and not otherwise. 3.

चित्तस्य हेतु[1]द्वयशालिनोऽस्य प्राणो विलोलः क्रियया कुवासना ।
तयोर्विनाशे यदि नश्यतो द्वावेकत्र तौ[2] सिद्धिरनुत्तमा भवेत् ।४।

cittasya hetudvayaśālino'sya
prāṇo vilolaḥ kriyayā kuvāsanā ।
tayorvināśe yadi naśyato dvā-
vekatra tau siddhiranuttamā bhavet ॥ 4 ॥

Tr. There are two characteristics of *citta*—fickleness due to *prāṇa* and insidious desires. When the two cease to exist at one time, then alone the final attainment (of liberation) takes place. 4.

दुग्धाम्बुवत् संमिलितौ[3] सदैव तुल्यक्रियौ मानसमारुतौ च ।
यावन्मनस्तत्र मरुत्प्रवृत्तिस् तत्रैकनाशादपरस्य नाशः ॥ ५ ॥

dugdhāmbuvat saṃmilitau sadaiva
tulyakriyau mānasamārutau ca ॥
yāvanmanastatra marutpravṛttis
tatraikanāśādaparasya nāśaḥ ॥ 5 ॥

Tr. Having common characteristics, both mind and *māruta* are always blended like milk and water. Whenever mind is active, *marut* also becomes active. When one ceases acting, other too follows suite. 5.

एकप्रवृत्तावपरप्रवृत्तिरेकस्य नाशादपरस्य नाशः ।
अध्वस्तयोरिन्द्रियवर्गवृत्तिर्विध्वस्तयोः[4] मोक्षपदस्य सिद्धिः ॥ ६ ॥

ekapravṛttāvaparapravṛttir-
ekasya nāśādaparasya nāśaḥ ॥

---

1. हेतू –b. 2. द्वावेक तत्र —a. 3. संमित्वितौ –b. 4. विंधस्तयो –b.

adhvastayorindriyavargavṛttir-

vidhvastayoḥ mokṣapadasya siddhiḥ ॥ 6 ॥

Tr. When one acts, the other too becomes active. When one stops, other too stops. When the two are active the sense organs remain occupied. But when both are annihilated, one finds success in attainment of the state of liberation. 6.

मनस्तु सर्वेन्द्रियनाथ उक्तं समीरणो मानसनाथ एषः ।

नाथः समीरस्य मुनेः समाधिः समाश्रयेत[1] सततं सुयोगी[2] ॥ ७ ॥

manastu sarvendriyanātha uktaṃ

samīraṇo mānasanātha eṣaḥ ॥

nāthaḥ samīrasya muneḥ samādhiḥ

samāśrayeta satataṃ suyogī ॥ 7 ॥

Tr. It is said that *manas* is the lord of all the sense organs, and *prāṇa* is the lord of the *manas*. For a *muni*, *samādhi* is the lord of *samīra* which a *yogī* should always resort to. 7.

स्थिरे मानसे स्थैर्यमायाति वायुस्ततो बिन्दुरुच्चै[3]स्थिरत्वं प्रयाति ।

स्थिरत्वेऽथ बिन्दोर्दयासत्वमोजो भवत्येव पुंपिण्डसुस्थैर्य[4]मस्मात् ॥८॥

sthire mānase sthairyamāyāti vāyus-

tato binduruccaisthiratvaṃ prayāti ॥

sthiratve'tha bindordayāsatvamojo

bhavatyeva puṃpiṇḍasusthairyamasmāt ॥ 8 ॥

Tr. On stabilization of the *manas*, *prāṇa* also gains stability and *bindu* is established in the higher region (*brahmarandhra*). Stability of *bindu* brings about the virtues like benevolence, *satva* and vigour, which results in bodily fortitude. 8.

विना दृढाभ्यासमृते विरागं न योगसिद्धिस्तु कथञ्चनास्ति ।

वैराग्यमालम्ब्य पुरा बुधेनाऽभ्यासस्ततः प्राणजये[5] विधेयः ॥ ९॥

vinā dṛḍhābhyāsamṛte virāgaṃ

na yogasiddhistu kathañcanāsti ॥

vairāgyamālambya purā budhenā'-

bhyāsastataḥ prāṇajaye vidheyaḥ ॥ 9 ॥

Tr. There is no success in *yoga* without intense practice of detachment. A sincere practitioner commits to detachment at

1. समाश्रये तं –a. 2. स योगी –b. 3. रुच्च –a. 4. भवत्येवपुं पिण्डं सस्थैर्य –b. 5. प्राप्तये –b.

first and then undertakes the practice of *prāṇāyāma*. 9.

आलोड्य शास्त्राणि विचारसिद्धं देहः प्रपञ्चोऽयमनित्यमित्थम् ।
जीवस्य चित्तं ह्यविनाशि[1] नित्यं ध्येयं स ईशोऽन्य उपाधिरुक्तः[2] ॥१०॥

ālodya śāstrāṇi vicārasiddhaṃ
dehaḥ prapañco'yamanityamittham ॥
jīvasya cittaṃ hyavināśi nityaṃ
dhyeyaṃ sa īśo'nya upādhiruktaḥ ॥ 10 ॥

Tr. On conclusive deliberation of going through the scriptures, it has been found that body (physical existence) is an illusion and is temporary, and the *citta* of the human being is affected with the attributes. Therefore, *īśa* alone should always be meditated upon, who is immortal. 10.

निरीक्षितेऽनुश्रविके विरक्तं मनो विलोलं विषयेषु यस्य ।
तस्याऽधिकारोऽत्र बुधस्य योगे नान्यस्य कस्यापि विनिश्चयेन[3] ॥११॥

nirīkṣite'nuśravike viraktaṃ
mano vilolaṃ viṣayeṣu yasya ॥
tasyā'dhikāro'tra budhasya yoge
nānyasya kasyāpi viniścayena ॥ 11 ॥

Tr. After studying the *śrutis*, a wise, whose mind, attracted towards the objects gets detached. Such a person certainly qualifies for the practice of *yoga* and none else. 11.

इति मनोवायुपरस्परैक्य[4]कथनम् ॥

iti manovāyuparasparaikyakathanam ॥

Here ends the narration of inter-dependence of *manas* and *prāṇa* (*vāyu*).

स्वाध्यायकर्माचरणादहिंसेज्या[5]चारदानेभ्य उदारसत्यात् ।
दयाख्यधर्मादयमुत्तमोऽत्र यदात्मसंदर्शनमीड्ययोगात्[6] ॥ १२ ॥

svādhyāyakarmācaraṇādahiṃse
jyā-cāradānebhya udārasatyāt ॥
dayākhyadharmādayamuttamo'tra
yadātmasandarśanamīḍyayogāt ॥ 12 ॥

Tr. Realization of the Self, through *yoga* is superior to

1. चित्तंऽविनाशि –b. 2. उपाधितक्तः –a. 3. निश्चयेन –a. 4. वायुस्परैक्य –b. 5. चरणादःसिहिंसेज्या–a, दऽहिंसेज्या –b. 6. . भोगात् –b.

study of the scriptures, *karma*, *ahiṃsā*, good behaviour, worship, good conduct, benevolence and truthfulness and virtues like kindness etc. 12.

इति योगमाहात्म्यम् ॥

iti yogamāhātmyam ॥

Here ends the superiority of *yoga*.

मिथ्यावादरतस्य निष्ठुरवचोवृत्तेर् गुरु[1]द्वेषिणः
श्रद्धाजाड्यवतः प्रसक्तविषयासक्तस्य धर्मद्रुहः ॥
योगाभ्यासविधावनुद्यमभृतः प्रापञ्चिकार्थस्पृहा[2]-
चिन्तार्तात्मन ऊरुवासनायुजो[3] योगो न सिध्येत् कलौ ॥ १३ ॥

mithyāvādaratasya niṣṭhuravacovṛtter gurudveṣiṇaḥ
śraddhājāḍyavataḥ prasaktaviṣayāsaktasya dharmadruhaḥ ॥
yogābhyāsavidhāvanudyamabhṛtaḥ prāpañcikārthaspṛhā-
cintārtātmana ūruvāsanāyujo yogo na sidhyet kalau ।13।

Tr. In this *kaliyuga*, a person who is engaged in falsehood, harsh talking and acting, hates a *guru*, has no faith (for *yoga*), completely given into the sensual indulgence, defiles the virtues, not enthusiastic to undertake the *yoga* practices, preoccupied in temporary objects like wealth and (fulfillment of the desires), is worried and cherishes big cravings, will not attain success in *yoga*. 13.

एकस्यैकान्तभाजो विगलितविषयेहस्य[4] संगेप्सितस्य
संमुक्ता[5]लस्यलौल्यात्यशनशयनसम्भाषणायासकस्य ॥
धैर्यादुद्योगतः[6] स्यान्मनसि दृढतरान्निश्चयाल् लोकसंग-
त्यागात् तत्वप्रबोधाद् व्रतनियमजपे[7] योग एषः[8] सुसिध्येत् ॥१४॥

ekasyaikāntabhājo vigalitaviṣayehasya saṃgepsitasya
saṃmuktālasyalaulyātyaśanaśayanasaṃbhāṣaṇāyāsakasya ॥
dhairyādudyogataḥ syanmanasi dṛḍhatarānniścayāl lokasaṃga-
tyāgāt tatvaprabodhād vrataniyamajape yoga eṣaḥ susidhyet ॥14॥

Tr. Success in *yoga* is assured on adherence to such means as: staying alone in a desolate place, removal of all the desires of the objects, desirous of union (with the Self),

---

1. ष्टतेगुरु –a. 2. प्रापञ्चिकम्यर्थ -b. 3. नरुश्वासनयुजो –b. 4. विशयेहस्य –a. 5. संसर्गोपिस तस्य मुक्ता –b. 6. धैर्योदुद्योगतः -a. 7. जये –a. 8. योगपृषः -b.

overcoming laziness, greed, excess eating, sleep and talking, perseverance (patience) and diligence, firm mental resolve, shunning public contact, understanding of the *tatva* (Self) and performance of the vows, *japa* and *niyamas*. 14.

फलिष्यतीति[1] दृढनिश्चयः प्राक् श्रद्धा गुरोः पूजनमीशबुद्ध्या[2]
शमोऽनुपञ्चेन्द्रिय[3]निग्रहोऽलं मिताशनं चेति सुयोग[4]बीजम् १५

phalişyatīti dṛdhaniścayaḥ prāk
śraddhā guroḥ pūjanamīśabuddhyā ॥
śamo'nupañcendriyanigraho'lam
mitāśanaṃ ceti suyogabījam ॥ 15 ॥

Tr. The following forms the base for *yoga*: a firm and positive resolve towards the goal (success), devotion, worship of the *guru* considering him as *īśa*, tranquility, pacification of the senses and moreover sticking to moderate diet. 15.

दृष्टिः स्थिरा यस्य विनैव दृश्याद्
वायुः स्थिरो यस्य विना प्रयत्नात् ॥
चित्तं स्थिरं यस्य विनाऽवलम्बात्
स एव योगी स गुरुः स सेव्यः ॥ १६ ॥

dṛṣṭiḥ sthirā yasya vinaiva dṛśyād
vāyuḥ sthiro yasya vinā prayatnāt ॥
cittaṃ sthiraṃ yasya vinā'valambāt
sa eva yogī sa guruḥ sa sevyaḥ ॥ 16 ॥

Tr. *A yogī* is considered a *sadguru*, whose gaze is fixed without (seeing) an object, *vāyu* is stable without an effort and the mind becomes steady without object of concentration. Such a *guru* should be accepted. 16.

श्रुति[5]प्रतीतिश्च गुरु[6]प्रतीतिः स्वात्मप्रतीतिर् मनसो निरोधः ।
एतानि सर्वाणि[7] समुच्चितानि मतानि धीरैरिह साधनानि ।१७।

śrutipratītiśca gurupratītiḥ svātmapratītir manasonirodhaḥ
etāni sarvāṇi samuccitāni matāni dhīrairiha sādhanāni ।17।

Tr. Knowledge of scriptures, guidance from *guru*, personal experience and control of mental activity are considered together as valid means of success, according to the adepts. 17.

---

1. फलिषातोऽति –a. 2. बुद्धाः -b. 3. शमोऽनुयचेन्द्रिय –b. 4. सयोग –b. 5. श्रुत –a. 6. श्रुतिप्रतीतिश्च गुरु – अनुपलब्धपाठः—b. 7. अनुपलब्धपाठः -b.

इति शिष्यगुरुलक्षणानि ॥

iti śiṣyagurulakṣaṇāni ॥

Here ends the characteristics of the teacher and the taught.

अभ्यासवैराग्यदृढावलम्बैः संसारवृत्तिषु असंगतासु[1] ।
दृढैकतत्वा[2]भ्यसनादभीष्टध्याने मरुत्स्पन्द उपैति रोधम् ॥१८॥

abhyāsavairāgyadṛḍhāvalambaiḥ
saṃsāravṛttiṣu asaṃgatāsu ॥
dṛḍhaikatatvābhyasanādabhīṣṭa-
dhyāne marutspanda upaiti rodham ॥ 18 ॥

Tr. Restraint of the *prāṇic* movement is possible by a firm resolution of practice (*abhyāsa*), and *vairāgya* (detachment), detachment towards worldly occupations, unswerving concentration to one *tatva* (Self) and devotion to the cherished goal. 18.

विरुद्धवृत्त्यन्तरचित्तवृत्तावभेदबुद्ध्यात्ममहेशयोर्यत् ।
तदात्मभावेन विचिन्तनं यद्योगः[3] स उक्तोऽभ्यसनात् समाधिः॥१९॥

viruddhavṛttyantaracittavṛttāva-
bhedabuddhyātmamaheśayoryat ॥
tadātmabhāvena vicintanaṃ yad-
yogaḥ sa ukto'bhyasanāt samādhiḥ ॥ 19 ॥

Tr. One remains indifferent towards the internal conflicting modifications of the *citta* and one does not discriminate between the (individual) Self and *maheśa* (the cosmic Self) and meditates with this kind of an attitude. This is called *yoga*, practice of which is said to result into the state of *samādhi*. 19.

अवाच्यसद्रसान्तरालयाऽमृतस्य माधुरी ।
अवाप्यते सुयोगिनाऽपतृष्म[4] राजयोगतः ॥ २० ॥

avācyasadrasāntarālayā'mṛtasya mādhurī ।
avāpyate suyoginā'patṛṣmarājayogataḥ ॥ 20 ॥

Tr. A *yogī* who has overcome desire through the practice of *rājayoga* enjoys the inexplicable sweetness of the nectar of immortality. 20.

---

1. संसारवृत्तिष्वर्धसंगतासु –b, 2. तत्वाऽभ्यसना -a. 3. विचिन्तयेद्योगः -b. 4. स योगिनाऽपतृष्म –b.

सदा चिन्ताहीनो गलितविषयासक्तिरचलो
विहीनः शीतोष्णैः[1] पटहशतघोषेऽपि बधिरः ॥
मृतावस्थोऽवध्यो विहतभयरोगादिविकृतिः
परानन्दोन्मन्यां विशति वरयोगी न[2] गुणधीः ॥ २१ ॥

sadā cintāhīno galitaviṣayāsaktir-acalo
vihīnaḥ śītoṣṇaiḥ paṭahaśataghoṣe'pi badhiraḥ ॥
mṛtāvastho'vadhyo vihatabhayarogādivikṛtiḥ
parānandonmanyāṃ viśati varayogī na guṇadhīḥ ॥ 21 ॥

Tr. An eminent *yogī* enjoys the absolute Blissful state of *unmanī* having been ever devoid of worries, detached from sensual engagement, tranquil, unaffected by heat and cold, remains deaf even to the noise of a hundred drums, attains a death-like state, who cannot be killed, overcomes the disturbances like fear, diseases etc. and not by other merits. 21.

जागर्ति प्रणिदधते[3] स्वरूपचिन्तां
मृत्योर्भीः[4] कुत इह तस्य वर्ष्मणि स्यात् ॥
पीठस्थो[5] यदि यतिराड् भजते सुमुद्राः[6]
पीठस्थो न हि शयनस्य सम्भवोऽस्मिन् ॥ २२ ॥

jāgartti praṇidadhate svarūpacintāṃ
mṛtyorbhīḥ kuta iha tasya varṣmaṇi syāt ॥
pīṭhastho yadi yatirāṭ bhajate sumudrāḥ
pīṭhastho na hi śayanasya saṃbhavo'smin ॥22॥

Tr. If the *yogī* remains alert and meditates on the Self, practises the *mudrās* in *āsana*, he overcomes fear from death. Because during *āsana* practice there is no possibility of going into sleep. 22.

मनसा कपिचञ्चलेन नित्यं परमालस्यगुणेन निद्रया च ।
त्रिभिरेभिरुपाय[7]मूलभूतैर्मरणं चामरतावमीषाम्[8] ॥ २३ ॥

manasā kapicañcalena nityaṃ
paramālasyaguṇena nidrayā ca ॥
tribhirebhirupāyamūlabhūtair-
maraṇaṃ cāmaratāvamīṣām ॥ 23 ॥

---

1. शीतोष्मैः -b. 2. वरयोगीत –a. 3. प्राणे दधते –b. 4. म्त्पोभयः -b. 5. पोटस्थो -a. 6. भजेत्तत्रमुद्राः -b. 7. त्रिभिरेभिरपाप –a. 8. वामरतास्वतावमोषां –b, मरतात्त्दता –a.

Tr. Ficklencss like mind as a monkey, extreme laziness and sleep are the three basic sins of mind which lead to death and snatch away the immortality from a *yogī*. 23.

चित्तं[1] चिन्ताविहीनं परमगुरुमतं योगतत्वैकदर्शि
तत्वज्ञानं शुभं यच्छ्वसन[2]परिधृतिर्योगिनां[3] खेचरी च[4] ॥
गर्भज्ञानं च मोक्षो द्विविधलयपदं कुण्डलीबोध एषो
मुद्राः सर्वाश्च[5] पीठान्यपि मनसि जिते सिद्धिदान्यऽन्यथा नो।२४।

cittaṃ cintāvihīnaṃ paramagurumataṃ yogatatvaikadarśi
tatvajñānaṃ śubhaṃ yachvasanaparidhṛtiryogināṃ khecarī ca ॥
garbhajñānaṃ ca mokṣo dvividhalayapadaṃ kuṇḍalībodha eṣo
mudrāḥ sarvāśca pīṭhānyapi manasi jite siddhidānya'nyathā no ।24।

Tr. The following means and none else, bring about success in *yoga*: *citta* free from worries, guidance of an eminent *guru*, one-pointed devotion to the principles of *yoga*, knowledge of *tatva* (Self) which is auspicious, control of breath through *yoga* (*prāṇāyāma*), (perfection of) *khecarī*, knowledge of conception and liberation, attaining two types of *laya* state, awakening of *kuṇḍalī*, (practice of) all the *mudrās* and *āsanas* and control of *manas*. 24.

तथा चोक्तं नन्दिकेश्वरब्रह्मज्ञाने –

tathā coktaṃ nandikeśvarabrahmajñāne —

Therefore it has been said in *nandikeśvara brahmajñāna*—

निर्वाणपदमप्येतद्यत्र[6] चिन्तां विना मनः ।
तदेव केवलं ज्ञानं गर्भज्ञानं तदेव हि ॥ २५ ॥

nirvāṇapadamapyetadyatra cintāṃ vinā manaḥ ।
tadeva kevalaṃ jñānaṃ garbhajñānaṃ tadeva hi ॥ 25 ॥

महानन्दपदं तच्च यच्चिन्तावर्जितं मनः ।
शिवशक्त्योस्तत्र योगः संगमः शशिसूर्ययोः ॥ २६ ॥

mahānandapadaṃ tacca yaccintāvarjitaṃ manaḥ ।
śivaśaktyostatra yogaḥ saṃgamaḥ śaśisūryayoḥ ॥ 26 ॥

---

1. चित्रं –b. 2. यशसन –b. 3. परिध्यति योगिना –a. 4. अनुपलब्धपाठः —b. 5. सर्वाश्च –b. 6. पदमध्ये तत्त्र -b.

मोक्षमार्गः स एवैष निःशेषमलवर्जितः ।
स एव सृष्टिकर्त्तापि यत्र चिन्तां विना मनः ॥ इति ॥ २७ ॥
mokṣamārgaḥ sa evaiṣa niḥśeṣamalavarjitaḥ ।
sa eva sṛṣṭikarttāpi yatra cintāṃ vinā manaḥ ॥ *iti* ॥ 27 ॥

Tr. When the mind is free from all thoughts, that is the state of *nirvāṇa*, absolute wisdom, knowledge of origination, state of Absolute Bliss, where there is the union of *śiva* and *śakti*, and sun and moon (polarities), only path to liberation, free from all blemishes and he is the lord of all creation. 25-27.

हठं विना सिध्यति राजयोगो नर्त्ते[1] हठश्चापि न राजयोगम् ।
तदभ्यसेत्पूर्वमतः सुनिष्पत्यंतं[2] हठं सद्गुरुणोपदिष्टम् ॥ २८ ॥[3]
haṭhaṃ vinā sidhyati rājayogo
nartte haṭhaścāpi na rājayogam ॥
tadabhyaset pūrvamataḥ suniṣpatyantaṃ
haṭhaṃ sadguruṇopadiṣṭam ॥ 28 ॥

Tr. Success in *rājayoga* is not possible without *haṭha*, and vice versa. Therefore, one should practise *haṭha* first with firm resolve under the guidance of a *guru* until the state of *niṣpatti (samādhi)* dawns. 28.

Note: Also cf. HP-iv.69. 28.

सर्वात्मसम्भावनयानुकम्पया रागादिलैन्येऽस्तमुपैति वासना ।
यदा तदा प्राणजयः सुखेन जितेऽनिले स्वं जितमेव चित्तम् ॥२९॥
sarvātmasambhāvanayānukampayā
rāgādilainye'stamupaiti vāsanā ॥
yadā tadā prāṇajayaḥ sukhena
jite'nile svaṃ jitameva cittam ॥ 29 ॥

Tr. When all the desires due to attachment and craving are subdued through compassion towards pervading all beings then alone *prāṇa* can be easily controlled resulting into natural control of *citta*. 29.

---

1. नर्त्ति -b. 2. सुनिष्पत्त्यते -b. 3. **अभ्यासवैराग्यदृढावलम्बैः संसारवृत्तिषु असंगतासु । दृढैकतत्वाभ्यसनादभीष्टध्यानान् मरुत्स्पन्द उपैति रोधम् ॥** —Repeated *śloka* not available in b.

संगत्यागत इष्टमिष्टरसन्त्यागाद्[1] द्विषण्मित्रयोस्[2]
तुल्यत्वे[3] प्रविनाशिभावनतया देहे च वीतेहया ॥
लक्ष्म्यां तुच्छमृदादिभावनतया स्त्रीपुत्रदेहादिकेषु[4]
औदासीन्यतया स्वयं ध्रुव[5]मसौ दुर्वासना सीदति ॥३०॥

saṅgatyāgata iṣṭamiṣṭarasantyāgād dviṣaṇmitrayos
tulyatve pravināśibhāvanatayā dehe ca vītehayā ॥
lakṣmyāṃtucchamṛdādibhāvanatayā strīputradehādikeṣu
audāsīnyatayā svayṃ dhruvamasau durvāsanā sīdati । 30।

Tr. Bad desire certainly comes to an end, when one gives up attachment of desired objects, does not discriminate between friend and foe, maintain an attitude of transformation towards the body, relief from desires, with an attitude of trifle aimed at worldly possessions, indifference towards wife, offspring etc. 30.

त्यक्त्वा लौकिकवैदिकपद्धतिं[6] विक्षेप[7]बीजां मुनिः
वैराग्याभ्यसनेन निश्चलमना व्युत्थानकालेऽस्पृहः ॥
उत्साही विगतालसश्च मितभुङ् मौनी तितिक्षान्वितः[8]
सद्योगासनमाविविक्तशरणो[9] योग्यस्तद्हृद्याधृतिः[10] ।३१।

tyaktvā laukikavaidikapaddhatiṃ vikṣepabījāṃ muniḥ-
vairāgyābhyasanena niścalamanā vyutthānakāle'spṛhaḥ
utsāhī vigatālasaśca mitabhuṅ maunī titikṣānvitaḥ
sadyogāsanamāviviktaśaraṇo yogyastad hṛdyādhṛtiḥ ।31।

Tr. A *muni* would attain success by discarding all that is *vaidika* or *laukika* commandments, the cause of disturbance (*vikṣepa*), through the practice of detachment, attaining stability of the mind, remaining undeterred in the state of *vyutthāna*, having been enthusiastic, shredding inertia, consuming moderate diet, remaining silent, laced with forbearance, undertaking genuine practice of *āsana* etc. 31.

साक्षात्कृतेषु तु विवेकधिया सुभोग-
दोषेषु वान्तपरमान्नवदा[11]शुकामाः ॥

---

1. रसन्त्यागात् —a. 2. द्विषारमित्रयो –b. 3. स्वल्पत्वे –b. 4. देहादिकेश्चौ –b. 5. स्वयंभुव –b. 6. व्यहृतिं –a. 7. व्यवस्यति विह्नेय –b. 8. नौतीति तिक्ष्यान्वितः –b. 9. भाग्विविक्तशरणो –b. 10. योग्यस्तस्य या वृत्तिः —b. 11. परमात्मवदा –a.

त्यजन्त[1] एव विदुषा निजयोगविघ्नाः
क्लेशादिपञ्चकगृहा भवदुःखमूलाः ॥ ३२ ॥

sākṣātkṛteṣu tu vivekadhiyā subhoga-
doṣeṣu vāntaparamānnavadāśukāmāḥ ॥
tyajanta eva viduṣā nijayogavighnāḥ
kleśādipañcakagṛhā bhavaduḥkhamūlāḥ ॥ 32 ॥

Tr. Through the discrimination and realisation of the ills of the sensual enjoyment, a wise eschews them like the content of vomiting to attain sure success. He gives up the group of the five *kleśas* in the body, which is the root cause of suffering and are the obstacles on his own path of *yoga*. 32.

विहरता यथा शास्त्रमन्वहं न त्वरां चरेद्योगसिद्धिषु ।
चिरसमयसम्पक्वसिद्धयः पृष्टसत्फलाः स्युः स्वयं सताम्[2] ॥३३॥

viharatā yathā śāstramanvaham
na tvarāṃ caredyogasiddhiṣu ॥
cirasamayasampakvasiddhayaḥ
pṛṣṭasatphalāḥ syuḥ svayaṃ satām ॥ 33 ॥

Tr. As one should study the scriptures consistently and not hastily, similarly, the practice of *yoga* yields success to a great (*yogī*) after a long time when it gets matured. 33.

आदौ विधेयः खलु साधकेन धर्मो निजः शुक्लतरोऽघहारी[3] ।
धर्मादृते नास्ति सुयोगसिद्धिः कुम्भो द्रुतं[4] सिद्ध्यति शुद्धचित्ते।३४।

ādau vidheyaḥ khalu sādhakena
dharmo nijaḥ śuklataro'ghahārī ॥
dharmādṛte nāsti suyogasiddhiḥ
kumbho drutaṃ siddhyati śuddhacitte ॥ 34 ॥

Tr. In the beginning, a *sādhaka* should discretely follow his own duties (*dharma*), which are very pure and remove sins. Success in *yoga* does not occur without the virtues. Once the *citta* is purified, *kumbhaka* takes place soon. 34.

कायेन वाचा मनसा सुभक्तिविशेषसंसेवितशंकरस्य ।
प्रसादतो योगफलानि योगः सिद्ध्येत् सदाऽभ्यासविरागभाजः।३५।

kāyena vācā manasā subhakti-
viśeṣasaṃsevitaśaṃkarasya ॥

1. त्यजन्त् a. 2. सवां –a. 3. ऽपाहारी –a. 4. कुम्भोधरतं –b.

prasādato yogaphalāni yogaḥ
siddhyet sadā'byāsavirāgabhājaḥ ॥ 35 ॥

Tr. One who is devoted to the regular practice, is detached, and who has surrendered to *śankara* with complete devotion, in action, speech and thought, enjoys benefits of *yoga* by the grace of *śankara*. 35.

न दानैर्व्रतैर्वा तपोभिर्न यज्ञैर्न शास्त्रावलोकैर्न[1] सिद्धासनाद्यैः ।
न मौनेन योगः सुसिद्ध्येद् बुधानां[2] विनाभ्यासवैराग्यदार्ढ्यं कदापि॥३६॥

na dānairvratairvā tapobhirna yajñair
na śāstrāvalokairna siddhāsanādyaiḥ ॥
na maunena yogaḥ susiddhyed budhānāṃ
vinābhyāsavairāgyadārḍhyaṃ kadāpi ॥ 36 ॥

Tr. Even a wise never meets with success in *yoga* without regular practice and detachment and never by way of charity, vows, austerity, fire sacrifices, study of the scriptures, practice of *siddhāsana* etc., or observing silence. 36.

मानापमानौ हृदि[3] साधकस्य विषामृते[4] स्तः सुखदुःखमेवम्[5] ।
प्रीतिप्रदोद्वेगकृदिंगितो[6]क्तपरस्य वा स्वस्य वशेन्द्रियस्य[7] ॥ ३७ ॥

mānāpamānau hṛdi sādhakasya
viṣāmṛte staḥ sukhaduḥkhamevam ॥
prītipradodvegakṛdingitokta-
parasya vā svasya vaśendriyasya ॥ 37 ॥

Tr. A *sādhaka* who has controlled the senses remain unaffected by honour or insinuation, poison or nectar happiness or sorrow, objects of love or anxiety, related to the self or other. 37.

यत्कार्यसंसाधनमेव सारं ज्ञानं श्रयीत प्रयतस्तु साधकः ।
यज्ज्ञानबाहुल्यमिदं[8] न योगसिद्धिप्रदं[9] ज्ञेयबहुत्वरागतः ॥३८ ॥

yatkāryasaṃsādhanameva sāraṃ
jñānaṃ śrayīta prayatastu sādhakaḥ ॥
yajjñānabāhulyamidaṃ na yoga-
siddhi-pradaṃ jñeyabahutvarāgataḥ ॥ 38 ॥

Tr. Precise application of knowledge by a *sādhaka*

---

1. शास्त्राणलोकनैर्न्नै —b, वलोकैर्न -a. 2. दुधानां —b. 3. ह्यदि —b. 4. विनाऽमृतेन —a. 5. दुःखसुख एवं —a. 6. हृल्लिदिंगतो —a. 7. स्ववशेन्द्रियस्य —b. 8. वाक्कल्पमिदं —b. 9. सिद्धिपदं —b.

leads to successful accomplishment of an action. Accumulation of excessive knowledge leading to pride would not bring success in *yoga*. 38.

परिभवमपमानं[1] मानयेदादरं स्वं
बहुमनसि विवेकी स्वादरं स्वोपसर्गम् ॥
स्तवननुति[2]पुरस्कारादियोगान्तराया
व्यवहृतिरपि[3] लोकैर्नो सती साधकस्य ॥ ३९ ॥

paribhavamapamānaṃ mānayedādaraṃ svaṃ
bahumanasi vivekī svādaraṃ svopasargaṃ ॥
stavananutipuraskārādiyogāntarāyā
vyavahṛtirapi lokairno satī sādhakasya ॥ 39 ॥

Tr. A wise should readilly accept defeat or insinuation as honour. On the other hand he should consider honour as an impediment. Praise, worship, promotion etc. are for mundane people which form obstacles in *yoga*. 39.

अत्याहारो[4] लोलता लोकसंगो[5] जल्पस्त्यागोऽपथ्यजग्धिः क्रियादेः
आयासोऽलं षड्भिरेतैर्विनश्येदु[6]च्चैर्योगः साधकस्यास्थिरस्य ।४०।

atyāhāro lolatā lokasaṅgo
jalpastyāgo'-pathyajagdhiḥ kriyādeḥ ॥
āyāso'laṃ ṣaḍbhiretairvinaśyed
uccairyogaḥ sādhakasyāsthirasya ॥ 40 ॥

Tr. A fickle *sādhaka* loses the success of *yoga* due to these six: excess eating, craving, public contact, talkativeness, desertation (of practice), consumption of prohibited food and lacking initiative to begin the practice. 40.

Note: cf. HP-i.48. 40.

उत्साहतो निश्चयतश्च धैर्याद्योगस्य संदर्शनतस्तथैव ।
ज्ञानेन तत्वस्य जनप्रसंगत्यागेन[7] संसिद्ध्यति योग एषः ॥ ४१ ॥

utsāhato niścayataśca dhairyād
yogasya sandarśanatastathaiva ॥
jñānena tatvasya janaprasaṅga-
tyāgena saṃsiddhyati yoga eṣaḥ ॥ 41 ॥

---

1. परिभवयमानं –a. 2. स्तुति –b. 3. व्यवस्यतिरपि –b. 4. अतीहारो –b. 5. लोकसंगाऽजल्प –b. 6. आयासोऽलषदभिरेतैविनश्यद –b. 7. जनसंगपौढो न – b.

Tr. Success in *yoga* can be achieved by enthusiasm, firm determination, patience, faith in the efficacy of *yoga*, knowledge of *tatva* (Self) and giving up public contact. 41.

हठयोगाः सकलास्तु राजयोगास्पदलब्ध्यै परिलब्धराजयोगः ।
पुरुषस्तनुते सकामचारः स्वशरीरेण कृतान्तवञ्चनां च ॥ ४२ ॥

haṭhayogāḥ sakalāstu rājayogā-
spadalabdhyai parilabdharājayogaḥ ॥
puruṣastanute sakāmacāraḥ
svaśarīreṇa kṛtāntavañcanāṃ ca ॥ 42 ॥

Tr. The whole scheme of *haṭha* is for the sake of *rājayoga*. A person who has attained the state of *rājayoga* can move at will physically anywhere and overcome (premature) death. 42.

द्रव्याद्यशेषार्थविडम्बितस्य[1] पुराणवेदोक्तदशाप्रियस्य ।
तृष्णाबुभुत्सा[2]सहनासहस्य जायेत[3] योगो न कदापि पुंसः ।४३ ।

dravyādyaśeṣārthaviḍaṃbitasya
purāṇavedoktadaśāpriyasya ॥
tṛṣṇābubhutsāsahanāsahasya
jāyeta yogo na kadāpi puṃsaḥ ॥ 43 ॥

Tr. A man who is obsessed with endless material engagement, enamoured with the states described in the *purāṇas* and the *vedas* and is unable to withstand the conditions of thirst, hunger, can never practise *yoga*. 43.

वशीकृतं येन मनोविलोलं जिताश्च येनेन्द्रियशत्रवो ध्रुवाः[4] ।
जगत्त्रयं तेन जितं समस्तं स देवसर्पासुरमानुषं च ॥ ४४ ॥

vaśīkṛtaṃ yena manovilolaṃ
jitāśca yenendriyaśatravo dhruvāḥ ॥
jagattrayaṃ tena jitaṃ samastaṃ
sa devasarpāsuramānuṣaṃ ca ॥ 44 ॥

Tr. One who has restrained the fickleness of the mind, overcomes the deep seated enemies in the form of senses, conquers the three worlds containing reptiles, deities, demons and the man is certainly a *yogī*. 44.

---

1. इत्याद्यशेषार्थविडम्बितस्य –b, तास्य -a. 2. बुभुत्सा –b. 3. जायेत् –b. 4. भुवाः —b.

लोकोऽवनं चञ्चलमानसे स्यादस्मिन्[1] स्थिरे काननमेष दृश्यः ।
देहाभिमाने गलिते तु यत्र समाधयस्तत्र मुनेः सदैव ॥ ४५ ॥

loko'vanaṃ cañcalamānase syād-
asmin sthire kānanameṣa dṛśyaḥ ॥
dehābhimāne galite tu yatra
samādhayastatra muneḥ sadaiva ॥ 45 ॥

Tr. Diversities of the (mundane) world are experienced by a disturbed mind. But when the mind is stabilized the world appears pleasant. A *muni* experiences the state of *samādhi* for ever on dissolution of the identity of the body. 45.

न चक्रिणस्तत्सुख[2]मस्ति किञ्चिन्न श्रीपतेस्तत्सुखमस्ति तद्वत् ।
न तत् सुखं भूमिपतेर्जितारेर्यच्छान्तचित्तस्य समाधियोगे ॥ ४६ ॥

na cakriṇastatsukhamasti kiñcin-
na śrīpatestatsukhamasti tadvat ॥
na tat sukhaṃ bhūmipaterjitārer
yacchāntacittasya samādhiyoge ॥ 46 ॥

Tr. Happiness experienced by the one who in the controlled state of mind in *samādhi*, is not enjoyed even by a king or a wealthy or one who is a landlord and conquered the enemies. 46.

विषं विषं नो विषया विषं भृशं
सत्यं पुनः सत्यमिदं ब्रवीमि ॥
जन्मान्तरघ्ना[3] विषया विषं नृणाम्
एकोद्भवघ्नं[4] क्षणिकव्यथं च ॥ ४७ ॥

viṣaṃ viṣaṃ no viṣayā viṣaṃ bhṛśaṃ
satyaṃ punaḥ satyamidaṃ bravīmi ॥
janmāntaraghnā viṣayā viṣaṃ nṛṇām
ekodbhavaghnaṃ kṣaṇikavyathaṃ ca ॥ 47 ॥

Tr. I will emphatically tell the Truth that poison does not pose a threat, but sensual engagement poses the real threat, since that defiles several (forthcoming) lives, while the former causes a little pain and kills in one life alone. 47.

---

1. चञ्चलमानसेऽहस् तस्मिन् —a. 2. न च क्रियास्तत्सुख –b. 3. जन्मान्तरञ्चा – b. 4. एकोद्भवञ्च –b.

सदसज्जगदीदृशं हि यस्य सकलं स्वात्ममयं प्रपश्यतः ।
न हि कोऽपि गुणागुणप्रगाढं दयितो वा दयितास्ति तस्य कोऽत्र[1] ४८

sadasajjagadīdṛśaṃ hi yasya
sakalaṃsvātmamayaṃ prapaśyataḥ ॥
na hi ko'pi guṇāguṇapragāḍhaṃ
dayito vā dayitāsti tasya ko'tra ॥ 48 ॥

Tr. One who perceives the world comprising *sat* (eternal) or *asat* (temporal), pervaded by the Self, there lies nothing like *guṇa* (attribute) or *aguṇa* (non-attribute), lover or loved. 48.

विशुद्धबुद्धिः[2] समलोष्टकाञ्चनः समस्तभूतेषु वसन् समाहितः ।
स्थानं परं शाश्वतमव्ययं च परं हि गत्वा न पुनः प्रजायते ।४९।

viśuddhabuddhiḥ samaloṣṭakāñcanaḥ
samastabhūteṣu vasan samāhitaḥ ॥
sthānaṃ paraṃ śāśvatamavyayaṃ ca
paraṃ hi gatvā na punaḥ prajāyate ॥ 49 ॥

Tr. One who has attained purified intellect, does not discriminate between trifle and gold, dwells in all the beings, is highly poised, reaches the highest immutable eternal abode from where there is no return. 49.

समाहितो ब्रह्मपरोऽप्रमादी शुचिस्तथैकान्तरुचिर्जितेन्द्रियः ।
समाप्नुवन्योगमिमं महात्मा विमुक्तिमाप्नोति ततश्च योगतः ।५०।

samāhito brahmaparo'pramādī
śucistathaikāntarucirjitendriyaḥ ॥
samāpnuvanyogamimaṃ mahātmā
vimuktimāpnoti tataśca yogataḥ ॥ 50 ॥

Tr. Through the practice of this *yoga*, the eminent *yogī*, who is tranquil, devoted to *brahma*, undistracted, pious, enjoying solitude and who has attained restraint of the senses, achieves liberation. 50.

रजसा तमसो वृत्तिं रजसः सत्वेन संछाद्य ।
तत्वे स्थितो विशुद्धे योगं युञ्जीत योगविद् विजने[3] ॥ ५१ ॥

rajasā tamaso vṛttiṃ rajasaḥ satvena saṃcchādya ।
tatve sthito viśuddhe yogaṃ yuñjīta yogavid vijane ।51।

1. दयितो वाऽदयितोरितरस्य कोत्र —b. 2. विशुद्धिबुद्धिः —a. 3. भुञ्जीत योगविद्धिजने —b.

Tr. In a secluded place the *yogī* should undertake the practice of *yoga* by overcoming the *tāmasika* qualities with the help of *rājasika* qualities and *rājasika* qualities with the help of *sātvika* qualities and remaining devoted to the *tatva* (Self), which is ever pure. 51.

Note: The metre is faulty and some word seems to be missing. 51.

आरोहतस्तैलसमृद्धपात्रं भुवः समादाय हि तुंगमार्गम् ।
विज्ञानमुच्चैः प्रविलोक्यते न स्याद्योगिनोऽभ्यासधिया सुयोगः ।५२।

ārohatastailasamṛddhapātraṃ
bhuvaḥ samādāya hi tuṅgamārgam ॥
vijñānamuccaiḥ pravilokyate na
syadyogino'bhyāsadhiyā suyogaḥ ॥ 52 ॥

Tr. Just as a person ascending a mountain starting from its bottom holding a pot filled with oil would not look at the height, similarly, through the practice of *yoga*, a *yogī* would gain unswerving concentration. 52.

तिलकाकृतिरुरुशावकशृंगाग्रं वीक्ष्य वर्धते तेन ।
स ह योगी सिद्धिगणं क्रमेण परिवर्द्धमानमाप्नोति ॥ ५३ ॥

tilakākṛtiruruśāvakaśṛṅgāgraṃ
vīkṣya vardhate tena ॥
sa ha yogī siddhigaṇaṃ krameṇa
parivardhamānamāpnoti ॥ ५३ ॥

Tr. Just as the gradual growth of the horn of a young animal, in the length of a sesame, similarly, a *yogī* indeed acquires *siddhis* (powers) in a steady manner. 53.

जागर्त्ति जीवो यदि मृत्युभीतिः[1] कुतस्तदा योगवरस्य देहे ।
मुद्रान्वितोऽयं यदि बद्धपीठस्तदास्य निद्रा न सखी[2] यमस्य ।५४।

jāgarti jīvo yadi mṛtyubhītiḥ kutastadā yogavarasya dehe
mudrānvito'yaṃ yadi baddhapīṭhastadāsya nidrā na sakhī
yamasya ॥ 54 ॥

Tr. Accomplishing the *mudrās* and *āsanas* a *yogī* would not fall asleep, which is the companion of death. When *jīva* remains awake he would not even fear death. 54.

1. भीति –a. 2. सुखी –b.

मोक्षाध्वा तु स एष इन्द्रियजयो नाडीविशुद्धिः परा
यच्चिन्तारहितं मनः स्थिरतरं बिन्दोर्जयः सिद्धयः ॥
ध्यानं ज्ञानमनल्पकं च विमला निष्पत्यवस्था मुनेर्
योगो मानसवृत्तिरोध[1] उदितस्तत्साधनांगं हठः ॥५५ ॥

mokṣādhvā tu sa eṣa indriyajayo nāḍīviśuddhiḥ parā
yaccintārahitaṃ manaḥ sthirataraṃ bindorjayaḥ siddhayaḥ ॥
dhyānaṃ jñānamanalpakaṃ ca vimalā niṣpattyavasthā muner
yogo mānasavṛttirodha uditastatsādhanāṅgaṃ haṭhaḥ ॥ 55 ॥

Tr. The course of liberation, consists of: control over the senses, thorough purification of the *nāḍīs*, mind free from worries, control over the *bindu*, attainment of the *siddhis*, practice of meditation (*dhyāna*), immense wisdom, attainment of the pure state of *niṣpatti. yoga* is an undisturbed state of mind and *haṭha* forms the means. 55.

आलस्यवश्यो यदि नैव[2] सिद्धिर्योगस्य दोषं न तदा वदामः ।
पंगोर्यदारोह अशक्यशैले दोषोऽस्य किं तस्य महीधरस्य ॥५६॥

ālasyavaśyo yadi naiva siddhir
yogasya doṣaṃ na tadā vadāmaḥ ॥
paṅgoryadāroha aśakyaśaile
doṣo'sya kiṃ tasya mahīdharasya ॥ 56 ॥

Tr. If a lame is unable to scale a mountain it is not the fault of the mountain. Similarly, if one is not able to attain success due to lethargy it is not the fault of *yoga*. 56.

अभ्यासेन विना दृढेन[3] सुचिरं सांगस्य[4] योगस्य नो
विद्वान्याति समाधिसाधुपदवीं मध्येऽन्तरायैर्युजा ॥
वृद्धो वा तरुणः सरुक् च शनकैर्योगेऽस्ततन्द्रः क्रिया-
युक्तः सिद्धिमुपैति शास्त्रपठनान्नो योगसिद्धिर्भवेत् ।५७।

abhyāsena vinā dṛḍhena suciraṃ sāṅgasya yogasya no
vidvānyāti samādhisādhupadavīṃ madhye'ntarāyairyujā ॥
vṛddho vā taruṇaḥ saruk ca śanakairyoge'statandraḥ kriyā-
yuktaḥ siddhimupaiti śāstrapaṭhanānno yogasiddhirbhavet ।57।

Tr. A wise through firm practice of the components of *yoga* even though facing intermittent obstacles, would soon attain

1. धृतिरोध –a. 2. वश्योदिनैव –a, आलस्यावश्यो यदि नैव –b. 3. हठेन –b.
4. सांख्यस्य –a.

the noble state of *samādhi*. Even the old, young, or diseased, through diligent practice of *yoga* without lassitude would attain success and not by mere study of the scriptures. 57.

यो नास्तिकोऽभ्यासविहीन उग्रश्चाटुप्रियो यो बहुभाषितश्च ।
अपथ्यशीलोऽमितभुग् दरिद्रो न योगसिद्धिं[1] लभते कदापि ।५८।

yo nāstiko'bhyāsavihīna ugraś-
cāṭupriyo yo bahubhāṣitaśca ॥
apathyaśīlo'mitabhug daridro
na yogasiddhiṃ labhate kadāpi ॥ 58 ॥

Tr. One, who is a atheist, is bereft of practice, aggressive, flatterer, talkative, consumes non-recommended and excess food and poor never meets with success in *yoga*. 58.

योगस्य बीजं परमं क्रियैव क्रियैव योगस्य फलं प्रदात्री ।
संकेतविद्योगगुरोः प्रलब्ध्वा[2] सुधी मतो योगपरस्य नान्यत् ।५९।

yogasya bījaṃ paramaṃ kriyaiva
kriyaiva yogasya phalaṃ pradātrī ॥
saṅketavidyogaguroḥ pralabddhvā
sudhī mato yogaparasya nānyat ॥ 59 ॥

Tr. The essence of *yoga* is practice. Practice alone brings about results. None other, but a *guru*, who is an expert in *saṅketa*, is devoted to *yoga* alone, matters for a wise (practitioner). 59.

॥ इति गोविन्ददेवसुतसुन्दरदेवविरचितायां हठतत्त्वकौमुद्यां[3] साधकपूर्वाभ्यासशिक्षासमुद्योतः ॥

॥ iti govindadevasutasundaradevaviracitāyāṃ
haṭhatatvakaumudyāṃ sādhakapūrvābhyāsaśikṣāsamudyotaḥ ॥

Here ends the chapter *sādhakapūrvābhyāsaśikṣā* of *haṭhatatvakaumudī* composed by *sundaradeva*, the son of *govindadeva*.

1. योगसिद्धिर् -b. 2. पलब्ध्वा -b. 3. हठकौमुद्यां -b.

Chapter—3

अथ योगसाधनानि –

atha yogasādhanāni—

The means of *yoga*—

आत्मज्ञानेनापवर्गं वदन्ति

तज् ज्ञानं वै नास्ति योगं विनाऽत्र ॥

योगोऽभ्यासादेव सिध्यत्यनल्प-

कालाद् वैराग्याभियोगाद्[1] यमाद्यैः ॥ १ ॥

ātmajñānenāpavargaṃ vadanti

taj-jñānaṃ vai nāsti yogaṃ vinā'tra ॥

yogo'bhyāsādeva siddhyatyanalpa-

kālād vairāgyābhiyogād yamādyaiḥ ॥ 1 ॥

Tr. It is said that *apavarga* (liberation) occurs as a result of *ātmajñāna* (self-knowledge), which does not happen without *yoga*. Success in *yoga* takes place in the longer run through practice of *vairāgya* (indifference) accompanied with *yama* and the like. 1.

परमात्मजीवयोर्यत्त्वैक्यज्ञानं स योगो वा ।

योगः प्राणापानेरणयोर्यः कथ्यते वा ज्ञैः ॥ २ ॥

paramātmajīvayoryattvaikyajñānaṃ sa yogo vā ।

yogaḥ prāṇāpāneraṇayoryaḥ kathyate vā jñaiḥ ॥ 2 ॥

Tr. The experts hold that *yoga* is the knowledge of the union of *paramātmā* (the cosmic soul) and *jīva* (the individual soul) or union of *prāṇa* and *apāna*. 2.

स्थिरतामियान्न सलिलं क्षणमेकं

पवनाहतं मन इदं तथा चलम् ॥

न हि विश्वसेत्तदिति[2] तत्स्थितिहेतोर्

मरुतः[3] श्रयेद्धरणमन्तरे क्रमात् ॥ ३ ॥

sthiratāmiyānna salilaṃ kṣaṇamekaṃ

pavanāhataṃ mana idaṃ tathā calam ॥

na hi viśvasettaditi tatsthitihetor-

marutaḥ śrayeddharaṇamantare kramāt ॥ 3 ॥

Tr. As the water swayed by wind would not become still, similarly, mind remains disturbed by the *pavana* and cannot

---

1. वैराग्याभियोगाद्यैः —b. 2. तदिति –b. 3. हेतोमरुतः -a.

be trusted. Stability of the mind should be brought about slowly through the control of *marut* (*prāṇa*). 3.

अभ्यासतः स्थैर्यमुपैति मानसं
निरन्तराभ्यासत ईरणत्रुटिः ॥
आनन्द आर्यो ऽभ्यसनात्[1] तथात्मनि
सन्दर्शनं चाप्यणिमादिसिद्धयः ॥ ४ ॥

abhyāsataḥ sthairyamupaiti mānasaṃ
nirantarābhyāsata īraṇatruṭiḥ ॥
ānanda āryo'bhyasanāt tathātmani
sandarśanaṃ cāpyaṇimādisiddhayaḥ ॥ 4 ॥

Tr. Stability of the mind occurs through practice, continued practice removes the faults of the mind, yields into Bliss, realization of the Self and attainment of the *siddhis* like *aṇimā* etc. 4.

चारुरूपता[2]भ्यासतो भवेत् साधकस्य हृन्नाद[3]सम्भवः ।
परपुरे गतिर्वायुवेगताऽभ्यासतः शुभा खेचरी तथा ॥ ५ ॥

cārurūpatābhyāsato bhavet
sādhakasya hṛnnādasambhavaḥ ॥
parapure gatirvāyuvegatā'-
bhyāsataḥ śubhā khecarī tathā ॥ 5 ॥

Tr. Through the practice, the *sādhaka* gets a beautiful appearance and (hears) *nāda* (emanating) from the heart. Through practice, he travels to another plane, enjoys the speed like that of wind and perfects auspicious *khecarī*. 5.

अभ्यासः सकलपदार्थलब्धिबीजं योगस्यादिममपि कारणं वरीयः ।
पुंसोऽनभ्यसनमवाप्तयोगनाशमूलं वै जनरतिलौल्यनिद्रणाद्यम्[4] ।६।

abhyāsaḥ sakalapadārthalabdhibījaṃ
yogasyādimamapi kāraṇaṃ varīyaḥ ॥
puṃso'nabhyasanamavāptayoganāśa-
mūlaṃ vai janaratilaulyanidraṇādyam ॥ 6 ॥

Tr. Practice alone is the crux of every success. The same applies to *yoga* also. Without practice, a person slips into public contact, greed, sleep and the like, which is detrimental to *yoga*. 6.

---

1. सना –a. 2. चरुरुयुता –a. 3. स्वन्नाद –b. 4. निद्रणाघम् -b.

अथ साधनेषु देशकालौ निरूप्यते –

atha sādhaneṣu deśakālau nirūpyate —

Narration of place and time forming part of the means follows—

तत्र देशो यथा –

tatra deśo yathā —

About the place—

अनादृत्य देशं च कालं विमूढो भजेद्यस्तु योगं नरस्तस्य दोषाः
स्मृतिभ्रंश[1]मूकत्वमान्ध्यं ज्वरश्च भवन्त्येव बाधिर्यजाड्ये षडेते७

anādṛtya deśaṃ ca kālaṃ vimūḍho
bhajedyastu yogaṃ narastasya doṣāḥ ॥
smṛtibhraṃśamūkatvamāndhyaṃ jvaraśca
bhavantyeva bādhiryajāḍye ṣaḍete ॥ 7 ॥

Tr. An unscrupulous person, who without considering the (appropriate) place and time undertakes the practice of *yoga*, faces such six troubles as: loss of memory, dumbness, blindness, fever, deafness and lethargy. 7.

गह्वरायतनतीर्थसुदुर्गे निर्जनेऽथ धरणीधरवप्रे ।
शोभनेऽस्तकलुषे[2] विषये वाभ्यासधीः शुभं मठं[3] विदधीत ॥८॥

gahvarāyatanatīrthasudurge
nirjane'tha dharaṇīdharavapre ॥
śobhane'stakaluṣe viṣaye vā-
bhyāsadhīḥ śubhaṃ maṭhaṃ vidadhīta ॥ 8 ॥

Tr. A wise who is devoted to the practice, should construct a suitable hermitage (a cottage), in the expanse of cave, in the place of pilgrimage, unaccessible, desolate, at the foot of a mountain, which would be serene and pleasant. 8.

अथवा –

athavā —

Or else—

सुविषये शुभधार्मिकभूपतेर्बहुसुभिक्षव[4]त्यतीत[5]भये शुचौ ।
सुकृतशालिनि[6] मालिनि वै भुवैर्मनसि[7] योगविधौ मतिमाश्रयेत् ९

1. सरतिभ्रंश –b. 2. शोभनेलकलुषे –a. 3. शुभमठं –b. 4. सुभिक्षवति –a. 5. वीतभये –b. 6. सुकृज्ञशालिनि –a. 7. वैभवैर्मनसि –b.

suviṣaye śubhadhārmikabhūpater-
bahusubhikṣavatyatītabhaye śucau ॥
sukṛtaśālini mālini vai bhuvair-
manasi yogavidhau matimāśrayet ॥ 9 ॥

Tr. One should concentrate on the *yoga* practice with full devotion choosing a nice place ruled by a king who is benevolent and religious, where abundant alms is easily available, where there is no apprehension, which is pious and inhabited by generous people. 9.

अतिनिगूढपदं मशकोज्झितं[1] तुहिनतापविवर्जितमन्तरा ।
उषर[2]कण्टकशुष्कदलैर्हृतं[3] पितृगृहाऽनवगोष्टमृतेऽमलम्[4] ॥१०॥

atinigūḍhapadaṃ maśakojjhitaṃ
tuhinatāpavivarjitamantarā ॥
uṣarakaṇṭakaśuṣkadalairhṛtaṃ
pitṛgṛhā'navagoṣṭamṛte'malam ॥ 10 ॥

Tr. The place should have secret accessibility, free from mosquitoes and snakes, (extreme) heat and cold, not a barren land, it should not be thorny and free from dry leaves, not an ancestral home, should not be an old cowshed, and it should be clean. 10.

वल्मीकसञ्चयचतुःपथवर्ज्यमग्न्या[5]-
भ्याशोज्झितं[6] विगतसर्वभयं विजन्तुम् ॥
वात्याभिघातरहितं गतभूतरक्षो
योगार्थमेवमवलोक्य मठो विधेयः ॥ ११ ॥

valmīkasañcayacatuḥpathavarjyamagnyā-
bhyāśojjhitaṃ vigatasarvabhayaṃ vijantum ॥
vātyābhighātarahitaṃ gatabhūtarakṣo
yogārthamevamavalokya maṭho vidheyaḥ ॥ 11 ॥

Tr. It should not have an anthill, not situated at the crossing of roads, not to be affected by fire, free from all fears and animals, free from drought, ghost and demon. A cottage for *yoga* practice should be constructed by considering these factors. 11.

---

1. मशकोकिदूतं –b. 2. दुःखर –b. 3. दलैस्यूतं –b. 4. ऽमले –b. 5. मग्या –b.
6. भ्याशोक्तिरुतं –b.

विशेषकमथ मठलक्षणं तदुक्तं हठप्रदीपिकायाम्
viśeṣakamatha maṭhalakṣaṇaṃ taduktaṃ haṭhapradīpikāyām –

There are some special considerations for a cottage as mentioned in *haṭhapradīpikā:*

अल्पद्वारमरन्ध्रगर्त्तविटपं नात्युच्चनीचायतं
सम्यग्गोमयसान्द्रलिप्तममलं निःशेषजन्तूज्झितम्[1] ॥
बाह्ये मण्डपकूपवेदिरचितं प्राकारसंवेष्टितं
प्रोक्तं योगमठस्य लक्षणमिदं सिद्धैर्हठाभ्यासिभिः ।१२।

alpadvāramarandhragarttaviṭapaṃ nātyuccanīcāyataṃ
samyaggomayasāndraliptamamalaṃ niḥśeṣajantūjjhitam ॥
bāhye maṇḍapakūpavediracitaṃ prākārasaṃveṣṭitaṃ
proktaṃ yogamaṭhasya lakṣaṇamidaṃ siddhairhaṭhābhyāsibhiḥ ।12।

Tr. An ideal cottage for *yoga* practice, according to the experts in *haṭhayoga*, should have a small entrance, without holes and pits, not high or low, very well besmeared (treated) with a paste of cow dung, clean and free from all insects, having a canopied platform outside and a well (with pure water) and a raised compound wall around. 12.

इति देशः ॥
iti deśaḥ ॥

This is (the description of) place.

अथ कालाः —
atha kālāḥ –

The (narration of) time—

एकाह्ने[2] वा द्विकालं त्रिकालं प्राणायामं मध्यरात्रौ भजेत् ।
यामे रात्रेः[3] पश्चिमे पूर्व एव पूर्वाह्ने वाऽह्नश्च मध्ये प्रदोषे ।१३।

ekāhne vā dvikālaṃ trikālaṃ
prāṇāyāmaṃ madhyarātrau bhajet ॥
yāme rātreḥ paścime pūrva eva
pūrvāhne vā'hnaśca madhye pradoṣe ॥ 13 ॥

Tr. In one day, *prāṇāyāma* should be practised twice or thrice, in the midnight, or in the later part or the first part of

1. जन्तुक्रितं –b. 2. एकाऽनेहो –b. 3. रात्रैः -a.

the *yāma* (three hours) in the night, or first part of the morning or in the middle of the day or in the evening. 13.

न शीतेनात्युष्णे[1] श्रम[2]विकलदेहे न हि न हि तथा
क्षुधायामाध्माने[3] विमलवपुषाऽचेतनमनाः ॥
अजीर्णेऽम्लोद्गारे न च विहितवातावतिसृतौ[4]
प्रभुक्तौ व्यासंगाकुलहृदि न[5] युक्ताऽनिलधृतिः ॥१४॥

na śītenātyuṣṇe śramavikaladehe na hi na hi tathā
kṣudhāyāmādhmāne vimalavapuṣā'cetanamanāḥ ॥
ajīrṇe'mlodgāre na ca vihitavātāvatisṛtau
prabhuktau vyāsaṅgākulahṛdi na yuktā'niladhṛtiḥ ॥14॥

Tr. *prāṇāyāma* should never be practised in (extreme) heat or cold, when one is very tired, when one is feeling hungry, when body is unclean and mentally disturbed, when food has not been well-digested, having acidic belching, when *vāta* humour is vitiated, immediately after having meals or having been over-powered with worries. 14.

चिन्ताकुलो मूत्रमलप्रदूषितोऽभ्यासं न योगस्य कदापि कुर्यात् ।
कार्यातिसक्तो रति[6]कार्यतत्परो नानेकरोगाधियुतो जनान्ते ।१५।

cintākulo mūtramalapradūṣito-
'bhyāsaṃ na yogasya kadāpi kuryāt ॥
kāryātisakto ratikāryatatparo
nānekarogādhiyuto janānte ॥ 15 ॥

Tr. Practice of *yoga* should never be undertaken when one is worried, being filthy of faeces or urine, over-burdened with work, occupied with passion, afflicted by several diseases or remaining in the midst of people. 15.

रथ्यान्तरे सिन्धुसरिन्नदान्तरे[7] चिरन्तने[8] वेश्मनि चैत्यदेशे ।
योगं विदध्यान्न कदापि साधकः खेद[9]दौर्मनस्यादि भवेत् कृतेऽत्र ॥१६॥

rathyāntare sindhusarinnadāntare
cirantane veśmani caityadeśe ॥
yogaṃ vidadhyānna kadāpi sādhakaḥ
khedadaurmanasyādi bhavet kṛte'tra ॥ 16 ॥

---

1. नात्युष्मे –a. 2. भ्रम –b. 3. माध्याने –b. 4. निसृतौ –b. 5. कुलस्यदिन –b. 6. ऽति –a. 7. न्नदान्ति –b. 8. कार्यतत्परो नानेकरोगाधिरेचिरन्तने –b. 9. स्वेदौ –b.

Tr. If a *sādhaka* undertakes practices, avoiding a highway, an ocean, a river, old house, a monument (a Buddha or Jaina temple), he would never suffer from worries and depressions. 16.

युग्मम् —

yugmam —

Here follows a *śloka* —

अनादृत्य यः साधको देशकालौ
प्रयुञ्जीत योगं हि दोषास्तु तस्य ॥
प्रकुप्यन्ति देहेऽन्तराया इवोच्चैर्
जडत्वान्ध्यमूकत्वबाधिर्य[1]मुख्याः ॥ १७ ॥

anādṛtya yaḥ sādhako deśakālau
prayuñjīta yogaṃ hi doṣāstu tasya ॥
prakupyanti dehe'ntarāyā ivoccair-
jaḍatvāndhyamūkatvabādhiryamukhyāḥ ॥ 17 ॥

Tr. A *sādhaka*, who does not follow the norms of the place and time while undergoing the practice of *yoga*, invites the acute vitiation of the main obstacles like inertia, blindness, dumbness and deafness. 17.

स्मृतिलयो जडतांगविमूकता बधिरतान्ध्यरुजाकसनज्वराः ।
कुविषयेऽसमये परियुञ्जतो[2] वपुषि योगममी चलरोषतः[3] ।१८।

smṛtilayo jaḍatāṅgavimūkatā
badhiratāndhyarujākasanajvarāḥ ॥
kuviṣaye'samaye pariyuñjato
vapuṣi yogamamī calaroṣataḥ ॥ 18 ॥

Tr. If *yoga* is practised in a wrong place and time, having unsteady and agitated (mind), one gets loss of memory, inertia, stiffness (or numbness) of the limbs, dumbness, blindness, disorders of cough and fever. 18.

अप्रमत्तः समाप्तोऽति[4]दोषानतः
श्वाससंरोधनं सावधानात्मना ॥
ज्ञानयुक्तेन सत्साधकः साधयेच्
चेत् प्रमादाद् गदास्तच्चिकित्सां भजेत् ॥ १९ ॥

---

1. मूकत्वाधिर्य -b. 2. परियुजतो –b. 3. समीचलेरोषेत –b. 4. समाप्नोति –b.

apramattaḥ samāpto'tidoṣānataḥ
śvāsasaṃrodhanaṃ sāvadhānātmanā ||
jñānayuktena satsādhakaḥ sādhayec-
cet pramādāt gadāstaccikitsāṃ bhajet || 19 ||

Tr. A sincere and careful *sādhaka* should overcome the acute disorders through diligent practice of *prāṇāyāma* with proper understanding. In case of lapses resulting into diseases he should undertake treatment. 19.

यथा[1] –
yathā –
As for –

स्निग्धां कोष्मां यवागूं हृदि[2] **परिविभृयाद् वातगुल्मप्रशान्त्यै**[3]
तद्वद् दध्यर्शसि स्यादिति पवनभवग्रन्थिरोगे यवागूम्[4] ||
ध्यायेदामं फलं वै रसन इह तृषि श्रोत्रयोः प्राग्वदेव
बाधिर्ये वाग्विघाते न[5]**गमथ विभृयाद्वत्सघाते**[6] **रसांके** || २० ||

snigdhāṃ koṣmāṃ yavāgūṃ hṛdi parivibhṛyād vātagulmapraśāntyai
tadvad dadhyarśasi syāditi pavanabhavagranthiroge yavāgūm ||
dhyāyedāmaṃ phalaṃ vai rasana iha tṛṣi śrotrayoḥ prāgvadeva
vādhirye vāgvighāte nagamatha vibhṛyādvatsaghāte rasāṅke || 20 ||

Tr. One should spread lukewarm and unctuous rice-gruel on chest to treat inflammation due to *vāta* vitiation. Similarly, curd can be used to treat piles, rice-gruel may be applied to cure inflammation caused due to *vāta*. One should think of unripe fruit when thirsty. In case of deafness one should visualize roaring sound in the ears as before. In case of stammering (or stuttering) and in spasm in chest one should visualize a mountain in the tongue. 20.

Note: cf. *āgamarahasya*-28th *paṭala*, sl.4914. 20.

कम्पे नगेन्द्रं हृदि चिन्तयेद्वा[7] **संस्थापयेत्**[8] **स्थूलतरं तथोपलम्** |
घृतप्लुतां कोष्म[9]**यवागुकां द्रागायामजे**[10] **मस्तकशूल उल्बणे** || २१ ||

kampe nagendraṃ hṛdi cintayedvā
saṃsthāpayet sthūlataraṃ tathopalam ||

1. यदा –a. 2. कोस्मा यवां गूह्यदि –b. 3. प्रशांश्चै –b. 4. ग्रन्थिरोमे यवागं –b. 5. वाग्विघातेन –a. 6. गमप्यभृयाद्वत्सघाते –b. 7. ह्यदि चिन्तयेद्वा –b. 8. स्थापयेत् -b. 9. वृत्तल्पुतांकोष्म –b. 10. यवागुकांदायामजे –b.

ghṛtaplutāṃ koṣmayavāgukāṃ drāg-
āyāmaje mastakaśūla ulbaṇe ॥ 21 ॥

Tr. To get rid of tremors, one should visualize a mountain or place a heavy stone on the chest, in case of a very bad headache a warm rice-gruel mixed with *ghee* should be applied for immediate relief. 21.

यस्मिन् यस्मिंश्च यदा देशे तदुपकारि धारणाम्[1] ।
विभृयाद्[2] उष्णे[3] शीतां शीते विदाहिनीं साधनकरणी ॥ २२ ॥

yasmin yasminśca yadā deśe tadupakāri dhāraṇām ।
vibhṛyād uṣṇe śītāṃ śīte vidāhinīṃ sādhanakaraṇī ॥ 22 ॥

Tr. One should apply judicious *dhāraṇā* (when affected) like that of heat in the cold and cold in heat for relief. 22.

कीलं शिरसि स्थाप्य च काष्ठं काष्ठेन ताडयेत् सम्यक् ।
नष्टस्मृतेरपि मुनेः स्मरणं द्राग् जायते तेन ॥ २३ ॥

kīlaṃ śirasi sthāpya ca kāṣṭhaṃ kāṣṭhena tāḍayet samyak
naṣṭasmṛterapi muneḥ smaraṇaṃ drāg jāyate tena ॥ 23 ॥

Tr. After placing a nail on the head one should hit a wooden staff with another wooden staff. Thus a *muni*, who has lost memory soon regains it. 23.

अमनुजं[4] यदा सत्वमन्तरे निविशते[5] मुनिर्धारणां[6] तदा ।
देहसंस्थितं वायुवह्निजां सन्दधन् बलान्निर्हरेद्धि तत् ॥ २४ ॥

amanujaṃ yadā satvamantare
niviśate munirdhāraṇāṃ tadā ॥
dehasaṃsthitaṃ vāyuvahnijāṃ
sandadhan balānnirhareddhi tat ॥ 24 ॥

Tr. When a *muni* applies *dhāraṇā* on the beings other than human, then he should forcefully draw out the *prāṇa* along with fire and establish it in it. 24.

द्यावापृथिव्यौ हुतभुक्[7]समीरौ संव्यापिना[8]वप्यभिधारयेन्मुनिः ।
अमानुषात् सत्वसमुद्भवाद्या बाधास्थितिस्तेन वदन्ति योगिनः ॥२५॥

dyāvāpṛthivyau hutabhuksamīrau
saṃvyāpināvapyabhidhārayenmuniḥ ॥

1. धारणम् -b. 2. विभूयाद् -a. 3. उष्मे-b.4. अमनुज –a. 5. निविशेते –b. 6. सुनिर्धारणं –b. 7. पृथिव्यौद्गतभुक् -b. 8. संव्यापिता –b.

amānuṣāt satvasamudbhavādyā
bādhāsthitistena vadanti yoginaḥ || 25 ||

Tr. A *muni* should visualize the pair of ether and earth, fire and air, even though these are subtle and extensive. Thus the *yogis* overcome the obstacles created by supernatural elements and (other) creatures. 25.

प्रवृत्तिलक्षणस्मृतेर्मुनेस्तु विस्मयात्तथा[1] ।
प्रयाति विलयं ततः प्रवृत्तिहेयता सती ॥ २६ ॥

pravṛttilakṣaṇasmṛtermunestu vismayāttathā |
prayāti vilayaṃ tataḥ pravṛttiheyatā satī || 26 ||

Tr. Innate nature and memory are not only to be forgotten but also to be discarded. Thus a *muni* attains *laya* state. 26.

वातप्रधानबहुला बहुधा गदाः स्युस्
तद्यत् चिकित्सितमिह प्रविचार्य कार्यम् ॥
नो यात्युपक्रमशतैस्तु यदा गदोऽन्त-
मुद्रासनाऽनिलनिरोधनतो जयेत्तम् ॥ २७ ॥

vātapradhānabahulā bahudhā gadāḥ syus-
tadyat cikitsitamiha pravicārya kāryam ||
no yātyupakramaśataistu yadā gado'nta-
mudrāsanā'nilanirodhanato jayettam || 27 ||

Tr. There are several diseases caused due to the vitiation of *vāta* humour, which should be treated carefully. If these are not cured through various efforts, same can be brought under control by the practices of *mudrā*, *āsana* and *prāṇāyāma*. 27.

धातुरसन्तरणं निजबिन्दुं योगिवरः परिपालयतीह ।
तस्य समाधिरुदेति सुदीर्घः सर्वसमामतिरुद्भवतीड्या ॥ २८ ॥

dhāturasantaraṇaṃ nijabinduṃ
yogivaraḥ paripālayatīha ||
tasya samādhirudeti sudīrghaḥ
sarvasamāmatirudbhavatīḍyā || 28 ||

Tr. A wise *yogī*, who takes care of his *bindu*, which pervades all the bodily constituents, enjoys a prolonged *samādhi*

1. विस्मया तथा –b.

and indeed a very fine equanimity of mind towards all which is praiseworthy. 28.

आयामतः प्राणमरुत् प्रदुष्टो वामप्रतीके यदि रुक्करः स्यात् ।
स्वदक्षनासापुटकेन रेचपूरौ मुनिर्वा मनसान्यथा चरेत् ॥ २९ ॥

āyāmataḥ prāṇamarut praduṣṭo
vāmapratīke yadi rukkaraḥ syāt ॥
svadakṣanāsāpuṭakena reca-
pūrau munirvā manasānyathā caret ॥ 29 ॥

Tr. During the practice of *prāṇāyāma* if the *prāṇa* moves through left nostril (alone) adversely causing diseases, a *muni* should practice *recaka* and *pūraka* through the right nostril or visualize it so happening. 29.

कुर्वन् च तद्देशजमर्मधारणां शमेति तद्रोगजिदासनानि ।
तथानिलेनाकलितं प्रदेशं प्रमर्दयन् भूरि[1] हविः यदुभाभ्याम् ॥ ३० ॥

kurvañ ca taddeśajamarmadhāraṇāṃ
śameti tadrogajidāsanāni ॥
tathānilenākalitaṃ pradeśaṃ
pramardayan bhūri haviḥ yadubhābhyām ॥ 30 ॥

Tr. By efficiently practising both *dhāraṇā* at a particular vital point and applying intense massage at that very (vitiated) spot and practising certain therapeutic *āsanas*, disorders caused due to vitiation of *vāta* (humour) can be alleviated. 30.

हठावरोधेन समीरणस्य स्युर्ग्रन्थितुल्याग्निवधाश्च शूलम् ।
श्वासाध्महिक्कोदरमुख्यरोगा उद्गारकासाश्चलपित्तरोगाः ॥३१॥

haṭhāvarodhena samīraṇasya
syurgranthitulyāgnivadhāśca śūlam ॥
śvāsādhmahikkodaramukhyarogā
udgārakāsāścalapittarogāḥ ॥ 31 ॥

Tr. Injudicious practice of *prāṇāyāma*, which causes blockades for the passage of *vāyu* mainly creates the troubles like hard swelling, feeling heat (fire), excruciating pain, asthma, inflammation, hiccup, dropsy, belching, cough, tremors and diseases caused due to the vitiation of *pitta* (bile) humour. 31.

1. भूमिं –a.

मलांशयोगान्न हि मूलबन्धः सिध्यत्यपानस्य विसर्गतो ह्यधः ।
प्राणेन न ग्रन्थिरुपैत्यनेन मलाक्तदेहेऽस्थिरहृद्युजा मनाक् ।३२।

malāṃśayogānna hi mūlabandhaḥ
siddhyatyapānasya visargato hyadhaḥ ॥
prāṇena na granthirupaityanena
malāktadehe'sthirahṛdyujā manāk ॥ 32 ॥

Tr. *mūlabandha* cannot be perfected if there is residual faeces which causes downward movement of *apāna*. Moreover, if the body is replete with impurities, the mind remains fickle and the *prāṇa* cannot pierce through the *granthi*. 32.

विकार्यऽमेध्यान्तमलप्रभावान्नुन्नोऽन्तरुद्धो मरुदेति रोषताम् ।
दुर्वासनायुक्तहृदाऽनिलेन हठे[1] ततोऽन्नाम्बुमितिः[2] सुसिद्धिभूः ।३३।

vikārya'medhyāntamalaprabhāvān-
nunno'ntaruddho marudeti roṣatām ॥
durvāsanāyuktahṛdānilena
haṭhe tato'nnāmbumitiḥ susiddhibhūḥ ॥ 33 ॥

Tr. Due to impurities caused by stagnated and unwholesome food (in the body), and practice of *prāṇāyāma* with wrong attitude the *marut (prāṇa)* gets obstructed and (consequently) it goes astray. Therefore, one should consume moderate diet which brings success in the practice of *haṭha*. 3.

क्लेशाश्च पञ्चालसता[3] प्रमादाश्
चित्तस्य[4] दोषा असदन्नजान्मलात् ॥
रोगास्तथा वातकृताश्च विघ्ना
योगे पुराभ्यास इमे भवेत् परम्[5] ॥ ३४ ॥

kleśāśca pañcālasatā pramādāś-
cittasya doṣā asadannajānmalāt ॥
rogāstathā vātakṛtāśca vighnā
yoge purābhyāsa ime bhavet param ॥ 34 ॥

Tr. Impurities resulting from (consumption) of bad food produce in the mind defects like— five *kleśas*, lethargy and obstacles like diseases caused due to the vitiation of *vāta* humour.

1. From second half of *śloka* 26 to first half of *śloka* 33 not available—b. 2. ततोऽन्नांऽडमिति -b. 3. यं चाऽलसता -a. 4. चित्तस्थ -b. 5. भवन्त्यपरम् -a

In the practice of *yoga*, these and other obstacles are faced initially. 34.

भयमथ दिननिद्रा स्वप्नसञ्जागराश्च
भ्रमणमतिरतं यन्मूत्रविड्रोधनं[1] च ॥
बहुलविषमजग्धी भूरिचिन्तेति चेतैर्
भवति नरि गदो यः कथ्यते योगजः[2] सः ॥ ३५ ॥

bhayamatha dinanidrā svapnasañjāgarāśca
bhramaṇamatiratam yanmūtraviḍrodhanam ca ॥
bahulaviṣamajagdhī bhūricinteti cetair
bhavati nari gado yaḥ kathyate yogajaḥ saḥ ।35।

Tr. Fear, siesta, (over)sleep, loss of sleep, wandering, excessive sex (or attachment), obstruction of urine and faeces, excessive consumption of toxic food, and excessive worry during the practice of *yoga* produce diseases which are called *yogaja* (diseases). 35.

॥ इति हठतत्वकौमुद्यां
साधकरोगोपक्रमादिसमुद्योतः ॥

॥ iti haṭhatatvakaumudyāṃ
sādhakarogopakramādisamudyotaḥ ॥

Here ends the chapter *sādhakarogopakramādi* of *haṭhatatvakaumudī*.

---

1. विद्रोधनं –b. 2. भवति नागणि दोषः कथ्यते योगजः सः -b.

Chapter—4

अथ नाडीशुध्यु[1]पयोग्याहारशुद्धिः —

atha nāḍīśudhyupayogyāhāraśuddhiḥ —

Narration of purification of the food which purifies the *nāḍīs*—

अल्पाशनमपतर्पणमुभयं न हि युज्यते पुरा ।
अभ्यासे क्षुद्भवति[2] यदैव तदा भोक्तव्यं वा मितं स्तोकम्[3] ॥१॥

alpāśanamapatarpaṇam-
ubhayaṃ na hi yujyate purā ॥
abhyāse kṣudbhavati yadaiva
tadā bhoktavyaṃ vā mitaṃ stokam ॥ 1 ॥

Tr. In the beginning, neither less consumption of food nor abstinence is recommended. Whenever one feels hungry, one should consume small quantity of food. 1.

उक्तञ्च —

uktañca —

It has been stated—

अन्नाधिक्याद् वर्धते वै मलादिरन्नह्रासात् क्षीयते द्राङ् मलादिः ।
अल्पाशने धातुसंक्षोभ उक्त आधिक्ये स्याच्छयनाऽनुत्तमाद् ।इति ।२।

annādhikyād vardhate vai malādir-
annahrāsāt kṣīyate drāṅ malādiḥ ॥
alpāśane dhātusaṃkṣobha ukta
ādhikye syācchayanā'nuttamād ॥ iti ॥ 2 ॥

Tr. Excess consumption of food produces excess amount of faeces, while less food reduces the faeces very much. Less food aggravates the bodily constituents while excess food makes one feel sleepy which is undesirable. 2.

न तु कृते संन्यासे यते भिक्षैकदाशने कदशनपरा यततायां प्राणायामप्रथमाभ्यासे । योगोक्तपथ्याभावान्न योगाभ्यास उचितः । मैवम् । तस्यापि हितमितमेध्यद्विवाराशनाद्युचितं भवति ॥ ३॥

na tu kṛte saṃnyāse yate bhikṣaikadāśane kadaśanaparā yatatāyāṃ prāṇāyāmaprathamābhyāse । yogoktapathyābhāvānna yogābhyāsa ucitaḥ । maivam । tasyāpi

1. नाडी अभ्यु –b. 2. तद् भवति –b. 3. मितस्तोकम् -b.

hitamitamedhyadvivārāśanādyucitaṃ bhavati ॥ 3 ॥

Tr. A recluse begs alms only once a day and/or takes bad food. In absence of recommended food, he should not undertake the *prāṇāyāma* or *yoga* practice seriously. It is highly recommended that he should consume two meals in moderation containing wholesome and healthy food. 3.

तथा च मैत्रिः —

tathā ca maitriḥ —

***maitri* has this to put forth—**

हितं मितं सदाश्नीयाद्यत्सुखेनैव जीर्यति ।
धातुः प्रकुप्यते येन तदन्नं वर्जयेद्यतिः ॥ ४ ॥

hitaṃ mitaṃ sadāśnīyādyatsukhenaiva jīryati ।
dhātuḥ prakupyate yena tadannaṃ varjayedyatiḥ ॥ 4 ॥

Tr. A *yogī* should always consume suitable food in moderate quantity, which is easily assimilated. The food that aggravates the bodily constituents should be eschewed. 4.

वसिष्ठः —

vasiṣṭhaḥ —

According to *vasiṣṭha* —

ब्राह्मणकुले वा यल्लभेत तत्र भुञ्जीत मधुमांसवर्जं सायं प्रातर्न तृष्येद् । इति । सायं प्रातर् ॥ इति ॥ ५ ॥

brāhmaṇakule vā yallabheta tatra bhuñjīta madhumāṃ savarjaṃ sāyaṃ prātarna tṛṣyed ॥ *iti* ॥ *sāyaṃ prātar* ॥ *iti* ॥ 5 ॥

Tr. One may eat whatever is served in the home of a *brāhmaṇa* or elsewhere, avoiding honey and meat. He should not feel thirsty in the morning and evening. 5.

अशक्तयोगज्ञानाभ्यासिनां भिक्षुविषयं एककालं चरेद् भैक्ष्यमित्यादिवचनविरोधास्त्वितरेषामतः प्रथमाभ्यासे क्षुद्भवति तदैव भोक्तव्यं भिक्षुणा ॥ ६ ॥

aśaktayogajñānābhyāsināṃ bhikṣuviṣayaṃ ekakālaṃ cared bhaikṣyamityādivacanavirodhāstvitareṣām ataḥ prathamābhyāse kṣudbhavati tadaiva bhoktavyaṃ bhikṣuṇā ॥ 6 ॥

Tr. "A *yoga* practitioner, who is a mendicant and is weak should take alms only once"—this is in contradiction with

the former statement. Therefore, in the beginning a *bhikṣu* should eat whenever he feels hungry. 6.

तथा च जीवन्मुक्तिविवेके विद्यारण्यस्वामिनः

tathā ca jīvanmuktiviveke vidyāraṇyasvāminaḥ —

vidyāraṇyasvāmī holds in *jīvanmuktiviveka*—

एकवारं द्विवारं वा भुञ्जीत परमहंसकः ।

येन केन प्रकारेण ज्ञानाभ्यासी भवेत् सदा[1] ॥ इति ॥ ७ ॥

ekavāraṃ dvivāraṃ vā bhuñjīta paramahaṃsakaḥ ।

yena kena prakāreṇa jñānābhyāsī bhavet sadā ॥ iti ॥ 7 ॥

Tr. A *paramahaṃsa* may eat once or twice. By all means, he should always concentrate on practice. 7.

तेन उत्तमं ज्ञानं दण्डयोः धारयति । स एव मुख्यः परमहंसः । तस्य प्रथमयोगाभ्यासेऽनेकवारभुक्तौ न दोषः ॥ ८ ॥

tena uttamaṃ jñānaṃ daṇḍayoḥ dhārayati । sa eva mukhyaḥ paramahaṃsaḥ । tasya prathamayogābhyāse'nekavārabhuktau na doṣaḥ ॥ 8 ॥

Tr. He holds the Supreme knowledge in the form of *daṇḍa* (stick). Therefore, he is considered the chief *paramahaṃ sa*. It is not considered odd if he eats several times in the initial phase of practice. 8.

भिक्षादिनियमास्तु ज्ञानवर्जितं प्रतिविहितामिताशनो भवेन्नित्यम् ।

भिक्षुर्मोक्षपरायणः कामदर्वादयो दोषा न भवन्ति मिताशिनः ।९।

bhikṣādiniyamāstu jñānavarjitaṃ

prativihitāmitāśano bhavennityam ॥

bhikṣurmokṣaparāyaṇaḥ kāmadarvādayo

doṣā na bhavanti mitāśinaḥ ॥ 9 ॥

Tr. One should daily stick to moderate diet and follow the guidelines regarding alms (even though he is ignorant). A *bhikṣu*, who is devoted to emancipation, would not face the distractions like carnal gratification or demon (evil spirit) etc., if he sticks to moderate diet. 9.

छान्दोग्यश्रुतौ च –

chāndogyaśrutau ca —

1. सद् —a.

According to **chāndogyaśruti**—

आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः सत्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विमोक्षः ॥ इति ॥ १० ॥

āhāraśuddhau satvaśuddhiḥ satvaśuddhau dhruvā smṛtiḥ smṛtilambhe sarvagranthīnāṃ vimokṣaḥ ॥ *iti* ॥ 10 ॥

Tr. Purification of the food yields to purification of the *satva* (the inner self), which consequently offers perpetual memory (*smṛti*) that removes all the knots (of ignorance). 10.

[1]**हठप्रदीपिकोदितम्**

haṭhapradīpikoditam --

According to **haṭhapradīpikā**—

शालिदुग्धगोधूममुद्गयवषष्टिकाद्यम् उत्पन्न[2]योगस्य च नाडीशुद्धौ[3] स्याच्चाऽन्तःसत्वं[4] श्रुतिवीर्यतः सत् ॥ ११ ॥

śālidugdhagodhūmamudgayavaṣaṣṭikādyam utpannayogasya ca nāḍīśuddhau syāccāntaḥsatvaṃ śrutivīryataḥ sat ॥ 11 ॥

Tr. *śāli* (a variety of rice), milk, wheat, green gram (*mudga*), barley and *ṣaṣṭika* (a variety of rice which takes sixty days to harvest)—food prepared from these is helpful in purifying the *nāḍīs*, which enhances memory and stamina for a beginner in *yoga*. 11.

यावन्न कुम्भः[5] परिवृद्धिमेति स्वं मूलतोऽपान उपैति[6] नोद्गतिम्
अपानकप्राणविकार्यऽमेध्य[7]गुर्वन्नजातैर्न समीरसिद्धिः ॥ १२ ॥

yāvanna kumbhaḥ privṛddhimeti
svaṃ mūlato'pāna upaiti nodgatim ॥
apānakaprāṇavikārya'medhya-
gurvannajātairna samīrasiddhiḥ ॥ 12 ॥

Tr. So long as *kumbhaka* does not get prolonged and *apāna* does not rise up from its base, one does not attain control over *prāṇa*. Due to unwholesome and heavy food *prāṇa* and *apāna* get distorted which poses an obstacle in accomplishment of *prāṇa*. 12.

---

1. After śloka No. 10 यत्रकुम्भः हठप्रदीपोदित not available –b. 2. षष्टिकाच्चंऽत्यत्र -b. 3. योगस्य नाडिशुद्धौ –a. 4. चानसत्वं-b. 5. यन्नकुम्भः - अनुपलब्धपाठः -b. 6. दर्पेति –b. 7. विकार्यः मध्यः -b.

प्राणोऽध ऊर्ध्वं वहमेत्य[1]पानको यावन्नराणां विषयेषु चादरः ।
इमौ न यावद्विजितौ हठेनाऽऽपथ्यैर्हि तावद्विकृतिस्तनौ मुनेः।१३।

prāṇo'dha ūrdhvaṃ vahametyapānako
yāvannarāṇāṃ viṣayeṣu cādaraḥ ॥
imau na yāvadvijitau haṭhenā'-
pathyairhi tāvadvikṛtistanau muneḥ ॥ 13 ॥

Tr. So long as the human beings are attached towards the worldly objects, *prāṇa* and *apāna* would move downwards and upwards respectively. So long as these two are not controlled through *haṭha*, a *muni's* body would get afflicted due to unwholesome food. 13.

अग्नीषोमात्मकौ प्राणापानवुष्णहिमौजसौ[2] ।
स्वनिदानप्रकुपितौ प्राग्घठे[3] रोगविघ्नदौ ॥ १४ ॥

agnīṣomātmakau prāṇāpānavuṣṇahimaujasau ।
svanidānaprakupitau prāgghaṭhe rogavighnadau ॥ 14 ॥

Tr. *prāṇa* and *apāna* are hot and cold being of the nature of *agni* (fire) and *soma* (moon), respectively. Both may go astray due to ones own mistake in the beginning of *haṭha*, which may cause diseases and obstacles. 14.

दोषघ्न[4]सत्वप्रदशोभनान्नौऽर्ह[5]त्वात्मनोः कुम्भ उपैति वृद्धिम् ।
मलान्यदा नाडिविशुद्धिकालस्तदा मुनेः स्याद् हठसिद्धिचिह्नम् ।।१५।।

doṣaghnasatvapradaśobhanānnau'-
rhatvātmanoḥ kumbha upaiti vṛddhim ॥
malānyadā nāḍiviśuddhikālas
tadā muneḥ syād haṭhasiddhicihnam ॥ 15 ॥

Tr. The wholesome and *sātvika* food removes vitiation of the humours, increases *kumbhaka* and leads to wellbeing. Removal of impurities from the *nāḍīs* brings about the signs of success in *haṭha* for a *muni*. 15.

रसोत्थ[6]दोषप्रभवा गदा ये लीयन्त आयामसुपीठबन्धैः ।
नाडीविशुद्ध्याऽस्तरसामदोषे देहे न मूलेन विनाऽत्र सिद्धिः ।१६।

1. वहुमेत्य -b. 2. बह्महि मौजसौ -b. 3. प्राच्यटे-b. 4. दोषज्च -b. 5. नान्तैर्ह -b. 6. रसोस्थ -a.

rasotthadoṣaprabhavā gadā ye
līyanta āyāmasupīṭhabandhaiḥ ॥
nāḍīviśuddhyā'starasāmadoṣe
dehe na mūlena vinā'tra siddhiḥ ॥ 16 ॥

Tr. With the practice of *prāṇāyāma, āsana* and *bandha*, all the disorders related to plasma (*rasa*) are removed. If the *nāḍīs* in the body are not purified at the very level of plasma (*rasa*) and toxins *(āma)*, no success is possible without *mūlabandha*. 16.

विना मूलबन्धं भजेन्नाडीशुद्धिमकृत्वा यमो यस्तु तत्हृन्मलान्तम्[1] ।
भवेद्वै हठ[2]प्राणरोधांगमुख्यं जडापानयुक् प्राणरोधेऽस्तसिद्धिः ।१७।

vinā mūlabandhaṃ bhajennāḍīśuddhim-
akṛtvā yamo yastu tathṛnmalāntam ॥
bhavedvai haṭhaprāṇarodhāṅgamukhyaṃ
jaḍāpānayuk prāṇarodhe'stasiddhiḥ ॥ 17 ॥

Tr. Without *mūlabandha, yama* and without purification of the *nāḍīs*, if one practises without removing impurities from the heart, one does not render the mind pure. If the *apāna* remains impure, one does not get success in *prāṇāyāma*. *prāṇāyāma* forms the foremost practice of *haṭha*. 17.

बुद्धेर्भ्रंशकरं च पापजनकं कर्माशनाद्यं[3] मनाक्
यानाहारविहारवाग्वि[4]लसितं योगेच्छुरेतत् त्यजेत् ॥
स्थैर्यं याति सुमानसं शुचितया देहः शुचिर्नाडिका[5]
दोषो नाम न एति योगमनिलः कुम्भप्रवृध्या जयम्[6] ॥ १८ ॥

buddherbhraṃśakaraṃ ca pāpajanakaṃ karmāśanādyaṃ manāk
yānāhāravihāravāgvilasitaṃ yogecchuretat tyajet ॥
sthairyaṃ yāti sumānasaṃ śucitayā dehaḥ śucirnāḍikā
doṣo nāma na eti yogamanilaḥ kumbhapravṛdhyā jayam ॥ 18 ॥

Tr. A *yoga* practitioner should avoid the activities which defiles the power of discrimination (*buddhi)*, that which is sinful, course of (bad) *karma*, food and often the vehicle (for moving), and wondering and loose talk. A prolonged *kumbhaka* brings about stability to a sound mind, purification of the body and the

1. यमौद्यस्तुतह्यन्मलान्तां -b. 2. दृढ –b. 3. कर्माशनायं –b. 4. मनाक्याहारविहारवाग् -a. 5. नाडिकां –b. 6. जपः -b.

nāḍīs and (ensures) one remains free from defects and gains success in controlling the *prāṇa*. 18.

नाडीविशुध्युत्तरमाप्रयोगे[1] सिध्यंकुरे[2] कुम्भविदग्धदोषे ।
रिक्तासु नाडीषु यदेति वायुः स्थितिस्तदापेतभया हठे स्यात् ॥ १९ ॥

nāḍīviśuddhyuttaramāprayoge
siddhyaṅkure kumbhavidagdhadoṣe ॥
riktāsu nāḍīṣu yadeti vāyuḥ
sthitistadāpetabhayā haṭhe syāt ॥ 19 ॥

Tr. The practices followed after the cleansing of the *nāḍīs* offer consolidation to the foundation (of *yoga*). Burning of the impurities through *kumbhaka* renders the *nāḍīs* free enabling the *vāyu* to stay in. Then alone one is freed from fear. 19.

मिताहारश्च वैराग्यमायामो ध्येयचिन्तनम् ।
सांगो मितोक्तिरभ्यासो योगनिष्पत्तिकृद् गुणः ॥ २० ॥

mitāhāraśca vairāgyamāyāmo dhyeyacintanam ।
sāṅgo mitoktirabhyāso yoganiṣpattikṛd guṇaḥ ॥ 20 ॥

Tr. The following practices form the virtues which bring about the state of *niṣpatti*: moderate diet, detachment, *prāṇāyāma*, concentration on the desired object, other components (of *yoga*) and moderate speech. 20.

यदा भवेत् मिताहारो दृढस्थैर्येण[3] पूर्ववत् ।
तस्युत्साह[4]बलाद्यंकी नाडीशुद्धिं तदारभेत् ॥ २१ ॥

yadā bhavet mitāhāro dṛḍhasthairyeṇa pūrvavat ।
tasyutsāhabalādyaṅkī nāḍīśuddhiṃ tadārabhet ॥ 21 ॥

Tr. One should resort to purification of the *nāḍīs* when one gets established in moderate diet, which results in satiety, enthusiasm, stamina etc. 21.

अथादेयानि –

athādeyāni –

Recommended food—

गोधूमशालियवषष्टिक[5]शोभनान्नं
क्षीराज्यमण्ड[6]नवनीतसितामधूनि ॥

1. मात्ययोग -b. 2. सिध्यंकृते -b. 3. हठस्थैर्येण -b. 4. हत्युत्साह -b. 5. श्रष्टिक -b. 6. मण्डन -a.

शुण्ठिपटोलक[1]फलादि च पञ्चशाक-
मुद्गादिदिव्यमुदकञ्च मुनीन्द्रपथ्यम् ॥ २२ ॥

godhūmaśāliyavaṣaṣṭikaśobhanānnaṃ
kṣīrājyamaṇḍanavanītasitāmadhūni ॥
śuṇṭhipaṭolakaphalādi ca pañcaśāka
mudgādi-divyamudakañca munīndrapathyam ॥22॥

Tr. The wholesome food items for a *yogī* should comprise good grains like wheat, rice, barley, *ṣaṣṭika* (a variety of rice that takes sixty days to harvest), milk, *ghee*, cream, butter, sugar candy, honey, dry ginger, *paṭola* fruits (a species of cucumber), the set of five recommended green leafy vegetables, green gram and rain water. 22.

मुख्यं घृतं क्षीरमिति द्वये सन्नाडीविशुद्धावथ मूलबन्धे ।
ओजो बलं तृप्तिमतीव दत्ते सत्त्वान्नतो वा किल नाडीशुद्धिः ॥ २३ ॥

mukhyaṃ ghṛtaṃ kṣīramiti dvaye san-
nāḍīviśuddhāvatha mūlabandhe ॥
ojo balaṃ tṛptimatīva datte
satvānnato vā kila nāḍīśuddhiḥ ॥ 23 ॥

Tr. In the process of purification of the *nāḍīs* and *mūlabandha*, chiefly these two—*ghee* and milk are very helpful in augmenting virility, stamina, contentment and *satva* diet which in true sense is *nāḍīśuddhi*. 23.

सिद्धान्तश्रवणं सत्यं शान्तिः श्रद्धा मितं वचः ।
गुरोः सेवां क्रमाभ्यासं साधकः प्रथमं भजेत् ॥ २४ ॥

siddhāntaśravaṇaṃ satyaṃ
śāntiḥ śraddhā mitaṃ vacaḥ ॥
guroḥ sevāṃ kramābhyāsaṃ
sādhakaḥ prathamaṃ bhajet ॥ 24 ॥

Tr. A *sādhaka* should initially undertake the practices of listening to the scriptures, truthfulness, tranquility, respect, moderate speech, service of *guru* and an orderly practice (of *yoga*). 24.

गव्यं पयः सघृत[2]शीतलं यद्धैय्यंगवीनं[3] च घृतं[4] नवं शुभम् ।
तक्रं तथाऽनुघृत[5]सारमिष्टं मिष्टे सिताऽपास्य गुडं च फाणितम् ।२५।

1. पटोल –a. 2. सद्घृत –b. 3. यद्वैप्यंगवानं –a. 4. धृतं –a. 5. घृत –b.

gavyaṃ payaḥ saghṛtaśītalaṃ yad-
dhaiyyangavīnaṃ ca ghṛtaṃ navaṃ śubham ||
takraṃ tathā'nudhṛtasāramiṣṭaṃ
miṣṭe sitā'pāsya guḍaṃ ca phāṇitam || 25 ||

Tr. Cold cow milk with ghee, fresh pure cream, *ghee*, buttermilk, and unextracted buttermilk and among the sweets—sugar candy, but avoiding jaggery and molasses, are wholesome. 25.

पञ्चशाकस्तु –

pañcaśākastu –

The set of five leafy vegetables are—

क्षीरपर्णी च जीवन्ती मत्स्याक्षी च पुनर्नवा ।
मेघनादश्चेति बुधैः पञ्चशाकः प्रकीर्तितः ॥ इति ॥ २६ ॥

kṣīraparṇī ca jīvantī matsyākṣī ca punarnavā |
meghanādaśceti budhaiḥ pañcaśākaḥ prakīrtitaḥ ||*iti*||26||

Tr. The set of five leafy green vegetables declared by the experts are – *kṣīraparṇī, jīvantī, matsyākṣī, punarnavā* and *meghanāda*. 26.

ग्रन्थान्तरे –

granthāntare –

According to another scripture—

पीत्वा क्षीरं पयोमिश्रां योगी बलमवाप्नुयाद् ॥ इति ॥ २७ ॥

pītvā kṣīraṃ payomiśrāṃ yogī balamavāpnuyād ||*iti*||27||

Tr. A *yogī* gains strength by drinking milk mixed with water. 27.

इत्यादेयानि ॥

ityādeyāni ||

Here ends (the list of) recommended food.

अथ वर्ज्यानि[1] –

atha varjyāni –

The unwholesome food:—

कट्वम्लतीक्ष्णलवणोष्ण[2]हरिततशाक-
सौवीरतैलतिलसर्षपमत्स्यमद्यम् ॥

---

1. वर्जान्ने a. 2. णोष्म –b.

अजा[1]विमांसदधितक्रकुलत्थकोल-
पिण्याकहिंगुलशुनाद्यमपथ्यमाहुः ॥२८॥

kaṭvamlatīkṣṇalavaṇoṣṇaharitaśāka-
sauvīratailatilasarṣapamatsyamadyam ॥
ajāvimāṃsadadhitakrakulatthakola-
piṇyākahingulaśunādyamapathyamāhuḥ ॥ 28 ॥

Tr. Hot (food), (tastes like) bitter, sour, pungent, salty, hot, green leafy vegetables, sour (gruel), oil, mustered, sesame, fish, alcohol, meat like mutton and lamb, curd, butter-milk, *kulattha* (a type of lentil), berries, oil-cakes, asafoetida, garlic etc. are unsuitable for consumption. 28.

भोजनमहितं विद्यात्पुनरुष्णीकृतं रुक्षम् ।
अतिलवणादिकयुक्तं कदशनशाकोत्कटं दुष्टम् ॥ २९ ॥

bhojanamahitaṃ vidyāt punaruṣṇīkṛtaṃ rukṣam ।
atilavaṇādikayuktaṃ kadaśanaśākotkaṭaṃ duṣṭam ॥ 29 ॥

Tr. Food that has been heated over again, dry, excessively salty, stale food and excess of leafy vegetables—are also unwholesome and must be eschewed. 29.

क्षीरप्रभूतान्नमभित्यजेत्पुराऽभ्यासे गरिष्ठं चणकाश्च माषाः ।
तथाढकीयं दाहकराः स्युरुत्तमः स्यादाढकीसूपमिहाज्यमिश्रम् ॥३०॥

kṣīraprabhūtānnamabhityajet purā'-
bhyāse gariṣṭhaṃ caṇakāśca māṣāḥ ॥
tathāḍhakīyaṃ dāhakarāḥ syuruttamaḥ
syādāḍhakīsūpamihājyamiśram ॥ 30 ॥

Tr. In the initial phase of practice, one should avoid food containing excess of milk, heavy articles like horse gram, black gram and pigeon pea (*arhar* pulse) which cause burning. However, the soup prepared of pigeon pea mixed with *ghee* is desirable. 30.

कायक्लेशादिकर्मेषदपि च न भजेच्चाटनं[2] भूरिवह्नि-
स्त्रीसेवां यह्निदाहि प्लुतिमुषसि[3] भृशां वाचमीर्ष्यां च चौर्यम् ॥
हिंसां द्वेषं तथाहंकृतिमशनमति[4] प्राणिपीडां विमोहं
मित्रामित्रत्वबुद्धिं ह्यनश[5]नमसतां सन्त्यजेत् संगतिं च ॥ ३१ ॥

1. आजा –b. 2. च्चारनं –b. 3. यह्निस्वतिमुषसि –b. 4. कृतिमथनमति –a. 5. ध्नःनशः -b.

kāyakleśādikarmeṣadapi ca na bhajeccāṭanaṃ bhūrivahni-
strīsevāṃ yadvidāhi plutimuṣasi bhṛśāṃ vācamīrṣyāṃ ca cauryam ।
hiṃsāṃ dveṣaṃ tathāhaṃkṛtimaśanamati prāṇipīḍāṃ vimohaṃ
mitrāmitratvabuddhiṃ hyanaśanamasatāṃ santyajet saṅgatiṃ ca 31

Tr. Even little physical work (generating exertion), wondering, excessive contact of fire and woman, (food) that causes excessive burning, hopping in the morning, talkativeness, hatred, stealing, violence, jealousy, ego, over-eating, torture of animals, infatuation, non-discrimination between friend and foe, fasting and company of the wicked people should be avoided. 31.

मद्यं बह्वत्यान्नपानं शुभसुतभवनारामपाण्डित्यवेद-
शास्त्रालोकाश्च गीतं ततमति[1]मधुरं हेमरौप्याम्बराणि ॥
नृत्यं राज्यं तुरंगाः कुसुममलयजे सत्स्त्रियः स्फीतिशौर्येणादि-
ताम्बूलं चेति सर्वं विषयसुखमथामुष्मिकं यत्त्यजेत्तत् ॥ ३२ ॥[2]

madyaṃ bahvatyānnapānaṃ śubhasutabhavanārāmapāṇḍityaveda-
śāstrālokāśca gītaṃ tatamatimadhuraṃ hemaraupyāmbarāṇi ॥
nṛtyaṃ rājyaṃ turaṅgāḥ kusumamalayaje satstriyaḥ sphītiśauryeṇādi-
tāmbulaṃ ceti sarvaṃ viṣayasukhamathāmuṣmikaṃ yattyajettat ।32।

Tr. Liquor, excessive drinking and eating, living in luxurious palace, scholarship in the *vedas* and other scriptures, singing sweetly for long time, gold and silver canopy, dancing, kingdom, horse (riding), flower with sandal, beautiful woman, arrogance, (showing off) prowess, (chewing) betel leaf—all these

---

1. तंतमति –b. 2. तथा चोक्तं योगचन्द्रिकायाम् -
प्रवृत्तिहेयता सती२६ वातप्रधानबहुला बहुधा गदाः स्युस्तद्वंचिकित्सितमिह प्रविचार्य कार्यम् नो यात्युपक्रमशतैस्तु यदा गदोन्तं मुद्रासनानिलनिरोधनतो जयेते ॥
धातुरसन्तरण निजबिन्दुयोगिवरः परिपालयतीह तस्य समाधिरुदेति सुदीर्घः सर्व समा मतिरुद्भव नाड्या ॥२८ ॥
प्राणमरुत्प्रदूष्ये वा प्रतीते यरुक्करः स्यात् स्वदक्षनासापुटके नरे च पुरी मुनि वामनासान्या यथा चरेत् पूर्वश्च ते देशजमलमाग्निवदश्च शूलश्वासाध्महिकोदरमुखरोगा उद्गारकासाश्चलपि न रोगा मला स योगान्यत् क्रमबन्धं सिध्यत उपानस्य विसर्गतोस्य अधः प्राणेन नु ग्रन्थिरुपेन्त्यनेन मलात्र देहे स्थिति हृदि रुजां मनाक् तेन हठे ततो विकार्य अमेध्यान् मलप्रभावात् रुदेति रोषतो दुर्वा सनायुक्त हृदा इति ॥ – अधिकपाठः -b.

temporal objects may be given up. 32.

तथा चोक्तं योगचन्द्रिकायाम् —

tathā coktaṃ yogacandrikāyām —

It is said in ***yogacandrikā***—

योषिद्रागो हि गानं रतिरभसयुतं वाग्विवादोऽतिनिद्रा
बह्वाहारो विहारो भगवति रमणं निर्गताहार एव[1] ॥
बह्वाऽसंगोऽग्निसेवा रसनरतिरतिजल्पनं चेन्द्रियाणां
येषां भोगो हि नित्यप्रति[2]दिनममला योगयुक्तिर्न तेषाम् ॥ ३३ ॥

yoṣidrāgo hi gānaṃratirabhasayutaṃ vāgvivādo'tinidrā
bahvāhāro vihāro bhagavati ramaṇaṃ nirgatāhāra eva ॥
bahvāsaṅgo'gnisevā rasanaratiratijalpanaṃ cendriyāṇāṃ
yeṣāṃ bhogo hi nityapratidinamamalā yogayuktirna teṣām ॥33॥

Tr. Those who indulge in excess attachment towards woman, exciting and amorous songs, verbal assault, over sleep, excessive eating and enjoyment, carnal gratification, abstinence from food, overindulgence, contact of fire, falling prey to the dictation of palate, talkativeness, continuous sensual indulgence, for them *yoga* does not succeed. 33.

कदन्नशाकादिकमूलमव्ययं विहाय दध्यम्लकषायतिक्तकम् ।
घृतोदनक्षीरमपूरितोदरो यमी च गोधूमविकारमाश्रयेत् ॥ ३४ ॥

kadannaśākādikamūlamavyayaṃ
vihāya dadhyamlakaṣāyatiktakam ॥
ghṛtodanakṣīramapūritodaro
yamī ca godhūmavikāramāśrayet ॥ 34 ॥

Tr. A *yogī* should prefer ghee, rice, milk, leaving the stomach half empty, wheat products and avoid unwholesome food, vegetables, roots, curd, sour (food), astringent and (food of) bitter tastes. 34.

कदन्नं कोद्रवचणकमसूरादि कन्दमूलं बहुतरं सर्वं त्यजेत् । श्लेष्मकारित्वाद् । दधितिन्तिण्याद्य[3]म्लं च कषायमपक्वबदर्यादितिक्तं निम्बादि । एतानि त्यक्त्वा योगी घृतोदनक्षीरगोधूमविकारं च आश्रयेत् । भुञ्जीत किञ्चित् घृतेन सह क्षीरेण भुक्तं भुञ्जीत । वा केवलं पयः

---

1. निर्गताहार्य -b. 2. निसम्प्रति –b. 3. तिन्तिरायाद्य –b.

पिबेत् । मिताहारयुक्तः सदा भवेत् ॥ ३५ ॥

kadannaṃ kodravacaṇakamasūrādi kandamūlaṃ bahutaraṃ sarvaṃ tyajet । śleṣmakāritvāt । dadhitintiṇyādyamlaṃ ca kaṣāyamapakvabadaryāditiktaṃ nimbādi । etāni tyaktvā yogī ghṛtodanakṣīragodhūmavikāraṃ ca āśrayet । bhuñjīta kiñcit ghṛtena saha kṣīreṇa bhuktaṃ bhuñjīta । vā kevalaṃ payaḥ pibet । mitāhārayuktaḥ sadā bhavet ॥ 35 ॥

Tr. One should entirely eschew unwholesome food, *kodrava* (a variety of rice), Bengal gram, *masūra* (a kind of lentil) and the like, various types of bulbous roots. Moreover, a *yogī* should avoid curd and tamarind which are sour and which generate phlegm (*kapha*), astringent (food) like unripe berries, bitter like *neem* etc. Rather he should consume *ghee* mixed with rice and milk and preparations made up of wheat. Always he should consume (food) with little *ghee* and milk or only milk and should always stick to moderate diet. 35.

आहारशुद्ध्या खलु सत्वशुद्धिः
प्रजायतेऽतो वरनाडीशुद्धिः[1] ॥
न्यग्गाम्य[2]ऽपानस्य जयो[3] न मूल-
बन्धो दृढोऽधश्चलविट् कदन्नात्[4] ॥ ३६ ॥

āhāraśuddhyā khalu satvaśuddhiḥ
prajāyate'to varanāḍīśuddhiḥ ॥
nyaggāmya'pānasya jayo na mūla-
bandho dṛḍho'dhaścalaviṭ kadannāt ॥ 36 ॥

Tr. Purification of food results in purification of *satva* (inner self), which consequently purifies the *nāḍīs*. As a result of bad food *apāna* which moves downwards, is not controlled, *mūlabandha* is not perfected well, faeces would not move downwards. 36.

उक्तञ्च –

uktañca —

Moreover—

1. प्रजायतेऽतो वरनाडिशुद्धिः -repeated-b. 2. न्यग्गाम्य –b. 3. अपानस्य जयी –b. 4. कृदन्नात् -b.

प्रसार्यमाणो विरलस्तूलपिण्डो घनो यथा ।
सूक्ष्मी[1]भवेत् तथा प्राणौ अभ्यासाधिक्याद् ध्रुवोऽत्यणुः ॥ इति[2] ॥३७॥

prasāryamāṇo viralastūlapiṇḍo ghano yathā ।
sūkṣmībhavet tathā prāṇau abhyāsādhikyād dhruvo'tyaṇuḥ ॥ *iti* ॥ 37 ॥

Tr. A solid ball of cotton when spread out becomes subtle and fine, similarly, *prāṇa* becomes stable and subtle through prolonged practice. 37.

कुम्भे श्वासोच्छ्वासलयो व्युत्थाने कर्म वीक्षणात् ।
आरूढस्य सुषुम्णातः प्राणः स्वाभाविकोऽस्त्यणुः ॥ ३८ ॥

kumbhe śvāsocchvāsalayo vyutthāne karma vīkṣṇāt ।
ārūḍhasya suṣumṇātaḥ prāṇaḥ svābhāviko'styaṇuḥ ।38।

Tr. Inhalation and exhalation get merged in *kumbhaka*. In the phase of *vyutthāna*, one gets the perception of *karma*. In the state of *ārudha*, *prāṇa* becomes subtle and naturally flows through *suṣumṇa*. 38.

जितोऽपानः[3] प्राकृतं स्वं मूलेनान्तश्चरन्नणुम्[4] ।
धत्ते[5] वैकृतमुत्सृज्यं वाहन्ताम[6]समन्नजम् ॥ ३९ ॥

jito'pānaḥ prākṛtaṃ svaṃ mūlenāntaścarannaṇum ।
dhatte vaikṛtamutsṛjyaṃ vāhantāmasamannajam ॥ 39 ॥

Tr. *apāna* defiled (*vaikṛta*) due to *tāmasika* food is modified into *prakṛta* with the practice of *mūlabandha* making it internalised and subtle. 39.

अतो हि—

ato hi —

Therefore —

अभ्यासकाले प्रथमं शस्तं क्षीराज्यभोजनमित्याहुः ॥ ४० ॥

abhyāsakāle parthamaṃ śastaṃ
kṣīrājyabhojanamityāhuḥ ॥ 40 ॥

Tr. It is emphasized that, in the initial phase of practice it is desirable that one should consume *kṣīra* and *ghee*. 40.

केचित्तु –

1. घनोपयथासुक्ष्मो –b. 2. ध्रुवोऽत्यराडरिति –b. 3. ध्यानः -b. 4. मूलेनातश्चरन्नण्ड –b. 5. यते –b. 6. वाहन्तमन्तजम् –a,

kecit-tu —

Others contend —

पूर्वाभ्यासे देशकालानुसारेण यदाप्यते ।

रुच्या यत्सहते देहे तत्पथ्यं ब्रुवते इति ॥ ४१ ॥

pūrvābhyāse deśakālānusāreṇa yadāpyate ।

rucyā yatsahate dehe tatpathyaṃ bruvate iti ॥ 41 ॥

Tr. In the initial phase of practice, one should consume food which is suitable to the body taking into consideration the factors of place and time (season), which will be known as wholesome food. 41.

अस्यायमाशयः —

asyāyamāśayaḥ —

This means —

मुद्रासनैः कुम्भकवह्निनान्तर्नाडीस्थदोषः खलु यन्त्रगेक्षुवत् ।

निपीडितो लैन्यमुपैति तत्र हिताहितं स्वभ्यसनेऽर्थवादवत् ।४२।

mudrāsanaiḥ kumbhakavahnināntar-

nāḍī-sthadoṣaḥ khalu yantragekṣuvat ॥

nipīḍito lainyamupaiti tatra

hitāhitaṃ svabhyasane'rthavādavat ॥ 42 ॥

Tr. Practice of *mudrā* and *āsana* and heat generated by *kumbhaka* removes the impurities from inside the *nāḍīs* like sugarcane is thoroughly squeezed out in a crusher machine. Therefore, effectiveness or ineffectiveness lies with ones understanding of *arthavāda* (assertion) in the course of practice. 42.

Note: *arthavāda* – It usually recommends a *vidhi* or precept by stating the good arising from its proper observance, and the evils arising from its omission, and also by adducing historical instances in its support. 42.

यत्तामसं राजसमन्नपानं निद्रालसत्वामयमौढ्यबीजम् ।

मिताशनोक्तिव्यवहारभाजामभ्यासिनां तत्र सदल्पमास्तात्[1] ।४३।

yattāmasaṃ rājasamannapānaṃ

nidrālasatvāmayamauḍhyabījam ॥

---

1. मास्नात् -b.

mitāśanoktivyavahārabhājām-
abhyāsinām tatra sadalpamāstāt ॥ 43 ॥

Tr. *tāmasika* and *rājasika* food is the root cause of sleep, laziness and disease. The practitioners who stick to the guidelines of moderate food face less troubles. 43.

यथा लवणे सैन्धवमिति-- इत्याशयेन अतिलवणादिकयुक्तमित्युक्तम् । मिताशनवतां हठयोगभाजां वशिनामपथ्यम् पथ्यमेव विध्युक्तम् । क्रमेण मन्दं मन्दं युक्त[1]युक्तं विमृश्य प्राणसंयमनमीश्वरप्रणिधानेन सिद्धिदमरोगकरं भवति ॥ इति ॥ ४४ ॥

yathā lavaṇe saindhavamiti — ityāśayena atilavaṇādikayuktamityuktam । *mitāśanavatāṃ haṭhayogabhājāṃ vaśināmapathyam pathyameva vidhyuktam* । *krameṇa mandaṃ mandaṃ yuktayuktaṃ vimṛśya prāṇasaṃ yamanamīśvarapraṇidhānenasiddhidamarogakaraṃ bhavati* ॥ *iti* ॥ 44 ॥

Tr. '*saindhava* (rock salt) in salt' — by this statement it is emphasized that there is an excess amount of salt. The *haṭha* practitioners who are restrained and stick to moderate food, for them (excess salt is) not recommended. What is recommended (quantity) is said in the precept. Undertaking the practices of *prāṇāyāma* and *īṣvarapraṇidhāna* in an organized manner in a slow and steady fashion and in moderate amount, one meets success and gets rid of the diseases. 44.

यथा चोक्तम् —

yathā coktam —

Therefore it is said —

यमेष्विव मिताहारमहिंसां नियमेषु[2] ॥
इति -- हठप्रदीपिकायाम् ॥ ४५ ॥

yameṣviva mitāhāramahiṃsā niyameṣu ॥ *iti* — ***haṭhapradīpikāyām*** ॥ 45 ॥

Tr. "*mitāhāra* (moderate diet) is (important) among the *yamas* and *ahiṃsā* (non-violence) among the *niyamas*" — *haṭhapradīpikā*. 45.

---

1. अनुपलब्धपाठः -b. 2. नियमेष्विति -b.

अतो नाडीशुद्धौ मिताशनमितोक्तिनिद्राजया घृतक्षीरे मिष्टान्नमिति प्रशस्तम् । सर्वयोगशास्त्रे लवणनिषेधस्तु सामान्य इव । हठयोगग्रन्थाद्यनुक्तत्वादा[1]जन्मनित्याभ्याससाम्यत्वाद्[2] बलकरत्वाच्च गौणो लवणातियोगत्याग एव । कट्वम्लकषायाणामतिदाहकत्वात् सर्वथा त्याग इति प्रतिभाति ॥ ४६ ॥

ato nāḍiśuddhau mitāśanamitoktinidrājayā ghṛtakṣīre miṣṭānnamiti praśastam । sarvayogaśāstre lavaṇaniṣedhastu sāmānya iva । haṭhayogagranthādyanuktatvādājanmanityābhyāsasāmyatvād balakaratvācca gauṇau lavaṇātiyogatyāga eva । kaṭvamlakaṣāyāṇātidāhakatvāt sarvathā tyāga iti pratibhāti ॥46 ॥

Tr. Therefore, in the context of purification of the *nāḍīs*, observance of moderate diet and speech and controlled sleep (are desirable). *ghee*, *kṣīra*, sweet candy are highly recommended. In all the *yogic* scriptures, prohibition of salt is commonplace. Though it is not held in the *haṭha* texts, due to a lifelong habit built through daily practice and also due to its enhancing strength, it is of secondary importance (to talk about) excess salt intake. But it appears that bitter, sour, astringent and (food items) causing excessive burning should be entirely avoided. 46.

तदुक्तं वाग्भटेन आयुर्वेदे –

taduktaṃ vāgbhaṭena āyurvede —

***vāgbhaṭa* said in *āyurveda* —**

शाका वरान्नभूयिष्ठमत्यम्ललवणं त्यजेद् ॥ इति ॥ ४७ ॥

śākā varānnabhūyiṣṭhamatyamlalavaṇaṃ tyajed ॥*iti*॥47।

Tr. Vegetables, heavy food items in excessive quantity, excessively sour and salt should be eschewed. 47.

स्वल्पं सुमिष्टं बहुवारमन्नमभ्यासिना भुक्तमिदं न बाधते ।
अन्नादसौ[3] भूरिपयः ससर्पिः प्रदीप्तयोगानलतः क्षुधार्दितः ।४८।

svalpaṃ sumiṣṭaṃ bahuvāramannam-
abhyāsinā bhuktamidaṃ na bādhate ॥
annādasau bhūripayaḥ sasarpiḥ
pradīptayogānalataḥ kṣudhārdditaḥ ॥ 48 ॥

---

1. त्वाद् तदा –b. 2. पाप्यत्वात् -b. 3. अतादऽसौ –b.

Tr. Little quantity of sweetened milk mixed with *ghee* consumed several times is a better preference over rice (and the like) for the one who has works up a strong appetite due to the fire lit up through the *yoga* practices. 48.

तुर्यांशवर्जितो यः सुस्निग्धः स्वादुराहारः सम्भुज्यते ।
रुचितया स मिताहारः सुयोगिनां प्रोक्तः ॥ ४९ ॥

turyāṃśavarjito yaḥ sausnigdhaḥ svādurāhāraḥ sambhujyate ।
rucitayā sa mitāhāraḥ suyogināṃ proktaḥ ॥ 49 ॥

Tr. Hearty consumption of food that is unctuous, keeping one fourth (of the stomach) empty—is *mitāhāra* for a sincere student of *yoga*. 49.

यो ब्रह्मचारी मितपथ्य[1]भोजी निरन्तरैकान्तरतिः सुशान्तः ।
समस्तसंगोज्झित[2] आत्मदृष्टिः स सिद्धिभाग् योगपरायणे स्यात्[3] ५०

yo brahmacārī mitapathyabhojī
nirantarekāntaratiḥ suśāntaḥ ॥
samastasaṅgojjhita ātmadṛṣṭiḥ
sa siddhibhāg yogaparāyaṇe syāt ॥ 50 ॥

Tr. One, who observes celibacy, consumes wholesome moderate food, always, prefers remaining in solitude, poised, abstains from all the public contact, devoted to Self and *yoga* practice, embraces success. 50.

॥ इति सुन्दरदेवविरचितायां हठतत्वकौमुद्यां साधकपथ्यापथ्यविवेचनोद्योतः[4] ॥

॥ iti sundaradevaviracitāyāṃ haṭhatatvakaumudyāṃ sādhakapathyāpathyavivecanodyotaḥ ॥

Here ends the chapter *sādhakapathyāpathyavivecana* of *haṭhatatvakaumudī* composed by *sundaradeva*.

1. मितिपथ्य –b. 2. संगोविकृत–b. 3. परायणेऽष्टात् -b. 4. विऽवेकनोद्योतेः -b.

Chapter—5

अथ साधकानां लक्षणभेदाः —

atha sādhakānām lakṣaṇabhedāḥ —

Various characteristics of *sādhakas*—

सत्संगो गुरुलक्ष्यमात्मनि सदा वात्मस्वरूपस्य वा ।
लक्ष तत् पथि स व्रजन् व्यवहरन् अश्नन् स्वपन् भावयन् ॥१॥[1]

satsaṅgo gurulakṣyamātmani
sadā vātmasvarūpasya vā ॥
lakṣa tat pathi sa vrajan vyavaharan
āśnan svapan bhāvayan ॥ 1 ॥

Tr. While walking on the road, dealing with people, eating, sleeping or thinking, one should always keep an aim at Self-realization and have company of good people and a *guru*. 1.

प्रातःस्नानं शिरःस्नानं निषिद्धं हठयोगिनाम् ।
योगनिष्पत्तावपि तद्युक्तं[2] **न ब्रह्मचर्यत्वात्**[3] **॥ २ ॥**

prātaḥsnānaṃ śiraḥsnānaṃ niṣiddhaṃ haṭhayoginām ।
yoganiṣpattāvapi tadyuktaṃ na brahmacaryatvāt ॥ 2 ॥

Tr. A *haṭhayogī* should refrain from taking morning bath and head-bath, because it does not suit a celibate even in the state of *niṣpatti*. 2.

आवश्यके तूष्णजलैः कार्यं शीताम्बुना न सत् ।
कण्ठस्नानं तु मध्याह्ने न कदापि भजेत् प्रगे[4] **॥ ३ ॥**

āvaśyake tūṣṇajalaiḥ kāryaṃ śītāmbunā na sat ।
kaṇṭhasnānaṃ tu madhyāhne na kadāpi bhajet prage ।3।

Tr. If necessary, one should take hot water bath and never cold water bath. Neck-deep bath should be taken in the noon and never in the early morning. 3.

तृतीये प्रहरे कार्यं भोजनं योगिना मितम् ।
भुक्त्वा आयामा नैव[5] **सेव्या तिष्ठेदब्जेऽत्र षट् घटि**[6] **॥ ४ ॥**

tṛtīye prahare kāryaṃ bhojanaṃ yoginā mitam ।
bhuktvā āyāmā naiva sevyā tiṣṭhedabje'tra ṣaṭ ghaṭi ॥ 4 ॥

---

1. Incomplete *śloka*. 2. नयुक्तं -a. 3. ब्रह्मचर्यवत् -b. 4. प्रगे–not available in -a. 5. भुक्ताः यामानैव –b. 6. तिष्ठेदज्चेत्रषटषटिव्यायामतप –b.

Tr. A *yogī* should do well by consuming moderate meal in the third *prahara* (afternoon). After taking meals one should not practice *prāṇāyāma* for a *yāma*. He should rather sit in *padmāsana* for six *ghaṭis*. 4.

व्यायाममातपं रोषं साधको नैव सेवयेत् ।
अम्बुपानं[1] शैत्यदेशं बहुलं भ्रमणं तथा ॥ ५ ॥

vyāyāmamātapaṃ roṣaṃ sādhako naiva sevayet ।
ambupānaṃ śaityadeśaṃ bahulaṃ bhramaṇaṃ tathā ।5।

Tr. (After taking a meal), a *sādhaka* should not undertake exercise, going into the sun, become angry, drinking water, (staying in) a cold place and engage long walk. 5.

आयामोत्तरमंगानां[2] मर्द्दनं सम्यगीहयेत् ।
मौनमेकान्तवासं च तितिक्षां साधको भजेत् ॥ ६ ॥

āyāmottaramaṅgānāṃ marddanaṃ samyagīhayet ।
maunamekāntavāsaṃ ca titikṣāṃ sādhako bhajet ॥ 6 ॥

Tr. After *prāṇāyāma* a *sādhaka* should massage the body thoroughly. He should observe silence, remain in solitude and exercise forbearance. 6.

क्लेशोद्वेगश्रमकरं कायवाङ्मनसैस्त्यजेत्[3] ।
भजेत् सुखावहं कर्म योग्यं पानाशनं[4] तथा ॥ ७ ॥

kleśodvegaśramakaraṃ kāyavāṅmanasaistyajet ।
bhajet sukhāvahaṃ karma yogyaṃ pānāśanaṃ tathā ।7।

Tr. He should stay away from physical, vocal and mental activities, which are highly strenuous, causing anxiety and are laborious. He should engage in convenient and easy (physical) activities and should take suitable food and drink. 7.

योगाभ्यासे भूगृहान्ते मठे वा तैलदीपकात् ।
कुम्भितः[5] प्राणा एति द्रागपथं तदमुं त्यजेत् ॥ ८ ॥

yogābhyāse bhūgṛhānte maṭhe vā tailadīpakāt ।
kumbhitaḥ prāṇā eti drāgapathaṃ tadamuṃ tyajet ॥ 8 ॥

Tr. Practising *yoga* inside in an underground cell or a cottage while using an oil-lamp moves the *prāṇa* quickly astray

---

1. अम्बुपान -b. 2. अथोत्तमंगानां –a. 3. मनैरुपजे –b. 4. पानापानं –b. 5. तूक्तंमितः -b.

in the course of *kumbhaka*. Therefore, this should be avoided. 8.

अतो योगमठे घृतदीप उपयुज्यत इति ।

ato yogamaṭhe ghṛtadīpa upayujyata iti ॥

Tr. Therefore, a lamp of *ghee* suits in a cottage for *yoga*.

ब्राह्ममुहूर्त्ते उत्थाय प्राणायामान् समभ्यसेत् ।
प्रातः प्रहरषट्कान्तं[1] ततो मुद्रासनादि च ॥ ९ ॥

brāhmamuhūrtta utthāpya prāṇāyāmān samabhyaset ।
prātaḥ praharaṣaṭkāntaṃ tato mudrāsanādi ca ॥ 9 ॥

Tr. One should get up in *brāhma-muhūrtta* (early in the morning, two hours before sunrise) and undertake the practice of *prāṇāyāma*. And thereafter early in the morning uptill half-an-hour one should practise *mudrā, āsana* etc. 9.

पुनः प्राणनिरोधने सार्द्धद्विप्रहरावधि ।
ततो हितमिताशिनः स्यात्तिष्ठेत् पद्मेऽन्नपक्तये[2] ॥ १० ॥

punaḥ prāṇanirodhane sārddhadvipraharāvadhi ।
tato hitamitāśinaḥ syāttiṣṭhet padme'nnapaktaye ॥ 10 ॥

Tr. Thereafter again one should undertake practice of *prāṇāyāma* untill first half of the second *prahara* (upto 10.30 in the morning). After that consuming wholesome and moderate food one should sit in *padmāsana* for digestion of food. 10.

निशायाः पूर्वयामेऽथ प्राणायामान् समाचरेत् ।
याममेकं ततः स्वप्यादनु प्राणायामं भजेदनु ॥ ११ ॥

niśāyāḥ pūrvayāme'tha prāṇāyāmān samācaret ।
yāmamekaṃ tataḥ svapyādanu prāṇāyāmam bhajedanu 11

Tr. Again, *prāṇāyāma* should be practised in the first three hours of the night, after which one should sleep for three hours and then again should take up the practice of *prāṇāyāma*. 11.

घटसंशोधनाद्यं च शौचं तुर्ये[3] भजेन् मितम् ।
नाडीशुद्ध्यायाममिति षण्मासान्यऽभ्यसेद्दृढम् ॥ १२ ॥

ghaṭasaṃśodhanādyaṃ ca śaucaṃ turye bhajenmitam ।
nāḍīśudhyāyāmamiti ṣaṇmāsānya'bhyaseddṛḍham ॥12 ॥

---

1. षट्वातं –b. 2. मिताशास्यातिष्ठेत्यद्मेन्नपक्तये –b. 3. शौचतुर्य –b.

Tr. One should undertake the purificatory practices and *nāḍīśuddhi prāṇāyāma* in moderation in the fourth *yāma* (three hours before sunrise). One should parctise this intensely for six months. 12.

मध्ये मध्ये मनःश्रान्ति[1]रुच्छिशावं[2] मुहुर्भजेत् ॥ १३ ॥

madhye madhye manaḥśāntiruccisāvaṃ muhurbhajet |13|

Tr. He should intermittently take up the practice of *śavāsana* for pacification of the mind. 13.

"अभ्यासिना च भोक्तव्यं स्तोकं स्तोकमनेकधा ।"

स्वल्पं स्वल्प[3]मनेकवारम् । नैकदा पूर्णोदरमश्नीयादित्यर्थः ।१४।

abhyāsinā ca bhoktavyaṃ stokaṃ stokamanekadhā |
svalpaṃ svalpamanekavāram |
naikadā pūrṇodaramaśnīyādityarthaḥ ॥ 14 ॥

Tr. "A practitioner should take food several times in small quantity" — *little quantity of food several times* – this means that one should not eat food to the full-stomach. 14.

क्रियायोगमुपासीत साधको विधिवत् सदा ।

अशुद्धमनसः सम्यक् सम्प्रसादार्थमुत्तमम् ॥ १५ ॥

kriyāyogamupāsīta sādhako vidhivat sadā |
aśuddhamanasaḥ samyak samprasādārthamuttamam ॥ 15 ॥

Tr. A *sādhaka* should practise *kriyāyoga* as prescribed. This is highly efficacious in bringing about complete pacification of an impure mind. 15.

अत्र क्रियायोग ईश्वराराधनमेव ।

atra kriyāyoga īśvarārādhanameva ॥

In this context, *kriyāyoga* stands for worshiping God.

तच्च[1] योगांगभूतनियममध्ये सर्वयोगशास्त्रेषु गणितमस्ति ॥१६ ॥

tacca yogāṅgabhūtaniyamamadhye sarvayogaśāstreṣu gaṇitamasti ॥ 16 ॥

Tr. This is included in *niyama* in all the *yoga* scriptures. 16.

तथा च पातञ्जलसूत्रद्वयम् —

tathā ca pātañjalasūtradvayam —

---

1. मनःशान्ति –a. 2. स्वच्छशाठं –b. 3. स्वःतांस्वल्प -b. 4. तत्व –b.

These two *sūtras* of *patañjali* (support the above contention)—

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ।

शौचसन्तोषतपःस्वाध्येश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ इति ॥ १७ ॥

tapaḥsvādhyāyeśvarapraṇidhānāni kriyāyogaḥ ।
śaucasantoṣatapaḥsvādhyāyeśvarapraṇidhānāni niyamāḥ ॥*iti*॥17॥

Tr. *kriyāyoga* comprises *tapas*, *svādhyāya* and *īśvarapraṇidhāna*. *niyama* stands for *śauca*, *santoṣa*, *tapaḥ*, *svādhyāya* and *īśvarapraṇidhāna*. 17.

तपः कृच्छ्रचान्द्रायणादिः । स्वाध्यायः प्रणवादिः प्रणिधानं परमेश्वरे फलनिरपेक्षया सर्वकर्मार्पणम् । एते क्रियायोगा इत्युच्यते यत्तदनुष्ठानेन[1] समाधिः सम्भवति[2] ॥ १८ ॥

tapaḥ kṛcchracāndrāyaṇādiḥ । *svādhyāyaḥ praṇavādiḥ praṇidhānaṃ parameśvare phalanirapekṣayā sarvakarmārpaṇam* । *ete kriyāyogā ityucyate yattadanuṣṭhānena samādhiḥ sambhavati* ॥ 18 ॥

Tr. *tapaḥ* means austerities like *kṛcchracāndrāyaṇa* etc. *svādhyāya* stands for (meditation on) *praṇava* and dedication of all the actions to God without any expectation for results. These are called *kriyāyoga* practice of which enables one to attain *samādhi*. 18.

ईश्वरप्रणिधाने निरुद्धं चित्तं क्रमेण प्रशान्तवाहितां समिदाज्याहुतिप्रक्षेपे वह्निरुत्तरोत्तरवृद्ध्या प्रज्वलति ॥ १९ ॥

īśvarapraṇidhāne niruddhaṃ cittaṃ krameṇa praśāntavāhitāṃ samidājyāhutiprakṣepe vahniruttarottaravṛddhyā prajvalati ॥ 19 ॥

Tr. When *citta* becomes annihilated (*niruddha*) through *īśvarapraṇidhāna*, it gradually gets more and more enkindled in the state of *praśāntavāhitā* like the fire (gets fanned) being fed by fire-wood and *ghee*. 19.

समिदादिक्षये प्रथमक्षणे किञ्चिच्छाम्यति । उत्तरोत्तरक्षणे शान्तिर्वर्धते । तथा प्रणिधाननिरुद्धे चित्ते प्रशमवाहिता ज्ञेया ॥ २० ॥

samidādikṣaye prathamakṣaṇe kiñcicchāmyati । *uttarottarakṣaṇe śāntirvardhate* । *tathā praṇidhānaniruddhe citte*

1. ष्ठातेन –b. 2. माधिःसंभति –b.

praśamavāhitājñcyā ॥ 20 ॥

Tr. Initially it (fire) becomes slightly mitigated due to lack of fire-wood. As the time passes, peace gets enhanced. So also, when *citta* attains the state of *niruddha* through devotion to God Bliss reigns willfully. 20.

येन स्यान्मनसः स्थितिर्हठविधौ स्वाभीष्टभावे लयः ।
तत्कार्यं स हि योग आर्य उदितस्तूष्णीं न वायोर्जयः ॥ २१ ॥[1]

yena syānmanasaḥ sthitirhaṭhavidhau
svābhīṣṭabhāve layaḥ ॥
tatkāryaṃ sa hi yoga ārya uditas-
tūṣṇīṃ na vāyorjayaḥ ॥ 21 ॥

Tr. Practice of *haṭha* which results in stability of mind and one merges (*laya*) in his true nature, should be indulged in. Such (practices) are known as noble, which bring about silence, not mere control of *prāṇa*. 21.

उत्साही वकवृत्तिरर्त्तिकलितो लोभी गुरोर्दूषको
बह्वाशी वनिताप्रियोऽतिचपलो भीरुः पराधीनधीः ॥
मन्दाचारबलोऽतिनिष्ठुरमतिर्मूकोऽलसः साधको
रागी चेति गुणस्तु[2] सिद्ध्यति भृशैर्यत्नैः द्विषड्वत्सरैः[3] ॥२२॥

utsāhī bakavṛttirarttikalito lobhī gurordūṣako
bahvāśī vanitāpriyo'ticapalo bhīruḥ parādhīnadhīḥ ॥
mandācārabalo'tiniṣṭhuramatirmūko'lasaḥ sādhako
*rāgī ceti guṇastu siddhyati bhṛśairyatnaiḥ dviṣaḍvatsaraiḥ*22

Tr. A *sādhaka* who is (over-) enthusiastic, hypocrite, badly miserable, greedy, condemns a *guru*, overeats, attached to woman, extremely fickle, scared, inclined to remain a subordinate, poor in daily regimen and weak, extremely rough, dull, lazy, and (sensually) indulged—(a *sādhaka* having such characteristics) will take twelve long years to attain success after diligent work. 22.

इति मृद्वधिकारिलक्षणानि ॥

iti mṛdvadhikārilakṣaṇāni ॥

Here end the characteristics of a low category *sādhaka*.

---

1. *śloka* incomplete. 2. गुणास्तु -a. 3. द्विषड्वत्सरैः -b.

स्वाधीनः स्थिरधीर्बली गुरुपदे रक्तो दयासत्यभाक्
शूरो दक्षतरो दयैकधिषणो[1] गाढं गभीराशयः ॥
श्रद्धावान् अतियोग[2]शास्त्रनिपुणोऽभ्यासी सदा यो भवेत्
भूयिष्ठं हठयोगभाजनमसौ सिध्येत् स षड्वत्सरैः ॥ २३ ॥

svādhīnaḥ sthiradhīrbalī gurupade rakto dayāsatyabhāk
śūro dakṣataro dayaikadhiṣaṇo gāḍhaṃ gabhīrāśayaḥ ॥
śraddhāvān atiyogaśāstranipuṇo'bhyāsī sadā yo bhavet
bhūyiṣṭhaṃ haṭhayogabhājanamasau siddhyet sa saḍvatsaraiḥ 23

Tr. A practitioner who is self-dependant, composed, (physically) strong, devoted to the *guru*, kind and truthful, brave, attentive, compassionate, serene, devoted, respectful, a master in the *yogic* scriptures, devoted to the consistent practice in great length, can attain success in six years through *haṭha* practice. 23.

इत्यधिमात्रसाधकलक्षणानि ॥

ityadhimātrasādhakalakṣaṇāni ॥

Here end the characteristics of a mediocre *sādhaka*.

उत्साह्यभ्यास[3]शीलो मितिभुगनलसोऽभीः[4] शुचिः कार्यदक्षो
दाता धीमान्यथेष्टस्थितिरखिलजनेष्वविरक्तः[5] सुधर्मी ॥
स्वाचारो[6] लुप्तचेष्टो[7]ऽमरगुरू रतिमान् व्याधिहीनो वशी यः
सः स्याद् योगाधिकारी तरुण उपरताज्ञान एषस्त्रिवर्षैः ॥ २४ ॥

utsāhyabhyāsaśīlo mitibhuganalaso'bhīḥ śuciḥ kāryadakṣo
dātā dhīmānyatheṣṭasthitirakhilajaneṣvaviraktaḥ sudharmī ॥
svācāro luptaceṣṭo'maragurū ratimān vyādhihīno vaśī yaḥ
saḥ syād yogādhikārī taruṇa uparatājñānā eṣastrivarṣaiḥ ॥ 24 ॥

Tr. A young practitioner of *yoga* who is enthusiastic, devoted to (regular) practice, takes moderate food, is devoid of laziness, fearless, clean, is smart in actions, generous, intelligent, contented (in whatever he has), detached from all people, virtuous, possessing good conduct, effortless, has an immortal *guru*, interested, free from illness, self-restrained, and is free from ignorance attains success in three years. 24.

---

1. दमैकधिषणो –b. 2. नियोग –b. 3. उत्साहसऽभ्यास -b. 4. नलसोऽभो –b. 5. जनेष्टोविरक्तः -b. 6. सदाचारी –b. 7. लुप्तवेष्टो –b.

इत्यधिमात्रतमसाधकलक्षणानि ॥

ityadhimātratamasādhakalakṣaṇāni ॥

Here end the qualities of a superior *sādhaka*.

अधिमात्रतमस्तु साधकोऽखिलयोगस्य सुसाधने वरः ।
हठयोगसुसाधने पटुर्मनुयोगाधिकृतौ मृदुः स्मृतः ॥ २५ ॥

adhimātratamastu sādhako-
'khilayogasya susādhane varaḥ ॥
haṭhayogasusādhane paṭur-
manuyogādhikṛtau mṛduḥ smṛtaḥ ॥ 25 ॥

Tr. It is held that a highly illustrious *sādhaka* excels in performance of all the *yoga* practices and proficient in *haṭha* practices. While a mediocre practises *manuyoga* (rituals). 25.

सुशान्तदान्तः क्षमयाभियुक्तः प्रियंवदः पुण्यमतिस्तथैव हि ।
मध्यस्थ एषोऽखिलकार्यजाते मध्यस्थ उक्तो लययोगभाजनम्[1] ।२६।

suśāntadāntaḥ kṣamayābhiyuktaḥ
priyaṃvadaḥ puṇyamatistathaiva hi ॥
madhyastha eṣo'khilakāryajāte
madhyastha ukto layayogabhājanam ॥ 26 ॥

Tr. One who remains balanced in all the activities and is tranquil, restrained, merciful, is sweet-speaking and is pious (in intention) and balanced is qualified for *layayoga*. 26.

अथ साधकस्योत्तरसाधकलक्षणः[2] –

atha sādhakasyottarasādhakalakṣaṇaḥ –

Characteristic of a progressive *sādhaka*—

नैष योगः प्रसिद्ध्यति[3] विना ह्युत्तरसाधकम् ।
स चाप्तो[4] हितकृन्मित्रं गम्भीरो बुद्धिमान् सुखी[5] ॥ २७ ॥

naiṣa yogaḥ prasiddhyati vinā hyuttarasādhakam ।
sa cāpto hitakṛnmitraṃ gambhīro buddhimān sukhī ।27।

Tr. Without being progressive, *yoga* does not bear fruits. Such a *yogī* is authentic, affable, friendly, serious, intelligent and joyous. 27.

Note: cf. *kumbhaka paddhati* verse no.287. 27.

---

1. योगभाजने –b. 2. क्षणः -अनुपलब्धपाठः -b, साधकलः -a. 3. प्रसिध्येति –a. 4. चाप्नो –b. 5. मुखी –b.

योगासनं मौनमथो[1] तितिक्षा मिताशनं निःस्पृहता समत्वम् ।
व्यापारमात्रं प्रविहाय गुप्तं श्रयीत चेति प्रविधाय योगम् ॥ २८ ॥

yogāsanaṃ maunamatho titikṣā
mitāśanaṃ niḥspṛhatā samatvam ॥
vyāpāramātraṃ pravihāya guptaṃ
śrayīta ceti pravidhāya yogam ॥ 28 ॥

Tr. Adopting *yoga*, one should practise *yogic* postures, observe silence, fortitude, take moderate diet, remain indifferent, balanced, should give up all activities and remain in a secluded place. 28.

वर्णाश्रमाचाररतो यमान्वितो वेत्ता क्रियास्थानपदादि[2] वायोः ।
नाड्युद्गमस्थानविधानकृत्[3] सुधीः पवित्रयुक्तान्नविहारसेवी ।२९।

varṇāśramācārarato yamānvito
vettā kriyāsthānapadādi vāyoḥ ॥
nāḍyudgamasthānavidhānakṛt sudhīḥ
pavitrayuktānnavihārasevī ॥ 29 ॥

Tr. He remains devoted to the regimen prescribed as per his *varṇa* and *āśrama*, practices the *yamas*, well versed in the practices, locations and *quantity* (of practice) etc. of *prāṇa*, and also can manage with the roots of the *nāḍīs*, is gentle and takes (moderate) wholesome and pure food and activities. 29.

आलस्यनिद्राविविवर्जितोऽन्तराभ्यासवैराग्ययुतो जितासनः ।
मुनिर्गुणैश्चेति युतो यदा स्यात् प्रशस्यते नाडिविशुद्धये तदा[4]।३०।

ālasyanidrādivivarjito'ntarābhyāsa-
vairāgyayuto jitāsanaḥ ॥
munirguṇaiśceti yuto yadā syāt
praśasyate nāḍiviśuddhaye tadā ॥ 30 ॥

Tr. A *muni*, who has overcome laziness, sleep etc., is devoted to higher *yoga* practices and detachment, mastered the *āsanas* and is virtuous, is eligible for purification of the *nāḍīs*. 30.

युग्ममथ –

---

1. पथो –b. 2. यदादि –b. 3. विधनकृत् -a. 4. युक्तान्नविहारसेवी । आलस्यनिद्राविवर्जितोऽन्तराभ्यासवैराग्ययुतो जितासनः । मुनिर्गुणैश्चेति युतो यदा स्यात् प्रशस्यते नाडिविशुद्धये तदा ॥ –अनुपलब्धपाठः -b.

yugmamatha —

A *śloka* follows—

जीवशक्तिकुण्डली जाग्रदवस्था मूर्तिबीजम्[1] ॥ ३१ ॥

jīvaśaktikuṇḍalī jāgradavasthā mūrtibījam ॥ 31 ॥

Tr. *kuṇḍalī* which is the *jīvaśakti* (vital force of life), is the *bīja* (essence) of the body in the awakening state. 31.

बुद्धीन्द्रियमनसां या जाग्रदवस्था ह्यसौ मोहः ।
जीवस्यात्मज्ञानाभावो यः कर्मसंसृतिः सोक्ता ॥ ३२ ॥

buddhīndriyamanasāṃ yā jāgradavasthā hyasau mohaḥ
jīvasyātmajñānābhāvo yaḥ karmasaṃsṛtiḥ soktā ॥ 32 ॥

Tr. The awakening state of intelligence, senses and mind (actually) is a state of delusion. (Because) it is said that involvement into *karma* occurs due to absence of Self-realization of a *jīva*. 32.

सुप्तदशा यात्मशक्त्या कुण्डल्या अविद्यया वपुषि ।
आधारे मलगर्त्तेऽविद्याकर्माशये स्वप्नात् ॥ ३३ ॥

suptadaśā yātmaśaktyā kuṇḍalyā avidyayā vapuṣi ।
ādhāre malagartte'vidyākarmāśaye svapnāt ॥ 33 ॥

Tr. In the sleep or dream, the *kuṇḍalī*, through the power of the self-knowledge remains at the *ādhāra* (*cakra*) in the body which is full of impurities, is absorbed in ignorance and the depository of *karma*. 33.

तत्स्पन्दपुर्यष्टकमात्तमोहं[2] चलं मुनेः प्राणनिरोधने पुरा ।
अभ्यासतो ज्ञानदसत्वबीजोन्मुखं जडा स्वप्नदशा तदा भवः ।३४।

tatspandapuryaṣṭakamāttamohaṃ
calaṃ muneḥ prāṇanirodhane purā ॥
abhyāsato jñānadasatvabījonmukhaṃ
jaḍā svapnadaśā tadā bhavaḥ ॥ 34 ॥

Tr. In the beginning of the practice of *prāṇāyāma*, in the body, which has eight *puras*, wherein the force of life vibrates, and wherein the inert state of sleep reveals the creation, through practice a *muni* leans towards acquiring the *satvabīja* which bestows wisdom by removal of delusion. 34.

1. स्फूर्त्तिबीजम् -b. 2. पात्तमोहं –b.

स्वाधिष्ठाने चालनायाममुद्राभ्यासैर्दीर्घं चालिता सैव यत्नाद् ।
वै तद्ग्रन्थिं[1] गौणमाभिद्य शक्तिः सत्वं धत्ते योगदं शान्तिभाजे ॥३५॥

svādhiṣṭhāne cālanāyāmamudrā-
bhyāsairdīrgham cālitā saiva yatnād ॥
vai tadgranthim gauṇamābhidya śaktiḥ
satvaṃ dhatte yogadaṃ śāntibhāje ॥ 35 ॥

Tr. Prolonged practice of *(śakti-)cālana, prāṇāyāma* and *mudrā* at the *svādhiṣṭhāna* forcefully pierces the knot (*granthi*) therein and moves the *śakti* from other attributes to the *satva* state which begets peace and success in *yoga*. 35.

इयं कुण्डल्याः जाग्रतदशा ॥

iyaṃ kuṇḍalyāḥ jāgratadaśā ॥

This is the awakened state of *kuṇḍalī*.

नृणां हि मायाशबलं सुलिंगमोम् ब्रह्मशक्तेर्वलयान्तराले ।
आधारचक्रोपरि जीवशक्तिर्यत् स्पन्दपुर्यष्टकमात्मबन्धः ॥ ३६ ॥

nṛṇāṃ hi māyāśabalaṃ suliṅgam-
oṃ brahmaśakter valayāntarāle ॥
ādhāracakropari jīvaśaktir-
yat spandapuryaṣṭakamātmabandhaḥ ॥ 36 ॥

Tr. In the human beings the attribute of *māyā* as *OM*, the Absolute (*liṅga*) is located at the center of the *brahmaśakti*, which is placed above the *ādhāraśakti*, wherein the vital energy of *jīva* vibrates and wherein the Soul is confined in the body abode. 36.

अस्याः प्रबोधार्थमुदीरितोऽयं यमादिपूर्वो हठयोग आद्यैः ।
हन्ता[2] च कर्माशयबीजकस्य क्लेशादिभूमेः शुभसिद्धिसप्त ।३७।

asyāḥ prabodhārthamudīrito'yaṃ
yamādipūrvo haṭhayoga ādyaiḥ ॥
hantā ca karmāśayabījakasya
kleśādibhūmeḥ śubhasiddhisapta ॥ 37 ॥

Tr. The ancients have recommended the course of *haṭha* preceded by *yama* etc. to be practised to awaken her (the latent *kuṇḍalī*). Thus one can overcome the root cause of residue of *karma* which forms the very substratum of *kleśa* and the like

1. यत्नाद्वैतग्रन्थिं –a. 2. हंजा –a.

and enjoy the seven Blissful Stages. 37.

तथा चोक्तं गीतायाम् —

tathā coktaṃ gītāyām —

It is therefore, said in the *gītā*—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्त्ति संयमी ।

यस्यां जाग्रति[1] भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ इति ॥ ३८ ॥

yā niśā sarvabhūtānāṃ tasyāṃ jāgartti saṃyamī ।

yasyāṃ jāgrati bhūtāni sā niśā paśyato muneḥ ॥ *iti* ॥ 38 ॥

Tr. A *yogī* keeps awake in the night when all creatures sleep. When all creatures keep awake, it is night for a *muni*. 38.

केरलतन्त्रेऽपि –

keralatantre'pi —

So also in *keralatantra*—

सर्वतत्वानि देवेशि कुण्डलिन्यां विभासते[2] ।

यस्य यस्य यथाभासः तत्तद्रूपेण भासते ॥ इति ॥ ३९ ॥

sarvatatvāni deveśi kuṇḍalinyāṃ vibhāsate ।

yasya yasya yathābhāsaḥ tattadrūpeṇa bhāsate ॥ *iti* ॥ 39 ॥

Tr. O *devi*! All the *tatvas* get revealed in *kuṇḍalinī*. A *tatva* is revealed according to ones own nature. 39.

॥ इति सुन्दरदेवविरचितायां हठतत्वकौमुद्यां साधकलक्षणादिविवेचनोद्योतः ॥

॥ iti sundaradevaviracitāyāṃ haṭhatatvakaumudyāṃ sādhakalakṣaṇādivivecanodyotaḥ ॥

Thus ends the *sādhakalakṣaṇādivivecanodyota* in *haṭhatatvakaumudī* composed by *sundaradeva*.

1. जागर्त्ति -b. 2. विभाषते –b.

Chapter—6

अथ यमनियमौ –

atha yamaniyamau—

***yama* and *niyama*—**

ज्ञानपूर्वकमभ्यासादाविवेकान्तमात्मिनः ।

ज्ञानदीप्तिस्तारतम्यात् स्याद् हृत्क्लेशक्षयात्मिका ॥ १ ॥

jñānapūrvakamabhyāsādāvivekāntamātminaḥ ।

jñānadīptistāratamyāt syād hṛtkleśakṣayātmikā ॥ 1 ॥

Tr. A seeker of *ātman* should practise with full knowledge (of *yoga*) thus reaching to the end of the power of discrimination which brings about steady revelation of the light of wisdom which eliminates the *kleśas* dwelling in the heart. 1.

अहिंसाऽमृतं ब्रह्मचर्यार्जवे च

क्षमाऽस्तेयशौचं धृतिश्चानुकम्पा ॥

मिताहार इत्थं दशामी यमाख्याः

शुभा याज्ञवल्क्योदिता[1] योगसिद्ध्यै ॥ २ ॥

ahiṃsā'mṛtaṃ brahmacaryārjave ca

kṣamā'steyaśaucaṃ dhṛtiścānukampā ॥

mitāhāra itthaṃ daśāmī yamākhyāḥ

śubhā yājñavalkyoditā yogasiddhyai ॥ 2 ॥

Tr. Non-violence, Truth (*amṛta*), celibacy, straightforwardness, forgiveness, non-stealing, cleanliness, fortitude, compassion and moderate diet—these auspicious ten are called *yamas* by *yājñyavalkya* for the success of *yoga*. 2.

Note: *amṛta* is not mentioned in *yājñavalkya*, instead it is *satya*. 2.

इति यमाः ॥

iti yamāḥ ॥

These are the *yamas*.

आस्तिक्यसन्तोषतपोऽच्युतार्चा-

सिद्धान्तसाधुश्रवणादि दानम् ॥

लज्जा जपः[2] सन्मतिरित्यमेते[3]

प्रोक्ता मुनीन्द्रैः नियमाः दशात्र[4] ॥ ३ ॥

---

1. यातवलोक्यादिता -b. 2. अनुपलब्धशब्दः -b. 3. रित्यमेते –b. 4.दशास्त्र -a.

āstikyasantoṣatapo'cyutārcā-
siddhānta-sādhuśravaṇādi dānam ||
lajjā japaḥ sanmatiritthamete
proktā munīndraiḥ niyamāḥ daśātra || 3 ||

Tr. Belief (in God), contentment, austerity, worship of *acyuta* (God), listening to doctrines (laid down in the scriptures) and saints, generosity, modesty, *japa* and noble intention — these are the ten *niyamas* told by the great *munis*. 3.

इति नियमाः ॥

iti niyamāḥ ||

These are the *niyamas*.

या[1] जातिकालसमय[2]देशैर्भिन्ना चतुर्विधैः ।
न हनिष्येति हिंसाऽलं तन्महाव्रत[3]मुच्यते ॥ ४ ॥

yā jātikālasamayadeśairbhinnā caturvidhaiḥ |
na haniṣyeti hiṃsā'laṃ tanmahāvratamucyate || 4 ||

Tr. "I will not kill" — irrespective of the four states like species, season, time and place — (to adhere to such a commitment) for ever is *ahiṃsā* which is a *mahāvrata*. 4.

अहिंसेत्युपलक्षणम् । एवं सत्यादिषु यथायोगं योज्यम् । कृतकारितेरणकृत् लोभविमोहादिकांश्च मृदुमध्याः अधिमात्रादुःखाविदसंख्यफला । एषु भावनं विपक्षतया[4] ॥ ५ ॥

ahiṃsetyupalakṣaṇam | *evaṃ satyādiṣu yathāyogaṃ yojyam* | *kṛtakāriteraṇakṛt lobhamohādikāṅśca mṛdumadhyāḥ adhimātraduḥkhāvidasaṃkhyaphalā* | *eṣu bhāvanaṃ vipakṣatayā* || 5 ||

Tr. An example of *ahiṃsā* has been provided above, which may be applied appropriately in all the subjects like *satya* etc.

Involving directly (*kṛta*), indirectly (*kārita*) or giving consent to the acts being motivated by greed, delusion in the states mild (*mṛdu*), moderate (*madhya*) and intense (*adhimātra*) will result in innumerable suffering. Whenever one suffers one should think in opposite manner. 5.

---

1. य –a. 2. समये –b. 3. तन्माहाद्य –b. 4. विशतया –b.

Note: cf. PYS-ii. 34.

तथा चोक्तं विरक्तसर्वस्वे –

tathā coktaṃ viraktasarvasve --

It is said in *viraktasarvasva*—

स्त्रीतैलामिषवर्जितं[1] कतिपये ग्रासाः पवित्रार्थतस्[2]
त्रिःस्नानं रहसि स्थितिः हृदि[3] हरिध्यानं वचः संयमः ॥
औदासीन्यमशेषवस्तुषु दया सर्वेषु भूतेष्वपि[4]
क्षान्तिः सागसिनस्पृहा[5] क्वचिदपीत्येतन् मुमुक्षोर् व्रतः ।इति[6]।६।

strītailāmiṣavarjitaṃ katipaye grāsāḥ pavitrārthatas
triḥsnānaṃ rahasi sthitiḥ hṛdi haridhyānaṃ vacaḥ saṃyamaḥ ॥
audāsīnyamaśeṣavastuṣu dayā sarveṣu bhūteṣvapi
kṣāntiḥ sāgasinaspṛhā kvacidapītyetan mumukṣor vrataḥ ॥ *iti* ॥6॥

Tr. Giving up woman, oil and meat, (sticking to) moderate diet, pious intention, bathing thrice a day, living in a desolate place, meditation on *hari* in the heart, restraint of speech, detachment, compassion towards all the creatures, forbearance, desirelessness, indifference — these are the vows of the one seeking emancipation. 6.

यमनियम उभाभ्यां पूर्वमासाद्य शौच-
मनसि विविधयोनिक्रूरदुर्वासनाद्ये ॥
भृशशमलविलोले शौचयुग्मादिनालं
तदऽमलगुण[7]सम्पद्दर्शने सच्छडंगः[8] ॥ ७ ॥

yamaniyama ubhābhyāṃ pūrvamāsādya śauca-
manasi vividhayonikrūradurvāsanādye ॥
bhṛśaśamalavilole śaucayugmādinālaṃ
tada'malaguṇasampaddarśane sacchaḍaṅgaḥ ॥ 7 ॥

Tr. One should first of all get proficient in the practice of *yama* and *niyama*, with a purified mind, one should get rid of the incriminating desires imbibed (in several previous lives), which pull one down to the whirlpool of suffering, and resort to both internal and external purity. Thus one attains the divine virtues through the practice of six components of *yoga*. 7.

1. वर्जिनं -a. 2. पवित्रार्थस्त्रिः -b. 3. स्यदि -b. 4. भूतेद्यपि -b. 5. सागसिनसपृहा -b. 6. व्रतमिति -b. 7. गुणं -b. 8. द्दर्शनेसच्छंगः -a.

षडंगयोगाभ्यसनं विनाभ्यां वृथा न सिद्धिं विदधाति जन्मिनाम् ।
न सम्प्रसादो हृदि दुर्मलाक्षे[1] सत्वं यमाभ्यां हठयोगभाजाम् ॥८॥

ṣaḍaṅgayogābhyasanaṃ vinābhyāṃ
vṛthā na siddhiṃ vidadhāti janminām ॥
na samprasādo hṛdi durmalākṣe
satvaṃ yamābhyāṃ haṭhayogabhājām ॥ 8 ॥

Tr. For a living being, practice of six-fold *yoga* cannot be had without these two (*yama* and *niyama*), nor the pacification of the heart which is full of impurity can be attained. The practitioners of *haṭha* can attain *satva* through *yama* and *niyama*. 8.

यदि शक्य एतौ भवौ[2] ॥

yadi śakya etau bhavau ॥

One must aspire for these two, if possible.

॥ इति हठतत्वकौमुद्यां यमनियमोद्योतः ॥

॥ iti haṭhatatvakaumudyāṃ yamaniyamodyotaḥ ॥

Thus ends the chapter of *yama-niyama* of *haṭhatatvakaumudī*.

---

1. दुर्मलाक्ष्ये –h. 2. अनुपलब्धपङ्क्तिः -a.

Chapter—7

अथासनानि –

athāsanāni –

The **āsanas**—

सम्प्राप्तबीजभावो यमनियमाभ्यामयं योगः ।
प्राणायामासनकैरंकुरवान् साधकस्य भवेत् ॥ १ ॥

samprāptabījabhāvo yamaniyamābhyāmayaṃ yogaḥ ।
prāṇāyāmāsanakairaṅkuravān sādhakasya bhavet ॥ 1 ॥

Tr. On attainment of *bījabhāva* (foundation in *yoga* practices) by the practice of *yama-niyama*, this *yoga* flourishes (sprouts) for a *yogi* through *prāṇāyāma* and *āsana*. 1.

स्यादासने[1] स्थैर्यमरोगतांगेषु लाघवं दुःखसुखोष्ण[2]शीतैः ।
द्वन्द्वैर्जितेऽस्मिन् अभिभूयते नानन्ते समापत्तितया यमाभ्याम् ।२।

syādāsane sthairyamarogatāṅgeṣu
lāghavaṃ duḥkhasukhoṣṇaśītaiḥ ॥
dvandvairjite'smin abhibhūyate
nānante samāpattitayā yamābhyām ॥ 2 ॥

Tr. One gets stability, good health and lightness in the limbs through *āsanas* and moreover, overcomes the duality of happiness and suffering, heat and cold, by meditating on infinity and practice of *yama* and *niyama*. 2.

साधनत्रयमिदं मरुज्जये प्रोदितं हि मितजग्धिविष्टरे ।
शक्तिचालमथ साधनयुग्मं नाभिवायुधृति नाडिचालनम्[3] ॥ ३ ॥

sādhanatrayamidaṃ marujjaye
proditaṃ hi mitajagdhiviṣṭare ॥
śakticālamatha sādhanayugmaṃ
nābhivāyudhṛti nāḍicālanam ॥ 3 ॥

Tr. Moderate diet, (mastery in) *āsanas* and *śakticālana*—these three means are (recommended) for control over *prāṇa*. Retention of *prāṇa* at the navel and (moving the) *prāṇa* into the *nāḍīs* are the two means . 3.

नियमैश्च यमैर्विषाणि रोगाः प्रविनश्यन्ति सुसंयुतस्य पीठैः ।
चिरकालयदान्तरा[4] असाध्या यमिनः साधुजिताशनस्य पुंसः ।४।

---

1. स्यासने –b. 2. दुःखमुखोष्म –b. 3. चालन –b. 4. पदान्तरा –b.

niyamaiśca yamairviṣāṇi rogāḥ
pravinaśyanti susaṃyutasya pīṭhaiḥ ॥
cirakālayadāntarā asādhyā
yaminaḥ sādhujitāśanasya puṃsaḥ ॥ 4 ॥

Tr. A *yogī*, who is well-balanced, has control over food intake can alleviate the chronic and incurable diseases and toxicity through the practice of *yama*, *niyama* and *āsana*. 4.

अथ तेषु नाडीशुद्ध्युपयोग्यासनद्वयम् —

atha teṣu nāḍīśuddhyupayogyāsanadvayam —

Here are the two *āsanas* helpful in purification of the *nāḍīs*:

पादांगुष्ठौ पाणियुग्मेन धृत्वा कर्णावध्या[1]कर्षयेत् स्वस्य शश्वत् ।
कुर्याच्चापाकर्षणं[2] प्रोक्तमेतदालस्यघ्नं दोषजिन्नाडीशुद्धौ ॥ ५ ॥

pādāṅguṣṭhau pāṇiyugmena dhṛtvā
karṇāvadhyākarṣayet svasya śaśvat ॥
kuryāccāpākarṣaṇaṃ proktametad-
ālasyaghnaṃ doṣajinnāḍīśuddhau ॥ 5 ॥

Tr. Catch hold of the toes with the hands and pull them upto the ear repeatedly. This removes inertia, overcomes humoral disorders and consequently helps in purifying the *nāḍīs*. 5.

इति नाडीशुद्धौ धनुरासनम् ॥

iti nāḍīśuddhau dhanurāsanam ॥

This is *dhanurāsana* for *nāḍīśuddhi*.

अथ कुक्कुटासनम् -

atha kukkuṭāsanam —

***kukkuṭāsana* —**

पद्मासनं तु संस्थाप्य जानूर्वोरन्तरे करौ ।
निवेश्य भूमौ संस्थाप्य व्योमस्थः कुक्कुटासनम् ॥ ६ ॥

padmāsanaṃ tu saṃsthāpya jānūrvorantare karau ।
*niveśya bhūmau saṃsthāpya vyomasthaḥ kukkuṭāsanam*6

Tr. Adopt *padmāsana* and insert the hands between the thighs and the knees and place the palms on the ground and hoist the body in the air forming *kukkuṭāsana*. 6.

---

1. कर्णाविध्या –b. 2. च्चापाककर्षणं –b.

इति नाडीशुद्धौ कुक्कुटासनम् ॥

iti nāḍīśuddhau kukkuṭāsanam ॥

This is ***kukkuṭāsana*** in the context of ***nāḍīśuddhi***.

अथ शक्तिबोधोपयोगिज्वरामश[1]शूलादिरोगे मत्स्येन्द्रपीठम् —

atha śaktibodhopayogijvarāmaśūlādiroge matsyendrapīṭham —

matsyendrapīṭha **is being described which is helpful in arousal of *śakti* and which removes fever, pain due to *āma* (toxins) and the like.**

वामोरुमूलार्पितदक्षपादं जान्वोर्बहिर्वेष्टितवामदोष्ण्या ।
प्रगृह्य तिष्ठेत् परिवर्त्तितांगः श्रीमत्स्यनाथोदितमासनं[2] स्यात् ॥ ७ ॥

vāmorumūlārpitadakṣapādaṃ
jānvorbahirveṣṭitavāmadoṣṇyā ॥
pragṛhya tiṣṭhet parivarttitāṅgaḥ
śrīmatsyanāthoditamāsanaṃ syāt ॥ 7 ॥

Tr. The right foot is placed at the root of the left thigh. The left leg is placed by the outer side of the right knee. Holding the left leg by the right hand and twisting the body, one remains steady. This posture comes from *śrīmatsyendranātha*. 7.

मत्स्येन्द्रपीठं जठरप्रचण्ड[3]रुङ्मण्डलखण्डन[4]खण्डनास्त्रम् ।
अभ्यासतः कुण्डलिनीप्रबोधं दण्डस्थिरत्वं च ददाति पुंसाम् ।८।

matsyendrapīṭhaṃ jaṭharapracaṇḍa-
ruṅmaṇḍalakhaṇḍanakhaṇḍanāstram ॥
abhyāsataḥ kuṇḍalinīprabodhaṃ
daṇḍasthiratvaṃ ca dadāti puṃsām ॥ 8 ॥

Tr. Practice of *matsyendrāsana* enhances the digestive functioning and works like a weapon to destroy hosts of severe ailments. It also helps arousal of *kuṇḍalinī* and gives stability to the spine. 8.

इति शक्तिबोधे मत्स्येन्द्रपीठम् ॥

iti śaktibodhe matsyendrapīṭham ॥

This is ***matsyendrāsana*** for the arousal of ***kuṇḍalinī***.

---

1. योमिज्यराम -b. 2. दितिमासनं –b. 3. जठरप्रचण्डं –b. 4. खण्डन – अनुपलब्धपाठः -b.

अथ मयूरासनं ज्वरोदरगुल्मामाजीर्णशूलविषादिहरम् —

atha mayūrāsanaṃ jvarodaragulmāmājīrṇaśūlaviṣādiharam

Here follows *mayūrāsana* which alleviates fever, dropsy, inflammation, toxins, indigestion, severe pain, toxicity and the like —

धरामवष्टभ्य करद्वयाभ्यां तत् कूर्परस्थापितनाभिपार्श्वः ।
उच्चासनो दण्डवदुत्थितः[1] खे मायूरमेतत् प्रवदन्ति पीठम् ॥ ९ ॥

dharāmavaṣṭabhya karadvayābhyāṃ
tat kūrparasthāpitanābhipārśvaḥ ॥
uccāsano daṇḍavadutthitaḥ khe
māyūrametat pravadanti pīṭham ॥ 9 ॥

Tr. Both the palms are placed on the ground. Elbows are placed on the respective sides of the navel and the body is raised in the air like a horizontal stick. This is called *mayūrapīṭha*. 9.

ज्वरमथ रसदोषान्[2] हन्ति गुल्मोदरादीन्
अभिभवति च दोषानासनं[3] श्रीमयूरम् ॥
बहुकदशनभुक्तं भस्मकुर्यादशेषं
जनयति जठराग्निं जारयेत् कालकूटम् ॥ १० ॥

jvaramatha rasadoṣān hanti gulmodarādīn
abhibhavati ca doṣānāsanaṃ śrīmayūram ॥
bahukadaśanabhuktaṃ bhasmakuryādaśeṣaṃ
janayati jaṭharāgniṃ jārayet kālakūṭam ॥ 10 ॥

Tr. *mayūrāsana* removes fever, disorders related to plasma (*rasa*), spleen and the stomach and alleviates the imbalances caused due to the humours. It also digests excess of food and accelerates digestive fire to such an extent as to digest even poison (*kālakūṭa*). 10.

इति वह्निमान्द्यामरसज्वरादौ मयूरासनम् ॥

iti vahnimāndyāmarasajvarādau mayūrāsanam ॥

This is *mayūrāsana* for poor digestion, disorders of *āma* (toxins), *rasa* (plasma) and fever etc.

---

1. वदास्थितः -b. 2. दोषां -b. 3. दोषानासन -b.

अथ चित्तविश्रान्तौ शवासनम् —

atha cittaviśrāntau śavāsanam —

śavāsana **follows for pacification of the mind—**

उत्तानमूर्व्यां शयनं विधाय
प्रसार्य पादौ करसम्पुटं हृदि[1] ॥
नासाग्र आधाय दृशं[2] स्मरन् शिवं
पृष्ठोत्थितिर्यत्र शवासनं हि तत् ॥ ११ ॥

uttānamūrvyāṃ śayanaṃ vidhāya
prasārya pādau karasampuṭaṃ hṛdi ॥
nāsāgra ādhāya dṛśaṃ smaran śivaṃ
pṛṣṭhotthitiryatra śavāsanaṃ hi tat ॥ 11 ॥

Tr. One lies on the ground in supine position, legs are apart, placing the folded palms on the chest, gaze fixed at the tip of the nose while meditating on *śiva*. This is *śavāsana*. 11.

शवासनं हृत्कुपितवातग्रन्थिविभेदकम् ।
सर्वासनश्रान्तिजितृहृत्[3]श्रमघ्नं योगि[4]सौख्यदम् ॥ १२ ॥

śavāsanaṃ hṛtkupitavātagranthivibhedakam ।
sarvāsanaśrāntijithṛt-śramaghnaṃ yogisaukhyadam ।12।

Tr. Practice of *śavāsana* cures the knots (obstructions) caused due to vitiated *vāta* in the chest, removes the fatigue of the body and mind arising due to the practice of all the *āsanas* and exhaustion. This brings wellbeing to the *yogī*. 12.

सर्वासनानि सिद्धपद्मादीनितः[5] श्रान्तिपरिश्रमस्तं[6] जयतीति जित् । पुनः[7] हृत् हृदश्चित्तस्य[8] विश्रान्तिकरं शयने चित्तं स्वास्थ्यं भवति ॥ १३ ॥

sarvāsanāni siddhapadmādīnitaḥ śrāntipariśramastaṃ jayatīti jit । *punaḥ hṛt hṛdaścittasya viśrāntikaraṃ śayane cittaṃ svāsthyaṃ bhavati* ॥ 13 ॥

Tr. All the *āsanas* like *siddha, padma* etc. lead to success (in *yoga*), bring rest to tired body, *hṛt* means heart (or chest), rest to the *citta* happens on lying and *citta* becomes poised. 13.

इति शवासनम् ॥

---

1. ह्यदि –b. 2. दशं –a. 3. सर्वाश्रान्तिजित् हृत् -b. 4. श्रमप्रयोगि –b. 5. सिद्धयप्राद्दीनितः -a. 6. श्रमस्नं –b. 7. जयतीति जितः पुनः -b. 8. स्ययस्वसश्चित्तस्य –b.

iti śavāsanam ||

This is ***śavāsana.***

अथ वातरोगेषु सिंहासनम् —

atha vātarogeṣu siṃhāsanam —

siṃhāsana for diseases caused due to *vāta* humour—

गुल्फौ सीवन्याः[1] क्षिपेत् पार्श्वे युग्मे
मेढ्रस्याधो दक्षिणे सव्यगुल्फम्[2] ||
सव्ये गुल्फं दक्षिणं स्थाप्य हस्तौ[3]
जान्वोः कृत्वा स्वांगुलीः सम्प्रसार्य || १४ ||

gulphau sīvanyāḥ kṣipet pārśve yugme
meḍrasyādho dakṣiṇe savyagulpham ||
savye gulphaṃ dakṣiṇaṃ sthāpya hastau
jānvoḥ kṛtvā svāṅgulīḥ samprasārya || 14 ||

नासाग्रं स्वं वीक्षयेद् व्यात्तवक्त्रश्चित्तै[4]काग्र्यं स्वं विधाय स्वलक्ष्ये ।
एतत्[5] पीठं योगसिंहासनाख्यं सन्धानं स्यादत्र बन्ध[6]त्रयाणाम् ||१५||

nāsāgraṃ svaṃ vīkṣayed vyāttavaktraś-
cittaikāgryaṃ svam vidhāya svalakṣye ||
etat pīṭhaṃ yogasiṃhāsanākhyaṃ
sandhānaṃ syādatra bandhatrayāṇām || 15 ||

Tr. The two ankles are placed under the scrotum on both the sides of the perineum, in such a manner that the left ankle is on the right and the right on the left side. Thereafter, one places the palms on the knees, spreading the fingers out and keeping the mouth wide open; one fixes the gaze on the tip of the nose and keeps the mind fixed on the Self. This is *yogasiṃhāsana*, which helps to form the three *bandhas*. 14-15.

नाड्यः स्वव्यापारपराभवन्ति हस्तपादयोर्लाघवं भवति । वृषणाधर सीवनीपार्श्वकः[4] || इति शेषः || १६ ||

nāḍyaḥ svavyāpāraparābhavanti hastapādayorlāghavaṃ bhavati | *vṛṣaṇādhara sīvanīpārśvakaḥ* | *iti śeṣaḥ* || 16 ||

Tr. *nāḍīs* regain their normal functioning. All limbs like hands and legs gain lightness. Under the scrotum means the side of the perineum. 16.

1. सीदन्याः -b. 2. सव्यगुल्फे –b. 3. हस्तो –b. 4. स्वं वीक्षयेद्वातचक्रश्चित्तौ – b. 5. पतत् -b. 6. बन्धन –a. 7. वृषणाधठसीदनोपार्श्वक –b.

इति पातरोगे योगसिंहासनम् ॥

iti vātaroge yogasiṃhāsanam ॥

This is *yogasiṃhāsana* for disorders of *vāta* humour.

अथ कफवातरोगे भद्रासनम् —

***bhadrāsana* for disorders of *kapha* and *vāta*:**

सत्सीवनी पार्श्वयुगे स्वगुल्फावधोऽण्डकोशस्य विधाय तिष्ठेत् ।
दोर्भ्यां च पार्श्वे चरणौ निबध्य भद्रं कफक्ष्वेडसमीरहारि ।१७।

satsīvanī pārśvayuge svagulphāvadho-
'ṇḍkośasya vidhāya tiṣṭhet ॥
dorbhyāṃ ca pārśve caraṇau nibadhya
bhadraṃ kaphakṣveḍasamīrahāri ॥ 17 ॥

Tr. The two ankles are placed under the scrotum on the sides of the perineum. One holds the feet with the hands. This is *bhadrāsana*, which removes disorders of *kapha*, toxins and *vāta*. 17.

सर्वरोगमनःस्थैर्यकरं[1] भद्रासनम् ॥

sarvarogamanaḥsthairyakaraṃ bhadrāsanam ॥

This is *bhadrāsana* which removes all the diseases and offers mental stability.

अथ मनःस्थैर्यकरं वीरासनम् —

atha manaḥsthairyakaraṃ vīrāsanam —

Now *vīrāsana* for mental stability—

एकस्मिन्नुरुसंस्थितमेकं पादं[2] चरेद्योगी ।
इतरस्मिन् ऊरुमिदं वीरासनमीरितं धीरैः ॥ १८ ॥

ekasminnurusaṃsthitamekaṃ pādaṃ caredyogī ।
itarasmin ūrumidaṃ vīrāsanamīritaṃ dhīraiḥ ॥ 18 ॥

Tr. One foot is placed on the opposite thigh and the other foot under the opposite thigh. This is *vīrāsana* according to the adepts. 18.

वीरासनमनःस्थैर्यकरमुत्साहवीर्यकृत् ।
लक्ष्यसन्धान[3]जननं सुखासनमनामयम्[4] ॥ १९ ॥

vīrāsanamanaḥsthairyakaramutsāhavīryakṛt ।
lakṣyasandhānajananaṃ sukhāsanamanāmayam ॥ 19 ॥

Tr. *vīrāsana* gives mental stability, enhances enthusiasm

---

1. कारं –b. 2. मेकपादं –b. 3. लक्ष्यसन्धनं –b. 4. सुखासनमानामयम् -b.

and stamina. It helps achieving the goal. It is comfortable and it removes diseases. 19.

इति वीराश्नम् ॥

iti virāsnam ॥

This is *virāsana*.

अथाशीतिवातहरं कूर्माश्नम् —

athāśītivātaharaṃ kūrmāsanam —

Now *kūrmāsana*, which removes the eighty varieties of *vāta* disorders—

गुल्फद्वयाभ्यां परिपीड्य पायुं जानुद्वयं भूमितले विधाय ।
कूर्मासनं योगिभिरेतदुक्तमशीतिवातामपहारि वर्यम्[1] ॥ २० ॥

gulphadvayābhyāṃ paripīḍya pāyuṃ
jānudvayaṃ bhūmitale vidhāya ॥
kūrmāsanaṃ yogibhiretaduktam
aśītivātāmapahāri varyam ॥ 20 ॥

Tr. One presses the anus with both the ankles (everted) while keeping the knees on the floor. This *kūrmāsana* is superior which alleviates all the eighty varieties of *vāta* disorders as said by the *yogīs*. 20.

इति कूर्माश्नम् ॥

iti kūrmāsanam ॥

This is *kūrmāsana*.

अथ राजयोगोपयोगि प्रशारिताश्नम् —

atha rājayogopayogi prasāritāsanam —

Now *prasāritāsana* suitable for *rājayoga*—

प्रणामितं तथोन्मुखं प्रसार्य दोर्द्वयं सुखम् ।
कृतोपधान[2]मासनं प्रसारितं सुयोगदम् ॥ २१ ॥

praṇāmitaṃ tathonmukhaṃ prasārya dordvayaṃ sukham ।
kṛtopadhānamāsanaṃ prasāritaṃ suyogadam ॥ 21 ॥

Tr. Turning the face upwards in a saluting pose, one keeps the hands widely spread out comfortably under the head like a pillow. This is *prasāritāsana*, which brings success in *yoga*. 21.

---

1. वयं –b. 2. कृतोपधन –a.

इति प्रसारितासनम् ॥

iti prasāritāsanam ॥

This is ***prasāritāsana***.

अथ प्राणायामोपयोगि पद्मासनम् —

atha prāṇāyāmopayogi padmāsanam —

Now ***padmāsana*** helpful in the practice of ***prāṇāyāma***—

शरीरसंसाधनहेतवे स्युः सर्वाणि पीठानि शिवोदितानि ।
सिद्धासनेनांबुरुहासनेन सुयोगनिष्पत्तिमुपैति योगी ॥ २२ ॥

śarīrasaṃsādhanahetave syuḥ
sarvāṇi pīṭhāni śivoditāni ॥
siddhāsanenāmburuhāsanena
suyoganiṣpattimupaiti yogī ॥ 22 ॥

Tr. All the *āsanas* as propagated by *śiva* are helpful for physical well-being. Adopting *siddhāsana* or *amburuhāsana* (*padmāsana*) a *yogī* attains the *niṣpatti* state. 22.

उत्तानौ चरणौ विधाय विधिवत्सक्थिस्थितौ[1] योगिराट्
उत्तानौ स्वकरौ च सक्थि[2]युगलान्ते साधु कृत्वा समौ ॥
नासाग्रे दृश[3]माविधाय चिबुकं चोत्तोल्य वक्षस्थलं[4]
मूलं साधुरसज्ञया[5]ऽभिकलयेत् स्वं राजदन्तस्य तत् ॥ २३ ॥

uttānau caraṇau vidhāya vidhivatsakthisthitau yogirāṭ
uttānau svakarau ca sakthiyugalānte sādhu kṛtvā samau ॥
nāsāgre dṛśamāvidhāya cibukaṃ cottolya vakṣasthalaṃ
mūlaṃ sādhurasajñayā'bhikalayet svaṃ rājadantasya tat ॥ 23 ॥

Tr. A *yogī* places the upturned feet on the thighs as prescribed. He places the hands upturned between two thighs and gazes at the tip of the nose. He raises the chest up and fixing the chin presses the root of the teeth (*rājadanta*) with the tongue. 23.

अपानमुत्थाप्य शनैः स्वशक्तितः प्राणं समाकृष्य च कुम्भकं चरेत्
धृत्वा यथाशक्त्यनुरेचयेच्छनैः वायुं गदघ्नं स्मृतमम्बुजासनम् ।२४।

---

1. वत्सविवस्थितौ –b. 2. सव्ये –b. 3. दश –a. 4. वक्षस्यऽलं –a. 5. रसतया –*b*.

apānamutthāpya śanaiḥ svaśaktitaḥ
prāṇaṃ samākṛṣya ca kumbhakaṃ caret ॥
dhṛtvā yathāśaktyanureccayecchanaiḥ
vāyuṃ gadaghnaṃ smṛtamabujāsanam ॥ 24 ॥

Tr. Gently one raises up the *apāna* as per the capacity and sucks the *prāṇa* and retains the air in. After retaining it up to the capacity one exhales in a sustained manner. This is *ambujāsana*, which alleviates diseases. 24.

युग्ममथ पद्मासनगुणाः—

yugmamatha padmāsanaguṇāḥ —

In the following two (stanzas), the benefits of *padmāsana* are described:

समस्तदोषज्वरदाहपित्तहरं गदघ्नं सरलं सुखावहम् ।
प्राणः समोऽस्मिन् चलति क्षणेन मुनेरनुष्ठानविधौ सरोरुहे २५

samastadoṣajvaradāhapitta-
haraṃ gadaghnaṃ saralaṃ sukhāvaham ॥
prāṇaḥ samo'smin calati kṣaṇena
muneranuṣṭhānavidhau saroruhe ॥ 25 ॥

Tr. Practice of *saroruha (padmāsana)* removes all the disorders caused due to humours, fever, burning and acidity. This makes the *prāṇa* moving smoothly in a balanced manner and quickly offers wellness. 25.

प्रभोजनान्ते कान्ताऽब्जमुखसेवनमाचर ।
मनोरमाहाररसारपरिणामसुखं भज ॥ २६ ॥

prabhojanānte kāntābjamukhasevanamācara ।
manoramāhārasāraparīṇāmasukhaṃ bhaja ॥ 26 ॥

Tr. After consuming a meal one should chew cardamom in the mouth (practice of *padmāsana*). Thus one would enjoy the advantage of proper digestion of a sumptuous meal. 26.

इति पद्मासनगुणाः ॥

iti padmāsanaguṇāḥ ॥

Here ends the description of the benefits of *padmāsana*.

पद्मासने कृत्यविशेषः ॥

Special instructions for *padmāsana*:

कृत्वा सम्पुटितौ करौ दृढतरं बध्वा च पद्मासनं
गाढं वक्षसि सन्निधाय चिबुकं ध्यानं च तच्चेतसि[1] ॥
वारं वारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोच्चालयन् पूरयन्[2]
मुञ्चन् प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्तिप्रभावोदयात् ॥ २७ ॥

kṛtvā samputitau karau dṛḍhataraṃ baddhvā ca padmāsanaṃ
gāḍhaṃ vakṣasi sannidhāya cibukaṃ dhyānaṃ ca taccetasi ॥
vāraṃ vāram-apānam-ūrddhvam-anilaṃ proccālayan pūrayan
muñcan prāṇam-upaiti bodham-atulaṃ śaktiprabhāvodayāt ॥ 27 ॥

Tr. Firmly adopt *padmāsana* and fold the hands, firmly press the chin against the chest, meditate on that (Supreme Reality). Move the *apāna* and *prāṇa* repeatedly upwards through inhalation and exhalation respectively. Thus one attains higher state of consciousness through the arousal of *śakti* (*kuṇḍalinī*). 27.

परमात्मनो यद्ध्यानं[3] तच्चेतसि निधाय अतुलबोधं[4] अतुलनाडिजालशोधनं प्राप्नोति वा । अतुलं ब्रह्मबोधं[5] प्रकाशस्तमुपैति बोधः[6] । अपानमूर्ध्वं प्रोच्चालयन् ऊर्ध्वमाकर्षयन् । अपानोर्ध्वकरणेन प्राणं पूरयन् पुनः ब्रह्मरन्ध्रे[7] त्यजन् । कस्मात् शक्तेः सामर्थ्यस्य वा । शक्तेः कुण्डलिन्याः प्रभावो जागरणं उदय उत्थानमूर्ध्वकरणं[8] तस्मात् ॥ २८ ॥

paramātmano yaddhyānaṃ taccetasi nidhāya atulabodhaṃ atulanāḍijālaśodhanaṃ prāpnoti vā । atulaṃ brahmabodhaṃ prakāśastamupaiti bodhaḥ । apānamūrddhvaṃ proccālayan ūrddhvamākarṣayan । apānorddhvakaraṇena prāṇaṃ pūrayan punaḥ brahmarandhre tyajan । kasmāt śakteḥ sāmarthyasya vā । śakteḥ kuṇḍlinyāḥ prabhāvo jāgaraṇaṃ udaya utthānamūrddhvakāraṇaṃ tasmāt ॥ 28 ॥

Tr. One should meditate on *paramātman*. The entire network of the *nāḍīs* is purified. Or rather one attains the

---

1. तच्येतसि –b. 2. रयन् -b. 3. पद्मासनम् -b. 4. अतुलं बोधं –b. 5. ब्रह्मबोधं बोधः -b. 6. अनुपलब्धपाठः -b. 7. ब्रह्मरन्ध्रं –b. 8. मूर्ध्वकारणं –a.

brahma-hood which is but immensely luminous. *apāna* is raised upwards and *prāṇa* is sucked upto the *brahmarandhra*. This is due to awakening of *kuṇḍalinī*. 28.

अथ बद्धपद्मासनं वातकफज्वरादौ –

atha baddhapadmāsanaṃ vātakaphajvarādau —

Now *baddha-padmāsana* for fever caused due to *vāta* and *kapha*—

वामोरूपरि दक्षिणं[1] च चरणं संस्थाप्य वामं तथा
दक्षोरुपरि[2] पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढम् ॥
अंगुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकयेद्
एतद् व्याधिविनाशकारि यमिनां पद्मासनं प्रोच्यते ॥ २९ ॥

vāmorūpari dakṣiṇaṃ ca caraṇaṃ saṃsthāpya vāmaṃ tathā
dakṣorupari paścimena vidhinā dhṛtvā karābhyāṃ dṛḍhaṃ ॥
aṅguṣṭhau hṛdaye nidhāya cibukaṃ nāsāgramālokayed
etad vyādhivināśakāri yamināṃ padmāsanaṃ procyate ॥ 29 ॥

Tr. Place the right foot on the left thigh and left foot on the right thigh and catch hold the big toes winding the hands over the back. Press the chin on the chest and fix the gaze on the tip of the nose. This is *padmāsana* which alleviates all the disorders of the *yogīs*. 29.

पद्मासनस्थितो योगी नाडीद्वारेषु पूरयन् ।
मारुतं धारयेद्यस्तु स मुक्तो नात्र संशयः ॥ ३० ॥

padmāsanasthito yogī nāḍīdvāreṣu pūrayan ।
mārutaṃ dhārayedyastu sa mukto nātra saṃśayaḥ ॥ 30 ॥

Tr. A *yogī* fills (the body) with air inhaled through the nostrils and holds it in. Doing so, one undoubtedly attains emancipation. 30.

अत्र सर्वनाडीनां द्वाराणि अभ्यन्तरं पूर्णं कुर्वन्नित्यर्थः ॥

atra sarvanāḍīnāṃ dvārāṇi abhyantaraṃ pūrṇaṃ kurvannityarthaḥ ॥

It means all the internal openings of the *nāḍīs* are filled (with *prāṇa*).

आसनपरिश्रमतो कार्यमाह –

1. रूपरदक्षिणां –b. 2. दक्ष्योरुपरि –b.

āsanapariśramato kāryamāha —

For removal of the fatigue arising out of the practice of *āsanas* certain practice is being recommended.

अत्र योगचन्द्रिकाकारः —

atra yogacandrikākāraḥ —

It is maintained by the author of *yogacandrikā*—

अंगानां मर्द्दनं कृत्वा श्रमजातेन वारिणा ।

कट्वम्ललवणत्यागी क्षीरभोजनमाचरेद् ॥ इति ॥ ३१ ॥

aṅgānāṃ marddanaṃ kṛtvā śramajātena vāriṇā ।

kaṭvamlalavaṇatyāgī kṣīrabhojanamācared ॥ *iti* ॥ 31 ॥

Tr. One should massage the limbs with the perspiration caused due to exertion. One gives up (the tastes like) bitter, sour and saline and consumes milk. 31.

स्वेदजलेनांगमर्द्दने लाघवं[1] भवति कटुशुण्ठ्यादि[2] इदम् ।

प्राणायामजस्वेद उक्तं तदासनश्रमेऽपि ज्ञेयमुत्सर्गः ॥ ३२ ॥

svedajalenāṅgamarddane lāghavaṃ
bhavati kaṭuśuṇṭhyādi idam ॥
prāṇāyāmajasveda uktaṃ
tadāsanaśrame'pi jñeyamutsargaḥ ॥ 32 ॥

Tr. Lightness is experienced if one massages the limbs with perspiration generated by the practice of *āsana*, *prāṇāyāma* and (consumption of) pungent (ingredients like) dry ginger etc. 32.

इति बद्ध[3]पद्मासनम् ॥

iti baddhapadmāsanam —

Thus ends *baddha-padmāsana*.

अथ सिद्धासनम् —

atha siddhāsanam —

***siddhāsana*—**

योनिस्थानकमंघ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसेन्
मेढ्रे पादमथैकमेव हृदये धृत्वा समं विग्रहम्[4] ॥
स्थाणुः संयमितेन्द्रियोऽचलदृशा पश्येद्[5] भ्रुवोरन्तरं
चैतन्मोक्ष[6]कपाटभेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते ॥ ३३ ॥

1. लघवं –b. 2. कटुश्रुत्यादि –b. 3. बध्व –b. 4. विग्रहे –b. 5. पश्ये –b. 6. मोक्ष्य –b.

yonisthānakamaṅghrimūlaghaṭitaṃ kṛtvā dhruvaṃ vinyaset
meḍhre pādamathaikameva hṛdaye dhṛtvā samaṃ vigraham ||
sthāṇūḥ saṃyamitendriyo'caladṛśā paśyed bhruvorantaram
caitanmokṣakapātabhedajanakaṃ siddhāsanaṃ procyate || 33 ||

Tr. One should press one heel firmly against the perineum and put the other foot over the organ of generation. He remains erect and steady keeping the image (of God) in the heart, controls the senses with the gaze fixed between the eyebrows. This is called *siddhāsana*, which opens the door to liberation. 33.

Note: In *haṭhapradīpikā* we find *hanuṃ susthiraṃ* instead of *samaṃ vigrahaṃ* which is quite appropriate. 33.

योनिं दृढं वामपदस्य पार्ष्णिना
सम्पीड्य तिष्ठेदिह साधकश्चिरम् ॥
मेढ्रोपरि[1] न्यस्य सुसावधः[2] पदं
वामेतरं स्थाप्य समं शरीरकम् ॥ ३४ ॥

yoniṃ dṛḍhaṃ vāmapadasya pārṣṇinā
saṃpīḍya tiṣṭhediha sādhakaściram ||
meḍhropari nyasya susāvadhaḥ padaṃ
vāmetaraṃ sthāpya samaṃ śarīrakam || 34 ||

Tr. Perineum is firmly pressed with the left heel. Other (right) foot is placed on the organ of generation and the practitioner maintains this position carefully for a long time while keeping the body erect. 34.

मुहूर्मुहुः कम्बुनिमार्गमुच्चैः[3] संकोचयेत् साधकः आसनेऽस्मिन् ।
गुरूक्तमार्गेण समोर्ध्वदृष्टिं[4] कुर्यादपानस्य जयाय दीर्घम् ॥ ३५ ॥

muhūrmuhuḥ kambunimārgamuccaiḥ
saṅkocayet sādhakaḥ āsane'smin ||
gurūktamārgeṇā samorddhvadṛṣṭiṃ
kuryādapānasya jayāya dīrgham || 35 ||

Tr. The *sādhaka* should contract the pelvic region repeatedly while maintaining this *āsana*. He fixes the gaze at the center of the eyebrows for long as instructed by the *guru*. This helps controlling the *apāna*. 35.

---

1. मेदो –b. 2. सुसावयः -b. 3. निर्मणमुच्चैः -b. 4. कृष्टिं –b.

इत्यपानजयबीजं योन्यासनम् ॥

ityapānajayabījaṃ yonyāsanam ॥

This is the *yonyāsana* which controls *apāna*.

Note: Note the synonym of *yonyāsana* for *siddhāsana*.

सिद्धासने एकस्मिन्नेव सर्वदा दृढं मूलं कुर्वति ।
तथा यथा स्वयमेव निरायासेनोन्मनी उत्पद्यते ॥ ३६ ॥

siddhāsane ekasminneva
sarvadā dṛḍhaṃ mūlaṃ kurvati ॥
tathā yathā svayameva
nirāyāsenonmanī utpadyate ॥ 36 ॥

Tr. In *siddhāsana* alone one should gain perfection in *mūla (-bandha)*, so that one easily attains the state of *unmanī* on its own. 36.

नास्त्यासनं[1] सिद्धसमानमन्यद् यस्मिन्[2] कृते सारमपास्य वायुः ।
स्थानं परं याति सुगुह्यमेतन्नातः परं विद्यते आसनं कौ ॥ ३७ ॥

nāstyāsanaṃ siddhasamānamanyad
yasmin kṛte sāramapāsya vāyuḥ ॥
sthānaṃ paraṃ yāti suguhyametan-
nātaḥ paraṃ vidyate āsanaṃ kau ॥ 37 ॥

Tr. There is no *āsana* as *siddhāsana*, adoption of which directs the *prāṇa* to the final abode (*brahmarandhra*). This is a great secret. On this earth, there is no better *āsana* than this. 37.

शिरास्वसंख्यासु यथा सुषुम्णा कुम्भेष्वनन्तेषु च केवलो यथा ।
मुद्रासु खेचर्युपमास्ति[3] नान्या सिद्धासनं विष्टरसंघके तथा ।३८।

śirāsvasaṃkhyāsu yathā suṣumṇā
kumbheṣvananteṣu ca kevalo yathā ॥
mudrāsu khecaryupamāsti nānyā
siddhāsanaṃ viṣṭarasaṅghake tathā ॥ 38 ॥

Tr. As *suṣumṇā* (is the most superior) among the innumerable *nāḍīs*, *kevala* among the innumerable *kumbhakas* and *khecarī* among the *mudrās*, similarly, *siddhāsana* is (superior) among the group of *āsanas* and none else. 38.

---

1. नास्थासनं –b. 2. सिद्धसमान ह्यस्मिन् -b. 3. मुद्रासुखे वपुं यमास्ति –b.

आयामाभ्यसने वरं[1] सरसिजं यस्मिन् समौ मारुतौ
ऊर्ध्वाधो[2] भवतो मिताशनवतो[3] रोधेन[4] दुःखप्रदौ ॥
सिद्धाः केऽपि वदन्ति मुख्यमिति तत् सिद्धासनं सेवनान्
नित्यं सारमपास्य[5] यच्छति परां प्राणः सुसिद्धिं जितः ॥३९॥

āyāmābhyasane varaṃ sarasijaṃ yasmin samau mārutau
ūrdhvādho bhavato mitāśanavato rodhena duḥkhapradau ॥
siddhāḥ ke'pi vadanti mukhyamiti tat siddhāsanaṃ sevanān
nityaṃ sāramapāsya yacchati parāṃ prāṇaḥ susiddhiṃ jitaḥ।39।

Tr. For the practice of *prāṇāyāma* the superior *padmāsana* is suitable, wherein the two *vāyus (prāṇa* and *apāna*) can move freely up and down. One should consume moderate diet. Any disturbance in free flow of (*prāna* and *apāna*) causes suffering. Some *siddhas* consider *siddhāsana* as the best, regular practice of which moves the controlled *prāna* in the *brahmarandhra*. 39.

गुप्तमेकं सदा घस्रा स्थानेह[6] सुतृप्तिदम्[7] ।
प्रभोजनस्पृहा त्यागे तद्विधेयं सुबुद्धिभिः ॥ ४० ॥

guptamekaṃ sadā ghasrā sthāneha sutṛptidam ।
prabhojanaspṛhā tyāge tadvidheyaṃ subuddhibhiḥ ।40।

Tr. This should always be kept a secret. Consumption of (excess) food would not bring any satisfaction. The wise should avoid craving for too much of eating. 40.

इति सिद्धासनम् ॥

iti siddhāsanam ॥

Thus ends *siddhāsana*.

अथ पश्चिमतानम् —

atha paścimatānam —

***paścimatāna*—**

प्रसार्य पादौ भुवि दण्डरूपौ[8] दोर्भ्यां पदाग्र[9]द्वितयं गृहीत्वा ।
जानूपरि न्यस्तललाटदेशो भवेदिदं पश्चिमतानबन्धः ॥ ४१ ॥

prasārya pādau bhuvi daṇḍarūpau
dorbhyāṃ padāgradvitayaṃ gṛhitvā ॥

---

1. वर –a. 2. मरुतावर्ध्वाधो –a. 3. मिताऽपानवतो –b. 4. रोधन –a. 5. सारमायास्य –a. 6. घस्त्रा स्थानेह –a. 7. सतृप्तिदं –b. 8. भुवि दंश्यौ –b. 9. पादाग्र -b.

jānūpari nyastalalāṭadeśo
bhavedidaṃ paścimatānabandhaḥ ॥ 41 ॥

Tr. Both the legs are stretched out on the ground. The big toes are held by the respective hands and the forehead is placed on the knees. This is called *paścimatāna-bandha*. 41.

इति पश्चिमतानमासनं पवनं पश्चिमवाहिनं[1] करोति ।
उदयं जठरानलस्य कुर्यादुदरे कार्श्यमरोगतां च पुंसाम् ॥४२ ॥

iti paścimatānamāsanaṃ
pavanaṃ paścimavāhinaṃ karoti ॥
udayaṃ jaṭharānalasya kuryād-
udare kārśyamarogatāṃ ca puṃsām ॥ 42 ॥

Tr. This *paścimatāna āsana* which causes the currents of *prāṇa* to pass through the posterior path, increases the gastric fire, reduces the belly and offers good health to a person. 42.

जठरानलस्य उदयं ऊर्ध्वगमनम् । योगिनः कृताभ्यासनाभ्यासात् पित्तसंज्ञक[2]मग्निमुदरादूर्ध्वं[3] नयति । शिरसि स्थापयति । यस्मात् क्षुत्पिपासाजरादि[4]दोषवर्जितो भवति । उदरे कार्श्यम् मलापकर्षणाल्लघुतां सम्पद्यते[5] । अस्मादासनात् मलो न तिष्ठति । अरोगतां दोषत्रयविकार[6]स्तन्नाशे नाडीशुद्धिरिष्यते । अत एतदासनं श्रेष्ठम् ।४३।

jaṭharānalasya udayaṃ ūrdhvagamanam । yoginaḥ kṛtābhyāsanābhyāsāt pittasañjñakam-agnim-udarād-ūrdhvaṃ nayati । śirasi sthāpayati । yasmāt kṣut-pipāsā-jarādi-doṣa-varjito bhavati । udare kārśyam malāpakarṣaṇāllaghutāṃ sampadyate । asmādāsanāt malo na tiṣṭhati । arogatāṃ doṣatraya-vikāras-tannāśe nāḍīśuddhiriṣyate । ata etadāsanam śreṣṭham ॥ 43 ॥

Tr. Stimulation of the gastric fire takes place to a *yogī* who practices this *āsana*. It raises up the fire of *pitta* (bile) from the stomach and establishes it at the head. Thus one frees oneself from hunger, thirst, old age and such disorders. Due to removal of morbidities the belly gets reduced. This *āsana* does not allow the morbidities to settle in the body. It brings well-being by alleviating the *doṣas* and disorders of the body and purifies the *nāḍīs*. Therefore, this is the best *āsana*. 43.

---

1. वाहितं –b. 2. कृताभ्यसनाभ्यासाप्तिनसंज्ञकं –b. 3. मुदरास्वर्ध्वं –b. 4. स्मात्तृप्तियासाजरादि –b. 5. सम्पद्धते –a. 6. दोषवपुविकार –a.

इति गुल्मामाजीर्णोदररोगादावग्निदीप्तिकरं वायुजये पश्चिमतानासनम् ॥

iti gulmāmājīrṇodararogādāvagnidīptikaraṃ vāyujaye paścimatānāsanam ॥

Thus ends *paścimatāna* which removes diseases like (*gulma*) inflammation, (*āma*) toxicity, indigestion and dropsy and stimulates the gastric fire and offers control of *prāṇa*.

अथ योगसिद्धिमनःस्थैर्यकरं स्वस्तिकासनम्

atha yogasiddhi-manaḥ-sthairyakaraṃ svasitkāsanam ॥

Now follows *svastikāsana*, which begets success in *yoga* and stability of the mind.

सक्थिजानुयुगलान्तरे शुभे[1] पादयुग्मतल[2] आविधाय सत् ।
संस्थितः समतनुः समाहितः स्वस्तिकासनमदोऽनिल[3]हारि ।४४।

sakthijānuyugalāntare śubhe
pādayugmatala āvidhāya sat ॥
saṃsthitaḥ samatanuḥ samāhitaḥ
svastikāsanamado'nilahāri ॥ 44 ॥

Tr. One arranges both the soles properly between the (opposite) thighs and the shanks, and one sits erect and balanced. This is *svastikāsana* which removes disorders of *prāṇa*. 45.

श्रमघ्नमुद्वेगहरं मनसः सुखशान्तिकृत् ।
पवित्रं स्वस्तिकं सर्वयोगसिद्धिप्रदं स्मृतम् ॥ ४६ ॥

śramaghnam-udvegaharaṃ manasaḥ sukhaśāntikṛt ।
pavitraṃ svastikaṃ sarvayogasiddhipradaṃ smṛtam।46।

Tr. *svastikāsana* removes fatigue, anxiety, brings mental peace and happiness. It is auspicious and it gives success in all the *yoga*. 46.

इति स्वस्तिकासनम् ॥

iti svastikāsanam ॥

Thus ends *svastikāsana*.

---

1. युगलान्तरेषु –b. 2. पादयुग्मत –b. 3. स्वस्तिकासनदोऽनिल –b.

मुद्राप्रत्याहारसद्धारणाभिः[1] प्राणायामैरौषधैर्युक्तिभिर्वा ।
पीठैस्तैस्तैर्नाडिसंचारविज्ञो[2] यो कुर्याद् दुष्टदोषार्त्तिशान्तिम्।४७।

mudrā-pratyāhāra-saddhāraṇābhiḥ
prāṇāyāmair-auṣadhair-yuktibhir-vā ॥
pīṭhais-tais-tair-nāḍisañcāravijño
yo kuryād duṣṭadoṣārttiśāntim ॥ 47 ॥

Tr. One who is an expert in the science of *nāḍīs* pacifies the obnoxious disorders through the practices of *mudrā*, *pratyāhāra*, *dhāraṇā*, *prāṇāyāma*, medicine and *āsanas*. 47.

उक्तेष्वासनकेषु वातकफयोः कोपोत्थशूलानल-
मान्द्यश्वासकशैत्यकास[3]पवनादौ सूर्यभेदं भजेत् ॥
मूर्च्छादाहविषज्वरादिषु तथा पित्तास्रजाता[4]मये
कुर्याच्छीतलिकां च शैत्यकफयोः[5] स्याद्धारणा भ्वग्निजा ॥ ४८ ॥

uktesvāsanakesu vātakaphayoḥ kopotthaśūlānala-
māndyaśvāsakaśaityakāsapavanādau sūryabhedaṃ bhajet ॥
mūrcchādāhaviṣajvarādiṣu tathā pittāsrajātāmaye
kuryācchītalikāṃ ca śaityakaphayoḥ syāddhāraṇā bhvagnijā ।48।

Tr. In the context of the *āsanas*, one should practise *sūryabheda* if one suffers from the disorders of *vāta* and *kapha*, severe pain, acidity, poor digestion, cough, cold, asthma and gas. *śītalī* should be practised in case one suffers from faint, burning, toxicity, fever and disorders caused due to biliousness (acidity). One should practise *dhāraṇā* on earth (*bhū*), fire (*agni*) in case of cold and phlegmatic disorders. 48.

शीत्कारिकां वाप्यथ शीतलीं वा भजेत् पित्तज्वरदाहरोगे ।
स्याद् धारणा[6] वात्र तु वारुणी वा श्रीपावमानी किल साधकस्य ।४९।

śītkārikāṃ vāpyatha śītalīṃ vā
bhajet pittajvaradāharoge ॥
syād dhāraṇā vātra tu vāruṇī vā
śrīpāvamānī kila sādhakasya ॥ 49 ॥

Tr. One may practise either *śītkārikā* or *śītalī* when affected by disorders of acidity, fever and burning. A *sādhaka* may even practise *vāruṇī-dhāraṇā* and *vāyavī dhāraṇā*. 49.

---

1. सद्धारणाभिः -b. 2. सञ्चारविज्ञां –a.3. श्वासकफौ सकास –b. 4. पित्तासुजाता –b. 5. वशत्यकफयोः -b. 6. स्याद्धारण –b.

अथ तत्र मुद्रादिविशेषसंकेतसमासः —

atha tatra mudrādiviśeṣasaṅketasamāsaḥ —

Now follows, in short, some special narration (indications) regarding *mudrā*—

ऋज्वासने[1] समवहः प्रपदांगुलीनां[2]
को चेद् दृगन्तकुपितानिलसंजयेन[3] ॥
स्यात् स्वस्तिके सरसिजे श्रमदाहखेद-
हानिः[4] शिरास्य[5]चरणाग्रधृतौक[6]सिद्धिः ॥ ५० ॥

ṛjvāsane samavahaḥ prapadāṅgulīnāṃ
ko ced dṛgantakupitānilasañjayena ॥
syāt svastike sarasije śramadāhakheda-
hāniḥ śirāsya-caraṇāgradhṛtaukasiddhiḥ ॥ 50 ॥

Tr. Adopting an upright posture of *svastika* or *sarasija* (*padma*) keeping the feet properly, one overcomes fatigue, burning and remorse and (problems related to) head and mouth by setting right and controlling the *prāṇa* which has gone astray. One relieves the air going astray. Thus one attains success. 50.

कस्य वायोर्जय इति –

kasya vāyorjaya iti —

Control of which *vāyu*—-

पीठान्यन्वर्थनामानि अप्यमृगय सखे पद्ममब्जं[7] यथाप्सु[8]
संशुद्धं लाघवेनोद्गतिसमवहमरुतो तिष्ठतेऽधोंगभागः ॥
प्राणायामाग्निद[9]ग्धावनिजलगुरुतादोषपंकेऽस्तसारो
अभ्यासात् क्षुत्तृट्ज्वरघ्नं पवनजयकरं दाहपित्तास्रहारि ॥ ५१ ॥

pīṭhānyanvarthanāmāni apyamṛgaya sakhe padmamabjaṃ yathāpsu
saṃśuddhaṃ lāghavenodgatisamavahamaruto tiṣṭhate'dhoṅgabhāgaḥ ॥
prāṇāyāmāgnidagdhāvanijalagurutādoṣapaṅke'stasāroabhyāsāt kṣuttṛṭjvaraghnaṃ pavanajayakaraṃ dāhapittāsrahāri ॥ 51 ॥

Tr. O beloved ! Don't go after the meanings. The names of the *āsanas* are indeed veritable ones. *padma* (lotus) is called

---

1. ऋज्वाब्जासने –b. 2. प्रपादांगुलीनां -b. 3. कुपितानिलसंजोत् –b. 4. स्वेदहानिः -b. 5. शिरास्याः –a. 6. चरणाग्रधृतौक –b. 7. प्रमज्जं –b. 8. यथाशु –b. 9. प्राणायाग्नि –a.

abja because it grows in water, which becomes purified and light and thus floats on the water, although it remains rooted in the mud. Similarly, the heat generated by the practice of *prāṇāyāma* overcomes the defects of earth and water elements (heaviness and instability) thus moving the *prāṇa* in a balanced manner. One gains control over *prāṇa*, overcomes hunger, thirst, fever, burning and acidity of the blood. 51.

यानि प्रयत्नशिथिलानि सुखस्थिराणि
पीठानि तानीति[1] खेदविदाहमोहान् ॥
पित्तज्वरास्रपवनश्रमनेत्ररोगान् सौम्यानि
हन्ति च विषाणि सदादृतानि ॥ ५२ ॥

yāni prayatnaśithilāni sukhasthirāṇi
pīṭhāni tānīti khedavidāhamohān ॥
pittajvarāsrapavanaśramanetrarogān
saumyāni hanti ca viṣāṇi sadādṛtāni ॥ 52 ॥

Tr. *āsanas* are those which (are performed through) effortlessness and which give wellbeing and stability. When constantly practised they remove discomfort, burning, delirium, acidity, fever, (impurity of) blood, (disorders of) *vāyu*, fatigue, eye diseases and toxicity. 52.

प्राणायामक्रमेध्वज्वलन[2]भरद्रुतोऽसौ[3] हठे स्वेदरूपो
नाड्यास्थै रोमकूपैर्बहिरथ परियान्त्यन्तरे दह्यतेऽन्यः ॥
तस्मान्नाडिविशुद्धौ[4] लघुविशदधिया विष्टरा ईरिता ज्ञैः
सार्धं कुम्भैश्च मुद्राः प्रमितलघुहिताहारभाजां जनानाम् ॥ ५३ ॥

prāṇāyāmakramedhva-jvalanabharadruto-'sau haṭhe svedarūpo
nāḍyāsthai romakūpair bahiratha pariyāntyantare dahyate'nyaḥ ॥
tasmānnāḍiviśuddhau laghuviśada-dhiyā viṣṭarā īritā jñaiḥ
sārdhaṃ kumbhaiśca mudrāḥ pramitalaghuhitāhārabhājāṃ janānām ॥ 53 ॥

Tr. Due to practice of *prāṇāyāma* in *haṭha* heat is generated which expels some morbidities through the pores in the form of sweat which are the end of the *nāḍīs* and some other (morbidities) are burnt (inside). Experts opine that after the

1. तान्यऽएति -b. 2. क्रमे ज्वलन –a. 3. द्रुतोऽसौ –b. 4. नाडीविशुद्धौ –b.

purification of the *nāḍīs*, one with a gentle and broad mind should practise the *viṣṭaras (āsanas) prāṇāyāma* alongwith *kumbhakas* and *mudrās*. They should stick to measured, light and nutritive diet. 53.

गृहक्षेत्रयात्रादिकार्याय[1] गन्तुं मनागुत्सुकस्यास्थिरा चित्तवृत्तिः ।
ध्रुवं तत्र यात्यल्पताकाशतुल्या मुनेः स्यादसौ पीठसंसिद्धिबीजाः[2] ।५४।[3]

gṛhakṣctrayātrādikāryāya gantuṃ
manāgutsukasyāsthirā cittavṛttiḥ ॥
dhruvaṃ tatra yātyalpatākāśatulyā
muneḥ syādasau pīṭhasaṃsiddhibījāḥ ॥ 54 ॥

Tr. House-hold activities, traveling (or pilgrimage) make the mind a little fickle. But when a *muni* gets perfection in *āsana*, certainly it renders the mind subtle and void. 54.

अनुद्वेजनीयं[4] च निःकम्पमेतद्यदा[5]
स्यान् मुनेरासनं सेव्यमानम् ॥
तदेदं[6] सुसिद्धं गदघ्नं स्थिरत्वं
विदधते तनौ द्वन्द्वबाधोज्झितं च[7] ॥ ५५ ॥

anudvejanīyaṃ ca niḥkampametadyadā
syān munerāsanaṃ sevyamānam ॥
tadedaṃ susiddhaṃ gadaghnaṃ sthiratvaṃ
vidadhate tanau dvandvabādhojjhitaṃ ca ॥ 55 ॥

Tr. When the *āsana* of a *muni* is practised without quivering and shaking, then the *āsanas* are well perfected remove diseases. This brings stability of the body and it overcomes the obstacles rooted in duality. 55.

रसविकारभवाः सकला गदा रसलये विलयं किल यान्ति ते ।
तनुविवर्तनमोटनपीडनैरत उदीरितमासनमर्त्तिजित् ॥ ५६ ॥

rasavikārabhavāḥ sakalā gadā
rasalaye vilayaṃ kila yānti te ॥
tanuvivartanamoṭanapīḍanairata
udīritamāsanamarttijit ॥ 56 ॥

---

1. यात्रादिकायां च –b. 2. संसिध्यासी –b. 3. सत्वधीः प्राणरोधनैषदुःखीस्यात्स यः संमिताशीः - इति सुन्दरदेवविरचितायां हठतत्व – अधिकपाठः -b. 4. द्विबीजं अनुच्छेदनीयं च –b. 5. निःकम्पप्रतद्यदा –b. 6. तदेहं –b. 7. द्वन्द्वबाधाकिल्तंये –b.

Tr. All the diseases occur due to degeneration in plasma (*rasa*). If the plasma (*rasa*) is rectified, diseases disappear. *āsanas* overcome illness by way of turning around, pressing and compression. 56.

वैराग्योपरमैर्विवेकवलितस्योन्मृष्टचिन्ताहंसः
कुम्भेष्वीश्वर[1]चिन्तनेन सततं दुर्वासनासंक्षये ॥
पूर्वं संयमशुद्धचित्तवपुषः स्यात् पीठसिद्धिः शुभा
वायोः सिद्धिरतस्तदास्य न तनौ[2] द्वन्द्वाभिघाते मुनेः ५७

vairāgyoparamairvivekavalitasyonmṛṣṭacintāhaṃsaḥ
kumbheṣvīśvaracintanena satataṃ durvāsanāsaṅkṣaye ॥
pūrvaṃ saṃyamaśuddhacittavapuṣaḥ syāt pīṭhasiddhiḥ śubhā
vāyoḥ siddhiratastadāsya na tanau dvandvābhighāte muneḥ ।57।

Tr. One overcomes mental modifications (thoughts) which is caused due to sins. On attaining of power of discrimination which appears when one settles with detachment. Through the practice of consistent meditation on *īśvara* during *kumbhaka*, remove the noxious desires. Success in *pīṭha (āsanas)* and control of *prāṇa* is attained by the one who has purified the *citta* (mind) and the body through *saṃyama*. Thus a *muni* does not face physical afflictions due to duality. 57.

महामुद्राबन्धैर्विविधतनुसंम्मोटनपुरः-
सरं मूलाघातैः प्रणवसहितैर्मध्यधमनीम् ॥
महद्वा व्याघातं सृजति भुजगी क्षुभ्यति तदा
प्रसुप्ता मत्स्येन्द्रप्रभृतिदृढपीठांगदलिता ॥ ५८ ॥

mahāmudrābandhairvividhatanusaṃmoṭanapuraḥ-
saraṃ mūlāghātaiḥ praṇavasahitair madhyadhamanīm ॥
mahadvā vyāghātaṃ sṛjati bhujagī kṣubhyati
tadāprasuptā matsyendraprabhṛtidṛḍhapīṭhāṅgadalitā ।58।

Tr. Practice of various body twists i.e. *āsanas* like *matsyendra* etc. coupled with *mahāmudrā, bandha* along with *praṇāva*-chanting strikes at *mūlādhāra*, which intensely stimulates the latent *bhujagī (kuṇḍalinī)* and sends her forth to the middle *nāḍī (suṣumnā)*. 58.

---

1. कुम्भेष्विश्वर –a. 2. न तेनो –b.

पथ्य[1]मासनसमभ्यसने प्राक् तक्रसैन्धवपुगोदनभुक्तिः[2] ।
साधकस्य गदिताप्रमितार्यैस्त्यक्तसंगिन इत्यात्मकुवृत्तैः ॥ ५९ ॥

pathyamāsanasamabhyasane prāk
takrasaindhavapugodanabhuktiḥ ॥
sādhakasya gaditāpramitāryais-
tyaktasaṃgina ityātmakuvṛttaiḥ ॥ 59 ॥

Tr. A *sādhaka* in the initial stage of practice of *āsana* should stick to recommended food comprising buttermilk, rock salt and rice as recommended by the experts. One should also give up sinful attitudes. 59.

यः प्रज्ञावान् नाडिसंचारविज्ञो नाडिमर्माश्लिष्टशारीरवेत्ता ।
नित्याभ्यासी सत्वधी प्राणरोधे नैष दुःखी स्यात् स यः सम्मिताशी६०

yaḥ prajñāvān nāḍisañcāravijño
nāḍimarmāśliṣṭaśārīravettā ॥
nityābhyāsī satvadhī prāṇārodhe
naiṣa duḥkhī syāt yaḥ sammitāśī ॥ 60 ॥

Tr. One who is wise, expert in the intricacies of the *nāḍīs*, has knowledge of the *nāḍīs* and *marmas* (vital points), (human) anatomy, is a regular practitioner, having upright nature, adheres to moderate diet would not face difficulty in the practice of *prāṇāyāma*. 60.

॥ इति सुन्दरदेवविरचितायां[3]
हठतत्वकौमुद्यामासनोद्योतः ॥

॥ iti sundaradevaviracitāyāṃ
haṭhatatvakaumudyāmāsanodyotaḥ ॥

Here ends the chapter on *āsana*
of *haṭhatatvakaumudī*
composed by *sundaradeva*.

---

1. मध्य –b. 2. प्राकृतक्रसेधवयुगदनभुक्तिः -b. 3. सुन्दरविरचितायां –b.

Chapter—8

अथाष्टकर्माणि –

athāṣṭakarmāṇi —

The *aṣṭakarmas*—

चतुरंगुल[1]विस्तृतं सुवस्त्रं तिथि१५बस्वार्द्रतमं सितं ग्रसेत् तत्[2]
गुरुणा कथितेन वर्त्मना तां शनकैश्चाभि[3]हरेदसौ हि धौती ।१।

caturaṅgulavistṛtaṃ suvastraṃ
tithi15bahvārdatamaṃ sitaṃ graset tat ।
guruṇā kathitena vartmanā tāṃ
śanakaiścābhiharedasau hi dhautī ॥ 1 ॥

Tr. One should take a fine white wet cloth measuring 15 (cubits) in length and four fingers in width. Following the guidelines of a *guru*, one should slowly but completely swallow it and then pull it out. This is *dhauti*. 1.

विंशति कफजा रोगाः कासश्वासौ[4] तथा ।
कुष्ठः प्लीहा याति विनाशं धौतिकर्मप्रभावेन ॥ २ ॥

viṃśati kaphajā rogāḥ kāsaśvāsau tathā ।
kuṣṭhaḥ plīhā yāti vināśaṃ dhautikarmaprabhāvena ॥ 2 ॥

Tr. Practice of *dhautīkarma* removes twenty types of phlegmatic disorders, cough, asthma, skin diseases and spleen (*plīhā*) disorders. 2.

इति धौतिकर्म ॥

iti dhautikarma ॥

Thus ends *dhautīkarma*.

अथ चक्रीकर्म —

atha cakrīkarma —

***cakrīkarma*—**

तदुक्तं हठरत्नावल्याम् —

taduktaṃ haṭharatnāvalyām —

***haṭharatnāvalī* says—**

पायुवक्त्रं[5] प्रसार्यान्तरंगुल्यौ[6] भ्रामयेदभि ।
यावद्गुदविकासः स्याच्चक्रीकर्म निगद्यते ॥ ३ ॥

---

1. चतुरंगुलं -b. 2. ग्रसेतत् -b. 3. शकैश्चाभि –a. 4. कासश्चासौतथं –b. 5. वक्रं –b. 6. गुल्फौ -b.

pāyuvaktraṃ prasāryāntaraṅgulyau bhrāmayedabhi ।
yāvadgudavikāsaḥ syāccakrīkarma nigadyate ॥ 3 ॥

Tr. Open the anus and insert (the finger) and rotate it all around so long as the anus gets fully open. This is *cakrīkarma*. 3.

मूलव्याधिगुल्मरोगो नश्यत्यत्र न संशयः ।
मलशुद्धिर्दीपनं च जायते चक्रिकर्मणि ॥ ४ ॥

mūlavyādhigulmarogo naśyatyatra na saṃśayaḥ ।
malaśuddhirddīpanaṃ ca jāyate cakrikarmaṇi ॥ 4 ॥

Tr. *cakrīkarma* overcomes piles, spleen disorders, removes the impurities and enhances the (gastric) fire in which there is no doubt. 4.

इति चक्रीकर्म ॥

iti cakrīkarma ॥

Thus ends *cakrīkarma*.

अथ वस्तिकर्म —

atha vastikarma—

***vastikarma*—**

नाभिदघ्ने[1] जले पायुविन्यस्तसन्नाल[2]
मार्गात्समाकृष्य चोर्ध्वं समम् ॥
उत्कटं संस्थितोऽपानसंकोचनं
चानुकुर्यात् भवेत् क्षालनं[3] वस्ति तत् ॥ ५ ॥

nābhidaghne jale pāyuvinyastasannāla-
mārgātsamākṛṣya cordhvaṃ samam ॥
utkaṭaṃ saṃsthito'pānasaṅkocanaṃ
cānukuryāt bhavet kṣālanaṃ vasti tat ॥ 5 ॥

Tr. One adopts *utkaṭāsana* in navel deep water. After inserting a tube in the anus, one manipulates the anus to raise the *apānavāyu* upwards. This cleansing practice is *vastikarma* which cleanses the *vasti* (big-intestines). 5.

धात्विन्द्रियान्तःकरणप्रसादं गुल्मोदरप्लीह[4]मलापहरम् ।
कान्त्यग्निकृत् सर्वगदान् निहन्यादभ्यस्यमानं जलवस्तिकर्म ।६।

1. दग्धे –b. 2. विन्नस्तःसन्नाल –a. 3. स्यालन –b. 4. त्मीह –b.

dhātvindriyāntaḥkaraṇaprasādaṃ
gulmodaraplīhamalāpaharam |
kāntyagnikṛt sarvagadān nihanyād-
abhyasyamānaṃ jalabastikarma || 6 ||

Tr. The practice of *jalavasti* streamlines the body constituents, brings poise to the internal sense organs, offers brightness, stimulates digestion and completely removes the chronic disorders of the spleen and abdomen. 6.

इति बस्तिकर्म ॥
iti vastikarma ||
Here ends *vastikarma.*

मृदुमञ्जुवितस्ति[1]सूत्रमन्तस्तनुनासासमनाल आविदध्यात् ।
मुखनिर्गमनादसौ हि धौति मुखरोगान्[2] नश्यति[3] भालशोधिनी च ॥७॥
mṛdumañjuvitastisūtramantas-
tanu-nāsāsamanāla āvidadhyāt ||
mukhanirgmanādasau hi dhauti
mukharogān naśyati bhālaśodhinī ca || 7 ||

Tr. Insert a smooth sheaf of cotton, measuring (approximately) 23cms. in length, in the nose and pull it out through the mouth. This is *dhauti*, which cures the disorders of the mouth and shines the forehead. 7.

इति नेतीकर्म ॥
iti netikarma ||
Here ends *netī.*

अथ गजकरणी –
atha gajakaraṇī —
***gajakaraṇī*—**

उदरगतपदार्थानुद्वमेदेव[4] नित्यं
पवनगमनमार्गात् कण्ठनालप्रवेशात् ॥
क्रमपरिचयवश्यं स्याच्च गर्गादयो हि
गजकरणमितीह प्राहुरार्या मुनीन्द्राः ॥ ८ ॥
udaragatapadārthānudvamedeva nityaṃ
pavanagamanamārgāt kaṇṭhanālapraveśāt ||

1. मजुर्वितास्ति –b. 2. रोगा –b. 3. न्यस्यति –b. 4. देवमेव –b.

kramaparicayavaśyaṃ syācca gargādayo hi
gajakaraṇamitīha prāhurāryā munīndrāḥ ॥ 8 ॥

Tr. One regularly vomits out with great force the contents of the stomach by stimulating and raising the *apānavāyu* by inserting a stalk of castor leaf in the throat. This is mastered through gradual practice. The great *munis* like *garga* etc. call this *gajakaraṇī*. 8.

पवनगमनमार्गात् । अपानवायूर्ध्वकरणात् । ऊर्ध्वकरणं पवनोर्ध्वकरणेन । वाय्वाकर्षणेन[1] यद्भक्षितं वस्तु तदुद्वमेत् । कण्ठनालप्रवेशात् वा कण्ठे नालस्य प्रवेश एरण्डनालप्रवेशस्तस्मात् । तदा क्रमपरिचयः वस्तुपरिचयः[2] स्यादित्यर्थः ॥ ९ ॥

pavanagamanamārgāt । *apānavāyūrddhvakaraṇāt* । *ūrddhvakaraṇaṃ pavanorddhvakaraṇena vāyvākarṣaṇena yadbhakṣitaṃ vastu tadudvamet* । *kaṇṭhanālapraveśāt vā kaṇṭhe nālasya praveśa eraṇḍanālapraveśastasmāt* । *tadā kramaparicayaḥ vastuparicayaḥ syādityarthaḥ* ॥ 9 ॥

Tr. By raising the *apāṇa* up through the passage the consumed food contents are vomited. One may insert a hollow stem of castor plant into the throat. One gets proficiency gradually in the technique. 9.

अथ त्राटकम् —

atha trāṭakam —

***trāṭaka* follows—**

लक्ष्यं[3] समाहितमतिः स्थिरलोचनाभ्यां
वीक्ष्येत् सुसूक्ष्म[4]मतिवाष्पनिपातसीमतत् ॥
त्राटकं सकलनेत्रगदापहारि[5] तन्द्रादि-
पाटनकरं भृशं गोप्यते तत्[6] ॥ १० ॥

lakṣyaṃ samāhitamatiḥ sthiralocanābhyāṃ
vīkṣyet susūkṣmamativāṣpanipātasīmatat ॥
trāṭakaṃ sakalanetragadāpahāri tandrādi-
pāṭanakaraṃ bhṛśaṃ gopyate tat ॥ 10 ॥

Tr. One gazes at a very subtle object with raft attention till tears roll down. This is *trāṭaka*, which cures all eye diseases

1. वायाव्याकर्षणेन –b. 2. यस्तुपरिचयः -b. 3. लक्षं –a. 4. ससूक्ष्म –b. 5. गदापहमि –b. 6. गेप्यमेतत् -b.

and lethargy. It has been kept very much a secret. 10.

इति त्राटकं कर्म ॥

iti trāṭakaṃ karma ॥

Thus ends *trāṭakakarma*.

अथ नौलीकर्म —

atha naulikarma —

***naulīkarma*—**

इदं बाह्याभ्यन्तर[1]भेदाद्विधा ॥

idaṃ bāhyābhyantarabhedādvidhā ॥

This is of two types, external (*bāhya*) and internal (*antar*)--

तत्र बाह्यम् यथा –

tatra bāhyaṃ yathā —

Here follows the *bāhyanauli*—

सव्यापसव्यं लघुनाभिकाव्यावर्त्तकवेगैः कृतदोर्युगः कौ ।
सम्भ्रामणं भूर्युदरस्य सर्वतो नौलीति योगे कथिता हठज्ञैः ।११।

savyāpasavyaṃ laghunābhikā-
vyāvartakavegaiḥ kṛtadoryugaḥ kau ॥
sambhrāmaṇaṃ bhūryudarasya sarvato
naulīti yoge kathitā haṭhajñaiḥ ॥ 11 ॥

Tr. One rapidly rotates the navel region all through left and right while placing the hands on the knees and bending the head down. This is *naulī*, according to experts of *haṭha*. 11.

मन्दाग्निसन्दीपनपाचनादिसन्धायिकानन्दकरी सदैव ।
अशेषदोषोपचयशोषणीव[2] हठक्रियाऽसौ जयतीह नौलिः ।१२।

mandāgnisandīpanapācanādi-
sandhāyikānandakarī sadaiva ॥
aśeṣadoṣopacayaśoṣaṇīva
haṭhakriyā'sau jayatīha nauliḥ ॥ 12 ॥

Tr. *naulī*, which is highly valued *kriyā* of *haṭha*, stimulates weak digestion, streamlines gastric fire, brings a deep sense of wellbeing and totally removes all the disorders caused by imbalance of the three humors (*doṣas*). 12.

---

1. बाह्यान्तर — b. 2. दोषोपचयशोषणी च — b.

इति बाह्यनौलिकर्म ॥

iti bāhyanaulikarma ॥

Here ends *bāhyanaulī*.

अथान्तर[1]नौलिकर्म —

athāntaranaulikarma—

āntarnaulī—

तदुक्तं हठरत्नावल्याम् -

taduktaṃ haṭharatnāvalyām —

According to *haṭharatnāvalī* —

इडयावर्त्तवेगेन तथा पिंगलया पुनः ।
उभाभ्यां भ्रामयेदेषा ह्यन्तरा कीर्त्तिता मया ॥ इति[2] ॥ १३ ॥

iḍayāvarttavegena tathā piṅgalayā punaḥ ।
ubhābhyāṃ bhrāmayedeṣā hyantarā kīrttitā mayā ।iti।13।

Tr. Quick rotation (of the abdomen) like a whirlpool on both sides in the clock-wise and anti-clock-wise directions is called *antarā* by me. 13.

इत्याभ्यन्तरनौलिकर्म ॥

ityābhyantaranaulikarma ॥

Thus ends *ābyantaranaulī*.

योगचन्द्रिकायां तु –

yogacandrikāyāṃ tu —

According to *yogacandrikā*—

आमन्दावर्त्तवेगेन मुदा संख्यापसंख्यताम्[3] ।
नतांसो भ्रामयेदेषा नौलिर्मौलिः प्रशस्यते ॥ इति ॥ १४ ॥

āmandāvarttavegena mudā saṃkhyāpasaṃkhyatām ।
natāṃso bhrāmayedeṣā naulirmauliḥ praśasyate ॥ iti।14।

Tr. Bend the shoulders forward and rapidly and comfortably rotate the abdominal (recti) muscles counting in inverse and reverse manner. This forms *nauli*, appreciated as the finest of the *yoga* practices. 14.

आसमन्तात् मन्द आवर्त्तो भ्रमो यस्य वेगस्य । तेन मुदा

---

1. अथान्तरं –b. 2. मयेत –b. 3. सव्यापसव्यतां –a.

आनन्देन संख्यता संख्याय भ्रमणं गणयित्वा नतस्कन्धो[1] नौलिं नालोत्थानं भ्रामयेत् ॥ १५ ॥

āsamantāt manda āvarto bhramo yasya vegasya । tena mudā ānandena saṃkhyatā saṃkhyāya bhramaṇaṃ gaṇayitvā nataskandho nauliṃ nālotthānaṃ bhrāmayet ॥ 15 ॥

Tr. All round rotation of the abdominal (recti) muscles in a rapid fashion for several times, while keeping the shoulders bent forward. This *mudrā* brings joy. 15.

अथ कपालभाथिकर्म—

atha kapālabhāthikarma—

kapālabhāthi—

या लौहकारस्य सुभस्त्रिकेव[2] सुसम्भ्रमौ रेचकपूरकौ च ।
सव्यापसव्यं परिवर्त्तनेन[3] नासापुटेस्नस्तु कपालभाथी[4] ॥ १६ ॥

yā lauhakārasya subhastrikeva
susambhramau recakapūrakau ca ।
savyāpasavyaṃ parivarttanena
nāsāpuṭesnastu kapālabhāthī ॥ 16 ॥

Tr. One imitates the movements of the bellows of a blacksmith and inhales and exhales rapidly using the left and right nostrils changing alternatively. This is *kapālabhāthī*. 16.

Note: Here *kapālabhāti* requires the use of alternative nostrils. This can be done in two ways:

1) By closing the right nostril with the right thumb, inhale quickly through the left nostril. Then suddenly close the left nostril with the last two fingers and removing the thumb, exhale rapidly through the right nostril. Repeat this process to the capacity. Then practice inhalations and exhalations through the nostrils interchanged. Close the left nostril with the last two fingers and inhale through the right nostril. Quickly closing the right nostril with the thumb and removing the last two fingers exhale rapidly through the left nostril. Repeat these inhalations and exhalations to the capacity. *brahmānanda*, the commentator of *haṭhapradīpikā* describes this process used in *bhastrikā prāṇāyāma*.

---

1. ततस्कन्धो –a. 2. सुभास्त्रिके –b. 3. परिवर्त्तितेन –b. 4. नासापुटे स्नस्तुकपानभाथी –b.

2) With the other method, inhale rapidly through the left nostril by closing the right with the thumb and exhale quickly through the right nostril by closing the left. Again inhale through right nostril and quickly closing the right, exhale through the left nostril. Repeat this process to the capacity. 16.

नासापुटौ अंगुष्ठानामिकाभ्यां धृत्वा वायुमधोर्ध्वं कुर्याद् । एषा[1] कपालभाथीत्युच्यते[2] इति कफामरसमलशोषिण्युष्मावात[3]पीडाघ्नी[4] । कपालभाथी कर्माष्टकायास्तसमस्तकोष्ठान्तः स्थातिभेदः । कफदोषसंघे प्राणावरोधो विहितः । सुसिद्धकेवलसाधकस्याश्रमतः सुखेन ॥ १७ ॥

nāsāpuṭau aṅguṣṭhānāmikābhyāṃ dhṛtvā vāyumadhordhvaṃ kuryāt । *eṣā kapālabhāthītyucyate iti kaphāmarasamalaśoṣiṇyuṣmāvātapīḍāghnī* । *kapālabhāthī karmāṣṭakāyāstasamastakoṣṭhāntaḥ sthātibhedaḥ* । *kaphadoṣasaṅghe prāṇāvarodho vihitaḥ* । *susiddhakevalasādhakasyāśramataḥ sukhena* ॥ 17 ॥

Tr. One plugs the nostrils alternately with ring and thumb fingers and inhales and exhales. This is *kapālabhātī* which removes phlegm, toxins *(āma)*, disorders in plasma (*rasa*), impurities, *uṣmāvāta* (heat in the body), pain. This is one of the eight *karmas* (recommended for purification) of the body. Phlegmatic accumulation obstructs the free flow of *prāṇa*, hence this is recommended. A diligent *sādhaka* can master it well easily. 17.

प्राणायामाद् यान्ति नाशं[5] मलाः स्वं
प्राणायामौर्वी[6] मलौघाब्धिशोषी ॥
अस्मात् प्राणायामतः सर्वसिद्धिः
कर्माण्यष्टावत्र गौणानि मन्ये ॥ १८ ॥

prāṇāyāmād yānti nāśaṃ malāḥ svaṃ
prāṇāyāmaurvī malaughābdhiśoṣī ॥
asmāt prāṇāyāmataḥ sarvasiddhiḥ
karmāṇyaṣṭāvatra gauṇāni manye ॥ 18 ॥

Tr. Practice of *prāṇāyāma* removes all the morbidities. Even the multitude of the impurities can be cleansed with the

---

1. कुर्यादेवा –b. 2. भाथीमुच्यते –b. 3. शोषिरायुस्मा –b. 4. घ्नी –b. 5. नाशां –b. 6. यामौर्वी -b.

finest techniques of *prāṇāyāma*. Therefore, (it is said that) *prāṇāyāma* brings all round success. I consider other eight *karmas* as secondary. 18.

ब्रह्मादयोऽपि त्रिदशाः पवनाभ्यासतत्पराः ।
तेन सिद्धिं गता योगे तस्मात् पवनमभ्यसेत् ॥ १९ ॥

brahmādayo'pi tridaśāḥ pavanābhyāsatatparāḥ ।
tena siddhiṃ gatā yoge tasmāt pavanamabhyaset ॥ 19 ॥

Tr. Even the deities like *brahmā* and others attained perfection through the consistent practice of `*prāṇāyāma*. Therefore, one should practise *prāṇāyāma*. 19.

॥ इति हठतत्वकौमुद्यामष्टकर्मोद्योतः ॥

॥ iti haṭhatatvakaumudyāmaṣṭakarmodyotaḥ ॥

Here ends the chapter of *aṣṭakarma* of *haṭhatatvakaumudī*.

Chapter—9

अथ मेरुचालनप्रकारः —

atha merucālanaprakāraḥ —

Method of *merucālana*—

स्थित्वा सिद्धे स्वस्तिके वा सक्थियुग्मे करद्वयम् ।
संस्थाप्य पृष्ठदण्डं स्वं विधाय[1] प्रोन्नतं समम् ॥ १ ॥

sthitvā siddhe svastike vā
sakthiyugme karadvayam ॥
saṃsthāpya pṛṣṭhadaṇḍaṃ svaṃ
vidhāya pronnataṃ samam ॥ 1 ॥

Tr. Assume *siddha* or *svastika* posture. Place the pair of hands on the thighs. Keep the backbone upright and well aligned. 1.

तिर्यङ् मन्यामधः कृत्वा प्रमृज्य स्कन्धयुग्मकम् ।
नेत्रे निमील्य वदनमामुद्य[2] प्राक् सुसाधकः ॥ २ ॥

tiryaṅ manyāmadhaḥ kṛtvā pramṛjya skandhayugmakam
netre nimīlya vadanamāmudya prāk susādhakaḥ ॥ २ ॥

Tr. Bend the neck downwards by adjusting the shoulders. *sādhaka* keeps the eyes closed and the face composed. 2.

ग्रीवां किञ्चित् कण्ठसक्तां जालबन्ध[3]वदानताम् ।
कृत्वाऽसकृद्दक्षभागे[4] चालयेत्तां भृशं दृढम् ॥ ३ ॥

grīvāṃ kiñcit kaṇṭhasaktāṃ jālabandhavadānatām ।
kṛtvā'sakṛddakṣabhāge cālayettāṃ bhṛśaṃ dṛḍham ॥ 3 ॥

पञ्चाशद्वारकं[5]५० दक्षे वामभागेऽनु चालयेत् ।
आनाभ्युरः[6]पृष्ठकटितुन्दचालो यथा भवेत् ॥
तथाभिचालयेद् ग्रीवां[7] मेरुचालोऽयमीरितः ॥४ ॥

pañcāśadvārakaṃ dakṣe vāmabhāge'nu cālayet ।
ānābhyuraḥpṛṣṭhakaṭitundacālo yathā bhavet ॥
tathābhicālayed grīvāṃ merucālo'yamīritaḥ ॥ 4 ॥

Tr. Bend the neck against the throat like one does in *jālandhara-bandha*. Then move (the neck) firmly for 50 times on the right and then 50 times on the left in such a manner that

1. दण्डं विधाय –b. 2. मामुख –b. 3. जालवान्ध –a. 4. सकृदक्ष्यभागे –b. 5. पञ्चाद्धारकं –b. 6. अनाभ्युरः -a. 7. चालयेद्धीवां –b.

upto navel including back, waist and abdomen would shake well. Similarly, rotate the neck. This is called *merucālana*. 2-4.

कटिपृष्ठसमीरघ्नः कण्ठस्थकफनाशनः ।
कोष्ठवक्षोगतं[1] मरुत् कफरोगहरः परम् ॥ ५ ॥
kaṭipṛṣṭhasamīraghnaḥ kaṇṭhasthakaphanāśanaḥ ।
koṣṭhavakṣogataṃ marut kapharogaharaḥ param ॥ 5 ॥
सुषुम्णा ऋजुतां[2] धत्ते कुण्डलीक्षोभदस्तथा ।
नाडीसंघश्लथकर[3] आश्रमान्तं भजेदमुम् ॥ ६ ॥
suṣumṇā ṛjutāṃ dhatte kuṇḍalīkṣobhadastathā ।
nāḍīsaṅghaślathakaraṃ āśramāntaṃ bhajedamum ॥ 6 ॥

Tr. This removes the air (*vāta* disorders) from the waist and back and phlegmatic disorders from the throat. *vāta* (disorder) is relieved from the intestine and the chest. It entirely cures the phlegmatic disorders. *suṣumnā* becomes straight, *kuṇḍalī* is stimulated and the entire network of the *nāḍis* is stirred. One should practise this till one gets tired. 5-6.

॥ इति प्राणायामारम्भे मेरुचालनम् ॥
॥ *iti prāṇāyāmārambhe merucālanam* ॥

Thus ends *merucālana* as a preparatory to *prāṇāyāma*.

अथ चक्रीबन्धः[4] –
atha cakrībandhaḥ –
cakrībandha –

प्रसार्यांघ्रिद्वन्द्वं[5] प्रथममवनौ साधु च समं
कराभ्यामध्वोरुयुगलकम्[6] अथाऽस्पृश्य पदयोः[7] ॥
तलसुद्योत्तान[8]श्चरणयुगम् उन्नाम्य प्रागिति[9]
स्वमूर्ध्नोर्वेगेनोपरि[10] मुहूरलं भूरि विभृयात् ॥ ७ ॥
prasāryāṅghridvandvaṃ prathamamavanau sādhu ca samaṃ
karābhyāmardhvoruyugalakaṃ athā'spṛśya padayoḥ ॥
talasudyottānaścaraṇayugam unnāmya prāgiti
svamūrdhnorvegenopari muhūrlaṃ bhūri vibhṛyāt ॥ 7 ॥

---

1. वक्ष्योगत –b. 2. रुजुतां –b. 3. संघम्लथकर –a. 4. वक्रीबन्धः -b. 5. प्रसार्या धिद्वन्द्व –b. 6. मामघोंरुयुगुलकम् -b. 7. अथाऽष्टश्यपदयोः -b. 8. सुस्वोतानाश् -b. 9. स्वगिति –b. 10. स्वमूर्मोर्वेगेनोपरि –b.

Tr. Sit with legs extended. With the hands hold the feet half-way. Raise up the feet and stretch them up over the head speedily and repeatedly. 7.

समुन्नतस्फिक् ननु चक्रवत् क्षिपेद् विधाय[1] पाणिद्वयमूर्ध्वमुच्चैः ।
श्रमावधीमं मुहूरभ्यसेद् दिने चक्र्याख्यबन्धं सकलामयघ्नम्[2] ॥८॥

samunnatasphik nanu cakravat kṣiped
vidhāya pāṇidvayamūrdhvamuccaiḥ ॥
śramāvadhīmaṃ muhūrabhyased dine
cakryākhyabandhaṃ sakalāmayaghnam ॥ 8 ॥

Tr. Raise the buttocks and rotate them like a wheel speedily with the help of the hands. Practice this until fatigue sets in. This is called *cakrībandha* which removes all the disorders. 8.

चक्रीबन्धः[3] कुण्डलीक्षोभकारी तानं नाभौ संविधत्ते तथैव ।
अग्नेर्दीप्तिं नाडीसंघश्लथत्वं कुर्यादामाजीर्णशूलादिनाशम् ॥ ९ ॥

cakrībandhaḥ kuṇḍalīkṣobhakārī
tānaṃ nābhau saṃvidhatte tathaiva ॥
agnerdīptiṃ nāḍīsaṅghaślathatvaṃ
kuryādāmājīrṇaśūlādināśam ॥ 9 ॥

Tr. *cakrībandha* agitates the *kuṇḍalinī*, pulls up the navel, enhances gastric fire, network of the *nāḍīs* is made supple and it alleviates toxicity, indigestion and severe pain. 9.

इति चक्रीबन्धः ॥

iti cakrībandhaḥ ॥

Thus ends *cakrībandha*.

अथ तानाभ्यासः —

atha tānābhyāsaḥ —

***tānābhyāsa* follows—**

नाभौ चरेदंगुलपञ्चकोपरि हृदोऽधरे तानमलं मुहूर्मुहूः ।
सुखासने नाभिमभिप्रपश्यतो धृत्वा करौ वस्तिगतौ मिलित्वा ।१०।

nābhau caredaṅgulapañcakopari
hṛdo'dhare tānamalaṃ muhūrmuhūḥ ॥
sukhāsane nābhimabhiprapaśyato
dhṛtvā karau vastigatau militvā ॥ 10 ॥

1. चक्रवात् क्षेपेद्विधाय –b. 2. मपद्म –b. 3. वक्रीबन्ध –b.

परस्परं[1] यः समपृष्ठ[2]दण्डमन्याशिरः सन्ततमादरेण ।
प्राणः प्रतीचीनपथं हि तस्य यात्याशु कन्दश्चलतीश्वरी च ॥११॥

parasparaṃ yaḥ samapṛṣṭhadaṇḍa-
manyāśiraḥ santatamādareṇa ॥
prāṇaḥ pratīcīnapathaṃ hi tasya
yātyāśu kandaścalatīśvarī ca ॥ 11 ॥

Tr. Assume *sukhāsana*. Repeatedly pull the region five digits above the navel and below the chest, while staring at the navel and placing the hands on the pelvis. One should carefully keep back, spine, neck and head consistently erect. Thus *prāṇā* moves in the posterior path (*suṣumnā*) and *kuṇḍalinī* soon leaves *kanda*. 10-11.

युग्मम्--
yugmam--
A *śloka* follows--

अथवा केवलं तानमभ्यसेन् नाभिमण्डले ।
असकृत् प्रत्यहं धीरः कन्दक्षोभकरं मुनेः ॥ १२ ॥

athavā kevalaṃ tānamabhyasen nābhimaṇḍale
asakṛt pratyahaṃ dhīraḥ kandakṣobhakaraṃ muneḥ ॥12॥

Tr. A wise should daily practise *tāna* alone at the navel region repeatedly which agitates the *kanda*. 12.

इति तानाभ्यासः ॥
iti tānābhyāsaḥ ॥
Thus ends *tānābhyāsa*.

अथ चारणा –
atha cāraṇā —
***cāraṇā* follows—**

तदुक्तं सिद्धान्तशेखरे –
taduktaṃ siddhāntaśekhare —
According to *siddhāntaśekhara*—

अनुलोमविधानाभ्यां[3] चारणांगप्रमो भवेत् ।
दशधा१० चारणा मुख्या जघन्यान्या स्मृता बुधैः[4] ॥ १३ ॥

---

1. परस्पर –b. 2. समं पृष्ठ –b. 3. विलोमाभ्यां –siddhāntaśekhara-ch.15.
4. जघन्या बहुधा मता –siddhāntaśekhara-ch.15.

anulomavidhānābhyāṃ cāraṇāṅgabhramo bhavet ।
daśadhā cāraṇā mukhyā jaghanyānyā smṛtā budhaiḥ ।13।

Tr. *cāraṇā* is movement of the limbs which is practised on both sides. Chiefly there are ten *cāraṇās*. According to the adepts, others are *jaghanyā* (of less importance). 13.

शिरोजठरदोर्दण्डचरण[1]द्वितयं तथा ।
उरूजानुयुगं चैषां चारणा दशधा मता[2] ॥ १४ ॥

śirojaṭharadordaṇḍacaraṇadvitayaṃ tathā ।
urūjānuyugaṃ caiṣāṃ cāraṇā daśadhā matā ॥ 14 ॥

Tr. Ten types of *cāraṇās* involve head, stomach, hands, pair of the legs, pairs of thighs and knees. 14.

मणिबन्धौ पदेऽङ्गुल्यः सन्धयोऽन्ये च[3] देहगाः ।
जघन्या चारणा तेषां मुख्यमुख्यतया ततः ॥ १५ ॥

maṇibandhau pade'ṅgulyaḥ sandhayo'nye ca dehagāḥ ।
jaghanyā cāraṇā teṣāṃ mukhyamukhyatayā tataḥ ॥ 15 ॥

Tr. Wrist joints, feet, toes and other joints in the body are prominent ones in *jaghanyā cāraṇā*. 15.

नृत्यरूपं[4] शिवं ध्यात्वा[5] चारणामाचरेद् बुधः[6] ।
हृदं संस्पृष्टत्यस्पर्श[7]सहितं हि विधाय च[8] ॥ १६ ॥

nṛtyarūpaṃ śivaṃ dhyātvā cāraṇāmācared budhaḥ ।
hṛdaṃ saṃspṛṣṭatyasparśasahitaṃ hi vidhāya ca ॥ 16 ॥

Tr. A wise undertakes the practice of *cāraṇā* meditating on *śiva's* dancing form. One rotates the head while touching the chest. One touches the heart (chest) in a manner as if not touched. 16.

Note: after this verse we come across the following additional verses in the MS. of *siddhāntaśekhara* which present a complete technique of *cāraṇā*.

अप्रदक्षिणतः पूर्व दशधा च प्रदक्षिणम् ।
उदरं भ्रामयेत्तद्वद् भुजौ कूर्परकावपि ॥

---

1. कूर्पर –siddhāntaśekhara-ch.15. 2. मतां –b. 3. न –b. 4. नृत्यमूर्ति – siddhāntaśekhara-ch.15. 5. ध्यायं –siddhāntaśekhara-ch.15. 6. सुधीः siddhāntaśekhara-ch.15. 7. संस्पृष्टसस्पर्श -b. 8. हि विदृतय च –b, in siddhāntaśekhara we get भ्रामयेच्छिरः .

प्रतिलोम्यानुलोम्येन दशधोरू च जानुनी ।
पञ्चधा मणिबन्धांघ्रि भ्रामयेत्प्रतिवासरम् ॥
चारणं शतसंख्यातं मुख्या सा नो तदूर्ध्वतः ॥
apradakṣiṇataḥ pūrvaṃ daśadhā ca pradakṣiṇam ।
udaraṃ bhrāmayettadvad bhujau kūrparakāvapi ॥
pratilomyānulomyena daśadhorū ca jānunī ।
pañcadhā maṇibandhāṅghri bhrāmayet prativāsaram ॥
cāraṇaṃ śatasaṃkhyātaṃ mukhyā sā no tadūrdhvataḥ ॥

Rotate the abdomen in clock-wise and anti-clock-wise manner for ten times (each). Similarly, move the shoulders and the elbows. Rotate the thighs and knees in reverse and inverse manner. Rotate the wrist and the feet for five times everyday. A wise should practice these daily as recommended. *cāraṇā* practised for hundred times or more makesit an effective practice. 16.

शतार्धं च तदर्धं च जघन्यादिषु चारणा ।
चारणादाचरेदेवं प्रतिमासत्रयावधि[1] ॥ १७ ॥
śatārdhaṃ ca tadardhaṃ ca jaghanyādiṣu cāraṇā ।
cāraṇāmācaredevaṃ pratimāsatrayāvadhi ॥ 17 ॥

Tr. The *jaghanyā cāraṇās* should be practised fifty or twenty-five times (a day) for three months. 17.

आसनान्यभ्यसेदेवं योग्यः[2] स्यान्नाडिशोधने ।
वरं[3] रोगोपशमनं वायुवह्निप्रबोधनम् ॥ १८ ॥
āsanānyabhyasedevaṃ yogyaḥ syānnāḍiśodhane ।
varaṃ rogopaśamanaṃ vāyuvahniprabodhanam ॥ 18 ॥

Tr. If the *āsanas* are practised in such a manner, one becomes prepared for the purification of the *nāḍīs*. It is excellent in alleviating the diseases. *prāṇa* and (bodily) heat are enriched. 18.

लघुरोगोपशमनं वह्नि[4]वायुप्रबोधनम् ।
लघुत्वमायुषो वृद्धिरपमृत्युजयस्तथा ॥ १९ ॥
laghurogopaśamanaṃ vahnivāyuprabodhanam ।
laghutvamāyuṣo vṛddhirapamṛtyujayastathā ॥ 19 ॥

---

1. तपावधि –b. 2. योगी –siddhāntaśekhara-ch.15. 3. यत्नं – siddhāntaśekhara-ch.15. 4. वह्नि –b.

Tr. Minor diseases are also cured and (bodily) heat and *prāṇa* are stimulated. One feels light. Life span is enhanced. Premature death is prevented. 19.

एवमादीनि जायन्ते चारणां चरतः[1] सदा ॥ इति ॥

evamādīni jāyante cāraṇāṃ carataḥ sadā ॥ *iti* ॥

Tr. Regular practice of *cāraṇā* brings about all these and other benefits.

इति चारणा ॥

iti cāraṇā ॥

Thus ends *cāraṇā*.

॥ इति हठतत्वकौमुद्यां प्राणायामपूर्वांग[2] साधनविध्युद्योतः ॥

॥ iti haṭhatatvakaumudyāṃ

prāṇāyāmapūrvāṅgasādhanavidhyudyotaḥ ॥

Thus ends the chapter containing preliminary practices of *prāṇāyāma* in *haṭhatatvakaumudī*.

1. वरतः -b. 2. पूर्वांगस्य –b.

Chapter — 10

अथ कुम्भकसंग्रहसमासः —

atha kumbhakasaṃgrahasamāsaḥ —

Description of the group of *kumbhakas*—

तत्रादौ कुम्भकाष्टकम्[1] —

tatrādau kumbhakāṣṭakam —

First of all the eight *kumbhakas*—

तृषादाहपित्तश्रमघ्नीं[2] च सीत्कां
भजेच्छीतलीं साधको वा सदैव ॥
ज्वरादौ तथा ग्रीष्मकालेऽथ हैमे
बुधः सूर्यभेदं कफे मारुते च ॥१॥

tṛṣādāhapittaśramaghnīṃ ca sītkāṃ
bhajecchītalīṃ sādhako vā sadaiva ॥
jvarādau tathā grīṣmakāle'tha haime
budhaḥ sūryabhedaṃ kaphe mārute ca ॥ 1 ॥

· **Tr.** A *sādhaka* should always practise *sītkā* or *śītalī* which would pacify thirst, burning, acidity and relieve fatigue. These may be practised on the onset of fever, or in summer. A wise would do well by practising *sūryabhcda* in the winter or when affected by phlegmatic or *vāta* disorders. 1.

बहुगदाकलितोऽप्यबलो मुनिः पवनसन्धरणाभ्यसनाद् भृशम्[3]
न मनुते शमनाद्दमनं मनाग्गतभयो[4] भुवि संयतमानसः ॥ २ ॥

bahugadākalito'pyabalo muniḥ
pavanasandharaṇābhyasanād bhṛśam ॥
na manute śamanāddamanaṃ manāg-
gatabhayo bhuvi saṃyatamānasaḥ ॥ 2 ॥

Tr. A *muni* who is enfeebled by host of diseases can quickly alleviate them through the *prāṇāyāma* practices. Rather than suppressing them he should pacify them, remaining fearless and keeping the balance of mind. 2.

विधिवदनिशस[5]मीरणप्ररोधै[6]र्वपुषि शिरावलये विशोधितेऽन्तः ।
विशति मरुदरं[7] महापथास्ये हठं विना भुजगी मुखं ह्यऽपास्य।३।

---

1. कुम्भाष्टकम् -b. 2. तृषादाहीपतभ्रमघ्नी –b. 3. भ्यसनाभृशं –b. 4. मनागातभायो –b. 5. विधिवदुतिस –a. 6. प्रदोध –a. 7. मरुऽरं –b.

vidhivadaniśasamīraṇaprarodhair-
vapuṣi śirāvalaye viśodhite'ntaḥ ||
viśati marudaraṃ mahāpathāsye
haṭhaṃ vinā bhujagī mukhaṃ hya'pāsya || 3 ||

Tr. Prolonged practice of *prāṇāyāma* in the manner prescribed renders the tubular vessels of the body *(śirās)* purified internally which facilitates the forceful entrance of *marut* into the mouth of the *bhujagī (kuṇḍalinī)*. 3.

यदा मारुतो मध्यसञ्चारदक्षः[1]
तदा चित्तमेतन्मुनेः स्थैर्यमेति ॥
मनःस्थैर्यमुक्तोन्मनीं या दशा सा
हृदः[2] **स्यात् तदा शाम्भवीसिद्धिदास्य ॥ ४ ॥**

yadā māruto madhyasañcāradakṣaḥ
tadā cittametanmuneḥ sthairyameti ||
manaḥsthairyamuktonmanīṃ yā daśā sā
hṛdaḥ syāt tadā śāṃbhavīsiddhidāsya || 4 ||

Tr. When *marut* freely courses through the middle path (*suṣumnā)*, a *muni*, then gets his mind stable. Stability of the mind results into the attainment of *unmanī* state which then leads to Bliss and successful attainment of *śāmbhavī*. 4.

तत्सिद्धये साधुविधानविज्ञा
कुर्वन्ति धीरा विविधांश्च कुम्भकान् ॥
विचित्र[3]**कुम्भाभ्यसनाद् विचित्रां**
सुसाधकाः सिद्धिगणान् भजन्ति[4] **ते ॥ ५ ॥**

tatsiddhaye sādhuvidhānavijñā
kurvanti dhīrā vividhāṃśca kumbhakān ||
vicitrakumbhābhyasanād vicitrāṃ
susādhakāḥ siddhigaṇān bhajanti te || 5 ||

Tr. For that success, the wise adepts of *yoga* practise various *kumbhakas*. The wise *sādhakas* attain host of supernatural powers through the practice of various amazing *kumbhakas*. 5.

अथ सूर्यभेदनकुम्भकः —

atha sūryabhedanakumbhakaḥ —

1. दक्ष्य –b. 2. स्यह्रदः -b. 3. विचित्रं –b. 4. भजति –b.

sūryabhedanakumbhaka—

बद्ध्वा वज्रासनं प्रागनुपवनमुपाकृष्य बाह्याभिवाहम्
मन्दं मार्त्तण्डनाड्यां तदनुकचनखाग्रान्तमाकुम्भयेच्च ॥
रुद्धे नाड्ये यातं[1] पवनमनुशनैः रेचयेदेतदुक्तं[2]
वातघ्नं भालसंशोधनमसकृदहो सूर्यभेदं विधेयम् ॥ ६ ॥

baddhvā vajrāsanaṃ prāganupavanamupākṛṣya bāhyābhivāhaṃ mandaṃmārtaṇḍanāḍyāṃ tadanukacanakhāgrāntamākumbhayecca ruddhe nāḍye yātaṃ pavanamanuśanaiḥ recayedetaduktaṃ vātaghnaṃ bhālasaṃśodhanamasakṛdaho sūryabhedaṃ vidheyam ॥ 6 ॥

Tr. First adopt *vajrāsana*, slowly draw the (external) air in through the right nostril and retain it to feel its sensation at the fillet of hair and tip of the nails. When the *prāṇa* is held (in this manner) it moves to the *nāḍīs* and then one should gently exhale. This is said to be removing the disorders caused due to *vāta*, cleanses the forehead (frontal sinus). This *sūryabhedana* should be practised several times. 6.

इति कफवातरोगकृमिदोषशैत्यविकारहर उष्णवीर्यः[3] सूर्यभेदकुम्भकः ॥

iti kaphavātarogakṛmidoṣaśaityavikārahara uṣṇavīryaḥ sūryabhedakumbhakaḥ ॥

Thus ends *sūryabheda-kumbhaka* which generates heat and relieves of phlegm, *vāta*, worm and cold.

अथोज्जायी[4] कुम्भकः —

***ujjāyī kumbhaka*—**

आस्यं संयम्य नासापुटयुगसुषिराभ्यां समाकृष्य वायुं
मन्दं मन्दं यथासौ लगति गलतटादाहृदन्तः सशब्दः[5] ॥
रुद्ध्वा केशान्नखाग्रावधि पवनममुं रेचयेद्वामनाड्या
प्रोक्तोज्जायीति[6] कुम्भः कफगददलनो दीप्ति[7]कृज्जाठराग्नेः ।७।

āsyaṃ saṃyamya nāsāpuṭayugasuṣirābhyāṃ samākṛṣya vāyuṃ mandaṃ mandaṃ yathāsau lagati galataṭādāhṛdantaḥ saśabdaḥ ।

1. रुद्धं नाड्योदयातं –b. 2. रेचयततदुक्तं –a. 3. ऊष्मवीर्यः -b. 4. अथोन्नायी –b. 5. सशष्टवः -b. 6. न्नायीति –b. 7. दीति –b.

ruddhvā keśānnakhāgrāvadhi pavanamamuṃ recayedvāmanāḍyā proktojjāyīti kumbhaḥ kaphagadadalano dīptikṛjjāṭharāgneḥ ॥ 7 ॥

Tr. Close the mouth. Slowly suck the air through both the nostrils causing sonorous sound at the (root of the) throat upto the chest and retain it so long as to feel its sensation upto the tip of the hair and nails. Now draw the air out through the left nostril. This is called *ujjāyī kumbhaka*, which cures hosts of phlegmatic disorders and stimulates the gastric fire. 7.

एष उज्जायिका[1]ख्यस्तु कुम्भो भृशं
धातुलीनामयध्वंस[2]दावानलः ॥
गच्छता तिष्ठता योगिना सेवितो
वृद्धनाडीनताम्बूदर[3]ध्वंसनः ॥८॥

eṣa ujjāyikākhyastu kumbho bhṛśaṃ
dhātulīnāmayadhvaṃsadāvānalaḥ ॥
gacchatā tiṣṭhatā yoginā sevito
vṛddhanāḍīnatāmbūdaradhvaṃsanaḥ ॥ 8 ॥

Tr. This *ujjāyī kumbhaka* soon purifies the morbidities of the bodily constituents with the heat generated (by it). When a *yogī* undertakes this practice all the time, he destroys (the impurities) of the large intestines (*vṛddha-nāḍīs*), dropsy and abdominal disorders. 8.

उज्जायीसूर्यभेदौ द्वौ कुम्भावुष्णौ[4] स्मृतौ मुनेः ।
चिद्रूपोष्मांशुधमनीविषवाहतया[5] तनौ ॥ ९ ॥

ujjāyīsūryabhedau dvau kumbhāvuṣṇau smṛtau muneḥ ।
cidrūpoṣmāṃśudhamanīviṣavāhatayā tanau ॥ 9 ॥

Tr. *ujjāyī* and *sūryabheda* are the two *kumbhakas* which are considered heat generating. The ray of heat generated in the body removes the toxicity from the tubular vessels in the body of a *muni*. 9.

इत्युज्जायीकुम्भकः ॥

ityujjāyīkumbhakaḥ ॥

Here ends *ujjāyī kumbhaka*.

---

1. एष उन्नायिका –b. 2. लीनामपध्वं –a. 3. नताम्बूदर –a. 4. वुष्मौ –b. 5. वाहनपा –b.

अथ शीत्काकुम्भकः –

atha sītkākumbhakaḥ –

***sītkākumbhaka* follows–**

सीत्कां दद्यान् मुखेन[1] प्रथममनुविजृम्भां च[2] नासापुटाभ्यां
नित्याभ्यासप्रयोगादिति भवति नरः कामदेवो द्वितीयः ॥
निद्रालस्यक्षुधातृट्रहित[3] इह चरेद्योगिनीचक्रसेव्यः[4]
सृष्टेः संहारकारी विहरति स सदोपद्रवो न पृथिव्याम् ॥१०॥

sītkāṃ dadyān mukhena prathamamanuvijṛmbhāṃ ca nāsāpuṭābhyāṃ
nityābhyāsaprayogāditi bhavati naraḥ kāmadevo dvitīyaḥ ॥
nidrālasyakṣudhātṛṭrahita iha caredyoginīcakrasevyaḥ
sṛṣṭeḥ saṃhārakārī viharati sa sadopadravo na pṛthivyām ॥ 10 ॥

Tr. One sucks the air through the mouth making a hissing sound (*sīt*) and thereafter exhales through the nostrils. A regular practice makes a man second to cupid. It removes sleep, lethargy, hunger and thirst. He is favoured by the group of *yoginīs* (deities), becomes a creator and destroyer and moves on the earth without trouble. 10.

सुधास्रावि शिरारन्ध्रतालु स्पृष्ट्वामृतं[5] मरुत् ।
हिमो जिह्वाग्रयुक् शीतल्येव सीत्कार्यऽतोऽरुजा ॥ ११ ॥

sudhāsrāvi śirārandhratālu spṛṣṭvāmṛtaṃ marut ।
himo jihvāgrayuk śītalyeva sītkārya'to'rujā ॥ 11 ॥

Tr. As the *prāṇa* touches the aperture above the upper palate, the ambrosia secretes from the *śirās* (tubular vessels). The tongue turns cool. The practice of *sītkārī* is like *śītalī* which brings wellness. 11.

इति पित्तज्वरदाहतृषादौ शीत्कार[6]कुम्भकः॥

iti pittajvaradāhatṛṣādau sītkārakumbhakaḥ ॥

Thus ends *sītkākumbhaka* recommended for acidity, fever, burning sensation and thirst etc.

अथ भस्त्रिकाकुम्भकः[7] –

atha bhastrikākumbhakaḥ –

1. सीत्कादयान्मुखे –b. 2. विजृम्भाव –b. 3. तृटिरहित –b. 4. सोधु –b. 5. स्पृष्टश्चऽमरत –b. 6. सीत्का –b. 7. भस्त्रिका –b.

bhastrikā kumbhaka follows—

स्थित्वाब्जे[1] समकन्धरोदरतनुः संयम्य यत्नान् मुखं
घ्राणेनाशु[2] सुपूर्य संश्लिषति[3] हृत्कण्ठे कपालावधि ॥
सम्यग् धृतं[4] यया[5] विरिच्य पुनरप्यापूर्य वेगादनु
हृत्य प्रावधि केवलं पुनरपि त्यक्त्वा पुनः पूरयेत् ॥१२॥

sthitvābje samakandharodaratanuḥ saṃyamya yatnān mukhaṃ
ghrāṇenāśu supūrya saṃśliṣati hṛtkaṇṭhe kapālāvadhi ॥
samyag dhṛtaṃ yayā viricya punarapyāpūrya vegādanu
hṛtya prāvadhi kevalaṃ punarapi tyaktvā punaḥ pūrayet ॥ 12 ॥

Tr. Adopt *padmāsana* and keep the shoulders, abdomen and the trunk erect. Carefully keep the mouth closed. Rapidly inhale through the nostrils making a friction from the heart (chest), throat and upto the forehead and hold to the capacity. Again rapidly inhale with the same nostril through which exhaled, upto the chest with force and again exhale and inhale repeatedly. 12.

इत्थं शश्वदुपाचरेदिति[7] यथा भस्त्रेव संचालयेद्
देहस्थं पवनं तथैव मतिना सञ्चालयेद्[8] बुद्धिमान् ॥
श्रान्तिः स्याद् तु यदा तदा निजतनौ सूर्येण संरेचयेत्
पूर्णं स्वोदरमाकलय्य मरुता मन्दं तथा पूरयेत् ॥१३ ॥

itthaṃ śaśvadupācarediti yathā bhastreva sañcālayed
dehasthaṃ pavanaṃ tathaiva matinā sañcālayed buddhimān ॥
śrāntiḥ syād tu yadā tadā nijatanau sūryeṇa saṃrecayet
pūrṇaṃ svodaramākalayya marutā mandaṃ tathā pūrayet ॥ 13 ॥

Tr. In this manner, a wise should practise it continuously, moving the bodily air like a bellows with full attention. When tired, the wise should exhale through right nostril and then slowly fill up the whole cavity with air fully. 13.

नासामध्यममन्तरेण सुदृढं सतर्जनीभ्यां ततः
कुम्भं पूर्ववदाविधाय पवनं तं रेचयेद्वामया ॥
भस्त्राख्यः खलु कुम्भकः स्यति कफं पित्तं समीरं
सुषुम्णांगस्थं दुःकफमग्निदस्त्रिगुणजग्रन्थित्रयोद्भेदकः ॥ १४ ॥

1. स्थित्वाऽज्वे –b.2. घ्राणेवाय्यु –b. 3. संश्लिष्यति –b. 4. सम्यदृघन्त –a. 5. यथा–b. 6. शर्वाधके–b. 7. शश्वऽयाचरेदिति–b. 8. स्तंचालयेद् -b.

nāsāmadhyamamantareṇa sudṛḍhaṃ satarjanībhyāṃ tataḥ kumbhaṃ pūrvavadāvidhāya pavanaṃ taṃ recayedvāmayā ।
bhastrākhyaḥ khalu kumbhakaḥ syati kaphaṃ pittaṃ samīraṃ suṣumṇāṅgasthaṃ duḥkaphamagnidastriguṇaja-granthitrayodbhedakaḥ ॥14॥

Tr. Then holding the nostrils firmly with fingers (index), one should retain the air as said before and then exhale through the left nostril. This is *bhastrā kumbhaka*. This removes the disorders caused by phlegm, bile *(pitta)* and air (*vāta*) and also the tough phlegmatic obstructions in the *suṣumnā*. This enhances (bodily) fire, brings (balance among) the three *guṇas* by piercing through the three *granthis*. 14.

इति सर्वदोषमलशोषणः सर्वपीडाहर आमाजीर्णजारणो भस्त्रिकाकुम्भकः ॥

iti sarvadoṣamalaśoṣaṇaḥ sarvapīḍāhara āmājīrṇajāraṇo bhastrikākumbhakaḥ ॥

Here ends *bhastrikā kumbhaka*, which dries up impurities caused by three bodily humours, alleviates all sufferings and digests the undigested food caused by *āma* (toxins).

अथ शीतलीकुम्भकः —

atha śītalīkumbhakaḥ —

***śītalī kumbhaka* follows—**

आकृष्याकृष्य वायुं भृशमति प्राग्वच्चाकृष्य बध्वा लघु ।
सुरसकृद् रेचकपूरकाभ्यां कुम्भोऽयं चान्तरंगकः ॥ इति ॥१५॥

ākṛṣyākṛṣya vāyuṃ bhṛśamati
prāgvaccākṛṣya baddhvā laghu ॥
surasakṛd recakapūrakābhyāṃ
kumbho'yaṃ cāntaraṅgakaḥ ॥ *iti* ॥ 15 ॥

Tr. One should very forcefully draw the air in, as told before, retain it for a short while and leave it in a very controlled manner. With this kind of inhalation and exhalation this is *antarangaka kumbhaka*. 15.

जिह्वां बहिर्निःसार्य[1] दन्तमूले कृत्वा वायुमाकृष्य पूरकं[2] भवेत्[3] पूर्ववत् । ततो मन्दनासाभ्यां वायुं अधस्त्यजेत् शनकैराशिखाग्रमानखाग्रावध्युच्चैश्चानु नासापुटयुगलबिलाभ्यां[4] ततो रेचयेत्[5] ॥ १६ ॥

jihvāṃ bahirniḥsārya dantamūle kṛtvā vāyumākṛṣya pūrakaṃ bhavet pūrvavat / tato mandanāsābhyāṃ vāyuṃ adhastyajet śanakairāśikhāgramānakhāgrāvadhyuccaiścānu nāsāpuṭayugalabilābhyāṃ tato recayet ॥ 16 ॥

Tr. One draws the tongue out of the teeth and takes the air in and slowly leaves the air out through nose as before till one feels the sensations at the tip of the hair and nails. Thereafter one draws the air out through both the nostrils. 16.

गुल्मप्लीहो[6]दरघ्नो ज्वरक्षवथुतृषं[7] यक्ष्मपित्ते निहन्ति ।
दोषं देवं[8] च हन्यादीति मददलनः शीतली[9]नाम कुम्भः ॥ १७ ॥

gulmaplīhodaraghno jvara-
kṣavathutṛṣaṃ yakṣmapitte nihanti ॥
doṣaṃ devaṃ ca hanyādīti
madadalanaḥ śītalīnāma kumbhaḥ ॥ 17 ॥

Tr. This cures inflammation, spleen disorders (*plīhā*), dropsy, fever, sore throat, thirst, consumption, acidity (*pitta*) and the evils related to deities (*deva* – evil spirits) and controls lust. This is *śītalī kumbhaka*. 17.

इति शीतलीकुम्भकः ॥

iti śītalīkumbhakaḥ ॥

Here ends *śītalī kumbhaka*.

अथ भ्रामरीकुम्भकः —

atha bhrāmarī kumbhakaḥ—

***bhrāmarī kumbhaka*—**

वेगाकृष्टं पूरकं भृंगनादं भृंगीनादं रेचकं मन्दमन्दम् ।
योगीन्द्राणामेवमभ्यासयोगाच्चित्ते जाता काचिदानन्दमूर्च्छा ।१८।

vegākṛṣṭaṃ pūrakaṃ bhṛṅganādaṃ
bhṛṅgīnādaṃ recakaṃ mandamandam ॥

---

1. जिह्वांवर्दिनिसाद्यं –b. 2. पूरं –b. 3. कुम्भवेत् -b. 4. वायुं अधस्त्यजेत् —- बिलाभ्यां –अनुपलब्धपाठः -b. 5. रेचयेत्तं –b. 6. गुल्मीहो –b. 7. क्षुत्तृषं –b. 8. दोषं क्ष्येदं –b. 9. शीतलो –a.

yogīndrāṇāmevamabhyāsayogāc-
citte jātā kācidānandamūrcchā ॥ 18 ॥

Tr. One inhales forcefully to produce the sound resembling that of a male bee and exhales very slowly, creating a sound similar to that of a female bee. This technique fills the mind of a *yogī* with exceptionally ecstatic feeling. 18.

अथ मूर्च्छाकुम्भकः —
atha mūrcchā kumbhakaḥ—
mūrcchā kumbhaka—

पुरा पूरकान्ते विधाय प्रगाढं
गले जालबन्धं शनैः रेचयेत्तम् ॥
मनोमूर्च्छनानामकः कुम्भ एषो
मनोमूर्च्छनासौख्यदा योगिनोऽस्मात् ॥ १९ ॥

purā pūrakānte vidhāya pragāḍhaṃ
gale jālabandhaṃ śanaiḥ recayettam ॥
manomūrcchanānāmakaḥ kumbha eṣo
manomūrcchanāsaukhyadā yogino'smāt ॥ 19 ॥

Tr. Inhale and retain the air firmly adopting *jālandharabandha* and then exhale slowly, while maintaining *jālandhara bandha*. This is called *manomūrcchā kumbhaka*, which brings about a state of swooning to a *yogī*. 19.

इति मूर्च्छाकुम्भकः ॥
iti mūrcchā kumbhakaḥ ॥
End of *mūrcchā kumbhaka*.

अथ प्लावनीकुम्भकः[1] –
atha plāvanī kumbhakaḥ—
plāvanī kumbhaka—

अभ्यन्तरप्रवर्त्तितभूरिताधार[2]वायुपूरितजठरः ।
अतलस्पर्शे पयसि प्लवते योगी सुखेन चिरम् ॥२० ॥

abhyantarapravarttitabhūritarādhāravāyupūritajaṭharaḥ ।
atalasparśe payasi plavate yogī sukhena ciram ॥ 20 ॥

Tr. Fill the stomach completely with the air. Thus, a *yogī* comfortably floats for a long time in the deep water. 20.

---

1. अनुपलब्धपाठः -b. 2. भूरिजराऽधार –a.

ऊर्ध्वमाकर्षितापानादृतिवत्[1] पूरितोदरः ।
जले सुप्त्वाऽप्सु प्लवते समवाहे जितेऽनिले ॥ २१ ॥

ūrdhvamākarṣitāpānādṛtivat pūritodaraḥ ।
jale suptvā'psu plavate samavāhe jite'nile ॥ 21 ॥

Tr. One pulls the *apāna vāyu* up and fills the stomach with air like a container. Gaining control over the air *(prāṇa)* and establishing balance, one lies on the water and floats. 21.

इति प्लावनीकुम्भकः ॥

iti plāvanīkumbhakaḥ ॥

End of ***plāvanīkumbhaka.***

अथात्र ग्रन्थान्तरे विशेषः —

athātra granthāntare viśeṣaḥ —

In this regard some significant information (is available) in another text.

अथ प्रसंगादभ्यासार्थं केचन उपयुक्ताः कुम्भकाः कथ्यन्ते —

atha prasaṅgādabhyāsārthaṃ kecana upayuktāḥ kumbhakāḥ kathyante —

In this context, some useful *kumbhakas* are being described for practice—

संकर्षको रोधबलं हि यावत् सम्मुह्य नासायुग[2]रन्ध्रमूलम् ।
कुर्यात् तदग्रे ननु रेचपूरावुत्कर्षकुम्भः कथितः स धात्रा ॥ २२ ॥

saṅkarṣako rodhabalaṃ hi yāvat
sammuhya nāsāyugarandhramūlam ॥
kuryāt tadagre nanu recapūrāvutkarṣa-
kumbhaḥ kathitaḥ sa dhātrā ॥ 22 ॥

Tr. One inhales and holds (the air) to the capacity by pressing the openings of the nose and thereafter exhales and inhales. This is *utkarṣa kumbhaka* propagated by the creator *(brahmā)*. 22.

इत्युत्कर्षकुम्भः ॥

ityutkarṣakumbhaḥ ॥

End of ***utkarṣa kumbhaka.***

---

1. दृतिवत् -b. 2. संमुद्मनायुग –b .

आमुह्यघोणार्धमधोविभागे[1]
यद्रेचपूरौ विदधाति तिष्ठन् ॥
स एष कुम्भो गदितो विधात्रा
नाम्नापकर्षः प्रणवात्मनाऽयम्[2] ॥ २३ ॥

āmuhyaghoṇārdhamadhovibhāge
yadrecapūrau vidadhāti tiṣṭhan ॥
sa eṣa kumbho gadito vidhātrā
nāmnāpakarṣaḥ praṇavātmanā'yam ॥ 23 ॥

Tr. Closing one nostril, one does inhalation and exhalation steadily. This is *apakarṣa kumbhaka* propagated by the creator which is of the nature of *praṇava*. 23.

इत्यपकर्षकुम्भः ॥

ityapakarṣakumbhaḥ ॥

End of *apakarṣa kumbhaka*.

कर्षके प्रविहिते किल कुम्भे
श्वासको[3] भवति दीर्घतरोऽणुः ॥
नो बलात् स्थितिगतौ श्वसनस्य
संधृतिः स सहजः शुभकुम्भः ॥ २४ ॥

karṣake pravihite kila kumbhe
śvāsako bhavati dīrghataro'ṇuḥ ॥
no balāt sthitigatau śvasanasya
saṃdhṛtiḥ sa sahajaḥ śubhakumbhaḥ ॥ 24 ॥

Tr. Practice of *karṣaka kumbhaka* renders the breathing prolonged and subtle. One retains breathing naturally without force. This is auspicious *sahaja kumbhaka*. 24.

नाडीशुद्धिं तथारोग्यं सुसुखं दीर्घजीवितम् ।
नादश्रुतिः पापनाशः सहजाभ्यासतो भवेत् ॥ २५ ॥

nāḍīśuddhiṃ tathārogyaṃ susukhaṃ dīrghajīvitaṃ ।
nādaśrutiḥ pāpanāśaḥ sahajābhyāsato bhavet ॥ 25 ॥

Tr. With the practice of *sahaja kumbhaka*, one gets purification of the *nāḍīs*, health, happiness, longevity, hearing of the mystical sounds and removal of the sins. 25.

इति सहजकुम्भगुणाः ॥

---

1. आमुज्ययोविभागे –b. 2. पणवात्मानाऽभ्यं –b. 3. किलकुम्भश्वासके –b.

iti sahajakumbhaguṇāḥ--

End of the merits of *sahaja kumbhaka*.

इति कर्षककुम्भसहजकुम्भौ ॥

iti karṣakakumbhasahajakumbhau ॥

Here end *karṣaka* and *sahaja kumbhakas*.

दक्षवामावर्त्तभेदाच्चक्रशंखौ द्विधोदितौ
सूर्येणापूर्य[1] मरुतं कुम्भयेदुदरस्थितम्[2] ॥
रेचयेदिन्दुना भूयस्तथा दक्षेण पूरयेत्
कुम्भयेदिडया रेच्य[3] दक्षिणावर्त्तचक्रकः ॥ २६ ॥

dakṣavāmāvarttabhedāccakraśaṅkhau dvidhoditau
sūryeṇāpūrya marutaṃ kuṃbhayedudarasthitam ॥
recayedindunā bhūyastathā dakṣeṇa pūrayet
kumbhayediḍayā recya dakṣiṇāvarttacakrakaḥ ॥ 26 ॥

Tr. By the distinction of right and left, *cakra* and *śaṅkha kumbhakas* become two-fold.

Drawing the air in through the *sūrya nāḍī* (right nostril) and after retaining it in the cavity, one exhales it through the *candra nāḍī* (left nostril). Then again one should inhale through the right nostril and exhale through the left nostril after retention. This is *dakṣiṇāvartta cakraka*. 26.

विलोमोऽयं चक्रकुम्भो वामावर्त्तः शिवोदितः ।
सूर्यचन्द्राविमौ कुम्भौ द्रुहिणेन पुरोदितौ ॥
अत्युष्ण[4]शीतलावेतौ देशकालप्रयोजितौ ॥ २७ ॥

vilomo'yaṃ cakrakumbho vāmāvarttaḥ śivoditaḥ ।
sūryacandrāvimau kumbhau druhiṇena puroditau ॥
atyuṣṇaśītalāvetau deśakālaprayojitau ॥ 27 ॥

Tr. Doing *cakrakumbhaka* in the reverse order, it is called *vāmāvartta* according to *śiva*.

According to *druhiṇa (śiva)*, these are called *sūrya* and *candra kumbhakas* respectivėly. These being of the nature of heat and cold, they should be practised taking into consideration the region and season. 27.

1. सूर्येणपूर्य -b. 2. कुम्भयेदुरस्थितं –b. 3. दिडयोरेच्या --b. 4. अत्युष्म -b.

उभाभ्यां पूरयेद्वायुं कुम्भयित्वा यथाविधि ।
उभाभ्यां रेचये[1]द्वर्त्मगतिः कुम्भः शिवोदितः ॥ २८ ॥[2]

ubhābhyāṃ pūrayedvāyuṃ kumbhayitvā yathāvidhi ।
ubhābhyāṃ recayedvartmagatiḥ kumbhaḥ śivoditaḥ ॥28॥

Tr. Inhale through both the nostrils and hold upto the limit and exhale through both nostrils. This is *varttmagati kumbhaka* propagated by *śiva*. 28.

यत्रोभाभ्यां पूरणं ग्लौरविभ्यां सम्यङ्‌ मार्त्तण्डाध्वना रेचनं[3] च ।
एषः प्रोक्तः श्रीगदाकुम्भनामा देहे धत्ते श्रीबलं[4] साधकस्य ॥२९॥

yatrobhābhyāṃ pūraṇaṃ glauravibhyāṃ
samyaṅ mārttaṇḍādhvanā recanaṃ ca ॥
eṣaḥ proktaḥ śrīgadākumbhanāmā
dehe dhatte śrībalaṃ sādhakasya ॥ 29 ॥

Tr. One inhales through both nostrils (sun and moon) and exhales carefully through right. This is *śrīgadākumbhaka* which offers stamina to the *sādhaka*. 29.

इति चक्रशंखवामावर्त्तवर्त्मगतिनामानश्चत्वारः कुम्भाः गदाकुम्भोऽयं पञ्चमः ॥

iti cakraśaṅkhavāmāvarttavarttmagatināmānaścatvāraḥ kumbhāḥ gadākumbho'yaṃ pañcamaḥ ॥

Here end *cakra, śaṅkha, vāmāvartta* and *varttmagati* the four *kumbhakas* and this *gadākumbhaka* the fifth.

हंसेति विद्वांसमनु[5] द्वयाभ्यां स्वे हंससञ्चिन्तनतो मनस्वी ।
आपूर्य मुञ्चेद्रविशीतगुभ्यां नाडीविशुध्याख्यक[6]कुम्भ एषः ॥३०॥

haṃseti vidvāṃsamanu dvayābhyāṃ
sve haṃsasañcintanato manasvī ॥
āpūrya muñcedraviśītagubhyāṃ
nāḍīviśudhyākhyakakumbha eṣaḥ ॥ 30 ॥

Tr. Knowing *haṃsa* well a practitioner inhales through

---

1. वायुं कुम्भयित्वा यथाविधि उभाभ्यां रेचयेद् - अनुपलब्धपाठः -b. 2. यत्रोभाभ्यां पूरयेद्वायुं कुम्भयित्वा यथाविधि ।
उभाभ्यां रेचयेद्वर्त्मगतिः कुम्भः शिवोदितः ॥ २८ ॥*śloka* 28 is repetition of sl. 27, not available in -b. 3. बलं च -b. 4. धनेध्रीबलं -b. 5. विन्द्वन्य मनु -b. 6. विशुध्याख्य -a.

both nostrils while meditating on *haṃsa* and thereafter exhales through *ravi* (right) and *śīta* (left) nostrils. This is *nāḍīviśuddhi kumbhaka*. 30.

निदाघमध्यन्दिनसूर्यतुल्यं
नाभौ रवेर्मण्डलमाविभाव्य ॥
मार्त्तण्डनाड्या[1] विहिते सुकुम्भे
नाड्यो विशुध्यन्ति सुसाधकस्य ॥ ३१ ॥

nidāghamadhyandinasūryatulyaṃ
nābhau raver maṇḍalamāvibhāvya ॥
mārtaṇḍanāḍyā vihite sukumbhe
nāḍyo viśudhyanti susādhakasya ॥ 31 ॥

Tr. One visualizes the luminous solar disc like that of the summer noon at the navel and inhales through right nostril and retains the air inside. This purifies the *nāḍīs* of a sincere *sādhaka*. 31.

शरद्राका निशीथेन्दु[2]सहस्रदलमध्यगं स्रवत् ।
सुधामिडां[3] कुम्भे ध्यात्वा शुध्यन्ति[4] नाडिकाः[5] ॥ ३२ ॥

śaradrākā niśīthendusahasradalamadhyagaṃ sravat ।
sudhāmiḍāṃ kumbhe dhyātvā śudhyanti nāḍikāḥ ॥ 32 ॥

Tr. One visualizes oozing of the nectar in the *iḍā* from the moon of the autumn night, situated in the lotus of the thousand petals. This leads to purification of the *nāḍīs*. 32.

पित्तदोषदलनं शशिना स्याद्[6] भास्करेण कफवातमलान्तः ।
मासकैस्त्रिभिरहो ऽभ्यसनेन नाडिशुद्धिरमला समुदेति ॥ ३३ ॥

pittadoṣadalanaṃ śaśinā syād
bhāskareṇa kaphavātamalāntaḥ ॥
māsakaistribhiraho'bhyasanena
nāḍiśuddhiramalā samudeti ॥ 33 ॥

Tr. Disorders caused due to *pitta* (bile) are rid off by practice (of *prāṇāyāma*) undertaken through the left (*candra*) nostril, while phlegmatic and airy (*vāta*) disorders are removed by the practice undertaken through the right (*sūrya*) nostril in three months. One attains thorough purification of the *nāḍīs*. 33.

1. मार्त्तण्डनाड्याविहिर्न्तनर्नाड्या –b. 2. निशीध्येदं –b. 3. सुधामिदां –b. 4. शुद्धन्ति –b. 5. नाडिकां –b. 6. शशिनास्य –b.

इति चतुःकालेषु विंशद्वारं नाडीशुध्युपयोगी नाडीशुध्याख्यकुम्भकः ॥

iti catuḥkāleṣu viṃśadvāraṃ nāḍīśuddhyupayogī nāḍīśuddhyākhyakumbhakaḥ ॥

Here ends the *kumbhaka* called *nāḍīśuddhi* effective in purifying the *nāḍīs* which may be practised twenty rounds four times a day.

अथ भूतशुद्धिकुम्भकः —

atha bhūtaśuddhikumbhakaḥ —

***bhūtaśuddhi kumbhaka*—**

रुद्ध्वा घोणायुगं[1] कुर्याद् युगपद्यदि षद्क्रमात् ।
भूतशुद्धिरिति प्रोक्त आदिनाथेन शम्भुना ॥ ३४ ॥

ruddhvā ghoṇāyugaṃ kuryād yugapadyadi ṣaṭkramāt ।
bhūtaśudhiriti prokta ādināthena śambhunā ॥ 34 ॥

Tr. One plugs the nostrils and practises (*kumbhaka*) simultaneously in the six *cakras* in sequence. This is called *bhūtaśuddhi kumbhaka* by *ādinātha śambhu*. 34.

इति भूतशुद्धिकुम्भकः ॥

iti bhūtaśuddhikumbhakaḥ ॥

Ends *bhūtaśuddhi kumbhaka*.

अथ शृंखलाकुम्भकः —

atha śṛṅkhalā kumbhakaḥ ॥

***śṛṅkhalā kumbhaka* follows—**

शश्वत्पूरककुम्भकौ सुविभृयात् संपूरयेत्[2] कुम्भक-
श्रान्तः[3] पूरकतः श्रमं[4] परिगतः कुम्भं विदध्यात् बुधः[5] ॥
पूरं पूरकमाचरेदथ तथा कुम्भं चरेत् कुम्भकं
यावच्छक्त्यनुरेचकं च कलयेत् कुम्भं पुनः संश्रयेत् ॥ ३५ ॥

śaśvatpūrakakumbhakau suvibhṛyāt sampūrayet kumbhaka-
śrāntaḥ pūrakataḥ śramaṃ parigataḥ kumbhaṃ vidadhyāt budhaḥ ।
pūraṃ pūrakamācaredatha tathā kumbhaṃ caret kumbhakaṃ
yāvacchaktyanurecakaṃ ca kalayet kumbhaṃ punaḥ saṃśrayet ।35।

Tr. Have continuous inhalation and retentions. Being tired of retention have inhalation to relieve fatigue. Then again

1. घोणयुगं –a. 2. सपूरयेत् -b. 3. भान्तः -b. 4. भ्रमं --b. 5. विदध्याद्बयः -b.

the wise retains. Inhalation is done fully, so also retention to the capacity, followed by exhalation. Thereafter again have inhalation. 35.

रेचं पुनः कुम्भकमाचरेज् ज्ञो गुरूपदिष्टेन यथा रहोगतः ।
स्वरेचकं रेचकमंगकुर्यादऽस्वंगनाम्नी[1] किल शृंखलोदिता ॥३६ ॥

recaṃ punaḥ kumbhakamācarej jño
gurūpadiṣṭena yathā rahogataḥ ॥
svarecakaṃ recakamaṅgakuryād'-
svaṅganāmnī kila śṛṅkhaloditā ॥ 36 ॥

Tr. Retain after exhalation to the capacity as guided by the learned *guru* while remaining in solitude. Exhalation is done with full capacity. This indeed is *asvaṅgaśṛṅkhalā*. 36.

शक्तिर्बोधमुपैति शुद्धिमयते वायु[2]स्तथा नाडिकाः
शुद्धिं याति[3] कृशत्वमाशु[4] तनुते रेचं विधत्ते शुभम् ॥
पूरं वर्धयति ध्रुवं[5] शुभतरासौ शृंखलोक्ता मया
यस्य स्यात् ससुरासुरैरभिनुतः सिद्धः स भूमण्डले ।३७।

śaktirbodhamupaiti śuddhimayate vāyustathā nāḍikāḥ
śuddhiṃ yāti kṛśatvamāśu tanute recaṃ vidhatte śubham ॥
pūraṃ vardhayati dhruvaṃ śubhatarāsau śṛṅkhaloktā mayā
yasya syāt sasurāsurairabhinutaḥ siddhaḥ sa bhūmaṇḍale ॥ 37 ॥

Tr. *śakti (kuṇḍalī)* is aroused, *prāṇa* and *nāḍīs* become purified and the body gets slim. One exhales adequately and surely prolongs inhalation which is highly desirable. This is *śṛṅkhalā* told by me. This brings success to one on earth and one is equally eulogized by demons and gods. 37.

इत्यस्वंगशृंखलाकुम्भकः ॥

ityasvaṅgaśṛṅkhalākumbhakaḥ ॥

Thus ends *asvaṅgaśṛṅkhalā kumbhaka*.

कुम्भके त्वितरकुम्भसंगमात् कुम्भकान्तरसुशृंखलोदिता ।
साधकस्य शुभचित्रफलाप्तिस्तीर्थदर्शितपथेन जायते ॥ ३८ ॥

kumbhake tvitarakumbhasaṅgamāt
kumbhakāntarasuśṛṅkhaloditā ॥

1. स्वरेचकं च कर्मगकुर्यादस्तंगतस्त्री –b. 2. चायु –a. 3. यान्ति –b. 4. कृशतमाशु –b. 5. भुवं –b.

sādhakasya śubhacitraphalāptis-
tīrthadarśitapathena jāyate ॥ 38 ॥

Tr. A *kumbhaka* followed by another *kumbhaka* is *kumbhāntara śṛṅkhalā*, which brings auspicious and amazing results to the *sādhaka* if practised as per the guidance of a *guru*. 38.

इत्यपरः कुम्भान्तरशृंखलाकुम्भकः ॥
ityaparaḥ kumbhāntaraśṛṅkhalā kumbhakaḥ ॥
Here ends another *kumbhāntaraśṛṅkhalā kumbhaka*.

हठेन वै कुम्भितमारुतस्य चेत्
प्राणस्य सञ्चालनमंगमानसात् ॥
अधस्तथोर्ध्वं[1] यमिनः स कुम्भो
नाम्ना शिवोक्तः किल जीवचालकः ॥ ३९ ॥
haṭhena vai kumbhitamārutasya cet
prāṇasya sañcālanamaṅgamānasāt ॥
adhastathordhvaṃ yaminaḥ sa kumbho
nāmnā śivoktaḥ kila jīvacālakaḥ ॥ 39 ॥

Tr. One forcefully moves the retained *prāṇa* through all the limbs of the body in upward and downward directions along with mind. This is *jīvacāla kumbhaka* propagated by *śiva* himself. 39.

इति जीवचालकुम्भकः ॥
iti jīvacāla kumbhakaḥ ॥
End of *jīvacāla kumbhaka*.

अथ मेरुचालकः —
atha merucālakaḥ —
***merucālaka* follows—**

अमेरुमेरुप्रभिदा महेशो द्विधाऽवदत् कुम्भमिहादिमो फलः ।
न वर्धयेद्रोधमथो[2] सुसंयमं कृतं यथाशक्ति चिरेण सिद्धिदः ॥४०॥
amerumeruprabhidā maheśo
dvidhā'vadat kumbhamihādimo phalaḥ ॥

1. स्तथोर्ध्व –b. 2. मथा –b.

na vardhayedrodhamatho susaṃyamaṃ
kṛtaṃ yathāśakti cirena siddhidaḥ ॥ 40 ॥

Tr. Two-fold *kumbhaka* has been propagated by *maheśa* as *ameru* and *meru*. Although the former is not futile, when it is increased judiciously and to the capacity, it leads to success in the longer run. 40.

अमुमभ्यसतः पुंसो[1] नैसर्गिकमेरुसम्भूतिः ।
बहुभिः कालैर्भूयाद् अगण्यपुण्यैः परा[2]सुमतेः ॥ ४१ ॥

amumabhyasataḥ puṃso naisargikamerusaṃbhūtiḥ ।
bahubhiḥ kālair bhūyāt agaṇyapuṇyaiḥ parāsumateḥ ॥ 41 ॥

Tr. With this practice one attains perfection of *meru* naturally with a great fortune in course of time. 41.

तस्य त्रिभूमिकत्वं चिरकालाभ्यासतो भूयात् ।
द्वादश नैसर्गिकतो ह्यधिकाश्चेद् दैव[3]योगेन ॥ ४२ ॥

tasya tribhūmikatvaṃ cirakālābhyāsato bhūyāt ।
dvādaśa naisargikato hyadhikāśced daivayogena ॥ 42 ॥

Tr. There are three stages of development with its prolonged practice. The first stage (natural) consists of twelve (*mātrās*), one may have more (stages) by good luck. 42.

मात्रा प्रथमभुवि स्युर्दत्तात्रेयोऽब्रवीत् द्रवीभावे१२ ।
अस्या द्विगुणं २४ कम्पां त्रिगुणं ३६ उत्थापिकां योगे ॥४३ ॥

mātrā prathamabhuvi syurdattātreyo'bravīt dravībhāve ।
asyā dviguṇaṃ kampāṃ triguṇaṃ utthāpikāṃ yoge ॥43॥

Tr. A *yogī* gets perspiration on the first stage (12 *mātrās*) according to *dattātreya*. (In the second stage of) 24 *mātrās* one experiences tremors, (while in the third stage of) 36 *mātrās* one levitates. 43.

बाह्याभ्यन्तरविषये सञ्चारज्ञानतो वा मन्दम् ।
मात्रासंख्या श्वासप्रमिति[4]समयावधारणतः[5] ॥ ४४ ॥

bāhyābhyantaraviṣaye sañcārajñānato vā mandam ।
mātrāsaṃkhyā śvāsapramitisamayāvadhāraṇataḥ ॥ 44 ॥

मनुगणनैर्वा क्रमशः प्रवर्धते यत्र वै कुम्भः ।
अयमेक[6]मेरुरुक्तो योगरहस्यं महेशेन[7] ॥ ४५ ॥

1. पुंसी –b. 2. पराः -b. 3. देव –b. 4. श्वासमिति –b. 5. धीरणतः -a. 6. अजयमेक –a. 7. महेशेनः -b.

manuganaṇairvā kramaśaḥ pravardhate yatra vai kumbhaḥ ।
ayamekameruruktо yogarahasyaṃ maheśena ॥ 45 ॥

Tr. When *kumbhaka* increases slowly with the knowledge of internal and external movement of *prāṇa* or determining the number of *mātrās* or time of respiration, *kumbhaka* is increased gradually by 14 *mātrās*. This is known as *ekameru* according to *maheśa*, which is a secret in *yoga*. 44-45.

पूरकेणाभिवृद्धेन द्विमेरु[1]मेरुरोहणात् ।
रेचकेनापि वृद्धेन त्रिमेरुः सिद्धिदायकः ॥ ४६ ॥

pūrakeṇābhivṛddhena dvimerumerurohaṇāt ।
recakenāpi vṛddhena trimeruḥ siddhidāyakaḥ ॥ 46 ॥

Tr. With the increase of *pūraka*, it becomes *dvimeru*. Similarly, with the increase of *recaka* it is *tri-meru*. When *meru* is practised progressively in this manner, it leads to success. 46.

इति मेरुकुम्भकः ॥

iti merukumbhakaḥ ॥

End of *merukumbhaka*.

ताम्रपात्रघटिकोन्मितकालं तीर्थदर्शितपथेन कुम्भकम् ।
मेरुकुम्भक[2]शुभसाधक एषो बन्ध एवं घटिकापदपूर्वः ॥ ४७ ॥

tāmrapātraghaṭikonmitakālaṃ
tīrthadarśitapathena kuṃbhakam ॥
merukumbhakaśubhasādhaka eṣo
bandha evaṃ ghaṭikāpadapūrvaḥ ॥ 47 ॥

Tr. As directed by the *guru*, one practises *kumbhaka* by measuring the time of a hourglass made up of copper. This is called *ghaṭibandha kumbhaka*, which is used by the practitioner of *meru kumbhaka*. 47

इति घटीबन्धकुम्भकः ॥

iti ghaṭibandha kumbhakaḥ ॥

End of *ghaṭibandha kumbhaka*.

---

1. तद्विमेरु -b. 2. ताम्रपात्रघण्टिकोन्मितकालं तीर्थदर्शितपथेन कुम्भकम् । मेरुकुम्भक –अनुपलब्धपाठः -b.

॥ इति सुन्दरदेवविरचितायां हठतत्वकौमुद्यां
कुम्भकनामस्वरूपगुणविवेचनोद्योतः ॥

॥ iti sundaradeva-viracitāyāṃ haṭhatatvakaumudyāṃ
kuṃbhakanāmasvarūpaguṇavivecanodyotaḥ ॥

Here ends the chapter describing the name, nature and advantages of *kumbhaka* of *haṭhatatvakaumudī* composed by *sundaradeva*.

Chapter -11

अथाभ्यासः —

athābhyāsaḥ—

***abhyāsa* (practice) follows—**

अभ्यासाच्चित्तरोधो विषयविरसनाच्चात्मनीशस्य मूर्त्तौ
अन्यस्मिन् वान्यवृत्तिव्यवधि[1]विरहिते चित्तवृत्तिप्रवाहे ॥
पौनःपुन्येन यत्नप्रचयकरणमभ्यास एषः स्थिरः स्यान्
नैरन्तर्यादराभ्यां सह चिरभजनात् स्यादविरतोऽथ[2] योगः ॥ १ ॥

abhyāsāccittarodho viṣayavirasanāccātmanīśasya mūrttau
anyasmin vānyavṛttivyavadhivirahite cittavṛttipravāhe ॥
paunaḥpunyena yatnapracayakaraṇamabhyāsa eṣaḥ sthiraḥ syān
nairantaryādarābhyāṃ saha cirabhajanāt syādavirato'tha yogaḥ ॥1॥

Tr. Practice (*abhyāsa*) brings control of the modification of the *citta*, detachment towards the (sense-) objects, establishes God in the Self, and there is absence of other disturbing factors in the flow of thought. Repeated, intensive, steady, consistent and devoted effort made over a long period of time is *abhyāsa*. This is *yoga*. 1.

मूर्च्छांगतो हरति रोगसमूहमद्धा[3]
बद्धः करोति गगने गमनं नराणाम् ।
वातोऽमृतो[4] वितनुतेऽमरतां समस्तम्
अभ्यासतः सुलभमेव समीरणस्य ॥ २ ॥

mūrcchāṅgato harati rogasamūhamaddhā
baddhaḥ karoti gagane gamanaṃ narāṇām ।
vāto'mṛto vitanute'maratāṃ samastam
abhyāsataḥ sulabhameva samīraṇasya ॥ 2 ॥

Tr. Practice of *prāṇāyāma* renders *prāṇa* invariably inactive which removes diseases, stabilizes *prāṇa* which takes one to *gagana (brahmarandhra)* and causes *prāṇa* secreting ambrosia which leads one to immortality. 2.

---

1. व्यवस्थि –b. 2. चिरभजतीत्स्यादविष्णोथ –b. 3. महा –b. 4. वातोऽमृतो – b.

अदाह्यं सत् स्वर्णं धमितमनले याति न लयम्
भुवि न्यस्तो[1] वज्राद्यखिल[2]विषयः शीर्यति चिरम् ॥
इदं सर्वं सूतो[3] दहनमुखगो[4] जारयति वै
तथा प्राणोऽभ्यासानलवलवलीपुद्गलमलान् ॥ ३ ॥

adāhyaṃ sat svarṇaṃ dhamitamanale yāti na layam
bhuvi nyasto vajrādyakhilaviṣayaḥ śīryati ciram ॥
idaṃ sarvaṃ sūto dahanamukhago jārayati vai
tathā prāṇo'bhyāsānalavalavalīpudgalamalān ॥ 3 ॥

Tr. Even though gold is put in fire, it does not perish. While hard objects like stones etc. would perish lying idle on earth for long. Just as all the (impurities of) mercury are destroyed when it is subjected to fire, similarly, fire generated by the practice of *prāṇāyāma* removes the host of bodily impurities. 3.

स्यात्संगः सिद्धतीर्थाद्यदि[5] सुकृतवशात् प्राग्भवाभ्यासजोऽयम्[6]
यद्द्वारा पश्चिमेन त्वरितमिह फलं दृश्यते क्वापि लोके ॥
तत्सर्वं नान्यनाड्या शिरसि परिगतेनानिलेनेक्ष्यतेऽदस्[7]
तस्मादभ्यास एव[8] त्वरितलघुभिदा योगतस्तीर्थलब्धात्[9] ॥ ४ ॥

syāt saṅgaḥ siddhatīrthādyadi sukṛtavaśāt prāgbhavābhyāsajo'yaṃ
yaddvārā paścimena tvaritamiha phalaṃ dṛśyate kvāpi loke ॥
tatsarvaṃ nānyanāḍyā śirasi parigatenānilenekṣyate'das
tasmādabhyāsa eva tvaritalaghubhidā yogatastīrthalabdhāt ॥ 4 ॥

Tr. In this life when the results are obtained quickly, it is due to the practice in the previous life and with the fortunate company of the *guru*. This is by *prāṇa* reaching to the head through the posterior path and not through any other channels and with the grace of a *guru*. Therefore, practice of alone is important. 4.

नश्यन्त्यभ्यासतः प्राक् तनुसकल[10]गदाश्चानुशारीरजाड्यं
चन्द्रो वर्षत्यजस्रं तदनु समरसो[11] भूय वातेन युक्तः ॥

---

1. न्यस्तौ –b. 2. वज्रावऽखिल –b. 3. सर्वसूतो –b. 4. दहनमुख –b. 5. तीर्थाच्चयदि –b. 6. जोग्यं –b. 7. नेत्यह्नेऽदस् -b. 8. एवाऽ -b. 9. लघ्वात् -a. पुद्गलमला न –a. 10. प्राक्तनसकल –b. 11. समरसी –b.

वह्निर्धातुरसं[1] संग्रसति च परितः स्युस्तदानन्दपूरा
जित्वाऽस्यायं[2] मृदुत्वं वपुषि खेचरता वायुवेगादयोऽनु ॥ ५ ॥

naśyantyabhyāsataḥ prāk tanusakalagadāścānuśārīrajāḍyaṃ
candro varṣatyajasraṃ tadanu samaraso bhūya vātena yuktaḥ ॥
vahnirdhāturasaṃ saṃgrasati ca paritaḥ syustadānandapūrā
jitvā'syāyaṃ mṛdutvaṃ vapuṣi khecaratā vāyuvegādayo'nu ।5।

Tr. In the beginning, through the practice of *yoga* all the bodily disorders and inertia are removed. Fire united with *prāṇa* stimulates the moon to secrete (ambrosia) profusely and streamlines the bodily constituents entirely. This leads to Blissful state. When this is attained, one gains suppleness of the body, speed of the wind and moves to the space. 5.

कर्पूरे[3] जीर्णता किञ्चित् काठिन्यं तन्न जायते ।
अहंकारजये तद्वद्देहे कठिनता कुतः ॥ ६ ॥

karpūre jīrṇatā kiñcit kāṭhinyaṃ tanna jāyate ।
ahaṃkārajaye tadvaddehe kaṭhinatā kutaḥ ॥ 6 ॥

Tr. Camphor having been old, becomes soft. Similarly, if ego is controlled, there remains no rigidity in the body. 6.

अवृत्तिकस्यात्मनि शान्तवाहितासम्पादनार्थं मनसः प्रयत्नः ।
अभ्यास एषश्चिरकालसेवितः सत्कारवान् स्याद्दृढभूमिरतृट्[4] ॥७॥

avṛttikasyātmani śāntavāhitā-
sampādanārthaṃ manasaḥ prayatnaḥ ॥
abhyāsa eṣaścirakālasevitaḥ
satkāravān syāddṛḍhabhūmiratṛṭ ॥ 7 ॥

Tr. All mental efforts are to attain the state of quietness *(śāntivāhitā)* of the Self, which is devoid of mutation (modification). When practice becomes consolidated one becomes desireless over a long period of time. 7.

रुक्स्त्यानादिनवान्तरायकलुषे[5] चित्तेऽत्र विक्षेपजा
दुःखाद्याः खलु पञ्च ते[6] तनुभृतः स्युः संयमस्यारयः ॥
मैत्र्यादेः[7] परिभावनेन तु कलौ चित्तप्रसादः क्वचित्
प्राणाभ्यासत ईरणस्य विजयो योगः स्वमीड्यो भवेत् ॥ ८ ॥

---

1. धातुं रसं –a. 2. मृदुत्वं वपुषि खचरता वायुवेगाद –b. 3. कर्मरे –b. 4. हठभूमितृट् -b. 5. रुक्स्न्यावादि न वातं एव –a. 6. पचते -b. 7. मैत्र्यादे –b.

rukstyānādinavāntarāyakaluṣe citte'tra vikṣepajā
duḥkhādyāḥ khalu pañca te tanubhṛtaḥ syuḥ saṃyamasyārayaḥ
maitryādeḥ paribhāvanena tu kalau cittaprasādaḥ kvacit
prāṇābhyāsata īraṇasya vijayo yogaḥ svamīḍyo bhavet ॥ 8 ॥

Tr. The nine *antarāyas* like disease, languor etc. defile the *citta*. The set of five like *duḥkha* etc. arise from *vikṣepa* (disturbance of mind). These are the enemies of a person in the path of *saṃyama*. In this *kaliyuga* pacification of the *citta* may be attained by assuming the attitude (*bhāvanā)* of *maitrī* etc. Through the practice of *prāṇāyāma*, one controls *prāṇa* and becomes respectable. 8.

यथा यथा स्याद् दृढभूमिका[1]
मुनावभ्यासतः सन्ततदीर्घसेवितात् ॥
तथा तथा प्राणमरुत् सुसिद्धो-
ऽदन्[2] धातुदोषान् तनुमीप्सितां चरेत्[3] ॥ ९ ॥

yathā yathā syād dṛḍhabhūmikā
munāvabhyāsataḥ santatadīrghasevitāt ॥
tathā tathā prāṇamarut susidho-
'dan dhātudoṣān tanumīpsitāṃ caret ॥ 9 ॥

Tr. As the practice conducted over long period with consistency becomes deep rooted, the *prāṇavāyu* having been well-controlled eats up the impurities in the bodily constituents of a *yogī* and course through the body in the desired manner. 9.

विना दृढाभ्यासमृते सुतीर्थ-
कृपासमुद्रा[4]प्रणवादियुक्तितः[5] ॥
अन्तर्मुखोऽप्याशुग एत्यमुख्य-
नाड्या[6] शिरः शून्यकृद्देष कालतः ॥ १० ॥

vinā dṛḍhābhyāsamṛte sutīrtha-
kṛpāsamudrāpraṇavādiyuktitaḥ ।
antarmukho'pyāśuga etyamukhya-
nāḍyā śiraḥ śunyakṛddeṣa kālataḥ ॥ 10 ॥

Tr. Without intense practice, without blessing of a *guru* and practice of *mudrās* conjoined with *praṇava* etc., the *prāṇa*

1. हठभूमिका –b. 2. सुहिद्धोऽहठत् -b. 3. क्षरेत् -b. 4. क्रियाप्तमुद्रा –b. 5. दियुक्तः -b. 6. नाशा –b.

would not get internalized and it would not enter the mouth of the prominent *nāḍīs* and as a consequence the state of void would not be attained. 10.

तथापमृत्योः परिपाति[1] साधकं
न कायसिद्धिर्विहितेन पुंसां[2] ॥
न धारणाध्यानसमाधिजः क्रमः
न सिद्धयो वै शुभधारणोक्ताः[3] ॥ ११ ॥

tathāpamṛtyoḥ paripāti sādhakaṃ
na kāyasiddhirvihitena puṃsāṃ ॥
na dhāraṇādhyānasamādhijaḥ kramaḥ
na siddhayo vai śubhadhāraṇoktāḥ ॥ 11 ॥

Tr. (Without intense practice) one cannot attain bodily accomplishment, avoid (premature) death, gain success on the sequential practice of *dhāraṇā, dhyāna* and *samādhi*, auspicious results of *dhāraṇā*. 11.

सम्प्रज्ञातसमाधिसौख्यममलं नो त्यक्तशास्त्राध्वनः
प्रायः सिद्धिपदं कलौ क्वचिदहो गुर्वाप्तसंकेततः ॥
दृष्टं संश्रुतमेकदेशमपमृत्युघ्नादिवच्चेद्[4] भवेत्
तन्निर्बीजसमाधिशान्तिचिरजीवित्वादिबीजं न हि ॥१२ ॥

samprajñātasamādhisaukhyamamalaṃ no tyaktaśāstrādhvahnaḥ
prāyaḥ siddhipadaṃ kalau kvacidaho gurvāptasaṅketataḥ ॥
dṛṣṭaṃ saṃśrutamekadeśamapamṛtyughnādivacced bhavet
tannirbījasamādhiśānticirajīvitvādibījaṃ na hi ॥ 12 ॥

Tr. The pure Bliss arising out of *saṃprajnāta samādhi* hardly ever occurs in this Iron Age (*kaliyuga*) if one does not follow the path laid down in the scriptures. This happens through the *saṅketa* (guidance) of a *guru*, who is an *āpta* (adept). Even though one overcomes premature death, one should remember that this is not the essence of *nirbīja samādhi*, Bliss and longevity. 12.

---

1. परिपात -b. 2. न ह योगसिद्धिः मूर्च्छा तवत्काष्ठसमोष्टमासं विचेतन तिष्ठति दीर्घकालं ११ नानेन सिद्धिर्विहितेन पुंसां – अधिकपाठः -b. 3. समाधिजानन्दलवो न दृश्यते-a, समाधिज्ञानंदगलेन –b. 4. देशभयमृत्युत्यादिवच्चेद् -b.

कलौ किञ्चित्कालं प्रणवजपसि[1]ध्युन्मुखमरुन्
मह्मिम्नाज्ञाः कुम्भाष्टकजनितसिध्यंशकलिताः ॥
तथारम्भा[2] पीठोत्थितिमधिभजन्तीति[3] यदिदं
न योगो न ज्ञानं भवति परमं संयम इतः ॥ १३ ॥

kalau kiñcitkālaṃ praṇavajapasiddhyunmukhamarun
mahimnājñāḥ kumbhāṣṭakajanitasiddhyaṃśakalitāḥ ॥
tathārambhā pīṭhotthitimadhibhajantīti yadidaṃ
na yogo na jñānaṃ bhavati paramaṃ saṃyama itaḥ ॥ 13 ॥

Tr. In this iron age (*kaliyuga*), one may practise for some time the eight *kumbhakas* along with *praṇava,* which controls *prāṇa* in a great way and one may attain some success. One may start with the *āsanas* in the beginning and experience levitation. One also may experience the stage of *ārambha*. But without *parama saṃyama* neither *yoga* nor *jñāna* (wisdom) would be attained. 13.

एकान्तवासेन मिताशनेन
चिरं दृढाभ्यासधियां जितात्मनाम् ॥
जितासनानां दृढनिश्चयानां
सिद्ध्येत योगो गुरुशास्त्रसेविनाम्[4] ॥ १४ ॥

ekāntavāsena mitāśanena
ciraṃ dṛḍhābhyāsadhiyāṃ jitātmanām ॥
jitāsanānāṃ dṛḍhaniścayānāṃ
siddhyeta yogo guruśāstrasevinām ॥ 14 ॥

Tr. One, who stays in a desolate place, takes to moderate food, practices for long with firm determination and controls the self, masters the *āsanas* with firm conviction attains success in *yoga* by serving (devotion) to *guru* and scriptures. 14.

जितो भवति मारुतोऽभ्यसनभूरिदार्ढ्यात् ततः
कृशानुरभिवर्द्धते सततकुम्भकाभ्यासतः ॥
गते हुतभुजीद्धता[5]मशनमेति पाकं सुखं
रसादिकसुधातवस्स्युरनुयाति देहे बलम् ॥ १५ ॥

---

1. जयसि –b. 2. रम्भां –b. 3. मभजन्तीति –b. 4. सेविना –b. 5. गतभुजिद्धताम –b.

jito bhavati māruto'bhyasanabhūridārḍhyāt tataḥ
kṛśānurabhivardhate satatakumbhakābhyāsataḥ ||
gate hutabhujīddhatāmaśanameti pākaṃ sukhaṃ
rasādikasudhātavassyurnauyāti dehe balam || 15 ||

Tr. *prāṇa* gets controlled through the firm practice, thus the (bodily) fire gets enhanced through the continuous practice of *kumbhaka*, which digests the food well, nourishing the *rasa* (plasma) etc., all the bodily constituents and thus increasing the bodily strength. 15.

महाभ्यासविधौ बलात् स्नो र[1]सस्य
तदा जारणं स्याच्च दोषाः समस्ताः ॥
विशुष्यन्ति[2] विण्मूत्ररोगादयोऽघैर्[3]
नृणां कोटिजन्मार्जितै[4]र्व्याधयश्च ॥ १६ ॥

mahābhyāsavidhau balāt sno rasasya
tadā jāraṇaṃ syācca doṣāḥ samastāḥ ||
viśuṣyanti viṇmūtrarogādayo'ghair
nṛṇāṃ koṭijanmārjitair vyādhayaśca || 16 ||

Tr. As a result of intense practice there is adequate secretion of *rasa* (ambrosia) which eliminates morbidities and the diseases related to urine, faeces and resulting from the sins committed in several previous lives are destroyed. 16.

युग्मम् —
yugmam—
Here follows a *śloka*—

योगानुशासनवचांसि हृदि प्रमादात्
विस्मृत्य सादरमहो प्रविभाव्य नैषत् ॥
नालोच्य योगहृदयं भृशपुण्यलभ्यं
धूर्त्तोक्तियुक्तिवलिते[5] रुजमेति कुम्भे ॥ १७ ॥

yogānuśāsanavacāṅsi hṛdi pramādāt
vismṛtya sādaramaho pravibhāvya naiṣat ||
nālocya yogahṛdayaṃ bhṛśapuṇyalabhyam
dhūrttoktiyuktivalite rujameti kumbhe || 17 ||

1. वलान्स्ननो –b. 2. विशुध्यन्ति –b. 3. ऽधैर् -b. 4. जन्माऽनिनैर् -b. 5. वलिनं -b.

Tr. One who neglects the teachings of *yogānuśāsana* and does not refer to *yogahṛdaya* which begets great fortune, but gets misguided by the unwise, invites diseases in the parctice of *kumbhaka (prāṇāyāma)*. 17.

नाडीविशुद्धिर्हठसिद्धिलक्षणं
विना ह्यऽपार्थो[1] चिरकुम्भसधृतिः ॥
गुरूदितायुक्ति[2]विशेषतो धृते-
ऽनिले सुषुम्णास्य ऋतेऽग्निदीपनम् ॥ १८ ॥

nāḍīviśuddhirhaṭhasiddhilakṣaṇaṃ
vinā hya'pārtho cirakumbhasadhṛtiḥ ॥
gurūditādyuktiviśeṣato dhṛte'-
nile suṣumnāsya ṛte'gnidīpanam ॥ 18 ॥

Tr. Purification of the *nāḍī* is the sign of success in *haṭhayoga* without which it is not possible to retain *kumbhaka* for longer time. Without guidance of a *guru* and enhancing the gastric fire, one cannot move the *prāṇa* in the *suṣumnā*. 18.

प्रत्याहारात् प्राघ्रिताऽक्षौघ[3]वृत्तिः
योगीन्द्रोऽथो चालयेत् कुण्डलीं स्वाम् ॥
सिद्धप्राणाभ्यां तदा चलितासा-
वृज्युच्चैर्द्राग् ब्रह्मरन्ध्रान्तरे स्यात् ॥ १९ ॥

pratyāhārāt praghritā'kṣaughavṛttiḥ
yogīndro'tho cālayet kuṇḍalīm svām ॥
siddhaprāṇābhyām tadā calitāsā-
vṛjyuccairdrāg brahmarandhrāntare syāt ॥ 19 ॥

Tr. Practice of *pratyāhāra* subdues the activity of the sense organs. A great *yogī* should thereafter move *kuṇḍalī* and pass the controlled *prāṇa* (into it). Thus *kuṇḍalī* becomes straight and rises quickly up to the *brahmarandhra*. 19.

प्रत्याहारविशेषणानि च[4] यदा कर्त्तुं यदा ते मरुत्[5]
सिद्ध्यर्थं[6] विमृशन्तु युक्तिनिवहान् संकेतकान् साधकाः ॥

---

1. विनास्यऽपार्थो -b. 2. गुरुविनायुक्ति -b. 3. प्रत्यास्वरात् प्राग्निताऽक्षोध -b. 4. विशेषानि च –a. 5. पदात्कर्त्तुं पदां रे मरुत् -b. 6. सिद्धार्थं –b.

आयामे[1] भृशरुष्टवायुजरुजां शान्त्यै जजन्त्वा[2]त्मिनः
सौख्यार्थं सुविदुन्मनीसुखकृते योगश्रुतान्नापरम्[3] ॥ २० ॥

pratyāhāraviśeṣaṇāni ca yadā kartuṃ yadā te marut
siddhyarthaṃ vimṛśantu yuktinivahān saṅketakān sādhakāḥ ॥
āyāme bhṛśaruṣṭavāyujarujāṃ śāntyai jajantvātminaḥ
saukhyārthaṃ suvidunmanīsukhakṛte yogaśrutānnāparam ॥20॥

Tr. Special practices of *pratyāhāra* when get accomplished through the controlled *prāṇa* a *sādhaka* needs to carefully (judiciously) make use of *saṅketa* to prevent the *prāṇa* from going astray and producing diseases. Thereafter, one should try to attain the Blissful state of *unmanī* which is the culmination of *yoga*. 20.

॥ इति सुन्दरदेवविरचिताहठतत्त्वकौमुद्यां हठाभ्यास[4]माहात्म्यविवेचनोद्योतः ॥

॥ iti sundaradevaviracitāhaṭhatatvakaumudyāṃ haṭhābhyāsamāhātmyavivecanodyotaḥ ॥

Here ends the chapter describing the supremacy of *haṭha* practice of *haṭhatatvakaumudī* composed by *sundaradeva*.

1. आयामो –a. 2. भजन्त्या –b. 3. तात्रात्राऽपरं –b. 4. दृढाभ्यास –b.

Chapter—12

अथ क्लेशघ्नवायुसाधनसमासः —

atha kleśaghnavāyusādhanasamāsaḥ —

A brief description of control of *vāyu* which removes suffering—

तदुक्तं कुम्भकपद्धतौ –

taduktaṃ kumbhakapaddhatau —

According to *kumbhakapaddhati*—

नलिकासदृशीं काकुं विधायापूरयेत्तथा[1] ।

श्वसनं कुम्भयेन्नाभ्यां[2] रेचयेत्काकचञ्चुकः ॥ इति ॥ १ ॥

nalikāsadṛśīṃ kākuṃ vidhāyāpūrayettathā ।

śvasanaṃ kumbhayennābhyāṃ recayetkākacañcukaḥ ॥ *iti* ॥ 1 ॥

Tr. Forming the tongue like a tube, draw the air in through it. After holding the breath, exhale through the nose. This is *kākacañcuka*. 1.

काकचञ्चुवदास्येन पूर्य वायुं निरोधयेत् ।

ऊर्ध्वजिह्वां समानीय पिबेद्धारामृतं सुखी ॥ २ ॥

kākacañcuvadāsyena pūrya vāyuṃ nirodhayet ।

ūrdhvajihvāṃ samānīya pibeddhārāmṛtaṃ sukhī ॥ 2 ॥

रेचयेद् घ्राणरन्ध्राभ्यां शीतलीकाकचञ्चुकः ।

प्राणापानविधानज्ञो मुक्तिभागस्य[3] साधनात् ॥ ३ ॥

recayed ghrāṇarandhrābhyām śītalīkākacañcukaḥ ।

prāṇāpānavidhānajño muktibhāgasya sādhanāt ॥ 3 ॥

Tr. Forming the mouth like the beak of a crow, one should take the air in and hold it. Then raising the tongue, one should drink the flow of nectar and exhale through both the nostrils. This is *śītalīkākacañcuka*. An adept of *prāṇāyāma* attains liberation through practice. 2-3.

नित्याभ्यासवतो यान्ति श्रमदाहज्वरामयाः ।

मासाभ्यासात् मृत्युजयो निरन्तरकृते भवेत् ॥ ४ ॥

nityābhyāsavato yānti śramadāhajvarāmayāḥ ।

māsābhyāsāt mṛtyujayo nirantarakṛte bhavet ॥ 4 ॥

Tr. Regular practice of this overcomes fatigue, burning sensation, fever and such other diseases. Continuous practice

---

1. पूरयेतया –a. 2. न्नोभ्यां –a. 3. मुक्तिभाग –b.

for one month makes one free from premature death. 4.

मणिकर्णिबिलं गाढं पीड्य लम्बिकया ततः ।
कुण्डलीं चिन्तयेत् काकचञ्च्वा यदि[1] समीरणम् ॥
पिबेच्छण्मास[2]योगेन कविर्भवति निश्चितम् ॥ ५ ॥

maṇikarṇibilaṃ gāḍhaṃ pīḍya lambikayā tataḥ ।
kuṇḍalīṃ cintayet kākacañcvā yadi samīraṇam ॥
pibecchaṇmāsayogena kavirbhavati niścitam ॥ 5 ॥

Tr. Turning the tip of the tongue and pressing it at the uvula one should take the air through the mouth forming it like the beak of a crow and contemplate on *kuṇḍḍalī*. Practising this for six months, one undoubtedly becomes a *kavi* (poet).5.

ध्यात्वा कुण्डलिनीं चक्रगामिनं मारुतं यदा ।
काकचञ्चुं प्रकुरुते क्षयरोगात् प्रमुच्यते ॥ ६ ॥

dhyātvā kuṇḍalinīṃ cakragāminaṃ mārutaṃ yadā ।
kākacañcuṃ prakurute kṣayarogāt pramucyate ॥ 6 ॥

Tr. Forming the tongue into a beak of a crow, one should take the air in and contemplate on *kuṇḍalī* while *prāṇa* enters into *cakras*. With this, one becomes free from the disease of consumption. 6.

दूरश्रुतिर्दूरदृष्टिरन्तर्धानादिकं फलम् ।
अहर्निशं सदाभ्यासात्[3] जायते नात्र संशयः ॥ ७ ॥

dūraśrutirdūradṛṣṭirantardhānādikaṃ phalam ।
aharniśaṃ sadābhyāsāt jāyate nātra saṃśayaḥ ॥ 7 ॥

Tr. With daily and continuous practice one surely attains clairaudience, clairvoyance and ability to disappear. 7.

द्विजैर्द्विजान् पीड्य वायुं काकचञ्च्वा पिबेच्छनैः ।
ऊर्ध्वजिह्वः कुम्भकारो[4] रेचयेद् घ्राणवर्त्मना ॥
काकचञ्चुः कुम्भ उक्तो केनायं काकुदश्रवा ॥ ९ ॥

dvijairdvijān pīḍya vāyuṃ kākacañcvā pibecchanaiḥ ।
ūrdhvajihvaḥ kumbhakāro recayed ghrāṇavartmanā ॥
kākacañcuḥ kumbha ukto kenāyaṃ kākudaśravā ॥ 9 ॥

Tr. By pressing the teeth together, one should take the

1. काकचञ्च्वादि –b. 2. च्छरामास –b. 3. सदऽभ्यासात् -b. 4. कुम्भकारौ –b.

air in slowly through the mouth, and after holding the breath with upturned tongue, exhale through the passage of nose. This *kumbhaka* has been called *kākacañcu* by one *kākudaśravā*. 8-9.

आवत्सरार्द्धमभ्यासात्[1] प्रत्यहं यः समाचरेत् ।
सर्वरोगविनिर्मुक्तो वत्सरान् मृत्युजिद् भवेत् ॥ १० ॥

āvatsarārdhamabhyāsāt pratyahaṃ yaḥ samācaret ।
sarvarogavinirmukto vatsarān mṛtyujid bhavet ॥ 10 ॥

Tr. By daily practice of this *kumbhaka* for half a year one completely gets rid of all the diseases and after a year overcomes (premature) death. 10.

त्रिवर्षैः शिवतां याति भूतेन्द्रियजयान्वितः ।
अणिमादिगुणैर्युक्तो जरया रहितो भवेत् ॥
खेचर्यं गतिदं प्राह कृपालुः परमेश्वरः ॥ इति ॥ ११ ॥

trivarṣaiḥ śivatāṃ yāti bhūtendriyajayānvitaḥ ।
aṇimādiguṇairyukto jarayā rahito bhavet ॥
khecaryaṃ gatidaṃ prāha kṛpāluḥ parameśvaraḥ ।*iti*।11।

Tr. After three years, one attains *śiva*-hood, having controlled all the senses, accomplishing *siddhis* like *aṇimā* etc., one overcomes symptoms of old age. It is the means leading to *khecarī*, as narrated by *parameśvara*, the Benevolent. 11.

Note: *kumbhaka paddhati* has been published by The Lonavla Yoga Institute (India) in 2000. 11.

याज्ञवल्क्ये --

yājñavalkye —

According to ***yājnyavalkya***

प्राणसंयमनं नाम देहे प्राणादिधारणम् ।
एष प्राणजयोपायः सर्वमृत्यूपघातकः ॥ १२ ॥

prāṇasaṃyamanaṃ nāma dehe prāṇādidhāraṇam ।
eṣa prāṇajayopāyaḥ sarvamṛtyūpaghātakaḥ ॥ 12 ॥

Tr. Holding the *prāṇa* in the body is *prāṇāyāma*. This is the means to control *prāṇa* which overcomes premature death. 12.

1. मभ्यास -b.

किञ्च प्राणजयोपायः तव वक्ष्यामि सुव्रते ।
बाह्यात् प्राणं समारोप्य पूरयित्वोदरे[1] स्थितम् ॥ १३ ॥
kiñca prāṇajayopāyaḥ tava vakṣyāmi suvrate ।
bāhyāt prāṇaṃ samāropya pūrayitvodare sthitam ॥ 13 ॥
नाभिमध्ये च नासाग्रे पादांगुष्ठे च यत्नतः ।
धारयन् मनसा प्राणं सन्ध्याकालेषु वा सदा ॥ १४ ॥
nābhimadhye ca nāsāgre pādāṅguṣṭhe ca yatnataḥ ।
dhārayan manasā prāṇaṃ sandhyākāleṣu vā sadā ॥ 14 ॥

Tr. O *suvrate*! Moreover, I will narrate the technique of controlling *prāṇa*.

Draw the external air in and fill the cavity and hold it at the navel, tip of the nose and big toes with care. One should hold the *prāṇa* with attention in the morning and evening or all the time. 13-14.

सर्वरोगविनिर्मुक्तो जीवेद्योगी गतक्लमः ।
नासाग्रधारणं गार्गि वायोर्विजय[2]कारणम् ॥ १५ ॥
sarvarogavinirmukto jīvedyogī gataklamaḥ ।
nāsāgradhāraṇaṃ gārgi vāyorvijayakāraṇam ॥ 15 ॥

Tr. A *yogī* alleviates all the diseases and lives (long) without being tired.

O *gārgi* ! By holding (of *prāṇa*) at the tip of the nose, one can control *prāṇa*. 15.

सर्वरोगविनाशः स्यान्नाभिमध्ये च धारणात्[3] ।
शरीरं लघुतां[4] याति पादांगुष्ठेषु[5] धारणात् ॥ १६ ॥
sarvarogavināśaḥ syānnābhimadhye ca dhāraṇāt ।
śarīraṃ laghutāṃ yāti pādāṅguṣṭheṣu dhāraṇāt ॥ 16 ॥

Tr. If one holds (*prāṇa*) at the navel, one gets rid of all the diseases. While holding it at the big toes, the body becomes light. 16.

जिह्वायां वायुमानीय[6] जिह्वामूलं निरोधयेत् ।
यः पिबेदमृतं विद्वान् सकलं भद्रमश्नुते ॥ १७ ॥ इति ॥

---

1. दरो - b. 2. वायोविजय - b. 3. धारणात् इति - a. 4. शरीरलघुता - a. 5. पादांगुष्ठषु - b. 6. मानीया

jihvāyāṃ vāyumānīya jihvāmūlaṃ nirodhayet ।
yaḥ pibedamṛtaṃ vidvān sakalaṃ bhadramaśnute॥17॥*iti*॥

Tr. One should bring the *prāṇa* at the tongue and hold it at its root. Sucking the ambrosia in this manner, a wise reaps all that is auspicious. 17.

तथा च त्रिपुरासारसमुच्चये –

tathā ca tripurāsārasamuccaye—

Moreover, in *tripurāsārasamuccaya*—

राजदन्तयुगुलान्त[1]मस्पृशन्
सन्निधाय रसनां तदन्तिके ॥
काकचञ्चुपुटमारुतं[2] पिबेत्
प्राणसंयमनमेतदुत्तमम् ॥ १८ ॥

rājadantayugulāntamaspṛśan
sannidhāya rasanāṃ tadantike ॥
kākacañcupuṭamārutaṃ pibet
prāṇasaṃyamanametaduttamam ॥ 18 ॥

Tr. Without touching the front teeth and placing the tongue near them, one should draw the air in by making the lips like the beak of a crow. This is a superior practice of *prāṇāyāma*. 18.

द्विकचञ्चुसमीरणं शनैर्धयतः[3] सम्परिकृष्य सन्ततम्[4] ।
श्रमदाहगरोदरा[5]मयज्वरगुल्माः प्रशमं प्रयान्ति च ॥ १९ ॥

dvikacañcusamīraṇaṃ śanair
dhayataḥ samparikṛṣya santatam ॥
śramadāhagarodarāmaya-
jvaragulmāḥ praśamaṃ prayānti ca ॥ 19 ॥

Tr. Continuously suck the air slowly through the mouth making it like the beak of a crow. This practice rids one off fatigue, burning sensation, abdominal disorders, fever and spleen diseases. 19.

जिह्वां कृत्वा[6]ऽनाकुलस्तालुमूले
दन्तैर्दन्तान् गाढमापीडयित्वा ॥

---

1. युगुलांतं –b. 2. माहतं –b. 3. धर्यनः -b. 4. संपरिक्तस्य सततम् -a. 5. श्रमदारुगरोदरां –b. 6. त्वा –a.

मन्दं मन्दं यः पिबेद् गन्धवाहं[1]
सौधैः पूरैः साकमन्तः स्रवद्भिः[2] ॥ २० ॥

jihvāṃ kṛtvā'nākulastālumūle
dantairdantān gāḍhamāpīḍayitvā ॥
mandaṃ mandaṃ yaḥ pibed gandhavāhaṃ
saudhaiḥ pūraiḥ sākamantaḥ sravadbhiḥ ॥ 20 ॥

Tr. Take the tongue comfortably at the root of the tongue. Press the teeth closely with each other and gently suck the air. Thus the flow (of nectar) fills one internally. 20.

षड्भिर्मासैरन्तरोगैरशेषैः
पापापेतो मुच्यते साधकेन्द्रः ॥
अष्टादेकाद्विस्रसां मृत्युदूतीं[3]
जित्वा भूमौ दीर्घकालं स जीवेत्[4] ॥ २१ ॥

ṣaḍbhirmāsairantarogairaśeṣaiḥ
pāpāpeto mucyate sādhakendraḥ ॥
aṣṭādekādvisrasāṃ mṛtyudūtīṃ
jitvā bhūmau dīrghakālaṃ sa jīvet ॥ 21 ॥

Tr. In six months, all the diseases are removed, entire sin is removed and the great *sādhaka* with eight months practice, overcomes premature death and lives long on the earth. 21.

वर्षत्रयाभ्यासवशादतीतमनागतं वेत्त्यलि[5]नीलकेशः ।
विषं न देहे क्रमते तदीये दष्टेऽपि घोरैरपि पन्नगेन्द्रैः ॥ २२ ॥

varṣatrayābhyāsavaśādatītam-
anāgataṃ vettyalinīlakeśaḥ ॥
viṣaṃ na dehe kramate tadīye
daṣṭe'pi ghorairapai pannagendraiḥ ॥ 22 ॥

Tr. With three years of practice, one knows the past and future. His hair remains black, he is not affected by poison even when bitten by deadliest of the serpents. 22.

न कृत्रिमैः स्थावरजंगमैर्वा
विषैः किमन्यैरपि कालकूटैः ॥

---

1. पिवेद्गन्धवाहं –b. 2. पूरैः साकमन्तस्न्वद्भिः -b. 3. मृत्युद्गती –b. 4. कालं जीवेत् -b. 5. वेत्यऽसि –b.

गुणाष्टकं[1] कालवशादपेत्य[2]
मडीतले क्रीडति[3] भैरवो वा ॥ २३ ॥

na kṛtrimaiḥ sthāvarajaṅgamairvā
viṣaiḥ kimanyairapi kālakūṭaiḥ ॥
guṇāṣṭakaṃ kālavaśādapetya
mahītale krīḍati bhairavo vā ॥ 23 ॥

Tr. No artificial, (poison from) animate or inanimate (source) or even *kālakūṭa* (the deadliest of the poisons) would have any effect on him. He transcends eightfold *prakṛti* in due course of time. Being *bhairava (śiva)* he roams on the earth. 23.

या मुण्डाधारदण्डान्तरविवरगताहारनीहारगौरी
सौधीधारा नभोम्भोरुहकुरर[4]विधोः संस्रवन्ती वहन्ती ॥
तस्यावज्राख्यनाड्याः[5] खगमुदरदरीमध्यगं यो विदध्यात्
तस्य ब्रह्माण्डभाण्डे प्रलयमपयनं[6] स्याद् घनं मृत्युमृत्योः ॥इति॥२४॥

yā muṇḍādhāradaṇḍāntaravivaragatāhāranīhāragaurī
saudhīdhārā nabhombhoruhkuraravidhoḥ saṃsravantī vahantī ॥
tasyavajrākhyanāḍyāḥ khagamudaradarīmadhyagaṃ yo vidadhyāt
tasya brahmāṇḍabhāṇḍe pralayamapayanaṃ syād ghanaṃ mṛtyumṛtyoḥ ॥ *iti* ॥ 24 ॥

Tr. In the center of the spine which supports the head lies the cavity where the white ambrosia secrets from the moon lying in the lotus of thousand petals with a murmuring sound. One who holds the bird (*prāṇa*) at the cavity of the *nāḍī* named *vajrā* would overcome the severe death in this Universe. 24.

॥ इति सुन्दरदेवविरचितायां हठतत्वकौमुद्यां
क्लेशघ्नवायुसाधननिशेमणोद्योतः ॥

॥ iti sundaradevaviracitāyāṃ haṭhatatvakaumudyāṃ
kleśaghnavāyusādhananiśemaṇodyotaḥ ॥

Here ends the chapter of *haṭhatatvakaumudī* composed by *sundaradeva* on the techniques of *prāṇāyāma* which remove sufferings.

---

1. प्राणाष्टकं -b. 2. वशादवेभ्य -b. 3. क्रीडन्ति -b. 4. करुर -b. 5. वनाख्यनाशः -b. 6. पलयमयंघनं b.

Chapter—13

अथ योगांगमुद्रादीनां[1] हठोपकारकत्वं निरूप्यते

atha yogāṅgamudrādīnāṃ haṭhopakārakatvaṃ nirūpyate—

Here follows the efficacy of the components of *yoga* like *mudrā* etc. in complementing *haṭha* practice—

जालन्धरोड्डीयनमूलकानां
वेधस्य बन्धस्य च मुद्रिकायाः ॥
श्रीशक्तिचालस्य तथैव साक्षाद्
हठोपकारत्वमुदीरितं ज्ञैः ॥ १ ॥

jālandharoḍḍiyanamūlakānāṃ
vedhasya bandhasya ca mudrikāyāḥ ॥
śrīśakticālasya tathaiva sākṣād
haṭhopakāratvamudīritaṃ jñaiḥ ॥ 1 ॥

Tr. The savants emphasized the efficacy of *jālandhara, uḍḍiyana, mūla (bandha), (mahā) vedha, bandha, śakticāla mudrā* in the *haṭha* practices. 1.

चकारात् खेचर्या अपि ॥

cakārāt khecaryā api—

***khecarī* is also included (in the above list).**

पीठानि कुम्भा विविधा अनन्ता[2]
यमादि तद्वत् करणानि युक्तयः ॥
कर्माष्टकं चेत्यखिला हठक्रियाः
श्रीराजयोगस्य पदाप्तये[3] स्मृताः ॥ २ ॥

pīṭhāni kumbhā vividhā anantā
yamādi tadvat karaṇāni yuktayaḥ ॥
karmāṣṭakaṃ cetyakhilā haṭhakriyāḥ
śrīrājayogasya padāptaye smṛtāḥ ॥ 2 ॥

Tr. For attainment of the state of *rājayoga*, the *āsanas*, various *kumbhakas, yamas*, (numerous) *karaṇas (mudrās), yuktis* (means), the eight (purificatory) *karmas* —all these *haṭhakriyās* are efficacious. 2.

समाधेस्तु यमादीनां साक्षात् प्रोक्तोपयोगिता ।
पारम्पर्येण च हठांगत्वं मुद्राष्टकर्मणोः ॥ ३ ॥

---

1. मुद्रादीनीं –b. 2. अनेना –a. 3. यदासये –b.

samādhestu yamādīnāṃ sākṣāt proktopayogitā ।
pāramparyeṇa ca haṭhāṅgatvaṃ mudrāṣṭakarmaṇoḥ ॥3॥

Tr. For *samādhi yama* etc. are directly effective. According to tradition, *mudrās* and the eight *karmas* of *haṭha* are also effective. 3.

ईश्वराराधनं कर्मयोगांगमीरितः ।
समाधेस्तु प्रधानांगं क्लेशपापनिरासनात् ॥४ ॥

īśvarārādhanaṃ karmayogāṅgamīritaḥ ।
samādhestu pradhānāṅgaṃ kleśapāpanirāsanāt ॥ 4 ॥

Tr. Worship of *īśvara* is said to form a part of *karmayoga* (*kriyāyoga*). For *samādhi*, it is considered the main practice as it rids one off suffering and sin. 4.

विना न कर्माश्रयणं सुसिद्धिः प्रजायते क्वापि सुसाधकस्य हि ।
चित्स्वर्गभोगौ[1] सुकृतेन हीनैर्न लभ्यते साधनमभ्यसेदतः ॥ ५ ॥

vinā na karmāśrayaṇaṃ susiddhiḥ
prajāyate kvāpi susādhakasya hi ॥
citsvargabhogau sukṛtena hīnair
na labhyate sādhanamabhyasedataḥ ॥ 5 ॥

Tr. Success is never achieved without proper practice. A good *sādhaka* without merits would never enjoy the state of consciousness and heaven. Therefore, one should indulge in practice. 5.

अतो भक्तियोगो मुख्यं राजयोगांगं भवितुमर्हति ॥

ato bhaktiyogo mukhyaṃ rājayogāṅgaṃ bhavitumarhati

Tr. *bhaktiyoga* should therefore be considered the main practice of *rājayoga*.

समावर्जितश्चेश्वरः[2] प्रेमभक्त्या
ह्यभिध्यानमात्रेण चैवं मुमुक्षुम्[3] ॥
समाधिं समापादयेन्नि[4]र्विकल्पं
ततो भक्तिमीशे विदध्यान्मुमुक्षुः ॥ ६ ॥

samāvarjitaśceśvaraḥ premabhaktyā
hyabhidhyānamātreṇa caivaṃ mumukṣum ॥

1. भोगो –b. 2. समावार्जितश्चेश्वरः -b 3. मुमुक्ष्यं –b. 4. समापदयेन्नि –b.

samādhiṃ samāpādayennirvikalpaṃ
tato bhaktimīśe vidadhyān mumukṣuḥ ॥ 6 ॥

Tr. One desirous of liberation can attain the state of *nirvakalpa samādhi* by meditating on *īśvara* by surrendering to Him with devotion and love. Therefore, one who aims at liberation should have devotion towards *īśa*. 6.

चित्तं वशे यस्य समाधिरेवं
तस्योपदिष्टो न तु यस्य चित्तम् ॥
वशेऽस्ति तस्यापि समाधिसिध्यै
सम्यक् कियायोग इहोपदिष्टः ॥ ७ ॥

cittaṃ vaśe yasya samādhirevaṃ
tasyopadiṣṭo na tu yasya cittam ॥
vaśe'sti tasyāpi samādhisiddhyai
samyak kriyāyoga ihopadiṣṭaḥ ॥ 7 ॥

Tr. One who has restrained *citta* for him *samādhi* is possible and not for others. The scheme of *kriyāyoga* is recommended for attainment of *samādhi* to the one who has not controlled *citta* 7.

॥ इति हठतत्वकौमुद्यां
हठांगोपकारकविवेचनोद्योतः ॥

॥ iti haṭhatatvakaumudyāṃ haṭhāṅgopakāraka-
vivecanodyotaḥ ॥

Here ends the chapter on the utility of the *haṭha* practices in *haṭhatatvakaumudī*.

Chapter—14

अथ मुद्राः —

atha mudrāḥ —

The *mudrās*—

तल्लक्षणं तु --

tallakṣaṇaṃ tu —

The characteristics are—

मुद्रास्तु मुद्रणात् प्रोक्ता[1] यद्व्यापारनियोजिताः ।
तद्व्यापारस्य[2] तन्नाम्ना योगसिद्धेर्हिता दश ॥ १ ॥

mudrāstu mudraṇāt proktā yadvyāpāraniyojitāḥ ।
tadvyāpārasya tannāmnā yogasiddhirhitā daśa ॥ 1 ॥

Tr. They are known as *mudrās* since they do sealing (*mudrā*). That particular activity is named after that (*mudrā*) wherever they are applied which are beneficial towards success of *yoga*. There are ten (*mudrās*) which lead towards attainment of *siddhis*. 1.

अथ विपरीतकरणी --

atha viparītakaraṇī—

***viparītakaraṇī* follows—**

ऊर्ध्वं सोमकलाजलं सुविमलं कण्ठस्थला[3]दूर्ध्वतो
नासान्ते[4] सुषिरे नयेच्च गगनद्वारं ततः सर्वतः ॥
ऊर्ध्वास्यो भुवि संनिपत्य नितरामुत्तानपादः पिबेत्
एवं यः कुरुते जितेन्द्रियजनो नैवास्ति तस्य क्षयः ॥ २ ॥

ūrdhvaṃ somakalājalaṃ suvimalaṃ kaṇṭhasthalādūrdhvato
nāsante suṣire nayecca gaganadvāraṃ tataḥ sarvataḥ ॥
ūrdhvāsyo bhuvi sannipatya nitarāmuttānapādaḥ pibet
evaṃ yaḥ kurute jitendriyajano naivāsti tasya kṣayaḥ ॥ 2 ॥

Tr. One should take position on the ground raising the legs up and keeping the face up. Thus he should raise the sacred secretion oozing from the moon from the aperture at the end of the nose which is above the throat at the opening of the head. Having controlled the senses one who does this practice does not perish. 2.

---

1. मुद्रणाव्योक्ता –b. 2. तव्यापारस्य –b. 3. कण्ठस्यला –a. 4. वासान्ते –a.

ऊर्ध्वपादो ह्यधोमस्तकः स्यात् क्षणं
वासरेऽथादिमेऽभ्यासं वृद्धया धयेत्[1] ॥
एवमभ्यासतो[2] याममात्रं सदा
मृत्युजित् स्याज् जराजिच्च षण्मासतः[3] ॥ ३ ॥

ūrdhvapādo hyadhomastakaḥ syāt kṣaṇaṃ
vāsare'thādime'bhyāsaṃ vṛddhyā dhayet ॥
evamabhyāsato yāmamātraṃ sadā
mṛtyujit syāj jarājicca ṣaṇmāsataḥ ॥ 3 ॥

Tr. In the beginning, one should take the legs up and head down for a short time and thus prolong the time gradually. Through the practice, one should maintain for three hours (one *yāma*), thus overcoming (premature) death and old age in six months. 3.

तूलस्य पिण्डं प्रविधाय दक्षनासापुटान्ते अर्कमुखं निरुद्धम् ।
भवेदतश्चानु यथोक्तमत्रायामं[4] भजेज् ज्ञः प्रहरत्रयं हि ॥ ४ ॥

tūlasya piṇḍaṃ pravidhāya dakṣa-
nāsāpuṭānte arkamukhaṃ niruddham ॥
bhavedataścānu yathoktamatrāyāmaṃ
bhajej jñaḥ praharatrayaṃ hi ॥ 4 ॥

Tr. By plugging the right nostril – the mouth of the sun— with a cotton bud, a wise should practise *prāṇāyāma* as told or even for three *praharas* (one *prahara* = three hours). 4.

नित्याभ्यासादस्य हि जठराग्निर्वृद्धिमायाति ॥ ५ ॥

nityābhyāsādasya hi jaṭharāgnirvṛddhimāyāti ॥ 5 ॥

Tr. Daily practice of this enhances the gastric fire. 5.

अस्यायमर्थः[5] –

asyāyamarthaḥ —

It means—

यः शिरो भूमावारोप्य प्रहरत्रयस्थितौ शक्तः[6] स्यात् । स मासत्रयसमाप्तौ कालजिद् भवतीति तृतीयश्लोकेन सम्बन्धः । आहारोऽतस् तस्मै सम्पाद्यः साधकस्य भूरि ज्ञैः ॥ ६ ॥

---

1. ऽभ्यासवध्धयेत् -b. 2. एवमस्यौभ्यासतो -b. 3. परामसतः -b. 4. मनायामं -a. 5. आहाश्रायमर्थः -a. 6. शकः -b.

yaḥ śiro bhūmāvāropya praharatrayasthitau śaktaḥ syāt । *sa māsatrayasamāptau kālajid bhavatīti tṛtīyaślokena sambandhaḥ* । *āhāro'tas tasmai sampādyaḥ sādhakasya bhūri jñaiḥ* ॥ 6 ॥

Tr. One who is able to maintain head-down position for three *praharas*, controls (premature) death in three months of practice—thus this is to be interpreted in the context of the third *śloka*. A wise should, therefore consume good quantity of food. 6.

वलितं पलितं चैव षण्मासान्नैव दृश्यते ।
याममात्रं च यो नित्यमभ्यसेत् स तु कालजित् ॥ ७ ॥

valitaṃ palitaṃ caiva ṣaṇmāsānnaiva dṛśyate ।
yāmamātraṃ ca yo nityamabhyaset sa tu kālajit ॥ 7 ॥

Tr. One who practises for one *yāma* (three hours) daily, gets rid of wrinkles and grey hair in six months and indeed overcomes death (untimely). 7.

इति विपरीतकरणी ॥

iti viparītakaraṇī ॥

Thus ends *viparītakaraṇī*.

अथ लम्बिकाविधिः —

atha lambikāvidhiḥ—

The technique of *lambikā* —

तल्लक्षणं तु—

tallakṣaṇaṃ tu—

The technique—

तालुमूलगता[1] यत्ना[2]ज्जिह्वयाक्रम्य घंटिकाम् ।
ऊर्ध्वं रन्ध्रगते वाते प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥ इति ॥ ८ ॥

tālumūlagatā yatnājjihvayākramya ghaṇṭikām ।
ūrdhvaṃ randhragate vāte prāṇaspando nirudhyate ॥ *iti* ॥8॥

Tr. By inserting the tongue effortfully at the root of the palate and taking it beyond uvula while allowing the *prāṇa* to enter the cavity, the *prāṇic* vibration is suspended. 8.

तत्करणप्रक्रिया यथा –

tatkaraṇaprakriyā yathā—

The practice of which is—

---

1. तालमूलगता –b. 2. यत्ना –a.

स्नुहीपत्रप्रख्यं निशितमतिसुस्निग्धममलम्
शुभं शस्त्रं तेन प्रथममिह[1] छिन्द्यात् कचमितम् ॥
व्रणं सद्यः पथ्यापटुवररजोघर्षिततलं
चरेदेवं सप्ताऽहनि पुनरपि छेदनविधिः ॥ ९ ॥

snuhīpatraprakhyaṃ niśitamatisusnigdhamamalam
śubhaṃ śastraṃ tena prathamamiha chindyāt kacamitam ॥
vraṇaṃ sadyaḥ pathyāpaṭuvararajogharṣitatalam
caredevaṃ saptā'hani punarapi chedanavidhiḥ ॥ 9 ॥

Tr. Take a clean, fine, well-lubricated and very sharp instrument resembling the leaf of milk-hedge. In the beginning, cut (the frenum) as breadth of the hair. Then rub the tongue with *harītakī* (chebulic myrobalan), rock salt for one week and again practise cutting. 9.

एवं क्रमेण कलयेच्छण्मासं नित्यमुद्युक्तः ।
षण्मासाद्[2] रसनातलमूलशिराबन्ध एति लयम् ॥ १० ॥

evaṃ krameṇa kalayecchaṇmāsaṃ nityamudyuktaḥ ।
ṣaṇmāsād rasanātalamūlaśirābandha eti layam ॥ 10 ॥

Tr. Continue doing this practice daily carefully for six months. A six months practice severes the frenum. 10.

अथ जिह्वाधाम शिरोवस्त्रेणावेष्ट्य[3] मन्दं तत् ।
आकर्षयेत् प्रतिदिनं षण्मासं कर्षणं प्राग्वत् ॥ ११ ॥

atha jihvādhāma śirovastreṇāveṣṭya mandaṃ tat ।
ākarṣayet pratidinaṃ ṣaṇmāsaṃ karṣaṇaṃ prāgvat ॥ 11 ॥

Tr. Thereafter wrap the tongue up with a cloth used for turban and gently pull it up daily for six months as said before. 11.

चालनदोहनमनुदिनमुपाचरेच् छेदनं तु अह ।
तृतीयेऽह्नि उष्णाम्बुनात्र सर्वं कार्यं सन्दोहनं वचा मधुना[4] ॥१२॥

cālanadohanamanudinamupācarec
chedanaṃ tu aha ॥
tṛtīye'hni uṣṇāmbunātra sarvaṃ kāryaṃ
sandohanaṃ vacā madhunā ॥ 12 ॥

Tr. Practice of moving and milking should be done everyday while cutting should be done every third day. All

---

1. प्रथमसममिह –a. 2. छरामासं –b. 3. वेष्ट्वा –b. 4. च वा मधुना –b.

these should be performed with hot water, while milking should be done with honey and *vacā*. 12.

एवं कृतेऽथ रसना[1] प्रयात्यनुभ्रूतलान्त[2]बिलम् ।
तिर्यक्कर्णावधि वै चिबुकाधः सा स्वयं याति अभ्यासः ॥ १३ ॥

evaṃ kṛte'tha rasanā
prayātyanubhrūtalāntabilam ॥
tiryakkarṇāvadhi vai
cibukādhaḥ sā svayaṃ yāti abhyāsaḥ ॥ 13 ॥

इति ह वर्षत्रयमत्र कृतस्तदा रसज्ञेयम्[3] ।
ब्रह्मद्वारं प्रविशति भित्वा भ्रूमध्यमूर्ध्वगता ॥ १४ ॥

iti ha varṣatrayamatra
kṛtastadā rasajñeyam ॥
brahmadvāraṃ praviśati
bhitvā bhrūmadhyamūrdhvagatā ॥ 14 ॥

Tr. By doing this (the tip of) the tongue enters the cavity below the center of the eyebrows and it touches the end of the ears and below the chin on its own. After three years of practice (the tongue) reaches the center of the eyebrows and enters the *brahmadvāra* and tastes the *rasa* (ambrosia). 13-14.

रौप्यस्वर्णाऽयोन्य[4]तमशलाकिकां[5] नासिकारन्ध्रे स्निग्धेन ।
तन्तुना[6] सह नियोज्य संरुध्य मानसे प्राणान् ॥१५ ॥

raupyasvarṇā'yonyatamaśalākikāṃ
nāsikārandhre snigdhena ॥
tantunā saha niyojya
saṃrudhya mānase prāṇān ॥ 15 ॥

Tr. Take up a special probe of silver, gold or iron and with this insert a lubricated cotton sheaf in the nasal cavity. Hold the *prāṇa* while focusing the mind. 15.

सुदृढासनो[7] परिगतो मथनशनकैस्ततः[8] कुर्यात् ।
भ्रूमध्ये न्यस्य दृशौ दृढचित्तमुनेस्तदा सुषुप्तिसुखम् ॥ १६ ॥

sudṛḍhāsano parigato
mathanaśanakaistataḥ kuryāt ॥

1. कृतेऽथ रतता –a. 2. त्यनुदभ्रूतलान्त –a. 3. सज्ञेयं –b. 4. स्वर्णोऽघोऽन्या – b. 5. शलाकिकां –b. 6. नासिकारन्ध्रेन तन्तुना –b. 7. सदृढसनो –b. 8. मथनं शनकैस्तुतः-b.

bhrūmadhye nyasya dṛśau
dṛḍhacittamunestadā suṣuptisukham ॥ 16 ॥

Tr. While adopting a firm posture, keep the gaze fixed at the center of the eyebrows and gently rub (with the cotton sheaf). Thus a *muni* of steady mind experiences the Bliss of *suṣupti* state. 16.

न सदा मन्थनमुदितं मासे मासे तदा चरेद् ।
योगी[1] एवं द्वादशवर्षैः संसिद्धिं विखेचरी याति ॥ १७ ॥

na sadā manthanamuditaṃ māse māse tadā cared ।
yogī evaṃ dvādaśavarṣaiḥ saṃsiddhiṃ vikhecarī yāti ।17।

Tr. This massaging should not be undertaken everyday but once in a month. Thus a *yogī* attains success in *khecarī* in twelve years. 17.

हठप्रदीपिकामते तु –

haṭhapradīpikāmate tu —

According to *haṭhapradīpikā*—

छेदनचालनदोहैः क्रमेण जिह्वां प्रवर्धयेत् ।
तावत् सा यावत् भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः ॥ इति ॥१८॥

chedanacālanadohaiḥ
krameṇa jihvāṃ pravardhayet ॥
tāvat sā yāvat bhrūmadhyaṃ
spṛśati tadā khecarīsiddhiḥ ॥ *iti* ॥ 18 ॥

Tr. The tongue should be lengthened by cutting, moving and milking until it touches the center of the eyebrows. Then alone *khecarī* is perfected. 18.

भ्रूमध्ये देशे चणकांकुरप्रभं
यद्राजदन्तोपरि च त्रिकूटम् ॥
नियोज्य चित्तं खलु तत्र जिह्वया-
मृतं[2] स्रवत् पाति[3] स दिव्यदेहः ॥ १९ ॥

bhrūmadhye deśe caṇakāṅkuraprabhaṃ
yadrājadantopari ca trikūṭam ॥
niyojya cittaṃ khalu tatra jihvayā-
mṛtaṃ sravat pāti sa divyadehaḥ ॥ 19 ॥

---

1. तदाचेद्योगी –b. 2. जिह्वाध्यामृतं –a. 3. याति –b.

Tr. There is a *trikūṭa* (crown of the head) at the center of the eyebrows above the uvula, resembling the sprout of a gram. One should insert the tongue there with a concentrated mind and drink the flowing ambrosia. Thus one gets a divine body. 19.

यदा भ्रूबिले संनिवेश्य स्वजिह्वां
विलोमं गतां भ्र्वन्तरे[1] स्थाप्य दृष्टिम् ॥
स्वलक्ष्यं स्थिरं भावयन् याति शून्यं[2]
तदा खेचरी स्यान् मुनेः सिद्धमुद्रा ॥ २० ॥

yadā bhrūbile sanniveśya svajihvāṃ
vilomaṃ gatāṃ bhrvantare sthāpya dṛṣṭim ॥
svalakṣyaṃ sthiraṃ bhāvayan yāti śūnyaṃ
tadā khecari syān muneḥ siddhamudrā ॥ 20 ॥

Tr. When the upturned tongue is inserted in the cavity in the center of the eyebrows while fixing the gaze at the center of the eyebrows the *muni* meditates on void, *khecarī mudrā* is perfected. 20.

रसनयोर्ध्वगया[3] क्षणमास्थितो यदि मुनिः परिरुद्धमनोऽनिलः ।
सकलरोगगणात् परिमुच्यते प्रबलमृत्यु[4]जरादिभिरुप्सितः[5]।२१।

rasanayordhvagayā kṣaṇamāsthito
yadi muniḥ pariruddhamano'nilaḥ ॥
sakalarogagaṇāt parimucyate
prabalamṛtyujarādibhirupsitaḥ ॥ 21 ॥

Tr. If the *muni* with the tongue upturned remains even for a moment while controlling the mind and *prāṇa*, he gets rid of all the diseases, overcomes (premature) death and old age. 21.

रसनयोर्ध्वगया विवरं भ्रुवो[6]
वयसि यः सति मुद्रयति ध्रुवम्[7] ॥
क्षरति तस्य न बिन्दुलवोऽप्यहो
युवतिभिः स्वभुजाकलितस्य च ॥ २२ ॥

rasanayordhvagayā vivaraṃ bhruvo
vayasi yaḥ sati mudrayati dhruvam ॥
kṣarati tasya na bindulavo'pyaho
yuvatibhiḥ svabhujā kalitasya ca ॥ 22 ॥

1. ऽभ्र्यन्तरे –b. 2. भावयन्यानिशून्यं –b. 3. सतयोर्ध्वगया –a. 4. मृत्य –b. 5. रुग्जितः -b. 6. मुवो –b. 7. ध्रुव –b.

Tr. One who firmly seals the cavity at the center of the eyebrows with the upturned tongue does not have even a scant of *bindu* dribbling when embraced by young women. 22.

कपालकुहरे कलां परिनिवर्त्त्य सोमामृतं
सदा पिबति यः स वै जयति यक्षमेषोऽमरः ॥
सदेन्दुगलिताऽमृताऽशनसुपूर्ण[1]कायो हि यः
स तक्षककुदंशजं गरलमन्नवत् स्तौति[2] तत् ॥ २३ ॥

kapālakuhare kalāṃ parinivarttya somāmṛtaṃ
sadā pibati yaḥ sa vai jayati yakṣameṣo'maraḥ ॥
sadendugalitā'mṛtā'śanasupūrṇakāyo hi yaḥ
sa takṣakakudaṃśajaṃ garalamannavat stauti tat ॥ 23 ॥

Tr. One who always drinks the ambrosia from moon by turning the tongue (*kalā*) at the cavity in the forehead, controls the *yakṣas* (demigods) and (gains) immortality. The body which fully absorbs the ambrosia always oozing from the moon, digests easily like food the poison of the deadliest of the serpents like *takṣaka*. 23.

ऊर्ध्वं[3] षोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठाद्[4]
ऊर्ध्वास्यो रसनां नियम्य कुहरे शक्तिं परां चिन्तयन् ॥
उत्कल्लोलकलाजलं सुविमलं धारामृतं यः पिबेन्
निर्द्दोषः स मृणालकोमलवपुर् योगी चिरं जीवति ॥२४॥

ūrdhvaṃ ṣoḍaśapatrapadmagalitaṃ prāṇādavāptaṃ haṭhād
ūrdhvāsyo rasanāṃ niyamya kuhare śaktiṃ parāṃ cintayan ॥
utkallolakalājalaṃ suvimalaṃ dhārāmṛtaṃ yaḥ piben
nirddoṣaḥ sa mṛṇālakomalavapur yogī ciraṃ jīvati ॥ 24 ॥

Tr. One should meditate on the supreme *śakti (kuṇḍalī)* after carefully inserting the tongue in the cavity, with upturned face and by raising the *prāṇa* up in the lotus of sixteen petals. The *yogī* who drinks the divine nectar flowing from the supreme moon, maintains the body as tender as the lotus stalk and lives long without diseases. 24.

---

1. सपूर्ण -b. 2. स्वौति –b. 3. मूर्ध्वं –b. 4. दवाहठात् -b.

चुम्बन्ती यदि लम्बिकाग्रमनिलं जिस्वारसस्यन्दिनी
सक्षारा कटुकाम्लदुग्ध[1]सदृशां मध्वाज्यतुल्या तथा ॥
व्याधीनां हरणं जरान्तकरणं शास्त्रागमो[2]द्गीरणं
तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणवत्सिद्धांगनाकर्षणम् ॥ २५ ॥

cumbantī yadi lambikāgramanilaṃ jihvārasasyandinī
sakṣārā kaṭukāmladugdhasadṛśāṃ madhvājyatulyā tathā ॥
vyādhīnāṃ haraṇaṃ jarāntakaraṇaṃ śāstrāgamodgīraṇaṃ
tasya syādamaratvamaṣṭaguṇavatsiddhāṅganākarṣaṇam ॥25॥

Tr. If the tip of the elongated tongue always sucks the flowing nectar, which tastes salty, pungent, sour or like milk, honey or *ghee*, one gets rid of all the diseases and old age, becomes proficient in the scriptures, attains immortality, accomplishes eight *siddhis* and receives the power of the deities presiding over the *cakras*. 25.

पाताले यद्वितत्सुषिरं[3] मेरुमूले[4] तदस्मिन्
तद्वच्चैतत् प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम् ॥
चन्द्रात् सारः[5] स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां
तं बध्नीयात् सुकरणमृदा[6] नान्यथा कायसिद्धिः ॥२६ ॥

pātāle yadvitatasuṣiraṃ merumūle tadasmin
tadvaccaitat pravadati sudhīstanmukhaṃ nimnagānām ॥
candrāt sāraḥ sravati vapuṣastena mṛtyurnarāṇāṃ
taṃ badhnīyāt sukaraṇamṛdā nānyathā kāyasiddhiḥ ॥ 26 ॥

Tr. According to the wise the aperture which is located at the base of the spine is called the mouth which opens downwards. The human being dies because the nectar secreted by the moon flows down. With the application of this *mudrā* one presses the mouth and controls the flow, thus, attaining a fortified body and not otherwise. 26.

चित्तं विचरति गगने जिस्वा यस्माच्चरति खे[7] याता ।
तेनैषा कथिता ज्ञैर्मुद्रा भद्रा[8] भद्राति[9] खेचरी नाम्नी ॥ २७ ॥

cittaṃ vicarati gagane jihvā yasmāccarati khe yātā ।
tenaiṣā kathitā jñair mudrā bhadrā bhadrāti khecarī nāmnī ॥ 27 ॥

1. दुग्धा –b. 2. शास्वगमो –b. 3. द्विततंसुषिरं –b. 4 मुरुमूले –a. 5. चन्द्रातुसारः -b. 6. मृदां –b. 7. ख्ये –b. 8. अनुपलब्धपाठः -b. 9. मुद्राति –b.

Tr. This auspicious *mudrā* is called *khecarī* by the experts because it enables one to make the mind void so long as the tongue stays in the nasopharyngeal cavity. 27.

विधाय पूर्वं दृढमूलबन्धं प्राणं ततः साधु निरुध्य कुम्भतः ।
जालन्धरे[1] संविहिते नु योगी चरेद्रसज्ञां लघुलम्बिकोपरि ।२८।

vidhāya pūrvaṃ dṛḍhamūlabandhaṃ
prāṇaṃ tataḥ sādhu nirudhya kumbhataḥ ॥
jālandhare saṃvihite nu yogī
caredrasajñāṃ laghulambikopari ॥ 28 ॥

Tr. First firmly apply *mūlabandha* and then properly retain the *prāṇa (kumbhaka)*, while applying *jālandhara*. Then the *yogī* should take the tongue over the uvula (above the *lambikā*). 28.

न मूर्च्छा तृषा नैव[2] निद्रा न रोगा न मृत्युर्न[3] जरा तस्योद्भवन्ति ।
भवेत् कायसिद्धिस्तथा कल्पमायुर्मुनिः सेवेत खेचरीं योगविद्यः ।२९।

na mūrcchā tṛṣā naiva nidrā na rogā
na mṛtyurna jarā tasyodbhavanti ॥
bhavet kāyasiddhistathā kalpamāyur
muniḥ seveta khecarīṃ yogavidyaḥ ॥ 29 ॥

Tr. A *muni*, an expert of *yoga* who performs *khecarī*, does not experience fainting, thirst, sleep, or get affected by diseases. Death or old age do not appear to him and he lives for long in a perfect body. 29.

बाह्याभ्यन्तरभेदाभ्यां खेचरी द्विविधा मता ।
लम्बिकाद्या[4] खेचरत्वं मनसोऽन्त्येत्यऽनेकधा ॥ ३० ॥

bāhyābhyantarabhedābhyāṃ khecarī dvividhā matā ।
lambikādyā khecaratvaṃ manaso'ntyetya'nekadhā ।30।

Tr. *khecarī* is twofold—external and internal. The first one is elongation of the tongue and the other one which is manifold to attain the void state of the mind. 30.

बद्धं मूलबिलं येन तेन विघ्नो निवारितः ।
अजरामरतां याति यथा पञ्चमुखो हरः ॥ ३१ ॥

baddhaṃ mūlabilaṃ yena tena vighno nivāritaḥ ।
ajarāmaratāṃ yāti yathā pañcamukho haraḥ ॥ 31 ॥

1. जालधरे –b. 2. तृषा नैव –b. 3. मृत्युर्ज -b. 4. लंघिकाद्या –b.

Tr. One, who successfully closes *brahmarandhra*, overcomes obstacles. He overcomes old age and becomes immortal like five-faced *hara* (an epithet of *śiva*). 31.

मूलबिलं ब्रह्मरन्ध्रं बद्धं जिह्वया पिहितम् । तेन योगिना उपद्रवो नाशितः[1] । स योगी[2] अजरामरगुणवान् शम्भुर्यथा तथा[3] ज्ञेयः ॥ ३२ ॥

mūlabilaṃ brahmarandhraṃ baddhaṃ jihvayā pihitam । tena yoginā upadravo nāśitaḥ । sa yogī ajarāmaraguṇavān śambhuryathā tathā jñeyaḥ ॥ 32 ॥

Tr. The cavity of *brahmarandhra*, is plugged by the tongue. Thus a *yogī* removes troubles. Such a *yogī*, who is free from old age and is immortal, may be equated with *śaṃbhu*. 32.

अमृतपूर्णदेहस्य योगिनो द्वित्रिवत्सरात् ।
ऊर्ध्वं प्रवर्त्तते रेतो ह्यणिमादिगुणोदयः ॥ ३३ ॥

amṛtapūrṇadehasya yogino dvitrivatsarāt ॥
ūrdhvaṃ pravartate reto hyaṇimādiguṇodayaḥ ॥ 33 ॥

Tr. When the body is filled with divine nectar, the *yogī*, in two to three years, remains in perpetual celibacy and attains the supernatural powers *(siddhis)* like *aṇimā* etc.

ऊर्ध्वरेता भवति अणिमादीनां सिद्धीनां उदयः प्रवर्त्तते ॥

ūrdhvaretā bhavati aṇimādīnāṃ siddhīnāṃ udayaḥ pravarttate ॥

He becomes *ūrdhvaretā* and attains *sidhis* such as *aṇimā* etc.

॥ इति सुन्दरदेवविरचिताहठतत्वकौमुद्यां विपरीतकरणीखेचरीसाधनोद्योतः ॥

॥ iti sundaradevaviracitāhaṭhatatvakaumudyāṃ viparītakaraṇīkhecarīsādhanodyotaḥ ॥

Here ends the chapter describing *viparītakaraṇī* and *khecarī* practice in *haṭhatatvakaumudī* composed by *sundaradeva*.

---

1. नाशिनः -b. 2. सद्योगी –b. 3. अनुपलब्धपाठः -b.

Chapter — 15

अथ मूलबन्धः —

atha mūlabandhaḥ

Here follows **mūlabandha—**

अधोगाम्यपानं तमापीड्य पार्ष्ण्या
गुदाकुञ्चनैरूर्ध्वमाकर्षयेज्ज्ञः ॥
अपानं यथोर्ध्वं[1] प्रयात्येष शश्वद्
हठेन विधेयं तथा मूलबन्धः ॥ १ ॥

adhogāmyapānaṃ tamāpīḍya pārṣṇyā
gudākuñcanairūrdhvamākarṣayejjñaḥ ॥
apānaṃ yathordhvaṃ prayātyeṣa śaśvad
haṭhena vidheyaṃ tathā mūlabandhaḥ ॥ 1 ॥

Tr. With the help of the heels, press the perineum and pull up the *apāna* which has a tendency to move downwards. This technique is called *mūlabandha* since it ensures forceful upward movement of *apāna*. 1.

अयमुक्तः ॥

ayamuktaḥ ॥

It has been stated as above.

अथवा –

athavā—

Or else—

भगाऽपान[2]मध्ये विनाऽस्त्यस्थि[3]देशस्
तमापीडयेत् पार्ष्णीभागेन भूरि ॥
अपानं गुदाकुञ्चनेनोर्ध्वमुच्चैः
क्रिया शश्वदेवं[4] कृते मूलबन्धः ॥ २ ॥

bhagāpānamadhye vinā'styasthideśas-
tamāpīḍayet pārṣṇībhāgena bhūri ॥
apānaṃ gudākuñcanenordhvamuccaiḥ
kriyā śaśvadevaṃ kṛte mūlabandhaḥ ॥ 2 ॥

Tr. Press well the perineum between the genital and anus with the heel. Forcefully pull up the *apāna* by contracting the anus. A consistent practice of this *kriyā* is *mūlabandha*. 2.

---

1. ऊर्ध्वाम् -b. 2. भगादुपान –b. 3. विनाऽरूपास्थि –b. 4. क्रियाच्छश्वदेवं –b.

ऐक्ये ऽपान[1]प्राणयोर्मूत्रगूथ-
क्षैण्यद्वन्द्वः[2] स्यादुपस्थो हि मूलात् ॥
ऊर्ध्वं याते ऽपानवायौ यदाग्नेः
स्थानं दीर्घा स्याच्छिखा वायुसंगात् ॥ ३ ॥

aikye'pānaprāṇayormūtragūtha-
kṣaiṇyadvandvaḥ syādupastho hi mūlāt ॥
ūrdhvaṃ yāte'pānavāyau yadāgneḥ
sthānaṃ dīrghā syāc-chikhā vāyusaṅgāt ॥ 3 ॥

Tr. (Thus) *apāna* and *prāṇa* become united. Urine and faeces get scanty. Internal conflict becomes waned. Being stimulated by *prāṇa apānavāyu* moving from the center of the perineal body reaches upto the location of fire which gets enhanced. 3.

ततो वह्न्यपानौ[3] हृदि[4] प्राणमुष्म
ततोऽन्ते[5] दीप्तस्तदा[6] देहगोऽग्निः ॥
घटाख्यस्थितौ तेन सुप्ताभितप्ता
भवेदासमन्तात् क्रमेणैव शक्तिः ॥ ४ ॥

tato vahnyapānau hṛdi prāṇamuṣma
tato'nte dīptastadā dehago'gniḥ ॥
ghaṭākhyasthitau tena suptābhitaptā
bhavedāsamantāt krameṇaiva śaktiḥ ॥ 4 ॥

Tr. Thereafter, the fire and *apāna* heat up the *prāṇa* in the heart. Being enhanced, the bodily fire gradually heats up the dormant *śakti* from all around in the state of *ghaṭa*. 4.

परिचये मरुतो मनसः स्थितौ प्रागिति[7] दण्डहतेव[8] भुजंगमी ।
शयनमुत्सृजति क्षुधिता रुषा कवलयत्यधरानिलमूर्ध्वगम् ॥ ५ ॥

paricaye maruto manasaḥ sthitau
prāgiti daṇḍahateva bhujaṅgamī ॥
śayanamutsṛjati kṣudhitā ruṣā
kavalayatyadharānilamūrdhvagam ॥ 5 ॥

Tr. In the state of *paricaya*, mind and *prāṇa* tend to get stability. The *kuṇḍalī*, like a serpent being bitten by a stick,

1. एक्येऽपान –b. 2. मूत्रगथक्षैणाद् वृद्धः -b. 3. वह्न्यः पानौ –b. 4. ह्यदि –b. 5. प्राणमुष्णततोते –b. 6. दीप्तस्तदौ –a. 7. सगिति –b. 8. दंऽहतेव –b.

comes out of slumber and being enraged and hungry, swallows the *anila* at the lower part and moves it upwards. 5.

बिलं प्रविष्टेवऽवने ऋजुत्वं[1] व्रजेत् सुषुम्णां इरणो वातः
अनुगो यस्या सा अग्ने[2] शक्तिः पश्चाद्वायुस्तेन योगसिद्धिः ॥
तस्मात् मूलबन्धः सदायं योगिभिरवश्यं प्रथमं विधेयः
इति योगिभिरेव नित्यं श्रीमूलबन्धोऽभ्यसनीय आदरात् ॥ ६ ॥

bilaṃ praviṣṭeva'vane ṛjutvaṃ vrajet suṣumṇāṃ iraṇo vātaḥ
anugo yasyā sā agne śaktiḥ paścādvāyustena yogasiddhiḥ ॥
tasmāt mūlabandhaḥ sadāyaṃ yogibhiravaśyaṃ prathamaṃ vidheyaḥ
iti yogibhireva nityaṃ śrīmūlabandho'bhyasanīya ādarāt ॥ 6 ॥

Tr. The air (*prāṇa*), (like a snake entering into a pit), moves into *suṣumnā* becoming straight. The *vāyu* follows the *śakti* of *agni* (fire) and thus one attains success in *yoga*. Therefore, the *yogīs* should certainly practice *mūlabandha* first regularly with devotion. 6.

प्रसादेन बन्धस्य मूलाभिधस्य
सरोजासने संस्थितो[3] भूजयेन ॥
धरित्रीं समुत्सृज्य कौतुहलेन
क्रमात् साधकस्याश्रित[4]स्पर्शनः खे ॥ ७ ॥

prasādena bandhasya mūlābhidhasya
sarojāsane saṃsthito bhūjayena ॥
dharitrīṃ samutsṛjya kautuhalena
kramāt sādhakasyāśritasparśanaḥ khe ॥ 7 ॥

Tr. By the grace of *mūlabandha* practised in *sarojāsana (padmāsana)*, and by controlling the element of earth, one surprisingly levitates. 7.

प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम् ।
गत्वा योगस्य संसिद्धिं गच्छतो नात्र संशयः ॥ ८ ॥

prāṇāpānau nādabindū mūlabandhena caikatām ।
gatvā yogasya saṃsiddhiṃ gacchato nātra saṃśayaḥ ।8।

Tr. When through the practice of *mūlabandha prāṇa* and *apāna*, *nāda* and *bindu* are united, one undoubtedly attains success in *yoga*. 8.

1. ऋजुत्व –b. 2. अग्रे –b. 3. संस्थितौ –a. 4. साधकरस्यज्जित –b.

इति मूलबन्धः ॥

iti mūlabandhaḥ ॥

Here ends *mūlabandha*.

अथोड्डियानो बन्धस्तत्र विधेयो दृढं सुधिया ॥[1]

athoḍḍiyāno bandhastatra vidheyo dṛḍhaṃ sudhiyā ॥

Tr. Here follows *uḍḍiyāna-bandha* which a wise should firmly practise.

नाभेरूर्ध्वमधस्तात् तानं कुर्यात् प्रयत्नेन ।
उड्डयान[2]बन्ध एषः समस्तदुःखाघनाशनो यमिनाम् ॥ ९ ॥

nābherurdhvamadhastāt tānaṃ kuryāt prayatnena ।
uḍḍyānabandha eṣaḥ samastaduḥkhāghanāśano yaminām ॥ 9 ॥

Tr. One should effortfully pull the lower and upper region of the navel upwards. This is *uḍḍyāna-bandha*, which retards all sufferings and demerits of a *yogī*. 9.

तानं पश्चिम उदरे नाभेरूर्ध्वं भजेन्[3] मतिमान् ।
उड्डयानबन्ध[4] एषो मृत्युघ्नः[5] वैरमेकपञ्चास्यः ॥ १० ॥

tānaṃ paścima udare nābherūrdhvaṃ bhajen matimān ।
uḍḍyānabandha eṣo mṛtyughnaḥ vairamekapañcāsyaḥ 10

Tr. A wise pulls back the abdomen above and (below) the navel. This forms *uḍḍyāna-bandha* which overcomes death. To him *śiva* alone is the enemy. 10.

वज्रासने करयुगेन[6] निगृह्य पादौ
गुल्फप्रदेशनिकटे किल तत्र कन्दः[7] ॥
द्राक् पीडयेद्रुचिरपश्चिमतानमेतत्
तुन्दे हृदा[8] चिबुकमादि वियुज्य[9] धीरः ॥ ११ ॥

vajrāsane karayugena nigṛhya pādau
gulphapradeśanikaṭe kila tatra kandaḥ ॥
drāk pīḍayedrucirapaścimatānametat
tunde hṛdā cibukamādi viyujya dhīraḥ ॥ 11 ॥

Tr. Adopt *vajrāsana*. Hold the legs with the hands near

---

1. प्राणापानौ नादबिन्दोऽपानबन्धः उदरे पश्चिमः । उड्डियानो बन्धस् तत्र विधेयो दृढं सुधिया ॥ ९ ॥ –a. 2. उड्यानं –b. 3. भजुन् -a. 4. भानवन्ध –b. 5. मृत्युहनं –b. 6. ककयुगेन –a. 7. कन्दं द्राक् -b. 8. पीडयेद्रविरपश्चिमतानमेतं तु देह्यदा –b. 9. मावितियुज्य –b.

the ankles and press the *kanda* (perineum) with the heels. Thereafter press the abdomen towards the back and press the chest with the chin. 11.

एवं कृतेऽनुशनकैः[1] परिरुद्धवायुः
कन्दस्य सन्धिमधिगच्छति साधकस्य ॥
उड्यानबन्धदृढसाधनतः समीरः
सिद्धो भवति अतितरां तनुतेऽग्निवृद्धिम्[2] ॥ १२ ॥

evaṃ kṛte'nuśanakaiḥ pariruddhavāyuḥ
kandasya sandhimadhigacchati sādhakasya ॥
uḍḍyānabandhadṛḍhasādhanataḥ samīraḥ
siddho bhavati atitarāṃ tanute'gnivṛddhim ॥ 12 ॥

Tr. Doing so, gradually the obstructed *vāyu (prāṇa)* moves into the *kanda*. The practitioner attains success in controlling *(prāṇa)* by a firm practice of *uḍḍyāna* which enhances gastric fire. 12.

येनोड्डीयानेन बन्धेन वायुः प्रोड्डीयास्ते[3] ब्रह्मनाड्यां यतोऽसौ ।
उड्यानाख्यः स्मृतो बन्ध आर्यः[4] सेव्यस्तस्माद्योगिभिः सिद्धसेव्यः १३

yenoḍḍīyānena bandhena vāyuḥ
proḍḍīyāste brahmanāḍyāṃ yato'sau ॥
uḍḍyānākhyaḥ smṛto bandha āryaḥ
sevyastasmādyogibhiḥ siddhasevyaḥ ॥ 13 ॥

Tr. The practice of *uḍḍyāna-bandha* which causes the *vāyu* to get established in the *brahmanāḍī*, is called *uḍḍīyāna-bandha*. Therefore the *yogīs* must practise this auspicious *bandha* which is practised even by the *siddhas*. 13.

अविश्रान्तं प्राणवायुः सदैव यस्माद् उड्डानं दृढं[5] संविधत्ते ।
उड्डीयानं स्यात्ततस्तत्र बन्धं धीरो[6] नित्यं साधकः संविधत्ताम्[7] ॥१४॥

aviśrāntaṃ prāṇavāyuḥ sadaiva
yasmād uḍḍānaṃ dṛḍhaṃ saṃviddhatte ॥
uḍḍīyānaṃ syāttatastatra bandhaṃ
dhīro nityaṃ sādhakaḥ saṃvidhattām ॥ 14 ॥

Tr. Since the practice of *uḍḍīyāna* incessantly and firmly

---

1. अनुधानकैः -b. 2. तनुतेऽवृद्धिं –b. 3. प्रोड्डीयास्तेन –b. 4. बन्धं आर्यः -b. 5. दृष्टं –b. 6. धारो –b. 7. संविधतां –a.

moves the *prāṇavāyu* upwards, a wise *sādhaka* should regularly practise *uḍḍīyānabandha*. 14.

आधाराकुञ्चनेन[1] प्रथममनु तथोड्यानबन्धेन चैडां
नाडीं वै पिंगलाख्यां पवनगति यदा[2] साधु बध्वा समीरम् ॥
योगीन्द्रो वाहयेत् पश्चिमपथममनाः[3] कर्मणा यात्यलौल्यं[4]
वायुस्तेनास्य सिद्धिः सकलगदजयो जायते चामरत्वम् ॥ १५ ॥

ādhārākuñcanena prathamamanu tathoḍḍyānabandhena caiḍāṃ
nāḍīṃ vai piṅgalākhyāṃ pavanagati yadā sādhu baddhvā samīram
yogīndro vāhayet paścimapathamamanāḥ karmaṇā yātyalaulyaṃ
vāyustenāsya siddhiḥ sakalagadajayo jāyate cāmaratvam ॥ 15 ॥

Tr. Application of *mūlabandha* followed by *uḍḍīyāna-bandha* moves the *prāṇa* firmly into the *suṣumnā*, which has otherwise been moving either through *iḍā* or *piṅgalā*. Thus the great *yogī* makes the *prāṇa* stable and the mind is rendered steady. He attains success in controlling *prāṇa*, overcomes all the diseases and attains immortality. 15.

प्रत्यहं यश्चतुर्वारम् उड्यानं च समभ्यसेत् ।
तस्य नाभेः साधनेन सिद्धो भवति मारुतः ॥ १६ ॥

pratyahaṃ yaścaturvāram uḍyānaṃ ca samabhyaset ।
tasya nābheḥ sādhanena siddho bhavati mārutaḥ ॥ 16 ॥

Tr. One who practises *uḍḍīyāna* for four times a day purifies the navel and gains control over *prāṇa*. 16.

रोगक्षयोऽग्निवृद्धिश्च स्थिरता विग्रहस्य च ।
अनेनोड्यानबन्धेन साधकस्य भवेद् ध्रुवम्[5] ॥ १७ ॥

rogakṣayo'gnivṛddhiśca sthiratā vigrahasya ca ।
anenoḍyānabandhena sādhakasya bhaved dhruvam ।17।

Tr. A *sādhaka* by this practice of *uḍḍīyāna*, certainly gets rid of diseases, enhances (gastric) fire and gets stability of the body. 17.

इति उड्यान[6]बन्धः ।

iti uḍyānabandhaḥ ।

Thus ends *uḍḍyāna-bandha*.

---

1. आधारकुञ्चनेन –b. 2. पदां –b. 3. पर्यमनाः -a. 4. कर्मणापत्यऽलौल्यं –b. 5. ध्रुव –b. 6. उड्डीयान –b.

अथ जालन्धरबन्धः —

atha jālandharabandhaḥ —

jālandharabandha—

पीयूषावरणे तिस्रो[1] विपरीतकृतिस्तथा ।
खेचरीजालन्धरबन्धश्चेत्यादिनाथेन चोदिताः ॥ १८ ॥

piyuṣāvaraṇe tisro viparītakṛtistathā ।
khecarījālandharabandhaścetyādināthena coditāḥ ॥ 18 ॥

Tr. To restrict the flow of ambrosia the set of three—*viparītakaraṇī, khecarī* and *jālandharabandha* is propogated by *ādinātha*. 18.

खेचरी चित्तपीयूषप्रवाहपरिबन्धनी ।
जालन्धरो ऽमृतमरुत्प्रवाहपरिरोधकः ॥ १९ ॥

khecarī cittapīyūṣa-pravāha-paribandhanī ।
jālandharo'mṛtamarut-pravāhaparirodhakaḥ ॥ 19 ॥

Tr. Practice of *khecarī* restricts the flow of the activity of *citta* while *jālandharabandha* controls the flow of nectar and *marut (prāṇa)*. 19.

आकुञ्च्य कण्ठं हृदये निदध्यात्
किञ्चित् स तु[2] जालन्धरबन्ध एषः ॥
अयं करोत्यव्ययमर्कवक्त्रे[3]
पतत्सुधाया वपुषो ऽमरत्वम् ॥ २० ॥

ākuñcya kaṇṭhaṃ hṛdaye nidadhyāt
kiñcit sa tu jālandharabandha eṣaḥ ॥
ayaṃ karotyavyayamarkavaktre
patatsudhāyā vapuṣo'maratvam ॥ 20 ॥

Tr. Contract the throat and press the chin slightly against the chest. This is *jālandharabandha*, which prevents the flow of ambrosia from falling into mouth of the sun, thus making the body immortal. 20.

बध्नाति वै कण्ठशिरासमूहं[4] नाधस्ततो[5] याति नभः स्रवज्जलम् ।
जालन्धरस्तेन कृतः सुसिद्धैः स्यात् कण्ठदुःखौघविनाशहेतुः ।२१।

---

1. वरणेति स्रो –b. 2. किंचित्तु –b. 3. वक्रे –b. 4. शिरासमूलां –a. 5. अधस्ततो –a.

badhnāti vai kaṇṭhaśirāsamūhaṃ
nādhastato yāti nabhaḥ sravajjalam ॥
jālandharastena kṛtaḥ susiddhaiḥ
syāt kaṇṭhaduḥkhaughavināśahetuḥ ॥ 21 ॥

Tr. Application of *jālandhara-bandha* controls the group of channels in the throat firmly, which does not allow the nectar to flow down. With this practice, the adepts remove the disorders of the throat. 21.

नृणां कण्ठसंकोचनेनैव नाड्या-
वुभे[1] स्तम्भयेत्तेन मध्यस्थचक्रम् ॥
इदं षोडशाधारनामोक्तमाशु-
गतेः स्तम्भितवायोः सुधापातमग्नौ ॥ २२॥

nṛṇāṃ kaṇṭhasaṅkocanenaiva nāḍyāv-
ubhe stambhayettena madhyasthacakram ॥
idaṃ ṣoḍaśādhāranāmoktamāśu-
gateḥ stambhitavāyoḥ sudhāpātamagnau ॥ 22 ॥

Tr. By the contraction of the throat *(jālandhara-bandha)* one can stop both the *nāḍīs*, thus stabilizing the *madhyacakra*. This further moves the *vāyu* in the sixteen *ādhāras*. This practice quickly controls the *prāṇa* and stops falling of the nectar in the fire. 22.

अमृतमहिमगुः स्वमेष[2] नाभि-
स्थित-दहनः प्रपिबज्ज्व[3]लत्यजस्रम् ॥
निटिलकमलतश्च्युतं तदग्निर्
न पिबति[4] पाति च बन्ध[5] एव धत्ते ॥ २३ ॥

amṛtamahimaguḥ svameṣa nābhi-
sthita-dahanaḥ prapivajjvalatyajasram ॥
niṭilakamalataścyutaṃ tadagnir-
na pibati pāti ca bandha eva dhatte ॥ 23 ॥

Tr. The huge fire that continuously burns at the navel naturally burns up the nectar oozing from the moon. Application of this *bandha (jālandhara)* prevents the fire from devouring the nectar flowing from the lotus at the forehead. 23.

---

1. नाशवुभे –b. 2. गुःह्यमेष –b. 3. पपिवन्ज्व –b. 4. याति –b. 5. बन्धु a

इति जालन्धरबन्धः ॥

iti jālandhara-bandhaḥ.

Thus ends *jālandhara-bandha*.

इदं बन्धत्रयं श्रेष्ठं मरुज्जय[1]सुसिद्धिदम् ।
सर्वेषां योगतन्त्राणां साधनं[2] योगिनो विदुः ॥ २४ ॥

idaṃ bandhatrayaṃ śreṣṭhaṃ marujjayasusiddhidam ।
sarveṣāṃ yogatantrāṇāṃ sādhanaṃ yogino viduḥ ॥ 24 ॥

Tr. These three *bandhas* are excellent for proper control of *prāṇa* according to the *yogīs* and are eulogized in all the *yogic* texts as great techniques. 24.

अधस्तात् कुञ्चनेनैव कण्ठसंकोचनेन च ।
मध्ये पश्चिमतानेन स्यात् प्राणो ब्रह्मरन्ध्रगः ॥ २५ ॥

adhastāt kuñcanenaiva
kaṇṭhasaṅkocanena ca ॥
madhye paścimatānena
syāt prāṇo brahmarandhragaḥ ॥ 25 ॥

Tr. Simultenuous contraction of the anus *(mūlabandha)* and throat *(jālandharabandha)* accompanied with abdominal retraction towards the back *(uḍḍīyāna-bandha)* channelizes the *prāṇa* to the *brahmarandhra*. 25.

प्राणः प्राणवायुः ब्रह्मरन्ध्रगः सुषुम्नापथचारी स्यात् ।
मध्यगो भवेन्मूल[3]स्थानं समाकुञ्च्य उड्यानं[4] तु कारयेत् ।२६।

prāṇaḥ prāṇavāyuḥ brahmarandhragaḥ
suṣumṇāpathacārī syāt ॥
madhyago bhavenmūlasthānaṃ
samākuñcya uḍyānaṃ tu kārayet ॥ 26 ॥

Tr. One should practise *uḍḍīyāna* and *mūlabandha* so that *prāṇavāyu* courses through *suṣumṇā* — the middle *nāḍī* and reaches the *brahmarandhra*. 26.

इडां च पिंगलां बद्ध्वा वाहयेत् पश्चिमापथं मूलस्थानम् ।
मार्गसंकोचनं विधाय उड्यानमुदरसंकोचनं ततः ॥ २७ ॥

iḍāṃ ca piṅgalāṃ baddhvā
vāhayet paścimāpathaṃ mūlasthānam ॥

1. मज्जय –b. 2. साधन –b. 3. भवत्मूल –b. 4. उड्डीयानं –b.

mārgasaṅkocanaṃ vidhāya
uḍyānamudarasaṅkocanaṃ tataḥ ॥ 27 ॥

Tr. Contracting the *mūlasthāna* and retracting the abdominal wall which is *uḍḍīyāna*, *prāṇa* courses through the posterior path leaving *iḍa* and *piṅgalā*. 27.

इडां पिंगलां बद्ध्वा कण्ठसंकोचनेन पश्चिमपथं पृष्ठवंशमार्गे पवनं[1] वाहयेत् कुर्यात् ॥

iḍāṃ piṅgalāṃ baddhvā kaṇṭhasaṅkocanena paścimapathaṃ pṛṣṭhavaṃśamārge pavanaṃ vāhayet kuryāt ॥

Tr. Closing *iḍā* and *piṅgalā* by contraction of the throat, one moves the *prāṇa* through the posterior path which lies at the spine.

पृष्ठवंशं स्थिरं कुर्यादनभ्रं[2] स्थिरसञ्चयम् ।
दण्डधारणमे[3]तद्धि समोर्ध्वं वायुमाहरेत् ॥ २८ ॥

pṛṣṭhavaṃśaṃ sthiraṃ kuryād-
anabhraṃ sthirasañcayam ॥
daṇḍadhāraṇametaddhi
samordhvaṃ vāyumāharet ॥ 28 ॥

Tr. Keep the spine erect, remove the thoughts, and keep steady. And lead the *vāyu* upwards judiciously. This is known as *daṇḍadhāraṇa*. 28.

इति दण्डधारणम् ॥

iti daṇḍadhāraṇa.

This is *daṇḍadhāraṇa*.

अथ महामुद्राः —

atha mahāmudrā —

***mahāmudrā* —**

घटनं शशिसूर्ययोः करोति परिशुद्धिं तनुते वपुः शिराणाम् ।
विदधाति विशोषणं रसानां नरि मुद्राधिगता महापाद्या ॥ २९ ॥

ghaṭanaṃ śaśisūryayoḥ karoti
pariśuddhiṃ tanute vapuḥ śirāṇām ॥
vidadhāti viśoṣaṇaṃ rasānāṃ
nari mudrādhigatā mahāpādyā ॥ 29 ॥

---

1. मार्गपवनं –b. 2. कुर्यादनसं –b. 3. दण्डधरणं –b.

Tr. Practice of *mahāmudrā* which is highly respectable; unifies the moon and the sun, purifies the channels *(śirās)* in body and dries up the toxicity in the body. 29.

वक्षोन्यस्तहनुः प्रपीड्य सुदृढं योनिं स्ववामांघ्रिणा[1]
धृत्वा पाणियुगेन सम्प्रसारितं पादं[2] ततो दक्षिणं ।
आपूर्य श्वसनेन[3] कुक्षियुगलं[4] बद्ध्वा शनै रेचयेद्
एषा व्याधिविनाशिनी सुमहती मुद्रा नृणां कथ्यते।३०।

vakṣonyastahanuḥ prapīdya sudṛdhaṃ yoniṃ svavāmāṅghriṇā
dhṛtvā pāṇiyugena samprasāritaṃ pādaṃ tato dakṣiṇaṃ ॥
āpūrya śvasanena kukṣiyugalaṃ baddhvā śanai recayed
eṣā vyādhivināśini sumahati mudrā nṛṇāṃ kathyate ॥ 30 ॥

Tr. Place the chin on the chest firmly, press the perineum with the left heel, stretch the right leg and hold the right foot with both the hands, inhale through the nose, hold the air in the chest and slowly exhale. This forms *mahā-mudrā,* which removes diseases of the practitioner. 30.

द्वाराणि सर्वाणि नियम्य सम्यक्
चित्तं निजं चित्तपथे विधाय ॥
विधाय[5] गाढं चिबुकं हृदि स्वे[6]
समारभेद् वायुनिरोधमस्याम् ॥ ३१ ॥

dvārāṇi sarvāṇi niyamya samyak
cittaṃ nijaṃ cittapathe vidhāya ॥
vidhāya gāḍhaṃ cibukaṃ hṛdi sve
samārabhed vāyunirodhamasyām ॥ 31 ॥

Tr. Shut down all the doors (sense organs) properly and become aware of mental activity. Firmly press the chin against the chest. Start controlling of *vāyu (prāṇāyāma).* 31.

मरणसदृश[7]भावं प्राप्य शक्तिस्तदानीं
सरलगतिमुपात्ते वाऽहिराद् दण्डयोगात् ॥
जयमनिलचयानां चालनं नाडिकानाम्[8]
सृजति हरति मृत्युं सेवितासौ सुमुद्रा[9] ॥ ३२ ॥

---

1. वामांऽग्रिणा –b. 2. संप्रसरितपादं –b. 3. श्वसेन –b. 4. युगुलं –b. 5. अनुपलब्धपाठः -b. 6. स्वे –b. 7. मरणसदृशस्वाभावं –a. 8. अजयमनिलचपानांचलनंनाडिकानाम् —b. 9. सुमुद्राः -b.

maraṇasadṛśabhāvaṃ prāpya śaktistadānīṃ
saralagatimupātte vā'hirāṭ daṇḍayogāt ||
jayamanilacayānāṃ cālanaṃ nāḍikānām
sṛjati harati mṛtyuṃ sevitāsau sumudrā || 32 ||

Tr. On attainment of a state similar to death the *śakti (kuṇḍalinī)* becomes straight and starts moving upwards along the spine, and all the *prāṇa* are controlled. *nāḍīs* are stimulated. Practice of this auspicious *mudrā* alleviates (premature) death. 32.

चन्द्रांगेऽभ्यस्य सम्यग् दशशतकिरणांगे[1]ऽभ्यसेत्तुल्यसंख्या
यावत् स्यात् तावदेनां पुनरिह कथितं नास्ति पथ्यं कुपथ्यम्[2] ||
अस्या अग्ने रसा[3] ये जगति गतरसाः कालकूटं सुधा स्यान्
मुद्रासौ कामधेनुः सकलगदहरी सर्वसिद्धिप्रदा च || ३३ ||

candrāṅge'bhyasya samyag daśaśatakiraṇāṅge'bhyasettulyasaṃ khyā
yāvat syaṭ tāvadenāṃ punariha kathitaṃ nāsti pathyaṃ kupathyam ||
asyā agne rasā ye jagati gatarasāḥ kālakūṭaṃ sudhā syān
mudrāsau kāmadhenuḥ sakalagadaharī sarvasiddhipradā ca | 33|

Tr. Practice this properly on the left (lunar nostril) followed by an equal number through the right. For the one who practises this does not have anything like recommended or restricted food, since the (gastric) fire is enhanced. For him all tastes are tasteless. The deadliest of the poisons *(kālakūṭa)* becomes like nectar. This *mudrā* is like *kāmadhenu* (the wish-fulfilling cow), which removes all the diseases and offers all the supernatural powers. 33.

नाडिचालनं[4] बिन्दुधारणं पापनाशनं रोगशोषणम् ।
शक्तितापनं ब्रह्मरन्ध्रके वायुदापनं मुद्रिकां[5] चरेत् || ३४ ||

nāḍicālanaṃ bindudhāraṇaṃ
pāpanāśanaṃ rogaśoṣaṇam ||
śaktitāpanaṃ brahmarandhrake
vāyudāpanaṃ mudrikāṃ caret || 34 ||

1. किरणाऽगे –b. 2. अनुपलब्धपाठः -b. 3. अग्रेरसा –b. 4. नाडिचालनां –a. 5. मुद्रिका –b.

Tr. This *mudrā* brings about the stimulation of the *nāḍīs*, stability of *bindu*, alleviation of sins, removal of diseases, energysing of *śakti (kuṇḍalinī)* and forcing *prāṇa* to the *brahmarandhra*. 34.

योगासनारूढा मुनेः[1] करोति
सदा सदभ्यासपरस्य मुद्रा ॥
अभीप्सितार्थं बलमिन्द्रियाणां
जयं विधत्तेऽमरतामसौ[2] च ॥ ३५ ॥

yogāyanārūḍhāmuneḥ karoti
sadā sadabhyāsaparasya mudrā ॥
abhīpsitārthaṃ balamindriyāṇāṃ
jayaṃ vidhatte'maratāmasau ca ॥ 35 ॥

Tr. Being firmly established on the path of *āsana*, if a *muni* always undertakes this *mudrā* with devotion, fulfills all the desires, gains strength, controls the senses and attains immortality. 35.

क्षयकुष्ठगुदावर्त्तगुल्मप्लीहपुरोगमाः ।
तस्य दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां च यो भजेत् ॥ ३६ ॥

kṣayakuṣṭhagudāvarttagulmaplīhapurogamāḥ ।
tasya doṣāḥ kṣayaṃ yānti mahāmudrāṃ ca yo bhajet 36

Tr. One who practises *mahāmudrā*, alleviates all the disorders including consumption, skin diseases, constipation, glandular enlargement, spleen disorders and many others. 36.

इति महामुद्रा ॥

iti mahāmudrā.

Here ends *mahāmudrā*.

अथ महाबन्धः —

atha mahābandhaḥ—

***mahābandha* follows**—

धृत्वा वामांघ्रिपार्ष्णिगुद[3]भगविषयान्तेऽनुबध्वा समीरम्
मन्दं संरेच्य सव्येऽवयव इति विधायानुदक्षे[4]ऽभ्यसेत्तत् ॥
वामेनास्थ्यंघ्रिमन्यं चरणमभिविधायानुसंपूर्य वायुं
न्यक् चित्तेऽपानमूर्ध्वं भगमनुकलयेद् राजदन्ते च जिह्वा ॥३७ ॥

---

1. योगऽधनारूढामुनेः -b. 2. च सौ –b. 3. गुदं –b. 4. दक्ष्ये –b.

dhṛtvā vāmāṅghripārṣṇigudabhagaviṣayānte'nubadhvā samīram mandaṃ saṃrecya savye'vayava iti vidhāyānudakṣe'bhyasettat vāmenāsthyaṅghrimanyaṃ caraṇamabhividhāyānusaṃpūrya vāyum
*nyak citte'pānamūrdhvaṃ bhagamanukalayed rājadante ca jihvā*37

Tr. Press the left heel at the perineum, hold the breath, then gently exhale through the left (nostril). Practise this through the right (nostril). Put the other (right) heel at the (pubic) bone, thereafter inhale gently and with full concentration raise the *apāna* up the anal region while pressing the root of the front teeth with the tongue. 37.

महाबन्धः प्रोक्तो यमकुटिलबन्धैकदलनस्[1]
तथा नाडीनां द्राक् उपरिगतिबोधप्रजनकः ॥
मनोवेणीसंगं नयति[2] किल केदारमविशन्[3]
ह्यपानप्राणैक्यान् मुनय उपयान्त्यस्य भजनात् ॥ ३८ ॥

mahābandhaḥ prokto'yamakuṭilabandhaikadalanas
tathā nāḍīnāṃ drāk uparigatibodhaprajanakaḥ ॥
manoveṇīsaṅgaṃ nayati kila kedāramaviśan
hyapānaprāṇaikyān munaya upayāntyasya bhajanāt ।38।

Tr. It is held that practice of *mahābandha* removes the intricate fetters of death, promotes upward movement of the *nāḍīs* and directs the mind to *kedāra* (center of the eyebrows). Through this practice the *munis* attain the union of *prāṇa* and *apāna*. 38.

अयं[4] नाडिचालाद्रसौघं समस्तं
नयति उत्तमांगादधः सौधमुच्चैः ।
सदाभ्यासतः शाम्भवी मध्यगः स्यान्
मरुत् स्यात् पुष्टिरंगेऽस्थिदार्ढ्यं मुनेश्च ॥ ३९ ॥

ayaṃ nāḍicālādrasaughaṃ samastaṃ
nayati uttamāṅgādadhaḥ saudhamuccaiḥ ।
sadābhyāsataḥ śāṃbhavī madhyagaḥ syān-
marut syāt puṣṭiraṅge'sthidārḍhyaṃ muneśca 39

Tr. Practice (stimulation) of this *nāḍī* pulls up the hosts of secretions from the upper parts (perineum) to the lower part.

---

1. दलनास् -a. 2. मनोवेणोसंगनेंयति –b. 3. मपिशंख्य –b. 4. अप –b.

A regular practice of this by a *muni* offers success in *śāmbhavī*, directs the *marut* (*prāṇa*) to the middle path (*suṣumnā*), nourishes the body and strengthens the bones. 39.

बन्धेनानेन योगीन्द्रः साधयेत् सर्वमीप्सितम् ।
अपानप्राणयोरैक्यं कृत्वा त्रिभुवनेष्वपि ॥ ४० ॥

bandhenānena yogīndraḥ sādhayet sarvamīpsitam ।
apānaprāṇayoraikyaṃ kṛtvā tribhuvaneṣvapi ॥ 40 ॥

Tr. An adept of *yoga* fulfills all desires through this *bandha*, unites *prāṇa* and *apāna* and (moves in) the three worlds. 40.

इति महाबन्धः ॥

iti mahābandhaḥ.

End of *mahābandha*.

अथ महावेधः —

atha mahāvedhaḥ—

***mahāvedha* follows**—

रूपलावण्यसम्पूर्णा यथा स्त्री पुरुषं विना ।
महामुद्रामहाबन्धो महावेधं विना तथा ॥ ४१ ॥

rūpalāvaṇyasampūrṇā yathā strī puruṣaṃ vinā ।
mahāmudrāmahābandho mahāvedhaṃ vinā tathā ॥ 41 ॥

Tr. Just as charm and beauty of a woman is futile without a man, so also *mahāmudrā* and *mahābandha* are fruitless without *mahāvedha*. 41.

महावेधसंस्थो मुनिः पूर्य वायुं
गतिं चास्य रुद्ध्वानुजालन्धरेण ॥
स्फिचौ[1] ताडयेत् स्थाप्य हस्तौ समानौ
शनैर्भूतले नासिकां सन्निरुध्य ॥ ४२ ॥

mahāvedhasaṃstho muniḥ pūrya vāyuṃ
gatiṃ cāsya ruddhvānujālandhareṇa ॥
sphicau tāḍayet sthāpya hastau samānau
śanair bhūtale nāsikāṃ sannirudhya ॥ 42 ॥

Tr. In the practice of *mahāvedha*, a *muni* inhales the air and retains the breath with *jālandhara-bandha* and placing

1. स्फिजौ –b.

the hands on the ground strikes the buttocks gently on the floor. 42.

कृते संस्फुरत्येवमेवं समीरो
हृदन्तर्गतस्तेन[1] सन्धानमेषाम्[2] ॥
भवेदर्कचन्द्रानलानां सुसिद्ध्यै[3]
स्पृशेज्जिह्वया राजदन्तोर्ध्वरन्ध्रम् ॥ ४३ ॥

kṛte saṃsphuratyevamevaṃ samīro
hṛdantargatastena sandhānameṣām ॥
bhavedarkacandrā*nalānāṃ susiddhyai*
spṛśejjihvayā rājadantordhvarandhram ॥ 43 ॥

Tr. With this practice *prāṇa* dwelling in the heart gets stimulated. For further success one should press the tongue against the cavity above the uvula. Thus one unites the forces of *arka* (sun), *candra* (moon) and *anala* (fire). 43.

यदोत्पन्नावस्था मरणसदृशात्रानुपवनं
विमुञ्चेदभ्यस्तो विधिवदितिबन्धः सुफलदः ॥
महावेधः सेव्यः सकलपलितघ्नो[4] वलितजित्[5]
चलत्यन्तःशक्तिर्भृशपवन[6]सन्तान इह ॥ ४४ ॥

yadotpannāvasthā maraṇasadṛśātrānupavanaṃ
vimuñcedabhyasto vidhivaditibandhaḥ suphaladaḥ ॥
mahāvedhaḥ sevyaḥ sakalapalitaghno valitajit
calatyantaḥśaktirbhṛśapavanasantāna iha ॥ 44 ॥

Tr. When a death-like state arises, one should release the *prāṇa*. Having been perfect in the proper technique, *mahāvedha* brings about the auspicious results like removal of all grey hair and wrinkles, moves the internal energy *(kuṇḍalinī)* and expansion of *prāṇa*. 44.

भ्रुवोरन्तर्दृष्टिं सुदृढमनुबध्नाति[7] विभृयान्
महामुद्राद्यं[8] वै त्रितयमिति गुह्यं मृतिहरम् ॥
जराजन्मच्छिदि[9] ज्वलन[10]परिवृद्धिं वितनुते
चतुर्द्वैगुण्येना[11]ऽहनि सततमेतत्[12] परिभजेत् ॥ ४५ ॥

1. हृदंतं अतस्तेन –a. 2. मेघाम् -a. 3. सुसिद्धौ –b. 4. पलितघ्नो – अनुपलब्धपाठः -b. 5. पलिजित् -b. 6. भृशात्रवन –b. 7. बध्याति –b. 8. महामुद्रावै –b. 9. जरात्रन् मोछेदि –a. 10. ज्यलन –b. 11. वतुर्द्विगुण्येना –a. 12. मेज्चत् -b

bhruvorantardṛṣṭiṃ sudṛḍhamanubadhnāti vibhṛyān
mahāmudrādyaṃ vai tritayamiti guhyaṃ mṛtiharam ॥
jarājanmacchidi jvalanaparivṛddhiṃ vitanute
caturdvaiguṇyenā'hani satatametat paribhajet ॥ 45 ॥

Tr. One firmly fixes the gaze at the center of the eyebrows and practises the triad of *mahāmudrā* etc. consistently, eight times a day. This is the secret of overcoming death, alleviation of old age, and enhancing bodily heat. 45.

समीचीनशिक्षावतामेवमुक्तं
पुरासाधने साधकानां सदल्पम् ॥
मृगोदध्युताशाध्व[1]संसेवनानां
विधेयं तथादौ दृढं वर्जनं[2] ज्ञैः ॥ ४६ ॥

samīcīnaśikṣāvatāmevamuktaṃ
purāsādhane sādhakānāṃ sadalpam ॥
mṛgodadhyutāśādhvasaṃsevanānāṃ
vidheyaṃ tathādau dṛḍhaṃ varjanaṃ jñaiḥ ॥46॥

Tr. Whatever little has been said above is of primary importance even for those who are well trained. In the beginning a wise practitioner should not run after the (*siddhis*) like a mirage. 46.

अनेन वेधेन समीरणेन संविध्य सम्यङ् मुनिपुंगवाग्र्यः[3] ।
ग्रन्थीन् भिनत्याशु महापथेन स ब्रह्मरन्ध्रेण तु[4] योगिराजः ॥ ४७ ॥

anena vedhena samīraṇena
saṃvidhya samyaṅ munipuṅgavāgryaḥ ॥
granthīn bhinatyāśu mahāpathena
sa brahmarandhreṇa tu yogirājaḥ ॥ 47 ॥

Tr. A skillful practitioner would pierce the *granthis* (knots) located in the middle path (*suṣumnā*) with *prāṇa* by the practice of *mahāvedha* and taking the *prāṇa* to *brahmarandhra*. 47.

महामुद्रात्रयमिदं शक्तिबोधकरं परम् ।
नाडीगताखिलमलशोषणं कायसिद्धिकृत् ॥ ४८ ॥

---

1. मृगीदृध्युताशाऽध्वं –b. 2. वर्जन –b. 3. मुनियुगवाग्पः -b. 4. नु –b.

mahāmudrātrayamidaṃ śaktibodhakaraṃ param |
nāḍīgatākhilamalaśoṣaṇaṃ kāyasiddhikṛt || 48 ||

Tr. The triad of *mahāmudrā* etc. is efficient (means) to arouse *kuṇḍalinī*, through cleansing of all the morbidities in the *nāḍīs* and brings perfection of the body. 48.

इति महावेधः ॥

iti mahāvedhaḥ.

Here ends *mahāvedha*.

महापदाद्यां[1] प्रथमं विधाय
मुद्रां महाबन्धमथो समभ्यसेत् ॥
हठान्[2] महावेधमनु प्रकुर्या
शक्तिप्रचालो[3]ऽभ्यसनक्रमोऽन्वयम् ॥ ४९ ॥

mahāpadādyāṃ prathamaṃ vidhāya
mudrāṃ mahābandhamatho samabhyaset ||
haṭhān mahāvedhamanu prakuryā
śaktipracālo'bhyasanakramo'nvayam || 49 ||

Tr. One should first practise *mahāmudrā* followed by *mahābandha* and then *mahāvedha*. This is the sequence of practice for the arousal of *kuṇḍalinī śakti*. 49.

मूलस्थानं पूर्वमाकुञ्च्य सम्यग्
उड्डीयानं कारयेत् साधकोऽनु ॥
नाड्या बद्ध्वा वाहयेत् पश्चिमेऽनु-
मार्गे वायुं साधयेत् कर्मणैवम्[4] ॥ ५० ॥

mūlasthānaṃ pūrvamākuñcya samyag-
uḍḍīyānaṃ kārayet sādhako'nu ||
nāḍyā baddhvā vāhayet paścime'nu-
mārge vāyuṃ sādhayet karmaṇaivam || 50 ||

Tr. Firstly contract the anus (*mūlabandha*), then practise *uḍḍīyāna*. Thus one should course the *prāṇa* through the posterior path after controlling the *nāḍīs*. 50.

इति मुद्रानवकमिदम् ॥

iti mudrānavakamidam.

Here ends the group of nine (?) *mudrās*.

---

1. महापदागं –b. 2. तूहगन् -b. 3. प्रबालो –b. 4. कमणैवम् -b.

सशक्तिचालं प्रसुप्तशक्तिबोधकृते सेव्यम् ।
अनेन सुबुद्धा यदा तदा ग्रन्थिपद्ममभिच्छक्तिः[1] ॥ ५१ ॥

saśakticālaṃ prasupta
śaktibodhakṛte sevyam ॥
anena subuddhā yadā
tadā granthipadmamabhicchaktiḥ ॥ 51 ॥

Tr. These *mudrās* along with *śakticāla* may be practised for the arousal of the dormant *śakti (kuṇḍalī).* Thus being awakened, the *śakti* pierces the three *granthis* in the form of lotus. 51.

॥ इति सुन्दरदेवविरचितायां हठतत्वकौमुद्यां बन्धत्रयमुद्रात्रयविवेचनोद्योतः ॥

॥ iti sundaradevaviracitāyāṃ haṭhatatvakaumudyāṃ bandhatrayamudrātrayaviveканodyotaḥ ॥

Here ends the chapter narrating the three *bandhas* and three *mudrās* in *haṭhatatvakaumudī* composed by *sundaradeva.*

1. ग्रन्थिग्नमिच्छक्तिः -a.

Chapter—16

अथ तत्र बिन्दुवर्णनम् –

atha tatra binduvarṇanam –

Description of *bindu*—

तद्यथा तदुक्तं योगचन्द्रिकायाम् —

tadyathā taduktaṃ yogacandrikāyām –

It has been stated in *yogacandrikā*—

बिन्दुः शिवो रजः शक्तिर् बिन्दुरिन्दुर्[1] रजो रविः ।
उभयोः संगमादेव प्राप्तव्यं परमं पदम् ॥ १ ॥

binduḥ śivo rajaḥ śaktir bindurindur rajo raviḥ ।
ubhayoḥ saṅgamādeva prāptavyaṃ paramaṃ padam ॥1॥

Tr. *bindu* is considered *śiva* and *rajas* is *śakti*, *bindu* is moon, *rajas* is sun. By union of both, one certainly attains the highest state. 1.

वायुना शक्तिचालेन प्रेरितं च यदा रजः ।
याति बिन्दोः सहैकत्वं[2] भवेद् दिव्यवपुस्तथा ॥ २ ॥

vāyunā śakticālena preritaṃ ca yadā rajaḥ ।
yāti bindoḥ sahaikatvaṃ bhaved divyavapustathā ॥ 2 ॥

Tr. By the practice of *śakticāla* and the stimulation of *vāyu*, when the *rajas* is channelised it (*rajas*) gets united with *bindu*, as a result of which, the physique of a *yogī* turns divine. 2.

संगमात् मिलनात् । परमं पदं ब्रह्मस्थानं योगिभिर्लब्धव्यम् ॥ तदभ्यासार्थं[3] वज्रोल्यादित्रयम् ॥

saṅgamāt milanāt । paramaṃ padaṃ brahmasthānaṃ yogibhir-labdhavyam । tadabhyāsārthaṃ vajrolyāditrayam ॥

Tr. *saṃgama* means union. *paramam padam* stands for *brahmasthāna* which is attained by the *yogīs*. For this, the triad of *vajroli* etc. recommended.

स्वेच्छया वर्त्तमानोऽपि[4] योगोदितैः
सद्विधानैर्विना साधकः साबलः[5] ॥
मुच्यतेऽसौ सुवज्रोलिकाभ्यासतः
सर्वसिध्यास्पदं याति भूमण्डले ॥ ३ ॥

---

1. विन्दुरिद्रव –b. 2. सहैकं –b. 3. सार्थ –a. 4. वर्त्तशनोऽपि –a. 5. साऽबलः –b.

svecchayā vartamāno'pi yogoditaiḥ
sadvidhānairvinā sādhakaḥ sābalaḥ ||
mucyate'sau suvajrolikābhyāsataḥ
sarvasidhyāspadaṃ yāti bhūmaṇḍale || 3 ||

Tr. Even without following the techniques laid down in the *yoga* texts and acting on his own accord, if a *sādhaka* practises this efficient *vajroli* willfully, he gets liberated and qualifies for all the supernatural powers on this earth. 3.

वज्रोल्याः प्रथमाभ्यासप्रकारो यथा योगचन्द्रिकायाम् —

vajrolyāḥ prathamābhyāsaprakāro yathā yogacandrikāyām —

The initial practice of *vajroli* according to *yogacandrikā*—

अपानमार्गतः सम्यगूर्ध्वकुञ्चनमभ्यसेत् ।
पुरुषो वापि नारी वा वज्रोलीसिद्धिभाजनम् ॥ ४ ॥

apānamārgataḥ samyagūrdhvakuñcanamabhyaset |
puruṣo vāpi nārī vā vajrolīsiddhibhājanam || 4 ||

Tr. Firmly pull the anus up. Success in *vajroli* can be achieved by both man and woman equally. 4.

अपानमार्गतो गुददेशेन ऊर्ध्वमुपरि कुञ्चनं संकोचनमूर्ध्वम् आकर्षणं वा अभ्यसेत् ॥ इति ॥ ५ ॥

apānamārgato gudadeśena ūrdhvamupari kuñcanaṃ saṅkocanaūrdhvam ākarṣaṇaṃ vā abhyaset || *iti* || 5 ||

One pulls up the anus, the location of *apāna*. 5.

अथ प्रकारान्तरेण वज्रोल्याः प्रथमाभ्यासः —

atha prakārāntareṇa vajrolyāḥ prathamābhyāsaḥ —

A variation of the initial practice of *vajroli* —

स यथा –

sa yathā

It is as follows—

प्राक् शनैर्मेहनेनोर्ध्वमाकुञ्चनं
सुन्दरं[1] सुन्दरी वाभ्यसेत् पुरुषः ॥

1. अनुपलब्धपाठः -b.

याति वज्रोलिकासिद्धिमत्युत्तमां
कायसिद्धेः प्रसूर्बिन्दुसिद्धिर्यया ॥ ६ ॥

prāk śanairmehanenordhvamākuñcanam
sundaraṃ sundarī vābhyaset puruṣaḥ ॥
yāti vajrolikāsiddhimatyuttamāṃ
kāyasiddheḥ prasūrbindusiddhiryayā ॥ 6 ॥

Tr. A man or woman, in the beginning, pulls up the generative organ frequently. One certainly attains success in *vajroli*, a perfect body and success (in controlling) *bindu*. 6.

शलाकया धातुगणान्तरोत्थया[1]
कनीनिकातः[2] अतिसूक्ष्मयाल्पकम् ॥
रन्ध्रं[3] स्वलिंगस्य शनैः प्रवेशना-
भ्यासक्रमात् वायुगतिक्षमं चरेत् ॥ ७ ॥

śalākayā dhātugaṇāntarotthayā
kanīnikātaḥ atisūkṣmayālpakam ॥
randhraṃ svaliṅgasya śanaiḥ praveśanā-
bhyāsakramāt vāyugatikṣamaṃ caret ॥ 7 ॥

Tr. Carefully insert a fine metal tube in the passage of urethra. As one continues this practice, the urethra becomes free for air circulation. 7.

अपानमाकुञ्च्य ततो बलेनोर्ध्वं दुग्धमाकृष्टिविधिक्रमेण ।
समभ्यसेन् निश्चलमल्पं भगे पतद्बिन्दुमथोर्ध्वमा[1]हरेत् ॥ ८ ॥

apānamākuñcya tato balenordhvaṃ
dugdhamākṛṣṭividhikrameṇa ॥
samabhyasen niścalamalpaṃ bhage
patadbindumathordhvamāharet ॥ 8 ॥

Tr. Thereafter, by a forceful contraction of the *apāna*, one gradually suck milk following the prescribed technique. With this steady practice one can even suck up the ejaculated *bindu* (semen) falling in the vagina. 8.

---

1. गणान्तरोत्पत्यया -a. 2. कनीकातः -b. 3. परिसूक्ष्मयाल्पकं रन्ध्रं –b. 4. माकृष्टिविधिक्रमेण । समभ्यसेन् निश्चलमल्पं भगे पतद्बिन्दुमथोर्ध्वमा अनुपलब्धपाठः —b.

इति बिन्दुजये विधिः क्रमेण
हठयोगाय उपदिष्ट उक्तः ॥
मरणं स्यति योगसिद्धिभाक् स्यात्
किल बिन्दौ परिरक्षितेन किं किम् ॥ ९ ॥

iti bindujaye vidhiḥ kramena
haṭhayogāya upadiṣṭa uktaḥ ॥
maraṇaṃ syati yogasiddhibhāk syāt
kila bindau parirakṣitena kiṃ kim ॥ 9 ॥

Tr. This is the narration of the sequence of the techniques for success in *bindu propagated* in *haṭhayoga*. By retention of *bindu* a practitioner of *yoga* can retard death and what not? 9.

तथा चोक्तं ग्रन्थान्तरे –

tathā coktaṃ granthāntare—

It is said in another text—

चलितं तु स्वकं बिन्दुमूर्ध्वमाकुञ्च्य रक्षयेत् ।
सुगन्धो योगिनां देहे जायते बिन्दुधारणाद् ॥ इति ॥ १० ॥

calitaṃ tu svakaṃ bindum-
ūrdhvamākuñcya rakṣayet ॥
sugandho yoginām dehe
jāyate bindudhāraṇād ॥ *iti* ॥ 10 ॥

Tr. One should raise one's bindu upwards which is ejaculated, and preserve it, which creates pleasant smell in the body. 10:

अथ वज्रोली –

atha vajrolī —

***vajrolī* follows —**

अथ हि कुसुमितायाः पुष्पमूर्ध्वं स्वमूर्ध्नि
क्रमत[1] उपरि कुर्यात् कुञ्चिता[2]ल्लिंगनालात् ॥
निज उपगतबिन्दुं संनिवध्यानुकुर्यात्
सुरतरसनिमग्नो लिंगसञ्चालनानि ॥ ११ ॥

1. केमत –b. 2. कुचित्ता –a.

atha hi kusumitāyāḥ puṣpamūrdhvaṃ svamūrdhni
kramata upari kuryāt kuñcitālliṅganālāt ॥
nija upagatabinduṃ sannivadhyānukuryāt
suratarasanimagno liṅgasañcālanāni ॥ 11 ॥

Tr. A man having engaged in copulation should contract the urethra and suck the *rajas* of a menstruating woman by raising it upwards and he should preserve the ejaculated semen while moving the penis. 11.

बिन्दुः पाण्डुर एष[1] चन्द्र उदितः सूर्यो भवेदार्त्तवं
सिन्दूरप्रतिमं रवेः पदगतं[2] शुक्रं शशिस्थानके[3] ॥
ऐक्यं[4] साध्वनयोः[5] स्ववर्ष्मणि नृणां नो जायतेऽतो मृतिर्
अन्योऽन्यं नृवधूरतेऽनिलमहिम्नैक्यं द्वयोर्वर्ष्मणि ॥ १२ ॥

binduḥ pāṇḍura eṣa candra uditaḥ sūryo bhavedārttavaṃ
sindūrapratimaṃ raveḥ padagataṃ śukraṃ śaśisthānake ॥
aikyaṃ sādhvanayoḥ svavarṣmaṇi nṛṇāṃ no jāyate'to mṛtir
anyo'nyaṃ nṛvadhūrate'nilamahimnaikyaṃ dvayorvarṣmaṇi 12

Tr. The white *bindu* is called *candra* while *ārtava* (menstrual secretion), which is as red as orpiment, is called *sūrya* (sun). Union of *śukra* (semen) in the abode of *ravi* (sun- menstrual secretion) and vice versa is considered auspicious which should happen in one's own body which overcomes (premature) death. A man and a woman should mutually unify (*rajas* and *śukra*) in the body by the grace of *prāṇa*. 12.

अभ्यासपाटवतया[6] विदधाति योषिद्[7]
एवं नुरूर्ध्वं परिकर्षणतः सुबिन्दुम् ॥
यद्यार्त्तवं स्वमभिरक्षति योगिनी सा
वज्रोलिकेत्यखिलसिद्धिपदं प्रयाति ॥ १३ ॥

abhyāsapāṭavatayā vidadhāti yoṣid
evaṃ nurūrdhvaṃ parikarṣaṇataḥ subindum ॥
yadyārttavaṃ svamabhirakṣati yoginī sā
vajroliketyakhilasiddhipadaṃ prayāti ॥ 13 ॥

Tr. A woman is considered a *yoginī*, who through

---

1. रास –b. 2. पदमतं –b. 3. स्थानेकै –b. 4. रोक्यं –b. 5. साधुऽनयोः -b. 6. पारवतया –a. 7. योविद् -b.

skillful practice, sucks up *bindu* and her own *ārtava* (menstrual discharge) and preserves them. This is called *vajrolikā* which offers the entire set of the supernatural powers. 13.

शक्ती रजो बिन्दुरयं महेशो
द्वयोस्तु योगात्[1] परिलभ्यतेऽखिलम्[2] ॥
वीर्यं निजं स्त्र्यार्त्तवमेतयोस्तनौ
ऐक्यं हि वज्रोल्युदिता सुसिद्धिदा ॥ १४ ॥

śaktī rajo binduravam maheśo
dvayostu yogāt parilabhyate'khilam ॥
vīryaṃ nijaṃ stryārtavametayostanau
aikyaṃ hi vajrolyuditā susiddhidā ॥ 14 ॥

Tr. *rajas* is *śakti* and *bindu* is *maheśa*, union of which brings about all (success). The process in which one unifies both – *bindu* and *ārtava* — in the body is known as *vajrolī* which bestows the auspicious supernatural powers. 14.

सहजोलीत्वमरोली वज्रोल्या भेदतो भवतः ।
बिन्दुं देहे विभृयाद् येन च केन प्रकारेण ॥ १५ ॥

sahajolītvamarolī vajrolyā bhedato bhavataḥ ।
binduṃ dehe vibhṛyād yena ca kena prakāreṇa ॥ 15 ॥

Tr. *sahajolī* and *amarolī* are the variations of *vajrolī*. By any means, one must preserve *bindu* in the body. 15.

वज्रोलीमिथुनोत्तरं नरवधूः यो[3] स्वांगसंलेपनात्
सन्दग्धछगणोत्यपां[4]बुवृतया भूत्या क्षणं संस्थितिः ॥
सैषोक्ता सहजोलिका सुरनुतैः श्रीआदिनाथैः शुभा
वज्रोलीति नृणां तनोति नियतं भोगोऽतिमुक्तेऽमृतम् ॥ १६ ॥

vajrolīmithunottaraṃ naravadhūḥ yo svāṅgasaṃlepanāt ,
sandagdhachagaṇotyapāṃbuvṛtayā bhūtyā kṣaṇaṃ saṃsthitiḥ ॥
saiṣoktā sahajolikā suranutaiḥ śrīādināthaiḥ śubhā
vajrolīti nṛṇāṃ tanoti niyataṃ bhogo'tibhukte'mṛtam ॥ 16 ॥

Tr. Both man and woman should besmear the body with ashes of (burnt) cowdung mixed up with water after the practice of *vajrolī*. And then one should stay for a while. This is also known as *sahajolikā* by the followers of *ādinātha*. The

1. द्वयोयोगात् -b. 2. खिल्यं –b. 3. बधूदयो –a. 4. छगणोप्त्ययां –b.

auspicious practice of *vajrolī* not only brings about the vast material pleasure but as well as immortality to man. 16.

इति वज्रोलीसहजोल्यौ ॥

iti vajrolīsahajolyau—

Here end *vajrolī* and *sahajolī*.

अथामरोली –

athāmarolī—

Here follows *amarolī* —

पित्तोल्बणत्वात् प्रथमां च धारां[1] विहाय निःसारतयान्त्यधाराम् ।
निषेव्यते शीतलमध्यधारा कापालिकैः खण्डमतेऽमरोली ॥ १७ ॥

pittolbaṇatvāt prathamāṃ ca dhārāṃ
vihāya niḥsāratayāntyadhārām ॥
niṣevyate śītalamadhyadhārā
kāpālikaiḥ khaṇḍamate'marolī ॥ 17 ॥

Tr. The first and last flow (of the urine) should be avoided due to its acidic contents and it containing no substance and consume the cool middle flow (of urine). This is *amarolī* according to *khaṇḍakāpālikas*. 17.

इत्यमरोली ॥

ityamarolī ॥

End of *amarolī*.

आकृष्योर्ध्वं मूत्रमल्पाल्पकं तद्
वारं वारं संसृजेन् मूत्रणेयम् ॥
आकृष्योर्ध्वं वायुना यो हठेन
नित्यं धत्ते बिन्दुसिद्धिं स याति ॥ १८ ॥

ākṛṣyordhvaṃ mūtramalpālpakaṃ tad
vāraṃ vāraṃ saṃsṛjen mūtraṇeyam ॥
ākṛṣyordhvaṃ vāyunā yo haṭhena
nityaṃ dhatte bindusiddhiṃ sa yāti ॥ 18 ॥

Tr. While urinating one should frequently constrict the urethra by pulling up the *vāyu* with force and urinate in a very small quantity. With a daily practice, one attains *bindusiddhi*. 18.

---

1. धारं –a.

इति षण्मासाभ्यसनाद्
गुरुणोक्तपथेन सन्ततम् ॥
योगी शान्तिं गतः[1] स भोगे
न तस्य बिन्दुः क्षयं व्रजति ॥ १९ ॥

iti ṣaṇmāsābhyasanād
guruṇoktapathena santatam ॥
yogī śāntiṃ gataḥ sa bhoge
na tasya binduḥ kṣayaṃ vrajati ॥ 19 ॥

Tr. A consistent practice for six months as guided by the *guru*, brings Bliss to a *yogī*. Even (sensual) engagement may not bring consumption of *bindu*. 19.

॥ इति सुन्दरदेवविरचितायां हठतत्वकौमुद्यां वज्रोल्यादित्रयसाधनोद्योतः ॥

॥ iti sundaradevaviracitāyāṃ haṭhatatvakaumudyāṃ vajrolyāditrayasādhanodyotaḥ ॥

Here ends the description of the three techniques like *vajrolī* etc. in *haṭhatatvakaumudī* composed by *sundaradeva*.

1. शान्तिर्गतः -b.

Chapter—17

अथ बिन्दुजयमाहात्म्यम् —

atha bindujayamāhātmyam—

Benefits of gaining success over *bindu*—

यः सर्वतत्वाधिप[1] एष देवो
भवोऽव्ययो बिन्दुमयो जन्तुषु ॥
स पौरुषस्त्रैण इति द्विधोक्तो
रजः स्त्रियः पौरुषमेष बीजम् ॥१॥

yaḥ sarvatatvādhipa eṣa devo
bhavo'vyayo bindumayo jantuṣu ॥
sa pauruṣastraiṇa iti dvidhokto
rajaḥ striyaḥ pauruṣameṣa bījam ॥ 1 ॥

Tr. *bhava (śiva)*, who rules over all the *tatvas*, who is immutable, who is in the form of *bindu* among the living creatures, is twofold — i.e. male and female principles in nature, *rajas* representing female principle and *bindu* representing the male principle. 1.

स्वर्गप्रदो मोक्षकरश्च बिन्दुर्धर्मप्रदोऽधर्मकरस्तथैव ।
सूक्ष्मस्वरूपेण वसन्ति तत्र वृन्दारकास्तत्वमिदं सुबिन्दुः ॥ २ ॥

svargaprado mokṣakaraśca bindur-
dharmaprado'dharmakarastathaiva ॥
sūkṣmasvarūpeṇa vasanti tatra
vṛndārakāstatvamidaṃ subinduḥ ॥ 2 ॥

Tr. This auspicious *bindu* is the essence (*tatva*) in which the deities reside in subtle form, which offers heaven and brings about emancipation. It can lead one to both virtuous and also sinful acts. 2.

वायुना पतति[2] बिन्दुरमन्दो बिन्दुसाधनमिहास्ति न चान्यत्[3] ।
यां दशां व्रजति वायुरशान्तस्तां दशां कलयते किल बिन्दुः[4] ॥३॥

vāyunā patati binduramando
bindusādhanamihāsti na cānyat ॥
yāṃ daśāṃ vrajati vāyuraśāntas-
tāṃ daśāṃ kalayate kila binduḥ ॥ 3 ॥

---

1. तत्वाधिष –b. 2. पतिति –b. 3. वान्यत् -a. 4. बिन्दु –a.

Tr. *bindu* flows in great amount due to *vāyu (prāṇa)*. There is no other means to preserve *bindu*. A restive state for *vāyu (prāṇa)* leads to a similar state for *bindu* as well. 3.

यथैष[1] साध्यते मरुत्[2] तथैति बिन्दुसाधनम् ।
विलीन एष सिद्धिदः सुमूर्च्छितो रुजापहः ॥ ४ ॥[3]

yathaiṣa sādhyate marut tathaiti bindusādhanam ।
vilīna eṣa siddhidaḥ sumūrcchito rujāpahaḥ ॥ 4 ॥

Tr. As *prāṇa* is controlled so also *bindu* is controlled. Absorbed *bindu* offers the supernatural powers and it having been deactivated retards all illness. 4.

यथा[1] यथा बिन्दुदशा भवेत्तनौ तथा तथा चित्तदशाभ्युदेति ।
यदा समीरचल एष बिन्दुस्तदा विलोलो मनुजस्य दुष्टः ॥ ५ ॥

yathā yathā bindudaśā bhavet-tanau
tathā tathā cittadaśābhyudeti ॥
yadā samīracala eṣa bindus-
tadā vilolo manujasya duṣṭaḥ ॥ 5 ॥

Tr. Whatever states *bindu* would undergo in the body, mind too undergoes those very corresponding states. If the *samīra (prāṇa)* becomes unstable, *bindu* also being thus vitiated, becomes unsteady. 5.

नादश्च बिन्दुश्च मनस्त्रयाणां
स्यादेकसन्धानमिहाश्रमेण ॥
संसाधिते[5] वर्ष्मणि मारुतेऽमीः
सिद्ध्यन्ति सर्वे शुभसिद्धिभाजः ॥ ६ ॥

nādaśca binduśca manastrayāṇāṃ
syādekasandhānamihāśrameṇa ॥
saṃsādhite varṣmaṇi mārute'mīḥ
siddhyanti sarve śubhasiddhibhājaḥ ॥ 6 ॥

Tr. The triad of *nāda*, *bindu* and *manas* – has only one technique (to success) — that is, a diligent practice of *marut* in the body, success of which offers all the auspicious powers. 6.

वायुर्यदासौ म्रियते यदैव बिन्दुश्च चित्तं म्रियते तदानीम्[4] ।
तत्वानि बिन्दोस्तु चरन्ति वायुसञ्चारतो वातलये म्रियन्ते[6] ॥७॥

1. यथैषा b. 2. मह –a. 3. सिनोबिन्दुजयस्वरूपं –अधिकपाठः -b. 4. घश्यो –b. 5. संसाधितेव –b. 6. म्रियन्ति –a.

vāyuryadāsau mriyate yadaiva
binduśca cittaṃ mriyate tadānīm ||
tatvāni bindostu caranti vāyu-
sañcārato vātalaye mriyante || 7 ||

Tr. When *vāyu* becomes stable, *bindu* also becomes steady which results into stability of mind. Due to movement of *vāyu*, one experiences existence of different *tatvas* (elements) in the *bindu*. Absorption of *prāṇa* results into absorption of *tatvas*. 7.

मोहप्रमादमहिमा स पवित्रकायो
दुर्द्दोषधातुगददुःखसहस्रखिन्नः ॥
दिव्यो भवेदमर एष सुरत्नबिन्दौ
सिद्धे न सिद्ध्यति नु किं भुवि यस्य तस्य ॥ ८ ॥

mohapramādamahimā sa pavitrakāyo
durddoṣadhātugadaduḥkhasahasrakhinnaḥ ||
divyo bhavedamara eṣa suratnabindau
siddhe na siddhyati nu kiṃ bhuvi yasya tasya |8|

Tr. One suffers immensely due to insidious *doṣas* (humours), *dhātus* (bodily constituents), diseases and sufferings arising from delusion and carelessness despite possessing a holy body. One having controlled the valuable *bindu*, enjoys divinity and immortality. 8.

विकृतरसविकारोद्भूतधातूत्थ[1]बिन्दुः
स्खलति विकृतिमेति द्राच्छुचेतः प्रयोगे[2] ॥
द्रवगुणमभिजित्वभूयः स्याद् घटो[3] ब्रह्मनाडी
प्रपिबति तनुसिद्ध्यै स्यात्तदेव एष धातून् ॥ ९ ॥

vikṛtarasavikārodbhūtadhātūtthabinduḥ
skhalati vikṛtimeti drācchucetaḥ prayoge ||
dravaguṇamabhijitvabhūyaḥ syād ghaṭo brahmanāḍī
prapibati tanusiddhyai syāttadeva eṣa dhātūn |9|

Tr. *bindu* becomes contaminated and dribbles due to toxicity arising out of bad plasma *(rasa)* and bad bodily constituents or mental involvement. One can arrest the liquidity of *bindu* in the body and reach it to *brahmanāḍī (suṣumnā)* which

---

1. तूत्य –a. 2. प्रयागे –b. 3. स्याद्राटो –b.

nourish the bodily constituents and thus one attains *kāyasiddhi*. 9.

तदोर्ध्वरिता विजितेन्द्रियो मुनिर्धातून् सुषुम्णोपरि कर्षयेत् यदा ।
स्तः खोटबद्धौ[1] तु तदैव वायुबिन्दू तदा खेचरीसिद्धिभाङ् मुनिः ।१०।

tadordhvaretā vijitendriyo munir-
dhātun suṣumṇopari karṣayet yadā ॥
stah khoṭabaddhau tu tadaiva vāyu-
bindu tadā khecarīsiddhibhāṅ muniḥ ॥ 10 ॥

Tr. When a *muni* pulls up the *dhātus* (bodily constituents) in to the *suṣumṇā* and controls the *vāyu* and *bindu* in the body he is considered an *ūrdhvaretā* and *vijitendriya* (one who has controlled the senses) then alone *khecarī* is perfected. 10.

सुरूपलावण्यबलानि वज्रशरीरता विग्रहसम्पदेषा[2] ।
सौभाग्यमंगे मृदुतेति सर्वमभ्यासिनो बिन्दुजयस्य रूपम् ॥ ११ ॥

surūpalāvaṇyabalāni vajra-
śarīratā vigrahasampadeṣā ॥
saubhāgyamaṅge mṛduteti sarvam-
abhyāsino bindujayasya rūpam ॥ 11 ॥

Tr. For a *sādhaka*, the signs of success in *bindu* are – handsome appearance, charm and strength, sturdy physique, divine, auspicious and tender body. 11.

वज्रोलीसहजोलिकादि सकलं बिन्दोर्जयार्थं हठे
सम्प्रोक्तं कपिलादिसिद्धनिवहैः सद्ब्रह्मचर्यादि च ॥
ओजोवीर्यमनःप्रसादविचलत्वाद्यं समाधिर्मुनेर्
बिन्द्वायतमदोलयेऽस्य कलुषे चित्ते न सिद्धिर्हठात् ।१२।

vajrolīsahajolikādi sakalaṃ bindorjayārthaṃ haṭhe
samproktaṃ kapilādisiddhanivahaiḥ sadbrahmacaryādi ca ॥
ojovīryamanaḥprasādavicalatvādyaṃ samādhirmuner
bindvāyatamadolaye'sya kaluṣe citte na siddhirhaṭhāt ।12।

Tr. In the practice of *haṭha*, all the *siddhas* like *kapila* have recommended the practice of *vajrolī* and *sahajolī* for the accomplishment of *bindu* alone. This results in celibacy, vigour, valour, mental pacification, removal of fickleness (of mind),

1. खोटवक्ष्यै –b. 2. सम्पदेया –a.

(attainment of) *samādhi*—all are controlled by *bindu*. If the *citta* is defiled, *haṭha* practices do not bring success even in the *laya* state. 12.

बिन्दोः सञ्जयतो मुनेः स्थिरसुखाः[1] स्यादासने संस्थितिर्
धैर्यो[2]त्साहबलान्यभीहित[3]मितं सत्वाशनं सेविनः ॥
अभ्यासाच्छुचिरुत्तरोत्तरमसौ[4] दीप्तेऽनले कुम्भकाद्[5]
धात्वम्बुमलक्षये कनकवद् विदेहसिद्धिप्रदः[6] ॥ १३ ॥

bindoḥ sañjayato muneḥ sthirasukhāḥ syādāsane saṃsthitir
dhairyotsāhabalānyabhīhitamitaṃ satvāśanaṃ sevinaḥ ॥
abhyāsācchuciruttarottaramasau dīpte'nale kumbhakād
dhātvambumalakṣaye kanakavad videhasiddhipradaḥ ॥ 13 ॥

Tr. If the stability of *bindu* is achieved by a *muni*, stability of *āsana* with comfort is also achieved which is of primary importance, (so also one achieves) patience, enthusiasm and stamina. One should resort to good quality favourable moderate food. Through practice, the gastric fire is enhanced by and by. As a consequence gastric fire is enhanced through *kumbhaka*. It removes the morbidities from the *dhātus* and water like fire removes the dross from gold. This offers accomplishment of the transcendence. 13.

पृष्ठवंशदृढदण्डधारणं नो विना भवति बिन्दुसाधनम् ।
प्राणरोधनमपान[7]कर्षणं नीचऊर्ध्वमखिलं भवकार्यम् ॥ १४ ॥

pṛṣṭhavaṃśadṛḍhadaṇḍadhāraṇaṃ
no vinā bhavati bindusādhanam ॥
prāṇarodhanamapānakarṣaṇaṃ
nīcaūrdhvamakhilaṃ bhavakāryam ॥ 14 ॥

Tr. *bindu* cannot be accomplished without a sturdy and erect spine, control of *prāṇa* by pulling it down and *apāna* by pulling it up. This is all the practice related to body. 14.

पञ्चभूतकरणौघसंयमान् मध्यनाडिपथगौ मरुदग्नी ।
स्वोजसा[8] सह तया सुषुम्णायाऽभ्यासतस्तनुमलान्विकर्षतः ॥१५॥

---

1. मुख्या –a. 2. ध्येयो –a. 3. भीर्हित –b. 4. च्छुचिरत्तरोत्तरमसौ –a. 5. कुम्भकादु –b. 6. वह्रिदेहां सिद्धिः प्रदः -b. 7. मयान –a. 8. मरुदः गीष्वोजसा –b.

pañcabhūtakaraṇaughasaṃyamān
madhyanāḍipathagau marudagnī ॥
svojasā saha tayā suṣumṇāyā'-
bhyāsatastanumalānvikarṣataḥ ॥ 15 ॥

Tr. Control of the five elements and senses, moving the *prāṇa* and *agni* through the middle path, coursing *ojas* into the *suṣumnā* and expulsion of bodily impurities -(are the means). 15.

रूपकोरुपिरमंगजं[1] यथा कर्षयेदिति सदाभ्यसनेन ।
धातुसंघममुनासनस्थितिः शाम्भवी ह्युपरिमानसबिन्दुः[2] ॥ १६ ॥

rūpakorupiramaṅgajaṃ yathā
karṣayediti sadābhyasanena ॥
dhātusaṅghamamunāsanasthitiḥ
śāmbhavī hyuparimānasabinduḥ ॥ 16 ॥

Tr. One should pull (the *prāṇa*) so that the body becomes handsome and it is controlled. A consistent practice cleanses the entire range of the bodily constituents which leads to stability in *āsana*, success in *śāmbhavī*, stability of mind and *bindu*. 16.

तदा रेचकं पूरकं संविधाय
चिरं संस्थिते वायुना[3] चित्रनादाः[4] ॥
प्रवर्त्तन्त उच्चैः स्रवच्चन्द्रबिम्बं
तदास्तक्षुधा[5]तृण्मुनिः स्यात् स्वरूपे ॥ १७ ॥

tadā recakaṃ pūrakaṃ saṃvidhāya
ciraṃ saṃsthite vāyunā citranādāḥ ॥
pravarttanta uccaiḥ sravaccandrabimbaṃ
tadāstakṣudhātṛmmuniḥ syāt svarūpe ॥ 17 ॥

Tr. Then if one stays for long after doing *recaka* and *pūraka*, due to *vāyu* amazing *nādas* occur. The ambrosia from moon secretes profusely and thus the *muni* being established in the Self does not experience hunger or thirst. 17.

यद्यद्विदाहकमपथ्य[6]गणोत्तमन्नं[7]
यत्सात्विकेतरमथीकृदघप्रदं यत् ॥

---

1. रुधकोरुधिरमंगजं –b. 2. स्युपरिमानसबिन्दू –b. 3. चिरं संस्थिते वायुना – अनुपलब्धपाठः -b. 4. विश्नादाः -h. 5. तदाऽस्तक्षुधा –b. 6. यद्यदिदाहकमथ्य – b. 7. मत्रं –b.

तत्सर्वमग्निबलधीहरमर्तिबीजा-
म्यासिसिद्धिरिपु[1]धातुजबिन्दुबीजम् ॥ १८ ॥

yadyadvidāhakamapathyagaṇoktamannaṃ
yatsātviketaramadhīkṛdaghapradaṃ yat ॥
tatsarvamagnibaladhīharamarttibījā-
bhyāsasiddhiripudhātujabindubījam ॥ 18 ॥

Tr. Food that causes burning, cereal that is classified under the *apathya* (not recommended), which is not *sātvika*, that causes impurity— all that reduces bodily heat, strength and intelligence. Such food is the root cause of illness, hindrance in the success of practice, inimical to bodily constituents and *bindu*. 18.

अभेदोपचारान् मुनेः कार्यहेत्वो-
रपथ्यं विहाराशनं[2] सात्विकान्यत् ॥
तमोदुःखकृद्धातुकृद् बिन्दुबीज-
यथाभूश्च बीजं तथैवांकुरः स्यात् ॥ १९ ॥

abhedopacārān muneḥ kāryahetvo-
rapathyaṃ vihārāśanaṃ sātvikānyat ॥
tamoduḥkhakṛddhātukṛd bindubīja-
yathābhūśca bījaṃ tathaivāṅkuraḥ syāt ॥ 19 ॥

Tr. Without considering the cause and effect relationship, if a *muni* does not exercise discrimination between *sātvika* and other elements in food and behaviour, it will cause inertia and suffering. As a seed, so a sprout would be. Similarly, *dhātus* (bodily constituents) are influenced by the *bindu* which is the essence. 19.

विकृतिमिह शरीरे वै[3]कृतं पित्तमग्निर्
द्विरुदरभगसुसंस्थानप्रभेदाद् द्विधास्ति ॥
भ्रममदपरिमोहक्षुत्प्रदं शुद्धमिद्धं
शिखिकृदमल[4]सत्वोद्योतकं योगदं तत् ॥ २० ॥

1. बीजम्याससिद्धिरूपु –b. 2. विहाराऽशनं –b. 3. बिन्दुबीजयथाभूश्च बीजं तथैवांकुरः स्यात् । विकृतिमिह शरीरे वै – अनुपलब्धपाठः -b. 4. शुद्धसिद्धापरोस्थिकृदऽमल – b.

vikṛtimiha śarīre vaikṛtaṃ pittamagnir-
dvirudarabhagasusaṃsthānaprabhedād dvidhāsti
bhramamadaparimohakṣutpradaṃ śuddhamiddhaṃ
śikhikṛadamalasatvodyotakaṃ yogadaṃ tat ।20।

Tr. *pitta* (bile) which is bodily fire, is of two types occupying two locations – *udara* (stomach) and *bhaga* (genital organ). When vitiated, it is called *vaikṛta* which causes confusion, intoxication, delusion and hunger. The pure (*pitta*) when intensified takes one to the highest abode, enhances the pure *satva (guṇa)* and brings success in *yoga*. 20.

प्रकाशकं सत्वयुजा सुपित्तं[1] प्रसादकृद् वैमनसः सुखावहम् ।
श्रीकुण्डलीबोधनिदानकामवह्न्यात्मकं[2] हृत्तनुवायुसिद्धिभूः[3] ।२१।

prakāśakaṃ satvayujā supittaṃ
prasādakṛd vaimanasaḥ sukhāvaham ॥
śrīkuṇḍalībodhanidānakāma-
vahnyātmakaṃ hṛttanuvāyusiddhibhūḥ ॥ 21 ॥

Tr. The good *pitta* is enlightening being merged with the *satva* (Self), pacifying to the mind, pleasing, causes arousal of *kuṇḍalī*, leads to a transcendental state of mind bringing success in control of heart, body and *prāṇa*. It is of the nature of desire. 21.

न[4] सात्विकेष्टप्रमिताशनं
देहेऽत्र सद्धातुचयः[5] सुबिन्दुभूः ॥
चित्ते न सद्बिन्दुमृते प्रसादः
सद्ब्रह्मचर्यं च मनःस्थितिं विना ॥ २२ ॥[6]

na sātvikeṣṭapramitāśanaṃ
dehe'tra saddhātucayaḥ subindubhūḥ ॥
citte na sadbindumṛte prasādaḥ
sadbrahmacaryaṃ ca manaḥsthitiṃ vinā ॥ 22 ॥

Tr. Without resorting to *sātvika*, desirable and moderate food, the (human) body does not have nourishment of the bodily

---

1. सुपितं –b. 2. वत्स्यात्मकं –b. 3. ह्यतनुवायुसिद्धिभुः -b. 4. त –b. 5. सद्वायुचयः -a. 6. न सात्विकेष्टपमिताशनं देहेऽत्र सद्धातुचयः सुबिन्दुयोगे नृणां तव्ययापानभृतिं जीवितं तत्स्थितौ भूः चित्तेन सद्बिनुमृते पसादः सद् ब्रह्मचर्यं च मनःस्थितिविना – इति पाठान्तरम् -b.

constituents and pure *bindu*. Without purity of *bindu*, the mind does not get pacified and without mental stability there is no good (observance of) celibacy. 22.

जीवनं प्रोच्यते बिन्दुयोगे नृणां
तथापानमृतिं[1] जीवितं तत् स्थितौ ॥
बिन्दुना जायते बिन्दुरेषो मनोऽ-
धीन एतज्जयश्चित्तवृत्तेर्हि सः ॥ २३ ॥[2]

jīvanaṃ procyate binduyoge nṛṇāṃ
tathāpānamṛtiṃ jīvitaṃ tat sthitau ॥
bindunā jāyate bindureṣo mano-
dhīna etajjayaścittavṛtterhi saḥ ॥ 23 ॥

Tr. For men, preservation of *bindu* is life. Activity or inactivity of *apāna* depends on control of *bindu* which is under the control of mind. Control of the modifications of *citta* is possible only through control of *bindu*. 23.

ऊर्ध्वं रेतः प्रभावेन सनकाद्या महर्षयः ।
खण्डयित्वा कालदण्डं यथेच्छं विहरन्ति ते ॥ २४ ॥

ūrdhvaṃ retaḥ prabhāvena sanakādyā maharṣayaḥ ।
khaṇḍayitvā kāladaṇḍaṃ yatheccham viharanti te ॥ 24 ॥

Tr. As a result of driving the *retas* (semen) upwards, the sages like *sanaka* etc. have controlled the whip of time (*kāla* = death) and move freely. 24.

॥ इति सुन्दरदेवविरचितायां हठतत्वकौमुद्यां बिन्दुजयमाहात्म्यनिरूपणोद्योतः ॥

॥ iti sundaradevaviracitāyāṃ haṭhatatvakaumudyāṃ bindujayamāhātmyanirūpaṇodyotaḥ ॥

Here ends the description of greatness of controlling *bindu* in *haṭhatatvakaumudī* composed by *sundaradeva*.

---

1. नृणां तव्ययापानभृतिं -b. 2. जीवनं प्रोच्यते बिन्दुयोगे नृणां तव्यपामान्मृतिं जीवितं तत्स्थितौ बिन्दुना जायते बिन्दुरेषो मनोऽधीन एतज्ज्यश्चित्तवृत्तेर्हि सः - इति पाठान्तरम् -b.

Chapter—18

शिव उवाच –

śiva uvāca

***Śiva* says—**

विद्यां च खेचरीं देवि प्रवक्ष्ये योगसिद्धिदाम् ।
न तया रहितो योगी खेचरीसिद्धिभाग् भवेत् ॥ १ ॥

vidyāṃ ca khecarīṃ devi pravakṣye yogasiddhidām ।
na tayā rahito yogī khecarīsiddhibhāg bhavet ॥ 1 ॥

Tr. O *devi* ! I shall explain the wisdom of *khecarī* which brings success in *yoga*. Without this, one would not get success in *khecarī*. 1.

खेचर्या खेचरी युञ्जत्खेचरीबीजपूर्वया ।
खेचराधिपतिर्भूत्वा खेचरेषु सदा वसेत्[1] ॥ २ ॥

khecaryā khecarī yuñjatkhecarībījapūrvayā ।
khecarādhipatir bhūtvā khecareṣu sadā vaset ॥ 2 ॥

Tr. One practising *khecarī* alongwith the *bījas* of *khecarī* (*hrīṃ* etc.) becomes master of *khecarīvidyā* and attains the state of void. 2.

खेचरावसथं वह्नि[2]मम्बुमण्डलभूषितम् ।
व्याख्यातं खेचरीबीजं तेन योगः प्रसिध्यति ॥ ३ ॥

khecarāvasathaṃ vahnimambumaṇḍalabhūṣitam ।
vyākhyātaṃ khecarībījaṃ tena yogaḥ prasidhyati ॥ 3 ॥

Tr. *khecara* means `*h*'-*kāra*, *vahniṃ* is `*r*'-*kāra*, *āvasatha* is `*ī*'-*kāra* and bedecking it with *ambumaṇḍala* the nasal half-syllable `*ṃ*' *(anusvāra)* making it the *khecarī-bīja* `*hrīṃ*', which brings success in *(lambikā-) yoga*. 3.

सोमेशान्नवमं[3] वर्णं विलोमेनापरं प्रिये ।
तथा तत्पञ्चमं देवि तदादिरपि[4] पञ्चमः ॥ ४ ॥

someśānnavamaṃ varṇaṃ vilomenāparaṃ priye ।
tathā tatpañcamaṃ devi tadādirapi pañcamaḥ ॥ 4 ॥

इन्द्रोऽपि बिन्दुसंभिन्नं कूटोऽयं परिकीर्त्तितः ।
गुरूपदेशाल्लभ्यं च सर्वलोकप्रसिद्धिदम् ॥ ५ ॥

---

1. खेचराधिपतिर् भूत्वा खेचरेषु सदा वसेत् - अनुपलब्धपाठः -b. 2. खेचरावसथवाह्नमं –b, वह्निं वा—a. 3. त्रवमं –b. 4. तदादिरण -a.

indro'pi bindusaṃbhinnaṃ kūṭo'yaṃ parikīrtitaḥ ।
gurūpadeśāllabhyaṃ ca sarvalokaprasiddhidam ॥ 5 ॥

Note: The above two *ślokas* are supposed to provide the *khecarī bīja mantras* in a coded language. We find it incomplete. *khecarīmudrāpaṭala* (ms. No. 6-4/398, Prājña Paṭhaśālā, Wai) reads the following *ślokas* which give the complete set of the *khecarī bīja mantras*—

सोमेशान्नवमं वर्णं प्रतिलोमेन चोद्धरेत् ॥ ३१ ॥
तस्मात्त्रिंशाक्षरं शास्त्रमक्षरं चन्द्ररूपकम् ।
तस्मादथाष्टमं वर्णं विलोमेनापरं प्रिये ॥ ३२ ॥
तस्मात्पंचममित्युक्तं तदादिरपि पंचमः ।
इन्द्रोपि बिन्दुसम्भिन्नः कूटोयं परिकीर्त्तितः ॥ ३३ ॥

According to this reading, when decoded, the *khecarī-bīja mantras* are found as – *hrīṃ, gaṃ, maṃ, naṃ, saṃ, phaṃ, laṃ.*

According to *yogakuṇḍalyupaniṣad* (ch-II.17-20) the *khecarī bīja mantras* are as follows –

hrīṃ, bhaṃ, saṃ, maṃ, paṃ, saṃ, kṣaṃ. 4-5.

यत्तस्य[1] देवता माया विरूपकरणाश्रया ।
स्वप्नेऽपि[2] न भवेत्तस्य नित्यं द्वादशजाप्यतः ॥ ६ ॥

yattasya devatā māyā virūpakaraṇāśrayā ।
svapne'pi na bhavettasya nityaṃ dvādaśajāpyataḥ ॥ 6 ॥

Tr. By the grace of the deity being adored, one will not face distraction even in dream state if one chants (*mantra*) 12 times everyday. 6.

य इमां पञ्चलक्षाणि[3] जपेदपि सुयन्त्रितः ।
तस्य श्रीखेचरीसिद्धिः स्वयमेव प्रवर्त्तते ॥ ७ ॥

ya imāṃ pañcalakṣāṇi japedapi suyantritaḥ ।
tasya śrīkhecarīsiddhiḥ svayameva pravarttate ॥ 7 ॥

Tr. If one chants this *mantra* five lac times in the prescribed manner, success in *khecarī* takes place on its own to him. 7.

नश्यन्ति सर्वविघ्नानि प्रसीदन्ति च देवताः ।
वलीपलितनाशश्च भविष्यति न संशयः ॥ ८ ॥

1. यतस्य –a. 2. स्वन्येपि –b. 3. लक्ष्याणि –b.

naśyanti sarvavighnāni prasīdanti ca devatāḥ ।
valīpalitanāśaśca bhaviṣyati na saṃśayaḥ ॥ 8 ॥

Tr. All his obstacles vanish, deities favour him, and wrinkles and grey hair would certainly disappear. 8.

प्रस्तारः ह्रीं खेचर्यै नमः ।
prastāraḥ hrīṃ khecaryai namaḥ ।
ओं अस्य श्रीखेचरीमन्त्रस्य भगवानादिनाथो ऋषिः ।
खेचरसिद्धिप्रदा खेचरी देवता ।
oṃ asya śrīkhecarīmantrasya bhagavānādinātho ṛṣiḥ ।
khecarasiddhipradā khecarī devatā ।
ओं ह्रैं फ्रं बीजम्[1] ।
नमः शक्तिः ।
मम योगसिद्ध्यर्थं[2] जपे विनियोगः ।
oṃ hraiṃ phraṃ bījam ।
namaḥ śaktiḥ ।
mama yogasiddhyarthaṃ jape viniyogaḥ ।
ओं ह्रां अंगुष्ठाभ्यां हृदयाय नमः ।
ओं ह्रीं तर्जनीभ्यां शिरसे स्वाहा ।
ओं ह्रूं[3] मध्यमाभ्यां शिखायै वषट् ।
ओं ह्रैं अनामिकाभ्यां कवचाय हुं ।
ओं ह्रौं[4] कनिष्ठिकाभ्यां नेत्रत्रयाय वौषट् ।
ओं ह्रः करतलपृष्ठाभ्यां अस्त्राय फट् ॥
oṃ hrāṃ aṅguṣṭābhyāṃ hṛdayāya namaḥ ।
oṃ hrīṃ tarjanībhyāṃ śirase svāhā ।
oṃ hrūṃ madhyamābhyāṃ śikhāyai vaṣaṭ ।
oṃ hraiṃ anāmikābhyāṃ kavacāya huṃ ।
oṃ hrauṃ kaniṣṭhikābhyāṃ netratrayāya vauṣaṭ ।
oṃ hraḥ karatalapṛṣṭhābhyāṃ astrāya phaṭ ॥

अथ ध्यानम् —
atha dhyānam —
Here follows the prayer (of *kuṇḍalī*)—

मूलादिब्रह्मरन्ध्रान्तां विसतन्तुतनीयसीम्[5] ।
उद्यत्सूर्यप्रभाजालविद्युत्कोटिसमप्रभाम् ॥ ९ ॥

---

1. ओं ह्रों व्युं बीजं –b. 2. सिध्यर्थे -b. 3. ह्रूं –a. 4. ओं ह्रू -a. 5. तनीयसी –a.

mūlādibrahmarandhrāntāṃ visatantutanīyasīm ।
udyatsūryaprabhājālavidyutkoṭisamaprabhām ॥ 9 ॥

Tr. I salute *(kuṇḍalī)* which emanates from *mūla* (perineum) and extends upto *brahmarandhra* (crown of the head), which is as subtle as the fibre of lotus stalk, which is as luminous as a rising sun or a crore of lightning. 9.

चन्द्रकोटिप्रभाद्रावत्रैलोक्यैकप्रभामयीम्[1]
अशेषजगदुत्पत्तिस्थितिसंहारकारिणीम्[2] ॥
ध्यायेद्यथा[3] **मनो देवि निश्चलं जायते ततः**
सहजानन्दसन्दोहमन्दिरं भवति क्षणात् ॥ १० ॥

candrakoṭiprabhādrāva-trailokyaikaprabhāmayīm
aśeṣajagadutpattisthitisaṃhārakāriṇīm ॥
dhyāyedyathā mano devi niścalaṃ jāyate tataḥ
sahajānandasandohamandiraṃ bhavati kṣaṇāt ॥10॥

Tr. O *devi* ! If the mind is directed towards *(kuṇḍalī)* which is as bright as a crore of moons illuminating all the three worlds, which is the cause of creation, sustenance and dissolution of the entire universe. Thus the mind is immediately stabilized resulting in natural Bliss coming from a multitude of temples. 10.

मनो निश्चलतां प्राप्तं शिवशक्तिप्रभावतः ।
समाधिर्जायते तत्र[4] **संज्ञाद्वयविजृम्भितः** ॥ ११ ॥

mano niścalatāṃ prāptaṃ śivaśaktiprabhāvataḥ ।
samādhirjāyate tatra saṃjñādvayavijṛmbhitaḥ ॥ 11 ॥

Tr. By the grace of *śiva* and *śakti*, once the mind is stabilized, *samādhi* state takes place, which overcomes duality. 11.

इति ध्यात्वा जपेत् ॥

iti dhyātvā japet ॥

By meditating on the above, one should undertake the practice of chanting.

शाम्भवेन च वेधेन सुखी भूयान्निरन्तरम् ॥ १२ ॥

śāṃbhavena ca vedhena sukhī bhūyānnirantaram ॥ 12 ॥

---

1. मयी –b. 2. कारिणी –b. 3. ध्याये यथा –b. 4. तव -a.

Tr. One becomes happy forever by practising *śāmbhavī* and *mahāvedha*.12.

एवं लब्ध्वा महाविद्यामभ्यासं कारयेत्ततः ।
अन्यथा क्लिश्यते देवि न सिद्धिः खेचरीपदे ॥ १३ ॥

evaṃ labdhvā mahāvidyāmabhyāsaṃ kārayettataḥ ।
anyathā kliśyate devi na siddhiḥ khecarīpade ॥ 13 ॥

Tr. After receiving this *mahāvidyā* one should undertake the practice. Otherwise, O *devi* ! Success in *khecarī* is not possible, and one suffers. 13.

अथाभ्यासविधौ विद्यां न लभेद्यः सुधामयीम् ।
न तस्य मेलकादौ च लब्ध्वा विद्यां समुज्जयेत्[1] ॥१४ ॥

athābhyāsavidhau vidyāṃ na labhedyaḥ sudhāmayīm ।
na tasya melakādau ca labdhvā vidyāṃ samujjayet ॥ 14 ॥

Tr. One who has not received this technique (of *khecarī-vidyā)*, which offers ambrosia along with *melaka(mantra)* does not succeed. 14.

Note: For a detailed account of *melaka(na)-mantras* see *yogakuṇḍalyupaniṣad* chapter--II.13. 14.

अनया रहितो देवि न क्वचित्सिद्धिभाग् भवेत् ।
यदिदं लभ्यते शास्त्रं तदा विद्यां समाश्रयेत् ॥
ततस्तत्रोदितां सिद्धिमाशु तां लभते प्रिये ॥ इति[2] ॥ १५ ॥

anayā rahito devi na kvacitsiddhibhāg bhavet ।
yadidaṃ labhyate śāstraṃ tadā vidyāṃ samāśrayet ॥
tatastatroditāṃ siddhimāśu tāṃ labhate priye ॥ *iti* ॥ 15 ॥

Tr. O *devi*! Without this success is never possible. If one receives the knowledge of this technique, one should resort to the practice. O dear! Thus the success is soon attained. 15.

इति खेचरीपटलात् खेचरीविद्या ॥

iti khecarīpaṭalāt khecarīvidyā ॥

Here ends the knowledge of *khecarī* taken from *khecarīpaṭala*.

अथवा त्रिपुरां बालां योगसिद्धये ॥ १६ ॥

athavā tripurāṃ bālāṃ yogasiddhyaye ॥ 16 ॥

---

1. समुज्जयते –b. 2. इति खेचरी वलात् खेचरीविद्या – अधिकपाठः -b.

Tr. Or else one should take resort to *tripurā bālā* for the success in *yoga*. 16.

तदुक्तं शिवसंहितायाम् —

taduktaṃ śivasaṃhitāyām—

It is said in *Śivasaṃhitā*—

अधुना संप्रवक्ष्यामि मन्त्रसाधनमुत्तमम् ।
ऐहिकामुष्मिकसुखं[1] येन स्यादविरोधतः ॥ १७ ॥

adhunā saṃpravakṣyāmi mantrasādhanamuttamam ।
aihikāmuṣmikasukhaṃ yena syādavirodhataḥ ॥ 17 ॥

Tr. Now I shall explain the technique of *mantra* which certainly brings about material and spiritual happiness. 17.

यस्मिन् मन्त्रवरे ज्ञाते योगसिद्धिर्भवेत्[2] खलु ।
योगिनः साधकेन्द्रस्य सर्वैश्वर्यसुखं भवेत् ॥ १८ ॥

yasmin mantravare jñāte yogasiddhirbhavet khalu ।
yoginaḥ sādhakendrasya sarvaiśvaryasukhaṃ bhavet 18

Tr. By knowing this great *mantra* one indeed attains success in *yoga*, that brings all supernatural powers to a great *sādhaka* of *yoga*. 18.

मूलाधारेऽस्ति यत्पद्मं चतुर्दलसमन्वितम् ।
तन्मध्ये वाग्भवं बीजं प्रस्फुरत्तत्तडित्प्रभम् ॥ १९ ॥

mūlādhāre'sti yatpadmaṃ caturddalasamanvitam ।
tanmadhye vāgbhavaṃ bījaṃ prasphurat tat taḍitprabham ॥ 19 ॥

Tr. The lotus with four petals which is located at *mūlādhāra*, has at the center *bāgbhava-bīja (aiṃ)* having illumination like that of bright lightning. 19.

हृदये कामराजं[3] तु बन्धूक[4]कुसुमप्रभम् ।
आज्ञारविन्दे शक्त्याख्यं चन्द्रकोटिसमप्रभम् ॥ २० ॥

hṛdaye kāmarājaṃ tu bandhūkakusumaprabham ।
ājñāravinde śaktyākhyaṃ candrakoṭisamaprabham ।20।

Tr. In the heart, there is *kāmabīja (klīṃ)* which is as bright as *bandhuka* (the tree called *bandhujīva*) flowers. In the lotus of *ājñā (cakra)* there is *śaktibīja (sauḥ)* (ref. *mantrakośa*-p.145) as shining as a crore of moons. 20.

---

1. सुख –b. 2. योगसिद्धिमवेत् -b. 3. कामराजे –a. 4. बन्धूकं –a.

बीजत्रयमिदं गोप्यं भुक्तिमुक्तिफलप्रदम् ।
एतन्मन्त्रत्रयं योगी साधयेत्सिद्धिसाधकः[1] ॥ २१ ॥

bījatrayamidaṃ gopyaṃ bhuktimuktiphalapradam ।
etanmantratrayaṃ yogī sādhayetsiddhisādhakaḥ ॥ 21 ॥

Tr. The triad of the *bījas* should be kept secret which bestows upon (one) material pleasure and emancipation. These three *mantras* should be practised by a *sādhaka* who aims at attaining the supernatural powers. 21.

एतन्मन्त्रं गुरोर्लब्ध्वा न द्रुतं न विलम्बितम् ।
त्र्यक्षराक्षरसज्ञानं[2] निःसन्दिग्धमना जपेत् ॥ २२ ॥

etanmantraṃ gurorlabdhvā na drutaṃ na vilambitam ।
tryakṣarākṣarasajñānaṃ niḥsandigdhamanā japet ॥ 22 ॥

Tr. Obtaining this *mantra*, having three letters, from a *guru*, one should chant neither fast nor slow with awareness and remaining without any doubt. 22.

न व्याहतश्चैकचित्तः शास्त्रोक्तविधिना सुधीः ।
देव्यास्तु पुरतो[3] लक्ष हुत्वा लक्षत्रयं जपेत् ॥ २३ ॥

na vyāhataścaikacittaḥ śāstroktavidhinā sudhīḥ ।
devyāstu purato lakṣa hutvā lakṣatrayaṃ japet ॥ 23 ॥

Tr. Without being distracted, with unbridled attention a wise should chant it as prescribed in the scriptures before the deity for three lac times and offer one lac oblations. 23.

करवीरप्रसूनं तु गुडक्षीराज्यसंयुतम् ।
कुण्डे योन्याकृतौ धीमानुपान्ते जुहुयाच्छुचिः[4] ॥ २४ ॥

karavīraprasūnaṃ tu guḍakṣīrājyasaṃyutam ।
kuṇḍe yonyākṛtau dhīmānupānte juhuyācchuciḥ ॥ 24 ॥

Tr. A wise having purified, should give the oblation of the flowers of *karavīra* mixed with jaggery, milk and *ghee* in the *kuṇḍa* which is triangular in shape. 24.

अनुष्ठाने कृते धीमान् पूर्वा सेवा कृता भवेत् ।
ततो ददाति वै कामान् देवी विश्वेश्वरी शिखी ॥ २५ ॥

anuṣṭhāne kṛte dhīmān pūrvā sevā kṛtā bhavet ।
tato dadāti vai kāmān devī viśveśvarī śikhī ॥ 25 ॥

1. एतन्मन्त्रत्रयं योगी साधयेत्सिद्धिसाधकः - अनुपलब्धपंक्तिः -b. 2. संज्ञानं –b. 3. पुरुतो –b. 4. नुयान्ते जुहुयच्छुचिः -b.

Tr. Before this sacrifice the wise should perform the preliminary services. Then alone the goddess *viśveśvarī* fulfills the desires. 25.

जपेऽष्टादशभिर्लक्षैर्देहे[1]नानेन साधकः ।
उत्तिष्ठेन्मेदिनीं त्यक्त्वा दिव्यदेहस्तु जायते ॥ २६ ॥

jape'ṣṭādaśabhirlakṣairdehenānena sādhakaḥ ।
uttiṣṭhenmedinīṃ tyaktvā divyadehastu jāyate ॥ 26 ॥

Tr. If the *śadhaka* completes in this body a chanting of 18 lacs, he levitates from the ground and assumes a divine physique. 26.

भ्रमते स्वेच्छया लोके छिद्रां पश्यति मेदिनीम्[2] ।
कोट्येकया महायोगी लीयते परमे पदे ॥
साधकस्तु भवेद्योगी त्रैलोक्यस्यातिदुर्लभः ॥ इति ॥ २७ ॥

bhramate svecchayā loke chidrāṃ paśyati medinīm ।
koṭyekayā mahāyogī līyate parame pade ॥
sādhakastu bhavedyogī trailokyasyātidurlabhaḥ ॥ *iti* 27

Tr. He moves willfully and perceives under the earth. The great *yogī* performing the chanting of one crore times gets merged in the Supreme abode. And a *sādhaka* becomes an extraordinary *yogī* in all the three worlds. 27.

इति त्रिपुरभैरवीविद्या ॥

iti tripurabhairavī-vidyā.

Here ends *tripurabhairavī-vidyā.*

कालीं जपेज् जीवशक्तिं मोहिनीं मूलपंकजे ।
सुप्तां[3] वा कुण्डलीं[4] ध्यायन् साधकस्स्यात् स योगिराट् ॥ २८ ॥

kālīṃ japej jīvaśaktiṃ mohinīṃ mūlapaṅkaje ।
suptāṃ vā kuṇḍalīṃ dhyāyan sādhakassyāt sa yogirāṭ ॥ 28 ॥

Tr. One should chant (*mantra*) of *kālī* in the form of *mohinī*— the life force at the *mūlādhāra* or one should meditate upon the dormant *kuṇḍalī*. Thus one becomes a great *yogī*. 28.

तद्यथा –

tadyathā—

***(kālī)* is described as—-**

---

1. लक्ष्यैर्देहे –b. 2. मेदिनी –b. 3. सुप्ता –b. 4. कुण्डली –b.

वैश्वानरस्थशिवसंकलिता सदैव
शक्तिः शशांकपरिभूषितमूर्धभागा[1] ॥
श्यामा तमोगुणजनिर्जडशावपीठा[2]
तृट्चित्क्रिया परमदैवतमस्तु भूत्यै ॥ २९ ॥

vaiśvānarasthaśivasaṅkalitā sadaiva
śaktiḥ śaśāṅkaparibhūṣitamūrdhabhāgā ॥
śyāmā tamoguṇajanirjaḍaśāvapīṭhā
tṛṭcitkriyā paramadaivatamastu bhūtyai ॥ 29 ॥

Tr. The eternal concentrated power of *śiva* adorned with moon on the head is called *śyāmā* located at *vaiśvānara* (seat at the navel) which generates inertia, having seated on a corpse, which is active in the form of annihilation and consciousness, is the Supreme Divine Power for all creatures. 29.

सैषा कुण्डली जीवशक्तिरात्मनः सर्वतत्वात्मिका क्लेशकर्मरूपा जाग्रद्दशा काली ॥ इति ॥ ३० ॥

saiṣā kuṇḍalī jīvaśaktirātmanaḥ sarvatatvātmikā kleśakarmarūpā jāgraddaśā kālī ॥ *iti* ॥ 30 ॥

Tr. *kuṇḍalī* in the awakened state is known as *kālī*— is the life-force, pervading all the *tatvas*, is in the form of *kleśa* (suffering) and *karma* (action). 30.

॥ इति हठतत्वकौमुद्यां मन्त्रसाधनोद्योतः ॥

॥ iti haṭhatatvakaumudyāṃ mantrasādhanodyotaḥ ॥

Here ends the description of the practice of *mantra* in *haṭhatatvakaumudī*.

---

1. मूलर्धभागा –b. 2. पीडा -a

Chapter—19

बीभत्सोग्रपुरीषपूयरुधिरामेध्यामगन्ध्युल्बणे[1]
आपाताल[2]गभीरनारकगणेष्वाकल्पमर्तियुजः[3] ॥
नानासह्य[4]सुतीक्ष्णशस्त्रसिकतोर्वोग्रा च पीडाजुषो[5]
जीवा वासनया[6] वियोन्यऽकभुजः स्युः कर्मनाशावधि[7] १

bībhatsograpurīṣapūyarudhirāmedhyāmagandhyulbaṇe
āpātālagabhīranārakagaṇeṣvākalpamartiyujaḥ ॥
nānāsahyasutīkṣṇaśastrasikatorvogrā ca pīḍājuṣa
jīvā vāsanayā viyonya'kabhujaḥ syuḥ karmanāśāvadhi ॥ 1 ॥

Tr. Till the *karmas* are (entirely) annihilated, one may suffer in the womb which is terrifying, intense, (replete with) faeces, pus and blood, smelling rotten meat, lying in an extremely abysmal dungeon, endlessly suffering, being tormented by several unbearable sharp rough weapons, due to a host of desires suffering through various lives. 1.

अज्ञानोपहता अलीकविषयोपाधौ निमग्नाश्च ये
मेवे वित्तसुतादि चेति विहतात्मज्ञानलक्ष्या धिया ॥
नानायोनिषु सम्भ्रमन्ति विधुरा जीवा असत्कर्मिणो
ते[8] जानन्ति न यावदात्मसुपदं तत्वं परं योगतः ॥ २ ॥

ajñānopahatā alīkaviṣayopādhau nimagnāśca ye
meve vittasutādi ceti vihatātmajñānalakṣyā dhiyā ॥
nānāyoniṣu sambhramanti vidhurā jīvā asatkarmiṇo
te jānanti na yāvadātmasupadaṃ tatvaṃ paraṃ yogataḥ ॥ 2 ॥

Tr. Being absorbed in un-agreeable issues and attributes which maybe wealth and off-springs, bereft of making the knowledge of the Self as an objective, they are poor distressed persons who are engaged in the mundane activities till they come to realize the Supreme Self through *yoga*, and stray through different lives (*yoni*) having been laid down by ignorance. 2.

यमनियममुखाः समस्तधर्मा
दुरित[9] हरा अपि नात्मतत्वदाः स्वम् ॥
सुरविधिपददा यथांशपुण्या-
वधि निरयायि[10] सुखं विना न योगात् ॥३ ॥

1. गन्ध्युल्वणेषु –a. 2. ध्यापाताल –b. 3. गणेध्याकल्पमर्तिपुनः -b. 4. नानाऽसस्तु –b. 5. वींग्रावयोडायुजो –a. 6. वासनाया –b. 7. नाशावधिः -b. 8. न –b. 9. दरित –b. 10. निरपायि –b.

yamaniyamamukhāḥ samastadharmā
duritaharā api nātmatatvadāḥ svam ॥
suravidhipadadā yathāṅśapuṇyā-
vadhinirayāyi sukhaṃ vinā na yogāt ॥ 3 ॥

Tr. Practice of *yama* and *niyama* and the religious ceremonies though removes the sin, these would not make one realize ones own self. Through merits one may enjoy heavenly pleasures but would come back on waning of merits. Real happiness does not come without *yoga*. 3.

तथा चोक्तममनस्के –

tathā coktamamanaske

It is said in *amanaskayoga*—

महाविष्णुर्महेशानः प्रलयेष्वपि योगिनः ।
भुञ्जन्ते[1] परमानन्दं भुशुण्डादि[2] महात्मवद् ॥ इति ॥ ४ ॥

mahāviṣṇurmaheśānaḥ pralayeṣvapi yoginaḥ ।
bhuñjante paramānandaṃ bhuśuṇḍādi mahātmavad ॥ *iti* ॥ 4 ॥

Tr. The *yogīs* like bhuśuṇḍa etc. enjoy the pure Bliss in the dissolution of the universe like *mahāviṣṇu* and *maheśa*. 4.

विस्तरस्तु मत्कृत[3]भवार्तमनोविश्रान्तौ वैराग्यसाम्राज्ये च द्रष्टव्यः ॥

vistarastu matkṛttabhavārtamanoviśrāntau vairāgyasāmrājye ca draṣṭavyaḥ ॥

Tr. For a detailed account, one may consult either *bhavārtamanoviśrānti* or *vairāgyasāmrājya* authored by me.

॥ इति सुन्दरदेव[4]विरचितायां हठतत्वकौमुद्यां कुण्डलीवासना[5]विवेचने वैराग्यविवेक उद्योतः ॥

॥ iti sundaradevaviracitāyāṃ haṭhatatva-kaumudyāṃ kuṇḍalīvāsanāvivecane vairāgyaviveka udyotaḥ ॥

Here ends the account of *kuṇḍalīvāsanā* in the chapter *vairāgyaviveka* in *haṭhatatvakaumudī* composed by *sundaradeva*.

Note: Probably this is the end of first *ullāsa*.

---

1. भुजन्ते –b. 2. भृशुद्धादि –b. 3. विस्तरस्तुस्तत्कृत –b. 4. सुन्दर –b. 5. कुण्डलीयासना –b.

Chapter—20

अथाजपाविवेकः —

athājapāvivekaḥ—

ajapāviveka—

विनश्वरे ब्रह्मपुरे स्वमात्मा[1]
स्वकर्मनुन्नान्तरदैवोघगोत्रजैः[2] ॥
प्रतारितो जीव अधिभग्नो हंसं
जपन् स्वं न स वेत्यऽविद्यया[3] ॥ १ ॥

vinaśvare brahmapure svamātmā
svakarmanunnāntaradaivoghagotrajaiḥ ॥
pratārito jīva adhibhagno haṃsaṃ
japan svaṃ na sa vetya'vidyayā ॥ 1 ॥

Tr. In this mortal frame which is the abode of *brahma* (the supreme consciousness) the *ātman* in the form of *jīva* (the embodied soul) propelled by previous *karmas* and destiny through several lives remains distressed and does not realize the Self and due to ignorance continuously repeats *haṃsa* (*mantra*). 1.

विलोमहंसार्णजपिण्डतत्वं[4]
स्वरूपमात्मीयमजं न वेत्यसौ[5] ॥
विन्द्वात्मकं कृष्यत आदिशक्त्या
कर्माख्ययेह भ्रमते यथा तथा ॥ २ ॥

vilomahaṃsārṇajapiṇḍatatvaṃ
svarūpamātmīyamajaṃ na vettyasau ॥
vindvātmakaṃ kṛṣyata ādiśaktyā
karmākhyayeha bhramate yathā tathā ॥ 2 ॥

Tr. One does not realize one's true nature which is *aja* (unborn) and repeats the stream of *haṃsa* in reverse order in this *piṇḍatatva* (body). The *jīva* (in the form of *bindu*) is incessantly moved by the *ādiśakti* in the form of *karma*. 2.

पाञ्चाल्येव[6] प्रतिगृहमसौ भिक्षितो लोभतृष्णां[7]
क्रोधेनाहंकृतिमदयुजा[8] द्वेषरागात्तसारः[9] ॥

---

1. स्वमात्मा –a. 2. देवौघगोत्रजैः -b. 3. नसवेत्यऽविद्ययां –b. 4. हंसार्णजर्पि जडतत्वं –b. 5. मजन्तवेत्यऽसौ –a. 6. यां चाल्पेव –a. 7. लोभड्यां –a. 8. मदृयुजा –a. 9. रागतसारः -a.

चिन्तासिन्धौ हतनिजहितो मज्जितो जीव एषः
कामेनाज्ञः[1] शठहृदरिणा वेत्ति नात्र स्वमेभिः[2] ॥ ३ ॥

pāñcālyeva pratigṛhamasau bhikṣito lobhatṛṣṇāṃ
krodhenāhaṃkṛtimadayujā dveṣarāgāttasāraḥ ॥
cintāsindhau hatanijahito majjito jīva eṣaḥ
kāmenājñaḥ śaṭhahṛdariṇā vetti nātra svamebhiḥ ॥ 3 ॥

Tr. One begs at every doors for a pittance being driven by greed, anger, ego, arrogance, envy and infatuation, absorbed in the ocean of worries, beaten by selfish ends. Being ignorant and misled due to passions, one would not realize the Self. 3.

कर्मावृतोऽन्तर्जडभाव एषः[3] संस्कारशेषो न जहाति जीवम् ।
सदाष्टपुर्यन्तर[4] आकुलं स्वे[5] यत् प्राक्तनो हंस इति प्रजल्पः ।४।

karmāvṛto'ntarjaḍabhāva eṣaḥ
saṃskāraśeṣo na jahāti jīvam ॥
sadāṣṭapuryantara ākulaṃ sve
yat prāktano haṃsa iti prajalpaḥ ॥ 4 ॥

Tr. Having been enveloped by the *karma* in this morbid body, the *jīva* is not set free by the residue of *karma* and it always fidgets in the city of eight doors (body) and it chants on its own the pristine *haṃsa*. 4.

सच्चिद् ब्रह्मेवायमिति[6] सूर्येन्दुभ्यां जडीकृतः ।
मायाविद्यात्मिकाभ्यां हि कर्मारे[7] भ्रमति ध्रुवम् ॥ ५ ॥

saccid brahmevāyamiti sūryendubhyāṃ jaḍīkṛtaḥ ।
māyāvidyātmikābhyāṃ hi karmāre bhramati dhruvam 5

Tr. The (*jīva*) who is *brahma* – the eternal and conscious principle is made stupified by *sūrya* (sun) and *indu* (moon), and it continuously moves in the wheel of *karma* due to *māyā* and *avidyā*. 5.

आरे चक्रे ।

āre cakre ।

āra stands for wheel.

---

1. कामेनान्तः -a. 2. नातस्वमेभिः -a. 3. एशः -b. 4. सदाष्टयुर्यतर –b. 5. स्वं स्वै –b. 6. वायामिति –b. 7. कामारे –b.

हंसो हकारेण बहिः प्रयाति सकारतोऽन्तर्विशति ईशजीवः[1] ।
हंसं जपत्येष[2] निजस्वरूपमन्त्रं सदेत्यात्मविदं[3] न धत्ते ॥ ६ ॥

haṃso hakāreṇa bahiḥ prayāti
sakārato'ntarviśati īśajīvaḥ ॥
haṃsaṃ japatyeṣa nijasvarūpa-
mantraṃ sadetyātmavidaṃ na dhatte ॥ 6 ॥

Tr. *īśa* in the form of *jīva* moves out while making the sound *haṃ* and moves in making (the sound) *sa*. It always chants *haṃsa*, the *mantra* which is innate, but does not realize the *ātmā*. 6.

योगचन्द्रिकायाम् —

yogacandrikāyām —

According to *yogacandrikā*—

अष्टपत्राक्रमेणैव वायुर्वहति यत् पृथक् ।
विंशत्येकसहस्राणि श्वासः[4] षट्शतानि हि ॥ ७ ॥

aṣṭapatrākrameṇaiva vāyurvahati yat pṛthak ।
viṃśatyekasahasrāṇi śvāsaḥ ṣaṭśatāni hi ॥ 7 ॥

Tr. The *prāṇa (vāyu)* moves in an orderly fashion to eight petals (of the lotus of the heart) for twenty-one thousand and six hundred times. 7.

यथा शब्दादीनां षोडशविकाराणां न्यूनाधिक्यम् । तद्वत् वक्ष्यमाणगगननयगुणखवर्गश्लोकोक्तांकं त्रित्रिगुणीकृत्य त्रयोदशसार्धं भवति १३५० । ऊर्ध्वमध्ये ह्यधस्तादिति स्थानत्रया क्रमशः सार्धचतुःशतं तन्निःसरति । तस्मात् त्रिगुणीकरणं हृत्कमलाष्टपत्राक्रमेण यो वायुर्वहति सार्धत्रयोदशात्मकसंख्यकः पृथक् । पत्रात्पत्रा तदष्टगुणितं दशसहस्रं साष्टशतं भवति १०८०० ॥ ८ ॥

yathā śabdādīnāṃ ṣoḍaśavikārāṇāṃ nyūnādhikyam । *tadvat vakṣyamāṇagaganānayaguṇakhavargaślokoktāṅkaṃ tritriguṇīkṛtya trayodaśasārdhaṃ bhavati 1350* । *ūrdhvamadhye hyadhastāditi sthānatrayā kramaśaḥ sārdhacatuḥśataṃ tanniḥsarati* । *tasmāt triguṇīkaraṇaṃ hṛtkamalāṣṭapatrākrameṇa yo vāyurvahati sārdhatrayodaśātmakasaṃkhyakaḥ pṛthak* । *patrātpatrā tadaṣṭaguṇitaṃ daśasahasraṃ sāṣṭaśataṃ bhavati 10800* ॥ 8 ॥

1. शजीवः -b. 2. जयत्येश -b. 3. त्यात्मवीदं -a. 4. तच्छवासः -b.

Tr. In the number of the sixteen *vikāras* (evolutes) like *śabda* (sound) etc. there maybe some little variation. The number 1350 may be arrived at by multiplying the number of the *śloka* of *khavarga* (?) for 3x3 times. The *prāṇa* moves for 450 times to the top, middle and bottom in this order. This number is multiplied for three times product of which is again multiplied by eight times as there are eight petals in the heart wherein the *prāṇa* moves. Thus the number arrived at is 10800, i.e. one breathes for 10800 times in a day (12 hours). 8.

Note: Refer to our publication of 'Introduction to Yuktabhavadeva'-p.35. 8.

एतत् परिमितश्वासो दिवसे भवति । एतद् द्विगुणीकृते विंशत्येकसहस्राणि षट्शतानि भवन्ति २१६०० ॥ ९ ॥

etat parimitaśvāso divase bhavati । *etad dviguṇīkṛte viṃ śatyekasahasrāṇi ṣaṭśatāni bhavanti 21600* ॥ 9 ॥

Tr. In a day time (12 hours) number of breaths is 10800, multiplied by two (for 24 hours) we arrive at the number 21600. 9.

तथा च गोरक्षो[1] –

tathā ca gorakṣo –

gorakṣa **has stated**—

षट्शतानि दिवारात्रौ सहस्राणि-एकविंशतिः २१६०० ।
एतत् संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥ १० ॥

ṣaṭśatāni divārātrau sahasrāṇi-ekaviṃśatiḥ 21600 ।
etat saṃkhyānvitaṃ mantraṃ jīvo japati sarvadā ॥ 10 ॥

Tr. In a day and night an embodied soul (*jīva*) chants the *mantra* for 21600 times. 10.

हकारस्तु शिवः शक्तिः सकारस्तत्स्वरूपवान् ।
शिवशक्त्यात्मकं मन्त्रं जीवो हंसं जपत्यमुम् ॥ ११ ॥

hakārastu śivaḥ śaktiḥ
sakārastatsvarūpavān ॥
śivaśaktyātmakaṃ mantraṃ
jīvo haṃsaṃ japatyamum ॥ 11 ॥

---

1. गोरक्ष्यो –b.

Tr. The letter `*ha*' represents *śiva*, while `*sa*' is the representation of *śakti* herself. The *jīva* chants this `*haṃsa*' *mantra* which is of the nature of *śiva* and *śakti*. 11.

गायत्रीमजपामिमां[1] हि सततं श्रीप्राणविद्यां महा-
विद्यां प्राणविधारिणीं परिचरन् श्रीकुण्डलिन्युद्भवाम्[2] ॥
जीवो जल्पति चात्म[3]मन्त्रममलं हंसाख्यतारं तनौ
गायत्रीयमुपाकरोति यमिनामेनः क्षयेणामृतम् ॥ १२ ॥

gāyatrīmajapāmimāṃ hi satataṃ śrīprāṇavidyāṃ mahā-
vidyāṃprāṇavidhāriṇīṃ paricaran śrīkuṇḍalinyudbhavām ॥
jīvo jalpati cātmamantramamalaṃ haṃsākhyatāraṃ tanau
gāyatrīyamupākaroti yamināmenaḥ kṣayeṇāmṛtam ॥ 12 ॥

Tr. If the *jīva* constantly chants this *gāyatrī*, which is *śrīprāṇavidyā*, *mahāvidyā* and *prāṇadhāriṇī*, which arises from *kuṇḍalī*. A *yogī* taking up this pious *mantra* which is imbued as `*haṃsa*' in the body, and which is innate, can supplement *gāyatrī*, which removes demerits and offers immortality. 12.

तदुक्तं गोरक्षे –

taduktaṃ gorakṣe—

According to *gorakṣa* —

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत् पुनः ।
हंसः हंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥ १३ ॥

hakāreṇa bahiryāti sakāreṇa viśet punaḥ ।
haṃsaḥ haṃsetyamuṃ mantraṃ jīvo japati sarvadā ॥13॥

Tr. It (*prāṇa*) goes out making the sound `*ha*', while going in, it makes `*sa*'. The *jīva* always chants this *mantra*— *haṃsa haṃsa*. 13.

षट्त्रिंशदंगुलं हंसः प्रयाणं कुरुते सदा ।
वामदक्षिणमार्गेण ततः प्राणं निरोधयेद् ॥ इति ॥ १४ ॥

ṣaṭtriṃśadaṅgulaṃ haṃsaḥ prayāṇaṃ kurute sadā ।
vāmadakṣiṇamārgeṇa tataḥ prāṇaṃ nirodhayed ॥ *iti* ॥14॥

Tr. The `*haṃsa*' goes out always upto 36 digits, through the left and right nostrils. Therefore, one should control *prāṇa*. 14.

---

1. गायत्रीजपामिमां –a. 2. श्रीकुण्डलिन्युद्वां –b. 3. वात्म –b.

अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदायिनी ।
अस्याः संकल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ १५ ॥

ajapā nāma gāyatrī yoginām mokṣadāyinī ।
asyāḥ saṅkalpamātreṇa sarvapāpaiḥ pramucyate ॥ 15 ॥

Tr. To a *yogī* this *gāyatrī* which is known as *ajapā* brings emancipation. Just by solemn vow (*saṅkalpa*) one gets releaved of all the ills (sins). 15.

अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः ।
अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति ॥ १६ ॥

anayā sadṛśī vidyā anayā sadṛśo japaḥ ।
anayā sadṛśaṃ jñānaṃ na bhūtaṃ na bhaviṣyati ॥ 16 ॥

Tr. There has never been and never will be a *vidyā* (wisdom), chanting (*japa*) or *jñāna* (knowledge) like this. 16.

कुण्डलिन्यां समुद्भूता[1] गायत्री प्राणधारिणी ।
या सा विद्या महाविद्या[2] यस्तां वेत्ति स योगविद् ॥ इति ॥१७॥

kuṇḍalinyāṃ samudbhūtā gāyatrī prāṇadhāriṇī ।
yā sā vidyā mahāvidyā yastāṃ vetti sa yogavid ॥ iti ॥17॥

Tr. *gāyatrī* the sustainer of *prāṇa* arises from *kuṇḍalinī*. This wisdom is of supreme kind. One who knows this is an expert of *yoga*. 17.

एतेनात्माभिन्नं कुण्डल्येवात्मकस्वरूपं प्रणवं जपति । संस्कारविशेषाद्[3] भ्रान्तिबद्धोऽपि[4] न विस्मरतीत्यर्थः ॥ १८ ॥

etenātmābhinnaṃ kuṇḍalyevātmakasvarūpaṃ praṇavaṃ japati । saṃskāraviśeṣād bhrāntibaddho'pi na vismaratītyarthaḥ ॥ 18 ॥

Tr. Thus it is concluded that the *kuṇḍalī* which is not different from soul, herself chants this *praṇava* which is only of the nature of soul. Even though due to past *karmas* producing delusion it does not forget this *mantra* due to special inclination. 18.

अत एव –

ata eva—

Therefore—

1. समुद्गता -a. 2. गायत्रीप्राणविद्या महाविद्या -b. 3. संस्कारशेषाद् -a. 4. भ्रान्तिनिबद्धोऽपि -b.

सगुणं प्रणवाख्यं चिच्छक्तिः कुण्डलिनी मुनेः ।
उपादानं निमित्तं च लूतेव तनुजीवयोः ॥ १९ ॥

saguṇaṃ praṇavākhyaṃ cicchaktiḥ kuṇḍalinī muneḥ ।
upādānaṃ nimittaṃ ca lūteva tanujīvayoḥ ॥ 19 ॥

Tr. For the body and soul of a *yogī kuṇḍalinī* having the attributes, which is of the nature of *praṇava*, is the consciousness- is both material as well as efficient cause- like a spider (which produces as well as withdraws a cobweb). 19.

तथा च गीतायाम् —

tathā ca gītāyām —

So also in the *gītā*—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ॥ इति[1] ॥ २० ॥

prakṛtiṃ puruṣaṃ caiva vidhyanādī ubhāvapi ॥ iti ॥ 20 ॥

Tr. Understand that both *prakṛti* and *puruṣa* have no beginning. 20.

अभेदताद्रूप्यतयात्मनः सगुणमों शिवम् ।
स्वशक्तिकुण्डलिसंस्थं ध्यायेद्योगि निरन्तरम् ॥ २१ ॥

abhedatādrūpyatayātmanaḥ saguṇamoṃ śivam ।
svaśaktikuṇḍalisaṃsthaṃ dhyāyedyogi nirantaram ।21।

Tr. *ātmā* which is undifferentiated and is of the form of *OM* and *śiva* and which is situated in *kuṇḍalinī* with its power should be constantly meditated upon by a *yogī*. 21.

प्रपञ्चस्नेहसंगेन दशान्ते मलिनो ज्वलन् ।
दोषोल्लासी रागशिखी दीपः स्वाधोऽधमीक्ष्यते[2] ॥ २२ ॥

prapañcasnehasaṅgena daśānte malino jvalan ।
doṣollāsī rāgaśikhī dīpaḥ svādho'dhamīkṣyate ॥ 22 ॥

Tr. The wick (of life) is contaminated in the company of illusion and attachment, until the end of life burning downwards and kindled by demerits and infatuation. 22.

विकल्पमुख्यक[3]गुणत्रित्वाद्य[4]हंभावनः
कर्त्ते[5] तच्चरितं ममाखिलमहम् ॥
दुःखी सुखीति भ्रमो[6] शुद्धाशुद्धविमुक्ता
बद्धबहुलाध्यासैस्तु जीवः अश्रमी[7] ॥ २३ ॥

1. उभयपीति –b. 2. मीक्षते –a. 3. विकल्पमुख –b. 4. जित्वाद्यऽहं –b. 5. कर्त्रे -b. 6. भ्रमी –b. 7. जीवःश्रमी –b.

vikalpamukhyakaguṇatritvādyahaṃbhāvanaḥ
kartte taccaritaṃ mamākhilamaham ॥
duḥkhī sukhīti bhramo śudhāśuddhavimuktā
baddhabahulādhyāsaistu jīvaḥ aśramī ॥ 23 ॥

Tr. The *jīva* never tires due to *vikalpa*, three *guṇas*, egotism, doership and actions does with such an attitude—'all is mine', 'I am happy or unhappy', illusion, purity or impurity, bondage or liberation and a whole range of superimposition. 23

लिंगज्योतिरणुः सदेव[1] सततं वर्वर्ति हृत्पंकजे
जीवात्मासदविद्ययाऽऽवरकसंस्थो[2] दीपको द्योतकः ॥
सर्वांगं प्रभया सदा प्रविचलज्ज्योतिश्चलद्हृन्मरुद्
योगात् स्वं न हि वेत्ति मोहमलिनान्तर्वर्त्तिरिति क्षयम् ॥ २४ ॥

liṅgajyotiraṇuḥ sadeva satataṃ varvarti hṛtpaṅkaje
jīvātmāsadavidyayā'varakasaṃstho dīpako dyotakaḥ ॥
sarvāṅgaṃ prabhayā sadā pravicalajjyotiścaladhṛnmarud
yogāt svaṃ na hi vetti mohamalināntarvarttireti kṣayam ॥ 24 ॥

Tr. The *jīvātmā* which is real continuously shines in the lotus of the heart which is *liṅga*, illuminated and very subtle. Just as a lamp would always illuminate even being surrounded by darkness, so also the Soul (would light up) even when covered by ignorance. The light, (of Self) emanating from the heart illumines the whole body which stimulates the *prāṇa* (in the heart), but one does not realize one's Self. Being deluded by internal defilement, one perishes. 24.

स्वं ज्योतिर्मलिनांगवर्त्तिहृदयोऽज्ञोऽसौ शिखाग्रेऽञ्जनं[3]
व्योमो[4] हि प्रविसारि वर्त्तिजनितं[5]। धत्ते विकारास्पदम् ॥
स्नेहोपाधिकुजीवनात् कुविषया मात्राद्दशाद्वारतो
जीवो दीप इव प्रयाति विलयं हृद्वायुलौल्यात् क्षयम्[6] ॥ २५ ॥

svaṃ jyotirmalināṅgavarttihṛdayo'jño'sau śikhāgreñjanaṃ
vyomo hi pravisāri varttijanitaṃ dhatte vikāraspadam ॥
snehopādhikujīvanāt kuviṣayā mātrāddaśādvārato
jīvo dīpa iva prayāti vilayaṃ hṛdvāyulaulyāt kṣayam ॥ 25 ॥

Tr. Just as collirium would exist around a light of lamp,

---

1. सदेष –b. 2. वरकसंरछी –b. 3. शिखाग्रेंऽजनं –b. 4. व्यामो –b. 5. वतिजनितं –b. 6. क्षय –b.

so also the soul which is in the form of light would have internal defilement in the heart as ignorance. The (formless, limitless space assumes form (and limitations) for the convenience of behaviour (or the pure space assumes defilement produced by a wick of lamp). Just as a light of lamp would dissipate due to wind, so also the *jīva* perishes due to attachment, attributes, wrong life-style and bad sensual objects passing through several stages of life (like infancy, youth etc.) and fickleness of the heart and *prāna*. 25.

विशुद्धगुणसद्वर्त्ती शुद्धहृत्पात्रगोऽचलः[1] ।
जीवो दीपो हतोपाधिः सुप्रकाशो ध्रुवस्थितिः ॥ २६ ॥

viśuddhaguṇasadvarttī śuddhahṛtpātrago'calaḥ ।
jīvo dīpo hatopādhiḥ suprakāśo dhruvasthitiḥ ॥ 26 ॥

Tr. A pure and stable Self (*jīva*) is like a lamp which has the wick in the form of pure quality (*satvaguṇa*). A *jīva* devoid of attributes is like a lamp which is illumining and stable. 26.

शुद्धसत्वदशासंगी योगान्तर्गृह[2]निश्चलः ।
उपाध्ययुक् चिरञ्जीवि दीपो जीवो प्रकाशवान् ॥ २७ ॥

śuddhasatvadaśāsaṅgī yogāntargṛhaniścalaḥ ।
upādhyayuk cirañjīvi dīpo jīvo prakāśavān ॥ 27 ॥

Tr. Just as the steady light of a lamp placed in a house illumines, similarly, the *jīva* having been attached to pure *satva*, through the practice of *yoga* and being devoid of attributes illuminates for ever . 27.

अंगुष्ठप्रमितेऽत्र लिंगसुतनौ हृत्पद्ममध्ये[3] सुखाढ्यं
बीजं भुवनस्य सृष्टिलयकृच्चिद्दीपं शुभम् ॥
आद्यं भास्करबिम्बविष्टरगतं हंसस्वरूपं जनान्तःस्थं[4]
ज्योतिरजं गमादिरहितं युक्तं स्वरूपं भजेत् ॥ २८ ॥

aṅguṣṭhapramite'tra liṅgasutanau hṛtpadmamadhye sukhāḍhyaṃ
bījaṃ bhuvanasya sṛṣṭilayakṛcciddīpaṃ śubham ॥
ādyaṃ bhāskarabimbaviṣṭaragataṃ haṃsasvarūpaṃ janāntaḥsthaṃ
jyotirajaṃ gamādirahitaṃ yuktaṃ svarūpaṃ bhajet ॥ 28 ॥

1. शुद्धहृत्पात्रयोऽचलः -b. 2. योगान्तर्गह –a. 3. हृत्पत्रमध्ये –b. 4. जनाऽन्तस्थः -b.

Tr. At the center of the heart, the consciousness which is like an auspicious lamp, is of the size of a thumb, which is just a *(liṅga)*, is the seed well-placed, which is the cause of creation and dissolution of the universe. This is pristine, which is situated steadily in the disc of the sun, of the form of *haṃsa* (purity), located inside all the creatures, all-illumining, unborn and steady which one should contemplate as it is ones own true self. 28.

इत्यात्मस्वरूपध्यानम् ।

ityātmasvarūpadhyānam ।

Here ends the meditation on the *ātmā* - it's true form.

लीने मनसि जीवोऽयं निर्विकारः सदाशिवः ।
चित्ताध्यासोऽस्य[1] संस्काराद्वेत्ति न स्वस्वरूपकम् ॥ २९ ॥

līne manasi jīvo'yaṃ nirvikāraḥ sadāśivaḥ ।
cittādhyāso'sya saṃskārādvetti na svasvarūpakam ॥ 29 ॥

Tr. Due to superimposition and *saṃskāra* (past impressions) in the *citta* one does not realize one's true Self. With full absorption of the mind, the *jīva* becomes *sadāśiva* (immutable, ever auspicious). 29.

पिशाचवार्त्तादिधृतावधानो यथानिशं सः शयने ससम्भ्रमम्[2] ।
पिशाचकानेव विलोकते स्वं तथा स्वमात्मन्यनुरक्त आत्मना ।३०।

piśācavārttādidhṛtāvadhāno
yathāniśaṃ saḥ śayane sasambhramam ॥
piśācakāneva vilokate svaṃ
tathā svamātmanyanurakta ātmanā ॥ 30 ॥

Tr. Just as one dreams of a demon alone while sleeping after carefully listening to the stories of demons, similarly, one experiences the self having been completely absorbed in it. 30.

अध्यारोपापवादाभ्यां वेदान्ताद्वैतनिर्णयः ।
आत्मस्वरूपं परोक्षममनस्कं विना न हि ॥ ३१ ॥

adhyāropāpavādābhyāṃ vedāntādvaitanirṇayaḥ ।
ātmasvarūpaṃ parokṣamamanaskaṃ vinā na hi ॥ 31 ॥

Tr. One can arrive at conclusion of *advaita* in *vedānta* through *adhyāropa* (superimposition) and *apavāda* (refutation). In the same manner, the self can be realized directly perceived

1. चिन्ताध्यासोऽन्य –b. 2. सम्भ्रमं –b.

by transcending the mind. 31.

देहब्रह्माण्डनाथे[1] हृदयसरसिजाभ्यन्तरे जीवसंज्ञे
चित्तत्वे[2] भ्राजमाने करणततिषु तत्स्वाधिदैवावृतो ॥
सुमोहाख्याऽविद्यया हंस इति मनुते[3] विस्मृतव्यस्तसोहं-
भावाध्यासेन शम्भौ कमिह वरमितो भावयेद् ध्वस्तमोहः ॥३२॥

dehabrahmāṇḍanāthe hṛdayasarasijābhyantare jīvasaṃjñe
cittatve bhrājamāne karaṇatatiṣu tatsvādhidaivāvṛto ॥
sumohākhyā'vidyayā haṃsa iti manute vismṛtavyastasohaṃ-
bhāvādhyāsena śambhau kamiha varamito bhāvayed
dhvastamohaḥ ॥ 33 ॥

Tr. In the universe of body, the Lord named as *jīva* resides in the center of lotus of the heart, which is full of consciousness, which expresses through the sense organs having been governed by their nature (deities). Illusioned by the pleasant infatuation and ignorance, the *haṃsa* is considered as *soham* due to superimposition. One should meditate on supreme *śaṃbhu*. 32.

धृतिमनः संकल्पकामभ्रमतृट् क्षुत्तृट्क्रोदिसततं गूढाचित्स्वं[4]
त्वमेको विज्ञानानन्दस्वरूप[5]स्त्वमसि परशिवो जीवभावम्[6] ॥
विमुचजानीह्यात्मानमेषो ऽस्म्यहमिति पुरुषो ऽलीकदेहे
स्वरूपो[7] रागोदीर्णस्य तेऽन्ते चरति तव रिपुर्लुण्ठने चित्तचौरः ३३

dhṛtimanaḥ saṅkalpakāmabhramatṛṭ kṣuttṛṭkrodisatataṃ gūḍhācitsvaṃ
tvameko vijñānānandasvarūpastvamasi paraśivo jīvabhāvam ॥
vimucajānīhyātmānameṣo'smyahamiti puruṣo'līkadehe
*svarūpo rāgodīrṇasya te'nte carati tava ripurluṇṭhane cittacauraḥ*33

Tr. The mind (the retentive power of mind) is always deeply involved in mental constructions, illusions, desires, hunger, thirst and anger (emotions). "You are the only consciousness, Blissful and the Supreme *śiva*. Please get rid of the form of *jīva* and realize the *ātman*, that is yourself". The *puruṣa*, taking up the unpleasant body as its own, gets tormented

1. ब्रह्माण्डनाथे –b. 2. चितत्वे –b. 3. मनुरेते –b. 4. गूढाचित्स्व –b. 5. विज्ञानानन्दरूप –b. 6. जीवभाव –b. 7. स्वरूपी –b.

due to attachment and works under your command. Since you steal (the true form of) the self you are considered a thief. 33.

नासास्ययोः प्राण उपैति याति सदा नभस्तं पिबते यदा तदा ।
प्रजातबोधादनुजीव एषोऽदृष्टाप्तजीवत्वं न उदितो भवेत्[1]॥३४॥

nāsāsyayoḥ prāṇa upaiti yāti
sadā nabhastaṃ pivatc yadā tadā ॥
prajātabodhādanujīva eṣo'dṛṣṭāpta-
jīvatvaṃ na udito bhavet ॥ 34 ॥

Tr. The *prāṇa* always moves in and out through nose and mouth. But when the *prāṇa* gets absorbed in the space (*brahmarandhra*), the *jīva* realizes its true Self and due to fortune it looses its *jīva*-hood. 34.

आत्मस्वरूपं किल हंसरूपं ब्रह्मस्वरूपं च तथैव वर्त्तते ।
आत्मानमन्ते[2] दहराम्बरस्य कृत्वात्मनि ध्यानमभेदमात्मनः ।३५।

ātmasvarūpaṃ kila haṃsarūpaṃ
brahmasvarūpaṃ ca tathaiva varttate ॥
ātmānamantc daharāmbarasya
kṛtvātmani dhyānamabhedamātmanaḥ ॥ 35 ॥

Tr. The nature of *ātmā, haṃsa* and *brahma* being identical one should meditate on *ātmā* in the region of the heart. 35.

यथा—

yathā—

As for—

रुद्रो वक्त्रं बिन्दुवक्षास्तथैव मूर्धोंकारो[3] हंसरूपस्य विष्णोः ।
अग्नीषोमौ पक्षतीजीवहेतूपक्षछिन्नः स्वस्वरूपोयमात्मा ॥ ३६ ॥

rudro vaktraṃ binduvakṣāstathaiva
mūrdhoṃkāro haṃsarūpasya viṣṇoḥ ॥
agnīṣomau pakṣatījīvahctūpakṣachinnaḥ
svasvarūpoyamātmā ॥ 36 ॥

Tr. *rudra* is situated in the mouth, *bindu* in the chest and *omkāra* in the head — which are the forms of *haṃsa* of *viṣṇu*. *agni* (fire) and *soma* (moon) are like the two wings of a bird (*haṃsa*) bereft of which the true form of *ātmā* gets revealed. 36.

---

1. ऽदृष्टाप्तजीवत्व तदुक्तिकृतो भवेत् -b. 2. आत्मातमन्ते --b. 3. मूर्धोकारो –b.

भ्रमति पक्षयुगेन भवाटवीं विषयपादप[1] कर्मफलाप्तये ।
सततदुःखसुखामिषभुग् जडो वटपाऽसुखगो[2] ऽसदविद्यया ॥३७॥

bhramati pakṣayugena bhavāṭavīṃ
viṣayapādapakarmaphalāptaye ॥
satataduḥkhasukhāmiṣabhug jaḍo
vaṭapā'sukhago'sadavidyayā ॥ 37 ॥

Tr. With the pair of wings, it flies in the woods of (mundane) world to consume the fruits of the tree of sensual objects while continuously enjoying the objects giving sorrow and happiness while remaining unaware due to attachment to cowries (trifles), unhappiness and ignorance. 37.

प्राणापानावग्नीषोमावेतौ[3] पक्षौ प्राणायामैः ।
छित्वा निर्व्यापारो[4] मुक्ताविद्यस्तत्वं[5] स्वं वेत्त्येषः ॥ ३८ ॥

prāṇāpānāvagnīṣomāvetau pakṣau prāṇāyāmaiḥ ।
*chitvā nirvyāpāro muktāvidyastatvaṃ svaṃ vettyeṣaḥ*38

Tr. Through the practice of *prāṇāyāma*, the pair of wings in the form of *prāṇa* and *apāna* representing *agni* and *soma* is severed, rendering one inactive, free and relieved of ignorance which facilitates self-realization. 38.

॥ इति हठतत्वकौमुद्यां[6] हंसशारीरविवेचनोद्योतः ॥

॥ iti haṭhatatvakaumudyāṃ haṃsaśārīravivecanodyotaḥ ॥

Here ends the chapter narrating the *haṃsaśarīra* in *haṭhatatvakaumudī*.

---

1. विषयादय –b. 2. वटपाः सुखगो –b. 3. षोमावेनौ –b. 4. निव्यापारो –b. 5. विद्यस्वत्वं –a. 6. हठकौमुद्यां –a.

Chapter – 21

अथौषधाकल्पः—

athauṣadhakalpaḥ—

Rejuvenating medicine—

सुरासुरैस्तूयमाना[1] सा मुण्डी त्रिविधा मता ।
सिता रक्तासिता चेति[2] सत्वराजसतामसाः ॥ १ ॥

surāsuraistūyamānā sā muṇḍī trividhā matā ।
sitā raktāsitā ceti ṣatvarājasatāmasāḥ ॥ 1 ॥

Tr. *muṇḍi* which is of three types has been eulogized by the gods and demons alike, which is white, red and black representing *satva, rajas* and *tamas*. 1.

शुक्लपक्षे[3] तु पूर्णायां पुष्यरेवतिरोहिणे ।
श्रवणेऽर्के समभ्यर्च्य समूलां तां समाहरेत् ॥ २ ॥

śuklapakṣe tu pūrṇāyāṃ puṣyarevatirohiṇe ।
śravaṇe'rke samabhyarcya samūlāṃ tāṃ samāharet ॥ 2 ॥

Tr. On a full moon day or in a bright fortnight, in *puṣya, revati, rohiṇī, śravaṇa* constellations or on *arka* (Sunday), one should collect it along with roots after worshipping it. 2.

तच्चूर्णसेवनात् सप्तरात्रौ शारीरवान् भवेत् ।
द्विसप्तदिवसं खादन्न[4]मरत्वमवाप्नुयात् ॥ ३ ॥

taccūrṇasevanāt saptarātrau śārīravān bhavet ।
dvisaptadivasaṃ khādannamaratvamavāpnuyāt ॥ 3 ॥

Tr. Consuming its powder for seven nights (days), one attains a perfect body. Consuming this for fourteen days, one lives long life. 3.

छायाशुष्कं तु तच्चूर्णं कर्षं गोपयसा सह ।
वर्षैकेन रुजं हन्ति जीवेद् वर्षशतत्रयम् ॥ ४ ॥

chāyāśuṣkaṃ tu taccūrṇaṃ karṣaṃ gopayaṣā saha ।
varṣaikena rujaṃ hanti jīved varṣaśatatrayam ॥ 4 ॥

Tr. It should be dried under shade and the powder measuring one *karṣa* (54 gms.) should be consumed with cow's milk for one year which rids one of diseases and one may live for three hundred years. 4.

---

1. स्तूपमाना –a. 2. वेति –b. 3. पक्ष्ये –b. 4. खादृन्न –b.

ओं नमो भगवतेऽमृतोद्भवायाऽमृतं कुरु स्वाहा ॥ ५ ॥

om namo bhagavate'mṛtodbhavāyāmṛtaṃ kuru svāhā —
(*mantra* for consuming the medicine). 5.

इति मुण्डीकल्पः ॥

iti muṇḍīkalpaḥ ॥

Here ends *muṇḍīkalpa*.

वाराहीकन्दचूर्णं घृतगुडसहितं भक्षयेत् । पुष्टिवृद्धिः तक्रोदन[1]मिताशस्त्वथ पुनरपि गोः क्षीरके कुष्ठनाशः तद्वर्णांश ॥ ६ ॥

vārāhīkandacūrṇaṃ ghṛtaguḍasahitaṃ bhakṣayet । *puṣṭivṛddhiḥ takrodanamitāśastvatha punarapi goḥ kṣīrake kuṣṭhanāśaḥ tadvarṇāṃśa* ॥ 6 ॥

Tr. One should consume powder of the roots of *vārāhī* along with *ghee* and molasses which offers nourishment. One should consume rice and buttermilk in moderation and also cow milk to overcome skin disease. 6.

अथ शारीरोल्लासे –

atha śārīrollāse—

Now the discussion on anatomy—

तथा चोक्तं स्पर्शयोगशास्त्रे[2] –

tathā coktaṃ sparśayogaśāstre—

It has been maintained in *sparṣayogaśāstra*—

नाडीसञ्चारिपवनगतिस्थानविदो मुनेः ।
शारीरज्ञगुरोरन्ते निष्णातस्तत् क्रियां चरेद् ॥ इति ॥ ७ ॥

nāḍīsañcāripavanagatisthānavido muneḥ ।
śārīrajñagurorante niṣṇātastat kriyāṃ cared ॥ *iti* ॥ 7 ॥

Tr. One who has received expertise from a *guru* who is a master in anatomy and possesses the knowledge of the movement of *prāṇa* in the *nāḍīs* and its locations, should only undertake the practice. 7.

शान्तषोडश१६कलाभिरन्वितस्तुंगमेरुशिखरेऽमृतांशुमान् ।
वर्षति प्रतिदिनं ह्यधोमुखः सोऽमृतं तत इदं द्विधाऽभवत् ॥ ८ ॥

---

1. पुष्टिवृद्धिस्तक्रोदुन –a. 2. स्पर्शयोगेशास्त्रे –a.

śāntaṣoḍaśa 16kalābhiranvitas-
tuṅgameruśikhare'mṛtāṃśumān ||
varṣati pratidinaṃ hyadhomukhaḥ
so'mṛtaṃ tata idaṃ dvidhā'bhavat || 8 ||

Tr. The (moon) is placed on the top of the *meru* (spine), is adorned by 16 *kalās* (digits), which are *(śānta)* cool in nature, which has rays containing ambrosia, which faces downwards and secrets the nectar incessantly. (The nectar) herefrom has got divided into two. 8.

इडाऽध्वना याति सुसूक्ष्ममेतन्मन्दाकिनीवारि सुपुष्टयेऽमलम् ।
पुष्णाति[1] देहं सकलं नराणामिडातिसूक्ष्माऽयनया तमेव ॥ ९ ॥

iḍā'dhvanā yāti susūkṣmametan-
mandākinīvāri supuṣṭaye'malam ||
puṣṇāti dehaṃ sakalaṃ narāṇām-
iḍātisūkṣmā'yanayā tameva || 9 ||

Tr. Extremely subtle and pure flow of *mandākinī* secretes through the passage of *iḍā* for replenishment. This very subtle *iḍā* nourishes the entire body of a man. 9.

स एष चन्द्रो ननु वामपार्श्वे व्यवस्थितोऽथापर इन्दुरास्ते[2] ॥
शुद्धो हठाकर्षितमण्डलोऽयं सृष्ट्यर्थमायाति सुमेरुतोऽधः ।१०।

sa eṣa candro nanu vāmapārśve
vyavasthito'thāpara indurāste ||
śuddho haṭhākarṣitamaṇḍalo'yaṃ
sṛṣṭyarthamāyāti sumeruto'dhaḥ || 10 ||

Tr. The moon is indeed located at the left side. There is another moon flowing from the *sumeru* (spine) downwards is for creation and pure which is forcefully pulled. 10.

रन्ध्राध्वना मूलपदे सुमेरोः सन्तिष्ठते द्वादश सत्कलावान् ।
देदीप्यमानो[3] रविरूर्ध्व[4]वाहो दक्षे पथि प्रौढकरः प्रजेशः ॥ ११ ॥

randhrādhvanā mūlapade sumeroḥ
santiṣṭhate dvādaśa satkalāvān ||
dedīpyamāno ravirūrdhvavāho
dakṣe pathi prauḍhakaraḥ prajeśaḥ || 11 ||

Tr. The sun (*ravi*) having twelve *kalās* is located at the

1. पुष्ण्याति –b. 2. व्यवस्थिःतोथाऽपरं इदं रास्ने –b. 3. देदीपमानो –b. 4. रूर्ध्व वाहो –b.

base of the sumeru (spine) which flows on the right side (of the spine), has the rays shooting upwards. It is the lord of all the creatures and it causes old age. 11.

ग्रसत्यसाविन्दु[1]सुधां च धातून् सूर्योऽखिलांगे भ्रमते नराणाम् ।
स एष सूर्यो नरदक्षमार्गे[2] लग्नप्रयोगाच्चलतेऽतिसृष्टिम्[3] ॥१२॥

grasatyasāvindusudhāṃ ca dhātūn
sūryo'khilāṅge bhramate narāṇām ॥
sa eṣa sūryo naradakṣamārge
lagnaprayogāccalate'tisṛṣṭim ॥ 12 ॥

Tr. The sun which moves through the whole human body consumes the ambrosia flowing from the moon and the bodily constituents. The sun courses through the right side of the body. It moves according to the zodiacal signs and transcends creation. 12.

दक्षेतरां गतिमतीत्य यदा सुमेरोः
साम्यं[4] प्रयाति तरणिर्[5] विषुवं तदुक्तम् ॥
ज्ञात्वा तनौ विषुवकालम[6]तीव पुण्यम्[7]
उत्क्रान्ति[8]कालसुयुजा सुखमेति योगी ॥ १३ ॥

dakṣetarāṃ gatimatītya yadā sumeroḥ
sāmyaṃ prayāti taraṇir viṣuvaṃ taduktam ॥
jñātvā tanau viṣuvakālamatīva puṇyam
utkrāntikālasuyujā sukhameti yogī ॥ 13 ॥

Tr. When the sun moves to the left and a balance in the *meru* (spine) is established, it is called *viṣuva* (equinox). Knowing the time of which in the body a *yogī* enjoys Supreme Bliss, devotedly adhering to the time of *utkrānti* (dissolution) which is highly auspicious. 13.

देहस्य मध्ये शिखिनः पदं स्यात्[9]
तत्तप्तजाम्बूनद[10]सन्निकाशम् ॥
नृणां त्रिकोणं च तदन्तराले[11]
तन्वी शिखा[12] तिष्ठति पावकस्य ॥१४॥

---

1. ग्रसत्यसाविन्द –b. 2. नरक्षमार्गे –b. 3. सृष्टं –b. 4. साम्य–a. 5. तरणि –b. 6. विषकाल –b. 7. पुण्य –b. 8. शुक्रान्ति –b. 9. पदंस्था –b. 10. तप्तजम्बूनद –b. 11. नदन्त एव –b. 12. शिषा –b.

dehasya madhye śikhinaḥ padaṃ syāt-
tattaptajāmbūnadasannikāśam ॥
nṛṇāṃ trikoṇaṃ ca tadantarāle
tanvī śikhā tiṣṭhati pāvakasya ॥ 14 ॥

Tr. At the center of the body of man there is the abode of fire which is as bright as hot gold, which is triangular in shape at the center of which lies the slim ray of fire. 14.

नाभेरधो द्व्यंगुलतो[1] गुदात्तु
स्याद्[2] द्व्यंगुलादू[3]र्ध्वमिदं नराणाम् ॥
देहस्य मध्यं परिवर्णयन्ती
शारीरविज्ञाः मुनयः प्रवीणाः ॥ १५ ॥

nābheradho dvyaṅgulato gudāttu
syād dvyaṅgulādūrdhvamidaṃ narāṇām ॥
dehasya madhyaṃ parivarṇayantī
śārīravijñāḥ munayaḥ pravīṇāḥ ॥ 15 ॥

Tr. The *munis* who are adepts and who are experts in (human) anatomy, describe the center of the human body which is two digits below the navel and two digits above the anus. 15.

ऊर्ध्वमाधारतो द्व्यंगुला[4]न्मेहनाद्
द्व्यं[5]गुलान्यत्तनो[6]र्मध्य एकांगुले ॥
तप्तजाम्बूनदाभा शिखावान्[7] शिखी
मानवे मानतो ह्यंगुसंस्थितः[8] ॥ १६ ॥

ūrdhvamādhārato dvyaṅgulānmehanād
dvyaṅgulānyattanormadhya ekāṅgule ॥
taptajāmbūnadābhā śikhāvān śikhī
mānave mānato hyaṅgusaṃsthitaḥ ॥ 16 ॥

Tr. Two digits above the *ādhāra* (perineum) and two digits below the generative organ, measuring one digit is the center of the body. This is the location of fire with flame in the body measuring one digit, which is as shinning as hot gold. 16.

तस्माच्चक्रादूर्ध्वे उत्सेधान्नाभ्य[9]धोऽध्वि४संमितात्करजात् ।
ब्रह्मग्रन्थिर्नाम्ना त्रिशूलिका[10] यत्र नन्दत[11] जीवः ॥ १७ ॥

1. रऽधोंब्धंऽगुलतो –b. 2. गुदातस्यां –b. 3. ह्यंऽगुलाहदू –b. 4. धारतोब्धंगुलान् —b. 5. मेहनाड्यं –b. 6. प्रक्तनो –b. 7. शिखावानु —a. 8. मानतोह्येऽगुलेसंस्थितः —b. 9. उत्सेधात्राभ्य –b. 10. र्त्रआत्रिमूलिका –b. 11. नन्द –b.

tasmāccakrādūrdhve utsedhān-
nābhyadho'dhvi4sammitātkarajāt ॥
brahmagranthirnāmnā triśūlikā
yatra nandata jīvaḥ ॥ 17 ॥

Tr. Above this *cakra* and below the navel at the distance of 4 digits, is location of *brahmagranthi* in the form of trident, where the *jīva* rejoices. 17.

तदीयमध्ये तनुनाभिचक्रं तद् द्वादशारं भ्रमतीह जीवः ।
जालस्थलूतेव सुषुम्निकोर्ध्व[1]रोहावरोहद्रुततो[2]ऽनिलाभ्याम् ।१८।

tadīyamadhye tanunābhicakram
tad dvādaśāram bhramatīha jīvaḥ ॥
jālasthalūteva suṣumnikordhva-
rohāvarohadrutato'nilābhyām ॥ 18 ॥

Tr. Inside this the subtle *nābhicakra* of twelve spokes *jīva* moves up and down like a spider in its cobweb, through *suṣumṇā*, being driven by (two) *prāṇas* (*prāṇa* and *apāna*). 18.

आ ब्रह्मरन्ध्रं च महापथं शिराः
सर्वा हि कन्दं परिवेष्ट्य[3] संस्थिताः ॥
कन्दात्प्रयाता[4] मनुजस्य लग्ना
योनेः समन्तादिव लूतिकोर्णया ॥ १९ ॥

ā brahmarandhram ca mahāpatham śirāḥ
sarvā hi kandam pariveṣṭya samsthitāḥ ॥
kandātprayātā manujasya lagnā
yoneḥ samantādiva lūtikorṇayā ॥ 19 ॥

Tr. All the *nāḍīs* encircling the *kanda* courses through the *suṣumṇā* upto *brahmarandhra*. Like the cobweb of a spider (the *śirās*) originate from the *kanda* and sticking all through the perineum in the human body. 19.

आधारतो द्व्यंगुल[5]मूर्ध्वमास्ते लिंगादधो द्व्यंगुलतो भगान्तः[6] ।
कन्दोपरिष्टादरुणं त्रिकोणं तज्जाठराग्नेः पदमामनन्ति ॥ २० ॥

ādhārato dvyaṅgulamūrdhvamāste
liṅgādadho dvyaṅgulato bhagāntaḥ ॥

---

1. सुपुत्रिकोर्ध —b. 2. दुततो –a. 3. कन्दपरिवेष्टन –b. 4. कन्दाश्रयाता –b. 5. ध्यंगुल –a. 6. भगान्तेः —b.

kandopariṣṭādaruṇaṃ trikoṇaṃ
tajjāṭharāgneḥ padamāmananti ॥ 20 ॥

Tr. Two digits above the *ādhāra* (perineum), two digits below the genital and above the *kanda*, is the red triangle which is considered the seat of gastric fire. 20.

स एष पक्वाशय[1] उच्यते ज्ञैस्तदन्तरे मूत्रमलाशयो न्यक् ।
विण्मूत्रवस्न्यन्तर[2]गोऽस्ति गर्भाशयो भुजंग्याः पदमत्र दक्षे[3] ।२१।

sa eṣa pakvāśaya ucyate jñais-
tadantare mūtramalāśayo nyak ॥
viṇmūtravahnyantarago'sti garbhā-
śayo bhujaṅgyāḥ padamatra dakṣe ॥ 21 ॥

Tr. Experts call it *pakvāśaya* below which lie urinary bladder and bowels which are replete with faeces and urine. The *garbhāśaya* (womb) is located at the center of big intestine, bladder and fire at the right of which the seat of *bhujaṅgī* is located. 21.

त्रिकोणमग्नेः पुरमण्डलं यत्
तद् वर्त्तुले भास्करमण्डलेऽन्तः[4] ॥
तत्रास्त्यणुः[5] काम इतीह नाम्ना
शिखी ततोऽधो भुजगी चकास्ति ॥ २२ ॥

trikoṇamagneḥ puramaṇḍalaṃ yat-
tad varttule bhāskaramaṇḍale'ntaḥ ॥
tatrāstyaṇuḥ kāma itīha nāmnā
śikhī tato'dho bhujagī cakāsti ॥ 22 ॥

Tr. The abode of fire (abdominal) is triangular in shape which is situated inside the circular orb of the sun. There lies the subtle *kāma* (desire) which is named *śikhī* (flame) below which *bhujagī (kuṇḍalī)* shines. 22.

वीणाग्रावर्त्तसदृशी सर्पाभा प्रणवाकृतिः ।
अरुणांग्यष्ट[6]वलया शक्तिलूतैकतन्त्वणुः ॥ २३ ॥

vīṇāgrāvarttasadṛśī sarpābhā praṇavākṛtiḥ ।
aruṇāṅgyaṣṭavalayā śaktilūtaikatantvaṇūḥ ॥ 23 ॥

---

1. पकाशय –b. 2. वह्न्त्यन्तर –a. 3. दक्ष्ये –b. 4. मण्डलेऽन्त –b. 5. तत्रास्त्यण्डः –b. 6. अरुणांगाष्ट –b.

Tr. Rounded like the head of a *vīṇā*, *śakti (kuṇḍali)* is like a snake in the shape of *praṇava (om)*, red in colour, sporting eight coils and as fine as the fibre of a spiders cobweb. 23.

एवंविधेयमुरगी[1] परिवेष्ट्य नाडी
सा कुण्डलाकृतितयाऽग्निशिखा[2]तलाधः ॥
कन्दोर्ध्वमस्ति परिसुप्तफणीन्द्र[3]तुल्या
पुच्छं निवेश्य वदनं च महापथास्ये[4] ॥ २४ ॥

evaṃvidheyamuragī pariveṣṭya nāḍī
sā kuṇḍalākṛtitayā'gniśikhātalādhaḥ ॥
kandordhvamasti parisuptaphaṇīndratulyā
pucchaṃ niveśya vadanaṃ ca mahāpathāsye । 24।

Tr. Such is the serpent (*kuṇḍalī*) encircling the *nāḍī* lies in a coiled state. It lies under the flame of fire above the *kanda* like a serpent in a dormant state. Its tail inserted in her mouth, it lies in the path of *suṣumṇā*. 24.

योनौ भुजंग्या वदनान्तराले
गर्भास्ति[5] नाडीनिवहस्य लिंगम् ॥
तत् पश्चिमास्यं परिगुप्तमन्तस्
तन्[6]मस्तके विश्वमिदं विभाति[7] ॥ २५ ॥

yonau bhujaṅgyā vadanāntarāle
garbhāsti nāḍīinivahasya liṅgam ॥
tat paścimāsyaṃ pariguptamantas-
tanmastake viśvamidaṃ vibhāti ॥ 25 ॥

Tr. In the entrance of the mouth of *bhujagī*, there lies the *garbha* (womb) which is the sign of the group of the *nāḍīs*. It faces westward (backwards) and hidden inside and the whole universe rests on its head. 25.

आधारचक्रात्तु नवांगुलोर्ध्वं
देहस्य कन्दोऽस्ति स नाभिकन्दः ॥
अब्ध्यंगुलो४[8] दैर्घ्यसुविस्तृतिभ्यां
स जीवगेहं च शिरौघमूलम् ॥ २६ ॥

---

1. यमुरगो –b. 2. इनिशिखा –a. 3. फणीद्र —a. 4. महायथास्ये –b. 5. गभीस्ते –b. 6. मतस्तन् —b. 7. विभान्ति –b. 8. अष्टांगुलो –a.

ādhāracakrāttu navāṅgulordhvaṃ
dehasya kando'sti sa nābhikandaḥ ||
abdhyaṅgulo4 dairghyasuvistṛtibhyāṃ
sa jīvagehaṃ ca śiraughamūlam || 26 ||

Tr. In the (human) body *nābhi-kanda* resembls a bulbous root, which is placed nine digits above the *ādhāracakra*. It is well spread extending four (4) digits, which is the origin of the *śirās* (channels) and is the abode of *jīva*. 26.

तथा चोक्तं योगचन्द्रिकायाम् —
tathā coktaṃ yogacandrikāyāṃ —

Accoding to *yogacandrikā*—

ऊर्ध्वे मेढ्रादधो[1] नाभेः कन्दयोनिः षडंगुला
तत्र नाड्यः समुत्पन्ना सहस्राणि द्विसप्ततिः ॥
तेषु नाडीसहस्रेषु द्विसप्ततिरुदाहृता
प्रधानाः पञ्चवाहिन्यो भूयस्तत्र दश[2] स्मृताः ॥ २७ ॥

ūrdhve meḍhrādadho nābheḥ kandayoniḥ ṣaḍaṅgulā
tatra nāḍyaḥ samutpannā sahasrāṇi dvisaptatiḥ ||
teṣu nāḍīsahasreṣu dvisaptatirudāhṛtā
pradhānāḥ pañcavāhinyo bhūyastatra daśa smṛtāḥ || 27 ||

Tr. The *kandayoni* measuring six digits lies above the generative organ and below the navel. The set of 72,000 *nāḍīs* is originated from this, from among which seventy two are considered important, still these ten are considered very important and among which five are more important. 27.

इति ब्रह्मग्रन्थिर्नाभिकन्दः स उक्तः ॥
iti brahmagranthirnābhikandaḥ sa uktaḥ ||

Therefore, *nābhikanda* is called *brahmagranthi*.

कन्दाधस्तात् प्राण आस्याद्य एति स्वाधिष्ठानोर्ध्वम् ।
स्थितो चाति[3]वक्त्रनासानाभीहृत्सु नित्योर्ध्वयायी[4] ॥ २८ ॥

kandādadhastāt prāṇa āsyādya eti svādhiṣṭhānordhvam |
sthito cātivaktranāsānābhīhṛtsu nityordhvayāyī || 28 ||

---

1. ऊंर्ध्येमहादधो –b. 2. दशा –b. 3. स उक्तः ॥ कन्दाधस्तात् प्राण आस्याद्यति स्वाधिष्ठानोर्ध्वं स्थितो चाति —अनुपलब्धपाठः —b. 4. नित्योपायी –b.

Tr. *prāṇa* arises from below *kanda* and courses to the mouth above *svādhiṣṭhāna* and always moves upward through mouth, nose, navel and heart. 28.

इति सुन्दरदेवविरचितायां
हठतत्वकौमुद्यांब्रह्मपुर[1]निरूपणोद्योतः ॥

॥ iti sundaradevaviracitāyāṃ haṭhatatvakaumudyāṃ brahmapuranirūpaṇodyotaḥ ॥

Here ends the chapter describing the abode of *brahma* in *haṭhatatvakaumudī* composed by *sundaradeva*.

1. ब्रह्मपर -b

Chapter—22

अथ प्राणादिवायवः —

atha prāṇādivāyavaḥ —

Description of the *vāyus* like *prāṇa*—

श्वासोच्छ्वासोच्चारणादेर्निदानम्

एषः प्राणायाम आकृष्य कोष्ठे ॥

अन्यान्वायून्[1] कण्ठनाभ्यांगसंस्थान्

चित्तासूभ्यां सम्भ्रमत्येव वात्या ॥ १ ॥

śvāsocchvāsoccāraṇādernidānam

eṣaḥ prāṇāyāma ākṛṣya koṣṭhe ॥

anyānvāyūn kaṇṭhanābhyāṅgasaṃsthān

cittāsūbhyāṃ sambhramatyeva vātyā ॥ 1 ॥

Tr. Characteristics of *prāṇāyāma* are inhalation, exhalation and (production of) sound. This requires pulling up of all the *vāyus* from throat, navel and limbs to the (chest) cavity and move it with onepointedness along with mind and *prāṇa vāyu*. 1.

अपानो गुदे संस्थितो याति मेढ्रकटीजानुजंघोदरोरूषु नाभौ[2] ।

समीरावमू कुम्भके[3] मूलबन्धे निरोधो हठान्नैव शक्यत आदौ ।२।

apāno gude saṃsthito yāti meḍhra-

kaṭījānujaṅghodarorūṣu nābhau ॥

samīrāvamū kumbhake mūlabandhe

nirodho haṭhānnaiva śakyata ādau ॥ 2 ॥

Tr. *apāna* is located at the anus but moves to generative organ, waist, knee, calves, abdomen, thigh and navel. These two *prāṇas (prāṇa* and *apāna)* can be controlled initially through *kuṃbhaka* and *mūlabandha* and not by force. 2.

ईश्वर्या वलयैर्मुखेषु सुदृढं बद्धासु नाडीष्वलं

यातुं[4] नास्ति तथा कदन्नरसतः सश्लेष्मपित्तै[5]र्मलैः ॥

सूक्ष्मास्यान्त[6]रगर्भकासु पवनः शक्यः पुरा साधने[7]

वात्येव भ्रमति द्रुतं चलमनो योगेऽन्तरे क्षुभ्यति ॥ ३ ॥

īśvaryā valayairmukheṣu sudṛḍhaṃ baddhāsu nāḍīṣvalaṃ

yātuṃ nāsti tathā kadannarasataḥ saśleṣmapittairmalaiḥ ॥

---

1. आन्यान्वायूत् —b. 2. दरोरूषनाभौ –b. 3. कम्भके –b. 4. पातुं –a. 5. सश्लेष्यापितौ –b. 6. सूक्ष्म्यास्यान्तर –b. 7. ह्याधने –a.

sūkṣmāsyāntaragarbhakāsu pavanaḥ śakyaḥ purā sādhane
vātyeva bhramati drutaṃ calamano yoge'ntare kṣubhyati ॥ 3 ॥

Tr. All the *nāḍīs* are well tied up at the opening of *īśvarī* which is coiled. The *prāṇa* won't move in the subtle mouth of the *nāḍīs* due to impurities of phlegm and bile caused due to unwholesome food. In the initial phase of practice of *yoga* the mind sways fast and gets irritated like wind. 3.

यात्युन्मार्गमसौ मरुद्वितनुते[1] रोगाननेकविधान्[2]
हिक्काश्वासमुखानतः[3] प्रथमतः स्वल्पक्रमाद्वर्धयेत् ॥
कुम्भं नो[4] सहसा त्यजेत् प्रमितभुक् सत्साधकः सादरं
चैकान्ते स्थिरचेतत्येति[5] विहिते सिद्धिर्भवेन्नान्यथा ।४।

yātyunmārgamasau marudvitanute rogānanekavidhān
hikkāśvāsamukhānataḥ prathamataḥ svalpakramādvardhayet ।
kumbhaṃ no sahasā tyajet pramitabhuk satsādhakaḥ sādaram
caikānte sthiracetatyeti vihite siddhirbhavennānyathā ॥ 4 ॥

Tr. When the *prāṇa* goes astray, it produces several ailments like hiccup, asthma, and diseases related to mouth etc. In the beginning one should increase the time of *kuṃbhaka* slowly and it should not be released abruptly. A bona fide practitioner should consume moderate food, live in a desolate place which leads to poised state of the mind. Following this prescribed path, one attains success and not otherwise. 4.

प्राणोऽपानसमानव्यानोदानाश्च वायवः पञ्च ।
हृद्गुद[6]नाभी सर्वावयव[7]गलेषु स्थिताः क्रमशः ॥ ५ ॥

prāṇo'pānasamānavyānodānāśca vāyavaḥ pañca ।
hṛdgudanābhī sarvāvayavagaleṣu sthitāḥ kramaśaḥ ॥ 5 ॥

Tr. There are five *vāyus* like *prāṇa, apāna, samāna, vyāna* and *udāna* which are located at heart, anus, navel, all over the body and throat respectively. 5

कूर्मः कृकरो[8] नागो धनञ्जयः देवदत्त इमे ।
उन्मेषक्षुत्कृतितनू[9]न्मोटनमरणान्तलंभजृम्भिकाः[10] ॥ ६ ॥

---

1. द्वितनते –b. 2. ननेकाविधान् –b. 3. मुखांनतः –a. 4. कुम्भनो –b. 5. चेतत्यति –b. 6. ह्यदभुद –b. 7. सर्वाऽयव –b. 8. क्रकरो –b. 9. उन्मेषक्षुत्कृतितनूर्व –a. 10. लंमजृम्भाकाः –a.

kūrmaḥ kṛkaro nāgo dhanañjayaḥ devadatta ime |
unmeṣakṣutkṛtitanūnmoṭanamaraṇāntalambhajṛmbhikāḥ || 6 ||

Tr. And, *kūrma*, *kṛkara*, *nāga*, *dhanañjaya* and *devadatta*— are responsible for functions like movements of the eyelids, hunger, crushing of the body, death and yawning (respectively). 6.

एकः प्राणो दशधा १० भक्तिः[1] नामानाचेष्टः सर्वनाडीवहोऽयम् ।
व्याप्तो देहेऽनेन जीवद्वयेन प्राणीत्याख्या मृत्युरेतद्विरामः ॥ ७ ॥

ekaḥ prāṇo daśadhā 10 bhaktiḥ
nāmānāceṣṭaḥ sarvanāḍīvaho'yam ||
vyāpto dehe'nena jīvadvayena
prāṇītyākhyā mṛtyuretadvirāmaḥ || 7 ||

Tr. The *prāṇa* divided into ten bearing different names, moves into all the *nāḍīs*, pervades the whole body. One is called *prāṇī* (living being) because of the two *jīvas* (*prāṇa* and *apāna*), pause in the movement of which is known as death. 7.

एतज्जयः कालजयः स एव सचेतसोऽस्याभिलयः[2] समाधिः ।
ग्रन्थेर्भिदा यत्तु[3] निजस्वरूपं तदेव तत्वं ह्यपरं विनाशि ॥ ८ ॥

etajjayaḥ kālajayaḥ sa eva
sacetaso'syābhilayaḥ samādhiḥ ||
granthербhidā yattu nijasvarūpaṃ
tadeva tatvaṃ hyaparaṃ vināśi || 8 ||

Tr. Control of this (*prāṇa*) means control of death. Absorption of it (*prāṇa*) with *citta* is the state of *samādhi*; piercing of the knots leads to realization of the Self, which is the *tatva*. Everything else is transient. 8.

चित्तस्य प्रसराद् भृशं वपुरिदं क्षोभं प्रयाति ध्रुवं
संक्षोभाद् वपुषो वहन्ति पवना उत्सृज्य साम्यं निजम् ॥
वैषम्यैः श्वसनो वहत्यथ शिरा यान्त्य[4]ऽव्यवस्थां तदा
भुक्तं याति न पाकमामरसतो व्याधिः स हूतो[5] मृतेः ९

cittasya prasarād bhṛśaṃ vapuridaṃ kṣobhaṃ prayāti dhruvam
saṃkṣobhād vapuṣo vahanti pavanā utsṛjya sāmyaṃ nijam |
vaiṣamyaiḥ śvasano vahatyatha śirā yāntya'vyavasthāṃ tadā
bhuktaṃ yāti na pākamāmarasato vyādhiḥ sa hūto mṛteḥ || 9 ||

1. पक्तिः —a. 2. भिलपः —b. 3. यतु –a. 4. यान्त्या --b. 5. स दूतो –a.

Tr. Due to disturbance of *citta*, body certainly gets agitated. Due to disturbance (of the body) the *prāṇas* which are circulating in the body give up their balanced state causing distortion in breathing. A disturbed flow of breath *(prāṇa)* in the *śirās* (channels) would not allow the consumed food being digested properly which would produce *āmarasa* (toxicity). This produces diseases inviting quick death. 9.

यथा स्वभावा परिरेचनेन हि पथ्या हरत्यामरसं[1] च रोगम् ।
समाधयस्तत्वविभावनोजसा मनःप्रसादेन हरन्ति मृत्युम् ॥ १० ॥

yathā svabhāvā parirecanena hi
pathyā haratyāmarasaṃ ca rogam ॥
samādhayastatvavibhāvanojasā
manaḥprasādena haranti mṛtyum ॥ 10 ॥

Tr. Just as myrobalan by its purgative effects naturally removes undigested food elements and disease, similarly, contemplation on *tatvas* in *samādhi* causes tranquility of mind and increases energy which overcomes death. 10.

करोति कर्माणि विचार्य चित्ते विलिप्यते तत्सुखदुःखहेतुभिः ।
समाधिलीनं यदि चित्तमत्र सुखं न दुःखं निजनिर्गुणात्मनि ।११।

karoti karmāṇi vicārya citte
vilipyate tatsukhaduḥkhahetubhiḥ ॥
samādhilīnaṃ yadi cittamatra
sukhaṃ na duḥkhaṃ nijanirguṇātmani ॥ 11 ॥

Tr. (Even) if one conducts the activities after thorough deliberation in the *citta* one indulges into the cause of happiness and suffering. If *citta* is absorbed in *samādhi*, being in one's own self bereft of attributes, one would not experience happiness or suffering. 11.

जीवः स्थित्वा[2] द्वादशारे सरोजे
बद्धः स्वीयैः कर्मभिर् दुर्गुणात्मा ॥
ग्राही स्वार्थानां मनोहृतयोगाद्
देहं[3] क्षुद्रं चेतयन्वेत्ति[4] न स्वम् ॥ १२ ॥

jīvaḥ sthitvā dvādaśāre saroje
baddhaḥ svaīyaiḥ karmabhir durguṇātmā ॥

---

1. हरत्यासरसं –b. 2. स्थित्या –b. 3. योगादेहं –b. 4. चेतयत्वीत –a.

grāhī svārthānāṃ manohṛtayogād-
dehaṃ kṣudraṃ cetayanvetti na svam ॥ 12 ॥

Tr. *jīva* is confined in the lotus of twelve petals due to its own defiled *karma*. One perceives one's own objects remaining under the control of the mind and gives importance to the trifle body. Hence one does not know the Self. 12.

प्राणापानवशोऽयं धावति जीवोऽधरे चोर्ध्वम्[1] ।
सव्यापसव्य[2]मार्गात्र दृश्यते लौल्यतोऽणुत्वात् ॥ १३ ॥

prāṇāpānavaśo'yaṃ dhāvati jīvo'dhare cordhvam ।
savyāpasavyamārgānna dṛśyate laulyato'ṇutvāt ॥ 13 ॥

Tr. *jīva*, having been controlled by *prāṇa* and *apāna* moves up and down, through the right and left channels, which (*jīva*) is not perceived due to its being very subtle and fickle. 13.

प्राणापानौ सर्ववातेषु मुख्यौ[3] एषः प्राणः[4] प्राणिनां प्राणभूतः ।
नासास्यान्ते तालुमध्ये तथा हृन्मध्ये पादांगुष्ठके प्राण आस्ते १४

prāṇāpānau sarvavāteṣu mukhyau
eṣaḥ prāṇaḥ prāṇināṃ prāṇabhūtaḥ ॥
nāsāsyānte tālumadhye tathā hṛn-
madhye pādāṅguṣṭhake prāṇa āste ॥ 14 ॥

Tr. Among all the *vāyus*, *prāṇa* and *apāna* are chief. For the living creatures, *prāṇa* is the life force which resides in nose, mouth, top of the head, center of the heart and big toes. 14.

ऊर्ध्वं तथाधः परितो भुजंग्याः प्रदीपवत्तिष्ठति भासयत्यसौ[5] ।
समीकृतं तुन्दगताऽन्नवारिप्राणपृथक् तत्र गतः[6] करोति ॥ १५ ॥

ūrdhvaṃ tathādhaḥ parito bhujaṅgyāḥ
pradīpavattiṣṭhati bhāsayatyasau ॥
samīkṛtaṃ tundagatānnavāri-
prāṇapṛthak tatra gataḥ karoti ॥ 15 ॥

Tr. It resides and shines like a lamp at the top, bottom and all around *bhujaṅgī (kuṇḍalī)* and assimilates the consumed food and water in the stomach and also separates them. 15.

---

1. चोध्व –b. 2. सव्यासव्य –a. 3. सुख्यौ –b. 4. अनुपलब्धपाठः –b. 5. भासएत्यसौ –b. 6. पृथक् तत्रमतः –b.

अग्नेरुपर्यऽम्बु विधाय तोयोपर्यऽत्र[1]मुख्यानि करोति तुन्दे ।
अपानवायुः स्वमवाप्य तत्र प्राणेन[2] वाति ज्वलनं सुनाभौ[3] ।१६।

agnerupary'ambu vidhāya toyoparyanna-
mukhyāni karoti tunde ॥
apānavāyuḥ svamavāpya tatra prāṇena
vāti jvalanaṃ sunābhau ॥ 16 ॥

Tr. In the stomach *ambu* (water) is placed over *agni* (fire) and over it (water) food is placed. Merger of *apāna* and *prāṇa* in the navel kindles the (gastric) fire. 16.

शनैरपानेन विचालितोऽग्निस्ततो ज्वलत्यात्मनि देहमध्यमे ।
सम्प्रेरितः प्राणबलेन[4] तत्र ज्वालाभिरेषो ज्वलति प्रदीपितः ।१७।

śanairapānena vicālito'gnis-
tato jvalatyātmani dehamadhyame ॥
sampreritaḥ prāṇabalena tatra
jvālābhireṣo jvalati pradīpitaḥ ॥ 17 ॥

Tr. Being stimulated by *prāṇa* and fanned by *apāna*, the bodily fire burns in the centre of the body. 17.

करोति वार्युष्मम[5]तीवकोष्ठमध्यस्थितो व्यञ्जनयुक्तमन्नम् ।
समर्पितम् यत्सलिलोपरि स्वं पक्वं विधत्तेऽनल उष्मवारि[6] ।१८।

karoti vāryuṣmamatīvakoṣṭha-
madhyasthito vyañjanayuktamannam ॥
samarpitaṃ yatsalilopari svaṃ
pakvaṃ vidhatte'nala uṣmavāri ॥ 18 ॥

Tr. The food along with *vyañjana* (sauce, condiments etc.) contained in the stomach is cooked by the fire by heating the water. 18.

स्तः[7] स्वेदमूत्रे च रसश्च वीर्यरूपं रसः स्याच्छकृदन्नमेव[8] हि ।
प्राणः पृथक् संविदधाति कोष्ठे रसं समानेन शिरासु पूरयेत् १९

staḥ svedamūtre ca rasaśca vīrya-
rūpaṃ rasaḥ syācchakṛdannameva hi ॥
prāṇaḥ pṛthak saṃvidadhāti koṣṭhe
rasaṃ samānena śirāsu pūrayet ॥ 19 ॥

Tr. *prāṇa* separates perspiration, urine, plasma (*rasa*)

1. तोपर्यऽन्न –b. 2. प्राणो न –b. 3. सुनासौ –b. 4. प्राणचलेन –b. 5. वार्यष्ण –b. 6. उष्णवारा –b. 7. स्नः –b. 8. ऽन्नमेवा –b.

faeces which is the essence of food, which are derived from food in the stomach and *samāna* fills the channels *(śirās)* with (nourishing) plasma (*rasa*). 19.

स्वं श्वासमार्गेण तनौ चरत्ययं
कुर्वन्ति[1] रन्ध्रैर्नवभिः परेऽनिलाः ॥
विसर्जनं मूत्रविडादि पाप्मनां[2]
निरन्तरं वर्ष्मणि देहिनां चलाः ॥ २० ॥

svaṃ śvāsamārgeṇa tanau caratyayaṃ
kurvanti randhrairnavabhiḥ pare'nilāḥ ।
visarjanaṃ mūtraviḍādi pāpmanāṃ
nirantaraṃ varṣmaṇi dehināṃ calāḥ ॥ 20 ॥

Tr. *prāṇa* moves in the body through respiratory passage. Other *vāyus* continuously expel the waste products like urine and faeces through nine outlets moving them in the body. 20.

॥ इति सुन्दरदेव[3]विरचितायां हठतत्वकौमुद्यां प्राणादिवायुनिरूपणोद्योतः ॥

॥ iti sundaradevaviracitāyāṃ haṭhatatvakaumudyāṃ prāṇādivāyunirūpaṇodyotaḥ ॥

Here ends the chapter accounting the *vāyus* like *prāṇa* etc in *haṭhatatvakaumudī* composed by *sundaradeva*.

1. कुर्वेति –b. 2. पापानां –b. 3. देव –अनुपलब्धपाठः -b.

Chapter—23

अथ नाडीनां व्याकरणम् —

atha nāḍīnāṃ vyākaraṇam —

A description of the *nāḍīs* follows—

सत्पार्श्ववंशापरनाम्नि मेरोर्मध्ये स्थितास्तिस्र[1] इमास्तु नाड्यः ।
श्रीशाम्भवी पिंगलिका तथैडा सरस्वती मध्यगतादिमाया ॥ १ ॥

satpārśvavaṃśāparanāmni meror-
madhye sthitāstisra imāstu nāḍyaḥ ॥
śrīśāmbhavī piṅgalikā tathaiḍā
sarasvatī madhyagatādimāyā ॥ 1 ॥

Tr. These three *nāḍīs* – namely *piṅgalikā*, *iḍā* and *sarasvatī* are situated in the middle of the *meru* (spine) which is also known as *pārśvavaṃśa*. The *śrīśāṃbhavī* i.e. *ādimāyā* lies at the center of *sarasvatī*. 1.

स्थिता कन्दमध्ये[2] सुषुम्णेति नाडी
स्मृताऽस्यास्तु तिष्ठन्ति[3] चक्रे समन्तात् ॥
अथो नाभिसंज्ञाः शिराणां[4] प्रधानास्
तना[5]विन्द्रसंख्याः१४ शिराः कर्ममूलाः ॥ २ ॥

sthitā kandamadhye suṣumṇeti nāḍī
smṛtā'syāstu tiṣṭhanti cakre samantāt ॥
atho nābhisañjñāḥ śirāṇāṃ pradhānās
tanāvindrasaṅkhyāḥ 14 śirāḥ karmamūlāḥ ॥ 2 ॥

Tr. Around the centre of *kanda suṣumnā-nadi* is situated around which network of all *nāḍī* is located. The prominent *nāḍīs* are called as *nābhi*. 14 chief *nāḍīs* are responsible for the activities. 2.

इडा पिंगला वारुणी हस्तिजिह्वा
सुषुम्णा कुहू शंखिनी भारती च ॥
पयस्विन्यथालम्बुषा चैव पूषा
यशस्विन्यनु स्याच्च[6] गान्धारिकाख्या ॥ ३ ॥

iḍā piṅgalā vāruṇī hastijihvā
suṣumṇā kuhū śaṅkhinī bhāratī ca ॥

---

1. स्थितासिस्न –b. 2. मध्यं –b. 3. स्तुतिछन्तीमध्यगतादि –b. 4. शिणा –b. 5. नना –b. 6. नुस्थाच्च –b.

payasvinyathālambuṣā caiva pūṣā
yaśasvinyanu syācca gāndhārikākhya ॥ 3 ॥

विश्वोदरीत्येवमिमाश्चतुर्दश १४ नाड्यः प्रधाना गदिता अमीषु ।
मुख्यास्तु तिस्रस्तिसृषु प्रधाना श्रीमुक्तिप्रदैकैष्टकरी सुषुम्णा ।४।

viśvodarītyevamimāścaturdaśa 14
nāḍyaḥ pradhānā gaditā amīṣu ॥
mukhyāstu tisrastisṛṣu pradhānā
śrīmuktipradaikaiṣṭakarī suṣumṇā ॥ 4 ॥

Tr. *iḍā, piṅgalā, vāruṇī, hastijihvā, suṣumṇā, kuhū, śaṅkhinī, bhāratī, payasvinī, alambuṣā, pūṣā, yaśasvinī,* followed by *gāndhārī, viśvodarī* — these are 14 chief *nāḍīs*, among which three are very significant, and *suṣumṇā* is honoured which brings emancipation. 3-4.

युग्मम् —

yugmam —

A *Śloka* follows—

साक्षात् सुषुम्णा खलु वैष्णवीयं बोधेन नाड्या अमृतं ददाति ।
आविः करोति स्वपदे[1] मुनेस्ताश्चतुर्दश स्वं भुवनानि सिद्धीः ।५।

sākṣāt suṣumṇā khalu vaiṣṇavīyaṃ
bodhena nāḍyā amṛtaṃ dadāti ॥
āviḥ karoti svapade munestāś-
caturdaśa svaṃ bhuvanāni siddhīḥ ॥ 5 ॥

Tr. The *suṣumṇā*, which is *vaiṣṇavī*, when awakened, offers immortality, realizes one's true Self and brings about *siddhis* in the 14 worlds. 5.

स्तो[2] नाभिचक्रावलितोऽत्र गान्धारिकेभजिह्वे नयनान्तमाप्ते[3] ।
नासान्तमेतत्किल[4] चक्रवालं शक्तेः समाश्रित्य सदा स्थितेऽन्तः ६

sto nābhicakrāvalito'tra
gāndhārikebhajihve nayanāntamāpte ॥
nāsāntametatkila cakravālaṃ
śakteḥ samāśritya sadā sthite'ntaḥ ॥ 6 ॥

Tr. *gāndhārikā* and *ibhajihvā (hastijihvā)* originating from *nābhicakra*, extend upto the end of the eyes. The *cakravāla*

1. स्वपद –b. 2. स्नो –b. 3. गाधारिकेभजिह्वननयनांतभासे –a. 4. नाष्तान्तमेताकिल –b.

-iḍā and *piṅgalā*, encircling the *śakti (suṣumnā)* upto the end reach the nostrils. 6.

अलम्बुषाख्या[1] धमनी च पूषा
समाश्रिते कर्णयुगं नराणाम् ॥
भ्र्वन्तं[2] यशस्विन्यभिसर्पतीड्या
सरस्वती वाक्प्रसरा च जिह्वाम् ॥ ७ ॥

alambuṣākhyā dhamanī ca pūṣā
samāśrite karṇayugaṃ narāṇām ।
bhrvantaṃ yaśasvinyabhisarpatīḍyā
sarasvatī vākprasarā ca jihvām ॥ ७ ॥

Tr. In the human body, *alaṃbuṣā* and *pūṣā* reach the ears, while *yaśasvinī* goes upto the end of the eyebrows. *sarasvatī* producing speech, is to be adorned, which resides in the tongue. 7.

विश्वोदरी[3] धमनी प्रभुक्ते चतुर्विधान्नं च पयस्विनी पुनः ।
पात्यमसौ[4] कण्ठगता क्षुतं नुः करोति नाडीवलयात् समुत्था ।८।

viśvodarī dhamanī prabhuke
caturvidhānnaṃ ca payasvinī punaḥ ॥
pātyamasau kaṇṭhagatā kṣutaṃ nuḥ
karoti nāḍīvalayāt samutthā ॥ 8 ॥

Tr. *viśvodarī* assimilates the four types of food (solid, liquid, which is licked and sucked). *payasvinī* which originates from the group of the *nāḍīs* causes hunger and thirst. 8.

तिस्रोऽत्र नाड्यस्त्वधरान्ताः स्युः शुक्रं एका परिमुञ्चतीह[5] ।
मूत्रं सिनीवाल्यऽनुभुक्तमात्ररसं समादाय च शंखिनी[6] या ॥ ९ ॥

tisro'tra nāḍyastvadharāntāḥ syuḥ
śukraṃ ekā parimuñcatīha ॥
mūtraṃ sinīvālya'nubhuktamātra-
rasaṃ samādāya ca śaṅkhinī yā ॥ 9 ॥

Tr. Three *nāḍīs* course through the lower region one of which releases semen. *sinīvālī* releases the urine. While *śaṅkhinī* gathers the *rasa* (plasma) from the food consumed and assimilates. 9.

1. अलम्बुपाख्या –b. 2. भ्रुंऽतं –b. 3. विश्वोदरो –b. 4. यात्यंऽवुःसौ b. 5. परिमुचतीह –a. 6. वशखिनी –b.

गत्वा कपालस्य बिलं स्वमूर्ध्नि सुधां सदा संचिनुते नृणां सा ।
नाड्यः शतं त्वेकयुतास्तु[1] तासां शिरोगतैकामृतदा सुषुम्णा ।१०।

gatvā kapālasya bilaṃ svamūrdhni
sudhāṃ sadā sañcinute nṛṇāṃ sā ॥
nāḍyaḥ śataṃ tvekayutāstu tāsāṃ
śirogataikāmṛtadā suṣumṇā ॥ 10 ॥

Tr. There are hundred and one nāḍīs from which *suṣumnā* goes to the cavity in the head and collects the ambrosia from there and offers immortality. 10.

Note: Ref *kaṭhopaniṣad*-6.16. 10.

कन्दान्तरे तु सव्ये तस्या[2] आस्ते इडा च पिंगला दक्षे ।
सञ्चरतः शशिसूर्यावनयोर्मध्ये क्रमादनिशम् ॥ ११ ॥

kandāntare tu savye tasyā āste iḍā ca piṅgalā dakṣe ।
sañcarataḥ śaśisūryāvanayormadhye kramādaniśam ॥11॥

Tr. *iḍā* and *piṅgalā* (respectively) in which moon and sun move continuously in turn, originate from the core of *kanda* and course through left and right sides (respectively) of *suṣumnā*. 11.

कालगतैर्हेतू स्तः सूर्येन्दू[3] कालशोषिणी प्रथमा ।
अस्याः पार्श्वयुगे स्तो भारतिकैका[4] कुहूरपरा ॥ १२ ॥

kālagatairhetū staḥ sūryendū kālaśoṣiṇī prathamā ।
asyāḥ pārśvayuge sto bhāratikaikā kuhūraparā ॥ 12 ॥

Tr. *sūrya* and *indu* signify the course of time (*kāla*). The former one *(piṅgalā)* devours *kāla* (time). On one side of it (*piṅgalā*) is *bhāratikā* and on the other is *kuhū*. 12.

गान्धारिकाख्या करिजिह्विका च स्तः[5] पूर्वपूर्वपृष्टस्थ इडां ।
शिरायाः क्रमेण यशस्विनी द्वे स्तः पिंगला पृष्टकपूर्वभागे ।१३।

gāndhārikākhyā karijihvikā ca
staḥ pūrvapūrvapṛṣṭastha iḍā ॥
śirāyāḥ krameṇa yaśasvinī dve
staḥ piṅgalā pṛṣṭakapūrvabhāge ॥ 13 ॥

Tr. *gāndhārikā* and *karijihvikā (hastijihvā)* are located over the front and at its back where *iḍā* is situated. *yaśasvinī*

1. सौकयतास्तु –b. 2. तस्था –b. 3. सूर्येन्द्र -b. 4. स्तोभाइतिकैका –b. 5. स्नः – b.

and *piṅgalā* are the two located at the back and front sides. This is the sequence of the *śirās*. 13.

कुहूहस्तिजिह्वाद्वयोर्मध्यदेशे
स्थिता साधु विश्वोदरी वारणाथ ॥
स्थिताऽन्तः कुहूकायशःस्विन्यमोघ-
गृहान्ते नु पूषागिरो वैराशोह्वा ॥ १४ ॥

kuhūhastijihvādvayormadhyadeśe
sthitā sādhu viśvodarī vāraṇātha ॥
sthitā'ntaḥ kuhūkāyaśasvinyamogha-
gṛhānte nu pūṣāgiro vairāśohvā ॥ 14 ॥

Tr. In-between *kuhū* and *hastijihvā* lie auspicious *viśvodarī*. Between *kuhūkā* and *yaśasvinī* is the auspicious abode of *vāraṇā*. Between *pūṣā* and *gir (sarasvatī)* lies *vairāśā (payasvinī)*. 14.

इडापिंगलेऽलम्बुषा कन्दमध्ये
कुहूः सव्यदक्षे[1] पुरस्तादथ ॥
संस्थिता[2] मेहनं तूर्ध्वमाजिह्वमंगे[3]
सुवाणी च गान्धारिकापृष्टभागे ॥ १५ ॥

iḍāpiṅgale'lambuṣā kandamadhye
kuhūḥ savyadakṣe purastādatha ॥
saṃsthitā mehanaṃ tūrdhvamājihvamaṅge
suvāṇī ca gāndhārikāpṛṣṭhabhāge ॥ 15 ॥

Tr. *iḍā*, *piṅgalā* and *alambuṣā* are located inside the *kanda*. From left, right and in front of *kanda*, *kuhū* goes upto the generative organ. *suvāṇī (sarasvatī)* lies behind *gāndhārikā* and goes upto the tongue. 15.

आसव्यपादांगुष्ठस्था ह्यासव्य[4]नयनं स्थिता ।
हस्तिजिह्वा सर्वगता वारणा च यशःस्विनी ॥ १६ ॥

āsavyapādāṅguṣṭhasthā hyāsavyanayanaṃ sthitā ।
hastijihvā sarvagatā vāraṇā ca yaśaḥsvinī ॥ 16 ॥

Tr. *hastijihvā* goes from the left big toe, upto left eye. *vāraṇā* and *yaśasvinī* cover all the body. 16.

---

1. सव्यदक्ष्ये –b. 2. पुरस्ताद्दथासांस्थिता –b. 3. मगे –b. 4. ह्यासव्यं b.

आदक्षिणांगुष्ठविलोचनस्था विश्वोदरी सर्वतनौ नराणाम् ।
आयाम्यनेत्रादिह पूषिकाख्या[1] सव्यश्रुतेः शंखिनिकान्तमस्ति[2] ।१७।

ādakṣiṇāṅguṣṭhavilocanasthā
viśvodarī sarvatanau narāṇām ॥
āyāmyanetrādiha pūṣikākhyā
savyaśruteḥ śaṅkhinikāntamasti ॥ 17 ॥

Tr. In the human body *viśvodarī* extends from right big toe and eye. *pūṣikā* is located at the right eye. *śaṅkhinī* resides at the left ear. 17.

वितता पयःस्विनी द्वे दक्षिणकर्णावधि स्थिते देहे ।
अवलंब्य पायुमूलकमलम्बुषा संस्थिता नाडी ॥ १८ ॥

vitatā payaḥsvinī dve dakṣiṇakarṇāvadhi sthite dehe ।
avalambya pāyumūlakamalambuṣā saṃsthitā nāḍī ॥ 18 ॥

Tr. *payaḥsvinī* extends upto the right ear in the body while *alambuṣā* is located at the base of the anus. 18.

इत्थं चतुर्दश न्यासो नाडीनां वपुषीरितः ।
आस्वन्या मिलितास्ताभिश्चालयन्ति तनुं त्विमाम्[3] ॥ १९ ॥

ittham caturddaśa nyāso nāḍīnāṃ vapuṣīritaḥ ।
āsvanyā militāstābhiścālayanti tanuṃ tvimām ॥ 19 ॥

Tr. This is the network of the fourteen *nāḍīs* in the body. The other (*nāḍīs*) having been mixed with these *nāḍīs* regulate the bodily functioning. 19.

योन्यग्रतो मूलसरोरुहेण[4] नाड्योऽखिलाः संवलिताः सुषुम्णया ।
विज्ञानबीजं हृदि सातितन्वी[5] भिदा पदं ब्रह्मपदस्य यच्छति ।२०।

yonyagrato mūlasaroruheṇa
nāḍyo'khilāḥ saṃvalitāḥ suṣumṇayā ॥
vijñānabījaṃ hṛdi sātitanvī
bhidā padaṃ brahmapadasya yacchati ॥ 20 ॥

Tr. The group of *nāḍīs* courses through *mūlapadma* from front of *yoni* (in *kanda*) surrounding *suṣumnā*, which is extremely subtle, source of knowledge in the heart and which offers *brahma*-hood (liberation). 20.

---

1. यूषिकाख्या –b. 2. कांऽनमस्ति –b. 3. श्चालयं त्वामापतत्—a. 4. तनुं त्विमाः — योन्यग्रतो मूलसरोरुहेण१९— अनुपलब्धपाठः —b. 5. सति तन्वी –b.

आस्ते कन्दः सहस्रछदजलजतले तत्र योनिस्त्रिकोणा
रेतस्तस्याः सुधांशुः क्षरति य उदितस्तद्गतं सा सुधेति ॥
स्वांशून्मिश्रं च धारात्मकमधरगतं वामनासापुटे तद्
गंगेत्युक्तं ह्युदक्संवहनमतितमाज्ञासरोजे मुनीन्द्रैः ॥ २१ ॥

āstc kandaḥ sahasrachadajalajatalc tatra yonistrikoṇā
retastasyāḥ sudhāṃśuḥ kṣarati ya uditastadgataṃ sā sudheti ॥
svāṃśūnmiśraṃ ca dhārātmakamadharagataṃ vāmanāsāpuṭe tad
gaṅgetyuktaṃ hyudaksaṃvahanamatitamājñāsaroje munīndraiḥ 21

Tr. *kanda* is located under the lotus of thousand petals wherein the triangular *yoni* is placed, wherefrom the moon secretes the flow which is called *sudhā* (ambrosia). The flow mixed with its rays courses downwards through the left nostril which is called *gaṅgā*. The great *munis* hold that this water flows from lotus of *ājnā*. 21.

आज्ञारेतः प्रवाहः स इह खलु मता तेन वाराणसीदं
स्थानं या पिंगलोदकस्थितिरिह कमले यात्यसौ दक्षनासाम् ॥
प्रोक्ता सासीति वाराणसिरपरशिरा वामगेडा भ्रुवोऽन्तो
विश्वेशो यत्र देवो निटिलतटगतः सिद्धिदो देश एषः ॥ २२ ॥

ājñāretaḥ pravāhaḥ sa iha khalu matā tena vārāṇsīdaṃ
sthānaṃ yā piṅgalodakasthitiriha kamale yātyasau dakṣanāsām
proktā sāsīti vārāṇasiraparaśirā vāmageḍā bhruvo'nto
viśveśo yatra devo niṭilataṭagataḥ siddhido deśa eṣaḥ ॥ 22 ॥

Tr. The *retas* of *ājñā* flows here. Therefore this abode is called *vārāṇasī*. The flow of *piṅgalā* comes out of the lotus and goes through the right nostril which is called *asī*. The other *śirā* i.e. *vārāṇasī* flows at the left side which is *iḍā* and goes upto the center of the eyebrows. *viśveśa* is placed at the center of the eyebrows. This is the place that offers all success. 22.

वेतण्डजिह्वा च यशःस्विनी[1] द्वे आभ्यां तु वामाक्षिपदावधि स्थितम् ॥
नाडीशतं व्याप्य शरीरमेतयो रजस्तमोभ्यां हि विकारसन्ततिः ।२३।

vetaṇḍajihvā ca yaśasvinī dve
ābhyāṃ tu vāmākṣipadāvadhi sthitam ॥
nāḍīśataṃ vyāpya śarīrametayo
rajastamobhyāṃ hi vikārasantatiḥ ॥ 23 ॥

1. वेतंऽजिह्वावशःस्विनो –a.

Tr. *vetaṇḍajihvā (hastijihvā)* and *yaśasvinī* — from these two a hundred *nāḍīs* would originate extending from left eye to the left foot which cause the host of disturbances in the body due to *rajas* and *tamas*. 23.

सुषुम्णा तथा पिंगलेडा च तिस्रः शिरा प्राणमार्गे स्थिताः प्राणवाहाः
सदाग्नीन्दुसूर्यात्मिका मध्य आसां सुषुम्णान्तरे ज्ञायते भूतभावि ॥२४॥

suṣumṇā tathā piṅgaleḍā ca tisraḥ
śirā prāṇamārge sthitāḥ prāṇavāhāḥ ॥
sadāgnīndusūryātmikā madhya āsāṃ
suṣumṇāntare jñāyate bhūtabhāvi ॥ 24 ॥

Tr. The three *śirās*—*suṣumṇā*, *iḍā* and *piṅgalā* are located on the path of *prāṇa* (along the spine) and (they) are the conduits of *prāṇa*, which (respectively) represent *agni* (fire), *indu* (moon) and *sūrya* (sun). *suṣumṇā* is located in the center which holds the key to past and future. 24.

एका सुषुम्णाऽखिलनाडिकासु नाड्यो पराः सन्त्यमुमाकलय्य ।
अधोमुखास्ताः सकलाः सरोजसूत्रोपमा आश्रितपृष्ठवंशाः ।२५।

ekā suṣumṇā'khilanāḍikāsu
nāḍyo parāḥ santyamumākalayya ॥
adhomukhāstāḥ sakalāḥ saroja-
sūtropamā āśritapṛṣṭhavaṃśāḥ ॥ 25 ॥

Tr. *suṣumṇā* is the chief *nāḍī*, holding onto it all other *nāḍīs*, like the fibres of a lotus facing downwards, through the spinal column. 25.

उपाधिरूपो नरदेह एषोऽस्त्यस्मिन्[1] सुषुम्णा प्रभिन्नरूपा ।
मेर्वन्तरस्था समुपैति[2] सिद्धिर्यद्ध्यानतोऽघं विनिहत्य योगी ।२६।

upādhirūpo naradeha eṣo'-
styasmin suṣumṇā prabhinnarūpā ॥
mervantarasthā samupaiti siddhir-
yaddhyānato'ghaṃ vinihatya yogī ॥ 26 ॥

Tr. The human body is in the form of attributes. Therein through the spinal column, *suṣumṇā* is located prominently. By meditating on this *(suṣumṇā)* a *yogī* overcomes the sins and attains success. 26.

---

1. एषोऽस्यस्मिन् --b. 2. षमुपैति –b.

धमन्यस्त्विडाद्याः[1] स्थिता वामपार्श्वे
समाश्लिष्य मध्यां सुषुम्णां समन्तात् ॥
गता वामनासापुटे पिंगलैवं
स्थिता[2] दक्ष[3]पार्श्वे श्रिताभिः शिराभिः ॥ २७ ॥

dhamanyastviḍādyāḥ sthitā vāmapārśve
samāśliṣya madhyām suṣumṇām samantāt ॥
gatā vāmanāsāpuṭe piṅgalaivam
sthitā dakṣapārśve śritābhiḥ śirābhiḥ ॥ 27 ॥

Tr. The *dhamanīs* (*nāḍīs*) like *iḍā* etc. are situated on the left side holding onto the central *nāḍī suṣumṇā* from all around and courses through the left nostril. *piṅgalā* is situated on the right side along wtih the other *śirās (nāḍīs)*. 27.

शकुन्यण्डवत्कन्द[4] उक्तः स नाभेर्
अधो लिंगतोऽस्त्यूर्ध्वमत्राखिलानाम् ॥
शिराणां जनिर्ब्रह्मदण्डी स मेरुः
सुषुम्णापदं पृष्ठवंशस्तदन्ते[5] ॥ २८ ॥

śakunyaṇḍavatkanda uktaḥ sa nābher-
adho liṅgato'styūrdhvamatrākhilānām ॥
śirāṇām janirbrahmadaṇḍī sa meruḥ
suṣumṇāpadam pṛṣṭhavamśastadante ॥ 28 ॥

Tr. All the *śirās (nāḍīs)* are stemming out from *kanda* which is in the form of the egg of a bird situated above the generative organ (*liṅga*) below the navel. *suṣumnā* is located at the center of the spine which is called *brahmadaṇḍī* or *meru*. 28.

शक्त्या निरुद्धं तनुवेष्टनेना-
धारस्थकन्दोत्थशिराप्रतानम् ॥
रन्ध्रं यदा सा त्यजतीह मध्य-
नाड्यास्तदा[6]मीषु वहेत् समीरः ॥ २९ ॥

śaktyā niruddham tanuveṣṭanenā-
dhārasthakandotthaśirāpratānam ॥

1. धामन्यस्त्विानडायाद्याः —a. 2. स्थित्वा –b. 3. दक्ष्य –b. 4. शकुंत्यऽऽवकृदं –b. 5. तदण्डते –a. 6. मध्यनाशस्तदा –b.

randhraṃ yadā sā tyajatīha madhya-
nāḍyāstadāmīṣu vahet samīraḥ ॥ 29 ॥

Tr. *śakti* in a coiled form in the body forcefully blocks the whole network of the *nāḍīs* rising out of the *kanda* located at the *ādhāra* (perineum). When she (śakti) leaves the opening of the central *nāḍī*, then alone the *samīra* (*prāṇa*) goes to all the *nāḍīs*. 29.

अहो मूलपद्मस्थकन्दोर्ध्वयोनिः
शुभा पश्चिमा स्यात्तदन्तेऽस्ति[1] शक्तिः ॥
इडा वामके[2] दक्षिणे पिंगलाऽस्याः
सहस्रारनालं तदूर्ध्वं सरन्ध्रम् ॥ ३० ॥

aho mūlapadmasthakandordhvayoniḥ
śubhā paścimā syāttadante'sti śaktiḥ ॥
iḍā vāmake dakṣiṇe piṅgalā'syāḥ
sahasrāranālaṃ tadūrdhvaṃ sarandhram ॥ 30 ॥

Tr. The *yoni*, which is auspicious faces backwards, is based above the *kanda* in the *mūlapadma* at the center of which *śakti* is located. On its left *iḍā* is located while *piṅgalā* lies on its right. On top of it, the aperture of the passage of *sahasrāra* is situated. 30.

नालान्तरेऽधोवदना सुषुम्णा
आब्रह्मरन्ध्रादधरं गतास्ते ॥
श्रीब्रह्मरन्ध्रान्तिक आर्य[3] आसां
समागमो योनिपदे तिसृणाम्[4] ॥ ३१ ॥

nālāntare'dhovadanā suṣumṇā
ābrahmarandhrādadharaṃ gatāste ॥
śrībrahmarandhrāntika ārya āsāṃ
samāgamo yonipade tisṛṇām ॥ 31 ॥

Tr. *suṣumṇā*, facing downwards moves down from *brahmarandhra* through the passage. Confluence of these three *nāḍīs* is considered auspicious at the region of *yoni* adjacent to *śrībrahmarandhra* 31.

1. स्यातदुतेस्ति –a. 2. वाधके –b. 3. भार्य —b. 4. पदेतितिस्त्रिणां –b.

इडा जाह्नवी पिंगला सूर्यकन्या
सरस्वत्यसौ ब्रह्मनालेऽभिगुप्ता ॥
सुषुम्णा त्रिवेण्याख्यसम्भेद आसां
प्रयागोऽत्र सिद्धिहृदो मज्जनेन[1] ॥ ३२ ॥

iḍā jāhnavī piṅgalā sūryakanyā
sarasvatyasau brahmanāle'bhiguptā ॥
suṣumṇā triveṇyākhyasambheda āsāṃ
prayāgo'tra siddhihṛdo majjanena ॥ 32 ॥

Tr. *iḍā* is called *jāhnavī*, *piṅgalā* is the daughter of sun (*yamunā*), and *suṣumṇā* which is *sarasvatī* is concealed in *brahmanāla*. The confluence of these three is called *prayāga* wherein emersion begets success (in *yoga*). 32.

यद्ब्रह्मरन्ध्रं किल तालुमूले सहस्रपत्रं कमलं विभाति च ।
तन्मूलरन्ध्रं हि महापथस्य भ्रुवस्तदुत्थं कुटिलत्वमायत् ॥ ३३ ॥

yadbrahmarandhraṃ kila tālumūle
sahasrapatraṃ kamalaṃ vibhāti ca ॥
tanmūlarandhraṃ hi mahāpathasya
bhruvastaduttham kuṭilatvamāyat ॥ 33 ॥

Tr. *brahmarandhra* is obviously at the root of the palate, wherein a lotus of a thousand petals shines. The great path which is curved originates from the center of the eyebrows and goes upto the *mūlarandhra*. 33.

मूलाब्जकन्द[2]स्थितयोनिवर्त्ती सूर्यो विषं तन्निजमण्डलान्तात् ।
हा राजसः संक्षरति प्रवाहेऽसौधेऽर्पयत्यंकनमात्मनाड्याम् ।३४।

mūlābjakandasthitayonivarttī
sūryo viṣaṃ tannijamaṇḍalāntāt ॥
hā rājasaḥ saṃkṣarati pravāhe'-
saudhe'rpayatyaṅkanamātmanāḍyām ॥ 34 ॥

Tr. The *sūrya* which is located at the center of *yoni* is based in the *kanda* in the *mūlapadma*, secretes the poison (*viṣa*) which is *rājasika* in nature, from its own *maṇḍala*, in its own *nāḍī (piṅgalā)* thus defiling the nectar. 34.

1. सिद्धिर्म्मदोर्मजनेन –b. 2. मूलाऽस्वकन्द –b.

शंखप्रकारकुटिला (योनिसदक्षा[1]) जगत्समष्टिरूपा[2] च ।
वामावर्त्तेनास्ते निर्माणसतता सुषुम्णाऽसौ ॥ ३५ ॥

śaṅkhaprakārakuṭilā (yonisadakṣā) jagatsamaṣṭirūpā ca ।
vāmāvartenāste nirmāṇasatatā suṣumṇā'sau ॥ 35 ॥

Tr. *suṣumṇā (kuṇḍalinī)* is spiraling leftward like a conch which is the origin of the whole creation and is ever engaged in creation. 35.

पिंगला या देवयानं पितृयानमिडा भवेत् ।
सुषुम्णान्तः प्रवेशेन शक्त्या विश्वं विलोकते ॥ ३६ ॥

piṅgalā yā devayānaṃ pitṛyānamiḍā bhavet ।
suṣumṇāntaḥ praveśena śaktyā viśvaṃ vilokate ॥ 36 ॥

Tr. *piṅgalā* is called *devayāna*, while *iḍā* is called *pitṛyāna*. When *śakti* enters into *suṣumṇā*, then alone the universe is revealed. 36.

इडापिंगलामध्यगब्रह्मरन्ध्रे-
ऽपृथक् षट्सुसंस्थानकेषूल्लसन्ति ॥
क्रमाच्छड्थांगा नित्यांगानि दिव्ये
सहस्रछदन्तज्जये पंकजं यत् ॥ ३७ ॥

iḍāpiṅgalāmadhyagabrahmarandhre'-
pṛthak ṣaṭsusaṃsthānakeṣūllasanti ॥
kramācchaḍthāṅgā nityāṅgāni divye
sahasrachadantajjaye paṅkajaṃ yat ॥ 37 ॥

Tr. Along *iḍā*, *piṅgalā* and *madhyā (suṣumṇā)* upto *brahmarandhra* in a sequential order the six *cakras* are placed, wherein the divine lotus of thousand petals lies over which one should gain control. 37.

प्राणोऽयं वसति स जन्मिनोऽर्क-
भागे चन्द्रां मन इह जीवयुक्तम् ॥
जीवत्वं चलमनसा चितेः शिवो-
ऽसौ तत्स्थैर्ये कथितमिदं सुगुप्तम् ॥ ३८ ॥

prāṇo'yaṃ vasati sa janmino'rka-
bhāge candrāṃ mana iha jīvayuktam ॥

---

1. योनिदक्षा –b. 2. जगत्यमष्टिरूपा –b.

jīvatvaṃ calamanasā citeḥ śivo'-
sau tatsthairye kathitamidaṃ suguptam || 38 ||

Tr. For a living creature, the *prāṇa* resides at the *arkabhāga* (right side) while *manas* alongwith *jīva* dwells in the (moon) in the left side. Movement of the mind means *jīvatva* (quality of a *jīva*), while its stability is *śivatva* (divinity). This is the revealation of the great secret. 38.

मध्ये श्मशानस्य तु वज्रनाडी
चित्रास्ति चास्याः[1] शुभमध्यदेशे ॥
तन्मध्यगा कुण्डलिनी परास्ते
सा जीवशक्तिः कथितादिमाया ॥ ३९॥

madhye śmaśānasya tu vajranāḍī
citrāsti cāsyāḥ śubhamadhyadeśe ||
tanmadhyagā kuṇḍalinī parāste
sā jīvaśaktiḥ kathitādimāyā || 39 ||

Tr. At the middle of the crematorium *(suṣumṇā) vajranāḍī* is located at the center of which *citra* lies, still at the center of which the great *kuṇḍalinī* lies, which is *jīvaśakti* and which is also known as *ādimāyā*. 39.

॥ इति सुन्दरदेवविरचितायां हठतत्वकौमुद्यां नाड्यादिव्याकरणोद्योतः ॥

|| iti sundaradevaviracitāyāṃ haṭhatatvakaumudyāṃ nāḍyādivyākaraṇodyotaḥ ||

Here ends the chapter narrating the *nāḍīs* in *haṭhatatvakaumudī* composed by *sundaradeva*.

1. पिंगलाया देवयानं —— चित्रास्ति चास्याः — अनुपलब्धपाठः —b.

Chapter—24

अथाधाराः —

athādhārāḥ --

***ādhāras*—**

षट्चक्रं षोडशाधारं द्विलक्ष्यं व्योमपञ्चकम् ।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्ध्यन्ति योगिनः ॥ १ ॥

saṭcakraṃ ṣoḍaśādhāraṃ dvilakṣyaṃ vyomapañcakam ।
svadehe ye na jānanti kathaṃ siddhyanti yoginaḥ ॥ 1 ॥

Tr. Without knowing the six *cakras*, 16 *ādhāras*, two *lakṣyas*, five *vyomans* in the body, how a *yogī* can attain success? 1.

Note. Instead of two there should be three *lakṣyas* vide SSP-II.31. 1.

एकस्तम्भं नवद्वारं गृहं पञ्चाधिदैवतम् ।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्ध्यन्ति योगिनः ॥ इति ॥ २ ॥

ekastambhaṃ navadvāraṃ
gṛhaṃ pañcādhidaivatam ॥
svadehe ye na jānanti
kathaṃ sidhyanti yoginaḥ ॥ *iti* ॥ 2 ॥

Tr. Without knowing the abode having only one pillar, nine doors and five residing deities in one's own body, how a *yogī* can attain success ? 2.

स्मृतो मूलाधारो भवति वपुषो मध्यमपदं
गुदादूर्ध्वं युग्मांगुलत इह मेढ्रान्न्यगुदितः[1] **॥**
त्रिकोणाऽधोवक्त्राग्रक[2] **उरगकान्तास्ति**[3] **च तद्**
अग्रके बिन्दुप्राणस्वनदहनसूर्ब्रह्मधमनी[4] **॥ ३ ॥**

smṛto mūlādhāro bhavati vapuṣo madhyamapadaṃ
gudādūrdhvaṃ yugmāṅgulata iha meḍhrānnyaguditaḥ ॥
trikoṇā'dhovaktrāgraka uragakāntāsti ca tad
agrake binduprāṇasvanadahanasūrbrahmadhamanī ॥ 3 ॥

Tr. *mūlādhāra* is considered the center of the body which lies two digits above the anus, below the generative organ, triangular in shape, facing downwards, as bright as a snake in front of which are *bindu*, *prāṇa*, *svana* (*nāda*) and fire are

---

1. मेहान्मगुदितः—b. 2. धोवक्त्राग्र—b. 3. कानांऽस्ति –b. 4. सूब्रह्मधमनी-a.

manifested and *brahmadhamanī (suṣumṇā)* is located. 3.

मूलेऽर्धमाच्छिन्नसुवंशकामा नाडी[1] षडाधारसमन्वितास्ते[2] ।
तत्पार्श्वकोणद्वयराधतो[3] द्वे नाड्याविडापिंगलके[4] शिरापदे ॥४॥

mūle'rdhamācchinnasuvaṃśakābhā
nāḍī ṣaḍādhārasamanvitāste ॥
tatpārśvakoṇadvayarādhato dve
nāḍyāviḍāpiṅgalake śirāpade ॥ 4 ॥

Tr. On the half part of this *mūlādhāra* a great shining *nāḍī* resembling a bamboo embracing all six *ādhāras* emanates, by two sides at the corners of which there is a pair of *nāḍīs* named *iḍā* and *piṅgalā*. 4.

नासावंश उरोंऽघ्रिबाहुयुगलं स्यात्सक्थिजानुद्वयं
भालः कन्धरपृष्ठवंशचिबुकान्यस्थीनि नाड्यो दश ॥
एवं भ्राजकरञ्जकादिकाभिधापक्त्यात्म[5] १०वह्निस्तथा
प्राणवायुरस्तवैर[6]मनिशं ह्यभ्यासमेषां[7] चरेत् ॥ ५ ॥

nāsāvaṃśa uro'ṅghribāhuyugalaṃ syatsakthijānudvayaṃ
bhālaḥ kandharapṛṣṭhavaṃśacibukānyasthīni nāḍyo daśa ॥
evaṃ bhrājakarañjakādikābhidhāpaktyātma 10vahnistathā
prāṇavāyurastavairamaniśaṃ hyabhyāsameṣāṃ caret ॥ 5 ॥

Tr. The ten *nāḍīs* run through nose, spine, chest, pairs of feet and hands, the pairs of thighs and knees, forehead, shoulders, back-bone, chin and bones. *prāṇavāyu* in the form of fire always flows through (these 10 *nāḍīs*) conducting the functions like illumination, colouring and digestion. 5.

भ्राजको रञ्जको वातिकः श्लेष्मकः
पाचको रेचको दाहकः शोषकः ॥
पोषको बन्धकश्चेति देहे दश
योगपारंगमैः प्रोदिताः पावकाः ॥ ६ ॥

bhrājako rañjako vātikaḥ śleṣmakaḥ
pācako recako dāhakaḥ śoṣakaḥ ॥
poṣako bandhakaśceti dehe daśa
yogapāraṅgamaiḥ proditāḥ pāvakāḥ ॥ 6 ॥

---

1. नाड्ये –b. 2. षदाधारसमन्विताह्ये –b. 3. द्वयपघतो –b. 4. पिंगलाके –a. 5. कादिकभिदायंत्यात्म१० –a. 6. वायुरंस्तवैर –b. 7. सेषां –b.

Tr. *bhrājako* (lustre), *rañjako* (colour -pigment), *vātika* (causing air), *ślesmaka* (phlegmatic), *pācako* (digestive), *recaka* (expulsion excretion), *dāhaka* (burning), *śoṣaka* (drying), *poṣaka* (replenishing) and *bandhaka* (retention)—these are the ten types of *agni* (fire) as told by the experts of *yoga*. 6.

वस्तिप्रदेशे रविमण्डलान्तर्वह्निः[1] कलाभिर्दशभिर्विभाति ।
विपाचकोऽन्नस्य स यावदर्कमध्यस्थ आस्ते[2] प्रलयाग्निगात्रे ॥ ७ ॥

vastipradeśe ravimaṇḍalāntar-
vahniḥ kalābhirddaśabhirvibhāti ॥
vipācako'nnasya sa yāvadarka-
madhyastha āste pralayāgnigātre ॥ 7 ॥

Tr. In the lower abdomen, the fire in the orb (*maṇḍala*) of the sun shines with 10 *kalās*, which digests the food, so long as it resides inside the sun, which is the fire of dissolution. 7.

बिन्दुप्रभावोऽयमखण्ड एषस्तावत्तु पीयूषमयस्तथाऽग्निः ।
बलप्रदो जीवितदश्चिरं वै स्वस्थो नरो यावदयं हुताशः ॥ ८ ॥

binduprabhāvo'yamakhaṇḍa eṣas-
tāvattu pīyūṣamayastathā'gniḥ ॥
balaprado jīvitadaściraṃ vai
svastho naro yāvadayaṃ hutāśaḥ ॥ 8 ॥

Tr. So long as *bindu* remains always effective and replete with ambrosia and the (bodily) fire offers strength and vitality, one remains healthy. 8.

युग्मम् -

yugmam —

A *śloka* follows—

अतस्तदविरोधेन योगाभ्यासः सुखेष्टकृत्[3] ।
कट्वम्ललवणाद्यं यद्यद्विदाह्यग्निकोपनम् ॥ ९ ॥

atastadavirodhena yogābhyāsaḥ sukheṣṭakṛt ।
kaṭvamlalavaṇādyaṃ yadyadvidāhyagnikopanam ॥ 9 ॥

Tr. For peace and poise one should without any conflict resort to the practice of *yoga* and eschew the food items of bitter, sour and salty taste which vitiate the (bodily) fire. 9.

---

1. वह्नि –b. 2. स्थःआस्ते – अनुपलब्धपाठः – b. 3. सुखेवकृत् —a.

अग्निः पित्तमिति ॥

agniḥ pittamiti ।

The fire stands for *pitta*.

अथाधाराः षोडशाः —

athādhārāḥ ṣoḍaśaḥ —

Sixteen *ādhāras* are:—

अत्र सुषुम्णामुखं मूलाधार एव[1] ज्ञेयं ॥

atra suṣumṇāmukhaṃ mūlādhāra eva jñeyam ।

Tr. The opening of *suṣumṇā* is *mūlādhāra* which should be understood.

कुर्यात्तेजोध्यानमंगुष्ठ उच्चैर्
दृष्टेः[2] स्थैर्यं जायते तेन वर्यम् ॥
सम्पीड्यांघ्रेः[3] पार्ष्णिना[4]धारमूलं
द्वैतीयकं त्वेतदग्निप्रदं स्यात् ॥ १० ॥

kuryāttejodhyānamaṅguṣṭha uccair
dṛṣṭeḥ sthairyaṃ jāyate tena varyam ॥
sampīḍyāṅghreḥ pārṣṇinādhāramūlam
dvaitīyakaṃ tvetadagnipradaṃ syāt ॥ 10 ॥

Tr. One should intensely meditate on the light in the big toes. Thus one attains intense stabale gaze. This is the first *ādhāra*. The second highly recommended (technique is) that one should press the root of the *mūla-ādhāra* with the heels. This stimulates fire. 10.

गुदाधारमाकुञ्चयेच्छश्वदंघ्रेः[5] समाकोचनेनास्यापानस्य[6] वायोः ।
परं जायते स्थैर्यमेतत्तृतीयं समाकोचनाख्यं सदाधारमुक्तम् ।११।

gudādhāramākuñcayecchaśvadaṅghreḥ
samākocanenāsyapānasya vāyoḥ ॥
paraṃ jāyate sthairyametattṛtīyaṃ
samākocanākhyaṃ sadādhāramuktam ॥ 11 ॥

Tr. One should always contract the anus by pressing the heels therein. Such a contraction of the *apānavāyu* makes the *vāyu (prāṇa)* stable. This forms the third *ādhāra* called *samākocana*. 11.

1. एय –b. 2. दृष्टेः —b. 3. संपीडयांऽग्नेः —b. 4. पार्णिना –b. 5. येच्छश्वंदंऽघ्रेः —b. 6. श्चपानस्य –b.

मेढ्राधारे[1] दण्डसंकोचनेन
ब्रह्मग्रन्थीन्[2] त्रीन् समुत्पाद्य पश्चात् ॥
चेतोवायोर्ब्रह्मनाड्यां[3] प्रवेशाद्
बिन्दुस्तम्भः सम्भवत्येव सद्यः ॥ १२ ॥

meḍhrādhāre daṇḍasaṅkocanena
brahmagranthīn trīn samutpādya paścāt ॥
cetovāyorbrahmanāḍyāṃ praveśād
bindustambhaḥ sambhavatyeva sadyaḥ ॥ 12 ॥

Tr. Contracting the generative organ the three *granhtis* (knots) like *brahma* etc. are pierced. This ensures instant stability of *bindu* as the *vāyu (prāṇavāyu)* along with *citta* (mind) enters the *brahmanāḍī (suṣumnā)*. 12.

मोटनं पञ्चमाधारे कटौ दत्वा मुहुर्मुहुः[4] ।
मलमूत्रकृमीणां च जारणं भवति ध्रुवम् ॥ १३ ॥

moṭanaṃ pañcamādhāre kaṭau datvā muhurmuhuḥ ।
malamūtrakṛmīṇāṃ ca jāraṇaṃ bhavati dhruvam ॥ 13 ॥

Tr. In the fifth *ādhāra*, that is in the waist, one should apply frequent crushing. This certainly reduces the urine, faeces and worms. 13.

नाभ्याधारं योजयेत्तत्र वायुं
नादः शून्येनैकचित्तेन याति ॥
सम्यक् प्राणान् रोधयेत्तत्र चित्ता-
धारं हृत्कंजविकासः[5] क्षणात् स्यात् ॥ १४ ॥

nābhyādhāraṃ yojayettatra vāyuṃ
nādaḥ śūnyenaikacittena yāti ॥
samyak prāṇān rodhayettatra cittā-
dhāraṃ hṛtkañjavikāsaḥ kṣaṇāt syāt ॥ 14 ॥

Tr. One should direct the *prāṇa (vāyu)* in the *ādhāra* of the navel. Thus the *nāda* merges in the void along with the mind. One should also intensely retain all the *prāṇas* in the *ādhāra* of *citta* which immediately opens the lotus in the heart. 14.

कण्ठाधारं कण्ठकूपं वदन्ति

1. मेहाधारे–b.2.खंड्य गंफीन्–b.3.चेतोवाव्योर्ब्रह्मनाशं–b.4.मुहुमुहूः–b.5. ह्यत्कंजाविकासः –b.

सम्यग्योगी चिबुकेनार्दयेत्तम् ॥
नाड्योः सूर्येन्द्वाख्ययोर्मारुतस्य
सम्यग्ग्राहः सुस्थिरः स्यादनेन ॥ १५ ॥

kaṇṭhādhāraṃ kaṇṭhakūpaṃ vadanti
samyagyogī cibukenārdayettam ॥
nāḍyoḥ sūryendvākhyayormārutasya
samyaggrāhaḥ susthiraḥ syādanena ॥ 15 ॥

Tr. A *yogī* should press properly the *kaṇṭhādhāra* in the *kaṇṭha* (throat) with the chin. This practice restricts the flow from the two *nāḍīs* i.e. *sūrya* (right) and *candra* (left). Thus the *prāṇa* can be controlled and made stable properly (8). 15.

नवममथ वरीयो घण्टिकाधारमुक्तं
द्रुतमतिरसनाग्रं[1] दापयेत् साधकेन्द्रः ॥
स्रवति मधुसुधायाः सत्कला सन्ततैषा
सहजगतमुनीनां सा सुतृप्तिप्रदात्री९ ॥ १६ ॥

navamamatha varīyo ghaṇṭikādhāramuktaṃ
drutamatirasanāgraṃ dāpayet sādhakendraḥ ।
sravati madhusudhāyāḥ satkalā santataiṣā
sahajagatamunīnāṃ sā sutṛptipradātrī9 ॥ 16 ॥

Tr. The ninth *ādhāra* is known as *ghaṇṭikā ādhāra*. A wise *yogī* should properly stimulate this by pressing the tip of the tongue. Herefrom the sweet nectar oozes all the time, which naturally offers supreme contentment to the *munis* who have attained the *sahaja (samādhi)* state (9). 16.

या लम्बिका चालनदोहनाभ्यां दीर्घीकृता सा विपरीतमार्गात् ।
यस्तालुमूलान्तरमार्गदेशे प्रवेशयेत् सोन्मनतां[2] प्रयाति१० ॥१७॥

yā lambikā cālanadohanābhyāṃ
dīrghīkṛtā sā viparītamārgāt ॥
yastālumūlāntaramārgadeśe
praveśayet sonmanatāṃ prayāti10 ॥ 17 ॥

Tr. The tongue which is elongated through the practice of movement and milking and turned backwards and inserted in the cavity above the root of the soft palate *(tālvādhāra)*, brings about the state of *unmanī (samādhi)* (11). 17.

1. द्रुतमतिरः स नाऽड्य्रं –a. 2. सोन्मननां –b.

अस्याः प्रभावस्वरूपे प्रागुक्ते
रसनाधारं[1] मूले धमनं यदि ॥
यः प्रकुर्यात् स्वं अमृतास्वादः[2]
सिद्ध्येत् कविताशक्ति[3]र्भवेत्तस्य११ ॥ १८ ॥

asyāḥ prabhāvasvarūpe prāgukte
rasanādhāraṃ mūle dhamanaṃ yadi ॥
yaḥ prakuryāt svamamṛtāsvādaḥ
sidhyet kavitāśaktirbhavettasya11 ॥ 18 ॥

Tr. As a result of the practice narrated above, in *rasanādhāra* one should press (the tip of the tongue) at the root (of the palate). Thus one tastes the nectar and attains talent of composing poetry. (11). 18.

ऊर्ध्वं द्विजाधारमिदं सुगुप्तं
तत्तद्राजदन्ता[4]ख्यकमत्र सम्यक् ॥
जिह्वाग्रसंघट्टनतः[5] सुयोगी[6]
षण्मासतो ज्योतिरुदीक्षते स्वम्१२ ॥ १९ ॥

ūrdhvaṃ dvijādhāramidaṃ suguptaṃ
tattadrājadantākhyakamatra samyak ॥
jihvāgrasaṅghaṭṭanataḥ suyogī
ṣaṇmāsato jyotirudīkṣate svam 12 ॥ 19 ॥

Tr. The *dvijādhāra* is situated above, which is a great secret, which is called *rājadanta*. If a *yogī* properly presses this with the tip of the tongue, he perceives the inner light in six months (12). 19.

त्रयोदशं घ्राणपदं वदन्ति
दृष्टिः स्थिरा तत्र भवेन्नरस्य१३ ॥
चतुर्दशं[7] स्यान्निटिलाख्यमेतन्
मनोऽनिलौ यत्र मुनिर्जितौ स्वम्१४ ॥ २० ॥

trayodaśaṃ ghrāṇapadaṃ vadanti
dṛṣṭiḥ sthirā tatra bhavennarasya 13 ॥
caturdaśaṃ syānniṭilākhyametan
mano'nilau yatra munirjitau svam ॥ 20 ॥

---

1. रसनाधार –b. 2. अमृतस्वादः –b. 3. सिध्योक्तविनाशक्ति –b. 4. तद्राप्तदंताख्य –b. 5. दृनतः –b. 6. सुभोगी –b. 7. चतुर्दश –b.

Tr. The thirteenth is *ghrāṇādhāra* at the tip of the nose, where one fixes up the gaze (13). The fourteenth is called *niṭila (ādhāra nāsāmūla)* (meditating on which) a *muni* controls both mind and *prāṇa* (14) 20.

आरोप्य सिद्धीः सकला उपैति
योगीश्वरो नित्यसमाहितात्मा ॥ २१ ॥

āropya siddhīḥ sakalā upaiti
yogīśvaro nityasamāhitātmā ॥ 21 ॥

Tr. Through a poised mind attained by regular practice, a great *yogī* attains all the *siddhis* with the application of these *ādhāras*. 20.

व्योमाधारं चक्षुषोर्ध्वं य[1] ईक्षेन्
नित्यं योगी पञ्चदशाख्यमेकम् ॥
शीघ्रं[2] पश्यत्येव सः सर्वमुस्राकारं[3]
योगीन्द्राधिपत्यं प्रयाति१५ ॥ २२ ॥

vyomādhāraṃ cakṣuṣordhvaṃ ya īkṣen
nityaṃ yogī pañcadaśākhyamekam ॥
śīghraṃ paśyatyeva saḥ sarvamusrā-
kāraṃ yogīndrādhipatyaṃ prayāti 15 ॥ 22 ॥

Tr. *vyomādhāra* lies above the two eyes, which a *yogī* should regularly gaze at. This is the fifteenth *(ādhāra)*. Doing so he soon perceives everything as light and attains the status of a great *yogī* (15). 21.

नेत्राधारं षोडशं स्यात्तदूर्ध्वं[4]
योगी सम्यक् कलयेत्सन्ततं[5] यः ॥
ज्योतिःपुञ्जन्तद्ध्यपांगे[6]ऽभिपश्यत्येषः[7]
क्षिप्रं स्याच्छिवोऽभ्यासयोगात्१६ ॥ २३ ॥

netrādhāraṃ ṣoḍaśaṃ syāttadūrdhvaṃ
yogī samyak kalayetsantataṃ yaḥ ॥
jyotiḥpuñjantaddhyapāṅge'bhipaśyatyeṣaḥ
kṣipraṃ syācchivo'bhyāsayogāt16 ॥ 23 ॥

---

1. अनुपलब्धपाठः —b. 2. शीघ्र—b. 3. मुस्राकारं –b. 4. स्यात्तदूर्ध्व –a. 5. लयत्संततं –b. 6. पुंजंतद्धयऽपंगे –b. 7. पश्यत्येव --a.

Tr. *netrādhāra* forms the sixteenth *(ādhāra)* which a *yogī* should always thoroughly meditate upon. By seeing multitude of light through the corner of the eye he soon becomes *śiva* through diligent practice. (16) 22.

Note: for 16 *ādhāras* see SSP-II-10-25. 22.

॥ इति हठतत्वकौमुद्यां षोडशाधारकथनोद्योतः[1] ॥

॥ iti haṭhatatvakaumudyāṃ ṣoḍaśādhārakathanodyotaḥ ॥

Here ends the chapter narrating the sixteen *ādhāras* in *haṭhatatvakaumudī*.

---

1. इति हठकौमुद्यां षोडशं स्यात्तदर्ध्व योगी सम्यक् वलयत् सन्ततं यः ज्योतिःपुञ्जंतऽशाधारकथनोद्योतः —b.

Chapter—25

अथ लयोपयोगीनि चक्राणि –

atha layopayogīni cakrāṇi –

Here follow the *cakras* which are helpful in (attaining) *laya* (state)—

अथाधारपंकेरुहाण्यत्र वक्ष्ये सुषुम्णान्तरस्थानि संक्षेपतोऽहम् ।
तदम्भोजपत्रस्थितांश्चापि देवांस्तथाधारवर्णांस्तथाधारदेवीः ॥१॥

athādhārapaṅkeruhāṇyatra vakṣye
suṣumṇāntarasthāni saṃkṣepato'ham ||
tadambhojapatrasthitāṅścāpi devāṅs-
tathādhāravarṇāṅstathādhāradevīḥ || 1 ||

Tr. Now I shall narrate in short the lotuses in the *ādhāra cakra* and *suṣumṇā*, the deities, basic colours and the goddesses presiding on the petals. 1.

तथा चोक्तं योगचन्द्रिकायाम् —

tathā coktaṃ yogacandrikāyām –

It is said in *yogacandrikā*—

सर्वं पद्ममधोमुखं हि सततं योगोधृतं यैरितः
तेषां द्वन्द्वेन्द्रियोर्मि[1]त्रिगुणभयमहो नोपसर्पेत् कदाचित् ॥
व्यादाव्याकर्षणसुप्रकाशविलसत्कंज[2]स्थितं ध्यायतः
रूपं चारुतरं च शान्तिरमला योगेश्वराणां किल ॥२॥

sarvaṃ padmamadhomukhaṃ hi satataṃ yogodhṛtaṃ yairitaḥ
teṣāṃ dvandvendriyormitriguṇabhayamaho nopasarpet kadācit
vyādāvyākarṣaṇasuprakāśavilasatkañjasthitaṃ dhyāyataḥ
rūpaṃ cārutaraṃ ca śāntiramalā yogeśvarāṇām kila || 2 ||

Tr. All the lotuses here face downwards which should be turned upwards through persistent practice of *yoga*. Thus one can overcome the waves of duality caused due to sense organs and fear of three *guṇas*. The great *yogīs* experience beautiful appearance and impeccable peace by meditating on the lustrous lotus by opening and drawing it. 2.

सर्वाणि पद्मानि[3] अष्टौ देहगतानि
कमलानि अधोमुखानि सर्वदा तिष्ठन्ति ॥ 3 ॥

---

1. द्वन्द्वैहियोर्मि —b. 2. कजं –a. 3. प्रयान्ति –b.

sarvāṇi padmāni aṣṭau dehagatāni kamalāni adhomukhāni sarvadā tiṣṭhanti ॥ 3 ॥

Tr. All the eight lotuses are located in the body always facing downwards. 3.

तदेव तान्येव योगिभिः उद्धृतं ऊर्ध्वमुखं क्रियते यैस्तेषां प्राणिनां द्वन्द्वेन्द्रियोर्मि[1]त्रिगुणभयं न उपसर्पेत् । कदाचिन्न भवेत् । पञ्चेन्द्रियभयं[2] नास्ति । षडूर्मिभयं[3] नास्ति । शोकमोहौ जरामृत्युक्षुत्पिपासे षडूर्मय इति । गुणाः सत्वरजस्तमांसि ॥ ४ ॥

tadeva tānyeva yogibhiḥ uddhṛtaṃ ūrdhvamukhaṃ kriyate yaisteṣāṃ prāṇināṃ dvandvendriyormitriguṇabhayaṃ na upasarpet । kadācinna bhavet । pañcendriyabhayaṃ nāsti । ṣaḍūrmibhayaṃ nāsti । śokamohau jarāmṛtyukṣutpipāse ṣaḍūrmaya iti । guṇāḥ satvarajastamāṅsi ॥ 4 ॥

Tr. It means— the *yogīs* turn those lotuses upwards, so that they would not be deterred by oscillating duality and fear of three *guṇas*. Also, they will not be bothered by the five sense organs. The six distresses (of life) like: sorrow and infatuation, old age and (premature) death, hunger and thirst would not frighten them. The *guṇas* are – *satva, rajas* and *tamas*. 4.

सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः । प्रकृत्यवस्थां योगिनः प्राप्नुवन्ति । किं[4] विशिष्टानाम् ? तेषां योगिनां व्यादाव्याकर्षणेन सुप्रकाशो यस्य । तेन देदीप्यमानयत्कमलं तत्र स्थितं यद्रूपं तद्ध्यायतां[5] स्मरताम् । अमला शान्तिर्ब्रह्मदर्शनं भवतीति ॥ ५ ॥

satvarajastamasāṃ sāmyāvasthā prakṛtiḥ । prakṛtyavasthāṃ yoginaḥ prāpnuvanti । kiṃ viśiṣṭānām ? teṣāṃ yogināṃ vyādāvyākarṣaṇena suprakāśo yasya । tena dedīpyamānayatkamalaṃ tatra sthitaṃ yadrūpaṃ taddhyāyatāṃ smaratāṃ । amalā śāntirbrahmadarśanaṃ bhavati ॥ 5 ॥

Tr. The balanced state of *satva, rajas* and *tamas* is called *prakṛti* which is attained by the *yogīs*. What are the characteristics of those *yogīs*? There is an attractive bright light perceived by the *yogīs* by opening and drawing it. One should meditate on

---

1. द्वन्द्वेहियोनि –b. 2. यञ्चेन्द्रियमय –a. 3. पुषड्र्मिभयं –a. 4. प्रामुवत्तिकि –b. 5. तद्व्याप्यतां –b.

the *rūpa* (form) on the highly illuminated lotus. Thus one achieves pure peace and realizes *brahma*. 5.

अष्टावेताः शरीरे हरिहरशयनोद्भूषणाकारकास्ताः ।
सुप्ताः संबोध्यमानाः पवनगमनकेनाशु पुंभिः सुसिद्धैः ॥ ६ ॥

aṣṭāvetāḥ śarīre hariharaśayanodbhūṣaṇākārakāstaḥ ॥
suptāḥ sambodhyamānāḥ pavanágamanakenāśu puṃbhiḥ susiddhaiḥ ॥ 6 ॥

Tr. These eight (lotuses) in the body are in the dormant serpent of *hari* and ornament of *hara (śiva)*, which have to be awakened through *prāṇāyāma* by the great *siddhas*. 6.

एवं संव्याकुलीयाः परिहृत[1]निलयादण्डमित्येव[2] कायम् ।
दण्डाकारं तु कृत्वा सकलगुणमया[3] ब्रह्मरन्ध्रं विशन्ति ॥ ७ ॥

evaṃ saṃvyākulīyāḥ parihṛta-
nilayādaṇḍmityeva kāyam ॥
daṇḍākāraṃ tu kṛtvā sakala-
guṇamayā brahmarandhraṃ viśanti ॥ 7 ॥

Tr. One should agitate the coiled serpent by pulling it out of its abode, make it (straight) like a stick. Thus being enriched with all the qualities it enters in *brahmarandhra*. 7.

शरीरे अष्टौ डाकिनीप्रभृतयः हाकिन्यं ता मूले[4] लिंगे नाभौ हृदये कण्ठे भ्रूदेशे स्थितौ ब्रह्माण्डेव तिष्ठन्ति ॥ ८ ॥

śarīre aṣṭau ḍākinīprabhṛtayaḥ hākinyaṃ tā mūle liṅge nābhau hṛdaye kaṇṭhe bhrūdeśe sthitau brahmāṇḍeva tiṣṭhanti ॥ 8 ॥

Tr. All the eight (deities like) *ḍākinī, hākinī* etc. are residing in the human body at the perineum, generative organ, navel, heart, throat, center of the eyebrows etc. as these are situated in the Universe. 8.

कथम्भूताः शक्तयः ? हरिहरशयनोद्भूषणम्[5] । सर्पतद्वदाकारो या सा[6] ताः । सुसुप्ताः सन्त्यः सम्बोध्यमानाः[7] पुंभिः[8] व्याकुलीयाः व्याकुलीकरणीयाः ॥ ९ ॥

kathaṃbhūtāḥ śaktayaḥ ? hariharaśayanodbhūṣaṇam । sarpatadvadākāro yā sā tāḥ । susuptāḥ santyaḥ sambodhyamānāḥ

1. परिह्यत –b. 2. परिहृतनिलपादं भित्येव –b. 3. गुणभया –b. 4. तालुमूले a. 5. शयनोमूषणं –b. 6. यासां –b. 7. संबोधमाना –b. 8. पुमिः – b.

pumbhiḥ vyākulīyāḥ vyākulīkaraṇīyāḥ ॥ 9 ॥

Tr. How are the *śaktis* ? like the serpent of *hari* in his inclined position, and the ornament of *hara* which resembles the form of a serpent, which has to be agitated and awakened by an individual. 9.

केन पवनेन, वायुचालनेन । तदासक्तनिलयं स्थानं याभिस्ताः[1] ॥ 10 ॥

kena pavanena, vāyucālanena । *tadāsaktanilayaṃ sthānaṃ yābhistāḥ* ॥ 10 ॥

Tr. These abodes should be stimulated through manipulation of *prāṇa*. These are to be moved at their locations. 10.

शरीरं दण्डाकारं कृत्वा सरलं विधाय ब्रह्मरन्ध्रं कपालविवरे प्रविष्टा भवन्ति ॥ ११ ॥

śarīraṃ daṇḍākāraṃ kṛtvā saralaṃ vidhāya brahmarandhraṃ kapālavivare praviṣṭā bhavanti ॥ 11 ॥

Tr. Thus the *śakti*, leaving the abode enters *brahmarandhra* which lies in the cavity in the head, through the body kept as straight as a stick. 11.

पायावाधारचक्रं निगमदलमितं सिद्धिबुद्ध्यावष्ट[2]विघ्न-
राजस्थानं[3] सुरक्तं वरकनकनिभं यत्र लिंगं स्वयम्भू[4] ॥ १२ ॥

pāyāvādhāracakraṃ nigamadalamitaṃ
siddhibuddhyāvaṣṭavighna-
rājasthānaṃ suraktaṃ varakanakanibhaṃ
yatra liṅgaṃ svayambhū ॥ 12 ॥

सिद्धो यत्र द्विरण्डो विहरति सततं डाकिनी यत्र देवी ।
तस्य ध्यानेन भूमिं त्यजति विजयते मारुतं मानसं च ॥ १३ ॥

siddho yatra dviraṇḍo viharati
satataṃ ḍākinī yatra devī ॥
tasya dhyānena bhūmiṃ tyajati
vijayate mārutaṃ mānasaṃ ca ॥ 13 ॥

Tr. *ādhāracakra* lies at the anus, which has four petals. The abode of *gaṇeśa*, who is deeply red adorned by the eight

---

1. याभिहताः —b. 2. सिद्धिबुध्यान्य –b. 3. राजस्थनं –a. 4. स्वयंसु –b.

siddhi, buddhi etc. where *svayambhū* is the *liṅga* having colour of pure gold. Here *dviraṇḍa* the *siddha* and *ḍākinī* the goddess reside always. (ref. *śivasaṃhitā*-V.8). One levitates by meditating on it. One also gains control on *prāṇa* and mind. 12-13.

कान्तिप्रकर्षो वपुषो नादव्यक्तिः प्रदीप्तिर्जठरानलस्य ।
लघुत्व[1]मंगस्य निजेन्द्रियाणां पटुत्व[2]मारोग्यमदीनता च ॥ १४ ॥

kāntiprakarṣo vapuṣo nāda-
vyaktiḥ pradīptirjaṭharānalasya ॥
laghutvamaṅgasya nijendriyāṇāṃ
paṭutvamārogyamadīnatā ca ॥ 14 ॥

Tr. (One attains) handsome appearance, good physical health, manifestation of the *nāda*, stimulation of the gastric fire, lightness of the limbs, dexterity of the sense organs, excellent wellbeing and wealth. 13-14.

कृत्वा मनो निश्चलमत्र मूलचक्रे[3] नराः सन्ततमादरेण ।
भूतं भवच्चापि भविष्यदर्थं वदन्ति शास्त्राण्यपि चाश्रुतानि ।१५।

kṛtvā mano niścalamatra mūla-
cakre narāḥ santatamādareṇa ॥
bhūtaṃ bhavaccāpi bhaviṣyadarthaṃ
vadanti śāstrāṇyapi cāśrutāni ॥ 15 ॥

Tr. The men, by making the mind steady on this the *mūlādhāracakra* with consistent and devoted (practice) can tell all that is past, present and future and knows all those scriptures which they have not even heard of. 15.

विहाय सद्यः कमलासनस्य वक्त्राम्बुजं प्रीतितरंगसंगात् ।
तदीय वक्त्राम्बुरुहोदरान्ते सरस्वती नृत्यति दिव्यरूपिणी ।१६।

vihāya sadyaḥ kamalāsanasya
vaktrāmbujaṃ prītitaraṅgasaṅgāt ॥
tadīya vaktrāmburuhodarānte
sarasvatī nṛtyati divyarūpiṇī ॥ 16 ॥

Tr. The divine *sarasvatī* immediately leaving the lotus seat, manifests through speech with affection. 16.

अधिगम्य रसेन्द्रमन्त्रसिद्धिरपि कालं च विजित्य दुर्निवारम् ।

---

1. लघुत्य –b. 2. पंगत्व –b. 3. मूलवक्त्रे –a. 4. आजरा –b.

अजरा[1]मरतामवाप्य चान्ते परमानन्दपदे मुदा रमन्ते ॥ १७ ॥

adhigamya rasendramantrasiddhir-
api kālaṃ ca vijitya durnivāram ॥
ajarāmaratāmavāpya cānte
paramānandapade mudā ramante ॥ 17 ॥

Tr. After acquiring the science of alchemy and perfection in *mantra*, controlling uncontrollable *kāla* (time), and attaining good health and immortality ultimately one happily enjoys the Absolute Blissful state. 17.

एकीभूतार्णवाम्भः प्लुतमखिलजगत् पूर्वमासीदपूर्व[1]-
ज्योतिर् मूर्तिस्तदन्तर्महितमहिमभूल्लिंगरूपी बभूव ॥
षट्सिद्धा[2]धिष्ठितात्मा सकलसुरनुतः षड्भिरास्यैरुपेतः
षड्भिः कोशैश्च देवो[3] भवभयतिमिरध्वंसहंसो महेशः ॥ १८ ॥

ekībhūtārṇavāmbhaḥ plutamakhilajagat pūrvamāsīdapūrva-
jyotir mūrtistadantarmahitamahimabhūlliṅgarūpī babhūva ॥
ṣaṭsiddhādhiṣṭhitātmā sakalasuranutaḥ ṣaḍbhirāsyairupetaḥ
ṣaḍbhiḥ kośaiśca devo bhavabhayatimiradhvaṃsahaṃso maheśaḥ ॥ 18 ॥

Tr. In the beginning the whole of the Universe was condensed and merged in the ocean. The extra-ordinary Light in the form of sublime *liṅga* is kindled at its (ocean's) center. The deity is adorned by six *siddhas* and all the gods. It has six faces and the goddess with six sheaths. He is the god *maheśa* who is the purity, as of *haṃsa* who dispels the darkness of the frightening mundane world. 18.

अंगं लिंगवपुर्भृतो भगवतो देवो द्विरण्डोऽभवद्
बालो[4] पूर्वमुखं शिवस्य[5] तु महाकालस्तदूर्ध्वाननम् ॥
वक्त्रं दक्षिणमाशुशुक्षणिरसौ[6] देवः पिनाकी पुनः
पाश्चात्यं छगलण्ड[7] एष भगवान् वामस्यमस्याभवत् ।१९।

aṅgaṃ liṅgavapurbhṛto bhagavato devo dviraṇḍo'bhavad
bālo pūrvamukhaṃ śivasya tu mahākālastadūrdhvānanam ॥
vaktraṃ dakṣiṇamāśuśukṣaṇirasau devaḥ pinākī punaḥ
pāścātyaṃ chagalaṇḍa eṣa bhagavān vāmasyamasyābhavat ।19।

1. दपूर्व —a. 2. षटासिद्धा —b. 3. दैवो —b. 4. भवद्वाली —b. 5. पूर्वसुखांशेवस्यतु —b. 6. दक्षिणामाश्रुश्रुक्षुत्याणिरसौ —a. 7. छगलं —b.

Tr. Body of this god in the form of *liṅga* has deity *dviraṇḍa*, eastern face of *śiva* is *bāla*, upper face is called *mahākāla*, southern face is known as *āśuśukṣaṇi*, rear face is god *pinākī*, while left is god *chagalaṇḍa*. 19.

स्तम्भस्तोभावुत्प्रतिश्च दार्दरी खेगतिस्तथा ।
भूमित्यागः साधकस्य षड्गुणाः स्युरिहादिमे ॥ २० ॥

stambhastobhāvutpratiśca dārdarī khegatistathā ।
bhūmityāgaḥ sādhakasya ṣaḍguṇāḥ syurihādime ॥ 20 ॥

Tr. In the initial phase of the practice, a *sādhaka* acquires the six qualities like immovability, stoppage, hopping, jumping like a frog, moving in the space and levitation. 20.

गोरक्षः —

gorakṣaḥ —

According to *gorakṣa*—

आधाराख्यं गुदस्थानं पंकजं च चतुर्दलम् ।
तन्[1]मध्ये प्रोच्यते योनिः कामाक्षा[2] सिद्धिवल्लभा ॥ इति ॥२१॥

ādhārākhyaṃ gudasthānaṃ
paṅkajaṃ ca caturddalam ॥
tanmadhye procyate yoniḥ
kāmākṣā siddhivallabhā ॥ *iti* ॥ 21 ॥

Tr. The lotus of four petals lies at the anus (perineum) which is called *ādhāra* at the center of which the *yoni* called *kāmākṣā* is located which brings accomplishments. 21.

गुदस्थानं योगिभिर्योगमूलं ज्ञातव्यमेतस्य आधार इत्याख्या ॥

यत्र पंकजं चतुःपत्रम् । तन्मध्ये आधाराख्यं गुदमध्ये योनिः प्रोच्यते । सा कामाक्षा[3] योनेर्नाम सिद्धिकर्त्री । एतेन मूलोपरि लिंगाद् अधो योनिः ॥ २२ ॥

gudasthānaṃ yogibhiryogamūlaṃ jñātavyametasya ādhāra ityākhyā ॥

yatra paṅkajaṃ catuḥpatram । *tanmadhye ādhārākhyaṃ gudamadhye yoniḥ procyate* । *sā kāmākṣā yonernāma siddhikartrī* । *etena mūlopari liṅgādadho yoniḥ* ॥ 22 ॥

1. स्थानं पंकजं च चतुर्दलम् । तन् —अनुपलब्धपाठः —b. 2. योनिःप्रोच्यते सा कामाक्षा –b. 3. सिद्धिवल्लभा ॥ इति ॥—- प्रोच्यते सा कामाक्षा—- अनुपलब्धपाठः —b.

Tr. According to the *yogīs* the perineum is the base of *yoga*, that is why this is known as *ādhāra* —the base, wherein the lotus of four petals is situated. In it is the *yoni* called *kāmākṣā* which brings accomplishments. It is thus, clear that the *yoni* is above the anus and below the organ of generation. 22.

तथा चोक्तं त्रिपुरासारे –
tathā coktaṃ tripurāsāre —
It is said in *tripurāsāra*—

अजग्रन्थिपद्मं पुरा यत् मयोक्तं[1]
तदाधारमाद्यं वदन्तीह सन्तः ॥
सुवर्णाभवर्णैश्चतुर्भिः समेतं
दलैर्योगिगम्यं महाश्चर्यीभूतम्[2] ॥[3] 23 ॥

ajagranthipadmaṃ purā yat mayoktaṃ
tadādhāramādyaṃ vadantīha santaḥ ॥
suvarṇābhavarṇaiścaturbhiḥ sametaṃ
dalairyogigamyaṃ mahāścaryībhūtam ॥ 23 ॥

Tr. The *ajagranthipadma* (the *mūlādhāra* lotus) of immortality is the foremost *ādhāra*, which I have narrated previously, which is eulogized by the saints. It is the lotus of four petals and letters, golden in colour, which is a great mystery, that can only be known by the *yogīs*. 23.

इति मूलाधारं[4] प्रथमं चक्रम् ॥
iti mūlādhāraṃ prathamaṃ cakram ॥
This is the first *cakra* — the *mūlādhāra*.

लिंगापानान्तराले भगगरविगतत्र्यस्रवह्न्या[5]लयान्ते
अष्टावर्ता[6] शोणवर्णा वसति मलगृहं गर्भशय्या च तत्र ॥
तत्रैवोड्यानबन्धस्तदुहितमचलं[7] कामरूपीठमाद्यं
कामाख्योऽग्निः सदेवो[8] विलसति कुहरिण्यात्मशक्तिश्च नागी[9] ।२४।

liṅgāpānāntarāle bhagagaravigatatryasravahnyālayānte
aṣṭāvartā śoṇavarṇā vasati malagṛhaṃ garbhaśayyā ca tatra ॥

---

1. पुरामयोक्तं–a. 2. महाश्चर्यीभूत–a. 3. इति मूलदेशं सरोजं तु प्रदीप्तज्वालभास्वरं / उपस्थ ततो ज्ञेयं ज्वलदाग्निशिखोपममिति –अधिकपाठः —b. 4. मूलाधार –b. 5. गतग्रसुवह्न्या –b. 6. अष्टाऽयर्त्ता —b. 7. स्तदुदितिमचलं –b. 8. कामाख्योऽपिग्निः सदेव –a. 9. नागो –a.

tatraivoḍḍyānabandhastaduhitamacalaṃ kāmarūpīṭhamādyaṃ kāmākhyo'gniḥ sadevo vilasati kuhariṇyātmaśaktiśca nāgī ||24||

Tr. In the generative organ and *apāna*, at the core of the vagina (*bhaga*) which has three fires of *ravi* (sun) in the three foldings of fire where lies the *malagṛha* (store of faeces) and the womb deep red in colour, having eight circles. This is the place of *uḍḍiyānabandha*, where *kāmarūpīṭha* is located and wherein the fire called *kāma* (desire) is always existing with the presiding deities. Here in this cavity *ātmaśakti*—the serpent power exists. 24.

चतुर्द्दलान्तर्गतकन्दसंस्था
त्र्युस्रेऽरुणो[1]ऽधोमुखकोणगेऽस्ति ॥
बिन्दौ[2] भुजंगी वलयान्तरस्थे
स्वयम्भुलिंगं[3] खलु पश्चिमास्यम् ॥ २५ ॥

caturddalāntargatakandasaṃsthā
tryusre'ruṇo'dhomukhakoṇage'sti ।
bindau bhujaṅgī valayāntarasthe
svayambhuliṅgaṃ khalu paścimāsyam ॥ 25 ॥

Tr. The *kanda* which lies in (the lotus of) four petals, having three rays, red in colour, shaped as an inverted triangle. At this point the coiled *kuṇḍalinī (bhujaṅgī)* lies, in which *svayambhūliṅga* facing posteriorly, exists. 25.

तथा चोक्तं योगसारे –

tathā coktaṃ yogasāre —

It has been narrated in *yogasāra*—

गुदमेढ्रान्तरालस्थं मूलाधारं त्रिकोणकम् ।
शिवस्य दीपरूपस्य स्थानं शक्तिप्रकाशकम् ॥
यत्र कुण्डलिनी नाम पराशक्तिः प्रतिष्ठिता ॥ २६ ॥

gudameḍhrāntarālasthaṃ mūlādhāraṃ trikoṇakam ।
śivasya dīparūpasya sthānaṃ śaktiprakāśakam ॥
yatra kuṇḍalinī nāma parāśaktiḥ pratiṣṭhitā ॥ 26 ॥

तस्माद्वायुस्ततो वह्निस्तस्माद् बिन्दुः शरीरिणाम् ।

---

1. त्र्यस्नेऽरुणो –b. 2. विदौ –b. 3. लिंग –b.

यस्मान्नादो यतो[1] हंसो यस्मादुत्पद्यते मनः ॥
तदेतत्कामरूपाख्यं पीठं कामफलप्रदम् ॥ इति ॥ २७ ॥

tasmādvāyustato vahnistasmād binduḥ śarīriṇām ।
yasmānnādo yato haṃso yasmādutpadyate manaḥ ॥
tadetatkāmarūpākhyaṃ pīṭhaṃ kāmaphalapradam ॥ *iti* ॥27॥

Tr. The *parāśakti* named *kuṇḍalinī* is situated in the triangular *mūlādhāra* between the anus and the generative organ which is the place of *śiva* in the form of light, which enkindles *śakti*. There from *vāyu (prāṇa)*, *vahni* (fire), *bindu*, *nāda* (the unstruck sound) , *haṃsa* and mind of the human beings originate. This seat is called *kāmarūpa*, which fulfills the desires. 26-27.

इदं शक्तिस्थानं मूलाधारचक्रमिति ज्ञेयं ॥

idaṃ śaktisthānaṃ mūlādhāracakramiti jñeyam ॥

This seat of *śakti* should be known as *mūlādhāracakra*.

मूलस्यान्तः कर्णिकाशक्तिपीठं
नित्याभ्यासात्तत्र शक्तिप्रबोधे ॥
वायोश्चित्तेन प्रवेशः सुषुम्णा
मध्ये जारग्रन्थिभेदाद् गुरूक्तात् ॥ २८ ॥

mūlasyāntaḥ karṇikāśaktipīṭhaṃ
nityābhyāsāttatra śaktiprabodhe ॥
vāyościttena praveśaḥ suṣumṇā
madhye jāragranthibhedād gurūktāt ॥ 28 ॥

Tr. In the pericurp of *mūlādhāra* is the seat of *śakti*. Through a regular practice, being guided by a *guru*, *śakti* is awakened. *prāṇa* alongwith *citta* moves into *suṣumṇā* by piercing the *jāragranthi (brahmagranthi)*. 28.

इडा चापाकृतिर्भूत्वा[2] महापथं आश्लिष्य नासापुटान्तं गतोत्था त्र्यस्रवामतः[3] ॥ २९ ॥

iḍā cāpākṛtirbhūtvā mahāpathaṃ āśliṣya nāsāpuṭāntaṃ gatotthā tryasravāmataḥ ॥ 13 ॥

Tr. *iḍā* making three arcs (like a bow) moves along *suṣumṇā* originating from the (left point of the) triangle (*mūlādhāra*) and ending at the left nostril. 29.

---

1. यस्मान्नादोपतो —a. 2. चामाकृतिर्भूत्वा —a. 3. गतोत्तस्त्यस्रवामतः —a.

पिंगलैवं दक्षभागं[1] स्यात् त्रिकोणस्य नाडीका ।
वक्रीभूयाश्लिष्य नाडी दक्ष[2]नासापुटं गता ॥ ३० ॥

piṅgalaivaṃ dakṣabhāgaṃ syāt trikoṇasya nāḍīkā ।
vakrībhūyāślişya nāḍī dakṣanāsāpuṭaṃ gatā ॥ 30 ॥

Tr. The *nāḍī* known as *piṅgalā* is on the right side of the triangle and with arcs around *suṣumṇā* ends in the right nostril. 30.

नाडी सुषुम्णा ।

nāḍī suṣumṇā ।

nāḍī stands for *suṣumṇā*.

महापथान्तर्गतचित्रनाड्यां स्युः पञ्चभूताधिपदेवताश्च ।
शरीरिणां मोक्षपथं सुषुम्णा यद्ब्रह्मसूत्रं[3] प्रवदन्ति सैषा ॥ ३१ ॥

mahāpathāntargatacitranāḍyāṃ
syuḥ pañcabhūtādhipadevatāśca ॥
śarīriṇāṃ mokṣapathaṃ suṣumṇā
yadbrahmasūtraṃ pravadanti saiṣā ॥ 31 ॥

Tr. The presiding deities of the five elements dwell in *citrāṇāḍī* which is situated in *mahāpatha (suṣumṇā).* The *brahmasūtra*, in the form of *suṣumṇā* is considered as the path of liberation for the human beings. 31.

अधिदेवतास्तु[4] –

adhidevatāstu –

The presiding deities are—

ब्रह्मा जनार्द्दनो रुद्र ईश्वरश्च सदाशिवः ।
चित्राख्यनाड्यान्तरस्थाः पञ्चभूताधिदेवताः ॥ इति ॥ ३२ ॥

brahmā janārddano rudra īśvaraśca sadāśivaḥ ।
citrākhyanāḍyāntarasthāḥ pañcabhūtādhidevatāḥ ।iti।32।

Tr. The presiding deities of the five *mahābhūtas* situated inside the *citrānāḍī* are *brahmā, janārdana, rudra, īśvara* and *sadāśiva*. 32.

तथा च श्रुतिः –

tathā ca śrutiḥ –

1. पिंगलैवं दक्षभागोत्था –b. 2. दक्ष्य –b. 3. नाड्यां स्युः पञ्चभूताधिपदेवताश्च शरीरिणां मोक्षपथं सुषुमणा यद्ब्रह्मसूत्रं – अनुपलब्धपाठः —b. 4. आधिदेवतास्तु -b.

This is corroborated by the *śruti* too—

तस्यान्ते सुषिरं सूक्ष्मं तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ इति ॥ ३३ ॥

tasyānte suṣiraṃ sūkṣmaṃ
tasmin sarvaṃ pratiṣṭhitam ॥ *iti* ॥ 33 ॥

Tr. Inside that lies a subtle aperture where everything exists. 33.

कन्दं संवेष्ट्य सर्वं तरणिशशिशिरा[1]मध्यगा पृष्ठलग्ना
पायुग्रीवं च दण्डाकृतिरिह सरला ब्रह्मदण्ड्यऽस्थिनाली[2] ॥
मध्ये तस्याः सुषुम्णा विलसति पिहिता पश्चिमास्येन्दुसूर्यः
नाड्यौ द्वे पूर्ववाहेन हि भवति मुखेऽस्या हठो दोषनद्धे ॥ ३४ ॥

kandaṃ saṃveṣṭya sarvaṃ taraṇiśaśiśirāmadhyagā pṛṣṭhalagnā
pāyugrīvaṃ ca daṇḍākṛtiriha saralā brahmadaṇḍya'sthinālī ॥
madhye tasyāḥ suṣumṇā vilasati pihitā paścimāsyendusūryaḥ
nāḍyau dve pūrvavāhena hi bhavati mukhe'syā haṭho doṣanaddhe ॥ 34 ॥

Tr. All the *nāḍīs* like *taraṇi (piṅgalā), śaśi (iḍā)* and *madhyagā (suṣumṇā)* wind around the *kanda* and are situated at the back. The passage in the spine is *brahmadaṇḍī* which is as straight as a stick and originates from anus and ends at the neck. At its center *suṣumṇā* is concealed which faces posteriorly. The two *nāḍīs* i.e. *indu (iḍā)* and *sūrya (piṅgalā)* course anteriorly upto the mouth where they merge with the practice of *haṭha* as a result of which all the impurities are removed. 34.

दोषा विकृतरसाद्याः । क्रोधादयो वा । हठो हठयोगः ॥ ३५ ॥

doṣā vikṛtarasādyāḥ । *krodhādayo vā* । *haṭho haṭhayogaḥ*35

Tr. The impurities are harmful *rasa* (plasma) etc., or even anger etc. *haṭha* stands for *haṭhayoga*. 35.

शुद्धस्य कुम्भाग्निविदग्धदोषे मुद्रासनैर्नाडिविवर्तनैर्जितौ ।
आरम्भके पश्चिमवाहवायू[3] साग्नी यदा शक्तिवितापनं[4] तदा३६

śuddhasya kumbhāgnividagdhadoṣe
mudrāsanairnāḍivivartanairjitau ॥
ārambhake paścimavāhavāyū
sāgnī yadā śaktivitāpanaṃ tadā ॥ 36 ॥

---

1. सर्वन्तराणि शशिरा –b. 2. ताली –b. 3. वाह्य —b. 4. वितापन –b.

Tr. *kumbhaka (prāṇāyāma)* which burns out the morbidities and also practice of *āsana* and *mudrā* which alters the conditions of the *nāḍīs* in the *ārambha* state brings about purity and moves the *prāṇa* (and *apāna*) along with fire through the posterior path which agitates the *śakti (kuṇḍalinī)*. 36.

मुनेः कामदुघा शक्तिः सुषुम्णा कल्पवल्लरी ।
चिन्तामणिः संयमोऽस्य सिद्धिकैवल्यकांक्षिणः ॥ ३७ ॥

muneḥ kāmadughā śaktiḥ suṣumṇā kalpavallarī ।
cintāmaṇīḥ saṃyamo'sya siddhikaivalyakāṅkṣiṇaḥ ।37।

Tr. For a *muni* aspiring for *kaivalya* state, *śakti* is like *kāmadhenu* (wish fulfilling cow), *suṣumṇā* is *kalpavallarī* (wish fulfilling the creeper) and practice of *saṃyama* is like *cintāmaṇi* (wish fulfilling stone). 37.

सहजमाद्यमिदं तनुपञ्चकं चिदमृतास्पद[1]शक्तिमहापथौ ।
रसनतालुसहस्रदलाम्बुजान्यभिभवन्ति मिथो युजि मुक्तये ॥३८॥

sahajamādyamidaṃ tanupañcakaṃ
cidamṛtāspada-śaktimahāpathau ॥
rasanatālusahasradalāmbujāny-
abhibhavanti mitho yuji muktaye ॥ 38 ॥

Tr. The natural and pristine path for this body which has five sheaths *(pañcakośa)* leads towards immortality and consciousness through *śakti (kuṇḍalinī)* and *mahāpatha (suṣumṇā)* which overpowers the tongue, palate and the lotus of thousand petals and leads to emancipation. 38.

तमसीव मनोराज्यं निद्रायां स्वप्नवेष्टनम्[2] ।
मौढ्यरूपं तथा शक्तेः स्पन्दपुर्यष्टकं तदा ॥ ३९ ॥

tamasīva manorājyaṃ nidrāyāṃ svapnaveṣṭanam ।
mauḍhyarūpaṃ tathā śakteḥ spandapuryaṣṭakaṃ tadā।39।

Tr. The fanciful-state is enveloped in darkness, like one dreams in the sleep state, because the *śakti (kuṇḍalī)* is overpowered by ignorance in the living body of eight *puras* (cities) where creative pulsation throbs. 39.

---

1. विदऽमृतास्पद –b. 2. चेष्टनं —b.

वासनादृढविकल्प[1]कुण्डलैर्यन्त्रितात्मनि सुरागिणी[2] ततः ।
क्लेशकर्म्यऽसुसुशक्तिकुण्डली स्वं स्वपित्यऽथ तदज्ञतायुजा ।४०।

vāsanādṛḍhavikalpakuṇḍalair-
yantritātmani surāgiṇī tataḥ ||
kleśakarmya'susuśaktikuṇḍalī
svaṃ svapitya'tha tadajñatāyujā || 40 ||

Tr. One is engulfed in the intricate craving, severe mental constructions which are attractive. (Without finding the way out) due to ignorance (one indulges in) *karma* leading to suffering which puts the *kuṇḍalī* asleep. 40.

अथ कन्दः —

atha kandaḥ —

The description of *kanda* follows—

चिद्ब्रह्मणः कल्पकालेत्यविद्या[3]
मायात्मनाऽसच्छवलं स कन्दः ॥
स ब्रह्मग्रन्थिः प्रकृतेश्च पुंसा
योगः क्रियाभूस्त्रिगुणैः त्रिशूली ॥ ४१ ॥

cidbrahmaṇaḥ kalpakāletyavidyā
māyātmanā'sacchavalaṃ sa kandaḥ ||
sa brahmagranthiḥ prakṛteśca puṃsā
yogaḥ kriyābhūstriguṇaiḥ triśūlī || 41 ||

Tr. *kanda* is the *brahmagranthi* which has been evolved from union of *prakṛti* and *puruṣa*, which is the seat of *karma* of the nature of three *guṇas* in the form of the triad of sufferings (*triśūlī*). This (*kanda*) is the *kalpakāla* (time of creation) of *brahma* which is in the form of *avidyā* that has *māyā* (illusion) at its very core and which is variegated. 41.

आधारकन्दोऽस्तु च नाभिकन्दः
स कुण्डलिन्या जडभावभूः परा ॥
आश्रित्य तं स्वप्नगता भुजंगी[1]
शक्त्याऽनयात्मा[2] भ्रमति स्वकर्मवान् ॥ ४२ ॥

ādhārakando'stu ca nābhikandaḥ
sa kuṇḍalinyā jaḍabhāvabhūḥ parā ||

---

1. दृढकल्प -b. 2. तात्मतिसरागिणी –b. 3. कालेदविद्या –b.

āśritya taṃ svapnagatā bhujaṅgī
śaktyā'nayātmā bhramati svakarmavān ॥ 42 ॥

Tr. *ādhāra-kanda* is also known as *nābhikanda* which in companion of *kuṇḍalinī* turns inert. The *bhujaṅgī (kuṇḍalinī)* dwelling in *kanda* lies dormant. The *ātmā* wanders being pushed by the power of its own *karma*. 42.

आधारपद्मान्तरकर्णिकान्ते कन्दः सहस्रछद[3]कञ्जकन्दः ।
मेरोरधोलम्बिमहापथस्य जनिः सहस्राम्बुजरन्ध्रमध्यात् ॥ ४३ ॥

ādhārapadmāntarakarṇikānte
kandaḥ sahasrachadakañjakandaḥ ॥
meroradholambimahāpathasya
janiḥ sahasrāmbujarandhramadhyāt ॥ 43 ॥

Tr. *kanda* having thousand petals is located at the root of the spine at the pericurp of the lotus (i.e. *mūlādhāra)* wherefrom *suṣumṇā* originates, from the aperture of the lotus of a thousand petals. 43.

उक्तं च गोरक्षे[1] –

uktaṃ ca gorakṣe --

According to *gorakṣa*—

योनिमध्ये महालिंगं पश्चिमाभिमुखं स्थितम् ।
मस्तके मणिमुद्भिन्नं यो जानाति[5] स योगवित् ॥ ४४ ॥

yonimadhye mahāliṅgaṃ paścimābhimukhaṃ sthitam ।
mastake maṇimudbhinnaṃ yo jānāti sa yogavit ॥ 44 ॥

Tr. At the center of the *yoni* the great *liṅga*, facing posteriorly is situated like a shining *maṇi* (jewel) worn on the head. One who learns this is a true *yogī*. 44.

तप्तचामीकराभासं तडिल्लेखेव विस्फुरत् ।
चतुरस्रं परं वह्नेरधोमेढ्र[6]मवस्थितम् ॥ इति ॥ 45 ॥

taptacāmīkarābhāsaṃ taḍillekheva visphurat ।
caturasraṃ paraṃ vahneradhomeḍhramavasthitam ।*iti*।45।

Tr. It is as shining as hot gold, or as bright as a lightning. It is quadrangular in shape, situated above the fire and below the generative organ. 45.

---

1. भुजंगो –a. 2. शक्त्याऽनयात्मा –a. 3. छन्द –a. 4. गोरक्ष्ये –b. 5. जानीति –b. 6. मेढं –b.

योनिमध्ये योनिः कामाक्षा गुदलिंगान्तरालवर्त्तिनी । तन्मध्ये महालिंगं ज्ञेयं ॥ ४६ ॥

yonimadhye yoniḥ kāmākṣā gudaliṅgāntarālavarttinī । tanmadhye mahāliṅgaṃ jñeyam ॥ 46 ॥

Tr. *yonimadhye* means, the *yoni* named *kāmākṣā* which is between the anus and the organ of reproduction. *mahālinga* exists there. 46.

किंविशिष्टं ?

kiṃviśiṣṭam ?

पश्चिमाभिमुखे स्थितं । पुनर्मस्तके शिरसि । मणिं उद्भिन्नं[1] सहितं मणिसहितम् शिर इति । यः वेत्ति स योगवित् ॥ ४७ ॥

paścimābhimukhe sthitam । punarmastake śirasi । maṇiṃ udbhinnaṃ sahitaṃ maṇisahitam śira iti । yaḥ vetti sa yogavit ॥ 47 ॥

Tr. What are its characteristics? It faces backwards. It adorns a *maṇi* (jewel) on the head. One who knows this is a true *yogī*. 47.

तथा च त्रिपुरासारे –

tathā ca tripurāsāre —

So also according to *tripurāsāra*—

अंगं लिंगवपुर्भृतो भगवतो देवो द्विरण्डोऽभवद् ॥ इति ॥ ४८ ॥

aṅgaṃ liṅgavapurbhṛto bhagavato devo dviraṇḍo'bhavad ॥ *iti* ॥ 48 ॥

Tr. The *liṅgaśarīra* represents the *bhagavān* who has become the deity *dviraṇḍa*. 48.

एतादृशं मेढ्रं लिंगं योगी पश्येत् ॥

etādṛśaṃ meḍhraṃ liṅgaṃ yogī paśyet ॥

Tr. A *yogī* should perceive such a *liṅga*.

---

1. शिरसिमऽभिन्नं –b.

॥ इति कुण्डलीपदसुषुम्णास्वरूप-
कन्दस्वरूपविवेचनोद्योतः ॥

॥ iti kuṇḍalīpadasuṣumṇāsvarūpa-
kandasvarūpavivecanodyotaḥ ॥

Here ends the chapter describing the seat of *kuṇḍalinī*, nature of *suṣumṇā* and *kanda*.

Chapter — 26

अथ स्वाधिष्ठानचक्रम् —

atha svādhiṣṭhānacakram —

svādhiṣṭhānacakra —

स्वाधिष्ठानं तु सरोजं रसगणितदलं६ पीतवर्णं च तत्र
सावित्रीशक्तियुक्तो द्रुहिण इह यती[1] राकिनी देव्यधीशा ॥
प्राप्ता कामाग्निरूर्वी[2] वसति च नियमो वैखरी वाक्सिद्धः
बालाक्षाख्यः[3] स ऊज्जाप्य न[4] वसति तथा धारणा स्थूलदेहः ।

svādhiṣṭhānaṃ tu sarojaṃ rasa gaṇitadalaṃ6 pītavarṇaṃ ca tatra
sāvitrīśaktiyukto druhiṇaiha yatī rākinī devyadhīśā ॥
prāptā kāmāgnirūrvī vasati ca niyamo vaikharī vāksiddhaḥ
bālākṣākhyaḥ sa ūjjāpya na vasati tathā dhāraṇā sthūladehaḥ ॥ 3 ॥

Tr. The lotus of *svādhiṣṭhāna* has six yellow petals. *druhiṇa (brahmā)* along with the power of *sāvitrī* stays here as a *yatī*, presided over by the goddess *rākinī*. The intense blazing fire of (kernel) desire resides here which has *vaikharī* as *vāk* (speech), *bālākṣa* as *siddha*, where one chants loudly and *dhāraṇā* is practiced on the gross body. 1.

स्वाधिष्ठाने लिंगमृषिर्मोक्षः[5] सायुज्यता रजः ।
आकारो बादिषट्लान्ता मात्राः स्युर्हंसवाहनम् ॥ २ ॥

svādhiṣṭhāne liṅgamṛṣirmokṣaḥ sāyujyatā rajaḥ ।
ākāro bādiṣaṭlāntā mātrāḥ syur-haṃsavāhanam ॥ 2 ॥

Tr. In *svādhiṣṭhāna*, *liṅga* is the *ṛṣi*, *mokṣa* (emancipation) is unification, *rajas* is letter *ā*. Here are letters from *ba* to *la* (i.e. *ba, bha, ma, ya, ra, la*), the swan is vehicle. 2.

धातुः शक्तेश्च वाण्याः स्थितिसदनमिदं योगिनो ज्ञानमूलम्
स्वाधिष्ठानं सहंसं मुनिरिह कलयेच्छान्तिमेधाक्षमे स्वम् ॥
शक्तिर्धर्मात्मिका या व्यवहृति[6]रखिला कुण्डली सेयमंगे
जीवानां शक्तिरुच्चैर्विदमृतजडतास्वादशा व्याकरोति ॥ ३ ॥

dhātuḥ śakteśca vāṇyāḥ sthitisadanamidaṃ yogino jñānamūlam
svādhiṣṭhānaṃ sahaṃsaṃ muniriha kalayecchāntimedhākṣame svam ॥
śaktirdharmātmikā yā vyavahṛtirakhilā kuṇḍalī seyamaṅge
jīvānāṃ śaktiruccairvidamṛtajaḍatāsvādaśā vyākaroti ॥ 3 ॥

1.पती--b. 2.रूदी–b. 3.वालाक्ष्यख्यः-b. 4.नु-b. 5.मोंक्ष्यः-b. 6.व्यवस्थिति–b.

Tr. This is the abode of the creator, *śakti* and speech (*vāṇī)* and the source of wisdom for the *yogīs*. A *muni* should resort to this *svādhiṣṭhāna* along with the *hamsa* (swan) for peace and intellect. The entire virtuous behaviour of *śakti* is *kuṇḍalī* which resides here. The *śakti* when awakened, offers heightened taste of nectar and motionlessness to the living creatures. 3.

तथा चोक्तं त्रिपुरासारसमुच्चये –

tathā coktaṃ tripurāsāra-samuccaye—

It is said in *tripurāsāra-samuccaya*—

इह स्वाधिष्ठाने निहितनिजचेतो लयवशाद्
अमन्दानन्दौघः[1] स्तिमितहृदयः साधकवरः ॥
समेतांगोऽनंगः क्षितितलगतो वा मृगदशां
स्मरस्मेरायांगं[2] रमयति गणं कान्तिकलितम् ॥ ४ ॥

iha svādhiṣṭhāne nihitanijaceto layavaśād
amandānandaughaḥ stimitahṛdayaḥ sādhakavaraḥ ॥
sametāṅgo'naṅgaḥ kṣititalagato vā mṛgadaśām
smarasmerāyāṅgaṃ ramayati gaṇaṃ kāntikalitam ॥ 4 ॥

Tr. A great *sādhaka* directs his consciousness in this *svādhiṣṭhāna* and with a gratifying (heart) gets absorbed to enjoy ocean of Bliss. Herein one may enjoy Bliss by defeating the cupid or else being attracted by the beautiful women gratifies the sensual desires. 4.

इह वेत्ति निधाय मानसं स्वं कविविधं[3] वाश्रुतशास्त्रजालमुच्चैः ।
अवधूतजरामयः[4] स मर्त्यः सुचिरं जीवति वीतमृत्युभीतिः ॥५॥

iha vetti nidhāya mānasaṃ svaṃ
kavividhaṃ vāśrutaśāstrajālamuccaiḥ ॥
avadhūtajarāmayaḥ sa marttyaḥ
suciraṃ jīvati vītamṛtyubhītiḥ ॥ 5 ॥

Tr. Focusing the mind into it, one becomes wise and knows the entire range of scriptures which has not been heard of. Such a mortal who has transcended old age and diseases, lives long overcoming fear from death. 5.

---

1. नदौघः —b. 2. स्मेरायागं –b. 3. एवंकविविधं –b. 4. जरायः – b.

वपुषोऽशुचिभाजनस्य शश्वत्परमां शुद्धिमिहातनोति पुंसाम् ।
शरदम्बुदपेलवस्य[1] देहे दृढरुद्धो घनतां च शुक्रबिन्दुः ॥ ६ ॥

vapuṣo'śucibhājanasya śaśvat-
paramāṃ śuddhimihātanoti puṃsām ॥
śaradambudapelavasya dehe
dṛḍharuddho ghanatāṃ ca śukrabinduḥ ॥ 6 ॥

Tr. Overcoming impurity of the body a human being here would achieve eternal and supreme purity. His body becomes as slender as the autumn cloud but sturdy and stout and the semen turns condensed. 6.

चलितं सहसा महारसेन्द्रं[2] कमलालोकनतो वियत्स[3]रोजात् ।
इह ये विनिवारयन्ति[4] सन्तो ननु धीराः पुरुषोत्तमास्त[5] एव ।७।

calitaṃ sahasā mahārasendraṃ
kamalālokanato viyatsarojāt ॥
iha ye vinivārayanti santo
nanu dhīrāḥ puruṣottamāsta eva ॥ 7 ॥

Tr. Those who restrict the flow of *mahārasendra* (nectar) here, which oozes from the *ākāśakamala* (lotus at the aperture above) by concentrating on this *kamala* (lotus) are indeed sages, wise and superior among the human beings. 7.

मदधौतकटो महागजेन्द्रो[6] वशतामेति यथा शनैरुपायात्[7] ।
बलवानिह वै सुधाकरोऽसौ क्रमरुद्धः स्ववशो भवत्यवश्यम्[8] ॥८॥

madadhautakaṭo mahāgajendro
vaśatāmeti yathā śanairupāyāt ॥
balavāniha vai sudhākaro'sau
kramaruddhaḥ svavaśo bhavatyavaśyam ॥ 8 ॥

Tr. Even an intoxicated elephant, can be gradually brought under control tactfully. Similarly, the powerful moon certainly comes under ones control by and by. 8.

एतस्मिन् कुलिशाब्जयोगनिरतादादौ लयो जायते
रागादिन्द्रियदन्तिनां लयवशात्[9] संवित्तिरप्यूर्जिता ॥

---

1. दयेलयस्य -a. 2. तद्वारसेन्द्र —b. 3. विपत् —a. 4. विनिवारपरंयति –b. 5. पुरुषो तमास्त --a. 6. गजेन्द्री –b. 7. रुपधात् –b. 8. वशम् —a. 9. दन्तितालुयवशात् — b.

अन्तर्लीनमहारसद्रवजुषां नृणां च चेतोलयाद्
आविर्भावमुपैत्यमन्दसहजानन्दछलेन्दूदयः[1] ॥ ९ ॥

etasmin kuliśābjayoganiratādādau layo jāyate
rāgādindriyadantināṃ layavaśāt saṃvittirapyūrjitā ॥
antarlīnamahārasadravajuṣāṃ nṛṇāṃ ca cetolayād
āvirbhāvamupaityamandasahajānandachalendūdayaḥ ॥ 9 ॥

Tr. At this *cakra*, in the beginning, through the practice of *yoga* on the lotus the state of *laya* (absorption) supervenes and as a result of control gained through *laya*, the forceful senses are withdrawn like an elephant is controlled with a goad, from the objects of attachment which results in attainment of the state of *saṃvitti* (state of *samādhi*). Those who are absorbed in the internal flow of the great nectar makes the *cetas* absorbed (in it). To them the supreme Blissful state of *sahaja (samādhi)* shines like a shining moon. 9.

अपानचन्द्रस्थिति[2]चक्ररन्ध्रे धत्ते यदाभ्यासगुरूक्तयुक्त्या ।
योगी तदाऽस्तद्रव[3]मूर्तिरिन्दुररोगता बिन्दुमनोजयौ स्तः ॥ १० ॥

apānacandrasthiticakrarandhre
dhatte yadābhyāsagurūktayuktyā ॥
yogī tadā'stadravamūrtirindur-
arogatā bindumanojayau staḥ ॥ 10 ॥

Tr. Through an advanced practice, as guided by a teacher, a *yogī* holds the *apāna* and *candra* in the aperture of this *cakra*, thus preventing the flow of the nectar from moon and he enjoys good health and he controls *bindu* and *manas*. 10.

॥ इति हठतत्वकौमुद्यां
स्वाधिष्ठानचक्रोद्योतः ॥

॥ iti haṭhatatvakaumudyāṃ svādhiṣṭhānacakrodyotaḥ ॥

Here ends the chapter describing *svādhiṣṭhānacakra* in *haṭhatatvakaumudī*.

---

1. छलेदूदयः —b. 2. चन्द्रांस्थिति –b. 3. तदाऽतद्रव –b.

Chapter—27

अथ मणिपूरकं चक्रम् —

atha maṇipūrakaṃ cakram—

Description of *maṇipūracakra* follows—

नाभिस्थं मणिपूरकं दशदलं१० नीलाञ्जनाभैर्युतं
डावर्णैर्दलगैश्च[1] बिन्दुसहितैर्युक्तं श्रिया[2] विष्णुना ॥
प्राप्ता[3] भूरिह दक्षिणाग्नि[4]रनिलोऽस्यर्षिश्च[5] वाङ् मध्यमा
स्वप्नावस्थितिलिंगदेहयुगिदं सारूप्यमोक्षास्पदम् ॥ १ ॥

nābhisthaṃ maṇipūrakaṃ daśadalaṃ10 nīlāñjanābhairyutaṃ
ḍāvarṇairdalagaiśca bindusahitairyuktaṃ śriyā viṣṇunā ॥
prāptā bhūriha dakṣiṇāgniranilo'syarṣiśca vāṅ madhyamā
svapnāvasthitiliṅgadehayugidaṃ sārūpyamokṣāspadam ॥ 1 ॥

Tr. *maṇipūra* of ten petals, blue in colour, is located at the navel, adorned by the letters from *ḍa (ḍaṃ, ḍhaṃ, ṇaṃ; taṃ, thaṃ, daṃ, dhaṃ, naṃ, paṃ, phaṃ)* on the petals with the nasalized sound, presided over by *lakṣmī* and *viṣṇu*. Here *dakṣiṇāgni* is related to earth, *anila* the *ṛṣi*, *vāk* (speech) is *madhyamā*, It is in the state of sleep, related to the causal body (*liṅgadeha*), and it offers *sārūpya* (unification) and emancipation. 1.

मणिपूरे उकारः स्यात्सत्वमुड्डीयनं तथा ।
लाकिन्या युग्यजुश्रुत्या वाहनं गरुडो भवेत् ॥ २ ॥[6]

maṇipūre ukāraḥ syātsatvamuḍḍīyanaṃ tathā ।
lākinyā yugyajuśrutyā vāhanaṃ garuḍo bhavet ॥ 2 ॥

Tr. *ukāra* (the letter *u*) is located in *maṇipūra*. *prāṇa* rises upwards from here, deity *lākinī* presides over here, *yajurveda* is the *śruti* and *garuḍa* is the vehicle. 2.

मणिपूरे दशदले१० नाभिस्तत्र षडस्रकः[7] ।
तत्राऽर्कवलयान्तस्थतनुदीप[8]शिखान्तरे ॥ ३ ॥
महाविष्णुः परं ज्योतिरणुः तिष्ठति सूर्याभः[9] ।
स्थितौ वालात्र त्रिपुरा[10]शक्तिः सर्वेप्सितार्थदा ॥ ४ ॥

---

1. डाघर्णैदलगैश्च –b. 2. म्रिया –b. 3. शप्ता b. 4. भूमिरहदक्ष्यिणाग्नि –a. 5. स्पर्शिश्च –b. 6. अनुपलब्धश्लोकः —b. 7. नाभिस्वत्रषड्ऽस्रकः —b. 8. तनुदीपा –b. 9. सूर्यभः —b. 10. चिपुरा –b.

maṇipūre daśadale10 nābhistatra ṣaḍasrakaḥ ।
tatrārkavalayāntasthatanudīpaśikhāntare ॥ 3 ॥
mahāviṣṇuḥ paraṃ jyotiraṇuḥ tiṣṭhati sūryābhaḥ ।
sthitau vālātra tripurāśaktiḥ sarvepsitārthadā ॥ 4 ॥

Tr. *maṇipūra* with ten petals, which is at the navel which has six angles, there in the orb of the sun in the body of the flaming light, subtle *mahāviṣṇu* is located who is as bright as sun which is all illumining. Herein is the young goddess *tripurāśakti* who fulfills all desires. 3-4.

Note: According to *ṣaṭcakra-nirūpaṇa* the shape of *maṇipūra* is described as triangular and that of *anāhata* hexagonal. However, *sundaradeva* mentions the shape of *maṇipūra* as hexagonal but does not describe the shape of *anāhata*. 3-4.

धातुर्वादसुसिद्धयः[1] कलयति च द्राक् सिद्ध[2]सम्भाषणम्
वश्याकर्षणं निर्विषीकरणपूः[3] क्षोभादिकं[4] धत्तेऽपि च ॥
तेजस्वी शुभयोगसौख्यनिरतः स्यादत्र सत्साधको
अभ्यासाधिक्यतयाभितो हततमाः सत्वप्रकाशाद् भुवि ॥ ५ ॥

dhāturvādasusiddhayaḥ kalayati ca drāk siddhasambhāṣaṇam
vaśyākarṣaṇaṃ nirviṣīkaraṇapūḥ kṣobhādikaṃ dhatte'pi ca ॥
tejasvī śubhayogasaukhyanirataḥ syādatra satsādhako
abhyāsādhikyatayābhito hatatamāḥ satvaprakāśād bhuvi ॥ 5 ॥

Tr. One gains mastery over alchemy, get the ability to converse with the *siddhas*, exerts influence on others, detoxification, (can manage with) disturbances of emotions. Remaining devoted to auspicious *yoga*, a sincere *sādhaka* becomes lustrous. Through a pronounced practice he dispels ignorance and enjoys all-round *satva*. 5.

स्थानेऽस्मिन्निहितात्मनः सुकृतिनः पातालसिद्धिः परा
खड्गस्याप्रतिमस्य[5] साधनमपि स्यादीप्सितं च क्षितौ ॥
रूपं भूमिविसर्जनं परपुरे शक्तिः प्रवेष्टुं जरा-
हानिं चाखिलदुःखरोगशमनं कालस्य वा वञ्चनम् ॥६॥

---

1. सिद्धिपः —a. 2. चन्दसिद्ध –a. 3. करणयूः —b. 4. क्षोभाधिकं –a. 5. पराखद्वस्याऽप्रतिमस्य --a.

sthāne'sminnihitātmanaḥ sukṛtinaḥ pātālasiddhiḥ parā
khaḍgasyāpratimasya sādhanamapi syādīpsitaṃ ca kṣitau ॥
rūpaṃ bhūmivisarjanaṃ parapure śaktiḥ praveṣṭuṃ jarā-
hāniṃ cākhiladuḥkharogaśamanaṃ kālasya vā vañcanam ॥ 6 ॥

Tr. A fortunate one gains *pātālasiddhi* at this point, gains capacity to make use of an invaluable weapon through full concentration. One gains desired sources on this earth, a great look, levitation, capacity to enter in another body, removal of ailments and the entire range of suffering and overcomes (premature) death. 6.

गोरक्षः —
gorakṣa—
According to *gorakṣa* —-
तन्तुना मणिवत् प्रोतो यत्र कन्दः सुषुम्णया ।
तन्नाभिमण्डलं चक्रं[1] प्रोच्यते मणिपूरकम् ॥ इति ॥ ७ ॥
tantunā maṇivat proto yatra kandaḥ suṣumṇayā ।
tannābhimaṇḍalaṃ cakraṃ procyate maṇipūrakam ॥*iti*॥7॥

Tr. As a bead is strewn with a thread, similarly, *kanda* is pierced with *suṣumṇā*. This *cakra* at the navel is called *maṇipūra*. 7.

॥ इति हठतत्वकौमुद्यां मणिपूरचक्रोद्योतः ॥
॥ iti haṭhatatvakaumudyāṃ maṇipūracakrodyotaḥ ॥

Here ends the chapter describing *maṇīpūracakra* in *haṭhatatvakaumudī*.

1. मण्डलचक्र –b.

Chapter—28

अथ अनाहतचक्रम् —

atha anāhatacakram —

anāhatacakra—

हृद्देशेऽनाहताब्जं तरणि[1]दल१२युतं बाणलिंगास्पदं तद्
रक्तं रुद्रोऽस्य नाथो भवति परिगता भूमिकोमाथ शक्तिः ॥
प्राणो को गार्हपत्याऽनलसदन[2]मिदं सामवेदोऽस्ति वाचा
पश्यन्ती कारणाख्यं वपुरिह च सुषुप्तिर्दशा काकिनी[3] च ॥ १ ॥

hṛddeśe'nāhatābjaṃ taraṇidala12yutaṃ bāṇaliṅgāspadaṃ tad
raktaṃ rudro'sya nātho bhavati parigatā bhūmikomātha śaktiḥ ॥
prāṇo ko gārhyapatyā'nalasadanamidaṃ sāmavedo'sti vācā
paśyantī kāraṇākhyaṃ vapuriha ca suṣuptirddaśā kākinī ca ॥ 1 ॥

Tr. *anāhata* the lotus having 12 petals is situated in the heart region, which is the seat of *bāṇaliṅga* which is red in colour. *rudra* is its presiding deity who is along with *umā*-- his *śakti*, *prāṇa* is *vāyu*. *gārhapatya* is the fire. *sāma* is the *veda*, *paśyantī* is *vāk*. (Causal) is the body. *suṣupti* is the state and *kākinī* is the deity. 1.

ज्योतिः कलार्षिश्च[4] हिरण्यगर्भः सायुज्यता मुक्तिरिह प्रदिष्टा ।
सिद्धः पिनाकी च तमो गुणोऽत्र वर्णो[5] मकारो वृषवाहनं च ।२।

jyotiḥ kalārṣiśca hiraṇyagarbhaḥ
sāyujyatā muktiriha pradiṣṭā ॥
siddhaḥ pinākī ca tamo guṇo'tra
varṇo makāro vṛṣavāhanaṃ ca ॥ 2 ॥

Tr. *jyoti* (the light) is the *kalā*, *hiraṇyagarbha* is the *ṛṣi*, *sāyujyatā* is emancipation, *pinākī (śiva)* is the *siddha*, *tamas* is *guṇa*, *varṇa* (letter) is *ma*, bull is the vehicle. 2.

युग्मम् —

yugmam—

A *śloka* follows—

अधोमुखं यत्कमलमेतन्मध्येऽवलम्बते ।
जीवात्मा[6] विचरत्यत्र मनोवायुप्रचोदितः ॥ ३ ॥

---

1. ऽनाहताऽज्वंतराणि –b. 2. क्षदन a. 3. कारणाख्यं पुरिदृषुप्तिर्दशाकिनी –b. 4. कलाषिश्च –b. 5. कर्णो —b. 6. बीम्बात्मा –a.

adhomukhaṃ yatkamalametanmadhye'valambate ।
jīvātmā vicaratyatra manovāyupracoditaḥ ॥ 3 ॥

Tr. In this *cakra* lies the lotus facing downwards, wherein the *jīvātmā* moves being swayed by *manas* and *prāṇa*. 3.

अनाहते मारुततत्वभेदाद्
योगी स्वयं खेचरसिद्धिमेति ॥
स्वेच्छाविहारी खलु भूचरीं[1] च
सिद्धिं सुदूरश्रुतिदृक्[2] सुवित् स्यात् ॥ ४ ॥

anāhate mārutatatvabhedād-
yogī svayaṃ khecarasiddhimeti ॥
svecchāvihārī khalu bhūcarīṃ ca
siddhiṃ sudūraśrutidṛk suvit syāt ॥ 4 ॥

Tr. When *prāṇa* pierces *anāhata* a *yogī* attains *siddhis* like success in *khecarī*, movement at will on the earth, clairvoyance, clairaudience and omniscience. 4.

अनाहतारे यमिनः सुषुप्तेर्
दशां हि जीवाय ददाति शक्तिः ॥
ज्ञानात्मने स्यादिह धारणाख्यो
लयो मुनिः स्वेप्सितयान्त[3] आस्ते ॥ ५ ॥

anāhatāre yaminaḥ suṣupter-
daśāṃ hi jīvāya dadāti śaktiḥ ॥
jñānātmane syādiha dhāraṇākhyo
layo muniḥ svepsitayānta āste ॥ 5 ॥

Tr. The *yogīs* attain the state of *suṣupti* which energizes the *jīva* in this *anāhatacakra*, and a wise achieves the state of *laya* (absorption) named *dhāraṇā* here and remains in it at will. 5.

एतस्मिन्सततं निविष्टमनसः स्थाने विमानस्थिताः
क्षुभ्यन्त्यद्भुतरूपकान्तिकलिता दिव्यस्त्रियो[4] योगिनः ॥
ज्ञानं चाप्रतिमं त्रिकालविषयं क्षोभः पुरस्य श्रुतिर्
दूरादेवं[5] च दर्शनं च खगतिः[6] स्याद्योगिनी[7]मेलनम् ॥ ६ ॥

1. भूचरी –b. 2. श्रुतिदक –b. 3. स्वेप्सितयात –b. 4. दिव्यास्त्रियो –b. 5. दूरादेवचं –b. 6. स्वगतिः –b. 7. स्थायोगिनी –b.

etasminsatataṃ niviṣṭamanasaḥ sthāne vimānasthitāḥ
kṣubhyantyadbhutarūpakāntikalitā divyastriyo yoginaḥ ॥
jñānaṃ cāpratimaṃ trikālaviṣayaṃ kṣobhaḥ purasya śrutir
dūrādevaṃ ca darśanaṃ ca khagatiḥ syādyoginīmelanam ॥ 6 ॥

Tr. Through unswerving concentration on this (*cakra*) the *yogī* gets strong feelings in the celestial damsels in the space who are possessing exquisite charm and lustre. (The *yogīs)* attain, matchless wisdom encompassing three times (past, present and future), feeling of agitation towards the body, clairaudience, clairvoyance, moving in the space and contact with the *yoginīs*. 6.

इह ककारादिठकारान्तद्वादशसबिन्द्वक्षरयुक्तानि दलानि ॥

iha kakārādi-ṭhakārāntadvādaśasabindvakṣarayuktāni dalāni ॥

Tr. In this (*cakra*) there are twelve letters from *ka* to *ṭha* along with *bindu* (*m*) like *kaṃ, khaṃ, gaṃ, ghaṃ, ṅaṃ, caṃ, chaṃ, jaṃ, jhaṃ, ñaṃ, ṭaṃ, ṭhaṃ)* embossed on the petals.

गोरक्षः —

gorakṣaḥ

According to *gorakṣa* —

द्वादशारे महाचक्रे पुण्यापुण्यविवर्जिते ।
तावज्जीवो भ्रमत्येव यावत्तत्वं न विन्दति ॥ इति ॥ ७ ॥

dvādaśāre mahācakre puṇyāpuṇyavivarjite ।
tāvajjīvo bhramatyeva yāvattatvaṃ na vindati ॥ *iti* ॥ 7 ॥

Tr. In this great *cakra* of twelve spokes, which is beyond all that is pious or sinful, the *jīva* wanders till it attains the *tatva* (Self). 7.

॥ इति सुन्दरदेवविरचितायां
हठतत्वकौमुद्यामनाहतचक्रोद्योतः[1] ॥

॥ iti sundaradevaviracitāyāṃ
haṭhatatvakaumudyāmanāhatacakrodyotaḥ ॥

Here ends the chapter describing *anāhatacakra* of *haṭhatatvakaumudī* composed by *sundaradeva*.

1. चक्राद्योतः —b.

Chapter—29

अथ विशुद्धचक्रम् —

atha viśuddhacakram—

Description of ***viśuddhacakra***—

कण्ठस्थाने विशुद्धं भवति सरसिजं धूम्रवर्णं नरेन्द्र१६-
संख्या पत्रं च जालन्धर इह छगलण्डोऽस्ति सिद्धोऽथ देवः ॥
हंसोऽयं प्राणशक्त्या विलसति सततं शाकिनी देवतास्ते[1]
तुर्याऽवस्था विराट् स्यान्मुनिरथ च परा वाग[2]थर्वश्रुतिश्च ॥ १ ॥

kaṇṭhasthāne viśuddhaṃ bhavati sarasijaṃ dhūmravarṇaṃ narendra16-
saṃkhyā patraṃ ca jālandhara iha chagalaṇḍo'sti siddho'tha devaḥ ॥
haṃ'soyaṃ prāṇaśaktyā vilasati satataṃ śākinī devatāste
turyāvasthā virāṭ syānmuniratha ca parā vāgatharvaśrutiśca ॥ 1 ॥

Tr. The lotus of *viśuddha* located in the throat, smoky in colour, having 16 petals is the abode of *jālandhara* wherein there is god *chagalaṇḍa* as *siddha*, the *haṃsa* (swan) residing always with the vitality of *prāṇa*, *śākinī* the goddess, *turīya* is the state, *virāṭ* as *muni*, *vāk* is *parā* and *śruti* (*veda*) is *atharva*. 1.

ज्वाला कला जंगमलिंगमास्ते उदानवायुः समिता च भूमिका ।
सालोकता मोक्ष इह प्रदिष्टस्तथा[3] महाकारणदेह उत्तमः ॥ २ ॥

jvālā kalā jaṅgamaliṅgamāste
udānavāyuḥ samitā ca bhūmikā ॥
sālokatā mokṣa iha pradiṣṭas-
tathā mahākāraṇadeha uttamaḥ ॥ 2 ॥

Tr. *jvālā* is *kalā*, *liṅga* is *jaṅgama*, *udāna* is *vāyu*, *samitā* is the *bhūmikā*, *sālokatā* is *mokṣa* (emancipation)—these are said to be here, and the *mahākāraṇa* (great causal body) is *deha*. 2.

विशुद्धचक्रेऽम्बरतत्वभेदात् प्राप्नोति योगी गुटिकादि[4]सिद्धिम् ।
क्रोधादिलैन्यात्परिवृद्ध[5]सत्वः कायेऽक्षयः सृष्टिविकम्पनः[6] स्यात् ।३।

---

1. देवतांस्ते –a. 2. परावागः —b. 3. प्रदिष्टस्तव्या –b. 4 . पुटिकादि –b. 5. परिवृध –b. 6. विकम्पन —a.

viśuddhacakre'mbaratatvabhedāt
prāpnoti yogī guṭikādisiddhim ॥
krodhādilainyātparivṛddhasatvaḥ
kāye'kṣayaḥ sṛṣṭivikampanaḥ syāt ॥ 3 ॥

Tr. A *yogī* by piercing the *ākāśatatva* in the *viśuddhacakra* attains the *guṭikāsiddhi* etc. (alchemy solidifying mercury). Moreover, by subjugating anger etc. the *satva* is increased, the body becomes imperishable, and one gains the power to move the world. 3.

अभ्यासयोगादिह सन्निविष्टस्वान्तस्य शश्वन्नरपुंगवस्य ।
समर्थता स्यादनधीतशास्त्रसद्भावभावे वसुधातलेऽस्मिन् ॥ ४ ॥

abhyāsayogādiha sanniviṣṭa-
svāntasya śaśvannarapuṅgavasya ॥
samarthatā syādanadhītaśāstra-
sadbhāvabhāve vasudhātale'smin ॥ 4 ॥

Tr. (In *viśuddhacakra*) a great *yogī* through consistent practice of *yoga* becomes established in his own Self. He gains the ability in this world to reproduce the scriptures which are not studied. 4.

स्थानेऽत्र संसक्तमना मनुष्यस्त्रिकालदर्शी विगताधिरोगः[1] ।
जित्वा जरामञ्जनं[2] नीलकेशः क्षितौ चिरं जीवति वीतमृत्युः ॥५॥

sthāne'tra saṃsaktamanā manuṣyas-
trikāladarśī vigatādhirogaḥ ॥
jitvā jarāmañjanaṃ nīlakeśaḥ
kṣitau ciraṃ jīvati vītamṛtyuḥ ॥ 5 ॥

Tr. At this point (*cakra*) the man with a poised mind, knows (the events of) three times and overcomes diseases. By controlling old age, maintaining black hair he lives long on this earth overcoming (premature) death. 5.

इह स्थाने चित्तं सततमवधायात्तपवनो[3]
यदि क्रुद्धो योगी चलयति समस्तं त्रिभुवनम् ॥

---

1. विगताधिवेगः —b. 2. जयमजन —b. 3. सन्ततमवधायातपवनो —a.

न च ब्रह्माविष्णुः न च हरिहयो नैव[1] खमणिस्
तदीयं सामर्थ्यं शमयितुमलं नापि गणपः[2] ॥ ६ ॥

iha sthāne cittaṃ satatamavadhāyāttapavano
yadi kruddho yogī calayati samastaṃ tribhuvanam ॥
na ca brahmāviṣṇuḥ na ca harihayo naiva khamaṇis
tadīyaṃ sāmarthyaṃ śamayitumalaṃ nāpi gaṇapaḥ ॥ 6 ॥

Tr. At this point one should focus the mind continuously by controlling *prāṇa.* If the *yogī* gets angry, the three worlds shake. Even *brahmā, viṣṇu, indra, sūrya (khamaṇi*—sun), or *gaṇapa (śiva)* would not be able to pacify his anger (power). 6.

इह अकारादि[3]स्वरैर्दलपरिगतं तद्यथा अं आं इं ईं उं ऊं ऋं ॠं लृं ॡं[4] एं ऐं ओं औं अं अः ॥

iha akārādisvarair-dalaparigataṃ tadyathā aṃ āṃ iṃ īṃ uṃ ūṃ ṛṃ ṝṃ lṛṃ lṝṃ eṃ aiṃ oṃ auṃ aṃ aḥ ॥ 6 ॥

Tr. The vowels adorning the petals are—*aṃ āṃ iṃ īṃ uṃ ūṃ ṛṃ ṝṃ lṛṃ lṝṃ eṃ aiṃ oṃ auṃ aṃ aḥ.* 6.

इति षोडशस्वरयुक्तम् ॥

iti ṣoḍaśasvarayuktam ॥

These are the sixteen vowels.

॥ इति हठतत्वकौमुद्यां विशुद्धचक्रोद्योतः ॥ ५ ॥

॥ iti haṭhatatvakaumudyāṃ viśuddhacakrodyotaḥ ॥

Here ends the chapter on *viśuddhacakra* in *haṭhatatvakaumudī.*

---

1. नैवं -b. 2. मलनापिगणयः —a. 3. श्रकायदि -b. 4. लृं ॡं– not available-b.

Chapter –30

अथ आज्ञाचक्रम् —

atha ājñācakram—

Description of *ājñācakra* is as follows—

चक्राणामिति पञ्चकावधि मुनावास्ते विकारस्य हा[1]
संस्कारोत्थ[2]लवोत्तरोत्तरलयात् स्याज्जाग्रदादित्रयम्[3] ॥
यद्वत्तुर्यगतं[4] न बाधत इहैवं भ्रवन्तरे लीनतां
चित्तं याति विकारशून्यमुपसर्गे तं वशीकारतः ॥ १ ॥

cakrāṇāmiti pañcakāvadhi munāvāste vikārasya hā
saṃskārotthalavottarottaralayāt syājjāgradāditrayam ॥
yadvatturyagataṃ na bādhata ihaivaṃ bhrvantare līnatām
cittaṃ yāti vikāraśūnyamupasarge taṃ vaśīkārataḥ ॥ 1 ॥

Tr. In a *yogī*, elimination of impurities occurs upto the fifth of the *cakras*, wherein the three states of consciousness i.e. *jāgrat, svapna* and *suṣupti* take place here and the latent impression diminish gradually. On attainment of the fourth state *(turya)* the *citta* merges between the eyebrows *(ājñācakra)* and through controlling the obstacles, the impurities are removed. 1.

यथा यथोर्ध्वं व्रजति क्रमेण ग्रन्थीन् विभिद्याऽभ्यसनातियोगतः[5] ।
योगी तथा ज्ञानसुसत्वधीमान् स्यादुन्मनीं[6] याति विकारशून्यः ।२।

yathā yathordhvaṃ vrajati krameṇa
granthīn vibhidyā'bhyasanātiyogataḥ ॥
yogī tathā jñānasusatvadhīmān
syādunmanīṃ yāti vikāraśūnyaḥ ॥ 2 ॥

Tr. As the *yogī* gradually moves up piercing the *granthis* through intense practice, the wise who is free from disturbances and is equipped with the wisdom of the self attains the state of *unmanī* which is immutable. 2.

आज्ञाब्जं भ्रूयुगान्ते दहनपतियुतं[7] हंसचैतन्यशून्यैर्
जीवस्थानं द्विमात्रं द्विदलमनुपमा वाक् च शक्तिः[8] सुषुम्णा ॥

---

1. विकारस्पृ –b. 2. संकारोत्थ –b. 3. ज्जगदादित्रयं –b. 4. यद्वतुर्यगतं –a. 5. भ्यसनानियोगतः —b. 6. स्यादुन्मनो –b. 7. इह नयति युतं –a. 8. वस्वचशक्तिः —b.

साम श्रुत्यऽर्धमात्रा विमलमणिसमे ज्ञानदेहः प्रसाद-
लिंगं विज्ञानपन्था[1] विलसति सबिलेऽस्मिन्निरालम्बयोगः[2] ॥ ३ ॥

ājñābjaṃ bhrūyugānte iha nayati yutaṃ haṃsacaitanyaśūnyair
jīvasthānaṃ dvimātraṃ dvidalamanupamā vāk ca śaktiḥ suṣumṇā
sāma śrutya'rdhamātrā vimalamaṇisame jñānadehaḥ prasāda-
liṅgaṃ vijñānapanthā vilasati sabile'sminnirālambayogaḥ ॥ 3 ॥

Tr. The lotus of *ājñā* at the center of the eyebrows which leads to the union of *haṃsa, caitanya* (consciousness) and *śūnya* (void) which is the place of *jīva*, fire adorned with two syllables and two petals, where the *vāk* is *anupamā, śakti* is *suṣumṇā*, the *śruti* (*veda*) being *sāma*, syllable is half (*anusvāra*), which shines like a pure jewel *(maṇi)*, wisdom as the body, *prasāda* the *liṅga*, the path being *vijñāna*, the *nirālaṃbayoga* is accomplished and flourishes here. 3.

आकाशतत्वं प्रविभाति दिव्यं सिद्धो महाकाल इहास्ति दिव्यः ।
देवी सदा रक्षति हाकिनीदं विश्वेश्वरक्षेत्रमियं हि काशी ॥ ४ ॥

ākāśatatvaṃ pravibhāti divyaṃ
siddho mahākāla ihāsti divyaḥ ॥
devī sadā rakṣati hākinīdaṃ
viśveśvarakṣetramiyaṃ hi kāśī ॥ 4 ॥

Tr. The element of *ākāśa*, which is divine, gleams here. The divine *mahākāla* as *siddha* dwells here. The goddess *hākinī* always protects it. This is *kāśī*, the abode of *viśveśvara*. 4.

ब्रह्मार्गलद्वारमिदं यदुक्तमाज्ञाख्यचक्रं गिरिशेन सिद्धिदम् ।
तद्द्वारमध्ये रसनां[3] विधाय योगी यदा याति सुधां तदामरः ।५।

brahmārgaladvāramidaṃ yaduktam-
ājñākhyacakraṃ giriśena siddhidam ॥
taddvāramadhye rasanāṃ vidhāya
yogī yadā yāti sudhāṃ tadāmaraḥ ॥ 5 ॥

Tr. This is the gateway to *brahma*-hood, which is called the *ājñācakra*, wherein *giriśa (śiva)* offers success (in *yoga*). A *yogī* who inserts the tip of the tongue inside this door (aperture) and sucks the ambrosia, becomes immortal. 5.

---

1. पथा -b. 2. स्मिन्निएलंवयोगः -b. 3. रसना -b.

केदारवैचूलिका भ्रूतलोर्ध्वं[1] प्रालेयाद्रेः शैत्यमस्मादुदेति[2] ।
तत्सारस्याप्लावनाद्रोगनाशो दुष्टो नासास्राव आयति यः सः ।६।

kedāravaicūlikā bhrūtalordhvaṃ
prāleyādreḥ śaityamasmādudeti ॥
tatsārasyāplāvanādroganāśo
duṣṭo nāsāsrāva āyati yaḥ saḥ ॥ 6 ॥

Tr. The aperture above the center of the eyebrows is known as *kedāra* wherefrom the rest of the snowy mountain — the cool flow (of nectar) oozes. Rhinitis is cured by the flow of this essence. 6.

अहो पिंगला नासिकान्तं गतोक्ता
तदूर्ध्वं हि धारा सुधायाः प्रधाना ॥
भ्रुवो ब्रह्मरन्ध्रान्तमुक्ताऽमरत्वे
तदर्थं पुरा[3] साधयेत् खेचरीं ताम् ॥ ७ ॥

aho piṅgalā nāsikāntaṃ gatoktā
tadūrdhvaṃ hi dhārā sudhāyāḥ pradhānā ॥
bhruvo brahmarandhrāntamuktā'maratve
tadarthaṃ purā sādhayet khecarīṃ tām ॥ 7 ॥

Tr. *piṅgalā* extends upto the edge of the nose, above which the prime nectar flows. From the eyebrows upto *brahmarandhra* is the location of immortality, where one should practice *khecarī* first. 7.

विषवाहः पिंगलाया[4]मिडायां सुधया समः ।
नाभ्यासः सूर्यवाहे सच्चन्द्रवाहे स शस्यते ॥ ८ ॥

viṣavāhaḥ piṅgalāyāmiḍāyāṃ sudhayā samaḥ ।
nābhyāsaḥ sūryavāhe saccandravāhe sa śasyate ॥ 8 ॥

Tr. Toxin flows through *piṅgalā*, while ambrosia flows through *iḍā*. Therefore, one should not practise when *sūryanāḍī* (right nostril) is active, practice through *candranāḍī* (left nostril) when active is beneficial. 8.

धारणाच्चन्द्रवाहे च योगी कुम्भकमाचरेत् ।
शशिवाहे तु पवनं पूरयेदात्मनस्तनुम् ॥ ९ ॥

dhāraṇāccandravāhe ca yogī kumbhakamācaret ।

---

1. भूतलोर्ध्वं –b. 2. शैत्यमूष्माददेति –b. 3. तदर्थपुग –b. 4. पिंगलाद्या –b.

śaśivāhe tu pavanaṃ pūrayedātmanastanum ॥ 9 ॥

Tr. A *yogī* should practise *kuṃbhaka* and *pūraka* when left nostril is active. 9.

रविवाहे न चोत्सर्गः शस्यते देहवृद्धये[1] ।
सुगुह्यमि[2]दमाख्यातं शिवेनाभ्यासिनां मुदे ॥ १० ॥

ravivāhe na cotsargaḥ śasyate dehavṛddhaye ।
suguhyamidamākhyātaṃ śivenābhyāsināṃ mude ॥ 10 ॥

Tr. For the growth of the body, excretion etc. is not recommended when right nostril is active. This is a great secret related by *śiva* for the success (pleasure) of the practitioners. 10.

आज्ञाख्यचक्रे भुवि चित्ततत्व-
सम्पूर्णभेदादखिलः विजित्य ॥
योगी शिवः केवल एव साक्षान्
मनोजयात् सर्वमिदं सुसिद्ध्येत्[3] ॥ ११ ॥

ājñākhyacakre bhuvi cittatatva-
sampūrṇabhedādakhilaḥ vijitya ॥
yogī śivaḥ kevala eva sākṣān-
manojayāt sarvamidaṃ susiddhyet ॥ 11 ॥

Tr. By completely piercing the element of *citta* at the *ājñācakra*, a *yogī* controls all on this earth and becomes *śiva* alone. By controlling the mind one achieves all success. 11.

तस्मादादौ योगिना चित्तभेदाभ्यासः सेव्यस्तदृते नास्ति सिद्धिः[4] ।
षट्चक्राणां चिन्तनं भेदबीजं प्राणायामाद्यैर्मनःस्थैर्यहेतुः ॥ १२ ॥

tasmādādau yogīnā cittabhedā-
bhyāsaḥ sevyastadṛte nāsti siddhiḥ ॥
ṣaṭcakrāṇāṃ cintanaṃ bhedabījaṃ
prāṇāyāmādyairmanaḥsthairyahetuḥ ॥ 12 ॥

Tr. Therefore, a *yogī* should undertake the practice of *cittabheda* (control of mind) without which there is no attainment of success. Contemplation on six *cakras* causes piercing of the *citta* (mind). Stability of mind is achieved through the practice of *prāṇāyāma*. 12.

---

1. देहवृधये –b. 2. सुगुप्तमि –b. 3. सुसिद्धयेत्—a. 4. सेव्यस्तद्वतेनास्तिसिधिः—b.

बकवदिह तु तूष्णीं[1] भावलब्धिर्न किञ्चिद्
दृतिवदुदरपूर्त्तौ[2] वायुना श्रान्तिरेव[3] ॥
विविधकरणबन्धैर्देहबन्धे[4] जगतां
न भवति हठसिद्धिश्चामनस्कं विनैषत् ॥ १३ ॥

bakavadiha tu tūṣṇīṃ bhāvalabdhirna kiñcid
dṛtivadudarapūrttau vāyunā śrāntireva ॥
vividhakaraṇabandhairdehabandhe jagatāṃ
na bhavati haṭhasiddhiścāmanaskaṃ vinaiṣat ॥13॥

Tr. Remaining quiet like a crane and not attaining any *bhāva* (state), filling the stomach with air like a bellows only results in fatigue. Practice of various *mudrās* and *bandhas* does not bring about even little success in *haṭha* without the state of *amanaska* (transcending the mind). 13.

आज्ञाचक्रेऽभियातो महित[5]शिवपदे ज्ञानदेहस्तु जीवः
शक्त्या मृत्युव्यपेतः[6] क्रमत उपगतान् मानसात् स्वास्पदे[7]ऽत्र ॥
आत्मा याति स्वरूपं विलयमथ गुणा धर्ममेघोदयेन[8]
शक्त्या लैन्यं श्मशाने कलयति पुरुषः स्वस्वरूपे स एकः ॥१४॥

ājñācakre'bhiyāto mahitaśivapade jñānadehastu jīvaḥ
śaktyā mṛtyuvyapetaḥ kramata upagatān mānasāt svāspade'tra ॥
āttmā yāti svarūpaṃ vilayamatha guṇā dharmameghodayena
śaktyā lainyaṃ śmaśāne kalayati puruṣaḥ svasvarūpe sa ekaḥ ॥ 14॥

Tr. On arrival at *ājñācakra*, the *jīva* transforms into *jñānadeha* (wisdom) and achieves the high state of *śiva*-hood. Gradually one overcomes (premature) death and mind through *śakti (kuṇḍalinī)* at this point and gets established in his own nature. On arousal of *dharmamegha* (state) attributes (*guṇas*) are eliminated and the *ātmā* realizes its nature. The *puruṣa* gets merged in *śmaśāna (sahasrāracakra)* through *śakti* and he establishes in his true form. 14.

इह दलयुग्मे हंसं वर्णद्वयं भवति पद्ममिदं तु श्वेतम् ।
ध्यानयोगनिरतस्य जायते पूर्वजन्मकृतकर्मणां स्मृतिः ॥

---

1. वकठदिहतुतूणी –b. 2. किंचिदतिवदुदरपूर्तौ –b. 3. वायुर्ना आति रवे –b. 4. वन्धर्देहबन्धे –b. 5. माहिन –b. 6. मृव्ययेन –b. 7. उपगतात्मानसात्स्वास्पदेऽ –b. 8. धर्मघोदयेन –b.

अत्र बिन्दुनिलये च[1] दूरतो दर्शनश्रवणयोः समर्थता[2] ॥ १५ ॥

iha dalayugme haṃsaṃ varṇadvayaṃ bhavati padmamidaṃ tu śvetam ।
dhyānayoganiratasya jāyate pūrvajanmakṛtakarmaṇāṃ smṛtiḥ ॥
atra bindunilaye ca dūrato darśanaśravaṇayoḥ samarthatā ॥ 15 ॥

Tr. Herein (in this *cakra*), in the pair of the petals of the white lotus the two *varṇas* (letters) *haṃ* and *saṃ* are embossed. Memory of the deeds in past lives appear to one who is engaged in meditation. In the abode of *bindu* here one gains clairvoyance and clairaudience. 15.

इह सन्निहितस्वचित्तवृत्तिः प्रतिमायाः परिजल्पनं करोति ।
गमनं च नरः पुरे परेषां पुनरुत्थापनमप्यहो[3] मृतस्य ॥ १६ ॥

iha sannihitasvacittavṛttiḥ
pratimāyāḥ parijalpanaṃ karoti ॥
gamanaṃ ca naraḥ pure pareṣāṃ
punarutthāpanamapyaho mṛtasya ॥ 16 ॥

Tr. By directing the mental modifications to this *cakra*, one converses inarticulately with the *pratimā* (divine bodies). One becomes able to enter another body and resurrect a dead body. 16.

निरालम्बां मुद्रां[4] निजगुरुमुखेनैव विदिताम्
इह स्थाने बद्ध्वा स्थिरनिशितधीः साधकवरः ॥
सदाभ्यासात् पश्यत्यमरनिलयानन्तरखिलाम्
उडुश्रेणीं[5] विष्णोरपि पदमुडूना[6]मधिपतिम् ॥ १७ ॥

nirālambāṃ mudrāṃ nijagurumukhenaiva viditām
iha sthāne baddhvā sthiraniśitadhīḥ sādhakavaraḥ ॥
sadābhyāsāt paśyatyamaranilayānantarakhilām
uḍuśreṇīṃ viṣṇorapi padamuḍūnāmadhipatim ॥ 17 ॥

Tr. At this point *(cakra)* one should adopt the *nirālamba mudrā* learning it from one's own *guru*, through firm and undeterred attention. A bona fide student, through consistent practice, sees the abode of the immortals (deities), the entire range of constellations, the abode of *viṣṇu* and the moon. 17.

---

1. व –b. 2. समर्थना –b. 3. परेषापुनस्त्थापनमप्यहो –b. 4. नियलम्बा मुद्रा –b. 5. मुदुश्रेणी –a. 6. पदमुड्ना –b.

आपातालं सत्यलोकान्तमत्र
लोकान् सर्वान्[1] वीक्षते साधकेन्द्रः ॥
अन्तःपृथ्वीमेरुमधींश्च[2] देवान्
यक्षान्नागान्मानवांश्चाद्भुतानि[3] ॥ १८ ॥

āpātālaṃ satyalokāntamatra
lokān sarvān vīkṣate sādhakendraḥ ॥
antaḥpṛthvīmerumadhīṅśca devān
yakṣānnāgānmānavāṅścādbhutāni ॥ 18 ॥

Tr. A *sādhaka* sees all the *lokas* (worlds) from *pātāla* (worlds underneath) upto the *satyaloka*. He also sees the deities, *yakṣas* (demigods), serpents, human beings and supernatural beings on and above the earth. 18.

एतस्मिन् परमाद्भुताव्ययमहानन्दैककन्दे परे[4]
स्थाने मानसमात्मनः स्थिरमतिः[5] संयोजयेन् मुद्रया ॥
योगी तन्मयतामुपैति शनकैश्चेतो निरालम्बया
पश्चान्नैजमहासुखं लयवशादाविर्भवन्त्यान्तरम् ॥ १९ ॥

etasmin paramādbhutāvyayamahānandaikakande pare
sthāne mānasamātmanaḥ sthiramatiḥ saṃyojayen mudrayā ॥
yogī tanmayatāmupaiti śanakaiśceto nirālambayā
paścānnaijamahāsukhaṃ layavaśādāvirbhavantyāntaram ॥ 19 ॥

Tr. In this *kanda*, which is highly astonishing, immutable and supreme Bliss, which also is the abode beyond, one having stabilized the mind, should focus the mind on it, through *nirālambamudrā*. The *yogī* gradually attains the state of absorption of the mind, which brings supreme Bliss to the self, which arises through absorption in due course of time. 19.

लीने चेतसि तत्र[6] विश्वनिलये वह्नेरिवादौ कणा
दृश्यन्तेऽन्तरनन्तरं च विलसद्रूपाः[7] प्रदीपांकुराः[8] ॥
बालस्येव दिवाकरस्य बहुलोद्योतस् ततो द्योतते[9]
यद्वा[10] भूगगनान्तरालविलसन् ज्योत्स्ना समर्थं महः ॥ २० ॥

1. लोकात्सर्गन –b. 2. मध्वीश्च –b. 3. मानवाश्चाऽद्दता –b. 4. महानन्दैकर्पदे –b. 5. स्थिरप्रतिः –b. 6. तन्त्र –b. 7. विलसदयाः –b. 8. प्रदीपांकुष –b. 9. द्योतत –b. 10. यदा –b.

līne cetasi tatra viśvanilaye vahnerivādau kaṇā
dṛśyante'ntaranantaraṃ ca vilasadrūpāḥ pradīpāṅkurāḥ ||
bālasyeva divākarasya bahulodyotas tato dyotate
yadvā bhūgaganāntarālavilasan jyotsnā samarthaṃ mahaḥ ||20||

Tr. On absorption of the mind in the Universal abode, one sees the subtle sparkling of the fire at intervals, glowing little lamps and many morning rising sun. Moreover, one sees illumination of moonlight everywhere from the earth to sky. 20.

नित्यानन्द इति श्रियः पतिरिति श्रीवासुदेवः पुमान्
आत्मेत्यच्युत इत्यचिन्त्य[1]महिमा यो गीयते योगिभिः ॥
स्थानेऽस्मिन् परमेश एव भगवान् व्यक्तो भवत्यव्ययः
साक्षीराहुरि[2]वान्तरान्तरगतश्चन्द्रार्कयोर्मण्डले[3] ॥ २१ ॥

nityānanda iti śriyaḥ patiriti śrīvāsudevaḥ pumān
ātmetyacyuta ityacintyamahimā yo gīyate yogibhiḥ ||
sthāne'smin parameśa eva bhagavān vyakto bhavatyavyayaḥ
sākṣīrāhurivāntarāntaragataścandrārkayormaṇḍale || 21 ||

Tr. That which is eulogized by the *yogīs* is this ever Blissful, *śrīpati, śrīvāsudeva, ātmā* or *acyuta.* At this place the immutable *parameśa* the God, who is unmanifest becomes visible, who is known as *sākṣī* (observer) and perceived at the center of the orb of sun and moon. 21.

विश्वस्यायतनं महद्भगवतः स्थानं तदेतत्परम्
यत्रारोप्य समीरणं सुकृतिनः प्राणप्रयाणोत्सवे ॥
दिव्यं तं परमं पुराणपुरुषं वेदान्तवेद्यं कविम्
विश्वाद्यं प्रविशन्ति सन्ततमहानन्दैककन्दं भुवि ॥ २२ ॥

viśvasyāyatanaṃ mahadbhagavataḥ sthānaṃ tadetatparam
yatrāropya samīraṇaṃ sukṛtinaḥ prāṇaprayāṇotsave ||
divyaṃ taṃ paramaṃ purāṇapuruṣaṃ vedāntavedyaṃ kavim
viśvādyaṃ praviśanti santatamahānandaikakandaṃ bhuvi || 22 ||

Tr. This stands to be the highest abode of *bhagavān* and also the source of the Universe. The great *yogīs* would direct *prāṇa* at this (point) at the time of leaving the (corporeal) body from this world and enter the divine supreme self, who is

1. इत्यर्चित्य –a. 2. साक्षीराहरि –b. 3. मण्डलेः –b.

puruṣa (primeval supreme being), realized through *vedānta*, is *kavi* (omniscient), the source of the Universe and who is source of the eternal Bliss. 22.

॥ इति हठतत्वकौमुद्यामाज्ञाचक्रोद्योतः ॥

॥ iti haṭhatatvakaumudyāmājñācakrodyotaḥ ॥

Here ends the chapter describing *ājñācakra* in *haṭhatatvakaumudī*.

अथ ब्रह्मरन्ध्रे[1] सहस्रदलकमलम् ॥

atha brahmarandhre sahasradalakamalam ॥

In *brahmarandhra* the lotus of thousand petals is located.

योनौ[2] भालसहस्रपत्रकमलान्ते महरूर्ध्वं[3] ततो
ब्रह्माण्डाख्यतनो[4]र्बहिर्विलसति श्र्यब्जां[5] सहस्रछदम् ॥
कैलासः स विमुक्तिदः शिवपदं चैतन्यशक्त्या गुरुः
स्वामी यत्र विराड् ऋषिः[6] स्थितिदशा वाणी परा यत्र[7] हि ।१।

yonau bhālasahasrapatrakamalānte maharūrdhvaṃ tato
brahmāṇḍākhyatanorbahirvilasati śryabjāṃ sahasrachadam ॥
kailāsaḥ sa vimuktidaḥ śivapadaṃ caitanyaśaktyā guruḥ
svāmī yatra virāḍ ṛṣiḥ sthitidaśā vāṇī parā yatra hi ॥ 1 ॥

Tr. At the center of the lotus of thousand petals in the forehead there lies the *mahar(-loka)* above which flourishes the *śrīkamala* having thousand petals representing the body called *brahmāṇḍa*. That is *kailāsa*, the abode of *śiva*, which offers emancipation through power of consciousness, wherein the *guru* is the *svāmī*, which has *virāṭ* as *ṛṣi*, *sthiti* (existence) is the state, where *vāk* is *parā*. 1.

तुर्यातीतः साक्षीः भूतश्चैतन्या[8]त्मा सोऽहं वेदः[9] ।
मात्रा वर्णाः सर्वा यत्रावल्यो[10] वैराट् देहोऽत्रास्ते[11] ॥ २ ॥

turyātītaḥ sākṣīḥ bhūtaścaitanyātmā so'haṃ vedaḥ ।
mātrā varṇāḥ sarvā yatrāvalyo vairāṭ deho'trāste ॥ 2 ॥

Tr. Here is the complete range of all these— state transcending the *turīya*, witness, *bhūta*, the conscious *ātmā*, *so'haṃ*, the *vedas*, the *mātrās*, *varṇas* (letters), the *virāṭ deha*. 2.

युग्मम् —

yugmam —

Here follows a *śloka*—

1. ब्रह्मरन्ध्र —b. 2. योनो —b. 3. मुरूर्ध्वं तनो —b. 4. तमो —b. 5. श्चत्वं —b. 6. वियदुषिः —b. 7. प्रजापत्र —a. 8. भूतश्चैतन्या —b. 9. सोहंदेवेदः —b. 10. यत्रांवल्यो —a. 11. वैयटहेहोऽत्रास्ते —b.

ब्रह्मरन्ध्रं सुषुम्णा भूरग्न्यागारे[1] ध्वनिर्महान् ।
ऊर्ध्वप्रयोग[2]मार्गोऽयं सुषुम्णावस्थितिस्त्विह ॥ ३ ॥

brahmarandhraṃ suṣumṇā bhūragnyāgāre dhvanirmahān
ūrdhvaprayogamārgo'yaṃ suṣumṇāvasthitistviha ॥ 3 ॥

Tr. *suṣumṇā* is *brahmarandrha* in which are situated *bhū (pṛthvī* —earth), *agni* (fire), *dhvni* and is the path of transcendence. 3.

शक्तिः सा मूलमाया शिव इह परमं दैवतं पीतवर्णम्[3]
वाक्चित्तागोचरा ता[4] परमलयपदं निःप्रपञ्चं च शून्यम् ॥
नित्यध्यानं समाधिस्थिति[5]गलितसदोपाधिकं चित्तवाच्योर्[6]
मूलस्थानं लयस्योत्तमं भ्रमरगुहा नाद[7]सन्धानशून्यम् ॥ ४ ॥

śaktiḥ sā mūlamāyā śiva iha paramaṃ daivataṃ pītavarṇam
vākcittāgocarā tā paramalayapadaṃ niḥprapañcaṃ ca śūnyam ॥
nityadhyānaṃ samādhisthitigalitasadopādhikaṃ cittavācyor
mūlasthānaṃ layasyottamaṃ bhramaraguhā nādasandhānaśūnyam ॥ 4 ॥

Tr. *śakti* is that *mūlamāyā*, which is beyond speech and mind and *śiva* here is the absolute god who is yellow in colour. This is the place of supreme *laya* (absorption), bereft of any diversion, void, always in a meditative calm, ever bereft of *upādhis* (attributes) in the state of *samādhi*, root of both *citta* and speech, void and *laya* (absorption), *bhramaraguhā* where *nāda* appears. 4.

त्रिपुरासारसमुच्चये —

tripirāsārasamuccaye—

According to *tripurāsārasamuccaya*—

सहस्रारपद्मं विसर्गादधस्तादधोवक्त्रमारक्तकिञ्जल्कपुञ्जम् ।
कुरंगेण हीनस्त्रिशृंगस्तदन्तःस्फुरद्रश्मिजालः सुधांशुः समास्ते ।५।

sahasrārapadmaṃ visargādadhastād-
adhovaktramāraktakiñjalkapuñjam ॥
kuraṅgeṇa hīnastriśṛṅgastadantaḥ-
sphuradraśmijālaḥ sudhāṅśuḥ samāste ॥ 5 ॥

---

1. भूरम्यागारे –b. 2. अधर्वप्रयोग –b. 3. पीतवर्णा –b. 4. चित्ताऽगोचयन्ता –b. 5. समाधिस्थित –b. 6. चित्तवाच्योर् –b. 7. लयस्योत्तम्भ्रमरमुहानाद –b.

Tr. The *sahasrāracakra* is situated below the *visarga*, facing downwards, as red as a host of blossoming lotus, free from blemishes, the place called *triśṛnga (trikūṭa)* casting inside the flood of rays like that of the moon. 5.

तदन्तर्गतं ब्रह्मरन्ध्रं सुसूक्ष्मं[1] यदाधारभूतं सुषुम्णाख्यनाड्याः[2] ।
तदेतत् पदं दिव्यमत्यन्तगुह्यं[3] सुरैरप्यगम्यं[4] सुगोप्यं प्रयत्नात्[5] ६

tadantargatam brahmarandhram susūkṣmam
yadādhārabhūtam suṣumṇākhyanāḍyāḥ ॥
tadetat padam divyamatyantaguhyam
surairapyagamyam sugopyam prayatnāt ॥ 6 ॥

Tr. *brahmarandhra* is inside it, which is the subtle base for the *nāḍī* called *suṣumṇā*. This is the divine abode, highly secret even to the gods, which should be concealed with all care fully. 6.

एतत्कैलाससंज्ञं[6] परमकुलपदे[7] बिन्दुरूपी स्वरूपी[8]
यत्रास्ते देवदेवो भवभयतिमिरध्वंसहंसो महेशः[9] ॥
भूतानामादिदेवो रसविरससितां[10] सन्ततामन्तरंगे
सौधीं धारां[11] विमुञ्चन्नभिमतफलदो योगिनां योगगम्यः ॥ ७ ॥

etatkailāsasañjam paramakulapade bindurūpī svarūpī
yatrāste devadevo bhavabhayatimiradhvaṃsahaṃso maheśaḥ ॥
bhūtānāmādidevo rasavirasasitām santatāmantaraṅge
saudhīm dhārām vimuñcannabhimataphalado yoginām yogagamyaḥ ॥ 7 ॥

Tr. This is called *kailāsa*, the absolute abode, which is in the nature of the form of *bindu*, wherein supreme God resides. *maheśa* who is the dispeller of darkness caused due to fear of the world. He is the primeval god of all the *bhūtas* (living creatures), who causes incessant internal secretion of the nectar of extraordinary taste and pure and who offers the desired results to the *yogīs* and who can be realized through *yoga* alone. 7.

स्थानस्यास्य ज्ञानमात्रेण नृणां संसारेऽस्मिन् सम्भवो नैव भूयः ।
भूतग्रामं सतता[12]भ्यासयोगात् कर्त्तुं हर्त्तुं स्याच्च शक्तिः समग्रा ८

---

1. सुमूक्षम –b. 2. सुषुम्णाव्याख्यानाड्यास् –b. 3. दिव्यमतंतगुह्यं –b. 4. सुरैण्यगम्यं –b. 5. सूर्य्यप्रयत्नान् –b. 6. यतकैलाससंज्ञं –b. 7. कुलमदे –b. 8. विदरूपिस्वरूपो –a. 9. ध्वसहसोदमहेसः –b. 10. रसविरससिनां –. 11. धायं –b. 12. भूतग्रामसन्तता –b.

sthānasyāsya jñānamātreṇa nṛṇāṃ
saṃsāre'smin sambhavo naiva bhūyaḥ ||
bhūtagrāmaṃ satatābhyāsayogāt
kartuṃ hartuṃ syācca śaktiḥ samagrā || 8 ||

Tr. Just by getting experience at this point, the human beings would never return to this world. (Thus) one attains the entire power through consistent practice of *yoga* to create and eliminate the living creatures. 8.

स्थाने परे हंसनिवासभूते कैलासनाम्नीह निधाय चेतः ।
योगी गतव्याधिरधःकृताधिवाधश्चिरं जीवति मृत्युमुक्तः[1] ॥ ९ ॥

sthāne pare haṃsanivāsabhūte
kailāsanāmnīha nidhāya cetaḥ ||
yogī gatavyādhiradhaḥkṛtādhi-
vādhaściraṃ jīvati mṛtyumuktaḥ || 9 ||

Tr. This is the supreme abode called *kailāsa*, wherein the haṃsa resides and wherein one should fix the mind, as a result of which a *yogī* overcomes ailments and mental obstacles, lives long without facing (premature) death. 9.

स्थानेऽस्मिन् क्षयवृद्धिभावरहिता नित्योदिताऽधोमुखी[2]
बालादित्यनिभप्रभा शशभृतः सास्ते[3] कला षोडशी[4] ॥
बालाग्रस्य विखण्डितस्य शतधा भागेन चैकेन या
सूक्ष्मत्वात् सदृशी[5] निरन्तरगलत्पीयूषधाराधरा ॥ १० ॥

sthāne'smin kṣayavṛddhibhāvarahitā nityoditā'dhomukhī
bālādityanibhaprabhā śaśabhṛtaḥ sāste kalā ṣoḍaśī ||
bālāgrasya vikhaṇḍitasya śatadhā bhāgena caikena yā
sūkṣmatvāt sadṛśī nirantaragalatpīyūṣadhārādharā || 10 ||

Tr. In this point the *ṣoḍaśī kalā* of full moon resides which is immutable, ever-shining, facing downwards, as bright as the morning sun. It is as subtle as the hundredth part of the tip of a hair, is constantly secreting the flow of ambrosia. 10.

एतस्याः परतः स्थिता भगवती भूताधिदैवाभिधा
या निर्वाणकलार्धचन्द्रकुटिला सा षोडशान्तं[6] गता ॥

---

1. मृत्युमुक्तिः —b. 2. नित्योदिताऽधामुखी –b. 3. तास्ते –b. 4. शोडषी –a. 5. सदृशो –a. 6. सोषोडन्तं –a.

बालाग्रस्य सहस्रधा विदलितस्यैकेन[1] भागेन या
सूक्ष्मत्वात् सदृशी[2] त्रिलोकजननी या द्वादशार्कप्रभा ।११।

etasyāḥ parataḥ sthitā bhagavatī bhūtādhidaivābhidhā
yā nirvāṇakalārdhacandrakuṭilā sā ṣoḍaśāntaṃ gatā ॥
bālāgrasya sahasradhā vidalitasyaikena bhāgena yā
sūkṣmatvāt sadṛśī trilokajananī yā dvādaśārkaprabhā ॥ 11 ॥

Tr. *bhagavatī* is situated beyond it, which ruels over the *bhūtas*, which is as crescent as the half-moon adorned with *nirvāṇa-kala*, and has reached *ṣoḍaśānta*, which is as subtle as the thousandth split of the tip of a hair, who is the mother of the three worlds and as bright as twelve suns. 11.

निर्वाणाख्यकलापदो परिगता निर्वाणशक्तिः परा[3]
कोट्यादित्यसमप्रभातिगहना बालाग्रभागस्य[4] या ॥
कोट्यंशेन समा समस्तजननी नित्योदिता निर्मला
नित्यानन्दपदछलो[5]रुनगरद्वारा निरालम्बना ॥ १२ ॥

nirvāṇākhyakalāpado parigatā nirvāṇaśaktiḥ parā
koṭyādityasamaprabhātigahanā bālāgrabhāgasya yā ॥
koṭyaṃśena samā samastajananī nityoditā nirmalā
nityānandapadachalorunagaradvārā nirālambanā ॥ 12 ॥

Tr. She is the supreme *nirvāṇa-śakti* which is placed at the location of *nirvāṇa-kalā*, as shinning as a crore (multitude) of suns, highly profound, as subtle as one part of the tip of a hair split into a crore, mother of all, ever shining, pure, like the gateway to massive city of the ever Blissful state of *nirālambanā*. 12.

एतस्याः परतः परात् परतरं[6] निर्वाणशक्तेः पदम्[7]
शैवं शाश्वतमप्रमेय[8]ममलं नित्योदितं निष्क्रियम् ॥
तद्विष्णोः पदमित्युशन्ति[9] सुधियः केचित् पदं ब्रह्मणः
केचित् हंसपदं निरञ्जनपदं केचिन्निरालम्बनम् ॥ १३ ॥

etasyāḥ parataḥ parāt parataraṃ nirvāṇaśakteḥ padam
śaivaṃ śāśvatamaprameyamamalaṃ nityoditaṃ niṣkriyam ॥
tadviṣṇoḥ padamityuśanti sudhiyaḥ kecit padaṃ brahmaṇaḥ
kecit haṃsapadaṃ nirañjanapadaṃ kecinnirālambanam ॥ 13 ॥

---

1. विदत्वितस्यैकेन –b. 2. सदशी –b. 3. यश –b. 4. वालागभामस्य –a. 5. यद्दच्छलो –b. 6. परतपरात्परतरं –b. 7. यदं –b. 8. शेवशाश्वतमपमेव –b. 9. एवमित्यशन्ति –b.

Tr. The seat far beyond this *nirvāṇa-śakti* is *śaiva*, which is eternal, immeasurable, pure, ever illumining and passive. Some wise call this as the abode of *viṣṇu*, others know this as the abode of *brahma*. Some call it *haṃsapada*, others call it *nirañjana-pada* and also *nirālambana*. 13.

आरोप्यारोप्य शक्तिं कमलजनि[1]लयादात्मना साकमेषु
स्थानेषु आज्ञावसानेष्ववहित[2]हृदयश्चिन्तयित्वा क्रमेण ॥
नीत्वा नादावसानं[3] खगमकुल[4]महापद्मसद्मान्तरस्थाम्
ध्यायेच्चैतन्यरूपामभिलषितफलप्राप्तयेऽभीष्टमूर्त्तिम् ॥ इति ॥१४॥

āropyāropya śaktiṃ kamalajanilayādātmanā sākameṣu
sthāneṣu ājñāvasāneṣvavahitahṛdayaścintayitvā krameṇa ॥
nītvā nādāvasānaṃ khagamakulamahāpadmasadmāntarasthām
dhyāyeccaitanyarūpāmabhilaṣitaphalaprāptaye'bhīṣṭamūrtim ॥*iti*॥14॥

Tr. One should accumulate the *śakti* from the abode of *brahmā (mūlādhāra)* along with the Self, and direct her at several points while withdrawing from *ājñā*, thereafter with one-pointedness and then take it to the end of the *nāda*, *prāṇa* and *śiva*, at the abode of the great lotus *(sahasrāra)*. One should meditate upon the chosen deity who is of the nature of consciousness for deriving the desired results. 14.

साक्षाल्लाक्षारसाभं[5] गगनगतमहापद्मसद्मस्थहंसात्
पीत्वा दिव्यामृतौघं पुनरपि च विशेन् मध्यदेशं कुलस्य ॥
चक्रे चक्रे क्रमेणामृतरसविरसैस्तर्पयेद्देवतास्ताः
हाकिन्याद्याः समस्ताः कमलजपदगान्तर्पयेत् स्वेष्टदेवम् ॥ १५ ॥

sākṣāllākṣārasābhaṃ gaganagatamahāpadmasadmasthahaṃsāt
pītvā divyāmṛtaughaṃ punarapi ca viśen madhyadeśaṃ kulasya
cakre cakre krameṇāmṛtarasavirasaistarpayeddevatāstāḥ
hākinyādyāḥ samastāḥ kamalajapadagāntarpayet sveṣṭadevam ॥15॥

Tr. From the *haṃsa* which is residing at the abode of the supreme lotus in the sky *(sahasrāra)* one should drink the divine ambrosia which is as red as the fresh juice of *lākṣā* (lak), and enter again the abode of *śakti (kula)*. One should offer the

1. कमलनिलया –b. 2. ज्ञावसानेष्वहितहृदय –b. 3. नाड्यावसानं –b. 4. स्वंगमकुल –b. 5. साक्षाल्लारसाभं –b.

libation in an orderly fashion of the ambrosia of extraordinary taste to all the deities like *hākinī* etc. in each *cakra* which lead to the abode of *brahmā*, and also offer libation to tutelary deity. 15.

ध्यानं तु षट्चक्रजमान्तरं मनःस्थैर्यं महाभूतविभेददं क्रमात् ।
श्रीसाधकानां शुभयोगसिद्धिदं श्रीकुण्डलीबोधमरुज्जयप्रदम् ।१६।

dhyānaṃ tu ṣaṭcakrajamāntaraṃ manaḥ-
sthairyaṃ mahābhūtavibhedadaṃ kramāt ॥
śrīsādhakānāṃ śubhayogasiddhidaṃ
śrīkuṇḍalībodhamarujjayapradam ॥ 16 ॥

Tr. *dhyāna* should be related to the six *cakras* sequentially and piercing of the *mahābhūtas*, which leads to mental stability and brings about the auspicious success of *yoga* to the practitioners. This also brings arousal of *kuṇḍalī* and control on *vāyu*. 16.

षट्चक्रक्रमविन्यासो मनसोऽभ्यन्तरस्थितेः ।
हेतुर्बाह्यचरस्याद्याऽभ्यासिनो वायुसुसिद्धिकृद्[1] ॥ १७ ॥

ṣaṭcakrakramavinyāso manaso'bhyantarasthiteḥ ।
heturbāhyacarasyādyā'bhyāsino vāyususiddhikṛd ॥ 17 ॥

Tr. Internalization and stability of the mind in six *cakras* sequentially brings about control on *prāṇa* to the beginner who is an extrovert. 17.

॥ इति सुन्दरदेवविरचितायां हठतत्वकौमुद्यां सहस्रपत्रपद्म[2]निरूपणोद्योतः ॥

॥ iti sundaradevaviracitāyāṃ haṭhatatvakaumudyāṃ sahasrapatrapadmanirūpaṇodyotaḥ ॥

Here ends the chapter describing the lotus of thousand petals in *haṭhatatvakaumudī* composed by *sundaradeva*.

1. मायुसुसिधिकृत -b. 2. सहस्रपद्म -b.

ग्रन्थान्तरे –

granthāntare –

According to another scripture—

ज्योतिःस्थानानि चैतानि षट्चक्राणि जगुर्बुधाः[1] ।
बिन्दुस्थानं नाभिमूलं नादस्योत्पत्तिकारणम् ॥ १ ॥

jyotiḥsthānāni caitāni ṣaṭcakrāṇi jagurbudhāḥ ।
bindusthānaṃ nābhimūlaṃ nādasyotpattikāraṇam ॥ 1 ॥

Tr. These six *cakras* are the abode of *jyotis* (light) as said by the adepts. The root of the navel is the location of *bindu* wherefrom *nāda* originates. 1.

यो मुखो[2] वायुषु प्राणो[3] नाभिकन्दादधः स्थितः ।
चरत्यास्ये नासिकयोर्नाभौ हृदयपंकजे ॥
शब्दोच्चारण[4]निःश्वासोच्छ्वासकासादिकारणम् ॥ २ ॥

yo mukho vāyuṣu prāṇo nābhikandādadhaḥ sthitaḥ ।
caratyāsye nāsikayornābhau hṛdayapaṅkaje ॥
śabdoccāraṇaniḥśvāsocchvāsakāsādikāraṇam ॥ 2 ॥

Tr. Among the *vāyus, prāṇa* is the chief which is located below the *nābhikanda* which (*prāṇa*) moves into the mouth, nostrils, navel and the lotus of the heart and it causes production of sound, respiration and cough etc. 2.

अपानस्तु गुदे मेढ्रे[5] कटिजंघोदरे क्रमात् ॥ इत्यादि ॥ ३ ॥

apānastu gude meḍhre kaṭijaṅghodare kramāt ॥*ityādi* ॥3॥

Tr. *apāna* is located at the anus, generative organ, waist, thighs and abdomen—in this order. 3.

गोरक्षे –

gorakṣe –

According to *gorakṣa*—

ऊर्ध्वं मेढ्रादधो नाभेः[6] कन्दयोनिः खगाण्डवत् ।
तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिः ॥ ४ ॥

ūrdhvaṃ meḍhrādadho nābheḥ kandayoniḥ khagāṇḍavat
tatra nāḍyaḥ samutpannāḥ sahasrāṇāṃ dvisaptatiḥ ॥ 4 ॥

Tr. Place of *kanda* which is like the egg of a bird is

---

1. जगुर्वधाः —b. 2. मुख्ये —b. 3. प्राणे —b. 4. शदोवाचाटन —b. 5. मेढे —b.
6. मेढाधोनामेः —b.

placed above the organ of generation and below the navel, wherefrom the seventy-two thousand *nāḍīs* originate. 4.

इडापिंगलासुषुम्णा च प्राणमार्गे समाश्रिताः ।
सततं प्राणवाहिन्यः सोमसूर्याग्निदेवताः ॥ इति ॥ ५ ॥

iḍāpiṅgalāsuṣumṇā ca prāṇamārge samāśritāḥ ।
satataṃ prāṇavāhinyaḥ somasūryāgnidevatāḥ ॥ *iti* ॥ 5 ॥

Tr. *iḍā*, *piṅgalā* and *suṣumṇā* representing *soma* (moon), *sūrya* (sun) and *agni* (fire) respectively, are located on the pathway of *prāṇa* which constantly carry *prāṇa*. 5.

आधारचक्रं किल तूर्यकोणं४ षट्कोणरूपा स्थितिरर्धचन्द्रः ।
मणिस्त्रिकोणः३ सदनाहतः[1] स्याद्विशुद्धिरापूर्णविधूपमां[2] च ॥६॥

ādhāracakraṃ kila tūryakoṇaṃ4
ṣaṭkoṇarūpā sthitirardhacandraḥ ॥
maṇistrikoṇaḥ3 sadanāhataḥ syād-
viśuddhirāpūrṇavidhūpamāṃ ca ॥ 6 ॥

Tr. *ādhāracakra* is indeed rectangular, *ardhacandra* (*svādhiṣṭhāna*) is hexagonal in shape. *maṇipūra* is triangular followed by *anāhata* and *viśuddhi* which is of the shape of a full moon. 6.

आज्ञा तथा दिव्यशिखोपमेया[3] चक्राणि षट् चाकृतिमन्ति देहे ।
सर्वाणि चक्राणि तु सिद्धिदानि ज्ञात्वैवमुक्तक्रमतो विभिन्द्यात् ॥
गुरूपदेशेन हितानि बुद्ध्वा[4] यथाक्रमं योगविदा स्वसिद्ध्यै[5] ।७।

ājñā tathā divyaśikhopameyā cakrāṇi ṣaṭ cākṛtimanti dehe ।
sarvāṇi cakrāṇi tu siddhidāni jñātvaivamuktakramato vibhindyāt
gurūpadeśena hitāni buddhvā yathākramaṃ yogavidā svasiddhyai7

Tr. *ājñācakra* is of the nature of divine flame. These are the shapes of the six *cakras* in the body. All the *cakras* bring about success knowing which a *yogī* should pierce them sequentially as per the guidance of the *guru*, for the benefit and success in *yoga*. 7.

---

1. सदऽमाहत –b. 2. शुधियपूर्णविधूयमा –b. 3. दित्यव्यशिखोपमेया –b. 4. वुध्या –b. 5. स्वसिधौ –b.

॥ इति हठतत्त्वकौमुद्यां[1] षट्चक्रक्रमकथनोद्योतः ॥
॥ iti haṭhatatvakaumudyāṃ ṣaṭcakrakramakathanodyotaḥ ॥

Here ends the chapter describing the order of the six *cakras* in *haṭhatatvakaumudī*.

1. हठसर्वस्वकौमुद्यां –b.

Chapter—33

अथ जितमरुतामविकाराणामभ्युदय[1]निःश्रेयः प्राप्त्युपायभूता[2] योनिमुद्रा निरूप्यते —

atha jitamarutāmavikārāṇāmabhyudayaniḥśreyaḥ-prāptyupāyabhūtā yonimudrā nirūpyate—

The technique of *yonimudrā* which is instrumental in offering great fortune and emancipation is narrated to those who have gained control on *vāyus* and who are free from emotions.

तथा चोक्तं त्रिपुरासारसमुच्चये —

According to *tripurāsārasamuccaya*—

अथ लिंगस्थानम् —

atha liṅgasthānam —

Now follows *liṅgasthāna*—

योगी लिंगस्थाने कामं ध्यायेत् ।

yogī liṅgasthāne kāmaṃ dhyāyet ।

A *yogī* should meditate on *kāma* at the *liṅgasthāna* (location of the generative organ).

तडित्कोटिप्रख्यं स्वरुचिजितकालानलरुचिम्
सहस्रादित्यांशुप्रकरसदृशोद्योतकलितम् ॥
भ्रमन्तं[3] योन्यन्तःस्फुरदरुणबन्धूक[4]कुसुम-
प्रभं कामं ध्यायेज् जरठशशभृत् कोटिशिशिवम् ॥ १ ॥

taḍitkoṭiprakhyaṃ svarucijitakālānalarucim
sahasrādityāṃśuprakarasadṛśodyotakalitam ॥
bhramantaṃ yonyantaḥsphuradaruṇabandhūkakusuma-
prabhaṃ kāmaṃ dhyāyej jaraṭhaśaśabhṛt koṭiśiśivam ॥1॥

Tr. One should meditate on *kāma* which is as bright as a crore of lightnings, which by its own brightness supercedes the brightness of *kālānala* (fire of death), which is also as shinning as thousand of sun-rays, identified with shining resplendence, moving in the *yoni* as brightly red as *bandhuka* flowers (Terminalia Tomentosa). One should meditate on a crore of auspicious old *śiva* wearing moon. 1.

---

1. म्मुदय –b. 2. प्राशुपायमृता –b. 3. भ्रमत –a. 4. वन्धक –b.

कामं शरीराग्निम् ।

kāmaṃ śarīrāgnim ।

kāma is the bodily fire.

तस्योर्ध्वं[1] तु शिखा चिरद्युतिलतापुञ्ज[2]प्रभाभासुरा
सूक्ष्मा ब्रह्मपथान्तरान्तरगता चैतन्यमात्रा कला ॥
एकीभूतमनन्तरं सहतया ध्यायेद्धिया निश्चलम्
स्वात्मानन्त[3]निवातदीपनिभया[4] हंसस्वरूपं बुधः ॥२॥

tasyordhvaṃ tu śikhā ciradyutilatāpuñjaprabhābhāsurā
sūkṣmā brahmapathāntarāntaragatā caitanyamātrā kalā ॥
ekībhūtamanantaraṃ sahatayā dhyāyeddhiyā niścalaṃ
svātmānantanivātadīpanibhayā haṃsasvarūpaṃ budhaḥ ॥ 2 ॥

Tr. Above this lies the flame which is as bright as continuous stream of bright subtle light placed in the passage of *suṣumṇā*, which is the *kalā* (part) of consciousness. A wise should one-pointedly meditate on the very form of *haṃsa* having been completely merged in it, with an unflinching mind like a unwavering flame placed inside the self. 2.

चिद्रूपा[5]कलाकुण्डलीनां पूर्वोक्तशिखामध्यगां[6] ध्यायेत् ॥
अन्तर्व्याप्य[7] स्थितां ध्यायेदित्यर्थः ॥

cidrūpākalākuṇḍalīnāṃ pūrvoktaśikhāmadhyagāṃ dhyāyet ॥

antarvyāpya sthitāṃ dhyāyedityarthaḥ ॥

Tr. One should meditate on the *kalā* (part) of *kuṇḍalī* which is the very form of consciousness placed at the center of the flame as referred earlier.

It means that, one should meditate on the one that pervades inside.

शक्तिः कुण्डलिनीति[8] या निगदिता आईमसंज्ञा[9] जगन्-
निर्माणे सततोद्यता प्रविलसत्सौदामिनीसन्निभा ॥
शंखावर्त्तनिभां प्रसुप्तभुजगाकारां[10] जगन्मोहिनीम्
तन्मध्ये परिभावयेद्विलसता तन्तूपमेयाकृतिम्[11] ॥ ३ ॥

1. तस्योर्ध्व –b. 2. द्युतितापुञ्ज –b. 3. स्वात्मानन्तरा –a. 4. मिवातदीपनिभया –b. 5. चिद्रया –b. 6. शिखाध्यांगा –b. 7. अन्तर्व्याप्या –b. 8. कुण्डलनीनि –b. 9. आईससंज्ञा –b. 10. प्रसुप्रभुजगाकारं –b. 11 तंवयमेयाकृति –b.

śaktiḥ kuṇḍalinīti yā nigaditā āīmasañjñā jagan-
nirmāṇe satatodyatā pravilasatsaudāminīsannibhā ॥
śaṅkhāvarttanibhāṃ prasuptabhujagākārāṃ jaganmohinīm
tanmadhye paribhāvayedvilasatā tantūpameyākṛtim ॥3॥

Tr. The *kuṇḍalinī śakti*, which is also known as *ā-ī-ma* which is always active in the creation of the world, is ever flashing like lightning. One should meditate on the *mohinī* of the Universe which is placed inside it *(śakti)*, which is like a dormant coiled serpent as subtle as a fine fibre (of lotus) and is ever shinning. 3.

हूंकारेण[1] गुरूपदिष्टविधिना प्रोत्थाप्य सुप्तां ततः
कृत्वा तां[2] कलया तया परमया चिद्रूपया संगताम् ॥
मायां कुण्डलिनीं समाहितमनास्तामुच्चरेत् कौलकी-
शक्तिं ब्रह्ममहापथेन सहितामाधारतः स्वात्मना ॥ ४ ॥

hūṅkāreṇa gurūpadiṣṭavidhinā protthāpya suptāṃ tataḥ
kṛtvā tāṃ kalayā tayā paramayā cidrūpayā saṅgatām ॥
māyāṃ kuṇḍalinīṃ samāhitamanāstāmuccaret kaulakī-
śaktiṃ brahmamahāpathena sahitamādhārataḥ svātmanā ॥ 4 ॥

Tr. One should awaken it (*kuṇḍalinī)* which is dormant, with a sound of *huṃ* as told by the *guru* and merge her with *kalā* which is a part of absolute consciousness. With an one-pointed mind, one should raise up the *kaulakī-śakti* in *brahmamahāpatha (suṣumṇā)* raising it from the base – *mūlādhāra* along with the self. 4.

भित्वा लिंगत्रयमथ बुधो ब्रह्मनाड्या सहोर्ध्वम्
गच्छन्तीं तां[3] द्रुहिणनिलयात् प्रापयेदात्मशक्तिम् ॥
व्योमाम्भोजप्रणयि[4]परमानन्द[5]कन्दं विसर्ग-
स्थानं चन्द्रोपरि परिगलद्रक्तपीयूषधारम् ॥ ५ ॥

bhitvā liṅgatrayamatha budho brahmanāḍyā sahordhvam
gacchantīṃ tāṃ druhiṇanilayāt prāpayedātmaśaktim ॥
vyomāmbhojapraṇayiparamānandakandaṃ visarga-
sthānaṃ candropari parigaladraktapīyūṣadhāram ॥ 5 ॥

---

1. हंकारेण –b. 2. कृत्वानां –b. 3. गछन्तीनां –b. 4. प्रणमि –b. 5. परमानन्दं –b.

Tr. A wise should pierce the three *liṅgas*, along with *brahmanāḍī* and rise the *ātmaśakti* upwards collecting it from the abode of *druhiṇa (brahmā)* and reach it to *sahasrāra*, which is the source of Supreme Bliss wherefrom the moon— the fountainhead lying above oozes the red ambrosia. 5.

पीत्वा कुलामृतरसं पुनरेव[1] दिव्यं
मध्यं विशेदयघनस्य[2] समाहितात्मा ॥
पायात् कुलादकुलमेव पुनश्च मात्रा-
योगेन देशिकवर[3]प्रतिपादितेन ॥ ६ ॥

pītvā kulāmṛtarasaṃ punareva divyaṃ
madhyaṃ viśedayaghanasya samāhitātmā ॥
pāyāt kulādakulameva punaśca mātrā-
yogena deśikavarapratipāditena ॥ 6 ॥

Tr. One should again drink the divine nectar flowing from *kula (śakti)* and with onepointedness enjoy the good fortune. One should enter from *kula (śakti)* to *akula (śiva)* again through *mātrāyoga* as directed by the respected *guru*. 6.

मध्यं मूलाधारः[4] । बिन्दुर्नादः । शक्तयो मात्रात्रयमुच्यते सा शक्तिः सकलशरीरिजीवभूता प्राणोऽसाविति । गदिताऽत्र तं तत्र[5] मुख्यैः उद्घातः[6] स तु परिपश्यते[7] मुनीन्द्रैः । प्राणो प्राणवायुः[8] । स्पृशति यदा क्रमेण नीता[9] ॥ ७ ॥

madhyaṃ mūlādhāraḥ । *bindurnādaḥ* । *śaktayo mātrātrayamucyate sā śaktiḥ sakalaśarīrijīvabhūtā prāṇo'sāviti* । *gaditā'tra taṃ tatra mukhyaiḥ udghātaḥ sa tu paripaśyatemunīndraiḥ* । *prāṇo prāṇavāyuḥ* । *spṛśati yadā kramena nītā* ॥ 7 ॥

Tr. *madhya* means *mūlādhāra*. *bindu* is *nāda*. *śaktis* are three *mātrās*. That *śakti* pervades the body of all the living creatures, is *prāṇa* indeed. When that *prāṇa* is forcefully stimulated (*udghāta*) sequentially and when it touches the top, it is realized by the great *munis*. 7.

---

1. पुनरव -b. 2. विशेदप्व्यघनस्य -a. 3. देशशिकवर -b. 4. मलाधारः —b. 5. निगदिताऽत्र तत्रं -b. 6. उद्घातः —b. 7. परिपठ्यते -b. 8. प्राणत्राणवायुः —b. 9. नीताः —b.

असौ कुण्डली –

asau kuṇḍalī—

Here follows *kuṇḍalī*—

अमुं स्वाधारस्थं प्रतिदिवसमभ्यासनिरतः
करोति श्रद्धावान् सततमवधूताऽखिलमलः ॥
स मुक्तो दुःखौघैरपगतजराक्लेशमरणो[1]
गुणग्रामोपेतः[2] सुर इव[3] चिरं जीवति भुवि[4] ॥ ८ ॥

amuṃ svādhārasthaṃ pratidivasamabhyāsaniratah
karoti śraddhāvān satatamavadhūtā'khilamalaḥ ॥
sa mukto duḥkhaughairapagatajarākleśamaraṇo
guṇagrāmopetaḥ sura iva ciraṃ jīvati bhuvi ॥ 8 ॥

Tr. A devotee who is engaged in regular practice and who is free from all the impurities, constantly meditates on that (*prāṇa*) located in *svādhāra (mūlādhāra).* He frees himself from the host of sufferings like old age, pain and (premature) death and being endowed with the host of merits, he lives for long on this earth. 8.

चतुर्विधा या गदितेह सृष्टिः प्रवर्त्तते या सकलापि यस्याम् ।
प्रलीयते चापि जगत्समग्रं कालाग्निरुद्रादिसदाशिवान्तम् ॥ ९ ॥

caturvidhā yā gaditeha sṛṣṭiḥ
pravarttate yā sakalāpi yasyām ॥
pralīyate cāpi jagatsamagraṃ
kālāgnirudrādisadāśivāntam ॥ 9 ॥

Tr. Creation is said to be of four types from which the entire creation from *kālāgni-rudra* etc. to *sadāśiva* evolves and wherein it dissolves. 9.

सेयं[5] मयोक्ता खलु योनिमुद्रा बन्धस्तु देवैरपि दुर्लभोऽस्याः ।
अनेन बन्धेन न साध्यते यन्नास्त्येव तत् साधकपुंगवस्य ॥ १० ॥

seyaṃ mayoktā khalu yonimudrā
bandhastu devairapi durlabho'syāḥ ॥
anena bandhena na sādhyate yan-
nāstyeva tat sādhakapuṅgavasya ॥ 10 ॥

---

1. जयक्लेशमरणे —b. 2. ग्रामोपेतिः —b. 3. सुन्दर इव –b. 4. अनुपलब्धपाठः —b. 5. सेय –b.

Tr. This is *yonimudrā* narrated by me application of which is rare even to the gods. There is nothing which can not be accomplished by a *sādhaka* through this *bandha*. 10.

पूर्वोक्तध्यानविशेष एव मुद्रा ॥

pūrvoktadhyānaviśeṣa eva mudrā ॥

Meditation, as said before, itself is the *mudrā*.

गुरुतल्पनिषेवनं च पानं[1] द्विजहत्या[2] मधुनः सुवर्णचौर्यम् ।
अमुना विलयं प्रयाति सम्यक् सकृदप्याचरितेन बन्धनेन ॥११॥

gurutalpaniṣevanaṃ ca pānaṃ
dvijahatyā madhunaḥ suvarṇacauryam ॥
amunā vilayaṃ prayāti samyak
sakṛdapyācaritena bandhanena ॥ 11 ॥

Tr. Even a single judicious practice of this would relieve one from the sins having illicit relationship with the wife of a *guru*, consumption of liquor, killing a *dvija* (*brāhmaṇa*), stealing of honey and gold. 11.

स तु मन्त्रिवरः स एव योगी गुणसिद्धेः पदमास्थितः स एव ।
अमुना चरतीह बन्धनं यः सततं स्वोचितधर्मकर्मनिष्ठः ॥ १२ ॥

sa tu mantrivaraḥ sa eva yogī
guṇasiddheḥ padamāsthitaḥ sa eva ॥
amunā caratīha bandhanaṃ yaḥ
satataṃ svocitadharmakarmaniṣṭhaḥ ॥ 12 ॥

Tr. Such a *yogī* is an expert in *mantra*. He imbibes all the qualities and remains established in the highest state. One should apply this *bandha* consistently remaining adhered to ones own suitable *dharma* (virtuous deeds) and *karma* (activities). 12.

अमुना भवतीह देहभाजां[3]
सतताभ्यासं[4] कृतेन बन्धनेन ॥
न जरापितृराज[5] वै जयन्ती
न च मृत्युः प्रतिपादिता च भीतिः ॥ १३ ॥

amunā bhavatīha dehabhājāṃ
satatābhyāsaṃ kṛtena bandhanena ॥

1. यानं –b. 2. द्विजद्वत्या –b. 3. भवतिहदेवभाजां –b. 4.भ्यास –b. 5. जयेपितृएज –b.

na jarāpitṛrāja vai jayantī
na ca mṛtyuḥ pratipāditā ca bhītiḥ ॥ 13 ॥

Tr. A human being (gains) success by consistent practice of this *bandha*. One would not face old age, *pitṛrāja* (death) diseases, or even would not have fear of death. 13.

एतस्य च हि[1] बन्धनस्य मनुजः प्राप्नोति सम्यक् कृताद्
अभ्यासाद् अणिमादिसिद्धिमतुलां[2] संवित्ति[3]मप्यूर्जिताम् ॥
योगं चाप्रतिमं जयं च मरुतः कालस्य[4] वा वञ्चनम्
तद्विष्णोः परमं पदं परतरं[5] पश्यन्ति तत्सूरयः ॥ इति ॥१४॥

etasya ca hi bandhanasya manujaḥ prāpnoti samyak kṛtād
abhyāsād aṇimādisiddhimatulāṃ saṃvittimapyūrjitām ॥
yogaṃ cāpratimaṃ jayaṃ ca marutaḥ kālasya vā vañcanam
tadviṣṇoḥ paramaṃ padaṃ parataraṃ paśyanti tatsūrayaḥ ॥*iti*॥14॥

Tr. A man who practises this *bandha* properly, would attain the supernatural powers like *aṇimā* etc., highest state of consciousness, control on *prāṇa*, deception of *kāla* (death), the supreme abode of *viṣṇu* which is perceived by the sages alone. 14.

॥ इति हठसर्वस्वकौमुद्यां योनि[6]मुद्रानिरूपणोद्योतः ॥

॥ iti haṭhasarvasvakaumudyāṃ yonimudrānirūpaṇodyotaḥ ॥

Here ends the chapter describing *yonimudrā* in *haṭhasarvasvakaumudī*.

इदं मूलचक्रभेदनं योनिमुद्रोच्यते —

idaṃ mūlacakrabhedanaṃ yonimudrocyate—

This is called *yonimudrā* which pierces the *mūlacakra*—

अथ प्रजित[7]मरुताविकारिणा योनिमुद्राबन्धनार्थं[8] चक्राणां भेदनार्थं चाग्रे[9] वक्ष्यमाणः प्रकारः अथ पूरकयोगयोजितान्तः षट्श्वोनिजमूलचक्र-

1. एतस्एव –b. 2. सिधमतुलां –b. 3. सचित्ति –a. 4. कारलस्यवा –b. 5. परपरं –b. 6. योग –b. 7. प्राजित –b. 8. नार्थ –a. 9. ऽग्ने –a.

देशे । इति पञ्चश्लोकैर्विधेयः ॥

atha prajitamarutāvikāriṇā yonimudrābandhanārthaṃ cakrāṇāṃ bhedanārthaṃ cāgre vakṣyamāṇaḥ prakāraḥ hyatha pūrakayogayojitāntaḥ ṣaṭśvonijamūlacakradeśe । *iti pañcaślokairvidheyaḥ* ॥ 15 ॥

Tr. In the following five *ślokas* (verses) a technique has been narrated for the piercing of the *cakras* and application of *yonimudrā* for those who have gained control over *maruta (prāṇa)* and attained equanimity. This is done through the practice of *pūraka* in six *cakras* starting with the location of *mūlacakra*. 15.

Note: The five verses are missing here. 15.

॥ इति सुन्दरदेवविरचितायां हठसर्वस्वकौमुद्यां शारीरोल्लासो द्वितीयः ॥

॥ iti sundaradevaviracitāyāṃ haṭhasarvasvakaumudyāṃ śārīrollāso dvitīyaḥ ॥

Here ends the second *ullāsa* on *śārīra* in *haṭhasarvasvakaumudī* composed by *sundaradeva*.

Chapter—34

अथ आरम्भोल्लासः —

atha ārambhollāsaḥ —

Here follows *ārambhollāsa*—

तत्र तत्तदधमांगं[1] नाडीशुद्धिर्निरूप्यते —

tatra tattadadhamāṅgaṃ nāḍīśuddhirnirūpyate —

The technique of *nāḍīśuddhi* which is the initial process—

तत्र तत्कर्त्तव्यप्रक्रिया —

tatra tatkartavyaprakriyā

Here follows the technique (of *nāḍīśuddhi*)—

कर्माष्टका[2] वै पृथु[3]देहशुद्धिः पुरोदिता स्थूलविधिः कफादिजित् ।
अथान्तरा नाडीविशुद्धिरादौ[4] नाडीगताशेषमलच्छिदुच्यते ।१।

karmāṣṭakā vai pṛthudehaśuddhiḥ
puroditā sthūlavidhiḥ kaphādijit ||
athāntarā nāḍīviśuddhirādau
nāḍīgatāśeṣamalacchiducyate || 1 ||

Tr. The set of the eight *karmas* form the process of purification of a corpulent body, as narrated before, which is the gross technique to reduce phlegm etc. Thereafter, in the beginning of *nāḍīśuddhi*, a technique which thoroughly cleanses all the morbidities in the *nāḍīs* is being narrated.

पीठे धीरः संमिताहारसेवी
योगेषु यः सद्गुणैर्युग्यमादेः[5] ॥
कृत्वा नाडीशुद्धिमादौ विपाप्मा
युक्त्या तीर्थाल्लब्धमायाममीहेत्[6] ॥ २ ॥

pīṭhe dhīraḥ sammitāhārasevī
yogeṣu yaḥ sadguṇairyugyamādeḥ ||
kṛtvā nāḍīśuddhimādau vipāpmā
yuktyā tīrthāllabdhamāyāmamīhet || 2 ||

Tr. One who has gained stability in *āsana (pīṭha)*, consumes moderate food, devoted to *yoga*, imbibing the virtues like *yama* etc., and having been free from impurities through the practice of *nāḍīśuddhi* undertaken in the beginning should

---

1. तन्त्र तत्तदाधमंऽ —b. 2. कर्माऽसृका —b. 3. पृथ —b. 4. विशुधिपरौ —b.
5. सृकृणैर्यग्यमादेः —b. 6. तीर्थाल्लब्धपामयीहेत् —b.

judiciously practise *prāṇāyāma* after learning it from the *guru*. 2.

विध्युक्तवर्णाश्रमकर्मनिष्ठो यमादिमान्नाडि[1]मरुत्स्थितिक्रियः[2] ।
वेत्ता विधानानि विरागमाप्तो नाडीविशुद्धा[3]विति शस्यते ज्ञः ।३।

vidhyuktavarṇāśramakarmaniṣṭho
yamādimānnāḍimarutsthitikriyaḥ ॥
vettā vidhānāni virāgamāpto
nāḍīviśuddhāviti śasyate jñaḥ ॥ 3 ॥

Tr. One who is devoted to the assigned *karmas* according to the *varṇa* and *āśrama* after knowing the techniques, practises the *yamas*, undertakes the *kriyās* which stabilizes the *prāṇa* in the *nāḍīs*, attaines detachment, is eulogized as an adept in the science of *nāḍīśuddhi*. 3.

नाडीशुद्ध्या शुद्धिरक्षव्रजानां शुद्ध्याऽक्षाणां जायते हृत्प्रसादः ।
शुद्धचित्ते ज्ञानभूसत्वयोगे वायो[4]र्नाडीशुद्धखान्तर्गतिः[5] स्यात् ।४।

nāḍīśuddhyā śuddhirakṣavrajānāṃ
śuddhyā'kṣāṇāṃ jāyate hṛtprasādaḥ ॥
śuddhacitte jñānabhūsatvayoge
vāyornāḍīśuddhakhāntargatiḥ syāt ॥ 4 ॥

Tr. Purification of the *nāḍīs* brings purification of the senses which leads to tranquility. When the *citta* is purified, wisdom dawns and one gets attached to the Self, which further leads to purification of the *nāḍīs* and one enters the state of void. 4.

यो नाडीशुद्धिं प्रथमं ह्यकुर्वन्नायाममासेवत एष मूढः[6] ।
क्लेशाः वृथास्तस्य सखे समस्ता योगांगकैः सार्धमसौ[7] यथोक्तः ५

yo nāḍīśuddhiṃ prathamaṃ hyakurvan-
nāyāmamāsevata eṣa mūḍhaḥ ॥
kleśāḥ vṛthāstasya sakhe samastā
yogāṅgakaiḥ sārdhamasau yathoktaḥ ॥ 5 ॥

Tr. It is said that one who resorts to *prāṇāyāma* without first purifying the *nāḍīs* is a stupid and suffers from all the unnecessary troubles despite his devotion to *yogāṅgas*. 5.

---

1. निष्ठेभ्यमादिमान्नाडि –b. 2. मरुस्पितिक्रियाः –b. 3. नाडीशुधा –b. 4. सत्वयोXXXर्नाडि –b. 5. स्वान्तऽर्गमिः –b. 6. मूढ –a. 7. सार्धमतौ –a.

मलाकुलासु श्वसनो न मध्यगो
नाडीष्वयं[1] स्यात्कथमुन्मनी जनीः ॥
स्यात्कार्यसिद्धिश्च कथं यदेति
शुद्धः शिरौघः क्षम ईरणग्रहे[2] ॥ ६ ॥

malākulāsu śvasano na madhyago
nāḍīṣvayaṃ syāt-kathamunmanī janīḥ ॥
syātkāryasiddhiśca kathaṃ yadeti
śuddhaḥ śiraughaḥ kṣama īraṇagrahe ॥ 6 ॥

Tr. *prāṇa* cannot move into the middle path *(suṣumṇā)* if the *nāḍīs* are replete with filth. How can the state of *unmanī* arise and how can one attain success? Only when the group of *śirās* is pure, one becomes capable to retain *prāṇa*. 6.

अष्टांगयोगस्तु यथार्थनामा
व्यंगो विनाघघ्नयमादिभिः[3] कृतः ॥
न सिद्धिकृत्स्यात् चिरसेवितोऽपि[4]
ह्यन्तर्बहिर्भूरि[5]मलावृतात्मिनाम्[6] ॥ ७ ॥

aṣṭāṅgayogastu yathārthanāmā
vyaṅgo vināghaghnayamādibhiḥ kṛtaḥ ॥
na siddhikṛtsyāt cirasevito'pi
hyantarbahirbhūrimalāvṛtātminām ॥ 7 ॥

Tr. Practice of *aṣṭāṅgayoga* is indeed an exercise in futility without purification of the impurities through *yama* etc. It (*aṣṭāṅgayoga*) does not bring about success even though practised for a long time to the one who is internally and externally replete with toxins. 7.

सांगोऽत्र योगो हठकर्ममुद्रापीठादिकैः पथ्यमिताशनेन ।
अभ्यस्त एकान्तनिषेवणेन[7] सिद्धिप्रदः[8] स्यादफलोऽन्यथायम्[9] ।८।

sāṅgo'tra yogo haṭhakarmamudrā-
pīṭhādikaiḥ pathyamitāśanena ॥
abhyasta ekāntaniṣevaṇena
siddhipradaḥ syādaphalo'nyathāyam ॥ 8 ॥

Tr. *yoga* with its various practices (*aṅgas*) should be

1. नाडीश्वऽर्य —b. 2. ग्रहेः —b. 3. पयमादिभिः b. 4. विरसेचितोऽपि –b. 5. र्भूतरि –b. 6. वृतात्मिनाः —b. 7. एकान्तानिषेधणेन –a. 8. प्रद —a. 9. न्यथाऽय –b.

undergone with *haṭhayogic karmas* (purificatory practices), *mudrās* and *āsanas* etc., observing *mitāhahāra* (moderate diet), remaining in a secluded place which would bring success, and not otherwise. 8.

या चित्तवृत्तेस्तु विना निरोधं नाडीविशुद्धिर्धरणेन[1] वायोः ।
यमादिहीनस्य वृथैव मन्ये कोल्हाटिकस्यैव समीरसिद्धिभूः ॥९॥

yā cittavṛttestu vinā nirodhaṃ
nāḍīviśuddhirdharaṇena vāyoḥ ॥
yamādihīnasya vṛthaiva manye
kolhāṭikasyaiva samīrasiddhibhūḥ ॥ 9 ॥

Tr. It is futile to undertake the practice of *nāḍīśuddhi* and *prāṇāyāma* without controlling the modifications of *citta* and without resorting to the practices of *yama*. I consider such a breath control undertaken by a *kolhāṭika* (a class of people who earn a livelihood showing small physical feats on the street). 9.

यमादिभिः स्वाश्रमवर्णकर्मभिश्चित्ते प्रसन्नेऽस्तमले यदा तदा ॥
प्राणादिवाताः प्रवहन्ति मार्गैस्तेनाधिरोगौ प्रविनश्यतो नृणाम् ।१०।

yamādibhiḥ svāśramavarṇakarmabhiś-
citte prasanne'stamale yadā tadā ॥
prāṇādivāṭāḥ pravahanti mārgais-
tenādhirogau pravinaśyato nṛṇām ॥ 10 ॥

Tr. When the mind becomes pacified through (the practice of) *yama* etc., and performing the prescribed *karmas* according to one's own *āśrama* and *varṇa* (caste), and when the impurity is cleared, the *vāyus* like *prāṇa* etc. course through the (proper) channels. Thus men become free from mental suffering and diseases. 10.

अन्नानि सम्यग्जरयन्ति देहे
प्राणादिके स्वाध्ववहेऽभिशान्ते ॥
आयामतः प्राङ् मल एति नाशं
स नाडिशुद्धेः समयः परोऽसत् ॥ ११ ॥

---

1. धंरर्णेन –b.

annāni samyagjarayanti dehe
prāṇādike svādhvavahe'bhiśānte ॥
āyāmataḥ prāṅ mala eti nāśaṃ
sa nāḍīśuddheḥ samayaḥ paro'sat ॥ 11 ॥

Tr. When the *prāṇa* etc. courses without disturbance through their (proper) channels, food is thoroughly digested in the body. Practice of *prāṇāyāma*, in the beginning itself, removes impurities. This is the right time for *nāḍīśuddhi*. 11.

मनोजयं बिन्दुजयं स्ववासना[1]
क्षयं यमाद्यैः कुरु वायुरोधे ॥
सुखं ततः पश्य सुयोगसिद्धिः
शास्त्रोदिता व्यर्थमथाऽन्यथाऽसौ ॥ १२ ॥

manojayaṃ bindujayaṃ svavāsanā-
kṣayaṃ yamādyaiḥ kuru vāyurodhe ॥
sukhaṃ tataḥ paśya suyogasiddhiḥ
śāstroditā vyarthamathā'nyathā'sau ॥ 12 ॥

Tr. Through the practice of *yama* etc. and *prāṇāyāma* have control over the mind and *bindu* and annihilate the *vāsanās* (cravings). Have smooth practice of *prāṇāyāma*. Then alone one attains success in auspicious *yoga* as told in the scriptures. Otherwise, it is all futile. 12.

विघ्नघ्नमीशप्रणिधानमादौ तदेव वैराग्यवतो नरस्य ।
चिरं दृढाभ्यासवतो यमाद्यैरायाम[2]**सिद्धिप्रदमेव नान्यत् ॥ १३ ॥**

vighnaghnamīśapraṇidhānamādau
tadeva vairāgyavato narasya ॥
ciraṃ dṛḍhābhyāsavato yamādyair-
āyāmasiddhipradameva nānyat ॥ 13 ॥

Tr. One should worship God in the beginning itself who removes obstacles. Then alone a detached practitioner would attain success in *prāṇāyāma* through *yama* etc. after a long and intense practice and not otherwise. 13.

यावद्यमाद्यैर्न हि याति शुद्धिमन्तर्बहिस्तावदिदं चलं मनः ।
सगर्भकायामविधौ न योग्यं योगः[3] **क्व दोषात्तद्दीह**[4] **सिद्धिभूः ४**

---

1. खवासना –b. 2. एयाम –b. 3. योग्यः –b. 4. दोषात्तददीह –b.

yāvadyamādyairna hi yāti śuddhim-
antarbahistāvadidaṃ calaṃ manaḥ ||
sagarbhakāyāmavidhau na yogyaṃ
yogaḥ kva doṣāttahṛdīha siddhibhūḥ || 14 ||

Tr. Unless one undergoes the practice of *yama* etc. and purifies oneself internally and externally, the mind remains fickle. For him the practice of *sagarbha prāṇāyāma* is not suitable. How can success in *yoga* be attained when the heart remains defiled ? 14.

एकान्ते भूगुहान्तर्वसति रतियमैः प्रोक्तकालेषु कुम्भान्
आसेवन् पीठमुद्रा विगलितविषयोऽपास्त[1]सांसारिकेहः ||
चिन्ताहीनो मिताज्यस्नुतमधुर[2]पयोऽन्नाशनो ध्येयवृत्तिः
सत्तीर्थ[3]स्यान्तिके संयमविधिभिरिमां प्राग्भजेन्नाडीशुद्धिम्[4] |१५|

ekānte bhūguhāntarvasati ratiyamaiḥ proktakāleṣu kumbhān
āsevan pīṭhamudrā vigalitaviṣayo'pāstasāṃsārikehaḥ ||
cintāhīno mitājyasnutamadhurapayo'nnāśano dhyeyavṛttiḥ
sattīrthasyāntike saṃyamavidhibhirimāṃ prāgbhajennāḍīśuddhim
|| 15 ||

Tr. While living in a desolate cave being devoted to *yama*, one should diligently practise the *kumbhaka*, *āsana* and *mudrā* at the prescribed times, one overcomes the (attachment) towards material objects and remove the desires towards the mundane world. Free from worries, one should resort to moderate food which is, unctuous, mixed with *ghee* and milk. He should remain devoted to his objective. He should remain in the company of the *guru* and in the very beginning undertake the practice of *nāḍīśuddhi* along with the practice of *saṃyama*. 15.

प्राणायामे साधुतीर्थोपदिष्टे[5]
पूर्वं नैनां स्यादृते[6] कुम्भवृद्धिः ||
वायोः सञ्चारात्पनाडी[7]मलाक्तं
रन्ध्रेष्वन्तः स्यात् प्रवेशश्च नैवम् || १६ ||

---

1. ऽयास्त –a. 2. मिताज्वस्नुतमधुर —b. 3. सतीर्थस्या –b. 4. शुद्धिः —b. 5. भदिष्टे –a. 6. स्याद्दत्ते –a. 7. संचायऽल्पनाडी –b.

prāṇāyāme sādhutīrthopadiṣṭe
pūrvaṃ naināṃ syādṛte kumbhavṛddhiḥ ॥
vāyoḥ sañcārālpanādīmalāktaṃ
randhreṣvantaḥ syāt praveśaśca naivam ॥ 16 ॥

Tr. Without undertaking the practice of *prāṇāyāma* in the beginning as directed by the *guru*, *kumbhaka* does not become prolonged. Since *vāyu (prāna)* cannot move freely through the *nāḍīs* which are filled with morbidities, how can it course through *suṣumnā*. 16.

प्राणायामाभ्यासदार्ढ्यं[1] नितान्तमारम्भः स्यात्स्वेदकम्पादिकालः ।
अन्वार्थाख्यश्चित्तरोधोऽत्र चेत्सदायतत्वाद् भेद्यपानः[2] स्थितेः स्वम्[3]१७

prāṇāyāmābhyāsadārḍhyaṃ nitāntam-
ārambhaḥ syātsvedakampādikālaḥ ॥
anvārthākhyaścittarodho'tra cet
sadāyatatvād bhedyapānaḥ sthiteḥ svam ॥17॥

Tr. One experiences perspiration and tremor through the intense practice of *prāṇāyāma* in the beginning, which aims at gaining control of mind. Through effort *apāna* is stabilized in its place. 17.

नाडीशुद्ध्या ध्वस्तपापे[4] भवन्ति
कुम्भस्थैर्याभ्यासदार्ढ्याग्निमान्द्याः[5] ॥
निद्रालस्याऽपाय ईड्या भुजीच्छा[6]
भूर्यास्यायाः सञ्जयः प्राणरोधैः ॥ १८ ॥

nāḍīśuddhyā dhvastapāpe bhavanti
kumbhasthairyābhyāsadārḍhyāgnimāndyāḥ ॥
nidrālasyā'pāya īḍyā bhujīcchā
bhūryāsyāyāḥ sañjayaḥ prāṇarodhaiḥ ॥ 18 ॥

Tr. *nāḍīśuddhi* eliminates impurities resulting in stability in *kumbhaka*, intensification of practice, enhancement of gastric fire, removal of drowsiness and lethargy and strong appetite. One gains control over *prāṇa* and becomes praiseworthy. 18.

---

1. दार्द्यां –a. 2. चेत्सदायत्तत्वादेधऽपानः —b. 3. स्वं —b. 4. ध्वस्तपाये –a.
5. माद्याम् –b. 6. लस्याऽयाईज्यभुजीच्छा –b.

॥ इति हठतत्वकौमुद्यां[1] नाडीशुद्धौ विध्यंगप्राधान्यनिरूपणोद्योतः ॥

॥ iti haṭhatatvakaumudyāṃ nāḍīśuddhau vidhyaṅgaprādhānyanirūpaṇodyotaḥ ॥

Here ends the chapter describing the significance of *vidhi* and *aṅga* in the context of *nāḍīśuddhi* in *haṭhatatvakaumudī.*

---

1. हठकौमुद्यां –b.

Chapter—35

अथ नाडीशुद्धौ प्राग्विधेयविधिक्रमः —

atha nāḍīśuddhau prāgvidheyavidhikramaḥ —

Here follows the sequence of the preparatory practices for *nāḍīśuddhi*—

तदुक्तं स्पर्शयोगशास्त्रे –

taduktaṃ sparśayogaśāstre —

It is said in *sparśayogaśāstra*—

योगसाधनमभ्यस्यं[1] दिवसैः सिद्धिसूचकम्[2] ।
तस्मादादौ समीरस्य विजयं कुरु संमतम् ॥
वमनं रेचनं कृत्वा पश्चाद्वायुं समभ्यसेद् ॥ इति ॥ १ ॥

yogasādhanamabhyasyaṃ divasaiḥ siddhisūcakam ।
tasmādādau samīrasya vijayaṃ kuru sammatam ॥
vamanaṃ recanaṃ kṛtvā paścādvāyuṃ samabhyased ॥iti॥1॥

Tr. One should practise vomiting (*vamana*) and purgation (*recana*) produced (before) by practice of *prāṇāyāma* to gain control over *prāṇa*. Thus practice of *yoga* indicates success day by day. Therefore, it is advisable to gain control on *prāṇa* in the beginning itself. 1.

अनन्तरं तु –

anantaraṃ tu —

Thereafter—

सुदिने[3] मंगलं कृत्वा नत्वा गुरुपदाम्बुजम् ।
स्मृत्वा गणपतिं स्वेष्टदेवतां साधकः शुचिः ॥
प्रारभेत मुदा शान्तो नाडीशुद्धिं यथोदिताम् ॥ इति ॥ २ ॥

sudine maṅgalaṃ kṛtvā natvā gurupadāmbujam ।
smṛtvā gaṇapatiṃ sveṣṭadevatāṃ sādhakaḥ śuciḥ ॥
prārabheta mudā śānto nāḍiśuddhiṃ yathoditām ॥ iti ॥2॥

Tr. A *sādhaka* having been purified on an auspicious day after performing *maṅgala* (auspicious beginning), worshiping the lotus feet of the *guru*, worshiping *gaṇapati* and the tutelary deity, should start *nāḍiśuddhi* as prescribed, in a poised and peaceful manner. 2.

---

1. मध्यस्तं –a. 2. सिद्धिः सूचकम् —a. 3. मुदिने -b.

श्लक्ष्णवल्लिजचूर्णाद्य[1]गोघृतं स्वानने पुरा ।
उपजिह्वान्तरछिद्रे दत्वांगुष्ठेन युक्तितः ॥
तेन प्राणायाममध्ये सुखं तिष्ठति कुम्भके ॥ ३ ॥

ślakṣṇavallijacūrṇādyagoghṛtaṃ svānane purā ।
upajihvāntarachidre datvāṅguṣṭhena yuktitaḥ ॥
tena prāṇāyāmamadhye sukhaṃ tiṣṭhati kumbhake ॥ 3 ॥

Tr. At first one should judiciously put the fine powder of black pepper mixed up with *ghee* in the opening of the uvula in the mouth with the help of the thumb. Thus, in the process of *prāṇāyāma* one can comfortably maintain *kumbhaka*. 3.

अथवा –

athavā—

Or else—

न हि देहविस्मृतिमादकभावः प्रणवे पुरा चलमनोऽनुगावयोः ।
सुखदो विनेन्दुलतयाऽमृतकर्त्र्या वपुषीष्ट[2]सिद्धिदान्यदुपायः ॥४॥

na hi dehavismṛtimādakabhāvaḥ
praṇave purā calamano'nugāvayoḥ ॥
sukhado vinendulatayā'mṛtakartryā
vapuṣīṣṭasiddhidānyadupāyaḥ ॥ 4 ॥

Tr. Before the practice of *praṇava*, since a restless mind follows the senses, one would not experience swooning and obliviousness of the body. Without the (creeper of) moon producing pleasant ambrosia in the body there is no other means to have success. 4.

क्षीणो यथेन्दुरपहन्ति तमो क्रमेण
पूर्णस्तु तद्वदियमंकमपान[3]जाड्यम् ॥
हत्वा सुधावहममुं च तनौ विधत्ते
योगे रवेरिव मुनेर्हितपथ्य[4]भाजः ॥ ५ ॥

kṣīṇo yathendurapahanti tamo kramena
pūrṇastu tadvadiyamaṅkamapānajāḍyam ॥
hatvā sudhāvahamamuṃ ca tanau vidhatte
yoge raveriva munerhitapathyabhājaḥ ॥ 5 ॥

---

1. र्णाद्य –b. 2. वपुषोष्ट –b. 3. पूर्णस्तुतद्धदियमंकयान –b. 4. मध्य –b.

Tr. Just as a waxing moon gradually dispels darkness, similarly, impurities (inertia) lying in *apāna* is removed by the practice of *yoga* which establishes the moon (which secrets ambrosia) in the body of a person who sticks to moderate and wholesome food. 5.

शुद्धे चैकान्तदेशे शुचिरपगतभीः प्राङ्मुखो[1] वोत्तरास्यः[2]
स्थित्वा कृत्त्यं[3]शुकाद्यैर्मृदुतरविशदे[4] विष्टरेऽपास्तचिन्तः ॥
कृत्वा पीठानि मुद्रादिकमनु मितभुक् साधकः श्रीनृसिंहांघ्रौ[5]
दत्वा हृच्च नत्वा गुरुपदमपतृट् मन्दमायाममीहेत्[6] ॥ ६ ॥

śuddhe caikāntadeśe śucir apagatabhīḥ prāṅmukho vottarāsyaḥ
sthitvā kṛttyaṃśukādyairmṛdutara viśade viṣṭare'pāstacintaḥ ॥
kṛtvā pīṭhāni mudrādikamanu mitabhuk sādhakaḥ śrīnṛsiṃhāṃghrau
datvā hṛcca natvā gurupadamapatṛt mandamāyāmamīhet ॥ 6 ॥

Tr. Resorting to a serene and isolated countryside, after having been purified, free from fear and worries, one should sit on a seat of hide of antelope, cotton and other soft seat and face either east or north.

A *sādhaka* should consume moderate diet, perform *āsanas* followed by the *mudrās* etc. He should salute the feet of *nṛsiṃha* and *guru*, overcome the desires and slowly undertake the practice of *prāṇāyāma*. 6.

नत्वा गुरुं प्रागुपविश्य चासने कृत्वाऽसकृन्मेरुविचालनादिकम् ।
विश्रम्य सुस्वस्थमना[7] विरिच्य प्राणं पुराथो विधिवत् प्रपूरयेत् ७

natvā guruṃ prāgupaviśya cāsane
kṛtvā'sakṛanmeruvicālanādikam ॥
viśramya susvasthamanā viricya
prāṇaṃ purātho vidhivat prapūrayet ॥ 7 ॥

क्रमेण दीर्घं प्रविधाय सावधो विरेचयेद्वायुमथोऽतिमन्दम् ।
यथा तनौ व्याकुलता न चित्ते भवेन् मनीषी विजनेऽस्तचिन्तः ८

krameṇa dīrghaṃ pravidhāya sāvadho
vireecayedvāyumatho'timandam ॥
yathā tanau vyākulatā na citte
bhaven manīṣī vijane'stacintaḥ ॥ 8 ॥

---

1. गतभीशऽमुखो –b. 2. चोत्तरास्यः –b. 3. कृत्वं –b. 4. विश –b. 5. श्रीनृसिंहाऽघ्नौ –b. 6. मायामप्रीहेत् –b. 7. सुखस्थमना –b.

Tr. After paying obeisance to the *guru*, one should sit on a seat and undertake repeatedly the practice of *merucālana* etc. After taking rest and with a poised mind he should exhale followed by inhalation in the prescribed manner. After holding for long he should exhale the *vāyu* extremely slowly in such a manner that he does not experience discomfort in the body or in the mind. A wise remains in a desolate place removing all worries. 7-8.

स्थिरात्मनैवं मृदुरेचपूरौ सेव्यौ यथा व्याकुलता न चेतसः ।
द्रुतं न मन्दं न भृशं प्रसन्नो ह्यखेदयन् स्वं प्रणवं भजेज्ज्ञः ।९।

sthirātmanaivaṃ mṛdurecapūrau
sevyau yathā vyākulatā na cetasaḥ ॥
drutaṃ na mandaṃ na bhṛśaṃ prasanno
hyakhedayan svaṃ praṇavaṃ bhajejñaḥ ॥ 9 ॥

Tr. Remaining poised, one should slowly inhale and exhale so that there is no anxiety felt in the mind. The wise in a pleasant mood without any worries should chant *praṇava* repeatedly neither slowly nor rapidly. 9.

रेचपूरककुम्भान्ते नैषच्छान्तोऽपि साधकः ।
अभ्यासविच्छेदभियाद[1]नुस्यूतक्रियापरः ॥ १० ॥

recapūrakakumbhānte naiṣacchānto'pi sādhakaḥ ।
abhyāsavicchedabhiyādanusyūtakriyāparaḥ ॥ 10 ॥

Tr. A practitioner should not give into even a little complacency followed by the practice of *recaka*, *pūraka* and *kumbhaka*. One should remain engaged in the practice without giving any break in the practice. 10.

अनुस्यूताभ्यस्तकुम्भा नाडीस्थामरसं द्रुतम् ।
कृत्वा बहिः[2] कृत्युतं[3] स्वं स्वेददाः[4] स्युर्न चान्यथा ॥ ११ ॥

anusyūtābhyastakumbhā
nāḍīsthāmarasaṃ drutam ॥
kṛtvā bahiḥ kṛtyutaṃ svaṃ
svedadāḥ syurna cānyathā ॥ 11 ॥

---

1. मियाद –a. 2. कृत्वा बहिः — अनुपलब्धपाठः —b. 3. कृत्यतं –b. 4. खेददाः —b.

Tr. A consistent practice of *kumbhakas* flushes out the *āmarasa* (the bodily toxins) soon from the *nāḍīs* and produces perspiration and not otherwise. 11.

अधःशक्तिं दृढं धृत्वा तिष्ठेत्पद्मासनोपरि ।
गुरूपदिष्टमार्गेण प्राणायामं पुराभ्यसेत् ॥ १२ ॥
adhaḥśaktiṃ dṛḍhaṃ dhṛtvā tiṣṭhet padmāsanopari ।
gurūpadiṣṭamārgeṇa prāṇāyāmaṃ purābhyaset ॥ 12 ॥

Tr. Adopting *padmāsana*, one should firmly hold the *śakti* at the bottom (practising *mūlabandha*) and undertake the practice of *prāṇāyāma* in the beginning following the instruction of the *guru*. 12.

॥ इति हठकौमुद्यां नाडीशुद्धिकर्तव्यताक्रमोद्योतः ॥
॥ iti haṭhakaumudyāṃ nāḍīśudhikartavyatākramodyotaḥ ॥

Here ends the chapter describing the technique of *nāḍīśuddhi* in *haṭhatatvakaumudī*.

Chapter—36

अथ नाडीशुद्धिः —

atha nāḍiśuddhiḥ —

The technique of *nāḍīśuddhi* is as follows—

तथा चोक्तं योगचन्द्रिकायाम् —

tathā coktaṃ yogacandrikāyām —

According to *yogacandrikā*—

अथासने दृढीभूते वशी हितमिताशनः ।
गुरूपदिष्टमार्गेण प्राणायामान् समभ्यसेद् ॥ इति ॥ १ ॥

athāsane dṛḍhībhūte vaśī hitamitāśanaḥ ।
gurūpadiṣṭamārgeṇa prāṇāyāmān samabhyaset ॥iti॥ 1 ॥

Tr. One who has mastered the *āsanas*, has restrained (the senses), takes nutritious and moderate food should practise *prāṇāyāma* being guided by the *guru*. 1.

वशी जितेन्द्रियः । स्वभ्यस्तासनः प्राणायामान् समभ्यसेद् । अन्यथा नेति ॥

vaśī jitendriyaḥ । svabhyastāsanaḥ prāṇāyāmān samabhyaset । anyathā neti ॥

Tr. *vaśī* means the one who has controlled the sense organs. After practising the *āsanas* thoroughly, one should take up the practice of *prāṇāyāma* and not otherwise.

अत्र प्रथमाभ्यासे परिमितभोजनं तद्वान् —

atra prathamābhyāse parimitabhojanaṃ tadvān —

Initially moderate diet is recommended because—

मलाकुलासु नाडीषु मारुतो नैव मध्यगः ।
कथं स्यादुन्मनीभावः कायशुद्धिः कथं भवेत् ॥ २ ॥

malākulāsu nāḍīṣu
māruto naiva madhyagaḥ ॥
kathaṃ syādunmanībhāvaḥ
kāyaśuddhiḥ kathaṃ bhavet ॥ 2 ॥

Tr. *prāṇa* does not move through *suṣumnā* if the *nāḍīs* are defiled. How can then the state of *unmanī* supervene and the purification of the body occur? 2.

वायुर्मध्यगः सुषुम्णामार्गगो न भवति तदा ।
कथमुन्मन्यवस्था च कायशुद्धिः कथं भवेत् ॥ ३ ॥

vāyurmadhyagaḥ suṣumṇā-
mārgago na bhavati tadā ।।
kathamunmanyavasthā ca
kāyaśuddhiḥ katham bhavet ।। 3 ।।

Tr. The *prāṇa* does not flow through *suṣumnā*. How can then the purification of the body take place and the state of *unmanī* supervene. 3.

अतः शरीरशुद्धये प्राणायामं कुर्यात् ।

ataḥ śarīraśuddhaye prāṇāyāmaṃ kuryāt ।

Tr. Therefore, to make the body pure, one should practise *prāṇāyāma*.

शुद्धिमेति यदा सर्वं नाडीचक्रं मलाकुलम् ।
तदैव जायते योगी प्राणसंग्रहणे क्षमः ॥ ४ ॥

śuddhimeti yadā sarvaṃ nāḍīcakraṃ malākulam ।
tadaiva jāyate yogī prāṇasaṅgrahaṇe kṣamaḥ ।। 4 ।।

Tr. When the network of the *nāḍīs* is purified, then alone a *yogī* becomes able to hold *prāṇa*. 4.

चक्रं नाडीसमूहम् । प्राणसंग्रहणे प्राणोर्ध्वं चरणे[1] ब्रह्मरन्ध्रप्राप्तये[2] समर्थः । अतो योगारम्भे प्रथमतः प्राणायामं सात्विकया रजस्तमोवर्जितया बुद्ध्या तथा कुर्यात् यथा सुषुम्णानाडीस्थो मलदोषस्खलतीति ॥ ५ ॥

cakraṃ nāḍīsamūham । *prāṇasaṅgrahaṇe prāṇordhvaṃ caraṇe brahmarandhraprāptaye samarthaḥ* । *ato yogārambhe prathamataḥ prāṇāyāmaṃ sātvikayā rajastamovarjitayā buddhyā tathā kuryāt yathā suṣumṇānāḍīstho maladoṣaskhalatīti* ।। 5 ।।

Tr. *cakra* means the network of the *nāḍīs*. *prāṇasaṅgrahaṇa* means raising the *prāṇa* upwards in the *brahmarandhra*. Therefore, in the very beginning, *prāṇāyāma* has to be practised with a *sātvika* attitude, relieving *rajas* and *tamas* in such a fashion that the impurities from the *suṣumnā nāḍī* are eliminated. 5.

---

1. वरणे –b. 2. प्राययो –a.

प्राणायामे पद्मपीठे स्वदक्षांगुष्ठेनादौ सन्निरुद्ध्येन्दुनाडीम् ।
वायुं नातिद्राक् शनैर्नातियुक्त्या व्याकृष्योर्ध्वं पूरयेत् स्वोदरान्ते ६

prāṇāyāme padmapīṭhe svadakṣā-
ñguṣṭhenādau sannirudhyendunāḍīm ॥
vāyuṃ nātidrāk śanairnātiyuktyā
vyākṛṣyordhvaṃ pūrayet svodarānte ॥ 6 ॥

Tr. One should adopt *padmāsana* for *prāṇāyāma*. He should close the left nostril with the right fingers. Then, he should slowly draw the air in cautiously upwards through the left nostril and fill up the cavity. 6.

यथा स्वशक्त्या लघु धारयित्वा
नाड्या ततः पिंगलया विरेचयेत् ॥
विरोधहीनं विरतीत[1]मध्यं
हृदा स्थिरेणाऽभ्यसनं मुनिश्चरेत् ॥ ७ ॥

yathā svaśaktyā laghu dhārayitvā
nāḍyā tataḥ piṅgalayā virecayet ॥
virodhahīnaṃ viratītamadhyaṃ
hṛdā sthireṇā'bhyasanaṃ muniścaret ॥ 7 ॥

Tr. Retain the air to the capacity for little time and then exhale through the right nostril without facing any resistance and having any pause between. A *muni* practises this with a steady mind. 7.

येन त्यजेत् तेन विरोधहीनं धृत्वा पुरान्येन विरेचयेच्छनैः ।
यान्त्येवमभ्यासरतस्य पुंसः स्थितिं स्वलक्ष्ये चलचित्तवृत्तयः ।८।

yena tyajet tena virodhahīnaṃ
dhṛtvā purānyena virecayecchanaiḥ ॥
yāntyevamabhyāsaratasya puṃsaḥ
sthitiṃ svalakṣye calacittavṛttayaḥ ॥ 8 ॥

Tr. One inhales comfortably through the same nostril through which one has exhaled and after holding exhales slowly through other nostril. Such a practice brings about stability to the fickleness of the mental modifications. 8.

---

1. विरतित –b.

यथाशक्त्याऽऽकृष्य खगं पूरयेदुदरं शनैः ।
यथाशक्त्या धृतं पश्चाद्रेचयेदविरोधतः ॥ ९ ॥

yathāśaktyā'kṛṣya khagaṃ pūrayedudaraṃ śanaiḥ ।
yathāśaktyā dhṛtaṃ paścādrecayedavirodhataḥ ॥ 9 ॥

Tr. Draw *prāṇa* slowly in as per capacity and fill the cavity. Hold to the capacity and then exhale without resistance. 9.

उक्तं च —

uktaṃ ca

It has been said—

प्राणं चेडिकया पिबेन्नियमितं भूयोऽन्यया रेचयेत्
पीत्वा पिंगलया समीरणमथो बद्ध्वा त्यजेद्वामया ॥
सूर्याचन्द्रमसोरनेन विधिनाऽभ्यासं समातन्वताम्
शुद्धा नाडिगणा भवन्ति यमिनां मासत्रयादूर्ध्वतः ॥ इति ॥ १० ॥

prāṇaṃ cedikayā pibenniyamitaṃ bhūyonyayā recayet
pītvā piṅgalayā samīraṇamatho baddhvā tyajedvāmayā ॥
sūryācandramasoranena vidhinā'bhyāsaṃ samātanvatām
śuddhā nāḍigaṇā bhavanti yamināṃ māsatrayādūrdhvataḥ ।*iti* 10।

Tr. One inhales through the left nostril and exhales through the other after retention and again inhales through the right nostril and holds the breath before exhalation through left. Consistently and frequently following this technique through right and left nostrils, one gets the *nāḍīs* purified in three months. 10.

अत्र यमिनामिति हेतुगर्भसाधकस्य । तेन यमादिगुणसम्पन्नस्योक्तप्रकारेण[1] नाडीशुद्धिर्मासत्रयादूर्ध्वं भवति । तदितरेषां तु शौचानुरूपो[2] कालदैर्घ्यम् । यथा त्रिमासं चतुर्मासमेकाब्दमेतद् द्वयोर्वा[3] ॥ ११ ॥

atra yamināmiti hetugarbhasādhakasya । *tena yamādiguṇasampannasyoktaprakāreṇa nāḍīśuddhirmāsatrayādūrdhvaṃ bhavati* । *taditareṣāṃ tu śaucānurūpo kāladairghyam* । *yathā trimāsaṃ caturmāsamekābdametad dvayorvā* ॥ 11 ॥

---

1. प्रकरणे –b. 2. शौचानुरूपे –b. 3. मेकाष्टमेतद्वयो –b.

Tr. In this context, '*yamināṃ*' means – the *sādhaka* who is laden with a cause, that is enriched with the virtues like *yama* etc., attaining the purification of the *nāḍīs* in three months. For the others, it may take a longer time depending on degree of purification—as long as three, four months or even one or two years. 11.

याज्ञवल्क्यस्य –

yājñavalkyasya –

According to *yājnavalkya*—

यत्साधकस्य मृदोश्चाधिमात्रस्य योगांगकर्म[1]व्यवस्थापरं स्यात् । त्रिमासं यथोक्ते ॥ १२ ॥

yatsādhakasya mṛdoścādhimātrasya yogāṅgakarmavyavasthāparaṃ syāt । trimāsaṃ yathokte ॥ 12 ॥

Tr. Both mediocre and intermediate *sādhakas* should follow the proper sequence of the practices of *yoga*. Three months as said before. 12.

यः साधकस्य प्रथमं शरीरे[2]
घर्मः समायाति सुपूतिपिच्छलः[3] ॥
समीररोधे श्रमजः शिराभ्यः
कुम्भाग्निना यः स रसोद्भूते[4] नवः ॥ १३ ॥

yaḥ sādhakasya prathamaṃ śarīre
gharmaḥ samāyāti supūtipicchalaḥ ॥
samīrarodhe śramajaḥ śirābhyaḥ
kumbhāgninā yaḥ sa rasodbhūte navaḥ ॥ 13 ॥

Tr. As a result of exertion during the holding of breath, the fire called *kumbhāgni* produces morbid and sticky sweat which is peculiar in the body of the practitioner in the initial phase of the practice. 13.

योगसिद्ध्यारम्भपूर्वकाले द्वादशमात्रकात् ।
नाडीशुद्ध्युत्तरं[5] जातः सिद्ध्यंगं घर्म[6] उत्तमः ॥ १४ ॥

yogasiddhyārambhapūrvakāle dvādaśamātrakāt ।
nāḍīśuddhyuttaraṃ jātaḥ siddhyaṅgaṃ gharma uttamaḥ

---

1. योगाऽंगार्म —a. 2. शरीरं –b. 3. सुयुतिपिच्छल —a. 4. सरसोद्भुते –b. 5. शुध्युजरं –a. 6. धर्म —b.

Tr. Prior to the commencement of *siddhis*, the secretion of perspiration which is considered superior and which is a part of *siddhis* is followed by *nāḍīśuddhi* practised with 12 *mātrās* (time units of retention). 14.

योगचन्द्रिकायाम् —

yogacandrikāyām

It is said in *yogacandrikā*—

शीतांशु[1]मार्गेण शनैः समीरमापूरयेत् सोदरमादरेण ।
विकारमात्राभिरपेततन्द्रः कालाग्निमूलार्पितचित्तवृत्तिः ॥ १५ ॥

śītāṅśumārgeṇa śanaiḥ samīram-
āpūrayet sodaramādareṇa ।
vikāramātrābhirapetatandraḥ
kālāgnimūlārpitacittavṛttiḥ ॥ 15 ॥

Tr. One should slowly fill the (chest) cavity with air drawn through the left nostril in an unperturbed manner, with controlled senses and an unflinching mind and with full diligence while focusing the mind at the centre of the eyebrows. 15.

सोदरम् उदरवर्त्तिमिति भावः । आपूरयेत् कुम्भयेत् । आदरेण अनुद्विग्नेन । विकारा[2] इन्द्रियाणि । तेषां मात्राः शब्दस्पर्शरूपगन्धरसतन्मात्रास् तासु । अपेततन्द्रः सावधानस् त्यक्तस्पृहः[3] । कालाग्निमूले भ्रुवोरन्तरे आरोपितचित्तवृत्तिः ॥ १६ ॥

sodaram udaravarttimiti bhāvaḥ । āpūrayet kumbhayet । ādareṇa anudvignena । vikārā indriyāṇi । teṣāṃ mātrāḥ śabdasparśarūpagandharasatanmātrāstāsu । apetatandraḥ sāvadhānas tyaktaspṛhaḥ । kālāgnimūle bhruvorantare āropitacittavṛttiḥ ॥ 16 ॥

Tr. *sodaraṃ* means in thoracic cavity. One should inhale and hold with ease. *vikāras* stand for the senses. Their objects are *śabda, sparśa, rūpa, gandha* and *rasa tanmātrās.* 'Devoid of drowsiness' means attentively or giving up desires. 'At the root of *kālāgni*' means at the center of the eyebrows, wherein one would direct the mind. 16.

---

1. गीताषु –b. 2. विकाय –b. 3. स्वात्तस्पृहः –b.

तथा चोक्तं सूतसंहितायाम् —

tathā coktaṃ sūtasaṃhitāyām —

It has been said in *sūtasaṃhitā*—

उत्कर्षाख्यमुत्तमप्राणायाममुक्त्वा तदन्ते ।
एवमभ्यसतस्तस्य ततो वायुजयो भवेत् ॥ १७ ॥

utkarṣākhyamuttamaprāṇāyāmamuktvā tadante ।
evamabhyasatastasya tato vāyujayo bhavet ॥ 17 ॥

Tr. After narrating the superior *prāṇāyāma*, called *utkarṣa*, at the end, a diligent practitioner attains success in controlling *prāṇa*. 17.

प्रस्वेदः प्रथमः पश्चात् कम्पनं मुनिसत्तम ।
उत्थानं च शरीरस्य चिह्नमेतत् जितेऽनिले ॥
एवमभ्यसतस्तस्य मूलरोगो[1] विनश्यति ॥ १८ ॥

prasvedaḥ prathamaḥ paścāt kampanaṃ munisattama ।
utthānaṃ ca śarīrasya cihnametat jite'nile ।
evamabhyasatastasya mūlarogo vinaśyati ॥ 18 ॥

Tr. Initially the practitioner experiences perspiration followed by tremors and thereafter levitation of the body — which are the signs of mastery over *prāṇa*.

One who practises in this manner gets rid of piles. 18.

इत्याद्यारम्भावस्था[2] परं ज्ञेयं ।

ityādyārambhāvasthā paraṃ jñeyam ।

One should know that this is the *ārambhāvasthā*.

नाडीशुद्धौ तु –

nāḍīśuddhau tu —

In the process of *nāḍīśuddhi*—

विकृतरसविशोषात्[3] प्राणरोधेन नाड्यो
मलविलयविशुद्धा नाडीशुद्धौ भवन्ति ॥
अथ विमलतदन्तर्गर्भसञ्चारदक्षः
शुचितनु हृदि वायुः स्यात्तदा नाडीशुद्धिः ॥ १९ ॥

vikṛtarasaviśoṣāt prāṇarodhena nāḍyo
malavilayaviśuddhā nāḍīśuddhau bhavanti ॥

1. मूलरोगा –b. 2. इत्याचारंभावस्था –b. 3. विशेषात् —a.

atha vimalatadantargarbhasañcāradakṣaḥ
śucitanu hṛdi vāyuḥ syāttadā nāḍīśuddhiḥ ॥ 19 ॥

Tr. In the course of *nāḍīśuddhi*, when *prāṇa* is controlled, the *nāḍīs* get rid of the morbidities. Thus, when the internal passage (*suṣumnā*) becomes capable of free movement of *vāyu* upto the region of heart, the body becomes purified. Then alone *nāḍīśuddhi* occurs. 19.

रसमलकफलिप्ते[1]ऽभ्यन्तरे नाडिकाना-
मिव चरति मरुन्नान्तर्मलायां प्रणाल्याम् ॥
मसृणधमनिरन्ध्रेष्वैत्तिनो[2] चेत् कृतोऽलं
जडसहचर-चित्ताकृष्ट[3] एत्याशु कोपम् ॥ २० ॥

rasamalakaphalipte'bhyantare nāḍikānā-
miva carati marunnāntarmalāyāṃ praṇālyām ॥
masṛṇadhamanirandhreṣvaittino cet kṛto'laṃ
jaḍasahacara-cittākṛṣṭa etyāśu kopam ॥ 20 ॥

Tr. Like filthy channels if the internal parts of the *nāḍīs* are filled with *rasa* (plasma), *mala* (morbid elements) and *kapha* (phlegm), the *prāṇa* cannot move smoothly. Even if it moves being guided by *citta*, it would become agitated. 20.

व्रजति कुपथमन्तर्नेष्ट[4] ईषद् बहिर्द्राक्
कलिततनुकपाटाभ्यां[5] हृदा कर्षितो[6]ऽपि ॥
कलयति[7] स तदारं स्फोट्यपातो[8] जवेन
गतमत[9] इह पूर्वां[10] नाडीशुद्धिं[11] विदध्यात् ॥ २१ ॥

vrajati kupathamantarneṣṭa īṣad bahirdrāk
kalitatanukapāṭābhyāṃ hṛdā karṣito'pi ॥
kalayati sa tadāraṃ sphoṭyapāto javena
gatamata iha pūrvāṃ nāḍīśuddhiṃ vidadhyāt ॥ 21 ॥

Tr. It is not desirable that *prāṇa* should go astray, even though when it is slightly pulled up towards the heart by contracting the organs. For speedy movement of *prāṇa*, one should practise *nāḍīśuddhi* in the beginning itself. 21.

1. मलकफलिस्ते –b. 2. रन्ध्रेष्टोत्तिनो –b. 3. चिन्ताकृष्ट –b. 4. मन्तर्नष्ट –b. 5. कपटाभ्यां –b. 6. हृद्याकर्षितो –a. 7. कलयन्ति –b. 8. स्फोद्यधातो –b. 9. गदमत –b. 10. पूर्व –b. 11. नाडीशुद्धिर –b.

मले विशुष्केऽस्खलिता समीरगतिर्भवेन्नीचगमं विहाय ।
प्रतीचिवाहं कलयत्यपानो[1] भूत्वोर्ध्वगः[2] प्राणपदं प्रयाति ॥ २२ ॥

male viśuṣke'skhalitā samīra-
gatirbhavennīcagamaṃ vihāya ॥
pratīcivāhaṃ kalayatyapāno
bhūtvordhvagaḥ prāṇapadaṃ prayāti ॥ 22 ॥

Tr. When morbidities are dried up, the *prāṇa* flows placidly in the posterior path. Moreover, *apāna* moves upwardly and reaches the abode of *prāṇa*. 22.

सहाग्निना[3] प्राणहुताशनाभ्यां
प्राणो युतः सत्वरमेति कुण्डलीम् ॥
सुप्तां[4] ततः सा दहनेन तप्ता-
मध्याऽयने याति समीरचालिता ॥ २३ ॥

sahāgninā prāṇahutāśanābhyāṃ
prāṇo yutaḥ satvarameti kuṇḍalīm ॥
suptāṃ tataḥ sā dahanena taptā-
madhyā'yane yāti samīracālitā ॥ 23 ॥

Tr. *prāṇa* having been mingled with the fire soon reaches to *kuṇḍalī*, which is latent and which having been put on fire and fanned by *prāṇa*, moves through the middle path. 23.

युग्मम् —

yugmam —

A *Śloka* follows—

तावद्विदधीत बुधः प्राणायामं समाहितो विधिवत् ।
यावत् सम्भवति भुवि[5] प्राणायामस्य सिद्धिं भूर्गुणः श्रेष्ठः ।२४।

tāvadvīdadhīta budhaḥ
prāṇāyāmaṃ samāhito vidhivat ॥
yāvat sambhavati bhuvi prāṇāyāmasya
siddhiṃ bhūrguṇaḥ śreṣṭhaḥ ॥ 24 ॥

Tr. A wise should undertake prescribed techniques of *prāṇāyāma* with full concentration, till one attains success in *prāṇāyāma* leading to profound stability. 24.

1. वाहं कल्पषत्पऽयानो –b. 2. भूत्योर्ध्वगः –b. 3. सहाग्निता –b. 4. सुप्ताय –b. 5. मवि –b.

स यथा –

sa yathā—

It is explained—

नादाभिव्यक्तिरुच्चैरबलहुतवहोद्दीपनं[1] स्पर्शनस्य
भूयिष्ठं धारणं स्याद् गदगणदलनं नाडिसंशोधनं च ॥
कार्श्यं देहे[2] प्रसादो भवति च वदने बिन्दुबन्धश्च तन्वाम्
आरोग्यं दीर्घमायुर्नयनविशदता स्यादिदं योगलक्ष्म ।२५।

nādābhivyaktiruccairabalahutavahoddīpanaṃ sparśanasya bhūyiṣṭhaṃ dhāraṇaṃ syād gadagaṇadalanaṃ nāḍisaṃśodhanaṃ ca ॥
kārśyaṃ dehe prasādo bhavati ca vadane bindubandhaśca tanvām ārogyaṃ dīrghamāyurnayanaviśadatā syādidaṃ yogalakṣma ॥ 25 ॥

Tr. Profound revealation of *nāda*, enhancement of (gastric) fire and sensation of touch, prolonged retention of (breath), removal of host of diseases, purification of *nāḍī*, slimness of the body, pleasing appearance, retention of *bindu* in the body, feeling of wellness, long life, clarity of vision— are signs of *yoga*. 25.

महापायुस्थं[3] मलमतिनाडी-
शुद्धिर् जयोऽत्र प्रणवस्य पापम्[4] ॥
शान्तिः प्रदीप्तिर्मनसः प्रसादोऽभ्यास-
प्रवृद्धौ यमिनः सदाभ्यः[5] ॥ २६ ॥

mahāpāyusthaṃ malamatināḍī-
śuddhir jayo'tra praṇavasya pāyam ॥
śāntiḥ pradīptirmanasaḥ prasādo'-
bhyāsapravṛddhau yaminaḥ sadābhyāḥ ॥ 26 ॥

Tr. The excretions are passed out from the big intestine, purification of the *nāḍīs*, success in *praṇava*, atonement of sin, enhancement (of gastric fire), tranquility of mind—are achieved through advanced practice by a practitioner. 26.

1. द्दीपनद –b. 2. कार्शिदेहे –a. 3. महायाशुस्थं –b. 4. यायं –a. 5. सदाभ्याः –a.

मलं पिंगला सूर्यनाड्युष्मवीर्या[1]
निरुद्धा[2]ऽग्निमादीप्य दह्याच्छिरास्थम् ॥
प्रतप्तां गदाहोपशान्त्यै सुधामुह्यमान्
वैन्दवीडा[3] प्रधार्या श्रमघ्नी ॥ २७ ॥

malaṃ piṅgalā sūryanāḍyuṣmavīryā
niruddhā'gnimādīpya dahyācchirāstham ॥
prataptāṃ gadāhopaśāntyai sudhāmuhyamān-
vaindavīḍā pradhāryā śramaghnī ॥ 27 ॥

Tr. *piṅgalā* that is *sūryanāḍī* (the right nostril) burns morbidities residing in the *śirās* by enhancing the heat, thus resulting in removal of the ailments. While *iḍā* i.e. *indu-nāḍī* is the one through which ambrosia flows which removes fatigue. 27.

पुरा मलाऽज्ञानपदेन्द्वपान[4]जाड्यं द्रुतं[5] चास्य चित्तं सघर्मः ।
ओजो[6]ऽमृतांशं श्रमतोऽगसा[7]रमभ्यास ओर्व्यं बहिरेति देहात् ।२८।

purā malā'jñānapadendvapāna-
jāḍyaṃ drutaṃ cāsya cittaṃ sagharmaḥ ॥
ojo'mṛtāṅśaṃ śramato'ṅgasāram-
abhyāsa orvyaṃ bahireti dehāt ॥ 28 ॥

Tr. Initially morbidity, ignorance and lethargy of the *citta* residing in the *indu* (-*nāḍī*) and *apāna* are removed along with perspiration. With the advancement of practice *ojas* that forms the essence of the body and which is the part of ambrosia secretes abundantly from the body. 28.

आयामतः प्राणजयस्य शैघ्र्यं
गतो गुणोऽग्नेः क्षुदघ्नं[8] भवति[9] ॥
भौमो गुणः पीवरता[10]ऽस्तमेति
तदा कृशत्वं लघुतांगदार्ढ्यम्[11] ॥ २९ ॥

āyāmataḥ prāṇajayasya śaighryaṃ
gato guṇo'gneḥ kṣudaghnaṃ bhavati ॥
bhaumo guṇaḥ pīvaratā'stameti
tadā kṛśatvaṃ laghutāṅgadārḍhyam ॥ 29 ॥

---

1. सूर्यनाड्यस्यवीर्या —b. 2. तिरुद्धाः —b. 3. न्वैदवीडा –b. 4. यदेंद्वऽपान –b. 5. जाड्याद्भुतं –b. 6. ओज्यो –a. 7. श्रमतोघासा –a. 8. गुणोऽग्रेः क्षुद—b. 9. भवतिडास्थे -b, डास्ये -a. 10. पीठरता –b. 11. लघुतां पादादर्यम् —b.

Tr. Control and winning over of *prāṇa* qualitatively enhances (bodily) fire which (consequently) controls hunger. One gets rid of the corpulence which is (quality of) earth element, and makes one experiencing slimness, lightness and sturdiness of the limbs. 29.

नाडीविशुद्ध्याऽस्तशिरामलो यदा
तदा समर्थोऽनिलधारणे चिरम् ॥
स्यात्कोष्ठगर्त्तस्थमलोग्रकर्दमक्षये-
ऽग्निरिद्धः क्व तनौ रुजां जनिः ॥ ३० ॥

nāḍīviśuddhyā'staśirāmalo yadā
tadā samartho'niladhāraṇe ciram ॥
syātkoṣṭhagarttasthamalograkardamakṣaye'-
gniriddhaḥ kva tanau rujāṃ janiḥ ॥ 30 ॥

Tr. Through *nāḍīśuddhi* as the impurities of the *śirā* are removed, one becomes capable of holding the *prāṇa* for long. Moreover, impurities and toxins deposited in the abdominal cavity are removed through enhanced (bodily) fire. How then diseases would occur? 30.

सिद्धापानादजग्रन्थिं भित्वोर्ध्वं सर्यन्तो[1]ऽग्निना ।
मुनेस्तदा प्राणयुजा हृद्यास्ते[2]ऽनाहतध्वनिः[3] ॥ ३१ ॥

siddhāpānādajagranthiṃ bhitvordhvaṃ saryanto'gninā ।
munestadā prāṇayujā hṛdyāste'nāhatadhvaniḥ ॥ 31 ॥

Tr. When control of *apāna* moves the *agni* along with *prāṇa* piercing through *ajagranthi*, then the *muni* being attached to *prāṇa*, hears the *anāhatadhvani* in the heart. 31.

रसखोटवदास्तान्तर्मलपं[4]कद्रवं मुनेः[5] ।
सुषुम्णापार्श्वं[6] मलिनं धीचित्ताद्यऽक्षदोषभूः ॥ ३२ ॥

rasakhoṭavadāstāntarmalapaṅkadravaṃ muneḥ ।
suṣumṇāpārśvaṃ malinaṃ dhīcittādya'kṣadoṣabhūḥ ।32।

Tr. Impurities of mercury would affect its quality. Similarly, impurity in *suṣumṇā* would generate malfunctioning of intelligence, mind and organs. 32.

---

1. सर्पन्तो –b. 2. पाणपूजाह्यधास्ते –b. 3. आपानाहतध्वनिः —b. 4. रसखोटवदांस्तातर्मलयं –b. 5. मनेः —b. 6. सुषुम्णाद्याश्चा –b.

प्राणस्तु चिद्रूप इनः[1] प्रकाशो योगेन चापानहृदोर्मिथोऽत्वात्[2] ।
विमूढयोः संगजजाड्यमाभ्यां मलक्षयेऽयं तनुसिद्धिबीजम् ॥३३॥

prāṇastu cidrūpa inaḥ prakāśo
yogena cāpānahṛdormitho'tvāt ॥
vimūḍhayoḥ saṅgajajāḍyamābhyāṃ
malakṣaye'yaṃ tanusiddhibījaṃ ॥ 33 ॥

Tr. *prāṇa* in fact represents sun which is light. Through *yoga* one brings about harmony between *apāna* and *hṛd* (heart), which are otherwise inert. By removing inertia from these through elimination of impurities, it brings control over the body. 33.

न पतेत्[3] खेचरीमुद्रा शुक्रं बिन्दुजयस्ततः ।
आयुर्वृद्धिर्बलं मृत्युर्जयः सिद्धिश्च योगजा ॥ ३४ ॥

na patet khecarīmudrā śukraṃ bindujayastataḥ ।
āyurvṛddhirbalaṃ mṛtyurjayaḥ siddhiśca yogajā ॥ 34 ॥

Tr. Success in *khecarīmudrā* does not allow the *śukra* (semen) to flow downwards. Thus one gains success in controlling *bindu*. One attains long life, stamina, control on (premature) death and the *yogic* supernatural powers. 34.

नाडीमध्यमलक्षयेऽल्पशयनं[4] मूत्रं विदुस्तेन सः
पुंसः स्वल्पमरोगता न कृमयो[5] लाला न घर्मोऽरतिः ॥
दुःश्लेष्मानि[6]लपित्तशान्तिरमलः कायो भवेत् सुन्दरस्[7]
तावत् कालभयं कुभोज्यनियमग्राहं भजेदल्पभुक् ।३५।

nāḍīmadhyamalakṣaye'lpaśayanaṃ mūtraṃ vidustena saḥ
puṃsaḥ svalpamarogatā na kṛmayo lālā na gharmo'ratiḥ ॥
duḥśleṣmānilapittaśāntiramalaḥ kāyo bhavet sundaras
tāvat kālabhayaṃ kubhojyaniyamagrāhaṃ bhajedalpabhuk ।35।

Tr. When the impurities lying in the *nāḍīs* are eliminated, one experiences reduced sleep and scanty urination. Moreover, he has less (chance) of ailments, worms, saliva, perspiration, disinterestedness, insidious (*kapha*) phlegm, *vāta* and *pitta*—thus rendering the body purified and handsome. One faces fear of

---

1. प्राणास्तुहयदनः —b. 2. मिथोऽज्वात –b. 3. यतेत् —b. 4. ऽल्वशयनं –b. 5. कृमोयो –b. 6. दुःश्लेष्याऽनिल –b. 7. भवेत्सुंदस् —b.

(premature) death who sticks to unwholesome food. Therefore one should consume moderate food. 35.

योगारम्भाद्यंगमुक्तं हि नाडीशुद्धिर्देहे शीर्ष आद्यं यथांगे[1] ।
यावत्सिद्धैषा हठांगं न मुख्यं तावद्योगः साधकस्य व्यलीकः ।३६।

yogārambhādyaṅgamuktaṃ hi nāḍī-
śuddhirdehe śīrṣa ādyaṃ yathāṅge ॥
yāvatsiddhaiṣā haṭhāṅgaṃ na mukhyaṃ
tāvadyogaḥ sādhakasya vyalīkaḥ ॥ 36 ॥

Tr. Just as in all the limbs of the body head is of prime importance, similarly, among all the *yoga* practice *nāḍīśuddhi* assumes significance in the beginning. Unless and until this *haṭhāṅga* is practised intensely, *yoga* practice of a practitioner is futile. 36.

नाडीविशुद्धिर्मरुतो जये स्याज्
जितेऽनिले याति मनः स्वयं क्षयम् ।
क्षीणे मनस्यस्तमितैहिकार्थे
ज्ञानप्रकाशः स्वमुपैति निर्मले ॥ ३७ ॥

nāḍīviśuddhirmaruto jaye syāj-
jite'nile yāti manaḥ svayaṃ kṣayam ।
kṣīṇe manasyastamitaihikārthe
jñānaprakāśaḥ svamupaiti nirmale ॥ 37 ॥

Tr. *nāḍīśuddhi* brings about control over *prāṇa* which causes natural annihilation of the mind. On sublimation of the mind which thus is rendered pure and reduction of attachment to mundane objects enlightenment occurs on its own. 37.

नाडीविशुद्ध्या प्रणवप्रयोगादारम्भकाले हठसिद्धिचिह्नम् ।
क्रमेण कम्पादि जितानिलानुरूपं हि धर्मान्तरमभ्युदेति ॥ ३८ ॥

nāḍīviśuddhyā praṇavaprayogād
ārambhakāle haṭhasiddhicihnam ॥
krameṇa kampādi jitānilānurūpaṃ
hi dharmāntaramabhyudeti ॥ 38 ॥

Tr. In the *ārambhāvasthā*, due to purification of the *nāḍīs* coupled with the practice of *praṇava*, there gradually arises

---

1. यथांग मुक्तं हि नाडीशुद्धिर्देहे शीर्ष आद्यं यथांगे —repeated—a,b.

the signs of success in *hatha* like tremors etc. The very degree of control of *prāṇa* itself manifests in the transformation of qualities. 38.

सगर्भकायामत उद्गतांऽहो[1] मुनिस्तदारम्भ उदेति सिद्धिभूः ।
सन्नाडिशुद्धेः परिणाम एषः सम्प्राप्यते सद्गुरुणा विना नो ।३९।

sagarbhakāyāmata udgatāṅho
munistadārambha udeti siddhibhūḥ ॥
sannāḍiśuddheḥ pariṇāma eṣaḥ
samprāpyate sadguruṇā vinā no ॥ 39 ॥

Tr. Practice of *sagarbha prāṇāyāma* alleviates sins (impurities). In the *ārmabha* stage the foundation for success is laid for the *muni*. The effects of *nāḍīśuddhi* are not obtained without guidance of a genuine *guru*. 39.

प्रभाते च मध्यन्दिने सायमर्धनिशायां
शनैरभ्यसेत् कुम्भकान् ज्ञः ॥
सदाशीति८०पर्यन्तमभ्यासदक्षश्
चतुर्वारमंगानि[2] मध्येऽभ्यसन् सत्[3] ॥ ४० ॥

prabhāte ca madhyandine sāyamardhaniśāyāṃ
śanairabhyaset kumbhakān jñaḥ ॥
sadāśīti80paryantamabhyāsadakṣaś-
caturvāramaṅgāni madhye'bhyasan sat ॥ 40 ॥

Tr. A wise should practise 80 rounds of *kumbhakas* in the morning, noon, evening and midnight. Once one gains proficiency, one should practise the other (*yogic*) *aṅgas* in between. 40.

अत्र विशेषः सिद्धान्तशेखरे –

atra viśeṣaḥ siddhāntaśekhare –

In this context something significant from *siddhāntaśekhara*—

यस्मिन् पुटे मरुद्भाति तेन वायुं विरेचयेत् ।
पुटेन वायुशून्येन पूरयेदथ कुम्भकम्[4] ॥ ४१ ॥

1. मनउकंताऽहो –b. 2. श्चतुर्धारंमंगानि –b. 3. सन् –b. 4. कुम्भके –b.

रेचयेदन्यया नाड्या कुर्यादन्यं पुनः पुनः ।
ब्रह्मोक्ता गदिता चेयं रुद्रयाऽत्र[1] निगद्यते ॥ ४२ ॥

yasmin puṭe marudvāti tena vāyuṃ virecayet ।
puṭena vāyuśūnyena pūrayedatha kumbhakam ॥ 41 ॥
recayedanyayā nāḍyā kuryādanyaṃ punaḥ punaḥ ।
brahmoktā gaditā ceyaṃ rudrayā'tra nigadyate ॥ 42 ॥

Tr. One should exhale through the nostril through which one finds dominance of air flow. One should gently inhale through the nostril through which the air is not dominantly flowing and then retain (*kuṃbhaka*) followed by exhalation through the opposite nostril. Thus, repeat this through alternate nostrils again and again. This is propagated by *brahmā*. The one narrated by *rudra* is being narrated. 41-42.

इडया पूरयेद्वायुं कुम्भित्वा च यथाक्रमम् ।
ततो विरेचयेत् पश्चात् विदध्यादेवमन्यथा ॥
नाडीशुद्धिरियं[2] रौद्री प्रोक्ताऽन्ये प्राहुरन्यथा ॥ ४३ ॥

iḍayā pūrayedvāyuṃ kumbhitvā ca yathākramam ।
tato virecayet paścāt vidadhyādevamanyathā ॥
nāḍīśuddhiriyaṃ raudrī proktā'nye prāhuranyathā ॥ 43 ॥

Tr. Inhale air through *iḍā* (left nostril), hold and then exhale. And then practise in reverse order (through opposite nostril) as prescribed. This *nāḍīśuddhi* is called *raudrī* which is called differently by others. 43.

पुटद्वयेन पवनं मात्रया[3] परिरेचयेत् ।
एकेन वायुमाकृष्य पुटयुग्मेन रेचयेत् ॥ ४४ ॥
वायुमाकृष्य वोभाभ्यां पुटाभ्यामभिरेचयेत् ।
इडया वायुमापूर्य समाकुम्भ्यान्यया त्यजेत् ॥ ४५ ॥

puṭadvayena pavanaṃ mātrayā parirecayet ।
ekena vāyumākṛṣya puṭayugmena recayet ॥ 44 ॥
vāyumākṛṣya vobhābhyāṃ puṭābhyāmabhirecayet ।
iḍayā vāyumāpūrya samākumbhānyayā tyajet ॥ 45 ॥

Tr. Following the prescribed ratio, exhale air through both the nostrils (after inhalation). Inhale through one nostril

---

1. रुद्रयात्रा –b. 2. शुद्धिरिदं –b. 3. मात्राया –b.

and exhale through both. Draw the air through both nostrils followed by exhalation through both. Inhale through *iḍā* (left nostril) and hold, thereafter exhale through opposite nostril. 44-45.

सप्तभेदाः समाख्याता नाडीशुद्धेर्यथाक्रमात् ॥ ४६ ॥

saptabhedāḥ samākhyātā nāḍīśuddheryathākramāt ॥46॥

Tr. These are seven varieties of *nāḍīśuddhi* told in this order. 46.

अत्र प्रागुक्तगोरक्षमतोक्तः प्राणायामो वैष्णवीव[1] नाडीशुद्धिः —

atra prāguktagorakṣamatoktaḥ prāṇāyāmo vaiṣṇvīva nāḍīśuddhiḥ --

The technique of *prāṇāyāma* narrated previously according to *gorakṣa* is called *vaiṣṇavī nāḍīśuddhi.*

एतेष्वेकेन मार्गेण नाडीशुद्धिमथाचरेत् ।
त्रिकालं वा चतुःकालं चतुर्मासावधि क्रमात् ॥ ४७ ॥

eteṣvekena mārgeṇa nāḍīśuddhimathācaret ।
trikālaṃ vā catuḥkālaṃ caturmāsāvadhi kramāt ॥ 47 ॥

Tr. Out of these, one should select one type of *nāḍīśuddhi* and parctise for three or four times a day for four months. 47.

पूरकान् रेचकान् प्राज्ञः पृथक् षोडशः षोडशः ।
एवमभ्यासयुक्तस्य नाडीशुद्धिर्भवेत्ततः ॥ इति ॥ ४८ ॥

pūrakān recakān prājñaḥ pṛthak ṣoḍaśaḥ ṣoḍaśaḥ ।
evamabhyāsayuktasya nāḍīśuddhirbhavettataḥ ॥ *iti* ॥48॥

Tr. A wise should practise sixteen rounds of *pūraka* and *recaka*. This practice consequently brings about purification of the *nāḍīs*. 48.

अष्टौ कुम्भाश्च सम्यग्घितमित[2]मधुराशस्य नित्यं विविक्ते ।
मुद्राबन्धांश्च पीठान्य[3]भियुज इत[4] तृद्खेदमोहस्य पुंसः ॥

---

1. वैष्णवी च –b. 2. कुम्भाश्रसम्यास्नितमित –b. 3. महावन्धाश्चयीडान् —b. 4. हत –b.

प्राणायामैकनिष्ठस्य च सततमहाभ्यासशीलस्य साधोः ।
कामं पद्मासने स्याल्लघुवपुषि शुभं स्वासनोत्थानमीषत् ॥ ४९ ॥

aṣṭau kumbhāśca samyaghitamitamadhurāśasya nityaṃ vivikte
mudrābandhāṅśca pīṭhānyabhiyuja ita tṛtkhedamohasya puṃsaḥ
prāṇāyāmaikaniṣṭhasya ca satatamahābhyāsaśīlasya sādhoḥ
*kāmaṃ padmāsane syāllaghuvapuṣi śubhaṃ svāsanotthānamīṣat*49

Tr. Eight *kuṃbhakas*, judicious, moderate and unctuous daily food, living in isolation, practice of *mudrās*, *bandhas* and *āsanas* would remove thirst, and illusion of a person. A wise who is solely devoted to the practice of *prāṇāyāma* in a regular manner in a large scale adopting *padmāsana*, which is auspicious, would experience slimness of the body. Moreover, one experiences slight levitation in an *āsana*. 49.

तद्वोऽसावत्र[1] नाडीगतमलहविषा गाढमिद्धोद्धुताशः[2]
औदर्यो भस्त्रिकेव[3] प्रतिदिनमभितो ध्मात ईद्धार्य कुम्भैः ॥
ज्वालाभिः प्रतप्तेर्भवति च यमिनः क्षुद् भृशं रक्षणीया
साऽस्यामभ्यासभाजां[4] हितमितरुचिरानेकवाराऽशनेन[5] ॥ 50 ॥

tadvo'sāvatra nāḍīgatamalahaviṣā gāḍhamiddhoddhutāśaḥ
audaryo bhastrikeva pratidinamabhito dhmāta īddhārya kumbhaiḥ।
jvālābhiḥ prataptcrbhavati ca yaminaḥ kṣud bhṛśaṃ rakṣaṇīyā
sā'syāmabhyāsabhājāṃ hitamitaruciranekavārāśanena ॥ 50 ॥

Tr. In this context (of *nāḍīśuddhi*) one oblates the impurities stuck up in the *nāḍīs* into the fire kindled by *bhastrikā* daily. The enhanced and blazing fire of *kuṃbhaka* increases hunger of a *yogī* which should be taken care of by frequent eating of judicious, moderate and preferred food. 50.

अथारम्भकाले जितोऽयं समीरो
यथा स्यात्तथा पावकः साधकस्य ॥
जितः शान्तभावः क्रमात्क्षुत्तदामुं[6]
निरीहं मनाग् बाधते नातिभुक्तम् ॥ ५१ ॥

athārambhakāle jito'yaṃ samīro
yathā syāttathā pāvakaḥ sādhakasya ॥

1. तद्घोऽसावऽत्र —a. 2. गाढसिद्धौहुताश b. 3. औदर्याभिस्त्रिकेव –b. 4. साऽस्यासभाजा –a. 5. ऽनेकवारीऽशनेन –b. 6. ऽशान्तभावऽक्रमाऽक्षुत्तदाऽमं – b.

jitaḥ śāntabhāvaḥ kramātkṣuttadāmuṃ
nirīhaṃ manāg bādhate nātibhuktam ॥ 51 ॥

Tr. In the *ārambha* state when *prāṇa* is successfully controlled, it also controls the (bodily) fire of the *sādhaka*. As a poised state gradually dawns upon the *sādhaka* having been free from desires, neither hunger nor overeating would pose a trouble (for him). 51.

कुधूमयंत्रातिमलाबिलान्तर्-
नाड्यां[1] यथा कर्षितधूम उच्चैः ।
पातुः प्रयात्येवमयं हि कुम्भ[2]-
वायुः कुनाड्यन्तर एति कृच्छ्रात् ॥ ५२ ॥

kudhūmayantrātimalābilāntar-
nāḍyāṃ yathā karṣitadhūma uccaiḥ ॥
pātuḥ prayātyevamayaṃ hi kumbha-
vāyuḥ kunāḍyantara eti kṛcchrāt ॥ 52 ॥

Tr. As a chocked up smoke-machine sucks up the dirty smoke with great difficulty, similarly, the *vāyu* retained in *kumbhaka* moves with difficulty through the defiled *nāḍīs*. 52.

अतोऽविदाहीष्टपवित्रदुग्धाज्यान्नादिभुक् स्यादिह नाडिशुद्धौ ।
यदम्लतीक्ष्णं कटु यद्वदुष्णमुष्णाम्बुवत्पित्त[3]रुषाग्निकोऽपि ।५३।

ato'vidāhīṣṭapavitradugdhā-
jyānnādibhuk syādiha nāḍiśuddhau ॥
yadamlatīkṣṇaṃ kaṭu yadvaduṣṇam-
uṣṇāmbuvatpittaruṣāgniko'pi ॥ 53 ॥

Tr. Therefore, it is desirable that in the course of *nāḍīśodhana*, one should resort to favourable, pure food (rice) of milk and *ghee*, while eschewing food (that causes) burning, tastes sour, is hot, bitter, hot water, which vitiate *pitta* and *agni* (gastric fire). 53.

देहे विकृतं पित्तं मदमोहतमोहभ्रमादिकृद्दाहि ।
पित्तं राजसमग्निर्दशविधमन्नस्य पाककृज् जठरे[4] ॥ ५४ ॥

dehe vikṛtaṃ pittaṃ madamoha-
tamohabhramādikṛddāhi ॥

---

1. विर्लाऽतर्नाडयां –b. 2. प्रयात्योवमहांहिकुम्भे –b. 3. तीक्ष्णं कदयद्यदस्मुमुस्णांवुवत्पीत्त –b. 4. जठरेः –b.

pittaṃ rājasamagnirddaśa-
vidhamannasya pākakṛj jaṭhare ॥ 54 ॥

Tr. In the body if *pitta* which burns, is vitiated, it causes delusion, swooning, inertia, confusion etc. *pitta* which is *rājasika* (in nature) is (actually) fire, which residing in the belly digests all the ten types of food. 54.

अविकृतमेतच्छुद्धं प्रकाशकं[1] ज्ञानवह्नेः स्यात् ।
नागीविबोधबीजं[2] शारीरस्वान्तसर्वदोषहरम् ॥ ५५ ॥

avikṛtametacchuddhaṃ prakāśakaṃ jñānavahneḥ syāt ।
nāgīvibodhabījaṃ śārīrasvāntasarvadoṣaharam ॥ 55 ॥

Tr. When not vitiated, it remains in the pure form causing enkindling of the fire of wisdom. It causes the awakening of *nāgī (kuṇḍalinī)* and resides in the body expelling all the *doṣas* (impurities). 55.

येन केन प्रकारेण विधेयं पालनं या ।
वृद्धिः शुद्धिपित्ताग्नेः सा ज्ञानाग्निः[3] प्रकाशनः ॥ ५६ ॥

yena kena prakāreṇa vidheyaṃ pālanaṃ yā ।
vṛddhiḥ śuddhipittāgneḥ sā jñānāgniḥ prakāśanaḥ ॥ 56 ॥

Tr. By all means, one should nurse and enhance the fire of pure *pitta* which promotes wisdom. 56.

योगेच्छुः[4] प्रथमं पुरा हृततुषा[5] सन्मुद्गदाल्याः पल-
द्वन्द्वं सार्धमनेन तुल्यममलं स्याच्छष्टिकं तन्दुलम्[6] ॥
तोये द्वादशशेटके लघु चिरं मन्दाग्निना पाचयेद्[7]
द्वित्रिदारू[8]भिरर्द्धशेटकमितो मण्डोऽवशिष्टो यदा ।५७।

yogecchuḥ prathamaṃ purā hṛtatuṣā sanmudgadālyāḥ pala-
dvandvaṃ sārdhamanena tulyamamalaṃ syācchaṣṭikaṃ tandulam
toye dvādaśaśeṭake laghu ciraṃ mandāgninā pācayed
dvitridārūbhirardhaśeṭakamito maṇḍo'vaśiṣṭo yadā ॥ 57 ॥

Tr. In the beginning, an aspirant of *yoga* should take good quality of *mudga* without husk two *palas* (1 *pala*= 93 gms.) in quantity and take good variety of *ṣaṣṭika* rice and boil those in twelve *śeṭaka* (1 *śeṭaka*=900ml) of water slowly for a long time

1. प्रकाशक –b. 2. वियोधबीजं –b. 3. साज्ञानंऽग्निः –b. 4. योगेच्छः –b. 5. ह्यतनुषा –b. 6. तदुलं –b. 7. पावयेद् –a. 8. धात्रीदारुभि –b.

over sim fire of two or three woods till the boiled gruel (*maṇḍa*) reduces to half of a *śeṭaka*. 57.

उत्तार्याथेमं सुशीतले[1]ऽत्र पलिकं गोसर्पिषः सुन्दरं
दत्वा साधु सुवासिते[2] सुरसुमत्वकशुण्ठि[3]जीरादिभिः ॥
मण्डोऽयं रुचिदः क्षुदग्निशमनः पेयो बलत्विट्प्रदो
नाडीशोधनकृल्लघुर्मलहरो योगे हितः सिद्धिदः ॥ ५८ ॥

uttāryāthemaṃ suśītale'tra palikaṃ gosarpiṣaḥ sundaraṃ
datvā sādhu suvāsite surasumatvakaśuṇṭhijīrādibhiḥ ॥
maṇḍo'yaṃ rucidaḥ kṣudagniśamanaḥ peyo balatviṭprado
nāḍīśodhanakṛllaghurmalaharo yoge hitaḥ siddhidaḥ ॥ 58 ॥

Tr. Remove the gruel from fire and allow it to cool down and add one *pala* of good quality cow *ghee*, nut-meg, dry ginger and cumin seed etc. to add nice fragrance. This *maṇḍa* improves taste, reduces fire of hunger and makes a hearty drink which quenches thirst, purifies the *nāḍīs*, is light (on digestion), and expels faeces. This is suitable in *yoga* practices and augments success. 58.

युग्मम् इति मण्डः ॥

yugmamam iti maṇḍaḥ ॥

The pair of *ślokas* on *maṇḍa*.

अत्र नाडीशुद्धौ पथ्याशने गुरवस्तु[4] –

atra nāḍīśuddhau pathyāśane guravastu –

In the context of recommended food for *nāḍīśuddhi* the *gurus* opine–

योगेच्छुर्ह्रासवृद्ध्या[5] प्रणव इह परा[6]तन्दुलैर्मुद्गदाल्याः
खिच्चां स्वं भूरिपक्वां पलमित[7]हविषाद्यात् क्रमात् ह्रासवृद्ध्या ॥
अह्नां[8] अह्नां चाशीति८०संख्यं लवणविरहितां भूगृहे बन्धमुद्राः
कुर्वन् पद्मासनस्थः क्रमयमितमरुन्नाडिशुद्धौ व्रतस्थः ॥ ५९ ॥

1. उत्तार्याथमंसशीतले –b. 2. सुवीसिते –b. 3. सुमत्वकुशुंटि –b. 4. गुरवस्नु –b. 5. योगेच्छुन्हीसवृध्या –b. 6. पुरा –b. 7. यंलमित –b. 8. अनुपलब्धपाठः –b.

yogecchurhrāsavṛddhyā praṇava iha parātandulairmudgadālyāḥ
khiccāṃ svaṃ bhūripakvāṃ palamitahaviṣādyāt kramāt hrāsavṛddhyā ||
ahnāṃ ahnāṃ cāśīti80saṅkhyāṃ lavaṇavirahitāṃ bhūgṛhe bandhamudrāḥ
kurvan padmāsanasthaḥ kramayamitamarunnāḍiśuddhau vratasthaḥ || 59 ||

Tr. An aspirant of *yoga* (should chant) *praṇava* in high and low (pitch). He should consume good variety of rice cooked well with *mudga* mixed with one *pala* of *ghee* everyday in an increasing and decreasing order for 80 days, without adding salt, staying underground, while practising *bandha* and *mudrā*, adopting *padmāsana* and judiciously controlling breath for purification of the *nāḍīs* and observing vows (*vrata*). 59.

दालिरत्र वितुषाशेषं संकेतगम्यं यववाटविलेपिकां च केचित् सघृतां[1] पायसमाज्यखण्डमेके मिहमाहु[2]रिह त्रिमासमिष्टम् || ६० ||

dāliratra vituṣāśeṣaṃ saṅketagamyaṃ yavavāṭavilepikāṃ ca kecit saghṛtāṃ pāyasamājyakhaṇḍameke mihamāhuriha trimāsamiṣṭam || 60 ||

Tr. *dāli* (pulse) here means without husk which is implied. According to others this is called *yavavāṭavilepikā* (gruel of baked barley). Still others contend that it should be taken with *ghee*, milk and sugar sprinkled with water for three months. 60.

प्रथमाभ्यासरतस्य नाडिशुद्धौ –

prathamābhyāsaratasya nāḍiśuddhau —

The following is recommended for an initiate in the course of *nāḍīśuddhi*—

मलः शिरास्थो द्रवतामुपैति प्रवृद्धकुम्भेन सहाऽनलेन ।
साज्यातिपक्वाघनपावकान्नात् सुखप्रवृत्तिर्घनविद्धतायाम् || ६१ ||

1. सघृत्तां –a. 2. मिहमाहरिह –a.

malaḥ śirāstho dravatāmupaiti
pravṛddhakumbhena sahā'nalena ||
sājyātipakvāghanapāvakānnāt
sukhapravṛttirghanaviddhatāyām || 61 ||

Tr. An advanced *kuṃbhaka* with (bodily) fire liquifies impurities in the *śirās*, and with the consumption of well-cooked rice along with *ghee*, lingering impurity is easily eliminated which leads to wellbeing. 61.

मल एष सरस्वतीतनुस्थो
द्रवतसर्पिरिवाग्निनातिसान्द्रः ॥
यमिनोऽभ्यसितोऽष्ट[1]कुम्भमुद्रादिभिर्
उद्वेजित एति वै तदाश्त्वम्[2] ॥ ६२ ॥

mala eṣa sarasvatītanustho
dravatasarpirivāgninātisāndraḥ ||
yamino'bhyasito'ṣṭakumbhamudrādibhir-
udvejita eti vai tadāśtvam || 62 ||

Tr. The impurity which sticks in the body of *sarasvatī (suṣumnā)*, gains mobility like *ghee* melts in fire. As the *yogīs* undertake the practice of eight *kuṃbhakas* along with *mudrās* etc., *prāṇa* starts moving into the mouth (of *suṣumnā*). 62.

द्रवन्त्यंगसन्धि[3]स्थमेदोवलास-
मला[4] देहवीर्याश्रया रोगमूलाः ॥
ततः पथ्यमाज्यान्नदुग्धं लसिताऽल्पं
हठाभ्यास[5]वृद्धाग्निकुम्भौष्महारि[6] ॥ ६३ ॥

dravantyaṅgasandhisthamedovalāsa-
malā dehavīryāśrayā rogamūlāḥ ||
tataḥ pathyamājyānnadugdhaṃ lasitā'lpaṃ
haṭhābhyāsavṛddhāgnikumbhauṣmahāri || 63 ||

Tr. The *medas* (fat) and phlegm stuck up in the joints of the body and which are deposited in the bodily constituents, forming the root cause of diseases, start melting. That is why one should consume recommended food comprising rice with

1. ऽभ्यासितोष्ट –b. 2. तदास्त्वं –b. 3. द्रवंन्यंऽगंसन्धि –b. 4. मेदोबलसमला –b. 5. दृढाभ्यास –b. 6. कुम्भौष्णहारि –b.

ghee and milk as the gastric fire is enhanced due to *haṭha* practice of *kumbhaka*. 63.

घृतमपि मितमेव ।

ghṛtamapi mitameva ।

ghee should be taken in limited quantity.

तथा चोक्तम् —

tathā coktam —

It has been said—

अतिस्निग्धानि रूक्षाणि[1] वर्जयेदात्मवान्नरः ॥ इति ॥ ६४ ॥

atisnigdhāni rūkṣāṇi varjayedātmavānnaraḥ ॥ *iti* ॥ 64 ॥

Tr. One should eschew excessively lubricated (with fat) or also dry food who is on the spiritual path. 64.

युग्ममत्र —

yugmamatra —

A pair (of *śloka*) here:

क्षीरप्रभूतान्नमभित्यजेज्ज्ञस्तथैव रूक्षान्नमथाज्यभूरि ।
तक्रान्नयुक्तं गदहेतु[2] चैतत् त्रयञ्च दध्या[3]विलमन्नमेवम् ॥ ६५ ॥

kṣīraprabhūtānnamabhityajejjñas-
tathaiva rūkṣānnamathājyabhūri ॥
takrānnayuktaṃ gadahetu caitat
trayañca dadhyāvilamannamevam ॥ 65 ॥

Tr. A wise should eschew the three types of food i.e. rice mixed up with excess of milk, dry food smeared with excess of *ghee* and rice mixed with butter milk or curd which causes diseases. 65.

स्पर्शयोगशास्त्रे —

sparśayogaśāstre —

It is held in *sparśayogaśāstra*—

भूरिस्वादुभृताशानां नास्ति योगः कथञ्चन ।
तस्माद्योगानुगुण्येन भोजनं मितभोजनम् ॥ इति ॥ ६६ ॥

bhūrisvādubhṛtāśānāṃ nāsti yogaḥ kathañcana ।
tasmādyogānuguṇyena bhojanaṃ mitabhojanam ॥*iti* ॥66॥

---

1. रूक्ष्याणि –b. 2. गदत्रयं –a. 3. त्रयं च दध्या –b.

Tr. It is not conducive for *yoga* to indulge in excessive consumption of sweet and large quantity of food. Therefore, it is desirable that one should take moderate food which is favourable to *yoga* practices. 66.

नन्दिकेश्वरब्रह्मज्ञाने[1]–

nandikeśvarabrahmajñāne—

It is said in *nandikeśvarabrahmajñāna*—

अत्याहारे भवेन्मृत्युः[2] **निराहारादपि क्रमात् ।**

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन मिताहारं प्रवर्त्तयेत् ॥ इति ॥ ६७ ॥

atyāhāre bhavenmṛtyuḥ nirāhārādapi kramāt ।

tasmāt sarvaprayatnena mitāhāraṃ pravartayet ॥ *iti* ॥ 67 ॥

Tr. Excessive food as well as abstinence from food might consequently lead to death. Hence, by all means one should resort to moderate diet. 67.

योगभास्करे –

yogabhāskare—

According to *yogabhāskara*—

नासिकारन्ध्रयुग्मेन[3] **सूत्रमाकृष्य घर्षणम् ।**

जीराधिकसितौभय उत्क्लेदश्च[4] **जलान्नयोः ॥ ६८ ॥**

nāsikārandhrayugmena sūtramākṛṣya gharṣaṇam ।

jīrādhikasitaubhaya utkledaśca jalānnayoḥ ॥ 68 ॥

Tr. Rub the thread after inserting it through the passage of the nostrils. One should consume cumin seed and sugar candy in water and vomit this out. 68.

Note. See also *yogabhāskara* quoted by *yogacintāmaṇi*. 68.

नाडीशुद्धौ मुनिप्रोक्ता[5] **उपाया एवमादयः ।**

मा यथोक्तभोजनं वायोर्बन्धश्चेति मतिर्मम ॥ इति ॥ ६९ ॥

nāḍīśuddhau muniproktā
    upāyā evamādayaḥ ॥
mā yathoktabhojanaṃ vāyor-
    bandhaśceti matirmama ॥ *iti* ॥ 69 ॥

---

1. ज्ञानं –b. 2. मृत्यु—a. 3. रन्ध्रपुगमेन —a. 4. भक्ष्यउक्लेदश्च –b. 5. प्रोक्ती –b.

Tr. These form the means of purification of the *nāḍīs* as suggested by the *munis*. According to my opinion one should consume food as suggested above and practise *prāṇāyāma*. 69.

बुद्धेर्भ्रंशकरं[1] च पापजनकं कर्माशनाद्यं मनाक्[2] ।
पानाहारविहारवाग्विलसितं योगेच्छुरेतत् त्यजेत्[3] ॥ ७० ॥

buddherbhraṁśakaraṃ ca pāpajanakaṃ
karmāśanādyaṃ manāk ॥
pānāhāravihāravāgvilasitaṃ
yogecchuretat tyajet ॥ 70 ॥

Tr. An aspirant of *yoga* should stay away from the activities and consumption of the food, drink, behaviour and (vocal) interaction which defile the conscience and produce sins. 70.

प्राप्नोति स्थिरतां हृदः शुचितया देहः शुचिर्नाडिका
दोषो नाम न एति योगमनिलः कुम्भाभिवृद्धौ जयम् ॥
सूर्यप्रवेशे पवनेऽशनं[4] सच्चन्द्रप्रवेशे शयनाम्बुपानम्[5]
इत्यादि चान्यत्[6] स्वधिया विचार्य पथ्यानि योगाभ्यसने हितानि ।७१।

prāpnoti sthiratāṃ hṛdaḥ
śucitayā dehaḥ śucirnāḍikā ॥
doṣo nāma na eti yogam-
anilaḥ kumbhābhivṛddhau jayam ॥
sūryapraveśe pavane'śanaṃ sac-
candrapraveśe śayanāmbupānam ॥
ityādi cānyat svadhiyā vicārya
pathyāni yogābhyasane hitāni ॥ 71 ॥

Tr. Thus one attains stability through purity of heart and purification of the *nāḍīs* in the body. Prolonged *kumbhaka* and control of *vāyu* would not allow the impurities to exist.

One should consume food when *prāṇa* moves through right (nostril) and go to sleep and drink water when *prāṇa* moves through left (nostril) – and so on. Such other regimen should be incorporated by one through proper deliberation which are favourable means in the practice of *yoga*. 71.

---

1. बुद्धेभ्रंशकरं —b. 2. नाद्यंमनाह –b. 3. योगेच्छरेतत्त्यजन् —b. 4. पवनेऽशनेऽशनं –b. 5. पाने –b. 6. वाऽन्यत् —b.

कृतोर्ध्वसव्यजानुस्थस्तथोर्ध्वदक्ष[1]जानुकः ।
चन्द्रार्कनाडीरोधघ्नः स्यात्तदा पानभोजनम् ॥ ७२ ॥

krtordhvasavyajānusthastathordhvadakṣajānukaḥ ।
candrārkanāḍīrodhaghnaḥ syāttadā pānabhojanam ॥72॥

Tr. One should raise the left knee above and also right knee to release the blocking of left and right nostrils respectively when one drinks and eats. 72.

याज्ञवल्क्यः —

yājñyavalkyaḥ —

According to *yājñavalkya*—

न प्राणेनाप्यपानेन वेगैर्वायुं समुत्सृजेत् ।
येन सक्तून्[2] करस्थांश्च[3] श्वासयोगे न चालयेत् ॥ ७३ ॥

na prāṇenāpyapānena vegairvāyuṃ samutsṛjet ।
yena saktūn karasthāṅśca śvāsayoge na cālayet ॥ 73 ॥

Tr. One should never exhale air through *prāṇa* and *apāna* in a rapid manner so that the *saktūs* (wheat flour) placed on the palms do not move due to breath. 73.

शनैर्नासापुटे वायुमुत्सृजेन्न तु वेगतः ।
न कम्पयेच्छरीरं तु स योगी परमो मतः ॥ इति ॥ ७४ ॥

śanairnāsāpuṭe vāyumutsṛjenna tu vegataḥ ।
na kampayeccharīraṃ tu sa yogī paramo mataḥ ॥ *iti* ॥74॥

Tr. One should exhale through the nostrils in a very controlled manner and not speedily. And also he should not shake the body. Such a *yogī* is considered a great one. 74.

तावद्विदधीत बुधः प्राणायामं समाहितो विधिवत् ।
यावत् सम्भवति भुवि प्राणायामस्य चोत्तमेऽत्र गुणः ॥इति॥७५॥

tāvadvidadhīta budhaḥ prāṇāyāmaṃ samāhito vidhivat ।
yāvat sambhavati bhuvi prāṇāyāmasya cottame'tra guṇaḥ ॥ *iti* ॥ 75 ॥

Tr. One should continue practising *prāṇāyāma* as prescribed with devotion as to realize the higher benefits of *prāṇāyāma* in this life itself. 75.

---

1. दक्ष्य –b. 2. सक्तं न –b. 3. करस्थाश्च –b.

समाहितः सावधानः ॥

samāhitaḥ sāvadhānaḥ ॥

samāhita means being careful.

॥ इति गोविन्ददेवसुतसुन्दरदेवविरचितायां हठतत्वकौमुद्यां नाडीशुद्धिनिरूपणोद्योतः ॥

॥ iti govindadevasutasundaradevaviracitāyāṃ haṭhatatvakaumudyāṃ nāḍīśuddhinirūpaṇodyotaḥ ॥

Thus ends the chapter narrating *nāḍīśuddhi* in *haṭhatatvakaumudī* composed by *sundaradeva*, the son of *govindadeva*.

Chapter--37

अथ प्राणायामकर्त्तव्यविधिः —

atha prāṇāyāmakartt avyavidhiḥ —

The prerequisites for *prāṇāyāma*—

अथेदं शरीरं स्वकीयांगुलीभिर्
बुधैः षण्णवत्यंगुलायाम[1]मुक्तम् ॥
दिनेशांगुलीभिः शरीरात्समीरो-
ऽधिकः प्राणसंज्ञो[2] मतो योगविद्भिः ॥ १ ॥

athedaṃ śarīraṃ svakīyāṅgulībhir-
budhaiḥ ṣaṇṇavatyaṅgulāyāmamuktam ॥
dineśāṅgulībhiḥ śarīrātsamīro'-
dhikaḥ prāṇasañjo mato yogavidbhiḥ ॥ 1 ॥

Tr. According to the experts, this (human) body measures 96 digits by one's own fingers. As per the opinion of the experts of *yoga*, when the air flows out upto twelve digits, it is called *prāṇa*. 1.

इह प्राणवायुं सदाऽभ्यासतो यो
नरो न्यूनभावं नयत्येनमंगात् ॥
समत्वं शरीरेण वा भूतलेऽस्मिन्
स पूज्यो बुधैरुत्तमो योगवित्सु ॥ २ ॥

iha prāṇavāyuṃ sadā'bhyāsato yo
naro nyūnabhāvaṃ nayatyenamaṅgāt ॥
samatvaṃ śarīreṇa vā bhūtalesmin
sa pūjyo budhairuttamo yogavitsu ॥ 2 ॥

Tr. One who through regular practice minimizes the flow of *prāṇa-vāyu* in the body bringing about balance of the body, is respected by the experts as an eminent person of *yoga* on this earth. 2.

विकारिचित्तेश्वरचन्द्रनाडीडायां पुरा पूरक इष्टकृन्मतः ।
दृढासनेऽमुं प्रविधाय कुम्भं धृत्वा यथाशक्तया[3] रेचयान्यया ॥३॥

---

1. षण्मवंर्त्यगुलयाम –b. 2. प्राणःसंज्ञो –b. 3. यथाशक्त्यऽरेच –b.

vikāricitteśvaracandranāḍī-
ḍāyāṃ purā pūraka iṣṭakṛnmataḥ ॥
dṛḍhāsane'muṃ pravidhāya kumbhaṃ
dhṛtvā yathāśaktyā recayānyayā ॥ 3 ॥

Tr. It is opined that, in the beginning, while adopting a firm posture *(āsana)*, one should first inhale the air through the left nostril, which is the lord of *citta* causing disturbances, followed by retention to the limit and exhalation through the other (nostril). 3.

चन्द्रे कृत्यं सकलमुदितं प्राणरोधस्य सर्वं
व्यस्तं व्यर्थं विषवहरवेर् नाडिकायां सुतैक्ष्ण्यात् ॥
इत्थं ज्ञात्वा प्रणवमनिशं सेवते साधको यः
सिद्धिस्तस्य प्रणवविहिता नातिदूरे श्रमो न ॥ 4 ॥

candre kṛtyaṃ sakalamuditaṃ prāṇarodhasya sarvaṃ
vyastaṃ vyarthaṃ viṣavaharaver nāḍikāyāṃ sutaikṣṇyāt ॥
itthaṃ jñātvā praṇavamaniśaṃ sevate sādhako yaḥ
siddhistasya praṇavavihitā nātidūre śramo na ॥ 4 ॥

Tr. All the practices of *prāṇāyāma* are suggested through the left nostril, while the same are futile if practised through right nostril which produces heat and toxin. Knowing this, a *sādhaka* who practises *praṇava* all the time attains quick success related to *praṇava* and also does not become tired. 4.

नाडीशुद्ध्याऽस्तमितमलभूपापपंकार्द्धाभावे
बुद्धौ सत्वांकुर[1] उदयते सम्प्रसादस्य बीजम् ॥
उप्तं कृष्टाऽवनिषु हि यथा बीजमों वह्निदग्धान्तर्
भूमौ नुस्तदा हृत्स्थितिमयत इताधिं[2] प्रपञ्चेभ्य एतत् ॥ ५ ॥

nāḍīśuddhyā'stamitamalabhūpāpapaṅkārddhābhāve
buddhau satvāṅkura udayate samprasādasya bījam ॥
uptaṃ kṛṣṭāvaniṣu hi yathā bījamoṃ vahnidagdhāntar
bhūmau nustadā hṛtsthitimayata itādhiṃ prapañcebhya etat ॥ 5 ॥

Tr. Due to *nāḍīśuddhi* morbidities and sins are removed. Then the state of *satva* which is the source (*bīja*) of pacification, arises in the conscience (*buddhi*). Just as a seed sown in the soil

1. सत्वांकर —a. 2. भूमौनुस्तदास्यातस्थितिमयतरुताधिं b.

sprouts due to its heats, similarly, *om* having been established in the heart of a man would remove all the worldly distractions. 5.

निरुद्धवृत्त्यन्तर[1]चेतसो या विनिश्चला वृत्तिरतीव शम्भौ ।
समासतः सा खलु योग उक्तः स पञ्चधा मन्त्रलयादिभेदैः ॥६॥

niruddhavṛttyantaraccetaso yā
viniścalā vṛttiratīva śambhau ॥
samāsataḥ sā khalu yoga uktaḥ
sa pañcadhā mantralayādibhedaiḥ ॥ 6 ॥

Tr. In short, it is called *yoga* when the mind is unswervingly focused intensely towards *śambhu (śiva)* keeping all other modifications (of the mind) suspended. This is of five kinds like *mantra, laya* etc. 6.

प्रमाथि चित्तं बलवद्विरागं नापेक्षते[2] मेऽहमिदं त्वमुग्धम् ।
दुर्जेयमेतस्य जयाय योग आयाम एतत् प्रियवायुरोधः ॥ ७ ॥

pramāthi cittaṃ balavadvirāgaṃ
nāpekṣate me'hamidaṃ tvamugdham ॥
durjeyametasya jayāya yoga
āyāma etat priyavāyurodhaḥ ॥ 7 ॥

Tr. The *citta* is fastidious and stubborn which does not care for detachment but rather gets always indulged in 'mine', 'I-ness', which never tires, hence it is difficult to bring under control. *yoga* has been propagated for the control of this mind which is made easier by comfortably controlling *prāṇa*. 7.

उक्तञ्च –

uktañca—

It has been said—

दुग्धाम्बुवत्सम्मिलितौ सदैव तुल्यक्रियौ मानसमारुतौ च ।
यावन्मनस्तत्र मरुत्प्रवृत्तिस्तत्रैकनाशादपरस्य नाशः ॥ ८ ॥

dugdhāmbuvatsammilitau sadaiva
tulyakriyau mānasamārutau ca ॥
yāvanmanastatra marutpravṛttis-
tatraikanāśādaparasya nāśaḥ ॥ 8 ॥

---

1. निरुद्धकृत्यन्तर –b. 2. नाऽपेक्ष्यते –b.

Tr. Both mind and *māruta*, which are interdependent, are blended like milk and water. Whenever *māruta* is active, mind also becomes active and vice versa. If one ceases to exist, other too follows suite. 8.

Note. Also see II.5. 8.

यावद् बद्धो मारुतः स्वान्तमित्रं तावच्चित्तं योगिनोऽस्तावलम्बम् ।
यावत्पश्येद्वै भ्रुवोर्मध्य एषस्तावन्नास्यास्तीह कालात्प्रभीतिः[1] ॥९॥

yāvad baddho mārutaḥ svāntamitraṃ
tāvaccittaṃ yogino'stāvalambam ॥
yāvatpaśyedvai bhruvormadhya eṣas-
tāvannāsyāstīha kālātprabhītiḥ ॥ 9 ॥

Tr. For a *yogī*, *citta*, which is a close associate of *māruta*, ceases (to act) so long as *māruta* remains controlled. So long as one's gaze is fixed at the center of the eyebrows there would be no fear from death. 9.

बह्वामयोऽपि[2] स्थविरोऽपि जन्तुर्नाप्नोति वाताभ्यसनैकनिष्ठः ।
प्रपञ्चसक्तोऽपि भयं न कालादाप्नोति तस्मात्पवनं निरुध्यात्।१०।

bahvāmayo'pi sthaviro'pi jantur-
nāpnoti vātābhyasanaikaniṣṭhaḥ ॥
prapañcasakto'pi bhayaṃ na kālād-
āpnoti tasmātpavanaṃ nirudhyāt ॥ 10 ॥

Tr. Even an old man afflicted by several ailments if one-pointedly devoted to the practice of *prāṇāyāma*, would not face fear from death even though engaged in the illusory world. Therefore, one should control *prāṇa*. 10.

वाताधीनं प्राणिनां चित्तमेतत्तस्मिन् रुद्धे मानसं निश्चलं स्यात् ।
योगी स्थाणुत्वं प्रयात्यस्य योगे[3]तस्माद्वायुं रोधयेत्तं क्रमेण ।११।

vātādhīnaṃ prāṇināṃ cittametat-
tasmin ruddhe mānasaṃ niścalaṃ syāt ॥
yogī sthāṇutvaṃ prayātyasya yoge
tasmādvāyuṃ rodhayettaṃ krameṇa ॥ 11 ॥

Tr. The *citta* of the human beings is under the control of *prāṇa*, therefore, control of *prāṇa* renders the mind steady and

---

1. प्भीति -b. 2. बकामयोपि –a. 3. प्रयात्यःस्ययोगे -b.

the *yogī* attains stability. Therefore, *prāṇa* should be controlled gradually. 11.

देहे यावद्वायुरास्ते[1] चरोऽस्य
तावल्लोके जीवतीति[2] प्रवादः ॥
तन्निष्क्रान्तौ प्रोच्यते पञ्चताऽज्ञैस्
तस्माद्वायुं रोधयेद्युक्तयुक्तम् ॥ १२ ॥

dehe yāvadvāyurāste caro'sya
tāvalloke jīvatīti pravādaḥ ॥
tanniṣkrāntau procyate pañcatā'jñais-
tasmādvāyuṃ rodhayedyuktayuktam ॥ 12 ॥

Tr. It is commonly understood that so long as (the *prāṇa*) moves in the body, it is called life. And it is death, when *prāṇa* departs. This is held by the experts of *prāṇa*. Therefore, *prāṇa* should be controlled in a judicious manner. 12.

सकलकरणवृत्तिः प्राणवायुः प्रदिष्टो
भवति करणसंघो निर्जितस्तज्जयेन ॥
वपुरथ रथमश्वाः खानि सूतः पुमान् स्वं[3]
पवनधृतिकषाविन्निर्वृत्तिप्रग्रहाभ्याम् ॥ १३ ॥

sakalakaraṇavṛttiḥ prāṇavāyuḥ pradiṣṭo
bhavati karaṇasaṅgho nirjitastajjayena ॥
vapuratharathamaśvāḥ khāni sūtaḥ pumān svam
pavanadhṛtikaṣāvinnirvṛttipragrahābhyām ॥ 13 ॥

Tr. It has been seen that all sensory functions depend on *prāṇavāyu*. Hence, control of *prāṇa* results in control of senses. Human body compares with a chariot. Sense organs are like horses and the man is the charioteer. One should control the reins (of the horses) by controlling the *prāṇa*. 13.

आकृष्य चित्तं विधृतं शनैः शनैर्
ध्येये[4] प्रपञ्चेभ्य उपैति[5] शान्तिम् ॥
प्राणप्ररोधोग्रकषाभिताडितं
स्वानन्दसम्पूर्णपदोन्मुखं स्यात् ॥ १४ ॥

1. रास्तो –b. 2. जीवतिति –b. 3. पुमानवं –a. 4. शनैध्र्येये –a. 5. उपति-a.

ākṛṣya cittaṃ vidhṛtaṃ śanaiḥ śanair-
dhyeye prapañcebhya upaiti śāntim ॥
prāṇaprarodhograkaṣābhitāḍitaṃ
svānandasampūrṇapadonmukhaṃ syāt ॥ 14 ॥

Tr. Gradually bringing back the *citta* from the objects and pointing it towards the desired object, one attains peace. Control of *prāṇa* which is like a whip, attains the inner state of Absolute Bliss. 14.

॥ इति हठतत्वकौमुद्यां प्राणायाम-
कर्त्तव्यविधिनिरूपणोद्योतः[1] ॥

॥ iti haṭhatatvakaumudyāṃ
prāṇāyāmakarttavyavidhinirūpaṇodyotaḥ ॥

Here ends the chapter describing
the prerequisites of *prāṇāyāma* practice
in *haṭhatatvakaumudī*.

1. निरूपणोद्योतः — अनुपलब्धपाठः — b.

Chapter—38

अथ प्राणायामः —

atha prāṇāyāmaḥ —

***prāṇāyāma* follows—**

तथा प्रोक्तं भारते —

tathā proktaṃ bhārate —

It has been said in (*mahā-*) *bhārata*—

[1]प्राणायामस्तथा वायोः प्राणस्य हृदि धारणम् ।
कुम्भरेचकपूराख्यस्तस्य भेदास्त्रयो नृप ॥ इति ॥ १ ॥

prāṇāyāmastathā vāyoḥ prāṇasya hṛdi dhāraṇam ।
kumbharecakapūrākhyastasya bhedāstrayo nṛpa ॥ iti ॥1॥

Tr. O king! *prāṇāyāma* is holding of *vāyu*, which is *prāṇa*, in the heart. *kumbhaka, recaka* and *pūraka* are the three divisions (of *prāṇāyāma*). 1.

बाह्यो रेचोऽभ्यन्तरः पूरकः स्यात्
स्तम्भो रोधो देशतः कालतश्च ॥
संख्याभिर्वा तारकावृत्तिगाभिर्
दृश्य[2]श्चेत् स्याद् दीर्घसूक्ष्मोऽस्य वायुः ॥ २ ॥

bāhyo reco'bhyantaraḥ pūrakaḥ syāt-
stambho rodho deśataḥ kālataśca ॥
saṅkhyābhirvā tārakāvṛttigābhir-
dṛśyaścet syād dīrghasūkṣmo'sya vāyuḥ ॥ 2 ॥

Tr. *bāhya* is exhalation, *abhyantara* is inhalation, *stambha* is retention decided by location and time or numerals as repetition of *om*—thus making the *prāṇa* prolonged and subtle. 2.

अन्तर्हृन्नाभिमूलेष्वथ बहिरपि च द्वादशान्ते चतुर्
विंशान्ते षट्त्रिंशदन्तेऽभ्युदयविलयने प्राणवायोर्भवेत्ताम् ॥
रेकपूरे[3] च तूलप्रचलनमुखतो[4] बाह्यदेशो वशोऽस्य
स्पर्शैः सूक्ष्मैः पिपीलीचलनजतुचित्तै[5]रान्तरश्च क्रमेण ॥ ३ ॥

---

1. प्राणायामकर्त्तव्यविधिनिरूपनोस्तथा वायोः प्राणस्य हृदि धारणं कुम्भरेचकर्त्त व्यविधिनिरूपनो – अधिकपाठः —b.2. वृत्तिगभिर्दृश्य –b. 3. रेके पूरे –b. 4. खतौ - b. 5. चलनजतुलितै –b.

*antarhṛnnābhimūleṣvatha bahirapi ca dvādaśānte caturviṃ
śānteṣattriṃśadante'bhyudayavilayane prāṇavāyorbhavettām* ॥
*rekapūre ca tūlapracalanamukhato bāhyadeśo vaśo'sya
sparśaiḥ sūkṣmaiḥ pipīlīcalanajatucittairāntaraśca krameṇa* ॥ 3 ॥

Tr. Internal sensation of *prāṇa* like the subtle creeping of the ants felt at the heart, navel and perineum during inhalation and exhalation, while external sensation of *prāṇa* felt wherein movement of a tuft of cotton placed before the nose at a distance of 12, 24 and 36 digits during exhalation and inhalation (indicate subtle and prolong state of *prāṇa*). 3.

क्षणाद्यैः[1] स्वसांकेतिकैरेव कालैस्
तथा संख्यया तारकावृत्तिवृद्ध्या ॥
इयत्ता परीक्षेत वा कुम्भकादिषु
अ[2]हःपक्षमासेषु[3] संख्याश्च वृद्ध्या[4] ॥ ४ ॥

*kṣaṇādyaiḥ svasāṅketikaireva kālais-
tathā saṅkhyayā tārakāvṛttivṛddhyā* ॥
*iyattā parīkṣeta vā kumbhakādiṣu
ahaḥpakṣamāseṣu saṅkhyāśca vṛddhyā* ॥ 4 ॥

Tr. Prolongation of *kumbhaka* should be judged by measuring the time of movement decided according to one's own choice and counting the increased repetition of *om* and also by monitoring daily, fortnightly and monthly progress. 4.

छन्नं[5] क्रमात् यत् कुश[6]चर्मवस्त्रैर्
नोच्चं न नीचं सममार्यदेशे ॥
संस्थाप्य पीठं[7] मृदुलं च तत्र
स्थित्वाऽभ्यसेत् योगमपास्तचिन्तः[8] ॥ ५ ॥

*channaṃ kramāt yat kuśacarmavastrair-
noccaṃ na nīcaṃ samamāryadeśe* ॥
*saṃsthāpya pīṭhaṃ mṛdulaṃ ca tatra
sthitvā'bhyaset yogamapāstacintaḥ* ॥ 5 ॥

---

1. क्षणाद्येः —b. 2. तिकैरेव कालैस्तथा संख्यया तारकावृत्तिवृद्ध्या । इयत्ता परीक्षेत वा कुम्भकादिष्व —अनुपलब्धपाठः —b. 3. पक्ष्यमासे –b. 4. पुसंख्याश्प्रवृड्या – b. 5. छत्रं –b. 6. सत्कुश –b. 7. पीठे –a. 8. योगमपास्तकिंचिन्तः —a.

Tr. Select an isolated favourable place which is neither high nor low and sit adopting a posture on a soft seat by spreading *kuśa* grass, (deer) skin and cloth in this order. Remaining alone, practise *yoga* giving up all the worries. 5.

तथा चोक्तं योगचन्द्रिकायाम् —

tathā coktaṃ yogacandrikāyām —

According to *yogacandrikā*—

वाङ्मनःकायशुद्धिं तु कृत्वा निष्कर्मणा शनैः ।
त्यक्तेन्द्रियरसो ध्यायेत् सच्चिदानन्दमद्वयम् ॥ ६ ॥

vāṅmanaḥkāyaśuddhiṃ tu kṛtvā niṣkarmaṇā śanaiḥ ।
tyaktendriyaraso dhyāyet saccidānandamadvayam ॥ 6 ॥

Tr. Purifying the speech, mind and the body, one should meditate on *sat, cit* and *ānanda* which is One, after gradually giving up the attraction towards objects of senses through renunciation of *karma*. 6.

वाक्शुद्धिः सत्यभाषणम् । मनःशुद्धिरभ्यासेन योगेन । वा कायशुद्धि[1]र्मृदा । हस्तपादादिप्रक्षालनस्नानादिना । यद्वा हरिस्मरणेन । निष्कर्मणा कर्मफलत्यागेन । शनैर्मन्दम् । त्यक्तेन्द्रियरसः विषयरसः[2] ॥ ७ ॥

vākśuddhiḥ satyabhāṣaṇam । manaḥśuddhirabhyāsena yogena । vā kāyaśuddhirmṛdā । hastapādādiprakṣālana-snānādinā । yadvā harismaraṇena । niṣkarmaṇā karmaphalatyāgena । śanairmandam । tyaktendriyarasaḥ viṣayarasaḥ ॥ 7 ॥

Tr. 'Purification of speech' means speaking the Truth. Purification of the mind is done through the *yogic* practices. 'Purification of the body' means cleansing the body with mud. Washing of the hands and feet by taking bath. Or else, this is done by remebering *hari*. 'Renunciation of the *karma*' means 'renunciation of the fruits of action. One gradually gives up the interest of the senses towards their objects. 7.

वसिष्ठगीतायां तु —

vasiṣṭhagītāyāṃ tu —

According to *vaśiṣṭhagītā*—

1. वा कायशक्तिर् —b. 2. अनुपलब्धपाठः —b.

आसनं तूलसम्पूर्णं सितवस्त्रावगुण्ठितम् ।
कृष्णाजिनोत्तरीयं च विन्यस्तं मृदुचर्मणि ॥ इति ॥ ८ ॥

āsanaṃ tūlasampūrṇaṃ sitavastrāvaguṇṭhitam ।
kṛṣṇājinottarīyaṃ ca vinyastaṃ mṛducarmaṇi ॥ iti ॥ 8 ॥

Tr. An *āsana* (seat) is made up of white fine cotton cloth spread over the soft skin of antelope. 8.

इह गृहस्थपरः न यतेः तस्य
तूलसिततवस्त्रयोः शास्त्रे निषेधात् ॥ ९ ॥

iha gṛhasthaparaḥ na yateḥ tasya
tūlasitavastrayoḥ śāstre niṣedhāt ॥ 9 ॥

Tr. Use of white cotton cloth (for *āsana*) is for the householder and not for ascetics which is prohibited in the scriptures. 9.

भारते[1] —

bhārate—

According to (*mahā-*) *bhārata*—

मध्यप्रमाणमच[2]लसुखदायं शुभं शुचिः ।
योगसंसिद्धये भूप योगिनामासनं स्मृतम् ॥ इति ॥ १० ॥

madhyapramāṇamacalasukhadāyaṃ śubhaṃ śuchiḥ ।
yogasaṃsiddhaye bhūpa yogināmāsanaṃ smṛtam॥iti॥10॥

Tr. O king! A medium size steady *āsana* (seat) which gives comfort and which is auspicious is recommended for the one who is a practising *yogī*, for purity and success in *yoga*. 10.

जिस्वां दन्तोर्ध्व[3-4]सन्धौ सुदृढ[5]मभिनिबध्यर्जुमन्योत्तमांगं
वक्षालुन्नामितेषद्विचलचरशिरः[6] श्लिष्टदृङ् नामितों ऽसः[7] ॥
अन्योऽन्यं[8] सव्यदक्षर्जुभुजयुगमास्थाप्य सक्थ्यूपरिष्टाद्[9]
वक्षो विष्टभ्य पृष्ठोन्नतियुगनुजयेद् भ्रन्तरं वीक्ष्य वायुम् ॥ ११ ॥

---

1. भास्ते –b. 2. चलं –b. 3. योगसंसिद्धये भूपयोगिनामासनं स्मृतमिति –repeated–b. 4. दन्तोध्वं –b. 5. सन्धौस्त्रदृढ –b. 6.वस्यालुक्लामितेषद्धिचलचराशेरः –b. 7. नामितांऽसः –b. 8. अमन्योऽन्यं –a. 9. सवधापरिष्टा –b.

jihvāṃ dantordhvasandhau sudṛḍhamabhinibadhyarjumanyottamāṅgaṃ
vakṣālunnāmiteṣadvicalacaraśiraḥ śliṣṭadṛṅ nāmito'ṃsaḥ
anyo'nyaṃ savyadakṣarjubhuyugamāsthāpya sakthyūpariṣṭād
vakṣo viṣṭabhya pṛṣṭhonnatiyuganujayed bhrvantaraṃ vīkṣya vāyum ॥ 11 ॥

Tr. Press the tongue at the joint above the teeth (palate), keep the head and neck upright, keep the gaze fixed, and shoulders bent, keep both the stretched hands on the respective thighs, move the head down slightly on the chest, keep the chest fixed raising the back and the eyes fixed at the center of the eyebrows, thus one should control the breath. 11.

Note. The description suggests the adoption of *jālandharabandha* during *kumbhaka*. 11.

प्राणस्य सञ्चारमलं[1] च बाह्यं संहृत्य पूरेण[2] च मन्दमन्दम् ।
विलम्बितं न द्रुतमेव योगी प्राणावरोधं विभृयात् स्थिरांगः ।१२।

prāṇasya sañcāramalaṃ ca bāhyaṃ
saṃhṛtya pūreṇa ca mandamandam ॥
vilambitaṃ na drutameva yogī
prāṇāvarodhaṃ vibhṛyāt sthirāṅgaḥ ॥ 12 ॥

Tr. One very slowly draws the air in and holds the breath while keeping the body steady, thus controlling the external flow of *prāṇa*. 12.

यथा सुषुम्णास्थमलो विशोषं प्रयाति चित्ते भवति प्रसादः ।
तथा धिया सात्विकया मिताशी प्राणावरोधं विजने विदध्यात् १३

yathā suṣumṇāsthamalo viśoṣaṃ
prayāti citte bhavati prasādaḥ ॥
tathā dhiyā sātvikayā mitāśī
prāṇāvarodhaṃ vijane vidadhyāt ॥ 13 ॥

Tr. As the impurities in the *suṣumnā* are expelled, there dawns a state of poise in the mind. One resorts to *sātvika* and moderate food and staying in a lonely place undertakes the practice of *prāṇāyāma*. 13.

1. संचारपलं –b. 2. फरेण –b.

भस्त्रोत्पन्नसमीरणेन हि यथा वह्निर्ज्वलत्यन्वहं
चेतोमूलजनीध्यवज्जडतया व्याप्ता सुसंविच्छुभा[1] ।
प्राणस्पन्दत उच्चकै[2]र्हृदि नृणां संबोध्यमाना सती
चेतोवृत्तितया ज्वलत्यति च तन्नाम्न्या[3] अकानां भवः१४

bhastrotpannasamīraṇena hi yathā vahnirjvalatyanvahaṃ
cetomūlajanīdhyavajjaḍatayā vyāptā susaṃvicchubhā ||
prāṇaspandata uccakairhṛdi nṛṇāṃ saṃbodhyamānā satī
cetovṛttitayā jvalatyati ca tannāmnyā akānāṃ bhavaḥ || 14 ||

Tr. Being fanned by the air of bellows, fire burns continuously. In the form of material producing heat, auspicious consciousness pervades the very root of *cetas* (mind). Through advanced practice of *prāṇāyāma* the light (fire) dispels the modifications of the mind residing in the heart of men and one overcomes misery. 14.

वृत्तिः प्राणस्पन्दसम्प्रेरिताऽसौ
चित्तोत्पत्तिर्वासनाख्यां[4] गतान्याम्[5] ॥
दार्ढ्याऽभ्यस्तार्थैकसंभावनेना-
लोलां जन्माऽपीति हेतुं[6] वदन्ति ॥ १५ ॥

vṛttiḥ prāṇaspandasampreritā'sau
cittotpattirvāsanākhyāṃ gatānyām ||
dārḍhyā'bhyastārthaikasambhāvanenā-
lolāṃ janmā'pīti hetuṃ vadanti || 15 ||

Tr. Modifications originating from the *citta* are due to impetus coming from the movements of *prāṇa* which take the form of desires (*vāsanās*) arising out of the mind (which are always) in a state of flux. Through consistent practice this fickleness which is the cause of cycle of birth can be overcome. 15.

---

1. त्पन्नसमीरणेन हि यथा वह्निर्ज्वलत्यन्वहं चेतोमूलजनीध्यवज्जऽतया व्याप्ता सुसंविच्छुभा —अनुपलब्धपाठः —b. 2. त्पणस्पन्दतदुच्चकैर् — b. 3. ज्वलत्यःतिचतत्राम्प्रा —b. 4. र्वासनाख्य —b. 5. दादसंप्रष्टिताऽसौ चित्तोत्पत्तिर्वासनाख्यगताऽन्यां -- repeated —b. 6. हेतु —b.

प्राणस्य सस्पन्दनमत्र[1] वासनावशान्नराणां खलु वासनापि[2] ।
तेनोद्भवत्येव हि चित्तं[3] बीजकस्यालम्बते तिष्ठत आद्यहेतुः ।१६।

prāṇasya saspandanamatra
vāsanāvaśānnarāṇāṃ khalu vāsanāpi ॥
tenodbhavatyeva hi cittaṃ bīja-
kasyālambate tiṣṭhata ādyahetuḥ ॥ 16 ॥

Tr. Due to desire of a man *prāṇa* moves and so also *prāṇa* stimulates the desires. Therefore, the *citta* is the prime cause. 16.

प्राणस्पन्दो मानसस्पन्द एष योऽसौ प्राणायामतो धीमतोच्चैः[4] ।
दीर्घाभ्यस्तान्नाप्रानो यो[5] हठज्ञैर्नानामुद्राबन्धपथ्यासनाद्यैः ॥ १७ ॥

prāṇaspando mānasaspanda eṣa
yo'sau prāṇāyāmato dhīmatoccaiḥ ॥
dīrghābhyastānnāprāno yo haṭhajñair-
nānāmudrābandhapathyāsanādyaiḥ ॥ 17 ॥

Tr. Movement of *prāṇa* is the movemnet of *manas* which can be controlled by a wise through advanced and prolonged practice of *prāṇāyāma* along with *mudrā*, *bandha* and prescribed dietary regimen. 17.

तथा चोक्तं श्वेताश्वतरे —

tathā coktaṃ śvetāśvatare —

According to *śvetāśvatara*—

त्रिरुन्नतं[6] स्थाप्य समं शरीरं हृदिन्द्रियाणि मनसा सन्निवेश्य ।
ब्रह्मोडुपेन[7] प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥ १८ ॥

trirunnataṃ sthāpya samaṃ śarīraṃ
hṛdindriyāṇi manasā sanniveśya ॥
brahmoḍupena pratareta vidvān
srotāṅsi sarvāṇi bhayāvahāni ॥ 18 ॥

Tr. A wise should keep the three parts of the body (trunk, head and neck) upright and withdraw the mind along with the sense organs. Thus sailing with a boat in the form of brahma, he can cross over all the frightening rivers. 18.

1. स्पन्दनमत्र —b. 2. वासनापिं –b. 3. चित्ते –b. 4. धीमतोब्धैः —b. 5. दीर्घाःभ्यस्तात्राशनीयो –b. 6. त्रिरुक्ततं –a. 7. ब्रह्मोड्डुयेन –b.

प्राणान् प्रपीड्येह स युक्तचेष्टः[1]
क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत[2] ॥
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहनमेनं
विद्वान् मनो धारयेताऽप्रमत्तः ॥ इति ॥ १९ ॥

prāṇān prapīḍyeha sa yuktaceṣṭaḥ
kṣīṇe prāṇe nāsikayocchvasīta ॥
duṣṭāśvayuktamiva vāhanamenaṃ
vidvān mano dhārayeta'pramattaḥ ॥ *iti* ॥ 19 ॥

Tr. After effortfully holding the breath when exhaustion sets in, one should exhale through the nose. Just as a charioteer controls the chariot which is attached to wild horses, similarly, a wise controls the mind attentively. 19.

प्राणस्य संरोधनतस्तु[3] दोषा दह्यन्त उच्चैः[4] करणैः पृथक्कृताः ।
तथा यथा पर्वतधातुसम्भवा मलाः प्रदह्यन्त उदारवैकृताः ॥२०॥

prāṇasya saṃrodhanatastu doṣā
dahyanta uccaiḥ karaṇaiḥ pṛthakkṛtāḥ ॥
tathā yathā parvatadhātusambhavā
malāḥ pradahyanta udāravaikṛtāḥ ॥ 20 ॥

Tr. Just as the dross of the minerals emanating from the mountains are separated through cleansing by putting them in the fire, similarly, due to control of *prāṇa*, impurity is very well burnt by separating it from the senses. 20.

प्राणस्य रोधाच्चलचित्तचेष्टाऽ
विद्यामदाद्याः प्रलयं व्रजन्ति ॥
प्राणस्य यः स्पन्द इहाभिलक्ष्यते
स्पन्दः स चित्तस्य ततोऽमुं मर्दयेत् ॥ २१ ॥

prāṇasya rodhāccalacittaceṣṭā'
vidyāmadādyāḥ pralayaṃ vrajanti ॥
prāṇasya yaḥ spanda ihābhilakṣyate
spandaḥ sa cittasya tato'muṃ mardayet ॥ 21 ॥

Tr. Control of *prāṇa* dissolves the fickleness of the mind and arrogance (*mada*) arising due to ignorance and the like.

---

1. प्रपीडोहसस्यतचेष्टः —b. 2. प्राणेनासिकयोछ्सीत —b. 3. संरोधननस्तु —b. 4. दुच्चैः —b.

The movement of *prāṇa* is nothing but the movement of *citta*, therefore, it (*prāṇa*) has to be controlled. 21.

उक्तं च वासिष्ठे —

uktaṃ ca vāsiṣṭhe —

According to *vāśiṣṭha*—

स बाह्याभ्यन्तरः स्पन्दश्चित्तजो[1] वातजोऽथवा ।
न यस्य विद्यते तस्य दूरस्थौ विकृतिक्षयौ[2] ॥ २२ ॥

sa bāhyābhyantaraḥ spandaścittajo vātajo'thavā ।
na yasya vidyate tasya dūrasthau vikṛtikṣayau ॥ 22 ॥

Tr. External and internal movements are either of *prāṇa* or of *citta*. One who is free from these movements is also free from modification and mutation. 22.

स बाह्याभ्यन्तरे शान्त[3]स्पन्दे पवनचेतसोः ।
धातवः संस्थितिं देहे न त्यजन्ति कदाचन ॥ २३ ॥

sa bāhyābhyantare śāntaspande pavanacetasoḥ ।
dhātavaḥ saṃsthitiṃ dehe na tyajanti kadācana ॥ 23 ॥

Tr. Once the external and internal movements of *prāṇa* and mind are suspended, the *dhātus* (bodily constituents) would never get dissipated from the body. 23.

असमं वहति[4] प्राणे नाड्यो[5] यान्ति विसंस्थितिम् ।
असम्यक् संस्थिते भूये यथा वर्णाश्रमक्रमः ॥ इति ॥ २४ ॥

asamaṃ vahati prāṇe
nāḍyo yānti visaṃsthitim ॥
asamyak saṃsthite bhūye
yathā varṇāśramakramaḥ ॥ *iti* ॥ 24 ॥

Tr. Just as the system of *varṇāśrama* gets disturbed, similarly, the *nāḍīs* get distorted due to *prāṇa* going astray. 24.

योगदीपिकायाम् —

yogadīpikāyām —

It is said in *yogadīpikā*—

---

1. श्चित्तनो –b. 2. विकृतिस्ययौ –b. 3. शान्ते –b. 4. असंप्रवहति –b. 5. नाशे –b.

समस्तेन्द्रियवृत्तिश्च प्राणो वायुः प्रकीर्त्तितः ।
तज्जयादिन्द्रियाण्येव विजितानि भवन्ति हि[1] ॥ इति[2] ॥ २५ ॥

samastendriyavṛttiśca prāṇo vāyuḥ prakīrttitaḥ ।
tajjayādindriyāṇyeva vijitāni bhavanti hi ॥ *iti* ॥ 25 ॥

Tr. The entire set of modifications of senses are actually otherwise known as the modifications of *prāṇavāyu*. Therefore, the senses are controlled by controlling *prāṇa*. 25.

तथा चोक्तं योगचन्द्रिकायाम् —

tathā coktaṃ yogacandrikāyām —

It has been further stated in *yogacandrikā*—

पूरकाद्यनिलायामदृढाभ्यासाद[3]खेदजात् ।
एकान्तध्यानयोगाच्च प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥ २६ ॥

pūrakādyanilāyāmadṛḍhābhyāsādakhedajāt ।
ekāntadhyānayogācca prāṇaspando nirudhyate ॥ 26 ॥

Tr. *prāṇic* movement is stabilized by diligent practice of *prāṇāyāma* through controlling *pūraka* etc. in a comfortable manner and meditation practised in a solitary place. 26.

ओंकारोच्चारणप्रान्तशब्दतत्वानुभावनात् ।
सुषुप्तेः संविदो[4] जाते प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥ २७ ॥

oṃkāroccāraṇaprāntaśabdatatvānubhāvanāt ।
suṣupteḥ saṃvido jāte prāṇaspando nirudhyate ॥ 27 ॥

Tr. Movement of *prāṇa* gets subsided on arousal of the state of *suṣupti* through the recitation of *oṃ* and meditation on *tatva* and hearing of *anāhatadhvani*. 27.

प्रान्ते निकटे स्वशरीरे योऽनाहतशब्दस्तस्य । तत्वं ज्ञानम् ॥

तस्य अनुभावनाद् ब्रह्मपरिचयाद्वा उच्चारणादूर्ध्वकरणाच्छ्रवणाद्वा सुषुप्त्यवस्थायाः संविदो जाते सति प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥ २८ ॥

prānte nikaṭe svaśarīre yo'nāhataśabdastasya । *tatvaṃ jñānam* ॥

tasya anubhāvanād brahmaparicayādvā uccāraṇād ūrddhvakaraṇācchravaṇādvā suṣuptyavasthāyāḥ saṃvido jāte sati

1. ही –b. 2. अनुपलब्धपाठः –b. 3. पूरकाद्यनिलायामादढाभ्यां –b. 4. सविदो –a.

prāṇaspando nirudhyate ॥ 28 ॥

Tr. *prānta* means nearby one's own body where the unstruck *nāda* is located. *tatva* is wisdom.

Repeated contemplation (*anubhāvanād*) of this or knowledge of *brahma* or pronouncing and listening to this when the state of *suṣupti* supervenes, the movement of *prāṇa* gets suspended. 28.

द्वादशांगुलपर्यन्ते[1] नासाग्राद्विमलाम्बरे ।
किञ्चिद् दृशि प्रशाम्य[2]न्तां प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥ २९ ॥

dvādaśāṅgulaparyante nāsāgrādvimalāmbare ।
kiñcid dṛśi praśāmyantāṃ prāṇaspando nirudhyate ॥29॥

Tr. By fixing the gaze with opening the eyes a bit at the clear sky twelve digits away from the tip of the nose controls the breath. 29.

नासाग्राद्विमलाम्बरे[3] निर्मलाकाशे ब्रह्मणि वायौ गते सति ॥
किंविशिष्टे ? द्वादशांगुलपर्यन्ते, द्वादशांगुलावधौ ॥
पुनः किञ्चिद्दृशि[4] प्रशाम्यन्तां[5]न्निमेषवर्जिता या प्राणगमनं निरुध्यते ॥ ३० ॥

nāsāgrādvimalāmbare nirmalākāśe brahmaṇi vāyau gate sati ॥

kiṃviśiṣṭe ? dvādaśāṅgulaparyante, dvādaśāṅgulāvadhau
punaḥ kiñciddṛśi praśāmyantāṃnnimeṣavarjitā yā prāṇagamanaṃ nirudhyate ॥ 30 ॥

Tr. *prāṇa* moves to the *brahma* in the clear sky away from the tip of the nose.

What is the characteristic? Upto twelve digits.

The gaze is fixed without blinking but keeping the eyes open a little. Thus the movement of *prāṇa* is stopped. 30.

तालुमूलगता जिह्वा यन्नादाक्रम्य[6] घंटिकाम् ।
ऊर्ध्वरन्ध्रं गते प्राणे प्राणस्पन्दो निरुध्यते[7] ॥ ३१ ॥

---

1. पर्यन्तै –b. 2. किंचिदशिप्रशांम्यं –b. 3. मलावंरं –b. 4. किंचिदाशे –b. 5. प्रशाम्यन्तो –b. 6. यत्रादाक्रम्य –b. 7. निरुद्धते –b.

tālumūlagatā jihvā yannādākramya ghaṇṭikām ।
ūrdhvarandhraṃ gate prāṇe prāṇaspando nirudhyate ।31।

Tr. When the tongue is fixed against the root of the palate beyond uvula and *prāṇa* moves in the upper aperture, one hears *nāda*. Thus movement of *prāṇa* is suspended. 31.

जिह्वा तालुमूले विपरीततः प्रविष्टा । किं कृत्वा ? घण्टिकां यन्नादाक्रम्य उल्लंघ्य प्राणवायौ ऊर्ध्वं रन्ध्रे गते ब्रह्माण्डप्राप्ते[1], तदा प्राणस्पन्दो गमनं निरुध्यते ॥ ३२ ॥

jihvā tālumūle viparītataḥ praviṣṭā । *kiṃ kṛtvā ? ghaṇṭikāṃ yannādākramya ullaṅghya prāṇavāyau ūrdhvaṃ randhre gate brahmāṇḍaprāpte, tadā prāṇaspando gamanaṃ nirudhyate* ॥ 32 ॥

Tr. The tongue is upturned and inserted at the root of the palate. How? The uvula would thus stimulate the *nāda* and the *prāṇa* would enter the cavity above which is called *brahmāṇḍa*. Thus the *prāṇic* movement is held up. 32.

भ्रूमध्ये तारकालोकशान्तवन्तमुपासते ।
चेतने केतने बुद्धेः प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥ ३३ ॥

bhrūmadhye tārakālokaśāntavantamupāsate ।
cetane ketane buddheḥ prāṇaspando nirudhyate ॥ 33 ॥

Tr. Eyes are fixed at the center of the eyebrows. One meditates on this peaceful point, which is the abode of conscience. Thus the *pranic* movement is brought to rest. 33.

भ्रूमध्ये तारका नेत्रपुत्तलिका स्थिरा यथा भवति तथा । बुद्धेः केतने बुद्धिगृहे । चेतने चित्त उपागते तत्र प्राप्ते । भ्रूमध्यगते सति प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥ इति ॥ ३४ ॥

bhrūmadhye tārakā netraputtalikā sthirā yathā bhavati tathā । *buddheḥ ketane buddhigṛhe* । *cetane citta upāgate tatra prāpte* । *bhrūmadhyagate sati prāṇaspando nirudhyate* ॥ *iti* ॥ 34 ॥

Tr. One fixes the eyeballs at the center of the eyebrows. Abode of *buddhi* - conscience. When it reaches the center of the eyebrows, the *prāṇic* movement stops. 34.

---

1. गतेस्माऽप्राप्ते –b.

पूरकादिभिः वायुसंयमात्[1] अखेदजात्[2] परिश्रमवर्जितात् ।
जन[3]वर्जितस्थाने ध्यानकरणात् प्राणस्पन्दः[4] निरुध्यते ॥ ३५ ॥

pūrakādibhiḥ vāyusaṃyamāt
akhedajāt pariśramavarjitāt ॥
janavarjitasthāne dhyānakaraṇāt
prāṇaspandhaḥ nirudhyate ॥ 35 ॥

Tr. By practice of *prāṇāyāma* through *pūraka* etc. in a comfortable and stress-free manner while meditating in a desolate place, the flow of *prāṇa* is brought to rest. 35.

स्पर्शयोगशास्त्रे —

sparśayogaśāstre --

It has been stated in *sparśayogaśāstra*—

सुदृढाभ्यासयोगेन सिद्धिरारम्भसम्भवा ।
ततो भवेत् घटावस्था[5] पवनाभ्यासिन[6]स्तथा ॥ इति ॥ ३६ ॥

sudṛḍhābhyāsayogena siddhirārambhasambhavā ।
tato bhavet ghaṭāvasthā pavanābhyāsinastathā ॥ *iti* ॥ 36 ॥

Tr. A practitioner gets the success in *ārambha* state through diligent practice. Thereafter, in a practitioner of *prāṇāyāma*, the state of *ghaṭāvasthā* takes place. 36.

चित्तस्य[7] तथा श्वासवेगोऽयं धावतस्तथा यथा ।
श्वासो यस्माद् दृढोऽणुः[8] प्राणायामोपेतस्य जायते ॥ ३७ ॥

cittasya tathā śvāsavego'yaṃ dhāvatastathā yathā ।
śvāso yasmād dṛḍho'ṇuḥ prāṇāyāmopetasya jāyate ।37।

Tr. The agility of *citta* is nothing but the forceful movement of *prāṇa*, which can be enfeebled and made subtle through the practice of *prāṇāyāma*. 37.

सारोऽपानस्य नाशं व्रजति विधिकृताभ्यासतो मोहहेतुः
ध्वंशेन प्राणवायोः[9] सह मनसि शुभे याति धर्मान्तरं चित्[10] ॥
सत्सूरः[11] पूर्वधर्मक्षयतद्दुरितांशे[12] तदा धारणासु
हृन्नाभिब्रह्मरन्ध्रप्रभृतिकविषये चेतसो जायते नुः ॥ ३८ ॥

---

1. वायुसंघमात् —a. 2. अस्वेदजात् —b. 3. जून -a. 4. प्रस्थनबहिर्गमन—b. 5. दृढावस्था -b. 6. पवनऽभ्यासेन -b. 7. स्थितस्य -b. 8. यस्मादऽणुः —b. 9. माणयोः —b. 10. वित —a. 11. सत्सूरेः —b. 12. धर्मस्यय इतदुरितांऽशे -b.

sāro'pānasya nāśaṃ vrajati vidhikṛtābhyāsato mohahetuḥ bhrvaṃśena prāṇavāyoḥ saha manasi śubhe yāti dharmāntaraṃ cit ||
satsūraḥ pūrvadharmakṣayatadduritāṃśc tadā dhāraṇāsu hṛnnābhibrahmarandhraprabhṛtikaviṣaye cetaso jāyate nuḥ || 38 ||

Tr. The essence of *apāna* which is the cause of delusion disappears through prescribed practice. A wise annihilates the depository of the previous *karma* which forms the residue of sins by fixing the *cetas* (mind) at the points like heart, navel, *brahmarandhra* etc. The mind is fixed at the eyebrows along with *prāṇa* which brings about transformation of *cit* (consciousness). 38.

प्रणवं प्रजपेत्सदा यतिः सुदृढाभ्यासरतः स्वरूपलीनः ।
इह जन्मनि कृतः पुरा वा प्रविलाप्याशुभ[1]मेति योगसिद्धिम् ।३९।

praṇavaṃ prajapetsadā yatiḥ
sudṛḍhābhyāsaratah svarūpalīnaḥ ||
iha janmani kṛtaḥ purā vā
pravilāpyāśubhameti yogasiddhim || 39 ||

Tr. If a diligent practitioner chants *praṇava*, being merged in the (true) nature of the Self, thus dissolving the inauspicious (*karmas*) done in this life or the previous life, he attains success in *yoga*. 39.

इह संमित्युपसर्गकाः कलौ मन्दं[2] दम्भालसता स्पृहादिविघ्नाः ।
अक्षभिः[3] खलु कण्ठमागतैरपि योगाभ्यसनं न हेयमार्यैः ॥ ४० ॥

iha sammityupasargakāḥ kalau mandaṃ
dambhālasatā spṛhādivighnāḥ ||
akṣabhiḥ khalu kaṇṭhamāgatairapi
yogābhyasanaṃ na heyamāryaiḥ || 40 ||

Tr. In this *kaliyuga* arise the composite obstacles such as mediocrity, pride, lethargy, infatuation, desire and the like. One should not give up practice of *yoga* even though one faces death. 40.

---

1. प्रविलाप्यशुभ –b. 2. मन्द –b. 3. अप्सुभिः –b.

पुंप्राक्कर्माभियोगाद्वि[1]कृतिमुपगतं चित्तसत्वं त्वपान[2]-
वायुर्मेढ्रप्रदेशक्षितिपद[3]गुणगो ऽधोगतेः स्थानमेषः ॥
चन्द्रः सत्वांशमूर्त्तिर्विकृतगुणतमोऽहं पदं कृत्रिमं तत्
प्राणायामेद्ध[4]कुम्भानलदलितमिदं स्यात्तदायं स्वरूपम् ॥ ४१ ॥

puṃprākkarmābhiyogādvikṛtimupagataṃ cittasatvaṃ tvapāna-vāyur meḍhrapradeśakṣitipadaguṇago'dhogateḥ sthānameṣaḥ ॥
candraḥ satvāṃśamūrtirvikṛtaguṇatamo'haṃ padaṃ kṛtrimaṃ tat prāṇāyāmeddhakumbhānaladalitamidaṃ syāttadāyaṃ svarūpam ॥ 41 ॥

Tr. The *citta* is defiled due to man's association with previous *karmas*. Therefore, *apāna* moves downwards. This downward pull (affects the) perineal region due to dominance of earth element. It is where moon is located. Though the moon embodies *satva*, due to defilement, it promotes ego artificially. Only when one burns this with the fire of *kuṃbhaka* lit up by the practice of *prāṇāyāma*, revelation of the true self takes place. 41.

सत्वेशविष्ण्वात्मरतं[5] मनोऽदः[6] सत्वांशमतहरिमायया यदा ।
मूढं क्रियालुब्धम[7]पान एवमीष्टेत्तदः पितृपुत्रयोरिव ॥ ४२ ॥

satveśaviṣṇvātmarataṃ mano'daḥ
satvāṃśamataharimāyayā yadā ॥
mūḍhaṃ kriyālubdhamapāna
evamīṣṭettadaḥ pitṛpūtrayoriva ॥ 42 ॥

Tr. By the grace of *hari*, the mind being dominated by *satva* becomes absorbed in *viṣṇu* who is the Lord of *satva(-guṇa)*. *apāna*, which remains active is related (to *praṇa*) like a son related to father. 42.

सत्वेश्वरेशाऽच्युत[8]वासभूमिर्मनस्तु या सा ॥ ४३ ॥

satveśvareśā'cyutavāsabhūmirmanastu yā sā ॥ 43 ॥

Tr. The abode of *manas* is occupied by the lord of *satva* who is *acyuta*. 43.

---

1. मियांगाद्वि –b. 2. त्वपावन –a,b. 3. स्थितिपद –b. 4. प्राणायामेन्द्धे –b. 5. विस्तात्मरतं –b. 6. मनोदुः –b. 7. त्रियालुध्यमः –a. 8. सत्वश्चरेशाऽच्युत –b.

दृढकुम्भकस्य स्थानं यदायं मलमत्यपानेन्दोरर्कयोगात् ।
नासाग्रे दत्तदृष्टि[1]र्विजनविषयगश्चाभ्यासमेतत्[2] प्राणरोधम् ॥४४॥

dṛḍhakumbhakasya sthānaṃ yadāyaṃ
malamatyapānendorarkayogāt ॥
nāsāgre dattadṛṣṭirvijanaviṣayagaś-
cābhyāsametat prāṇarodhaṃ ॥ 44 ॥

Tr. One should firmly apply *kumbhaka* by unifying *apāna* and *indu* in the *arka* for removal of impurities. One should live in an isolated place and practise *prāṇāyāma* while keeping the eyes fixed at the tip of the nose. 44.

आकुञ्च्योर्ध्वं ह्यपानं पवनममुमहो योजयेत्प्राणवायौ ।
शक्त्योर्ध्वं नीयतेऽयं सकलवृजिनत[3]स्तावतामुच्यते ज्ञः[4] ॥ ४५ ॥

ākuñcyordhvaṃ hyapānaṃ
pavanam-amumaho yojayetprāṇavāyau ॥
śaktyordhvaṃ nīyate'yaṃ
sakala-vṛjinatastāvatāmucyate jñaḥ ॥ 45 ॥

Tr. One should pull *apānavāyu* upwards and unify it with *prāṇavāyu*. This is pulled upwards with *śakti (kuṇḍalinī)* which overcomes the mundane afflictions. 45.

तथा चोक्तं गोरक्षे –

tathā coktaṃ gorakṣe –

Therefore it has been stated in *gorakṣa*—

द्वाराणां नवकं निरुध्य[5] मरुतं पीत्वा दृढं धारितं
नीत्वाकाशमपानवह्निसहितं शक्त्या समुच्चालितम् ॥
आत्मध्यानयुतस्त्वनेन[6] विधिना विन्यस्य मूर्ध्नि ध्रुवं
यावत्तिष्ठति[7] तावदेव महता संघेन संस्तूयते ॥ ४६ ॥

dvārāṇāṃ navakaṃ nirudhya marutaṃ pītvā dṛḍhaṃ dhāritaṃ
nītvākāśamapānavahnisahitaṃ śaktyā samuccālitaṃ ॥
ātmadhyānayutastvanena vidhinā vinyasya mūrdhni dhruvaṃ
yāvattiṣṭhati tāvadeva mahatā saṅghena saṁstūyate ॥ 46 ॥

Tr. Close down all the nine openings, suck the air in and retain it firmly, raise it up (air) with the fire and *apāna* with

1. साऽग्रेऽत्तद् –b. 2. श्चाभ्यसेसेत्–b. 3. वृत्तिनस्ता–b. 4. अनुपलब्धपाठः–b. 5. निरुह्य –b. 6. युतस्वृऽनेन –b. 7. प्रावतिष्ठति –a.

śakti to the space above by moving *(śakti)* properly. Remaining centered in the Self. Following this technique, firmly holding her at the top, one is eulogized by the assembly of the learned. 46.

नासाग्रदृष्टिः समकायमन्या
मूर्धा सुधां वा दधिचन्द्रबिम्बम् ॥
वामेऽर्कबिम्बं ज्वलनं च दक्षे[1]
ध्यात्वा सदायामविधौ सुखी स्यात् ॥ ४७ ॥

nāsāgradṛṣṭiḥ samakāyamanyā
mūrdhā sudhāṃ vā dadhicandrabimbaṃ ॥
vāme'rkabimbaṃ jvalanaṃ ca dakṣe
dhyātvā sadāyāmavidhau sukhī syāt ॥ 47 ॥

Tr. Eyes are fixed at the tip of the nose, the head, neck and trunk are upright. One meditates on the ambrosia oozing from the moon located on the left side and the blazing disc of sun at the right side in a consistent manner. Thus one enjoys Bliss. 47.

घस्रे[2] कुम्भचतुष्टयं प्रथमके सेव्यं मनीषावता
प्रत्येकं दशसंख्यकं युगदिने संवर्धयेत् पञ्चभिः ॥
विंश स्यात्तु[3] तृतीयकेऽहनि ततो वृद्धिं चरेत् पञ्चभिः
घस्रे घस्र उपैति सौक्ष्म्यमनिलो[4] बन्धैः सहैवं कृते ॥ ४८ ॥

ghasre kumbhacatuṣṭayaṃ prathamake sevyaṃ manīṣāvatā ॥
pratyekaṃ daśasaṅkhyakaṃ yugadine saṃvardhayet pañcabhiḥ ॥
viṃśa syāttu tṛtīyake'hani tato vṛddhiṃ caret pañcabhiḥ
ghasre gharsa upaiti saukṣmyamanilo bandhaiḥ sahaivaṃ kṛte ।48।

Tr. A wise practises four *kumbhakas* on the first day. On the second day he should (increase by five *kumbhakas* and) make it to ten. On the third day *kumbhakas* become twenty. Then one should increase each day by five *kumbhakas*. When this is practised with the application of the *bandhas, prāṇa* becomes subtle. 48.

---

1. दक्ष्ये –b. 2. घस्ने –b. 3. विंशत्यात् –b. 4. सौंस्म्यामः निलो –b.

लैन्यं वा पाठः ।

lainyaṃ vā pāṭhaḥ ।

lainyam (merger) is another variant reading.

ध्यायेन्नाभौ पूरके पद्मयोनिं[1]
रक्तं विष्णुं श्यामवर्णं हृदब्जे ॥
कुम्भे शम्भुं भालदेशे च लक्ष्यं[2]
योगे भूत्यै मुक्तयेऽहःप्रशान्त्यै ॥ ४९ ॥

dhyāyennābhau pūrake padmayoniṃ
raktaṃ viṣṇuṃ śyāmavarṇaṃ hṛdabje ॥
kumbhe śambhuṃ bhāladeśe ca lakṣyaṃ
yoge bhūtye muktaye'ṅhaḥpraśāntyai ॥ 49 ॥

Tr. While inhaling, one meditates on *padmayoni brahmā*, red in colour at the navel, *viṣṇu* dark blue in colour at the lotus of the heart while retaining the air, and *śaṃbhu* at the forehead (while exhaling). This is to flourish in the field of *yoga*, to attain Bliss and for removal of sins. 49.

देवतात्रयविचिन्तनं यदा
वायुरोध उपयाति हृदन्ते ॥
अग्निवायुसलिलैस् त्रिभिश्च तैः
शोध्यते धारणकुम्भकरेचकैः ॥ ५० ॥

devatātrayavicintanaṃ yadā
vāyurodha upayāti hṛdante ॥
agnivāyusalilais tribhiśca taiḥ
śodhyate dhāraṇakumbhakarecakaiḥ ॥ 50 ॥

Tr. Meditation on the Trinity of the gods retains the air at the core of the heart which is purified by *agni* (fire), *vāyu* (air) and *salila* (water), through the process of inhalation, retention and exhalation. 50.

विना जपध्यानमगर्भ[3] उक्त आयाम आभ्यां तु सगर्भ आर्यः ।
यो योगनाड्याश्रयवान्[4] प्रशान्तर्ज्वालासगर्भस्त्वपरः[5] सधूमः ।५१।

vinā japadhyānamagarbha ukta
āyāma ābhyāṃ tu sagarbha āryaḥ ॥

1. पद्मयोनिं-b. 2. लक्षं–b. 3. ध्यानगर्भ—b. 4. योगनाशश्रयवान् -b. 5. सगर्भरूचःपरः —b.

yo yoganāḍyāśrayavān praśāntar-
jvālāsagarbhastvaparaḥ sadhūmaḥ || 51 ||

Tr. In *agarbha (prāṇāyāma)* there is no involvement of *japa* or *dhyāna*, whereas in *sagarbha* which is superior, these are included. The other varieties of *prāṇāyāma* i.e. *praśānta, jvālā, sagarbha* and *sadhūma* take recourse to *yoganāḍī (suṣumṇā)*. 51.

योगनाडी सुषुम्णा ।
yoganāḍī suṣumṇā |
yoganāḍī is suṣumnā.

प्राणायामात्तमोभ्वब्जं क्षीयते कर्मबन्धभू ।
क्रमेण भूमिजयतः स्युः सिद्धिज्ञानदीप्तयः ॥ ५२ ॥
prāṇāyāmāttamobhvabjaṃ kṣīyate karma-bandhabhū |
kramena bhūmijayataḥ syuḥ siddhijñānadīptayaḥ || 52 ||

Tr. Practice of *prāṇāyāma* annihilates the bondage of *karma* through the control of earth (element) which is in the form of *tamas*, and gradually brings about success (in *yoga*), wisdom and Bliss. 52.

देहशुद्धिश्चाथ तेन रोमाञ्चानन्दसम्भवः ।
क्रमेण जायतेऽभ्यासाद् विदेहावस्थितिर्मुनेः ॥ ५३ ॥
dehaśuddhiścātha tena romāñcānandasambhavaḥ |
kramena jāyate'bhyāsād videhāvasthitir muneḥ || 53 ||

Tr. Through the practice, as the body is purified gradually a man enjoys thrill and happiness. Through further practice, a *muni* transcends body consciousness. 53.

मध्ये यज्जठरोरसोः सरसिजं नीचाननं[1] रेचके
प्राणायामविधौ तदूर्ध्ववदनं कृत्वा न्यसेत्तत्र हृत् ॥
तस्यां रविमण्डलं विशयनस्थानं तदूर्ध्वं च विधोः
चक्रं स्वप्रपदं[2] तदूर्ध्वमनलस्यास्ते[3] त्रिकोणं वपुः ॥५४॥

madhye yajjaṭharorasoḥ sarasijaṃ nīcānanaṃ recake
prāṇāyāmavidhau tadūrddhvavadanaṃ kṛtvā nyasettatra hṛt ||

1. नोचाननं –a. 2. स्वप्नपदं –b. 3. तदूर्ध्वमलस्यास्ते –b.

tasyām ravimaṇḍalaṃ viśayanasthānaṃ tadūrdhvaṃ ca vidhoḥ cakraṃ svaprapadaṃ tadūrdhvamanalasyāste trikoṇaṃ vapuḥ 54

Tr. Between the stomach and chest lies the lotus facing downwards. Through the practice of *recaka* in the course of *prāṇāyāma* make it facing upwards and meditate on it. This is the resting abode of the disc of the sun, above which is the location of the *cakra* (disc) of lord *vidhu* (moon), still above which the triangular body of *anala* (the fire) is situated. 54.

तस्योर्ध्वं च तुरीयपञ्चगगनात्मब्रह्मनादं क्रमाद्
ओंकारात्मनि कर्णिकान्तर इयं नाडी सुषुम्णास्त्यसौ[1] ॥
ऊर्ध्वं स्यादखिल[2]मण्डलान्तरगता चोर्ध्वं प्रवृत्ताशुभा[3]
सा चित्तस्य पदं मुनेः प्रभवति ज्ञानं हृदस्तद्गतौ ॥५५॥

tasyordhvaṃ ca turīyapañcagaganātmabrahmanādaṃ kramād
oṃkārātmani karṇikāntara iyaṃ nāḍī suṣumṇāstyasau ॥
ūrdhvaṃ syādakhilamaṇḍalāntaragatā cordhvaṃ pravṛttāśubhā
sā cittasya padaṃ muneḥ prabhavati jñānaṃ hṛdastadgatau ॥55॥

Tr. Above this, the fourth state, five *gaganas*, *ātmā* and *brahmanāda* in this sequence would exist in the self which is of the form of *omkāra* in the center of cornice. This is the *nāḍī suṣumnā*. Above this, at the center of all the *maṇḍalas* lies the holy disposition above, which is the seat of the mind (*citta*) from which wisdom flows down to the heart of a *muni*. 55.

स्फुलिंगो ज्ञानाग्नेरध[4]रतलस्थः प्रणवजात्[5]
क्रमेद्धः कुम्भाग्नेर्[6] युजि विहतदुस्तानवमलः ॥
कणो रत्नस्येव द्युमणिकरसंगेन तुहिनो[7]
व्रजन्तादात्म्येन स्यति जडतमोऽ[8]र्काग्निसहितः ॥५६॥

sphuliṅgo jñānāgneradharatalasthaḥ praṇavajāt
krameddhaḥ kumbhāgner yuji vihatadustānavamalaḥ ॥
kaṇo ratnasyeva dyumaṇikarasaṅgena tuhino
vrajan tādātmyena syati jaḍatamo'rkāgnisahitaḥ ॥ 56 ॥

Tr. Sparkling emanating from the fire of wisdom comes out of the *praṇava* based at the root (*mūlādhāra*), which is

---

1. त्यत्यौ –a. 2. ऊध्वास्या –b. 3. प्रवृत्ताशुभा –a. 4. ज्ञानाग्नेहृदधर –a. 5. प्रणवजा –b. 6. कुम्भाग्ने –b. 7. संगेतत्तुहिनो –a. 8. जरतयो –b.

gradually kindled by the fire of *kumbhaka*, which burns the impurities. Just as the sun removes the dust of a jewel, similarly, with the help of *arka* (sun) and *agni* (fire) stubborn *tamas* (darkness) and frost would be dispelled. 56.

अत एव तु –

ata eva tu—

Therefore—

प्राणायामाद्धि प्रसादः खशुद्धिर्
नाशोऽज्ञानस्योदयो[1] ज्ञानभानोः ॥
वज्रात् पापाद्रेः[2] सुसिद्ध्यम्बुराशे[3]र्
अस्मान् नान्यज् ज्ञानमानं हेतुः ॥ ५७ ॥

prāṇāyāmāddhi prasādaḥ khaśuddhir-
nāśo'jñānasyodayo jñānabhānoḥ ॥
vajrāt pāpādreḥ susiddhyamburāśer-
asmān nānyaj jñānamānam hetuḥ ॥ 57 ॥

Tr. *prāṇāyāma* alone brings about (a state of) poise, purification of the space (*kha*), dispelling ignorance (sin) and revelation of light of wisdom. Just as a thunderbolt would blow off a mountain, similarly, *prāṇāyāma* dissolves mountain of sins. There is no other means to wisdom. 57.

मलक्षये दीप्तिरुपैति साधकं[4] प्रसाद आयाति मनोविशुद्ध्या ।
आयामतोऽपैति समस्तपातकं शान्तिर्जपाद्याति[5] च तारकस्य[6] ॥५८॥

malakṣaye dīptirupaiti sādhakaṃ
prasāda āyāti manoviśuddhyā ॥
āyāmato'paiti samastapātakaṃ
śāntirjapādyāti ca tārakasya ॥ 58 ॥

Tr. On elimination of the impurities, the *sādhaka* gains pacification of the mind. Through *prāṇāyāma* all the sins are removed. One attains Bliss through *japa* of (*tāraka*) *om* . 58.

प्राणायामे जाप्य[7]तारप्रभावान्नष्टे पंके[8] शुद्ध आदर्शतुल्ये ।
चित्ते ज्ञानं ध्येयतादात्म्ययोगाद् भृंगीकीट[9]न्यायवज्ज्ञानशान्ते ॥५९॥

---

1. र्नास्योदयो –b. 2. वज्राण्त्यायादेः –a. 3. सुसिद्धयंऽबुराशे –b. 4. साधनं –a. 5. जंयाद्याति –a. 6. तारस्य –a. 7. नाप्य –b. 8. न्नष्टेंयंके –b. 9. भंगीकीट –b.

prāṇāyāme jāpyatāraprabhāvān-
naṣṭe paṅke śuddha ādarśatulye ||
citte jñānaṃ dhyeyatādātmyayogād
bhṛṅgīkīṭanyāyavajjñānaśānte || 59 ||

Tr. Due to *japa* of *om* in *prāṇāyāma* the impurities are burnt which renders the mind (*citta*) as pure as a mirror. Then arises wisdom through the unification of object of meditation with the meditation itself, which brings out wisdom and Bliss, like the *nyāya* (a popular maxim) of *bhṛṅgī-kīṭa* (like a cocoon turning into a bee). 59.

आयामसंशुद्धहृदि स्थिरेण[1]
प्राणो युतस्तिष्ठति तत्व ईषत् ॥
आयामरुद्धो यमिनस्तदाऽसौ
पीठोत्थितिः[2] किञ्चिदथो विदाऽमृतम्[3] ॥ ६० ॥

āyāmasaṃśuddhahṛdi sthireṇa
prāṇo yutastiṣṭhati tatva īṣat ||
āyāmaruddho yaminastadā'sau
pīṭhotthitiḥ kiñcidatho vidā'mṛtam || 60 ||

Tr. *prāṇāyāma* purifies the heart, thus *prāṇa* becomes stable and pure *tatva* (Self) manifests a little. *prāṇāyāma* moreover, raises the *āsana* a little and the *yogīs* taste the nectar of wisdom. 60.

प्राणायामः स्वीयदेहोऽस्य[4] वायु-
रोधस्तस्य प्रोच्यते योगविद्भिः ॥
एषस्त्रेधाऽस्मात् क्रमात् पूरकुम्भ-
रेचैरन्वर्थाऽभिधानैश्चलस्य ॥ ६१ ॥

prāṇāyāmaḥ svīyadeho'sya vāyu-
rodhastasya procyate yogavidbhiḥ ||
eṣastredhā'smāt kramāt pūrakumbha
recairanvarthā'bhidhānaiścalasya || 61 ||

Tr. According to the experts of *yoga*, *prāṇāyāma* means (control) retention of *vāyu* in one's own body, which is of three types, namely, *pūra*, *kuṃbha* and *reca*, which are veritable (terms) for *prāṇa*. 61.

---
1 हृदास्थिरेण –a. 2. पीठोस्थितिः —b. 3. विदाऽस्मृतं –b. 4. देहोत्थ –b.

करशाखयाऽथ परिपीड्य नासिका-
पुटकं निरुध्य[1] उदरान्त ईरणः ॥
लघु रेच्यते बहिरयं मनीषिभिः
कथितो हि रेचक इति प्रकाशकः ॥ ६२ ॥

karaśākhayā'tha paripīḍya nāsikā-
puṭakaṃ nirudhya udarānta īraṇaḥ ॥
laghu recyate bahirayaṃ manīṣibhiḥ
kathito hi recaka iti prakāśakaḥ ॥ 62 ॥

Tr. One closes the openings of the nose with fingers for holding the *vāyu* inside the cavity followed by sustained drawing out of the air which is known as *recaka* by the adepts. This is illuminating. 62.

समाकर्षयेदब्जनाले च तोयं[2] यथैव मरुद् बाह्य[3] आकृष्यतेन्तः ।
मुखेनायमुक्तो बुधैः पूरकाख्यस्तनुं पूरयेदंघ्रिकेशावधि स्वम्[4] ।६३।

samākarṣayedabjanāle ca toyaṃ
yathaiva marud bāhya ākṛṣyatentaḥ ॥
mukhenāyamukto budhaiḥ pūrakākhyas-
tanuṃ pūrayedaṅghrikeśāvadhi svam ॥ 63 ॥

Tr. Just as water is sucked in through a pipe in the mouth, similarly, one should draw the air in. According to the wise, this is called *pūraka* which fills the entire body. 63.

उच्छ्वासनिःश्वासलयेन यत्र
वायोः सदा बाह्यवहस्य चाऽन्तः ॥
पूर्णाम्बुकुम्भोपमसंस्थितिर्[5] या
लीनेव सोक्तः किल कुम्भकः सः ॥ ६४ ॥

ucchvāsaniḥśvāsalayena yatra
vāyoḥ sadā bāhyavahasya cā'ntaḥ ॥
pūrṇāmbukumbhopamasaṃsthitir yā
līneva soktaḥ kila kumbhakaḥ saḥ ॥ 64 ॥

Tr. External and internal movement of *prāṇa* through inhalation and exhalation is ever suspended, bringing about a state like a filled-up pitcher, one remains poised (merged). This

1. निरुद्ध -b. 2. ततोयं -a. 3. मरुद्बाह्य —a. 4. दंऽघ्रिकेशावधिस्व -b. 5. पूर्णाऽबुकुम्भोयमसंस्थिति -b.

is indeed called *kuṃbhaka*. 64.

प्राणस्त्वपाने विलयं गतो यदा यावत् मनाङ् नाभ्युदितो हृदब्जे[1] ।
सा योगिभिः कुम्भदशानुभूयते तावत्समाधिप्रवणैर्मनोज्ञा ॥ ६५ ॥

prāṇastvapāne vilayaṃ gato yadā
yāvat manāṅ nābhyudito hṛdabje ॥
sā yogibhiḥ kumbhadaśānubhūyate
tāvatsamādhipravaṇairmanojñā ॥ 65 ॥

Tr. *prāṇa* gets merged in *apāna*, until it does not resume in the lotus of the heart. Then a *yogī* experiences the state of *kuṃbhaka* which results in the advanced and Blissful state of *samādhi*. 65.

योगचन्द्रिकायाम् —

yogacandrikāyām —

It is said in *yogacandrikā*—

अपानेऽस्तं गते प्राणो यावन् नाभ्युदितो हृदि ।
तावत् सा कुम्भकावस्था योगिभिर्यानुभूयते ॥ ६६ ॥

apāne'staṃ gate prāṇo yāvan nābhyudito hṛdi ।
tāvat sā kumbhakāvasthā yogibhiryānubhūyate ॥ 66 ॥

Tr. So long as *prāṇa* does not get merged in *apāna*, the *prāṇavāyu* does not enter the heart, which is its own abode, the state of *kuṃbhaka* is not experienced by the *yogīs*. 66.

यावन् प्राणवायुः हृदि न अभ्युदितः हृदिस्थो न भवति; ऊर्ध्वं तिष्ठति; स्वस्थानस्थो न भवति यावत् तावत् न कुम्भकावस्था भवति । या अवस्था योगिभिः अनुभूयते क्रियते ॥ ६७ ॥

yāvan prāṇavāyuḥ hṛdi na abhyuditaḥ hṛdistho na bhavati ; ūrdhvaṃ tiṣṭhati ; svasthānastho na bhavati yāvat tāvat na kumbhakāvasthā bhavati । *yā avasthā yogibhiḥ anubhūyate kriyate* ॥ 67 ॥

Tr. So long as *prāṇavāyu* does not get established in the heart, which is its own abode, it is not considered the state of *kuṃbhaka*. Such a state is experienced by the *yogīs*. 67.

अनयैव योगसिद्धिः । क्व सति ? अपाने अपानवायौ । अस्तं गते

1. हृदऽत्वे - b.

सति । अपानव्यापारे अधोगमननिवृत्तौ । प्राणापानयोरैक्ये सतीत्यर्थः[1] ॥६८॥

anayaiva yogasiddhiḥ । kva sati ? apāne apānavāyau । astaṃ gate sati । apānavyāpāre adhogamananivṛttau । prāṇāpānayoraikye satītyarthaḥ ॥ 68 ॥

Tr. This heralds the success in *yoga*. How? *apānavāyu* gets subsided, which otherwise has a downward tendency, and is virtually stopped bringing in unification of *prāṇa* and *apāna*. 68.

बहिः प्राणवायौ गतेऽस्तं समस्ते
न यावत् सखे[2] दृश्यते अपानजन्म ॥
अवस्था समा अखण्डिता[3] तावदेषा
बहिष्ठं बुधाः कुम्भकं संगिरन्ते ॥ ६९ ॥

bahiḥ prāṇavāyau gate'staṃ samaste
na yāvat sakhe dṛśyate apānajanma ॥
avasthā samā akhaṇḍitā tāvadeṣā
bahiṣṭhaṃ budhāḥ kumbhakaṃ saṅgirante ॥69॥

Tr. O dear! *prāṇa* too becomes completely suspended. Moreover, activity of *apāna* is also suspended. A sustained state of equanimity for long supervenes which is eulogized as *bahiṣṭha* (external) *kumbhaka* by the experts. 69.

बहिरस्तं गते प्राणे यावन्नापान[4] उद्गतः ।
तावत् पूरसमावस्थं बहिष्ठं कुम्भकं विदुः ॥ ७० ॥

bahirastaṃ gate prāṇe yāvannāpāna udgataḥ ।
tāvat pūrasamāvasthaṃ bahiṣṭhaṃ kumbhakaṃ viduḥ॥70॥

Tr. So long as the external movement of *prāṇa* is suspended and *apāna* does not move upwards there supervenes a state of equilibrium which is known as *bahiṣṭha* (external) *kumbhaka* by the *yogīs*. 70.

यावद् बाह्ये प्राणे प्राणवायौ अस्तंगते बहिर्गमनव्यापारनिवृत्तौ अपानोऽपानवायुर्न उद्गतः ऊर्ध्वं न प्राप्तस्तावद् बहिष्ठं कुम्भकं विदुर्जानन्ति योगिनः ॥ ७१ ॥

yāvad bāhye prāṇe prāṇavāyau astaṅgate

---

1. सतीर्थर्थः —b. 2. सुखे –b. 3. समाखण्डिता –b. 4. यावन्नाणन –b.

bahirgamanavyāpāranivṛttau apāno'pānavāyurna udgataḥ ūrdhvaṃ na prāptastāvad bahiṣṭhaṃ kumbhakaṃ vidurjānanti yoginaḥ ॥ 71 ॥

Tr. So long as *prāṇavāyu* does not stop moving outwards and *apānavāyu* does not reach the abode above, it is called *bahiṣṭha* (external) *kumbhaka* by the experts. 71.

किं विशिष्टम् ? पूर्णसमावस्थम् । पूर्णसमा निश्चला अवस्था यस्य तम् । रते न यत्र प्राणापानयोरैक्यं नास्ति । प्राणे बहिर्व्यापार[1]निवृत्तौ अपानः स्वव्यापारपरः । स बहिष्ठः कुम्भको ज्ञेय इति ॥ ७२ ॥

kiṃ viśiṣṭam ? pūrṇasamāvastham । *pūrṇasamā niścalā avasthā yasya tam* । *rate na yatra prāṇāpānayoraikyaṃ nāsti* । *prāṇe bahirgamananivṛttau apānaḥ svavyāpāraparaḥ* । *sa bahiṣṭhaḥ kumbhako jñeya iti* ॥ 72 ॥

Tr. How this (external *kumbhaka*) is recognized? One experiences a state of undisturbed fullness, which does not happen without unification of *prāṇa* and *apāna*. External *kumbhaka* means – *prāṇa* stops moving out and *apāna* is engaged in its own activity (downward movements). This is called *bahiṣṭha* (external) *kumbhaka*. 72.

स्वभावसिद्धिः किल रेचको हृदो निगृह्य नासाग्रकसंमुखे नुः[2] ।
समाप्यतेऽर्कांगुलकावधि स्वयं श्वासः स चाभ्यामुपैति नाभिम् ॥७३॥

svabhāvasiddhiḥ kila recako hṛdo
nigṛhya nāsāgrakasammukhe nuḥ ॥
samāpyate'rkāṅgulakāvadhi svayaṃ
śvāsaḥ sa cābhyāmupaiti nābhim ॥ 73 ॥

Tr. In natural *recaka*, *prāṅa* moves from the chest and goes upto twelve digits through the nose, while (natural) *prāṅa* (breathing) moves in through the nostrils and reaches upto the navel. 73.

आधारतो याति बहिर्जिनांगुला२४-
वधौ[3] त्रिषट्स्वांगुलकावधौ स्वम् ॥
लयं प्रयत्नातिशये तु नाभि-
कादिदेशसंक्षोभभरेण चाऽन्तः ॥ ७४ ॥

---

1. वहिव्यापार –b. 2. संमुखेनः —b. 3. ऽवधौ –a.

ādhārato yāti bahirjināṅgulā24-
vadhau triṣaṭsvāṅgulakāvadhau svam ॥
layaṃ prayatnātiśaye tu nābhi-
kādideśasaṃkṣobhabhareṇa cā'ntaḥ ॥ 74 ॥

Tr. The (*prāṇavāyu*) moves out from the *ādhāra* upto 24 digits or 18 digits. When with great effort *prāṇa* is stirred at the navel etc., it gets merged internally. 74.

निश्चेतुमस्मिन्नहि शक्यमस्ति धृत्वा बहिः सूक्ष्मतलं तदीयम् ।
तच्चालनेनातिसुबुद्धिना स्वं मनीषिणा निश्चयसाद्विधेयम् ॥७५॥

niścetumasminnahi śakyamasti
dhṛtvā bahiḥ sūkṣmatalaṃ tadīyam ॥
taccālanenātisubuddhinā svaṃ
manīṣiṇā niścayasādvidheyam ॥ 75 ॥

Tr. How long one should hold the external air which is very subtle, is difficult to decide. A wise should firmly judge the movement with sharp intelligence. 75.

त्रिभिर्विशेषकं योगचन्द्रिकायाम् —

tribhirviśeṣakaṃ yogacandrikāyām —

In the three special verses quoted above *yogacandrikā* has explained—

द्वादशांगुलपर्यन्तं बाह्यमाक्रमतां गतः ।
प्राणानामंग[1]संस्पर्शो यः स पूरक उच्यते ॥ ७६ ॥

dvādaśāṅgulaparyantaṃ bāhyamākramatāṃ gataḥ ।
prāṇānāmaṅgasaṃsparśo yaḥ sa pūraka ucyate ॥ 76 ॥

Tr. When *prāṇa* moves inside coming from outside upto 12 digits and touches inside (the nose), it is called *pūraka*. 76.

बाह्यं बहिः । आक्रमतां गच्छताम् । द्वादशांगुल[2]परिमितं प्राणवायूनाम् । तस्मात् द्वादशांगुलावधेः समाहृत्य[3] अंगस्पर्शोऽभ्यन्तरप्रवेशस्तत्परिमाणं पूरकः कथ्यते ॥ ७७ ॥

bāhyaṃ bahiḥ । *ākramatāṃ gacchatāṃ* । *dvādaśāṅgulaparimitaṃ prāṇavāyūnām* । *tasmāt*

1. प्राणानाऽयंग –b. 2. गुण –b. 3. समाहृत्य –b.

dvādaśāṅgulāvadhaiḥ samāhṛtya aṅgasparśo'bhyantara-praveśastatparimāṇaṃ pūrakaḥ kathyate ॥ 77 ॥

Tr. *bāhya* stands for external. *ākrāmatāṃ* — moving. Twelve digits for the *prāṇavāyus*. From 12 digits (*prāṇa*) gets in the body by causing a touch in organs which is considered *pūraka*. 77.

बाह्यात्परा पतत्यन्तरा याते यत्नवर्जितः । योगप्रपूरणः स्पर्शो विदुः । तमपि पूरकं बाह्याद् बाह्यदेशादभ्यन्तरे द्वादशांगुलपर्यन्तमूर्ध्वे परा पतति[1] गच्छति प्राणवायुः । तं पूरकं विदुः ॥ ७८ ॥

bāhyātparā patatyantarā yāte yatnavarjitaḥ । yogaprapūraṇaḥ sparśo viduḥ । tamapi pūrakaṃ bāhyadeśādabhyantare dvādaśāṅgulaparyantamūrdhve parā patati gacchati prāṇavāyuḥ । taṃ pūrakaṃ viduḥ ॥ 78 ॥

Tr. From outside it (*prāṇa*) moves in effortlessly. *sparśa* is known as filling (of air) according to *yogic* technique. That *pūraka* too is felt from outside to inside upto twelve digits above by the movement of *prāṇavāyu*. This is called *pūraka*. 78.

अपाने यत्नवर्जितः बहिर्गमने निवृत्तः । ऊर्ध्वं गमने सम्पन्नः वायुः । एवं पुनः योगेन ऊर्ध्वाकर्षणेन । पूरितशरीरः पुनः स्पर्शः स्पर्शगुण इति । द्वादशांगुलपर्यन्तेनास्याग्रे[2] समसंमुखे नित्यमपानस्य । तं विदुः पूरकं बुधः ॥ ७९ ॥

apāne yatnavarjitaḥ bahirgamane nivṛttaḥ । ūrdhvaṃ gamane sampannaḥ vāyuḥ । evaṃ punaḥ yogena ūrdhvākarṣaṇena । pūritaśarīraḥ punaḥ sparśaḥ sparśaguṇa iti । dvādaśāṅgulaparyantenāsyāgre samasammukhe nityamapānasya । taṃ viduḥ pūrakaṃ budhaḥ ॥ 79 ॥

Tr. *apāna* effortlessly stops moving outwardly. That is, the *vāyu* moves upwards. When filled inside it generates (a sensation) of touch. Twelve digits from the nose in the space is always the location of *apāna*. The wise knows this as *pūraka*. 79.

---

1. परायतति –b. 2. नासाग्रे –b.

अपानस्य अधो गच्छतः द्वादशांगुलपर्यन्ते । व्योम्नि[1] आकाशे ब्रह्माण्डे प्रापयेद् योगी । किंविशिष्टे व्योम्नि ? नासाग्रसंमुखे इति ।८०।

apānasya adho gacchataḥ dvādaśāṅgulaparyante । vyomni ākāśe brahmāṇḍe prāpayed yogī । kiṃviśiṣṭe vyomni ? nāsāgrasammukhe iti ॥ 80 ॥

Tr. *apāna* always moves downwards upto twelve digits in the space. *ākāśa*—is the *brahmarandhra* a *yogī* should take it upto. What is the characteristic of that space? Away from the nose in front. 80.

सेयं देशपरीक्षा ॥

seyaṃ deśaparīkṣā ॥

This is the examination of the location *(deśa).*

प्रणवस्यावृत्तयो यादृश[2]विंशतिकादिकाः ।
रेचादिकाले ज्ञैः कालपरीक्षोक्ता क्षणादिके ॥ ८१ ॥

praṇavasyāvṛttayo yādṛśaviṃśatikādikāḥ ।
recādikāle jñaiḥ kālaparīkṣoktā kṣaṇādike ॥ 81 ॥

Tr. Recitation of *praṇava* for 20 times while exhaling etc. is known as the time units or moments *(kṣaṇa)* by the experts. 81.

सेयं कालपरीक्षा ॥

seyaṃ kālaparīkṣā ॥

This is the measure of *kāla*.

प्रतिदिनमपि मासेऽस्मिन् दशागामि मासि
इत्यथ[3] नख२०मितसंख्या उत्तरे मासि चैवम् ॥
तदनु च परमासे त्रिंशदुक्ता३० क्रमेण
मुनिभिरिति ह सेयं योगसंख्यापरीक्षा ॥ ८२ ॥

pratidinamapi māse'smin daśāgāmi māsi
ityatha nakha20mitasaṅkhyā uttare māsi caivam ॥
tadanu ca paramāse triṃśaduktā30 krameṇa
munibhiriti ha seyaṃ yogasaṅkhyāparīkṣā ॥ 82 ॥

Tr. One should practise daily ten rounds in the first month, twenty in the second month and thirty in the third month

1. व्योम्निद्वादशांगुलपर्यन्ते –b. 2. यादश –b. 3. दशागामिमासीत्यथ –b.

as prescribed by the *munis*. This is the criterion of number. 82.

अनादृत्य[1] देशं च कालं च संख्यां
तथा रेचकं पूरकं योऽस्यऽखण्डः ॥
दृढाऽभ्यासजः केवलः कुम्भकोऽयं
चतुर्थश्चिरं संस्थितिः सिद्धिबीजम् ॥ ८३ ॥

anādṛtya deśaṃ ca kālaṃ ca saṅkhyāṃ
tathā recakaṃ pūrakaṃ yo'sya'khaṇḍaḥ ॥
dṛḍhā'bhyāsajaḥ kevalaḥ kumbhako'yaṃ
caturthaściraṃ saṃsthitiḥ siddhibījam ॥ 83 ॥

Tr. Irrespective of any consideration of *deśa* (place of practice), *kāla* (time), *saṅkhyā* (number), and *recaka* or *pūraka*, a consistent and firm practice is the fourth *kumbhaka* known as *kevala* which brings about *siddhis* in the long run. 83.

अथ उद्घातलक्षणम्[2] –

atha udghātalakṣaṇam –

The characteristic of *udghāta*—

पूर्णः कर्षन् प्राणवायुस्त्वपानं
पादांगुष्ठान् मूलतो वापि नाभेः ॥
आकण्ठं हृत्खात्[3] प्रयात्येव
त्वय्यपैतीन्युद्घातोऽयं[4] योगिभिः सम्प्रदिष्टः ॥८४॥

pūrṇaḥ karṣan prāṇavāyustvapānaṃ
pādāṅguṣṭhān mūlato vāpi nābheḥ ॥
ākaṇṭham hṛtkhāt prayātyeva
tvayyapaitīnyudghāto'yaṃ yogibhiḥ sampradiṣṭaḥ ॥84॥

Tr. When one takes *prāṇa* along with *apāna* from the toes, anus, navel, chest upto the throat, it is called *udghāta* by the *yogīs*. 84.

आरम्भ एषो लघुरर्क१२मात्रः
स्वेदं च कम्पं द्विगुणश्च[5]२४ मध्यः[6] ॥
श्रेष्ठस्त्रिरुद्घात[7] आसनं खं[8]
धत्ते स षट्त्रिंशतिमात्रकोऽनुः ॥ ८५ ॥

1. अनादत्य –b. 2. उड्यानलेक्षणं –b. 3. हृत्तुस्वात् —b. 4. पयात्वेवत्पप्यायैत्तीत्युद्धानोऽयं –b. 5. द्विगुणश्च –a. 6. सध्यः –b. 7. श्रेष्टिस्त्रिरुद्घान –b. 8. रवे –b.

ārambha eṣo laghurarka12mātraḥ
svedaṃ ca kampaṃ dviguṇaśca24 madhyaḥ ।
śreṣṭhastrirudghāta āsanaṃ khaṃ
dhatte sa ṣaṭtriṃśatimātrako'nuḥ ॥ 85 ॥

Tr. The initial (*udghāta*) is a minor one of 12 *mātrās* (time units) wherein one experiences perspiration. The intermediate one is of double (that of the minor one) having 24 *mātrās* which causes tremors. The supreme *udghāta* is the third one comprising 36 *mātrās* wherein one experiences levitation in an *āsana*. 85.

नाडीविशुद्ध्यन्तर[1]मच्छगंधिरारम्भके प्राकृत एति घर्मः ।
नाडीविशुद्ध्यन्तर उग्रगन्धिः श्रमाद् भवेद् वैकृतघर्म एषः ॥८६॥

nāḍīviśuddhyantaramacchagandhir-
ārambhake prākṛta eti gharmaḥ ॥
nāḍīviśuddhyantara ugragandhiḥ
śramād bhaved vaikṛtagharma eṣaḥ ॥ 86 ॥

Tr. In the initial phase of *nāḍīviśuddhi*, the perspiration which has an agreeable smell is *prākṛta*. With the *vaikṛta* (unnatural) kind of perspiration during *nāḍīśuddhi* there is a strong smell due to exertion. 86.

अभ्यस्यते पूरककुम्भरेचत्रयं[2] तु कालेन च संख्यया धृतम् ।
देशेन तत् सम्भवति क्रमेण स दीर्घसूक्ष्माभिधमाशुगोत्थम्[3] ॥८७॥

abhyasyate pūrakakumbharecatra-
yaṃ tu kālena ca saṅkhyayā dhṛtam ॥
deśena tat sambhavati kramena
sa dīrghasūkṣmābhidhamāśugottham ॥ 87 ॥

Tr. One who practises *pūraka*, *kumbhaka* and *recaka* adhering to (prescribed) *kāla* (time), *saṃkhyā* (ratio) and *deśa* (place), would gradually experience prolonged and subtle *kumbhaka* and levitation. 87.

पिपीलिकास्पर्शसमानुमानात् स्पर्शेन चापादतलोत्तमांगम् ।
अभ्यन्तरं बाह्यवदीषिकाभः सूक्ष्मो निरुद्धोऽनिल आवृणोति ॥८८॥

1. विशुद्धान्तर -b. 2. कुम्भरेचकोयं –a. 3. सूक्ष्माभिधमाशु गोप्त्यं –b.

pipīlikāsparśasamānumānāt
sparśena cāpādatalottamāṅgam ||
abhyantaraṃ bāhyavadīṣikābhaḥ
sūkṣmo niruddho'nila āvṛṇoti || 88 ||

Tr. Moreover, one experiences a creeping of an ant from feet upto the head and like the pricking sensation internally and externally which signifies that the subtle *prāṇa* has been retained (*kuṃbhaka*). 88.

तप्तोपल[1]न्यस्तजलं विशुष्यद्विष्वग्पथा यात्यऽविकासमेवम् ।
रुद्धक्रियः संवहनक्रियोऽयं मरुत्तनौ तिष्ठति सूक्ष्मभूतः ॥ ८९ ॥

taptopalanyastajalaṃ viśuṣyad-
viṣvagpathā yātya'vikāsamevam ||
ruddhakriyaḥ saṃvahanakriyo'yaṃ
maruttanau tiṣṭhati sūkṣmabhūtaḥ || 89 ||

Tr. Just as water when poured on hot stone though disappears, remains in the space, similarly, *prāṇa* which replenishes the body, when retained remains in the body in a subtle form. 89.

पूर[2]रेचकविधावखिलांगे तूलकैषिकलवाणुवाहभाक्[3] ।
स्पर्शनिश्चयविकल्पविद्यदाज्ञेयमेत्यणु तदा मरुन्मनः ॥ ९० ॥

pūrarecakavidhāvakhilāṅge
tūlakaiṣikalavāṇuvāhabhāk ||
sparśaniścayavikalpavidyad-
ājñeyametyaṇū tadā marunmanaḥ || 90 ||

Tr. Practice of *pūraka, recaka* renders the body as light as a bud of cotton. When *prāṇa* and mind become subtle a wise can only feel them through sensation alone. 90.

यथा यथा सौक्ष्म्यमुपैति[4] वायुस्पन्दस्तु संरोधनतोऽस्तवेगः ।
प्रापञ्चिकेभ्यो विषयेभ्य एति मनोऽणुतामस्तमलं तथाऽस्तम् ॥९१॥

yathā yathā saukṣmyamupaiti vāyu-
spandastu saṃrodhanato'stavegaḥ ||
prāpañcikebhyo viṣayebhya eti
mano'ṇutāmastamalaṃ tathā'stam || 91 ||

1. तमोपल –b. 2. पूरे –a. 3. लवाहभाक् —a. 4. सौक्ष्म्यामुपैति –b.

Tr. As the movement of *prāṇa* becomes gradually subtle through retention (*kumbhaka*) it becomes less active, the mind withdraws from the mundane objects and having been pacified it becomes subtle and inactive. 91.

प्राणस्पन्दश्चित्तरूपं वदन्ति तस्मात्सर्वो विभ्रमोऽयं भवस्य ।
तस्मिन् याते शान्तिभावं नराणां संक्षीयन्ते घोरसंसारतापाः ॥९२॥

prāṇaspandaścittarūpaṃ vadanti
tasmāt sarvo vibhramo'yaṃ bhavasya ॥
tasmin yāte śāntibhāvaṃ narāṇāṃ
saṃkṣīyante ghorasaṃsāratāpāḥ ॥ 92 ॥

Tr. Movement of *prāṇa* is considered as the very expression of *citta*. That is the cause of all this illusion of the world. When this is removed, the men attain peace. That annihilates the extremely awful worldly sufferings. 92.

प्राणादिभिः संविजितैर् मनीषी पृथ्व्यादितत्वं[1] च जयेदजेयम् ।
जितैरमीभिर्भवति प्रकामं सर्वज्ञ ईड्यो भुवि योगिवर्यः ॥९३॥

prāṇādibhiḥ saṁvijitair manīṣī
pṛthvyāditatvaṃ ca jayedajeyam ॥
jitairamībhir bhavati prakāmaṃ
sarvajña īḍyo bhuvi yogivaryaḥ ॥ 93 ॥

Tr. By gaining control over *prāṇa* etc. a wise even gains control over the *tatvas* like *pṛthvī* etc. which are otherwise difficult to control. Gaining such control, one becomes fulfilled, omniscient and is respected as a great *yogī* on this earth. 93.

प्राणापानसमायोगस्त्वधोर्ध्वाकृष्टयोर्मिथः ।
हृद्ग्रन्थिः कुम्भमूलाभ्यां प्राणायामः स ईरितः ॥ ९४ ॥

prāṇāpānasamāyogastvadhordhvākṛṣṭayormithaḥ ।
hṛdgranthiḥ kumbhamūlābhyāṃ prāṇāyāmaḥ sa īritaḥ ।94।

Tr. Unification of *prāṇa* and *apāna* is done at *hṛdgranthi* by pulling them together upwards and downwards through *kumbhaka* and *mūlabandha*. This is called *prāṇāyāma*. 94.

---

1. पृष्टव्यादितच्चं –b.

उदयास्तमेनं मिथो जयाजयतो[1] वै घटनामवाप्य स्वस्मिन् ।
ग्रसतस्तु मिथोऽम्बुभूकलानटवत् प्राण इनो ऋजुता[2]मुपैति ॥९५॥

udayāstamenaṃ mitho jayājayato
vai ghaṭanāmavāpya svasmin ॥
grasatastu mitho'mbubhūkalānaṭavat
prāṇa ino ṛjutāmupaiti ॥ 95 ॥

Tr. The alternate rise (inhalation) and fall (exhalation) of *prāṇa* which takes place in the body is overcome. Just as an actor removes his assumed role, similarly, powerful *prāṇa* overcoming water and earth elements becomes straight. 95.

मुनेः परस्परापानप्राणास्तोदयकुम्भकः ।
रेचपूरकवान् ग्रन्थिरूपो हृदि जडात्मकः ॥ ९६ ॥

muneḥ parasparāpānaprāṇāstodayakumbhakaḥ ।
recapūrakavān granthirūpo hṛdi jaḍātmakaḥ ॥ 96 ॥

Tr. A *muni* practising *recaka* and *pūraka* experiences cecession of *apāna* and *prāṇa* resulting in (the state of) *kuṃbhaka* in the heart giving an experience of serenity. 96.

प्राणो बाह्याभ्रोन्मुखोऽग्निर् हृद[3]भ्रोन्मुखगः शशी ।
अपानेनाप्यसौ ग्रन्थिकुम्भोऽग्निरिव वर्धते ॥ ९७ ॥

prāṇo bāhyābhronmukho'gnir hṛdabhronmukhagaḥ śaśī
apānenāpyasau granthikumbho'gniriva vardhate ॥ 97 ॥

Tr. *prāṇa* going outside is in the form of *agni* (fire) while going inside it is in the form of moon. With *apāna*, the *kumbhaka* enhances like fire. 97.

आप्यायत्येष[4] शशी शरीरं बाह्याद्रविः[5] प्राण इहान्नमान्तरम् ।
हृद्व्योम सन्ताप्य[6] पचत्यभीक्ष्णमुष्णो[7] मुखाद्यात्यनुशीतगुस्तु ॥
इति ॥ ९८ ॥

āpyāyatyeṣa śaśī śarīraṃ
bāhyādraviḥ prāṇa ihānnamāntaram ॥
hṛdvyoma santāpya pacatyabhīkṣṇam-
uṣṇo mukhādyātyanuśītagustu ॥ *iti* ॥ 98 ॥

---

1. न याजयतो -a. 2. इनोऽब्जता -b. 3. हृदः —b. 4. आपायत्येष -b. 5. बाह्याद्रदिः -b. 6. हृद्व्योसन्ताप्य -a. 7. पवत्यऽभीक्ष्णमुष्मो -b.

Tr. The moon replenishes the body, the sun does this from outside, while *prāṇa* which is hot assimilates the food inside by heating up the internal cavity continuously. The moon *(śītagu*— which has cool rays) always moves out of the body all the time. 98.

अपानसारांशमलव्यपाये स्वयं चिदर्को हृदि जीव आत्मा ।
पृथिव्यादितत्वौघजयाय तत्ताभूताशुगादेर्विजये[1] प्रयत्नः ॥९९॥

apānasārāṃśamalavyapāye
svayaṃ cidarko hṛdi jīva ātmā ॥
pṛthivyāditatvaughajayāya
tattābhūtāśugāder vijaye prayatnaḥ ॥ 99 ॥

Tr. When all the impurities of *apāna* (are removed) the sun that is pure consciousness residing in the heart in the form of *jīva* which is *ātmā* itself, puts effort to gain quick control over the host of *tatvas* like *pṛthvī* etc. 99.

देहे प्राणापानयोर् ग्रन्थिवाहो नित्यं शीतोष्णात्मकश्चाविरास्ते ।
जाड्याधिक्यात्[2] तामसोऽज्ञानरूपेन्द्वात्माऽर्कस्याहर्निशं[3] भ्रामणेन ॥१००॥

dehe prāṇāpānayor granthivāho
nityaṃ śītoṣṇātmakaścāvirāste ॥
jāḍyādhikyāt tāmaso'jñāna-rūpe-
ndvātmā'rkasyāharniśaṃ bhrāmaṇena ॥100॥

Tr. In the body *prāṇa* and *apāna* work together evidently in the form of heat and cold, due to enhanced inertia darkness (*tāmasa*) of ignorance is produced in the form of *indu*. *ātmā* in the form of sun *(prāṇa)* moves in the body day and night. 100.

चित्तत्वांशैः पञ्चभूतैः सदैति नासायाः[4] स्वं स्वस्वतत्वांशयोगे ।
हृत्पद्मान्तश्चित्तजीवाभियोगं प्राणो विज्जाड्याऽनुरूपक्रियावान् ।१०१।

cittatvāṃśaiḥ pañcabhūtaiḥ sadaiti
nāsāyāḥ svaṃ svasvatatvāṃśayoge ॥
hṛtpadmāntaścittajīvābhiyogaṃ
prāṇo vijjāḍyā'nurūpakriyāvān ॥ 101 ॥

Tr. The five elements are in fact the part of *cit*

---

1. तताभूताशुगादेविं जपे –b. 2. जाग्राधिक्या –b. 3. कस्याऽहर्निशं –b. 4. नास्याय्याः —a.

(consciousness) which always moves through the nose with the dominance of their respective elements. The unification of *citta* and *jīva* takes place in the lotus of the heart while *prāṇa* functions according to the nature of conscious and inert state. 101.

घटान्तं तमोग्रन्थिमान्[1] चित्तवाय्वोरहंकार[2]जीवत्ववर्मात्मनोऽतः ।
क्रियादौ मनो भूर्यऽविद्यानिशान्तं ततो रोधनं प्राङ्ग् भूरीष्टमस्य १०२

ghaṭāntaṃ tamogranthimān citta-vāyvor-
ahaṅkārajīvatvavarmātmano'taḥ ॥
kriyādau mano bhūrya'vidyāniśāntaṃ
tato rodhanaṃ prāṅ bhūriṣṭamasya ॥ 102 ॥

Tr. The entire form of *ghaṭa* (body) is dominated by *tamasa* which envelops even the functioning of *citta, prāṇa, ahaṅkāra* (ego) and *jīva*, the embodied soul, which conceal its (true) form. Mind is entirely covered by *avidyā*. Therefore, one must control these well in the beginning of the practice itself. 102.

प्राणे[3] तमोगुणमयेऽभ्यसनं पुराणैः
पथ्यं तमोपहरसत्वगुणं प्रदिष्टम् ॥
शिक्षागुरोः कलुषकर्मविवर्जनं च
चित्तप्रसादकमजाड्यकरं पवित्रम् ॥ १०३ ॥

prāṇe tamoguṇamaye'bhyasanaṃ purāṇaiḥ
pathyaṃ tamopaharasatvaguṇaṃ pradiṣṭam ॥
śikṣāguroḥ kaluṣakarmavivarjanaṃ ca
cittaprasādakamajāḍyakaraṃ pavitram ॥ 103 ॥

Tr. According to the ancients, when the *prāṇa* is enveloped in *tamoguṇa* (inertia), one should indulge in consumption of recommended food which removes inertia (*tamas*) and enhances *ṣatva*. The guidance of a *guru* is helpful in removal of sinful activities, pacification of the *citta*, removal of inertia and (bringing in) purity. 103.

निमित्तकारणं पीठमुद्रानाडीमलक्षये ।
शक्तिबोधाद[4]चिन्तोक्त उपादानं हि कुम्भकः ॥ १०४ ॥

1. मान –b. 2. गृहंकार –b. 3. प्त्ताणे –a. 4. बोधद –a.

nimittakāraṇaṃ pīṭhamudrānāḍīmalakṣaye ।
śaktibodhādacintokta upādānaṃ hi kumbhakaḥ ॥ 104 ॥

Tr. Removal of impurities in the *nāḍīs* through *pīṭha* (*āsana*) and *mudrā* forms the efficient cause. *kumbhaka* becomes instrumental in arousal of *śakti* leading to thoughtless state. 104.

वा –

vā —

Or else—

प्राणायाम उपादानं मलजिद्वायुहृज्जये ॥ १०५ ॥

prāṇāyāma upādānaṃ malajidvāyuhṛjjaye ॥ 105 ॥

Tr. *prāṇāyāma* acts as an efficient cause in removal of impurities and gaining control over *vāyu* and *hṛt* (heart). 105.

नाभेर्न्यक् प्राणवायोः पदमवनिरसौ तामसक्ष्मांशकोऽस्मात्[1]
स्तोकः स्रष्टुः पदत्वा[2]दधिकलवरजः स्वीयगौणांश आभ्याम् ॥
रागोऽस्मिन्नेधतेऽलं भवविषयपदे द्वेषमिश्रौ जनोऽतः
प्राधान्येन प्रपञ्चे मन इति सततं[3] रेचपूरौ दधाति ॥ १०६ ॥

nābhernyak prāṇavāyoḥ padamavanirasau tāmasakṣmāṃ śako'smāt
stokaḥ srasṭuḥ padatvādadhikalavarajaḥ svīyagauṇāṃśa ābhyāṃ ॥
rāgo'sminedhate'laṃ bhavaviṣayapade dveṣamiśrau jano'taḥ
prādhānyena prapañce mana iti satataṃ recapūrau dadhāti ॥ 106 ॥

Tr. *prāṇavāyu* located below the navel is also the location of the earth element which has *tāmasika* quality in parts. This is the abode of *brahmā* which due to these two *prāṇa* and *avani* (earth element) has some influence of *rajas* which is its secondary quality. In this abode of mundane world people are effected by attachment and aversion, therefore, the mind mainly remains involved in worldly affairs and continuously inhales and exhales. 106.

---

1. तामसक्ष्म्यांऽशकोऽस्मात् —b. 2. सुष्टुपदत्वात् —b. 3. पतत –a.

लयेऽनयोर्दुर्मलवाहयोर्मुनेः स्यात्कुम्भकः केवल इष्टसिद्धिदः ।
यस्योद्गमे सिद्धिभिरादृतः स्वं योगी स भोगैरमृतं प्रयाति ।१०७।

laye'nayordurmalavāhayormuneḥ
syātkumbhakaḥ kevala iṣṭasiddhidaḥ ॥
yasyodgame siddhibhirādṛtaḥ svaṃ
yogī sa bhogairamṛtaṃ prayāti ॥ 107 ॥

Tr. By merging these two, which carry morbidities, *kevala-kuṃbhaka* takes place which brings desired success. Arousal of this (*kevala kumbhaka*) brings about host of success and the *yogī* attains immortality through worldly enjoyments. 107.

ऊर्ध्वं स्वनाभे हृदयान्तमेवं विष्णोः पदं सत्वपतेर्निशान्तम्[1] ।
दधाति तत्केवलकुम्भकं चित्सिद्धिप्रदं[2] प्राणलयेन नाड्याम् १०८

ūrdhvaṃ svanābhe hṛdayāntamevaṃ
viṣṇoḥ padaṃ satvapaterniśāntam ॥
dadhāti tatkevalakumbhakaṃ cit-
siddhipradaṃ prāṇalayena nāḍyām ॥ 108 ॥

Tr. The region of *viṣṇu* extends from navel to the heart, who rules over the abode of *satva* (Self). *kevala-kuṃbhaka* results into attainment of the conscious state on merging of *prāṇa* in the *nāḍī (suṣumnā)*. 108.

नाभिः पूरकधाम सावधि विधेः स्थानं तथा केवला-
ख्यस्योक्तं किल कुम्भकस्य हृदयं सत्वेशविष्णोः पदम् ॥
भ्रन्तो मृत्युहरस्य रेचकपदं संहारकर्त्तुः परं
स्थानं भूतपतेरहंकृतितमो विक्षिप्तचित्तान्तकृत्[3] ॥१०९॥

nābhiḥ pūrakadhāma sāvadhi vidheḥ sthānaṃ tathā kevalā-
khyasyoktaṃ kila kumbhakasya hṛdayaṃ satveśaviṣṇoḥ padam
bhrvanto mṛtyuharasya recakapadaṃ saṃhārakartuḥ paraṃ
sthānaṃ bhūtapaterahaṃkṛtitamo vikṣiptacittāntakṛt ॥ 109 ॥

Tr. It is said that upto navel is the abode of *vidhi* (*brahmā*) where *pūraka* takes place. The heart is the abode of *viṣṇu* who is the lord of *satva*, and is also the place of *kevala kumbhaka*. In the middle of the eyebrows which is the abode of

---

1. निंशातं –a. 2. विंत्सिद्धिप्रदं –b. 3. चित्तातकृत –a.

śiva is the place of *recaka*. The abode beyond is the place of the lord of the *bhūtas* who eliminates all the thoughts from the mind. 109.

प्राणवह्न्योः[1] स्थितिग्रन्थिभेदे भवेन्
नाद[2] आदौ ततो ब्रह्मनाड्यन्तरे ॥
स्याद् घनोऽनाहतः संयुजोः[3] केवले
चोत्तमः संयमे वासनो[4]त्थानतः ॥ ११० ॥

prāṇavahnyoḥ sthitigranthibhede bhaven-
nāda ādau tato brahmanāḍyantare ॥
syād ghano'nāhataḥ saṃyujoḥ kevale
cottamaḥ saṃyame vāsanotthānataḥ ॥ 110 ॥

Tr. After piercing of the *granthi* in *mūlādhāra* by the *prāṇa* and fire, in the beginning, *anāhata nāda* may be produced in the *brahmanāḍī*. A subtle *kevala* brings about *saṃyama* on elimination of desires. 110.

प्राणायामहुताशनेन सकलाः शुष्यन्ति दोषा मलाः
पित्तश्लेष्ममुखा अपानमरुता प्राणो जितः स्याच्चलः ॥
रागा यान्ति लयं भवोदधिमहासेतोर् महापातके
ध्यानाग्नेः प्राणनिरोधतो विधिमुखाः सिद्धिं गताश्चामराः ॥१११॥

prāṇāyāmahutāśanena sakalāḥ śuṣyanti doṣā malāḥ
pittaśleṣmamukhā apānamarutā prāṇo jitaḥ syāccalaḥ ॥
rāgā yānti layaṃ bhavodadhimahāsetor mahāpātake
dhyānāgneḥ prāṇanirodhato viddhimukhāḥ siddhiṃ gatāścāmarāḥ ॥ 111 ॥

Tr. The entire set of the *doṣas* (vitiations in humours) and impurities which are of the form of *pitta* (bile) and *śleṣmā* (phlegm) would be removed by the fire of *prāṇāyāma*. *prāṇa* moves combined with *apāna* and removes the attachments. Control of *prāṇa* enhances the fire of *dhyāna* which burns the great sin and helps as a bridge to cross over the ocean of the mundane world. Thus even the gods have attained success. 111.

---

1. प्राणवाहव्योः —a. 2. भवेन्नाद —b. 3. संयुजाः —b. 4. ऽन्वासनो —b.

युक्तियुक्तं त्यजेन्मारुतं युक्तितः
पूरयेद् युक्तितो युक्तियुक्तं शनैः ॥
युक्तियुक्तं धिया रोधयेच्छुद्धया
सिद्धिमेवं कृते साधकोऽवाप्नुयात् ॥ ११२ ॥

yuktiyuktaṃ tyajenmārutaṃ yuktitaḥ
pūrayed yuktito yuktiyuktaṃ śanaiḥ ॥
yuktiyuktaṃ dhiyā rodhayecchuddhayā
siddhimevaṃ kṛte sādhako'vāpnuyāt ॥ 112 ॥

Tr. One should exhale, inhale and retain air in a judicious manner, with a pure conscience. Thus a practitioner would gain success. 112.

अन्यथा साधकस्योद्भवति ज्वर-
श्वासहिक्काक्षिकर्णा[1]र्त्तिकासादयः ॥
सम्भवन्त्युल्बणाहतं दोषा गदाः
प्राणवायोः प्रकोपस्य चातिक्रमात् ॥ ११३ ॥

anyathā sādhakasyodbhavati jvara-
śvāsahikkākṣikarṇārttikāsādayaḥ ॥
sambhavantyulbaṇāhataṃ doṣā gadāḥ
prāṇavāyoḥ prakopasya cātikramāt ॥ 113 ॥

Tr. Otherwise, a practitioner might be attacked by the *doṣas* and diseases like fever, asthma, pain in the eyes and ears and cough having been vitiated by copious (substances), due to vitiated *prāṇa* going astray. 113.

प्रस्वेद आदौ भवतीह नाडीशुद्धौ श्रमात्तम्भसिमेनं मर्दयेत् ।
स्वांगम् दृढं योगविदन्यथाऽस्य क्षुब्धो मरुद्गात्रमसूंश्च[2] हन्ति वा११४

prasveda ādau bhavatīha nāḍī-
śuddhau śramāttambhasimenaṃ mardayet ॥
svāṅgaṃ dṛḍhaṃ yogavidanyathā'sya
kṣubdho marudgātramasūṃśca hanti vā ॥ 114 ॥

Tr. In the beginning of *nāḍīśuddhi* due to exhaustion perspiration would take place, which a wise *yogī* should massage vehemently on the body. Otherwise the *prāṇa* going astray would harm the organs and (other) *prāṇas*. 114.

1. ज्वरस्वंसहिधाऽक्षिकर्णा —b. 2. चुब्धोमरुद्गात्रमसूंश्च —b.

नाडीशुद्धौ प्रश्रमजः[1] सपूतिरारम्भकाले भृशघर्मयोगः ।
आयामके प्रावृतविग्रहस्यानर्त्तेत्य[2] उद्घात उपैति पूर्वः ॥११५॥

nāḍīśuddhau praśramajaḥ sapūtir-
ārambhakāle bhṛśagharmayogaḥ ॥
āyāmake prāvṛtavigrahasyā-
narttetya udghāta upaiti pūrvaḥ ॥ 115 ॥

Tr. In the beginning of *nāḍīśuddhi*, due to exertion a lot of fetid perspiration might happen. Due to enhanced practice of *prāṇāyāma udghāta* takes place in the body. 115.

योगचन्द्रिकायाम् —

According to *yogacandrikā* —

प्रस्वेदं जनयति यः प्राणायामेषु सोऽधमः प्रोक्तः ।
कम्पं मध्यः पुंसां भूमित्यागं[3] तनोति परः ॥ ११६ ॥

prasvedaṃ janayati yaḥ
prāṇāyāmeṣu so'dhamaḥ proktaḥ ॥
kampaṃ madhyaḥ puṃsāṃ
bhūmityāgaṃ tanoti paraḥ ॥ 116 ॥

Tr. *prāṇāyāma* which produces perspiration is inferior variety, that which produces tremors is the medium one and that in which a person levitates is the superior *prāṇāyāma*. 116.

विदधीत बुधः प्राणायामं समाहितो विधिवत् ।
यावत् सम्भवति[4] प्राणायामस्य चोत्तमो हि गुणः ॥ ११७ ॥

vidadhīta budhaḥ prāṇāyāmaṃ samāhito vidhivat ।
yāvat sambhavati prāṇāyāmasya cottamo hi guṇaḥ ॥117॥

Tr. A wise must practise *prāṇāyāma* in the prescribed manner with an attentive mind so that *prāṇāyāma* would yield finer results. 117.

जनयति उत्पादयति । समाहितः सावधानः ।

janayati utpādayati । *samāhitaḥ sāvadhānaḥ* ॥

janayati means produces. *samāhita* means attentive.

तल्लक्षणं पातञ्जलमते तु —

tallakṣaṇaṃ pātañjalamate tu —

---

1. श्रमजः —b. 2. विग्रहत्थाऽनर्त्तौ स –b. 3. भूमिसागं –b. 4. भुवि —a.

According to *patañjali* its characteristic is –
यत्प्रेरितस्य श्वसनस्य नाभिमूलाच्छिरस्यूर्ध्वमिहाभिघातः[1] ।
उद्घात उक्तः सकृदेष मात्रात्रयात्मकोऽणुः किल मध्य आर्यः ॥११८॥
yatpreritasya śvasanasya nābhi-
mūlācchirasyūrdhvamihābhighātaḥ ॥
udghāta uktaḥ sakṛdeṣa mātrā-
trayātmako'ṇuḥ kila madhya āryaḥ ॥ 118 ॥

Tr. The breath, that originates from the root of the navel when moved and hits at the roof above is called *udghāta*. According to the measure of time in three *mātrās*, it is *aṇu* (subtle), *madhya* (medium) or *ārya* (superior). 118.

स्मृत्वाकारतनुतुषोऽशमिता१६मात्राभिरापूरयेद्
बाह्यं मारुतमन्तरे हृदि चतुःषष्ट्या६४ स्मरेन्मात्रया ॥
उकारेण जपेन् मनुं प्रणवकं तं पूरितं रेचयेद्
व्यग्र्या त्रिंशतिसंख्ययाऽमुमिडया[2] मात्राख्यकुम्भः स्मृतः ॥११९॥
smṛtvākāratanutuṣo'śamitā16mātrābhirāpūrayed
bāhyaṃ mārutamantare hṛdi catuḥṣaṣṭyā64 smarenmātrayā ॥
ukāreṇa japen manuṃ praṇavakaṃ taṃ pūritaṃ recayed
vyagryā triṃśatisaṅkhyayā'mumiḍayā mātrākhyakumbhaḥ smṛtaḥ ॥ 119 ॥

Tr. Remembering '*a*' for 16 *mātrās* which nourishes the body, one should inhale the external air, retain it inside by remembering and chanting '*u*'-*kāra* for 64 *mātrās* and while leaving air through the *iḍānāḍī* in a controlled manner for 30 *mātrās* while chanting '*m*'. This is known as *mātrā-kuṃbhaka*. 119.

मात्राकुम्भायाम एष शोषकः सम्प्रकीर्त्तितः ।
दाहनो नाभिसंस्थानो मात्राकुम्भः प्रकीर्त्तितः ॥ १२० ॥
mātrākumbhāyāma eṣa śoṣakaḥ samprakīrtitaḥ ।
dāhano nābhisaṃsthāno mātrākumbhaḥ prakīrtitaḥ ॥120॥

Tr. Practice of *mātrā-kuṃbhaka* is said to be causing dryness and burning at the navel region. 120.

---

1. मिहाविघातः –a,b. 2. मुमिड्या –b.

तथा चोक्तं कुम्भकपद्धतौ —

tathā coktaṃ kumbhakapaddhatau —

It has been said in *kuṃbhaka-paddhati*—

स्वाधिष्ठानानुगः सोऽयं प्लावनोऽमृतसेचनः ।
मूलाधारे कृतश्चायं कठिनाकरणे मतः ॥ १२१ ॥

svādhiṣṭhānānugaḥ so'yaṃ plāvanomṛtasecanaḥ ।
mūlādhāre kṛtaścāyaṃ kaṭhinākaraṇe mataḥ ॥ 121 ॥

Tr. When it *(kumbhaka)* is practised in *svādhisthāna*, it increases the flow of nectar, while practised in *mūlādhāra*, one overcomes hardness. 121.

पुनः कण्ठानुगो पञ्चव्यूहनः[1] स्यात्स कुम्भकः ।
ब्रह्मस्थाने नियोगेन मुक्तिदः परिकीर्तितः ॥ १२२ ॥

punaḥ kaṇṭhānugo pañcavyūhanaḥ syātsa kumbhakaḥ ।
brahmasthāne niyogena muktidaḥ parikīrtitaḥ ॥ 122 ॥

Tr. When practised in the region of throat, this *kuṃbhaka* balances the bodily constituents and when practised in the *brahmasthāna* (*brahmarandhra*), it leads to emancipation. 122.

शेषाः प्रागुक्ताः ।

śeṣāḥ prāguktāḥ ।

The other things are as told before.

अथ प्राणायाममात्राः —

atha prāṇāyāmamātrāḥ —

***mātrā* (time ratio) for *prāṇāyāma* is as follows—**

तत्रैव —

tatraiva

It is stated there—

मात्रा नवविधा प्रोक्ता योगिभिस्तत्वदर्शिभिः ।
निमेषोन्मेषनं मात्राकालो लघ्वक्षरोन्मितः ॥ १२३ ॥

mātrā navavidhā proktā yogibhistatvadarśibhiḥ ।
nimeṣonmeṣanaṃ mātrākālo laghvakṣaronmitaḥ ॥ 123 ॥

---

1. चऽद्वहनः —b.

मिता[1] द्वादशह्रस्वानां शीघ्रमुच्चारकालतः ।
प्रदक्षिणीकृत्य जानुं न द्रुतं न विलम्बितम् ॥ १२४ ॥

mitā dvādaśahrasvānāṃ śīghramuccārakālataḥ ।
pradakṣiṇīkṛtya jānuṃ na drutaṃ na vilambitaṃ ॥ 124 ॥

अंगुलीत्रिकतो मात्रा छोटिकाकरणाद् भवेत् ।
गोदोहवत्सपानेषु क्षेपघण्टारवोन्मिता ॥ १२५ ॥

aṅgulītrikato mātrā choṭikākaraṇād bhavet ।
godohavatsapāneṣu kṣepaghaṇṭāravonmitā ॥ 125 ॥

Tr. The learned *yogīs* state the measure of time, called *mātrā* as nine fold which are — time taken for twinkling of eyes, pronouncing the short vowel, time taken for quick pronunciation of 12 short vowels, going round the knee-joint with hand neither slowly nor too fast, snapping together the three fingers, ringing of the bell when feeding the calf at the time of milking the cow. 123-125.

चतुरो ह्यतिमात्राः स्युंस्ताश्च[2] सेव्याः शनैः शनैः ।
देशकालानुसारेण प्राहुर्योगीश्वराः पुरा ॥ १२६ ॥

caturo hyatimātrāḥ syustāśca sevyāḥ śanaiḥ śanaiḥ ।
deśakālānusāreṇa prāhuryogīśvarāḥ purā ॥ 126 ॥

Tr. There are four other *mātrās* narrated by the ancient *yogīs*, called *atimātrā* (large-*mātrās*), which are to be used gradually according to the region and season. 126.

कुम्भपूरकरेचेषु निसर्गजनितेषु यः ।
कालः स मात्रासंज्ञः स्यात् स्वस्वमानक्रमादिमाः ॥ १२७ ॥

kumbhapūrakareceṣu nisargajaniteṣu yaḥ ।
kālaḥ sa mātrāsañjaḥ syāt svasvamānakramādimāḥ ॥127॥

Tr. The duration of time taken for *pūraka*, *kuṃbhaka* and *recaka* by the individual according to his natural capacity is also known as *mātrā*. 127.

अउमा इति त्रिवारं महामात्राः पुरोदिताः[3] ॥१२८ ॥

aumā iti trivāraṃ mahāmātrāḥ puroditāḥ ॥ 128 ॥

---

1. मिता ता –b. 2. ताश्चैव –b. 3. एरोदिताः –b.

Tr. *a, u* and *ma* are regarded as *mahāmātrā* from ancient times. 128.

जानुं प्रदक्षिणीकृत्य[1] त्रिवारं छोटिकामनु ।
करणात्[2] स्वमात्रैषा मध्यैषा[3] षड्भिरीरितो[4] ॥
जान्वोः प्रदक्षिणकृतिर्नववारमसौ वरा ॥ इति ॥ १२९ ॥

jānuṃ pradakṣiṇīkṛtya trivāraṃ choṭikāmanu ।
karaṇāt svamātraiṣā madhyaiṣā ṣaḍbhirīrito ॥
jānvoḥ pradakṣiṇakṛtirnavavāramasau varā ॥ *iti* ॥ 129 ॥

Tr. Going round the knee-joint for three times and snapping the fingers for three times is known as *svamātrā*. By six rounds it is *madhyā*. Going round the knee-joint for nine times is a superior *mātrā*. 129.

कुम्भेषु अउमानां क्रमवृद्धयुतमात्रा दृढतरमाहतमहतरामूल्यघण्टातार-मन्द्रमन्द-रणरणायणान्तर्नाद इव दीर्घा पलात्मिका वा[5] पलद्वया प्राणायाममात्रैका भवति ॥ १३० ॥

kumbheṣu aumānām kramavṛddhayutamātrā dṛḍhataramāhatamahatarāmūlyaghaṇṭātāra-mandramanda—raṇaraṇāyaṇāntarnāda iva dīrghā palātmikā vā paladvayā prāṇāyāmamātraikā bhavati ॥ 130 ॥

Tr. In the practice of *kuṃbhakas*, there is increment of *a, u, ma* with the time (*mātrā*) with the forceful strike on the bell producing prolonged resonance for one *pala* or two, which makes one *mātrā* of *prāṇāyāma*. 130.

यथा एकश्वासमयी दीर्घकाला भवति । तथा कुम्भेऽसौ तारो ब्रह्मरन्ध्रं भिनत्ति तथा । तथा योगी समाधिपरानन्दे लीनो भवति ॥१३१॥

yathā ekaśvāsamayī dīrghakālā bhavati । *tathā kumbhe'sau tāro brahmarandhraṃ bhinatti tathā* । *tathā yogī samādhiparānande līno bhavati* ॥ 131 ॥

Tr. Therefore, the prolonged *mātrā* extends to one breath. The *tāra* (recitation of *om*) in the practice of *kumbhaka* pierces *brahmarandhra* which merges the *yogī* in the Bliss of *samādhi*. 131.

---

1. प्राक्षिणीकृत्य –b. 2. मनुकणाद् —b. 3. ह्स्वमात्रैषा –b. 4. रीरिता –b. 5. चा –b.

ततो दीर्घा मात्रा एकश्वासमयी साधकस्याऽभ्यासे शक्त्यनुरूपं मनोवायुजये प्रधाना योगसिद्धिबीजम् ॥ १३२ ॥

tato dīrghā mātrā ekaśvāsamayī sādhakasyā'bhyāse śaktyanurūpaṃ manovāyujaye pradhānā yogasiddhibījam ॥132॥

Tr. In the practice, prolonged *mātrā* extends to one breath depending on practioner's capacity which plays a prominent role in controlling mind and *prāṇa* and is the seed of success in *yoga*. 132.

तथा चोक्तं स्कान्दे –

tathā coktaṃ skānde –

It has been stated in *skanda- (purāṇa)*—

एकश्वासमयी मात्रा प्राणायामे निरुध्यते ॥ इति ॥ १३३ ॥

ekaśvāsamayī mātrā prāṇāyāme niruddhate ॥ *iti* ॥ 133 ॥

Tr. In the practice of *prāṇāyāma*, *mātrā* is of one breath. 133.

असावेकपला१ गुर्वक्षरैः[1]६४ । द्वादशपलैः१२ लघुप्राणायामः । चतुर्विंशपलैर्मध्यः२४ (अक्षरैः६)[2] । एवं षट्त्रिंशन्मात्रक उत्तमः ॥१३४॥

asāvekapalā1 gurvakṣaraiḥ64 । *dvādaśapalaiḥ12 laghuprāṇāyāmaḥ* । *caturviṃśapalairmadhyaḥ24 (akṣaraiḥ6)* । *evaṃ ṣaṭtriṃśanmātraka uttamaḥ* ॥ 134 ॥

Tr. *ekapalā* means 64 long vowels. *laghuprāṇāyāma* consists 12 *palas*. With 24 *palas* it is *madhya*. Superior *prāṇāyāma* extends to 36 *mātrās*. 134.

एते त्रयोऽप्यारम्भे क्रमेण स्वेदकम्पासनोत्थानहेतवः[3] । उत्तरोत्तरमेकश्वासं[4] दीर्घीकृताः कालस्य दैर्घ्यानुरूपं वायुमनोऽग्निजयकरा इति दिक् ॥ १३५ ॥

ete trayo'pyārambhe krameṇa svedakampāsanotthānahetavaḥ । *uttarottaramekaśvāsaṃ dīrghīkṛtāḥ kālasya dairghyānurūpaṃ vāyumano'gnijayakarā iti dik* ॥ 135 ॥

Tr. In the *ārambha* state these three would respectively cause perspiration, tremors and levitation. In a progressive manner, the breath is to be prolonged. Depending on the length

---

1. गुर्वप्सरैः —b. 2. अप्सरे –b. 3. त्यानहेतवः —b. 4. मेकश्वास –b.

of time, they control *vāyu*, mind and fire. This is told as an indication. 135.

ह्रस्वः[1] पापान्यतिदीर्घो[2]ऽपवर्गदत्ते तृप्तिं द्राक् प्लुतस्तार[3] एकः ।
प्राणायामे प्रोदितोऽत्र प्लुतोऽयं[4] योगाचार्यैर् योगसिद्ध्यै[5] भवघ्नः ।१३६।

hrasvaḥ pāpānyatidīrgho'pavarga-
datte tṛptiṃ drāk plutastāra ekaḥ ॥
prāṇāyāme prodito'tra plutoyaṃ
yogācāryair yogasiddhyai bhavaghnaḥ ॥ 136 ॥

Tr. Short (*mātrā*) is for (removal of) sins. Prolonged (*mātrā*) is for emancipation. A loud (more extended) and (*pluta* of three *mātrās*) would often offer contentment. According to the adepts of *yoga*, in the course of *prāṇāyāma, pluta (mātrā)* is (suitable) for success in *yoga* and to control the (attachment of the) world. 136.

॥ इति गोविन्ददेवसुतसुन्दरदेवविरचितायां हठतत्वकौमुद्यां प्राणायामविवेचनोद्योतः ॥

॥ iti govindadevasutasundaradevaviracitāyāṃ haṭhatatvakaumudyāṃ prāṇāyāmavivecanodyotaḥ ॥

Thus ends the chapter narrating *prāṇāyāma* in *haṭhatatvakaumudī* composed by *sundaradeva*, son of *govindadeva*.

---

1. ह्रःस्वः —b. 2. पापारन्यऽतिदीर्घो —b. 3. स्नुतस्तार –b. 4. स्नुतोऽयं –b. 5. योगसिद्धौ –b.

Chapter –39

अथ आरम्भावस्था–

atha ārambhāvasthā –

***ārambhāvasthā* follows–**

ओंकारप्रजपमिता[1]शनासनाद्यैर्
विध्युक्ताचरणयमादिनेश[2]भक्त्या ॥
मुद्राभिर्विहतमलस्य पुंस आर्य[3]
आरम्भः कृतधमनीविशोधने स्यात् ॥ १ ॥

oṃkāraprajapamitāśanāsanādyair-
vidhyuktācaraṇayamādineśabhaktyā ॥
mudrābhirvihatamalasya puṃsa ārya
ārambhaḥ kṛtadhamanīviśodhane syāt ॥ 1 ॥

Tr. Recitation of *oṃkāra*, moderate diet, postures, practice of *yama* etc. in the prescribed manner, devotion to God, removal of impurities through the practice of *mudrās* etc., bringing about purification of *dhamanī* (channels) form the ideal state of *ārambha*. 1.

प्रागुक्तकुम्भानिह तुर्यवारं४ कुर्वन् हिताशी हृतसर्ववाञ्छः ।
एकान्तसेवी श्रमखेदहीनो ध्येयैकचित्तो भवरोगमुक्तः ॥ २ ॥

prāguktakumbhāniha turyavāraṃ4
kurvan hitāśī hṛtasarvavāñchaḥ ॥
ekāntasevī śramakhedahīno
dhyeyaikacitto bhavarogamuktaḥ ॥ 2 ॥

Tr. The above said *kuṃbhakas* should be practised four times. One should consume wholesome food, overcoming all the desires, remain in a secluded place bereft of exertion and worries, having a centred mind, thus getting rid of the mundane afflictions. 2.

आरम्भके कुम्भकभूरिवृद्ध्या मुनेर्यथेष्टाशनशक्तिरुद्भवेत्[4] ।
जितस्य वायोर्लघुभूमिकाक्रमैः स्युर्घर्मकम्पौ च ख आसनं स्यात् ३

ārambhake kumbhakabhūrivṛddhyā
muneryatheṣṭāśanaśaktirudbhavet ॥
jitasya vāyorlaghubhūmikākramaiḥ
syurgharmakampau ca kha āsanaṃ syāt ॥ 3 ॥

1. ओंकारं प्रजपमिता –b. 2. मरणयमादिनेश –a. 3. अनुपलब्धपाठः –b. 4. शक्तितद् भवेत् –b.

Tr. In the state of *ārambha*, with much prolonging of *kuṃbhaka* a *muni* develops increased appetite. When *vāyu (prāṇa)* is controlled in a slow and progressive manner, perspiration, tremor and levitation in a posture would happen. 3.

सवितर्कसमापत्ति[1]सम्प्रज्ञातमुनेस्तनौ ।
घर्मः स्थूलालम्बने स्यात् कम्पो दार्दरिकं[2] क्रमात् ॥ ४ ॥
savitarkasamāpattisamprajñātamunestanau ।
gharmaḥ sthūlālambane syāt kampo dārdarikaṃ kramāt ॥4॥

Tr. In the states of *savitarka samāpatti*, and *saṃprajñāta samādhi* on a gross level, a *muni* experiences perspiration, tremor and hopping of the body. 4.

लघिष्टे श्रमात् स्वेद आयाममध्ये
शुचिः कुम्भकोऽपास्त[3]नाडीमलत्वात् ॥
प्रहर्षप्रदो अनुष्म[4] उद्वेगहीनो
मुनिः स्यान्महानन्दाब्धौ निमग्नः ॥ ५ ॥
laghiṣṭe śramāt sveda āyāmamadhye
śuciḥ kumbhako'pāstanāḍīmalatvāt ॥
praharṣaprado anuṣma udvegahīno
muniḥ syānmahānandābdhau nimagnaḥ ॥ 5 ॥

Tr. In the inferior (*prāṇāyāma*), due to exhaustion, there will be perspiration. Due to purification of the morbid agents in the *nāḍīs*, *kumbhaka* takes place which generates thrill and is cooling in effect and a *muni* would experience joy without feeling of anxiety, as he is drawn in the ocean of Bliss. 5.

विकृतधमनिमध्यसंस्थदोषाऽलघुजलपार्थिवसारसंलयेन ।
तरुमिव[5] वपुरस्तसारमीषच्चलति यदा प्रणवेऽनिलात् सकम्पः ६
vikṛtadhamanimadhyasaṃsthadoṣā'-
laghujalapārthivasārasaṃlayena ॥
tarumiva vapurastasāramīṣac-
calati yadā praṇave'nilāt sakampaḥ ॥ 6 ॥

Tr. The morbid impurities lying in the *dhamanīs* (channels) in the form of liquids and solids get dissolved and

1. समायति –b. 2. दार्दुरिकं –b. 3. कुम्भकेऽपास्त –b. 4. ऽनुष्मु –b. 5. तरुणिच –a.

when the body gets rid of these (solids and liquids), it causes the body to quiver like a tree being fanned by *praṇava*. 6.

ततोऽधिकतराभ्यासाच्छिथिला सुशिरास्वलम्[1] ।
असारदेहे व्याघाते दार्दर्युच्छलतीरणात् ॥ ७ ॥

tato'dhikatarābhyāsācchithilā suśirāsvalam ।
asāradehe vyāghāte dārdaryucchalatīraṇāt ॥ 7 ॥

Tr. Thereafter, in an advanced state of practice (of *prāṇāyāma*), *śirās* are slackened and as the morbidities are removed and hopping of the body takes place due to hitting of the *vāyu*. 7.

बाह्यान्तराखिलमलापगमेऽथ चित्तेऽ-
स्तापानजाड्यान्त उदेष्णुः[2] सुसम्प्रसादे ॥
विक्षेपहीनपरिकर्मयुजीह शुद्धे
तत्वोन्मुखे मुनिवरस्य विषादनाशः ॥ ८ ॥

bāhyāntarākhilamalāpagame'tha citte'-
stāpānajāḍyānta udeṣṇuḥ susamprasāde ॥
vikṣepahīnaparikarmayujīha śuddhe
tatvonmukhe munivarasya viṣādanāśaḥ ॥ 8 ॥

Tr. Elimination of the internal and external impurities bring about heightened serenity and shreding all inertia of *apāna*. Being prone towards pure *tatva* (Reality) the great *muni* who is free from *vikṣepa* and is engaged in noble activities, experiences freedom from dejection. 8.

तथा चोक्तं कुम्भकपद्धतौ –

tathā coktaṃ kumbhakapaddhatau –

It has been stated in *kuṃbhaka-paddhati*—

मेरुकुम्भप्राणायामाभ्यासवतस्तु ॥

merukumbhaprāṇāyāmābhyāsavatastu ॥

Tr. The following is recommended for the one undertaking the practice of *merukuṃbhaka prāṇāyāma*.

एकोद्घातो द्विरुद्घातः त्रिरुद्घातस्ततो मृदुः ।
मध्यमेरुस्तीव्रमेरुः प्रत्याहारश्च धारणा[3] ॥
ध्यानं समाधिरित्युक्ता मेरोः स्थूलमुवो[4] दश ॥९ ॥

1. सुशिरस्वऽलं –a. 2. उदेह्यु –a. 3. धारणां –b. 4. भुक्ये –b.

ekodghāto dvirudghātaḥ trirudghātastato mṛduḥ ।
madhyamerustīvrameruḥ pratyāhāraśca dhāraṇā ॥
dhyānaṃ samādhirityuktā meroḥ sthūlabhuvo daśa ॥ 9 ॥

Tr. One *udghāta*, two *udghātas*, three *udghātas*, *mṛdu(meru)*, *madhyameru*, *tīvrameru*, *pratyāhāra*, *dhāraṇā*, *dhyāna* and *samādhi* are stated to be the ten gross stages of *meru*. 9.

उद्घात[1]त्रितये नाडीशोधनं वह्निदीपनम् ।
मृदौ स्वेदसमुद्भूतिर्मध्यमेरौ तु कम्पनम् ॥१०॥

udghātatritaye nāḍīśodhanaṃ vahnidīpanam ।
mṛdau svedasamudbhūtirmadhyamerau tu kampanam ॥ 10 ॥

तीव्रे खे राजतेऽन्येषु स्वनामसदृशं फलम् ।
समाध्यन्तमिहोद्दिष्टं तत्त[2]त्संज्ञास्ततस्ततः ॥ इति ॥११॥

tīvre khe rājate'nyeṣu svanāmasadṛśaṃ phalam ।
samādhyantamihoddiṣṭaṃ tattatsaṃñāstatastataḥ ॥*iti*॥11॥

Tr. In the three stages of *udhghāta*, purification of *nāḍīs* and increase of gastric fire would arise. In *mṛdumeru*, perspiration is generated. In *madhyameru* one experiences tremors and in *tīvrameru*, one levitates. In other stages upto *samādhi*, one gets the results as the definitions indicate. 10-11.

तत्रैव चतुरष्टद्वादशभिः क्रमादाद्याः पलैस्त्रयः ॥ इति ॥ १२ ॥

tatraiva caturaṣṭadvādaśabhiḥ
kramādādyāḥ palaistrayaḥ ॥ *iti* ॥ 12 ॥

Tr. These (three *udghātas*) are determined by four, eight and twelve *palas* (respectively). 12.

उद्घातका नाडिविशुद्धिमध्ये क्रमेण तुर्या४ष्ट८रवि१२प्रमाणैः[3] ।
पलैस्त्रयोऽमी प्रभवन्ति कुम्भे मुनेर्दृढाभ्यासयुजो निसर्गात् ॥१३॥

udghātakā nāḍiviśuddhimadhye
krameṇa turyā4ṣṭa8ravi12pramāṇaiḥ ॥
palaistrayo'mī prabhavanti kumbhe
munerdṛḍhābhyāsayujo nisargāt ॥ 13 ॥

Tr. In the course of purification of the *nāḍīs*, the three *udghātas* are determined by four, eight and twelve *palas* in this

---

1. उद्घात –b. 2. तत्र –b. 3. रवि१२ –a.

order. These three (*udghātas*) arise naturally to a *muni* who is an ardent practitioner of *kumbhaka*. 13.

रविसंख्यक१२मात्रकः सकृल्लघुरुद्घातक ईरितो बुधैः ।
निगम४प्रमितैः पलैर्भवेदिति मध्योत्तमकौ द्विकत्रिभिर्हतौ ॥१४॥

ravisaṅkhyaka12mātrakaḥ sakṛl-
laghurudghātaka īrito budhaiḥ ॥
nigama4pramitaiḥ palairbhavediti
madhyottamakau dvikatribhirhatau ॥ 14 ॥

Tr. According to the wise, the *laghu udghāta* is said to be of twelve *mātrās* (equal to 4 *palas*), the *madhya (udghāta)* is twice that of *laghu*, while the *uttama (udghāta)* is thrice that of *laghu*. 14.

यमादिगुणसम्पत्त्या वर्णाश्रमविधिं गतैः ।
कामसंकल्पहीनैर्ज्ञैर्लभ्यते योगसिद्धिभूः ॥ १५ ॥

yamādiguṇasampattyā varṇāśramavidhiṃ gataiḥ ।
kāmasaṅkalpahīnairjñair labhyate yogasiddhibhūḥ ॥15॥

Tr. Success in *yoga* is attained by the wise who is equipped with the virtues of *yama* etc., and who performs rituals of *varṇāśrama* and who is without desire. 15.

निसर्गसंसिद्धसुकुम्भकेन[1]
भूमिः स्वमानप्रमिताभिवर्धते ॥
इत्युक्तकालक्रमतो मुनेः सा
सिद्धिः स्वकाले तनुते सुसंयमैः[2] **॥ इति ॥ १६ ॥**

nisargasaṃsiddhasukumbhakena
bhūmiḥ svamānapramitābhivardhate ॥
ityuktakālakramato muneḥ sā
siddhiḥ svakāle tanute susaṃyamaiḥ ॥ *iti* ॥ 16 ॥

Tr. With the practice of auspicious *nisargasiddha kumbhakas*, the foundation (*bhūmi*) gets enriched according to its own (fixed) time units. With such progression of time, a *muni* achieves success in due course with the control of senses. 16.

इति यमादिगुणभूयिष्टे ॥

iti yamādiguṇabhūyiṣṭe ॥

---

1. संसिद्धिस्तुकुम्भकेन –b. 2. ससंयमैः -b.

'iti' stands for enhanced virtues of *yama* etc.

निर्वासनस्य तु निसर्गसुसिद्धकुम्भ-
सिद्धौ स्वमानमितभूमिषु[1] चोक्तकाले ॥
सिद्धिं सुसंयमविपाकसमा हठेन
वायोर्जयाभिसदृशा मरुतं जयिष्णोः ॥ १७ ॥

nirvāsanasya tu nisargasusiddhakumbha-
siddhau svamānamitabhūmiṣu coktakāle ॥
siddhiṃ susaṃyamavipākasamā haṭhena
vāyorjayābhisadṛśā marutaṃ jayiṣṇoḥ ॥ 17 ॥

Tr. Auspicious *nisargasiddha kuṃbhaka* leads to desirelessness in an appropriate time according to levels of achievements. One attains success as a result of judicious control of *prāṇa (prāṇāyāma)* in *haṭha*. 17.

अपास्तबाह्यान्तरपापदोषे कुम्भाऽग्निनेद्धोदरवह्निना मुनेः ।
सपादघट्युत्तर[2]१।ऽमत्र घर्मो मृदौ स्वतत्त्वोन्मुख उद्भवेद्यदि[3]।१८।

apāstabāhyāntarapāpadoṣe
kumbhā'gnineddhodaravahninā muneḥ ॥
sapādaghaṭyuttara1।5matra gharmo
mṛdau svatattvonmukha udbhavedyadi ॥ 18 ॥

Tr. When internal and external impurities are removed, the *kuṃbhaka* enhances the abdominal fire, the *muni* gets perspiration after the practice of *mṛdu prāṇāyāma* for one and a quarter *ghaṭikā* (30 minutes). He advances towards *tatva* (Reality). 18.

अत्र आरम्भे –

atra ārambhe –

In the *ārambha* phase—

स्यान्मध्यमेरौ किल सार्द्धनाडीद्वयोत्तरं२॥ऽ कम्प उदेति पुद्गले
आरम्भ एषः प्रणवे निमेषत्रयं[4] स्वतत्त्वोन्मुख[5] उद्गमे हृदः[6] १९

syānmadhyamerau kila sārddhanāḍī-
dvayottaraṃ2॥5 kampa udeti pudgale ॥

1. भूमिष –b. 2. सपादवपुत्तरः —b. 3. उद्भवेद्धदि –a. 4. निमेयत्रयं –a. 5. तत्वेन्मुख –b. 6. हृतः —b.

ārambha eṣaḥ praṇave nimeṣa-

trayaṃ svatattvonmukha udgame hṛdaḥ ॥ 19 ॥

Tr. When *madhyameru* is practised for two and a half *nāḍīs* (1 *nāḍī* = 24 minutes), it generates tremors in the body and remaining in *praṇava* for three *nimeṣas* (blinkings), one experinecces *tatva* (Reality) in the heart. 19.

स्यात्तीव्रमेरौ तु निसर्गकुम्भे खे राजते पंकजविष्टरेऽत्र ।

घटीत्रयाद् व्युत्थितिरत्र[1] शश्वद्धि[2] मूढधर्मोद्भव उद्भवेन्नुः ।२०।

syāttīvramerau tu nisargakumbhe

khe rājate paṅkajaviṣṭare'tra ॥

ghaṭītrayād vyutthitiratra śaśvaddhi

mūḍhadharmodbhava udbhavennuḥ ॥ 20 ॥

Tr. In the state of *tīvrameru*, when *nisarga-kuṃbhaka* arises, one levitates in *padmāsana*. If one sustains this state for three *ghaṭīs* (one *ghaṭī* =24 minutes) one certainly experiences loss of bodily consciousness. 20.

आनन्दः स्वप्नपूर्वो[3] भ्रमररवजननी ज्ञानमंगावमोट-

कम्पौ[4] जाड्यादिमूर्च्छानयनजलमहो रोमहर्षस्तथैव ॥

आनन्दापूर्तिरुच्चैर्भवति हृदि तथा[5] योगिनः संविशुद्धे

प्राणायामे वरिष्ठे प्रभवति मनुजस्याथ षट्त्रिंश[6]३६मात्रे ॥ २१ ॥

ānandaḥ svapnapūrvo bhramararavajananī jñānamaṅgāvamoṭa-
kampau jāḍyādimūrcchānayanajalamaho romaharṣastathaiva ॥
ānandāpūrtiruccairbhavati hṛdi tathā yoginaḥ saṃviśuddhe
prāṇāyāme variṣṭhe prabhavati manujasyātha ṣaṭtriṃśa36mātre। 21।

Tr. In the superior practice of *prāṇāyāma* for 36 *mātrās* which makes the body pure, one experiences joy, humming of a bee, wisdom, crushing and tremors of the limbs, inertia, swooning, tears, thrill and happiness in the heart. 21.

भूमीजयानुक्रमतोऽत्र सिद्धयो भवन्ति पुंसां तु निसर्गकुम्भके ।

कालं च तं ताः किल[7] सिद्धयो मरुज्जयानुरूपा विमला यथोत्तरम्॥२२

bhūmījayānukramato'tra siddhayo

bhavanti puṃsāṃ tu nisargakumbhake ॥

---

1. द्युस्थितिरत्र —b. 2. शश्वद्वि –b. 3. स्वप्रापूर्वो —b. 4. मोटकंपौ –b. 5. तद्गा –a. 6. मद्विंशं –b. 7. किल यो —a.

kālaṃ ca taṃ tāḥ kila siddhayo maruj-
jayānurūpā vimalā yathottaram ॥ 22 ॥

Tr. In *nisarga-kumbhaka*, as one conquers the *bhūmis* (stages) the *siddhis* (supernatural powers) are attained related to *tatvas* progressively. In due course of time, those *siddhis* become refined more and more as one gains control on *prāṇa*. 22.

निसर्गकुम्भः प्रहरप्रमाण आरम्भकालः सकलोऽत्र कायिकाः[1] ।
प्राणाग्न्यपानादिजयोद्भवास्ताः शीघ्रंगमविट्कफमूत्रताल्पताः[2] ।२३।

nisargakumbhaḥ praharapramāṇa
ārambhakālaḥ sakalo'tra kāyikāḥ ॥
prāṇāgnyapānādijayodbhavāstāḥ
śīghraṅgamaviṭkaphamūtratālpatāḥ ॥ 23 ॥

Tr. Initially *nisarga-kumbhaka* lasts for one *prahara* (three hours) which itself is *ārambhakāla*. Control on *prāṇa*, *agni*, *apāna* which are in the body bring about fast movement and reduction of faeces, phlegm, urine. 23.

तथा चोक्तं मार्कण्डेयपुराणे –

tathā coktaṃ mārkaṇḍeyapurāṇe

It has been stated in *mārkaṇḍeyapurāṇa*—

अलौल्यमारोग्यमनिष्ठुरत्वं गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पम् ।
कान्तिः प्रसादः स्वरसौम्यता च योगप्रवृत्तेः प्रथमं हि चिह्नम् २४

alaulyamārogyamaniṣṭhuratvaṃ
gandhaḥ śubho mūtrapurīṣamalpam ॥
kāntiḥ prasādaḥ svarasaumyatā ca
yogapravṛtteḥ prathamaṃ hi cihnam ॥ 24 ॥

Tr. The initial signs of success in *yoga* are – non-attachment, well-being, kindness, pleasant smell, scanty faeces and urine, lustre, pacification and sweet voice. 24.

प्राणापानयोः परस्पराभिभवरूप आरम्भोक्तो जयान्मनसः ।
तत्वोन्मुखता न हि मनः पूर्णजयः एतानि तूत्पन्नयोगिनो भवन्ति ।२५।

prāṇāpānayoḥ parasparābhibhavarūpa
ārambhokto jayānmanasaḥ ॥
tatvonmukhatā na hi manaḥ pūrṇajayaḥ
etāni tūtpannayogino bhavanti ॥ 25 ॥

---

1. कापिकाः –, a. 2. कफमूत्रनाऽल्पता –b.

Tr. *prāṇa* and *apāna* are mutually merged in the *ārambha* state which control the mind. Leaning towards the *tatva* (Self) does not signify full control on the mind. These are experienced by an *utpannayogī*. 25.

तल्लक्षणं तु तत्रैव –

tallakṣaṇaṃ tu tatraiva –

The characteristics are mentioned there itself as-

शीतोष्णादिभिरत्युग्रैर्यस्य[1] बाधा न जायते ।

न भीतिमेति[2] चाऽन्येभ्यस्तस्य सिद्धिरुपस्थिता ॥ इति ॥ २६ ॥

śītoṣṇādibhiratyugrair-yasya bādhā na jāyate ।

na bhītimeti cā'nyebhyastasya siddhirupasthitā ॥ iti ॥26॥

Tr. Extreme cold and heat don't pose an obstacle, one does not fear from others and success is attained. 26.

योगारूढे तु –

yogārūḍhe tu –

In the state of *yogārūḍha*—

अरागं न जनो याति परोक्षगुणकीर्त्तनम् ।

न बिभ्यति च सत्वानि सिद्धेर्लक्षणमुत्तमम् ॥ इति ॥ २७ ॥

arāgaṃ na jano yāti parokṣaguṇakīrttanam ।

na bibhyati ca satvāni siddherlakṣaṇamuttamam ॥ iti ॥27॥

Tr. One does not indulge in public contact, nor one talks in other's absence and does not fear from beings. These form the superior characteristics of success. 27.

विशुद्धनाडी[3]संहतिर्यदा मरुन्निरोधतः ।

तदैव तत्व[4]संमुखोऽमनस्कतोदये मुनेः ॥ २८ ॥

viśuddhanāḍīsaṃhatiryadā marunnirodhataḥ ।

tadaiva tatvasammukho'manaskatodaye muneḥ ॥ 28 ॥

Tr. Through control over *prāṇa* when the entire set of the *nāḍīs* is purified, then alone the *muni* experiences *tatva* (Self) and the state of *amanaska* supervenes. 28.

यदापानः स्थितेर्मध्यं भित्वोर्ध्वमुपसर्पति ।

तदा वपुःकृशत्वादिसिद्धिलक्ष्मस्फुटं मुनौ ॥ २९ ॥

---

1. रत्यग्नैयस्य -b. 2. भीति –a. 3. नाडि —b. 4. तत्वं –b.

yadāpānaḥ sthitermadhyaṃ bhitvordhvamupasarpati ।
tadā vapuḥkṛśatvādisiddhilakṣmasphuṭaṃ munau ॥ 29 ॥

Tr. When *apāna* leaves its own place and pierces the middle *(nāḍī)*, a *muni* attains slimness of the body and other apparent signs of *siddhi*. 29.

सुखं न दुःखं न च शीतमुष्णं[1]
योगी[2] यदा वेत्ति हृदीन्द्रियार्थान् ॥
लये स्थितस्तिष्ठति काष्ठवत् स्वे
तत्वे विलीनोऽभ्यसनक्रमेद्धे[3] ॥ ३० ॥

sukhaṃ na duḥkhaṃ na ca śītamuṣṇaṃ
yogī yadā vetti hṛdīndriyārthān ॥
laye sthitastiṣṭhati kāṣṭhavat sve
tatve vilīno'bhyasanakrameddhe ॥ 30 ॥

Tr. When the *yogī* neither experiences happiness nor sorrow, neither cold nor heat, nor the objects of the senses in the heart, he stays in the state of *laya* (absorption) like a log of wood, having been merged in his own *tatva* (Self) through gradual practice. 30.

अभ्यासतो ब्रह्मणि लीयते यथामनस्तथा श्वासपला[4]दिकक्रमैः ।
तत्वस्य संस्पर्शनतो लयेन चारम्भोत्थवातादिजयः प्रजायते ।३१।

abhyāsato brahmaṇi līyate yathā-
manastathā śvāsapalādikakramaiḥ ॥
tatvasya saṃsparśanato layena
cārambhotthavātādijayaḥ prajāyate ॥ 31 ॥

Tr. Through practice, one merges in *brahma* along with mind and breath according to time units. As a consequence of *laya* one gets the glimpse of *tatva* and this brings about the control over *vāyu* heralding the state of *ārambha*. 31.

अमूर्त्तमूर्त्तं[5] प्रभिदा द्विधैतत्तत्वं[6] पुरारम्भदशात्रिकेषु ।
मूर्त्तं हृदा ध्येयमिदं खभूतजयोत्थसिद्धिव्रजसिद्धिरेति ॥ ३२ ॥

amūrttamūrttaṃ prabhidā dvidhaitat-
tatvaṃ purārambhadaśātrikeṣu ॥

---

1. मुष्मं –b. 2. योगि –b. 3. क्रमेद्दे –b. 4. मनस्तथाध्वासपला –a. 5. अमूर्त –b. 6. द्विधैतत्व –b.

mūrttaṃ hṛdā dhyeyamidaṃ khabhūta-
jayotthasiddhivrajasiddhireti || 32 ||

Tr. *tatva* is of two types—*amūrta* (unmanifest) and *mūrta* (manifest). In the first three stages of *ārambha* etc. *mūrta (tatva)* should be meditated upon which brings control on *kha-bhūta* (ether element) giving rise to *vrajasiddhi* (moving in the space). 32.

श्रीयोगनिष्पत्तिदशान्तराले सद्धारणाध्यानसमाधिपाके ।
चित्तत्वलीने पुरतोऽणिमाद्या आविर्भवन्ति स्वमिमा मुनीन्द्रे ॥३३॥

śrīyoganiṣpattidaśāntarāle
saddhāraṇādhyānasamādhipāke ||
cittatvalīne purato'ṇimādyā
āvirbhavanti svamimā munīndre || 33 ||

Tr. On the final stage of the state of *śrīyoganiṣpatti* when *dhāraṇā*, *dhyāna* and *samādhi* are matured, the *citta* gets merged in *tatva* (Self) and the great *muni* experiences the *siddhis* like *aṇimā* etc. 33.

श्वासोन्मितं स्थानवाहामवाप्य स्वस्थाने[1] कूर्मनागादिवाताः ।
प्राणायामैः[2] सञ्जिता वै निसर्गसिद्धे कुम्भे चित्त आधारलीने ३४

śvāsonmitaṃ sthānavāhāmavāpya
svasthāne kūrmanāgādivātāḥ ||
prāṇāyāmaiḥ sañjitā vai nisarga-
siddhe kumbhe citta ādhāralīne || 34 ||

Tr. In *nisargasiddha kumbhaka* when the *citta* gets merged in the *ādhāra (mūla)* and the stage of *sthānavāhā* measured by one breath arises through *prāṇāyāma* one controls the *vāyus* like *kūrma*, *nāga* etc. in their respective places. 34.

द्विश्वासायां प्राणगाः सर्ववाता
धातुव्रातं बन्धयित्वांगपुष्टिम् ॥
श्वासद्वन्द्वं चित्त आधारतत्वे
नाडीषट्कं सिद्धकुम्भे[3] स्वभावात् ॥ ३५ ॥

dviśvāsāyāṃ prāṇagāḥ sarvavātā
dhātuvrātaṃ bandhayitvāṅgapuṣṭim ||

1. मवास्वस्वस्थाने -a. 2. प्राणप्रयासे —a. 3. नाडीषट्कंकुम्भे —b.

śvāsadvandvaṃ citta ādhāratatve
nāḍiṣaṭkaṃ siddhakumbhe svabhāvāt ॥ 35 ॥

Tr. In the state of *prāṇagā* measured by two breaths, all (bodily) airs and the bodily constituents are made stable and limbs replenished. Two breaths merge in the *ādhāratatva* (*pṛthvī* element). In *siddhakumbhaka* one remains in *ādhāratatva (pṛthvī* element) for six *nāḍīs* (approximately 2 and a half hours) in a natural way. 35.

वाताः सर्वे पुष्टिदा यान्तु तुर्य[1]४श्वासं चित्ते पुंस आधारलीने ।
देहे पुष्टिं संवित्तन्वन्ति सिद्धे कुम्भे नूनं नाडीषट्कं स्वभावात्[2]३६

vātāḥ sarve puṣṭidā yāntu turya4-
śvāsaṃ citte puṁsa ādhāralīne ॥
dehe puṣṭiṃ saṃvittanvanti siddhe
kumbhe nūnaṃ nāḍiṣaṭkaṃ svabhāvāt ॥ 36 ॥

Tr. In the stage of *puṣṭidā*, when *citta* merges in *mulādhāra*, all the *vāyus* enter into fourth *kumbhaka*. When *kumbhaka* is naturally held for six *nāḍīs* (2 and half hours) it nourishes the body. 36.

जितासना भूमिगतः पलैकमाधारतादात्म्यगते हृदीह ।
न[3] खिद्यते ज्ञः सहजे सुसिद्धे कुम्भे मनाक् षड्घटिके[4] सुपीठे ३७

jitāsanā bhūmigataḥ palaikam-
ādhāratādātmyagate hṛdīha ॥
na khidyate jñaḥ sahaje susiddhe
kumbhe manāk ṣaḍghaṭike supīṭhe ॥ 37 ॥

Tr. In the *jitāsanā* state, which is dominated by earth (element), one merges his *citta* in the *ādhāra* for a *pala*. In an auspicious *āsana* while perfecting natural *kumbhaka* for six *ghaṭikās* (one *ghaṭikā* =24 minutes) one does not suffer at heart. 37.

अनाहतायां द्विपलं विलीने[5] स्थितौ यदीहाग्निगशक्तिगे हृदि ।
निसर्गकुम्भे रस६नाडिमानमनाहतं[6] शब्दमभिश्रृणोत्यलम् ।३८।

anāhatāyāṃ dvipalaṃ vilīne
sthitau yadīhāgnigaśaktige hṛdi ॥

---

1. दायान्तुतुर्यः —b. 2. स्वभावात्तु —b. 3. हृदोदन —b. 4. षड्षटिके —b. 5. विलीन —a. 6. रसम्याडिमानमऽनादनं —b.

nisargakumbhe rasa6nāḍimānam-
anāhatam śabdamabhiśṛṇotyalam ॥ 38 ॥

Tr. In the state of *anāhatā*, *śakti* along with fire merges in the heart for two *palas*. If *nisargasiddha-kumbhaka* is maintained for six *nāḍīs* (1 *nāḍī* =24 minutes) the *anāhata* sound is heard. 38.

आरम्भकालेऽथ जितासनायां जितानिलेन स्वजितो ह्यपानः ।
आधारभेदाय गुरूक्तमार्गैर्योज्या[1] भुजंगी परिबोधनाय ॥ ३९ ॥

ārambhakāle'tha jitāsanāyām
jitānilena svajito hyapānaḥ ॥
ādhārabhedāya gurūktamārgair-
yojyā bhujaṅgī paribodhanāya ॥ 39 ॥

Tr. In the *ārambha* state of *jitāsanā*, through the practice of *prāṇāyāma*, *apāna* is controlled, for piercing *ādhāra* and for awakening of *bhujaṅgī (kuṇḍalinī)*, one should follow the instructions of a *guru*. 39.

यथा –

yathā –

Like –

अथ पूरकपूरयोजितान्तः[2] पृषदश्वो निजमूलचक्रदेशे[3] ।
विदधीत बुधः समाहितोऽजो पयदग्रन्थिविभेदने प्रयत्नम् ॥४०॥

atha pūrakapūrayojitāntaḥ
pṛṣadaśvo nijamūlacakradeśe ॥
vidadhīta budhaḥ samāhito'jo
payadagranthibhedane prayatnam ॥ 40 ॥

Tr. A wise should practise *pūraka* and hold *prāṇa* at the *mūlādhāra cakra* with a concentrated mind and put an effort to pierce the *payada granthi*. 40.

शकृत्समुत्सृज्य यथा शनैः स्वं संकोचयेत्[4] कम्बुनिमार्गे[5] मर्वा ।
बुधस्तथाधारनियोजितात्मा संकोचयेत्कम्बुनि[6]मार्गमुच्चैः ॥४१॥

śakṛtsamutsṛjya yathā śanaiḥ svam
saṅkocayet kambunimārge marvā ॥

1. मार्गैर्योज्यो –a. 2. पूरकफरयोनितान्तः –b. 3. वक्रदेशे –b. 4. स्वंसंकोचयेत –b. 5. कम्बुनिमर्मा –b. 6. संकोचयेस्कम्बुनि –a.

budhastathādhāraniyojitātmā
saṅkocayetkambunimārgamuccaiḥ ॥ 41 ॥

Tr. Just as one gently contracts the anal sphincters after passing out of stool, similarly, a wise should forcefully pull up the anal muscles with intense concentration at the *mūlādhāra*. 41.

विदधीत मुहुर्मुहुर्गुरूक्तक्रमतो हूंकृतमंकलग्न[1]पाणिः ।
दृढरुद्धगुदध्वजान्तरालस्थिततेजोमयपुष्कराग्रयोनिः ॥ ४२ ॥

vidadhīta muhurmuhurgurūktakramato
hūṃkṛtamaṅkalagnapāṇiḥ ॥
dṛḍharuddhagudadhvajāntarālasthita-
tejomayapuṣkarāgrayoniḥ ॥ 42 ॥

Tr. One should frequently make *huṃ* sound keeping the hands specially arranged on the lap and holding the air firmly at the passage of the anus as directed by the *guru*, wherein the resplendent *puṣkarāgra-yoni (nārāyaṇa)* is located. 42.

स्वरूपः पुष्कराग्रयोनिः नारायणो यस्य सः अयमर्थः ।
मूलबन्धनासाग्रगतं[2] ब्रह्मस्थितं दर्शनगम्यः स्यात् ॥ ४३ ॥

svarūpaḥ puṣkarāgrayoniḥ nārāyaṇo yasya saḥ ayamarthaḥ । *mūlabandhanāsāgragataṃ brahmasthitaṃ darśanagamyaḥ syāt* ॥ 43 ॥

Tr. *puṣkarāgrayoni* is an epithet for *nārāyaṇa*, who may be visualized at the *mūla(-bandha)*, tip of the nose and *brahma (-randhra)*. 43.

अथ –

atha—

It means--

कम्बुनि मारुतं जितात्मा प्रतिलोमेन शनैः प्रवेशयेत्तम् ।
कमलासनपंकजस्य मूलं स्वगुरुप्रोक्तविधानतो दुरापम् ॥ ४४ ॥

kambuni mārutaṃ jitātmā
pratilomena śanaiḥ praveśayettam ॥
kamalāsanapaṅkajasya mūlaṃ
svaguruproktavidhānato durāpam ॥ 44 ॥

---

1. मंकलग्न —b. 2. नासद्मगतं —b.

Tr. One who has gained control over the self should slowly direct the *māruta* through the rectum in a reverse manner (raising it) from the *mūla* (anus) while adopting *kamalāsana* following the guidelines of one's own *guru* which overcomes suffering. 44.

अथ अनन्तरम् । योगी कन्दमार्गाभ्यन्तरे मारुतं वायुं शनैः क्रमतः प्रवेशयेत् । केन? प्रतिलोमेन विपर्ययेन । तं वायुम् । ब्रह्मणः मूलं कारणम् ॥ ४५ ॥

atha anantaram । *yogī kandamārgābhyantare mārutaṃ vāyuṃ śanaiḥ kramataḥ praveśayet* । *kena ? pratilomena viparyayena* । *taṃ vāyum* । *brahmaṇaḥ mūlaṃ kāraṇam* ॥ 45 ॥

Tr. Thereafter, the *yogī* should slowly and in an orderly manner direct the *māruta (vāyu)* through the center of *kanda* in a reverse manner. Because that *vāyu* is the root (cause) of *brahma*. 45.

अयमर्थः[1] । ब्रह्मस्थानकमलोर्ध्वकरणेन कारणभूतम्[2] । अनेन क्रमेण अमुना विधिना । मुहुः कृतेन क्रमतः कम्बुनि मारुतः कृतोऽसौ[3] अजं पंकजमूलदेशमार्गप्रणयि ग्रन्थिविभेदनं करोति ॥ ४६ ॥

ayamarthaḥ । *brahmasthānakamalordhvakaraṇena kāraṇabhūtam* । *anena krameṇa amunā vidhinā* । *muhuḥ kṛtena kramataḥ kambuni mārutaḥ kṛto'sau ajaṃ paṅkajamūladeśamārgapraṇayi granthivibhedanam karoti* ॥46॥

Tr. It means- the lotus at *brahmasthāna* is the root cause. In this manner when one moves the *prāṇa* in an orderly manner through the rectum one pierces the knot at the *mūlādhāra*. 46.

परिहृत्य खगाधिपस्ततोऽसौ सरणिं[4] चन्द्रमसो नभोमणेश्च ।
कमलं कमलासनस्य पश्चाद् विदधीतोर्ध्वमुखं प्रविश्य सम्यक् ४७

parihṛtya khagādhipastato'sau
saraṇiṃ candramaso nabhomaṇeśca ॥
kamalaṃ kamalāsanasya paścād
vidadhītordhvamukhaṃ praviśya samyak ॥ 47 ॥

---

1. अयमर्थेः –a. 2. कारणाभूतं –b. 3. तौऽसौ –a. 4. सहिरिणिं –a.

Tr. The *prāṇa*, thereafter, leaves the passage of moon and sun and entering the lotus (at the *mūlādhāra*) faces upwards. 47.

प्रतिभानमथाद्भुतं प्रविष्टे भवनान्तः परमेष्ठिनः खगेशे ।
लघुता वपुषः भवत्युदग्रा[1] जठरान्तर्दहनस्य चातिदीप्तिः ॥इति॥४८॥

pratibhānamathādbhutaṃ praviṣṭe
bhavanāntaḥ parameṣṭhinaḥ khageśe ॥
laghutā vapuṣaḥ bhavatyudagrā
jaṭharāntardahanasya cātidīptiḥ ॥ *iti* ॥ 48 ॥

Tr. When *prāṇa* enters the abode of *parameṣṭhī (brahmā)* one encounters amazing experience which follows slimness of the body, excessive increment of gastric fire and lustre. 48.

इत्याधारचक्रभेदनविधिः —

ityādhāracakrabhedanavidhiḥ —

Thus ends the technique of piercing of the *ādhāra-cakra*.

स्मरहरा भुवि[2] षड्घटिकुम्भके[3] परिणतेष्टपलप्रमितं[4] मनः ।
विधिसरोज उपैति तदा मुनिर्जयति काममसौ रतिहेतुकम् ॥४९॥

smaraharā bhuvi ṣaḍghaṭikumbhake pariṇateṣṭapalapramitaṃ manaḥ ।
vidhisaroja upaiti tadā munirjayati kāmamasau ratihetukam ॥49॥

Tr. In the state of *smaraharā* when *kuṃbhaka* is retained for six *ghaṭis* and the mind is retained at the *mūlādhāra* even for one *pala*, then the *muni* controls *kāma* the root cause of desire. 49.

तिथि१५पलमिति कालं मानसं मार्गदायां
यमिनः इह सुषुम्णाद्वारमुद्घाट्य वाताः ॥
प्रहरमिति निसर्गे कुम्भकेऽन्तर्विशन्ति
परिचयसमयोऽयं शक्तिचालोऽत्र सिध्येत्[5] ॥ ५० ॥

tithi15palamiti kālaṃ mānasaṃ mārgadāyāṃ
yaminaḥ iha suṣumṇādvāramudghāṭya vāṭāḥ ॥

---

1. भवत्युदग्र —b. 2. स्मरहरण्भुवि –b. 3. षट्षटिकुम्भके –b. 4. तेष्टयमलप्रमितं –b. 5. सिस्धेत् —b.

praharamiti nisarge kumbhake'ntarviśanti
paricayasamayo'yaṃ śakticālo'tra siddhyet ॥50॥

Tr. In the state of *mārgadā*, a *yogī* retains the mind for 15 *palas* by opening the gate of *suṣumnā* through the *vāyus* and retains for one *prahara*, which is the state of *nisarga-kuṃbhaka*. This is known as the state of *paricaya* when *śakticāla* is perfected. 50.

आरम्भमाहुः शुभनाडिशुद्धौ कालं हि तं यत्र विशुद्धवर्ष्मिणः ।
विशुद्धनाडीषु सुखप्रवेशस्थितिसमीरस्य यदाऽचला स्यात् ॥५१॥

ārambhamāhuḥ śubhanāḍiśuddhau
kālaṃ hi taṃ yatra viśuddhavarṣmiṇaḥ ॥
viśuddhanāḍīṣu sukhapraveśa-
sthitisamīrasya yadā'calā syāt ॥ 51 ॥

Tr. Those who have purified body would enjoy the auspicious practice of *nāḍīśuddhi* when the *prāṇa* moves freely in the purified *nāḍīs* and also get stabilized. This time is known as *ārambha*. 51.

तदाऽग्निना प्राणसमीरणोऽयं हृत्स्थो तिमिरं ह्यधरा[1]तिकुम्भितः
घर्मविसारं तनुतेऽग्नियुग्घृतामत्रादिवाज्योष्म[2]वदंगवार्बहिः ॥५२॥

tadā'gninā prāṇasamīraṇo'yaṃ
hṛtstho timiraṃ hyadharātikumbhitaḥ ॥
gharmavisāraṃ tanute'gniyugghṛtām-
atrāḍivājyoṣmavadaṅgavārbahiḥ ॥ 52 ॥

Tr. Then *prāṇa* residing in the heart along with fire dispels the darkness and impurities in the form of perspiration in the body and illuminates it. 52.

ध्वस्तांहसः प्राग्दुत[3]नाडीदोषेऽन्नाम्भोमये जाड्यरुजां पदे गुरौ ।
आरम्भ एत्यग्निविशुष्कधातुसारोऽच्छघर्मोऽ[4]गुरुसत्वपद् बहिः ५३

dhvastāṅhasaḥ prāgdrutanāḍīdoṣe'-
nnāmbhomaye jāḍyarujāṃ pade gurau ॥
ārambha etyagniviśuṣkadhātu-
sāro'cchagharmo'gurusatvavad bahiḥ ॥ 53 ॥

Tr. Remaining at the feet of a *guru* one destroys the sins preceded by the purification of the inertia and ailments

1. तिमन्दंत्वऽधरा–b. 2. पुघृतामात्रादिवाज्योष्ण–b. 3. प्राग्दुत–b. 4. सारोऽह्वगर्मोः –b.

of the *nāḍīs* of the body made up of food (earth element) and water. The *dhātus* (bodily constituents) are purified by the fire, which secretes light and clear perspiration revealing *satva* in the *ārambha* state. 53.

अन्नं पृथ्वी । अम्भो रसः ॥

annaṃ pṛthvī । *ambho rasaḥ* ॥

anna means *pṛthvī* (earth) element while *ambhas* means water.

श्रमजातजलेन विभूतियुजा तनुमर्दनमादरतोऽनुचरेत् ।
लघुता दृढता ननु तेन भवेद् वपुषो न रुषा पवनस्य[1] गतिः ५४

śramajātajalena vibhūtiyujā
tanumardanamādarato'nucaret ॥
laghutā dṛḍhatā nanu tena bhaved
vapuṣo na ruṣā pavanasya gatiḥ ॥ 54 ॥

Tr. Perspiration caused due to (physical) exertion should be rubbed on the body with *vibhūti* (holy ash). Thus the body will become light and sturdy and the *prāṇa* will not go astray. 54.

प्राणायामश्रमस्वेद[2]घर्षणेन भवन्ति यः ।
भूत्या सह तनोर्वायोर्न[3] कोपः स्यात् सुधांशतः ॥ ५५ ॥

prāṇāyāmaśramasvedagharṣaṇena bhavanti yaḥ ।
bhūtyā saha tanorvāyorna kopaḥ syāt sudhāṃśataḥ ॥55॥

Tr. The perspiration generated due to exertion of *prāṇāyāma*, should be rubbed on the body containing nectar along with ash would not allow the *vāyu* to go astray. 55.

कुम्भक्रमस्थैर्यजितो[4]ऽनलेनाधारं तनूर्व्या मलवार्विशोष्य[5] ।
वायुः शिरास्थो[6]ऽविसारमंगं चलत्यपानस्य जये द्रुतत्वात् ॥५६॥

kumbhakramasthairyajito'nalenā-
dhāraṃ tanūrvyā malavārviśoṣya ॥
vāyuḥ śirāstho'visāramaṅgaṃ
calatyapānasya jaye drutatvāt ॥ 56 ॥

Tr. Through gradual practice of *kuṃbhaka* and gaining ground in it, one gains control over (*mūla-*)*ādhāra* with *anala*

---

1. पवन –b. 2. खेद –b. 3. तनोर्वायो –b. 4. कुम्भकमस्थैर्यजितो –b. 5. वार्षिशोष्य –b. 6. शिरस्थो –b.

(fire). Thus the body gets completely free from impurities. Control of *apāna* soon moves the *vāyus* into the *śirās* (channels) all over the body. 56.

पातालगा[1] शेषतनुर्भुजंगी
मुनेस्तनूर्व्यस्तमला[2]ऽद्रिभारा ॥
प्रसर्पतोऽमुं तु मिथोऽतिवाय्वोर्
याते चलाऽसौ हि तदांगलौल्यम् ॥ ५७ ॥

pātālagā śeṣatanurbhujaṅgī
munestanūrvyastamalā'dribhārā ॥
prasarpato'muṃ tu mitho'tivāyvor-
yāte calā'sau hi tadāṅgalaulyam ॥ 57 ॥

Tr. *bhujaṅgī* residing at the *pātāla (mūlādhāra)* like the *śeṣanāga* (the mythological snake on whom the earth rests) holds the body of the *muni* replete with impurities. Since this snake moves the body with the help of *vāyu*, the limbs of the body appear shaky. 57.

आपीन[3]जाड्यांशलयो यदा[4] तदा-
रम्भे क्व दोषाः कुरसोद्भवास्तनौ ॥
पीठोत्थितौ[5] भूमिजये तदुत्थिता
यान्त्यस्तमुग्राः सकलाः स्वमामयाः[6] ॥ ५८ ॥

āpīnajāḍyāṃśalayo yadā tadā-
rambhe kva doṣāḥ kurasodbhavāstanau ॥
pīṭhotthitau bhūmijaye tadutthitā
yāntyastamugrāḥ sakalāḥ svamāmayāḥ ॥ 58 ॥

Tr. On the commencement of *ārambha* state impurities are removed entirely from the body. How then the toxins can arise out of defiled plasma (*rasa*)? Levitation in *āsana* and control on *bhūmi* (earth element) cause removal of all the terrible diseases on their own. 58.

अपानवायोर्जय एष भूमितत्वस्य भेदः कथितस्तमोंऽशः ।
नाडीविशुद्धेरनु[7]घर्मकम्पादिसिद्धिचिह्नानि तत[8]स्तनौ स्युः ।५९।

1. पीतालगा -b. 2. व्यस्तिमला -b. 3. आपान -b. 4. यम -a. 5. पीठोस्थितौ -b. 6. स्वमाययाः --a. 7. विशुद्धेऽनु -b. 8. तत्र -b.

apānavāyorjaya eṣa bhūmi-
tatvasya bhedaḥ kathitastamo'ṃśaḥ ||
nāḍīviśuddheranugharmakampādi-
siddhicihnāni tatastanau syuḥ || 59 ||

Tr. Control of *apāna-vāyu* leads to the control of the earth element, which is said to be a part of *tamas*. Purification of the *nāḍīs* yields to perspiration and tremors in the body signifying symptoms of attaining success. 59.

प्राणेनाब्जासने स्वं समगतिकलितेनात्र नाभेरधोभू-
चारीशापानवायोर्जयतद्गतजडत्वेध[1]रांगं लृणाभम् ॥
अन्योऽन्यं कांक्षतोऽनु[2] पुरत इह यदोर्ध्वं तदा सानलोऽयं
प्राणः कुम्भे शरीरं स्वयमनृजुगतौ नान्यपीठे ख[3] आस्या ॥६०॥

prāṇenābjāsane svaṃ samagatikalitenātra nābheradhobhū-
cārīśāpānavāyor-jayatadgatajaḍatvedharāṅgaṃ lṛṇābham ||
anyo'nyaṃ kāṅkṣato'nu purata iha yadordhvaṃ tadā sānalo'yaṃ
prāṇaḥ kumbhe śarīraṃ svayamanṛjugatau nānyapīṭhe kha āsyā 60

Tr. One should adopt *padmāsana* and make the movement of *prāṇa* even. Thus one controls the *apāna-vāyu* lying latent in the earth (element) which is inert and is located below the navel. *prāṇa* and *apāna* would mutually pull each other and *prāṇa* along with fire in the state of *kumbhaka* becomes unobstructed and rests above. 60.

अभ्यासे प्रथमे सुकुम्भित इहायामे हृदन्ते पुरा
वासे वाभिविसर्पति प्रतरलो व्यालोलचित्ताच्चलः ॥
आस्तेऽनुक्रमयोजितः[4] क्रमकृशोऽधोगो[5]ऽग्निना चेषिका
सूक्ष्मो याति स मार्गदाभुवि पदं शक्तेः स्थितौ योजितः ॥ ६१ ॥

abhyāse prathame sukumbhita ihāyāme hṛdante purā
vāse vābhivisarpati prataralo vyālolacittāccalaḥ ||
āste'nukramayojitaḥ kramakṛśo'dhogo'gninā ceṣikā
sūkṣmo yāti sa mārgadābhuvi padaṃ śakteḥ sthitau yojitaḥ ||61||

Tr. In the beginning of the practice of *prāṇāyāma*, *prāṇa* moves in its abode in the heart and due to fickleness of *citta*, *prāṇa* becomes active. Due to fire applied like an arrow through

---

1. जयतदरुतजडत्वेध –b. 2. कात्स्यतोऽत्तुं –b. 3. पीठेरच –b. 4. ऽनुक्रमयेजितः b. 5. क्रमकृषाद्योगो –a.

proper technique makes *prāṇa* subtle which has a tendency to move downwards and moves it at the seat of *śakti (kuṇḍalinī)* in the state of *mārgadā*. 61.

अभ्यासससुस्थैर्यहठत्व[1]भाजामन्ते शिराणां समवाहि मरुतः ।
यदा तदा चुम्बकवत्तु लोहोपमं[2] वपुः कर्षति सम्यगुच्चकैः ॥६२॥

abhyāsasusthairyahaṭhatvabhājām-
ante śirāṇāṃ samavāhi marutaḥ ॥
yadā tadā cumbakavattu loho-
pamaṃ vapuḥ karṣati samyaguccakaiḥ ॥ 62 ॥

Tr. When at the end of the consolidated practice of *haṭha* one is established and the *marut* moves properly through the *śirās* (channels), the body pulls up *marut* properly and intensely like iron attracted by a magnet. 62.

स्थित्यारशक्तिक्षितिभेदनेनापानेन नूनं विजितेन चोर्ध्वम् ।
तूलोपमं कट्यध एव[3] योगे प्राणः समाकर्षति शुष्कसारम् ॥७०॥

sthityāraśaktikṣitibhedanenā-
pānena nūnaṃ vijitena cordhvam ।
tūlopamaṃ kaṭyadha eva yoge
prāṇaḥ samākarṣati śuṣkasāram ॥ 70 ॥

Tr. When *pṛthvī-tatva* (earth element) is pierced in *(mūla-)ādhāra* and *apāna* is controlled and moved upwards, lower pelvic region feels as light as cotton and *prāṇa* pulls *apāna* which has turned pure. 70.

स्थित्याररन्ध्रं प्रविभिद्य पृष्ठवंशान्तिके ह्यूर्ध्वगतिं[4] भजन्तम् ।
अपानमग्नेः पदगं न्यगन्तः[5] प्राणः समाकर्षति पश्चिमात्मा ।७१।

sthityārarandhraṃ pravibhidya pṛṣṭha-
vaṅśāntike hyūrdhvagatiṃ bhajantam ॥
apānamagneḥ padagaṃ nyagantaḥ
prāṇaḥ samākarṣati paścimātmā ॥ 71 ॥

Tr. *apāna* moves upwards through the spine by piercing (the openings) in the *mūlādhāra*. *prāṇa* pulls *apāna* posteriorly and reaches to the seat of *agni* below. 71.

---

1. दृढत्व –b. 2. लोहोयमं –b. 3. कट्वधराव –b. 4. वंशान्तिकेस्कर्ध्वगतिं –b.
5. पदगंन्यगंऽतः –b.

अमुं महीभेदमुपैति विद्वानारम्भकालेऽभ्यसनैर्जितानलः ।
घर्मं प्रकम्पं किल दार्दुरी च क्रमादतीताघः समाहितात्मनि ॥७२॥

amuṃ mahībhedamupaiti vidvān-
ārambhakāle'bhyasanairjitānilaḥ ||
gharmaṃ prakampaṃ kila dārdurī ca
kramādatītāghaḥ samāhitātmani || 72 ||

Tr. In the *ārambha* stage, a wise, through the practice, with an onepointed mind can control *pṛthvī-tatva* (earth element) and overcomes sins and by gaining control over *anala* (fire) experiences perspiration, tremors, hopping—in sequence. 72.

आरम्भे या पद्मपीठोत्थितिः[1] खे
योगेच्छोः सा शक्ति[2]बोधाग्ररूपम् ॥
शाम्भव्यन्तर्लीनवायावमुष्या[3]
बोधेनोक्तः केवलः कुम्भको यः[4] ॥ ७३ ॥

ārambhe yā padmapīṭhotthitiḥ khe
yogecchoḥ sā śaktibodhāgrarūpam ||
śāmbhavyantarlīnavāyāvamuṣyā
bodhenoktaḥ kevalaḥ kumbhako yaḥ || 73 ||

Tr. In the *ārambha* stage an aspirant of *yoga* levitates in the space while adopting *padmāsana* which heralds onset of arousal of *śakti*. *vāyu* having been absorbed in *śāṃbhavī* and arousal of *kuṇḍalī* brings about the state of *kevala kuṃbhaka*. 73.

निसर्गसिद्धो[5] कुम्भोऽयं घट्यष्टक[6]मितं ध्रुवम् ।
आरम्भसिद्धिभूश्चानुप्रत्याहारोऽक्षहृज्जयी ॥ ७४ ॥

nisargasiddho kumbho'yaṃ ghaṭyaṣṭakamitaṃ dhruvam
ārambhasiddhibhūścānupratyāhāro'kṣahṛjjayī || 74 ||

Tr. When *nisargasiddha kuṃbhaka* persists for eight *ghaṭikās*, success is attained in the state of *ārambha* followed by (perfection in) *pratyāhāra* and control of *akṣa* (sense organs) and *hṛt* (heart). 74.

---

1. पीठोस्थितिः —b. 2. त्याशक्ति —a. 3. वायावऽवमुष्या –b. 4. पः —b. 5. निसर्गसिद्ध –b. 6. पद्माष्टक –b.

विकृतगदकरा[1]मदोषलैन्याद्विमलशिरावलये रुजो न देहे ।
तदनुचरजडद्रवात्म[2]धात्वोः[3] कफशिखि[4]नोर्जितयोगवाहिवायौ ॥७५॥

vikṛtagadakarāmadoṣalainyād-
vimalaśirāvalaye rujo na dehe ||
tadanucarajaḍadravātmadhātvoḥ
kaphaśikhinorjitayogavāhivāyau || 75 ||

Tr. On removal of the impurities in the form of *āma* (toxins) and *doṣas* which cause diseases, when the *śirās* (channels) are rendered pure, the body does not get affected by ailments. The bodily constituents which are in fluid and solid forms would also be removed as one gains control over phlegm and fire as consequence of *vāyu* turning *yogavāhi* (a good medium). 75.

पृथ्वीजयेन कफमूत्रमलाऽल्पतांगे
रोगक्षयो रसमलापगमोऽपःजये[5] स्यात् ॥
वह्नेर्जये वपुषि लाघवमामयान्तर्[6]
वायोर्जये द्रुतगतिः खजयात् स्वरोऽग्र्यः[7] ॥ ७६ ॥

pṛthvījayena kaphamūtramalā'lpatāṅge
rogakṣayo rasamalāpagamo'paḥjaye syāt ||
vahnerjaye vapuṣi lāghavamāmayāntar-
vāyorjaye drutagatiḥ khajayāt svaro'gryaḥ ||76||

Tr. Control on earth element results in reduction in *kapha* (phlegm), urine and faeces and absence of ailments in the body and free flow of *rasa* (plasma) and impurities due to control gained over water element. Control on fire in the body, results in lightness and an end to diseases. Control on *vāyu (prāṇa)* offers high mobility. Control on *kha* (space) offers sweet voice. 76.

उर्व्या जये सौरभमार्यवर्ण[8]स्
तनौ भवेद्वै सुरसाधरोऽपःजयात्[9] ॥
गौणः स्मृतो भूतजयो[10]ऽयमाद्यो
यः यः पक्वसत्संयमजः स उत्तमः ॥ ७७ ॥

1. विकृतादृकरा –a. 2. चरजद्रवात्म –b. 3. धात्वाः –b. 4. कपृशिरिव –b. 5. प्रजये –b. 6. लाघवमामपान्त –b. 7. स्वरोऽग्न्यः –a. 8. सोरभमार्यवर्ण –b. 9. धरोऽपजयात् –b. 10. मूतजये –b.

urvyā jaye saurabhamāryavarṇas-
tanau bhavedvai surasādharo'paḥjayāt ॥
gauṇaḥ smṛto bhūtajayo'yamādyo
yaḥ yaḥ pakvasatsaṃyamajaḥ sa uttamaḥ ॥ 77 ॥

Tr. Control of earth element offers good smell and makes the body glowing. Control on water element offers lustre in the body. All these initial control on *bhūtas* are insignificant. Maturity attained through *saṃyama* is ideal. 77.

सामान्यमध्यार्यभेदैः पञ्चभूत[1]जये मुनेः ।
सिद्धयः स्युः पाकरूपा[2] वा व्यग्रत् प्रजयैः समाः[3] ॥ ७८ ॥

sāmānyamadhyāryabhedaiḥ pañcabhūtajaye muneḥ ।
siddhayaḥ syuḥ pākarūpā vā vyagryat prajayaiḥ samāḥ ।78।

Tr. There are three types of *siddhis* attained through control on the five *bhūtas* for a *muni*, which are *sāmānya* (ordinary), *madhya* (intermediate) and *ārya* ((superior). Like the multiplication of the progeny, the *siddhis* also keep growing as they are matured. 78.

चित्तप्रसादे मलमूत्रमल्पं सौगन्ध्यमंगे सुरुचिः प्रसादः ।
वाक्सिद्धिसन्मानयशोऽर्हणाद्यमायामवीर्यास्तदु रंहसि स्यात् ॥७९॥

cittaprasāde malamūtramalpaṃ
saugandhyamaṅge suruciḥ prasādaḥ ॥
vāksiddhisanmānayaśo'rhaṇād-yam
āyāmavīryāstadu raṅhasi syāt ॥ 79 ॥

Tr. Pacification of *citta* attained through the power achieved through *prāṇāyāma* quickly results in scanty faeces and urine, sweet fragrance in the body, pleasure, power of speech, honour, reputation and worthiness. 79.

यथा यथा वायुजयः शरीरे तथा तथा चेतसि सम्प्रसादः ।
स्युः सिद्धयश्चित्तविशुद्धिरूपास्तथा तथा बिन्दुजयोऽथ नादः।८०।

yathā yathā vāyujayaḥ śarīre
tathā tathā cetasi samprasādaḥ ॥

1. ऽयमाद्यो यः यः पक्वसत्संयमजः स उत्तमः ॥ सामान्यमध्यार्यभेदैः पञ्चभूत— अनुपलब्धपाठः —b. 2. पाकरूपावाच्यःग्यात्मजयैः —repetetion —b. 3. वाच्यऽग्यात्मजयैः समाः —a.

syuḥ siddhayaścittaviśuddhi-rūpās-
tathā tathā bindujayo'tha nādaḥ ॥ 80 ॥

Tr. As one (progressively) controls the *vāyu* in the body, one achieves pacification of the mind more and more. Pacification of the *citta* brings about the supernatural powers, so also control on *bindu* and (hearing of) *nāda*. 80.

स्यात्प्रातिभश्रावणकादि षट्कं घटे मुनौ सत्वविजृम्भणेन ।
चित्तेन्द्रियाणां विजयानुरूपाः स्युः सिद्धयो भूतजयैश्च मघ्याः।८१।

syātprātibhaśrāvaṇakādi ṣaṭkaṃ
ghaṭe munau satvavijṛmbhaṇena ॥
cittendriyāṇāṃ vijayānurūpāḥ
syuḥ siddhayo bhūtajayaiśca madhyāḥ ॥ 81 ॥

Tr. Predominance of *satva* (Self) results in revelation of the set of six *siddhis* like *prātibha*, *śrāvaṇa* etc. in the body of a *muni*. The corresponding *siddhi* would befall on control of the senses and the *citta* and intermediate *(siddhis)* occur on control on *bhūtas*. 81.

असंगताग्रेष्वऽथ कंटकानाममज्जनं[1] पंकजलान्तरे सुखम् ।
क्षुधातृषादौ प्रसहिष्णुता[2] स्यात् सुसाधकस्याशनशक्तिरुद्गतिः।८२।

asaṅgatāgreṣva'tha kaṇṭakānām-
amajjanaṃ paṅkajalāntare sukham ॥
kṣudhātṛṣādau prasahiṣṇutā syāt
susādhakasyāśanaśaktirudgatiḥ ॥ 82 ॥

Tr. A sincere practitioner would not be affected by thorns, nor be sunk in mud or water, rather improves tolerance towards hunger and thirst and enjoys increment in appetite. 82.

आयामेनाऽस्तपापे यममुखविधिभिश्चित्तशान्तिप्रसाद-
विप्लावानि[3] बिभ्यत्यभिगतपरिकर्मैकनिष्ठस्य योगे ॥
चित्ते सत्वांकुरोत्थानं[4] भवति शयनेऽत्यल्पशीतोष्णबाधा-
सिद्धेन्द्वर्कप्रदग्धे वपुषि[5] मलमये भौतिके दिव्यदेहे ।८३।

āyāmenā'stapāpe yamamukhavidhibhiścittaśāntiprasāda-
viplāvāni bibhyatyabhigataparikarmaikaniṣṭhasya yoge ॥

---

1. नामऽमज्जनं –b. 2. प्रसहिष्णुता –b. 3. वाल्यस्वानि –b. 4. मत्वांकुत्थान –b. 5. वपु -b.

citte satvāṅkurotthānaṃ bhavati śayane'tyalpaśītoṣṇabādhā-siddhendvarkapradagdhe vapuṣi malamaye bhautike divyadehe। 83।

Tr. Practice of *prāṇāyāma* along with *yamas* brings about enhanced pacification of the mind and thus when one becomes devoted to the practice of *yoga* suffering is overcome. *satva* increases in *citta*. On merging of *indu* (moon) and *arka* (sun) one does not get affected by sleep, cold or heat. The body is rendered free from impurities and it turns divine. 83.

आसनोत्थानमारम्भे ततः परिचये मुनेः ।
मरुल्लये सुषुम्णायां भवेत् केवलकुम्भकः ॥ ८४ ॥

āsanotthānamārambhe tataḥ paricaye muneḥ ।
marullaye suṣumṇāyāṃ bhavet kevalakumbhakaḥ ॥84॥

Tr. In the *ārambha* state, one levitates in an *āsana*. In the *paricaya* state, *marut* (*prāṇa*) merges in *suṣumnā* and *kevala kumbhaka* takes place. 84.

न्यगूर्ध्वं धमनेद्धेऽनु[1] वायुभ्यां कामवह्निना ।
तप्ता परिचयेऽदोषा शक्तिर्जागर्ति चालिता ॥ ८५ ॥

nyagūrdhvaṃ dhamaneddhe'nu vāyubhyāṃ kāmavahninā ।
taptā paricaye'doṣā śaktirjāgarti cālitā ॥ 85 ॥

Tr. One pulls and heats the two *vāyus (prāṇa* and *apāna)* downwards and upwards alongwith the fire of *kāma* (desire). In the *paricaya* state, when heated up, the pure *śakti* having been awakened, moves. 85.

मरुज्जयादन्विह विष्टरोत्थितौ पथ्याद्यभावो[2] वशतृट्क्षुधा[3] मुनेः ।
जिताशनत्वान्यपुरीप्रवेशलट[4]मुखादि चाभ्यासत उद्भवेद् हठात्८६

marujjayādanviha viṣṭarotthitau
pathyādyabhāvo vaśatṛtkṣudhā muneḥ ॥
jitāśanatvānyapurīpraveśalaṭa-
mukhādi cābhyāsata udbhaved haṭhāt ॥ 86 ॥

Tr. Control of *marut* results in levitation in an *āsana*. One gains ability to enter another body. One gains control over thirst and hunger even in absence of recommended food. 86.

प्राणायामे पूरकस्यावसाने कर्त्तव्यो शैः साधुजालन्धराख्यः ।
कुम्भस्यान्ते रेचकस्यादिभागे उड्डीयानं मूलबन्धः सपूर्वम् ॥८७॥

1. धमनेद्वेनु b. 2. पथ्याघभावो –b. 3. क्षुधो –b. 4. लट् –a.

prāṇāyāme pūrakasyāvasāne
kartavyo jñaiḥ sādhujālandharākhyaḥ ||
kumbhasyānte recakasyādibhāge
uḍḍīyānaṃ mūlabandhaḥ sapūrvam || 87 ||

Tr. In the practice of *prāṇāyāma*, a wise should apply *jālandhara (bandha)* at the end of *pūraka* and *uḍḍīyāna* and *mūlabandha* at the end of *kumbhaka* and before *recaka* begins. 87.

आकुञ्चने अधोविहितेऽनुकण्ठसंकोचनात् पश्चिमतानतोऽस्य ।
प्राणः सुषुम्णान्तरगः[1] सुकुम्भाभ्यासात्मने:[2] स्यादजरामरत्वे ।८८।
ākuñcane ādhovihite'nukaṇṭha-
saṅkocanāt paścimatānato'sya ||
prāṇaḥ suṣumṇāntaragaḥ sukumbhā-
bhyāsātmaneḥ syādajarāmaratve || 88 ||

Tr. By contracting the throat (application of *jālandhara*) and pulling the *prāṇa* which lies below, by practice of *paścimatāna (uḍḍiyāna)*, it (*prāṇa*) can be moved inside the *suṣumnā* during *kumbhaka* resulting in freedom from old age and gaining immortality. 88.

आपूर्य पूराभ्यसनेन योगिना समं यदा स्थीयत एव दीर्घम् ।
स्थैर्यं तदा कुण्डलिनी प्रयात्यलं[3] तथा शरीरस्य सुपीनभावः ८९
āpūrya pūrābhyasanena yoginā
samaṃ yadā sthīyat eva dīrgham ||
sthairyaṃ tadā kuṇḍalinī prayātyalaṃ
tathā śarīrasya supīnabhāvaḥ || 89 ||

Tr. In the beginning, a *yogī* draws (the air) in and through practice remains stable for a long time. Then *kuṇḍalinī* indeed arises and stays there making the body thick. 89.

पूरा पूर्णान्तरा विस्तृत[4] इह हि यदा विस्तृतं[5] प्राणमुच्चैः
सोढुं संनीयते वै सममति[6]विदुषा हन्त कर्मक्रमस्तु ॥
आदायोर्ध्वं भुजंगी तनुकलितलतातुल्यनाडीः समस्ताः
शारीरं प्लावयेद्वै प्रभवति खचरत्वं तदा रेचदैर्घ्यात् ॥ ९० ॥

1. सुषुम्णान्तरगे —a. 2. भ्यासान्मुनेः —b. 3. मयात्यऽलं –b. 4. विस्मृत –b. 5. विस्मृतं –b. 6. समभमति –b.

pūrā pūrṇāntarā vistṛta iha hi yadā vistṛtaṃ prāṇamuccaiḥ
soḍhuṃ sannīyate vai samamatividuṣā hanta karmakramastu ||
ādāyordhvaṃ bhujaṅgī tanukalitalatātulyanāḍīḥ samastāḥ
śārīraṃ plāvayedvai prabhavati khacaratvaṃ tadā recadairghyāt |90|

Tr. When the *prāṇa* is extended in the course of inhalation, then alone it can be heightened and retained and a wise can take it to a balanced state. Following the proper techniques, *bhujaṅgī* can be raised up saturating all the *nāḍīs* like the creepers in the body. A balanced person breaks the cycle of *karma*. Then prolongation of *recaka* causes levitation. 90.

अथ पूरकरेचकयोर्ह्रासप्रकारकालः —

atha pūrakarecakayorhrāsaprakārakālaḥ —

Here follows the reduction in time of *pūraka* and *recaka*: —

तथा चोक्तं सिद्धान्तशेखरे –

tathā coktaṃ siddhāntaśekhare —

It has been stated in *siddhāntaśekhara*—

पूर्वं पूर्वं प्रकुर्वीत यावन्नोत्तरसम्भवः ।
उत्तमप्राणसंरोधाद्देहोत्थानं यदा भवेत् ॥
ह्रासयेत् पूररेचौ तु कुम्भकं वर्धयेत् सदा ॥ इति ॥ ९१ ॥

pūrvaṃ pūrvaṃ prakurvīta yāvannottarasambhavaḥ |
uttamaprāṇasaṃrodhāddehotthānaṃ yadā bhavet ||
hrāsayet pūrarecau tu kumbhakaṃ vardhayet sadā ||*iti*||91||

Tr. Take up the initial practices if the advanced one's are not possible to practise. Perfect retention of *kuṃbhaka* causes levitation of the body. One should lessen both *pūraka* and *recaka* while *kuṃbhaka* should be prolonged. 91.

॥ इति सुन्दरदेवविरचितायां हठतत्वकौमुद्यां पीठोत्थानादिवाय्वग्निजय[1]सिद्धिविवेचनोद्योतः ॥

---

1. जयज –b.

|| iti sundaradevaviracitāyāṃ haṭhatatvakaumudyāṃ pīṭhotthānādivāyvagnijayasiddhiviveecanodyotaḥ ||

Here ends the chapter describing levitation in an *āsana* and successful control of *vāyu* and *agni* in *haṭhatatvakaumudī* composed by *sundaradeva*.

Chapter—40

अथ प्राणादिदशवायुजयप्रकारोपायः—

atha prāṇādidaśavāyujayaprakāropāyaḥ —

Here follows the technique of gaining control over the ten *vāyus* like *prāṇa* etc. —

नाड्याकृष्य समीरणेन्द्वभिधया[1] गाढं[2] प्रपूर्योदरं
धृत्वा घ्राणपुरस्तु वामचरणांगुष्ठे च नाभौ चिरम् ॥
एवं पिंगलया प्रपूर्य पवनं सम्यक् पुनर्दक्षिणांगुष्ठे[3]
प्राणपुरोऽनु[4]नाभिविषय[5]प्राग्वत् क्रियाध्यानवान्[6] ॥ १ ॥

nāḍyākṛṣya samīraṇendvabhidhayā gāḍhaṃ prapūryodaraṃ
dhṛtvā ghrāṇapurastu vāmacaraṇāṅguṣṭhe ca nābhau ciram ॥
evaṃ piṅgalayā prapūrya pavanaṃ samyak punardakṣiṇāṅguṣṭhe
prāṇapuro'nunābhiviṣayaprāgvat kriyādhyānavān ॥ 1 ॥

Tr. Draw the air through the left (*indu*) nostril, fill up the cavity fully, hold the *prāṇa* at the left big toe and the navel for a long time. In the same manner a devoted practitioner should fill up the air through *piṅgalā* (right nostril) properly and again hold the *prāṇa* at the right big toe and navel as before. 1.

वायुं पुटाभ्यामथ धारयेच्चिरं प्रपूरितं योगिवरोऽनुरेचयेत् ।
प्राणानिलः स्यादिति शश्वदभ्यासतो जितः पूरककुम्भरेचकैः ॥२॥

vāyuṃ puṭābhyāmatha dhārayecciraṃ
prapūritaṃ yogivaro'nurecayet ॥
prāṇānilaḥ syāditi śaśvadabhyā-
sato jitaḥ pūrakakumbharecakaiḥ ॥ 2 ॥

Tr. Inhale through both the nostrils, retain the inhaled air for a long time and exhale. A continued practice brings control over *prāṇa* through *pūraka*, *kuṃbhaka* and *recaka*. 2.

आरम्भकोक्तं सकलं भवेन्मनोमलाघाधातुमलाः[7] प्रयान्ति ।
पुमर्थता लाघवमंगके भवेत् सत्वस्थितिः प्राणजयेऽग्निदीपनम् ॥३॥

ārambhakoktaṃ sakalaṃ bhaven mano-
malāghādhātumalāḥ prayānti ।
pumarthatā lāghavamaṅgake bhavet
satvasthitiḥ prāṇajaye'gnidīpanam ॥ 3 ॥

---

1. समीरणेंद्वऽभिधया –b. 2. गाढ –b. 3. पुनर्द्दीक्षिणाःगुष्ठे –b. 4. घ्राणयुपुरोऽनु –b. 5. नाभिविषये –b. 6. क्रियाड्वानवान् —b. 7. मलोधातुमलाः —b.

Tr. All the benefits mentioned in *ārambha* state would occur. Impurities of the mind and *dhātus* would disappear. Strength and lightness of the body is experienced. One attains achievements of life. One will be established in *satva* (Self) gaining control over *prāṇa* and enhancing bodily fire. 3.

इति प्राणवायुजयविधिः ॥

iti prāṇavāyujayavidhiḥ ॥

Here ends the technique of controlling *prāṇavāyu.*

कटिप्रदेशे खलु पृष्ठभागेऽपानं हठात्तत्र विधारयेज्ज्ञः ।
समानदेशाभिनिरोधनात्तं तत्रैव सन्धार्य जयेत् क्रमेण ॥ ४ ॥

kaṭipradeśe khalu pṛṣṭhabhāge'-
pānaṃ haṭhāttatra vidhārayejjñaḥ ॥
samānadeśābhinirodhanāttaṃ
tatraiva sandhārya jayet krameṇa ॥ 4 ॥

विधाय पूर्वं दृढमूलजालोड्यानं पुरोक्तं मुनिरस्ततन्द्रः ।
सद्रेचकोर्ध्वोर्ध्वचिरप्ररोधात् स्थानप्ररोधा[1]दिति तं जयेज् ज्ञः ॥५॥

vidhāya pūrvaṃ dṛḍhamūlajālo-
ḍyānaṃ puroktaṃ munirastatandraḥ ॥
sadrecakordhvordhvaciraprarodhāt
sthānaprarodhāditi taṃ jayej jñaḥ ॥ 5 ॥

Tr. A wise should forcefully hold the *apāna* indeed at the pelvic region at the back. Holding the *apāna* at the location of *samāna*, a *muni* should firmly apply *mūlabandha, jālandharabandha* and *uḍḍīyānabandha* he should diligently exhale very slowly and hold *apāna* at the higher and higher point for a long time to gain control over it. 4-5.

अपान एषो विजितो विधत्ते घटिद्वयं धारणतोऽपरकाये ।
प्रवेशसामर्थ्यमलं करोति पातालयानं क्षतरोहणाद्यम् ॥ ६ ॥

apāna eṣo vijito vidhatte
ghaṭidvayaṃ dhāraṇato'parakāye ॥
praveśasāmarthyamalaṃ karoti
pātālayānaṃ kṣatarohaṇādyam ॥ 6 ॥

---

1. स्थानप्ररोधा – अनुपलब्धपाठः —b.

Tr. When *apāna* is controlled and retained for two *ghaṭikās*, it enables one to enter another body, one can move into *pātāla* (world underneath) and have wounds quickly healed.6.

इत्यपानजयविधिः ॥

ityapānajayavidhiḥ ॥

Here ends the technique to have control over *apāna*.

नासाहृद्गलतालुचिल्लिशिरसीहास्थाप्य[1] योगी जयेद्
ऊर्ध्वाकर्षणयोगतो मुहुरमुं वायुं समानं धिया ॥
मूर्ध्नः पादतलं च यावदसकृद्यातानुयातक्रिया
यातो रेचकपूरकुम्भविषयैः शीघ्रं वशी योगवित् ॥ ७ ॥

nāsāhṛdgalatālucillisirasīhāsthāpya yogī jayed
ūrdhvākarṣaṇayogato muhuramuṃ vāyuṃ samānaṃ dhiyā ॥
mūrdhnaḥ pādatalaṃ ca yāvadasakṛdyātānuyātakriyā
yāto recakapūrakumbhaviṣayaiḥ śīghraṃ vaśī yogavit ॥ 7 ॥

Tr. Raising up (*samāna*) and holding it at nose, heart, throat, palate, eyebrows and head, a *yogī* controls it with onepointedness. This technique should be repeated from head to toes through *recaka*, *kumbhaka* and *pūraka*. Thus one soon gains control on it. 7.

तथा चोक्तं कुम्भकपद्धतौ –

tathā coktaṃ kumbhakapaddhatau –

It has been stated in *kuṃbhaka-paddhati*—

समं रसानां नयनं कर्मास्य[2] परिकीर्त्तितम् ।
नाभौ पूर्य समीरं चेद्देहे[3] व्याप्य विधारितः ॥ ८ ॥

samaṃ rasānāṃ nayanaṃ karmāsya parikīrtitam ।
nābhau pūrya samīraṃ ceddehe vyāpya vidhāritaḥ ॥ 8 ॥

Tr. Its function is said to be proper distribution of *rasa* (plasma). The *vāyu* should be filled up at the navel and held in the entire body. 8.

कुम्भिते ज्वलनं ध्यायेत् समानस्य तु कुम्भकः ।
राधते[4] प्रज्वलन् स्विद्येत् रोमकूपेषु योजयेत् ॥ ९ ॥

1. शिरसीहऽस्थाप्य – b. 2. नयकर्मास्य – a. 3. च देहे –b. 4. एधते –b.

kumbhite jvalanaṃ dhyāyet samānasya tu kumbhakaḥ ।
rādhate prajvalan svidyet romakūpeṣu yojayet ॥ 9 ॥

Tr. When the *vāyu* is held with concentration on fire, it is *samāna-kuṃbhaka*. When it catches heat, it becomes intensified and causes perspiration through the pores. 9.

इति समानवायुजयविधिः ॥

iti samānavāyujayavidhiḥ ॥

Here ends the technique of controlling *samāna-vāyu*.

व्यानो व्यापी व्यानयन[1]स्त्वगिन्द्रियनिकेतनः ।
पूरयित्वान्तरा सम्यक् हृज्जगद्व्याप्ति[2]योगतः ॥
सर्वांगमाकुञ्चनेन कुम्भिते सूक्ष्मचिन्तनात् ॥ १० ॥

vyāno vyāpī vyānayanastvagindriyaniketanaḥ ।
pūrayitvāntarā samyak hṛjjagadvyāptiyogataḥ ॥
sarvāṅgamākuñcanena kumbhite sūkṣmacintanāt ॥ 10 ॥

Tr. The *vyāna* pervades all over the body in the skin. One should withdraw *vyāna* from all over the body followed by drawing it in fully and hold it in the region of the heart with full attention. 10.

न शस्त्रैः छिद्यते नापः[3] क्लेदयन्त्यपि विषक्रमः ॥
शीतोष्णयोस्त्वथासंगो रोगनाशश्च जायते[4] ॥ ११ ॥

na śastraiḥ chidyate nāpaḥ kledayantyapi viṣakramaḥ ।
śītoṣṇayostvathāsaṅgo roganāśaśca jāyate ॥ 11 ॥

Tr. The benefits of *vyāna-kuṃbhaka* have been described in terms of protection from weapons, water and poisons, immunity from cold and heat and removal of diseases. 11.

इति व्यानवायुजयविधिः ॥

iti vyānavāyujayavidhiḥ ॥

Here ends the technique to control *vyānavāyu*.

नासाभ्यां कर्षयेद्वायुं बलात् हृत्स्थानमानयेत् ।
उत्कृष्योत्कृष्य[5] हृत्स्थानात् कण्ठे तालौ भ्रुवोऽन्तरे[6] ॥
मूर्ध्नान्तं चेद् गतायातः कृति[7]श्रेष्ठाख्यकुम्भकः ॥१२ ॥

---

1. घन –b. 2. जगद्व्यापि –b. 3. स्त्रैः छिद्यते नापेः–a. 4. शीतोष्णयोस्त्वथासंगो रोगनाशस्त्रैः छिद्यते नापेः श्च जायते -a. 5. हृत्स्थानमानयेत् । उत्कृष्योत्कृष्य— अनुपलब्धपाठः –b. 6. भ्रुवोत्तरे –b. 7. चन्द्रतायातकृति –b.

nāsābhyāṃ karṣayedvāyuṃ balāt hṛtsthānamānayet ।
utkṛṣyotkṛṣya hṛtsthānāt kaṇṭhe tālau bhruvo'ntare ॥
mūrdhnāntaṃ ced gatāyātaḥ kṛttiśreṣṭhākhyakumbhakaḥ ॥ 12 ॥

Tr. One should forcefully draw the air in through the nostrils and take it to the heart. Further, he should hold it at the throat, palate, at the center of the eyebrows and top of the head by raising it up repeatedly from chest region. This movement to and fro is *kṛtti-śreṣṭha-kumbhaka*. 12.

कान्वितेनाशुगं कर्षन् कुर्वन्तूच्चतरं[1] स्वनम् ।
धारयेच्चेदुदानस्य प्राहूतिः कुम्भकः स्मृतः[2] ॥ १३ ॥

kānvitenāśugaṃ karṣan kurvantūccataraṃ svanam ।
dhārayeccedudānasya prāhūtiḥ kumbhakaḥ smṛtaḥ ॥13॥

Tr. Sucking the air with onepointedness with a loud sound and holding it, is known as *prāhūti-kumbhaka* of *udāna*. 13.

Note: *kumbhaka-paddhati* (70) calls it *pradgati-kumbhaka* while *haṭhasaṅketacandrikā* calls it *prakṛti-kumbhaka*. 13.

इत्युदानवायुजयविधिः ॥

ityudānavāyujayavidhiḥ ॥

Here ends the technique to control *udāna-vāyu*.

ओदन[3]ग्रासवत् वायुं कण्ठेनापूरयेच्छनैः ।
तं रोधयेद्यथाकालं बद्ध्वा जालन्धरं दृढम् ॥ १४ ॥

odanagrāsavadvāyuṃ kaṇṭhenāpūrayecchanaiḥ ।
*taṃ rodhayedyathākālaṃ baddhvā jālandharaṃ dṛḍham*14

Tr. One should swallow the air slowly into the throat like a morsel of rice, retaining it to capacity, with firm application of *jālandhara-bandha*. 14.

इति नागवायुजयविधिः ॥

iti nāgavāyujayavidhiḥ ॥

Here ends the technique of controlling *nāgavāyu*.

निमीलनोन्मीलनके विहाय स्थितिर्दृढा काष्ठमिवाप्रचाल्या ।
दृशोस्तनोर्भूरि स कूर्मकुम्भः स्थैर्यं करोत्याशुगचित्तयोर्हि[4] ॥१५॥

---

1. कुर्वन्नुच्चतरं –b. 2. स्मृतिः —b. 3. उदान –b. 4. चित्तयोर्हि –b.

nimīlanonmīlanake vihāya
sthitirdṛḍhā kāṣṭhamivāpracālyā ॥
dṛśostanorbhūri sa kūrmakumbhaḥ
sthayairyaṃ karotyāśugacittayorhi ॥ 15 ॥

Tr. When the blinking of the eyes is controlled and one becomes perfectly steady like a log of wood and devoid of movements of the eyes and the body, it is called *kūrmakumbhaka.* With this practice of *kumbhaka* one attains the steadiness of *vāyu* (*prāṇa*) and mind. 15.

इति कूर्मकुम्भः कूर्मवायुजयविधिः ॥

iti kūrmakumbhaḥ kūrmavāyujayavidhiḥ ॥

Here ends *kūrmakumbhaka* and the technique of controlling *kūrmavāyu*.

जृम्भोद्भवे संवृतास्यः कण्ठाधः[1] प्रापयेत् खगम् ।
देवदत्तजयस्तेन जायते[2] शंकरोदितम् ॥ १६ ॥

jṛmbhodbhave saṃvṛtāsyaḥ kaṇṭhādhaḥ prāpayet khagam ।
devadattajayastena jāyate saṅkaroditam ॥ 16 ॥

Tr. When yawning occurs, one should close the mouth and push the air down the throat. According to *śaṅkara*, this leads to control of *devadatta vāyu.* 16.

इति देवदत्तवायुजयविधिः ॥

iti devadattavāyujayavidhiḥ ॥

Here ends the technique of controlling *devadatta vāyu*.

देहस्थमखिलं वायुं ग्रसते कुण्डली यदा ।
धनञ्जयजयः काले तस्मिन् गौणस्ततो ह्ययम्[3] ॥ १७ ॥

dehasthamakhilaṃ vāyuṃ grasate kuṇḍalī yadā ।
dhanañjayajayaḥ kāle tasmin gauṇastato hyayam ॥ 17 ॥

Tr. When *kuṇḍalinī* absorbs all the *vāyu* in the body, it is the control of *dhanañjaya-vāyu.* In this state everything else becomes insignificant. 17.

---

1. कटाऽधः —b. 2. जाउेप –a. 3. तस्मिनृगौणस्ततोह्रस्वऽयं –b.

इत्युक्तो दशवायूनां जयोऽयं क्रमतो मया ।
पूर्वोक्ताभ्यासयोगेन युगपद्वा जयो भवेद् ॥ इति ॥ १८ ॥

ityukto daśavāyūnāṃ jayo'yaṃ kramato mayā ।
pūrvoktābhyāsayogena yugapadvā jayo bhaved ॥*iti* ॥18॥

Tr. I have narrated control of ten *vāyus* progressively. With the practice as stated earlier, one simulteneously attains mastery over them. 18.

इति धनञ्जयवायुजयविधिः ॥

iti dhanañjayavāyujayavidhiḥ ॥

Here ends the technique to control *dhanañjaya-vāyu*.

धृत्वा यद्धारणानुक्रमत इह पदं धारयेद्यत्नतोऽलं
शश्वदब्जांघ्रिचांगुष्ठकशिर उरुधो[1]स्तत्पदं पार्ष्णिगुल्फौ ॥
ऊरू जानुश्च पायुर्भगमथ मुनिशद्धरितना[2]भिसमं
हृत्कण्ठोष्ठे जिह्वनासेक्षणशिर इति सञ्चिन्तयेद्धाम धार्यम् ॥१९॥

dhṛtvā yaddhāraṇānukramata iha padaṃ dhārayedyatnato'lam
śaśvadabjāṅghricāṅguṣṭhakaśira urudhostatpadaṃ pārṣṇigulphau
ūrū jānusca pāyurbhagamatha muniśaddharitanābhisamam
hṛtkaṇṭhoṣṭhe jihvanāsekṣaṇaśira iti sañcintayeddhāma dhāryam ।19।

Tr. Following the order of *dhāraṇā*, a wise *muni* holds (*prāṇa*) at the feet, toes, heels, ankles, thighs, knees, anus, genital, navel, heart, throat, lips, tongue, nose, eyes, head with full concentration at these vital points. 19.

य एवम[3]भ्याससुयोगतो मुनिः
स्यात्तन्मयः सर्वसमीरणानाम् ॥
जयं विधत्ते परिपश्यति ध्रुवं
ज्योतिः स सूक्ष्मं विजितासनः प्राक् ॥ २० ॥

ya evamabhyāsasuyogato muniḥ
syāttanmayaḥ sarvasamīraṇānām ॥
jayaṃ vidhatte paripaśyati dhruvaṃ
jyotiḥ sa sūkṣmaṃ vijitāsanaḥ prāk ॥ 20 ॥

Tr. Mastering the *āsanas* first, a *muni*, through devoted

1. उरुधी –b. 2. मुनिशद्धरितनाभी –b. 3. परावम –b.

practice, becomes absorbed, gains control over all the *prāṇas* and perceives the eternal light which is very subtle. 20.

युग्ममथवा –

yugmamathavā –

A *śloka* follows—

एकीकृत्य विचित्रवर्णशिखिसंयुक्तं समीरव्रजं
स्वान्ते साधु हृदा विचिन्त्य तमनु श्रीब्रह्मरन्ध्रावधि ॥
नीत्वा वान्तलसत्स्थलानि च ततः श्रीब्रह्मरन्ध्रात्
पदांगुष्ठाद्यावदवान्तरस्थलपरावृत्याभ्यसेद् व्युत्क्रमैः ॥२१॥

ekīkṛtya vicitravarṇaśikhisaṃyuktaṃ samīravrajam
svānte sādhu hṛdā vicintya tamanu srībrahmarandhrāvadhi ॥
nītvā vāntalasat sthalāni ca tataḥ srībrahmarandhrāt
padāṅguṣṭhādyāvadavāntarasthalaparāvṛtyābhyased vyutkramaiḥ ॥ 21 ॥

Tr. With a concentrated mind one should unify the movement of *prāṇa* along with *varṇa* (letters) and *anusvāra* (*om* i.e. *praṇava*) and meditating on it inside the heart and going upto *brahmarandhra* and then bringing upto *svādhiṣṭhāna* and further down to big toes and such other minor points repeating it in reverse order. 21.

तथा चोक्तं कालिकापुराणे –

tathā coktaṃ kālikāpurāṇe –

It has been stated in *kālikāpurāṇa*—

वायुं नीत्वा च नाभौ तु आग्नेयात् किञ्चिदुत्सृजेत्[1] ।
जयेत्सर्वाननेनैव वायूनभ्यासतो मुनिः ॥ इति ॥ २२ ॥

vāyuṃ nītvā ca nābhau tu āgneyāt kiñcidutsṛjet ।
jayetsarvānanenaiva vāyūnabhyāsato muniḥ ॥ *iti* ॥ 22 ॥

Tr. After taking the *vāyu* from the location of fire to the navel, one should draw it out. Thus a *muni* through practice, gains control over all the *vāyus*. 22.

अपान आपादतलैकवृत्तिरुदान आमस्तकवृत्तिरुच्चैः ।
आनाभिवृत्तिः समगः समानो व्यानस्तनौ व्याप्यभितोऽस्ति पुंसः[2] २३

1. किंचिदुत्सृजे — b. 2. पुंसां — b.

apāna āpādatalaikavṛttir-
udāna āmastakavṛttiruccaiḥ ।
ānābhivṛttiḥ samagaḥ samāno
vyānastanau vyāpyābhito'sti puṃsaḥ ॥ 23 ॥

Tr. Function of *apāna* is located upto the soles of the feet, that of *udāna* is located upto the head, while that of *samāna* is up the navel, and function of *vyāna* pervades the whole body of a person. 23.

प्राणस्तु नासामुखवाह आमनोवृत्तिः[1] प्रधानो मरुतां नृजीवनम् ।
इयं समस्तेन्द्रियवृत्तिरुत्तमा[2] प्राणादिलिंगात्मनि तत्[3]क्रियात्मिनाम् ।२४।

prāṇastu nāsāmukhavāha āmano-
vṛttiḥ pradhāno marutāṃ nṛjīvanaṃ ॥
iyaṃ samastendriyavṛttiruttamā
prāṇādiliṅgātmani tatkriyātminām ॥ 24 ॥

Tr. *prāṇa* moves through the nose and mouth. It closely functions with the mind. It is the chief of all the *vāyus*, signifying life. All the sensory functions are actually the signs of *prāṇa* etc. which manifests in the form of respective sensory activities. 24.

स्थानप्रभेदेन पदं पदं यन्नियन्त्रणं तत्पदचिन्तनेक्षणैः ।
मरुद्वतः[4] प्राणनिरोधनेन सच्चिरं ततोऽल्पत्वमसौ जयः स्मृतः२५

sthānaprabhedena padaṃ padaṃ yan-
niyantraṇaṃ tatpadacintanekṣṇaiḥ ॥
marudvataḥ prāṇanirodhanena sac-
ciraṃ tato'lpatvamasau jayaḥ smṛtaḥ ॥ 25 ॥

Tr. Fixing (*dhāraṇā*) of *prāṇa* for a long time at various points by contemplating on those respective points makes it (*prāṇa*) subtle, thus resulting in control of *prāṇa*. 25.

आरम्भघटयोः सिद्धिबीजौ वाय्वनलौ[5] जितौ ।
हृत्सत्वं[6] तारकज्ञानाऽवध्याभ्यां जितमिष्टसु ॥ २६ ॥

ārambhaghaṭayoḥ siddhibījau vāyvanalau jitau ।
hṛtsatvaṃ tārakajñānā'vadhyābhyāṃ jitamiṣṭasu ॥ 26 ॥

Tr. For success in the states of *ārambha* and *ghaṭa* (respectively), *vāyu* and *anala* (fire) are the two root causes.

---

1. आयनोवृत्तिः –b. 2. वृत्तिरेत्तां –b. 3. त –b. 4. मरुद्वदो –b. 5. वाच्यऽनलौ –b. 6. हृत्सखं –b.

Through these two along with the wisdom of *tāraka* (*om*) bring desired control on the *satva* in the heart. 26.

युक्तियुक्तमृदुसान्त्वनयोगैर्मन्दमन्दमभिशीलित उग्रः ।
हिंस्र एति भुजगो वशतां नुः किञ्जितेन कुरुतोऽनिलचित्ते ॥२७॥

yuktiyuktamṛdusāntvanayogair-
mandamandamabhiśīlita ugraḥ ॥
hiṃsra eti bhujago vaśatāṃ nuḥ
kiñjitena kuruto'nilacitte ॥ 27 ॥

Tr. Even a powerful and fierce serpent is brought under control through judicious, steady, slow and peaceful means in a gradual manner. Then why not *anila (prāṇa)* and *citta* (mind) can be brought under control ? 27.

सर्वा ब्रह्माण्डसृष्टिः सकलमिदमहो भौतिकं यस्य निघ्नं
सर्वो देहे क्रियौघः स्थितिमृतिजननाद्यं ध्रुवं प्राणिनां यत् ॥
लोलं चित्तं यदात्तं विचलति न नृणां यद्विनाकारणात्तं
चैतन्यं यस्य निघ्नं जित इति स मरुद्योगिनः किं न दद्यात्[1]॥२८॥

sarvā brahmāṇḍasṛṣṭiḥ sakalamidamaho bhautikaṃ yasya nighnam
sarvo dehe kriyaughaḥ sthitimṛtijananādyaṃ dhruvaṃ prāṇināṃ yat ॥
lolaṃ cittaṃ yadāttaṃ vicalati na nṛṇāṃ yadvinākāraṇāttaṃ
caitanyaṃ yasya nighnaṃ jita iti sa marudyoginaḥ kiṃ na dadyāt ॥ 28 ॥

Tr. The entire Universe and all this mundane, all the functions in the body, sustenance, dissolution and generation of the creatures, wandering and distraction of the mind towards the trashes without reason, is all because of *prāṇa* which takes *caitanya* (Consciousness) for support. If controlled, what is not bestowed by *māruta* to a *yogī* ? 28.

ज्ञानानलप्राणहुताशनौ[2] द्वावायामदार्ढ्यात्[3] प्रजितौ सुयोगिना ।
हृदाखयोः[4] कार्श्यमुपास्य तस्मै दत्तः सुखं सत्सुजनव्रताविव ॥२९॥

---

1. लोलं चित्तं यदात्तं विचलति न नृणां यद्विनाकारणात्तं चैतन्यं यस्य निघ्नं जित इति स मरुद्योगिनः किं न दद्यात् —अनुपलब्धपाठः — b. 2. प्राणहय्ताशनौ –b. 3. दार्ढ्यात् — b. 4. हृदास्वयोः — b.

jñānānalaprāṇahutāśanau dvā-
vāyāmadārḍhyāt prajitau suyoginā ||
hṛdākhayoḥ kārśyamupāsya tasmai
dattaḥ sukhaṃ satsujanavratāviva || 29 ||

Tr. Through firm practice of *prāṇāyāma*, both the fire of wisdom and *prāṇa* are controlled. For a wise to make the *prāṇa* subtle in the heart is like a vow which gives pleasure. 29.

श्रीयोगिनः सञ्जितकामलोभक्रोधेन्द्रियस्वान्तधियः खमूर्त्तेः ।
नाडीविशुद्धेरनुवायुसिद्धौ संवित्तिभोगो हृदि जायते तदा ॥ ३० ॥

śrīyoginaḥ sañjitakāmalobha-
krodhendriyasvāntadhiyaḥ khamūrteḥ ||
nāḍīviśuddheranuvāyusiddhau
saṃvittibhogo hṛdi jāyate tadā || 30 ||

Tr. A great *yogī* who is the embodiment of void, who has overcome desire, greed, anger and the senses and has pacified the Self within, enjoys the state of consciousness in the heart followed by *nāḍīśuddhi* which follows control of *vāyu*. 30.

संवित्तियोगेन समृद्धयोऽलं श्रीयोगिनां यान्ति यदा[1] तदाऽमुम् ।
सुसिद्धयो भूरि भजन्ति सिद्धरूपोऽनिलो मध्यपथं तदैति ॥३१॥

saṃvittiyogena samṛddhayo'laṃ
śrīyogināṃ yānti yadā tadā'mum ||
susiddhayo bhūri bhajanti siddha-
rūpo'nilo madhyapatham tadaiti || 31 ||

Tr. For a great *yogī*, attainment of consciousness is enough for prosperity which brings the great supernatural powers in abundance, when the controlled *anila (prāṇa)* moves to the central path *(suṣumnā)*. 31.

चित्तं तदानन्दमयं मुनेः स्यात् सदैकरूपं विशदं नभोपमम्[2] ।
मनो यदा[3]नन्दमयं च बाह्यक्लेशोज्झितं[4] याति तदा समाधिः ३२

cittaṃ tadānandamayaṃ muneḥ syāt
sadaikarūpaṃ viśadaṃ nabhopamam ||
mano yadānandamayaṃ ca bāhya-
kleśojjhitaṃ yāti tadā samādhiḥ || 32 ||

---

1. पदा –b. 2. नभोमयं –a. 3. पदा –b. 4. क्लेशोस्फितं –b.

Tr. Then the mind of a *muni* gets replete with happiness, it becomes like a clear sky remaining in one state. The state of *samādhi* occurs when it (mind) is filled with Bliss being devoid of external *kleśas* (suffering). 32.

यदा चिदानन्दमयं समाधिं भजेन्मनो मध्यपथं प्रविष्टम् ।
समस्तदुःखोज्झितमेष[1] योगी करोति यत्तद्[2] भवति क्षणेन ।३३।

yadā cidānandamayaṃ samādhiṃ
bhajenmano madhyapathaṃ praviṣṭam ॥
samastaduḥkhojjhitameṣa yogī
karoti yattad bhavati kṣaṇena ॥ 33 ॥

Tr. When the *yogī* enjoys the blissful state of *samādhi*, by bringing the mind to central path (*suṣumṇā*) having been freed of the entire range of suffering, the *yogī* becomes successful in whatever he does. 33.

योगिनो जगति सिद्धिवर्ष्मणो लक्ष्यकायरचनादि[3] यदेतत्[4] ।
दूरतः श्रवणमन्यपुरान्तःसंप्रवेश इति साऽनिलसिद्धिः ॥ ३४ ॥

yogino jagati siddhivarṣmaṇo lakṣyakāyaracanādi yadetat ।
dūrataḥ śravaṇamanyapurāntaḥsaṃpraveśa iti sā'nilasiddhiḥ। 34।

Tr. The *yogī* who is accomplished, brings about (supernatural powers like) clairvoyance, knowledge of formation of the body and entering another body which is called *anilasiddhi*. 34.

हृद्वायुतत्वा[5]क्रमतस्तिसॄणां सिद्धिर्यदा स्यात्तु[6] महाभिधासौ ।
भवेत्तदा योगिवरोऽत्र जीवन्मुक्तः समाधिः स हि धर्ममेघः ॥३५॥

hṛdvāyutatvākramatastisṛṇāṃ
siddhiryadā syāttu mahābhidhāsau ॥
bhavettadā yogivaro'tra jīvan-
muktaḥ samādhiḥ sa hi dharmameghaḥ ॥ 35 ॥

Tr. The *siddhi* which follows transcendence of these three – *hṛt* (heart), *vāyu (prāṇa)* and *tatva* (mind) is considered the finest one. Then the great *yogī* attains liberation while living and such a state of *samādhi* is called *dharmamegha*. 35.

---

1. दुःखोकिकतमेष –b. 2. यः तद् –b. 3. रचनादि –a. 4. यदेतस्तु –b. 5. हृदायुतन्वां –b. 6. स्यात्त –a.

स्वेच्छागतिं संभजते तदानीं वायोर्जयात् सर्वविदस्तमोहः ।
पूज्यस्तथाऽव्याहतधी गताज्ञानन्दोऽखिलैश्वर्यगुणो मुनिः स्यात् ।३६।

svecchāgatiṃ saṃbhajate tadānīṃ
vāyorjayāt sarvavidastamohaḥ ॥
pūjyastathā'vyāhatadhī gatājñā-
nando'khilaiśvaryaguṇo muniḥ syāt ॥ 36 ॥

Tr. Then the *muni* can move at free will, since he has controlled *vāyu*. He becomes omniscient, free from delusion, is respected, enjoys unrestricted speed of intelligence, enjoys Bliss arising from dispelling of ignorance and the entire range of the (eight) *aiśvaryas* (Super-natural Powers). 36.

समस्तसिद्ध्याकलितो ह्यवध्यः समस्तभूतात्मक ईश्वरोऽपरः ।
सृष्टिस्थितिध्वंसविधौ समर्थो योगी भवेद्वायुमनोजये सति[1] ॥३७॥

samastasiddhyākalito hyavadhyaḥ
samastabhūtātmaka īśvaro'paraḥ ॥
sṛṣṭisthitidhvaṃsavidhau samartho
yogī bhavedvāyumanojaye sati ॥ 37 ॥

Tr. He becomes another *īśvara* by accumulating all the supernatural powers, who can not be destroyed and who pervades all the creatures. By gaining control over *prāṇa* and mind the *yogī* becomes able to manage the process of creation, sustenance and dissolution. 37.

अथ योगीश्वरस्वरूपम् —

atha yogīśvararūpam —

Here follows the nature of *yogīśvara*—

एतदुत्पन्नयोगारूढ[2]योगभेदाभ्यां द्विधा ॥

etadutpannayogārūḍhayogabhedābhyāṃ dvidhā ॥

There are two types of *yogīs*, namely, *utpanna* and *ārūḍha*.

तत्राद्यं यथा -

tatrādyaṃ yathā—

The former one is being explained—

1. सति –not in a. 2. योग्यारूढ –a.

न लीयते यावदिदं मनोन्तर्यावत्[1] स्फुरेन्नाद[2] उदात्त एकः ।
उत्पन्नयोगी कथितस्तु तावदारूढयोगस्तु ततः स सिद्धः ॥ ३८ ॥

na līyate yāvadidaṃ manontar-
yāvat sphurennāda udātta ekaḥ ॥
utpannayogī kathitastu tāvad-
ārūḍhayogastu tataḥ sa siddhaḥ ॥ 38 ॥

Tr. One is known as an *utpanna-yogī* who does not hear clear *nāda* and whose mind is not internally absorbed. When this happens, one becomes an *ārūḍha-yogī*. 38.

नाडीविशुद्ध्युत्तरमीरितौ ज्ञैरुत्पन्नयोगी हतसर्वदोषः ।
आरूढयोगो दशवत्सराद्वा[3] स्याद् द्वादशाब्दात् स सुयोगपूर्णः ३९

nāḍīviśuddhyuttaramīritau jñair-
utpannayogī hatasarvadoṣaḥ ॥
ārūḍhayogo daśavatsarādvā
syād dvādaśābdāt sa suyogapūrṇaḥ ॥ 39 ॥

Tr. According to the wise, an *utpanna-yogī* becomes free from all the blemishes followed by purification of the *nāḍīs*. An *ārūḍha-yogī* becomes full-fledged after ten or twelve years of practice. 39.

उत्पन्नयोगस्य तु योगिनोऽगं पुष्टं कृशत्वं समुपैति शुद्धम् ।
आरूढयोगस्य सुयोगिनोऽथ क्षीणं वपुः स्थौल्यमुपैति योगात्।४०।

utpannayogasya tu yogino'ṅgaṃ
puṣṭaṃ kṛśatvaṃ samupaiti śuddham ॥
ārūḍhayogasya suyogino'tha
kṣīṇaṃ vapuḥ sthaulyamupaiti yogāt ॥ 40 ॥

Tr. An *utpanna-yogī* has the limbs of the body well-nourished, slim and pure. The slim body of an *ārūḍha-yogī* becomes heavy. 40.

उत्पन्नयोगस्य मनस्तु योगिनो
बलात् स्थितिं नीयत आविलोलम् ॥
आरूढयोगस्य तु योगिनो मनश्
चलं कदाचिन्न[4] भवेत् स्वलक्ष्यात्[5] ॥ ४१ ॥

1. मनोतर्यावत् —a. 2. स्फुरेन्ना —b. 3. वत्सराध्य —b. 4. कदापिन —b. 5. सुलक्ष्यात् —b.

utpannayogasya manastu yogino
balāt sthitiṃ nīyata āvilolam ॥
ārūḍhayogasya tu yogino manaś-
calaṃ kadācinna bhavet svalakṣyāt ॥ 41 ॥

Tr. An *utpanna-yogī* forcefully brings the restive mind to stability. While the mind of an *ārūḍha-yogī* never deviates from the object of concentration. 41.

उत्पन्नयोगी तु सदैव खिन्न आरूढयोगः सुसुखी तथैव ।
उत्पन्नयोगी किल मन्दवह्निरारूढयोगस्तु महाशनः स्यात् ॥४२॥

utpannayogī tu sadaiva khinna
ārūḍhayogaḥ susukhī tathaiva ॥
utpannayogī kila mandavahnir-
ārūḍhayogastu mahāśanaḥ syāt ॥ 42 ॥

Tr. An *utpanna-yogī* is always distressed, while an *ārūḍha-yogī* is very happy. An *utpanna-yogī* indeed always suffers from poor appetite while an *ārūḍha-yogī* has a large appetite. 42.

जीर्यत[1] आरूढसुयोगिनोऽलं फलप्रसूनछदनादिसर्वम् ।
स्थानत्रयाद् भूर्यऽनिले प्रयाते तदोच्यते सिद्धि इति प्रवीणः ।४३।

jīryata ārūḍhasuyogino'laṃ
phalaprasūnachadanādisarvam ।
sthānatrayād bhūrya'nile prayāte
tadocyate siddhi iti pravīṇaḥ ॥ 43 ॥

Tr. When *prāṇa* moves away from the three points, an *ārūḍha-yogī* can easily digest all types of food. According to the experts this is attainment. 43.

Note: For *ārūrukṣu* and *yogārūḍha yogīs* refer to the *gītā*-vi.3. 43.

इति द्विविधयोगीलक्षणानि ॥

iti dvividhayogīlakṣaṇāni ॥

Here end the characteristics of the two types of *yogīs*.

---

1. जीर्यन्त –a.

पलयुगमदनाहताधराख्याऽवधि
यमिनो मरुतो जयोऽस्य[1] सिद्धिः ॥
प्रथममिह हि नाडिकाविशुद्धेर्
अनुमितत्वपलैः२५ पुरो घटोत्थाः ॥ ४४ ॥

palayugamadanāhatādharākhyā'vadhi
yamino maruto jayo'sya siddhiḥ ॥
prathamamiha hi nāḍikāviśuddher-
anumitatvapalaiḥ25 puro ghaṭotthāḥ ॥ 44 ॥

Tr. Success in controlling *prāṇa* does happen when a *yogī* holds breath for a couple of *palas* at *anāhata* and *(mūla-) adhara.* In the state of *ghaṭotthā*, *prāṇa* is held for twenty-five *palas* followed by purification of the *nāḍīs*. 44.

शरनयन२५पलोपरीष्टि[2]काले
परिचयनामनि शक्तिबोधमुख्याः ॥
इषु५घटिसमयान्तसिद्धयो या
हृदनिलभूतखं[3] बिन्दुसज्जयैः स्युः ॥ ४५ ॥

śaranayana25paloparīṣṭikāle
paricayanāmani śaktibodhamukhyāḥ ॥
iṣu5ghaṭisamayāntasiddhayo yā
hṛdanilabhūtakhaṃ bindusajjayaiḥ syuḥ ॥ 45 ॥

Tr. Chief achievements are like arousal of *kuṇḍalinī śakti* in the state named *paricaya*, when *prāṇa* is held for twenty-five *palas*. Control of *hṛt* (heart), *anila (prāṇa)*, *bhūta* (elements), space, *bindu* and *sat* (mind) occur when *prāṇa* is retained for five *ghaṭikās*. 45.

भूतेन्द्रियजयी योगी धारणायामृतम्भरः ।
सन्धौ षष्ट्यन्त्ययोर्भूम्योः[4] स्थितः संयमसिद्धिभाक् ॥ ४६ ॥

bhūtendriyajayī yogī dhāraṇāyāmṛtambharaḥ ।
sandhau ṣaṣṭyantyayorbhūmyoḥ sthitaḥ saṃyamasiddhibhāk।46।

Tr. A *yogī* gains control over *bhūtas* (elements) and senses through the practice of *dhāraṇā* and thus he is known as *ṛtaṃbhara* and qualifies for success in *saṃyama* by remaining in

1. जयोत्थ –b. 2.परीष्ट –b. 3. भूतख –b. 4. षष्ठांऽत्पयोर्भूम्योः —b.

this stage for sixty *ghaṭikās*. 46.

जितासनाख्यामधिकृत्य गन्धवत्यन्तमिष्टाः शुभसिद्धयो हि याः ।
ध्याने मुनौ षष्टिघटीमिते६० स्युः निष्पत्त्य[1]वस्थायुजि संयमेऽस्पृहे[2]४७

jitāsanākhyāmadhikṛtya gandhavaty-
antamiṣṭāḥ śubhasiddhyo hi yāḥ ॥
dhyāne munau ṣaṣṭighaṭīmite60 syuḥ
niṣpattyavasthāyuji saṃyame'spṛhe ॥ 47 ॥

Tr. From the state of *jitāsanā*, upto the state of *gandhavatī* in the practice of *dhyāna* (meditation) auspicious supernatural powers are attained. In the course of *saṃyama*, a *muni* remaining detached holds *prāṇa* for sixty *ghaṭikās*. This state is known as *niṣpatti*. 47.

इत ऊर्ध्वं द्वादशाहं संप्रज्ञातलयस्पृशि ।
स्युर्मनोजवदायिन्या आसनान्तं सिद्धयः ॥ ४८ ॥

ita ūrdhvaṃ dvādaśāhaṃ samprajñātalayaspṛśi ।
syurmanojavadāyinyā āsanāntaṃ siddhayaḥ ॥ 48 ॥

Tr. Hereafter for twelve days in the *āsana* one gains high mental speed and absorption in *samprajñāta* state. 48.

तत ऊर्ध्वं माससमात्रं योगस्थस्य परे पदे ।
अणिमाद्या यान्ति ता स्वं[3] व्युत्थाने योगसिद्धयः ॥ ४९ ॥

tata ūrdhvaṃ māsamātraṃ yogasthasya pare pade ।
aṇimādyā yānti tā svaṃ vyutthāne yogasiddhayaḥ ॥ 49 ॥

Tr. Thereafter, as one remains in the transcendental state of *yoga* for a month, one gains supernatural powers, namely, *aṇimā* etc. in the state of *vyutthāna*. 49.

निसर्गकुम्भसिद्धीनां कालः प्राक्केवलान् मुनेः ।
त्रिंशत्पलोत्तरं३० प्राणे लीने नाड्यां क्व कालभूः ॥ ५० ॥

nisargakumbhasiddhīnāṃ kālaḥ prākkevalān muneḥ ।
triṃśatpalottaraṃ30 prāṇe līne nāḍyāṃ kva kālabhūḥ ।50।

Tr. Prior to *kevala*, *nisarga-siddha-kuṃbhaka* is experienced. On exceeding thirty *palas* wherein a *muni* merges the *prāṇa* in the *nāḍī (suṣumnā)*, time does not exist. 50.

---

1. त्रिषप्तऽवस्था –b. 2. संयमेऽस्पृहे –a. 3. अनिमाद्यायातितास्वं –b.

तथा चोक्तं हठप्रदीपिकायाम —

tathā coktaṃ haṭhapradīpikāyām —

It has been stated in *haṭhapradīpikā*—

सूर्याचन्द्रमसौ धत्तः कालं रात्रिदिनात्मकम् ।
भोक्त्री सुषुम्णा कालस्य गुह्यमेतदुदीरितम् ॥ ५१ ॥

sūryācandramasau dhattaḥ kālaṃ rātridinātmakam ।
bhoktrī suṣumṇā kālasya guhyametadudīritam ॥ 51 ॥

Tr. Sun *(piṅgalā)* and moon *(iḍā)* represent the time in the form of night and day. But when *suṣumnā* is active time does not exist. This is the secret. 51.

वायुः परिचितो यस्मादग्निना सह कुण्डलीम् ।
बोधयित्वा सुषुम्णायां प्रविशेदनिरोधतः ॥ इति ॥ ५२ ॥

vāyuḥ paricito yasmādagninā saha kuṇḍalīm ।
bodhayitvā suṣumṇāyāṃ praviśedanirodhataḥ ॥ iti ॥ 52 ॥

Tr. The *paricita-vāyu*, along with *agni*, awakens *kuṇḍalī* and enters into *suṣumnā* without any obstructions. 52.

Note: *prāṇa* which has been controlled by continuous practice of *āsanas*, *kumbhaka* and *mudrā* is called *paricita-vāyu* (HP-iv.19). 52.

अत एवोक्तम् —

ata evoktam—

Therefore it has been said—

प्रत्याहारः पञ्चविंशत्पलैः स्यान्
नाडीभिर्वै पञ्चभिर्५ धारणा च ॥
ध्यानं प्रोक्तं षष्टिघट्यात्मकं६० ज्ञैः
शून्योऽर्काहं१२ द्वे पले प्राणरोधः ॥ ५३ ॥

pratyāhāraḥ pañcaviṃśatpalaiḥ syān-
nāḍībhirvai pañcabhir5 dhāraṇā ca ॥
dhyānaṃ proktaṃ ṣaṣṭighaṭyātmakaṃ60 jñaiḥ
śūnyo'rkāhaṃ12 dve pale prāṇarodhaḥ ॥ 53 ॥

Tr. According to the experts, (holding of *prāṇa* for) twenty five *palas* makes *pratyāhāra*, for five *nāḍīs* (*ghaṭi*) it is *dhāraṇā*, for sixty *ghaṭis* it is *dhyāna*. Retention of *prāṇa* for

twelve days brings about the state of *samādhi* along with retention of *prāṇa* for two *palas*. 53.

प्राणायाम याम[1] एकः१ पूर[2]कुम्भरेचात्मकः ।
चित्तवृत्तेर्द्विस्वभावो बहिरन्तः संसर्पणात्[3] ॥
अत एव द्विधा प्रोक्तः व्युत्थानविलयात्मकः ॥ ५४ ॥

prāṇāyāma yāma ekaḥ1 pūrakumbharecātmakaḥ ।
cittavṛtterdvisvabhāvo bahirantaḥ saṃsarpaṇāt ॥
ata eva dvidhā proktaḥ vyutthānavilayātmakaḥ ॥ 54 ॥

Tr. *prāṇāyāma* is defined as holding of *prāṇa* for one *yāma* (three hours) involving *pūraka*, *kuṃbhaka* and *recaka*. Modification of *citta* (mind) is said to be of two types since it moves outwardly and inwardly which are respectively of the nature of *vyutthāna* (active) and *vilaya* (absorption). 54.

लोलं मनः स्थितिपदं स्वल्पकालान्न लक्ष्यते ।
अतो न[1] कालनियमः कुम्भके योगसिद्धिभूः ॥ ५५ ॥

lolaṃ manaḥ sthitipadaṃ svalpakālānna lakṣyate ।
ato na kālaniyamaḥ kumbhake yogasiddhibhūḥ ॥ 55 ॥

Tr. A little practice does not bring about the stability of the restive mind. Therefore, time has no relevance in *kumbhaka* which forms the key to success in *yoga*. 55.

अवस्थासूचकः कालः स्थूलो यः स न सिद्धिभूः ।
निसर्गकुम्भजितहृल्लयजोऽल्पः स्वसिद्धिभूः ॥ ५६ ॥

avasthāsūcakaḥ kālaḥ sthūlo yaḥ sa na siddhibhūḥ ।
nisargakumbhajitahṛllayajo'lpaḥ svasiddhibhūḥ ॥ 56 ॥

Tr. The measure of time is superficial which has no importance in gaining success. *laya* (absorption) experienced even for a little while due to *nisarga-kumbhaka* in the heart leads to success. 56.

सः कालः अल्पः सूक्ष्मः ॥

saḥ kālaḥ alpaḥ sūkṣmaḥ ॥

That small duration of time means subtle time unit.

1. याम –अनुपलब्धपाठः —b. 2. पूरक –b. 3. प्रसर्पणात् —b. 4. अतो –a.

तथा चोक्तं भगवता पतञ्जलिना –

tathā coktaṃ bhagavatā patañjalinā –

Therefore, it has been stated by *bhagavān patañjali* in the following *sūtra*—

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः -- इति सूत्रे ॥ ५७ ॥

kṣīṇavṛtterabhijātasyeva maṇergrahītṛgrahaṇagrāhyeṣu tatsthatadañjanatā samāpattiḥ – iti sūtre ॥ 57 ॥

Tr. On complete restriction of all the fluctuations of *citta* (mind) consciousness undergoes a profound transformation like a precious jewel, wherein the experienced object, experiencing and the experiencer become identical. This is called the process of *samāpatti* (PYS-1.41). 57.

यथा निसर्गसंसिद्धकुम्भवृद्धिस्तथा मुनेः ।
तत्व[1]लैन्यस्थितौ कालक्रमवृद्धिं व्रजेन्मनः ॥ ५८ ॥

yathā nisargasaṃsiddhakumbhavṛddhistathā muneḥ ।
tatvalainyasthitau kālakramavṛddhiṃ vrajenmanaḥ ॥58॥

Tr. As the *nisarga-siddha-kumbhaka* gets prolonged, the mind of a *muni* gets absorbed in the Self for longer duration of time. 58.

सिद्धामनस्कयोगस्य धारणासिद्धिकालसूः ।
सूक्ष्मः स्थूलोऽभ्यासविधौ द्विः स्वभावतया हृदः ॥ ५९ ॥

siddhāmanaskyogasya
dhāraṇāsiddhikālasūḥ ॥
sūkṣmaḥ sthūlo'bhyāsavidhau
dviḥ svabhāvatayā hṛdaḥ ॥ 59 ॥

Tr. Attainment of *amanaskayoga* (absorption of mind) *dhāraṇā* are gross and subtle stages due to two conditions of the mind. 59.

नित्यं प्रपञ्चाकुलमानसस्य हि क्रमान्मनः स्थूलसुलक्ष्य[2]चिन्तनैः ।
शान्तं स्थितं स्यादनुसूक्ष्मलक्ष्ये काले[3] तथा प्रान्त[4]धराऽवलंबि॥६०॥

nityaṃ prapañcākulamānasasya hi
kramānmanaḥ sthūlasulakṣyacintanaiḥ ॥

1. तच्च –a. 2. सुलक्ष –a. 3. कीले –a. 4. प्रोत –a.

śāntaṃ sthitaṃ syādanusūkṣmalakṣye
kāle tathā prāntadharā'valambi ॥ 60 ॥

Tr. The mind which is generally distracted towards the mundane world is pacified and stabilized through gradual concentration on gross and subtle objects. Thus when it is indeed rendered subtle, it (mind) attains the state of *prāntabhūmi* (level of attainment). 60.

तथा च सूत्रम् —
tathā ca sūtram —
Here the *sūtra* follows—

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः[1] प्रज्ञा ॥ इति ॥ ६१ ॥
tasya saptadhā prāntabhūmiḥ prajñā ॥ *iti* ॥ 61 ॥

Tr. For him (who possesses this unceasing vision of discernment) there arises, in the last stage, the discriminative knowledge which is sevenfold (PYS-II.27). 61.

Note. Refer to PYS-II.27 for *prāntabhūmi*. 61.

योगं वुधा विदुर्ज्ञानं[2] तदिदं सप्तभूमिकम् ।
मुक्तिस्तु ज्ञेयमित्यास्ते भूमिकाभूमिकान्तरे[3] ॥ ६२ ॥
yogaṃ budhā vidurjñānaṃ tadidaṃ saptabhūmikam ।
muktistu jñeyamityāste bhūmikābhūmikāntare ॥ 62 ॥

Tr. According to the wise, the knowledge of *yoga* is sevenfold. By passing from one stage to the other, one attains liberation. 62.

ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता ।
विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसा ॥ ६३ ॥
jñānabhūmiḥ śubhecchākhyā prathamā samudāhṛtā ।
vicāraṇā dvitīyā tu tṛtīyā tanumānasā ॥ 63॥

सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽसंसक्ति[4]नामिका ।
पदार्थाभाविनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता ॥ ६४ ॥
sattvāpattiścaturthī syāttato'saṃsaktināmikā ।
padārthābhāvinī ṣaṣṭhī saptamī turyagā smṛtā ॥ 64 ॥

---

1. भूमौ –b. 2. योगविदुर्त्तानन्तदिदं–a. 3. भूमिकाभूकान्तरे –a. 4. ऽत्यासक्ति a.

Tr. First *jñānabhūmi* is known as *śubhecca*, second is *vicāraṇā*, third is *tanumānasā*, fourth is *satvāpatti* followed by (the fifth) *asaṃsakti*, sixth is *padārthābhāvinī* and seventh is *turyagā*. 63-64.

आसामन्तःस्थिता मुक्तिर्यस्यां भूयो न शोचति ॥ इति ॥ ६५ ॥

āsāmantaḥsthitā muktiryasyāṃ bhūyo na śocati ॥ *iti* ॥ 65॥

Tr. One who has established in the state of liberation will not suffer again. 65.

विस्तरस्तु वासिष्ठे द्रष्टव्यः ॥

vistarastu vāsiṣṭhe draṣṭavyaḥ ॥

For details, one may consult (*yoga-*) *vāsiṣṭha*.

सम्प्राप्तसप्तविध[1]भूप्रज्ञस्यान्त्यां सुभूमिकाम्[2] ।
मधुमत्यभिधां[3] साक्षात्कुर्वन्तः[4] सिद्धयस्तदा ॥ ६६ ॥

samprāptasaptavidhabhūprajñasyāntyāṃ subhūmikām ।
madhumatyabhidhāṃ sākṣātkurvantaḥ siddhayastadā।66।

Tr. After attaining the seven states of *prajñā* (discriminative knowledge), one realizes the auspicious stage called *madhumatī*, wherein the *siddhas* experience Self-realization. 66.

आविर्भवन्त्यतिक्रान्तभावनी[5] यस्य योगिनः ।
आद्यं भागे तु तुर्यस्य व्युत्थानेऽस्योपसर्गकाः ॥ ६७ ॥

. *āvirbhavantyatikrāntabhāvanī yasya yoginaḥ* ।
ādyaṃ bhāge tu turyasya vyutthāne'syopasargakāḥ ॥67॥

Tr. A *yogī* who attains the state called *atikrāntabhāvanī* in the initial part of *turya* (state) faces the *upasargas* (obstacles) in the state of *vyutthāna*. 67.

क्षणक्रमाभिसंयमाद्विसंविदुद्भवः --- ।
क्रमेण पक्वतां गतः स धर्ममेघभूर्मुनेः ॥ ६८ ॥

kṣaṇakramābhisaṃyamādvisaṃvidudbhavaḥ .... ।
*krameṇa pakvatāṃ gataḥ sa dharmameghabhūrmuneḥ*68

Tr. Practice of *saṃyama* undertaken on *kṣaṇa* (moment) and *krama* (sequence) will give arousal to *saṃvid*

---

1. समविध –b. 2. प्रज्ञस्थांऽत्यांसुभूमिकां –b. 3. मधुमत्यऽविधां –b. 4. कुर्वतः –b. 5. आविर्भवन्ति क्रान्तभावनी यस्य –b.

(consciousness), which when matured is known as the state of *dharmamegha*. 68.

Note. Refer to PYS-II.52. 68.

प्रत्याहारस्तेन यामात्मकोऽयं
कुम्भस्योच्चैः स्थैर्यसिद्धिक्रमेण ॥
चित्तस्थैर्यं कर्त्तुमेषः क्रमेण
सिद्ध्यै कालः स्यात् पलैरत्र तत्वैः२५ ॥ ६९ ॥

pratyāhārstena yāmātmako'yaṃ
kumbhasyoccaiḥ sthairyasiddhikramena ॥
cittasthairyaṃ karttumeṣaḥ kramena
siddhyai kālaḥ syāt palairatra tatvaiḥ25 ॥ 69 ॥

Tr. Practice of *pratyāhāra* for one *yāma* (three hours) with a heightened *kuṃbhaka* through perfection of gradual stability will cause stability of *citta*. Practice of *pratyāhāra* for 25 *palas* (one *pala* = 24 seconds) will subsequently bring about success. 69.

पञ्चविंशत्पलः२५ कालः प्रत्याहारे ससिद्धिभूः[1] ।
निसर्गसिद्धकुम्भस्य कालो यामात्मको मतः ॥ ७० ॥

pañcaviṃśatpalaḥ25 kālaḥ pratyāhāre sasiddhibhūḥ ।
nisargasiddhakumbhasya kālo yāṃātmako mataḥ ॥ 70 ॥

Tr. *pratyāhāra* is perfected when practised for twenty-five *palas*. It is considered that *nisargasiddha-kuṃbhaka* takes one *yāma* to be perfected. 70.

प्रत्याहारस्याद्यकालोऽ२५र्कनिघ्नः[2] स्थोऽणु[3]र्धारणोक्तेषु५ नाडी ।
शक्तेर्बोधाऽत्र[4] कालव्यवस्था कौम्भिका केवले कुम्भकेन[5] ॥७१॥

pratyāhārasyādyakālo25rkanighnaḥ
stho'ṇurdhāraṇoktesu5 nāḍī ॥
śakterbodhā'tra kālavyavasthā
kaumbhikā kevale kumbhakena ॥ 71 ॥

Tr. The time duration for *pratyāhāra* is twenty-five *arka* (*palas*). *dhāraṇā* takes five *nāḍīs* (one *nāḍī* = 24 minutes). This understanding of time is for arousal of *śakti* which gives rise to *kevala-kumbhaka*. 71.

---

1. प्रत्याहारेषु सिद्धिभूः —b. 2. कालोऽ२५कंनिघ्नः —b. 3. स्योऽणु –b. 4. शक्तेबोधात्र – a. 5. कौमीकाविकेवलेमकेन –a.

ध्याने समाधाविति योजनीयं स्वं केवले कुम्भक उन्मनीभवः ।
यदा तदाऽपास्तमलं मनोऽदोऽभ्यासक्रमाद्याति समाधिसिद्धिः ॥७२॥

dhyāne samādhāviti yojanīyaṃ
svaṃ kevale kumbhaka unmanībhavaḥ ॥
yadā tadā'pāstamalaṃ mano'do'-
bhyāsakramādyāti samādhisiddhiḥ ॥ 72 ॥

Tr. One may apply this in the practice of *dhyāna* and *samādhi* as well. The state of *unmanī* occurs in the practice of *kevala-kuṃbhaka*, and then mind is cleansed of impurities. Gradual practice consequently brings about *samādhi*. 72.

तथा चोक्तं शिवसंहितायाम् —

tathā coktaṃ śivasaṃhitāyām—

It is stated in *Śivasaṃhitā*—

याममात्रं यदा धर्तुं समर्थः स्यादतन्द्रितः ।
प्रत्याहारस्तदैव स्यान्नान्तरा भवति ध्रुवम् ॥ इति ॥ ७३ ॥

yāmamātraṃ yadā dhartuṃ samarthaḥ syādatandritaḥ ।
pratyāhārastadaiva syānnāntarā bhavati dhruvam ॥*iti*॥73॥

Tr. When one is able to diligently hold (the *prāṇa*) for one *yāma* (three hours), then alone *pratyāhāra* is perfected surely and not otherwise. 73.

तदेवं प्रत्याहारे निसर्गसिद्धकुम्भस्थूलकालो याममात्रम् ॥ ७४ ॥

tadevaṃ pratyāhāre nisargasiddhakumbhasthūlakālo yāmamātram ॥ 74 ॥

Tr. Gross measure of time for *nisargasiddha-kuṃbhaka* in (the course of) *pratyāhāra* practice is only one *yāma*. 74.

अत्र स्थितस्य साधकस्याभीष्टतत्वे पञ्चविंशतिपलानि२५ लीनं यत्स सूक्ष्मः प्रधानप्रत्याहारारम्भयोर्योगसिद्धिकालः ॥ ७५ ॥

atra sthitasya sādhakasyābhīṣṭatatve pañcaviṃ śatipalāni25 līnaṃ yatsa sūkṣmaḥ pradhānapratyāhārārambhayoryogasiddhikālaḥ ॥ 75 ॥

Tr. A practitioner can get merged in a desired *tatva* (object) maintaining the state for twenty-five *palas*. This forms the chief practice of *pratyāhāra* and also of *ārambha* state which is subtle, and is the time of success in *yoga*. 75.

एवमुत्तरोत्तरं धारणादौ सिद्धिकालभूमिषु संयमपरिणामानुरूपं निकृष्ट[1]मध्यप्रवरसिद्धयो व्युत्थान आविर्भवन्तीति ज्ञेयं ॥ ७६ ॥

evamuttarottaraṃ dhāraṇādau siddhikālabhūmiṣu saṃ yamapariṇāmānurūpaṃ nikṛṣṭamadhyapravarasiddhayo vyutthāna āvirbhavantīti jñeyam ॥ 76 ॥

Tr. Similarly, one should learn that subsequently in the practice of *dhāranā* etc. time for successful attainment of such a state would befall according to the results of *saṃyama* which may vary as inferior, intermediate and superior, in the state of *vyutthāna*. 77.

आयामे पलयुग्म२काल[2] उदितस्तत्वोन्मुखः[3] चेतसि
नाडीशुद्ध्य[4]वसानतो हि सहजे सिद्धे सुकुम्भे सति ॥
काल[5]सार्द्धघटीमितं१ रसपलं६ स्थूलोऽथ[6] यामं मुनेः
प्रत्याहार इहाणुरुक्त इषुदृक्संख्यैः२५ पलैः सिद्धिभूः ॥ ७८ ॥

ayame palayugma2kāla uditastatvonmukhaḥ cetasi
nadisuddhyavasānato hi sahaje siddhe sukumbhe sati ॥
kalasārddhaghaṭīmitaṃ1 rasapalaṃ6 sthūlo'tha yāmaṃ muneḥ
pratyāhāra ihāṇurukta iṣudṛksaṃkhyaiḥ25 palaiḥ siddhibhūḥ॥78॥

Tr. If *prāṇāyāma* is practised for a couple of *palas*, preceding completion of purification of the *nāḍīs* followed by the *sahaja-kuṃbhaka*, it indeed directs the mind towards the *tatva* (Self). If *pratyāhāra* is maintained for one *ghaṭī* and for six *palas*, or even for one *yāma*, it is a gross practice. *pratyāhāra* practised for 25 *palas* by a *muni* is considered subtle which brings success. 78.

अथ सिद्धलक्षणानि –

atha siddhalakṣaṇāni—

Here follows the characteristics of a *siddha*—

देहान्तर्मरुतां[7] क्रियाश्च धमनीचक्रं च मर्माणि वै
योगस्याभ्यसनं तदंगनिवहैर[8]न्यांगसंयोजनम् ॥
स्वेच्छोत्क्रान्तिविधानकं त्विति पुनः सिद्धस्य सल्लक्षणं
प्रोक्तं सिद्धवरैर्बुधैर्वसुमितैः सद्योगशास्त्रे शुभम् ॥ ७९ ॥

---

1. विकृष्ट –b. 2. कील –a. 3. मुखे –b. 4. नाडीशुध्याः –b. 5. कीलं –a. 6. स्थूलो –b. 7. देहान्तमहितां –a. 8. तदंगनिघ्नैहैर –b.

dehāntarmarutāṃ kriyāśca dhamanīcakraṃ ca marmāṇi vai
yogasyābhyasanaṃ tadaṅganivahairanyāṅgasaṃyojanam ||
svecchotkrāntividhānakaṃ tviti punaḥ siddhasya sallakṣaṇaṃ
proktaṃ siddhavarairbudhairvasumitaiḥ sadyogaśāstre śubham
|| 79 ||

Tr. Practice of *yoga* involving bodily *vāyus* and their functions, the network of the *nāḍīs*, the vitals points and combination of different *yoga* practices and ability to leave the body at will (and also to return) are the ideal characteristics of a *siddha* according to the eminent *siddhas* as laid down in the authoritative scriptures. 79.

अन्यच्च –

anyacca--

Another opinion—

द्वन्द्वहानिः सुखा[1]वाप्तिरारोग्यं वश्य[2]चित्तता ।
जितेन्द्रियत्वमक्रोधः कृपा च जनगोपिता ॥ इति ॥ ८० ॥

dvandvahāniḥ sukhāvāptirārogyaṃ vaśyacittatā ।
jitendriyatvamakrodhaḥ kṛpā ca janagopitā || *iti* || 80 ||

Tr. Freedom from conflicts, enjoyment of pleasure, good health, control of the mind, control of senses, freedom from anger, kindness and seclusion (are the characteristics of a *siddha*). 80.

गुरुप्रसादा[3]न्मरुदेव साधितस्
तेनैव चित्तं पवनेन साधितम् ॥
स एव योगी स जितेन्द्रियः सुखी
मूढा न जानन्ति कुतर्कवादिनः ॥ ८१ ॥

guruprasādānmarudeva sādhitas-
tenaiva cittaṃ pavanena sādhitam ||
sa eva yogī sa jitendriyaḥ sukhī
mūḍhā na jānanti kutarkavādinaḥ || 81 ||

Tr. By the grace of a *guru*, *prāṇa* is controlled, by which the mind is brought under control. He is a *yogī* who has controlled the senses and is happy, who is not understood by the uninformed sceptics. 81.

---

1. सुख -b. 2. रारोग्यवश्य -b. 3. प्रसादन -b.

चित्तप्रनष्टं यदि भासते वै तत्र प्रतीतो मरुतोऽपि[1] नाशः ।
न वा यदि स्यान्न तु तस्य शास्त्रं नात्मप्रतीतिर्न गुरुर्न मोक्षः॥८२॥

cittapranaṣṭaṃ yadi bhāsate vai
tatra pratīto maruto'pi nāśaḥ ॥
na vā yadi syānna tu tasya śāstraṃ
nātmapratītirna gururna mokṣaḥ ॥ 82 ॥

Tr. If it appears that *citta* (mind) becomes standstill, *prāṇa* too becomes stable. If it does not happen so, for him the scriptures, self-experience, a *guru* and even liberation have no meaning. 82.

यो ब्रह्मचारी मितपथ्यभोजी
जितासनो योगपरायणश्च ॥
त्यागी सदाभ्यासत[2] एति वर्षात्
सिद्धेः पदं चानु[3] स नाडीशुद्धेः[4] ॥ ८३ ॥

yo brahmacārī mitapathyabhojī
jitāsano yogaparāyaṇaśca ॥
tyāgī sadābhyāsata eti varṣāt
siddheḥ padaṃ cānu sa nāḍīśuddheḥ ॥ 83 ॥

Tr. One who is a celibate, consumes nutritious and recommended food, has mastered the *āsanas*, devoted to *yoga*, is detached attains success in one year through regular practice followed by purification of the *nāḍīs*. 83.

यदैव नाडीवलयं विशुद्धं विध्वस्तपापस्य समीररोधात् ।
तदैष आरम्भदशाप्रवेशो मुनेस्तनौ नाडिविशुद्धिलक्षणा[5] ॥ ८४ ॥

yadaiva nāḍīvalayaṃ viśuddhaṃ
vidhvastapāpasya samīrarodhāt ॥
tadaiṣa ārambhadaśāpraveśo
munestanau nāḍiviśuddhilakṣaṇā ॥ 84 ॥

Tr. When the entire set of the *nāḍīs* is purified of the morbidities through *prāṇāyāma*, then alone a *muni* enters the stage of *ārambha*, which is signified by the purification of the *nāḍīs* in the body. 84.

---

1. प्रतीतोऽपि –a. 2. सदाऽभ्यासत् –a. 3. वानु –a. 4. नाडिशुद्धेः –b. 5. लक्षणं –b.

तदुक्तं हठप्रदीपिकायाम् —
taduktaṃ haṭhapradīpikāyām —
According to *haṭhapradīpikā*—

वपुःकृशत्वं वदने प्रसन्नता
नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले[1] ॥
अरोगता बिन्दुजयोऽग्निदीपनं
नाडीविशुद्धिर्हठसिद्धिलक्षणम् ॥ इति ॥ ८५ ॥

vapuḥkṛśatvaṃ vadane prasannatā
nādasphuṭatvaṃ nayane sunirmale ॥
arogatā bindujayo'gnidīpanaṃ
nāḍīviśuddhirhaṭhasiddhilakṣaṇam ॥ *iti* ॥ 85 ॥

Tr. The signs of success in *haṭhayoga* are—slimness of the body, cheerful face, hearing of the mystical sound, brightness in the eyes, sense of well-being, control over the *bindu*, increase in gastric fire and purification of the *nāḍīs*. 85.

अवस्थात्रिभिर्वत्सरैः सिद्धिमेत्य[2]
मुनेर्याति[3] चेड्या शुभाभ्यासभाजः ॥
अवस्थाभिरेवं च तुर्याभिरुच्चैर्
व्रजेत्[4] पूर्णतां योग उत्साहधैर्यात् ॥ ८६ ॥

avasthātribhirvatsaraiḥ siddhimetya
muneryāti ceḍyā śubhābhyāsabhājaḥ ॥
avasthābhirevaṃ ca turyābhiruccair-
vrajet pūrṇatāṃ yoga utsāhadhairyāt ॥ 86 ॥

Tr. Through several years of auspicious and devoted practice, a *yogī* gains success in three *avasthās* (stages). Thereafter, by attaining the fourth stage, one attains the highest state of *yoga* through endeavour and patience. 86.

आरम्भश्च घटश्चैव तथा परिचयो मुनेः ।
निष्पत्तिर्योगसिद्धीनामवस्था[5]सूचकाः क्रमात् ॥ ८७ ॥

ārambhaśca ghaṭaścaiva tathā paricayo muneḥ ।
niṣpattiryogasiddhīnāmavasthāsūcakāḥ kramāt ॥ 87 ॥

Tr. *ārambha*, *ghaṭa*, *paricaya* and *niṣpatti* are the

---

1. सुनिर्मलं -b. 2. सिद्धिमका —b. 3. मुने यान्ति -b. 4. वंजेत् —b. 5. नामःवस्था —b.

stages in sequence signifying success to a *muni*. 87.

अथ भूरितरादरिताभ्यसनाच्छुभबिन्दुजयस्य विभूतितया ।
चरभूचरसिद्धिबलं लभते गजसिंहपराजयकृन् मुनिराट् ॥ ८८ ॥

atha bhūritarādaritābhyasanāc-
chubhabindujayasya vibhūtitayā ॥
carabhūcarasiddhibalaṃ labhate
gajasiṃhaparājayakṛn munirāṭ ॥ 88 ॥

Tr. Success in controlling auspicious *bindu* occurs through intense and devoted practice. This subsequently follows gaining control over all the creatures on the earth and also (gaining power) to defeat elephant and lion by a *muni*. 88.

कन्दर्परूपादति[1]रम्यरूपं काम्यो वधूनां भवतीद्धकान्त्या[2] ।
मुनिः सदाऽभ्यासजिताग्निवीर्याद् भृशाशनैर्नार्तिमुपैत्यऽतृप्त्या[3]।८९।

kandarparūpādatiramyarūpaṃ
kāmyo vadhūnāṃ bhavatīddhakāntyā ॥
muniḥ sadā'bhyāsajitāgnivīryād
bhṛśāśanairnārtimupaitya'tṛptyā ॥ 89 ॥

Tr. A *muni* due to extreme lustre, becomes more handsome than a cupid or even more handsome so as to become attractive to women,. A *muni* gains control over increased gastric fire through practice and thus being powerful, does not suffer due to overeating or out of dissatisfaction. 89.

निसर्गसिद्धाद्रिघटी७मितकुम्भे भवेदिह ।
पलाष्टकः८ स्मरहरा भुवि रूपं बलं मुनेः ॥ ९० ॥

nisargasiddhādrighaṭī7mitakumbhe bhavediha ।
palāṣṭakaḥ8 smaraharā bhuvi rūpaṃ balaṃ muneḥ ॥ 90 ॥

Tr. *nisargasiddha-kumbhaka* is maintained for 7 *ghaṭis*, while in the stage of *smaraharā*, it is maintained for 8 *palas* and a *muni* attains lustre and strength. 90.

1. रूपाऽति –a. 2. भवतीद्दकात्या –a. 3. र्नार्तिमुपैत्यऽतृष्णा –b.

|| इति सुन्दरदेवविरचितायां हठतत्वकौमुद्याम्
आरम्भावस्थाहठसिद्धिकालभूमिका[1]विवेचनोद्योतः ||

|| iti sundaradevaviracitāyāṃ
haṭhatatvakaumudyāmārambhāvasthā-
haṭhasiddhikālabhūmikāvivecanodyotaḥ ||

Here ends the chapter narrating the state of *ārambha* and time taken for gaining success in *haṭha* in *haṭhatatvakaumudī* composed by *sundaradeva.*

|| इत्यारम्भावस्थोल्लासस्तृतीयः ||३||

|| ityārambhāvasthollāsastṛtīyaḥ ||

This is the end of the third chapter
on *ārambha* state.

---

1. सिद्धिकालभूमिकायोगभूमिकादि --b.

Chapter—41

अथ प्रत्याहारापराभिधघटावस्थोल्लासः —

atha pratyāhārāparābhidhaghaṭāvasthollāsaḥ —

Here follows the chapter on the state of *ghaṭa* which is synonym of *pratyāhāra*—

क्रमेण भूम्यन्तरलब्धिमिच्छुर[1]भ्यासदैर्घ्येण सुसाधको[2] यः ।
विजित्य पूर्वां सपरां समीपाद्यथाक्रमं न त्वरया न मन्दम् ॥ १ ॥

kramena bhūmyantaralabdhimicchur-
abhyāsadairghyeṇa susādhako yaḥ ॥
vijitya pūrvāṃ saparāṃ samīpād-
yathākramaṃ na tvarayā na mandam ॥ 1 ॥

Tr. A *sādhaka* desirous of scaling the higher *bhūmis* (stages) through sustained practice, should first of all gain mastery over the previous stages not in a hurried or slow manner. 1.

प्राणोऽयमुष्णोऽस्ति रजोगुणोऽर्को
ह्यपान इन्दुः शिशिरस्तमोगुणः ॥
छायातपावस्य[3] वहौ चिदर्कः[4]
सोमो जडो वर्ष्म चिदग्निभूर्द्वयोः ॥ २ ॥

prāṇo'yamuṣṇo'sti rajoguṇo'rko
hyapāna induḥ śiśirastamoguṇaḥ ॥
chāyātapāvasya vahau cidarkaḥ
somo jaḍo varṣma cidagnibhūrdvayoḥ ॥ 2 ॥

Tr. *prāṇa* is hot and *rājasika* in nature which represents sun. *apāna* representing moon is cool and *tāmasika* in nature. Sun and moon are the conductors of shadow and sunshine representing the two— fire and earth respectively of the inert body. 2.

आरम्भकालोत्तरमस्य योगिनो घटादि सिद्ध्येत्त्रितयं[5] क्रमेण ।
भाक्तं सुदूर[6]श्रवणेक्षितादि[7] स्वाभीप्सितं स्यादणिमादि यस्मिन् ३

ārambhakālottaramasya yogino
ghaṭādi siddhyettritayaṃ kramena ॥
bhāktaṃ sudūraśravaṇekṣitādi
svābhīpsitaṃ syādaṇimādi yasmin ॥ 3 ॥

---

1. लब्धिमिच्छुरः —b. 2. सुप्ताधको –a. 3. छायातयावःस्थ –b. 4. चिदःर्क —b. 5. सिध्येत्रितयं –b. 6. सदूर –b. 7. श्रवणेनाक्षिदि –b.

Tr. Followed by the state of *ārambha*, the *yogī* undergos the three stages like *ghaṭa* etc. in sequence. This will enable him to enjoy clairaudience, clairvoyance as desired and attainment of *aṇimā* etc. and also other secondary supernatural powers. 3.

अथ तद्विभागः —

atha tadvibhāgaḥ —

Its division is as follows—

यथा यथा योगी[1] यमादिशौचं तथा तथा चेतसि सम्प्रसादः ।
सिद्ध्युन्मुखत्वं च तथा घटेऽस्य[2] प्रत्याहृतिः प्राणहृदोः प्रपञ्चात्४

yathā yathā yogī yamādiśaucaṃ
tathā tathā cetasi samprasādaḥ ॥
siddhyunmukhatvaṃ ca tathā ghaṭe'sya
pratyāhṛtiḥ prāṇahṛdoḥ prapañcāt ॥ 4 ॥

Tr. As the *yogī* progressively gets purified through the practice of *yama* etc., he enjoys pacification of the mind and heads towards success. Moreover, he withdraws from the mundane world. 4.

प्राणा इन्द्रियाणि प्रवृत्तमात्रत्वं तदुक्तमल्पं ज्ञानं च सत्वं हृदि ।
सम्प्रसादादृतम्भरप्रज्ञबुधाग्ररूपं निर्विचार[3]वैशारद्ये[4] स्यात् ॥५॥

prāṇā indriyāṇi pravṛttamātratvaṃ
taduktamalpaṃ jñānaṃ ca satvaṃ hṛdi ॥
samprasādādṛtambharaprajñabudhāgra-
rūpaṃ nirvicāravaiśāradye syāt ॥ 5 ॥

Tr. Involvement of *prāṇa* and sense organs results into limited knowledge. Thoughtless state culminates in pacification of the mind giving rise to *ṛtambharāprajñā*. 5.

जितानल[5]प्राणहृदो घटान्ते[6] वाक्सिद्ध्यदृश्यादि[7] च खेचरत्वम् ।
दधत्यमुख्यामिह संयमोत्थां[8] सिद्धिं सुसूक्ष्मां खजयेऽक्षवर्गाः ॥६॥

jitānalaprāṇahṛdo ghaṭānte
vāksiddhyadṛśyādi ca khecaratvam ॥
dadhatyamukhyāmiha saṃyamotthāṃ
siddhiṃ susūkṣmāṃ khajaye'kṣavargāḥ ॥ 6 ॥

1. योगि –b. 2. घटेऽस्य –b. 3. निर्विशरेण –b. 4. विशारद्ये –b. 5. जिताऽनल –b. 6. हृददोषघटांऽते –b. 7. वाक्सिद्धिद्धाऽदृश्यादि –b. 8. संयमोस्यां –b.

Tr. By gaining control over fire and *prāṇa* in the *ghaṭa* stage, one achieves control on speech, ability to disappear and movement in the space. Moreover, one gains subtle secondary *siddhis* arising out of *saṃyama* through control over ether element and the sense organs. 6.

दूरश्रुतिर्दूरगति[1]स्तथान्यपुरप्रवेशो भुवि कामचारिता ।
स्यात् प्रातिभश्रावणकाद्यतीतज्ञानं च सामान्यत उद्भवेद् घटे ॥७॥

dūraśrutirdūragatistathānya-
purapraveśo bhuvi kāmacāritā ॥
syāt prātibhaśrāvaṇakādyatīta
jñānaṃ ca sāmānyata udbhaved ghaṭe ॥ 7 ॥

Tr. Thus one will generally have clairaudiance, travel to distant (place), entering another body, free movement, intuitional knowledge in hearing and other (senses) and knowledge of the past arising in the *ghaṭa* stage. 7.

वाक्शक्तिधामस्थितिचक्रभेदप्रभावतः प्रातिभकादिसंवित्[2] ।
दूरे गतिर्वायुजयात्परात्मप्रवेशनाद्यक्षजया[3]नुरूपम् ॥ ८ ॥

vākśaktidhāmasthiticakrabheda-
prabhāvataḥ prātibhakādisaṃvit ॥
dūre gatirvāyujayātparātma-
praveśanādyakṣajayānurūpam ॥ 8 ॥

Tr. Piercing of the (*mūlādhāra-*)*cakra* where speech is located gives rise to intuitional knowledge. One can have access to distant places. Moreover, by controlling *prāṇa,* one can have ability to enter another body and also the control of the senses. 8.

मूलारसञ्चिन्तनतोऽत्र नादोद्भवः ह्यपानं[4] जयतोऽनिलस्य[5] ।
स्वं वर्ष्मभूम्यम्बुमले[6] प्रदग्धे योगाग्निना दृश्य[7]मुपैति दिव्यम् ॥९॥

mūlārasañcintanato'tra nādo-
dbhavaḥ hyapānaṃ jayato'nilasya ॥
svaṃ varṣmabhūmyambumale pradagdhe
yogāgninā dṛśyamupaiti divyam ॥ 9 ॥

---

1. दूरगगति –b. 2. सञ्वित् —b. 3. प्रवेशनाद्यऽस्यजया –b. 4. खपानं –b. 5. निलस्पस्वं –b. 6. स्वंवर्ष्यभूम्यांऽवुमले –b. 7. योनिनादश्य –b.

Tr. Meditation on the *mūlādhāra* generates *nāda*. By controlling *prāṇa*, one gains control over *apāna*. When the impurities of earth and water elements in the body are burnt out through the fire produced by practice of *yoga*, one gets divine vision. 9.

अस्मात् प्रत्याहारतो हृद्विकारं
योगी सर्वं दूरतः सञ्जहाति ॥
बाह्यानन्दे उन्मुखकानां[1] प्रवृत्तेर्व्यावृत्तिः
स्यात् संम्भवेऽस्यैहिकार्थे ॥ १० ॥

asmāt pratyāhārato hṛdvikāram
yogī sarvam dūrataḥ sañjahāti ॥
bāhyānande unmukhakānām pravṛtter-
vyāvṛttiḥ syāt sambhave'syaihikārthe ॥ 10 ॥

Tr. A *yogī* through the practice of *pratyāhāra* fully gets rid of mental disturbances. External involvement into the mundane world is entirely withdrawn. 10.

प्रत्याहृतं विषयसंगतबाह्यखौघो
व्यापारशून्य उपयाति तदैकतत्त्वे ॥
यत्रात्मनि व्रजति चित्तमदो[2]ऽनिलेन
भृंग्योऽनुयान्त्यऽलिपतिं हि यथोत्पतन्तम् ॥ ११ ॥

pratyāhṛtau viṣayasaṃgatabāhyakhaugho
vyāpāraśūnya upayāti tadaikatatve ॥
yatrātmani vrajati cittamado'nilena
bhṛṅgyo'nuyāntya'lipatim hi yathotpatantam ।11।

Tr. Withdrawal from the external sensual world renders the mind free from activities. Thus it gets absorbed in the self. Through onepointedness the mind turns towards the Self along with the *prāṇa* like the black bees follow their leader. 11.

त्यक्तानि शब्दादिषु खानि योगी चित्तानुकारिण्यभिसन्दधाति यः
प्रत्याहृती सक्तमतिः[3] पराऽतः प्रजायतेऽक्षव्रजवश्यता तदा ।१२।

tyaktāni śabdādiṣu khāni yogī
cittānukāriṇyabhisandadhāti yaḥ ॥

---

1. वासानन्दङ्मुखकानां —b. 2. चित्तामदो —a. 3. सक्तप्रतिः —b.

pratyāhṛtau saktamatiḥ parā'taḥ
prajāyate'kṣavrajavaśyatā tadā ॥ 12 ॥

Tr. A *yogī* puts an end to the objects like ether, of *śabda* etc. which take to form in the *citta* (mind). Therefore, practice of *pratyāhāra* leads to control of the movement of the senses. 12.

यथेष्टसञ्चारि नभः स्वतो मनो
मित्रं ततः प्राणनिरोधनेन ॥
रोधं मनो[1] गच्छति रोधितेऽस्मिन्
व्यापारशून्यानि भवन्ति खानि ॥ १३ ॥

yatheṣṭasañcāri nabhaḥ svato mano
mitram tataḥ prāṇanirodhanena ।
rodham mano gacchati rodhite'smin
vyāpāraśūnyāni bhavanti khāni ॥ 13 ॥

Tr. The mind wanders on its own in the space which can be brought under control through the practice of *prāṇāyāma*. When the mind is controlled, the senses within are freed from activities. 13.

भारते —

bhārate—

It has been stated in (*mahā-*)*bhārata*—

इन्द्रियाणां स्वविषयबुद्धेः[2] प्रत्येकं[3]शस्तु यः ।
करोत्याहरणं ज्ञेयं प्रत्याहारः स पण्डितैः ॥ १४ ॥

indriyāṇām svaviṣayabuddheḥ pratyekamśastu yaḥ ।
karotyāharaṇam jñeyam pratyāhāraḥ sa paṇḍitaiḥ ॥ 14 ॥

Tr. According to the scholars, effective withdrawal of the senses from their respective objects with due deliberation is called *pratyāhāra*. 14.

प्रत्याहृत्य रसीभ्य आशु रसनान्तां तालुरन्ध्रे मुनिः
कृत्वोर्ध्वं ह्यमृतं[4] पिबेद् गतरसासक्तिस्तदा स्यादतृद् ॥
गन्धस्पर्शसुरूपशब्दविषयेभ्यः स्वान्तमाहृत्य वै
प्राणायामक आत्मचिन्तनदृढाभ्यासैश्च गन्धादिजित् ॥१५॥

---

1. ममनो –b. 2. स्वविषबुद्धेः –b. 3. प्रत्येक –b. 4. स्वःमृतं –b.

pratyāhṛtya rasebhya āśu rasanāntāṃ tālurandhre muniḥ
kṛtvordhvaṃ hyamṛtaṃ pibed gatarasāsaktistadā syādatṛt ॥
gandhasparśasurūpaśabdaviṣayebhyaḥ svāntamāhṛtya vai
prāṇāyāmaka ātmacintanadṛḍhābhyāsaiśca gandhādijit ॥ 15 ॥

Tr. A *muni* sucks the nectar by withdrawing from other taste and quickly raising and inserting the tip of the tongue in the cavity beyond the soft palate. As a result one transcends the attraction towards objects like thirst etc. By withdrawing internally from the objects of smell, touch, form, sound and by focusing on the Self through the diligent practice of *prāṇāyāma*, one overcomes the senses like smell etc. 15

मेध्यामेध्यं स्पर्शमस्पर्श[1]मुच्चैर्मिष्टामिष्टं हारि वाचाऽप्रियं वा ।
त्वग्दृग्जिह्वा[2]श्रोत्रखैस्तं तमात्मेत्यापाद्य व्यावर्त्तयेत् स्थैर्यहेतोः१६

medhyāmedhyaṃ sparśamasparśamuccair-
miṣṭāmiṣṭaṃ hāri vācā'priyaṃ vā ।
tvagdṛgjihvāśrotrakhaistaṃ tam-ātmety-
āpādya vyāvarttayet sthairyahetoḥ ॥ 16 ॥

Tr. To gain stability, one should transcend both favourable or unfavourable, touchable or non-touchable, tasty or insipid, pleasant or unpleasant speech, withdrawing from sense organs like eyes, ears, skin, tongue—considering all of them as part of the Self. 16.

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं यच्च किञ्चिच्चराचरम् ।
तं तमात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् ॥ १७॥

ābrahmastambaparyantaṃ yacca kiñciccarācaram ।
taṃ tamātmeti vijñāya pratyāharati yogavit ॥ 17 ॥

Tr. A learned *yogī* exercises withdrawal of the senses considering them all mobile or stationary, from a post upto *brahma* as the Self alone. 17.

सर्वे रोगा आसनैर्यान्ति नाशं प्राणायामो वज्रमंहोमहाद्रेः ।
प्रत्याहारान्मानसं निर्विकारं चित्ते धैर्यं योगिनो धारणाभिः ॥१८॥

sarve rogā āsanairyānti nāśaṃ
prāṇāyāmo vajramaṅhomahādreḥ ॥

1. स्पर्शमःस्पर्श —b. 2. त्वगृजिह्वा —b.

pratyāhārānmānasaṃ nirvikāraṃ
citte dhairyaṃ yogino dhāraṇābhiḥ || 18 ||

Tr. All the ailments are cured by the practice of *āsana*. *prāṇāyāma* works as a thunderbolt on the mountain of sins. Withdrawal of the senses *(pratyāhāra)* renders the mind free from disturbances. A *yogī* gains stability of the mind through practice of *dhāraṇā*. 18.

ध्यानाच्चैतन्येऽद्भुततत्वं प्रयाति योगी शून्ये स्वस्वरूपप्रतिष्ठः ।
सद्वासद्वा[1] कर्म सर्वं विहाय बुद्ध्या[2] सत्वोद्रेकया[3] याति मोक्षम्१९

dhyānāccaitanye'dbhutatvaṃ prayāti
yogī śūnye svasvarūpapratiṣṭhaḥ ||
sadvāsadvā karma sarvaṃ vihāya
buddhyā satvodrekayā yāti mokṣam || 19 ||

Tr. A *yogī* attains amazing (state of) consciousness and gets established in his real Self which is void, through *dhyāna*. He transcends the *karma* --both *sat* (prescribed) and *asat* (prohibited) – with the power of discrimination and attains *mokṣa* with the arousal of *satva*. 19.

तथा चोक्तं योगचन्द्रिकायाम्[4] –

tathā coktaṃ yogacandrikāyām —

It has been stated in *yogacandrikā*—

चरतां चक्षुरादीनां विषयेषु यथाक्रमम् ।
यत्प्रत्याहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते ॥ इति ॥ २० ॥

caratāṃ cakṣurādīnāṃ viṣayeṣu yathākramam |
yatpratyāharaṇaṃ teṣāṃ pratyāhāraḥ sa ucyate || *iti* ||20||

Tr. Systematically withdrawing the wandering senses like eyes etc., from their (respective) objects is called *pratyāhāra*. 20.

चरतां स्वव्यापारं कुर्वताम् । विषयेषु शब्दस्पर्शरूपरसगन्धेषु । यथाक्रमं यथाधिकारात्[5] । तेषामिन्द्रियाणाम् । तेभ्यो विषयेभ्यः । प्रत्याहरणं संहारः स प्रत्याहार इति ॥ २१ ॥

---

1. सद्वा –अधिकः पाठः –b. 2. मुद्व्या –b. 3. सत्वोदेकं –a. 4. अनुपलब्धपाठः –b. 5. यथाविधिकारात् –b.

caratām svavyāpāraṃ kurvatām । viṣayeṣu śabdasparśarūparasagandheṣu । yathākramaṃ yathādhikārāt । teṣāmindriyāṇām । tebhyo viṣayebhyaḥ । pratyāharaṇaṃ saṃhāraḥ । sa pratyāhāra iti ॥ 21॥

Tr. Wandering means being involved in their activities in their respective objects like, sound, touch, form, taste and smell, as (the senses) are allotted their respective objects. The senses are withdrawn from their objects by severing the relationship. 21.

अथ प्रत्याहारप्राणायामाभ्यासकालः —

atha pratyāhāraprāṇāyāmābhyāsakālaḥ —

Duration of *pratyāhāra* and *prāṇāyāma*—

आरम्भे कथितश्चतुःसमयिकोऽभ्यासो मुनिस्तं त्यजेद्
रात्रौ वाऽहनि केवलं प्रतिदिनं यामं विदध्याद्[1] वशी ॥
प्रत्याहारमिति ध्रुवं प्रतिदिनं यामं समभ्यस्यतां
यत्नाद् योगजुषां[2] तदा स्मयकरं वीर्यं भवेदुद्भटम्[3]२२

ārambhe kathitaścatuḥsamayiko'bhyāso munistaṃ tyajed
rātrau vā'hani kevalaṃ pratidinaṃ yāmaṃ vidadhyād vaśī ॥
pratyāhāramiti dhruvaṃ pratidinaṃ yāmaṃ samabhyasyatāṃ
yatnād yogajuṣāṃ tadā smayakaraṃ vīryaṃ bhavedudbhaṭam ॥ 22 ॥

Tr. Practice of *prāṇāyāma* has been prescribed four times earlier, which a *muni* should put aside. Instead, he should practise *pratyāhāra* for one *yāma* either in the day or night. Carefully doing so with total devotion to *yoga* practices, he gains astonishing and excellent energy. 22.

यदा याममात्रं निसर्गः सुकुम्भो
मुनेस्तूलवत् कौ तदांगुष्ठतः सः ॥
लघु[4]वर्ष्मणा सस्पृशन्वा[5] विहारं
विधत्ते द्रुतं वायुवेगेन तुल्यम् ॥ २३ ॥

yadā yāmamātraṃ nisargaḥ sukumbho
munestūlavat kau tadāṅguṣṭhataḥ saḥ ॥

---

1. विदुध्यात् —b. 2. योगयुषां —b. 3. उद्मवं —b. 4. लघुर् —b. 5. सस्पृशत्वा —b.

laghuvarṣmaṇā saspṛśanvā vihāraṃ
vidhatte drutaṃ vāyuvegena tulyam ॥ 23 ॥

Tr. When the state of *nisarga kuṃbhaka* is maintained for one *yāma* (three hours), the *muni* becomes as light as cotton. Then just by pressing the ground with the thumb, the light body is moved (in the space) at the speed of wind. 23.

कायव्यूहमनोजवित्वपुरुषज्ञानादि वाक्सिद्धयो[1]
द्यौयातादिमजन्मवित्तु प्रतिभासर्वज्ञता दिव्यदृक् ॥
भूताक्षाभि[2]जयो ऽणिमादिपरिलब्धीरूपली[3] भावजा
जाग्रदादि[4]समाधिपाकसदृशाः स्युः शक्तिबोधोत्तरम्॥२४॥

kāyavyūhamanojavitvapuruṣajñānādi vāksiddhayo
dyauyātādimajanmavittu pratibhāsarvajñatā divyadṛk ॥
bhūtākṣābhijayo'ṇimādiparilabdhīrūpalī bhāvajā
jāgradādisamādhipākasadṛśāḥ syuḥ śaktibodhottaram ॥ 24 ॥

Tr. Arousal of *śakti* results in getting the knowledge of body, speed of the mind, knowledge of *puruṣa*, control on supernatural power of speech, movement in the space, knowledge of (past) lives, intuitive knowledge, omniscience, clairvoyance, control over elements and the senses, attainment of *aṇimā* etc., and attainment of *samādhi*. 24.

स्वधाहगत्या मेलनं मिथो हि
यद्ग्रन्थिस्तदा भूरिबला भवेच्च ॥
साग्रन्थ्याऽनया[5] संकलनं च वात्ययोर्
इवाधारेऽन्योऽन्यपराभवेच्छया ॥ २५ ॥

svadhāhagatyā melanaṃ mitho hi
yadgranthistadā bhūribalā bhavecca ॥
sāgranthyā'nayā saṅkalanaṃ ca vātyayor-
ivādhāre'nyo'nyaparābhavecchayā ॥25॥

Tr. Willful movement, unification (of *prāṇa* and *apāna*), piercing of *granthi*, ample power, concentration of the *vāyu* at the *mūlādhāra*—are in an attempt of pulling each other. 25.

---

1. वासिद्धयो -b. 2. भूताऽक्ष्याभि -b. 3. परिलघ्वीरूपली -a. 4. भावजाऽगादि -b. 5. सग्रन्थ्याऽनया -b.

वात्या पूर्वं प्रसरति यथाऽक्षोभ्य[1] हत्वाऽर्थजातम्
पश्चादुच्चैः कलयति दिवं सूक्ष्मरेखामवाप्य ॥
एवं क्षुब्धोऽधिजठरमुपयातीषिकासूक्ष्मगत्या[2]
साग्निः प्राणः क्रमधृतिजितः स्थानमेत्यतिदोषान् ॥२६॥

vātyā pūrvaṃ prasarati yathā'kṣobhya hatvā'rthajātam
paścāduccaiḥ kalayati divaṃ sūkṣmarekhāmavāpya ॥
evaṃ kṣubdho'dhijaṭharamupayātīṣikāsūkṣmagatyā
sāgniḥ prāṇaḥ kramadhṛtijitaḥ sthānametyatidoṣān ॥ 26 ॥

Tr. In the beginning, *prāṇa* along with *agni* expands without disturbances. Thereafter, *prāṇa* reaches the space above through the subtle passage. Moreover, *prāṇa* being stimulated like an arrow moves from the abdomen. When it is gradually controlled, it reaches its own abode being free from the blemishes. 26.

मिथो भृशं[3] यद्घटनं घटोऽसौ
वाय्वोस्तनौ दोषबलानुरूपतः ॥
अभ्यासतः सिद्धिमुपैति योगी
शुद्ध्यन्ति खान्यस्य[4] मलक्षयादनु[5] ॥ २७ ॥

mitho bhṛśaṃ yadghaṭanaṃ ghaṭo'sau
vāyvostanau doṣabalānurūpataḥ ॥
abhyāsataḥ siddhimupaiti yogī
śuddhyanti khānyasya malakṣayādanu ॥ 27 ॥

Tr. Depending on the condition of *doṣas* (humours) and *bala* (strength) the pair of *vāyus (prāṇa* and *apāna)* in the body merges in one another. Removal of the morbidities bring about purity of the senses. Through practice, the *yogī* attains success. 27.

अथ प्रत्याहारमर्मदेशविभागो गदघ्नो याज्ञवल्क्योक्तः —

atha pratyāhāramarmadeśavibhāgo gadaghno yājñavalkyoktaḥ —

Here follows a graphic account of the locations

1. यथाक्ष्योभ्य –b. 2. सूदमगत्या –b. 3. भृश –b. 4. खान्याऽस्य –b. 5. यादक्षयादऽनु –b.

of the *marmas* (vital points) for the practice of *pratyāhāra* which cures diseases as narrated by *yājñavalkya*—

स यथा –

sa yathā—

Which is as follows—

मानं गुल्फस्य पादात्सदलमिह भवेदंगुलीनां चतुष्कं४[1]
गुल्फाज् जंघस्य मध्यं कलय विशिखयुग्मांगुलं१० जंघमध्यात् ॥
मर्मस्थानं चिते यद्गगन[2]शशिमितं१० चांगुलं स्यात्तदूर्ध्वं
जानोर्मध्यांगुलं[3] द्वि२ प्रभवति च ततः नवांगुलं सक्थिमध्यम्।२८।

mānaṃ gulphasya pādātsadalamiha bhavedaṅgulīnāṃ catuṣkaṃ4
gulphāj jaṅghasya madhyaṃ kalaya viśikhayugmāṅgulaṃ10 jaṅghamadhyāt ॥
marmasthānaṃ cite yadgaganaśaśimitaṃ10 cāṅgulaṃ syāttadūrdhvaṃ
jānormadhyāṅgulaṃ dvi2 prabhavati ca tataḥ navāṅgulaṃ sakthimadhyam ॥ 28 ॥

Tr. From the foot to the heel the distance is four digits, from heel to the middle of the calf measures ten digits, from the middle of the calf the vital point of *citi* (upper end of the shin) measures ten digits, above which is in the middle of the knee that measures two digits, from which middle of the thigh is nine digits. 28.

ऊर्ध्वं तत्पायुमूलं[4] नव९ तदनुतनोर्मध्यमं द्व्यंगुलं२ स्यात्
तस्मान् मेढ्रं च सार्धांगुलयुगलमितं२॥ नाभिरूर्ध्वं[5] स्वमेढ्रात् ॥
विज्ञेया सार्धपंक्त्यंगुलकपरिमिता१०॥[6] स्वान्तमध्यं तु नाभेर्
इन्द्रप्रख्यांगुलं१४ वै तदनु च गलकान्धुर्भवेच्छण्मितं६ च[7] ॥२९॥

ūrdhvaṃ tatpāyumūlaṃ nava9 tadanutanormadhyamaṃ dvyaṅgulaṃ2 syāt
tasmān meḍhraṃ ca sārdhāṅgulayugalamitaṃ2॥ *nābhirūrdhaṃ svameḍhrāt* ॥

---

1. चतुष्कं४॥ –a. 2. यद्गगन –b. 3. मर्मांगुलं –b. 4. ऊर्वन्तात्पायुमूलं –b. 5. नाभिरुर्ध्व –b. 6. १०॥ऽ –b. 7. छयिमतंदृठ –b.

vijñeyā sārdhapaṅktyaṅgulakaparimitā 10//
svāntamadhyaṃ tu nābher
indraprakhyāṅgulaṃ 14 vai tadanu ca galakāndhurbhavecchaṇmitaṃ 6 ca || 29 ||

Tr. Above it (middle of the thigh) the root of anus measures nine digits, after which center of the body is two digits, from here the genital is two-and-a-half digits above, from which the navel is located at the distance of ten and a half digits. From navel, heart region is fourteen digits, from which the throat measures six digits. 29.

जिस्वामूलं गलान्धोरु[1]परि सलिलनाथांगुलं४ घ्राणमूलं
जिस्वामूलात्तु बाह्यांगुलक[2]परिमितं४ स्यात्तदंघ्रेर्दृगंघ्रि॥[3] ॥
मर्मस्थानं च खण्डांगुलक[4]परिमितं॥ स्यात्ततोऽर्धांगुलं
भ्रूमध्यं भालं तथास्मादुपरि निगदितं स्वांगुलानां त्रयं३ ज्ञैः ॥३०॥

jihvāmūlaṃ galāndhorupari salilanāthāṅgulaṃ 4 ghrāṇamūlaṃ
jihvāmūlāttu bāhyāṅgulakaparimitaṃ 4 syāttadaṅghrerdṛgaṅghri ||
marmasthānaṃ ca khaṇḍāṅgulakaparimitaṃ// syāttato'rdhāṅgulaṃ//
bhrūmadhyaṃ bhālaṃ tasmādupari nigaditaṃ svāṅgulānāṃ trayaṃ 3 jñaiḥ || 30 ||

Tr. Root of the tongue above the throat is at a distance of four digits, root of the nose is at a distance of four digits. Above this the eyes are at a distance of half a digit, from which *marmasthāna* (vital point) is at half a digit. From there the center of the eyebrows is half a digit, above which forehead is at a distance of three digits according to the experts. 30.

स्याद् भालाद्व्योमसंज्ञं वपुषि तनुभृतामंगुलानां त्रयं३ च
स्यानेष्वेतेषु वायुमनस[5] उपरमान्तं दृढं कुम्भयेज्ज्ञः ॥

---

1. जिस्वामूलंऽऽधो –b. 2. वाह्यर्यऽगुलक –b. 3. त्तदंघ्रेर्दगंऽघ्नि –b. 4. च खदांऽगुलक –b. 5. वायुवायुमनस –b.

स्थानात् स्थानं[1] समाकृष्य च सततमहो कुर्वतः शान्तवृत्या
प्रत्याहारं विनश्यन्त्यखिलगदगणा ज्ञस्य सिद्ध्यन्ति योगाः ॥३१॥

syād bhālādvyomasaṃjñaṃ vapuṣi tanubhṛtāmaṅgulānāṃ trayaṃ3 ca
sthāneṣveteṣu vāyumanasa uparamāntaṃ dṛḍhaṃ kumbhayejñaḥ ॥
sthānāt sthānaṃ samākṛṣya ca satatamaho kurvataḥ śāntavṛtyā
pratyāhāraṃ vinaśyantyakhilagadagaṇā jñasya siddhyanti yogāḥ ॥ 31 ॥

Tr. From the forehead *vyoma* (void) in the body of a human measures three digits. A wise should firmly maintain *kuṃbhaka* holding *vāyu (prāṇa)* and the mind in these points. In a peaceful manner one should continuously hold *(prāṇa)* at these points moving from one point to the other. Practice of *pratyahara* overcomes the group of ailments and a wise gains success in the practice of *yoga*. 31.

इति याज्ञवल्क्योक्तः प्रत्याहारः ॥

iti yājñavalkyoktaḥ pratyāhāraḥ ॥

Here ends *pratyāhāra* narrated by *yājñavalkya.*

अथ सूतसंहितोक्तः —

atha sūtasaṃhitoktaḥ —

According to *sūtasaṃhitā*—

स यथा –

sa yathā--

Which is as follows—

प्रत्याहारोऽयमुक्तः खलु विजितमरुद्धारणं[2] चेतसाक्षैश्
चित्तात्मैक्यावधानधृतजितमरुतः स्थानतोऽन्यस्थलान्ते ॥
तत्तत्स्थातिसञ्चिन्तनविलयजुषा चेतसा योगिनोऽयं
प्रत्याहारः प्रयुक्तो भवति जितमनः प्राणयोः[3] संयमेन३२

1. स्थान –b. 2. मरुद्धारणं –b.- 3. प्राणयोः –अनुपलब्धपाठः –b.

pratyāhāro'yamuktaḥ khalu vijitamaruddhāraṇaṃ cetasājñaiś
cittātmaikyāvadhānadhṛtajitamarutaḥ sthānato'nyasthalānte ||
tattatsthātisañcintanavilayajuṣā cetasā yogino'yaṃ
pratyāhāraḥ prayukto bhavati jitamanaḥ prāṇāyoḥ saṃ yamena || 32 ||

Tr. A wise holds the *prāṇa* which has been controlled with undivided attention and mental focus moved from one (vital) point to the other. This is called *pratyāhāra* which removes impurities deposited in those points. A *yogī* does this with mental aid. One qualifies to make use of *pratyāhāra* when one has controlled the mind and *prāṇa*. 32.

जान्वंगुष्ठकगुल्फयुग्मनिटिलभ्रूमध्यनासासुषुम्णा
अपानं[1] च भगं दिवाकरमितं१२ चोत्क्रान्तिकाले मुनेः ॥
प्रोक्तं ह्यागमने तथा परतनौ संक्रामणे स्वात्मनि[2]
शश्वत् सिद्धिजुषः स्थलं वरतरं ज्ञैः धारणायाः इति ॥ ३३ ॥

jānvaṅguṣṭhakagulphayugmaniṭilabhrūmadhyanāsāsuṣumṇā
apānaṃ ca bhagaṃ divākaramitaṃ12 cotkrāntikāle muneḥ ||
proktaṃ hyāgamane tathā paratanau saṃkrāmaṇe svātmani
śaśvat siddhijuṣaḥ sthalaṃ varataraṃ jñaiḥ dhāraṇāyāḥ iti || 33 ||

Tr. One should practise *dhāraṇā* on the points which yields success, like pair of the ankles, toes and heels, forehead, center of the eyebrows, nose, *suṣumnā, apāna*, and generative organ for twelve time units at the time of *utkrānti* (leaving the body) and entering another body or at the time of returning to the body. 33.

मनःप्राणग्रन्थिर्दहनसहितः संयमे विधौ
घटावस्थापाके कथितपदसंक्रामणहठात् ॥
मनोबन्धान्मन्त्रैरुरग इव सत्कन्दुक इव
व्रजन् स्थानात् स्थानान्तरमधिकृतस्तिष्ठति जितः ॥३४॥

manaḥprāṇagranthirdahanasahitaḥ saṃyame vidhau
ghaṭāvasthāpāke kathitapadasaṃkrāmaṇahaṭhāt ||

1. ऽपानं -b. 2. स्वानि -b.

manobandhānmantrairuraga iva satkanduka iva
vrajan sthānāt sthānāntaramadhikṛtastiṣṭhati jitaḥ ॥ 34 ॥

Tr. In the course of *saṃyama* when *ghaṭāvasthā* is mastered over, by gaining forceful control over mind, *prāṇa*, *granhti* and fire, one should move from one (vital) point to the other like a snake which has been controlled with incantation or like a bouncing ball, and stay at that very point. 34.

प्राणायामग्रन्थिराद्यो नाभ्यधः प्रोक्तदेशयुक् ।
धारणायां भ्रन्तगोऽन्त[1]र्नाड्याग्निप्राणचेतसाम् ॥ ३५ ॥

prāṇāyāmagranthirādyo nābhyadhaḥ proktadeśayuk ।
dhāraṇāyāṃ bhrvantago'ntarnāḍyāgniprāṇacetasām ॥35॥

Tr. The prime knot in the practice of *prāṇāyāma* lies at the point below the navel. Practice of *dhāraṇā* is exercised at the regions of center of the eyebrows, *nāḍī, prāṇa* and the mind. 35.

हेतुमाह –

hetumāha

The rationale is explained as follows.

तथा चोक्तम् –

tathā coktam

It has been stated as follows—

भावनावशगं चित्तं[2] चित्तवशगोऽनिलः ।
प्रहृतं तच्च मरुता यत्रस्थं स मरुत्या ॥ इति ॥ ३६ ॥

bhāvanāvaśagaṃ cittaṃ cittavaśago'nilaḥ ।
prahṛtaṃ tacca marutā yatrasthaṃ sa marutthā ॥ *iti* ॥ 36 ॥

Tr. Mind is under the control of *bhāvanā* (attitudes), *prāṇa* is under the control of mind . It (mind) can be grasped by *prāṇa* at the point where it is embedded. 36.

योगचन्द्रिकायाम् —

yogacandrikāyām—

According to *yogacandrikā*—

अपानः कर्षति प्राणं प्राणोऽपानं च कर्षति ।
ऊर्ध्वाधः[3] संस्थितावेतौ यो जानाति स योगवित् ॥ ३७ ॥

1. भ्रुंऽतर्गोऽत –b. 2. वशगचित्त –a. 3. ऊर्ध्वोऽधः –b.

apānaḥ karṣati prāṇaṃ prāṇo'pānaṃ ca karṣati ।
ūrdhvādhaḥ saṃsthitāvetau yo jānāti sa yogavit ॥ 37 ॥

Tr. *apāna* pulls *prāṇa*, while *prāṇa* too pulls *apāna*. Both are situated at the bottom and the top (of the body). One who knows this is a master of *yoga*. 37.

जीवेन गृह्यते जीवो जीवो[1] जीवेन गृह्यते ।
जीवस्थानगतो जीवो वाला जीवान्तकारक ॥ इति ॥ ३८ ॥

jīvena gṛhyate jīvo jīvo jīvena gṛhyate ।
jīvasthānagato jīvo vālā jīvāntakārakaḥ ॥ *iti* ॥ 38 ॥

Tr. *jīva* (*apāna*) is attracted by *jīva* (*prāṇa*) and vice versa. When *apāna-vāyu* moves to the location of *prāṇa* (and thus both are united) a *yogī* retards death. 38.

जीवेन प्राणवायुना । जीवोऽपानवायुर्गृह्यते आकृष्यते[2] । एवं पुनर्जीवेन[3] अपानवायुना । जीवः प्राणवायुः आकृष्यते । यदा जीवस्थानगतो जीवः प्राणस्थानगतोऽपानवायुरेकीभूतो ग्रन्थीभूतस्तदा योगी घटावस्थायामस्यां वालान्तकारको भवति । वाला मृत्युस्तस्य[1] अन्तकारकः स्वयं मृत्युनाशको भवतीति ॥ ३९ ॥

jīvena prāṇavāyunā । *jīvo'pānavāyurgṛhyate ākṛṣyate* । *evaṃ punarjīvena apānavāyunā* । *jīvaḥ prāṇavāyuḥ ākṛṣyate* । *yadā jīvasthānagato jīvaḥ prāṇasthānagato'pānavāyurekībhūto granthībhūtastadā yogī ghaṭāvasthāyām asyāṃ vālāntakārako bhavati* । *vālā mṛtyustasya antakārakaḥ svayaṃ mṛtyunāśako bhavatīti* ॥ 39 ॥

Tr. *jīva* that is *prāṇavāyu*, *jīva* that is *apānavāyu* have been caught or pulled. In the same manner *jīva (apānavāyu)* pulls up the *jīva (prāṇavāyu)*. When *apānavāyu* located at the place of *prāṇavāyu* becomes united, the *yogī* having been in the *ghaṭāvasthā* overcomes death. *vālā* means death which is overcome. 39.

जितेऽथ दशसंख्यके मरुति जाठरेऽभ्यासतो
जिते हुतवहेऽमले वपुषि सम्प्रसादे हृदि ॥

1. जीवो –अनुपलब्धपाठः –b. 2. आदृष्यते –b. 3. पुनजीवेन –b. 4. वाकामृतस्तस्य –b.

सुसिद्ध्युदय[1]कारणं यमवतीह धर्मान्तरं
जडाऽविदऽरिसत्ववित् स्वसमसिद्धि[2]सत्वप्रसू ॥ ४० ॥

jite'tha daśasaṅkhyake maruti jāṭhare'bhyāsato
jite hutavahe'male vapuṣi samprasāde hṛdi ॥
susiddhyudayakāraṇaṃ yamavatīha dharmāntaraṃ
jaḍā'vida'risatvavit svasamasiddhisatvaprasū ।40।

Tr. The ten *vāyus* are controlled through practice involving abdomen and when bodily fire is controlled, it renders the body purified and the mind pacified. It promotes success when one practices *yama* bringing about transformation and one overcomes inertia, ignorance, enmity and even *satva*. Further, one becomes able to produce similar *siddhis* and *satva*, (mind). 40.

दूरंगमत्वखचरत्वं[3] सुदूरदृक् च[4]
अदृश्यत्व[5]मेवमणिमादि मुनौ यदार्यम् ॥
चैतं जितात्मनि जितानिलपावकाभ्यां
नो शक्तिबोधनमृतेऽस्ति समाजन्म ॥ ४१ ॥

dūraṃgamatvakhacaratvaṃ sudūradṛk ca
adṛśyatvamevamaṇimādi munau yadāryam ॥
caitaṃ jitātmani jitānilapāvakābhyāṃ
no śaktibodhanamṛte'sti samājanma ॥ 41 ॥

Tr. When the self (mind) is controlled along with *prāṇa* and *agni*, a *muni* attains special abilities like reaching far and movement in the space, clairvoyance, ability to disappear, *aṇimā* etc. All this is not possible without the awakening of *śakti* *(kuṇḍalinī)*. Life is not worthwhile unless there is awakening of *śakti*. 41.

हृदि संयमोऽपि वा पाठः ॥

hṛdi saṃyamo'pi vā pāṭhaḥ ॥

Tr. There is a variation in reading (which means)—control over the *hṛt* (mind).

---

1. सुसिध्युदय –b. 2. स्वसमसिद्धि –b. 3. गमत्वचरत्वं –a. 4. सुदूरदृत्क्वा –b. 5. ऽदश्यत्व –b.

आयामाभ्यासतो ऽन्तर्बहिरशुचिमलस्यावसानेऽद्य[1] देहे
प्राणाग्न्योर्योगवीर्यात् कलुषवियनाच्छान्तचित्तस्य चाणोः ॥
देहे स्युर्वै घटादित्रय इह जितयोः सत्वसम्पत्प्रकाशो-
ऽद्भूतौ[2] ज्ञेयातिसूक्ष्मस्थितिगतिसुयुजोर्ध्येयतादात्म्य[3] तत्वम् ॥४२॥

āyāmābhyāsato'ntarbahiraśucimalasyāvasānedyadehe
prāṇāgnyoryogavīryāt kaluṣaviyanācchāntacittasya cāṇoḥ ॥
dehe syurvai ghaṭāditraya iha jitayoḥ satvasampatprakāśo-
dbhūtau jñeyātisūkṣmasthitigatisuyujordhyeyatādātmyatatvam 42

Tr. Practice of *prāṇāyāma* purifies the body internally as well as externally and thus the body becomes divine. Unification of *prāṇa* and *agni* enhances energy which removes sin making the mind pacified and subtle. Thus all the three stages like *ghaṭa* etc. are obtained bringing about the enormous illumination of *satva*. Thus one realizes the subtle and integrated nature of *tatva* (Self). 42.

यामं निसर्गस्थिरसिद्धकुम्भौ[4] नियम्य चित्तं वपुरावृणोति ।
आपूर्य सर्वं वशिनो बलेन तदोन्मनी संमुखतां[5] स एति ॥ ४३ ॥

yāmaṃ nisargasthirasiddhakumbhau
niyamya cittaṃ vapurāvṛṇoti ॥
āpūrya sarvaṃ vaśino balena
tadonmanī sammukhatāṃ sa eti ॥ 43 ॥

Tr. On attainment of the steady state of *nisarga-kuṃbhaka* for one *yāma*, thus the *citta* pervades the whole body and all the faculties are forcefully subjugated. Thus the state of *unmanī* emerges. 43.

यथोर्णनाभि[6]र्निजसूक्ष्मतन्तुभिः
कृत्वास्पदं स्वं तत आत्मनि नाभितः ॥
प्रत्यग्व्रजेन्[7] प्राण इमं स्थितेर्भिदा-
पानः खगः स्याद्विपदा[8] तदा घटः ॥ ४४ ॥

yathorṇanābhirnijasūkṣmatantubhiḥ
kṛtvāspadaṃ svaṃ tata ātmani nābhitaḥ ॥

1. वासनेग्रदेहे –b. 2. प्रकाशोद्भूतौ –b. 3. तादात्म्या –a. 4. सिद्धकंभौ –b. 5. संमुखं ता –a. 6. यथोर्णनाभि –b. 7. प्रत्यग्वजेत् –b. 8. स्याद्वियदा –b.

pratyagvrajen prāṇa imaṃ sthiterbhidā-
pānaḥ khagaḥ syādvipadā tadā ghaṭaḥ || 44 ||

Tr. As a spider which weaves its own cobweb (home) by bringing out the fibre from its own navel and then moves in it, similarly the *prāṇa*, the bird along with *apāna* moves upwardly which gives rise to the stage of *ghaṭa*. 44.

शक्तिचालनकालः स साधकस्य जितात्मनः ।
उक्तः परिचयाख्यो ऽसावुत्कर्षायामसिद्धिदः ॥ ४५ ॥
śakticālanakālaḥ sa sādhakasya jitātmanaḥ |
uktaḥ paricayākhyo'sāvutkarṣāyāmasiddhidaḥ || 45 ||

Tr. This is the appropriate time for *śakticālana* for a *sādhaka* who has gained control over the Self. This is the state of *paricaya* which is attained through the practice of *utkarṣa prāṇāyāma*. 45.

सर्वां हित्वैहिकीं चिन्तां कुम्भवृद्धिक्रमे रतः ।
विषयव्यावृताक्षौघ[1]प्रत्याहारं ज्ञः एत्यऽरुक्[2] ॥ ४६ ॥
sarvāṃ hitvaihikīṃ cintāṃ kumbhavṛddhikrame rataḥ |
viṣayavyāvṛtākṣaughapratyāhāraṃ jñaḥ etya'ruk || 46 ||

Tr. Giving up all the worldly worries a wise should engage in prolonged *kumbhaka* which results into withdrawal of the senses from their objects which begets wellbeing. 46.

उत्पन्नयोगिन इहेषुधरापलेषु२५
प्रत्याहृतिः प्रहरमात्रकसिद्ध[3]कुम्भे ॥
सूक्ष्मः स सिद्धसमयः पृथुलोऽस्य सम्यग्
अभ्यासकाल उदितो विजयी चलादे ॥ ४७ ॥

utpannayogina iheṣudharāpaleṣu25
pratyāhṛtiḥ praharamātrakasiddhakumbhe ||
sūkṣmaḥ sa siddhasamayaḥ pṛthulo'sya samyag
abhyāsakāla udito vijayī calāde || 47 ||

Tr. Through the successful maintenance of *kumbhaka* for one *prahara*, an *utpanna-yogī* experiences *pratyāhāra* for 25 *palas* making the *prāṇa* very subtle which brings higher success . 47.

1. व्यापृताऽक्ष्यौघ –b. 2. ज्ञ एत्यऽरुक् —b. 3. सिद्धं –b.

॥ इति गोविन्ददेवसुतसुन्दरदेवविरचितायां
हठतत्वकौमुद्यां
प्रत्याहारलक्षणतत्सिद्धिकालादिविवेचनोद्योतः ॥

॥ iti govindadevasutasundaradevaviracitāyāṃ
haṭhatatvakaumudyāṃ
pratyāhāralakṣaṇatatsiddhikālādivivecanodyotaḥ ॥

Here ends the description of the characteristics of *pratyāhāra* and its time for success in *haṭhatatvakaumudī* composed by *sundaradeva*, son of *govindadeva*.

॥ इति प्रत्याहारोल्लासश्चतुर्थः ॥
॥ iti pratyāhārollāsaścaturthaḥ ॥

Here ends the fourth *ullāsa* on *pratyāhāra*.

Chapter—42

अथ परिचयोल्लासः —

atha paricayollāsaḥ —

Chapter on *paricaya*—

अथ प्रत्याहाराभ्यसनविरताऽक्षे भवसुखे
शमं[1] याते लोले मनसि विषयेभ्योऽपवलिते[2] ॥
यदा प्राणस्त्यक्त्वा रविशशिगतं स्वं परिचये
ऽग्न्यऽपानाभ्यासाग्निः[3] स्पृशति सति स[4] तदा ब्रह्मसुषिरम् ॥१॥

atha pratyāhārābhyasanaviratā'kṣe bhavasukhe
śamaṃ yāte lole manasi viṣayebhyo'pavalite ॥
yadā prāṇastyaktvā raviśaśigataṃ svaṃ paricaye
gnya'pānābhyāsāgniḥ spṛśati sati sa tadā brahmasuṣiram ॥ 1 ॥

सः अपानः ।

saḥ apānaḥ ।

'*sa*' here stands for *apāna*.

Tr. Practice of *pratyāhāra* isolates the senses from the worldly indulgence making the restive mind pacified. In the state of *paricaya*, the *prāṇa* leaves the two paths of sun *(piṅgalā)* and moon *(iḍā)* being united with *agni* and *apāna* through practice, enters the *brahmarandhra*. 1.

वाय्वोर्मिथः स्याद् घटनाद् घटाख्या-
ऽवस्था शुभा शान्तहृदोऽग्निना सह ॥
प्रत्यग्वहोर्ध्वेन[5] तयाऽस्तवैरयोर्
दशा च याद्या परिपूर्वका ततः ॥ २ ॥

vāyvormithaḥ syād ghaṭanād ghaṭākhyā-
'vasthā śubhā śāntahṛdo'gninā saha ॥
pratyagvahordhvena tayā'stavairayor-
daśā ca yādyā paripūrvakā tataḥ ॥ 2 ॥

Tr. In the auspicious state of *ghaṭa*, both *(prāṇa* and *apāna)* unite with fire in the body and move upwards. This brings an end to previous conflicting state. 2.

---

1. भवसुखंशमं -b. 2. विषयेभ्योऽयचलिते -b. 3. पानाभ्यासकालउदितो विजयीचलोदऽग्नि -b. 4. सति सति स -b. 5. प्रत्यग्वहोर्ध्वेत -b.

जीवात्मनो यत्र परात्मनो द्वयोर्मिथोऽविरोधात् घटते यदैकता ।
प्राणस्य चापानचलस्य योगिनो हृत्प्राणयोर्वै घट एष सिद्धिभूः ।३।

jīvātmano yatra parātmano dvayor-
mitho'virodhāt ghaṭate yadaikatā ॥
prāṇasya cāpānacalasya yogino
hṛtprāṇayorvai ghaṭa eṣa siddhibhūḥ ॥ 3 ॥

Tr. When union of *jīvātmā* and *paramātmā*, *prāṇa* and *apāna* and mind and *prāṇa* takes place in the body, this is called the state of *ghaṭa* which brings success . 3.

स्थित्यारमाभिद्य[1] पदोर्ध्वमुद्गतोऽपानः खगः पश्चिमवाहवायुना ।
कन्दादधोऽग्निं धमति प्रकामं तदोरगी चालनतः प्रबुध्यते ॥४॥

sthityāramābhidya padordhvamudgato'-
pānaḥ khagaḥ paścimavāhavāyunā ॥
kandādadho'gniṃ dhamati prakāmaṃ
tadoragī cālanataḥ prabuddhyate ॥ 4 ॥

Tr. The *vāyu* moving through the posterior path pierces the *mūlādhāra* and takes the *apāna* at the abode *(brahmarandhra)*. The intense fire (desire) gets stimulated which stirs the *uragī (kuṇḍalinī)* and she gets awakened. 4.

बुद्धामपानाग्नियुजा गृहीत्वा
शक्तिं च चक्राणि विभिद्य वायुः ॥
अपानचेतोऽनलयुग् यदा स्वं[2]
सरस्वतीं[3] याति च[4] तदा तृतीया ॥ ५ ॥

buddhāmapānāgniyujā gṛhītvā
śaktiṃ ca cakrāṇi vibhidya vāyuḥ ॥
apānaceto'nalayug yadā svaṃ
sarasvatīṃ yāti ca tadā tṛtīyā ॥ 5 ॥

Tr. *prāṇa* along with *apāna* and *agni* awakenes *śakti* by piercing the *cakras*. When *prāṇa* united with *apāna*, mind and fire reaches *sarasvatī*, this leads to the third state (*paricaya*). 5.

---

1. मामि च –b. 2. युग्पदास्वं –b. 3. सरस्वती –b. 4. त्च –b.

तृतीया[1] परिचयावस्था ।

tṛtīyā paricayāvasthā ।

tṛtīyā stands for the stage of *paricaya*.

असौ परिचयावस्था यदाभ्यासाद् भवेन् मुनेः ।
कर्मत्रिकूटं योगेन तदा पश्यति सोऽस्ततृद् ॥ ६ ॥

asau paricayāvasthā yadābhyāsād bhaven muneḥ ।
karmatrikūṭaṃ yogena tadā paśyati so'statṛt ॥ 6 ॥

Tr. When this *paricaya* state is attained through practice of *yoga*, then the *muni* who is bereft of desire, perceives the triad of *karma*. 6.

Note. Three types of *karma* are *sañcita*, *prārabdha* and *kriyamāṇa*. 6.

त्रिंशत्पलमिता३० शक्तिबोधिन्यां भुवि कुम्भके ।
निसर्गनवनाड्यान्तं[2]९ साधकस्य मिताशिनः ॥ ७ ॥

triṃśatpalamitā30 śaktibodhinyāṃ bhuvi kumbhake ।
nisarganavanāḍyāntaṃ9 sādhakasya mitāśinaḥ ॥ 7 ॥

मूलाधारस्थिता शक्तिश्चित्तवातनिरोधतः ।
जागर्त्ति चालने[3] सम्यग्विधिना चालिता तदा ॥ ८ ॥

mūlādhārasthitā śaktiścittavātanirodhataḥ ।
jāgartti cālane samyagvidhinā cālitā tadā ॥ 8 ॥

Tr. In the state of *śakti-bodhinī* when *kumbhaka* is retained for thirty *palas*, and *nisarga-kumbhaka* for 9 *nāḍīs*, a *sādhaka* who resorts to moderate diet, gets *śakti* located at *mūlādhāra*, aroused due to control gained over mind and *prāṇa*, when she is moved up through proper technique. 7-8.

युग्मम्—

yugmam—

A *śloka* follows—

घटिकैकमिता शक्तिचालनोन्नयना भुवि१ ।
निसर्गकुम्भस्थेनोच्चैर्घटी[4] दश१० सुधीमता ॥ ९ ॥

ghaṭikaikamitā śakticālanonnayanā bhuvi1 ।
nisargakumbhasthenoccairghaṭī daśa10 sudhīmatā ॥ 9 ॥

---

1. तृतीया च-b. 2. नाड्यंटनं-b. 3. चालेन -b. 4. र्घटी -b.

तावत्कालं चालनेन सदोर्ध्वं मरुतोरगी ।
याति[1] पश्चिममार्गेण मनोवाताग्नियोगतः ॥ १० ॥

tāvatkālaṃ cālanena sadordhvaṃ marutoragī ।
yāti paścimamārgeṇa manovātāgniyogataḥ ॥ 10 ॥

Tr. In the stage of *śakticālanā* maintained for one *ghaṭi* wherein *nisarga-kumbhaka* is maintained for 10 *ghaṭikās*, if the *uragī (kuṇḍalinī)* is stirred for that much time with *vāyu (prāṇa)* she moves upwards through the posterior path (*suṣumnā)* along with mind, *prāṇa* and fire. 9-10.

Note. Cf. *kumbhaka-paddhati*-226. 9-10.

युग्मम् —

yugmam—

A *śloka* follows—

योगस्त्वसन्मानसवृत्तिरोध आयामतः प्राणनिरोधनेन हि
निरुद्धमन्तःस्थिरमस्तदोषमभ्यासदैर्घ्यात् क्रमलुप्तवासनम्[2] ॥
यदा तदेश[3]प्रणिधानलुब्धमपास्तकर्मोदयते अत्र[4] संवित्
शुच्यानया[5]तीतविदा सुषुम्णास्ये सूत्रसूच्योपरि[6] वायुयोगः ॥११॥

yogastvasanmānasavṛttirodha āyāmataḥ prāṇanirodhanena hi
niruddhamantaḥsthiramastadoṣamabhyāsadairghyāt kramaluptavāsanam ॥
yadā tadeśapraṇidhānalubdhamapāstakarmodayate atra saṃvit
śucyānayātītavidā suṣumṇāsye sūtrasūcyopari vāyuyogaḥ ॥ 11 ॥

Tr. *yoga* means practice of *prāṇāyāma* bringing in control over *prāṇa* which sublimates the evil modifications of the mind. A prolonged practice brings internal control and steadiness which removes the blemishes and then desires gradually disappear. Then, one gets absorbed in the worship of God and the *karmas* vanish as a result of which consciousness arises, purity of which sends the *prāṇa* in the subtle mouth of

---

1. यान्ति –a. 2. क्रम तु पवासनं –b. 3. तदैष -a. 4. कर्मोदधतेऽत्र –b. 5. थुच्याऽनया –b. 6. सूच्योरिव –b.

suṣumṇā like a thread entering in the eye of a needle. 11.

युग्मम् —

yugmam—

A *śloka* follows—

यावन्न मध्ये विलयं प्रयाति प्राणो मनो[1] निश्चलतां न याति ।
चिह्नानि न स्युर्हठयोगभाजः सिद्धेश्चिरं संयमिनः[2] कदापि ॥१२॥

yāvanna madhye vilayaṃ prayāti
prāṇo mano niścalatāṃ na yāti ॥
cihnāni na syurhaṭhayogabhājaḥ
siddheściraṃ saṃyaminaḥ kadāpi ॥ 12 ॥

Tr. So long as *prāṇa* does not enter in the middle path (*suṣumṇā*), the mind does not become still and a *yogī* does not become able to experience the signs of success in *haṭha*. 12.

यः तादात्म्यमाप्तं[3] स्थितिशक्तितत्वे
हृदेकनाडि[4] १स्थिरमस्तदोषम्[5] ॥
यदैव वायुर्विजितः सुषुम्णास्ये
शक्तियोगः सुविदुद्गमश्च ॥ १३ ॥

yaḥ tādātmyamāptaṃ sthitiśaktitatve
hṛdekanāḍi 1 sthiramastadoṣam ॥
yadaiva vāyurvijitaḥ suṣumṇāsye
śaktiyogaḥ suvidudgamaśca ॥ 13 ॥

Tr. Absorption of mind in *ādhāraśakti (mūlādhāra)* for one *nāḍī*, removal of blemishes, control of *prāṇa*, entering of *kuṇḍalinī* in the mouth of *suṣumṇā* result in revelation of consciousness. 13.

प्रत्याहाराद् प्राग्जिताऽक्षे हठांगैर्नित्यं चालाभ्यासबुद्धां भुजंगीम् ।
उत्कर्षायामेन सञ्चालिताऽसौ[6] प्रत्याहारान्ते व्रजेन्मध्यमार्गे ॥१४॥

pratyāhārād prāgjitā'kṣe haṭhāṅgair-
nityaṃ cālābhyāsabuddhāṃ bhujaṅgīm ॥
utkarṣāyāmena sañcālitā'sau
pratyāhārānte vrajenmadhyamārge ॥ 14 ॥

---

1. मनोर् –b. 2. संयमिनं –a. 3. माप्तां –b. 4. हृदेकतारि –b. 5. दोष –b. 6. संचालितां असौ –a.

Tr. The senses are controlled through *pratyāhāra* in the beginning. Regular practice of the *haṭha* components awakens the *kuṇḍalī* through stirring by the practice of *utkarṣa prāṇāyāma* and she moves to the central path (*suṣumṇā)* at the end of *pratyāhāra*. 14.

अत्र शक्तिबोधकेवलकुम्भकावधि परिचयावस्था शक्तिबोधोत्तरं निष्पत्तिदशा राजयोगोऽसौ मुनेर्भवति विनायासात्मस्वरूपलयसमाधिर् धारणाध्यानसमाध्यंगत्रयवान् क्रमेणाभ्यासशीलस्य[1] ॥ १५ ॥

atra śaktibodhakevalakumbhakāvadhi paricayāvasthā śaktibodhottaraṃ niṣpattidaśā rājayogo'sau munerbhavati vināyāsātmasvarūpalayasamādhir dhāraṇādhyāna-samādhyaṅgatrayavān krameṇābhyāsaśīlasya ॥ 15 ॥

Tr. Practice of *kevala-kumbhaka* till the awakening of *śakti (kuṇḍalī)* is the state of *paricaya*. After the arousal of *śakti*, it is the state of *niṣpatti* which is actually *rājayoga* attained by a *muni*, which effortlessly brings in the state of Self-realization. *laya* (absorption) through *dhāraṇā*, *dhyāna* and *samādhi*—the three components of *samādhi* are practised in sequence. 15.

॥ इति सुन्दरदेवविरचितायां हठतत्वकौमुद्यां परिचयावस्थाविवेचनोद्योतः ॥

॥ iti sundaradevaviracitāyāṃ haṭhatatvakaumudyāṃ paricayāvasthāvivecanodyotaḥ ॥

Here ends the description of the state of *paricaya* in *haṭhatatvakaumudī* composed by *sundaradeva*.

1. भ्यासशीत्स्य –b.

Chapter—43

अथ शक्तिचालनम् —

atha śakticālanam—

***śakticālana* follows—**

अथ परिचयकाले[1] कुण्डलीयं जिताग्नेर्[2]
अणुसमपवनाभ्यां[3] चालिता भूरितप्ता[4] ॥
प्रविशति कपिलांगीं शाम्भवीं मारुतोऽयं
क्रमत उपरि भिन्दन्याति चक्राणि मन्दम् ॥ १ ॥

atha paricayakāle kuṇḍalīyaṃ jitāgner
aṇusamapavanābhyāṃ cālitā bhūritaptā ॥
praviśati kapilāṅgīṃ śāmbhavīṃ māruto'yaṃ
kramata upari bhindanyāti cakrāṇi mandam ॥ 1 ॥

Tr. In the stage of *paricaya*, through *prāṇa* and *apāna* made subtle, *kuṇḍalinī* is stirred and heated and is thus awakened with fire. *prāṇa* gradually moves upwards by piercing the *cakras* and reaches *suṣumnā*. 1.

कन्दोर्ध्वं भुजगी महापथमुखद्वारं समाच्छाद्य तत्
स्वास्ये[5]नाभिविधाय दीर्घशयनं यातास्ति मूलाम्बुजम् ॥
तद्द्वारं प्रविभेदयेद् दृढहठादुद्घाटयेत् कुञ्चिका-
योगेनैव यथा कपाटमचलं स्यात् शक्तियोगोऽन्विह ॥२॥

kandordhvaṃ bhujagī mahāpathamukhadvāraṃ samācchādya tat
svāsyenābhividhāya dīrghaśayanaṃ yātāsti mūlāmbujam ॥
taddvāraṃ pravibhedayed dṛḍhahaṭhādudghāṭayet kuñcikā-
yogenaiva yathā kapāṭamacalaṃ syāt śaktiyogo'nviha ॥ 2 ॥

Tr. *kuṇḍalinī* covers the mouth of the great path *(suṣumnā)* which lies above the *kanda*. She covers the mouth of *mūlapadma* and takes deep slumber. Just as a door is opened with a key, this door (of *suṣumnā)* should be forcibly opened with intense practice of *haṭha*. 2.

अधोमुखी भुजंगमी[6] भवं प्रदर्शयेत् नृणाम् ।
समाधि उन्मुखीकृता चरेत् स्वरूपदर्शनम् ॥ ३ ॥

adhomukhī bhujaṅgamī bhavaṃ pradarśayet nṛṇām ।
samādhi unmukhīkṛtā caret svarūpadarśanam ॥ 3 ॥

---

1. परिचयकाकाले -b. 2. कुण्डलीयजिताग्नेर -b. 3. ऽणुसमयवनभ्यां -b. 4. भूरितप्त -b. 5. स्वास्थे -b. 6. भजंगमी -b.

Tr. *kuṇḍalinī* which has the mouth facing down reveals the world to human beings. When it is upturned through *samādhi*, one realizes the Self. 3.

प्राणायामाच्छक्तिबोधो यदैव सर्वा निष्पन्ना क्रिया साधकस्य ।
तस्यावस्था सैव निष्पत्तिनाम्नी सिद्धिस्थानं संयमः स्यात्तदार्यः ४

prāṇāyāmācchaktibodho yadaiva
sarvā niṣpannā kriyā sādhakasya ॥
tasyāvasthā saiva niṣpattināmnī
siddhisthānaṃ saṃyamaḥ syāttadāryaḥ ॥ 4 ॥

Tr. When through the practice of *prāṇāyāma*, *śakti* is aroused, then alone all the efforts of the *sādhaka* become fruitful. This is the state called *niṣpatti*, the fountainhead of success, in which the superior practice of *saṃyama* happens. 4.

आयामदीर्घाभ्यसनेन सत्वधिया सुषुम्णागतमाविधाय ।
चित्तं समीरस्तमनुप्रधावत्यविस्खलदाद्याः[1] परिशुष्कदोषे[2] ॥ ५ ॥

āyāmadīrghābhyasanena satva-
dhiyā suṣumṇāgatamāvidhāya ॥
cittaṃ samīrastamanupradhāvaty-
aviskhaladādyāḥ pariśuṣkadoṣe ॥ 5 ॥

Tr. Removal of all the impurities, prolonged practice of *prāṇāyāma* while maintaining a *sātvika* attitude and focusing the mind on *suṣumnā*, move the *prāṇa* freely into (*suṣumṇā*). 5.

स्थितिं विनिर्भिद्य जवादपानो यदोर्ध्वमायाति समश्चरन्मुनेः ।
प्रत्यङ्मुखप्राणयुगग्निरेष आदीप्य नागीं परितापयेत्तदा ॥ ६ ॥

sthitiṃ vinirbhidya javādapāno
yadordhvamāyāti samaścaranmuneḥ ॥
pratyaṅmukhaprāṇayugagnireṣa
ādīpya nāgīṃ paritāpayettadā ॥ 6 ॥

Tr. *apāna* pierces (*mūlādhāra*) and speedily moves up without obstruction. The fire along with *prāṇa* moving posteriorly heats up *kuṇḍalinī*. 6.

---

1. विस्खलद्याद्याः --b. 2. दोषो --b.

सञ्चालिता प्राणसमीरणेनापानेन लोला दहनेन तप्ता[1] ।
निगृह्य पुच्छे परिबोधितासौ तूर्णं विशेन्मध्यपथास्य[2]मध्यम् ॥ ७ ॥

sañcālitā prāṇasamīraṇen-
āpānena lolā dahanena taptā ॥
nigṛhya pucche paribodhitāsau
tūrṇaṃ viśenmadhyapathāsyamadhyam ॥ 7 ॥

Tr. Being moved by *prāṇa* stirred by *apāna* and heated by fire, being caught hold of at the tail and awakened, she (*kuṇḍalī)* soon enters the central path of *suṣumnā*. 7.

मतान्तरे तु—

matāntare tu —

According to another opinion—

अधोगतिं स्वामपहाय तूर्णं भूत्वोर्ध्वगोऽपान[3] उपैति वह्निना ।
प्राणस्य संस्थानमपानवह्निप्राणा मिलित्वा भुजंगी प्रयात्यरम्[4] ।८।

adhogatiṃ svāmapahāya tūrṇaṃ
bhūtvordhvago'pāna upaiti vahninā ॥
prāṇasya saṃsthānamapānavahni-
prāṇā militvā bhujaṅgī prayātyaram ॥ 8 ॥

Tr. Giving up its own downward movement, *apāna* along with fire soon moves upwards to the abode of *prāṇa* and *bhujagī*, taking *apāna*, fire and *prāṇa* along enters *ara* (*cakra*) . 8.

एतन्मते तु –

etanmate tu—

According to this opinion—

भित्वा ब्रह्मग्रन्थिमादौ रजोंऽकं वेगेनोच्चैः सत्वराऽरुन्धती[5] सा ।
ब्रह्मच्छिद्रस्था व्रजन्त्यूर्ध्वमुच्चै[6]र्विष्णुग्रन्थिं सत्वजं याति चित्तम् ९

bhitvā brahmagranthimādau rajoṅ'kaṃ
vegenoccaiḥ satvarārundhatī sā ॥
brahmacchidrasthā vrajantyūrdhvamuccair-
viṣṇugranthiṃ satvajaṃ yāti cittam ॥ 9 ॥

Tr. In the beginning *arundhatī (kuṇḍalinī)* forcefully and quickly pierces the *brahmagranthi* which has predominance of *rajas* and enters the cavity in the *brahmarandhra* and then

---

1. तमा –b. 2. यथास्या –b. 3. र्ध्वगोंऽपान –b. 4. भजंगी पयांत्यपरं –a. 5. सत्यराऽहंधती –a. 6. व्रजन्त्यूर्ध्वमुमुच्चै –b.

soon moves up to *viṣṇugranthi*, which makes the mind full of *satva(-guṇa)*. 9.

ग्रन्थिं[1] स्ववेगेन विभिद्य विष्णोर्महीयसोर्ध्वं च ततोऽभिगच्छति ।
ग्रन्थिर्महेशस्य चकास्ति यत्र भ्रूमण्डलं याति ततोग्लुमण्डलम् ॥१०॥

granthiṃ svavegena vibhidya viṣṇor-
mahīyasordhvaṃ ca tato'bhigacchati ॥
granthirmaheśasya cakāsti yatra
bhrūmaṇḍalaṃ yāti tatoglumaṇḍalam ॥ 10 ॥

Tr. With its own force, it pierces the *viṣṇu-granthi* and freely moves upwards reaching *rudragranthi* at the centre of the eyebrows from where it reaches *candramaṇḍala*. 10.

दलैर्वृतं षोडशभिः सुचक्रमनाहताख्यं किल तत्र चन्द्रजम् ।
द्रावं सदा शोषयते भुजंगी श्लेष्मात्मकं चार्कजमस्रपित्तजम् ॥११॥

dalairvṛtaṃ ṣoḍaśabhiḥ sucakram-
anāhatākhyaṃ kila tatra candrajam ॥
drāvaṃ sadā śoṣayate bhujaṅgī
śleṣmātmakaṃ cārkajamasrapittajam ॥ 11 ॥

Tr. The auspicious *cakra* named *anāhata* is decorated with sixteen petals wherein the phlegmatic fluid (ambrosia) oozing from the moon and also the fluid secreting from the sun are devoured by *kuṇḍalinī*. 11.

प्राणस्य वेगाच्चलितौ सितारुणौ
वशोमनोत्वेन विकारहेतू ॥
संशोषणाच्चानु तदेव शक्तेः
स्वच्छं[2] भवेत् सिन्धुजलं यथा तथा ॥ १२ ॥

prāṇasya vegāccalitau sitāruṇau
vaśomanotvena vikārahetū ॥
saṅśoṣaṇāccānu tadeva śakteḥ
svacchaṃ bhavet sindhujalaṃ yathā tathā ॥ 12 ॥

Tr. An impetus coming from *prāṇa* sets both moon (white) and sun (red) into action which is the cause of modification of the mind. Due to sucking by *śakti* it (the mind) becomes purified like the water of an ocean. 12.

1. ग्रन्थि –b. 2. स्वच्छ –b.

पीतद्रावा सा परावृत्य पश्चात् स्वस्थानं द्रागेति जीवेन सार्धम् ।
प्राणापानौ मुक्तघस्रक्षयात्म[1]भावौ नित्यंस्तस्तदाऽसत्सदूनौ[2] ॥१३॥

pītadrāvā sā parāvṛtya paścāt
svasthānaṃ drāgeti jīvena sārdham ॥
prāṇāpānau muktaghasrakṣayātma-
bhāvau nityaṃstastadā'satsadūnau ॥ 13 ॥

Tr. She *(kuṇḍalinī)* which has conjured the secretion (mentioned before) later on retracts and quickly reaches her own abode along with *jīva*. Thus *prāṇa* and *apāna* become relieved of day *(piṅgalā)* and night *(iḍā)* and free from *sat* (intransitory) and *asat* (transitory). 13.

समरसमथ चिन्तत्यक्तदुर्वासनांकं
भवति च[3] जठराग्निर्वर्धतेऽलं तदानीम् ॥
दहति निखिलमन्तर्भौतिकं द्रावयित्वा
तनुरमृत[4]रसाक्ता स्याज्जरामृत्युहीना ॥ १४ ॥

samarasamatha cintatyaktadurvāsanāṅkaṃ
bhavati ca jaṭharāgnirvardhate'laṃ tadānīm ॥
dahati nikhilamantarbhautikaṃ drāvayitvā
tanuramṛtarasāktā syājjarāmṛtyuhīnā ॥ 14 ॥

Tr. One attains tranquility having been free from evil desires and worries. Gastric fire is enkindled. All the internal fluids (toxins) are conjured up. The body becomes replete with ambrosia and remains free from oldage and (premature) death. 14.

प्राणाभ्यासक्रम इति जड़े भौतिके दिव्यरूपं
सत्वं तेजः प्रतिदिनमलं सद्विवेकेन शुद्धम् ॥
वृद्धिं याति द्रुतमथ तदा धारणा सर्वसिद्धि-
पात्रं योगी हिमकर इवापूर्ण सद्विक्रमेण ॥ १५ ॥

prāṇābhyāsakrama iti jaḍe bhautike divyarūpaṃ
satvaṃ tejaḥ pratidinamalaṃ sadvivekena śuddham ॥
vṛddhiṃ yāti drutamatha tadā dhāraṇā sarvasiddhi-
pātraṃ yogī himakara ivāpūrṇa sadvikrameṇa ॥ 15 ॥

---

1. मुक्तघसस्यक्षयात्म –b. 2. सत्सदनौ –b. 3. भवति य –b. 4. तनुरसमृत –a.

Tr. Practice of *prāṇāyāma* is undertaken in the gross, mundane body which reveals the divinity, *satva* and effulgence day by day through pure conscience. It becomes pure and grows fast. Then the *yogī* masters *dhāraṇā* and qualifies for all the *siddhis* gradually, like the crescent moon (gradually) gains. 15.

बोधे भुजंग्याहतसर्वकर्मणः समाध्यवस्था स्वयमेव जायते ।
महापथे प्राण उपैति लीनतां मनोऽस्तकर्मास्य[1] तदा न मृत्युः १६

bodhe bhujaṅgyāhatasarvakarmaṇaḥ
samādhyavasthā svayameva jāyate ॥
mahāpathe prāṇa upaiti līnatāṃ
mano'stakarmāsya tadā na mṛtyuḥ ॥ 16 ॥

Tr. The state of *samādhi* occurs on its own on the arousal of *kuṇḍalinī* which eats up all the *karmas*. The *prāṇa* moves to the *mahāpatha (suṣumnā)* rendering the mind absorbed and free from *karmas*. Then one does not face (premature) death. 16.

कालं विधत्तः किल पुष्पवन्तौ नक्तं दिनाख्यं यमिनः सुषुम्णा ।
कालस्य भोक्त्री सहजस्तदात्म्यं[2] कुम्भो भवेत् केवलनामकश्च१७

kālaṃ vidhattaḥ kila puṣpavantau
naktaṃ dinākhyaṃ yaminaḥ suṣumṇā ॥
kālasya bhoktrī sahajastadātmyaṃ
kumbho bhavet kevalanāmakaśca ॥ 17 ॥

Tr. The blossoming time of a *yogī* in the form of night and day is conjured up by *suṣumnā*. Then alone *kevala-kumbhaka* supervenes naturally. 17.

प्राणे सुषुम्णावदनं प्रविष्टे शमं प्रयाते मनसिज[3]चापले ।
तदामरोली मुनिनायकस्य वज्रोलिका सिद्ध्यति दीर्घजीवितम्१८

prāṇe suṣumṇāvadanaṃ praviṣṭe
śamaṃ prayāte manasijacāpale ॥
tadāmarolī munināyakasya
vajrolikā siddhyati dīrghajīvitam ॥ 18 ॥

Tr. When *prāṇa* enters the mouth of *suṣumnā* a restless mind becomes pacified. Then a great *muni* attains success in *amarolī* and *vajrolī* which offer long life. 18.

---

1. मनोऽस्तकर्माऽस्य -b. 2. सहजस्तदात्थं -a. 3. मनसीत -b.

चित्तस्थैर्ये मारुत[1]सुस्थिरः स्यात्तस्माद् बिन्दुसुस्थिरो[2] योगिनोंऽगे
बिन्दुस्थैर्ये[3] स्याद्दयासत्वमोजः पिण्डस्थैर्यं कायसम्पद्बलं च ।१९।

cittasthairye mārutasusthiraḥ syāt-
tasmād bindususthiro yoginoṅ'ge ॥
bindusthairye syāddayāsatvamojaḥ
piṇḍasthairyaṃ kāyasampadbalaṃ ca ॥ 19 ॥

Tr. As the mind is stabilized, *prāṇa* is made stable, as a result of which *bindu* in the body of a *yogī* becomes stable. Stability of *bindu* brings about kindness, truth (or enthusiasm- *satva*), heightened energy, stability, strength and an adamantine body. 19.

महामुद्रया पञ्चबन्धात् सुपीठैर्
विधायाभ्यसेत् प्रत्यहं[4] शक्तिचालम् ॥
पुरा साधकोऽभ्यास उत्कर्षकुम्भो-
रगीचालने स्तो[5] यथोक्ते घटोते ॥ २० ॥

mahāmudrayā pañcabandhāt supīṭhair-
vidhāyābhyaset pratyahaṃ śakticālam ॥
purā sādhako'bhyāsa utkarṣakumbho-
ragīcālane sto yathokte ghaṭote ॥ 20 ॥

Tr. Initially one should practise *śakticāla* daily adopting a suitable posture, applying five *bandhas* and *mahāmudrā*. A *sādhaka* should engage in the prescribed practice of moving *uragī (kuṇḍalinī)* along with *utkarṣa kumbhaka*. 20.

उत्कर्षमारम्भदशाप्रवेश[6]धर्मादिसिद्ध्यंगकजन्मने भजेत् ।
कुम्भोऽयमिन्द्वर्कभवं कफास्र[7]पित्तात्मकं द्रावमलं बहिश्चरेत् ।२१।

utkarṣamārambhadaśāpraveśa-
dharmādisiddhyaṅgakajanmane bhajet ॥
kumbho'yamindvarkabhavaṃ kaphāsra-
pittātmakaṃ drāvamalaṃ bahiścaret ॥ 21 ॥

Tr. One should practise *utkarṣa prāṇāyāma* to enter the stage of *ārambha*, which produces virtue and supernatural powers. Practice of this *kuṃbhaka* removes all the impure fluids produced by *indu* (moon) and *arka* (sun) in the form of phlegm, blood and bile. 21.

1. पारुत –b. 2. संस्थिरो –b. 3. विंस्थैये –b. 4. त्युत्यहं –b. 5. चालनेरतो –b. 6. प्रतेश –a. 7. कफाऽस्य –b.

नाडीविशुद्धौ श्रमजः प्रघर्मः पुरानुनाड्यन्तरजीर्णदुर्मलः ।
उभौ प्रयातोऽनुविशुद्धवर्ष्मण्यारम्भघर्मोऽर्कशशीमलद्रवः ॥ २२ ॥

nāḍiviśuddhau śramajaḥ pragharmaḥ
purānunāḍyantarajīrṇadurmalaḥ ॥
ubhau prayāto'nuviśuddhavarṣmaṇy-
ārambhagharmo'rkaśaśīmaladravaḥ ॥ 22 ॥

Tr. Purification of the *nāḍis* will initially purify the chronic bad impurities in the *nāḍīs* and perspiration generated by exertion. The body is made pure when in the state of *ārambha* impure perspiration produced in the fluid form by *arka* (sun) and *śaśī* (moon) is removed. 22.

विकारिचन्द्रोष्मगुघर्म[1]रूपद्रावे गते भ्वऽग्निजलात्मवीर्ये ।
क्षीणेऽल्पवीर्योष्णवहेन्दुरव्योः[2] संग्यस्तवीर्यं[3] हृतोंऽगकम्पः[4] ।२३।

vikāricandroṣmagugharmarūpa-
drāve gate bhva'gnijalātmavīrye ॥
kṣīṇe'lpavīryoṣṇavahenduravyoḥ
saṅgyastavīryaṃ hṛtoṅ'gakampaḥ ॥ 23 ॥

Tr. When the impure perspiration produced by moon and sun is reduced, of the elements in the form of earth, fire, water and mind are also reduced. Moreover, when *ravi* and *indu* are enfeebled, one experiences tremor. 23.

यथा यथा भ्वऽग्निजलात्मवीर्यशोषस्तनौ कुम्भहविर्भुजा[5] मुनेः ।
तथा बहिर्दग्धकपालदृश्यं विसारमंगं लघु राजते दिवि ॥ २४ ॥

yathā yathā bhva'gnijalātmavīrya-
śoṣastanau kumbhahavirbhujā muneḥ ॥
tathā bahirdagdhakapāladṛśyaṃ
visāramaṅgaṃ laghu rājate divi ॥ 24 ॥

Tr. As the energy of earth, fire, water and mind is absorbed by the fire of *kumbhaka*, one looks as if burnt of the forehead and the body is reduced of essence and thus one moves in the space. 24.

---

1. चन्द्रोष्णगुह्यघर्म —b. 2. वीर्योत्मवहेंदुख्योः -b. 3. संग्यऽस्तवीर्ये —b. 4. हृदतोऽगकम्पः —b. 5. हविभुजा —b.

एतन्मूलं योगबीजे स्पष्टम् ॥

etanmūlaṃ yogabīje spaṣṭam ॥

The fundamentals of this is clarified in *yogabīja*.

॥ इति सुन्दरदेवविरचितायां हठकौमुद्यां शक्तिचालविवेचनोद्योतः ॥

॥ iti sundaradevaviracitāyāṃ haṭhakaumudyāṃ śakticālavivecanodyotaḥ ॥

Here ends the chapter describing *śakticāla* in *haṭhakaumudī* composed by *sundaradeva*.

Chapter—44

अथ शक्तिचालनप्रकारः —

atha śakticālanaprakāraḥ --

Varieties of *śakticālana*—

नाडीशोधनसर्वलक्षणयुतस्त्वारम्भमासेवयेद्
यावन् मूत्रविडल्पतासनसमुत्थानांकिसिद्धा[1]निलः ॥
वर्षं वानलसः[2] समाहितमना वर्षत्रयं वाभ्यसेत्
प्रत्याहार उपाहृताक्ष उरगीचालं[3] यथोक्तं क्रियात् ॥ १ ॥

nāḍīśodhanasarvalakṣaṇayutastvārambhamāsevayed
yāvan mūtraviḍalpatāsanasamutthānāṅkisiddhānilaḥ ॥
varṣaṃ vānalasaḥ samāhitamanā varṣatrayaṃ vābhyaset
pratyāhāra upāhṛtākṣa uragīcālaṃ yathoktaṃ kriyāt ॥ 1 ॥

Tr. One should maintain the state of *ārambha* until it reveals all the signs of purification of the *nāḍīs* like, scanty faeces and urine, levitation in an *āsana*, control over *prāṇa*. (Followed by this) one should diligently practise *pratyāhāra* for a year or three with controlled mind and by withdrawing the senses coupled with practice of *śakticāla*. 1.

तद्यथा —

Which is as follows—

पुरानिलं वायुसखेन साकं धिया समारोप्य[4] निरोधयेत्तम् ।
ध्यायेत् सदा चक्रिणमप्रबुद्धं[5] नाभौ सदा कुण्डलिनं निविष्टम् २

purānilaṃ vāyusakhena sākaṃ
dhiyā samāropya nirodhayettam ॥
dhyāyet sadā cakriṇamaprabuddhaṃ
nābhau sadā kuṇḍalinaṃ niviṣṭam ॥ 2 ॥

Tr. In the beginning control *anila* along with *agni*, the friend of *vāyu*, by holding it with focussed mind. One should always meditate on God *viṣṇu* who is in slumber adorned with earrings and located at the navel. 2.

---

1. सिध्य –b. 2. वानलं –b. 3. समाहितमना वर्षत्रयं वाभ्यसेत् प्रत्याहार उपाहृताक्ष उरगीचालं -अनुपलब्धपाठः —b. 4. ससमारोप्य –b. 5. चक्रिणाडया प्रबुद्ध-a.

द्वारं समावेष्ट्य[1] मुखेन मध्यमन्याः स्वभोगेन शिराश्च नाभिजाः
स्वपुच्छमास्येन निगृह्य सम्यक् पन्थानमीड्यं मरुदग्नि[2]चेतसाम् ३

dvāraṃ samāveṣṭya mukhena madhya-
manyāḥ svabhogena śirāśca nābhijāḥ ॥
svapucchamāsyena nigṛhya samyak
panthānamīḍyaṃ marudagnicetasām ॥ 3 ॥

Tr. With her hood (i.e. with her mouth), *kuṇḍalinī* closes the door of *suṣumnā* and also the *śirās* originating from the navel, putting her own tail in the mouth (of *suṣumnā).* One should follow the path of *prāṇa*, fire and mind. 4.

निगृह्य पुच्छं भुजगीं प्रसुप्तामुद्बोधयेदस्तभयो बलात्ताम् ।
विहाय निद्रां सरलोर्ध्वं नेया[3] हठात् समुत्तिष्ठत आत्तवेगा[4] ।४।

nigṛhya puccham bhujagīṃ prasuptām-
udbodhayedastabhayo balāttām ॥
vihāya nidrāṃ saralordhvaṃ neyā
haṭhāt samuttiṣṭhata āttavegā ॥ 4 ॥

Tr. Awaken the latent *kuṇḍalī* by use of force without fear, and by catching with tail. Giving up slumber, she becomes straight and soon moves intensely upward. 4.

Note. See HP-V.41-42; 172. 4.

परिस्थितस्येह फणावती सा प्रातस्तु सायं प्रहरार्धमात्रम् ।
प्रपूर्य सूर्यात् परिधानयुक्ता प्रगृह्य निर्यात् परिचालनीया ॥ ५ ॥

paristhitasyeha phaṇāvatī sā
prātastu sāyaṃ praharārdhamātram ॥
prapūrya sūryāt paridhānayuktā
pragṛhya niryāt paricālanīyā ॥ 5 ॥

Tr. One should catch hold of the hooded serpent which is lying (latent) and stimulate her daily by inhaling through *sūrya* (right) *nāḍī* for one and a half hours in the morning and evening. 5.

Note. For *paridhānayukti* see HP-v.41-42(Lonavla Yoga Institute); iii.108 (K'dhama). 5.

---

1. संमावेष्टा –b. 2. मरुदःग्नि –b. 3. सरलोर्ध्वमेया –b. 4. आतवेगा –a.

प्राणस्य संरोधनतः पुरासौ मुक्तानृजुत्वात्[1] सरलास्ति कुण्डली ।
सन्दीपनचालनमुक्तमस्याश्चलत्यसौ मध्यपथस्य चालनात् ॥ ६ ॥

prāṇasya saṃrodhanataḥ purāsau
muktānṛjutvāt saralāsti kuṇḍalī ॥
sandīpanacālanamuktamasyāś-
calatyasau madhyapathasya cālanāt ॥ 6 ॥

Tr. In the beginning, through the control of *prāṇa*, *kuṇḍalī* which had been crooked becomes free and straight. Due to stimulation, movement and thus being free, *kuṇḍalī* moves through the middle path *(suṣumṇā)*. 6.

मुक्तासने[2] वा कमलासने वा वज्रासने वा विदधीत चालनम् ।
अपानमूर्ध्वं प्रसभं निगृह्य योगेन[3] नागीं हृदि चिन्तयन् मुनिः ॥७॥

muktāsane vā kamalāsane vā
vajrāsane vā vidadhīta cālanam ॥
apānamūrdhvaṃ prasabhaṃ nigṛhya
yogena nāgīṃ hṛdi cintayan muniḥ ॥ 7 ॥

Tr. One should move her *(kuṇḍalī)* after adopting *muktāsana*, *kamalāsana* or *vajrāsana*. The *muni*, through *yoga* practice carefully moves *apāna* upwards through control as he meditates on *nāgī (kuṇḍalinī)* in the heart. 7.

प्राणायामयथोक्त[4]विध्युपगतः स्थित्वाऽनु पद्मासने
ह्यग्रवाहमपानमन्तरगतिं कृत्वा विभिद्य स्थितिः ॥
ऊर्ध्वं कामहुताशनेन सरलां योन्यास्यरोधार्दनैर्[5]
वामांघ्रेर्दृढ[6]पार्ष्णिनाऽपरपदा रुध्वा शिराः कुण्डलीम् ॥८॥

prāṇāyāmayathoktavidhyupagataḥ sthitvā'nu padmāsane
hyagravāhamapānamantaragatiṃ kṛtvā vibhidya sthitiḥ ॥
ūrdhvaṃ kāmahutāśanena saralāṃ yonyāsyarodhārdanair
vāmāṅghrerdṛḍhapārṣṇinā'parapadā rudhvā śirāḥ kuṇḍalīm ॥8॥

Tr. One maintains *padmāsana* and follows the prescribed technique as laid down for *prāṇāyāma* and moves the *apāna* upward while piercing the *mūlādhāra* with fire which makes her (*kuṇḍalinī)* straight. This is done by blocking the

1. मुक्ताऽऋजुत्वात् --b. 2. त्यक्तासने –b. 3. निगृह्यस्वणगेन –b. 4. पथोक्त -b.
5. योन्यास्परोधाऽर्दनैर् -- b. 6. र्दट –b.

śirās (channels) and the mouth of its origin by pressing the perineum with the left heel firmly and putting the other foot over it. 8.

वारं वारमपानकोर्ध्वकलनैर्मूलेन रुद्धं[1] हठाद्
आयुज्याग्नि[2]पदं च तद्धमनतो[3] दीप्तानलेनाहताम् ॥
कुर्याच्छक्तिमतीव दोलनतया सम्यङ् मुहूर्तद्वयं
जान्वोः पाणियुगं निधाय रविणा ज्ञः पूर्य कुम्भं चरेत्९

vāraṃ vāramapānakordhvakalanairmūlena ruddhaṃ haṭhād
āyujyāgnipadaṃ ca taddhamanato dīptānalenāhatām ॥
kuryācchaktimatīva dolanatayā samyaṅ muhūrttadvayam
jānvoḥ pāṇiyugaṃ nidhāya raviṇā jñaḥ pūrya kumbhaṃ caret 9

Tr. By blocking the *mūlādhāra*, *apāna* is forcefully raised repeatedly upwards while taking the fire along, blowing up *śakti (kuṇḍalinī)* vigorously for a couple of *muhūrtas* (1 *muhūrta*=48 minutes). One places the hands on the knees and practises *kumbhaka* after inhaling through the right nostril. 9.

क्षुब्ध्वा सेति धनञ्जयेन शयिता तप्ताऽथ ऊर्ध्वं[4] तथा
औष्ण्येनार्काध्वगतेरणस्य जठरोत्थेद्धाग्निना सर्वतः ॥
प्लुष्टे वात्मनि निद्रिता गतमलेऽन्तर्मुद्रितं स्वाननं
शाम्भव्या न नतः पृथग्वितनुते स्फूर्जत्फणारोषणम् ।१०।

kṣubdhvā seti dhanañjayena śayitā taptā'dha ūrdhvaṃ tathā
auṣṇyenārkādhvagateraṇasya jaṭharotthaddhāgninā sarvataḥ ॥
pluṣṭe vātmani nidritā gatamale'ntarmudritaṃ svānanaṃ
śāmbhavyā na nataḥ pṛthagvitanute sphurjatphaṇāroṣaṇam ।10।

Tr. The latent *kuṇḍalinī* having been stimulated by *dhanañjaya* moves up. Being heated by *prāṇa* and abdominal fire and also being stirred, she becomes free from impurities, and she spreads the hood with a hissing sound. 10.

कट्यान्दोलनतो मुहूर्त्तयुगलं सञ्चालनेनाकुलो-
र्ध्वाऽधः सपवनानलैः प्रतिदिनं सायं प्रगेऽत्यर्दिता ॥
अभ्यासेद्धहुताशतापिततनु[5]र्हाज्यानचान्द्री सुधा-
भ्रान्तौ याति बहिस्तदा मृतिगुणघ्नरन्ध्रनाडीलयः ॥११॥

---

1. अनुपलब्धपाठः —b. 2. आयंज्याग्नि —b. 3. तद्वमनतो —b. 4. तप्ताऽधरुर्ध्व —b. 5. अभ्यासेद्वहुनाशतापिततनू —b.

kaṭyāndolanato muhūrtayugalaṃ sañcālanenākulo-
rdhvā'dhaḥ sapavanānalaiḥ pratidinaṃ sāyaṃ prage'tyarditā ||
abhyāseddha-hutāśatāpitatanurhājyānacāndrī sudhā-
śrāntauyāti bahistadā mṛtiguṇabhrūrandhranāḍīlayaḥ || 11 ||

Tr. By the movement of the waist for a couple of *muhūrtas* (1 *muhūrta*=48 minutes) everyday in the morning and evening she along with *prāṇa* and fire becomes very much stimulated. As the *ghee* melts due to heat of fire, so also the ambrosia flows down and then *kuṇḍalinī* merges in the *bhrūrandhra* (center of the eyebrows). 11.

चालयित्वा पुरा कुण्डलीं भस्त्रिकां चानुकुर्याद्विशेषेण योगी सदा
चालने क्षुब्धहृद्भस्त्रितप्ताति सासन्निवाकृष्टिदर्वाग्भिरुत्तिष्ठते[1] **।१२।**

cālayitvā purā kuṇḍalīṃ bhastrikāṃ
cānukuryādviśeṣeṇa yogī sadā ||
cālane kṣubdhahṛdbhastritaptāti sā-
sannivākṛṣṭidarvāgbhiruttiṣṭhate || 12 ||

Tr. A *yogī* should always specially practise *bhastrikā* after moving *kuṇḍalī* in the beginning. Being excessively stimulated by the movement of *bhastrikā*, she (*kuṇḍalinī*) rises up spreading the hood. 12.

स्थित्वा पद्मासने प्राक् रविधमनिकया कुम्भमापूर्य दीर्घम्
चापानं वायुमूर्ध्वं मुहूरतिबलतः संविधायाऽनुशक्तिम्[2] **॥**
आधारे वाऽथ नाभौ विहितनिजपदां चालयित्वाऽनुभस्त्रीं
कुर्यादभ्यासतोऽस्य प्रतिदिनमचला[3] **याति बोधं भुजंगी ॥ १३ ॥**

sthitvā padmāsane prāk ravidhamanikayā kumbhamāpūrya dīrgham
cāpānaṃ vāyumūrdhvaṃ muhūratibalataḥ saṃ vidhāyā'nuśaktim ||
ādhāre vā'tha nābhau vihitanijapadāṃ cālayitvā'nubhastrīm
kuryādabhyāsato'sya pratidinamacalā yāti bodhaṃ bhujaṅgī || 13 ||

Tr. In the beginning, adopting *padmāsana*, inhale through right nostril to fill up the cavity. Then very forcefully

1. कृष्टिदर्वाग्भिहतिष्ठते –b. 2. संनिधायाऽनुशक्ति –b. 3. मःचला –b.

hold the *apāna* after raising it up suddenly and then fix the *śakti* at the *ādhāra (mūlādhāra)* or the navel. After this following the prescribed technique, practise *bhastrikā*. A daily practice of this will make the *kuṇḍalinī* awakened. 13.

सञ्चालनक्षुभितरुद्धसमीरवेग-
संगप्रदीप्तशिखियोगत उत्प्रतप्ता ॥
छिद्रं विहाय भुजगी द्रुतमूर्ध्वमेति
ग्रन्थीन् विभिद्य मरुता मनसा श्मशाने ॥ १४ ॥

sañcālanakṣubhitaruddhasamīravega-
saṅgapradīptaśikhiyogata utpratapta ॥
chidraṃ vihāya bhujagī drutamūrdhvameti
granthīn vibhidya marutā manasā śmaśāne ॥ 14 ॥

Tr. Being stirred, the heated up *kuṇḍalinī* due to blazing fire and retention of *prāṇa*, leaves the hole and soon travels upwards while piercing the *granthis*, along with *prāṇa* and mind to reach the void *(brahmarandhra)*. 14.

तुर्यांगुल४प्रमितवेष्टनवस्त्रमस्या[1]
विस्तारतो रवि१२मितांगुलदैर्घ्यमानम् ॥
अंगुष्ठतर्जनीयुगे[2] परिगृह्य तत्र
सव्यापसव्यमसकृत्[3] परिचालयेत्ताम् ॥ १५ ॥

turyāṅgula4pramitaveṣṭanavastramasyā
vistārato ravi12mitāṅguladairghyamānam ॥
aṅguṣṭhatarjanīyuge parigṛhya tatra
savyāpasavyamasakṛt paricālayettām ॥ 15 ॥

Tr. Take a cloth four digits in width and twelve digits in length. Hold it between thumb and index fingers and rub it from left to right. 15.

चालयित्वा दृढं[4] कुण्डलीं यश्चरेत्
सूर्यभेदे स्मृतोज्जयिकायां[5] च वा ॥
शीतलीमभ्यसेदेवमभ्यासिनो
न श्रमश्चालनेनास्ति भस्त्रयां मृतिः ॥ १६ ॥

1. सप्तमस्या –b. 2. तर्जनि –b. 3. मःसकृत् –b. 4. हठं –a. 5. स्मृतोज्जपिकायां –b.

cālayitvā dṛḍhaṃ kuṇḍalīṃ yaścaret
sūryabhede smṛtojjayikāyāṃ ca vā ||
sītalīmabhyasedevamabhyāsino
na śramaścālanenāsti bhastryāṃ mṛtiḥ || 16 ||

Tr. Move the *kuṇḍalī* firmly. Then follow the practice of *sūryabheda, ujjāyī* or *śītalī*. Thus a practitioner will not be tired or exhausted by the practice of *bhastrikā*. 16.

मुहूर्त्तद्वयं चालयेन्निर्भयेन
भुजंगीमिमां सूर्यकुम्भेऽतिदीर्घे[1] ॥
तदैषोर्ध्वमाकर्षयेत् किञ्चिदास्यं
सुषुम्णागता कुण्डली तेन[2] तस्याः ॥ १७ ॥

muhūrttadvayaṃ cālayennirbhayena
bhujaṅgīmimāṃ sūryakumbhe'tidīrghe ||
tadaiṣordhvamākarṣayet kiñcidāsyaṃ
suṣumṇāgatā kuṇḍalī tena tasyāḥ || 17 ||

Tr. Without fear, move *kuṇḍalī* for a couple of *muhūrtas* (96 minutes), through a very prolonged practice of *sūryabheda*. Then *kuṇḍalī* is pulled upward and she enters the mouth of *suṣumnā* a little. 17.

सुषुम्णाया मुखमेषो जहाति
तस्मात् प्राणो व्रजति ब्रह्मरन्ध्रम् ॥
नित्यं तस्माच्चालयेच्छंभुगर्भां
नागीं यस्याश्चालनाद्योग्यरुक् स्यात् ॥ १८ ॥

suṣumṇāyā mukhameṣo jahāti
tasmāt prāṇo vrajati brahmarandhram ||
nityaṃ tasmāccālayecchambhugarbhāṃ
nāgīṃ yasyāścālanādyogyaruk syāt || 18 ||

Tr. Then she leaves the mouth of *suṣumnā* and *prāṇa* travels to *brahmarandhra*. Therefore, regularly stir up the *nāḍī (kuṇḍalinī)* which has *śambhu* in its womb which makes one free from diseases. 18.

---

1. ऽतिदीर्घ –b. 2. कुण्डलीनेन –b.

तथा चोक्तं ग्रन्थान्तरे —

tathā coktaṃ granthāntare—

It has been maintained in another text—

तत्साधनद्वयं मुख्यं सरस्वत्यास्तु चालनम् ।
प्राणसंरोधनं नाभ्यामृज्वी भवति कुण्डली ॥ १९ ॥

tatsādhanadvayaṃ mukhyaṃ sarasvatyāstu cālanam ।
prāṇasaṃrodhanaṃ nābhyāmṛjvī bhavati kuṇḍalī ॥ 19 ॥

Tr. These two techniques are of prime importance—movement of *sarasvatī* and holding of *prāṇa* at the navel which straightens up *kuṇḍalinī*. 19.

तयोरादौ सरस्वत्याश्चालनं कथयाम्यतः ।
अरुन्धत्येव कथिता पुरा विद्भिः सरस्वती ॥ २० ॥

tayorādau sarasvatyāścālanaṃ kathayāmyataḥ ।
arundhatyeva kathitā purā vidbhiḥ sarasvatī ॥ 20 ॥

Tr. I shall first narrate the technique of movement of *sarasvatī*. The experts have called *arundhatī* as *sarasvatī*. 20.

अस्याः सञ्चालनेनैव स्वयं चलति कुण्डली ।
इडायां चालयित्वा तु बद्धे पद्मासने दृढे ॥ २१ ॥

asyāḥ sañcālanenaiva svayaṃ calati kuṇḍalī ।
iḍāyāṃ cālayitvā tu baddhe padmāsane dṛḍhe ॥ 21 ॥

Tr. Movement of her (*sarasvatī*) sets *kuṇḍalī* moving on her own. After firmly adopting *padmāsana* one should move the *prāṇa* through *iḍā*. 21.

द्वादशांगुलदैर्घ्यं तु अम्बरं चतुरंगुलम् ।
विस्तारे तेन तां नाडीं वेष्टयित्वा तु तत्सुधीः ॥ २२ ॥

dvādaśāṅguladairghyaṃ tu ambaraṃ caturaṅgulam ।
vistāre tena tāṃ nāḍīṃ veṣṭayitvā tu tatsudhīḥ ॥ 22 ॥

Tr. The cloth measures twelve digits in length and four digits in width. A wise should wrap this *nāḍī*. 22

अंगुष्ठतर्जनीभ्यां तां हस्तेनाकर्षयेद् दृढम् ।
स्वशक्त्या चालयेद्वामे दक्षिणे च पुनः पुनः ॥ २३ ॥

aṅguṣṭhatarjanībhyāṃ tāṃ hastenākarṣayed dṛḍham ।
svaśaktyā cālayedvāme dakṣiṇe ca punaḥ punaḥ ॥ 23 ॥

Tr. With the help of the thumb and index pull her up with the hand and with force frequently move it to left and right. 23.

मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयश्चालनादिमाम् ।
ऊर्ध्वमाकर्षयेत् किञ्चित् सुषुम्णा कुण्डलीवृता ॥ २४ ॥

muhūrttadvayaparyantaṃ nirbhayascālanādimām ।
ūrdhvamākarṣayet kiñcit suṣumṇā kuṇḍalīvṛtā ॥ 24 ॥

Tr. After fearlessly moving her for a couple of *muhūrtas* (96 minutes) raise her (*kuṇḍalinī*) up to open the mouth of *suṣumṇā*. 24.

तदा कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्णाया मुखं ध्रुवम् ।
जहाति तस्मात् प्राणोऽयं सुषुम्णां व्रजति स्वतः ॥ २५ ॥

tadā kuṇḍalinī tasyāḥ suṣumṇāyā mukhaṃ dhruvam ।
jahāti tasmāt prāṇo'yaṃ suṣumṇāṃ vrajati svataḥ ॥ 25 ॥

Tr. Then alone *kuṇḍalinī* soon leaves the mouth of *suṣumnā* and therefore *prāṇa* on its own will course through *suṣumnā*. 25.

तुन्दे तु पवनं पूर्य कण्ठसंकोचने कृते ।
सरसं चालयेन्नित्यं शक्तिगर्भां[1] सरस्वतीम् ॥ २६ ॥

tunde tu pavanaṃ pūrya kaṇṭhasaṅkocane kṛte ।
sarasaṃ cālayennityaṃ saktigarbhāṃ sarasvatīm ॥ 26 ॥

Tr. Fill up the cavity with air and contract the throat. Regularly move *sarasvatī* adequately, which is replete with energy (*saktigarbhā*) . 26.

अस्याः[2] सञ्चालनेनैव योगी रोगैः[3] प्रमुच्यते ।
गुल्मं जलोदरं प्लीहं[4] ये चान्ये तुन्द[5]मध्यगाः ॥
ते सर्वे शक्तिचालने रोगा नश्यन्ति निश्चयाद् ॥ इति ॥ २७ ॥

asyāḥ sañcālanenaiva yogī rogaiḥ pramucyate ।
gulmaṃ jalodaraṃ plīhaṃ ye cānye tundamadhyagāḥ ॥
te sarve sakticālane rogā naśyanti niścayād ॥ *iti* ॥ 27 ॥

---

1. शक्तिगर्भ –b. 2. अस्या –b. 3. योगीगैः –b. 4. स्नीहं –b. 5. येवाऽन्येतुद –b.

Tr. Movement of this *(kuṇḍalinī)* makes a *yogī* free from diseases like *gulma* (inflammation), dropsy, spleen disorders and also those related to abdomen. All these diseases are certainly cured by the practice of *śakticālana*. 27.

तथा चोक्तं योगबीजे –

tathā coktaṃ yogabīje—

It has been maintained in *yogabīja*—

वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा तु कुण्डलीम् ।
कुर्यादनन्तरं भस्त्रीं कुण्डलीमाशु बोधयेत् ॥ २८ ॥

vajrāsane sthito yogī cālayitvā tu kuṇḍalīm ।
kuryādanantaraṃ bhastrīṃ kuṇḍalīmāśu bodhayet ॥ 28 ॥

Tr. A *yogī* should adopt *vajrāsana* and move *kuṇḍalī*. And thereafter he should practise *bhastrikā*. Thus *kuṇḍalī* is soon awakened. 28.

भिद्यन्ते ग्रन्थयो वंशे तप्तलोहशलाकया ।
तथैव पृष्ठवंशे स्याद् ग्रन्थिभेदास्तु वायुना ॥ २९ ॥

bhidyante granthayo vaṃśe taptalohaśalākayā ।
tathaiva pṛṣṭhavaṃśe syād granthibhedāstu vāyunā ॥29॥

Tr. As the knots of a bamboo are pierced with a hot iron rod, similarly, the *granthis* in the spine are pierced through *prāṇa*. 29.

पिपीलिका यथा लग्ना कम्पस्तत्र प्रवर्त्तते ।
सुषुम्णायां तथाभ्यासात् सततं वायुना भवेत् ॥ ३० ॥

pipīlikā yathā lagnā kampastatra pravarttate ।
suṣumṇāyāṃ tathābhyāsāt satataṃ vāyunā bhavet ॥ 30 ॥

Tr. In the spine a sensation is felt as if an ant is creeping. Such an experience occurs in the *suṣumnā* due to movement of *vāyu* due to regular practice. 30.

रुद्रग्रन्थिं ततो भित्वा सैव याति शिवान्तिकम् ।
चन्द्रसूर्यौ समौ कृत्वा तयोर्योगः प्रवर्त्तते ॥ ३१ ॥

rudragranthiṃ tato bhitvā saiva yāti śivāntikam ।
candrasūryau samau kṛtvā tayoryogaḥ pravartate ॥ 31 ॥

Tr. Piercing the *rudragranthi* she *(kuṇḍalī)* reaches the abode of *śiva*-- center of the eyebrows after uniting both sun and moon. 31.

गुणत्रयादतीतः स्याद् ग्रन्थित्रयविभेदकः ।
शिवशक्तिसमायोगाज्जायते परमा स्थितिः ॥ ३२ ॥

guṇatrayādatītaḥ syād granthitrayavibhedakaḥ ।
śivaśaktisamāyogājjāyate paramā sthitiḥ ॥ 32 ॥

Tr. Due to piercing of the three knots, one transcends the triad of *guṇas* and attains the union of *śiva* and *śakti* which is the Absolute State. 32.

यथा करीकरेणैव पानीयं प्रपिबेत्तथा ।
सुषुम्णा चक्रनिलयं पवनं ग्रसेत्सदा ॥ ३३ ॥

yathā karīkareṇaiva pānīyaṃ prapibettathā ।
suṣumṇā cakranilayaṃ pavanaṃ grasetsadā ॥ 33 ॥

Tr. As an elephant drinks water with the help of the trunk, similarly, *suṣumnā* sucks the *prāṇa* located in the *cakras*. 33.

वज्रदण्डे समुद्भूता मणयश्चैकविंशतिः ।
सुषुम्णायां स्थिताः सर्वे सूत्रे मणिगणा इव ॥ ३४ ॥

vajradaṇḍe samudbhūtā maṇayaścaikaviṃśatiḥ ।
suṣumṇāyāṃ sthitāḥ sarve sūtre maṇigaṇā iva ॥ 34 ॥

Tr. There are twenty-one beads (vertebrae) in the *vajradaṇḍa* (spine) which are actually in *suṣumnā* like the beads strewn in a thread. 34.

आपूर्य पूरितो वायुर्वादितो याति साधकः ।
पुनः पुनस्तदेव हि पश्चिमद्वारलक्षणम् ॥ ३५ ॥

āpūrya pūrito vāyurvādito yāti sādhakaḥ ।
punaḥ punastadeva hi paścimadvāralakṣaṇam ॥ 35 ॥

Tr. When moved, *prāṇa* enters in the posterior path with a sonorous sound repeatedly which signifies its entry. 35.

पूरितस्तु नवद्वारैरीषत्कुम्भकतां गतः ।
प्रविशेत्सर्वगात्रेषु वायुः पश्चिममार्गतः ॥
रेचकः क्षीणतां याति पूरकः शोषयेत्तदा ॥ ३६ ॥

pūritastu navadvārairīṣatkumbhakatāṃ gataḥ ।
praviśetsarvagātreṣu vāyuḥ paścimamārgataḥ ॥
recakaḥ kṣīṇatāṃ yāti pūrakaḥ śoṣayettadā ॥ 36 ॥

Tr. Inhale *prāṇa*, close the nine openings with a little retention. Thus *prāṇa* moves through the posterior path. Exhalation is reduced and inhalation is suspended. 36.

स एष[1] नाथसंकेत इति ॥

sa eṣa nāthasaṅketa iti ॥

This is the indication of the *nātha*.

श्रमजातजलेन सार्धमंगमभ्यासिनाभिविमर्दयेत्तदन्ते ।
मितभुक् च वशी स्वरूपं निष्ठो हितभुक् सिद्धिमुपैति मण्डलेन३७

śramajātajalena sārdhamaṅgam-
abhyāsinābhivimardayettadante ।
mitabhuk ca vaśī svarūpaṃ niṣṭho
hitabhuk siddhimupaiti maṇḍalena ॥ 37 ॥

Tr. As a result of exertion due to practice (of *prāṇāyāma*) the perspiration produced should be rubbed on the body thoroughly. He should consume moderate but nutritious food and gain control on himself. Thus he attains success in one *maṇḍala*. 37.

आशक्तिबोधं शुभबन्धमुद्रादिवत्सदैवाभ्यसनीयमादरात् ।
उत्कर्षकायामक एतदंगं[2] शक्तिप्रबोधीति घटान्त आश्रितम् ॥३८॥

āśaktibodhaṃ śubhabandhamudrā-
divatsadaivābhyasanīyamādarāt ॥
utkarṣakāyāmaka etadaṅgaṃ
śaktiprabodhīti ghaṭānta āśritam ॥ 38 ॥

Tr. One must continue practising the auspicious *bandha*, *mudrā* etc. with full devotion till the arousal of *śakti*. Practice of *utkarṣa prāṇāyāma* forms the part of this arousal of *śakti* which is located in the human body. 38.

अविद्याप्रसुप्ता घटान्तं[3] भुजंगी प्रबुद्धा दृढचालनैश्चानुमाया ।
मुनेर्दिव्यदृक्[4] पुद्गलज्ञानकर्त्री भवेच्छुद्धसत्वात्मविज्ञा[5]स्तदासौ ।३९।

1. सरो –b. 2. राजदंडगं–b. 3. घटोत्थं –a. 4. दिव्यदव–b. 5. त्वात्मविज्ञ—b.

avidyāprasuptā ghaṭāntaṃ bhujaṅgī
prabuddhā dṛḍhacālanaiścānumāyā ।
munerdivyadṛk pudgalajñānakartrī
bhavecchuddhasatvātmavijjñastadāsau ॥ 39 ॥

Tr. In the body, *bhujaṅgī* lies latent due to *avidyā* (ignorance) which a *muni* can awaken through vigorous stirring. Then alone one attains a divine vision, acquires knowledge of the anatomy, a pure *satva* (mind) and realization of the Self. 39.

मतान्तरे –

matāntare --

According to another opinion—

पद्मासने प्राक् परिचालयित्वे-
डायां निरुद्ध्याशुगम[1]र्कनाड्याम् ॥
मुहूर्त्तयुग्मं परिचालयेज्ज्ञः
संवेष्ट्य[2] नाडीं परिकर्षयन् दृढम् ॥ इति ॥ ४० ॥

padmāsane prāk paricālayitve-
ḍāyāṃ nirudhyāśugamarkanāḍyām ॥
muhūrttayugmaṃ paricālayejjñaḥ
saṃveṣṭya nāḍīṃ parikarṣayan dṛḍham ॥ *iti* ॥40॥

Tr. First adopt *padmāsana* and stir up *(kuṇḍalī)* by moving *prāṇa* in the *iḍā* followed by holding it (*prātna*) in the right nostril. A wise should move her for a couple of *muhūrtas* (96 minutes) and should firmly pull up the *nāḍī*. 40.

योगचन्द्रिकायां तु –

yogacandrikāyāṃ tu --

According to *yogacandrikā*—

भानोराकुञ्चनं कुर्यात् कुण्डलीं बोधयेत्ततः ।
मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ॥ ४१ ॥

bhānorākuñcanaṃ kuryāt kuṇḍalīṃ bodhayettataḥ ।
mṛtyuvaktragatasyāpi tasya mṛtyubhayaṃ kutaḥ ॥ 41 ॥

---

1. निरुध्युशुगम –b. 2. संवेष्टग –b.

Tr. Contract the sun (right nostril) and then awaken *kuṇḍalinī*. Thus one overcomes fear from death even if one is in the clutches of death. 41.

भानोराकुञ्चनं पिंगलायाः कर्षणं कुर्यात् योगी । ततः भान्वाकुञ्चनात् कुण्डलीं बोधयेत् अयमर्थः । सूर्यनाड्याकर्षणेन वह्नेः प्राचुर्यं तस्माज्ज्वलनो तेजसा । अपानवाय्वाकर्षणेन वा कुण्डल्या बोधो भवति ॥ ४२ ॥

bhānorākuñcanaṃ piṅgalāyāḥ karṣaṇaṃ kuryāt yogī । *tataḥ bhānvākuñcanāt kuṇḍalīṃ bodhayet ayamarthaḥ* । *sūryanāḍyākarṣaṇena vahneḥ prācuryaṃ tasmājjvalano tejasā* । *apānavāyvākarṣaṇena vā kuṇḍalyā bodho bhavati* ॥ 42 ॥

Tr. A *yogī* contracts the sun (right nostril) which awakens *kuṇḍalī*. This pulling up of *prāṇa* abundantly enhances fire. That sets the fire blazing due to pulling up of *apāna* which awakens *kuṇḍalinī*. 42.

तस्य शक्तिचालनकृताभ्यासः तस्य मृत्युभयं कुतः ॥ ४३ ॥

tasya śakticālanakṛtābhyāsaḥ tasya mṛtyubhayaṃ kutaḥ ॥ 43 ॥

Tr. One who practises *śakticālana* does not fear from death. 43.

मूलस्थानं प्राक् समाकृष्य सम्यगुड्डीयानं कारयेन्निर्भयेन ।
कुम्भं धृत्वानेनैव[1] कर्मणा ज्ञो वायुमार्गे पश्चिमे वाहयेत् स्वम् ४४

mūlasthānaṃ prāk samākṛṣya samyag-
uḍḍīyānaṃ kārayennirbhayena ॥
kumbhaṃ dhṛtvānenaiva karmaṇā
jño vāyumārge paścime vāhayet svam ॥ 44 ॥

Tr. First of all apply *mūlabandha* and then fearlessly practise *uḍḍīyāna* in a proper manner. A wise, while practising *kumbhaka* should move the *prāṇa* through the posterior path (*suṣumnā*). 44.

इति मुद्रादशकमिदं प्रोक्तमादिनाथेन शम्भुना ।
एकैकाकरणेऽस्मिन् क्षमैव मुद्रासुसिद्धये यमिनाम् ॥ ४५ ॥

---

1. कुम्भघन्वाऽनेन वै –b.

iti mudrādaśakamidaṃ
proktamādināthena śambhunā ||
ekaikākaraṇe'smin kṣamaiva
mudrāsusiddhaye yamināṃ || 45 ||

Tr. Here ends the (description of) the ten *mudrās* as narrated by *ādinātha*. Success in each of the *mudrās* brings stability to a *yogī*. 45.

योगचन्द्रिकायाम् —
yogacandrikāyām --
According to *yogacandrikā*—

अभ्यासनिःसृतां[1] चान्द्रीं कलां नित्यं समाश्रयेत् ।
धारणामुत्तमां चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिकाम् ॥ ४६ ॥

abhyāsaniḥsṛtāṃ cāndrīṃ kalāṃ nityaṃ samāśrayet |
dhāraṇāmuttamāṃ caiva divyadṛṣṭipradāyikām || 46 ||

Tr. One should always take recourse of *kalā* to moon (ambrosia secreting from the moon) through practice, and also *uttamā-dhāraṇā* (*nabho-dhāraṇā*) which bestows upon divine insight. 46.

योगी चान्द्रीं कलां चन्द्रनाडीं नित्यं समाश्रयेत् सेवेत । किंविशिष्टां ? अभ्यासनिःसृताम् । अभ्यासेन कृतवश्याम् । पुनः उत्तमां धारणां[2] नभोधारणां समाश्रयेत्[3] । सर्वासां मध्ये अयमर्थः ॥ ४७ ॥

yogī cāndrīṃ kalāṃ candranāḍīm | *nityaṃ samāśrayet seveta* | *kiṃviśiṣṭāṃ* ? *abhyāsaniḥsṛtāṃ* | *abhyāsena kṛtavaśyāṃ* | *punaḥ uttamāṃ dhāraṇāṃ nabhodhāraṇāṃ samāśrayet sarvāsāṃ madhye ayamarthaḥ* || 47 ||

Tr. A *yogī* should always practise through lunar (left) nostril which controls the flow of ambrosia. Thereafter he should practise *nabhodhāraṇā*. 47.

चन्द्रनाडीसेवने अमृतावाप्तिः । नभोधारणया योगसिद्धिः । खेचरीमुद्रया सिद्धिः सर्वासां मुद्राणां मध्ये इति ॥ ४७ ॥

candranāḍīsevane amṛtāvāptiḥ | *nabhodhāraṇayā yogasiddhiḥ* | *khecarīmudrayā siddhiḥ sarvāsāṃ mudrāṇāṃ madhye iti* || 48 ||

1. निःसृता -b. 2. धोरणं -b. 3. समश्रयेत् —b.

Tr. In short, practice through left nostril offers ambrosia and *nabhodhāraṇā* brings about success in *yoga*. Among all the *mudrās*, *khecari* brings success. 48.

मारुताभ्यसनमेतदशेषं चित्तवृत्तिजयतः प्रविधेयम्[1] ।
नेतरत्र मन आदरणीयं स्वस्वरूपलयमत्करणीयम् ॥ ४९ ॥

mārutābhyasanametadaśeṣaṃ
cittavṛttijayataḥ pravidheyam ॥
netaratra mana ādaraṇīyaṃ
svasvarūpalayamatkaraṇīyam ॥ 49 ॥

Tr. The entire practice of *prāṇāyāma* should be undertaken to gain control on the modifications of *citta*. It is futile to focus the mind elsewhere apart from getting absorbed in the Self. 49.

तथा[2] चोक्तं केरलतन्त्रे –

tathā coktaṃ keralatantre –

It has been stated in *keralatantra*—

मनोजये महेशानि सर्वं जयति लीलया ॥ इति ॥ ५० ॥

manojaye maheśāni sarvaṃ jayati līlayā ॥ *iti* ॥ 50 ॥

Tr. O *pārvatī!* Control brought over mind yields easy control over everything. 50.

अरालाचलामध्यमा नाडिकासौ दृढाभ्यासतो योगिनामासनैः स्यात्
दृढं[3] प्राणसंरोधमुद्रासुबन्धैरवक्रा भवेन्मञ्जुमार्गा[4] भुजंग्याः॥५१॥

arālācalāmadhyamā nāḍikāsau
dṛḍhābhyāsato yogināmāsanaiḥ syāt ॥
dṛḍhaṃ prāṇasaṃrodhamudrāsubandhair-
avakrā bhavenmañjumārgā bhujaṅgyāḥ ॥ 51 ॥

Tr. The middle path (*suṣumṇā*) which has a curved passage becomes straight through practice of *āsana*, *prāṇāyāma*, *mudrā* and *bandha* and makes the passage of *kuṇḍalinī* easy. 51.

मुद्रोपदेशं किल साम्प्रदायिकं
दत्ते गुरुर्यः[5] स शिवः स ईश्वरः ॥

---

1. जयतप्रविधयं–b. 2. यथा–b. 3. दृढ–b. 4. मुञ्जुमार्गा—b. 5. दत्तेगुर्यः—b.

तद्वाक्यनिष्ठो नियतं समभ्यसेत्
समाहितो यः स सुसिद्धिभाजनम् ॥ ५२ ॥

mudropadeśaṃ kila sāmpradāyikaṃ
datte gururyaḥ sa śivaḥ sa īśvaraḥ ॥
tadvākyaniṣṭho niyataṃ samabhyaset
samāhito yaḥ sa susiddhibhājanam ॥ 52 ॥

Tr. A *guru* who imparts the traditional knowledge of *mudrā* is the embodiment of *śiva* and *īśvara*. One who devotedly follows his advice and undertakes the regular practice, attains success. 52.

इति कुण्डलीचालनप्रकारः ॥

iti kuṇḍalīcālanaprakāraḥ ॥

Here ends the techniques of movements of *kuṇḍalī*.

अष्टधाकृतिकवेष्टनबद्धा[1] अनिल आसु निबद्धः पूरिता ।
सुकुहरा कुहराद् बहिरास्यं[2] बन्धमोचनत एति[3] भुजंग्याः ॥५३॥

aṣṭadhākṛtikaveṣṭanabaddhā
anila āsu nibaddhaḥ pūritā ॥
sukuharā kuharād bahirāsyaṃ
bandhamocanata eti bhujaṅgyāḥ ॥ 53 ॥

Tr. *prāṇa* is moved and held in the *kuṇḍalinī* which has eight coils. One should remove the mouth of *kuṇḍalinī* from the opening of *suṣumṇā* which sets the *(kuṇḍalinī)* free. 53.

यदा प्राणवायुः वहेद् ब्रह्मरन्ध्रा-
न्तरे[4] सन्ततं स्यात्तदा योगभाजः ॥
शुभः केवलाख्यस्तदा कुम्भकोऽयं
श्रुतोक्ताऽध्वनायामजः संयमोऽस्य[5] ॥ ५४ ॥

yadā prāṇavāyuḥ vahed brahmarandhr-
āntare santataṃ syāttadā yogabhājaḥ ॥
śubhaḥ kevalākhyastadā kumbhako'yaṃ
śrutoktā'dhvanāyāmajaḥ saṃyamo'sya ॥ 54 ॥

---

1. वेष्टनवद्धानाडिका –b. 2. द्वहिरास्थं –b. 3. बन्धमोचनतराति b. 4. ब्रह्मरन्ध्रान्तरो –a. 5. सयमोऽस्य –b.

Tr. When the *prāṇavāyu* consistently flows in the *brahmarandhra*, then alone *yoga* is accomplished. Then the auspicious *kevala kuṃbhaka* occurs. As a result of authentic practice of *prāṇāyāma* bringing about success in *saṃyama*. 54.

यदा सुषुम्णान्तवाहि वायुः शून्यं विशेद्योग्युरगीप्रबोधे ।
स्वयं तदायं निजकर्मपाशान् छिनत्त्यवाप्नोति पराश्च सिद्धिः ॥५५॥

yadā suṣumṇāntavāhi vāyuḥ
śūnyaṃ viśedyogyuragīprabodhe ॥
svayaṃ tadāyaṃ nijakarmapāśān
chinattyavāpnoti parāśca siddhiḥ ॥ 55 ॥

Tr. When, due to arousal of *kuṇḍalinī* the *vāyu* which moves in *suṣumnā* reaches the *śūnya (brahmarandhra)*, then a *yogī* on his own severs the bondage of *karma* and attains the absolute success. 55.

आसनैश्च विविधैर्बहुकुम्भैर्भूरि[1]चित्रकरणैरथ किन्तैः[2] ।
एक एव किल कुण्डलिबोधो वायुचित्तजयकारणमुक्तम् ॥ ५६ ॥

āsanaiśca vividhairbahukumbhair-
bhūricitrakaraṇairatha kintaiḥ ॥
eka eva kila kuṇḍalibodho
vāyucittajayakāraṇamuktam ॥ 56 ॥

Tr. What is the use of varieties of *āsanas*, *kuṃbhakas* or even different *karaṇas (mudrās)*? Since arousal of *kuṇḍalinī* alone will indeed be instrumental in gaining control over *vāyu* and mind. 56.

मुक्त्वा रेचकपूरकौ निशि दिवा या कुम्भकेन स्थितिः
प्रोक्तः केवलकुम्भकोऽस्य यमिनः स्यादुद्गमे वाञ्छितम्
सर्वं किञ्चिदिहास्ति न त्रिभुवने यद्दुर्लभं तस्य तत्
शीघ्रं याति स[3] राजयोगपदवीं यत्नं विना साधयेत् ।५७।

muktvā recakapūrakau niśi divā yā kumbhakena sthitiḥ
proktaḥ kevalakumbhako'sya yaminaḥ syādudgame vāñchitam
sarvaṃ kiñcidihāsti na tribhuvane yaddurlabhaṃ tasya tat
śīghraṃ yāti sa rājayogapadavīṃ yatnaṃ vinā sādhayet ॥ 57 ॥

---

1. कुम्भै भूरि –b. 2. रथकितैः —b. 3. सा-a.

Tr. Giving up *recaka* and *pūraka* through day (right) and night (left), the state of *kumbhaka* maintained (naturally) is known as *kevala kumbhaka* which is desirable for the evolution of a *yogī*. Everything that is even not available and hence is rare in the three worlds is made available to him and a *yogī* attains the state of *rājayoga* without effort. 57.

मनोजवित्वं च मनोजयं[1] च पालित्यहानिर्वलितस्य[2] नाशः ।
नादश्रुतिश्चाष्टविधस्य सिद्धिर्वायोर्लयः केवलकुम्भके स्यात् ॥५८॥

manojavitvaṃ ca manojayaṃ ca
pālityahānir valitasya nāśaḥ ॥
nādaśrutiścāṣṭavidhasya siddhir-
vāyorlayaḥ kevalakumbhake syāt ॥ 58 ॥

Tr. Successful absorption in *kevala kumbhaka* brings about dexterity and control of mind, removal of gray hair and wrinkles, hearing of the mystical sound and eight supernatural powers. 58.

हठप्रदीपिकायाम् —

haṭhapradīpikāyām —

According to *haṭhapradīpikā*—

शक्तः केवलकुम्भेन यथेष्टं वायुधारणे ।
राजयोगपदं चैव लभते नात्र संशयः ॥ ५९ ॥

śaktaḥ kevalakumbhena yatheṣṭaṃ vāyudhāraṇe ।
rājayogapadaṃ caiva labhate nātra saṃśayaḥ ॥ 59 ॥

Tr. *kevala kumbhaka* results in ample retention of breath. Thus one undoubtedly attains the state of *rājayoga*. 59.

कुम्भितः प्राणरेचान्ते कुर्य्याच्चित्तं निराश्रयम् ।
एवमभ्यासयोगेन राजयोगं लभेत् पुनः ॥ ६० ॥

kumbhitaḥ prāṇarecānte kuryyāccittaṃ nirāśrayam ।
evamabhyāsayogena rājayogaṃ labhet punaḥ ॥ 60 ॥

Tr. One should render the mind objectless by retaining the breath after exhalation. This practice also brings about the state of *rājayoga*. 60.

---

1. मनोजवत्वं –b. 2. वेलितस्य –b.

निराश्रयं संकल्परहितम् ॥

nirāśrayaṃ saṅkalparahitam ॥

Tr. Without support means—without any mental construction.

कुम्भकात् कुण्डलीबोधः कुण्डलीबोधतो भवेत् ।
अनर्गला सुषुम्णा च हठसिद्धिः प्रजायते ॥ इति ॥ ६१ ॥

kumbhakāt kuṇḍalībodhaḥ kuṇḍalībodhato bhavet ।
anargalā suṣumṇā ca haṭhasiddhiḥ prajāyate ॥ *iti* ॥ 61 ॥

Tr. Practice of *kumbhaka* brings arousal of *kuṇḍalī*, which (further) leads to free passage (of *prāṇa*) into *suṣumnā* and consequently one attains success in *haṭhayoga*. 61.

कुम्भकप्राणायामात् बोधो जागरणं । सुषुम्णा अनर्गला बाधकरहिता भवति । ततो योगसिद्धिर्भवति इति ॥ ६२ ॥

kumbhakaprāṇāyāmāt bodho jāgaraṇam । *suṣumṇā anargalā bādhakarahitā bhavati* । *tato yogasiddhirbhavati iti* ॥62॥

Tr. Practice of *kumbhaka prāṇāyāma* brings arousal (of *kuṇḍalinī*). Free passage of *suṣumnā*— means without obstacles. That brings success in *yoga*. 62.

प्रनष्टोच्छ्वासनिःश्वासः प्रध्वस्तविषयज्वरः ।
निश्चेष्टो निर्विकारश्च लयो जयति योगिनाम् ॥ ६३ ॥

pranaṣṭocchvāsaniḥśvāsaḥ pradhvastaviṣayajvaraḥ ।
niśceṣṭo nirvikāraśca layo jayati yogināṃ ॥ 63 ॥

Tr. Anxiety created due to objects is removed with suspension of inhalation and exhalation. A *yogī* gets absorbed having been motionless and without any modifications of the mind. 63.

तथा चोक्तं शिवसंहितायाम् —

tathā coktaṃ śivasaṃhitāyām—

It has been maintained in *Śivasaṃhitā*—

यदा पूर्णासु सर्वासु सन्निरुद्धोऽनिलस्तदा ।
बन्धत्यागेन कुण्डल्या मुखं रन्ध्राद् बहिर्भवेत् ॥
सुषुम्णान्तः सदैवायं वहेत् प्राणः समीरणः ॥ इति ॥ ६४ ॥

yadā pūrṇāsu sarvāsu sanniruddho'nilastadā ।
bandhatyāgena kuṇḍalyā mukhaṃ randhrād bahirbhavet
suṣumṇāntaḥ sadaivāyaṃ vahet prāṇaḥ samīraṇaḥ ॥*iti*॥64।

Tr. When *prāṇavāyu* is filled up and held in all the *nāḍīs* (channels), then alone, after breaking up the bondage the mouth of *suṣumṇā*, *kuṇḍalinī* rises. Then *prāṇavāyu* flows through the cavity in *suṣumnā*. 64.

प्राणो यदान्तः प्रवहेत् सुषुम्णानाड्याः सुनिष्पत्तिदशा मुनेः सा ।
यदा भवेत् भाति च राजयोगोऽग्नीन्द्वर्कबिन्दूपममात्मभानम्[1] ।६५।

prāṇo yadāntaḥ pravahet suṣumṇā-
nāḍyāḥ suniṣpattidaśā muneḥ sā ॥
yadā bhavet bhāti ca rājayogo'-
gnīndvarkabindūpamamātmabhānam ॥ 65 ॥

Tr. When *prāṇa* enters inside the *suṣumnā nāḍī*, a *muni* enjoys the state of *niṣpatti* all the time and attains *rājayoga* as a result of merging of fire, *indu*, *arka* (sun) and *bindu* etc. in the Self. 65.

तथोक्तं वार्तिकाचार्यैर्मानसोल्लासे –

tathoktaṃ vārtikācāryairmānasollāse—

It is stated by the author of *vārtika* in *mānasollāsa*—

प्राणे सुषुम्णासम्प्राप्ते नादोऽन्तः श्रूयतेऽष्टधा ।
घण्टादुन्दुभिशंखाब्धि[2]वीणावेण्वादितालवत् ॥ ६६ ॥

prāṇe suṣumṇāsamprāpte nādo'ntaḥ śrūyate'ṣṭadhā ।
ghaṇṭādundubhiśaṅkhābdhivīṇāveṇvāditālavat ॥ 66 ॥

तनूनपात्तडित्तारतारेशतपनोपमम् ।
ब्रह्मनाडीगते प्राणे[3] बिन्दुरूपं प्रकाशते ॥ इति ॥ ६७ ॥

tanūnapāttaḍittāratāreśatapanopamam ।
brahmanāḍīgate prāṇe bindurūpaṃ prakāśate ॥ *iti* ॥ 67 ॥

Tr. When *prāṇa* reaches *suṣumnā*, the eight varieties of *nādas* are heard inside which are like the sounds resembling that of a bell, trumpet, conch, sound of an ocean, *vīṇā*, flute, tiny bell, tinkling of a very fine pot, cracking sound of the fire, loud

---

1. विद्वंपपमात्ममानं –b. 2. शखाऽधि –b. 3. प्राणो –b.

thunder and shrill sound of blowing air. When *prāṇa* enters the *brahmanāḍī* the (real form of *ātmā)* is revealed in the form of *bindu*. 66-67.

निष्पत्तिदशाराजयोगश्च भवति तदैव ॥ ६८ ॥

niṣpattidaśārājayogaśca bhavati tadaiva ॥ 68 ॥

Tr. Then both the states of *niṣpatti* and *rājayoga* take place. 68.

तदुक्तं योगदीपिकायाम् ॥

taduktaṃ yogadīpikāyām ॥

This is what is stated in *yogadīpikā*.

॥ इति सुन्दरदेवविरचितायां हठतत्वकौमुद्यां शक्तिचालनप्रकारकेवलकुम्भकविवेचनोद्योतः ॥

॥ iti sundaradevaviracitāyāṃ haṭhatatvakaumudyāṃ śakticālanaprakārakevalakumbhakavivecanodyotaḥ ॥

Here ends the chapter narrating the varieties of *śakticālana* and *kevala kuṃbhaka* in *haṭhatatvakaumudī* composed by *sundaradeva*.

Chapter—45

अथ शक्तिचालनांगमुत्कर्षप्राणायामः —

atha śakticālanāṅgamutkarṣaprāṇāyāmaḥ —

Here follows *utkarṣa prāṇāyāma* which is a component of *śakticālana*—

आयामतः शुद्धमनो एव लोलं प्राणे जिते तिष्ठति चित्परात्मनि ।
उत्कर्षकायाम उपैति वायुः सुकुम्भितो[1] मध्यपथेऽयमुद्गतिः ॥१॥

āyāmataḥ śuddhamano eva lolaṃ
prāṇe jite tiṣṭhati citparātmani ॥
utkarṣakāyāma upaiti vāyuḥ
sukumbhito madhyapathe'yamudgatiḥ ॥ 1 ॥

Tr. Practice of *prāṇāyāma* makes the restless mind stable. Control of *prāṇa* engages the mind on *parātman*. Retention *(kumbhaka)* in the practice of *utkarṣa prāṇāyāma* very well moves the *vāyu (prāṇa)* through the central path (*suṣumnā)*. 1.

अण्डादधः सीवनिकां सुसूक्ष्मां वामेन गुल्फेन निपीडयेत्ताम् ।
निक्षिप्य गुल्फोपरि दक्षगुल्फं बद्ध्वोरुजंघान्तरसन्ध्यऽभूकम् ॥२॥

aṇḍādadhaḥ sīvanikāṃ susūkṣmāṃ
vāmena gulphena nipīḍayettām ॥
nikṣipya gulphopari dakṣagulphaṃ
baddhvorujaṅghāntarasandhya'bhūkam ॥ 2 ॥

Tr. Press the very subtle perineum located below the scrotum with the left ankle. Place the right ankle over the left. 2.

समस्थिरं विष्टरके समः स्थिरमासीन पश्यन्निजदक्षगुल्फम् ।
सुरक्तकिञ्जल्कविराजते चतुःपत्रे स्मरन्नोम् हृदि मूल[2]चक्रे ॥ ३ ॥

samasthiraṃ viṣṭarake samaḥ sthiram-
āsīna paśyannijadakṣagulpham ॥
suraktakiñjalkavirājate catuḥ-
patre smarannom hṛdi mūlacakre ॥ 3 ॥

Tr. Remain steady and stable in an *āsana* while staring at the right ankle. While remembering *om* in the mind meditate on *mūlacakra* which has four deeply red petals. 3.

---

1. सकुम्भितो –b. 2. मूलं –a.

मनोलयो यावदतीव तस्मिन् तावत् समीरं मनसा निरोधयेत् ।
अनेन योगेन जितो ह्यपानो व्रजेत्तदाग्नेः पदमूर्ध्वबाहुः[1] ॥ ४ ॥

manolayo yāvadatīva tasmin
tāvat samīraṃ manasā nirodhayet ॥
anena yogena jito hyapāno
vrajettadāgneḥ padamūrdhvabāhuḥ ॥ 4 ॥

Tr. Retain the *prāṇa* with mind till the mind gets completely absorbed in it *(prāṇa)*. This technique moves the controlled *apāna* to the abode of *agni* (fire) above. 4.

अस्याग्नेये मण्डले वै त्रिकोणे
रक्तान्नादेः[2] पाचको देहयाता[3] ॥
अग्निः सार्धं वह्निनाऽनेन वायुं
ध्यायन् तारं[4] धारयेत्तत्र मन्दम् ॥ ५ ॥

asyāgneye maṇḍale vai trikoṇe
raktānnādeḥ pācako dehayātā ॥
agniḥ sārdhaṃ vahninā'nena vāyuṃ
dhyāyan tāraṃ dhārayettatra mandam ॥ 5 ॥

Tr. In the triangular *maṇḍala* of fire lies the digestive fire of food etc. One should meditate on *tāra (om)* by holding *prāṇa* along with fire at this point. 5.

यावत् सम्यक् स्याज्जयो[5]ऽपानवायोस्
तावज्जातेऽग्नेर्जये सम्यगूर्ध्वम् ॥
तस्मादग्नेर्मण्डलाकन्दनाभेर्
न्यक् स्वाधिष्ठानादधः स्थानकेऽमू ॥ ६ ॥

yāvat samyak syājjayo'pānavāyos-
tāvajjāte'gnerjaye samyagūrdhvam ॥
tasmādagnermaṇḍalākandanābher-
nyak svādhiṣṭhānādadhaḥ sthānake'mū ॥ 6 ॥

Tr. So long as one controls *apāna-vāyu*, one also controls the fire above. Therefore, one should raise up *agni* from its *maṇḍala* located below *svādhiṣṭhāna* between *kanda* and navel. 6.

---

1. मूर्ध्ववाह्व –b. 2. रक्तः त्रादेः —b. 3. देहपाना –b. 4. ध्यायनृतारं –b. 5. सम्यवस्याज्जयो –b.

प्राणापानौ मन्दमारोप्य सार्धं
वायोर्मित्रेणाऽग्निना नाभिदेशम् ॥
पश्येद् दृष्ट्या संस्मरन् तारमन्तस्
तस्मिन्वायुं रोधयेद् हृल्लयान्तम् ॥ ७ ॥

prāṇāpānau mandamāropya sārdhaṃ
vāyormitreṇā'gninā nābhideśaṃ ॥
paśyed dṛṣṭyā saṃsmaran tāramantas-
tasminvāyuṃ rodhayed hṛllayāntam ॥ 7 ॥

Tr. One should gently hold *prāṇa* and *apāna* at the navel along with by fire and fixing the eyes (at the navel) and meditating on *om* while holding the *vāyu* there till absorption of mind supervenes. 7.

ततोऽग्निना बोधमुपैति कुण्डली
स्वं नाभिरन्ध्रात् फणमाशु कन्दम् ॥
शक्तिः प्रबुद्धेयमपाकरोति
तेन श्मशानोंऽघ्रिबिलं[1] द्रुतं तत् ॥ ८ ॥

tato'gninā bodhamupaiti kuṇḍalī
svaṃ nābhirandhrāt phaṇamāśu kandam ॥
śaktiḥ prabuddheyamapākaroti
tena śmaśāno'ṅghribilaṃ drutaṃ tat ॥ 8 ॥

Tr. Therefore, *kuṇḍalī* is aroused along with fire by raising the hood from the cavity of the navel where the *kanda* is located. *śakti (kuṇḍalinī)*, having been aroused, quickly reaches the cavity in the *suṣumṇā*. 8.

फुल्लं[2] भवे तत्र शनैः समीरं संपूरयेन् मध्यपथे सपावकम्[3] ।
आमूर्ध्न उद्‌गीथमनुस्मरन् ज्ञः सन्धारयेन् मारुतमग्निना सह ॥९॥

phullaṃ bhave tatra śanaiḥ samīraṃ
sampūrayen madhyapathe sapāvakam ॥
āmūrdhna udgīthamanusmaran jñaḥ
sandhārayen mārutamagninā saha ॥ 9 ॥

1. श्मशानोऽघ्निविलं –b. 2. फुल्लमवे –b. 3. सयावकं –b.

Tr. Slowly draw the air to the central path *(suṣumnā)* along with fire and (fill it) up fully up to the head while meditating on *udgītha (om).* 9.

महापथच्छिद्रसुमूर्ध्नि[1]पूरिते स वह्निना गन्धवहेन विग्रहे ।
आत्मा तदा दृश्यत एष मूर्ध्नि यथाम्बरे[2] दीधितिभिः प्रभाकरः१०

mahāpathacchidrasumūrdhnipūrite
sa vahninā gandhavahena vigrahe ॥
ātmā tadā dṛśyata eṣa mūrdhni
yathāmbare dīdhitibhiḥ prabhākaraḥ ॥ 10 ॥

Tr. In the body when the air along with fire is filled up in the cavity of the great path (*suṣumnā)* upto the top of the head, one realizes the *ātman* in the head, like the sun is seen with its brilliance in the sky. 10.

उत्कर्षकायाम उदारधीभिः प्रातः प्रदोषे च निशीथ एषः ।
मुहूर्त्तमात्रं सुसमाहितैः स्वे नाडीविशुद्धौ प्रथमं विधेयः ॥ ११ ॥

utkarṣakāyāma udāradhībhiḥ
prātaḥ pradoṣe ca niśītha eṣaḥ ॥
muhūrttamātraṃ susamāhitaiḥ sve
nāḍīviśuddhau prathamaṃ vidheyaḥ ॥ 11 ॥

Tr. The great practitioner who is poised, should first of all practise *utkarṣa prāṇāyāma* followed by purification of the *nāḍī*, for a *muhūrta* (48 minutes) in the morning, evening and at mid-night. 11.

अनेन नित्याभ्यसितेन वायुर्जितो[3] भवेत् पथ्यमिताशनस्य[4] ।
भवन्ति देहे हठसिद्धिचिह्नानि आदौ क्रमाद्वायुजयाग्ररूपम् ॥१२॥

anena nityābhyasitena vāyur-
jito bhavet pathyamitāśanasya ॥
bhavanti dehe haṭhasiddhicihnāni
ādau kramādvāyujayāgrarūpam ॥ 12 ॥

Tr. One who resorts to moderate but wholesome food gains control over *vāyu* through the regular practice of this, and thus as a result of controlled *vāyu* in an intense manner, the first signs of success in *haṭha*, arise in a sequential manner. 12.

---

1. समूर्ध्नि —b. 2. थांबरे –b. 3. वायुजितो —b. 4. पथ्यमितामानस्य a.

अभ्यस्यमानोऽयम[1]तीव दीर्घमारम्भ उच्चैः किल साधकाय ।
ददाति वायोर्जयसिद्धिमग्र्यां[2] स्वेदप्रकम्पासनखोत्थिताद्याम् ॥१३॥

abhyasyamāno'yamatīva dīrgham-
ārambha uccaiḥ kila sādhakāya ॥
dadāti vāyorjayasiddhimagryāṃ
svedaprakampāsanakhotthitādyām ॥ 13 ॥

Tr. When it is practised for a long time, it offers the *sādhaka* higher (results) like control of *vāyu* and advanced *siddhis* and also (one experiences) perspiration, tremors, levitation etc. in an *āsana*. 13.

यदा शरीरे पवनः सुसिद्धस्तदा मुनेर्ज्ञान[3]मुदेति दिव्यम् ।
ज्ञानाद् भवेद् वृद्धिगुणोऽस्य[4] सिद्धिरदूरतोऽसौ हितदीर्घ[5]लम्भे ॥१४॥

yadā śarīre pavanaḥ susiddhas-
tadā munerjñānamudeti divyam ॥
jñānād bhaved vṛddhiguṇo'sya siddhir-
adūrato'sau hitadīrghalambhe ॥ 14 ॥

Tr. When *prāṇa* is very well controlled in the body then the divine wisdom dawns on the *muni* which enhances virtues and the *siddhis* appear very close. 14.

सुसिद्धिरूपो जितवायुरात्मिनां यदा सुषुम्णान्तरसंगतोऽयम् ।
तदा चिदानन्दमयं मनोऽदो नभोपमं सुस्थिरमेकरूपम् ॥ १५ ॥

susiddhirūpo jitavāyurātminām
yadā suṣumṇāntarasaṅgato'yam ॥
tadā cidānandamayaṃ mano'do
nabhopamaṃ susthiramekarūpam ॥ 15 ॥

Tr. Those who are devoted to Self (-realization), who have controlled *prāṇa* move *vāyu (prāṇa)* through the cavity in *suṣumnā* which is a great achievement. Then the mind becomes poised and remains in the state of equanimity like a clear sky and also gets absorbed in Blissful State. 15.

यदा सदानन्दमयं मनोऽदो विवर्जितं क्लेशगणैश्च बाह्यैः ।
संसारदुःखानि विहाय योगी तदा समाधिं[6] विशते निसर्गम् ॥१६॥

---

1. अभ्यस्यमाननोऽयम –a. 2. सिद्धिमग्न्यां –b. 3. मुनेज्ञान –b. 4. भवेद्वन्द्वि –b. 5. हितदर्धि –b. 6. समाधि –b.

yadā sadānandamayaṃ mano'do
vivarjitaṃ kleśagaṇaiśca bāhyaiḥ ||
saṃsāraduḥkhāni vihāya yogī
tadā samādhiṃ viśate nisargam || 16 ||

Tr. When the mind is rendered free from the host of external mundane sufferings, it becomes full of eternal Bliss giving up all worldly miseries and it enters the natural (state of) *samādhi*. 16.

सिद्धं तदा चित्तमपास्तदुःखमेतद्यदा यत् कुरुते[1] सुयोगी ।
सर्वं क्षणात्तद्[2] भवति ध्रुवोऽस्य सुसिद्धकायस्य सुसिद्धिलक्ष्म ।१७।

siddhaṃ tadā cittamapāstaduḥkham-
etadyadā yat kurute suyogī ||
sarvaṃ kṣaṇāttad bhavati dhruvo'sya
susiddhakāyasya susiddhilakṣma || 17 ||

Tr. When a *yogī* who has gained mastery over the body and is adorned with the signs of supernatural powers makes the mind free from misery, then he certainly achieves all. 17.

दूरेक्षणश्रवणमन्यपुरप्रवेशं
व्यूहादिकं च वपुषो भवति क्षणेन ॥
चेतःसमीरवपुषां च यदा त्रयाणां
सिद्धिस्तदा स मुनिराट् परसिद्धिपात्रम् ॥ १८ ॥

dūrekṣaṇaśravaṇamanyapurapraveśaṃ
vyūhādikaṃ ca vapuṣo bhavati kṣaṇena ||
cetaḥsamīravapuṣāṃ ca yadā trayāṇāṃ
siddhistadā sa munirāṭ parasiddhipātram || 18 ||

Tr. One attains clairvoyance, clairaudience, ability to enter another body and knowledge of the body. One controls all three — the mind, *prāṇa* and the body. Then the *muni* becomes eligible for higher achievements. 18.

जीवन्मुक्तिपदं गतो[3] भुवि महासिद्धस्तदाऽसौ मुनिर्
गच्छेन्[4] मोक्षपदं यदैव सहजः स्याद् राजयोगः स्वयम् ॥

---

1. मेतद्युदायत्कुरुते -b. 2. क्षणाद् —a. 3. गता -a. 4. गच्छन् —a.

सर्वज्ञः खलु धर्ममेघमनघं प्राप्तः समाधिं परं
योगीन्द्रस्तु[1] तदाणिमादिपदभागव्याहताज्ञो ऽमरः ॥१९॥

jīvanmuktipadaṃ gato bhuvi mahāsiddhastadā'sau munir gacchen mokṣapadaṃ yadaiva sahajaḥ syād rājayogaḥ svayam ॥
sarvajñaḥ khalu dharmameghamanaghaṃ prāptaḥ samādhiṃ param
yogīndrastu tadāṇimādipadabhāgavyāhatājño'maraḥ ।19।

Tr. Then the *muni* who becomes *mahā-siddha* attains the state of liberation while living in this body itself and consequently attains (the final state of) liberation. Then he attains *rājayoga* easily. He becomes omniscient indeed. He attains the pure state of *dharmamegha*. The *yogīndra* attains the state of transcendental *samādhi* which results in attainment of *aṇimā* etc., gains immense wisdom and becomes immortal. 19.

एवं[2] वर्षसहस्राणि लक्षाणि च शतानि च ।
पर्वताग्रे गुहा वासः[3] सानन्दः सिद्धयोगिनः ॥ २० ॥

evaṃ varṣasahasrāṇi lakṣāṇi ca śatāni ca ।
parvatāgre guhā vāsaḥ sānandaḥ siddhayoginaḥ ॥ 20 ॥

Tr. The *siddhayogīs* (in such a state) reside at the top of the mountain or in a cave in a Blissful mood for hundred or thousand or lakhs of years. 20.

आरम्भ उत्कर्षककुम्भमेवमभ्यस्यतोऽल्पं च शकृच्च[4] मूत्रणम् ।
अब्देऽथ षण्मासि भवेत्ततोऽनुगन्तव्यमब्दत्रयोऽतो न[5] वाहने ।२१।

ārambha utkarṣakakumbhamevam-
abhyasyato'lpaṃ ca śakṛcca mūtraṇam ॥
abde'tha ṣaṇmāsi bhavettato'nu-
gantavyamabdatrayo'to na vāhane ॥ 21 ॥

Tr. Practice of *utkarṣa kumbhaka* in the state of *ārambha* results in scanty urination and faeces within one year or six months. Therefore for three years one should not use a vehicle. 21.

---

1. योगीन्द्रस्तु –b. 2. एवं च –b. 3. वीसः —b. 4. शक्षुघ –b. 5. मतृतयोतान –b.

घटान्तमारम्भत आ त्रिवर्ष[1] पथ्येन कुम्भाभ्यसनं[2] विधेयम् ।
न योगिना मूत्रविडल्पताया[3] गन्तव्यमीषत् किल वाहनादौ ॥२२॥

ghaṭāntamārambhata ā trivarṣaṃ
pathyena kumbhābhyasanaṃ vidheyam ॥
na yoginā mūtraviḍalpatāyā
gantavyamīṣatkila vāhanādau ॥ 22 ॥

Tr. Practice of *kumbhaka* is recommended for three years from the state of *ārambha* up to *ghaṭa* while observing moderate diet. Thus a *yogī* has scanty urine and faeces. One then should not use vehicles. 22.

अथ परिचयकाले बोधनीयामवीर्यात्
जितकरणबलोऽसौ योगसंसाधकेन ॥ २३ ॥

atha paricayakāle bodhanīyāmavīryāt
jitakaraṇabalo'sau yogasaṃsādhakena ॥ 23 ॥

Tr. In the state of *paricaya*, a *yoga* practitioner, through control over senses effortlessly awakens *kuṇḍalinī*. 23.

तथा चोक्तं योगयाज्ञवल्क्ये —

It has been stated in *yogayājñavalkya*—

बोधं गते चक्रिणि नाभिमध्ये प्राणास्तु[4] सम्भूय कलेवरेऽस्मिन् ।
चरन्ति सर्वे[5] सह वह्निनैव यथा पटे तन्तुगतिस्तथैव ॥ २४ ॥

bodhaṃ gate cakriṇi nābhimadhye
prāṇāstu sambhūya kalevare'smin ॥
caranti sarve saha vahninaiva
yathā paṭe tantugatistathaiva ॥ 24 ॥

Tr. Just as the fibres pervade the whole of the cloth, similarly, when *prāṇa* courses through the *nābhicakra* and *cakrī (kuṇḍalinī)* is awakened, all the (*prāṇas*) along with fire pervade the whole body. 24.

भित्त्वैवं चक्रिणः स्थानं सदा ध्यानपरायणः ।
ततो नयेदपानं तु नाभेरूर्ध्वमनुस्मरन् ॥ २५ ॥

bhitvaivaṃ cakriṇaḥ sthānaṃ sadā dhyānaparāyaṇaḥ ।
tato nayedapānaṃ tu nābherūrdhvamanusmaran ॥ 25 ॥

---

1. त्रिवर्षे —b. 2. ऽभ्यसने –b. 3. विडल्पतायां –b. 4. प्राणस्तु –b. 5. सर्व –b.

Tr. A devoted regular practice pierces the abode of *cakrī (kuṇḍalinī)* and moves *apāna* above the navel while remembering *(om)*. 25.

वायुर्यदा वायुसखेन सार्धं नाभिं त्वतिक्रम्य ततः शरीरे ।
रोगाः प्रणश्यन्ति बलाभिवृद्धिः कान्तिः तदानीं भवति प्रकृष्टा२६

vāyuryadā vāyusakhena sārdhaṃ
nābhiṃ tvatikramya tataḥ śarīre ॥
rogāḥ praṇaśyanti balābhivṛddhiḥ
kāntiḥ tadānīṃ bhavati prakṛṣṭā ॥ 26 ॥

Tr. When *prāṇa* along with fire passes above the navel, the body is rendered free from diseases. Further, the body gains excellent stamina and lustre. 26.

ब्रह्मरन्ध्रमुखमत्र वायवः पावकेन सह यान्ति खमध्ये ।
केनचिदिह[1] वदामि तवाहं वीक्षणाद्धृदि[2] सुदीपशिखायाः ॥ २७ ॥

brahmarandhramukhamatra vāyavaḥ
pāvakena saha yānti khamadhye ॥
kenacidiha vadāmi tavāhaṃ
vīkṣaṇāddhṛdi sudīpaśikhāyāḥ ॥ 27 ॥

Tr. The *prāṇas* accompanied with fire move to the void of *brahmarandhra*. According to some, one perceives the blazing flame by meditating in the heart. 27.

निरोधतः[3] स्याद्धृदि[4] तेन वायुर्मध्ये यदा वायुसखेन सार्धम्[5] ।
सहस्रपत्रस्य मुखं प्रविश्य कुर्यात् पुनस्तूर्ध्वमुखं द्विजेन्द्रे ॥२८॥

nirodhataḥ syāddhṛdi tena vāyurmadhye yadā vāyusakhena sārdham ।
sahasrapatrasya mukhaṃ praviśya kuryāt punastūrdhvamukhaṃ dvijendre ॥ 28 ॥

Tr. Control of *vāyu* in the cavity of the heart courses the *prāṇa* along with fire in (*cakra* of) thousand petals and turns it upwards. 28.

प्रबुद्धहृदयाम्भोजे गार्ग्यस्मिन्[6] ब्रह्मणः पुरे ।
बालार्कश्रेणिवद्व्योम्नि[7] विरराज समीरणः ॥ २९ ॥

1. केनचेदिह –b. 2. वीक्षणाद्धदि –b. 3. निरोधितः –b. 4. स्याद्धदितेन –b. 5. सार्ध –b. 6. गार्ग्यःस्मिन् –b. 7. श्रोणिवयोत्रि –b.

prabuddhahṛdayāmbhoje gārgyasmin brahmaṇaḥ pūre ।
bālārkaśreṇivadvyomni virarāja samīraṇaḥ ॥ 29 ॥

Tr. O *gārgi* ! On awakening of the lotus of the heart sends the *prāṇa* in the abode of *brahmaṇ* wherein *prāṇa* shines like the rising sun. 29.

हृन्मध्यात्तु सुषुम्णायां संस्थितो हुतभुक्तदा ।
सजलाम्बुदमालासु विद्युल्लेखेव राजते ॥ ३० ॥

hṛnmadhyāttu suṣumṇāyāṃ saṃsthito hutabhuktadā ।
sajalāmbudamālāsu vidyullekheva rājate ॥ 30 ॥

Tr. Then the fire shines in *suṣumṇā* at the center of the heart like the lightning in the lap of the clouds. 30.

प्रबुद्धहृत्पद्म[1]सुसंस्थितेऽग्नौ प्राणे[2] च तस्मिन्[3] विनिवेशिते च ।
चिह्नानि बाह्यानि तथान्तराणि दीपादिदृश्यानि[4] भवन्ति तस्य३१

prabuddhahṛtpadmasusaṃsthite'gnau
prāṇe ca tasmin viniveśite ca ॥
cihnāni bāhyāni tathāntarāṇi
dīpādidṛśyāni bhavanti tasya ॥ 31 ॥

Tr. When the lotus of the heart is awakened and when the *prāṇa* is also established in it along with fire, external signs appear and also the internal signs like perception of light etc. 31.

वायुमुन्नयत[5] एव सवह्निं[6] व्याहरन् प्रणवमत्र[7] सबिन्दुम् ।
बालचन्द्रसदृशे तु ललाटे बालचन्द्रमवलोकय बुद्ध्या[8] ॥ ३२ ॥

vāyumunnayata eva savahniṃ
vyāharan praṇavamatra sabindum ॥
bālacandrasadṛśe tu lalāṭe
bālacandramavalokaya buddhyā ॥ 32 ॥

Tr. Raise up *prāṇa* along with fire, while chanting *praṇava* accompanied with *bindu* (nasalized sound) and visualize the waxing moon with full attention at the forehead. 32.

1. प्रबुद्धहृत्पप्र —b. 2. सुसंस्थितेऽग्नौ प्राणो –a. 3. चसस्मिन् —b. 4. दश्यानि –b. 5. मुन्नयन -b. 6. वह्नि –b. 7. प्रणवमन्त्र —b. 8. वालचन्द्रमःवलकयबुध्या –b.

सवह्निवायुमारोप्य भ्रुवोर्मध्ये धिया तदा ।
ध्यायेदनन्यधीः पश्चादन्तरात्मानमात्मनि ॥ ३३ ॥

savahnivāyumāropya bhruvormadhye dhiyā tadā ।
dhyāyedananyadhīḥ paścādantarātmānamātmani ॥ 33 ॥

Tr. Hold *prāṇa* along with fire at the center of the eyebrows with full attention and meditate on *ātman* with unbridled concentration. 33.

मनो लयं यदा याति भ्रूमध्ये योगतो नृणाम् ।
जिह्वामूलेऽमृतस्रावो भ्रूमध्ये चात्मदर्शनम्[1] ॥ ३४ ॥

mano layaṃ yadā yāti bhrūmadhye yogato nṛṇām ।
jihvāmūle'mṛtasrāvo bhrūmadhye cātmadarśanam ॥ 34 ॥

Tr. Due to practice of *yoga* when mind is absorbed at the center of the eyebrows, secretion of ambrosia at the root of the tongue and perception of *ātmā* at the centre of the eyebrows occur. 34.

कम्पनं तथा मूर्ध्नि मनसैवात्मदर्शनम् ।
देवोद्यानानि रम्याणि नक्षत्राणि च चन्द्रमाः ॥
ऋषयः सिद्धगन्धर्वाः प्रकाशं यान्ति योगिनाम् ॥ ३५ ॥

kampanaṃ tathā mūrdhni manasaivātmadarśanam ।
devodyānāni ramyāṇi nakṣatrāṇi ca candramāḥ ॥
ṛṣayaḥ siddhagandharvāḥ prakāśaṃ yānti yoginām ॥35॥

Tr. One (experiences) tremors and one perceives *ātmā* with mind at the top of the head and also the exquisite heavenly gardens, stars and the moon. Moreover, the *yogīs* perceive the *ṛṣis*, *siddhas* and *gandharvas* (semi-gods). 35.

भ्रुवोऽन्तरे विष्णुपदे निविष्टजीवे च तस्मिनमृते च संस्थे ।
तस्मिन् सदा याति मनो लयं चेन्मुक्तेः समीपं तदिदं ब्रुवन्ति ।३६।

bhruvo'ntare viṣṇupade niviṣṭa-
jīve ca tasminamṛte ca saṃsthe ॥
tasmin sadā yāti mano layaṃ cen-
mukteḥ samīpaṃ tadidaṃ bruvanti ॥ 36 ॥

Tr. It is said that, when one concentrates at the center of the eyebrows which is the seat of *viṣṇu*, where *jīva* is located,

1. चात्मदर्शनम् —b.

wherefrom the ambrosia secretes, and wherein the mind gets absorbed, one approaches liberation. 36.

समीरणे विष्णुपदे निविष्टे विशुद्धबुद्धौ च तदात्मनिष्ठे ।
आनन्दमत्यद्भुतमस्ति सत्यं त्वं गार्गि पश्याद्यविशुद्धबुद्ध्या ।३७।

samīraṇe viṣṇupade niviṣṭe
viśuddhabuddhau ca tadātmaniṣṭhe ॥
ānandamatyadbhutamasti satyaṃ
tvaṃ gārgi paśyādyaviśuddhabuddhyā ॥ 37 ॥

Tr. Retention of *prāṇa* at the seat of *viṣṇu* with a pure conscience and devotion to *ātman* brings about inexplicable Bliss. O *gārgi* ! You might perceive it with the purity of conscience. 37.

एवं समभ्यस्य सुदीर्घकालं[1]
यमादिभिर्युक्ततनुर्मिताशी ॥
आत्मानमासाद्य गुहां प्रविष्टं
मुक्तिं व्रज ब्रह्मपुरे[2] पुनस्त्वम् ॥ इति ॥ ३८ ॥

evaṃ samabhyasya sudīrghakālaṃ
yamādibhiryuktatanurmitāśī ॥
ātmānamāsādya guhāṃ praviṣṭaṃ
muktiṃ vraja brahmapure punastvam ॥ 38 ॥

Tr. Following a sustained practice along with *yama* etc. and nourishing the body by observing moderate diet, one attains *ātmā* in the cavity and being liberated, one travels to the abode of *brahmā*. 38.

इत्युत्कर्षप्राणायामः ॥

ityutkarṣaprāṇāyāmaḥ ॥

Here ends *utkarṣa prāṇāyāma*.

सामान्यभूलिंगजये सुयोगिन आरम्भगत्यां मरुतो जये प्राक् ।
लघुत्वमंगे शुभवर्णगन्धौ विट्श्लेष्ममूत्रेष्वणुता सुकान्तिः ॥ ३९ ॥

sāmānyabhūliṅgajaye suyogina
ārambhagatyāṃ maruto jaye prāk ॥

1. सुर्घकालं –b. 2.ब्रह्म –b.

laghutvamaṅge śubhavarṇagandhau
viṭśleṣmamūtreṣvaṇutā sukāntiḥ || 39 ||

Tr. While entering the state of *āraṃbha* before the control of *prāṇa*, a *yogī* easily controls the *bhūliṅga* (earth element). Thus one enjoys the lightness of the body, pleasant smell, fair complexion, scanty faeces, phlegm and urination and attractive lustre. 39.

सामान्यवोर्लिंगजये मुनेः स्यादारम्भपाके सलिलेष्वमज्जनम् ।
पंकेष्वसंगः किल कण्टकाग्नेः क्षुत्तृट् सहिष्णुत्वमपानसंजये ।४०।

sāmānyavorliṅgajaye muneḥ syād-
ārambhapāke salileṣvamajjanam ||
paṅkeṣvasaṅgaḥ kila kaṇṭakāgneḥ
kṣuttṛṭ sahiṣṇutvamapānasañjaye || 40 ||

Tr. A *muni*, by gaining control over *apāna* on the maturation of the state of *āraṃbha* preceded by gaining control over water element, does not sink in water, does not get affected by mud or thorn or fire, and can withstand hunger and thirst. 40.

सामान्यतोऽग्नेर्विजये मुनेः स्यादारम्भमध्येऽग्निवशत्वमुच्चैः ।
सौदर्यमग्नेर्भृशदीप्तिमेधे समानवायोर्विजयेऽग्न्यऽदाहः ॥ ४१ ॥

sāmānyato'gnervijaye muneḥ syād-
ārambhamadhye'gnivaśatvamuccaiḥ ||
saudaryamagnerbhṛśadīptimedhe
samānavāyorvijaye'gnya'dāhaḥ || 41 ||

Tr. When a *muni* in the middle of *āraṃbha* state controls fire element, he gains control over fire. Control of *samāna vāyu* increases gastric fire and one does not get affected by fire. 41.

तथा च मानसोल्लासे –

tathā ca mānasollāse –

According to *mānasollāsa*—

बह्वन्नपानभोक्तृत्वमातपाग्नि[1]सहिष्णुता ।
दर्शनं श्रवणं दूरात् तृतीयं योगलक्षणम् ॥ इति ॥ ४२ ॥

bahvannapānabhoktṛtvamātapāgnisahiṣṇutā ।
darśanaṃ śravaṇaṃ dūrāt tṛtīyaṃ yogalakṣaṇam ॥ 42 ॥

Tr. The third characteristic of *yoga* is—ample eating and drinking, endurance of heat and fire, clairvoyance and clairaudience. 42.

खगस्य सामान्यजये मुनेः स्यादारम्भके दार्द्दरिकं घटेकयोः ।
द्रुमोत्प्लुतिः स्यादनुशक्तिबोधे तुर्यारभेदे खचरत्व[2]सिद्धिः ॥४३॥

khagasya sāmānyajaye muneḥ syād-
ārambhake dārddarikaṃ ghaṭekayoḥ ॥
drumotplutiḥ syādanuśaktibodhe
turyārabhede khacaratvasiddhiḥ ॥ 43 ॥

Tr. Initial control of *prāṇa* in *āraṃbha* state enables a *muni* to hop like a frog, to jump on the trees, and on piercing of the fourth *cakra (anāhata)* and on arousal of *śakti (kuṇḍalinī)* one levitates. 43.

तथा चोक्तं मानसोल्लासे –

tathā coktaṃ mānasollāse –

It has been maintained in *mānasollāsa*—

चित्ते निश्चलतां याते प्राणे मध्ये लयं गते ।
चिह्नान्येतानि जायन्ते पञ्चभूतजयात् पृथग् ॥ इति ॥ ४४ ॥

citte niścalatāṃ yāte prāṇe madhye layaṃ gate ।
cihnānyetāni jāyante pañcabhūtajayāt pṛthag ॥ *iti* ॥ 44 ॥

Tr. When the mind becomes stable and the *prāṇa* merges in the central path, the signs of control of (different) five *bhūtas* supervene. 44.

योगभास्करे–

yogabhāskare—

It has been stated in *yogabhāskara*—

1. वस्वऽन्नपानभोक्तऽवमानयाग्नि –b. 2. खेचरत्व –a.

यावदन्तःस्फुरन्नादो यावच्चित्तं विलीयते ।
तावदुत्पन्नयोगी स्यात्तत आरूढयोगवान् ॥ इति ॥ ४५ ॥

yāvadantaḥsphurannādo yāvaccittaṃ vilīyate ।
tāvadutpannayogī syāttata ārūḍhayogavān ॥ *iti* ॥ 45 ॥

Tr. When the internal *nāda* reveals and when the mind is merged, one becomes an *utpanna yogī* and thereafter qualifies to be called an *ārūḍha yogī*. 45.

तथा च मानसोल्लासे –

tathā ca mānasollāse—

It has been further stated in *mānasollāsa*—

प्राणे सुषुम्णां सम्प्राप्ते नादोऽन्तः श्रूयतेऽष्टधा ॥ इति ॥ ४६ ॥

prāṇe suṣumṇāṃ samprāpte
nādo'ntaḥ śrūyate'ṣṭadhā ॥ *iti* ॥ 46 ॥

Tr. When *prāṇa* moves through *suṣumnā*, eight types of internal *nāda* are heard. 46.

सामान्य आरम्भजं नाद आद्यस्थितेर्भिदापान[1]चलाग्नियोगजः ।
अनाहतो यस्तु स महापथान्तः[2] प्राणाग्निनोर्ध्वं रसधातुकर्षणे४७

sāmānya ārambhajaṃ nāda ādya-
sthiterbhidāpānacalāgniyogajaḥ ॥
anāhato yastu sa mahāpathāntaḥ
prāṇāgninordhvaṃ rasadhātukarṣaṇe ॥ 47 ॥

Tr. *nāda* is heard in *ārambha* state when *mūlādhāra* is pierced by *apāna* and fire. The *anāhata* (unstruck sound) arises due to *prāṇa* and fire traveling through the great path (*suṣumnā*) and when *rasa* (plasma) and *dhātu* (bodily constituents) are extracted. 47.

अभ्यास आकृष्ट उपर्यलं[3] मरुद्यदा[4] सुषुम्णास्यत आंगिधातून् ।
ऊर्ध्वं समाकर्षति रुन्धको यथाऽस्रं चित्र एष स तदाविरास्ते ४८

abhyāsa ākṛṣṭa uparyalaṃ marud-
yadā suṣumṇāsyata āṅgidhātūn ॥
ūrdhvaṃ samākarṣati rundhako yathā'-
sraṃ citra eṣa sa tadāvirāste ॥ 48 ॥

---

1. भिदाऽपाने –a. 2. महापथातः –b. 3. उपर्यऽम्लं –b. 4. मरुद्धदा –b.

Tr. When the *prāṇa* having been pulled upwards through practice, pulls up the *dhātus* (bodily constituents) from the mouth of *suṣumnā* then the passage becomes clear like a picture when the tears are rolled down. 48.

अभ्यासयोगेन जितासनेन
लैन्यं मनो याति न बिन्दुरेत्यधः ॥
कुम्भ[1]विधा याति चिरं स्थिते[2] स्वं
भवन्ति नादा[3] विविधा हृदन्तरे ॥ ४९ ॥

abhyāsayogena jitāsanena
lainyaṃ mano yāti na binduretyadhaḥ ॥
kumbhavidhā yāti ciraṃ sthite svaṃ
bhavanti nādā vividhā hṛdantare ॥ 49 ॥

Tr. As a result of practice when the *āsanas* are mastered over and when the mind does not wander, the *bindu* does not flow down. Prolonged practice of *kuṃbhaka* reveals various *nādas* in the heart. 49.

संस्रवद्धिमगुमण्डलं तदा क्षुत्तृडादि परिनश्यति[4] दोषैः ।
स्वस्वरूप उपयाति केवलां संस्थितिं मुनिवरो गतशोकः ॥ ५० ॥

saṃsravadhimagumaṇḍalaṃ tadā
kṣuttṛḍādi parinaśyati doṣaiḥ ॥
svasvarūpa upayāti kevalāṃ
saṃsthitiṃ munivaro gataśokaḥ ॥ 50 ॥

Tr. Then the ambrosia from the moon flows down and hunger and thirst disappear along with impurities. A *muni* overcomes suffering and gets established in the true form of the Self in *kevala kumbhaka*. 50.

तथा चोक्तं योगसंग्रहे–

tathā coktaṃ yogasaṃgrahe—

It has been stated in *yogasaṃgraha*—

दुर्धात्वम्बुवहा नाड्यो[5] तदा नद्यश्च पुष्करे ।
शोषयेत् सततं योगी तदा वज्रतनुर्भवेद् ॥ इति ॥ ५१ ॥

---

1. कुम्भं –b. 2. स्थिरो –b. 3. नीदा –b. 4. नश्यन्ति –b. 5. वहानाशेन –b.

durdhātvambuvahā nāḍyo tadā nadyaśca puṣkare |
śoṣayet satataṃ yogī tadā vajratanurbhaved || *iti* || 51 ||

Tr. Just as a lake (*puṣkara*) dries due to the rivers being depleted, similarly, as a result of drying up of the impure channels, a *yogī* dries all the bodily constituents and his body becomes adamantine. 51.

स्याच्चित्तकम्पा घटिकादशोन्मिते १०
निसर्गकुम्भे घटिकाद्वयं मुनेः ॥
यदाभिलैन्यं[1] प्रतियाति मानसं
प्रकम्पतेऽदोऽस्य[2] तदाऽन्तरे मुनेः ॥ ५२ ॥

syāccittakampā ghaṭikādaśonmite10
nisargakumbhe ghaṭikādvayaṃ muneḥ ||
yadābhilainyaṃ pratiyāti mānasaṃ
prakampate'do'sya tadā'ntare muneḥ || 52 ||

Tr. As a result of *nisarga-kumbhaka* retained for two *ghaṭikās*, the state of *cittakampā* occurs for 10 *ghaṭikās*. Thus fickleness of the mind disappears and a *yogī* experiences tremors. 52.

सद्यप्रबुद्धक्षुभितोरगी रुट्फूत्कारभीतं भवतृट् श्मशानम् ।
भवप्रलुब्धं[3] तनु वीक्ष्य चित्तं प्राक्कम्पते यातमिवा[4]ऽन्धकूपे ५३

sadyaprabuddhakṣubhitoragī ruṭ-
phūtkāra-bhītaṃ bhavatṛṭ śmaśānam ||
bhavapralubdhaṃ tanu vīkṣya cittaṃ
prākkampate yātamivā'ndhakūpe || 53 ||

Tr. *kuṇḍalinī* which has got entangled in the mundane world, having been recently agitated, becomes infuriated and makes hissing sound and enters the void *(brahmarandhra)*. Being attracted towards the mundane world, the serpent perceives the mind and it (mind) quivers as if it has entered hell. 53.

निरालम्बमतश्मशानेऽस्तदोषं विशशानुचिन्तोद्वेगमन्तः[5] सदा ।
व्युत्थिती सम्भ्रमत्रासतोऽलं विनिद्रि तदा जायते कम्पतेऽतः ।५४।

---

1. यदाभिलैन्य -b. 2. प्रकम्पतेऽदोहस्य -b. 3. प्रलब्धं -b. 4. यानमिवा -b. 5. चिराशानुचिन्तयेत् अग्निःस्फुलिंगदर्शितुर्यध्यतो गतोद्वेगमन्तः — b.

nirālambamataśmaśāne'stadoṣaṃ
viśaśānucintodvegamantaḥ sadā ॥
vyutthittau sambhramatrāsato'laṃ
vinidri tadā jāyate kampate'taḥ ॥ 54 ॥

Tr. Being free from blemishes, thoughts and worries she *(kuṇḍalinī)* remains in the void *(brahmarandhra)*. In the state of *vyutthāna*, being awakened and sleepless, she agitates as a result of which quivering occurs. 54.

अभ्यसेच्छान्तये[1] योगी धैर्याच्छ्वासनिरोधने ।
आत्मैकताननतायुक्तं न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥ ५५ ॥

abhyasecchāntaye yogī dhairyācchvāsanirodhane ।
ātmaikatānatāyuktaṃ na kiñcidapi cintayet ॥ 55 ॥

Tr. A *yogī* should undertake the practice of *prāṇāyāma* for poise attuned to the Self and should not think of anything. 55.

अग्निस्फुलिंगदृशि तुर्य४घटीमितायां
भूमौ मुनिः सहजसिद्धसुकुम्भकेऽत्र ॥
रुद्रप्रमाण११घटिके हृदि भूरि तेजो-
बिन्दून् प्रपश्यन्ति महापथ आत्तधैर्यः[2] ॥ ५६ ॥

agnisphuliṅgadṛśi turya4ghaṭīmitāyāṃ
bhūmau muniḥ sahajasiddhasukumbhake'tra ॥
rudrapramāṇa11ghaṭike hṛdi bhūri tejo-
bindūn prapaśyanti mahāpatha āttadhairyaḥ ॥56॥

Tr. A *muni* maintains this state of *sahajakumbhaka* for four *ghaṭikās* and perceives the sparkling of fire, and maintaining this *kumbhaka* for eleven *ghaṭikās* perceives excessively shining particles in the great path (*suṣumnā*) courageously. 56.

नादोत्पत्तिररोगता च जठराग्नेर्दीपनं प्रोत्कटं
देहे बिन्दुजयः शिरा शुभविशुद्धिश्चेत्य[3]नुक्तं हि यत् ॥
अभ्यासस्य फलं समस्तमखिलं निर्बीजशून्यावधि
ज्ञात्वाऽभ्यासमपास्य[4] कार्यमपरं[5] प्राणावरोधे चरेत् ।५७।

1.छांवये–b. 2. आतधैर्यः-a. 3. शुभविद्धिश्चेत्य–b. 4. मयास्य–b. 5. कार्धमपरं–b.

nādotpattirarogatā ca jaṭharāgnerddīpanaṃ protkaṭam
dehe bindujayaḥ śirā śubhaviśuddhiścetyanuktaṃ hi yat ||
abhyāsasya phalaṃ samastamakhilaṃ nirbījaśūnyāvadhi
jñātvā'bhyāsamapāsya kāryamaparaṃ prāṇāvarodhe caret || 57 ||

Tr. The entire set of the results of devoted practice appears as arousal of *nāda*, well-being, excessive enhancement of gastric fire in the body, control over *bindu*, free passage of the *śirās* and also those which are not mentioned. This will continue until one arrives at (the state of) *nirbīja* or *śūnya* (void). Knowing this one should put aside all the practices and other works and devote in controlling *prāṇa*. 57.

तथा चोक्तमुत्तरगीतायाम् —

tathā coktamuttaragītāyām—

It has been stated in *uttaragītā*—

गच्छंस्तिष्ठन् सदा कालं वायुस्वीकरणं परम् ।
सर्वकालप्रयोगेण सहस्रायुर्भवेन्नरः ॥ इति ॥ ५८ ॥

gacchaṁstiṣṭhan sadā kālaṃ vāyusvīkaraṇaṃ param |
sarvakālaprayogeṇa sahasrāyurbhavennaraḥ || *iti* || 58 ||

Tr. By practising *prāṇāyāma* all the time with full devotion, one lives long. 58.

तथा च योगतत्वप्रकाशे —

tathā ca yogatatvaprakāśe—

It is stated in *yogatatvaprakāśa*—

रेचकादित्रयाभ्यासो नाडीशोधनपूर्वकम् ।
स्वस्वोत्क्रमण[1]पर्यन्तः प्रोक्तो योगानुमार्गतः ॥ इति ॥ ५९ ॥

recakāditrayābhyāso nāḍīśodhanapūrvakam |
svasvotkramaṇaparyantaḥ prokto yogānumārgataḥ ||*iti*||59|

Tr. One should practise *nāḍīśodhana* and

1. स्वस्वोक्रमण –b.

prāṇāyāma systematically till one leaves the *prāṇa* through *yogic* technique. 59.

॥ इति सुन्दरदेवविरचितायां
हठतत्वकौमुद्यामुत्कर्ष-
प्राणायामादिविवेचनोद्योतः ॥

॥ iti sundaradevaviracitāyāṃ haṭhatatvakaumudyām-
utkarṣaprāṇāyāmādi-vivecanodyotaḥ ॥

Here ends the narrating of the technique of *utkarṣa-prāṇāyāma* in *haṭhatatvakaumudī* composed by *sundaradeva.*

॥ समाप्तोऽयं बहिरंगसाधनो पञ्चमः ॥

॥ samāpto'yaṃ bahiraṅgasādhano pañcamaḥ ॥

Here ends the fifth –*bahiraṅgasādhana.*

Chapter—46

अथ निष्पत्तिदशाख्य उल्लासः —

atha niṣpattidaśākhya ullāsaḥ —

Here follows the chapter describing the state of *niṣpatti*—

शक्तिबोधे सुषुम्णान्तर्गत[1]प्राणाग्निमनोभिः सह जीवस्य सोऽहमिति जाग्रदवस्थायामष्टांगयोगनिष्णातस्यारूढयोगे मुने संयमाख्य आन्तरंग उल्लासः ॥ १ ॥

śaktibodhe suṣumṇāntargataprāṇāgnimanobhiḥ saha jīvasya so'hamiti jāgradavasthāyām aṣṭāṅgayoganiṣṇātasy-ārūḍhayoge mune saṃyamākhya āntaraṅga ullāsaḥ ॥ 1 ॥

Tr. A *muni* in the state of *jāgrat* (waking), who has thoroughly mastered over the eight components of *yoga*, after coursing *prāṇa* along with fire and mind in the channel of *suṣumnā*, who has realized that *soham* -'I am That' with *jīva* (embodied soul), in the process of *ārūḍhayoga*, to him *antaraṅga* called as *saṃyama* is recommended. 1.

शुद्धान्तःकरणो यमैश्च[2] नियमैर्जित्वासनानि स्थिरं
प्राणायामजितानिलो विषयसंव्यायत्त[3]सर्वेन्द्रियः ॥
देशेऽन्तर्हृदयादिकेऽथ रविचन्द्रादौ बहिः स्थापयेद्
वृत्या चित्तमथ प्रतीचिपरमे चैषा भवेद्धारणा[4] ॥२ ॥

śuddhāntaḥkaraṇo yamaiśca niyamairjitvāsanāni sthiraṃ
prāṇāyāmajitānilo viṣayasaṃvyāyattasarvendriyaḥ ॥
deśe'ntarhṛdayādike'tha ravicandrādau bahiḥ sthāpayed
vṛtyā cittamatha pratīciparame caiṣā bhaveddhāraṇā ॥2॥

Tr. Gaining mastery over *āsanas*, rearing a pure heart and senses through *yama* and *niyama*, gaining control over *prāṇa* through *prāṇāyāma*, withdrawing all the senses from their objects, one focuses the mind along with its modifications in the heart region inside and the sun or moon outside, or even on *suṣumnā* (posterior path). This is *dhāraṇā*. 2.

तथा च भारते –

tathā ca bhārate—

---

1. सुषुम्णां तदान्तं–b. 2. करणोयमेश्च –b. 3. संख्यायत्त –b. 4. भवधारणा –b.

It has been stated in *(mahā-) bhārata*—

शुभे[1] ह्येकत्रविषये चेतसो यत्र धारणम् ।
निश्चलत्वात्तु सा सद्भिर्धारणेत्यभिधीयते ॥ ३ ॥

śubhe hyekatraviṣaye cetaso yatra dhāraṇam ।
niścalatvāttu sā sadbhirdhāraṇetyabhidhīyate ॥ 3 ॥

Tr. The mind is focused and concentrated steadily on one auspicious point. This is called *dhāraṇā* by the experts. 3.

अत्र[2] हि –

atra hi –

Here too—

मैत्रादिवासितहृदा[3] नियमादिभाजा
प्रत्याहृतेन्द्रियगणेन जितासनेन ॥
द्वन्द्वोज्झितेन[4] हि मनःस्थितये स्वनासा-
ग्रादौ[5] सबीजसहजाभ्यसनं विधेयम् ॥ ४ ॥

maitrādivāsitahṛdā niyamādibhājā
pratyāhṛtendriyagaṇena jitāsanena ।
dvandvojjhitena hi manaḥsthitaye svanāsā-
grādau sabījasahajābhyasanaṃ vidheyam ॥ 4 ॥

Tr. One who has parctised *niyama* etc. by cherishing the attitude of *maitrī* etc., withdrawn the senses, gained mastery over *āsana* and overcome duality, should practise the *sahaja i.e. sabīja (samādhi)* by concentration on the tip of the nose to acquire stability of the mind. 4.

प्राणायामैः प्राग्विनिर्जित्य वायून् प्रत्याहारेणेन्द्रियाण्याशु जित्वा ।
चेतोवृत्तिं मूर्त्त ईशानरूपे कुर्यात् सैषा धारणा धीधृतेर्भूः ॥ ५ ॥

prāṇāyāmaiḥ prāgvinirjitya vāyūn
pratyāhāreṇendriyāṇyāśu jitvā ॥
cetovṛttiṃ mūrta īśānarūpe
kuryāt saiṣā dhāraṇā dhīdhṛterbhūḥ ॥ 5 ॥

Tr. The *vāyus* are first of all controlled by *prāṇāyāma*. The senses are soon controlled by *pratyāhāra*. Then one should direct the mental modifications *(vṛttis)* towards the embodied

1. शुभं –b. 2. अम –b. 3. तृदा –a. 4. इन्द्रातेन –b. 5. स्वनासाऽदौ –b.

God in the form of *īśāna*. This is called practice of *dhāraṇā* which is done by the stability of the mind. 5.

योगी सुस्थिरविष्टरो जितमरुच्चायामतस्तीर्थगात्
प्रत्याहारत इन्द्रियार्थत उपाकृष्टेन्द्रियः साऽनिलम् ॥
एकस्मिंश्च शुभाश्च ये[1] सकरणं योगोक्तकालावधि
धत्ते स्वान्तमुपैति न च्युतिलवं लक्ष्यात् तदा धारणा ।६।

yogī susthiravistaro jitamaruccāyāmatastīrthagāt
pratyāhārata indriyārthata upākṛṣṭendriyaḥ sānilam ॥
ekasmiṅśca śubhāśca ye sakaraṇaṃ yogktakālāvadhi
dhatte svāntamupaiti na cyutilavaṃ lakṣyāt tadā dhāraṇā ॥ 6 ॥

Tr. The *yogī* gains steadiness in an *āsana*. He controls the *prāṇa* through *prāṇāyāma* learnt from a *guru*. The senses along with *prāṇa* are withdrawn from their objects through the practice of *pratyāhāra*.

One holds (the mind) along with the senses on an auspicious internal point for the length of time as recommended in the scriptures of *yoga* and one does not flinch even for a moment from that point. Then alone *dhāraṇā* takes place. 6.

स यथा –

sa yathā—

Which is as follows—

नासांगुष्टकजानुगुल्फकगुदग्रीवांससीवन्यहो
भ्रूभालाग्रकलम्बिकाग्रहृदयं मेढ्रं सुषुम्णाशिरा ॥
नाभी चेति पदानि चित्तसहितप्राणस्य देशान्तरे
प्रत्याहारमुखेन धारणमितौ कायप्रवेशादिके ॥ ७ ॥

nāsāṅguṣṭakajānugulphakagudagrīvāṅsasīvanyaho
bhrūbhālāgrakalambikāgrahṛdayaṃ meḍhraṃ suṣumṇāśirā ॥
nābhī ceti padāni cittasahitaprāṇasya deśāntare
pratyāhāramukhena dhāraṇamitau kāyapraveśādike ॥ 7 ॥

Tr. The points for *dhāraṇā* with *pratyāhāra* are—(tip of the) nose, big toes, knees, ankles, anus, neck, shoulders, perineum, eyebrows, forehead, *lambikā* (uvula), heart,

1. शुभाश्रये –b.

generative organ, the channel of *suṣumnā* and navel – by focusing on these points and moving on to the next in the processes like entering into another body etc. 7.

प्रत्याहृन्मरुद्धारणाख्यः सिद्धेः प्राग्रूपेच्छभि[1]र्धारणायाम् ।
देहे स्वीये सेवनीयोऽनुगुर्व्यो[2] भूम्याद्यास्ता धारणा सिद्धयश्च ।८।

pratyāhṛnmaruddhāraṇākhyaḥ
siddheḥ prāgrūpeccabhirdhāraṇāyām ॥
dehe svīye sevanīyo'nugurvyo
bhūmyādyāstā dhāraṇā siddhayaśca ॥ 8 ॥

Tr. One should practise *dhāraṇā* of *marut (prāṇa)* in the body by focusing on gross to the subtler points and subsequently *dhrāraṇā* — i.e. withdrawing progressively on the further elements, which offers supernatural powers. 8.

हृत्संकल्पात्मकं नुर्वपुषि[3] यदभिधारितं यत्र यत्र देशे निबन्धं
व्रजति[4] हि तदभिध्यानतो धारणा इति अस्यां[5] यत्र स्थिरं द्रागनुपतति ॥
मरुत्साक्षचित्तो धारणा[6]देशबन्धो मरुद्वज्जये[7]ऽसौ हि यद्देशबन्धस्
तदीयं करोत्येव सिद्धिं स्वभूमौ सुसिद्धानुसन्धानहेतुस्मृतीक्षात्र[8] कार्यम् ।९।

hṛtsaṅkalpātmakaṃ nurvapuṣi yadabhidhāritaṃ yatra yatra deśe nibandhaṃ
vrajati hi tadabhidhyānato dhāraṇā iti asyāṃ yatra sthiraṃ drāganupatati ॥
marutsākṣacitto dhāraṇādeśabandho marudvajjaye'sau hi yaddeśabandhas
tadīyaṃ karotyeva siddhiṃ svabhūmau susiddhānusandhānahetusmṛtīkṣātra kāryam ॥ 9 ॥

Tr. In the body on whichever region *dhāraṇā* of *prāṇa* with mind and *saṃkalpa* (resolution) is done, the *bandha* (fixing of mind) is also done therein. Concentration on these (points) is *dhāraṇā*. On these points wherever *prāṇa* with mind and senses is firmly concentrated, it is *dhāraṇā* at that particular point (*deśabandha*). This *deśabandha* (concentration on a particular region) is effective in controlling *prāṇa*. One attains success in

1. प्रागूपेच्छभि –b. 2. स्वीयेत्येवनीयोऽनुगुर्व्यो –b. 3. तुर्वपुषि –b. 4. वव्रजति –b. 5. अस्मां –a. 6. मरुत्साऽक्ष्य चित्तोऽनुदेशेऽमुं तत्तादात्म्यतोऽलं जितमभिलमतेऽदः सुसिद्धिस्तुस्तासास्ताः अतोधारणा –b. 7. मरुद्वज्जये –a. 8. क्ष्याऽत्र –b.

(a particular) state. One must introspect on memory. 9.

मनोजयार्थं विहितोस्त्युपायश्चक्रानुसन्धानमिति[1] श्मशाने ।
स्वदेशबन्धप्रविशेष[2] उक्तः स्वस्वोक्तसिद्धिप्रद उक्तरुप्त्यः[3] ॥१०॥

manojayārtham vihitostyupāyaś-
cakrānusandhānamiti śmaśāne ॥
svadeśabandhapraviśeṣa uktaḥ
svasvoktasiddhiprada uktaruptyaḥ ॥ 10 ॥

Tr. To gain control over mind, the recommended practice like piercing of *cakra*, (entering into) *suṣumṇā*, and concentration of a particular point *(deśabandha)* are suggested. These further help in attaining one's cherished goals. 10.

ध्याने समाधावथ[4] धारणायां मुहुर्मुहुः संयमकोऽनु[5]वर्त्तते ।
प्रत्याहृतावेष तु धारणायां ध्याने भवेत् सेन्द्रियचेतसो जयी ॥११॥

dhyāne samādhāvatha dhāraṇāyām
muhurmuhuḥ saṃyamako'nuvarttate ॥
pratyāhṛtāveṣa tu dhāraṇāyām
dhyāne bhavet sendriyacetaso jayī ॥ 11 ॥

Tr. Repeated practice of *dhyāna*, *samādhi* and *dhāraṇā* gradually leads to *saṃyama*. One gains control on the senses and mind through *pratyāhāra*, *dhāraṇā* and *dhyāna*. 11.

या निर्विचारे रजसेह धारणो मुन्युक्त[6]कालः किल[7] काललोपतः ।
स्यात् पञ्चघट्यात्मक५ एव सिद्धिभूः प्रत्याहृतेः[8] काल इनघ्न[9] इरितः ।१२।

yā nirvicāre rajaseha dhāraṇo
munyuktakālaḥ kila kālalopataḥ ॥
syāt pañcaghaṭyātmaka5 eva siddhibhūḥ
pratyāhṛteḥ kāla inaghna iritaḥ ॥ 12 ॥

Tr. In the state of *nirvicāra* where there is a predominance of *rajas*, duration as suggested by the sages. Practice of *pratyāhāra* for five *ghaṭikās* brings about success and one transcends time. 12.

---

1. श्चक्राऽनुसन्धानुमिति –b. 2. स्वदेशबन्धप्रविशेष –b. 3. उक्तरुत्तप्रः —b. 4. समाधाप्य –a. 5. संयमकोऽतु –b. 6. मन्युक्त —b. 7. अनुपलब्धपाठः —b. 8. प्रत्याहृतैः — b. 9. इवघ्न –b.

स्युः[1] पञ्चनाडी मितमुख्यकालेऽस्मिंन्सिद्ध[2]यो भूतजयादिका मुनेः
प्राक्सिद्धकुम्भाष्ट८घटीसमेते ऋतम्भराख्येऽत्र तु शक्तिबोधः ।१३।

syuḥ pañcanāḍī mitamukhyakāle'-
sminnsiddhayo bhūtajayādikā muneḥ ॥
prāksiddhakumbhāṣṭa8ghaṭīsamete
ṛtambharākhye'tra tu śaktibodhaḥ ॥ 13 ॥

Tr. A time span of five *nāḍīs* produces supernatural powers and also a *muni* gains control on *bhūtas* (elements). Perfection of *kumbhaka* for eight *ghaṭikās* which brings the state of *ṛtambharā*, awakens *śakti*. 13.

निसर्गकुम्भे किल षष्टिनाडिके६० ध्यानं मुनेः पक्वमिदं स्वसिद्धिभूः
स्याद् द्वादशाहैः[3] सहजः समाधिः सुसिद्धयः स्युश्च विपश्चिताम्[4]१४

nisargakumbhe kila ṣaṣṭināḍike60
dhyānaṃ muneḥ pakvamidaṃ svasiddhibhūḥ ॥
syād-dvādaśāhaiḥ sahajaḥ samādhiḥ
susiddhayaḥ syuśca vipaścitām ॥ 14 ॥

Tr. When a *muni* meditates for sixty *nāḍīs* while maintaining *nisarga kumbhaka*, he gets maturity to generate the *siddhis* (supernatural powers). A twelve day's practice brings about the state of *sahaja-samādhi* and the *yogī* attains *siddhis*. 14.

सर्वार्थतैकाग्र्यसुधर्मयोर्यः क्षये भवो धर्मिहृदोऽणुकालः ।
स स्वात्मसंस्थः परिणामकालः स्याद्धारणादित्रिलये स्वसिद्धेः ।१५।

sarvārthataikāgryasudharmayoryaḥ
kṣaye bhavo dharmihṛdo'ṇukālaḥ ॥
sa svātmasaṃsthaḥ pariṇāmakālaḥ
syāddhāraṇāditrilaye svasiddheḥ ॥ 15 ॥

Tr. Several-objectness and one-pointedness of mind are subjugated and manifested respectively. The three processes – *dhāraṇā*, *dhyāna* and *samādhi* merge when one remains in Self which is called *pariṇāmakāla*. 15.

प्रत्यग्वृत्या ध्यायतोऽत्रेष्टमूर्तिसोहंभावेनास्तसर्वैहिकस्य ।
योगीन्द्रस्य ज्ञानमायाभुजंगीसिद्धिष्वष्टासु[5] स्वयन्तं युनक्ति ॥१६॥

1. स्यु –b. 2. कालेऽस्मिन् सिद्धयो –b. 3. द्वाशाऽहैः –b. 4. विपाराशां –b. 5. सुव्विस्त्र् –b.

pratyagvṛtyā dhyāyato'treṣṭamūrti-
sohaṃbhāvenāstasarvaihikasya ||
yogīndrasya jñānamāyābhujaṅgī-
siddhiṣvaṣṭāsu svayntaṃ yunakti || 16 ||

Tr. Meditating on the desired deity (God) with an attitude of 'I am That' and by turning the senses inwardly one annihilates all the mundane desires. Thus a *yogī* attains wisdom, raises *kuṇḍalinī* and gets eight supernatural powers. 16.

गन्धो विनेच्छामनुभूयते यथा
पुष्पाणि कामं नयतोत्तमानि[1] ॥
ब्रह्मण्यहंभाव[2]युतेन भूरिशो
लभ्यन्त[3] एवं सुविभूतयः स्वम् ॥ १७ ॥

gandho vinecchāmanubhūyate yathā
puṣpāṇi kāmaṃ nayatottamāni ||
brahmaṇyahaṃbhāvayutena bhūriśo
labhyanta evaṃ suvibhūtayaḥ svam || 17 ||

Tr. Just as the fragrance of flowers is enjoyed even without wishing to do so, similarly, due to merging of the Self (I am That) in *brahman*, the supernatural powers reveal on their own. 17.

जितेन्द्रियस्याभिजितेरणस्य युक्तस्य सन्धारयतो हरौ मनः ।
सद्धारणायामुपयान्ति पाके सुसंयमस्य[4] स्वयमेव सिद्धयः ॥१८॥

jitendriyasyābhijiteraṇasya
yuktasya sandhārayato harau manaḥ ||
saddhāraṇāyāmupayānti pāke
susaṃyamasya svayameva siddhayaḥ || 18 ||

Tr. One who has gained control over senses and *prāṇa* and one who is poised through meditation on *hari*, will accomplish the *siddhis* easily when *dhāraṇā* is matured. 18.

पञ्चतत्वात्मिकाधारणातो मुक्तौ[5]
भुवोः षष्टसप्तात्मनयो[6]र्मध्यसन्धौ ॥

---

1. कामं न यतो तमानि–b. 2. ब्रह्मण्यहम्भाव–b. 3. लभ्यं न –b. 4. सुसयस्य –b. 5. धारणाझेनुक्तौ –b. 6. सप्तात्मयोर् —a.

मुनौ तज्जयेन् मयादेति तन्मात्रकं
भूतसंघातजं तज्जसिद्धीस्तदा[1] ॥ १९ ॥

pañcatatvātmikā dhāraṇāto mukau
bhuvoḥ ṣaṣṭasaptāhnayormadhyasandhau ।
munau tajjayen mayādeti tanmātrakaṃ
bhūtasaṅghātajaṃ tajjasiddhīstadā ॥ 19 ॥

Tr. In a time between six and seven days a *muni* through *dhāraṇā*, gains control over the five elements related to *bhūmi* etc. for realization. Consequently he attains the supernatural power related to *tanmātrās* and power born out of the *bhūtas*. 19.

इह भूतधारणास्थे परोक्षवित्तज्ज[2]सिद्ध्युदयः ।
सत्वापत्यणुहृदये भूतजयैश्चित्तधारणा विशते ॥ २० ॥

iha bhūtadhāraṇāsthe parokṣavittajjasiddhyudayaḥ ।
satvāpatyaṇuhṛdaye bhūtajayaiścittadhāraṇā viśate ॥20॥

Tr. Establishment of *dhāraṇā* on the *bhūtas* brings about the Supernatural Powers like extra-sensory perception. When the mind is attenuated, there occurs an increment of *satva*. Control of the *bhūtas* establishes the *citta* in the practice of *dhāraṇā*. 20.

ऋतम्भरे धारणायां विपाकसदृशा मुनौ ।
संयमस्याणिमाद्याः[3] स्युः सिद्धयो भूतसञ्जयात् ॥ २१ ॥

ṛtambhare dhāraṇāyāṃ vipākasadṛśā munau ।
saṅyamasyāṇimādyāḥ syuḥ siddhayo bhūtasañjayāt ॥21॥

Tr. In the advanced practice of *ṛtaṃbharā dhāraṇā* when *saṃyama* is established, *siddhis* like *aṇimā* etc. are attained through control gained over *bhūtas*. 21.

विना न वायोर्जयमस्ति हृज्जयो न शक्तिबोधोऽग्निमरुज्जयं विना
न सिद्धयः संयमहृत्प्रसादनं विनाऽखिलं चित्तजयं विनास्ति नो२२

vinā na vāyorjayamasti hṛjjayo
na śaktibodho'gnimarujjayaṃ vinā ॥
na siddhayaḥ saṅyamahṛtprasādanaṃ
vinā'khilaṃ cittajayaṃ vināsti no ॥ 22 ॥

1. सिद्धोस्तदा - b. 2. परोक्षवित्तज—पादस्य पुरावृत्तिः—b. 3. स्याऽणिमायाः — b.

Tr. Control on the mind is not possible without gaining control over *prāṇa*. Arousal of *śakti* does not happen without having control over fire and *prāṇa*. *siddhis* do not occur without *saṃyama* and pacification of the mind. Nothing is possible without control of *citta* (mind). 22.

तथा चोक्तं केरलतन्त्रे –

tathā coktaṃ keralatantre—

It has been maintained in *keralatantra*—

मनोजयान् महेशानि सर्वं जयति लीलया ॥ इति ॥ २३ ॥

manojayān maheśāni sarvaṃ jayati līlayā ॥ *iti* ॥ 23 ॥

Tr. O *pārvatī!* Mental control leads to control of all with ease. 23.

निरोधधर्म वा वासनाविपाकदुष्टचेतसः ।

विहारशक्तिजीवनं यदात्र[1] धर्मदर्शनम् ॥ २४ ॥

nirodhadharma vā vāsanāvipākaduṣṭacetasaḥ ।

vihāraśaktijīvanaṃ yadātra dharmadarśanam ॥ 24 ॥

Tr. *nirodhadharma* (suspension of mental modifications), (enfeeblement) of the mind defiled due to maturation of desires and merging in the life force (*prāṇa*) one realizes *dharma* (virtues). 24.

प्राग्धर्मप्रविलयने ह्यधर्मभूतिव्युत्थाने प्रभवति या निरोधने च ।

सा प्रोक्तः खलु परिणाम एष धीरैश्चित्तस्य क्षणिकगतेर्मुनीश्वरस्य२५

prāgdharmapravilayane hyadharmabhūti-
vyutthāne prabhavati yā nirodhane ca ॥
sā proktaḥ khalu pariṇāma eṣa dhīraiś-
cittasya kṣaṇikagatermunīśvarasya ॥ 25 ॥

Tr. By the suppression of the disturbed impressions of the mind and by the rise of impressions of control, the mind, which persists in that moment of control, is said to attain the controlling modifications of *citta*. 25.

न रागधर्मं भजते कदापि व्युत्थानहीनं यमिनो मनोऽस्ति[2] ।

शान्तादिधर्मान्तरंगं तदानीं सत्वं[3] शुभैः प्रैति मुनौ विशोकः[4] ।२६।

1. यदऽत्रय –b. 2. यमिनोऽस्ति –b. 3. सत्व –b. 4. विदोकः – b.

na rāgadharmaṃ bhajate kadāpi
vyutthānahīnaṃ yamino mano'sti ॥
śāntādidharmāntaraṅgaṃ tadānīṃ
satvaṃ śubhaiḥ praiti munau viśokaḥ ॥ 26 ॥

Tr. The *yogīs* never entertain the traits of attachment after transcending the process of *vyutthāna* and the mind is pacified and internalized. Then the *muni* who has overcame suffering *(śoka)*, attains the higher virtues and auspicious *satva*. 26.

विवेकख्यातिमापन्नो भूतेन्द्रियजयी यदा ।
पदार्थाभाविनीं भूमिं ध्याने प्राप्तोऽस्तवासनः ॥ २७ ॥

vivekakhyātimāpanno bhūtendriyajayī yadā ।
padārthābhāvinīṃ bhūmiṃ dhyāne prāpto'stavāsanaḥ ।27।

Tr. One who has controlled the *bhūtas* (elements) and senses, attains the state of *vivekakhyāti* (discriminative knowledge). By overcoming the desires (*vāsanās*), one attains the state of *padārthābhāvinī* in *dhyāna*. 27.

व्युत्थाने वा सन्निरोधेऽस्य चित्तं चित्संलीनं सद्विवेकात्तबोधम् ।
नो यात्यन्तेऽलं तदा सिद्धिविघ्ना योगारूढस्योन्मनीं संगतस्य २८

vyutthāne vā sannirodhe'sya cittaṃ
citsaṅlīnaṃ sadvivekāttabodham ॥
no yātyante'laṃ tadā siddhivighnā
yogārūḍhasyonmanīṃ saṅgatasya ॥ 28 ॥

Tr. In the state of *vyutyhāna* or *nirodha* (suspension of mind) the mind merges in consciousness (*cit*) wherein discriminatory knowledge arises. Then the one who is *yogārūḍha* and who has attained (the state of) *unmanī* (*samādhi*) does not encounter the obstacles (i.e. *siddhis*) on his path. 28.

अस्य भूतेन्द्रियजयिनोऽतिक्रान्तभावनीयस्येत्यर्थः ॥ २९ ॥

asya bhūtendriyajayino'tikrāntabhāvanīyasyetyarthaḥ 29

Tr. *bhūtendriyajayino* (one who has gained control over the *bhūtas* and the senses) means *atikrāntabhāvanīya* (one who has overcome the *bhāvanās*—mental constructions). 29.

कर्मत्रिकूटानि तु धारणायां विशुद्धिसंयमी पश्यति शक्तिबोधात् ।
आयामतस्तानि विनाश्य कायव्यूहं निजैश्वर्यसुखाय दध्यात् ।३०।

karmatrikūṭāni tu dhāraṇāyāṃ
viśuddhisaṃyamī paśyati śaktibodhāt ||
āyāmatastāni vināśya kāya-
vyūhaṃ nijaiśvaryasukhāya dadhyāt || 30 ||

Tr. One who is a *saṃyayī* (a *yogī)* perceives the three aspects of *karma (prārabdha, sañcita* and *kriyamāṇa)* in the pure state of *dhāraṇā* through arousal of *śakti*. Through the practice of *prāṇāyāma* he annihilates the *karma* and mobilizes the body for pleasure. 30.

आरम्भान्तं वायुवह्न्योर्जयोत्था[1] भाक्ता सिद्धिर्वर्ष्मसंपद्गुणाढ्या[2]
प्रत्याहारे सञ्जयात् स्युस्त्रयाणां दूरश्रुत्याद्यं हृदः सेन्द्रियस्य ।३१।

ārambhāntaṃ vāyuvahnyorjayotthā
bhāktā siddhirvarṣmasampadguṇāḍhyā ||
pratyāhāre sañjayāt syustrayāṇāṃ
dūraśrutyādyaṃ hṛdaḥ sendriyasya || 31 ||

Tr. At the end of the state of *āraṃbha* one controls *prāṇa* and fire, which begets the supernatural powers in the body. Mastery over *pratyāhāra* brings in attainment of the three—clairvoyance etc., (control of) the mind and senses. 31.

शक्त्युद्बोधानन्तरं[3] सिद्धयो याः
पाकप्रख्याः[4] संयमस्थस्य वर्याः ॥
भूताक्षाणां[5] सञ्जये स्युः समस्ता
निष्पत्तौ तास्तत्वलीनस्य शून्ये ॥ ३२ ॥

śaktyudbodhānantaraṃ siddhayo yāḥ
pākaprakhyāḥ saṃyamasthasya varyāḥ ||
bhūtākṣāṇāṃ sañjaye syuḥ samastā
niṣpattau tāstatvalīnasya śūnye || 32 ||

Tr. After the arousal of *kuṇḍalinī* the higher supernatural powers occur to the one established in *saṃyama*. On gaining control on the *bhūtas* (elements) and the senses, all the (powers) take place in the state of *niṣpatti* to the one who has merged in *tatva* in the state of *samādhi*. 32.

---

1. वायुवन्नोर्जयोत्था –b. 2. गणाद्या –b. 3. बोधानान्तरं –b. 4. पाकप्रख्याः –b. 5. भूताऽस्यारगां –b.

शून्यः समाधिः ॥

śūnyaḥ samādhiḥ.

śūnya means *samādhi*.

आशक्तिचालोन्नयनाभुवं मुनेर्या[1] सिद्धयस्ता बहिरंगभूताः ।
यमासनायामसुबन्धमुद्रिकाद्यैः स्युर्जयाच्चित्तजयेऽग्नि[2]वाय्वोः ॥३३॥

āśakticālonnayanābhuvaṃ muner-
yā siddhyastā bahiraṅgabhūtāḥ ॥
yamāsanāyāmasubandhamudrikādyaiḥ
syurjayāccittajaye'gnivāyvoḥ ॥ 33 ॥

Tr. From *śakticālana* onwards the miraculous powers like levitation are external, which are attained through *yama, āsana, prāṇāyāma, bandha* and *mudrās* and mind is controlled through control gained over *agni* and *prāṇa*. 33.

तदुत्तरं संयमकेऽन्तरंग[3]संसाधने संयमसंस्थितस्य ।
ऋतम्भरप्रज्ञमुनेः स्युरग्न्याश्चियादि[4]धरासुसिद्धयः ॥ ३४ ॥

taduttaraṃ saṃyamake'ntaraṅga-
saṃsādhane saṃyamasaṅsthitasya ॥
ṛtambharaprajñamuneḥ syur-
agnyāściyādidharāsusiddhyaḥ ॥ 34 ॥

Tr. Thereafter, (follows) the *antaraṅga* (internal) that involves the process of *saṃyama*. Having established in *saṃ yama*, a *muni* in *ṛtaṃbharā* state attains the great *siddhis* like gaining control over fire, earth etc. 34.

सहजकेवलकुम्भवतो मुनेः परमसिद्धिषु कालमपेक्षते[5] ।
जितमनःस्थिरता शुभसंयमक्रमविपाके विवेकहताज्ञता ॥ ३५ ॥

sahajakevalakumbhavato muneḥ
paramasiddhiṣu kālamapekṣate ॥
jitamanaḥsthiratā śubhasaṃyama-
kramavipāke vivekahatājñatā ॥ 35 ॥

Tr. A *muni* perfecting *sahaja kevala kuṃbhaka* gets the higher *siddhis* in due course of time. He controls mind, gets stability, and *vivekakhyāti* (discriminative knowledge) by gradually progressing in the process of *saṃyama*. 35.

1. मुनेऽपि -a. 2. च्चित्तजयोऽग्नि –b. 3. संयमकेऽतरंग –b. 4. स्युरऽआश्चि –a. 5. मपेक्ष्यते –b.

परतत्व इति शेषः ॥

paratatva iti śeṣaḥ ॥

The above said state is of *vivekakhyāti* of *paratatva* (the Absolute).

जितमनसो व्युत्थाने धारणासिद्धिभूमिकाकाला यथा ॥ ३६ ॥

jitamanaso vyutthāne dhāraṇāsiddhibhūmikākālā yathā ।36।

Tr. One who has controlled mind gets success in *dhāraṇā* in *vyuthāna* state in due course of time. 36.

तदुक्तं कुम्भकपद्धतौ –

taduktaṃ kumbhakapaddhatau –

It has been stated in *kumbhaka paddhati*—

जिताशना याममिता द्विघ्नी ज्योतिष्मती भवेत् ।
मात्राप्रकाशा प्रहरैश्चतुर्भिः प्रहरैः स्मृता ॥ ३७ ॥[1]

jitāśanā yāmamitā dvighnī jyotiṣmatī bhavet ।
mātrāprakāśā praharaiścaturbhiḥ praharaiḥ smṛtā ॥ 37 ॥

Tr. In the state of *jitāśanā* (*prāṇa* is retained for) one *yāma* (three hours), in *jyotīṣmatī* for two *yāmas*, in *mātrāprakāśā* for four *praharas* (three hours) 37.

अहोरात्रमितायां गन्धवती द्विघ्ना[2] **रसप्रदा ।**
अहोरात्रैस्त्रिभिः प्रोक्ता रूपग्रहणकारिणी ॥ ३८ ॥

ahorātramitāyāṃ gandhavatī dvighnā rasapradā ।
ahorātraistribhiḥ proktā rūpagrahaṇakāriṇī ॥ 38 ॥

Tr. In *gandhavatī* (*prāṇa* is retained) for one day and night, in *rasapradā* for two days, in *rūpagrahaṇakāriṇī* for three days. 38.

चतुर्भिः स्पर्शवतिका पञ्चभिः शब्दसुश्रुतिः[3] **।**
बुद्धिदा षडहोरात्रैः सप्तभिः श्रुतिबोधना ॥ ३९ ॥

caturbhiḥ sparśavatikā pañcabhiḥ śabdasuśrutiḥ ।
buddhidā ṣaḍahorātraiḥ saptabhiḥ śrutibodhanā ॥ 39 ॥

Tr. In *sparśavatikā* (*prāṇa* is retained) for four days, in *śabdasuśruti* for 5 days, in *buddhidā* for six days, in *śrutibodhanā* for seven days. 39.

---

1. तदुक्तं —-प्रहरैः स्मृता –अनुपलब्धपाठः —b. 2. विघ्ना –a,b. 3. सश्रुतिः —b.

अहोरात्रैः[1] वसुमितैर्जठराग्निजयाभिधा ।
नवभिर्वाक्सिद्धिदा[2] स्याद् दशभिश्चित्रदर्शना ॥ ४० ॥

ahorātraiḥ vasumitairjaṭharāgnijayābhidhā ।
navabhirvāksiddhidā syād daśabhiścitradarśanā ॥ 40 ॥

Tr. In *jaṭharāgni-jayā* (*prāṇa* is retained) for eight days, in *vāksiddhidā* for nine days, in *citradarśanā* for ten days. 40.

एकादशाहोरात्रैः स्याद् वेगवत्यतिवेगदा[3] ।
रविसंख्यै१२रहोरात्रैः स्यान्मनोजवदायिनी ॥ ४१ ॥

ekādaśāhorātraiḥ syād vegavatyativegadā ।
ravisaṅkhyai12rahorātraiḥ syānmanojavadāyinī ॥ 41 ॥

Tr. In *vegavatī* (*prāṇa* is retained) for eleven days, which enhances high speed, in *manojavadāyinī* for twelve days. 41.

त्रयोदशमितैर्भूयात् खेचरी खगतिप्रदा ।
चतुर्दशदिनारभ्य द्व्यधिकैर्द्व्यधिकैर्दिनैः ॥ ४२ ॥

trayodaśamitairbhūyāt khecarī khagatipradā ।
caturdaśadinārabhya dvyadhikairdvyadhikairdinaiḥ ॥42॥

Tr. In *khagatipradā* (*prāṇa* is retained) for thirteen days which gains perfection in *khecarī*, from fourteenth day onwards, in each subsequent state (*prāṇa* is held for) two additional days in each state. 42.

अष्टाविंशतिपर्यन्तमणिमाद्याः सुसिद्धयः ।
भवन्ति भूमयश्चापि तासां नामभिरंकिताः ॥ ४३ ॥

aṣṭāviṃśatiparyantamaṇimādyāḥ susiddhayaḥ ।
bhavanti bhūmayaścāpi tāsāṃ nāmabhiraṅkitāḥ ॥ 43 ॥

Tr. Upto the twenty-eighth day, the *siddhis* like *aṇimā* etc. are attained. Therefore, these states are called by the names of that particular *siddhi*. 43.

प्राप्तं ब्रह्मपदं मार्गे विघ्नराशिरयं महान् ।
ईशस्य प्रणिधानेन किं न साध्यं च भूतले ॥ ४४ ॥

prāptaṃ brahmapadaṃ mārge vighnarāśirayaṃ mahān ।
īśasya praṇidhānena kiṃ na sādhyaṃ ca bhūtale ॥ 44 ॥

Tr. Approaching the state of *brahma* is the path full of

1. अहोरात्रै –b. 2. वास्क्यिर्द्धदा –b. 3. इतिवेगदा –b.

obstacles. What remains unattainable through the devotion to God? 44.

मासान्निवर्त्तिका भूयान्नवभिर्भूमयी[1] ततः ।
सार्धवर्षात्तोयमयी त्रिभिस्तेजोमयी भवेत् ॥ ४५ ॥

māsānnivarttikā bhūyānnavabhirbhūmayī tataḥ ।
sārdhavarṣāttoyamayī tribhistejomayī bhavet ॥ 45 ॥

Tr. A practice of one month leads to the state of *nivartikā*, nine month's practice to the state of *bhūmayī*, one and a half years practice to *toyamayī* and three years practice to *tejomayī* . 45.

षड्भिर्वर्षैः वायुमयी द्विघ्नै१२र्व्योममयी भवेत् ।
चतुर्विंशतिवर्षैः स्यात् प्रधानजयदायिनी ॥ ४६ ॥

ṣaḍbhirvarṣaiḥ vāyumayī dvighnai12rvyomamayī bhavet
caturviṃśativarṣaiḥ syāt pradhānajayadāyinī ॥ 46 ॥

Tr. Practice of six year's leads to *vāyumayī*, twelve years of practice to *vyomamayī*, twenty four years of practice to *pradhānajayadāyinī*. 46.

पूर्वा विवेकख्यातिश्च धर्ममेघस्ततः परम् ।
गुरूपदिष्टकालेन जीवन्मुक्तिमनःस्थिता ॥ ४७ ॥

pūrvā vivekakhyātiśca dharmameghastataḥ param ।
gurūpadiṣṭakālena jīvanmuktimanaḥsthitā ॥ 47 ॥

Tr. *vivekakhyāti* stage is followed by *dharmamegha* stage after the period as narrated by the *guru*, in which a *yogī* remains like a *jīvanmukta*. 47.

अत ऊर्ध्वं ब्रह्ममयी परमात्मप्रकाशभूः ।
एकैवाव्याहता तिष्ठेन्नान्या[2] भूमिरतः परम् ॥ ४८ ॥

ata ūrdhvaṃ brahmamayī paramātmaprakāśabhūḥ ।
ekaivāvyāhatā tiṣṭhennānyā bhūmirataḥ param ॥ 48 ॥

Tr. Hereafter, the *yogī* attains the final stage called *paramātmaprakāśabhū* which is also called *brahmamayī*, in which he continues to remain. There is no state after this. 48.

---

1. न्नवतिर्भूमयी-b. 2. तिष्ठेन्नाम्या-b.

एतास्तु भूमयो मेरोः सप्तवेदमिताः४७ स्फुटाः ।
अगर्भस्य सगर्भेषु निरूपणं कृतं मया ॥ ४९ ॥

etāstu bhūmayo meroḥ saptavedamitāḥ47 sphuṭāḥ ।
agarbhasya sagarbheṣu nirūpaṇaṃ kṛtaṃ mayā ॥ 49 ॥

Tr. These are the forty-seven stages of *meru* enumerated clearly. I have discussed the *agarbha* in the context of *sagarbha*. 49.

आरूढयोगस्यैताः[1] स्युर्व्युत्थाने सिद्धिभूमयः ।
सुसंयम[2]परिपाकक्रमोत्तरशुभा मुनेः ॥ ५० ॥

ārūḍhayogasyaitāḥ syurvyutthāne siddhibhūmayaḥ ।
susaṃyamaparipākakramottaraśubhā muneḥ ॥ 50 ॥

Tr. These stages of *siddhis* are experienced by a *muni* in *vyuthāna* period, who has attained *yogārūḍha* stage and when the practice of *saṃyama* is matured. 50.

सद्विवेकख्यात्यवधि स्यादौदासीनता ततः ।
परमं रूपमाप्नोति धर्ममेघाह्वयं शुभम् ॥ ५१ ॥

sadvivekakhyātyavadhi syādaudāsīnatā tataḥ ।
paramaṃ rūpamāpnoti dharmameghāhvayaṃ śubham 51

Tr. Detachment supervenes uptill *vivekakhyāti*. Thereafter follows the absolute state of auspicious *dharmamegha*. 51.

प्रत्ययान्तरमस्यात्र नोपपद्येन्महात्मनः ।
संस्कारबीजक्षयतः क्लेशकर्मनिवृत्तये ॥ ५२ ॥

pratyayāntaramasyātra nopapadyenmahātmanaḥ ।
saṃskārabījakṣayataḥ kleśakarmanivṛttaye ॥ 52 ॥

Tr. Then a *yogī* does not experience any modifications of *pratyaya* (cognition) when seed of *sanskāra* (depository) is annihilated paving way to secession of *kliṣṭa-karma*. 52.

परमात्मप्रकाशाह्वां ततोऽन्त्यामेति भूमिकाम् ।
अगम्यावचसां शान्ता भूमिः संस्कारशेषतः ॥ ५३ ॥

paramātmaprakāśāhvāṃ tato'ntyāmeti bhūmikām ।
agamyāvacasāṃ śāntā bhūmiḥ saṃskāraśeṣataḥ ॥ 53 ॥

---

1. स्यैनाः —b. 2. सुसंम -b.

Tr. The final state called *paramātmprakāśā* arises, the nature of which is inexplicable and ungraspable. This stage is of the nature of *śāntā* (quietude) as the *saṅskāras* (depository) cease to exist. 53.

सा सीमा योगभूमीनां नित्यं तिष्ठन्ति योगिनः ।
नास्य दृश्येन सम्बन्धो व्युत्थानेऽपि हि चिन्मयः[1] ॥
ब्रह्मविष्ण्वीशभवनाद्यनुयाति यथेच्छया ॥ इति ॥ ५४ ॥

sā sīmā yogabhūmīnāṃ nityaṃ tiṣṭhanti yoginaḥ ।
nāsya dṛśyena sambandho vyutthāne'pi hi cinmayaḥ ॥
brahmaviṣṇvīśabhavanādyanuyāti yathecchayā ॥ *iti* ॥54॥

Tr. This is the limit to all the stages of *yoga* wherein the *yogī* dwells forever. Herein the *yogī* becomes *cinmaya* (merged in pure consciousness) and does not get affected by coming in contact with the objects. He attains the abode of *brahmā, viṣṇu* or *īśā* according to his choice. 54.

सर्वा सुसिद्धय इमास्तु भवन्ति दिव्या
दान्तस्य वाऽभ्यसन[2]भूरिजितानिलस्य ॥
शान्तस्पृहस्य दधतो गिरीशे मनः स्वं[3]
व्युत्थान एव वरसिद्धय उद्भवन्ति ॥ ५५ ॥

sarvā susiddhaya imāstu bhavanti divyā
dāntasya vā'bhyasanabhūrijitānilasya ॥
śāntaspṛhasya dadhato girīśe manaḥ svaṃ
vyutthāna eva varasiddhaya udbhavanti ॥ 55 ॥

Tr. All the great *siddhis* turn divine to the one who has attained restraintment through immense practice, controlled *prāṇa*, pacified the desires and concentrated the mind on *giriśa (śiva)*. The higher *siddhis* arise in *vyutthāna* state. 55.

अणिमाद्याः सिद्धयस्तु धारणाभिरुपासिताः ।
पतञ्जलेः सिद्धिपादयोगैर्ज्ञस्योद्भवन्त्यमी[4] ॥ ५६ ॥

aṇimādyāḥ siddhayastu dhāraṇābhirupāsitāḥ ।
patañjaleḥ siddhipādayogairjñasyodbhavantyamī ॥ 56 ॥

Tr. According to the *vibhūtipāda (siddhipāda)* of *patañjali*, the *siddis* like *aṇimā* etc. are attained by a *yogī* through the practice of *dhāraṇā* etc. 56.

1. चिन्मय –b. 2. वाऽभ्यसन –b. 3. स्व –b. 4. स्योद्भवन्त्यमीः —b.

व्युत्थान उपतिष्ठन्ति पक्वसंयमिनः शुभाः ।
स्वपदास्य इव उस्रं[1] मुनेः संस्कारशेषतः ॥ ५७ ॥

vyutthāna upatiṣṭhanti pakvasaṃyaminaḥ śubhāḥ ।
svapādasya iva usraṃ muncḥ saṃskāraśeṣataḥ ॥ 57 ॥

Tr. One who has mastered *saṃyama* realizes these great (*siddhis*) in *vyuthāna* state. Due to residual *saṅskāra* a *yogī* enjoys radiance in this state. 57.

सिद्ध्यादिवासनामुक्तो जीवन्मुक्तो मुनिर्भवेत् ।
मनुतेऽसौ परानन्दसुखाग्रे सिद्धयस्तृणम् ॥ ५८ ॥

siddhyādivāsanāmukto jīvanmukto munirbhavet ।
manute'sau parānandasukhāgre siddhayastṛṇam ॥ 58 ॥

Tr. A *muni* relinquishing attachment towards *siddhis*, attains liberation during life. In the face of the exquisite Bliss, one considers *siddhis* as trash. 58.

सद्ध्यानपाकेन तु धर्ममेघं समाधिमानस्य[2] सुसंविदोजसा ।
मुनेरतिक्रान्तविभावनस्य विदेहभावे क्व तदास्य सिद्धयः ॥५९॥

saddhyānapākena tu dharmamegham
samādhimānasya susaṃvidojasā ॥
muneratikrāntavibhāvanasya
videhabhāve kva tadāsya siddhayaḥ ॥ 59 ॥

Tr. Mastering the state of *dhyāna*, one proceeds for *dharmamegha-samādhi*, which further leads to *susaṃvid* (pure consciousness), *ojas*, and the attitude of bodilessness (*videha-bhāva*). After transcending these states, what is the importance of *siddhis*? 59.

॥ इति सुन्दरदेवविरचितायां हठतत्वकौमुद्यां संयमसिद्धिकालादिविवेचनो नामोद्योतः ॥

॥ iti sundaradevaviracitāyāṃ haṭhatatvakaumudyāṃ saṃ yamasiddhivivecano nāmodyotaḥ ॥

Here ends the chapter describing the time of *saṃ yama-siddhis* in *haṭhatatvakaumudī* composed by *sundaradeva*.

1. स्वयंदास्यइवाऽउस्नुं –b. 2. समाप्तस्य–a.

Chapter—47

अथ धारणादित्रयसिद्धिलक्षणप्रकारसमासः —

atha dhāraṇāditrayasiddhilakṣaṇaprakārasamāsaḥ—

Here follows a brief sketch of the characteristics of the success obtained through the practice of three techniques i.e. *dhāraṇā* etc—

आधारे घटिकाश्च पञ्च धारणाच्चित्तस्य वायोर्दृढं
स्वाधिष्ठानतलेऽनुपञ्चघटिका नाभ्यां तथा धारणात् ॥
पञ्च स्याद्धृदयान्तरे[1]ऽनुघटिका[2] भ्रूमध्य ऊर्ध्वं तथा
पृथ्व्यम्भोदहनाम्बरं जयति[3] चास्यां संयमाभ्यासतः ॥१॥

ādhāre ghaṭikāśca pañca dhāraṇāccittasya vāyordṛḍhaṃ
svādhiṣṭhānatale'nupañcaghaṭikā nābhyāṃ tathā dhāraṇāt ॥
pañca syāddhṛdayāntare'nughaṭikā bhrūmadhya ūrdhvaṃ tathā
pṛthvyambhodahanāmbaraṃ jayati cāsyāṃ saṃyamābhyāsataḥ।

Tr. One should firmly practise *dhāraṇā* of *prāṇa* and mind on the *ādhāra (mūlādhāra)* for five *ghaṭikās*. The same (technique) also should be followed on *svādhiṣṭhāna* and the navel later on. So also (it is practised) at the center of the heart, center of the eyebrows and also above this (the top of the head). Such a practice of *saṃyama* results in controlling earth, water, fire and ether elements. 1.

आरम्भकः सार्धघटीत्रयं स्या३॥न्
नाडी[4]विशुद्धिर्घटिकासपादं१। ॥
प्रत्याहृतिस्तद्द्विगुणा८ऽनुकालः
स्यात्पञ्चविंशत्पलिकः[5] सुकुम्भे[6]२५ ॥ २ ॥

ārambhakaḥ sārdhaghaṭītrayaṃ
syā3//nnāḍīviśuddhirghaṭikāsapādaṃ1/ ॥
pratyāhṛtistaddviguṇā8'nukālaḥ
syātpañcaviṃśatpalikaḥ sukumbhe25 ॥ 2 ॥

Tr. When *kumbhaka* is maintained for 25 *palas*, *ārambha* state happens for three and half *ghaṭikās*, *nāḍīśuddhi* for one and a quarter *ghaṭikās* and *pratyāhāra* for eight *ghaṭikās*. 2.

---

1. स्याद्धदयान्तरे –b. 2. ऽनुघटिकां –b. 3. पृथ्व्यांऽम्भोदहनाऽचरं जयति –b. 4. स्याइन्नाडी –b. 5. विंशत्पलिकः —b. 6. सुकुम्भैः -b.

असौ सूक्ष्मः प्रत्याहारकालोऽर्कनिघ्नः
प्रधानो भूतजये धारणाकालः ॥

asau sūkṣmaḥ pratyāhārakālo'rkanighnaḥ
pradhāno bhūtajaye dhāraṇākālaḥ ॥

Tr. When this *pratyāhāra* is maintained for 12 *ghaṭikās*, it becomes *dhāraṇā* wherein one gains control on the elements.

तथा चोक्तं गोरक्षेण –

tathā coktaṃ gorakṣeṇa—

It has been stated by *gorakṣa*—

या पृथ्वी हरिताल[1]हेमरुचिरा तप्ता[2] लकारान्विता
संयुक्ता कमलासनेन हि चतुष्कोणा[3] हृदि स्थायिनी[4] ॥
प्राणं[5] तत्र विलीय पञ्चघटिकं चित्तान्वितं धारयेद्
एषा स्तम्भकरी सदा क्षितिजयः[6] कुर्याद् भुवो[7] धारणा ॥ ३ ॥

yā pṛthvī haritālahemarucirā taptā lakārānvitā
saṃyuktā kamalāsanena hi catuṣkoṇā hṛdi sthāyinī ॥
prāṇaṃ tatra vilīya pañcaghaṭikaṃ cittānvitaṃ dhārayed
*eṣā stambhakarī sadā kṣitijayaḥ kuryād bhuvo dhāraṇā*3

Tr. The earth element has hot golden colour of orpimant, having '*la*' (as the *bīja), brahmā* as the deity and is square in shape. One should take *prāṇa* at the heart and retain it for five *ghaṭikās*. This is *bhuvodhāraṇā* which brings restraint and by which one conquers earth element. 3.

अर्धेन्दुप्रतिमं[8] च कुन्दधवलं कण्ठे सुतत्वं[9] स्थितं
यत्पीयूषवकार[10]बीजसहितं युक्तं तदा विष्णुना ॥
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकं चित्तान्वितं[11] धारयेद्
एषा तोयजयं सदा विधत्ते श्रीवारुणीधारणा ॥ ४ ॥

ardhendupratimaṃ ca kundadhavalaṃ kaṇṭhe sutatvaṃ sthitaṃ
yatpīyūṣavakārabījasahitaṃ yuktaṃ tadā viṣṇunā ॥
prāṇaṃ tatra vilīya pañcaghaṭikaṃ cittānvitaṃ dhārayed
eṣā toyajayaṃ sadā vidhatte śrīvāruṇīdhāraṇā ॥ 4 ॥

---

1. हरितिताल –b. 2. तत्प –b. 3. चतुःकोण –b. 4. स्थापिनी –b. 5. प्राणां –b. 6. क्षितिजयं –b. 7. भवो –b. 8. अर्धेन्द्वे –b. 9. कन्देषुतत्वं –b. 10. चकार –b. 11. चित्तान्वितान्वितं –b.

Tr. The water element, which is as white as crescent moon and *kunda* flower (jasmine) is located in the throat, having '*va*' as *bīja* and is presided over by *viṣṇu* as the deity. One should take the *prāṇa* along with mind there and hold it for five *ghaṭikās*. This is *vāruṇīdhāraṇā* which controls water element. 4.

यत्तालुस्थितमिन्द्र[1]गोपसदृशं तत्वं त्रिकोणानलं
तेजोरेफयुतं प्रवालरुचिरं रुद्रेण यत्संगतम् ॥
प्राणं[2] तत्र विलीय पञ्चघटिकं चित्तान्वितं धारयेद्
एषा वह्निजयं सदा विदधते वैश्वानरी धारणा ॥ ५ ॥

yattālusthitamindragopasadṛśaṃ tatvaṃ trikoṇānalaṃ
tejorephayutaṃ pravālaruciraṃ rudreṇa yatsaṃgatam ॥
prāṇaṃ tatra vilīya pañcaghaṭikaṃ cittānvitaṃ dhārayed
eṣā vahnijayaṃ sadā vidadhate vaiśvānarī dhāraṇā ॥ 5 ॥

Tr. The fire element located in the palate is as deep red as *indragopa* insect (cochineal), has three shinning corners, '*ra*' as the *bīja* and *rudra* as the deity. One should take the *prāṇa* there along with mind and hold it for five *ghaṭikās*. This is *vaiśvānarī dhāraṇā*, by which one controls fire element. 5.

यद्भिन्नाञ्जनपुञ्जसन्निभमिदं वृत्तं भ्रुवोरन्तरे
तत्वं वायुमयं[3] यकारसहितं तत्रेश्वरो[4] देवता ॥
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकं चित्तान्वितं धारयेद्
एषा खेगमनं करोति यमिनां स्याद् वायवी धारणा ॥६॥

yadbhinnāñjanapuñjasannibhamidaṃ vṛttaṃ bhruvorantare
tatvaṃ vāyumayaṃ yakārasahitaṃ tatreśvaro devatā ॥
prāṇaṃ tatra vilīya pañcaghaṭikaṃ cittānvitaṃ dhārayed
eṣā khegamanaṃ karoti yamināṃ syād vāyavī dhāraṇā ॥ 6 ॥

Tr. The air (element) is situated between the two eyebrows, is bright like a heap of *añjana* (collirium), round in shape, consists of *vāyu* and is associated with the letter '*ya*' (as *bīja*) and *īśvara* as presiding deity. One should bring the *prāṇa* along with mind there and maintain it for five *ghaṭikās*. This *vāyavī dhāraṇā* enables a *yogī* to move in the space. 6.

1. मिह –b. 2. प्राणे –b. 3. यायुमयं –b. 4. तत्रेश्वरी –a.

Note: This description about the shape and the colour differs from text to text. 6.

आकाशं सुविशुद्धवारिसदृशं[1] यद्ब्रह्मरन्ध्रे स्थितं
तन्नादेन सदाशिवेन सहितं तत्वं हकारान्वितम् ॥
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकं चित्तान्वितं धारयेद्
एषा मोक्षकपाटपाटनपटुः प्रोक्ता नभोधारणा ॥ ७ ॥

ākāśaṃ suviśuddhavārisadṛśaṃ yadbrahmarandhre sthitaṃ
tannādena sadāśivena sahitaṃ tatvaṃ hakārānvitam ॥
prāṇaṃ tatra vilīya pañcaghaṭikaṃ cittānvitaṃ dhārayed
eṣā mokṣakapāṭapāṭanapaṭuḥ proktā nabhodhāraṇā ॥ 7 ॥

Tr. The *ākāśa* element, which is as pure as water, is placed in the *brahmarandhra*. It bears that (unheard) *nāda*, having *sadāśiva* as presiding deity and embedded with '*ha*' (as *bīja*). One should take the *prāṇa* there accompanied with mind for five *gaṭikās*. This *nabhodhāraṇā* opens the door of liberation to the *yogīs*. 7.

स्तम्भिनी द्राविणी चैव दहनी भ्रामणी तथा ।
शोषणी च भवेदेषा भूतानां पञ्चधारणा ॥ ८ ॥[2]

stambhinī drāviṇī caiva dahanī bhrāmaṇī tathā ।
śoṣaṇī ca bhavedeṣā bhūtānāṃ pañcadhāraṇā ॥ 8 ॥

Tr. These five *dhāraṇās* on the *bhūtas* are named as *stambhinī* (stability), *drāviṇī* (dilution), *dahanī* (burning), *bhrāmaṇī* (whirling) and *śoṣiṇī* (drying). 8.

मानसीं धारणां भूरि विभ्रन् मनः
सौक्ष्म्यमापद्यते सर्वभूतात्मनि ॥
मनो मानसेऽन्यस्य स्वं[3] सूक्ष्मं विशेत्
तद्वदेवाविशेद्धीश्च[4] सौक्ष्म्याद्धियम्[5] ॥ ९ ॥

mānasīṃ dhāraṇāṃ bhūri vibhran manaḥ
saukṣmyamāpadyate sarvabhūtātmani ॥
mano mānase'nyasya svaṃ sūkṣmaṃ viśet-
tadvadevāviśedhīśca saukṣmyāddhiyam ॥ 9 ॥

---

1. वारित्यदृशं –b. 2. अनुपलब्धश्लोकः —b. 3. मानसेऽत्यस्या –b. 4. विशेद्वीश्च –b. 5. सौक्ष्म्याद्वियं –b.

Tr. An intense practice of *mānasī dhāraṇā* renders the mind very subtle. A subtle mind penetrates the mind of all other creatures. Similarly, due to being very subtle intelligence *(dhī)* would also penetrate another intelligence. 9.

भवेद्वाक्[1]संसिद्धिः सलिलभिदि शक्तेस्तु विविधा
ततो वह्नेर्भेदे भवति परकायान्तरगतिः ॥
मरुद्भेदेऽबन्धाखचरगतिरभ्रस्य[2] विभिदि
तथा दिव्याः सिद्धीः सकलमिति चित्ते सुविजिते ॥१०॥

bhavedvāksaṃsiddhiḥ salilabhidi śaktestu vividhā
tato vahnerbhede bhavati parakāyāntaragatiḥ ॥
marudbhede'bandhākhacaragatirabhrasya vibhidi
tathā divyāḥ siddhīḥ sakalamiti citte suvijite ॥ 10 ॥

Tr. By gaining control on water (element), one gets control on speech and several other powers. Gaining control on fire (element), one gains ability to enter another body. Control over air (element), makes one free to move in the space (levitation). Control on ether (element), gains all the divine *siddhis*. When the mind is controlled, all the above mentioned (powers) can be gained. 10.

अथ प्रागुक्तानां धारणासिद्धिकालभूमीनां विवेकख्यात्यन्तं फलानि ॥

atha prāguktānāṃ dhāraṇāsiddhikālabhūmīnāṃ vivekakhyātyantaṃ phalāni ॥

The results of perfecting *dhāraṇā* and states *(bhūmis)* and their duration as stated earlier would be obtained uptil *vivekakhyāti* state follows.

तदुक्तं कुम्भकपद्धतौ –

taduktaṃ kumbhakapaddhatau —

It is stated in *kuṃbhaka paddhati*—

जितासनायामाहारगूथमूत्राल्पता भवेत् ।
लाघवं स्निग्धता देहे योगिनः स्याच्चिरा दृढा ॥ ११ ॥

1. भवेद्वाकु –b. 2. गतिःऽभुस्य —b.

jitāsanāyāmāhāragūthamūtrālpatā bhavet ।
lāghavaṃ snigdhatā dehe yoginaḥ syāccirā dṛḍhā ॥ 11 ॥

Tr. In the state of *jitāsanā*, the food intake, urine and faeces are reduced and the body of the *yogī* becomes light, smooth and stubborn and one lives long. 11.

ज्योतिष्मतीमनुप्राप्तसप्तज्यानुभावनं च[1] ।
ज्योतिर्भानुभिरादीप्तं व्युत्थाने तमसि स्थितिः ॥ १२ ॥
jotiṣmatīmanuprāptasaptajyānubhāvanaṃ ca ।
jotirbhānubhirādīptaṃ vyutthāne tamasi sthitiḥ ॥ 12 ॥
तेन स्वतेजसा[2] विश्वं प्रकाशयति[3] चेच्छया ।
सुप्तोत्थितोऽन्धकारेऽपि स्वदेहं भानुवत् स्थितम् ॥ १३ ॥
tena svatejasā viśvaṃ prakāśayati ceechayā ।
sptotthito'ndhakāre'pi svadehaṃ bhānuvat sthitam ॥13॥

Tr. In the *jyotiṣmatī* state, one visualizes the seven worlds filled with light and one moves out of darkness to the light in *vyutthāna* state. Then one can light up the entire universe with radiance at will. Being awakened from the sleep, one sees his body like a sun in darkness. 12-13.

पश्यतीत्याह भगवान् विश्वनाथो जगद्गुरुः ।
मात्राप्रकाशगो भूयाः स्वात्मतत्व[4]प्रकाशतः ॥ १४ ॥
paśyatītyāha bhagavān viśvanātho jagadguruḥ ।
mātrāprakāśago bhūyāḥ svātmatatvaprakāśataḥ ॥ 14 ॥

Tr. This is stated by *viṣvanātha* the universal *guru*. One gets enlightenment of one's *ātman* in *mātrāprakāśā* state. 14.

इन्द्रियज्ञान[5]विस्तारे क्षमः कर्त्तुं जगत्यपि ।
गन्धवत्यां दूरगन्ध वेत्ति व्युत्थितचेतसि ॥ १५ ॥
indriyajñānavistāre kṣamaḥ kartuṃ jagatyapi ।
gandhavatyāṃ dūragandha vetti vyutthitacetasi ॥ 15 ॥

Tr. In the *gandhavatī* state one gets the extrasensory perception of smell in the evolved state of the mind. And one is able to expand the capacity of the senses. 15.

---

1. मनुप्रासरसपूज्यानुभावनवं –b. 2. स्वेतेजसा –b. 3. प्रकाशति –a. 4. स्वात्मातत्व –b. 5. इन्द्रियाज्ञान –b.

रसप्रदा दूरसंस्थं रसं बोधयति क्षणात् ।
रूपग्रहणकारिण्यां दूररूपज्ञता[1] भवेत् ॥ १६ ॥

rasapradā dūrasaṃsthaṃ rasaṃ bodhayati kṣaṇāt ।
rūpagrahaṇakāriṇyāṃ dūrarūpajñatā bhavet ॥ 16 ॥

Tr. In the *rasapradā* state one gets extrasensory perception of taste. The state of *rūpagrahaṇa-kāriṇī* brings extrasensory perception of vision by which one is able to perceive the forms located far off. 16.

स्पर्शवत्यां स्पर्शबोधो दूरतः सम्प्रवर्त्तते ।
शब्दसुश्रुतिकायां तु श्रूयन्ते दूरतो गिरः ॥ १७ ॥

sparśavatyāṃ sparśabodho dūrataḥ sampravarttate ।
śabdasuśrutikāyāṃ tu śrūyante dūrato giraḥ ॥ 17 ॥

Tr. In the state of *sparśavatī*, a *yogī* gets extrasensory perception of touch. In *śabdasuśrutikā* one gets the ability to hears the sounds from a remote source. 17.

पञ्चेन्द्रियज्ञानमिदं महत्स्वानुभवात्मकम् ।
विश्ववर्त्तनमेतेन[2] योगी वेत्त्यखिलं सुखात् ॥ १८ ॥

pañcendriyajñānamidaṃ mahatsvānubhavātmakam ।
viśvavarttanametena yogī vettyakhilaṃ sukhāt ॥ 18 ॥

Tr. Thus are narrated the extrasensory perception of all the five senses based on rich personal experience. This helps a *yogī* easily gaining the entire knowledge of the functioning of the universe. 18.

बुद्धिदायां[3] महाबुद्धिर्योगिनः सम्प्रवर्त्तते ।
यया विश्वं ज्ञानविश्वं वितर्क्या भाति यदृतम्[4] ॥ १९ ॥

buddhidāyāṃ mahābuddhiryoginaḥ sampravarttate ।
yayā viśvaṃ jñānaviśvaṃ vitarkyā bhāti yadṛtam ॥ 19 ॥

Tr. In *buddhidā* state, a *yogī* develops a apperception of the Reality by which one gains knowledge of the Universe and the *ṛta* (Truth) reveals. 19.

---

1. रूपज्ञाता –b. 2. मेतन –b. 3. बुद्धिदायाः –a. 4. य इतं –b.

श्रुतिबोधनभूम्यां तु वेदविज्जायते मुनिः ।
आब्रह्मविश्ववेत्तृत्वं व्युत्थाने सम्प्रवर्त्तते ॥ २० ॥

śrutibodhanabhumyāṃ tu vedavijjāyate muniḥ ।
ābrahmaviśvavettṛtvaṃ vyutthāne sampravarttate ॥ 20 ॥

Tr. In the state of *śrutibodhnā*, a *muni* acquires the wisdom of the *vedas*. In the state of *vyutthāna*, one has access to knowledge from material world upto *brahma*. 20.

जठराग्निजयायां[1] तु सहजस्थोऽपि योगिराट् ।
निरोगः क्षुत्पिपासाद्यैर्न बाधामुपगच्छति ॥ २१ ॥

jaṭharāgnijayāyāṃ tu sahajastho'pi yogirāṭ ।
nirogaḥ kṣutpipāsādyairna bādhāmupagacchati ॥ 21 ॥

Tr. In the *jaṭharāgni-jayā* state, a *yogī* remains in his *sahaja* state and is not affected by hunger and thirst and remains free from diseases. 21.

वाक्सिद्धिदायां वाक्सिद्धिः शापानुग्रहणकारिणी ।
चित्रदर्शनभूम्यां तु गुप्तकार्याणि पश्यति ॥
व्युत्थाने तु विचित्राणि तत्र चेतो[2] न विन्यसेत् ॥ २२ ॥

vāksiddhidāyāṃ vāksiddhiḥ śāpānugrahaṇakāriṇī ।
citradarśanabhūmyāṃ tu guptakāryāṇi paśyati ॥
vyutthāne tu vicitrāṇi tatra ceto na vinyaset ॥ 22 ॥

Tr. In the *vāksiddhidā* state, one attains supernatural power of speech, which gives ability to curse or grace. In *citradarśanā* state of *vyutthāna*, one perceives many secret amazing events. One should not get carried away by these. 22.

वेगवत्यां तु मनसो वृत्या सह शरीरकम् ।
जबोदयाद्याति दग्धं तूलवद् योगवह्निना[3] ॥ २३ ॥

vegavatyāṃ tu manasā vṛtyā saha śarīrakam ।
javodayādyāti dagdhaṃ tūlavadyogavahninā ॥ 23 ॥

Tr. In *vegavatī* state, one attains high speed of the mind and body which enables him to move as light as cotton through the effect of *yoga*. 23.

---

1. जयायाः –a. 2. चित्तो –b. 3. जयोदद्यातुमिच्छेदिति शंकरभाषितम–a,b.

स्यान्मनोजवदायिन्या विश्वभूमण्डलक्रमे ।
शक्तिरर्ध[1]निमेषेण भूमितत्वस्य सिद्धितः ॥
खेचर्यां च गतिर्भूयाच्चि[2]न्तनादपि योगिनः ॥ २४ ॥

syanmanojavadāyinyā viśvabhūmaṇḍalakrame ।
śaktirardhanimeṣeṇa bhūmitatvasya siddhitaḥ ॥
khecaryāṃ ca gatirbhūyāccintanādpai yoginaḥ ॥ 24 ॥

Tr. By gaining control over the earth element even for a fraction of moment, one attains supernatural power by which a *yogī* in the state of *manojavadāyinī* can move in the entire universe and in the state of *khecarī* he can move freely. 24.

अणिमाद्यष्टसिद्धीनां स्वनामसदृशं फलम् ।
समाधावुपसर्गाः स्युर्व्युत्थाने सिद्धयस्त्विमाः ॥ २५ ॥

aṇimādyaṣṭasiddhīnāṃ svanāmasadṛśaṃ phalam ।
samādhāvupasargāḥ syurvyutthāne siddhayastvimāḥ ॥25॥

Tr. In the eight stages of *aṇimā* etc. one attains the results according to their names. These are useful in *vyutthāna* state but obstacles in *samādhi* state. 25.

निवर्त्तिकामनुप्राप्तो व्युत्थानैर्नोपहन्यते ।
यावद्विदेहकैवल्यं जीवन्मुक्तोऽयमीरितः ॥ २६ ॥

nivarttikāmanuprāpto vyutthānairnopahanyate ।
yāvadvidehakaivalyaṃ jīvanmukto'yamīritaḥ ॥ 26 ॥

Tr. After having attained the state of *nivarttikā*, one is not (adversely) affected in *vyuthāna* state. When *videha-kaivalya* state is attained, one is called *jīvanmukta*. 26.

विदेहोऽपीक्ष्यते लोकैः सदेह इव चिन्मयः ।
सर्वाण्यस्य शरीराणि नैकमप्यस्य योगिनः ॥ २७ ॥

videho'pīkṣyate lokaiḥ sadeha iva cinmayaḥ ।
sarvāṇyasya śarīrāṇi naikamapyasya yoginaḥ ॥ 27 ॥

Tr. The public opinion considers a *videha* (bodiless) to be in the form though it is merged in consciousness. Since a *yogī* exists in all the bodies, nothing in particular belongs to him. 27.

---

1. शक्तिरर्ध –b. 2. गतिर्भूयच्चि –b.

भूमय्यां भूमिकायां तु श्रमणो वज्रसन्निभम् ।
देहं लभेद् भूमितत्वं सिद्धयत्युक्तं कपर्दिना ॥ २८ ॥

bhūmayyāṃ bhūmikāyāṃ tu śramaṇo vajrasannibham ।
*dehaṃ labhed bhūmitatvaṃ siddhyatyuktaṃkapardinā*28

Tr. In the *bhūmayī* state, the *śramaṇa (yogī)* gets an adamantine body and gets control over earth element. This is stated by *kapardī (śiva)*. 28.

तत्तत्त्वमयं[1] चैव शरीरमपि तन्मयम् ।
भूतस्वनामलिंगासु भूमिष्वित्याह शंकरः ॥ २९ ॥

tattattatvamayaṃ caiva śarīramapi tanmayam ।
bhūtasvanāmaliṅgāsu bhūmiṣvityāha śaṅkaraḥ ॥ 29 ॥

Tr. By controlling a specific *tatva* (element) the body gets influenced by that very name and form of the element. This is stated by *śaṇkara*. 29.

प्रधानजयदायिन्यां प्रख्यादिगुणसाम्यया ।
यत्रास्त्यव्याकृताकाशे तद्वातरशनो[2] जयेत् ॥ ३० ॥

pradhānajayadāyinyāṃ prakhyādiguṇasāmyayā ।
yatrāstyavyākṛtākāśe tdvātaraśano jayet ॥ 30 ॥

करामलकवत् पश्येत् ब्रह्माण्डमिह योगिराट् ।
काय[3]निर्माणमखिलं यथावत्पश्यति ध्रुवम् ॥ ३१ ॥

karāmalakavat paśyet brahmāṇḍamiha yogirāṭ ।
kāyanirmāṇamakhilaṃ yathāvatpaśyati dhruvam ॥ 31 ॥

Tr. In the state of *pradhānajayadāyinī*, a *yogī* gets the apperception of the balance of three *guṇas*, like that of a clear and pure sky. In this state the *yogī* subsists on air. The *yogī* perceives the whole universe like an Embolic Myrobalan at hand and is able to get the clear vision of the evolution of the body. 30-31.

लिंगमात्रेण व्युत्थाने लिंगमात्रे विशेषकान् ।
अविशेषं च पुरुषमलिंगं च विलक्षणे ॥
वेत्ति पश्यदृतं[4] यावदित्युदासीन पूरुषः ॥ इति ॥ ३२ ॥

---

1. तत्र तत्वमय –b. 2. तद्द्वारशन –a,b. 3. काया –b. 4. यश्यदूतं –b.

liṅgamātreṇa vyutthāne liṅgamātre viśeṣakān ।
aviśeṣaṃ ca puruṣamaliṅgaṃ ca vilakṣaṇe ॥
vetti paśyadṛtaṃ yāvadityudāsīna pūruṣaḥ ॥ *iti* ॥ 32 ॥

Tr. In the unique state of *vyutthāna*, an indifferent *yogī* perceives the *ṛta* (Truth) through *liṅga, aliṅga, viśeṣa and aviśeṣa* (*liṅga- prakṛti, buddhi; aliṅga-puruṣa; viśeṣa*-five *mahābhūtas*, five *karmendriyas* and *manas; aviśeṣa*—five *tanmātrās* and *ahaṅkāra*), which leads to further indifference. 32.

क्रान्तसप्तधाराप्रज्ञो जितश्वासाग्निहृत्तनुः ।
साक्षान् मधुमतीहस्य स्युरेताः सिद्धिभूमयः ॥ ३३ ॥

krāntasaptadhārāprajño jitaśvāsāgnihṛttanuḥ ।
sākṣān madhumatīhasya syuretāḥ siddhibhūmayaḥ ॥33॥

Tr. One who has gained control over *prāṇa*, fire, mind and body attains *madhumatī* state while passing through all these seven *siddhibhūmis*. 33.

सांगायामाभ्यासनिष्ठस्य दीर्घं शक्त्युद्बोधा[1]द्धारणाध्यानसिद्धौ[2] ।
उन्मन्याख्यो राजयोगो न पूर्वमस्तात्महे धर्ममेघोऽस्तसिद्धौ[2] ।३४।

saṅgāyāmābhyāsaniṣṭhasya dīrghaṃ
śaktyudbodhāddhāraṇādhyānasiddhau ॥
unmanyākhyo rājayogo na pūrvam-
astātmahe dharmamegho'stasiddhau ॥ 34 ॥

Tr. Devoted practice of *prāṇāyāma* with its components for a long time would arouse *śakti (kuṇḍalinī)* which brings success in *dhāraṇā* and *dhyāna*. The state of *rājayoga* which is also called *unmanī* (state), does not occur before (the state of) *dharmamegha (samādhi)*. 34.

उत्पन्नयोगिनि मरुच्छिखिनोर्जयेन
विण्मूत्रणाऽशनतनुत्वमुखादि यत्तत् ॥
प्रोक्तं घटावधि मुनावजये रसाम्बु-
स्थानस्य वर्ष्मण इदं कृतकं दीर्घम् ॥ ३५ ॥

utpannayogini marucchikhinorjayena
viṇmūtraṇā'śanatanutvamukhādi yattat ॥

1. पप्त्युद्बोधा –b. 2. सिध्यै –b.

proktaṃ ghaṭāvadhi munāvajaye rasāmbu-
sthānasya varṣmaṇa idaṃ kṛtakaṃ dīrgham ।35।

Tr. An *utpannayogī,* who has controlled *prāṇa* and fire, has scanty urination, faeces and food intake, gains control over *svādhiṣṭhāna* in the body uptil the state of *ghaṭa* which may take long time. 35.

घटान्ते वाक्सिद्धिः स्थितिकमलभिद्दीर्घमदृढं[1]
मुनौ नार्या सिद्धिस्त्वपर[2]मिति वै भूतजयजम् ॥
सुलक्ष्मौघं[3] दूरश्रुतिसुरभिरूपग्रहमुखा-
दिकं गौणं[4] देहेऽजित उदकभूवायुजयतः ॥ ३६ ॥

ghaṭānte vāksiddhiḥ sthitikamalabhiddīrghamadṛḍhaṃ
munau nāryā siddhistvaparamiti vai bhūtajayajam ॥
sulakṣmaughaṃ dūraśrutisurabhirūpagrahamukhā-
dikaṃ gauṇaṃ dehe'jita udakabhūvāyujayataḥ ॥ 36 ॥

Tr. At the end of *ghaṭa* (state) one gains control on speech through piercing of *mūlādhāra.* A *yogī* without a firm practice of this does not attain the other higher *siddhis* of gaining control over the *bhūtas.* By gaining control over water, earth, air elements in the body the secondary *siddhis* like clairvoyance, good smell, beautiful form etc. are attained. 36.

अभ्यासिना[5] मधुमतीमवसानभूमौ
साक्षान्मुनेर्विदयतो[6] हृदयेऽन्ति[7]मायाम् ॥
मुक्तेः यदान्तिक[8]मुपागतरूपकस्य
प्रायस्तदा स्युरमरौघकृतोपसर्गाः ॥ ३७ ॥

abhyāsinā madhumatīmavasānabhūmau
sākṣānmunervidadhato hṛdaye'ntimāyām ॥
mukteḥ yadāntikamupāgatarūpakasya
prāyastadā syuramarughakṛtopasargāḥ ॥ 37 ॥

Tr. A *yogī* after going through the *madhumatī* state when comes to the last state, approaches close to liberation, may face the obstacles created by the gods on the path of emancipation. 37.

1. मिद्दीर्यमदृढे –b. 2. स्त्वापर –a. 3. सुलक्ष्यौघं –b. 4. गौण –b. 5. अभ्यासिनो –a. 6. मुनेर्विदतो –b. 7. हृदयोति –b. 8. पदान्तिक –b.

दुःक्लेशबीजाः खलु सिद्धयो या रजस्तमःसत्वपदाः सुयोगिनाम् ।
प्रयान्ति सत्वघ्नसुरेरितास्ता विनिबीजशून्येन[1] प्रेषन्ति चार्वाक् ।३८।

duḥkleśabījāḥ khalu siddhayo yā
rajastamaḥsatvapadāḥ suyogināṃ ॥
prayānti satvaghnasureritāstā
vinibījaśūnyena preṣanti cārvāk ॥ 38 ॥

Tr. The *siddhis* are indeed rooted in suffering which are of the nature of *rajas*, *tamas* and *satva* from which the *yogīs* should remove even *satva* thus making them free even of the potentiality. 38.

यदा विशोकाभिधया सुसिद्ध्या प्रक्षीणदुःक्लेशगणे वशी मुनिः ।
तदा स सर्वज्ञमुपैति दग्ध्वा[2] स्वोत्पत्तिहेतूंश्च गुणानुपैति शम् ३९

yadā viśokābhidhayā susiddhyā
prakṣīṇaduḥkleśagaṇe vaśī muniḥ ॥
tadā sa sarvajñamupaiti dagdhvā
svotpattihetūṅśca guṇānupaiti śam ॥ 39 ॥

Tr. When a *muni* attains the great supernatural power named *viśokā* attenuates the host of severe *kleśas* (sufferings), then he becomes omniscient by burning the *guṇas* which are the very cause of his own rebirth and attains the state of equilibrium (*prakṛti*). 39.

तूष्णीं[3] श्रीब्रह्मरन्ध्रे न्यगुपरि भुजगी प्राणयातानुयातैर्
आस्वाधिष्ठानमूर्ध्वं दशशतकमलान्तं सदा चक्रभेदैः ॥
यावत्कालार्थदेशावधि कलनतयैकत्र लक्ष्येऽच्युतं नो
किञ्चिदूर्ध्वा[4] सर्वं तां[5] ध्रियत इति मनो धीरमन्यन्न[6] सिद्ध्यै ४०

tūṣṇīṃ śrībrahmarandhre nyugupari bhujagī prāṇayātānuyātair
āsvādhiṣṭhānamūrdhvaṃ daśaśatakamalāntaṃ sadā cakrabhedaiḥ
yāvatkālārthadeśāvadhi kalanatayaikatra lakṣye'cyutaṃ no
kiñcidūrdhvā sarvaṃ tāṃ dhriyata iti mano dhīramanyanna siddyai ॥ 40 ॥

Tr. *bhujagī* resides silent above *brahmarandhra* due to movements of *prāṇa* till the *cakras* from *svādhiṣṭhāna* to *sahasrāra*

---

1. सुरेरितास्तानि निवीजशून्येन –b. 2. दध्वा –b. 3. तूष्णी –a. 4. किञ्चिदुध्वा –b. 5. सर्वतं –b. 6. मन्यत्र –b.

are pierced. It remains there till the time one attains absolute concentration in regard to time, object and place. One should hold her *(kuṇḍalinī)* a little above *brahmarandhra*. Then there remains nothing for attainment. 40.

साक्षात्कारावधि[1] जितरूपवस्तुषु संयमात् ।
युनक्ति शक्तिस्तादात्म्यै[2] तद्वह्न्यात्ततनोरसुम्[3] ॥ ४१ ॥

sākṣātkārāvadhi jitarūpavastuṣu saṃyamāt ।
yunakti śaktistādātmyai tadvahnyāttatanorasum ॥ 41 ॥

Tr. By practising *saṃyama* on the forms and objects which are gained control over till the state of self-realization, the *śakti (kuyṇḍalinī)* should be conjoined with fire and *prāṇa* for its arousal. 41.

स्वतः साक्षात्कारादवगतिसुसिद्ध्यात्मकमुनेर्
अभिन्ने हेतुत्वे भुवसकलसिद्धिव्रजभुवाम् ॥
अहो सिद्धौ[4] स्वापानुभव इह वै संयमकृतौ
तृव्रित्सिद्धिव्रातो[5] भवति पुरतः श्रावणमुखः ॥ ४२ ॥

svataḥ sākṣātkārādavagatisusiddhyātmakamuner
abhinne hetutve bhuvasakalasiddhivrajabhuvām ॥
aho siddhau svāpānubhava iha vai saṃyamakṛtau
tṛvritsiddhivrāto bhavati purataḥ śrāvaṇamukhaḥ ॥ 42 ॥

Tr. A *muni* gets self-realization which leads to *siddhis*, which unifies him with the cause of all *siddhis* on the earth. The *siddhis* which are like dreams are also realized while one practises *saṃyama*. The *siddhis* come to him at hand. 42.

भूता एवात्मनि विष्णौ तन्मात्रं धारयन् मनो विजितम् ।
मुनिरणिमानं लभते तन्मात्रोपासका विशदः ॥ ४३ ॥

bhūtā evātmani viṣṇau tanmātraṃ dhārayan mano vijitam
muniraṇimānaṃ labhate tanmātropāsakā viśadaḥ ॥ 43 ॥

Tr. A *muni* retains the *bhūtas* (elements) in the Self and the *tanmātrās* in *viṣṇu*. Thus he gains control on mind. A *yogī* who is *viśada* (pure) attains the *aṇimās* (supernatural powers)

---

1. साक्षात्करावधि –b. 2. स्तादात्मये –b. 3. तद्वन्यात्तनोरऽसुं –a. 4. सिध्यै –b.
5. नृविरित्सिद्धिव्रातो –b.

by meditating on the *tanmātrās*. 43.

यद्यत्पदार्थजातं तन्मात्रव्यापिनं हरिं ध्यायन् ।
तत्तादात्म्येन[1] स तथा भूयाद्योगी लभेच्छक्त्या ॥ ४४ ॥

yadyatpadārthajātaṃ tanmātravyāpinaṃ hariṃ dhyāyan
tattādātmyena sa tathā bhūyādyogī labhecchaktyā ॥ 44 ॥

Tr. All matter is pervaded by *tanmātrās* which is further pervaded by *hari* on whom a *yogī* should meditate with complete absorption in Him so that he too becomes *hari*. A *yogī* attains this state through *śakti*. 44.

योगी बुभूषत्य[2]जवीर्यमाश्रितो रूपं हि यद्यत् परिगृह्य वै यदा ।
तत्तद् भजेन्[3] मानसरूपमश्व[4]गजादितत्स्थं सममेकमीश्वरम् ।४५।

yogī vubhūṣatyajavīryamāśrito
rūpaṃ hi yadyat parigṛhya vai yadā ॥
tattad bhajen mānasarūpamaśva-
gajāditatsthaṃ samamekamīśvaram ॥ 45 ॥

Tr. A *yogī* due to his (supernatural) power can adopt any form mentally, like that of horse or elephant, in whom he perceives one God. 45.

यद्देशबन्धात्मकधारणात्तं तदात्मता[5]दात्म्यलयेऽणु[6] तद्विशेत् ।
हृद्भृंगिकाकीटवदाशु शक्त्या जिताणुवातं तनुदाहवह्निना ॥४६॥

yaddeśabandhātmakadhāraṇāttaṃ
tadātmatādātmyalaye'ṇu tadviśet ॥
hṛdbhṛṅgikākīṭavadāśu śaktyā
jitāṇuvātaṃ tanudāhavahninā ॥ 46 ॥

Tr. On whatever object (*deśa*) a *yogī* practises *dhāraṇā*, he becoming subtle merges in it by controlling *prāṇa*, the bodily fire and by awakening *śakti (kuṇḍalinī)* like an insect assuming the form of a bee in the heart. 46.

सूक्ष्मवज्रकणिकाय[7] विवेधेऽलं यथैवमणिमादिविभेदे ।
तत्र योग इति सत्त्रय[8]मोजो भूरिसंयमयुजो वशिनो हि ॥ ४७ ॥

sūkṣmavajrakaṇikāya vivedhe-
'laṃ yathaivamaṇimādivibhede ॥

---

1. तत्तदाम्यन –b. 2. वुभूषयत्य –b. 3. इजेन् –b. 4. रूपश्च –b. 5. अनुपलब्धपाठः –b. 6. लयेऽण –b. 7. कणिकाप –b. 8. सत्रय –b.

tatra yoga iti sattrayamojo
bhūrisaṃyamayujo vaśino hi ॥ 47 ॥

Tr. Just as a small piece of diamond can cut through a jewel, similarly, a *yogī* through abundant practice of the three *saṃyamas (dhāraṇā, dhyāna* and *samādhi*) gains success in *yoga* by transcending *aṇimās.* 47.

निष्पन्नः संयमान्ते परमसुखपदे स्वस्वरूपे समाधौ
उन्मन्याख्ये[1] व्रजति सुमनसा साभिभूमिं सुषष्टगाः[2] ॥
तत्सन्धौ धारणायां स्थितवति मधुमत्यां मुनावत्र साक्षाद्
देवाः सत्वैक्षकास्तं[3] चाटुभिरुपसमायान्ति[4] योगोपसर्गाः ॥ ४८ ॥

niṣpannaḥ saṃyamānte paramasukhapade svasvarūpe samādhau
unmanyākhye vrajati sumanasā sābhibhūmiṃ susaṣṭagāḥ ॥
tatsandhau dhāraṇāyāṃ sthitavati madhumatyāṃ munāvatra sākṣād
devāḥ satvaikśakāstaṃ cāṭubhirupasamāyānti yogopasargāḥ ॥48॥

Tr. At the end of *saṃyama* an accomplished *yogī* attains the state of *samādhi* named *unmanī* which is the sixth state which reveals the true nature of the Self and which offers Absolute Bliss. A *yogī* remains in the *madhumatī* state by practising *dhāraṇā* therein and the deities appear before him to cajole which poses to be an obstacle to a *yogī.* 48.

तथा चोक्तं योगामृते –

tathā coktaṃ yogāmṛte—

It has been said in *yogāmṛta*—

देवाह्वयनपात्रं न प्रथमोऽस्य द्वितीयकः ।
पात्रं तुर्यतृतीयौ तु देवान्[5] गणयतो[6] न हि ॥ ४९ ॥

devāhvayanapātraṃ na prathamo'sya dvitīyakaḥ ।
pātraṃ turyatṛtīyau tu devān gaṇayato na hi ॥ 49 ॥

Tr. In the first and second stages one does not qualify to perceive the gods. In the third and fourth stages (even being qualified) one does not value the gods much. 49.

---

1. वन्मन्याखे –b. 2. सुषष्टयः —a. 3. सर्त्वेक्ष्यकास्तं –b. 4. चाटुभिरुव समायान्ति –b. 5. देवा न –b. 6. गणयन्तो –b.

देहेन्द्रियादिपरिणाममयो ह्यपूर्व-
जात्यन्तरेण परिणाममुपैत्यपूर्वम्[1] ॥
भूतेन्द्रियप्रकृतिभिः[2] ह्युपवृंहणेन
पूर्वैः स्वकैरवयवैश्च सह क्षणेन ॥ ५० ॥

dehendriyādipariṇāmamayo hyapūrva-
jātyantareṇa pariṇāmamupaityapūrvam ॥
bhūtendriyaprakṛtibhiḥ hyupavṛṁhaṇena
pūrvaiḥ svakairavayavaiśca saha kṣaṇena ॥ 50 ॥

Tr. The body and the senses are subjected to transformation to a future form (life). One can quickly transform by nourishing the *bhūtas* (elements), *indriyas* (senses) and *prakṛti* along with the previous constituents. 50.

सर्वा एव हि सिद्धयोऽणिममुखाः संकल्पमात्रात्
प्रकृत्यापूराच्च तथा प्रकृत्यपचयाद्योगप्रभावात् ॥
सतोयानदाम्बुनिधेः प्रकृत्यपचयः क्षिप्रं मुनेरिच्छया
विष्णोः स्यान्नृहरित्रिविक्रमवराहादौ तदा पूरणम् ॥५१॥

sarvā eva hi siddhayo'ṇimamukhāḥ saṅkalpamātrāt
prakṛtyāpūrācca tathā prakṛtyapacayādyogaprabhāvāt ॥
satoyānadāmbunidheḥ prakṛtyapacayaḥ kṣipraṃ munericchayā
viṣṇoḥ syānnṛharitrivikramavarāhādau tadā pūraṇaṃ ॥ 51 ॥

Tr. All the *siddhis* such as *aṇimā* and the like are realized just by overflow of material from *prakṛti* by mere will of the *yogī*. By will he can also quickly increase or decrease just as a river flowing into the ocean. He can also take the form of *viṣṇu, hari, trivikrama (vāmana)* or *varāha* (sow). 51.

नन्दीश्वरं च नहुषं समुदाहरन्ति
धर्माद्ययोरिह परस्परबाधनेन ॥
देवात्मना परिणतौ प्रकृतिप्रवृत्तौ
सार्यात्मना च त्यगिनीश्वरकुम्भजेष्ठ्या[3] ॥ ५२ ॥

nandīśvaraṃ ca nahuṣaṃ samudāharanti
dharmādyayoriha parasparabādhanena ॥

1. परिणाममपाह्यपूर्व —b. 2. भूतेन्द्रियकृतिभिः —b. 3. सगिनीश्वरकुम्भजेष्टग् b.

devātmanā pariṇatau prakṛtipravṛttau
sāryātmanā ca tyaginīśvarakumbhajyeṣṭhyā ॥52॥

Tr. Upgradation of *nandīśvara* to godhood and degradation of *nahuṣa* from and elevated stature is cited in contrast to one another. Such an upheaval occurs due to interplay of *prakṛti* (base nature) and *pravṛtti* (inclination) for upward or downward movements. 52.

नानाकायेषु योगी युगपदपि हि भोगेच्छया निर्मिमीते
चित्तान्यस्मित्व[1]मात्रादपि बहुमनसा चित्तमेकं प्रयोक्तृ ॥
तत्तद्भिन्नप्रवृत्तौ बहुषु मनुतपोध्यानजन्मौषधोत्थेषु
एकैकं रागरोषाशयमुखरहितं योगजं चित्तमेव ॥ ५३ ॥

nānākāyeṣu yogī yugapadapi hi bhogecchayā nirmimīte
cittānyasmitvamātrādapi bahumanasā cittamekaṃ prayoktṛ ॥
tattadbhinnapravṛttau bahuṣu manutapodhyānajanmauṣadhotthesu
ekaikaṃ rāgaroṣāśayamukharahitaṃ yogajacittameva ॥ 53 ॥

Tr. A *yogī* with an intention to enjoy, simultaneously creates many minds in many bodies just out of *asmitā* (I-ness) alone which are different from the original mind. The created *cittas* (minds) are having varied inclinations and are of five types depending on *mantra* (incantation), *tapas* (penance), *dhyāna* (meditation), *janma* (birth) and *auṣadha* (medicine). Each *citta* being produced through *yoga* is free from attachment, anger and aversion. 53.

संकल्पतो योगसमुत्थधर्मा-
दिकं निमित्तं प्रकृतीरणं न हि ॥
अत्रापि पाकात् स्वत एव तस्या-
णिमादि जात्यन्तर[2]पाकतो भवेत् ॥ ५४ ॥

saṅkalpato yogasamutthadharmā-
dikaṃ nimittaṃ prakṛtīraṇaṃ na hi ॥
atrāpi pākāt svata eva tasyā-
ṇimādi jātyantarapākato bhavet ॥ 54 ॥

Tr. Good and bad deeds are not the direct causes in the transformations of nature *(prakṛti)*. Maturity of the virtues bring

---
1. चित्तान्यःस्मित्व –b. 2. जन्यन्तर –b.

about the powers like *aṇimā* etc. on their own. 54.

मनुष्यादिदेहेषु जात्यन्तरात्मा
परीपाक एषोऽस्ति धर्मान्मुनेस्तु[1] ॥
भवेत् साधुसत्वादिवैशिष्ट्या[2] रूपा-
मराद्यंगकारम्भ[3]योग्याभिपूर्त्या ॥ ५५ ॥

manuṣyādidcheṣu jātyantarātmā
parīpāka eṣo'sti dharmānmunestu ॥
bhavet sādhusatvādivaiśiṣṭyā rūpā-
marādyaṅgakārambhayogyābhipūrttyā ॥ 55 ॥

Tr. Maturity of the virtues transmigrates one in the human body. Due to enhancement of *satva*, one becomes a *sādhu* (saint) and then may be elevated to the position of gods. 55.

भिन्न[4]तारम्भसंयोगत इह प्रकृतीनां शरीरादि काय-
व्यूहादीनां च पूर्त्याप्यपसरणतया लक्ष्यतेऽथो प्रकृत्या ॥
पाकाज्जात्यन्तराणां यमवति सकलाः[5] सिद्धयः स्युस्तदायं[6]
तत्तद्देहं प्रतिस्वं प्रतिनियतं[7] हृदो निर्मिमीते स्वचित्तात् ॥ ५६ ॥

bhinnatārambhasaṃyogata iha prakṛtīnāṃ śarīrādi kāya-
vhyūhādīnāṃ ca pūrttyāpyapasaraṇatayā lakṣyate'tho prakṛtyā ।
pākājjātyantarāṇāṃ yamavati sakalāḥ siddhayaḥ syustadāyam
tattaddehaṃ pratisvaṃ pratiniyatam hṛdo nirmimīte svacittāt ।56।

---

1. घर्मात्मनेस्तु –a. 2. वैशिष्टवारूपा –b. 3. मराद्यंऽगकारम्भ –b. 4. भिन्ने –a.
5. न स्वं स्वं दृयथाशक्त्याऽभ्यासं प्रतिदिवसमेवं विदधतः
सुषुम्णान्तश्चायं प्रसरति शनैर्देहपवनः
तदा नादो नैजो भवति सहजानन्दजननः
क्रमाद् वीणावादिप्रहतमृदुवीणारवसमः
आदौ मत्ताःलिमाला गलपथविगलतारकं कारहा
लीनादोऽसौ वांशिकाऽस्यानिलभरितलसद्वंशनिःस्वानतुल्यः
घंटानादानुकारी तदनुजलनिधिध्वानधीरोगभीरो
घर्जत्यर्जन्यघोषः पर इह कुहरे वर्त्तते ब्रह्मनाड्याः
विजीतो भवतीह तेन वायुः सहजो यस्य संमुत्थितः प्राणादः
अनमादिगुणा भवन्ति तस्यामितपुण्यस्य महागुणस्पदस्य
सुरराजतनूभवारिवक्रे विनिरुध्य स्वकरांगुलद्वयेन जलधेरिव धीरनादमन्तः प्रसरन्तं ॥ –b.
6. सुसिद्धयःस्युःतदाऽद्यं –b. 7. प्रतिनियत –b.

Tr. Due to variation in the content of *ārambha* state the formation of the body and their nature being inflated and depleted can be observed through *prakṛti*. All the *siddhis* occur in a *yogī* due to maturity in the process of transmigration. Then alone a *yogī* creates many bodies and minds out of his *citta* (mind). 56.

अहंकारमात्राद् बहून्येव योगी स्वसंकल्पतः संविधत्ते मनांसि ।
शरीराणि तैर्भूरि निर्माति सांगस्वयं त्वेकनिर्मातृचित्तः प्रवृत्तेः ५७

ahaṅkāramātrād bahūnyeva yogī
svasaṅkalpataḥ saṃvidhatte manāṅsi ॥
śarīrāṇi tairbhūri nirmāti sāṅga-
svayaṃ tvekanirmātṛcittaḥ pravṛtteḥ ॥ 57 ॥

Tr. A *yogī* produces many minds (*manas*) through mental construction just out of I-ness (ego). So also many bodies are created inclusive of their constituents from one original *citta*. 57.

तद्यथा –

tadyathā

This is as follows—

प्राप्नोति कैश्चिद्विषयानुदारानुग्रं तपः संविदधाति[1] कैश्चित् ।
करोति वर्ष्माणि च योगिराजो भ्राजिष्णुतेजा विकरोति च स्वम्५८

prāpnoti kaiścidviṣayānudārān-
ugraṃ tapaḥ saṃvidadhāti kaiścit ॥
karoti varṣmāṇi ca yogirājo
bhrājiṣṇutejā vikaroti ca svaṃ ॥ 58 ॥

Tr. Some turn towards the mundane world while others undertake severe penance. A *yogī* full of radiance, creates other identical bodies from his own self. 58.

प्रवृत्तेर्निवृत्तेः पृथक् कल्पितं तद्विभागक्रियामज्जितप्राणनाम्ना[2] ।
देहं च[3] निर्माणचित्तव्रजानां मुनीन्द्रस्य निर्माणचित्तं[4] स्वतन्त्रम्५९

pravṛtternivṛtteḥ pṛthak kalpitaṃ tad-
vibhāgakriyāmajjitaprāṇanāmnā ॥

---

1. संविदध्याति –a. 2. प्राणनाम्नाय –a. 3. पदं हतं –b. 4. मुनीन्द्रस्यनिर्माणचित्तव्रजानां – अधिकपाठः –b.

deham ca nirmāṇacittavrajānām
munīndrasya nirmāṇacittaṃ svatantram ॥ 59 ॥

Tr. On sublimation of inclinations separate *kriyā* (function) and *prāṇa* etc. are differently created. The created body and mind are different from the original *citta* (mind) of a *muni*. 59.

कादाचित्कन्त्वेकमेव न निराक्रियते मुनेः ।
स्वतन्त्रेच्छस्य विविधदेहाधिष्ठानमात्मनः ॥ ६० ॥

kādācitkantvekameva na nirākriyate muneḥ ।
svatantrecchasya vividhadehādhiṣṭhānamātmanaḥ ॥ 60 ॥

Tr. A *muni*, who is free, never severes (the relationship) with the different bodies that he creates out of his self. 60.

प्रकृत्यापूरणाज्जीवः स्वस्वौपाधिकयोगतः ।
गजाश्वादीनि निर्माय भुङ्क्ते ह्यैश्वर्य[1]सम्पदः ॥ ६१ ॥

prakṛtyāpūraṇājjīvaḥ svasvaupādhikayogataḥ ।
gajāśvādīni nirmāya bhuṅkte hyaiśvaryasampadaḥ ॥61॥

Tr. A *jīva* (an embodied soul) through transformation according to one's qualities creates and enjoys elephants, horses etc. 61.

क्लेशादिहीनममलं मुनिनायकस्य[2]
दुष्कर्मदुर्व्यसन[3]वासनया विहीनम् ॥
चेतः सदाऽन्यहृदयेभ्य उदात्तभावं[4]
डित्थादिशब्दवदपास्त[5]फलाभिसन्धि ॥ ६२ ॥

kleśādihīnamamalaṃ munināyakasya
duṣkarmadurvyasanavāsanayā vihīnam ॥
cetaḥ sadā'nyahṛdayebhya udāttabhāvaṃ
ḍitthādiśabdavadapāstaphalābhisandhi ॥ 62 ॥

Tr. A great *muni* who is pure having been free from *kleśa* (sufferings) etc., and also a *citta* free from vicious *karmas*, bad inclinations and desires would always be attached to others hearts expressing noble attitudes, not expecting any returns as

---

1. स्वैश्वर्य –b. 2. मुनिनायकस्पदः –b. 3. दर्व्यसन –b. 4. उत्तामावं –b. 5. वदऽपास्त –b.

one may utter (the meaningless words like) *dittha* etc. 62.

इति समाधिसिद्धयः[1] उक्ताः ॥

iti samādhisiddhayaḥ uktāḥ ॥

Here ends the narration of success in *samādhi*.

एवमेव जन्मादिसिद्धयो मन्तव्या इति दिक् ॥

evameva janmādisiddhayo mantavyā iti dik ॥

In the same manner, the (supernatural powers) related to *janma* (birth) etc. are also to be understood.

संयमसिद्धिविवेचनाविस्तरः पातञ्जलभाष्ये द्रष्टव्यः । विस्तरभयादत्र न प्रपञ्चितम्[2] इति[3] ॥

saṃyamasiddhivivecanavistaraḥ pātañjalabhāṣye draṣṭavyaḥ । vistarabhayādatra na prapañcitam iti ॥

For the details in regard to success in *saṃyama* one may consult the *pātañjala-(sūtra-) bhāṣya* (commentary on *pātañjala-yoga-sūtra).* This has not been accounted here to avoid an elaboration.

॥ इति सुन्दरदेवविरचितायां हठतत्वकौमुद्यां संयमसिद्धिविवेचनोद्योतः[4] ॥

॥ iti sundaradevaviracitāyāṃ haṭhatatvakaumudyāṃ saṃyamasiddhivivecanodyotaḥ ॥

Here ends the chapter narrating the success in *saṃyama* in *haṭhatatvakaumudī* composed by *sundaradeva*.

1. समाधिद्वय -b. 2. प्रपञ्चित -b. 3. अनुपलब्धपाठः —b. 4. हठतत्वकौमुद्यो संयमसिद्धिविवेचद्योतः —b.

Chapter—48

[1]अथ धारणासिद्धयः —

atha dhāraṇāsiddhayaḥ—

Here follows the narration of *dhāraṇā-siddhi*—

भूततन्मात्रकधारणाभूमुखा मूर्ध्नि सन्धारयेद्यो वशी स्वल्पभुक् ।
तन्मयस्तद्गुणान् सूक्ष्मकान् हन्त्ययं तत्रैति भूते लयं वश्यखः ।१।

bhūtatanmātrakadhāraṇābhūmukhā
mūrdhni sandhārayedyo vaśī svalpabhuk ॥
tanmayastadguṇān sūkṣmakān hantyayaṃ
tatraiti bhūte layaṃ vaśyakhaḥ ॥ 1 ॥

Tr. A *yogī* who resorts to moderate diet practises *dhāraṇā* of *bhūta* and *tanmātrās* like *bhū* etc. on the head, controls the senses and gets absorbed in the subtle attributes (of the *bhūtas*), becomes united with them. 1.

वश्यखः जितेन्द्रिय इति ॥

vaśyakhaḥ jitendriya iti ॥

vaśyakha means one who has controlled the senses.

विशते मनसाखिलभूतमनो मुनिराट् तु यदा हृदि धारणया ।
अणुतामनुयाति तदास्य मनोलयमेति सुरादिकसंगमृते ॥ २ ॥

viśate manasākhilabhūtamano
munirāṭ tu yadā hṛdi dhāraṇayā ॥
aṇutāmanuyāti tadāsya mano-
layameti surādikasaṅgamṛte ॥ 2 ॥

Tr. A *yogī* merges in the entire range of *bhūtas* by mentally practising *dhāraṇā* in the heart. Then he becomes subtle and attains the state of absorption (*laya*) but remains without the company of gods. 2.

इति जन्तुमात्रमतिः सूक्ष्मधारणां प्रविहाय तद्गुणमनुत्वमवाप्य ।
सुमतेः स यत्र कुरुते मतिरागं समवाप्य सक्तिमथ तत्र नश्यति।३।

iti jantumātramatiḥ sūkṣmadhāraṇāṃ
pravihāya tadguṇamanutvamavāpya ॥

---

1. Chapter 48 धारणानिरूपण to chapter 54 -*śloka* 48 (verses) are not available in 'b'.

summateḥ sa yatra kurute matirāgaṃ
samavāpya saktimatha tatra naśyati ॥ 3 ॥

Tr. Thus a *yogī* who reduces the mind to the level of lower creature, attains the subtle qualities and leaves even the subtle *dhāraṇā* behind. With clear conscience one applies the mind in an object and it gets absorbed. Thus one removes attachment towards it. 3.

सक्तिनि सूक्ष्मापि मिथो विदित्वा जहात्यतो यः सपदं स्वमेति ।
एतानि सूक्ष्माणि तु सप्त नित्यं भवप्रबन्धाय हि चेतनानाम् ॥४॥

saktitini sūkṣmāpi mitho viditvā
jahātyato yaḥ sapadaṃ svameti ॥
etāni sūkṣmāṇi tu sapta nityaṃ
bhavaprabandhāya hi cetanānām ॥ 4 ॥

Tr. One learns even the subtle attachment and relinquishes it. Thereafter, he returns to his own Self. For the human beings these seven form the subtle causes of mundane attachment. 4.

भूतादिगन्धादिगुणेष्वरागोऽत्राविर्भवेद्यस्य स मुक्त एव ।
जगत् समस्तं परिसक्तमेतद् गन्धादिषु ब्रह्मनरामरघम् ॥ ५ ॥

bhūtādigandhādiguṇeṣvarāgo'-
trāvirbhavedyasya sa mukta eva ॥
jagat samastaṃ parisaktametad
gandhādiṣu brahmanarāmaragham ॥ 5 ॥

Tr. The entire universe including *brahma*, human being and gods – is attached towards the qualities of *gandha* (smell) etc. One is free (liberated) who has developed detachment towards the *bhūtas* and their attributes like *gandha* (smell) etc. 5.

इमाः सप्तयो धारणाः संविहाय यदिच्छत्यसौ तत्र तत्रैव भूते ।
विधानेन योगी लयं याति देहे तदा देवमर्त्यादिकानां न संगः ।६।

imāḥ saptayo dhāraṇāḥ saṃvihāya
yadicchatyasau tatra tatraiva bhūte ॥
vidhānena yogī layaṃ yāti dehe
tadā devamartyādikānāṃ na saṅgaḥ ॥ 6 ॥

Tr. A *yogī* has to transcend these seven *dhāraṇās* and

may get merged in the *bhūtas* as he may wish to follow the proper process. In such a state, remaining in the body, he can not be attained even by the gods or the human beings. 6.

इति सप्तधारणाः ॥

iti saptadhāraṇā ॥

Here end the seven *dhāraṇās*.

मनःप्रवृत्तं ससमीरणोऽयं युनक्ति सिद्धिच्छिववह्निमित्रम् ।
सत्वोत्कटं शुद्धमणुश्च शक्त्या मुनेस्तु तन्मात्रकलिंगवाहि ॥ ७ ॥

manaḥpravṛttaṃ sasamīraṇo'yaṃ
yunakti siddhicchvivahnimitram ॥
satvotkaṭaṃ śuddhamaṇuśca śaktyā
munestu tanmātrakaliṅgavāhi ॥ 7 ॥

Tr. One applies mind, *prāṇa* and fire for success. When *satva* becomes heightened, pure and subtle due to *śakti*, one remains in *tanmātrās* in the form of *liṅga*. 7.

यमादिसम्यग्गुणमण्डितस्य मुनेः स्थितिः स्वात्मनि मानसस्य ।
या धारणा सा कथिता मुनीन्द्रैः सा पाञ्चभूतैरिह पञ्चधेति ।८।

yamādisamyagguṇamaṇḍitasya
muneḥ sthitiḥ svātmani mānasasya ॥
yā dhāraṇā sā kathitā munīndraiḥ
sā pāñcabhūtairiha pañcadheti ॥ 8 ॥

Tr. The mind of a *muni*, who is adorned with the qualities like *yama* etc., remains focused on the Self. This is the five types of *dhāraṇās* due to five *bhūtas* as narrated by the great *munis*. 8.

यथा –

yathā –

Which is as follows—

आपादात् स्याज्जानुपर्यन्तमुर्व्या आजानोर्वै पायुपर्यन्तमस्त्यापः ।
आपायोर्हृद्देशपर्यन्तमग्नेरेवं वायोर्भ्रन्तमूर्ध्वं ततः खम् ॥ ९ ॥

āpādāt syājjānuparyantamurvyā
ājānorvai pāyuparyantamastyāpaḥ ॥
āpāyorhṛddeśaparyantamagner
evaṃ vāyorbhrvantamūrdhvaṃ tataḥ kham ॥ 9 ॥

Tr. From feet upto the knees is the abode of *pṛthvī* (earth element), from knees to the anus is the location of water (element), from anus upto the heart is the place dominated by the fire (element). In the same manner, (from heart) upto the eyebrows is the location of air (element) and above this is the location of *kha* (ether element). 9.

आधारणोक्ता दश१० प्रदिष्टा शुभधारणा ज्ञैः ॥ १० ॥

ādhāraṇoktā daśa10 pradiṣṭā śubhadhāraṇā jñaiḥ ॥ 10 ॥

Tr. According to the experts, there are ten auspicious *dhāraṇās*. 10.

गुरूपदेशाद्यदि चित्तमेकस्मिन् स्थानके रुद्धत इरणेन ।
यत्रोक्तकालावधि धारणा साभिधीयतेऽभीप्सितसिद्धिहेतुः११

gurūpadeśādyadi cittamekasmin sthānake ruddhata iraṇena
yatroktakālāvadhi dhāraṇā
sābhidhīyate'bhīpsitasiddhihetuḥ ॥ 11 ॥

Tr. Being guided by the *guru*, one should focus the mind along with *prāṇa* on one object for the prescribed length of time. This is called *dhāraṇā* which gives desired results. 11.

तद्यथा सिद्धान्तशेखरे –

tadyathā siddhāntaśekhare –

It has been stated in *siddhāntaśekhara*—

धारणा कथ्यतेऽथातो योगांगं षष्टमुच्यते ।
घटिकापञ्चकान्तं वा मनो वायोश्च धारणा ॥ १२ ॥

dhāraṇā kathyate'thāto yogāṅgaṃ ṣaṣṭamucyate ।
ghaṭikāpañcakāntaṃ vā mano vāyośca dhāraṇā ॥ 12 ॥

Tr. *dhāraṇā* which is the sixth component of *yoga* is being narrated in which mind and *prāṇa* are held for five *ghaṭikās*. 12.

जान्वन्तं बाह्यगुल्फान्तं भूस्थानं चरणादितः ।
इडया वायुमापूर्य भूमिस्थानं निरुध्यतम् ॥
संस्मरेन् मनसा तत्र भूमिं च चतुरस्रकम् ॥१३ ॥

jānvantaṃ bāhyagulphāntaṃ bhūsthānaṃ caraṇāditaḥ ।
iḍayā vāyumāpūrya bhūmisthānaṃ nirudhyatam ॥

saṃsmaren manasā tatra bhūmiṃ ca caturasrakam || 13 ||

Tr. From feet upto the outer ankles and the knees is the location of earth element. One should inhale through left nostril and hold *(prāṇa)* in the abode of earth element, while mentally concentrating on the earth (element) which is quadrangular in shape. 13.

इत्यादि पञ्चभूतानां धारणाप्रकारो ध्यानपूर्वकः प्रत्येकमिडया वायुपूरणपूर्वस्ततोऽपादिस्थानमूर्त्तिवर्णाक्षरादिः सिद्धान्तशेखरे द्रष्टव्यः ॥

ityādi pañcabhūtānāṃ dhāraṇāprakāro dhyānapūrvakaḥ pratyekamiḍayā vāyupūraṇapūrvastato'-pādisthānamūrtti-varṇākṣarādiḥ siddhāntaśekhare draṣṭavyaḥ ||

Tr. In this manner one should practise the five *dhāraṇās* on the five elements with full attention after inhaling through the left nostril and applying on the locations of *apas* (water element) etc., image (deity), *varṇa* (colour) and *akṣara* (letters). One may consult *siddhāntaśekhara* for this.

तत्तत्स्वेप्सितसिद्धिबीजमथ तत्तत्सिद्धिसंस्थं च तत्
तादात्म्यसुसंरामैर्जितमरुच्चित्तेन्द्रियो योगिराट् ॥
विष्णुं हृत्कमलान्तरेऽभिकलयेत्तद्धारणां धारयन्
तत्तत्स्वेप्सितसिद्धिमेति गतभीर्मुक्तिं स वीतस्पृहः ॥१४॥

tattatsvepsitasiddhibījamatha tattatsiddhisaṃsthaṃ ca tat
tādātmyasusaṃrāmairjitamaruccittendriyo yogirāṭ ||
viṣṇuṃ hṛtkamalāntare'bhikalayettaddhāraṇāṃ dhārayan
tattatsvepsitasiddhimeti gatabhīrmuktiṃ sa vītaspṛhaḥ || 14 ||

Tr. The secret of success in the desired *siddhis* is (imbued) in those respective points, which a *yogī* can explore for success through a concentrated effort by controlling *prāṇa*, mind and senses and by holding *viṣṇu* in the lotus of the heart and practising a particular *dhāraṇā*. Thus one becomes free from fear, liberated and relinquishes desires and attains desired goals. 14.

जितां जितां शनैः शनैः समारुहन् मुनीश्वरः ।
शमेत्यऽथान्यथा गदानुपैति भूमिरर्जिता ॥ १५ ॥

jitāṃ jitāṃ śanaiḥ śanaiḥ samāruhan munīśvaraḥ ।
śametya'thānyathā gadānupaiti bhūmirarjitā ॥ 15 ॥

Tr. A *muni* very gradually controls each step and attains peace. Otherwise, despite control gained on the *bhūmis* he contracts diseases. 15.

बीजात् संयमविषयसाक्षात्कारात्तु सिद्धयः ।
संयमस्वस्वविषयसाक्षात्कारनिमित्ततः ॥ १६ ॥

bījāt saṃyamaviṣayasākṣātkārāttu siddhayaḥ ।
saṃyamasvasvaviṣayasākṣātkāranimittataḥ ॥ 16 ॥

Tr. Realization of the subject of *saṃyama* through *bīja* (essence) leads to *siddhis* (success). Moreover, success is gained by realizing the respective object of *saṃyama*. 16.

क्रमाद्धीनमध्योत्तमं चित्तरोधं मुनेः कुर्वतः संयमैः पक्तितुल्यम् ।
अतीतादिसाक्षात्कृतौ ज्ञानमीड्यं भवेन्निर्विचारे स्युरस्योपसर्गाः ।१७।

kramāddhīnamadhyottamaṃ cittarodhaṃ
muneḥ kurvataḥ saṃyamaiḥ paktitulyaṃ ॥
atītādisākṣātkṛtau jñānamīḍyaṃ
bhavennirvicāre syurasyopasargāḥ ॥ 17 ॥

Tr. A *muni* controls *citta* with *saṃyama* till its maturity while indulging in an orderly practice of inferior, mediocre and superior practices. Thus he perceives the past (life) etc. and acquires higher wisdom in the state of *nirvicāra* wherein he encounters the obstacles. 17.

निजपरिणतिकाले प्राप्तधर्मान्तरं यत्
तरुफलमिह मिष्टं प्राक्कषायं यथा स्यात् ॥
मलवृत्तिजचेतो मुक्तकाषायमच्छं
कलयति शुभसिद्धोः सन्निरोधोऽस्य पाके ॥ १८ ॥

nijapariṇatikāle prāptadharmāntaraṃ yat-
taruphalamiha miṣṭaṃ prākkaṣāyaṃ yathā syāt ।
malavṛttijaceto muktakāṣāyamacchaṃ
kalayati śubhasiddhoḥ sannirodho'sya pāke ॥18॥

Tr. Transformation in the quality in due course of time makes a fruit sweet, which otherwise tastes astringent. Similarly, impure mental modifications are rid off like astringence, turning

it (mind) pure on maturity through restraint leading to success. 18.

मृच्चूर्णपिण्डः परिणामभेदैरनेकतां याति परीक्षिणोऽक्ष्णि ।
यथा तथा योगहुताशपक्वं पाकानुरूपा मन एति सिद्धिः ॥ १९ ॥

mṛccūrṇapiṇḍaḥ pariṇāmabhedair-
anekatāṃ yāti parīkṣiṇo'kṣṇi ॥
yathā tathā yogahutāśapakvaṃ
pākānurūpā mana eti siddhiḥ ॥ 19 ॥

Tr. It is observed that a lump of mud takes various shapes and forms due to transformation. Similarly, mind is transformed accordingly due to the fire of *yoga*. 19.

न ग्रन्थबाहुल्यधियाऽत्र सिद्धिसंघस्त्वनन्तः कथितो मुनीनाम् ।
आनन्त्य एजद्विषयप्रभेदभाजां यमादेरुपसर्ग एषः ॥ २० ॥

na granthabāhulyadhiyā'tra siddhi-
saṅghastvanantaḥ kathito munīnām ॥
ānantya ejadviṣayaprabheda-
bhājāṃ yamāderupasarga eṣaḥ ॥ 20 ॥

Tr. To avoid inflation of the size of the book we avoid elaboration. Otherwise, there are innumerable *siddhis* for the *munis*. For those who see many, the *siddhis* pose as obstacles in the practice of *yama*. There are many *siddhis* due to variation in the objects, which pose as obstacles in observance of the *yamas*. 20.

यः पञ्चघट्यात्मककाल उक्तः प्रवृत्तसज्ज्योतिरसावृतम्भरः ।
षड्भूमिकान्ते स्थिरचित्तवृत्तेऽत्र भूतेन्द्रियजेऽप्यशक्तिकः ॥२१॥

yaḥ pañcaghaṭyātmakakāla uktaḥ
pravṛttasajjyotirasāvṛtambharaḥ ॥
ṣaḍbhūmikānte sthiracittavṛtte'-
tra bhūtendriyaje'pyaśaktikaḥ ॥ 21 ॥

Tr. If one indulges in the practice for five *ghaṭikās*, one perceives light and is called *ṛtambhara*. At the end of six *bhūmikās*, one gains stability of the mind by gaining control over *bhūtas* (elements) and the senses making them powerless. 21.

शरीरमेतत् खलु पञ्चभूतात्मकं मरुत्पित्तकफावृते इह ।
सद्धारणां भूरि च कुर्वतोऽग्नौ नश्यन्ति सर्वे पवमानजा गदाः।२२।

śarīrametat khalu pañcabhūtā-
tmakaṃ marutpittakaphāvṛte iha ॥
saddhāraṇāṃ bhūri ca kurvato'gnau
naśyanti sarve pavamānajā gadāḥ ॥ 22 ॥

Tr. The (human) body is comprised of the five *bhūtas* (elements), which is further constituted of *marut* (*vāta*), *pitta* and *kapha*. One should abundantly practise auspicious *dhāraṇā* on *agni* (fire) which will burn all the diseases caused by fire. 22.

नश्यन्ति सर्वे कफजाश्च वातजाश्च द्राक् पार्थिवांशे ह्यथवा जलांशे
विधास्यतो धारणमेकचित्तस्त्रिदोषजा वा खलु वै अनिलांशे ॥२३॥

naśyanti sarve kaphajāśca vātajāś-
ca drāk pārthivāṅśe hyathavā jalāṅśe ॥
vidhāsyato dhāraṇamekacittas-
tridoṣajā vā khalu vai anilāṅśe ॥ 23 ॥

Tr. Moreover, all the diseases caused due to *kapha* (phlegm) and *vāta* humours or all the three humours effecting the elements of earth, water and air can soon be cured if one practises *dhāraṇā* with devotion. 23.

प्राणसंयमनतस्तु समस्ता वातपित्तकफजाः खलु रोगाः ।
शोणितोद्भवगदाः सुदृढा ये सम्प्रयान्ति सहसा विलयन्ते ॥२४॥

prāṇasaṃyamanatastu samastā
vātapittakaphajāḥ khalu rogāḥ ॥
śoṇitodbhavagadāḥ sudṛḍhā ye
samprayānti sahasā vilayante ॥ 24 ॥

Tr. Practice of *prāṇāyāma* indeed certainly removes all the ailments caused by *vāta*, *pitta* and *kapha* humours. The toxic fluids causing severe diseases (flowing) in the blood are also quickly overcome. 24.

पञ्चभूतधारणां समभ्यसेत्तु यः सदा ।
तस्य मृत्युभीः क्वचिन्न जायते युगक्षये ॥ २५ ॥

pañcabhūtadhāraṇāṃ samabhyasettu yaḥ sadā ।
tasya mṛtyubhīḥ kvacinna jāyate yugakṣaye ॥ 25 ॥

Tr. One who consistently practises *dhāraṇā* on the five *bhūtas* would not be frightened of (premature) death and lives long. 25.

वाशिष्ठे —

vāsiṣṭhe —

According to *vāśiṣṭha*—

सर्वासां शक्तीनां जवं तेजः प्रददाति शरीरे अष्टशक्तयः ।
तिष्ठन्ति तासां प्रधाना कुण्डली तस्याश्चलनेन सर्वाश्चलन्ति ।।इति।।२६।।

sarvāsāṃ śaktīnāṃ javaṃ tejaḥ
pradadāti śarīre aṣṭaśaktayaḥ ॥
tiṣṭhanti tāsāṃ pradhānā kuṇḍalī
tasyāścalanena sarvāścalanti ॥ *iti* ॥ 26 ॥

Tr. There are eight *śaktis* in the body which stimulate and give vigour to all the *śaktis* prominent of which is *kuṇḍalī*. Movement of *kuṇḍalī* moves all the *śaktis*. 26.

सर्वशक्तिजवप्रदा ।

sarvaśaktijavapradā ।

It enhances allround power.

पुर्यष्टकां पराख्यस्य जीवस्य प्राणनामिकाम् ।
विद्धि कुण्डलीनीमन्तरामोदयेव मञ्जरीम् ॥ २७ ॥

puryaṣṭakāṃ parākhyasya jīvasya prāṇanāmikām ।
viddhi kuṇḍalīnīmantarāmodayeva mañjarīm ॥ 27 ॥

Tr. One should know *kuṇḍalinī* named *prāṇa*, which energizes all the *śaktis* and which resides in the *puryaṣṭaka* (body) of *jīva* named *prāṇa*, awakening of which offers Bliss. 27.

तां यदा पूरकाभ्यासादापूर्य स्थीयते समम् ।
तदेति भैरवं स्थैर्यं तथा कायस्य पीनता ॥ २८ ॥

tāṃ yadā pūrakābhyāsādāpūrya sthīyate samam ।
tadeti bhairavaṃ sthairyaṃ tathā kāyasya pīnatā ॥ 28 ॥

Tr. If she (*kuṇḍalinī*) is stabilized by the practice of *pūraka* then alone one attains stability of *bhairava (śiva)* and the body becomes stout. 28.

यदा पूरकपूर्णोत्तरा यत प्राणमारुते ।

नीयते संविदेवोर्ध्वं सोढुं घर्मपरिश्रमः ॥ २९ ॥

yadā pūrakapūrṇottarā yata prāṇamārute ।

nīyate saṃvidevordhvaṃ soḍhuṃ gharmapariśramaḥ ।29।

Tr. After fully filling up of *prāṇa-vāyu* (followed by inhalation), consciousness is moved upwards and one experiences perspiration due to exertion. 29.

सर्पीव त्वरितैवोर्ध्वं याति दण्डोपमां गता ।

नाड्यः सर्वाः समादाय देहबद्धलतोपमाः ॥ ३० ॥

sarpīva tvaritaivordhvaṃ yāti daṇḍopamāṃ gatā ।

nāḍyaḥ sarvāḥ samādāya dehabaddhalatopamāḥ ॥ 30 ॥

Tr. Having been like a stick, she (*kuṇḍalinī)* moves up like a snake, involving all the *nāḍīs* in the body like a creeper. 30.

तदा समस्तमेवेदमास्नावयति देहकम् ।

नीरन्ध्रपवनापूर्णा भस्त्रेवाम्बुगता नरम् ॥ ३१ ॥

tadā samastamevedamāsnāvayati dehakam ।

nīrandhrapavanāpūrṇā bhastrevāmbugatā naram ॥ 31 ॥

Tr. Then all the channels of the body of a man fills with *prāṇa* like a bellows filled with water. 31.

इत्यभ्यासविलासेन योगेन व्योमगामिना ।

योगिनः प्राप्नुवन्त्युच्चैर्हीना इन्द्रदशामिव ॥ ३२ ॥

ityabhyāsavilāsena yogena vyomagāminā ।

yoginaḥ prāpnuvantyuccairhīnā indradaśāmiva ॥ 32 ॥

Tr. Thus the *yogīs* who are devoted to the *yoga* practice move in the space and attain the lofty as well as degraded (deprived) seat like that of *indra*. 32.

ब्रह्मनाडीप्रवाहेण शक्तिः कुण्डलिनी यदा ।

बहिरूर्ध्वं कपाटस्य द्वादशांगुलमूर्धनि ॥ ३३ ॥

brahmanāḍīpravāhena śaktiḥ kuṇḍalinī yadā ।

bahirūrdhvaṃ kapāṭasya dvādaśāṅgulamūrdhani ॥ 33 ॥

रेचकेन प्रयोगेण नाडीशतनिरोधिना ।

मुहूर्त्ते स्थितिमाप्नोति तदा व्योमगदर्शनम् ॥ ३४ ॥

recakena prayogeṇa nāḍīśatanirodhinā ।
muhūrte sthitimāpnoti tadā vyomagadarśanam ॥ 34 ॥

Tr. When *kuṇḍalinī-śakti* moves to the *brahmanāḍī* outside the opening twelve digits in the head. Practice of *recaka* for a *muhūrta* (48 minutes) blocks all the *nāḍīs* and one attains stability. Thus one perceives the entities in the space. 33-34.

विज्ञानादूरसंस्थेन बुद्धिर्नेत्रेण राघव ।
दृश्यन्ते व्योमगाः सिद्धाः स्वप्नवत् स्वार्थदा अपि ॥ ३५ ॥
vijñānādūrasaṃsthena buddhirnetreṇa rāghava ।
dṛśyante vyomagāḥ siddhāḥ svapnavat svārthadā api ।35।

Tr. O *rāghava* ! Through the internal eyes (*buddhi*) and through special wisdom one can perceive (the objects) at a remote place like the *siddhas* (adepts) who move in the space which is like a dream and which brings desired success. 35.

मुखाद् बहिर्द्वादशान्ते रेचकाभ्यासयुक्तितः ।
प्राणे चिरं स्थितिं नीते प्रविशत्यपरां पुरीम् ॥ ३६ ॥
mukhād bahirdvādaśānte recakābhyāsayuktitaḥ ।
prāṇe ciraṃ sthitiṃ nīte praviśatyaparāṃ purīm ॥ 36 ॥

Tr. During the practice of *recaka*, *prāṇa* is held for a long time twelve digits outside the mouth which enables one to enter into another body. 36.

सर्वथात्मनि तिष्ठेच्चेत् क्वाध्वोर्ध्वे गमागमौ
तज्जन्तोर्हीयते व्याधिरन्तर्मारुतरोधतः ॥
राज्यादिमोक्षपर्यन्ताः समस्ता एव सम्पदाः
देहानिलविधेयत्वसाध्याः सर्वस्य राघव ॥ इति ॥ ३७ ॥
sarvathātmani tiṣṭheccet kvādhvordhve gamāgamau
tajjantorhīyate vyādhirantarmārutarodhataḥ ॥
rājyādimokṣaparyantāḥ samastā eva sampadāḥ
dehānilavidheyatvasādhyāḥ sarvasya rāghava iti ॥ 37 ॥

Tr. O *rāghava* ! If one remains with the Self, there arises no occasion for upward or downward movements. Internal retention of *prāṇa* alleviates all the diseases. From the kingdom

to liberation all the wealth is achievable through the practice of *prāṇāyāma*. 37.

॥ इति सुन्दरदेवविरचितायां हठतत्वकौमुद्यां धारणानिरूपणोद्योतः ॥

॥ iti sundaradevaviracitāyāṃ haṭhatatvakaumudyāṃ dhāraṇānirūpaṇodyotaḥ ॥

Here ends the chapter narrating *dhāraṇā* in *haṭhatatvakaumudī* composed by *sundaradeva*.

Chapter—49

अथ ध्यानम् —

atha dhyānam —

dhyāna **follows—**

प्रोक्ता पुरा भूतजयाय धारणा ऋतम्भरप्रज्ञमुनेः सुयोगात् ।
भूतेन्द्रियाणां विजयी निरूप्यते ध्येयावलम्बाऽस्तभवप्रपञ्चः ॥१॥

proktā purā bhūtajayāya dhāraṇā
ṛtambharaprajñamuneḥ suyogāt ॥
bhūtendriyāṇāṃ vijayīnirūpyate
dhyeyāvalambā'stabhavaprapañcaḥ ॥ 1 ॥

Tr. Earlier, *dhāraṇā* has been narrated for gaining control on the *bhūtas* (elements). A *muni* who has attained *ṛtaṃbharā-prajñā*, who has gained control over *bhūtas* and senses and who has overcome the paraphernalia of the worldly affairs (for him the technique of *dhyāna* follows). 1.

शब्दादीनां सूक्ष्मतन्मात्रकं तु यावत् कर्णादीन्द्रिये पुरस्थितं स्यात्
तावद्देहे ध्यानमाहुर्मुनीन्द्रास्तेषां लैन्येषां दशा सा समाधिः ॥२॥

śabdādīnāṃ sūkṣmatanmātrakaṃ tu
yāvat karṇādīndriye purasthitaṃ syāt ॥
tāvaddehe dhyānamāhurmunīndrās-
teṣāṃ lainyeṣāṃ daśā sā samādhiḥ ॥ 2 ॥

Tr. According to the munis, so long as the subtle *tanmātrās* like sound etc. are heard in the ears in the body, it is called *dhyāna*. Complete absorption of all these leads to *samādhi*. 2.

अथ ध्यानलक्षणम् —

atha dhyānalakṣaṇam—

Now follows the characteristics of *dhyāna*—

तत्र सूत्रम् —

***tatra sūtraṃ*—**

A *sūtra* (of *pātañjali*) follows—

प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ इति ॥

pratyaikatānatā dhyānam ॥ *iti* ॥

Uninterrupted flow (of the mind) towards the (chosen) object (for meditation) is *dhyāna*.

प्रत्ययस्य एकतानता तत्वैकविषयः प्रवाहः ॥

pratyayasya ekatānatā tatvaikaviṣayaḥ pravāhaḥ ॥

Continuous flow of the mind faculty towards the object of meditation.

स च द्विविधः । विच्छिद्य विच्छिद्य ज्ञायमानः सन्ततश्चैति । तावुभौ ध्यानसमाधी भवतः । तदुभयं सर्वानुभवयोगिना दर्शितं चित्तैकाग्र्याद्यतो ज्ञानमुक्तं समुपजायते । तत्साधनमतो ध्यानं यथा बहूपदिश्यते ॥ ३ ॥

sa ca dvividhaḥ । vicchidya vicchidya jñāyamānaḥ santataścaiti । tāvubhau dhyānasamādhī bhavataḥ । tadubhayaṃ sarvānubhavayoginā darśitaṃ cittaikāgryādyato jñānamuktaṃ samupajāyate । tatsādhanamato dhyānaṃ yathā bahūpadiśyate ॥ 3 ॥

Tr. This is of two kinds—intermittent flow and continuous flow. Both of these become *dhyāna* and *samādhi*. Both are experienced by the *yogīs*. The above said knowledge is experienced through concentration of mind—as the technique of *dhyāna* is widely taught. 3.

विलीय प्रकृतिं कृत्स्नां सम्भवं व्यत्ययक्रमात् ।
परिशिष्टं च सन्मात्रं चिदानन्दं विचिन्तयेत् ॥ ४ ॥

vilīya prakṛtiṃ kṛtsnāṃ sambhavaṃ vyatyayakramāt ।
pariśiṣṭaṃ ca sanmātraṃ cidānandaṃ vicintayet ॥ 4 ॥

Tr. Absorb the entire *prakṛti* following the process of involution and meditate only on *cit* (conscious) and *ānanda* (Bliss), which alone is *cit* (eternal). 4.

ब्रह्माकारमनोवृत्तिप्रवाहोऽहंकृतिं विना ।
सम्प्रज्ञातसमाधिः स्याद् ध्यानाभ्यासप्रकर्षतः ॥ इति ॥ ५ ॥

brahmākāramanovṛttipravāho'haṃkṛtiṃ vinā ।
samprajñātasamādhiḥ syād dhyānābhyāsaprakarṣataḥ॥*iti*॥ 5॥

Tr. With the intense practice of *dhyāna* on *brahma*-hood where there is complete absence of ego, is called *saṃ prajñāta samādhi*. 5.

स्कान्दे –

skānde—

According to *skanda(-purāṇa)* —

ध्यै चिन्तायां स्मृतो धातुः चिन्ता तत्वे सुनिश्चला ।

या तद्ध्यानमिति प्रोक्तं सगुणं निर्गुणं द्विधा ॥ ६ ॥

dhyai cintāyāṃ smṛto dhātuḥ cintā tatve suniścalā ।

yā taddhyānamiti proktaṃ saguṇaṃ nirguṇaṃ dvidhā6

Tr. The root '*dhai*' denotes *cintā* (to think). Absorption only in one thought is called *dhyāna*. This is of two types—*saguṇa* and *nirguṇa*. 6.

सगुणं सर्वभेदेन निर्गुणं केवलं मतम् ।

समन्त्रं सगुणं विद्धि निर्गुणं मन्त्रवर्जितम् ॥ इति ॥ ७ ॥

saguṇaṃ sarvabhedena nirguṇaṃ kevalaṃ matam ।

samantraṃ saguṇaṃ viddhi nirguṇaṃ mantravarjitam॥iti॥ 7।

Tr. *saguṇa* is on varied objects. While *nirguṇa* is (Absolute). With *mantra* it is *saguṇa*. Without *mantra*, it is *nirguṇa*. 7

विष्णुपुराणे –

viṣṇupurāṇe—

According to *viṣṇupurāṇa*—

तद्वति प्रत्ययैकाग्रसन्ततिर्या ऽन्यनिःस्पृहा ।

तद्ध्यानं प्रथमैः षड्भिरंगैः निष्पाद्यते नृप ॥ इति ॥ ८ ॥

tadvati pratyaikāgrasantatiryā 'nyaniḥspṛhā ।

taddhyānaṃ prathamaiḥ ṣaḍbhiraṅgaiḥ niṣpādyate nṛpa ॥ iti ॥ 8 ॥

Tr. When mind is unidirectionally absorbed in one object alone and is detached towards everything else, it is called *dhyāna* which, O king! is attained through (the practice of) the first six components (of *yoga*). 8.

भारते —

bhārate—

It has been said in *(mahā-) bhārata*—

पौनःपुन्येन तत्रैव विषये सैव धारणा ।
ध्यानाख्यं लभते राजन् समाधिमपि मे शृणु ॥ इति ॥ ९ ॥

paunaḥpunyena tatraiva viṣaye saiva dhāraṇā ।
dhyānākhyaṃ labhate rājan samādhimapi me śṛṇu ॥*iti*॥9॥

Tr. One repeatedly concentrates on one object which is called *dhāraṇā* which leads to *dhyāna*. O king! Now I narrate *samādhi*. 9.

यमादिधारणान्तानि षडंगानि ध्यानं
समाधिः शुभधारणा चेत्येतत् त्रयम् ॥
साध्ववलम्ब्य यत्नात् एकत्र सद्ध्येय
उमेश एतत् स्थूलादिमूर्त्तिक्रमतो विधेयम् ॥ १० ॥

yamādidhāraṇāntāni ṣaḍaṅgāni dhyānaṃ
samādhiḥ śubhadhāraṇā cetyetat trayam ॥
sādhvavalambya yatnāt ekatra saddhyeya
umeśa etat sthūlādimūrttikramato vidheyam ॥10॥

Tr. The six components from *yama* to *dhāraṇā* and three (components of) *dhāraṇā*, *dhyāna* and *samādhi*— are to be carefully adhered to on *umeśa (śiva)*. These three are practised together on gross idol to subtle objects in an orderly fashion. 10.

ध्यानं हरेर्वागीशस्य योजितं पूर्वं सगर्भेषु समाधिषूत्तमम् ।
स्थूलेति तं चित्तमनुक्रमेण हि शनैः सुसूक्ष्मां विशते च भूमिकाम्११

dhyānaṃ harervāgīśasya yojitaṃ
pūrvaṃ sagarbheṣu samādhiṣūttamam ॥
sthūleti taṃ cittamanukrameṇa hi
śanaiḥ susūkṣmāṃ viśate ca bhūmikām ॥ 11 ॥

Tr. In the preliminary course of practice of *sagarbha samādhi* the finest form of practice would be to properly meditate on *hari* and *vāgīśa*. Though this may be considered as gross practice, gradually the *citta* enters extremely subtle *bhūmikā* (state). 11.

गुरुप्रसादाद्यदि चेश्वरस्य वा विलोक्यते हृत्स्थितियोग्यता पुरा ।
सुसूक्ष्मभूमौ विनिवेश इष्यते स्थूलादिमूर्त्तौ न तदा स्थितिर्हिता१२

guruprasādādyadi ceśvarasya vā
vilokyate hṛtsthitiyogyatā purā ॥
susūkṣmabhūmau viniveśa iṣyate
sthūlādimūrttau na tadā sthitirhitā ॥ 12 ॥

Tr. By the grace of *guru* if the mind gains stability and perceives *īśvara*, it can enter from subtle to subtler levels. Then it is not desirable to continue concentration on gross idols etc. 12.

ध्येयावलम्बनेन हि वृत्तेरेकाग्रता परमा ।
तज्ज्ञैर्ध्यानं कथितं सम्प्रज्ञातः परः समाधिः सः ॥ १३ ॥

dhyeyāvalambanena hi vṛtterekāgratā paramā ।
tajjñairdhyānaṃ kathitaṃ samprajñātaḥ paraḥ samādhiḥ saḥ ॥ 13 ॥

Tr. The mind (it's modifications) becomes highly one pointed only when one sticks to the (one) object of *dhyāna*. This makes *dhyāna*. This further culminates into *saṃprajñāta samādhi*. 13.

सद्धारणान्तः खलु मध्यवर्त्ती प्रज्ञातनामा समयः समाधिः ।
ध्यानं तदुक्तं प्रहराष्टमानं स्थूलं तदन्ते शुभसिद्धयः स्युः ॥१४॥

saddhāraṇāntaḥ khalu madhyavarttī
prajñātanāmā samayaḥ samādhiḥ ॥
dhyānaṃ taduktaṃ praharāṣṭamānaṃ
sthūlaṃ tadante śubhasiddhayaḥ syuḥ ॥ 14 ॥

Tr. The intermediate time at the end of *dhāraṇā* is called *prajñāta-samādhi*. This is called *sthūla-dhyāna* which extends for eight *praharas*. This is followed by the auspicious *siddhis*. 14.

तथा चोक्तं दत्तात्रेयभगवता –

tathā coktaṃ dattātreyabhagavatā –

It has been maintained by *bhagavān dattātreya*-

समभ्यसेत्ततो ध्यानं घटिकाषष्टिमेव च ।
वायुं निरुध्य ध्यायेत्तु देवतामिष्टदायिनीम् ॥
सगुणध्यानमेवं स्यादणिमादिगुणप्रदम् ॥ इति ॥ १५ ॥

samabhyasettato dhyānaṃ ghaṭikāṣaṣṭimeva ca ।
vāyuṃ nirudhya dhyāyettu devatāmiṣṭadāyinīm ॥
saguṇadhyānamevaṃ syādaṇimādiguṇapradam ॥ *iti* ॥15॥

Tr. Thereafter, one should parctise *dhyāna* for sixty *ghaṭikās*, and by holding the *prāṇa*, the tutelary deity should be meditated upon. This forms *saguṇa dhyāna* which results in *siddhis* like *aṇimā* etc. 15.

तथा च भागवते एकादशे भगवद्वाक्यमुद्धवं प्रति –

tathā ca bhāgavate ekādaśe bhagavadvākyamuddhavaṃ prati –

It has been stated in the eleventh chapter of *bhāgavata* which is addressed to *uddhava* by *bhagavān*

मुनिर्म तादात्म्येन यां यां सिद्धिं भावयेत्तं तत्तत्सिद्धावहं योजयामि ॥ इति ॥ १६ ॥

munirma tādātmyena yāṃ yāṃ siddhiṃ bhāvayettaṃ tattatsiddhāvahaṃ yojayāmi ॥ *iti* ॥ 16 ॥

Tr. When one devotedly meditates on whichever *siddhi*, I bestow upon him that very particular *siddhi*. 16.

अतः सगुणध्यान एव सिध्युपसर्गा आविर्भवन्ति । संयमपरिणतौ कीटभृंगीन्यायेन यद्धारणं तत्तादात्म्यापत्तौ शुद्धस्फटिकार्ककरयोगयोरन्तरग्नेरिव निर्विचारादचेतो ज्ञानात्मशुद्धेश्वरयोः सोऽहंभावतादात्म्ये शुभसिद्धयः ॥ इति ॥ १७ ॥

ataḥ saguṇadhyāna eva siddhyupasargā āvirbhavanti । *saṃyamapariṇatau kīṭabhṛṅgīnyāyena yaddhāraṇaṃ tattādātmyāpattau śuddhasphaṭikārkakarayogayorantraragneriva nirvicārādaceto jñānātmaśuddheśvarayoḥ so'haṃbhāvatādātmye śubhasiddhayaḥ* ॥ *iti* ॥ 17 ॥

Tr. Therefore, in *saguṇa dhyāna*, *siddhis* appear in the form of obstacles. In the culmination of *saṃyama*, as per the logic of *kīṭa-bhṛṅgi*, on whichever (object) *dhāraṇā* is practised, the mind merges in the same form like a pure crystal placed in the sun which appears containing fire. When the mind attains the state of *nirvicāra* (no-thought), then alone the wisdom of the

pure Self and *īśvara* with *sohambhāva* (I am That) and auspicious *siddhis* arise. 17.

प्राथमिको धानुष्कः स्थूलं लक्ष्यं यथा पुरा विध्येत् ।
अनु सूक्ष्मं चाभ्यासात्तद्वत् स्थूलेऽन्वणीयसिद्धयः ॥ १८ ॥

prāthamiko dhānuṣkaḥ sthūlaṃ
lakṣyaṃ yathā purā vidhyet ॥
anu sūkṣmaṃ cābhyāsāttadvat
sthūle'nvaṇīyasiddhyaḥ ॥ 18 ॥

Tr. In the beginning an archer shoots at a gross object and afterwards the subtle one. Similarly, one should (meditate) on gross to the subtler (objects). 18.

सविषयमतिरम्यं ध्यानमादौ विधेयं
तदनु विषयहीने साधु निर्बीजमुक्तम् ॥
भृशमिति हृदयस्य स्थैर्यतो धैर्यवृत्ति-
सकलदुरितसंघा ध्यानतो यान्ति नाशम् ॥ १९ ॥

saviṣayamatiramyaṃ dhyānamādau vidheyaṃ
tadanu viṣayahīne sādhu nirbījamuktaṃ ॥
bhṛśamiti hṛdayasya sthairyato dhairyavṛtti-
sakaladuritasaṅghā dhyānato yānti nāśam ॥ 19 ॥

Tr. In the beginning, one should practise meditation *(dhyāna)* on objects which is very much enjoyable and thereafter, it is wise to meditate without object. (The later) is called *nirbīja*, repeated practice of which brings stability of the mind. Continuation of this meditation removes all the sufferings. 19.

प्रागुक्ताधारचक्रादिषु विशदमिदं ध्यानमग्र्यविधेयं
स्थित्वैकान्ते गुहायां नियमितपवनः सन्नियम्येन्द्रियाणि ॥
चित्तं संरुध्य हित्वा भवविषयसमस्ताः क्रियाः संविसृज्य
ध्येयैकाग्र्ये सुचित्ते भवति वरमुनौ सत्समाधिस्तदैव ॥ २० ॥

prāguktādhāracakrādiṣu viśadamidaṃ dhyānamagryavidheyaṃ
sthitvaikānte guhāyāṃ niyamitapavanaḥ sanniyamyendriyāṇi ॥
cittaṃ saṃrudhya hitvā bhavaviṣayasamastāḥ kriyāḥ saṃvisṛjya
dhyeyaikāgrye sucitte bhavati varamunau satsamādhistadaiva ॥20॥

Tr. As explained earlier, one should first meditate on *ādhāracakra* etc. while staying in a lonely place, like a cave. *prāṇāyāma* must be practised regularly by controlling the senses and the mind *(citta)* and by relinquishing all the mundane objects and activities. Only when a *yogī* is able to meditate with intense concentration (of *citta)*, then alone he attains the state of *samādhi*. 20.

समाधिनिष्पत्तिनिदानमुक्तं ध्यानं सबीजं सविकल्पकं यत् ।
यदैव निष्पत्तिभृशं समाधिः स्यात् स्वेच्छया योगिन एव आर्यः२१

saṃādhiniṣpattinidānamuktaṃ
dhyānaṃ sabījaṃ savikalpakaṃ yat ॥
yadaiva niṣpattibhṛśaṃ samādhiḥ
syāt svecchayā yogina eva āryaḥ ॥ 21 ॥

Tr. *sabīja* and *savikalpaka dhyāna* are the characteristics of *samādhi*. Only when the state of *samādhi* leading to *niṣpatti* happens on its own, this is called the (superior or) true state of *samādhi* of a *yogī*. 21.

तदा क्रियाशक्तिमरं सुचेतनां प्राणो गृहीत्वा भृशवेगवर्त्ती ।
निर्जित्य चक्राण्यखिलानि योगिनोऽसौ ज्ञानशक्तौ परिलीयतेऽनु ॥२२॥

tadā kriyāśaktimaraṃ sucetanāṃ
prāṇo gṛhitvā bhṛśavegavarttī ॥
nirjitya cakrāṇyakhilāni yogino' -
sau jñānaśaktau parilīyate'nu ॥ 22 ॥

Tr. *prāṇa*, which is forceful and speedy, takes *kriyāśakti* and *araṃ (cakra)* along with consciousness and controls all the *cakras* of a *yogī* which (*kriyāśakti)* subsequently merges in *jñānaśakti*. 22.

युग्मम् —

yugmam

A *śloka* follows—

तदारूढयोगिनः परावशिकारविवेकख्यातिपरिणतौ ॥
गुणान्तहेतुधर्ममेघसमाधिरसंप्रज्ञसमाधिप्राग्रूपघ्नाविर्भवति ।इति।२३।

tadārūḍhayoginaḥ parāvaśikāra-
vivekakhyātipariṇatau ॥
guṇāntahetudharmameghasamādhir-
asamprajñasamādhiprāgrūpaghnāvirbhavati ।*iti*23

Tr. Then for the *ārūḍha-yogī*, the culmination of the pair (of the states) i.e. *parā-vaśīkāra* and *vivekakhyāti* brings an end to *guṇas*, (and the following states such as) *dharmamegha samādhi* and *asamprajña samādhi* supervene. 23.

असम्प्रज्ञाते अस्मिन् विगलितविकल्पे भृशतरं
सदा ध्येयाकारं स्फुरति गतभेदं हृदि दृशिः ॥
न निद्रा नोन्विता स्मृतिरपि न वाचि स्मृतिरपि
चिदानन्दे मग्नस्य हि परसमाधौ प्रभवति ॥ २४ ॥

asamprajñāte asmin vigalitavikalpe bhṛśataraṃ
sadā dhyeyākāraṃ sphurati gatabhedaṃ hṛdi dṛśiḥ ॥
na nidrā nonvitā smṛtirapi na vāci smṛtirapi
cidānande magnasya hi parasamādhau prabhavati ॥ 24 ॥

Tr. In this (state of) *asamprajñāta*, *vikalpa* (mental constructions) is completely annihilated. Thus only object (of meditation) remains and in the heart and (all) discrimination is removed. He attains a state in which there is no sleep, no memory and no speech. One gets absorbed in the Bliss of consciousness and (the state of) Ultimate *samādhi* supervenes. 24.

तथा चोक्तं हठप्रदीपिकायाम् —

tathā coktaṃ haṭhapradīpikāyām —

It has been stated in *haṭhapradīpikā*—

यत्र दृष्टिर्लयस्तत्र भूतेन्द्रियसनातनः ।
न सा शक्तिर्भावभूतानां दृष्टे लक्षे क्षयं गता ॥ २५ ॥

yatra dṛṣṭirlayastatra bhūtendriyasanātanaḥ ।
na sā śaktirbhāvabhūtānāṃ dṛṣṭe lakṣe kṣayaṃ gatā ॥25॥

Tr. The interaction between the objects of perception and senses is eternal in the form of *śakti*. Therefore, on whatever the mind is fixed, it merges into it. 25.

वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव ।
एकैव शाम्भवीमुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥ २६ ॥

vedaśāstrapurāṇāni sāmānyagaṇikā iva ।
ekaiva śāmbhavī mudrā sarvatantreṣu gopitā ॥ 26 ॥

Tr. The *vedas, śāstras* and *purāṇas* are like public women. *śāṃbhavī mudrā* alone is kept a secret in all the scriptures. 26.

अन्तर्लक्षविलीनचित्तपवनो योगी यदा वर्त्तते ।
दृष्ट्या निश्चलतारया बहिरधः पश्यन्नपश्यन्नपि ॥
मुद्रेयं खलु शाम्भवी भवति सा युष्मत्प्रसादात् गुरोः ।
शून्याशून्यविवर्जितं स्फुरति यत्तत्वं पदं शाम्भवम् ॥ २७ ॥

antarlakṣavilīnacittapavano yogī yadā varttate
dṛṣṭyā niścalatārayā bahiradhaḥ paśyannapaśyannapi ॥
mudreyaṃ khalu śāmbhavī bhavati sā yuṣmatprasādāt guroḥ
śūnyāśūnyavivarjitaṃ sphurati yattatvaṃ padaṃ śāmbhavam ।27।

Tr. When the *yogī* is in a state where both *citta* and *prāṇa* are merged in the internal object of concentration and the gaze is directed outwards but remains steady, seeing yet not seeing, that indeed is *śāṃbhavī mudrā*, which is received only by the fortunate ones by the grace of the *guru*, who bestows upon the state of *śāṃbhavī*, transcending both *śūnya* and *aśūnya*. 27.

तारे ज्योतिषि संयोज्य किञ्चिदुन्नमयेद् भ्रुवौ
पूर्वयोगस्य मार्गोऽयमुन्मनीकरणं क्षणात् ॥ २८ ॥

tāre jyotiṣi saṃyojya kiñcidunnamayed bhruvau ।
pūrvayogasya mārgo'yamunmanīkaraṇaṃ kṣaṇāt ॥ 28 ॥

Tr. Direct the vision towards the (internal) *jyoti* (light) and raise the eye-brows a little. This is the pristine technique which brings about the state of *unmanī* . 28.

केचिदागमजालेन केचिन्निगमसंकुले ।
केचित्तर्केण मुह्यन्ति नैव जानन्ति तारकम् ॥ २९ ॥

kecidāgamajālena kecinnigamasaṃkule ।
kecittarkeṇa muhyanti naiva jānanti tārakam ॥ 29 ॥

Tr. Some get bewildered by contradictory views available in the *āgamas* (scriptures), some by those expressed in the *nigamas*, others are perplexed by logic and reasoning. No one knows *tāraka* (the highest state of consciousness). 29.

अर्धोद्घाटितलोचनः स्थिरमना नासाग्रदत्तेक्षणः
चन्द्रार्कावपि लीनतामुपनयेन्निस्पन्दवाच्यं ततः ॥
ज्योतीरूपविशेषबाह्यरहितं देदीप्यमानं परं
तत्वं तत्परमस्ति वस्तु परमं वाच्यं किमत्राधिकम् ॥ इति ॥३०॥

ardhodghāṭitalocanaḥ sthiramanā nāsāgradattekṣaṇaḥ
candrārkāvapi līnatāmupanayennispandavācyaṃ tataḥ ॥
jyotīrūpaviśeṣabāhyarahitaṃ dedīpyamānaṃ paraṃ
tatvaṃ tatparamasti vastu paramaṃ vācyaṃ kimatrādhikaṃ ॥*iti*॥30॥

Tr. Keep the eyes half open and mind poised, fix the gaze on the tip of the nose, suspend the movement of both *iḍā* and *piṅgalā*, maintain the internal calm, visualize the Ultimate Reality as brightly shinning internal light. Thus, one attains the Absolute State of *tatva* (Self) beyond all material realms. What else remains to be said? 30.

इति निर्गुणध्यानमुद्रा ॥

iti nirguṇadhyānamudrā ॥

(Here ends) the technique of *nirguṇa-dhyāna.*

अथ सगुणध्यानमुद्रा –

atha saguṇadhyānamudrā —

Here follows the technique of *saguṇa-dhyāna*—

यथा –

yathā—

Which is—

अधः समास्थाप्य सुखासनं सदन्तर्मनोबाह्यनिरीहचक्षुः ।
समत्वमुच्चैर्वपुषस्तु यत्र सा ध्यानमुद्रा कथिता मुनीन्द्रैः ॥ ३१ ॥

adhaḥ samāsthāpya sukhāsanaṃ sad-
antarmanobāhyanirīhacakṣuḥ ॥
samatvamuccairvapuṣastu yatra
sā dhyānamudrā kathitā munīndraiḥ ॥ 31 ॥

Tr. Adopt *sukhāsana* (a comfortable posture) on the floor. Fix the eyes and withdraw the mind from the external objects and focus it internally. Keep the body steady and straight. The great *yogīs* know this as *dhyāna-mudrā* (meditation). 31.

योगचन्द्रिकायाम् —

yogacandrikāyām —

According to *yogacandrikā*—

अन्तश्चेतो बहिश्चक्षुर्बद्धस्थेव सुखासने ।
संमत्वं च शरीरस्य ध्यानमुद्रेति सिद्धिदः ॥ ३२ ॥

antaśceto bahiścakṣurbaddhastheva sukhāsane ।
samatvaṃ ca śarīrasya dhyānamudreti siddhidaḥ ॥ 32 ॥

Tr. Mind is internally tuned even though the eyes are fixed on an external object while one adopts *sukhāsana* which keeps the body straight. This is called *dhyānamudrā* which brings success. 32.

अन्तः अभ्यन्तरे । मनः बाह्यव्यापाररहितम् । चक्षुर्भ्रुवोरन्तरे संस्थाप्य । क्व सहीति सुखासने बद्धे सति । समत्वं शरीरस्य देहस्य ॥ ३३ ॥

antaḥ abhyantare । manaḥ bāhyavyāpārarahitam । cakṣurbhruvorantare saṃsthāpya । kva sahīti sukhāsane baddhe sati । samatvaṃ śarīrasya dehasya ॥ 33 ॥

Tr. *antaḥ* means internal.The *manas* (mind) is suspended of external activity. Eyes are fixed between the eyebrows and one adopts *sukhāsana*. *samatva* means steadiness of trhe body. 33.

शान्तिगुणत्वं केनापि प्रकारेण न विकृतिं याति शरीरम् ।
तच्छरीरसमत्वं स्थैर्यं स त्रैकालिकज्ञानकरं हि ॥ ३४ ॥

śāntiguṇatvaṃ kenāpi prakāreṇa na vikṛtiṃ yāti śarīram
taccharīrasamatvaṃ sthairyaṃ sa traikālikajñānakaraṃ hi34

Tr. One also keeps the body steady and at peace by not allowing any diviation of the body. Such a practice bestows upon knowledge of all three times (past, present and future). 34.

योगाभ्यासात्तथाध्यात्मिकबोधबीजकमुपाधिहान्या ।
भवति प्रयुक्तं ध्यानं हरेर्हीपवदज्ञाताद्यजित् ॥ ३५ ॥

yogābhyāsāttathādhyātmikabodhabījakamupādhihānyā ॥
bhavati prayuktaṃ dhyānaṃ harerddīpavadajñātādyajit ।35।

Tr. By removing the attributes through practice of *dhyāna* on *hari* in the course of *yoga* sows the seed of spiritual evolution. This enkindles wisdom like a lamp dispelling darkness of ignorance. 35.

बुद्धिप्रवाहरूपस्य ध्यानस्यास्यावलम्बनम् ।
ध्येयमित्युच्यते सद्भिस्तच्च साम्बः सदाशिवः ॥ ३६ ॥

buddhipravāharūpasya dhyānasyāsyāvalambanam ।
dhyeyamityucyate sadbhistacca sāmbaḥ sadāśivaḥ ॥36॥

Tr. The flow of consciousness makes the support for *dhyāna*. According to wise, continuation of this on *sadāśiva* along with *ambā* makes (the best) technique of *dhyāna*. 36.

ज्ञानवैराग्यसम्पन्नो नित्यमुद्रिक्तमानसः ।
श्रद्दधानः प्रसन्नात्मा ध्याता सद्भिरुदाहृता ॥ ३७ ॥

jñānavairāgyasampanno nityamudriktamānasaḥ ।
śraddadhānaḥ prasannātmā dhyātā sadbhirudāhṛtā ॥ 37 ॥

Tr. According to the wise, a practitioner of *dhyāna* is always endowed with wisdom, detachment, a poised mind, devotion and remains cheerful. 37.

.असम्प्रज्ञातपर्यन्तं परमेश्वरसंयमः ।
योगेऽनुकल्पो जीवात्मसंयमो विघ्नहेशधीः ॥ ३८ ॥

asaṃprajñātaparyantaṃ parameśvarasaṃyamaḥ ।
yoge'nukalpo jīvātmasaṃyamo vighnaheśadhīḥ ॥ 38 ॥

Tr. Till the state of *asaṃprajñāta* appears, one should practise *saṃyama* on *parameśvara*. This will help (developing) devotion and merger of *jīva* and *ātmā* (the embodied soul), which (empowers) the conscience to overcome obstacles and devotion to *īśa* (God). 38.

तथा चास्य मुखत्वं स्मर्यते । तस्मान्मुमुक्षोः सुमुखो मार्गः श्रीविष्णुसंश्रयः चित्तेन । चिन्तयानेन वञ्च्यते । ध्रुवमन्यथेति । तदेवमुपायप्रत्ययो व्याख्यातः ॥ ३९ ॥

tathā cāsya mukhatvaṃ smaryate । tasmānmumukṣoḥ sumukho mārgaḥ śrīviṣṇusaṃśrayaḥ cittena । cintayānena vañcyate । dhruvamanyatheti । tadevamupāyapratyayo hyākhyātaḥ ॥ 39 ॥

Tr. The significance of this is upheld. Therefore, for the one who is craving for liberation has the effective path of wholeheartedly surrendering to *śrīviṣṇu*. Thus one is saved from the worries. Therefore, *upāyapratyaya* (*yogic* techniques) has been narrated. 39.

असम्प्रज्ञातस्तु ध्येयाभावान्निरालम्बः ।
योगस्योत्तमाधिकारी योगारूढः ॥
स योगे उदात्त उच्यते ॥ ४० ॥

asamprajñātastu dhyeyābhāvānnirālambaḥ ।
yogasyottamādhikārī yogārūḍhaḥ ॥
sa yoge udātta ucyate ॥ 40 ॥

Tr. *asaṃprajñāta* means — where there remains no object for meditation, that forms the absolute supportlessness. A *yogārūḍha* is the one who commands expertise in *yoga*. He is considered illustrious in *yoga*. 40.

तदुक्तं गीतायाम् —

taduktaṃ gītāyāṃ

It has been stated in the *gītā* —

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ इति ॥ ४१ ॥

yadā hi nendriyārtheṣu na karmaṣvanuṣajjate ।
sarvasaṃkalpasannyāsī yogārūḍhastadocyate ॥ *iti* ॥ 41 ॥

Tr. When one does not get involved in the objects of the senses, and the *karmas* and gives up all the mental constructions, then alone one is called a *yogārūḍha*. 41.

योगारूढत्वं तु दीर्घाभ्यासपाटवादुपैति । अभ्यासो नाम चित्तस्थितौ यत्नः । यत्नो नाम ध्येयाद् बहिर्गच्छतो मनसः पौनःपुन्येन ध्येये आनयनम् ॥ ४२ ॥

yogārūḍhatvaṃ tu dīrghābhyāsapāṭavādupaiti | abhyāso nāma cittasthitau yatnaḥ | yatno nāma dhyeyād bahirgacchato manasaḥ paunaḥpunyena dhyeye ānayanam || 42 ||

Tr. The state of *yogārūḍha* is attained after a prolonged and skillful practice. Practice *(abhyāsa)* stands for putting an effort to make the mind steady. 'Putting an effort' –'*yatna*' means to bring the mind back on the object again and again which keeps on straying outwardly. 42.

तथा चोक्तं गीतायां भगवता –

tathā coktaṃ gītāyāṃ bhagavatā –

Therefore, in the *gītā* *bhagavān* has stated—

यतो यतो निश्चलति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेद् ।। इति ।। ४३ ।।

yato yato niścalati manaścañcalamasthiram |
tatastato niyamyaitadātmanyeva vaśaṃ nayed || *iti* || 43 ||

Tr. The mind which is restive and unsteady has to be brought back from the objects through discipline and has to be focused on the Self. 43.

तद्यथा –

tadyathā --

For instance—

पिण्डीकृत्याक्षवर्गं मुनिरुपल इवासीन एकान्तदेशे
श्रोत्राभ्यां नैव विन्द्यान्निनदमपि मनाक् स्पर्शमक्ष्णा च रूपम् ।।
विद्यान्नो जिह्वयेशदूरनिचयमुदाराणि कर्माणि जह्याद्
योगीन्द्रः खप्रमाथीन्यतिधृतिकलितस्तानि नैच्छेत् कदापि ।।४४।।

piṇḍīkṛtyākṣavargaṃ munirupala ivāsīna ekāntadeśe
śrotrābhyāṃ naiva vindyānninadamapi manāk sparśamakṣṇā ca rūpam ||
vidyānno jihvayeśadūranicayamudārāṇi karmāṇi jahyād
yogīndraḥ khapramāthīnyatidhṛtikalitastāni naicchet kadāpi ||44||

Tr. A *muni* withdraws all the senses and sits steadily in a desolate place like a rock. He does not listen even to a loud sound through the ears, does not feel any touch, does not see

any form through the eyes, does not taste any taste through the tongue. A *yogī* gives up all the *karmas* inclusive of the noble ones which cause afflictions and he should never aspire for them. 44.

तमो मनसि संसृज्य पञ्चवर्गं विचक्षणः ॥
समादध्यान्मनोभ्रान्तिमिन्द्रियार्थैः स पञ्चभिः ॥ ४५ ॥

tamo manasi saṃsṛjya
pañcavargaṃ vicakṣaṇaḥ ॥
samādadhyānmanobhrāntim-
indriyārthaiḥ sa pañcabhiḥ ॥ 45 ॥

Tr. *tamas* (darkness) lying in the mind is removed by a wise. The group of five senses which embodies the five objects of the senses (five) is also dissolved which causes mental illusion. 45.

पूर्वं पञ्चद्वारमत्यन्तलोला-
ऽलोलं निःसंसार्यः नालम्बमेकः ॥
नित्यं दध्याद् ध्यानमार्गे सुधीरः
स्वस्यान्तर्हृत्खैश्च पिण्डीकरोति ॥ ४६ ॥

pūrvaṃ pañcadvāramatyantalolā'-
lolaṃ niḥsaṃsāryaḥ nālambamekaḥ ॥
nityaṃ dadhyād dhyānamārge sudhīraḥ
svasyāntarhṛtkhaiśca piṇḍīkarotī ॥ 46 ॥

Tr. First of all, all the five restless senses should be completely controlled, so that not even a single object remains. A wise should regularly devout to the practice of meditation, so that he merges the heart in the void by withdrawing the senses. 46.

ध्यानपथ पूर्वो मया परिवर्णितः सुधियाम् ।
स्थानाऽध्वन्यत्र समाहितः क्षणं तिष्ठति प्राज्ञः ॥ ४७ ॥

dhyānapatha pūrvo mayā parivarṇitaḥ sudhiyām ।
sthānā'dhvanyatra samāhitaḥ kṣaṇaṃ tiṣṭhati prājñaḥ॥47॥

Tr. This is the technique of meditation narrated by me in the beginning, which is for the wise. A wise becomes

samāhita (tranquil) even if he follows this for a little. 47.

भ्रान्तं पुनर्वायुपथेन चित्तं भवत्यवार्यं प्रचलं समीरवत् ।
अपास्तखेदो गतमत्सरोऽस्तक्लेशोऽपतन्द्रः सुसमाहितमनः ॥४८॥

bhrāntaṃ punarvāyupathena cittaṃ
bhavatyavāryaṃ pracalaṃ samīravat ॥
apāstakhedo gatamatsaro'sta-
kleśo'patandraḥ susamāhitamanaḥ ॥ 48 ॥

Tr. If the mind again wonders due to the movement of *prāṇa*, which is difficult to restrain like air, a *yogī* being intuitively discriminative gives up worries, jealousy, conflicts and lethargy, thus being highly concentrated through the practice of *dhyāna*. 48.

ध्यानेन कुर्यान् मुनिराड् विचारवितर्कवांश्चानुविवेकवान् स्यात् ।
समादधानस्य मुनेस्तु पूर्वं ध्यानं भवेदात्मन उक्तरीत्या ॥ ४९ ॥

dhyānena kuryān munirāḍ vicāra-
vitarkavāṅścānuvivekavān syāt ॥
samādadhānasya munestu pūrvaṃ
dhyānaṃ bhavedātmana uktarītyā ॥ 49 ॥

Tr. A poised *yogī* who has developed an analytical and logical mind along with discrimination, gains success in the practice of *dhyāna* on the Self as told earlier. 49.

पिण्डीकृत्य प्रत्याहृत्येत्यर्थः ॥

piṇḍīkṛtya pratyāhṛtyetyarthaḥ ॥

'*piṇḍīkṛtya*' means withdrawing (the senses).

याज्ञवल्क्ये –

yājñavalkye –

According to *yājñavalkya*—

अहमेव परं ब्रह्म परमात्माहमव्ययः ।
एवं यद्वेदनं चित्ते सगुणं ध्यानमुच्यते ॥ इति ॥ ५० ॥

ahameva paraṃ brahma paramātmāhamavyayaḥ ।
evaṃ yadvedanaṃ citte saguṇaṃ dhyānamucyate ॥*iti*॥50॥

Tr. I am the Absolute *brahma*, *paramātmā* and *avyaya*.

When such a feeling arises in the mind, it is called *saguṇa dhyāna*. 50.

भागवत एकादशस्कन्धे भगवद्वाक्यम् —

bhāgavata ekādaśaskandhe bhagavadvākyam —

Here follows the words of *bhagavān* in the eleventh chapter of the *bhāgavata*—

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो मनसाकृष्य तन्मनाः ।

बुद्ध्या सारथिना धीरः प्रणमेन्मयि सर्वतः ॥ इति ॥ ५१ ॥

indriyāṇīndriyārthebhyo manasākṛṣya tanmanāḥ ।

buddhyā sārathinā dhīraḥ praṇamenmayi sarvataḥ ॥*iti*॥51॥

Tr. The senses are withdrawn from their (respective) objects with the mind by the one who is absorbed. A wise surrenders completely in me by directing the *buddhi* (discrimination) which is like a charioteer. 51.

॥ इति सुन्दरदेवविरचितायां हठतत्वकौमुद्यां ध्यानविधिविवेचनोद्योतः ॥

॥ *iti sundaradevaviracitāyāṃ haṭhatatvakaumudyāṃ dhyānavidhivivecanodyotaḥ* ॥

Here ends the chapter narrating the technique of *dhyāna* in *haṭhatatvakaumudī* composed by *sundaradeva*.

Chapter—50

अथ ध्यानसमासः —

atha dhyānasamāsaḥ —

Here follows a brief sketch of *dhyāna*—

भक्त्या भावयेच्चेतसि सम्प्रसादस्ततः स्मृतिर्ध्यानमनाकुलं ततः ।
क्रमात्स्वरूपस्य हरेः सबीजाल्लयादतोऽगर्भलयो मुनेः स्यात् ॥१॥

bhaktyā bhāvayeccetasi samprasādas-
tataḥ smṛtirdhyānamanākulaṃ tataḥ ॥
kramātsvarūpasya hareḥ sabījā-
llayādato'garbhalayo muneḥ syāt ॥ 1 ॥

Tr. Devotion (in the heart) brings pacification which results into (clarity of) memory and (the state of) poise through *dhyāna* and thereafter follows (perception of the) real form of *hari*. From absorption in *sabīja* (state) a *muni* enters (the state of) absorption in *agarbha (nirbīja)*. 1.

अतः अस्मात् —

ataḥ asmāt—

***ataḥ* means thereafter—**

विमार्गयापि प्रचलं मनो मुहुः प्रवेशयन्ती स्थितिलम्भनेन ।
मातेव भक्तिः परिपाति योगिनं कृत्वा हरेर्ध्यानसुधा लयान्ते ।२।

vimārgayāpi pracalaṃ mano muhuḥ
praveśayantī sthitilambhanena ॥
māteva bhaktiḥ paripāti yoginaṃ
kṛtvā harerdhyānasudhā layānte ॥ 2 ॥

Tr. Even if the mind gets distracted, it quickly returns to steadiness due to devotion which protects one like a mother. Devotion transforms a *yogī* and turns him towards the nectar of meditation on *hari* at the end of *laya* (absorption). 2.

उपरतिमुपयातस्यामवैराग्यभाग्यं
प्रणवजपपरस्य प्राणसंरोधनेन ॥
विचलहृदयमेतद्यावदाप्तं न भक्तेः
अमृतमचलताऽस्मिन् नास्ति तावद्धठैः किम् ॥ ३ ॥

uparatimupayātasyāmavairāgyabhāgyaṃ
praṇavajapaparasya prāṇasaṃrodhanena ॥

vicalahṛdayametadyāvadāptaṃ na bhakteḥ
amṛtamacalatā'smin nāsti tāvaddhṭhaiḥ kim ॥ 3 ॥

Tr. One who has practised *prāṇāyāma* coupled with recitation of *praṇava (om)* attains quietude and qualifies for *vairāgya* (detachment). What is the use of *haṭha* if one does not find out the nectar (Bliss) and stability for a fickle mind through *bhakti* (devotion)? 3.

आनन्दाश्रूण्यभिसृजति मुहुर्योगिनः प्रेमभक्ति-
प्रोद्यद्भागच्छरितहृदयं लीयते श्रीशरूपे ॥
प्रेम्णा सत्तद्गुणमधुसुधापानसद्ध्यानमुग्धं
सौख्याम्भोधौ प्लुतमिव सदा जायते निष्प्रपञ्चम् ॥ ४ ॥

ānandāśrūṇyabhisṛjati muhuryoginaḥ premabhakti-
prodyadbhāgaccharitahṛdayaṃ līyate śrīśarūpe ॥
premṇā sattadguṇamadhusudhāpānasaddhyānamugdhaṃ
saukhyāmbhodhau plutamiva sadā jāyate nisprapañcam ॥ 4 ॥

Tr. A *yogī* frequently gets drenched in the tears of intense Bliss arising out of love and devotion in the heart which merges in the form of *śrīśa*. The *yogī* enjoying the sweet nectar of eternal love springing out of absorption in meditation, plunges in the ocean of love. He becomes ever free from mundane paraphernalia. 4.

विवेकवैराग्य उभं सुयोगिनो-
ऽभ्यासस्तृतीयो हरिभक्तिरुत्तमा ॥
ध्यानस्य निष्पत्तिरिति त्रिभिर्भवेत्
प्राणावरोधादि यदंगमस्य तत् ॥ ५ ॥

vivekavairāgya ubhaṃ suyogino'-
bhyāsastṛtīyo haribhaktiruttamā ॥
dhyānasya nispattiriti tribhirbhavet
prāṇāvarodhādi yadaṅgamasya tat ॥ 5 ॥

Tr. For a *yogī* conscience, detachment, (regular) practice, devotion towards *hari*, *nispatti* state of *dhyāna* and *prāṇāyāma* form the components of *yoga*. 5.

अथ ध्यानम् —

atha dhyānam —

dhyāna follows—

हृत्पद्मेऽष्टदलोपेते कन्दमध्यात् समुत्थिते ।
द्वादशांगुलनालेऽस्मिन् चतुरंगुलवन्मुखे ॥ ६ ॥

hṛtpadme'ṣṭadalopete kandamadhyāt samutthite ।
dvādaśāṅgulanāle'smin caturaṅgulavanmukhe ॥ 6 ॥

Tr. One should meditate on the lotus of eight petals in the heart which shoots from *kanda* which has a stalk of twelve digits having breadth of four digits. 6.

प्राणायामैर्विकसिते केसरान्वितकर्णिके ।
वासुदेवं जगन्नाथं नारायणमजं हरिम् ॥ ७ ॥

prāṇāyāmairvikasite kesarānvitakarṇike ।
vāsudevaṃ jagannāthaṃ nārāyaṇamajaṃ harim ॥ 7 ॥

चतुर्बाहुमुदारांगं शंखचक्रगदाधरम् ।
किरीटकेयूरधरं पद्मपत्रनिभेक्षणम् ॥ ८ ॥

caturbāhumudārāṅgaṃ śaṅkhacakragadādharam ।
kirīṭakeyūradharaṃ padmapatranibhekṣaṇam ॥ 8 ॥

श्रीवत्सवक्षसं विष्णुं पूर्णचन्द्रनिभाननम् ।
पद्मोदरतलाभाक्षं सुप्रसन्नं शुचिस्मितम् ॥ ९ ॥

śrīvatsavakṣasaṃ viṣṇuṃ pūrṇacandranibhānanam ।
padmodaratalābhākṣaṃ suprasannaṃ śucismitam ॥ 9 ॥

शुद्धस्फटिकसंकाशं पीतवाससमच्युतम् ।
पद्मच्छविपदद्वन्द्वं परमात्मानमीश्वरम् ॥ १० ॥

śuddhasphaṭikasaṅkāśaṃ pītavāsasamacyutam ।
padmachavipadadvandvaṃ paramātmānamīśvaram ॥10॥

प्रभाभिर्भासयद्रूपं परितः पुरुषोत्तमम् ।
मनसालोक्य देवेशं सर्वभूतहृदि स्थितम् ॥
सोऽहमात्मेति विज्ञाय सगुणं ध्यानमुत्तमम् ॥ ११ ॥

prabhābhirbhāsayadrūpaṃ paritaḥ puruṣottamam ।
manasālokya deveśaṃ sarvabhūtahṛdi sthitam ॥
so'hamātmeti vijñāya saguṇaṃ dhyānamuttamam ॥ 11 ॥

Tr. Practice of *prāṇāyāma* which blossoms through the pericurp adorned with filament (wherein) *vāsudeva*, *jagannātha*, *nārāyaṇa*, the Unborn, *hari*, who has four hands with a handsome body, holding a conch, a wheel *(cakra)* and a club, a crown and

peacock feather (adorning the crown), eyes like the blossoming lotus, the chest embossed with *śrīvatsa*, who is *viṣṇu* whose face is as bright as the full moon, and eyes as shinning as the core of the lotus, who is very delighted and smiling, who is *acyuta* wearing a yellow drape, who is as blazing as the pure crystal, who has the pair of feet like lotus, who is but *paramātmā, īśvara* who is the Supreme *puruṣa* who enlightens everything with His brightness. He is *deveṣa* (God of all gods) residing in every heart. `That *ātmā* is me' — this realization should be followed which forms the *saguṇa* kind of meditation which is considered superior. 7-11.

इति योगयाज्ञवल्क्यात् ॥

iti yogayāñjyavalkyāt ॥

This is quoted from *yoga-yājñavalkya.*

तथा च भागवते –

tathā ca bhāgavate -

It has been said also in *bhāgavata*—

केचित् स्वदेहान्तहृदयावकाशे प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम् ।
चतुर्भुजं कञ्जरथांगशंखगदाधरं धारणया स्मरन्ति ॥ १२ ॥

kecit svadehāntahṛdayāvakāśe
prādeśamātraṃ puruṣaṃ vasantam ॥
caturbhujaṃ kañjarathāṅgaśaṅkha-
gadādharaṃ dhāraṇayā smarani ॥ 12 ॥

प्रसन्नवक्त्रं नलिनायतेक्षणं कदम्बकिंजल्कपिशंगवाससम् ।
लसन्महारत्नहिरण्मयांगं स्फुरन् महारत्नकिरीटकुण्डलम् ॥१३॥

prasannavaktraṃ nalināyatekṣaṇaṃ
kadambakiñjalkapiśaṅgavāsasam ॥
lasanmahāratnahiraṇmayāṅgaṃ
sphuran mahāratnakirīṭakuṇḍalam ॥ 13 ॥

Tr. Some meditate consistently on the *puruṣa* (the Supreme Being) residing in the space of the heart in the body pervading the whole region, having four arms holding lotus, a *cakra* (wheel), conch and a club, having a pleasing countenance, eyes like a lotus, wearing the tawny cloth as shinning as the filament of a lotus, sparkling great jewels on the body, the

crown and *kuṇḍala* with a shinning big jewel. 12-13.

उन्निद्रहृत्पंकजकर्णिकालये योगेश्वरा स्थापितपादवल्लभम् ।
श्रीलक्ष्मणं कौस्तुभरत्नकधरमम्लानलक्ष्म्या वनमालयाञ्चितम् ॥१४॥

unnidrahṛtpaṅkajakarṇikālaye
yogeśvarā sthāpitapādavallabham ॥
śrīlakṣmaṇaṃ kaustubharatnakadharam-
amlānalakṣmyā vanamālayāñcitam ॥ 14 ॥

Tr. The *yogīs* establish the holy feet along with *śrīlakṣmaṇa* (having signs of *śrīlakṣmī*) adorned with the jewel of *kaustabha* and delightful *lakṣmī* having garland in the head in the blossomed lotus of the *citta*. 14.

विभूषितं मेखलयांगुलीयकैर्महाधनैर्नूपुरकंकणादिभिः ।
स्निग्धामलाकुञ्चितनीलकुन्तलैर्विरोचमानाननहासपेशलम् ॥ १५ ॥

vibhūṣitaṃ mekhalayāṅgulīyakair-
mahādhanairnūpurakaṅkaṇādibhiḥ ॥
snigdhāmalākuñcitanīlakuntalair-
virocamānānanahāsapeśalam ॥ 15 ॥

Tr. He is decorated with waistband, highly precious rings, anklets and bracelets. He has flowing soft curling beautiful dark hair and a smiling face. 15.

अदीनलीलाहसितेक्षणाल्लसद्भ्रूभंगसम्भूतभूर्यनुग्रहम् ।
ईक्षेत चिन्तामयमेनमीश्वरं यावन्मनोधारणयावतिष्ठते ॥ १६ ॥

adīnalīlāhasitekṣaṇāllasadbhrū-
bhaṅgasambhūtabhūryanugraham ॥
īkṣate cintāmayamenamīśvaraṃ
yāvanmanodhāraṇyāvatiṣṭhate ॥ 16 ॥

Tr. One should visualize and meditate on this *īśvara* who is graceful, glancing with a pleasant smile, bestowing immense grace with a knitting of the eyebrows, so long as the mind remains in the state of *dhāraṇā*. 16.

एकैकशोऽगानि धिया च भावयेत्
पादादि यावद्धसितं गदाभृतः ॥
जितं जितं स्थानमपोह्य धारयेत्
परं परं शुद्ध्यति धीर्यथा यथा ॥ १७ ॥

ekaikaśo'ṅgāni dhiyā ca bhāvayet
pādādi yāvaddhasitaṃ gadābhṛtaḥ ||
jitaṃ jitaṃ sthānamapohya dhārayet
paraṃ paraṃ śudhyati dhīryathā yathā || 17 ||

Tr. One should hold the mind on a particular limb like feet etc. after visualizing the smiling (God *viṣṇu*) holding the club and then leaving for another limb. Thus consequently the mind gets purified. 17.

यावन्न जायेत परावरेऽस्मिन् विश्वेश्वरे द्रष्टरि भक्तियोगः ।
तावत् स्थवीयः पुरुषस्य रूपं क्रियावसाने प्रयत स्मरेत ॥इति॥१८॥

yāvanna jāyeta parāvare'smin
viśveśvare draṣṭari bhaktiyogaḥ ||
tāvat sthavīyaḥ puruṣasya rūpaṃ
kriyāvasāne prayat smareta || *iti* || 18 ||

Tr. So long as one does not inculcate *bhaktiyoga* (devotion) in *viśveśvara* who is the Absolute Seer, one should meditate on gross form, activities and their results. Therefore, one should meditate on Him. 18.

इति याज्ञवल्क्ये ॥

iti yājñavalkye ||

This above is quoted from *yājñyavalkya*.

भ्रुवोः मध्येऽन्तरात्मानं भारूपं सर्वकारणम् ।
स्थाणुवत् मूर्धपर्यन्तं मध्यदेहात् समुत्थितम् ॥ १९ ॥

bhruvoḥ madhye'ntarātmānaṃ
bhārūpaṃ sarvakāraṇam ||
sthāṇuvat mūrdhaparyantaṃ
madhyadehāt samutthitam || 19 ||

जगत्कारणमव्यक्तं ज्वलन्तममितौजसम् ।
मनसालोक्य सोऽहं स्यामित्येतद् ध्यानमुत्तमम् ॥ २० ॥

jagatkāraṇamavyaktaṃ jvalantamamitaujasam |
manasālokya so'haṃ syāmityetad dhyānamuttamam ||20||

Tr. One should meditate on the *ātmā*, which originates from the center of the body and reaches up to the top of the head and is stable-- the Absolute cause, who is in the form of illumination at the centre of the eyebrows. One meditates upon

the cause of the creation who is unmanifest, blazing with lustre and thinking 'May I be That'. This forms the superior technique of meditation. 19-20.

अथ वा बद्धपर्यंकः शिथिलीकृतविग्रहः ।
शिव एव स्वयं भूत्वा नासाग्रारोपितेक्षणः ॥ २१ ॥
atha vā baddhaparyaṅkaḥ śithilīkṛtavigrahaḥ ।
śiva eva svayaṃ bhūtvā nāsāgrāropitekṣaṇaḥ ॥ 21 ॥

Tr. Or else – adopt *baddhaparyaṅka āsana* and keep the body relaxed. Imagine yourself as *śiva* while keeping the gaze at the tip of the nose. 21.

निर्विकारं शिवं शान्तं परमात्मानमव्ययम् ।
भारूपममृतं ध्यायेद् भ्रुवोर्मध्ये वरानने ॥ २२ ॥
nirvikāraṃ śivaṃ śāntaṃ paramātmānamavyayam ।
bhārūpamamṛtaṃ dhyāyed bhruvormadhye varānane।22।

Tr. O beautiful lady! One should meditate on *śiva* who is *nirvikāra* (without mutation), *paramātman*, peaceful, *avyaya* (eternal), in the very form of illumination and *amṛta* (immortal) at the center of the eyebrows. 22.

सोहमेवेति या बुद्धिः सा च ध्याने प्रशस्यते ।
अहमेव परं ब्रह्म परमात्माहमव्ययम् ॥
एवं यद्वेदनं ध्येये सगुणध्यानमुच्यते ॥ इति ॥२३ ॥
sohameveti yā buddhiḥ sā ca dhyāne praśasyate ।
ahameva paraṃ brahma paramātmāhamavyayam ॥
evaṃ yadvedanaṃ dhyeye saguṇadhyānamucyate ।*iti*।23।

Tr. Attitude of 'I am That' is considered beneficial. 'I am eternal *paramātmā* and *brahma* the immutable'—such a feeling in the course of meditation is known as *saguṇa dhyāna*. 23.

बोधेत्तदीशप्रणिधातो हठात् ध्यानेऽमनस्के सगुणस्वरूपे ।
जीवात्मनोरैक्यमनुक्रमेण स्वयं भवेद्यत्र स मोक्ष उक्तः ॥ २४ ॥
bodhettadīśapraṇidhāto haṭhāt
dhyāne'manaske saguṇasvarūpe ॥
jīvātmanoraikyamanukrameṇa
svayaṃ bhavedyatra sa mokṣa uktaḥ ॥ 24 ॥

Tr. In the course of meditation through *haṭha* practice remains in the state of *amanaska* (no mind), while meditating on *īśa* with his attributes (*saguṇa*), followed by unification of *jīva* and *ātman*. This is called (liberation). 24.

तद्यथा –

tadyathā—

Therefore—

ध्येयः पुरा शंखगदादिमान् हरिर्यदा ह्यवस्था भवतीह धारणा ।
तदा किरीटांगदभूषणोज्झितं ध्यायेत्तदेकावयवन्तमच्युतम् ॥२५॥

dhyeyaḥ purā śaṅkhagadādimān harir-
yadā hyavasthā bhavatīha dhāraṇā ॥
tadā kirīṭāṅgadabhūṣaṇojjhitaṃ
dhyāyettadekāvayavantamacyutam ॥ 25 ॥

Tr. *hari* holding conch and club etc. should initially be meditated upon. When such a stage of *dhāraṇā* appears, then one should meditate only *acyuta* alone without crown and ornaments. 25.

ततश्च सोऽहं हठभावबुद्ध्या
सत्वोऽथ यातं प्रणिधाय मानसे ॥
अहन्तया ध्यानपरो मुनिः स्याज्
जित्वाऽधरां भूमिमथोत्तरां विशेत् ॥ २६ ॥

tataśca so'haṃ haṭhabhāvabuddhyā
satvo'tha yātaṃ praṇidhāya mānase ॥
ahantayā dhyānaparo muniḥ syāj-
jitvā'dharāṃ bhūmimathottarāṃ viśet ॥ 26 ॥

Tr. Thereafter, having been replete with *satva* and intensely feeling—'I am That' in the mind, a *yogī* meditates with this transformed ego, leaves the lower benefits and attains the higher state. 26.

अथ निर्गुणध्यानम् —

atha nirguṇadhyānam—

Here follows the narration of *nirguṇa dhyāna*—

तद्यथा याज्ञवल्क्ये –

tadyathā yājñavalkye—

It has been held in *yājñavalkya*—

ध्यानं तु सम्प्रवक्ष्यामि शृणु गार्गि वरानने ।

ध्यानमेव हि जन्तूनां कारणं बन्धमोक्षयोः ॥ २७ ॥

dhyānaṃ tu sampravakṣyāmi śṛṇu gārgi varānane ।
dhyānameva hi jantūnāṃ kāraṇaṃ bandhamokṣayoḥ ।27।

Tr. O beautiful lady, *gārgi*! Now I shall narrate the technique of meditation which you may listen to. For the living creatures *dhyāna* makes the very cause of bondage and liberation. 27.

ध्यानमात्मस्वरूपस्य वेदनं मनसा खलु ।

सगुणं निर्गुणं तच्च सगुणं बहुधा स्मृतम् ॥ २८ ॥

dhyānamātmasvarūpasya vedanaṃ manasā khalu ।
saguṇaṃ nirguṇaṃ tacca saguṇaṃ bahudhā smṛtam ॥28॥

Tr. The form of the true Self is indeed realized by the mind in *dhyāna*. *dhyāna* is *saguṇa* and *nirguṇa*. Moreover, *saguṇa* is of various kinds. 28.

यत्रोत्तमानि तत्राहुर्वैदिकानि द्विजोत्तमे ।

एषु मुख्यतमास्तिस्र एक एव तु निर्गुणम् ॥ २९ ॥

yatrottamāni tatrāhurvaidikāni dvijottame ।
eṣu mukhyatamāstisra eka eva tu nirguṇam ॥ 29 ॥

Tr. O great *dvija*! The superior (techniques of meditation) are the *vaidika* ones, among which these are three prominent ones. But *nirguṇa* is only one. 29.

मर्मस्थानानि नाडीनां संस्थानं च पृथक् पृथक् ।

वायूनां स्थानकर्माणि ज्ञात्वा कुर्वात्मवेदनम् ॥ ३० ॥

marmasthānāni nāḍīnāṃ saṃsthānaṃ ca pṛthak pṛthak ।
vāyūnāṃ sthānakarmāṇi jñātvā kurvātmavedanam ॥30॥

Tr. There are various vital points (*marmas*) and locations of the *nāḍīs*. There are also various locations and functions of *prāṇa* which one should know to realize the Self. 30.

ध्येयस्य नानाविधकल्पनोज्झितं स्वरूपसञ्चिन्तनमात्मनो हृदा ।

यद्ध्याननिष्पाद्यमसौ समाधिर्ध्यानं स्मृतं ध्येयसुकल्पनांके ॥३१॥

dhyeyasya nānāvidhakalpanojjhitaṃ
svarūpasañcintanamātmano hṛdā ॥

yaddhyānaniṣpādyamasau samādhir-
dhyānaṃ smṛtaṃ dhyeyasukalpanāṅke ॥ 31 ॥

Tr. When one is busy in chosen mental constructions it is called *dhyāna*. Meditation on the Self in the mind while leaving aside various mental constructions, is *samādhi* which is the culmination of *dhyāna*. 31.

यत्कल्पनाहीनमजं स्वरूपं तन्निर्गुणं धाम हरेरवाच्यम् ।
निजस्वरूपे परतत्वमेतदवाप्यतेऽभ्यासबलेन चित्ते ॥ ३२ ॥

yatkalpanāhīnamajaṃ svarūpaṃ
tannirguṇaṃ dhāma hareravācyam ॥
nijasvarūpe paratatvametad-
avāpyate'bhyāsabalena citte ॥ 32 ॥

Tr. When there remains no mental construction but only the real form of *hari* who is *aja* (unborn), who is also inexplicable, it is *nirguṇa dhyāna*, the abode *(of hari)*. Through a consistent practice, one experiences the Absolute (*tatva*—Self) in one's own self (*citta*). 32.

तथा चोक्तं योगचन्द्रिकायाम् —

tathā coktaṃ yogacandrikāyām—

It has been maintained in *yogacandrikā*—

निर्मथ्यमानः सूक्ष्मत्वाद् रूपाणीमानि दर्शयेत् ।
शैशिरस्तु यथा धूमः सूक्ष्म संश्रयते नभः ॥
तथा देहाद्विमुक्तस्य पूर्वरूपं भव सुत ॥ ३३ ॥

nirmathyamānaḥ sūkṣmatvād rūpāṇīmāni darśayet ।
śaiśirastu yathā dhūmaḥ sūkṣma saṃśrayate nabhaḥ ।
tathā dehādvimuktasya pūrvarūpaṃ bhava suta ॥ 33 ॥

Tr. The form which is very subtle, can be perceived through *prāṇāyāma*, like the subtle (layers of) mist in the winter sky. Similarly, O my son! one who is liberated from the body, would be able to perceive his former form. 33.

अथ धूमस्य विरमे द्वितीयं धूमदर्शनमात्मा वायुना निर्मथ्यमानश्चाल्यमानः ॥ 34 ॥

atha dhūmasya virame dvitīyaṃ dhūmadarśanamātmā vāyunā nirmathyamānaścālyamānaḥ ॥ 34 ॥

Tr. One perceives the subtler (layer) of mist when the

gross mist subsides. Similarly, *ātmā* is activated by the *prāṇa (prāṇāyāma)* and is perceived. 34.

इमानि वक्ष्यमाणानि रूपाणि दर्शयेत् ।
क्रमतो वायुसाधनात्तानि दर्शयति ॥ ३५ ॥

imāni vakṣyamāṇāni rūpāṇi darśayet ।
kramato vāyusādhanāttāni darśayati ॥ 35 ॥

Tr. All these forms which are being told, may be shown in sequence through the practice of *prāṇāyāma*. 35.

प्रथमतः स्वल्पाभ्यासे यथा शैशिरः शिशिरर्त्तूद्भवो धूमो वाष्पम् । शिशिरे वाष्पं सूक्ष्म निःसरति । तथा योगिभिः प्रथमतो दृश्यते सूक्ष्मधूमाकारः ॥ ३६ ॥

prathamataḥ svalpābhyāse yathā śaiśiraḥ śiśirartūdbhavo dhūmo vāṣpam । *śiśire vāṣpaṃ sūkṣma niḥsarati* । *tathā yogibhiḥ prathamato dṛśyate sūkṣmadhūmākāraḥ* ॥ 36 ॥

Tr. Initially through simple practice, *ātmā* is perceived by the *yogīs* like the subtle form of mist, which is like the winter (water) vapours taking form of subtle mist (which is perceived) in the winter. 36.

आत्मा किंविशिष्टो ? धूमा सूक्ष्म अतिकृशः नभः संश्रयते । आकाशाश्रयो धूमः अतिलघु दृश्यते । अत एवोक्तं नभः संश्रयत इति ॥ ३७ ॥

ātmā kiṃviśiṣṭo? dhūmā sūkṣma atikṛśaḥ nabhaḥ saṃ śrayate । *ākāśāśrayo dhūmaḥ atilaghu dṛśyate* । *ata evoktaṃ nabhaḥ saṃśrayata iti* ॥ 37 ॥

Tr. How is *ātmā*? It is like the very subtle layer of mist particles held in the sky which can be seen. 37.

यद्वा –

yadvā

Moreover--

यथा धूमो नभः संश्रयते तथा आत्मा सूक्ष्मः पवनोर्ध्वकरणान्नभो ब्रह्माण्डं सहस्रपत्रकमलं श्रूयते ॥ इति ॥ ३८ ॥

yathā dhūmo nabhaḥ saṃśrayate tathā ātmā sūkṣmaḥ pavanordhvakaraṇānnabho brahmāṇḍaṃ sahasrapatrakamalaṃ śrūyate ॥ *iti* ॥ 38 ॥

Tr. That is why it has been said that *ātmā* which is subtle, is (seen) as it is placed in the space, just as smoke pervades the sky, which is called lotus of thousand petals through the practice of *prāṇāyāma*. 38.

तथा तेनैव प्रकारेण देहाद्विमुक्तस्य देहभिन्नस्य आत्मनः देहाद् बहिर्भ्रुवोन्तरे पूर्वरूपमुक्तं भवति ॥ ३९ ॥

tathā tenaiva prakāreṇa dehādvimuktasya dehabhinnasya ātmanaḥ dehād bahirbhruvorantare pūrvarūpamuktaṃ bhavati ॥ 39 ॥

Tr. In the same manner, *ātmā* which has been liberated from the body and from its earlier form, is seen at the center of the eyebrows. 39.

उत वितर्को । अथ तदनन्तरं धूमस्य विरमे पूर्वधूमसमाप्ते द्वितीयं धूमदर्शनं धूमान्तरे स्थूलधूमसदृशमित्यर्थः ॥ ४० ॥

uta vitarko । *atha tadanantaraṃ dhūmasya virame pūrvadhūmasamāpte dvitīyaṃ dhūmadarśanaṃ dhūmāntare sthūladhūmasadṛśamityarthaḥ* ॥ 40 ॥

Tr. Here arises a doubt. When the earlier mist subsides, the later form of mist may be seen, which is grosser than the former. 40.

जलरूपमिवाकाशे तत्रैवात्मनि पश्यति ।
अपां व्यतिक्रमेणैव वह्निरूपं प्रकाशते ॥ ४१ ॥

jalarūpamivākāśe tatraivātmani paśyati ।
apāṃ vyatikrameṇaiva vahnirūpaṃ prakāśate ॥ 41 ॥

Tr. Just as the water (vapour) is seen in the sky, similarly, *ātmā* is seen like water in the sky, after which it is seen in the form of fire. 41.

तस्मिन्नपरते चास्य पीतवस्त्रवदिष्यते ।
उल्कारुणस्वरूपस्य तस्य रूपं प्रकाशते ॥ ४२ ॥

tasminnaparate cāsya pītavastravadiṣyate ।
ulkāruṇasvarūpasya tasya rūpaṃ prakāśate ॥ 42 ॥

Tr. After disappearance of fire, the form of *ātmā* appears like a yellow cloth which further appears like the sparkling reddish meteor. 42.

स्थूलधूमनिवृत्ते कौ आकाशे भ्रुवोरन्तरे जलरूपमिव पानीयाकारसदृशमात्मानं योगी पश्यति ॥ ४३ ॥

sthūladhūmanivṛtte kau ākāśe bhruvorantare jalarūpamiva pānıyākārasadṛśamātmānaṃ yogī paśyati ॥42॥

Tr. When the gross smoke gets subsided, in the space between two eyebrows a *yogī* sees the *ātman* in the form of the water. 43.

शरीरे पुनरपां व्यतिक्रमे जलरूपसमाप्तौ वह्निरूपं प्रकाशते । अग्निरूपं योगी आत्मानं क्रमशः पश्यति ॥ ४४ ॥

śarire punarapāṃ vyatikrame jalarūpasamāptau vahnirūpaṃ prakāśate । *agnirūpaṃ yogī ātmānaṃ kramaśaḥ paśyati* ॥ 44 ॥

Tr. In the body, when the water form is transcended, the form of fire appears. Then the *yogī* subsequently sees the *ātman* in the form of fire. 44.

पुनस्तस्मिन् अपरते वह्निरूपसमाप्तौ आत्मा पीतवस्त्रवदिष्यते । यथा पीतवस्त्रे रूपं तथा आत्मन इष्यते अनुमीयते ॥ ४५ ॥

punastasmin aparate vahnirūpasamāptau ātmā pītavastravadiṣyate yathā pītavastre rūpaṃ tathā ātmana iṣyate anumīyate ॥ 45 ॥

Tr. When this (phase) also gets over, that is, when the form of fire is surpassed, *ātmā* appears like a form on the yellow cloth. In this way *ātmā* is inferred. 45.

सर्वं दृष्ट्या यदा स्थैर्यं तदा मुख्यं रूपं पीतं प्रकाशते । प्रकटं भवति ॥ ४६ ॥

sarvaṃ dṛṣṭyā yadā sthairyaṃ tadā mukhyaṃ rūpaṃ pītaṃ prakāśate । *prakaṭaṃ bhavati* ॥ 46 ॥

Tr. When all the (phases) become stable, then the prominent form (of *ātmā)* is manifested in yellow. 46.

आत्मनः अस्माद् उपाभावस्तस्य किंविशिष्टस्य उल्कारुणस्य उल्केव सवलिततारेव । अरुणः पीतारक्तः सवर्णो रूपं यस्य तस्येति संक्षेपः ॥ ४७ ॥

ātmanaḥ asmād upābhāvastasya kiṃviśiṣṭasya ulkāruṇasya ulkeva savalitatāreva । *aruṇaḥ pītāraktaḥ savarṇo rūpaṃ yasya tasyeti saṅkṣepaḥ* ॥ 47 ॥

Tr. From this the form of *ātmā* manifests in red and yellow like gold which has the hue of a mateor. 47.

अत एवोक्तं मानसोल्लासे –

ata evoktaṃ mānasollāse –

It has been stated in *mānasollāsa*—

अग्निस्फुलिंगज्योतिरूपाणि शक्तिबोधे योगी सुषुम्णायां पश्यति ॥ इति ॥ ४८ ॥

agnisphuliṅgajyotirūpāṇi śaktibodhe yogī suṣumṇāyāṃ paśyati ॥ *iti* ॥ 48 ॥

Tr. A *yogī* perceives the illuminated sparkling forms of fire in the passage of *suṣumnā* when *śakti* is awakened. 48.

यथा--

yathā--

It is said--

तनूनपात्तडित्तारतारेशतपनोपमम् ।

ब्रह्मनाडीगते प्राणे चिदं रूपं च पश्यति ॥ इति ॥ ४९ ॥

tanūnapāttaḍittāratāreśatapanopamam ।

brahmanāḍīgate prāṇe cidaṃ rūpaṃ ca paśyati ॥ *iti* ॥ 49 ॥

Tr. When *prāṇa* moves in *suṣumnā*, it makes sound of fire, loud thunders and shrill sound of blowing air and one perceives one's conscious form (of the Self). 49.

Note: See HR II-148. 49.

यथा ह्यकस्मात्तरुमूर्ध्नि पक्षी विलोक्यतेऽन्वेषतः पुरः स्वे ।

तथां विभुश्चित्तगतश्चिदात्मा सगित्ययं दृष्टिपथं प्रयाति ॥५०॥

yathā hyakasmāttarumūrdhni pakṣī

vilokyate'nveṣataḥ puraḥ sve ॥

tathā vibhuścittagataścidātmā

sagityayaṃ dṛṣṭipathaṃ prayāti ॥ 50 ॥

Tr. While one searching for a bird, sees it suddenly on the top of the tree, similarly, the all-pervading *ātmā* comes on the path of perception in the *citta* all of a sudden. 50.

अभ्यासतो ज्ञानदृशा विलोक्यते

देवो महेशो निजबोधरूपकः ॥

श्रुत्वापि दृष्ट्वा न हि वेत्ति कश्चना-
त्मानं वधूः क्वाहमिव क्षणरतौ ॥ ५१ ॥

abhyāsato jñānadṛśā vilokyate
devo maheśo nijabodharūpakaḥ ।
śrutvāpi dṛṣṭvā na hi vetti kaścanā-
tmānaṃ vadhūḥ kvāhamiva kṣaṇaratau ॥ 51 ॥

Tr. Through practice developing the insight into the knowledge, *maheśa (śiva)* who is one's own form, manifests. Even by seeing or hearing one does not realize *ātmā*, just as a bride forgets about herself during copulation. 51.

तेजःपरं द्युतिमतां तमसः परस्ताद् । आत्मरूपदर्शनं यथा ॥

tejaḥparaṃ dyutimatāṃ tamasaḥ parastād । *ātmarūpadarśanaṃ yathā* ॥

The effulgent *ātmā* is seen beyond *tamas*.

इत्यादि योगचन्द्रिकायाम् ॥

ityādi yogacandrikāyām ॥

It all has been stated in *yogacandrikā*—

आत्मवर्णं तु योगेन पश्यति स्फटिकोपमम् ।
युक्तो यः शक्तिभेदेन स्वयमात्मा प्रशस्यते ॥ ५२ ॥

ātmavarṇaṃ tu yogena paśyati sphaṭikopamam
yukto yaḥ śaktibhedena svayamātmā praśasyate ॥ 52 ॥

Tr. Through the piercing of *kuṇḍalinī* in the practice of *yoga*, the form of *ātmā* which is as pure as crystal, is perceived. 52.

आत्मवर्णं आत्मरूपम् । योगेन योगाभ्यासेन । स्फटिकवन्निर्मलमात्मनि पश्यति ॥ ५३ ॥

ātmavarṇaṃ ātmasvarūpaṃ । *yogena yogābhyāsena* । *sphaṭikavannirmalamātmani paśyati* ॥ 53 ॥

Tr. *ātmavarṇaṃ* means form of *ātman*. *yogena* means through the practice of *yoga*. *ātmā* is seen as clear as crystal. 53.

यदा शक्तिभेदेन युक्तो वायुः शक्त्या भिद्यते शक्तिभेदस्तेन यथा कुञ्चिकया कपाटं भिद्यते । तथा शक्त्या कुण्डल्या चक्रं भिद्यते । तेन स्वयं सहजतः स्वभावात् आत्मा प्रशस्यते दृश्यो भवतीत्यर्थः ॥ ५४ ॥

yadā śaktibhedena yukto vāyuḥ śaktyā bhidyate śaktibhedastena yathā kuñcikayā kapāṭaṃ bhidyate । tathā śaktyā kuṇḍalyā cakraṃ bhidyate । tena svayaṃ sahajataḥ svabhāvāt ātmā praśasyate dṛśyo bhavatītyarthaḥ ॥ 54 ॥

Tr. The *prāṇa* awakens the *śakti (kuṇḍalinī)* like a key opens a door. Moreover, *śakti (kuṇḍalī)* pierces the *cakras* as a result of which *ātmā* is manifested on its own. 54.

तद्यथा उक्तं ग्रन्थान्तरे –

tadyathā uktaṃ granthāntare –

It has been stated in another scripture—

यदैतान्यवतिष्ठन्ति मनःषष्ठानि चात्मनि ।
प्रसीदन्तावसंस्थाय तदा ब्रह्म प्रकाशते ॥ ५५ ॥

yadaitānyavatiṣṭhanti manaḥṣaṣṭhāni cātmani ।
prasīdantāvasaṃsthāya tadā brahma prakāśate ॥ 55 ॥

Tr. When all these (five senses) inclusive of the sixth i.e. mind are turned towards *ātman* and one remains in a poised state, then alone *brahma* is manifested. 55.

विधूम इव दीप्तार्चिरादित्य इव मूर्तिमान् ।
वैद्युतोऽग्निरिवाकाशे पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥ ५६ ॥

vidhūma iva dīptārcirāditya iva mūrtimān ।
vaidyuto'gnirivākāśe paśyatyātmānamātmani ॥ 56 ॥

Tr. Like a lamp without smoke or the illuminated sun or the light of the lightning in the sky, *ātmā* is seen in the *ātmā*. 56.

गिरःशृंगे तथा चैत्ये वृक्षाग्रेषु च योजयेत् ।
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं कोष्ठे भाण्डमणिमिव ॥ ५७ ॥

giraḥśṛṅge tathā caitye vṛkṣāgreṣu ca yojayet ।
sanniyamyendriyagrāmaṃ koṣṭhe bhāṇḍamaṇimiva ॥57॥

Tr. After controlling the host of the senses, *ātmā* which is like a jewel kept in a casket, is seen on the top of the mountain, or in the caves or on top of a tree. 57.

एकान्ते चिन्तयेन्नित्यं योगात्रोद्वेजयेन्मनः ।
येनोपायेन शक्येत सन्नियन्तुं चलं मनः ॥ इति ॥ ५८ ॥

ekānte cintayennityaṃ yogānnodvejayenmanaḥ ।
yenopāyena śakyeta sanniyantuṃ calaṃ manaḥ ॥ *iti* ॥58॥

Tr. One should meditate in a secluded place not allowing the mind to get distracted from *yoga*, adopting whichever method is possible to control the fickle mind. 58.

तत्वध्यानं निर्गुणं यतः स्वयमेवोत्पद्यते न क्रियते ॥ ५९ ॥

tatvadhyānaṃ nirguṇaṃ yataḥ svayamevotpadyate na kriyate ॥ 59 ॥

Tr. The state of *nirguṇa* that is *tatvadhyāna* (meditation on *tatva*—*ātmā*) arises on its own and not attempted. 59.

॥ इति सुन्दरदेवविरचितायां हठतत्वकौमुद्यां सगुणनिर्गुणध्यानविवेचनोद्योतः ॥

॥ *iti sundaradevaviracitāyāṃ haṭhatatvakaumudyāṃ saguṇanirguṇadhyānavivecanodyotaḥ* ॥

Here ends the chapter narrating *saguṇa* and *nirguṇa dhyāna* in *haṭhatatvakaumudī* composed by *sundaradeva*.

Chapter—51

अथ समाधिः —

atha samādhiḥ—

Here follows *samādhi*—

असौ सम्प्रज्ञातासम्प्रज्ञातभेदाद्विविधः ॥

asau samprajñātāsamprajñātabhedād dvividhaḥ ॥

It is of two kinds—*samprajñāta* and *asamprajñāta*.

तत्र यथा स्कान्दे —

tatra yathā skānde—

It has been stated in *skanda (-purāṇa)*—

वृत्तिहीनं मनः कृत्वा क्षेत्रज्ञं परमात्मनि ।
एकीकृत्य विमुच्येत योगयुक्तः स उच्यते ॥ १ ॥

vṛttihīnaṃ manaḥ kṛtvā kṣetrajñaṃ paramātmani ।
ekīkṛtya vimucyeta yogayuktaḥ sa ucyate ॥ 1 ॥

Tr. One frees the mind of its modifications and unites *ātmā* in *paramātmā* which brings liberation. Such a person is called a *yogī*. 1.

बहिर्मुखानि च सर्वाणि कृत्वान्यन्तराणि वै ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं मनश्चात्मनि योजयेत् ॥ २ ॥

bahirmukhāni ca sarvāṇi kṛtvānyantarāṇi vai ।
manasaivendriyagrāmaṃ manaścātmani yojayet ॥ 2 ॥

Tr. The outgoing tendency of the senses is turned inwardly through mind and the mind is united with *ātmā*. 2.

सर्वभावविनिर्मुक्तं क्षेत्रज्ञं ब्रह्मणि न्यसेत् ।
एतद्ध्यानं च योगश्च शेषोऽन्यो ग्रन्थविस्तरः ॥ ३ ॥

sarvabhāvavinirmuktaṃ kṣetrajñaṃ brahmaṇi nyaset ।
etaddhyānaṃ ca yogaśca śeṣo'nyo granthavistaraḥ ॥ 3 ॥

Tr. One unites *kṣetrajña (ātmā)* after making it free from all the *bhāvas* (modifications) in *brahma*. This makes the actual technique of *dhyāna* and the true form of *yoga*. Everything else is only elaboration. 3.

अस्यार्थः —

asyārthaḥ—

It means—

पराक्प्रवणविषयाभिमुखप्रवृत्तिशीलस्यान्तःकरणस्य विषयेभ्यो निवर्त्य प्रत्यंमुखीकरणात्मप्रयासापेक्षाविशिष्टा जीवरूपेण व्यावृत्ता मनसा करणभूतेनोत्पादिता या गतिस्तस्या ब्रह्मणि विषये यश्च संयोगी जीवस्य ब्रह्माभेदचिन्तनात् सम्प्रज्ञातलक्षणः समाधिरुक्त इति ॥ ४ ॥

parāk-pravaṇaviṣayābhimukha-pravṛttiśīlasyāntaḥ-karaṇasya viṣayebhyo nivarttya pratyaṁmukhīkaraṇātmaprayāsāpekṣāviśiṣṭā jīvarūpeṇa vyāvṛttā manasā karaṇabhūtenotpāditā yā gatistasyā brahmaṇi viṣaye yaśca saṃyogī jīvasya brahmābheda-cintanāt samprajñātalakṣaṇaḥ samādhirukta iti ॥ 4 ॥

Tr. The senses which have a tendency to move outwardly are withdrawn from their objects and turned towards the Self which is *jīva*. This is done with the help of the mind along with its senses. Thus one moves towards *brahma*. A *yogī* considers *jīva* and *brahma* as one. This brings about the state of *saṃprajñāta samādhi*. 4.

भारते –

bhārate—

It has been stated in *(mahā-) bhārata*—

अर्थमात्रं तूपग्राह्ये चित्तमादाय पार्थिवः ।
अर्थस्वरूपवत् भाति समाधिः सोऽभिधीयते ॥ इति ॥ ५ ॥

arthamātraṃ tūpagrāhye cittamādāya pārthivaḥ ।
arthasvarūpavat bhāti samādhiḥ so'bhidhīyate ॥ *iti* ॥ 5 ॥

Tr. When there remains consciousness alone of the object of meditation along with *citta* (mind), it is called *samādhi*. 5.

अयं समाधिरसम्प्रज्ञातेरंगमेष सम्प्रज्ञातरूपः ।
समाधिस्तुर्यैर्भेदैर्भिद्यते चास्मिताद्यैः संक्षेपेण प्रोच्यते ॥ ६ ॥

ayaṃ samādhirasaṃprajñāter-
aṅgameṣa saṃprajñātarūpaḥ ॥
samādhisturyairbhedairbhidyate
cāsmitādyaiḥ saṃkṣepeṇa procyate ॥ 6 ॥

Tr. *samādhi* is four-fold like *asmitā* etc. which is narrated in short. *saṃprajñāta (samādhi)* forms a part of *asaṃprajñāta (samādhi)*. 6.

तत्प्रभेदज्ञानं भाष्ये विस्तरतोऽस्यावधेयः ॥

tatprabhedajñānaṃ bhāṣye vistarato'syāvadheyaḥ ॥

The details of this is noted in *bhāṣya* which should be consulted.

सन्देहकोटिक उपस्थितिको वितर्को
ध्येये विचार इह निर्णयतः स्थितिर्या ॥
स्थूले पुराऽणुनिचयसंयमतः सुखस्य
साक्षात्कृतौ चिदहमस्मिविदस्मिता ॥ इति ॥ ७ ॥

sandehakoṭika upasthitiko vitarko
dhyeye vicāra iha nirṇayataḥ sthitiryā ॥
sthūle purā'ṇunicayasaṃyamataḥ sukhasya
sākṣātkṛtau cidahamasmividasmitā ॥ *iti* ॥ 7 ॥

Tr. Where there arises doubtful knowledge, it is the state of *vitarka*. When one firmly gets established in the object of meditation, it is *vicāra*-state. When one does *saṃyama* of the subtle on the gross object of meditation and realizes the Bliss, it is *ānanda* and when one identifies the ego (I-ness) as the consciousness, it is *asmitā*. 7.

तथा चोक्तं कौर्म्ये —

tathā coktaṃ kaurmye

It is said in *kūrma(-purāṇa)*—

यत्र पश्यति चात्मानं नित्यानन्दनिरञ्जनम् ।
मामेकं स महायोगी भाषितः परमेश्वरः ॥ इति ॥ ८ ॥

yatra paśyati cātmānaṃ nityānandanirañjanam ।
māmekaṃ sa mahāyogī bhāṣitaḥ parameśvaraḥ ॥ *iti* ॥ 8 ॥

Tr. One who sees the ever-Blissful Pure *ātmā* in me is considered a *mahāyogī* as said by *parameśvara*. 8.

संस्कारशेषे न विलोक्यते विभुर्
गुणत्रयाणां विलये स ईक्ष्यते ॥
औपाधिको नास्य मुनेः स्वरूपके
स्थितिस्तदा ब्रह्मणि सम्भवेत्स्वयम् ॥ ९ ॥

saṃskāraśeṣe na vilokyate vibhur-
guṇatrayāṇāṃ vilaye sa īkṣyate ॥

aupādhiko nāsya munch svarūpake
sthitistadā brahmaṇi sambhavetsvayam ॥ 9 ॥

Tr. The *vibhu* (all-pervading) is not perceived on the annihilation of *saṅskāra*, but at the dissolution of the three *guṇas*. A *muni* devoid of all the attributes is established in *brahma*, the true form of the Self. 9.

यथा मलीमसे पात्रे न स्वरूपं विलोक्यते ।
तदपेतमले स्पष्टं तथाहन्ताक्षये विभुः ॥ १० ॥

yathā malīmase pātre na svarūpaṃ vilokyate ।
tadapetamale spaṣṭaṃ tathāhantākṣaye vibhuḥ ॥ 10 ॥

Tr. Image of the Self cannot be seen on a dirty vessel. But the image of the all-pervading *vibhu* (God) is clearly perceived when the dirt of ego is removed. 10.

तथा चोक्तं योगचन्द्रिकायाम् —

tathā coktaṃ yogacandrikāyām —

It has been stated in *yogacandrikā* —

शब्दादीनां तु या मात्रा यावत्कर्णादिषु स्मृतः ।
तावदेव स्मृतं ध्यानं तत्समाधिरतः परम् ॥ ११ ॥

śabdādīnāṃ tu yā mātrā yāvatkarṇādiṣu smṛtaḥ ।
tāvadeva smṛtaṃ dhyānaṃ tatsamādhirataḥ param ॥ 11 ॥

Tr. So long as *śabda* etc. are heard in the ears etc., it is called *dhyāna*. Thereafter follows *samādhi*. 11.

शब्दादीनां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानां या मात्रा यावत् सम्भवति ।
कर्णादिषु श्रवणत्वग्जिह्वाघ्राणेषु स्मृता तावत् तद्ध्यानम् ।
अतः परमस्मात् समाधिः बोद्धव्यः ॥ इति ॥ १२ ॥

śabdādīnāṃ śabdasparśarūparasagandhānāṃ yā mātrā yāvat sambhavati ।
karṇādiṣu śravaṇatvagjihvāghrāṇeṣu smṛtā tāvat taddhyānam ।
ataḥ paramasmāt samādhiḥ boddhavyaḥ ॥ *iti* ॥ 12 ॥

Tr. So long as one perceives the objects of *śabda*, *sparśa*, *rūpa*, *rasa* and *gandha* into the respective organs like ears, skin, eyes, tongue and nose, it is considered *dhyāna*. After that *samādhi* occurs. 12.

तथा चोक्तं सिद्धान्तशेखरे –

tathā coktaṃ siddhāntaśekhare—

It is stated in *siddhāntaśekhara*—

समाधिमधुना वक्ष्ये योगांगं चाष्टमं तथा ।
समाधिः समता प्रोक्ता जीवात्मपरमात्मनोः ॥ १३ ॥

samādhimadhunā vakṣye yogāṅgaṃ cāṣṭamaṃ tathā ।
samādhiḥ samatā proktā jīvātmaparamātmanoḥ ॥ 13 ॥

Tr. I now narrate *samādhi*— the eighth component of *yoga*. *samādhi* is considered the union of *jīvātmā* and *paramātmā*. 13.

द्विविधा स समाख्यातो ज्ञाताऽज्ञातप्रभेदतः ।
ध्येये शिवे सदा लीनो ध्याता तिष्ठत्यभेदतः ॥ १४ ॥

dvividhā sa samākhyāto jñātā'jñātaprabhedataḥ ।
dhyeye śive sadā līno dhyātā tiṣṭhatyabhedataḥ ॥ 14 ॥

Tr. It is of two types—*jñāta* (*saṃprajñāta*) and *ajñāta* (*asaṃprajñāta*). When one absorbs completely in *sadāśiva* as the object of meditation, (it is called *dhyāna*). 14.

अजानन्तं भवत् किञ्चिद् ज्ञानं स्यात् समाधिके ।
ध्येये शिवे विलीनः सन् ध्याता ध्येयत्वमागतः ॥ १५ ॥

ajānantaṃ bhavat kiñcid jñānaṃ syāt samādhike ।
dhyeye śive vilīnaḥ san dhyātā dhyeyatvamāgataḥ ॥ 15 ॥

Tr. In the state of *samādhi* there arises no perception or a very little perception. When the *dhyātā* (meditator) merges in *śiva* (object of meditation) he becomes the object of meditation. 15.

चिदानन्दरसोल्लासपरिपूर्णदिगन्तरः ।
चिदानन्दरसज्ञश्च यदाऽस्ते रुद्धमानसः ॥ १६ ॥

cidānandarasollāsaparipūrṇadigantaraḥ ।
cidānandarasajñaśca yadā'ste ruddhamānasaḥ ॥ 16 ॥

Tr. When mind is controlled, the exuberant flavour of eternal consciousness repletes the entire horizon and one enjoys eternal and Blissful state of consciousness. 16.

असम्प्रज्ञसमाधिः स्याद्ध्यानद्वादशकावधि ।
अगुरूक्तैः समायुक्तो ध्यानसंसक्तमानसः ॥ १७ ॥

asamprajñasamādhiḥ syāddhyānadvādaśakāvadhi ।
agurūktaiḥ samāyukto dhyānasaṃsaktamānasaḥ ॥ 17 ॥

Tr. The period of *asaṃprajñāta samādhi* is twelve times greater than that of *dhyāna*, for the one whose mind is devoted to the practice of *dhyāna* which is not instructed by a *guru*. 17.

द्वादशदिनपर्यन्तं यदा सर्वेन्द्रियविस्मरणम् ।
काष्ठकुड्यवत् स्थानं तदा समाधिरुच्यते ॥
यथाम्बुसैन्धवयोरैक्यं तथा मनसोरैक्यं समाधिः ॥ इति ॥ १८ ॥

dvādaśadinaparyantaṃ yadā sarvendriyavismaraṇam ।
kāṣṭhakuḍyavat sthānaṃ tadā samādhirucyate ॥
*yathāmbusaindhavayoraikyaṃ tathā manasoraikyaṃ samādhiḥ iti*18

Tr. When one forgets all the senses for twelve days and remains like a log of wood, it is called *samādhi*. Or when mind merges in *ātmā* like salt in water, it is called *samādhi*. 18.

यद्यत् रूपशिवस्योक्तं तत्तद्ध्यायंस्तदाप्नुयात् ।
तत्तद्भूय समाधिं च ज्ञानभेदा यथा यथा ॥ इति ॥ १९ ॥

yadyat rūpaśivasyoktaṃ
tattaddhyāyaṃstadāpnuyāt ॥
tattadbhūya samādhiṃ ca
jñānabhedā yathā yathā ॥ *iti* ॥ 19 ॥

Tr. By repeatedly meditating on a particular attribute of *śiva*, one attains the same. Moreover, by frequently entering into *samādhi* state, one gains intuitive discrimination. 19.

अथ ध्यानद्वादशकोत्तरमसम्प्रज्ञातसमाधिः —

atha dhyānadvādaśakottaramasamprajñātasamādhiḥ —

Here follows *asaṃprajñāta samādhi* which is twelve times greater than that of *dhyāna*—

तत्स्वरूपन्तु —

tatsvarūpantu —

The characteristics of which are as follows —

संस्कारशेषोऽखिलवृत्तिलैन्यावधौ निरोधो मनसः । समाधिः स्याद्ध्येयाभावान्निरालम्बः । अभ्यासाधिक्यवशात् क्रमशो हन्यादखिलसंस्कारान् ॥ २० ॥

saṃskāraśeṣo'khilavṛttilainyāvadhau nirodho manasaḥ | samādhiḥ syāddhyeyābhāvānnirālambaḥ | abhyāsādhikyavaśāt karmaśo hanyād-akhila-saṃskārān || 20 ||

Tr. Residue of *samskāras*, annihilation of all mental modifications and restraints of *manas* is the state of *samādhi* which is bereft of any object (of *dhyāna).* Intense practice gradually eliminates the entire range of *saṃskāras*. 20.

सदसज्ज्ञानविलीयनपूर्वाखिलवृत्तिसंस्कारान् ।
नाशयति यदा तदानीं निर्बीजसमाधिरुद्भवति ॥ २१ ॥

sadasajjñānavilīyanapūrvākhilavṛttisaṃskārān |
nāśayati yadā tadānīṃ nirbījasamādhirudbhavati || 21 ||

Tr. When one eliminates all the previous *saṃskāras* and (mental) modifications on dissolution of knowledge of both *sat* and *asat*, then alone the state of *nirbija samādhi* arises. 21.

असम्प्रज्ञाताऽन्त्यदशा सर्वसंस्कारदाहिका ।
प्रारब्धकर्मापि ततो न स्वपाकसमाप्तिषु ॥ २२ ॥

asamprajñātā'ntyadaśā sarvasaṃskāradāhikā |
prārabdhakarmāpi tato na svapākasamāptiṣu || 22 ||

Tr. The ultimate state of *asamprajñāta* removes all the *samskāras*. On the maturity of the *saṃskāras*, *prārabdha karmas* (*karmas* of the past lives) do not exist. 22.

समर्थं प्रभवेद्धीनं भोगसंस्कारकार्यतः ।
ततस्तु चित्तं चरिताधिकारं केवलं तदा ॥ २३ ॥

samartham prabhaveddhīnaṃ bhogasaṃskārakāryataḥ |
tatastu cittaṃ caritādhikāraṃ kevalaṃ tadā || 23 ||

Tr. Then one is able to render (the Self) free from the cycle of enjoyment and *samskāra*, which makes the *citta* useful only for remaining as part of life. 23.

प्रारब्धकर्मणा सार्द्धं संस्कारैश्च निरोधकैः ।
स्वकारणे तैः सहितं लीयत स्वस्वरूपके ॥ २४ ॥

prārabdhakarmaṇā sārddhaṃ saṃskāraiśca nirodhakaiḥ।
svakāraṇe taiḥ sahitaṃ līyata svasvarūpake ॥ 24 ॥

Tr. The *prārabdha karma* along with *samskāras* and their source having potentiality of subduing (the modifications), merge in ones own true Self. 24.

तथा च स्मर्यते–

tathā ca smaryate –

It has been stated –

मनसोऽभ्युदये नाशो मनोनाशो महोदयः ॥ इति ॥ २५ ॥

manaso'bhyudaye nāśo manonāśo mahodayaḥ ॥ *iti* ॥25॥

Tr. When the source of mind is eliminated, mind too disappears. Then Blissful state supervenes. 25.

अथ गौडपादाचार्याः –

atha gauḍapādācāryāḥ –

According to *gauḍapāda*–

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत् ।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा यदेतदन्तःकरणेन गृह्यते ॥इति॥२६॥

samādhinirdhūtamalasya cetaso
niveśitasyātmani yatsukhaṃ bhavet ॥
na śakyate varṇayituṃ girā tadā
yadetadantaḥkaraṇena gṛhyate ॥ *iti* ॥ 26 ॥

Tr. The happiness that occurs in the *ātmā* (Self) followed by the purification of the mind by *samādhi* can not be expressed in words, which can only be realized in the *antaḥkaraṇa* (inner heart). 26.

सम्प्रज्ञातसमाधौ तत्सुखमास्वादयेन्न धिया ।
वृत्त्या सुखास्वादरतचित्तो योगी लयं हरति ॥ २७ ॥

samprajñātasamādhau tatsukhamāsvādayenna dhiyā ।
vṛttyā sukhāsvādaratacitto yogī layaṃ harati ॥ 27 ॥

Tr. In the state of *saṃprajñāta samādhi* alone one enjoys that happiness and not through (*dhī*) intelligence. Then

the mind (*citta*) of a *yogī* remains absorbed in the Blissful state of *laya*. 27.

विनष्टसम्पूर्णविकल्पवासना जीवेशयोः सा समता द्वयोर्दृढा ।
समाधिरुक्तः स हि सैन्धवाम्भो यत्साम्यवद्धी विलये भृशैक्यतः२८

vinaṣṭasampūrṇavikalpavāsanā
jīveśayoḥ sā samatā dvayordṛḍhā ॥
samādhiruktaḥ sa hi saindhavāmbho
yatsāmyavaddhī vilaye bhṛśaikyataḥ ॥ 28 ॥

Tr. When all the mental constructions and desires are completely annihilated, (a state of) equanimity for the two (*jīva* and *paramātmā*) arises firmly which is called *samādhi*, which is like mixing up of salt in water. 28.

अथ प्राप्तसद्योगनिद्रस्य कालो यतीन्द्रस्य नो दृश्यते श्रूयते च ।
भ्रुवोर्मध्यदेशे शिवस्थानमाद्यं मनस्तत्रत्यं लीयतेऽनन्यवृत्तिः ॥२९॥

atha prāptasadyoganidrasya kālo
yatīndrasya no dṛśyate śrūyate ca ॥
bhruvormadhyadeśe śivasthānamādyaṃ
manastatratyaṃ līyate'nanyavṛttiḥ ॥ 29 ॥

Tr. When a *yogi* attains the state of *yoganidrā*, time ceases to exist. One fixes the mind onepointedly and makes it absorbed at the center of the eyebrows which is the abode of *śiva*. 29.

परं तत्पदं तुर्यमुक्तं स यत्र
न कालः करालोऽस्ति मुद्रा तदन्ते ॥
रवीन्द्वोः प्रदद्यात् द्वयोः खेचरी
निरालम्बचित्तेन किञ्चिद्विधेयम् ॥ ३० ॥

paraṃ tatpadaṃ turyamuktaṃ sa yatra
na kālaḥ karālo'sti mudrā tadante ॥
ravindvoḥ pradadyād dvayoḥ khecarī
nirālambacittena kiñcidvidheyam ॥ 30 ॥

Tr. That transcendental state is called *turya* (the fourth) where exists no vicious time. When both *ravi* (right) and *indu* (left) (nostrils) cease to function, then the *mudrā* called *khecarī*

supervenes which makes the mind free from objects. 30.

यदा बाह्यवायुर्विलीनः खमध्ये
पदं स्वं हृदा प्राण एत्यर्कभागे ॥
सदाभ्यस्यमानस्य चैवं शिरायां
बलं लीयतेऽभ्यासतोऽस्य चित्तः ॥ ३१ ॥

yadā bāhyavāyurvilīnaḥ khamadhye
padaṃ svaṃ hṛdā prāṇa etyarkabhāge ॥
sadābhyasyamānasya caivaṃ śirāyāṃ
balaṃ līyate'bhyāsato'sya cittaḥ ॥ 31 ॥

Tr. When the external air merges in the (internal) space (*suṣumṇā*), one perceives one's own abode through mind. When *prāṇa* flows through the right (nostril), one instills a lot of energy in the *śirās* (vessels) and through regular practice the *citta* gets merged. 31.

समीरस्तदा स्नापयेद्योगी देहं
सुधया समस्तं तदा कायसिद्धिः ॥
मनः शक्तिमध्ये च शक्तिं स्वचित्ता-
न्तरस्थां विधायेक्ष्यचित्तेन चित्तम् ॥ ३२ ॥

samīrastadā snāpayedyogī deham
sudhayā samastaṃ tadā kāyasiddhiḥ ॥
manaḥ śaktimadhye ca śaktiṃ svacittā-
ntarasthāṃ vidhāyekṣyacittena cittam ।32।

Tr. Then the *prāṇa* repletes the whole body with ambrosia which brings *kāyasiddhi*. Mind is focused towards the *śakti* and the *śakti* is pointed towards the *citta* and thus one observes the *citta* with the *citta* itself. 32.

परं तत्पदं चिन्तयेदेकवृत्तिर्
वरं साधनं योगिनामुक्तमेतत् ॥
खमध्ये स्वमात्मन्यथो खं विधाय
स्वरूपं च कृत्वाऽखिलं भावयेज्ज्ञः ॥ ३३ ॥

paraṃ tatpadaṃ cintayedekavṛttir-
varaṃ sādhanaṃ yogināmuktametat ॥
khamadhye svamātmanyatho khaṃ vidhāya
svarūpaṃ ca kṛtvā'khilaṃ bhāvayejñaḥ ॥ 33 ॥

Tr. Onepointedly meditate on that Absolute Abode (state). This is said to be a superior practice for a *yogī*. Place the space in the space of the Self which reveals the true Self thus one should meditate on the Totality. 33.

संकल्पमात्रकलनैव जगत्समग्रं
संकल्पमात्रकलना हि मनोविलीना ॥
संकल्पमात्रमतमुत्सृज्य निर्विकल्पम्
आश्रित्य निश्चितमवाप्नुहि राम शान्तिम् ॥ ३४ ॥

saṅkalpamātrakalanaiva jagatsamagraṃ
saṅkalpamātrakalanā hi manovilīnā ॥
saṅkalpamātramatamutsṛjya nirvikalpam
āśritya niścitamavāpnuhi rāma śāntim ॥ 34 ॥

Tr. O *rāma*! The whole universe is just a mental projection. Imagination is also mind's fancy. Eeven daily activities of a person are also mental whims. Hence abandon mental constructions and attain peace through state of *nirvikalpa*. 34.

ज्ञेयं सर्वप्रतीतं च तज्ज्ञानं मन उच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं समं नष्टं नान्यः पन्था द्वितीयकः ॥ ३५ ॥

jñeyaṃ sarvapratītaṃ ca
tajjñānaṃ mana ucyate ॥
jñānaṃ jñeyaṃ samaṃ naṣṭaṃ
nānyaḥ panthā dvitīyakaḥ ॥ 35 ॥

Tr. Knowing all that is known, is known as knowledge which is mind. Both knowledge and object of knowledge have to be destroyed (transcended). There exists no other way. 35.

अवेदनं यद्बहिरन्तरं च निरुद्धचित्तस्य दृढं चिदात्मनि ।
लयः स उक्तोऽखिलवासनान्तस्तत्वा परोक्षे स भवेन्न चान्यथा ३६

avedanaṃ yadbahirantaraṃ ca
niruddhacittasya dṛḍhaṃ cidātmani ॥
layaḥ sa ukto'khilavāsanāntas-
tatvā parokṣe sa bhavenna cānyathā ॥ 36 ॥

Tr. Absence of internal and external perception signifies a controlled mind, which brings the state of *laya*

(absorption). This is the state of cessation of all desires which occurs on direct perception of *tatva* (Self) and not otherwise. 36.

तथा चोक्तं भागवते –

tathā coktaṃ bhāgavate—

It has been stated in *bhāgavata*—

तदैवमात्मन्यवरुद्धचित्तो न वेद किञ्चिद् बहिरन्तरं वा ।
यथेषुकारो नृपतिं व्रजन्तमिषीगतात्मा न विवेद पार्श्वे ॥ इति॥३७॥

tadaivamātmanyavaruddhacitto
na veda kiñcid bahirantaraṃ vā ||
yatheṣukāro nṛpatiṃ vrajantam-
iṣīgatātmā na viveda pārśve || *iti* || 37 ||

Tr. Just as an archer, while walking by the side of the king would not be aware of the Self, but only of the bow and arrow, similarly, the *citta* (mind) having been encapsulated in the *ātmā* does not perceive anything internal or external. 37.

इति समाधिलक्षणम् ॥

iti samādhilakṣaṇam ||

Here end the characteristics of *samādhi*.

संस्कारशेषोऽर्क१२दिनोत्तरासम्प्रज्ञाख्यशून्येऽस्ति स तु स्वकाले ।
व्युत्थानहेतुः क्रमलुप्तभावो निवर्त्तिकाव्युत्थितिजिच्च मासात् ॥३८॥

saṃskāraśeṣo'rka12dinottarā-sam-
prajñākhyaśūnye'sti sa tu svakāle ||
vyutthānahetuḥ kramaluptabhāvo
nivarttikāvyutthitijicca māsāt || 38 ||

Tr. After twelve days the residual *sanskāras* (are also subsided) yielding place to the state of *asaṃprajñāta* to supervene which is a void state. In a month the state called *nivartikā* occurs when the process of *vyutthāna* disappears gradually. 38.

व्युत्थानजाताखिलसिद्धिविघ्नैर्निवर्त्तिका भूमिगतोऽथ मासात् ।
न हन्यते उपास्तभयस्तु जीवन्मुक्तो मुनिः स्यादनुतत्वलीनः ॥३९॥

vyutthānajātākhilasiddhivighnair-
nivarttikā bhūmigato'tha māsāt ||
na hanyate upāstabhayastu jīvan-
mukto muniḥ syādanutatvalīnaḥ || 39 ||

Tr. In a month all obstacles arising on the path of *siddhi* in the process of *vyutthāna*, are subsided on arousal of *nivarttikā* state. A *muni* who is liberated in the present life and is merged in the Self, overcomes fear and does not face (premature) death. 39.

जिनाष्टैः स्यान्मुनेर्भूमिः प्रधानजयदायिनी ।
विवेकख्यातिरभया धर्ममेघो गुणान्तकृत् ॥ ४० ॥

jināṣṭaiḥ syānmunerbhūmiḥ pradhānajayadāyinī ।
vivekakhyātirabhayā dharmamegho guṇāntakṛt ॥ 40 ॥

Tr. In 24 years a *muni* attains the state of *pradhānajayadāyinī* followed by the fearless states of *vivekakhyāti* and *dharmamegha* which bring secession of the (interplaying) *guṇas*. 40.

Note: According to *kumbhaka paddhati* (236) the state of *pradhānajayadāyinī* takes 24 years. 40.

विवेकख्यातिविध्वस्तसंस्कारे पल्लवस्य हि ।
ज्ञानमेघोदये ज्ञस्य समाधिः कल्पमात्मनि ॥ ४१ ॥

vivekakhyātividhvastasaṃskāre pallavasya hi ।
jñānameghodaye jñasya samādhiḥ kalpamātmani ॥ 41 ॥

Tr. Like the shredding of the leaves, all the *saṅskāras* are annihilated on arousal of *vivekakhyāti* which casts the cloud of wisdom and the wise assumes *samādhi* in the Self. 41.

मनस्तु संकल्पविकल्पशून्यं कृत्वा तथा निर्विषयप्रपञ्चम् ।
विनिश्चलं स्वं परिभावयेज्ज्ञः समाधिसंस्थस्य वरं हि लक्ष्म ॥४२॥

manastu saṅkalpavikalpaśūnyaṃ
kṛtvā tathā nirviṣayaprapañcam ॥
viniścalaṃ svaṃ paribhāvayejñaḥ
samādhisaṃsthasya varaṃ hi lakṣma ॥ 42 ॥

Tr. One should make the mind free from all the mental constructions, positive or negative, and also all the objects. A wise should remain steady while meditating on the Self. This forms the good sign of the one established in the state of *samādhi*. 42.

वायुः केवलकुम्भकोऽपवधिका शून्या यदा चेतना ।
तां चित्तं परिगृह्य लीयत इहाऽस्थूलोऽक्रियाशक्तिमान् ॥ ४३ ॥

vāyuḥ kevalakumbhako'pavadhikā śūnyā yadā cetanā ।
tāṃ cittaṃ parigṛhya līyata ihā'sthūlo'kriyāśaktimān ॥43॥

Tr. In the state of *kevalakumbhaka, prāṇa* is retained without any time limit. Then alone consciousness becomes void. Then *citta* merges in consciousness and thus it becomes subtle and devoid of functional potentiality. 43.

निर्बीजाख्यसमाधिस्थितिः ॥

nirbījākhyasamādhisthitiḥ ॥

This is the state of *nirbīja samādhi.*

Note: Here some lines seem to be missing. 43.

संकल्पमत्प्राणमनो मनीषाऽ-
हन्तादिमच्छक्तिसुतत्वलैन्ये ॥
गुणान्त आत्मन्यधितिष्ठते हृच्-
छून्यं लयोऽसौ न शरीरिणोऽन्तः ॥ ४४ ॥

saṅkalpamatprāṇamano manīṣā'-
hantādimacchaktisutatvalainye ॥
guṇānta ātmanyadhitiṣṭhate hṛc-
chūnyaṃ layo'sau na śarīriṇo'ntaḥ ॥ 44 ॥

Tr. When the mental constructions, *prāṇa*, mind, ego (I-ness) and *śakti* (*kuṇḍalinī*) are merged in the Self by a wise, the *guṇas* are dissolved in the *ātman* and one remains without the mind. This is the state of *laya* (absorption) which is not the end of life. 44.

अत एव हि –

ata eva hi—

Therefore it has been stated—

ध्येयानुसन्धानतया व्यवहारेत भावनाः ।
अनुकारगिरः सन्ति जडोन्मत्तपिशाचवत् ॥ ४५ ॥

dhyeyānusandhānatayā vyavahāreta bhāvanāḥ । ,
anukāragiraḥ santi jaḍonmattapiśācavat ॥ 45 ॥

Tr. One should cherish the attitudes according to the set objectives. Accordingly one utters words (language) like a dull, bewildered or a goblin. 45.

ध्येयोन्मनीं गता लीनाः कौ सिद्धा विहरन्ति खे ।
चिरमाकल्य सहजा दृश्यन्ते व्युत्थितिं गताः ॥ ४६ ॥

dhyeyonmanīṃ gatā līnāḥ kau siddhā viharanti khe ।
ciramākalya sahajā dṛśyante vyutthitiṃ gatāḥ ॥ 46 ॥

Tr. The *siddhas* who have merged the aspired state of *unmanī*, move on the earth and the space. Moreover, after long practice they transcend the state of *vyuthiti* and attains *sahaja (samādhi)* state. 46.

इदं गुणसाम्ये ज्ञेयम् ।

idaṃ guṇasāmye jñeyam ।

This should be understood in the context of the balanced (state of) *guṇas*.

तथा चोक्तं शिवसंहितायाम् —

tathā coktaṃ śivasaṃhitāyām—

It has been stated in *śivasaṃhitā*—

सहस्रारे हंसभूते स्थितं यत्राकुलाख्यकमित्युपक्रम्य ॥ ४७ ॥

sahasrāre haṃsabhūte sthitaṃ yatrākulākhyakamityupakramya ॥ 47 ॥

Tr. This is narrated in the *śloka* (verse)— *saharāre haṃsabhūte sthitaṃ yatrākulākhyam*. 47.

अत्र कुण्डलिनीशक्तिलयं याति कुलाभिधा ।
तदा चतुर्विधा सृष्टिर्लीयते परमात्मनि ॥ इति ॥ ४८ ॥

atra kuṇḍalinīśaktilayaṃ yāti kulābhidhā ।
tadā caturvidhā sṛṣṭirlīyate paramātmani ॥ *iti* ॥ 48 ॥

Tr. *śakti kuṇḍalinī* is known as *kulā* which gets merged here (*sahasrāra*). Then the four fold creation merges in *paramātmā*. 48.

पुरुषविशेषेऽन्तरायविरहेण सर्वथा विवकेख्यातेः क्लेशकर्मनिवृत्तिमूले धर्ममेघसमाधौ सर्वावरणमलापेतस्य प्रकाशात्मनः पुंसो यदा ज्ञानस्यानन्त्यादल्पतो ज्ञेयमल्पं भवति ॥ ४९ ॥

puruṣaviśeṣe'ntarāyavirahena sarvathā vivekakhyāteḥ kleśakarmanivṛttimūle dharmameghasamādhau sarvāvaraṇamalāpetasya prakāśātmanaḥ puṃso yadā jñānasyānantyādalpato jñeyamalpaṃ bhavati ॥ 49 ॥

Tr. Transcendence of all the obstacles in *puruṣa-viśeṣa (īśvara)* brings about the Absolute state of *vivekakhyāti*, which arises due to subjugation of *kleśa* (suffering) and *karma*. In the state of *dharmamegha samādhi* all the darkness gets dispelled and the illuminated Self of a person manifests. Then one acquires infinite wisdom owing to which there remains nothing to know. 49.

तदा कृतार्थानां गुणानां परिणामक्रमसमाप्तौ पुरुषार्थशून्यानां तेषां प्रतिप्रसवो वा चितिशक्तिः स्वरूपनिष्ठा मोक्षरतिः ॥ ५० ॥

tadā kṛtārthānāṃ guṇānāṃ pariṇāmakramasamāptau puruṣārthaśūnyānāṃ teṣāṃ pratiprasavo vā citiśaktiḥ svarūpaniṣṭhā mokṣaratiḥ ॥ 50 ॥

Tr. Then the *guṇas* which have fulfilled their function, stop producing further results. Due to involution of the (*guṇas*) and devoid of efforts, the pure consciousness which is the revelation of the pure form of the Self experiences absorption in the state of liberation. 50.

तदानीं धर्ममेघनिष्पत्तितुरीयभूमेः प्राग्रूपे आरूढयोगिना दीर्घसमाध्यर्थं शून्यकप्राणायामः सांगो विधेयः ॥ ५१ ॥

tadānīṃ dharmameghaniṣpattiturīyabhūmeḥ prāgrūpe ārūḍhayoginā dīrghasamādhyarthaṃ śūnyakaprāṇāyāmaḥ sāṅgo vidheyaḥ ॥ 51 ॥

Tr. Then on secession of *dharmamegha (niṣpatti)* which is the fourth *bhūmi* (level), in the beginning of which the *ārūḍha yogī* should undertake the practice of *śūnyaka prāṇāyāma* along with its components for prolonged (state of) *samādhi*. 51.

स यथा तदुक्तं सिद्धान्तशेखरे –

sa yathā taduktaṃ siddhāntaśekhare—

It has been stated in *siddhāntaśekhara*—

शून्याख्यः प्राणसंरोधः कथ्यते तत्र चोदितः

उक्तासनसमासीनो नासाग्रन्यस्तलोचनः ॥

पूरकं रेचकं कुम्भमुत्कर्षं चापकर्षणं

उच्छ्वासं च निरुच्छ्वासं न कुर्वीत समाहितः ॥ ५२ ॥

śūnyākhyaḥ prāṇasaṃrodhaḥ kathyate tatra coditaḥ
uktāsanasamāsīno nāsāgranyastalocanaḥ ॥

pūrakaṃ recakaṃ kumbhamutkarṣaṃ cāpakarṣaṇaṃ
ucchvāsaṃ ca nirucchvāsaṃ na kurvīta samāhitaḥ ॥ 52 ॥

Tr. This technique of *prāṇāyāma* is called *śūnya*, which is practised after adopting the said *āsana* and gazing at the tip of the nose. One does not practise *pūraka, recaka, kuṃbhaka, utkarṣa, apakarṣa, uccvāsa* or *niruccvāsa.* One just remains tranquil. 52.

सर्वेन्द्रियाणि संयम्य शून्याकारेण सर्वतः ।
निरालम्बं मनः कृत्वा समासीतसुनिश्चलः ॥ ५३ ॥

sarvendriyāṇi saṃyamya śūnyākāreṇa sarvataḥ ।
nirālambaṃ manaḥ kṛtvā samāsītasuniścalaḥ ॥ 53 ॥

Tr. All the senses are controlled. One perceives void all around. Mind is made supportless. One remains motionless and tranquil. 53.

योगेनानेन काष्ठा स्यात् सर्वेन्द्रियनिरोधिनी ।
अनया काष्ठयांगानि योगेनाभ्यस्तया सदा ॥ ५४ ॥

yogenānena kāṣṭhā syāt sarvendriyanirodhinī ।
anayā kāṣṭhayāṅgāni yogenābhyastayā sadā ॥ 54 ॥

Tr. Through this *yoga* one assumes the final state which subdues all the senses. This rendering of the limbs like a log of wood should always be practised through *yoga*. 54.

क्षुत्पिपासाजयं चायुर्वृद्धिदेहबलाधिकम् ।
इति शून्यादिनामायं प्राणायामः प्रकीर्तितः ॥ इति ॥ ५५॥

kṣutpipāsājayaṃ cāyurvṛddhidehabalādhikam ।
iti sunyadināmāyaṃ prāṇāyāmaḥ prakīrtitaḥ ॥ *iti* ॥ 55 ॥

Tr. One gains control over hunger and thirst. Physical strength is enhanced. One lives long life. This *prāṇāyāma* is known as *sunya*. 55.

अत्र वेदान्तिनां निर्गुणोपासनं वा सम्प्रज्ञातसमाधिरूपं वा परिपक्वं स निर्बीजसमाधिर्भवति ॥ ५६ ॥

atra vedāntināṃ nirguṇopāsanaṃ vā samprajñātasamādhirūpaṃ vā paripakvaṃ sa nirbījasamādhirbhavati ॥ 56 ॥

Tr. The followers of *vedānta* might term this as worship

of *nirguna* which can be equated with the state of *samprajñāta samādhi*, which when matured, becomes *nirbīja samādhi*. 56.

तथा च विद्यारण्यश्रीपादाः —

tathā ca vidyāraṇyaśrīpādāḥ—

***vidyāraṇyaśrīpāda* maintains—**

निर्गुणोपासनं पक्वं समाधिः स्याच्छनैः शनैः ।
यः समाधिर्निरोधाख्यः सोऽनायासेन लभ्यते ॥ ५७ ॥

nirguṇopāsanaṃ pakvaṃ samādhiḥ syācchanaiḥ śanaiḥ
yaḥ samādhirnirodhākhyaḥ so'nāyāsena labhyate ॥ 57 ॥

Tr. When worship of *nirgūṇa* matures it gradually yields to *samādhi*. The state of *samādhi* known as *nirodha*, is attained without effort. 57.

समाधिलाभे पुंसोऽन्तरसंगं वस्तु शिष्यते ।
पुनः पुनर्वासितेऽस्मिन् वाक्याज् जायेत तत्वधीः ॥ ५८ ॥

samādhilābhe puṃso'ntarasaṅgaṃ vastu śiṣyate ।
punaḥ punarvāsite'smin vākyāj jāyeta tatvadhīḥ ॥ 58 ॥

Tr. Attainment of *samādhi* leaves a person still attached. By repeated contemplation of this *mahāvākya* (like-I am That) one realizes the *tatva* (Self). 58.

योगाभ्यासस्त्वेतदर्थोऽमृतबिन्द्वादिषु श्रुतः ।
धर्ममेघमिमं प्राहुः समाधिं योगवित्तमाः ॥
वर्षत्येष यतो धर्मामृतधाराः सहस्रशः ॥ ५९ ॥

yogābhyāsastvetadartho'mṛtabindvādiṣu śrutaḥ ।
dharmameghamimaṃ prāhuḥ samādhiṃ yogavittamāḥ ।
varṣatyeṣa yato dharmāmṛtadhārāḥ sahasraśaḥ ॥ 59 ॥

Tr. For this, practice of *yoga* has been recommended in *amṛtabindu (upaniṣad)* etc. The experts of *yoga* know this *samādhi* as *dharmamegha*, which incessantly showers the flow of nectar (immortality). 59.

अनादाविह संसारे सञ्चिताः कर्मकोटयः ।
अनेन विलयं यान्ति शुद्धो धर्मो विधृतः ॥ इति ॥ ६० ॥

anādāviha saṃsāre sañcitāḥ karmakoṭayaḥ ।
anena vilayaṃ yānti śuddho dharmo vidhṛtaḥ ॥ *iti* ॥ 60 ॥

Tr. In this world, which has no beginning, innumerable

karmas are deposited, which are annihilated when one adheres to *dharma* (virtue). 60.

अत्र यद्यपि उदाहृतपुराणादिप्राणिमात्रस्य योगाधिकारो लभ्यते, तथापि मोक्षरूपफलवति योगे विरक्ताधिकारस्यैवोचितत्वात् ॥ ६१ ॥

atra yadyapi udāhṛtapurāṇādiprāṇimātrasya yogādhikāro labhyate, tathāpi mokṣarūpaphalavati yoge viraktādhikārasyaivocitatvāt ॥ 61 ॥

Tr. Even though according to the *purāṇas* and such other scriptures, all the creatures have been entitled to practise *yoga*, but practice of *yoga* which yields liberation, is only for those who are detached and are found qualified. 61.

तथा च वायुसंहितायाम् —

tathā ca vāyusaṃhitāyām—

It is stated in *vāyusaṃhitā*—

दृष्टे तथानुश्रविके विरक्तं विषये मनः ।
यस्य तस्याधिकारोऽस्मिन् योगे नान्यस्य कस्यचिद् ॥ इति ॥६२॥

dṛṣṭe tathānuśravike viraktaṃ viṣaye manaḥ ।
yasya tasyādhikāro'smin yoge nānyasya kasyacid ॥*iti*॥62॥

Tr. Mind is made detached from all the objects as recommended in *dṛṣṭa* (seen) or *ānuśravika* (scriptures). Such a rare person does qualify for this *yoga* and none else. 62.

चेतनावायुमनसां लैन्ये निर्बीजके लये ।
उन्मन्यवस्था सिद्धानां तदा कल्पं मुनौ भवेत् ॥ ६३ ॥

cetanāvāyumanasāṃ lainye nirbījake laye ।
unmanyavasthā siddhānāṃ tadā kalpaṃ munau bhavet ॥63॥

Tr. When through *laya* (absorption) of consciousness, *prāṇa* and mind are made subdued in *nirbīja* state, then only the state of *unmanī* supervenes to an accomplished *siddha* and then the *muni* becomes accomplished. 63.

परिणतोन्मनिकाख्यसमाधिमान् सततजीवपरात्मभृशैक्ययुक् ।
मुनिरवध्यतमोन्तकहेतिभिर्विगलितात्मतनुपरिभावनः ॥ ६४ ॥

pariṇatonmanikākhyasamādhimān
satatajīvaparātmabhṛśaikyayuk ॥
muniravadhyatamontakahetibhi-
vigalitātmatanuparibhāvanaḥ ॥ 64 ॥

Tr. One who always stays in the state of *samādhi* named *unmanī* and is ever devoted to union of *jīva* and *paramātmā*, such a *muni* can not be perished even by death as he has overcome the distinction between *ātmā* (soul) and body. 64.

गोरक्षः —

gorakṣaḥ —

According to *gorakṣa*—

खाद्यते स न कालेन बाध्यते स न कर्मणा ।

साध्यते स न केनापि योगयुक्तः समाधिना ॥ इति ॥ ६५ ॥

khādyate sa na kālena bādhyate sa na karmaṇā ।

sādhyate sa na kenāpi yogayuktaḥ samādhinā ॥ *iti* ॥ 65 ॥

Tr. Such a person is not affected by *kāla*-- (death-time) and he is not bound by *karma*. One who attains the state of *samādhi* through the practice of *yoga* is not subjugated by anyone. 65.

तत्रैव निर्मलं नित्यं निष्क्रियं निर्गुणं महत् ।

व्योमविज्ञानमानन्दं ब्रह्म ब्रह्मविदो विदुः ॥ ६६ ॥

tatraiva nirmalaṃ nityaṃ niṣkriyaṃ nirguṇaṃ mahat ।

vyomavijñānamānandaṃ brahma brahmavido viduḥ ।66।

Tr. In that (state) itself the knower of *brahma* would realize *brahma* who is pure, eternal, passive, free from *guṇa* and *mahat* (the primal), wisdom as wide as the space and Blissful. 66.

निरातंके निरालम्बे निराधारनिरामये ।

योगी योगविधानेन परब्रह्मणि लीयते ॥ इति ॥ ६७ ॥

nirātaṅke nirālambe nirādhāranirāmaye ।

yogī yogavidhānena parabrahmaṇi līyate ॥ *iti* ॥ 67 ॥

Tr. A *yogī* through the practice of *yoga*, merges into *parabrahma* who is fearless, supportless, devoid of any base and who won't mutate. 67.

यज्जाड्यरूपं तनुलिंगरूपं शक्त्यात्मकं लीनमदोऽकुलाख्ये ।

अविद्यकं मायिकमेति जीवकर्मात्मचैकाचिदिहात्मरूपे ॥ ६८ ॥

yajjāḍyarūpaṃ tanuliṅgarūpaṃ

śaktyātmakaṃ līnamado'kulākhye ॥

avidyakaṃ māyikameti jīva-
karmātmacaikācidihātmarūpe ॥ 68 ॥

Tr. The *liṅga* (causal body) of the gross body which is the very form of *śakti* is merged in *akula*. By attaining Self-realization, one transcends ignorance which is illusive and is in the form of *karma* of *jīva*. 68.

चिरादनुस्यूतसमाधिसंयमाभ्यासादृतानमनिशं सुयोगिनाम् ।
विभिद्य चक्राण्यऽमृतष्टुतानां शक्त्या विवेकोदय एति सोन्मनी६९

cirādanusyūtasamādhisaṃyamā-
bhyāsādṛtānamaniśaṃ suyoginām ॥
vibhidya cakrāṇya'mṛtaṣṭutānāṃ
śaktyā vivekodaya eti sonmanī ॥ 69 ॥

Tr. The devoted *yogī* gets absorbed in the state of *samādhi* and *saṃyama* throughout the day and night for a long time and pierces the *cakras* by *śakti* which releases the nectar, as a result of which *viveka* (conscience) reveals, giving rise to the state of *unmanī*. 69.

तथा चोक्तं शिवसंहितायाम् —

tathā coktaṃ śivasaṃhitāyām

Moreover, it has been stated in *Śivasaṃhitā*—

चित्तवृत्तिर्यदा लीनाऽकुलाख्ये परमेश्वरे ।
प्राप्तं तेन स सम्पन्नो योगी निश्चलतां व्रजेत् ॥
तदा विजयेऽखण्डज्ञानरूपी निरंजनः ॥ इति ॥ ७० ॥

cittavṛttiryadā līnā'kulākhye parameśvare ।
prāptaṃ tena sa sampanno yogī niścalatāṃ vrajet ॥
tadā vijaye'khaṇḍajñānarūpī nirañjanaḥ iti ॥ 70 ॥

Tr. When the modifications of *citta* are merged in *akula* that is the *parameśvara*, a *yogī* attains accomplishment and becomes stable. Consequently, he wins attains incessant wisdom which is blemishless. 70.

तदा योगिनोऽखण्ड आत्ममनसोरैक्यद्वादशाहमभेदेन चिरं स्थितिः । सोऽयमसम्प्रज्ञातसमाधिः कथ्यते ॥ ७१ ॥

tadā yogino'khaṇḍa ātmamanasor-aikyadvādaśāhabhedena ciraṃ sthitiḥ । *so'yamasamprajñātasamādhiḥ kathyate* ॥ 71 ॥

Tr. Then a *yogī* enjoys incessant unification of *ātmā* and mind for twelve days which persists even for long. This is called *asamprajñāta samādhi.* 71.

तदुक्तं योगचन्द्रिकायाम् —

taduktam yogacandrikāyām —

It has been stated in *yogacandrikā*—

अम्बुसैन्धवयोरैक्यं यथा भवति योगतः ।

तथात्ममनसोरैक्यं समाधिः स विधीयते ॥ ७२ ॥

ambusaindhavayoraikyam yathā bhavati yogataḥ ।

tathātmamanasoraikyam samādhiḥ sa vidhīyate ॥ 72 ॥

Tr. Just as salt gets dissolved in water, similarly, *ātmā* and mind would unify, which is known as *samādhi.* 72.

ऐक्यं अभिन्नत्वम् । योगतः योगाभ्यासात् ॥

aikyam abhinnatvam । yogataḥ yogābhyāsāt ॥

aikyam (unification) means inseparability. *yogataḥ* means through the practice of *yoga.*

अत्र समाधेरुदाहरणम् —

atra samādherudāharaṇam —

An example of *samādhi* can be given like this—

गंगातीरे हिमरुचिशिलाबद्धपद्मासनस्थ-

ब्रह्मज्ञानाभ्यसनविधिना योगनिद्रां गतस्य ॥

किं तैर्भाव्यैर्मम सुदिवसैर्यत्र ते निर्विशंकाः

कण्डूयन्ते जरठहरिणाः शृंगमंगे मदीये ॥ इति ॥७३॥

gaṅgātīre himaruciśilābaddhapadmāsanastha-

brahmajñānābhyasanavidhinā yoganidrām gatasya ॥

kim tairbhāvyairmama sudivasairyatra te nirviśaṅkāḥ

kaṇḍūyante jaraṭhahariṇāḥ śṛṅgamaṅge madīye ॥ iti ॥73॥

Tr. On the banks of the Ganges, assuming *padmāsana*, seated on the rock adorned with snow, absorbed in the wisdom of *brahma* (following proper technique) and entering *yoganidrā*, I recollect those grand days when the old deer fearlessly would scratch the horns on my body. 73.

Note: Ref. *bhartṛhariśatakatrayam-vairagya*-99. 73.

हठप्रदीपिकायाम् —

haṭhapradīpikāyām —

It has been stated in *haṭhapradīpikā*—

शंखदुन्दुभिनादं च न शृणोति कदाचन ।

काष्ठवज्जायते देहे उन्मन्यवस्थया ध्रुवम् ॥ ७४ ॥

śaṅkhadundubhinādaṃ ca na śṛṇoti kadācana ।

kāṣṭhavajjāyate dehe unmanyavasthayā dhruvam ॥ 74 ॥

सर्वावस्थाविनिर्मुक्तः सर्वचिन्ताविवर्जितः

मृतवत्तिष्ठते योगी स मुक्तो नात्र संशयः ॥ इति ॥ ७५ ॥

sarvāvasthāvinirmuktaḥ sarvacintāvivarjitaḥ ।

mṛtavattiṣṭhate yogī sa mukto nātra saṃśayaḥ ॥ *iti* ॥ 75 ॥

Tr. One does not even hear the noise created by (blowing of) a conch or a drum. His body certainly becomes (as stable as) wood in the state of *unmanī*, and he becomes free form all conditions and worries. A *yogī* remains like a dead body. He is indeed liberated. 74-75.

विवेकसज्ज्ञानविदग्धबीजा व्युत्थानसंस्काराः यदा स्युः ।

तदोन्मनीतुर्यदशा मुनौ स्याच्छ्रीधर्ममेघाख्यसमाधिपाके ॥ ७६ ॥

vivekasajjñānavidagdhabījā

'vyutthānasaṃskārāḥ yadā syuḥ ॥

tadonmanīturyadaśā munau syāc-

chrīdharmameghākhyasamādhipāke ॥ 76 ॥

Tr. Even the trace of *saṅskāra* which, like a seed, might revive (a *karma*), has been burnt (completely) through wisdom gained in conscience. Then the auspicious fourth state of *unmanī* occurs to a *muni* followed by maturity of *dharmamegha samādhi*. 76.

तथा चोक्तं योगतारावल्याम् —

tathā coktaṃ yogatārāvalyām —

Moreover, it is stated in *yogatārāvalī*—

न दृष्टलक्ष्याणि न चित्तबन्धो

न देशकालौ न च वायुरोधः ।

न धारणाध्यानपरिश्रमो वा

समेधमाने सति राजयोगे ॥ ७७ ॥

na dṛṣṭalakṣyāṇi na cittabandho
na deśakālau na ca vāyurodhaḥ ॥
na dhāraṇādhyānapariśramo vā
samedhamāne sati rājayoge ॥ 77 ॥

Tr. On attainment of the state of *rājayoga*, there remains no object for the eyes (senses), there remains no need for controlling *citta*, one transcends time and space, there is no need to practise *prāṇāyāma*, *dhāraṇā* and *dhyāna*. 77.

अशेषदृश्योज्झितदृङ्मुखापानामवस्थितानामिह राजयोगे ।
न जागरो नापि सुषुप्तिभावो न जीवितं नो मरणं विचित्रम् ।७८।

aśeṣadṛśyojjhitadṛṅmukhāpānām-
avasthitānāmiha rājayoge ॥
na jāgaro nāpi suṣuptibhāvo
na jīvitaṃ no maraṇaṃ vicitram ॥ 78 ॥

Tr. Those who stay in the state of *rājayoga*, there remains no object for perception. A strange condition, where no awakening, no deep sleep, no birth, no death prevails. 78.

विश्रान्तिमासाद्य तुरीयतत्त्वे विश्वाद्यऽवस्थात्रितयोपरिस्थे ।
सच्चिन्मयीं तामपि सर्वकालं निद्राभजे निविश निर्विकल्पम् ।७९।

viśrāntimāsādya turīyatatve
viśvādya'vasthātritayoparisthe ॥
saccinmayīṃ tāmapi sarvakālaṃ
nidrābhaje niviśa nirvikalpam ॥ 79 ॥

Tr. In this fourth state, transcending the three mundane states, one attains rest. Enter this conscious state of *nirvikalpa* which transcends all time, which resembles sleep. 79.

अथ चिरसमाधिस्थस्य व्युत्थानोपायः स यथा —

atha cirasamādhisthasya vyutthānopāyaḥ sa yathā—

Here follows the process to resurrect the one who has entered the *samādhi* state for long—

तथा चोक्तं कुम्भकपद्धतौ –

tathā coktaṃ kumbhakapaddhatau—

It has been stated in *kuṃbhakapaddhati*—

अन्तःसमाधिस्थितयोगिराजे
हैयंगविनैः सुरभिसमुत्थैः ॥
संमर्दयेत् सोऽपि यथास्य चित्तं
व्युत्थानमायाति तथा शिरोग्रम् ॥ इति ॥ ८०॥

antaḥsamādhisthitayogirāje
haiyaṅgavinaiḥ surabhisamutthaiḥ ॥
sammarddayet so'pi yathāsya cittaṃ
vyutthānamāyāti tathā śirogram ॥ *iti* ॥ 80 ॥

Tr. The great *yogī* who is in deep *samādhi* should be applied massage with (cow) *ghee* on the head, so that he can regain consciousness. 80.

॥ इति सुन्दरदेवविरचितायां हठतत्वकौमुद्यां समाधिद्वयविवेचनोद्योतः ॥

॥ iti sundaradevaviracitāyāṃ haṭhatatvakaumudyāṃ samādhidvayavivecanodyotaḥ ॥

Here ends the chapter narrating the two varieties of *samādhi* in *haṭhatatvakaumudī* composed by *sundaradeva.*

॥ इति संयमाख्यो निष्पत्तिनामोल्लासः षष्ठः ॥

॥ iti saṃyamākhyo niṣpattināmollāsaḥ ṣaṣṭhaḥ ॥

Here ends the sixth *ullāsa* of *niṣpatti* named *saṃyama.* 6.

Chapter—52

अथापकर्षप्राणायामः —

athāpakarṣaprāṇāyāmaḥ—

***apakarṣa-prāṇāyāma* follows—**

तदुक्तं सिद्धान्तशेखरे —

taduktaṃ siddhāntaśekhare—

It is said in *siddhāntaśekhara*—

अपकर्षाभिधानोऽथ कथ्यते प्राणसंयमः ।
उत्कर्षेणोद्गतप्राणं सुषुम्नामध्यरन्ध्रगः ॥ १ ॥

apakarṣābhidhāno'tha kathyate prāṇasaṃyamaḥ |
utkarṣeṇodgataprāṇaṃ suṣumṇāmadhyarandhragaḥ ||1||

उत्तमांगादपाकृष्य शनैः प्राग्वदधो नयेत् ।
अपकर्षोऽयमाख्यातः प्राणायामो मरुज्जये ॥ इति ॥ २ ॥

uttamāṅgādapākṛṣya śanaiḥ prāgvadadho nayet |
apakarṣo'yamākhyātaḥ prāṇāyāmo marujjaye || iti || 2 ||

Tr. The technique of *prāṇāyāma* known as *apakarṣa* is now being narrated. *prāṇa* which has been placed upwards previously through *utkarṣa prāṇāyāma*, has to be pushed down in a sustained manner through the central path-- *suṣumnā* . This is *apakarṣa prāṇāyāma* recommended for controlling *prāṇa*. 1-2.

तद्यथा तदुक्तं खेचरीपटले —

tadyathā taduktaṃ khecarīpaṭale—

It has been maintained in *khecarīpaṭala*—

मूलकुण्डलिनीं शक्तिं सुषुम्णामार्गमागताम् ।
लूतैकतन्तुप्रतिमां सूर्यकोटिसमप्रभाम् ॥ ३ ॥

mūlakuṇḍalinīṃ śaktiṃ suṣumṇāmārgamāgatām |
lūtaikatantupratimāṃ sūryakoṭisamaprabhām || 3 ||

Tr. The *kuṇḍalinī śakti* (rooted at the) *mūla (ādhāra)* moves into the passage of *suṣumṇā* which is as thin as the fibre and as bright as a crore of suns. 3.

प्रविश्य घण्टिकामार्गं शिवद्वारार्गलं शिवे ।
भित्वा रसनया योगी कुम्भकेन महेश्वरि ॥ ४ ॥

praviśya ghaṇṭikāmārgaṃ śivadvārārgalaṃ śive ।
bhitvā rasanayā yogī kumbhakena maheśvari ॥ 4 ॥
प्रविशेत् कोटिसूर्याभं धाम स्वायम्भुवं प्रिये ।
तत्रामृतमहाम्भोधौ शीतकल्लोलशालिनि ॥ ५ ॥
praviśet koṭisūryābhaṃ dhāma svāyambhuvaṃ priye ।
tatrāmṛtamahāmbhodhau śītakallolaśālini ॥ 5 ॥
पीत्वा विश्राम्य च सुधां परमानन्दपूर्णया ।
बुद्ध्या तत्सुधया दृष्टमात्मदेहेषु भावयेत् ॥ ६ ॥
pītvā viśrāmya ca sudhāṃ paramānandapūrṇayā ।
buddhyā tatsudhayā dṛṣṭamātmadehesu bhāvayet ॥ 6 ॥

Tr. O *śive! maheśvari* ! One should enter the passage of uvula (*ghaṇṭikā*) which is the door to the abode of *śiva* by piercing it with *kumbhaka* and by upturning the tongue. O dear! Thus one should enter the abode of *svayaṃbhū (śiva)* which is blazing like a crore of suns. Therein one should enter the great ocean of nectar which has cool (pleasing) waves. One should suck the nectar and take rest being drenched into the immortal Bliss. Using intelligence, one should visualize that nectar in one's own body. 4-6.

अनेन दिव्ययोगेन जायते दिव्यदर्शनः ।
खेचरत्वं भवेत्सत्यं सर्वरोगक्षयंकरम् ॥ ७ ॥
anena divyayogena jāyate divyadarśanaḥ ।
khecaratvaṃ bhavetsatyaṃ sarvarogakṣayaṃkaram ॥7॥
वञ्चनं कालमृत्यूनां त्रैलोक्यभ्रमणं तथा ।
अणिमादिगुणोपेतं संसिद्धो जायते ध्रुवम् ॥
योगीन्द्रत्वमवाप्नोति पदेऽचले गतिं भजेत् ॥८ ॥
vañcanaṃ kālamṛtyūnāṃ trailokyabhramaṇaṃ tathā ।
aṇimādiguṇopetaṃ saṃsiddho jāyate dhruvaṃ ॥
yogīndratvamavāpnoti pade'cale gatiṃ bhajet ॥ 8 ॥

Tr. This divine practice of *yoga* reveals divine vision. *khecarī* becomes a reality which relieves all the ailments and one defeats (premature) death and transcends time. One moves in all the three worlds. Having been equipped with the

supernatural powers like *aṇimā* etc., one surely becomes a great *siddha*. One adorns the status of an eminent *yogī* and attains the highest eternal state. 7-8.

मनः संयोज्य चोन्मन्यां सहजं योगमाचरेत् ।
अनेन योगी षण्मासाज्जायते ह्यजरामरः ॥ इति ॥ ९ ॥

manaḥ saṃyojya conmanyāṃ sahajaṃ yogamācaret ।
anena yogī ṣaṇmāsājjāyate hyajarāmaraḥ ॥ *iti* ॥ 9 ॥

Tr. One should direct the mind towards *unmanī* and practise this *sahaja-yoga*. Thus in six months a *yogī* becomes free from old age and gains immortality. 9.

तथा चोक्तं मार्कण्डेयपुराणे –

tathā coktaṃ mārkaṇḍeyapurāṇe—

Thus is said in *mārkaṇḍeya purāṇa*—

अथवा मूलसंस्थानामुद्यतैस्तु प्रबोधयेत् ।
सुप्तां कुण्डलिनीं शक्तिं विसतन्तुनिभाकृतिम् ॥ १० ॥

athavā mūlasaṃsthānāmudyataistu prabodhayet ।
suptāṃ kuṇḍalinīṃ śaktiṃ visatantunibhākṛtim ॥ 10 ॥

Tr. One should effortfully awaken the dormant *kuṇḍalinī śakti* which resides at *mūla(-ādhāra)* which is as subtle as lotus fibre. 10.

सुषुम्नान्तः प्रविश्यैव पञ्चचक्राणि भेदयेत् ।
ततः शिवे शशांकेन स्फुरन्निर्मलरोचिषि ॥ ११ ॥

suṣumnāntaḥ praviśyaiva pañcacakrāṇi bhedayet ।
tataḥ śive śaśāṅkena sphurannirmalarociṣi ॥ 11 ॥

Tr. Entering the *suṣumnā*, one should pierce the five *cakras*. Thereafter, O *śive!* one enjoys the pure and sparkling rays emanating from moon. 11.

सहस्रदलपद्मान्तस्थिते शक्तिं नियोजयेत् ।
अथ तत्सुधया सर्वां स बाह्याभ्यन्तरां तनु ॥ १२ ॥

sahasradalapadmāntasthite śaktiṃ niyojayet ।
atha tatsudhayā sarvāṃ sa bāhyābhyantarāṃ tanu ॥ 12 ॥

प्लावयित्वा ततो योगी न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ।
तत उत्पद्यते तस्य समाधिरन्तरंगिणी ॥ इति ॥ १३ ॥

plāvayitvā tato yogī na kiñcidapi cintayet ।
tata utpadyate tasya samādhirantaraṅgiṇī ॥ *iti* ॥ 13 ॥

Tr. Direct *śakti* at the lotus of thousand petals. Get the entire body drenched internally and externally by that nectar. Then a *yogī* should not think of anything at all. Then to him arises the state of *samādhi*. 12-13.

समाधिं सर्वदा कुर्यात् समानं रूपमात्मनः ।
सदा समाधिसम्पन्नः सर्वतत्वमयो भवेद् ॥ इति ॥ १४ ॥

samādhiṃ sarvadā kuryāt samānaṃ rūpamātmanaḥ ।
sadā samādhisampannaḥ sarvatatvamayo bhaved ॥*iti*॥14॥

Tr. One should always practise *samādhi* which indeed is the reflection of one's true Self. By a regular practice of *samādhi* one pervades of all the *tatvas* (creatures). 14.

ध्यानात्मसम्प्रज्ञसमाधिनिष्पत्तावसंप्रज्ञोन्मनोजनिर्भवति ॥

dhyānātmasamprajñasamādhiniṣpattāvasamprajñonmano-janirbhavati ॥

Tr. The state of *unmanī* arises when one undertakes the practice of *dhyāna (saṃprajñāta samādhi)* and attains the *niṣpatti* state of *samādhi* which is *asaṃprajñāta (samādhi)*.

तथा चोक्तं पञ्चीकरणवार्त्तिके –

tathā coktaṃ pañcikaraṇavārttike--

It has been stated in *pañcīkaraṇa-vārttika*—

ओंकारमात्रमखिलं विश्वप्रज्ञादिलक्षणम् ।
वाच्यवाचकतद्भेदाद् भेदेनानुपलक्षितः ॥ १५ ॥

oṃkāramātramakhilaṃ viśvaprajñādilakṣaṇam ।
vācyavācakatadbhedād bhedenānupalakṣitaḥ ॥ 15 ॥

Tr. *oṃkāra* alone pervades all. It signifies the Universal Consciousness. Only for convenience the division of object and subject is conceived. 15.

अकारमात्रं विश्वः स्यादुकारस्तैजसः स्मृतः ।
प्राज्ञो मकार इत्येवं परिपश्येत् क्रमेण तु ॥ १६ ॥

akāramātraṃ viśvaḥ syādukārastaijasaḥ smṛtaḥ ।
prājño makāra ityevaṃ paripaśyet krameṇa tu ॥ 16 ॥

Tr. *akāra* stands for the Universe (*viśva*) and *ukāra* for *taijasa* (fire). *makāra* denotes *prājña* (consciousness). One should understand this in this order. 16.

ज्ञानमुपसंहारो बुद्धेः कारणता स्थितिः ।
वटबीजे वटस्यैव सुषुप्तिरभिधीयते ॥ १७ ॥

jñānamupasaṃhāro buddheḥ kāraṇatā sthitiḥ ।
vaṭabīje vaṭasyaiva suṣuptirabhidhīyate ॥ 17 ॥

Tr. A desire to acquire (intellectual) knowledge comes to standstill. And discriminatory (analytical) power of *buddhi*, which is causal, also pauses. Just as a banyan tree rests in its seed, similarly, the state of *suṣupti* has to be understood. 17.

अभिमानी तयोर्यस्तु प्राज्ञ इत्यभिधीयते ॥ १८ ॥

abhimānī tayoryastu prājña ityabhidhīyate ॥ 18 ॥

Tr. Among these two, the one who is egoist is known as a *prājña*. 18.

समाधिकालात् प्रागेव विचिन्त्यैवं प्रयत्नतः ।
स्थूलसूक्ष्मक्रमात् सर्वं ध्येयात्मा विलापयेत् ॥ १९ ॥

samādhikālāt prāgeva vicintyaivaṃ prayatnataḥ ।
sthūlasūkṣmakramāt sarvaṃ dhyeyātmā vilāpayet ॥ 19 ॥

Tr. This has to be practised deliberately prior to entering the state of *samādhi*. One should get the Self merged into everything beginning with gross and going to subtle. 19.

अकारविश्वम् उकारे तैजसे प्रविलापयेत् ।
उकारं तैजसात्मानं मकारे प्रविलापयेत् ॥
मकारं कारणं प्राज्ञं चिदात्मनि विलापयेत् ॥ २० ॥

akāraviśvaṃ ukāre taijase pravilāpayet ।
ukāraṃ taijasātmānaṃ makāre pravilāpayet ॥
makāraṃ kāraṇaṃ prājñaṃ cidātmani vilāpayet ॥ 20 ॥

Tr. *akāra* representing *viṣva* (Universe) has to be merged in *ukāra* representing *taijasa* (fire element). *ukāra* which is of the

nature of *taijasa* (fire) has to be merged in *makāra*. *makāra* which is the origin of consciousness (*prājña*) has to be merged in (Universal) consciousness (*cit*). 20.

चिदात्माहं नित्यं शुद्धबुद्धमुक्तः सदाद्वयः ।
कर्मक्लेशाशयोन्मुक्तो वासुदेवोऽहमोम् इति ॥ २१ ॥

cidātmāhaṃ nityaṃ śuddhabuddhamuktaḥ sadādvayaḥ ।
karmakleśāśayonmukto vāsudevo'hamom iti ॥ 21 ॥

Tr. I am ever conscious *ātmā*, eternal, pure, awakened, free and ever non-dual. I am *vāsudeva*, the *om*, as I am free from *āśaya* (cause of) *karma* (action) and (*kleśā*) suffering. 21.

ज्ञात्वा विवेचितं क्षिप्तं तत्साक्षिणि विलापयेत् ।
तदात्मनि विलीनं चेत्तच्चित्तं न विचालयेत् ॥ २२ ॥

jñātvā viveeitaṃ kṣiptaṃ tatsākṣiṇi vilāpayet ।
tadātmani vilīnaṃ cettaccittaṃ na vicālayet ॥ 22 ॥

Tr. One should realize this and merge in the witnessing agent (Self). When it gets merged in the Self, one should not get deviated. 22.

एवं समाहितो योगी श्रद्धाभक्तिसमन्वितः ।
जितेन्द्रियो जितक्रोधो ध्यानं पाकाण्वनेहसि ॥ २३ ॥

evaṃ samāhito yogī sraddhābhaktisamanvitaḥ ।
jitendriyo jitakrodho dhyānaṃ pākāṇvanehasi ॥ 23 ॥

Tr. Thus a poised *yogī*, having been equipped with pure respect and devotion, having controlled the senses and anger on maturity of *dhyāna*, will not wish for anything. 23.

असम्प्रज्ञातकलयारम्भे प्रणवसंयमात् ।
प्रोक्तोंकारानुसन्धानलयलैन्येन चात्मनि ॥
चिदात्मानं तदा पश्येदात्मन्योमाश्रितो मुनिः ॥ इति ॥ २४ ॥

asamprajñātakalayārambhe praṇavasaṃyamāt ।
proktoṃkārānusandhānalayalainyena cātmani ॥
cidātmānaṃ tadā paśyedātmanyomāśrito muniḥ ॥*iti* ॥24॥

Tr. When practice of *praṇava* sets forth in the initial phase of *asaṃprajñāta*, it is said that one starts merging into the Self preceded by merging into *oṃkāra*. Then alone a *muni*

realizes the Self having resorted to *om*. 24.

**॥ इति सुन्दरदेवविरचितायां हठतत्वकौमुद्याम्
अपकर्षप्राणायामविवेचनोद्योतः ॥**

॥ iti sundaradevaviracitāyāṃ haṭhatatvakaumudyām-
apakarṣaprāṇāyāmavivecanodyotaḥ ॥

Here ends the chapter narrating *apakarṣa prāṇāyāma* in *haṭhatatvakaumudī* composed by *sundaradeva*.

Chapter – 53

अथ उत्क्रान्तिप्राणायामः —

atha utkrāntiprāṇāyāmaḥ —

Here follows *utkrānti prāṇāyāma*—

तदुक्तं सिद्धान्तशेखरे –

taduktaṃ siddhāntaśekhare —

***siddhāntaśekhara* has the following to put forth—**

शरीरं स्वेच्छया त्यक्तुमिच्छेद्योगी यदा तदा ।
वीरासनसमासीनः पूरयेदिडयानिलम् ॥ १ ॥

śarīraṃ svecchayā tyaktumicchedyogī yadā tadā ।
vīrāsanasamāsīnaḥ pūrayediḍayānilam ॥ 1 ॥

उत्कर्षक्रमयोगेन सुषुम्णारन्ध्रमध्यगम् ।
स्वदेहव्यापकं प्राणमात्मानं चोपसंवृतम् ॥ २ ॥

utkarṣakramayogena suṣumṇārandhramadhyagam ।
svadehavyāpakaṃ prāṇamātmānaṃ copasaṃvṛtam ।2।

Tr. When a *yogī* wishes to willfully leave the body assumes *vīrāsana* and inhale through *iḍā* (left nostril). One pulls *prāṇa* which pervades the whole body, along with *ātmā* upwards, through the central passage of *suṣumnā*. 1-2.

सेन्द्रियं समनस्कं च हृदि संयम्य निश्चलम् ।
कपालं रन्ध्रं निर्भिद्य द्वादशान्ते परे पदे ॥ ३ ॥

sendriyaṃ samanaskaṃ ca hṛdi saṃyamya niścalam ।
kapālaṃ randhraṃ nirbhidya dvādaśānte pare pade ॥3॥

Tr. He remains motionless by controlling the senses along with mind at the heart. He enters the abode beyond *dvādaśānta* by piercing the aperture in the head. 3.

शिवे नियोजयेज्जीवं प्रज्ञया प्रणवं स्मरन् ।
एवं सन्त्यज्य देहोऽयं न पुनर्भवभाग् भवेत् ॥
उत्क्रान्तिसंज्ञ इत्युक्तः स्वेच्छया देहमोक्षणे ॥ इति ॥ ४ ॥

śive niyojayejjīvaṃ prajñayā praṇavaṃ smaran ।
evaṃ santyajya deho'yaṃ na punarbhavabhāg bhavet ॥
utkrāntisaṃjña ityuktaḥ svecchayā dehamokṣaṇe ॥ iti ॥ 4 ॥

Tr. One should merge *jīva* (embodied soul) in *śiva* (cosmic soul) while consciously meditating on *praṇava*. One who leaves the body while performing this technique will never return to this world. This is named *utkrānti* recommended in the course of leaving the body. 4.

गीतायाम् —

gītāyām—

The *gītā* maintains—

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥ ५ ॥

sarvadvārāṇi saṃyamya mano hṛdi nirudhya ca ।
mūrdhnyādhāyātmanaḥ prāṇamāsthito yogadhāraṇām ।5।

Tr. Controlling all the doors (senses) and focusing the mind on the heart, fix the *prāṇa* at the top of the head and be there in *yogadhāraṇā*. 5.

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ इति ॥ ६ ॥

omityekākṣaraṃ brahma vyāharan māmanusmaran ।
yaḥ prayāti tyajandehaṃ sa yāti paramāṃ gatim ॥*iti* ॥6॥

Tr. One who leaves the body while meditating on *oṃ* —the monosyllabic (denotation of) *brahma* and meditating on Me, goes to the Eternal Abode. 6.

अतः च –

ataḥ ca—

Therefore—

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस् तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका ।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वगन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥इति॥७॥

śataṃ caikā ca hṛdayasya nāḍyas
tāsāṃ mūrdhānamabhiniḥsṛtaikā ॥
tayordhvamāyannamṛtatvameti
viṣvaganyā utkramaṇe bhavanti ॥ *iti* ॥ 7 ॥

Tr. There are hundred and one *nāḍīs* emanating from the heart, one of which courses towards the head, which, if resorted to to move upwards, leads to immortality. If one leaves the body through other *nāḍīs*, one simply dies. 7.

योगिन ऐच्छिकदेहत्यागे खेचरीपटलाद् उत्क्रान्तिप्राणायामो यथा –

yogina aicchikadehatyāge khecarīpaṭalād- utkrānti-prāṇāyāmo yathā—

In the process of a *yogī* relinquishing the body willfully, the *khecarīpaṭala* recommends *utkrānti prāṇāyāma*, which is as described below:—

यदा तु योगिनो बुद्धिस्त्यक्तुं देहमिमं भवेत् ।
तदा स्थिरासनो भूत्वा मूलाच्छक्तिं समुज्वलाम् ॥ ८ ॥

yadā tu yogino buddhistyaktuṃ dehamimaṃ bhavet ।
tadā sthirāsano bhūtvā mūlācchaktiṃ samujvalām ॥ 8 ॥

कोटिसूर्यप्रतीकाशं भावयेच्चिरमात्मनि ।
आपादतलपर्यन्तं प्रसृतं जीवमात्मनः ॥ ९ ॥

koṭisūryapratīkāśaṃ bhāvayecciramātmani ।
āpādatalaparyantaṃ prasṛtaṃ jīvamātmanaḥ ॥ 9 ॥

संहृत्य कर्मयोगेन मूलाधारपदं नयेत् ।
तत्र कुण्डलिनीशक्तिरावर्ताऽलसन्निभाम् ॥ १० ॥

saṃhṛtya karmayogena mūlādhārapadaṃ nayet ।
tatra kuṇḍalinīśaktirāvartā'lasannibhām ॥ 10 ॥

Tr. When a *yogī* wishes to leave the present body, he should adopt a stable posture. He should collect the effulgent *śakti* from *mūlādhāra* through appropriate technique and take her to the base of *mūlādhāra* where *kuṇḍalinī* is situated like a coil. He should meditate for long on his own self, which pervades the complete body and which is as bright as a crore of suns. 8-10.

जीवानिलं चेन्द्रियाणि ग्रसन्तीं चिन्तयेद्धिया ।
सम्प्राप्य कुम्भकावस्थां तडिद्वलयभासुराम् ॥ ११ ॥

jīvānilaṃ cendriyāṇi grasantīṃ cintayeddhiyā ।
samprāpya kumbhakāvasthāṃ taḍidvalayabhāsurām ॥11॥

Tr. In the state of *kumbhaka* one should meditate attentively on *(kuṇḍalinī)*, which shines like the disc of lightning and which devours *jīva, prāṇa* and the senses. 11.

मूलाद् द्वितीयं देवेशि स्वाधिष्ठानपदं नयेत् ।
तत्रस्थं जीवमखिलं ग्रसन्तं चिन्तयेद् यतिः ॥ १२ ॥

mūlād dvitīyaṃ deveśi svādhiṣṭhānapadaṃ nayet ।
tatrasthaṃ jīvamakhilaṃ grasantaṃ cintayed yatiḥ ।12।

Tr. O great Goddess! From *mūlādhāra* one should take her *(kuṇḍalinī)* to the second *svādhiṣṭhāna cakra* where one should meditate on her which devours *jīva*. 12.

तडित्कोटिप्रतीकाशं तस्मादुत्तीर्य सत्वरम्
मणिपूरपदं प्राप्य तत्र पूर्ववदाचरेत् ॥
समुन्नीय पुनस्तस्मादनाहतपदं नयेत्
तत्र स्थित्वा क्षणं च विग्रसन्तीं पूर्ववत्स्मरेत् ॥ १३ ॥

taḍitkoṭipratīkāśaṃ tasmāduttīrya satvaram
maṇipūrapadaṃ prāpya tatra pūrvavadācaret ॥
samunnīya punastasmādanāhatapadaṃ nayet
tatra sthitvā kṣaṇaṃ ca vigrasantīṃ pūrvavatsmaret ।13।

Tr. One should then quickly move her (*kuṇḍalinī*), which is as bright as a crore of lightning, and take her to the point of *maṇipūra* and do as said before. One should further raise her *(kuṇḍalinī)* to the location of *anāhata*. Remain there for a while and meditate on her as before who conjures up. 13.

उन्नीय तु पुनः पद्मे षोडशारे निवेशयेत् ।
तत्रापि चिन्तयेद्देवि पूर्ववद्योगमार्गवित् ॥ १४ ॥

unnīya tu punaḥ padme ṣoḍśāre niveśayet ।
tatrāpi cintayeddevi pūrvavadyogamārgavit ॥ 14 ॥

Tr. Again raise her (*kuṇḍalinī*) up to the point where the lotus of sixteen petals is located (*viśuddha cakra*). O *devi*! there too a learned *yogī* should meditate as said before. 14.

तस्मादुन्नीय भ्रूमध्यं नीत्वा जीवं ग्रसेत् पुनः ।
ग्रस्तजीवं महाशक्तिः कोटिसूर्यसमप्रभम् ॥ १५ ॥

tasmādunnīya bhrūmadhyaṃ nītvā jīvaṃ graset punaḥ ।
grastajīvaṃ mahāśaktiḥ koṭisūryasamaprabham ॥ 15 ॥

Tr. Raising her (*kuṇḍalinī*) from there and take her again to the center of the eyebrows where *jīva* is being consumed (by her). The *jīva* is captured by the *mahāśakti* who is as bright as a crore of suns. 15.

मनसा सह वागिति भित्वा ब्रह्मार्गलं क्षणात् ।
परामृतमहाम्भोधौ विश्रामं सम्यगाचरेत् ॥ १६ ॥

manasā saha vāgiti bhitvā brahmārgalaṃ kṣaṇāt ।
parāmṛtamahāmbhodhau viśrāmaṃ samyagācaret ॥16॥

Tr. Soon she (*kuṇḍalinī*) will pierce the mind along with speech (*vāk*) and will enter the space in *brahma (-randhra)*. There she will rest in the great ocean of divine nectar. 16.

तत्रस्थं परमं देवि शिवे परमकारणम् ।
शक्त्या सह समायोज्य तयोरैक्यं विभावयेत् ॥ १७ ॥

tatrasthaṃ paramaṃ devi śive paramakāraṇam ।
śaktyā saha samāyojya tayoraikyaṃ vibhāvayet ॥ 17 ॥

Tr. O goddess *śive*! there the Absolute cause is situated. One should unite *śakti* with the Absolute cause and meditate on it. 17.

ततः परमसन्तुष्टो ब्रह्मस्थानं गतं शिवम् ।
शक्त्या संयोज्य निर्भिद्य व्योम ब्रह्मशिलां विशेत् ॥ १८ ॥

tataḥ paramasantuṣṭo brahmasthānaṃ gataṃ śivam ।
śaktyā saṃyojya nirbhidya vyoma brahmaśilāṃ viśet ॥18॥

Tr. Thereafter, one reaches the *brahmasthāna*, the abode of *śiva* and attains absolute peace. One applies *śakti* to pierce (the *brahmarandhra*) and reaches the space. 18.

व्योमतत्वं महाव्योम्नि वायुतत्वं महानिले ।
तेजस्तत्वं महातेजस्यप्तत्वं जलमण्डले ॥ १९ ॥

vyomatatvaṃ mahāvyomni vāyutatvaṃ mahānile ।
tejastatvaṃ mahātejasyaptatvaṃ jalamaṇḍale ॥ 19 ॥

धरातत्वं धराभागे निरालम्बे मनः परम् ।
व्योमादिगुणतत्वेषु स्वेन्द्रियाणि निवेशयेत् ॥ २० ॥

dharātatvaṃ dharābhāge nirālambe manaḥ param ।
vyomādiguṇatatveṣu svendriyāṇi niveśayet ॥ 20 ॥

Tr. The (micro) space element has to be dissolved in the (macro) space, the (micro) air element in the (macro) air, the (micro) fire element in the (macro) fire, the (micro) water element in the (macro) water and the (micro) earth element in (macro) earth while mind is to be dissolved in the Absolute. One should merge the senses in the *guṇas* and the elements like space etc. 19-20.

एवं सांसारिकं त्यक्त्वा परतत्वावलम्बकः ।
अदृष्टः पञ्चभूताद्यैर्भित्वा सूर्यस्य मण्डलम् ॥ २१ ॥

evaṃ sāṃsārikaṃ tyaktvā paratatvāvalambakaḥ ।
adṛṣṭaḥ pañcabhūtādyairbhitvā sūryasya maṇḍalam ॥ 21 ॥

परतत्वोपदेशान्ते शिवे लीनः प्रजायते ।
न कल्पकोटिसाहस्रैः पुनरावर्त्तनं भवेत् ॥ २२ ॥

paratatvopadeśānte śive līnaḥ prajāyate ।
na kalpakoṭisāhasraiḥ punarāvarttanaṃ bhavet ॥ 22 ॥

Tr. Thus one should give up the mundane and resort to *paratatva* which is *adṛṣṭa* (unknown). With the help of the five *bhūtas* etc. pierce the *maṇḍala* (disc) of *sūrya*. After acquiring the wisdom of *paratatva* one gets merged in *śiva*. Thus one would not come back even after a thousand crores of *kalpas*. 21-22.

अनुग्रहाय लोकानां यदि देहं न सन्त्यजेत् ।
प्रलयान्ते तनुं त्यक्त्वा स्वात्मन्येवावतिष्ठते ॥ इति ॥ २३ ॥

anugrahāya lokānāṃ yadi dehaṃ na santyajet ।
pralayānte tanuṃ tyaktvā svātmanyevāvatiṣṭhate ॥ *iti* ॥23॥

Tr. If one does not like to leave the body being

merciful towards the public, he has to leave the body at the end of the dissolution (of the creation) and then one remains in one's Self. 23.

ग्रन्थान्तरे –

granthāntare –

According to another scripture—

ज्ञात्वा कालं मुनिः स्वीयं लयस्थानसमाश्रितः ।
युञ्जीत योगं कालोऽस्य निष्फलो जायते यथा ॥ २४ ॥

jñātvā kālaṃ muniḥ svīyaṃ layasthānasamāśritaḥ ।
yuñjīta yogaṃ kālo'sya niṣphalo jāyate yathā ॥ 24 ॥

Tr. A *muni* learns about his time of departure and seeks for *laya* state (absorption). Thus he should undertake *yoga* practice so that this time of death is not effective. 24.

बद्धसिद्धासनो देहं पूरयेत् प्राणवायुना ।
कृत्वा दण्डं स्थिरं बुद्ध्या दशद्वाराणि रोधयेत् ॥ २५ ॥

baddhasiddhāsano dehaṃ pūrayed prāṇavāyunā ।
kṛtvā daṇḍaṃ sthiraṃ buddhyā daśadvārāṇi rodhayet ।25।

Tr. Assume *siddhāsana* and fill up the body with *prāṇa-vāyu*. Keep the body steady and wisely close the ten openings. 25.

बद्ध्वा च खेचरीं मुद्रां ग्रीवायां च जलन्धरम् ।
अपाने मूलबन्धं च उड्डियानं तथोदरे ॥ २६ ॥

baddhvā ca khecarīṃ mudrāṃ grīvāyāṃ ca jalandharam ।
apāne mūlabandhaṃ ca uḍḍiyānaṃ tathodare ॥ 26 ॥

Tr. Adopt *khecarī-mudrā* and apply *jālandhara-bandha* at the throat. Apply *mūla-bandha* (at the location of) *apāna* and *uḍḍiyāna* at the abdomen. 26.

उत्थाप्य भुजगीं शक्तिं मूलाधाराम्बुजस्थिताम् ।
सुषुम्णान्तर्गतां पञ्चचक्राणां भेदिनीं शिवाम् ॥ २७ ॥

utthāpya bhujagīṃ śaktiṃ mūlādhārāmbujasthitām ।
suṣumṇāntargatāṃ pañcacakrāṇāṃ bhedinīṃ śivām ॥ 27 ॥

Tr. Thus raise up *śakti* which is like a serpent located at

the lotus at *mūlādhāra*. Move her (*śivā--kuṇḍalinī)* in *suṣumnā* and pierce the five *cakras*. 27.

जीवं हृदाश्रयं नीत्वा यान्तीं बुद्धिमनोयुताम् ।
सहस्रदलमध्यस्थशिवे लीनां सुधामये ॥ २८ ॥

jīvaṃ hṛdāśrayaṃ nītvā yāntīṃ buddhimanoyutāṃ ।
sahasradalamadhyasthaśive līnāṃ sudhāmaye ॥ 28 ॥

Tr. Place *jīva* at the heart along with intelligence, *kuṇḍalinī* and mind which merges in *śiva* located at the lotus of the thousand petals which is replete with ambrosia. 28.

ततः सुधाकरोद्भूतममृते तेन मूलतः ।
सिञ्चन्तीं सकलं देहं प्लावयन्तीं विचिन्तयेत् ॥ २९ ॥

tataḥ sudhākarodbhūtamamṛte tena mūlataḥ ।
siñcantīṃ sakalaṃ dehaṃ plāvayantīṃ vicintayet ॥ 29 ॥

Tr. Thereafter, one meditates on her (*kuṇḍalinī*) which drenches the complete body with the nectar oozing from the moon. 29.

तया सार्धं ततो योगी शिवेनैकात्मतां व्रजेत् ।
परानन्दमयो भूत्वा चिद्वतिमपि सन्त्यजेत् ॥ ३० ॥

tayā sārdhaṃ tato yogī śivenaikātmatāṃ vrajet ।
parānandamayo bhūtvā cidvatimapi santyajet ॥ 30 ॥

Tr. A *yogī* should get merged in that *śiva* and having been absorbed in the divine Bliss, should give up even (attachment towards) her (*kuṇḍalinī*) which possesses consciousness. 30.

ततो लक्ष्यमनाभासमहम्भावविवर्जितम् ।
सर्वांगकल्पनाहीनं कथं कालो निहन्ति तम् ॥ ३१ ॥

tato lakṣyamanābhāsamahambhāvavivarjitam ।
sarvāṅgakalpanāhīnaṃ kathaṃ kālo nihanti tam ॥ 31 ॥

Tr. Thereafter, one is unmindful of the objective and is free from the feeling of 'I-am-ness'. He is also devoid of the entire set of mental construction. How then time (death) can devour him? 31.

स एव कालः स शिवः स सर्वं नापि किञ्चन ।
कः केन हन्यते तत्र म्रियते नापि कश्चन ॥ ३२ ॥

sa eva kālaḥ sa śivaḥ sa sarvaṃ nāpi kiñcana ।
kaḥ kena hanyate tatra mriyate nāpi kaścana ॥ 32 ॥

Tr. He himself is time *(kāla)*, *śiva*, everything and at the same time nothing. In such a state who would kill whom and who would face death? 32.

ततो व्यतीते समये कालस्य भ्रान्तिरूपिणः ।
योगी सुप्तोत्थित इव प्रतिबोधैः प्रबोधितः ॥ ३३ ॥

tato vyatīte samaye kālasya bhrāntirūpiṇaḥ ।
yogī suptotthita iva pratibodhaiḥ prabodhitaḥ ॥ 33 ॥

Tr. Then the time which is an illusion is overcome and the *yogī* like a person awakening from sleep gains consciousness. 33.

एवं सिद्धो भवेद्योगी वञ्चयित्वा विधानतः ।
कालं कलितसंसारं पौरुषेणाद्भुतेन हि ॥ ३३ ॥

evaṃ siddho bhavedyogī vañcayitvā vidhānataḥ ।
kālaṃ kalitasaṃsāraṃ pauruṣeṇādbhutena hi ॥ 33 ॥

Tr. Thus a' *yogī* becomes accomplished. He systematically transcends the illusions of the mundane world and *kāla* through amazing valour. 33.

ततस्त्रिभुवने योगी विचरत्येक एव सः ।
पश्यन् संसारवैचित्र्यं स्वेच्छया निरहंकृतिः ॥ इति ॥ ३४ ॥

tatastribhuvane yogī vicaratyeka eva saḥ ।
paśyan saṃsāravaicitryaṃ svecchayā nirahaṅkṛtiḥ ॥*iti*॥34॥

Tr. Thereafter the *yogī* moves alone in the three worlds. As he observes the peculiarities of the world, he gives up ego. 34.

॥ इति गोविन्ददेवसुतसुन्दरदेवविरचितायां हठतत्वकौमुद्याम्
उत्क्रान्तिप्राणायामनिरूपणोद्योतः ॥

|| iti govindadevasutasundaradevaviracitāyāṃ haṭhatatvakaumudyāṃ utkrāntiprāṇāyāmanirūpaṇodyotaḥ ||

Here ends the chapter narrating *utkrānti prāṇāyāma* in *haṭhatatvakaumudī* composed by *sundaradeva* the son of *govindadeva.*

॥ इति कालवञ्चने योगनिष्पत्तिप्रणवोल्लासः सप्तमः ॥

|| iti kālavañcane yoganiṣpattipraṇavollāsaḥ saptamaḥ ||

Here ends the seventh *ullāsa* on *niṣpatti* state of *yoga* and *praṇava* in *kālavañcana* (transcending death).

Chapter—54

अथ –

atha--

Here follows—

नादानुसन्धानसमाधिमेकं मन्यामहे मुख्यतमं लयानाम् ॥ १ ॥

nādānusandhānasamādhimekaṃ manyāmahe mukhyatamaṃ layānām ॥ 1 ॥

Tr. Among the *layas*, I consider *samādhi* of *nādānusandhāna* as the most prominent one. 1.

सरेचपूरैरनिलस्य कुम्भैः सर्वासु नाडीषु विशोधितासु ।
अनाहताख्यो बहुभिः प्रकारैरन्तः प्रवर्त्तेत इदानीमाहुः ॥ २ ॥

sarecapūrairanilasya kumbhaiḥ
sarvāsu nāḍīṣu viśodhitāsu ॥
anāhatākhyo bahubhiḥ prakārair-
antaḥ pravartteta idānīmāhuḥ ॥ 2 ॥

Tr. With the practice of *recaka, pūraka* and *kuṃbhaka* of *prāṇa* all the *nāḍīs* are purified which enables one to hear various kinds of *anāhata nāda* (internal sounds). 2.

तथा चोक्तं हठयोगे –

tathā coktaṃ haṭhayoge

It is said in *haṭhayoga*—

सम्बद्धासनमेढ्रमंघ्रियुगलं कर्णाक्षिनासापुट-
द्वाराण्यंगुलिभिर्नियम्य यद् वर्त्मवक्त्रेण वा पूरितम् ॥
धृत्वा वक्षसि वह्न्यपानसहितं मूर्ध्नि स्थितं धारयेद्
एवं याति विंशत्तत्वसमतां योगीश्वरस्तन्मयः ॥ ३ ॥

sambaddhāsanamedhramaṅghriyugalaṃ karṇākṣināsāpuṭa-
dvārāṇyaṅgulibhirniyamya yad vartmavaktreṇa vā pūritam ॥
dhṛtvā vakṣasi vahnyapānasahitaṃ mūrdhni sthitaṃ dhārayed
evaṃ yāti viṅśattatvasamatāṃ yogīśvarastanmayaḥ ॥ 3 ॥

Tr. Adopt an *āsana (siddhāsana)* by placing the heels at the perineum. Plug the passages of ears, eyes, and nostrils with the fingers. Inhale through the mouth and hold it in the chest along with fire and *apāna* and meditate on it in the head. Thus a great *yogī* equals twenty *tatvas* as he gets absorbed in

them. 3.

गगनं पवने प्राप्ते ध्वनिरुत्पद्यते महान् ।
घण्टादीनां प्रवाद्यानां तदा सिद्धिरदूरतः ॥ इति ॥ ४ ॥

gaganaṃ pavane prāpte dhvanirutpadyate mahān ।
ghaṇṭādīnāṃ pravādyānāṃ tadā siddhiradūrataḥ ॥ *iti* ॥4॥

Tr. A sublime sound of ringing of the bells etc. is produced when the air reaches the space. Then success (in *yoga*) is not far. 4.

तथा च त्रिपुरासारसमुच्चये –

tathā ca tripurāsārasamuccaye—

It is said in *tripurāsārasamuccya*—

अथ पार्ष्णिनिरुद्धकम्बुनाध्वजमूलस्थितसव्यपादपार्ष्णिः ।
ऋजुकायशिरोधरो यतात्मा विषयेभ्यो विनिवर्त्तितेन्द्रियाश्वः ॥५॥

atha pārṣṇiniruddhakambunādhvaja-
mūlasthitasavyapādapārṣṇiḥ ॥
ṛjukāyaśirodharo yatātmā
viṣayebhyo vinivarttitendriyāśvaḥ ॥ 5 ॥

Tr. Press the right heel at the perineum and the left heel at the generative organ. Keep the trunk and head straight. Withdraw all the senses which are like horses from their objects and restrain the Self. 5.

काकीचञ्च्वाऽग्रकृष्टैर्मुहूरुदरदरीं पूरयित्वा समीरैः
अंगुष्ठाभ्यामुभाभ्यां श्रुतिपुटविवरे तर्जनीभ्यां च नेत्रे ॥
नासारन्ध्रे निरुध्य स्थिरविमलमतिर्मध्यमाभ्यामथास्यम्
त्वन्याभिर्नातिगाढं कमलजनिलये स्थापयेन्मानसं स्वम् ॥ ६ ॥

kākīcañcvā'grakṛṣṭairmuhūrudaradarīṃ pūrayitvā samīraiḥ
aṅguṣṭhābhyāmubhābhyāṃ śrutipuṭavivare tarjanībhyāṃ ca netre
nāsārandhre nirudhya sthiravimalamatirmadhyamābhyāmathāsyam
tvanyābhirnātigāḍhaṃ kamalajanilaye sthāpayenmānasaṃ svam ॥6॥

Tr. Frequently suck the air and fill up the cavity by practising *kākīcañcu* (making the tongue like the beak of a crow). With both the thumbs plug the ears. With index fingers close the eyes. And also close the nostrils with the middle fingers.

Close the mouth gently with the other fingers. Keep a stable and pure attitude and meditate on *brahmā*. 6.

यथाशक्त्याऽभ्यासं प्रतिदिवसमेवं विदधतः
सुषुम्णान्तश्चायं प्रसरति शनैर्देहपवनः ॥
तदा नादो नैजो भवति सहजानन्दाननः
क्रमाद्वीणावादिप्रहतमृदुवीणारवसमः ॥ ७ ॥

yathāśaktyā'bhyāsaṃ pratidivasamevaṃ vidadhataḥ
suṣumṇāntaścāyaṃ prasarati śanairddehapavanaḥ ॥
tadā nādo naijo bhavati sahajānandānanaḥ
kramādvīṇāvādiprahatamṛduvīṇāravasamaḥ ॥ 7 ॥

Tr. Undertake this practice daily as per capacity. Thus the *prāṇa* (bodily air) will enter in *suṣumnā*. Then the *nāda* will reveal on its own and subsequently it will produce sounds resembling a gentler note that of *viṇā* which brings about Bliss. 7.

आदौ मत्तालिमालागलपथविगलितारम्भकारहावी
नादोऽसौ वांशिकास्यानिलभरितलसद्वंशनिःस्वानतुल्यः ॥
घण्टानादानुकारी तदनुजलनिधिध्वानधीरो गभीरो
गर्जत्पर्जन्यघोषः पर इह कुहरे वर्त्तते ब्रह्मनाड्याः ॥ ८ ॥

ādau mattālimālāgalapathavigalitārambhakārahāvī
nādo'sau vāṃśikāsyānilabharitalasadvaṃśaniḥsvānatulyaḥ ॥
ghaṇṭānādānukārī tadanujalanidhidhvānadhīro gabhīro
garjatparjanyaghoṣaḥ para iha kuhare varttate brahmanāḍyāḥ ॥8॥

Tr. In the beginning in solitude one hears the sounds like that of intoxicated swarm of bees. Then comes the deep and rhythmic sound of (bamboo) flute. Then the sound of ringing of the bells is heard. Thereafter, deep sounds of ocean and thundering clouds are heard. All these are produced from the cavity of *brahmanāḍī*. 8.

विजितो भवतीह तेन वायुः सहजो यस्य ।
समुत्थितः प्रणादः अणिमादिगुणाः भवन्ति ॥ ९ ॥

vijito bhavatīha tena vāyuḥ sahajo yasya ।
samutthitaḥ praṇādaḥ aṇimādiguṇāḥ bhavanti ॥ 9 ॥

Tr. One who controls the *vāyu* effortlessly and in whom *nāda* has been revealed, attains the *guṇas* (supernatural powers) like *aṇimā* etc. 9.

तस्यामितपुण्यस्य महागुणास्पदस्य
सुरराजतनुभवारिवक्त्रे विनिरुध्य ॥
स्वकरांगुलद्वयेन जलधेरिव धीर-
नादमन्तः प्रसरन्तं सहसा शृणोति मर्त्यः ॥ १० ॥

tasyāmitapuṇyasya mahāguṇāspadasya
surarājatanubhavārivaktre vinirudhya ॥
svakarāṅguladvayena jaladheriva dhīra-
nādamantaḥ prasarantaṃ sahasā śṛṇoti marttyaḥ 10

Tr. A person who possesses unlimited fortune and enjoys the great supernatural *guṇas* (powers), should close the ears with both the fingers. Thus a mortal hears the sublime sound like that of ocean which gradually spreads within. 10.

परिभावयतोऽपि नादमेनं त्रिदशाधीशतनुजवैरिजातम् ।
सततं भवतीह तस्य जन्तोर्गुणसंप्राप्तिरपेतकल्मषस्य ॥ ११ ॥

paribhāvayato'pi nādamenaṃ
tridaśādhīśatanujavairijātam ॥
satataṃ bhavatīha tasya jantor-
guṇasaṃprāptirapetakalmaṣasya ॥ 11 ॥

Tr. One who always meditates on this *nāda* in the ears, gets rid of sins and attains the *guṇas* (powers). 11.

शृंगाण्यंगुलिभिर्निरुध्य विधिवत् कोदण्डयोः पण्डितो
मध्ये रुद्धमरुन्निरुन्ध्य वृषभश्रेष्ठे च षष्ठेन्द्रियम् ॥
साक्षात् तत्क्षणमेव पश्यति शनैस्त्रैय्यन्तगीतं परं
ज्योतिस्त्रैपुरमंकमुक्तशशभृल्लाक्षावलक्षप्रभम् ॥ इति ॥ १२ ॥

śṛṅgāṇyaṅgulibhirnirudhya vidhivat kodaṇḍayoḥ paṇḍito
madhye ruddhamarunnirundhya vṛṣabhaśreṣṭhe ca ṣaṣṭhendriyam
sākṣāt tatkṣaṇameva paśyati śanaistraiyyantagītaṃ paraṃ
jyotistraipuramaṅkamuktaśaśabhṛllākṣāvalakṣaprabham ॥ *iti* ॥12॥

Tr. A wise should close the openings (like ears etc.) with the fingers and hold the *prāṇa* at the centre of the eyebrows

along with mind. Thus he soon hears the celestial songs and sees the light that of moon and red in colour like that of lac. 12.

तथा च हठप्रदीपिकायाम् —

tathā ca haṭhapradīpikāyām—

According to ***haṭhapradīpikā***—

श्रवणमुखनयननासानिरोधनं चैव कर्त्तव्यम् ।
शुद्धसुषुम्णासरणेः विमलः संश्रूयते नादः ॥ १३ ॥

śravaṇamukhanayananāsānirodhanaṃ caiva karttavyam
śuddhasuṣumṇāśaraṇeḥ vimalaḥ saṃśrūyate nādaḥ ॥13॥

Tr. One should close the ears, mouth, eyes and nose. Simultencously, a clear and distinct *nāda*, originating in the passage of purified *suṣumnā* is heard. 13.

आरम्भश्च घटश्चैव तथा परिचयस्तथा ।
निष्पत्तिः सर्वयोगेषु स्यादवस्थाचतुष्टयम् ॥ १४ ॥

ārambhaśca ghaṭaścaiva tathā paricayastathā ।
niṣpattiḥ sarvayogeṣu syādavasthācatuṣṭayam ॥ 14 ॥

Tr. *ārambha, ghaṭa, paricaya* and *niṣpatti* are the four states as (described) in all the schools of *yoga*. 14.

तत्र आरम्भः —

tatra ārambhaḥ—

The *ārambha* state follows —

ब्रह्मग्रन्थिर्भवेद् भिन्नादानन्दः शून्यसम्भवः ।
विचित्रक्वणिको देहेऽनाहतः श्रूयते ध्वनिः ॥ १५ ॥

brahmagranthirbhaved bhinnādānandaḥ śūnyasambhavaḥ
vicitrakvaṇiko dehe'nāhataḥ śrūyate dhvaniḥ ॥ 15 ॥

Tr. (On attainment of the *āraṃbha* state) a *yogī* gets the *brahmagranthi* pierced, unbridled joy emanating from absolute void and hearing of a divine unstruck tinkling sound. 15.

ब्रह्मग्रन्थिस्वाधिष्ठानं तद्भेद आरम्भे याते ।
जितापानेन अथ पूरकपूरयोजितान्तः ॥ इति ॥ १६ ॥

brahmagranthisvādhiṣṭhānaṃ tadbheda ārambhe yāte ।
jitāpānena atha pūrakapūrayojitāntaḥ ॥ *iti* ॥ 16 ॥

Tr. In the state of *āraṃbha* through the control of *apāna*

brahmagranthi and *svādhiṣṭhāna* are pierces, which is attained through proper application of *pūraka*. 16.

त्रिपुरासारोच्चयोक्तविधिना विहितेऽपानो ब्रह्मग्रन्थिं विभिद्य शक्तेः । अधः कामाग्निं धमति । तदवाच्याऽनन्दसमाधिः कोऽपि समुद्भवति । तत्रोत्पन्नयोगी चित्रक्वणिताऽनाहतनादं स्वदेहे शृणोति भावः ॥ १७ ॥

tripurāsāroccayoktavidhinā vihite'pāno brahmagranthiṃ vibhidya śakteḥ । adhaḥ kāmāgniṃ dhamati tadāvācyā'nandasamādhiḥ ko'pi samudbhavati । tatrotpannayogī citrakvaṇitā'nāhatanādaṃ svadehe śṛṇoti bhāvaḥ ॥ 17 ॥

Tr. When *apāna* is stimulated by following the technique laid down in *tripurāsāra*, it pierces *brahmagranthi* and stimulates the fire of *kāma* (desire) lying below *śakti*. Then arises the rare state of *samādhi* (Bliss) which is inexplicable. In this state an *utpannayogī* hears the amazing tinkling sound of *anāhata* (unstruck) *nāda* within the body. 17.

तद्भेदफलं यथा –

tadbhedaphalaṃ yathā—

The above said piercing yields into—

तेजस्वी दिव्यगन्धश्च दिव्यदेहोऽप्यरोगवान् ।
सम्पूर्णहृदये शून्ये त्वारम्भे योगवान् भवेत् ॥ १८ ॥

tejasvī divyagandhaśca divyadeho'pyarogavān ।
sampūrṇahṛdaye śūnye tvārambhe yogavān bhavet ॥18॥

Tr. One enjoys lustrous (body), divine smell, divine physique, freedom from diseases, contentment and his heart enjoys the void in this *ārambha* state. And he becomes able to control the modifications of *citta*. 18.

योगवान् चित्तनिरोधे सामर्थ्यवान् । एते नूनमारम्भमुत्पन्नयोगी पातञ्जलोक्ताभ्यासी साधक उक्तः ॥

yogavān cittanirodhe sāmarthyavān । ete nūnamārambhamutpannayogī pātañjaloktābhyāsī sādhaka uktaḥ ॥

Tr. *yogavān* means gaining capability to control the *citta*. These are the qualities indeed arising in *ārambha* state to an *utpannayogi* who can be equated with the *sādhaka* as

described in *pātañjala yoga*.

अथ घटावस्था—

atha ghaṭāvasthā—

Now follows *ghaṭāvasthā*—

द्वितीयायां घटीं कृत्वा वायुर्भवति मध्यगः ।

दृढासनो भवेद्योगी ज्ञानी देवसमस्तथा ॥ १९ ॥

dvitīyāyāṃ ghaṭīṃ kṛtvā vāyurbhavati madhyagaḥ ।

dṛḍhāsano bhavedyogī jñānī devasamastathā ॥ 19 ॥

Tr. Approaching the second state, the *vāyu* courses through the middle path in the body, *āsana* becomes stable, the *yogī* gets wisdom and becomes like a god. 19.

वायुरपानः प्राणेन घटानां प्राप्य यद् द्वितीयायां घटावस्था तस्या अवसाने परिणतौ परिचयारम्भे सुषुम्णामध्यगो यदा भवति तदा योगी जितासनस्त्रैकालिकज्ञानी स्याद् ॥ इति ॥ २० ॥

vāyurapānaḥ prāṇena ghaṭānāṃ prāpya yad dvitīyāyāṃ ghaṭāvasthā tasyā avasāne pariṇatau paricayārambhe suṣumṇāmadhyago yadā bhavati tadā yogī jitāsanastraikālikajñānī syād ॥ *iti* ॥ 20 ॥

Tr. In the second stage of *ghaṭāvasthā*, in the body, the *apāna vāyu* merges with *prāṇa* in the body and at the end of this and in the initial phase of *paricaya* (the *prāṇa*) courses through the central canal of *suṣumnā*, then the *yogī* masters over *āsana* and knows about (contents of) past, present and future. 20.

विष्णुग्रन्थिर्यदा भिन्ना परमानन्दसूचिका ।

अतिशून्यविभेदश्च भेरीशब्दस्तथा भवेत् ॥ २१ ॥

viṣṇugranthiryadā bhinnā paramānandasūcikā ।

atiśūnyavibhedaśca bherīśabdastathā bhavet ॥ 21 ॥

Tr. The *viṣṇugranthi* is pierced, various sounds like that of the kettle drum are heard in the absolute void heralding Absolute Bliss. 21.

विष्णुग्रन्थिर्नाभिः ।

viṣṇugranthirnābhiḥ ।

viṣṇugranthi is the navel.

अथ परिचयाऽवस्था ॥

atha paricayā'vasthā ॥

Here follows *paricayāvasthā*--

तृतीयायां ततो जित्वा सहजानन्दसम्भवः ।
दोषदुःखजरामृत्युः क्षुधानिद्राविवर्जितः ॥ २२ ॥

tṛtīyāyāṃ tato jitvā sahajānandasambhavaḥ ।
doṣaduḥkhajarāmṛtyuḥ kṣudhānidrāvivarjitaḥ ॥ 22 ॥

Tr. In the third stage when one controls (the mind) one attains *sahaja-samādhi* which overcomes blemishes, suffering, old age, (premature) death, hunger and sleep. 22.

तृतीया परिचयावस्था या । अस्यामन्ततः कर्मणां त्रिकूटादण्डकरादात्मानं जित्वा योगारूढः सन्मुनिः सहजसमाध्यानन्दशमम्यव्हपस्तिः शक्तिबोधमहिम्नाऽप्रश्रत एव कामक्रोधादिशदुःखादिभिर्गाढं विवर्जितो भवतीति ज्ञेयम् ॥ २३ ॥

tṛtīyā paricayāvasthā yā । *asyāmantataḥ karmaṇāṃ trikūṭādaṇḍakarādātmānaṃ jitvā yogārūḍhaḥ sanmuniḥ sahajasamādhyānandaśamamyavhapastiḥ śaktibodha-mahimnā'praśrata eva kāmakrodhādiśaduḥkhādibhirgāḍhaṃ vivarjito bhavatīti jñeyam* ॥ 23 ॥

Tr. *paricaya* is the third state wherein at the fag end, one controls the self (mind) and the triad of *karma* (*sañcita*, *prārabdha* and *kriyamāṇa*) and then a *yogārūḍha muni* enjoys the Bliss of *sahaja samādhi* and peace. On arousal of ***śakti***, he gets complete relief from desires, anger, blemishes, suffering etc. This should be noted. 23.

अथ निष्पत्तिः —

atha niṣpattiḥ—

Here follows *niṣpatti* state—

रुद्रग्रन्थिं ततो भित्वा शर्वपीठगतोऽनलः ।
निष्पन्नो वैणवः शब्दो क्वणद्वीणाक्वणो भवेत् ॥ २४ ॥

rudragranthiṃ tato bhitvā śarvapīṭhagato'nalaḥ ।
niṣpanno vaiṇavaḥ śabdo kvaṇadvīṇākvaṇo bhavet ॥24॥

Tr. In this state *rudragranthi* is pierced and *prāṇa* moves

to the *śarvapīṭha* (abode of *śiva* at the top of the head). This generates a sound like the musical notes of a finely tuned *vīṇā*. 24.

राजयोगपदप्राप्तिसुखोपायो ऽल्पचेतसाम् ।
सद्यः प्रत्ययसन्धायी जायते नात्र संशयः ॥ २५ ॥

rājayogapadaprāptisukhopāyo'lpacetasām ।
sadyaḥ pratyayasandhāyi jāyate nātra saṃśayaḥ ॥ 25 ॥

Tr. This is recommended for the mediocre *sādhakas* to attain the Blissful state of *rājayoga* which makes the mind absorbed (in *nāda*). 25.

रुद्रग्रन्थिं भ्रूमध्ये देशं यदा शक्त्या वायुर्भिनत्ति । तदारूढयोगस्य मुनेरभ्यासदार्ढ्यात् राजयोगापरनाम्न्युन्मनी सच्चिदानन्दघनाविर्भवति । तदा योगनिष्पत्तिहेतुर्वैणवशब्दो ऽस्य कर्णे पतति ॥ इति ॥ २६ ॥

rudragranthiṃ bhrūmadhye deśaṃ yadā śaktyā vāyurbhinatti । *tadārūḍhayogasya munerabhyāsadārḍhyāt rājayogāparanāmnyunmanī saccidānandaghanāvirbhavati* । *tadā yoganiṣpattihetuvaiṇavaśabdo'sya karṇe patati* ॥ *iti* ॥ 26 ॥

Tr. *śakti* pierces the *rudragranthi* which is in the region of the center of the eyebrows. Then the *muni* in *ārūḍha-yoga* gains ground in the practice of *rājayoga* which is the synonym for *unmanī* and to him the *saccidānanda* (eternal, conscious and Blissful) state would supervene. Then in the process of attaining the state of *yoganiṣpatti* the sound of flute falls in the ears of the *yogī*. 26.

नादानुसन्धानसमाधिभाजां योगीश्वराणां हृदये प्ररूढम् ।
आनन्दमेकं वचसामवाच्यं जानाति तं श्रीगुरुराज एव ॥ २७ ॥

nādānusandhānasamādhibhājāṃ
yogīśvarāṇāṃ hṛdaye prarūḍham ॥
ānandamekaṃ vacasāmavācyaṃ
jānāti taṃ śrīgururāja eva ॥ 27 ॥

Tr. The eminent *yogīs* who attain the state of *samādhi* by the practice of *nādānusandhāna*, experience an inexplicable joy in their heart which *śrīgururāja* alone knows. 27.

मुक्तासनस्थितो योगी मुद्रां सन्धाय शाम्भवीम् ।
शृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमन्तर्गतं सदा ॥ २८ ॥

muktāsanasthito yogī mudrāṃ sandhāya śāmbhavīm ।
śṛṇuyāddakṣiṇe karṇe nādamantargataṃ sadā ॥ 28 ॥

Tr. A *yogī* sits in *muktāsana* and adopts *śāṃbhavī mudrā* and always listens to the internally aroused *nāda* in the right ear. 28.

कर्णौ पिधाय शून्येन यं शृणोति ध्वनिं मुनिः ।
तत्र चित्तं स्थिरं कुर्याद्यावत्स्थिरपदं भवेत् ॥ २९ ॥

karṇau pidhāya śūnyena yaṃ śṛṇoti dhvaniṃ muniḥ ।
tatra cittaṃ sthiraṃ kuryād yāvatsthirapadaṃ bhavet । 29।

Tr. By closing the ears the *yogī* should listen to the sound which is heard by concentrating on the void till he attains undisturbed state of stability. 29.

अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्यमावर्त्तयेद् ध्वनिम् ।
पक्षाद्विक्षेपमखिलं जित्वा योगी सुखी भवेत् ॥ ३० ॥

abhyasyamāno nādo'yaṃ bāhyamāvarttayed dhvanim ।
pakṣādvikṣepamakhilaṃ jitvā yogī sukhī bhavet ॥ 30 ॥

Tr. Through the practice of *nāda*, all external sounds are subsided and the *yogī* becomes happy by overcoming all the distractions in a fortnight. 30.

श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो महान् ।
ततोऽभ्यासे वर्धमाने श्रूयते सूक्ष्मसूक्ष्मकः ॥ ३१ ॥

śrūyate prathamābhyāse nādo nānāvidho mahān ।
tato'bhyāse vardhamāne śrūyate sūkṣmasūkṣmakaḥ ॥31॥

Tr. In the initial practice, various sounds are heard. With the progress of the practice, one hears subtler sounds. 31.

आदौ जलधिजीमूतभेरीनिर्झरसम्भवः ।
मध्ये मर्द्दलशंखोत्था घंटाकाहलकास्तथा ॥ ३२ ॥

ādau jaladhijīmūtabherīnirjharasambhavaḥ ।
madhye marddalaśaṅkhotthā ghaṇṭākāhalakāstathā ॥32॥

अन्ते तु किंकिणी वंशनादा भ्रमरनिःस्वनाः ।
इति नानाविधा नादाः श्रूयन्ते यत्र मध्यतः ॥ ३३ ॥

ante tu kiṅkiṇī vaṃśanādā bhramaraniḥsvanāḥ ।
iti nānāvidhā nādāḥ śrūyante yatra madhyataḥ ॥ 33 ॥

Tr. Initially sounds resembling those of the ocean, thunder, big drum, water fall are heard. In the intermediate stage sounds similar to those of small drum, conch, bell and gong and finally sounds like those of tinkling of tiny bells, flute and humming of bee are heard. Thus different *nādas* are heard within the body. 32-33.

महति श्रूयमाणेऽपि मेघभेर्यादिके स्वने ।
तत्र सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरं नादमेव परामृशेत् ॥ ३४ ॥

mahati śrūyamāṇe'pi meghabheryādike svane ।
tatra sūkṣmāt sūkṣmataraṃ nādameva parāmṛśet ॥ 34 ॥

Tr. Even though loud sounds of cloud (thunder) and drum are heard, one should listen to extremely subtle to subtler sounds. 34.

घनमुत्सृज्य वा सूक्ष्मे सूक्ष्ममुत्सृज्य वा घने ।
रममाणमपि क्षिप्रं मनो नात्र प्रचालयेत् ॥ ३५ ॥

ghanamutsṛjya vā sūkṣme sūkṣmamutsṛjya vā ghane ।
ramamāṇamapi kṣipraṃ mano nātra pracālayet ॥ 35 ॥

Tr. The sound to be heard may be loud or subtle, and the mind should be absorbed in it and should not be allowed to distract. 35.

यत्र कुत्रापि वा नादे लगति प्रथमं मनः ।
तत्रैव सुस्थिरीभूत्वा तेन सार्धं विलीयते ॥ ३६ ॥

yatra kutrāpi vā nāde lagati prathamaṃ manaḥ ।
tatraiva susthirībhūtvā tena sārdhaṃ vilīyate ॥ 36 ॥

Tr. In whichever sound the mind gets absorbed initially, one should concentrate on it and thus merge into it. 36.

विस्मृत्य सकलं बाह्यं नादे दुग्धाम्बुवन्मनः ।
एकीभूयाथ सहसा चिदाकाशे विलीयते ॥ ३७ ॥

vismṛtya sakalaṃ bāhyaṃ nāde dugdhāmbuvanmanaḥ ।
ekībhūyātha sahasā cidākāśe viliyate ॥ 37 ॥

Tr. Forgetting all that is external, the mind should merge in *nāda* like milk mixed with water. Thus being unified (one is) soon merged in *cidākāśa*. 37.

औदासीन्यपरो भूत्वा सदाभ्यासेन संयमी ।
उन्मनीकारकं सद्यो नादमेव सदाभ्यसेत् ॥ ३८ ॥

audāsīnyaparo bhūtvā sadābhyāsena saṃyamī ।
unmanīkārakaṃ sadyo nādameva sadābhyaset ॥ 38 ॥

Tr. A *yogī* after mastering indifference, should regularly practises listening to *nāda*, to bring about the *unmanī* state very soon. 38.

औदासीन्यं शीतकाले पटी वा
पथ्याहारो गोपयो वा पयो वा ॥
भोज्यं भिक्षावृन्दमारण्यकन्दं
पाणी द्रोणी कापि वा भोज्यपात्रम् ॥ ३९ ॥

audāsīnyaṃ śītakāle paṭī vā
pathyāhāro gopayo vā payo vā ॥
bhojyaṃ bhikṣāvṛndamāraṇyakandaṃ
pāṇī droṇī kāpi vā bhojyapātram ॥ 39 ॥

Tr. During winter one may put on four-fold garment or remain in a shelter. He may take cow milk or water or he may subsist on alms or on roots available in the forest or he may eat in the hands or in the bowl made of leaves or in any plate. 39.

सर्वचिन्तां समुत्सृज्य सावधानेन चेतसा ।
नाद एवानुसन्धेयो योगसाम्राज्यमिच्छता ॥ ४० ॥

sarvacintāṃ samutsṛjya sāvadhānena cetasā ।
nāda evānusandheyo yogasāmrājyamicchatā ॥ 40 ॥

Tr. Giving up all the thoughts, one should listen to the *nāda* attentively, wishing to rule over the field of *yoga*. 40.

मकरन्दं पिबन् भृंगो गन्धं नापेक्षते यथा ।
नादासक्तं तथा चित्तं विषयान्नैव कांक्षति ॥ ४१ ॥

makarandaṃ piban bhṛṅgo gandhaṃ nāpekṣate yathā ।
nādāsaktaṃ tathā cittaṃ viṣayānnaiva kāṅkṣati ॥ 41 ॥

Tr. As a bee while relishing the nectar, does not care for fragrance, so also, the mind being absorbed in the *nāda*, does not hanker after the objects. 41.

बद्धं वियुक्तं चापल्यं नादगन्धकजारणात् ।
मनः पारदमाप्नोति निरालम्बाख्यखेटकम् ॥ ४२ ॥

baddhaṃ viyuktaṃ cāpalyaṃ nādagandhakajāraṇāt ।
manaḥ pāradamāpnoti nirālambākhyakheṭakam ॥ 42 ॥

Tr. As mercury, when treated with sulphur, becomes stable, devoid of fickleness, the mind being absorbed into *nāda*, gives up fickleness and merges into the void. 42.

बद्धः सुगन्धनादेन सद्यः सन्त्यक्तचापलः ।
प्रयाति सूतचित्तेन्द्रः पक्षच्छिन्न इवाप्रभः ॥ ४३ ॥

baddhaḥ sugandhanādena sadyaḥ santyaktacāpalaḥ ।
prayāti sūtacittendraḥ pakṣacchinna ivāprabhaḥ ॥ 43 ॥

Tr. Just as mercury when treated with sulphar gives up fickleness, similarly, the mind absorbed in *nāda*, like a bird clipped off of the wings, becomes ineffective. 43.

नादश्रवणतश्चित्तमन्तरंगकुरंगकः ।
विस्मृत्य विश्वमेकाग्रः कुत्रचिन्न हि धावति ॥ ४४ ॥

nādaśravaṇataścittamantaraṅgakuraṅgakaḥ ।
vismṛtya viśvamekāgraḥ kutracinna hi dhāvati ॥ 44 ॥

Tr. The mind like a deer having been absorbed in the internal *nāda* by forgetting everything else, does not wander. 44.

मनो मत्तगजेन्द्रस्य विषयोद्यानचारिणः ।
नियामने समर्थोऽयं निनादनिशितांकुशः ॥ ४५ ॥

mano mattagajendrasya viṣayodyānacāriṇaḥ ।
niyāmane samartho'yaṃ ninādaniśitāṅkuśaḥ ॥ 45 ॥

Tr. The sharp goad of *nāda* is capable of controlling the mind, which like an excited elephant, wanders in the garden of sense objects. 45.

अन्तरंगतुरंगस्य वाजिनः परिधावतः ।
नादोपास्तिखलीनं हि नियामनकरं दृढम् ॥ ४६ ॥

antaraṅgaturaṅgasya vājinaḥ paridhāvataḥ ।
nādopāstikhalīnaṃ hi niyāmanakaraṃ dṛḍham ॥ 46 ॥

Tr. All the internal senses are like fast galloping horses. Only through the practice of *nāda* they can be firmly brought under control and made absorbed in void. 46.

नादोऽन्तरंगसारंगबन्धने वागुरायते ।
अन्तरंगकुरंगस्य नादो व्याधायतेऽपि च ॥ ४७ ॥

nādo'ntaraṅgasāraṅgabandhane vāgurāyate ।
antaraṅgakuraṅgasya nādo vyādhāyate'pi ca ॥ 47 ॥

Tr. *nāda* is able to control the (internal) mind, which is like a deer. Similarly, *nāda* is able to successfully snare (the mind), which is of the nature of deer (in swiftness). 47.

अनाहतध्वनेरन्तर्ज्ञेयं यत्सूक्ष्मसूक्ष्मकम् ।
मनस्तत्र लयं याति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ ४८ ॥

anāhatadhvanerantarjñeyaṃ yatsūkṣmasūkṣmakam ।
manastatra layaṃ yāti tadviṣṇoḥ paramaṃ padam ॥ 48 ॥

Tr. By penetrating the core of the unstruck sound (*anāhata nāda*) subtler sounds can be heard. The mind gets merged in that which is the highest abode of *viṣṇu*. 48.

तावदाकाशसंकल्पो यावच्छब्दः प्रवर्त्तते ।
निःशब्दं तत्परं ब्रह्म परमात्मेति गीयते ॥ ४९ ॥

tāvadākāśasaṃkalpo yāvacchabdaḥ pravarttate ।
niḥśabdaṃ tatparaṃ brahma paramātmeti gīyate ॥ 49 ॥

Tr. So long as sound exists, *ākāśa* (void) too is perceived. The Absolute soundless state is considered as the state of *brahma* which is also known as *paramātmā*. 49.

नादः शक्तिरिति ख्यातो नादज्ञानं सदाशिवः ।
नादज्ञाने विनष्टे च तदुन्मन्येवशिष्यते ॥ ५० ॥

nādaḥ śaktiriti khyāto nādajñānaṃ sadāśivaḥ ।
nādajñāne vinaṣṭhe ca tadunmanyevaśiṣyate ॥ 50 ॥

Tr. *nāda* should be known as *śakti*, while perception of

nāda is ever Blissful (*sadāśiva*). The state of *unmanī* prevails when perception of *nāda* comes to an end. 50.

नादो यावन्मनस्तावन्नादान्ते च मनोन्मनी ।
सशब्दं कथितं वाते निःशब्दं ब्रह्म कथ्यते ॥ ५१ ॥

nādo yāvanmanastāvannādānte ca manonmanī ।
saśabdaṃ kathitaṃ vāte niḥśabdaṃ brahma kathyate ॥ 51 ॥

Tr. Mind exists so long as *nāda* exists. When *nāda* stops, the *unmanī* state prevails. *nāda* is perceived so long *prāṇa* moves. Soundless state is the state of *brahma*. 51.

सदा नादानुसन्धानात् संक्षीणे वासनाक्षये ।
निरञ्जने च लीयेते निश्चितं चित्तमारुतौ ॥ ५२ ॥

sadā nādānusandhānāt saṃkṣīṇe vāsanākṣaye ।
nirañjane ca līyeta niścitaṃ cittamārutau ॥ 52 ॥

Tr. Through the consistent practice of *nādānusandhāna* all cravings are attenuated and both *māruta* and mind are certainly merged into *nirañjana*. 52.

नादकोटिसहस्राणि . बिन्दुकोटिशतानि च ।
सर्वे तत्र लयं यान्ति यत्र देवो निरञ्जनः ॥ इति ॥ ५३ ॥

nādakoṭisahasrāṇi bindukoṭiśatāni ca ।
sarve tatra layaṃ yānti yatra devo nirañjanaḥ ॥ *iti* ॥ 53 ॥

Tr. All the thousands of crores of *nāda* and hundreds of crores of *bindu* are merged in the Absolute. 53.

तथा चोक्तं योगसारे शिवपार्वतीसंवादे –

tathā coktaṃ yogasāre śivapārvatīsaṃvāde—

It has been stated in *yogasāra* in the dialogue between *Śiva* and *pārvatī*—

ईश्वर उवाच –

īśvara uvāca—

***īśvara* said—**

या मूलाधारगा[1] शक्तिः सा परा बिन्दुरूपिणी ।
तस्यामुत्पद्यते नादो बीजात् सूक्ष्मादिवांकुरः ॥ ५४ ॥

1. मूलाधारणा –b.

yā mūlādhāragā śaktiḥ sā parā bindurūpiṇī ।
tasyāmutpadyate nādo bījāt sūkṣmādivāṅkuraḥ ॥ 54 ॥

Tr. The *śakti* which resides at the *mūlādhāra* is in the form of the finest *bindu* known as *parā*. From this *nāda* emanates like a sprout springs from a subtle seed. 54.

तां पश्यन्तीं विदुर्विश्वं[1] यया पश्यन्ति योगिनः ।
हृदये व्यज्यते घोषो गर्जत्पर्जन्यसन्निभः ॥ ५५ ॥

tāṃ paśyantīṃ vidurviśvaṃ yayā paśyanti yoginaḥ ।
hṛdaye vyajyate ghoṣo garjatparjanyasannibhaḥ ॥ 55 ॥

Tr. With which the *yogīs* perceive the whole universe, it is called *paśyantī*. The sound resonates in the heart which resembles that of a loud thunder. 55.

तत्र स्थिता महादेवी मध्यमेत्यभिधीयते ।
प्राणेन विखराख्येन प्रेरिता वैखरी पुनः ॥ ५६ ॥

tatra sthitā mahādevī madhyametyabhidhīyate ।
prāṇena vikharākhyena preritā vaikharī punaḥ ॥ 56 ॥

Tr. *mahādevī* which is also known as *madhyamā*, is located therein. The *prāṇa* which is also called *vikhara* stimulates *vaikharī* too. 56.

शाखापल्लवरूपेण ताल्वादिस्थानघट्टनात्[2] ।
अकारादिक्षकारान्ताद्यक्षराणि[3] समीरयेत् ॥ ५७ ॥

śākhāpallavarūpeṇa tālvādisthānaghaṭṭanāt ।
akārādikṣakārāntādyakṣarāṇi samīrayet ॥ 57 ॥

Tr. The *prāṇa* hits at the points like palate etc., which produces the letters starting with *akāra* and ending with *kṣakāra*, which are like its leaves and branches. 57.

एषा सरस्वती देवी सर्वभूतगुहाशया ।
वायुना वह्नियुक्तेन प्रेर्यमाणा शनैः शनैः ॥ ५८ ॥

eṣā sarasvatī devī sarvabhūtaguhāśayā ।
vāyunā vahniyuktena preryamāṇā śanaiḥ śanaiḥ ॥ 58 ॥

Tr. This Goddess (of speech) *sarasvatī* resides in all

---

1. पश्यन्तीं विश्वं –b. 2. ताल्वादिस्थानघनघदनात् –b. 3. क्षकारान्ताद्यः क्षराणि –b.

the creatures. She would be gently moved by the *vāyu* which is mixed with fire. 58.

अक्षरेभ्यः पदानि स्युः पदेभ्यो वाक्यसम्भवः ।
सर्ववाक्यात्मका मन्त्रा वेदाः शास्त्राणि सर्वशः ॥ ५९ ॥

akṣarebhyaḥ padāni syuḥ padebhyo vākyasambhavaḥ ।
sarvavākyātmakā mantrā vedāḥ śāstrāṇi sarvaśaḥ ॥ 59 ॥

Tr. From letters words are formed, while words form a sentence. All the *mantras, vedas* and scriptures are in the nature of sentences alone. 59.

पुराणानि च काव्यानि भाषाश्च विविधा अपि ।
सप्तस्वराश्च गाथाश्च सर्वे[1] नादसमुद्भवाः ॥ ६० ॥

purāṇāni ca kāvyāni bhāṣāśca vividhā api ।
saptasvarāśca gāthāśca sarve nādasamudbhavāḥ ॥ 60 ॥

Tr. Even the *purāṇas*, poems and various languages, the seven *svaras*, *gāthās* (religious verses)—all emanate from *nāda* alone. 60.

गुदमेढ्रान्तरालस्थं मूलाधारं त्रिकोणकम् ।
शिवस्य दीपरूपस्य शक्तिरूपस्य तत्पदम् ॥ ६१ ॥

gudameḍhrāntarālastham mūlādhāram trikoṇam ।
śivasya dīparūpasya śaktirūpasya tatpadam ॥ 61 ॥

Tr. In between anus and generative organ the triangular *mūlādhāra* is located. This seat of *śiva*, the luminous is in the form of *śakti*. 61.

यत्र कुण्डलिनी नाम परा शक्तिः प्रतिष्ठिता ।
तस्माद्वायुश्च वह्निश्च बिन्दुनादस्ततः[2] शिवे ॥ ६२ ॥

yatra kuṇḍalinī nāma parā śaktiḥ pratiṣṭhitā ।
tasmādvāyuśca vahniśca bindunādastataḥ śive ॥ 62 ॥

Tr. O *śive*! Where *kuṇḍalinī*, the Absolute *śakti* is situated, therefrom *prāṇa*, fire, *bindu* and *nāda* emanate. 62.

यस्माद्धंसो यत इदं[3] मन उत्पद्यते[4] नृणाम् ।
तदेतत्कामरूपाख्यं पीठं कामफलप्रदम् ॥ ६३ ॥

---

1. सर्व —b. 2. बिन्दुनादिस्ततः —b. 3. यस्माद्वंसोद्यत इदं —b. 4. उपद्यते —b.

yasmāddhaṃso yata idaṃ mana utpadyate nṛṇām ।
tadetatkāmarūpākhyaṃ pīṭhaṃ kāmaphalapradam ॥ 63 ॥

Tr. From this point *haṃsa* as well as mind of the human beings emerge. This is the seat of *kāmarūpa* which fulfills all desires. 63.

हृदये ऽनाहताख्यं[1] तु पूर्णगिर्याख्यपीठकम्[2] ।
पीठं कण्ठे[3] षोडशास्रं[4] चक्रं जालन्धरं भवेत् ॥
आज्ञा नाम भ्रुवोर्मध्ये पीठमुड्यानानामकम् ॥ इति ॥ ६४ ॥

hṛdaye'nāhatākhyaṃ tu pūrṇagiryākhyapīṭhakam ।
pīṭhaṃ kaṇṭhe ṣoḍaśāsraṃ cakraṃ jālandharaṃ bhavet ॥
ājñā nāma bhruvormadhye pīṭhamuḍyānanāmakam ॥ *iti* ॥ 64 ॥

Tr. In the heart, the seat (*pīṭha*) of *anāhata* known as *pūrṇagiri*, is situated. In the throat the seat (*pīṭha*) of *cakra* having sixteen spokes is situated, which is called *jālandhara*. At the center of the eyebrows, *ājñā* is located the seat (*pīṭha*) of which is called *uḍḍyāna-pīṭha* . 64.

इति नादोत्पत्तिः[5] ॥

iti nādotpattiḥ ॥

Here ends the description of evolution of *nāda*.

अत्र चक्रभेदक्रमेण सिद्धिक्रम ईश्वरमीननाथसंवादे यथा –

atra cakrabhedakrameṇa siddhikrama īśvaramīnanātha-saṃvāde yathā—

In *īśvaramīnanātha-saṃvāda* the order (of hearing of *nāda*) which occurs due to an orderly piercing of the *cakras* and control over them has been described as follows—

यदा परिचये शक्तिश्चलिता तूर्ध्वमेति खम् ।
षट्चक्राणि विभिद्योच्चैस्तदा स्युरणिमादयः ॥ ६५ ॥

yadā paricaye śaktiścalitā tūrdhvameti kham ।
ṣaṭcakrāṇi vibhidyoccaistadā syuraṇimādayaḥ ॥ 65 ॥

---

1. ऽनाहताख्यां -b. 2. पीटकं -b. 3. पीटके -b. 4. षापडशासुं -b. 5. नादोत्पत्तिः इति -b.

Tr. In the *paricaya* state, *śakti* being stimulated, moves up. She reaches upwards to *kha* (space— *brahmarandhra*) after piercing the six *cakras*. Then the *aṇimā* etc. occur. 65.

पुरा ग्रन्थित्रयं भित्वा यात्यूर्ध्वं शक्तिरात्मनः ।
स्फुटन्ति पृष्ठवंशास्थिग्रन्थयो[1] योगिनस्तदा ॥ ६६ ॥

purā granthitrayaṃ bhitvā yātyūrdhvaṃ śaktirātmanaḥ ।
sphuṭanti pṛṣṭhavaṃśāsthigranthayo yoginastadā ॥ 66 ॥

Tr. Then alone the *śakti* of a person moves up after piercing three *granthis*. Then alone a *yogī* pierces the *granthis* situated in the spine. 66.

तदैव वायुः सर्वांगे लीनो भवति सञ्जितः ।
धीरैः केवलकुम्भः स उच्यते सिद्धिमूलकः ॥ ६७ ॥

tadaiva vāyuḥ sarvāṅge līno bhavati sañjitaḥ ।
dhīraiḥ kevalakumbhaḥ sa ucyate siddhimūlakaḥ ॥ 67 ॥

Tr. Then alone *vāyu (prāṇa)* being controlled spreads thoroughly all over the body. The savants know this as *kevala-kuṃbhaka* which spearheads success (in *yoga*). 67.

मूलाधारं यदापानो भित्वोर्ध्वं याति वेगतः ।
तदातीतानागतज्ञो योगी भवति[2] सत्वधीः ॥ ६८ ॥

mūlādhāraṃ yadāpāno bhitvordhvaṃ yāti vegataḥ ।
tadātītānāgatajño yogī bhavati satvadhīḥ ॥ 68 ॥

Tr. When *apāna* pierces *mūlādhāra* and speedily moves upwards, then a *yogī* who is committed to *satva* (Self), knows past and future. 68.

स्थितिं भित्वोर्ध्वगोऽपानो यदा क्षोभयन्तीश्वरीम् ।
तदा नादोत्पत्तिरस्य योगिनो हृदि जायते ॥ ६९ ॥

sthitiṃ bhitvordhvago'pāno yadā kṣobhayantīśvarīm ।
tadā nādotpattirasya yogino hṛdi jāyate ॥ 69 ॥

Tr. After piercing the *mūlādhāra*, while moving upwards, *apāna* stirs up *īśvarī*, then in the heart of a *yogī* *nāda* is revealed. 69.

---

1. वंतास्थिगग्रथयो -b. 2 भूवन्ति -b.

मृदंगनादोत्पत्तिस्तु मणिपूरभिदा भवेत् ।
अनाहतविभेदेन घण्टाध्वनिरुदेति च ॥ ७० ॥
mṛdaṅganādotpattistu maṇipūrabhidā bhavet ।
anāhatavibhedena ghaṇṭādhvanirudeti ca ॥ 70 ॥
विशुद्धचक्रभेदेन यन्त्रनाद प्रजायते ।
आज्ञाचक्रविभेदात्तु मुनेर्याति मनोलयम् ॥ ७१ ॥
viśuddhacakrabhedena yantranāda prajāyate ।
ājñācakravibhedāttu muneryāti manolayam ॥ 71 ॥

Tr. When *maṇipūra* is pierced, the sound of *mṛdaṅga* (a small drum) is generated. Piercing of *anāhata* generates ringing of the bells and piercing of *viṣuddha cakra* produces mechanical (metallic) sounds. When *ājñācakra* is pierced the mind of a *muni* is absorbed. 70-71.

भित्वा सहस्रपत्राब्जवायुना शक्तिरेति खम् ।
यदा तदा मुनिस्तिष्ठेद[1]खण्डसहजेऽश्मवद् ॥ इति ॥ ७२ ॥
bhitvā sahasrapatrābjavāyunā śaktireti kham ।
yadā tadā munustiṣṭhedakhaṇḍasahaje'śmavad ॥ *iti* ॥72॥

Tr. When the lotus of a thousand petals is pierced through *prāṇa*, the *śakti* reaches the *kha (sahasrāra)*. Then the *muni* stays in an unbridled *sahaja* state like a rock. 72.

॥इति गोविन्ददेवसुतविरचितायां हठतत्वकौमुद्यां नादानुसन्धानविवेचनोद्योतः ॥

॥ iti govindadevasutaviracitāyāṃ haṭhatatvakaumudyāṃ nādānusandhānavivecanodyotaḥ ॥

Here ends the chapter narrating *nādānusandhāna* in *haṭhatatvakaumudī* composed by the son of *govindadeva*.

1. मुनिस्तिष्ठेद – b.

॥ इति नादानुसन्धानोल्लासोऽष्टमः ॥ ८ ॥

॥ iti nādānusandhānollāso'ṣṭamaḥ ॥ 8 ॥

Here ends the eighth *ullāsa* on *nādānusandhāna*.

Chapter—55

अथ वै[1] हठयोगनिष्पत्त्यन्तं योगनिष्पत्त्या योगारूढस्य स्वयं जितप्राणाग्निदेहमनसो जातदृढबोधस्य योगिनः प्रमोदाय राजयोगो निरूप्यते[2]--

atha vai haṭhayoganiṣpattyantaṃ yoganiṣpattyā yogārūḍhasya svayaṃ jitaprāṇāgnidehamanaso jātadṛḍhabodhasya yoginaḥ pramodāya rājayogo nirūpyate—

At the end of *haṭha-yoganiṣpatti* a *yogāruḍha* through *yoganiṣpatti,* after gaining control over *prāṇa,* fire, body and mind, gains mastery over consciousness. Now for the pleasure of such *yogīs, rājayoga* is being narrated—

तथा चोक्तम् —

tathā coktam—

It has been stated—

हठं[3] विना राजयोगो राजयोगं विना[4] हठः ।
न सिद्ध्यति ततो युग्ममानिष्पत्तेः समभ्यसेत् ॥ १ ॥

haṭhaṃ vinā rājayogo rājayogaṃ vinā haṭhaḥ ।
na siddhyati tato yugmamāniṣpatteḥ samabhyaset ॥ 1 ॥

Tr. *rājayoga* without *hatha* and *haṭha* without *rājayoga* does not bring about success. Therefore, both have to be parctised till *niṣpatti* occurs. 1.

तस्मात् प्रवर्त्तते योगी हठे सद्गुरुमार्गतः ।
आयामज्ञानवैराग्यमृते स्थैर्यं न चेतसः ॥ २ ॥

tasmāt pravarttate yogī haṭhe sadgurumārgataḥ ।
āyāmajñānavairāgyamṛte sthyairyaṃ na cetasaḥ ॥ 2 ॥

Tr. Therefore a *yogī* should undertake the practice of *haṭha* under the guidance of a bonafide *guru.* Stability of the mind does not occur without *prāṇāyāma,* wisdom and detachment. 2.

बोधेन प्राणरोधेन वैराग्यसाधितं[5] मनः ।
अखण्डराजयोगे स्यात् स्थिरं निर्वातदीपवत् ॥ ३ ॥

1. वं –b. 2. रूप्यते –b. 3. हठ –b. 4. विन –b. 5. वैराग्येणजितं –b.

bodhena prāṇarodhena vairāgyasādhitaṃ manaḥ ।
akhaṇḍarājayoge syāt sthiraṃ nirvātadīpavat ॥ 3 ॥

Tr. Just as the flame of a light is placed in a wind-free place (remains steady), similarly, wisdom, *prāṇāyāma* and detachment make the mind stable in the continued state of *rājayoga*. 3.

अभ्यासपाकपर्यन्तं मितान्नशरणो भवेत् ।
अन्यथा राजयोगं न कर्त्तुं पारयति ज्ञराद्[1] ॥ ४ ॥

abhyāsapākaparyantaṃ mitānnaśaraṇo bhavet ।
anyathā rājayogaṃ na karttuṃ pārayati jñarāt ॥ 4 ॥

Tr. Till the end of the practice, one should religiously stick to moderate diet. Otherwise even a wise does not gain success in *rājayoga*. 4.

अतीवसाधु[2]संलापं साधुसंगं सदा भजेत् ।
अश्नीयात् पिण्डरक्षार्थं बह्वालापं विवर्जयेत् ॥ ५ ॥

atīvasādhusaṃlāpaṃ sādhusaṅgaṃ sadā bhajet ।
aśnīyāt piṇḍarakṣārthaṃ bahvālāpaṃ vivarjayet ॥ 5 ॥

Tr. One should always adhere to noble speech and enjoy company of noble persons. One should consume food only to preserve the body and eschew talkativeness. 5.

त्याज्यं त्याज्यं च संगश्च सर्वथा त्यजतां[3] भृशम् ।
अन्यथा न लभेन्मुक्तिं सत्यं सत्यं मयोदितम् ॥ ६ ॥

tyājyaṃ tyājyaṃ ca saṅgaśca sarvathā tyajatāṃ bhṛśam ।
anyathā na labhenmuktiṃ satyaṃ satyaṃ mayoditam ॥6॥

Tr. Emphatically I would say that one should renounce attachment. Or else liberation cannot be attained. This is the truth told by me. 6.

स राजयोगो यथा तत्स्वरूपसमासतः[4] –

sa rājayogo yathā tatsvarūpasamāsataḥ –

Here follows a brief sketch of the nature of *rājayoga*—

तथा चोक्तं शिवसंहितायाम् —

1. ज्ञाएद् —b. 2. साध —b. 3. त्यतां —b. 4. समाप्तः —b.

tathā coktaṃ śivasaṃhitāyām—

It has been stated in *Śivasaṃhitā*—

आदौ स्वस्तिकविष्टरोपरिगतः पार्श्वोपधानान्वितः

एकान्ते शुचि[1]जन्तुवर्जितमठे स्थित्वा प्रणम्येश्वरम् ॥

शश्वत्तत्वविवेचनेन सुधिया निश्चिन्तया[2] भावनाम्

तस्मिंश्चेतसि भावयेत् प्रथममात्माऽभ्यासवैराग्यतः ॥ ७ ॥

ādau svastikaviṣṭaroparigataḥ pārśvopadhānānvitaḥ
ekānte śucijantuvarjitamaṭhe sthitvā praṇamyeśvaram ॥
śaśvattatvavivecanena sudhiyā niścintayā bhāvanām
tasmiṃścetasi bhāvayet prathamamātmā'bhyāsavairāgyataḥ ॥7॥

Tr. Stay in an isolated good hermitage (cottage) which is free from insects. Firstly assume *svastikāsana* with a lateral support (of a pillow). Bow down to *Īśvara*. With one-pointedness firmly meditate on that *tatva* (Self) which is eternal being free from worries. Practise meditation on the Self *(ātmā)* with detachment. 7.

ऐक्येन[3] शान्तसद्बुद्धौ जीवात्मपरमात्मनोः ।

अहं ममेतदुभयं[4] त्यक्त्वाऽखण्डं विचिन्तयेत् ॥ ८ ॥

aikyena śāntasadbuddhau jīvātmaparamātmanoḥ ।
ahaṃ mametadubhayaṃ tyaktvā'khaṇḍaṃ vicintayet ॥8॥

Tr. With a poised and pure mind unify *jīvātmā* and *paramātmā*. Relinquish 'I' and 'mine' and meditate on the 'One' (undivided). 8.

अध्यारोपापवादाभ्यां यत्र सर्वं विलीयते ।

तद्बीजमाश्रयेद्योगी सर्वसंगविवर्जितः ॥ ९ ॥

adhyāropāpavādābhyāṃ yatra sarvaṃ vilīyate ।
tadbījamāśrayedyogī sarvasaṅgavivarjitaḥ ॥ 9 ॥

Tr. Through (knowledge of) *adhyāropa* (superimposition) and *apavāda* (logic of exception) everything gets merged in that (Supreme). A *yogī* should adhere to that *bīja* (ultimate source) after giving up all attachment. 9.

---

1. शुवि –b. 2. निश्चितया –a. 3. एक्येन –b. 4. तदुभय –a.

सलिले करकाश्मेव दीप्ताग्नाविव तन्मयः ।
जीवो मौढ्यां[1] पृथग्बुद्धौ युक्तो ब्रह्मणि लीयते ॥ १० ॥

salile karakāśmeva dīptāgnāviva tanmayaḥ ।
jīvo mauḍhyāṃ pṛthagbuddhau yukto brahmaṇi līyate ॥10॥

Tr. Just as a pebble sinks in water or (an object) merges (burns) in fire, similarly, *jīva* (embodied soul), on dissolution of ignorance merges in *brahma* (cosmic soul). 10.

अपरोक्षं चिदानन्दं ध्यात्वा तस्मिन्[2] प्रलीयते ।
भ्रमाकुलः[3] परोक्षं च कृत्वा मूढो भ्रमत्यहो ॥ ११ ॥

aparokṣaṃ cidānandaṃ dhyātvā tasmin pralīyate ।
bhramākulaḥ parokṣaṃ ca kṛtvā mūḍho bhramatyaho ॥11॥

Tr. One gets merged in it after meditating on *aparokṣa* (direct), *cit* (conscious agent) and Blissful. Everything *parokṣa* (indirect) is illusive and alas! an ignorant wanders aimlessly. 11.

जीवकञ्चुकवानात्मा[4] शिवांशः केवलः शिवः[5] ।
स्वज्ञानेन कञ्चुकं[6] छिन्धि सोऽहमस्मीति मायिकम् ॥ १२ ॥

jīvakañcukavānātmā śivāṃśaḥ kevalaḥ śivaḥ ।
svajñānena kañcukaṃ chindhi so'hamasmīti māyikam 12

Tr. *ātmā* puts on the garb of *jīva* who is but a part and parcel of *śiva* itself. Remove the cover of ignorance in the form of *māyā* (illusion) by acquiring Self-knowledge which comes as 'I am That (*brahma*)'. 12.

चराचरमिदं[7] विश्व[8]मलीकं नश्वरं भ्रमः ।
एकोऽहं पुरुषो[9]ऽस्मीह नान्यदस्तीति भावय ॥ १३ ॥

carācaramidaṃ viśvamalīkaṃ naśvaraṃ bhramaḥ ।
eko'haṃ puruṣo'smīha nānyadastīti bhāvaya ॥ 13 ॥

Tr. The mundane world is illusive, mutable and delusion. Ponder over 'me alone exist as *puruṣa*; nothing else exists'. 13.

---

1. मौघात् —b. 2. नस्मिन् —b. 3. भ्रमकुलः —b. 4. जीवकंचुकवातात्मा –b. 5. अनुपलब्धपाठः —b. 6. कंचुकं –b. 7. मिद –b. 8. घिश्व –b. 9. पुषो –b.

एवमभ्यासतो[1] नित्यं स्वप्रकाशं प्रकाशते ।
श्रोतुर्बुद्धौ समर्थायां निवर्त्तन्ते गुणो[2] गिरः ॥ १४ ॥

evamabhyāsato nityaṃ svaprakāśaṃ prakāśate ।
śroturbuddhau samarthāyāṃ nivarttante guṇo giraḥ ॥14॥

Tr. Such a regular practice enkindles the light of the Self. The observer, through his power of discrimination (*buddhi*) fails to explain its nature. 14.

तदभ्यासवशादेव स्वतो ज्ञानं प्रजायते ।
अतो योगी राजयोगं प्रभजेत निरन्तरम् ॥ १५ ॥

tadabhyāsavaśādeva svato jñānaṃ prajāyate ।
ato yogī rājayogaṃ prabhajeta nirantaram ॥ 15 ॥

Tr. Such a practice enables spontaneous revelation of wisdom. Therefore, the *yogī* continuously enjoys *rājayoga*. 15.

ज्ञानं[3] कारणमानन्दो यदा[4] नोत्पद्यते भृशम् ।
अभ्यासं कुरुते योगी तदा संगविवर्जितः ॥ १६ ॥

jñānaṃ kāraṇamānando yadā notpadyate bhṛśam ।
abhyāsaṃ kurute yogī tadā saṅgavivarjitaḥ ॥ 16 ॥

Tr. When no more knowledge (cognition), cause (and effects relationship) or joy take place, then a *yogī* undertakes the practice with a detached attitude. 16.

यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।
तदभ्यासवशादेव स्वतो ज्ञानं[5] प्रवर्त्तते ॥ १७ ॥

yato vāco nivarttante aprāpya manasā saha ।
tadabhyāsavaśādeva svato jñānaṃ pravarttate ॥ 17 ॥

Tr. When both speech and mind cease to function, such a practice (state) alone gives rise to natural flow of wisdom. 17.

साधनादमलं ज्ञानं स्वयं स्फुरति तद्ध्रुवम् ।
आनन्दो जायते ज्ञानात् परानन्दोऽमृतं स्मृतम् ॥ १८ ॥

sādhanādamalaṃ jñānaṃ svayaṃ sphurati taddhruvam ।
ānando jāyate jñānāt parānando'mṛtaṃ smṛtam ॥ 18 ॥

Tr. Through *sādhanā* (practice) pure wisdom certainly

---

1. मभ्यसतो –b. 2. गुणौ –b. 3. ज्ञात –b. 4. पदा –b. 5. ज्ञान –b.

supervenes on its own. Bliss springs from wisdom which is absolute Bliss known as ambrosia. 18.

राजयोगे –

rājayoge –

In (the text of) *rājayoga* –

चित्ते चलति संसारो जायते चाऽचले लयः ।
तस्माच्चित्तं स्थिरं कुर्याद् औदासीन्यपरायणः ॥ १९ ॥

citte calati saṃsāro jāyate cā'cale layaḥ ।
tasmāccittaṃ sthiraṃ kuryād audāsīnyaparāyaṇaḥ ॥ 19 ॥

Tr. When the mind functions, the world appears (as real) and when it does not, the world disappears. Therefore, one should make the mind stable through detachment. 19.

यदा भवेदुदासीन[1]स्तदा तत्वं प्रकाशते ।
स्वयं प्रकाशिते तत्वे स्वानन्दस्तत्क्षणात् भवेत् ॥ २० ॥

yadā bhavedudāsīnastadā tatvaṃ prakāśate ।
svayaṃ prakāśite tatve svānandastatkṣaṇāt bhavet ॥ 20 ॥

Tr. When one is detached, then alone the *tatva* (Self) is revealed. When *tatva* (Self) reveals on its own, immediate Bliss of Self is experienced. 20.

आनन्देन च सन्तुष्टः सदाभ्यासरतो भवेत् ।
सदाभ्यासे स्थिरीभूते न विधिर्नैव च क्रमः ॥ २१ ॥

ānandena ca santuṣṭaḥ sadābhyāsarato bhavet ।
sadābhyāse sthirībhūte na vidhirnaiva ca kramaḥ ॥ 21 ॥

Tr. Drawing contentment from Bliss, one should involve in consistent practice. When consistent practice gets well settled, there remains no need for regimen or order. 21.

न किञ्चिच्चिन्तयेद्योगी ह्यौदासीन्यपरो भवेत् ।
न किञ्चिच्चिन्तनादेव स्वयं तत्वं प्रकाशते ॥
स्वयं प्रकाशिते तत्वे तत्क्षणात्तन्मयो भवेत् ॥ २२ ॥

na kiñciccintayedyogī hyaudāsīnyaparo bhavet ।
na kiñciccintanādeva svayaṃ tatvaṃ prakāśate ॥
svayaṃ prakāśite tatve tatkṣaṇāttanmayo bhavet ॥ 22 ॥

---

1. भवेददासीन –b.

Tr. A *yogī* should not think of anything at all and should rather remain indifferent. Freedom from thoughts reveals the Self. When Self is revealed, one gets instantly merged (into it). 22.

मनोदृश्यमिदं[1] सर्वं[2] यत्किञ्चित् सचराचरम् ।
मनसस्तु उन्मनीभावो द्वैताभावं प्रचक्षते ॥ २३ ॥

manodṛśyamidaṃ sarvaṃ yatkiñcit sacarācaram ।
manasastu unmanībhāvo dvaitābhāvaṃ pracakṣate ॥23॥

Tr. All animate or inanimate (world) is but mind's projection. On attaining the state of *unmanī*, one perceives the absence of duality. 23.

सदा जाग्रदवस्थायां सुप्तवद् योऽवतिष्ठते ।
निःश्वासोच्छ्वासहीनश्च निश्चितं मुक्त एव सः ॥ २४ ॥

sadā jāgradavasthāyāṃ suptavad yo'vatiṣṭhate ।
niḥśvāsocchvāsahīnaśca niścitaṃ mukta eva saḥ ॥ 24 ॥

Tr. One who in the state of awakening, remains always as if in sleep and remains without inhalation or exhalation, is indeed a liberated one. 24.

निद्रादौ जागरस्यान्ते यो भावस्तूपजायते ।
तं भावं भावयन् योगी निश्चितं मुक्त एव सः ॥ २५ ॥

nidrādau jāgarasyānte yo bhāvastūpajāyate ।
taṃ bhāvaṃ bhāvayan yogī niścitaṃ mukta eva saḥ ॥25॥

Tr. The *bhāva* (a state) which prevails before entering into sleep and after (at the end of) awakening should be contemplated upon by a *yogī*. Thus he certainly gets liberation. 25.

यथा सुप्तोत्थितः कश्चिद् विषयान् प्रतिपद्यते ।
जागर्त्त्येव ततो योगी योगनिद्राक्षयात्तथा ॥ इति ॥ २६ ॥

yathā suptotthitaḥ kaścid viṣayān pratipadyate ।
jāgarttyeva tato yogī yoganidrākṣayāttathā ॥ *iti* ॥ 26 ॥

Tr. Just as one recollects all the objects after getting up from sleep. Similarly, a *yogī* awakens after coming out of *yoganidrā*. 26.

---

1. मनोदशामिदं –b. 2. सर्वे –b.

योगबीजे ईश्वर उवाच –

yogabīje īśvara uvāca—

***īśvara* maintains in *yogabīja*—**

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत् पुनः ।
हंस हंसेति मन्त्रोऽयं सर्वे जीवा जपन्ति[1] वै ॥ २७ ॥

hakāreṇa bahiryāti sakāreṇa viśet punaḥ ।
haṃsa haṃseti mantro'yaṃ sarve jīvā japanti vai ॥ 27 ॥

Tr. With '*ha*' it moves out and with '*sa*' it enters again . All the *jīvas* (embodied souls) chant this *mantra* '*haṃsa*', '*haṃsa*'. 27.

गुरुवाक्यात् सुषुम्णायां विपरीतो भवेज्जपः[2] ।
सोऽहं सोऽहमिति प्राप्तः मन्त्रयोगस्तदोच्यते ॥ २८ ॥

guruvākyāt suṣumṇāyāṃ viparīto bhavejjapaḥ ।
so'haṃ so'hamiti prāptaḥ mantrayogastadocyate ॥ 28 ॥

Tr. Guidance of a *guru* reverses the process of repetition in *suṣumnā* in the form of '*so'ham*', '*so'ham*' which is known as *mantrayoga*. 28.

प्रतीतिर्मन्त्रयोगाच्च जायते पश्चिमे पथि ।
हकारेण तु सूर्योऽसौ ठकारे[3]णेन्दुरुच्यते ॥ २९ ॥

pratītirmantrayogācca jāyate'paścime pathi ।
hakāreṇa tu sūryo'sau ṭhakāreṇendurucyate ॥ 29 ॥

Tr. '*ha*' represents *sūrya* (sun), while '*ṭha*' represents *indu* (moon). One experiences this *mantrayoga* in the posterior path *(suṣumnā)*. 29.

हंसेन[4] ग्रस्यते जाड्यं[5] सर्वदोषसमुद्भवम् ।
क्षेत्रज्ञः परमात्मा च तयोरैक्यं यदा भवेत् ॥ ३० ॥

haṃsena grasyate jāḍyaṃ sarvadoṣasamudbhavam ।
kṣetrajñaḥ paramātmā ca tayoraikyaṃ yadā bhavet ॥30॥

Tr. By union of *kśetrajña (ātmā)* and *paramātmā*, the inertia which is the root cause of all demerits is removed by *haṃsa*. 30.

---

1. जयन्ति –b. 2. भवे जये—b. 3. टकारे –b. 4. हठेन –b. 5. जाग्रं –b.

तदैक्यसाधिते देवि चित्तं याति विलीनताम् ।
पवनः स्थैर्यमायाति लययोगोदये सति ॥ ३१ ॥
tadaikyasādhite devi cittaṃ yāti vilīnatām ।
pavanaḥ sthairyamāyāti layayogodaye sati ॥ 31 ॥

Tr. O *devi*! When this union takes place, the mind becomes absorbed, *prāṇa* is stabilized and the state of *layayoga* appears. 31.

लयी सम्प्राप्यते सौख्यं स्वात्मानं परमं पदम् ।
अणिमादिपदं प्राप्तो राजते राजयोगतः ॥ ३२ ॥
layī samprāpyate saukhyaṃ svātmānaṃ paramaṃ padam
aṇimādipadaṃ prāpto rājate rājayogataḥ ॥ 32 ॥

Tr. One who attains *laya* enjoys Bliss of the Self and the Transcendental State. After gaining *aṇimā* etc., one excels through *rājayoga*. 32.

प्राणापानसमायोगे ज्ञेयं योगचतुष्टयम् ।
संक्षेपात् कथितं वा[1] विनान्यथा शिवभाषितम्[2] ॥ इति ॥ ३३ ॥
prāṇāpānasamāyoge jñeyaṃ yogacatuṣṭayam ।
saṃkṣepāt kathitaṃ vā vinānyathā śivabhāṣitam ॥*iti*॥33॥

Tr. Four kinds of *yoga* should be understood as union of *prāṇa* and *apāna*. It is all narrated in a nut shell all of which is said by *śiva*. 33.

हठप्रदीपिकायाम् —
haṭhapradīpikāyām —
It is stated in *haṭhapradīpikā*—

सर्वे हठलयोपाया राजयोगाय केवलम् ।
राजयोगसमारूढः पुरुषः कालवञ्चकः ॥ ३४ ॥
sarve haṭhalayopāyā rājayogāya kevalam ।
rājayogasamārūḍhaḥ puruṣaḥ kālavañcakaḥ ॥ 34 ॥

Tr. All the *haṭha* and *laya* practices are meant for accomplishment of *rājayoga*. On attaining *rājayoga*, one transcends *kāla*. 34.

---
1. वि –b. 2. शिवभाषितः — a.

अस्तु वा मास्तु वा मुक्तिरत्रैवाखण्डितं[1] महत् ।
लयामृतमयं सौख्यं राजयोगादवाप्यते ॥ इति ॥ ३५ ॥

astu vā māstu vā muktiratraivākhaṇḍitaṃ mahat ।
layāmṛtamayaṃ saukhyaṃ rājayogādavāpyate ॥ *iti* ॥35॥

Tr. There may or may not exist a state of (final) emancipation, but this certainly is a state of profound and uninterrupted Bliss. This Blissful absorptive state is attained through *rājayoga*. 35.

॥ इति सुन्दरदेवविरचितायां हठतत्त्वकौमुद्यां राजयोगनिरूपणोद्योतः ॥

॥ iti sundaradevaviracitāyāṃ haṭhatatvakaumudyāṃ rājayoganirūpaṇodyotaḥ ॥

Here ends the chapter narrating *rājayoga* in *haṭhatatvakaumudī* composed by *sundaradeva*.

1. मुक्तिस्तत्रैवाखण्डितं तं -b.

Chapter—56

अथैवं योगारूढेन कालवञ्चनार्थं स्वसमुपस्थितकालज्ञानार्थं कालज्ञानं सम्पादनीयम् ॥

athaivaṃ yogārūḍhena kālavañcanārthaṃ svasamupasthitakālajñānārthaṃ kālajñānaṃ sampādanīyam ॥

Tr. A *yogārudha* should learn the knowledge of *kāla* (time of death) so that he can know the time of approaching death and thus he can deceive death (consciously preparing to pass away).

तत्कालज्ञानसमासः कथ्यते –

tatkālajñānasamāsaḥ kathyate—

Here follows a brief sketch of the knowledge of approaching death --

तथा चोक्तं मार्कण्डेयपुराणे –

tathā coktaṃ mārkeṇḍeyapurāṇe —

It is stated in *mārkaṇḍeya-purāṇa*—

अरिष्टानि महाराज शृणु वक्ष्यामि[1] तानि ते ।
येषामालोकनान्मृत्युं निजं जानाति योगवित् ॥ १ ॥

ariṣṭāni mahārāja śṛṇu vakṣyāmi tāni te ।
yeṣāmālokanānmṛtyuṃ nijaṃ jānāti yogavit ॥ 1 ॥

Tr. O king! Listen to me narrating the signs of approaching death. By knowing this, a *yogī* learns about (his time of approaching) death. 1.

यस्य वै भुक्तमात्रस्य हृदयं बाधते क्षुधा ।
जायते दन्तघर्षश्च स गतासुरसंशयम् ॥ २ ॥

yasya vai bhuktamātrasya hṛdayaṃ bādhate kṣudhā ।
jāyate dantagharṣaśca sa gatāyurasaṃśayam ॥ 2 ॥

Tr. One certainly has exhausted life, who experiences hunger even after taking food and clenching of the teeth. 2.

ऊर्ध्वा च दृष्टिर्न च संप्रतिष्ठा
ता[2] रक्ता[3] पुनः सम्परिवर्त्तमाना[4] ॥

---

1. महाराजन् मृण्डवस्यामि –b. 2. दृष्टिर्नचसंप्रतिष्ठिता –b. 3. त्यक्त्वा –b. 4. सेपर्वर्तमाना –b

मुखस्य चोष्मा[1] शिशिरा च नाभिः
शंसन्ति[2] पुंसामपरं शरीरम् ॥ ३ ॥

ūrdhvā ca dṛṣṭirna ca sampratiṣṭhā
tā raktā punaḥ samparivarttamānā ॥
mukhasya coṣmā śiśirā ca nābhiḥ
śaṃsanti puṃsāmaparaṃ śarīram ॥ 3 ॥

Tr. The body of a person perishes to take up another when one's eyes are upturned but unstable and red, the mouth becomes hot and the navel is cool. 3.

स्ववस्त्रममलं शुक्लरक्तं पश्यत्यथासितम् ।
यः पुमान् मृत्युमासन्नं तस्यापि हि विनिर्दिशेत् ॥ ४ ॥

svavastramamalaṃ śuklaraktaṃ paśyatyathāsitam ।
yaḥ pumān mṛtyumāsannaṃ tasyāpi hi vinirddiśet ॥ 4 ॥

Tr. A person has exhausted the life span and faces death when he sees his white cloth turning into red or black. 4.

अरश्मिबिम्बं सूर्यं[3] वा वह्निं[4] चैवांशुमालिनम् ।
दृष्ट्वैकादशमासांस्तु नरो वर्षं स जीवति ॥ ५ ॥

araśmibimbaṃ sūryaṃ vā vahniṃ caivāṃśumālinam ।
dṛṣṭvaikādaśamāsāṃstu naro varṣaṃ sa jīvati ॥ 5 ॥

Tr. A man who does not see the rays of the luminous sun and fire does not live beyond eleven months. 5.

वमेन् मूत्रं पुरीषं च यः स्वर्णरञ्जितं[5] तथा[6] ।
प्रत्यक्षमथवा स्वप्ने जीवितं[7] दशमासिकम् ॥ इति ॥ ६ ॥

vamen mūtraṃ purīṣaṃ ca yaḥ svarṇarañjitaṃ tathā ।
pratyakṣamathavā svapne jīvitaṃ daśamāsikam ॥ *iti* ॥6॥

Tr. One who vomits urine or faeces yellow in colour in a state of awakening or dream, lives only for ten months. 6.

तथा च स्कान्द[8]पुराणे –

tathā ca skāndapurāṇe—

It has been stated in *skandapurāṇa*—

1. मुखस्यघोष्मा –b. 2. शंसति —b. 3. सूर्य —b. 4. वह्नि –b. 5. स्वर्णरंजित –b. 6. यथा –b. 7. जीवित –b. 8. स्कन्द –b.

वामनासापुटे यस्य वायुर्वाति दिवानिशम् ।
अखण्डमेकं तस्यायुर्नश्यत्यब्दत्रयेण[1] हि ॥ ७ ॥

vāmanāsāpuṭe yasya vāyurvāti divāniśam ।
akhaṇḍamekaṃ tasyāyurnaśyatyabdatrayeṇa hi ॥ 7 ॥

Tr. One whose breath is flowing continuously through left nostril alone for the day and night will face death in three years. 7.

अहोरात्रं त्र्यहोरात्रं[2] रविर्वहति सन्ततम् ।
आद्येकवर्षं[3] तस्येह जीवितावधिरुच्यते ॥ ८ ॥

ahorātraṃ tryahorātraṃ ravirvahati santatam ।
ādyekavarṣaṃ tasyeha jīvitāvadhirucyate ॥ 8 ॥

Tr. If the breath is continuously flowing through right nostril for one or three days, it is said that such a person lives only for one year. 8.

वहेन्नासापुटे युगे दशाहनि[4] निरन्तरम् ।
वायुश्चेत् प्रतिसंक्रान्तिं[5] तदा जीवेदृतुत्रयम् ॥ ९ ॥

vahennāsāpuṭe yuge daśāhani nirantaram ।
vāyuścet pratisaṃkrāntiṃ tadā jīvedṛtutrayam ॥ 9 ॥

Tr. If both the nostrils are equally dominant for ten days, one lives for three seasons. 9.

नासावर्त्मद्वयं[6] हित्वा मातरिश्वामुखद्वमन्[7] ।
शंसे तस्माद्धिया चार्वाक् प्रयाणं तस्य खाध्वनि ॥ १० ॥

nāsāvartmadvayaṃ hitvā mātariśvāmukhadvaman ।
śaṃse tasmāddhiyā cārvāk prayāṇaṃ tasya khādhvani 10

Tr. If the breath flows through the mouth and not through the nose, it is apprehended that such a person heads towards death. 10.

सूर्ये सप्तमराशिस्थे जन्मर्क्षे च निशाकरे[8] ।
पौष्णः[9] स कालो नेष्टव्यो यदा याम्ये रविर्वहेत् ॥ ११ ॥

1. तस्यार्युर्नश्यत्यःब्दत्रयैण –b. 2. त्रहोरात्रं –b. 3. आद्येकवर्षे —b. 4. दशाहानि –b. 5. संकान्ति –b. 6. वर्तमद्वयं –b. 7. द्धमन् —b. 8. विनाशाकरे –b. 9. पौष्यः – a.

sūrye saptamarāśisthe janmarkṣe ca niśākare ।
pauṣṇaḥ sa kālo neṣṭavyo yadā yāmye ravirvahet ॥ 11 ॥

Tr. When the sun is passing through the seventh sign of the zodiac and the moon is in the birth zodiac, when there is *revatī* constellation and the *prāṇa* moves through the right nostril, it is not a favourable time. 11.

अकस्मात्तस्य तत्काले मृत्युः सन्निहितो भवेत्[1] ।
चिन्तनीयः प्रयत्नेन स कालो मृत्युभीरुणा ॥ १२ ॥

akasmāttasya tatkāle mṛtyuḥ sannihito bhavet ।
cintanīyaḥ prayatnena sa kālo mṛtybhīruṇā ॥ 12 ॥

Tr. Such a person faces death suddenly at that very time. One who is scared of death should carefully learn about (approaching) death. 12.

अकस्माद्वीक्षते[2] **यस्तु पुरुषं कृष्णपिंगलम्**[3] ।
तस्मिन्नेव क्षणे रूपं स जीवेद्[4] **वत्सरद्वयम् ॥ १३ ॥**

akasmādvīkṣate yastu puruṣaṃ kṛṣṇapiṅgalam ।
tasminneva kṣaṇe rūpaṃ sa jīved vatsaradvayam ॥ 13 ॥

Tr. One who suddenly sees the figure of a twany person lives only for two years. 13.

यस्य वीर्यं मलं मूत्रं क्षुतं[5] **मूत्रं मलं तु वा ।**
इहैकदा[6] **चेत् पतते वर्षं**[7] **तस्यायुरीरितम् ॥ १४ ॥**

yasya vīryaṃ malaṃ mūtraṃ kṣutaṃ mūtraṃ malaṃ tu vā ।
ihaikadā cet patate varṣaṃ tasyāyurīritam ॥ 14 ॥

Tr. One lives for one year if one passes out semen, faeces, urine and sneezing simulteneously. 14.

इन्द्र[8]**वृन्दनिभं व्योम्नि नागवृन्दं**[9] **निरीक्षते**[10] ।
इतस्ततः प्रचलितं षण्मासं तु जीवति ॥ १५ ॥

indravṛndanibhaṃ vyomni nāgavṛndaṃ nirīkṣate ।
itastataḥ pracalitaṃ ṣaṇmāsaṃ tu jīvati ॥ 15 ॥

---

1. भवेवे –b. 2. द्वीक्ष्यते –b. 3. पिंगल –b. 4. संजीवेद् –b. 5. क्षत –b. 6. इहैकं दा –a. 7. वर्षे –b. 8. इन्दु –b. 9. वृन्द –b. 10. निरीक्ष्यते –b.

Tr. One who sees the group of snakes in the sky like a rainbow, which moves a bit here and there, may live only for six moths. 15.

छाया प्रकम्पते यस्य देहबन्धेऽपि निश्चले ।
कृतान्तदूता बध्नन्ति चतुर्थे मासि तं नरम् ॥ १६ ॥

chāyā prakampate yasya dehabandhe'pi niścale ।
kṛtāntadūtā badhnanti caturthe māsi taṃ naram ॥ 16 ॥

Tr. When the shadow shakes even though the person remains steady, such a person may live only for four months. 16.

मतिर्भ्रश्येच्[1]चलेद्वाणी धनुरैन्द्रं निरीक्षते ।
रात्रौ चन्द्रद्वयं चैव दिवा च द्वौ दिवाकरौ ॥ १७ ॥

matirbhraśyeccaledvāṇī dhanuraindraṃ nirīkṣate ।
rātrau candradvayaṃ caiva divā ca dvau divākarau ।17।

दिवा सतारका चन्द्रं रात्रौ व्योम वितारकम् ।
युगपच्च चतुर्दिक्षु[2] शाक्रं कोदण्डमण्डलम् ॥ १८ ॥

divā satārakā candraṃ rātrau vyoma vitārakam ।
yugapacca caturddikṣu śākraṃ kodaṇḍamaṇḍalam ।18।

भूधरे भूधराग्रे वा गन्धर्वनगरालयम् ।
दिवा पिशाचनृत्यं च ह्येते पञ्चत्वहेतवः ॥ १९ ॥

bhūdhare bhūdharāgre vā gandharvanagarālayam ।
divā piśācanṛtyaṃ ca hyete pañcatvahetavaḥ ॥ 19 ॥

सर्वेष्वेतेषु चिह्नेषु यद्येकमपि वीक्षते[3] ।
तदा मासावधि[4] मृत्युं प्रतीक्षेत न चाधिकम्[5] ॥ इति ॥ २० ॥

sarveṣveteṣu cihneṣu yadyekamapi vīkṣate ।
tadā māsāvadhi mṛtyuṃ pratīkṣeta na cādhikam ॥*iti*॥20।

Tr. One whose mind and speech are shaky, sees a rainbow, two moons in the night or two suns in the day, moon along with the stars in the day or the night-sky without stars, simultaneously sees the rainbow in all the four directions, the

---

1. मतिभ्रश्ये —b. 2. युगपच्चचतुर्दिक्षु –b. 3. वीक्ष्यते –b. 4. मासावधिं –b. 5. मृत्युप्रतीदोतनचाधिकं –b.

city of the demigods in the mountain or at the top of it, dancing of the demons (*piśāca*) in the day — if one sees anyone of these signs, one does not live for more than one month. 17-20.

अथ छायापुरुषलक्षणम् —

atha chāyāpuruṣalakṣaṇam —

Here follows the description of *chāyāpuruṣa* (examination of the shadow of a person) —

एकान्ते विजने विधाय तरणिं पृष्ठिस्थिरोऽलं निजाम्
छायां कण्ठतटे ततोऽम्बरतटं वीक्षेत शम्भुं ततः ॥
नूनं पश्यति दैशिको मनुजयेनाष्टोत्तरो यच्छतम्
कर्पूरप्रवरावदातवपुषं नानाकृतिं[1] सुन्दरम् ॥ २१ ॥

ekānte vijane vidhāya taraṇiṃ pṛṣṭhisthiro'laṃ nijām
chāyāṃ kaṇṭhataṭetato'mbaratataṃ vīkṣeta śambhuṃtataḥ ॥
nūnaṃ paśyati daiśiko manujayenāṣṭottaro yacchatam
karpūrapravarāvadātavapuṣaṃ nānākṛtiṃ sundaram ॥ 21 ॥

Tr. In a lonely place one should turn the back towards the sun. One should see one's own shadow from throat below and then he should visualize the same in the sky. One should chant the *mantra* as guided by the *guru* for hundred and eight times. Thus one indeed sees *śambhu* and different beautiful forms as bright as camphor. 21.

मृत्युर्गुल्फपदोदरप्रतिहतौ वर्षन्तदर्धद्वयं
नष्टे दक्षकरे स्वबन्धुमरणं वामेऽगनाया मृत्ति-
जंघोनं न च[2] कन्धरो न मुरगाहानिः[3] ध्रुवं दक्षदोर्
मूर्धभौमशिरा[4] तु मासमरणं छायाविलोपे क्षणात् ॥ २२ ॥

mṛtyurgulphapadodarapratihatau varṣantadardhadvayaṃ
naṣṭe dakṣakare svabandhumaraṇaṃ vāme'ṅganāyā mṛtti-
jaṅghonaṃ na ca kandharo na muragāhāniḥ dhruvaṃ dakṣador
mūrdhabhaumaśirā tu māsamaraṇaṃ chāyāvilope kṣaṇāt ॥ 22 ॥

Tr. If one does not see heels, legs and abdomen in the shadow one faces death in one year, and if right hand is not seen one's relatives die in six months. If the left side is not visible one faces loss of wife. If thigh and shoulder are not seen one

1. नानीकृतं –b. 2. नव –b. 3. हानि –b. 4. मूर्धम्यांमऽशिरा –b.

certainly dies. If the right hand, head and *bhaumaśirā* are not seen suddenly (in the shadow) one dies in a month. 22.

हन्यानिले[1] मासषट्केन मृत्युः कृष्णे[2] पीते त्रासरोगौ[3] भवेताम् ।
उद्योगः[4] स्याद् भूरिवर्णस्वरूपे छायापुंसो[5] लक्षणं प्रोक्तमेतत्[6] ॥ २३ ॥

hanyānile māsaṣaṭkena mṛtyuḥ
kṛṣṇe pīte trāsarogau bhavetām ॥
udyogaḥ syād bhūrivarṇasvarūpe
chāyāpuṃso lakṣaṇaṃ proktametat ॥ 23 ॥

Tr. If the *anila (prāṇa)* is waning, one faces death in six months. If a person turns black or yellow, fear and ailments arise. If a person turns into different colours, one faces troubles. This is the narration of signs of *chāyāpuruṣa*. 23.

मन्त्रस्तु –

mantrastu—

***mantra* for *chāyāpuruṣa*—**

ओं ह्रीं[7] परब्रह्मणे नमः ॥

oṃ hrīṃ parabrahmaṇe namaḥ.

इति छायापुरुषलक्षणम् ॥

iti chāyāpuruṣalakṣaṇam ॥

Here ends the narration of *chāyāpuruṣa*.

हठविद्या परं गोप्या योगिना सिद्धिमिच्छता ।
भवेद्वीर्यवती गुप्ता निर्वीर्या तु प्रकाशिता ॥ इति ॥ २४ ॥

haṭhavidyā paraṃ gopyā yoginā siddhimicchatā ।
bhavedvīryavatī guptā nirvīryā tu prakāśitā ॥ *iti* ॥ 24 ॥

Tr. The science of *haṭha* is to be carefully kept secret if one desires to gain success. If well protected, the *vidyā* (science) yields good results, if not, it becomes futile. 24.

विस्तरस्तु मत्कृतयोगहृदये द्रष्टव्य इति दिक् ॥

vistarastu matkṛtayogahṛdaye draṣṭavya iti dik ॥

For a detail account one may consult *yogahṛdaya* authored by me.

---

1. इत्यांनीले –b. 2. कृदमे –b. 3. न्नासरोगौ –b. 4. उद्यागः –b. 5. छायार्युसो –b. 6. प्रोक्तमेतत्तु –b. 7. ह्री –b.

सुन्दरस्य कृतिः सैषा हठहृत्तत्व[1]कौमुदी ॥
श्रीनृसिंहात्मादिनाथप्रीत्यै भूयाद्धठप्रसूः ॥ २५ ॥

sundarasya kṛtiḥ saiṣā haṭhahṛttatvakaumudī ।
śrīnṛsiṃhātmādināthaprītyai bhūyāddhaṭhaprasūḥ ॥25॥

Tr. *haṭhahṛttatvakaumudī* is the composition of *sundaradeva* which may please *śrīnṛsiṃha* and *ādinātha* and which may promote the science of *haṭha*. 25.

॥ इति श्रीकाश्यपगोत्रपवित्र-
देववंशा[2]वतंसकाशिस्थद्विजवर-
विश्वनाथदेवात्मजगोविन्ददेव-
सुतसुन्दरदेव[3]विरचितायां हठतत्वकौमुद्यां[1]
कालवञ्चनोद्योतः ॥

॥ iti śrīkāśyapagotra-pavitra-devavaṃśāvataṃsa-kāśistha-
dvijavara-viśvanāthadevātmaja-govindadeva-suta-
sundaradeva-viracitāyāṃ haṭhatatvakaumudyāṃ
kālavañcanodyotaḥ ॥

Here ends the chaper on the signs of approaching death in *haṭhataṭvakaumudī* composed by *sundaradeva*, the son of *govindadeva*, the grand son of *viśvanāthadeva* who was a respected *brāhmaṇa* descendent of a virtuous *brāhmaṇa* of *deva* dynasty belonging to *śrīkāśyapa* clan resident of *kāśi*. 9.

॥ इति राजयोगोल्लासः नवमः ॥ ९ ॥

॥ iti rājayogollāsaḥ navamaḥ ॥ 9 ॥

1. हठह्रतत्व b. 2. देवर्व्यंशा –b. 3. देववैद्य b. 4. हठहृतत्वकौमुद्यां b.

Here ends the ninth *ullāsa* named *rājayoga*.

॥ समाप्तेयं[1] हठतत्वकौमुदी[2] ॥

॥ samāpteyaṃ haṭhatatvakaumudī ॥

Here ends *haṭhatatvakaumudī*.

॥ ॥ शुभं भवेत्[3] ॥ ॥

॥ ॥ śubhaṃ bhavet ॥ ॥

May it be auspicious.

॥ ॥ श्रीसंवत् १९४६[4] ॥ ॥

॥ ॥ śrīsamvat ॥ ॥

***śrīsaṃvat* 1946.**

***

1. समाप्तोयं –b. 2. हठहृतत्वकौमुदी –b. 3. अनुपलब्धपाठः —b. 4. संवत् १९३४ –b.

Glossary

A

abja—synonym for *padmāsana*, lotus posture.

adharā— a state when *prāṇa* is held for a couple of *palas*.

ādhāra— vital points which are sixteen in number like *mūlādhāra* etc.

adhimātratama sādhaka—a *yoga* practitioner who excels in all the *yoga* practices.

adhyāropa— superimposition (a Vedantic term).

ādimāyā— a synonym for *śāmbhavī*.

ādiśakti—the primal energy, the unmanifest cause of creation.

agni—the bodily fire said to be in the form of *pitta* (bile).

aihikasukha— worldly pleasure.

ajagranthi—a synonym for *brahmagranthi*.

ajapāgāyatrī— the *mantra* of '*haṃsa*' which an embodied soul continuously chants naturally in the course of exhalation and inhalation.

akṣa—the sense organs.

aliṅga—a synonym for *puruṣa*.

amanaska—the state of consciousness which transcends mind.

āmarasa—undigested food residue in the body which is toxic in nature.

ambumaṇḍala— stands for the nasal half-syllable '*m*'.

amṛta—ambrosia oozing from the moon.

āmuṣmikasukha— spiritual Bliss which occurs on transcending the material world.

anilanirodhana— practice of *prāṇāyāma*.

anuśravika— scriptures which are received through hearing.

apakva—one who is bereft of *yoga*. One who has not undergone penance which symbolizes the fire of *yoga*.

apavāda—exception, exclusion.

ardhacandra—a synonym for *svādhiṣṭhāna*.

arkamukha—mouth of the sun that is the opening of the right nostril.

ārūḍha—one who is accomplished in the path of

yoga.

ārūḍhayoga—a *yogī* who hears *nāda* and the mind is internally absorbed.

asaṃsakti—the fifth state of *jñānabhūmi.*

asu—*prāṇa.*

āśuśukṣaṇi— *śiva* facing north.

ātmasvarūpa—the pure state of the Self.

atikrāntabhāvanī— a stage where in one faces the obstacles.

atimātrā— extra *mātrā* (measure of time) which are four in number as narrated by the ancient sages.

avidyā— ignorance which is the only cause of birth, rebirth and suffering.

aviśeṣa—five *tanmātrās* and *ahaṅkāra.*

āyāma—practice of *prāṇāyāma.*

B

bāla— *śiva* facing the east is called as *bāla.*

bālākṣā— name of a *siddha* who resides at *svādhiṣṭhāna cakra.*

bhāvanā— feeling, attitude, emotion.

bhūtajaya—control over the *bhūtas* (elements).

bīja- *bindu* in the male body and *rajas* in the female body which represents the Absolute Principle. It also means semen which is considered to be the embodiment of *śiva* in the human body, which represents moon.

bījabhāva— foundation in the practice of *yoga* in the form of practice of *yama* and *niyama.*

bindujaya—success in making the *bindu* stable in the body.

brahmabodha— attainment of *brahma*-hood.

brahmadhamanī— a synonym for *suṣumṇā.*

brahmadvāra—the opening of *brahmarandhra.*

brahmagranthi—this is a knot responsible for creation located below the navel.

brāhmamuhūrta— early morning, two hours before the sunrise.

brahmapura—the abode of *brahma.*

brahmasuṣira—an aperture in the head.

brahmasūtra—a

synonym for *suṣumṇā*.

brahmasvarūpa—the state of *brahma*-hood.

C

cakravāla—a synonym for *iḍā* and *piṅgalā*.

cakrī—an epithet of *viṣṇu*. A synonym for *kuṇḍalinī*.

candra—the moon located at the left side of the body.

candrapraveśa—flow of *prāṇa* thorough the left nostril.

cāraṇā—*cāraṇā* stands for a technique wherein one makes rapid movements of the limbs. There are ten inent *cāraṇās*, others are called *jaghanya*—the subordinate ones.

chagalaṇḍa—*śiva* facing left.

cicchakti—the basic energy in the form of consciousness.

cintāmaṇī—wishfulfilling stone which is equated with the practice of *saṃyama*.

cittaprasāda—pacification of the mind.

D

daṇḍa—a stick, a symbol of control gained over the sense organs..

daṇḍadhāraṇā—one closes *iḍā* and *piṅgalā* by contracting the throat and moves the *prāṇa* through *suṣumṇā*. This is called *daṇḍadhāraṇa*.

daṇḍasthiratva—stability of the spine.

devayāna—the *piṅgalā nāḍi*.

dhāraṇā—repeated attempt to concentrate on one object.

dharmamegha—the state of *samādhi* which a *yogi* enjoys while living.

dhātusaṃkṣobha—aggravation of the bodily constituents.

dhyāna—absorption only in one thought.

druhiṇanilaya—abode of *brahma*.

dūragati—ability to travel to distant places.

dūraśruti—clairaudience

dviraṇḍa—a *siddha* by this name who resides at the *ādhāracakra*.

E

ekāntavāsa — living alone in a desolate place.

ekastambha — a stamp, a support. Here it stands for the embodied soul in the human body.

G

gaganadvāra — doorway to *brahmarandhra*.

garbhajñāna — knowledge of the process of evolution of life.

ghaṇṭikā — uvula.

guṭikāsiddhi — the process of alchemy which solidifies mercury.

H

haṃsapada — also known as *nirvāṇaśakti* located at the core of *brahmarandhra*.

haṃsasvarūpa — the pure state of the Self in the form of *haṃsa*.

hṛdgranthi — the heart.

I

indu — moon said to be flowing through the spinal column.

īśvara-praṇīdhāna — surrendering all the results of action to God.

īśvarī — the origin of all the *nāḍīs* which remains coiled. *kuṇḍalinī*.

ibhajihvā — a synonym for *hastijihvā*.

J

jāragranthi — a synonym for *brahmagranthi*.

jaṭharāgni — gastric fire located two digits above perineum and two digits below the genital. It is red and triangular in shape.

jīvanmukta — a state of liberation while living.

jīvaśakti — a synonym for *kuṇḍalinī*.

jñānaśakti — the power of knowledge.

K

kāla — duration of time which determines a *mātrā*.

kāladaṇḍa — whip of time (death).

kālāgnimūla — the center of the eyebrows.

kālajaya — control over *kāla* (time — death).

kālakūṭa — the deadliest of the poisons.

kālī — the *tāntrika*

Goddess of destruction who is considered the *jīvaśakti* i.e. life force.

kāpālika—a clan of *haṭha*-practitioners shooting out of the tradition of *khaṇḍamata*.

kolhāṭika—a group of people which earn a livelihood by performing small physical feats on the street.

kāma—fire, desire. Desire also is named *śikhī* which has flame like fire.

kāmacāritā—ability to move freely.

kāmadhenu—a mythological wish-fulfilling cow.

kāmākṣā—a synonym for *yoni* (perineum).

kāmarāja—*kāmabīja* which is *klīṃ*.

kandayoni—location of *kanda* which is like the egg of a bird placed above the organ of generation.

kapālakuhara—the cavity in the forehead.

kapilāṅgī—a synonym for *suṣumṇā*.

karaṇa—a synonym for *mudrās*. A synonym for practice of *mudrā*.

karmāra—wheel of *karma*.

karmanāśa—annihilation of *karma*.

karmatrikūṭa—three types of *karma*, namely, *sañcita*, *prārabdha* and *kriyamāṇa*.

karijihvikā—a synonym for *hastijihvikā*.

kaulakīśakti—a synonym for *kuṇḍalinī*.

kāyasiddhi—accomplishment of a fortified body.

kedāra—the confluence that is the center of the eyebrows.

khaga—that which flies in the sky, a bird, *prāṇa*.

khaṇḍamata—a clan of *haṭha*-practitioners.

khecarāvasatha—*khecara* means *hakāra*, *āvasatha* is *īśvara*.

khecarībīja—*bījamantra* of *khecarī* which are *hrīṃ* etc.

kramābhyāsa—sequential practice.

kriyāyoga—worship of *īśvara*- God.

kriyāśakti—the power of action.

L

lakṣya—visualization. According to

advayatārakopaniṣad there are three *lakṣyas*, namely, *antar*, *bāhya* and *madhya*.

liṅgamātra — it comprises *prakṛti* and *buddhi*.

M

madhumatī — an auspicious stage which follows the seven *prāntabhūmis* wherein a *siddha* experiences self-realization.

madhyamārga — the middle channel i.e. *suṣumṇā*.

mahākāla — *śiva* facing upwards is called *mahākāla*.

mahāliṅga — the great *liṅga* which resides at the *yoni* – perineum.

mahāmātrā — *a*, *u* and *m* as considered by the ancients.

mahānandapada — the state of Absolute Bliss.

mahāvidyā — the immovable technique of *khecarī*.

mahāvrata — a vow not to kill any species, in any place, or in any season.

marmasthāna — vital point.

maraṇasadṛśabhāva — a death-like state that supervenes *mahāmudrā*.

mātrā — measure of time which is nine-fold.

māyā — illusion, the very cause of creation.

meru — final stage of *kumbhaka* which may be equated with *kevalakumbhaka*. Spine.

mitāhāra — consumption of unctuous food, keeping one-fourth of the stomach empty.

mitokti — moderate use of speech.

mohinī — the enchanter – goddess *kālī* is so called.

mṛdusādhaka — a *yoga* practitioner of mediocre quality who practices *manuyoga* (rituals).

mṛtāvasthā — a state of pure consciousness wherein one experiences a death-like condition.

mṛtyu — death, when *prāṇa* ceases its movements in the body.

mūlabila — the cavity of *brahmarandhra*.

mumukṣu — one who is keenly devoted to the path of liberation.

muktibhāg — one

who qualifies for liberation.

N

nābhikanda—it resembles a bulbous root placed nine digits above the *ādhāracakra*.

nābhimūla—root of the navel where *bindu* is located and wherefrom *nāda* originates.

navadvāra—nine doors, nine openings in the human body like nostrils, ears etc.

niḥśvāsa—exhalation.

nirālamba—supportless.

nirguṇadhyāna—absorption without a *mantra* is *nirguṇadhyāna*.

nirvāṇakalā—located at *brahmarandhra*.

nirvāṇaśakti—it is located at the core of *brahmarandhra*.

nirvāṇapada—the state of liberation.

niyama—according to the *munis* there are ten *niyamas* viz. belief in God, listening to scriptural doctrines and saints, generosity, modesty, *japa* (chanting) and noble intention etc.

P

padārthābhāvinī—the sixth stage of *jñānabhūmi*.

padmayoni—an epithet of *viṣṇu*.

pakva—one who has undergone the penance of *yoga*. A *sādhaka* who has seasoned in the fire of *yoga*.

pañcabhūtādhidevatā—the five deities presiding in *citrānāḍī* are *brahmā*, *janārdana*, *rudra*, *īśvara* and *sadāśiva*.

pañcādhidaivata—five residing deities of the human body.

pañcamukha—one who has five faces, an epithet of *śiva*.

pañcāsya—one who has five faces, an epithet of *śiva*.

pañcatā—death of the body when *prāṇa* departs it.

pathya—suitable, recommended and wholesome food for a practitioner of *yoga* in the initial phase considering the factors of place and time (season).

paramahaṃsa—one who holds the Supreme

discriminatory knowledge in the form of a *daṇḍa* (stick).

paramapada—the abode of *brahma* which is the aim of a *yogī*.

parānanda—the state of Absolute Bliss.

parapura—another place, the transcendental existence.

paścimapatha—the posterior path that is *suṣumṇā nāḍī*.

pātāla—worlds underneath.

pāvaka—*agni*—the bodily fire which performs ten types of functions in the body.

pinākī— *śiva* facing backwards is called *pinākī*.

piṇḍatatva—the real self, the eternal principle residing in the corporeal frame.

pīṭha—a synonym for *āsana*.

pīṭhastha—one who has mastered the *āsanas*.

pitṛyāna— *iḍānāḍī*.

prakṛti—a state of equilibrium of *satva, rajas* and *tamas*.

pralaya—the process of dissolution of the world.

praṇava—the *mantra* *om*.

prāntabhūmi—level of *yogic* attainment.

prāṇī— a living creature having *prāṇa* moving in and out.

prātibha—intuitional knowledge.

pratyāhāra—withdrawal of the senses from their respective objects.

pratyaya—cognition, function of the senses and the mind faculty.

pudgala—the human body.

puṃpiṇḍa—the corporeal body of a human being.

puṣkarāgrayoni—an epithet of Lord *nārāyaṇa*.

R

rājadanta—the frontal teeth.

rajas—menstrual discharge called *śakti* which represents sun in the human body.

rasa—mercury, plasma that is the immediate product of the digested food which forms the first of the seven bodily constituents.

S

ṣaḍūrmi—distresses which are six—like sorrow,

infatuation, old age, (premature) death, hunger and thirst.

sagarbhakāyāma—*sagarbha-prāṇāyāma* which is practised along with repetition of *om.*

saguṇadhyāna—meditation on several objects. Absorption in one *mantra* in *saguṇa.*

sahaja—the state of *samādhi.* The state of Self-realization which is the natural state.

śakti—powers like *ḍākinī* etc. which resides in the human body.

samādhi—absorption of *prāṇa* with *citta* (mind).

saṃvitti—consciousness.

saṃjñādvaya—duality.

sampradāya—a particular tradition of *yoga.*

saṅketavid—an adept in the secret science of *saṅketa.*

satva—the *satvaguṇa,* light. One of the three *guṇas* which brings light and illumination.

satvāpatti—the fourth stage of *jñānabhūmi.*

śeṣa—the mythological snake on whose head the earth is supposed to be resting.

siddhāntaśravaṇa—listening to the discourses regarding the scriptures.

śītagu—moon.

somakalājala—flow of ambrosia that oozes from the moon placed at the aperture above the uvula.

śmaśāna—crematorium, void that is *brahmarandhra.*

somāmṛta—ambrosia that flows from the moon.

śrāvaṇa—intuitional ability of hearing.

śubhecchā— the first stage of *jñānabbūmi.*

sumeru—the spinal column.

sūrya—the sun that resides in the human body.

sūryapraveśa—entry of *prāṇa* through the right nostril.

suvāṇī— a synonym for *sarasvatī.*

svādhyāya—recitation of *praṇava* etc.

śvāsasaṃrodhana—control of breath, practice of *prāṇāyāma.*

śyāmā— Goddess *kālī*

who is black.

T

tanumānasa—the third stage of *jñānabhūmi*.

tapas—austerity like *kṛcchracāndrāyaṇa* and the like.

tāra—a synonym for *praṇava*—*om*.

tatva—the Self. The mind.

taraṇi—a synonym for *piṅgalā*.

tīrtha—a preceptor, a *guru*.

tripurābālā—Goddess *tripureśvarī*.

turyagā— the seventh stage of *jñānabhūmi*.

U

ucchvāsa—exhalation.

udgītha—a synonym for *om*.

udghāta—strike of the *prāṇa* at the head in the practice of *prāṇāyāma*.

unmanī— the highest mindless or transcendental state of *samādhi*.

upādhirakta—with the attributes.

upasarga—obstacles in the path of *yoga*.

utpannāvasthā— the initial state of spiritual evolution occurring through *yoga*.

utpannayoga—a *yogī* who does not hear *nāda* and the mind is not internally absorbed.

uttamādhāraṇā—*nabhodhāraṇā*.

V

vāgbhavabīja—the *bīja mantra aiṃ*.

vajradaṇḍa—spine.

vālā— death.

vaikṛta—a practice or process which has gone astray.

vairāśā— a *synonym* for *payasvinī*.

varṇāśramakarma—prescribed duties according to ones *varṇa* (caste) and *āśrama*.

vaśī— one who has gained control over the senses.

vetaṇḍajihvā— a synonym for *hastijihvā*.

vicāraṇā— the second stage of *jñānabhūmi*.

videhasiddhi—transcendence of the body while remaining alive.

vijñāna—Self-realization.

vikāra—distraction of the senses.

viśeṣa—the five *mahābhūtas*, five *karmendriyas* (senses) and mind.

vyoma—*brahmarandhra*, internal space which is to be visualized. They are supposed to be five in number according to *maṇḍalabrāhaṇopaniṣad*, namely, *ākāśa*, *parākāśa*, *mahākāśa*, *sūryākāśa* and *paramākāśa*.

vyutthāna—the process of evolution attained through *yogic* practices.

vyutthānakāla—the process of progressive abstraction of the mind.

Y

yama—*yamas* are said to be ten according to *yājñavalkya* which are—non-violence, truth, celibacy, straightforwardness, forgiveness, non-stealing, cleanliness, fortitude, compassion and moderate diet.

yoganāḍī—a synonym for *suṣumṇā*.

yoganiṣpatti—the state of culmination in *yoga*.

yogavāhi—a very effective medium or vehicle.

yukti—method or technique of various practices.

***

Word Index

K

O

V

***

Index of verses

***

The Lonavla Yoga Institute (India)

(Regd. No. 1439/1998/Pune)

A-7, Gulmohar Apartment, Bhangarwadi

Lonavla-410 401, Pune (India)

Tel: 0091-02114- 279333

E-mail: lonayogalnl@vsnl.net

www.lonavalayoga.org

The Lonavla Yoga Institute (India) was founded in May, 1996 by Dr. M. L. Gharote who was a student and collaborator of Swami Kuvalayananda, Founder of Kaivalyadhama Yoga Institute and a Pioneer of Scientific Yoga.

Activities of the Lonavla Yoga Institute (India)

1. To conduct or help conducting research in the field of pure and applied Yoga.
2. To edit or get edited text books on Yoga with notes and translations and publish them.
3. To prepare and publish catalogues, digests, indices or glossaries of Yogic texts and subjects allied to Yoga with a view to help critical studies of Yogic texts.
4. To publish Newsletter "Yoga Pradipa".
5. To organize seminars and conduct courses in Yoga and provide facilities for training individuals or groups of individuals in India or abroad.
6. To establish contacts and co-operate with the individuals and associations or organizations working in the field of Yoga in different aspects.
7. To give adequate guidance to the individuals and groups in the Yogic therapeutic matters.

Projects at hand

i. Publication of Yoga texts with translations in different languages.

ii. Catalogue of Yoga Manuscripts.

iii. Organization of Yoga Therapy Courses in different places with the help of affiliated or related Associations and Institutions.

iv. Organization of Yoga workshops for groups visiting India.

Publications

Within a short period of its existence the Institute has published the following books:

1. **Glossary of Yoga Texts** Part-I & II Dr. M. L. Gharote
2. **Swami Kuvalayananda—A Pioneer of Scientific Yoga and Physical Education**—Dr. M. L. Gharote and Dr. M. M. Gharote.
3. **Yogic Techniques** Dr. M. L. Gharote.
4. **Hatha Pradipika Vrtti by Bhojatmaja (Marathi)**—Ed. Dr. M. L. Gharote.
5. **Kumbhaka Paddhati or Science of Pranayama** Ed. Dr. M. L. Gharote & Parimal Devnath,
6. **Hathapradipika (10 chapters) with the Commentary Yogaprakasika by Balakrishna** - Second Revised Edition--Ed. Dr. M. L. Gharote & Parimal Devnath.
7. **Yuktabhavadeva of Bhavadeva Mishra** (Original Sanskrit Text, English Summary and Critical Appraisal) Ed. Dr. M. L. Gharote & Dr. V. K. Jha.
8. **An Introduction to Yuktabhavadeva of Bhavadeva Mishra** (English Summary and Critical Appraisal) Ed Dr M L Gharote & Dr. V. K. Jha
9. **Hatharatnavali** by Srinivasa Critical edition, transliteration, translation, figures, notes and appendices.
10. **Pranayama- The Science of Breath**—Dr. M. L. Gharote.
11. **Siddhasiddhantapaddhati**—Dr. M. L. Gharote et al..
12. **Encyclopaedia of Traditional Asanas**-- Ed. Dr. M. L. Gharote, Dr. V. K. Jha, Dr. Parimal Devnath, Dr. S. B. Sakhalkar.
13. **Posters of Yoga Practices** (Asanas & Kriyas.) In colour and black and white.
14. **Hathatattvakaumudi** of Sundaradeva--Ed. Dr. M. L. Gharote, Dr. Parimal Devnath & Dr. Vijay Kant Jha.
15. **Guidelines of Asanas**-- Dr. M. L. Gharote

Future Publications

The Institute is working on the following texts and soon they will be published.

i. **Traditional Asanas and their Varieties** with illustrations and sequences.

ii. **Critical Edition of Yogopanishads.**

iii. **Concordance of Asanas and Pranayama.**

iv. **Akulagama Tantra.**

v. **Therapeutical References in Traditional Yoga Texts.**

vi. **Yogic Anatomy and Physiology.**

***

601

601

राजयोगः Incomplete

:	: Rāja Yoga ~~with~~ commentary	: Title
:	:	: Author
:	:	: Editor
:	:	: Year, Vols.
:	:	: Publisher
601 :	: Ends abruptly	: Remarks

योग

ा वर्मन
स्र । ... ारीरंस्थि
ाहृ ... गोश्वरनभ

109

राजयोग श्रीगणेशायनमः ॥ गुरुभ्योनमः ॥ कुलदेव्यैनमः ॥ श्री आ[illegible] मायायनम
माविवेकवैराग्यंशांतिसंतोषनिस्पृहा ॥ आएत युक्तियुतो यो [illegible] क्रियायो [illegible]
१ ते मात्सर्यममतामायाहिंसाशमदगर्वविना ॥ ३ ॥ कामक्रोधमदंलज्जालो[illegible]
होतथाशुचिः रागद्वेषोक्षुणालस्यंभ्रांतिदंभोक्षमात्रमः ४ यस्यैतानिनवि
धंतेक्रियायोगीसउच्यते यस्यांतःकरणेक्षमाविवेकवैराग्यशांतिसंतोषदूत्यादीन्यु
त्पद्यंतेसएवबद्धक्रियायोगीकथ्यते कापट्यंवित्तंहिंसात्कृष्णामात्सर्यंअ[illegible]
रोषोभयंलज्जालोभमोहअशुचित्वंरागद्वेषआलस्यंपाखंडित्वंभ्रांतिः इंद्रिय[illegible]
कारः कामः एतेयस्यमनसिप्रतिदिनंन्यूनाभवंति सएवबद्धक्रियायोगीकथ्यते १
इदानींराजयोगस्यभेदाःकथ्यंते तेएकैकः सिद्धकुंडलिनियोगः मंत्रयोगः असूरा
जयोगोकथ्यतेमूलकंदस्थानेएकातेजोरूपामहानाडीवर्त्तते इयंएकनाडी इडापिंग
लासुषुम्णाएतान्भेदान्प्राप्नोतिवामभागेचंद्ररूपा इडानाडीवर्त्ततेदक्षिणभा १
गसूर्यरूपापिंगलानाडीवर्त्ततेमध्यमार्गेतिसूक्ष्मापद्मिनीतंतुसमाकाराकोटिवि

द्युत्समप्रभा भुक्तिमुक्तिप्रदा अस्याज्ञानोत्पत्तौसत्यंपुरुषसर्वज्ञोभवति इदानीं सषु
म्णायाज्ञानोत्पत्तौ उपायाः कथ्यंते आदौचतुर्दलंमूलंचक्रंवर्त्तते प्रथमंआधारचक्रं
गुदास्थानंरक्तवर्णंगणेशदेवतंसिद्धिबुद्धिशक्तिमूषकवाहनंकूर्मऋषिः आकुंच
नमुद्राअपानवायुःचतुर्दलेषरजःसत्वतमोमनांसि वंशंषंसंमध्यत्रिकोणंत्रि
शिखातन्मध्येत्रिकोणाकारंकामपीठंवर्त्ततेतत्पीठमध्येअग्निशिखाकाराएकामू
र्तिर्वर्त्तते तस्याः मूर्त्तेः तस्याः मूर्त्तेः ध्यानकारणात् सकलशास्त्रकाव्यनाटकादि
सकलवाङ्मयंविनाभ्यासेनपुरुषस्यमनोमध्येस्फुरति इदानीं द्वितीयं स्वाधि[illegible] नच
क्रं षट्दलंउपायानपीठसंज्ञकंभवति तन्मध्येअतिरक्तवर्णंतेजोवर्त्तते तस्यध्या
नात्साधकोतिसुंदरोभवति युवातिनावाल्लभोभवति प्रतिदिनमायुर्वर्धते तृतीयं
नाभिस्थानेदशदलंपद्मंवर्त्तते तन्मध्येपंचकोणंचक्रंवर्त्तते तन्मध्येएकमूर्तिर्वर्त्तते
तस्यास्तेजोजिह्वयाकथयितुंनशक्यते तस्याः मूर्त्तेर्ध्यानकारणात्पुरुषस्यशरीरंदृढ
ंभवति चतुर्थंहृदयमध्येद्वादशदलंकमलंवर्त्तते अतितेजोमयंतत्र हृषिगोचरनभ

राजयोग वति तन्मध्ये षट्दलमधोमुखं कमलं वर्त्तते तन्मध्ये प्राणवायोः स्थानं अष्टदलकमल सटी
मध्ये लिंगाकारा कर्णिका कथ्यते तस्याः कलिलिकेति संज्ञा तत्कलिकामध्ये षधरागार
२ लसमानवर्णा अंगुष्ठप्रमाणा एका पुत्तलिका वर्त्तते तस्याः जीवसंज्ञा तस्यावल्लभयस्वरूपं को
टिजिह्वाभिर्वक्तुं न शक्यते अस्याः मूर्त्तेः ध्यानकारणात् स्वर्गपातालाकाशमनुष्यगंधर्व
किंनरगुह्यकविद्याधरलोकसंबंधिन्यः स्त्रियोपि वश्या भवंति इत्यत्र कथ्यते पंचमं
कंठस्थाने षोडशदलं कमलं वर्त्तते तन्मध्ये कोटिचंद्रसमप्रभ एकः पुरुषो वर्त्तते तस्य
पुरुषस्य ध्यानकारणादसाध्यरोगान्नश्यंति एकसहस्रवर्षपर्यंतं स पुरुषो जीव
ति इदानीं षष्ठं भ्रूमध्ये आज्ञाचक्रं वर्त्तते द्विदलं तन्मध्ये अग्निज्वालाकारकमलं किं
चिद्दिस्त वर्त्तते न स्त्री पुमान् तस्य ध्यानकारणात् पुरुषस्य शरीरमजरामरं भवति
इदानीं सप्तमं तालुमध्ये चतुःषष्ठिदलं अमृतपूर्णं वर्त्तते अधिकशोभायुक्तं अ
तिश्वेतं तन्मध्ये रक्तवर्णा घंटिकासंज्ञा एका कर्णिका वर्त्तते तन्मध्ये भूमिः तन्मध्ये २
प्रकटचंद्रकलामृतधारा भवति तस्याः कलायाः ध्यानकारणात् तस्य समीपेम

रणानायाति निरंतरध्यानात् अमृतधारात् सजीवो भवति तद्वा क्षयरोगपित्तज्वरहृद
यदाहशिरोरोगाग्नि क्षाजड्डभावात् नश्यंति भक्षितमपि विषं न बाधते यद्यत्र मनः
स्थिरं भवति इदानीं ब्रह्मरंध्रस्थाने अष्टमं शतदलचक्रं वर्त्तते तस्य कमलजालंधीणी
पीठ इति संज्ञा सिद्धिपुरुषस्य स्थानं तन्मध्ये निधूम्राकाररेखा याहशितादृश्यका
पुरुषस्य मूर्त्तिर्वर्त्तते तस्यानादिर्नांतोस्ति तस्याः मूर्तेः ध्यानकरणात् प्रत्यक्षं निरंतरं
पुरुषस्याकाशे गमागमो भवतः पृथ्वीमध्ये स्थितस्यापि पार्थिवाधीनं न भवति स
कलाः प्रत्यक्षं निरंतरं पश्यति च पृथक् भवति अतिशयेनायुर्वर्धते इदानीं नवमच
क्रस्य भेदाः कथ्यंते तस्य महाशून्यचक्रमिति संज्ञा तदुपर्यपरं किमपि नास्ति त
देव महासिद्धचक्रं कथ्यते तस्या पूर्णगिरिपीठमिति एतादृशं नाम तस्य महाशून्यच
क्रमध्ये ऊर्ध्वमुखमतिरक्तवर्णं सकलशोभास्पदं अनेककल्याणपूर्णं सहस्रदलं एकं
कमलं वर्त्तते यस्य परिमलो मनसाव[illegible]सानगोचरः तस्य कमलस्य मध्ये त्रिकोणा
रूपा एका कर्णिका वर्त्तते तत्कर्णिकामध्ये सप्तदशी एका निरंजनरूपा कला वर्त्तते

राजवियोग कोटिसूर्यसमप्रभा कलायास्तेजो वर्त्तते परमुष्णभावो नास्ति कोटिचंद्रसमप्र सटी.
भशीतलं परं शीतभावो नास्ति अस्य कलायाः ध्यानयोगात्साधकस्य मनसि दु
खं न भवति तदुपरि अनंतपरमानंदस्य स्थानं तत्रोर्ध्वशक्तिः एतादृशा संज्ञा एका
कला वर्त्तते अस्याः कलायाः ध्यानकरणात् पुरुषो यदिच्छति तस्य सुखं भोगवत
स्त्रीमध्ये विलासवतः संगीतविलासवतः विनोदप्रेक्षावतः एवं पुरुषस्य प्रतिदिनं
शुक्लपक्षे चंद्रकलावत् कला वर्धते पुण्यपापे अस्य शरीरं न स्पृशतः निरंतरं ध्या
नकारणात् निजस्वरूपप्रकाशसामर्थ्यं भवति दूरस्थाः मपि च दूरस्थ समीप इव प
श्यति इदानीं सुखसाध्यो लक्ष्यः योग कथ्यते अस्य लक्ष्ययोगस्य पंचभेदाः भवंति
ऊर्ध्वलक्ष्यं अधोलक्ष्यं बाह्यलक्ष्यं अंतरलक्ष्यं प्रथमं ऊर्ध्वः लक्षः कथ्यते आका
शमध्ये दृष्टिः कथा च मन ऊर्ध्वं कृत्वा स्थाप्योति एतस्य लक्षस्य दृढकरणात्प
रमेश्वरस्य तेजसा सह दृष्टेरैक्यं भवति अथ च आकाशमध्ये यः कश्चिद्दृष्टः प
दार्थो भवति स साधकस्य दृष्टिगोचरो भवति अयमेवोर्ध्वलक्षः नासिकायाः ३

उपरि द्वादशांगुलपर्यंतं दृष्टिस्थिरा कर्तव्या अथवा नासिकायाः आगे दृष्टिस्थिरा
कर्तव्या लक्षद्वयस्य दृढीकरणात् दृष्टिस्थिरा कर्तव्या च भवति पवनास्थिरो भवति
आयुर्वर्धते एतद्द्वयमपि बाह्यलक्षमेव भवति बाह्याभ्यांतरे आकाशे चेत् शून्य
लक्षः कर्तव्यः जाग्रदशायां चलनदशायां भोजनदशायां स्थितिकाले सर्वस्थाने शू
न्यस्य ध्यानकारणात् इदानीं राजयोगयुक्तस्य पुरुषस्य यच्छरीरचिन्हं तत्कथ्यते
तत् सर्वत्र पूर्णो भवति पृथिव्याः दरे तिष्ठति पृथ्वीव्याप्यातिष्ठति यस्य जन्ममरणे
नस्तः सुखं न भवति कुलं न भवति शीतलं न भवति स्थानं न भवति अस्य सिद्धस्य
मनोमध्ये ईश्वरसंबंधी प्रकाशो निरंतरं प्रत्यक्षो भवति स च प्रकाशो न सीतो न कृष्णो
छो न श्वेतो न पीतो भवति तस्य न जातिर्न किंचिच्चिन्हं अयं च निष्कलो निरंजनः अ
लक्ष्यश्च भवति अथ च फलद्वंद्व न कामिन्यादेर्यस्य स्थानं भवति अन्यत् राजयो
गस्य चिन्हं कथ्यते यस्य राज्यादिलाभेपि फलल्लासो न भवति हान्या अपि मनो
मध्ये दुःखं न भवति अथ च तत्स्थानं भवति अभूतैकोनिदर्शने पदार्थे यो परि
अनिक्षो न भवति अस्मिन्नपि पदार्थे मनसो नुरागाभावः वैराग्यः कथ्यते यमपि राजयो

राजयोग ग: कथ्यते अन्वयस्यमनः मुनिविद्वत्पुरुषेषु मैत्रेशत्रौच [illegible]भावो नास्ति च्यसमानभवति स सदा.
कल्मषविमध्येगमनवतः स्फुरत्योगवतः यस्यमनसि कल्मष[illegible]ास्ति नुत्वलोक
४ मध्येकत्वत्वंनज्ञापयतिसोपिराजयोगः कथ्यते नवीनानिपट्टसूत्रमयानिधृतानिवस्त्रा
णिअथवाजीर्णानिछिद्राणिधृतानिकस्तूरीचंदनलेपोवाकर्दमलेपोवायस्यमनसिहृ
र्षशोकौनस्तः सएवाप्यतिष्ठतियस्यजन्ममरणेनस्तः स्फुरत्वंनभवतिकुलंनभवतिशीलं
नभवतिस्थानंनभवतिराजयोगः नरमध्ये अथवावनमध्येयुद्धसंग्राममध्येवायस्य
मनः अनंपूर्णवानभवतिसोपिराजयोगः कथ्यते इदानीयोगः कथ्यते निराकारोनित्यो
भेद्यः सएतादृशः आत्मनिमनोयस्यनिश्चलंतिष्ठति तस्यात्मनः पुण्यपापस्पर्शोनभ
वति उदकमध्येस्थितस्यपद्मनिपत्रयथोदकस्यस्पर्शोनभवतितथैवात्मनियथा
काशमध्येपवनस्वेछयाभ्रमति तथायस्यमनः निराकारमध्येलीनंभवतिसएव
र्चायोगः इदानींहठयोगः कथ्यते रेचकपूरककुंभकइत्यादिप्रकारेणपवनसाध
नंकर्त्तव्यं अथवाधौत्यादि षट्कर्मकारणात् शरीरस्यशुद्धिर्भवति सूर्यनाडीमध्येप ४
वनः पूर्णोयदातिष्ठतितदामनोनिश्चलंभवतिमनसोनिश्चलत्वेनआनंदस्वरूपंप्रत्य

क्षंभासते हठयोगकारणात् मनः शून्यमध्येलीनंभवति कालसमीपेनागछति इदानींहठयोग
स्यद्वितीयोभेदः कथ्यते पदादारभ्यशिरः पर्यंतंस्वशरीरेकोटिसूर्यतेजः समानंश्वेतंपीतंनी
लंरक्तंकिंचिद्वर्णंचिंत्यते तद्ध्यानकरणात्सकलरोगज्वलनंनभवति आयुर्वर्धते इदा
नीज्ञानयोगस्यलक्षणंकथ्यते एकमेवजगत्सर्वंएदिखात्मस्कविभास्वरं अविकल्पतयायु
क्तयाज्ञानयोगंसमाचरेत् १ यत्रयत्रस्थितोवापिसर्वज्ञानमयंजगत् सएवंवेत्तिबोधेन
सोपिज्ञानाधिकारणात् २ प्राप्नोतिशांभविंसत्तांयदाद्वैतपरायणः यथान्यगतोभवी
जंहिक्षितौबुप्तंद्रुमायते ३ एकांतनैकधास्वेनदृश्यंतेदशधाकृतः मूलांकुरत्वचोदंडःशा
खाकुंडलपल्लवाः ४ स्नेहपुष्पफलंबीजंविस्तरोयंस्वभावहि तथासौनिर्मलोनित्योनि
र्विकारोनिरंजनः ५ एकोनेकः स्वयंमुख्यधाम्नौबहुधास्थितः पंचतत्वमनोबुद्धिमायाहं
कारविक्रियाः ६ एवंदशविधंविश्वंलोकेलोकसविस्तरं एकएवनचान्यास्तियोज्ञा
नातिसतत्ववित् ७ पृथिविवनस्पतिपर्वतादिस्थावररूपः संसारमनुष्यहस्त्यश्वपक्षीत्या
दिकौजंगमरूपसंसारः ८ अथाचयोदृष्टिविषयः सदृश्यउच्यते योदृश्याद्वीक्षितेस
अदृश्यइत्युच्यते ९ एवंसंसारस्यात्मनोभेदंदूरीकृत्यएकोनदर्शनंसएवज्ञानयोगः त
स्यकारणात् कालः शरीरनाशंनकरोति इदानींस्वभावभेदः कथ्यते यथावटबीजंव

राजवियो· दूरूपेण परिणतेसमुद्रस धाभिदं स्वभावत एव प्राप्नोतिमूलअंकुरतकेदंडशाखाकलिका सती०
५ पल्लवपुष्पफलदंशस्नेहइति दशभेदान्प्राप्नोति यथानिर्मलः निर्विकारः निरंजन एक एताह
श आत्मास्वभावादेव पृथिवि अप्तेजोवायु आकाश मनोबुध्धिमायाविकाररूपभेदान्प्रा
प्नोति ज्ञानयोगप्रभावादेक एव आत्मा इति निश्चयोभवति यथा एकैकपृथ्वि क्वचित्कोमल
रूपा क्वचिन्मनोहररूपा क्वचित्परिमलरूपयुक्ता क्वचित्परिमलरूपरहिता क्वचित्कर्क
शरूपा क्वचिद्रूप्यरूपा क्वचित्स्वर्णमयी क्वचित्रत्नवता क्वचिद्रक्ता क्वचित्सीता क्वचित्कर्बुरा क्वचिन्ना·
नाविधरूपा क्वचिद्विषरूपा क्वचिदमृतरूपमयी स्वभावत एव भवति तथैवात्मा मनुष्य
पक्षी हरिणहस्ती विद्याधरगंधर्व किन्नरमाहारूपंडितमहामूर्खरोगियरोगीक्रोधीशांतरू·
पः स्वभावादेव भवति ज्ञानयोगाधिकाररूपरहितोज्ञायते यथा एकवृक्षस्योत्पत्तिः स्थानमे
व भवति अथच फलस्यगतिबुद्ध्या दृश्यते एकंफलंपृथ्विमध्योपततिशुष्कंभवति [illegible]
स्यफलस्यमकिरंदंभ्रमरः पिबति एकस्यफलस्यमालां कामिनितुंगकुचमंडलोपरिद
धाति एकंफलंमृतमनुष्येपरिक्षिप्यते अयं वस्तुनः स्वभावः तथा एक एवात्मास्वीयभा ५
वादेवाष्टोभोगानूभुनक्ति केतेष्टोभोगाः स्त्रवासश्चस्रवांसश्च स्रशय्यारूनितंबिनीसु

स्नानस्वान्नपाना अष्टोभोगाश्चस्रधीमतां परस्त्रम यानिवस्त्राणि १ धंचसप्ताद्दालिका
युक्तानिहर्म्याणितेषुवासः २ अतिविपुलाः मृदुतरस्रखाशय्या ३ पद्मिनीतारुण्यव
तीमनोहरागुणवतीतत्रोपविष्टकांता ४ साधु अंसिनं ५ अतिमूल्याश्च ६ मनोरमम
न्नं ७ तथाविधंपानं ८ एतेष्टभोगाः कथिताः एके दुःखंभजंते भिक्षांयाचंतेच यथास्व
र्यस्पतेजः दुग्धस्यघृतं अग्नेर्दाहः विषान्मूर्छातिलतैलं वृक्षछाया फलात्परिमलः का
षाद्दत्तिः शर्कराद्दिक्षोमधुरोरसः हिमातोयः शीतं इत्यादिपदार्थस्वभाव एव तथासं
सारोपिपरमेश्वरस्वरूपमध्येतिष्ठति परमेश्वरोखंडपरिपूर्णः अथ इदानीबाह्यलक्ष्यं
कथ्यते नासाग्राद्दूरस्थ्यांगुलचतुष्टयप्रमाणंनीलाकारंतेजः पूर्णमाकाशलक्ष्यंकर्तव्यं
अथवानासाग्राद्दूरस्थषडंगुलप्रमाणंपवनतत्वंधूम्राकारंलक्ष्यंकर्तव्यं अथवाना
साग्राद्दूरस्थष्टांगुलप्रमाणमितिरक्तंतेजोलक्ष्यंकर्तव्यं अथवानासाग्राद्दूरस्थपरस्थत
लं द्वादशांगुलप्रमाणंपीतवर्णंपृथ्वीतत्वंलक्ष्यंकर्तव्यं अथवानासाग्राद्दूरस्यकोटि
सूर्यसमप्रभंतेजः पूर्णमाकाशतत्वंलक्ष्यंकर्तव्यं आकाशमध्येआकाशोपरिदृष्टिं
कृत्वाध्यानकरणात् सूर्यविनासूर्यसंबंधिनीसहस्रकीरणावलीपश्यति अथ
वाशिरोपरिदृष्टिं सप्तदशांगुलप्रमाणंतेजःपुंजंलक्ष्यंकर्तव्यं अथवादृष्टिरपेत

राजयोग सं स्वर्णाकारं पृथ्वीतत्वं लक्ष्यं कर्तव्यं उल्कानां लक्षणां मध्ये यस्य कस्यापि कस्य लक्ष सटी०
करणात् वलितपलितादि दूरे भवति अंगरोगा विनोषधं दूरे भवंति सम्भ्रमाः शत्रु
५ वः स्वप्नेप्यमित्रतामायांति सहस्रवर्षमायुर्वर्धति अपठितं शास्त्रं जिह्वाग्रे णोच्चरति ए
तादृशं फलं बकुतरं भवति इमानीं मामंतरं लक्ष्यं कथ्यते मूलकंदस्थाने ब्रह्मदंडोत्पन्ना
नाडी श्वेतवर्णा ब्रह्मदंडपर्यंतं एका ब्रह्मनाडी वर्तते ब्रह्मनाडीमध्ये कमलतंतुसमा नका
रैकोटिसूर्यविद्युत्समप्रभा ऊर्ध्वं चलंति एतादृशी का मूर्तिर्वर्तते तन्मूर्त्तेर्ध्यानकार
णात् अष्टमहासिद्धियोगणिमाद्याः पुरुषस्य समीपमागत्याति ष्ठंति अथवा ललला
टोपरि आकाशमध्ये शुक्रसदृशस्य तेजसो ध्यानकरणात् शरीरसंबंधिनः कुष्ठाद
यो रोगा नश्यंति आयुर्वृद्धिर्भवति अथवा भ्रुवोर्मध्ये तिरक्तवर्णस्याति स्थूलस्य ते
जसो ध्यानकरणाद्वकुलानां पार्थिवाः पुरुषाणां वल्लभो भवति एवं पुरुषं सर्वेषां दृष्टि
स्थिरा भवति इदानीं शरीरमध्ये नाडीनां भेदः कथ्यते दशमुख्यानाड्यः तन्मध्ये इयं
इडापिंगलासज्ञकं नासाद्वारे तिष्ठति सुषुम्णा तालुमार्गे ब्रह्मद्वारपर्यंतं वहति तिष्ठति
सरस्वती मुखमध्ये तिष्ठति गांधारी हस्तिजिह्वा कर्णयोर्मध्ये वहत्यौ तिष्ठतः पूषालंबु

२
समा नेत्रयोर्मध्ये वहन्त्यौ तिष्ठतः शंखिनी लिंगद्वारात् अयइडामार्गेण ब्रह्मस्थानपर्यंतं तिष्ठ
ति एतादृशा नाड्यो दशसु द्वारेषु तिष्ठंति अन्याद्विसप्तति सहस्रपरिमिता नाड्यो लो
म्नां मूलेषु सूक्ष्मरूपेण तिष्ठंति इदानीं शरीरमध्ये वायवो दशतिष्ठंति तेषां नामानि कार्या
णि कथ्यते प्राणवायु हृदयमध्ये श्वासोच्छ्वासं करोति अन्नपाने छाम भवति गुदमध्ये
अपानवायुस्तिष्ठति स आकुंचनस्तंभनं करोति नाभिमध्ये समानो वायुर्वर्तते स सप्तसम
स्थानाडीः शोषयति तथा नाडीशोषणात् रुचीमुत्पादयति वह्निं दीपयति तालुमध्ये उ
दानो वायुर्वस्तिष्ठति स वायुः खलंलीलति पानीयं पिबति नागवायुः सर्वशरीरं वर्त्तते तस्माद्वायोः
शरीरं चलयति शोकमाप्नोति विविलः कूर्मवायुर्नेत्रमध्ये तिष्ठति निमेषोन्मेषं करोति कलकरता
पुरुद्गारः करोति देवदत्तवायोर्ज्जृंभ भवति धनंजयवायोः शब्दउत्पद्यते इदानीं मध्यलक्ष्यं कथ्यते
श्वेतवर्णं अथवा पीतवर्णं रक्तवर्णं वा धूम्रकारं यन्नीलवर्णं वा अग्निशिखासदृशं विद्युत्समा
नं सूर्यमंडलसदृशं अर्धचंद्रसदृशं ज्वलत्ताकाशसमाकारं स्वशरीरपरिमितं तेजो मनोमध्ये
लक्ष्यं कर्तव्यं एतस्मिन् लक्ष्ये कृते सति मनो मनोमध्ये स्थितस्य मलस्य दाहो भवति मनसः सत
गुणप्रकाशो भवति पुरुष आनंदमयो भूत्वा तिष्ठति इदानीं माकाशभेदाः कथ्यते तेषां लक्षणा

 निरूप्यते आकाशपरमाकाशः महाकाशः तत्त्वाकाशसूर्याकाशः बाह्याभ्यंतरे निर्मलं निराका-
 रं आकाशलक्ष्यं कर्तव्यं ततः परं बाह्याभ्यंतरे घनांधकारसदृशं परमाकाशे लक्ष्यं कर्तव्यं ततः
परं प्रलयकालीनज्वलद्दावानलपूर्णं बाह्याभ्यंतरे महाकाशलक्ष्यं कर्तव्यं ततः परं बाह्याभ्यं-
तरे कोटीदीपानां प्रकाशो यादृशो मौज्वल्यं भवति तादृशं तत्त्वाकाशं लक्ष्यं कर्तव्यं ततः परं बा-
ह्याभ्यंतरे प्रकाशमान सूर्यस्य सदृशं सूर्याकाशं लक्ष्यं कर्तव्यं एते षांल्लक्ष्याणां करणा-
त् शरीरे रोगसंसर्गो न भवति तथा वलि पलितं पुण्यं पापं च न भवति नवचक्रं कलाधारं
त्रिलक्ष्यं व्योमपंचकं स्वदेहे यो न जानाति स योगी नामधारकः १ इदानीं चक्राणामनुक्रमः क-
थ्यते आधारे ब्रह्मचक्रं १ आधारोपरि लिंगमूले स्वाधिष्ठानचक्रं २ नाभौ मणिपूरचक्रं ३
हृदये नाहतचक्रं ४ कंठस्थाने विशुद्धिचक्रं ५ षष्ठं तालुचक्रं ६ भ्रुवोर्मध्ये आग्नेयचक्रं
७ ब्रह्मस्थाने कालचक्रं ८ नवमं आकाशचक्रं तत्परं शून्यं इदानीं षोडशाधारचक्रस्य भेदः कथ्य-
ते पादयोरंगुष्ठे तेजसो लक्ष्यकरणात् दृष्टिः स्थिरा भवति द्वितीयो मूलाधारः पादांगुष्ठस्य
मूले परपादस्य पार्ष्णिः स्थाप्यते तदाग्निः प्रबलो भवति एका पार्ष्णिर्यदा मूलाधारे स्था-
प्यते तस्य पादस्यांगुष्ठमूले परस्य पादस्य पार्ष्णिः स्थाप्यते तदाग्निः प्रदीप्यते तृतीयगु-

दाधारस्थानं तन्मध्ये संकोचविकाशाकुंचनकारणात् पवनः स्थिरो भवति अन्यच्च पुरुषस्य
मरणं न भवति चतुर्थं लिंगाधारं तन्मध्ये लिंगसंकोचनाभ्यासात् पश्चिमदंडमध्ये प्रज्ञाना-
डी भवति तन्मध्ये पुनरभ्यासकरणान्मनःपवनयोः संचारो भवति तयोः संचारान्मध्ये सं-
थित्रयं त्रुट्यति तत्त्रोटनात्पवनो ब्रह्मकमलमध्ये पूर्णो भूत्वा तिष्ठति ततो वीर्यस्तंभो भव-
ति पुरुषः सदैव युवैव भवति पंचमं उड्डीयाणं स्वाधिष्ठानं तत्र बंधदानान्मलमूत्रयोर्नाशो
भवति षष्ठो नाभ्याधारः तस्मिन्स्थाने प्राणवायोर्निरोधात् षडपि कमलान्यूर्ध्वमुखानि विकसं-
ति अष्टमं कंठाधारः तत्र जालंधरो बंधो दीयते तस्मिन् सति इडायां पिंगलायां पवनः स्थिरो
भवति नवमो घंटिकाधारः तत्र जिह्वाग्रं लग्नं भवति ततोमृतकलाया अमृतं वर्षति तदमृ-
तपानात् शरीरमध्ये रोगसंचारो न भवति दशमं स्तालुस्वाधारः तन्मध्ये चालनं दोहनं च
कृत्वा लंबिकाप्रवेशे सति तालुनि मग्ना जिह्वा तिष्ठति एकादशो जिह्वाधारः तस्मिन् छेद-
नेन मथनं क्रियते तस्मिन्कृते मधुरं पानीयं स्रवति तथा च कविलछंदो नाटकादि विष-
यज्ञानमुत्पद्यते तदुपरि द्वादशो दंतयोर्मध्ये दंताधारः तस्मिन्स्थाने जिह्वाया अग्रं घटी
मात्रं बलात्कारेण स्थाप्यते तस्मिन्सति साधकस्य समग्रा रोगा नश्यंति त्रयोदशो नासि-

राजयोग काग्राधारः तस्मिंल्लक्ष्ये कृते सति मनस्थिरं भवति चतुर्दशो नासामूलाधारः तस्मिन दृष्टेः सती
स्थैर्यकरणात्षष्ठेमासिस्वीयंतेजप्रत्यक्षंभवति तेजसः प्रत्यक्षत्वे पार्थिवं सकलं वंधनंचु
ट्यति पंचदशो भ्रुवोर्मध्याधारस्तस्मिन्दृष्टेः स्थिरीकरणात् कोटिकिरणाः स्फुरंति षोडशोने
त्राधारः अयमंगुल्यग्रेणचाल्यते तत्प्रयासात्पृथ्वीमध्ये यत्किंचित्तेजो वर्त्तते तत्सर्वंतेजो
दृष्टिविषयं भवति तद्दर्शनात्पुरुषः सर्वज्ञो भवति इदानीमष्टांगयोगस्य विचारः कथ्यते
यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारध्यानधारणासमाधिरिति एतेषां लक्षणानिक
थ्यंते शांतिः षण्णामिंद्रियाणांजयः आहारः स्वल्पनिद्रायाजयः शैत्यजयः औष्ण्यजयः एते य
माः नियमः खलु चापलभावान्निवार्य स्थैर्यं स्थाप्यते एकांतसेवनं प्राणिमात्रेसमबुद्धिः
औदासीन्यं कस्यापि वस्तुनः इच्छा कर्त्तव्या यथालाभसंतोषः परमेश्वरनाम्नः नविस्मरणी
यं मनोमध्ये दैन्यं कर्तव्यं इति नियमाः आसनलक्षणानि तु बहुषु ग्रंथेषु निरूपितमस्ति
तेनात्र न निरूप्यंते प्राणायामस्तु सुकुमारेण साधितुं न शक्यते अतस्तस्य नाममात्रं क
थ्यते प्रत्याहारः कथ्यते मनः संसारान्निवृत्यात्मनि स्थाप्यते मनोमध्ये ये विकारा उत्पद्यंते
ते पि निवारणीयाः अनेकचमत्कारिणी बुद्धिरुत्पद्यते सा गोप्या ध्यानं च बहुतरं प्रागुक्तं ते

नात्र नोच्यते इदानीं पिंडब्रह्मांडयोरैक्यमस्ति तस्माद्ब्रह्मांडमध्ये ये पदार्थाः संति ते पिंडमध्ये सं
ति कथ्यंते पादयोस्तले तलं वर्त्तते पादोपरितला तलं वर्त्तते गुल्फयोर्महातलं वर्त्तते जंघा
मध्ये सुतलं वर्त्तते जानुमध्ये वितलं वर्त्तते ऊर्वोर्मध्ये अतलं वर्त्तते इदानीं पिंडमध्ये लोक
त्रयं कथ्यते मूलाधारे भूर्लोकः लिंगाग्रे भुवर्लोकः लिंगमध्ये स्वर्गलोकः इदानीमुपरि
तनलोकचतुष्कं कथ्यते पृष्टदंडांकुरे महर्लोकः दंडछिद्रमध्ये जनलोकः तद्दंडनालिम
ध्ये तपोलोकः दंडकमलमध्ये सत्यलोकः अथ ब्रह्मांडमध्ये चतुर्दशलोकस्थानानि तान्य
पि पिंडे वर्त्तंते शरीरमध्ये द्वौकुक्षी द्वे सक्थुनी वक्षःस्थलं कंठमूलं कंठमध्यः लंबिकामूलं
तालुद्वारं तालुमध्यं ललाटमध्यं शृंगाटिका कपोलमध्यं कमलिनीमध्यं ब्रह्मरंध्रं ऊर्ध्वक
मलिन्याः त्रिकूटस्थानं एतमेकविंशस्थाने एकविंशतिब्रह्मांडानि वसंति इदानीं सप्तद्वीपा
नि पिंडमध्ये कथ्यंते मज्जामध्ये जंबुद्वीपः अस्थिमध्ये शाकद्वीपः शिरामध्ये शाल्मलिद्वी
पः मांसमध्ये कुशद्वीपः त्वचामध्ये क्रौंचद्वीपः शरीरस्यलोममध्ये गोमेदद्वीपः नखमध्ये
पुष्करद्वीपः एतानि द्वीपानि गुप्तानि मध्ये तिष्ठंति इदानीं पिंडमध्ये सप्तसमुद्राः कथ्यंते
प्रस्वेदमध्ये क्षारसमुद्रः लालामध्ये क्षीरसमुद्रः वाकूमध्ये मधुससमुद्रः कफमध्ये दधि

त्रयोग समुद्रः मेदमध्ये घृतसमुद्रः रसमध्ये इक्षुरससमुद्रः वीर्यमध्ये स्वादुसमुद्रः पापादमध्ये सरी-
कूर्मस्थान इदानीं नवद्वीपे पुनवखंडानि कथ्यंते मुखे भरतखंड १ नासिकयोः किंनरखंड २
नरहरिखंड ३ नेत्रयोः केतुमाल ४ भद्रखे ५ कर्णयोर्हिरण्मय ६ रम्यकखंड ७ गुदे
कुरुखंड ८ लिंगे इलावृते ९ इदानीं यमष्टकुलपर्वताः कथ्यते मेरुदंडमध्ये मेरुमंदिरः
ब्रह्मकपाटमध्ये कैलासः पृष्ठमध्ये हिमाचलः वामस्कंधे मलयाचलः दक्षिणस्कंधे
मंदराचलः दक्षिणकर्णे विंध्याचलः वामकर्णे मैनाकः ललाटमध्ये श्रीशैलः अप
रेशैलाः हस्तयोः पादयोरंगुलीनां मूलेषु वर्त्तते इदानीं शरीरमध्ये नवनाड्यास्ति पीति
तन्मध्ये नवनादीनां स्थानानि वर्त्तते गंगायमुनयोः वितस्ताचंद्रभागासरस्वतीविपाशा
शतद्रुदा इरावतीनर्मदा अपरानद्योनदानि ७० शस्रोतांसितटानि वापीकूपाहि सप्तति
सहस्रनाडीमध्ये तिष्ठंति सप्तविंशतिनक्षत्राणि द्विसप्तति कोष्टकायंतरे वसंति द्वादश
राशयः मेषवृषः मिथुनः कर्कः सिंहः कंन्यातुलावृश्चिकधनमकरकुंभमीन नवग्रहाः आ
दित्यसोममंगलबुधगुरुशुक्रशनिराहुकेतु पंचदशतिथयो च मध्ये वसंति यथासमु
द्रमध्ये लहरीवर्त्तते तथा शरीरमध्ये कुर्मीनामलहरीभवति उर्म्यश्चलास्ततः शरीरेस्व

लनंभवति तन्मध्ये समग्रतारामंडलं वर्त्तते त्रयस्त्रिंशकोटिदेवताः बाहुरोममध्ये वसंति पृष्ठ
रोममध्ये षडशीतिसहस्रदिव्यतपस्विनः पीठोपपीठोर्ध्वोष्टोपरियानि रोमणि तन्मध्ये वसं
ति हृदयरोममध्ये तक्षकः १ महानागः २ कर्कोटकः ३ शंखध्वपुर्लक ५ वासुकिः ६ अनंतशे
षः एतेनागा वसंति उदररोममध्ये अपरेनागा वसंति गुणागंधर्वकिंनराप्सरो विद्याध
रगुह्यकाः शरीरमध्ये अनेकतीर्थावली वसंति अश्रुपातमध्ये मेघमंडलं वसति अनंताः सि
द्धयो बुधयश्च प्रकाशमध्ये वर्त्तते चंद्रसूर्यौ द्वयोर्नेत्रयोर्मध्ये वर्त्तते अनेकवनस्पतिगु
घा ल्मलतातृणानि जंरोममध्ये वसंति पुरुषस्य नव्यदर्शनात् गीतश्रवणात् वल्लभवस्तु
नोदर्शनात् यः आनंद उत्पद्यते स स्वर्गलोकः कथ्यते रोगपीडितो दुर्जनेभ्यः पुरुषस्य य
दुःखमुत्पद्यते तद्दुत्तरं नरकं कथ्यते अथ च यत्कर्मकरणान्मनो मध्ये शंकान्भवति त
त्कर्ममुक्तिकारणं इदानीं राजयोगाच्छरीरे एतादृशानि चिन्हानि भवति तानि कथ्यंते स
कलरोगनाशः सकलपृथ्वीपश्यति तदनंतरं ज्ञानमुत्पद्यते समग्रभाषा जानाति ततः पु
रुषस्य देहो वज्रमयो भवति सर्पदंशो मरणं न भवति ततः पुरुषस्य बुभुक्षापिपासानि
द्रोल्लताशीतोष्णबाधा न कुर्वंति वाकसिद्धिर्भवति विद्युत्पाते कान्ति धानि न भवति तद

नंतरं पवनरूपी पुरुषो भवति समग्रं पृथ्वीं दृष्ट्या पश्यति अणिमाद्यष्टसिद्धिर्भवति म
हापन्नाद्यानवनिधयः समीपे आगच्छंति आकाशमध्ये दूरात् दिक्क्रगमनागमनं बलं भ
१० वति परमेश्वरं समीपे पश्यति करणे हरणे सामर्थ्यं भवति इदं गुरुभक्तेः फलं आत्मम
ध्ये मनसो विश्रामकरणमिच्छता पुरुषेण सद्गुरोः सेवां कृत्वा सावधानं मनः करणीयं आत्मा
सबलात् परमप्राप्तिः तेन स्वशिष्यमनसः समरस्यं कर्तव्यं चंद्रसूर्यौ यावत् पिंडे निश्चलौ
भवति श्लोकः संम्यक् स्वभावकिरणोदयविद्धिलासः गस्तं स्वशांतिं च मतां स्वयमेव दृष्टौ
ति गस्ते स्ववेगभिन्च ये पद पिंडमैक्यं सत्यं भवेत् समरसं गुरुवत्सलानां इदानीमवधू
तपुरुषस्य लक्षणं कथ्यते यस्य हस्ते धैर्यदंडः स्वपरं शून्यमासनं योगैश्वर्येण संपन्नः
सोवधूत उदाहृतः २ भेदाभेदौ यस्य भिक्षाभरणं जारणं तथा एतादृशोपि पुरुषः सोव
धूत उदाहृतः ३ आत्माद्यधिकारो विज्ञेयो वकारो भववासनाधूतस्तत्संपनं प्रोक्तं सोवधूतो
निगद्यते ४ अकारार्थो ज्ञीवभूतो वकारार्थो थ वासना एतद्द्वयं जयातियः सोवधूत उदा
हृतः ५ यः पुरुषो द्वितीयं न पश्यति केवलं स्वस्वरूपं पश्यति सोवधूतः अथवा यस्य मनश्चं १०
चलभावं न दधाति सोवधूतः कथ्यते यन्न दृश्यते तदव्यक्तमित्युच्यते तदव्यक्तं प्रत्यक्षेण

पश्यति यत्किंचिदृश्यते तत्सर्वं असाति भुक्तमिति ज्ञानपयते सोवधूतः कथ्यते अवधूततनु
सोमो निराकारपदे स्थितः सर्वेषां दर्शनानां च स्वस्वरूपं प्रकाश्यते १ सत्यमेकमजं नित्यमनं
तमक्षयं ध्रुवं ज्ञात्वा हि वं वदेद्धीमान् सत्यवादी स कथ्यते २ यत्किंचित्कोन पश्यति स ए
कः तस्य मनसो न जानाति नानाशोनता दृशं पदार्थं ज्ञात्वा काले चेष्टा भवति स सत्यवादी
कथ्यते वासरे भास्वरे शक्तिः संकोचो भास्वरेपि च तयोः संयोगाः कर्त्ता यः स भवेत्सत्सयो
गभाक् ३ विश्वानीत तया विश्वामेकमेव विराजते संयोगेन सदा यस्य सिद्धयोगी स गा
द्यते ४ सर्वासां निजवृत्तीनां विस्मृतीभजते तु यः स भवेत्सिद्धसिद्धांतो सिद्धयोगी स मद्य
ते ५ उदासीनः सदा शांतो ऽप्रहानंदमयोपि च यो भवेत्सिद्धयोगेनासिद्धयोगी स कथ्यते
६ अधुना कमलानां तु शृणु संकेतमद्भुतं अनेकाकारभेदोर्ध्वं कं स्वरूपात्म कमलं ७ क
मलं तेन विख्यातं त्रिविधं तत्र देहगं अथाधः कमलं कथ्यते आधारकमलं अस्य क
मलमिति संज्ञा कस्मात् कमात्मस्वरूपं स आत्मानं अनेकरूपं पश्यति तद्दर्शनं कमल
इत्युच्यते तस्मात्कमलमिति संज्ञा अस्याधारः कमलस्य दलचतुष्टयं भवति प्रथमं स
त्वगुणस्य द्वितीयं राजयोगस्य रगुणात् तृतीयं तमोगुणः चतुर्थो दले मनस्तिष्ठति एतद

राजयोग लक्ष्यतुच्छन्वयसंगाद्दात्मासाध्वसाधु करोति तस्मिन्कमले निश्चलीकृते सति पुरुषस्य समीपे सटी॰
११ मरणं नागच्छति इदानीं हृदयकमल[illegible]भेदः कथ्यते अस्य द्वादशदलानि सिद्धपुरुषाः क
थयंति तस्माद्विषशक्तिस्त्रितयलोकांतः सम्यक्मुद्राखेचरीचिदानंदोदयश्चचंद्रचंद्रिकावेत
नान्वितः परमात्मा महारश्मिपुंजः प्रकाशः प्रकाशानंदयोरैक्यं प्रकर्तव्यं निरंतरं स्वयमनिम
हाज्योतिराभाति परमं पदं सदोदितं मनश्चंद्रः सूर्योदयमेक्षते तेनगतस्तेमनःश्चंद्रः सोपिलि
खयंपदे पदमेव महांनग्निर्यमेगस्तं कलामयं एवं चंद्रार्कवन्हिनां संकेतः परमार्थतः इदानीं
योगसिद्धिरनंतरं एतादृशं ज्ञानमुत्पद्यते यद्दानास्ति स्वयं कर्त्ता कारणं न कुलाकुलं अव्यक्तं
न परं तत्त्वमनामाविद्यते तदा आनामा एकः कश्चित्पुरुषो वर्त्तते अनाम्नश्च परावरः परात्पर
परपदं परमपदात्परमश्शून्यं शून्यान्निरंजनं अनाम्नः पंचगुणाः सानुनत्वं अखंडत्वं अनु
पर्णादलानाम षट्दलानां मध्ये एकं कठिणं भवति तदष्टदलं कमलं हृदये तिष्ठति तेनु भयेहृ
दये तिष्ठतः प्रथमदले शब्दस्तिष्ठति द्वितीयदले स्पर्शस्तिष्ठति तृतीयदले रूपं तिष्ठति चतु
र्थे दले रसस्तिष्ठति पंचमदले गंधस्तिष्ठति षष्ठदले चित्तं तिष्ठति सप्तमे दले बुद्धिस्तिष्ठति
अष्टमे दले कारस्तिष्ठति एतदष्टदलमध्ये पृथिव्याकारो वर्त्तते अथ च तत्कमलमध्ये ११

मुखं तिष्ठति अस्य कमलस्य ध्यानादात्मप्रकाशो भवति प्रकाशानंदतरं कमलमूर्ध्वमुखं भवति
तथा सूर्यप्रकाशानंतरं तदा कमलमध्ये कमलं विकसति तथेदमपि आत्मप्रकाशानंतरमूर्ध्व
मुखं विकसति तन्मध्ये परमानंदरूपा भूमिर्भवति तस्या हंसो हं इति संज्ञा तस्या मध्ये स्वात्म
नो ध्यानाद्दिने दिने आयुर्वर्धते रोगा दूरे भवति गुणाः कर्त्तृत्वं ज्ञातृत्वं अभ्यासत्वं कलत्वं स
र्वज्ञत्वं प्रकाशस्य गुणाः सकलनिष्कलसर्वोन्समता विश्रांतिः तत्र एतादृशं मुत्पद्यते आद्यः
आद्यादात्मा आत्मन आकाशः आकाशाद्वायुः वायोस्तेजः तेजसो जलं जलात्पृथिवी अनाम्न
नः पंचगुणाः अगाधः अनंतः अवाच्यः अगोचरः अप्रमेयश्च आकाशस्य पंचगुणाः अव
शः निष्क्रमणं छिद्रं शब्दाधारः शांतिनिलयत्वं महाशायोः पंचगुणाः चलनं शोषसंचारः
स्पर्शधूम्रवर्णता तेजसः पंचगुणाः दहनं ज्वालारूपं उष्णता रक्तो वर्णः अपां पंचगुणाः
प्रवाहः शिथिलता द्रवः मधुरसता श्वेतवर्णः पृथिव्याः पंचगुणाः स्थूलता साकारता कठि
णता गंधवती पीतवर्णता अभयत्वं अनन्यत्वं चेति परावरस्य पंचगुणाः निश्चलत्वं नि
ष्कर्मत्वं परिपूर्णत्वं व्यापकत्वं अकलत्वं चेति परमपदस्य पंचगुणाः नित्यं निरंतरं निरा
कारं निर्विकल्पनं चेति शून्यस्य पंचगुणाः लीनता घूर्णता मूर्छा उन्मनिभावः अलसत्वं

राजयोग चेति निरंजनस्य पंचगुणाः सत्यासहजभावासन्ता स्वरूपता इदानीं पिंडोत्पत्तिः कथ्यते अ सरी॰
नादितः परमात्मा परमात्मनः परमानंदः परमानंदात्प्रबोधः प्रबोधाच्चिदुदयः चिदुदयात्प्र
१२ काशः तत्र परमात्मनः पंचगुणाः अक्षय अभेद्यः अछेद्य अदाह्यः अविनाशी परमानंदस्य
पंचगुणाः स्फुरणः किरणः विस्फुरणः अहंता हर्षवत्वं प्रबोधस्य पंचगुणाः लयउल्लासः वि
भासः विचारः प्रभा चिदुदयस्य पंचशरीरमध्ये पंचमहाभूतानि तेषांगुणाः कथ्यंते तत्र
पृथिव्यागुणाः अस्थिमांसनाडीलोमत्वचा वाकूतत्रोदकगुणाः लालामुत्रशुक्रं रक्तं प्रस्वेदः ते
जसोगुणाः क्षुधा तृषा निद्रा ग्लानि आलस्य वायोर्गुणाः धावनं मज्जन निरोधनं प्रसारणं
अकुंचनं चेति आकाशस्यगुणाः रागद्वेषः भयं लज्जा मोहः तदनंतरमेतादृश्ये का बुद्धि
त्पद्यते मनोबुद्धिरहंकारश्चित्तं चैतन्यं चेति एते पंचपिप्रकारा अंतःकरणस्य मनसः पंचगु
णाः संकल्पविकल्प मूर्ख मुद अलस्छता मननं चेति बुधेः पंचगुणाः विवेकवैराग्य शांतिः
संतोषः क्षमा चेति अहंकारस्य पंचगुणाः अहंममेति एतस्य दुःखं स्वतंत्रता चित्तस्य पंच
गुणाः धृतिः स्मृतिः रागः द्वेषः मतिः चैतन्यस्य पंचगुणाः हर्षविमर्शः धैर्यं चिंतनं निस्पृह
त्वं अतः परं कुलपंचकस्य भेदाः कथ्यंते सत्वरजः तमः कालः जीवनं तत्र सत्वगुणाः दया १२

धर्मकृपा भक्तिः श्रद्धा चेति रजसोगुणाः त्यागः भोगः शृंगारः स्वार्थः अस्तसंग्रहः तमसोगुणाः
विवादः कलहः शोकः बंधः वंचनं कालस्यगुणाः कलना कल्मषभ्रांतिः प्रसादउन्मादः जीव
स्यगुणाः जाग्रदवस्था स्वप्नावस्था सुषुप्तवस्था तुरीयावस्था तुरीयातीतावस्था तदनंतरमे
तादृशमेकं ज्ञानमुत्पद्यते इच्छाक्रियामाया प्रकृतिः वाचा इच्छायाः पंचगुणाः उन्मन्यवस्था वां
छाचित्तं चेष्टा क्रियायां पंचगुणाः स्मरणं उद्यमः उद्वेगाः कार्यनिश्चयः सत्कुलाचारत्वं मायां
पंचगुणाः मदमत्सर्यादिभिः कीर्तिः असत्यभावाः प्रकृतेः पंचगुणाः आशा तृष्णा स्पृहा कां
क्षा मीथ्यात्वं वाचायाः पंचगुणाः परापश्यंतिमध्यमा वैखरी मातृकातदनंतरमेतादृशं ज्ञा
नमुत्पद्यते कर्मकामः चंद्रः सूर्य अग्निः एतत्पंचकं प्रत्यक्षं कर्तव्यं तत्र कर्मणः पंचगुणाः शु
भं यशः अपयशः कीर्तिः दुष्ट फलं साधकत्वं कामस्यगुणाः रतिः प्रीतिः क्रिडा कामना अनु
रक्ताः इदानीं चंद्रस्य षोडशकला कथ्यंते इल्लोला कल्लोलिनी २ उल्लोलिनि ३ उन्मादिनी ४
तरंगिणी ५ पोषयंति ६ लंपटा ७ लहरी ८ लोला ९ लेलिहाना १० प्रसरंति ११ प्रवृत्तिः १२
स्रवंति १३ प्रवाहा १४ सोम्या १५ प्रसन्ना १६ चंद्रस्य सप्तदशी कला वर्त्तते तस्या नाम निवृत्ति
समेता कला कथ्यते इदानीं सूर्यस्य द्वादश कला कथ्यंते तपनी १ ग्रासका २ उग्रा ३ अकोच

राजयोग नी ४ शोषणी ५ प्रबोधिनी ६ घस्मरा ७ आकर्षयंति ८ तुष्टिवर्धिनी ९ क्रूमरेखा १० किरण सटी०
वती ११ प्रभुवती १२ सूर्यस्यत्रयोदशी कलाविद्यते तस्यनाम निजनकलास्वप्रकाशाच्च इदा
१३ नींमग्निसंबंधिन्योदशकथ्यते दीपिका १ ज्वाला २ विस्फुलिंगिनी ३ प्रचंडा ४ पाचका ५ रौ
द्री ६ दाहका ७ रावणी ८ शिखावती ९ अग्नेरेकादशीनिजकलाज्योतिः संज्ञावर्त्तते इदानीं
योगस्यमाहात्म्यंकथ्यते गुरोस्तुग्रहणात् शास्त्रस्यपठनात् आचारकरणात् वेदांतरहस्यश्रव
णात् ध्यानकरणात् उपवासकरणात् चतुराशीत्यासनेसाधनात् वैराग्यस्योत्पत्तेः नैराश्य
करणात् हठयोगस्यकरणात् इडापिंगलयोः पवनोधारणात् माहामुद्रादिदशमुद्रासाध
नात् मौनकारणात् वनवासात् बहुतरक्लेशकरणात् बहुतकालयंत्रमंत्रादिसाधनात्प्र
करणात् बहुतरार्पणदानात् आश्रमाचारपालनात् संन्यासग्रहणात् षड्दर्शनग्रहणात्
शिरोमुंडनात् अन्योपायकरणात् योगतत्वेनप्राप्यते सतुयोगेगुरुसेवयाप्राप्यते गुरुद
कृपात् पात्राणांदृढाणांसत्यवादिनांकथनाद्दृष्टिपाताद्धासांनिध्यावलोकनात् प्रसादात्सद्गुरो
संम्यक् प्राप्यते परमंपदं अतएववचः प्रोक्तंनगुरोरधिकंपरं १ वाङ्मात्रेणैवदृक्पाताद्यःक
रोतिशमंक्षणात् प्रस्फुटद्भ्रांतिहृत्तोयंस्वच्छंवंदेगुरुंपरं २ सम्यगानंदजननः सद्गुरुः सोभि १३
धीयते निमिषार्धंवातत्त्वाद्यद्वाक्यादवलोकनात् ३ स्वात्मास्थिरत्वमायांतितस्मैश्रीगु

रवेनमः नानाविप्लवविश्रांतिकथनात् कुतेरूलपः सद्गुरुः सन्तुविज्ञेयोनतुवैप्रियजल्पकः ५ अ
तएवपरमपदस्यप्राप्त्यर्थंसद्गुरुःसेव्यःसर्वदा यःपुरुषःसत्यवादीभवतिनिरंतरगुरुसेवातत्प
रोभवति यस्यमनसिपापंनभवति स्वाचाररतःस्नानादिशीलोभवतिकार्पण्यंनभवति य
स्यवंशपरंपराज्ञायते एतादृशेनसद्गुरोः संगतिर्कर्तव्या पुरुषस्यमनःशांतिंप्राप्नोति अथ
चयस्यमनोमध्येस्थिरआनंदउत्पद्यते सोपिसद्गुरुः कथ्यते कस्यापिदुःखंनदीयते प्राणी
मात्रेणसहमैत्रीक्रियते कस्यापिदोषोनप्रकाश्यते सोपिसद्गुरुः कथ्यते विज्ञातकुलशीला
नांयतीनांब्रह्मचारिणांउपदेशेनगृह्णीयादन्ययानरकंध्रुवं १ यस्यवचसिसमनसिध्यतेस
ति स्वात्मनः परमेश्वरस्यैक्यंभवति एतादृशोमनोमध्येनिश्चयोभवति तंसद्गुरुः विजा
नीयात् विकल्पएतादृशोयथासमुद्रमध्येमहत्तरकल्लोलाडंबरप्रपंचेवासनाएतादृशी
यथोदकमध्येमहत्तरतिनादृशोत्संसारार्णवाथोनावापरंपारंप्रापयतिससद्गुरुः कथ्य
ते यस्यपुरुषस्यमनो २ खंडेपरमपदेलीनंभवति यः पुरुषः स्वियंकुलंत्रिविधान्तापान्नि
वर्त्य परममुक्तिपदेरक्षति एतादृशपुरुषस्यश्रवणाद्दर्शनात्समग्रविघ्नान्पश्यंतिदि
नेदिने कल्याणंभवति निष्कलंकाबुद्धिरुत्पद्यते इदंयोगशास्त्रस्य ~~[illegible]~~ रहस्यं

 समस्तशास्त्रप्रमेयं यस्य मनः यथांधकारस्य मध्ये दीपस्य तेजः प्रविशति तथा शास्त्रमध्ये
 मनो प्रविशति यस्य राज्ञो मध्ये कलहं नास्ति यस्मिन् दृष्टे दैत्यिकस्य त्रासो न भवति यस्य म
नः शत्रुं भवति यस्य पृथ्व्यां कीर्तिर्भवति यस्य मनो मध्ये सत्पुरुषस्य वचः विश्वासो भवति
यो राजानं सदानंदपूर्वो भवति यस्य पार्श्वे प्रत्यक्षमनेकं मनोहारिवस्तूनि संति एतादृ
राज्ञो इदं योगरहस्यं कथनीयं न स्नेहान्न भयान्न लोभान्न मोहान्न धनाद्बलात् न मैत्रिभाव
औदार्यान्न सौंदर्यान्न सेवनात् समान्यादग्रे योगो न कथनीयः यः परनिंदारतो भवति दु
राचारो भवति दुर्भैक्षस्य वस्तून ददाति योऽसत्यं वदति यो योगीनां निंदां करोति यस्य म
नो मध्ये दया न भवति यः कलहः प्रियो भवति स्वकार्यकरणे सावधानो न भवति गुरोः
कार्यकरणेनादत्तो भवति एतादृशस्याग्रे न योगः क्रियते न पद्यते शृण्वन् गीतादिकान्
शब्दान् पश्यन् रूपं मनोहरं जीघ्रन् सुरभीन् स्पृशन् स्पर्शं मृदुप्रियं स्वादान् मनोरमा
न् भ्राम्यन् देशान् मनोरमान् भाषमाणः स्मरन् धरन् रममाणः स्वलीलया भावाभावविवि
निर्मुक्तो सर्वग्रहविवर्जितः सदानंदमयो योगी सदाभ्यासी सदा भवेत् विरुद्धे दुःखदे
देशे विरूपे तिभयानके १ दुष्टघनिष्टसंस्पर्शे रसे न्वलवणादिके प्रत्यादावर्पितं गंधे

MATSYENDRA SAMHITĀ

ASCRIBED TO MATSYENDRANĀTHA

PART I

Edited by
DEBABRATA SENSHARMA

THE ASIATIC SOCIETY
1, PARK STREET ○ CALCUTTA 700 016

MATSYENDRA SAMHITĀ

ASCRIBED TO MATSYENDRANĀTHA

PART I

Edited by

DEBABRATA SENSHARMA

THE ASIATIC SOCIETY
1, PARK STREET ❑ CALCUTTA-16

Bibliotheca Indica Series No. 318

Published by :
Dr. Chandan Roy Chaudhuri
General Secretary
The Asiatic Society
1, Park Street
Calcutta-700 016

First Published : March 1994

Price : Rs. 150.00

Printed by :
S. Banerjee
Offset Process
6/3 M. C. Ghosh Lane
Howrah–1

FOREWORD

Bengal has been home of Tantrism from ancient times. Many practitioners of the Tāntrika mode of spiritual discipline lived in Bengal and they propagated the Śākta religious thought and practices among the masses. Many spiritual practitioners hailed from the backward classes, nonetheless they were held in high esteem by the people for their deep spiritual experiences which they preached. Among them the most illustrious and legendary figure was Siddha Matsyendranātha who belonged to this part of the country. His fame as a great Siddha endowed with super-human yogic powers travelled far and wide. He is venerated as a great yogin, a Siddha *par excellence* both in the Hindu and the Buddhist traditions in this country, Nepal and Tibet. He is considered to be the founder of powerful Kaula religious tradition, an offshoot of the Śākta Tantrism. Though Kaulism became deeply entrenched in the valley of Kashmir during the 9 - 10th century A D, it held sway all over the country, its influence percolating in the religious life of people, especially of Kashmir.

The late Professor Prabodh Chandra Bagchi came across manuscripts of four Tantra works ascribed to Matsyendranātha in Nepal. He published them more than fifty years ago. The editor of this text ascribed to Matsyendranāth discovered its manuscripts in the library of the Wellcome Institute for History of Medicine, London. It is unique manuscript which remained unnoticed all these years. The edit obtained a microfilm copy of the text which has been edited by him on the basis one single copy of the text.

I have great pleasure in making this rare and unpublished Tantra text available to scholarly world. The work is being issued in the Bibliotheca Indica Sanskrit series of the Society.

I am thankful to the authorities of the Wellcome Institute for History of Medicine, London for kindly granting permission for its publication by the Asiatic Society.

10.3.1994

CHANDAN ROY CHAUDHURI

General Secretary

PREFACE

In course of my search for unpublished Śaiva and Śākta Tāntric manuscripts in different libraries in the U.K., I came across the manuscript copy of the present work, the *Matsyendra Saṃhitā* in Wellcome Institute of History of Medicine, Euston Road, London, well known for its rich collection of Mss. on medicine collected from all parts of ancient world. This important Tāntric text dealing with the Yogic practices of Kaula School, a powerful sub-sect within the Śākta Tāntric tradition, remained there unknown and unnoticed as its name did not figure in any published Catalogue of Sanskrit Mss.

When I first discovered this work in the library of the Institute, I felt very much excited as I had not found its name mentioned in the Catalogus Catalogorum or any work on history of Sanskrit Literature, including the well known "Hindu Tāntric and Śākta Literature" written by T. Goudriaan and Sanjukta Gupta prepared under the editorship of the late Professor J. Gonda (Wiesbaden 1981) or the bibliography of Tāntric literature by the late Mahamahopadhyaya Gopinath Kaviraj (Lucknow 1972). I immediately wrote a letter to Professor Gonda and Dr. Goudriaan to enquire if they had known or seen the text. Both of them promptly replied saying that they were not even aware of the existence of such work. This convinced me of uniqueness of the manuscript of the work.

I obtained a microfilm copy of the text running into 120 folios containing 55 paṭalas or chapters from the Wellcome Institute of History of Medicine, London. I am grateful to the authorities of the Institute, particularly the Director Mr. E. J. Freeman for kindly granting their

permission for its publication. I am also thankful to Dr. D. Wujastyk, Incharge of the Mss section and the Librarian of the Institute for their kind co-operation in making the microfilm copy of the text promptly available to me.

I express very thankfulness to the Keeper of the National Archives, Kathmandu for kindly supplying the microfilm copies of three Manuscripts bearing the same name but dealing with altogether different subject, namely euology of the great *Siddha*.

As the text is quite large, it is proposed to publish the entire work in two or more parts. The publication of the first twenty Paṭalas or chapters only has presently been taken up in Part-1, the publication of the rest will follow later.

The manuscript of the text is full of lacunae and has also many gaps at a number of places. As no other copy of the text is available, I was faced with an uphill task in presenting correct version of text. I had to depend entirely on my wits for corrections and resort to heavy dose of emmendation.I can not claim complete success in my effort. At a number of places. I had to leave the text in corrupt form as is found written in the manuscript. I can only offer my sincere apologies for not being unable to remove these defficiencies in this work.

I take this opportunity of offering heartfelt thanks to my young friends Dr. Kunj Vihari Joshi and Dr. Surendra Mohan Misra for assistance in preparing the transcript copy from the manuscript and also suggesting corrections.

I am also obliged to my Senior friends Pandit Madhusudana Vedantasastri and Dr. J. Ganguly for helping me to arrive at correct reading of the text.

I would be failing in my duty if I do not express my deep sense of gratitude to the late Dr. Gaurinath Sastri and Professor Govinda Gopal Mukhopadhyaya, the stal-

warts in the field of Sanskrit learning in Bengal, who inspired me to undertake this project and always provided me with scholarly advice.

I express my sincere gratitude to the authorities of the Asiatic Society, Professor Ashin Das Gupta, the then Administrator, his successors and Dr. Chandan Roy Choudhury, the present General Secretary for providing me necessary monetary support in undertaking this task. I am also obliged to my numerous friends for providing me with various kinds of help.

I am grateful to members of the Publication Committee, Mr. Nirbed Ray, the Publication Officer and his staff for undertaking and expediting the publication of this work.

DEBABRATA SEN SHARMA

10.1.1994

Calcutta

CONTENTS

MATSYENDRA SAMHITA

I. Critical Apparatus

This edition is based on a single ms which was seen by the editor in the library of the Wellcome Institute for the History of Medicine, London in course of search for Tantric mss in the libraries of U. K. It is listed in the hand list of Sanskrit Manuscripts in the Library of the Institute prepared by the late Professor V. Raghavan on p. 3. The list is not published. A microfilm copy of manuscript was obtained by the editor in August 1985.

The manuscript is written on country-made paper in Devanāgarī script. It bears serial No. 2/9/9. It contains folia 120 of the size 12" x 6". Each folio has an average of 22 lines with about 10 letters per line. The ms bears no date but on paleographic examination the date for writing the ms appears to be about 1900 Vikram era corresponding to 1858 A. D. The text is mostly in *anuṣṭup* metre but other metres such as *Vasantatilaka*, *Upajāti*, *Indravajrā*, *Āryā* etc. have also been used. Some *Paṭalas* contain prose portions too, and abound in *mantras*. There is only a short colophon appearing at the end of each *Paṭala* which reads :- इति मत्स्येन्द्रसंहितायाम् अमुक-पटलः ।

The name of the original author is not given but some verses occurring at the end (*Paṭ* 55) in the colophon mention that this text was originally "composed" by Matsyendranātha who heard it from Siva himself, and gave to Matsyanātha who 'sang' it to Colendranātha. It

was Colendranātha who delivered this to the people on earth for obtaining *Siddhi* on the lines laid down by Matsyendranātha. The relevant verses are as follows :-

इति शम्भुमुखात् कृत्वा शतकोटिप्रविस्तरम् ।
कुलाम्नायमशेषं तु तस्य .... । ।
मत्स्येन्द्रेण कृतं चेदमागमं परमार्थतः ।
शिवशासनमाकर्ण्य मत्स्यनाथेन (?) योगिना । ।
चोलेन्द्राय पुरा गीतं तेनेदं प्रतिपादितम् ।
श्रीमच्चोलेन्द्रनाथेन भूर्लोके योगसिद्धये । । I, 42-44

The post colophon, however, is short one as usual which reads इति मत्स्येन्द्रसंहितायां पञ्चपञ्चाशत् पटलः । समाप्त (म्)/ सम्पूर्णम् ।

The text is complete but full of lacuna. The language is generally correct but is not totally free from blemish which is generally seen in the *Tāntric* text. The *Tāntric* works are generally addressed to the initiates of all kinds, literate, semi-literate and illiterates. Hence the prime consideration of such texts is their accessibility to all. Linguistic perfection is therefore, not expected in them.

Three incomplete copies of the text bearing Ms. Nos. 2/102, 5/2717 and 5/6568 containing folia 38, 23 and 15 respectively were obtained on microfilm by the editor from the National Archives, Kathmandu (Nepal). All these manuscripts are written in Bengali characters. On examination it was found that the subject-matter dealt with in these manuscripts is eulogy of Matsyendranātha. As such these are totally different texts with nothing in common with the text edited here, it seems to the editor that some *paṇḍit* who prepared the list of manuscripts in all probability wrongly put the name Matsyendra Saṃhitā on the outer cover without carefully going through the text, hence this confusion has arisen. ❑

II. Origin And Development Of *Kaula* School

The *Kaula* school is one of the most powerful *Śākta* Schools which occupies unique position among the left-handed *Śākta* tradition on account of its long history extending nearly to 1300 years, its extension in geographical terms and impact on all other schools, both *Śākta* and *Śaiva*. It was popular in all parts of the country from Kāśmīra, Nepal and Kāmarūpa (Assam) in the northwest, north and northeast upto Kanyā Kumārī in the South. It influenced directly and indirectly all schools of religio-philosophical thought — Śaiva and Śākta by its presence in subtle way in so far as the formulation of the concept of spiritual discipline is concerned. Maheśvarānanda Nātha, in his *Mahārthamañjarī* puts this in this way:

पुष्पे गन्धस्तिले तैलं देहे जीवो जलेऽमृतम्।
यथा तथैव शास्त्राणां कुलमन्तः प्रतिष्ठितम्।।

Mahārthamañjarī, v. 177 .

Just as fragrance permeates in flowers, oil in sesame, soul in body, nectar in water, in the same way *Kula* permeates in all Śāstras, i.e. Tantras.

The supremacy of *Kaula* thought over all other Śākta schools has been emphasised by its followers. Quoting a verse from the *Kulārṇava Tantra*, Jayaratha in his commentary on the *Tantrāloka* says:

वेदादिभ्यः परं शैवं शैवाद् वामं च दक्षिणम्।
दक्षिणाच्च परं कौलं कौलात्परतरं नहि।।

'The Śaivas are superior to the Vedic, the left-handed and right-handed Śāktas are superior to the Śaivas, the Kaulas are superior to both left and right-handed. There is none which surpasses the Kaulas.'

Before we attempt to trace the origin and growth of Kaula school of spiritual thought and its distinguishing traits in terms of metaphysical theory, the first question that naturally arises in the discerning minds is regarding the meaning of the term *Kaula*. The word *Kaula* is derived from the word '*kula*', literally meaning a herd, flock, assemblage of animate and inanimate objects, a particular type of Divine Śakti e.g. *Kula Kuṇḍalinī* (Serpent Power) that is said to lie coiled up on the level of *muladhara* cakra.[1] The *Vācaspatyam* derives the word in three different ways. 1) *kule bhavaḥ Kaulaḥ* — one born in a particular *kula* = group of sādhakas is called *Kaula* 2) *Kaula kule Kulā cāre rataḥ. tam vetvā iti kaula* —one who follows kulācāra i.e. a particular mode of ritualistic practices enjoined in Kaula tradition, or one knows this. 3) *Kulācāramadhikṛtya krito granthah kaula-granthaḥ* — a text describing the *Kaula* rituals is called the *Kaula* text.[2]

Abhinavagupta gives the metaphysical import of the term *Kula* in two different ways. According to him the word *Kula* connotes the highest Reality which lies above the levels of Śiva and Śakti, from which the Universe is said to emanate at the time of creation and into which it dissolves during the cosmic dissolution.[3] The *Kula* or the Supreme Reality can be thus equated with *Parama Śiva*, beyond which nothing exists, literally called the *Anuttara*.[4]

At another place, he equates the term *kula* with the

1. Monier William *Sanskrit-English Dictionary*. Delhi (Reprint), p.294

2. op cit, vol III, p. 2278

3. यत्रोदितं चित्रं विश्वं यत्रास्तमेति च। तत्कुलं विद्धि सर्वत्र शिवशक्तिविवर्जितम्। *Tantrāloka*. II. 75.

4. अनुत्तर परं धाम तदेव कुलमुच्यते। ibid. III. 145

Divine Śakti which is said to be the essence of the Supreme Lord.[5] It is specifically responsible for the emanation and dissolution of the cosmos.[6]

Lakṣmīdhara, the well-known commentator of the *Saundryalaharī* of Śaṅkara gives yet another derivative meaning of the term *Kula*. He says that the *cakra* into which the *pṛthvītattva*, meaning thereby the entire creation, is dissolved, is called the *kulādhāracakra* or the *mūlādhātacakra*. By *lakṣaṇāthe* term *Kula* signifies the middle path of *suṣumnā* ; persons worshipping the *kulādhāracakra* or *mūlādhāra* and performing their spiritual discipline with its help are called the *Kaulas*.[7]

Bhāskararāya, follower of Lakṣmīdhara in the interpretation of Śākta texts defines the term *Kula* in his commentary called *Saubhāgya- bhāskara* on the *Lalitā sahasranāma* in this way — the Divine Śakti is called *kula*, Śiva is the *akula*, the relation of Śiva with Śakti is called *Kaulasambandha*, or the equilibrium between Śiva and Śakti as described in the *Tantras* is known as *Kaula*[8]. At another place, he says that the triad of knower, knowledge and the objects of knowledge which belong to the same category is what is signified by the term *Kula*. This is on account of the fact that they all are of nature of pure consciousness as has been stated by Śankarācārya himself.[9]

---

5. कुलं परमेश्वरस्य शक्तिः सामर्थ्यमोजो वीर्यञ्च। ibid. XXX, 3

6. विसर्गस्तस्य नाथस्य कौलिकी शक्तिउच्यते। ibid, XII. 145 Also See कुलास्य शाक्तप्रसरात्मे जगतो सत्प्रथनं तेन शालते तच्छीला..........ibid. III. Comm..

7. कुः पृथ्वीतत्वं लीयते यत्र तत्कुलाधारचक्रं, लक्षणया सुषुम्नामार्ग कुलमुच्यते। अतएव कौलाः कुलपूजकाः इति कौलत्वं तेषां रहस्यम्........*Saundaryalaharī*, v. 10 Comm.

8. कुलं शक्तिरिति प्रोक्तम् अकुल शिव उच्यते।
कुलेऽकुलस्य सम्बन्धः कौलमित्यभिधीयते।।
इति तंत्रोक्तं शिव-शक्तिसामरस्यं वा कौलम्। *Saubhāgyabhāskara*, v. 87-88(a)

9. सजातीयानां मातृमानमेयानां समूहः कुलम्।...कुलस्य सजातीयसमूहस्य मातृमानमेयरुपत्रिपुट्या एकज्ञानविषयत्वेन सजात्यात्। घटम जानमीत्येव ज्ञानकारात, ज्ञानामि तमेव भान्तमनुभाति सर्वं एतत् समस्तं जगत् इति श्रीमदाचार्यभगवत्पादोक्तः तदेव कुलम्। ibid. p. 52

It has been stated in the *Yoginīhṛdayadīpikā*, commentary on the *Yoginīhṛdaya* that the *Kaulas* are *Sādhakas* who use their physical body for their spiritual upliftment. This statement is based on the authority of *Svacchandasamgraha*, an unpublished *tāntric* text.[10]

Since the *Kaula Sādhakas* use their body as an instrument for spiritual discipline, the physical body itself may be called *Kula*[11].

The *Kulārṇava Tantra* considers such *Sādhakas* as *divyasādhakas* who worship Divine Śakti after establishing identity with Her, and then experience the underlying unity or oneness everywhere .

After surveying the different connotative meanings of the term *Kula* and *Kaula* in the different texts, let us now turn our attention to the origin and growth of *Kaula* school of thought from the earliest times. This can be looked from two different perspectives — traditional and historical.

Traditionally speaking, *Kaula* spiritual practices are believed to have their origin in the *Satya-yuga* when Khagendra and his consort Vijayambā are said to have propagated this particular mode of spiritual discipline. We infer this fact from the injunctions laid down in the *Kaula* texts describing the details of *Kula* sacrifice that the *siddhas* or spiritual masters with their wives and sons should be worshipped in a particular order at the time of performance of *kula* sacrifice. This particular order indicates their chronology in time as well as their provenance. The first name that occurs in the list is that of Khagendra who is said to have lived in the East where Kaulism made its first appearance. After him and his wife Vijayambā, his two sons Vaktaṣṭi and Vimala with their wives Ambā and Anantamekhalāmbā carried forward his message on Yogic discipline in the East. Hence all of

10. कुलं शरीरं महाप्रयोजनहेतुतया येषां ते कौलं तदुक्तं स्वच्छन्दसंग्रहे *Yoginīhṛdayadīpikā*

11. cf. दिव्यभावरतः कौलः समदर्शिनः op. cit.

them were highly venerated there in the *Satyayuga*.

From the East Kaulism spread to the South in *Tretā* era through Kūrma who with his wife Amalā Śakti propagated it. He was followed by his two sons Jaitra and Avijita who with their wives Ilaiambā and Anandamekhalā popularised this particular mode of spititual discipline.

In *Dvāpara* era the mantle fell on Meṣa who with his wife Kayamaṅgalā propagated *Kaulayoga* in the West. They were therefore worshipped in the West for their contribution towards popularising *Kaula* mode of spiritual discipline among people in the West. His two sons Vindhyā and Ajita with their wives Kullai Ambā and Ajaramekhalā played a key-role in the West.

Great Siddha Macchanda or Matsyendranātha propagated the *Kaula* mode of *yoga* in the North in the *Kali* era. He was not alone in carrying out this arduous task. His wife Kumkumābhā and his six sons with their consorts shared the responsibility of spreading the gospel of Kaulism far and wide in the northern region. For example, his son Amarnāth is said to have stationed him at a place called Paṭṭila after practising *Kaula yoga* at Tripurapīṭha and spread Kaulism in the adjoining area in the South. His wife Śillai played key-role in popularising the *Kaula* mode of worship there. Varadeva was Macchanda's another son who performed spiritual discipline at Kāmākhyā with his wife Eruṇā and popularised *Kaula* mode of worship in the areas around Karavilla. Citranāth was Macchanda's another son who, having performed his spiritual discipline with his wife Kumārī at Aṭṭahāsa, popularised Kaulism in the northern area adjoining Aṭṭahāsa. Olinātha was Macchanda's fourth son who performed *sādhanā* at Deīkoṭa with his consort and spread *Kaula* mode of worship in the eastern part. Vindhyanātha was his another son who, having performed spiritual discipline at Dakṣiṇadi with his wife Mahālacchi popularised *Kaula* mode of worship in the

South-western part. Guḍikanāth was his sixth son who performed austerities at Kaulagiri with his wife popularised *Kaula* mode of worship in the northwest part of their place of *Sādhanā*. They are said to have founded six separate traditions of *Kaula* mode of worship called Ovalli, bearing the names *Bodha, Prabhu, Pāda, Ānanda, Yoga* and *Om* respectively.

The information given above has been provided by Abhinavagupta in his *Tantrāloka* and Jayaratha in his commentary.[12] The *Ciñcinimatasāra Samuccaya* (unpublished text available in Nepal) belonging to *paścimā - naya* tradition also gives list of Macchanda's sons, consorts etc. very much similar to above, with slight variations here and there.

Besides the six sons, who made significant contribution in popularising the *Kaula* mode of worship in the northern region, Macchanda's five sons namely, Bhaṭṭadvanda, Balkala, Ahīndra, Gajendra and Mahīdhara who, remaining celibates, played key role in spreading Kaulism among masses in the country. The *Kali Kula Tantra* alludes to the existence of a traditional belief that Matsyendra had many more sons who did not possess any physical body, therefore bore no name. They too played key role in popularising Kaulism among the masses. There is no reason to doubt the historicity of Macchanda or Matsyendranāth and his sons who played key role in popularising *Kaula* mode of worship in the northern part of the country.

Looking from historical point of view, Matsyendranāth was probably the first propounder of the *Kaula* mode of worship in modern times, i.e. *Kali* era.[13] That he was the founder-revealer of *Kaula* mode of spiritual discipline in modern age is also vouschafed by Abhinavagupta, the celebrated protagonist of the *Kaula* mode of *sādhanā* in

12. op cit. vol XI,v.28-29.

13. *Mṛgendravṛttidīpikā (Aghoraśivācārya)* p. 74.

Kashmir in his *Tantrāloka.*[14] He has provided us with the lineage of *Kaula* teachers in *Kali* era, beginning with Macchanda bibhu *alias* Matsyendranātha alias Mīnanātha.[15] According to the tradition, Matsyendranāth was the founder of *Yoginīkaula* tradition, a subsect of *Kaula* school of religio-philosophical thought.[16] He is said to have received initiation as *Kaula sādhaka* directly from Lord Śiva himself.[17]

There is great deal of divergence of opinion among scholars about his date. The upper limit of his time is fifth century A. D. and lowest limit is sometime in the thirteenth century A. D. According to the Kashmir tradition, Macchanda bibhu or Matsyendranāth flourished in the fifth century A. D. This view is based on the lineage of *Kaula* teachers mentioned in the *Tantrāloka* by Abhinavagupta.[18] Swami Lakshmanjee supports this view which is based on old Kashmir tradition. Dr. Gopinath Kaviraj[19], Dr. K. C. Pandey[20] and Dr. Vrajaballabh Dvivedi also endorse this view.[21]

Sylvain Levi places him in the seventh century A. D. on the basis of a Nepalese tradition which synchronises his arrival in Nepal with the succession of the King Narendradeva.[22] Professor Bagchi however favours

---

14. op. cit. Ah XXVII, v. 166-67

15. ibid.

16. Also see, Pandey, K. C., *Abhinavagupta : An Historical & Philosophical Study, Varanasi, 1930. p. 548.*

17. *Matsyendra Saṃhitā*, *I,*

18. *Tantrāloka XXVII* ,V. 166-67 quoted by Pandey, K. C., *Abhinavagupta : An Historical & Philosophical Study*. p. 548.

19. Dr. Kaviraj is of opinion that Macchanda bibhu, Mīnanātha and Matsyendranātha are one and the same person. See *Tāntriksādhanā aur Siddhānta.*

20. *Abhinavagupta : An Historical & Philosophical Study*, p. 548.

21. Dvivedi, Vrajaballabha, *Tripuradarśanasya paricitāh acāryāh* etc. *Sarasvati suṣamā* Vol. XX No. 2, p. 13-14

22. *Le Nepal*, Vol I, pp. 356ff. s.

much later date, namely tenth century A. D.[23] This is also supported by Dr. Kalyani Mullick.[24]

Dr. S. K. Chatterji suggests thirteenth century A. D. as his date, relying on the mystic tradition of Maharashtra beginning with Jñānadeva. [25] We shall take up this problem later when time and personality of the great *Siddha* are examined in detail.

From the vast literature in the form of *Kaula Tantras*, ritualistic texts etc. that are available today, it is clear that Kaulism extended practically all over the country and held its sway for many centuries. It became most powerful religious cult, and influenced directly or indirectly all religio-philosophical schools of thought, especially in the formulation of yogic practices. The inevitable consequence of this expansion of influence in the field of spiritual discipline was that a number of sub-schools of Kaulism grew up which became popular in different parts of the country. Since the development of *kaula* yogic practices were initiated by individual *kaula yoga* adepts, it was but natural that Kaulism proliferated to great extent influenced at the same time by the contribution by individual *sādhakas*, most of them are unknown and their contribution to the growth of Kaulism unassessed. We have the names of different traditions, technically called *Ovallis*, that originated and developed at different centres or *pīṭhas* from where they were transmitted in two ways — first from father to son and thereafter teacher to disciple.

A number of texts written in different periods of time refer to these schools of Kaulism then prevailing in different parts of country. For instance, the *Kaularatnodyota*, probably the oldest text describing *Kaula* rituals, lists six different schools that existed in the

23. *Kaulājñāṇanirṇaya*. Introduction pp. 27-28.

24. *Siddhasiddhāntapaddhati*. Introduction p. 11

25. *Origin & Development of Bengali Language*. Calcutta, p. 122.

different parts of the country in the earliest phase of development.[26] These are *ānanda, avali, prabhu, yaugika, atīta* and *pāda* which correspond to the *Kaula* traditions founded by six prince-sons of Matsyendranātha in different regions. The *Ciñcinīmatasāra Samuccaya* (an unpublished Sanskrit text belonging to *Siddha* tradition) endorses the above list of schools of Kaulism.[27] The *Kaulajñānanirṇaya*, a Tāntric text ascribed to Matsyendranāth himself, mentions seven distinct schools of *Kaula* worshippers, viz., *Pādottiṣṭha kaula, Mahākaula, Mūla kaula. Yoginī kaula, Vahnikaula, Vriṣṇottha kaula* and *Siddha kaula*.[28] Abhinavagupta however enumerates a different set of *Kaula* schools which bears resemblance to that one mentioned in the *Kularatnodyota* and *Ciñcinīmatasāra Samuccaya*. These are six in number, namely, *Bodhi, Prabhu, Pāda, Ānanda, Yoginī* and *Avali*.[29] These are collectively named by him as *Siddhikrama* schools of *Kaula* worship transmitted along the path of *siddhas*.[30] Jayaratha in his commentary on the *Tantrāloka* however cuts down the number of *Kaula* schools to four, indicating that only those were prominent during his time. These are *Mahākaula. kaula, Akaula, Kulākula*.[31] The *Artharatnāvalī*, the text written probably before Jayaratha, speaks of five schools of Kaula adherents, viz. *Akula, Kula, Kulā kula, Kaula, Siddhakaula*.[32] The *Ambāstava*, a devotional work on mother goddess (an unpublished text deposited in

26. कौलं तु षड्विधं समूषट्कूटपतितं ध्रुवम्। षट्संज्ञा च समुद्भूतं प्रसरात् पश्चिमान्वयाम्।। Quoted *Cincinimatsarasāmuccaya* Tol. 3a.

27. पूर्वश्चिमभेदेन शैलराजसुता नुमे। आनन्दावलिभेदेन प्रभुयौगिकेन तु।।
अतीतपादसंज्ञा च षट्प्रकारमिदं कुलम्। ibid.

28. op cit.

29. *Tantrāloka*, XXIX. 36.

30. cf. सिद्धमार्गापातम्

31. कुलानि महाकौल-कौलाकुल-कुलाकुलारव्यानि........*Tantrāloka* XXIX Com. p. 155.

32. op cit p. 75.

Sarasvati Bhavan Library),[33] enumerates seven schools of *Kaula* spiritual aspirants under two broad heads, viz., *Pūrva Kaula* (older school of *kaula* cult) and *Uttara Kaula*. The *Pūrva Kaulas* are said to be of three kinds, viz., *Mulādhāraniṣṭha*, *Svādhiṣṭhānaniṣṭha* and *Ubhayaniṣṭhā* while the *Uttara kaulas* can be classified under four heads, viz., *Mataṅgī*, *Vārāhi*, *Kaulamukhī* and *Tantraniṣṭha*. This broad classification is undoubtedly based on the *Kaula sādhakas* adopting varying modes of yogic discipline. It may not be out of place to mention here that despite emergence of various sub-schools of Kaulism in different parts of the country, there is no fundamental difference between them in so far as the religio-philosophical thought is concerned.

Though the different texts refer to a variety of *Kaula* schools established by different *Kaula* teachers in different periods of time each of which is characterised by a particular mode of spiritual discipline, they fail to mention their distinguishing traits. Hence it is not possible for us now to delineate their individual nature. Lakshmīdhara, however, in his commentary on the *Saundarya Laharī* of Ādi Śankarācārya has provided us with an idea of points of variance between *Pūrva* and *Uttara kaulas* in so far as the mode of worship prescribed for the *kaula sādhakaṣ* is concerned. It has been said that all *kaula* adepts are required to worship daily the symbolic image of *bindu* representing the Divine *Śakti* in most potentialised form. This *bindu* is depicted by a dot put in the *Trikoṇa* (Triangle) also called Yoni, appearing at the centre of *Śrī Cakra*. The *Pūrvakaulas* inscribe the diagram of *Śrī Cakra* surrounded by nine *trikoṇas* with the *bindu* appearing at the centre of the triangle on the bark of *bhurja* tree, and worship it with the offering of five *makāras* in a symbolic manner. The *Uttara Kaulas* worship the bindu in the *trikoṇa* in gross form on the body of the beautiful virgin. The *Uttara kaulas* therefore

33. Ms No 21922 fl. 213a

seem to perform this probably under the influence of the *Śāktas* following *Vāmācāra* (left-handed practices).

Though *Kaula* Tantric texts are replete with instructions relating to the performance of religious rituals, these are not without the support of metaphysical thought-structure. The religio-philosophical thought gleaned from different texts may be summarised as follows. The *Kaulas* are pure monists who postulate one Supreme Reality which they name as the supreme *Samvit*. The Supreme *Samvit (Parāsamvit)* is biune in nature — the Divine *Śakti* which is conceived as Goddess and Lord *Śiva* are the two aspects of the Supreme Reality. The *Śakti* and *Śiva* are one ontologically, though mentioned separately for the sake of our understanding their nature in a better way. The *Kaulajnānanirṇaya* says " the *Śakti* is not without *Śiva*, and *Śiva* is not without *Śakti*, they are inseparably interrelated with each other like fire and smoke, and like the tree and its shadow."[34] The *Kaulas* generally call the Divine *Śakti* as *Kula* and *Śiva* as *Akula*, their perfect equilibrium as the Supreme Reality or the *Kaula*. The *Pūrva kaulas* give the Divine *Śakti* and *Śiva* the name of *Ānanda Bhairavī* and *Ānanda Bhairava* respectively. It is said that just as soul resides in the physical body, *Śiva* resides in the Divine *Śakti* which is conceived as body. It constitutes *Vyūha* (structures) for the soul *Śiva* or *Bhairava*. The *Pūrva Kaulas* mention nine *Vyūhas*, viz., *Kālavyūha* made of time, *Kulavyūha* made of form, *Nāmavyūha* constituted by name (*Sanjñā*), *jñāvyūha* made of *vikalpa*, *Cittavyūha* consisting of egoism (*ahamkāra*), *Citta* (intelligence), *buddhi* (intellect), *mahat* (great one) and *manas* (mind). *Nādavyūha* comprised of *rāga* (attachment), *ichhā* (will), *kriyā* (activity), *binduvyūha* consisting of six *cakras*, *Kulavyūha* constitues by fifty *mātrikās* in the form of letters (*Varṇa*) and the *jīvavyūha* constituted by the

34. शिवेन विना शात्तिर्न शक्तिराहितः शिवः। अन्योन्यज्च प्रवर्तन्ते अग्निधूमौ यथा प्रिये।। न वृक्षरहिता च्छाया न च्छायारहितो द्रुमः। Op. cit XVII 8-9a

bhoktritva (Enjoyer).[35] The manifestation of the world takes place as a result of co-operative activity of *Bhairava* and *Bhairavī* in which the latter plays dominant role. There *Bhairavī* or Divine *Śakti* is assigned somewhat higher status. During cosmic dissolution however, their role is reversed. The *Uttara Kaulas* give the Divine *Śakti* dominant position in so far as the manifestation of the world is concerned, *Śiva* playing only the passive role. The Divine *Śakti* is regarded as the Creator, the Preserver and the Destroyer of the universe in which *Śiva* is said to exist assuming the form of five primordial *Tattvas*. The entire creation is described as the expansion of the Divine *Śakti;* when she withdraws Her self-expanded form, the cosmic dissolution takes place. She then is said to assume causal form and is given the name *bindu* or *ādhāra Kuṇḍalinī* (coiled up serpent Power). The *kaulas* therefore extol the *bindu* or *ādhārakundalinī* and enjoin the spiritual adepts to worship her inside in one's body, or outside the body with the help of diagram. The *bindu* conceived as the power of *Māhālinga* or *Śiva*—the cause of creation and preservation, the unmoved of all energies.[36] It is often described as ambrosia (*amritam*) which is capable of removing old age and decay. It is also named as *kāmakalā* on account of the element of attraction in it, and also *Tripurasundarī* on account of three-fold energy in the form of *mātā, mānam* and *meyam* (the knower, the knowledge and the object of knowledge).[37]

The literature related to the *Kaula* tradition is vast and varied, most of which were written in later period. Unfortunately, most of the texts are not available in print, some of them are known to us only through quotations

---

35. Kaviraj, G. N., *Tantrik Sahitya*, Lucknow, Introduction.

36. cf. यत्तेजः स महालिङ्गमुत्पत्तिस्थितिकारकः। बिन्दुरुपं तु तं ज्ञात्वा स्फुरज्ज्वालावलीपरः।।
अक्षोभ्यः सर्वशक्तीनाम् आत्मशक्त्‍ यन्तररञ्जितः। सुज्ञात्वा देहजे शक्तिँ तदा शक्तिपरिग्रहे।।

Kaulajñānanirṇaya XX 20-21

37. अमृतं कौलसद्भावं शृणु कामकलात्मकम्। Ibid XIV, 94;
काम इति काम्यते अभिलव्यते स्वात्मत्वेन परमार्थमहद्भि योगिभिरिति कामः, तत्र हेतु कमनीयत्वं तेन कला विमर्शशक्ति महात्रिपुरसुन्दरी विन्दुसमरुपा कामकला इति उच्यते।

—Com. on *Kāmakalāvilāsa* V.8-9

preserved in other works. Among the published *Kaula* works, mention may be made of the *Kulārṇava Tantra, Kulacūḍāmaṇi Kaulāvali, Vāmakeśvara Tantra, Meru Tantra, Gandharva Tantra, Śāmbhava Tantra, Rudrayāmala, Bramānanda Tantra, Śrī Tattvacintāmani, Nityaṣodaśī-kārṇava Tantra, Tantrarāja* etc. The works like *Kuloḍḍīsa, Kaula tantra, Kulasāsana. Kuladīpanī, Kulārcanadīpikā, Kulapradīpa, Tantracuḍāmaṇi, Rahasyārṇava, Āgamasāra, Bhāvacuḍāmaṇi* etc. are available in manuscript form deposited in different libraries while large number of works, e.g. *Kulagahvara, Kulākamala, Kulāmṛta, Kulatattvasāra, Kulapañcāsikā, Kulamata, Kulamūlāvatara, Kularatnāvalī, Kulasarvasva, Kulasāra, Kulāvatāra, Kulāgama, Kulottama, Devīyāmala, Uttara Tantra, Kulasaṃgraha*, etc. are lost but their existence is known to us through quotations occurring in different texts. ❑

III. On The Authorship Of The Text

The authorship of the text is ascribed to Matsyendranātha. While it is true that the brief colophon given at the end does not mention any name as the author of the text, the 6th verse of *Paṭala* indirectly refers to Matsyendranātha as the author responsible for revealing the substance of the *śāstras* coming out of the mouth of Lord Śiva himself'.[1] The text also describes in detail the way that Matsyendranātha happened to listen to the dialogue between the Goddess Pārvatī and Lord Śiva while remaining lodged in the belly of a great fish (shark in all probability).[2] The past life of Matsyendranātha which is well known from the Paurāṇic sources (*Skanda purāṇa*), is also given briefly in the text (*Paṭala* I) with slight variation. It also describes the manner in which the secret Yoga received directly by Matsyendranātha from the lips of Lord Śiva was transmitted orally to humanity through a Cola King (*Colo rājā*) whom he happened to meet in course of his perambulation in dense forest. The present text appears to have been recorded by the Cola king but its authorship is ascribed to Matsyendranātha who first revealed the contents of

1. येन शम्भुमुखोद्गीतं शास्त्रसारं सुदुर्लभम्। सम्यगाश्रावितं..........Mas. Sam. 1, 6
2. मत्स्येदेहगतः श्रीमान् स च दासकुलोत्तमः।
अश्रोषीदखिलं शास्त्रं सम्यक् शम्भुमुखोद्गतम्।। Ibid I, 9.

the Tāntric text to him. Matsyendranātha was undoubtedly a great practitioner of yoga, very rich in spiritual experiences but most probably he was not an erudite scholar. He was probably not even literate, hence he could not possibly have written any text. But since he was the revealer of particular kind of *Tāntric yoga*, the authorship of the text is rightly ascribed to him.

It has been said in this text that Matsyendranātha was born in the family of *dāsa* or *kaivarta*, and he used to go out on a boat fishing in the high seas.[3] One day he saw some Brahmin hermits engaged in the performance of secret rites on the banks of the river, probably the Ganges in the Sundarban area.[4] He was astonished to see them there, therefore he enquired from them as to who they were and what they were, doing in that lonely place.[5] On learning that they were performing secret rites as prescribed by Lord Śiva himself to attain *siddhi* (perfection) and liberation in this body, he became deeply interested.[6] He expressed his desire to learn the mysteries of secret Yogic rites.[7] Finding the fisherman fully qualified for being initiated into mysteries of yogic rites, the Brahmin hermits taught him the secret of esoteric practices.[8] He gave up his normal routine of fishing and engaged himself in doing deep penance on

---

3. स पुर्व दासजातीयो नावमारुह्य सागरे। वडिशेन महामत्स्यान् आनयत् अतिनिधृणः Mas San I & II

4. कदाचित् पुलिने नद्याः गुप्ताचारपरायणान्।
शैवगमोक्ते विधिना सपर्यासक्तमानसान्।
ददर्शा ब्राह्मणान् साधून् विविक्तो भक्तिमानसान्।। Ibid. 9-10 (a)

5. स चापि तानुपासाद्य दासः समवीक्ष्या य।
अब्रवीत के भवन्तोऽस्मिन् पुलिनेऽत्रसमागताः।।
किमिदं कियते कर्म भवद्भिः गुहिते। Ibid. I. 12-13a

6. cf. य शिवोक्ताभिमाम् साधु सर्पयां गुप्तमाचरेत्।
जीवन्मुक्तः स विज्ञेयः..............Ibid. I. 16

7. विधां वा दुर्लभतरां ब्रूहि............Ibid. I. 24

8. तद्स्य स्नेहवरं दृष्वा प्रोचुर्विदां वराः..........
ददुर्विद्यां महात्मानो..........

the island in the river. Six months passed quickly.[9]

One day as he entered the water of the Eustarian river, a huge fish (probably a shark) impelled by Divine Will appeared, and grabbing him, swallowed him.[10] He was taken by the shark to the lonely place where Lord Śiva and Pārvatī were engaged in a dialogue on spiritual matters and certain yogic practices which an adept must follow to attain the Supreme Goal in life. He overheard the entire dialogue and appeared before Lord Śiva after bursting open its abdomen from within. Lord Śiva did not feel surprised because it was a part of his plan to transmit through him the secret knowledge to the humanity at large. He rather was pleased to discover the burning desire on the part of the fisherman to learn the secret yogic rites. He ordained the fisherman to disseminate the contents of this secret lore to the world, and he could thereby attain the coveted 'undecaying' *siddhi*. Lord Śiva further told him that since he had forcibly come out ripping the belly of the shark, he would be henceforth known as Matsyendranātha in the world[11] Saying this, Lord Śiva disappeared with his consort form there.[12]

As ordained by the Lord Śiva, he moved about this world in search of a suitable disciple to deliver the message of the great yoga and thereby shower mercy on the suffering humanity.[13] As he did not come across

---

9........त्यक्तसंसारबन्धुश्च पशुपाशावर्जितः।
तस्मिन्नेवसरद्द्वीये जपन्नास्ते महायशा।।
तपस्याभितस्यास्य विजितेन्द्रियपतेः।
वत्सरार्धमतिक्रान्तमहोरात्रं समं तदा।।
10. षण्मासान्ते महाभाग स्नातुमभ्यागतं जले।
जग्राहे आसाध च महान् ग्राहो.......।। Ibid, 32-33
11. ब्रुहि गुह्यमिदं शास्त्रम् अस्मिन् लोके तथा भवेत्।
मत्प्रसादाच्च ते सिद्धिर्भवति अजरामरा।।
यस्मात त्वमिह मत्स्यस्य मध्यदेशात् समुद्गतः।।
तस्मात मत्स्येन्द्रनाथाख्यो भविष्यति (सि)।। Ibid, 88-89
12. इत्युक्त्वा अन्तार्हितः शम्भु सह देव्या त्रिलोचन। Ibid, 90
13. ततः शम्भो वच (वचांसि ?) श्रुत्वा लोकनुग्रहकाम्यया।
मेदिनीं परिचक्राम............Ibid, 95

any well qualified disciple for a long time, he moved about here and there, day and night, uttering loudly the need for knowing the secret knowledge revealed to him by Lord Śiva himself, the Divine Knowledge that otherwise exists eternally[14] but needs to be revealed to a fit person.

After very long time he met a great Cola King who had heard him uttering some words not intelligible even to the learned.[15] As the Cola King had accidently meet Matsyendranātha in a lonely place and could not recognise him. he asked Matsyendranāth who he was and what actually was the content of his mutterings alleged to have been spoken to him by Lord Śiva Himself.[16] After learning the identity of the *yogin* he expressed his desire to hear the secret teachings from him.[17]

Matsyendranātha agreed to teach him the secret yoga since he hailed from a royal family. But he told the king that it would donė only at the appropriate time, that is after he acquired fitness for receiving the knowledge.[18] Saying this the *yogin* disappeared, leaving the king very much dejected.[19] He decided to do penance rigorously and therefore went out to forest. He roamed about and

14. यदा न लेभे सर्वज्ञं शिष्यं योगविदां वरः ।
यदेवं व्याहृतं वाचा परिचक्राम भूले
विद्यमाने अमृते दिव्यो शम्भुप्रोक्तो सुदूर्लभे ।
इत्युच्चैः उद्गिरन् वाचः चरति एव दिवानिशम् । । Ibid 94b-96
15. ततः कालेन महता चोलो राजा महायशाः ।
सुश्राव तस्य तां वाणीं दुर्ज्ञेयं बुधैः जनैः । Ibid 97
16. स विविक्ते महात्मानं मत्स्येन्द्रमब्रवीत् भूपतिः ।
प्रीत्या जिज्ञासितः तस्य कारणम् । ।
का त्वया गीयते गाथा शम्भुप्रोक्ता च शुभा । Ibid 98-99
17. श्रोतुमिच्छामि ते गुह्यं श्रोतव्यं यदि सत्तम्
इत्युक्तः स महायोगी चोलेन धरणीभुजा । । Ibid 100
18. योगीवरः प्रोवाच एवं वक्तव्यं गुह्यं राजकुलोद्भवम् ।
कालेन ते प्रवक्ष्यामि .... । । Ibid 101
19. Ibid i. 102.

and ultimately found the *yogin* out.[20] He looked upon the *yogin* to be Śiva or Viṣṇu incarnate.[21] He fell at his feet and begged to know for true identity.[22] Finding that place lonely one, Matsyendranātha instructed him on the secret Divine knowledge uttered by Śiva Himself. He warned the King against divulging the secret of the *Śāmbhava Śāstra* to lay persons. He further eulogised in glowing terms the teachings of Lord Śiva which undoubtedly were authoritative as they were revealed to him by the Lord Himself.[23] In this way the highest secret Wisdom came down from the mouth of Lord Śiva to Matsyendranātha there to the Colendra king who was blessed by the *Yogin* profusely.[24] He again and again cautioned him against divulging the secret Knowledge.[25] It is thus clear that Matsyendranātha was the author of the text in the sense that he transmitted the secret knowledge of Yogic discipline received by him from the Lord Himself to suffering humanity in the form of instructions to the Cola King who actually recorded the text. We know nothing about the identity of the Cola King whose name has not been given in the text. The Cola King was not so important as he was not the author of the text, his name has been rightly withheld. ❑

---

20. I. 107-108.

21. नूनमेष स्वयं शम्भुरथवा हरिरव्ययः। I. 104.

22. cf. इत्युक्तोत्थाय तत्पादौ गृहीत्वा वाक्यमब्रवीत् I. 104.
कस्त्वं ब्रुहि मे...................... ।।

23. तदा अस्य कथयामास शाम्भवशास्त्रमुत्तमम्।
श्रुतं मया शम्भुमुखात् शास्त्रसारं सुदुर्लभ।। Ibid I. 121

24. cf. Ibid I. 132.

25. Ibid., I, 131.

IV. Date of Matsyendranātha

We have observed in the foregoing pages that the scholars have put forward different theories about his date based on different legends associated with him. Dr. S. K. Chatterji has tried to prove that Matsyendranātha flourished in 13th century A. D. on the basis of the Maharashtra mystical tradition. Jñānadeva, the well known mystic saint of Mahārāshtra, gives a list of teachers in the *Jñāneśvarī*, his wellknown commentary on the *Bhagavadgītā* from whom he has drawn inspiration. The sequence of teachers given by him is – Ādinātha, Matsyendranātha, Gorakṣa, Gahinī and Nivṛttinātha. The date of Jñāneśvarī is generally fixed at c. 1290 A. D. Nivṛttinātha was the elder brother and teacher of Jñānadeva. This means that Matsyendranātha must have flourished in about 1210 A. D. This is corroborated by another Marāthi saint Bahina Bāi (1628 A. D.), disciple of a Tukārāma who has given the order of her teachers as Tripurāri (= Śiva), Matsyendranātha, Gorakṣa, Mīnanātha, Gahininātha, Nivṛttinātha, Jñānadeva.[1]

Professor Prabodh Chandra Bagchi however has fixed his date in 10th century A. D. on the basis of the Tibetan tradition which identifies him with Lui pā. It is said that Lui pā got his initiation from Śabarī pā. The lineage of spiritual teachers available from Tibetan sources lists

1. *Origin & Development of Bengali Language*, Calcutta p. 122

Matsyendranātha as contemporary of Tilopā, Jālandharī and Kṛṣṇa. Tilopā was contemporary of King Mahīpāla of Bengal who ruled in 978 to 1030 A. D. Hence he Matsyendranātha must have flourished in the beginning of tenth century.[2] Professor Bagchi seeks corroboration of his hypothesis from the Vaṁśāvalī of Cambā kings where the name of one Siddha Carpaṭī, contemporary of Matsyendranātha occurs. Carpaṭī was contemporary of King Sahila who lived in 10th century A. D. [3] Professor Bagchi concludes saying that Lui pā Matsyendranātha must have flourished in the first half of 10th century as he was contemporary of *siddha* Nāgārjuna and Carpaṭī, both living in the beginning of 10th century.[4]

Dr. Kalyani Mallick too has put him in 10th century A. D. on the basis of his association with Gorakṣanāth who was his direct disciple.[5]

Dr. Sylvain Levi, however, places him in the 7th century A. D. on the basis of a Nepalese Buddhist tradition which considers Matsyendranātha to be a *Avalokiteśvara*, who saved Nepal from total destruction caused by a terrible famine during the reign of King Narendradeva.[6] The idol of Matsyendranātha in the form of Avalokiteśvara has been installed at a place name Bugama and is still worshipped. The date of the king Narendradeva and the occurrence of terrible draught and famine, an historical event, has been fixed in the 7th century A. D. Hence Matsyendranātha must have lived in the 7th century A. D.

The Kasmira tradition however takes his date back to 5th or 6th century A. D. Abhinavagupta in his *magnum opus Tantrāloka* [7] has given list of the 18 *Kaula* teachers

---

2. *Kaulajñānanirṇaya*, Introduction p. 28

3 Voghel : *Antiquities of Camba- State*, Vol I, pp. 8 ff

4. *Kaulajñānanirṇaya*, Introduction p. 32, Also see Tucci, JASB 1930 p 137 for the date Nāgārjuna.

5. *Siddha Siddharta paddhati*, Introduction p. 11

6. Levi Sylvain, *Le Nepal* Vol I pp. 34ff

7 op cit vol IX Ah. XXIX, 29-36

the successively preceded him. He says the origin of the *Kaula* mode of spiritual discipline lies in the mouth of Lord Śiva who first taught *Kaula Yoga* to Matsyendranātha in the beginning of *Kali* era. Matsyendranātha, also called by various names as Macchanda, Mīnanātha, taught *Kaula Yoga* to Ucchuṣma who in turn gave the *Kaula* yogic wisdom to Caṇḍagu. It was orally transmitted from him to Matanga from whom it came down to Ghara. Antaka received the knowledge of secret yoga from him. The secret wisdom then was given to Ugra by Antaka, the former transmitted it to Halalaka from whom it came down to Krodhi. Hulahulu was taught *Kaula Yoga* by Krodhī. All these names of *Kaula* teachers have been cited by Abhinavagupta on the authority of *Devī Yamala*, Paṭala 52.[8] He has also referred to a succession of four *Kaula* teachers who are said to have played key role in the propagation of *Kaula Yoga*. Jayaratha in his commentary has supplied us with the name of these teachers together with their consorts on the basis another text namely *Pañcāśatika*, a lost text containing 500 verses. They are Niśkriyānandanātha with his consort Jānadipti, Vidyānanda with his consort Raktā, Śaktyānanda and his wife Mahānanda and Śivananda and his wife Samaya.[9] These four teachers appear to have been historical personalities as compared to previous nine teachers beginning with Ucchuṣma who might have been mythical persons as no corroboration about them is available from other sources.

Besides these 14 teachers who successively are said to have followed Matsyendranātha in propagating the *Kaula* mode of Yogic discipline, Abhinavagupta mentions the names of three teachers. viz., Sumati. Somadeva and Śambhunātha who were definitely historical persons. Sumati probably lived in South India and she is said to have taught Śambhunātha. Śambhunātha after having

8. Op. cit Ah. XXVIII, 391-92. Also see the com. on p. 167 ff

9. Op. cit Ah. XXIX, 41-43, com.

received initiation from Sumati, came to Jālandhara pīṭha which was situated in the Himachal Pradesh adjacent to Kashmir. Abhinavagupta personally was taught *Kaula Yoga* by Śambhunātha and he pays his obeisance to him and acknowledges his indebtedness to his teacher.[10] Śambhunātha was responsible for conversion of Abhinavagupta into staunch follower of *Kaula* practices. It was he who moulded Abhinavagupta's spiritual life.[11] If Abhinavagupta description of the lineage of *Kaula* Teachers beginning with Matsyendranātha down to Śambhunātha is accepted as authentic, then Matsyendranāth must have preceded Abhinavagupta by 18 generations. Calculating the span of one generation as 25 years, Matsyendranātha must have flourished at least 450 years prior to Abhinavagupta who lived in Kashmir from 950 to 1015, i.e. c. 500 A. D.

Some modern scholars may question the veracity of Abhinavagupta's account of the lineage of *Kaula* teachers but the abovementioned date of Matsyendranātha finds support from another tradition preserved in Kashmir. According to this tradition, the beginning of the monistic Śaiva interpretation of the *Śaiva Tantras* was first attempted by one Tryambaka towards the close of the fourth century A. D. This particular kind of interpretation was carried forward by a descendant of Tryambaka on daughter's side, and thus a new school of Śaiva thought was founded which is known as the *Ardha Tryambaka* (half Trayambaka).[12] Vasugupta and a host of other monist Śaivācāryas have accepted this view. Śambhunāth, the *Kaula* teacher of Abhinavagupta was in fact called *Ardhatryambakamaṭhika*, i.e. follower of the tradition of *Ardha Tryambaka*.[13] *Ardha Tryambaka* was no other than Macchanda or Matsyendranātha

10. *Tantraloka* Ah I, 13 pp. 31-32

11. Ibid I, 16 p. 34

12. Ibid I, 8 com pp 26-27

13. ibid

who should have flourished after Tryambaka, i.e. towards the close of 4th or 5th century A. D.

One may ask if Matsyendranāth was direct teacher of Gorakṣanātha, the celebrated propagator of Nātha cult whose date has been fixed in the last quarter of 10th century A. D. or beginning of 11th century A. D. how could his Teacher Matsyendranātha have lived in 5th or 6th century A. D. The time gap of 400 or 500 years separating the master from the disciple is difficult to bridge. This has, in fact, led Dr. Vraja Vallabha Dvivedi to conjecture that there were probably two *yogins* bearing the same name, viz., Matsyendranātha; one who was *śākta* and founder of *Yogini Kaula* tradition, and the other was celebrated teacher of Gorakṣanātha who popularised *Haṭhayoga*. Matsyendranātha, the Śākta yogin flourished in 5th or 6th century A. D. while Matsyendranātha the teacher of Gorakṣanātha lived in the 10th century A. D.[14] Dr. Dvivedi however has not cited any evidence to support his conjecture, and therefore it is not possible to accept this view.

While it is true that Matsyendranātha is mentioned as the teacher of Gorakṣanātha in most of the traditions in India and Nepal prescribed in various texts such as *Purāṇa*, Buddhist works etc. Nowhere does his name occur in isolation. The time gap between the two, teacher and disciple to the tune of 400 or 500 years can be explained satisfactorily — one, the basis of their having acquired extraordinary Yogic powers. It is universally acknowledged that both Matsyendranātha and Gorakṣanātha were perfect masters of *Haṭhayoga* and hence as *Siddhas* it was not impossible for them to live for 400 or 500 years. They had fully purged their physical bodies of all kinds of impurities and imperfections, hence as *siddha yogins per excellence* they possessed power to live for a few centuries. There are many examples

14. *Nityaṣoḍasikārṇava* ed. V. V. Dvivedi. Introduction p. 117 (foot notes)

of Yogins in the past who survived in their physical body for a few centuries.[15] Matsyendranātha therefore probably flourished in 5th or 6th century A. D. and lived for 400 years or so in the physical body and taught Yoga to Gorakṣanātha in the 10th century A. D. ❑

---

15. cf. खण्डयित्वा कालदण्डं ब्रह्माण्डे विचरन्ति ते। *Haṭhayogapradīpikā*

V. Legends Related to Matsyendranātha's Life

Many legends associated with the life of Matsyendranātha are recorded in different texts, and also are found preserved in ancient traditions. While common elements in all these legends are overwhelming, there are some significant variations too in them. We propose to give a brief account of these legends in the following paragraphs.

i) The oldest recorded legend about the great Siddha's life is found in the *Kaulajñānanirṇaya*, a Tāntric work ascribed to him. The sixteenth chapter,[1] of this work describes the Bhairava i.e. Śiva speaking of his different incarnations which includes Matsyendranātha.[2] It also describes the manner in which the secret knowledge of *Kulāgama* was revealed in ancient times. It is said that Śiva imparted the secret knowledge to Pārvatī, his consort on Candradvīpa[3] while staying with her there. His son Kārttikeya happened to come there as his pupil. Under the influence of nescience, he taking the form of mouse, "stole" the secret knowledge and threw it into the sea. Śiva came to know about it, and assuming the form of Matsyendranātha, he went to the sea and caught the

1. *Kaulajñānanirṇaya* XVI pp. 57ff.
2. अहं स धीवरो देवि अहं वीरेश्वरः प्रिये। XVI 11
3. Ibid., V 29f

fish that devoured the Śāstra. Cutting open its belly, he recovered the secret knowledge.

Enraged at this, Kārttikeya dug an underground passage and stole the knowledge once again. He now threw it into the ocean. It was devoured by a shark this time. Śiva now wove huge net with his spiritual powers and caught the shark. As he began to drag the shark to the shore, it resisted with all its might. It too had great physical strength and spiritual powers that could match Śiva's power. Śiva then gave up his Brahminhood and assumed the character of a fisherman in order to cope with the situation better. He could then succeed in recovering the Kulāgama by mercilessly ripping open the belly of the shark. He tells Pārvatī "Though I am a Brahmin, I have become a fisherman. This Brahmin is called *Matsyaghna* as he killed the fish; and he is fisherman (*Kaivartta*)—lord of the Brahmin, because he acted as a fisherman."

This story very briefly narrated in about 20 verses not only highlights the secret nature of the contents of *Kulāgamas* which were zealously guarded by Lord Śiva himself but also explains the real significance of name *Matsyaghna*, the killer of fish, which was adopted by the Lord in order to mercilessly kill the shark and rescue the lost secret knowledge to the world.

Incidentally, this legend probably is the oldest recorded one which has come down to us.

ii) The story of Matsyendranātha's life is also described in the Nāgarkhaṇḍa of *Skandapurāṇa* with slight variation. It is said that Matsyendranātha was born in a family which was doomed to perish with him (*gaṇḍānta-yoga*). In order to escape from this calamity, the family members threw him as a child into the sea where he was swallowed by a large fish. Once Śiva, accompanied by Pārvatī and his son Kārttikeya, went on a trip when they all descended on the lofty peak of Ramyaka

mountain in Śvetadvīpa. It was surrounded on all sides by ocean of milk. There Śiva initiated Pārvatī in the mysteries of *Dhyānayoga* and *Jñānayoga*. After some time Śiva and Pārvatī resumed their journey over the ocean when suddenly a huge fish rose up from the ocean. Śiva asked the fish who he was. The child in the fish related that he was born in the *Gaṇḍāntayoga* and was thrown into the sea where he was devoured by the fish. He also told Śiva that he had overheard all that transpired between Śiva and Pārvatī and had learnt Jñānayoga. Śiva was very much pleased with him at this and said "You are a *vipra*, you are like my son, you are adorable. Come out of the fish by force". He did what he asked to do. Pārvatī took him in her lap and carried him in her aerial car to the Mandāra hill. Śiva gave him the name Matsyendranātha as he came out of the belly of a fish.

In this legend Matsyendranātha has been depicted as like an adopted son to Śiva on having successfully mastered the secrets of the *Jñānayoga*.

iii) Matsyendranātha's association with Nepal is well known. He is considered there as an incarnation of *Avalokitesvara* in Buddhist circles, and as the presiding deity of the country. There are two legends about him current there in two different traditions. These legends however throw no light on the early life of Matsyendranātha or mention how he happened to come to Nepal, they only refer to interesting anecdotes about his association with Gorakṣanātha, his well known disciple and propagator of Haṭhayoga.

One legend inspired by the Buddhism in Nepal identifies him with *Avalokitesvara*. It describes the manner he settled down in Nepal on the Mount *Bugama* where he is still worshipped. It is said that Matsyendranātha used to frequent the mount Kamarī in southern Nepal. Once Gorakṣanātha, a disciple of Matsyendranātha came to Nepal to meet his teacher but he found the

mount inaccessible. He thought of a strategem. He imprisoned nine *nāgas* under a turtle and sat on them. As a consequence, the sky became devoid of clouds, and there was no rain for 12 years. This happened during the reign of the king Narendra Deva when a terrible famine ravaged there. Many people perished. Bhanudatta, the spiritual teacher of the king knew the reason for continuous failure of rains in Nepal and decided to bring Matsyendranātha there. He went to the temple of Avalokiteśvara at Kapotala outside Nepal and worshipped him. Pleased by his propitiation, Avalokiteśvara appeared before him and gave him the secret *mantra*. According to the instructions received by him, Bhanudatta recited the powerful *mantra* which forced Avalokiteśvara to run towards him in the form of a bee and enter into his *Kamaṇḍalu*. Bhanudatta at that moment awakened the king who was with him, signalling him to shut the mouth of the sacred vessel. Avalokiteśvara thus imprisoned was then carried to Nepal and was installed at a place called Bugama with pomp and show. This incident is indirectly referred to in the *Kaulajñānanirṇaya* where the expression *bhṛṅgapāda* occurs to signify him (See verse 17). It is needless to add that Avalokiteśvara was none other than Matsyendranātha who had assumed the form. After this there was plenty of rain in Nepal mitigating all suffering there.

It may be pointed out here that the Buddhist version of Matsyendranātha's legend is silent about Gorakṣanā tha who had imprisoned the *nāgas*, forcing failure of rains in Nepal.

The Brahmanical version recorded in the *Buddhapurāṇa* however provides the connection of Matsyendranātha with Gorakṣanātha, thus completing the story. According to Brahmanical legend, once Lord Śiva gave a woman, worshipping him for a child, something to eat and assured her that she would get a son. The

woman did not feel convinced and she threw the eatable into a heap of cowdung. Twelve years later when Lord Śiva passed that way, he wished to see the boy but did not find him. He rebuked the woman and asked her to look for the boy in the heap of cowdung. The boy was found there after 12 years and he was Gorakṣanātha. The child Gorakṣanātha became a disciple of Matsyendranātha who was well known for his *siddhis* and extraordinary powers. Gorakṣanātha followed his teacher wherever he went, carrying all his belongings. Once when they visited Nepal, Gorakṣanātha became enraged on their being not received well there. He decided to teach people of Nepal a lesson. Imprisoning the cloud under his seat, he caused severe draught. Coming to the rescue of the people of Nepal, Matsyendranātha decided to come near the place where Gorakṣanātha was sitting. As he came near, Gorakṣanātha got up to show his respects to his teacher. The clouds escaped at once and it rained heavily there. This story appears to be more complete than the earlier Nepali Buddhist one though it does not throw any light on the early life of Matsyendranātha.

iv) In Tibetan work *Dpag bsam Gon bzans* (pp. 124 and 135), it has been mentioned that Lui pā (*na-eto-pa*), a Buddhist sage hailed from fisherman caste who received initiation from Śavarīpā another *siddha* and practised Tāntric Yoga. Lui pā according to Tibetan tradition, was one of the 84 *Mahāsiddhas* who was invoked as the *ādisiddha*. The Tibetan name Na-eta pa translated into Sanskrit means *matsyodara*, hence he is considered to be identical with Matsyendranātha owing to similarity. In the Haṭhayoga tradition, name of Matsyendranātha as one of the 84 *siddhas* occurs before Savarānanda just as the name of Lui pā occurs in connection with Śavarī, both of them belonging to the community of fisherman. This has led Dr. P. C. Bagchi to identify Matsyendranātha with Tibetan *Siddha* Lui pā (pp. 23-24).

In the same Tibetan work mentioned above (p. 125), it is stated that Mahādeva incarnated himself as a fisherman in Kāmarūpa. He actually was born in the womb of a fish, hence he was differently called Macchada, Mi-na-pa or Vajrapa (on account of his body as strong as a thunderbolt).

v) In texts like Gorakṣavijaya, Minacetana etc. yet another version of the legend associated with Matsyendranātha is found. It has stated there that Śiva and four *siddhas*, viz., Mīna, Hāḍīpā Gorakṣanātha, Kānūpa were born from the creator Brahmā. A girl named Gauri was given to Śiva. Gorakṣanātha became a servant to Mīnanāth while Kānūpa served Hāḍipā. Once while Śiva was teaching the secret yogic practices to Gauri on a platform in the midst of sea, Mīnanāth taking the form of fish, overheard this from beneath the platform. Discovering this, Śiva cursed him, saying that he would forget all that he had learnt. Subsequently Śiva put all his disciples to test through Pārvatī. He found that all except Gorakṣa were mentally unchaste. Mīnanātha was banished to the country of women, called Kadali at the bidding of Pārvatī where he fell into the snares of women. He forgot all about his previous career and went on enjoying company of woman. Gorakṣanātha, feeling distressed at the sad plight of his master, rescued him from there, taking on the guise of women dancer and entering into the palace of women. He reminded his *guru* about his previous career. This legend introduces some new elements which are also found incorporated in the text under our study.

vi) Another legend recorded in the form of an interlocution between Vasiṣṭha and Rāma mentions that Macchendranātha was born of a *macchi* (a fish) after it ate the navel of a pious king Udhodhara from a heap of cowdung. In course of his wanderings, Macchendranāth came to Sangaldvip (Sandwip ?) where he became a house-holder under the influence of two queens there.

He was rescued by Gorakṣanāth who entered the palace of queens in the form of a fly. Then both went to Ujjain where Jallandharī pā was lying buried in a well due to the machinations of a minister of king Gopīcandra. Koni pa helped them in this task. King Gopīcandra was converted. Both then left Ujjain and went to a place on the banks of Jhelum where they took up their abode on a hill top. Here they initiated seven yogis, viz. Kapilmuni, Kharkai, Bhuskai, Śāntnāth etc., each of them founding a sect of his own. This legend was current among the Jogi sect of North-western India.

vii) The Kasmira legend recorded in the *Tantrāloka* mentions his name as one of the four *yuganāthas* (i. e. *Kaula* Teachers coming down on the earth in the beginning of a *Yuga*) in which form Śiva appears to reveal the secret lore. Matsyendranātha was the *Yuganātha* of *Kali* era. It was actually Śiva who incarnated himself as Matsyendranāth in the beginning of *Kali* era to revive the lost tradition of *Kaula* worship on the earth. He is therefore venerated like Śiva.

It will perhaps be not out of place to point out that all the names of the great *Siddha* like Matsyendranātha, Macchanda, Macchendra, Macchindra, Macchaghnapāda, Mīnapāda, Mīnanātha, that occur in different texts and found preserved in different traditions are only colloquial variations of the name Matsyendra. The reason for use of variants of the name is not known. Strangely enough all these variants of the name Matsyendra are found in the colophons of the *Kaulajñāna-nirṇaya*, *Akulavīra Tantra*, *Kulānanda*, *Jñāna kārikā* which are all ascribed to him. Since the common element underlying the different variants of name is one and the same namely, Matsyendra born Brahmin who acted like a *Kaivartta*, i.e. fisherman who killed the fish to recover the *Kulāgama* devoured by it, or who came out of belly of huge fish ripping it open after attaining highest wisdom. It is safe to conclude that all these names refer to one

and the same person.

Abhinavagupta in the *Tantrāloka* however has given fanciful explanation of the name Macchanda which is suggestive of figurative meaning, and not denotative of a particular person. Paying his deep respects to the great *Siddha*, he prays to him who cut asunder through his spiritual knowledge the fetters that were spread all over the world.[1]

Commenting on the benedictory verse Jayaratha quotes from some unknown work to support fanciful interpretation of the word (*Macchanda*). He says *maccha* in Macchanda refers to fetters that cause fickleness in mind; since *maccha* or fetters were torn off by Macchanda through his deep spiritual wisdom, he was called Macchanda *bibhu*.[2] But there appears no plausive reason to suppose that the word *maccha* in Macchanda, or for that matter *matsya* in Matsyendranātha originally yielded figurative sense, hence Macchanda, Matsyendra were not personal name but an appellative of some *siddhas* who reached a particular stage in the mystic realisations. That there was a great *siddha* bearing the name Macchanda, Mīna, Matsyendra etc. who wielded widespread influence in the whole of country as well as in Nepal, Tibet and Sri Lanka as is borne out by numerous legends is beyond any shadow of doubt. He was illiterate, born in a family of fisherman but he was endowed with immense wealth of spiritual wisdom for which he was venerated by one and all in ancient times.

Incidentally it may be mentioned here that almost all traditions which accept the relationship between Matsyendranātha and Gorakṣanātha as one of teacher and taught, allude to the development of serious differences in them in course of time. Some traditions go to the extent of mentioning that Matsyendranātha in his later life

1 रागारुणं ग्रन्थिबिलावभीर्णं यो जालमातानवितानवृत्तिः।
कलोम्भितं बाह्यपथे चकार स्तान्मे मच्छन्दविभुः प्रसन्नः।। *Tantrāloka* 1. 7

2 Ibid. *Comm.*

deviated from the path of Yoga and became victim of lust when Gorakṣanātha rescued him. It said that the root cause of their differences lay in Matsyendranātha worshipping Śakti as goddess and following the left-handed spiritual practices, generally known as *Vāmācāra*. While Gorakṣanātha following the path of *Haṭhayoga* which was Śiva-oriented spiritual path, in which *Nāda* played an important role. Some scholars even go to the extent of regarding him as the founder of *Haṭhayoga*, the yogic practices based on the physical body of the aspirants. But this is not correct. The Buddhists popularised *Sekayoga* which was akin to *Haṭhayoga*, and in fact Gorakṣanātha formulated Yogic practices involving physical body, borrowing a great deal from the Buddhists. The text *Matsyendrasamhitā* mentions Matsyendranātha's association with Gorakṣanātha as disciple and also indirectly refers to the growth of differences between them in matters pertaining to Yogic practices. Some scholars think that controversy between teacher and disciple on the mode of Yoga the aspirant should follow was later concoction by the protagonists of *Nāth* cult to belittle the greatness of Matsyendranātha as a Yogin. We however are not inclined to dismiss these citations as concoction and therefore rubbish. We think that Matsyendranātha was a staunch follower of *Śākta* cult and therefore the mode of spiritual Yoga prescribed by him contains heavy dose of Śākta Yoga. At the same time, he has borrowed spiritual practices followed by Yogins belonging to different traditions and incorporated them in his present treatise, with giving up his accent on the Śākta mode of spiritual discipline. Though he was a staunch Śākta, he did not hesitate borrowing ideas from the Buddhist and other traditional sources. He synthesised Vāmācāra with Haṭhayoga which was probably not liked by Gorakṣanāth owing to his puritanic inclination. Later they fell out, and herein lay the origin of the story of fall of Matsyendranātha from the path of spiritual pursuits.

Some Nāgā tribes belonging to the north eastern part of the Nagaland believe that Matsyendranātha lived in that part of the country, and that he belonged to the Nāgā tribe. This claim is based on their oral tradition and there is no other evidence to coroborate their belief. They further claim that their region which is surrounded by dense forest, rivers and mountains, was meeting place for the spiritual adepts from all parts of the country. Even spiritually inclined people from far flung places like the Cola desa, Tibet, Nepal, Kashmir etc. flocked there in the pursuit of spirituality. There was a part of the country, called *Kadalīdesa* which was meeting place for such persons. It may be mentioned here that a reference to *Kadalīdesa* is found in the text. Besides this, according to the tribal tradition, the King of Cola country who was keen to learn spiritual Practices of the Śāktas, personally met Matsyendranātha. It was from his sermons he profited most and became his disciple. Even Abhinavagupta is believed to have met him during his visit to Assam. [3]

All these however appear to be fanciful beliefs for which their is no corroborative evidence. The Mats. Samhitā states in unambiguous terms that Matsyendranātha was a fisherman who lived on island surrounded by the sea and river, and that he often used to go on fishing expedition to the delta region. He was devoured by a big fish (Shark?) who took him to the island where Lord Śiva and Pārvatī were engaged in conversation. This clear statement contradicts the traditional belief of the tribal people. Again, Abhinavagupta is unlikely to have met Mastyendra, personally because he mentions him to be the originator of *Kaula* tradition preceding him by 18 generations and, that he himself was initiated into *Kaula*

3. For all these information I am indebted to Mr V. Tanchuk, a Sanskrit scholar from the USA, who visited Nagaland and met Naga tribals and secured these information from them based oral tradition. He conveyed the same to the present author.

mode of spiritual discipline by Śambhunātha, his teacher. The only point that is gained from the tribal traditional sources is that Assam was a centre for exchange for spiritually inclined persons in ancient times and people from all parts of the country visited Assam to learn the mode of spiritual discline. Colendranāth, King of Cola country visited *Kadalīdeśa* (land of bananas) where he met Matsyendranātha and received detailed instructions from him which are given in this text. ❑

VI. His Works And His Contribution To *Kaula* Tradition

Four works in Sanskrit excluding the present one are ascribed to Matsyendranātha. These have been edited on the basis of their manuscripts available in Nepal in the Durbar Library and the private collections of the Nepal Rānās by Dr. Prabodh Chandra Bagchi and published by the Metropolitan Publishing House, Calcutta in 1934. All works, excepting the first one, appear to be only a fragment of larger works. These are as follows:

1. *Kaulajñānanirṇaya*

This Tantric work written in Sanskrit contains twentyfour *paṭala* dealing with a variety of subjects which are generally found in all Tantric works. For example, it describes creation, destruction of the universe, characteristics of *Kula*, yogic powers, dissipation of errors, *dhyāna*, *yoga*, *mantra*, lotuses within the physical body, *jñāna sakti*, *Kriyā Sakti* etc. etc., all very briefly. The topics discussed in this work are not inter-related: the treatment is haphazard and betrays incoherence to some extent. But the work provides us with valuable information about some *Kaula* practices as well as names of the different *Kaula* schools. The Yogic practices peculiar to the school of Yoginī *Kaula*, which is said to have been founded by Matsyendranātha have not been described in

detail. The original text contained one thousand verses as is evident from the last verse of the colophon which reads : महाकौल महादेवी शतैर्दशभिः सम्मितम्। ज्ञानस्य निर्णये सारं नाम्ना साहस्रिकं मतम्।।

But the text which has been published has only about 800 verses. which has led Dr. Bagchi to surmise that some portion, in all probability the opening portion, is missing from the manuscript.

Like all Tantric texts, this work is also in the form of a dialogue between Devī and Bhairava i.e. Pārvatī and Śiva.

The colophon given at the end of the text reads इति ज्ञाननिर्णये (=कौलज्ञाननिर्णये) महायौगिनीकौल श्रीमत् मत्स्येन्द्रपादावतारिते चन्द्रद्वीप विनिर्गते चतुर्विंशंतितमः पटलः।

The post colophon reads इति महाकौले ज्ञाननिर्णये सारं श्रीमत् मत्स्येन्द्रपादावता (रिते समाप्तम्)

The colophon or post colophon does not say in clear terms that the work was actually written by Matsyendranātha himself but uses instead the expression अवतारिते which is very significant. It shows that the 'Knowledge' contained in this Tantra was 'revealed' by Matsyendranātha in person to his some unknown disciple who actually composed the text. It might be that Matsyendranātha, being a great *Siddha* Yogin, did not want to take the trouble of writing the text or he was illiterate person, born in the family of fisherman, hence he inspired some disciple to write this work in the form of dialogue between Pārvatī and Śiva which he is said to have overheard. It is significant to note that the word अवतारित figures in the colophon of many works ascribed to Matsyendranātha.

Dr. P. C. Bagchi has drawn our attention to one more curious thing seen in the text of this work. The name of Matsyendranātha with variant readings such as Macchanda. Macchaghna, Mīnanātha occur in the colophons of the different chapters in the text. arousing doubt about

the identity of the author, whether he was one person known by different names or all these names point towards possible multiplicity. After long discussion on this point he has come to the conclusion that Matsyendra, Macchanda, Macchaghna, Mīnanātha signify one and the same person.

Again the occurrance of the name of the author in body of text as also in the colophon and post colophon may arouse doubt about the authenticity of authorship. This can be removed by accepting Matsyendranātha not as actual writer of the text but as the 'revealer' to one of his disciples who actually composed the text.

2. *Akulavīratantra*

It is another large Tantric text ascribed to Matsyendranātha or which only a fragment is available. The portion edited and published by Dr. P. C. Bagchi contains only one *paṭala*, the first one containing 91 verses. Two versions of this work are available in manuscript form, hence Dr. Bagchi published both of them under the headings *Akulavīra Tantra* A and *Akulavīra Tantra* B. He prepared the two versions on the basis of manuscripts available in the Nepal Durbar Library and with Shri Samsher Jung Bahadur Rana in his private collection. While there are numerous common elements in the two versions of the text there are many points of divergence too. For instance, the *Akulavīra Tantra* A contains 91 verses only whereas *Akulavīra Tantra* B contains 142. The contents also differ in details.

The text contains philosophical elements in large measure. For example it describes the concept of Akulavīra which is the main theme of the text. The Akulavira is the higher state of equanimity that corresponds to *Sahajāvasthā*. When this state is reached mind becomes still, the functions of senses and thought disappear. Then there is no need for piercing the *cakras* within the body. The Yogin becomes all-pervading and experiences unity everywhere. In it the opposites resolve.

The Akula corresponds to Śiva while Kula is Śakti according to the cables.

The colohon occurring at the end of *Paṭala* I of ms. A reads इति महच्छ्रीमीननाथावतारे अकुलबीर पटलः प्रथमः. Here the name of the author who is said to have revealed the contents of the text is given as Mīnanātha. It is needless to add that Mīnanātha and Matsyendranātha are one identical person. The colophon occurring at the end of Akulavīra Tantra B reads इति श्रीमच्छेन्द्रपादावतारिते कामरूपिस्थाने योगिनीप्रसादाल्लस्था (मृ) अकुलवीरल् ।

Curiously enough the text contains a benedictory sentence which reads श्रीमच्छेन्द्रपादन्देभ्यी नमः. It appears to have been written by the scribe out of his reverence for the great Yogin.

Both the texts appear to be incomplete as the word समाप्रद is missing in their colophons.

3. *Kulānanda Tantra*

It is a brief Tantric work ascribed to Matsyendranātha written in Sanskrit. It is complete and has been edited and published by Dr. P. C. Bagchi on the basis of a single manuscript available in the Nepal Durbar Library. It contains 60 verses only. Though brief, it is in the form of dialogue between Devī or Pārvatī and Bhairava or Śiva.

The text speaks of some Yogic practices and experiences that yogin performs or experiences in course of his spiritual discipline such as *pāsastobham* (making of net for building) dhīnānām (agitation), *Kampamānam* (experience of trembling), *Khecaram* (power to fly in the sky), *balipalitanāśanam* (destruction of old age etc), *Samarasam* (the experience of equanimity) etc.

4. *Jñāna Kārikā*

It is a Tantric work ascribed to Matsyendranātha available in incomplete form. It is written in Sanskrit and is available only upto *paṭala* III. One copy of the manuscript is available in the Nepal Durbar Library and

has been edited and published by Dr. P. C. Bagchi on the basis of a single manuscript.

The first *paṭala*, called the *Moksādhikāra*, deals with the ideal of an yogin. It gives an idea of the supreme level which a yogin aspires to ascend through yogic discipline. The second *paṭala* is named *dharmādharmavicāra* wherein the concepts of *dharma* and *adharma* have been discussed in inconventional manner. It has stated that both are cause for bondage. hence a true yogin must strive to go beyond them in order to achieve the supreme end. The third *paṭala* deals with *yogic practices and is named as Caryādhikāra*.

The yogic discipline is typical to the *Kaulas*. It also briefly describes the nature of *linga* usually worshipped by them. The *liṅga* according to it is the symbol of the world. and in it all remain dissolved. It lies within the body. The importance of body in spiritual discipline has been emphasised.

5. *Kāmākhyāguhya Siddhi*

It is a Tantric work ascribed to Matsyendranātha but unfortunately only a few stray folia are available in the Nepal Durbar Library. It was noticed by Hara Prasad Sastri in Durbar Library Catalogue Vol. ii p. 284.

6. *Matsyendra Saṃhitā*

It is most voluminous Tantric work ascribed to Matsyendranātha which has neither been noticed nor published so far. It is written in Sanskrit and it contains 52 *Paṭalas* dealing with a variety subjects concerning mainly the spiritual discipline according to the *Kaulas*. ❑

VII. SUMMARY

First Paṭala

The work opens with the following invocation to the Almighty—

वन्दे शम्भुजगन्नाथं, सर्वविज्ञानधीमयूम।
सर्वागममहारत्नधामं सागरभीश्वरम्।।
अप्रमेयगुणाधारं सर्वैश्वर्यफलप्रदम्।
वन्देऽहं शाम्भवीसूनुहेरम्बं विश्ववन्दितम्।।
सर्वशास्त्रकलाधारं सर्वज्ञत्वप्रदार्थनीम्।
वागीश्वरीमहं वन्दे वागैश्वर्यप्रसिद्धये।।
अशेषदुरितव्रातनीहारकुलभावनः।
शिवादिगुरवो मह्यं प्रसीदन्तु कृपालवः।।

The first *paṭala* describes how Matsyendranātha to whom the *Tantra* is ascribed, got Divine knowledge contained in the work directly from Lord Śiva. The story, which is well known, described in detail may be summarised in these words.

Matsyendranātha while moving about in the jungles of Cola kingdom happened to meet the king of Cola (mentioned as Colendranātha) who was so much impressed by his yogic powers that he became his disciple, relinquishing his kingship and kingdom. Colendranātha came to be known as Matsyanātha. Matsyendranātha was so pleased with his disciple that he not only revealed the secret yogic wisdom to Matsyanātha (the Cola King) but also told him how Matsyendranātha himself received

the secret knowledge from Lord Śiva himself which he was telling the same to his consort Pārvatī.

First Matsyendranātha tells about himself to his disciple. In his previous birth i.e. before he became a great yogin, he was fisherman by caste (called *Kaivarta* or *dāsa*). He then made his living by fishing on the high seas.

He frequently went out for fishing and with the help of net, angling instrument etc. used to catch large fish. On the banks of river, some Brahmin hermits were engaged in performing some secret rites as laid down in the *Saivāgamas*. His curiosity was aroused and putting aside fishing equipment on the boat, he went near them. As he approached them, the Brahmin hermits got scared for two reasons—firstly their secret would be revealed outside their group, who was engaged in killing. He went to them and asked their identity and wanted to know for them about the work they were performing so secretly. Finding the fisherman to be innocent and reliable, the Brahmin hermits revealed that they were worshipping Śiva and Pārvatī on the lines laid down in the *Śāstra*. Since the mode of their worship was secret one, they were performing the rite of worship secretly. They then began praising their particular mode of worship of Śambhu which they told was capable of bestowing *Jīvanmukti* and bring about acquisition of different kinds of *Siddhis*. They further informed him (the fisherman) that if anybody tried to put obstacles in their way of worship, he was surely to be cursed by the *yogini*, resulting in his destruction in no time. They requested the fisherman to keep all this to himself and not reveal anything. Already very much surprised as the fisherman was, he promised to keep everything secret.

But their narration and presence aroused keen desire in him for spiritual knowledge and with folded hands he begged the Brahmin hermits to instruct him. Finding him true *adhikārin* for spiritual knowledge, chief among the

hermits showered belessings on him and perfoimed the *abhiṣeka kriyā* (rite of annointing). Thereafter they taught the secret mode of spiritual descipline (yoga) and asked him to practise this daily. They further told him that within a few months he would achieve the highest *siddhi* and immortality. All his sins of past ignonimous life would be wathed away. Saying this the hermits retired from there.

The fisherman then threw away all his implements for fishing and abandoned the world his friends and relations and returned to the island (probably Sandwip in the Sunderban area) for performing intense penance. Such was his devotion to yogic practices and concentration that six months passed away in no time. One day after six months he entered into the river to take bath, a huge acquatic animal (ग्राह = shark?) suddenly appeared and caught the fisherman turned ascetic, as if impelled by fate. The animal was huge like a mountain in size, and strangely enough its body was replendent, radiating light on all sides. The huge animal caught and devoured him in such a manner that he rested in his huge belly. Thereafter the animal submerged in the water and took him to the place where Pārvatī, the daughter of mountain, was engaged in conversation with the Lord Śiva. She was asking Lord Śiva to instruct her in the mode of *sādhanā* (spiritual discipline) which could lead its practitioners in the achievement of freedom from worldly misery and pain, old age and death etc. Finding the place not congenial for revealing the most secret mode of spiritual discipline, Śiva asked Pārvatī to retire to a lonely and secluded place on the island called Baṅga deśa (वङ्ग देश) surrounded by sea water on all sides where, he assured her, that he would reveal the most secret *yoga śāstra*.

The Shark with fisherman lodged in its huge belly took him to that secluded island where the fisherman overheard all that was uttered by Śiva to Pārvatī in the

form of words like thunderbolt and therefore capable of cutting as under the wordly Snares. As a consequence of this, he became an omniscient *yogin*, his mind and physical body totally purged off all kind of impurities. He came out of the belly of the Shark and told Śiva that he had heared all that Lord Śiva told Pārvatī. The fisherman after his coming out of the belly of the Shark came to be known as Matsyendranātha.

After having told the king about his past lives, Matsyendranātha asked him not to divulge to others the secret yoga but he should rather practise it. This was the nectar like substance of all *Śāstras*, culled by the omniscient Śiva. It needs no *pramāṇa* for verification. It is called *Sambhava śāstras* which should be heard from the lips of the *guru*. Those who are extrovert and therefore engaged in such despisable activity like calumny etc., who have not been recipient of grace for Śambhu and therefore do not perform worship of Śambhu, this wisdom should not be revealed to such persons. In fact this should not be imparted at religious congregations, rather it should be imparted to individual in a secluded place. He further told Cola king that he would one day become a great yogin and be known as Matsyendranātha or Colanātha.

He then extols the secret knowledge revealed by Lord Śiva, which is know-able through grace of the Lord from a *Guru*.

Second Paṭala

This *paṭala* contains 67 verses in *anuṣṭup* metre. After telling Lord Śiva that he had very kindly revealed the eternal *Śāmbhava yoga śāstra* to her in the past, Goddess Pārvatī now asks for detailed elucidations from him from the practical point of view. She puts a number of questions to him pertaining to the actual performance of *yoga* (*Śaiva yoga*) such as the mode of purification of one's physical body use of different kinds of *āsanas*, breath control (*prāṇāyāma*), withdrawal of senses and

mind from worldly objects (*pratyāhāra*), the yoga of meditation (*dhyāna yoga*), *Kuṇḍalinī yoga*, use of medicine, *Vetāla Siddhi*, *Añjana Siddhi* etc. Taking up her queries one by one, Lord Śiva replies to them separately in this chapter and the following chapters.

This chapter takes up the question of mode of purification of spiritual adept's physical body (*deha Śuddhi*) as it constitutes the first step towards the achievement of the ultimate goal in life. Lord Śiva tells Pārvatī that cleansing of one's physical body is essential without which he cannot hope to realise the ultimate goal even during the course of thousands of births. The purification of body can be achieved by taking bath in water, or with smearing of ashes on body. Detailed description of the actual mode of taking bath has been given. Lord Śiva tells her that bath should be taken in prescribed manner. Different kinds of *mantras* have been suggested which are required to be uttered (V. 16) at the time of pouring water on the different limbs of the body (V. 20-21). Simultaneously, *nyāsa* (assignment of mantras in limbs) and *japa* (repeated utterance) of *mantras* as laid down in the *Śāstra* are to be observed by spiritual adepts (V. 21). This results not only in the destruction of all kinds of sins on one hand but also accumulation of merits accruing from bath in the holy waters of all holy places on the other.

Lord Śiva continues the description of mode of purification by bathing with ashes in detail (V. 23-24). The ash is to be placed on the left hand, and with the assignment of *mantras* on the different parts of body and the both is to be accomplished with the right hand (V. 25). *Mantras* are to be uttered every time while bathing with ashes is to be performed (V. 36). In this way cleansing of physical body is to be effected everyday in the morning (44a). Lord Śiva then describes the manner the spiritual adept should perform *prāṇāyāma* which also goes a long way towards purification of body internally

(V. 47). The details of actual performance of *prāṇayāma* (breath control) and consequences of such performance have also been given (V. 49-55). All these result in the burning up all kinds of impurities that lie within the body, thereby rendering it as divine (V.63). The purification of body must always be accompanied by utterance of suitable *mantras* to ensure efficacy of the act of purification. otherwise merely pouring of water from thousands of jars or ashes from hundreds of baskets on body cannot bring about the desired result in thousands of years (V. 66b-67a). But, on the other hand. if one follows the purification of body by bathing in the prescribed manner, one can accomplish complete purification within six months. (V. 67).

Third Paṭala

This chapter contains 46 verses in *anuṣṭup* metre. Here Lord Siva straightway begins with description of different kinds of *āsanas* (sitting postures) which are essential for attaining quietitude. The *āsanas* described here *Vīrāsana, Kūrmāsana, Svastikāsana. Kukkuṭāsana. Mayūrāsana Vyāghrāsana, Padmāsana, Vijayāsana, Dṛdhāsana, Gṛddāsana, Siddhāsana, Vṛṣabhāsana*. Not only these *āsanas* have described in detail, the benefits accruing from practising them both in spiritual and physical terms have been spelled out. It has said that the spiritual adepts should practise *āsanas* in secluded place free from disturbance by wild animals, on well-levelled ground, which must be made fragrant with incense. These should not be practised all of a sudden or hurriedly, but slowly and carefully under guidance of expert teacher to avoid any undesirable consequences.

Fourth Paṭala

In this *Paṭala* containing 95 verses in *anuṣṭup* metre, Lord Śiva takes up the third query from Pārvatī about mode of breath-control (*prāṇāyāma)* which is an indispensable part of the *Śāmbhava yoga*. He defines yoga as perfect subjugation of *Prāṇa* which is capable of bringing

about *Siddhi*. At the outset, Lord Śiva mentions conditions, physical and circumstantial in which *prāṇāyāma* should not be practised, such as when one is suffering from dyspepsia, acidity, dysentry, vomiting etc. in a place full of flies, mosquitoes or wild animals or on banks of rivers, ponds etc. in funeral ground and so on. The spiritual adept should select a lonely place e.g. hermitage, away from crowd where he should spread *āsana* of deer skin. Sitting comfortably there in the company of expert teacher, he should practise exhalation, inhalation and stoppage of breath called *recaka*, *pūraka* and *kumbhaka*. All the three modes of breath control have been described in detail. As the spiritual adept makes good progress in achieving good control over breath, certain signs indicating his progress towards realisation of goal are noticed by him. For example, he first hears *cincin* sound within him followed by tingling sound, thereafter sound of lute, bell, drum, humming sound by bees, sound of big drum and so on. He also notices other signs on his body, such as perspiration on his body, trembling sensation on his neck, body etc; he develops power to hear sound from afar, to see things lying at great distance, to fly in air etc. While these signs indicate good progress, certain other symptoms indicating obstacles may also develop e.g. hiccup, cough; he may experience intense pain in ear, both eyes; he may suffer from some diseases like excessive bile secretion, intense pain, dysentry, fever, swooning etc. When such things happen, he should take appropriate steps to control them taking proper medicine, performing *yoga* etc.

When he is able to control his vital breath (*prāṇa*) after performing *yoga* called *Prāṇāyāma* for a long time, he achieves finally *Siddhi*.

Fifth Paṭala

This *Paṭala* containing only 17 verses in *anuṣṭup* metre deals with *Pratyāhāra* (withdrawal of senses from objects). The withdrawal of senses from external objects

is essential for stilling of mind which normally remains disturbed and constantly shifting from one object to the other. The mind is intimately linked with senses, hence. emphasis has been laid on the withdrawal of senses. A spiritual adept has to strive hard for effecting this withdrawal. The mind is the chief insrument for achieving the supreme goal, hence, the control of mind through the withdrawal of senses should be the main concern of spiritual adepts. The subjugation of mind the first step of yogic discipline, its control is the *tapas*. The practical method for withdrawal of senses both cognitive and motor has been indicated e.g. the sense of hearing is of the nature of *śabda tanmātrā*, hence, it should be concentrated and dissolved in the ether and thus its functioning should be controlled and finally withdrawn and so on.

Sixth Paṭala

This *Paṭala* containing 31 verses in *anuṣṭup* metre describes the mode of achieving perfect concentration of mind (*dhāraṇā*) after it has been stilled by the withdrawal of senses from the external objects. Lord Śiva tells Pārvatī that the concentration of mind is of three kinds, one, concentration achieved through the control of vital air called *vāyu dhāraṇā*, two. concentration on *Agni* in association with *Marut* called *Āgneyi dhāraṇā* which leads to achievement of perfect body free from diseases and feeling of hunger. thirst etc., three. *amṛta dhāraṇā*. i.e. concentration on nectar of felicity or divine blessing. The practice of the concentration of mind gradually leads to achievement of various kinds of *siddhis*. The Yogins practising concentration of mind sometimes face various obstacles put up by such sub-human such beings as *Guhyaka* etc. or diseases. It is therefore enjoined that special offering should be made for them to ward off these obstacles. The utterance of some special kind of mantras in prescribed manner is recommended. The propitiation of various deities presiding over different quarters. earth

as *dikdevatā, devakanyâ, dinnâya hâga Kanyā* is also prescribed.

Seventh Paṭala

This *Paṭala* has 90 verses mostly in *anuṣṭup* metre. Herein Lord Śiva tells Pārvatī about the perfect kind of *dhyāna-yoga* (yoga of meditation) the practice of which leads one to achieve the position of Īsvara (Lord). The meditation should be performed by the spiritual adept sitting on the earth in the posture described above. He should meditate on the supreme *Tattva* (Being) with unflinching mind, imagining his own body to be an abode of gods. He should imagine in his body *Paṭala* as his legs, the earth as the mid-part of body, heaven etc. as his head, the different divisions as hands, sun and moon as his eyes, the stars as his ornaments, the ocean as his dress and so on. This would pave way for experiencing the entire universe to be existent in his body as identified with himself and also result in stilling of mind. Thereafter he should meditate on Śiva and Śakti as existing in his heart-lotus. A graphic description of the form of Śiva radiating on all sides effulgence like that of morning sun and nine-fold Śaktis has been given to enable the spiritual adept to obtain a glimpse of divine form while meditating. Similarly, a pen picture of the Goddess is also given to achieve similar result. One who succeeds in visualising Śiva and Śakti with all their divine glory existing in oneself gets freedom from death disease and old age. He then experiences his identity with the supreme Being and himself becomes the Lord. He begins feeling "I am Śiva," "Śiva is none else than myself," "I am beyond thought and becoming and therefore, the world". A new vision dawns on him, he begins experiencing "I am the Supreme cause, the first Being, the infinite *Saṃvit*, the effulgent divine light etc". When he has all these spiritual experiences of highest order, all indicative of his divine essence, there is no doubt about his achieving the *jīvanmukti* state. All worldly experiences that are con-

trary to the divine experience, than dissolve and merge into the supreme being.

Alternative mode of *dhyāna yoga* (yoga of meditation) is mentioned. A spiritual adept can also meditate on the Supreme Being in the form of pure flame of light, illumining the middle of his heart-lotus. It is in the form of thumb but has the effulgence similar to that of the crores of sun. Or it is *Kadamba* shaped, shinning brilliantly and illumining all around like the sun amidst the middle of stars. The meditation of the Supreme Being in this way results in the accumulation the power by the spiritual adept in his body. Then the nectar of bliss starts oozing and spreading in his body, this results in his experience of delight. The *yogin* should visualize all this in body when he starts experiencing "I am all this" "I am all this". He remembers his divine nature and thereafter becomes identified with the Supreme Being. The *Siddhi* thus obtained is called the *Sāmbha Siddhi.*

The spiritual experiences that the yogin has after experiencing his identification with the supreme deity are given in the concluding verses in the words of the *yogin* in the first person.

Eighth Paṭala

This *Paṭala* contains 83 verses mostly in *anuṣṭup* metre. It begins with the detailed description of the mode of inner worship by Lord Śiva. He says that the spiritual adept should retire to secluded holy place, congenial to this particular kind of worship, and then conduct the worship with calm and unruffled mind, offering imaginary scented flowers to six *cakras* in his body, especially the topmost, *dvādasānta*, in the prescribed manner. He should worship incessantly Sambhu accompanied by his consort Śakti, imagining them to be residing on an island of jewel surrounded on all sides by an ocean of nectar. Lord Śiva then gives graphic description of the foliage, flowers such as groves of *mandāra*, *pārijāt*, *kadamba*,

candana, *vilva*, *nāga*, *aśoka*, *dāḍima*, mango etc. beautiful flowers like *campaka*, *bakula*, *mālati* etc. The whole place is scented by fragrance of flowers and filled with the chirping of birds of different kinds e.g. ducks, cranes, *cakravāk*, *camarī*, cows etc. He should imagine the existence of jewel-decorated beautiful *maṇḍapa* on an island in the midst of nectar filled great lake. He should visualise in his imagination eight doors in the *maṇḍapa*, each one bedecked with garland of flowers, metal jars, lamps, mirrors. The entire area should be imagined as scented by the scent of musk, camphor, *agaru*, sandal wood. The chief deity Śiva and Pārvatī should be imagined as sitting on the bedecked throne, Śiva wearing the hide of tiger and Śakti or Pārvatī putting on divine dress and beautiful ornaments. Both of them appear to be radiating light of knowledge and power all around themselves. The spiritual adept should worship both the god and the goddess, making appropriate offerings, all imaginary in the prescribed manner.

Lord Śiva describes alternate mode of internal worship of the god in which imaginary offerings are made to the god who is imagined as sitting on the six petalled lotus on the *mūlādhāra cakra* within the yogin's body. The spiritual adept should imagine the god to be of nature of brilliant light, illumining his whole body from inside. The god is none else than his real self, the divine essence. He should imagine the light emanating from the lord sitting on the *mūlādhāra cakra* to be as dazzling as lightning and having the colour of newly risen thousands of sun. He is sitting with Pārvatī. If the spiritual adept continues the worship of Lord Śiva and Pārvatī in this manner for a year without break, he is sure to achieve the highest *siddhi*. Even worshipping them for eight months confers on him great *Siddhis*. worshipping them sitting on the *maṇipūra cakra* for six months leads to the achievement of great *Siddhis*. In this manner Lord Śiva tells Pārvatī how the spiritual adept can obtain coveted

results by gradually shifting and upgrading the locus of the seat of the god and goddess on different *cakras* and worshipping them in the prescribed manner for gradually less time. The peak of realisation can be reached by the spiritual adept by worshipping the god and the goddess on the *dvādasānta* imagining them of the nature of light of autumnal moon and *budha* and showering nectar all around as it were. The *Siddhis* reached by the spiritual adepts following the mode of internal worship of the Lord in the prescribed manner are far more reaching than external worship have been described in detail.

Ninth Paṭala

This *Paṭala* containing 55 verses in *anuṣṭup* metre with verse (No. 47) missing, continues with the description of the process of *nyāsa* i.e. placing letters in the different parts of the body by the disciple under the supervision of *guru*. Lord Śiva tells Pārvatī that he would be revealing the secret supreme *mantra* which, when perfected, leads to the achievement of various kinds of *siddhis*, such as conquering death, disease, old age, destruction of enemies, thieves, wild animals etc. It also brings about attainment of various kinds of super normal powers such *animā, laghimā etc.* The letters for *nyāsa* can be grouped under seven heads e.g. *a-varga, ka-varga, pa-varga* etc. which represent the seven goddesses such as Dākinī, Rākinī, Lākinī, Kākinī etc. These should be imagined as being with their lords. Then lord Śiva goes on to reveal the *mantra* in symbolic language, analysing each constituent letter, symbolic of one or the other aspect of Divine Śakti. He tells the goddess the mode of placing each of these letters in the different limbs of the body by uttering them one by one. The *nyāsa* if properly done at the time of junctures of three divisions of time and at mid night bestows great powers on the spiritual adept doing the same. While doing *nyāsa*, the spiritual adept should imagine that he is sitting on a treasure island in the midst of ocean of nectar, sur-

rounded by gardens of divine trees. He should imagine performing *nyāsa* before the goddess whose graphic description has been given. The spiritual adept should imagine in this way that his body is made of letters which he is uttering together in the form of *mantra*. The *mantra* should be given by the *guru* to disciple while performing initiatory site. The *mantra* uttered by *guru* is potent, when heard and used by the disciple leads to achievement of great powers.

Tenth Paṭala

This *Paṭala* containing 83 verses in *anuṣṭup* metre opens with Lord Śiva telling his consort Pārvatī the detailed process of initiatory rite. He tells her that a lonely place in a forest should be selected for this purpose which should be free from visitations by wild animals. The venue for the rite should be levelled and cleaned, and then canopy covering the place should be erected. The *guru* should sit on a holy *āsana*, facing eastward; he should drive away all possible obstacles coming in the way through his performing control of breath. He should draw *maṇḍalas* (names not specified) in front of him, and on the right side, and should put a quadrangular shaped vessel with circular middle part in the front of him. On this vessel he should put the conch-shell and a vessel with plate. He should then fill the place with scented stuff. Then considering the (round) vessel as the disc of the sun, he should regard the water to be full with *soma* and utter appropriate *mantras*. He should then worship the main deity seven times with six limbs, and after bathing the deity, he should meditate. Then he should consecrate all the objects assembled there for worship by sprinkling. He should also sprinkle holy water on the left and front sides. Sitting in *garuḍa* posture, he should stop the movement of *vayus* in *nāḍis*. He should then sanctify the quadrangular vessel by uttering the *varṇas da* and *ṇa* and put in the circular part of the lotus flower.

Lord Śiva further tells Pārvatī he would then describe

maṇḍalas ka which is to be used in worship for attaining desired result. Then Śiva goes on giving a list of letters in a particular sequence, each one symbolising some deity or element or presiding deity of the element which the adept should utter to invoke their powers. Lord Śiva gives details of the mode of worship such as, filling up jars after their purification, showing of appropriate *mudrā*, use of flowers, and incence material etc, drawing of figures of *maṇḍalas* and *yantra* etc. The mode of meditation of deities etc. is also given. The position of different deities on different sides of the worshipper is also indicated. In this connection the names of some deities, the embodiments of different aspects of Divine Śakti, such as Dakinī, Rakinī, Īśāni, Indrāṇi etc. and number of *yoginis*, *yakṣas*, *Rākṣasas* (sixteen in number) are mentioned who also should be propitiated for attainment of *Siddhi*. The worship of eight Bhairavas such as Asitāṅga, Ruru, Caṇḍa, Krodha, etc. and Bhairavī like Vārāhī, Bhadra, Aindrī, Cāmuṇḍā, Kālarātri, Mahālakṣmī etc. has been commended. The worship of their respective Vāhanas (carriers) has also been prescribed. All these lead to the attainment of eight kinds of *Siddhis*. The details of worship have been graphically described with meticulous care.

Eleventh Paṭala

This Paṭala, containing 57 verses in different metres, describes the various *mudrās* that are to be shown to the goddess after her worship has been completed in the prescribed manner described in the earlier chapter. The *mudrās* described are *Khecarī*, *Dīpamudrā*, *Śṛnga mudrā and Saubharī*. After showing these *mudrās* which are said to yield very good results, the adept should propitiate Gourināth uttering *pādukāmantra* and offering *kāraṇa*. He should recite hymns in praise of lord Śiva, Bhairavī, Kākinī, Lākinī, Śākinī, Hākinī all *yoginis*, seven *yogis*. He should offer food to the gods and goddesses and then distribute *prasāda* to all there who participated in

the worship. He should perform *maṭukā nyāsa* in the body of disciple and then give him the *mantra* for constant recitation. *Dīkṣā* is a must for the disciple without which nothing worthwhile can be achieved.

Twelfth Paṭala

This *Paṭala* containing 61 verses mostly in *anuṣṭup* metre opens with the detailed description of *sādhanā* with the help of meditation of *mantras* by Lord Śiva. It has been ordained that this particular mode of worship should be performed in a lonely place, such as on the banks of a river or sea shore or on top of the mountain or else in temple or at home. The details of the rite of worship is also given. If the worship of the goddess is performed in prescribed manner for long period it leads to the attainment of various kinds of *Siddhis*. For example. if worship is carried on for three years together with *japa* for 100000 times (one lac times), it destroys all sins for seven births & rebirth, if it is carried out for 200 thousand times, it frees him from bondage due to *karma Samskāra* during the period births and rebirths for 1 crore ties and so on. The various kind of *Siddhis* e.g. omniscience, complete mastery over words, power to stop operation of natural laws etc. can be attained by practice of *japa of mantra raja*. for millions of times.

Thirteenth Paṭala

The thirteenth *Paṭala* containing 41 verses interspersed with prose portions deals with the different kind of *nyāsa* or the ritual of placing or fixing of letters in different parts of the body which are believed to be so efficacious in transforming the gross physical body of the spiritual adept into one that of divine being i.e. Bhairava in just six months. Lord Śiva describes in detail the ritual of *nyā sa* of different letters forming the *mātrikās* in different parts of the body along with meditation or imagination producing different kinds of results. Actual ritual of *nyāsa* or ritual for placing different letters in

different parts of the body has been given in detail in the prose portions.

Fourteenth Paṭala

The fourteenth *Paṭala* in 79 verses deals with *Khecarī* wisdom which when mastered, makes one immune from old age, death and disease. Lord Śiva told Pārvatī that *Khecarī* wisdom is very rare but it is capable of bringing about very good results. It has to be obtained either from *guru* or from works dealing with this secret wisdom. It is a practical wisdom which has to be followed and practised in assembly of spiritual adepts, otherwise it cannot bring about desired result. The importance of *śāstra* for acquiring this wisdom has been emphasised. It has stated that many tantras have been revealed by the lord but this wisdom does not figure in them. Only special kind of tantras such as Mahākāla (*Mahākāla Saṃhitā*, a text belonging to the Kāli tradition of Śāktas, a published work or Mahākāla yoga *śāstra* by Ādināth which describes in detail the *Khecarī Kriyā*). Martaṇḍa Viveka (*Śāmbara Tantra*, unpublished Śākta text), Visuddhesvara (*Saṃhitā*) a text not available, Galasa (*Yoginījāla*, text dealing with *Khecarī Vidyā* published) deal with *Khecarī Vidyā*; all of them were revealed by Lord Śiva himself. These texts should be studied with the help of *guru* and followed in toto. These texts contain secret *mantra* and also described how this *mantra* is to be used in a particular mannar, the texts must be carefully preserved. Lord Śiva then goes on to indicate in esoteric language the *mantra* formed out of the letters fixed in different parts of body. This *mantra* is to be repeatedly uttered by the spiritual adept which leads to the achievement of different kinds of *siddhis*. Other uses of the *mantra* resulting in purification, eradication of various kinds of diseases have been described. The manner of using this *mantra* with the help of different limbs in the body has also been mentioned. It has been said that if the spiritual adept is able to use the *mantra* for long time

such as one, two, five or twelve years, he can achieve siddhis of different kinds such as oozing of nectar from the tongue, hardening of body like *vajra*, hearing of sound for great distance of *seeing* things from distance, etc. He can even travel in sky and so on.

Fifteenth Paṭala

This *Paṭala* containing 83 verses in *anuṣṭup* metre with one (No. 19) missing, opens with the description of *Khecarī Vidyā* by Lord Śiva, which incidentally is the continuation of the preceding one. He tells Pārvatī the secret of the closed door holding, the Brahma-nectar is very difficult to know. The nectar lies in the store which has four faces or openings; on the eastern side lies the door Krita, on the Southern side lies the secret door, on the western lies Śiva and the Pāratpara on the northern side. A spiritual adept who succeeds in breaking open eastern opening with the help of the tip of tongue, tastes the nectar. If he does so for half a month he can become the lord. Breaking open the Southern opening by the tip of this tongue if the spiritual adept tastes the nectar for one month, he can become lord. Similarly if the spiritual adept tastes the nectar breaking open the western and the northern doors for one month, he can become the Arthesvara and Kāmesvara respectively. But if the spiritual adept is able to drink the purest kind of nectar lying pent up in the *brahmarandhra*, he immediately can attain *jīvanmukti* (liberation while in body). It is enjoined that the spiritual adept should do this every month in order to obtain freedom from all kinds of diseases. The method of obtaining the nectar palatable, cool and white in colour using his tongue is given. The nectar is capable of making the spiritual adept knowing the true meaning of all scriptures within two months and omniscient within four months. In five months he can attain great *siddhi*, within six months taste great bliss, within seven months he can become lord of all creatures including goblins and demons and so on. Eight *kalās* (phases) of

moon called *Somakalās* have been described in this context as these have connection with the nectar which increases gradually to reach its zenith with the eighth kalā. The spiritual adept attains *Khecarī Siddhi* with the eighth Kalā when he experiences the zone of *soma* or nectar in the space between the two eyebrows and drinks it. His body then becomes as hard as *Vajra*. He should continue to drink the nectar now flowing down in a stream. Various kinds of *siddhis* following drinking of nectar have been described. The manner in which the Supreme Śakti lying coiled up in the *mūlādhāra* should be aroused has been mentioned. The position of various *cakras* in the body and the way the *Kuṇḍalinī* Śakti should be made to rise up has been described. It has been stated that as the *Kuṇḍalinī* Śakti passes through different *cakras*, there is shower of nectar which the spiritual adept should drink, resulting in attainment of different results. It has been enjoined that the spiritual adept should douse his entire body. It has been mentioned that the two *nāḍis* *iḍā* and *piṅgalā* are called *Ravivāha* and *Candra Vāha* respectively as they serve as channels for the flow of poison and nectar respectively.

Then Lord Śiva describes the store house of the nectar which lies on the forehead region just above the vertibral column, shinning like resplendent moon. It is said Śiva is stationed with Śakti embracing him, radiating illumination like that of the sun. Śiva is in the form of phallus which exists in a triangle shaped *maṇḍala*. Graphic description Śiva and Śakti is given and it is enjoined that they should be imagined in that way and meditated upon. Certain rituals have also been prescribed which when performed results in experiences which should not be disclosed. *Khecarī mudrā* which is capable of bestowing highest *siddhi* after destroying death, has also been described.

Sixteenth Paṭala

This *Paṭala* containing 144 verses in *anuṣṭup* metre continues the description of Yoga (Spiritual discipline) of

unique kind. It opens with description of various kinds of obstacles that the spiritual adept has to face while pursuing spiritual discipline also their remedy. It mentions several kinds of bodily obstacles viz. drying up of limbs, hunger, lethargy, itching, sensation, paleness of body. As remedy freeing mind of all thoughts about object, taking of a kind of drink, rubbing of body with the juice of particular herbs etc. have been prescribed. The spiritual adepts have been enjoined to drink the nectar oozing from the *Sahasrāra* cakra with the help of curled tongue which removes hunger and lethargy and also rub the same to remove paleness of body. There are many other kinds of obstacles that arise from different diseases which spiritual adept has to face e.g. disease of eye, dryness of body, burning sensation, pain in teeth, vomiting high fever etc. The remedies all pertaining to spiritual discipline such as control of breath, forcing *Kuṇḍalinī* to rise up, have been laid down. It has been stated that when the yogin starts hearing the *nāda* from within his body, all diseases, gradually disappear. Various kinds of *nāda* (sound) such as *jalanāda* (Sound resembling flow of water), *māhagajavaranāda (Sound of elephant), Simhanāda* (roaring sound of lion), *meghanāda* (thunder sound of clouds) etc. which are heard by the Yogin after the practice of control of breath lasting for different periods of time indicate the curing of various kinds of diseases. The yogins are enjoined to practise meditation with calm mind for long time, which culminates in his achieving freedom from old age and death.

Like bodily obstacles, there are four fold *Nādadoṣas* which can be cured by certain actions of tongue, such as moving up piercing the palate, drinking of nectar etc in the prescribed manner. Once the yogin carries out all these exercises with his tongue, he attains freedom from old age, death and disease as become perfect in the sāstras and equipped with powers like *aṇimā. laghimā* etc. This is because all powers lie on tongue. even

bondage and liberation lie on the tip of the tongue. Hence proper use of tongue is essential for achieving perfection. It is therefore laid down that the spiritual adept should concentrate his mind on the tip of tongue, thereafter raise the vital air from the *mūlādhāra* centre upto the highest level. He should meditate on the highest *tattva* which lies beyond all and wherefrom the milky way flows down. If one drinks from that holy water, then within a month he could develop strong body like that of *Vajra*, divine body, divine speech, divine look, and divine intellect. He then visualises the goddess of wealth satiated fully on drinking the highest nectar, sitting on the tip of his tongue. The spiritual adept then is able to acquire the entire kingdom of Yoga. i.e. the body characterised by five treasures viz the *Kuṇḍalinī* power, the *suṣumnā*, the tongue, upper palate, and *brahmarandhra*. All these are instruments for acquiring great powers and ascent to higher spiritual level. When the spiritual adept is able to raise the vital air through the narrow path of *suṣumnā* which is like the spider web going up, replendent with dazzling illumination like thousands of sun, and piercing through the different *cakras*, reaches the level where *Svayambhu* Śiva resides, he is able to drink from the ocean of bliss, cool and refreshing. He then becomes fully satiated by the experience of bliss, and obtains divine vision. He develops the capacity of moving around in the sky, his body free from disease and death. He is able to travel through the three *lokas*. He becomes equipped with the great spiritual powers such as *aṇimā* (capacity to assume the form of atom) etc. He develops within him power equal to that of thousands of elephants.

The text then turns to the esoteric description of the different *nāḍis*. It tells that the resplendent *suṣumnā* lies between two other *nāḍis*, called *iḍā and piṅgalā*, also called the Ganges and Yamuna. The spiritual adept should rest in his Śakti till he experiences himself the ecstatic bliss, following the knowledge of the Supreme

Being. He then experiences surrounded by bliss and peace everywhere, reaching the highest level of spiritual elevation. He then gives up performance of rituals, study of scriptual texts.

He should however engage himself in the worship of the image of Śiva day and night. Such spiritual adept is sure to attain immortality and omniscience within six months. He is able to pierce his way through the 'Stars and moons' and visualize the dazzling light comparable to that of thousands of suns.

He remains enjoying the glory of his spiritual attainments, if he chooses to remain in this world in mortal frame to dispense divine grace to others. Later at the time of cosmic dissolution, he takes his place in his real divine nature, leaving the mortal frame.

Seventeenth Paṭala

This *Paṭala* containing 60 verses on *anuṣṭup* metre opens with a question posed by the goddess on the nature of *Khecarīvidyā and the yogic discipline leading to its attainment. Lord* Śiva first explains the significance of this spiritual wisdom which has not been described openly in other Tantric texts though it is capable of bestowing the highest *siddhi* and also warding off of old age and death.

Lord Śiva describes the esoteric practices, mainly in terms of the arousal of *Kuṇḍalinī Śakti* though different centres by control of breath. As the *Kuṇḍalinī Śakti* ascends resting in different centres, such as *mūlādhāra* where it rests coiled in the form of the *bindu* on the four petalled lotus, through the *Svādhiṣṭhāna* on the twelve-petalled lotus. *maṇipūra* etc., he has different kinds of spiritual experiences. On these levels exist the different deities whom he visualises. For instance, Brahma. Viṣṇu. Rudra, Īśvara and Sadāśiva exist on the 'level of Ājñā cakra. all radiating their resplendence all around on that particular level. Lord Śiva tells the goddess that all these yogic practices should be performed under the strict

supervision of the teacher who should first test the capacity of disciple before initiating him to the extremely secret yogic discipline. In order to preserve secrecy, the *guru* should choose lonely place for imparting instructions to the disciple. The *guru* then should reveal the secret knowledge which is not available anywhere except from the lips of the teacher. The teacher should be propitiated like a god because he alone can deliver the supreme knowledge capable of bringing about the divine union of the individual with the Supreme Being. The disciple should faithfully obey all commands given by the *guru*, perform the spiritual discipline as instructed by him. Only then he can reach the supreme goal, and not otherwise.

Eighteenth Paṭala

This *Paṭala* containing 72 verses in *anuṣṭup* metre describes in detail all the practices the disciple should perform to reach the supreme goal. The *Kula* worship should be carried out in lonely place, free of disturbance. The place should be properly decorated with flowers, vermilion and prescribed diagrams of *maṇḍalas* and performance where the spiritual adept should sit in proper posture. He should have full control over his breath, mind and senses so that he could concentrate on the divine Śakti laying coiled in the *mūlādhāra Cakra*. By stopping his breath, he should force the divine Śakti to rise up in conjunction with the *nāda* and the radiating illumination till it reaches the Brahmā opening on the top, where he should get it merged in the void, which is the root cause of the emergence of creation. After he reaches that level, the nectar of Kula in the form of bliss gushes forth which he should drink and then enter the region of Kula. He then achieves the highest *siddhi*. This is called the *Khecarīmudrā* which is not revealed even to great yogins. But once the spiritual adept is able to achieve elevation to this high level, he automatically acquires knowledge of all Śāstras, gains mastery over all

languages and is able to compose verses effortlessly with the power so gained. Various kinds of *siddhis* are achieved by the spiritual adept as the Śakti crosses through different centres e.g. when the Śakti crosses the *maṇipūra cakra*, he becomes attractive; when it passes through the *anāhata cakra* he develops extraordinary physical powers; when it crosses *Viśuddha cakra*, he achieves complete freedom from hunger, thirst, old age and disease and so on. Different kinds of experiences that the spiritual adepts have in course of their yogic practices prescribed in the Kula tradition have been described. It is said that within one year the spiritual adept attain *jīvanmukti*. He then is able to see the universe around him is new light, the light of divine illustration. He then is able to retire to divine regions such as *Candradvipa*, Kailāsa which lie beyond the mortal world and enjoy bliss perennially.

Nineteenth Paṭala

This *Paṭala* containing 27 verses in *anuṣṭup* metre describes in detail the mode of contemplation *(dhyāna yoga)* according to the Kula traditions. It enjoins the spiritual adepts to imagine that the entire universe is their own physical body which is replete with bliss of their pure consciousness-nature, after affecting self-extensions or universalisation. When this is achieved by them, they rise above the world of time and space, thereby achieve freedom from death, disease and change.

Twentieth Paṭala

This *Paṭala* containing 31 verses in *anuṣṭup* metre describes in detail the various kinds of yogic powers that the spiritual adepts develop within themselves through deep contemplation and meditation. ❑

मत्स्येन्द्रसंहिता

। ॐ श्री गणेशाय नमः ।

। श्री नाथाय नमः ।

[f 1a]

ॐ वन्दे संभुजगन्नाथं (शम्भु°) सर्वविज्ञानधीमयम्।

सर्वागममहारत्नधाम(म्) सागरमीश्वरम्। ।१। ।

अप्रमेयगुणाधारं सर्वैश्वर्यफलप्रदम।

वन्दे(ऽ)हं शांभवीसूनुं हेरंभं विश्ववन्दितम्। ।२। ।

सर्वशास्त्रकलाधारं सर्वज्ञत्वप्रदायिनी (नीम्)

वागीश्वरीमहं वंदे (वन्दे) वागीश्वर्यप्रसिद्धये (वागैश्वर्य°)। ।३। ।

अशेषदुरितव्रातनीहारकुलभावनः।

शिवादिगुरवो मह्यं प्रसीदं तु (प्रसीदन्तु) कृपालवः। ।४। ।

शिवशैवागमां भोयौ (शिवशैवागमाभ्यां यो) सम्य(क्)-क्रीडाविनोदिनम्।

मत्स्येन्द्रनाथमानौमि (मत्स्येन्द्रनाथं नौमि) सर्वज्ञं योगिनां वरः (वरम्)। ।५। ।

येन शंभुमुखोद्गीतं शास्त्रसारं सुदुर्लभम्।

सम्यग (सम्यगा?) श्रावितं वन्दे मत्स्य (त्स्येन्द्र) नाथमकल्मष्वं (षम्) ।।६। ।

पुरा योगिवरः (योगीवरः) कश्चिदभीक्ष-(च्छ)-त्सिद्धिमात्मनः।

चचार धरणीमेतां निर्ममो निरहंकृतिः। ।७। ।

स पुर्वं (पूर्वं) दासजातीयो नावमारुह्य सागरे।

वडिशेन महामत्स्यानानयत्यति नृ(घृ)णः। ।८। ।

कदावि(चि?)त्पुलिने नद्या गुप्ताचारपरायणान्।
शैवागमोक्तविधिना सपर्यासक्तमानसान्।।६।।

ददर्श ब्राह्मणान्साधून् विविक्ते भक्तिभावनात्।
समासससादरं येवं (?) दृष्ट्वा च वडिक्षा-(शा)-युधः।।१०।।

जालोद्यतकरं तं च दृष्ट्वा त (तेऽ) पि द्विजोत्तमः (माः)।
वभुबुर्व्यथिताः सर्वे षाक (साकं) भयसं-(शं)-किताः।।११।।

स चापि तानुपासाद्य दासः समभिवीक्ष्य च।
अब्रवीत् के भवंतो (भवन्तो)ऽस्मिन्पुलिने(ऽ)त्र समागताः।।१२।।

[f 16]
किमिदं क्रियते कर्म भवद्भिरिह गूहितैः।
व्रत (ब्रूत) मे सकलं विप्रा भवतामत्र संस्थितम्
(संस्थितिम्)।।१३।।

ते चापि प्रोचुर् स भस्याभिः त्र (अस्माभिः) (पूज्यते?) परमेश्वरः।
शम्भुर्गिरिजया साकमर्च्यते शास्त्रमार्गतः।।१४।।

नेदं च विदितं कर्म सर्वज्ञेन शिवेतवं (शिवेतरेण)।
घृणीतं पशुमापाशौ (पशुपाशौ?) च वेदनायातनाहतम।।१५।।

य शिवोक्तामिमां साधु सपर्यां गुप्तमाचरेत्।
जीवन्मुक्त (°मुक्तः) स विज्ञेयः सर्वदीषच (°दोष)भयोत्थितः।।१६।।

तस्माद्विमुक्तैरस्माभिः पूज्यते परमेश्वरः।
प्राक् ध्याय (ध्यात)बहुदीषाणि (-बहुदोषाणि) प्रवदन्ति
बहुर्मुखानि।।१७।।

स सम्यग्वेदिनः पूजामिमां ये विघ्नयन्ति हि।
ते योगिनीशापहताः विनश्यन्त्यचिरेण तु।।१८।।

तस्मात्त्वयापि सन्मार्गरक्षासंप्राप्तबुद्धिमान्।
न वक्तव्यमिमं गुह्यं लोकद्वयजिगीषुणा।१६।।

यदि त्वमिदमन्येषां न वदिष्यसि दासज (कदाचन ?) कदाचन।
षण्मासात्तदयस्य (°मासादासादयसि) स्वसिद्धिं परमदुर्लभाम्।।२०।।

इत्युक्तो (°त्युक्त्वा) वा च (वाचः) तान् भूयः
सान्त्वयन्निव दाशजः (दासजः)।
नाहं वक्ष्यामि भद्रं वः (?) परेषामीदृशीं स्थितिम्।।२१।।

युष्म(द्)द्वेष न मे कश्चि(द्) धूर्य व्रजत निर्भया(याः)।
जालो(ऽ)स्म(द्)दैवतं तेन शयेमेनान्यथालयः (?) ।।२२।।

इत्युक्ता (उक्त्वा) स्ते (ते) न विश्वासं प्राप्य निर्यातिकं (निर्यात्रिकं)
च तम्।
प्रोचुः परमसंतुष्टास्तस्यानुग्रहकारिणः ।।२३।।

किमीहसे धनं दत्तमस्माभिरथवा प्रियम्
विद्यां वा दुर्लभतरां ब्रूहि यत्ते मनोमयम्।।२४।।

तैरुक्तः स महाविद्धि (°सिद्धि)रित्युवाच कृताञ्जलिः।
विद्यां दत्तामभिच्छामि (अभिजानामि) भवद्भिरतिदुर्लभाम्।।२५

[f 2a]
ततश्च (तदस्य) स्ने(ह)वरं भावं दृष्टा (दृष्ट्वा) प्रोचुर्विदां वराः।
अनेनाभृतमत्स्येन महापातकहारिणा।।२६।।

नि(र्द्धू)ताखिलपाया(°पापा) रुचं(रुचां)विद्यां दिव्यामवाश्यसि
(°वाप्स्यसि?)।
इत्युक्तः सेभिषेकानां (साभिषेकानां) सप्रसादां यथाविधि
(विधिः)।।२७।।

दद्रु (ददुः) विद्यां महात्मानो योगिनीनां महोदयाम्
दत्वा विदूयां च संदृस्य (संदृश्य) योगित्वं च धीमतः।।२८।।

प्रोचुर (प्रोचुः) नम (तम्?) कर्मज्ञाः सस्नेहमनुशासनम्।
जपोध्यान परो (जपध्यानपरो) नित्यामिमां विद्यामतन्द्रितः।।२९।।

वर्षत्रयेण या सिद्धिर्जायते ह्यजरामराः
महेश्वरप्रसादेन जायते सिद्धिरुत्तमा। ।३०। ।

षण्मासाज्ञायते सत्यमित्युक्ता (°मित्युक्त्वा) प्रययुर्द्विजाः।
दासो(ऽ)पि तत्परित्यज्य स्वजालवडिशादिकम्। ।३१। ।

त्यक्तसंसारबन्धुश्च पशुपाशविवर्जितः
तस्मिन्नेव सरि(द्) द्वीपे जपन्नास्ते महायशाः। ।३२। ।

तपस्याभिरतस्यास्य विजितेन्द्रियपने (°पद्धतेः)।
वत्सरार्धमतिक्रान्तं अहोरात्र समं तदा। ।३३। ।

षण्माशन्ते (°मासान्ते) महाभागे (°भागं) स्नातुमप्यागतं जले।
जग्राहासाद्य (जग्राह आसाद्य) व (च) महानुग्राहो दैवप्रवोदितः
(°प्रचोदितः)। ।३४। ।

गिरिकूटनिभस्यास्य देहमध्याङ्गतो(ऽ)पि सन्।
नमभाभरं (?) प्रग्व्य (?) स्ततत्कोत (°कोट)रं वह्निना। ।३५। ।

मत्स्यग्रस्तं स्वमात्मान मन्यमानो महाद्युतिः।
तत्रापि जयन्नेव (जपन्नैव) निनाय कतिचिद् दिनम्। ।३६। ।

एतस्मिन्नेव कलि (काले) तु कैशाला(कैलासा)द्रिनिकेतनम्।
पप्रच्छा (पपृच्छा)साद्य गिरिजा योगशास्त्रं सुगोपितम्। ।३७। ।

भगवन्मम सर्वज्ञ शम्भो वक्तुं त्वमर्हसि।
योग (योगं) योगविदां श्रेष्ठ जरामरणनाशनम्। ।३८। ।
[f 2b]
महीधरेन्द्रसुतया पृष्टो (पृष्ट) (उ)वाच महेश्वरः।
नेहाहं संप्रपश्यामि योगं परमदुर्लभम्। ।३९। ।

श्रृणयु स्त्वपरे? देवि सुगोप्यं मृत्युनाशनम्।
तस्माद् विविक्तश्रा (विविक्ताञ्चा) साद्य वसे (वक्षे?)
देशे समाहितः। ।४०। ।

इत्युक्ता (क्त्वा) भगवान् शम्भु गिरीन्द्रसुतया सह।
प्रययौ जलधेद्वीपं (र्द्वीपं) विजनं ब(हु)काननम्।।४१।।

तश (तदा)सीनः क्वचिद देशे विविक्ते विजिते (विजने?) शिवः।
योगशास्त्रं समाचष्ट देव्यै चन्द्रार्द्ध(र्ध)शेषारः (शेखरः)।।४२।।

दासं ग्र(स्त्वा) महामत्स्यः सर्वतः परिचक्रमन्।
तद् द्वीपगह्वरं प्राप्य तथा च विधिचोदितः।।४३।।

तस्योपरिष्टाद् विश्यात्मा (विश्वात्मा) शिवः परमदुर्लभः।
योगशास्त्रं समाचष्ट गिरिजायै सुगोपितम्।।४४।।

मत्स्यदेहगतः श्रीमान् स च दासकुलोत्तमः।
सुस्रा षीदखिलं (अश्रौषीदखिलं) शास्त्रं सम्यक्
शंभुमुखोदगतम् ।।४५।।

य (यः) (पू)र्वं विप्रवाग्वज्र (°वज्र) - हतपातकपर्वतः।
भूयः श्रीशाम्भवं शास्त्रं श्रुतवानमृतोपमम् ।।४६।।

तच्छास्त्रं (स्त्र-) श्रवणोद्भूतं (द्धूत-) महापातकसञ्चयं (सञ्चयः)।
बभूव निर्मलमतिः सर्वज्ञः सर्वयोगिराट् ।। ४७

भगवानपि तत्रैव समासा(सी)नो महेश्वरः।
योगशास्त्रं तदा देव्यै शतकोटिप्रविस्तरम्।।४८।।

नु (उ)वाच चाखिलं तेन शुभं देव्यै सुदुर्लभम्
समाप्य शास्त्र (शास्त्रं) विधिवत् विश्वप(पाः)शङ्करः।।४९।।

गन्तुमैच्छत्स (°मैच्छन् म-) हेशात्मा स्तस्मात्वं (तस्मात स्व) धामपूजितं।
अथोवाच जलौकस्य (स) देहमध्यगतो महान्।।५०।।

[f 3a]
सर्भाक्त (अर्भाष्ट)दर्शनं तस्य शिवस्य परमेष्ठिनः।
भगवंस्त्वन्मुखोद्गीतं शास्त्राणामतिविस्तरात्।।५१।।

ग्राहदेहान्तरस्थेन प्रेरितेन विधानृणा (°तृणा?)।
ममानुग्रहकामेन भवता परमेश्वरः।।५२।।

इदं देशमनुप्राप्य प्रोक्तं शास्त्रमनुत्तमम्।
विप्रदत्तप्रसादस्य भुक्तपातकपद्धृते (°पद्धृतेः)।।५३।।

त्वयोक्तं शाम्भवं शास्त्रं सुकरं भवतु प्रभो।
इति व्याहृतमाकर्ण्य शंभुः (शंभुं) स्मृत्वा मुहुर्त्तकम्।।५४।।

प्रोवाच गिरिजां देवीं सर्वलोकनमस्कृतः।
महादेशोऽयमिति मत्वा मया शुभे।।५५।।

प्रोक्तं योगं तद-(वै)-पि मत्स्योक्तं मर्त्यजन्मना।
मद्भक्तवचनादेव मत्प्रसादपविवतः (प्रभावतः?)।।५६।।

तस्मादस्य पुनर्दास्ये वरं मत्तप्रचोदितः।
सत्यं कर्तुमभिच्छामि (°मभीच्छामि) तत्प्रसादाधृतात्मनाम्।।५७।।

ब्राह्मणानां वचः श्रुत्वा गुप्तज्ञानविदामहम्।
इत्युक्तो(क्त्वो?)त्पादय मत्स्यं तनुज्ञहारस्य (उज्जहारास्य?)
कोष्टतः ।।५८।।

योगिन त्वमु दागत्मा (तमुदारात्मा) भगवान्परमेश्वरः।
सोऽपि दृष्टा (दृष्ट्वा?) तदा रुद्रं सार्द्र (सार्द्धं)
गिरिजया स्थितम्।।५९।।

त्वत्प्रसादं (तत्प्रसादं?) समालश्म्या (समालभ्य?) दिव्यज्ञाननिधिः
स्वयम्।
तुष्टा व (?) परमेशानं एकाग्रच्छदयोगतः।।६०।।
ॐ नमस्ते शम्भवे देव्यै (देवाय) शिवाये (शिवाय) परमेष्टिने।
दिव्ययोगमहाशास्त्रो (°शास्त्र-) शारदायाखिलात्मने ।।६१।।

नमस्ते भिगिने (भोगिने) योगदायिने शुभयोगिने।
महामनय (महासन्नाय) सन्मार्गपालिने मृत्युमूर्तये।।६२।।

[f 3b]

डाकिन्यादिमहासप्तयोगिनी वृन्दमण्डलैः।
सप्ताधारपदे सम्यक् पूजिताया रुपिणे।।६३।।

योगिनीनां चतुः षष्टिः षणा (षण्णां?) मध्यनिवासिने।
परमामृतसंतृप्त-सद्भावानन्द-मूर्तये ।।६४।।

जीवन्मुक्तपदप्राप्तिकारणामृतदायिने।
भक्तानामखिलज्ञानप्रदानासक्तेचेतसे।।६५।।

स्वप्रसादसमु-क्तं (?)भक्तपातकराशये।
स्वप्रजाप्यान् (?)जप्यादि वि(घ्न)कोटिविभेदिने ।।६६।।

श्रीशांभवमहाशास्त्र प्रधानसुरधेनवे।
कल्पद्रुमाय भक्तानां कामितार्थप्रदायिने।।६७।।

स्वशक्तिमहिम....ल पशुपाशाय मायिने।
रमणीयगुणाधारमूर्त्तये लिङ्गमूर्त्तये।।६८।।

भैरवाष्टकरूपाय भक्तानां भयहारिणे।
अरलाहि (अर्गलाहि) महामन्त्ररुपिणे मन्त्रभेदिनि।।६९।।

बर्कविम्बमध्योत्थ (बालार्कविम्ब°) सुधावि....नमूर्वैः(?)।
सन्तार्पितमहामूर्ति- भेदकोटिशतात्मने।।७०।।

भ्वादिकुट(न्य)स्तजटाकालमृत्युभयात्मने।
सद्रिकूट (साद्रिकूट) महादिव्यो-(-व्य) निष्कलारूपरूपिणे ।।७१।।

क्रादिकुटमहाबीजत्रयसंस्थितशोधनैः (°शोधिने)।
लुब्धमाम्राज्य (लब्धसाम्राज्य) विभवश्रीविद्यायोगचारिणे।।७२।।

भौतिकादिमहामूलविद्यात्रयसमर्थितान् (°समर्थिने)।
सद्यः संलब्ध्य (संलब्ध)सद्भावपरमानन्दशालिने।।७३।।

महार्श्रीशाम्भवीदिक्षा लब्ध ब्रह्मादिसम्पदे।
वलीपलित (वलिपलित) नाशैकमूर्त्तये (अ)मृतदायिने।।७४।।

सुमहाशम्भविद्यालब्धसिद्धिपरामृतैः।
कालहलाहला ल्लोल (°हालाहलोल्लोल)कलनशमकारिणे।।७५।।

दिव्यागमागमाधस्थानचन्द्रपूजितविग्रहे।
जगमगणगागादिहारिणे पापहारिणे।।७६।।

श्रीशाम्भवामृतास्वादपूजायोगकलेवरे।
विलीनपातकव्रातहारिणे परमाणवे।।७७।।

महाधामाग्र ....त्यग्र मध्यवासिपदाग्रिणे।
महारसायनास्वादामृतपूतमहातनो ।।७८।।

महाव्याधिमहामृत्युमहापालितहारिणे
सर्वावयवसौन्दर्यगुणसंहार्ण(°श्रृङ्गार)- वेषिणे ।।७९।।

नमस्ते परमानन्दस्वरूपरूपाय शम्भवे।
महाभूतपिशाचादिभयहत्रे (हर्त्रे) महात्मने ।।८०।।

महोत्पातमहाघोर दुःखघ्नभयनाशिने ।
नमस्ते क्षेत्रपालाय लोकरक्षाविधायिने ।।८१।।

गुप्ताचारगुहां प्राणग्रसनासक्तचेतसे।
श्रीमत्समयसन्मार्गपालकानां महात्मनाम् ।।८२।।

महासाम्राज्यसौभाग्ययोगवृद्धिप्रदायिने ।
शक्त्यालिङ्गितदेवाय शम्भवे सकलात्मने ।।८३।।

नमः शिवाभ्यामिष्टा (°इष्टाय ...) फलदाभ्यां यतात्मने।
श्रीमन्महेश्वरज्ञानपालकाभ्यां नमो नमः ।।८४।।

एवं स्तु(ता) शिवः शांवः (शान्तः) प्राप्तज्ञानेन योगिना ।
प्रसादात् सुखः (सुखं) प्राह वर च प्रददौ तदा ।।८५।।

न चैवं ह्याह (?) तं शास्त्रं स गुप्तं (सुगुप्त°) भवता श्रुतं ।
तदारं भ्य (तदारभ्य)दिवा सूत्रं (-रात्रं) नियत्मा-
तंद्रितः(नियतमतन्द्रतः)।।८६।।

भविष्यामि तयो (ततो) योगि (योगी) लोके(ऽ)स्मिन् ह्यजरामरः।
आत्मवन्तं महात्मानं शिष्यं कृत्वा जितेन्द्रियम् ।।८७।।

ब्रूहि गुह्यमिदं शास्त्रं अस्मिन् लोके यथा भवेत्।
मत्प्रसादाच्च ते सिद्धिर्भविष्यत्यजरामरः (°मरा) ।।८८।।

[f 4b]
यस्मात्वमिह (°त्त्वमिह) मत्स्यस्य मध्यदेशात्समुद्गतः ।
तस्मान्मत्स्येन्द्रनाथाख्यो भविष्यसि जगत्त्रये ।।८९।।

यदिदं व्याहृतं स्तोत्रं त्वया योगविदां वरः (वर) ।
जपतां योगसंसिद्धिं ददामि वर्ष(वत्सर ?)त्रयात् ।।९०।।

इत्युक्तां (त्युक्त्वा) तर्हितः (अन्तर्हितः) शम्भुः सह देव्या त्रिलोचन।
योगिमत्स्येन्द्रनाथो(ऽ)पि यथा भगवतो हतं (दिवम्) ।।९१।।

कृत्वा यस्य समाराध्य गुह्यावार (गुह्याचार)विधानवित् ।
त्वद् भेदा रसिकां सिद्धिं देवैरपि सुदुर्लभाम् ।।९२।।

ततः शंभोर्वचः श्रुत्वा लोकानुग्रहकाम्यया ।
मेदिनीं परिचक्राम विधिनून् (?) शिष्यमात्मनः ।।९३।।

स लोकेनाससादैकं शिष्यमात्मगुणोपमं ।
यदा न लेभे सर्वज्ञं शिष्यं योगविदां वरः ।।९४।।

यदेवं व्याहृतं वाचा परिचक्राम भूतले ।
आधिमृत्युमहाग्राहग्रस्तमेतच्चराचरम् ।।९५।।

विद्यमाने(ऽ)मृते दिव्ये शम्भुप्रोक्तो सुदुर्लभे ।
इत्युच्चैरुद्गिर(न्वा)चा चरत्येव दिवानिशम् ।।९६।।

ततः कालेन महता वोतो (चोलो)राजा महायशाः ।
सुश्राव तस्य तां वाणीं दुर्ज्ञेयम् बुधैः जनैः ।।६७।।

स विविक्ते महात्मानं मत्स्येन्द्रं योगिनां वरम् ।
अब्रवी(त्) (भू)पतिः प्रीत्या जिज्ञासस्तस्य कारणम् ।।६८।।

कस्तं (कस्त्वं) प्राकृतवेषेण वरिष्यस्य (चरिष्य)अनमरोपमः (?)
का त्वयो(त्वया) गीयते गाथा शम्भुप्रोक्ता च का (शु)भा ।।६६।।

श्रोतुमिच्छामि ते गुह्य (गुह्यं) श्रोतव्यं यदि सत्तम ।
इत्युक्ताः (इत्युक्तः) स महायोगी चोलेन धरणीभुजा ।।१००।।

प्रोवाचैनं त (?) वक्तव्यं गुह्यं राजकुलोद्भवम् ।
कालेन त्वे (ते) प्रवक्षामि युक्तावातंर (प्रवक्ष्यामीत्युक्त्वान्तर)-
धीयते (धीयत) ।।१०१।।

[f 5a]
तस्मिन्तर्हि ते (तस्मिन्नन्तर्हिते) मत्स्यनाथे चोलमहीपतिः ।
चिन्तासोक (चिन्ताशोक)समादिष्ट(समाविष्टः) प्रदधौ
मनसा चिरम् ।।१०२।।

हा हन्त स्वल्चयं को नु चरन्त्येतन् (चरत्येतन्) महीतले ।
किमर्थं यति(?) रोगतः किं मया प्रकृतं तस्य ।।१०३।।

नूनमेषः स्वयं शम्भुरथवा हरिरव्ययः ।
नान्येषामीदृशो भावं (भावो) भविष्यति कदाचन ।।१०४।।

कदायत्थाम्यहं भूयं (कदा पश्याम्यहं भूयः) इति संचिन्त्य पार्थिवः ।
चिन्तां तीव्रां समापेदे तद् दर्शनसमुत्सुकः ।।१०५।।

पुनश्च चिन्तयामास कालेन महता तपः ।
गुह्यमेतत् प्रवक्ष्यामीत्युक्ता (° मीत्युक्त्वा ऽ)- न्तर्हित स्वयम् ।।१०६।।

एतदेव परं (दैवा)नुग्रहं मम साम्प्रतं ।
इत्युक्ता (इत्युक्त् वा) निर्ययौ राजा नगरादेकपवसः (?)।।१०७।।

मत्स्येन्द्रनाथा (मत्स्येन्द्रनाथं) योगीन्द्रं दृष्टुमिच्छन् उदारधी ।
चचार चयरामेतां (सचारमेतां) अवधूतः शिवः स्वयम् ।।१०८।।

तमेव मनसा ध्यायन् शाकमूलक्षता(?) शनः ।
अथ संवत्सरे पूर्णे गोमन्ते नागसत्तमे ।।१०६।।

कदाचित् ....षा तप्तो राजा शंसय (संशय)मागतः ।
श्रमेण महता युक्तः तथा तव (?) महीतले ।।११०।।

ततो मत्स्येन्द्रनाथो (ऽ) पि ....प्राप्तं नराधिपं ।
विस्मापय(न्) जगामाशुरूपविभू (?) तिरस्कृतम् ।।१११।।

नरास्थिमानादि (नराधिप°) ततो मधी (?) पूर्णकलापभृत्
स्रिया (श्रिया?) कदाचि(त्) ह्यनुपातैः शुचिर्वृतः ।। ११२

महालचुमदा (?) ख्यातो घूर्णमानाक्षिमण्डलः ।
प्राद्रु शासि (प्रादुरासन्) सुरास्तस्य पौर्वा गाथामुदीरयन् ।।११३।।

[f 5b]

सो(ऽ)पि दृष्टवा तदाप्राप्तं तं च (तञ्च) वेषमनिन्दितम् ।
आसाविति (?) च विज्ञाय परिदध्यौ मुहूर्त्तकम् ।।११४।।

निन्दिते तत्स्वरूपेण मोहं विष्यति (?)मामयम् (?)।
तस्मादितं (?) मोक्ष्यामि वन्दनीयश्च सर्वथा ।।११५।।

इत्युक्तो (इत्युक्त्वो)त्थाय तत्पादौ गृहीत्वा वाक्यमब्रवीत्।।
कस्त्वं मे ब्रूहि तत्त्वेन तृप्तोऽहं तव साम्प्रतम् ।।११६।।

त्वद्दर्शनमभीछन्नै (?)पये ......त्वा (?) महीमिमाम् ।
कथञ्चिदमहद्राक्षं त्वं चमेतिरस्कृतः(?) ।।११७।।

किमेतद् इति विज्ञानं नैव सक्नोमि (शक्नोमि) चिन्तयन्।
ब्रूहि मे तव वृत्तान्तं कस्तं (कस्त्वं) प्रकृतरूपवान् ।।११८।।

इत्युक्तः सान्त्वयित्वा एनं सम्यक् पृष्टं द्विजेन ।
विविक्ते साभिधिकां (साभिषिक्तां ?) च विद्या° दत्वा
महाशयाः ।।११६।।

योगित्वं प्रददौ तस्मै सम्यक् प्रोक्तेन कर्मणा ।
यदायोगामृत (तापा) स्त-पशुपाशो महा(य)तिः ।।१२०।।

तदास्य कथयामास शाम्भवं शास्त्रमुत्तमम् ।
श्रुतं मया शम्भुमुखात् शास्त्रसारं सुदुर्लभम् ।।१२१।।

कथ्यमानं महेशान्यै यच्छृणु समाहितः ।
शिवेन च समाख्यातं सच्छिष्यायेदम् उत्तमम् ।।१२२।।

मया प्रोक्तं न वक्तव्यं लोकानुग्रहकारणात् ।
त्वं चेच्छ्रुत्वा समभस्व (समभ्यस्य) शास्त्रं शाम्भवमुत्तमम् ।।१२३।।

मुमहायोगसाम्राज्यं लब्धा सित्वा (जित्वा) जरामरः ।
शास्त्राणाममृतं सर्वेषां सर्वज्ञेन शिवेन च ।।१२४।।

मत्प्रणीतम(म)लं शास्त्रं तत्प्रमाणं न संशयः ।
यदि चेदप्रमाणं स्यात् शास्त्रं सर्वज्ञ (सर्वत्र) चाखिलम् ।।१२५।।

किं प्रमााणं जगत्यस्मिन् दृश्यते शास्त्रकोटिषु ।
प्रमाणं शाम्भवशास्त्रं प्रवदन्ति विपश्चितः ।।१२६।।

[f 6a]
तस्मात् ज्ञेयमिदं शास्त्रं गुरुवक्त्रात् सुदुलर्भम् ।
योगविद्याविहीनानां पशु (पशू)नामसुरात्मनाम् ।।१२७।।

बहिर्मुखानां तन्निन्दामानसानां दुरात्मनाम् ।
गुह्याचारदुहां तर्कभेदवादोपसेविनाम् ।।१२८।।

शम्भुप्रसादहीनानां तत्सपर्याविरोधिनाम् ।
न वक्तव्यमिदं शास्त्रं गोप्यं श्रीशम्भुभाषितम् ।।१२६।।

नेदं लाक्षणिकं शास्त्रं पशुधीवृद्धिगोचरम्।
गुरुप्रसादतो लभ्यं नोपहासं (नोपहास्यं) हि सात्त्विकैः ।।१३०।।

न संसदि वदनेनं (वदेत् एनं) सतामपि कदाचन ।
विजनेशु (विजनेषु) प्रवक्तव्यमित्याज्ञा पारमेश्वरी ।।१३१।।

तं च श्रुत्वा इदं शास्त्रं सम्यगभ्यस्य यत्नतः ।
चोलेन्द्रनाथ नामा (?) त्वं भविष्यसि योगिराट् ।।१३२।।

पुरा महा(र्णव)मध्ये तु द्वीपवर्ये महेश्वरम् ।
पप्रच्छ परमेशानी विविक्ते श्रृण्वतो तम् ।।१३३।।

तत्ते वक्षाम्यहं सर्वं सिद्धानां हितकाम्यया
तपो न सारो (ऽ)ध्ययनं न सारो
यज्ञो (ऽ) थ दानप्रचयं न सार
सम्पत्तिचय न सारो
दिव्यागमो (ऽयं) खलु सारसारः ।।१३४।।

।। इति श्री मत्स्येन्द्रसंहितायां प्रथमः पटलः ।।१।।

।।द्वितीयः पटलः।।

[6 a] श्रीदेव्युवाच —

जय सर्वज्ञ विश्वेश त्र्यम्बकाखिलवन्दित।
सर्वागममहाशास्त्रसारज्ञ परमेश्वरः (परमेश्वर)।।१।।

भवतां कथितं शास्त्रं मया श्रीवि (मयाश्रावि) सुविस्तरात्।
तत्रमेषु (?) चिरं शास्त्रं शाम्भवं योगसाधनम्।।२।।

न च विस्तरतः प्रोक्तो इदानीं विस्तराद् वद।
अप्रकाश्यं महाशास्त्रमित्यादौ प्रोक्तवान्स्वयम्।।३।।

देशो ये (अयं) निर्जनः शान्तां (शान्तो) निराबाधो (ऽपि) दृश्यते।
योगासारं ममाचक्ष्व तस्मादिह यथा तथा।।४।।

[f 6b]
देहशुद्धिः कथं देव कथं स्यादसनक्रमः।
प्राणायामः कथं प्रोक्तः प्रत्याहारः कथं भवेत्।।५।।

कथं साधारणो योगो ध्यानयोगश्च कीदृशः।
कथं श्रीकुण्डली (कुण्डलिनी) योगः त्रिलिङ्गार्चापि कीदृशी।।६।।

कानि क्षेत्राणि देहे(ऽ)स्मिन् कानि तीर्थानि शङ्करः।
सर्वस्नानाधिकस्नानं कः परः परमेश्वरः ।।७।।

कापौषध-(काप्यौषध)-प्रयोगानि किञ्चिदेव रसायनम् ।
कथं स्यात्पा(दुका)-सिद्धिर्देहसिद्धिः कथं भवेत् ।।८।।

वेतालसिद्धिश्च कथं कपालस्य च साधनम् ।
कथमञ्जनसिद्धिस्स्याद् यक्षिणीसिद्धिरेव च ।।९।।

अणिमादि (:) कथं देव योगिनीमेलनं कथम् ।
एतान्येव तथान्यानि भवता सूचितानि च ।।
तानि सर्वाणि ब्रूहि विस्तरेण महेश्वर ।।१०।।

श्रीमहेश्वरः उवाच—
श्रृणु देवि प्रवक्षामि योगशास्त्रं सुदुर्लभम् ।
येन विज्ञानमात्रेण भैरवा भोवितानि (भवितानि?) च।।११।।

देहशुद्धिं प्रवक्ष्यामि तत्रादौ सर्वसिद्धये ।
न सिद्धिर्जायते तेन विना वर्षायुतैरपि ।।१२।।

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन देहशुद्धिं समाचरेत् ।
येन सम्यगापूतात्मा सिद्धिं पारमिकां लभेत् ।।१३।।

प्रातः स्नात्वा यथा न्यायं भस्मना सलिलेन वा ।
मन्त्रस्नानं प्रकुर्वीत् तद् यथा श्रृणु पार्वति ।।१४।।

गृहीत्वा दक्षिणे हस्ते जलं चुलुकमात्रकम् ।
वामाङ्गुष्ठानामया च स्पृर्श तेन (स्पृशन्तेन) समाहितः ।।१५।।

सविन्दुकैर्भूतबीजैः पञ्चप्रणवसंयुतैः ।
प्रजपेत्सप्तधा देवि मूलमंत्रेण च त्रिधा ।।१६।।

[f 7a]
वामाङ्गुलिशिलायोगा(ज्ञ)लेन सह दीपितम् ।
पातकं प्रक्षिपेद् वामे शिववजृ (वज्र)- शिलोपरि ।।१७।।

अथाचम्य त्वात्मानं दोषहत्यादिशान्तये ।
प्रोक्षयेन्मूलमन्त्रेण तत्पूतं त्रिः पिबेज्ज़लम् ।।१८।।

ततः स्वदेहमस्नाव्य (स्वदेहमाभाव्य) मुद्रया धेनुरूपया ।
मूर्धादिपादपर्यन्तं मुक्तशेषं पुनस्तन्मुम् ।।१९।।

परिभाव्य चिरं देवि भूतबीजैस्तथा पुनः ।
पादे गुह्ये च मौने च हृदि मू (मूर्ध्नि) सबिन्दुकैः ।।२०।।

विन्यस्य व्यापयेत्पञ्चतारसम्पुटपूर्वकैः ।
प्रजपेच्च यथाशक्ति पञ्चप्रणवसम्पुटात् ।।२१।।

एवं प्रोक्तं मया देवि कर्मै तद(घ)-मर्षणम् ।
अनेन स्नानमात्रेण गताहोरात्रिपातकम् ।।२२।।

सर्वतीर्थस्थानपुण्यमाप्नुयान्नात्र संशयः ।
भस्मस्नानविधि (धिं) वक्ष्ये येन योगी मलक्षयम् ।।२३।।

लभते सर्वसिद्धीनामाधिपत्यमवाप्नुयात् ।
वामहस्ततले भस्मं गृहीत्वा परमेश्वरि ।।२४।।

संस्पृशं (संस्पृशन्) दक्षहस्तेन न्यासमेवं समाचरेत् ।
पञ्चतारं समुच्चार्य व्योमेन्द्राननबिन्दुवत् ।।२५।।

बीजमुक्तानिवृत्यं (?) ते प्रवदेच्च कलात्मने।
नमो तं देव देवेशि पादयोः परिविन्यसेत ।।२६।।

चतुः प्रणवमुच्चार्य व्योमाम्बुशशिदृगयुतम ।
सबिन्दुकं बीजमुक्त्वा प्रतिष्ठा शब्दमुच्चरेत् ।।२७।।

कलात्मने नमो (ऽ) न्तं च नाभौ मन्त्रं प्रविन्यसेत् ।
प्रणवत्रयमुच्चार्य कण्ठे शानलनृत् (?) स्वनैः ।।२८।।

[f 7b]
बिन्दुबीज-(स)-मुच्चार्य पुनर्विद्याकलात्मने ।
नमो तं (?) हृदि विन्यस्य पुनश्च प्रणवद्वयम् ।।२९।।

प्रोक्ता(प्रोच्य?) व्योमानलमहाभौतिकार्धेन्दुभूषितम ।
बीजं प्रोक्ता (प्रोच्य?) महाशान्तिगद्यन्ते च कलात्मने ।।३०।।

नमो तं (?) विन्यसेद् वक्तो(वक्रे) प्रोक्ता (प्रोच्य) च प्रणवं पुनः ।
व्योम (यु)ग्मानुग्रहे................ बीजान्ते शांत्यभीतकम् ।।३१।।

पदमुक्त्वा कला ते वै चात्मवेति(?) नमः पदम् ।
मन्त्रं प्रविन्यसेत् मूर्द्धि (मूर्ध्नि) प्रतिलोमेन चैव हि ।।३२।।

एतान्येवं प्रविन्यस्येच्छान्त्यतीतादिकान् क्रमात् ।
एवं विन्यस्य मेधावी ऋष्यादीन् विन्यसेत्पुनः ।।३३।।

अथ मूर्द्धा (मूर्धा) च ऋषिरनुष्टश्द्दन्द (श्रनुष्टुपश्छन्द) उच्यते ।
देवता परमेशानि देवः पशुपतिः स्वयम् ।।३४।।

ऋष्यादीनां तु विन्यस्य पुनरेव समुच्चरेत् ।
अग्निरिति वायुरिति व्योमेति जलमित्यपि ।।३५।।

त्रि मन्त्राणि च भस्मानि भस्मान्तानि पृथक् पृथक् ।
सर्वं ह वा (?) पदं प्रोक्ता (प्रोच्य) (वदेत्?) भस्मपदं पुनः ।।३६।।

मन इत्येतानि पदं च(क्षु)षि पदमुच्चरेत् ।
भस्मानीनि पदं भूयः प्रोक्तायं(?) वाक्षरेण तु ।।३७।।

रुद्रवारं जपित्वैवं विभाव्य च करे त्रिधा ।
आद्यां चां (?) पञ्च धी क्षत्वा (?) नेमेशनाय (?) चेति च ।।३८।।

आकाशात्मने नम इति शिरस्येकं विनिक्षिपेत् ।
मं (?) तत्पदं समुच्चार्य पुरुषायानिलात्मने ।।३९।।

नमश्चेति द्वितीयांशं सविभज्य च पञ्चधा ।
पञ्चार्णाद्यैस्तथेशादिमूर्तिभिः सचतुर्थकैः ।।४०।।

ऊर्ध्वं प्रदक्षिणे दिव्ये पश्चिमे प्रमुखेषु च ।
वक्रात्मने ति नत्यं तैः (?) कर्मणे च विनिक्षिपेत् ।।४१।।

[f 8a]

पुनस्तृतीयकं चांशं प्रोक्ता पञ्चाक्षरं सुधीः ।
कुर्याद् योगी त्रिपुण्ड्राणि सर्वदुःखोपशान्तये ।।४२।।

एतदोत्लेयम् उद्दिष्टं स्नानं पातकनाशनम् ।
पुण्यं पाशुपतं देवि पशुपाशविमोचनम् ।।४३।।

एवं स्नानादिसंशुद्धः प्रातः प्रातः समाहितः ।
सप्त सप्त यथा न्यायं शोषणादि समाचरेत् ।।४४।।

भां तां तं बिन्दुसंयुक्तं उच्चरन् प्रणवादिकम् ।
इडया वायुमापूर्य कुम्भकेन महेश्वरि ।।४५।।

मूलाधारे स्मरेद् बिन्दुं षङ्गलाकित(? षडगांलङ्कृत)- मण्डलम् ।
धूम्राभं मत्विलं (?) बीजं तस्य मध्ये विभावयेत् ।।४६।।

तन्मध्याद् अद्भुतं वायुं आ-पादतलमस्तकम् ।
शोषयन्तं स्वकं देहं पाप्मना सह संस्मरेत् ।।४७।।

अद्य तं रुद्रमनिलं देवि पिङ्गलया शनैः ।
प्रमुञ्चेत् पूर्ववद् बीजमुच्चरेद् भुवनेश्वरि ।।४८।।

भूयः समतनुर्भूत्वा प्राणार्णं प्रजपेच्छनैः ।
यथा शक्तिचरं ध्यायेत् सशुष्कं सकलेवरम् ।।४९।।

सप्रक्षुत्य (सप्तकृत्य)-श्चरेदेवं शोषणं पर्वतात्मजे ।
तत स्वच्छंदये दीप्तां सुरक्तप्रभयान्वितम् ।।५०।।

ऋशानोर्मण्डलं ध्यात्वा तन्मध्ये बीजमानसम् ।
पातान्तबिन्दुसहितं ध्यायेत्तद् वर्णमध्यतः ।।५१।।

प्रादुर्भूतमहाज्वाला मण्डलोदारविग्रहम् ।
ग्रहं चित्रार्कं चिन्तयेदर्कं नाडीमार्गेण खे गतिम् ।।५२।।

प्रपूर्य कुम्भकावस्थां प्राप्य वायुं विशोषितम् ।
प्रदहेद् आत्मनो देहं एनसा साकमात्मवित् (?)।।५३।।

[f 8b]
पुनर्विशोधितं प्राणमिडाचक्रेण वा त्वरन् ।
विमुच्येत् स्वस्य देहस्तु यथाशक्त्यानलं जयेत् ।।५४।।

पूर्वोक्तसंख्यया सम्यगाचरेद् देवि दाहनम् ।
अनेन विधिना सर्वं पातकानि दहेत् ध्रुवम् ।।५५।।

अग्रे देवि भ्रुवोर्मध्ये सुषिरं चन्द्रण्डलम् ।
यशोहारं समुद्दिष्टं तन्मध्यस्थं विभावयेत् ।।५६।।

ततस्तद् वर्णितं भूतं चैन्द्रतारसुधातनुम् ।
श्रवं सममृतं (?) शुभ्रं भावयेच्चिरमादरात् ।।५८।।

इडाचक्रे समापूर्य पवनं कुम्भकान्वितम् ।
तच्चन्द्रगतपीयूषधारया शीतलात्मना ।।५९।।

आसिञ्च्य अनलसंदिव्यं पुनर्जातं च तत्तनुम् ।
चिन्तयेत् कलुषैर्मुक्तं तेजोरूपं चिदात्मवित् ।।६०।।

पिङ्गलायां समुत्सृज्य यथाशक्ति जपेच्च तम् ।
सप्तकृत्वस्तु कृत्यैव (कृत्वैव)- मिडापिङ्गलयोः परे ।।६१।।

आपूर्य कुम्भकैः प्राणं पिनाकीशं सबिन्दुकम् ।
प्रोच्चरन्तं महाशक्तिसारभूतं कलेवरम् ।।६२।।

सम्भावेच्छनैर्वायुं उभाभ्यां सम्यग् उत्सृजेत् ।
भूयः समतनुः स्वच्छं स्वदेहं देवतामयम् ।।६३।।

ध्यायेच्चिरं प्रसन्नात्मा जपेत् मन्त्राणि चैव हि ।
अनेन विधिना शुद्धदेहे स्मिनोर (?) सिद्धयः ।।६४।।

प्रवर्तन्ते (अ)चिरादेव चान्यथानर्थकृद् भवेत् ।
भावेन सह शुद्धश्चेत् सर्वयोगमाप्नुयात् ।।६५।।

भावहीनस्य नैवास्ति सिद्धि वर्षायुतैरपि ।
उदकुम्भसहस्रेण मृदाढकशतेन वा ।।६६।।

अपि वर्षसहस्रेण भावदुष्टो न शुध्यति ।
तस्मादेतानि देवेशि भावपूतः समाचरेत् ।
इति षण्मासतः शुद्धः सम्यग् योगं प्रिये लभेत् ।।६७।।

।। इति श्रीमत्स्येन्द्रसंहितायाः (यां) द्वितीयः पटलः ।।

।।तृतीयः पटलः।।

[9a] ईश्वर उवाच —

यथासतक्रमं (यथागतक्रम°) वक्ष्ये साधकानां हिताय वै ।
यदभ्यासक्रमेव(यदभ्यासक्रमेणैव) स्थिरत्वं सुकरं भवेत् ।।१।।

समादाय शुचौ देशो ....+........+.........वस्तोत्तरं छदं (?) ।
शङ्कं च दक्षिणं (दक्षिणे) स्थाप्यं सम्यग् वामोरूमूर्ध्वनि ।।२।।

सम-ग्रीवशिरोव(क्त्रं)ह(स्तौ) विन्यस्य चोपरि ।
आकुञ्च्य गुदमेकाग्रो वीरासनमिदं परम् ।।३।।

अनेन आसनयोगेन योगरूढः प्रसिध्यति ।
न चाभ्यासविधौ वैतच्छेत्स्यति सर्वसिद्धये ।।४।।

तस्यैव (तस्यैवं) दक्षिणां जङ्घां न्यसेद् वामोरूमूर्धके
कूर्मासनं तद्विज्ञेयं सर्वेद्रिवशंकरं (सर्वेन्द्रियवशं करम्) ।।।५।।

दक्षपादं च वामोरू मूले विन्यस्य तत्पदम् ।
दक्षोरुमूलपीठार्थं कल्पयेत् सुदृढासनम् ।।६।।

बाहुयुग्मं समुसृज्य श्वलिका(?) -सनमीरितम् ।
सर्वसिद्धिप्रदं देवि सर्वरोगविनाशनम् ।।७।।

वामगुल्फमधः कृत्वा कृत्वोपरि च दक्षिणम् ।
गुदेनापीड्य वै जानुयुगलं परिपाल्य च ।।८।।

वामहस्ताङ्गुलीमूले (°मूल)-मवष्टभ्य यथाबलम् ।
दक्षिणहस्ताङ्गुलीमूलैः परिवर्त्य च तत्तलौ ।।९।।

कुरूमूलद्वये (उरूमूलद्वये) पीड्य स्थानाग्रे स्थापये(द्) दृशौ ।
कुक्कुटासनमेतद्वै मनसः स्थिरकारणम् ।।१०।।

उरूमूलद्वयाद् अधस्तात् पादयुग्मं निधाय च ।
तयोर्मध्ये स्थिरगुद पृच्छनुचम्य (?) निश्चलः ।।११।।

तथा करतलद्वन्दं समा-(श्लि)-ष्य परस्परम् ।
उर्वोरूपरि विन्यस्य नासिकामवलोकयेत् ।।१२।।

[9b]
मयूरासनमेतद् वै सर्वव्याधिविनासनम् (°विनाशनम्)।
एतस्य बाहुयुगलं कारयेद् दण्ड-(युग्म)-वत् ।।१३।।

करद्वयतलं भूमौ पुटाकारं निधापयेत् ।
किञ्चि(द्) दानमिततनु निश्चलस्थिरमानमः (° मानसः) ।।१४।।

पुरोवलोकयेद् द्वाभ्यां (स)मग्रीवः समाहितः ।
व्याघ्रासनमिदं सद्यो व्याधिघ्नं योगसिद्धिदम् ।।१५।।

वामपादम् अथोत्तानं कृत्वा दक्षोरुमण्डले ।
दक्षपादं तु वामोरौ तथाभूतं निधापयेत् ।।१६।।

उरुभ्यामुपरि स्थाप्य बाहुं त्यज्य (न्यस्य?) यथार्थतः ।
करपृष्टं दक्ष्यास्य (दक्षस्यास्य) न्यसेद् वामतलान्तरे ।।
अजु(ऋजु)ग्रीवशिरो भूत्वा तथाभूतं निधापयेत् ।।१७।।

उरूभ्यामुपरि स्थाप्य बाहुं त्यज्य(न्यस्य) यथार्थतः ।
करपृष्टं दक्ष्यास्य (दक्षस्यास्य) न्यसेद् वामतलान्तरे ।।१८a।।

ऋजुग्रीवशिरो भूत्वा नासिकामवलोकयेत् ।
तन्निमीलनं चोन्मील(न)म् कुर्यादाकुञ्च्य वै गुदम् ।।१८।।

समदेहस्थिरमतिः पद्मासनमिदं पदम् ।
सर्वयोगप्रसिद्ध्यर्थमभ्यस्तं भवति प्रिये ।।१९।।

वामजङ्घोपरि स्थाप्य दक्षजङ्घां जितेन्द्रियः ।
दक्षजङ्घाधरे वामगुल्फपार्श्वं निधापयेत् ।।२०।।

हस्तादिनाभिपर्यन्तं पद्मासनवदाचरेत् ।
विजयासनमेतद्धि सर्वसिद्धिकरं परम् ।।२१।।

उरुभ्यामुपरि स्थाप्य पादयुग्मं प्रयत्नतः ।
दक्षिणं सव्यदेशे च सव्यं दक्षिणदेशके ।।२२।।

करद्वयं पृष्ठदेशे परिवर्त्त्य प्रयत्नतः ।
पादांगुष्ठयुगं सम्यक् कराभ्यां संनिगृह्य च ।।२३।।

किञ्चिदुत्तानहृदयो नासिकामवलोकयेत् ।
दृढासनमिदं प्रोक्तं सद्यो रोगविनाशनम् ।।२४।।

[10a]
एतस्याङ्गुष्ठयोर्मूले कर्पूरे (कुर्परे) सन्निवेशयेत् ।
परिवर्त्त्य करौ स्पृष्टवङ्गुलीतल - गोपिता ।।२५।।

अङ्गुलीपृष्ठयो हेतु चिबुकं सन्निधापयेत् ।
अङ्गुष्ठौ सरलौ कृत्वा तालुमूलसमाश्रितौ ।।२६।।

धृत्वा स्थिरमना भूत्वा गृध्रासनमिदं परम् ।
सर्वदोषक्षयकरं सर्वोपद्रवनाशनम् ।।२७।।

वामगुल्फकपृष्ठे तु दक्षगुल्फं निधापयेत् ।
पातयित्वा महेशानि जानुयुग्मं महीतले ।।२८।।

उर्वोः कुर्परमाधाय कृताञ्जलिपुटौ करौ ।
कुचे चिबुकसंयोगान् नासिकाग्रं निरीक्षयेत् ।।२९।।

गरुडासनमेतद् वै सर्वसिद्धिकरं भवेत् ।
गुदेनापीड्य धरणीं पादाभ्यामपि च स्फुटम् ।।३०।।

जान्वोरू ....करौ स्थाप्यं स्थिरं देशे भवेद् दृढम् ।
एतद् यक्षासनं सर्वविघ्नच्छेदस्य कारणम् ।।३१।।

उरूयुग्ममूलं पीठार्थं जंघा वाश्लिष्य पार्वति ।
पादयुकु(ग्म) पश्चिमौ (?) न्यस्य पर्यंकेन दृढं तनुम् ।।३२।।

कमटी(?)मुद्रया मूले समवष्टभ्य यत्नतः ।
समदेहस्थिरो भूत्वा सिद्धासनमिदं परम् ।।३३।।

सर्वसिद्धिप्रदं देवि सर्वव्याधिविनाशनम् ।
जङ्घाभ्यामुरुयुग्मं च समाश्रित्य निपात्य च ।।३४।।

कर्पूरंस्तं भवत्कृत्वा (?) पार्श्वेनैकेन संश्रयेत् ।
एतत् प्रोक्तं मया देवि वृषभासनमुत्तमम् ।।३५।।

सर्वरोगविघातार्थं प्रोक्तमेतन्महात्मभिः ।
एषा चान्ये च बहवो ह्यासना(नि) योगसिद्धिदाः ।।३६।।

[10b]
यथाभ्यासं यथायोगं तेषामेकतरं भजेत् ।
स सिद्धे ह्यासने सम्यक् सर्वेन्द्रियवशीकरम् ।।३७।।

भविष्यति दृढकायं मनोनिश्चलता तथा ।
अभ्यस्ते नासने नैव समासीनो दिवानिशम् ।।३८।।

योगं युञ्जीत विजने निःशब्दे जन्तुवर्जिते ।
सुसमे च सुसम्पृष्ठे गन्धधूपादिवासिते ।।३९।।

शिवाश्रमे गुह्यस्थाने गृहे वापि विविक्तके ।
श्रीपरामृतसंतृप्तचेतनो नियतात्मवान् ।।४०।।

अभ्यसेदनिशं योगी सर्वसिद्ध्यर्थमादरा(त्) ।
एकाग्रमतिरव्यग्रस्तत् प्रमाण(म्) सुनिश्चयः ।।४१।।

नित्योद्युक्तः सदोत्साही गुरुवानमृताशयः ।
मृदघटादि (?) र्निशं योगी सर्वसिद्ध्यर्थमादग्रे ।।४२।।

.... विभेदेन भवेदुत्साहयोगतः
तथा भवति देहो(ऽ)यमभ्यासेन तु योगिनः ।
सहसा नाभ्यसेद् योगं शनैः सम्यक् तमाचरेत् ।।४३।।

युगपत्सेवितो दोषान् करोति बहूंस्तनौ ।
तस्मादभ्यासयोगेन शनैर्योगश्च सिद्ध्यति ।।४४।।

एककालं द्विकालं वा त्रिकालं वापि पार्वति ।
सर्वविघ्नप्रशान्त्यर्थं भूतेभ्यो बलिमाहरेत् ।
अन्यथा बहुना (बहून्) विघ्नान् कुर्वन्ति परमेश्वरि ।।४५।।

स्नानादिभिः शुद्धतनुः स्वदेहे,
विशोषदाह........वनादिकृत्वा ।
अद्यापि संततमतिः प्रवरासनानि,
संसिद्धिमेति ब (?) चिराय महेशि योगी ।।४६।।

।। इति मत्स्येन्द्रसंहितायां तृतीयः पटलः ।।

।।चतुर्थः पटलः।।

[f. 11a] ईश्वर उवाच —

अथातः संप्रवक्ष्यामि प्राणसंयमनक्रमम् ।
यस्मिन् सिद्धे भवेद् योगी सम्यग्योगविशेषवित् ।।१।।

प्राणस्यैव जयो योग प्राणस्यैव जयस्तथा ।
प्राणस्यैव जया(द्) देवि सिद्धिः देवि सुदुर्लभः ।।२।।

नाजीर्णे न रसोद्गारे न च विण्मूत्रधारणे ।
न छर्दि नातिसारे च नातिभूतसमन्विते।।३।।

नैयम्ये (?) गुरुकार्येवा (?) न चापि क्षुत्पिपासतः ।
न दंशमशकाकीर्णे न च श्वापदसेविते ।।४।।

(न) नदीसमुद्रतीरे वा न जलाशयसन्निधौ ।
श्मशाने चैत्यवृक्षे वा न महाजनसंसदि ।।५।।

प्राणायामं न कुर्वीत कुर्याच् चेद् व्याधिभाग्भवेत् ।
स्थितः शि(वा)श्रमे गुह्ये निःशब्दे जनवर्जिते ।।६।।

आसनं मूलसम्पूर्णं विन्यसेन् मृगचर्मणा ।
तत्रासीनः सुखं योगी गुर्वादीन् सम्प्रणम्य च ।।७।।

अभ्यसेदासनेनैव समासीनः समाहितः ।
रेचकः पूरकश्चैव कुम्भकश्च प्रकीर्तितः ।।८।।

नासिकापुटम् अङ्गुल्यापीड्यैकमपरेण च ।
(उ)दर्यं रेचयेद् वायुं रेचकः स उदाहृतः ।।९।।

बाह्येन वायुना देहं दृतिवत् पूरयेत् शुभे ।
पूरणात् पूरकः प्रोक्तः कुम्भकं च तथा शृणु ।।१०।।

[f. 11b]
त (न्न) मुञ्जति न गृह्णाति वायुमन्तर्बहिः स्थितम् ।
सम्पूर्णकुम्भकवृत्ति(॰वत्) तिष्ठेद् अचलः स तु कुम्भकः ।।११।।

लघुद्वादशमात्रस्तु मध्यमो द्विगुणः स्मृतः ।
त्रिगु(ण)श्चोत्तमः प्रोक्तः षद्विशं (षट्त्रिंश)त्तालमात्रकः ।।१२।।

अकारश्चैकमात्र स्याद् आकारस्तु द्विमात्मूकः (द्विमात्रकः) ।
तदेकबिन्दुर्नादाद्यस्त्रिगुणः परिकीर्तितः ।।१३।।

इत्यादि क्रमयोगेन संसिद्धात्मा दिने दिने ।
यद् यत्सुकरतामेति तत्र तत्राधिकं चरेत् ।।१४।।

मा आत्ममात्राधिकं वापि चान्यत् कुर्याद् दिने (दिने) ।
यद् यदभासतामेति न तत् पक्तो (तत्त्यक्तो ?) परिव्रजेत् ।।१५।।

शनैरभ्यासयोगेन यदा प्राणो जितो भवेत् ।
तदा विघ्नानि (चिन्हानि) दृश्यन्ते योगिनः सिद्धिसूचका ।।१६।।

प्रथमश्चिञ्चिणीनादो द्वितीयः किङ्किणीरवः ।
तृतीयं वेणुनादः स्यात् घण्टानादश्चतुर्थकः ।।१७।।

पञ्चमस्तालनादः स्याद् भृङ्गनादश्च षष्टकः ।
सप्तमं (सप्तमो) दौन्दुभं (दौन्दुभो) नाद (नादो)
भेरीनाद(स्त)थाष्टमः।।१८।।

[f. 12a]
नवमं (नवमो) मेघनादं (मेघनादश्)च दशमं
(दशमः) सागरस्वनं (सागरस्वनः) ।
स्वेदस्तु प्रथमं (प्रथमो) देवि द्वितीयं (द्वितीयो)
कण्ठ (कम्प) उच्यते ।।१९।।

तृतीयो (ऽ)द्भुतकम्पश्च चतुर्थो (ऽ) पि गलस्तथा ।
शरीरस्य ऊर्धाङ्ग मित्रं (खिन्नं) पञ्चमं (पञ्चमः) प्रकीर्तितः ।।२०।।

षष्टञ्च दूरश्रवणं च सप्तमं दूरदर्शनम् ।
दिव्याज्ञा चाष्टमं देवि नवमं खेचरी गतिः ।।२१।।

जीवन्मोक्षं च दशमं त्रिकालज्ञानमेव च ।
चिन्हान्येतानि दृश्यन्ते निर्विघ्ने सति योगिनः ।।२२।।

असम्यक् कारकस्येह विघ्नाः प्रादुर्भवन्ति च ।
हिक्का - काशस्तथाभ्यासे कर्णदन्ताक्षिवेदना ।।२३।।

वातं पित्तं सन्निपातं शूलघात्युदरामयाः ।
ग्रहणीज्वरं सम्मोहमूर्च्छातिसारसाध्वसा ।।२४।।

तस्माच्छनैर्यो जपेद्य योगी संसिद्धये चिरात् ।
तस्माद् रोगचिकित्सां तु शृणु देवि यथा तथा ।।२५।।

स्निग्धां यवागूमत् पूग्रं (?) पीत्वा तत्रैवाधारयेत् ।
चिन्तयेद् अमृतं देहे सर्वरोगापनुत्तये ।।२६।।

आग्नेयीं धारणां ध्याये(द्) योगे वायव्यवारुणौ ।
मुर्च्छायामधियाते च भूतप्रेताद्युपद्रवे ।।२७।।

प्रजपेद् वै शनै(:) प्राणं विषदोषे च दारुणे ।
सर्वरोगप्रपीडासु प्रक्षद् (?) योगी सषि (?) भवेत् ।।२८।।

पिनाकिपीठगोमेदस्तथा पावकमारुतौ ।
स........श विन्दुमद् (?) बीजमुच्यते रोगनाशनम् ।।२९।।

बीजान्ते वैद्यशब्दं च मेयो दण्डी च दण्डिनौ ।
व्योमसूनो(ऽ)ग्निजापान्तो ताशद्यो (ऽ) यं महामनुः ।।३०।।

(f 12b)

षड्दीर्घस्वरयुक्तेन बीजेन धानम् (?) उच्यते ।
प्रदृश्य (प्रदर्श्य) अमृतमुद्रां च मंत्रेण व्यापयेत् तनुः ।।३१।।

कुन्देन्दुस्फटिकामलं त्रिनयनं दिव्यामृतारं घटं,
वित्ते दक्षकरे तथेतरकरे सर्वौषधीनां रसैः ।
पूर्णं पात्रवरं दधत् स्वशि(रसा) श्रीवैद्यनाथं प्रभुं,
ध्यायन् व्याधिगणैः क्षणो न मनुजो मुक्तश्चिरं जीवति ।।३२।।

एवं ध्यात्वा जपेन्मंत्रं सप्तसाहस्रमादरात् ।
मुच्यते सर्वरोगैश्च तथा भूताद्युपद्रवैः ।।३३।।

अथवा अन्यप्रकारेण देवं धन्वन्तरिं स्मरेत् ।
प्रजपेत् (त)न्मनुं सर्वव्याधिपीडाविनाशनम् ।।३४।।

मनुताराान्वधोबिन्दु (?) मण्डितं बीजमीरितम्।
दान्तो मेषोवुपीठस्थो (?) बिन्दुमन्तरये (?) पुनः ।।३५।।

त्रियुगां नाहितारादिरणुं (?) युक्तोमदान्तकृत् (?)
बीजवर्णेन पञ्चाङ्गं कारयेद् आदरेण तु ।।३६।।

श्रीमच्छारदचन्द्रकोटिसदृशं दिव्यौषधपूरितं,
पात्रं च अमृतकुम्भमध्य विदधद् दोर्भ्यां वरं चाभयम् ।
सर्वव्याधिसमुच्चयक्षयकरा पद्मसहस्रच्छदे,
व्याधिः सर्वजरापमृत्युभयहा स्याद् आशु धन्वन्तरिः ।।३७।।

एवं ध्यात्वा जपेन्मंत्रं पूर्वं सेव्यमनुत्तमम् ।
सद्यः प्रमुच्यते रोगैर्भूतिघ्नैः विघ्नसंचयैः ।।३८।।

यान्यौषधानि विद्यते व्याधिघ्नानि महेश्वरि ।
एतानि श्चाद्वदाभ्य (?) च श्रृणु नाडीविशोधनम् ।।३९।।

मूलाधारात् समुद्यन्तं सुषुम्णा परिकीर्तिता ।
इडा च पिङ्गला चैव तस्य सव्ये च दक्षिणे ।।४०

इडा तस्याः स्थिता सव्ये दक्षिणे पिङ्गला स्थिता ।
इडायां पिङ्गलायां च परतश्चन्द्रभास्करौ ।।४१।।

इडायां चन्द्रमो ज्ञेय पिङ्गलायां रविः स्मृतः ।
भावयित्वा अथ सकलं कालरात्रिदिवात्मकम् ।।४२।।

चन्द्रस्तामस इत्युक्तः सूर्यो राजस उच्यते ।
विषभागो रवेर्भागः सोमभागे(ऽ)मृतः स्मृतः ।।४३।।

[13a]
भोक्तृ-सुषुम्णा कालस्य गुह्यमेतद् उदाहृतम् ।
अन्यधमन्याः प्रोक्ताः गान्धारी हरितजिह्वका ।।४४।।

सपूषालं विकाचैव (?) यज्ञो(ऽ)स्मिन्नापि शङ्खिनी ।
कुद्दरीवि (?) च विद्वद्भिः प्राधान्यात् व्यापिकास्तनौ (?) ।।४५।।

काचिन् नाडी बहिर्वक्रात् या मातु (?) हृदि बुध्यते ।
पपातु तुष्टेमाप्नोति कोशे र (?) इव कल्पना ।।४६।।

मातुराहाररसजैः धातुभिः पुष्यते क्रमात् ।
गान्धारी नाम या जिह्वा पिङ्गलापार्श्ववर्तिनी ।।४७।।

उन्मुखी ब्रह्मरन्ध्रान्तं बहुशाखा समुद्यता ।
इडायाः पार्श्वगा नाडी सम्प्रोक्ता हस्तिजिह्विका ।।४८।।

बहुशाखा बहुस्कन्धा मूलात् कांतु (यातु?) मुखोन्मुखी ।
समुखालं (?) वुखौ (?) चोभे पार्श्वयोरूर्ध्वगे स्मृते ।।४९।।

कराङ्गुल्फ(गुंल्या) पर्य(न्तं) बहुशाखा समुद्यताः
यशस्विनी च दक्षस्य पादाङ्गुष्ठान्तमिष्यते ।।५०।।

बहुशाखाविभेदेन मूलाधारादधोमुखाः ।
शंङ्खिनी या महानाडी वामे चाधोमुखी स्थिता ।।५१।।

शाखोपशाखभेदेन पादाङ्गुल्यं तमीश्वरि ।
कुहुरिति च या नाडी साधश्चोर्ध्वं च सुस्थिताः ।।५२।।

बहुशाखाविभेदेन देहं व्याप्य व्यवस्थिता ।
सरस्वती च मूलोत्था जिह्वाग्रान्तं व्यवस्थिता ।।५३।।

जया च विजया व्योमा नाभिमूले समुद्भवेत्।
अयुग्मे नेत्रकर्णान्तं कपोलं व्याप्य संस्थिता।।५४।।

सुषुम्णा दक्षे वामे च उभे (इ)डापिङ्गले स्थिते।
वामदक्षिणनासान्त शरीरे(ऽ)स्मिन् व्यवस्थिते।।५५।।

एवं देवि समारव्याता नाड्यः प्राधान्यतः शुभे।
बहुत्वाच्चैव नामानि सम्यक् वक्तुं न शक्यते।।५६।।

शाखोपशारवतां प्राप्ताः शिरा लक्षत्रयात्मकम्।
अ(सा?)र्धलक्षमिति प्राहुः शरीरार्द्धविचारकैः ।।५७।।

[13b]
तद्भाश्च (?) बहूनाहु ताभिः सर्वाभिरेव च ।
व्याप्नोति सर्वतो वायुर्येन देह प्रवर्तते ।।५८।।

देहत्रिमूलाधारे तु देहाद्यन्तसमीरणः ।
नाडीभ्यामस्तमभ्येति घ्राणतो हि षड्ङ्गुले ।।५६।।

अहोरात्रमनेन्दुभ्यां ऊर्ध्वाधो वृत्तिरिष्यते ।
वामदक्षिणनाडीभ्यां स्याद् वा दक्षिणायनम् ।।६०।।

याश्च ना(ड्याः) शरीरेऽस्मिन् माहत्यय (?) व्यवस्थिते ।
तासु सर्वासु देवेशि विचरन्ति तु वायवः ।।६१।।

प्राणोऽपानः समानश्च उदानो व्यान एव च ।
नागः कूर्मेश् चक्षकरौ (?) देवदत्तो धनञ्जयः ।।६२।।

एते नाडीसु सर्वासु वसन्ति दश वायवः ।
एतेषु वायवः पञ्च नशः (नरे?) प्राणादयः स्मृता ।।६३।।

तेषु मुख्यतरः प्राणः स्कन्धः स्या(द)धः प्रतिष्ठितः ।
आस्यनासिकयोर्मध्ये हृदये भानुमण्डले ।।६४।।

पादाङ्गुष्ठे च प्राण एतेष्वपि च तिष्ठति ।
आपाने (अपाने) मिट्पायोश्च (?) कुरु दक्षिणजानुषु ।।६५।।

जंघोदरेषु कट्यां च स्थानेष्वेतेषु तिष्ठति ।
व्यानः श्रीशक्षि(श्रोणि ?)मध्यस्थः भ्रूक (?)........
गुल्फयोर्द्वयो ।।६६।।

नागादिवायवः पञ्च त्वग......दिषु (च) संस्थिता ।
दशसंख्या प्रकारादि प्राणकूर्मेति कीर्त्यते ।।६७।।

अपानवायोर्यत्कर्म विशमूत्रादिविसर्जनम् ।
देहावयवचेष्टादिः व्यानकर्मेति कीर्त्यते ।।६८।।

उदानकर्म यत् प्रोक्तं देहस्थो नयनादिकम् ।
पोषणादिः समानस्य शरीरे कर्म कीर्त्यते।।६६।।

भुक्तं सर्वरसं गात्रे व्यापयन् वह्निना सह ।
द्विसप्ततिसहस्रेषु नाडीमार्गेषु सञ्चरन् ।।७०।।

[14a]
समानवायुरेव एतद् देहं व्याप्य व्यवस्थितः ।
उद्गारादिगुणो यस्तु नागमेतीनि (नाग इत्येव) कीर्त्यते ।।७१।।

निमीलनादि कूर्मस्य द्रुतं च कृकलस्य च ।
देवदत्तस्य देवेशि तन्द्राकर्मेति कीर्त्यते ।।७२।।

धनञ्जयस्य शोषादि सर्वकर्मसमीकृता ।
ज्ञात्वैव वायुसंस्थानं नाडीस्थानं च यत्नतः ।।७३।।

नाडीसंशोधनं कुर्यात् यथाविधिपुरस्सरम् ।
नाडीशुद्धि (शुद्धिं) विना देवि प्राणायामो न सिध्यति।।७४।।

नाडीषु सम्यक्सिद्धास्तु (सिद्धैस्तु) सुकरं प्राणसाधनम् ।
शनैः संशोधयेन् नाडी रेचकादिविधानधित् ।।७५।।

ॐकारैर्धारणायोगैः प्राणायामैश्च भेषजैः ।
प्रशुध्यन्ते शनैर्नाड्यो योगिनो यत्नतः क्रमात् ।।७६।।

युग.....(?)(आ)श्रयेद्योगी नाडीशुद्धिं शनैश्चरेत् ।
यच्छीघ्रमभ्यसेत् सद्यस्तस्य रोगो(ऽ)भिजायतो ।।७७।।

महोदरामयछर्दिरतिसारी महाज्वरः ।
संभवन्त्यचिरेणैव जहि सम्यक् प्रवर्तनात् ।।७८।।

श्रुंठी (शुण्ठी?)कषायं सुस्निग्धं पीत्वा तदारणा-(तद्धारणा)-बलात् ।
पूर्वोक्तमन्त्रस्मरणान् मुच्यते व्याधिभिः शुभे ।।७९।।

यदभिर्व्याधिभिस्त्यक्तस्तदा प्राणे जिते तथा ।
स्वेच्छया वर्त्तते देहम् आत्मनाद्रुद्यालिष्यति ।।८०।।

यावदासनमुत्सृज्य देहो व्योम न चाश्रयेत् ।
तावद् रोगाश्च विघ्नाश्च संभविष्यन्ति अनेकधी (अनेकधा) ।।८१।।

यदा स्वदेहमुद्धृत्य योगी व्योमं समाश्रयेत् ।
तदोपसर्गास्तद् विघ्नकारका (:) न संभवन्ति हि ।।८२।।

नागाः सुरेन्द्रकन्याश्च यक्षिण्यः सिद्धकन्यकाः ।
प्रार्थयिष्यन्ति तं देवि छत्स्थ (सुस्थ?) येन भयातुराः ।।८३।।

श्रृणोति दिव्यवार्ता च दिव्यदर्शनमेव च ।
रसायनाद्यौषधं च स्वयं प्रवर्तते ।।८४।।

नृपाश्च पृथिवीदानै बहुमानैश्च पुस्करैः (पूष्करैः) ।
योगिन संप्रवर्तन्ते विघ्नार्थमितरे(ऽ)पि च ।।८५।।

यस्याज्ञा वर्तते देवि तिर्यग(म)नुनगादिषु ।
एवं प्राप्तान् महाभोगान् देवा सुषुम्णा
व्या वायुं (सुरमहीभुजाम्) ।।८६।।

तृणवद् यस्त्यजेद् योगी स परां सिद्धिमाप्नुयात् ।
यदा प्राणं स्वके देहे स्वेच्छया नयितुं (?) क्षमः ।।८७।।

तदा सुषुम्णाव्या (°स्थ) वायुं सन्निरुद्ध्य समुत्सृजेत् ।
सुषुम्णायां च शुद्धायां शुद्ध्यन्ते ताश्च नाडिकाः ।।८८।।

स्वरवर्णप्रभावाः स्यात् षडाधारं च शुध्यति ।
विन (?) मूत्रश्लेष्मदोषाणां अल्पता चैव जायते ।।८९।।

निर्दोष बहुसामर्थ्यं चिराद् वर्षशतं तथा ।
इति प्राणजययुक्तो योग युञ्जन् महेश्वरि ।
कालेन महता योगं प्राप्य सिद्धिं परां व्रजेत् ।।९०।।

।। इति श्री मत्स्येन्द्रसंहितायां चतुर्थः पटलः ।।

।।पञ्चमः पटलः।।

[14b] ईश्वर उवाच—

अथ प्रत्याहरि (प्रत्याहरेत्?) चित्तं निःसृतं भोगतृष्णया ।
यतो यतो(ऽ)नुक्रमति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।।१।।

ततस्ततोऽनुसंगृह्य स्वात्मन्येव लयं भवेत् ।
मनोभाजिनमत्युग्रं निगृह्णीयात् पुनः पुनः ।।२।।

प्राणायामकरो (°परो?) देवि बहुधा परिधावितम् ।
यस्मिन् स्तत्वे (तत्त्वे) समासक्तं मनो यदि न तिष्ठति ।।३।।

पुनः पुनर्निगृह्यैव योगीं स्थिरतरं नयेत् ।
विषयेषु समासन्नानीन्द्रियाणि शनैः शनैः ।।४।।

संनिगृह्य निगृह्यै(वं) च मनः प्रत्याहरेत् सदा ।
मन एव महेशानि कारणं बन्धमोक्षयोः ।।५।।

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन मनो निर्मलतां नयेत् ।
योषिद् अन्नपानेषु समुत्क्रान्तं समंततः ।।६।।

संनिगृह्य प्रयत्नेन शुद्धतत्त्वे निवेशयेत् ।
संन्निरुध्य मनो देवि प्रयत्नान् नैव (एव) तिष्ठति ।।७।।

आकृष्याकृष्य यत्नेन तन्मनो वशमानयेत् ।
मनसो विजयो योगो मनसो विजयस्तपः ।।८।।

मनसो विजयो ज्ञानं तस्मात्प्रत्याहरेन् मनः ।
इन्द्रियाणि च सर्वाणि शनैः प्रत्याहरेत् सुधीः ।।९।।

श्रोत्रमाकाशम् ईशानि शब्दतन्मात्रलक्षणम् ।
व्योम्नै (व्योम्नि) च तत् समाधाय तत्कर्म च समाहरेत् ।।१०।।

त्वक्त (त्वक्?) वायुमयं देवि स्पर्शतन्मात्रलक्षणम् ।
तत्समावेश्य पवने तत्कर्म समतिक्रमेत् ।।११।।

चक्षुस्तेजोमयं विद्यात् रूपतन्मात्रलक्षणम् ।
तत् तेजसि समाधाय तस्य कर्म च संहरेत् ।।१२।।

जिह्वा वायोमयी (वारिमयी) देवि रसं तन्मात्रलक्षणम् ।
तामस्मिन् संतिवेश्यैव (संन्निवेश्यैव) तत्कर्म परिसंहरेत् ।।१३।।

घ्राणं महीमयं विद्याद् गन्धं तन्मात्रलक्षणम् ।
तत्समावेश्यैव तत्रैव तत्कर्महरणं चरेत् ।।१४।।

वाक्पाणिपादत्रयं (त्रितयं) पायूपस्थद्वयं क्रमात् ।
एतद् भूतेषु संवेश्य तत्कर्म (परि)संहरेत् ।।१५।।

यदा यदा मनो देवि चेन्द्रियाणि च कर्मसु ।
समुत्क्र(त्क्रा)मन्ति हृष्यन्ति महेशानि तदा तदा ।।१६।।

संनिगृह्य स्थिरीकुर्यात् इन्द्रियाणि मनस्तथा ।
यदा निश्चलतामेति मनः सर्वेन्द्रियैः सह ।
शनैरभ्यासयोगेन प्रत्याहारमुपक्रमेत् ।।१७।।

।। इति श्रीमत्स्येन्द्रसंहितायां पञ्चमः पटलः ।।

।।षष्ठः पटलः।।

[15a] ईश्वर उवाच—

धारणां संप्रवक्ष्यामि येन दोषक्षयो भवेत् ।
प्राणायामं द्विषट्कन्तु (?) धारणा योगः उच्यते ।।१।।

धारणा त्रिविधा देवि तां श्रुणुश्च (श्रुणुष्व) यथाविधिः ।
आदौ प्राणं (प्राणान्) समागृह्य धारयेद् वायुधारणाम् ।।२।।

वायुधारणादाध्वस्तमहापातकशं(स)ञ्चयः ।
आग्नेयीं धारणां ध्यायेत् सर्वदोषापनुत्तये ।।३।।

अग्निमारुतसंयोगाद् वारुणाकर्मयोगतः ।
संसिद्धियोगिनो देहे चिह्नमे (चिह्नमे)तत् प्रदृश्यते ।।४।।

चल (?) वर्णप्रसादं च स्वरलाघवसौष्टक (°सौष्ठवम्) ।
आरोग्यं शीघ्रगामित्वम् अरोगत्वं च जायते ।।५।।

एवं सिद्धस्तनुर्योगी क्षुत्पिपासाविघातनीम् ।
धारयेद् वारणां भूयः अमृताख्यां महेश्वरि ।।६।।

मूर्द्धादिपादपर्यन्तं प्लावये(द)मृतां शुचि ।
संभृत्य चिन्तयेज् जीवे-अमृतप्रशनेन (°प्रथनेन) तु ।।७।।

देहं चामृतसम्पूर्णं तत् तृप्तिपरिमोदितम् ।
भावयेदनिशं योगी जरामरणशान्तये ।।८।।

दिव्यामृतमहाध्यानधारणापूतविग्रहः ।
क्षत (क्षुत्) पिपासामहानिद्राजरारोगैर्विमुच्यते ।।९।।

षण्मासं धारयेद् यस्तु दिव्यामृतधारणाम् ।
बलीपलितनिर्मुक्तः स योयो (योगी) योगभा(क्) भवेत् ।।१०।।

सिध्यन्ति सर्वकार्याणि वाञ्छितानि महेश्वरि ।
तत् धारणान्महेशानि दृश्यन्ते योगसिद्धयः ।।११।।

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन धारणायोगमाचरेत् ।
शनैर्धारणया सिद्धिः धारणां च समुत्क्रमेत् ।।१२।।

प्राणायामैः दहेद् दोषं धारणाभिश्च किश्विषं (किल्विषम्) ।
सर्वैन्द्रियवशीकारः प्रत्याहारेण जायते ।।१३।।

[15b]
देवि शिरणा (शिरसा) योगं यद्धि कुर्याद् दिने दिने ।
मद्दासः सिद्धिमापन्नः तदाशक्तो (तदासक्तो) परिव्रजेत् ।।१४।।

धारणायां च सिद्धायां योगीनो यच्चेतसः ।
विघ्नार्थमभिवर्तन्ते गुह्यकाः कलिकामुकाः ।।१५।।

तस्मात् तेषां वलिं दद्यात् अभीच्छन् सिद्धिमात्मनः ।
अन्यथा वर्त्तमानस्य विघ्नं कुर्वन्ति दारुणा ।।१६।।

रोगैर्बहुविधैर्देवि समसा (तमसा)निद्रा तत्त्वथ (तत् तथा) ।
प्रतिबन्धैश्च विविधैरविश्वासैश्च जृम्भणैः ।।१७।।

तस्मात् तेषां बलिं दद्यात् यथावन् नियतात्मवान् ।
एककालं द्विकालं वा त्रिकालं वा बलिं हरेत् ।।१८।।

अर्धरात्रे विशेषेण तद् यथा श्रृणु पार्वति ।
एकान्ते विजने देशे ऋत्वा (कृत्वा) मण्डलमुत्तमम् ।।१९।।

ऐं व्यापक मं कलाय (मण्डलाय) ऐम् इत्थं सकृदर्चयेत् ।
चतुरस्रं महेशानि मण्डलं जस्तुमाक्षतैः (कुसुमाक्षतैः) ।।२०।।

तत्र मण्डलमाधाय साधारं पात्रमुत्तमम् ।
अर्घ्यान्नं पूर्णसलिलं सपुष्पं साक्षतं गृहे ।।२१।।

बलिं दद्याच(द्य) मन्त्रेण तर्ज्जन्या संप्रदर्शयन् ।
सर्वभूतेभ्य इत्यन्ते हं कारं सम्यगुच्चरेत् ।।२२।।

स्वार्हं तोयं महामन्त्रः तारपञ्चकसंपुटः ।
सर्वविघ्नविघातार्थं ईरितः परमेश्वरि ।।२३।।

सर्वस्यादिति भूतांश्च भूतानांश्च तर्पयेत् ।
दक्षिणे सकलान्यक्षात् यक्षकन्याश्च तर्पयेत् ।।२४।।

पश्चिमे राक्षसान् देवि तथा राक्षसयोषितः ।
उत्तरे क्षेत्रपालाश्च तत्कन्याश्च प्रतर्पयेत् ।।२५।।

[16a]
ऊर्ध्वायां दिशि देवांश्च देवकन्याश्च तर्पयेत् ।
अधस्ताद् दिशिनागांश्च नागकन्यांश्च तर्पयेत् ।।२६।।

मध्ये चराचरगुरुमांश्च भुवने सहः (सह) ।
भैरवान् योगिनीक्षेत्रनायकान् गणनानपि (गणकानपि) ।।२७।।

तर्पयेतांश्च भूताद्यै भावयेदपि विष्टियं (व्यष्टितान्) ।
तत्परामृतसंतृप्तां भावयेत् सचराचरम् ।।२८।।

अनेन बलिना तृप्ताः योगिनः सिद्धिमुत्तमाम् ।
विशन्ति भूतनाथास्ते चान्यथा विघ्नयन्ति च ।।२९।।

अनेन वाञ्छिता तृप्ताः योगिनं योगसाधकम् ।
रक्षयन्ति महेशानि विघ्नमुत्सादयन्ति च
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन बलिं दद्याद् विचक्षणाः ।।३०।।
न दान (दानै) यज्ञैर्न तपोभिरुग्रै (ग्रै?)
न चोपवासैर्नियमैः कदाचित् ।
संसिध्य देवि शिशु(?) योगमार्गं
विना गुरुं तत्फलदानदक्षम् ।। ३१

।। इति श्रीमत्स्येन्द्रसंहितायां षष्ठः पटलः ।।

।।सप्तमः पटलः।।

ईश्वर उवाच—

अथातः संप्रक्ष्यामि ध्यानयोगमनुत्तमम् ।
येन विज्ञानमात्रेण योगी स्याद् ईश्वरः स्वयम् ।।१।।

[16b]
पूर्वोक्तोसनमभ्यस्य (पूर्वोक्तासनमभ्यस्य) समासीनो जितेन्द्रियः ।
ध्यायेत् परतरं तस्व (तत्त्वं) निश्चलेन अन्तरात्मना ।।२।।

सर्वविघ्ननिवृत्यर्थं पूर्वं ध्यायेन् महावपुः ।
पातालतलपादं च भूकटि (भ्रुकुटि) व्योमदेहकम् ।।३।।

स्वर्गादिलोकशीर्षी (°शीर्षा) च दिग् बाहुं देवताभयम् ।
आदित्यचन्द्रनयनं नक्षत्रगणभूषणम् ।।४।।

समुद्रवसनं व्याप्तब्रह्माण्डमद्भुतम् ।
ब्रह्मादितृणपर्यन्तं जगदेतच् चराचरम् ।।५।।

स्वरोमकूपकं ध्यायेत् स्वदेहं च जगन्मयम् ।
एवं ध्यायेन् महारूपं देवि चित्तस्थिराप्तये ।।६।।

इति प्रध्याथ (प्रध्याय) तत् सम्यक् योगिनश्चित्तवृत्तयः ।
शनै (:) निश्चलतां यात्ति दिव्यज्ञानविचिन्तनात् ।।७।।

एवं चित्तं स्थिरीकृत्य तं च ध्यानमुपक्रमेत् ।
ध्यायेत् स्वहृदये पद्मं शिवशक्त्यात्मकं परम् ।।८।।

तारकं दं (?) शक्तिर्नाम प्रासादमणिकर्णिकाम् ।
अग्निमण्डलपत्र (?)........ सूर्यमण्डलकेसरम् ।।६।।

सोममण्डलकिञ्जकं बालार्कयुतभास्करम् ।
नवशक्तिसमायुक्तं चिन्तयेच्चिरमात्मवित् ।।१०।।

तन्मध्ये परमेशानं ध्यायेद् आत्मविशुद्धये ।
नील-जीमूतसंकाशं जटाबद्धंमहोरगम् ।।११।।

बालेन्दुशेखरं भीमं हुङ्कारव्याप्तदिङ्मुखम् ।
खड्गमूलान् (?) नवधरं नागपाशचरं प्रभुम् ।।१२।।

कपालघंटा (?) सहितं विषार्ण (?) वरदं तथा ।
रक्ताम्बर (°अम्बरा) धरं रक्तमाल्यगन्धविभूषितम् ।।१३।।

नागाष्टकमहाहारं गर्जन्तं भयनाशनम् ।
व्याघ्रचर्मपरिधानं सिंहचर्मोत्तरच्छदम् ।।१४।।

[17a]
नूपुरछन्नहीरादिभूषणैः परिभूषितै (परिभूषिताम्) ।
सोमसूर्याग्निनयनं दंष्टा (दंष्ट्रा) तिर्यङ् महानलम् ।।१५।।

असन्तमखिलं दोषं विघ्नकोटिविभेदकम् ।
सर्वशत्रुक्षयकरं महामृत्युविनाशनम् ।।१६।।

बलीपलितदौर्भाग्यं जरारोगविनाशनम् ।
सर्वसिद्धिकरं देवं भैरवं भक्तिरक्षकम् ।।१७।।

माध्वीमदसमाघूर्णं नयनत्रयमण्डलम् ।
मदिरानन्दं चेतस्कं सर्वलोकगुरुं हरम् ।।१८।।

ध्यायेद् एकाग्रया बुध्या (बुद्धया) सर्वविघ्नसा(शा)न्तये ।
तद् वामाङ्कस्थलगतां चण्डिकां दुःखनाशिनीम् ।।१९।।

कालाभ्राजनसंकाशं (?) व.......र्ध्व शिरोरुहाम् ।
मुण्डासनमंकितां (?) ऋस्म (?) सर्पक्षं कलमंकिताम् ।।२०।।

रक्तगन्धप्रसूनाद्यौ (°प्रसूनाक्ष्यैः) भूषितां भूषणैरपि ।
षड्वक्रां (षड्वक्त्रां) द्वादशभुजां प्रतिवक्रं (°वक्त्रं) त्रिलोचनाम् ।।२१।।

व्याघ्रचर्मपरिधानां सिंहचर्मोत्तरच्छदाम् ।
वज्रोकुशधरां (वज्राङ्कुशधरां) चक्रशंखखेटत्रिशूलिनीम् ।।२२।।
कर्त्रिकादण्डमुशलवरदाभयधारिणीम् ।
भद्रां त्रिनेत्रां भक्तार्तिभञ्जिनीं चन्द्रक्षरवरो (चन्द्रशेखराम्) ।।२३।।

भक्ततापत्रयहरां कालग्रसनरूपिणीम् ।
माध्वीपूर्णकांध्रां xx नवयौवनगोचरा(म्) ।।२४।।

योगिनीगणसं(शं)मुरव्यां भैरवीं भयहारिणीम् ।
सर्वेद्रित(सर्वेप्सित)फलप्राप्तिकारणां कारणत्रयाम् ।।२५।।

एवं ध्याये (च्) चिरं देवीं योगी योगफलाप्तये ।
सर्वोपद्रवशान्त्यर्थं सर्वाभीष्टफलाप्तये ।।२६।।

[17b]
अनेन ध्यानयोगेन कालमृत्युभयादपि ।
मुच्यते परमेशांनि (परमेशानि) न मयोक्तं मृषा भवेत् ।।२७।।

अधीत्यैतन्महाध्यानः (अधीत्यैतन्महाध्यान -) त्यक्तोपद्रवसञ्चयः ।
पुनः ध्यायेन् महादेवि सर्वोपद्रवशान्तये ।।२८।।

छहंवुज (हृदम्बुज) - समासीनं बालसूर्यसूत (- सम -)- प्रभम् ।
देव्या समाश्लिष्टतनुं सुवर्णसमवर्णया ।।२६।।

भस्मोद्धूलित (द्धूलित-) सर्वयां (सर्वाङ्ग°) दधानं व्याघ्रचर्मणि ।
राणा (श्म) -शानस्थितं शान्तं त्रिनेत्रं चन्द्रशेष(रव)रम् ।।३०।।

ललाटस्थलबालेन्दुसुतादिव्यसुधास्नुतम् (स्नातम्) ।
वराभयमहाटंक मृगमुद्राधरं शिवम् ।।३१।।

अक्षस्रक्पुस्तकधरं प्रसन्नं परमेश्वरम् ।
महामण्डलसम्बद्धं महाफणिफणान्वितम् ।।३२।।

नवयौवनसम्पन्नं ग्रस्तं कालभयादिकम् ।
समुखं (सुमुखं) चारुसर्वाङ्गं गुप्तविज्ञानगोचरम् ।।३३।।

पशुपाशौघदलनं तारकं भयवारिधेः ।
सर्वाज्ञास्फारसामर्थ्यदायकं सर्वसिद्धिदम् ।।३४।।

एवं ध्यायेन् महादेवं सर्वदुःखोपशान्तये ।
सर्वसत्त्वप्रलयैव (प्रलयायैव?) सर्वाशासिद्धिहेतवे ।।३५।।

अथवान्यत् प्रकारेण ध्यायेद् धृतसरसीगृहे ।
शुद्धस्फटिकसंकाशं शरच्चन्द्रायुतप्रभम् ।।३६।।

अक्षमालाधरं शान्तं प्रसन्नं वरदं प्रभुम् ।
विशिष्टाभयसंयुक्तं रजताद्रिसमप्रभम् ।।३७।।

सर्वमृत्युप्रशमनं बलिपलितनाशनम् ।
दिव्यासन (दिव्यासार) महावर्षैर्वर्षमाणं समन्ततः ।।३८।।

[18a]
वसुधा वर्षपातेन (वर्षापातेन) सहसा सीतलात्मना (शीतलात्मना) ।
दुषृचर्मशतैर्मुस्म (?) भावयेदात्मनस्तनुम् ।।३९।।

अनेन ध्यानयोगेन मुच्यते दुःखबन्धनात् ।
सात्त्विको(ऽ)हं चरेत ध्याम (ध्यायन-) भीष्टसिद्धिमात्मनः ।।४०।।

अथवान्यत् प्रकारेण ध्यानयोगं वदामि ते ।
हृत्पद्मकर्णिकामध्ये शुद्धदीपशिखाकृतिः ।।४१।।

अङ्गुष्ठपर्वसङ्काशं कोटिसूर्यसमप्रभम् ।
कदम्बगोलकाकारं तारासूर्यमिव स्थितम् ।।४२।।

ध्यायेद् वा रश्मिभिर्ज्वालै र्दीप्यमानं समन्ततः ।
निरालम्बे पदे शून्ये यत् तेज उपजायते ।।४३।।

तद् देहमभ्यासे (देहमभ्यसेन्) नित्यं योगी योगप्रसिद्धये ।
दिव्यमण्डलमध्यस्थं श्चंत-(स्रवन्त-) ममृतद्रवम् ।।४४।।

ध्यायेत् तन्मण्डलं दिव्यं सर्वरक्तं सितं क्रमात् ।
मूर्तिध्यातं (-ध्यानं) च ते नैव क्रमेण तु समाचरेत् ।।४५।।

तत् प्रभापटलव्याप्तं शरीरं परिचिन्तयेत् ।
सोऽहमित्यादि (भा-) वेन शनैरिहमिति (शनैरहमिति) स्मरेत् ।।४६।।

स्वच्छगत (स्वहृद्गत-)- महाज्योति विनिर्यद् अमृतांशुभिः ।
त्रिलोकमखिलं योगी काव्यमानं विचिन्तयेत् ।।४७।।

अनेन ध्यानयोगेन योगी स्यादीश्वरः स्वयम् ।
स्वदेहं भावयेद् योगी कोटिसूर्यसमप्रभम् ।।४८।।

सम्यगात्मा विभेदेन सो(ऽ)चिराद् योगमाप्नुयात् ।
आत्मानं चिन्तयेद योगी सम्यग् ईश्वरविग्रहम् ।।४९।।

[18b]
तद्भावनातस्त्वचिरात् सिद्धिं श्रीशाम्भवीं लभेत् ।
शिवोऽहम् ममेवो (ममैवा?) - हमचिन्त्यो ऽ हमणुर्भुवः ।
एवं ध्यानविधौ ध्यायेदात्मानं विभेदतः ।।५०।।

आनन्दशीतकिरणोदय पूर्णितासां (पूर्णिताशां),
विस्तारफेनपरिरञ्जित दिव्यतोयम् ।
नानाविधिः (नानाविध-) प्रवरदैवतभत्स्यजुष्टं,
श्रीमत् सुधाविवरमस्मि विधूतपाप्मा ।।५१।।

श्रीसद्गुरोः करुणादिकुलिश प्र(ख)ण्डन-
पापाद् रिक्तठ (?) निचये मम देहगेहे ।
....
.... ।।५२।।

कोटीन्दुभास्करनिभां (कोटीन्दुभास्करनिभं) परामाण्डकल्प-
माविस्मरामि परमं महदात्मरूपम् ।
विद्युत्सहस्त्ररुचिरं त्रसरेणुकल्प--
मानन्दसान्द्र (सान्द्र) परिमोहित (परिमोदित) भावगम्यम् ।।५३।।

पीयूषवारिधभीश्वरीमप्रमेयं (पीयूषवारिनिधिमीश्वरमप्रमेय-)
आ (मा ?) विस्मरामि हृदये सुमहगं (सुमहान्तं) मोहम् ।
षट्पद्मकोटरकपाटविघाटितेन
यज्ज्योतिरूर्ध्वमरयांति (॰मुपयान्ति) तडिल्लतेव ।।५४।।

पीयूषरूपघनसार-सहस्त्रवृष्टिं (सहस्त्रवृष्टि-)
-मेंघे भजामिहृदये परमात्मदीप(म्) ।
संचित् (सच्चित् -) स्वभावपरिवृंहितवीचिजाल-
स्वानन्दशीकरसमुच्चयसिक्तदेहः ।।५५।।

सद्भावगम्यविमलोत्तमचित्तवृत्ति—
— सेवासमुत्सुकजना वलिस्तिङकरीत्य (ति) ।
भूयो-(भूव्यो-) मवायु शिखि (?) नीरविभेदचित्त-
मेकं तदस्य जगतो विभवाय तत्त्वम् ।।५६।।

[19a]
तत्सर्वका(र)णमचिन्त्यमनन्तमाद्यं
ज्योतिर्मनोवचन-दूरगमम - स्ति संवित् ।
यद् ब्रह्मकन्दमसिलागमनालपुत्र—
मानन्दपिङ्गलसुधाजलदिव्यसारम् ।।५७।।

सिद्धयाष्टकप्रवरपत्रविराजमानं
तद्योगीभावकमलभ्रमरो (ऽ) हमस्मि ।
नित्यो(ऽ)हं निर्विकल्पो (ऽ)हं निराधारोऽहमव्ययः ।
सच्चिदानन्दरूपो(ऽ)हं ब्रह्मैवाहं न संशयः ।।५८।।

ब्रह्मैवाहं न संसारी मुक्तो(ऽ)हमिति भावयेत् ।
अनेन ध्यानयोगेन जीवन्मुक्तित्वमाप्नुयात ।।५९।।

यदा विकल्पाः कुटिला यान्ति विलयं शिवे ।
तदा मुल्लासविज्ञो (उल्लासविज्ञो ?)यः सर्वत्र समदर्शनः ।।६०।।

ध्यानेन लभते योगः (योगं) ध्यानैः सिद्धिं सुदुर्लभाम् ।
ध्यानेन नु जरां मृत्युं तरतीति मुषा (मृषा) तत् ।।६१।।

ध्यानयोगे भवेद्विप्रो योगिनो नियतः शिवः ।
व्याधिभिश्चोपसर्गैश्च तथा गुह्यकभृतये (°भूतके) ।।६२।।

यदा समुत्थितं विघ्नं योगी पश्यति पार्वति ।
तदा भूतबलिं दद्यात् पूर्वोक्तविधिना सुधीः ।।६३।।

पूर्वोक्तैर्जपयोगैश्च वक्ष्यमाणैश्च भेषजैः ।
दानैर्जपैस्तथा होमैः शमये(द्) विघ्नमुत्थितम् ।।६४।।

सर्गोपसर्गशान्त्यर्थं देवं मृत्युञ्जयं जपेत् ।
पञ्चस्वाना (स्नाना?)सनगतो (?) देवेशि चतुराननः ।।६५।।

[19b]
विन्दुनक्तादिमहितो (°सहितो) भृगुस्तारादिरीरितः ।
मं(त्रो) मृत्युञ्जये देवि महामृत्युविनाशनः ।।६६।।

त्रिपक्षः (विपक्षः) सर्वविघ्नानां सुमहावीरहानलः ।
मन्त्रा ते साधना प्रोक्ता प्रतिलोमेन चोच्यते ।।६७।।

पुटितः पञ्चतारेण सम्यक् सिद्धिकर(:) स्मृतः ।
दंकिनी त्रिगुणा कुर्यात् षडगं विधिपूर्वकम् ।।६८।।

ध्यानयोगं परं गुह्यं श्रृणु मे परमेश्वरि ।
ध्यानश्च त्रिविध(:) प्रोक्तः तत्कर्मणि (कर्म-) साधकः ।।

दशशतदलपद्मं कोटिचन्द्रवदाननं

करधृतवरमुद्रापाशवेदाक्षसूत्रम् ।
धृतशशधरखण्डोद्गीर्णपीयूषवर्षं,
स्तुतमिति परिभाव्य प्रोझते (?) मोहजालैः ।।६६।।

हृदयकमलमध्ये चन्द्रकर्पूरमुक्ता-
रजतकुमुदभासं सूक्ष्ममीशानमाद्यम् ।
स्मरति यदि स रोगै विंघ्नजालोपसर्गं
व्रज(व्रण)दुरितभयाद् यैर्मुच्यते देवि योगी ।।७०।।

गगनजलदभासं शूल(ख)ट्वागंघण्टा —
- कुलिशवरकपालाभीति हस्तारविन्दम् ।
सकलदुरितभूतप्रेतकूष्माण्डवर्गा —
ग्रसननिरतमीशं ध्यायतः स्यादभीष्टम् ।।७१।।

[20a]
प्रजपेदष्टसाहस्रं ध्यात्वा इत्थं परमेश्वरम् ।
सर्गोपसर्गविघ्नाद्यैर्मुच्यते व्याधिभिस्तथा ।।७२।।

जपे(द्) द्वादशलक्षं तु य इमं मन्त्रमादरात् ।
वलिपलितनिर्मुक्त - अजरामरतां व्रजेत् ।।७३।।

यस्मिंस्तत्त्वे निविष्टं तु मनो निश्चलतां व्रजेत् ।
यदा तदा महेशानि ध्यानयोगमुपक्रमे(त्) ।।७४।।

ईश्वर उवाच —

समाधिं संप्रवक्ष्यामि येन योगी शिवो भवेत् ।
ध्यानसिद्धं तु यद्रूपं योगदृष्ट्या निरीक्षयेत् ।।७५।।

पुनः पुनः प्रसन्नात्मा निखिलेन तु वेनसा (चेतसा) ।
यदा यदा लयं याति रूपं तच् चेतसा सह ।।७६।।

तदा तदा योगदृशा समलक्षस्थिरं नयेत् ।
ध्यानात् सप्तगुणः कालः समाधिरभिधीयते ।।७७।।

तत्र स्थितं भावं स्वरूपेण चलिष्यति ।
पश्चत्ये (पश्यत्ये) - काग्रया बुद्धया समाधिस्थः स उच्यते ।।७८।

एकाग्रतिरव्यग्रो निश्चलो निश्चलेन्द्रियः।
पश्येदात्माविभेदेन समाधिस्थ(:) सदाशिवम्।।७९।।

समाधौ दृश्यते देवि वह्निज्योतिर्महन्मह(:)।
यस्मिन् तुष्टे भवेत् सुक्तिः (मुक्तिः) समाधिस्थस्य योगिनः।।८०।।

सम्यक् समाधौ संसिद्धिं योगी योगेन च क्षणात्।
यद्य(त्) स्मरति वै रूपं तत्तत् पश्यति निश्चितम्।।८१।।

समाधौ साधिते सद्य(:)चिन्हान्येतानि पार्वति।
दृश्यन्ते योगिनो योगाः सिद्धसामान्यसाधनाः।।८२।।

आज्ञा सिद्धिश्चापल्यं बलवर्णप्रसाधनम्।
आरोग्यं व्याधिनःश(व्याधिनाशश्च) शीघ्रगामित्वमेव च।।८३।।

स्वेवया (स्वेच्छया) धारणं देहे वायोः श्रीखेचरीगणः।
देवानां दर्शनं योगी सम्यगात्मप्रदर्शनम्।।८४।।

[20b]
सर्वेन्द्रियवशीकारः सर्वज्ञत्वं च तत् क्षणात्।
त्रिकालज्ञानसामर्थ्यं ईश्वरत्वं च पार्वति।।८५।।

एते चान्ये च बहवो दृश्यन्ते योगसिद्धयः।
यदा समाधि निर्विघ्नः सिद्धिं याति यतिप्रिये।।८६।।

तदा योगी जरामृत्युकालाद्यै(:) परिमुच्यते।
सिद्धि (सिद्धी) नामाधिपत्यं च लभते नात्र संशयः ।।८७।।

समाधौ यदि विघ्नानि संभवन्ति स (सभंवन्तीह) योगिनः।
तान् पूर्वोक्तप्रकारेण सम्यगुत्सार्य पार्वति।।८८।।

समाधिं साधायत्वैवं सनैस्त्रं (शनैस्तं) च समुत्क्रमेत्।
एतत् ते व्याहत (व्याहृतं) देवि समाधिरतिदुर्लभम्।।८६।।

गुरुप्रसादामृष (X) तन्निर्धृत (र्धूत)पाप्मा,
महेशयोगीशुभयोगसंस्यं (संस्थः)।
समन्यसे(समभ्यसेत्) सिद्धिमधीच्छुरेव
-मुत्सा(ह) वानात्मविदादरेण।।६०।।

।।इति श्रीमत्स्येन्द्रसंहितायां सप्तमः पटलः।।

।।अष्टमः पटलः।।

ईश्वर उवाच—

अथ आन्तरर्चनं (आन्तरार्चनं) वक्ष्ये सर्वसिद्धिप्रदायकम्।
शुद्धे मनोरमे देशे सन्निविष्टः सुनिश्चितः ।।१।।

आत्मानं भावये(च्छु) द्धतत्त्वगोचरमीश्वरः (?) ।
ध्यात्वा चिरं प्रशंत्मा (प्रशान्तात्मा) पूर्वोक्तध्यानयोगात् ।।२।।

पूजयेद् गन्धपुष्पाद्यैर्योगी भावमयैः शुभैः ।
षडाधारेषु विधिव(द्) द्वादशान्ते विशेषतः ।।३।।

पूजयेच्छम्भुमव्यग्रं सक्रा (शक्त्या)- सहितमव्ययम् ।
संस्मरन् नियतो देवि पीयूषार्णवमुत्तमम् ।।४।।

[21a]
सुसुखा (सुशुभ्र)स्फाटिकाभासं दिव्यकल्लोलबृंहितम् ।
तन्मध्ये विपुलं देवि रत्नं द्वीपं विभावयेत् ।।५।।

सर्वर्तु (सर्वत्र तु) कुसुमं हृद्यं तन्मध्ये काननं स्मरेत् ।
पारिजातैः कदम्बैश्च मन्दारैः चन्दनैः कुचैः ।।६।।

विल्वामलकजम्बीरचम्पकाशोकपाटलैः ।
बकुलैर्दाडिमैराम्रैः जम्बूनागवटादिभिः ।।७।।

स्नक्षैः (?) कुवरकैर्देवि महाखर्जूरगोस्तनैः ।
समालैर्मालतीगुल्मैः शतपत्रैश्च वंजुलैः (वनजैः) ।।८।।

अश्वत्थैः कर्णिकारैश्च सरलैरर्जुनैरपि ।
एतैर्वन्यैश्च विविधै पादपैरुपशोभितम् ।।९।।

मन्दमारुतसंभिन्नं कुसुमामोददिङ्मुखन् ।
तन्मध्ये भावयेद् योगीवरः सर्वगुणाधिकम् ।।१०।।

कल्हारैर्कमलैरध्ये (अर्ध्य) पुष्पैः सौगन्धिकैः शुभैः ।
हंससारसकारण्डश्चमरैश्चक्रनाम भिः (चक्रबाकभिः) ।।११।।

अन्यैः कलकलारावैर्विहगैरुपशोभितम् ।
महासरसि तन्मध्ये पुलिने (ऽ) तिमनोहरे ।।१२।।

परितः पारिजाता (द्यं) मण्डपं परिभावयेत् ।
रत्नार्चि(त)गवाक्षा.......श्चतुर्द्धारविराजितम् ।।१३।।

रत्नीपक्ष्णाप्तं (?) संशोभि (त) कपाटाष्टकसंयुतम् ।
पताकाध्वजमालाभिः शोभितं मङ्गलाङ्कुरैः ।।१४।।

कलशैमुकुरैश्चित्रैस्तोरणैर्विविधासनैः ।
सहस्त्रदीपसंयुक्तं दीपदंक (?) विराजितम् ।।१५।।

वितानक्षत्रमालादामविराजितम् ।
जम्बकास्मीर (?) कस्तूरीमृगनाभितमालकैः ।।१६।।

चन्दनागर (चन्दनागुरु)-कर्पूरौ मोदितदिगम्बरं ।
पुष्पप्रकरसंकीर्णं धूपामोदसुगन्धितम् ।।१७।।

[21b]
रत्नदिर्या (रत्नदीपा) र्वुदयुतं रक्षितं सर्वदेवतैः ।
इत्थं ध्यात्वा महेशानि मंडपं (मण्डपं) परमात्मन (परमात्मनः) ।
तन्मध्ये भावयेन्मन्त्री पारिजातं सुपुष्पितम् ।।१८।।

भ्रमद् भ्रमरसंगीतं वर्षन्तं कुसुमोत्करं ।
तस्याधस्तात् स्मरेद् योगी रत्नसिंहासनं शुभम् ।।१९।।

रत्नकाञ्चनसन्दीप्तं प्रियका (?) जिनमङ्कितम् ।
दिव्यवस्त्रावृतं सौम्य तस्य मध्ये व्रजं (?) स्मरेत् ।।२०।।

तारकं शक्तितालं प्रास्मतमनुकर्णिकं (?) ।
वह्निमंडलपत्रा(क्षं) सूर्यमण्डलकेसरम् ।।२१।।

सोममण्डलकिञ्जलकं शिवशक्त्यात्मकं पदम् ।
तत्कर्णिकायामासीनं दिव्यसन्दिष्टविग्रहम् ।।२२।

प्रसन्नं वरदं सर्वं शरच्चन्द्रसमप्रभम्।
व्याघ्रचर्मपरिधानं टङ्कशूलभयान्वितम्।।२३।।

नरमुद्राधनं (°धरं) शान्तं सर्वालङ्कारमङ्कितम् ।
पद्मासनस्थितं सर्वपार्श्वगै (:) परिवारितम् ।।२४।।

सर्वज्ञाननिधि (°निधिं) देवि सर्वज्ञं परमेश्वरम् ।
समानोदितचन्द्रार्कों (चन्द्रार्क) कोटिभानुविग्रहम् ।।२५।।

शरीरदुःखशमनं समस्ताभीष्टसाधकम् ।
सर्वमन्त्रमयं शुभ्रं सर्वयोगमयं शिवम् ।।२६।।

नवयौवनसम्पन्नं सर्वलक्षणभूषितम् ।
त..............माण्डस्थलगताम् विकामं मरार्चितम् (?) ।।२७।।

भक्ततापत्रयहरां सर्वमृत्युविनाशिनीम् ।
एवं ध्यात्वा शिवोयोगी (शिवं योगी) समावाह्यमवरुध्य च ।।२८।।

मातृकां विन्यसेद् भूयः श्रीकण्ठादीनपि स्मरेत् ।
शिवागमोक्तविन्यासैः सम्यग् विन्यस्तविग्रहः ।।२९।।

[22a]
प्रविभेदेन भविन (भावेन) पूजयेत् परमेश्वरम् ।
प्रथमं गुरु (हे)रम्बौ पूजयेद् वामदक्षकम् ।।३०।।

शास्तारमार्यं बटुकं क्षेत्रेशं च यथाक्रमम् ।
अग्निरक्षो (ऽ) निलेशान कोणेषु परिपूजयेत् ।।३१।।

नवशक्ति (°शक्ती) र्यजेष्टपत्रमध्ये तु पार्वति ।
नमो भगवते प्रोक्त (प्रोक्त्वा) भृगकोटिशता (?) अक्षरान् ।।३२।।

x x x

x x x

प्रोक्तागुणात्मशक्यं (?) ते युक्ताय पदमुच्चरेत् ।
अनन्ताय पदं धात्का (प्रोक्त्वा) योगपद्मपदं वदेत् ।।३४।।

पी(ठा)त्मने नमो तोडस्तारादिः पीठपूजने ।
आवाह्य पूर्वमन्त्रेण साङ्गं सपरिवारकम् ।।३५।।

मानसेन विधानेन भावपुष्पैः समर्चयेत् ।
तत्तदागममार्गेण योगी संपूज्य यत्नतः ।। ३६

तर्पयेद् भावसुधका (भावसुधया) नैवेद्यैर्भाविसाधितैः।
क्रुं कं च कल्पयित्वा तु भावज्चलित (°ज्चालित) पावकैः ।।३७।।

जुह्नघाद्राव (जुहुयाद् ?) वरुणसमिधाद्यैश्च तद्भवैः ।
धर्माधर्म हवीर्दीप्ते आत्माग्नौ मनसाहुनेत् ।।३८।।

दत्वा पूर्णाहुतिं देवि होमकर्म समाप्य च ।
समाप्य पूजाशेषं च तत्प्रसाद पवित्रकम् ।।३९।।

पूजयेच्च यथाशक्ति दत्त्वा बलिविधिं शुभम् ।
सप्रर्यैष (सपर्यैषा) मया प्रोक्ता शांभवीभावसाधनी ।।४०।।

मानया सदृशी लोके सपर्या देवि विद्यते ।
अथान्यत्प्रकारेण (अथवान्यत्प्रकारेण) पूज्योक्ता
(पूजोक्ता) परमेश्वरि ।।४१।।

पूर्ववद् विजने देशे समासीनो जितेन्द्रिय(:) ।
ध्यायेत्तु मण्डलं पूर्वं प्रभाकिरणभास्करम् ।।४२।।

तन्मध्ये परमेशानि आत्मानं ज्योतिरुपिणम् ।
निर्वातस्थो यथा द्वीपस्तथा निश्चलविग्रहम् ।।४३।।

[22b]
कोटिसूर्यप्रतीकाशं ज्वलन्तममृतं शुभः ।
स्मरेत्तदविभेदेन स्वरक्षां तन्मयं शनैः ।।४४।।

समस्तदेवता पुञ्जपञ्जरं गुणरञ्जितम् ।
ध्यात्वेत्थं पूजयेदेकं भावपुष्पामृतादिभिः ।।४५।।

तदैव जु(हुयात्) योगी हविभिर्भावसाधिभिः ।
एवमाराधयन् शम्भुमात्मरूपमकल्मषम् ।।४६।।

योगसाम्राज्यसम्पद्भिर्युज्यते सो(ऽ)चिरादेव ।
अथान्तरसपर्यायामन्तरायो (न ?) भविष्यति ।।४७।।

भावसिद्धेन बलिना तद्भोगैस्तस्य तर्पणैः।
शमयोग्रसंयातं (शमेयेद् ?) उपसर्गाच्च दारुणात् ।।४८।।

मूलाधारे तडिद्वर्णं भा भासितदिगन्तरम् ।
बालसूर्यसहस्राभं सुशुद्धं गुण- (अ)वर्जितम् ।।४९।।

स्वशक्तिविधृतं देवि समासीनमनुपमम् ।
पूर्ववद् भावसुधया संतर्प्य परिपूजयेत् ।।५०।।

भावारव्यचरणा होमः कर्त्तव्यस्तत्र योगिनः ।
एवं सम्पूजयन् योगी वत्सरात्सिद्धिमाप्नुयात् ।।५१।।

सर्वज्ञां सारसामर्थ्यां देवैरपि सुदर्लभाम् ।
षट्दलकमले देवि स्वादिष्टाने (स्वाधिष्ठाने) महेश्वरम् ।।५२।।

मध्यगतं महासूर्यं किरणाभासमुच्यते ।
ज्योतिर्मण्डलमध्यस्थं भावगम्यं सुनिश्चलम् ।।५३।।

पूजयद् (पूजयन्) भावमात्रेण यः पूजयति नित्यशः ।
संसिद्धिमष्टमासेन लभते देवि दुर्लभाम् ।।५४।।

मणिधरे (मणिपूरे) महापद्मे जाम्बुनदसमप्रभाम् (?)
सें........... रगैरिकाभासम् (?)अचञ्चलमनूपमम् ।।५५।।

मनोमयमहाद्रव्यैः पूज्यपूर्वोक्तमागतः ।
षरामासाल्लभते सिद्धिं वाञ्छितां परमेश्वरि ।।५६।।

[23a]
अनाहते महापद्मे जपाकुसुमसंप्रभम्।
प्रवालाङ्कुरसंकाशं सहस्रार्कसमप्रभम् ।।५७।।

पूर्वोक्तविधिना योगी सम्पूज्य परमेश्वरि ।
यतु (चतु)र्मासादनु पाभ्यामेति (?) सिद्धिं जनप्रिये ।।५८।।

विशुद्धौ चन्द्रसंकाशं प्रभामडंलमध्यगम् ।
सुधास्तुततनुं शान्तं पूर्ववत्परिपूजयेत् ।।५९।।

स त्रिमासान् महासिद्धिं लभते देवि दुर्लभाम् ।
चन्द्रकोटिप्रतिकाशमाज्ञायां परमेश्वरि ।।६०।।

पूर्वोक्तविधानेन पूजयेद् भावसाधनैः ।
द्विमासादभिसिद्धानामाधिपत्यमनुत्तमम् ।।६१।।

द्वादंते(द्वादशान्ते) महादेवं शरच्चन्द्रार्वुदप्रभम् ।
शुद्धस्फटिकमुक्ताभं य............ त्य मणिसन्निभम् ।।६२।।

सुधावर्षं प्रवर्षन्तं सर्वयाग (०योग)फलप्रदम् ।
सुधामण्डलमध्यस्थं निश्चलं गुणवर्जितम् ।।६३।।

सर्वान्तरायव्याधिघ्नं कालग्रसनतत्परम् ।
महोपसर्गदुरितमृत्युपीडाभयापहम् ।।६४।।

सर्वरोग (सर्वारोग्य) महासम्पत् सामान्यपददायकं ।
पीयूषवर्षवर्षन्तं वलिपलिहारिणम् ।।६५।।

अणिमादिमहासिद्धिसाधनैकतरं शिवम् ।
सर्वज्ञसिद्धिदं कालत्रयविज्ञानदायकम् ।।६६।।

सर्वसिद्धिप्रदातारं जीवन्मुक्तिपदं परम् ।
तर्पयेद् भावसुधयो (भावसुधया) भावपुष्पैश्च पूर्ववत् ।।६७।।

एवं क्रमेण यो योगी पूजयेत्परमेश्वरम् ।
मासत्रयेण सर्वासां सिद्धीनामधिपो भवेत् ।।६८।।

अजरामरतामेति वत्सरार्द्ध(र्ध)प्रयोगतः ।
आत्मानं तन्मयं ध्यात्वा सम्यगेवाविभेदतः ।।६६।।

[23b]
पूजयेन्मनसा भावकुसुमैस्तत् सुधाद्रवैः ।
अचिरेणैव कालेन स योगी योगभाक् भवेत् ।।७०।।

इत्येषा व्याहृता देवि पूजा ते परमेश्वरि ।
नानया सदृशी पूजा सर्वशास्त्रेषु दृश्यते ।।७१।।

आत्मसंस्थं परित्यज्य बहिश्च स्यं (बहिःसंस्थं) यजेच्छिवम् ।
करस्थं पायसंत्यकालिहेत्कुर्परमेव (?) सः ।।७२।।

आत्मरूपी परः शम्भु (:) जगदेतत्तदाश्रयम् ।
तस्मिन् सम्पूजनं देवि पूजितं सचराचरम् ।।७३।।

हिसांदिदोषमुक्तत्वाद् अन्तरंगविमुक्तिदम् ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन शिवमतः (शिवमन्तः) समर्चयेत् ।।७४।।

पूजैषा शाम्भवी गुह्या प्राणायामादयस्तथा ।
योगश्च मन्त्रसिद्धिश्च सेध्यंतीति (सिद्ध्यन्तीति) सुनिश्चितम्।।७५।।

अन्यथा क्लिश्यन्ते देवि न सिद्धिरुपजायते ।
असिद्धमत्रंयोगतः असिद्धिरुपजायते ।।७६।।

गुह्यका भूतवेताला व्याधयो मृत्युःश्वापरे ।
विघ्नयन्ति समासाद्य पीडयन्ति च योगिनम् ।।७७।।

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन मत्रंमादौ प्रसाधयेत् ।
मत्रंसिद्धिं विना योगी योगं (न ?)प्रयुज्यते ।।७८।।

तस्य धातुगता देवि योगिनो (योगिनं) भक्षयन्ति तम् ।
भैरवे सह देवेशि ज्ञपिते (जपिते) मत्रंवर्जिते ।।७९।।

क्षणात् सिद्धिं प्रयछन्ति मन्यसिद्धस्य योगिनः ।
असम्यग् युञ्जते वापि तस्मान् मत्रंजपे सुधीः ।।८०।।

यद् यद् समीहते देवि मत्रंसिद्धि (:) प्रयोजनम् ।
तत् तदाशु लभेत् सद्यो निर्विघ्नेन सुरार्चिते ।।८१।।

[24a]
न जरामृत्युर्वा रोगा भूतायक्षाश्च गुह्यकाः ।
जपिनं नोपसर्पन्ति भयभीताः समन्ततः ।। ८२

तस्माज् जपेन् महाविद्यां योगिनीं हृदयङ्गमाम् ।
न कर्मणा साधनसंविधानै
नैवायुरोधैर्न (न वायुरोधैर्न) च पूजयांतः
न सिद्धिरुक्तापि च मन्त्रसिद्धौ ।
प्रजायते सिद्धिरतीव दिव्या ।।८३।।

।।इति मत्स्येन्द्रसंहितायाम् अष्टमः पटलः।।

।।नवमः पटलः।।

श्री ईश्वर उवाच —

अथ गुह्यं प्रवक्ष्यामि मन्त्रराजं महेश्वरि ।
यत्सिद्धौ सर्वसिद्धिं (°सिद्धिः) स्याद् योगिनो नात्र संशयः ।।१।।

मन्त्रोद्धारं (°द्धारं) प्रवक्ष्यामि सर्वसिद्धिप्रदं परम् ।
महाचमत्कारकरं महामुक्तिप्रवर्त्तकम् ।।२।।

महामृत्युप्रशमनं समाज्ञापरिकृन्तनम् ।
स्वाज्ञा संसिद्धिदं देवि जरापलितहानिदम् ।।३।।

भूतप्रेतोपसर्गादिदारणं शत्रुनाशनम् ।
चोरव्याघ्रमहासर्पपरचक्रादिवारणम् ।।४।।

त्रैलोक्यमोहनं देवि त्रिकालज्ञानदायकम् ।
अणिमादिप्रदं जीवन्मुक्तिदं खेचरप्रदम् ।।५।।

बहुनात्र किमुक्तेन जरामरणनाशनम् ।
अवर्गश्च कवर्गश्च पवर्गश्च पवर्गकं (चवर्गकम्) ।।६।।

तवर्गश्च यवर्गश्च (टवर्गश्च ?) यवर्गश्चेतिसप्तकम् ।
डाकिनी शाकिनी चैव लाकिनी काकिनी तथा ।। ७

साकिनी हाकिनी देवि यक्षिणी चेति कीर्तिता ।
सप्ताधारेषु विरव्याता वर्गसप्तकं संश्रया (त्) ।।८।।

नाथसप्तकसंयुक्ता योगिन्यो (योगिनो) योगसिद्धिदा ।
तासां हृदयगोमंशे (?) सर्वमन्यप्रधानवान् ।।९।।

तं प्रोच्यमानमधुना श्रृणु योगिमन(:) प्रियम् ।
तृतीयं काकिनीवर्गा वृद्धयोदेक्षरं (वर्धयेदक्षरं) पदम् ।।१०।।

यक्षिणी द्वितीयं पश्चात् यक्षिणी तृतीयं पुनः ।
साकिनी प्रथमं देवि यक्षिणी सप्तमं ततः ।।११।।

[24b]
अष्टमं यक्षिणी वर्गाः दत (xx) परमुदीरितः (मुदीरितम्) ।
वह्नि(अं)पीठ(उ)शिखी(तफरलरं)योनि (एऐरें) मन्त्रमीरितम्।।१२।।

पुटिवं (पुटितं) प्रचतारेण(पञ्चतारेण ऊ ॠ त त्रा)
सर्वज्ञत्वं प्रदक्षणात्(?)।
दण्डविन्दुयुतै (अं) वह्निरक्षरै(अं) क्रमश सुधीः ।।१३।।

तेनैवानल वाग्विन्दु.......सद्भिः पुरोदितै (:) ।
नाभान्ते तु विशुध्यादि (विशुद्धयादि°) धामनाम समीरयेत् ।।१४।।

ज्वालामन्तं ततस्तन्तु धातु नाम क्षमीरयेत (समीरयेत्) ।
द्वितीयान्तं च रक्ष्येति (रक्षेति) युगलं प्रोच्चरे(त्) ततः ।।१५।।

पातियुक्तान्य मुन्याहु (?) षड्ङ्गानि महेश्वरि ।
कराङ्गुलीषु विन्यस्येत् कनिष्ठादिषु मंत्रवित् ।।१६।।

पंचभिश्चापरेणैव तलयोस्तनुपृष्टयोः ।
हृदयादिषु च न्यस्येद् यथाविधि (:) पुरस्परं(पुरस्सरम्) ।।१७।।

मांती (मन्त्री) दण्डी बिन्दुयुग्मौ तदन्येन लवायुभिः ।
साद्यीशं(?) बिन्दुयुक्तं तु बीजयुक्तं सुदुर्लभम् ।। १८

बीजान्ते दक्षिणपदं द्वादशाङ्गाधिवासितम् ।
वरदेति सम्मुच्चार्य परमेश्वरि चेति वै ।।१६।।

परापरे पदं प्रोक्ता (प्रोक्त्वा) वदेत् परमकारणो ।
परमपदशष्टान्ते (शमान्ते) (?) विग्रहे पदमुच्चरेत् ।।२०।।

सर्वदुःखा स्पदं प्रोक्तलोहितो(ऽ) ग्रिसमन्वितः ।
शमनीति पदं भूयंश्चेत्येहीति पदं ततः ।।२१।।

मत्प्राणशक्ति रक्षेति गुगुले(?) हृदये न्यसेत् ।
मशं (मन्त्र°) यमाल (?) रक्षार्थमीरितः परमेश्वरि ।।२२।।

अथ न्यासविधिं वक्ष्ये येन विन्यस्तविग्रहः ।
सर्वपातकनिर्मुक्तः सिद्धिपरमिकां लभेत् ।।२३।।

चुत्की(?) तले ब्रह्मपदे भालाक्षि श्रवणे द्वये ।
सबिन्दुकै (:) मन्त्रवर्णैः पञ्चवर्णैः पञ्चसम्पुहैः (°सम्पुटैः) ।।२४।।

[25a]
विन्यसेत् परमेशानि न्यासांगकद्वये (नासिकागंद्वये) तथा ।
वदने चोष्ठयोर्देवि चुबुके (चिबुके) च न्यसेत् पुनः ।।२५।।

वक्रन्यासमिदं प्रोक्तं त्रैलोक्यक्षोभकारकम् ।
कण्ठे स्तनद्वये चांशयुगले कक्कुदो (ककुदौ) हृदि ।।२६।।

तथा कूर्परयोः पाण्योः पाश्वयो(पार्श्वयो) र्जठरे पुनः ।
हृदयन्यासमुद्दिष्टं महापातकनाशनम् ।।२७।।

सर्वव्याधिहरं भद्रे सर्वरक्षाकरं भवेत् ।
नाभौ पृष्ठे कटियुगे गुह्ये चाण्डद्वये तथा ।।२८।।

मुले गुदे स्फिचकट्यां लिङ्गाग्रे नाभिमूलके ।
मध्यन्यासमिदं प्रोक्तं महामृत्युविनाशनम् ।।२९।।

सर्वविघ्नप्रशमनं सर्वलोकवशीकरम् ।
ऊर्वो मूले तथा मध्ये चोर्वोरग्रे तयोरधः ।।३०।।

जात्वग्रे (जान्वग्रे) जुनुमूले(जानुमूले) च जघंयोस्तु पदे तथा।
पादन्यासमिदं देवि सर्वार्थप्रतिपादकम् ।।३१।।

सर्वज्ञत्वपदं दिव्यं सर्वजीवमनोहरम् ।
ततः समस्तमन्त्रेण कान्तं पादान्तमत्मवित् ।।३२।।

पादात्कान्तं च विन्यस्ये(द्) देवि व्यापकयोगतः ।
त्रिसन्ध्यमर्द्धरात्रे च यद् एनं स्वविग्रहे ।।३३।।

न्यसेत तदा वत्सराधिकाणिमादि गुणान्वितः ।
भविष्यति महेशानि सर्वपातकवर्जितः ।।३४।।

एवं न्यस्य (न्यसेद्) रीरो (शिरो) ध्यानेमेवं समाचरेत् ।
अमृतार्णवमध्ये तु रत्नद्वीपे मनोहरे ।।३५।।

उद्यानं भावये(द्) दिव्यं दिव्यकल्पद्रुमाश्रितम् ।
तन्मध्ये भावयेद् देवि वेरामृत (परामृत-) महानदीम् ।।३६।।

तस्याश्च प्रुलिते (पुलिने) रम्ये कदम्बवनमुत्तमम् ।
संस्मरेत् फलपुष्पाघ्यं भ्रमद्(र)गीतसनादितम् ।।३७।।

[25b]
तत् कोटरोलितचारुशशाङ्कवर्ण
कादम्वरीवरसुधा परिमोदितासम् ।
तद्गन्धलोलुप समागतराजहंस,
सारङ्ग कोकिल-शुकादिविहंगजुष्टम् ।।३८।।

तस्मिन् वने विपुलसहस्रदीप्तं,
मध्यमरूढं(?) कुसुमोत्करपारिजातम् ।
सिहांसनप्रवरदर्पणपूर्णकुम्भं
राजद् वितानवरमकम्पमुज्चलन्तम् ।।३९।।

श्रीमङ्कये (श्रीमंडले) पुटित (?) वह्नि पुरस्य मध्ये ।
विद्युत्प्रभाविलसितं कमल° वि° (विम्बं) ।
सिहांसनो परिहुता (परिवृता) सन् सूर्यचन्द्र-
विवस्थितं (व्यवस्थितं) निधि (विधि)-
धृताषृकसिद्धियलम् (?) ।।४०।।

तत् कर्णिकागतमचिन्त्यमनेकचन्द्र-
मुक्तामणिस्फुटितकुम्भवितानभासम् ।
भालस्थलग्रथितचारुशशाङ्क खण्डं,
निर्यत् (निर्गत) - सुधारससमाद्युतदिव्यगात्रम् ।।४१।।

विद्युल्लतासदृशचारुतरं प्रबन्ध-
रत्नादिजालममलाङ्गमनङ्गकल्पम् ।
कादम्बरीवरसुधापरिपूर्णपात्रं,
संसक्तपाणितलमु(द्)धृतरत्नदण्डम् ।।४२।।

प्रा(ले) यचन्द्रधवलो त्रमशंषभार(?)
श्रीक्रुंकला°गद(?)महावलयादिभूषम्,
मन्दस्मिताञ्चितमुखं कमनीयजालं,
भूषा विभूषितमजादिसुरौघवन्द्यम् ।।४३।।

तद्वामां ....लगता,
..................भावयेत्परमेश्वरि ।
अलोलमणिताटंकामाता प्रमदिरेणपम् (?) ।।४४।।

x x x
x x x

क्रुचं मन्दारभारोद्यन् मन्दस्मितयुताननाम् ।
चारुग्रैवेयमङ्गुलां वृत्तोत्तुङ्गस्तनान्विताम् (?) ।।४६।।

x x x
x x x

चारुरूपोरणायुगाम् (? आरक्तपद (पाद) पङ्कजाम् ।
शोभालावण्यसौन्दर्यसमुदायस्वरूपिणीम् ।।४८ ।।

श्यामलां शिवपद्मस्थां कोमलां यौवनोज्ज्वलाम् ।
भक्ततापत्रयीशत्रुं मधुरस्मितचन्द्रिकाम् ।।४६।।

नखाङ्कुरविनिर्भिन्नकालमृत्युयमादिकाम् ।
सर्वसाम्राज्यसम्पत्तिप्रदातृसुरभूरुहाम् ।।५०।।

सर्वलक्षणसम्पन्नां सर्भा(सर्वा-) भरणभूषिताम् ।
सप्ताधारेषु मन्त्राणां भावयेद् भावयोगतः ।।५१।।

विद्युज् जाम्बूनद - जवी (जवा?) लीनाशुक्लाभिरक्ताकाः ।
कोटिचन्द्रनिभं चान्द्रं वर्णत (वर्णा)स्ते प्रकीर्तिता ।।५२।।

एवं वर्णात्मकं देहं भावयित्वा विचक्षणः ।
जपेद्विद्यां महेशानि शर्वविद्याधिनायिकाम् ।।५३।।

सम्यग् दीक्षविधौ देवि गुरुणा समुदीरितम् ।
नान्यथा फलदं मन्त्रं कल्पकोटिशतैरपि ।।५४।।

विनापि कलाशासकै दीक्षागुरुमुखात् श्रुता ।
कुम्भपूजाविधौ सम्यक् कृत्वा प्रोक्षणमार्गतः ।
तस्यापि गुरुभक्तस्य जायते सिद्धिरुत्तमा ।।५५।।

।।इति श्रीमत्स्येन्द्रसंहितायां नवमः पटलः।।

।।दशमः पटलः।।

[26a] दीक्षाविधिं प्रवक्ष्यामि येन योगी मलक्षयम् ।
प्राप्नोति दुर्लभां सिद्धिं अचिरादेव पार्वति ।।१।।

एकान्ते विजने देशे पशुदृष्टरगोचरे (पशुदृष्टि°) ।
समं भूमितलं कृत्वा दर्पणोदरसन्निभम् ।।२।।

वस्त्रप्रावरणाद्वेवि (° प्रावरणैर्देवि) मण्डलेन वितानके ।
भूषयित्वा यथान्यथं(यथान्यायं) उपलिप्य विधानतः।।३।।

उपविश्यासने दिव्ये प्राङ्मुखो नियतः शनैः ।
विघ्नानुत्सार्य यत्नेन प्राणायामैर्जितेन्द्रियः ।।४।।

स्वपुरो दक्षिणे भागे विदध्यान् मण्डलं शिवे ।
चतुरस्रं महेशानि मध्ये वर्तुलाजितं (वर्तुलराजितम्) ।।५।।

तत्र शंखं प्रतिष्ठाप्य साधारं पात्रकं तु वा ।
पुरयेद (पूरयेद्) गन्धनोयेन(गन्धतोयेन) हेतु (?)
मिश्रेण योगवित् ।।६।।
आधारं पात्रं (गात्रं) संचिन्त्य पात्रमर्क (पात्रमर्कं) विचिन्तयेत् ।
वारि सोममयं ध्यात्वा तत्तन्मत्रैः प्रयुज्य च ।।७।।

षडङ्गेनाचयेन् (°नार्चयेन्) मूलविद्यया सप्तवारकम् ।
प्रजप्य प्रोक्षयेत्तेन सपर्या साधनादिकम् ।।८।।

तदर्घ्यवारिणा देवि स्वपुरो वामकैः पुनः ।
वहन् नाडीन्युतं रुध्वा (रुद्ध्वा) गरुडासनमास्थितः ।।९।।

नदत् पर्णां डना (?) देवि चतुरस्रं प्रकारयेत् ।
तन्मध्ये वर्वलं (वर्तुलं) पद्मं कारयेद् विधिपूर्वकम् ।।१०।।

मण्डलाकं (मण्डलकं?) प्रवक्ष्यामि येन पूजाफलं लभेत् ।
विना तेन महेशानि न सिद्धिमधिगच्छति ।।११।।

रोमित्यादौ (रोधनपदं?) समुच्चार्य चन्द्रसूर्यपदं वदेत् ।
अग्निगर्भपदं पश्चात् स्युरयुमं (स्वरयुग्मं) ततो वदेत् ।।१२।।

धर्मार्थकाममोक्षान्तलाभं कुरु युगं (युम्मं?) ततः ।
महासमयशष्टान्ते (शकलान्ते?) खेचरीपदमीरयेत् ।।१३।।

मुद्रामिति समुच्चार्य जनवीस्यपाटयेति च (?)।
शांभवव्यासपदं प्रोक्ता (?) या पदं च समुच्चरेत् ।।१४।।

पवुर्त्यथिनां सिध्यं ते सामर्ध्वं दहयुक् पुनः (?) ।
पमुत्काकि च युग्मां ते कालेयुकारद पुनः (?)।।१५।।

[27a] मण्डलां ते च ब्रह्मांडं खं कलान्ति (कलान्तं?) वदेत् तदा।
विधदिद्वग्निसाध्यां दुःखं उ (?) युक्तं वदेत् तदा ।।१६।।

महाचन्द्रासवो प्रोक्तो हसहेमिति कि पुनः (?) ।
मण्डलाणुरयं देवि पञ्चप्रणवसम्पुटः ।।१७।।

अनेन विधिना कृत्वा मण्डलं विधिपूर्वकम् ।
पूर्वादिषु चत्रर्द्दिक्ष्ण (चर्तुदिक्षु) मध्ये वै रत्नपञ्चकान् ।।१८।।

गतस्व मर्त्त्यया तालं नागसंघा (°संघाः) क्रमेण तु ।
ईशानादिषु कोणेषु मध्ये वै तारपञ्चकम् ।। १९

विनस्याधारमाधाय हेथात्र (?) पदमुच्चरेत् ।
आसनाय तथैकारं विन्दुयुक्तं पुनर्वदेत् ।।२०।।

अनेन (आ)धारमंभ्यर्चत् पंचाग्नमण्डलं (पञ्चांगमण्डलं) स्मरेत् ।
तत्पात्रं समांधाय (समाधाय) ध्वायतं (ध्यायन्तं?)
परिशोधितम् ।।२१।।

पुरतो वाग्रवेनैव (वाग्निवानैव) श्रीपात्राधार उच्यते ।
आसनान्तु देवेशि पात्रं ध्यायेद् दिवाकरम् (दिवानिशं) ।।२२।।

संशोधितं घटस्थेन पूरयेत्सुध (सुधा) हेतुना ।
सद् विनियेन (?) देवेशि शोधयित्वा क्रमेण तम् ।।२३।।

स द्वादशान्तो ज्वलितः मुद्रया देवमुद्रया ।
धाराम(र्घ्य)-समापूर्णां भावयेत् सोमरूपिणम् ।।२४।।

पूर्ववजक्ष्ण (?) मध्ये मध्ये कोणेषु मध्यके ।
पञ्चरत्नानि विन्यस्य विन्यस्येत (विन्यसेत्) तारपञ्चकम् ।।२५।।

वामाङ्गुष्ठानांम योत्स्वस्वसलिनेवसेसेवरि (?)।
सप्तवारं सकृज् जप्त्वा धिवि (विधि)वन्मूल - (अ ?) विद्यया।।२६।।

पूजयेद्गन्धपुष्पाद्यै र्धूपदीपादि दर्शयेत् ।
............प्रोत्मानं पूजोपकरणानि च ।।२७।।

द्रव्यान्तरं मण्डलं च सर्वविद्यामयं भवेत् ।
ततो पूर्वोक्तविधिनां सम्यक् विन्यस्तविग्रहः ।।२८।।

सिद्धखरहोद्रिक्त (?) कुसुमै रक्तचन्दनैः ।
षट्कोणं विलिखे(द्) देवि मष्ट(अष्ट)कर्णिककेसरम् ।।२९।।

सहस्रदलसंयुक्तं भावनाविहितं तदा ।
पश्चिमे षोडशदलं भात्वंशं वायुकोणके ।।३०।।

इरोदशदले (?) पूर्वे षकारं (?) परिकल्पयेत् ।
चतुर्दलमथ्यग्रेय्यां (?) द्विगुणं निर्ऋतिकोणके ।।३१।।

तद् (ततः) बहिर्विलिखेद् यन्त्रं तद् (ततः) बहिः परमेश्वरि ।
चतुषष्टिदल्वं (चतुः षष्टिदलं) पद्मं हृद्धतमेव
(हृद्गतमेव ?) च ।। ३२।।

बहिरालिख्यत्य (तद्ध x?) तं योगी भूपुरेण समन्वितम् ।
चतुर्द्वारसमायुक्तं सम्यक्कां प्रौक्ष (सम्यक् आप्रोक्ष्य) पूजयेत् ।।३३।।

मध्ये विन्यस्य कलशमष्टगन्धोदकान्वितम् ।
षडेव कलशान् कोणेष्वाधाय परमेश्वरि ।। ३४।।

सम्पूज्य गन्धपयसा दिव्यार्घ्यजलसंयुतान् ।
रक्तवस्त्रैः समाच्छन्नान् रक्तयुक्तान् प्रपूजयेत् ।। ३५।।

मध्ये शिवौ समावाह्य पूज्य सर्वोपचारकैः ।
जपेत्वारं शिवं शान्तं योगिनीषट्कमध्यगम् ।। ३६।।

पूजयेत्वा (पूजयित्वा) यथा न्यायं तर्पयित्वा परामृतैः ।
षट्कोणकलशेष्वेवं डाकिन्याद्याः समर्चयेत् ।। ३७।।

तत्तदलेषु देवेशि तास्ताः सम्यक् प्रपूजयेत् ।
चतुःषष्टिदले बाह्ये तदुक्तन्याससमार्गतः ।। ३८।।

निध्यष्टकसमायुक्ताः सिद्धयस्त्वणिमादयः ।
तथा चटकभूरकौ दुर्गाक्षेत्रेशमेव च ।।३९।।

[28a] च(तु)ष्कोणेषु सम्पूज्य धूपदीपानि दर्शयेत् ।
पूजान्ते जुहुयाद् वह्नौ बलिं दद्याद् यथाविधिः ।।४०।।

श्रीशब्दान्ते वरपदं मषीवर्णान् (?) समुच्चरेत् ।
नाथान्ते श्रीपदं प्रोक्ता (प्रोच्य) परमाणामुदीरयेत् ।।४१।।

स्वारीपूर्णीच्च (?) श्रीपर्णान् पादुकां पूजयामि च ।
प्रोक्ता (प्रोच्य) सम्पूजयेद् देवि तार्पयामि
(तर्पयामीति) तर्पयेत् ।।४२।।

अनेन क्रमे योगेन पूजयेत् सर्वदेवताः ।
आदौ सिरसि (शिरसि) देवेशं षडाधारेषु चैव हि ।।४३।।

पूजयित्वा महेशानि बहिरेव समर्चयेत् ।
पूर्वं गिरिगणेशानौ पूजयिद् (पूजयेद्) वामदक्षिणे ।।४४।।

तथा बटुकभेरुकं (बटुकभैरवं) दुर्गाक्षेत्रपतीन् क्रमात् ।
तत्तन्मंत्रैः समभ्यर्च्य तर्पयित्वा परामृतैः ।।४५।।

विश्वनाथं यजे शम्भुं (यजेच्छम्भुं) शुद्धकारणवारिणा ।
पश्चिमे कलशे देवि हंसानन्देन संयुताम् ।।४६।।

डाकिनीं पूजयेत् सम्यक् दलेषु क्रमयोगतः ।
अमृताकर्षिणीं चैव इन्द्राणीशानिरेव च ।।४७।।

उमां चोर्ध्व लका ऋद्धि ऋहलका (?) तथैव च ।
भूषा तथैकरीराय (?) ऐश्वर्या च तथापरा ।।४८।।

ॐकारात्त्वोषधा देवि यक्षराज्ञाश्च (यक्षरक्षांसि) षोडश ।
दलेषु तेषु विख्याता योगिन्यो योगसिद्धिदाः ।।४९।।

वायव्ये कलशे नित्यानन्दभैरवसंयुताम् ।
राकिनीं पूजयेद् देवि दलेषु च महेश्वरि ।।५०।।

कालरात्रि च सातीता गायत्री च तृतीयका ।
घन्टाकारणसंज्ञा च ....र्णं चका (?) तथैव च ।।५१।।

भयाभया च हूंकारी ज्ञानरूपा तथैव च ।।५२।।

टकंरुस्ता च हूंकारीत्युक्ता दलदेवता ।
ईशन्यैकजसे देवि ....ष्ठानं दे न संयुतम् (?)।।५३।।

लाकिनीं पूजयेत् तत्र दलेष्वेवं प्रपूजयेत् ।
कामरीति तथा पाटकारिणी (?) रामिणी (राकिनी) तथा ।।५४।।

तामसी स्थानवी (स्थान्वी) द्राक्षा पूर्णिधीत्री (?) च नन्दिनी ।
पार्वती चैव कटकारी (?) दश वेति प्रकीर्त्तिताः ।।५५।।

पूर्वस्यां दिशि कुम्भं भोगानन्दसमन्वितम् ।
काकिनीं पूजयेत् तत्र दलेषु क्रमयोगतः ।।५६।।

बन्दिनी भद्रकाली च माया चैव यथस्विनी (यशस्विनी)।
रमा लम्बोष्टिका चैव दिव्यास्तत्र प्रकीर्त्तिताः ।। ५७।।

अग्रिय्यां (आग्नेयां) कलशे देवि लोलानन्देन संयुताम् ।
शाकिनीं पूजयेद् देवि दलेषु वरदां श्रियम् ।। ५८।।

चण्डां सरस्वतीं चैव पूजयेत् क्रमयोगतः ।
नैरीत्यां (नैऋत्यां?) कुलशे (कलशे?) भूषां नन्देन
सह काकीनीम् ।।५६।।

पुज-(युग?)हंसवती चैव दलयोश्च समावतीम् ।
मध्ये परशिवं भक्ता पूर्वोक्तमनुना यजेत् ।।६०।।

वृन्ते पूर्वादिताः पूज्या श्रीकण्ठाद्याः सशक्तिकाः ।
चतुःषष्टिदले बाह्या तावत्यो योगिनीः स्वयम् ।।६१।।

पूजयेत् सर्वसिध्यर्थं तासां नामानि वै श्रृणु ।
अक्षोभ्यरिक्षक......च राक्षपणीक्षया (?)।।६२।।

पिगंलाक्षी क्षयाक्षेणा (?) शिला लिला (?) तथैव च ।
लयलाला (?) दलंका च लंकेशी लालसाव्हया ।।६३।।

कराला कुलिनी चैव विशालाक्षी तथैव च ।
हुङ्कारी वडवा-वक्त्रा तथैव च महोदरा ।।६४।।

मन्त्रदी सर्वत्वकाल थरावै कालजंयिका(?)।
विद्युज्जिह्वा च रक्ताक्षी तथैव च करंकिणी ।।६५।।

मेघनादा ग्गारुडीग्रा (?) कालकण्ठी वरप्रदा ।
चन्द्रा चन्द्रावती चैव प्रपञ्चा प्रलयान्तिका ।।६६।।

रिपुवक्त्रा विशाला च पिशिता चैव लोलुपा ।
वामिनी वमिनी चैव तपती पावनी तथा ।।६७।।

क्षतानना वहल्कुक्षि विकृता विस्वरुपिणी ।
यमजिह्वा जयन्ती च दुर्जया च यमान्तिका ।।६८।।

[29a] विकाली रेवती चैव पूतना विजया तथा ।
चतुः षष्टि दलैश्चैव तपनी पावती तथा ।।६९।।

.... ।
.... योगिन्य (योगिनीः) परिपूजयेत् ।।७०।।

पश्चिमादि महेशानि तद् बहिश्चाष्टपत्रके ।
दलमूलेषु पूजाश्च भैरवमातृभिः सह ।।७१।।

असिताङ्गो रुरुश्चण्डः क्रोधश्चोन्मत्तभैरवः ।
कपाली भीषणाक्षश्च संहारश्चाष्टभैरवाः ।। ७२।।

ब्राह्मी च मङ्गला चैव माहेशी चर्चिका तथा ।
कौमारी चैव योगेशी वैष्णावी हरसिद्धिका ।।७३।।

वाराही चैव भद्रा च ऐन्द्री किलकिला (?) तथा ।
चामुण्डा कालरात्रीश्च महालक्ष्मीश्च भीषणा ।।७४।।

पूर्वादिदलमूलेषु शक्तिद्वयसमन्वितान् ।
भैरवान् पूजयेद् देवि सर्वाभीष्टफलाप्तये ।।७५।।

दलाग्रे सिद्धयः पूज्याः सर्वादिनिधिवाहनः ।
अणिमा महिमा चैव गरिमा च तथेशिता ।।७६।।

वशित्वं च महेशानि प्राकाम्यशक्तिरेवच।
(प्राप्तिश्च लघिमा चा) ष्टासिद्धयः सर्वकर्म च (सर्वकर्मसु) ।।७७।।

तथा पद्ममहापद्मौ मकरकच्छपस्तथा।
मुकुन्दो नन्दनो नीलः शंखश्चैवाष्टमो निधिः ।।७८।।

इन्द्राद्याश्चैव लोकेशाः पूज्या पूर्वादितः क्रमात् ।
इति सम्पूज्य देवेशि धूपदीपानि च क्रमात्।।७६।।

दत्वा नैवेद्यम् अचदत्वा (?) अग्नौ बलिमाहरेत् ।
साधारं चषकं स्थाप्य मण्डले चतुरस्रके ।।८०।।

अन्नपूर्णां सलिलं स द्वितीयं सहेत्रुकं (?) ।
पुष्पताम्बुलदीपाद्यं पूर्वमन्त्रेण दापयेत् ।।८१।।

तर्ज्जनीमुद्रया देवि ध्यायेत् तं भूतवेष्टितम् ।
भैरवान् योगिनीवृन्दं क्षेत्रेशा नाशा (?) नायकम् ।।८२।।

तत् तन्मंत्रैश्च सन्तर्प्य भूतादिभ्यो यथाविधिः।
त्रि-त्रि-बिन्दुनिपातेन तर्पयेत् परमेश्वरि ।।८३।।

।। इति मत्स्येन्द्रसंहितायां दशमः पटलः ।।

।।एकादशः पटलः।।

अथ नैवद्यमुत्सृज्य मुखवासादि दापयेत् ।
मुद्राश्च दर्शयेत् पश्चात् पूजान्ते सर्वसिद्धये ।। १

दक्षव्यांशो (°वामौ?) भुजौ देवि परिवर्त्त्य तथाङ्गुलीः ।
तर्जनीभ्यां समाक्रान्ते सर्वार्द्ध ....मध्यमे ।। २

अङ्गुष्ठौ तु महेशानि कारयेत् सरलावपि ।
एषा हि खेचरी मुद्रा सर्वसिद्धिप्रदायिनी ।। ३

पुटाकारौ करौ कृत्वा तर्ज्जन्यङ्गुष्ठकौ समौ ।
कारयेत् सरलाकारौ दीपमुद्रेयमीरिता ।। ४

सर्वसिद्धिकरी देवि सर्वविघ्नविनाशिनी ।
एतस्या एव म...या तर्जन्यो (:) कुटिला गतिः ।। ५

अङ्गुष्ठौ शृङ्गवत्कृत्वा शृङ्गमुद्रेयमारिता ।
सर्वदु.प्रशमनी सर्वोपद्रवनाशिनी ।।६।।

करौ संश्लिष्य चान्यांन्यमङ्गुलीव्यत्यथेन च ।
मुद्रैषा सौभरी नाम सर्वव्याधिविनाशिनी ।।७।।

एता (:) मुद्रा (:) मयाख्याता दिवि (देवि)-प्रोक्ताः शुभावहाः ।
ततः स्वमूर्ध्नि कमले सहस्रवलसंकुले (सहस्रदलसङ्कुले) ।।८।।
पादुकामन्त्रमुच्चार्य गुरुनाथं प्रपूजयेत् ।
तथा सर्मार्पतशेषेण कारणेन समन्वितम् ।।९।।

[30a] चषकं तत् समु(धृ)त्य गुरवे च निवेदयेत् ।
तत्त्वत्रयाणुनां (?) दत्त्वा विचारं विदुं (विदुः) तर्पणम् ।।१०।।

स्तुतिभिश्च नमस्कृत्य पूजयेत् क्रमयोगतः ।
ॐ नमो (ऽ) नन्तरूपाय शम्भवे परमाणुवे ।।११।।

सर्वमन्त्रमहायोगफलदानैकहेतवे ।
नमो (ऽ)नलात्मने (ऽ)नन्तशक्तये परमात्मने ।।१२।।

दिव्यज्ञानसुधातृप्तिरुपिणे विश्वरुपिणे ।
वेदपञ्चकषड्वेदपञ्चवेदक्रमात्मने (?) ।।१३।।

तच्छक्तिगणसंश्लेषः- कृप्ति(तृप्ति) - तृप्ताय शम्भवे ।
भादिकूटसमुत्पन्न ज्योतिर्लिङ्गस्वरूपिणे ।।१४।।

सादिकूटार्णसम्भूतशक्तयालिङ्गितमूर्तये ।
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तमूर्तामूर्तस्वरूपिणे ।।१५।।

स्वप्रसादामृतोल्लास-सर्ववृत्तिविकाशिने ।
तरुणामृतकल्लोलधारादृक्पात भैषजः (°भिषजे?) ।।१६।।

स्वभक्ति -इतित (° रतितो) व्याधिजरामृत्युविनाशिने ।
नमो योगामृतध्वस्त - सस (?) - योनि कलेवरे ।।१७।।

परमानन्दरूपेन्द्र दयक्ष्पादवामृताम्भसे(?)
रुचिभावघनसारौघ सान्तदुष्करकर्मणे ।
योगिनो योगसाम्राज्य दक्षिणे शम्भवे नमः ।।१८।।

सर्वाज्ञासिद्धिसाम्राज्ययोगविद्यास्वरूपिणीम् ।
जीवन्मुक्तिप्रदां वन्दे भैरवीं विश्वनायकाम् ।।१९।।

मध्ये वग्भवमध्यय (वाग्भवमध्यस्था) चटकरचिता
(षट्करचिता) विश्वानना विश्वगा,
पञ्चप्रेतकृतासना कुजतनुर्ज्याषट्प्रकारोज्ज्वला ।
विद्युत्कोटिनिभप्रभा भवभयप्रध्वंसिनी भासते
भूयान् मे भुवनेश्वरी भुवनसूरीष्टाप्तये यक्षिणी ।।२०।।

पद्मपाणिचतुष्टयेन करदी ....नगांनना (?),
तत्तु ये वरदाभये तकदधी (ती) त्वद्यथिभूतस्थिता (?)।

मूलस्था भुवनाध्वगा हृदया (-गा) दुग्धोदनैकप्रिया,
सानन्दा ज्वलिनीपमा (ज्वलंतोपमा) वित(र)-
तु श्रेयांसि मे काकिनी ।।२१।।

श्यामाङ्गो वरषेट-(?)-श्वद्म-(सद्म)-कसरो द्योलो (?) भजन्ति त्रिका (?),
स्पन्दद्वयवती (?) शिरोमनुभवा (?) भावासनास्थायिनी ।
कामस्था (?) पदमार्गशोधनकरी, रक्तग्रं (?) हैकाग्रता,
स्वाधिष्ठानगता सितोद (?) रुचिरा सा पातु मां काकिनी ।।२२।।

वर्णाध्वप्रतिति (x)- शोधिनी शिखरितो भेरण्डवक्त्रया (?)
गृच्छ (वृक्षा)-रोहणतत्परा प्रभुपदस्यां (?) कुस्यमाशुद्धयाम् (?)।
मातस्या न गतिः स नाति निलघा पिंगानुडानंप्रिया (?),
माम व्याद (?) चिराद्धिखानुजनिता (?) मांसाशिता लाकिनी ।।२३।।

मेदस्थां हरितप्रभां कवचजां मन्त्रांद्यसंशोधिनीं
दध्य (न्) नातिरुचिं यो हे (?) नतु च त्रुषाद्यां (?) विडालासनाम् ।
दानस्थानगतां शशाङ्कविभवस्थां शूलमुदो (?) ज्वलां,
योगस्थामभिरस्थ- गीलकपदां (?) वन्दामहे काकिनीम् ।।२४।।

विभ्राणा लकुटं च मूकमसिता पञ्चभुवल्कोज्वला (?),
रौद्रस्थानपदानुगा ध्वम (?)(अ) जिताभीतासितास्थिप्रिया ।
उद्वानैकरुचित्स्वक्रछुटकृतारीहा (?) जवाद् (?) वन्दिता,
पर्यारुह्य - कलाध्वशोधनवती भूयान्मुदे शाकिनी ।।२५।।

देवीं शूलकपाललालितकरां मृण्यास्य षष्वोग्रिम् (?),
भाणु (?) प्रभवां वलर्क्ष (?) विहगारूढां सतत्त्वाध्वगाम् ।
हारिद्राभनिभां सशाम्भवपदां पादस्थितापटलां
वन्दे सर्वगतां संविदुवसतिं शूलस्थितां हाकिनीम् ।।२६।।

[31a] कपालशूलषट्काङ्गवलयान्वितपाणयः ।
श्रीकण्ठाद्या (:) स्वस्वमात्रैः (°मन्त्रैः)
पूजनीया (:) प्रयत्नतः ।।२७।।

तेषां च शक्तयः शूलकपालसहिताः शुभाः ।
चतुःषष्टिदलैर्देवि योगिन्यो योगसिद्धिदाः ।।२८।।

सर्वाभरणसम्पन्ना(:) सर्वा (:) मरकतप्रभाः ।
साक्षतं तिलकं भाले विभ्रन्त्यः समरांभराः (?)।।२९।।

मदिरासर्वसम्पूर्ण (:) कपोलोज्वलपाणयः ।
मात्रदंकधरा (?) किञ्चित् स्मिताननसरोरुहा ।।३०।।

वेणीवन्धोज्वलन्माल्या भैरवाङ्कसमाश्रया (:)।
तेऽपि शूलकपालोद्धूता त्रिकटिभूषणाः ।।३१।।

मदिराघूर्णितदृशः शोणवस्त्रानुलेपना (:) ।
भैरवाङ्कसमारुढाः पद - प्रौढांबुजाननाः ।।३२।।

यष्टव्यां (?) मातरः स्वाष्टादष्टपत्रेष्वभीष्टदाः (?) ।
दलाग्रे सिद्धयः पूज्या (:) विधिवन् निधिवाहनाः ।
तत्तंत्रोक्तविधिना हेरम्बादीन् समर्चयेत् ।।३३।।

स्वांशाष्टकोद्दीपितमूलवर्णे
षट्भिस्तप्या (:) षट्स्वरभेदितैव ।
स्व स्वानुकूटैरपि नाम चोक्तां (?)
मां दक्षयुग्मं त्वथ धातुनम (धातूनाम्) ।।३४।।

दक्षेति युग्मं त्वथ शर्वप्टाष्टं (?) वशं करीत्येवजधोभितारव्यौ (?),
देवि चितोक्तानमइत्यथा (?) चितेव विघ्नेपदमुच्चरीयतादित (?)
वालरास्माभि (?) च
सादिकू (ट) मुच्चार्य वांच्छाय युगं तथान्ते ।।३५।।

व्योमवरौकादि यतोद्यनाद्य (?)
नामावसाने (ऽ) पि च पादुकान्ते ।
स लोहितात्वीश जयामि चेति (?)
रसोरनंगोऽपि च वाग्भवं च ।।३६।।

अनेन सप्तक्रमभेदितेन
प्रपूजयेत् पार्वति सप्त देवीः ।
स पञ्चतारैरपि मातृकार्णैः
श्रीकण्ठमुख्यानपि पूजयेच्च ।।३७।।

दले चतुःषष्टिमये च तत्तन्
मूलार्णमूक्तैरपि पञ्चतारैः ।
अष्टाष्टागमोक्तक्रममन्त्रवर्ये
ब्रह्मार्णमुख्या न सितांकादीन् (?) ।।३८।।

वर्गाष्टकैरेव च सिद्धिवृन्दं,
तद्बीजयुक्तानपि लीकनाथान् (लोकनाथान्?) ।
ततः शिरसि देवेशि परम्पर्यक्रमेण तु
गुरुभक्तिर्यजेद् भक्त्या सगुरुं तं समर्चयेत् ।।३९।।

विद्यमाने गुरौ स्थाने मुक्तव्योम्नि लये नयेत् ।
लब्धानुज्ञः प्रसादार्थे तत्त्वमंत्रैस्त्रिभिः पुनः ।।४०।।

प्रसादीकृत्य तच्छेषं चरुप्रासनमेव च ।
अथ शिष्यं समानीय भक्तिप्रणतचेतसा ।।४१।।

सामान्यार्घेण संप्रोक्ष्य तत्त्वमन्त्रैरपि त्रिधा ।
दद्यात् प्रसादं देवेशि सम्यग् बटुकमेव च ।।४२।।

ततः प्राङ्मुखमासीनं शिष्यं गुरुरुदारधी (:) ।
पश्चिमदिग्घटं गुह्य (गृह्य) सम्य (क्) तमभिषेचयेत् ।।४३।।

अथालङ्कृतमासीनं पूजास्थाने पुनर्गुरुः ।
प्रीक्षा (प्रोक्ष्या)र्घवारिणा दद्यात् तत्तुमन्त्र (:) प्रसादकम् ।।४४।।

त्रिवारं परिदद्यात्तु मात्रेणः (?) अमृतमुत्तमम् ।
स्वदोपं परमेशानि पशुपाशविमोचनम् ।।४५।।

अथासीनस्य शिष्यस्य प्रतिलोमेन मातृकां ।
शरीरे विन्यसेत् सर्वपापसंहरणाय च ।।४६।।

पुनश्चैवानुलोमेन सप्तवारं प्रविन्यसेत् ।
श्रीकण्ठादीन् न्यसेन्मूलं मन्त्रन्यासमथा परं ।।४७।।

वक्ष्यमाणक्रमेणैव योगिनीन्यासमेव च ।
सप्तधारेषु विन्यस्य शिष्यस्य परमार्थवित् ।।४८।।

एवं विनस्तदेहस्तु नमस्कृत्य गुरुं च पुनः ।
प्राचन् (प्रोच्य) मन्त्रवरं शिष्या(शिष्याय) दत्वा
वास्यसमीहितम्।।४६।।

अथास्य सप्तधारेषु सप्तवर्णाननुस्मरेत्।
(32a)
प्रवदे (द्) दक्षिणे कर्णेमन्त्रराजं गुरु (:) स्वयम् ।।५०।।
मूर्ध्नि हस्तौ समाधाय भूयस्तमनुशासयेत् ।
प्रजपेच्च सप्तवृत्या स्वसामर्थ्यं प्ररक्षितुम् ।।५१।।

शिष्यो(ऽ)पि गुरुणा लध्वं जपेत् मन्त्रं शतावरम् ।
ततो वरं समुधृत्य भुञ्जीत सह तेन तु ।।५२।।

शिष्यो(ऽ)स्याभरणै वस्त्रै (:) गुरुमभ्यर्चयेत्पुनः।
दिने दिने यथाशक्ति जपेद्विद्यां प्रसन्नधी (:)।।५३।।

अनेन विधिना दत्ता विद्या भवति कातदा (कार्यदा) ।
अन्यथा गृह्णतः सिद्धि न (द) दाति सुरार्चिते।।५४।।

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन दीक्षां प्राप्य जपेन् मनुम् ।
एतत् गुह्यतमं देवि दीक्षाकर्ममथोदितम् ।।५५।।

सर्वसिद्धिकरं पुण्यं सर्वयोगफलप्रदम् ।
सर्वैश्वर्यकरं चैव सर्वलो(क)जयावहम् ।
सर्वविघ्नप्रशमनं समस्ताभीष्टदायकम् ।।५६।।

न मन्त्रसिद्धिर्न च योगलाभो न वास्य पूजा फलदानसिद्धिः ।
न चापि मृत्युर्न जरा जपेच्च विनैव दीक्षाविधिना महेशि ।।५७।।

।। इति मत्स्येन्द्रसंहितायां एकादशः पटलः ।।

।।द्वादशः पटलः ।।

[32a] ईश्वर उवाच —

अथातः संप्रवक्ष्यामि मन्त्रसाधनमुत्तमम् ।
नदीसमुद्रतीरेषु पर्वताग्रे (षु) वा सुधि (सुधी) ।।१।।

शिवालये गृहे वापि पूजां कृत्वा पुरोदिताम् ।
विना च कुलशासकैर्विजने परमेश्वरि ।।२।।

मत्प्रसात् प्रसन्नात्मा सम्यगासीनमासने ।
कुङ्कुमक्षोद(ग्माक्षत)दिव्याङ्गे रक्तवसनधरासनः ।।३।।

दिव्यपुष्पावृतो मौनि(मौनी) कालागरुविधूपितः ।
चन्दनागरुकपूरैरधिवासितविग्रहः ।।४।।

पूर्ववन् माप्रा (?) समास्थाय मुद्रासन्नध्व (मुद्रासन्नद्ध) विग्रहः ।
पूर्वोक्तध्यानयोगेन संचिन्त्य लयमारभेत ।।५।।

चन्दनागरुकर्पूरमृगनाभिसुगन्धितम् ।
रुद्राक्षस्फाटिकमयीमक्षमालां करे धृतम् ।।६।।

सहस्रं वर्त्तयेन्नित्यं मन्त्रराजं समाहितम् ।
स लभे (द्) दु -(र्ग)- मां सिद्धिं देवैरपि सुदुर्लभाम् ।।७।।

वर्षत्रयेण देवेशि सत्यमेतन्न संशयः ।
पूजयित्वा यथान्यायं यदि लक्षं जपेन्मनुः ।।८।।

स सप्तजन्मप्रभवैः पातकैः परिमुच्यते ।
लक्षद्वयेन देवेशि कोटिजन्मसमुद्भवैः ।।९।।

मुच्यते पातकैर्योगी सिद्धिं च लभते पराम् ।
लक्षत्रयेण मूको(ऽ)पि वागीशत्वमवाप्नुयात् ।।१०।।

सर्वज्ञत्वमसम्बाधं लभते नात्र संशयः ।
चतुर्लक्षं यदि जपेन्मन्त्रमेतत् समाहितः ।।११।।

लभते स्तम्भनसिद्धि (ः) लोके परमदुर्लभाम् ।
अग्निस्तम्भं जलस्तम्भं मेघानिलनिवारणम् ।।१२।।

सैन्यस्तम्भं गतिस्तम्भं चक्षुस्तम्भमनुत्तमम् ।
यद् यद् वाञ्छति देवेशि तत्तत् संभ(व)ति क्षणात् ।।१३।।

पञ्चलक्षेण देवेशि लोके वै श्रवणोपमः ।
आज्ञासिद्धिमवाप्नोति सर्ववाधाविवर्जितः ।।१४।।

साम्राज्यगुणसम्पन्नो वलिपलितवर्जितः ।
भविष्यति महेशानि चिरञ्जीवी स्नरें (?) रपि ।।१५।।

षड्लक्षं विधिवज् जप्त्वा योगी खेचरतां लभेत् ।
सुदूरदर्शनं चैव दूरश्रवणमेव च ।।१६।।

मनोजवं कामरूपं परकायप्रवेशनम् ।
स्वच्छन्दमृत्युर्देवानां सहक्रीडा सुदर्शनम् ।।१७।।

अङ्गुलग्र(अङ्गुल्यग्र) निपाताद्यै भूमेरपि च कम्पनम् ।
इच्छेच्छक्तः स्वयं पातुं समुद्रमपि नातुरम् ।।१८।।

शरीरादग्निनिर्माणं तत्रापभयवर्जितः ।
शक्यं जगदिदं दग्धुं यदीच्छेदप्रयत्नतः ।।१९।।

[33a] त्रिकालज्ञत्वमद्वन्दं परिच विज्ञया (?) ।
व...............र्का वु विषादीनां प्रतिष्ठां भो पराजयः (?) ।।२०।।

एतान्यन्यांश्च देवेशि सिद्धिं चात्यन्तदुर्लभाम् ।
षट्लक्षजपमात्रेण योगी भवति सर्वदा ।।२१।।

सप्तलक्षं यदि जपेद् विद्यामेतामनुत्तमाम् ।
स शिवः सर्वलोकानां आधिपत्यमवाप्नुयात् ।।२२।।

कर्ता हर्ता च पाता च स्वयमेव जगत्त्रये ।
स्वेच्छागमनसंयुक्तो जीवेदाचन्द्रतारकम् ।।२३।।

इति सिद्धिमनुर्देवि योगिनीवृन्दपूजितः ।
भैरवासौ भवेन् नूनं यन्त्रराजप्रभावतः ।।२४।।

अथ कूटान् प्रवक्ष्यामि योगिनीनां महोदयात् ।
यै (:) साधयन्ति देवेशि योगिनो निजवाञ्छितम् ।।२५।।

विद्या रुद्राक्षरो देवि प्रथमः परिपठ्यते ।
तस्माद् विद्याक्षरो यत (यत्तु ?) द्वितीयं वर्णमुच्यते ।।२६।।

सर्वस्मादपि च स्वर्णस्तृतीय (:) परिकीर्तितः ।
केवलः सप्तदशको वर्णः प्रोक्त (:) चतुर्दशः (?) ।।२७।।

तस्मा(द्) द्वाविशंको (?) देवि पञ्चमो कार्य ईरितः ।
षष्ठं च शष्टवर्त्य (?) स्यात् सप्तमं प्राणमुच्यते ।।२८।।

एते वर्णा महेशानि कूटान्यं (?) कुलमाश्रिताः ।
एतेषामेव वर्णानामेकैकस्य महेश्वरि ।।२९।।

एते विषादनि (?) जलपावकादीन् समुद्धरे (त्) ।
स विंशद् विद्र (?) नादाख्य वायुः सागरवर्णकः ।।३०।।

म° श° ते षट्स्वरयुते वा तलेन षडङ्गकम् (?) ।
वृत्या पृष्ट (?) यमो वर्णे सप्तधा तेषु विन्यसेत् ।।३१।।

व्यापकेन कु विन्यस्य ध्यायेत् सप्तविभेदतः ।
पूर्वोक्तपूजामन्त्रेण ब्रह्मरन्ध्रे प्रविन्यसेत् ।।३२।।

हं सा नं दां कगा (?) देवि डाकिन्यो घोरविग्रहा (:) ।
विद्धूमज्वलनान्ता स विशुद्धविग्रहमध्यगा ।।३३।।

कमण्डलुं कर्तरि च धारयन्तीं वरप्रदाम् ।
एवं ध्यात्वा जपेन् मौनी डाकिनीकूटमुत्तमम् ।।३४।।

लक्षावृत्या विशुद्धा चेत् डाकिनी वश्यति प्रिये ।
सिद्धयत्यस्य महेशानि योगविद्या सुदुर्लभा ।।३५।।

दिग् दले मणिपूराख्ये पाशांकुशधरापरा ।
षष्टानां संकगाविन्दा (?) सर्वाश्रितफलप्रदा ।।३६।।

डाकिनी नाम देवेशि योगिनी योगसिद्धिदा ।
तत्कूटं लक्षमानेन ध्यात्वेदं प्रजपेत् सुधीः ।।३७।।

ततः पश्यति तां देवि मणिपूरे महाम्बुजे ।
सर्वयोगफलप्राप्तिं लभते नात्र संशयः ।।३८।।

नास्त्यसाधकं किञ्चित् त्रैलोक्ये सचराचरे ।
स्वाधिष्ठाने षडारे (?) तु भोगानन्दाङ्कगामिनी ।।३६।।

मूलमुकंधरा (?) देवि वरदा हरितप्रभा ।
एवं ज्ञात्वा तु तत्कूटं लक्ष्यावृत्या यदा जपेत् ।।४०।।

ततः पश्यति तामाशु स्वाधिष्ठाने च राजके ।
काकिनी नाम देवेशि योगिनी योगदायिनी ।। ४१।।

त्रिकालज्ञानमाप्नोति खेचरत्वं च लभ्यते ।
वाक्सिद्धिं कायसिद्धिं च वाञ्छितार्थप्रसाधनम् ।।४२।।

योगिनी सिद्धिमाप्नोति शाकिनी जपसाधनात् ।
आज्ञायां द्विदले बालसूर्यकोटिसमप्रभम् ।।४३।।

मूषानन्दाङ्कगा शूलकपालार्पितपाणिनीम् ।
हलक्ष (?) विहगारूढां खेचरैरुपशोभिताम् ।।४४।।

एवं ध्यात्वा च तं कूलं लक्षमानां जपेद् बुधः ।
ततः प्रविश्यति (प्रविशति) परमाज्ञायां लाकिनीं शिवाम् ।।४५।।

[34a] तद्दर्शनसमुध्वस्तमहापातकसञ्चयम् ।
अणिमाहिगुणैर्युक्ता° (अणिमादिगुणैर्युक्तां)
खेचरीसिध्दिमाप्नुयात् ।। ४६।।

सहस्त्रारमहापद्मे पञ्चप्रेतकृतासनाम् ।
विद्युत्कोटिनिभां साक्षात् परेशानसमन्विताम् ।।४७।।

पाशाङ्कुशधनुर्वाणाधृतहस्तचतुष्टयाम्।
ध्यात्वेत्थं परमेशानीं जपेल्लक्षं च तन्मनुम् ।।४८।।

स शिव सर्वविद्योगी भैरभोऽभिभवेत् ध्रुवम् ।
वलिपलितनिर्मुक्तः सर्वव्याधिविवर्जितः ।।४९।।

अजरश्चामरो भूत्वा जीवद् आचन्द्रतारकम् ।
प्रत्येकजपकाले तु पूजा कार्या विपश्चिता ।।५०।।

सर्वविध्ननिवृत्त्यर्थं सर्वाभीष्टफलाप्रये ।
महासप्ततिकूटेन मनुना प्रोक्तमार्गतः ।।५१।।

रात्रौ पूजारतो मौनी लक्षमात्रं यदा जपेत् ।
समासीनं पितृवने सम्प्रदीप्तहुताशने ।।५२।।

सहस्रं जुहुयाद्योगी छागासक्कलित-(छागासृक्) क्लृप्तपायसैः ।
आज्यैश्च विल्वै विधिवत् समिद्भिः पूज्य पूर्ववत् ।।५३।।

मदिरानन्दतो भूत्वा सिद्धिमूला मनोन्मना ।
योगिनः सप्त ये तत्र यथा विभवविस्तरम् ।।५४।।

बलिं च दद्याचूच छागासृग्धारया हेतुमिश्रया ।
असपत्रेवता° (?) रात्रिं विचरे(त्) याग (याम) पयर्यं (?)।।५५।।

प्रातः परामृतैरेतो (?) भैरवं योगिनीयुताम् ।
कुमारी बटुकै (श्) चैव तर्पये (द्) द्रव्यविस्तरैः ।।५६।।

भोजनान्ते नमस्कृत्य या चेत् सिद्धिमभीप्सिताम् ।
अनुज्ञातस्तु भुञ्जीत शेषं तु नियतात्मवान् ।।५७।।

अनेन विधिना योगी यथाभिलषितां गतिम् ।
सम्प्राप्य देववद् व्योम्नि विचरत्यजरामरः ।।५८।।

तदा समस्तलोकानां आधिपत्यमवाप्नुयात् ।
एतदुक्तं मया गुह्यं सर्वशास्त्रेषु दुर्लभम् ।। ५९

उत्तमं योगमन्त्राणां भैरवैर्योगिनीयुतम् ।
अनेन मन्त्रवर्येण वाञ्छितार्थानवाप्नुयात् ।
इहामुत्र च भद्रं ते प्रतिपत्याश्नुते फलम् ।।६०।।

श्रीसंपद् योगवृद्धिप्रदममरगणैरप्यशक्र प्रल....... ।
गोप्यालोकेषु विद्यासु धवलयशसां धामं चाप्य प्रियाणाम् ।
भक्तानां गुप्तधीनां गुरुकरुणासुधातृप्त-तृप्त्यग्प्राधानां(?) ।
मन्त्रो (ऽ) य॰ सर्वसारागमतिलकसत् सेव्यतां सिद्धिभावैः ।।६१।।

।। इति मत्स्येन्द्रसंहितायां द्वादशः पटलः ।।६२।।

।।त्रयोदशः पटलः।।

[34b] श्री ईश्वर उवाच —

अथातः संप्रवक्ष्यामि योगिनीन्यासमुत्तमम् ।
येन विन्यस्त (विन्यस्य) देहस्तु षण्मासाद् भैरवायते ।।१।।

महासमर्षिमन्त्र (°मन्त्रं) तत्कूटं हृदयम्बुजे ।
भावयेल् लक्षसूर्याभं तदुद्भूतां स्वकां तनुम् ।।२।।

कोटिसूर्यसंपृक्त्यां (°सन्निभां) भावयेद् एकदास्थितः ।
मूर्ध्नि श्रीनाथामाधाय स्ववामे पादुकावलिम् ।।३।।

दक्षिणे गण (गणान्) विन्यस्य क्षेत्रे सपृष्टदेशके ।
कात्यायनीं च पुरतः तत्तन्मन्त्रैः प्रविन्यसेत् ।।४।।

विन्यसेन् मातृकामादौ देवि मेनौघशान्तये (?) ।
सुधाविन्दुविसर्गादि (विसर्गाद्यैः) तथा विन्दुविसर्गकैः ।।५।।

विन्यसेन्नियतो योगी ऋष्यादिन्यासपूर्वकम् ।
शिवभक्त्यात्कं रूपं ध्यात्वा विगतमत्सरः ।।६।।

[35a] श्रीकण्ठादीन् प्रविन्यस्य शक्तियुक्तान् स्वसिद्धये ।
तदस्थि (?) मण्डलन्यासमुच्यते सर्वसिद्धिदम् ।।७।।

येन विन्यस्तदेहस्तु योगी स्यात् तेजसां निधिः ।
रक्तदशदले पद्मे मणिपूरकसंज्ञके ।।८।।

आदीक्षीत (?) प्रविलसत् (?) आसायत्र (?) समुज्वले ।
कर्णिकायां महारत्नं त्रिकोणं परिभावयेत् ।।९।।

धातवर्णं (धातुवर्णं) च तन्मध्ये सुरक्तं बिन्दुमत्सैम् (उल्लिखेत?) ।
तदुद्भूतं कृशानुं च रक्तश्वेतांशुकं प्रभुम् ।।१०।।

शक्तिस्वस्तिकसंयुक्तं मयूरवरपृष्टगम् (?) ।
प्रसन्नवदनं स्वर्णमालालंकृतवक्षसम् ।।११।।

स्वभक्तदेहसंलीनं (°संल्लीनं) महापातकनाशनम् ।
सर्वसिद्धिप्रदं देवं स्वप्रियाभीष्टसिद्धिदम् ।।१२।।

तद्रूपरूपमात्मानं भावयित्वा चिरं प्रिये ।
यं अग्निमण्डलाय धर्मप्रदसकलयुक्ताय नमः ।।१३।।

कर्णिकायां न्यसेदेतं मनुं भूयोऽपि विन्यसेत् ।
उत्तिष्ठ पिङ्गलहरि लोहिताक्ष । सर्वकर्माणि
देहि () दापय स्वाहा।आगच्छ आवाह्ये(आवाहनेन)
मन्त्रेण कुर्यात् प्राणकर्माणि धापरं (?) ।
ब्रह्मा ऋषिरनुष्टुपछन्दः ।श्रीप्राणशक्तिर्देवता । आँ ह्रीं क्रों ।
आँ ह्रीं क्रों शब्दरूपस्पर्शरक्त(°रस-) गन्धात्मने
क्रीं ह्रीं आं शिरसे स्वाहा।
आँ ह्रीं क्रों वाक्पाणिपादपायूपस्थात्मने क्रों
ह्रीं आँ शिखायैवषट् ।
आँ ह्रीं क्रों वचनादानविसर्गानिन्दात्मने क्रों ह्रीं आं कवचाय हूं ।
आँ ह्रीं क्रों मनोबुद्धयहंकारचित्तात्मने क्रों ह्रीं आं नेत्राय वषट् ।
आँ ह्रीं क्रों हंसप्राणात्मने क्रों ह्रीं आं अस्त्राय फट् ।
एवमङ्गानि विन्यस्य ध्यायेत् शास्त्रोक्तमार्गतः ।।१३(अ)।।

आँ ह्रीं क्रों श्रीं यं रं लं वं शं षं हं ।
देवदत्तस्य जीव इह स्थितः देवदत्तस्य सर्वेन्द्रियाणि
वाङ्मना हंस प्राणा इहायान्तु स्वाहा ।
यं रं लं वं शं षं सं हं श्रीं ह्रीं क्रों आँ
प्राण- प्रतिष्ठो (ऽ) यमुक्तः । सान्निध्यक्षतक्षणात् (?) दलेषु
विन्यसेद् । आदिक्षांतवर्णः संहिताकल्पः ।
यं धू (?) आर्चिषेनम् (?) । रं ऊष्मायैः । लं जुलिन्यैः ।
वं ज्वालिन्यै । दं विस्फुल्लिंगिन्यै वाहनायै ।

शं श्रियै । सं स्वरूपायै । लं हव्यवाहायन्यै (°वाहायै) ।
क्षं कव्यवाहायै विन्यसे (त्) ।
देशकलापावकस्य यथाक्रमं तन्मयं
वाङ्मनोदेहं ध्यात्वा मन्त्रं जपेच्छनैः स्वरूपं ।
कटार्ण (?) कमले कूटमिमं ध्यात्वा तद्भुवं (तद्ध्रुवं)
स्वशत्त्ययालिङ्गितं भानुं ध्यायेच्चिरमनन्यधीः ।
पद्मयुग्मं च विभ्राणं हस्ताम्यां रक्तवाससम् ।
प्रसन्नवदनं चारुं किरीटादिविभूषितम् ।।१४।।

भक्तानां धर्मार्थकामार्थासाधनै परं प्रभुम् ।
इति (त)द्रूपमात्मानं चिन्तयित्वा पुनर्न्यसेत् ।।१५।।

क्लीं मं सूर्यमण्डलाय वसुप्रदद्वादशकलायुक्ताय नमः ।
अनेनैवं प्रविन्यस्य कुर्याद् आवाहनं पुः(पुनः) ।
ओं ह्रीं ह्रीं समार्तण्डभैरवाय प्रकाशशक्तिसहिताय
आगच्छागच्छ हुं स्वाहा ।
पूर्ववन् मन्त्रवर्येण कुर्यात् प्राणप्रतिष्ठकं
(प्राणप्रक्तिष्ठाम्।)
ध्यायेच् चापि यथान्यायं तेजो मडंलधारिणाम् ।।१६।।

तत् कलाश्चत्यसे (?) देवि कादिमंत अर्णपत्रके (?) ।
कं भं तापिन्यै नमः । खं वं तापिन्यै (नमः) ।
गं फं मरीच्यै घं पं मरीच्यै, ङं नं ज्वालिन्यै, चं घं रुच्यै (नमः)
[36a] छं दं सुषुम्णायै जं थं गदायै दं तं विश्वायै
त्रं णं बोधिन्यै टं ढं धारिण्यै ठं डं क्षमायै(नमः)
सौरकलां देवि दलद्वादशके न्यसेत् ।
तदात्मकं स्मरन् देहं जपेद् बीजं महेश्वरि ।।
विशुद्धे षोडशदले सुसितं (?) बीजमात्मवित् ।
ध्यात्वा तदुद्भवं सोमं कलाषोडशसंयुतम् ।।
वर्षं तममृतं ध्यायेत् स्वशक्त्यालिङ्गितं प्रिये ।
प्राणानपि प्रतिष्ठाप्य पूर्वोक्तमनुना पुनः ।।

ओं सोमाय नमः । आगच्छागच्छ स्वाहा ।
आवाह्य अनेन मंत्रेण ध्यात्वा तन्मध्यमीश्वरि (तन्मध्ये ईश्वरि) ।
पत्रेषु स्वरदीप्तेषु कलाषोडशकं न्यसेत् ।।
सौं डं सोममण्डलाय कामप्रदषोडशकलात्मने नमः ।
अनेन देवि मन्त्रेण मध्ये तन्मण्डलं न्यसेत् ।
अमृतायै नमः । आनन्दायै नमः ।
ई पूषायै । ई तुष्टौ । ई पुष्टौ । कुं रत्यै । ऋं कृत्यै ।
ऋं ॠं शित्यै । लृं चन्द्रिकायै । लॄं कान्त्यै । एं ज्योत्स्नायै ।
ऐं श्रियै । ॐ प्रीत्यै । औं गदायै नमः ।
अं पूर्णायै । अः पूर्णामृतायै (नमः) ।
कलाः सुधा निभाः सौम्याः षोडशैवं प्रविन्यसेत् ।
एवं त्रिमण्डलन्यासामुक्तं देवि प्रसिद्धये ।
कण्ठाधारपर्यन्तं भ्रूमध्ये ब्रह्मरन्ध्रके ।
डाकिन्याद्या न्यसेद् देवि योगिनीः सर्वसिद्धिदा ।।
सप्तधारेषु संचिन्त्य सप्तवर्णानि च क्रमात् ।
स्वकूटर्ज्वालतान्येव तत्संभृताश्च देवताः ।।
स्मृत्वा न्यासं पृच्छ वीतदेहस्य नवतास्तये ।
डाकिन्ये इति कर्णिकायां प्रविन्यसे (त्) ड म ल वर यु॰
तत्कूटं रक्तवर्ण (च) ध्यात्वा तत्कूट(सं) भवाम् ।
काकिनी भावयेद् देवि ततो दलेषु विन्यसेत्।।
आं अकर्णिकायां प्रभृतायै (नमः) ।
आं आकर्षिण्ये नमः ।
इं इन्द्रायै नमः ।
ई ईशान्यै नमः ।
ओं (उं) उमायै नमः ।
ऊं ऊर्ध्वकेश्यै नमः ।
ऋ ऋधायै नमः ।
लृं लुकायै नमः ।
लॄं लूषायै नमः।

ऐं एकवीरायै नमः ।
ऐं ऐश्वर्याय नमः ।
ॐ ॐ काराय नमः ।
औ औषधायै नमः ।
अं अम्बिकायै नमः ।
अः अक्षरायै नमः ।
एवं दलेषु विन्यस्य मध्ये भूयः प्रविन्यसेत् ।
पूर्वोक्तन्यासमार्गेण ध्यात्वा देवंश -(स)- शक्तिकाम् ।।
डां डीं डं डं डै डौं डः कमलवायूं डाकिनीनां रक्ष मत्व (त्वम्)
चं रक्ष रक्ष सर्वशत्रुवसंकरि (°वशंकरि) देवि
नमश्चामुण्डे वरदे विच्चे ।
सक्षमलं व्यूह सक्षमल वयं (???)
एं क्लीं क्षौं श्रीं हंसानन्दनाथश्रीपादुकां पूजयामि ।
क्षौः क्लीं ऐं डां डाकिन्यै नमः इति मध्ये भूयः प्रविन्यसेत् ।
र म ल व र यूं एतत् कूटं रक्तवर्णं अनाहतपद्मे स्मरेत् ।
तत्कूटजनितां देवि शंकिनी पूर्व(व)त् स्मरेत् ।
तद्दलेषु न्यसेद् देवं न्यस्य तन्नामपूर्वकं राकिन्यै नमः इति ।
विन्यस्यैवं प्रविन्यसेत् ।
कं कालरात्र्यै नमः ।
खं खतितायै नमः ।
गं गायत्र्यै नमः ।
घं घण्टाकारिण्यै नमः ।
टं टर्णयै नमः ।
चं चामुण्डायै नमः ।
छं छायायै नमः ।
फं फंकारिण्यै नमः ।
उं ज्ञानस्वरुपिण्यै नमः ।
टं टंकहस्तायै (नमः) ।
ढं ढंकारिण्यै नमः ।

एकं भानुं दले न्यस्य पुनर्मध्ये च विन्यसेत् ।
ध्यात्वा पूर्वोक्तविधिना यथावद् विजितेन्द्रियः ।।
रीं रीं रूं लूं रैं रौं रः रमलवरयूं राकिनी
मां रक्ष रक्ष ।
[37a] रक्ष सर्वतत्येत्यादि (?) पूर्ववन् नित्यानन्दनाथश्री-
पादुकां पूजयामि ।
शं शाकिन्यै नमः । इति मध्ये देवि पुनर्न्यसेत् ।
मणिपूरकमध्ये तु लां लाकिन्यै (इति) वद् विन्यसेत् ।
डं डामर्यै नमः ।
तं तामस्यै (नमः)
थं स्थाणव्यै नमः ।
पं पार्वत्यै नमः ।
फं फट्कारिण्यै नमः
दलेषु दशसु न्यस्य भूयो विन्यसेत् सुधीः ।
लं लाकिन्यादि पूर्ववत् मन्मां रक्ष................
छानन्दनाथ (श्रीपादुकां पूजयामि)
श्री लां लाकिन्यै नमः
नमो मध्ये न्यसेत् भूयो(ऽ)पि पार्वति ।
स्वाधिष्ठाने च कां पूर्वं काकिन्यै च नमो न्यसेत् ।
पूर्ववत् ध्यानयोगेन ध्यात्वा षट्पत्रके न्यसेत् ।
वं वधिन्यै (नमः) ।
भं प्रकाल्यै नमः ।
मं मायायै (नमः) ।
यं यशस्विन्यै (नमः) ।
रं रमायै नमः ।
लं लम्बोष्ठ्यै नमः
एवं विन्यस्य पत्रेषु कर्णिकायां न्यसेत् ।
काक्रीमित्यादि पूर्ववत् मन्मेदसं रक्ष रक्ष ।
भोगानन्दनाथश्रीपादुकां (पूजयामि)

कां काकिन्यै नमो। तं च मंत्रमध्ये पुनर्न्यसेत् ।
मूले चतुर्दले पद्मे सां साकिन्यै नमो न्यसेत् ।
वं वरदायै संश्रियै नमः
षं षडायै (नमः)
सं सरस्वत्यै नमः ।
एवं पत्रेषु च (वि) न्यस्य मध्ये देवि प्रविन्यसेत् ।
सां सीमित्यादि पूर्ववत् मदस्थि रक्ष रक्ष ।
वीरानन्दनाथश्रीपादुकां पूजयामि ।
काकिन्यै (च) पुनर्मन्त्रं नमो (च) तं मध्यतो न्यसेत् ।
भ्रूमध्ये द्विदले विभां भाकिनि(भाकिनीं) न्यसेत् ।
हं हं समप्रै (?) नमः ।
क्षं समावत्यै नमः ।
दलद्वये च विन्यस्य ध्यात्वा पूर्वोक्तमार्गतः ।
शं हीमित्यादि पूर्ववत् तन्मे मज्जां शुक्लं (शुक्रं) रक्ष रक्ष ।
मु(?)स्वानन्दनाथ श्रीपादुकां (पूजयामि)
एवं विन्यस्य वै मध्ये भां भाकिन्यै नमः ।
तथा यां यक्षिभ्यै नमः ।
इति ब्रह्मरंध्रे प्रविन्यसेत् ।
सर्वाभ्यो योगिनीभ्यश्च नमोन्तं परितो न्यसेत् ।
पूर्वोक्तमालामनुना भ्रू मध्ये (?) देवि प्रविन्यसेत् ।
यां यीमितवत्यादि पूर्ववत् मत्प्राणशक्तिं रक्ष ।
परमशिवनाथश्रीपादुकां (पूजयामि) ।
यक्षिण्यै नम (:)।
इत्यन्तं यामि(यीमि)त्यादि पुनः स्थाप्य प्राण प्रतिष्ठामन्त्रं च प्रत्येकं विन्यसेत् ।
शिवे पुनः पदान्तं मस्तकादिपादावधि महामन्त्रेण विन्यसेत्
न्यासस्यास्य समाप्तये ततः खण्डं गं विन्यसेत ।
प्रोक्तस्थानेषु साधकः हं स्थिरश्च क्षकावर्म (?)
नेत्राष्टद्विद्योर्ध्व (?)

को त्रि ह्येकदशक द्वि-त्रि- मगुंलै (अंगुलै) विसेत् (विशेत्)
व्योमात्मानं तं विद्वंत (?) नमः पदमुदीरयेत् ।
चिरं कस्वान्तस्वद्रीशा (?) केवलाः परिकीर्तिताः ।
भानुः-स्वरयुतः पश्चात् आषाढो सो(ऽ)नलार्थतः।
भादि-खादिक्षकारादिः त्रिविशु विसर्गवान् । (?)
विसर्गान्तान्तगोपनः स्वङ्गीनेत्रविभूषितः ।
परमेश्वरि शव्दान्ते (?) तथा परमकर्णिकाः ।।
डणिके पूर्वबीजान्तो ह्न्मन्त्रः परिकीर्तितः ।
व्योमानलेन्दु वामाक्षि बीजान्तो विश्ववन्दिते ।।
पदमुक्त्वा ह दे वर्णः स्वरविद्याधिपे पदं ।
लोहिताग्नियुतो हादि रिकाराद्यौ त्रिरेव च ।।
वीथौ (?) तदम्बिके पूर्णि (?) पूर्वबीजः शिखो मनुः ।
मोमा तलार्शिवि (?) हन्तो बीज सीयोग (?) विग्रहे ।।
[38a] पदमुक्त्वा महावणौ (?) वायुः सद्योगिनि द्वयं ।
काले त्रिनेत्रसन्दीप्तो रास्वादी (?) पदमुच्चरेत् ।।
सद्यः पञ्चस्वरयुतो प्रथमो वह्निवर्णकः ।
लोहितो योति (योनि)संश्लिष्टौ मदघूर्णितलोचने ।।
रक्ष मां रक्ष खं वह्नि रक्ष विन्दुयुतां शिखाम् ।
आकारौकाराविन्द्राग्नि मन्त्रं द्वि-त्रयं वदेत् ।।
महामाये पदं प्रोक्तो मेषो मेरुधिग्रक्षराः ।
स मेष शेष शेषा हि (?) वह्नियुक्तोऽसिरेव च ।।
शांभोभौवं त संयुक्तौ द्विरन्दोत्यो दृगन्वितः (?) ।
मुमाकान्तो दृशां दीप्तौ कालो व्योमद्वितीयवान् (?) ।।
द्विरंडौ भौत्विग्युतौ (भौतिकयुक्तौ=एऐं) रविवणौ (अं ख फ र)

तत परम

लोहितो(ऽ)नन्तभूवायुकलो(ऽ)नन्तेन्दुरेव च ।।
पालायन्ते(पालीशान्ते = i.e. य) द्य बीजान्तो क च चाणुरुदीरितः ।
हरानुग्रहविद्वन्ते (विन्वन्ते) प रे पदमुदीरयेत् ।।
परापरमयेवार्याः परमार्थनये पुनः ।

परमेश्वरीपदं भूयः पश्चात् पाहि पदं पुनः ।।
मां माङ्गल्यप्रदे सर्वबीजान्तो नेत्रमन्त्रकम् (ई औ) ।
व्योमोग्नि कादि बीजान्तो चण्डिचण्डायुधे पदम् ।।
चण्डेश्वरि चन्द्र भूयः : चंकाराति निषूदति ।।
महासंहारशब्दान्ते चण्डिके रक्ष रक्ष माम् ।।
पूर्व बीजयुतो मन्त्रो ह्यस्त्राख्य परिकीर्तितः ।
एते मन्या महेशानि षडङ्गानां मयोदिताः ।।
यै (ये) साधयन्ति योगीन्द्रा वाञ्छितं नात्र संशयः ।
एत(न्) न्यासं महेशानि कीर्तितं योगिपूजितम् ।।
त्रिकालं विन्यसेद् देहि (देवि) युगद्वत्रिकारकं (द्वात्रंशकारकम्) ।।
षण्मासा (द्) देवता सत्यं भैरवाभो भवेद् ध्रुवम् ।।
द्विवर्षात् कामरूपत्वं जायते नात्र संशयः ।
विस्मुना (विस्मिता) च पुरा न्यस्तं न्यासं सर्वार्थसाधकम् ।।
तेन देवि नृसंहादि धत्ते रूपममोघधृ ।
अमोघतां याति शिवे तस्य धाग (?) कदाचन ।।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन न्यसेद देहास्थिराप्तये ।
न व्याधिर्न जरामृत्युर्न चैवान्ये विभीषकाः ।
तं दृष्टमपि शक्ताः स्युर्न्यासो यं वज्रपञ्जरः ।।

।। इति श्रीमत्स्येन्द्रसंहितायां त्रयोदशः पटलः ।।

।।चतुर्दशः पटलः।।

[38a] ईश्वर उवाच —

अथ देवि प्रवक्ष्यामि विद्यां खेचरीसंहिताम् ।
यथा विज्ञायते (अ)भ्यासात् लोके (ऽ)स्मिन्नजरामरः ।।१।।

मृत्यु-व्याधिजराग्रस्तं दृष्टं विश्वमिदं प्रिये ।
वुद्धि (बुद्धिं) दृढतरां कृत्वा खेचरीं तु समाश्रयेत् ।।२।।

जरामृत्युगदघ्नीयां खेचरीं वेत्ति भूतले ।
ग्रन्थतश्चार्थतश्चापि तक्षया (तत् क्षयः) सप्रयोगतः ।।३।।

तं देवि सर्वभावेन गुरुं मत्वा समाश्रयेत् ।
दुर्लभा(म्) खेचरी(म्) विद्या(म्) तदभ्यासं च दुर्लभम् ।।४।।

अभ्यासमेलनं चैव युगपन्नैव सिध्यति ।
अभ्यासमात्रविरतो न विन्देतेह मेलकम् ।।५।।

अभ्यासाल्लभते देवि जन्मजन्मान्तरे क्वचित् ।
मेलने भुजगानां च जन्मान्ते तु न लभ्यते ।।६।।

अभ्यासं बहुजन्मान्ते कृत्वा सद्भावसाधितम् ।
मेलके लभते देवि योगी जन्मान्तरे क्वचित् ।।७।।

तदा (यदा) तन्मेलकं कर्म तदा शिवत्वमाप्नोति (आप्नुयात्) ।
विमुक्तिः (विमुक्तिं) संसृतिवृत्तात् लभते परमेश्वरि ।
तदा तत् सिद्धिमाप्नोति तदुक्तं शास्त्रसंततौ ।।८।।

ग्रन्थतश्चार्थ(त)श्चैव लभते मेलकं तदा ।
तदा शिवत्वमाप्नोति विमुक्तः संसृतिवृत्तात् ।।९।।

[39a] शास्त्रं विना समारोढुं गुरवो(ऽ)पि न शक्नुयुः ।
तस्मात् सदुर्लभतरं लभ्यं शास्त्रमिदं प्रिये ।।१०।।

यावन् न लभते (लभ्यते) ग्रन्थस्तावद गां पर्यटेदिमाम् ।
यदा स लभते (लभ्यते) देवि तदा सिद्धि करे स्थिता ।।११।।

न शास्त्रेण विना सिद्धि रटतो(ऽ)पि जगत् त्रये ।
तस्मान् मेलकदातारं शास्त्रदातारमीश्वरि ।।१२।।

तदभ्यासप्रदातारं शिव(म्) मत्वा सदा जपेत ।
तन्त्राश्च बहवो देवि मया प्रोक्ता (:) सुरार्चिते ।।१३।।

न तेषु खेचरीसिद्धिराख्याता मृत्युनाशिनी ।
महाकालं च मार्तण्डं विवेकाद्यं (?) च शाभरं
(शांबरम् ?)।।१४।।

विशुद्धेशरसंज्ञं (?) च तथा वै जालशं (योगिनीजालं) वरम् ।
एतेषु तन्त्रवर्येषु तदभ्यासप्रकाशितम् ।।१५।।

क्वचित् स्पृष्टं तथास्पृष्टं क्वचित् तं मेलकादिकम्।
अस्मिन् तन्त्रे वरे दिव्ये मेलकादि प्रकाशितम् ।।१६।।

यदज्ञेयं भवेत् किञ्चि(द्) दुर्ज्ञेयं खेचरीमते ।
ततः सम्यगिहास्माभिस्तव देवि प्रकाशितम् ।।१७।।

तस्माच्छास्त्रं प्रलभ्येत् मयोक्तमिदमद्भुतम् ।
गोपनीयं सुगुप्तत्वा(न्) न सर्वत्र प्रकाशितम् ।।१८।।

मन्मुखाम्बुरुहाज् जातं यस्तु शास्त्रामृतं वदेत् ।
स एव हि गुरुः सत्यमर्थतो वेत्ति यः पुनः ।।१९।।

स चाधिकसमाख्यातो न गुरुस्तेन चाधिकः।
लब्ध्वा शास्त्रमिह (शास्त्रमिदं) गुह्यं अन्येषां न प्रकाशयेत् ।।२०।।

सुविचार्य प्रवक्तव्यमेकमार्गोपजीविना ।
षट्पदं परसं (परमं) शास्त्रं यथा तथा प्रकाशयेत् ।।२१।।

स शीघ्रं भक्ष्यते देवि योगिनीभिः शिवाज्ञया ।
ग्रन्थिर्नोद्ग्रन्थयेदस्य विना कौलिकतर्पणात् ।।२२।।

पूजितं सुभवस्रस्यं (सुमनस्रक्षं) दिव्यधूपसुधूपितम् ।
श्रावणेद् (श्रावयेद्) विजने स्थाने योगिने योगशालिने ।।२३।।

यस्मिन् (न) पूजितं शास्त्रं इदं तिष्ठति विग्रहे ।
तत्राग्निरुद्वहारात्रिपीडा भवति निश्चितम् ।।२४।।

यत्रेमं (यत्रेदं) पूजितं ग्रन्थं गृहे तिष्ठति पार्वति ।
तत्र सर्वार्थदायिन्यौ (° दायिन्यः) वसन्ति कुलदेवताः ।।२५।।

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन गोपनीयं विजानता ।
यो(ऽ)स्मिन् योगी मयोक्तानि संसिद्धानि समीहते ।।२६।।

स योगी सर्वभावेन गोपये(त्) पुस्तकं त्विदम् ।
अहं तस्तु (तत्र तु) गुरु देवि यशस्ते (यत्रास्ते)
पुस्तकं स्वयम् ।। २७।।

गुणा(न्) श्रृणु महेशानि पुस्तकस्य च रक्षणे ।
प्रकटं च मया प्रोक्तं इदानीं खेचरीं श्रृणु ।।२८।।

यत्रास्ते च गुरुर्देवि दिव्ययोगप्रसाधकः ।
तत्र गत्वा च तेनोक्तां विद्यां संगृह्य खेचरीम् ।।२९।।

तेनोत्क्वा सम्यगभ्यासं कुर्याद् आदावतन्द्रितः ।
विद्यां च खेचरीं देवि प्रवक्षे (प्रवक्ष्ये) योगसिद्धिदाम् ।।३०।।

न तया रहितो योगी खेचरीं सिद्धिभाग् भवेत् ।
खेचयों (खेचर्या) खेचरीं युञ्जन् खेचरीबीजं पूर्वया ।।३१।।

खेचराधिपतिर्भूत्वा खेचरेषु सदा वसेत् ।
खेचरावसथं वह्निरह्नि (रवि) मण्डलभूपितम् ।।३२।।

व्याख्यातं खेचरीबीजं तेन योगः प्रसिद्धयति ।
मस्तकाख्यो महाचण्डाशिखिवह्निक् वज्रमृत् (??) ।।३३।।

पूर्वं बीजयुता विद्या व्याख्याता ह्यतिदुर्लभा ।
षडङ्गविद्यां वक्ष्यामि तथा षट्स्वरभिन्नया ।।३४।।

कुर्याद् देवि यथान्यासं सर्वविद्यामिहेतवे (° विद्यासिहेतवे) ।
[40a) सोमेशान् नवमं वर्णं प्रतिलोमेन चोद्धरेत् ।।३५।।

तस्यास्त्रिंशकमाख्यातम् अक्षरं चन्द्ररूपकम्।
तस्मादप्यष्टकं वर्णं विलोमेन् वरं (?) प्रिये ।।३६।।

तथा तत्त्वं च मे देवि तदादिरपि पञ्चमम् ।
इन्द्रो(ऽ)पि बिन्दुसंभिन्नं कूटो(ऽ)यं परिकीर्तितम् ।।३७।।

गुरूपदेशलभ्यं सर्वयोगप्रसिद्धिदम् ।
यत्तस्य देवजा माया विरुपा कारणाश्रया ।।३८।।

स्वप्नो(ऽ)पि न भवेत् तस्य नित्यं द्वादशजाप्यतः ।
यं (यः) इमां पञ्चलक्षाणि जपेद् सुनियंत्रितम् ।।३९।।

तस्मात् श्रीखेचरीसिद्धिः स्वयमेव प्रवर्त्तते ।
नश्यन्ति सर्वविघ्नानि प्रसीदति च देवता ।।४०।।

वलीपलीत (वलिपलित) नाशश्च भविष्यति न संशयः ।
एवं लब्ध्वा महाविद्याभभ्यासं कारयेत्ततः ।।४१।।

अन्यथा क्लिश्यतो देवि न सिद्धिं खेचरीपदे ।
यदभ्यासविधौ देवि लभेद् यश्च सुधामयम् ।।४२।।

ततः संमेलकादौ च लब्ध्वां विद्यां समुञ्जयेत ।
नानया सहितो देवि न क्वचित् सिद्धिभाग्भवेत् ।।४३।।

यदिदं लभ्यते शास्त्रं तदा विद्यां समाश्रयेत् ।
ततस्तन्त्रोदितां सिद्धिमाशु शलनते (संलभते) प्रिये ।।४४।।

तालुमूलं समुत्कृष्य सप्तवासरमात्मवित् ।
स्वगुरूक्तप्रकारेण मलं सर्वं विशोधयेत् ।।४५।।

स्नुहीयंत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ।
समादाय ततस्तेन रोगमात्रं समुच्छिनत्ते ।।४६।।

छित्त्वा (?) सैन्धवं पश्चायाभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत् ।
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोगमात्रं समुच्छिनत्ते ।।४७।।

एवं क्रमेण षण्मासं नित्योयुक्तः समाचरेत् ।
षण्मासाद् रसनामूलशिराबन्धः प्रणश्यति ।।४८।।

अथ वागीश्वरीधाम शिरोवस्त्रेण वेष्टितम् ।
शनैरुत्कर्षयेद् योगी कालवेलाविधानवित् ।।४६।।

पुनः षण्मासमात्रेण नित्यसघंषर्णात् प्रिये ।
भ्रूमध्यावधि चा भेति (?) तिर्यग् वर्णाविलावधि ।।५०।।

अधस्वा (अधस्तात्) चिबुकं मूलं प्रयाति क्रमकारितम्।
पुनः संवत्सराणां तु त्रितये देवि लीलया ।।५१।।

केशान्तमूर्ध्वक्रमतिर्यक् तरवावधि (?) प्रिये ।
अधस्तात् कण्ठकूपान्त पुनर्वर्षत्रयेण तु।।५२।।

ब्रह्मरन्ध्रं समावृत्य तिष्ठति अमरवन्दिते ।
तिर्यक चूलीतले अधः कण्ठविलावधि (?) ।।५३।।

शनैः शनै मस्तकाद्य महावस्त्रं कपाटधृक् (?)।
पूर्वबीजयुता विद्याप्यख्याता याति दुर्लभा ।।५४।।

तस्याः षडङ्गं कुर्वीत तथा षट् द्वारभिन्नया ।
कुर्याद् देवि यथान्यायं सर्वं सिद्ध्याप्तिहेतवे ।।५५।।

शनैः शनैः प्रकर्तव्यमभ्यासं युगपन् नहि।
युगपद् यश्चरेद् अस्य शरीरं विलयं व्रजेत् ।।५६।।

तस्या शनैः शनैः कार्यमभ्यासं वरवर्णिनि।
यदा च बाह्यमार्गेण जिह्वा ब्रह्मविलं व्रजेत ।।५७।।

तदा ब्रह्मार्गलं देवि दुर्भेद्यं त्रिदशैरपि ।
अंगुल्यग्रेण संघृष्य जिह्वा मंत्रं निवेशयेत् ।।५८।।

एवं वर्षत्रयं कृत्वा ब्रह्मद्वारं प्रविशति ।
ब्रह्मद्वारं प्रविष्टे तु सम्यक् मन्थनमारभेत् ।।५९।।

मन्थनेन विना केचित् साधयन्ति विपश्चितः ।
खेचरीमंत्रसिद्धस्य सिद्धयते मन्थनं विना ।।६०।।

[41a] जपं च मन्थनं चैव कृत्वा शीघ्रं फलं लभेत्।
स्वर्णजां रोप्यजां वापि लौहजां वा शलाकिकाम्।।६१।।

नियोज्य नासिकारन्ध्रे दृढस्निन्धेन तन्तुना ।
प्राणान् निरुध्य हृदये दृढमासनमास्थितः ।।६२।।

शनैः समन्थनं कुर्यात् भ्रूमध्ये न्यस्य च चक्षुंषी ।
षण्मा(स)मन्थनावस्था तावतैव प्रजायते ।।६३।।

सम्यक् संरुध्य जीवस्य योगतस्तन्मयात्मनः ।
यथा सुषुप्ति वलिना (?) यथाभावस्तथा भवेत्।।६४।।

न सदा मन्थनं (प्र)शस्तं मासि मासि (मासे मासे) समाचरेत् ।
सदा रसनया देवि मार्गं तु परिसंक्रमेत।।६५।।

एवं द्वादशवर्षान्ते संसिद्धि (संसिद्धः) परमेश्वरि ।
शरीरे सकलं विश्वं पश्यत्यात्माविभेदतः ।।६६।।

व्रह्माण्डे यत् महामार्गं राजदन्तोर्ध्वमंडले ।
भ्रूमध्ये तं विजानीयात् भ्रुकुटं सिद्धिसेवितम् ।।६७।।

चणकाङ्कुरसंकाशं तत्र संयोजयेन्मनः ।
लिहेत् रसनायातं तु स्रवन्तं परमामृतम् ।।६८।।

शनैरभ्यासमार्गस्य (° मार्गेण) चतुवर्षं पिबेत् प्रिये ।
वलीपलितनाशश्च संसिद्धि (:) परमा भवेत् ।।६९।।

सर्वशास्त्रार्थवेत्ता च जीवेद् वर्षसहस्रकम् ।
कन्याविलमहीपादरसवादादि सिद्धयः ।।७०।।

योगिनः संप्रवर्त्तन्ते पञ्चवर्षेण पार्वति ।
सम्यग् रसनया योगी स्रवन्तममृतोदकम् ।।७१।।

पीत्वा पीत्वा विशेत् व्रतस्यो द्वादशात्मकम् ।
अनेनाम्यासयोगेन वलीपलितवर्जितः ।।७२।।

वज्रकायो महायोगी वर्षलक्षं प्रजीवति ।
दशनागसहस्राणां बलेन सहितः प्रिये ।।७३।।

स दूरदर्शनः चैव दूरश्रवणमेव च ।
निग्रहानुग्रहे शक्तिः सर्वत्र बलवान् भवेत् ।।७४।।

एतद्याः सिद्धयो देवि भ्रूमध्ये संभवन्ति हि।
आकाशे रसनां कृत्वा दन्तपक्तिं न पीड्येत् ।।७५।।

काकचञ्चुपुटं वक्त्रं कृत्वा तदमृतं पिवेत् ।
भानुवत्सरतः सत्यं जरामरणवर्जितम् ।।७६।।

खेचरत्वमवाप्नोति जीवत्या चन्द्रतारकम्।
पादुका - खड्ग - वतोलः (वेताल?) सिद्धिद्रव्यमनःशिला ।।७७।।

अंजनं विचरश्चैव खेटकं यक्षिणी तथा ।
यत्किञ्चित्सिद्धम(न्यच्च) विद्याते (विद्यते) भुवनत्रये ।।७८।।

तत्सर्वमेव सहसा साधयेत् साधकोत्तमः ।।७९।।

।।इति मत्स्येन्द्रसंहितायां चतुर्दशः पटलः।।

।।पञ्चदशः पटलः।।

[41b] ईश्वर उवाच —

यत्र ब्रह्मार्गलं द्वारं दुर्विज्ञेयं महेश्वरि ।
कला चतुर्कूव (चतुष्कं ?) तत्रस्थं चतुर्वक्त्रात्मकं परम् ।।१।।

पूर्वभागे कृता नाम गुप्ता दक्षिणगोचरा ।
शिवा पश्चिमदिवभागे परापरसिवोत्तरे (° शिवोत्तरे) ।।२।।

तद् द्वारं रसनाग्रेण भित्त्वा पूर्वकलामृतम् ।
यदा पिबति वै योगी मासार्धेनाधिपो भवेत् ।।३।।

यदा गुप्तामृतं दक्षे योगी रसनया लिहेत् ।
मासादेव न सन्देह (:) साक्षाद् अर्थेश्वरोभवेत् ।।४।।

तत् पश्चिमकलाजातं शुद्धं पिबति जिह्वया ।
यदा तदा महायोगी मासात् कामेश्वरो भवेत् ।।५।।

उत्त(र)स्थकलाजातममृतं प्रपिबेद् यदा ।
तदासौ पारमेष्ठिनामाधिपत्यम् अवाप्नुयात् ।।६।।

तदूर्ध्वं मण्डले लीने ब्रह्मरन्ध्रे परामृतम् ।
यदा तदासौ पिबति जीवन्मुक्तः शिवो भवेत् ।।७।।

मासे मासे विधिं यदा द्वादशाष्टं (?) समाचरेत् ।
सर्वरोगविनिर्मुक्तः सर्वज्ञगुणपूरितः ।।८।।

[42a] जायते शिववद् योगी लोके(ऽ)स्मिन्नजरामरः ।
चतुष्ककलामृतं द्वापि पीत्वा पीत्वा महेश्वरि ।।९।।

ब्रह्मस्थाने तथा जिह्वां स नियोज्यामृतं पिबेत् ।
सुस्वादु शीतलं हृद्यं क्षीरवर्णमफेलिनम् (?)।।१०।।

मासमात्रप्रयोगेण जायते शिववत् स्वयम् ।
द्विमासे सर्वशास्त्रार्थं सम्यग् जानाति पार्वति ।।११।।

स्वतन्त्रः शिववन् मासत्रये भवति वै शिवे ।
चतुर्मासे महेशानि सर्वज्ञत्वं प्रवर्तते ।।१२।।

पञ्चमासे महासिद्धिस्त्रैलोक्यमपि पश्यति ।
षण्मासे परमानन्दं गुणसद्भावपूजितः ।।१३।।

जायते नात्र सन्देहो जीवन्मुक्तः परावरे ।
सप्तमासे महाभूतपिशाचोरगराक्षसैः ।। १४।।

स ह संवर्त्तते नित्यं स्वेच्छया हृष्टमानसः ।
अष्टमे मासपर्याये देवैः सम्मेलनं भवेत् ।। १५।।

नवमे मास्यदृष्टत्वं सूक्ष्मत्वं चैव जायते ।
दशमे कामरूपत्वं सर्वलोकप्रकाशना ।। १६ ।।

एकादशे त्रिकालज्ञः सर्वलोकेश्वरः प्रभुः ।
जायते शिववद् देवि सत्यमेतन्मयोदितम् ।। १७ ।।

यत्र तुलीतलां प्रोक्तं केदारं प्राहुरीश्वरि ।
तत्र सौमकलाश्चाष्टौ विख्याता वीरवन्दिते ।। १८ ।।

Verse 19 missing

अमृता प्रथमा देवि द्वितीया मानदाह्वया ।
पूषा तुष्टिश्च ....रतिश्चैव धृतिस्तथा ।। २० ।।

शंखिनी चाष्टमी सर्वाः परामृतमहार्णवाः ।
तद् धामाभिमुखी जिह्वां यदा योगी करोति च ।। २१ ।।

अष्टधा स्रवते तत्र तदा तुहिनसन्ततिः ।
तदा स्रवनसंयोगात् कलेवरनादक्षयः ।। २२ ।।

[42b] अष्टभिर्मासपर्यायैः खेचरत्वं प्रजायते ।
भ्रूमध्यं नाम यद्धाम (?)तत् प्रोक्तं सोममण्डलम् ।। २३ ।।

कलाचतुष्कं तत्रोक्तं परमामृतनिकेतनम् ।
चंकिकाख्या (?) च कान्तिश्च ज्योत्स्नाश्रीश्चेति नामतः ।। २४।।

तत्र जिह्वां समावेश्य पीत्वा पीत्वा समाविशेत् ।
देवि मासचतुष्केण जायते निरुद्रवः ।। २५।।

वज्रकायो भवेत् सत्यं तदाप्तवनपाततः ।
तदूर्ध्ववज्रकन्दाख्यं शिलाखेचरमध्यगम् ।। २६।।

ललाटं तं विजानीयात् तत्र देवि कलात्रयम् ।
प्रीतिस्तथा गजापूर्णा (?) तत्र जिह्वां प्रवेशयेत् ।। २७।।

क्षीरधारामृतं शीतं स्रवन्तं जिह्वया पिबेत् ।
मासत्रयेण देवेशि सर्वव्याधिविवर्जितः ।। २८।।

अच्छेद्यः सर्वशस्त्रैश्च अभेदूयः सर्वलोकशैः (?)।
अचिन्त्यः सर्वविज्ञानैविरूपविषमान्वितैः ।। २९।।

भैरवाभो भवेत् सत्यं वज्रकन्दप्रभावतः ।
नासिकोर्धोधरोष्ठौ राजदन्तं (?) महापथां (?)।। ३०।।

तत्र पूर्णामृतं देवि शीतला च कलाह्वयां (?)।
सम्प्राप्य कुम्भकावस्थां रसनाग्रेण संस्पृशेत् ।। ३१।।

तत्र सञ्जायते (देवि) सुस्वादु शीतलं जलम् ।
स्वमनस्तत्र संयोज्य पिबेन्मासत्रयं व्रती ।। ३२।।

अजरामरतामेति सर्वव्याधिविवर्जितः ।
गुदबीजान्तरस्थानमाधारं परिकीर्तितम् ।। ३३।।

तत्र पञ्चकलाः प्रोक्ताः प्रगलत् परमामृताः ।
सुधासुधामयी प्रज्ञा कालघ्नी ज्ञानदायिका।। ३४।।

कला(:) पञ्चसुधाधारा(:) कीर्तिता(:)सर्वसिद्धिदाः ।
तत्रस्था परमा शक्तिः मायाकुण्डलिनी शिवे ।। ३५।।

[43a] तत्राकुञ्चनयोगेन कुम्भकेन सुरार्चिते ।
मूलशक्त्या समासाद्य तत्रगं शीतलामृतम् ।। ३६।।

सुषुम्णया समुन्नम्य (समुन्नत्य?) स्वाधिष्ठानपङ्कजात् ।
वसुधा वृष्टि (:) संसिक्तं स्मरेद् ब्रह्माण्डकावधि ।। ३७।।

तत्रस्थम् अमृतं गृह्य शक्तिः श्रीकुण्डलीपराः ।
सुषुम्णामार्गमासाद्य ब्रह्मधाम तमीयुषी ।। ३८।।

मूलपञ्चकसंजाता सुधातृप्तिपरिप्लुता ।
आपादमस्तपर्यन्तं व्यापयन्तीं तनुं स्मरेत् ।। ३९।।

पञ्चमासप्रयोगेण पञ्चभूतजयं लभेत्।
शिवसाम्यो भवेत् सत्यं त्रिकालाभ्यासयोगतः ।। ४०।।

नाभिस्थानं हि देवि स्वाधिष्ठानं तदुच्यते ।
तत्र दिव्यामृतमयं कलात्रयमुदीरितम् ।। ४१।।

सूसुक्षां (सुसूक्ष्मा) परमाह्लादा विद्या चेति प्रकीर्तिता ।
पूर्ववत् कुम्भकावस्थां प्राप्य शक्तिं प्रयोध्य (प्रबोध्य च) ।। ४२।।

पीत्वा ब्रह्माण्डपर्यन्तं स्नापयेद् यः स्वकां तनुम् ।
योगी त्रिमासपर्याये पूर्वोक्तं लभते फलम् ।। ४३।।

गुद-मेढान्तरं यद् वै वेणु दंकं (?) तदुच्यते ।
कलाचतुष्कं तत्रोक्तं परामृतरसात्मकम् ।। ४४।।

सुशीता च महातृप्तिः पलितघ्नी वलीक्षया ।
तत्र शक्तिं समुद्बोध्य पूर्ववत् प्लावयेत् तनुम् ।। ४५।।

चतुर्मासप्रयोगेण पूर्वोदितं फलं लभेत् ।
पिङ्गला-रवि-विवाह्याख्या (वाहाख्या) इडाख्या चन्द्रवाहिनी ।। ४६।।

विषवाहो खेर्बाहुः सुधावाहो निशाकरे ।
अभ्यासं सूर्यवाहाख्ये चन्द्रवाहे च शस्यते ।। ४७।।

धारणं चन्द्रवाहेन योगी कुम्भकमाचरेत् ।
शशिवाहेन एवं तु पूरयेदात्मनस्तनुम् ।। ४८।।

[4००] रविवाहेन चोत्सर्गः शस्यते देहवृद्धये ।
एतत् ते व्याहृतं देवि कलास्थानं च तद्गुणः ।। ४६।।

अतःपरं प्रवक्ष्यामि पराभूत - (परामृत-) महापदम् ।
वज्रकन्दे ललाटे तु प्रज्वलच् चन्द्रसन्निभम् ।। ५०।।

लं-गर्भं चतुरस्रं च तत्र देवः परः शिवः ।
देवतास्तमुपासन्ते योगिन्यः शक्तिसंयुतम् ।। ५१।।

चूलितले महादेवि लक्षं सूर्यसमप्रभम् ।
त्रिकोणमण्डलं मध्ये देवं लिङ्गात्मकं शिवम् ।। ५२।।

रं-गर्भमध्यगं देवि स्वशक्त्यालिङ्गितं परम् ।
देवतागणसंजुष्टं भावयेत् परमेश्वरि ।। ५३।।

दक्षशंखे महाभागे षट्बिन्दुवलयान्वितम् ।
यं-गर्भं धूम्रवर्णं च तत्र देवं महेश्वरम् ।। ५४।।

लिङ्गाकारं स्मरेद् देवि शक्तियुक्तं गणावृतम् ।
वामशङ्खोर्ध्वं (?) चन्द्राभं स्वपद्मं मंडलं शिवे ।। ५५।।

वं-गर्भं टढ पक्ष्य (?) -मध्ये तत्र लिङ्गं सुधामयम् ।
गोक्षीरधवलाकारं शरच्चन्द्रायुतप्रभम् ।। ५६।।

स्वशक्तिसहितं सर्वदेवतागणसेवितम्।
एवं देवि चतुर्दिक्षु स्थानान्युक्तानि वै मया।।५७।।

तेषां मध्ये महावृत्तं हं -गर्भं तत्र पार्वति।
परमेशः परः शम्भुः स्वशक्त्या सहिता स्थिताः।। ५८ ।।

लिङ्गाकारो गुणयुतः सूर्यकोटि समप्रभः।
पृथिव्यधिपतिः भाले पश्चिमे सूर्यनायकः।। ५६ ।।

दक्षशङ्खे नीलप्रति (नीलपति ?) वामे जलपति (:) शिवः ।
मध्ये व्योमाधिपः शम्भु स्थानाः (?) पञ्चमयोदिता।।६० ।।

व्योमाधिपस्य देवस्य शिरोर्ध्वे चतुरङ्गुले।
ज्योर्तिमडंलमध्यस्थं कोटिचन्द्रसमप्रभम्।। ६२

[44a] दिव्यामृतमयं भाकं (भालं) मूलबन्धकवाटकम्।
ऊर्ध्वैरुर्ध्वं महाशैलमभेद्यममृतास्पदम्।। ६२ ।।

शीतलामृतमध्ये तु विलीनं लिङ्गमीश्वरि।
त्रसरेणुप्रतीकाशं कोटिचन्द्रसमप्रभम् ।।६३।।

हेयोपादेयरहितम् अज्ञानतिमिरापहम्।
अतीत्य यं च स्थानानि परतत्त्वोपलब्धये ।।६४।।

परामृतघटाधारं कवाटं कुम्भकान्वितम्।
मनसा सह वागीशीमूर्ध्ववक्त्रं प्रसारयेत् ।।६५।।

संरुद्धप्राणसंचारो योगी रसनयार्गलम्।
लीलयोद्घाटयेत् सत्यं संप्राप्य मनसा सह ।।६६।।

शीतलक्षाररसस्वादु तत्र क्षीरामृतं हितम्।
योगपानं पिवेन्मध्यं दुर्लमं विबुधैरपि ।।६७।।

तत् सुधातृप्तिसंतृप्तः परास्थाम् उपेत्यच।
उन्मन्या तत्र संयोगं लब्ध्वा ब्रह्माक (ब्रह्मण्ड)- कान्तरे ।।६८।।

नादबिन्दुमयं मासं योगी योगेन भक्षयेत्।
एतद् रहस्यं देवेशि दुर्लभं परिकीर्तितम् ।।६९।।

सर्वज्ञेन शिवेनोक्तं यत्फलं शास्त्रसंततौ ।
तत्फलं लभते सत्यं पण्मासान् नात्र सशंयः ।।७०।।

[44 b] संप्राप्य सिद्धिसन्तानं योगी योगमपीश्वरि।
न वेत्ति तस्य वक्तव्यं न क्वचित् सिद्धिमिच्छता ।।७१।।

न जानन्ति गुरुं देवं शास्त्रोक्तान् समयांस्तथा
दंभकौटिल्यनिरतास्तेषां शास्त्रं न दापयेत् ।।७२।।

जिह्वामूले स्थितो देवि सर्वतेजमयो (ऽ)नलः।
तदग्रे भास्करश्चन्द्रो भालमध्ये प्रतिष्ठितः ।।७३।।

एवं यो वेत्ति देवेशि तस्य सिद्धि(:) प्रजायते।
मथित्वा मण्डलः वह्नेः समुद्बोध्य प्रयत्नतः ।।७४।।

उलसारद्रवितं (?) भालनं चन्द्रमण्डलम्।
भास्कराधिष्ठितो(ऽ)ग्रेण रसनेन (?) समाश्रयेत् ।। ७५।।

तच् चन्द्रागलितं देवि शीतलं तत्पयो(ऽ)मृतम्।
नासिकारन्ध्रनिर्यातं पात्रेण परिसंग्रहेत् ।। ७६।।

तेनाङ्गमर्दनात् सत्यं नाडीसिद्धि(:) प्रजायते।
गुदलिङ्गोहतं देवि निर्गतं चामरीरसम् ।। ७७।।

कलामृतं च संलोड्य संस्कृत्य चाधरारसैः।
तेनां(ग)- मर्दनं कृत्वा योगी लोके निरामयः ।। ७८।।

बलवान् जायते सत्यं बलीपलितवर्जितः।
जिह्वामूलं समूत्कृष्य तत्र जातं मदद्रवम् ।। ७९ ।।

स्वदेहे मर्दयेत् पूर्वाद् रसना वत्सरार्द्धतः।
चतुरगुंलवृद्धा च जायते नात्र संशयः।। ८० ।।

उत्कृष्य रसनामूर्ध्वे दक्षिणाङ्गुलिभिः शिवे।
वामहस्ताङ्गुलिभिश्च घंटिकां स्फोटयेच्छिवे ।। ८१ ।।

मथित्वा वामकं स्थानमूर्ध्ववक्त्रं शनैः शनैः।
त्रिकूटोर्ध्वं च वज्रान्त्यो (?) शिवस्थानं समाश्रयेत्।। ८२ ।।

एषा ते खेचरी मुद्रा कथिता मृत्युनाशिनी।
सर्वसि[illegible]प्रदा देवि जीवन्मुक्तिप्रदायिनी।। ८३ ।।

।।इति मत्स्येन्द्रसंहितायां पञ्चदशः पटलः।।

।।षोडशः पटलः।।

ईश्वर उवाच —

एवमभ्यासशीलस्य तद्विध्नां (तत्तद्विघ्ना) भवन्ति हि।
भटभेदाश्च चत्वारो नटभेदास्तथैव च ।। १।।

अङ्गशोषः क्षुधालस्यं कंडदेहिविवर्णता (कण्डू देहविवर्णता)।
भटस्य प्रत्ययाश्चैते तेषां श्रृणु च भेषजम् ।। २।।

मनो निर्विषयं पुडका (?) त्रिमासम् अमरीरसम्।
देहमुद्वर्तये(त्) तस्य देहवृद्धिः प्रजायते।। ३।।

त्रिरुद्वर्त्तनकं कुर्यात् दिवारात्रौ तथैव च।
रसनामूर्ध्वमायोज्य वज्रकन्दपरोन्मुखीम्।। ४।।

तत्सुधां लिहतः सत्यं क्षुधालस्यं च नश्यति।
तत्सुधाममरीं देवि गृहीत्वा चाङ्गमर्दनात्।।५।।

[45a] स्वशरीरविवर्णत्वं कंडूत्वं च प्रणश्यति।
नभदेदाश्च (नटभेदाश्च) चत्वारो बहुधा संस्थिताः प्रिये। ६।।

नेत्ररोगो(ऽ)ङ्गशोषश्च दाहो भ.. त(स्त)थैव च।
भेदमेकं मया प्रोक्तं द्वितीयमधुना श्रृणु।। ७।।

दन्तरुक(°रुग्)-वाल्पसत्त्वं च देहलाघवनाशनम्।
तृतीयभेदं च तथा श्रृणु देवि महाज्वरः।। ८।।

शिरोरुक्श्लेष्मदोषश्च चतुर्थं सम्प्रधार्यताम्।
वमनं श्वासदोषश्च नेत्रान्धत्वं तथैव च।। ६ ।।

दुर्ज्ञया च तथा निद्रतिषां (निद्रा तेषां) श्रृणु च भेषजम्।
समूला छाससंभिन्नां (?)मुर्ध्वं कुंडलिनीं नयेत् ।। १० ।।

निश्चलामूर्ध्वगां जिह्वां कृत्वा कुम्भकमाश्रयेत्।
शक्तिशोभान् (?) महेशानि जलनादः प्रवर्तते ।। ११ ।।

यदा श्रृणोति तं नादं तदा मुक्तः स उच्यते।
चिन्तयेद् अमृतासिक्तं स्वदेहं परमेश्वरि ।। १२ ।।

अनेन देवि मासेन सर्वदोषैः प्रमुच्यते।
अनेनैव विधानेन द्विमासान्तं यदाचरेत् ।। १३ ।।

तदा श्रृणोति कर्णाभ्यां महागजवरध्वनिम्
पूर्ववच् चिन्तयेद् देहं द्वितीयैर्मुच्यते गदैः ।। १४ ।।

त्रिमासात् सिंहनादं च श्रुत्वा पूर्ववत् स्मरेत्।
तृतीयभेददोषैश्च मुच्यते नात्र संशयः ।। १५ ।।

मेघनादम् अघोराख्यं चतुर्थे मासि पर्ययेत्।
श्रुत्वा पूर्ववद् अभ्यस्य भ्रान्तै दोषैश्च मुद्यते (मुच्यते) ।।१६।।

एवं स्थिरमतिर्ध्यानम् अभ्यसेच्च द्विकालकम्।
साधयेत् प्रवृत्तः सत्यं जायते ह्यजरामरः ।। १७ ।।

भटदोषचतुष्कस्य नटदोषस्य चैव हि।
निवारणं मया प्रोक्तं भूयः श्रृणु नराधिपः[1] ।। १८ ।।

यो(ऽ)स्मिन् शान्ते परे तत्त्वे योगे योगी सुखात्मके।
प्रविष्टः सर्वतत्त्वज्ञः तस्य पादं नमाम्यहम्।। १९ ।।

[45b] प्रथमं चालनं देवि द्वितीयं मंथनं भवेत्।
तृतीयं पानमुद्दिष्टं चतुर्थं च प्रवेशकम् ।। २० ।।

तालुमूलं समुद्धृत्य जिह्वामुत्कर्षयेत् प्रिये।
चालनं तद् विजानीयाद् ब्रह्मार्गलविभेदनम्।। २१ ।।

---

1. Addressed to king of Cola by Matsyendranātha. Strangely this occurs in the dialogue between Śiva-Pārvatī.

तं वदन्ति....................
लोहकील- प्रवेशेन यथा मंथनमारभेत् ।। २२ ।।

मंथनं तद् विजानीयाद् योगिवृद्धिकरं प्रिये।
उदर्घोगतमाकाशे (?) जिह्वामूर्ध्वं प्रसारयेत् ।। २३ ।।

प्रवेशं प्राहुरीशानि योगसिद्धिप्रवर्तकम्।
ब्रह्मार्गलप्रभेदेन जिह्वासंक्रमणेन च।। २४ ।।

प्रत्ययः परमेशानि क्षणोर्ध्वात् संप्रजायते।
आदावानन्दभावत्वं निद्राहानिरतःपरम् ।। २५ ।।

संगमं भोजनं देवि स्वल्पमल्पं प्रजायते।
पुष्टिः सञ्जायते तेजोवृद्धिश्च भवति प्रिये ।। २६ ।।

न जरा न च मृत्युश्च न व्याधि(:) पलितं न च।
ऊर्ध्वरेता महेशानि अणिमादिगुणान्वितः।। २७ ।।

यदि निश्चलभावेन योगी भावं प्रसारयेत्।
तदा प्रोक्तान् इमान् सम्यक् फलान् लभति पार्वति ।। २८ ।।

जिह्वाग्रे श्री(श्च)वागीशा संस्थिता वीरवन्दिते।
जिह्वा मूलाधारे भागे बन्धमृत्युः प्रतिष्ठितः ।। २९ ।।

बन्धमृत्युपदं सर्वमुन्मूलय गणाम्बिके ।
तदग्रेण विशामोहं (विशाम्यहं) धाम श्रीशम्भुसंज्ञकम् ।। ३० ।।

अनेन देवि योगेन मनसा साधिते चले।
उन्मन्या आवेशम् आयान्ति योगी तल्लयमाप्नुयात् ।। ३१ ।।

[46 a] लयस्य प्रत्ययः सद्यः संभवति अविचारतः।
जिह्वाग्रे मन आधाय दृशा तद्धाम लक्षयेत् ।। ३२ ।।

मूलासुषुम्णामार्गेण पवनं चोर्ध्वमानयेत्।
ब्रह्मधामगतो योगी मनः शून्ये निवेशयेत् ।। ३३ ।।

ध्यायेत् परतरं तत्त्वं हेयोपादेयवर्जितम्।
आकाशगङ्गास्रवीतं ब्रह्मस्थानात् सुशीतलम् ।। ३४ ।।

प्रपिवन् मासमात्रेण वज्रकायो भवेद् ध्रुवम्।
दिव्यकायो भवेत् सत्यं दिव्यवाग् दिव्यदर्शनः ।। ३५ ।।

दिव्यबुद्धिर्भवेद् देवि दिव्यश्रवण एव च।
जिह्वाग्रे कोटिचन्द्राभां वागीशीं परिभावयेत् ।। ३६ ।।

परामृतकलातृप्तां काचितां (?) लभते क्षणात्।
जिह्वाग्रे संस्थितां लक्ष्मीं परामृतविमोदतः ।। ३७।।

घ्यायन् योगी महेशानि योगसाम्राज्यमाप्नुयात्।
सहजा (:) पञ्च विख्याता (:) पिण्डे(ऽ)स्मिन् परात्मके।। ३८।।

यदा सञ्जायते देहे मातृदेहे(ऽ)पि नृक्षणात् (?) ।
तत्र सार्धं भवन्ति स्म देहे वृद्धिमुपेयुषिम्।। ३९ ।।

आद्या कुण्डलिनीशक्तिः प्रथमा सहजा स्थिता ।
द्वितीया सुषुम्णाख्या जिह्वा चैव तृतीयका ।। ४० ।।

तालुस्थानं चतुर्थं च ब्रह्मस्थानं च पञ्चमम्।
उन्नध्या (?) सहजा माया द्वितीये शहजे (सहजे) विशेत् ।। ४१

तृतीया सहजा मूर्धा चतुर्थं सहजा विशेत्।
चतुर्थं सहजा भित्वा सहजं पञ्चममभ्यसेत् ।। ४२ ।।

एतद् भेदं मया प्रोक्तं दुर्विज्ञेयं कुलेश्वरि।
मूलात् कुण्डलिनीशक्तिं सुषुम्णामार्गमागताम्।। ४३ ।।

लूतैकतन्तुप्रतिभां (प्रतिमं) कोटिसूर्यसमप्रभम्।
प्रविश्य घटिकामार्गे शिवद्वारार्गलं शिवे ।। ४४ ।।

भित्त्वा रसनया योगी कुम्भकेन महेश्वरि।
प्रविशेत् कोटिसूर्याभं धाम स्वायम्भुवं प्रिये ।।४५।।

[46 b] तत्रामृता महाम्भोधौ शीतकल्लोलमालिनी।
पीत्वा विश्रम्य च सुधां परमानन्दपूर्णया ।।४६।।

बुध्या तत्सुधया तृप्तमात्मदेहं प्रभावयेत्।
अनेन देवि योगेन जायते दिव्यदर्शनम् ।।४७।।

खेचरत्वं भवेत् सत्यं सर्वरोगक्षयस्तथा।
वचनं कालमृत्युश्च त्रैलोक्यभ्रमणं तथा ।। ४८ ।।

अणिमादिगुणोपेतां संसिद्धिं लभे (लभते) ध्रुवम् ।
योगीन्द्रत्वमाप्नोति गतिरव्याहता भवेत्।।४९।।

नवनागसहस्राणां बलेनं सहित (:) स्वयम्।
जायते शिववद् देवि सत्यं सत्यं मयोदितम् ।।५०।।

इडापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्णा ज्योतिरूपिणी।
वर्णरूपगणैः साकं तेजस्तत्र निरामयम् ।।५१।।

सुषुम्णाभुजगाकाशे यत्तत्कुण्डलिनी परा।
गङ्गा च यमुना चैव इडापिङ्गलसंज्ञके ।।५२।।

गङ्गायमुनयोर्मध्ये तां शक्तिं सन्निवेशयेत्।
ब्रह्मधावधि (ब्रह्मबोधावधि) शिवे परमामृतरुपिणी ।।५३।।

तन्मयो जायते सत्यं परमामृततनुं(परामृततनुः) स्वयम् ।
शिवधामगता शक्तिः परमेशास्पदं पदम् ।।५६।।

तद् वागतृप्तिसंतृप्ता परमानन्दरुपिता।
सिञ्चति योगिनो देह मायादतलमस्तकम् (?) ।।५५।।

सुधया शिशिरस्निग्धशीतं वा परमेश्वरी (?)।
पुनस्तेनैव मार्गेण प्रयातः स्वपदं शिवे ।।५६।।

एतद्रहः समाख्यातं योगं योगीन्द्रवन्दिते।
उत्सृज्य सर्वशास्त्राणि जपहोमादिकं च यत् ।।५७।।

धर्माधर्मविनिर्मुक्तो योगी योगं समभ्यसेत्।
रसनामुर्ध्वगां कृत्वा त्रिकुटेशं निवेशयेत् ।।५८।।

[47a] ब्रह्माण्डे ब्रह्मरेखाध्वो राजदन्तोर्ध्वमण्डले।
त्रिकूटं तं विजानीहि तत्र लिङ्गं समुज्चल(म्) ।।५९।।

कालकर्मविनिर्मुक्तं दुर्विज्ञेयं सुरैरपि।
इडायां रात्रिरुद्दिष्टा पिङ्गलायामह स्मृतः।।६०।।

चन्द्रादित्यौ स्थितौ देवि नित्यं रात्रिदिवात्मकौ ।
न दिवा पूजयेल्लिङ्गं रात्रौ न च महेश्वरि ।।६१।।

सर्वदा पूजयेल्लिङ्गं दिवा रात्रौ निरोधवाः(निरोधका) ।
अहोरात्रिमयं देवं कालकर्म-स्वभावजम् ।।६२।।

कालकर्मनिरोधेन कालमृत्युञ्जयं लभेत्।
कालकर्मविनिर्मुक्तं चिन्तयन्नात्मनस्तनु(म्) ।।६३।।

पूजयेद् भावपुष्पेण तर्पयेत् पंकजामृतैः।
एवं षण्मासयोगेन जायते ह्यजरामरः ।।६४।।

सर्वज्ञत्वं लभेत् सत्यं शिवसाम्यो निरामयः।
तालुमूले समावेश्य रसनामूर्ध्ववक्त्रकाम् ।।६५।।

तत्र जातं तु पिबन् सीत्कारेण शनैः शनैः।
प्रपिबेत् पवनं योगी निरालम्बि पदे शिवे ।।६६।।

मनः संयोज्य चोन्मन्या सहजं योगमाचरेत्।
अनेन योगी षण्मासाज् जायते ह्यजरामरः ।।६७।।

चिबुकं योजयेद् देवि षोडशस्वरमण्डले।
भ्रूमध्ये चक्षुणा मीनस्य (?) जिह्वामूर्ध्वं प्रसारयेत् ।।६८।।

संप्राप्य कुम्भकावस्थां इडापिङ्गलरोधनात्।
मूलशक्तिं समुद्बोध्य भित्वा षट्सरसीरुहान् ।।६९।।

तडितसहस्रसङ्काशां ब्रह्माण्डोदरमध्यगे।
धाम्नि शीतामृताम्भोधौ संन्निवेश्य चिरं वसेत्।।७०।।

यदा ब्रह्ममये धाम्नि योगी वसेत् लीलया।
तदा निर्जीवव(द्) देहं भावि स्फुरति तत्पदम् ।।७१।।

[47b] अनेन देवि योगेन दिनसप्तकमाचरेत्।
तदा तदा संभवति जरामरणवर्जितः ।।७२।।

मासमात्रप्रयोगेण जीवेद् आचन्द्रतारकम्।
यदा ब्रह्मपुरं भित्त्वा योगी ब्रजति लीलया ।।७३।।

तदाखि(ल)त्वमाप्नोति त्यक्त्वा देहमिमं शिवे।
न पुनः पिचे (पिबति) मातु (:) स्तनं (स्तन्यं)
संसारचक्रमा(त्) ।। ७४।।

तदा तु योगिनो वृद्धिस्त्यक्तं देहमिमं प्रिये।
तदा स्थिरासनो भूत्वा मूलशक्तिं समुज्च(ज्ज्व)लाम् ।।७५।।

कोटिसूर्यप्रतीकाशां भावयेच् चिरमात्मवित्।
आपादतलपर्यन्तं प्रसृतं जीवमात्मनः ।।७६।।

संहृत्य क्रमयोगेन मूलाधारपदं नयेत् ।
तत्र कुण्डिलिनीशाक्तिं संवर्त्तानलसंन्निभाम् ।।७७।।

जीवो नित्यं चेन्द्रियाणि ग्रसन्तीं चिन्तयेद् धिया ।
संप्राप्य कुम्भकावस्थां तडिद्वलयभास्वरम् ।।७८।।

मूलादुन्नीय देवेशि खाधिष्ठानपदं नयेत् ।
तत्र सजीवमखिलं ग्रसन्तीं चिन्तयेताम् ।।७९।।

तडित्कोटिप्रतीकाशां तस्माद् उन्नीय सत्वरम् ।
मणिपूरपदं प्राणं तत्र सूर्यवदाचरेत् ।।८०।।

समुन्नीय पदस्थानाद् अनाहतं पदं नयेत् ।
तत्रस्थित्वा क्षणं देवि पूर्ववद् हि सती स्मरेत् ।।८१।।

उन्नीय च पुनः पद्मे षोडषरिति (षोडशारे) निवेशयेत् ।
तत्रापि चिन्तयेद् देवि पूर्वं तद् योगमात्मवित् ।।८२।।

तस्मादुन्नीय भ्रूमध्यं नीत्वा जीवं ग्रसेत्पुनः ।
ग्रस्तजीवां महाशक्तिं कोटिसूर्यसमप्रभाम् ।।८३।।

मनसा सह वागीशि भित्वा ब्रह्मर्गलं क्षणात् ।
परामृत महाम्भोधौ विश्वासं सम्यग् आचरेत् ।।८४।।

तत्रस्थं परमं देवि शिवं परमकारणम्।
शक्त्या सह समायोज्य तयोरैक्यं विभावयेत् ।।८५।।

[48a] यदि मोचितम्(मु)द्युक्तः कालं कालविभागवित् ।
यावद् भजति तं कालं तावत्तत्र सुखं वशेत् (वसेत्) ।।८६।।

ब्रह्मद्वारार्गलस्य अधो देहे कालप्रयोजनम् ।
तस्यादर्धपदे (तस्मादूर्ध्वपदे) देवि न कालप्रयोजनम् ।।८७।।

यदा देव्याप्त (देव्याप्तं) न कालमतिक्रान्तं प्रविश्यति ।
तदा ब्रह्मार्गलं भित्त्वा शक्तिं मूलपदे नयेत् ।।८८।।

शक्तिं देहात्मसूत्रं तु स्वजीवं चेन्द्रियैः सह ।
तत्तत् कर्मणि संजोज्य (संयोज्य) स्वस्य देहं सुखं चरेत् ।।८९।।

अनेन देवि योगेन वञ्चयेत् कालमार्गणम् ।
यदि मानुष्यकं देहं त्यक्तुमिच्छा प्रवर्तते ।।९०।।

ततः परमसन्तुष्टो ब्रह्मस्थानं गतं शिवम् ।
शक्त्या संयोज्य निर्भिन्नव्योमब्रह्मशिलां विशेत् ।।९१।।

व्योमत्त्वं महाव्योम्नि वायुतत्त्वमथानिले ।
तेजस्तत्त्वं तथा तेजस्यामत्वं (?) जलमण्डले ।।९२।।

धरातत्त्वं धराभागे निराल (निश्चलं) वै मनः परे ।
व्योमादिगुणतत्त्वेषु स्वेन्द्रियाणि निवेशयेत् ।।९३।।

एवं सांसारिकं त्यत्त्कावा परतत्त्वावलम्बकः ।
अदृष्टः पञ्चभूताद्यैर्भित्त्वा सूर्यस्य मण्डलम् ।।९४।।

परतत्त्वे परे शान्ते शिवे लीने शिवायते ।
न कल्पकोटिसहस्रैः पुनरावर्तनं भवेत् ।।९५।।

अनुग्रहाय लोकानां यदि देहं न संत्यजेत् ।
प्रलयोते (प्रलयान्ते) तनुं त्यक्त्वा स्वात्मन्येव अवतिष्ठते ।।९६।।

इत्येषा खेचरीमुद्रा खेचराधिपतित्वदा ।
जन्ममृत्युजरारोगवलिपलितनाशिनी ।।९७।।

अनायासदृशी (अनया सदृशी) विद्या
क्वचिच् छास्रातरेन (छास्त्रान्तरे) नहि ।
खेचरीमेलनं देवि सुगुप्तं न प्रकाशयेत् ।।९९।।

[48b] तस्याः स्वाभ्यासयोगो(ऽ)यं तव स्नेहात् प्रकाशितः ।
मदिरा नाम या देवि सर्वयोगीन्द्र-वन्दिता ।।१००।।

गुरुवक्त्रोपसंलब्धां विद्या (याः) अंशतो(ऽ)पि च ।
खेचरी मेलनमादिश्च नित्यं सप्रेमचेतसः ।।१०१।।

न सिध्यति महायोगं मदिराराधनं विना ।
तत्प्रसादविहीनानां तन् निन्दापरचेतसाम् ।।१०२।।

पशोः पाशप्रबन्धस्य योगः क्लेशाय जायते ।
सर्वज्ञेन शिवेनोक्तां पूजां संत्यज्य मादिरीम् ।।१०३।।

युञ्जतः सततं देवि योगी नाशाय जायते ।
वारुण्या तर्पयेद् देवि सर्वलोकमयं शिवे ।।१०४।।

गौडी माध्वी च पैष्टी च तथा कादम्बरी वराः ।
कादम्बरी च द्रुमला (द्रुमजा) माध्वी मधुसमुद्भवा ।।१०५।।

पैष्टी पिष्टसमुद्भूताः गौडीक्षुरससंभवा ।
तासामेकतमां गृह्य तर्पयेत् सर्वदेवताः ।।१०६।।

असक्तासु (अशक्तस्तु) महापूजां यदि कर्तुं च साधकः ।
कुर्याद्धि द्रेकदानं (?) वा गुरुवाक्यावलम्बकः ।।१०७।।

एकबिन्दुप्रदानेन तृप्यन्ते कोटिदेवताः ।
तस्मात् सम्पूज्य युञ्जीत तत्प्रसाद - पवित्रितः ।।१०८।।

अन्यथा क्लेश एव स्यात् न सिद्धिर्जन्मकोटिसु ।
सर्वे सिद्ध्यन्ति मन्त्राश्च योगाश्च परमेश्वरि ।।१०६।।

सम्यक् पूजा प्रयोगेण मदिरानन्दचेतसः ।
असम्पूज्य पिवद् देवि मदिरां यः स पापभाक् ।।११०।।

महाराधनशीलस्य मयैवा (मय्येवा)-सक्तचेतसः ।
तस्मात् सम्पूजयेद् देवि सर्वयोगाभिवृद्धये ।।१११।।

[49a] मदिरानन्दितो योगी योगं युञ्जीत नित्यदा ।
विजने जन्तुरहिते सर्वोपद्रववर्जिते ।।११२।।

मृद्धान (मृदासनं) समास्थाय स्वगुरूक्तप्रकारतः ।
सन्तर्प्य शिवमीशानं देवि देवींश्च सर्वशः ।।११३।।

तत् प्रसादेन लभते सम्यग् ज्ञानमखण्डितम् ।
एतद् योगं समारव्यातं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ।।११४।।

।।इति श्रीमत्स्येन्द्रसंहितायां षोडशः पटलः।।

।।सप्तदश पटलः।।

श्रीदेव्युवाच —

शम्भो सद्भावसंलभ्य जयचन्द्रार्धशेखरः ।
त्वया श्रीखेचरीविद्यासाधनं गुह्यमीरितम् ।।१।।

संसिद्धिः केन मार्गेण खेचरीमेलनं लभेत् ।
तन्मे ब्रूहि जगन्नाथ परमानन्दनन्दितम् ।।२।।

श्री भैरव उवाच —

श्रृणु गुह्यं महादेवि सर्वतन्त्रेषु गोपितम् ।
खेचरीमेलनं लोके महायोगीन्द्रसेवितम् ।।३।।

खेचरी नाम इयं विद्या सद्यः प्रत्ययकारिका ।
सर्वसिद्धिप्रदा देवि जरामरणनाशिनी ।।४।।

दार्छा (भेत्ता) ब्रह्मकपाटस्य पशूनां दूरमार्गगाः ।
असिद्धानामपि च यो योगीनां परमेश्वरि ।।५।।

ब्रह्मधाम परित्यह्य (परित्यज्य) आयाता नासिकापथम् ।
भित्वा ब्रह्मकपाटं तु यदा ध्रुवपदं व्रजेत् ।।६।।

तक्ष (तत्र)स्यात् परमानन्दं संविद्भावककारणम् ।
ज्ञानं तथा च विज्ञानं तत्प्रसादात् स्फुरत्यपि ।।७।।

एवं योगे क्रियायां च स्थिता सकलकामदा ।
चिद्रूपा कुञ्चिका नाम दुर्विज्ञेया सुरासुरैः ।।८।।

एवं कुण्डलिनीशक्तिरुर्धा (ऽरूर्ध्वा)- धो(ऽ)नेकधागता ।
तत्स्थे योगः पदस्थे हि अणिमादिप्रसाधकः ।।६।।

तानि स्थानानि वक्ष्यामि यथाग्रेषु च सिद्धिदा ।
मूलाधारं चतुः पत्री (चतुष्पत्रो) बिन्दुस्त्रिवलयान्वितः ।।१०।।

[49b] गमागमौ समोपेतौ आधाराख्यशिखिप्रभा ।
गुह्यं तं षट्दलं दीप्तं षट्बिन्दु परिकीर्तितम् ।।११।।

सप्तजाम्बूनदाभ्यासं(° नदाभास°) स्वाधिष्ठानं हि तद्भवेत् ।
नाभिमध्यगतं शुद्धं द्वादशारं शशिप्रभम् ।।१२।।

मणिपूरकविज्ञानमर्द्धचन्द्रस्थमध्यगम् ।
अनाहतदसारं (अनाहतानन्दसारं) ब्रह्मरन्ध्रातिगं सदा ।।१३।।

शुद्धं स्फटिकसंकाशं भावयेन् नादपूरकम् ।
षोडशारं महापद्मं त्रिकोणं कण्ठमाश्रितम् ।।१४।।

पूर्णचन्द्रनिभाकारं विशुद्धं मोक्षदायकम् ।
पञ्चकूटमहस्थानं विद्युत्कोटिसमप्रभम् ।।१५।।

मध्यदिनार्कसंकाशं भावयेद् बिन्दुरूपकम् ।
स तु नाना ततो मध्ये शक्तिर्व्योमप्रभेदिनी ।।१६।।

ज्वलन्ती पञ्चधा रन्ध्रे सेयमाज्ञा प्रकीर्तिताः ।
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः ।।१७।।

पृथिव्यादि निरंघ्राणि (?) पञ्चपञ्चकमेव च ।
तथा च कोष्टकाः पञ्च स्वाधिष्ठानादय (:) स्मृताः ।।१८।।

एतेषु स्थानभेदेषु पृथग्धानं (पृथग्ध्यानं) शिवोदितम् ।
तत्रैकमभिचाज्यस्य(तत्रैककम् चाभ्यस्य) योगीं स्यादजरामरः ।।१९।।

अभ्यासेनैव नश्यन्ति पापाः जन्मसहस्रजाः ।
मेलनात् शिवतां याति सुमहान् खेचराधिपः ।।२०।।

स्वतंत्रः सर्वलोकेषु गतिरव्याहता भवेत् ।
अविज्ञाय च यः कुर्यात् गुरूवाक्यामृतं विना ।।२१।।

भक्ष्याते (भक्ष्यते) सो(ऽ)चिराद् दिवि (देवि)
योगि (नी) भिर्न संशयः ।
य इदं परमं शास्त्रं ग्रन्थतश्चार्थतस्ततः ।।२२।।

[50a] गुरुवक्त्रात्तु लभ्येत परो (परां) सिद्धिमवाप्नुयात् ।
य इदं परमं गुह्यं खेचरीमेलकं ददेत् ।।२३।।

स एव हि गुरुर्देवि नान्यो(ऽ)स्ति परमेश्वरि ।
इदं गुह्यतमं शास्त्रं पशूनां य प्रदापयेत्।।२४।।

अपरीक्षितवृत्तस्य स शीघ्रं नश्यति प्रिये ।
बहुधा क्लिश्यमानाय भक्तयानंन्यचेतसे
(भक्तायाऽनन्यचेतसे) ।। २५।।
एकान्ते विजने स्थाने प्रवक्तव्यं विपश्चिता ।
व्याख्यानकाले कर्तव्या पूजाविधिरथाग्रतः ।।२६।।

कुलामृतैश्च मांसैश्च कस्तूरीचन्दनादिभिः ।
रक्तवस्त्रे समाधाय विद्यापुस्तकमादरात् ।।२७।।

पूजये(त्) पूर्वविधिना ततो व्याख्यानमाचरेत् ।
अथ वायव्यशक्तस्तु मानसेन कलामृतैः ।।२८।।

सन्तर्प्य पूज्य विजने ब्याख्यानं गुप्तमाचरेत् ।
(एकचित्त?) गतेनैव भावना (भावेना)राध्य पुस्तकम् ।।२९।।

श्रृणुयाद् विजने देशो तत् ज्ञे (तत्त्वज्ञो) युक्तो(ऽ)थवा प्रिये ।
पूर्वोक्तविधिना देवि स्वगुरूक्तप्रकारतः ।।३०।।

समभ्यस्य यथान्यायं द्वादश(द्वादशा)-ब्दमतन्द्रितः ।
पर्यटेत् पृथिवीमेनां यत्रस्थान (यत्रस्थो) मेलको गुरुः ।।३१।।

तं दृष्ट्वा सर्वभावेन समाराध्य प्रयत्नतः ।
आत्मनि(:)श्रेयस्करं तेनोक्तं सम्यगाचरेत् ।।३२।।

ज्ञानयुक्तं तु मातङ्गमपि कुर्याद् गुरुं प्रिये ।
ज्ञानविज्ञानहीनं तु षट्कर्मस्थमपि त्यजेत् ।।३३।।

यत्र यत्र विशिष्टार्थं तत्र तत्र समाश्रयेत् ।
यस्य हस्थो(हस्तो) - स्थितं दिव्यं विद्यापुस्तकमीश्वरि ।।३४।।

तस्य मूर्तिगतं देवि सकुलं ज्ञानसागरम् ।
यथाद्यो (?) ग्रन्थतश्चेदमर्थतश्च वदिष्यति ।।३५।।

[50b] अशेषेण जगद्धात्रि स एव परमो गुरुः ।
सर्वज्ञेन शिवेनोक्तं इदं जन्मार्वुदैरपि ।।३६।।

दुर्लभं शास्त्रसारन्तु दिव्यज्ञानप्रकाशकम् ।
द्वाविमौ पुरुषौ लोके सिद्धः साधक एव च ।।३७।।

अभ्यासेनैव सततं य सर्वः (सर्वं) परिवर्तते ।
अभिच्छुरात्मनः सिद्धिं स योगी साधक (:) स्मृतः ।।३८।।

सम्यगभ्यासं विज्ञाय यः समं मेलनं चरेत् ।
सर्वसाधारणत्वेन विकल्पकुटिलो
जितः (°कुटिलोज्झितः) ज्झिद।।३९।।

कर्त्ता भर्त्ता च संहर्ता नित्यतृप्तो निरामयः ।
पश्यत्यात्मा अविभेदेन जगतेतच् चराचरम् ।।४०।।

स योगी सर्वविहीमान् (सर्वविच्छ्रीमान्) सिद्ध इत्युच्यते बुधैः ।
साधको बहुजन्मान्ते प्रयाति परमं पदम् ।।४१।।

देवैः सुदुर्लभां सिद्धिं सिद्धो याति न संशयः ।
तस्मादभ्यस्य यत्नेन खेचरीमेलनं चरेत् ।।४२।।

मेलनादप्यनभ्यासी सर्वं लभति पार्वति ।
तस्मादभ्यासहीनो(ऽ)पि मेलनात् स्यादजरामरः ।।४३।।

यदा संमेलति गुरुः शिष्यं मेलनकर्मणि ।
संयोजयिष्यति शिवे तदेवं समुदाचरेत् ।।४४।।

एकान्ते विजने स्थाने पशुदृष्टिर-(दृष्टेर)-गोचरे ।
पूजायोग्यानि वस्तूनि साधयेत् परमेश्वरि ।।४५।।

सुस्निग्धे च सुसम्भृष्टे गोमयेनोषः पलेंयिते (गोमयेनोपलेपिते) ।
चारुवस्त्रवितानाग्रे (?) सर्वोपद्रववर्जिते ।।४६।।

वीरेणमकुर्पूर (वीरेणागरुकर्पूर) - लघुसिन्दूररेणुभिः ।
वृत्तषट्कोणावस्थारवृत्तभूवलयोज्ज्वलम् ।।४७।।

कारयेन्मण्डलं देवि तत्रापि कलसं न्यसेत् ।
पूरयेद् दिव्यतोयेन रत्नगर्भं सवस्त्रकम् ।।४८।।

[51a] माल्यधूपसमायुक्तं दर्पणालङ्कृतं प्रिये ।
तत्र पञ्चमहारत्नान् न्यसेद विद्यां च पूर्ववत् ।।४६।।

तदग्ने (तदग्रे) देवि साधारे पात्रं पूर्णकलामृतैः ।
पूर्ववत् परिसंस्कृत्य पूर्वोक्तविधिनाचरेत् ।।५०।।

पूजावसाने देवेसि (देवेशि) तत्प्रसादपवित्रितम् ।
स्नापयेत् कलसेनाङ्गं परामृतधिया गुरः (गुरोः) ।।५१।।

बिना स्नानप्रसादाभ्यां कल्पानमयुतै (कल्पानामयुतै)रपि ।
न सिध्यति महेशानि खेचरीमेलकं प्रिये ।।५२।।

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन त्प्रसाद ....सहाभिध (?) ।
सस्नानं दापयेद् विद्यां नान्यथा सिद्धिभाग् भवेत् ।।५३।।

स्नापयित्वा शिवं देवि योगस्थाने विशेषवित् ।
पञ्चाशतवर्णमालां च स्थले वा दर्पणे(ऽ)थवा ।।५४।।

यदे (पत्रे?) वा चन्दने देवि तल् लिखेन् न तु भूतले ।
शिष्यहस्तेन देवेशि तत्र पुष्पं प्रचोदयेत् ।।५५।।

यस्मिन् वर्णे विपतितं पुष्पं तद्वर्णपूर्वकम् ।
नाम चानन्दनाथान्तं दापयेद् गुरुमीश्वरि ।।५६।।

शक्तिमाम च (?) संप्रेक्ष्य परां वा तं प्रदापयेत् ।
पूर्वप्रसादसन्दग्धमहापातकसञ्चयः।।५७।।

पुनश्च कलासासेकान् (कलसासेकात्) परामृततनुर्भवेत् ।
भूयश्च नामग्रहणात् शिवसाम्यः प्रजायते ।।५८।।

एवं ऋृते (कृते) शिवे शिष्यो योग्यो मेलनकर्मणि ।
अन्यथा परमेशानि न देवान(न्द)कृद् भवेत् ।।५९।।

इति सिद्धतनुः सिद्धो यद् यद्भावमुपासते ।
तत्तत् फलं च प्रत्यक्षं भविष्यति न शंसयः (संशयः) ।।६०।।

।। इति श्रीमत्स्येन्द्रसंहितायां सप्तदशः पटलः ।।

।।अष्टादशः पटलः।।

श्रीभैरव उवाच —

इति सर्वज्ञपाशाद्यस्तीर्णः संसारसागरात् ।
भुञ्जीत स्वेच्छया भोगान् स्वेच्छया योगमभ्यसेत् ।।१।।

[51b] उपदीयः प्रयो (उपादेयः प्रियो) यस्मात् कौलिके प्रियमेलकः ।
अतः कुर्यादनुष्ठानं प्रमाण ....वेमेव (?) वा ।।२।।

अत्यन्तविजने स्थाने सर्वोपद्रववर्जिते ।
नितान्तं मनसो रम्ये हृद्यधूपसुगन्धिते ।।३।।

विकीर्णपुष्पप्रकरसिन्दूरादिसुरञ्जिते ।
गुरुमण्डलकं ज्ञात्वा भक्तिमान् योगमभ्यसेत् ।। ४ ।।

स्थिरमासनमासीनः शकली (?) - कृतविग्रहः ।
जितश्वासो जितमना जितकर्मा जितेन्द्रियः ।। ५ ।।

नियोज्यं घण्टिकारंध्रे ....
अधस्ताच् चिन्तयेच् चक्रमाक्रान्तधारमण्डलम् ।।६।।

तत्र मध्ये समो दीप्तां मूलशक्तिं विभावयेत् ।
प्राणान्निरोध्योर्ध्वमुखं नयेद् भित्त्वा षडाम्बुजान् ।।७।।

एकीभूता हि नादाख्या चक्रभेदक्रमेण च ।
तडिद्वलयसङ्काशां स्फुरत् किरणरूपिणीम् ।।८।।

चिन्ह्या च निरालम्बे शून्ये तेजोमये परे ।
ब्रह्मद्वारस्य गर्भे तु विसर्गाख्ये विलीयते ।।९।।

ततो रसनयोद्भेद्य प्रविशेद् ब्रह्मणः पदम् ।
तस्मिन् कुलामृतं दिव्यं पीत्वा भूयो विशेत् कुलम् ।।१०।।

तेन प्रासितमात्रेण (ग्रासितमात्रेण?) परां सिद्धिमवाप्नुयात् ।
योगमूले रजके स्थाने भूमस् तस्मात् समुत्थितः ।। ११ ।।

पृथिव्याधारसंकोचात् एकोच्चारक्रमेण तु।
एतद्वामीश्वरीवीजं (वामेश्वरी बीजं) रहस्यं सम्प्रकाशितम् ।।१२।।

व्याख्याता खेचरी मुद्रा तस्या बन्धो(ऽ)यमेव हि।
एतस्या बन्धमात्रेण भाग्यहीनो(ऽ)पि सिद्धयति ।।१३।।

मेलकं (मेलकात्) खेचरीणां च दिव्यवेषो(ऽ)भिजायते ।
अमुना सम्प्रदानेन यत्र यत्र विलीयते ।।१४।।

[52 a] तत्र तत्र परानन्दरूपमेव प्रकाशते ।
सर्वशास्त्रार्थवेत्ता सौभाग्यं परमं तथा ।।१५।।

काव्यं च सर्वभाषाभिः सालङ्कारपदोज्ज्वलम्।
करोति लीलया योगी रुद्रशक्तिप्रभावतः ।।१६।।

अनेनैव प्रयोगेण सर्वमात्राः (?) स्फुरन्ति हि ।
आणवाः शाम्भवाः शाक्ताः ये के उच्चरति (?) प्रिये ।।१७।।

मणिपूरे लयाद् वश्यं शान्तिश्रीपुष्टितुष्टयः ।
आकर्षणं पुरक्षोभो (?) भवन्त्येव हि सिद्धयः ।।१८।।

अनाहते तु संल्लीनो योगी ग्रन्थिविभेदनात्।
गिरीणां पातनं देवि कुर्यात् मृत्युश्च (मृत्योश्च) वञ्चनाम् ।।१९।।

विशुद्धे अत्यमृताधारे योगस्तु स्यादसंशयः।
क्षुत्-तृषादारुनिर्मुक्तो जरारोगविवर्जितः ।।२०।।

आज्ञास्थानगतो योगी त्रैलोक्यमपि पश्यति।
त्रिकालज्ञः स्वयं कर्त्ता स एव परमेश्वरः ।।२१।।

अतीतं वेत्ति नाभिस्थो वर्त्तमानं हृदि स्थितम्।
आज्ञास्थानगतो योगी सर्वं जानाति सर्वदा ।।२२।।

अधुना वा उन्मनीभावः परतत्त्वोपलब्धये।
पारम्पर्यक्रमायातो ब्रह्माण्डोदरमध्यगः ।।२३।।

यत् लिङ्गाधारमध्यस्थं मध्ये शक्त्यङ्कुरान्वितम्।
यत्र मात्रं प्रमाणं तु त्रिकोणाकृतिरुत्तमा ।।२४।।

निष्कलं यत्परं तेजः परस्पर(सु)संस्थितम् ।
जनमणीन्द्रियं (?) यद्वत् विस्फुरश्चैव दृश्यते ।।२५।।

तथाकृतिर्भवेत् तस्य मीलनोन्मीलनानि च ।
प्रथमं भेदयेच चक्रं नाभिजं नाडिभिर्युतम् ।।२५।।

तदूर्ध्वे हृदयावस्थं चक्रं चै (वै) कुलसंज्ञकम्।
हृच्चकं भेदयेत् पश्चात् कठं चक्रं (कंठचक्रं) ततः शनैः ।।२७।।

[52 b] तदूर्ध्वे लम्बिकां भेद्य नासाग्रं तु ततो नयेत।
नासाग्रे श्वाससंभिन्नं भ्रूमध्ये सन्निवेशयेत् ।।२८।।

श्वासेन सहितं बीजं तेजोरूपं ललाटके।
गत्वा लक्ष (लक्ष्यं) ललाटस्य प्रविशेत् सूर्यसंनिभम् ।।२९।।

कुञ्चिकाग्रं ततः सूक्ष्मा........... णु च सूक्ष्मकम्।
उद्घाटयेत् ततो द्वारं शिवद्वारार्गलं महत् ।।३०।।

बिन्दुद्वारार्गलं भित्त्वा दुर्भेद्यं त्रिदशैरपि।
ब्रह्माण्डोद्रमित्युक्तं योगिनी सिद्धसेवितम् ।।३१।।

तदेतद् अङ्गुलोत्सेधं कुलाये (?) संव्यवस्थितम्।
प्रवेशात् स्पर्शनं तत्र बालानामिव जायते ।।३२।।

शक्तितत्त्वावबोधो हि विज्ञानं सिद्धिसाधनम्।
परतत्त्वावबोधश्च ज्ञानमोहप्रसाधनम् ।।३३।।

भुक्तिमुक्त्योर्द्वयोर्हेतुं परमानन्दतां गतः ।
जीवन्मुक्तिमिवाप्नोति वत्सरार्धान् न संशयः ।।३४।।

प्राप्तद्वादशकेनैव शिवसाम्यबलं प्रिये।
सर्वार्थकृत्यं सूक्ष्मत्वं सर्वज्ञत्वं विशुद्धता ।।३५।।

नित्यानन्दस्वभावत्वं सर्वव्याप्तिमेव च ।
अणिमा लघिमा प्राप्तिः प्राकाम्यं गरिमा तथा ।।३६।

ईशित्वं च वशित्वं च यच्च कामावसायिता।
स्यान्महासिद्धयस्त्वेता अष्टौ विज्ञानयोनयः ।।३७।।

योगिनः संप्रवर्तन्ते वत्सरात् परमेश्वरि।
अथातः संप्रवक्ष्यामि साधनं परमं प्रिये ।।३८।।

विधिनानुत्थितं पूर्वं मया च बरवर्णिनि।
अन्येषां देवि देवानां ब्रह्मादीनां च दुर्लभम् ।।३६।।

बिन्दुजीवजलाक्रान्तं वर्त्तुलं चन्द्रमण्डलम्।
बिन्दुप्राणानिलाक्रान्तं त्रिकोणं वह्निमण्डलम् ।।४०।।

[53a] आपूर्य वामया नाड्या (द्) मुञ्चे (नासिक्या?) दक्षिणयाबहिः।
पुनर्दक्षिणया(ऽऽ)पूर्य बहुशो वामया त्यजेत् ।।४१।।

एवं विशुद्धनाडीक (:) कुम्भकामां (कुम्भकेन) शतं शतम्।
कुर्याद् बहिः हंसेन सहजेनान्तरस्थितम् ।।४२।।

स पश्यति जगत्कीर्णं तेजसः परमाणुभिः।
दृष्टेति प्रत्ययं कुर्यात् प्रत्येकमयुतं यदा ।।४३।।

तदा पश्यति नासाग्रे हृदयेन्दोज्ज्वलं सहः।
तयोः संचिन्तयेद् ऐक्यं तथात्मानं स पश्यति ।।४।।

अतिमग्नं मनः कुर्यात् प्रत्येकमयुतं यदा।
तस्मिन् पर्युष्टकात्मके..................
ततः स प्रियसंगत्या द्रुतामप्य (?) दीप्यति ।।४५।।

शक्तिबन्धकप्रयोगेण सप्तरात्रं निरोधकः।
कोदण्डद्वयमध्यस्थं बिन्दुनादेन भेदयेत् ।।४६।।

एवमभ्यसतस्तस्य प्रत्ययः संप्रजायते।
याममात्रा ध्रुवं त्यक्ता (?) गमने भव(ति) स्थितः ।।४७।।

द्वादशान्ते दिनार्धेन दृष्ट्वा साक्षान्महेश्वरम्
सम्प्राप्य प्रियसाङ्गत्यं शिवसायुज्यमप्नुयात् ।।४८।।

सुख(मा)सनासीनः सकलीकृतविग्रहः।
किञ्चिदभ्युन्नतोरस्को मयूराञ्चितमस्तकः ।।४९।।

विस्रस्तां सः स्थिरो भूत्वा रसनां घटिकाबिले
संयोज्य परमेशानि ध्यानं कुर्याज् जितेन्द्रयः ।।५०।।

अत्यन्तं निपुणां कुर्यात् सुषुम्णान्तर्गतं मनः।
शक्तिक्षोभान्ततस्तस्य परो(ऽ)भिव्यज्यते ध्वनिः ।।५१।।

नदेव सद संबीजं तत्र संयोजयेन् मनः ।
क्षणात् क्षौर्णीं परित्यज्य गगने भवति स्थिरः ।।५२।।

मूहूर्त्ताद्वीक्षते सर्वं तेजमयमिदं जगत्।
याममात्रं नदा तेजस्तदेव परिपश्यति ।।५३।।

[53b] तदा तस्य निवर्तन्ते निखिलाश्चित्तवृत्तयः।
यामलं यमसङ्कल्पो यदा स्थाणुवद् आस्थितः।।५४।।

यदा ब्रह्माण्डभाण्डस्य सर्वं प्रत्यक्षमीक्षसे (°मीक्षते?)।
अहोरात्रेण सर्वाणि साक्षात् तत्त्वानि पश्यति ।।५५।।

तद्रुपःपश्यति परिषतः (परितः) तदाऽसौ जायते शिवः।
नियोज्य घन्टिकारन्ध्रे रसनां निश्चलात्मिकाम् ।।५६।।

भ्रूमध्ये चक्ष्ण....... (चक्षुयुगलं) स्थिरं कृत्वा मनोहृदि ।
क्षीरोदार्णवनिमग्नं पद्मद्वये पुटीकृतम् ।।५७।।

पिबन्तं ब्रह्मरन्ध्रेण क्षीरधारामृतं हिमम्।
रोमकूपैर्विनिर्गत्य कोटिशः क्षीरबिन्दुभिः ।।५८।।

अमोघपाण्डुरन्तस्थमिवात्मानं विचिन्तयेत्।
अजरामरतामेति मासमात्रा(न्) न संशयः ।।५६।।

मासावधि महेशानि योगमेकं शिवोदितम्।
दिने दिने द्वयामान्तं (द्वियामान्तं) यामान्तं वा समुच्चरेत् ।। ६०।।

एकेनैव तु योगेन भुवनान्तमनुव्रजेत्।
द्वितीयेन तु योगेन सप्तद्वीपावलिं व्रजेत्।।६१।।

तृतीयेन तु योगेन शिवलोके महीयते।
अतीत्य सकलान् लोकान् प्रथाभोगान्यः
(पृथग्भोगानि) भुज्यच।। ६२।।

शरीराय महायोगी चन्द्रद्वीपे सुखं वसेत्।
श्रीदेव्युवाच -
अक्षयं वाचकं लोकं वद देव महेश्वर ।।६३।।

(श्री ईश्वर उवाच)—

शिवपूर्वं मया ख्यातं किं न बुध्यसि पार्वति।
त्रैलोक्यं ज्ञायते सर्वं सहस्रयुगपर्यये ।।६७।।

कल्पारव्यं ब्रह्मणस्स्थानं वैकुण्ठं चैव वैष्णवम्।
कैलाशं रुद्रसंस्थानं क्षीयते च महाक्षये ।।६८।।

अक्षयं चन्द्रद्वीपं तु यत्र देवी कुलनंविका (कुलाम्बिका)।
तिष्ठते (अ)त्र मया सार्धं सत्यं सत्यं महातपे ।।६६।।

[54a] योगिन्यस्तत्र या देवी सिद्धाश्च वरवर्णिनि ।
इच्छारूपधरा सर्वे सर्वे चामोक्षशक्तयः (चामोघशक्तयः) ।।६७।।

स्वतन्त्रा(श्च) स्वरूपाश्च सर्वे कुब्जेश्वरप्रभाः ।
किमत्र बहुनोक्तेन जल्पितेन पुनः पुनः ।।६८।।

क्षपयात्त(द्) विहीनं तु चन्द्रद्वीपं वरानने।
तत्क्षये यौवनान्दः क्रीडते स्वेच्छया प्रिये ।।६६।।

कल्पकोटि प्रातैस्तस्य (°शतस्तस्य) क्षयो नैव प्रजायते।
न च सांसारिका व्याप्तिः स्वस्य भूयः प्रवर्तते ।।७०।।

पशुमार्गस्थितो नित्यं योनियोन्यन्तरं व्रजेत्।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन गुरुं तोष्य महेश्वरि ।।७१।।

प्रबोधव्यमिदं शास्त्रं संसारं तर्त्तुमिच्छता।
येन सिद्धिमवाप्नोति सत्यं सत्यं न संशयः ।। ७२।।

।। इति श्रीमत्स्येन्द्रसंहितायाम अष्टादशः पटलः ।।

।।एकोनविंशः पटलः।।

ईश्वर उवाच —

अकृत(अ)भ्यासयुक्तानां योगीनां सिद्धिमिच्छताम् ।
ध्यानयोगं प्रवक्ष्यामि जरा-मृत्यु-गदापहम् ।।१।।

अकलङ्कोज्ज्वलत् शीतकिरणांभोदरस्थितम् (?)
शरीरं चिन्तयेन् मासाद् वलीपलितनाशनम् ।।२।।

शुद्धेन्दुविम्बहृन्मध्ये श्रवन्तममृतं स्मरेत् ।
अमृतेन स्वकं देहमापादतलमस्तकम् ।।३।।

स्नाप्यमानं स्मरेद् अङ्गं तर्पयेत् सुधया तथा ।
तदर्धमात्रा ....स्वं सौकुमार्यं गदक्षयम् ।।४।।

वलीपलितनाशश्च भविष्यति सुरार्च्चिते ।
कञ्जनाशाद् अधोदेशे करंधादूर्ध्वमेव च ।।५।।

पूवोक्तमण्डलौ शीतसुधावृष्टिसमन्वितौ ।
मूलबीजौज्ज्वलत् शीतसुधावृष्टिविनिर्गतैः ।।६।।

सुधासागरसंल्लीनां भसरन्तः(?) विभावयेत् ।
अन्तरङ्गमशेषं तु ब्रह्मरन्ध्रेन्दुनिर्गतैः ।।७।।

[54b] परामृतैर्ब्रह्मरन्ध्रा नाडीविलनिवेशितैः ।
तर्पयेदात्मनो बीजं देवताश्च शिवे धिया ।।८।।

अन्तरङ्गमशेषं तु तत्सुधावृष्टिपूरितम् ।
परिभाष्य सलोमाखा (?) मार्गकोटिविनिर्गतैः ।।९।।

सुधावृष्टिभिरेकं च बाह्याभ्यन्तरयोः स्मरेत् ।
तत्र (तन्) मध्ये समुल्लीनमात्मदेहं तदात्मकम् ।।१०।।

तर्पयेदात्मसुधया ब्रह्माण्डमखिलं शिवे ।
तत्सुधातृप्तिसन्तृप्तं परमानन्दधीमयम् ।।११।।

ब्रह्माण्डमखिलं चेदं आत्मदेहं विचिन्तयेत् ।
वेष्टयेत् सुधया देवि श्रियः सुस्निग्धशीतया ।।१२।।

अनेन देवि योगेन षण्मासाद् अजरामरः ।
लोहितं नवमं वर्णं सबिन्दुममृतात्मकम् ।।१३।।

नेत्रयोः परिसंचिन्त्य तत्सुधावृष्टिरश्मिभिः ।
ब्रह्माण्डमखिलं ध्यायेद् आत्मदेहं समर्पितम् ।।१४।।

त्रिवर्षध्यानयोगेन निर्विकल्पेन चेतसा ।
सप्तसप्तान्तलोकानि सप्तजन्म च दृश्यते ।।१५।।

पयः पयोमयाम्भोधौ लीनमात्मकलेवरम् ।
नित्यं चिन्तयतो वर्षात् स्याद् वलीपलितक्षयः ।।१६।।

ब्रह्मरन्ध्रामृताधारस्रवत् परसुधामृतैः ।
संसिच्यमानं षण्मासात् ध्यायन् देहं जरां जयेत् ।।१७।।

स्वदेहं चन्द्रसंकाशं अकलङ्कं सुधामयम् ।
ध्यायन् वर्षार्धतो योगी वलीपलित स्र (?) भवेत् ।।१८।।

सप्तचन्द्रसमो विवात् (विद्यात् ?) सकलङ्कामृतप्लुताम् ।
मूलादिब्रह्मरन्ध्रान्तं षट्पद्मेषु प्रभावयेत् ।।१९।।

वेदषदलसूर्येन्दु (?) कला द्विशतसंख्यया ।
पत्रैरक्षरसंलीनैरमृतकैर्वृतेषु (?) च ।।२०।।

[55a] एकत्र चिन्तयेत् तेषां मण्डलानामनुक्रमात् ।
अवच्छिन्नवदाधाराद (अवच्छिन्नधारावद्)
ब्रह्माण्डावधि पार्वति।।२१।।

प्रज्वलत् कोटिचन्द्राभं आत्मदेहं तदात्मकम् ।
चिन्तयेदमृतासिक्तां योगी योगप्रसिद्धये ।।२२।।

षण्मासाद् वलिशौत्त्यादीन् (वलिपलितादीन् ?) नाशयेच् च गदान् अपि ।
वांच्छात्यंतर्गता (?) यान्ति दुःखान् मुच्येत वै विषात् ।।२३।।

स(मा)त् सर्वज्ञताप्राप्तिरष्टाद् ईश्वरसंन्निभः ।
खेचरत्वं भवेद् देवि अणिमादिप्रपूजितम् ।।२४।।

विभिद्य योगिनी द्वारं वागीश्वर्या सुखासनः ।
कुम्भकावधि संजाप्य गमागमविभेदतः ।।२५।।

षण्मासाद् वलिपलित्वं नाशयेद् वत्सरत्रयात् ।
सर्वज्ञगुणसंतृप्तो द्वादशाब्दाद् हि प्रभुः ।
जरामृत्युगदैस्त्यक्तो भविष्यति न संशयः ।।२६।।

।।इति श्रीमत्स्येन्द्रसंहितायामेकोनविंशः पटलः।।

।।विंशः पटलः।।

कार्मुकद्वयमध्यस्थं मैहिरं (?) मण्डलं प्रिये ।
ध्यायेन् मासावधि तदा रोगयुग्मक्षयं नयेत् ।।१।।

षण्मासाद् इन्द्रसाम्यः स्यात् अब्दाद् विणु (विष्णु) समो भवेत् ।
षड्वर्षाद् रुद्रसाम्यः स्यात् दशाब्दाद् अतिप्रभ (अतिसंप्रभः) ।।२।।

जायते नियतात्मा चेत् सत्यं सूर्यानुभावनम् ।
..........रक्तामृतपरिप्लुतम् ।।३।।

ध्यायन् वर्षार्धमात्रेण जायते ह्यजरामरः ।
मूलाधारे स्मरेद् देवि ज्वलन्तं रविमण्डलम् ।।४।।

तत्प्रभापटलं व्याप्तं शरीरं परिचिन्तयेत् ।
नदेह ब्रह्मरन्ध्रे च ध्यायेद् हृत्कमले(ऽ)पि च ।।५।।

मूले बिम्बे च च्छद्विवं (?) ब्रह्मरन्ध्रगतं तथा ।
अन्योन्यप्रभयाश्लिष्टान् शरैरेकस्त्रमात् (°क्रमात्) स्मरेत् ।।६।।

तन्मयं चिन्तयेद् देहे हियमांतं (द्वियामान्तं) दिने दिने ।
षण्मासादणिमादीनाम् आधिपत्यम् अवाप्नुयात् ।।७।।

[55b] सर्वज्ञत्वं च लभते त्रिवर्षात् सूर्यसन्निभः ।
त.....वीतः स्मरेज्जीवं ज्वलद् दीप्तशिखाकृतिम् ।। ८ ।।

तृड्बाधवलिपालित्यमृत्युव्याधिभयं हरेत् ।
वर्षात् सर्वज्ञको भूत्वा वसेद् योमाकंणोर्ध्वके (?)।।९।।

सर्वामरशिरोरंघ्रदन्तांघ्रिद्वयपङ्कजः ।
सर्वगुणसम्पूर्णः सपिण्डो भवति प्रिये ।।१०।।

सहस्रकिरणान्तस्थम् आत्मानं सुस्थिरं स्मरेत् ।
ब्रह्मरन्ध्रपरं विम्बं भावयन् निर्विकल्पधीः ।।११।।

तद् रश्मिजालैः संच्छिन्नं देहमीश्वरि भावयेत् ।
ताभ्यामावेष्टितं देहं तेजरूपं वरानने ।।१२।।

दीप्तं दीप्तशिखाकारं बिम्बद्वयपुटीकृतम् ।
दुर्भिधि-तेजोन्दुगतं (?) भावयेत् कुंभकावधि ।।१३।।

ब्रह्मद्वारार्गलं भित्त्वा सुखिरोर्ध्व(सुषिरोर्ध्व)मुखेन च ।
शीतलामृतकल्लोलधारावृष्टिकुलामृतम् ।।१४।।

पीत्वा पीत्वार्करन्ध्रेण तत्सुधातृप्तिमोदितम् ।
चिन्तयेद् आत्मनो रूपं ज्योतिर्लिङ्गवद् आस्थितम् ।।१५।।

तदण्डाभ्यन्तरं सर्वे अमृतपूरितं (सर्वममृतापूरितं) स्मरेत् ।
तत्र मध्यगतो योगी गन्धाख्यगुणपूरितम् ।।१६।।

सर्वाधारमशेषं तु धारातन्त्वं (धरातत्त्वं) न विस्मरेत् ।
वाण्यांतसुगणाधारा (?) जलतत्त्वमशेषकम् ।।१७।।

तथा रूपगुणोदारं तेजस्तत्त्वमरोषकम् ।
नेत्रत्रयेषु सञ्चिन्त्य स्पर्शाख्यगुणपूरितम् ।।१८।।

वायुतत्त्वमशेषं तु श्वासमात्रं स्मरेच्छिवे ।
शब्दाख्यगुणसंजुष्टव्योमतत्त्वमशेषकम् ।।१९।।

श्रुतिस्थाने स्मरेद् योगी सशनैर्हत्य बाह्यकान् ।
ज्वालाण्डमध्यसंल्लीनं देहं विश्वमयं स्मरेत् ।।२०।।

[56a] स्वदेहमध्यसंल्लीनं ब्रह्माण्डमिदमव्ययम् ।
लयादिप्रलयान्तं च ग्रसेत् कालं च लीलया ।।२१।।

एकीभावेन सुदृढं बद्ध्वा पद्मासनं स्मरेत् ।
चिन्तयेत्कालकलुषैर्मुक्तदेहं निरामयम् ।।२२।।

तदा तद् दण्डमीशानि स्मरेन् सुश्विर (?) वर्जितम् ।
तदा कालभयं ग्रस्त्वा शिववस्त्वेच्छया (शिववत् स्वेच्छया)
वसेत् ।। २३।।

अनेन देवि ध्यानेन वञ्चयेत्कालमागतम् ।
पृथिव्यादीनि तत्त्वानि स्वीकृत्वा (स्वीकृत्य) आस्ते
(स्यान्) निरामयः ।।२४।।

ध्यानस्यास्य समासेन फलं च श्रृणु पार्वति ।
स्फोटयेत्सैल (स्फोटयेच्छैल)वृक्षादीन् शोषयेज्
जलधीश्वरान् ।। २५।।

करोति लीलया काग्नि (चाग्नि)जलानिलनिवारणम् ।
शब्दतत्त्वं जपेद् योगी जरामरणवर्जितः ।।२६।।

त्रिकालज्ञ (:) स्वयं कर्त्रा सर्वव्याधित्वमाप्नुयात्।
मृतकोत्थापनं देवि दग्धसञ्जीवनं महत् ।।२७।।

सृष्टिस्थितिलयाधीशः सर्वत्र समदर्शनः
परकायप्रवेशं च (परकायप्रवेशश्च) खेचरत्वं विशुद्धता ।।२८।।

क्षुत्तृषादाहनिर्मुक्तो स्वो ....छया वशेत् ?।
अप्रमेयबलो योगी दुर्विज्ञेयमति (:) प्रभो (प्रभुः) ।।२९।।

षण्मासा(द्) ध्यानयोगेन नित्ययुक्तेन पार्वति ।
सत्यं सत्यं पुनः सत्यं सत्यं सत्यं न संशयः ।
महाक्षयेष्वपि च वै क्षयं नैव प्रजायते ।।३०।।

इत्थं सहत्य(संहत)सर्वचित्रविषयस्याशेषविश्वात्मनः,
संविद् भावमणे (भावमणौ) सकारणमहायोगे चिरं तिष्ठतः ।
मेरौ सर्ववदर्णवे चुलकवत् खद्योत(व)द्भास्करे,
ब्रह्माण्डवदहोनि (?)..................कौतुकं योगिनः ।।३१।।

।।इति श्रीमत्स्येन्द्रसंहितायां विंशः पटलः।।

एकविंश उल्लासः

अवधूताश्रमनिरूपणम्

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि अवधूतक्रमं शृणु ।
चतुर्थाश्रमिणां मध्ये अवधूताश्रमो महान् ॥ १ ॥

अब अवधूत के क्रम को कहता हूँ उसे सुनो । चारों आश्रमियों के मध्य में यह अवधूताश्रम सर्वश्रेष्ठ है ॥ १ ॥

केवलं कुलयोगेन तस्य मोक्षः प्रजायते ।
यदि न स्यात्तदा चैव शृणु यत् कथयामि ते ॥ २ ॥

केवल कुल में दीक्षित होने मात्र से मोक्ष प्राप्त हो जाता है । यदि मोक्ष न हो तो जो कहता हूँ उसे सुनो ॥ २ ॥

ज्ञान भावे च सम्पन्ने सम्प्रार्थ्यं निजकौलिकीम् ।
तदाज्ञया विमुक्तः स्यात्तां सम्पूज्य कुलान्तरे ॥ ३ ॥

ज्ञानभाव के प्राप्त होते ही अपनी कौलिकी (स्त्री) से प्रार्थना कर उसकी आज्ञा लेकर उसकी पूजा कर घर बार छोड़कर अन्य कुलों में जावे ॥ ३ ॥

कुण्डलीशक्तिविवरे तदा योगं समभ्यसेत् ।
निर्द्वन्द्वो निरहङ्कारः शुद्धनाडीजितेन्द्रियः ॥ ४ ॥

वहाँ कुण्डली शक्ति के विवर में निर्द्वन्द्व, निरहङ्कार, शुद्ध नाड़ी करके जितेन्द्रिय होकर योगाभ्यास करे ॥ ४ ॥

मृद्वासने समासीनः षट्कसंयमने रतः ।
बद्धपद्मासनो योगी योगं युञ्जीत यत्नतः ॥ ५ ॥

वह योगी मृद्वासन (= शवासन) पर बैठकर काम क्रोधादि छह विकारों को संयमित कर पद्मासन लगाकर योग का अभ्यास करे ॥ ५ ॥

ऊर्वोरुपरि वीरेन्द्रः कृत्वा पादतले उभे ।

अङ्गुष्ठौ तु निबध्नीयाद्धस्ताभ्यां व्युत्क्रमेण तु ॥ ६ ॥
पद्मासनं भवेदेतत् सर्वेषामेव पूजितम् ।

पद्मासन—दोनों ऊरूओं पर दोनों पादतल स्थापित कर वीरेन्द्र साधक दोनों हाथ को व्युत्क्रम से घुमा कर पैर के दोनों अङ्गूठों को पकड़ें तो उसे पद्मासन कहा जाता है । यह आसन सब आसनों से श्रेष्ठ है ॥

मूलाधारचक्रकथनम्

गुदात्तु द्व्यङ्गुलादूर्ध्वमधोमेढ्रात्तु द्व्यङ्गुलम् ॥ ७ ॥
एकाङ्गुलं तु तन्मध्ये देहमध्यं प्रकीर्त्तितम् ।
कन्दमस्ति शरीरेऽस्मिन् पुण्यापुण्यविवर्जितः ॥ ८ ॥

गुदा स्थान से दो अङ्गुल ऊपर और लिङ्ग स्थान से दो अङ्गुल नीचे, उसके बीच में एक अङ्गुल का स्थान देह का मध्य भाग कहा जाता है । उसी स्थान पर शरीर में पुण्यापुण्य रहित एक कन्द है ॥ ६-८ ॥

तन्तुपञ्जरमध्यस्थो यथा भ्रमति सूतिकः ।
जीवस्तु मूलचक्रेऽस्मिन् अधःप्राणश्चरत्यसौ ॥ ९ ॥

जिस प्रकार मकड़ी तन्तुपञ्जर के मध्य में भ्रमण करती है, उसी प्रकार जीव इस मूलचक्र में अध:प्राण होकर भ्रमण करता रहता है ॥ ९ ॥

प्राणारूढो भवेज्जीवः सर्वदेहेषु सर्वदा ।
तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्त्राणां द्विसप्ततिः ॥ १० ॥

यह जीव सभी (प्राणियों के) शरीर में प्राणों पर सर्वदा आरूढ रहता है । वही से बहत्तर हजार नाड़ियाँ उत्पन्न हुई हैं ॥ १० ॥

मेरुदण्डबहिः पार्श्वे चन्द्रसूर्यात्मिके शुभे ।
इडा च पिङ्गला चैव वामदक्षिणतः स्थिते ॥ ११ ॥

मेरुदण्ड से बाहर उसके दोनों पार्श्व में चन्द्रसूर्यात्मक दो नाड़ियाँ प्रवाहित होती रहती हैं । वाम पार्श्व और दक्षिण पार्श्व में प्रवाहित होने वाली इन नाड़ियों के नाम इडा और पिङ्गला हैं ॥ ११ ॥

कन्दमध्याद् द्वयोर्मध्ये सुषुम्ना सुप्रतिष्ठिता ।
पृष्ठमध्यगता सा तु सह मूर्ध्नि व्यवस्थिता ॥ १२ ॥

इन दोनों नाड़ियों के मध्य में कन्द के मध्य से निकलने वाली सुषुम्ना प्रतिष्ठित है । वह पीठ के मध्य भाग से होती हुई मूर्धा तक जाती है ॥ १२ ॥

ऋज्वीभूता तु वज्राख्या ज्वलन्ती विश्वधारिणी ।
मुक्तिमार्गे सदा गुप्ता मेढ्रमूर्ध्नि व्यवस्थिता ॥ १३ ॥

सर्वथा तेजोमयी विश्व को धारण करने वाली वज्रा नाम की नाड़ी मुक्ति मार्ग में लिङ्ग के अग्रभाग में सदा गुप्त रूप से रहती है ॥ १३ ॥

तस्याश्चान्तर्गता नाडी चित्राख्या योगिवल्लभा ।
पञ्चवर्णोज्ज्वला देवी पञ्चभूतनिवासिनी ॥ १४ ॥

उसके भीतर एक चित्रा नाम की नाड़ी है, जो योगीजनों को अत्यन्त प्रिय है। वह पाँच वर्णों से उज्ज्वल तथा पाँचों महाभूतों में निवास करती है ॥ १४ ॥

पञ्चदेवैर्युता देवी पञ्चतत्त्वप्रकाशिनी ।
पूरयित्वा तु विच्छिन्ना चित्रा सा ग्रन्थिरूपिणी ॥ १५ ॥

वह पञ्चदेवों से युक्त तथा पञ्चतत्त्वों की प्रकाशिका है । यह चित्रा नाड़ी ग्रन्थि के समान है जो कही तो पूर्ण है और कहीं-कहीं कट जाती है ॥ १५ ॥

तयैव ग्रथितं सर्वं मूलादि पद्मपञ्चकम् ।
तस्या मध्ये ब्रह्मनाडी मृणालतन्तुरूपिणी ॥ १६ ॥

मूलाधार से लेकर स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, आज्ञा चक्रादि विशुद्ध चक्र तक पाँच पद्म उसी से ग्रथित हैं । उसके मध्य में मृणाल तन्तु के समान अत्यन्त सूक्ष्म ब्रह्मनाड़ी है ॥ १६ ॥

ब्रह्मरन्ध्रं तु तन्मध्ये हरवक्त्रं सदाशिवम् ।
गुदमेढ्रान्तरे ग्रन्थि सुषुम्ना सन्धिरुत्तमा ॥ १७ ॥

उसके मध्य में ब्रह्मरन्ध्र है, जो सदाशिव स्वरूप हर का मुख कहा जाता है। गुदा और लिङ्ग के बीच में सुषुम्ना की सन्धि है ॥ १७ ॥

आधारे च गुदस्थाने पङ्कजञ्च चतुर्दलम् ।
सुवर्णाभं वादिसान्तं हेमवर्णं सुशोभनम् ॥ १८ ॥

गुदास्थान में रहने वाले आधार में चार दलों का एक कमल स्थित है जो सुवर्ण के समान चमकीला है । उसमें व श ष स—ये चार वर्ण सोने के समान देदीप्यमान है ॥ १८ ॥

कलिकारूपकं पद्मं पृथिवीपद्मिनीयुतम् ।
तरुणारुणसङ्काशां शूलखट्वाङ्गकौ ततः ॥ १९ ॥
वामे खड्गं सुराकुम्भं दधानामुग्रदंष्ट्रिणीम् ।

दुग्धाभां संस्थितां ध्यायेत् डाकिनीं लोचनत्रयाम् ॥ २० ॥

डाकिनी का ध्यान—यह पद्म कलिका स्वरूप है जो पृथ्वी रूप पद्मिनी से युक्त यहाँ अत्यन्त तरुण अवस्था वाली, लाल वर्ण वाली, शूल एवं खट्वाङ्ग दाहिने हाथ में धारण की हुई तथा खड्ग एवं सुराकुम्भ बायें हाथ में लिये हुये भयानक दाँतों वाली, दुग्ध के समान स्वच्छ वर्ण, तीन नेत्रों से युक्त डाकिनी का ध्यान करना चाहिये ॥ १९-२० ॥

कर्णिकायां स्थिता योनिः कामाख्या योगिवल्लभा ।
अपानाख्यं हि कन्दर्पं आधारे च त्रिकोणके ॥ २१ ॥

कामाख्या का स्थान—इसकी कर्णिका में योगिवल्लभा कामाख्या योनि का निवास बतलाया गया है । इसके त्रिकोण के आधार में अपान नामक कन्दर्प का निवास है ॥ २१ ॥

स्वयम्भूलिङ्गं तन्मध्ये पश्चिमाभिमुखं भवेत् ।
बन्धूकपुष्पसङ्काशं सूर्यकोटिसमप्रभम् ॥ २२ ॥

उस त्रिकोण के मध्य में स्वयम्भू लिङ्ग का स्थान बतलाया गया है जो पश्चिमाभिमुख होकर स्थित है । वह बन्धूक पुष्प के समान है । उसकी कान्ति करोड़ों सूर्य के समान जाज्वल्यमान है ॥ २२ ॥

भ्रमन्तं योनिमध्ये च शिशिरं शशभृत्समम् ।
तस्योर्ध्वे कुण्डली शक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः ॥ २३ ॥

वह चन्द्रमा के समान शिशिर है और योनि के मध्य में भ्रमण करता रहता है । उसके ऊपर कुण्डली शक्ति रहती है जो कुण्डली रूप से आठ भागों में प्रविभक्त है ॥ २३ ॥

अष्टप्रकृतिरूपा सा नाभेस्तिर्यगधो गता ।
अधोवक्त्रस्थितादेवी ऊर्ध्वपुच्छाऽतिशोभना ॥ २४ ॥

कुण्डलिनी का स्वरूप—उसके आठो भाग अष्टप्रकृति स्वरूप हैं जो नाभि से तिरछे होकर नीचे की ओर जाते हैं । कुण्डिलिनी अपना मुख नीचे की ओर तथा पूँछ ऊपर की ओर किये अत्यन्त शोभित रूप में स्थित है ॥ २४ ॥

अकारादिक्षकारान्ता कुण्डलीत्यभिधीयते ।
सा च विद्युल्लताकारा मृणालतन्तुसन्निभा ॥ २५ ॥

'अ' से लेकर 'क्ष' पर्यन्त वर्णों वाली मातृका को ही कुण्डली कहा जाता है जो आकार में विद्युल्लता के समान तथा मृणालतन्तु के सदृश सूक्ष्म है ॥ २५ ॥

परिस्फुरति सर्वात्मा सुप्ताऽहिसदृशाकृतिः ।
ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनावृत्य तिष्ठति ॥ २६ ॥

वह सोयी हुई सर्पिणी की भाँति फुफ्कारती रहती है और अपने मुख से ब्रह्मद्वार का मुख बन्द कर स्थित रहती है ॥ २६ ॥

येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मद्वारं निरामयम् ।
मुखेन श्वासं प्रविष्टा ब्रह्मरन्ध्रं मुखं तदा ॥ २७ ॥

निरामय ब्रह्मद्वार में जिस द्वार से जाना चाहिए । मुख के द्वारा श्वास-प्रश्वास से प्रविष्ट होकर ब्रह्मरन्ध्र के मुख में जाता है ॥ २७ ॥

मस्तके मणिवद्भिन्नस्वयम्भूलिङ्गवेष्टिनी ।
नान्यः पन्था द्वितीयोऽस्ति शरीरे परमस्य च ॥ २८ ॥

मस्तक में जाकर किसी मणि के समान अत्यन्त देदीप्यमान स्वयम्भू लिङ्ग को वेष्टित किये रहती है । वहाँ पर जाने के लिये शरीर में और कोई दूसरा रास्ता नहीं है ॥ २८ ॥

मूलाधारे कामरूपं पीठं परमदुर्लभम् ।
अधोवक्त्राणि पद्मानि मूलादीनि यथाक्रमात् ॥ २९ ॥

कामरूप पीठ—इसी मूलाधार में अत्यन्त दुर्लभ कामरूप नामक पीठ है । मूलादि में रहने वाले सभी पद्म क्रमशः अधोमुख हैं ॥ २९ ॥

मूलाधारचक्रम्, तध्यानफलम्

गुदात्तु द्व्यङ्गुलादूर्ध्वमधो मेढ्रात्तु द्व्यङ्गुलात् ।
चतुरङ्गुलविस्तारं कन्दमूलं खगाण्डवत् ॥ ३० ॥

कन्द स्वरूप—गुदा स्थान से दो अङ्गुल ऊपर और लिङ्ग से दो अङ्गुल नीचे चार अङ्गुल विस्तार वाला पक्षि के अण्डे के आकार का कन्द मूल है ॥ ३० ॥

एकाङ्गुलं तु तन्मध्ये चतुरस्रं त्रिकोणकम् ।
एवं ध्यात्वा च वीरेन्द्रः स्थिरचित्तः स्थिरेन्द्रियः ॥ ३१ ॥
आकुञ्चयेद् गुदमूलं चिबुकं हृदयोपरि ।
नव द्वाराणि संयम्य कुक्षिमापूर्य वायुना ॥ ३२ ॥
शब्दबीजेन तां देवीं दृढविभ्रामयेत्ततः ।
वायुना भिद्य तद्वक्त्रं ऊर्ध्ववक्त्रं तु कारयेत् ॥ ३३ ॥

उस कन्द के मध्य में चौकोर त्रिकोण है । स्थिर चित्त स्थिरेन्द्रिय वीर साधक

इस प्रकार ध्यान करते हुये गुदा के मूल को बारम्बार सङ्कुचित करे और खोले । हृदय के ऊपर चिबुक से वायु खींच कर उससे कुक्षि को पूर्ण करे और नव द्वार दो आँख, दो कान, दो नेत्र, मुख, गुदा और लिङ्ग इन नवों द्वारों को बन्द कर देवे । फिर शब्द बीज से उस महादेवी कुण्डलिनी को चलावे । इस प्रकार वायु से उसका मुख ऊपर की ओर करे ॥ ३१-३३ ॥

उद्घाटयेत् कपाटं तु यथा कुञ्चिकया दृढम् ।
उल्लासोज्ज्वलकारस्य शिखा याति समुज्ज्वला ॥ ३४ ॥
मूलचक्रं ततो भित्त्वा ब्रह्मद्वारं विभेदयेत् ।
ऊर्ध्वं भित्त्वा तु लिङ्गं वै इतरं पुष्करं ततः ॥ ३५ ॥

जिस प्रकार कुञ्जी से ताला खोलकर दृढ़ किवाड़ खोला जाता है उसी प्रकार कुण्डलिनी का मुख ऊपर कर ब्रह्मद्वार का कपाट खोले । कपाट खोलते ही उल्लसित एवं उज्ज्वलाकार तथा उज्ज्वल वर्ण की शिखा ऊपर उठती है । इस प्रकार मूलचक्र का भेदन कर ब्रह्मद्वार का भेदन करे । ऊपर लिङ्ग का भेदन करके और भी कमलों का भेदन करे ॥ ३४-३५ ॥

मूलाधारे सन्ततं ध्यानयोगात्
स्तम्भक्षोभावुत्प्लुतिर्दार्दुरीव ।
भूमित्यागः खेचरत्वं क्रमेण
नृणामेते षड्गुणाः सम्भवन्ति ॥ ३६ ॥
कान्तिप्रकर्षो वपुषोऽपि
नादव्यक्तिः प्रदीप्तिः जठरानलस्य ।
लघुत्वमङ्गस्य निजेन्द्रियाणां
पटुत्वमारोग्यमदीनता च ॥ ३७ ॥

१. मूलाधारचक्र का भेदन—मूलाधार में निरन्तर ध्यान करने से स्तम्भ, क्षोभ, मेढ़की के समान उछाल, फिर भूमित्याग, तदनन्तर खेचरत्व की क्रमशः प्राप्ति हो जाती है । ऐसी स्थिति में उस योगी में कान्तिप्रकर्ष, शरीर में नाद की अभिव्यक्ति, जठरानल की प्रदीप्ति, शरीर में हल्कापन, इन्द्रियों में पटुता, आरोग्य और अदैन्य—ये छह गुण प्रकट हो जाते हैं ॥ ३६-३७ ॥

स्वाधिष्ठानचक्रम्, तद्ध्यानफलम्

मूलादिपद्मषट्कञ्च कलिकासदृशं शुभम् ।
स्वाधिष्ठानं महापद्मं लिङ्गमूले रसच्छदम् ॥ ३८ ॥

२. स्वाधिष्ठान चक्र भेदन—मूलादि छह पद्म (मूलाधार, स्वाधिष्ठान,

मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि और आज्ञा) कलिका के समान शुभ कारक हैं। लिङ्ग के मूल में स्वाधिष्ठान नामक महापद्म है, जिसमें छह पत्ते हैं ॥ ३८ ॥

बन्धूक पुष्पसङ्काशं सदा जलसमन्वितम् ।
सिन्दूरप्रस्फुरद्वर्णैर्बादिलान्तैश्च मण्डितम् ॥ ३९ ॥
शूलं वज्रं तथा पद्मं डमरुं करपङ्कजैः ।
दधानां श्यामवर्णाञ्च राकिणीं त्रितयान्विताम् ॥ ४० ॥
रक्तधात्वेकनाथां तां चिन्तयेत्तत्र साधकः ।
विचिन्त्य स्थिरचित्तेन अधिष्ठानं प्रभेदयेत् ॥ ४१ ॥

वह पद्म बन्धूक पुष्प के समान लाल वर्ण का है और सदा जल युक्त रहता है। 'ब भ म य र ल' इन सिन्दूर के समान वर्ण वाले मातृका वर्णों से मण्डित है। अपने हाथों में शूल, वज्र, पद्म तथा डमरू लिये हुये श्यामवर्ण वाली रक्त धातु की स्वामिनी **राकिणी** का वहाँ ध्यान करना चाहिये। फिर स्थिर चित्त से ध्यान करने के बाद अधिष्ठान चक्र का भेदन करना चाहिये ॥ ३९-४२ ॥

इह वेत्ति निधाय मानसं स्वं
विविधञ्चाश्रुतशास्त्रजालमुच्चैः ।
अवधूतजरामयः स मर्त्यः
सुचिरं जीवति वीतमृत्युभीतिः ॥ ४२ ॥

जो इस स्थान का एकाग्र होकर ध्यान करता है वह अश्रुत भी अनेक शास्त्रजाल का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, बुढाई और रोग को नष्ट कर देता है, मृत्यु का भय उसे नहीं सताता और बहुत काल तक जीवित रहता है ॥ ४२ ॥

वपुषोऽशुचिता जनस्य शश्वत्
परमां शुद्धिमिहातनोति पुंसाम् ।
शरदम्बुजपेलवस्य देहे
दृढरुद्धो घनताञ्च शीतरश्मिः ॥ ४३ ॥

यह तो शरीर निरन्तर अपवित्र रहता है। किन्तु राकिणी के ध्यान से उसका शरीर अत्यन्त पवित्र हो जाता है। उसका शरीर शरत्कालीन कमल के समान अत्यन्त सुन्दर हो जाता है और दृढ होकर शीत रश्मि (चन्द्रमा) के समान अत्यन्त सघन हो जाता है ॥ ४३ ॥

मणिपूरचक्रम्, तद्ध्यानफलम्

तदूर्ध्वे सव्यदक्षाभ्यां चिन्तयेत् साधकोत्तमः ।
पद्ममध्ये स्थितं शुद्धं विद्युताभं त्रिकोणकम् ॥ ४४ ॥

तन्मध्ये चिन्तयेद् देवं ब्रह्माणं हंसवाहनम् ।
रक्तवर्णं चतुर्वक्त्रं दधतञ्च त्रिलोचनम् ॥ ४५ ॥
चिन्तयेत् कूर्चपद्मे च अक्षमालां कमण्डलुम् ।
ब्रह्मसत्त्वाक्षमोङ्कारं स्थितं नाभेरधः सदा ॥ ४६ ॥
नाभौ नीलनिभं पद्मं मणिपूरं दशास्त्रकम् ।
विद्युत्पुञ्जस्फुरद्वर्णैर्डादिफान्तैश्च मण्डितम् ॥ ४७ ॥
वह्निना संयुतं तत्र लाकिनीं मांसधातुगाम् ।
मानसं संविभाव्याथ भेदयेत्तदनन्तरम् ॥ ४८ ॥

मणिपूर चक्र भेदन—उस स्वाधिष्ठान के ऊपर साधकोत्तम बायें और दाहिने दोनों ओर विद्युत् के समान आभा वाले त्रिकोण का ध्यान करे; जो पद्म के मध्य में स्थित है और सर्वथा शुद्ध है। उसके मध्य में हंसवाहन, रक्त वर्ण, चार मुख और तीन नेत्र धारण किये हुये **ब्रह्मदेव** का चिन्तन करे । जो कूर्च, पद्म, अक्षमाला और कमण्डलु हाथों में लिये हुये हैं । फिर साधक नाभि के नीचे ब्रह्मसत्त्व, ॐकार स्वरूप, नीले वर्ण वाले, दश अक्षरों से युक्त मणिपूर चक्र का ध्यान करे। यह चक्र विद्युत् पुञ्ज के समान स्फुरित होने वाले मणिपूर डं ढं णं तं थं दं धं नं पं फं वर्णों से मण्डित है और अग्नि वर्ण से संयुक्त है । वहाँ मांस धातु की अधिष्ठात्री **लाकिनी** का ध्यान कर तत्त्वज्ञ साधक उस मणिपूरचक्र का भी भेदन कर देवे ॥ ४४-४८ ॥

स्थानेऽस्मिन्निहितात्मनः सुकृतिनः पातालसिद्धिं परां
खड्गस्याप्रतिमस्य साधनमपि स्यादीप्सितञ्च क्षितौ ।
रूपं भूमिविसर्जनं परपुरे शक्तः प्रवेष्टुं जरा-
हानिश्चाखिलदुःखरोगशमनं कालस्य वा वञ्चनम् ॥ ४९ ॥

इस स्थान में ध्यान करने वाले सुकृतियों को परा पातालसिद्धि प्राप्त हो जाती है और अप्रतिम खड्गसिद्धि हो जाती है । पृथ्वी में उसके सारे मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं और वह पृथ्वी छोड़कर अन्य लोकों में प्रवेश करने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है । उसकी कभी वृद्धावस्था नहीं आती, समस्त रोग और दुःख शान्त हो जाते हैं और वह काल को भी वञ्चित कर सकता है ॥ ४९ ॥

अनाहतचक्रम्, तद्ध्यानफलम्

अनाहतं हृदि ध्यायेत् पिङ्गाभं द्वादशच्छदम् ।
द्रुतस्वर्णप्रभावर्णैः कादिठान्तैश्च मण्डितम् ॥ ५० ॥

४. अनाहत चक्र भेदन—इसके बाद (मणिपूर के भेदन के बाद) पीले आभा वाले बारह पत्तों से युक्त अनाहत चक्र का हृदय में ध्यान करे । उसके 'कं खं गं

घं ङं चं छं जं झं ञं टं ठं—ये द्वादश पत्ते हैं, जिनसे वह मण्डित है ॥ ५० ॥

मेदःस्थां काकिनीं तत्र पीताभां मत्तरूपिणीम् ।
अभयं डमरुं शूलं पाशञ्च करपङ्कजैः ॥ ५१ ॥
दधानां चारुरूपाञ्च नानाभरणभूषिताम् ।
तत्रैवाङ्गुष्ठमात्मानं प्रदीपकलिकोपमम् ॥ ५२ ॥
तत्र सञ्चिन्तयेद् देवं नारायणं निरञ्जनम् ।
शुद्धस्फटिकसङ्काशं वाणीलक्ष्मीविभूषितम् ॥ ५३ ॥
वैनतेयसमारूढं शङ्खचक्रगदाधरम् ।
पीताम्बरधरं शान्तं वनमालाविभूषितम् ॥ ५४ ॥
पूर्णशैलं महापीठं तत्रैव परिचिन्तयेत् ।
प्रभेदयेत्ततः पश्चात् साधकः स्थिरमानसः ॥ ५५ ॥

उस अनाहत चक्र में भेद की अधिष्ठात्री मस्ती की चाल से भरी हुई, पीत वर्ण वाली **काकिनी** का ध्यान करे। जो अपने हाथों में अभय, डमरू, त्रिशूल और पाश लिये हुये है, वह अत्यन्त मनोहर स्वरूप वाली तथा उत्तमोत्तम आभूषणों से भूषित है। वह प्रदीप कलिका के समान है और वहाँ शुद्ध स्फटिक के समान स्वच्छ वाणी और लक्ष्मी से विभूषित निरञ्जन (माया रहित) गरुड़ पर सवार, पङ्ख, चक्र एवं गदा धारण किये हुये पीताम्बर पहने, शान्त स्वरूप, वनमाला से विभूषित **नारायण देव** का साधक ध्यान करे। तदनन्तर स्थिरचित्त साधक उस अनाहत चक्र का भेदन कर देवे ॥ ५१-५५ ॥

एतस्मिन् सततं निविष्टमनसः स्थाने विमानस्थिताः
क्षुभ्यन्त्यद्भुतरूपकान्तिकलिता दिव्यस्त्रियो योगिनः ।
ज्ञानञ्चाप्रतिमं त्रिकालविषयं क्षोभः पुरस्य श्रुति-
दूरादेव च दर्शनञ्च खगतिः स्याद्योगिनीमेलनम् ॥ ५६ ॥

जो विद्वान् साधक इस अनाहत चक्र में अपना मन स्थिर कर लेता है, उसे अपने स्थान में विमान पर स्थित अत्यन्त अद्भुत रूप की कान्ति से युक्त दिव्य स्त्रियाँ तथा योगी जन भी उसे देखकर क्षुब्ध हो जाते हैं। उसे त्रिकाल विषयक अप्रतिम ज्ञान हो जाता है और अनाहत नादादि सुनाई पड़ने लगते हैं। उसकी आकाश में गति हो जाती है तथा योगिनियाँ मिल जाती हैं और वह उनका दर्शन दूर से कर लेता है ॥ ५६ ॥

विशुद्धचक्रम् तद्ध्यानफलम्

विशुद्धं षोडशारञ्च धूम्राभं कण्ठदेशके ।

तदन्ते व्योमबीजञ्च शुक्लं हैमगजस्थितम् ॥ ५७ ॥
तरुणारुणसङ्काशैः स्वरैश्च परिमण्डितम् ।
आकाशसहितं पद्मं शाकिनीं परिचिन्तयेत् ॥ ५८ ॥

५. विशुद्ध चक्र भेदन—उस अनाहत के बाद कण्ठदेश में षोडशार विशुद्ध चक्र है, जिसका वर्ण धूम्र के समान है । उसके अन्त में व्योम बीज (ह) है, जो सुवर्ण के समान देदीप्यमान हाथी पर सवार है । वह तरुण और अरुण वर्ण वाले षोडश स्वरों से परिमण्डित है । आकाश सहित उस विशुद्ध चक्र के पद्म में **शाकिनी** का तत्त्वज्ञ ध्यान करे ॥ ५७-५८ ॥

अस्थिसंस्थां चतुर्बाहुं पञ्चवक्त्रां त्रिलोचनाम् ।
पाशाङ्कुशौ पुस्तकञ्च ज्ञानमुद्राञ्च धारिणीम् ॥ ५९ ॥
दंष्ट्रिणीमुग्ररूपाञ्च सदा मधुमदाकुलाम् ।
अर्धनारीश्वरं देवं नानामणिविभूषितम् ॥ ६० ॥
चन्द्रचूडं त्रिनयनं वराभयकरं शुभम् ।
ध्यात्वैवं चक्रराजं तु भेदयेत् साधकोत्तमः ॥ ६१ ॥

जो अस्थि पर स्थित चार बाहुओं, पाँच मुखों तथा तीन नेत्रों वाली है, वह अपने हाथों में पाश, अङ्कुश, पुस्तक और ज्ञानमुद्रा धारण की हुई है । उसके बड़े बड़े दाँत हैं, वह उग्ररूपा तथा मद्य के मद से आकुल रहती है । वह अनेक मणियों से विभूषित होकर अर्धनारीश्वर, चन्द्रचूड़, तीन नेत्रों वाले, हाथ में वर और अभय धारण किये हुये सदाशिव से युक्त है । इस प्रकार **सदाशिव** सहित **शाकिनी** का ध्यान कर साधक उस चक्रराज का भी भेदन कर देवे ॥ ५९-६१ ॥

स्थानेऽत्र संसक्तमना मनुष्य-
स्त्रिकालदर्शी विगताधिरोगः ।
जित्वा जरामञ्जननीलकेशः
क्षितौ चिरं जीवति वीतमृत्युः ॥ ६२ ॥
इह स्थाने चित्तं सततमवधायात्तपवनो
यदि क्रुद्धो योगी चलयति समस्तं त्रिभुवनम् ।
न च ब्रह्मा विष्णुर्न च हरिहरो नैव खमणि-
स्तदीयं सामर्थ्यं शमयितुमलं नापि गणपः ॥ ६३ ॥

इस स्थान का एकाग्रचित्त से ध्यान करने वाला मनुष्य त्रिकालदर्शी होता है उसके पास रोग नहीं फटकते । वह बुढ़ाई को जीत लेता है । उसके बाल सदैव अञ्जन के समान नीले रहते हैं और वह पृथ्वी पर मृत्युरहित होकर चिरकाल तक

जीवित रहता है । इस स्थान पर सदैव चित्त को सावधानीपूर्वक स्थापित कर वायु को ऊपर की ओर खींचे । यदि ऐसा योगी क्रुद्ध होता है तो वह सारे त्रिभुवन को कम्पित कर देता है । उसके सामर्थ्य को ब्रह्मा, विष्णु, हरिहर, सूर्य और न गणेश ही शमन करने में समर्थ हो सकते हैं ॥ ६२-६३ ॥

आज्ञाचक्रम् तद्ध्यानफलम्

द्विदलं हक्षवर्णाभ्यां शुभाभ्यां परिमण्डितम् ।
विद्युत्कोटिप्रभं चक्रं भ्रुवोरूर्ध्वे मनोन्मनी ॥ ६४ ॥

६. आज्ञाचक्र भेदन—यह चक्र ह क्ष इन दो वर्णों से सुशोभित है करोड़ों बिजली के समान आभा वाला है । इसका निवास भ्रू के मध्य में है जहाँ मनोन्मनी का निवास है ॥ ६४ ॥

विन्दुयुक्तं सर्ववर्णं सर्वपद्मेषु चिन्तयेत् ।
योनिमध्ये स्थितं लिङ्गमितरं तरुणारुणम् ॥ ६५ ॥
जालन्धरं महापीठं हाकिनीं तत्र चिन्तयेत् ।
बिन्दुस्थां हाकिनीं शुक्रमेदोमज्जास्वरूपिणीम् ॥ ६६ ॥

उपर्युक्त कहे गये मूलाधार से लेकर आज्ञाचक्र पर्यन्त छह चक्रों में विन्दु युक्त सभी वर्णों का ध्यान करे । यहाँ योनि के मध्य में इतर तरुण एवं अरुण वर्ण वाला लिङ्ग है । यह जालन्धर महापीठ है । वहाँ तत्त्वज्ञ साधक **हाकिनी** का ध्यान करे । यह हाकिनी शुक्र, मेद तथा मज्जा की अधिष्ठात्री देवी है जिसका निवास स्थान बिन्दु है ॥ ६५-६६ ॥

अक्षमालाञ्च डमरुं कपालं पुस्तकं तथा ।
चापं मुद्रां दधानाञ्च शुक्लां नेत्रत्रयान्विताम् ॥ ६७ ॥
पद्ममध्येऽन्तरात्मानं प्रभारूपं हि कारणम् ।
ओङ्कारज्योतिषं कल्पप्रदीपाभं जगन्मयम् ॥ ६८ ॥
बालसूर्यप्रतीकाशां सदा बिन्दुमदक्षरम् ।
ततः सङ्क्षोभणद्वारे ध्यायेत् पद्मं सुशोभनम् ॥ ६९ ॥

यह शुक्ल वर्ण वाली त्रिनेत्रा हाकिनी अपने हाथों में अक्षमाला, डमरु, कपाल, पुस्तक और धनुष मुद्रा धारण किये हुये है । यहाँ इस पद्म के मध्य में प्रभा स्वरूप अन्तरामा, जो सब का कारण कही गयी है, उसका निवास है । यहाँ ॐकार रूप ज्योति स्थित है । वह कल्प प्रदीप की आभा वाली जगन्मयी हैं और वह उदीयमान सूर्य की समान लाल वर्ण की आभा से युक्त हैं । उस सङ्क्षोभण द्वार पर बिन्दु युक्त अक्षरों से युक्त अत्यन्त शोभा वाले द्विदल पद्म का साधक को ध्यान करना चाहिये ॥ ६७-६९ ॥

ध्यानयोगनिरतस्य जायते पूर्वजन्मकृतकर्मणां स्मृतिः।
तत्र विन्दुनिलये च दूरतो दर्शनश्रवणयोः समर्थता ॥ ७० ॥

उस पद्म में ध्यान करने वाले योगी को पूर्व जन्म में किये गये समस्त कर्मों की स्मृति हो जाती है । उस विन्दु निलय में ध्यान करने से दूर से ही (वाञ्छित) दर्शन और श्रवण का सामर्थ्य हो जाता है ॥ ७० ॥

इह सन्निहितस्वचित्तवृत्तिः प्रतिमायाः प्रतिजल्पनं करोति।
गमनञ्च पुरे परेषां पुनरुत्थानमप्यहो मृतस्य ॥ ७१ ॥

इसमें अपनी चित्तवृत्ति को सन्निविष्ट करने वाला साधक प्रतिमा से भी बातचीत कर सकता है । वह दूसरे लोकों में गमन करता है और मृतक को भी जिला देता है ॥ ७१ ॥

निरालम्बां मुद्रां निजगुरुमुखेनैव विदिता-
मिह स्थाने कृत्वा स्थिरनिशितधीः साधकवरः ।
सदाऽभ्यासात् पश्यत्यमरनिलयानन्तरखिला-
मुडुश्रेणीं विष्णोरपि पदमुडूनामपि पतिम् ॥ ७२ ॥

कुशाग्र बुद्धि वाला श्रेष्ठ साधक अपने गुरु से प्राप्त की गई निरालम्ब मुद्रा यदि यहाँ बनावे, तो इस प्रकार सदैव के अभ्यास से वह अपने हृदय में ही समस्त देव स्थानों को देख सकता है । विष्णु का पद, आकाश, उसमें रहने वाले तारे तथा चन्द्रमा का भी दर्शन कर लेता है ॥ ७२ ॥

भेदान्ते पद्मषट्कं च प्रस्फुटञ्चोर्ध्ववक्त्रकम् ।
भवत्येव न सन्देहोऽप्यथ स्यात् साधकस्य च ॥ ७३ ॥

उन षट् पद्मों का भेदन करते ही वे कमल खिल जाते हैं । उनका मुख ऊपर हो जाता है इसमें सन्देह नहीं है । इसी प्रकार साधक का भी मुख खिल जाता है और वह भी ऊर्ध्वमुख हो जाता है ॥ ७३ ॥

तदूर्ध्वे चार्धचन्द्रे च भानुमण्डलमुत्तमम् ।
मकारविन्दुरूपेण तदूर्ध्वे चन्द्रमण्डलम् ॥ ७४ ॥

उसके ऊपर विद्यमान अर्धचन्द्र में मकार रूप वाला उत्तम भानुमण्डल है । फिर उसके ऊपर चन्द्रमण्डल है ॥ ७४ ॥

विन्दोरुपरि नादं हि शुद्धस्फटिकसन्निभम् ।
चेतसा सम्प्रपश्यन्ति नादान्ते वृषभध्वजम् ॥ ७५ ॥
शुद्धस्फटिकसङ्काशं कपर्दशशिभूषणम् ।

व्याघ्राम्बरं तु तन्मध्ये अधोमुखं सशक्तिकम् ॥ ७६ ॥
स्थाने ह्यत्र परीतञ्च वरदाभयपाणिकम् ।
प्रसन्नवदनं शान्तं सर्पयज्ञोपवीतिनम् ॥ ७७ ॥
नादोपरि महादेवं पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषा ।
नान्यत् पश्यन्ति तत्रैव अन्तरं वृषभध्वजम् ॥ ७८ ॥

उस विन्दु के ऊपर शुद्ध स्फटिक के समान नाद है । फिर योगीजन उस नाद के बाद भगवान् वृषभध्वज (सदाशिव) का दर्शन करते हैं जो शुद्ध स्फटिक के समान आभा वाले, कर्पद (जटाजूट) में चन्द्रमा का आभूषण धारण किये हुए हैं, बाघम्बर पर अधोमुख शक्ति (उमा) के साथ बैठे हुये हैं । वे अपने गणों से घिरे हुये वर और अभयमुद्रा हाथ में धारण किये हुये हैं । वहाँ योगिजन वृषभध्वज को छोड़कर किसी अन्य का दर्शन नहीं करते । वह शिव प्रसन्न मुख, शान्तमुद्रा एवं सर्प का यज्ञोपवीत धारण किये हुये नाद के ऊपर विराजमान है । योगी जन उन सदाशिव का दर्शन अपने ज्ञानचक्षु से करते हैं ॥ ७५-७८ ॥

पुरत्रयविनिष्क्रान्तो यत्र वायुः प्रलीयते ।
तत्र संस्थं मनः कृत्वा तद्ध्यानमीश्वरं विदुः ॥ ७९ ॥

जिस तीन स्थान (नाभि, हृदय और कण्ठ) से वायु निकल कर जहाँ लीन हो जाती है, वहाँ उस कण्ठ स्थान में मन को स्थापित करे तो उस ध्यान को ईश्वर विषयक ध्यान कहा जाता है ॥ ७९ ॥

विभाव्य साधकश्रेष्ठो भेदयेत्तदनन्तरम् ।
शङ्खिनीनालं संस्थाप्यव्याप्तिशून्यं विभर्त्ति यः ॥ ८० ॥
अमृतोदधिसङ्काशं शतयोजनविस्तृतम् ।
चन्दनोद्यानमध्यस्थं वेदिकां तु तदन्तरे ॥ ८१ ॥

वहाँ शंखिनी नाल (कण्ठ देशावच्छिन्न प्रदेश) में मन को स्थापित कर उसका भी भेदन कर देवे । जो सर्वत्र व्याप्त एवं शून्यता को धारण करता है । वहाँ अमृत के समुद्र के समान सौ योजन लम्बा चन्दनोद्यान है उसके मध्य में एक वेदिका है ॥ ८०-८१ ॥

तन्मध्ये स्फटिकं ध्यायेत् पश्चिमाननमम्बुजम् ।
स्रवन्तममृतं नित्यं देव्यङ्गे कमलान्तरे ॥ ८२ ॥

उस वेदी के मध्य में स्फटिक के समान अत्यन्त स्वच्छ पश्चिमाभिमुख कमल का ध्यान करे । जिससे देवी के अङ्ग में तथा अन्य कमलों में अमृत की धारा सर्वदा टपकती रहती है ॥ ८२ ॥

सहस्रारपद्मवर्णनम्

सहस्रारपद्मं विसर्गादधस्ता-
दधो वक्त्रमारक्तकिञ्जल्कपुञ्जम् ।
कुरङ्गेण हीनस्त्रिशृङ्गस्तदन्तः
स्फुरद्रश्मिजालः सुधांशुः समास्ते ॥ ८३ ॥
तदन्तर्गतं ब्रह्मरन्ध्रं सुसूक्ष्मं
यदाधारभूतं सुषुम्णाख्यनाड्याः ।
तदेतत् पदं दिव्यमत्यन्तगुह्यं
सुरैरप्यगम्यं सुगोप्यं सुयत्नात् ॥ ८४ ॥

वहाँ विसर्ग से नीचे अधोमुख सहस्रार पद्म है, जिसका पराग समूह अत्यन्त रक्त वर्ण का है । यद्यपि उसमें कुरङ्ग नहीं है किन्तु वह तीन शृङ्गों वाला है । उस सहस्रार पद्म में रश्मिजाल से उद्भासित चन्द्रमा का निवास है । उस चन्द्रमा के भीतर अत्यन्त सूक्ष्म ब्रह्मरन्ध्र है । जहाँ सुषुम्ना नाड़ी का आधार भूत निवास है । यह स्थान अत्यन्त दिव्य है, गुप्त है और देवताओं के लिये भी अगम्य है । अतः प्रयत्नपूर्वक इसे गुप्त रखे ॥ ८३-८४ ॥

एतत् कैलाससञ्ज्ञं परमकुलपदं बिन्दुरूपी स्वरूपी
यत्रास्ते देवेदवो भवभयतिमिरध्वंसहंसो महेशः ।
भूतानामादिदेवो रसविसरसितां सन्ततामन्तरङ्गे
सौधीं धारां विमुञ्चन्नभिमत फलदो योगिनां योगगम्यः ॥८५॥
स्थानस्यास्य ज्ञानमात्रेण पुंसां
संसारेऽस्मिन् सम्भवो नैव भूयः ।

यह सर्वश्रेष्ठ कौलों का परमपद है । अत्यन्त मनोहर स्वरूप वाला यह विन्दु रूप है । इसको कैलास नाम से भी कहा जाता है जहाँ संसार के भय रूपी तिमिर का नाश करने वाले हंस स्वरूप महेश निवास करते हैं । जो महेश समस्त भूतों के आदि देव हैं । जो अपने अन्तरङ्ग में स्थित रसपूर्ण अमृत की धारा बहाते रहते हैं । जो सब को अभिमत फल प्रदान करते हैं और योगीजनों के लिये अगम्य हैं । अतः इस स्थान को जान लेने मात्र से किसी भी पुरुष का पुनः संसार में आगमन नहीं होता ॥ ८५-८६ ॥

भूतग्रामं सन्ततन्यासयोगात्
कर्तुं हर्तुं स्याच्च शक्तिः समग्रा ॥ ८६ ॥
स्थाने परे हंसनिवासभूते-
कैलासनाम्नीह विधाय चेतः ।

योगी गतव्याधिरधःकृताधि-
वाधश्चिरं जीवति मृत्युमुक्तः ॥ ८७ ॥
स्थानेऽस्मिन् क्षयवृद्धिभावरहिता नित्योदिताऽधोमुखी
बालादित्यनिभप्रभाशशभृतः साऽस्ते कला षोडशी।
बालाग्रस्य विखण्डितस्य शतधा चैकेन भागेन या
सूक्ष्मत्वात् सदृशी निरन्तरगलत्पीयूषधाराधरा ॥ ८८ ॥

यहाँ निरन्तर ध्यान करते रहने से साधक को समस्त भूतग्राम (सृष्टि) के निर्माण और हरण करने की समस्त शक्ति प्राप्त हो जाती है। इस हंस के निवास वाले अत्यन्त उत्कृष्ट कैलास नामक स्थान में चित्त को एकाग्र कर स्थापित करने वाला योगी व्याधिरहित होता है और सम्पूर्ण बाधाओं को नष्ट कर देता है तथा मृत्यु से मुक्त होकर चिरञ्जीवी बन जाता है। इस स्थान पर क्षय एवं वृद्धि भाव से रहित नित्य उदीयमान अधोमुखी **षोडशी कला** का निवास है जो बाल आदित्य के समान लाल वर्ण वाली और चन्द्रमा के समान शीतल सुखद प्रकाश देने वाली है। वह अत्यन्त सूक्ष्म है, एक बाल के अग्रभाग के सौ टुकड़े किये जाने पर उसके एक खण्ड के समान अत्यन्त सूक्ष्म है जिससे निरन्तर अमृत की धारा का प्रवाह प्रवाहित होता रहता है ॥ ८६-८८ ॥

एतस्याः परतः स्थिता भगवती भूताधिदेवाधिपा
निर्वाणाख्यकलाऽर्धचन्द्रकुटिला सा षोडशान्तर्गता।
बालाग्रस्य सहस्रधा विगलितस्यैकेन भागेन या
सूक्ष्मत्वात् सदृशी त्रिलोकजननी या द्वादशार्कप्रभा॥ ८९ ॥

इसके बाद समस्त भूतों की अधिदेवता अर्धचन्द्र के समान कुटिल **निर्वाण नाम की कला** का निवास है जो उस षोडशी कला के भीतर ही रहने वाली है। वह मनुष्य के बाल के अग्रभाग के हजार टुकड़े किये जाने पर उसके एक भाग के समान अत्यन्त सूक्ष्म है। वही त्रिलोकजननी है और द्वादश सूर्य के समान कान्तिमती है ॥ ८९ ॥

निर्वाणाख्यकलापदोपरिगता निर्वाणशक्तिः परा
कोट्यादित्यसमप्रभाऽतिगहना बालाग्रभागस्य या।
कोट्यंशेन समा समस्तजननी नित्योदिता निर्मला
नित्यानन्दपदस्थलोरुविगलद्धारा निरालम्बना ॥ ९० ॥

उस निर्वाण नामक कला के स्थान से ऊपर **परा निर्वाण शक्ति** है जो करोड़ों आदित्य की प्रभा से सर्वथा दुष्प्रेक्ष्य है। वह बाल के अग्रभाग के एक करोड़ टुकड़े किये जाने पर उसके एक भाग के समान अत्यन्त सूक्ष्मतम है, वह सब

लोकों की माता है तथा नित्य उदीयमान एवं निर्मल स्वरूपा है । उस नित्यानन्द पद स्थल से एक बहुत प्रवाह युक्त अमृतधारा निकलती है जिसका कोई आलम्बन नहीं है ॥ ९० ॥

एतस्याः परतः परात्परतरं निर्वाणशक्तेः पदं
शैवं शाश्वतमप्रमेयममलं नित्योदितं निष्क्रियम् ।
तद्विष्णोः पदमित्युशन्ति सुधियः केचित् पदं ब्रह्मणः
केचिद्धंसपदं निरञ्जनपदं केचिन्निरालम्बनम् ॥ ९१ ॥

इस निर्वाण शक्ति से ऊपर परात्परतर शाश्वत **शैव पद** है जो अप्रमेय अमल नित्योदित और निष्क्रिय है। उसे कोई विद्वान् **विष्णु पद** कहते हैं और कोई **ब्रह्म पद** कहते हैं तथा कोई उसे निरालम्बन, निरञ्जन, **हंसपद** कहते हैं ॥ ९१ ॥

आरोप्याऽऽरोप्य शक्तिं कमलजनिलयादात्मना साकमेषु
स्थानेष्वाज्ञावसानेष्ववहितहृदयश्चिन्तयित्वा क्रमेण ।
नीत्वा नादावसानं खगत कुलमहापद्मसद्मान्तरस्थां
ध्यायेच्चैतन्यरूपामभिमतफलसम्प्राप्तये शक्तिमाद्याम् ॥ ९२ ॥
साक्षाल्लाक्षारसाभं गगनगतमहापद्मसद्मस्थहंसां
पीत्वा दिव्यामृतौघं पुनरपि च विशेन्मध्यदेशं कुलस्य ।
चक्रे चक्रे क्रमेणामृतरसविसरैस्तर्पयेत् देवतास्ता
हाकिन्याद्याः समस्ताः कमलजपदगां तर्पयेत् कुण्डलीं ताम् ॥ ९३ ॥

ब्रह्मदेव के लय हो जाने वाले उस स्थान से अपनी आत्मा के साथ आज्ञा चक्र के अन्त तक रहने वाले इन इन स्थानों में शक्ति का क्रमशः आरोप कर सावधान चित्त वाला साधक क्रमशः एक-एक का ध्यान करे । उन शक्तियों को नाद में विलीन कर देवे । फिर अपने कुल महापद्म रूप सद्म में निवास करने वाली चैतन्यरूपा आद्या शक्ति का अभीष्ट फल प्राप्ति के लिये ध्यान करे । जो गगनगत महापद्म रूप सद्म में निवास करने वाली हंसिनी है तथा लाक्षा रस के समान आभा वाली है । वहाँ से दिव्य अमृत समूह का पान कर कुक्षि के मध्यदेश की ओर लौटे और आज्ञा चक्रादि छओ पद्मों में स्थित उन उन देवताओं का तर्पण क्रमशः उस अमृत रस से करे । इस प्रकार हाकिनी, काकिनी, राकिनी, शाकिनी, लाकिनी और डाकिनी को तृप्त कर सम्पूर्ण कमलों में जाने वाली उन कुण्डली का तर्पण करे ॥ ९२-९३ ॥

कुण्डली कुण्डलाकारानक्रीभूता निवासिनी ।
इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्नानिलयं व्रजेत् ॥ ९४ ॥
शक्तिं भैरवसंयोगादमृतानन्दमानयेत् ।

चन्द्रमार्गेण वायुञ्च पिबेत्तञ्च शनैः शनैः ॥ ९५ ॥
कुम्भकञ्च यथाशक्त्या सूर्यमार्गेण रेचयेत् ।
सूर्यमार्गे पिबेद्वायुं चन्द्रमार्गेण रेचयेत् ॥ ९६ ॥

यह कुण्डली कुण्डलाकार है, मकर के ऊपर निवास करने वाली है, वह इ़डा, पिङ्गला तथा सुषुम्ना के घर में लौट आती है । तत्त्वज्ञ साधक शक्ति और भैरव के संयोग से अमृतानन्द प्राप्त कर चन्द्रमार्ग से धीरे-धीरे वायु का पान करे। फिर यथाशक्ति कुम्भक कर सूर्य मार्ग (दाहिनी नासा) से निकाल देवे, अथवा सूर्य मार्ग (दाहिनी नासा) से वायु पान करे और पुनः उसे चन्द्रमार्ग (बाई नासा) से निकाल देवे ॥ ९४-९६ ॥

शून्यञ्च प्रतिविम्बचन्द्रसदृशं सूक्ष्मातिसूक्ष्मं परं
सर्वं व्याप्य तमोमयं जगति सद्धामप्रकाशं परम् ।
दृश्यादृश्यविनाशभेदसकलं ज्योतिर्मयं सर्वतो
ध्यात्वा तच्च पदं तु साधकवरैः दूरीकृतश्चान्तकः ॥ ९७ ॥

वह शून्य, चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब के सदृश है; सूक्ष्म से सूक्ष्म है । समस्त तमोमय जगत् में व्याप्त होकर उत्तम प्रकाश देता है और समस्त दृश्यादृश्य विनाश का भेदन करता है तथा सर्वत्र वह ज्योतिर्मय है । उत्तम साधक इस प्रकार के उस शून्य का ध्यान कर काल को भी दूर भगा देते हैं ॥ ९७ ॥

एवमभ्यस्यमानस्य अहन्यहनि निश्चितम् ।
जरामरणदुःखाद्यैर्मुच्यते भवसागरात् ॥ ९८ ॥

साधक द्वारा प्रतिदिन इस प्रकार के किये गये अभ्यास से वह जरा मरण दुःखादि से पूर्ण इस संसार सागर से मुक्त हो जाता है ॥ ९८ ॥

योनिमुद्राबन्धफलकथनम्

चतुर्विधा तु या सृष्टिर्यस्यां योनौ प्रजायते ।
पुनः प्रलीयते यस्यां कालाग्न्यादिशिवान्तकम् ॥ ९९ ॥
योनिमुद्रा परा ह्येषा बन्धस्तस्याः प्रकीर्त्तितः ।
तस्यास्तु बन्धमात्रेण तन्नास्ति यन्न साधयेत् ॥ १०० ॥

जिस योनि में अण्डज, पिण्डज आदि चार प्रकार की सृष्टि उत्पन्न होती है और जिसमें कालाग्नि से लेकर शिव पर्यन्त लीन हो जाते हैं वह योनि है । उसका बन्ध योनिमुद्रा कही जाती है । उस योनि मुद्रा के करने मात्र से पृथ्वी में कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो उसे प्राप्त न हो ॥ ९९-१०० ॥

अन्यथा जप्यते यस्तु अन्यथा कुरुते तु यः ।
नासौ तत्फलपात्रश्च सत्यं सत्यं न संशयः ॥ १०१ ॥

जो तत्त्वज्ञ साधक अन्य प्रकार से जप करता है और अन्य विधान से कार्य करता है वह फल का पात्र नहीं बनता । यह सत्य है, यह सत्य है और इसमें संशय नहीं है ॥ १०१ ॥

छिन्ना बन्धाश्च ये मन्त्राःकीलिताः स्तम्भिताश्च ये।
दग्धाः सन्त्रासिता हीना मलिनाश्च तिरस्कृताः ॥ १०२ ॥
भेदिता भ्रमसंयुक्ताः सुप्ता सम्मूर्च्छिताश्च ये ।
वृद्धा बालास्तथा प्रौढास्तथा यौवनगर्व्विताः ॥ १०३ ॥
अरिपक्षे स्थिता ये च निर्वीर्याः सत्त्ववर्जिताः ।
अंशकेन विहीनाश्च खण्डशः शतधा कृताः ॥ १०४ ॥
विधिनानेन संयुक्ताः प्रभवन्त्यचिरेण तु ।
सिद्धिमोक्षप्रदाः सर्वे साधकेन नियोजिताः ॥ १०५ ॥

जो-जो मन्त्र छिन्न, बन्ध, कीलित, स्तम्भित, दग्ध, सन्त्रासित, हीन, मलिन, तिरस्कृत, भेदित, भ्रमसंयुक्त, प्रसुप्त, सम्मूर्च्छित, वृद्ध, बाल, प्रौढ़, यौवनगर्वित, शत्रु पक्ष में स्थित रहने वाले, निर्वीय सत्त्ववर्जित अंश से विहीन और सौ-सौ टुकड़ों में खण्ड किये गये हैं । इस प्रकार सदोष मन्त्र इस योनिबन्ध के द्वारा बहुत शीघ्र ही समर्थ हो जाते हैं तथा साधक के द्वारा नियोजित (अनुष्ठित) किये जाने पर ये सभी सिद्धि और मोक्ष देने वाले हो जाते हैं ॥ १०२-१०५ ॥

यद्यदुच्चरते मन्त्री वर्णरूपं शुभाशुभम् ।
तत्तत् सिध्यत्यसन्देहो योनिमुद्रानिबन्धनात् ॥ १०६ ॥

इस योनि मुद्रा का इतना बड़ा प्रभाव है कि मन्त्री शुभाशुभ जिस वर्ण का उच्चारण करता है निःसन्देह सिद्ध हो जाता है ॥ १०६ ॥

दीक्षयित्वा विधानेन अभिषिच्य सहस्रधा ।
ततोऽधिकारी भवति तन्त्रेऽस्मिन् साधकोत्तमः ॥ १०७ ॥

विधानपूर्वक दीक्षा लेकर एक सहस्र बार अभिषिक्त होने पर इस तन्त्र में उत्तम साधक अधिकारी होता है ॥ १०७ ॥

ब्रह्महत्यासहस्राणि त्रैलोक्यमपि घातयेत् ।
नासौ लिप्यति पापेन योनिमुद्रानिबन्धनात् ॥ १०८ ॥

योनिमुद्रा के निबन्धन से सहस्रों ब्रह्महत्या के पाप, किं बहुना, समस्त

त्रिलोकी की हत्या का पाप उसे स्पर्श नहीं कर सकता ॥ १०८ ॥

तस्मादभ्यसनं नित्यं कर्त्तव्यं पुण्यकाङ्क्षिभिः ।
अयासाज्जायते सिद्धिरभ्यासान्मोक्षमाप्नुयात् ॥ १०९ ॥

इसलिये पुण्य की इच्छा करने वाले साधकों को सर्वदा इस योनिबन्ध मुद्रा का अभ्यास करना चाहिये । क्योंकि अभ्यास से सिद्धि होती है और अभ्यास से मोक्ष प्राप्ति होती है ॥ १०९ ॥

सम्वित्तिं लभतेऽभ्यासात् योगोऽभ्यासात् प्रवर्तते ।
मन्त्राणां सिद्धिरभ्यासादभ्यासाद्वायुसाधनम् ॥ ११० ॥

अभ्यास से ज्ञान होता है । अभ्यास से योग होता है । अभ्यास से मन्त्रों की सिद्धि होती है और अभ्यास से वायु साधन होता है ॥ ११० ॥

कालवञ्चनमभ्यासात्तथा मृत्युञ्जयो भवेत् ।
एतद्भेदं विजानाति स याति परमं पदम् ॥ १११ ॥

साधक अभ्यास से काल की वञ्चना कर सकता है तथा अभ्यास से ही मृत्युञ्जय हो जाता है । जो इस भेद को जान लेता है वह परम पद प्राप्त कर लेता है ॥ १११ ॥

तदष्टधा तु जीवोऽसौ बहिर्याति दिने दिने ।
दिनेशाङ्गुलिमानेन तदर्धञ्चोपवासतः ॥ ११२ ॥
त्रिगुणं रतिकाले च द्विगुणं भोजनाद् बहिः ।
अत ऊर्ध्वं वहेद्वायुस्त्रिगुणं यदि दैवतम् ॥ ११३ ॥
न्यूनं धत्ते ततः प्राणः शरीरं परिमुञ्चति ।
शरीरसमतां नीत्वा न्यूनं वा साधकोत्तमः ॥ ११४ ॥
कुम्भयित्वा अधोवायुं कुण्डलीमुखवर्त्मनि ।
योजयित्वा ततो जीवं कुण्डल्या सहितं सुधीः ॥ ११५ ॥
गमागमं कारयित्वा सिद्धो भवति नापरः ।
पीयते खाद्यते यत्तु तत्सर्वं कुण्डलीमुखे ॥ ११६ ॥
हुत्वा सिद्धिमवाप्नोति न च बन्धेन बाध्यते ।

यह जीव आठ प्रकार से शरीर पिण्ड के बाहर जाता रहता है । सामान्य प्रकार से बारह अङ्गुल, उपवास से उसका आधा छह अङ्गुल, रतिकाल में उसका तिगुना छत्तीस अङ्गुल और भोजनोपरान्त बारह अङ्गुल बाहर जाता है । यदि इसके बाद त्रिगुण वायु उससे ऊपर जावे अथवा न्यून परिमाण में यातायात करे तो प्राण शरीर को छोड़ देता है । शरीर को सीधा कर अथवा न्यून कर उत्तम साधक

अधोवायु का कुम्भक बनाकर उसे कुण्डली मुख में संयुक्त कर देवे । फिर कुण्डली सहित जीव को साधक एक-में मिलाकर गतागत करे तो वह सिद्ध हो जाता है । इस प्रकार करने से साधक जो खाता है अथवा पीता है वह सब कुण्डली के मुख में हवन करने से सिद्ध हो जाता है और किसी बन्धन से बँधता नहीं ॥ ११२-११७ ॥

अवधूताचारकथनम्

भिक्षा कार्या न च स्वार्थं कुण्डल्याः प्रकृतेः पुनः ॥ ११७ ॥
रे मातर्देहि मे भिक्षां कुण्डलीं तर्पयाम्यहम् ।
अवधूताश्रमे स्थित्वा भैरवानन्दतत्परः ॥ ११८ ॥
भैरवोऽहं न चान्योऽस्मि न चान्यो मत्परः क्वचित् ।
तन्त्रमन्त्रार्चनं सर्वं मयि जातं न चान्यथा ॥ ११९ ॥

सिद्ध साधक को स्वार्थ के लिये भिक्षा न कर केवल कुण्डली के लिये ही भिक्षाटन करना चाहिये । वह किसी अवधूत आश्रम में निवास कर भैरवानन्द में तत्पर हो 'रे मातर्.....कुण्डली तर्पयाम्यहम्' पर्यन्त श्लोक वाक्य पढ़कर भिक्षाटन करे। मैं भैरव हूँ; इस जगत् में मुझसे अन्य कोई नहीं है । सारा मन्त्र तन्त्र का अर्चन मुझमें ही पर्यवसित होता है; यह अन्यथा नहीं है ॥ ११७-११९ ॥

शिवोऽहं भैरवानन्दो मत्तोऽहं कुलनायकः ।
रक्तमाल्याम्बरधरो हेतुयुक्तः सदा भवेत् ॥ १२० ॥

मैं शिव हूँ, भैरवानन्द हूँ, मैं मस्त हूँ और कुल सम्प्रदाय विशेष का आचार्य हूँ—इस प्रकार साधक भावना करे । इस प्रकार वह भैरव होकर लाल वर्ण की माला पहनकर हेतु (कुण्डलीनिस्सृत मद्यपान) युक्त सदा रहे ॥ १२० ॥

एवं भिक्षां व्रजन् भिक्षुर्भैरवानन्दतत्परः ।
येन केनापि वेशेन येन केनाऽप्यलक्षितः ॥ १२१ ॥

भिक्षा के लिये प्रव्रजन् करने वाला भिक्षु भैरवानन्द में तत्पर रहे । जिस किसी वेश को धारण कर जैसे कैसे भी हो सके तो अलक्षित रहे ॥ १२१ ॥

यत्र कुत्राश्रमे तिष्ठन् कुलयोगीश्वरः सदा ।
उन्मत्तमूकजडवत् विरले लोकमध्यगे ॥ १२२ ॥

ऐसा कुल योगी सर्वदा कौलों के आश्रम में ही निवास करे । इस लोक में उन्मत्त एवं मूक जड़वत् आचरण करे । अथवा किसी एकान्त स्थान में जाकर निवास करे ॥ १२२ ॥

क्वचिच्छिष्टः क्वचिद्भ्रष्टः क्वचिद् भूतपिशाचवत्।
नानावेशधरो योगी विचरेत्तु महीतले ॥ १२३ ॥

कहीं शिष्ट का आचरण करे। कहीं भ्रष्ट का आचरण करे और कहीं भूतप्रेत पिशाचवत् आचरण करे। इस प्रकार अनेक प्रकार का वेश धारण कर साधक पृथ्वी तल में विचरण करे ॥ १२३ ॥

सर्वस्पर्शो यथा वायुर्यथाकाशश्च सर्वगः।
सर्वभक्षो यथा वह्निस्तथा योगी सदा शुचिः ॥ १२४ ॥

जिस प्रकार वायु बिना विचारे जैसे तैसे ऊँच-नीच का स्पर्श करती है और आकाश जिस प्रकार सर्वगामी है तथा जिस प्रकार अग्नि सर्वभक्षी होकर भी सदा पवित्र रहता है उसी प्रकार सब का स्पर्श कर, सर्वगामी होकर एवं सर्वभक्षी होकर भी अवधूत योगी पवित्र रहता है ॥ १२४ ॥

तथा म्लेच्छगृहान्नादि योगीहस्तगतं शुचि।
क्षीयते न च पापेन बध्यते न च जन्मना ॥ १२५ ॥

जिस प्रकार म्लेच्छादि का अन्न योगी के हाथ में जाने पर शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार कुलमार्गानुसारी व्यक्ति पापादि के स्पर्श से अशुद्ध पापान्न का भक्षण कर भी (शुद्ध भाव के कारण) पाप से स्पृष्ट नहीं होता और जन्म-मरण के चक्कर से नहीं बँधता ॥ १२५ ॥

यद्वन्मन्त्रबलोपेतः क्रीडन् सर्पैर्न दंश्यते।
तथा ज्ञानपरो योगी क्रीडन्निन्द्रियपन्नगैः ॥ १२६ ॥

जिस प्रकार मदारी मन्त्र के बल से साँप से खेलता हुआ भी उसके द्वारा डँसा नहीं जाता, उसी प्रकार ज्ञानयोगी अपने इन्द्रियरूप साँपों से खेलता हुआ भी उसके बन्धन में नहीं पड़ता ॥ १२६ ॥

पूजयन्ति महादेवीं कुलाङ्गकृष्टिमात्रतः।
गन्धं पुष्पञ्च ताम्बूलं नैवेद्यं यत्र यद्भवेत् ॥ १२७ ॥

मनसा तत् समुत्सृज्य बाह्यतः कुलवारिणा।
आत्मन्येव समायोज्य देवीरूपकुलेश्वरः ॥ १२८ ॥

साधक कुल के द्वारा शरीर से आकृष्ट होकर उन महादेवी का गन्ध, पुष्प, ताम्बूल एवं नैवेद्यादि जितने पदार्थ प्राप्त हों, कुल वारि से उसे प्रोक्षित कर महादेवी की पूजा बाह्य रूप से करे। उसी प्रकार उन सभी पूजा द्रव्यों को अपनी आत्मा में एकत्रित कर मानस पूजा भी करे। वह कुलेश्वर अपने में देवी का

स्वरूप धारण कर देवी की पूजा करे ॥ १२७-१२८ ॥

न पूजा नापि तन्नाम न निष्ठा न व्रतादिकम् ।
पूर्णोऽहं भैरवश्चाहं नित्यानन्दोऽहमव्ययः ॥ १२९ ॥

अथवा साधक जब अपने में 'मैं भैरव हूँ' नित्यानन्द हूँ, मैं अव्यय हूँ, जब इस प्रकार की भावना करे तब पूजा नाम निष्ठा तथा किसी प्रकार के व्रत की उसे आवश्यकता नहीं है ॥ १२९ ॥

निरञ्जनस्वरूपोऽहं निर्विकारो ह्यहं प्रभुः ।
सर्वशास्त्राभियुक्तोऽहं सर्वमन्त्रार्थपास्याः ॥ १३० ॥
अस्मत्परतरो देशो न जातो न जनिष्यति ।
आनन्दरूपवान् भूत्वा सर्वेषां प्रियकारक ॥ १३१ ॥

वह सिद्ध साधक सर्वदा अपने में इस प्रकार ध्यान करे कि मैं निरञ्जन स्वरूप हूँ, निर्विकल्प हूँ, स्वयं प्रभु हूँ । मैं स्वयं सभी शास्त्रों का ज्ञाता हूँ; सभी मन्त्रार्थ का कारण हूँ । सब कुछ मैं स्वयं ही हूँ । हमारे अतिरिक्त कोई देश न है; न होगा और न पहले भी था । मैं स्वयं ही सब कुछ हूँ; मैं आनन्द रूपवान् होकर सभी का प्रिय कारक हूँ ॥ १३०-१३१ ॥

न योगी न भोगी न वात्मा न काङ्क्षी
न वीरो न धीरो न वा साधकेन्द्रः ।
सदानन्दपूर्णो धरण्यां विवेकी
चिराज्जातधूतो द्वितीयो महेशः ॥ १३२ ॥

मैं योगी नही हूँ; भोगी और आत्मा भी नहीं हूँ । मैं कुछ नहीं चाहता; मैं वीर, धीर अथवा साधकेन्द्र नहीं हूँ । मैं इस पृथ्वी मण्डल में सर्वदा आनन्दपूर्ण हूँ और विवेकी हूँ । बहुत दिन का चिरायु एवं अवधूत योगी हूँ । किं बहुना; मैं स्वयं दूसरा महेश्वर ही हूँ ॥ १३२ ॥

श्रुतौ कुण्डलेऽसृग् गले मुण्डमाला
करे पानपात्रं मुखे हन्त हाला ।
परित्यक्तकर्मा लयन्यस्तधर्मा
विरक्तोऽवधूतो द्वितीयो महेशः ॥ १३३ ॥

कानों में रक्त का कुण्डल, गले में मुण्डमाला, हाथ में मद्य पीने का पात्र, मुख में हलाहल (विष) और समस्त (सङ्कल्प विकल्प रूप) कर्म का त्याग करने वाला हूँ । सब में अपने आपको लीन करना ही मेरा धर्म है । विरक्त हूँ; अवधूत हूँ और बहुत क्या; द्वितीय महेश हूँ ॥ १३३ ॥

वामे रामा रमणकुशला दक्षिणे पानपात्रं
मध्ये न्यस्तं मरिचसहितं शूकरस्योष्णमांसम् ।
स्कन्धे वीणा ललितसुभगा सद्गुरूणां प्रपञ्चः
कौलो धर्म्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ॥ १३४ ॥

॥ इति श्रीमज्ज्ञानानन्दपरमहंसविरचिते कौलावलीनिर्णये
एकविंशोल्लासः समाप्तः ॥ २१ ॥

कौलिकों की बाएँ ओर कामकला में कुशल रामा (रमणी), दाहिनी ओर पान-पात्र, मध्य में मरिच सहित गर्मागर्म शूकर का मांस तथा स्कन्ध पर अत्यन्त मनोहर स्वर करने वाली वीणा स्थित रहती है । इस प्रकार कौल गुरुओं का प्रपञ्च कोई कैसे जान सकता है । वह तो योगीजनों के लिये भी अत्यन्त असाध्य और अगम्य है ॥ १३४ ॥

विमर्श—इस श्लोक का रहस्यार्थ भूमिका में देखें ।

महाकवि पं० रामकुबेर मालवीय के द्वितीय आत्मज डॉ० सुधाकर मालवीय के ज्येष्ठ पुत्र पण्डित रामरञ्जन मालवीय कृत श्रीमज्ज्ञानानन्द परमहंस विरचित कौलावलीनिर्णय नामक तन्त्र के एकविंश उल्लास की निरञ्जन हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ २१ ॥

॥ समाप्तोऽयं कौलावलीनिर्णयः ॥

योगिराजमत्स्येन्द्रनाथ-प्रणीतः

कौलज्ञान निर्णयः

हिन्दी व्याख्याकारः
डॉ. श्यामाकान्त द्विवेदी 'आनन्द'

(प्रथम खण्डः)

चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी

बिट्ठलदास संस्कृत सीरीज
१७
***

योगिराजमत्स्येन्द्रनाथ-प्रणीतः

कौलज्ञान निर्णयः

(मत्स्येन्द्रनाथगोरक्षनाथ–परिचय–दृष्टिसमन्वितः
'सरोजिनी' व्याख्या संवलितश्च)

हिन्दी व्याख्याकारः
डा० श्यामाकान्त द्विवेदी 'आनन्द'
एम. ए., एम. एड., व्याकरणाचार्य
पी-एच्. डी., डी. लिट्.
(उत्तरप्रदेश संस्कृत अकादमी के 'शङ्कर' एवं 'विविध'
पुरस्कारों से सम्मानित एवं पुरस्कृत)

(प्रथम खण्डः)

चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी

प्रकाशक : चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी
मुद्रक : चौखम्बा प्रेस, वाराणसी
संस्करण : प्रथम, वि०सं० २०६६, सन् २००९

ISBN : 978-81-218-0271-7

अपरं च प्राप्तिस्थानम्

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस
के० ३७/९९, गोपाल मन्दिर लेन
गोलघर (मैदागिन) के पास
पो० बा० नं० १००८, वाराणसी—२२१००१ (भारत)
फोन : (आफिस) (०५४२) २३३३४५८
(आवास) (०५४२) २३३५०२०, २३३४०३२
Fax : 0542 - 2333458
e-mail : cssoffice@satyam.net.in

BITTHALDAS SANSKRIT STUDIES
17
****

KAULAJÑANA-NIRṆAYA

OF

Matsyendranath

Edited with an Exhaustive Introduction and with Commentary 'Sarojini'

Edited and Translated by

Dr. Shyamakant Dwivedi

M.A., M.Ed., Ph.D., D.Litt.
Vyakarnacharya
(Awarded by 'Sanskrit Sansthanam' Of U. P. Govt.
With 'Shankar' And 'Vividha' Samman)

CHOWKHAMBA KRISHNADAS ACADEMY
VARANASI

Publisher : Chowkhamba Krishnadas Academy, Varanasi
Printer : Chowkhamba Press, Varanasi

ISBN : 978-81-218-0271-7

Oriental Publishers & Distributors
K. 37/118, Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1118, Varanasi- 221001
(INDIA)
Phone : (0542) 2335020

Also can be had from :
CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE
Publishers and Oriental and Foreign Book-sellers
K . 37/99, Gopal Mandir Lane
At the North Gate of Gopal Mandir
Near Golghar (Maidagin)
Post Box No. 1008, Varanasi- 221001 (India)
Phone { Office : (0542) 2333458
Resi. : (0542) 2334032, 2335020
Fax : 0542-2333458
e-mail : cssoffice@satyam.net.in

दो शब्द

नाथ-सम्प्रदाय एक ऐसा गंगा-यमुनी संगम है जहाँ आकर दो नदियाँ परस्पर मिलकर एक नए तीर्थ का निर्माण करती हैं। इनमें एक नदी तो योग की है और दूसरी तंत्र की है। इसमें जो तंत्र की नदी है उसी का जलामृत लेकर मत्स्येन्द्रनाथ ने 'कौलज्ञान निर्णय' का निर्माण किया है।

मत्स्येन्द्रनाथी नाथ-पंथ की मन्दाकिनी[1] के जो दो तट हैं उनमें एक है योग साधना का तो दूसरा है तंत्र-साधना का। योग-साधना का सम्बन्ध 'शिव' से है तो तंत्र-साधना का 'शक्ति' से। यद्यपि शैव एवं शाक्त दो भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय हैं और उनके उपास्य (इष्ट) देवता भी भिन्न हैं और क्रमशः वे 'शिव' एवं 'शक्ति' हैं तथापि नाथ-पन्थ में दोनों की उपासना उसी प्रकार एक साथ प्रचलित है जैसे काश्मीर के शैवों में। काश्मीरी शैव तांत्रिकों में **'प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदाय'** के अनुयायी शिवोपासना करते हैं तो **'स्पन्द सम्प्रदाय'** के अनुयायी शक्ति की उपासना। तथापि वे तत्त्वतः शिव और शक्ति को अभिन्न मानते हैं।

नाथ-सम्प्रदाय में जो तांत्रिक साधना का संचार है उसका सम्बंध मात्र शाक्त तांत्रिकों की 'कौलधारा' से है। शाक्त तंत्र की साधना (१) कौलमार्ग, (२) समय मार्ग[2] एवं (३) मिश्रमार्ग तीनों मार्गों द्वारा की जाती है, किन्तु मत्स्येन्द्रनाथ ने शाक्त साधना की कौल धारा को अङ्गीकृत किया था। अपने द्वारा आत्मीकृत तंत्र की इसी कौलधारा की नींव पर ही उन्होंने 'कौलज्ञाननिर्णय' का भवन निर्मित किया है।

'कौलज्ञाननिर्णय' (इस समय) प्रकाशनाभाव के कारण कहीं से भी प्राप्त नहीं हो पा रही है। अतः इसकी आवश्यकता को दृष्टिगत रखते हुए चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी के माननीय प्रकाशक ने इसे प्रकाशित करने की जो सहमति व्यक्त की उसके लिए मैं उनके प्रति आभार व्यक्त करता हूँ।

१५-७-२००८ **श्यामाकान्त द्विवेदी 'आनन्द'**
जमुआ. पो. वैढ़न, सीधी मध्यप्रदेश
मो. ०९८२६३०७०१७

---

१. शाक्त दर्शनम् (१८।४।२४), २. शाक्तदर्शनम् ।

प्रस्तावना

योगीश्वर मत्स्येन्द्रनाथ तांत्रिक योगी थे। योगियों के मुख्यत: तीन वर्ग हैं— १. पातञ्जल योग के अनुयायियों का वर्ग, २. तांत्रिक योग के अनुयायियों का वर्ग और ३. जैन-बौद्ध आदि मतों के योगानुयायियों का वर्ग।

नाथ-सम्प्रदाय का योग पातञ्जल योग का अनुवर्ती योग नहीं है। यह तांत्रिकों के योग का अनुवर्ती है। इस पर जैन-बौद्ध योग का प्रभाव नगण्य है। तांत्रिक शाक्तमत, तांत्रिक शैवमत और काश्मीरी शैव मत (त्रिकमत) इन तीनों मतों का नाथमत पर प्रभाव है।

शाक्तमत के सम्प्रदाय

१ 'समयमत' — २ 'कौलमत' — ३ 'मिश्रमत'

'यद्वा समयमतं कौलमतं मिश्रमतं चेति विद्योपास्तौ मतत्रयम्। शुकवसिष्ठादि संहितापंचकोक्तं वैदिकमार्ग करम्बितमाद्यम् । चन्द्रकुलादितन्त्राष्टकोक्तं तु चरमम् । कुलसमयोभयानुसारित्वात् । एतद्भिन्न तन्त्रोदितं **'कौलमार्गम्'**। कौलैर्मृग्यत् इत्यर्थे कर्मणि घञ्। 'स्व स्व वंशपरम्परा-प्राप्तो मार्ग: कुलसंबंधित्वात् कौल:।।'[१]

त्रिपुरा सम्प्रदाय की श्रीविद्या (शाक्तमत) के द्वादश सम्प्रदाय

१ मनु — २ चन्द्र — ३ कुबेर — ४ लोपामुद्रा — ५ मन्मथ

६ अगस्त्य — ७ अग्नि — ८ सूर्य — ९ इन्द्र — १० स्कन्द

११ शिव — १२ क्रोधभट्टारक दुर्वासा

श्री विद्या के १२ सम्प्रदाय

'मनुश्चन्द्र: कुबेरश्च लोपामुद्रा च मन्मथ:।
अगस्तिरग्नि: सूर्यश्च इन्द्र: स्कन्द: शिवस्तथा।
क्रोधभट्टारको देव्या द्वादशामी उपासका।।

यद्यपि नाथों ने शाक्तमत की 'श्रीविद्या' एवं 'दशमहाविद्या' या 'त्रिपुरासम्प्रदाय' की स्पष्टत: अनुवर्तिता तो नहीं की किन्तु शाक्तमत के 'कौलमार्ग' एवं 'समय-मार्ग'

१. भास्करराय: 'सौभाग्य भास्कर' भाष्य।

का अनुवर्तन अवश्य किया और इसी कारण मत्स्येन्द्रनाथ के दर्शन पर कौलमत एवं त्रिपुरोपासना का प्रभाव दृष्टिगत होता है।

'कुल' क्या है? भास्करराय कहते हैं—

(१) 'कुः पृथ्वीतत्त्वं लीयते यत्र तत्कुलमाधारचक्रं।

(२) 'तत्सम्बंधाल्लक्षणया सुषुम्णा मार्गोऽपि।

(३) 'अतः सहस्रारात्स्रवदमृतं कुलामृतम् ॥

'कुल'—(१) आधार चक्र (२) सुषुम्णा मार्ग।

'कुलं' सजातीय समूहः। स चैकज्ञातविषयत्वरूप साजात्यापन्न 'ज्ञातृ' 'ज्ञेय' 'ज्ञान' रूप त्रयात्मकः।[१]

मूलाधारादिक चक्रषट्क भी 'कुल' हैं—

'मूलाधारादिकं चक्रषट्कं कुलमिति स्मृतम् ॥'

'कौल' कौन है? जो 'कुल' (कुण्डलिनी = "कु = पृथ्वीतत्वात्मक मूलाधार चक्र में। "ल" = लीन। (अर्थात् परा शक्ति कुण्डलिनी) को मूलाधार चक्र से ऊपर उठाकर सहस्रारचक्रस्थ 'अकुल' (परात्पर शिव। परमशिव) से मिला दे—('कुल' एवं 'अकुल' में सामरस्य स्थापित कर दे) उसे ही 'कौल' कहते हैं।

'भावचूड़ामणि' में समत्वयोगी को 'कौल' की आख्या दी गई है। यह वह योगी है जिसे कर्दम और चन्दन, पुत्र-शत्रु, श्मशान-भवन एवं काञ्चनतृण में कोई भिन्नता (भेद) दृष्टिगत न होती हो—

'कर्दमे चन्दनेऽभिन्नं पुत्रे शत्रौ तथा प्रिये।
श्मशाने भवने देवि! तथैव काञ्चने तृणे।
न भेदो यस्य देवेशि! स कौलः परिकीर्तितः॥"

'श्यामारहस्य' में इनका लक्षण इस प्रकार बताया गया है—

'अन्तः शाक्ता बहिः शैवाः सभायां वैष्णवा मताः।
नानारूपधराः कौलाः विचरन्ति महीतले॥'

'भावरहस्य' में कहा गया है कि 'कुल' का अर्थ है कुण्डलिनी एवं 'अकुल' का अर्थ है शिव। वह कुलीन साधक जो दोनों को परमतत्त्व के रूप में स्वीकार करता है वह अत्याश्रमी साधक ही कौल है—

'कुलं कुण्डलिनी ज्ञेया महाशक्तिस्वरूपिणी।
अकुलन्तु शिवः प्रोक्तः शुद्धसत्वमयो विभुः।

---

१. सौभाग्य भास्करः 'साजात्यतत्समुदाय प्रतिपादकं शास्त्रमपि कुलम् (तथा च कल्पसूत्रे प्रयोगः) : सौ० भास्कर।

तयोस्तु परमं तत्त्वं यो वै जानाति साधकः।
कुलीनः परमः सोऽपि वर्णभेद-विवर्जितः।।

अन्यत्र यह भी कहा गया है—

'क्वचित् शिष्टः क्वचित् भ्रष्टः क्वचिद् भूतपिशाचवत्।
नानावेषधराः कौलाः विचरन्ति महीतले।।'

'कौलाचार' क्या है? तांत्रिकों ने सात आचारों का उल्लेख किया है, उनमें से एक आचार 'कौलाचार' भी है जो कि व्यावहारिक अद्वैतवाद है—ज्ञानियों का सैद्धान्तिक अद्वैतवाद नहीं। सप्ताचारों में से ही एक आचार 'कौलाचार' है।

'सप्ताचार' कौन से हैं?

'कौलावली तन्त्र' में कहा गया है—

'सर्वेभ्यश्चोत्तमा वेदा, वेदेभ्यो वैष्णवं मतम्।
वैष्णवादुत्तमं शैवं, शैवाद्दाक्षिण्यमुत्तमम्।
सिद्धान्तादुत्तमं कौलं, कौलात्परतरं नहि।।'

(१) श्रेष्टतम आचार है—'वेदाचार'।
(२) वेदाचार से श्रेष्ठतर आचार है—'वैष्णवाचार'।
(३) वैष्णवाचार से श्रेष्ठतर आचार है—'शैवाचार'।
(४) शैवाचार से श्रेष्ठतर आचार है—'दक्षिणाचार'।
(५) दक्षिणाचार से श्रेष्ठतर आचार है—'सिद्धान्ताचार'।
(६) सिद्धान्ताचार से श्रेष्ठतर आचार है—'कौलाचार'।

''विश्वसार तंत्र'' में प्राथमिक चार आचारों को 'पश्वाचार' कहा गया है—'वैदिकं वैष्णवं शैवं दक्षिणं पाशवं स्मृतम् ।'

आचारों का वर्गीकरण

(१)	(२)	(३)
उत्तम पशु साधकों के आचार	वीरभाव साधकों के आचार	दिव्यभाव साधकों के आचार
(१) वैदिकाचार (२) वैष्णवाचार (३) शैवाचार (४) दक्षिणाचार	(१) वामाचार (२) सिद्धान्ताचार	कुलाचार पूर्वकौल उत्तरकौल

'वैदिकं वैष्णवं शैवं दक्षिणं पाशवं स्मृतम्।
सिद्धान्तवामे वीरे तु दिव्यं सत्कौलमुच्यते।।''

कौलाचार का महत्व—जब ज्ञान की मथानी से वेद एवं आगम के समुद्र को मथा गया, तब उससे जो सार अंश उद्धृत हुआ उसे ही 'कौलाचार' कहते हैं—

'मथित्वा ज्ञानदण्डेन वेदागम-महोदधिम्।
सारमेतन्महादेवि ! 'कौलाचारं' प्रकल्पितम्॥'

मत्स्येन्द्रनाथ और गोरक्षनाथ के दर्शन में जिस द्वैताद्वैतविर्जित मत (द्वैताद्वैतविलक्षणवाद) को अंगीकृत किया गया है, वह नाथों की मौलिक देन या नव्य स्थापना नहीं थी प्रत्युत् वह उनके पूर्ववर्ती कौल तांत्रिकों की दृष्टि है। 'कुलार्णवतंत्र' में भी कहा गया है—

'अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
मम तत्त्वं विजान्तो द्वैताद्वैतविवर्जितम्॥'

—कुलार्णव तन्त्र

'गोरक्षसिद्धान्त संग्रह' में भी यही बात कही गई है—

'यद् द्वैताद्वैतविवर्जितं पदं निश्चलं दृश्यते तदेव सत्यमित्यभ्युपगमिष्यामः॥'

'गोरक्षोपनिषद्' में कहा गया है कि वेदान्तियों का परमसत्य भले ही अद्वैत हो, किन्तु नाथ सम्प्रदाय का परम तत्त्व तो उससे भी ऊपर है क्योंकि—

'अद्वैतोपरि सदानन्ददेवता।'

इसीलिए 'अवधूतगीता' में कहा गया है कि—

'अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
सम तत्त्वं न विन्दन्ति द्वैताद्वैतविलक्षणम् ॥'

ऐसा क्यों? नाथ योगी कहता है—

यदि सर्वगतो देवः स्थिरः पूर्णो निरन्तरः।
अहो माया महामोहो द्वैताद्वैतविकल्पना॥[१]

यही कारण है कि नित्यनाथ-प्रणीत 'सिद्धसिद्धान्त पद्धति' में अद्वैत परमशिव को नहीं 'शक्तियुक्त जगद्गुरु परमशिव' (द्वयात्मक अद्वय) को परमतत्त्व के रूप में स्वीकार करते हुए कहा गया है कि—

'आदिनाथं महासिद्धं शक्तियुक्तं जगद्गुरुम्।
तं वन्दे नित्यतो वक्ष्ये सिद्धान्तं स्वानुभावतः॥'

जो अद्वैत के ऊपर वर्तमान है तथा साकार और निराकार से परे है, उन नाथ से—

(१) निराकार ज्योतिस्वरूप नाथ उत्पन्न हुए।

(२) उनसे साकारनाथ उत्पन्न हुए।

---

१. अवधूत गीता (१/३६, ६१)

(३) उनकी इच्छा से सदाशिव भैरव उत्पन्न हुए।

(४) उन्हीं से भैरवी शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ।

(५) नाथ से दो प्रकार की सृष्टि उत्पन्न हुई।

(क) नादरूपा सृष्टि (शिष्य क्रम), (ख) बिन्दुरूपा सृष्टि (पुत्र-क्रम)

नाथों का आदर्श अद्वैत से भी अतीत है—

'परमावस्थायां भेदाभेदपरे द्वैताद्वैतपरे न कोऽप्ययं लोको न कोऽपि परो लोकोऽयं तु लोकोऽयं तु तेषां परमसिद्धान्त इति।।'[१]

यह आदर्श काश्मीरी तांत्रिक शैवों का है जो कि 'द्वयात्मक अद्वयवाद' है और जिसे कौलमार्ग में (यथा 'कुलार्णव तंत्र' में) स्वीकार किया है—

कौलमत में 'योगभोगसाहचर्यवाद' भी स्वकृत है—

'योगी चेन्नैव भोगी स्याद् , भोगी चेन्नैव योगवित्।
योगभोगात्मकं कौलं तस्मात् सर्वाधिकः प्रिये।।'

इसी कौलसाधना में निरत होकर मत्स्येन्द्रनाथ कदली वन में नारियों के मध्य साधना कर रहे थे।

मत्स्येन्द्रनाथ भी जीवन्मुक्ति को आदर्श मानते थे और कौलतांत्रिक भी—

'जीवन्मुक्ति सुखोपायं कुलशास्त्रेषु गोपितम् ।।' —(कुलार्णव तन्त्र)

कौलाचार के दो प्रकार हैं—१. आर्द्र , २. शुष्क।

(१) आर्द्र कौलाचार—पञ्चमकार-समन्वित कौलाचार।

(२) शुष्क कौलाचार—पञ्चमकार-रहित कौलाचार।

'आर्द्र-शुष्कविभागेन द्विधाऽऽचारं पुनः सृणु।
आर्द्राचारस्तु विज्ञेयो मकारैः पञ्चभिर्यतः।।'

'सर्वशक्तिवाद' की दृष्टि कौलाचारियों एवं नाथों दोनों की है—

(१) नाथ योगी 'सृष्टिस्तु कुण्डली ख्याता' कहकर समस्त सृष्टि को कुण्डलिनी शक्ति का स्वरूप ही बता रहे हैं। वहीं कौलमार्गी तांत्रिकों का भी यही कहना है कि—

'शक्तिमूलं जगत् सर्वं, शक्तिमूलं परन्तपः।
शक्तिमाश्रित्य निवसेद, यत्र कुत्राश्रमे वसन् ।।'[२]

---

१. गोरक्षसिद्धान्त संग्रह।

२. कुलचूड़ामणि।

योग एवं भोग में भिन्नता तो पशुओं की दृष्टि में होती है, नाथों एवं कौलों की दृष्टि में नहीं। इसी कारण 'वज्रोली' 'सहजोली' 'अमरोली' 'लता साधना' आदि सारी क्रियायें कौलतंत्र में भी स्वीकृत हैं और मत्स्येन्द्र की कौल-साधना में भी। कौलतंत्र में भोग ही मोक्ष एवं पाप ही पुण्य बन जाता है—
'भोगो योगायते साक्षात् पातकं सुकृतायते॥'

इतना ही नहीं नरक का द्वार यह संसार भी मोक्ष बन जाता है—
'मोक्षायते च संसारः कुलधर्मे कुलेश्वरि।'[१]

मत्स्येन्द्रनाथ तांत्रिक योगी थे। तंत्र ग्रंथों में चार खण्ड पाये जाते हैं—(१) ज्ञानखण्ड, (२) योगखण्ड, (३) क्रियाखण्ड, (४) चर्याखण्ड। नाथों की तांत्रिक साधना में 'क्रियाखण्ड' का अभाव है, किन्तु 'ज्ञानखण्ड', 'योगखण्ड' एवं 'चर्याखण्ड' अवश्य पाया जाता है।

आचार्य लक्ष्मीधर ने 'लक्ष्मीधरा' में कौल मार्ग के जिस सर्वाङ्गीण एवं व्यापक स्वरूप का निदर्शन किया है, उस प्रकार का व्यापक एवं सर्वाङ्गीण विवेचन 'कौलज्ञान-निर्णय' में नहीं पाया जाता तथापि कौल-साधना पर प्रकाश तो डाला ही गया है।

'कौलज्ञाननिर्णय' में चौबीस (२४) पटल हैं।

सृष्टि प्रलय की प्रक्रिया—इस ग्रंथ का आरंभ (प्रथम पटल) तत्त्वों की सृष्टि के वर्णन के साथ हुआ है और इसमें कहा गया है कि अंगुष्ठ के नखाग्र से तत्त्वसन्तति का उदय हुआ है और ज्ञान के अष्टादश भेद हैं। यही सृष्टि-क्रम है—

'मूलाङ्गुष्ठनखाग्रञ्च एते तत्त्वसन्ततिः।
अष्टादशविधं देवि! ज्ञानञ्च कुलगोचरे।
कथितं सृष्टिसंयोगं यथा तथा न भैरवि॥'

उक्त कथन के पूर्व भैरव ने पंचाग्नि एवं सृष्टि-क्रम को समझाया था और बाद में प्रलय-क्रम को। नखाग्र में 'कालाग्निरुद्र' स्थित हैं। जब यह ऊपर की ओर उठता है तब प्रलय का आरंभ होता है। तत्त्व शरीर के मध्य में स्थित है। प्रलय-क्रम में सारे पदार्थ एवं सारी सत्तायें शक्ति में लयीभूत हो जाती हैं—'संलीनं लयञ्च शक्तिगोचरे।'' **'शक्ति'** शिव में लीन हो जाती है। **'शिव'** क्रिया में लयीभूत हो जाते हैं। 'क्रिया' ज्ञान में संलीन हो जाती है। **'ज्ञान'** 'इच्छा' में लयीभूत हो जाता है। **'इच्छा'** परमा शक्ति (पर शिव के तेज) में लीन हो जाती है—

---

१. कुल

'शिवमध्ये गता शक्तिः क्रियामध्यस्थितः शिवः।
ज्ञानमध्ये क्रिया लीना क्रिया लीयति इच्छया।
इच्छाशक्तिर्लयं याति यत्र तेजः परः शिवः॥

इसके बाद भगवान् भैरव यह बताते हैं कि भुक्ति से मुक्ति श्रेष्ठतर है—

'अधस्था संस्थिता भुक्तिः ऊर्ध्वं मुक्तिर्वरानने॥'

भैरव यह भी कहते हैं कि मैंने सृष्टिसंहारन्याय के द्वारा 'कुलाधार' का वर्णन किया है।

शरीर में चतुष्पत्र, अष्टार, द्वादशार, पञ्चार, षोडशार, चतुःषष्टिदल, शतपत्र, सहस्रदल, कोटिपत्र, अर्द्धकोटिसमायुक्त, कोटित्रयसमन्वित, कर्णिकाकेशरयुक्त पद्म स्थित हैं।

'इच्छासृष्टिवाद' का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि जो व्यापक, नित्योदित, अखण्डित, स्वतंत्र एवं अचल एवं सर्वव्यापी निरञ्जन है, उसकी इच्छा से ही सृष्टि-लय दोनों होते हैं—

'तस्येच्छया भवेत् सृष्टिर्लयन्तत्रैव गच्छति॥'

समस्त सृष्टि का लय 'लिङ्ग' में हो जाता है—

'तेन लिङ्गन्तु विख्यातं यत्र लीनं चराचरम् ॥'[१]

बिन्दुसृष्टिवाद—ब्रह्मा, देवतागण, असुर, तपोधन, यक्ष, गन्धर्व, सिद्ध, तृण, गुल्म से चींटी पर्यन्त जीव एवं ग्रह, नक्षत्र, तारा आदि सभी स्थावर जंगम (सभी) 'बिन्दु' से उत्पन्न होते हैं—

'निष्क्रान्ता बिन्दुमध्ये तु लौलीभूतन्तु तत्समम् ॥'

लिङ्ग की श्रेष्ठता—लिंग से ही समस्त विश्व की सृष्टि होती है और उसी में सभी का लय हो जाता है। अतः इस लिंग-ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है—

'सृष्टिसंहारकर्तारं तल्लिंगं सिद्धपूजितम्।
'एतल्लिंगवरं ज्ञात्वा दृष्ट्वा मोक्षस्य भाजनः॥'[२]

लिङ्ग-पूजा का विधान—लिंग की पूजा मानस पुष्पों, सुगन्ध, धूप-दीप आदिसे करनी चाहिए। इसमें पूजा के पुष्प इस प्रकार हैं—

प्रथम पुष्प—अहिंसा, द्वितीय—इन्द्रिय-निग्रह, तृतीय—दया, चतुर्थ—भाव, पंचम—क्षमा, षष्ठ—क्रोधराहित्य, सप्तम—ध्यान, अष्टम—ज्ञान पुष्प। इस प्रकार—

१. कौलज्ञाननिर्णय (३।१०),
२. कौलज्ञाननिर्णय (३।२१-२२)

'एतत् पुष्पविधिं ज्ञात्वा अर्चयेल्लिंगमानसम् ।'[१]

इस देहलिङ्ग के अर्चन से भुक्तिमुक्ति दोनों प्राप्त होती है।[२]

इसे ही 'कौलिक देह लिङ्ग' कहा जाता है जिसके पूजन से भुक्ति-मुक्ति, सिद्धि एवं आत्मसंवित्ति की प्राप्ति होती है।[३]

चतुर्थ पटल में भगवती ने निग्रहानुग्रह, क्रामणहरण, प्रतिमा-जल्पन, घट-पाषाणस्फोटन आदि की विधि पूछी है। भैरव ने बताया है कि सबसे पहले साधक को 'कुलपिण्ड' का निर्माण करना चाहिए। इसे नाड़ियों से निर्मित करना चाहिए। यह पिण्ड 'विद्यामंत्र' से निर्मित होता है। यह दिव्य है और भुक्ति-मुक्ति दोनों का प्रदाता है। साधक को प्रत्येक नाड़ी के नीचे-ऊपर एक दीपशिखा जलाकर 'वं' को देखते हुए उसका उच्चारण करना चाहिए। इस 'वं' को पिघले हुए सोने के रंग का बना हुआ ध्यान में लाना चाहिए। इससे साधक किसी भी पशु या अन्य देह में प्रविष्ट हो सकता है।

आगे भैरव, भूत एवं भविष्य के दर्शन की प्रक्रिया पर प्रकाश डालते हैं। इसी समय भैरव मारण, मोहन, उच्चाटन, स्तंभन, शान्तिक, पौष्टिक, आकर्षण एवं वशीकरण सिद्धि की विधि पर भी प्रकाश डालते हैं।

गोपनीयतावाद—यह भी कहा गया है कि—

'गोपितव्यं प्रयत्नेन दुष्टानां भक्तिवर्जितम्।
न देयं भक्तिहीनस्य कौलिकीं सिद्धिमिच्छताम्॥'

ज्ञानाभ्यास एवं ध्यानाभ्यास का महत्व—ज्ञानोदय एवं ध्यानाभ्यास के द्वारा कोई भी साधक सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्त होकर समस्त समीहितार्थ प्राप्त कर सकता है।[४]

आगे मत्स्येन्द्रनाथ ने जरा-मृत्यु पर विजय की विधि बतायी है।[५] प्रकिया यह है कि व्यक्ति को कल्पना करनी चाहिए कि सामने क्षीरसमुद्र है और उसके मध्य १०० करोड़ दलों वाला एक श्वेत कमल है और मैं उसमें श्वेत वस्त्र एवं श्वेत आभूषण पहने हुए स्थित हूँ। साधक को इस कमल से अपने को अभिन्न भी देखने का प्रयास करना चाहिए। ऐसे ध्यान से साधक सारे रोगों से मुक्त हो जाता है। साधक रोग, ज्वर, बंधन एवं मृत्यु सभी से मुक्त हो जाता है।[६]

---

१. कौलज्ञाननिर्णय (३।२४-२६)
२. कौलज्ञाननिर्णय (२७)
३. कौलज्ञान निर्णय (३।२७-२८)
४. कौलज्ञाननिर्णय (५।२-३)
५. कौलज्ञाननिर्णय (५।७)
६. कौ० ज्ञा० नि० (५।८-१०)

मृत्युञ्जयत्व-प्राप्ति की द्वितीय विधि—मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं कि यदि साधक सहस्रारस्थ (बैन्दवस्थानीय) चन्द्रमा का ध्यान करता हुआ और यह ध्यान करता हुआ कि उसकी मनतरंग चन्द्रमा की शीतल किरणों से पूर्णतः सींची (भींगी हुई) हुई है तो वह सारे ज्वरों एवं यहाँ तक कि मृत्यु से भी मुक्त हो जाता है। इसका अभ्यास कम से कम एक वर्ष करना चाहिए। सम्पूर्ण रूप से पूर्ण चन्द्रमा का ध्यान करने से साधक जराव्याधि से मुक्त हो जाता है[१]—

'ध्यायमानमिदं देवि ! जराव्याधिर्विनश्यति।'

यदि इस चन्द्रमा को (१) नाभि, (२) हृदय एवं (३) मूर्द्धा पर स्थित देखकर इसका ध्यान एक वर्ष तक किया जाय तो भी वह जरामरण से मुक्त हो जाता है।

यदि गोक्षीरधवल एवं सहस्रदलशोभाढ्य श्वेत पङ्कज का ध्यान किया जाय तथा यह भी ध्यान किया जाय कि अधोवर्ती समस्त चक्र ऊर्ध्ववर्ती चक्र के अमृत से सिञ्चित हो रहे हैं और यह भी ध्यान किया जाय कि मेरा शरीर भी अमृत के छिड़काव से सिञ्चित हो रहा है तो वृद्धावस्था एवं सारे रोगों से मुक्त हो जाता है।[२]

अन्य प्रक्रिया यह है कि साधक को यह कल्पना (ध्यान) करनी चाहिए कि "१६ दलों का एक कमल है जो कि बर्फ के समान सफेद है और उसका प्रत्येक दल शिवा एवं आद्या शक्ति के प्रकाश-तरंग से सुशोभित है और मेरा शरीर अमृतप्रवाहों से संसिक्त है। ये अमृत-प्रवाह मानों हिमवत श्वेतदुग्ध धारायें हैं जो कि सारे शरीर को आसिञ्चित कर रही हैं।" इस ध्यान से भी साधक जरा-मरण-व्याधि से मुक्त हो सकता है। शिवतुल्यस्वतंत्र एवं स्वेच्छागति वाला हो सकता है।[३]

देवी षष्ठ पटल में 'जीव' के विषय में प्रश्न करती हैं। सप्तम पटल में तत्त्वत्रय के विषय में प्रश्न करती हैं और जरा-मृत्यु के निवारण के उपाय भी पूछती हैं। अष्टम पटल में देवी भैरव से 'अकुल' से 'कुल' के सृजन, क्षेत्रज्ञ, पीठज्ञ, योगज, मंत्रज, सहज, कुलज एवं चौंसठ योगिनियों के विषय में प्रश्न करती हैं। वे 'कुलसिद्ध' एवं गुरुपूजा-विधान के विषय में जिज्ञासा व्यक्त करती हैं।

नवम पटल में देवी भैरव से गुरुपंक्ति, सिद्धपंक्ति, योगिनीपंक्ति, सर्वसिद्ध योगिनी, सर्वभूचरी, खेचरी, चतुर्युग-विभाग, योगिनीसिद्धि आदि की जिज्ञासा व्यक्त करती हैं और भैरव उनकी समस्त जिज्ञासाओं का समाधान करते हैं।

---

१. कौ० ज्ञा० नि० (५।८-१०)

२. कौ० ज्ञा० नि० (५।१८-२०)

३. कौ० ज्ञा० नि० (५)

दशम पटल में देवी पिण्डस्थ चक्रों के विषय में प्रश्न करती हैं। भैरव मातृकाओं का स्थान इस प्रकार बताते हैं—

(१) 'क्ष'—ब्रह्मरंध्र में (२) 'ल'—ललाट में।
(३) 'ह'—भ्रूमध्य में (४) 'स'—वक्त्रमण्डल में।
(५) 'ष'—कण्ठदेश में (६) 'श'—हृद् देश में।
(७) 'व'—नाभिमध्य में (८) ह'—लिंग देश में।

उसके बाद भैरव सारे चक्रों की ध्यान-प्रक्रिया पर प्रकाश डालते हैं और अष्ट चक्रों पर प्रतिदिन सदैव ध्यान करने का उपदेश देते हैं।

एकादश पटल में भैरव (देवी द्वारा प्रश्न किये जाने पर) अद्वैतभाव पर प्रकाश डालते हैं। वे कुलसिद्धों के पञ्चामृतों पर भी प्रकाश डालते हैं। वे यह भी कहते हैं—'पंचपवित्र' निम्नांकित है—

'विष्ठं धारामृतं शुक्रं रक्तमज्जाविमिश्रितम्।
एतत् पञ्चपवित्राणि नित्यमेव कुलागमे॥'[1]

वे गोमांस, गोघृत, रक्त, गोक्षीर एवं दधि—इन पाँच पदार्थों को भी नित्य समर्पित करने का उपदेश देते हैं।

द्वादश पटल में (देवी के पूछने पर) भैरव कौल पूजा में प्रयुक्त पात्र एवं कौल-चर्या के विषय में सविस्तार वर्णन करते हैं।

चतुर्दश पटल में (देवी के पूछने पर) भैरव ने चक्रसिद्धि, कालसिद्धि, अष्ट-सिद्धि, आकाश गमन, दीर्घायुष्य प्राप्ति, ग्रंथित्रय, वृषणोत्थकौल, वह्निकौल, कौल-सद्भाव, पदोतिष्ठकौल आदि के लक्षण, निर्विचार ध्यान, आत्मध्यान, उन्मनीभाव, जीव का लय, नादों के प्रकार, कामकला आदि विषयों पर प्रकाश डाला है।

पञ्चदश पटल में वज्रयोग, वाजीकरण-विधि एवं अष्टदल कमल आदि का तथा षोडश पटल में भैरव, नाथ, इच्छा, ज्ञानक्रियाशक्ति, वटुक कार्तिकेयकौल ज्ञान की कार्तिकेय द्वारा चुराया जाना और महा मत्स्य द्वारा इसका निगला जाना, मत्स्यघ्न का जन्म आदि का वर्णन किया गया है।

सप्तदश पटल में आत्मा के स्वरूप, प्राणों के रहने के एकादश स्थान, हृदयस्थ सहज देव, ह-स, सृ एवं ही (सृष्टि-प्रलय) 'हूं ह', प्रेतासन, द्वादशान्त ब्रह्माण्ड के साथ आत्मैक्य, ध्यान एवं ध्यानातीतावस्था, हंस, वामा, द्वादशान्त, शरीरमध्यस्थ हंस, नाथ तत्त्व, पिण्ड, वज्र, परमात्मा आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

---

१. कौलज्ञाननिर्णय (११।११)

अष्टादश एवं उन्नीसवें पटलों में कुलद्वीपविधान, कौलाभिषेक, कुलदीप, ह्रीं बीज का जप, भुक्ति-मुक्ति, कौलाभिषेक की अन्य प्रणालियाँ, वामामृत, सुरा-रक्त-घृत-शुक्र आदि और 'ह्रीं क्लीं म्हौ जुं सः' मंत्र का जप, वेश्या कुमारिका, जया देवी, उपचार, गुरु के साथ तादात्म्य (ऐक्य), सुरा-मांस-घृत-शर्करा, वीरसाधना, योगिनीसिद्धि, योगिनी के साथ श्रीनाथ का ध्यान आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

बीसवें और इक्कीसवें पटल में योग के पचपन मत, शम्बर, सृष्टिकौल, महाकौल, तिमिर, अमृतसिद्ध, कुलकौलमत, शक्तिभेद कौल, ऊर्मिकौल, ज्ञानकौल, वज्रकौल, वज्रामृत, पञ्चमकार आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

बाईसवें एवं तेईसवें पटल में महाकाल के षड्मुख (कालिका योगिनी, नन्दीश, भट्टका,द्रोणका विजया, महाभागा) ६ योगिनी माताएँ, कुलसिद्ध, गुप्तलिङ्ग, गुरुपूजा, साढ़े दस करोड़ ज्ञान-तत्त्व, कामरूप के प्रत्येक घर में योगिनियों की साधना, चन्द्रद्वीप, आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

तेईसवें एवं चौबीसवें पटल में कौल योगिनियों का सञ्चरण, मर्त्यलोक में देवों का सञ्चरण, योगिनियों का कपोतिका, गृध्री, हंसी, नखी, उलूकी, पेचकी, सररी, गूली, शृगाली, अजा, महिषी, कुक्कुटी आदि अनेक रूपों में सञ्चरण, ६४ योगिनियों का विभिन्न पशुओं का रूप धारण करके पृथ्वी पर संचरण, नारियों के साथ कथमपि कठोर व्यवहार न करने की चर्या और उनकी पूजा आदि तथा महाकौल, महाज्ञान, कुलकौल, अज्ञान, सिद्धपूजा, कौलपूजा, कौलसिद्ध, योगिनीवृन्द, रुद्रगण एवं देवीचक्र की हृदय एवं शिर में स्थिति, बाह्यपूजा, ध्यान, रक्त वस्त्र, रक्तगन्धानुलेपन, सुरा आदि विषयों का सविस्तार विवेचन किया गया है।

बहिस्थ पूजा पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि—

'सुगन्धकुन्दकेतक्या मालिकाजातिकोत्पलैः।
चम्पकैः किङ्करातैश्च नीलोत्पलसुगन्धिभिः।
पुष्पैर्नानाविधैश्चैव शतपत्रैश्च..............।
तरुजातत्रवरादेया द्रव्यापि मधुमिश्रिताम्।
मांसम्पलम्बलिर्देया ताम्बूलं चन्द्रसंयुतम्।
धूपचन्दनसौरभ्यं अगुरुं मृगनाभिकम्।।
रक्तपुष्पैर्विशेषेण सुगन्धधूपदीपितम्।
उग्राणि यानि पुष्पाणि गन्धहीनं न दापयेत्।।
बहिस्थं पूजनं प्रोक्तं अध्यात्मं शृणु साम्प्रतम्।

—(कौलज्ञान निर्णय—चतुर्विंशतितमः पटलः)

—०—

विषयानुक्रमणिका

—o—

||श्री:||

योगिराज मत्स्येन्द्रनाथप्रणीत:

कौलज्ञान-निर्णयः

(प्रथम खण्ड:)

योगिराज मत्स्येन्द्र नाथ और गोरक्षनाथ

(परिचय और दृष्टि)

"आदिनाथो गुरुर्यस्य गोरक्षस्य च यो गुरु:।
मत्स्येन्द्रं तमहं वन्दे महासिद्धं जगद्गुरुम्।।"
—(वज्रयोगिनी शिलालेख)

"अन्तर्निश्चलितात्मदीपकलिका, स्वाधारवेधादिभि:
र्यो योगी युगकल्पकाल कलनात् तत्त्वं च यो गीयते।।
ज्ञानान्मोदमहोदधि: समभवद् यत्रादिनाथं स्वयं
व्यक्ताव्यक्तगुणाधिकं तमनिशं, श्रीमीननाथं भजे।।"
—(गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह)

'आदिनाथ उमा बीज प्रगटलें, मत्स्येन्द्रा लाधले सहज स्थिती।
तेचि प्रेम मुद्रा गोरक्षा दिधली, पूर्ण कृत्वा कैली गैनीनाथ।।'
—(निवृत्तिनाथ)

"जैसे-जैसे नाथ सम्प्रदाय के विस्तार और प्रभाव की जानकारी प्राप्त होती जा रही है, वैसे-वैसे इसका असाधारण महत्व भी स्पष्ट होता जा रुहा है। भारतीय धर्मसाधना के इतिहास में इस संप्रदाय का बहुत महत्वपूर्ण स्थान रहा है। भक्ति-आन्दोलन के पूर्व यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण धार्मिक आन्दोलन रहा है और बाद में भी पर्याप्त शक्तिशाली रहा है।"

'आधुनिक भारतीय भाषाओं में से प्राय: सबके साहित्यिक प्रयत्नों की पृष्ठभूमि में इसका प्रभाव सक्रिय रहा है।'

आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य की प्रेरक शक्तियों का अध्ययन इस संप्रदाय के अध्ययन के बिना अधूरा ही रह ज़ायेगा।

—डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी 'नाथ सम्प्रदाय'

मत्स्येन्द्र नाथ

"श्रीनाथचरणाम्भोजं यस्यां दिशि विराजते।
तस्यै दिशे नमस्कुर्यात् भक्त्या प्रतिदिनं प्रिये।
न पादुकात्परो मन्त्रो न देवो श्रीगुरोः परः।
नास्ति शाक्तात्परो मार्गो न पुण्यं कूलपूजनात्।।"

योगेश्वर मत्स्येन्द्रनाथ शैव योगियों एवं नाथ शैव योगियों के आदिसिद्ध एवं 'मानवौघ' में सर्वोच्च आचार्य हैं।

महासिद्ध मत्स्येन्द्रनाथ **बौद्ध-जैन परम्परा** के भी आदि देव हैं। बौद्ध-परम्परा में तो वे परमाराध्य **अवलोकितेश्वर** के नाम से भी पूज्य हैं।

वे **जैन-परम्परा** में पार्श्वनाथ-नेमीनाथ के पूर्वज पिता तथा जैन-समाज के आदि गुरु आदिनाथ के रूप में समाहत हैं। उन्होंने कामरूप में कौलसाधना की।

नाथ **योगियों की द्वादशपंथी** परम्परा में वे आदिनाथ के बाद सर्वोच्च गुरु हैं एवं ८४ सिद्धों के पूर्वाग्रणी एवं **६४ योगिनियों के गुरु** हैं।

एशिया महाद्वीप के दक्षिणी भू-भाग में मत्स्येन्द्रनाथ आदि नाथ योगियों के नाम पर इतने मठ तथा मन्दिर एवं जागीरें हैं कि वे भारत की ही नहीं प्रत्युत् एशिया की अनेक प्राचीन संस्कृतियों एवं परम्पराओं की अमिट पहचान हैं।

मत्स्येन्द्रनाथ ने भगवान शिव के मुख से अमृतविद्या, कालवञ्चनीविद्या एवं योगविद्या का श्रवण करके और उसकी साधना करके उसे अनेक साधना-प्रणालियों द्वारा अभिव्यञ्जित (पुष्पित-पल्लवित-प्रसारित) करके योग-क्रान्ति का बिगुल फूँक दिया। सारा भारत 'अलख निरञ्जन' की ध्वनि से गूँज उठा, मूमूर्षु जीवन में चेतना की वल्लकी झनझना उठी। उन्हें **'हठविद्या' का आविष्कारक** भी माना जाता है—

'हठविद्यां हि मत्स्येन्द्रगोरक्षाद्या विजानते।
श्रीआदिनाथ मत्स्येन्द्र शाबरानन्द भैरवाः।।'

—हठयोगप्रदीपिका

उनके ही कारण अवधूत-समाज या नाथयोगसमाज का गठन हुआ। 'आदिनाथ' भारत के इतिहास की पौराणिक महाविभूति हैं। वे **योग, तंत्र एवं अन्य गुह्य विद्याओं के उद्गम** (स्रोत) हैं। उनका प्रभाव भारत की ही नहीं भारत से बाहर की अनेक संस्कृतियों पर भी पड़ा है। इस्लाम का सूफी-सम्प्रदाय तो मत्स्येन्द्र के योग से पूर्णतया प्रभावित है। नेपाल में दो मछंदरनाथ माने जाते हैं—

(१) ठुलो मछन्दर नाथ एवं (२) सानु मछन्दरनाथ अर्थात् (१) बड़ा मछन्दर (ठुलो) एवं (२) छोटा मछन्दर (सानु)।

बड़े मत्स्येन्द्रनाथ को **'मत्स्येन्द्रनाथ'** एवं छोटे मत्स्येन्द्रनाथ को **'मीननाथ'** कहते हैं।

(क) तिब्बती इतिहासकार तारानाथ की दृष्टि में ये दोनों परस्पर भ्राता हैं।

(ख) बंगाली जनश्रुति के अनुसार ये दोनों अभिन्न हैं।

(ग) नेपाल देश में 'बड़ा मछन्दर' एवं 'पद्मपाणि' बोधिसत्व एवं आर्य अवलोकितेश्वर अभिन्न माने जाते हैं।

डॉ० राइट द्वारा संपादित एवं कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस से १८७७ ई० में प्रकाशित हिस्ट्री आफ नेपाल के पृष्ठ १४४ में लिखा है कि—

—जब आचार्य बंधुदत्त ने पुरश्चरणात्मक मंत्र-प्रयोग एवं डाकिनी की सहायता से आर्य अवलोकितेश्वर मछन्दरनाथ का उनके निवास स्थान कापोटल पर्वत से आवाहन किया था; तब उनकी आत्मा मक्षिका के रूप में आई, किन्तु उसे कलश में बन्द कर लिया गया और तदुपरान्त एक मूर्ति में उसे प्रतिष्ठित कर दिया गया।

डॉ० पीताम्बरदत्त बड्थ्वाल का मत—डॉ० बड्थ्वाल ने 'योगप्रवाह' ('हिन्दी कविता में योग प्रवाह') में कहा है कि—

बड़ा मछंदर कल्पना मात्र था। मेरा तो विचार है कि छोटे मछंदरनाथ का माहात्म्य बढ़ाने के लिए बौद्धों ने उसी को 'अवलोकितेश्वर' का रूप माना होगा। किन्तु पीछे से गोरखनाथ के प्रभाव में आ जाने के कारण यह 'सानु' माना गया। परन्तु जनसाधारण ने 'सानु' मछन्दर की पूजा न छोड़ी। यह मछंदरनाथ भी कम सिद्ध न था, परन्तु यह अपनी सिद्धता का दुरुपयोग करता था। व्यावहारिक योग में यह गोरखनाथ का गुरु था परन्तु गोरखनाथ विवेकमय तत्त्वज्ञान में इससे बढ़ा चढ़ा था। मछन्दरनाथ आज भी नेपाल की अधिकांश जनता के इष्टदेव होकर पूजे जाते हैं।[१]

किंवदंती है कि महादेव ने सबसे पहले पार्वती को योग का रहस्य बतलाया था। इसको मछंदरनाथ ने नदी में मछली होकर सुना। इसी कारण उसको महादेव का शाप हुआ था। जिससे गोरखनाथ ने उसका उद्धार किया। संभव है कि मछंदरनाथ ने महादेव-पार्वती के संवाद में अपने परिवर्तित मत को लिखा हो, जिसकी भाषा में देशकालानुसार फेरफार हुआ हो।[२]

मछंदरनाथ तांत्रिक थे—

बौद्ध तांत्रिक सम्प्रदाय का आरंभ लगभग सातवें शतक में हुआ। तिब्बत, नेपाल और बंगाल में उसका खूब प्रसार हुआ। विक्रमशिला उसका प्रधान केन्द्र था।

---

१. योग प्रवाह (पृ० ६७-६८)

२. योगप्रवाह (पृ०६६)

पाल राजा महीपाल ने नवीं शताब्दी में विक्रमी शिला के विहार की स्थापना की थी। 'वज्र' उपाधिधारी भिक्षु कामुकता को निर्वाण का साधन मानकर दुराचार में पड़े थे। ग्यारहवें शतक के आरंभ में बौद्धों का तांत्रिक सम्प्रदाय अपने मध्याह्न में था। जान पड़ता है मछंदरनाथ इन्हीं तांत्रिको में से था।[१]

डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी इस बात को अस्वीकार करते हुए कहते हैं कि मछन्दरनाथ बौद्ध कभी थे ही नहीं।

मत्स्येन्द्रनाथ शिव के मानस पुत्र हैं—'शाबर चिन्तामणि' (जिसे मत्स्येन्द्र की ही रचना माना गया है) में भगवान शिव पार्वती से कहते हैं कि 'हे देवि! मत्स्येन्द्रनाथ नामक एक महाशक्तिशाली योगी है और वह मेरा मानस पुत्र है—

'मम मानस पुत्रोस्ति मत्स्येन्द्राख्यो महाबल:।।'

ब्रह्मदेव उसकी तपस्या से प्रसन्न हो उठे थे और उन्होंने उसे वर दिया था—

'तत: प्रसन्नो भगवान् हंसरूपी परात्पर:।[२]

मत्स्येन्द्रनाथ का बहुआयामी विराट व्यक्तित्व

(१) हठयोग

(१) मत्स्येन्द्रनाथ 'हठयोग' के प्रवर्तक हैं।

(२) वे 'हठयोग' के प्रथम आचार्य एवं महासिद्ध हैं।

(२) नाथसम्प्रदाय

(३) वे 'नाथसम्प्रदाय' के प्रथम मानवगुरु एवं नाथमार्ग के प्रवर्तक हैं।

(३) कौलमार्ग

(४) वे 'योगिनीकौलमार्ग' के प्रवर्तक हैं।

(५) वे 'सिद्धान्तमार्ग' के साधक एवं सिद्ध हैं। इसे 'सिद्ध कौल सम्प्रदाय' भी कहते हैं।

(४) शाक्त सम्प्रदाय

(६) वे 'शाक्ततांत्रिक मार्ग' के भी आचार्य हैं, क्योंकि वे कौलमार्ग के अनुयायी एवं उसकी एक शाखा ('योगिनी कौलमार्ग) के प्रवर्तक भी हैं।

'कौल मार्ग' शाक्तों का सम्प्रदाय है।

---

१. योग प्रवाह (पृ० ६०)

२. शाबर तंत्र (१/८)

शाक्त सम्प्रदाय के भेद

(१) कौलशाखा | (२) मिश्रशाखा | (३) समयाचार शाखा

मत्स्येन्द्रनाथ इसी 'शाक्तकौल' मत के अनुयायी हैं।

(५) काश्मीरी शैव मार्ग

(७) वे काश्मीरी शैवमार्ग के भी आचार्य हैं इसीलिए स्वयं अभिनवगुप्त ने भी उन्हें नमस्कार किया है।

(६) बौद्ध मत

(८) वे बौद्धों के भी आचार्य हैं; इसीलिए नेपाल के बौद्ध उन्हें 'अवलोकितेश्वर का अवतार' मानते हैं।

'सद्धर्मपुण्डरीक' में 'अवलोकितेश्वर' की यह व्याख्या की गई है कि—

"अवलोकितेश्वर भगवान बुद्ध का वह करुणामय स्वरूप है जो कि संसार में एक भी व्यक्ति के बंधनग्रस्त रहने तक निर्वाण नहीं प्राप्त करता। मत्स्येन्द्र उन्हीं के अवतार हैं।

(७) मत्स्येन्द्रनाथ जैन योग के भी आचार्य हैं—

जैनधर्म के पार्श्वनाथ आदि तीर्थङ्करों से उनका अविच्छेद्य सम्बन्ध है। 'नेमिनाथ' एवं 'पारसनाथ' मत्स्येन्द्र के पुत्र थे।

(८) मत्स्येन्द्रनाथ 'त्रिपुरासम्प्रदाय' के भी आचार्य हैं—

त्रिपुरा सम्प्रदाय के अनेक आचार्यों के वे भी नाम हैं जो कि नाथ-सम्प्रदाय के हैं। मूलाधार चक्र में 'भैरवी' एवं त्रिपुरा की स्थिति नाथ-सम्प्रदाय में भी मान्य है। कुण्डलिनी त्रिपुरा ही हैं।

(९) मत्स्येन्द्र तन्त्रमार्ग के भी आचार्य हैं—

तांत्रिकों का श्रेष्ठतम आचार कौलाचार है।

शाक्तमतानुसार मुख्यत: चार आचार हैं—

(१) वैदिक, (२) वैष्णव, (३) शैव एवं (४) शाक्त।

शाक्त आचार

(१) वामाचार | (२) दक्षिणाचार | (३) सिद्धान्ताचार | (४) कौलाचार

या (१) वेदाचार, (२) वैष्णवाचार, (३) शैवाचार, (४) दक्षिणाचार, (५)

सिद्धान्ताचार, (६) कौलाचार। कौलाचार श्रेष्ठतम आचार माना गया है। इनमें वरीयता का क्रम इस प्रकार है—

'सर्वेभ्यश्चोत्तमा वेदा,वेदेभ्यो वैष्णवं परम्।
वैष्णवादुत्तमं शैवं, शैवाद्दाक्षिण्यमुत्तमम्।
सिद्धान्तादुत्तमं कौलं कौलात्परतरं नहि॥

(१) पश्वाचार = 'वैदिकं वैष्णवं शैवं दक्षिणं पाशवं स्मृतम्।

(२) दिव्याचार = 'सिद्धान्तवामे वीरे तु दिव्यं सत्कौल मुच्यते॥'

मत्स्येन्द्रनाथ तांत्रिकों के सर्वोत्तम आचार 'कौलाचार' के अनुयायी एवं प्रवर्तक दोनों थे।

(१) मत्स्येन्द्रनाथ गोरक्ष के गुरु एवं महासिद्ध थे—

'आदिनाथो गुरुर्यस्य गोरक्षस्य च यो गुरुः।
मत्स्येन्द्रं तमहं वन्दे महासिद्धं जगद्गुरुम्॥

—वज्रयोगिनी शिलालेख

(२) भैरव ही मत्स्येन्द्रनाथ थे—

'कदाचित् कार्तिकेयेन कौलागमशास्त्रमपहृत्य समुद्रे प्रक्षिप्तम्, तच्चैकेन मत्स्येन निगीर्णम्, तदा स्वयं भैरवो मत्स्येन्द्ररूपेणावतीर्य समुद्रं प्रविश्य तस्य मत्स्यस्योदरं विदार्य तच्छास्त्रं समुद्दधार, स एवायं मत्स्येन्द्रनाथः मत्स्यघ्न इत्यप्युच्यते।

—कौलज्ञान निर्णय

ये ही मत्स्येन्द्रनाथ 'मच्छन्द' 'मच्छन्दरनाथ' 'मत्स्यघ्न' 'मत्स्येन्द्र' एवं 'मीननाथ' आदि अनेक नामों से पुकारे जाते हैं।

(३) मत्स्येन्द्रनाथ समुद्र के एक मत्स्य थे—

(१) 'आदिनाथः शिवः सर्वेषां नाथानां प्रथमो नाथः। ततो नाथसंप्रदायः प्रवृत्त इति नाथसंप्रदायिनो वदन्ति।

(२) मत्स्येन्द्राख्यश्च आदिनाथशिष्यः।

(३) अत्रैव किंवदन्ती। कदाचिदादिनाथः कस्मिंश्चिद् द्वीपे स्थितः तत्र विजनमिति मत्वा गिरिजायै योगमुपदिष्टवान्। तीरसमीपनीरस्थः कश्चन मत्स्यः तं योगोपदेशं श्रुत्वा एकाग्रचित्तो निश्चलकायोऽवतस्थे। तं तादृशं दृष्ट्वा 'अनेन योगः श्रुत इति' तं मत्वा कृपालुरादिनाथो जलेन प्रोक्षितवान्। स च प्रोक्षणमात्राद्दिव्यकायो मत्स्येन्द्रः सिद्धोऽभूत तमेव **मत्स्येन्द्रनाथ** इति वदन्ति।

—ब्रह्मानन्द—'ज्योत्स्ना'

(४) मत्स्येन्द्रनाथ अवलोकितेश्वर के अवतार थे—

नेपाल देश के लोगों के अनुसार मत्स्येन्द्रनाथ अवलोकितेश्वर के अवतार थे।

(५) मत्स्येन्द्रनाथ नाथसम्प्रदाय के (प्रथम) मानवाचार्य थे—

नाथसम्प्रदाय के प्रवर्तक तो आदिनाथ (शिव) थे, किन्तु प्रथम मानव आचार्य मत्स्येन्द्रनाथ ही थे।

(६) मत्स्येन्द्रनाथ हठयोग के प्रथम मानवाचार्य थे—

'हकारः कीर्तितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगाद्धठयोगो निगद्यते॥' (सि० सि०प०)

—के स्वरूप वाले 'हठयोग' के प्रथम उपदेष्टा तो आदिनाथ थे, जिसे कि उन्होंने सर्वप्रथम गिरिजा को सुनाया था, किन्तु इसके प्रथम मानव उपदेष्टा मत्स्येन्द्रनाथ ही थे।

इस 'हठयोगविद्या' को ही 'हठयोगशास्त्र' भी कहा जाता है, जो कि 'ह' एवं 'ठ' का योग है।

यह 'सूर्य' एवं 'चन्द्र' का योग है।

इस योग का उद्देश्य ही 'राजयोग'-साधना है; क्योंकि—

'हठं विना राजयोगं राजयोगं विना हठः।
न सिध्यति ततो युग्यमानिष्पत्तेः समभ्यसेत्॥'

—हठयोगप्रदीपिका (१।७६)

'राजयोगसमारुढः पुरुषः कालवञ्चकः। (४।१०३)
'सर्वाण्यपि हठाभ्यासे राजयोगफलावधि।'
'राजयोगं विना पृथ्वी, राजयोगं विना निशा।
राजयोगं विना मुद्रा विचित्राऽपि न शोभते॥ (३।१२६)

इस हठयोग की सिद्धि के लक्षण निम्नाङ्कित हैं—

वपुः कृशत्वं वदने प्रसन्नता,
नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले।
अरोगता बिन्दुजयोऽग्निदीपनं,
नाडी-विशुद्धिर्हठयोग लक्षणम् ॥

प्र०—'राजयोग' का स्वरूप क्या है? इस 'मत्स्येन्द्रनाथी हठयोग' के चरमलक्ष्य 'राजयोग' का यथार्थ स्वरूप क्या है?

ब्रह्मानन्दजी **'ज्योत्स्ना'** में कहते हैं—

(१) 'वृत्यन्तरनिरोधपूर्वकात्मगोचरधारावाहिकनिर्विकल्पकवृत्ती राजयोगः॥'' (३।१२६)

(२) 'राजयोगश्च सर्ववृत्तिनिरोधलक्षणोऽसंप्रज्ञात समाधिः॥' (१।१)

(३) **'राजयोग'** और **'समाधि'** तथा **'उन्मनी'** पर्यायवाची हैं—

'राजयोगः समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी।
अमरत्वं लयस्तत्त्वं शून्याशून्यं परं पदम्॥
अमनस्कं तथाऽद्वैतं निरालम्बं निरञ्जनम्।
जीवन्मुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचकाः॥

प्र०—यदि 'राजयोग' समाधि है तो **'समाधि' क्या** है?

'सलिले सैन्धवं यद्वत्साम्यं भजति योगतः।
तथाऽऽत्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते।
यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते।
तदा समरसत्वं च समाधिरभिधीयते॥
तत्समं च द्वयोरैक्यं जीवात्मपरमात्मनोः।
प्रनष्टसर्वसंकल्पः समाधिः सोऽभिधीयते।
राजयोगस्य माहात्म्यं को वा जानाति तत्त्वतः।
'ज्ञानं' 'मुक्तिः' 'स्थितिः' 'सिद्धि'र्गुरुवाक्येन लभ्यते॥

—'राजयोगप्रभावमाह'—(ज्योत्स्ना)

प्र०—'राजयोग' का प्रभाव क्या है?

(१) 'ज्ञान'—'ज्ञानं स्वस्वरूपापरोक्षानुभवः॥'

(२) 'मुक्ति'—'मुक्तिर्विदेहमुक्तिः।'

(३) 'स्थिति'—'स्थितिर्निर्विकारस्वरूपस्थितिरूपा जीवन्मुक्तिः।'

(४) 'सिद्धि'—सिद्धिरणिमादिः गुरुवाक्येन गुरुवचसा लभ्यते। राजयोगादितिः शेषः।''

—ज्योत्स्ना

प्र०—'राजयोग 'सहजावस्था' है तो **'सहजावस्था' क्या है**?

(१) 'दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम्।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना॥ (४।९)

(२) 'विविधैरासनैः कुम्भैर्विचित्रैः करणैरपि।
प्रबुद्धायां महाशक्तौ प्राणः शून्ये प्रलीयते॥ (४।१०)

(३) 'उत्पन्नशक्तिबोधस्य व्यक्तनिःशेष कर्मणः।
योगिनः **सहजावस्था** स्वयमेव प्रजायते॥ (४।११)

(४) **'सहजावस्था** तुर्यावस्था।'

प्र०—यदि राजयोग का प्रभाव ज्ञान एवं मुक्ति (मोक्ष) है तो उस ज्ञान एवं मुक्ति (मोक्ष) का स्वरूप क्या है?

'ज्ञानं कुतो मनसि संभवतीह तावत्,
प्राणोऽपि जीवति मनो म्रियते न यावत्।
प्राणो मनो द्वयमिदं विलयं नयेद्यो,
मोक्षं स गच्छति नरो न कथंचिदन्य:।। (४।१५)
—हठयोगप्रदीपिका

(२) राजयोग **'अमनस्क योग'** है—

'अमनस्क' एवं अमनस्क योग' (अन्तर्योग)—जिस 'राजयोग' को 'अमनस्क कहा गया है उसका स्वरूप क्या है?। गोरक्षनाथ ने योग के दो प्रकार स्वीकार किये हैं— (१) 'पूर्वयोग' (२) 'अपरयोग'

'बर्हियोग' या (१) 'तारक योग' तथा (२) 'अमनस्क योग'

'तारक योग' समनस्क योग है किन्तु **'अमनस्क योग'** मन से अतीत योग है। **'तारक योग'** बाह्ययोग है। **'अमनस्क योग'** अन्तर्मुद्रात्मक एवं यथार्थ योग है। यही 'राजयोग' है—'राजयोग' शांभवीमुद्राप्रधान है—

'राजयोग: स कथित: स एव मुनिपुंगव।
राजत्वात् सर्वयोगानां **राजयोगं** इति स्मृत:।।
राजानं दीप्यमानं तं परं ब्रह्माणमव्ययम्।
देहिन: प्रापयेद् यस्तु **राजयोग:** स उच्यते।।
राजयोगस्य माहात्म्यं को वा जानाति तत्त्वत:।
ज्ञानात् सिद्धयति मुक्तिर्हि गुरोर्ज्ञानं च लभ्यते।।
—अमनस्क योग

हठयोग का लक्ष्य 'राजयोग' है—

राजयोगमजानन्त: केवलं हठकर्मिण:।
एतानभ्यासिनो मन्ये प्रयासफलवर्जितान्।। (४।७९)

प्र०—यदि 'प्राण' एवं 'मन' का जीवन जब तक शेष है तब तक राजयोग का लक्ष्य 'ज्ञान' एवं 'मुक्ति' संभव ही नहीं है; तब प्राण एवं मन का जीवन क्या है?

(१) प्राण का जीवन क्या है?
(२) मन का जीवन क्या है?

(१) प्राण का जीवन : 'इडापिङ्गलाभ्यां वहनं प्राणस्य जीवनं।'

(२) इन्द्रियों का जीवन : 'स्वस्वविषयग्रहणमिन्द्रियाणां जीवनं।'

(३) मन का जीवन : 'नानाविषयाकारवृत्त्युत्पादनं मनसो जीवनम्।'

'प्राणो मनः इदं द्वयं यो योगी विलयं नाशं नयेत्स मोक्षमात्यन्तिकस्वरूपावस्थान-लक्षणं गच्छति प्राप्नोति॥'
—ज्योत्स्ना (४।१५)[१]

प्राण एवं मन का जय क्या है?

'नानाविधैर्विचारैस्तु न साध्यं जायते मनः।
तस्मात्तस्य जयः प्रायः प्राणस्य जय एव हि॥'

प्र०—यदि राजयोग 'उन्मनी' एवं 'मनोन्मनी' है तो 'उन्मनी' एवं 'मनोन्मनी क्या है?

(१) 'तत्त्वं बीजं हठः क्षेत्रमौदासीन्यं जलं त्रिभिः।
उन्मनीकल्पलतिका सद्य एव प्रवर्तते॥' (४।१०४)

(२) 'उच्छिन्नसर्वसङ्कल्पो निःशेषाशेषचेष्टितः।
स्वावगम्यो लयः कोऽपि जायते वागगोचरः॥' (४।३२)

(३) 'प्रनष्टश्वासनिश्वासः प्रध्वस्तविषयग्रहः।
निश्चेष्टो निर्विकारस्य लयो जयति योगिनाम्' (४।३०)

(४) 'मनः प्राणलये कश्चिदानन्दः सम्प्रवर्तते॥' (४।३०)

राजयोग 'लय' है

प्र०—'लय' क्या है?

'ब्रह्मरन्ध्रे निर्व्यापारस्थितिः प्राणस्यः लयः। (ज्योत्स्ना)
'विषयान्तरेऽव्यापारेण मनसो लयोऽन्यः॥ (ज्योत्सना)

'अमनस्क योग' ही **राजयोग** है—

'लयोलय इति प्राहुः कीदृशं लय लक्षणम्।
अपुनर्वासनोत्थानाल्लयो विषयविस्मृतिः॥' (४।३४)

प्र०—यदि हठयोग के 'लक्ष्यभूत राजयोग' के बिना हठयोग व्यर्थ है तो 'राजयोग' की प्राप्ति का साधन क्या है?

---

१. 'अलीनप्राणोऽलीनमनाश्च कथञ्चिदुपाय शतेनापि न मोक्षं प्राप्नोति॥'
(—ज्योत्स्ना)

'एतेन योगं विना ज्ञानं मोक्षश्च न सिद्ध्यतीति सिद्धम्।
'नान्यमार्गैः सुखप्रायं कैवल्यं परमं पदम्।
सिद्धमार्गेण लभ्येत नान्यथा शिवभाषितम्॥
—सिद्धमार्गो योगमार्गः —(ज्योत्स्ना)

(१) 'राजयोगपदं प्राप्तुं सुखोपायोऽल्पचेतसाम्।
सद्यः प्रत्ययसन्धायी जायते नादजो लयः॥'

(२) **'राजयोग'** तुर्यावस्था है—
'राजयोगो योगानां राजा तदेव पदं राजयोगपदं तुर्यावस्थाख्यम्।

इस तुर्यावस्था को प्राप्त करने के लिए (स्वात्माराम मुनीन्द्र के मतानुसार)— 'भ्रूध्यान' सर्वोच्च साधन है और 'लय' इसका स्वरूप है—

'उन्मन्यवाप्तये शीघ्रं भ्रूध्यानं मम सम्मतम् ॥ (४।८०)
'नादजः नादाज्जातो लयश्चित्तविलयः सद्यः शीघ्रं
प्रत्ययं प्रतीतिं सन्दधाति प्रत्ययसन्धायी॥' —(ज्योत्स्ना)
'अस्तु वा मास्तु वामुक्तिरत्रैवाखण्डितं सुखम् ।
लयोद्भवमिदं सौख्यं राजयोगादवाप्यते॥ (४।७८)

अर्थात् लयोद्भूत अनिर्वचनीय सौख्य तो 'राजयोग' से ही प्राप्य है, भले ही मुक्ति प्राप्त हो या न हो।

यह लय-साधना 'नादानुसन्धान' से भी हो सकती है, क्योंकि यह गुरुनाथैकगम्य अनिर्वचनीय और अगम्य आनन्द का साधन है—

'नादानुसन्धान समाधिभाजां,
योगीश्वराणां हृदि वर्धमानम्।
आनन्दमेकं वचसामगम्यं,
जानाति तं श्री गुरुनाथ एकः॥ (४।८१)

नादानुसन्धानाभ्यास की पद्धति क्या है?

'कर्णौ पिधाय हस्ताभ्यां यं शृणोति ध्वनिं मुनिः।
तत्र चित्तं स्थिरीकुर्याद्यावत्स्थिरपदं व्रजेत्॥ (४।८२)

राजयोग का अन्य फल क्या है?

'एकीभूतं तदा चित्तं राजयोगाभिधानकम्।
सृष्टिसंहारकर्ताऽसौ योगीश्वरसमो भवेत्॥' (४।७७)

नादाभ्यास का फल क्या है?

अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्यमावृणुते ध्वनिम्।
पक्षाद्विक्षेपमखिलं जित्वा योगी सुखी भवेत् ॥ (४।८३)
'श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो महान्।
ततोऽभ्यासे वर्धमाने श्रूयते सूक्ष्मसूक्ष्मकः ॥ (४।८४)

(२) आदौ जलधिजीमूतभेरी झर्झरसंभवाः।
मध्ये मर्दलशंखोत्था घण्टाकाहलजास्तथा ॥
(३) अन्ते तु किङ्किणीवंशवीणाभ्रमरनिस्वनाः।
इति नानाविधा नादाः श्रूयन्ते देहमध्यगाः॥
(४) महति श्रूयमाणोऽपि मेघभेर्यादिके ध्वनौ।
तत्र सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरं नादमेव परामृशेत्॥
(५) काष्ठे प्रवर्तितो वह्निः काष्ठेन सह शाम्यति।
नादे प्रवर्तितं चित्तं नादेन सह लीयते॥
(६) नादोऽन्तरङ्गसारङ्ग बन्धने वागुरायते।
अन्तरङ्गकुरङ्गस्य वधे व्याधायतेऽपि च॥
(७) अन्तरङ्गस्य यमिनो वाजिनः परिघायते।
नादोपास्तिरतो नित्यमवधार्या हि योगिना॥
(८) नादश्रवणतः क्षिप्रमन्तरङ्गभुजङ्गमः॥
विस्मृत्य सर्वमेकाग्रः कुत्रचिन्न हि धावति।
(९) मकरन्दं पिबन् भृङ्गो गन्धं नापेक्षते यथा।
नादासक्तं तथा चित्तं विषयान्न हि कांक्षते॥
(१०) सर्वचिन्तां परित्यज्य सावधानेन चेतसा।
नाद एवानुसन्धेयो योगसाम्राज्यमिच्छता॥ (४।९३)
(११) अनाहतस्य शब्दस्य ध्वनिर्य उपलभ्यते।
ध्वनेरन्तर्गतं ज्ञेयं ज्ञेयस्यान्तर्गतं मनः।
मनस्तत्र लयं याति तद्विष्णोः परमं पदम्॥ (४।१००)

अन्तिम निष्कर्ष यह है कि 'हठयोग' के सारे उपाय **'राजयोग'** की सिद्धि के लिए ही हैं—

'सर्वे हठलयोपाया राजयोगस्य सिद्धये।
राजयोगसमारूढः पुरुषः कालवञ्चकः॥ (४।१०३)

यदि राजयोगी की सिद्धि 'कालवञ्चन' है तो स्पष्ट है कि नाथ-सम्प्रदाय मृत्युञ्जयत्व एवं अमृतत्त्व की प्राप्ति को प्रधान उपलब्धि मानता है।

योगशिखोपनिषद् की दृष्टि से राजयोग का स्वरूप

'योगशिखोपनिषद्' में कहा गया है—

योनिमध्ये महाक्षेत्रे जपाबंधूकसन्निभम्।
रजो वसति जन्तूनां देवीतत्त्वं समावृतम्॥

रजसो रेतसो योगाद्राजयोग इति स्मृतः।
अणिमादि पदं प्राप्य राजते राजयोगतः॥ (१३६-१३७)

नारदोक्त राजयोग का स्वरूप

नारदोक्त राजयोग अद्वैताश्रित है—

'एवमद्वैतयोगेन विमुक्तिर्वो मयोदिता॥'

विज्ञानभिक्षु ने **नारदोक्त राजयोग की पद्धति** अपने योग ग्रन्थ में उद्धृत की है।[१] इसका स्वरूप इस प्रकार है—

'विलाप्य विस्तरं कृत्स्नं चिदेकरसबोधने।
राजयोगं प्रवक्ष्यामि तं शृणुध्वं द्विजोत्तमाः॥
वेदान्तेभ्यः सतां सङ्गात् सद्गुरोश्च स्वतस्तथा।
ज्ञेयोऽन्तः प्रकृतेरन्य आत्मा सम्यङ् मुमुक्षुभिः॥
इत्यात्मानं दृढं ज्ञात्वा संगं सर्वं ततस्त्यजेत्।
अद्वैतसिद्धौ यतमामन्यसङ्गो ह्यरिः स्फुटम्।
एकान्ते स्वासनो धीरः शुचिर्दक्षः समाहितः।
यततोपनिषद् दृष्टमायाभिन्नात्मदर्शने।
पराक्प्रवृत्ताक्षगणं योगी प्रत्यक् प्रवाहयेत्।
रुद्ध्वा मार्गं तदत्यन्तं मुक्तास्त्रौघमिवार्जुनः।
स्थापयित्वा पदेऽक्षाणि स्वे स्वेऽन्तस्तु मनः शनैः।
निवृत्तसैन्यं राजानं वेश्मेवान्तः प्रवेशयेत्॥
अन्तः स्थिते च मनसि न चलन्तीन्द्रियाण्यपि।
अभ्राणि स्तिमितानीव चोदकेऽन्यगतेऽनिले।
ततो वपुरहङ्कार बुद्धिभ्योऽन्ये चिदात्मनि।
तासां प्रवर्तयितरि स्वात्मनि स्थापयेन्मनः।
मुधा कर्तृत्वभोक्तृत्वमानिनं तमथामलम्॥
सर्वात्मनि चिदानन्दघने विष्णौ सु योजयेत्।
सलिले करकाश्मेव दीपोऽग्नाविव तन्मयः।
जीवो मौढ्यात्पृथग्बुद्धौ युक्तो ब्रह्मणि लीयते।
अयं च जीवपरयोर्योगो योगाभिधो द्विजाः।
सर्वोपनिषदामर्थो मुनिगोप्यः परात्परः॥

---

१. योगसार संग्रह

एवं ब्रह्मणि युक्तात्मा सन्निरन्तरचिद्रसः।
आसीताभ्यन्तरं बाह्यं विलाप्य जगदात्मनि॥
क्रमाद्विलापयन्नेव कठिनांशोपमं जगत्।
विस्तरं स्वात्मविद्योगी निर्विशेषं विलापयेत्॥
एवं सततयुक्तात्मा क्रमाद्विष्णुमयो भवेत्।
न हि सैन्धवशैलोऽपि क्षणादम्बुमयो भवेत्॥
व्युत्थितोऽपि जगत्कृस्त्नं विष्णुरेवेति भावयन्।
निर्ममो निरहङ्कारश्चरेच्छिथिल संसृतिः।
एवं सततमभ्यासाल्लीनबुद्धेः परात्मनि।
कर्माणि बुद्धिपूर्वाणि निवर्तन्ते स्वतो द्विजाः।
पूर्वाभ्यासबलात्कार्यो न लौक्यो न च वैदिकः।
अपुण्यपापः सर्वात्मा जीवन्मुक्तः स उच्यते।
तद्देहपाते च पुनः सर्वगो न स जायते।
एवमद्वैतयोगेन विमुक्ति वों मयोदिता॥''

विज्ञान भिक्षु—योगसार संग्रह

राजयोग 'अमनस्क योग' है।

अमनस्क का स्वरूप क्या है?

(१) अमनस्केऽपि संजाते चित्तादि विलयो भवेत् ।'

प्र०—'अमनस्क' का आविर्भाव कैसे होता है?

'तत्त्वस्य संमुखे जाते अमनस्क प्रजायते।'

प्र०—'तत्त्व' संमुख होता कैसे है?

'न किंचिन्मनसा ध्यायेत्सर्वचिन्ताविवर्जितः।
स बाह्याभ्यन्तरे योगी जायते तत्त्वसंमुखः॥

प्र०—'अमनस्क' की साधना-प्रक्रिया क्या है?

'विविक्तदेशे सुखसन्निविष्टः समासने किंचिदुपेत्य पश्चात्।
बाहुप्रमाणं स्थिरदृक् स्थिरांगश्चिन्ताविहीनोऽभ्यसनं कुरुष्व॥

गोरक्षनाथ का 'अमनस्क योग'

'दृष्टिः स्थिरा यस्य विना निमेषाद्,
वायुः स्थिरो यस्य विना निरोधात्।
चित्तं स्थिरं यस्य विनावलम्बनात्,
स एव योगी स गुरुः स सेव्यः॥

न किञ्चिच्चिन्तयेद् योगी औदासीन्यपरो भवेत्।
न किञ्चिच्चिचिन्तनादेव स्वयं तत्त्वं प्रकाशते।
औदासीन्यामृतौघेन वर्धमानेन योगिनाम्।
उन्मूलितमनो मूलो जगद्वृक्षः पतिष्यति।
—गोरक्षनाथ अमनस्कयोग

शिथिलीकृत सर्वाङ्गं आनखाग्रशिखाग्रतः।
'चिन्ताचेष्टाविवर्जितः॥
—गोरक्षनाथ

मत्स्येन्द्रनाथ का आविर्भाव-काल

महायोगी एवं महातांत्रिक सिद्ध मत्स्येन्द्रनाथ के आविर्भाव-काल के विषय में कोई सुनिश्चित मत स्थापित नहीं हो सकता है और इस दिशा में मतैक्य का अभाव है।

अभिनव गुप्तपादाचार्य ११वीं शताब्दी के हैं।[१] अभिनव गुप्त ने अपने ग्रंथ 'तन्त्रालोक' में मत्स्येन्द्रनाथ को नमस्कार किया है—

'रागारुणं ग्रन्थिविलावकीर्णम् यो जालमातानवितानवृत्तिः।
कलोम्भितम् बाह्यपथे चकारस्तन्मे स मच्छन्दविभुः प्रसन्नः॥

'तंत्रालोक' के टीकाकार जयरथ ने मत्स्येन्द्रनाथ को **'सकल कुलशास्त्र अवतारक'** कहा है।

यदि अभिनव गुप्त का आविर्भावकाल ११वीं सदी है तो स्पष्ट है कि मत्स्येन्द्रनाथ का समय ११वीं सदी पूर्व का था।

निष्कर्ष—

(१) मत्स्येन्द्रनाथ ११हवीं सदी के पूर्व विद्यमान थे। उनका जन्म कामरूप के निकट चन्द्रगिरि में हुआ था। गोरक्षनाथ मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य थे—

'आदिनाथें उपदेश पार्वतीसी केला।
मत्स्येन्द्रे ऐकिला मच्छगर्भी।
शिवहृदयींचा मन्त्र पै अगाध।
जालासे प्रसिद्ध भक्तियोगें।
तेणेत्या गोरक्षा केलें कृपादान॥
तेथोनि प्रकट जाण गहिणी प्रति॥
गहिनीनें दया केली निवृत्तिनाथा।

१. डॉ० बलदेव उपाध्याय।

बालक असतों योगरूप।
तेयो ज्ञानेश पावले प्रसाद।
जाले ते प्रसिद्ध सिद्धासनीं।।''

गोरक्षनाथ का आविर्भावकाल—[१]

(१) डॉ० बड्थ्वाल का मत : (संवत् १०५० के आस-पास)
(२) डॉ० राम कुमार वर्मा का मत : (१३वीं सदी)
(३) इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका : (१३वीं सदी)
(४) डॉ० शहीदुल्ला का मत : (सं० ७२२)
(५) राहुल सांकृत्यायन का मत : (संवत् ९०२)
(६) डॉ० मोहन सिंह का मत : (विक्रम की ९वीं १०वीं सदी)
(७) डॉ० फर्कुहर का मत : (सं० १२५७)
(८) डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत : (वि० सं० १०वीं सदी)
(९) डॉ० प्रबोध चन्द्र बागची का मत : (९०० A. D.)
(१०) (त्र्यम्बकपन्त गोरक्ष के शिष्य थे। त्र्यम्बक पन्त ने सं० १२७० में गोरक्ष से शिष्यत्व ग्रहण किया। अत: गोरक्षनाथ का आविर्भाव काल सं० १२५७ भी अनुमानत: लगाया गया है।

मत्स्येन्द्रनाथ के आविर्भावकाल के विषय में—

डॉ० प्रबोध बागची का मत—डॉ० बागची कहते हैं कि अभिनव गुप्त का आविर्भाव ११वीं सदी (११A. D.) में हुआ था। अत: यदि मत्स्येन्द्र का आविर्भाव-काल १०० वर्ष पूर्व का भी मान लिया जाय तो भी मत्स्येन्द्रनाथ का आविर्भावकाल ९०० A. D. में हुआ—''मत्स्येन्द्र लिव्ड ऐट लीस्ट हण्ड्रेड ईयर्स अर्लियर, से एबाउट ९००A. D.

—'कौलज्ञान निर्णय की भूमिका

जालन्धर नाथ का भी आविर्भाव-काल—९०० A. D. ही है। (प्रबोध चन्द्र बागची)।

डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन है कि आचार्य अभिनव गुप्त ने सन् ९९१ ई० में 'क्रमस्तोत्र' की रचना की थी एवं सन् १०१५ ई० 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञा' पर 'बृहती' नामक टीका लिखी थी। उन्होंने मत्स्येन्द्र नाथ की 'तंत्रालोक' में स्तुति की है। अत: उनका आविर्भावकाल सन् ईसवी की दसवीं शताब्दी के अन्त में और ११वीं शताब्दी के आदि में है। यदि अभिनव गुप्त का आविर्भाव काल १०वीं सदी

---

१. डॉ० हजारी प्रसाद का कथन है कि नाथमार्ग के आदि प्रवर्तकों का समय नवीं शताब्दी का मध्य भाग है। ('नाथसम्प्रदाय' द्वि० सं०—पृ० ५९)

के अन्त एवं ११हवीं सदी के प्रारंभ का है तो मत्स्येन्द्रनाथ का आविर्भाव काल दसवीं सदी के अन्त के पूर्व का है।

राहुल सांकृत्यायन के मतानुसार मत्स्येन्द्रनाथ का आविर्भाव काल ९वीं सदी का मध्यकाल है।

राजा देवपाल ८०९-४९ तक राज्य करते रहे। वे मत्स्येन्द्र (मीनपा) के समकालीन थे। अत: मत्स्येन्द्रनाथ का काल भी ८०९-४९ माना जाना चाहिए।

अभिनव गुप्त ने मत्स्येन्द्रनाथ का नामोल्लेख किया है। अत: मत्स्येन्द्रनाथ अभिनव गुप्त के पूर्ववर्ती हैं।

अभिनवगुप्ताचार्य का आविर्भाव काल क्या है?

उन्होंने ९९१ ई० में 'क्रमस्तोत्र' की रचना की। इसके पूर्व मत्स्येन्द्रनाथ थे।

नेपाल के एक शिलालेख में लिखा है—

'अतीत कलिवर्षेषु शून्यद्वन्द्वरसाग्निषु।
नेपाले जयति श्रीमानार्यावलोकितेश्वर:॥'

इससे तो यह सिद्ध होता है कि ५२० ईसवीय संवत्सर में कदलीदेशस्थ मत्स्येन्द्रनाथ का गोरक्षनाथ ने उद्धार किया और वे इसी समय नेपाल में प्रथम बार अवलोकित हुए अत: उनका नाम 'अवलोकितेश्वर' पड़ा—

'मत्स्येन्द्रनाथ: नेपालभागतस्तत्र च प्रथमं जनैरवलोकित इत्यवलोकितेश्वर इत्युच्यते।'

इस आधार पर तो मत्स्येन्द्रनाथ का आविर्भाव छठवीं शताब्दी के प्रारंभ में हुआ—

'एवमीसवीयषष्ठशत्या: प्रारम्भे पूर्णसिद्धस्य तस्य स्थिति: सिद्ध्यति सम्भाव्यते चैतत् ॥[1]

मत्स्येन्द्रनाथ की रचनायें

मत्स्येन्द्रनाथ के द्वारा प्रणीत ग्रंथों में प्रमुख ग्रंथ निम्नाङ्कित हैं—

१. मत्स्येन्द्र संहिता
२. कौलज्ञान निर्णय
३. अकुलवीर तन्त्रम्
४. कुलानन्द
५. कुलार्णव
६. कौलार्णव
७. महाकौलार्णव
८. शाबर चिन्तामणि

---

१. गोरक्ष संहिता : भूमिका जनार्दन शास्त्री।

इन ग्रंथों के अतिरिक्त अन्य अनेक मत्स्येन्द्र-प्रणीत ग्रन्थ नेपाल दरबार ग्रंथ संग्रहालय एवं जोधपुर राजसंग्रहालय में उपलब्ध हैं। 'मुक्तापुर मङ्गलूर से प्रकाशित एक बृहदाकार 'मत्स्येन्द्र संहिता' भी मिलती है। शाक्त मतावलम्बी तांत्रिकों की भाँति मत्स्येन्द्रनाथी कौलधारा का विश्वास है कि—

'यत्रास्ति भोगो न तु तत्र मोक्षो,
यत्रास्ति मोक्षो न तु तत्र भोगः।
श्री सुन्दरीसाधकपुङ्गवानां,
भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव॥

मत्स्येन्द्रनाथ का जन्मस्थान—मत्स्येन्द्रनाथ चन्द्रगिरि में उत्पन्न हुए थे। चन्द्रगिरि कामरूप के निकट था या बंगाल के समुद्री किनारे पर था।

तिब्बती परम्परा के अनुसार उनका जन्म-स्थान ब्रह्मपुत्र से आच्छादित किसी द्वीपाकार अंचल में था।

डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत—(१) मत्स्येन्द्रनाथ का जन्मस्थान कामरूप के सन्निकट स्थित चन्द्रगिरि नामक स्थान है या

(२) बंगाल के समुद्री तट पर है।

(३) इतना निश्चित है कि यह स्थान पूर्वी भारतवर्ष में कामरूप के समीप था।

इनका प्रादुर्भाव ९वीं शताब्दी में किसी समय हुआ था। उन्होंने स्त्री-साहचर्य-प्रधान साधना 'कौलसाधना' कदली वन (स्त्री देश) में की जो कि कामरूप ही हो सकता है। 'कदली देश' आसाम का उत्तरी भाग है। ब्रिग्स मत्स्येन्द्र के शिष्य गोरक्षनाथ का आविर्भावकाल १२०० ई० से पूर्व संभवतः ११वीं शताब्दी का **आरंभकाल** मानते हैं और उनका जन्म बंगाल में मानते हैं। इतना होने पर भी ब्रिग्स अपनी मान्यता को अन्तिम सत्य स्वीकार नहीं करते। अतः निश्चित रूप से जोर देकर कुछ भी नहीं कहते। अतः मत्स्येन्द्र का काल **११वीं सदी सदी के पूर्व का ही** निश्चित होता है।

मत्स्येन्द्रनाथ की साधना का परवर्ती स्वरूप जिस सिंहलद्वीप में रूपायित हुआ उसकी स्थिति कहाँ है? वर्तमान गढ़वाल और कुमायूं के मध्य का अंचल **'स्त्रीराज्य'** कहा जाता है और कदलीवन भी **'स्त्रीराज्य'** कहा जाता है।[1] कुलूत देश (कुल्लू) को भी **'स्त्रीदेश'** कहा जाता है। हुएन्स्वांग ने सतलज के उद्गमस्थान के निकट के किसी स्थान को **'स्त्रीराज्य'** कहा है।[2] कोई-कोई 'कामरूप' को ही **'स्त्रीदेश'** कहते हैं।

---

१. नाथ-सम्प्रदाय। २. नाथ-सम्प्रदाय

महाभारत में जिस 'कदलीवन' का उल्लेख है उसमें अश्वत्थामा, बलि, व्यास, हनुमान, विभीषण, कृपाचार्य एवं परशुराम सदा निवास करते हैं। (महाभारत वनपर्व)

* मत्स्येन्द्रनाथ–एक विहंगमावलोकन *

मत्स्येन्द्रनाथ—मत्स्येन्द्रनाथ नाथ-पन्थ के आदि सिद्ध एवं इस पंथ के प्रवर्तक थे। वे महायोगी एवं महासिद्ध थे।

योगी चौरंगीनाथ कहते हैं—(१) सत्य गुर मछंद्रनाथ प्रसादे अम्हारा फीटला भ्रांति, सत्य सत्य भारवन्त चौरंगीनाथ अनंत पिंडेरा होइ मुक्ति॥' —प्राण सांकली

(२) 'ई अम्हारा भइला सासत, पाप कल्पना नहीं हमारे मन, हाथ पाँव कटाय रलाई लायला निरंजन वने, सोष संताप मने परभेव सनमुख देखीला श्री मछंद्रनाथ गुरुदेव नमसकार करीला नमाईला माथा।'' —चौरंगीनाथ

प्रेमदास कहते हैं—

'नमो आदिनाथ भए हैं सुनाथ
नमो सिध मछिन्द्रं बड़ो जोगिन्द्रं॥' —प्रेमदास

'आदिनाथो गुरुर्यस्य गोरक्षस्य च यो गुरुः।
मत्स्येन्द्रं तमहं वन्दे महासिद्धं जगद्गुरुम् ॥'

नाथपरम्परा में आदिनाथ भगवान शंकर के बाद सबसे महान आचार्य, सिद्ध एवं मान्यतम विभूति के रूप में मत्स्येन्द्रनाथ उच्चतम शीर्ष पर अवस्थित हैं। चूँकि आदिनाथ तो शिव का ही दूसरा नाम है, अत: नाथपरम्परा में मत्स्येन्द्रनाथ ही प्रथम आचार्य हैं और इस दृष्टि से उन्हें नाथसम्प्रदाय का प्रवर्तक कहना भी अतिशयोक्ति नहीं है। मानव-गुरुओं एवं आचार्यों में नाथसम्प्रदाय के प्रथम गुरु एवं प्रथम आचार्य मत्स्येन्द्रनाथ ही हैं।

यदि हम नेपाली-आस्था एवं नेपाली-जनश्रुति पर विचार करें तो मत्स्येन्द्रनाथ 'अवलोकितेश्वर' के अवतार थे। नाथ-परम्परा के आदि गुरु मत्स्येन्द्रनाथ **'कौलाचार' के भी सिद्ध पुरुष हैं। काश्मीरीय शैवागम में भी मत्स्येन्द्रनाथ** एक महान् सिद्ध पुरुष के रूप में मान्य हैं। क्या वे मीननाथ के पुत्र थे?

तिब्बती-अनुश्रुति के अनुसार तो वे **मीननाथ के ही पुत्र थे**। 'कौलज्ञाननिर्णय' के अनुसार **मीननाथ एवं मत्स्येन्द्रनाथ अभिन्न** हैं।

नेपाली-आस्था के अनुसार **'मीननाथ' मत्स्येन्द्र के अनुज** थे। स्वात्माराम मुनीन्द्र के मत से **'मीननाथ' एवं 'मत्स्येन्द्रनाथ' भिन्न-भिन्न** थे। 'बौद्धगान ओ दोहा' (गङ्गा पुरातत्त्वांक) तथा तिब्बती-अनुश्रुति के अनुसार मत्स्येन्द्रनाथ **मीननाथ**

के पुत्र थे। 'वर्णरत्नाकर' से ज्ञात होता है कि मीननाथ एवं मत्स्येन्द्रनाथ एक ही सिद्ध के **दो नामान्तर** हैं।

चौरंगीनाथ और मत्स्येन्द्रनाथ

मत्स्येन्द्रनाथ चौरंगीनाथ के गुरु थे। गोरखनाथ और चौरंगीनाथ गुरुभाई थे—
'मछंदरनाथ गुरु अम्हारा, गोरखनाथ भाई।'' —चौरंगीनाथ

मत्स्येन्द्रनाथ अमर हैं क्योंकि—

'इत्यादयो महासिद्धा हठयोगप्रभावतः।
खण्डयित्वा कालदण्डं ब्रह्माण्डे विचरन्ति ते।।'

—हठयोग प्रदीपिका (१।९)

गुरु मत्स्येन्द्रनाथ ने ही चौरंगीनाथ के मन में उत्पन्न समस्त भ्रांतियों का उच्छेद किया था। चौरंगी नाथ कहते हैं—

'मूर्ति सतगुरु मछिंद्रनाथ प्रसादे आहारी फीटीला भ्रांति।।'

गोरक्षनाथ और मत्स्येन्द्रनाथ

(क) गोरक्षनाथ अपने को मत्स्येन्द्र का दास कहते हैं—

'प्यण्ड ब्रह्मण्ड निरन्तर बास। भणंत गोरख मछंयद्र का दास।'

(ख) गोरखनाथ एवं मत्स्येन्द्र का परिचय देते हुए प्रतीकात्मक गुह्य भाषा में कहते हैं कि—

'अवधू ईश्वर हमारै चेला भणींजै।
मछींद्र बोलिए नाती।।'

(ग) वे फिर सरल भाषा में कहते हैं कि—

'भणंत गोरखनाथ मछींद्रनाथपूता अबिचल थीर रहांना।।'

(घ) गोरक्षनाथ मत्स्येन्द्र नाथ की कृपा के आभारी हैं—

(१) 'मछिन्द्र प्रसादैं गोरख बोल्या नित नवेलड़ी थाये।'
(२) 'गंगजमुन विच खेलै गोरख गुरु मछिन्द्र प्रसाद।।'
(३) 'मछिंद्र प्रसादै जती गोरख बोल्या निरंजनं सिधि नै थानं।'

(ङ) गोरक्षनाथ अपने को मत्स्येन्द्र का पुत्र कहते हैं—

'भणत गोरखनाथ मछिंद्र नां पूता
मार्यो मृघ भया अवधूता।।'
'आदिनाथ-नाती, मछेंद्रनाथ पूता।
आरती करै गोरख औधूता।।'

(च) गोरक्षनाथ मत्स्येन्द्रनाथ को अपना गुरु कहते हैं—

'ॐ नमो सिवाई ॐ नमो सिवाइ, गुरु मछींद्रनाथ पादुका नमस्तते इति प्राण सकली ग्रंथ।'

मत्स्येन्द्रनाथ को **बँगला भाषा का आदि कवि** भी कहा जाता है।

'ज्ञानेश्वरी' (१८। ओ० १७५४) में कहा गया है कि समाधि के आकांक्षी मीन ने शिवोपदिष्ट योग को गोरक्षनाथ को दिया—

'मग समाधि अव्यत्या भोगावी वासना यया।
ते मुद्रा श्री गोरक्षराया दिघलीं मीनी॥'

मत्स्येन्द्र ही 'नारदपुराण' (६६।२७) के **'सिद्धनाथ'** हैं—

'सुतो ममायं किल मत्स्यनाथो विज्ञाततत्त्वोऽखिल सिद्धनाथ:।'

बौद्धसिद्ध मत्स्येन्द्रनाथ को इन्द्रजाल का ज्ञाता, शक्तिसाधक तथा अवलोकितेश्वर कहते हैं और उन्हें तांत्रिक वज्रयानी, परम्परा के मंत्र—"ओम् मणि पद्मे हुम्।" का आराधक भी मानते हैं।

* मत्स्येन्द्रनाथ शिवावतार के भी गुरु हैं *

गोरखनाथी सम्प्रदाय के अवधूत गोरखनाथ को शिव का साक्षात् अवतार मानते हैं। मत्स्येन्द्रनाथ गोरक्षनाथ के गुरु हैं। जो गोरक्षनाथ स्वयं शिव के अवतार हैं, उनके भी गुरु मत्स्येन्द्रनाथ हैं अर्थात् मत्स्येन्द्र शिव के भी गुरु हैं। इससे बड़ी महिमा मत्स्येन्द्रनाथ की और क्या हो सकती है?

मत्स्येन्द्रनाथ आदि नाथ के शिष्य हैं—'हठयोगप्रदीपिका' के टीकाकार ब्रह्मानन्द ने अपनी 'ज्योत्स्ना' नामक टीका में मत्स्येन्द्रनाथ का परिचय देते हुए कहा है—

'सर्वेषां नाथानां प्रथमो नाथ: ततो नाथसम्प्रदाय: प्रवृत्त इति नाथसम्प्रदायिनो वदन्ति। मत्स्येन्द्राख्यश्च आदिनाथ-शिष्य:॥'

इस प्रकार मत्स्येन्द्रनाथजी नाथपरम्परा में आदिनाथ के शिष्य एवं नाथ परम्परा के प्रथमाचार्य हैं। वे नाथ-सम्प्रदाय के आदि गुरु (नाथ-सम्प्रदाय प्रवर्तक) और कौलाचार (कौलमत) के सिद्ध हैं। उन्हें नेपाल में भगवान अवलोकितेश्वर के अवतार के रूप में स्वीकार करके उनकी पूजा की जाती है।

गोरक्षनाथ का कथन है कि—(१) शिव हमारे शिष्य हैं और (२) मत्स्येन्द्रनाथ हमारे नाती शिष्य हैं। यदि यह उल्टी स्थापना नहीं की जाती तो सारी पृथ्वी के लोग 'निगुरे' (बिना गुरु के) रह जाते और प्रलय में समा जाते—

'अवधू स्यो हमारा चेला भणीजे मछिन्द्र बोलिए नाती।
निगुरी पृथिवी परले जाती ताथै उल्टी थापना थापी।।'

—गोरखबानी

यह कथन अभिधावृत्ति की दृष्टि से सत्य नहीं है। इसका 'कौलिकार्थ' या 'तत्त्वार्थ' पृथक ही है। इसके विपरीत गोरक्ष ने मत्स्येन्द्रनाथ को गुरु मान कर उनकी आरती भी की है और अपने को उनका पुत्र भी कहा है—

'आदिनाथ नाती मछेन्द्रनाथ पूता।
आरती करे गोरख अवधूता।।'

वे अपने को मत्स्येन्द्र का 'दास' भी कहते हैं—

'भणंत गोरखनाथ मछीन्द्र नां दासा।'

क्या मत्स्येन्द्रनाथ बौद्ध थे?

(१) बौद्धों के लुईपाद एवं मत्स्येन्द्र एक नहीं हैं।

(२) हर प्रसाद शास्त्री एवं डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत है कि मत्स्येन्द्रनाथ कभी भी बौद्धधर्मावलम्बी नहीं थे। नेपाली बौद्ध मत्स्येन्द्रनाथ को 'अवलोकितेश्वर' का अवतार अवश्य मानते हैं।

(३) तारानाथ की दृष्टि—गोरक्षनाथ पहले बौद्ध तांत्रिक थे। तिब्बती इतिहासकार तारानाथ के अनुसार पहले गोरक्ष का नाम अनंगवज्र था। शास्त्रीजी के मत से 'रमणवज्र' नाम था।

* मत्स्येन्द्रनाथ विषयक विभिन्न उपाख्यान *

ज्ञानेश्वर की दृष्टि—श्री ज्ञानेश्वर 'भावार्थदीपिका' (ज्ञानेश्वर) के अठारहवें अध्याय में श्लोक क्रमांक ७८ (ओवी क्र० १७५०) पर प्रकाश डालते हुए मत्स्येन्द्रनाथ के विषय में यह कहते हैं—

'क्षीरसमुद्र के तट पर श्री शंकरजी ने पार्वती के कानों में न जाने कब एक बार जो उपदेश दिया वह क्षीरसागर की लहरों में किसी मत्स्य के पेट में, जो मत्स्येन्द्र-नाथ गुप्त थे, उनको प्राप्त हुआ। वे मत्स्येन्द्रनाथ सप्त शृंगपर्वत पर **चौरङ्गीनाथ** से मिले, जिनके हाँथ-पैर नहीं थे। मिलते ही **चौरङ्गीनाथ** सर्वाङ्ग हो गए। फिर अचल समाधि का उपभोग करने की आकांक्षा से मत्स्येन्द्रनाथ ने गोरक्षनाथ को उपदिष्ट किया।

बँगला साहित्य और मत्स्येन्द्रनाथ—बँगला-साहित्य में वर्णित नाथोपाख्यान मुख्यतः दो कथावृत्तों पर आधृत है। प्रथम में आदिनाथ (शिव) के मीननाथ (मत्स्येन्द्रनाथ) को शाप देने एवं उनका कदली भूमि में जाकर कामिनियों की संगति

में रहना और अपने महान शिष्य गोरखनाथ की योगशक्ति और उद्बोधन से पूर्ववत स्थिति को प्राप्त होने की कथा वर्णित है।

द्वितीय वृत्त में राजा गोपीचन्द (गोविन्द चन्द्र) के संसार-त्याग एवं शाश्वत जीवन की गवेषणा में नाथ योगी का व्रत लेने की कथा है।

मराठी साहित्य और मत्स्येन्द्रनाथ—पंजाबी और मराठी साहित्य में भी नाथ सिद्धों का वृत्तान्त तथा नाथों की योगोपासना का वर्णन मिलता है। इसी प्रसंग में मत्स्येन्द्रनाथ का वृत्त भी आया है।

मराठी साहित्य आदिनाथ से बिठोवा खेचर पर्यन्त अपनी गुरुपरम्परा स्वीकार करते हुए मत्स्येन्द्रनाथ को भी अपनी परम्परा में जोड़ता है—

'आदिनाथ गुरु सकल सिद्धाचा,
मच्छिन्द्र तयाचा मुख्य शिष्य,
मच्छिन्द्रा ने बोध गोरक्षासीं केला।
गोरक्ष वलला गाहिनी प्रती।।' आदि।।

मत्स्येन्द्रनाथ का लौकिक परिचय

नाथ-सम्प्रदाय के प्रथम मानव आचार्य, कौलमत के 'सिद्धामृतमार्ग' के अनुवर्ती एवं 'योगिनीकौलमार्ग' के प्रवर्तक तथा तंत्र एवं योग के समन्वयक मत्स्येन्द्रनाथ नाथपरम्परा के आदि सिद्ध हैं और भगवान शिव के शिष्य हैं।

नेपाल दरबार के पुस्तकालय में उपलब्ध **'नित्याह्निकतिलकम्'** नामक ग्रंथ में २५ कौलसिद्धों के नाम, उनकी जाति, उनके जन्मस्थान, उनकी चर्या का नाम, उनके गुप्त नाम, उनके कीर्तिनाम एवं उनकी शक्तियों के नाम का पूर्ण परिचय प्रस्तुत किया गया है जो इस प्रकार है—

मत्स्येन्द्रनाथ का परिचय

(१) **नाम**—विष्णु शर्मा (२) **जाति**—ब्राह्मण (३) **जन्मभूमि**—बारणा (बंगदेश) (४) **चर्यानाम**—श्रीगौडीशदेव (५) **पूजानाम**—श्रीपिप्लीश देव (६) **गुप्तनाम**—श्रीभैरवानन्दनाथ (७) **कीर्तिनाम**—वीरानन्दनाथ, इन्द्रानन्ददेव, मत्स्येन्द्रनाथ (तीन नाम) (८) **शक्ति नाम**—श्रीललिता भैरवी अम्बा बापू (८) **पुस्तकें**—कौलज्ञाननिर्णय, अकुलवीर तन्त्र, ज्ञानकारिका, कुलानन्द।

'तन्त्रालोक' में मत्स्येन्द्रनाथ को अद्वैतवादी 'त्र्यम्बक शाखा' के दुहित वंश में समुत्पन्न कहा गया है।

फ़यजुल्ला की दृष्टि में मत्स्येन्द्रनाथ—

'फ़यजुल्ला' ने 'गोरखविजय' में मत्स्येन्द्रनाथ का परिचय इस प्रकार दिया है— "विषयजन्य माया-मोह का त्याग करके मीननाथ ध्यान में लीन हो गए और मन ही मन उन्होंने आदिनाथ गुरु के वचनों का स्मरण किया और क्रमशः ब्रह्मज्ञान से योगपूर्ण काया का उद्धार किया। उन्होंने योगाकांक्षा से अपनी काया को योगबल से पूर्ण करके सुस्थिर किया। महाज्ञान का स्मरण करने से माया नष्ट हो गई।"—

'माया छाड़ि मीननाथ वसिलेक ध्याने,
गुरुवचन सब सोइरिया मने।
ब्रह्मज्ञाने योगपूर्ण शरीर सकल,
क्रमे-क्रमे आपना सकल उद्धारिल।
योग साधि **मीननाथ** स्थिर कैल काया,
महाज्ञान पाइया **मीन** दूर कैल माया॥'

अघोर शिवाचार्य की दृष्टि—'मृगेन्द्रवृत्तिदीपिका' के 'विद्यापाद' में कहा गया है—'हिरण्यगर्भ-कपिलमत्स्येन्द्रादयो वेदसांख्यकौलादि तन्त्राणाम्।' इस प्रकार अघोरशिवाचार्य ने मत्स्येन्द्रनाथ को **कौलमार्ग के प्रवर्तक एवं प्रथम आचार्य** के रूप में प्रस्तुत किया है।

आचार्य अभिनव गुप्त की दृष्टि—आचार्य अभिनव गुप्त पादाचार्य ने **'तन्त्रालोक' के प्रथमाह्निक** में मत्स्येन्द्र नाथ को **'सकलकुलशास्त्रावतारक'** कहकर उनकी स्तुति की है। ये ही **'मच्छन्दविभु'** मत्स्येन्द्रनाथ हैं। कौलसम्प्रदाय में नाथ नामान्त अनेक आचार्य हो चुके हैं। 'कौल-सम्प्रदाय' से **'सौभाग्यविद्या सम्प्रदाय'** का अभिन्न सम्बन्ध है। कतिपय विद्वानों के मतानुसार 'सौभाग्य विद्या सम्प्रदाय' का प्रवर्तन भी इसी **'कौल-सम्प्रदाय'** से हुआ।

आचार्य अभिनवगुप्त मत्स्येन्द्रनाथ ('मच्छन्द') की स्तुति करते हुए कहते हैं—

'रागारुणं ग्रन्थिबिलावकीर्णं यो जालमातानवितानवृत्तिः।
कलोम्भितं बाह्यपथे चकार स्तान्मे स मच्छन्दविभुः प्रसन्नः॥'

टीकाकार जयरथ 'मच्छन्द' की व्याख्या करते हुए 'मच्छ' शब्द का अर्थ 'पाश' स्वीकार करके पाश अर्थात् चपल चित्तवृत्ति रूप पाशों का उच्छेद करने वाले सिद्ध को 'मच्छन्द' कहते हैं और प्रसन्नता की याचना करते हैं—

'मच्छाः पाशाः समाख्याताश्चपलाश्चित्तवृत्तयः।'
छेदितास्तु यदा तेन मच्छन्दस्तेन कीर्तितः॥

—श्रीतन्त्रालोक (प्रथमाह्निक १।७)

जयरथ मत्स्येन्द्र को **'सकल कुलशास्त्रावतारक'** कहते हैं।[१]

मत्स्येन्द्रनाथ ने भैरव-भैरवी से प्राप्त योग का विस्तार भी किया और महापीठ कामरूपपीठ में रहकर उसका उल्लेख भी दिया। निम्नाङ्कित श्लोक में 'मीननाथ' एवं 'मच्छन्द' दोनों शब्दों का उल्लेख किया गया है—

'भैरव्या भैरवात्प्राप्तं योगं व्याप्य ततः प्रिये।
तत्सकाशात्तु सिद्धेन **मीनाख्येन** वरानने।
कामरूप महापीठे **मच्छन्देन** महात्मना।।'

इन्हीं **'मच्छन्द विभु'** को जयरथ ने **'तुर्यनाथ'** कहा है।

जिस जाल का भञ्जन मत्स्येन्द्र ने किया, उसका स्वरूप क्या है? इस दिशा में जयरथ ने यह श्लोक उद्‌धृत किया है—

'मायारूपं भवेज्जालं दारयेत्कुलचिन्तकः।
विश्वाकारं महाजालं नाडीसूत्रनियोजितम्।
भुवनाक्षसमोपेतं तत्त्वग्रन्थिदृढ़ीकृतम्।
कला रागयुतं चैव...................।।'[२]

अभिनव गुप्तपादाचार्य ऐसे ही कौलमार्ग एवं महायोगी 'मच्छन्द' की प्रसन्नता (कृपा) के याचक हैं—

'स्तान्मे स मच्छन्दविभुः प्रसन्नः।।'[३]

नाथ पन्थ और मत्स्येन्द्रनाथ

हठयोगप्रदीपिकाकार की दृष्टि—स्वात्माराम मुनीन्द्र ने 'हठयोगप्रदीपिका' के प्रथम पटल में हठयोग के जिन महासिद्धों का नामोल्लेख किया है, उसमें आदिनाथ के पश्चात् मत्स्येन्द्रनाथ ही हैं—

'श्रीआदिनाथमत्स्येन्द्रशाबरानन्द भैरवाः।
चौरङ्गी-मीन-गोरक्ष-विरूपाक्ष-बिलेशयाः।।'

इसमें मत्स्येन्द्रनाथ के बाद शाबरानन्द आदि का नामोल्लेख करते हुए पृथक् से 'मीनगोरक्ष' नाम भी उल्लिखित किए गए हैं। क्या ये 'मीननाथ' मत्स्येन्द्रनाथ से पृथक् सिद्ध थे? स्वात्माराम ने 'मीननाथ' को पृथक सिद्ध माना है।

* मत्स्येन्द्रनाथ का आविर्भाव *

टीकाकार ब्रह्मानन्द 'ज्योत्स्ना' में कहते हैं कि नाथ सम्प्रदाय में मत्स्येन्द्रनाथ के आविर्भाव के विषय में एक प्रख्यात जनश्रुति है। कहा जाता है कि किसी समय

१. विवेक २. जयरथ : विवेक (१।७) ३. तन्त्रालोक (१।७)

नाथ-सम्प्रदाय के प्रसिद्ध महासिद्ध आदिनाथ भगवान शिव किसी द्वीप में स्थित होकर वहाँ एकान्त में भगवती गिरिजा को योग का उपदेश दे रहे थे। उस स्थान के निकट स्थित तट के जल में कोई मत्स्य था। उस योगोपदेश को उस मत्स्य ने भी सुन लिया और उसने इतनी एकाग्रता से सुना कि वह निश्चल हो गया। भगवान आदि नाथ ने यह जानकर कि इसने योगोपदेश तो सुन ही लिया,अपनी करूणा एवं अनुकम्पा के कारण उसका जल से प्रोक्षण किया। वह मत्स्य प्रोक्षण मात्र से दिव्यकाय मत्स्येन्द्र नामक सिद्ध हो गया। इसी मत्स्य के रूपान्तर को 'मत्स्येन्द्रनाथ' कहते हैं।

'स च प्रोक्षणमात्राद्दिव्यकायो मत्स्येन्द्रः सिद्धोऽभूत्।'
तमेव मत्स्येन्द्रनाथ इति वदन्ति।[१]

हठयोग के इन महासिद्धों में आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, शाबरानन्द, चौरङ्गीनाथ, मीननाथ, गोरक्षनाथ, विरूपाक्ष, बिलेशय, मन्थान भैरव, सिद्धिबुद्ध, कन्थडि, कोरण्टक, सुरानन्द, सिद्धिपाद, चर्पटि, कानेरी, पूज्यपाद, नित्यनाथ, कपाली, बिन्दुनाथ, काकचण्डीश्वर, अल्लाम, प्रभुदेव, घोडाचोली, टिण्टिणि, भानुकी, नारदेव, खण्डकापालिक इत्यादि महासिद्ध कालदण्ड का भी खण्डन करके ब्रह्माण्ड में विचरण करते रहते हैं— 'इत्यादयो महासिद्धा हठयोग-प्रभावतः।
'खण्डयित्वा कालदण्डं ब्रह्माण्डे विचरन्ति ते॥'[२]

मत्स्येन्द्रनाथ एवं मीननाथ—यद्यपि स्वात्माराम मुनीन्द्र ने 'हठयोगप्रदीपिका' में मत्स्येन्द्र एवं मीननाथ को पृथक-पृथक व्यक्ति स्वीकार किया है, किन्तु प्रबोधचन्द्र बागची महोदय ने 'कौलज्ञाननिर्णय' की भूमिका में कहा है कि 'मत्स्येन्द्रनाथ' एवं 'मीननाथ' दोनों एक ही नाथ सिद्ध के दो नाम हैं।

मीननाथ और मत्स्येन्द्रनाथ—अन्तर्सम्बन्ध

(१) तिब्बती जनश्रुति के अनुसार 'मीननाथ' मत्स्येन्द्रनाथ के पिता थे। ('बौद्ध गान ओ दोहा।')

(२) तिब्बती परम्परा के अनुसार 'मीननाथ' मत्स्येन्द्रनाथ के पिता थे।

(३) नेपाली परम्परा के अनुसार 'मीननाथ' मत्स्येन्द्रनाथ के अनुज थे।

(४) साम्प्रदायिक जनश्रुति के अनुसार 'मीननाथ' मत्स्येन्द्रनाथ के पुत्र थे।

(५) 'कौलज्ञाननिर्णय' के अनुसार[३] 'मीननाथ' एवं मत्स्येन्द्रनाथ दोनों अभिन्न हैं।

---

१. ज्योत्स्ना (१।५)

२. हठयोगप्रदीपिका (१।९)

३. 'कौलज्ञाननिर्णय'—मच्छन्द सकल कुल शास्त्रों के अवतारक के रूप में प्रथित हैं। 'स च सकलकुलशास्त्रावतारकतया प्रसिद्धः॥''

(६) तंत्रालोक की टीका 'विवेक' में उद्‌धृत एक प्रमाण यह सिद्ध करता है कि 'मीननाथ' एवं 'मच्छन्द' दोनों एक हैं, क्योंकि उसमें कहा गया है कि शिव ने पार्वती से कहा कि 'मीननाथ' नामक महासिद्ध 'मच्छन्द' ने कामरूप नामक महापीठ में मुझसे योग पाया था—

'तत्सकाशात्तु सिद्धेन **मीनाख्येन** वरानने।
कामरूपे महापीठे **मच्छन्देन** महात्मना॥'

(७) 'वर्णरत्नाकर' में प्रस्तुत विवरण के अनुसार—'वर्णरत्नाकर' नामक ग्रंथ में सिद्धों की जो सूची प्रस्तुत की गई है उसके अनुसार तो—

(क) प्रथम सिद्ध 'मीननाथ' हैं और (ख) ४१वें सिद्ध 'मीन' हैं।

इसमें प्रथमोल्लिखित 'मीननाथ' तो 'मत्स्येन्द्रनाथ' से अभिन्न हैं, किन्तु ४१वें 'मीन' नामक सिद्ध मीननाथ (मत्स्येन्द्रनाथ) की शिष्य-परम्परा के कोई परवर्ती सिद्ध का नाम है। इसी परवर्ती 'मीन' का उल्लेख (मत्स्येन्द्रनाथ से पृथक सिद्ध के रूप में) स्वात्माराम मुनीन्द्र ने भी 'हठयोगप्रदीपिका' में किया है।

(८) 'कौलज्ञान निर्णय' की पुष्पिका के अनुसार मच्छन्द या मत्स्येन्द्रनाथ 'योगिनीकौल ज्ञान' के अवतारक हैं।

(९) डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी की दृष्टि—'प्राचीन काल में मत्स्येन्द्रनाथ का नाम ही मीन या मीननाथ माना जाता था।'[१]

मत्स्येन्द्रनाथ का नामकरण और उसमें निहित उद्देश्य—यदि मत्स्येन्द्रनाथ जल के मत्स्य थे तब तो 'मत्स्येन्द्र' नाम पड़ना ही था। किन्तु क्या मत्स्येन्द्रनाथ के नाम के रहस्यार्थ या प्रतीकार्थ को प्रामुख्य देकर उनके नाम को महिमान्वित नहीं किया गया और उसी प्रतीकार्थ के अनुरूप उनके स्वरूप को स्वीकार करके उसे महत्ता प्रदान नहीं की गई?

अभिनव गुप्त पाद की दृष्टि—अभिनव गुप्त पाद ने उनके मछुआरे के रूप में स्वीकार न करके उनके नाम के निहितार्थ—'चपल इन्द्रिय रूप मत्स्यों को उच्छिन्न करने वाले एवं माया के महाजाल को तोड़ने वाले महासिद्ध''—के रूप में ग्रहण किया—

'रागारूणं ग्रंथिबिलावकीर्णं
यो जालमातानवितानवृत्तिः।
कलोम्भितं बाह्यपथे चकार,
स्तान्मे स **मच्छन्दविभुः** प्रसन्नः॥'

---

१. नाथ सम्प्रदाय (पृ० ४३)

जयरथ की दृष्टि—आचार्य जयरथ ने भी मत्स्येन्द्र के नाम को इसी प्रकार परिभाषित करके उसके प्रमाण में दो उद्धरण प्रस्तुत किए हैं—

'मच्छाः पाशाः समाख्याताश्चपलाश्चित्तवृत्तयः।
छेदितास्तु यदा तेन मच्छन्दस्तेन कीर्तितः॥'

वे कहते हैं—'पाशखण्डनस्वभावो मच्छन्द एव परमेश्वरसमावेशशालित्वात् विभुः मम् प्रसन्नः स्तात् स्वात्मदर्शनसंविभागपात्रतामाविष्कुर्यात्। यो जालं मत्स्यबन्धनम् इन्द्रजालप्रायां च मायां॥ आदि॥[1]

मीनपा—तारानाथ के अनुसार 'मीनपा' मत्स्येन्द्रनाथ के पिता और गुरु दोनों थे। वे कामरूप के मछुआरा थे। वे एक बार जाल में फँस कर स्वयं भी मछली के पेट में चले गए और उसमें कई वर्षों तक रहे। वे मछली के पेट में ही ब्रह्मपुत्र में बहते-बहते 'उमागिरि' के समीप पहुँचे। यहाँ उमा एवं शिव में तंत्र-वार्ता चल रही थी। मीनपा नामक इस मत्स्य रूप सिद्ध ने उस उमा-शिव की तन्त्र-वार्ता को सुनकर उसके रहस्य को जान लिया और उससे सिद्धि प्राप्त की।

उनके तीन शिष्य हुए—१. हाली, २. माली, ३. तम्बूली। मीननाथ के काल में बौद्ध एवं शैव दोनों परम्परायें बहुत निकट आकर परस्पर मिश्रित होने लगी थीं। इनका झुकाव शैव मत की ओर अधिक था।[2]

गोरक्षनाथ ने 'गोरक्षशतक' में मत्स्येन्द्रनाथ को 'मीननाथ' कहकर उनकी इस प्रकार वन्दना की है—

'श्री गुरुं परमानन्दं वन्दे स्वानन्दविग्रहम्।
यस्य सान्निध्यमात्रेण चिदानन्दायते तनुः॥
अन्तर्निश्चलितात्मदीपकलिका स्वाधारवेधादिभिः।
यों योगी युगकल्पकालकलना तत्त्वं च जेगीयते।
ज्ञानामोदमहोदधिः समभवद यत्रादिनाथः स्वयं।
व्यक्ताव्यक्तगुणाधिकं तमनिशं श्रीमीननाथं भजे॥'

—गोरक्ष शतक १-२

यह भी आश्चर्य की बात है कि गोरक्षनाथ ने 'गोरक्षसंहिता', 'योग बीज',

---

१. विवेक (१/७)
'मायारूपं भवेज्जालं दारयेत्कुलचिन्तकः।
विश्वाकारं महाजालं नाडीसूत्र नियोजितम्॥ आदि।
२. सिद्ध साहित्य (धर्मवीर भारती)

'सिद्धसिद्धान्तपद्धति', 'योगमार्तण्ड', 'अमनस्कयोग' आदि योग-ग्रंथों में मत्स्येन्द्रनाथ का नामोल्लेख करते हुए भी गुरु वन्दना नहीं की है। हाँ—'अमरौघ प्रबोध' में 'मीननाथ' कहकर, 'गोरक्षशतक' में 'श्री गुरुं परमानन्द' कहकर, 'विवेकमार्तण्ड' में भी 'श्रीगुरुं परमानन्दं वन्दे स्वानन्द विग्रहं' कहकर, गुरु-वन्दना अवश्यक की है, किन्तु आदिनाथ शिव को कहीं भी विस्मृत नहीं किया है। **इस उपेक्षा का क्या कारण है**? 'योगमार्तण्ड' में तो उन्होंने 'आदिनाथ' को भी विस्मृत कर दिया है।

'लुईपा', 'मीननाथ' एवं मत्स्येन्द्रनाथ—यह भी कहा गया है कि—

(१) लुईपा (संभवत:) मत्स्येन्द्र से कुछ पहले हुए थे क्योंकि **मत्स्येन्द्र के पिता 'मीननाथ'** कहे गए हैं और मीननाथ बौद्ध थे। मीननाथ प्रत्येक बौद्ध-परम्परा में लुईपा के बाद आते हैं। इतिहासकार तारानाथ ने मीननाथ को कुक्कुटी का शिष्य बताया है और कहा है कि कुक्कुटी ने लुईपा का आम्नाय ग्रहण किया था।

(१) लुईपा—(२)सिद्ध कुक्कुटी— (३) मीननाथ।

लुईपा मत्स्येन्द्र से कुछ पूर्व हुए थे।

सिद्ध मीनपा या मीननाथ 'लुईपा' के बाद हुए। मत्स्येन्द्र एवं लुईपा को अभिन्न मानने का कोई भी सबल आधार नहीं मिलता। केवल नामसाम्य के आधार पर दोनों को एक सिद्ध करने का आग्रह ठीक नहीं है।[१]

'अमरौघ प्रबोध' में 'मीननाथ' एवं 'मीनोदरे' दोनों शब्दों का एक साथ प्रयोग करने वाले ग्रंथ 'श्री सम्पुट' को उद्धृत किया गया है। 'श्री सम्पुट' में कहा गया है कि—

'विभ्राण: पवनं हठान्नियमितं ग्रासोऽस्ति **मीनोदरे**।
कैवल्यो भगवान्विमुच्य सहसा यावन्न चेतत्यसौ।
तं चोक्त्वा गिरिशेन भाषितमिदं कालो न चेत: परं।
पार्वत्या सह **मीननाथ**मवदन्नित्यं चिरं जीमहि।।'[१]

यहाँ 'मीनोदरे' 'पार्वत्या सह मीननाथ' दोनों शब्दों का प्रयोग 'पार्वती' के साथ किया गया है।

(१) मीननाथ की मत्स्य के उदर में स्थिति ('मीनोदरे)।

(२) पार्वती का मीननाथ के साथ सम्पर्क ('पार्वत्या सह मीननाथमवदन)।

(३) मीननाथ द्वारा चिरंजीवत्व के वरदान की प्रार्थना—आदि तत्त्व मत्स्येन्द्र के मत्स्योदर में पलने एवं पार्वती की कृपा से सिद्ध बनना संकेतित करते हैं।

---

१. धर्मवीर भारती—सिद्ध साहित्य।

राहुल सांकृत्यायन की दृष्टि—राहुल जी ने 'गंगा पुरातत्त्वाङ्क' नामक ग्रंथ में अनेक तर्क प्रस्तुत करके सिद्ध किया है कि बौद्ध सिद्धों में मछुआरा जाति का कोई न कोई एक 'मीनपा' नामधारी सिद्ध हुआ था।

तारानाथ का कथन है कि गोरक्षनाथ पहले बौद्ध थे और उनका नाम 'अनङ्गवज्र' था। (**शास्त्री जी के अनुसार** 'अनङ्गवज्र' नहीं 'रमणवज्र' था।)

यह कथन प्रमाणित नहीं होता कि गोरक्ष नाथ कभी बौद्ध थे। नेपाली बौद्ध गोरक्ष से घृणा करते हैं; अतः यह सिद्ध नहीं होता कि गोरक्षनाथ पहले बौद्ध थे, किन्तु बाद में बौद्ध धर्म का त्याग करके नाथ पंथ में दीक्षित हो गए और इसी कारण नेपाली बौद्धों की दृष्टि में घृणास्पद बने।

सारांश यह है कि मत्स्येन्द्रनाथ एवं गोरक्षनाथ दोनों ही कभी बौद्ध नहीं थे। 'तारानाथ' का यह कथन कि सेन राजवंश के पराजयोपरान्त गोरक्षनाथ मुसलमान विजेताओं के कोपभाजन नहीं बनना चाहते थे। अतः उन्होंने बौद्ध धर्म का त्याग करके हिन्दुओं के शिव के आराधक बन गए—प्रमाण-सिद्ध नहीं है। अतः मान्य भी नहीं हो सकता। एक सिद्ध योगी (शिव का अवतार माना जाने वाला एवं अनन्त सिद्धियों का स्वामी एक महान योगी) ने मुसलमानों से डरकर अपना धर्म छोड़ दिया; यह बिल्कुल अप्रामाणिक प्रतीत होता है। गोरक्षनाथ एवं मत्स्येन्द्रनाथ दोनों ईश्वरवादी थे जबकि बौद्ध अनीश्वरवादी। गोरक्ष एवं मत्स्येन्द्र ने बौद्ध दर्शन का खण्डन भी किया है। दोनों के पीठ एवं तीर्थ भी पृथक हैं और दार्शनिक सिद्धान्त भी।

* अन्तः साक्ष्य के आधार पर मत्स्येन्द्र नाथ *

'गोरक्षशतक', 'विवेकमार्तण्ड' एवं 'गोरक्षसिद्धान्त संग्रह' में (तीनों में) 'श्रीमीननाथं भजे' वाला श्लोक (किञ्चित परिवर्तन के साथ) पाया जाता है। इसमें 'मीननाथ' की स्तुति की गई है—

'अन्तर्निश्चलितात्मदीपकलिका स्वाधारवेधादिभि-
र्यो योगीयुगकल्पकालकलनात्तत्त्वं च यो गीयते।
ज्ञानान्मोदमहोदधिः समभवद्यत्रादिनाथं स्वयं।
व्यक्ताव्यक्तगुणाधिकं तमनिशं श्रीमीननाथं भजे।'

अतः यह प्रमाणित होता है कि भले ही बौद्ध-परम्परा में कोई 'मीनपा', 'मीननाथ' या 'मीन' नामक सिद्ध रहे हों किन्तु 'मीननाथ' नाम वाला एक सिद्ध नाथ-पन्थ में ही सदा से रहा है और वह मत्स्येन्द्रनाथ से अभिन्न है।

रागमार्गी बौद्ध तांत्रिक सिद्ध लतासाधन, योगिनी-साहचर्य व 'महामुद्रा-साधना'

आदि में विश्वास रखते थे; किन्तु नाथपन्थी ब्रह्मचर्य में विश्वास करते थे। अतः इस दृष्टि से भी बौद्धों और नाथ-सिद्धों में दृष्टि-भेद है।

* नाथ सम्प्रदाय और महाराष्ट्रीय वारकरी सम्प्रदाय *

महाराष्ट्र के वारकरी-सम्प्रदाय ने 'नाथ-सम्प्रदाय' की भाँति अपने सम्प्रदाय का आदि प्रवर्तक 'आदिनाथ' को एवं (मानव रूप में) आदि सिद्ध मत्स्येन्द्रनाथ को स्वीकार करते हुए अपने वंशवृक्ष का 'स्वरूप ('अमृतानुभव' एवं 'ज्ञानेश्वरी' में) इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

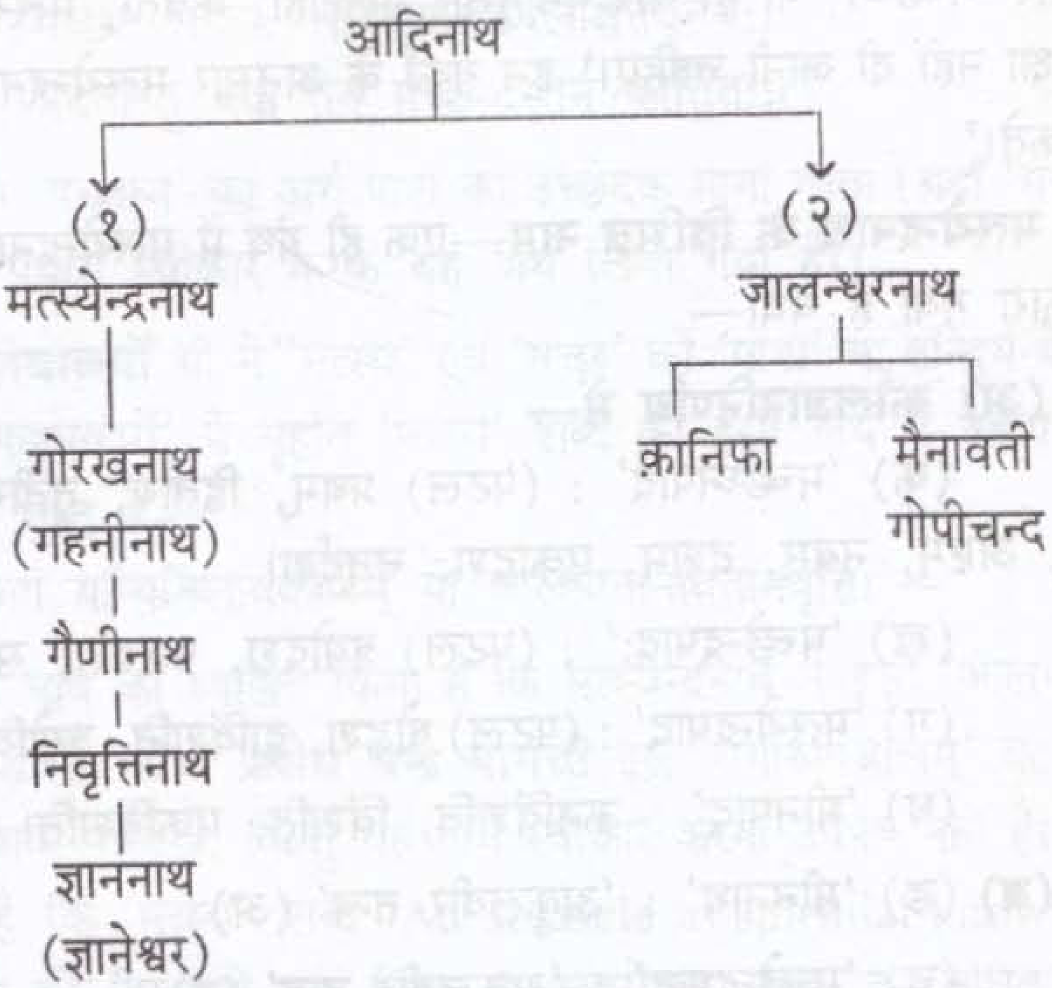

(गोरखनाथ ज्ञानेश्वर के प्रपतिमाह श्री त्र्यम्बक पन्त के समकालीन थे। त्र्यम्बक पन्त भी गोरखनाथ की शरण में गए थे।) गहिणीनाथ गोरखनाथ के शिष्य थे।

बौद्ध-परम्परा और मत्स्येन्द्रनाथ—कतिपय विद्वान मत्स्येन्द्रनाथ को बौद्ध-परम्परा से जोड़कर उन्हें बौद्धों के ८४ सिद्धों में अन्तर्गणित करते हुए लुईपाद एवं मत्स्येन्द्रनाथ दोनों को अभिन्न स्वीकार करते हैं।

सहजयानी बौद्ध सिद्धों में आदि सिद्ध 'लुईपाद' माने जाते हैं। यद्यपि **राहुल सांकृत्यायन** सहजयानी बौद्धों के आदिसिद्ध लुई को नहीं प्रत्युत् सरोरुह वज्र (सरहपाद) को स्वीकार करते हैं तथापि सहजयानी लुई को आदि सिद्ध मानते हैं।

('लोहित' = रोहित = मत्स्य = रोहित—लोहित—लुई (मछली)॥

तिब्बती अनुश्रुति और लुईपाद—'बौद्धगान ओ दोहा' के प्रामाण्यानुसार तिब्बती किंवदन्ती की मान्यता यह है कि 'लुई' का नामान्तर 'मत्स्यान्त्राद' (मत्स्यों

की 'अँतड़ी खाने वाला) है। 'मत्स्यान्त्राद' से मिलता जुलता 'मच्छघ्न' शब्द भी है अत: लुई एवं मत्स्येन्द्र अभिन्न हैं।

हरप्रसाद शास्त्री की दृष्टि—यद्यपि नेपाली बौद्ध मत्स्येन्द्रनाथ को अवलोकितेश्वर का अवतार स्वीकार करते हैं; तथापि **हर प्रसाद शास्त्री** का कथन है कि मत्स्येन्द्रनाथ कभी बौद्ध नहीं थे। अपने कथन के प्रमाण के रूप में वे यह तर्क देते हैं कि बौद्धों का सिद्धान्त है—

"अहिंसा परमो धर्म:"—किन्तु मत्स्येन्द्रनाथ तो मत्स्यघ्न थे और उनका नामान्तर 'मच्छघ्न' भी है। बौद्धधर्मानुसार मल्लाहों, कैवर्तों, मत्स्यघ्नों को बौद्ध धर्म की दीक्षा नहीं दी जानी चाहिए।[1] इन तर्कों के अनुसार मत्स्येन्द्रनाथ कभी बौद्ध नहीं हो सकते।[2]

मत्स्येन्द्रनाथ के विभिन्न नाम—एक ही ग्रंथ में मत्स्येन्द्रनाथ को अनेक नामों से पुकारा गया है यथा—

(अ) कौलज्ञाननिर्णय में—

(क) 'मच्छघ्नपाद' : (पटल) प्रथम्, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम्, सप्तम्, अष्टम्, नवम्, दशम्, एकादश, चतुर्दश।

(ख) 'मच्छेन्द्रपाद:' : (पटल) त्रयोदश, पञ्चदश, सप्तदश।

(ग) 'मत्स्येन्द्रपाद' : (पटल) षोडश, द्वाविंशति, त्रयोविंशति, चतुर्विंशति।

(घ) 'मीनपाद' :- ऊनविंशति, विंशति, एकविंशति।

(ब) (ङ) 'मीननाथ' : 'अकुलवीर तन्त्र' (अ)

(च) 'मच्छेन्द्रपाद' : 'अकुलवीर तन्त्र' (ब)

(स) (छ) 'मत्स्येन्द्र' : 'कुलानन्द कारिका।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वयं मत्स्येन्द्र-प्रणीत ग्रंथों में भी मत्स्येन्द्र के विभिन्न नाम उल्लिखित हैं।

(द) (ज) 'ज्ञानकारिका' (तृतीय) में मत्स्येन्द्रनाथ का नाम—'मच्छिन्द्रनाथपाद' लिखा हुआ है।

* मच्छघ्न नाम और उसका अर्थ *

'मत्स्याभिघातिनैर्विप्रा मत्स्यघ्नमेति विश्रुता:।
कैवर्तत्वं कृतं यस्मात् कैवर्त्तो विप्रनायक:।।'

---

१. बौद्ध गान ओ दोहा।
२. बौद्ध गान ओ दोहा।

चूँकि मत्स्येन्द्रनाथ एक कैवर्त का आचरण करते थे। अत: ब्राह्मण होकर भी वे 'मत्स्येन्द्र' के नाम से पुकारे गए।

मत्स्येन्द्रनाथ ब्राह्मण थे—तन्त्रालोककार ने 'मत्स्यघ्न' का लाक्षणिक अर्थ देकर इसे 'चपल इन्द्रिय रूप मत्स्यों को वध करने वाला' अर्थ का बोधक बना डाला।

जयरथ ने भी लाक्षणिक अर्थ देकर—'मच्छ' को चपल चित्तवृत्तियों के पाश का बोधक कहकर उसके उच्छेदक को 'मच्छन्द' माना—

'मच्छाः पाशाः समाख्यातश्चपलश्चित्तवृत्तयः।
छेदितास्तु यदा तेन मच्छन्दस्तेन कीर्तितः॥'

'मच्छन्द' या 'मच्छघ्न' का अर्थ पाश का उच्छेदक माना गया। (यहाँ 'मच्छन्द' को 'मच्छघ्न' का पर्याय स्वीकार करके यह अर्थ लिया गया है।)

काश्मीरी शैवाचर्यों भी ने 'मत्स्य' एवं 'मच्छ' को 'पाश' या इन्द्रिय के अर्थ में ग्रहण किया। 'पञ्चमकारों' में गृहीत 'मत्स्य' शब्द को इसी अर्थ में ग्रहण किया गया है। **अभिनव गुप्त ने**—

'रागारुणं ग्रन्थिबिलावकीर्णम् यो जालमातानवितानवृत्ति।'—

कहकर इस भाव को व्यञ्जित किया है कि मत्स्येन्द्रनाथ ने इसी 'जालमातान-वितान' को तोड़ डाला। **प्रो० प्रबोध चन्द्र बागची** इस 'रागारुणजालम्' को मत्सर या मात्सर्य का बोधक माना है; किन्तु यह अर्थ स्वीकार करना उपपन्न नहीं है। उनका यह कथन सही है कि 'मत्स्य' शब्द 'An obstacle to spiritual knowledge' (आध्यात्मिक ज्ञान की दिशा में एक विघ्न या अवरोधक तत्त्व) का बोधक है।

'चतुष्पीठतन्त्र' की हिन्दी टीका में दुर्जयचन्द्र (टीकाकार) 'प्रज्ञा' को ही 'मकर' और 'मीन' का ज्ञापक घोषित करते हैं—

'प्रज्ञामकरमीनकैरिति सर्वभावानाम् निःस्वभावता। प्रज्ञा तया च सर्वेन्द्रियाणि प्राणिनैव मकरमीनकैर्व्यापाद्यन्ते इति साधर्म्यात् प्रज्ञैव मकरमीनायते॥[१]

Prof. Tucci : Animadevev siones Indicae'—में कहते हैं कि—इसका अर्थ यह नहीं है कि 'मत्स्येन्द्र' को एक व्यक्ति नहीं प्रत्युत् एक उच्च आध्यात्मिक स्तर पर आरूढ़ एवं आध्यात्मिक-अनुभूति-सम्प्राप्त लोगों का एक सिद्ध वर्ग भी नहीं माना जा सकता। 'कौलज्ञाननिर्णय' में प्रयुक्त 'मत्स्य', 'मत्स्येन्द्र', 'मत्स्यघ्न' एवं 'मच्छघ्न' कोई आलङ्कारिक उपाधि या विशेषण नहीं है प्रत्युत् इसका अर्थ है कैवर्त या मछुवारा।

---

१. चतुष्पीठतन्त्र की टीका (पटल तृतीय)

मत्स्येन्द्र के उपदेशों की विविध प्रकार से व्याख्यायें किए जाने के ही साथ उनके नाम की भी अनेक प्रकार से व्याख्यायें की जाने लगीं। अत: 'मत्स्येन्द्र' नाम (अभिनव गुप्त आदि की व्याख्या में) किसी आत्मिक उच्चता के स्तर का बोधक बन गया।[१]

'मीननाथ' एवं 'मत्स्येन्द्रनाथ' में से मीननाथ को मत्स्येन्द्रनाथ का पुत्र भी माना जाता था।

बागची जी की दृष्टि में ये दोनों नाम पर्यायवाची हैं। यदि 'कौलज्ञाननिर्णय' के अन्तिम अध्यायों के 'Colophons' में 'मीननाथ' या 'मीनपाद' आया हुआ होता तब तो हम उन्हें मत्स्येन्द्रनाथ का उत्तराधिकारी मान लेते; किंतु जिन अध्यायों के अन्त में उनका नाम आता है, वे मध्य के हैं। अत: 'कौलज्ञाननिर्णय' के प्रणयन की समाप्ति के समय भी ये विविध नाम एकार्थक ही थे और एक ही व्यक्ति के बोधक थे।[२] 'अकुलवीरतन्त्र' (अ) में प्रयुक्त 'मीननाथ' एवं 'अकुलवीरतन्त्र' (ब) में प्रयुक्त 'मच्छेन्द्रपाद' भी एक ही व्यक्ति के नाम हैं।[३]

प्रबोध चन्द्र बागची का मत—प्रो० बागची का कथन है कि मत्स्येन्द्रनाथ का इतिहास एक संग्रंथित समस्या है और विभिन्न विद्वानों के द्वारा अथक चिन्तन-मनन के बाद भी आज तक कोई भी सर्वसम्मत एवं निश्चित निर्णय नहीं निकल सका—

The history of Matsyendranath has been a knotty problem for a long time and has been discussed by different scholars without leading to any definite result.[3]

मत्स्येन्द्रनाथ के सम्बन्ध में सर्वाधिक प्राचीन जानकारी केवल 'कौलज्ञाननिर्णय' से ही प्राप्य है।

*** भगवान शिव द्वारा मत्स्येन्द्रनाथ को आत्मस्वरूप घोषित किया जाना ***

'कौलज्ञाननिर्णय' के सोलहवें अध्याय में भगवान शिव (भैरव) अपने विभिन्न अवतारों पर प्रकाश डालते हुए मत्स्येन्द्रनाथ को अपने से अभिन्न घोषित करते हैं—

'अहं सो धीवरो देवी ! अहं वीरेश्वरः प्रिये।।'

---

१. कौलज्ञाननिर्णय (प्रबोध चन्द्र बागची की भूमिका)
२. तथैव
३. तथैव

(१) * कौलज्ञाननिर्णयोक्त मत्स्येन्द्र का वृत्तान्त *

'कौलज्ञाननिर्णय' के २१वें तथा २२वें अध्याय में भगवान शिव देवी से कहते हैं कि—

वह मैं ही तो था, जिसने आपके समक्ष उस गुप्त ज्ञान को अनावृत किया था। मैंने ही कामरूप में कार्तिकेय के प्रदत्त गुप्त ज्ञान को अनावृत किया था। यह ज्ञान 'कौलागम' का ज्ञान था, जिसे मैंने 'चन्द्रद्वीप' में सुरक्षित रखा था। फिर शिव ने उस घटना का भी स्मरण कराया जो कि इस गुप्त ज्ञान से सम्बद्ध थी। उन्होंने कहा कि हम तुम्हारे साथ 'चन्द्रद्वीप' गए थे। उसी समय 'कार्तिकेय' बटुक (शिष्य) बनकर हमारे समक्ष आए। यद्यपि वे अज्ञानी थे, तथापि मैंने उन्हें यह ज्ञान दिया। उस स्कन्द ने उस ज्ञान को चुराकर समुद्र में फेंक दिया। मैं समुद्र में गया और मैंने उस मत्स्य को पकड़ लिया, जिसने उस कौलशास्त्र को निगल लिया था। मैंने उसका पेट फाड़कर उस ग्रंथ को पुनः प्राप्त कर लिया। मैंने उसे गुप्त स्थान में छिपा दिया। किन्तु कार्तिकेय ने क्रुद्ध होकर मूषक का रूप धारण कर लिया और इस ग्रंथ को पुनः चुराकर समुद्र में फेंक दिया। इस बार इस ग्रंथ को एक महान आकार वाले महामत्स्य ने उदरस्थ कर लिया—

'दशकोटि प्रमाणेन महामत्स्येन भक्षितम्।'

इस घटना से क्रुद्ध होकर मैंने 'शक्तिजाल' निर्मित करके उससे उस महामत्स्य को खींचा (आकर्षित किया)। वह मेरे समान शक्तिशाली था। वह ज्ञानतेज से पूर्ण एवं अपराजेय था। मैंने धीवर का स्वरूप धारण किया और शक्तिजाल से उसे पकड़कर उसका पेट फाड़ डाला। इस प्रकार पुनः कुलागम को (मत्स्योदर से) बाहर निकाल लिया। हे देवी ! यद्यपि मैं ब्राह्मण था तथापि मैंने धीवर (Fishman) की भूमिका निभाई और चूँकि मैंने मत्स्य को मारकर उसके पेट से कौलागम बाहर निकाला; अतः मेरा 'मत्स्यघ्न' नाम पड़ा। कौलज्ञाननिर्णय में कहा गया है—

ब्राह्मणोऽपि महापुण्ये कैवर्तत्वं मया कृतः।
मत्स्याभिघातिनैर्विप्रा मत्स्यघ्नमेति विश्रुताः।
कैवर्तत्वं कृतं यस्मात् कैवर्तो विप्रनायकः।।

भैरव ने अपने ब्राह्मणत्व का त्याग करके धीवर का स्वरूप धारण करके उस महामत्स्य का वध किया इसी कारण मत्स्यविदारक का नाम 'मत्स्यघ्न' पड़ा।

निष्कर्ष यह है कि—(१) चन्द्रद्वीप में एक धीवर ने 'कौलागम' का उद्धार किया और इसी धीवर ने इस कौलागम को चन्द्रद्वीप में व्यक्त किया था।

मत्स्येन्द्रनाथ ब्राह्मण थे किन्तु कौलागम के उद्धारार्थ उन्हें विवश होकर धीवर बनना पड़ा।

(२) मत्स्येन्द्रनाथ ने पहली बार यह कौलज्ञान कामरूप में शिष्यों को (उपदेशों के माध्यम से) प्रदान किया।

(३) जब इस ग्रंथ का लेखन किया गया तब तक मत्स्येन्द्रनाथ को शिव का अवतार स्वीकार किया जा चुका था।

(४) चन्द्रद्वीप से यह कौलागम कार्तिकेय ने चुराया था। चूहे का रूप धारण करके और इसे चुराकर कार्तिकेय ने इसे समुद्र में फेंक दिया था। मत्स्येन्द्रनाथ ने इस कुलागम शास्त्र को समुद्रस्थ महामत्स्य का पेट फाड़कर निकाला था। इसी कारण मत्स्येन्द्र का नाम 'मत्स्यघ्न' पड़ा।

(२) * बंगाल में प्रचलित मत्स्येन्द्र विषयक उपाख्यान *

यह कथा मुख्यतः फ़याजुल्ला द्वारा प्रणीत 'गोरक्षविजय' एवं श्यामादास-विरचित—'मीनचेतन' नामक पुस्तकों की है।

इस कथा के अनुसार—शिव एवं चार सिद्धों (मीन, हाडिपा, गोरक्षनाथ एवं कानुफ़ा) का जन्म विधाता से प्रत्यक्ष रूप में हुआ।

आद्य और आद्या शक्ति ने सर्वप्रथम देव सृष्टि की और तदुपरान्त चार सिद्धों को जन्म दिया। इसके उपरान्त गौरी नामक कन्या उत्पन्न करके उसे विवाहार्थ शिव को दे दिया। शिव गौरी को लेकर पृथ्वी पर चले आए।

मीननाथ, गोरक्षनाथ, हाड़िका (जालंधरिनाथ) एवं कानफ़ा (कानूपा या कृष्णपाद) ने अन्नाहार का त्याग करके मात्र वायु के आहार पर रहकर योगाभ्यास प्रारम्भ किया।

गोरक्षनाथ ने मीननाथ का एवं कानपा (कृष्णपाद) ने हाड़िपा (हाड़िफ़ा या हाडिफ़ा) का शिष्यत्व ग्रहण किया।

एक दिन गौरी ने शिव के गले में पड़ी मुण्डमाला का रहस्य पूछा तो शिव ने कहा कि यह मुण्डमाला तो तुम्हारे मुण्डों की माला है। गौरी ने अपनी मृत्युधर्मिता एवं शिव के मृत्युञ्जयत्व का कारण पूछा तो शिव ने उस रहस्य को, क्षीरसागर में एक नाव पर चढ़कर, वहाँ एकान्त में बताने की बात कही। शिव और देवी दोनों क्षीरसागर में पहुँचे तो मीननाथ मत्स्य बनकर नीचे बैठ गए। शिव ने अमरत्व का रहस्य बताना प्रारंभ किया तो देवी को निद्रा आ गई; किन्तु उनकी नींद के समय मीननाथ निरन्तर हुँकारी भरते रहे। जगने पर देवी ने कहा कि 'मुझे नींद आ गई थी; अतः मैंने उपदेश तो सुना ही नहीं।' शिव ने हुँकारी भरते रहने वाले व्यक्ति का

परिचय जानने के लिए जब ध्यान किया तो नाव के नीचे मीननाथ को छिपा पाया। उन्होंने क्रुद्ध होकर शाप दिया कि तुम महाज्ञान भूल जाओगे।

देवी ने कैलाशस्थ शिव से आग्रह किया कि आप सिद्धों को विवाह करके वंश चलाने हेतु आज्ञापित कीजिए। शिव ने उन्हें काम के विकार से परे बताया। देवी ने सिद्धों की परीक्षा लेने हेतु, शिव से अनुमति, लेकर उनकी परीक्षा ली। उस समय पूर्व में हाड़िफ़ा, दक्षिण में कानफ़ा, पश्चिम में गोरक्ष एवं उत्तर में मीननाथ तप कर रहे थे। भगवान शिव ने चारों का आवाहन किया। जब वे चारों सिद्ध उपस्थित हुए तो देवी ने भुवनमोहिनी का रूप धारण करके सिद्धों को भोजन परोसा। चारों ही सिद्ध देवी पर मुग्ध हो गए। **मीननाथ** ने सोचा कि यदि ऐसी सुन्दरी मुझे प्राप्त हो जाय तो उसके साथ सारी रात आनन्द से काट सकूँ। देवी ने मीननाथ को शाप दिया कि तुम कदली देश में महाज्ञान भूलकर वहाँ १६०० सुन्दरियों के साथ रतिमग्न हो जाओगे।

चूँकि **हाड़िफ़ा** ने ऐसी सुन्दरी नारी का झाड़ूदार बनने में भी अपना सौभाग्य माना। अत: हाड़िफ़ा देवी के शापवश रानी मयनामती के घर में झाड़ू लगाने वाले नौकर बन गए। हाड़िफ़ा के पुत्र गाभूर सिद्ध ने सोचा कि यदि ऐसी नारी मिल जाए तो अपना हाथ-पैर कटा देने पर भी मैं धन्य हो जाऊँगा।

कानफ़ा ने सोचा कि यदि ऐसी सुन्दरी मुझे मिल जाय तो प्राण देकर भी मैं कृतकृत्य हो जाऊँगा। देवी ने शाप दिया कि तुम तुरमान में डाहुका हो जाओ।

गोरक्षनाथ ने सोचा कि यदि ऐसी सुन्दरी नारी मुझे मिल जाए तो मैं उसकी गोद में बैठकर वात्सल्य भी प्राप्त करूँ और दूध भी पिऊँ।

गोरक्षनाथ परीक्षा में सफल हुए तथापि देवी ने उनकी पुन: परीक्षा लेनी चाही। एक बार जब गोरक्षनाथ बकुल वृक्ष के मूल में बैठकर समाधि लगाए हुए थे; तब देवी ने उन्हें योग से च्युत करने हेतु अनेक प्रयास किए; किन्तु गोरक्ष निरन्तर अच्युत ही रहे।

घटनायें—(१) देवी मार्ग में नग्नरूप में सो गईं। गोरक्षनाथ ने बिल्वपत्रों से उनका शरीर ढक दिया।

(२) तब देवी ने गोरक्ष के पेट में प्रवेश करके गोरक्ष के पेट में पीड़ा उत्पन्न की तो गोरक्षनाथ ने श्वास रोककर देवी को क्षुब्ध कर दिया।

(३) देवी राक्षसी बनकर मानव-बलि का आहार ग्रहण करने लगीं।

गोरक्ष ने शिवादेश से देवी का उद्धार किया और उनके स्थान पर एक मूर्ति स्थापित की। **वही मूर्ति कलकत्ता की सर्वपूज्या मूर्ति है।**

(४) देवी ने गोरक्षनाथ को अतीव सुन्दरी नारी प्राप्त करने का वर दिया तो शिवजी ने माया से एक कन्या उत्पन्न करके उसे उन्हें प्रदान किया। गोरक्षनाथ उसके घर जाकर ६ मास के बालक बनकर दूध पीने के लिए आग्रह करने लगे। गोरक्षनाथ ने कहा कि मैं तो कामविकार से अतीत हूँ, किन्तु यदि तुम मेरा कौपीन धोकर पी लोगी तो तुम्हारे एक पुत्र अवश्य होगा। उस नारी ने वही किया। उसके जो पुत्र हुआ उसका ही नाम 'कर्पटीनाथ' पड़ा।

गोरक्षनाथ और कानफ़ा—गोरक्षनाथ एक बकुल वृक्ष के नीचे ध्यान कर रहे थे। कानफ़ा उनके सिर के ऊपर से आकाश-मार्ग में यात्रा कर रहे थे। गोरक्ष ने उनकी छाया देखकर अपनी खड़ाऊ ऊपर फेंकी। खड़ाऊं ने उन्हें पकड़ कर नीचे किया। कानफ़ा ने कहा कि 'अपने को सिद्ध योगी मानते हो; किन्तु क्या अपने गुरु के बारे में भी कुछ जानते हो। वे कदलीवन में नारियों के साथ रतिक्रिया में निरत हैं और यमराज के यहाँ उनकी आयु के अब मात्र तीन दिन शेष रह गए हैं। सिद्ध हो तो उनकी रक्षा कर लो।'

गोरक्षनाथ ने कानफ़ा से कहा कि 'क्या तुम अपने गुरु के विषय में भी कुछ जानते हो? मेहरकुल की रानी मयनामती के पुत्र गोपीचन्द ने उन्हें मिट्टी के नीचे गड़वा दिया है।

दोनों सिद्धों ने अपने-अपने गुरुओं का उद्धार करने हेतु, प्रस्थान किया।

सर्वप्रथम तो गुरु गोरक्षनाथ ने यमालय में जाकर गुरु मत्स्येन्द्र के अल्पायुष्य को ही नष्ट कर दिया और फिर ब्राह्मणवेश धारण करके कदलीवन में प्रवेश किया। फिर उन्होंने योगी का वेश धारण किया और वे कदलीवन के एक सरोवर के किनारे बकुल वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ हो गए। उसी समय उन्होंने निकटस्थ सरोवर से एक सद्यःस्नाता नारी को आते देखा और उसी से यह पता चला कि मेरे गुरु मीननाथ १६०० रमणियों के साथ विहार कर रहे हैं। उस स्थान पर किसी योगी के जाने पर उसे प्राणदण्ड की सजा थी। गोरक्षनाथ ने नर्तकी का वेश धारण करके प्रवेश किया; किन्तु रानियों ने उन्हें मीननाथ के समक्ष नहीं जाने दिया। गोरक्षनाथ के द्वारा द्वार पर मर्दल ध्वनि करने पर मीननाथ ने उन्हें बुलाया। गोरक्षनाथ ने उन्हें उनके पूर्ववर्ती स्वरूप का स्मरण कराकर उन्हें ज्ञान प्रदान किया, तब मीननाथ को अपने यथार्थ चैतन्यभाव का बोध हुआ।

कदलीवन की नारियों ने गोरक्षनाथ का वध करने के लिए षडयंत्र किया, किन्तु वे सभी गोरक्षनाथ के शाप से चमगादड़ हो गईं। रानियों ने पुत्र बिन्दुनाथ को साथ में लेकर करुण क्रंदन प्रारंभ कर दिया और इस प्रकार 'मीननाथ' को पुनः विचलित करना चाहा।

गोरक्षनाथ ने प्रथमतः तो बिन्दुनाथ को प्राणहीन करके तथा बाद में पुनःजीवित करके तत्त्वज्ञानोपदेश से कृतार्थ किया और फिर वे गुरु मीननाथ एवं बिन्दुनाथ को साथ में लेकर स्वस्थान विजयनगर लौट आए।

(३) * नेपाली स्रोत पर आश्रित मत्स्येन्द्र-वृत्तान्त *

जिस नेपाली स्रोत के आधार पर मत्स्येन्द्र का उपाख्यान आश्रित है वह द्विविध है। (क) बौद्ध और (ख) ब्राह्मणवादी। **नेपाली बौद्ध परम्परा** के अनुसार मत्स्येन्द्रनाथ 'अवलोकितेश्वर' हैं। एक बार गोरक्षनाथ अपने गुरु मत्स्येन्द्रनाथ से मिलने गए। मत्स्येन्द्रनाथ कामारी नामक दुरारोह पर्वत पर रहा करते थे। गोरक्षनाथ उस पर्वत पर चढ़ नहीं सकते थे। उन्होंने ९ नागों को बाँधा और उस पर बैठ गए। अतः नेपाल में बारह वर्षों तक वर्षा ही नहीं हुई। राजा नरेन्द्रदेव के गुरु का नाम था बुद्धदत्त। वे अलोकितेश्वर को नीचे लाने का निश्चय करके 'कपोतकपर्वत' पर गए। अवलोकितेश्वर ने अपनी सेवा से प्रसन्न होकर बुद्धदत्त को एक मंत्र दिया और कहा कि इसके जप करने पर जापक जहाँ चाहेगा, वहाँ मैं उपस्थित हो जाऊँगा। बुद्धदत्त ने घर लौटने पर उस मंत्र का जपारंभ कर दिया। बुद्धदत्त द्वारा इस मंत्र का जप किए जाने पर अवलोकितेश्वर समाकृष्ट होकर मृग के रूप में कमण्डल में प्रविष्ट हो गए। उस समय राजा नरेन्द्रदेव सो रहे थे। बुद्धदत्त ने उन्हें जगाया और सांकेतिक भाषा में आज्ञापित किया कि 'कमण्डल का मुख बन्द कर दो।'' परिणामस्वरूप अवलोकितेश्वर नेपाल में ही बँधकर रह गए और इसके परिणामस्वरूप नेपाल में प्रचुर वर्षा हुई। उसी समय से 'बुगम' नामक स्थान में अद्यपर्यन्त मत्स्येन्द्रनाथ की यात्रा सम्पन्न होती है।[१]

डॉ० बागची ने लिखा है कि १२ वर्षों तक लगातार अनावृष्टि के कारण पूरा नेपाल नष्ट हो उठा था। इसी समय नेपाल के राजा नरेन्द्रदेव के गुरु बन्धुदत्त राजा के साथ कपोतल पर्वत गए और अवलोकितेश्वर को लाने हेतु अवलोकितेश्वर (मत्स्येन्द्रनाथ) की शरण में पहुँचे। वहाँ पर उन लोगों ने अवलोकितेश्वर की पूजा-अर्चना की। वे ज्ञानडाकिनी प्रत्यावर्तित हुए। बन्धुदत्त के मंत्र पढ़ने और उससे अवलोकितेश्वर के समाकृष्ट होने पर वे काली मक्खी या भ्रमर का रूप धारण करके उनके कमण्डल में प्रविष्ट हो गए। कमण्डल का मुख बन्द होने से अवलोकितेश्वर 'बुगम' नामक स्थान में ही सदा के लिए बँधकर रह गए।[२]

---

१. द हिस्ट्री आफ नेपाल।

२. बुगम में आज भी अवलोकितेश्वर की पूजा होती है और उनकी शोभा यात्रा निकाली जाती है।

(४) * बुद्धपुराणगत मत्स्येन्द्र-वृत्तान्त *

इस पुराण के अनुसार एक बार महादेव ने एक सन्तानाकांक्षिणी को कुछ खाने को दिया था और कहा था कि इसे खाने पर उसे एक पुत्र सन्तान की प्राप्ति होगी। उस महिला ने इस बात पर विश्वास न करके उसे गोबर में फेंक दिया। १२ वर्षों के अनन्तर उसी मार्ग से यात्रा करने वाले महादेव ने उस बालक को देखना चाहा। जब महादेव को यह ज्ञात हुआ कि उस महिला ने उस शिव-प्रदत्त वस्तु को खाया ही नहीं प्रत्युत् गोबर के ढेर में फेंक दिया; तब वे क्रुद्ध होकर उस नारी से बोले कि तुम उस गोबर के ढेर में उसे ढूढों। उसके द्वारा ढूँढे जाने पर वहाँ १२ वर्ष का एक बालक मिला। वही बाद में गोरक्षनाथ कहलाया। गोरक्षनाथ मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य बन गए। एक बार गोरक्षनाथ नेपाल गए; किन्तु वहाँ यथा सन्तोष आतिथ्य न पाकर रूष्ट हो गए। अत: उन्होंने क्रोधावेश में बादलों को बन्दी बनाकर अपने आसन के नीचे उन्हें १२ वर्षो तक दबाए रक्खा। इस समय नेपाल अनावृष्टि एवं दुर्भिक्ष के कारण नष्ट हो गया।

एक बार मत्स्येन्द्रनाथ नेपाल आए। गोरक्षनाथ ने अपने आसन से उठकर अपने गुरु का स्वागत-सत्कार किया। इसी समय बादल गोरक्ष के आसन से भाग खड़े हुए और नेपाल में प्रभूत वर्षा हुई। इस कथा से मत्स्येन्द्रनाथ का विशेष परिचय तो प्राप्त नहीं हो पाता किन्तु यह अवश्य पता चलता है कि मत्स्येन्द्रनाथ गोरक्षनाथ के गुरु थे।[१]

प्रो० प्रबोध चन्द्र बागची के अनुसार इन बौद्ध और हिन्दू कथाओं में हिन्दू कथा ही अधिक प्रामाणिक एवं प्राचीनतर है। दोनों कहानियों में निम्न बिन्दुओं में पार्थक्य है—

(क) अवलोकितेश्वर एवं मत्स्येन्द्रनाथ में अभिन्नता की स्थापना। बौद्धों के अनुसार अवलोकितेश्वर का स्थान पोटला या कपोतला में था। अवलोकितेश्वर और मत्स्येन्द्र अभिन्न थे।

(ख) हिन्दू स्रोत नेपाल में अनावृष्टि एवं दुर्भिक्ष से सम्बद्ध राजा नरेन्द्रदेव की कथा एवं दुर्भिक्ष दूर करने के उनके उपाय के विषय में मौन हैं।

(ग) मत्स्येन्द्रनाथ (अवलोकितेश्वर) का स्वत: ही नेपाल आना तो हिन्दू स्रोत

---

१. प्रबोध चन्द्र बागची कौलज्ञाननिर्णय की भूमिका।

२. S. Levi - L E Nepal I

स्वीकार करता है; किन्तु उनका पर्वत से बलात् समाकर्षण और कालीमक्खी (संभवतः भ्रमर) का कमण्डल में आना आदि घटनायें हिन्दू स्रोत में नहीं हैं।

मत्स्येन्द्रनाथ एवं अवलोकितेश्वर—नेपाल में मत्स्येन्द्रनाथ एवं अवलोकितेश्वर (भगवान बुद्ध के अवतार) को अभिन्न मानकर उनकी पूजा की जाती है। ये बुगम में रक्तलोकेश्वर के रूप में पूजे जाते हैं। मत्स्येन्द्र के अनुज माने जाने वाले (सानु मत्स्येन्द्रनाथ) 'मीननाथ' की भी पूजा की जाती है।

प्रो० लेवी को यह भ्रान्ति हो गई कि नेपाल में प्राचीनकाल से कोई 'बुगम लोकेश्वर' था और उन्हें मत्स्येन्द्रनाथ से अभिन्न मानकर पूजा जाने लगा।

नेपाल की बौद्ध वंशावली १३वीं सदी ए०डी० की है। उसमें नरेन्द्रदेव के समय मत्स्येन्द्रनाथ के आगमन का या उनके वंशजों का कोई उल्लेख नहीं है। केवल इतना अवश्य लिखा गया है कि बन्धुदत्त ने बुगम लोकेश्वर की यात्रा प्रथम बार की या इस यात्रा का सर्वप्रथम प्रवर्तन किया—

'तस्याचार्य बन्धुदत्तेन श्रीवुगमलोकेश्वर भट्टारकस्य जात्रा कृता।'

११वीं सदी के पश्चात ही बुगम लोकेश्वर एवं मस्येन्द्रनाथ को अभिन्न मानने की आस्था साकार हुई। नेपाल में १५वीं सदी एवं उसके उत्तरवर्ती काल में ही मत्स्येन्द्रनाथी सम्प्रदाय की अधिक जनप्रियता बढ़ी। गोरक्षनाथ एवं गोपीचन्द के सम्बंध में, आञ्चलिक भाषा में प्रणीत नाटक १५वीं सदी के एवं उसके बाद के ही है। बंगाल का एतत्सम्बद्ध साहित्य भी इस तिथि से अधिक प्राचीन नहीं है।

नेपाली जनश्रुति या नेपाल में प्रचलित मत्स्येन्द्रनाथीय वृत्तान्त के निष्कर्ष इस प्रकार हैं—

(१) मत्स्येन्द्रनाथ गोरक्षनाथ के गुरु हैं।

(२) मत्स्येन्द्रनाथ घड़े में एक काली मक्खी (भ्रमर) के रूप में प्रविष्ट हुए। गोरक्षनाथ ने अपने गुरु मत्स्येन्द्रनाथ की रक्षा भ्रमर बनकर की और उन्हें कामरूप की कौल योगिनियों के मोहपाश से मुक्त कराया। मस्येन्द्रनाथ का अन्य नाम 'भृंगपाद' है।

—कौलज्ञाननिर्णय श्लोक ७

* पंजाबी एवं पूर्वोत्तरवर्ती स्रोत *

पंजाब एवं पश्चिमोत्तरवर्ती प्रान्तों के योगियों के सम्प्रदाय में मत्स्येन्द्रनाथ एवं गोरक्षनाथ से सम्बृद्ध अनेक आख्यान एवं वृत्तान्त प्रचलित हैं। कतिपय उपाख्यान देखिए।

(१) प्रथमोपाख्यान

एक बार एक शिव के भक्त ने जो कि पुत्र-प्राप्ति का आकांक्षी था पार्वती द्वारा शैव भस्म प्राप्त किया। भगवती पार्वती ने उसे भक्त को देते हुए कहा कि इसे अपनी पत्नी को दे दो। पत्नी ने अविश्वास के कारण उस भस्म को न खाकर गोबर के ढेर में फेंक दिया। उस गोबर से एक बालक का जन्म हुआ। उस बालक को शिवार्पित कर दिया गया। भगवान शिव ने कहा कि यह बालक हमें दे दो। यह बालक एक महान तपस्वी बनेगा। उन्होंने ही उसका नाम 'गोरक्षनाथ' रखा। भगवान शिव ने गोरक्षनाथ से कहा कि अपना गुरु ढूँढ़ो। गोरक्षनाथ गुरु की खोज में समुद्र पर्यन्त गए और वहाँ उन्होंने एक पीपल के पत्ते पर एक रोटी का टुकड़ा (या मिश्री का टुकड़ा) समर्पित किया। एक रकहो मछली उसे खा गई और उस टुकड़े को अपने उदर में बारह वर्ष पर्यन्त रखे रही। बारह वर्षों के उपरान्त वही पीपल का पत्ता एक शिशु के रूप में परिवर्तित हो गया। उसे भगवान शिव ने 'मच्छेन्द्रनाथ' नाम प्रदान किया। यही मच्छेन्द्र नाथ गोरक्षनाथ के गुरु बने।

भगवान शिव के निर्देशानुसार गोरक्षनाथ ने अपने सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार किया और बारह शिष्य बनाये।

गोरक्षनाथ के शिष्य[1]

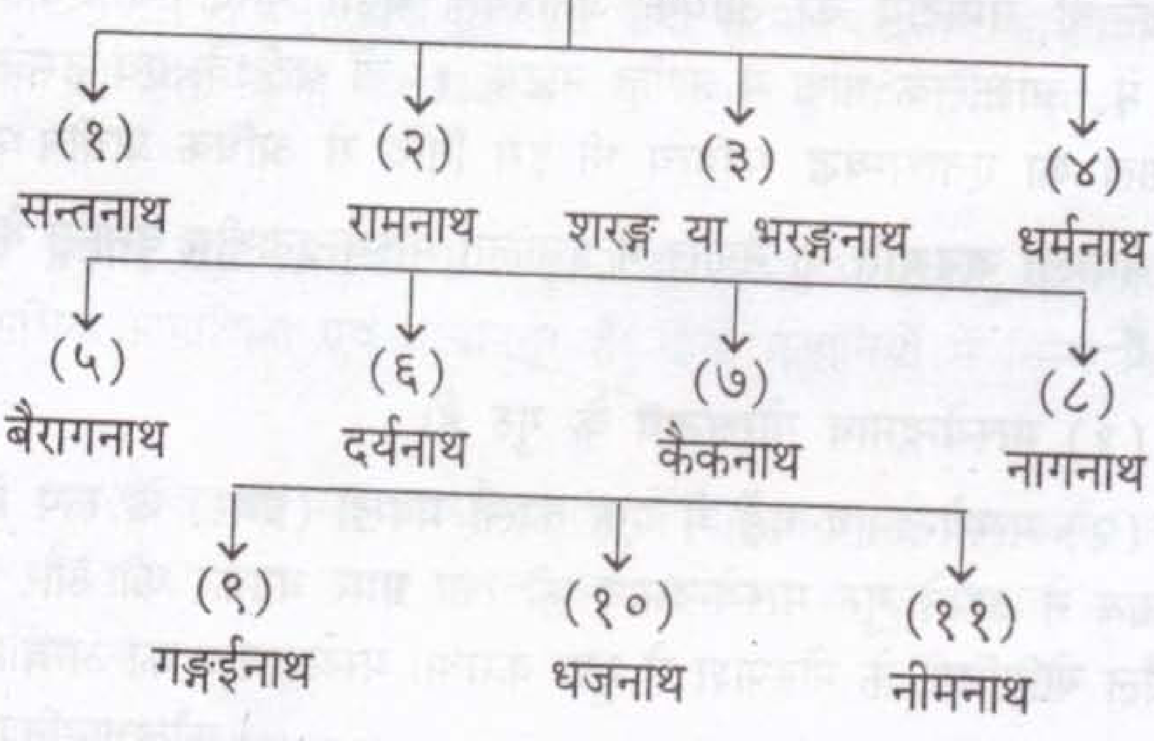

(२) द्वितीयोपाख्यान

इस उपाख्यान के अनुसार निरञ्जन निरङ्कार ने गोरक्षनाथ को अपने भ्रू-स्वेद (Sweat of brow) से उत्पन्न किया। ये एक मत्स्य के द्वारा मत्स्येन्द्रनाथ के पिता बन गए। गोरक्षनाथ अपने गुरु की खोज कर रहे थे और उन्होंने देखा कि मेरा पुत्र

१. प्रबोध चन्द्र बागची : कौलज्ञाननिर्णय की भूमिका

मत्स्येन्द्रनाथ ही मेरा गुरु बनने योग्य है। अत: वे मत्स्येन्द्र के (अपने पुत्र के) शिष्य बन गए।

(३) तृतीयोपाख्यान

एक उपाख्यान यह है कि भगवान शिव विष्णु के मोहिनीरूप को देखकर उन पर आसक्त हो गए। (भगवान विष्णु ने भस्मासुर के वधार्थ ही मोहिनी का रूप धारण किया था।) वे मच्छेन्द्रनाथ के पिता बन गए। वे एक गाय के द्वारा गोरक्षनाथ के भी पिता बन गए। (उन्होंने गोरक्षनाथ को जन्म दिया।)

(४) चतुर्थोपाख्यान

ऋषि वशिष्ठ एवं राम के मध्य एक वार्ता (Interlocution) होती है। उसके अनुसार शिव उदेनाथ ने रुद्रगण को जन्म दिया। उसकी आत्मिक शक्ति द्वारा जालन्धर नामक दुरात्मा (Evil spirit) को दीक्षित किया गया। जिससे कि वह दुरात्मा मंगलमय मार्ग का अनुसरण कर सके। इस प्रकार उसने दो शिष्य बनाये— (१) मच्छेन्द्रनाथ (२) जालंधरिपा। जालंधरिपा ने 'पाप पन्थ' का प्रवर्तन किया। मच्छेन्द्रनाथ ने गोरक्षनाथ को अपना शिष्य बनाया।

मच्छेन्द्रनाथ एवं गोरखनाथ के आविर्भाव के उपाख्यान में ही यह भी कहा गया है कि 'मच्छी' ने मत्स्येन्द्रनाथ को एवं गोबर ने गोरक्षनाथ को जन्म दिया तथा गोरक्षनाथ मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य हो गए।

मच्छेन्द्रनाथ **सिंहलद्वीप** में आकर एक गृहस्थ बन गए। इस गार्हस्थ्य जीवन में प्रवेश का कारण उस देश की दो रानियों का स्वप्रभाव था। गोरक्षनाथ ने उस राजमहल में मक्खी या भ्रमर का रूप धारण करके प्रवेश किया तथा मत्स्येन्द्रनाथ का उद्धार किया। इसके उपरान्त मच्छेन्द्रनाथ एवं गोरक्षनाथ उज्जैन चले गए।

यहीं उज्जैन में जालन्धरिपा राजा गोपीचन्द के एक मन्त्री के मिथ्या षडयंत्र एवं कूटनीतिक चाल के परिणामस्वरूप एक कुएँ में दफना दिए गए थे। कानिपा के द्वारा ही जालन्धरिपा का उद्धार हुआ। राजा गोपीचन्द ने दीक्षा ग्रहण किया। इसके उपरान्त मच्छेन्द्रनाथ एवं गोरक्षनाथ दोनों उज्जैन छोड़कर झेलम की ओर चले गए। वहाँ उन्होंने पहाड़ी के अन्तिम शीर्ष पर निवास करना प्रारंभ किया और वहाँ उन्होंने सात योगियों को दीक्षा दी जो निम्नाङ्कित हैं—

(१) कपल मुनि जी (२) खरकई एवं भुसकई (३) शकरनाथ (४) सन्तनाथ (५) सन्तोखनाथ (६) लच्छमन नाथ (७) अर्जन नागा।

इन सातों शिष्यों ने अपना पृथक-पृथक सम्प्रदाय प्रवर्तित किया।

उक्त उपाख्यानों की समीक्षा—निरंजन निरङ्कार ने अपने भ्रू के स्वेद से गोरक्षनाथ को जन्म दिया। यह उपाख्यान एवं शिव का मोहिनी पर आसक्त होने वाला उपाख्यान ये दोनों निरर्थक हैं।

गोरक्षनाथ का समुद्र तट पर जाने से सम्बद्ध उपाख्यान भी निरर्थक है; क्योंकि जहाँ यह घटना घटी वहाँ से समुद्र अत्यन्त दूर है।

मत्स्येन्द्रनाथ के संगल (सङ्गलदीप) जाने से सम्बद्ध उपाख्यान भी विचारणीय है और कामरूप से गोरक्षनाथ के द्वारा उद्धार किये जाने की घटना का अन्तर्संबन्ध भी विचारणीय है।

इन उपाख्यानों में से निम्न घटनायें अधिक प्राचीन एवं मौलिक प्रतीत होती हैं—

(क) समुद्र के तट पर मत्स्येन्द्रनाथ का आविर्भाव।

(ख) मत्स्येन्द्रनाथ का गोरक्षनाथ का गुरु होना।

(ग) मत्स्येन्द्रनाथ का कामरूप में फँसना एवं गोरक्ष द्वारा उनका उद्धार किया जाना।

(घ) शिव के साथ Apotheosis और Assimilation (देव तुल्य बनाना, सदृशीकरण)।

पौराणिक उपाख्यान—उक्त उपाख्यानों के अतिरिक्त 'स्कन्दपुराण' के नागर खण्ड में भी मत्स्येन्द्रनाथ की कथा आती है। इसके अनुसार मत्स्येन्द्रनाथ गण्डान्तयोग में उत्पन्न हुए थे और उनका समस्त परिवार अदृष्टवश नष्ट हो गया था। उन्हीं के साथ वे भी कालकवलित हो गए थे। इस बच्चे (मत्स्येन्द्र) को इस दुर्घटना से बचाने हेतु समुद्र के जल में फेंक दिया गया था। वहाँ किसी मत्स्य ने इसे निगल लिया।

एक समय भगवान् शिव भगवती पार्वती एवं कार्तिकेय के साथ यात्रा पर निकले थे। उसी समय वे दुग्ध समुद्र (क्षीरसमुद्र) में अवस्थित श्वेत द्वीप के रम्यक पर्वत के शिखर पर उतरे। यहीं पर भगवान शिव ने पार्वती को ध्यानयोग एवं ज्ञानयोग की दीक्षा प्रदान की । कार्तिकेय ने इस उपदेश को सुना। इसके अनन्तर उन्होंने पुनः यात्रा प्रारंभ की। जब वे नगर को पार कर रहे थे, तभी समुद्र में एक बड़ा-सा मत्स्य ऊपर उठा। शिव ने पूछा कि यह मत्स्य कौन है? तब उस महामत्स्य ने उन्हें बताया कि किस प्रकार मैं गण्डान्तयोग में उत्पन्न हुआ और किस प्रकार समुद्र में फेंक दिया गया तथा किस प्रकार मुझे एक मत्स्य ने निगल लिया और किस प्रकार शिव-पार्वती के मध्य होने वाले ज्ञानयोगोपदेश को मैंने सुन लिया।

भगवान शिव इस बात को सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने उस मत्स्य से कहा कि 'तुम विप्र हो'। तुम मेरे पुत्र के तुल्य और पूजनीय हो। तुम शक्ति लगाकर मत्स्य के अन्दर से बाहर निकल आओ। उसने वैसा ही किया। भगवती पार्वती ने उसे अपनी गोद में बैठा लिया। वे उसे मन्दराचल पर ले गईं। चूँकि ये मत्स्य के अन्दर से निकले थे। अतः भगवान शिव ने उनका नाम 'मत्स्यनाथ' रक्खा।

प्रो० बागची का कथन है कि मत्स्येन्द्रनाथ से सम्बद्ध, ये ही मुख्य उपाख्यान हैं; किन्तु इन उपाख्यानों को ही तोड़-मरोड़ कर एवं मिश्रित करके अनेक रूपों में प्रस्तुत किया गया है तथा गोपीचन्द के उपाख्यान से ज़ोड़ दिया गया है। यत्र-तत्र अनेक परिवर्तनों के साथ अनावश्यक असम्बद्ध एवं भिन्न घटनायें भी मूल उपाख्यान के साथ जोड़ दी गई हैं।

एक पंजाबी उपाख्यान में कहा गया है कि मत्स्येन्द्रनाथ एक मृत राजा के शरीर में प्रविष्ट हो गए और राजमहल में रानियों के साथ बहुत दिनों तक रहे। इसके बाद गोरक्षनाथ ने उनका उद्धार किया।

LEVI-LE Nepal P. 355 के अनुसार **'संक्षेप शंकर'** नामक ग्रंथ में भी यही उपाख्यान प्राप्त होता है। यह परवर्ती कल्पना है। **'शंकर दिग्विजय'** के प्रकाश में मत्स्येन्द्रनाथ के अधःपतन की कहानी गढ़कर यह उपाख्यान प्रस्तुत किया गया प्रतीत होता है।

'कौलज्ञाननिर्णय' के उपाख्यान को यदि छोड़ भी दिया जाय तथापि अन्य सभी उपाख्यान समुद्र-तट से सम्बद्ध हैं। ये सभी उपाख्यान प्रायः पूर्वी भारत के समुद्र तट से जुड़े हैं या कामरूप से जुड़े हैं।

बंगाली उपाख्यान में वर्णित 'कदली' जहाँ मत्स्येन्द्रनाथ का अधःपतन हुआ था 'कचली' या 'कचहर' है।[२]

नेपाली बौद्धों में प्रचलित मत्स्येन्द्रनाथीय उपाख्यान—यह उपाख्यान कपोतल या पोतल से सम्बद्ध है। बौद्ध पौराणिक उपाख्यान के अन्तर्गत तो पोतल अवलोकितेश्वर का वासस्थान है। परवर्ती काल में मत्स्येन्द्रनाथ के साथ अवलोकितेश्वर को एकीकृत करके प्रस्तुत करते समय मत्स्येन्द्रनाथ के जन्म को भी पोतल के साथ एकीकृत कर दिया गया।

प्रो० लेवी की दृष्टि—प्रो० लेवी का कथन है कि मत्स्येन्द्रनाथ के उपाख्यान

---

१. प्रबोध चन्द्र बागची : कौलज्ञाननिर्णय

२. शहीदुल्ला : LES Chants mysliques

का सम्बन्ध तो पूर्ववर्ती भारत एवं कामरूप से है। पौराणिक उपाख्यान मत्स्येन्द्रनाथ को समुद्र के मध्यवर्ती स्थान से जोड़ता है। अत: हम यह अनुमान लगा सकते हैं या मान सकते हैं कि 'कौलज्ञाननिर्णय' में अंकित उपाख्यान (जो कि प्राचीनतम अनुवाद, वर्णन या पाठान्तर है) समस्त उल्लिखित उपाख्यानों का आदर्श न्यादर्श (Archetype) है। इसके अनुसार मत्स्येन्द्रनाथ या तो चन्द्रद्वीप के समुद्र तट पर उत्पन्न हुए थे या चन्द्रद्वीप में उत्पन्न हुए थे। उनका आविर्भाव पूर्वीय भारत में हुआ था। उन्होंने अपने सिद्धान्तों का उपदेश कामरूप में किया था। इस आदर्श न्यादर्श (Archetype) में कहीं भी गोरक्षनाथ एवं मत्स्येन्द्रनाथ के अध:पतन का वर्णन नहीं किया गया है। परवर्ती उपाख्यानों (Legends) में सर्वत्र गोरक्षनाथ की गुरुता एवं महत्ता स्थापित करने की दृष्टि से, गोरक्षनाथ द्वारा अपने गुरु मत्स्येन्द्रनाथ की, कामरूप की कौल योगिनियों से उद्धार किए जाने की, कहानी जोड़ी हुई मिलती है।

पंजाबी उपाख्यानों में मत्स्येन्द्रनाथ का उतना महत्व नहीं है क्योंकि वहाँ तो **गोरक्षनाथ ने** गुरु-दीक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से **स्वयं ही मत्स्येन्द्रनाथ को जन्म दिया** था। इस विपर्यय का कारण गोरक्षनाथ की प्रभुता एवं महत्ता में उत्तरोत्तर विकास था। हम स्पष्टत: देखते हैं कि मत्स्येन्द्रनाथ के उपाख्यान का आविर्भाव पूर्वी भारत में हुआ है। इसी क्षेत्र से गोपीचन्द के उपाख्यान का भी आविर्भाव हुआ है।

पंजाबी पाठान्तर (Version) वाले गोपीचन्द के उपाख्यान के अनुसार गोपीचन्द उज्जैन के नृपति थे; किन्तु उनका घर गौड़ बंगाल था। हिन्दी पाठान्तर भी लगभग यही स्वीकार करता है। गुजराती एवं मराठी पाठान्तर के अनुसार गोपीचन्द गौड़ बंगाल के राजा तिलकचन्द के पुत्र थे।

प्रो० बागची इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि (अनेक साक्ष्यों एवं प्रमाणों के आधार पर निष्कर्षभूत तथ्य के रूप में) मत्स्येन्द्रनाथ एवं उनके सम्प्रदाय का आविर्भाव पूर्वी बंगाल में ही माना जाना चाहिए—

'It is therefore natural to suppose that Matsyendranath and his school originated and flourshed in Bengal and most probabaly in Easterm Bengal'[1]

उक्त मूल उपाख्यान ने विभिन्न स्थानों के अनुरूप भिन्न-भिन्न रूप धारण कर लिए—

"The teachings of the school later on spread to different parts of

---

१. प्रबोध चन्द्र बागची : कौलज्ञाननिर्णय की भूमिका

India and the orginal legend was elaborated and expanded in different fashions in those places"

नारद पुराण में वर्णित श्री मत्स्येन्द्रनाथ का आख्यान—'नारद पुराण' में कहा गया है कि कामाक्षा में पार्वती-पुत्र सिद्धनाथ (मत्स्येन्द्रनाथ) निवास किया करते हैं। वे तपस्यानिरत हैं। सत्ययुग, त्रेता और द्वापर युग में लोग उन्हें प्रत्यक्षतः देखते हैं; किन्तु कलियुग में वे अन्तर्धान रहते हैं। कामाक्षा में उग्र तपस्या करने पर लोग उनका दर्शन कर पाते हैं। वे विज्ञान में पारङ्गत महायोगी हैं—

'तत्रास्ते पार्वती पुत्रः सिद्धनाथो वरानने।'
उग्रे तपसि लोके सः प्रेक्ष्यते च कदाचन्॥६॥
कृतत्रेताद्वापरेषु प्रत्यक्ष दृश्यतेऽखिलैः॥७॥
स मत्स्यनाथः किल तत्र संस्थो।
विज्ञानपारंगत एव भद्रे॥''(१३)

आदिनाथ शिव (क्षीरसागर के) मणिप्रदीप्त मनोरम शृङ्ग पर (योगज्ञान) तत्त्व के उपदेशार्थ गए एवं भगवान हरि में चित्त लगाकर उन्होंने भगवती पार्वती के प्रति निजस्वरूप प्रतिपादक रहस्यपूर्ण तत्त्व का निर्वचन आरम्भ किया। शैलात्मजा पार्वती जी, जब कामान्तक (काम को नष्ट करने वाले) शिवजी को प्रणाम करके तत्त्व को जाने बिना निद्राभिभूत हो गईं तब महासागर में स्थित मत्स्य उछल कर तुरन्त सौम्य शृङ्ग पर आ पहुँचा और उसके उदर में स्थित यह (मत्स्येन्द्रनाथ) तत्त्वसिद्ध और समस्त बन्धनों से मुक्त हो गया।

मत्स्य के उदर से निकलकर पार्वती-शिव के समक्ष प्रणाम करके ये स्थित हो गए। यह जानकर महेश्वर ने उनसे मत्स्योदर में निवास करने का कारण पूछा। उन्होंने उन दोनों के समक्ष सम्पूर्ण वृत्तान्त कह सुनाया। उनके वृत्तान्त का श्रवण करके भगवती पार्वती की अनुमति लेकर भगवान् शिव ने उन्हें (मत्स्येन्द्रनाथ को) अपना पुत्र स्वीकार किया और अपनी गोद में बैठाकर (शिव ने) उनका मुख चूमा और फिर कहा कि समस्त योग तत्त्व को जानने वाले सिद्धनाथ मत्स्यनाथ वस्तुतः मेरे आत्मज हैं। उन सिद्धनाथ का मन में चिन्तन करके मनुष्य सम्पूर्ण मनोरथ प्राप्त करने में साफल्य प्राप्त कर लेता है—

'तत्त्वोपदेशाय जगाम भद्रे,
स लोकलोकाचलप्रभ प्रमेयः।
तत्सौम्यशृङ्गे मणिभिः प्रदीप्ते,
स्थित्वा क्षणार्ध हरिमग्नचेता॥'

देवीमुमां संप्रतिबोध्यशक्त्या,
तालत्रयेणाप्यभिभूय सत्ववान्।
उवाच तत्त्वं सुरहस्यभूतं
यद्वा दशाणार्थं निजस्वरूपम्।।
ततस्तु सा शैलसुता महेशं,
कामान्तकं यावदभिप्रणम्य,
अज्ञाय तत्त्वं समवस्थिताऽभू-
त्तावत्स मत्स्यस्तु महार्णवस्थः।
द्रुतं समुत्प्लुत्य जगाम शृंगं
यो विप्रवासो ह्युदरेस्थितोऽस्य।
स तत्त्वसिद्धोऽखिल बन्धमुक्तः।।
निर्गम्य मत्स्योदरतः शुभास्ये,
नमः प्रचक्रे भवयोः पुरस्तात्।
विज्ञाततत्त्वोऽपि महेश्वरस्तं,
पप्रच्छ तदगर्भगतेर्निदानम्।।
स वर्णयामास यथार्थमेव,
तयोः पुरः सर्वमपि प्रवृत्तम्।
आकर्ण्य तदवृत्तमनुप्रसन्ना,
सोमामहेशानुमतिं च कृत्वा
तं कल्पयामास सुतं शुभागं
सोत्संग आस्थाय चुचुम्बवक्त्रम्।
सुतो ममायं किल मत्स्यनाथो,
विज्ञाततत्त्वोऽखिलसिद्धनाथः।
तं सिद्धनाथं मनसा विचिन्त्य,
नरो भवेत् सिद्धसमस्तकामः।।

—(नारदपुराणा उत्तर ६९।१७-२५)

प्रश्न—विंटरनिट्ज ने पुराणों का समय, ६२५ ई० (बाण द्वारा पुराणों का उद्धरण) ७०० ई० (कुमारिल भट्ट द्वारा पुराणों का उद्धरण) एवं ९वीं सदी (आचार्य शंकर द्वारा पुराणों का उद्धरण) आदि के काल में पुराणों की विद्यमानता के साक्ष्य पर) ६ठवीं सदी से पूर्व का माना है। यदि यह सत्य है तो १०वीं या ११वीं सदी के मत्स्येन्द्रनाथ एवं उनसे सम्बद्ध जीवन की घटनाओं का उल्लेख 'नारदपुराण' में कैसे उपलब्ध हो सकता है? क्या 'नारदपुराण' मत्स्येन्द्रनाथोत्तरकाल की रचना है?

अभिनव गुप्तपादाचार्य मत्स्येन्द्रनाथ से इतने प्रभावित थे कि वे मत्स्येन्द्र से अपने ऊपर कृपा बनाए रखने हेतु सदा प्रसन्न रहने की प्रार्थना करते हुए कहते हैं—

'मे स मच्छन्दविभुः प्रसन्नः॥' (तं० अ० १/७)

उन्होंने जालन्धर पीठके कौलगुरु श्री शम्भुनाथ एवं उनकी दूती को भी प्रणाम किया है—

'जयताज्जगदुद्धृति क्षमोऽसौ भगवत्या सहशम्भुनाथ एकः॥ (तं० अ० १-१३)

मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा प्रवर्तित कौलमार्ग इतना सम्मोहक था कि स्वयं अभिनवगुप्तपाद भी उसके अनुयायी एवं साधक हो गए।

चारों युगों में कौलसाधना के उपदेष्टा

कौलमत की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। अतः प्रत्येक युग में इस मार्ग के उपदेष्टा रहे हैं। यथा—

(१) सत्ययुग में—श्री खगेन्द्रनाथ

(२) त्रेतायुग में—श्री कूर्मनाथ

(३) द्वापरयुग में—श्री मेषनाथ

(४) कलियुग में—श्री मत्स्येन्द्रनाथ —तंत्रालोक वि० खं० ३-६-२९७

मत्स्येन्द्रनाथ के ६ पुत्र माने जाते हैं और उनकी पूजा की जाती है। उनका नाम इस प्रकार है—

(१) वक्ताष्टिनाथ (२) विमलनाथ (३) जैत्रनाथ

(४) अंविजितनाथ (५) विन्ध्यनाथ (६) अजितनाथ

उनके साथ उनकी शक्तियों की भी पूजा की जाती है जो निम्नांकित हैं—

(१) इल्लाई अम्बा (२) भैरवलाम्बा (३) ईल्लाईअम्बा

(४) आनन्दमेखलाम्बा (५) कुल्लाईअम्बा (६) अजराम्बा।

प्रत्येक युग के उपदेष्टा कौल गुरुओं के साथ उनकी शक्तियों की भी पूजा की जाती है जो निम्नाङ्कित हैं—

(१) बिज्जाम्बा (२) मंगलाम्बा (३) काममंगलाभ्ण (४) कुकुणाम्ब

आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने मत्स्येन्द्रोक्त कौलमार्ग के सिद्धान्तों पर तंत्रालोक के उन्नीसवें आह्निक में सविस्तार प्रकाश डाला है।

यद्यपि मत्स्येन्द्रनाथ प्रणीत रचनायें—

(१) कौलज्ञाननिर्णय (२) अकुलवीरतन्त्र,

(३) कुलानन्द तन्त्र (४) ज्ञानकारिका।

एवं उनकी साधनायें मत्स्येन्द्रनाथ को मात्र कौलसाधक ही सिद्ध करती हैं; किन्तु वे योगी भी थे, वे हठयोग के प्रथम सिद्धाचार्य भी हैं—

'हठविद्यां हि मत्स्येन्द्रगोरक्षाद्या विजानते।'—(हठयोगप्रदीपिका)

मत्स्येन्द्रनाथ कौल होने के कारण 'शिवभक्ति' के उपासक थे; क्योंकि—

'कुलं शक्तिरिति प्रोक्तमकुलं शिव उच्यते।
कुलेऽकुलस्य संबंधः कौलमित्यभिधीयते॥'

—(सौभाग्य भास्कर)

मत्स्येन्द्रनाथी साधना-मार्ग में योग साधना भी है

'हठयोगप्रदीपिका' के टीकाकार ब्रह्मानन्द कहते हैं—'कदाचिदादिनाथः कस्मिंश्चिद् द्वीपे स्थितः। तत्र विजनमिति मत्वा गिरिजायै **योगमुपदिष्टवान्**। तीरसमीपनीरस्थः कश्चन मत्स्यः **योगोपदेशं श्रुत्वा** एकाग्रचित्तो निश्चलकायोऽवतस्थे। तं तादृशं वानेन **योगः श्रुत** इति मत्वा कृपालुरादिनाथो जलेन प्रोक्षितवान्। स च प्रोक्षणमात्राद्दिव्यकायो मत्स्येन्द्रः सिद्धोऽभूत तमेव मत्स्येन्द्रनाथ इति वदन्ति॥'
—ज्योत्स्ना

ओड़िया-साहित्य और मत्स्येन्द्रनाथ

प्राचीन ओड़िया-साहित्य और पुराणों में भी मत्स्येन्द्रनाथ का नाम आता है। मत्स्येन्द्रनाथ का नाम (१) अमरकोषगीता (२) महाभारत (३) अष्टांगयोगधारणा (४) परचेगीता (५) गोरखसंहिता आदि में आता है।

(१) अमरकोष गीता के अनुसार मत्स्येन्द्र-वृत्तान्त—प्राचीनतम नाथ-साहित्य 'अमरकोषगीता' में मत्स्येन्द्रनाथ को 'मक्षन्देलिनाथ' कहा गया है। **वे मीननाथ के पुत्र स्वीकार** किए गए हैं। 'अमरकोषगीता' में उन्हें 'बन्दइं मक्षन्देलिनाथ अनन्त दरिआं' कहकर (मत्स्येन्द्रनाथ की) वन्दना की गई है तथा 'माया मारि मछन्देलिनाथ' कहकर उन्हें मायोच्छेदक कहा गया है।

(२) महाभारत में मत्स्येन्द्र का वृत्तान्त—आदि कवि सारलादास ने अपनी 'महाभारत' नामक रचना में भी मत्स्येन्द्रनाथ की कथा पर प्रकाश डाला है। 'महाभारत' (सारलादास कृत) के सभापर्व में नकुल ने अपने दिग्विजयप्रसंग में कदलीदेश के राजा मत्स्येन्द्रनाथ का उल्लेख किया है।

नकुल ने दक्षिण कोशल के अनेक राज्यों को जीतकर कदलीवन में मत्स्येन्द्रनाथ एवं योगी गोरक्षनाथ से भेंट की थी—

'दक्षिणकोशले ये अनेक राज्य साधि
कदलि बने प्रवेश महायोधि।
द्रसन पाइला से मच्छइन्द्रंककरपुता।
भेंटिले परम योगी गोरेख अवधूता॥'

—(महाभारत, सभापर्व)

सारलादास प्रणीत 'महाभारत' में कहा गया है कि—

(१) मत्स्येन्द्रनाथ **कदली देश के राजा** थे और वे वहाँ सांसारिक भोगमय जीवन व्यतीत कर रहे थे।

(२) उन्होंने किसी मृत राजा के शरीर में प्रवेश करके कदली देश में राजैश्वर्य का उपभोग किया।

(३) वे हाथों में खड्ग, ओष्ठों पर वंशी धारण किया करते थे। वे 'कुरतिमतिभोला' थे।

(४) (महाभारत का वनपर्व) : सारलादास ने अपने इसी ग्रंथ के वनपर्व में यह भी कहा है कि **मत्स्येन्द्रनाथ मत्स्य देश के राजा थे। उनके पास सौ करोड़ गायें थीं।** उस समय विराट देश के राजा हरकेशर थे। उनकी भक्ति से प्रसन्न होकर मत्स्येन्द्रनाथ ने उन्हें वर देना चाहा तो हरकेशर ने मत्स्य राज्य की याचना की। मत्स्येन्द्र ने १०० कोटि गायों के साथ मत्स्यराज्य हरकेशर को दे दिया।

महाभारत के विराटपर्व में पाण्डवों के अज्ञातवास के प्रसंग में सारलादास ने विभिन्न राज्यों एवं नगरों के साथ ही 'मच्छइन्द्रपुर' का भी उल्लेख किया है।

(३) 'अष्टाङ्गयोगधारण' ग्रन्थ के अनुसार मत्स्येन्द्रोपाख्यान—गोरख एवं मल्लिका की पारस्परिक वार्ता के मध्य मत्स्येन्द्रनाथ के जन्म वृत्तान्त पर भी प्रकाश डाला गया है। यह उपाख्यान इस प्रकार है—एक बार भगवान् शिव भगवती पार्वती को अपने साथ लेकर प्रभास तीर्थ गए। वहाँ पर पार्वती जी की प्रार्थना पर भगवान् शिव ने उन्हें अष्टाङ्ग योग का तत्त्व समझाया। भगवान् शिव ने यह भी जान लिया कि एक मछली के गर्भ में स्थित कोई पुरुष उनका उपदेश सुन रहा है, तब वे प्रसन्न हुये और उसे वरदान देते हुए उन्होंने उसका नाम 'मच्छिन्द्र' रखा। उन्होंने उसे मत्स्य के शरीर से बाहर आने का आदेश भी दिया। मत्स्येन्द्र के यह कहने पर कि मत्स्योदर में घोर अन्धकार के कारण उन्हें निकलने का मार्ग नहीं दृष्टिगोचर हो रहा है, तब शिव ने त्रिशूल से मत्स्य का गर्भ विदीर्ण कर डाला और नेत्र दिया अर्थात् शिव ने ज्ञान रूपक त्रिशूल से मायान्ध मत्स्येन्द्र का उद्धार किया।

(४) 'परचेगीता' के अनुसार मत्स्येन्द्र-वृत्तान्त—द्वारिका दास ने 'परचेगीता' नामक ब्रह्मज्ञानात्मक ग्रंथ प्रणीत किया। इस ग्रंथ में 'ब्रह्मज्ञान' के आविर्भाव एवं उसकी क्रमिक गुरु-शिष्यपरम्परा का वर्णन किया गया है।

भगवान् ने सर्वप्रथम यह ब्रह्मज्ञान नारद को प्रदान किया। यह क्रम इस प्रकार से है—

(१) प्रथमोपदिष्ट शिष्य		—नारद	
(२) द्वितीय	नारद	—व्यास	
(३) तृतीय	व्यास	—सूत	
(४) चतुर्थ	सूत	—शौनक	
(५) पंचम	शौनक	—परीक्षित	
(६) षष्ठ	परीक्षित	—गंगाजी	
(७) सप्तम	भगवती गंगा	—शिव	
(८) अष्टम	शिव	—पार्वती	
(९) नवम	पार्वती	—मीन के गर्भ से मत्स्येन्द्र ने यह योगोपदेश सुना।	
(१०) दशम	मत्स्येन्द्रनाथ	—गोरक्षनाथ	

गुरु गोरक्ष ने इसी ज्ञान के बल से सिद्धि प्राप्त की।

(४) गोरेखसंहिता के अनुसार मत्स्येन्द्रोक्त उपाख्यान—१६वीं सदी में विरचित 'गोरख-संहिता' में भी मत्स्येन्द्रवृत्तान्त उपलब्ध होता है। इसके अनुसार—

(१) सत्ययुग में अनली गोसाईं महायोग-रत थे। जब उन्होंने आँखें खोलीं तो कमला को सामने देखकर उन पर मोहित हो उठे। परिणामत: वीर्यस्खलन हो गया। क्षीरसमुद्र में स्थित माधव नामक मछली ने इसे खा लिया। उसके गर्भ में सन्तान-वृद्धि होने लगी। वह मछली क्षीरसमुद्र से साकल्य देश चली गई, वहाँ उसे किसी केवट ने पकड़ लिया। जब उस केवट ने उसको काटा तो उसके पेट से एक पुत्र सन्तान निकली। साकल्य देश के राजा ने इस बालक के पालन-पोषण का दायित्व केवट को ही सौंप दिया। मत्स्योदर-प्रसूत होने के कारण इस बालक का नाम 'मत्स्येन्द्र' रखा गया। कालान्तर में मत्स्येन्द्र परिभ्रमणार्थ निकले। रात्रि के अन्तिम प्रहर होने पर उन्होंने कपिलास में महाभैरव का दर्शन प्राप्त किया। भैरवादेश से ही उन्होंने वरुण वृक्ष के नीचे योग-साधना का समारंभ किया। यहीं उन्हें भैरव से योग सम्बन्धी अनेक रहस्य ज्ञात हुए। फिर मत्स्येन्द्र ने कपिलास के पश्चिम में एक सरोवर के निकट एक वृक्ष के अधोदेश में 'मूलकमल रूपी' आसन की साधना आरंभ की। उन्हें १००० वर्षों बाद सिद्धि प्राप्त हुई। भैरवाज्ञा से ही आदिनाथ ने मत्स्येन्द्र का गुरु बनना स्वीकार किया। भगवती कालिका से छूरी लेकर आदिनाथ ने मत्स्येन्द्र का कान फाड़कर उसमें योग-मुद्रा लगाई। इसके अनन्तर उसी कपिलास नामक स्थान में शिव ने उन्हें अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड का परम योगी होने का वर दिया तथा गोरक्षनाथ के शिष्य बनने की बात कही।

इसी अवसर पर भगवान शिव ने मत्स्येन्द्रनाथ को यन्त्र-मन्त्र, स्तम्भन, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन एवं 'पादुका-मन्त्र' प्रदान किया।

मत्स्येन्द्रनाथ दीक्षोपरान्त विभिन्न अंचलों की यात्रा करते हुए मेरुपर्वत की **'लोकालोकगुहा'** में प्रविष्ट हुए। यहीं योग-साधना करते-करते एक दिन उन्होंने गोरखनाथ को देखा। गोरक्षनाथ को दीक्षा देकर वे बदरिका जाकर वहाँ साधना करने लगे। यहीं मत्स्येन्द्र ने गोरखनाथ को नाथ-धर्म एवं योगतत्त्व का रहस्य समझाया। यहाँ से ये दोनों प्रयाग तीर्थ जाकर सप्तद्वीप भ्रमण पर निकल पड़े। परिभ्रमणोपरान्त दोनों कुशद्वीप में चातुर्मास्य व्यतीत करने लगे।

कुशद्वीप के राजा कुश नाभि एवं रानी शतश्रिया की प्रार्थना पर मत्स्येन्द्रनाथ ने राजकुमारी से विवाह कर लिया और उसी नगर में बस गए। दस मासों के उपरान्त उन्हें एक सन्तान हुई, जिसका नाम **'मीननाथ'** रखा गया। इसके अनन्तर मत्स्येन्द्रनाथ कदली वन चले गए। वहीं गोरक्षनाथ भी पहुँच गए। एक दिन गोरखनाथ ने 'मीननाथ' का पेट काटकर उसकी अँतड़ियों को धूप में रख दिया। इस कृत्य को देखकर मत्स्येन्द्र और विमला दोनों रोने लगे। गोरक्षनाथ ने जैसे ही **'मीननाथ'** कहा; वैसे ही वह बालक यथा पूर्ववत् स्थिति में प्रत्यावर्तित हो उठा। गोरख ने मत्स्येन्द्र से कहा—

योगी के घर जन्म लेने वाला कभी मर नहीं सकता—

'गोरेख बोइले तुम्मे शुण गुरुदेव।
योगी घरे जन्म ये बे किम्पाइ मरिब।'

(५) 'शून्य संहिता' 'लोहि गीता' तथा ईश्वरदास प्रणीत 'चैतन्य भागवत्' आदि ग्रंथों में मत्स्येन्द्रोपाख्यान—इन सभी ग्रंथों में मत्स्येन्द्रनाथ के उपाख्यान उपलब्ध होते हैं।

(६) 'चैतन्य भागवत' में मत्स्येन्द्र का वृत्तान्त—चैतन्य भागवत में भी मत्स्येन्द्रनाथ का उपाख्यान प्राप्त होता है। इसमें उनका नामोल्लेख इस प्रकार है—

"मत्स्येन्द्र चउरङ्गी बेनि। ता नामे सिद्ध तनु घेनि।
विरूपाक्ष गोरेख दक्ष। नामे एतिनि हेलेमोक्ष।।"
'हाडिपा तन्तिपा कान्हुपा। जाबालि सायन्तनु आपा।।'

ओड़िया-साहित्य के अनुसार मत्स्येन्द्रनाथ सिद्धि-प्राप्ति के अनन्तर भी गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करते रहे। 'बौद्धगान ओ दोहा' **(ओड़िया भाषा का प्राचीनतम ग्रंथ)** में भी मत्स्येन्द्रनाथ का नामोल्लेख है और उनके अनेक पद भी संकलित हैं। चूँकि आदिनाथ तो शिव हैं। अतः आदिनाथ के बाद नाथपंथ के प्रथम सिद्ध मत्स्येन्द्रनाथ ही हैं और नाथ-धर्म के यथार्थ प्रवर्तक भी मत्स्येन्द्रनाथ ही हैं।

विद्यारण्य की दृष्टि में मत्स्येन्द्रनाथ—'शङ्कर दिग्विजय' नामक ग्रंथ में श्रीविद्यारण्य जी ने आचार्य शंकर के मुख से मत्स्येन्द्रनाम की प्रशंसा कराते हुए यह कहलवाया है कि जिस प्रकार प्राचीनकाल में मत्स्येन्द्रनाथ ने परकाया प्रवेश करके अपने शरीर की रक्षा का भार अपने शिष्य गोरक्षनाथ को सौंपा था, उसी प्रकार मैं परकाया-प्रवेश से पूर्व अपने शरीर की रक्षा का भार तुम्हें सौंपता हूँ—

"मत्स्येन्द्रनामा हि पुरा महात्मा गोरक्षमादिश्यनिजांगगुप्तये
नृपस्य कस्यापि तनुं परासो प्रविश्य तत्पत्तनमाससाद।
गोरक्ष एषोऽथ गुरोः प्रवृत्तिं विदाय रक्षन्बहुधास्य देहम्।
निशान्तकान्तानटनोपदेष्टा नितान्तमत्याभवदन्तरङ्गः॥"

—शंकर दिग्विजय (९।८०, ८४)

मैथिल कवि विद्यापति ने मत्स्येन्द्रनाथ का **'मीननाथ'** नाम से उल्लेख करते हुए अपने नाटक—'गोरक्षविजय' में कहा है—

'अबहु न सम्भव मोहे, रे **मिननाथ।**'

नेपाल और मत्स्येन्द्रनाथ—नेपाल में मत्स्येन्द्रनाथ को अत्यधिक आदर के साथ एवं पूज्यभावपूर्वक स्मरण किया जाता है तथा उन्हें राष्ट्र के अधिष्ठाता एवं राष्ट्र-रक्षक समझा जाता है। उनके विषय में यह भी कहा जाता है कि—

'मत्स्येन्द्रनाथ समा यात्रा नास्ति ब्रह्माण्ड मण्डले।'

जयरथ ने 'विवेक' में उनका चित्त-वृत्तिनाशक सिद्ध के रूप में उल्लेख करते हुए (मच्छ को पाश मानते हुए उसके विदारक को **मत्स्येन्द्र** कहते हुए) कहा है कि—

'मच्छाः पाशाः समाख्याताश्चपलाश्चित्तवृत्तयः।
छेदितास्तु यदा तेन मच्छन्दस्तेन कीर्तितः॥'

अर्थात् चञ्चल वृत्तियाँ ही पाश हैं; जिन्हें कि 'मच्छ' के नाम से जाना जाता है और इनको काटने से मत्स्येन्द्रनाथ 'मच्छन्द' के नाम से प्रख्यात हो गए।

जयरथ मत्स्येन्द्रनाथ को ही समस्त कुलशास्त्रों का अवतारक मानते हैं—

'स सकल कुलशास्त्रावतारकतया प्रसिद्धः॥'

'भविष्य पुराण' में वर्णित मत्स्येन्द्रोपाख्यान—भविष्य पुराण में वर्णन आता है कि बृहस्पति प्रयाग में समागत सभी देवताओं को रुद्रमहिमा की कथा सुना रहे थे। वहीं पिनाकी महारुद्र भी स्थित थे। अपनी यशोगाथा सुनकर अत्याह्लादित भगवान् रुद्र के मुख से एक तेजोमय उत्तमांश निःसृत हुआ, जिसे उन्होंने हिमालयावस्थित हरद्वार भेजा। हरद्वार में शंभुसेवा में निरत मच्छन्द्र नामक एक महायोगी के मुख में

ही यह रौद्रतेज प्रविष्ट हो गया। इस अवस्था में वे समाधि में संल्लीन थे। इसी समय रम्भा नामक कामरूपिणी अप्सरा भी वहीं विचरण कर रही थी। उसने मच्छन्द्र को अपने वश में कर लिया।

स्कन्दपुराणोक्त मत्स्येन्द्रोपाख्यान—'स्कन्द पुराण' के कथनानुसार मत्स्येन्द्रनाथ का जन्म अशुभ लग्न में हुआ था। लग्न के अशुभ प्रभाव से बचने के लिए इन्हें समुद्र में फेंक दिया गया था। मत्स्य के सहयोग से इन्हें महाज्ञान की प्राप्ति हुई। तदनन्तर ये शिवानुकम्पा से मुक्त हो गए।

महाराष्ट्रीय गुरु-परम्परा और मत्स्येन्द्रनाथ—महाराष्ट्र का प्रमुख सम्प्रदाय **'नाथ-सम्प्रदाय'** है। महाराष्ट्रीय साहित्य में प्रमुख भूमिका के निर्वाहक सम्प्रदाय निम्नाङ्कित हैं—

(१) नाथ सम्प्रदाय (२) महानुभाव सम्प्रदाय (३) वारकरी सम्प्रदाय (४) दत्त सम्प्रदाय (५) समर्थ सम्प्रदाय।

नाथ-सम्प्रदाय में, जो बहुमान्य गुरु-परम्परा है, आदि में **आदिनाथ,** फिर **उमा** और फिर **मत्स्येन्द्रनाथ** तथा उसके बाद **जालन्धरनाथ** का नाम आता है। **मत्स्येन्द्रनाथ** की **शिष्य-परम्परा** में गोरखनाथ, चर्पटीनाथ, रेवानाथ और चौरंगीनाथ आते हैं।

गोरखनाथ की शिष्य-परम्परा में गहनीनाथ, नागनाथ, भवनाथ, माणिकनाथ एवं विलेशय नाथ आते हैं। गहनीनाथ के शिष्य **निवृत्तिनाथ की शिष्य-परम्परा** में ज्ञाननाथ (ज्ञानदेव) सोपानदेव एवं मुक्ताबाई अधिक प्रख्यात हैं। **ज्ञानदेव की शिष्य-परम्परा** में विसोबा खेचर एवं सत्यामंलनाथ प्रख्यात हैं। **सत्यामलनाथ** की शिष्य-परम्परा में गैबीनाथ हैं। गैबीनाथ के गुप्तनाथ और गुप्तनाथ के उद्बोधनाथ उनके केसरीनाथ एवं उनके शिवदीन केसरी हैं। **जालन्धर नाथ** की शिष्य-परम्परा में कानिपानाथ, मैनावती एवं गोपीचन्द प्रसिद्ध हैं।

श्रीदत्तोवामन पोतदार के अनुसार गुरुपरम्परा का स्वरूप इस प्रकार है—**आदिनाथ**—(फिर) **उदोनाथ** (और फिर) **मछीन्द्रनाथ** (और फिर) **गोरखनाथ।**

महाराष्ट्र का जो **वारकरी सम्प्रदाय** है, वह भी आदिनाथ से प्रारम्भ होता है। वारकरी सन्त अपनी गुरु-परम्परा नाथों से जोड़ते हैं; क्योंकि उनके सम्प्रदाय के संस्थापक **ज्ञानेश्वर** ने अपनी गुरु-परम्परा को नाथों से जोड़ा है। **मत्स्येन्द्रनाथ,** गोरक्षनाथ आदि सिद्ध इस परम्परा से भी सम्बद्ध हैं। नाथ-पंथ ने आचार्य शंकर के केवलाद्वैतवादी **ज्ञानमार्ग को योगमार्ग से जोड़ा** और दूसरी ओर **तंत्र को योग से जोड़ा। ज्ञानेश्वर** ने इस शैवीमार्ग को **भक्तिमार्ग से भी जोड़ दिया।** यही **वारकरी सम्प्रदाय** की विशेषता है—

'तुका म्हणे भक्ति साठी हरिहर।
हरिहरा भेद नाही नका करूँ वाद॥'

—(सकल संत गाथा)

मत्स्येन्द्रनाथ 'हठयोग' के प्रथमाचार्य थे। वे **कामरूप में तपस्या** कर रहे थे। उसी समय वहाँ के राजा की मृत्यु हो गई। **मत्स्येन्द्रनाथ** ने तांत्रिकी सिद्धि 'परकाया-प्रवेश' द्वारा उस राजा के शरीर में प्रवेश करके अनेक वर्षों तक मृत राजा की रानियों के साथ भोग-विलास किया और **योग का तंत्र** से समन्वय किया।

'श्रीनाथ तीर्थावली' और मत्स्येन्द्रनाथ—राजा मानसिंह विरचित—**'श्री नाथ तीर्थावली'** नामक ग्रंथ में कहा गया है कि—

(१) नेपाल की सिद्धाचल मृगस्थली में श्री **पशुपतिनाथ** विराजमान हैं और वहीं पुण्यसलिला वाग्वती गङ्गा नदी प्रवाहित होती है। इसी **'मृगस्थली'** में गोरखनाथ राजा एवं प्रजा से (स्वागत न करने से) असन्तुष्ट होकर ९६ करोड़ मेघमालाओं को अपने आसन के नीचे दबाकर एक आसन से १२ वर्षों तक तपस्या करते रह गए थे। जब मत्स्येन्द्रनाथ सिंहल द्वीप से नेपाल आये, तब भी गोरक्ष न तो उनकी आगवानी में ही आए और न तो दण्डवत ही किया प्रत्युत् मन से नमस्कार कर लिया। किन्तु उनका घुटना हिल गया। इसके कारण सारे मेघ मुक्त हो गए और नेपाल में घनघोर वृष्टि हुई।

(२) काठमाण्डू के निकट वाग्वती गंगा के किनारे **मत्स्येन्द्रनाथ का मन्दिर** है। इसके पूर्वभाग में **गोरक्ष नामक शिव हैं।** यहीं गोरखनाथ का मन्दिर है।

(३) **कान्तिपुर** के तुलजा भवानी के मन्दिर में **मत्स्येन्द्रनाथ की मंजूषा** अमूल्य वस्तुओं से परिपूरित है और पूजित है—

(क) 'तत्र मत्स्येन्द्रनाथस्य मंजूषा ह्यस्ति राजती।'

—श्रीनाथतीर्थावली (३४३)

(ख) 'अमूल्यवस्तुभिः पूर्ण निवारैरेव पूज्यते।'

—श्रीनाथतीर्थावली (३४४)

(४) **'कान्तिपुर'** (नेपाल का एक तीर्थस्थान) में (नीलवती-शीलवती-पूर्णवती नदियों के संगम पर) **'कैलाश'** नामक शिखर है। उसके ऊपर—(१) मत्स्येन्द्रनाथ (२) गोरक्षनाथ एवं (३) दण्डपाणि के **तीन चरणकमल विराजमान** हैं—

'नीलवत्याः शीलवत्याः पुण्यवत्याश्च सङ्गमे।
कैलाशाचलनाम्नास्ते शैलः सुन्दर शेखरः।

तस्योपरि विराजन्ते समपादाम्बुजैस्त्रयः।
शिव मत्स्येन्द्रगोरक्षा दण्डपाणिश्च भैरवः।।'

—श्रीनाथतीर्थावली (३६०)

(गोरक्षनाथ का मृगस्थली में ९६ करोड़ मेघमालाओं को अपने आसन के नीचे १२ वर्षों तक दबाकर नेपाल में अनावृष्टि रखने के पीछे एक कारण यह भी था कि नेपाल का राजा मत्स्येन्द्रनाथ के अनुयायी मत्स्येन्द्रिय जाति पर अत्याचार कर रहा था। इसी के कारण गोरखनाथ असन्तुष्ट होकर उन्हें दण्डित करने के लिए १२ वर्षों तक मेघों को दबाकर बैठे रहे।[१]

(५) उस समय लिच्छवी नेपाल नरेश **नरेन्द्र देव** ने ज्योतिषियों एवं **तांत्रिकों** को बुलाकर अनावृष्टि का कारण पूछा तो नरेन्द्रदेव के तंत्रशास्त्रज्ञानी मन्त्री बुद्धदत्त ने इसका कारण गोरख को बताया, जो कि समाधिस्थ थे। यह सोचा गया कि उनके गुरु मत्स्येन्द्रनाथ को बुलाया जाय तो गोरक्ष उठ खड़े होंगे और सारे मेघ मुक्त हो जाएंगे और फिर खूब वृष्टि होगी।

राजा ने अपने मंत्री (बुद्धदत्त या बन्धुदत्त) को सिंहलद्वीप (कामरूप) भेजा। वहाँ मत्स्येन्द्र तपस्या कर रहे थे। राजा ने मत्स्येन्द्र को नेपाल पधारने के लिए आमंत्रित किया। मत्स्येन्द्रनाथ ने बन्धुदत को **एक मन्त्रानुष्ठान का उपाय** बताया और कहा कि **उक्त मंत्र के जप से मैं मंत्र-जपक के पास समाकृष्ट हो कर आ जाऊँगा।** बन्धुदत्त के नेपाल लौटकर उक्त मंत्रानुष्ठान करने पर अवलोकितेश्वर (मत्स्येन्द्रनाथ) कमण्डल में **भृंग के रूप में प्रविष्ट हुए।** बन्धुदत्त ने उस समय प्रसुप्त राजा को जगाकर कमण्डलु का मुख बन्द करने का संकेत दिया। परिणामस्वरूप वे **कमण्डल में बन्द हो गए। अतः नेपाल में प्रचुर** वर्षा हुई। तभी से नेपाल में बुगम नामक स्थान में मत्स्येन्द्र यात्रोत्सव मनाया जाता चला आ रहा है। अब मत्स्येन्द्र को **'भृङ्गपाद'** भी कहा जाने लगा।

(यह भी उपाख्यान मिलता है कि जब बन्धुदत्त सिंहल (कामरूप पीठ) से मत्स्येन्द्र को नेपाल लिवा लाने गए एवं उन्हें लिवा कर मृगस्थली में गोरखनाथ जी के सामने लाया गया, उस समय मत्स्येन्द्र को प्रणाम करते समय गोरखनाथ के हिल जाने से ९६ करोड़ मेघमालायें मुक्त हो गईं एवं नेपाल में अतिवृष्टि हुई—

'इत्यनुष्ठाय मत्स्येन्द्र सिंघलद्वीपतः पुनः।
आनिनाय स नेपालं श्रीमद्गोरक्षसन्निधौ।
गुरुं दृष्ट्वाऽपि गोरक्षो नासानादुत्थितोऽभवत्।
ननामोपाविशन्नेव मेघमोक्षविशंकया।

---

१. मृगस्थलीस्थ स्थली पुण्याभालं नेपालमण्डले। यत्र गोरक्षनाथेन मेघमालाऽसनीकृताः।

नमतः किञ्चिदुत्तुरस्थो वामं जानुतदासनात्।
अनेनावसरेणैव मेघमाला विनिर्गता।
पलायामास भीत्यैव ततो गोरक्षनाथतः।।'

—श्रीनाथ तीर्थावली (३३३-३३६)

(६) महाराजा नरेन्द्रदेव ने मत्स्येन्द्रनाथ एवं गोरक्षनाथ से क्षमा-याचना की और सिंहलद्वीप (कामरूप पीठ) से नेपाल आने के संस्मरण को स्थायी बनाने हेतु यात्रोत्सव आयोजित किया। नेपाल में रथयात्रा, महास्नान एवं यात्रोत्सव नेपाली जन-जीवन की पावन-स्मृति के रूप में आज भी (मत्स्येन्द्र के सम्मान में) निष्पादित होते चले आ रहे हैं। यह नेपाल की राष्ट्रीय जीवनधारा का ऐतिहासिक प्रतीक बन गया है। नेपाल में कहावत है—

'मत्स्येन्द्रस्य समा यात्रा नास्ति ब्रह्माण्डमण्डले।।'

मत्स्येन्द्रनाथ के नेपाल पधारने पर उनका स्वागत अत्यन्त धूमधाम से किया गया।

योगिसम्प्रदाय विष्कृतिकार की दृष्टि—'योगिसम्प्रदायाविष्कृति' नामक ग्रंथ में नवनाथों को **'नव नारायणों'** के नाम से प्रस्तुत किया गया है। इसके अनुसार ९ नारायणों ने ही ९ नाथों के रूप में अवतरण ग्रहण किया। स्वयं महादेव ने भी एक 'नाथ' के रूप में अवतार ग्रहण किया था।

नव नारायण और मत्स्येन्द्रनाथ

(१) कविनारायण ↓ मत्स्येन्द्रनाथ

(२) करभाजन नारायण ↓ गहनिनाथ (गाहनीनाथ)

(३) अन्तरिक्ष नारायण ↓ ज्वालेन्द्रनाथ (जालन्धरनाथ

(४) प्रबुद्ध नारायण ↓ करणिपानाथ (कानिपा)

(५) आविर्होत्र नारायण ↓ नागनाथ

(६) पिप्पलायन नारायण (चर्पटी) ↓ चर्पटनाथ

(७) चमस नारायण ↓ रेवानाथ

(८) हरि नारायण ↓ भर्तृनाथ (भरथरी)

(९) द्रुमिल नारायण ↓ गोपीचन्द्र नाथ

इसमें **'गोरक्षनाथ'** का नाम नहीं है। इसमें **'आदिनाथ'** का भी नाम नहीं है। अत: दोनों का नाम जोड़ देने पर तो १२नाथ हो जायेंगे। **'महार्णव तंत्र'** के ९ नाथों में एक नाथ **'जड़भरत'** भी हैं। इस सूची में वे भी नहीं हैं।—

*** 'सुधाकर चन्द्रिका'** में ९ नाथ एवं मत्स्येन्द्रनाथ

(१) एकनाथ (२) आदिनाथ (३) मत्स्येन्द्रनाथ (४) उदयनाथ (५) दण्डनाथ

(६) सत्यनाथ (७) संतोषनाथ (८) कूर्मनाथ (९) जालन्धरनाथ

इसमें **'गोरक्षनाथ' 'कृष्णपाद'** दोनों नहीं है तथापि **मत्स्येन्द्रनाथ** हैं।

*** नेपाल की परम्परा ***

(१) प्रकाश (शिव)
(२) विमर्श (शक्ति)
(३) आनन्द (शिव की शक्ति
(४) ज्ञान (शिव की शक्ति)
(५) पूर्ण
(६) स्वभा
(७) प्रतिभा (कुण्डलिनी शक्ति)
(८) सुभगा (महात्रिपुर सुन्दरी)

(इसमें गोरखपंथियों की धारणा पूर्वोल्लिखित ९ नाथों में से किसी भी नाथ का नाम नहीं है।)

मान्यता यह है कि गोरखपंथी इन ९ नाथों का उद्भव गोरखनाथ (श्रीनाथ) से ही हुआ है। ये नवविध नाम गोरख के नवविध अवतार हैं। **गोरखपंथियों की मान्यता है कि गोरक्ष ही भिन्न-भिन्न कालों में नाथ नाम धारण करके अवतार लेते हैं और उन्होंने ही ब्रह्मा, विष्णु एवं महादेव को जन्म दिया है।** नाथ-सम्प्रदाय के सर्वमान्य आचार्यों में **मत्स्येन्द्रनाथ, जालंधरनाथ गोरक्षनाथ** एवं **कानिपा** का नाम सभी ग्रंथों में समान रूप से उपलब्ध होते हैं।

(१) **आदिनाथ** (२) **मत्स्येन्द्रनाथ** (३) **जालन्धरनाथ** एवं (४) **गोरक्षनाथ**— ये चार नाम तांत्रिक सिद्धों, सहजयानी बौद्ध सिद्धों एवं तिब्बती परम्परा में भी पाये जाते हैं; किन्तु अन्य नाम ऐसे नहीं हैं।

*** ताराहस्योक्त मानवौद्य ***

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)	(७)	(८)
वशिष्ठ	**मीननाथ**	हरिनाथ	कुलेश्वर	विरूपाक्ष	महेश्वर	सुख	पारिजात

*** कौलावली तंत्र में उल्लिखित मानवौद्य ***

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)
विमल	कृशर	भीमसेन	**मीन**	**गोरक्ष**	भोजदेव
(७)	(८)	(९)	(१०)	(११)	(१२)
मूलदेव	रतिदेव	बिघ्नेश्वर	हुताशन	समरानन्द	संतोष

*** श्यामारहस्योक्त नाम ***

विमल	कृशर	भीमसेन	सुधाकर	**मीन**	**गोरक्ष**	भोजदेव
प्रजापति	कुलदेव	वृंतिदेव	विघ्नेश्वर	हुताशन	संतोष	सयानन्द

राहुल सांकृत्यायन द्वारा प्रस्तुत सूची

'वर्णरत्नाकर' की सूची	**वज्रयानी (सहजयानी सिद्धों की सूची)**
(१) **मीननाथ** *	(१) लूहिपा
(२) **गोरक्षनाथ** *	(२) लीलापा
(३) **चौरंगीनाथ** *	(३) विरूपा
(४) चामरीनाथ	(४) डोम्भीपा
(५) तंतिपा	(५) शबरीपा
(६) **हालिपा** *	(६) सरहपा
घोंघपा	मीनपा *
दारिपा	गोरक्षपा *
विरूपा आदि	चौरंगीपा आरि।।[1]
भीषण आदि	जालंधरपा

---

१. नाथ सम्प्रदाय।

'वर्णरत्नाकर' नामक ग्रंथ में सिद्धों के नाम की जो सूची दी गई है, उसमें प्रथम सिद्ध का नाम **'मीननाथ'** एवं ४१वें सिद्ध का नाम **'मीन'** दिया हुआ है। नाथ-परम्परा में एक पृथक **'मीन'** नामक सिद्ध हो चुके हैं। मत्स्येन्द्रनाथ के पुत्र का नाम भी **'मीन'** था।[१]

उन्हें रथ पर आसीन किया गया। रथ के पीछे अपार जनसमूह था। नेपाल के राजा नरेन्द्रदेव ने मत्स्येन्द्र को **राष्ट्राधिष्ठाता** के रूप में प्रतिष्ठित करके उनकी नामाङ्कित मुद्रा प्रचलित की। मत्स्येन्द्रनाथ की मुद्रा पर निम्नांकित नाम उत्कीर्ण थे—

'श्री लोकनाथाय' 'श्री श्री लोकनाथ' 'श्री करुणामय'।।

* नव मूल नाथ और मत्स्येन्द्रनाथ *

'नाथ कौन हैं ? 'ना' का अर्थ है। **'अनादिरूप'। 'थ'** का अर्थ है— **'भुवनत्रय का स्थापित होना। 'नाथ' का अर्थ = वह अनादि धर्म जो भुवनत्रय की स्थिति का कारण है।**

* **'नाथ'**—भुवनत्रय की स्थिति का मूलकारणरूप अनादि धर्म।।* गोरक्षनाथ को इसी कारण **'नाथ'** कहा जाता है—

'नाकारोऽनादि रूपं थकारः स्थाप्यते सदा।
भुवनत्रयमेवैकः श्रीगोरक्षनमोऽस्तुते।।'

राजगुह्य—

'शक्ति संगमतंत्र' की दृष्टि—'नाथ' शब्द के अर्थ के विषय में **शक्तिसंगमतंत्रकार की दृष्टि** पृथक् है। वे कहते हैं—

'श्रीमोक्षदानदक्षत्वात् नाथब्रह्मानुबोधनात्।
स्थगिता ज्ञान विभवात् श्रीनाथ इति गीयते।।'

अर्थात्—**'ना'**—नाथब्रह्म। वह नाथ ब्रह्म जो मोक्ष दिलाने में दक्ष है और ब्रह्मज्ञान का सम्यक् अवबोध कराता है। **'थ'** = अज्ञान की शक्ति को स्थगित या निरुद्ध करना। चूँकि नाथ का आश्रय ग्रहण करने से नाथब्रह्म का साक्षात्कार होता है और अज्ञानात्मिका माया अवरुद्ध होती है। इसीलिए इन्हें **'नाथ'** कहा जाता है। आदि काल में सबसे पूर्व **'नवनाथ'** हुए।

'नवनाथ' कौन थे ?

ये नवनाथ कौन थे और उसमें मत्स्येन्द्र का क्या स्थान था? **—इस विषय** में ऐकमत्य नहीं है कि ये ९ नाथ कौन थे।

१. बौद्ध सहजयानियों में आदि सिद्ध लुई पाद को मत्स्येन्द्र का नामान्तर माना जाता है।

'महार्णव तंत्र' में प्रतिपादित दृष्टि—महार्णवतंत्रकार ने ९ नाथों का जो नाम बताया है; वह इस प्रकार है—

*** नवनाथ (महार्णवतंत्र)**

(१) गोरक्षनाथ
(२) जालन्धरनाथ
(३) नागार्जुन
(४) सहस्रार्जुन
(५) दत्तात्रेय
(६) देवदत्त
(७) जड़भरत
(८) आदिनाथ
(९) मत्स्येन्द्रनाथ

* मत्स्येन्द्रनाथ का ऐन्द्रजालिक एवं अप्रतिम सम्मोहन *

मत्स्येन्द्रनाथोक्त यौगिक तांत्रिक मत की व्यापकता—महामुनि एवं योग-तंत्र-सिद्ध महायोगी मत्स्येन्द्रनाथ और उनके यौगिक-कौलिक सिद्धान्त तथा उनके स्वप्रवर्तित नाथ-सम्प्रदाय में वह ऐन्द्रजालिक एवं सम्मोहनकारी शक्ति थी कि उनके निःशेष समसामयिक पूर्ववर्ती एवं परवर्ती सम्प्रदाय उनके अनुयायी हो गए।

कापालिक मत और नाथमत—'गोरक्षसिद्धान्त संग्रह' में एक कहानी आती है, जिसमें एक कापालिक अद्वैतवादी शङ्कराचार्य को पराभूत करता है। इसमें ग्रंथकार कहता है कि मेरा मत तो **'अवधूत मत'** ही है। मेरा मत कापालिक मत तो नहीं है तथापि 'कापालिक मत' को भी श्रीनाथ ने ही प्रकट किया था।

'मालतीमाधव' में उल्लिखित कापालिकों की साधना का सम्बंध उस षटचक्र, नाड़ी-योग एवं कायायोग से सिद्ध होता है; जो कि नाथपंथीय साधना का मेरुदण्ड है।

इसका अर्थ यह हुआ कि 'कापालिकमत' श्री मत्स्येन्द्रनाथ के नाथपन्थ से अत्यधिक प्रभावित होकर उसका अङ्गभूत हिस्सा बन गया था।

नाथपन्थ के आदि प्रवर्तक या आदि सिद्ध को **'आदिनाथ'** कहा गया है और कापालिक मत के द्वादश आचार्यों में आदि सिद्ध भी **'आदिनाथ'** ही हैं—**आदिनाथ,** अनादि, काल, अतिकाल, कराल, विकराल, महाकाल, कालभैरवनाथ, बटुकनाथ, वीरनाथ एवं श्रीकण्ठ।

कापालिकों के द्वादश आचार्य

नाथ कापालिक मत के आदि शिष्य भी १२ हैं और उनमें **गोरक्ष, चर्पट, जालंधर** आदि (जो कि नाथ-पंथ के भी आचार्य हैं) भी अन्तर्निविष्ट हैं। यथा

(नागार्जुन, जड़भरत, हरिश्चन्द्र, सत्यनाथ, भीमनाथ, गोरक्ष, चर्पट, अवद्य, वैरागी, कंथाधारी, जालन्धर एवं मलयार्जुन—१२ आद्य कापालिक शिष्य।)

यदि ''शाबरतंत्र'' पर दृष्टिपात करें तो उसमें कापालिकों के द्वादश आचार्यों में प्रथमाचार्य के रूप में आदिनाथ का ही नामोल्लेख है।

नाथ-सम्प्रदाय में कापालिक मत भी नाथ-पंथ प्रवर्तित माना गया है। 'बौद्धगान ओ दोहा' में, जो २४ सिद्धों (८४ सिद्धों में से मात्र २४ सिद्धों) के पद संकलित किए गए हैं, उनमें १२ पद कान्हूपाद (कृष्णपाद = कानुपा = कानिका) के भी हैं। वे नाथपन्थ के आचार्य हैं तथा वे अपने को कापालिक कहते हैं—

'आलो डोम्बि तोए संग करिब मो सांग।
निर्धन कान्ह कापालि जोइ लांग।।'

ये अपने को **जालन्धर नाथ** (जालन्धर पाद = हाड़ीपा, हल्लीपाद) का शिष्य कहते हैं। जालन्धरपाद नाथपंथी आचार्य थे।

'गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह' और कापालिक मत अन्तर्संबंध

'गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह' में एक उपाख्यान आता है कि जब भगवान विष्णु ने चौबीस अवतार ग्रहण करके उन अवतारों के माध्यम से अत्याचार एवं दुष्कृत्य करना प्रारंभ कर दिया, तब उनसे क्रुद्ध होकर श्रीनाथ ने २४ कापालिक भेजा। इन कापालिकों ने उन २४ अवतारों का सिर काट कर उन्हें अपने गले में धारण किया। इसी कारण ये **'कापालिक'** कहलाते हैं किन्तु ये सभी नाथ द्वारा ही भेजे गए थे।

'कानिपा सम्प्रदाय' कृष्ण पाद-प्रवर्तित है और **'जालन्धरिपा सम्प्रदाय'** (पा पंथ) औघड़ जालन्धर नाथ द्वारा प्रवर्तित है। **'जालन्धरिपा पन्थ'** गोरक्ष नाथ-प्रवर्तित पावनाथी शाखा से सम्बद्ध है। 'कानिपा सम्प्रदाय' (गोपीनाथ के अनुवर्ती) भी नाथ सम्प्रदाय की एक शाखा है। ये सभी पहले स्वतंत्र पंथ थे; किन्तु परवर्ती काल में ये नाथ-पंथ में अंतर्भुक्त हो गए।

शाक्तमत और नाथमत—'षोडश नित्यातंत्र' में भगवान शिव कहते हैं कि शाक्तमंत्र अर्थात् तंत्रमार्ग की शाक्त-शाखा का भी उपदेष्टा भी मैं ही हूँ और मेरे द्वारा उपदिष्ट तंत्र को ही नाथ-सम्प्रदाय के ९ नाथों ने संसार में प्रचारित-प्रसारित एवं उपदिष्ट किया है—

'कादिसंज्ञा भवेद्रूपा सा शक्तिः सर्वसिद्धये।
तंत्रं यदुक्तं भुवने नवनाथैरकल्पयन्।।
तथा तैर्भुवने मंत्रं कल्पे-कल्पे विजृंभते।
अवसाने तु कल्पानां सा तैः सार्द्धं व्रजेच्च माम्।।'

कौलाचार और नाथमत

प्रधान आचार

(१) वैदिक आचार (२) वैष्णव आचार (३) शैव आचार (४) शाक्त आचार

(१) 'वामाचार' (२) 'दक्षिणाचार' (३) 'सिद्धांताचार' (४) 'कौलाचार

श्रेष्ठता के क्रम में निम्नाङ्कित आचार उत्तरोत्तर श्रेष्ठतर हैं यथा—वैदिक से **'वैष्णव'**, वैष्णव से **'शैव'**, शैव से **'शाक्त'**, शाक्तमत में वामाचार से **'दक्षिणाचार'** दक्षिणाचार से **'सिद्धान्ताचार'** एवं सिद्धान्ताचार से **'कौलाचार'।** आचारों में श्रेष्ठतम आचार **'कौलाचार' है।** 'षट्संभवरहस्य' आदि तंत्र-ग्रंथों में कहा गया है कि—कौल आचार श्रेष्ठतम आचार है और यह कौलमार्ग ही **'अवधूत मार्ग'** (नाथमार्ग) है। इसीलिए **'गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह'** में कहा गया है कि यद्यपि तांत्रिक कौलमार्ग एवं **'अवधूत-मार्ग'** में भेद है; क्योंकि—तांत्रिक मार्ग में पहिले बहिरङ्गोपासना होती है और बाद में आन्तरोपासना (कुण्डलिनी उपासना)। यह कुण्डलिनीगत आन्तरोपासना अवधूतमार्ग ही है। नाथ-सम्प्रदाय स्वयं यह स्वीकार करता है कि **'कौलमार्ग'** (तंत्र-मार्ग) एवं **'कापालिक मार्ग'**—दोनों नाथमत के अनुवर्ती हैं।

'कौलज्ञाननिर्णय' (मत्स्येन्द्र प्रणीत) में तो अनेक कौल मतों का उल्लेख है और मत्स्येन्द्रनाथ की समस्त कामरूपीय साधना कौलमार्गी तंत्रसाधना ही है। मत्स्येन्द्रनाथ **'योगिनी कौल मार्ग'** से सम्बद्ध हैं। इसे ही गोरक्षनाथ ने कामरूप में प्रवर्तित किया था। यदि नाथमार्गी शाक्त सम्प्रदाय के सर्वोच्च आचार **'कौलाचार'** एवं सर्वोच्च मत **'कौलमत'** को नाथोपदिष्ट मत कहते हैं तो यह निर्वचन असमीचीन नहीं है।

त्रिपुरासम्प्रदाय एवं नाथमत—यदि त्रिपुरा-सम्प्रदाय एवं नाथ-मत का तुलनात्मक विश्लेषण किया जाय तो दोनों में साम्य के अनेक बिन्दु प्राप्त होते हैं।

त्रिपुरा-सम्प्रदाय के अनेक सिद्धों एवं आचार्यों के नाम नाथानुयायी सिद्धों एवं आचार्यों के हैं।

'त्रिपुरा-सिद्धान्त' का परिचय इस प्रकार है—

(१) **लेखक**—दत्तात्रेय 'दत्तसंहिता' : ६० हजार श्लोक

(२) **लेखक**—परशुराम : (५० खण्ड, ६००० हजार सूत्र)

(३) **लेखक**—हारितायन सुमेधा : परशुराम के ग्रंथ का संक्षिप्तीकरण—'परशुरामकल्पसूत्र'।

इसके टीकाकार **उमानन्दनाथ** ने 'नित्योत्सव' के आदि में नाथ-परम्परा का स्तवन किया है—

'नत्वा नाथपरम्परां शिवमुखां विद्येश्वरं श्रीमहा
राज्ञीं तत्सचिवां तदीय पृतना नाथां तदन्तः पराम्।'

इससे तो यही सिद्ध होता है कि त्रिपुरा-सम्प्रदाय के आचार्य भी नाथ-सम्प्रदाय में आस्था व्यक्त करते हुए अपने को नाथानुयायी घोषित करते हैं।

त्रिपुरा मत के तांत्रिकों के आचार्य स्वयं अपने को 'नाथमतानुयायी' कहते हैं।[1]

काश्मीर के **कौलमार्ग** में मत्स्येन्द्रनाथ को बड़ी श्रद्धा के साथ स्मरण किया जाता है।[2]

* नाथ योगियों द्वारा शंकराचार्य का पराभव *

(नाथपन्थियों की काल्पनिक कहानी)

आचार्य शंकर इतनी महान प्रतिभा के अद्वितीय महापुरुष एवं अन्यतम सिद्ध योगी थे कि अन्य मतावलम्बियों ने भी अपने मत की श्रेष्ठता एवं पूर्णता दिखाने के लिए उन्हें अपने मत एवं सम्प्रदाय का अनुगामी बताने का प्रयास किया।

गोरक्षसिद्धान्तसंग्रहकार की दृष्टि—'गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह'' नाथपन्थियों का प्रसिद्ध सिद्धान्त-ग्रन्थ है। इसमें कहा गया है कि—

शंकराचार्य का **जन्म दक्षिण** भारत में हुआ था। वे अपने जन्मस्थान में **विष्णु-उपासना** आदि कर्मों के सेवन में ही तत्पर रह गये किन्तु; उन्हें विष्णूपासना से शान्ति नहीं मिली; तब वे पृथ्वी की प्रदक्षिणा करने के लिए चल पड़े और उन्होंने **पूर्व दिशा में आकर वैद्यनाथ** नामक स्थान पर **शिव की पूजा** की और उसे **शिव ने स्वीकार भी कर लिया** और उनसे कहा कि—'तुमने अकेले विष्णु की भक्ति क्यों की? साक्षात् परमेश्वर तो मैं हूँ। तुमने मुझे विस्मृत क्यों किया? आचार्य शंकर

---

१. नाथ सम्प्रदाय (डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी) पृ०—६

२. तत्रैव पृष्ठ—६

ने इसी दृष्टि से अपराधक्षमार्थ **'अपराधक्षमापन'** नामक स्तोत्र की रचना की और **शिव-भक्ति** में तल्लीन हो गए किन्तु; फिर भी उनको शान्ति नहीं मिली।

इसके बाद वे **पश्चिम दिशा** में गए। वहाँ वे **शक्तिहीन** हो गए और इसी स्थिति में उन्होंने शक्ति-वृत्तान्त (लीलाचरित्र) का दर्शन किया। उस समय भगवती **शक्ति** ने उनसे कहा 'शिव जी ही सर्वसमर्थ हैं।' इसके परिणाम स्वरूप शंकर शक्ति-भक्त हो गए। इसके परिणामस्वरूप ही शंकर ने **'सौन्दर्य-लहरी'** की रचना की और **'शाक्त'** बन गए। इतने पर भी उन्हें शान्ति नहीं मिली। इसके बाद आचार्य शंकर उत्तर दिशा में गए। **उत्तर दिशा** तो बड़े-बड़े सिद्धों के समूह से भरी हुई है। उत्तराखण्ड में तो बड़े-बड़े सिद्ध रहते हैं। वे जिन-जिन स्थानों पर गए, सभी ने उनका उपहास किया। फिर उसी स्थान पर उन्हें **श्रीतारानाथ** ने उनसे कहा ''तीर्थाटन में ही निरत रहोगे या कि आत्मसाधन भी करोगे?' शंकराचार्य जी ने कहा कि— ''आप जो आदेश देंगे, मैं उन सभी का पालन करूँगा।' तब महासिद्ध तारानाथ ने उन्हें **'योग'** का उपदेश दिया। उस उपदेश से शंकराचार्य की आत्मा समस्त बाधाओं से निवृत्त हो गयी और वे प्रसन्न हो उठे। उसी समय उन्होंने **'वज्रसूचिकोपनिषद्'** की रचना की (यह उपनिषद् सिद्धमत का प्रतिपादक ग्रंथ है।); इसमें श्रीसिद्धसिद्धान्त पद्धति' के 'वेदान्ती बहुतर्ककर्कशमतिः'' से लेकर 'तस्मात्सिद्धं मतं स्वभावसमयं धीरः परं संश्रयेत्' तक के वचन प्रमाण रूप से उद्धृत हैं। उन्होंने (मण्डन मिश्र के सुरेश्वराचार्य बन जाने की भाँति) सिद्ध होकर **'सिद्धान्तबिन्दु'** आदि ग्रंथों की रचना की।[१]

सारांश—आचार्य शंकर ने—

(१) सर्वप्रथम **दक्षिणदिशा** में ही **'कर्मयोग'** का आश्रय ग्रहण करके **भगवान विष्णु** की उपासना की।

(२) तत्पश्चात् **पूर्वदिशा** में जाकर बाबा **वैद्यनाथ** की उपासना की और **अपराधक्षमापन** स्तोत्र की रचना की।

(३) फिर वे **पश्चिम दिशा** में शक्ति का दर्शन पाकर **शाक्तमत** स्वीकार करके **'प्रपञ्चसार'** आदि ग्रंथों की रचना करने लगे।

(४) फिर वे उत्तर दिशा में जाकर सिद्धोपदेश प्राप्त करके **अवधूतमार्गी** बन गए और इसके कारण उनको परम श्रेय की प्राप्ति हुई॥[२]

शंकराचार्य का योगानुवर्तन—

गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह में कहा गया है कि—शंकराचार्य जी अपने चारों शिष्यों

---

१. गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह।
२. गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह।

के साथ एक नदी के तट पर आसीन थे। उस स्थान पर एक कापालिक आकर बोला 'अरे तुम तो सन्यासी हो, शत्रु-मित्र के प्रति समान हो और सुख-दु:खादि द्वन्द्वात्मक विषयों से रहित हो। अत: मैं तुम्हारे सिर को काटकर उसे श्री भैरव को अर्पित करुँगा। ऐसा करने पर मेरी प्रतिज्ञा पूर्ण होगी। अत: आप मुझे अपना सिर प्रदान कीजिए। शङ्कराचार्य जी ने विचार किया कि यदि मैं ऐसा नहीं करूँगा तो अद्वैत मत की हानि होगी तथा शत्रु और मित्र के प्रति समत्वभाव नष्ट हो जाएगा। यदि मैं सिर अर्पित कर देता हूँ तो पराभूत हो जाऊँगा। इस प्रकार दोनों दृष्टियों से मेरा पराभव ही सिद्ध होगा। यह सोचकर वे निरुत्तर एवं मौन हो गए।

शङ्कराचार्य जी को मौन देखकर उनके परम शिष्य **पद्मपादाचार्य** ने भगवान् नृसिंह का स्मरण किया। नृसिंह भगवान् ने उग्र भैरव पर प्रहार किया। इसके बाद महासिद्धपद्मपादाचार्य ने अपने शरीर का त्याग करके उसी उग्र भैरव का शरीर धारण करके मुस्कराते हुए कहा कि—'अरे अद्वैत तो पराजित हो गया। अरे अद्वैत तो पराजित हो गया। तुम शत्रु और मित्र के प्रति जिस समानता की बात करते थे, वह समत्व-निरूपण कहाँ गया? "अद्वैत ही परमार्थ है, अद्वैत ही सर्वस्व है—तुम्हारा यह कथन कहाँ गया? मेरे चरित्र ने तो जिस प्रकार मल्लयुद्ध प्रारम्भ करने के पहले ही पराभव स्वीकार कर लिया, उसी प्रकार शरीर का त्याग करके मैंने दूसरे के सिद्धान्त की हानि की है। अत: इसमें तुम्हारी हानि है—आगे भी हानि है। अत: उठो हम दोनों युद्ध करें।

"प्रारब्धकर्म का निष्पादन करना तो वर्तमान है ही; किन्तु सन्यासियों के मत में " कर्म करना ही चाहिए—"यह सिद्धान्त नहीं है।" ऐसा सोचकर शङ्कराचार्य जी युद्ध करने में असमर्थ हो गए। कापालिक के उपदेश से अपने सिद्धान्त से निष्क्रिय होकर ही अद्वैत प्रतिपादित स्थिति में ही रह गए। तब कापालिकों ने योगमाया उत्पन्न की। योगमाया ने चारों शिष्यों सहित आचार्य का मस्तक काट डाला। और उसके बाद उन्हें पुनर्जीवित कर दिया। इससे शंकराचार्य को वैराग्य उत्पन्न हुआ और वे पश्चिम दिशा की ओर चले गये और वहाँ उन्होंने शक्ति का स्मरण किया।

'योगिसम्प्रदायाविष्कृति' में उल्लखित उपाख्यान

'योगिसम्प्रदायाविष्कृति' में मत्स्येन्द्र एवं गोरक्ष के विषय में द्विविध उपाख्यान उपलब्ध होते हैं।

एक के अनुसार तो एक पुत्राकांक्षिणी नारी को महादेव ने जो विभूति दी थी उसे उसने गोबर में फेंक दिया था और उससे ही गोरक्षनाथ का जन्म हुआ था। इस कथा के अनुसार **महादेव ही मत्स्येन्द्रनाथ** एवं विभूति से उत्पन्न बालक ही गोरक्षनाथ

थे। मत्स्येन्द्र ने इस बालक को अपना शिष्य बना लिया। यही बालक नेपाल में आने पर अपना आतिथ्य-सत्कार न पाने से बादलों को बाँधकर बैठ गया था और परिणामत: नेपाल में द्वादशवर्षीय घोर अकाल पड़ा और मत्स्येन्द्र के आने पर गोरक्ष के थोड़ा सा उठते ही सारे बादल मुक्त हो गए और नेपाल में घोर वर्षा हुई।

इसी ग्रंथ के **तृतीयाध्याय** के अनुसार पुत्राकांक्षिणी **सरस्वती** नामक एक ब्राह्मणी की पत्नी जो कि (गोदावरी गंगा के सन्निकट चन्द्रगिरि नामक स्थान के निवासी सुराज नामक ब्राह्मण की भार्या) ने इस प्राप्त विभूति को फेंका नहीं प्रत्युत् उसे खा लिया था और उसी के **गर्भ से गोरक्षनाथ** का जन्म हुआ।

इसी ग्रंथ के **उन्चासवें** अध्याय के अनुसार नेपाल में एक जाति थी, जिसका नाम था—**'मत्स्येन्द्री (जाति)'**। यह जाति गोरक्षनाथ के गुरु मत्स्येन्द्रनाथ की पुजारी जाति थी। किन्तु नेपाल का राजा एवं उसके अधिकारी उस पर बड़ा अत्याचार किया करते थे। गोरक्षनाथ ने इस अत्याचार को सुनकर राजा को दण्डित करने हेतु तीन वर्षों तक अकाल रखा और राजा के द्वारा क्षमा माँगने एवं मत्स्येन्द्री जाति पर पुन: अत्याचार न करने का आश्वासन देने पर प्रचुर वर्षा की। राजा ने मत्स्येन्द्रनाथ के सम्मान में भव्य यात्रा का भी शुभारम्भ किया।

उपाख्यान का अगला हिस्सा यह है कि उस नेपाली अत्याचारी राजा ने मन से क्षमा-याचना नहीं की थी। वह अपने दुष्कर्मों की पुनरावृत्ति करता ही रहा; फलत: योगीन्द्र गोरक्षनाथ ने अपने शिष्य को मिट्टी के पुतले बनाने की आज्ञा दी। उसने पुतले बनाये। ये सारे मृतिका-निर्मित पुतले सैनिक बन गए। वसन्त ने इन पुतलों के सैनिकों की सेना लेकर राजा महीन्द्रदेव पर आक्रमण कर दिया। पराभूत राजा महीन्द्रदेव ने अपना राज्य वसन्त को सौंप दिया और उसे ही अपना उत्तराधिकारी भी घोषित किया। **सं० ४२० में गोरखा राज्य** प्रतिष्ठित हुआ।

*** योगिसम्प्रदायाविष्कृति'' में उल्लिखित उपाख्यान और मत्स्येन्द्रनाथ ***

इस ग्रंथ में कहा गया है कि एक बार जब पार्वती जी को नारद जी के माध्यम से यह रहस्य ज्ञात हुआ कि भगवान शिव के गले में जो मुण्डमाला है, वे सारे मुण्ड उनके अपने ही पूर्वजन्म के शरीरों के मुण्ड हैं; जिन्हें भगवान शिव ने धारण कर रक्खे हैं तो उन्होंने शिव की ही भाँति अमर बनने हेतु शिव से अमर-कथा सुनाने का आग्रह किया।

भगवान् शिव ने उस अमर-कथा को सुनाने हेतु समुद्र में एक निर्जन स्थान का चयन किया। इसी काल में कवि नारायण मत्स्येन्द्रनाथ के रूप में एक भृगुवंशीय ब्राह्मण के घर आविर्भूत हुए थे। गण्डन्त योग में जन्म लेने के कारण इस बालक

को उसके ब्राह्मण पिता ने (अनर्थ-निवारणार्थ) समुद्र में फेंक दिया। एक मछली ने उन्हें निगल लिया। वे उसके गर्भ में १२ वर्ष तक पलते रहे।

इस पुस्तक के द्वितीय अध्याय में लिखा गया है कि जहाँ भगवान् शिव पार्वती को अमर कथा सुना रहे थे, वहीं निकट में वह मछली भी विद्यमान थी और उसके उदर में स्थित वह बालक उस कथा को सुनता रहा। शिव जी ने उसका उद्धार किया और उनकी अनुकम्पा से यही बालक (मत्स्येन्द्रनाथ के नाम, से) महासिद्ध बना।

इसी ग्रंथ के ५वें से १०वें अध्याय में जो कहानी आती है, उसके अनुसार इस बालक मत्स्येन्द्र ने अपनी लोकोत्तर महासिद्धि एवं अतुल्य पराक्रम द्वारा— **हनुमान, वीरवैताल, वीरभद्र, भद्रकाली** और **चामुण्डा** को भी पराभूत कर दिया।

सांसारिक मायाचक्र में निपतन—

(१) मत्स्येन्द्रनाथ ने प्रयाग के राजा की मृत्यु के कारण शोकाकुल जनसमूह को देखकर और मृत राजा के शरीर में प्रवेश करके उन्हें जीवित करने के उनके अनुरोध को स्वीकार करके अगले १२ वर्षों तक उस राजा के मृतशरीर में रहने का वचन देकर उसके शरीर में प्रवेश किया। वे १२ वर्षों तक गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करते रहे। जब रानियों को इस रहस्य का ज्ञान हुआ तो उन्होंने **मत्स्येन्द्रनाथ** के शरीर को नष्ट करने का प्रयास किया। वीरभद्र ने इस बात को जानकर मत्स्येन्द्रनाथ के उस शरीर को वहाँ से ले जाकर अन्यत्र रखा तथा उसकी रक्षा करने लगा।

चूँकि वीरभद्र को अपने पराभाव का प्रतिशोध लेना था। अत: मत्स्येन्द्रनाथ के द्वारा शरीर में पुन: प्रवेश करने का प्रयास करने पर वीरभद्र ने उन्हें प्रवेश करने से रोका; किन्तु वीरभद्र को पुन: पराभूत होना पड़ा और मत्स्येन्द्रनाथ अपने शरीर में पुन: प्रविष्ट हो गए। इसी गार्हस्थ्यकाल में मत्स्येन्द्रनाथ को एक पुत्र हुआ। इसका नाम था—**माणिकनाथ।** ये एक महान सिद्ध बने।

(२) **मत्स्येन्द्रनाथ का द्वितीय निपतन**—सिंहल देश की रानी के पति रुग्ण एवं नि:शक्त हो गए थे। रानी ने अपने लिए एक अन्य पति की कामना हनुमान जी के समक्ष प्रस्तुत की। उसने उनसे पति बनने का निवेदन किया। ब्रह्मचारी हनुमान जी ने अपने स्थान पर मत्स्येन्द्रनाथ को प्रस्तुत कर दिया। मत्स्येन्द्रनाथ उसके मोह-पाश में आबद्ध हो गए। जब गोरक्षनाथ को इसका पता चला तो अपने गुरु का उद्धार करने हेतु वे राजमहल में प्रवेशार्थ उद्यत हुए किन्तु हनुमान जी ने उन्हें रोक लिया। चूँकि रानी ने अपने राज्य में योगियों के प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगा रखा था। अत: गोरक्षनाथ ने एक बालक का वेश बनाया और राज्य में प्रविष्ट हो गए।

एक नर्तकी (एवं वेश्या), जिसका नाम कलिंगा था, वह **मत्स्येन्द्रनाथ** के

अन्त:पुर में नृत्य करने जा रही थी। **मत्स्येन्द्रनाथ** ने अपना नारीवेश बनाकर तबला बजाने की निपुणता प्रदर्शित की तो उसने गोरक्ष को अपने साथ ले चलने की अनुमति भी दे दी। रात्रि के समय कलिंगा ने राजमहल में अपना नृत्य-प्रदर्शन किया। मत्स्येन्द्रनाथ इस नृत्य पर मंत्रमुग्ध हो गए। गोरक्षनाथ ने तबलची के पेट में पीड़ा उत्पन्न कर दिया तो कलिंगा ने गोरक्ष से तबला बजाने का अनुरोध किया। गोरक्षनाथ ने तबले पर ''जाग मछन्दर गोरख आया'' की ताल पर धुन बजाना प्रारंभ किया और मत्स्येन्द्रनाथ में आत्मिक चैतन्य की ज्योति जागृत की।

रानी ने गोरक्ष को भी वशीभूत करना चाहा; किन्तु वे अन्त तक विरक्त बने रहे और मत्स्येन्द्रनाथ के राज्यसुखोपभोग के परित्याग की अनिच्छा को भी परिवर्तित कर दिया।

मत्स्येन्द्रनाथ के दो पुत्र हुए—

(१) **परशुराम** एवं (२) **मीनराम**। इस ग्रंथ व २३वें अध्याय के अनुसार ये भी महान सिद्ध हुए।

'सुधाकर चन्द्रिका' में भी यह उपाख्यान प्राप्त होता है।

* 'नाथचरित्र' में उल्लिखित मत्स्येन्द्रोपाख्यान *

(१) प्रथम वृत्तान्त—राजा मानसिंह के काल में भी संकलित 'नाथ-चरित्र' में भी मत्स्येन्द्रनाथ का आख्यान उपलब्ध होता है।

इस ग्रन्थ के अनुसार मत्स्येन्द्रनाथ किसी समय संसार परिभ्रमण के लिए निकले थे। जब वे यात्रा के मध्य एक नगर पहुँचे तो उन्होंने देखा कि वहाँ के राजा का देहावसान हो चुका है और उसके मृत शरीर को उसके भृत्य **'वैकुण्डी'** में रखकर जलाने के लिए ले जा रहे हैं। मत्स्येन्द्रनाथ, अपने शरीर की रक्षा का दायित्व अपने शिष्यों को सौंपकर, परकाया-प्रवेश की विधि से उस मृत राजा के शरीर में प्रविष्ट हो गए। वह मृत राजा जीवित हो उठा। मत्स्येन्द्रनाथ उस शरीर के द्वारा यथेष्ट काल तक भोग विलास करते रहे।

एक बार हरद्वार में योगियों के जमघट में गोरक्षनाथ एवं कनीपाव में विवाद हो गया। कनीपाव ने गोरक्ष को उनके गुरु के विषय में पूरी कहानी सुनाकर उनके अध:पतन का वृत्तान्त बताया। गोरक्षनाथ ने राजा के मृत शरीर में स्थित मत्स्येन्द्रनाथ के पास जाकर उनको ज्ञानोपदेश करते हुए वहाँ से चलने के लिए प्रार्थना की। विमला देवी की अवतार **रानी परिमला** ने यह पूरा रहस्य जान लिया और वे बहुत दु:खी हुई। इस स्थिति से द्रवीभूत होकर मत्स्येन्द्रनाथ ने रानी से पुन: मिलने की प्रतिज्ञा की। मत्स्येन्द्रनाथ एवं गोरक्षनाथ के राजमहल छोड़ कर चले जाने पर रानी

अग्नि में प्रविष्ट होकर सती हो गईं। कालान्तर में वे एक राजा के यहाँ **जयन्ती** नामक कन्या के रूप में जन्मीं। उनके युवती होने पर मत्स्येन्द्रनाथ ने वहाँ पहुँच कर उनसे विवाह किया और **कदलीवन** में उसके साथ विहार करने लगे। देवों, सिद्धों के अतिरिक्त नाथ जी ने भी वहाँ जाकर उनका स्तवन करते हुए उन्हें आशीर्वाद दिया।

(२) द्वितीय वृत्तान्त—द्वितीय प्रकार के उपाख्यान में कथान्तर का स्वरूप बदल गया है।

इस कथान्तर के अनुसार एक बार मत्स्येन्द्रनाथ जी कामरूप जाकर वहाँ तपस्या करने लगे। जब वहाँ के राजा का निधन हो गया, तब वे उस राजा के मृत शरीर में प्रविष्ट हो गए। वे राजा के मृत शरीर में प्रविष्ट होकर उस राजा की भार्या मंगला के साथ विहार करने लगे। उन्होंने राजा की अन्य रानियों के साथ भी विहार किया। इससे उनके दो पुत्र भी उत्पन्न हुए। कालान्तर में रानियों ने मत्स्येन्द्र को पहचान लिया। इसी समय गुरु का उद्धार करने हेतु शिष्य गोरक्षनाथ भी वहाँ आ पहुँचे। गोरक्षनाथ मत्स्येन्द्र एवं उनके दो पुत्रों को लेकर राजमहल का त्याग करते हुए यात्रा पर आगे बढ़े। मत्स्येन्द्र का विषयासक्त मन स्वर्ण-रत्न, भोगैश्वर्य, विषसुख में आसक्त था। गोरक्षनाथ मत्स्येन्द्रनाथ की मनोवृत्ति को जान गए। उन्होंने अपनी सुरही के जल से एक पर्वत-शिखर को काञ्चन का बना दिया। इसे देखकर मत्स्येन्द्रनाथ ने स्वग्रीवा-धारित समस्त स्वर्णाभूषण तोड़कर फेंक दिये। इसके बाद गोरक्षनाथ ने अपनी सुराही के जल के छींटे से स्वर्णशिखर को स्फटिक शिखर के रूप में रूपान्तरित कर दिया। तीसरी बार उन्होंने उस पर्वतशृङ्ग को गैरिक बना दिया।

मत्स्येन्द्रनाथ ने अपने दोनों पुत्रों को निकटस्थ नगर में भिक्षा माँगकर लाने का आदेश दिया। एक पुत्र को पवित्र भिक्षा प्राप्त नहीं हुई। अत: खाली हाथ लौट आया। उसे मत्स्येन्द्रनाथ ने **पार्श्वनाथ** होने का वरदान दिया। उनका यही प्रथम पुत्र **पार्श्वनाथ** हुआ। दूसरे पुत्र ने भिक्षा माँगी और एक चमार के घर से प्राप्त भोज्य पदार्थ भिक्षा के रूप में लेकर उसे पिता के समक्ष प्रस्तुत किया। मत्स्येन्द्रनाथ ने इसे अपवित्र भिक्षा मानकर इस द्वितीय पुत्र को शाप दिया **तू श्वेताम्बरी जैन** हो जा। इसके अनन्तर मत्स्येन्द्रनाथ एवं गोरक्षनाथ दोनों कदली वन चले गये।

*** 'नाथ सम्प्रदाय' एवं 'हठयोगविद्या' की दिशा में मत्स्येन्द्रनाथ की भूमिका ***

(१) नाथ-सम्प्रदाय एवं हठयोगविद्या के **'आदिप्रवर्तक'** **'आदि उपदेष्टा'** एवं **'प्रथम नाथ'** तो 'आदिनाथ' (शिव) हैं।[१]

---

१. स्वात्मारामुनीन्द्र: श्री आदिनाथाय नमोस्तु तस्मै येनोपदिष्ट हठयोगविद्या। विभ्राजते प्रोन्नतिराजयोगमरोदुमिच्छोरधिरोहीणीव।।'' —हठयोगदीपिका।

(२) **मानवौघ की दृष्टि** से 'नाथ-सम्प्रदाय' एवं 'हठविद्या' के प्रथम आचार्य एवं आद्य सिद्ध **मत्स्येन्द्रनाथ** हैं। मानवीय आचार्यों में **मत्स्येन्द्रनाथ हठयोग के आदि सिद्ध एवं अमर योगी हैं**—

योग की हठयोग-प्रणाली के **सर्वोच्च मानव गुरु एवं सर्वोच्च सिद्ध मत्स्येन्द्रनाथ** हैं। मत्स्येन्द्रनाथ अन्य सिद्धों के समान 'कालदण्ड का खण्डन' करके मृत्यु पर विजय प्राप्त कर चुके हैं और अमर हैं।

स्वात्माराम मुनीन्द्र की दृष्टि—स्वात्माराम मुनीन्द्र ने हठविद्या के सिद्धाचार्यों में आदिनाथ के अनन्तर सर्वप्रथम हठयोग—सिद्ध आचार्य के रूप में **मत्स्येन्द्रनाथ** का नाम रखा है—

"श्रीआदिनाथ**मत्स्येन्द्र**शाबरानन्द भैरवा:।
चौरङ्गी मीन गोरक्ष विरूपाक्ष विलेशया:॥५॥
मन्थान भैरवो योगी सिद्धिर्बुद्धश्च कन्थडि:।
कोरण्टक: सुरानन्द: सिद्धिपादश्च चर्पटि:॥६॥
कानेरी पूज्यपादश्च नित्यनाथो निरञ्जन:।
कपाली बिन्दुनाथश्च काकचण्डीश्वराह्वय:॥७॥
अल्लाम: प्रभुदेवश्च घोडाचोली च टिण्टिणि:।
भानुकी नारदेवश्च खण्डकापालिकस्तथा॥८॥
इत्यादयो महासिद्धा हठयोगप्रभावत:।
खण्डयित्वा कालदण्डं ब्रह्माण्डे विचरन्ति ते॥९॥"

—'हठयोग प्रदीपिका' : प्रथमोपदेश

स्वात्माराम मुनीन्द्र तो कहते हैं कि—हठविद्या को या तो **मत्स्येन्द्रनाथ** एवं गोरक्षादि योगी ही जानते हैं या तो मैं स्वात्माममुनीन्द्र ही जानता हूँ—

'हठविद्यां हि मत्स्येन्द्रगोरक्षाद्या विजानते।
स्वात्मारामोऽथवा योगी जानीते तत्प्रसादत:॥४॥'

—हठयोग प्रदीपिका : प्रथमोपदेश

आदिनाथ तो शिव हैं और वे ही **'नाथसम्प्रदाय' के प्रवर्तक हैं** और **मत्स्येन्द्रनाथ** उन्हीं आदिनाथ के प्रत्यक्ष शिष्य हैं—

"आदिनाथ: शिव: सर्वेषां नाथानां **प्रथमोनाथः** ततो **नाथसम्प्रदायः** प्रवृत्त इति नाथ संप्रदायिनो वदन्ति। मत्स्येन्द्राख्यश्च आदिनाथशिष्य:।"

—ज्योत्स्ना : ब्रह्मानन्द

नाथ सम्प्रदाय और जैन धर्म—ऐसी मान्यता है कि (माया नगरी रूप सिंहल-द्वीप के राजा के रूप में अवस्थित) मत्स्येन्द्रनाथ ने अपने पुत्र **नेमिनाथ एवं पारसनाथ** को **नाद-सम्प्रदाय** में दीक्षित किया था। **'नाद'** की स्थापना तथा **'बिन्दु'** की साधना के समन्वय से मुक्ति-प्राप्ति की साधन-प्रक्रिया में जो समन्वय स्थापित करके मत्स्येन्द्रनाथ ने तंत्र की साधना प्रचलित की उसमें— (१) योगभोगसाहचर्यवाद एवं (२) नाद-बिन्दु-समन्वय था। उन्होंने जब साधना को 'नाथ-सम्प्रदाय' में अंतर्भुक्त या प्रविष्ट करना चाहा, तब उसका उनके शिष्य गोरक्षनाथ ने विरोध किया। इस विद्रोह को दृष्टिगत रखकर मत्स्येन्द्रनाथ ने **नेमिनाथ** एवं पारसनाथ के माध्यम से पृथक् से यति-धर्म की स्थापना की; जो कि परवर्तीकाल में **जैनधर्म** कहलाया। उन्होंने आदिनाथ की पुन: प्रतिष्ठा के लिए अपने गुरु आदिनाथ (शिव) को सम्प्रदाय के संस्थापक एवं प्रवर्तक के रूप में पुन: प्रतिष्ठित किया। इस घटना से ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में नाथ-सम्प्रदाय एवं जैनमत दोनों की दार्शनिक दृष्टि अभिन्न थी; किन्तु परवर्तीकाल में चिन्तन के आयाम का क्षितिज बढ़ता गया और जैनमत एवं नाथ-सम्प्रदाय में भिन्नता के स्वर उत्तरोत्तर बढ़ते गए। अत: दोनों पृथक्-पृथक् हो गये। इनमें जैन निरीश्वरवादी एवं नाथपंथ ईश्वरवादी था तथा जैनी जैनमत में तांत्रिक उपादान के सन्निवेश के विरोधी थे।

मत्स्येन्द्रनाथ ने अपनी योग-परम्परा में **बिन्दु** के साथ **'नाद'** को भी महत्त्व दिया और इसकी स्थापना के लिए एक नव्य मत को प्राण-प्रतिष्ठित किया।

नाद-बिन्दु-योग तांत्रिक साधना है। गोरक्षनाथ इसके समर्थक नहीं थे। इसी कारण इस साधना के प्रयोग में संलग्न कामरूप के मत्स्येन्द्रनाथ को नाथपंथियों ने अध:पतन के गर्त में निमग्न मत्स्येन्द्रनाथ माना और गोरक्षनाथ ने उस तांत्रिक वाममार्ग से उन्हें मुक्त कराकर पुन: नादयोग-प्रधान, विशुद्ध (ब्रह्मचर्य पर आश्रित) योगमार्ग में पुन: प्रत्यावर्तित किया। 'नाद' के अभाव में 'बिन्दु' अधूरा है; क्योंकि—

"नादाद्बिन्दु समुद्भव:" (लक्ष्मणदेशिक)

''नाद'' से ही 'बिन्दु' का उद्भव हुआ है। अत: 'बिन्दु' की कृतार्थता नादोन्मुख होने में है—चैतन्योन्मुख होने में है—न कि जाड्योन्मुख होने में। 'बिन्दु' का पिता 'नाद' है। अत: **'बिन्दु' को 'नाद' से जोड़ने की** साधना असमीचीन तो नहीं है; किन्तु यह साधना विशुद्ध ब्रह्मचर्य पर आधृत है और इस साधना की प्रथम सिद्धि **ऊर्ध्वरितसत्व की प्राप्ति है।** मत्स्येन्द्रनाथ ने योगीश्वर श्री कृष्ण के **'अच्युतेश्वर'** स्वरूप को (अर्थात् १६००० गोपियों के रहते हुए भी तथा उन्हें तृप्त करते हुए भी ब्रह्मचर्याश्रित रहकर—अस्खलितबिन्दु रहकर—जो योगसाधना की और उस योग का उपदेश दिया, उसी नादबिन्द्वात्मक (योगभोगसाहचर्यवादी) योग-साधना को)

आदर्श मानकर (मत्स्येन्द्रंनाथ ने भी) सिंहलद्वीप में कौलयोगिनियों के मध्य रहकर (भोग करते हुए) 'वज्रोलीसाधना' के माध्यम से अच्युतेश्वरत्व की सिद्धि की साधना की।

मत्स्येन्द्रनाथ ने शिवोपलब्ध योग-तंत्र के ज्ञान को पुष्पित पल्लवित किया। **मत्स्येन्द्रनाथ** के गुरु भगवान् आदिनाथ (शिव) ने तीन धारायें प्रवाहित की थीं—

(१) साधना की **यौगिक धारा** 'हठयोग'

(२) साधना की **तांत्रिक धारा** 'कौलमत'

(३) साधना की **ज्ञान-धारा** 'शांकर अद्वैत

मत्स्येन्द्रनाथ ने भगवान शिव की तीन-साधना धाराओं अर्थात् (क) योग-धारा, (ख) तंत्र-धारा एवं (ग) ज्ञान-धारा की त्रिवेणी में (संगम में) स्नान करने की साधना का प्रवर्तन किया था। इसीलिए उनकी योग-साधना के साथ **तांत्रिक उपादान** और **अद्वैतवादी ज्ञान-मार्ग दोनों का मणिकाञ्चन योग** है। इसी के फलस्वरूप उन्होंने अपनी साधना में—(१) **'हठयोग'**, (२) **'वज्रोली एवं योग'** (योगभोग-साहचर्यवाद) (३) **'ज्ञानयोग'** (अद्वैतवादी शांकर ज्ञानमार्ग) तीनों योगों को सन्निविष्ट किया—

"योगोऽपि **ज्ञानहीनस्तु** न क्षमो मोक्षकर्मणि॥" (योगबीज)

एवं (४) **कुण्डलिनी-योग**—'सर्वेषां योग तंत्राणां तथाऽधारो हि **कुण्डली**।" चारों को अङ्गीकृत किया। श्रीकृष्ण ने योग में 'ज्ञान' एवं 'भक्ति' दोनों को अंगीकृत किया। मत्स्येन्द्रनाथ ने मात्र ज्ञानमार्ग को अंगीकृत किया। **भक्ति का यह तत्त्व** गोरक्षयोग में तो पाया जाता है; किन्तु मत्स्येन्द्र-योग में नहीं पाया जाता।

गोरक्षनाथ ने भी **'बिन्दुः साधना'** की और मत्स्येन्द्रनाथ ने भी की; किन्तु दोनों का मार्ग भिन्न था। गोरक्ष का मार्ग ब्रह्मचर्याश्रित (नारी-संयोग से पृथक्) बिन्दु-योग पर आधृत था, किन्तु मत्स्येन्द्र का मार्ग ब्रह्मचर्याश्रित मार्ग नहीं था; तथापि उसमें ब्रह्मचर्य का महत्व था; क्योंकि 'भोग' (नारी-संभोग) में 'योग((बिन्दु-स्खलन-निरोध) की साधना अन्तर्निहित थी और यह अधिक कठिन साधना थी और इसी कारण गोरक्षनाथ को भी (अपने गुरु मत्स्येन्द्र की प्रशंसा में) कहना पड़ा था कि—

(वज्रोली-सिद्धिगत ब्रह्मचर्य की साधना समीचीन है)

(१) 'भगमुखि ब्यंद अगनि मुखि पारा।
जो राखै सो **गुरु** हमारा॥'

(२) 'बजरी करंता अमरी राखै, अमरि करंता बाई।
भोग करंता जे व्यंद राखै ते गोरख का **गुरुभाई।'**

प्रश्न—प्रश्न उठता है कि यदि गोरक्षनाथ को '**बजरी करंता' 'अमरी करंता बाई**' तथा '**भोग करंता जे व्यंद राखे**'—की तांत्रिकी योगभोगसाहचर्यवादी बिन्दु-साधना स्वीकार्य है तो मत्स्येन्द्रनाथी तांत्रिकी बिन्दु-साधना से उनकी साधना में क्या अन्तर है?

उत्तर—प्रथमत: तो यह कि गोरक्षनाथ की **बिन्दु-साधना 'लता-साधना' से संयुक्त नहीं थी**; किन्तु यदि नारी-संयोग के साथ बिन्दु-साधना उन्हें मान्य है—('भगमुखि व्यंद' 'जो राखै सो गुरु हमारा') तो यह कथन ठीक है। उसका कारण यह है कि उनकी साधना-पद्धति केवल सन्यासियों के लिए ही नहीं प्रत्युत् गृहस्थों के लिए भी थी। अत:—

'**भग मुखि** व्यंदअगिनि मुखि पारा।
जो राखै सो गुरु हमारा।।'

उनका सिद्धान्त गृहस्थों की बिन्दु-साधना का एक मार्ग था और इससे गृहस्थ दाम्पत्य जीवन व्यतीत करते हुए भी योगी (एवं ब्रह्मचारी) बने रह सकते थे। मत्स्येन्द्रनाथ कौल मत के अनुयायी हो गए थे। कौलों की तांत्रिकी बिन्दु-साधना में '**लता-साधना**' (पराई नारियों के साथ संभोग) भी मान्य था; जोकि गोरखनाथ को स्वीकार नहीं था। यही मत्स्येन्द्रनाथ कौलपरम्परागत बिन्दु-साधना एवं गोरक्षनाथी बिन्दु-साधना में प्रधान अन्तर था। गोरक्षनाथ बिन्दु-साधना को भी योग की उच्चकोटि की साधना मानते थे—

"**व्यंद** ही जोग **व्यंद** ही भोग। **व्यंद** ही हरै चौंसठि रोग।
या बिंद का कोई जांणैं भेव। सो आपै करता आपैं देव।।"

—गोरखबानी

गोरक्षनाथ कच्चे बिन्दु की साधना के पक्षधर नहीं थे। वे कच्चे बिन्दु को ('**वायुयोग**' एवं '**ब्रह्माग्नि**' से पक्का बनाते हुए) 'पक्का' करने की साधना के पक्षधर थे—

'स्वामीं काची बाई काचा जिंद। काची काया काया बिन्द।
क्यूं करि पाकै? क्यूं करि सीझै? काची अगमीं नीर न खीजै।।'

—गोरखबानी

तौ देवी पाकी **बाई** पाका जिंद। **पाकी काया पाका बिन्दु**
ब्रह्मअगनि अखण्डित बलै। **पाका अगनीं** नीर परजलै।।

—गोरखबानी

इसके लिए (१) निश्चल आसन (२) पवन-योग एवं (३) ध्यान योग भी आवश्यक है—

'निस्चल **आसन पवनां ध्यानं अगनीं** व्यंद न जाई।'

—इन साधनों से (१) अग्नि एवं (२) बिन्दु दोनों कभी नष्ट नहीं होते और ब्रह्मचर्य (बिन्दु-साधना) निर्बाध रूप से अचल रहता है।

(२) मत्स्येन्द्रनाथ की वंशवृक्षमूलक विराट व्यापकता

मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्यों-प्रशिष्यों, उनके सम्प्रदायों एवं उनकी शाखाओं तथा उपशाखाओं पर दृष्टिपात किया जाय तो संभवत: इतना विराट व्यक्तित्व, इतना व्यापक प्रभाव एवं भारत से अफगानिस्तान आदि विदेशों तक विराट व्यापक प्रसार की दृष्टि से संभवत: इतना महिमामण्डित व्यक्ति भारत में दूसरा कोई नहीं हुआ।

नाथ सम्प्रदाय की गुरु-शिष्य परम्परा

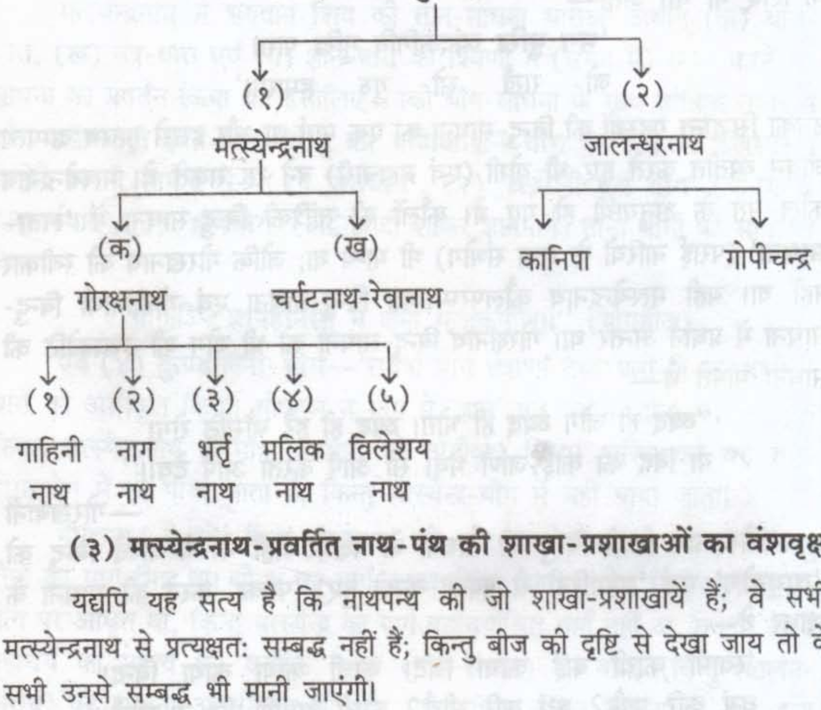

(३) मत्स्येन्द्रनाथ-प्रवर्तित नाथ-पंथ की शाखा-प्रशाखाओं का वंशवृक्ष

यद्यपि यह सत्य है कि नाथपन्थ की जो शाखा-प्रशाखायें हैं; वे सभी मत्स्येन्द्रनाथ से प्रत्यक्षत: सम्बद्ध नहीं हैं; किन्तु बीज की दृष्टि से देखा जाय तो वे सभी उनसे सम्बद्ध भी मानी जाएंगी।

गोरक्षनाथ ने नाथसम्प्रदायान्तर्गत वर्तमान; किन्तु इतस्तत: प्रसृत, समस्त नाथ-पंथीय शाखाओं को १२ शाखाओं में विभक्त करके नाथपन्थान्तर्गत संगठित किया।

कनफटा या दर्शनी योगियों के सम्प्रदाय गोरखनाथी योगियों के हैं और वे ही नाथ-योगियों के मुख्य सम्प्रदाय हैं। गोरखनाथी योगी मुख्यत: १२ शाखाओं में विभक्त हैं। ये **'बारहपंथी योगी'** कहलाते हैं।

नाथ पंथ की शाखायें (एक अनुश्रुति के आधार पर)

१२ शिव प्रवर्तित — १२ गोरक्षप्रवर्तित

(दोनों में परस्पर संघर्ष प्रारम्भ हुआ। अत: गोरखनाथ एवं भगवान शिव दोनों द्वारा ६-६ शाखायें भंग कर दी गई और फिर अद्यतन विद्यमान बारह पंथी शाखा की स्थापना की गई; जो आज भी उपलब्ध है।

(ब्रिग्स का मत)

१८ शिव-प्रवर्तित सम्प्रदाय — १२ गोरक्ष-प्रवर्तित सम्प्रदाय

(बाद में कलह। अत: शिव ने १२ एवं गोरक्ष ने ६ पंथ तोड़ दिए और अब १२ शाखायें प्रचलित हैं।)

आदिनाथ शिव के शिष्य और उनके सम्प्रदाय

मत्स्येन्द्रनाथ → (गोरक्षनाथ)

जालन्धरनाथ → (कापालिक मत)

सम्प्रदायों का पुनर्गठन

शिव-प्रवर्तित १२ सम्प्रदाय	गोरखनाथ प्रवर्तित संप्रदाय
(१) भूज कच्छ के कंठरनाथ	(१) हेठनाथ
(२) पेशावर और रोहतक के पागलनाथ	(२) आई पंथ के चोलीनाथ
(३) अफगानिस्तान के रावल	(३) चाँदनाथ कपिलानी
(४) पंख या पङ्क	(४) रतढोंडा, मारवाड़ का वैरागपंथ और रतननाथ।
(५) मारवाड़ के बन	(५) जयपुर के पावनाथ
(६) गोपाल या राम के संप्रदाय	(६) धजनाथ महावीर[१]

१. नाथ सम्प्रदाय

गोरखनाथी शाखा (बारहपंथी योगी)

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)
सत्यनाथी	धर्मनाथी	रामपंथ	नटेश्वरी	कन्हड़	कपिलानी
(७)	(८)	(९)	(१०)	(११)	(१२)
बैराग	माननाथी	आईपंथ	पागलपंथ	धजपंथ	गंगानाथी

इन पंथों के प्रवर्तक यथाक्रम इस प्रकार हैं—सत्यनाथ, धर्मराजयुधिष्ठिर, रामचन्द्र, लक्ष्मण, गणेश, कपिलमुनि, भर्तृहरि, गोपीचन्द, विमला, चौरंगीनाथ, हनुमान एवं भीष्मपितामह।[१]

इन १२ पंथों के अतिरिक्त भी अनेक पंथ हैं। आजकल मान्य १२ नाथपन्थ इस प्रकार हैं।

गोरखनाथी शाखा (बारहपंथी योगी)

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)
सतनाथ	रामनाथ	धरमनाथ	लक्ष्मणनाथ	दरियानाथ	गंगानाथ
(७)	(८)	(९)	(१०)	(११)	(१२)
बैराग	रावल या नागनाथ	जालंधरिण	आईपंथ	कपिलानी	धजनाथ

गोरखपुर की जनश्रुति के अनुसार अन्य शाखायें—

चौथी—नाटेसरी, **पाँचवीं**—कन्हड़, **आठवीं**—माननाथी, **नवीं**—आई पंथ, **दसवीं**—पागलपंथ है।[२]

---

१. नाथ सम्प्रदाय
२. नाथ सम्प्रदाय

अन्य नाथपंथीय उपशाखायें

(१) कायिक-नाथी (२) पायल-नाथी (३) उदय-नाथी (४) आरय-नाथी (५) फ़ील-नाथी (६) चर्पट-नाथी (७) गाहिणी-नाथी

(८) निरंजननाथ (९) वरंजोगी (१०) पा पंथ (११) कामभज (१२) काषाय (१३) अर्धनारी

(१४) नायरी (१५) अमरनाथ (१६) कुंभीदास (१७) तारकनाथ (१८) अमापंथी (१९) भृगनाथ

आदि उपशाखायें। ब्रिग्स के अनुसार इनका विस्तार भारतवर्ष एवं अफगानिस्तान तक हैं।

नाथपंथ की अन्य परम्परानुसार शाखायें

मत्स्येन्द्र प्रवर्तित	**गोरक्ष के शिष्यों द्वारा प्रवर्तित पंथ के नाम**
(१) गोरखनाथी	(१) **कपिलानी** (अजयपाल प्रवर्तित)
(२) गल या अरजनंगा (रावल)	(२) **करकाई** (आईपंथ के प्रवर्तक चोली नाथ) भूष्टाई पंथ भी चोलीनाथ संबद्ध है
(३) **मीननाथ सिवतोर** (जैन *)	(३) **सक्करनाथ** (कोई सम्प्रदाय नहीं)
(४) पारसनाथ पूजा (जैन *)	(४) **संतनाथ** (धर्मनाथ द्वारा पंथ प्रवर्तित)
	(५) **संतोषनाथ** (धर्मनाथ द्वारा पंथ प्रवर्तित)
	(६) **लक्ष्मणनाथ** (नटेसरी दरिया नाथ)

जालन्धरनाथ के शिष्य एवं सम्प्रदाय

भरथरी नाथ

कानिपा
कानिपा सम्प्रदाय
सांगरी सम्प्रदाय

रामचन्द्र पांगारकरप्रोक्त गुरु-परम्परा

आदिनाथ

- मत्स्येन्द्रनाथ
  - गोरक्षनाथ
    - गाहिनी या गैनीनाथ
      - निवृत्तिनाथ
        - ज्ञाननाथ
  - चौरङ्गीनाथ
- जालन्धरनाथ
  - मानीफनाथ
  - मैनावती (गापीचंद की माता)

नाथ-सम्प्रदाय के सर्वमान्य आचार्य—

(१) मत्स्येन्द्रनाथ (२) जालन्धरनाथ (३) गोरक्षनाथ (४) कानिपा सर्वमान्य आचार्य हैं। इनका नाम सब ग्रंथों में पाया जाता है।[१] **आदिनाथ, मत्येन्द्रनाथ, जालन्धरनाथ** एवं **गोरक्षनाथ** के नाम नाथों, तांत्रिकों सिद्धों तथा तिब्बती परम्परा के सहजयानी बौद्धसिद्धों में समान रूप से पाये जाते हैं।

महार्णवतंत्रोक्त ९ नाथ

(१) गोरक्षनाथ (२) जालंधरनाथ (३) नागार्जुन (४) सहस्रार्जुन (५) दत्तात्रेय (६) देवदत्त (७) जड़भरत (८) आदिनाथ (९) **मत्स्येन्द्रनाथ**

सुधाकर चन्द्रिकोक्त ९ नाथ

(१) एकनाथ (२) आदिनाथ (३) **मत्स्येन्द्रनाथ** (४) उदयनाथ (५) दण्डनाथ (६) सत्यनाथ (७) संतोषनाथ (८) कूर्मनाथ (९) जालंधरनाथ[२]

---

१. नाथ सम्प्रदाय २. नाथ सम्प्रदाय

मत्स्येन्द्रनाथ एवं महेश्वरानन्द—'महार्थमञ्जरी' के प्रणेता का अपर नाम **'गोरक्षनाथ'** है। उन्होंने 'महार्थमञ्जरी' में 'क्रमदर्शन' ('औत्तराम्नाय:' 'वाममार्ग', 'कालीनय') का वर्णन किया है। इसमें 'काली' ही परमतत्त्व के रूप में मान्य है। तन्त्रसम्प्रदाय में (१) 'क्रम' (२) 'केलि' एवं (३)**'प्रत्यभिज्ञा'** तीन दर्शन ही अद्वैतदर्शन हैं। इसमें से 'क्रमदर्शन' ही 'महार्थमञ्जरी' का वर्ण्य विषय है। अनेक विद्वानों का मत है कि **गोरक्षनाथ** नाम होने के कारण **महेश्वरानन्द मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य हैं।** प्रथमत: तो यह कि महेश्वरानन्द ने **'महार्थमञ्जरी'** में मत्स्येन्द्रनाथ एवं अन्य नाथों (जालन्धरनाथ, कृष्णपाद, चर्पटनाथ आदि) का नामोल्लेख नहीं किया है और न तो मङ्गलाचरण में उनकी स्तुति की है अत: **'महेश्वरानन्द' (मत्स्येन्द्र के शिष्य) गोरक्षनाथ नहीं हैं। महेश्वरानन्द के गुरु 'महाप्रकाश' हैं।** महेश्वरानन्द (अपर नाम गोरक्षनाथ) चोल जनपद के निवासी थे एवं **ऋजुविमर्शिनीकार शिवानन्द** के शिष्य के शिष्य थे। **शिवानन्द का समय** १३वीं सदी है और **अमृतानन्द** का समय १४वीं सदी है। महश्ेवरानन्द इन्हीं दोनों टीकाकारों की स्थिति के मध्यकाल में आविर्भूत हुए थे। **मत्येन्द्रनाथ का समय** तो ख्रीष्ट शताब्दी के अनुसार ९वीं या १०वीं सदी में हुआ था। शिवानन्द ने **क्षेमराज** का बार-बार उल्लेख किया है जो कि **अभिनव गुप्त के शिष्य** थे। **अभिनव गुप्त के पूर्व मत्स्येन्द्रनाथ हो चुके थे,** इसीलिए उन्होंने 'तन्त्रालोक' में मत्स्येन्द्रनाथ को 'मच्छन्दविभु' कहकर उनका सश्रद्ध नमन किया है।

शिवानन्द के पूर्ववर्ती **क्षेमराज** हैं। क्षेमराज के पूर्ववर्ती **अभिनवगुप्त** हैं और अभिनवगुप्त के पूर्ववर्ती **मत्स्येन्द्रनाथ** हैं। अत: शिवानन्द के प्रशिष्य महेश्वरानन्द मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य कैसे हो सकते हैं?

चोलदेश के निवासी **'महाप्रकाश' ही महेश्वरानन्द के गुरु थे।** उन्होंने **'महाप्रकाश'** (अपने गुरु) की वन्दना भी की है—'नत्वा नित्यशुद्धौ गुरोश्चरणौ **महाप्रकाशस्य।''** वे अपने को **'गोरक्षनाथ'** भी कहते हैं—**'गोरक्षोलोकधिया** देशिक दृष्टया **महेश्वरानन्द:।।'**

इससे सिद्ध होता है कि उनका घरेलू नाम गोरक्षनाथ था; किन्तु दीक्षा के समय उन्हें जो नाम दिया गया, वह देशिकप्रदत्त नाम **'महेश्वरानन्द'** है। इस प्रकार उनके दो नाम थे। मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य गोरक्षनाथ का गोरक्षनाथ नाम के बाद 'महेश्वरानन्द' नाम कभी नहीं रखा गया।

महेश्वरानन्द ने 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञा' 'शिवदृष्टि' 'तन्त्रालोक' 'अभिनवगुप्तपाद' 'स्पन्दकारिका' एवं अपने परमगुरु के ग्रंथ 'सौभाग्यहृदयस्तोत्र'' 'शिवसूत्र' 'प्रत्यभिज्ञावृत्ति' 'परमार्थ संग्रह' 'स्तोत्रावली' 'अजडप्रमातृ सिद्धि' (उत्पलदेवप्रणीत 'श्रीतन्त्रवटधानिका'

'कोमल वल्लीस्तव' नामक अपनी रचना', 'स्पन्दसन्दोह' (क्षेमराज) 'कक्ष्यास्तोत्र' 'एताश्च श्री क्षेमराजादिभिः'' स्वप्रणीत 'श्रीपरास्तोत्र' 'स्वप्रणीत 'श्रीपादुकोदयतंत्र' 'चिद्गगनचन्द्रिका' 'महानयप्रकाश' स्वप्रणीत 'महार्थोदय' अपने परगुरु के ग्रंथ— 'श्रीत्रिपुरसुन्दरी मन्दिर स्तोत्र'—का उल्लेख 'परिमल' में किया है। इसमें से अनेक ग्रंथ तो अभिनव गुप्त के भी परवर्तीकाल की रचनायें हैं अतः **महेश्वरानन्द मत्स्येन्द्र के शिष्य नहीं हो सकते।** इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने परमगुरु के जिन ग्रंथों का नाम उल्लिखित किया; है वे न तो मत्स्येन्द्रनाथ-विरचित हैं और न तो अपने द्वारा प्रणीत कहे गए ग्रंथ मत्स्येन्द्र-शिष्य गोरक्षनाथ प्रणीत ही हैं। इन सारे साक्ष्यों एवं तर्कों से सिद्ध होता है कि महेश्वरानन्द का लोकनाम भले ही **'गोरक्षनाथ'** हो फिर भी वे मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य नहीं हैं।

* कौलज्ञाननिर्णयोक्त कौल-सम्प्रदाय और मत्स्येन्द्रनाथ

'कौलज्ञाननिर्णय' 'तंत्रालोक' आदि ग्रंथों के प्रमाणों के आधार पर यह कहा गया है कि कौलमार्ग के प्रवर्तक मत्स्येन्द्रनाथ थे। विभिन्न परम्परायें भी इसी तथ्य की पुष्टि करती हैं। 'कौलज्ञाननिर्णय' (षोडश पटल) नामक ग्रंथ एवं 'कुलागम' या 'कौलशास्त्र' कौलज्ञान का उपदेष्टा मत्स्येन्द्रनाथ को स्वीकार भी करता है। जब ''कौलज्ञान'' की विभिन्न दृष्टियों, सिद्धान्तों एवं मत-मतान्तरों को समन्वित रूप में प्रस्तुत किया गया; तब यह निष्कर्ष निकला कि कौलज्ञान या कौलागम का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। 'कौलज्ञाननिर्णय' (चतुर्दश पटल) में कौलों की विभिन्न शाखाओं की विभिन्न साधनाओं का भी वर्णन प्राप्त होता है। इनके विभिन्न नाम इस प्रकार हैं—

सम्प्रदाय या शाखाओं के नाम[१]	कौ०ज्ञा०नि० में उल्लेख (श्लोक सं०) (चतुर्दश पटल)
(१) 'रोमकूपादिकौलिक'	श्लोक क्र० ३२
(२) 'वृषणोत्थ कौल'	श्लोक क्र० ३३
(३) 'वह्निकौल'	श्लोक क्र० ३४
(४) 'कौलसद्भाव'	श्लोक क्र० ३७
(५) 'पदोत्तिष्ठ कौल'	श्लोक क्र० ४३

(सोलहवें पटल में इन कौल शाखाओं से पृथक् अन्य कौल-शाखाओं का नामोल्लेख इस प्रकार किया गया है।)

(१) 'महाकौल' (२) 'सिद्धकौल' (३) 'ज्ञान निर्णीति कौल'
(४) महत्कौल (५) 'सिद्धामृत कौल'

'सिद्धामृत कौल'

(१) 'मत्स्योदरकौल' — (२) 'योगिनीकौल'

'कुलशास्त्र' एवं 'कौलज्ञान' (जिनका उल्लेख 'कौलज्ञाननिर्णय' आदि ग्रंथों में किया गया है)।

कौलसिद्धान्त या कौलमत की प्राचीनता—'कौलज्ञाननिर्णय' (पटल ६) के श्लोक क्र० ९ में कहा गया है कि—यह कौलिकज्ञान (श्रुतियों की ही भाँति) श्रुति-परम्परा से बहुत प्राचीन काल से (परम्परागत रूप से) चला आ रहा है।—

'कौलिकन्त इदं देवि ! कर्णात् कर्णसमागतम् ।' (६/९)

इस कथन से यह सिद्ध होता है कि **कौलमार्ग के आदि प्रवर्तक मत्स्येन्द्रनाथ नहीं हैं।** मत्स्येन्द्रनाथ उस लुप्तप्राय कौलज्ञान या कौलमत के उद्धारक मात्र हैं। मत्स्येन्द्र का ज्ञान तो शिवोपदिष्ट ज्ञान है। अतः उसे मत्स्येन्द्र से बहुत प्राचीन काल का मानना ही पड़ेगा।

डॉ० द्विवेदी और बागची महोदय की दृष्टियाँ—

डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी महोदय ने **'रोम कूपादि कौल' 'वृषणोत्थकौल' 'वह्निकौल' 'कौलसद्भाव'** एवं **'पदोतिष्ठकौल'** (कौ० ज्ञा० नि० चतुर्दश पटल में उल्लिखित) को **'सिद्धिपरक'** स्वीकार किया है और कहा है कि प्रो० बागची ने 'कौ० ज्ञान निर्णय' की भमिका में जो इन्हें कौलमार्ग के सम्प्रदायों के रूप में स्वीकार किया है; वह मुझे स्वीकार्य नहीं है—

(१) 'विद्वानों ने इनका सम्प्रदायपरक तात्पर्य बताया है, परन्तु मुझे ऐसा लगता है कि ये शब्द संप्रदायपरक न होकर सिद्धिपरक हैं।

(२) "यद्यपि चौदहवाँ पटल 'देव्युवाच' से शुरू होता है, पर सारा पटल देवी की उक्ति के रूप में नहीं है; बल्कि भैरव के उत्तर के रूप में है, क्योंकि इसमें देवी को सम्बोधित किया गया है। उत्तर देने के ढंग से लगता है कि भैरव (शिव) ऐसे ध्यान की विधि बता रहे हैं, जिसमें **मंत्र, प्राणायाम और चक्रध्यान** की जरुरत नहीं होती और फिर भी वह परम **सिद्धिदायक** होता है।'

(३) 'इस पटल की पुष्पिका से भी पता चलता है कि यह ध्यान-योग-मुद्रा का प्रकरण है—इसीलिए मुझे ये शब्द सिद्धिपरक जान पड़ते हैं। **ये सम्प्रदाय वाचक नहीं हैं।"**[१]

---

१. नाथसम्प्रदाय (सं० द्वि०) पृ० ६२

डॉ० प्रबोध चन्द्र बागची महोदय कहते हैं कि—

(१) 'कौलज्ञान निर्णय' के चतुर्दश पटल में उल्लिखित **'रोमकूपादिकौलिक'** (३२), **'वृषणोत्थकौल'** (३३) **'वह्निकौल'** (३४) **'कौलसद्भाव'** (३७) एवं **'पादोतिष्ठकौल'** (४३)—कौलमत के Different sections हैं और उन्हीं 'Sections' का नाम 'रोमकूपादिकौलिक' आदि हैं और उनमें —(कौलशाखाओं या 'Sections' में) विभिन्न प्रकार की कौलमार्गीय साधनायें (Practices) प्रचलित थीं। अन्य सम्प्रदायों (शाखाओं या Sections) का नाम **'महाकौल' 'सिद्धकौल'** आदि था।[१]

कौलज्ञान का सम्प्रदायगत उत्तरोत्तर विकास—

कौलज्ञान के उत्तरोत्तर क्रमिक विकास के सम्बन्ध में 'कौलज्ञाननिर्णय' के सोलहवें पटल में कहा गया है कि—

'कथितं कालिका योगी सर्वकौलस्य निर्णयम्।
भक्तियुक्ता समत्वेन सर्वे शृण्वन्तु कौलिकम्।।४६।।
महाकौलात् सिद्धकौलं सिद्धकौलात् मत्स्योदरम्।
चतुर्युगविभागेन अवतारश्चोदितं मया।।४७।।
ज्ञानादौ निर्णीतिः कौलं द्वितीये महत् संज्ञितम्।
तृतीये सिद्धामृतन्नाम कलौ मत्स्योदरं प्रिये।।४८।।
ये चास्मानिर्गता देवि! वर्णयिष्यामितेऽखिलम्।।
एतस्माद् योगिनीकौलान्नाम्ना ज्ञानस्य निर्णीतौ।।४९।।'

निष्कर्ष यह है कि— (१) आदि युग में जो कौलज्ञान था, वही विकसित होकर अनेक युगों में अनेक नामों से प्रचलित हो गया।

(२) आदियुग में कौलज्ञान : 'कौलज्ञान'

(३) त्रेतायुग में कौलज्ञान : 'महत्कौल'

(४) द्वापरयुग में कौलज्ञान : 'सिद्धामृत'

(५) कलियुग में कौलज्ञान : 'मत्स्योदरकौल' के नाम से प्रचलित हुआ।

यह भी ध्यातव्य है कि यदि कौलज्ञान के आदि प्रवर्तक मत्स्येन्द्रनाथ होते तो क्या वे 'सत्ययुग' में थे? यदि नहीं थे तो स्पष्ट है कि कौलमार्ग के आदि प्रवर्तक वे नहीं थे।

उपर्युक्त उद्धृतांश यह संकेतित करता है कि कौल-परम्परा अत्यन्त प्राचीन है और वह मत्स्येन्द्रनाथ की पूर्ववर्तिनी ज्ञान-परम्परा है।

---

१. प्रबोध चन्द्र बागची (कौलज्ञाननिर्णय की भूमिका)

उद्धृत श्लोकावली का अर्थ यह है कि—जिस ज्ञान को अद्यपर्यन्त भगवान शिव ने भगवती पार्वती एवं षडानन मात्र को सुनाया था, उसे सभी लोक भक्तिपूर्वक समानभाव से सुनें। **'महाकौल'** के अनन्तर **'सिद्धकौल'** एवं **'सिद्धकौल'** के अनन्तर **'मत्स्योदर'** अवतरित हुए। भगवान शिव ने चारों युगों में चार अवतार धारण करके इनका उपदेश चारों युगों में दिया।

कौलज्ञान का नाम (अवतरित ज्ञान का नाम)	**युग**
(१) प्रथम युग में नाम 'कौलज्ञान'	सत्ययुग
(२) द्वितीय युग में नाम 'सिद्धकौल'	त्रेतायुग
(३) तृतीय युग में नाम 'सिद्धामृत'	द्वापर युग
(४) चतुर्थ युग में नाम 'मत्स्योदर'	कलियुग
(५) मत्स्योदर से अवतरित ज्ञान	**'योगिनीकौल'** है।

यह भी एक ध्यातव्य बिन्दु है कि 'कौलज्ञान निर्णय' में 'कौलमार्ग' के विषय में यह कहा गया है कि इसके जो भी रूप हैं वे **'अवतरित'** हैं। 'अवतार' तो पूर्वविद्यमान वस्तु के प्राकट्य को कहते हैं, न कि नवाविर्भाव या नवोद्भव को। अतः मत्स्येन्द्रनाथ (कलियुग के सिद्ध) को सत्ययुग-त्रेता-द्वापर-कलियुग में निरन्तर बने रहना मानना भी तर्क-संगत नहीं है और कौलमार्ग को सत्ययुग में भी विद्यमान मानने से और उस काल में मत्स्येन्द्रनाथ के अविद्यमान रहने से इस मार्ग का आदि प्रवर्तक उन्हें मानना भी ऐतिहासिक दृष्टि से तर्कोपपन्त नहीं है।

'कौलज्ञाननिर्णय' में यह भी कहा गया है कि मत्स्येन्द्रनाथ ने महाज्ञान भूलने के बाद कामरूप में योगिनियों के साथ जो ज्ञान सीखा और उसे अपने ग्रंथों में संगृहीत किया, वह कौलज्ञान तो कामरूप की योगिनियों के घर-घर में ज्ञात था। मत्स्येन्द्रनाथ ने उस ज्ञान का मात्र सार भाग संगृहीत किया और उसे पुस्तक का रूप दे दिया। निष्कर्ष यह कि मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा प्राप्त ज्ञान **'अवतरित'** (पूर्वपरम्परागत ज्ञान के पुनः प्रकटित रूप) ज्ञान था, न कि उनका स्वाविर्भूत ज्ञान—

'तस्य मध्ये इमं नाथ **सारभूतं समुद्धृतं।**
कामरूपे इदं शास्त्रं योगिनीनां गृहे गृहे।।'[१]

आगे यह भी कहा गया है कि यह अवतरित कौल ज्ञान मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा सर्वप्रथम कामरूप की योगिनियों से प्राप्त किया गया, किन्तु इसकी आदि प्रवर्तिका

१. कौलज्ञाननिर्णय : (२२।१०)

ये योगिनियाँ भी नहीं थीं; क्योंकि कामरूप की योगिनियों के द्वारा इसे जानने के पूर्व यह चन्द्रद्वीप में उपदिष्ट हो चुका था—

'चन्द्रद्वीपं महाशास्त्रं अवतीर्णं सुलोचने।
कामाख्ये गीयते नाथे महामत्स्योदरस्थितिः॥'

कामाख्या में इस ज्ञान को महामत्स्य ने बाद में गाया। कामाख्या में महामत्स्योक्त यह ज्ञान भी मत्स्येन्द्र का नहीं था, बल्कि यह चन्द्रद्वीप में 'अवतीर्ण' ज्ञान का उपदेश था—

'चन्द्रद्वीपं महाशास्त्रं **अवतीर्णं** सुलोचने।'

'चन्द्रद्वीप' में **'अवतीर्ण ज्ञान'** भी नवोद्भूत नहीं था, प्रत्युत् मात्र **'अवतीर्ण'** (पूर्वविद्यमान ज्ञान का प्रकटित स्वरूप) था।[१]

यदि हम २१वें पटल पर दृष्टिपात करें तो वहाँ अनेक कौलमार्गों का उल्लेख प्राप्त होता है। इन्हें डॉ० द्विवेदी ने भी **'कौलमार्ग'** स्वीकार किया है।

डॉ० बागची महोदय का मत है कि—

(क) मत्स्येन्द्रनाथ ने **'योगिनी कौल मार्ग'** का प्रवर्तन किया और (ख) वे (मत्स्येन्द्रनाथ) **'सिद्धामृत मार्ग'** के अनुयायी थे।

(नाथपंथी साधक अपने को **'सिद्धमार्ग'** का अनुवर्ती स्वीकार भी करते हैं। परवर्ती काल में नाथ-साधकों को **'अवधूत'** एवं **'सिद्ध'** कहा भी जाता रहा।)

मत्स्येन्द्रनाथ की मूल दृष्टि—मत्स्येन्द्र ने अपनी मूल दृष्टि का त्याग करके कामरूप की कामिनियों और कदली देश की योगिनी रमणियों के मोह-पाश में आबद्ध होकर उनके साधना-मार्ग एवं दर्शन को स्वीकार कर लिया था। अतः उनकी मूल दृष्टि 'योगिनी कौलमत' के पूर्व की दृष्टि थी।

जहाँ तक द्वापर युग के **'सिद्धमार्ग'** की बात है, वह मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा उपदिष्ट एवं परवर्ती काल में प्रवर्तित **'कौलज्ञान'** से भिन्न था।

मत्स्येन्द्र ने कामरूप में साधना की।

(क) मत्स्येन्द्रनाथ पहले तो सिद्ध या **'सिद्धामृतमार्ग'** के अनुवर्ती थे; किन्तु बाद में **वाममार्ग की कामरूप वाली शाखा** के **कौलमार्ग** के अनुवर्ती बन गए और इस कौलमार्गानुगमन के बाद उन्होंने जिस साधना-मार्ग का प्रवर्तन किया उसका

---

१. (कौलज्ञाननिर्णय (पटल २२)

नाम था—**'योगिनी कौलमार्ग'** चूँकि उन्होंने कौलज्ञान की अपनी दृष्टि का प्रवर्तन भी किया; इसीलिए उन्हें कौलज्ञान या कौलमार्ग का प्रवर्तक कहा गया है।

सारांश यह है कि—

(क) मत्स्येन्द्रनाथ **'सिद्धमार्ग'** या **'सिद्धकौलमार्ग'** (सिद्धामृतमार्ग) के अनुयायी थे।

(ख) कौलज्ञान मत्स्येन्द्रनाथ के मध्यवर्ती जीवन का ज्ञान था।

(ग) उन्होंने **'योगिनी कौल मार्ग'** का प्रवर्तन किया।

मत्स्येन्द्रनाथोल्लिखित अन्य कौल-सम्प्रदाय

मत्स्येन्द्रनाथ ने 'कौलज्ञाननिर्णय' के इक्कीसवें पटल में अनेक कौल-सम्प्रदायों का उल्लेख किया है, जो निम्नाङ्कित हैं—

(१) **'कल्पपञ्चाशिका'** (२) **'कुलसागर'** (३) **'कुलोघ'** (४) **'कुलहृदय'** (५) **'भैरवोद्यानक'** (६) **'चन्द्रकौल'** (७) **'ज्ञानकौल'**[१]

इनमें अनेक अन्य सम्प्रदाय भी उल्लिखित हैं यथा—

(१) **'सम्बर'** (२) **'सृष्टिकौल'** (३) **'महाकौल'** (४) **'तिमिर'** (५) **'अमृतसिद्ध'** (६) **'कुलकौलमत'** (७) **'शक्तिभेद कौल'** (८) **'अनुत्तरऊर्मिकौल'** (९) (चारों युगों के) **'ज्ञान कौल'** (१०) **'सिद्धेश्वर'** (११) **'वज्रकौल'** (१२) **'मेघजकौल'**[२]

देवी के द्वारा यह कहने पर कि—

'संग्रहं वद में नाथ वर्तनं कुलगोचरे'

अर्थात् हे देव ! आप मुझे कौलमार्ग के विभिन्न सम्प्रदायों के विषय में बताइए—

भैरव ने देवी से कहा कि—

कथयामि न सन्देहो संग्रहाचार लक्षणम्।
पञ्चपञ्चाशिको देवि ! मतं वै योगलक्षणम्।
तस्य भेदोपभेदेन कौलशास्त्रे विनिर्णयम्।
कुलपञ्चाशिकामूलं तथा च कुलसागरम्।
कुलोघो हृदयञ्चैव भैरवोद्यानकं तथा।
चन्द्रकौलञ्च वेष्टिञ्च तथा वै ज्ञाननिर्णयम्।

---

१. कौलज्ञाननिर्णय (२१/२-४)
२. कौलज्ञाननिर्णय (२१/४-७)

अस्य मध्ये विनिष्क्रान्तं सम्बरनाम विश्रुतम्।
सृष्टिकौलं महाकौलं तिमिरं च तथापरम्।
सिद्धामृतं तु कौलं महाकौलं तथापरम्।।
शक्तिभेदं तथा कौलं ऊर्मिकौलमनुत्तमम्।
चतुर्युगेषु देवेशि ! ज्ञानकौलस्य सङ्गतिः।।
सिद्धेश्वरं तथा चान्यं कौलं वै वज्रसम्भवम्।
मेघजाश्च दूरतं तस्मिन् कौले विनिर्गतम्।।[1]

मत्स्येन्द्रनाथ की साधना—मत्स्येन्द्रनाथ व्यक्तित्व के दो स्वरूप हैं—

(१) योगी एवं (२) वाममार्गी तांत्रिक। उनकी साधना के भी दो स्वरूप हैं—

(क) **'सिद्धामृतमार्ग'** की साधना—योगमार्ग की साधना (कामरूप की कौलमार्गी योगिनियों के मोहपाश में निबद्ध होने के पूर्व) सिद्धामृत मार्ग की साधना।

(ख) कामरूप में **'योगिनीकौलमार्ग'** का प्रवर्तन एवं कामरूप में कौलयोगिनियों द्वारा उपासित कौल मार्ग की साधना।

—०—

१. कौलज्ञाननिर्णय (२१/१-७)

* गोरक्षनाथ *

(* मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य : गोरक्षनाथ *)

'गकारो गुण संयुक्तो रकारो रूपलक्षण:।
क्षकारेणाक्षयं ब्रह्म श्रीगोरक्ष नमोऽस्तुते॥'[१]

(१) '**गोरक्षोपनिषद्**' में कहा गया है—

'गा: इन्द्रियाणि रक्षतीति गोरक्ष:।'

(२) '**गोरक्षशब्द-निरुक्ति**' में कहा गया है—

'रक्षतीति रक्ष: गवांरक्ष: गो रक्ष।' (यावद् गोपदवाच्यं रक्षति स गोरक्ष:॥''

प्राचीन ग्रंथों में नौ नाथ एवं चौरासी सिद्धों के जो नाम उपलब्ध होते हैं, उनमें गोरक्षनाथ का नाम भी उपलब्ध होता है।

'महार्णवतन्त्र' 'वर्णरत्नाकर' 'हठयोगप्रदीपिका' 'कौलावली तंत्र' 'श्यामारहस्य' 'सुधाकर चन्द्रिका' 'ज्ञानेश्वरी' 'योगिसम्प्रदायाविष्कृति' कौलज्ञाननिर्णय' आदि ग्रंथों में गोरक्षनाथ के नाम का उल्लेख प्राप्त होता है।

'गोरक्ष' शब्द का उल्लेख अथर्ववेद 'शिवपुराण' 'ब्रह्माण्डपुराण' 'स्कन्दपुराण' (केदार खण्ड), मार्कण्डेय पुराण' 'महाकाल संहिता' 'योगशास्त्र कल्पद्रुम' आदि ग्रंथों में भी पाया जाता है। गोरक्षनाथ नाथ-सम्प्रदाय के महान् सिद्ध योगीं हैं।

ब्रिग्स महोदय की दृष्टि—ब्रिग्स महोदय तर्कों के आधार पर यह अनुमान लगाते हैं कि गोरक्षनाथ पहले **वज्रयानी बौद्ध** थे और उसके बाद वे **शैव बन** गए।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी की दृष्टि—

(१) 'गोरक्षनाथ निश्चित रूप से **ब्राह्मण जाति** में उत्पन्न हुए थे और ब्राह्मण वातावरण में बड़े हुए थे।'

(२) ''उनके गुरु मत्स्येन्द्रनाथ भी शायद ही कभी बौद्ध साधक रहे हों॥''[२]

(३) गोरक्षनाथजी को चारों युगों में अवतार लेने वाला कहा गया है। उन्हें महेश्वरावतार भी कहा गया है।

गोरक्षनाथ का आविर्भाव काल—

(१) **डा० शहीदुल्ला** : विक्रम की **आठवीं 'सदी'** (८)।

---

१. गोरक्षनाथ स्तोत्र

२. नाथसम्प्रदाय (पृ० १०७)

(२) **नागरी प्रचारिणी सभा की खोज :** सन् १९०२ : **१५वें शतक** का आरम्भ।

(३) **डा० फ़र्कुहर :** १३वें शतक का मध्यकाल। ईसवी संवत् १२०० अर्थात् विक्रमी संवत् १२५७।

(४) **डा० पी० द० बडथ्वाल :** (गोरक्षनाथ का जीवन काल एवं आविर्भाव) ९०७ के बाद का होना चाहिए। गोरखनाथ का **समय ११वें शतक का मध्य** ही रहता है। गोरखनाथ का समय **संवत् १०५० के आसपास है।**[1]

(५) **पं० परशुराम चतुर्वेदी**—परशुराम जी कहते हैं—

(१) गुरु गोरक्षनाथ का आविर्भाव-काल ईसा की ७वीं सदी से १२वीं सदी तक का विद्वानों ने अनुमान लगाया है।

(२) इसी काल में बौद्ध धर्म का ह्रास एवं शैवधर्म का पुनरुद्धार हुआ। ८वीं, ९वीं शताब्दियों तक सरहपा आदि सिद्धों की स्थिति थी। ११वीं, १२वीं शताब्दी का समय गोरखनाथ के भिन्न-भिन्न शिष्यों का समय था।

(३) गोरखनाथ के जीवनकाल के लिए ईसा की **१०वीं शताब्दी** अथवा अधिक से अधिक **११वीं** सदी के प्रारंभिक भाग में अर्थात् विक्रम की ११वीं शताब्दी में ही कोई काल निश्चित किया जाना उचित है।

(विक्रम की ११वीं सदी या ईसा की १०वीं सदी)

(४) 'तंत्रालोक' में मत्स्येन्द्र को 'मच्छन्दविभु' कहा गया है। अभिनव गुप्त ११वीं सदी के हैं। मच्छन्द एवं गोरक्ष समकालीन हैं। अत: गोरक्ष का समय विक्रम की ११वीं सदी के आरंभिक काल से भी पूर्व अर्थात् ईसा की १०वीं सदी का काल माना जा सकता है।

डा० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल का कथन है कि गोरखनाथ का सबसे पुराना मन्दिर अलाउद्दीन ने ढहाया था। इस मन्दिर को त्रेता युग में शिव ने निर्मित किया था। अलाउद्दीन के समय में इस मन्दिर का संबंध गोरखनाथ से हो गया था। अलाउद्दीन का राजत्वकाल संवत् १३५३ से १३७३ है। इससे सिद्ध होता है कि १५वें शतक के आरम्भ में **गोरखनाथ का समय मानना** सर्वथा अनुपयुक्त है।

डा फ़र्कुहर का मत—डा० फ़र्कुहर ने ज्ञानेश्वर—प्रदत्त गुरु-परम्परा को आधार मानकर अपना मत निश्चित किया।

---

१. योगप्रवाह (पृ० ६२)

२. उत्तरी भारत की सन्त परम्परा (परशुराम चतुर्वेदी)।

ज्ञानेश्वर भी नाथपंथी थे।

ज्ञानेश्वर ने **'अमृतानुभव'** एवं **'ज्ञानेश्वरी'** में अपनी गुरु-परम्परा इस प्रकार प्रस्तुत की है—

(१) आदिनाथ→(२)→मत्स्येन्द्रनाथ→(३)→गोरखनाथ (४)→गहनीनाथ→(४) निवृत्तिनाथ→ज्ञानेश्वर

गहनीनाथ **गोरक्षनाथ के शिष्य** है। निवृत्तिनाथ भी अपने अभंग में इसी की पुष्टि करते हैं—

> **'आदिनाथ** उमा बीज प्रगटलें, **मत्स्येन्द्रा** लाधलें **सहज** स्थिती
> तेचि प्रेम मुद्रा **गोरक्षा** दिधली, पूर्णकृवा कैली **गैनीनाथ।'**

गहनीनाथ कहते हैं—

> 'गोरखसुत गहनी कहे, नाथ पंथ की बानी।
> ग्यानी जानत गुरुपूत होत, सो हि चढ़े निरवानी।'

(लक्ष्मणरामचंद्र पांगारकर द्वारा उल्लिखित 'गहनीप्रताप' से) गहनीनाथ निवृत्तिनाथ के गुरु थे।

निवृत्तिनाथ का जन्म : शक संवत् : ११९५ विक्रम अर्थात् संवत् १३३० में हुआ।

महाराष्ट्र में प्रचलित परम्परा के अनुसार—निवृत्तिनाथ के पितामह **गोविन्दपन्त** के भी गुरु **गहनीनाथ** थे।

यदि प्रत्येक पीढ़ी के लिए २५-२५ वर्षों का अन्तर मान लिया जाय तो संवत् १२८० तक **गहिनीनाथ** एक प्रख्यात गुरु के रूप में प्रतिष्ठित हो गए होंगे।

यदि गोरखनाथ एवं गहनीनाथ के आविर्भाव-काल में २५ वर्षों का भी अन्तर मान लिया जाय तो उनका समय १२५५ निकलता है।

डा० फ़र्कुहर ने इसी समय के निकटवर्ती ई० सं० १२०० विक्रमी संवत् १२५७ को गोरखनाथ का समय स्वीकार किया है।

फ़र्कुहर के मत की समीक्षा—फ़र्कुहर के मत को स्वीकार करने में एक प्रबल बाधा यह है कि **११वें शतक के आरंभ** में लिखित **बौद्ध तंत्रों में गोरखनाथ का नाम** उल्लिखित है। इस स्थिति में गोरखनाथ का समय **१३वीं सदी कैसे माना जा सकता है?**

डा० बडथ्वाल की दृष्टि—चूँकि गोरक्षनाथ नाथ-पंथ के प्रवर्तक के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे। अत: गहिनीनाथ ने गोरखनाथ को अपने पंथ का प्रवर्तक होने

के कारण **अपना गुरु** कह दिया होगा। गुरु ईश्वर का भी पर्याय है और गोरक्ष का गुरुरूप ईश्वर माना जाने लगा था। सारांश यह कि **गहिनीनाथ गोरक्षनाथ के प्रत्यक्ष शिष्य न रहे होंगे।**

नेपाल की बौद्ध जनश्रुतियों के अनुसार—गोरखनाथ मछंदरनाथ के दर्शनार्थ राजा नरेन्द्रदेव के शासनकाल में नेपाल गए थे।

चीनी यात्री **वांग ह्युत्से** राजा नरेन्द्रदेव का अतिथि था। इस यात्री ने अपना यात्रा-विवरण भी लिखा है। इसका काल है—सं० ७२२ अर्थात् ई० ६६५। यही काल नरेन्द्रदेव का भी रहा होगा।

प्र०—तो क्या गोरखनाथ का भी यही काल है?

डा० शहीदुल्ला आदि इसे अस्वीकार तो नहीं करते।

जनश्रुतियों को साक्ष्य मानना उचित नहीं है; क्योंकि—

(क) विक्रम से पूर्व १९३ संवत् (ई० पू० २५०) में अशोक ने लुम्बिनी आदि तीर्थों की दिदृक्षावश नेपाल की यात्रा की थी। श्रुतिपरम्परानुसार यह समय — ई० पू० १८६७ (कलिगत संवत १२३४)) पड़ता है। इस काल को किराती राजा थ्यूंको का समय मानने पर ही यह काल संगत होगा, जो कि गलत है।

जनश्रुति तो यह भी है कि आचार्य शंकर दिग्विजय के उद्देश्य से राजा वृषदेव के शासनकाल में नेपाल आए थे। वृषदेव का समय तो ५वीं सदी है, जबकि शंकराचार्य का समय ९ वें शतक के उत्तरार्ध एवं दसवें शतक के प्रारम्भ में (अन्य विद्वानों की दृष्टि के अनुसार ८वीं सदी में) पड़ता है।

बड़थ्वाल जी की मान्यता है कि **गोरखनाथ एवं मछंदरनाथ** की नेपाल-यात्रा का जनश्रुतिगत यात्रा-काल भी इसी प्रकार संशयास्पद है।

श्रुतिपरम्परा की मान्यता है कि नेपाल में शंकराचार्य के आगमन के बहुत बाद गोरखमछंदर आए थे। स्पष्ट है कि मछन्दर एवं गोरक्ष शंकर-परवर्ती हैं।

गोरक्षनाथ एवं शंकराचार्य—गोरखनाथ जी ने योगमत की नींव **शांकर अद्वैत वेदान्त** पर रखी थी—

'अभेद-भेद भेदीले जोगी वदंत गोरख राई।
आत्मा परिचै राखो गुरुदेव सुन्दर काया।।'

उपर्युक्त वाक्य उनकी रचनाओं में स्थल-स्थल पर आदि से अंत तक बिखरे मिलते हैं।

कीथ एवं मेकडानल के अनुसार शंकर का जीवनकाल विक्रम संवत् ८४५ से ९०७ तक है। अतः गोरखनाथ का समय ९०७ के पीछे का होना चाहिए।[१]

जिस समय नेपाल में मछंदरनाथ एवं गोरखनाथ का आगमन हुआ था, उसी समय हिन्दू-धर्म के प्रचारार्थ एक ब्राह्मण के भी नेपाल जाने का उल्लेख मिलता है। यह ब्राह्मण शंकराचार्य का अवतार माना जाता था। कहीं यह ब्राह्मण एवं गोरखनाथ एक ही व्यक्ति के साधारण और लोकोत्तर रूप तो नहीं हैं? यह असंभव तो नहीं है। **गोरखनाथ पर शंकर के अद्वैतवाद** का प्रभाव अवश्य पड़ा था। गोरख ने अपने गुरु को उसका उपदेश दिया।।[२]

तिब्बती जनश्रुति यह है कि—

(१) **कनफ़टा नाथ पहले बौद्ध ही थे** किन्तु मुसलमानों के बंग विजय करने के उपरान्त वे मुसलमानों का विरोध न दिखाने के उद्देश्य से ईश्वर (शिव) के उपासक हो गए। **तारानाथ** (इतिहासकार)ने अपने ग्रंथ में यही बात कही है। मुसलमानों के बंग-विजय का समय १२५६-१२६० संवत् है।

कई बौद्ध तंत्रों में गोरखनाथ और उसके साथी अन्य नाथों की महिमा गाई गई है। मुसलमानों ने नाथों को ईश्वरवादी समझकर उनके साथ छेड़छाड़ नहीं की; किन्तु उन्होंने बौद्ध तांत्रिकता को बंगाल से उन्मूलित कर दिया। डा० बडथ्वाल कहते हैं कि मुसलमानों के बंगविजय का समय १२५६ से १२६० संवत् है। **बौद्धों और नाथों में जो भेद इस समय स्पष्ट हुआ,** उसका आरंभ यदि हम २०० वर्ष पहले नेपाल में मानें तो अनुचित न होगा। इससे भी गोरखनाथ का समय ११वें शतक का मध्य ही ठहरता है।[३]

डा० शहीदुल्ला की दृष्टि—गोरखनाथ के वाक्यों में 'ससिहर' 'महिपल' 'पयाल' 'अम्है' 'तुम्है' 'हि' 'विभक्ति' 'जलकै संजमि अटल अकास' में 'संजमि' 'कौणे चेतनि मन उनमनि रहे' में के चेतन में अधिकरण का प्रयोग—तथा 'आईला' 'गईला' 'भईला' (बौद्धगान ओ दोहा) आदि प्रयोगों को गोरख-साहित्य में देखकर **डा० शहीदुल्ला** ने गोरख को ८ वीं सदी का स्वीकार किया है।

डा० पीताम्बर दत्त बडथ्वाल इन तर्कों को अमान्य करते हुए भी गोरक्षनाथ का समय संवत् १०५० (ग्यारहवें शतक का मध्य) ही मानते हैं।[४]

१. योगप्रवाह (पृ० ५८)
२. योगप्रवाह (पृ० ६१)
३. योगप्रवाह (पृ० ६२)
४. योगप्रवाह (पृ० ६२)

[१] **योगिसंप्रदाय विष्कृतिकार का मत**—गोरक्ष का जन्म गोदावरी नदी के तट पर **चन्द्रगिरि** नामक स्थान में हुआ था।

[२] **'गोरक्षसहस्त्रनामस्तोत्रकार का मत**—(नेपाल दरबार की लाइब्रेरी में प्राप्त पुस्तक गो० स० स्तोत्र)

इस ग्रंथ के अनुसार गोरक्षनाथ का जन्मस्थान दक्षिण दिशा में किसी **बड़व** नामक देश में था। महामंत्र की अनुकम्पा या प्रसाद से गोरक्षनाथ का जन्म हुआ था।

'अस्ति याभ्यां (पश्चिमायां) दिशि कश्चिद्देश: बढ़व संज्ञक:। तत्राजनि महाबुद्धिर्महामंत्र प्रसादत:।।[१]

क्या 'बढ़व' नामक स्थान 'योगिसंप्रदाय। विष्कृति' नामक ग्रंथ में उल्लिखित गोदावरी नदी के तट का चंद्रगिरि ही तो नहीं है?

[३] **बंगाली परम्परा और उसकी आस्था**—बंगाल में यह माना जाता है कि गोरक्षनाथ बंगाल में ही प्रादुर्भूत हुए थे।

[४] **नेपाली परम्परा और तत्रस्थ आस्था**—नेपालियों की मान्यता है कि गोरक्षनाथ टिला (झेलम—पंजाब) से गोरखपुर आए थे।

[५] **नासिक के योगियों के अनुसार**—नासिक के योगी यह मानते हैं कि गोरक्षनाथ सर्व प्रथम तो नेपाल से पंजाब आए और फिर नासिक की ओर आ गए। **ब्रिग्स** महोदय ने अनुमान लगाया है कि गोरक्षनाथ पंजाब के निवासी रहे होंगे।

[६] **कच्छ के लोगों की धारणा**—कच्छ में यह जनश्रुति है कि गोरक्षनाथ के शिष्य धर्मनाथ पेशावर से कच्छ आए। यद्यपि **ग्रियर्सन** ने धर्मनाथ को गोरक्षनाथ का सतीर्थ कहा है; किन्तु धरमनाथ बहुत परवर्ती हैं।[२]

[७] **ग्रियर्सन महोदय का मत**—ग्रियर्सन का अनुमान यह है कि गोरक्षनाथ (संभवत:) **पश्चिम हिमालय** के निवासी थे। उन्होंने नेपाल में आकर नेपाल को आर्य अवलोकितेश्वर के प्रभाव से मुक्त करके शैव बनाया था।

गोरक्षनाथ का जन्मस्थान

भिन्न-भिन्न परम्परायें और इनका जन्मस्थान—

पश्चिम की ओर पेशावर य जालन्धर से पूर्व की ओर बंगाल के बाकरगंज जिले तथा दक्षिण की ओर गोदावरी नदी के तटवर्ती चन्द्रगिरि नगर तक मानती रही है,

१. कौलज्ञाननिर्णय की भूमिका (पृ० ६४)
२. नाथसम्प्रदाय (गोरक्षनाथ)

किन्तु **डा० परशुराम चतुर्वेदी** के मतानुसार इनका जन्म **संभवतः** पश्चिमी भारत या **पंजाब** प्रान्त के ही किसी स्थान में था, किन्तु कार्य-क्षेत्र **नेपाल, उत्तरीभारत, असम, महाराष्ट्र** एवं **सिंध** तक फैला था। इनके मत का प्रसार अफगानिस्तान, बलूचिस्तान, सीलोन तथा पेनांग तक विभिन्न जातियों एवं विभिन्न धर्मावलम्बियों तक था।[१]

ये अमर कहे जाते हैं और प्रत्येक युग में अवतार लेकर स्थित माने जाते हैं। उसका विवरण निम्नाङ्कित हैं—

(१) सतयुग में पेशावर में,

(२) त्रेतायुग में गोरखपुर में

(३) द्वापर में हुरभुज में एवं

(४) कलियुग में गोरखमण्डी में (गोरक्षनाथ) ने अवतार लिया।

—जी० डब्ल्यू ब्रिग्स : गोरखनाथ एंड दि कनकटा योगीज़ (पृ० २२८)

ब्रिग्स महोदय का मत है कि गोरक्षनाथ १२०० ई० से पूर्व, संभवतः ११वीं शताब्दी के आरंभ में, **पूर्वी बंगाल** में प्रादुर्भूत हुए थे।

विलियम क्रुक्स ने 'Tribes And Costs of The North Western Provinces And Awadha' (१८६९) के पृ० १५३-४ में लिखा है कि यदि प्रचलित परम्परा को स्वीकार किया जाय तो **गोरक्षनाथ**—

(१) सत्ययुग में पंजाब के पेशावर

(२) त्रेतायुग में गोरखपुर

(३) द्वापरयुग में द्वारका के आगे हुरभुज में एवं

(४) कलियुग में कठियावाड़ की गोरखमण्डी में प्रादुर्भूत हुए थे।[२]

गोरक्षनाथ की कृत्तियाँ—गोरक्षनाथ के नाम पर बहुत से ग्रंथ चलते हैं जिनमें अनेक तो निश्चित रूप से परवर्ती हैं और कई संदेहास्पद हैं। गोरक्षनाथ की कुछ पुस्तकें नाना भाव से परिवर्तित, परिवर्द्धित और विकृत होती हुई आज तक चली आ रही हैं। उनमें कुछ न कुछ गोरखनाथ की वाणी रह जरुर गई है पर सभी की सभी प्रामाणिक नहीं है। इन पुस्तकों पर से कई विद्वानों ने गोरखनाथ का स्थान और काल-निर्णय करने का प्रयत्न किया था, वे सभी प्रयत्न निष्फल सिद्ध हुए हैं।

---

१. उत्तरी भारत की सन्त परम्परा : (परशुरम चतुर्वेदी) पृ० ५७
२. ग्रियर्सन के द्वारा भी उद्‌धृत : इ० रे० ए० (पृ० ३२८)

(१) कबीरदास के साथ गोरखनाथ जी की वार्ता से सम्बद्ध एक पुस्तक उपलब्ध है।

(२) गुरुनानक के साथ गोरखनाथ जी की वार्ता से सम्बद्ध पुस्तक भी उपलब्ध है।

(३)सत्रहवीं शताब्दी के जैन दिगम्बर सन्त बनारसी दास के साथ गोरक्षनाथ की वार्ता की भी जनश्रुति है।[१]

(४) कबीरदास एवं मुहम्मद साहब की वार्ता का विवरण भी प्राप्त होता है।

—क्या इन अनैतिहासिक वार्ताओं एवं अविश्वसनीय जनास्थाओं के आधार पर किसी भी सिद्ध या सन्त (कबीर, नानक, मुहम्मद गोरक्षनाथ) का काल-निर्धारण किया जाना संगत होगा? कदापि नहीं।

ग्रियर्सन महोदय को भी (इन वार्ता-प्रसंगों को देखकर) भ्रांति हो गई थी और उन्होंने इन्हीं के आधार पर यह अनुमान लगाया कि गोरक्षनाथ १४वीं सदी के थे।

यथार्थ तो यह है कि गोरक्षनाथ को १०वीं सदी का परवर्ती नहीं माना जा सकता।[२]

गोरक्षनाथ के नाम पर चलने वाली लोकभाषा की उनकी (तथाकथित) पुस्तकों, हिन्दी भाषा में लिखित पुस्तकों एवं संस्कृत भाषा में लिखित पुस्तकों में से कितनी पुस्तकें गोरक्षनाथ की हैं और कितनी नहीं हैं—यह शोध का विषय है। डा० द्विवेदी भी इस बात से सहमत हैं।

* गोरक्षनाथ की स्वनिर्मित कही जाने वाली कृतियों का विवरण *

(१) 'अमनस्क' (अमनस्क योग) : (बड़ौदा लाईब्रेरी)

(२)'अमरौघशासनम्'—(काश्मीर सं० ग्रंथावली में प्रकाशित हठयोग की साधना का शैवागमों से संबंध स्थापित करने वाली अत्यन्त महत्वपूर्ण पुस्तिका।

(३) 'अवधूत गीता (गो० सि० सं० में उद्धृत)

(४) 'गोरक्षकल्प' (फ़र्कुहर एवं ब्रिग्स द्वारा मान्य)

(५) 'गोरक्षकौमुदी (फ़र्कुहर एवं ब्रिग्स)

---

१. 'एन्साइक्लोपीडिया आफ़ रेलीजन ऐण्ड एथिक्स' (११रहवाँ खण्ड)

२. पुस्तकों की रचना का निर्णय भी कृतिकार के काल-निर्णय पर विचार करके ही किया जाता है।

(६) 'गोरक्ष-गीता' (फ़र्कुहर)

(७) 'गोरक्ष-चिकित्सा (आफ्रेक्ट)

(८) 'गोरक्षपञ्चय (ब्रिग्स)

(९) 'गोरक्षपद्धति (२०० श्लोकों का संकलन 'गोरक्षशतक'—इसी का प्रथम शतक है। दूसरे शतक का नाम योगशास्त्र है। पुस्तक का नामान्तर है— **'गोरक्षज्ञान'**।)

(१०) 'गोरक्षशतक'—(ब्रिग्स द्वारा अनूदित एवं उनके द्वारा गोरक्ष की यथार्थ रचना के रूप में मान्य।

'नेपाल दरबार लाइब्रेरी' में प्राप्त, किन्तु इसके पूना वाले संस्करण से भिन्न रूप में प्रस्तुत।)

नामान्तर —'ज्ञानप्रकाश' 'ज्ञानप्रकाश शतक' (आफ्रेक्ट) (प्र० चं० बागची)

(११) 'गोरक्षशास्त्र'

(१२) 'गोरक्षसंहिता'—(नेपाल दरबार लाईब्रेरी। प्र० चंद्र बागची द्वारा उद्धृत। 'अकुलवीरतंत्र' में इसके अनेक श्लोक ठीक उसी रूप में उद्धृत हैं। बहुत महत्वपूर्ण पुस्तक)

(१३) 'चतुरशीत्यासन' (आफ्रेक्ट)।।

(१४) ज्ञानप्रकाश शतक (दे० नं० १०)

(१५) ज्ञानशतक (दे० क्र० १०)

(१६) ज्ञानामृतयोग (आफ्रेक्ट द्वारा उल्लिखित)

(१७) नाड़ी ज्ञान प्रदीपिका (आफ्रेक्ट द्वारा उल्लिखित)

(१८) महार्थमञ्जरी (काश्मीर सं० ग्रंथावली में प्रकाशित पुस्तक की भाषा काश्मीरी अपभ्रंश है।। इसमें ३६ तत्त्वों की व्याख्या भी उपलब्ध होती है। यह काश्मीरी शैव अद्वैतवाद की त्रिकशाखा से प्रभावित है। यह अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण कृति है।

(१९) योगचिन्तामणि (आफ्रेक्ट के द्वारा उल्लिखित)

(२०) योगमार्तण्ड (आफ्रेक्ट के द्वारा उल्लिखित)

(२१) योगबीज (सि० सं० में अनेक वाक्य उल्लिखित)

(२२) योगशास्त्र (दे० क्र० ७)

(२३) योगसिद्धासन पद्धति (आफ्रेक्ट द्वारा उल्लिखित)

(२४) विवेक मार्तण्ड (गो० सि० सं० में इसके वाक्य उद्धृत हैं। गोरक्षशतक में भी उद्धृत। आफ्रेक्ट द्वारा उद्धृत। इसे रामेश्वर भट्ट की भी कृति कहा गया है।)

(२५) श्रीनाथसूत्र (गो० सि० सं० में उद्धृत)

(२६) सिद्धसिद्धान्तपद्धति—(ब्रिग्स द्वारा नित्यानन्द रचित मान्य। अन्य विद्वानों द्वारा इसे गोरक्षनाथ कृत स्वीकार किया जाना। 'गोरक्षसिद्धान्त संग्रह' में इसे **नित्यनाथ-प्रणीत** स्वीकार किया जाना।)

(२७) हठयोग (आफ्रेक्ट द्वारा उल्लिखित)

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी की दृष्टि—डा० द्विवेदी का कथन है कि इन पुस्तकों में से अधिकांश पुस्तकों के कर्ता गोरखनाथ नहीं थे। साधारणतः उनके उपदेशों को नए-नए रूप में वचनबद्ध किया गया है। उनकी दृष्टि में इनमें से १, २, ९, १२एवं २६ अधिक महत्वपूर्ण है। **(अमनस्क को उन्होंने देखा भी नहीं था)**

'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' को संक्षिप्त करके काशी के बलभद्र पण्डित ने **'सिद्ध सिद्धान्त संग्रह'** लिख दिया। 'गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह' भी अत्यन्त उपयोगी है। * 'सिद्धसिद्धान्त संग्रह एवं 'गोरक्षसिद्धान्त संग्रह' के आधार पर गोरक्षनाथ के मत का प्रतिपादन किया जा सकता है।[१]

* डा० पीताम्बर दत्त बडथ्वाल द्वारा संकलित गोरक्षनाथ के ग्रंथों की सूची *

डा० बडथ्वाल जी ने 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' से प्रकाशित अपनी पुस्तक 'गोरख बानी' में गोरक्ष-रचित बताई गई ४० पुस्तकों का संग्रह है।

* 'गोरखबानी' में संगृहीत गोरक्षनाथ की कृतियाँ *

(१) सबदी	(२) पद
(३) सिष्यादसरन	(४) प्राणसंकली
(५) नरवैबोध	(६) आत्मबोध
(७) अभैमात्राजोग	(८) पंद्रहतिथि
(९) सप्तवार	(१०) मछीन्द्रगोरखबोध
(११) रोमावली	(१२) ज्ञानतिलक
(१३) ज्ञान चौंतीसा	(१४) पंचमात्रा
(१५) गोरखगणेशगोष्ठी	(१६) गोरखदत्त गोष्ठी (ज्ञानदीप बोध)
(१७) महादेवगोरख गुष्ठी	(१८) सिष्टपुरान

१. नाथ-सम्प्रदाय (१११)

(१९) दया बोध	(२०) जाती भौंरावली (छंदगोरख)
(२१) नवग्रह	(२२) नवरात्र
(२३) अष्टपारछ्या	(२४) रहरास
(२५) ज्ञानमाला	(२६) आत्माबोध
(२७) व्रत	(२८) निरञ्जनपुराण
(२९) गोरखवचन	(३०) इन्द्रोदेवता
(३१) मूलगर्भावली	(३२) खाणी वाणी
(३३) गोरखसत	(३४) अष्टमुद्रा
(३५) चौबीस सिधि	(३६) षडक्षरी
(३७) पंचअग्नि	(३८) अष्टचक्र
(३९) अवलिसिलूक	(४०) काफ़िरबोध।

(१) डा० बडथ्वाल ने एक-एक पुस्तक का गहन परीक्षण करके इनमें १४ ग्रंथों को नि:संदिग्ध रूप से प्राचीन माना। क्योंकि इनका उल्लेख प्राय: सभी में प्राप्त हुआ।

(२) (यथा समय) 'ज्ञानचौंतीसा नहीं मिली। अत: उसका प्रकाशन यथा समय नहीं हो सका।

(३) १५ से १९ तक की रचनाओं को सेवादास निरंजनी की रचना माना गया है। अत: इन्हें संदेहास्पद समझकर सम्पादक ने उन्हें परिशिष्ट 'क' में प्रकाशित किया है।

(४) शेष में कुछ गोरखनाथ की स्तुति है। चूँकि 'काफ़िरबोध' कबीर के नाम पर भी है। अत: डा० बडथ्वाल ने इसे प्रकाशित नहीं किया। इस संग्रह में स्थान नहीं दिया।

परिशिष्ट 'ख' में—सप्तवार, नवग्रह, व्रत, पंचअग्नि, अष्टमुद्रा, चौबीस सिद्धि, बत्तीस लच्छन, अष्टचक्र, रहरासि को स्थान दिया गया है।

'अवलिसिलूक' और **'काफ़िरबोध'** रतननाथ-कृत हैं।

* **डा० बड्थ्वाल का कथन** है कि **'सबदी'** गोरख की सर्वाधिक प्रमाणिक रचना जान पड़ती है। किन्तु वह उतनी परिचित नहीं जितनी **'गोरखबोध'** । **डा० मोहन सिंह** इसे बहुत प्रमाणिक मानते हैं। अत: उन्होंने इसका अंग्रेजी में अनुवाद करके प्रकाशित किया है। बडथ्वाल जी कहते हैं कि 'नाथ परम्परा में इनके कर्ता प्रसिद्ध गोरखनाथ से भिन्न नहीं समझे जाते। गोरखनाथ विक्रम की ११वीं शती में हुए।

'ये रचनायें जैसी हमें उपलब्ध हो रही हैं, ठीक वैसी ही उसकी हैं, यह नहीं

कहा जा सकता। यह कहा जा सकता है कि सम्भवतः इनका मूलोद्भव ग्यारहवीं शती ही में हुआ हो।[१]

गोरखबानी (जोगेसुरी बानी) में मात्र २६ पुस्तकों को संकलित किया गया है "हिन्दी के ग्रंथों की हस्तलिखित प्रतियाँ बहुत प्राचीन नहीं मिलती। जो कुछ मिलती हैं, विक्रम की १७ वीं १८वीं शती के इधर की ही हैं। साखी को देखने से पता चलेगा कि कोई भी प्रति आपस में सर्वथा मेल नहीं खातीं।।'

'गोरखबानी' में समस्त प्रतियों को संगृहीत नहीं किया गया है। उनमें की उन्हीं रचनाओं को लिया गया है, जिनका समर्थन अधिकांश अन्य प्रतियों में हो जाता है।[२]

'सिष्टपुरान' 'दयाबोध' 'गोरख गणेश गोष्ठी' 'महादेव गोरख गुष्टि' 'निरंजन पुराण' की रचनायें सेवादास-कृत कही गई हैं। 'गोरख गणेश गोष्ठी' 'महादेव गोरख गुष्टि' को संकलन से इसलिए नहीं हटाया गया; क्योंकि स्वयं प्रति में इसका प्रमाण नहीं है कि ये सेवादास की हैं।[३]

*** गोरक्षनाथ-प्रणीत कही जाने वाली अन्य संस्कृत रचनाओं के नाम ***

'गोरक्षसंहिता' (सं० सं० वि० वि० द्वारा प्रकाशित) की भूमिका में उल्लिखित गोरक्ष-ग्रंथावली—

(१) गोरक्ष बोधः
(२) गोरक्षदीक्षा
(३) गोरक्ष ज्ञान गङ्गा
(४) गोरक्ष तत्त्व प्रकाश
(५) गोरक्षशब्दी
(६) त्रिपुर सुन्दरी पद्धति
(७) अमरौघ प्रबोध
(८) नृप बोधः
(९) हठ संकेत :[४]
(१०) गोरक्षयोगमञ्जरी
(११) गोरक्ष गणेश गोष्ठी
(१२) गोरक्षागमः
(१३) गोरक्षोपनिषद
(१४) षट्चक्र चिन्तामणि
(१५) योगसिद्धान्त पद्धति
(१६) प्राणशृंखला
(१७) हठसंहिता

"गोरक्षनाथ-प्रणीताः निम्नाङ्किता ग्रन्थाः श्रूयन्ते"—कहकर पाण्डेय जी ने

---

१. पीताम्बर दत्त बड्थ्वाल : गोरखबानी की भूमिका
२. तत्रैव
३. तत्रैव (पृ० १७)
४. जनार्दन शास्त्री पाण्डेय

'गोरक्षसंहिता' के प्रथम भाग में उपर्युक्त अन्य ग्रंथों को भी गोरक्ष-ग्रंथावली में स्थान दिया है।

इन ग्रंथों का उल्लेख **ब्रिग्स, आफ्रेक्ट, फ़र्कुहर** आदि ने नहीं किया है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी एवं डा०बडथ्वाल ने भी इनका उल्लेख नहीं किया है। पाण्डेय जी द्वारा उल्लिखित गोरक्ष-प्रणीत २६ पुस्तकों में से यहाँ केवल १७ उन पुस्तकों का नामोल्लेख किया गया है जिनका उल्लेख पाश्चात्य विद्वानों मैं से आफ्रेक्ट, ब्रिग्स एवं डा० द्विवेदी आदि ने नहीं किया है।

वेदान्त तथा योगशास्त्र—गुरु गोरखनाथ के दार्शनिक सिद्धान्त **वेदान्तपरक** जान पड़ते हैं। इनकी योग संबंधी रचनाओं के अन्तर्गत भी **अद्वैत सिद्धान्त** का ही प्रतिपादन लक्षित होता है। परन्तु **मोक्ष-प्राप्ति** के साधन-भेद द्वारा वेदान्त-निर्दिष्ट साधना तथा नाथ-पंथ की साधना में महान अन्तर है।

वेदान्त का ज्ञान-मार्ग **तत्त्व-विचार** को सर्वोच्च स्थान देता है तथा **नित्यानित्यविवेक, वैराग्य, ब्रह्मस्वरूप में समाहित होने की एकांतिक चेष्टा को ही सब कुछ समझता है।** किन्तु **योग-दर्शन** को केवल **विचार या आत्म-चिन्तन पर ही आश्रित रहना पर्याप्त नहीं जान पड़ता।** उनका यह भी कहना है कि जब **शरीर तथा उसकी इन्द्रियाँ अपने वश में नहीं लायी जातीं, तब तक प्राणों के नियमन पर पूर्ण अधिकार नहीं प्राप्त होता** तथा जब तक अपनी **चित्तवृत्तियाँ निरुद्ध नहीं हो जाती** तब तक वह **निर्मल निस्तरंग आत्मतत्त्व** हमारे **अन्तःकरण में** स्पष्टतः **प्रतिबिम्बित नहीं** हो सकता।

ज्ञानमार्गियों की दृष्टि—इन्द्रिय एवं मन की चंचलता के मूल में अज्ञानजनित वासना रहा करती है। इसे (१) **श्रवण** (२) **मनन** एवं (३) **निदिध्यासन** द्वारा दूर कर सकते हैं।

योगियों की दृष्टि—योगियों की मान्यता है कि अज्ञानमूलक वासनाओं को हम पूर्ण समाधि प्राप्त किए बिना दूर नहीं कर सकते।

योग-साधना का मुख्य लक्ष्य है—

चित्तवृत्तियों की **बहिर्मुखता या बहुमुखता** को **अन्तर्मुखता या एकमुखता** में परिणत करना। क्योंकि यह आवश्यक है कि इसके द्वारा साधक के सभी भाव, ज्ञान, तथा कर्म एक **आत्मतत्त्व की ओर ही केन्द्रीभूत** हो जायँ तथा उसके जीवन में साम्य एवं शान्ति आ जाय तथा वह (योगी) पूर्ण आत्मनिष्ठ भी हो जाय। योग की प्रत्येक क्रिया प्रत्यक्ष प्रमाणों पर आश्रित है; किन्तु ज्ञानीगण वस्तुतः शास्त्रीय वाक्यों के विनिश्चय में ही आस्था रखा करते हैं—

'प्रत्यक्ष हेतवो योगाः सांख्याः शास्त्र-विनिश्चयाः॥' —महाभारत

नाथयोग में—(१) "**हठयोग**" (वायु का ६४ सन्धियों में संचार, 'कायाकल्प' अनाहतनाद, ब्रह्मरंध्र में अनाहत-श्रवण' ब्रह्मानुभूति, प्राणायाम की साधना, उनमुनी योग, श्वासोच्छ्वास का भक्षण, शब्द की प्राप्ति, परमात्मा का आत्मा में दर्शन, शरीर शुद्धि द्वारा अमरत्व-प्राप्ति, काया-शोधन, मनोमारण, संयत जीवन-यापन आदि) तथा (२) **'मनोमारण'** (३) **आत्मचिन्तन** (४) **रसायन** (मानव शरीर की कायाकल्प के द्वारा अमरत्व प्रदान करना एवं जीवन्मुक्ति, पारद-शोधन से शरीर को अमर बनाना, पारद (रस) द्वारा छठे छमासे 'काया पलटना' (५) (रस प्रयोग की अपेक्षा) सहस्रार स्थित अमृत का पान रसायन क्रिया के प्रयोग के स्थान में ब्रह्मरंध्रस्थ चन्द्रमा के अमृत के पान करने का प्रामुख्य एवं (६) कायाकल्प (काया-शोधन) का लक्ष्य **ब्रह्मोपलब्धि स्वीकार** किया गया है।[1]

नाथ-सम्प्रदाय एवं नाथ-योग पद्धति के विषय में कुछ लोगों की मान्यता यह रही है कि इसके मूल प्रवर्तक गोरक्षनाथ थे। गोरक्ष ने कनफटा योगियों की परम्परा चलायी और हठयोग की साधना का श्री गणेश किया। किन्तु यह दृष्टि संगत नहीं है। ८वीं सदी की बाणभट्ट की रचना **'कादम्बरी'** में नाथों के **कनफटा योगियों** के सदृश योगियों का उल्लेख है और उसके पूर्व के ग्रंथ **मैत्रेयी उपनिषद्** में भी उल्लेख मिलता है।

हठयोग का प्रवर्तन तो मृकण्डु-पुत्र द्वारा माना जाता रहा है। **हठयोग की २ शाखायें रही हैं—**

द्विधा हठः स्यादेकस्तु गोरक्षादि सुसाधितः।
अन्यो मृकण्ठपुत्राद्यैः साधितौ हठसंज्ञकः॥'

शंकराचार्य और नाथपंथ—डा० पीताम्बर दत्त बडथ्वाल मानते थे कि 'गोरखनाथ पर **शंकर के अद्वैतवाद का प्रभाव** अवश्य पड़ा था। गोरक्ष ने उसका उपदेश अपने गुरु मत्स्येन्द्रनाथ को दिया था।[2]

"गोरखनाथ जी ने अपने योग प्रधान मत की नींव **शांकर अद्वैत वेदान्त** पर रखी थी।

"अभेद-भेद भेदीले जोगी बदंत गोरख राई।
आत्मा परिचै राखो गुरुदेव सुन्दर काया॥"

---

१. परशुराम चतुर्वेदी 'उत्तरी भारत की सन्त परम्परा' (६१-६२)
२. योग-प्रवाह (पृ० ६०)

उपर्युक्त वाक्य उनकी रचनाओं में स्थल-स्थल पर आदि से अंत तक बिखरे मिलते हैं।[१]

द्वैताद्वैत-विलक्षणतावाद—गोरक्षयोग या नाथ-योग में अद्वैत नहीं द्वैताद्वैत-शून्य सिद्धान्त है—

'अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
समतत्त्वं न जानन्ति द्वैताद्वैत विलक्षणम्।।'

नाथ-योग में यही **'द्वैताद्वैतविलक्षण'** तत्त्व ही प्रतिपाद्य है।

* डा० बडथ्वाल एवं परशुराम चतुर्वेदी की दृष्टि की समीक्षा *

डा० बडथ्वाल एवं परशुराम चतुर्वेदी दोनों गोरक्षनाथ के दर्शन पर शांकर अद्वैत का प्रभाव स्वीकार करते हैं; किन्तु मेरी दृष्टि में गोरक्षनाथ के दर्शन पर काश्मीरीय (अद्वैतवादी) शैव दर्शन का प्रभाव है; न कि शांकर दर्शन का।

शाङ्कर दर्शन में—(१) ब्रह्म तो सत्य है; किन्तु जगत मिथ्या है। (२) माया मिथ्या है—

आचार्य शंकर कहते हैं—

'श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रंथकोटिभिः।
ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या जीव ब्रह्मैव नापरः।।'

काश्मीर के त्रिक दर्शन में—

(१) शिव भी सत्य है।
(२) शिव की मायाशक्ति भी सत्य है और
(३) जगत् भी सत्य है।

शांकर वेदान्त में 'माया' ब्रह्म की निजा शक्ति नहीं है; किन्तु त्रिक दर्शन में 'शक्ति' शिव से अभिन्न, उनकी स्वसमवेत एवं (उनकी) निजा शक्ति है।[२] गोरक्षनाथ भी त्रिक दर्शन के इन सिद्धान्तों को स्वीकार करते हैं।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी जी की दृष्टि पूर्णतया सङ्गत है। वे कहते हैं—"उन्होंने (गोरक्षनाथ ने) **शैव प्रत्यभिज्ञादर्शन** के सिद्धान्तों के आधार पर बहुधा विस्रस्त **कायायोग के साधनों** को व्यवस्थित किया, आत्मानुभूति और **शैव परम्परा के सामञ्जस्य** से **चक्रों की संख्या** नियत की, उन

१. योग-प्रवाह (पी० द० बडथ्वाल)
२. नाथमत भी इसे स्वीकार करता है।

दिनों प्रचलित **वज्रयानी साधना** के पारिभाषिक **शब्दों के** सांवृत्तिक **अर्थ को** बलपूर्वक **पारमार्थिक रूप दिया।''**[१]

शाङ्कर अद्वैत में परमतत्त्व या परमार्थ तत्त्व मात्र **'अद्वैत'** है। शङ्कराचार्य-समर्थित अद्वैतवाद 'केवलाद्वैतवाद' 'निर्विशेषाद्वैतवाद', 'ब्रह्माद्वैतवाद' 'औपनिषदाद्वैतवाद' आदि नामों से प्रख्यात है। **शांकरअद्वैत** में ज्ञान से मोक्ष मिलने की बात कही गई है; किन्तु **नाथमत** में **'ज्ञान' से नहीं** (मात्र खड्ग से नहीं); परन्तु पराक्रम (**योग साधना**) से समन्वित ज्ञान से ही मोक्षाप्ति होना स्वीकृत है।

गोरक्षनाथ का सिद्धान्त अद्वैतवादी नहीं; द्वैताद्वैतविलक्षणवादी है और समतत्त्व का प्रतिपादक है—

'अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
समं तत्त्वं न विन्दन्ति द्वैताद्वैतविलक्षणम्॥
यदि सर्वगतो देवः स्थिरः पूर्णो निरन्तरः।
अहो माया महामोहो द्वैताद्वैतविकल्पना॥'

गोरक्षसिद्धान्तकार ने शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित **'अद्वैतवाद'** का खण्डन करते हुए प्रश्न उठाया—

'यदि ब्रह्माद्वैतमस्ति तर्हि द्वैतं कुत आगतम् ?'

यदि ब्रह्माद्वैत ही यथार्थ है तो यह द्वैत कहाँ से आया?

वे पुनः आगे कहते हैं—'यदा माया-कल्पितमिति वदेयुस्तर्हि तान् वदन्तो वयमवाचोऽक्रियांश्च कर्म तत् किमिति चेदुच्यते। **अद्वैतं** तु निष्क्रियादित्याग्यस्ति। यतः कस्यापि वस्तुनो भोगोऽपि युष्माभिर्न कर्तव्य इत्याद्यनेकविधिभिरद्वैतखण्डनं करिष्यामः। महासिद्धैरुक्तं यदद्वैताद्वैतविवर्जितं पदं निश्चलं दृश्यते तदेवसम्यगित्यभ्युपगमिष्यामः॥

—गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह (पृ० १६)

अर्थात् यदि अद्वैत यह उत्तर देता है कि 'माया' तो कल्पित है''—तो इस प्रकार कहने वाले को हम मौन और निष्क्रिय कर देंगे। तब वह क्या है? बतलाते हैं—अद्वैत तो निष्क्रियता आदि गुणसम्पन्न त्यागी है; क्योंकि तुम लोगों को किसी भी वस्तु का उपभोग नहीं करना चाहिए—इत्यादि अनेक **अद्वैतपरक विधि वाक्यों द्वारा हम अद्वैत का खण्डन करेंगे।** महासिद्धों ने कहा है कि जो द्वैत और अद्वैत से विवर्जित (विलक्षण) निश्चल पद दृष्टिगत होता है; वही सत्य है और हम उसी को प्राप्त करेंगे। श्री भैरव ने उग्रभैरव नामक कापालिक का रूप धारण करके **शंकराचार्य** के ऊपर उसी का प्रयोग किया था—

''यत्तूग्रभैरवनामक कापालिकरूपतः श्री भैरवेण शंकराचार्योपरि कृतम् ॥''

—गोरक्षसिद्धान्त संग्रह

१. नाथ-सम्प्रदाय (१०८)

शङ्कराचार्य को पराभूत दिखाना, उनके अद्वैत का खण्डन करना, उन्हें तारानाथ से योग का उपदेश दिलाना और अद्वैत की पराजय दिखाकर पद्मपादाचार्य (शंकराचार्य के शिष्य) के मुख से—

'भो: अद्वैतपराजयोऽद्वैतपराजय'' इति—कहलाना **नाथ-मत द्वारा शांकर अद्वैत के पूर्ण बहिष्कार का ज्ञापक है।** अत: गोरक्षनाथ पर शंकराचार्य के अद्वैतवाद के प्रभाव को कैसे स्वीकार किया जा सकता है?

काश्मीरीय शैव त्रिक दर्शन भी शांकर अद्वैतवाद को स्वीकार नहीं करता। वह **'द्वयात्मक अद्वयवाद'** को स्वीकार करता है। अत: हम कह सकते हैं कि गोरक्षनाथ पर **अद्वैतवादी त्रिकदर्शन के द्वयात्मक अद्वैतवाद का प्रभाव है न कि शङ्कराचार्य के अद्वैत का।**

शाङ्कर अद्वैतवाद का प्रत्याख्यान

नाथों की दृष्टि में 'अद्वैतवाद' और सृष्टि-विधान—यदि हम **शांकर अद्वैतवाद** या शांकर दर्शन के **अद्वैतब्रह्म** पर विचार करें तब भी **'अद्वैत'** परमतत्त्व नहीं है।

गोरक्षसिद्धान्तसंग्रहकार का कथन है कि—

(१) **जो अद्वैत के ऊपर वर्तमान है** तथा साकार-निराकार दोनों से परे हैं **उन नाथ से—**

(२) **निराकार ज्योतिस्वरूप** नाथ उत्पन्न हुए।

(३) निराकार ज्योतिस्वरूप नाथ से **साकार** नाथ उत्पन्न हुए।

(४) साकार नाथ की इच्छा से **सदाशिव भैरव** एवं **भैरवी शक्ति** का प्रादुर्भाव हुआ।

(५) भैरव-भैरवी से विष्णु उत्पन्न हुए।

(६) ब्रह्मा से जगत की उत्पत्ति हुई।

आचार्य शङ्कर **'अद्वैततत्त्व'** को सर्वोपरि मानते हैं, किन्तु **शैव त्रिक दर्शन और उसके अनुयायी नाथपंथी** अद्वैत को परमतत्त्व नहीं मानते। **'गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह'** में कहा गया है कि—'अद्वैत के ऊपर भी एक परतत्त्व अवस्थित है, जो कि **'साकार'** एवं (अद्वैतवादियों निराकार ब्रह्म) **'निराकार'** तत्त्व से भी परे है। उन **'नाथ'** से ही **'निराकार ज्योतिनाथ'** उत्पन्न हुए तथा निराकार ज्योति नाथ से **'साकारनाथ'** उत्पन्न हुए।—इस कथन से तो शांकर दर्शन के **'अद्वैत ब्रह्म'** एवं **'निराकार ब्रह्म'** दोनों परमतत्त्व के सिंहासन से पदच्युत दिखाई पड़ते हैं। नाथपंथियों की दृष्टि से तो **परात्पर परमतत्त्व** तो **'नाथ'** हैं जो कि अद्वैततत्त्व के ऊपर स्थित हैं और निराकार तत्त्व तो इन्हीं **'नाथ' के प्रथम कार्य हैं।**

'गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह' में कहा गया है—

'अद्वैतोपरिवर्ति निराकारसाकारा**तीतनाथान्निराकार ज्योतिर्नाथो जात स्वत**ः साकारनाथो **जातस्तदिच्छया** सदाशिवो **भैरवो जातस्ततश्च शक्तिभैरवी च जाता, तस्माद्विष्णुर्जातस्तस्मात्** ब्रह्मा **जातस्तेन** सर्वा सृष्टि **उत्पन्ना।'**

—'गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह'

परात्परतत्त्वनाथ का स्वरूप क्या है ?

गोरक्षसिद्धान्तसंग्रहकार की दृष्टि—गोरक्षसिद्धान्तसंग्रहकार का कथन है कि—वे परात्परनाथ—

(१) अद्वैत, निराकार, साकार, भैरव, विष्णु, ब्रह्मा आदि सभी से अतीत एवं ऊर्ध्ववर्ती हैं।

(२) इनके **बायीं ओर निर्गुणस्वरूप** (ब्रह्म) और **दाहिनी ओर अद्भुत निजाशक्ति** (इच्छा शक्ति = परमेश्वरी परात्म्बा महामाया) विराजमान हैं और मध्य में स्वयं पूर्ण, अखण्ड (परमशिव) सर्वाधार, द्वन्द्वातीत (द्वैताद्वैत-विवर्जित) **श्रीनाथ** समासीन हैं—

'निर्गुणं वामभागे च सव्यभागेऽद्भुता निजा।
मध्यभागे स्वयं पूर्णस्तस्मै **नाथाय** ते नमः॥'

(३) आत्मज्ञान में स्थित एवं मुक्त सिद्धपुरुष एवं असंख्य जीव **श्रीनाथ** जी के चरणदेश के **नखाग्र में स्थित हैं**। जो श्रीनाथ जी के स्वरूपचिन्तन में संलीन हैं वे मुक्त एवं अमुक्त दोनों गतियों से परे जीवात्मायें सर्वत्र श्रीनाथ के बन कर स्थिरतापूर्वक विचरण किया करती हैं।

जिसके वामभाग में शम्भु एवं दक्षिण भाग में विष्णु विराजमान हैं वे (दोनों के मध्य विराजमान) (मध्यावस्थित) तमापहारक श्रीनाथस्वरूप महाज्योति हैं—

'मुक्ता लुठन्ति पादाग्रे नखाग्रे जीवजातयः
मुक्तामुक्तगतेर्मुक्तः सर्वत्र रमते स्थिरः।
वामभागे स्थितः शम्भुः सव्ये विष्णुस्तथैव च।
मध्ये नाथः परं ज्योतिस्तज्ज्योतिर्मे तमोहरम्॥'

—गोरक्षसिद्धान्त संग्रह

'सिद्धमार्ग' नाथमत है। **'ना' का अर्थ** है अनादिरूप एवं **'थ' का अर्थ** है भुवनत्रय को स्थापित (स्थित) रखने वाला धर्म और उस धर्म में सर्वोपरि प्रतिष्ठित परात्पर परतत्त्व अर्थात् 'नाथ' तत्त्व—

'नाकारोऽनादि रूपं थकारः स्थाप्यते सदा।
भुवनत्रयमेवैकः श्री गोरक्ष नमोऽस्तुते॥'

इसी कारण 'गोरक्ष' को **'नाथ'** कहते हैं।

शङ्कराचार्य और नाथपंथियों का परात्पर तत्त्व

नाथपंथी दृष्टि

—गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह

वेदान्तीदार्शनिकों की दृष्टि

(परात्पर तत्त्व)

* नाथ-सम्प्रदाय में साधना और उसका स्वरूप *

डा० राम कुमार वर्मा ने हिन्दी के आलोचनात्मक इतिहास में नाथ-सम्प्रदाय की साधना को इस प्रकार चित्रित किया है—

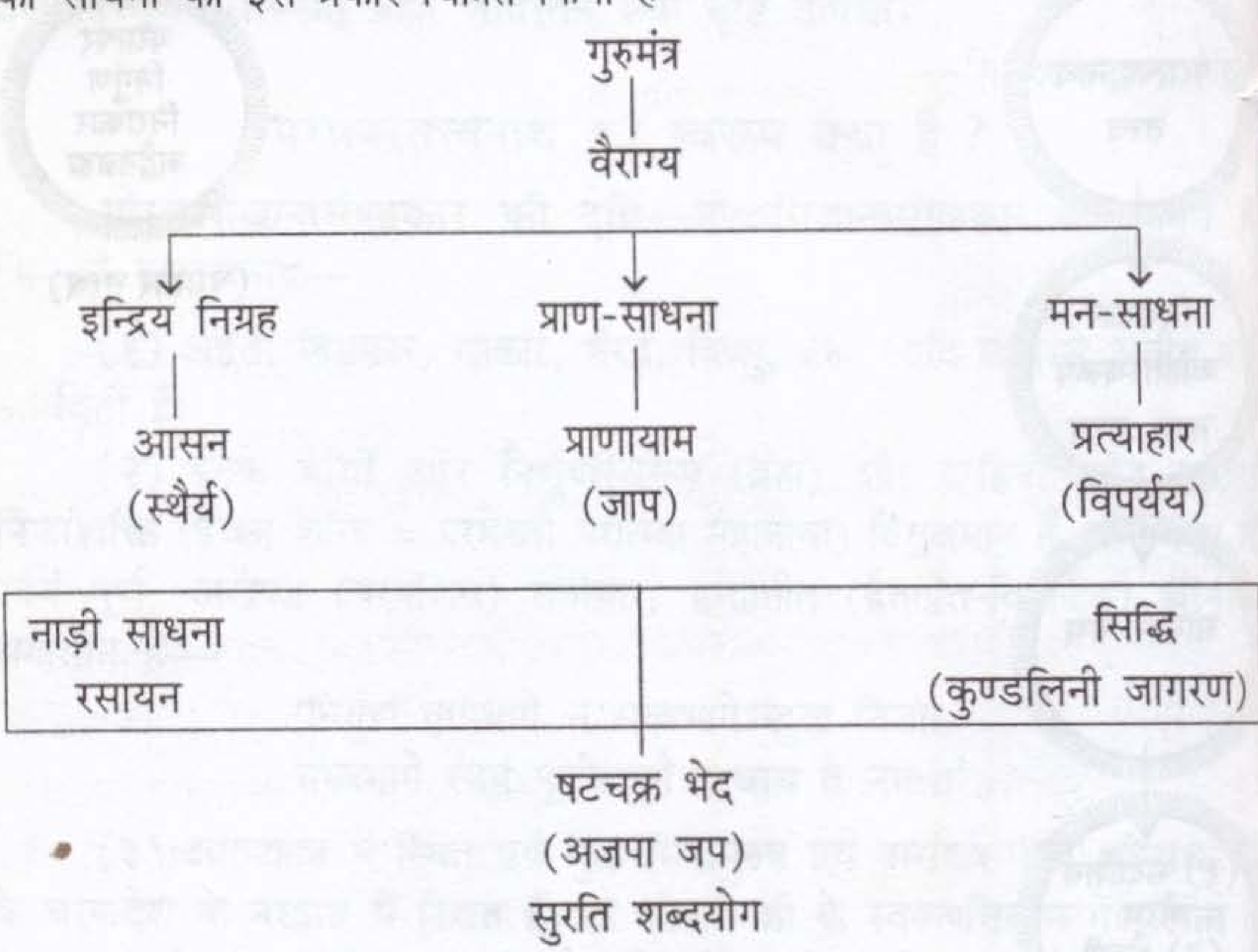

अनेक विद्वानों ने गोरक्षादि नाथ योगियों के प्रतिपाद्य ज्ञान एवं अद्वैतवाद पर शाङ्कर अद्वैतवाद एवं शाङ्कर ज्ञानवाद का प्रभाव माना है।

शाङ्कर अद्वैत और गोरक्ष-योग-मार्ग—योगियों का कथन है कि उसे 'मुक्त' कहा ही नहीं जा सकता, **जिसको सिद्धियाँ प्राप्त न हों** तथा जिसका कभी पिण्डपात हो क्योंकि—

'न हि बहिः प्राण आयाति पिण्डस्य पतनं कुतः?
पिण्डपातेन या मुक्तिः सा मुक्तिस्तु न कथ्यते॥'

क्या यह सिद्धान्त शाङ्कर अद्वैतवाद एवं उनके ज्ञानमार्ग की साधना में भी मान्य है? नहीं।

आचार्य शंकर और गोरक्षनाथ की मोक्ष संबन्धिनी दृष्टि

गोरक्षनाथ कहते हैं कि जिस प्रकार नमक पानी में मिलकर जलरूप हो जाता है, उसी प्रकार जब देह ब्रह्म को प्राप्त करके तन्मय हो जाता है तब उसे मुक्त कहते हैं—

देहो ब्रह्मत्वमायाति जलतां सैन्धवं यथा।
अनन्यतां यदा याति तदा मुक्तः स उच्यते॥

—योगबीज (१८६)

''स्वसंवेद्यमत्यन्तभासाभासकमयम्'' परमंपदम्'—इस स्वरूप वाले परमपद में व्यष्टि एवं पर पिण्डों का ज्ञान प्रथम साधना है और उनका **'परमपद' में समरसीकरण ही सिद्धि है। 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति'** के अनुसार व्यष्टि पिण्ड एवं सच्चिदानन्दपरमात्मस्वरूप **''परपिण्ड''** का ज्ञान प्राप्त करके परमपद परमात्मा में सामरस्य (ऐक्य) स्थापित करना ही मोक्ष है—

''महासिद्धयोगिभिःपूर्वोक्त क्रमेण परपिण्डादिस्वपिण्डान्तं ज्ञात्वा परमपदे समरसं कुर्यात्॥''
—(पिण्डपदसामरस्य : पञ्चम उपदेश।

''अमरौघ शासनम्' की दृष्टि से मोक्ष 'सहज समाधि' में संलीन मन का मन द्वारा साक्षात्कार है। 'अमरौघशासनम्' नामक गोरक्ष-प्रणीत ग्रंथ में **'मोक्ष'** को **समाधि क्रम से मन द्वारा मनावलोकन कहा गया है—**

'अहो मूर्खता लोकस्य।'

(१) केचिद्वदन्ति शुभाशुभकर्मविच्छेदनं **मोक्षः।**

(२) केचिद्वदन्ति वेदपाठाश्रितो **मोक्षः।**

(३) केचिद् वदन्ति निरालम्बनलक्षणो मोक्षः।

(४) केचिद् वदन्ति ध्यानकलाकरणसंबद्धप्रयोग संभवेन।

(५) रूपबिन्दुनादचैतन्यम्, पिण्डाकाशलक्षणो **मोक्षः।**

(६) केचिद् वदन्ति पूजापूजक मद्यमांसादिसुरत
प्रसंगानंद ....**मोक्षः।**

(७) केचिद्वदन्ति मूल कन्दोल्लसित कुण्डली।
पंचार लक्षणो................**मोक्षः।**

(८) केचिद्वदन्ति सुसमदृष्टिनिपातलक्षणो **मोक्षः।**

(९) इत्येवंविध भावनाश्रितलक्षणो न भवति।

* (१०) अथ **मोक्षपदं** कथ्यते—

"यत्र सहजसमाधिक्रमेण मनसा मनः समालोक्यते स एव मोक्षः॥"

—अमरौघ शासनम् ।

पिण्डपदसमरसीकरण—नाथयोग की उच्चतम साधना का स्वरूप **'पिण्डपदसमरसीकरण'** है। यह 'पिण्डपदसामरस्य' नाथ-योग की परम सिद्धि है। **क्या यही सिद्धि शांकर अद्वैत में भी काम्य है ?**

गोरक्षनाथ तो सिद्धियों को इतना महत्व देते हैं कि वे कहते हैं कि जिनमें सिद्धियाँ नही हैं—

(१) वह बंधन-ग्रस्त है।

(२) वह जीवन्मुक्त नहीं हो सकता।

(३) जीवन्मुक्त की परीक्षा सिद्धियों की कसौटी पर उसी प्रकार की जानी चाहिए, यथा कसौटी पर सोने की।

(क) सिद्धिभिः **परिहीनं तु** नरं बद्धं हि लक्षणम्।

(ख) सिद्धिभिर्लक्षयेत्सिद्धं जीवन्मुक्तं तथैव च॥

(ग) जरामरपिण्डो यो जीवन्मुक्तः स एव हि॥

गोरक्षनाथ—योग बीज—(१८३, १८१)॥

(घ) योगमार्गे तथैवेदं सिद्धिजालं प्रवर्तते॥ (१८०)

—'योगबीज' (१८०)

प्र०—क्या शाङ्कर वेदान्त एवं उसके ज्ञानमार्ग में भी सिद्धियों का इतना ही महत्व है?

कदापि नही।

प्र०—क्या शाङ्कर अद्वैत ज्ञानमार्ग में भी ज्ञान के साथ योग-साधना को उतना ही अपरिहार्य उच्च स्थान दिया गया है, जितना कि नाथमत में?

कदापि नहीं

प्र०—क्या शाङ्कर मार्ग में भी जीवन्मुक्तों की परीक्षा उनकी सिद्धियों की कसौटी पर की जाती रही है?

कदापि नहीं।

प्र०—क्या सिद्धि-हीन मुक्त पुरुष को शाङ्कर दर्शन में भी बंधनग्रस्त माना जाता है।

कदापि नहीं।

प्र०—क्या योगहीन-ज्ञान को शाङ्कर ज्ञानमार्ग में निष्फल माना जाता है?

कदापि नहीं। फिर गोरक्षनाथ के दर्शन पर शाङ्करज्ञान एवं शाङ्कर अद्वैतका प्रभाव कैसे स्वीकार किया जाय?

प्र०—'जब शरीर ब्रह्मत्व प्राप्त कर ले एवं चिन्मय हो जाय (ब्रह्म में लयीभूत हो जाय, ब्रह्म-तादात्म्य प्राप्त कर ले) तभी उसे मुक्त मानना चाहिए।' क्या यही गोरक्ष-दृष्टि शंकर को भी मान्य है?

नहीं।

'निरुत्थान' (**जीवात्मा-परमात्मा** के अभिन्नत्व या **सामरस्य**) की प्राप्ति का उपाय क्या है?

(१) योगी अपने स्वरूपानुसन्धान (स्व-परपिण्ड का ऐक्य) द्वारा निजावेश (परमेश्वर को अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित देखना) प्राप्त करता है। इसी **'निजावेश'** के परिणामस्वरूप **'निरुत्थान'** या **'सामरस्य'** का उदय हुआ करता है। उसे यह अनुभव होता है कि—

'परपिण्ड' (परमात्मपिण्ड) **मेरा ही 'व्यष्टिपिण्ड'** है। इससे परमात्म पिण्ड एवं स्वपिण्ड में दृष्टिगत भेद का अन्त हो जाता है। इससे अखण्ड परमात्मस्वरूप परमपद का प्रत्यक्षीकरण हो जाता है।

(१) "महासिद्धयोगिभिः स्वकीयपिण्डनिरुत्थानानुभवेन समरसं क्रियत इति सिद्धान्तः।।७।।

(२) **निरुत्थानप्राप्त्युपायः** कथ्यते। महासिद्धिभिः **स्वस्वरूपतयानुसन्धानेन निजावेशा** भवति।

निजावेशान्निःपीडित **निरुत्थानदशा**महोदयः कश्चिज्जायते ततः सच्चिदानन्द चमत्काराद् अद्भुताकार **प्रकाश-प्रबोधो** जायते, **प्रबोधाद्** अखिलमेतद् द्वयाद्वय प्रकटतया चैतन्यभासकं **परात्परपरमपदमेव** प्रस्फुटं भवतीति सत्यम्।।"

गुरुप्रसाद प्राप्त करके चित्तनिरोधपूर्वक स्वरूप ध्यान एवं समाधि द्वारा स्वपिण्ड से परपिण्ड पर्यन्त ऐक्य का अनुभव करना चाहिए। इससे परमपद (द्वैताद्वैतविवर्जित परमात्मपद) की अनुभूति होती है—

'अतएव महासिद्धयोगिभिः सम्यग् गुरुप्रसादं लब्ध्वा **अवधानबलेनैक्यं** भजमानैस्तत्क्षणात् परमं पदमेवानुभूयते।।'

'तदनुभवबलेन स्वकीयं सिद्धं सम्यङ् निजपिण्डं ज्ञात्वा तमेव परमपद एकीकृत्य तस्मिन् प्रत्यावृत्या रूढ़ैवाभ्यन्तरे स्वपिण्डसिद्ध्यर्थे महत्वमनुभूयते।।१०।।

'निजपिण्डपरीक्षा च स्वस्वरूपकिरणानन्दोन्मेषमात्रं यस्योन्मेषस्य प्रत्याहरणमेव **समरसकरणं** भवति।।'

'अतएव स्वकीयं पिण्डं महद्रश्मिपुञ्जं स्वेनैवाकारेण प्रतीयमान् स्वानुसन्धानेन स्वस्मिन्नुरीकृत्य महासिद्धयोगिनः पिण्डसिद्ध्यर्थं निष्ठन्तीति प्रसिद्धम् ॥''[१]

* ''गोरक्षशतक'' के आलोक में गोरक्ष-योग का स्वरूप *

[ब्रिग्स महोदय ने **'गोरक्षशतक'** को अपनी पुस्तक में रोमन लिपि में प्रकाशित किया है तथा उसका अंग्रेजी में अनुवाद भी किया है। उन्होंने इसे गोरक्षनाथ की सच्ची एवं प्रामाणिक रचना कहकर इसको बहुत महत्त्व प्रदान किया है।]

इस पुस्तक के आरंभ में कहा गया है कि इसमें प्रतिपादित **'गोरक्ष का उत्तम ज्ञान'** योगियों के अभीष्ट को सिद्ध करने वाला, **परमानन्दकारक,** योगियों का हितसाधक, **विमुक्ति का सोपान, कालवञ्चक, परमपदप्रदाता, भोगों से निवृत्त करने वाला, परमात्मा में लीन करने वाला, वेद रूपी कल्पतरु का फल** एवं **भवताप को शमित करने वाला है।**

''द्विज सेवित शाखस्य श्रुतिकल्पतरोः कलम्।
शमनं भवतापस्य **योगं** भजत सत्तमाः॥''

[१] **योग के अङ्ग**—गोरक्षोपदिष्ट योग के ६ अङ्ग हैं—

'आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि वदन्ति षट्॥'

आसनों की संख्या—जीवों के प्रकार की संख्या के बराबर ही आसनों की भी संख्या है, किन्तु शिवजी ने ८४ लाख आसनों का वर्णन किया है। इनमें ८४ प्रधान है।

[२] गोरक्ष योग के प्रधान स्तंभ

(१) षडङ्गयोग (२) षट्चक्र (३) षोडशाधार (४) त्रिलक्ष्य

(५) व्योमपञ्चक (६) एकस्तंभ (७) नवद्वार (८) ५ अधिदैवत

''षट्चक्रं षोडशाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम्।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्ध्यन्ति योगिनः?

---

१. सिद्धसिद्धान्त पद्धति।

एकस्तंभं नवद्वारं गृहं पञ्चाधिदैवतम्।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्ध्यन्ति योगिनः?''

[३] षट्चक्र

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)	(७)
आधारचक्र	स्वाधिष्ठानचक्र	नाभिचक्र	अनाहतचक्र	विशुद्धिचक्र	आज्ञाचक्र	सहस्रदलचक्र
४ दल	६ दल	१० दल	१२ दल	१६ दल	२ दल	(ब्रह्मरन्ध्र मे स्थित)

खगाण्डवत कन्दयोनि = नाड़ी मण्डल में ७२००० नाड़ियाँ हैं।

[४] प्रधान नाड़ियाँ

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)	(७)
'इड़ा' वाम भाग में स्थित	'पिंगला' दक्षिण भाग में स्थित	'सुषुम्णा' मध्यदेश में स्थित	'गांधारी' वामचक्षु में स्थित	'हस्ति' दक्षिणचक्षु में स्थित	'पूषा' दक्षिण कर्ण में स्थित	'यशस्विनी' वामकर्ण में स्थित

(८)	(९)	(१०)
अलम्बुषा (मुख में स्थित)	कुहूनाड़ी (लिङ्ग में स्थित)	शंखिनी नाड़ी (मूलस्थान में स्थित)

ये १० नाड़ियाँ प्राणवाहिनी नाड़ियाँ हैं।

*** इड़ा, पिङ्गला एवं सुषुम्णा नाड़ियाँ ***

'इड़ा पिङ्गला सुषुम्णा च नाड़ी मार्गे समाश्रिताः।
सततं प्राणवाहिन्यः सोमसूर्याग्निदेवताः।'

'इड़ा' का देवता-सोम॥ **'पिङ्गला' का देवता**—सूर्य। **'सुषुम्णा' का देवता**—अग्नि।

[५] * प्राण मण्डल और १० प्राण *

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)	(७)	(८)	(९)	(१०)
'प्राण'	'अपान'	'समान'	'उदान'	'व्यान'	'नाग'	'कूर्म'	'कृकर'	'देवदत्त'	'धनञ्जय'
हृदय में स्थित वायु	गुदा में स्थित वायु	नाभि में स्थित वायु	कण्ठ के मध्य स्थित	शरीर में व्याप्त वायु	उद्गिरण में स्थित वायु	उन्मीलन में स्थित वायु	भूख में स्थित वायु	विजृंभण में स्थित वायु	मृत्यु की स्थिति में भी न छोड़ने वाली वायु

[६] *** प्राणापान की क्रीड़ा एवं गेंद रूप जीव ***

आक्षिप्तो भुजदण्डेन यथोच्छलति कन्दुकः।
प्राणपानसमाक्षिप्तस्तथा जीवो न तिष्ठति।

* प्राणापान द्वारा निरन्तर आक्षिप्त जीव क्षण भरके लिये भी स्थिर नहीं हो पाता यथा खेला जाता हुआ कन्दुक।।

[७] *** प्राणापानाकर्षण एवं जीव की दयनीय स्थिति ***

रज्जुबद्धो यथा श्येनो गतोऽप्याकृष्यते पुनः।
गुणबद्धस्तथा जीवः प्राणापानेन कृष्यते।।

प्राण एवं अपान को समरस करना ही योगी की साधना है।

*** प्राणापान का समरसीकरण ***

'अपानः कर्षति प्राणं, प्राणोऽपानं च कर्षति।
ऊर्ध्वाधः संस्थितावेतौ संयोजयति योगवित्।।'

योगी का लक्ष्य है ऊपर-नीचे गतिशील प्राणापान को समरस करना। प्राणपान की गति या क्रियायें—

(१) दोनों परस्पर एक-दूसरे को ऊपर नीचे खींचती हैं और उनके साथ जीव भी रातदिन ऊपर-नीचे खिंचता रहता है।

(२) गुणबद्धजीव प्राणापान द्वारा ऊपर-नीचे लगातार उसी प्रकार खिंचता रहता है यथा रस्सी से बँधा श्येन पक्षी।

[८] *** अजपा जप—जीवों की स्वाभाविक मन्त्र-साधना *** इसे ही 'अजपा गायत्री' या 'हंसमंत्र' भी कहते हैं। इस श्वासोच्छ्वासोच्चारित स्वयंसञ्चरित मंत्र में मन को लीन करना ही अजपा जप की साधना है। यह जप अहर्निश (प्रति अहोरात्र में २१ हजार ६०० बार) चलता रहता है। **'हकार'** के साथ श्वास बाहर आती है और **'सकार'** के साथ बाहर जाती है। इस प्रकार अहर्निश ''हंसः हंसः'' का जप प्रत्येक प्राणी द्वारा निरन्तर किया जाता रहता है—

'हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत् पुनः।
हंस हंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा।।
षट्शतानित्वहो रात्रे सहस्राण्येकविंशतिः।
एतत्संख्यान्वितं **मन्त्रं** जीवो जपति सर्वदा।।'

—(गो० श०)

योगी का लक्ष्य यह है कि वह 'हंसः' अजपा नाम गायत्री मंत्र को उलटकर 'सोऽहं सोऽहं' के रूप में सुने। यही अजपा गायत्री है। अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदायिनी। अस्याः संकल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते॥''

अजपा गायत्री की उत्पत्ति कुण्डलिनी से होती है। यह **'प्राणविद्या' 'महाविद्या'** एवं **'गायत्री'** है—

'कुण्डलिन्या समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी।
प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स **योगवित्**॥'

इस प्राणविद्या का सम्यक् ज्ञाता ही **''योगविद्''** कहलाता है।

[९] * **कुण्डलिनी योग और उसकी साधना** *

मनुष्य के **'नाड़ी-केन्द्र'** के ऊर्ध्व में आठ फेंटे लगाकर स्थित, मुख से ब्रह्मद्वार को रोककर अवस्थित तथा स्वयंभूलिंग को वेष्टित करके विद्यमान जो प्रसुप्ता परमेश्वरी **'मूलाधार चक्र'** में विश्राम कर रही है, उसका ही नाम है **'कुण्डलिनी'**। उसे **'वह्नियोग'** से प्रबुद्ध करके सुषुम्णा में स्थित षट्चक्रों एवं ग्रंथित्रय का भेदन कराते हुए साधक का उसे सहस्रारस्थ शिव से मिलाना (सामरस्य कराना) ही **कुण्डलिनी योग की साधना है।** यह **'कुलाकुलयोग'** ही (शिव-शक्ति-सामरस्य ही) **कुण्डलिनी योग की साधना** है। इसी सामरस्य से योगी **'मोक्ष'** पाता है—

'कुण्डलिन्या तथा योगी **मोक्षद्वारं प्रभेदयेत्।।'** 'शक्तिचालनी**मुद्रा'** **'भस्त्रिका-प्राणायाम'** **'वज्रासन'** आदि साधन कुलशक्ति के प्रबोधन के प्रधान साधन हैं।

[१०] * **कुण्डलिनी शक्ति के व्यापार** *

कुण्डलिनी की सुषुप्ति ही जीवों का बन्धन है एवं उसको जागृत करके उसको अकुल से मिलाना ही जीवों की भुक्ति है। अतः 'कुण्डलिनी' मूढ़ों के लिए बन्धनकारिणी एवं योगियों के लिए मोक्षदा है—

'कुन्दोर्ध्वं कुण्डली शक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः।
बन्धनाय च मूढानां योगिनां मोक्षदा स्मृता॥'

मुद्राभ्यास—मुक्ति प्राप्त करने के साधनों में **मुद्राभ्यास** भी महत्वपूर्ण है—

'स योगी भुक्तिभाजनम् ॥'

मुख्य मुद्राएँ हैं—**'महामुद्रा' 'नभोमुद्रा' 'उड्डियान' 'जालन्धर'** एवं **'मूलबन्ध'**। **'खेचरी मुद्रा'** का अपना विशिष्ट महत्व है।

[११] **अमृतपान एवं 'खेचरीमुद्रा'**—

'कालवञ्चन', 'अमृतत्व की प्राप्ति', 'पिण्डपदसमरसीकरण', 'निरुत्थान' ही **नाथ-योग के मुख्य लक्ष्य हैं।**

[१२] * **बिन्दु-साधना (बिन्दुयोग)** *—

योगी गोरक्षनाथ कहते हैं कि—'बिन्दुमूलं शरीरं तु शिरास्तत्र प्रतिष्ठिताः।'' समस्त शरीर बिन्दु' पर ही तो अवस्थित है, अतः—

'मरणं **बिन्दुपातेन,** जीवनं बिन्दुधारणात् ॥''

बिन्दु के पतन को रोकने के लिए **'खेचरी मुद्रा'** (जिह्वा को उलट कर कण्ठमूल में ले जाना) अत्यन्त सहायक है। **जब तक बिन्दु रक्षित** है मृत्यु संभव नहीं है—

'ब्रह्मचर्येण देवाः मृत्युमुपाघ्नत।' (वेद)

'यावद् बिन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्युभयं कुतः?'

'खेचरीमुद्रा' 'नभोमुद्रा' एवं 'वज्रोली'—की साधना से बिन्दु का अधःपतन होता ही नहीं। अतः ये साधनायें आवश्यक हैं। बिन्दुं का ऊर्ध्वीकरण एवं 'उर्ध्वरितसत्व' ही ब्रह्मचर्य-साधना या **बिन्दु-साधना का प्राथमिक लक्ष्य** है। बिन्दुजय से अमृतत्व एवं अनेक सिद्धियों की प्राप्ति **द्वितीय लक्ष्य** है। ब्रह्मत्व-साक्षात्कार एवं समरसीकरण तथा मोक्षाप्ति **अन्तिम लक्ष्य** है।

'बिन्दु' और उसके भेद—'बिन्दु' के दो भेद हैं—

(१) 'पाण्डुर बिन्दु (२) 'लोहित बिन्दु'।
(शुक्र) (महाराज)

(१) शुक्र का स्थान : यह चन्द्रस्थान में स्थित है। 'बिन्दु' **शिव** है। बिन्दु **'चन्द्र'** है।

(२) रज का स्थान : यह नाभि में स्थित 'रज' **शक्ति** है। रज **'रवि'** है।

* इन **दोनों की एकता** अत्यन्त दुर्लभ है। इन दोनों के संगम से **'परमपद'** की प्राप्ति होती है। *

वायु के द्वारा शक्ति का चालन करने से जब महारज ऊर्ध्वमुख होकर एवं बिन्दु से मिलकर एक हो जाता है और तब शरीर दिव्य हो जाता है। बिन्दु-साधना से परमपद की प्राप्ति होती है—'उभयोः सङ्गमादेव प्राप्यते परमं पदम् ।'

*** बिन्दु-साधना मोक्ष का साधन है। ***

[१३] * **ओंकार की साधना** *

एकान्त स्थान में सम्यक रीति से **पद्मासनस्थ** होकर, **कण्ठ एवं शिर को समसूत्र में रखकर, नासाग्रभाग** पर **दृष्टि** रखकर **ओंकार का जप** करना चाहिए—

"पद्मासनं समारुह्य समकायशिरोधरः।
नासाग्रदृष्टिरेकान्ते जपेदोङ्कारमव्ययम्।।"

जिसकी मात्राओं में 'भूः', 'भुवः' एवं 'स्वः' तीनों लोक एवं चन्द्र, सूर्य तथा अग्नि देवता स्थित हैं—वही परम ज्योति ओंकारस्वरूप है। (ओंकार का स्वरूप)

ओंकार का स्वरूप

प्रणवाभ्यास की आन्तर साधना—

'(१) **वचसा** तज्जपेद् बीजं' = प्रणव की वाणी-साधना

'(२) **वपुषा** तत्समभ्यसेत्' = शरीर-साधना

'(३) **मनसा** तत्स्मरेन्नित्यं' = मन की साधना

'तत्परं ज्योतिरोमिति।'

'(४) शुचिर्वाप्यशुचिर्वापि यो जपेत् प्रणवं सदा।
न स लिप्यति पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।।'

(पवित्रापवित्र सभी स्थितियों में प्रणव का निरन्तर जप करते रहना चाहिए। इससे किसी भी पाप का स्पर्श नहीं होता।)

प्राण का बिन्दु से सम्बंध—

'चले वाते चलोबिन्दुर्निश्चले निश्चलो भवेत्।।'

(वातचांचल्य→बिन्दु चाञ्चल्य।
वातस्थिरता→बिन्दु-स्थिरता
बिन्दु-स्थिरता→वात-स्थिरता

मरुत-स्थैर्य, चित्त-स्थैर्य एवं भ्रूमध्य मेंदृष्टि का स्थैर्य होने पर —मृत्यु का भय कहाँ?—

"यावद् बद्धो मरुद्देहे यावच्चित्तं निराभयम्।
यावद् दृष्टिर्भ्रुवोर्मध्ये तावत्कालभयं कुत:?॥"

प्राणापान की गति—प्राणापान की संचार-मात्रा ३६ अंगुल होती है।
प्राणवायु का संग्रह (प्राणस्थैर्य) आवश्यक है।
प्राणायाम से ही नाड़ी-शोधन होता है।

[१४] **प्राणायाम के पूर्व चन्द्रबिम्ब का ध्यान—**

'कुंभक' एवं 'रेचक' से युक्त प्राणायाम-साधना और उसके साथ—(१) अमृत स्वरूप (श्वेत वर्ण के) (२) दधि (धवल) (३) दुग्ध (धवल) **का ध्यान** करके प्राणायामाभ्यास करने वाला सदैव सुखी रहता है।

*** नाभि में अग्निपुञ्जवत प्रदीप्त सूर्य मण्डल का ध्यान ***

प्राणायाम-साधना के समय कुम्भक के काल में साधक को नाभिदेश में स्थित अग्निपुञ्ज के समान प्रदीप्त सूर्यमण्डल का ध्यान करने से बहुत सुख प्राप्त होता है।

दाहिने नासारन्ध्र से पूरक करके **'सूर्यमण्डल'** का ध्यान करते हुए कुम्भक करना चाहिए।

सूर्य एवं चन्द्र की विधि से दोनों बिम्बों—का ध्यान करने से **तीन माह के भीतर** नाड़ियाँ शुद्ध हो जाती हैं। **नाड़ी-शोधन के परिणाम—**

(१) नाड़ियों का शोधन (शुद्धीकरण)
(२) प्राणवायु को धारण करने की सामर्थ्य
(३) जठराग्नि की दीप्ति
(४) आरोग्याप्ति
(५) नाद-श्रवण

'सूर्याचन्द्रमसोरनेन विधिना बिम्बद्वयं ध्यायत:।
शुद्धा नाडिगणा भवन्ति यमिनो मात्रत्रयादूर्ध्वत:।
यथेष्टं धारणं वायोरनलस्य प्रदीपकम्।
नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधनात्॥'

—गोरक्षशतक

'योगबीज' और उसके सिद्धान्त

'योग की परिभाषा क्या है?
गोरक्षनाथ कहते हैं—
(१) **प्राण एवं अपान** का समायोग ही **'योग'** है।

(२) **चन्द्र एवं सूर्य** की एकता ही **'योग'** है।

(३) **रज एवं रेतस** का योग ही **'योग'** है।

(४) **जीवात्मा एवं परमात्मा** का योग ही **'योग'** है।

'योऽपानप्राणयोर्योगः स्वरजोरेतसोस्तथा।
सूर्याचन्द्रभसोर्योगो जीवात्मपरमात्मनोः।'

(५) इसके अतिरिक्त द्वन्द्वजाल का संयोग भी **'योग'** है।

'एवं द्वन्द्वजालस्य संयोगो योग उच्यते।।'

—योग बीज

चतुर्विध योग ('अमरौघ प्रबोध' के अनुसार)

(१)	(२)	(३)	(४)
'मंत्रयोग'	**'हठयोग'**	**'लययोग'**	**'राजयोग'**
'यो मंत्रमूर्ति- वशगः स तु **मंत्रयोगः**।'	यस्तु प्रभंजन- विधानरतो **हठस्सः**।'	यच्चित्तसन्तत- लयः सः **लयः** प्रदष्टिः।	यश्चित्तवृत्ति रहितः स तु **राजयोगः**।

'योगबीज' में गोरक्षनाथ कहते हैं कि—

'एक एव चतुर्धाऽयं **महायोगो**ऽभिधीयते।।''

नाथयोग में 'महायोग' और उसके भेद—'महायोग' केवल एक है।

गोरक्षनाथ ने योग-साधना की विभिन्न प्रणालियों को एक ही **'महायोग'** की विभिन्न पद्धतियाँ कहा।

महायोग की साधना-पद्धतियाँ ('योग तत्त्वं चतुर्विधं')

(१)	(२)	(३)	(४)
'मंत्रयोग'	**'हठयोग'**	**'लययोग'**	**'राजयोग'**

(१) **'मंत्रयोग'** =

'हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेन्मरुत्।
हंसहंसेति मन्त्रोऽयं सर्वजीवा जयन्ति तम्।।
गुरुवाक्यात्सुषुम्णायां विपरीतो भवेज्जपाः।।
सोऽहं सोऽहमिति प्राप्तो **मन्त्रयोगः** स उच्यते।।'

(२) **'हठयोग'** =

'प्रतीतिर्वायुयोगाच्च जायते पश्चिमे पथि।
हकारेण तु सूर्योऽसौ ठकारेणेन्दुरुच्यते।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगाद् **हठयोगो**ऽभिधीयते।
हठेन ग्रस्यते जाड्यं सर्वदोषसमुद्भवम्।।

(३) **'लययोग'** =

क्षेत्रज्ञपरमात्मानौ तयोरैक्यं यथा भवेत्।
तदैक्ये साधिते देवि ! चित्तं याति विलीनताम्।
पवनः स्थैर्यमायाति **लययोगो**दये सति।
लयात्सम्प्राप्यते सौख्यं स्वात्मानन्दपरं पदम्।।

(४) **'राजयोग'** =

अणिमादिपदे प्राप्ते राजते **राज**योगतः।
प्राणपानसमायोगे ज्ञेयं योगचतुष्टयम्।
संक्षेपात्कथितं देवि ! नान्यथा शिवभाषितम्।।

—योगबीजम्

('योगबीज' के अनुसार) **मतद्वयः 'मर्कटमत' एवं 'काकमत'**

(१) "मर्कट मत" (२) "काकमत"

'चिरात् सम्प्राप्यते सिद्धिः **मर्कटक्रम** एव सः।।'
पूर्वजन्मकृताभ्यासात्सत्वरं फलमश्नुते।
एतदेव हि विज्ञेयं **तत्काकमत**मुच्यते।।

योग की अन्य पद्धतियाँ

(१) 'पिपीलिका योग' (क्रम-साधना)

(२) 'विहंगम योग' (अक्रम ज्ञान-साधना)

लययोग की अन्य विधियाँ—'अमरौघ प्रबोध' में गोरक्षनाथ ने 'लययोग' का स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

साधक को अपने शरीर के 'मूलाधारचक्र' में **मन के प्रतीक के रूप में**

प्रतिष्ठित **'कामरूपपीठ'** में मणि के समान स्वयं प्रकाशित एवं सर्वकारणभूत आत्मा के समान ज्योतिर्मय, सृष्टि-स्थिति-प्रलय के अधिष्ठान (लिंग) रूप मोक्षप्रदाता शिव का **स्वयंभू लिंग के रूप में ध्यान करना चाहिए।** साथ ही यह भावना भी करनी चाहिए कि 'तालु चक्र' में स्थित चन्द्रमण्डल से स्रवित सुधाधारा इस शिवलिङ्ग का अमृताभिषेक करने के साथ उसके **सर्वाङ्ग को भी सोमकला के प्रवाह से आप्लावित** कर रही है। इस प्रकार के ध्यानयोग की भावना का ६ मास तक निरन्तराभ्यास करने पर '**लययोग**' की सिद्धि हो जाती है। इससे शरीरजन्य वलीपलित नष्ट हो जाती है और साधक **तीन सौ वर्ष तक** जीता रहता है—

'कामरूपे शिवं देवं लिङ्गाभं मणिसन्निभम्।
स्रवन्तं चामृतरसं यो ध्यायेन्निजविग्रहे।
निरन्तरकृताभ्यासात् षण्मासात् सिद्धिभाग्भवेत्।
वलीपलितनिर्मुक्तो जीवेदब्दशतत्रयम्।।'[1]

शरीर की पञ्चभूतात्मकता—गोरक्षनाथ कहते हैं कि शरीर में पाँचों तत्त्वों के एक-एक मण्डल विद्यमान हैं। उनकी शरीर में स्थिति इस प्रकार है—

पञ्चभूतात्मको देहः पञ्चमण्डलपूरितः।
काठिन्यात्पृथिवी **पृथ्वी** ज्ञेया पानीयं यद् द्रवाकृतिः।
दीपनं तु भवेत्तेजः स्पर्शो वायोस्तथा भवेत्।
आकाशे चेतनं सर्वं ज्ञातव्यं योगमिच्छता।।[2]

वायु तत्त्व और श्वास का सम्बन्ध—

षट्च्छतान्यदधिकान्यत्र सहस्राण्येकविंशतिः।
अहोरात्रं वहेच्छ्वासो वायुमण्डलरेचनात्।।

वायुमण्डल का रेचन—जीव की २१ हजार ६०० श्वासें।

'अमरौघ प्रबोध' के अनुसार **'हठयोग'** एवं **'राजयोग'** दोनों के भी भेद हैं—

'हठयोग' → (१) प्राणनिरोध, (२) बिन्दुनिरोध

'राजयोग' → (१) औषधिपरक, (२) आध्यात्मिक

---

१. अमरौघ प्रबोध (२८)
२. तत्रैव (५६-५७)

'हठयोग' एवं 'राजयोग' को इस प्रकार भी (अन्यत्र) व्याख्यायित किया गया है—

'हठयोग' ↓	'राजयोग' ↓
(१) ह+ठ+योग = सूर्य+चन्द्र+योग (२) ह+ठ+योग = प्राण+अपान+योग (३) ह+ठ+योग = दक्षिण+वामस्वर+योगा (४) ह+ठ+योग = यमुना+गंगा+योग (५) ह+ठ+योग = पिंगला+इड़ा+योग (६) ह+ठ+योग = रजस्+रेतस+योग	'योनिमध्ये महाक्षेत्रे जपाबंधूक-सन्निभम्। रजो वसति जन्तूनां देवी तत्त्वं समावृत्तम। रजसो रेतसो योगा-द्राजयोगइति स्मृतः। अणिमादि पदं प्राप्य राजते राजयोगतः।।' योगशिखोपनिषद् (१३६-१३७)

(क) हकारः कीर्तितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगाद्धठयोगो निगद्यते।।''

—सिद्धसिद्धान्त पद्धति।

(ख) हठाज्ज्योतिर्मयोभूत्वा ह्यन्तरेण शिवोभवेत्।
अतोऽयं **हठयोगः** स्यात् सिद्धिदः सिद्धसेवितः।।

—प्राणतोषिणी।

(ग) **हठयोग की दो योग विधियाँ—**

द्विधा हठः स्यादेकस्तु गोरक्षादिसुसाधितः।
अन्यो मृकण्डुपुत्राद्यैः साधितो हठसंज्ञकः।।

षट् कर्मों में पूर्ण साफल्याप्ति कराने वाला मंत्र कहीं भी दृष्टिगत नहीं होता। यदि मन, भ्रूमध्य, नासिका आदि स्थानों में ध्यान मग्न हो भी जायँ तो भी मूलाधार चक्र में प्राण वायु प्रविष्ट नहीं होती। नित्यानन्द-सम्पन्न **मोक्षश्री** एवं आत्म प्रभाव-निलय **से युक्त 'राजयोग'** के बिना उक्त उद्देश्य की पूर्ति संभव नहीं है। यह उद्देश्य **'हठयोग'** से कथमपि प्राप्त नहीं है—'जायन्ते हठतः कथं वद विभो स्वीयं प्रभावं विना।।'' क्या मात्र ध्यान लगाने से दिव्य नारी का संग एवं हथिनी से अश्व, गर्दभी से हाथी और कोदों से शालिकान्न की प्राप्ति हो सकती है?[१] अतः—

'नैतेषां देहसिद्धिर्विगत निजमनो राजयोगादृतेऽस्मात्।।'[२]

---

१. अमरौघ प्रबोध
२. तत्रैव

'अमरौघ प्रबोध' में राजयोग का जो प्रथम प्रकार **'औषधिपरक'** बताया गया है, वह यहाँ स्वीकार्य है ही नहीं; क्योंकि यह भी बताया गया है कि—

(१) समस्त प्राणियों के शरीर में **'दो महान औषधियाँ'** विद्यमान हैं—

(क) 'बिन्दु' (ख) 'नाद'

'**बिन्दुनादौ** महौषध्यौ विद्येते सर्वजन्तुषु।
तावविज्ञाय सर्वेऽपि म्रियन्ते गुरुवर्जिताः॥'[१]

नाथों का परमतत्व—आचार्य शंकर का ब्रह्म निर्गुण निराकार, अकर्ता, निष्क्रिय एवं विश्वातीत है। सारे कार्य केवल माया करती है; किन्तु नाथों का 'देवदेवेश' परमात्मा 'आदिनाथ' 'विश्वनाथ' विश्वरूप' 'विश्वातीत' 'उत्पत्ति-स्थिति-संहारकारी' 'क्लेशहारी' 'परमात्मा', 'महायोगीश्वर', 'परिपूर्ण' एवं 'जगदानन्द हेतु' है।[२]

यह परमात्मा 'शक्ति' से असमवेत 'निर्गुण ब्रह्म' नहीं है। प्रत्युत (शिव की भाँति) **शक्तियुक्त जगद्गुरु** एवं आदिनाथ हैं—

'आदिनाथं नमस्कृत्य **शक्तियुक्तं** जगद्गुरुम् ॥'[२]

सृष्टि के पूर्व स्थित वह परासत्ता अपनी अव्यक्तावस्था में **'अनाम' परब्रह्म** कहलाती है और इस दृष्टि से उस काल में 'कर्ता', 'कुल', 'अकुल' एवं 'कारण' कोई विद्यमान नहीं रहता। यही **'अनाम'** की स्थिति है।[३]

परब्रह्म की स्वसमवेत शक्तियाँ—वेदान्तियों के निर्गुणनिराकार परब्रह्म में उसकी कोई समवायिनी निजा शक्ति है ही नहीं; किन्तु 'त्रिकदर्शन' (का० शैव दर्शन) की भाँति नाथमत में शिव की स्वसमवेता शक्तियाँ हैं। उस अकर्ता शिव की — 'अनाम' की भी स्वसमवेता निजा शक्ति है—

'अनामेति स्वयमनादिसिद्ध एकमेवानादिनिधनं सिद्ध-
सिद्धान्तप्रसिद्धं तस्येच्छामात्रधर्माधर्मिणी **निजा शक्तिः** प्रसिद्धा।'

—(सि० सि० प०)

शिव में **'निजाशक्ति'**, **'पराशक्ति'**, **'अपराशक्ति'**, **'सूक्ष्माशक्ति'** एवं **'कुण्डलिनीशक्ति'**—पाँचों शक्तियाँ विद्यमान हैं।[४] 'सिद्धसिद्धान्त पद्धति' में कहा गया है—

---

१. अमरौघ प्रबोध
२. अमरौघ प्रबोध (१-३)
३. सि० सि० पद्धति (१)
४. सिद्ध सिद्धान्त पद्धति।

'निजापराऽपरासूक्ष्माकुण्डलिन्यासु पञ्चधा
शक्तिचक्रक्रमेणोत्थो जातः पिण्डपरः शिवः॥'

सम्प्रदायवाद—नाथसम्प्रदाय के अनुयायियों के अनुसार नाथयोग ही सर्वोच्च साधन मार्ग है।

'योगबीज' में कहा गया है कि नाथमार्ग को छोड़कर अन्य कोई भी साधन-मार्ग **'कैवल्य'** प्रदान नहीं कर सकता—

(१) बद्धा येन विमुच्यन्ते **नाथमार्गमतः** परम् ॥

(२) नानामार्गैस्तु दुष्प्रापं **कैवल्यं परमं पदम्** ॥

'सिद्धमार्गेण' लभ्येत नान्यथा शिवभाषितम् ॥[१]

(३) **"अन्य शास्त्रसमूह पतित हैं"**—

'पतिताः शास्त्रजालेषु प्रज्ञयाते विमोहिताः।
अनिर्वाच्यपदं वक्तुं न शक्यत सुरैरपि॥'

"नाथ-सम्प्रदाय" में यह सम्प्रदायवाद बद्धमूल है। संसार के सारे देशों में यह 'सम्प्रदायवाद' है।

डा० सर्जियस बुल्गाकोफ़ का कथन है—

"संसार में केवल एक ही सच्चा चर्च है आर्थोडाक्स चर्च। (सनातनी ईसाई सम्प्रदाय)

मार्टिन लूथर का कथन है—

"जो ईसाई धर्म के बाहर हैं, फिर चाहे वे नास्तिक हों या तुर्क, यहूदी हों या मिथ्या ईसाई (रोमन कैथोलिक) हों; और भले ही केवल एक सच्चे ईश्वर में विश्वास रखते हों, फिर भी वे शाश्वत विनाश, सनातन क्रोध एवं नरक के गर्त में पड़े हुए हैं।[२]

जान नाक्स का कथन है—

"**एशिया** में क्या हैं? ईश्वर के प्रति अज्ञान। **अफ्रीका** में क्या है? हमारे प्रभु ईसा, हमारे उद्धारक के प्रति अस्वीकृति। **ग्रीशियनों के चर्चो** में क्या है? क्या मुहम्मद और उनका मिथ्या सम्प्रदाय? **रोम** में क्या है? सारे जादूगरों का बड़ा भारी आश्रय या वह कलंकित मानव॥[३]

---

१. योग बीज (७-८)

२. लार्बर कैटैकिज्म (२-३)

३. 'इण्टरनेशनल रिव्यू आफ मिशन्स'

जार्ज टाइरेल का कथन है—

"प्रोटेस्टैण्टों और जंगलियों में कोई अन्तर नहीं। ये सब नरक में एक समान ही जलेंगे॥"[१]

ईसाईयों में—प्रोटेस्टेंट, कैथोलिक, ऐंग्लिकन एवं प्यूरिटन सभी अपने को श्रेष्ठतम एवं दूसरे को पथभ्रष्ट एवं हीन मानते हैं। वह परमतत्त्व 'अनिर्वाच्यपद' एवं 'स्वात्मप्रकाशरूप' है। वह परमतत्त्व निश्चल, निर्मल, शान्त, सर्वातीत एवं निरामय है। वही पुण्यपाप के फलों से आबद्ध होकर **'जीव'** भी बन गया है—'तदेतज्जीवरूपेण पुण्यपापफलैर्वृतम् ॥'[२] नाथपंथ में **'शिव' एवं 'जीव' में एकता** भी प्रतिपादित की गई है।

जीव एवं परमात्मा में एकता—

परमात्मा जीव कैसे बन गया?

'परमात्मपदं नित्यं तत्कथं जीवतां गतम् ?'

महादेव कहते हैं कि जिस प्रकार जल में तरङ्ग की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार परमात्मा में अहंकार की उत्पत्ति होती है। यही **'अहंकार'** पञ्चतत्त्वों से निर्मित, धातुओं से परिबद्ध, गुणत्रययुक्त, सुखदुःखरूप कर्मफल के भोक्ता के रूप में जीवात्मा बनकर जन्म लेता है। यही जीव के सारे दोषों से मुक्त होकर **शिव बन जाता है। योगयुक्त ज्ञान से ही** काम-क्रोध आदि दोषों का नाश होता है और इसी ज्ञान युक्त योग साधना से मोक्षाप्ति होती है। दोष से रहित जीव ही 'शिव' है—

एभिर्दोषैर्विनिर्मुक्तः **स जीवः शिव एव हि।।"**

किन्तु जीव को शिवत्व की प्राप्ति **(वेदान्तियों के कथनानुसार)** मात्र **'ज्ञान'** से सम्भव नहीं है प्रत्युत् **योगयुक्तज्ञान** से ही संभव है—

'योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवतीश्वरि?
योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमोमोक्षकर्मणिः॥'[३]

ज्ञान का महत्व—शांकर अद्वैतमत में ज्ञान को सर्वोपरि महत्व प्रदान किया गया है—

"ज्ञानान्न ऋते मुक्तिः॥"

नाथपंथी भी कहते हैं कि—

(१) **'अज्ञानादेव संसारो।'** अज्ञान→संसार

---

१. एम० डी० पेट्रे : 'दि लाइफ आफ जार्न टाइरेले।'
२. योगबीज (१०-११)
३. योगीबीज (१९)

(२) 'ज्ञानादेव विमुच्यते।' ज्ञान→मुक्ति।

शाङ्कर वेदान्त में प्रतिपादित **जीव मात्र ज्ञान से ही मुक्त हो जाता है;** किन्तु नाथमत के अनुसार **कोई भी जीव मात्र ज्ञान से मुक्त नहीं हो सकता—**

सर्वदोषैर्वृतो जीवः कथं ज्ञानेन मुच्यते?[1]

कोई कितना भी महान ज्ञानी क्यों न हो; किन्तु वह कभी न कभी संसार-वासना से पङ्किल हो ही जाता है। अतः 'अज्ञानी' एवं 'ज्ञानी' में कोई भेद नहीं रह जाता। अतः योग-साधना अनिवार्य है—क्योंकि—

"ज्ञाननिष्ठो विरक्तोऽपि धर्मज्ञो विजितेन्द्रियः।
विना योगेन देवोऽपि न मोक्षं लभते प्रिये॥"[2]

योग-साधना और शरीर-भेद—योगियों की मान्यता है कि योग-साधना **'अपक्व देह'** से संभव नहीं है।

योग के भेद

(१) **'अपक्वदेह'** (२) **'परिपक्वदेह'**

'अपक्वाः परिपक्वाश्च द्विविधा देहिनः स्मृताः।

(१) 'अपक्वा योगहीनास्तु' (१) 'पक्वा योगेन देहिनः॥[3]

(२) 'जडस्तत्पार्थिवो ज्ञेयश्चापक्वो दुःखदो भवेत्।' (२) 'पक्वो योगाग्निना देही ह्यजडशोक-वर्जितः।'

अपक्वदेही की स्थिति—

'ध्यानस्थोऽपि तथाप्येवमिन्द्रियैर्विवशो भवेत्।
अतिगाढं नियम्यापि तथाप्यन्यैः प्रबोध्यते॥'

(१) अपक्वदेही ध्यान-साधक रहने पर भी इन्द्रियों का गुलाम बना रहता है।

(२) ऐसा ध्यानी, ज्ञानी, साधक आदि भी किसी योगी के द्वारा प्रबोधित होने पर ही सिद्धि प्राप्त कर पाता है, अन्यथा नहीं।

---

१. योगबीज (२३)
२. योगबीज (३१-३२)
३. योगबीज (३४)

अपक्वदेह	परिपक्व देह
(१) यह देह जड़ होती है। होती है।	(१) यह देह **योगाग्नि से ही परिपक्व** बन पाती है।
(२) इसमें चैतन्य नहीं होता।	(२) यह अजड या **चेतन** होती है।
(३) यह पार्थिव है।	(३) यह **शोक-हीन** एवं अपार्थिव (चिन्मय होती है।
(४) यह दुःखास्पद है।	(४) यह (पूर्व देह के दोषों से रहित होने पर प्राप्त होती है।
(५) यह ध्यान-साधना करने पर भी जड़ ध्याता से पृथक नहीं हो पाती।	पक्वदेही व्यक्ति का— (१) अहंकार नष्ट हो जाता है।
(६) यह शीत उष्ण, सुख-दुःख, व्याधि, शस्त्र, अग्नि, जल, वायु आदि के उत्पातों से पीड़ित रहती है। प्राणापान के वैषम्य से इसमें वायु प्रकुपित रहती है। इसके कारण ही व्यक्ति सैकड़ों दुःखोंसे व्याकुल चित्त वाला बनता है।	(२) उसके शरीर में कोई रोग नहीं हो सकता। (३) जल, अग्नि, वायु, शस्त्र आदि उसे हानि नहीं पहुँचा सकते। (४) परिपक्व देही व्यक्ति में शम, दम आदि प्रवृत्तियाँ सहज रूप में उत्पन्न होती हैं।
(७) **अपक्वदेही व्यक्ति** की, ज्ञान-ध्यान-वैराग्य जप आदि की साधनायें व्यर्थ हैं।	बिना अहंकार के देह में दुःखोदय संभव ही नहीं है। 'अहंकारं बिना तद्वद् देहे दुःखं कथं भवेत् ?'
(८) अपक्व देही की अहंकृति परिच्छिन्न एवं परिपुष्ट होती है। इसी कारण ऐसा व्यक्ति अनेक बाधाओं एवं व्याधियों से संत्रस्त रहा करता है।	

'योगदेह', 'योगबल' एवं 'जीवन्मुक्ति'—

(१) जीर्णशीर्ण शरीरों ने सभी प्राणियों पर विजय प्राप्त कर ली हैं; किन्तु योगियों ने योगाभ्यास के द्वारा शरीर पर ही विजय पा ली है—

"शरीरेण जिताः सर्वे शरीरं योगिभिर्जितम्।।"[१]

---

१. योगबीज (४९)

(२) इन्द्रियाँ काम, क्रोध, मन,बुद्धि द्वारा जीत ली गईं; किन्तु योगियों ने काम, क्रोध, बुद्धि एवं इन्द्रिय सभी पर विजय प्राप्त कर ली।

'योगदेह' का स्वरूप—

(१) सप्तधातुमयो देहो दग्धो **योगाग्निना** शनैः।
देवैरपि न लभ्येत **'योगदेहो'** महाबलः॥

(२) छेदबन्धैर्विमुक्तोऽसौ नानाशक्तिधरः परः।
यथाकाशस्तथा देहः आकाशादपि निर्मलः॥

(३) सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरो देहः स्थूलात् स्थूलो जडाज्जडः।[१]

(४) ऐसा पक्वशरीर वाला योगी स्वतंत्र, अजर, अमर, लोकत्रय में यथाकाम विचरण करने वाला, अचिन्त्य, शक्तिशाली, विजितेन्द्रिय, अनेक रूप धारण करने की क्षमता वाला होता है और सहजस्थिति में **'स्वस्थ'** रहता है।

"(१) इच्छारूपो हि योगीन्द्रः स्वतंत्रस्त्वजरामरः॥"

"(२) सूक्ष्मात्सूक्ष्मतो देहः स्थूलात् स्थूलो जडाज्जडः।"

"(३) अचिन्त्यशक्तिमान् योगी नानारूपाणि धारयन् ॥"

"(४) नासौ मरणमाप्नोति **पुनर्योगबलेन** तत् ॥

"(५) चूँकि ऐसा योगी मृत्युपूर्व ही मृत हो जाता है। अतः मृत की मृत्यु कैसी?
'पुरैव मृत एवासौ मृतस्य मरणं कुतः?'

किन्तु—**'मरणं यत्र सर्वेषां'** तत्रासौ सखि! जीवति॥'
किन्तु 'यत्र जीवन्ति मूढास्तु तत्रासौ म्रियते सदा॥

यह जीवन्मुक्त होता है—

'जीवन्मुक्तः सदा स्वस्थः सर्वदोष-विवर्जितः॥'

'मांसपिण्ड कुदेहियों' से यह अत्यन्त महान् है, क्योंकि —
'ते कथं योगिभिस्तुल्याः मांसपिण्डा कुदेहिनः?"

गुरुवाद—वेदान्त, न्याय, आगम और अन्य शास्त्रपाठों से भी गुरुश्रेष्ठ होता है।[२]

*** यहाँ ज्ञान एवं योग तथा ज्ञानयोग का समन्वय है ***

---

१. योगबीज (५१-५३)
२. योगबीज (६६)

वेदान्त का खण्डन—(ज्ञानयोगसमन्वयवाद)—

(१) ज्ञान से मोक्ष नहीं प्राप्त होता।

(२) यदि खड्ग से ही विजय मिल जाती है तो युद्ध में लड़ने से क्या? प्रश्न उठता है—

'विना युद्धेन् वीर्येण कथं जयमवाप्नुयात्?'

अतः—तथा **योगेन रहितं ज्ञानं** मोक्षाय नो भवेत् ॥

किन्तु यह भी सत्य है कि—

'ज्ञानेनैव विना योगो न सिद्ध्यति कदाचन।'

ज्ञान तो योग-साधना से एक ही जन्म में प्राप्त किया जा सकता है। अतः सत्य तो यह है कि—

'तस्माद् योगात् परतरो नास्ति मार्गस्तु मोक्षदः॥'[1]

योगमार्ग की सर्वश्रेष्ठता—

योगात्परतरं **पुण्यं,** योगात्परतरं **सुखम्।**
योयात्परतरं **सूक्ष्मं, योगमार्गात्परं नहि**॥[2]

प्राणसाधना का महत्त्व—नाथपंथी कहते हैं कि गुरु उसी को बनाना चाहिए जो प्राण पर विजय प्राप्त कर चुका हो—

'मरुज्जयो यस्य सिद्ध्येत् सेवयेत्तं गुरुं सदा।'

कुण्डलिनी-योग—अपनी सुषुप्त शक्ति को जाग्रत किये बिना या पाताल की **'शक्ति'** को स्वर्ग (मुक्ति) लोक के **'शक्तिमान्'** (अकुल) से समरस किये बिना मुक्ति एवं अपने **'स्व' का पूर्ण विकास** संभव नहीं है।

प्राणायाम—कुण्डलिनी-साधना के विधान में गोरक्षनाथ ने प्रथम साधन प्राणायाम को स्वीकार किया है। ('वज्रासन' में बैठकर) एवं बालिस्तभर लम्बे एवं चार अंगुल चौड़े कोमल श्वेत वस्त्र से नाभि को वेष्टित करके **शक्तिचालन युक्ति** से वायु का कुम्भक करना चाहिए।

अष्टकुण्डलकुण्डलित कुण्डलिनी को सीधा करने हेतु **प्राणवायु का आकुञ्चन** करना चाहिए। इसके बाद **कुण्डली का चालन** करना चाहिए।

१५ दिनों तक **'वज्रासन'** से बैठकर **'शक्तिचालिनी मुद्रा'** का अभ्यास करना चाहिए।

---

१. योगबीज (७२)
२. योगबीज (८७)

प्राण-संयमन से वायु तप्त हो उठती है और इस वायु से प्रज्वलित अग्नि कुण्डलिनी को प्रतप्त कर देती है। इससे व्याकुल होकर 'कुण्डलिनी शक्ति' सुषुम्णा के मुख में प्रवेश कर जाती है और वज्रदण्ड में वायु तथा अग्नि के साथ प्रवेश करके 'ब्रह्मग्रंथि' का भेदन करके रुद्रग्रंथि में प्रविष्ट हो जाती है। फिर कुंभक के सिद्ध होने पर (१) सूर्यभेद, उज्जायी, शीतली एवं भस्त्रिका का अभ्यास करना चाहिए। ये चार प्रकार के कुंभक प्राणायाम हैं। बंधत्रयक से युक्त केवल प्राणायाम से योग साधना सिद्ध हो जाती है।[१]

प्राणायाम के ८ भेद हैं—उनमें (१) सूर्यभेदन (२) उज्जायी (३) शीतलीकरण एवं (४) भस्त्रा प्राणायाम से कुण्डलिनी जाग उठती है।

(१) 'सूर्यभेद'→उदर के वायु विकार का नाश, गले के दोषों का अन्त, शरीर में कान्ति-वृद्धि, अग्नि-वृद्धि, शिर के रोग, जलोदर एवं धातुगत रोग नष्ट हो जाते हैं।

(२) 'उज्जायी'→चलते-फिरते, रुकते उज्जायी का अभ्यास करना चाहिए।

(३) शीतलीकरण→पित्त एवं ज्वर का नाश।

(४) 'भस्त्रा'→वात, पित्त, कफ का नाश। इससे कुण्डलिनी जागृत होती है, वह टेढ़ी से सीधी हो जाती है, ग्रंथि त्रय का भेदन होता है और ब्रह्मनाड़ी के मुख पर कफ रूप अवरोध का नाश होता है।

बंध-साधना—बंधों में (१) मूल बन्ध (२) उड्डियान (३) जालन्धर प्रधान है। उनका अभ्यास करना चाहिए। (१) मूल बन्ध से—प्राण एवं अपान वायु + नाद बिन्दु में एकता आती है।

(२) **उड्डियान**—(कुंभक के आदि एवं रेचक के अन्त में करणीय बंध) सुषुम्णा में बद्धप्राण ऊपर की ओर उड़ता है।—वृद्ध भी तरुण हो जाता है। ६ माह के निरन्तराभ्यास से प्राण का वशीकरण एवं इच्छामृत्यु की प्राप्ति होती है।

(३) **'जालन्धर बंध'**(पूरकान्त में अवश्य करणीय)—वायु मार्ग का निरोध, हृदय में वायु का अवरोध। यह बन्ध **अमृतस्वरूप** है और इससे प्राण **'ब्रह्मनाड़ी'** में प्रविष्ट हो जाता है।

कुण्डली-साधना—प्रथमत: योगी को (१) वज्रासन में बैठना चाहिए। फिर (२) कुण्डलिनी का चालन करना चाहिए। (३) फिर भस्त्रा प्राणायाम द्वारा उसे शीघ्र प्रबोधित करना चाहिए।

---

१. योगबीज (१००)

"वज्रासनस्थितो योगी चालयित्वा तु कुण्डलीम्।
कुर्यादनन्तरं भस्त्रां कुण्डलीमाशु बोधयेत्॥"

इस साधना से मेरुदण्ड में वायु से, ग्रंथियों का भेदन होता है। इससे मेरुदण्ड में खुजली होती है। यथा चींटी के चढ़ने-सी प्रतीत होती है। उसके बाद **'रुद्रग्रंथि'** का भेदन होता है। अतः शिवात्मकता प्राप्त होती है। अन्त में **शिवशक्ति समागम** से परम स्थिति प्राप्त होती है।

'शिवशक्तिसमायोगाज्जायते परमा स्थितिः॥'

जैसे हाथी सूँड़ से पानी खींचता है, वैसे ही **सुषम्णा नाड़ी पवन को अपने भीतर खींचती है।** मेरुदण्ड में **२१ मणि स्थित हैं। सुषुम्णा मोक्षमार्ग है।** सुषुम्णा में सूर्य-चन्द्र (पिंगला-इड़ा) के निबन्धन से **काल पर भी विजय** प्राप्त हो जाती है। **'पश्चिमद्वार'** (सुषुम्णा) में वायु-प्रवेश करायें। इससे वायु समस्त शरीर में प्रविष्ट हो जाती है। इसमें 'पूरक' 'रेचक' दोनों का अन्त हो जाता है। यही है **'नाथ सङ्केत' या 'सिद्धसङ्केत'।**

प्राण एवं चित्त का सम्बंध

(१) यदि चित्त प्राण में लयीभूत हुआ तो—

(२) चित्त में प्राण का भी लय हो जाता है।

(३) जिसके प्राण एवं चित्त में सामरस्य स्थापित नहीं हुआ उसका शास्त्र एवं गुरु एवं उसकी आत्मप्रतीति सभी निष्फल हैं—

'चित्तं हि नष्टं यदि मारुते स्यात्,
तत्र प्रतीतो मरुतोऽपि नाशः।
न चेदिदं स्यान्न तु तस्य शास्त्रं,
नात्मप्रतीतिर्न गुरुर्न मोक्षः'

उसे 'मोक्ष' भी कभी नहीं प्राप्त हो सकता।

योगाभ्यास और 'ब्रह्मनाड़ी'—

(१) निरन्तर अभ्यासयोग से **'ब्रह्मनाड़ी'** समस्त धातुओं को अपनी ओर आकृष्ट करती है।

(२) **आसन-बन्ध-अभ्यास योग** से **'चित्त'** प्राण में **विलीन** हो जाता है। अतः **बिन्दु अधोगामी नहीं हो पाता।**

(३) अनेक **नादों की उत्पत्ति होती है।**

(४) भूख, प्यास आदि दोषों का अन्त हो जाता है।

योगी **सच्चिदानन्द स्वरूप में प्रतिष्ठित** हो जाता है।

'काकमत' की सर्वोच्च श्रेष्ठता—गोरक्षनाथ कहते हैं कि 'काकमत' से श्रेष्ठतर कोई नहीं है—

(१) 'तस्मात्**काकमतान्नास्ति** त्वभ्यासारव्य मतः परम्॥'

(२) बिना **कर्म** के योगसिद्धि नहीं प्राप्त होती—

'न कर्मणा विना देवि ! योगसिद्धिः प्रजायते॥'

(३) **लयादि योग**-साधन के बिना भी सिद्धि नहीं मिलती—

(४) पूर्वजन्म-कृत अभ्यास से शीघ्र सिद्धि मिलती है—

'पूर्वजन्मकृताभ्यासात्सत्वरं फलमश्नुते॥'

इसीलिए **'काकमत'** से श्रेष्ठतर कोई मत नहीं है।

योगाभ्यास के फल—

(१) 'आदौ **रोगाः प्रणश्यन्ति**' : रोगों का अन्त।

(२) 'पश्चा**ज्जाड्यं शरीर**गम्' : शरीर की जड़ता का अन्त।

(३) 'ततः **समरसो** भूत्वा' : समरसत्व की प्राप्ति।

(४) **'चन्द्रो वर्षत्यनारतम्'** : अमृत-वर्षा।

(५) **'धातुं स्व संग्रसेद** वह्निः (फिर अग्नि पवन के साथ अपनी धातु को 'पवनेन समन्ततः।' ग्रास बना लेता है।

(६) शरीर में अनेक प्रकार के **नादों का प्रादुर्भाव**

(७) शरीर में **मृदुता** आ जाती है।

(८) पृथ्वी आदि तत्त्वों की **जड़ता को जीतकर** योगी **खेचरत्व** पाकर **ब्रह्माण्ड में स्वच्छन्द विचरण** करता है।

(९) योगी **सर्वज्ञता** प्राप्त कर लेता है।

(१०) कामदेव के समान **रूपवान्** हो जाता है।

(११) पवन के समान **वेगवान्** हो जाता है।

(१२) **लोकत्रय में रमण** करता है।

(१३) **समस्त सिद्धियाँ** प्राप्त हो जाती हैं।

(१४) **अहंकार का** लय हो जाने पर देह में कठिनता नहीं रह जाती और इस स्थिति में—

'सर्वज्ञः सर्वकर्ता च स्वतंत्रो विश्वरूपवान्।
जीवन्मुक्तो भवेद् योगी स्वेच्छया भुवने भ्रमेत्॥'[1]

---

१. योगबीज (१७०)

*** सिद्धियाँ, उनके प्रकार तथा उनका महत्त्व ***

देवी ने शंकर से पूँछा कि निर्विकल्प एवं चिन्मय आत्मा में **सिद्धियों की उपयोगिता क्या है ?** वे वहाँ क्या करेंगी?

भगवान शंकर उत्तर देते हुए कहते हैं कि—हे पार्वती ! लोक में सिद्धियाँ दो प्रकार की होती हैं—(१) **'कल्पित सिद्धियाँ'** (२) **'अकल्पित सिद्धियाँ'**।

[क] **'कल्पित सिद्धियाँ'** = ये रसौषधि, क्रिया, काल, मन्त्र एवं क्षेत्रादि साधनों से उत्पन्न सिद्धियाँ हैं। (साधनोद्भूत सिद्धियाँ)

[ख] **'अकल्पित सिद्धियाँ'**—ये साधन के बिना स्वयं उत्पन्न सिद्धियाँ हैं। ये सिद्धिस्वरूपा, नित्य, पूर्ण प्रभावशालिनी, इच्छारूपिणी एवं योगोद्भूत सिद्धियाँ हैं। ये वासना-रहित योगियों में चिरकाल पर्यन्त रहती हैं। ये शुभ, अव्यय परमात्मपद में बिना कार्य के दीप्त रहने वाली सिद्धियाँ हैं और वासनाशून्य साधकों में ये चिरस्थायी रहती हैं—

'सिद्धा नित्या महावीर्या इच्छारूपाश्च योगजाः।
चिरकालात्प्रजायन्ते वासनारहितेषु च।
ताः शुभा या महायोगात्परमात्मपदेऽव्यये।
विना कार्यं सदा दीप्ता **योगसिद्धस्य लक्षणम्।।**'[१]

ये ही 'योगसिद्ध' के लक्षण हैं।

मोक्षमार्गी को तो ये स्वतः उसी प्रकार प्राप्त हैं, यथा काशी जाने वाले पथिक को मार्ग में अपने आप अनेक तीर्थों के दर्शन हो जाते हैं।

'यथा काशीं समुद्दिश्य गच्छद्भिः पथिकैः पथि।
नानातीर्थानि दृश्यन्ते तथा मोक्षे तु सिद्धयः।।'

जीवन्मुक्ति—सिद्धियों के द्वारा 'जीवन्मुक्त' की परीक्षा करनी चाहिए। सिद्धियों से हीन पुरुष तो सर्वथा बंधनग्रस्त है। जो शरीर से अजर-अमर है (योगाभ्यास द्वारा सिद्धदेह प्राप्त कर चुका है) वही **'जीवन्मुक्त'** है।

'सिद्धिभिः परिहीनं तु नरं बद्धं हि लक्षणम्।
अजरामरपिण्डो यो जीवन्मुक्तो स एव हि।।'[२]

चिन्मयीकरण एवं ब्राह्मी स्थिति—(जीवन्मुक्ति) नाथ योगी कहते हैं कि मुक्त

---

१. योगबीज (१७७-१७८)
२. योगबीज (१८३)

उसे कहते हैं जिसका शरीर, जल में घुले नमक की भाँति, ब्रह्म में लीन होकर ब्रह्मरूप एवं चिन्मय हो जाय—

'देहो ब्रह्मत्वमायाति जलतां सैन्धवं यथा।
अनन्यतां यदा याति तदा **मुक्तः** स उच्यते।।
चिन्मयानि शरीराणि इन्द्रियाणि तथैव च।।
अनन्यतां यदा यान्ति तदा मुक्तः स उच्यते।।'

योगी का शरीर ही नहीं प्रत्युत् उसकी इन्द्रियाँ भी जड़त्व का त्याग करके चिन्मय हो जाती हैं।

सर्वचिन्मयीकरण—शैव-शाक्त तांत्रिकों की दृष्टि यह थी कि संसार की प्रत्येक वस्तु तत्त्वतः चिन्मय हैं। जड़त्व उसकी ऊपरी खोल है। अतः विशुद्ध रूप में जड़नाम की कोई वस्तु संसार में है ही नहीं। इसी दृष्टि का साक्षात्कार करना—सार्वत्रिक चिन्मयता का दर्शन करना—जड़ पदार्थों को भी चिन्मय देखना शैव-शाक्त तांत्रिकों एवं नाथ योगियों की साधना का परम काम्य था, किन्तु शाङ्कर अद्वैतवाद में तो—

(१) केवल ब्रह्म एवं जीव ही चेतन हैं।

(२) जगत तो जड़ है।

(३) जड़ के साथ चेतन का सम्बंध ही 'ग्रंथि' है या बंधन की गाँठ है। उसे खोलना और दोनों को पृथक्-पृथक् करके (जड़ रूप में जगत को एवं चेतन रूप में जीव एवं ब्रह्म को देखना और अनुभव करना)—उनकी पृथकता का अनुभव करना ही शाङ्कर ज्ञानमार्ग की साधना है। **यह चिन्मयीकरण की दृष्टि** तो उनमें है ही नहीं। नाथ-मार्ग में यह है; इसीलिए कहा गया है कि—

(१) आत्मा, शरीर एवं इन्द्रियाँ सभी **चेतन** एवं **ब्रह्मरूप** हैं—

(क) 'देहो **ब्रह्मत्वमायाति** जलतां सैन्धवं यथा।
अनन्यतां यदा याति तदा **मुक्तः** स उच्यते।।

(ख) **चिन्मयानि शरीराणि इन्द्रियाणि** तथैव च।
अनन्यतां यदा यान्ति तदा मुक्तः स उच्यते।।

यदि ऐसा न हो तो कुत्ते, कुक्कुट एवं कीट आदि एवं योगियों तथा मुक्तों के शरीर में भेद ही क्या रह जाएगा?

'ये श्वकुक्कुट कीटाद्या मृतिं सम्प्राप्नुवन्ति ते।
तेषां किं पिण्डपातेन मुक्तिर्भवति सुन्दरि।।'

—योगबीज

ओंकारोपासना—योगिराज गोरक्षनाथ ओंकारोपासना को इतना अधिक महत्व देते हैं कि वे कहते हैं कि उसकी साधना के बिना कोई भी योग-सिद्धि प्राप्त ही नहीं हो सकती—

'ओंकार आछै बाबू मूल मंत्र धारा।
ओंकार व्यापीले सकल संसारा।
ओंकार नाभी हृदै देव गुरु सोई।
ओंकार साधे बिना सिधि न होई।।'[१]

नादोपासना—गोरक्षनाथ नादोपासना को परम निर्वाण का साधन मानते हैं। वे कहते हैं—

'नादैं लीन ब्रह्म, नादै लीना नरहरि,
नादै लीना उमापती जोग ल्यौ धरि धरि।
नाद ही तौ आछै बाबू सब कछू, निधानां।
नाद ही थैं पाइये परम निरवानां।।'[२]

मन्त्रोपासना—योगिराज गोरक्षनाथ अजपाजप, नादोपासना एवं ओंकारोपासना के अतिरिक्त भगवान शिव के 'पञ्चाक्षरी मन्त्र'—

'ॐ नमः शिवाय' के जप को भी उतना ही महत्व प्रदान करते हैं—'ॐ नमो सिवाई बाबू ओं नमो सिवाइ। अहनिसि बाइ मंत्र कौणें रे उपाइ।।'' वे पूँछते हैं कि—''रात-दिन प्राण वायु के चलते रहने से निरन्तर 'सोऽहं हंसा' का जो **जप साँस** के द्वारा होता रहता है, उस **वायु-मंत्र** को किसने उत्पन्न किया?उस पवन-मंत्र का मूल (उत्पादक) ॐकार है। उसी से सारी सृष्टि की धारा छूटी है। ओंकार सारे संसार में व्याप्त है। ओंकार नाभि एवं हृदय अर्थात् स्वाधिष्ठान एवं अनाहत चक्र में निवास करता है। ॐकार ही देवता है। ओंकार ही गुरु है। ओंकार की साधना के बिना सिद्धि नहीं होती।।[३]

जप-साधना—गोरक्षनाथ मंत्रयोगी भी हैं। अतः वे मंत्र-जप को भी महत्व देते हैं। वे कहते हैं कि हे अवधूत ! ''जपमाला पहचानो और वह जप करो, जिससे ब्रह्मानुभूति स्वरूप यथार्थ की प्राप्ति हो।'' जिस अगम्य जप का जाप गोरख ने किया उसे कोई बिरला ही जानता है—

'अवधूजाप जपौ जपमाली। चीन्हौ, जाप जप्यां फल होई।'[४]

---

१. गोरखबानी (पद)
२. गोरखबानी (पद)
३. गोरखबानी
४. **अगमजाप जपीला गोरख**, चीन्हत बिरला कोई।''

गोरखनाथ कहते हैं कि—

'कवल बदन काया करि कंचन चेतनि करौ जपमाली॥'

'एक अखीरी एकंकार जपीला, सुंनि अस्थूल दोइ वाणी॥'

प्यण्ड ब्रह्माण्ड सभि तुलि व्यापीले, एक अखिरी हम गुरमुखि जांणी।

गोरक्षनाथ कहते हैं कि शून्य (आत्मिक) एवं बाह्य दोनों वाणियों से एकाकार अद्वय परब्रह्म का जप ही **एकाक्षरी मंत्र** जप है। इसी एकाक्षरी मंत्र जप को मैंने गुरुमुख से सीखा है—

'एक अषीरी एकंकार जपीला। सुंनि अस्थूल दोइ बांणी॥'

जप का यथार्थ स्वरूप—

जप के अङ्ग (यथार्थ जप करने की आदर्श विधि)

(१)	(२)	(३)
'कमल (चक्र)'	**'काया'**	**(जप करने की) 'माला'**
(चक्र को मंत्र-जप करने वाला **मुख** बनाओ। 'चक्र' = अपना मुख। साधक का मंत्र-जापक मुख।	(सोने के मनके। माला में ग्रथित स्वर्ण के मनके) 'काया' = माला की गुरियाँ	(**चैतन्य**रूपी जप की माला) इसी माला में मनके गुथे हैं

मंत्र-जप करने वाले साधक का **'मुख'** = चक्र	'शरीर' (मनका)	माला (चैतन्य)

'वर्णेषु नादोऽनुस्यूतः॥'—वरि० रहस्यम् ।

सारांश—

(१) **चैतन्य रूपी माला** द्वारा जप करो।

(२) इस माला में **शरीर को ही मनका** बनाओ।

(३) शरीरस्थ आध्याव्यौगिक विभिन्न चक्रों को ही जप करने वाला **'मुख'** बनाओ।

इस जप-क्रिया में दो तत्त्व प्रमुख हैं—

(१) **'चैतन्य'** (माला) (२) **'चक्र'** (जापक-मुख)।

रहस्यार्थ—'मंत्राश्चिन्मरीचयः॥'

'मन्त्र' चैतन्य की रश्मियाँ हैं।' अत: मंत्र-साधना में **चैतन्य-संचार अपरिहार्य** तत्त्व हैं।

यह **चैतन्य-संचार** बाह्यमुख से वर्ण-पुनरावृत्ति करने से संभव नहीं है। मंत्रोच्चारण **'चक्र'** से हो।

प्रत्येक **'चक्र'** (मूलाधार, स्वाधिष्ठान, अनाहत, आज्ञा, सहस्त्रार आदि चक्र) के (मुख) द्वारा जब चैतन्य-स्फुरण हो तो उस चैतन्यस्फुरण को ही **मंत्र-जप** समझना चाहिए।

विशेष—अनाहतादि चक्रों से जो मंत्र निकलते रहते हैं वे नादात्मक मंत्र होते हैं। वे स्वयंभू, नित्य, शाश्वत एवं चैतन्यप्राण मंत्र होते हैं। इन मंत्रों से जगत की सृष्टि-स्थिति-संहार आदि सारी क्रियायें सम्पन्न होती हैं।

इस बात को और स्फुट किया जाय तो हमें यह कहना होगा कि—

(१) मुख एवं मुख के उच्चारण-स्थानों से उच्चरित 'मंत्र' यथार्थ मंत्र नहीं हैं प्रत्युत् वे मंत्र की नकल मात्र हैं यथा **प्रतिबिम्ब** 'बिम्ब' की नकल या छाया मात्र होता है, यथार्थ वस्तु का स्वरूप नहीं हुआ करता।

(२) वर्णों का जप काम्य नहीं है प्रत्युत् उसमें अन्तर्निहित **'नादशक्ति'** का स्फुरण काम्य है।

(३) **'नाद'** शिव एवं शक्ति का अन्तर्सम्बन्ध है।

(४) 'आसीच्छक्तिस्ततो **नाद:,** नादाद् बिन्दु समुद्भव:।। 'नाद' पारमात्मिकी अचिन्त्य शक्ति की ध्वन्यात्मक बाह्याभिव्यक्ति है। अत: 'नाद' **'परमात्मा की शक्ति'** है।

(५) यही पारमात्मिकी शक्ति जब और स्थूल रूप धारण कर लेती है, तब वह वर्णात्मक मंत्र बन जाती है।

'मंत्र' के विभिन्न स्वरूप

(१)	(२)
नादात्मक मंत्र	(सुषुप्तनाद वाला) **वर्णात्मक मंत्र**
(अनाहत ध्वनि रूप)	(नादात्मक मंत्र ही काम्य है, क्योंकि वर्णात्मक मंत्र
(ओंकार निमज्जित)	(आत्मा चैतन्य-संचार का) साधन है।
*** साध्य मन्त्र ***	(साधन-मंत्र)

नादात्मक मंत्र ⟶ **वर्णात्मक मंत्र**

(सूक्ष्म मंत्र) (स्थूल मंत्र)

(आत्मिक चैतन्य से संस्पृष्ट मन्त्र) (चैतन्यशून्य, मृत वर्णों की समष्टि के रूप में अवस्थित 'मन्त्र')

वेदों की दृष्टि—

"चत्वारि वाक् परिमिता पदानि,
तानि विदुर्ब्राह्मणो ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेंगयन्ति।
चतुर्थो वाचो मनुष्याः वदन्ति।"

सारांश—

वाणी के भेद

(१) *** गुफ़ा में बन्द तीन वाणियाँ ***
(जिन्हें न मानव सुन सकता है और न बोल सकता है।)
(परा। पश्यन्ती। मध्यमा)

(२) **'चतुर्थ वाणी'**
(जिन्हें मनुष्य एवं सारे प्राणी बोलते हैं।) (इस वाणी में बोला गया मंत्र यथार्थ मंत्र नहीं है।)

वर्णों में नाद अन्तर्निहित रहते हैं—

'वर्णेषु नादोऽनुस्यूतः।'

—वरिवस्यारहस्यम्।

*** गुहागत वाणियाँ ***

(१) ये नादात्मक मंत्र हैं। इन वाणियों से उच्चरित मंत्र ही **यथार्थ मंत्र** हैं, क्योंकि इनसे उच्चरित ध्वनियों में चैतन्य का प्रवाह (चेतना का सञ्चार) भी रहता है।

इन मंत्रों को जपा नहीं जा सकता। **ये 'स्वयंभू मंत्र'** हैं। साधक द्वारा बराबर की जाने वाली आत्मिक साधना द्वारा जब उनमें चैतन्य का स्फुरण होता है, तब ये मंत्र अनाहत नाद के रूप में स्वयमेव स्फुरित होने लगते हैं।

*** मुखोच्चारित वाणी ***

(२) ये अनादात्मक मंत्र हैं और मुख के उच्चारणावयवों से जपे जाते हैं।

इनमें चैतन्य-प्रवाह नहीं होता।

ये स्वंयभू मंत्र नहीं हैं। ये सप्रयास जपे जाने वाले मंत्र हैं। 'सोऽहं जप' स्वयंभू जप है, किन्तु ये द्वितीय श्रेणी के मंत्र एवं मंत्र-जप स्वयंभू नहीं सायास मंत्र जप हैं।

*** जप का यथार्थ स्वरूप एवं अयथार्थ स्वरूप ***

(१)
'गुहा त्रीणि निहिता नेंगयन्ति'
के रूप में अवस्थित **'गुहात्रय'**
(१) परा (२) पश्यन्ती (३) मध्यमा
से स्वयमेव जपे जाने वाले मंत्र।।
(आदर्श मंत्र। आदर्श जप)

(२)
'चतुर्थो वाचो मनुष्या: वदन्ति।'
मुखोच्चारित वर्णात्मक मंत्र
जो चतुर्थ वाणी
से जपे जाते हैं।
(अनादर्श, स्थूल जप)

*** योगी भास्कर राय प्रोक्त जप का स्वरूप ***

(१) मन्त्र के वर्णों का उच्चारण
(२) ५ अवस्थायें
(३) शून्य (६ शून्य)
(४) विषुव (७ विषुव)
(५) ९ चक्र
(६) मंत्रार्थ-चिन्तन

'एवमवस्था शून्यविषवन्ति चक्राणि पञ्चषट् सप्त।
नव च मनोरर्थाश्च स्मरतोऽर्णोच्चरणं तु **जप:**।।'

—वरिवस्यारहस्यम् ।

'चक्रभावन'

सकल
सकल निष्कल
निष्कल

*** गोरक्षनाथ का मंत्र-विज्ञान एवं मंत्र-रहस्य ***

गोरक्षनाथ ने 'नाथ-सम्प्रदाय' में जिस **मन्त्र-साधना** का प्रचार प्रसार किया **वे 'मन्त्र' वर्णों से संगठित मंत्र नहीं थे प्रत्युत् वे वर्णों में अनुस्यूत चैतन्य-शक्ति के मंत्र** थे, क्योंकि **'मंत्र' वर्णों का नहीं नाद-प्रवाह का होता है,** क्योंकि—

'वर्णेषु नादोऽनुस्यूत:।।'[१]

मंत्र का स्वरूप—मूलाधार से उठने वाला **'नाद'** वर्णों के मध्य से होता हुआ, फूल की माला में पिरोये, सूत्र की भाँति होता है—

---

१. वरिवस्यारहस्यम् (प्रथमोंश:)

'आधारोत्थितनादो गुण इव परिमाति वर्णमध्यगतः॥'

[1] * शिवसूत्र विमर्शिनीकार क्षेमराज की दृष्टि *

आचार्य क्षेमराज कहते हैं कि—

(१) अभेदेन विमृश्यते परमेश्वररूपम् अनेन इति मंत्रः।

(२) परस्फुरत्तात्मकमननधर्मात्मता, भेदमयसंसारप्रशमनात्मक **त्राणधर्मता** च अस्य निरुच्यते॥

(३) 'मंत्रदेवताविमर्शपरत्वेन प्राप्त तत्सामरस्यम् आराधकचित्तमेव मंत्रः 'चित्तंमंत्रः॥'

—(शिव सूत्र २।१)

(४) मुखोच्चरित मंत्र 'मंत्र' नहीं हैं—

'उच्चार्यमाणा ये मन्त्रा न मंत्राश्चापि तान्विदुः।
मोहिता देव गन्धर्वा मिथ्या ज्ञानेन गर्विताः॥'[2]

(५) '**मन्त्राणां जीवभूता** तुया स्मृता **शक्ति**ख्यया।
तथा हीना वरारोहे निष्फलाः शरदभ्रवत्॥'

(६) पृथङ्मन्त्रः पृथङ्मन्त्री न सिद्ध्यति कदाचन।

—श्री कण्ठी संहिता।

(७) सहाराधक चित्तेन तेनैते **शिवधर्मिणः**॥

—स्पन्दकारिका

'तन्त्र सद्भाव' में कहा गया है—

(८) सर्वे वर्णात्मकाः मन्त्रास्ते च **शक्त्यात्मकाः** प्रिये।
शक्तिस्तु मातृका ज्ञेया सा च ज्ञेया **शिवात्मिका**।

(९) अस्मात्तु कारणद्देवि ! मया वीर्यं प्रगोपितम् ।
तेन गुप्तेन ते गुप्ताः शेषावर्णास्तु केवलाः।

(१०) **पशुभावै स्थिता** मन्त्राः केवलावर्णरूपिणः।
सौषुम्णेऽध्वन्युच्चरिताः पतित्वं प्राप्नुवन्ति ते॥

—हंसपारमेश्वर

---

१. वरिवस्यारहस्यम् (२२)
२. सर्वज्ञानोत्तर
३. श्री तन्त्र सद्भाव

शिवशक्तिसामरस्यवाद—योगी गोरक्षनाथ 'शक्ति' एवं 'शिव' दोनों के साधक थे। **त्रिकदार्शनिक** भी शक्ति एवं शिव दोनों के उपासक थे।

गोरक्षसाधना का लक्ष्य था—पाताल में विरहाकुल-स्थित शक्ति को उठाकर शून्य लोक में ऊर्ध्वस्थित शिव से मिलाना अर्थात् शक्ति का शिव से सामरस्य कराना—

'**सक्ति** रूपी रज आछै सिव रूपी व्यंद।।
बारह कला **रवि** आछै सोलह कला **चन्द।**
चारिकला रवि की जे ससि घरि आवै।
तौ **सिव सक्ती** संमि होवै अन्त कोई न पावै।।'

(मूलाधारस्थ अमृतशोषक **सूर्य की १२ कलायें** हैं और सहस्रारस्थ **चन्द्रमा की १६ कलायें** हैं। यदि रवि की ४ कलायें शशि में मिल जायँ तो शिव एवं शक्ति सम हो जायँ।।)

अजपाजप—गोरक्षनाथ कहते हैं—

'**अजपा जाप** जपंता गोरख अतीत अनुपम ज्ञानं।।'

गोरक्ष के जप का स्वरूप—

"जे जाप सकल सिष्टि उतपंना।
ते जाप श्री गोरखनाथ कथियां।
'मछिद्रं प्रसादैं जती गोरखबोल्य,
अजपा जपिला धीर रहाणी।।"

अनिर्वचनीयतावाद—गोरक्षनाथ ने भाषा के किन्हीं शब्दों की लक्ष्मणरेखा खींचकर परमतत्त्व को न तो सीमाबद्ध किया और न तो मन की प्राचीर में कैद करके उसे सीमित बनाया प्रत्युत उन्होंने कहा **'बसती न सुन्यं, सून्यं न बसती अगम अगोचर ऐसा। गगन सिखर महिं बालक बोलै ताका नाँव धरहुगे कैसा।'** वह 'बसती' (अस्ति) और शून्य (नास्ति) दोनों से अतीत है। वह भाव-अभाव दोनों से परे है। वह आकाश मण्डल (ब्रह्मरंध्र) में बोलने वाला बालक है।[१]

कुण्डलिनी योग—गोरक्षनाथ के हिन्दी के ग्रंथों में भी **'कुण्डलिनी योग'** का वर्णन मिलता है—

"पाताल की गंगा ब्रह्माण्ड चढ़ाइबा तहाँ विमल रस पीया।।"[२]

---

१. गोरखबानी (सबदी)
२. गोरखबानी (सबदी २)

गोरक्षनाथ जी ने **कुण्डलिनी का परिचय** इस प्रकार दिया है—

'नाभ अस्थान क मोरा सास नैं सुसरा, ब्रह्म अस्थान क मोरा बासा।
'इला प्यंगुला जोगण भेंटी, सुखमन मिल्या घर बासा।।'

कुण्डलिनी का श्वसुरालय मूलाधार एवं पीहर ब्रह्मरंध्र है।

कुण्डलिनी मूलाधार में नीचे रहती है, किन्तु आरोहण के समय उल्टा चलती है—

उलटी सकति चढ़ै ब्रह्मण्ड' नख सिख पवनां खेलै सरबंग।
उलटि चन्द्र राहू कूं ग्रहै। सिधसंङ्केत जती गोरख कहै।।२१७।।

(जब कुण्डलिनी शक्ति उलटकर ब्रह्माण्ड में पहुँच जाती है और नख से शिखा पर्यन्त सर्वाङ्ग में वायु व्याप्त हो जाती है (वायु भक्षण होने लगता है), तब उलटा सहस्रारस्थ चन्द्रमा ही राहु (आधारस्थ सूर्य) को ग्रस लेता है। इससे अमृतपान होने लगता है। यही **'सिद्ध संकेत'** है।)

अगोचरी मुद्रा एवं शांभवी मुद्रा पर बल—गोरक्षनाथ ध्यानाभ्यास के लिए दो मुद्राओं को प्राधान्य देते हैं—(१) 'अगोचरी मुद्रा' (२) 'शांभवी मुद्रा'।

'नासिका अग्रे भ्रूमण्डले अहनिस रहिबा थीरं।
माता गरभि जनम न आयबा, बहुरि न पीयबा खीरं।।२७५।।'

उन्मन योग—'समना' के बाद 'उन्मनी' की स्थिति है। यह योग-साधना में ऊर्ध्वारोहण की सर्वोच्च स्थिति है, जहाँ मन का अस्तित्व ही नहीं रह जाता। गोरक्ष-योग में इसका अत्यधिक महत्व है। गोरक्षनाथ कहते हैं—ज्ञान और गुरु हमारे दो तूम्बे हैं। चेतन इच्छा तम्बूरे की डाँडी हैं, तम्बूरे पर **उन्मना की** ताँत बज उठी, इससे सारी तृष्णाओं का अन्त हो गया—

'ज्ञान गुरु दोऊ तूँबा अम्हारे, मनसां चेतनि डांडी।
उनमुनी तांती बाजन लागी, यहि बिधि तृष्णा खांडी।।'

बाह्योन्मुख साधना की व्यर्थता—गोरक्षनाथ ने अपनी साधना में तीर्थ-व्रत, मूर्तिपूजन आदि बाह्यवर्ती साधनाओं का खण्डन किया है—

"पषांणची देवली पषांण चा देव।"
'पषांण पूजिला कैसे फटीला सनेह।'
"तीरथि तीरथि सनान करीला। बाहर धोये कैसे भीतरि भेदीला।।"
'नव नाड़ी बहोतरि कोठा। ए अष्टांग सब झूठा।'
"कूँची ताली सुषमन करै। उलटि जिभ्या ले तालू धरै।।"

(शरीर में इतनी नाड़ियाँ है, इतने कोष्ठ हैं—आदि अष्टांग योग का सारा ज्ञान

आभ्यंतर अनुभूति के बिना मिथ्या है। सुषुम्णा के द्वारा ताली पर कुंजी लगाओ (खोलो) ब्रह्मरंध्र का वेधन करो और जिह्वा को उलटकर तालमूल में रखते हुए चन्द्र-स्रवित सुधा का पान करो।)

गोरक्षनाथ ९ नाथ एवं ९४ सिद्धों की भी खबर लेते हुए कहते हैं—

'नौ नाथ नै चौरासी सिधा, आसणधारी हूवा।
जोग कौ तिन पार न पायौ, वनखंडां भ्रमि भ्रमि मूवा।।'

सर्वात्मवाद, 'पूर्णाहन्ता' एवं अपने विराट अहं का साक्षात्कार

काश्मीर के त्रिकदर्शन में दो दृष्टियाँ हैं—

(१) सर्वात्मवाद (२) 'पूर्णाहन्ता' : 'अहमस्मि' 'अहमिदम्' एवं 'इदमहम्' का विमर्श।

इसी उच्चतम आत्मोत्कर्ष के अभ्रंलिह सोपान पर समारूढ़ गोरक्षनाथ को अपने से पृथक् कोई अन्य—('अहं' के अतिरिक्त 'त्वं' एवं 'स:') दिखाई ही नहीं पड़ता। यह अद्वैत की पराकाष्ठा है। इस सोपान पर समारुढ़ गोरक्षनाथ कहते हैं—

कासौं झूझौं अवधू राइ, विषम न न दीसै कोई।
जासौं अब झूझौ रे आत्माराम सोई।
अपाण ही मछ कछ आपण ही जाल।
आपण हीं धीवर आपण हीं काल।।
आपण ही स्यंघ बाघ आपण ही गाइ।
आपण ही मारीला आपण ही खाइ।।

साधना में स्वानुभूति पर बल (अनुभूति-प्राधान्य)—

परमात्मा धार्मिक पुस्तकों से अवबोध्य नहीं है। वह अनुभूति-गम्य है—

'बेदे न शास्त्रे कतेबे न कुराणे पुस्तके न बंच्या जाई।
ते पद जानां बिरला जोगी और दुनी सब धंधै लाई।।'
'बेद कतेब न षाणीं बाणी। सब ढंकी तलि आंणी।।'

गोरक्षनाथ कहते हैं—

'कहणि सहेली रहणि दुहेली, कहणि रहणि बिन थोथी।
पढ्या गुंण्या सूवा बिलाई खाया, पंडित के हाथि रहि गई पोथी,
कहणि सहेली रहणि दुलेली, बिन खायां गुड़ मीठा।
खाई हींग कसूर बखाणैं, गोरख कहै सब झूठा।।'

जीवन्मृत्यु—योगिराज जीवन्मृत्यु का उपदेश देते हैं—

'मरौ वे जोगी मरौ, मरण है मीठा।
तिस मरणी मरौ। जिस मरणी गोरख मरि दीठा।।'

नाड़ी योग—योग में 'नाद' 'बिन्दु' 'शक्ति' आदि सभी की साधना, नाड़ियों का आश्रय लेकर ही की जाती है अतः योग-साधना में **'नाड़ी-योग'** का अत्यधिक महत्व है। गोरक्षनाथ कहते हैं—

'अवधू प्रथम नाड़ी **'नाद'** झमंकै, तेजंग नाड़ी पवनं।
सीतंग नाड़ी ब्यंदका बासा, कोई जोगी जानत गवनं।।'

(सुषुम्णा नाड़ी में **नाद,** पिंगला नाड़ी में **पवन** एवं इड़ा नाड़ी में शुक्र का निवास है। इनकी गति तो कोई विरला योगी ही जानता है।)

'अवधू **ईड़ा मारग** चंद्र भणीजै, **प्यंगुला मारग** भानं।
सुषमना मारग बांणी बोलिए, त्रिय मूल अस्थानं।'

(ये ही तीन मार्ग मूल स्थान ब्रह्मरंध्र तक ले जाते हैं।) (इड़ा मार्ग—पिंगला मार्ग—सुषुम्णा मार्ग)

हंस-जप की साधना—गोरक्षनाथ स्वयंभू श्वास-जप को विशेष महत्व देते हुए कहते हैं कि प्रत्येक प्राणी अहर्निश की कालावधि में २१ हजार ६०० श्वासों के माध्यम से इतनी ही बार सोऽहं-सोऽहं का जप करता रहता है—

'इकबीस सहंस षटसां आदू पवन पुरिष जपमाली।
इला प्यंगुला सुखमन नारी, अहनिसि बहै प्रनाली।।'

नाद-बिन्दु-साधना—गुरु गोरक्षनाथ कहते हैं कि—

(१) अनाहत नाद तो अहरन है।

(२) बिन्दु (शुक्र) हथौड़ा है।

(३) नाड़ियाँ—(हवा धौंकने की) धैंकनी है।

(४) मूलाधार आसन है।

(५) मूलाधार को दबाकर दृढ़ आसन से बैठकर लोहारी करो, इससे आवागमन मिट जाएगा—

'अहरणि नाद नैं व्यंद हथौड़ा, रवि ससि खालां पवनं
मूल चापि डिढ आसणि बैठा, तब मिटि गया आवागमनं।।'

षट्चक्र वेधन—तांत्रिक योग-साधना की विशिष्ट साधनाओं में 'षट्चक्र वेधन' भी एक है।

गोरक्षनाथ कहते हैं—

'उलटिया पवन षट्चक्र बेधिया, तातै लोहै सोखिया पांणी।
चंद सूर दोऊ निज धरि राख्या, ऐसा अलख बिनाणी॥'

(प्राण वायु को उलट कर षट्चक्रों का वेधन किया। उससे तप्त लौह (ब्रह्मरंध्र) ने पानी (रेतस) को सोख लिया। चन्द्रमा (इड़ा नाड़ी) और सूर्य (पिंगला नाड़ी) दोनों को अपने घर (सुषुम्णा) में रक्खा। जो योगी ऐसा करे वह अलक्ष्य और विज्ञानी (ब्रह्म) हो जाता है।

सिद्धान्त-ज्ञान की अपेक्षा साधना पर बल—

गोरक्षनाथ 'रहणी' (व्यवहार। आचरण। 'करनीं साधना) पर विशेष बल देते हैं—

'कथणीं कथै सो **सिख** बोलिए, वेद पढ़ै सो **नाती।**
रहणी रहै सो **गुरु** हमारा, हम रहता का साथी॥
'रहता हमारै **गुरु** बोलिए, हम रहता का **चेला।**'

ब्रह्मचर्य-साधना—गोरक्षनाथ की साधना ब्रह्मचर्याश्रित थी। 'योग' बिन्दु-साधना (बिन्दुरक्षण, बिन्दु-शोधन, बिन्दु का आरोहण) के बिना संभव नहीं है इसीलिए गुरु गोरक्षनाथ कहते हैं कि—

'रस कुस बहि गईला, रहि गई छोई।
भणत मछिन्द्रनाथ पूता, **जोग** न होई।'
'कांमनी बहतां जोग न होई, भग मुख परलै केता।'
'भग राकसि लो, भग राकसि लो, विण दंतां जग खाया लो।
ज्ञानी हुता सु ज्ञानमुख रहिया, जीव लोक आपै आप गँवाया लो॥
जिन जननी संसार दिखाया ताकौं ले सूते खोले'
'ब्रह्म झरंता जे नर राखै सो बोलौ **अवधूता।।**'
आपण ही टाटीं फ़ड़िका, आपण ही बंध।
आपण ही मृतग, आपण ही कंध॥
न्हाइबे कौ तीरथ न पूजिबे कौं देव।
भणंत गोरखनाथ अलख अभेव॥

सामरस्यवाद—तांत्रिक शैवशाक्त मत, त्रिपुरा-सम्प्रदाय एवं त्रिक दर्शन में, तांत्रिकों ने जो **'सामरस्यवाद'** सर्वोच्च साधना, सर्वोच्च सिद्धि एवं सर्वोच्च उपलब्धि के रूप प्रतिष्ठित किया है, वही गोरक्षनाथ में भी प्रतिष्ठापित है।

गोरक्षनाथ 'अमरौघ प्रबोध' में कहते हैं—

'निर्याते चित्तरागे व्रजति खररुचौ मेरुमार्गं समन्तात्।
दुद्रज्ञे वह्निभावे स्त्रवति शशधरे पूरयत्याशुकाये।
उद्यत्यानन्दवृन्दे त्यजति तव ममेत्यादिमोहान्धकारे
प्रोद्भिन्ने **ब्रह्मरंध्रे जयति शिव शिवा सङ्गमः** कोप्यपूर्वः।।'[१]

* शरीर पर पञ्चतत्त्वों का प्रभाव *

योगिराज गोरक्षनाथ कहते हैं कि—चूँकि शरीर पञ्चमहाभूतों से निर्मित है। अतः उनकी अल्पता एवं अधिकता आदि स्थितियों में शरीर प्रभावित हुए बिना नहीं रहता—

(१) **तत्पृथिवीमण्डले क्षीणे** वलिरायाति देहिनाम् ।
(२) **तोय-क्षीणे** तृणानीव चिकुराः पाण्डुराः क्रमात् ।
(३) **तेजः क्षीणे** क्षुधाकान्तिर्नश्यति **मारुते** श्लथे।
(४) वेपथुश्च भवेन्नित्यं
(५) **नाभसे** नैव जीवति।[१]
(६) इत्थं भूतक्षयान्मृत्यु र्जीवितं भूतधारणात् ।
(७) पञ्चेद्वर्षशते लक्ष्येन्नान्यथा मरणं भवेत् ।

प्राणायाम + महामुद्रा आदि अभ्यास प्रतिदिन दिन के चारों प्रहरों में ८-८ बार करने पर प्राण मध्यम पथ (सुषुम्णा) में प्रविष्ट हो जाता है।

प्राण का सुषुम्णा में प्रवेश कैसे हो ?

गोरक्षनाथ कहते हैं—

'निस्तरङ्गे स्थिरे चित्ते वायुर्भवति मध्यगः।
रविरुर्ध्वपदं याति बिन्दुना याति वश्यताम्।'

* योग साधना में साफल्य-प्राप्ति के प्रति गोरक्ष-दृष्टि *

गोरक्षनाथ कहते हैं—

सर्वचिन्तां परित्यज्य दिनमेकं परीक्ष्यताम्।
यदित्प्रत्ययो नास्ति तदा मे तु मृषा वचः।।

—अमरौघ प्रबोध

---

१. अमरौघ प्रबोध (१६)

योग-साधना में आने वाली विशिष्ट विलक्षणताएँ—
(योग-साधना में सफलता के चिह्न)

गोरक्षनाथ कहते हैं कि योग-साधना के समय अनेक विशिष्ट लक्षण प्रकट होते हैं यथा—

'रुमो (धूमो) **मरीचि खद्योतः दीपज्वालेन्दु भास्कराः।**
अमीकला महाबिम्बं विश्व**बिम्बं** प्रकाशते।'
—अमरौघ प्रबोध

दीपज्वालेन्दुखद्योत विद्युन्नक्षत्र भास्कराः।
दृश्यन्ते सूक्ष्मरूपेण सदा युक्तस्य योगिनः॥[1]

[श्वेताश्वतरोपनिषद् (२।११) 'मण्डलब्राह्मणोपनिषद् (५।१।९-१०) में भी योगिसिद्धि के अनेक चिह्न कहे गए हैं।]

गोरक्ष योग-साधना का चरम लक्ष्य—

(१) चित्त **अहङ्कार के विलय** के साथ **'मैं' और 'मेरा' की पृथकतासञ्जात द्वैतभावना से निर्मुक्त** हो जाता है।

(२) और यह (चित्त) द्वैत के संकल्प-विकल्प से परे हो जाता है। तब वह **समत्वभाव** में स्थित होकर **अद्वैतानुभूति** की स्थिति में **चिति तत्त्व का ध्यान** करने में समर्थ हो जाता है। **चैतन्यसम्पन्नता** ही जीवन है और चैतन्यराहित्य ही मृत्यु है।

(३) **चित्त एवं अचित्त का भेद** समाप्त होने पर **दोनों एक हो जाते** हैं। परिणामस्वरूप सामरस्य से अद्वैतावस्था की परानन्दमयी अनुभूति होती है, जिसे **जीवन्मुक्ति** कहते हैं। यह जीवन एवं मृत्यु दोनों से अतीत एवं अनिर्वाच्य स्थिति है।

(विश्वसत्ता का ब्रह्मसत्ता में लय अद्वय ब्रह्मानुभूति के उदय की ही अवस्था है)

(१) चित्त की **द्वैतभाव से मुक्ति।**
(२) **'अहं'-'मम' की भावना का विनाश**
(३) चित्त और अचित्त में **समत्वभाव**
(४) **जीवन्मुक्ति** की प्राप्ति
(५) **जीवन-मृत्यु** से परे की अवस्था का उदय
(६) राजयोग या अमरौघ की प्राप्ति

---

१. योगशिखोपनिषद (२।१९)

(७) समस्त तत्त्वों पर विजय, तत्त्वों का वशङ्करत्व

(८) विधि-निषेध से परे की स्थिति

—ये समस्त लक्षण, जिस सिद्धावस्था में अन्तर्निहित हों वह **अमरौघप्रबोधकार गोरक्ष** की योग-साधना की चरम उपलब्धि है। गोरक्षनाथ कहते हैं कि—

(१) **समीभावे** समुत्पन्ने **चित्ते द्वैतविवर्जिते।**
(२) **अहं ममेत्यपीत्युक्त्वा सोऽमरौघं** विचिन्तयेत् ।
(३) चित्तं **जीवित**मित्याहु रचितं **मरणं** विदुः।
(४) **चित्ताचित्तेसमीभूते जीवन्मुक्ति**रिहोच्यते।
(५) **न जीवति** ततः कोऽपि न **च कोऽपि मरिष्यति।**
(६) राजयोगपदं प्राप्य सर्वसत्ववशङ्करम् ॥

—अमरौघ प्रबोध

गोरक्षनाथोक्त योगसाधना में आचारविधान—

योगिराज गोरक्षनाथ का योग **'राजयोग' को आदर्श मानकर प्रवृत्त हुआ है** और **'राजयोग' शरीर का नहीं प्रत्युत् मन की साधना का योग है।** अतः गोरक्षनाथ ने स्वप्रवर्तित योग-साधना के लिए एक आचार-संहिता भी निश्चित की है और यह माना है कि उसके बिना कोई भी योग-साधना सिद्ध नहीं हो सकती।

योग-साधना में आचार विषयक नियम—पुस्तक के कलेवर की वृद्धि रोकने हेतु, बिना व्याख्या के ही गोरक्षानुशासन को उन्हीं के शब्दों में प्रस्तुत किया जा रहा है, जो इस प्रकार है—

(१) **अदेखि देखिवा देखि बिचारि बा अदिसिटि राखिया चीया**
(२) **पाताल की गंगा ब्रह्मण्डं चढ़ाइबा।** तहाँ **विमल जल पीया।**
(३) **हसिबा खेलिबा रहिबा** रंग **काम क्रोध न करिबा संग।**
हसिबा खेलिबा गाइबा गीत। दिढ़ करि राखि आपनां चीत।
(४) हसिबा खेलिबा धरिबा **ध्यान** अहनिसि कथिबा **ब्रह्मगियान।**
(५) हसै खेलै न **करै मन-भंग,** ते निहचल सदा नाथ कै संग।
(६) कोई बादी कोई बिबादी, जोगी कौ **बाद न करना।**
(७) अठसठि तीरथ समंदि समावैं, **यू जोगी कौं गुरुमुखि जरनां।**
(८) उतपति **हिन्दू** जरणां **जोगी** अकलि परि **मुसलमानी।**
(९) **अहनिसि मन लै उनमन** रहै, गम की छाँड़ि **अगम की कहै।**
(१०) **छाँड़ै आसा रहै निरास,** कहै ब्रह्मा हूँ ताका दास।
(११) **अरधै जाता उरधै धरै कांम दगध** जे जोगी करै।

(१२) **तजै अल्यंगन काटै माया,** ताका बिसनु परवालै पाया।

(१३) **धन जोबन की** करै न आस, चित्त न राखै कामनि पास।

(१४) **नाद बिंद जाकै घटि जरै।** ताकी सेवा पारबती करै।

(१५) **अजपा जपै सुंनि मन धरै। पाँचौं इंद्री निग्रह** करै।

(१६) **ब्रह्म अगनि में होमै काया।** तास महादेव बंदै पाया।

(१७) फ़ुरतै भोजन अलप अहारी। नाथ कहै सो काया हमारी।

(१८) (सबदहिं ताला सबदहिं कूँची, सबदहिं सबद जगाया।।
सबदहिं सबद सू परचा हूआ, सबदहिं सबद समाया।)

(१९) पंथ बिन चलिबा, अगनि बिन जलिबा, अनिल तृषा जहटिया।

(२०) (ससंवेद श्री गोरख कहिया बूझिल्यौ पंडित पढ़िया।)

(२१) गगन मँडल मैं ऊँधा कूबा तहाँ अमृत का बासा।
सगुरा होई सु भरि भरि **पीवै** निगुरा जाई पियासा

—गोरखबानी

(२२) **मरो वे जोगी मरौ,** मरण है मीठा
तिस मरणी मरौ जिस मरणीं गोरख मरि दीठा।

(२३) **हबकि न बोलिबा,** ठबकि न चालिबा धीरै- धारिबा पावं।
गरब न करिबा सहजै रहिबा, भणत गोरख रावं।

(२४) नाथ कहै तुम सुनहु रे अवधू, **दिढ करि राखहु चीया।**
काम क्रोध अहंकार निबारौ, तौ सबै दिसंतर कीया।।

(२५) **धाये न खाइबा, भूखे न मरिबा,** अहनिसि लेबा **ब्रह्म अगिनि** का भेवं।
हठ न करिबा, पड़्या न रहिबा, यूं बोल्या गोरख देवं।

(२६) **थोड़ा बोलै, थोड़ा खाइ** तिस घटि **पवनां रहै समाइ।**
गगन मँडल में **अनहद बाजै,** प्यंड पड़ै तो सतगुर लाजै।।

(२७) अवधू **अहार तोड़ौ निद्रा मोड़ौ,** कबहुं न होइगा रोगी।
छठे छ मासै **काया पलटिबा** ज्यूं को को बिरला बिजोगी।।

(२८) देव कला ते संजम रहिबा, भूत कला **अहारं।**
मन पवनां लै उनमनि धरिबा, ते जोगी तत सारं।।

(२९) अवधू **निद्रा कै घरि काल,** जंलालं **अहार** कै घरि चोरं।
मैथुन कै घरि जुरा गरासै, अरध-उरध लै जोरं।।

(३०) **अतिअहार** यंद्रीबल करै **नासै ज्ञान** मैथुन चित धरै।
व्यापै न्यंद्रा झंपै काल ताके हिरदै सदा जंजालं।
(३१) **घटि घटि गोरख कहै कहाणीं। काचै भांडै रहे न पांणी।।**
(३२) घटि घटि गोरख **घटि घटि मींन।** आपा परचै गुर मुख चीन्ह।
(३३) **सोहं हंसा सुमिरै सबद।** तिहिं परमारथ अनंत सिध।
(३४) पाखंडी सो **काया पखालै।** उलटि पवन अगनि प्रजालै।
(३५) **व्यंद न देई** सुपनैं जाण। सो पाखंडी कहिए तत्त समान।
(३६) मनवा जोगी गाया मढी। पंचतत्त ले कंथा गढी।।
(३७) **खिमा खड़ासण** ग्यान अधारी। **सुमति पावड़ी डंड बिचारी।**
(३८) **चालत चंदवा खिसि खिसि पड़ै।** बैठा ब्रह्म अगनि पर जलै।।
(३९) यहु **मन सकती, यहु मन सीव।** यहु मन पाँच तत्त का जीव।
(४०) यहु **मन ले जै उनमन रहै।** तौ तीनि लोक की बातां कहै।
(४१) अवधू **नव घाटी** रोकि लै वाट। **बाई वणिजै चौंसठि हाट।।**
(४२) **काया पलटै** अबिचल बिध। छाया बिवरजित निपजै सिध।
(४३) अवधू दम कौं **गहिबा उनमनि** रहिबा, ज्यूं बाजवा अनहद तूरं।
गगन मंडल मैं तेज चमंकै, चंद नहीं तहां सूरं।
(४४) **सास उसास बाइ कौं मखिवा, रोकि लेहु नव द्वारं।**
छठैं छमासि **काया पलटिबा।** तब **उनमैंनी जोग** अपारं।।
(४५) अवधू **सहंस्र नाड़ी पवन चलैगा। कोटि झमंकै नादं।**

—गोरखबानी

(४६) अमावस कै घरि झिलिमिलि चंदा, पूनिम कै धरि सूर।
(४७) **नाद कै धरि ब्यंद गरजै,** बाजंत **अनहद** तूरं।
(४८) **उलटंत नादं पलटंत ब्यंद,** बाई कै घरि चीन्हसि ज्यंद।।
(४९) सुंनि मंडल तहाँ **नीझर झरिया,** चंद सुरजि ले **उनमुनि धरिया।**
(५०) **अपणीं करणीं** उतरिवा पारं।
(५१) **सुसबदे हीरा** बेधिलै अवधू, जिभ्या करि टकसालं।
(५२) **मन मैं रहिणां भेद न कहिणां,** बोलिवा अमृत बांणीं।
आगिला अगनी होई बा अवधू, तौ आपस होइ बा पांणी।।

(५३) **उनमनि रहिबा** भेद न कहिबा, पीयबा नींझर पांणीं।
लंका छाडि पलंका जाइबा, तब गुरमुख लेवा बाणीं।

* मन:स्थैर्य की विधि *

(५४) उत्तराखण्ड जाइबा सुंनिफल खाइबा
ब्रह्म अगनि पहरिबा चीरं।
नीझर झरणौ **अमृत** पीया।
यूं मन हूवा थीरं।।

(५५) हिन्दू ध्यावै देहुरा, मुसलमान मसीत्।
जोगी ध्यावै परमपद, जहाँ देहुरा न मसीत।।

(५६) गोरख कहै सुणहु रे अवधू, **जग मैं ऐसैं रहणां।**
आंखै देखिबा कांनै सुणिबा **मुख थै कछू न कहणां।।**

(५७) नाथ कहै तुम **आपा राखौ, हठ करि बाद न करणां।**
*** यहु जुग है काँटे की बाढ़ी। देखि देखि पग धरणां।।**

(५८) **दृष्टि अग्रे दृष्टि लुकाइबा,** सुरति लुकाइबा कांनं।
नासिका अग्रे पवन लुकाइबा, तब रहि गया पद निरबांन।

(५९) अवधू **मनसा हमारी गेंद बोलिये, सुरति** बोलिए चौगानं
अनहद ले खेलिबा लागा, तब गगन भया मैदानं।।

(६०) **आसण बैसिबा पवन निरोधिबा** थांन मांन सब धंधा।
वदंत गोरखनाथ **आतमां विचारंत,** ज्यूं जल दीसै चंदा।।

(६१) **अपणी आत्मां** आप बिचारी, तब सोवौ पान पसारी।

(६२) **असार न्यंद्रा बैरी** काल, कैसें कर राखिबा गुरु का भंडार।
असार तोड़ो निंद्रा मोड़ौ, **सिव सकती ले करि जोड़ीं।**

(६३) तब जांनिबा **अनाहद** का बंध, ना पड़ै त्रिभुवन **नहीं पड़ै कंध।**

(६४) **सुणौं हो देवल** तजौ जंजाल, अमिय पीवत **तब होइबा** बाल
ब्रह्म अगनि सींचत मूलं, फूल्या फूल कली फिरि फूलं।

(६५) **उलट्या पवनां गगन समोइ,** तब **बाल रूपं पर तषि** होइ

(६६) **बारा कला सोखै, सोला** कला पोषै, **चारि कला साधै अनंत कला जीवै।**

(६७) असाध साधंत, **गगन गाजंत, उनमुनी** लागंत ताली।
उलटंत, पवनं, पलटंत बांणीं, अपीव पीवत जे **ब्रह्म ग्यानी।।**

(६८) **अलेख लेखंत, अदेख देखंत,** अरस परस ते दरस जांणीं।
सुंनि गरजंत, बाजंत नाद, अलेख लेखंत, ते निज प्रवाणी।

(६९) निहचल धीर बैसिबा, पवन निरोधिबा, कदे न होइगा रोगी।
बरस दिन मैं तीनि बर काया पलटिबा, नाग वंग बनासपही जोगी।

(७०) षोडस नाड़ी चंद्र प्रकास्या, द्वादस नाड़ी मानं
सहंस्र नाड़ी प्राण का मेला, जहाँ असंख कला **सिव थानं**।।

(७१) (अवधू काया हमारी नालि बोलिए, दारू बोलिए पवनं।
अगनि पलीता **अनहद गरजै** व्यंद गोला उड़ि गगनं।।

(**शरीर** = बन्दूक, **पवन** = बारुद। **अनहद** = आग। **बिन्दु** = गोला। गोला ब्रह्मरंध्र में चला जाता है—ऊर्ध्वरितसत्वाप्ति।)

(७२) सन्यासी कोई करै सर्वनास, **गगन मँडल महि माडै आस।**
अनहद सूं मन **उनमन रहै**, सो सन्यासी अगम को कहै।

(७३) **उलटिया पवन, षट्चक्र बेधिया**, तातै **सोखिया पाणी।**
चंद सुर दोऊ निज घरि राख्या, ऐसा अलख बिनांणी।

(७४) **अनहद सबद** बाजता रहै, **सिध संकेत** श्री गोरख कहै।

(७५) परमावस्था का स्वरूप क्या है?
* निरति न सुरति जोगं न भोगं, जुरा मरण नहीं तहां रोगं।
गोरख बोलै एकंकार, नहि तहँ वाचा ओअंकार।)

(इसीलिए **कबीर ने कहा था**—'जाप मेरे अजपा मेरे, अनहद हू मरि जाय 'शब्दब्रह्मणि निष्णात: परब्रह्माधिगच्छति।')—(उपनिषद्)

'शब्दब्रह्म' (अनाहत नाद = ॐ) के बाद है 'परपब्रह्म'। 'नाद' के बाद **'नादान्त'** भी तो है।) यह एकाकारावस्था है जो कि 'कैवल्य' कही जाती है।

(७६) **ब्रह्माण्ड फूटिबा**, नगर सब लूटिबा, कोई न जांणवा भेवं।

(७७) **अहंकार तूटिबा, निराकार कूटिबा**, सोखीला गंग जमन का पानी
चंद सुरज दोउ सनमुखि राखिबा, कहो ही अवधूत हां की सहिनाणी।

(७८) **(मीन-मार्ग) मींमा के मारग** रोपी लै भाणं''

(७९) **कहणि** सुहेलीं, रहणि दुेली, **कहणि रहणि बिन थोथी।**
पढ्या गुंण्या सूवा बिलाई खाया, **पंडित के हाथ रह गई पोथी।**

(८०) जल कै संजनि **अटल अकास**, अन कै संजमि **जोति प्रकास**
पवनां संजनि लागै बंद **व्यंद कै संजमि थिर है कंद**

(८१) **सबद बिन्दौ** रे अवधू **सबद बिन्दौ** थांन मान सब धंधा।
आतमां मधे प्रमातमा दीसै, ज्यौ जल मधे चंदा।
(८२) **आसण दिठ अहार दिढ** जे **न्यंद्रा दिढ** होई।
गोरख कहै सुणौं रे पूता **मरै न बूढा होई।।**
(८३) तूटी डोरी **रसकस** बहै। **उनमनि** लागा अस्थिर है।
(८४) **उनमनि** लागा होइ अनंद। तूटी डोरीं **बिनसै कंद।**
(८५) **सवद बिन्दौ अवधू सबद बिन्दौ** सबदे सीझंति काया।
(८६) खरतर **पवनां रहै निरंतरि। महारस सीझै** काया उभि अंतरि।
(८७) गोरख कहै अम्हे चंचल ग्रहिया। **सिव सक्ती** ले **निज** धरि रहिया।
(८८) नव नाड़ी बहोतरि कोठा ए **अष्टांग सब झूठा।**
(८९) **उनमन जोगी** दसवैं द्वार। नाद व्यंदले धूंधूंकार।
(९०) दसवें द्वारे देइ कपाट। गोरख खोजी औरै बाट।।
(९१) **बजरी** करंता **अमरी** राखै **अमरि** करंता बाई।
भोग 'करंता जे **ब्यंद राखै** गोरख का गुरभाई।।
(९२) भगमुखि ब्यंद अगनि मुखि पारा।
जो राखै सो गुरु हमारा।
(९३) **अगनि बिहूंणां** बंधन लागै, **ढलकि जाइ रस काचा।**
(९४) **पवन** हीं जोग **पवन** हीं भोग, **पवन** हीं हरै छतीस रोग
या **पवन** कोई जांणै भेव, सो आपै करता आपै देव।।
(९५) **ब्यंद ही जोग**, ब्यंद ही भोग, ब्यंद हीं हरै चौसठि रोग।।
या **बिंद** का कोई जाणै भेव, सो आपैं करता आपैं देव।।
(९६) **काछ का जती मुख का सती।**
(९७) 'अवधू **मन चंगा तौ कठौती ही गंगा।।**
(९८) (ब्रह्माग्नि—वायु, जीवन, शरीर एवं बिन्दु की परिपक्वता।
तौ देवी पाकी **बाई,** पाका **जिंद,** पाकी **काया** पाका **बिंद।**
ब्रह्म अगनि **अखण्डित बलै,** पाका अगनीं **नीर** परजलै।।
(९९) (आसन, पवन एवं ध्यान की निश्चलता—
अग्नि, बिन्दु एवं वायु की रक्षा।
निस्चल **आसन पवनां ध्यानं अगनीं ब्यंद** न जाई।।
(१००) पंथि चले चलि पवनां तूटै **नाद बिंद** अरु **बाई**
घट ही भीतरि अठ सठि तीरथ कहाँ भ्रमै रे भाई।
(१०१) आकास तत **सदासिव** जाण। तसि अभिअंतरि **पद निरबांण।**

(१०२) **दाबि न मारिबा, खाली राखिबा, जानिबा अगनि का भेवं।**
(१०३) **नाद बिंद बजाइले** दोऊ पूरिले **अनहद बाजा।**
(१०४) **अनहद सबद गगन मैं गाजै।** प्यंड पड़ै तो सतगुर लाजै।
(१०५) **गगन मंडल,** मै सुंनि द्वार। बिजली चंमकै घोर अंधार।
(१०६) सूर माहिं चंद,चंद माहि सूर चपंपि तीन तेहुड़ा बाजल तूर।
(१०७) **ज्ञान सरीखा गुरु न मिलिया।** चित्त सरीखा **चेला।**
मन सरीखां मेलू न मिलिया तीथैं गोरख फिरै अकेला।।

—गोरखबानी

गोरक्ष की मनः साधना—'अमनस्क योग'

मनस्तत्त्व एवं 'उन्मन योग'—योगिराज गोरक्षनाथ कहते हैं—

'उनमनि रहिबा भेद न, कहिबा'

क्योंकि—'**मन** एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयो:।।' (उप०)

अत:—

'जिनि **मन** ग्रासे देव दाण, सो **मन मारिले गहि ग्यांन बाँण।।'**
''**कथंत गोरख मुकति लै** मानवा मारि लै रै मन द्रोही।।''
'यह **मन** सकती यहु **मन** सीव। यह **मन** पाँच तत्त का जीव।
यहु **मन** ले जे **उनमुन रहै।** तौ तीनि लोक की बातां कहै।।'

× × × × × × × × × ×

'**उनमन जोगी** दसवैं द्वार। नांद ब्यंद ले धूंधूंकार।।'
'अहनिसि **मन** लै **उनमन** रहै, गम की छांड़ि अगम की कहै।'
'**मन** पवना लै **उनमुनि** धरिबा, ते जोगी तत सारं।।'
मनवां जोगी गाया मढी, पंच तत्त ले कंथा गढी।'
'अवधू दंम कौ गहिबा **उनमनि** रहिबा, ज्यूं बाजबा अनदह तूरं।'
'सास उसार बाइ कौ भखिबा, रोकि लेहु नव द्वारं।'
''छठै छमासि काया पलटिबा, तब **उनमैंनी जोग** अपारं।।''
''सुंनि मंडल तहाँ नीझर झरिया, चंद सुरजि ले **उनमुनि** धरिया।''
'**उनमनि** रहिबा भेद न कहिबा पीयबा नींझर पांणीं।'
'उत्तर खण्ड जाइबा सुंनिफल खाइबा ब्रह्म अगनि पहरिबा चीरं।
'नीझर झरणैं अंमृत पीया यूं **मन हूवा थीरं।।'**
'असाध साधंत गगन गाजंत, **उनमनी** लागंत ताली।
उलटंत पवनं पलटंत बाणी, अपीव पीवत जे ब्रह्मज्ञानी।।'

'अनह सूं **मन उनमन रहै,** सो सन्यासी अगम की कहै।' [1]

'उन्मनी कल्पलतिका'—(स्वात्माराम मुनीन्द्र की दृष्टि)—

(क) 'तत्त्वं बीज हठः क्षेत्र मौदासीन्यं जलं त्रिभिः।
उन्मनीकल्पलतिका सद्य एव प्रवर्तते।'

—हठयोग प्रदीपिका (४।१०४)

ब्रह्मानन्द कहते हैं—

(ख) 'उन्मन्य**सम्प्रज्ञातावस्था सैव** कल्पलतिका'—ज्योत्स्ना

[1]"इयं च ब्रह्मरन्ध्रसंस्थाना। इयमेव **मनोन्मनी।**—भास्कर

[2]मनसो यथावस्थितरूपस्यैवाभ्यासविशेषेणैतावत्पर्यन्तवृत्युद्गमः सुसाध इत्यतः **समनेत्युच्यते।** एतदुपरि तु रूपान्तरं प्राप्तस्यैव मनसो धृतिविषयतेत्यत **उफ्क्रान्त-मनस्कत्वादुन्मना।।"** —भास्करराय।

भास्करराय कहते हैं 'समना' से ऊपर **'उन्मना'** है—

(क) **'समना'**—'ऊर्ध्वाधोबिन्दुद्वयसंयुतरेखाकृतिः **'समना'।**

(ख) **'उन्मना'**—सैवोर्ध्वबिन्दुहीनोन्मना तदूर्ध्वं **महाबिन्दुः।**

जो **'समना'** से ऊर्ध्व में किन्तु **'महाबिन्दु'** से नीचे स्थित है, वही **प्रणव या मन का द्वादशावयव** है और वही **'उन्मना'** है। आज्ञा चक्र के ऊपर **'बिन्दु'** से **'उन्मना'** पर्यन्त ९ भूमियाँ हैं।

आज्ञाचक्रोपरि विद्यमान भूमियाँ

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)	(७)	(८)	(९)
बिन्दु	अर्धचन्द्र	निरोधिका	नाद	नादान्त	शक्ति	व्यापिनी	समना	**'उन्मना'**

विद्यामयी **'उन्मना शक्ति'** की व्याप्ति से जब अवच्छेदक की निवृत्ति हो जाती है, तब अनवच्छिन्न, चिन्मय एवं आनन्दमय **'शिवभाव'** का उदय होता है।

साधक साधना में ऊर्ध्वारोहण करते हुए—**'अबुध'** से **'बुध्यमान'** **'बुध'**

---

१. गोरखबानी

२. वरिवस्यारहस्यम् —प्रकाश

'प्रबुद्ध' एवं **'सुप्रबुद्ध'** की अवस्था में पहुँचता है। इस सुप्रबुद्धावस्था में पहुँचने पर ('समना पर्यन्त समस्त अध्वा को अतिक्रान्त करने पर) **मनःसंस्कार का भी क्षय** हो जाता है। और तब **'उन्मनीभाव'** की प्राप्ति होती है। यह **'ब्रह्मरंध्रभेदनो'परान्त की अवस्था** है। यह पराद्वयमयी **परम शुद्धावस्था** है, जिससे **'जीवन्मुक्ति'** की सिद्धि होती है। यहाँ **कालकलायें, प्राणापानसंञ्चार; ३६ तत्त्व** एवं **देवत्रय** आदि कोई भी नहीं रहते।

'प्रणव' में १२ अंश विद्यमान हैं। इनमें अन्तिम अंश **'उन्मना'** ही है।

मन का १/५१२वाँ भाग **'उन्मना'** है।

'प्रणव' अमात्र होकर भी अनन्तमात्रात्मक है। **'सिसृक्षा'** होने पर आदि में **'एक'** भाव की स्फूर्ति से **'अनेक'** भावों का उदय होता है, किन्तु क्रमिक विकास की दृष्टि से **'एक'** से आरंभ में **'दो'** का विकास होता है। अतीतावस्था से **'एक'** का विकास होने पर—एक प्रथमतः दो भागों में विभक्त होता है। अतः **'एकमात्रा'** (एक मात्रा ही एकाग्रमन की मात्रा है।) से **'अर्धमात्रा' में उन्नयन** होता है। फिर **'अर्धमात्रा'** से भी अग्रिम अर्धमात्रा का उदय होता है। ये सारी **मात्रायें मन की मात्रायें** हैं। इस प्रकार मन सूक्ष्म होते-होते अपनी ५१२वीं मात्रा की अवस्था में पहुँचने पर **'उन्मन'** कहलाता है, किन्तु **वहाँ 'मन' रहता ही नहीं।** 'मन' समना तक ही रहता है **'उन्मना'** में नहीं।

मनस्तत्त्व की भूमिकायें

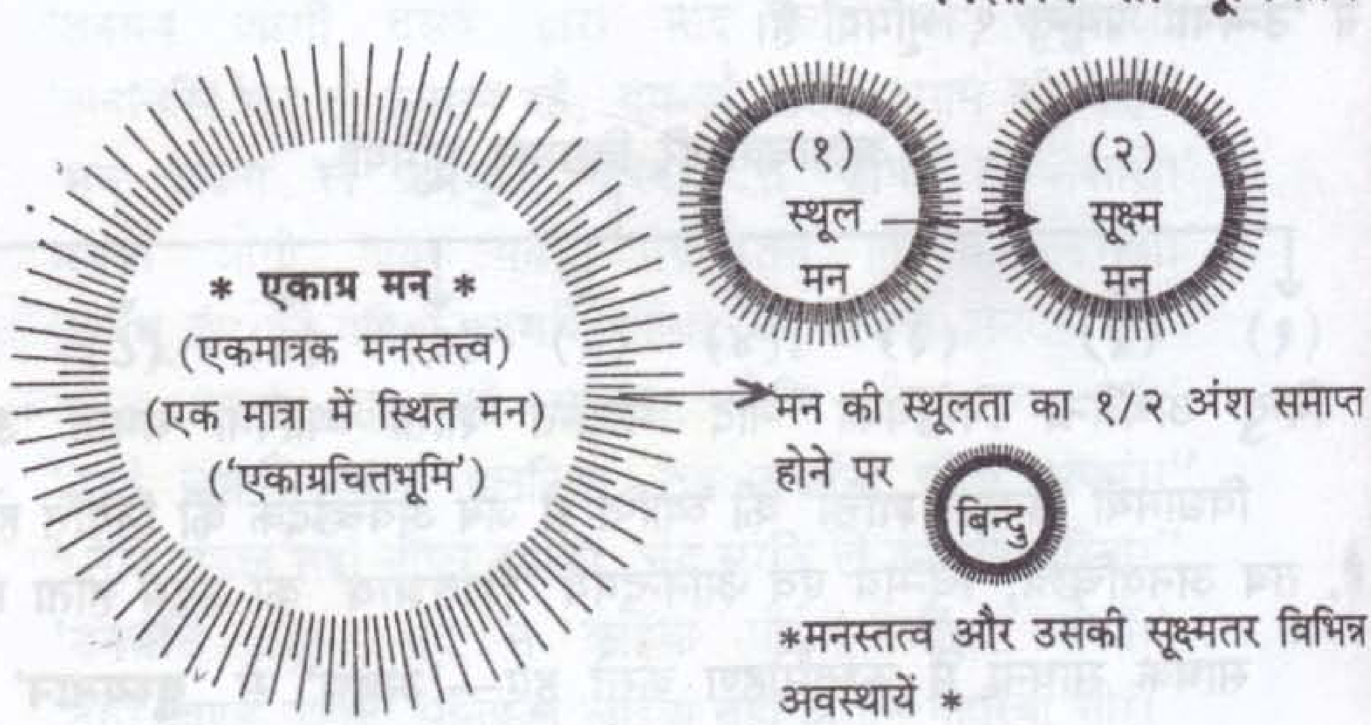

*मनस्तत्व और उसकी सूक्ष्मतर विभिन्न अवस्थायें *

यह समस्त विश्व मन की एक या एकाधिक मात्रा में प्रसृत है। मन की जो एकाग्रतावस्था होती है, उसमें **'मन'** एक मात्रा में अवस्थित रहता है।

* समस्त प्राणियों की चित्त-भूमियाँ *

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)
'क्षिप्त'	'मूढ'	'विक्षिप्त'	**'एकाग्र'**	'निरुद्ध'

*** एकाग्र चित्त या एकाग्रतावस्थापन्न मनस्तत्त्व *** चित्त की तीन भूमियाँ (क्षिप्त। मूढ़। विक्षिप्त—ये तीनों भूमियाँ) समाधि की यात्रा के लिए अनुपयोगी हैं।

(क) **'क्षिप्त'** रजोगुण प्रधान है।
(ख) **'मूढ़'** तमोगुण प्रधान है।
(ग) **'विक्षिप्त'** सत्त्वोद्रेक प्रधान है।
} ये समाधि के लिए उपयोगी नहीं हैं।

(घ + ङ) **एकाग्र एवं निरुद्ध चित्त** भूमियाँ योगोंपयोगी हैं।*

क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त ये 'समाधि' के लिए उपयोगी नहीं हैं

एकाग्र भूमि में अवस्थित मूल समाधि की दिशा में ले जाता है।

चित्तवृत्तियाँ ५ हैं—चित्तवृत्तियों के भेद

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)
प्रमाण	विपर्यय	विकल्प	निद्रा	स्मृति

चित्त की एकाग्रता की अवस्था—

(१) **भोजदेव = 'एकाग्रे** बहिर्वृत्तिनिरोधः। निरुद्धे च सर्वासां वृत्तीनां संस्काराणां च प्रविलय''।

(२) **नागोजीभट्ट—'एकाग्रत्वं** ध्येयातिरिक्तवृत्तिनिरोधः

मन की सूक्ष्मतर अवस्थायें

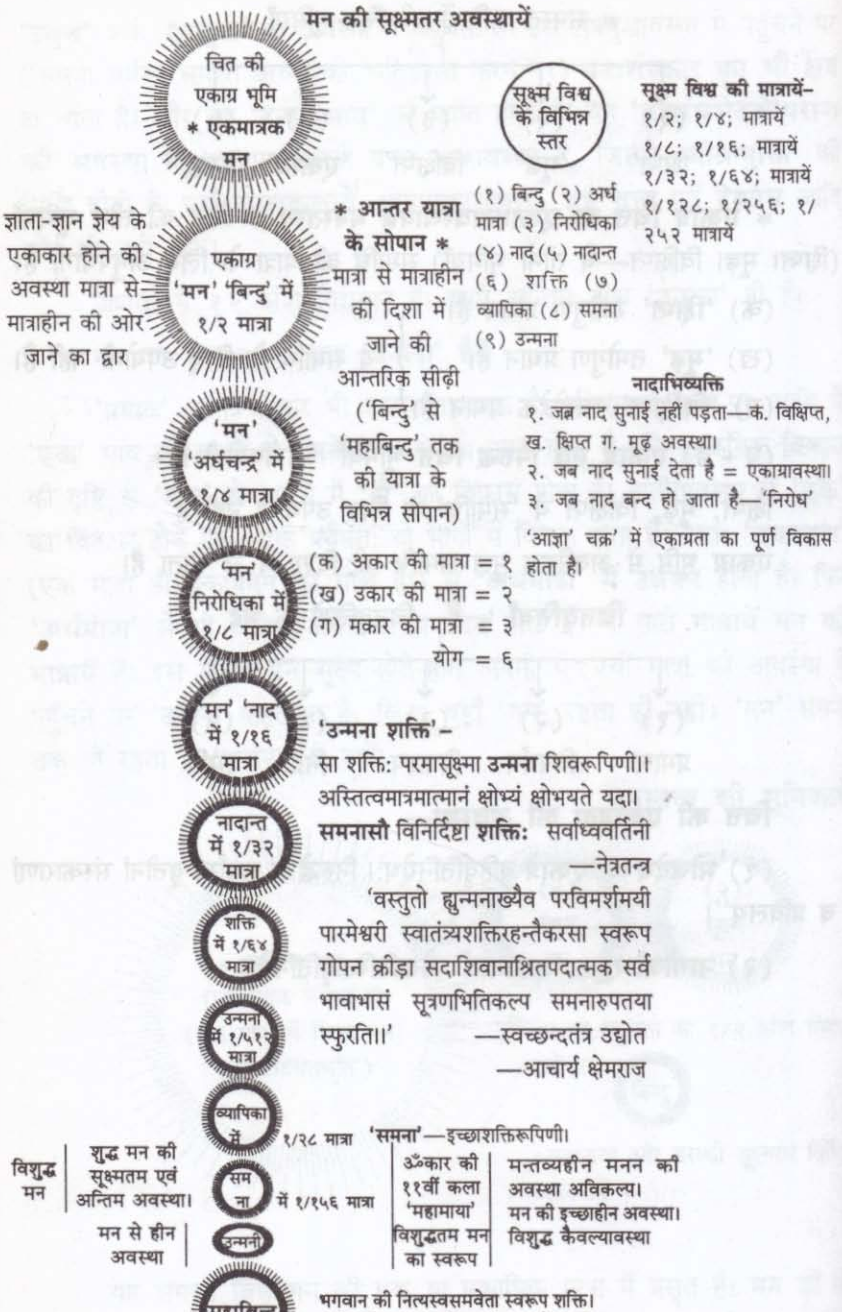

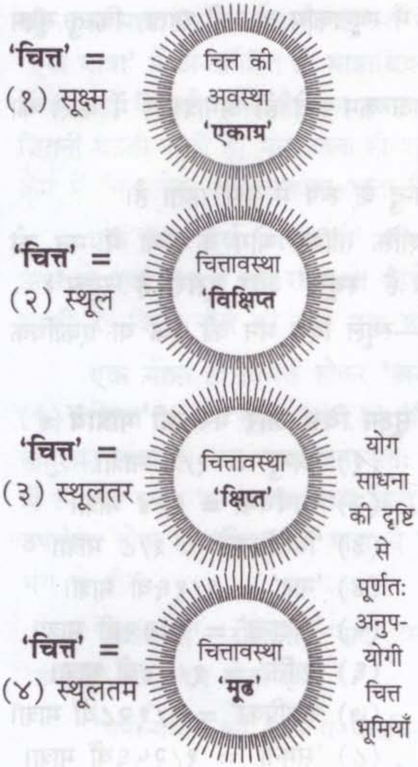

'बिन्दु' = सत्वगुण की वह अवस्था ही बिन्दु है, जिसे वैष्णव **'विशुद्धसत्व'** और व्यास **'प्रकृष्टसत्व'** कहते हैं। यह तमोगुण एवं रजोगुण से सदा के लिए विमुक्त अवस्था है। तांत्रिकगण इस **'बिन्दु'** कहते हैं।

जब योगी (१) मूढ़ (२) क्षिप्त एवं (३) विक्षिप्त—चितभूमियों को अतिक्रान्त करके **एकाग्रभूमि** में प्रतिष्ठित होते हैं; तब सत्त्वगुण का उत्कर्ष दृष्टिगत होता है। रजोगुण एवं तमोगुण **'सत्वगुण' के भीतर संलीन रहते हैं।**

(२) स्थूल

एकाग्रभूमि

(१) इसमें अस्मिता के रूप से परमप्रज्ञा का उदय होता है।

(२) इसमें ध्येयावलम्बन ज्ञेयरूप में होता है।

(३) जो एक सत्ता एकाग्रभूमि में प्रज्ञारूप में व्यक्त होती है, उसमें ज्ञाता, ज्ञेय एवं ज्ञान अभिन्न रूप में प्रकट होते हैं।

(४) 'मन की **एक मात्रा में स्थिति** होने पर **एकाग्रभूमि** की प्रतिष्ठा होती है। इस समय संपूर्ण विश्व दृष्टिपथ से विलुप्त रहता है। **'एक'** भी मन (चित्त) का ही एकत्व है।''

(५) 'एकाग्र भूमि में प्रतिष्ठित मन को तोड़ कर उसके दो टुकड़े करने होंगे। इसी का नाम है **'अर्धमात्रा'** ।

(६) मन की मात्रा जितनी ही क्षीण से क्षीणतर होती जाती है, उसी अनुपात में उतना ही **चिदालोक बढ़ता जाता है। आनन्द में भी उतनी ही वृद्धि** होती है।

(७) मन की एकाग्रता की अवस्था में स्थूलकाय तो नहीं रहता, किन्तु सूक्ष्म काल तो बना ही रहता है।

कालांश—मात्रांश के अनुसार ज्यादा-कम होते है। अमात्रभूमि में काल का प्रवेश नहीं है।

'मन' बिन्दु की अवस्था में चन्द्रबिन्दु के रूप में पूर्ण रहता है।

मन और उसकी मात्रायें—शैव-शक्ति तांत्रिक योग के ग्रंथों में मन को द्विभूमिक कहा गया है। उसकी प्रथम भूमि है **'स्थूल' और दूसरी है** 'सूक्ष्म'।

मन की मात्रायें एवं स्थूल विश्व—स्थूल विश्व मन की एक या एकाधिक मात्रा में स्थित है।

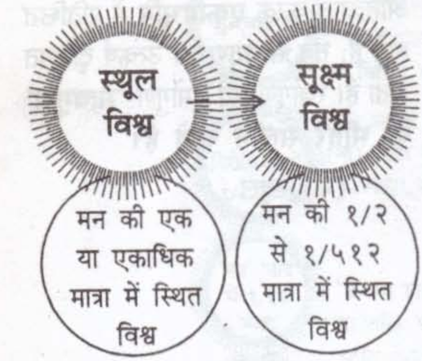

*** सूक्ष्म विश्व और मन की मात्रायें ***

(१) 'बिन्दु' = १/२ मात्रा।
(२) 'अर्धचन्द्र = १/४ मात्रा।
(३) 'निरोधिका' = १/८ मात्रा।
(४) 'नाद' = १/१६वीं मात्रा।
(५) 'नादान्त' = १/३२वीं मात्रा।
(६) 'शक्ति' = १/६४वीं मात्रा।
(७) 'व्यापिका' = १/१२८वीं मात्रा।
(८) 'समना' = १/२५६वीं मात्रा।
(९) 'उन्मना' = १/५१२वीं मात्रा
समस्त मात्रांशों का योग = एक मात्रा।

*** मन की मात्रायें एवं योग-साधना का लक्ष्य ***

*** 'साधना' स्थूल से सूक्ष्म की यात्रा है। यह 'मात्रा' से 'अमात्रा' की यात्रा है। ***

(१) **'स्थूल विश्व'** तो मन की एक मात्रा में स्थित है।

(२) सूक्ष्म विश्व मन की १/२ मात्रा से मन की १/५१२वीं मात्रा तक स्थित है। अतः मन की इन्हीं सूक्ष्म मात्राओं में अवस्थित होते हुए मन की २५६वीं मात्रा **'समना'** तक पहुँचकर उसको भी अतिक्रान्त करके **'उन्मना'** (मन की ५१२वीं मात्रा का स्तर) तक आरोहण करना योग का **प्रथम साधना-सोपान** है और उसके बाद उसे भी अतिक्रान्त करके **'महाबिन्दु'** के शीर्ष पर आरोहण करना **तांत्रिक योग-साधना का द्वितीय सोपान है।**

'मन' मात्रा-युक्त है। **साधना का लक्ष्य है**, मात्रा से मात्राहीन (अमात्र परमशिव) की यात्रा। समस्त स्थूल जगत की अनुभूति मन की जिस मात्रा में होती है, **उसे मन**

की एक मात्रा माना जाता है। समस्त लौकिक जगत एवं उसकी अनुभूतियाँ इसी **'एक मात्रा'** में अन्तर्निहित हैं। **मात्राधिक्य जड़ता का विधायक है। मन की मात्रा जितनी ही फैलती जाती है, मन उतना ही स्थूल होता जाता है** और उसकी मात्रा जितनी घटती जाती है, मन उतना ही शुभ्र एवं उज्ज्वलतर होता जाता है और उसी क्रम में चिदालोक शुभ्रतर होता जाता है।

एक भात्रा एवं 'अर्द्धमात्रा' की संधिभूमि में ही चिद्रश्मि-सम्पात होता है। ऊपर से एक मात्रा में उस रश्मि के पड़ने से ऊपर की ओर एक मात्रा टूटना आरंभ करती हैं, किन्तु नीचे की ओर **एक मात्रा** अक्षुण्ण ही बनी रहती है।

एक मात्रा ही विभक्त होकर **'अर्द्धमात्रा'** में विभाजित हो जाती है। मन की (१) **'क्षिप्त'** (२) **'मूढ़'** एवं (३) **'विक्षिप्त'** वृत्तियों में चाञ्चल्य वृद्धि (मात्रा-बाहुल्य) रहता है। अत: **मन सामान्यतः एक मात्रा में रहता ही नहीं है।** एक मात्रा ही नि:शेष स्थूल **जगत का मध्य बिन्दु** है और समस्त विश्व इसी एक मात्रा में ही उपसंहृत होता है। **'बिन्दु'** ही मात्रा से मात्राहीन में यात्रा करने का मार्ग है। मात्रा-भंग से ही—

'अर्धमात्रा' 'रोधिनी' 'नाद' **'नादान्त' 'शक्ति' 'व्यापिनी' 'समनी'** एवं **'उन्मनी'** का उदय होता है।

'मनोन्मनी' की साधना-पद्धति—

इस साधना का प्रथम लक्ष्य है—मन को एकाग्र करके **केन्द्र में स्थापित करना। एक मात्रा** ही नि:शेष **स्थूल जगत का मध्यबिन्दु या केन्द्र है।** जब मन एक मात्रा में अवस्थित होता है, तब **एकाग्रभूमि की प्रतिष्ठा** होती है। इस स्थिति में संपूर्ण जगत विलुप्त हो जाता है और एक मात्र चिदाकाश प्रकाशित हो उठता है, किन्तु चिद्रूप में नहीं 'महाशून्य' के रूप में प्रकाशित होता है। इस स्थिति में व्यष्टि-समष्टि' पिण्ड-ब्रह्माण्ड, एवं देश-काल का व्यवधान एवं पार्थक्य समाप्त हो जाता है। तदनन्तर **'प्रज्ञा'** भी अतिक्रान्त हो जाती है।

इस साधना में एकाग्र भूमि में स्थित **मन को तोड़कर उसके दो टुकड़े करने पड़ते हैं।** मन की यही द्विभाजित स्थिति **'अर्धमात्रा'** कहलाती है।

मन की मात्रा जितनी ही क्षीण से क्षीणतर होती जाती है और चैतन्य तथा आनन्द की मात्रा उतनी अधिक वर्धित होती जाती है। **'समना'** के स्तर पर विकल्प-शून्य मन रहते हुए भी न रहने के समतुल्य हो जाता है। इस समय क्षीण मन का भी त्याग करना पड़ता है, जिसे कि उत्सर्ग (आत्मसमर्पण) कहा जाता है। इस स्थिति में मन लेशमात्र भी नहीं रहता। इसी का नामान्तर है—चिदानन्दमय दिव्यभूमि में

प्रवेश। इस स्थिति में जीव परमशिव के रूप में प्रकट होता है। इस समय **'उन्मना शक्ति'** ही उसकी **'पराशक्ति'** होती है।

जिस प्रकार कृष्णपक्ष में कलाओं के क्षीण होते जाने के अनन्तर अन्त में कला रह ही नहीं जाती और फिर **'अमावस्या'** का उदय होता है, उसी प्रकार **'मन'**, **'बिन्दु'** (पूर्ण चन्द्रवत् बिन्दु) **'अर्धचन्द्र'** **'निरोधिका'** **'नाद'** **'नादान्त'** **'शक्ति'** **'महाशून्य'** **'व्यापिनी'** (विकल्पहीन मन) **'समना'** की यात्रा करता हुआ ब्रह्मविद्यास्वरूपा **'उन्मनाशक्ति'** में लय होकर पूर्णत्व उदित करता है। यहाँ न मन की गति है और न काल की गति है। यहाँ न मन की कोई मात्रा है और न कालराज्य की स्थिति। इसे ही शब्दान्तर में **'भगवद्धाम में प्रवेश'** भी कहते हैं।

साधक की यथार्थ यात्रा का आरंभ—एकाग्रभूमि से होता है और उसका अन्त **'निरोधभूमि'** में होता है। यह निरोध **चित्त का निरोध'** और निरोधवृत्ति का एवं संस्कारों का निरोध है। इस काल में निरोध भी नहीं रहता। इस समय रहता है तो केवल विशुद्ध चैतन्य मात्र रहता है। चित्त का यही आत्यन्तिक रूप में पूर्णाभाव **'उन्मनीभाव'** है। यही विशुद्ध चैतन्य की निजाशक्ति या स्वरूप शक्ति है।

उन्मनीकल्पलता का जन्म—(१) चित्तरूप **'बीज'** हो, (२) प्राण-अपान के ऐक्य (ह०) का **'क्षेत्र'** (खेत = भूमि) हो एवं (३) **परवैराग्य रूप** औदासीन्य का **'जल'** हो तो **'उन्मनीकल्पलतिका'** स्वतः उत्पन्न हो उठती है अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि स्वयं उदित हो उठती है।

"तत्त्वं बीजं हठः क्षेत्रमौदासीन्यं जलं त्रिभिः।
उन्मनीकल्प लतिका सद्य एव प्रवर्तते।।" (ह० यो० प्र०)

'ब्रह्मकमल' एवं उन्मनीकला—ब्रह्मकमल ऊर्ध्वमुखी होकर प्रस्फुटित है। उसी स्थान पर मन से अतीत **'उन्मनी कला'** अवस्थित है। **'ब्रह्मकमल'** (सहस्रदल के ऊपर) मध्यभाग की कर्णिका में स्थित है और सहस्रदल कमल अधोमुख रहकर प्रस्फुटित है। जब तक पद्म अधोमुख रहता है, तब तक कुण्डलिनी प्रसुप्त रहती है और तब तक विश्व विषम रूप से आभासित होता है और इसे **'समनावस्था'** कहते हैं, किन्तु जब यह पद्म ऊर्ध्वमुखी होता है तब कुण्डलिनी जागृतावस्था में रहती है एवं तब **विश्व चिदानन्दमय हो जाता है**। इसी अवस्था को **'उन्मनी अवस्था'** कहते हैं।

* गोरक्षनाथोक्त 'तारक योग' एवं 'अमनस्क योग' *

गोरक्षनाथ ने अद्वैतपरक ग्रंथ "अमनस्क योग" की भी रचना की है। गुरु गोरक्षनाथ कहते हैं कि परमोत्तम योग **'तारकयोग' है**। **'तारकयोग'** के दो भेद हैं—

(१) **'पूर्वयोग'**—**'तारकयोग'** (समनस्क योग)।

(२) **'अपर योग'**—**'अमनस्कयोग'** (मन से अतीत योग)।।

'पूर्वयोग'=बाह्यमुद्रा युक्त योग=बाह्य योग=बहिर्मुद्रा एवं बहिर्योग से युक्त योग' **'अमनस्कयोग'**=' अन्तर्मुद्रात्मक योग' 'यथार्थयोग' 'अन्तर्योग' एवं निर्मनस्कयोग।

शाक्त-साधना में तीन उपायों का आश्रय लिया जाता है। ये निम्नाङ्कित हैं—

(१) **'आणव उपाय'** (२) **'शाक्तोपाय'** (३) **'शाम्भवोपाय'**। इसमें 'अमनस्क योग' इसी 'शाम्भवोपाय' के समतुल्य है।

गोरक्षनाथ ने योग-साधना की कई पद्धतियों पर प्रकाश डाला है।

योगों की पद्धतियाँ

(१) मन्त्रयोग (२) हठयोग (३) लययोग (४) राजयोग (५) (राजाधिराजयोग)

इनमें **'राजयोग'** (एवं राजाधिराज योग) उपर्युक्त **'अमनस्क योग'** के ही समतुल्य है। इसी कारण इसे **'राजयोग'** भी कहा गया है।

स्वात्माराम मुनीन्द्र कहते हैं—

'राजयोगः समाधिश्च **उन्मनी** च **मनोन्मनी।**
अमरत्वं लयस्तत्वं शून्याशून्यं परं पदम्।
अमनस्कं तथाऽद्वैतं निरालम्बं निरञ्जनम्।
जीवन्मुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचकाः।।'[१]

'अमनस्क' (मनोन्मनी) की साधना-पद्धति—

स्वात्माराम मुनीन्द्र कहते हैं कि—

(१) प्राण एवं अपान का ऐक्य (हठ) **क्षेत्र** है।

(२) चित्त **'बीज'** है।

(३) औदासीन्यरूप वैराग्य ही **'जल'** है।

(४) इस क्षेत्र-बीज-जल के संयोग से उन्मनी कल्पलतिका या 'उपाय प्रत्यय' (असंप्रज्ञात समाधि) का प्रादुर्भाव होता है।

गुरु गोरक्षनाथ प्रोक्त साधना पद्धति—गुरु गोरक्षनाथ कहते हैं कि—तारों

---

१. हठयोगप्रदीपिका

(नेत्र-पुत्रिकाओं) **को ज्योति से संयोजित करने** एवं **भौंहों को किञ्चित उन्नत करने** से क्षणभर में **उन्मनीभाव** उत्पन्न हो जाता है।

इसके लिए साधक को चाहिए कि वह इस साधना के अभ्यास काल में समस्त **चिन्तन-मनन का त्याग** करके 'निर्विचार एवं अविकल्प होकर किसी मनोनुकूल सुरम्य प्रदेश के **एकान्त में स्थिरांग एवं समासनस्थ होकर** एवं पीछे की ओर (यत्किञ्चित) झुककर (तनकर, समशिरोग्रीव होकर) एवं एक हाथ तक **दृष्टि को स्थिर करके** इस साधना का अभ्यास करे।

साधनांग—(१) समस्त **चिन्तनों का त्याग,** (निर्विचार स्थिति)

(२) सुरम्य प्रदेश के **एकान्त** में स्थित होना।

(३) शरीर को **समशिरोग्रीव** एवं **स्थिरांग** रखना

(४) दृष्टि को एक हाथ पर्यन्त **स्थिर** रखना।

परिणाम—वायु, मन, वाणी, देह एवं दृष्टि में स्थिरता, शरीर में मृदुता एवं लाघव।

गोरक्षनाथ कहते हैं—

'विविक्त देशे सुखसन्निविष्ट: समासने किञ्चिदुपेत्य पश्चात्।
बाहुप्रमाणं स्थिरदृक् स्थिरांगश्चिन्ताविहीनोऽभ्यसनं कुरुष्व।।'

इसके द्वारा तत्त्व-साक्षात्कार होता है, किन्तु इस साधना में निर्विचार रहना अत्यावश्यक है—

'न किञ्चिन्मनसा ध्यायेत्सर्वचिन्ताविवर्जित:।
स बाह्याभ्यन्तरे योगी जायते तत्त्वसंमुख:।।'
''तत्त्वस्य संमुखे जाते अमनस्क प्रजायते।
अमनस्केऽपि संजाते चित्तादिविलयो भवेत्।।'

मत्स्येन्द्रनाथ एवं गोरक्षनाथ की दृष्टि में भेद

मत्स्येन्द्रनाथ का हठ-मार्ग—

(१) यह प्राणलय-प्रधान योगपद्धति है।

(२) यह प्राणों के नियंत्रण पर अधिक बल देती है।

(३) इसका लक्ष्य शक्ति का आयत्तीकरण है।

(४) इस प्रक्रिया में प्राण के लय से मन को लयीभूत करने की साधना प्रधान है।

(५) चित्त के कारण (क) 'वासना' और (ख) 'वायु' हैं—

"हेतुद्वयं तु चित्तस्य वासना च समीरणः।
तयोर्विनिष्ट एकस्मिंस्ततौ द्वावपि विनश्यतः॥"
'यावद्विलीनं न मनो न तावद्वासना क्षयः।
न क्षीणं वासना यावच्चित्तं तावन्न शाम्यति॥'

(१) तत्त्वज्ञान (२) मनोनाश (३) वासनाक्षय—ये तीनों एक ही महादशा के नामान्तर हैं—

'तत्त्वज्ञानं मनोनाशो वासनाक्षय एव च।
मिथः कारणतां गत्वा दुःसाध्यानि स्थितान्यतः॥"

चूँकि शिव के अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं। अतः मन की भी समस्त अवस्थायें एवं उसके समस्त गन्तव्य शिवावस्था मात्र हैं—

'यत्र यत्र मनो याति बाह्ये वाऽभ्यन्तरे प्रिये।
तत्र तत्र शिवावस्था व्यापकत्वात् क्व यास्यति॥'

चूँकि मन **अस्थिर** एवं सावलम्ब है। अतः योगियों ने उसके क्षय के लिए उसे स्थिर एवं निरालम्ब करने का उपदेश दिया है—

(क) 'अचिरेण **निराधारं मनः** कृत्वा शिवं व्रजेत् ।

(ख) **'निर्विकल्पं** मनः कृत्वा सर्वोर्ध्वे सर्वगोद्गमः।'

(ग) **'निराधारं** मनः कृत्वा विकल्पान्न विकल्पयेत् ॥

(घ) **यदा** यत्र, **यथा** यत्र स्थिरं भवति मानसम् ।
तदा तत्र, **तथा** तत्र, तस्मात् न तु चाल्पं कदाचन॥

(ङ) एवमभ्यसतो योगं मनो भवति सुस्थिरम् । (अमनस्क योग)

उन्मनीभावोत्पादक मुद्रा—तारों (पुतलियों) को ज्योति में लगाकर भौंहों को कुछ ऊर्ध्वोन्मुख चढ़ाने से उन्मनी का उदय होता है—

'तारे ज्योतिषि संयोज्य किंचिदुन्नमयनभ्रुवौ।
पूर्वयोगस्य मार्गोऽयमुन्मनीकारः क्षणात्॥'

तारक योग और मनोन्मनी—गुरु गोरक्षनाथ के मतानुसार योगों में सर्वोत्तम योग **'तारकयोग'** है। यह **'तारकयोग'** ही **'पूर्व'** एवं **'अपर'** दो नामों से विभक्त है।

'पूर्वयोग' ही **'तारकयोग'** है एवं **'अपरयोग'** ही **'अमनस्कयोग'** है। 'अमनस्क योग' की साधना का मेरुदण्ड ही **'मनोन्मनी'** है।

'अमनस्कयोग' की विशिष्टता—गुरु गोरक्षनाथ ने 'मंत्रयोग' 'ध्यान योग, 'जपयोग' आगम, निगम, तर्क, मीमांसा, न्याय, फलित, गणित, ज्योतिष, वेद, वेदान्त, स्मृति, कोष, छन्दशास्त्र, व्याकरण, काव्य एवं अलंकार शास्त्र आदि सभी शास्त्रों एवं तन्निहित विद्याओं से '**अमनस्क योग**' को श्रेष्ठतर कहा है।[१]

परम प्राप्तव्य है **'परमतत्त्व'** और **'अमनस्क योग'** उसी को प्राप्त करने का यौगिक साधन है, अतः यह योग श्रेष्ठतम है।

इस योग की **साधना की परिणति है**—'लय'—

'परतत्त्वं समाख्यातं जन्मबंधविनाशनम्।
तस्याभ्यासं प्रवक्ष्यामि येन संजायते **लयः**॥'[२]

गोरक्षनाथ कहते हैं कि **'परमतत्त्व'**—'चक्र' 'षोडशाधार' 'त्रिलक्ष्य' पंचव्योम' सुषुम्नादि नाड़ियों के योग तथा प्राणसाधना आदि के द्वारा प्रकाशित नहीं होता है—

'आधारादिषु चक्रेषु सुषुम्नादिषु नाडिषु।
प्राणादिषु शरीरेषु परं तत्त्वं न तिष्ठति॥'

यह परतमतत्त्व (परात्पर तत्त्व) अमनस्कयोगसाधित 'मनोन्मनी' के द्वारा ही प्राप्त है। इसीलिए इसे 'मनोन्मनीकारक योग' कहा गया है—

'पूर्वयोगस्य मार्गोऽयमुन्मनीकारकः क्षणात्॥'[३]

मन की विभिन्न भूमिकायें एवं मनोन्मनी—मन अपनी विभिन्न मात्राओं एवं मात्रांशो में विभिन्न भूमिकाओं में अवस्थित है। इसकी चार अवस्थायें हैं—

मनोवस्था के चार प्रकार

(१)	(२)	(३)	(४)
विशिलष्टावस्था	गतागतावस्था	सुशिलष्टावस्था	'सुलीनावस्था'

(१) **'विशिलष्टावस्था'** तमोगुणात्मक है।

(२) **'गतागतावस्था'** रजोगुणात्मक है।

---

१. अमनस्क योग
२. अमनस्क योग
३. अमनस्क योग

(३) **'सुश्लिष्टावस्था'** सतोगुणात्मक है।

(४) **'सुलीनावस्था'** निर्गुण है।

(क) विश्लिष्ट एवं गतागतावस्था—यह विकल्पों से भरी हुई एवं विषयों को ग्रहण करने वाली है।

(ख) सुश्लिष्ट एवं सुलीनावस्था—यह विकल्प रूपी महाविष का नाश करने वाली अवस्था है।

मन की क्रमिक गति—(१) मन सर्वप्रथम (चल होने के कारण) **'विश्लिष्ट'** फिर—

(२) किञ्चित् निश्चल होने पर **'सानन्द'**, फिर

(३) अत्यन्त निश्चल हो जाने पर—**'सुनील'** कहलाता है।

मन की सुलीनावस्था ही **मनोन्मनी की** अवस्था है।

मनोन्मनी के उच्चतर सोपान पर आरोहण करने के लिए मन को अपनी विभिन्न भूमिकाओं एवं मात्रांशों को अतिक्रान्त करना पड़ता है।

मन के मात्रांश तो पहले बताये जा चुके हैं। अत: पुनरुक्ति उचित नहीं। (मात्रांशों का वर्णन गोरक्षनाथ ने **'अमनस्क योग'** नामक अपने ग्रंथ में नहीं किया है, तथापि तांत्रिक योग-साधना में इस पर सविस्तार प्रकाश डाला गया है। उपयोगी होने के कारण इसे यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

मनोन्मनी का महत्व—

'एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी।
एको देवो निरालम्बश्चैकावस्था **मनोन्मनी**।।'

महामाहेश्वर भगवान् गोरक्षनाथ एक ओर तो भारतीय योग-साधना के महाव्योम के ध्रुवनक्षत्र थे तो दूसरी ओर भारतीय मनीषा की मनोज्ञ विभावरी के मनोज्ञ शशाङ्क। एक ओर वे हठयोग की कायिक साधना के प्रवर्तक थे, तो दूसरी ओर मनोन्मनीयोग (राजयोग) के साधक। वे योग की इस बाह्यान्तरवर्ती दोनों साधनाओं में सिद्ध थे।

*** गोरक्ष-सिद्धान्त का तान्त्रिक स्वरूप ***

सामान्यत: तो यही स्वीकार किया जाता है कि मत्स्येन्द्रनाथ कौलतांत्रिक मत के उद्भावक, उपासक एवं प्रचारक थे तथा गोरक्षनाथ योग के विशुद्ध स्वरूप के उपासक एवं प्रचारक थे, न कि तांत्रिक मत के। किन्तु यदि हम 'गोरक्षसंहिता' आदि ग्रंथों का अवलोकन करें तो गोरक्षमत में भी तांत्रिक उपादान उपलब्ध होते हैं।

* 'गोरक्ष-संहिता और तन्निहित तान्त्रिक उपादन *

'सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय' से प्रकाशित 'गोरक्षसंहिता' नामक ग्रंथ के अनेक श्लोक गोरक्षनाथ एवं मत्स्येन्द्रनाथ के अन्य ग्रंथों में भी प्राप्त होते हैं। इसके अनेक श्लोक 'हठयोग प्रदीपिका' एवं 'अकुलवीर तंत्र' आदि ग्रंथों में भी उपलब्ध होते हैं। चूँकि गोरक्ष के गुरु मत्स्येन्द्रनाथ ने '**योगिनीकौलमत**' का प्रवर्तन किया था। अत: संभव है गोरक्षनाथ के सिद्धान्तों पर तांत्रिकमत का गंभीर प्रभाव पड़ा हो।

गोरक्ष-प्रणीत ग्रंथों में तांत्रिक योग की—

(१) वज्रोली (२) अमरोली (३) सहजोली (४) षट्चक्रवेधन (५) अजपाजप (६) कुण्डलिनी योग (७) काल-शोधन (८) काल-वञ्चन (९) पीठतत्त्व (१०) शिव-शक्ति की उपासना (११) सामरस्यवाद (१२) नादबिन्दुवाद (१३) 'परा' 'पश्यन्ती' प्रभृति वाणियों की उपासना—की क्रियायें तो गोरक्षनाथ के विशुद्ध योग के योग-ग्रंथों में भी प्रतिपादित, उपासित एवं स्वीकृत मिलती है, किन्तु तन्त्रशास्त्र के ग्रंथों में प्रतिपादित न्यासतत्त्व, आदि तत्त्व उनके योग शास्त्र के ग्रंथों में उपलब्ध नहीं होते, किन्तु 'गोरक्ष-संहिता' प्रभृति ग्रंथों में वे भी सारे तांत्रिक उपादन मिलते हैं।

गोरक्ष-संहिता शतसाहस्री (लक्षश्लोकात्मिका) कही जाती है।

'गोरक्ष-संहिता' में—भैरव स्तुति, दीक्षा-प्रकार, श्रीशैलोत्पत्ति, ओडियानपीठोत्पत्ति, जालन्धरपीठोत्पत्ति, पूर्णपीठोत्पत्ति, कामरूप पीठोत्पत्ति, मातङ्गीपीठ वर्णन, उपपीठवर्णन, कुलाकुल व्याख्या, पीठस्थान एवं उसके परिवार का वर्णन, मातृका-स्थापना, मुद्रा, बीज, बीजोद्धार, त्रिखण्डा, मन्त्र का उद्धार, पञ्चप्रणवोद्धार, चक्रभेद वर्णन, वस्त्रन्यास, शिखान्यास, मालिनीबीजविन्यास, ५० भैरवों का विवरण एवं वर्णन्यास, मालिनी चक्रविन्यास, मुद्रा के भेद, योनिमुद्रा, मुद्राबन्ध, जपप्रकार, जालन्धर साधन, मण्डलवर्णन, हृदयदूती एवं शिरोदूती का जपस्थान, दूतीमंत्रोद्धार, दूती, मुद्रा, होमविधि, शिखादूतीमन्त्रोद्धार, कुण्डविधान, होम-विधान,संख्या, द्रव्य, कुलाकुल, अघोर निर्णय, मंत्रराज का कीलनोत्कीलन, स्वच्छन्द यंत्र, कवचदूती, नेत्रदूती, अस्त्रदूती, देवी चक्र का स्वरूप, १६ दिव्य योगिनियों का नाम एवं स्वरूप, मातृमण्डल निर्माण, योगिनी मण्डल निर्माण डाकिनी, राकिनी, लामा, काकिनी, शाकिनी, हाकिनी, याकिनी, खेचरीचक्र, द्वादशारस्था योगिनियाँ, २४ दलस्थ योगिनियाँ, ६४ दलस्थ योगिनियाँ, चक्रपञ्चक, पृथिव्यादिपञ्चक्रोंके मंत्रबीजल, दीक्षाभिषेक विधान, कुलपिण्ड, कालवञ्चन, कालावरोध, मृत्युञ्जयमंत्रविधान, मृतसञ्जीविनी विद्या, कालदमिनी विद्या, अपराविद्या, पराविद्या, परापराविद्या, कामेश्वरी विद्या, त्रिपुरशेखराविद्या, षोढ़ान्यास, अघोर-न्यास, मालिनीन्यास, त्रिविधन्यास, अस्त्र (पाशुपत) न्यास, वर्णमालान्यास,

रत्नन्यास, नवात्मन्यास, बीजपञ्चकन्यास, त्रितत्व न्यास, वक्त्राङ्गन्यास, भूतशुद्धि, गुरुमण्डल, क्रमपूजन, पञ्चाशतरुद्र, उनके आयुध, द्वीपाम्नाय, देहस्थपीठ एवं द्वीप, चक्राम्नाय, बाह्यादिषोडशचक्र एवं चर्याधर गुणानन्द के पर्यटनस्थान आदि का विस्तारपूर्वक वर्णन २७ पटलों में प्राप्त होता है।[१]

* गोरक्षनाथोक्त 'लय योग' *

गोरक्षनाथ ने 'लययोग' को अनेक प्रकार से परिभाषित एवं व्याख्यात किया है।

'चित्त का सन्तत लय ही **लय है**—

'यच्चित्तसन्ततलयः स **लयः** प्रदिष्टः।।'

—अमरौघ प्रबोध

नियम—

'किनच्चिन्तयेद् योगी औदासीन्यपरो भवेत्।
न किंचिच्चिन्तनादेव स्वयं तत्त्वं प्रकाशते।।'

शिथिलीकरण—शिथिलीकृत सर्वाङ्गं आनखाग्रशिखाग्रतः।
स बाह्याभ्यन्तरे सर्वं चिन्ता**चेष्टा**विवर्जितः।।

—गोरक्षनाथ

ऋषि घेरण्ड की दृष्टि—

घेरण्डसंहिताकार ऋषि घेरण्ड ने अनेक प्रकार की समाधियों में से एक समाधि को **'लयसिद्धि समाधि'** कहा है। उसका स्वरूप इस प्रकार है—

''योनिमुद्रां समासाद्य स्वयं शक्तिमयो भवेत्।
सुशृंगाररसेनैव विहरेत्परमात्मनि।
आनन्दमय संभूत्वा ऐक्यं ब्रह्मणि संभवेत्।
अहं ब्रह्मेति वाऽद्वैतं समाधिस्तेन जायते।।''

नाथयोगी हठयोगप्रदीपिकाकार स्वात्माराम मुनीन्द्र की दृष्टि—

स्वात्मारामुनीन्द्र ने **'लय' एवं समाधि** को अभिन्नार्थक माना है। उनकी दृष्टि में—'राजयोग' 'समाधि' 'उन्मनी' 'मनोन्मनी' 'अमनस्क' 'अद्वैत' 'निरालम्ब' 'निरञ्जन' 'जीवन्मुक्ति' 'सहजा' एवं तुर्यावस्था—आदि सभी एकार्थक ही हैं। वे कहते हैं—

'राजयोगः समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी।
अमरत्वं **लय**स्तत्त्वं शून्याशून्यं परं पदम्।।'

---

१. गोरक्षसंहिता (प्रथम से सप्तविंश पटल)

वे 'लय' को इस प्रकार भी परिभाषित करते हैं—

(१) उच्छिन्नसर्वसङ्कल्पो निःशेषाशेष चेष्टितः।
स्वावगम्यो **लयः** कोऽपि जायते वागगोचरः॥

(२) प्रनष्टश्वासनिश्वासः प्रध्वस्तविषयग्रहः।
निश्चेष्टो निर्विकारश्च **लयो** जयति योगिनाम्॥

(३) इन्द्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुतः।
मारुतस्य **लयो** नाथः स **लयो** नादमाश्रितः॥[१]

(४) सोऽयमेवास्तु मोक्षाख्यो वाऽस्तु वापि मतान्तरे।
मनःप्राणलये कश्चिदानन्दः सम्प्रवर्तते॥

(५) यत्र दृष्टिर्लयस्तत्र भूतेन्द्रिय सनातनी।
सा शक्तिर्जीवभूतानां द्वे अलक्ष्ये **लय** गते॥[२]

'लय' है क्या? उसकी परिभाषा क्या है?
स्वात्माराम मुनीन्द्र कहते हैं—

'लयो लय इति प्राहुः कीदृशं **लयलक्षणम्?**
अपुनर्वासनोत्थानाल्लयो विषय-विस्मृतिः॥'[३]

* लय के प्रकार *

स्वात्माराम मुनीन्द्र का कथन है कि भगवान् शिव के अनुसार **सवा करोड़ लय के प्रकार हैं,** किन्तु उनमें मैं **'नादानुसन्धान'** को श्रेष्ठतम लय-प्रकार मानता हूँ—

'श्री आदिनाथेन सपादकोटि-
लयप्रकाराः कथिता जयन्ति।
नादानुसन्धानकमेकमेव,
मन्यामहे मुख्यतमं लयानाम् ॥'[४]

गोरक्षनाथ की दृष्टि—नाद-लय सर्वसुलभ नादोपासना है।

'अशक्यतत्त्वबोधानां मूढानामपि संमतम्।
प्रोक्तं **गोरक्षनाथेन नादोपासन**मुच्यते॥' (४।६५)

---

१. हठयोग प्रदीपिका
२. हठयोग प्रदीपिका
३. ह० यो० प्र० (चतुर्थ उपदेश)
४. ह० यो० प्र० (उप० ४)

'नाद' क्या है? नाद शिवशक्ति का पारस्परिक सम्बंध है—

'यत्किंच्चिन्नादरूपेण श्रूयते शक्तिरेव सा।'

'लय' का आदर्श या ध्येय क्या है? राजयोग की प्राप्ति —

'सर्वे हठलयोपाया राजयोगस्य सिद्धये।'

'राजयोग' क्या है? 'मनसः सर्ववृत्तिनिरोधः॥'—(ज्योत्स्ना)

लययोगसाधना का नियम—

सर्वचिन्तां परित्यज्य दिनमेकं परीक्ष्यताम्।
यदितत्प्रत्ययो नास्ति तदा मे तु मृषा वचः।

—अमरौघ प्रबोध (गोरक्षनाथ)

चित्त निस्तरङ्ग होना चाहिए—'निस्तरङ्गे स्थिरे चिते वायुर्भवति मध्यगः॥
रविरुर्ध्वपदं याति बिन्दुना याति वश्यताम्॥ —(गोरक्षनाथ)

'अमनस्क योग' के लय का स्वरूप—

गोरक्षनाथ का कथन है कि—

(१) न किंचिन्मनसा ध्यायेत्सर्व चिन्ता-विवर्जितः।
स बाह्याभ्यन्तरे योगी जायते तत्त्वसंमुखः॥३२॥

(२) तत्त्वस्य संमुखे जाते अमनस्क प्रजायते।
अनमस्केऽपि संजाते चित्तादि **विलयो** भवेत् ॥३३॥

(३) **'लयस्थ'** कौन हैं?

'यदा सर्वसमे जाते भवेद् व्यापारवर्जितः।
परब्रह्मणि सम्पन्नो योगी **प्राप्तलयस्तदा**॥३६॥'

सदैव अभ्यासरत रहने पर ही लयभाव अधिगत होता है, अन्यथा नहीं—

'सदाभ्यासरतानां च यः परो जायते **लयः**।'

लयस्थ का लक्षण—

(क) सुखदुःखे न जानाति शीतोष्णं न च विन्दति।
विचारं चेन्द्रियार्थानां न वेत्ति **विलयं** गतः।

(ख) न जीवन्न मृतो वापि न पश्यति न मीलति।
निर्जीवः काष्ठवत्तिष्ठेत् **लयस्थ**श्चाभिधीयते।

(ग) निर्वात स्थापितो दीपो भासते निश्चलो यथा।
जगद् व्यापार निर्मुक्तस्तथा योगी **लयं** गतः।

(घ) यथा वातैर्विनिर्मुक्तो निश्चलो निर्मलोऽर्णवः।
शब्दादिविषयैस्त्यक्तो **लयस्थो** दृश्यते तथा।
(ङ) प्रक्षिप्तं लवणं तोये क्रमाद् यद्वद्विलीयते।
मनोऽप्यभ्यासयोगेन तद्वद् ब्रह्मणि लीयते॥

—गोरक्षनाथ

सुखदु:ख, शीतोष्ण, इन्द्रियार्थी के विचार, जीवन-मृत्यु, उन्मीलन-निमीलन, स्रजीव-निर्जीव आदि सभी से परे एवं वायुशून्य तथा शान्त समुद्र की भाँति निस्पन्द-निश्चल, शब्दादिविषयों से असंस्पृष्ट, समुद्र में डाले गए नमक की भाँति ब्रह्म में लयीभूत एवं **ब्रह्मीभूत व्यक्ति ही लयस्थ कहा जाता है।**[1]

* साधनाकाल और तदनुगत सिद्धियाँ *

लय साधना का समय	लयस्थ योगी की सिद्धियाँ
(१) एक निमेष का लय	—परतत्त्व स्पर्श किन्तु व्युत्थान।
(२) ६ निमेषों का लय	—तापशान्ति, बार-बार निद्रा-मूर्च्छा
(३) एक श्वास पर्यन्त लय	—प्राणादि वायुओं का स्वस्थान में संचार
(४) दो श्वास पर्यन्त लय	—कूर्म, नाग आदि वायु निवृत्त, धातुपुष्टि
(५) चार श्वास पर्यन्त लय	—धातुओं के रसों की पुष्टि
(६) एक पल पर्यन्त लय	—एकासनस्थ होने पर क्लान्ति नहीं।
(७) दो पल पर्यन्त लय	—अनाहतनादोत्थान।
(८) चार पल पर्यन्त लय	—कान में अकस्मात्, सुमधुर ध्वनि का श्रवण
(९) आठ पल पर्यन्त लय	—काम 'वासना निवृत्त'
(१०) चौथाई कला तक लय	—प्राणादि वायु का सुषुम्णा में प्रवेश और वायु की शुद्धि
(११) आधी घड़ी तक का लय	—कुण्डलिनी का जागरण।
(१२) एक घड़ी तक का लय	—कुण्डिलिनी का ऊर्ध्वारोहण
(१३) दो घड़ी तक का लय	—एकक्षण में एक बार मन में कम्पन
(१४) चार घड़ी तक का लय	—निद्रा की निवृत्ति
(१५) आधे दिन तक का लय	—आत्मज्योति का प्रकटीकरण
(१६) दिनभर का लय	—इन्द्रियों के ज्ञान का विस्तार-समस्त ब्रह्माण्ड तक तथा आत्म तत्त्व प्रकाशित।

---

१. अमनस्क योग

(१७) अहोरात्र का लय —दूर से गन्ध-संवेदना की प्राप्ति।
(१८) दो अहोरात्र का लय —दूर से ही रससंवेदना की प्राप्ति।
(१९) तीन अहोरात्र का लय —दूर दर्शन
(२०) चार अहोरात्र का लय —दूर स्पर्श
(२१) पाँच अहोरात्र का लय —दूर श्रवण
(२२) छ अहोरात्र का लय —अतीतानागत विश्व का ज्ञान
(२३) सात अहोरात्र पर्यन्त लय —ब्रह्मपर्यन्त विश्वज्ञान एवं श्रुतिज्ञानं
(२४) आठ अहोरात्र पर्यन्त लय —क्षुधा, तृणा आदि मुक्ति।
(२५) नौ अहोरात्र पर्यन्त लय —वाक् सिद्धि।
(२६) ११ अहोरात्र पर्यन्त लय —मनोगति के समान कायागति।
(२७) द्वादश अहोरात्र पर्यन्त लय —आधे निमेष में भूतल के चतुर्दिक परिभ्रमण की क्षमता।
(२८) त्रयोदश अहोरात्र पर्यन्त लय —खेचरी सिद्धि
(२९) १४, १६, १८, २० अहोरात्र पर्यन्त लय—क्रमशः अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, सिद्धियों की प्राप्ति।

इसी प्रकार और अधिक लय-काल होने पर, 'प्राप्ति' 'प्राकाम्य' ईशित्व' आदि सिद्धियों की प्राप्ति हो जाती है।

—(अमनस्क)

*** * अमरौघशासनोक्त योग-विधान * ***

'अमरौघशासन' नामक गोरक्ष-प्रणीत ग्रन्थ में कहा गया है कि—

(१) मेरुदण्ड के मूल में सूर्य और चन्द्र के मध्य **'योनि'** है और उसी के मध्य **'स्वयंभूज्योतिर्लिंग'** स्थित है।

(२) यहीं पर पुरुषों के रेतस् एवं नारियों के रजः स्खलन का मार्ग भी स्थित है।

(३) यहीं पर (क) **'काम'** (ख) **'विषहर'** एवं (ग) **'निरञ्जन'** का स्थान है।

(४) वीर्य के स्खलन (अधःपतन) की दो अवस्थायें हैं—(क) **'प्रलयकाल'** (ख) **'विषकाल'**

इन दोनों अवस्थाओं का आनन्द अशुभ एवं घातक हुआ करता है।

(५) इन दोनों घातक अवस्थाओं के स्वामी पृथक्-पृथक् हैं। इसमें एक का स्वामी है—**''काम''** तथा दूसरे का स्वामी है—**''विषहर''**।

रज-वीर्य-प्रवाह की अवस्थायें

(१)	(२)	(३)
प्रलयकाल की अवस्था	विषकाल की अवस्था	**'सहजानन्द की अवस्था'**
(रजवीर्य के अधोगमन या वीर्यस्खलन की अशुभ अवस्था)		**(वीर्य-रज की ऊर्ध्वगामी** यात्रा की अवस्था। **मन एवं प्राण के स्थिर** होने एवं **'सहज समाधि'** के उदय की अवस्था)

इनके अधिष्ठता हैं—(१) काम (२) विषहर

शक्तित्रयविनिर्भिन्ने चित्ते बीजनिरञ्जनात्।
वज्रपूजापदानंदं यः करोति स **मन्मथः**।
चित्ते वतृप्ते मनोमुक्तिरुर्ध्वमार्गाश्रितेऽनले।
उदानचलितं रेतो मृत्युरेखा**विषं** विदुः॥

'निरञ्जन'—'चित्तमध्येभवेद्यस्तुबालाग्रशतधाश्रये ।
नानाभावविनिर्मुक्तः स च प्रोक्तो **निरञ्जनः**॥'

—गोरक्षनाथ (अमरौघ शासनम्)

'बिन्दु' की वह तृतीयावस्था जो **नानाभावविनिर्मुक्त** और **सहजानन्दावस्थात्मक** है तथा जिसमें बिन्दु ऊर्ध्वमुखी होकर आरोहण करता है और जो 'सहजसमाधि' उदित करती है, वह मन तथा प्राण को स्थिर कर देती है।

प्र० ऊर्ध्वरितसत्व कैसे प्राप्त किया जाय?

(१) ब्रह्मचर्य एवं (२) प्राणायाम दो ऐसे साधन हैं, जिससे बिन्दु स्थिर होते हैं और सिद्धावस्था में ऊर्ध्वमुख हो जाते हैं।

प्राणसाधना **'नाड़ीशुद्धि'** से ही सफल हो पाती है। हठयोग में जो **'षटकर्म'**, (धौति, वस्ति, त्राटक, नौलि आदि) हैं वे नाड़ीशुद्धि के कारक हैं। वे **'षट्कर्म'** इस प्रकार हैं—

'धौतिर्बस्तिस्तथा नेति लौंलिकी त्राटकं तथा।
कपालभातिश्चैतानि षट् कर्माणि समाचरेत्॥' (घे० सं०)

घटस्थ सप्त साधन—

"शोधनं दृढ़ता चैव स्थैर्य धैर्यं च लाघवम्।
प्रत्यक्ष च निर्लिप्तिं च **घटस्थसप्तसाधनम्**॥"

घटस्थसप्तसाधन—

(१) षट्कर्मणा **शोधनं** च आसनेन भवेद दृढ़म् ।

(२) मुद्रया **स्थिरता** चैव प्रत्याहारेण **धीरता।**

(३) प्राणायामा**ल्लाघवं** च **ध्यानात्प्रत्यक्ष**मात्मनि।

(४) समाधिना **निर्लिप्तं** च मुक्तिरेव न संशयः।।[१]

नाड़ीशुद्धि→बिन्दु में स्थिरता। नाड़ीशुद्धि से बिन्दु-स्थैर्य के साथ, सुषुम्णा-पथ भी शुद्ध हो जाता है, उसमें प्राण एवं मन स्थिर होकर प्रवाहित होने लगते हैं तथा प्राण, मन एवं जीव के साथ, मूलाधार चक्र की सुषुप्त शक्ति कुण्डलिनी भी अपना स्थान त्याग कर सहस्रारोन्मुख होकर, परमशिव से मिलने ऊर्ध्वारोहण करने लगती है। सहस्रार में ही शिव के साथ शक्ति को **'समरसत्व'** या **'सामरस्य'** प्राप्त होता है।

(५) बिन्दु-साधना में 'वज्रोली' 'सहजोली' एवं 'अमरोली' क्रियायें सहायता पहुँचाती है। इस क्रिया में जननेन्द्रिय द्वारा रसाकर्षण (योगिनी द्वारा वीर्य का एवं योगी द्वारा रज का आकर्षण) किया जाता है और वीर्य या रज को स्खलित नहीं होने दिया जाता।

नाड़ी-शोधन हो जाने पर वायुओं का शमन कठिन नहीं रह जाता। अनुकूल आसन, नाड़ीयोग, प्राणपानैक्य आदि द्वारा सुषुम्णा नाड़ी से प्राण को ऊपर चढ़ाया जाता है और उसके साथ मन एवं कुण्डलिनी भी ऊपर की ओर समाकृष्ट होकर सहस्रार-तीर्थ की यात्रा पर निकल पड़ती हैं।

कुण्डलिनी के जाग्रत हो जाने पर **'षट्चक्रभेदन' 'ग्रंथिभेदन' चक्र-जागरण** एवं **अनाहतनाद का प्रस्फुटन** आदि एक साथ सम्पन्न होते हैं। इस समय नाद-श्रवण होने लगता है। इसकी विधि इस प्रकार है—

'अर्द्धरात्रिगते योगी जंतूनां शब्दवर्जिते।
कर्णौ पिधाय हस्ताभ्यां कुर्यात्पूरक कुंभकम्।।
शृणुयाद्दक्षिणो कर्णे नादमंतर्गतं शुभम्।।'

दाहिने कान से श्रुतिगोचरनाद का स्वरूप भी भिन्न-भिन्न है।

नाद के प्रकार—

(१) 'प्रथमं झिंजीनादं च'

(२)'वंशीनादं ततः परम्'

(३)'मेघझर्झरभ्रमरीघण्टाकांस्यं ततः परम्।'

---

१. घेरण्ड संहिता

(४) 'तुरी भेरीमृदंगादिनिनादानक दुंदुभि:।'
एवं नानाविधं नादं जायते नित्यमभ्यसात्॥

अनाहतनाद और विष्णु का 'परमपद'—

'अनाहतस्य शब्दस्य तस्य शब्दस्य यो ध्वनि:
ध्वनेरंतर्गतं ज्योति ज्योतेरन्तर्गतं मन:।
तन्मनो विलयं याति तद्विष्णो: परमं पदम्॥'[१]

मूलकन्द से, जो सोमसूर्यपथोद्भवस्वरूप वायु उठती है, वह शक्ति के आधारस्थल में स्थित है। मूल कन्द में कुण्डलाकार 'भुजङ्गिनी' स्थित है, जो कि शिव से पृथक् होने से 'मूलाधार चक्र' में मूर्च्छित है—

'मूलकन्दोद्यतो वायु: सोमसूर्यपथोद्भव:।
शक्त्याधारस्थितो याति ब्रह्मदण्डकभेदक:।
मूलकन्दे तु या शक्ति कुण्डलाकाररूपिणी।
कन्ददण्डेन चोद्दण्डैर्भ्रामिता या भुजङ्गिनी।
मूर्च्छिता सा शिवं वेत्ति प्राणैरेवं व्यवस्थिता॥'[२]

योगिराज गोरक्षनाथ ने **'हठयोग'** की साधना-प्रक्रिया प्रस्तुत करके पातञ्जल योग की राजयोग-साधना-प्रक्रिया को क्रमिक साधना का सोपान प्रस्तुत किया है। पातञ्जल योग हठयोगरहित है। **'राजयोग' योग का अन्तिम सोपान है।**

'हकार: कथित: सूर्यष्कारश्चंद्र उच्यते।
सूर्याच्चन्द्रमसोर्योगात् हठयोगो निगद्यते॥'

—कहकर **सिद्धसिद्धान्तपद्धतिकार** ने जिस योग-प्रणाली का विधान किया है वह गोरक्षनाथ से भी पूर्ववर्ती है।

'हठयोग की विभिन्न परम्परायें

(१) मृकण्डु के पुत्र मार्कण्डेय —प्रवर्तित परम्परा

(२) गोरक्ष-प्रवर्तित परम्परा

'द्विधा हठ: स्यादेकस्तु गोरक्षादिसुताधित:।
अन्यो मृकण्डुपुत्राद्यै: साधितो हठ संज्ञक:॥'

(१) **मार्कण्डेय-प्रवर्तित** हठयोग परम्परा आष्टाङ्गिक है।

(२) **गोरक्ष-प्रवर्तित** हठयोग परम्परा षडाङ्ग है।

---

१. घेरण्ड संहिता, २. अमरौघ शासनम् ।

(३) **गोरक्षनाथ और योगाङ्ग**—

(क) **'गोरक्ष शतक'** में —षडङ्गयोग का प्रतिपादन।

(ख) **'सिद्धसिद्धान्त संग्रह'** में —अष्टाङ्गयोग का प्रतिपादन।

पायु-उपस्थ के मध्यभाग में स्थित **'त्रिकोणचक्र'** में अवस्थित (अर्थात् **'अग्निचक्र'** में स्थित) जो **'स्वयंभूलिङ्ग'** है उसे **'साढ़े तीन या आठ'** वलयों से लपेट कर सुषुप्ता भगवती कुण्डलिनी शक्ति 'ब्रह्मद्वार' (सुषुम्णा का मुखद्वार) को अवरुद्ध करके अवस्थित है।[1] यही अपने ब्रह्माण्डव्याप्त स्वरूप में **'महाकुण्डलिनी शक्ति'** कहलाती है किन्तु व्यष्टि स्वरूप में **'कुण्डलिनी'**।

इसी कुलशक्ति को उद्बुद्ध करके **शिव से समरस** कराना **योगी का चरमलक्ष्य** है। योगी कुण्डलिनी की चाभी से मोक्षद्वार खोलता है—

'उद्घाटयेत् कपाटं तु यथा कुञ्चिकया हठात्।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं प्रभेद्येत्॥'

मानव शरीर में स्थित योगोपयोगी प्रधान तत्त्व

- (१) 'प्राण' (वायु)
- (२) 'बिन्दु' (शुक्र)
- (३) 'नाद' (शिवशक्ति का अन्त-सम्बंध वाक्तत्त्व)
- (४) 'मन' (प्राणारोही तत्त्व)

'प्राण' = 'संवित् प्राक् **प्राणे** परिणता॥' (वाक्तत्त्व)

ये चारों तत्त्व अन्तर्संबंधित हैं अतः उनमें से एक के अस्थिर होने पर अन्य सभी एवं एक के स्थिर होने पर शेष अन्य सभी स्थिर हो जाते हैं। गोरक्षनाथ ने 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में योग विषयक दूसरी दृष्टि प्रस्तुत की है।

'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' गोरक्षनाथ का प्रसिद्ध ग्रंथ है। उसके अनुसार सारा (गोरक्षोक्त) योग शास्त्र ६ उपदेशों में वर्णित है।

* गोरक्षोक्त षड्विधात्मक 'सिद्धमत' * (सि०सि०प०)

- (१) पिण्डोत्पत्ति
- (२) पिण्डविचार
- (३) पिण्डसंवित्ति
- (४) पिण्डाधार
- (५) पिण्डपद-समरसभाव
- (६) 'श्रीनित्या-वधूत'

---

१. गोरक्षपद्धति

'सिद्धमते सम्यक् प्रसिद्धा 'पिण्डोत्पत्तिः' 'पिण्डविचारः।'
'पिण्डसंवित्तिः' पिण्डाधारः पिण्डपदसमरसभावः॥'
श्री नित्यावधूतः'।—'सिद्धसिद्धान्त पद्धति'

सृष्टिप्राक् अवस्था—योगी गोरक्षनाथ ने इस सृष्टि प्राक्अवस्था में स्थित अव्यक्त परब्रह्म को **'अनामा'** संज्ञा दी है—

'यदा नास्ति स्वयं कर्ता कारणं न कुलाकुलम्।
अव्यक्तश्च परं ब्रह्म 'अनामा' विद्यते तदा॥'[१]

'सिद्धसिद्धान्त पद्धति' एवं **'सिद्धसिद्धान्त संग्रह'** दोनों में पिण्डोत्पत्ति आदि विषयों पर सविस्तार प्रकाश डाला गया है।

'सिद्धसिद्धान्त संग्रह के अनुसार पिण्ड के भेद

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)
पर या आद्य पिण्ड	साकार पिण्ड	महासाकार पिण्ड	प्राकृतपिण्ड	अवलोकन पिण्ड	गर्भपिण्ड[२]

'सिद्धसिद्धान्तसंग्रह' 'सिद्धसिद्धान्त पद्धति' का ही संक्षिप्त रूप है। सृष्टि-क्रम को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

* "स्वयं" नामक परात्पर तत्त्व *

सृष्टिप्राक् अवस्था—सृष्टि के पूर्व की वह अवस्था जिसमें कार्यकारणभाव, सृष्टिकर्तृत्व एवं कार्यकारणचक्र विद्यमान नहीं रहता और परमशिव इन सारे सृष्टि-स्थिति पालन आदि व्यापारों से अतीत रहता है (अव्यक्ताव्था में अवस्थित रहता है) **'स्वयं'** कहलाता है—

"कार्यकारणकर्तृत्वं यदा नास्ति कुलाकुलम्।
अव्यक्तं परमं तत्त्वं "**स्वयं**" नाम तदा भवेत्॥"

यही सृष्टिप्राक्अवस्था शिव की **'स्वयं'** की अवस्था कहलाती है।

सृष्टि-क्रम के विभिन्न सोपान

जब परमशिव सिसृक्षु होता है तब अपनी सिसृक्षा के कारण **'सगुण शिव'** कहलाता है। शिव में उत्पन्न सिसृक्षा ही उसकी **'शक्ति'** है और **'सृष्टि'** शक्ति का ही नामान्तर है—"सृष्टिस्तु कुण्डली ख्याता॥"

'सिसृक्षा' की अवस्था—जब परमशिव में सिसृक्षा का उदय होता है तब उसमें दो तत्त्व उत्पन्न होते हैं— (१) 'शिव' एवं (२) 'शक्ति'।

१. सि०सि०प० (१।४)
२. महा० गोपीनाथ कविराज—'सिद्धसिद्धान्तसंग्रह' की भूमिका।

'स्वयं' या **'परमशिव'** में सिसृक्षा का उदय

↓

'सगुण शिव'

(१) 'शिव'	(२) 'शक्ति'
(१) **'अपरं पदम्'** की अवस्था	(१) **'निजा' शक्ति** की अवस्था।
(२) **'परम' शिव** की अवस्था	(२) **'परा' शक्ति** की अवस्था।
(३) **'शून्य' शिव** की अवस्था	(३) **'अपरा' शक्ति** की अवस्था।
(४) **'निरञ्जनशिव'** की अवस्था	(४) **'सूक्ष्माशक्ति'** की अवस्था।
(५) **'परमात्मा शिव'** की अवस्था	(५) **'कुण्डलीशक्ति'** की अवस्था

सृष्टि-विकास की इस अवस्था में—

(क) **'शिव'**—'अपर'-'परम'—'शून्य'—'निरंजन' एवं 'परमात्मा' के रूप में तथा

(ख) **'शक्ति'**—'निजा'—'परा'—'अपरा'—'सूक्ष्मा' एवं 'कुण्डली' के रूप में रूपान्तरित (विकसित) होती है।

(१) **शक्ति की 'निजा' अवस्था**—जब परम शिव सिसृक्षु होता है तब उसकी सृष्टि-स्फुरण प्राक् अवस्था (जिसमें वह **स्फुरित होने को उपक्रान्त होता** है।) में उसकी स्वनिहित शक्ति को 'निजा' कहते हैं। इस अवस्था में स्थित शिव का नाम है—**'अपरं पदम्'**।

(२) **शक्ति की 'परा' अवस्था**—स्फुरण-पूर्ववर्ती जो निजा शक्ति अभी परमशिव की अवस्था मात्र धर्म से युक्त थी और स्फुरित होने को उपक्रान्त होकर भी स्फुरित नहीं हुई थी अब इस अवस्था में स्फुरणोन्मुखी हो जाती है और **'परा'** शक्ति कहते हैं तथा उसे अधिष्ठाता शिव को **'परम'** कहा जाता है।

(३) **शक्ति की 'अपरा' अवस्था**—यह शक्ति की वह स्फुरणधर्मा अवस्था है जिसमें शक्ति स्पन्दित हो जाती है और शक्ति के इस स्वरूप के साथ जो शिव संश्लिष्ट हैं उनका नाम है—**'शून्य'**।

(४) **शक्ति की 'सूक्ष्मा' अवस्था**—शक्ति के विकास का वह स्तर जिसमें शक्ति सूक्ष्म **'अहन्ता'** से युक्त हो जाती है उसकी आख्या है—**'सूक्ष्मा'** एवं उससे उपहित शिव की आख्या है—**'निरञ्जन'**।

(५) **शक्ति की 'कुण्डली' अवस्था**—शक्ति के विकास की वह परवर्ती अवस्था जिसमें वह पृथकत्व के प्रति पूर्णतया संवेदनशील एवं पूर्णतया सचेत हो जाती है **'कुण्डली'** कहलाती है तथा उससे सम्बद्ध शिव **'परमात्मा'** कहे जाते हैं।

'निजा पराऽपरा सूक्ष्मा कुण्डली तासु पञ्चधा।
शक्तिचक्रक्रमेणैव जातः पिण्डः परः शिवे।'

'ततोऽस्मितापूर्वमर्चिर्मात्रं स्यात्परं परम्।
तत्स्वसंवेदनाभासमुत्पन्नं परमं पदम्।।
स्वेच्छामात्रं ततः शून्यं सत्तामात्रं निरञ्जनम्।
तस्मात्ततः स्वसाक्षादभूः परमात्मपदं मतम्।'

—सिद्धसिद्धान्तसंग्रह (१/१-३-१-५)

*** 'स्वयं' (परशिव) की सिसृक्षा के विविध विकास-सोपान हैं—**

'अव्यक्त स्वयं'—

कार्यकारणकर्तृत्वं यदा नास्ति कुलाकुलम्।
अव्यक्तं परमं तत्त्वं **'स्वयं'** नाम तदा भवेत्।।

'निजा शक्ति'—

तस्यावस्थामात्रधर्माधर्मिणीति प्रसिद्धिभाक्।
निजाशक्तिरभूत् तस्या औन्मुख्याङ्का **परोत्थिता।।'**

इसी प्रकार—

ततः स्पन्दमात्रा **स्यादपरेति** स्मृता ततः।
सूक्ष्माहन्तार्धार्धमात्रा चिच्छिलाकुण्डलिन्यतः।।

'निजा' के गुण—५ गुण

निराकृतित्वान्नित्यत्वान्निरन्तरतया तथा।
निष्पन्दत्वान्निरुत्थत्वान्निजाः पञ्चगुणा स्मृताः।।

(निराकृतित्व। नित्यत्व। निरन्तरत्व। निष्पंदत्व। निरुत्थत्व) (१/७)

'परा' के गुण—५गुण

अस्तित्वमप्रमेयत्वमभिन्नत्वमनन्तता।
अव्यक्तेति पञ्चस्युः परायां **सम्मता** गुणाः।। (१/८) (सि०सि०प०)

(अस्तित्त्व, अप्रमेयत्व, अभिन्नत्व। अनन्तत्व अव्यक्तत्व।।)

'अपरा' शक्ति के गुण—५ गुण

स्फुरत्तास्फारतायुक्ता स्फुरता स्फोरता तथा।
स्फूर्तिरेवं पञ्च गुणा अपरायामपि स्मृताः।।

'सूक्ष्मा' शक्ति के गुण—५ गुण

निरन्तरत्वं नैरंश्यं नैश्चल्यं निश्चयत्वकम्।
निर्विकल्पत्वमेव स्यात् सूक्ष्माया गुण पंञ्चकम्।

(नैरन्तर्य, नैरंश्य, नैश्चल्य, निश्चयत्व, निर्विकल्पकत्व।)

'कुण्डली' शक्ति के गुण—५ गुण

पूर्णत्वं प्रतिबिम्बत्वं तथा प्रकृतिरूपता।
प्रत्यङमुखत्वमौच्चल्यं पञ्चैते भोगिनां गुणाः।

(पूर्णत्व, प्रतिबिम्ब, प्रकृतिरूपत्व, प्रत्यङमुख, औच्चल्य)

—सिद्धसिद्धान्तसंग्रह

* सिसृक्षु परमशिव की सिसृक्षा एवं सृष्टि-विकास के विभिन्न सोपान *

'परो हि शक्तिरहितः शक्तः कर्तुं न किञ्चन। शक्तस्तु परमेशानि शक्त्या युक्तो यदा भवेत् ॥'

—वामकेश्वर तंत्र

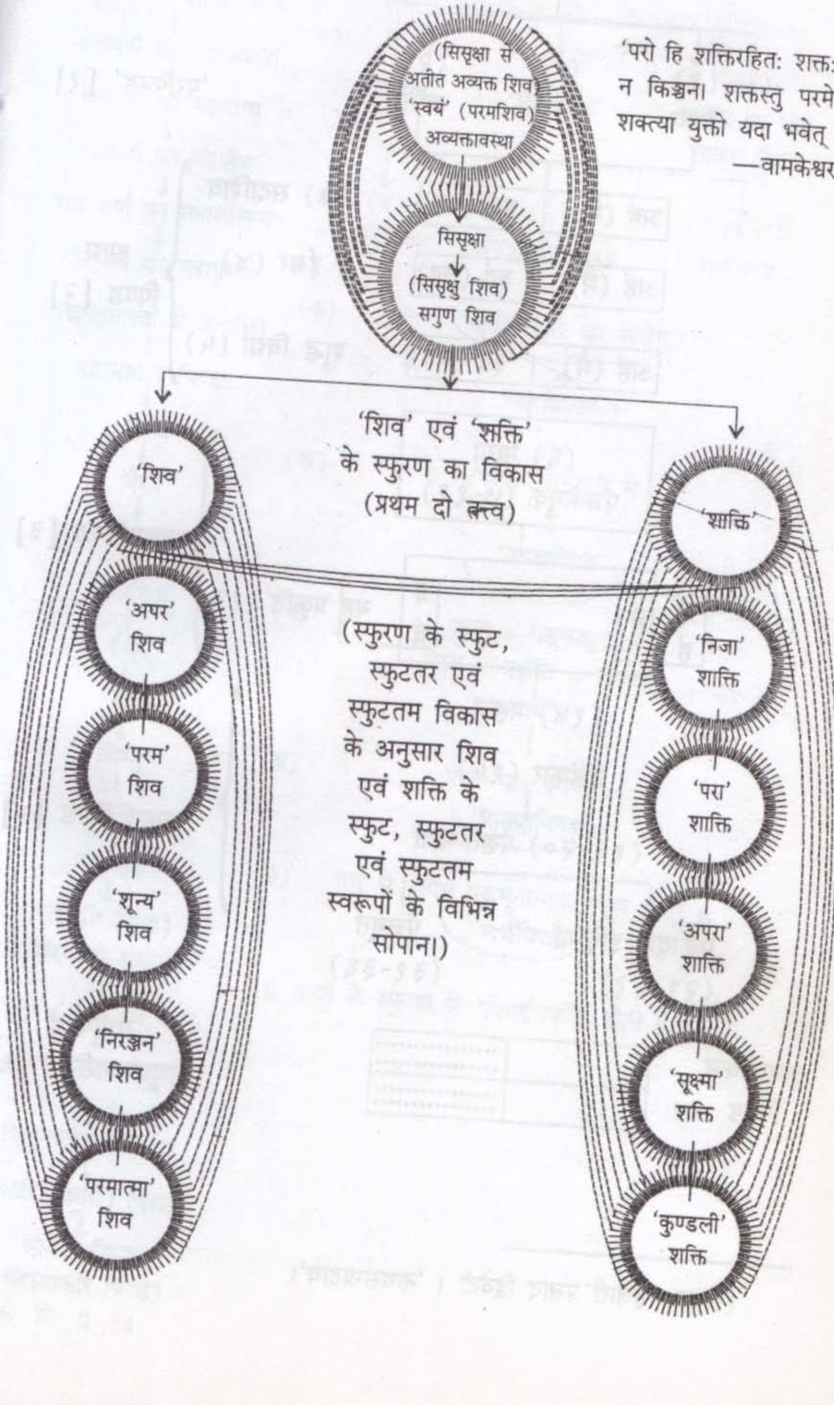

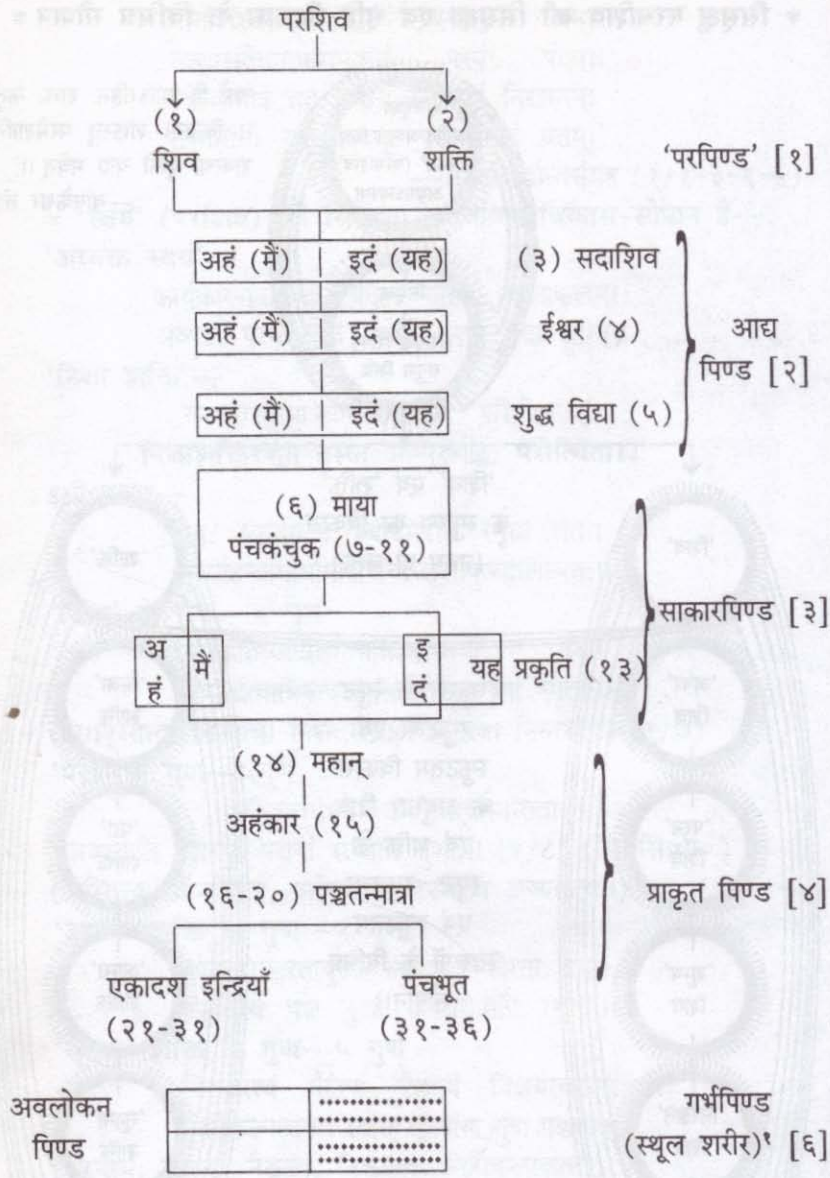

१. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी । 'नाथसम्प्रदाय'।

सृष्टि-क्रम—

त्रिगुणात्मक आदि पिण्ड
↓
नीलवर्ण का महाप्रकाश
↓
धूम्रवर्ण का महावायु
↓
रक्तवर्ण का महातेज
↓
श्वेत वर्ण का महासलिल
↓
पीतवर्ण की महापृथ्वी
↓
(पञ्चमहातत्त्वों से उत्पत्ति)
↓
महासाकार पिण्ड
↓
शिव
↓
भैरव
↓
श्रीकण्ठ
↓
सदाशिव
↓
ईश्वर
↓
रुद्र
↓
विष्णु
↓
ब्रह्मा
↓
नर-नारी
↓
(प्रकृति पिण्ड)
नर-नारी-संयोग
↓
पुरुष + नारी का जन्म
↓
(पिण्ड का स्वरूप)

× × × ×

त्रिगुणातीत परपिण्ड
↓
आदि (आद्य) पिण्ड
↓
साकार पिण्ड
(महासाकार पिण्ड)

मुख्य ६ पिण्ड

(१) परपिण्ड — (२) आद्यपिण्ड — (३) साकार या महा-साकार पिण्ड

(४) प्राकृतपिण्ड — (५) अवलोकन पिण्ड — (६) गर्भपिण्ड

(क) शिव-शक्ति का संयोग
↓
'परपिण्ड' ।

(ख) परवर्ती तत्त्वत्रय से
↓
'आद्यपिण्ड'

(ग) माया + पञ्चकञ्चुक + पुरुष + प्रकृति = **साकार तत्त्व'**॥

(घ) पञ्चतन्मात्र पर्यन्त = **'प्राकृतपिण्ड'**

(ङ) गर्भ से उत्पन्न पञ्चभूतात्मक स्थूल शरीर = **'गर्भपिण्ड'**

३६ तत्त्वों के स्फुरण से **'पिण्डोत्पत्ति'** होती है।

वेदान्तदर्शन, सिद्धमत तथा त्रिक दर्शन की 'शक्ति'—चूँकि नाथ-सम्प्रदाय पर काश्मीरीय अद्वैतवादी शैवशाक्त दर्शन का प्रभाव पड़ा है। अतः उसी के दृष्टिकोण से 'शक्ति' तत्त्व पर विचार करना चाहिए।

वेदान्त के निर्गुण निराकार ब्रह्म की भी 'शक्ति' है, किन्तु इस शक्ति से नाथों की 'शक्ति' का स्वरूप भिन्न है

वेदान्त की ब्राह्मी 'मायाशक्ति'	**त्रिकदर्शन एवं नाथों की शक्ति**
१. वेदान्त में ब्रह्म की शक्ति 'माया' कही जाती है।	(१) यहाँ शक्ति चैतन्य स्वरूप है और उसका स्वरूप ही चैतन्य है।
(२) 'माया' जड़ शक्ति है।	(२) शक्ति जड़ नहीं है। तथाकथित जड़रूप सत्ता एवं तद्रूप पदार्थ भी चैतन्य की सुषुप्तावस्था का ही एक भेद है अतः शक्ति पृथक नहीं है।
(३) 'माया' सत् भी नहीं है और असत् भी नहीं है प्रत्युत् यह अनिर्वचनीय है।	(३) शक्ति सत है, नित्य है और अविनश्वर है।
(४) यह ब्रह्म में समवेत (समवायिनी) शक्ति के रूप में भी नहीं है।	(४) यह ब्रह्म की स्वसमवेता (समवायिनी) शक्ति है।
(५) इसमें चैतन्य का संचार (प्रवाह) नहीं है।	इसके प्रभाव से (विद्या माया या विद्या के प्रभाव से) बंधनग्रस्त भी मुक्त हो जाता है।
(६) जीवों के संदर्भ में इसका कार्य बन्धन डालना है और जगत की दृष्टि से सर्जन करना है।	(६) इसका प्रधान कार्य बंधन से मुक्ति दिलाना है, न कि बंधन में डालना। 'चित्शक्ति' अनन्त शक्तिसम्पन्ना एवं अनन्तरूपात्मिका है।
(७) इसके प्रधान कार्य हैं—(१) आवरण (२) विक्षेप।	जगत 'शक्ति' का ही परिणाम है—'सृष्टिस्तु कुण्डली ख्याता' शिव की सिसृक्षा ही 'शक्ति' है और शक्ति का परिणमन ही 'जगत' है।
(८) यह मुक्ति का बाधक है।	शक्ति की सहायता से ही शिव सृष्ट्यादि व्यापार निष्पादित करते हैं।
(९) माया को नित्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ज्ञान होने पर इसकी सत्ता नहीं रह जाती।	(१०) ज्ञानोदय होने पर भी शक्ति रहती है। यह नित्य है। इसके अनेक भेद हैं। यथा—इच्छा शक्ति, ज्ञानशक्ति, क्रिया शक्ति, चित्त शक्ति, आनन्द शक्ति आदि।

माया भी असीम शक्तिसम्पन्ना है तथापि शिव के अधीन है। शिव की सिसृक्षा को 'माया' एवं परिणमन को 'जगत्' नहीं कहा जा सकता।	शक्ति से रहित शिव कुछ भी कर पाने में समर्थ नहीं है।
यहाँ **'परम सत्'** पदार्थों की दृष्टि से, केवल एक पदार्थ है और वह है ब्रह्म (न कि माया या जीव)।	शक्ति शिव से उसी प्रकार अभिन्न है यथा शर्करा और मिठास, चन्द्र और चाँदनी, अग्नि और ताप।।
माया में चिदंश नहीं है।	'माया' भी चितशक्ति का ही एक रूप है।
वेदान्त की माया **'स्वतंत्र'** नहीं है प्रत्युत् शिवाधीन है।	शिव की शक्ति का नाम ही 'स्वातंत्र्य शक्ति' है।
मायोपहित जगत मिथ्या है।	चितिरूपा शक्ति का परिणामरूप जगत मिथ्या नहीं प्रत्युत् सत् है।
वेदान्त में द्वयात्मक अद्वय नहीं है।	यहाँ परमसत्य अद्वय तो है किन्तु यहाँ द्वयात्मक अद्वय (शक्ति के साथ शिव) है।
माया से मुक्ति होने पर ही मुक्ति (मोक्ष) प्राप्त हो सकती है।	शक्ति स्वयं मुक्तिरूप है और 'अहं देवी न चान्योऽस्मि' की अभेद भावना से भी मुक्ति मिल सकती है।
प्रलयकाल में ब्रह्म 'मायाशक्ति' से परिणद्ध या समवेत नहीं रहता।	प्रलयकाल में भी 'शक्ति' शिव के साथ समवेत भाव से उसमें विद्यमान रहती है।
यहाँ ब्रह्म एवं माया में अभिन्न एवं नित्य सम्बंध नहीं है।	यहाँ शिव एवं शक्ति में अभिन्न एवं नित्य सम्बन्ध है।

सृष्टि-विस्तार के लिए 'शक्ति' निरन्तर स्थूल से स्थूलतर स्वरूप धारण करती है। इसी क्रम में शक्ति पहले सूक्ष्मतम से सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतर से सूक्ष्म, सूक्ष्म से स्थूल, स्थूल से स्थूलतर एवं स्थूलतर से स्थूलतम स्वरूप धारण करती जाती है और तदनुरूप जगत भी इसी क्रम में सूक्ष्म से स्थूल स्वरूप में पणित होता जाता है।

'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' के अनुसार पिण्ड-सृष्टि

इस ग्रंथ के अनुसार—

(१) **'परपिण्ड'** से **आद्यपिण्ड** का उदय होता है।

(२) **'आद्यपिण्ड'** से **साकार पिण्ड** का उदय होता है।

(३) **'साकारपिण्ड'** से **महासाकरपिण्ड** का उदय होता है।

(४) **'महासाकारपिण्ड'** से **प्राकृतपिण्ड** का उदय होता है।

(५) **'प्राकृतपिण्ड'** से **गर्भपिण्ड** का उदय होता है।

२५-२५ तत्त्वों से पिण्डोत्पत्ति होती है। वैसे तो 'सिद्धसिद्धान्तसंग्रह' ६ प्रकार की पिण्डोत्पत्ति स्वीकार करता है किन्तु उमसें कई प्रकार की पिण्डोत्पत्ति प्रक्रियाये उल्लिखित है।

'परपिण्ड'—**'आद्यपिण्ड'**—**'साकारपिण्ड'**—**'महासाकारपिण्ड'**—**'प्राकृतपिण्ड'** एवं **'गर्भपिण्ड'** में से प्रत्येक पिण्ड पूर्ववर्ती पिण्डों से स्थूलतर है। **'गर्भपिण्ड'** से ही स्थूल शरीर का निर्माण होता है।

*** काश्मीरीय शैव दर्शन और सृष्टि-प्रक्रिया ***

काश्मीरीय अद्वैतवादी शैव-शाक्त दर्शन का नाथ-सम्प्रदाय पर पुष्कल प्रभाव है अत: उस पर प्रकाश डालना भी आवश्यक है।

सृष्टि की विभिन्न विकास-भूमिकायें

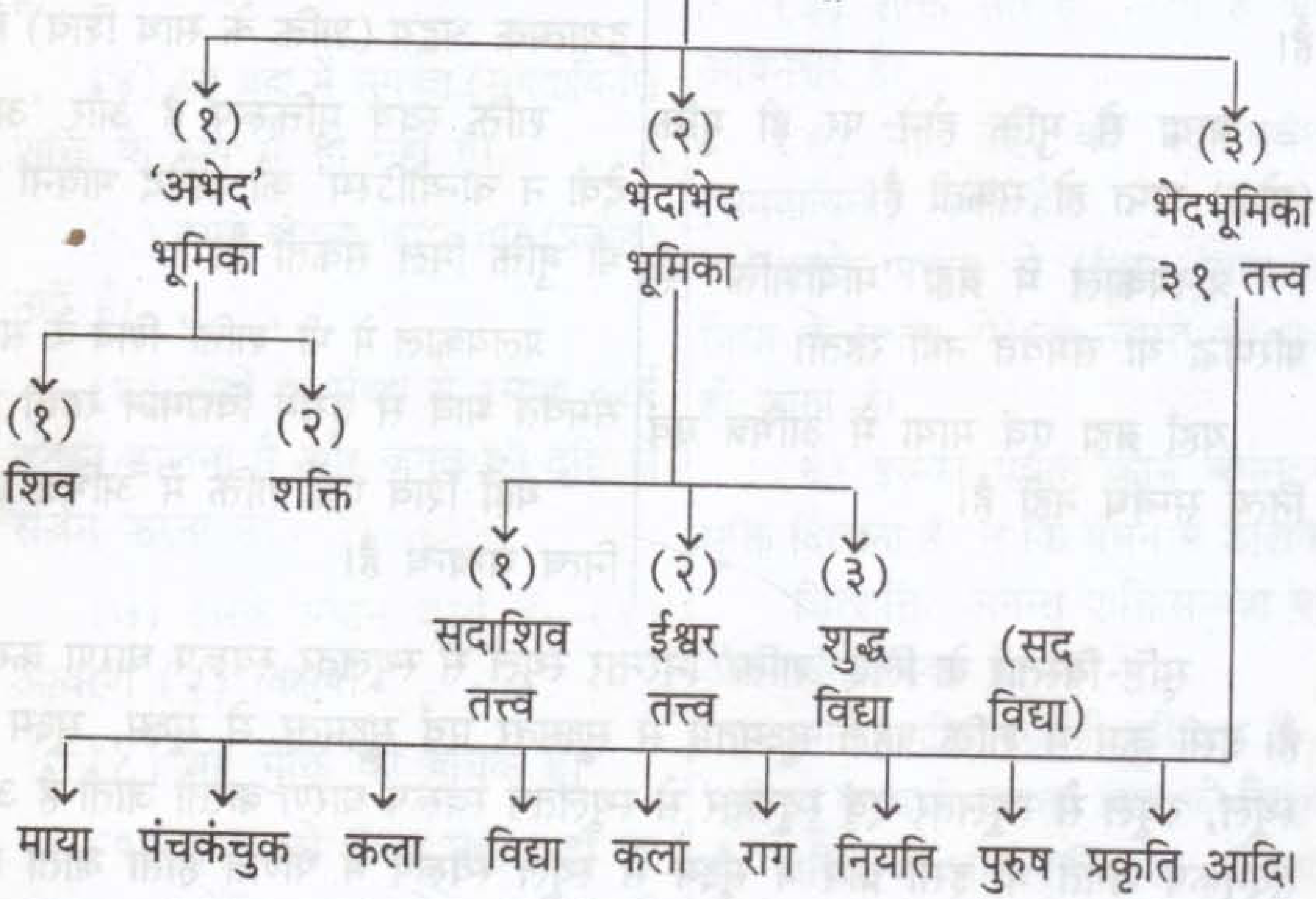

तत्त्व और सृष्टि-क्रम

परमेश्वर अवरोह-क्रम से अपने भीतर ही ३६ तत्त्वों का स्वेच्छया आभासन करता है जो इस प्रकार हैं—

(१) **अभेद भूमिका**—(क) शिव (ख) शक्ति।

(२) **भेदाभेदभूमिका**—(क) सदाशिव (ख) ईश्वर तत्त्व (ग) 'शुद्धविद्या' या 'सद्विद्या'

(३) **भेदभूमिका**—(६) माया (७) कला (८) विद्या (९) राग (१०) काल (११) नियति (१२) पुरुष (१३) प्रकृति (१४) बुद्धि (१५) अहंकार (१६) मन (१७) श्रोत्र (१८) त्वक् (१९) चक्षु (२०) जिह्वा (२१) घ्राण (२२) वाक् (२३) पाणि (२४) पाद (२५) वायु (२६) उपस्थ (२७) शब्द (२८) स्पर्श (२९) रूप (३०) रस (३१) गन्ध (३२) आकाश (३३) वायु (३४) वह्नि (३५) सलिल (३६) पृथिवी।

शिव से पृथ्वी तक ३६ तत्त्व हैं। शिव से पृथ्वी पर्यन्त ३६ तत्त्वों में अभेदात्मना स्फुरित आत्मा का इच्छा-प्रसार ही विश्व है।

काश्मीरी अद्वैतवादी शैव दर्शन का अद्वैत रूप परमतत्त्व तत्त्वातीत है और उसे **'परमशिव'** एवं **'चिति'** या **'आत्मा'** कहा गया है। यही **'परा संवित्'** एवं **'अनुत्तर'** भी कहा गया है। इसी में षट्त्रिंशदात्म जगत स्थित है—

'यत् पर तत्त्वं तस्मिन् विभाति षट् त्रिंशदात्मजगत्।'

—परमार्थसारकारिका (११)

इसी चिद्घन को अनुत्तर भी कहा गया है—

'अनुत्तरं न विद्यते प्रकृष्टमुत्तरं यतस्तरनुत्तरं चिद्घनम् ।। (परात्रिंशिका विवृति)

यह परतत्त्व **'प्रकाशविमर्शमय'** है।

'प्रकाश' आत्मा का स्वरूप है।

'विमर्श' प्रकाश रूप परमात्मा के स्वरूप की प्रतीत है। यह **'विमर्श'** (शक्ति तत्त्व) ही शिव का महेश्वरता की प्रतीति है। यही शिव परासंवित् है—चिति है। चिति ही परासंवित है। 'चिति' परमशिव है। यही आत्मा भी है : 'चैतन्यमात्मा' (शिवसूत्र)।

'विमर्श' ही परमशिव का अहं है। **'प्रकाश'** शिवस्वरूप है। **'शक्ति'** शक्तिरूप है। शक्तिस्वभाव से सम्पन्न होने पर ही शिव 'कर्ता' (कर्तृत्वाधिकारी) बन पाता है।

[१-२] **'शिव' और 'शक्ति'**—ये दोनों परमशिव के दो रूप हैं।

शिव एवं शक्ति में अभेद—'शिवदृष्टि' में सोमानन्दपाद कहते हैं कि शिव एवं शक्ति आपस में कभी एक-दूसरे से पृथक नहीं हो सकते।

''न शिवः शक्ति-रहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी।
शिव शक्तस्तथा भावानिच्छया कर्तुभीहते।
शिव शक्तस्तथा भावानिच्छया कर्तुमीहते।
शक्तिशक्तिमतोभेदः शैवे जातु न वर्ण्यते।।''

—शिवदृष्टि (३१२-३)

शक्ति है—'कर्तुं अकर्तुं तथा अन्यथाकर्तुं' की क्षमता।

विमर्श क्या है?—**'विमर्शो** हि सर्वंसहः परमपि आत्मीकरोति, आत्मानं च परीकरोति, उभयम् एकीकरोति एकीकृतं द्वयमपि न्यग्भावयति इत्येवं स्वभावः।।

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी

'शक्ति' आत्मारूपी परमशिव का दर्पण है। परमेश्वर की इच्छाशक्ति ही **'स्वातंत्र्य शक्ति'** कहलाती है। शिव 'स्वतंत्र' हैं।

परामशिव विश्वोत्तीर्ण है। विश्व परमशिव (आत्मा) का शंक्तिसंघात है—

'स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वं'८ (शिवसूत्र ३/३०)

परमशिव की शक्तियाँ

(१) **'चित'** (२) **'आनन्द'** (३) **'इच्छा'** (४) **'ज्ञान'** (५) **'क्रिया'** } 'शक्ति पञ्चक'

[३] **सदाशिव**—आभास-क्रम में तृतीय तत्त्व 'सदाशिव' हैं। इसका जन्म शिव की इच्छाशक्ति से हुआ है। शिव की इच्छा का अन्तर्मुख स्पंद **'ज्ञानशक्ति'** एवं बहिर्मुख स्पन्द**'क्रियाशक्ति'** है। अन्तर्मुख स्पन्द का उल्लासन (आन्तर ज्ञान दशा) ही **'सदाशिव तत्त्व'** है। सदाशिव दशा के प्रमाता की पारिभाषिक संज्ञा **'मंत्रमहेश्वर'** है। मंत्रमहेश्वर के विमर्श का स्वरूप है—इसमें अहम् शिव का एवं 'इदम्' विश्व का परिचायक है।

यहाँ 'अहन्ता' प्रधान है और 'इदन्ता' गौण है।

'पराप्रावेशिका' में कहा गया है—

'सदेवांकुरायमाणमिदं जगत् स्वात्मनाहन्तयाच्छाद्य स्थितं रूप **सदाशिवतत्त्वम्** ।।'

'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी' में कहा गया है—

'ततश्चान्तरी ज्ञानरूपा या दशा तस्या उद्रेकाभासने सादाख्यं.......**सदाशिव-रूपाया** इदं वाच्यं तत्त्वम् ।।' 'निमेषोऽन्तः **सदाशिवः** ।।' (ईश्वर प्रत्य०)

मंत्रमहेश्वर प्रमाता का जो अस्फुट वेद्य सा ज्ञानरूप चित विशेषत्व है उसे ही **'सदाशिव तत्त्व'** कहते हैं। **'शिव-शक्ति'** की सामरस्यावस्था में सत असत् जैसे विकल्प उदित नहीं होते अतः सृष्टि के विकास में यह **'सदाशिव'** प्रथम तत्त्व है जिससे सत् का ज्ञान होता है। शैवागमों में इसे **'निमेष'** कहा गया है।

[४] **ईश्वर तत्त्व'**—यह आभासन-क्रिया में चतुर्थ तत्त्व है। शिव की इच्छा

का अन्तर्मुख स्पन्द **'सदाशिव'** है और बहिर्मुखी स्पन्द **'ईश्वरतत्त्व'** है। इसकी अभिव्यक्ति शिवेच्छा में 'क्रियाशक्ति' के उद्रेक से होती है।

'बहिर्भावस्य क्रियाशक्तिमयस्य परत्वे उद्रेकाभासे सति **पारमेश्वरं परमेश्वर** शब्दवाच्य**मीश्वरत्वं** नाम॥' —ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी

सदाशिव तत्त्व में जो विश्व 'अंकुरायमाण अवस्था में रहता है और **अहन्ता-परामर्श-प्राधान्य** के कारण अस्फुट था, वही ईश्वर तत्त्व की दशा में अंकुरित होकर स्फुटभाव से परामृष्ट होने लगता है।

शिवतत्त्व का विमर्श है—(इदमहम्)—

यहाँ इदम् प्रधान है और अहं गौण है। यहाँ अहं का परामर्श अस्फुट रहता है किन्तु 'इदम्' का परामर्श स्फुट रहता है।

स्पन्दविवृतिकार ने कहा कि—क्रिया के प्राधान्य के कारण उन्मिषित शक्ति की परम अहंभाव में जो विश्रान्ति है उसे **'ईश्वरदशा'** कहते हैं।

ईश्वरदशा—'यत्र पुनः शक्तेषः क्रियाप्राधान्येन बहिर्गृहीतोन्मेषायाः पराहंभावविश्रान्तिः सा ईश्वरदशा'। —स्पन्द विवृति

अहं—परामर्श की दृष्टि से 'सदाशिव तत्त्व' एवं 'ईश्वरतत्त्व' में अभेद है किन्तु 'इदम्' के परामर्श की दृष्टि से भेद है। 'इदम्' की अस्फुटता एवं स्फुटता ही दोनों में वैभिन्य का कारण है। 'सदाशिव' में इदम् अस्फुट है किन्तु ईश्वरतत्त्व में स्फुट है। **'ईश्वरो बहिरुन्मेषो'** ईश्वर बहिरुन्मेष है।

[५] **'शुद्धविद्या'** (सद्विद्या)—विश्वोल्लासन के व्यापार में शुद्ध विद्या पंचम तत्त्व है। शिव का 'अहं' रूप अभेद-बोधक है किन्तु सद्विद्यावस्था में विमर्श का स्वरूप 'अहम् इदम्' इस प्रत्यय द्वारा प्रकट किया जाता है क्योंकि यहाँ 'अहम्' एवं 'इदम्' में सामान्याधिकरण्य है—

'सा भवति शुद्धविद्या येदन्ताहन्तयोरभेदमतिः।'
—षट्त्रिंशतत्त्वसन्दोह

जैसे परमशिव का बहिः औन्मुख्य 'शक्तितत्त्व' कहलाता है उसी प्रकार 'सदाशिव' एवं 'ईश्वर' का बाह्य औन्मुख **'शुद्धविद्यातत्त्व'** कहलाता है।

'अहम् इदम् अस्मि'—यह विमर्श 'शुद्धविद्या' कहलाता है। 'शक्ति' का उन्मेषनिमेष ही क्रमशः **'सदाशिव'** एवं **ईश्वर'** कहा जाता है।

'उन्मेष निमेषौ बहिरन्तःस्थिती एवेश्वरसदाशिवौ बाह्याभ्यन्तरयोर्वेद्यवेदकयोरेक-

चिन्मात्रविशान्तेरभेदात्सामानाधिकरण्येनेदं विश्वमहमिति विश्वात्मनो मतिः शुद्धविद्या।।'

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञावृत्ति

[६] **'माया'**—भेदात्मिका सृष्टि का छठवां तत्त्व **'माया'** है। यह परमेश्वर की **'स्वातंत्र्य शक्ति'** ही है—'परमेश्वरस्य भेदावभासने स्वातंत्र्यं तदेवाव्यतिरेकिणी अपूर्णता प्रथनेन मीनाति हिनस्ति इति माया शक्तिः।।'

—तन्त्रालोक की टीका

यह परमेश्वर की **स्वरूप गोपनात्मिका इच्छा शक्ति है**—

'माया स्वरूपगोपनात्मिका पारमेश्वरी इच्छाशक्तिः।।'

—तन्त्रालोक की टीका

सृष्टि को विकासोन्मुख करने हेतु **'अहन्ता'** ५ सोपानों से होकर गुजरती है। इन अवस्थाओं की आख्या **'आनन्द'** है ।

आनन्द के प्रकार

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)
परमानन्द	प्रबोध	चिदुदय	प्रकाश	सोऽहं

इन्हीं आनन्दों के भीतर से यात्रा करते हुए शिव क्रमशः **जीवरूपत्व** की ओर अग्रपद होते हैं।

पिण्डब्रह्माण्डैक्यवाद—ब्रह्माण्ड के निर्माण में जो-जो अवस्थायें अतिक्रान्त करनी पड़ती हैं वही-वही अवस्थायें पिण्ड के निर्माण में अतिक्रान्त करनी पड़ती है। पिण्ड-ब्रह्माण्ड दोनों में एक ही तत्त्व है। पिण्ड में ब्रह्माण्ड अन्तर्निहित है।

'कुण्डलिनी शक्ति' भी पिण्ड एवं ब्रह्माण्ड दोनों में स्थित है। 'ब्रह्माण्डवर्ति यत् किंचित् तत् पिण्डेप्यस्ति सर्वथा।।'' —(सि०सि०सं० ३/२)

अद्वैतवाद और नाथपन्थ—नाथपन्थी अद्वैतवाद के प्रतिपादक हैं किन्तु उन्होंने शाङ्कर अद्वैत को स्वीकार नहीं किया है। नाथमार्गियों ने कहा—

(१) 'महासिद्धैरुक्तं यदद्वैताद्वैतविवर्जितं पदं निश्चलं दृश्यत तदेवसम्यगित्यभ्युपगभिष्यामः।।' —गोरक्षसिद्धान्त संग्रह

'गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह' में यह भी कहा गया है कि—

'अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
समं तत्त्वं न विन्दन्ति द्वैताद्वैतवलक्षणम्।

यदि सर्वगतो देवः स्थिरः पूर्णो निरन्तरः।
अहो माया महामोहो द्वैताद्वैतविकल्पना॥'

—अवधूतगीता।

आद्य स्फोट और जगत—चूँकि सृष्टि का उद्भव या जगत की उत्पत्ति 'शक्ति' के स्फोट के अनन्तर ही होती है। अतः जगत की सृष्टि का मूल सूत्रधार तो शक्ति ही सिद्ध होती है। ठीक भी है—

(१) 'चितिः स्वतंत्रा विश्वसिद्धि हेतुः॥'[१]

(२) 'स्वेच्छया स्वभित्तौविश्वमुन्मीलयति॥'

(३) 'चिदेव भगवती स्वच्छस्वतंत्ररूपा ततदनन्त जगदात्मना स्फुरति— इत्येतावत्परमार्थोऽयं—कार्यकारणभावः॥'[२]

(४) 'चितिः एव भगवती स्वतंत्रा अनुत्तरविमर्शमयी शिवट्टारकाभिन्ना हेतुः कारणम्॥'

—प्रत्यभिज्ञा हृदयम् ।

स्पष्ट है कि जगत्कर्त्री तो **'शक्ति'** है। शिव केवल ज्ञेय है, वह सृष्टिकर्ता नहीं है। वैसे शिव को पञ्चक्रियाकर्ता भी कहा जाता है। **'शक्ति'** और **'शिव'** में अभेद है, अतः यदि शिव अपनी स्वसमवेता एवं स्वाभिन्ना शक्तियों के माध्यम से कोई व्यापार निष्पादित करता है तो उसे भी शिव का ही व्यापार कहा जाएगा।

नाथ साधना का लक्ष्य—नाथ-साधना का लक्ष्य **'पिण्डपदसमरसीकरण'' 'समरसत्व' 'शिवशक्तिमारस्य'** या **'शिवशक्ति-सङ्गम'** है।

किसी अनादिकाल में 'शिव' और 'शक्ति' 'परमशिव' से पृथक् हुए थे और वे निरन्तर स्थूलता की दिशा में बढ़ते ही गए और अपने स्वरूप को भूल गए। एक दिन 'शिव' और 'शक्ति' दोनों एकरस हो जायेंगे। तब सृष्टि-चक्र का अन्त भी हो जाएगा।

कुण्डलिनी योग—परमशिव की शक्ति, मानव पिण्ड के मूलाधार चक्र में, प्राणी के जन्मजन्मान्तर के संचित मलों (आणव कमल, कर्म मल आदि मलों) के भार से आक्रान्त होकर स्थित है। **'नाड़ी-शोधन' 'भस्त्रिका'** (प्राणायाम) **'षट्चक्रभेदन' 'ग्रंथि-उद्भेद' 'नादानुसन्धान' 'प्रणवसाधना' प्राणापानैक्य-योग** आदि साधनों से कुण्डलिनी को 'ब्रह्मनाड़ी' में ले जाकर सारे तत्त्वों, सारी ग्रंथियों एवं सारे चक्रों का

१. प्रत्यभिज्ञा हृदयम् (१) (२) प्रत्य० हृ० (२)
२. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् —आचार्य क्षेमराज

वेधन कराते हुए उसका 'सहस्रार' में परमशिव से सामरस्य कराना ही शरीर के अमृतीकरण, मोक्ष एवं जीवन्मुक्ति का मार्ग है।

सृष्टि और शक्ति में एकत्व

'सिद्धसिद्धान्त संग्रहकार' ने सृष्टि एवं शक्ति को अभिन्न माना है—

'सृष्टिस्तु कुण्डली ख्याता सर्वभावगता हि सा।
बहुधा स्थूलरूपा च लोकानां प्रत्ययात्मिका।
अपरा सर्वगा सूक्ष्मा व्याप्तिव्यापक-वर्जिता।
तस्या भेदं न जानाति मोहितः प्रत्यये न तु।
ततः सूक्ष्मा परासंवित् मध्यशक्तिमहेश्वरी॥'

अद्वैतवाद और 'गोरक्षोपनिषद' की दृष्टि—इस ग्रंथ में कहा गया है कि अद्वैत से परतर भी सत्ता है।

(१) अद्वैत के ऊर्ध्व में **सदानन्द देवता स्थित** हैं।

अद्वैतभाव ही चरमावस्था नहीं है प्रत्युत् **'सदानन्द'**-अवस्था उससे भी ऊर्ध्ववर्ती है।

नाथ स्वरूप में ही मुक्ति है।
(१) **'शक्ति'** सृष्टि करती है।
(२) **'शिव'** पालन करते हैं।
(३) **'काल'** संहार करते हैं।
(४) **'नाथ'** मुक्ति देते हैं।
(५) **'नाथ'** सगुण-निर्गुण दोनों से परे हैं।

'सिद्धसिद्धान्तपद्धतिकार' की दृष्टि—ग्रंथकार का कथन है कि सबसे परे स्वयं ज्योतिस्वरूप सच्चिदानन्द मूर्ति ही परतत्त्व है—

'न ब्रह्मा विष्णु रुद्रौ न सुरपतिसुरा नैव पृथ्वी न चापो।
नैवाग्निर्वापिवायुर्न च गगनतलं नो दिशो नैव कालः।
नो वेदा नैव यज्ञा न च रविशशिनौ नो विधिः नैव कल्पः।
स्वज्योतिः सत्यमेकं जयति तव पदं सच्चिदानन्दमूर्तें॥'

—सिद्धसिद्धान्तपद्धति

सिद्धसिद्धान्तपद्धतिकार की दृष्टि—सिद्धान्त और साधना।

*** शक्ति-युक्त शिव की उपासना ***

गोरक्षनाथ ने 'शक्तियुक्त जगद्गुरु आदि नाथ' की वन्दना करते हुए इस ग्रंथ का प्रणयन प्रारम्भ किया है। तांत्रिक शाक्तमत, त्रिपुरा मत एवं त्रिकमत—तीनों ही द्वयात्मक अद्वैतवाद में आस्था व्यक्त करते हुए **'शक्ति-युक्त शिव'** की उपासना स्वीकार करते हैं। गोरक्षनाथ कहते हैं—'आदिनाथं नमस्कृत्य शक्तियुक्तं जगद्गुरुम् ॥''

* **परात्पर शक्ति** * सि० सि० प० में परात्पर शक्ति को **'अनामा'** कहा गया है और उसका स्वरूप इस प्रकार कहा गया है—

'यदा नास्ति स्वयं कर्ता कारणं न कुलाकुलम्।
अव्यक्त परं ब्रह्म अनामा विद्यते तदा।'

* अनामा परमशिव की शक्तियाँ *

(१) 'निजाशक्ति' (२) 'पराशक्ति' (३) 'अपराशक्ति' (४) 'सूक्ष्मशक्ति' (५) 'कुण्डलिनी शक्ति'

(१) **'निजाशक्ति'**—**'इच्छामात्र**धर्माधर्मिणी **निजा** शक्ति॥' (१/५)
(२) **'पराशक्ति'**—**'तस्योन्मुखत्वमात्रेण परा**शक्तिरुत्थिता॥' (१/६)
(३) **'अपराशक्ति'**—'तस्य **स्पन्दन**मात्रेण **अपरा**शक्तिरुत्थिता॥' (१/७)
(४) **'सूक्ष्मशक्ति'**—**'ततोऽहंतार्थ**मात्रेण **सूक्ष्म** शक्तिरुत्पन्ना॥' (१/८)
(५) **'कुण्डलिनी शक्ति'**—'ततो **वेदनशीला कुण्डलिनी** शक्तिरुद्गता।'(१/९)

इन पाँचों शक्तियों के गुण एवं धर्म सि० सि० सं० एवं सि० सि० प० दोनों में एक समान वर्णित हैं। (सि० सि० प०)

* **परपिण्डोत्पत्ति** *—एक शक्तितत्व में ५-५ के गुणयोग से 'परपिण्ड' की उत्पत्ति हुआ करती है।

'एकं शक्तितत्त्वे पञ्च पञ्च गुण योगात् परपिण्डोत्पत्तिः॥' (१/१५) * (सि० सि० पद्धति)

'परपिण्ड' के २५ गुण हैं। **प्रथम पिण्ड पर पिण्ड** है और यह त्रिगुणातीत है। **आदि या आद्य पिण्ड** प्रथम पिण्ड के बाद का पिण्ड है।

'निजापराऽपरासूक्ष्मा कुण्डलिन्यासु पञ्चधा।' (१/१६)

* ५-५ गुणों के योग से **शक्तितत्त्व** में 'परपिण्ड' की उत्पत्ति होती है। **साकार एवं महासाकार** पिण्ड एक ही हैं अतः ६ पिण्ड हैं।

महा० गोपीनाथ कविराज—(सि० सि० सं० की भूमिका) ६ पिण्ड हैं—(१) पर या आद्य पिण्ड (२) साकार पिण्ड (३) महासाकार पिण्ड (४) प्राकृतपिण्ड (५) अवलोकन पिण्ड (६) गर्भपिण्ड।

१. सि०सि०प० में नाथ मत को प्रारंभ में 'सिद्धमत' कहा गया है।

अव्यक्त परम तत्त्व →

परमपद की पाँच शक्तियाँ (१)

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	
निजा	परा	अपरा	सूक्ष्मा	कुण्डली	२५ गुण
५ गुण	५ गुण	५ गुण	५ गुण	५ गुण	

'पर पिण्ड' (१)

'परपिण्ड' के ५ पद एवं उनके गुण (२)

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	
अपर	पर	शून्य	निरञ्जन	परमात्मपद	२५ गुण
५ गुण	५ गुण	५ गुण	५ गुण	५ गुण	

'आद्य पिण्ड' (२)

'आद्यपिण्ड' के ५ आनन्द एवं उनके गुण

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	
परमानन्द	प्रबोध	चिदुदय	प्रकाश	सोहऽम्	२५ गुण
५ गुण	५ गुण	५ गुण	५ गुण	५ गुण	

'आद्यपिण्ड' : ५ महातत्त्व और उनके अंशभूत तत्त्व

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	
महाकाश	महानिल	महातेज	महावारि	महापृथ्वी	२५ तत्त्व
५ गुण	५ गुण	५ गुण	५ गुण	५ गुण	

'साकार पिण्ड' (३)

'साकारपिण्ड' : अष्टमूर्तिः शिव। भैरव। श्रीकण्ठ। सदाशिव। ईश्वर। रुद्र। विष्णु। ब्रह्मा। — २५ तत्त्व

'महासाकार पिण्ड' (४)

'महासाकारपिण्ड' : तत्त्वांश २५ तत्त्व
पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश से सम्बद्ध अस्थि, त्वक्, आंस, लोम, नाड़ी (पृथ्वीतत्त्व) लाला, मूत्र। स्वेद। शुक्र। रक्त (जल तत्त्व)। क्षुधा। तृषा, आलस्य, निद्रा, कान्ति (अग्नितत्त्व)। धावन, चलन, रोध। प्रसारण। आकुञ्चन (वायु तत्त्व) राग, द्वेष, लज्जा, मोह (आकाशतत्त्व)।

'प्राकृत पिण्ड' (५)

*** प्राकृत पिण्ड * के २५ तत्त्व**

(१) अन्तःकरण के धर्म	(२) कुलपञ्चक	(३) व्यक्ताख्य शक्ति के गुण		
मन	बुद्धि	अहंकार	चित्त	चैतन्य
५	५	५	५	५
सत्व	रज	तम	काल	जीव
५	५	५	५	५
इच्छा	कर्म	माया	प्रकृति	वाक्
५	५	५	५	५

'गर्भ पिण्ड'

(१) * अव्यक्त परम तत्त्व की शक्तियाँ एवं उनके गुण *

(१) **'निजा'**—निराकृतित्व। नित्यत्व। निरन्तरत्व। निष्पन्दत्व। निरत्थत्व।

(२) **'पराशक्ति'**—अस्तित्व। अप्रमेयत्व, अभिन्नत्व। अनन्तत्व। अव्यक्तत्व।

(३) **'अपराशक्ति'**—स्फुरता, स्फारता। स्फुरत्ता। स्फोटता। स्फूर्ति।

(४) **'सूक्ष्मा शक्ति'**—नैरन्तर्य। नैरंश्य। नैश्चल्य। निश्चयत्त्व। निर्विकल्पत्व।

(५) **'कुण्डली'**—पूर्णत्व। प्रतिबिम्बत्व। प्रकृतिरूपत्व। प्रत्यङ्मुख। औच्चल्य।

(२) 'परपिण्ड' के पाँच पद एवं उनके ५-५ गुण

(क) अपर पद—अकलत्व। असंशयत्व। अनुमतत्व। अन्यपारता। अमरत्व।

(ख) पर पद—निष्फल। अलोल। असंख्य। अक्षय। अभिन्न।

(ग) शून्य पद—नीलता। पूर्णता। मूर्च्छा। उन्मनी। लयता।

(घ) निरञ्जन पद—सहज। सामरस्य। सत्यत्व। सावधानता। सर्वगत्व।

(ङ) परमात्म पद—अभयत्व। अभेद्यत्व। अच्छेद्य। अनाश्य। अशोष्य।

'निजापराऽपरासूक्ष्माकुण्डलिन्यासु पञ्चधा।
शक्ति-चक्रं क्रमेणोत्थो जातः पिण्डपरः शिवः॥' (सि० सि० प० १।१६)

* परपिण्डोत्पत्ति की प्रक्रिया *

(१) 'शक्ति तत्त्व' में प्रत्येक शक्ति (निजा शक्ति, पराशक्ति, अपराशक्ति, सूक्ष्मा शक्ति, कुण्डलिनी शक्ति) के ५-५ गुण, धर्म या अवस्थायें हैं। (२५ गुणों) में 'परपिण्ड' से (सगुण-साकार परमेश्वर से) पिण्ड का आविर्भाव होता है—

'एवं शक्तितत्त्वे पञ्चपञ्च गुणयोगात् परपिण्डोत्पत्तिः।' (१५)[1]

(२) जिस प्रकार हमारी पाञ्चभौतिक **काया पञ्चभूतों का पिण्ड है** और उसका **अधिष्ठाता** जीवात्मा है, उसी प्रकार **'शक्ति'** के २५ गुणों वाले **'परपिण्ड'** का अधिष्ठाता सगुण साकार परमेश्वर है।

(३) **'परपिण्ड'** में व्याप्त यह **परमेश्वर** जगत् की सृष्टि पालन एवं संहार के लिए प्रकट होता है। **'परपिण्ड'** उत्पन्न नहीं **प्रकट होता** है और **लयीभूत होता है,** न कि उत्पन्न एवं नष्ट।

(४) **साकार-सगुण परमेश्वर का पिण्ड** द्वैताद्वैतविवर्जित अलख निरञ्जन परमेश्वर में लयीभूत हो जाता है, नष्ट नहीं होता।

---

१. सि०सि०प० (प्रथमोपदेश)

(५) **'निजा', 'परा', 'अपरा', 'सूक्ष्मा' एवं 'कुण्डलिनी'**—इन ५ **शक्तियों में शक्तिचक्रक्रम** के माध्यम से **सदाशिव** ५ प्रकार से प्रकट होते हैं।

(६) एक-एक शक्ति के विकास से एक-एक पिण्ड आविर्भूत होता है। इन ५ पिण्डों के अधिष्ठाता रूप ५ देव होते हैं। यही है—शक्तिचक्र क्रम।

(७) **शक्तिचक्रत्रिकोण** में बिन्दु (परब्रह्म शिव। आदि नाथ परमेश्वर) रहता है।

(८) सदाशिव की शक्ति के विकास के समय यह **शक्ति**—(१) इच्छा (२) ज्ञान एवं (३) क्रिया का स्वरूप धारण करती है। इन **तीनों शक्तियों** (गौरी। लक्ष्मी। सरस्वती) से **परमेश्वर व्यापक शिव** का प्राकट्य होता है।[१]

* अनादि पिण्ड के ५ तत्त्व एवं २५ गुण *

५ शक्तियों के, शक्तिचक्र क्रम से, प्रकट ५ अधिष्ठाता देवता हैं यथा—

(१) **निजाशक्ति** के अधिष्ठाता देव—अपरम्पर सदाशिव—हैं।

(२) **पराशक्ति** के अष्ठिाता देव—परमपद परमेश्वर हैं।

(३) **अपराशक्ति** के अष्ठिाता देव—शून्य, रुद्र हैं।

(४) **सूक्ष्माशक्ति** के अष्ठिाता देव—निरञ्जन (विष्णु) हैं।

(५) **कुण्डलिनी शक्ति** के अष्ठिाता देव—परमात्मा (ब्रह्मा) हैं।

(क) अपरम्पर सदाशिव से—'स्फुरत्ता' (उत्साह)

(ख) परमपद परमेश्वर से—'भावना'

(ग) शून्य (रुद्र) से—'सत्ता मात्र'

(घ) निरञ्जन (विष्णु) से—स्वसाक्षात्कार मात्र (अहंकार)

(ङ) परमात्मा (ब्रह्मा) से—बीजरूप समष्टि पिण्ड उत्पन्न हुए हैं।

—(सि० सि० प० १/१८)

"अपरम्परं परमपदं शून्यं निरञ्जनं परमात्मेति।"[२]

अनादि पिण्ड की उत्पत्ति—'अपरम्परं, परमपदं। शून्यं, निरञ्जनपरमात्मानौ पञ्च भिरेतैः सगुणौर**नाद्यपिण्डः** समुत्पन्नः।।[३]

(क) सृष्टि की रचना के समय **५-५ गुणों से युक्त ५ महाशक्तियों का प्रकटीकरण** होता है।

---

१. सि०सि०प० (गोरक्षनाथ)
२. सि०सि०प० (१।४७)
३. सि०सि०प० (२४)

(ख) वे ५-५ देवों से पृथक्-पृथक् युक्त होती हैं।

ये ही ५ देव स्वनिहित शक्तियों के अनुरुप—

(क) **'अपरम्पर'** (ख) **'परमपद'** (ग) **'शून्य'** (घ) **'निरञ्जन'** एवं (ङ) **'परमात्मा'** कहे जाते हैं।

इन सभी ५ प्रधान महाशक्तियों के साथ संयुक्त चेतनसत्ता का नाम है—**'अनाद्यपिण्ड'।**

यह सच्चिदानन्दघनस्वरूप **परमेश्वर** ही गुण एवं नाम से ५ रूपों में अभिव्यक्त होता है। यह समष्टि देव ही परमेश्वर **'शिव'** या **'आदिनाथ'** हैं।

*** महासाकार आद्य पिण्ड पुरुषः उत्पत्ति, ५ तत्त्व एवं २५ गुण ***

'अनाद्यपिण्ड परमेश्वर' से **'आद्यपिण्ड पुरुष'** की अभिव्यक्ति है—

(१) अनाद्य पिण्ड—परमानन्द

(२) परमानन्द—प्रबोध

(३) प्रबोध—चिदुदय

(४) चिदुदय—चित्प्रकाश

(५) चित्प्रकाश—अहंभाव की अभिव्यक्ति हाती है—

('अनाद्यात् परमानन्दः परमानन्दात् प्रबोधः, **प्रबोधा**च्चिदुदयश्चिदुदयात् चित्प्रकाशः चित् प्रकाशात् सोऽहंभावः॥—सिद्धसिद्धान्तपद्धति (१।२५)

इस आद्य पुरुष परमेश्वर के भी ५-५ गुणों से विशिष्ट ५ देव हैं।

'परमानन्द', 'प्रबोध', 'चिदुदय', एवं 'चित्प्रकाश' आदि में से प्रत्येक के ५-५ गुण हैं।

सोऽहंभाव के ५ गुण[1]

(१) अहन्ता (२) ऐश्वर्य (३) स्वात्मता (४) विश्वानुभवसामर्थ्य (५) सर्वज्ञत्व

महत्तत्त्व रूप **आद्यपिण्ड** है। यही आद्यपिण्ड पुरुष **'हिरण्यगर्भ' है।** ५ भूतों का कारण **'सूत्रात्मा'** है।

आद्यपिण्ड सूत्रात्मा—महाप्रकाश→महावायु→महातेज→महासलिल→महापृथ्वी (सि०सि०प० १।३१)

१. सि०सि०प० (१।३०)

पाँचों तत्त्वों के ५-५ गुण हैं।

*** महासाकार पिण्ड की अष्टमूर्तियाँ ***

'महासाकार पिण्ड' पञ्चाननशिव की अष्टमूर्तियाँ हैं—

शिव से → भैरव → श्रीकण्ठ → सदाशिव → ईश्वर → रुद्र → विष्णु → ब्रह्मा व्यक्त हुए हैं।

'स एव शिवः शिवाद् भैरवो, भैरवात् श्रीकण्ठः श्रीकण्ठात् सदाशिवः, सदाशिवादीश्वर ईश्वराद्रुद्रो, रुद्राद्विष्णु, विष्णोर्ब्रह्मेति **महासाकार पिण्डस्य मूर्त्यष्टकम्** ।''[1]

*** नरनारी रूप 'प्रकृतिपिण्ड' ***

ब्रह्मा के **अवलोकन** (ईक्षणात्मक संकल्प) से नारीसम्पुटित **पुरुषप्रकृतिपिण्ड** (शतरूपा मनु प्रजापति) का आविर्भाव होता है।

इसके उपरान्त जरायुजादि भौतिक शरीरों की उत्पत्ति होती है। यही **'प्रकृति पिण्ड'** भूमि आदि पञ्चभूतों के ५ गुणों से युक्त **'पाञ्चभौतिक'** शरीर कहा जाता है।

''तद् ब्रह्मणः सकाशाद**वलोकनेन** नर-नारी रूप **प्रकृति पिण्डः** समुत्पन्नस्तच्चं प्रञ्चपञ्चात्मक शरीरम् ॥'

शरीर में ५ महाभूत अस्थि, मांस, त्वक्, नाड़ी, रोम, मूत्र, शुक्र, रक्त, स्वेद, क्षुधा, तृषा, निद्रा, कान्ति, आलस्य, भ्रमण, आकुञ्चन, राग, द्वेष, भय, लज्जा, मोह आदि के रूप में अवस्थित हैं।

* अन्तःकरणपञ्चक *

(१)	(२)	(३)	(४)
मन और उसके गुण	बुद्धि और उसके गुण	अहंकार और उसके गुण	चित्त और उसके गुण
(१) संकल्प	(१) विवेक	(१) अभिमान	(१) मति
(२) विकल्प	(२) वैराग्य	(२)मदीयं	(२)इच्छा
(३) मूर्च्छा	(३) शान्ति	(३)मम सुखं	(३) स्मृति
(४) जड़ता	(४) सन्तोष	(४) मम दुखं	(४) त्याग
(५) मनन	(५) क्षमा	(५)ममेदम्	(५) स्वीकार

---

१. सि०सि०प० (१।३७))

* अन्त:करण के गुण *

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)
विमर्श	शीलन	धैर्य	चिन्तन	नि:स्पृहत्व

* कुलपञ्चक *

सत्त्व	रज	तम	काल	जीव
५ कार्य	५ कार्य	५ कार्य	५ कार्य	५ कार्य

* पञ्चगुण *

दया	धर्म	क्रिया	भक्ति	श्रद्धा

* व्यक्ति पञ्चक *

इच्छा	क्रिया	माया	प्रकृति	वाक्
५ गुण	५ गुण	५ गुण	५ गुण	५ गुण

* वाक् के ५ गुण *

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)
परा	पश्यन्ती	मध्यमा	वैखरी	मातृका

* प्रत्यक्षकरण पञ्चक

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)
कर्म	काम	चन्द्र	सूर्य	अग्नि
५ प्रधान कारण	५ गुण	१७ कला	१६ कला	१० कलायें

(क) * **१० प्रधान नाड़ियाँ** *

(ख) * १० वायु (प्राण)

(ग) * जीवात्मा के स्थूल शरीर का उत्पत्ति क्रम।

सिद्धमत में पिण्डविचार (सिद्धसिद्धान्तपद्धति)

(१) पिण्डोत्पत्ति
(२) पिण्ड-विचार
(३) पिण्ड-संवित्ति
(४) पिण्डाधार
(५) पिण्डपद समरसभाव
(६) नित्यावधूत

*** पिण्ड-विचार * (द्वितीयोपदेश)**

(नौ चक्र)

(१) ब्रह्मचक्र
(२) स्वाधिष्ठानचक्र
(३) नाभिचक्र
(४) अनाहत चक्र
(५) कण्ठचक्र
(६) तालुचक्र
(७) भ्रूचक्र
(८) ब्रह्मरन्ध्र निर्वाण चक्र
(९) आकाशचक्र

* षोडशाधार *

(१) पदाङ्गुष्ठाधार
(२) मूलाधार
(३) गुदाधार
(४) मेढ्राधार
(५) उड्डियाण आधार
(६) नाभ्याधार
(७) हृदयाधार
(८) कण्ठाधार
(९) घण्टिकाधार
(१०) ताल्वाधार
(११) जिह्वाधार
(१२) भ्रूमध्याधार
(१३) नासिकाधार
(१४) नासामूलक कपाटाधार
(१५) ललाटाधार
(१६) ब्रह्मरंध्र (आकाशचक्र)

* लक्ष्यत्रय *

(१) अन्तर्लक्ष्य
(२) बहिर्लक्ष्य
(३) मध्यलक्ष्य

* व्योमपञ्चक *

(१) आकाश
(२) पराकाश
(३) महाकाश
(४) तत्त्वाकाश
(५) सूर्याकश

* अष्टाङ्गयोग *

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)	(७)	(८)
यम	नियम	आसन	प्राणायाम	प्रत्याहार	धारणा	ध्यान	समाधि

गोरक्षनाथ जी ने इस ग्रंथ में योग को 'षडङ्ग' न मानकर **'अष्टाङ्ग'** माना और योगाङ्गों की मौलिक विवेचना की।

(१) **'यम'**—(उपशम) "**यम** इति उपशम:॥" 'सर्वेन्द्रियजयआहार—निद्रा—शीत—वातपजयश्चैवं शनैः शनैः साधयेत् ॥" (२।३२)

(२) **'नियम'**—"**नियम** इति मनोवृत्तिनां नियमनम्।"
एकान्तवास—नि:सङ्गता—औदासीन्य—
यथा प्राप्तिसन्तुष्टि वैरस्य—गुरुचरणावरुढ़त्व।

(३) **'आसन'**—'आसनमिति स्वस्वरूपे समासन्नता।'
स्वस्तिकासन, पद्मासन, सिद्धासन:। इन आसनों में से एक आसन में सावधान होकर ध्येय तत्त्व में स्थिर होना।

(४) **'प्राणायाम'**—'प्राणायाम इति प्राणस्य स्थिरता॥'
रेचक-पूरक-कुम्भक-संघटकरणा रूप चार प्राणायाम के लक्षण हैं।

(५) **'प्रत्याहार'**—'प्रत्याहारमिति चैतन्यतुरङ्गाणां प्रत्याहरणम्'।
चैतन्य आत्मा के इन्द्रिय रूपी घोड़ों के प्रत्याहरण से उनके विकारग्रस्त होने से उत्पन्न विकारों की समाप्ति हो जाती है—यही प्रत्याहार है।

(६) **'धारणा'**—शरीर से बाहर-भीतर एक ही निज तत्त्व स्वरूप आत्मा व्याप्त है। अन्त:करण से इस तरह की भावना ही **'धारणा'** है।

(७) **'ध्यान'**—अद्वैतस्वरूप परमात्मा है। यही आत्मा है। जो-जो वस्तु प्रतीत हो उसमें आत्मस्वरूप की भावना करनी चाहिए। समस्त भूतमात्र में समदृष्टि (आत्मदृष्टि) या आत्मस्वरूप की भावना ही **'ध्यान'** है।

(८) **'समाधि'**—समस्त तत्त्वों की समावस्थागत अनायास एवं स्वाभाविक सहज स्थिति ही समाधि है—

'अथ समाधिलक्षणं सर्व तत्त्वानां समावस्था निरुद्यमत्वमनायास स्थितिमत्वमिति समाधि लक्षणम्॥'[१]

---

१. सि०सि०प० (द्वितीय उपदेश)

* **पिण्डसंवित्ति** * (पिण्डब्रह्माण्डैक्यवाद)[१]

गोरक्षनाथ कहते हैं—"पिण्डमध्ये चराचरं यो जानाति से योगी पिण्डसंवितर्भवति।।"

जो योगी इस पिण्ड में चर, अचर एवं समस्त ब्रह्माण्ड का ज्ञान प्राप्त करता है वह पिण्डसंवित्ति' (पिण्डज्ञान) वाला होता है।

* सप्तपाताल और लोकादि *

सारे पाताल एवं लोक शरीर में विद्यमान हैं। यथा—गुह्यस्थान में भूर्लोक, लिंगस्थान में भुवर्लोक आदि।।

* वर्णचतुष्टय, सप्तद्वीप एवं सप्तसमुद्र *

सारे द्वीप एवं समुद्र भी इसी शरीर में स्थित हैं।

* नव खण्ड अष्टकुलपर्वत *

नवखण्ड एवं अष्टकुल पर्वत भी शरीर में ही स्थित हैं।

* नक्षत्रादि एवं स्वर्गनरक एवं मुक्ति *

नक्षत्रादि, एवं स्वर्गनरक आदि भी हमारे शरीर में ही स्थित हैं।

तृतीय उपदेश के अन्त में निम्न प्रश्नों का समाधान किया गया है—

(१) सुख क्या है ? स्वर्ग क्या है? "यत्सुखं तत् **स्वर्गं**।।

(२) दुःख क्या है? नरक क्या है? यद् दुःखं **तन्नरकं**।'

(३) बन्धन क्या है? 'यत् कर्म तद् **बन्धनम्** ।।'

(४) मुक्ति क्या है? 'यन्निर्विकल्पं तन्मुक्तिः।।'

(५) शान्ति कैसे मिलती है?

'स्वरूपदशायां निद्रादौ स्वात्मजागरः **शान्तिर्भवति**।'

(६) **पिण्डसंवित्तियोगी कौन है?—**

सभी देहों में **विश्वरूप परमात्मा,** अखण्डस्भाव द्वारा, चिद्रूप में अवस्थित है ऐसा जानने वाला ही **पिण्डसंवित्ति** योगी है।

"एवं सर्वदेषेशु विश्वरूपपरमेश्वरः परमात्माऽखण्डस्वभावेन घटे घटे चित्स्वरूपो

---

१. सि०सि०प० (द्वितीय उपदेश)

२. सि०सि०प० (तृ० उप० १३))

तिष्ठति। एवं पिण्डसंवत्तिर्भवति।।''[२]

* पिण्डाधार *

'समरसता' कैसे स्थापित होती है?—इसी का विवेचन **'पिण्डाधार'** में किया गया है।

'शक्ति' का स्वरूप क्या है? वह **'निजाशक्ति'** जिससे शिव अभिन्न है, जो उनकी **नित्य, निजा, समवायिनी** शक्ति है—उस **मूलभूता शक्ति** का स्वरूप

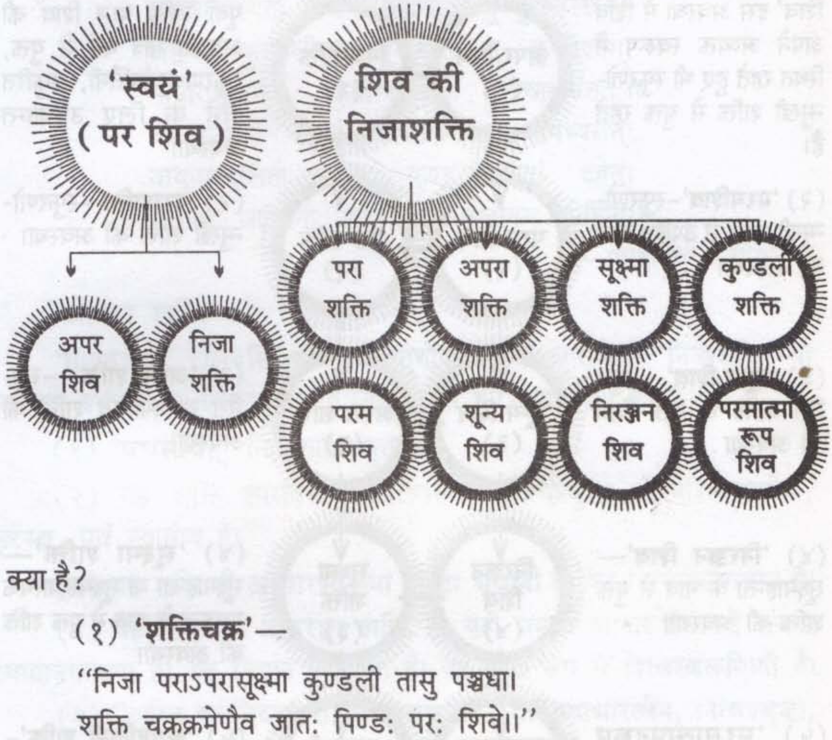

क्या है?

(१) **'शक्तिचक्र'**—

''निजा पराऽपरासूक्ष्मा कुण्डली तासु पञ्चधा।
शक्ति चक्रक्रमेणैव जातः पिण्डः परः शिवे।।''

(२) **शिव के ५ भिन्न-भिन्न स्वरूप**—

(१) ततोऽ**स्मितापूर्वमर्चिर्मात्रं स्यादपरं** परम् ।

(२) तत्स्व**संवेदनाभा**मुत्पन्नं परमंपदम् ।

(३) **स्वेच्छामात ततः**शून्यं............

(४) सत्तामात्रं **निरञ्जनम्** ।

(५) तस्माततः स्वसाक्षादभूः **परमात्मपदं** मतम् ।।

* शिव शक्ति के स्फुरण का विकास-चित्र *

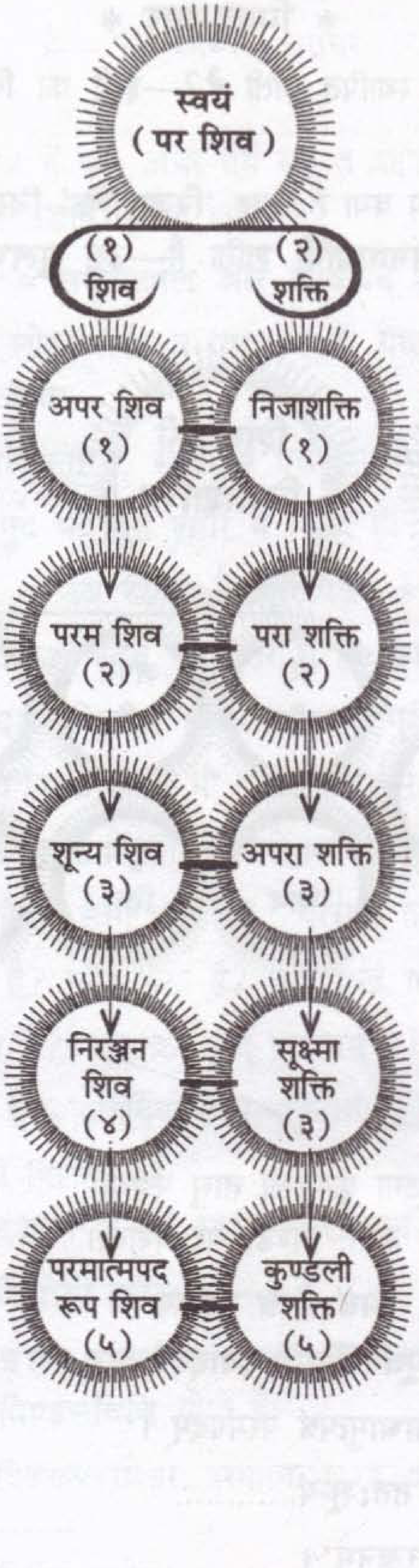

शिव की अवस्थायें

(१) 'अपरं पदम्' 'अपर शिव' इस अवस्था में शिव अपने अव्यक्त स्वरूप में स्थित रहते हुए भी स्फुरणोंन्मुखी शक्ति से युक्त रहते हैं।

(२) **'परमशिव'**–स्फुरणोन्मुखी शक्ति से उपहित शिव की अवस्था।

(३) **'शून्य शिव'**—स्फुरित शक्ति से युक्त शिव की अवस्था

(४) **'निरञ्जन शिव'**— सूक्ष्माहन्ता के भाव से युक्त शक्ति की अवस्था।

(५) **'परमात्मपदरूप शिव**—पृथग्भाव से युक्त कुण्डलिनी शक्ति से युक्त शिव की अवस्था।

शक्ति की अवस्थायें

(१) **'निजाशक्ति'**—स्फुरण-पूर्वा शक्ति परम शिव की अवस्था मात्र धर्म से युक्त, स्फुरण-पूर्ववर्तिनी, स्फुरित होने के लिए उपक्रान्त अवस्था।

(२) **'पराशक्ति'**–स्फुरणोन्मुखी शक्ति की अवस्था।

(३) **'अपरा शक्ति'**—स्फुरित या स्पन्दित शक्ति की अवस्था।

(४) **'सूक्ष्मा शक्ति'**— सूक्ष्माहन्ता या सूक्ष्मरूपात्मक पृथकत्व के भाव से युक्त शक्ति की अवस्था।

(५) **'कुण्डलिनी शक्ति'**- चेतनशीला होकर पृथकत्व से भाव से युक्त शक्ति की अवस्था।

'परमात्मा' और कुण्डली जो शिव के पाँचवे विकास सोपान हैं—विश्व-सृष्टि के मूल है।

'कुण्डली शक्ति'—

'कन्दोर्ध्वं कुण्डली शक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः।
बन्धनाय च मूढ़ानां योगिनां मोक्षदा स्मृता।'

—गोरक्षनाथ—गोरक्षशतक

कुण्डली जागरण की विधि—

वज्रासनस्थितो योगी **चालयित्वा तु कुण्डलीम्।**
अष्टधा कुण्डलीभूतामृजुं कर्तुं तु कुण्डलीम्।
भानोराकुञ्चनं कुर्यात्कुण्डलीं चालयेत्ततः।।
वज्रासनगतो नित्यं **मासार्धं** तु समभ्यसेत्।
वायुनाज्वलितो वह्निः कुण्डलीमनिशं दहेत्।
संतप्ता साग्निना नाड़ी शक्तिस्त्रैलोक्य मोहिनी।।

—गोरक्षनाथ—योगबीज

'आधार शक्ति'—

'पिण्डाधार' (सि०सि०प० का चतुर्थोपदेश) के आरम्भ में 'निजाशक्ति' या **'आधार शक्ति'** के स्वरूप की विवेचना करते हुए कहा गया है कि—

(१) **'परासंवित्'** निजाशक्तिसंयुक्त है।

(२) यह शक्ति स्वसंवेद्य, संवित्स्वरूपा, नित्यप्रबुद्धा, परमशिवसमवेता, कूटस्थ, एवं स्वातंत्र्य है।

(३) यह शक्ति ही **आधारस्वरूपा आद्या भवानी** है। वह नित्यप्रकाशरूपा है।

(४) यह शिव की **अन्तरङ्गा शक्ति** है। यही सबका आधार है। यही सबका **उपादानकारण** है। यह चिद्रूपा पराशक्ति है। वह शुद्ध रूप में **शिवस्वरूपिणी है।**

(१) ''अस्ति का चिदपरंपरा **संवित्स्वरूपा, सर्वपिण्डाधारत्वेन, नित्यप्रबुद्धा, निजाशक्ति,** प्रसिद्धा कार्यकारणकतृर्णाणामुत्थानदशाङ्कुरोन्मीलनेन कर्तारं करोतीत्यनन्तर-**वाधारशक्ति**रिति कथ्यते।।''

(२) **'अत्यन्तनिजप्रकाश स्वसंवेद्यानुभवैकगम्यमाना** शास्त्रलौकिक-**साक्षात्कारसाक्षिणी** सा **परा चिद्रूपिणी शक्तिर्गीयते।'**

(३) ''सैव शक्तिर्यदा सहजेन स्वस्मिन्नुन्मीलिन्यां वर्तते **तदा शिव स एव भवति।।**''[१]

१. सि०सि०प० (४था उपदेश) सूत्र १

कुलाकुल-सामरस्य—यह कुलाकुलस्वरूपिणी पराशक्ति, कुलाकुल **शिवशक्ति** की अभेदावस्था ही, **सामरस्य प्राप्ति की भूमिका** कही जाती है—

"अतएव कुलाकुलस्वरूपा **सामरस्य निजभूमिका** निगद्यते।।"[१]

'कुलशक्ति' का स्वरूप—'कुलशक्ति' विश्वाधारस्वरूप में स्थित है। कुल शक्ति **'अधारशक्ति'** के रूप में पञ्चधा विभक्त है।

विश्वाधार **'कुलशक्ति'** के पाँच रूप[२]

(१) 'परा' (२) 'सत्ता' (३) 'अहंता' (४) 'स्फुरत्ता' (५) 'कला'

*** कुल शक्ति' के विभिन्न स्वरूप ***

(क) **'पराशक्ति'**—यह समस्त विश्व के आधार के रूप में स्थित है। यह परापरा सभी वस्तुओं में स्थित है। यह प्रकाशरूपा शक्ति सबकी प्रकाशिका होने से 'परा' कहलाती है।[३]

(ख) **'सत्ताशक्ति'**—यह अनादिसंसिद्ध, परमाद्वैत, परम, एका है। यह सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदशून्य, संसिद्ध (स्वप्रकाश(, परमाद्वैत एवं एक (सजातीयता से परे) अद्वितीय है। ऐसे अस्तित्व को स्वीकार करने वाली है और **'सत्ता'** कहलाती है।[४]

(ग) **'पराहन्ताशक्ति'**—यह अनादिनिधन, अप्रमेय, सहजः स्वभाव-किरणानन्दसन्दोह, स्वप्रकाश, सच्चिदानन्दस्वरूपा, अहन्तारूप में शिवाभिन्ना पराशक्ति है। यही **अहंतास्वरूपिणी** कुल शक्ति है।[५]

(घ) **'स्फुरत्ताशक्ति'**—जो स्वानुभव चिच्चमत्कार **निरुत्थानदशा** को प्रस्फुटित करती है वही स्फुरत्ता शक्ति है। यह अपने 'स्फुरत्ता' के स्वरूप में, अवाङ्मनस

---

१. सि०सि०प० (४।२)

२. 'कुलमिति परासत्ताऽहंता स्फुरत्ता कूलास्वरूपेण सैव पञ्चधा विश्वस्याधारत्वेन तिष्ठति।। (४।८)

३. अतएव कुलाकुलस्वरूपा सामरस्यनिजभूमिका निगद्यते।

कुलमिति परासत्ताऽहंता स्फुरत्ता फलास्वरूपेण सैव ९ञ्चधा विश्वस्याधारत्वेन तिष्छिति।

४. **'परा'**—'एतएव परापरा निराभासादवभासकान् प्रकाशस्वरूपा या सा परा।।

५. **'सत्ता'**—'अनादि संसिद्धं परमाद्वैतपरमेकमेवास्तीति याऽङ्गीकारं करोति सा **'सत्ता'**।।५।।

गोचर, अनुभवैकगम्य चैतन्य-विलास की द्वैताभास शून्य अद्वैतावस्था को व्यक्त करती है—'स्फुरत्ता' है।[१]

(ङ) **'पराकलाशक्ति'**—जो नित्य शुद्धबुद्धस्वरूप एवं स्वयंप्रकाश (बोधस्वरूप, स्वसंवेद्य) आत्मतत्त्व की प्रकाशिका शक्ति है उसे 'कला' कहते हैं।[२]

(च) **'अकुलरूपाशक्ति'**—समस्त भेदों से परे यह अद्वितीया शक्ति अखण्ड, अद्वय, अनन्य, कार्यकारणविमुक्त, नामातीत एवं रूपातीत, जाति-वर्ण-गोत्र आदि भेदों से अतीत **अकुल शिव** में कूटस्थ पराशक्ति **'अकुल'** कही गई है।

आज्ञावती 'पराशक्ति'—(१) यह कुलाकुलरूपा पराशक्ति है।

(२) यह सामरस्य को प्रकाशित करने वाली है।

(३) इसी पराशक्ति को **'अपरम्परा' 'निजा'** आदि नामों से पुकारा जाता है।

(४) यह महाप्रलयकाल में भी विद्यमान रहती है और विश्वाधार है।

(५) यही समस्त प्रपञ्चजाल को परमतत्त्व में एकीभूत करके स्थापित कर देती है। इसे ही आदिनाथ की 'आज्ञावली' शक्ति कहा गया है।

*** परशिव ***—"अकुलंकुलमाधत्ते कुलञ्चाकुलमिच्छति जलबुदबुद्वन्या यदेकाकारः **परः शिवः।।**' (४।११)

परमेश्वर शिव ही कुलाकुल रूप से अभिव्यक्त होते हैं। **शिव से अभिन्न शक्ति** ही महाप्रलयकाल में **अकुलावस्था युक्त** कहलाती है। उस समय वह विश्व को उपसंहत करके शिव से अभिन्न होकर रहती है।

सृष्टि के समारंभ के काल में यही शिव की **'निजाशक्ति'** परा-अपरा-सूक्ष्म-कुण्डली आदि भेदस्वरूप धारण करके **कुलरूप (व्यक्त) अवस्था** धारण करती है। विश्व-सृजन करने पर वही शक्ति **'कुल'** कहलाती है। यथा जल एवं बुलबुले भिन्न एवं अभिन्न दोनों हैं उसी प्रकार **वह द्वैत (कुल) एवं अद्वैत (अकुल)** दोनों हैं।[३]

यह द्वैताद्वैतरहित अभेद ही **सामरस्य** है।

---

१. **'पराहन्ता'**—अनादिनिधनोऽप्रमेयः स्वभावकिणानन्दोऽहमस्मीत्यहं सूचनशीला या सा **'पराहन्ता'** ॥६॥

२. **'स्फुरत्ता'**—स्वानुभवचिच्चमत्कारनिरुत्थानदशां प्रस्फुटीकरोति या सा स्फुरत्ता।
—गोरक्षसिद्धान्त (सिद्धसिद्धान्तपद्धति)

३. 'अकुलंकुलमाधत्ते कुलञ्चाकुलमिच्छति जलबुद बुदवन्न्यायदिकाकारः **परः शिवः**॥ (४।११)

अनन्त शक्तिमान परमशिव का स्वरूप—परमशिव द्वैताद्वैत रूप में एकाकार हैं और समरसत्त्व के कारण अनन्त शक्तिमान एवं अखण्डानन्दस्वरूप हैं वह सर्वाकार हैं, नित्य है, फिर भी एक हैं—

'शक्तिमान् नित्यं सर्वाकारतया स्फुरन् पुनः स्वेनैव रूपेण एकएवावशिष्यते।।' (४।१२)

वह परमकारण है, परम ईश्वर है, परात्पर है, शिव है, स्वस्वरूपतया सर्वतोमुख है, सर्वाकारों में स्फुरित हैं किन्तु बिना **'शक्ति'** के कुछ भी कर सकने में असमर्थ हैं किन्तु शक्तिपरिणद्ध होकर सर्वाभासक है।

वे अनन्त शक्तिमान परमेश्वर विश्वरूप एवं विश्वमय भी हैं। वे परापर शक्ति से युक्त परमेश्वर अनन्त शक्तिमान हैं और सर्वविश्वाधिष्ठाता है।[1]

* कुण्डलिनी शक्ति *

[2]परापरस्वरूपा कुण्डलिनी शक्ति सिद्धों के देहपिण्ड में विद्यमान हैं।

[3]कुण्डलिनी के प्रभाव से योगी **'कायसिद्ध'** हो जाते हैं—

'सिद्धानां च परापरस्वरूपा कुण्डलिनी वर्तते।।' (सि०सि०प० १४)

* कुण्डली के विभिन्न स्वरूप *

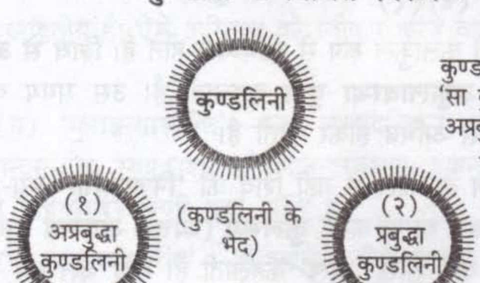

कुण्डलिनी के भेद—
'सा कुण्डलिनी प्रबुद्धा
अप्रबुद्धा चेति द्विधा।
—गोरक्षनाथ

---

१. 'अतएवैकाकारोऽनन्तशक्तिमान निजानन्दतयावस्थितोऽपि नानाकारत्वेन विलसन् स्वप्रतिष्ठां स्वयमेवभजतीति **व्यवहारः**।

'अलुप्त शक्तिमान्नित्यं सर्वाकारतया स्फुरन् पुनः स्वेनैव रूपेण एकएवावशिष्यते।।
—(सिद्धसिद्धान्तपद्धति) (४।१२)

१. "अतएव **परमकारणं परमेश्वरः परात्परः** शिवः स्वस्वरूपतया सर्वतोमुखः सर्वाकारतया स्फुरितुं शक्नोतीत्यतः शक्तिमानः शिवोऽपि शक्तिरहितः शक्तः कर्तुं न किञ्चन। स्वशक्त्यासहितः सोऽपि सर्वस्याभासको भवेत्।। (४।१३)

३. 'अतएवानन्तशत्भिानपरमेश्वरः सविश्वरूपी विश्वमयो भवतीति ।। (सि०सि०प०४।१३)

(१) **'अप्रबुद्धा कुण्डलिनी'**—यद्यपि कुण्डलिनी शरीर में चेतनस्वरूप में ही अवस्थित है तथापि वह स्वभाव से अनेकरूप चिन्ता-व्यापारों को बढ़ाने में प्रवृत्त रहती है और प्रपञ्चस्वरूपा है। यह कुटिलस्वभावा है। इसके इसी स्वरूप को अप्रबुद्धा कहते हैं।[१]

(२) **'प्रबुद्धा' कुण्डलिनी**—जब वही अप्रबुद्धा कुण्डलिनी योगियों के द्वारा जागृत की जाती है तब अपने जागृतस्वरूप में **'प्रबुद्धा'** कही जाती है। इस स्थिति में वह मूलाधार चक्र का त्याग करके सुषम्णा मार्ग में ऊर्ध्वगामिनी स्थिति में रहा करती है। इस समय वह योगी के भीतर विद्यमान समस्त मानसिक विकारों को ध्वस्त करने में प्रयत्नशील रहती है।[२]

कुण्डलिनी के अन्य स्वरूप

(१) भगवती कुण्डलिनी **सर्वतत्त्वान्विता** है।

(२) भगवती का यथार्थ स्वरूप (स्वस्वरूप) ऊर्ध्व में ही विद्यमान है

(३) वह **विमर्शरूपिणी** है।

(४) उसी के द्वारा योगी **स्वस्वरूप (आत्मा) का ज्ञान** प्राप्त करते हैं।

* मध्यशक्ति-प्रबोधन और परमपद *

(नाभिदेश में अवस्थित 'मणिपूर चक्र' में विद्यमान कुण्डलिनी **'मध्यशक्ति'** कही जाती है।

(१) मूलाधार चक्रस्थ कुण्डलिनी = 'अधः शक्ति'

(२) मणिपूर चक्रस्थ कुण्डलिनी = 'मध्यशक्ति'

(३) सहस्रदलपद्मस्य कुण्डलिनी = 'ऊर्ध्वशक्ति'

'मध्यशक्ति' को जागृत करने से और 'अध:शक्ति' को ऊपर की ओर आकर्षित करने से एवं 'ऊर्ध्वशक्ति' को ऊप्र की ओर आकर्षित करने से एवं 'ऊर्ध्वशक्ति' कुण्डलिनी के निपात-संयोजन से **'परमपद'** की प्राप्ति हुआ करती है।[३]

(१) **आधार चक्र (मूलाधार चक्र) की कर्णिका में** त्रिकोणाकार योनि

---

१. 'अप्रबुद्धेतितत्र पिण्डचेतनरूपास्वभावेन नानाचिन्ता व्यापारोद्यमप्रपञ्चरूपा कुटिलस्वभावा कुण्डलिनी ख्याता॥' (सि०सि०प० ४।१४)

२. 'विकाराणां निवारणोद्यमस्वरूपा कुण्डलिन्यूर्ध्व **गामिनी**प्रसिद्धा भवति॥ (सि०सि०प० ४।१४)

३. मध्यशक्ति प्रबोधेन अध:शक्तिनिकुञ्चनात् ।
ऊर्ध्व शक्तिनिपातेन प्राप्यते परमं पदम् ॥६॥

कामगिरि पीठ में "**अधः शक्ति कुण्डलिनी**" रहती है। इस शक्ति को अपानवायु के निकुञ्चन (आकर्षण) से ऊर्ध्वमुखी करके जागृत किया जाता है। सुषुम्णाद्वार को अपावृत करके इसे ऊर्ध्वमार्ग में चढ़ाया जाता है।

(२) '**नाभिचक्र**' (**मणिपूरक चक्र**) में आठ वलयों वाली इसी कुण्लिनी को '**मध्य कुण्डलिनी**' कहा जाता है।

(३) कुण्डलिनी 'बन्धत्रय' के अभ्यास से समुत्थित होती है।

(४) प्राण से अपान का ऐक्य स्थापित होना '**ऊर्ध्वशक्तिपात**' है। षट्चक्रभेदनोपरान्त (एवं ग्रंथित्रयभेदनोपरान्त योगी) "**सहस्रार**" में कुण्डलिनी के साथ पहुँचकर '**परमपद**' प्राप्त करता है।

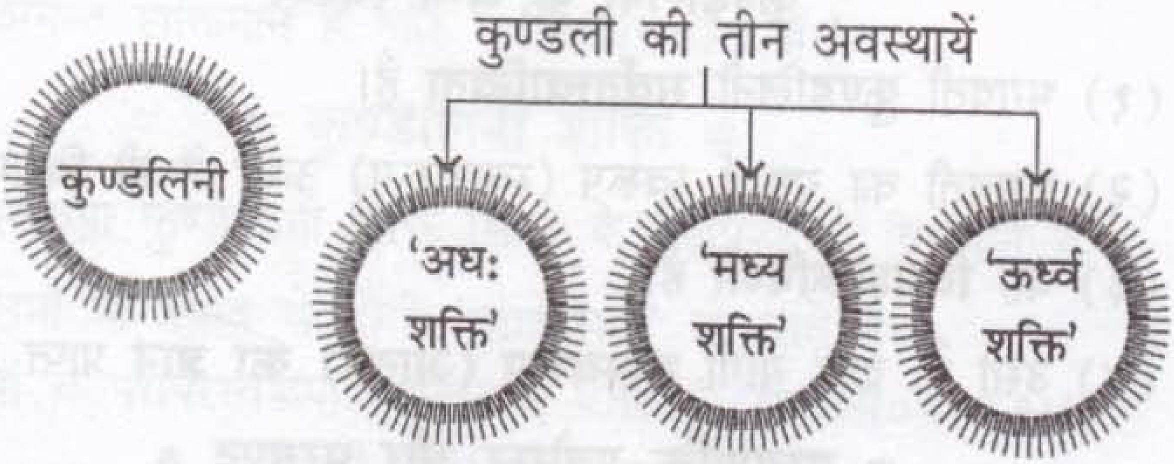

'अधःशक्ति' कुण्डलिनी का स्वरूप—

(१) कुण्डलिनी का यह स्वरूप बाह्येन्द्रिय व्यापारों से युक्त एवं नाना चिन्ताओं से संयुक्त है—

'बाह्येन्द्रिय व्यापार-नानाचिन्तामया **सैवाधः शक्तिरित्युच्यते।**"

—(सि०सि०प० ४।१८)

(२) 'अतएव योगिनस्तस्या आकुञ्चने रता यस्या आकुञ्चन मूलाधारबन्धनात्सिद्धं स्यात्।'

—(सि०सि०प० ४।१८)

योगी मूलाधार में स्थित इस शक्ति के आकुञ्चन-संकोचन में तत्पर रहते हैं। 'मूलाधार चक्र' के बन्ध के अभ्यास (अपान और प्राण का ऐक्य स्थापित होने पर उड्डियान एवं जालन्धर बन्ध की सिद्धि) से यह शक्ति ऊर्ध्वमुखी होकर जाग जाती है और साधक को परमानन्द की प्राप्ति करा देती है।

(क) '**मूलबन्ध**' (ख) '**उड्डियान बन्ध**' (ग) '**जालन्धर बन्ध**'—बंधत्रय से कुण्डलिनी महाशक्ति 'सहस्रार' में पहुँच जाती है।

(३) जिससे चराचर, स्थावर जंगम एवं चिद्-अचिद् **समस्त जगत की उत्पत्ति**

होती है—वही **'मूलाधार'** है। जिसके संकोच-प्रसरण से कुण्डलिनी का प्रबोधन होने पर ज्ञान की वृद्धि होती है।—यह **मूलाधार ही संवित्प्रसारण भूमि है।**[१]

(४) **मूलशक्ति**—समष्टिरूप सर्वेश्वरी कुण्डलिनी 'महाशक्ति' के व्यापार कार्य से ही (संकोच-प्रसरण से ही) जगत का सृजन एवं संहार होता है। योगी इस मूल शक्ति का ध्यान कर जगत की सृष्टि और संहार कर सकता है। मूलाधार चक्रस्थिता महेश्वरी शक्ति **'मूल शक्ति'** है। यही कारण है कि सारे सिद्ध **मूलाधाररत होते** हैं।[२]

(५) **मध्याशक्ति**—यह कुण्डलिनी चिद्रूप होने से जीवात्मा, का यथार्थ स्वरूप है। अविद्या के कारण संसार-बंधन में एवं विषयादि मृगतृष्णा में आसक्त जीवात्मा को यह **'मध्या शक्ति'** अपने चिद्रूप स्वप्रकाश में धारण करने में समर्थ है। कुण्डलिनी शक्ति— (क) स्थूल (ख) सूक्ष्म दो प्रकार की है।

कुण्डलिनी के दो रूप हैं— 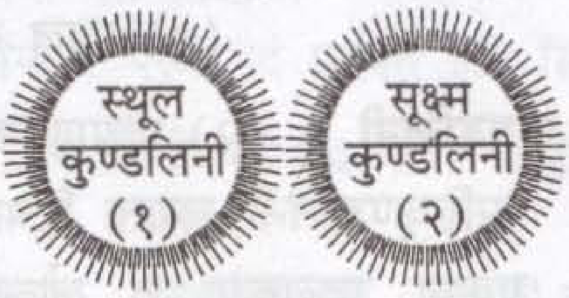

गोरक्षनाथ कहते हैं कि तरङ्गित स्वभाव वाली जो जीवात्मायें व्यर्थ में भटकती रहती हैं वे भी अपने आत्मप्रकाश के मध्य स्वस्वरूप प्राप्त कर सकती हैं, क्योंकि **'मध्या शक्ति' कुण्डलिनी** अपने चिद्रूप स्वप्रकाश में जीवात्मा को धारण करने में समर्थ है।[३]

स्थूल-सूक्ष्म कुण्डलिनी—'स्वस्वरूपतया सदा धारयितुं समर्था या सा कुण्डलिनी मध्याशक्तिर्गीयते।''

''**स्थूलसूक्ष्मरूपेण** महासिद्धानां प्रतीयते।।''

[४]यद्यपि मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी योग-सिद्ध पुरुषों के अतिरिक्त संसार में

---

१. 'यस्माच्चराचरं जगदिदं चिदचिदात्मकं प्रभवति तदेव मूलाधारं संवित्प्रसरं प्रसिद्धम्।।' (४।१९)

२. 'सर्वशक्तिप्रसरसंकोचाभ्यां जगत्सृष्टि: संहतिश्च भवत्येव न सन्देहस्तस्मात्सा मूलभित्युच्यते। अत: प्रायेण सर्वे सिद्धा मूलधाररता भवन्ति। (४।२०)।।

३. तरङ्गितस्वभावं जीवात्मानं वृथाभ्रमन्तीमपि स्वप्रकाश मध्ये स्वस्वरूपतया सदा धारयितुं समर्था या सा कुण्डलिनी मध्याशक्तिर्गीयते स्थूलसूक्ष्मरूपेण महासिद्धानां प्रतीयत इति निश्चय:।।—(सि० सि० प० ४।२१)

४. 'स्थूलेति निखिलग्राह्या धारविग्राह्य स्वरूपापि पदार्थन्तरे भ्राम्यमाणा चिद्रूपा या वर्तते सा कुण्डलिनी साकारास्थूलापुनस्त्वियमेव स्वप्रसारचातुर्यतया वर्तमाना योगिनां परमानन्दतया कुण्डलिया निश्चयभूता वर्तते सा सूक्ष्मा निराकारा प्रबुद्धा महासिद्धानां मते प्रसिद्धा:।। (सि०सि०प०४।२२)

विषयासक्त एवं परिबद्ध जीवमात्र के लिए सूक्ष्म है तथापि यह शब्दात्मक **स्थूल जगत** की सृष्टि करने के कारण **साकार स्थूल कही जाती है।** वह रूपादि विषयों में भ्रमण-संचार करती रहती है यही निज विस्तार-कौशल से नाभिस्थान (मणिपूरक) में अपने आनन्ददायक व्यापक अखण्ड आत्मा का निश्चय कराती है। जागृत होने पर यह **सूक्ष्म** रूप से **निराकार** और सर्वत्र व्यापक रहती है।

सृष्टि कुण्डलिनी—भगवती कुण्डलिनी के दो स्वरूप हैं—(१) स्थूल (२) सूक्ष्म।

'सृष्टि कुण्डलिनी'—यह कुण्डलिनी स्थूल जगत की सृष्टि करती है। यह नाभिचक्र (मणिपूर) में प्रबुद्ध होकर उपाधि-सम्बंध छोड़कर अखण्डस्वरूप में ऊध्वमुखी होकर प्रतिष्ठित होती है।

(१) स्थूल रूप।

***सृष्टि कुण्डलिनी** * (२) प्रत्यगात्मिका अपरा, सर्वगा, सूक्ष्म

'सृष्टिकुण्डलिनी ख्याता द्विधा भागवती तु सा॥
एकधा स्थूलरूपा च लोकानां प्रत्यगात्मिका।
अपरा सर्वगा सूक्ष्मा व्यापि-व्यापकवर्जिता।
तस्या भेदं न जानाति मोहिता प्रत्ययेन तु॥"

—सिद्धसिद्धान्त पद्धतिः (४।२३)

(१) स्थूल जगत की निर्मात्री कुण्डलिनी = सृष्टि कुण्डलिनी।

(२) इसके दो स्वरूप हैं—

(क) 'एकधा **स्थूलरूपा** च **लोकानां प्रत्यगात्मिका।**

(ख) **अपरा सर्वगा सूक्ष्मा व्यापि-व्यापकवर्जिता।।**

(३) जब यह कुण्डलिनी नाभिचक्र (मणिपुर) में प्रबुद्ध होकर अपने अखण्डस्वरूप में ऊर्ध्वमुखी होती है तब **सूक्ष्म, सर्वव्यापक** एवं व्याप्यव्यापकभाव से रहित होती है। अज्ञानी उसे नही जान पाते।

(४) सूक्ष्मा, चिद्रूपिणी एवं निर्विषया मध्य कुण्डलिनी को देहसिद्धि हेतु गुरु के उपदेश से अपनी आत्मस्वरूप की अभिव्यक्ति हेतु जगाना चाहिए। यह **संवित्स्वरूपा** मध्य कुण्डलिनी नितान्त प्रबोधनीया है।[१]

---

१. तस्मात् सूक्ष्मापंरा **संवित्स्वरूपा मध्या शक्ति कुण्डलिनी** योगिमिर्देहसिद्धयर्थ सद्गुरुमुखाज्ज्ञात्वा स्वस्वरूप दशायां प्रबोधनीया॥ (४।२४)

ऊर्ध्वशक्तिनिपात और ऊर्ध्व कुण्डलिनी—

(१) मध्य शक्ति कुण्डलिनी का सहस्रदलपद्म में प्रवेश ही **'ऊर्ध्वशक्तिनिपात'** कहलाता है।

(२) भौतिक पदार्थों, लौकिक एषणाओं एवं नि:शेष विषयों से ऊपर विद्यमान रहने की स्थिति ही **'ऊर्ध्व'** है।

(३) नामरूपातीत आदिनाथ ही **'परमपद'** है।

(४) परमात्मा की स्वरूपाभिव्यक्ति करने वाली शक्ति ही—**'ऊर्ध्वशक्ति'** (परम प्रबुद्धा भगवती कुण्डलिनी) कही जाती है।

(५) षट्चक्रों का भेदन करके महाकुण्डलिनी सहस्रार में शिव से ऐक्य प्राप्त करके शिव में ऐकात्म्य प्राप्त करती है।।[1]

'परमपद' और उसकी प्राप्ति की प्रक्रिया—गोरक्षनाथ कहते हैं कि—

'अत ऊर्ध्वशक्तिनिपातेन योगिभि: परमं पदं प्राप्यत इति सिद्धम् ।।''

अर्थात् ऊर्ध्वशक्तिनिपात के द्वारा योगी परमपद प्राप्त करते हैं।

'ऊर्ध्व शक्ति' (भगवती कुण्डलिनी का सहस्रारस्थ प्रबुद्ध स्वरूप **के निपात से परमपद की प्राप्ति होती है।**

परासंवितस्वरूप और उसका व्यापक स्वरूप—गोरक्षनाथ कहते हैं—

''सत्वे-सत्वे सकलरचना राजते संविदेका।
तत्त्वे-तत्त्वे परममहिमा संविदेवावभाति।
भावे-भावे बहुलतरला लम्पटा संविदेषा।
भासे-भासे भजनचतुरा बृंहिता संविदेव।।'' (४।२८)

परासंवित्स्वरूप शिवशक्ति के **सामरस्य** का स्वरूप यह है कि व्यष्टि-समष्टिस्वरूप समस्त भौतिक पदार्थों के साथ वह एक है और वह निखिल पिण्डों का मूलाधार है—

---

१. 'अथ **ऊर्ध्वशक्तिनिपात:** कथ्यते। सर्वेषां तत्त्वानामुपरिवर्तमानत्वान्निनमि **परमंपदमेवमूर्ध्व प्रसिद्धं।** तस्या: स्वसंवेदन नानासाक्षात्कारसूचनशीलाया **सोऽर्ध्वशक्तिरभिधीयते।** तस्या निपातनमिति स्वस्वरूपद्विधाभासनिरास: किन्तु स्वस्वरूपाखण्डत्वेन भवति। (४।१५)

२. सि०सि०प० (४।२७)

'किमुक्तं भवति परापरविमर्शरूपिणी संविन्नाना शक्तिरूपेण निखिलपिण्डाधारत्वेन वर्तते इति सिद्धान्तः॥' —सि०सि०प० (४।२९)

* पिण्डपदसामरस्य *

गोरक्षनाथ जी कहते हैं कि—

(१) परपिण्डादि से लेकर स्वपिण्ड पर्यन्त सारे पिण्डज्ञान को जानकर उसका परमपद में समरसीकरण कर देना चाहिए—

'महासिद्धयोगिभिः पूर्वोक्तक्रमेण परपिण्डादिस्वपिण्डान्तं ज्ञात्वा परम पदे समरसं कुर्यात्॥'' (५।१)

[1]परासंवित् स्वरूप शिवशक्ति को अभिन्न जानकर, 'अधःशक्ति' (मूलाधार में सोई हुई कुण्डलिनी) को जगाकर **'मध्यशक्ति'** के प्रबोधन के साथ **'ऊर्ध्वशक्ति'** का सहस्रार में निपात करना चाहिए।[1]

(२) **'व्यष्टि पिण्ड'** एवं सच्चिदानन्द परमात्मस्वरूप **'परपिण्ड'** का ज्ञान प्राप्त करके **'परमपद'** (परमात्मा) में उसका सामरस्य करना चाहिए।

'परमपद' का क्या स्वरूप है?

(१) परमपद **द्वैताद्वैतविवर्जित** है।

(२) यह अत्यन्त **स्वानुभवैकगम्य** है। यह **स्वसंवेद्य** है।

(३) यह अत्यन्त भासाभासकमय है।[2]

(४) **यह वह पद है** जहाँ बुद्धि, मन, तत्ववित्, अपरा, कला, ऊहापोह, वाणीगोचरता, वाग्मिता एवं वाणी की पहुँच नहीं है तथा जो स्वसंवेद्य एवं अनिर्वाच्य है और जो गुरु द्वारा भी वर्ण्य नहीं है।[3]

(५) यह निरुपाधिक है और प्रमाणादि साधनों से भी अप्राप्य है।

(६) गुरुचरणैकप्रवण शिष्य पर गुरु की परमकरुणा होने पर ही इसका बोध होना संभव है। यह स्वसंवेद्य मात्र है।[4]

---

१. सि०सि०प० (४)

२. **परमपदमिति** स्वसंवेद्यमत्यन्तभासाभासकमयम्। (५।१)

३. यत्र बुद्धिर्मनोनास्ति तत्त्वविन्नापराकला।
ऊहापोहौ कर्तव्यौ, वाचा तत्र करोति किम्।
वाग्मिनागुरुणा सम्यक् कथं तत्पदमीर्यते।
तस्मादुक्तं शिवेनैव स्वसंवेद्यं परपदपदम्।

४. अतएव नानाविधविचार्यचातुर्यचर्चाविस्मयाङ्गत्वाद् गुरु चरणकृपातत्त्वमात्रेणा, निरूपाधिकत्वेन निर्णेतुं शक्यत्वात् स्वसंवेद्यमेव परमपदं प्रसिद्धमिति सिद्धान्तः। (५।४)

* सन्मार्ग, पाखण्ड मार्ग एवं गुरु *

(१) **सन्मार्ग** = योगमार्ग

(२) **पाखण्ड मार्ग**—योगमार्ग से इतर समस्त साधन-मार्ग

(३) **गुरु** = सन्मार्ग सन्दर्शनशील

'गुरुत्रय सम्यक् सन्मार्ग सन्दर्शनशीलो भवति
सन्मार्गो योगमार्गस्तिदितर: पाखण्ड मार्ग:।।'

—गोरक्षनाथ : सिद्धसिद्धान्तपद्धति (५।४)

आदिनाथ ने कहा है—

'योगमार्गेषु तन्त्रेषु दीक्षितास्तांश्च दूषका:।
तेहि पाखण्डिन: प्रोक्तास्तथा तै: सहवासिन:।।'

गुरुवाद = जिस समय सिद्ध गुरु द्वारा परमपद की प्राप्ति के उपायभूत योगमार्ग के उपदेश से परमात्मबोध कराया जाता है उसी समय स्वसंवेद्य अलख निरञ्जन परमेश्वर का साक्षात्कार हो जाता है। परमपद की प्राप्ति का **गुरुकृपा ही एक मात्र उपाय है**[1] 'गुरु रेवात्र कारणमुच्यते।।'

गुरु और सामरस्य—यही कारण है कि सिद्ध योगी गुरु के **कृपाकटाक्ष** और अपनी योगसाधनासंभूत स्वरूपबोधात्मक स्वसंवेद्यता के द्वारा अपने व्यष्टि शरीर की निरुत्थानानुभूति (व्यष्टि-समष्टि पिण्ड-अभेदता) द्वारा व्यष्टि पिण्ड से परपिण्ड के सामरस्य की अनुभूति करते हैं।[2]

निरुत्थान-प्राप्ति के उपाय—

(१) महासिद्ध योगी स्वस्वरूपानुन्धान के द्वारा (स्व-परपिण्ड की अभेदता द्वारा) **'निजावेश'** का साक्षात्कार करता है अर्थात् साधक परमेश्वर को अपने ही स्वरूप में प्रतिष्ठित देखता है।

(२) **स्वपिण्ड-परपिण्ड की अभेदता की अनुभूति** से परमात्मपिण्ड में **'निजावेश'** (आत्माभिव्यक्ति) का संचार होता है।

(३) **'निजावेश'** के परिणामस्वरूप **'निरुत्थान'** या **'सामरस्य'** का उदय होता है। योगी को **स्वाभिव्यक्तिपूर्वक** यह अनुभूति होती है कि यह **परपिण्ड (परमात्म पिण्ड)** मेरा ही **व्यष्टिपिण्ड** है।

---

१. 'यस्मिन् दर्शिते सति तत् क्षणात् स्वसंवेद्य साक्षात्कार: समुत्पद्यते ततो गुरु रेवात्र कारणमुच्यते।। (सिद्धसिद्धान्त पद्धति ५।६)

२. 'तस्मात् गुरुकटाक्षपातात् स्वसंवेद्यतयाच महासिद्धयोगिभि स्वकीय पिण्डनिरुत्थानानुभवेन समरसं क्रियत इति सिद्धान्त:। (५।७)

(४) सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा की स्वसंवेद्य अनुभूति के चमत्कार से अद्भुत प्रकाश स्वरूप **आत्मबोध** का उदय होता है।

(५) इन व्यापारों से (निरुत्थान, निजावेश एवं सामरस्य से) 'द्वन्द्व' (**स्वपिण्ड एवं परमात्मपिण्ड में भेद दृष्टि**) का अवसान हो जाता है और फिर अखण्ड परमात्म स्वरूप **'परमपद'** का प्रत्यक्षीकरण होता है।

निरुत्थान-प्राप्ति के उपाय[1]

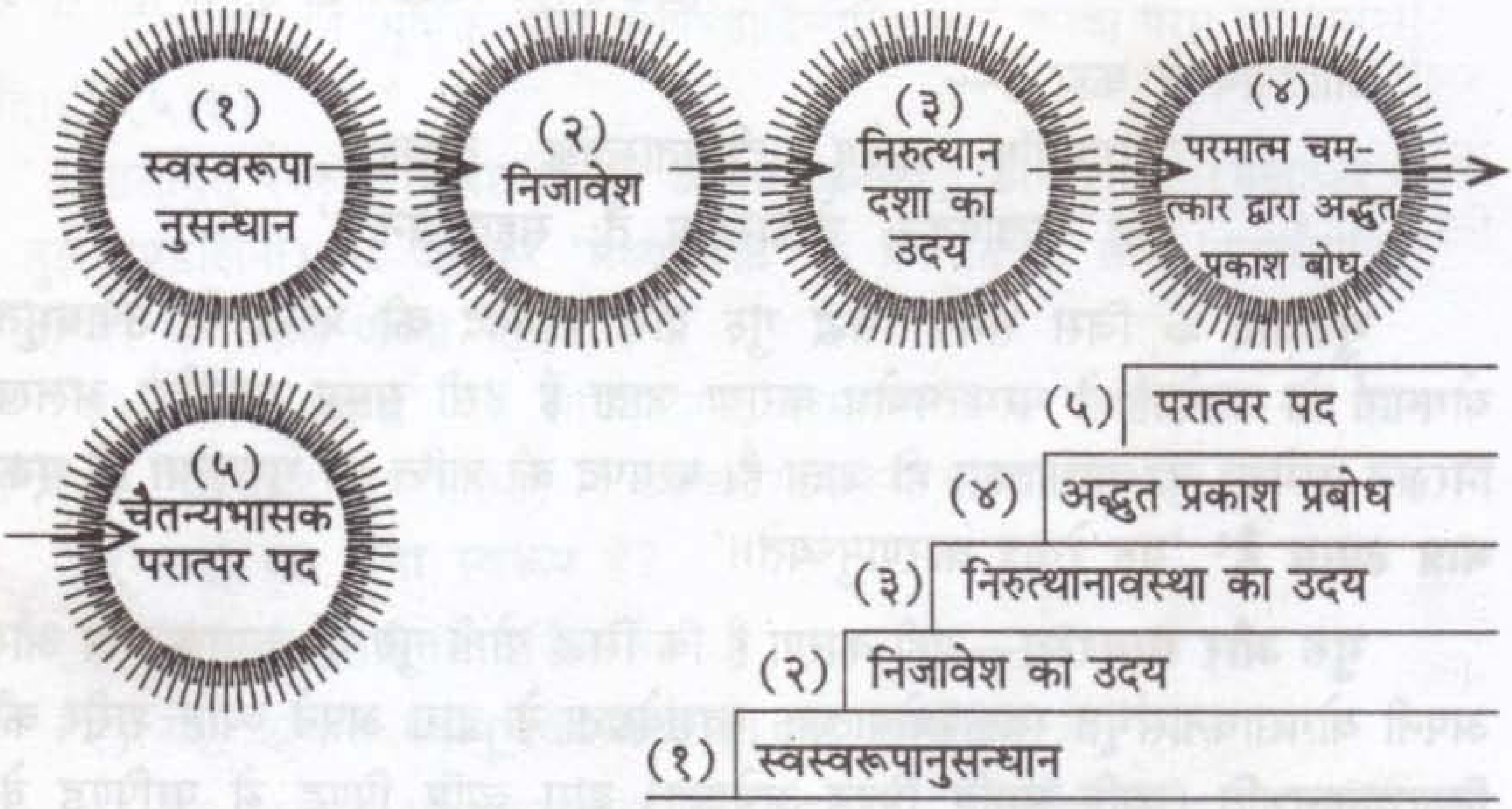

(६) इस प्रकार हम देखते हैं कि **महासिद्धयोगी गुरुप्रसाद** प्राप्त करके अपने अवधान बल से **स्वपिण्ड एवं परपिण्ड में ऐक्यानुभूति** के द्वारा तत्क्षण **परमपद** की अनुभूति प्राप्त कर लेते हैं।[2]

(७) योगी अपने अनुभव के द्वारा **'व्यष्टिपिण्ड' के साथ 'परपिण्ड' (परमात्मा) का अभेद-ज्ञान** प्राप्त करके अपने व्यष्टि पिण्ड का **'परमपद'** से **एकीकरण** करते हैं। अपने व्यष्टि पिण्ड की उस परमपद के साथ एकात्मता की

---

१. निरुत्थान प्राप्त्युपायः कथ्यते—

(१) महासिद्धयोगिनः **स्वस्वरूपतयानुसन्धानेन निजावेशो** भवति। (२) निजावेशान्निः पीडित **निरुत्थानदशामहोदयः** कश्चिज्जायते। (३) ततः **सच्चिदनन्दचमत्काराद्भुताकार प्रकाशप्रबोधो** जायते। (४) प्रबोधादखिलमेतद् द्वयाद्वयप्रकटतया **चैतन्यभासकं परात्परपरपदमेव** प्रस्फुटं भवति।। (गोरक्षनाथ : सि०सि०प० ५।८)

२. अतएव महासिद्धयोगिभिः सम्यग् गुरुप्रसादं लब्ध्वावधानबलेनैक्यं भजमानैस्ततक्षणात् परमं पदमेवानुभूयते।। (५।८)

अनुभूति करते हुए योगी अपने पिण्ड को सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा में अभिव्यक्त करके (परपिण्ड के साथ अभेदता की अनुभूति करके) परमपदानुभूति करते हैं।[१]

समरसीकरण—निजपिण्ड परीक्षा (अपने शरीर में भी परमात्मस्वरूप रश्मि रूपआनन्द का विकास) और इस प्रकाशोन्मेष को अपने ही व्यष्टिपिण्ड के भीतर समेट कर परमात्मा से अभिन्नता (अभेद) की अनुभूति करना ही **'समरसकरण' है।**[२]

(८) अपने व्यष्टिपिण्ड के भीतर परमात्मप्रकाश का प्रत्याहरण करने के परिणाम स्वरूप यह शरीर **महाप्रकाश पुञ्ज के रूप में आकार ग्रहण** करता है अर्थात् यह सच्चिदानन्दस्वरूप हो उठता है। इस प्रकार अपने व्यष्टि पिण्ड से परमात्मप्रकाश के प्रत्याहरण-समरसकरण द्वारा सिद्धयोगी देहसिद्धि (चिन्मय स्वानन्द विग्रह) की प्राप्ति से चिरकाल तक अमर रहते हैं।[३]

'पिण्डसिद्ध' का आचार एवं उसकी वेषभूषा—पिण्ड योगी को—

(१) शंखमुद्रा धारण करने के साथ ही केश रोम भी धारण करना चाहिए।

(२) अमरी क्रिया द्वारा सहस्त्रार स्त्रवित अमृत का पान करना चाहिए।

(३) एकान्त वास, संध्या जप, भैरव की पूजा, शंखनाद, कौपीन, पादुका, अङ्गवस्त्र, बहिर्वस्त्र, कम्बल, छाता, वेत्र, कमण्डल, भ्रस्मधारण, त्रिपुण्ड्र एवं गुरु वन्दन भी उसके लिए आवश्यक है।

पिण्ड-सिद्धि के कारण योगी को समस्त योग-सिद्धयाँ प्राप्त हो जाती हैं।[४]

योगमार्ग की श्रेष्ठता—गोरक्षनाथ जी कहते हैं कि श्रुति एवं स्मृति दोनों में योग से बढ़कर कोई मार्ग बताया ही नहीं गया है अतः योगमार्ग ही श्रेष्ठतम मार्ग है इसी बात को गोरक्षनाथ ने 'योगशतक' में भी कहा है—

---

१. अतएव महासिद्धयोगिभिः सम्यग् गुरुप्रसादं लब्ध्वा...............तदनुभवबलने स्वकीयं सिद्धं सम्यङ् **निजपिण्डं** ज्ञात्वा तमेव परमपद एकीकृत्य तस्मिन् प्रत्यावृत्या रूढ़ैवाभ्यन्तरे स्वपिण्ड सिद्धयर्थे महत्वमनुभूयते॥ (सि०सि०प० ५।१०)

(२) निजपिण्डपरीक्षा च स्वस्वरूप-किरणानन्दोन्मेषमात्रं यस्योन्मेषस्य प्रत्याहरणमेव समरसकरणं भवति॥ (५।११)

३. अतएव स्वकीयं पिण्डं महद्रश्मिपुञ्जं स्वेनैवाकारेण प्रतीयमान स्वानुसन्धानेन स्वस्मिन्नुरीकृत्य महासिद्धयोगिनः पिण्डसिद्धयर्थं तिष्ठन्तीति प्रसिद्धम् ॥ (५।१२)

४. तेषां पिण्डसिद्धौ सत्यां सर्वसिद्धयः संनिधाना भवन्ति॥ (५।१७)

यस्मिञ्ज्ञाते जगत्सर्वसिद्धं भवति लीलया।
सिद्ध्यः स्वयमायान्ति तस्माज्ज्ञेयं परंपदम् ॥१८॥
परंपदं न वेषेण प्राप्यते परमार्थतः।
देहमूलं हि वेषः स्याल्लोकप्रत्ययहेतुकः॥१९॥

५. योगमार्गात्परो मार्गो नास्ति नास्ति श्रुतौ स्मृतौ।
शास्त्रेष्वन्येषु सर्वेषु शिवेन कथितः पुरा॥ (५।२१)

'द्विजसेवितशाखस्य श्रुतिकल्पतरोः फलम्।
शमनं भवतापस्य योगं भजत सत्तमाः॥' (गो०श०६)

गोरक्षनाथ जी ने यहाँ **'योग'** को 'संहननोपाय' कहा है—

'योगः संहननोपायः ज्ञानसङ्गतियुक्तिषु॥' (५।२२)

योग दो वस्तुओं के सम्मिलन को कहते हैं।

नाथयोगियों का अद्वैतवाद—गोरक्षनाथ जी कहते हैं कि—

(१) पिण्ड-सिद्धि हो जाने पर

(२) अखण्ड ज्ञान प्राप्त्यर्थ (**महासिद्धों के मत में**) शिवतत्त्व रूप **'परमपद'** ही ध्येय एवं उपास्य है।

(३) उस **आत्मस्वरूप अखण्ड शिवतत्त्व** में यह भावना करनी चाहिए कि—''मैं ही शिव हूँ। मुझमें और शिव में पूर्ण तादात्म्य है॥'

(४) परमशिव से अभिन्न जीवात्मा का यथार्थ आत्म स्वरूप **'सहज संयम' 'सोपान'** एवं **'अद्वैतक्रम'** से लक्षित है—

'तस्मिन्नहं भावे जीवात्मा च सहजसंयम सोपायाद्वैतक्रमेणोपलक्ष्यते॥'' (५।१५)

'सहज' 'संयम' 'सोपाय' एवं 'अद्वैत' क्या हैं?

(१) **'सहज'** क्या है?

विश्वातीत परमेश्वर के विषय में यह समझना चाहिए कि **विश्व के रूप में तो वही अवभासित हो रहा है और वही** अद्वैततत्त्व एकात्मक है और मैं भी उसके एकीभूत (अभिन्न) हूँ। इस प्रकार का स्वस्वभावज जो ज्ञान है वही **'सहज'** है।

(२) **'संयम'** क्या है?

अपने विषय-ग्रहण में निरन्तर संलग्न इन्द्रियों को विषयाभिमुख होने से निरुद्ध करके उन्हें आत्मा में लगाना ही **'संयम'** है।

(३) **'सोपाय'** क्या है?

'मैं स्वयमेव स्वप्रकाश स्वरूप परमात्मा हूँ'—इस प्रकार अपनी परमात्मा के

---

१. **'सहज'**—तत्र सहजमिति विश्वातीतं परमेश्वरं विश्वं रूपेणावभासमानमिति ज्ञात्वै कमेवास्तीति स्वस्वभावेन यज्ज्ञानं तत्सहजं प्रसिद्धम् ॥ (सि०सि०प० ५।२६)

२. **'संयम'**—संयम इति सावधानानां प्रस्फुरदव्यापाराणां निज वर्तिनां संयमं कृत्वाऽऽत्मनि धीयत इति संयमः॥ (२७।

३. **'सोपाय'**—'सोपायमिति स्वयमेव प्रकाशमयं स्वेनैव स्वात्मन्येकीकृत्य सदा तत्त्वेन स्थातव्यम् ॥ (५।२८)

साथ तत्त्वत: अभिन्नता मानते हुए आत्मस्वरूप में संलीन रहना चाहिए। जिस ज्ञान से इस अखण्डस्वरूपता का बोध होता है, वही **'सोपायज्ञान'** है।

(४) **'अद्वैत'** क्या है?

योगी कुछ किये बिना ही नित्यतृप्त, निर्विकल्प, एवं निरुत्थानदशावस्थित रहता है। उसकी यह अवस्था ही अद्वैत है।[1]

(५) जीवात्मा और परमात्मा में पूर्ण अभेद है—इत्याकारक ज्ञान ही **'सहज'** है। इन्द्रियों के सहित मन को निगृहीत करके आत्मा में संलग्न रखना ही **संयम** है। अपने सत्स्वरूप में विश्रान्ति ही **सोपाय** है। अद्वैतस्वरूप ही 'परमपद' है

'सहजं' स्वात्मसंवित्ति:, **'संयम:'** स्वस्वनिग्रह:।
सोपायं स्वस्वविश्रान्तिर**द्वैतं परमं पदम्** ॥' (५।३०)

सद्गुरु का सर्वोच्च स्थान—गोरक्षनाथ कहते हैं कि चाहे करोड़ों शास्त्रों का अध्ययन कर लिया जाय, चाहे विज्ञान, तर्क, आचार, वेद, वेदान्त, तत्त्वमसि 'सोऽहं हंस: जप', जीवात्मा-परमात्मा में एकात्म्य, ध्यान एवं जप आदि में कितना भी कौशल, सिद्धि एवं विज्ञता प्राप्त कर ली जाय किन्तु—

'असाध्या: सिद्ध्य: सर्वा: सद्गुरो: करुणां विना।
अतस्तु गुरुरासेव्य: सत्यमीश्वरभाषितम्॥३५॥'[2]

सद्गुरुशरणागत योगी के योग साफल्य के क्रमिक-सोपान

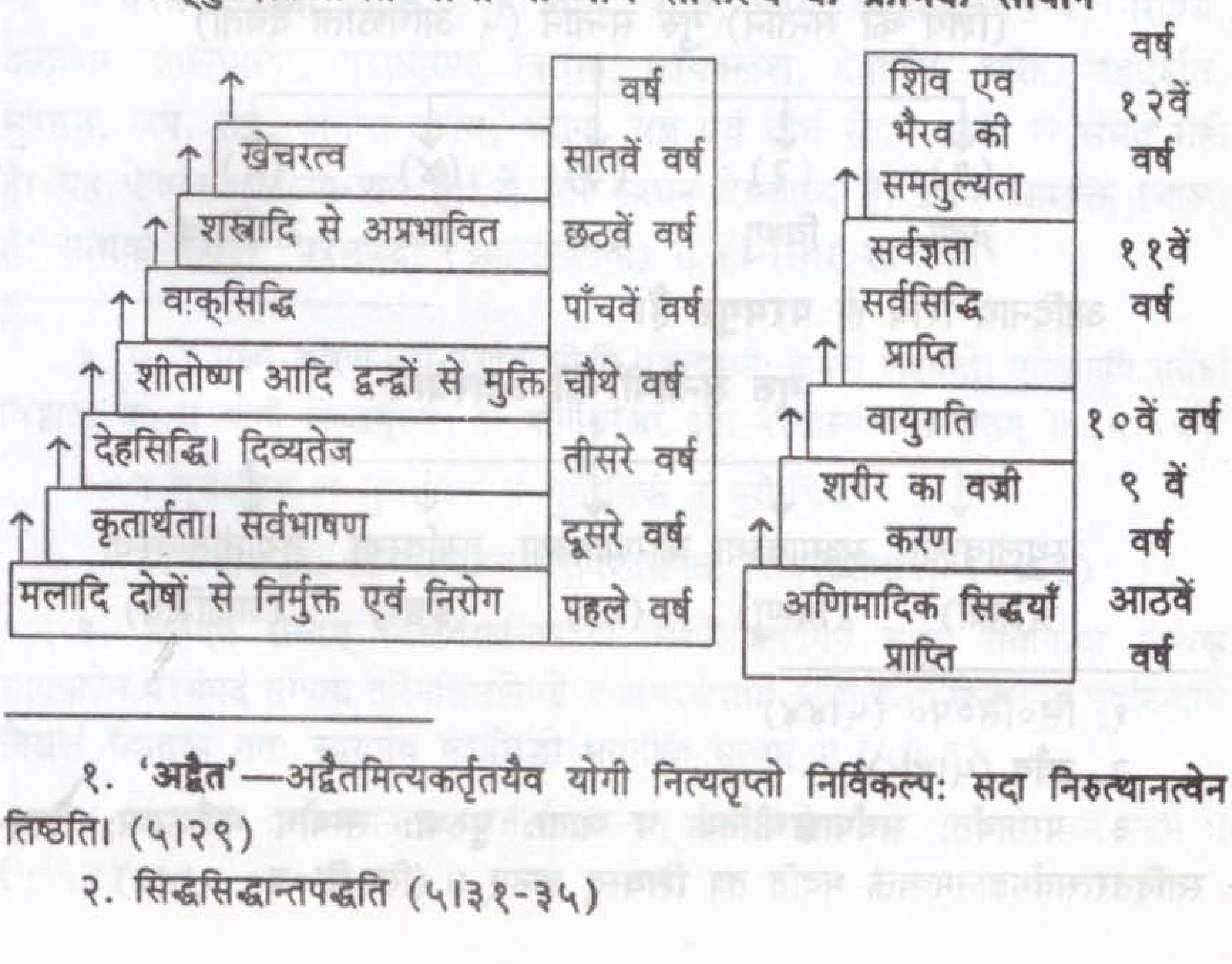

---

१. **'अद्वैत'**—अद्वैतमित्यकर्तृतयैव योगी नित्यतृप्तो निर्विकल्प: सदा निरुत्थानत्वेन तिष्ठति। (५।२९)

२. सिद्धसिद्धान्तपद्धति (५।३१-३५)

यथाक्रम इस प्रकार सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं—

(१) एवं द्वादशवर्षैऽस्तु सिद्धयोगी महाबल:।
जायते सद्गुरो: पादप्रभावन्नात्रसंशय:॥[1]

(२) अनुवुभूषित योनिजविश्रमं स गुरुपादसरोरुहमाश्रयेत्।
तदनुसरणात्परमं पदं **समरसीकरणे** न च दूरत:॥[2]

गुरु कुल सन्तान

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)
आई-सन्तान	विलेश्वर-सन्तान	विभूति-सन्तान	नाथ-सन्तान	योगीश्वर सन्तान

सारांश—(१) पारमार्थिक दृष्टि से **सारे पदार्थ पाञ्चभौतिक** हैं।
(२) **आत्मा अजन्मा** है।
(३) आत्मा सद्ज्ञानस्वरूप शिव है।
(४) शिव से इतर सारे पदार्थ अज्ञान मात्र हैं। अज्ञान प्रकृति है।
(५) शिव मात्र ही ज्ञानहै।[3]

गुरु-सन्तान—ये संख्या में ५ हैं।

(शिव की सन्तान) गुरु सन्तान (५ अधिष्ठाता देवता)

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)
ब्रह्मा	विष्णु	इन्द्र	ईश्वर	सदाशिव

आदिनाथ शिव ही **परमगुरु** हैं।

गुरु सन्तानों की अवस्थायें

स्थूलावस्था (ब्रह्मा)	सूक्ष्मावस्था (विष्णु)	कारणावस्था (रुद्र)	तुर्यावस्था (ईश्वर)	तुर्यातीतावस्था (सदाशिव)

---

१. सि०सि०प० (५।४४)

२. तत्रैव (५।४५)

३. परमार्थत: **सर्वपाञ्चभौतिकं न जाता: पुरुषा:** सम्बोध मात्रैकरूप: **शिव-स्तदितर**त्सर्वमज्ञानमव्यक्तं भवति तत्र **शिवस्तु** ज्ञानम् ॥ (सि०सि०प० ५।४७)

'ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च
ईश्वरश्च सदाशिवः।
एताश्च देवताः प्रोक्ता,
सन्तानानां क्रमेण तु॥''[१]

गुरु का महत्व—गोरक्षनाथ कहते हैं कि गुरु से अधिक कोई है ही नहीं।[२] गुरु (१) अपने कथन (२) शक्तिपाद (३) अवलोकन एवं (४) प्रसाद से शिष्य को 'परमपद' प्राप्त करा देता है।

'कथनाच्छक्तिपाताद्वा यद्वापादाव लोकनात्।
प्रसादात्स्वगुरोः सम्यक् प्राप्यते परमं पदम्॥' (५।६५)

योगी को चाहिए कि वह—

(१) सम्यक निजविश्रान्तिकारक महायोगी **सद्गुरु की सेवा** करे।

(२) सम्यक रूप से सावधान होकर **परमपद का ज्ञान** प्राप्त करे।

(३) फिर अपने व्यष्टिपिण्ड में **समरसभाव** या परमपद रूप में अपने **व्यष्टि पिण्ड में व्याप्त आत्मा का सामरस्य या** ऐक्य स्थापित करे।

(४) अद्वैत स्वरूप में परमात्मा में स्थित होकर परमपद में स्वरूपावस्था प्रतिष्ठित करे।।

'परमपद' की प्राप्ति—यह विधि, शौच, पुण्य, विज्ञान, वैराग्य, नैराश्य, अनाहार, प्राणधारण, मुद्राधारण, विरक्ति, कायक्लेश, देवार्चन, भक्ति, षडदर्शन, मुण्डन, जप, तप, अनन्त उपाय, ध्यान, यज्ञ एवं तीर्थ सेवन आदि से संभव नहीं है। यह केवल गुरुकृपा-प्राय है।[३] ये सारे साधन देहसाध्य हैं। इनमें आसक्ति त्याज्य है। साधक केवल **'परमपद'** (आत्मस्वरूप) में ही स्थिर रहते हैं।[४]

---

१. स्थूल-सूक्ष्म-कारण-तुर्य-तुर्यातीतमिति पञ्चावस्थाः क्रमेण लक्ष्यन्ते। एतेषामपि सर्वेषां विज्ञाता यः स योगी **सिद्धपुरुषः** स योगीश्वरेश्वर इति पररहस्यं प्रकाशितम् ॥ (५।५५)

२. न गुरोरधिकं न गुरोरधिकं न गुरोरधिकं न गुरोरधिकं।

शिवशासनतः शिवशासनतः शिवशासनतः शिवशासनतः॥ (५।६६)

३. अतएव सम्यग् निजविश्रान्तिकारकं महासिद्धयोगिनं सद्गुरुं सेवयित्वा सम्यक् सावधानेन **परमंपदं** सम्पाद्य तस्मिन्निजपिण्डे च **समरसभावं** कृत्वात्यन्त**निरुत्थानेन** सर्वानन्दत्वे निश्चलं स्थातव्यं ततः स्वयपेव महासिद्धो भवतीति सत्यम् ॥ (५।५६)

४. न जपान्न तपो ध्यानान्न यज्ञतीर्थ सेवनात् । नानन्तोपायत्नेन प्राप्यते परमं पदम् ॥ (५।६२)

सद्गुरुवाद—सद्गुर की ही शरण में जाना चाहिए अन्य तथाकथित भ्रष्ट, पथ विचलित, विडम्बक योगियों एवं गुरुओं का त्याग करना चाहिए।।[१]

'ज्ञानहीनो गुरुस्त्याज्यो मिथ्यावादी विडम्बकः।
स्वविश्रान्तिं न जानाति परेषां स करोति किम्?
शिलया किं परं पारं शिलासंघः प्रातार्थ्यते।
स्वयंतीर्णो भवेद्योऽसौ परान्निस्तारयत्यलम्।।'

अतएव **महासिद्धानां मते** प्रोक्तं वाङमात्रेण सम्यगवलोकनेन वा तत्क्षणान्मुहर्विश्रान्तियुक्तं करोतीति यः स सद्गुरुर्भवति। नो चेन्निजविश्रान्तिं विना **पिण्डपदयोः समरसकरणं** न भवतीति सिद्धान्तस्त स्मान्निजविश्रान्तिकारकः सद्गुरुरभिधीयते नान्यः। पुनर्वागादि शास्त्र दृष्ट्यनुमान तर्कमुद्रया भ्रामको गुरुस्त्याज्यः।।[२]

गुरु कौंन हैं? जो सम्यक् रूप से चैतन्य में विश्रान्ति दिला सके और परात्परपद को साक्षात्कृत करा सके।।[३]

नाथ सम्प्रदाय में भक्ति की उपेक्षा—नाथ-सम्प्रदाय में **'ज्ञानमार्ग'** एवं **'योगमार्ग'** का तो अत्यधिक महत्व है किन्तु इसमें भक्ति का सार्वांशिक अभाव है। मत्स्येन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ, जालन्धरनाथ, कृष्णापाद, गोपीचन्द, भरथरी आदि किसी भी नाथयोगी की रचना में भक्ति की प्रवृत्ति दृष्टिगत नहीं होती।

ज्ञानेश्वर और उनकी भक्ति के प्रति दृष्टि—नाथपंथी योगी ज्ञानेश्वर के ग्रंथों में (अभंग एवं हरिपाठ में) अवश्यमेव भक्ति के प्रति गहन निष्ठा दिखाई पड़ती है। वे कहते हैं—

'भगवान के द्वार पर जो एक क्षण भी खड़ा रहता है वह चारों मुक्तियों को साध लेता है। मुँह से हरि का नाम लो, मुँह से हरि का नाम लो। इस पुण्य की बराबरी कौन कर सकता है? संसार में रहकर जिह्वा से हरिनाम भजन की वृद्धि करो, ऐसा वेदशास्त्र आदि हाथ ऊँचा करके निरन्तर कहते हैं—

'देवाचिये द्वारीं उभाक्षणमरी।
तेणें मुक्ति चारी साधियेल्या।।
हरि मुखेंम्हणा हरि मुखेंम्हणा।।
पुण्याची गणना कोण करी।।

१. एतानि साधनानि सर्वाणि दैहिकानि परित्यज्य परमपदेऽहिके स्थीयतेसिद्ध पुरुषैरिति।। सि०सि०प० (५।६३)

२. सिद्धसिद्धान्तपद्धति (५।७२)

३. गुरुरिति गृणाति शं सम्यक् चैतन्यविश्रान्तिमुपदिशति विश्रान्त्या स्वयमेव परात्परं परमपदमेव प्रस्फुटं भवति तत्क्षणात् साक्षात्कारो भवति।

असोनि संसारीं जिव्हे वेगु करी।
वेदशास्त्र उभारी बाह्या सदा।।'

ज्ञानेश्वर कहते हैं—'चारों वेद हरि की महिमा गाते हैं। दही मथकर जिस प्रकार नवनीत प्राप्त किया जाता है उसी प्रकार ऐ मन! तू अनन्त परमात्मा को अपना ले और व्यर्थ के झगड़ों और झंझटों का गाल बजाना छोड़ दे। संसार के सब प्राणी, आत्मा और हरि एक ही हैं और जीव तथा शिव समान हैं। हरि का भजन ही स्वर्ग है और भजनानन्दी के लिए भजन अणु-अणु में सर्वत्र ओत-प्रोत है—

"चहुँ वेदीं जाण षट् शास्त्रीं कारण।
अठराहिं पुराणें हरि सी गाती।
मंथुनि नवनीता तैसे घे अनन्ता।
वायां व्यर्थ कथा सांडी मार्गु।
एक हरि आत्मा जीव शिव सदा।।"

योगी ज्ञानेश्वर कहते हैं—'मेरे ध्यान और मन में निरन्तर श्री राम एवं श्री कृष्ण ही बसे हैं। यह अनन्त जन्मों के पुण्य का श्रेष्ठतम फल है—

'ज्ञानदेवा ध्यानीं रामकृष्णमनीं। अनन्त जन्मानीं पुण्य होय।।'

भाव और भक्ति—ज्ञानेश्वर कहते हैं कि—'भाव' के बिना भक्ति और भक्ति के बिना मुक्ति संभव नहीं है। 'भगवान शीघ्र ही प्रसन्न हों'—यदि मन में ऐसी कामना रखते हो तो व्यर्थ का कष्ट मत सहन कर प्रत्युत् मन को स्थिर करो।

'भावे वीणा भक्ति भक्तिवीण मुक्ति।
बलें वीण शक्ति बोलूं नये।।'

ज्ञानदेव कहते हैं कि—तू हरि-भजन कर। इससे संसार सागर से तर जायेगा—

'ज्ञानदेव म्हणे हरिजप करणें।
तुटेल धरणों प्रपंचाचें।।'

योगी ज्ञानेश्वर योग-साधक होकर भी कहते हैं कि—'यज्ञ और योग-विधि से सिद्धि प्राप्त हाने से ईश्वर-प्राप्ति नहीं होती। ये केवल उपाधियाँ मात्र हैं और दंभधर्म उत्पन्न करते हैं। बिना भाव के भगवान की प्राप्ति नहीं होती—

'योगयाग विधी येणों नोहे सिद्धी।
वायांची उपाधी दंभ धर्म।
भावे वीण देव न कले नि:सन्देह।'

ज्ञानेश्वर कहते हैं—'रामनाम का जप जो आशुतोष का प्रिय मंत्र है उसे अपनी

हिह्वा पर निरन्तर स्थापित करो। तू निरन्तर 'राम राम' जपा कर। संसार का श्रेष्ठतम तत्त्व हरि का नाम है। जो इसे प्राप्त कर लेता है, उसे द्वैत का बन्धन पीड़ित नहीं करता। योगियों को अपनी श्रेष्ठतम कला में जो अमृतपान का अनुभव होता है वही श्रेष्ठ आनन्द वैष्णवों को हरिनाम लेने से प्राप्त होता है। परमात्म-प्राप्ति का सुलभ साधन भगवान नाम स्मरण ही है—

'रामकृष्ण वाचा भाव हा जिवा चा।
आत्मा जो शिवाचा राम जप।।
एक तत्त्व नाम साधिती साधन।
द्वैताचें बंधन न बाधिजे।।
नामामृत गोडी वैष्णवा लाधली।।
योगिया साधली जीवन कल।
ज्ञानदेव म्हणे नाम है सुलभ।
सर्वत्र दुर्लभ विरला जाणे।'

भक्ति के बिना जप और ज्ञान भी व्यर्थ है—और जिसका मन राम कृष्ण के रूप में रँगा नहीं है उसका जप और ज्ञान व्यर्थ है। **ज्ञानेश्वर कहते हैं**—

विष्णूवीणा जप व्यर्थ त्याचें ज्ञान।
रामकृष्णीं मन नाहीं ज्याचें।।

जन्म लेकर द्वैतभाव रहित ऐसे अद्वैत परमात्मा को प्राप्त करने का जिसे ज्ञान नहीं है वह प्राणी भाग्यहीन है क्योंकि—

'एक तत्त्व नाम साधिती साधन।
द्वैतांचें बंधन न बाधिजे।'

ज्ञानेश्वर कहते हैं श्री हरि के सगुण ध्यान एवं भजन से मुझे प्रपञ्च के प्रति मौनभाव प्राप्त हुआ है अतः प्रपञ्च मुझे स्वतः भूल गया है—

'ज्ञानदेव म्हणे सगुण हें ध्यान।
नामपाठ मौन प्रपंचाचें।।'

तीर्थयात्रा और हरिनाम—ज्ञानेश्वर कहते हैं कि त्रिवेणी और गंगा-जमुना-सरस्वती के सङ्गम आदि नाना तीर्थों का भले ही भ्रमण कर लिया जाय किन्तु यदि भगवन्नाम में रुचि नहीं है तब सब कुछ व्यर्थ ही व्यर्थ है—

'त्रिवेणी संगमीं नाना तीर्थें भ्रमी।
चित्त नाहीं नामी तरी तें व्यर्थ।।'

ज्ञानेश्वर कहते हैं कि "जो व्यक्ति हरिनाम से विमुख है वह पापी है। उसे मुक्त

करने के लिए भगवान के अतिरिक्त दूसरा कौन दौड़कर आ सकता है? हरिभजन से तीनों लोकों का उद्धार होता है। जो हरिभजन करता है उसकी सारी पीढ़ियों का उद्धार हो जाता है। ज्ञानेश्वर कहते हैं—

"नामासि विन्मुख तो नर पाषिया।
हरि वीण धोवया न पवे कोणी।
ज्ञानदेवम्हणे नाम जपा हरीचें।
परम्परा त्याचें कुल शुद्ध।।"

ज्ञानेश्वर की दृष्टि में तो भले ही पापों की अनन्त राशि खड़ी हो किन्तु हरि का नामोच्चारण करने से वह क्षणमात्र में नष्ट हो जाती है।

हरि उच्चारणीं अनन्त पापराशी।
जातील लयासी क्षणमात्रें।।

जिस प्रकार तृण का अग्नि से संयोग होते ही तृण, अग्निरूप हो जाता है उसी प्रकार निरन्तर जपकर्ता हरिरूप हो जाता है—हरिनाम का उच्चारण अगाध मंत्र है—

'तृण अग्निमेलें समरस झालें।
तैसे नामें केलें जपतां हरि।।
हरि उच्चारण मंत्र हा अगाध।'

ज्ञानेश्वर कहते हैं कि मेरे हरि तो इतने सामर्थ्यवान है कि उनके यथार्थ स्वरूप का निर्णय करने में तो वेद-उपनिषद भी असमर्थ हैं—

'ज्ञानदेव म्हणे हरि माझा समर्थ।
न करवे अर्थ उपनिषदां।।'

ज्ञानेश्वर साधना में बाह्य प्रदर्शन एवं भक्तिहीन साधन को व्यर्थ मानते हुए कहते हैं कि यदि **तीर्थ, व्रत** और **नियमादिक** पर श्रद्धा न हो तो व्यर्थ की उपाधि क्यों एकत्रित की जाय? यदि हथेली में आँवले की भाँति हरि का ज्ञान प्राप्त करना हो तो वह केवल श्रद्धा से ही संभव है। पारा भूमि पर गिरते ही सैकड़ों कणों में विभक्त हो जाता है और उसे एकत्रित करना अत्यन्त कष्टप्रद होता है उसी प्रकार भगवद्भजन के बिना मुक्ति-प्राप्ति के समस्त साधन कष्टप्रद हैं।[१]

परमात्म प्राप्ति का साधन और अद्वैत दृष्टि—ज्ञानेश्वर कहते हैं कि जब तक द्वैत बुद्धि का प्रणाश नहीं होता और (प्रत्येक अणु में परमात्मव्याप्ति रूप) 'समत्वबुद्धि' का उदय नहीं होता तब तक जीव की हरि के साथ एकता (**समाधि**), **तदाकाराचित्तवृत्ति** एवं **आत्मस्थिति** नहीं हो पाती।

---

१. हरिपाठ (११)

यदि मन में भगवान का वास न हो तो समस्त ऋद्धि-सिद्धयाँ व्यर्थ हैं। वे केवल उपाधि मात्र हैं अत: उनका अहर्निश चिन्तन होता रहता है।

ज्ञानेश्वर का कथन है कि—

(१) जो प्राणी निरन्त नाम का भजन करता रहता है उसके ऊपर कलि क्रूर दृष्टि नहीं डालता।

(२) राम एवं कृष्ण का निरन्तर जप **'तप'** की अनन्तराशिका उदय है और साथ ही साथ अनन्त जन्मों के पाप-समूहों का प्रणाश है।

(३) 'हरि हरि' का जप शिव का महामंत्र है। जो इसका जप करता है उसे मोक्ष तथा सुख की प्राप्ति होती है।[१]

(४) केवल भगवन्नाम मात्र का ज्ञान भी द्वैतभावना को दूर कर देता है। समबुद्धि होकर हरि को सर्वत्र देखने से साधक हरिरूप हो जाता है। (ज्ञानेश्वर का यह भी कथन है कि)—"मैंने अपने मन में हरिभजन निरन्तर करने का नियम बना लिया है अत: जन्म-मृत्यु के चक्र से पृथक हूँ।।"[२]

(५) जिसकी बुद्धि में हरिनाम व्याप्त है और राम-कृष्ण नाम वाणी में स्थित है वे दुर्लभ हैं। राम कृष्ण के परम पवित्र नामोच्चारण से **उन्मनी अवस्था** प्राप्त हो जाती है और समस्त सिद्धियाँ मिल जाती हैं। नाम-साधना से सिद्धि, सामर्थ्य, बुद्धि धर्म सभी प्राप्त हो जाते हैं। ज्ञानेश्वर कहते हैं कि—"मेरे अन्त:करण में रामकृष्ण की मोहक मूर्ति इस प्रकार समा गई है कि मुझे दसों दिशाओं में आत्माराम ही दृष्टिगोचर होते हैं।[३]

(६) नाम-जप एवं हरि-कीर्तन से शरीर पवित्र हो जाता है। नाम-जप ऐसा तप है कि इसके प्रभाव से साधक १४ मन्वन्तर (४३२००००००००) पर्यन्त वैकुण्ठ में निवास कर सकता है। उसके कुटुम्बी **'सारूप्य मुक्ति'** प्राप्त करते हैं। हरि भजन एवं हरिनाम-कीर्तन करने वाला वैकुण्ठ प्राप्त करता है और तीर्थाटन का फल प्राप्त करता है। ज्ञानेश्वर कहते हैं कि मुझे सदैव हरि का नाम प्रिय है। अत: मुझे हरिनाम में ही आनन्द प्राप्त होता है।।

(७) श्रीनारायण का नाम ही सब कुछ है, उसका ही भजन करना चाहिए। जप तप आदि कर्म करने का फल हरि-भजन के बिना व्यर्थ है। नाम-जापक हरिरूप हो जाता है। ज्ञानेश्वर कहते हैं कि—हरिनाम ही मेरा मूल मंत्र है यही मेरा शास्त्र भी है—

१. हरिपाठ (१४)
२. हरिपाठ (१५)
३. हरिपाठ (१६)

'ज्ञानदेवीं मंत्र हरिनामाचें शास्त्र।।'

(८) ज्ञानेश्वर कहते हैं कि नाम-स्मरण एवं हरि-गुणगान की युग्मता वैष्णवों ने निर्मित की है। यह अनन्त कोटि पापों का संहारक है। अनन्त कोटि कृत तप का फल हरिनाम स्मरण है। **योग, याग, क्रिया, धर्म** और **अधर्म** ये सभी **'माया'** हैं। यज्ञ, याग, किया धर्म सभी **हरिरूप** है। हरि-स्मरण के अतिरिक्त अन्य कोई नियम धर्म इस असार संसार में नहीं है—

'योगयाग क्रिया धर्माधर्म माया।।'
'ज्ञानदेवीं यज्ञ याग क्रिया धर्म।
हरि विण नेम नाहीं दुजा।।'

(९) ज्ञानेश्वर कहते हैं कि मैंने अपने गुरु निवृत्ति नाथ से पूँछा तो उन्होंने कहा 'नाम आकाश से भी विशाल है।।'—'गगनाहूनि वाड नाम आहे।।''

(१०) ज्ञानेश्वर कहते हैं कि "नाम सभी साधनों में श्रेष्ठतम है। उससे कोई कष्ट नहीं होता। अजपा जप का फल लिए साधक के मन को इसी मार्ग पर जाने का निश्चय करना पड़ता है। हरिनाम-स्मरण के बिना जीना व्यर्थ है अत: मैंने श्रीराम एवं श्रीकृष्ण के नाम के स्मरण का मार्ग स्वीकार किया है—

'ज्ञानदेवा जिणें नामे विण व्यर्थ।
रामकृष्णी पंथ क्रमियेला।।'

'सिद्धसिद्धान्तसंग्रह' (बलभद्र-प्रणीत) नामक ग्रंथ में बलभद्र ने नाथदर्शन का निचोड़ प्रस्तुत करते हुए कहा कि नाथमत पूर्ववर्ती मतों से भिन्न है यथा— **'परमतत्त्व'** को ही ले लीजिए।

'परमतत्त्व'—सृष्टि के पूर्व कार्य-कारण-भाव से शून्य कर्तृत्व से शून्य, कुलाकुल, सजातीय-विजातीय-स्वगत भेदों से अतीत (अव्यक्तावस्था में विद्यमान) शिव ही परमतत्त्व है जिसकी आख्या **'स्वयं'** हैं—

कार्यकारणकर्तृत्वं यदा नास्ति कुलाकुलम्।
अव्यक्तं परमं तत्त्वं स्वयं नाम तदा भवेत्।।

उसकी शक्ति 'अवस्थामात्रधर्माधर्मिणी **निजाशक्ति'** थी। निजा शक्ति ही परासंवित् का एक ऐसा अभिन्न अङ्ग है जो अपने आपको विश्व-ब्रह्माण्ड के लिए प्रकट करती है। जब अव्यक्त परम में सिसृक्षा होती है तब वह **'सगुण'** कहलाता है। सिसृक्षा ही उसकी **'शक्ति'** है। यह 'शक्ति' सांख्य की जड़ प्रकृति नहीं है और न तो अद्वैत वेदान्त की अनिर्वचनीया एवं मिथ्या माया शक्ति। यह चिद्रूपिणी और अनन्त शक्ति

सम्पन्ना एवं परमशिव की समवायिनी शक्ति है और इसी का परिणमन (परिणाम) जगत है। शक्ति को चिद्रूपा कहना ही वेदान्त के मायावाद का खण्डन है।

द्वैताद्वैतविलक्षणवाद की नाथ-दृष्टि परमतत्त्व को द्वैत एवं अद्वैत दोनों से अतीत स्वीकार करती है।

शिव और शक्ति में अभेद का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि **'शिव'** शक्ति में एवं **'शक्ति'** शिव में चन्द्र-चन्द्रिकावत स्थित हैं—

''शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः।
अन्तरं नैवपश्यामि चन्द्रचन्द्रिकयोरिव।।''[१]

'प्रलय' सृष्टि का विनाश नहीं है प्रत्युत् यह शिव के द्वारा शक्ति को अपने में लीन करने की एक अवस्था या व्यापार है। सृष्टि के प्रसार-संकोच की साम्यावस्था ही **परममुक्ति'** है। **जगत का आभास** ही 'शक्तिभाव' एवं उसका **निराभास** ही **'शिवभाव'** है। शिव एकरस एवं अपरिणामी हैं किन्तु शक्ति परिणमनशीला है। 'शक्ति' का तिरोभाव ही जगत का **'प्रलय'** है। शक्ति-उपासना साधन है और शिवत्व-लाभ साधना का फल है।[२]

नाथों की मुक्ति के विषय में महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ कविराज का कथन है कि—

(१) नाथ-योग-साधना पातंजल योग-साधना से पृथक है। यह बौद्धदर्शन एवं शांकर दर्शन की साधना से भी पृथक है। दोनों की **योग-साधना के लक्ष्य भिन्न-भिन्न हैं।**

(२) नाथों का आदर्श, अनद्वैतवादी आगमिक दर्शनों से साम्य रखता है। इसे **'सामरस्य'** कहते हैं। यह सामरस्य द्वैत एवं अद्वैत दोनों से परे है। यह **पुरुष और प्रकृति** में एकता (UNIFICATION) की स्थापना को लक्ष्य में रखता है और इस प्रकार शिव और शक्ति में अपृथकत्व एवं ऐक्य का प्रतिपादन करता है और—

"The attainment of this ideal is the Supreme Unity of Parama Shiva, where Shiva and Sakti are one, Undivided and indivisible whole. It is called Maha Sakti in th language of Saktas and represents the absolute of the Sakta Agams : —Phisosophy of Gorakhnath

शक्तिरहित शिव सामर्थ्यहीन हैं।

---

१. सि०सि०प० (४।३७)

२. सि० सि० सं० ()

गुणत्रय की निरन्तर समता ही **'महामाया'** **'माया'** एवं **'प्रकृति'** है। इन तीनों के ऊपर पराशक्ति या चितशक्ति है। शक्ति का प्रसार एवं सङ्कोच ही जगत की सृष्टि एवं लय है—

'शक्तिप्रसारसङ्कोचौ जगतः सृष्टिसंहती।'

शिव की 'निजाशक्ति' ही इच्छा-शक्ति या संकल्प है जो 'एकोऽहं बहुस्याम्' की इच्छा के रूप में उन्मिषित होती है। शक्ति ही जगत का कारण है।

परमपद में व्यष्टिपिण्ड का लीन होना अर्थात् समष्टि-व्यष्टि का समरसीकरण—पिण्डपद और परमपद में समरसीकरण होना ही—नाथ योग का लक्ष्य है। नाथ योगियों की साधना का अन्तिम आदर्श—**'समरसकरण'** ही है। वैषम्यरहित अवस्था ही समरसभाव है—अद्वयावस्था है—चिदानन्दमयी अद्वैतनिष्ठा है। इससे परे अनाम है। वह **निर्विकल्प निरुत्थान निर्द्वन्द्व स्थिति** है। द्वैताद्वैत-विवर्जित परमपद स्वसंवेद्य एवं स्वप्रकाशरूप है। गुरु के अनुग्रह से साधक का चित्त विश्रान्त हो जाता है। फिर परमानन्द ज्योति का आविर्भाव होता है। शक्ति के प्रकाश से **'पिण्ड-सिद्धि'** होती है। इसी समय स्वपिण्ड, ब्रह्माण्ड और शक्ति का परमपद से एकत्व स्थापित होता है। इसे ही **समरसीकरण** कहते हैं। इसकी निरन्तरता से**आत्यन्तिक निरुत्थान दशा** प्राप्त होती है। **डा० गोपीनाथ कविराज** कहते हैं—'नाथ पंथ का आदर्श है—**पहले पिण्ड-सिद्धि द्वारा जीवन्मुक्ति प्राप्त करना** और तत्पश्चात् **समरसीकरण द्वारा परामुक्ति।।**[1]

बलभद्र कहते हैं कि नाथमत के अनुसार—**घण्टा, ढोल, मृदङ्ग एवं महाभेरी** निनाद सदृश अनाहत नाद का जो **स्वपिण्ड** एवं **ब्रह्माण्ड** में सम्यक् रूप से निरन्तर श्रवण करते हैं उन्हीं को **सिद्धपद एवं परमपद** की प्राप्ति होती है अन्य को नहीं।

घण्टा-काहल-मर्दल त्वथ महाभेरी निनादं यथा।
सम्यङ् नादमनाहतं ध्वनियुतं शृण्वन्ति ये तादृशम्।।
पिण्डे सिद्धिपरं निरन्तरतया ब्रह्माण्डमध्येऽथवा।
तेषां सिद्धमतेस्कतेः समुदितं सत्यं परं लभ्यते।।
'सत्यक्त्वाखिलभावमेकममलं प्राप्नोत्यहो **स्वं पदम्।।**'[2]

'मुक्ति' प्रदान करने वाला केवल **'नाथ'** है। क्योंकि—

(१) **'शक्ति'** सृष्टि करती है। 'अस्माकं मते **शक्तिः**
(२) **'शिव'** पालन करते हैं। सृष्टिं करोति, **शिवः**

---

१. गोरखदर्शन (गोपीनाथ कविराज)
२. सिद्धसिद्धान्तसंग्रह

(३) **'काल'** संहार करते हैं। पालनं करोति, **कालः**

(४) **'नाथ'** मुक्ति प्रदान करते हैं। संहरति, **नाथो** मुक्तिं ददाति।'

मोक्ष का मूल अवधूत हैं—'मूलं मोक्षस्यावधूतो।।''

निरुत्थानरूप अलखनिरञ्जन, द्वैताद्वैतविवर्जित, स्वसंवेद्य परमपद ही ज्ञेय है—

'तन्नित्यं फलनोज्झितं गुरुमयं ज्ञेयं निरुत्थं पदम्।।'

—(सिद्धसिद्धान्तपद्धति)

(१) **मन-मार्ग**—सायुज्यमुक्ति की प्राप्ति। (२) **बुद्धि-मार्ग**—सामीप्य मुक्ति (३) **चित्तमार्ग**—स्वरूप मुक्ति (४) **अहंकार-मार्ग**—'अतः सालोक्य मुक्ति। (५) **अन्तःकरणमार्ग**—महामुक्ति।

'अन्तःकरण मारग जीव अनुसरै तौ महामुक्ति (भोगवै) आत्मा परमात्मा भवति। जोगेस्वर एकं भवति। परमशून्य भावे स्थिति। पारब्रह्म भावे लीनां।[१]

—०—

१. महादेव गोरख पुष्टि

श्रीविद्यान्तर्गतम्

श्रीचक्रनिरूपणम्

'ज्ञान'-'सपर्या'-खण्डात्मकम्।

सविमर्श-'प्रह्लाद'-हिन्दी-व्याख्या-सहितम्।

लेखक: सम्पादकश्च—**गोस्वामी प्रह्लाद गिरि 'वेदान्तकेशरी'**

'**श्रीविद्या**' साधना का सर्वश्रेष्ठ साधन दश-चक्रात्मक '**श्रीचक्र**' है। प्रस्तुत ग्रन्थ में दश-चक्रात्मक यन्त्रराज 'श्रीचक्र' का निरूपण किया गया है। श्रीदक्षिणामूर्त्ति शिव ही गुरु हैं; श्रीमहाषोडशीमन्त्र ही मन्त्रराज है तथा श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी ही परदेवता है। श्रीदक्षिणामूर्त्ति गुरु परम्परा में 'भौतिक, दैविक तथा आध्यात्मिक' तीन प्रकार की साधना की जाती हैं। भौतिक सम्पदा का अधिकारी 'शिष्य' है। दैविक सम्पदा का अधिकारी 'आचार्य' है तथा आध्यात्मिक सम्पदा का अधिकारी 'गुरु' है। शिष्य के लिए अनुरोधात्मक '**शिष्यक्रम**', आचार्य के लिए उपदेशात्मक '**आचार्यक्रम**' तथा गुरु के लिए आदेशात्मक 'गुरुक्रम' है। साधक इन तीन क्रमों से 'पूर्णपीठ' पर आरूढ़ होकर, पूर्णपीठेश्वरी भोगरूपा सच्चिदानन्दमयी इच्छा-ज्ञान-क्रियात्मिका पूर्णा शक्ति के विमर्शात्मक वृत्तिरूपता को प्राप्त कर, पूर्णपीठस्वरूप मोक्षरूपी सच्चिदानन्दस्वरूप पूर्ण शिव के प्रकाशात्मक परब्रह्मस्वरूप को प्राप्त कर लेता है। यही 'श्रीविद्या' है। इसकी उपासना 'सोलह आवरण, पाँच कल्प तथा उपसंहार' के माध्यम से की जाती है जो कि अत्यन्त सरल है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में दो खण्ड हैं—१. ज्ञानखण्ड तथा २. सपर्याखण्ड। '**ज्ञानखण्ड**' में 'श्रीविद्या' के पारम्परिक अत्यन्त गूढ़ रहस्यों का निरूपण सरल भाषा में किया गया है; जबकि '**सपर्याखण्ड**' के अन्तर्गत अपने आप दीक्षित होने की विधि, पूजाविधि तथा वन्दना का निरूपण हुआ है। यह एक सम्पूर्ण पद्धति है। ग्रन्थ का मूल संस्कृत तथा अनुवाद हिन्दी भाषा में निरूपित है। यह संस्करण 'पराशक्ति श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी की श्रीमहाषोडशी परम्परा' का अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थरत्न है। **मूल्य : रु. ४५०.००**

ISBN : 978-81-218-0271-7 Price : Rs. 175.00

॥ॐ अथ योगचिंतामणि प्रारंभः॥

यो० श्रीगणेशायनमः श्रीकृष्णायतुभ्यंनमः॥नमोगुरुभ्योदेवेभ्योयोगिभ्योहरयेनमः नित्यं
१ सूक्ष्मतरंचिदेकरसकंमुक्तंविशुद्धंशिवंनिर्धूताखिलकल्पनंश्रुतिशिरोगम्यंप्रमाणोज्झितं॥
पूर्णंधामवशीकृतासुमनसः पश्यंतियद्योगिनः सांद्रानंदमुपास्महेतदनिशंस्वात्मप्रकाशंम
हः १ मायागाढमहादुरत्ययतमोमार्तंडकोटिप्रभः॥संसाराख्ययुगांतभास्करकरव्यात
प्तपूर्णेंदुकः॥दुःखामोदयुगांतचंद्रपवनःकारुण्यलावण्यभूर्भूयान्मेनिखिलार्थबोधन
करःश्रीदक्षिणामूर्तिकः॥२॥विघ्नौघवल्लानलमंतिकाशंचिंत्यार्थचिंतामणिचारुमूर्तिं॥ब्रह्मा
च्युतेशादिसमर्चितांघ्रिंनमामिलंबोदरमुग्रवीर्यम्॥३॥श्रीव्यासंयतिशंकरंभवगुरुंश्रीराम
चंद्रंगुरुं॥सांद्रानंदपदांबुजंचनिखिलान्नत्वाहियोगीश्वरान्॥नानाग्रंथपयोधिमध्यपतित
श्रीयोगचिंतामणिं॥निःशेषार्थसमर्पकंयतिशिवानंदःकरोतिस्फुटम्॥४॥योगस्तुनिर्विकल्पकस १

माधिरेव॥तथाचाहपतंजलिः॥योगश्चित्तवृत्तिनिरोधइति॥मनोवृत्तीनां बाह्यार्थाभिमुखानांनि
रोधपूर्वकंचित्तस्यपद्मभ्याकारतयावस्थानंसनिरोधाख्योनिर्विकल्पकसमाधिर्योगइत्यु
च्यते॥व्याकरणेयुजसमाधाविति॥वासिष्ठेपिद्वौक्रमौचित्तनाशाययोगोज्ञानंचराघव॥योग
स्तद्वृत्तिरोधःस्याज्ज्ञानंसम्यक्परीक्षणमितिकूर्मपुराणेईश्वरोक्तिः॥मय्येकचित्ततायोगो॥
वृत्त्यंतरनिरोधतः॥शून्यंसर्वनिभासंस्वरूपंयत्रचिंत्यते॥अभावयोगःसमुक्तोयेनात्मानं २
प्रपश्यति॥यत्रपश्यतिचात्मानंनित्यानंदंनिरंजनं॥मामेकं तुपरोयोगोभाषितःपारमेश्वर
इति॥आदित्यपुराणे॥योगात्संजायतेज्ञानंयोगोमय्येकचित्ततेति॥योगबीजेदेव्युवाच॥योगः
कउच्यतेदेवयोगाभ्यासोपिकीदृशः॥योगेनवाभवेत्किंचतत्सर्वंवदशंकर॥ईश्वरउवाच॥योऽपान
प्राणयोर्योगःस्वरजोरेतसोस्तथा॥सूर्याचंद्रमसोर्योगोजीवात्मपरमात्मनोः॥एवंतुद्वंद्वजालस्य

यो० संयोगोयोगउच्यतइति॥अत्रजीवात्मपरमात्मनोरेवनिर्बीजसमाधिलक्षणः॥संयोगोयो
२ गइत्युच्यतेअन्येतुतदंगभूतानांवेतिद्रष्टव्यं॥विस्तरेणचवक्ष्यतेस्कंदपुराणे॥वृत्तिहीनंमनः
कृत्वाक्षेत्रज्ञंपरमात्मनि॥एकीकृत्यविमुच्येतयोगयुक्तःसउच्यते॥बहिर्मुखानिसर्वाणिकृ
त्वाचान्यांतराणिवै॥मनस्येवेंद्रियग्राममनश्चात्मनियोजयेत्॥सर्वभावविनिर्मुक्तंक्षेत्र
ज्ञंपरमात्मनि॥एतद्ध्यानंचयोगश्चशेषोऽन्योग्रंथविस्तरः॥संयोगस्त्वात्ममनसोयोग
इत्युच्यतेबुधैःप्राणापानसमायोगोयोगइत्यपिकेचन॥विषयेंद्रियसंयोगोयोगइत्यपिपं
डितैरिति॥प्राणायामस्यसर्वयोगशास्त्रेषुयोगांगत्वेनप्रसिद्धत्वान्नयोगत्वं॥अतएवइत्य
पिकेचनेतिमतांतरोपन्यासोऽस्वरसोद्भावनार्थमेव॥विषयेंद्रियसंयोगेननादानुसंधानभ्रू रामः
घ्राणादिनिरीक्षणमभिप्रेतंएतैरपिसमाधिसंभवस्यतैर्जल्पादियोगिभिरुक्तत्वात्॥विस्त २

रेणचवक्ष्यते॥विष्णुपुराणे॥योगस्वरूपंखांडिक्यश्रूयतांगदतोमम॥यत्रस्थितोनच्यवतेप्रा
सा प्ययोगलयोमुनिः॥आत्मप्रयत्नसापेक्षाविशिष्टायामनोगतिः॥तस्याब्रह्मणिसंयोगोयोगइत्य यो
भिधीयते॥एवमत्यंतवैशिष्ट्ययुक्तधर्मोपलक्षणः॥यस्ययोगःसवैयोगीमुमुक्षुरभिधी
यते॥अयमर्थः॥पराक्प्रवणस्यविषयाभिमुखप्रवृत्तिशीलस्यांतःकरणस्यविषयेभ्योनि
वर्त्यप्रत्यङ्मुखीकरणात्मप्रयत्नसापेक्षाविशिष्टाजीवरूपेणव्याप्तामनसाकारणभूते
नोत्पादितायागतिर्ज्ञानंतस्यागतेर्ब्रह्मणिविषयेयश्चसंयोगोजीवस्यब्रह्माभेदचिंता
ससंप्रज्ञातलक्षणःसमाधिरुक्तइतिद्वयोरर्थः॥तृतीयार्थस्तु॥एवंभूताभ्यासशालिनोवि
ष्णुःस्वपरब्रह्मणिमनः॥प्रयत्नरूपात्यंतवैशिष्ट्ययुक्तधर्मोपलक्षणःअयस्ययोगिनोयो
गोभवतिससाक्षान्मोक्षसाधनयोगाभ्यासशालित्वाच्छास्त्रेषुमुमुक्षुरित्यभिधीयते॥अत

यो० नासंप्रज्ञातलक्षणः समाधिरुक्तः। पद्मपुराणे यु जि योगित्वयं धातुर्गतः काष्ठां परां स्थितिं॥ सा त
३ स्य युज्यते यस्मात्तस्माद्योगी स उच्यते॥ परां स्थितिं जीवब्रह्मणोरद्वैतसाक्षात्काररूपां गतः॥ प्रासो
धातुर्न तु तयोर्योगमात्रं सा स्थितिस्तस्याद्वैताभ्यासशालिनो युज्यते यतः सा स्थितिर्युज्यत इति यु
ज्यत्या योग उच्यते॥ अनेनासंप्रज्ञातसमाधिरुक्तः॥ न याति तत्रैव निरोधो यस्तु मनसः स योगो यो
गिनां मतः अनेन निर्विकल्प उक्तः याज्ञवल्क्यः ज्ञानं योगात्मकं विद्धि योगश्चाष्टांगसंयुतः॥ संयो
गो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोरिति॥ अनेन मनःप्रलयालयलक्षणौ संक्षेपतः संप्रज्ञातासं
प्रज्ञातावुक्तौ॥ स्मृतौ विष्णुधर्मे परेण ब्रह्मणा सार्द्धमेकत्वं यन्नृपात्मनः॥ स एव योगो विख्यातः
किमन्यद्योगलक्षणं॥ स्वदेहारंभकस्यापि कर्मणः संक्षयावहः॥ यो योगः पृथिवीपाल शृणु तस्या
पि यत्फलं॥ यत्तद्ब्रह्म परं मोक्षं विद्यां ख्यातं शुद्धमव्ययं॥ चेतसः प्रलयस्तत्र योग इत्यभिधीयते॥ रामः ३

चं

योगजेनावबोधेन प्रलीने तत्र चेतसि॥ रूपकारण भावाभेदेनैवानुपश्यति॥ परात्मनोर्मनुष्यें
द्र विभागोऽज्ञानकल्पितः॥ क्षये तस्यात्मपरयोर्विभागाभाव एव हि॥ परमात्मात्मनोर्योयमविभा
गः परंतप॥ स एव तु परो योगः समासात्कथितस्तव॥ अत्र परेण ब्रह्मणेत्यादिनासंप्रज्ञातल
क्षणः समाधिरुक्तः देहारंभकस्येत्यादिना संप्रज्ञातलक्षणः समाधिरुक्तः ननु यमनिय
मासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावंगानि योगस्येत्यादि सर्वयोग
शास्त्रेषु समाधेर्योगांगत्वेन गणितत्वाद्योगः कश्चिदन्य एव प्रतीयत इति चेत्सत्यं॥ समाधि
र्हि द्विविधोऽस्ति॥ संप्रज्ञातासंप्रज्ञातभेदात्॥ तत्रासंप्रज्ञातसमाधेः संप्रज्ञातसमाधिरंगं अ
त्रांगांगिव्यवस्थाकृता पातंजलैः धारणादीनां त्रयाणां साक्षादुपकारकत्वेनांतरंगत्वमुक्तं
॥ यमादीनां तु पंचानामपि प्रतिपक्षभूतहिंसादिवितर्कोन्मूलनद्वारेण समाध्युपकारकत्वा

यो० द्वहिरंगत्वमुक्तं तत्रासनादीनामुत्तरोत्तरमुपकारकत्वं॥ सत्यासनजये प्राणस्थैर्यमित्यादि
४ प्र ॥तथा धारणाध्यानयोः संप्रज्ञात समाधिनिष्पादकत्वेनांतरंगापेक्षयांतरंगत्वेप्यसंप्रज्ञातव्यं
निर्बीजसमाधिं प्रतिपारंपर्येणोपकारत्वाद्बहिरंगत्वं त्रयमंतरंगं पूर्वेभ्यः तदपि बहिरंगं निर्बी
जस्यातिसूत्राभ्यां वसिष्ठयाज्ञवल्क्यौ तु यमादीनां चतुर्णां बहिरंगत्वं॥ प्रत्याहारादीनां चतुर्णा
मप्यंतरंगत्वमाह॥ याज्ञवल्क्यः आदौ चत्वारि बाह्यानि तदन्यांतराणि वै॥ उक्तान्येतानि च प्य
त्वारि योगांगानि वरानने। वशिष्ठः प्रत्याहारादि चत्वारि शृणुष्वाभ्यंतराणि चेति॥ अत्रेदं ज्ञेयं॥
यमादीनि ध्यानांतानि उत्तरोत्तरोपकारकत्वेन संप्रज्ञातसमाधिसंपादकत्वेन बहिरंगानि निर्बी नि
जसमाधेः संप्रज्ञातसमाधिरेवांतरंगमिति॥ सम्यक् प्रकर्षेण ज्ञायते संशयविपर्ययानध्य राम०
बसायराहित्येन भाव्यस्य स्वरूपं येन स संप्रज्ञात समाधिर्भावनाविशेषः भावनाविशेषो ४

---

५ यश्चेति स संप्रज्ञातसमाधिरुक्तः॥ स च वितर्कादिभेदाच्चतुर्विधः सवितर्कः सविचारः सानं
दः सास्मितश्चेति तथा च भगवान् पतंजलिः वितर्कविचारानंदास्मितारूपानुगमात्संप्रज्ञातः
ति भावना च विषयांतरप रिहारेण भाव्यस्य चेतसि पुनः पुनर्निवेशनं भाव्यं तु द्विविधं ईश
स्तत्वानि च तत्वान्यपि द्विविधानि जडानि अजडं च जडानि च प्रकृतिमहदहंकारैकादशेंद्रिय
पंचतन्मात्रपंचभूतभेदाच्चतुर्विंशतिः संक्षेपतस्तु प्रकृतिरेव॥ ईश्वरशक्तिरिति मायेति च या
व्यपदिश्यते॥ देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढां मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वर मित्या
दि श्रुतिषु अजडः पुरुषः जडान्यपि द्विविधानि स्थूलानि सूक्ष्माणि च तत्र यदा प्रथमं स्थूलानि स
महाभूतेंद्रियाणि विषयत्वेनादाय भावना क्रियते पूर्वापरानुसंधानशब्दोल्लेखसंभेदेन तदा
सवितर्कसंज्ञितः समाधिर्भवेदिति॥ पूर्वापरानुसंधानशब्दोल्लेखराहित्येन चेत्तदा निर्वितर्क त्र

यो० संज्ञितः॥ तथासूक्ष्मांतःकरणवीषयमालंब्यदेशकालधर्मावच्छिन्नाभावनाचेत्तदासविचारसंज्ञि
तस्तदनवच्छिन्नाधर्मिमात्रविषयाचेत्तदानिर्विचाराख्यःसमाधिरयंग्राह्यसमापत्तिरित्यभिधी
५ यते॥यदारजस्तमोलेशानुविद्धमंतःकरणसत्वंभाव्यतेतदागुणाभावाच्चितिशक्तेःसुखप्र
काशमयसत्वस्योद्रेकात्सानंदाख्यःसमाधिर्भवति॥एतन्मात्रधृतयश्चविदेहाइत्यु
च्यंते॥अयंचग्रहणसमापत्तिरित्युच्यंते॥अतःपरंरजस्तमोलेशानभिभूतंशुद्धसत्व
त मालंबनीकृत्यंयथाप्रवर्तते॥भावनातस्याग्राह्यस्यसत्वस्यन्यग्भावाच्चितिशक्तेरुद्रेका॰
त्सत्तामात्रावशेषत्वेनसमाधिःसास्मितइत्युच्यतेनचाहंकारास्मितयोरभेदःशंकनीयः॥य
त्रांतःकरणमहमित्युल्लेखेनविषयान्वेदयतिसोहंकारोपन्नत्वंतर्मुखतयाप्रतिलोमपरिणा॰ प
मेनप्रकृतिलीनेचेतसिसत्तामात्रमवभातिससास्मितइति॥एतन्मात्ररतयस्तुप्रकृतिलय ५

शब्दवाच्याः॥येतुपरंपुरुषंज्ञात्वाभावनायांप्रवर्तंतेतेषामियंविवेकख्यातिर्ग्रहीतृस
मापत्तिरित्युच्यते॥चतुरवस्थोयंसंप्रज्ञातसमाधिःसविकल्पइतिसवीजइतिनिदिध्यासन
मित्यादिशब्दैर्व्यपदिश्यतेयोगशास्त्रेषु॥असंप्रज्ञातसमाधेर्लक्षणमाहभगवान्पतंजलिः
विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वःसंस्कारशेषोऽन्यइति॥अस्यार्थःविरम्यतेऽनेनेतिविरामोवित
र्कादिचिंतात्यागः।विरामश्चासौप्रत्ययश्चेतिविरामप्रत्ययस्तस्याभ्यासःपौनःपुण्येनचेतसि य
निवेशनं॥तत्रयाकाचित्तवृत्तिरुल्लसतितस्यानेतिनेतिनैरंतर्येणपर्युपासनंतत्पूर्वकः
समाधिःसंस्कारशेषोऽन्यस्तद्विलक्षणोऽसंप्रज्ञातसमाधिरित्यर्थःनतत्किंचित्संप्रज्ञा
तइति असंप्रज्ञातसमाधिःअयंनिर्वीजइतिनिर्विकल्पइतिनिरालंबइतिराजयोगइति
चोच्यते॥राजयोगंवामदेवउवाच॥भगवन्देवदेवेशपरमानंदसुंदर॥त्वत्प्रसादान्मयालब्धः

यो० पूर्वयोगः सविस्तरः अपरः कस्तमाख्याहि भवतोदीरितः ॥ महादेव उवाच ॥ बहिर्मुद्रान्वितः पूर्वो बहि
६ र्योगस्तु तन्मयः अंतर्मुद्रान्वितस्त्वन्यो ह्यंतर्योगः स एव हि ॥ राज योगश्च कथितः स एव मुनिपुंग
वैः राजते सर्वयोगेषु राजयोग इति स्मृतः ॥ राजनं दीप्यमानं तत्सैव ब्रह्माणमव्ययं ॥ देहिनेश्च यथ र
५ स्त राजयोगः स उच्यते ॥ समाधिद्वयसाधारणनामानि हठप्रदीपिकायां राजयोगः समा
धिश्च उन्मनी च मनोन्मनी ॥ अमरौघो व चांद्री व निरालंबं निरंजनं ॥ अमनस्को लयश्चैव शु
र न्यां शून्यं परापरं जीवन्मुक्तिः सहजं चतुर्यं चेत्येकवाचकमिति ॥ दर्शितं चोदाहृतं पुराणा
दिवाक्येषु समाधिद्वैविध्यं पूर्वमेव ॥ ननु मंत्रयोगो लयश्चैव राजयोगो हठस्तथा ॥ योगश्चतु
र्विधः प्रोक्तो योगिभिस्तत्त्वदर्शिभिरिति योगस्य चतुर्विधत्वश्रवणात् ब्रह्मविष्णुईश्वरेश
वादिगीतादिषु कर्मयोगो भक्तियोगो वैराग्ययोगः सांख्ययोग इत्यादिषु योगशब्दप्रयोगे ६

[redacted] दर्शनेच न योगशब्दस्यानेकार्थत्वप्रतीतेः कथं नि
र्णयोयमेव योग इति चेत् ॥ सत्यं ॥ जीवनसाधने लांगूले जीवनशब्दप्रयोगवत्साक्षात्परंपर
या योगसाधनेषु मंत्रयोगादिषु योग [redacted] प्रयोगोपपत्तेः तथाहि ॥ मंत्र
जपहोमपूजादिसमाराधितेश्वरप्रसादं स्वयोगो योगवत्साक्षात्परंपरया योगसाध
नेषु मंत्रयोगादिषु योगशब्दप्रयोगोपपत्तेः तथाहि ॥ मंत्रजपहोमपूजादिसमाराधितेश्व
रप्रसादादेव योगो योगसिद्धिश्च भवति नान्यथा ॥ आदित्यपुराणे शिववाक्यं ॥ सर्वज्ञः परिपू
र्णश्च जरामरणवर्जितः ॥ मत्प्रसादादेव योगी नान्यथाक्रो वत्सदनेति ॥ मानसोल्लासे गुरुप्र
सादाल्लभते योगमष्टांगलक्षणं ॥ शिवप्रसादाल्लभते योगसिद्धिं च शाश्वतीमिति ॥ शैवे ॥ ब्रह्मवि

यो० १ मुशिवादीनांमंत्रजाप्यविशारदैः॥ साध्यतेमंत्रयोग[redacted]स्तुवत्सराजादिभिर्यथेति॥ कूर्मपुराणे
ज्ञानार्थीमोक्षार्थीचविशेषतः॥ संसरेद्धिविरूपाक्षंमंत्रसंसारभेषजमिति॥ किंचेश्वरमंत्रजप
पूजादीनांसर्वयोगशास्त्रेषुयोगांगत्वंस्पष्टमेवदृश्यतेतथाचवक्ष्यते॥ राजयोगस्तुनिर्बीजः
समाधिरेवलयःसंप्रज्ञातः॥ हठस्तुप्राणायामएवतथाचयोगबीजे॥ मंत्रोहठोलयोराजयोग
स्ताभूमिकाःक्रमात्॥ एकएवचतुर्द्धायंमहायोगोभिधीयते॥ देव्युवाच॥ कथयेदंमहादेवयो
गतत्वंचतुर्विधं॥ भूमिकांशानुसारेणयथाभूतंक्रमान्मम॥ ईश्वरउ०॥ सकारेणवहिर्यातिह
कारेणविशेन्मरुत्॥ हंसहंसेत्यमुंमंत्रंजीवोजपतिसर्वदा॥ गुरुवाक्यात्सुषुम्णायांविपरीतोभ
वेज्जपः॥ सोहंसोहमितिप्रा तेमंत्रयोगस्तदोच्यते॥ प्रतीतिर्मंत्रयोगाच्चजायतेपश्चिमेप
थि॥ हकारेणतुसूर्योसौठकारेणेंदुरुच्यते॥ सूर्याचंद्रमसोरैक्यंहठइत्यभिधीयते॥ हठेनग्रस्य
७

तेजाड्यंसर्वदोषसमुद्भवं॥ क्षेत्रज्ञःपरमात्माचतयोरैक्यंयदाभवेत्॥ तदैक्येसाधितेदेविचित्तंया
तिविलीनतां॥ पवनःस्थैर्यमायातिलययोगोदयेसति॥ लयात्संजायतेसिद्धिःस्वानंदंपरमंप
दं॥ अणिमादिपदंप्राप्तेराजतेराजयोगतः॥ प्राणापानसमायोगेज्ञेयंयोगचतुष्टयं॥ पूर्वंबाह्योमं
त्रयोगःप्रोक्तोयंत्वांतरइतिविशेषः॥ सूर्यचंद्राख्ययोःप्राणापानयोरैक्यलक्षणःप्राणाया
मोहठयोगइत्युच्यते॥ वासिष्ठे॥ अपानश्चंद्रमादेहमाप्याययतिवाह्यतः॥ प्राणःसूर्योथवाप्यग्निः
पचत्यंतरिदंवपुः॥ मतांतरेतुविपरीतासंज्ञातयोः यथाग्रसंतसिद्धौ॥ प्राणश्चंद्रमयोज्ञेयोऽपानः
सूर्यमयस्तथा॥ उभौशरीरनेतारौयातायातंप्रकुर्वतः॥ अनयोर्यत्नतोयोगस्तदाभ्यासोमुमु
क्षुभिः॥ एतद्द्वारेणधीराणांसर्वसिद्धिःप्रजायते॥ प्राणापान गतीरुध्वाप्राणायामपरायण
इतिगीतावचनात्॥ प्राणायानसमायोगःप्राणायामइतिस्मृतइतियाज्ञवल्क्यवचनाच्चप्राण

यो० यामपदंहठशब्देनोच्यते॥यस्यांभावनायांपरमात्मनिलीनस्य योगिनोब्रह्मानंदाविर्भावोजायतेस
८ भावनाविशेषः॥संप्रज्ञातलक्षणःसमाधिर्लययोगइत्युच्यते॥लययोगेपिनवस्वेवचक्रेषुमहत्म
नसोर्लयोलययोगइत्युक्तं॥येनाणिमादिपरमैश्वर्यसंपन्नोयोगीत्रिभुवनेराजतेसचनिर्बीजस
माधिरूपोराजयोगइत्युच्यते॥स्कंदपुराणे॥प्राणापानवशोजीवऊर्ध्वाधःपरिधावति॥वामद
क्षिणमार्गेणचंचलोनस्थितिंलभेत्।गुणबद्धोयथापक्षीगतोप्याकृष्यतेपुनः॥गुणैर्बद्धस्त
थाजीवःप्राणापानेनकृष्यते॥अपानःकर्षतिप्राणंप्राणोऽपानंचकर्षति॥ऊर्ध्वाधःसंस्थिता
वेतौसंयोजयतियोगवित्॥हकारेणवहिर्यातिसकारेणविशेत्पुनः॥हंसहंसेत्यमुंमंत्रंजीवोज
पतिसर्वदा॥षट्शतानिदिवारात्रौसहस्राण्येकविंशतिः॥एतत्संख्यान्वितंमंत्रंजीवोजपतिस
र्वदा॥अजपानामगायत्रीयोगिनांमोक्षदायिनी॥अस्याःसंकल्पमात्रेणसर्वपापैःप्रमुच्यते॥ ८

अनयासदृशीविद्याअनयासदृशोजपः॥अनयासदृशंज्ञानंनभूतंनभविष्यति॥त्रयोपिराज
योगांगमेव॥हठप्रदीपिकायां॥पीठादिकुंभकाश्चित्रादिव्यानिकरणानिच॥सर्वेलयहठाभ्या
९ सोराजयोगस्यसिद्धये॥राजयोगंसमारूढःपुरुषःकालवंचकइति॥आदिपदेनषट्कर्माणिग
ह्यंते॥पीठपदंयमनियमयोरप्युपलक्षणं॥तयोःसर्वयोगशास्त्रेषुयोगांगत्वेनोक्तत्वात्॥अत्र
यद्यपिश्लोकेयमनियमादीनांसर्वेषामेवसाक्षाद्रवराजयोगोपकारकत्वंप्रतीयतेतथापिपूर्वा
परग्रंथपर्यालोचनयानैवंसिद्धांतः॥यमादीनामष्टांगानांसाक्षात्परंपरयासमाध्युपयोगि
त्वंपूर्वमेवोक्तं॥तत्रषट्कर्ममुद्राणांतुहठांगत्वमेव॥षट्कर्ममुद्राउपरिष्टाद्वक्ष्यंते॥तत्रषट्क
र्मणांश्लेष्मादिदोषनिवारकत्वद्वारा॥दोषाभावेतुनास्त्यपि॥अन्येतुसत्स्वपिदोषेष्वनेकपापसं
कुलत्वात्षट्कर्मणामनुष्ठानमनिच्छंतःप्राणायामैरेवसर्वकार्यसिद्धिरिताहठस्यापिननियतं

यो॰ गन्त्वमित्याहुः॥ तथाचात्मारामः॥ षट्कर्मनिर्गतस्थौल्यकफमेदोगदादिकः प्राणायामं ततः कु
८ र्यादनायासेन सिध्यति॥ मेदश्लेष्मनिवृत्त्यर्थं षट्कर्माणि समाचरेत्॥ अन्यथा नाचरेत्तानि दोषा
सर्वे णां समभावतः॥ प्राणायामैरेव सर्वे प्रशुष्यंति मला इति केषांचिदाचार्याणामन्यकर्म न संमतमिति
॥ मुद्राणां तु मूलबंधजालंधरोड्डियानमहामुद्रामहावेधमहाबंधशक्तिचालनानां तासां साक्षादे नां
व हठोपकारकत्वं विपरीतखेच र्योस्तु शरीरसिद्धिद्वारेति विवेकः॥ वासिष्ठे तु खेचर्या अपि सा
क्षाद्योगोपयोगित्वमुक्तं तथाहि तालुमूलगतां यत्नाज्जिह्वयाक्रम्य घंटिकां॥ ऊर्ध्वरंध्रगते प्राणे
प्राणस्पंदो निरुध्यत इति॥ मानसोल्लासे॥ आकुंचनमपानस्य प्राणस्य च निरोधनं॥ लंबि
कोपरि जिह्वायाः स्थापनं योगसाधनमिति॥ नंदिकेश्वरतारावल्यां उड्डियानजालंधरमूलबं ण
धैर्हन्ति द्वनायां मुरगांगनायां॥ प्रत्यग्विमुंचन्प्रविशन्सुषुम्णां गमागमौ मुंचति गंधवाह इति ह ९

ठप्रदीपिकायां॥ विविधैरासनैः कुंभैर्विचित्रकरणैरपि॥ प्रबुद्धायां महाशक्तौ प्राणः शून्ये विलीयते
॥ उत्पन्नशक्तिबोधस्य त्यक्तनिःशेषकर्मणः॥ योगिनः सहजावस्था स्वयमेव प्रजायते॥ सुषुम्णावा
हिनी प्राणे शून्ये विशति मारुते॥ तदा समस्तकर्माणि निर्मूलयति योगवित्॥ वासिष्ठे॥ गुदादिस्थान
संकोचात्स्थानकादिक्रियाक्रमैः॥ भोजनासनशुद्ध्या च साधुशास्त्रार्थभावनात्॥ आचारात्सुजनासं
गात्सर्वत्यागात्सुखासनात्॥ प्राणायामघनाभ्यासाद्राम कालेन केन चित्॥ कामक्रोधपरित्या
गाद्भोगत्यागाच्च सुव्रत॥ त्यागाद्धानिनिरोधेषु भ्रंशं यांति विधेयतां॥ प्राणाः प्रभुत्वाज्जातास्ते पुं
सो भृत्या इवाखिला इति॥ ननु मुद्राहठयोगादीनां बहुफलश्रवणात्प्राधान्यं किं न स्यादिति चे
न्॥ न तस्यार्थवादकत्वात्॥ तथा च पूर्वमीमांसायां॥ अंगेषु फलश्रुतिरर्थवादः फलवत्संनिधावफ
लं तदंगमिति॥ कर्मयोगस्त्वीश्वराधनमवनत्रयोगांगभूतनियममध्ये गणितमस्ति सर्वयोगशास्त्रे
रा

यो० षु॥तथाचपातंजलसूत्रद्वयं॥तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानिक्रियायोगः॥शौचस्वाध्यायेश्वरप्रणि
१० धानानिनियमाइतितपः॥कृच्छ्रचांद्रायणादिस्वाध्यायःप्रणवादिजपः॥प्रणिधानंपरमेश्वरेफलनिर
पेक्षतयासर्वकर्मार्पणं॥एतेक्रियायोगाइत्युच्यंते॥एतदनुष्ठानेनसमाधिर्भवति॥तत्रक्रियायोगस्य
समाध्युपकारकत्वद्वारमाहपतंजलिःसमाधिभावनार्थःक्लेशतनूकरणार्थश्चेति॥क्लेशाअविद्यास्मि
तारागद्वेषाभिनिवेशाःतत्राऽविद्याऽतस्मिंस्तद्बुद्धिरूपाभ्रांतिरनित्याशुचिदुःखानात्मसुनित्यशुचि
सुखात्मख्यातिरूपास्मितादीनांचतुर्णांक्लेशानांप्रसवभूमिः॥अस्मितासत्वपुरुषयोरैक्यविषयोम
नोवृत्तिविशेषोऽहंकारः॥रागःसुखमेवमेसदास्त्वीच्छारूपः॥द्वेषोदुःखहेतुषुनिंदा॥अभिनिवेशोदुराग्र
हः॥एतेषांपंचानांदुःखजनकत्वेनक्लेशशब्दवाच्यानांसंसाराख्यमहानर्थानुकूलानांसमाधि
प्रतिबंधकानांमूलभूतपापनिरासेनशिथिलीकरणद्वारेणसमाधिहेतुत्वंक्रियायोगस्येति॥किंच १०

येस्थूलाआरब्धकार्याःक्लेशास्तेचित्तैकाग्रतारूपेणध्यानेननिवर्त्यंते॥सूक्ष्मावासनास्वरूपे
णास्थिताःप्रतिलोमपरिणामेननिवर्तंते॥तथाचसूत्रद्वयं॥ध्यानहेयास्तद्वृत्तयइति॥तेप्रतिप्र
सवहेयाःसूक्ष्माः॥एतेक्लेशाअविद्यामूलाएषांचफलंशुभाशुभलक्षणं॥कर्मणश्चोक्तरूप
स्यफलंसुखदुःखानुभवःकर्मानुरूपजात्यायुर्विषयेंद्रियप्राप्तिश्चतत्तद्वारासतिमूलेतद्विपाको
त जात्यायुर्भोगाइत्यत्रजात्यायुषोरपिकर्मफलत्वंभोगजनयितव्यद्वार त्वेन॥सुखमपिपरिणा
मविरंसत्वादिदर्शनाद्विवेकिनंप्रतिदुःखमेवेतिमंतव्यं॥एतेक्लेशाःशुभाशुभकर्मवासनाख्यक
र्माशयजात्यायुर्भोगाख्यविपाकफलाअविद्यामूलाविवेकिनात्याज्याएवतत्यागश्चमूलभूतावि
द्योच्छेदकसम्यक्ज्ञानसाध्यःसम्यक्ज्ञानंचशास्त्रसाध्यंशास्त्रंचहेयतत्कारणाख्यपर्वचतुष्ट
यञ्चतुर्व्यूहं॥तद्यथादुःखबहुलःसंसारोहेयःप्रधानपुरुषसंयोगोहेतुस्तस्यापिहेतुरविद्याप

या॰ धानपुरुषसंयोगात्यंतनिवृत्तिर्हानिं तदेव च कैवल्यं तत्र हेतुर्विवेकख्यातिरिति तथा च सूत्राणि हेयं दुःख
११ मनागतं दृष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः तस्य हेतुरविद्या॥ तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यं
विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपाय इत्यादीनि॥ द्रष्टृदृश्ययोस्तत्संयोगपराणि च सूत्राणि द्रष्टा दृशिमा
त्रः शुद्धोपि प्रत्ययानुपश्यः प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेंद्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यं॥ स्वस्वामिशक्त्योः स्व व
रूपोपलब्धिहेतुः संयोग इति॥ एतदर्थस्तु चित्स्वरूपोऽपरिणामोऽसंनिधानमात्रेण विषयोपरक्तवृ
त्तिनियमरूपः सत्वरजस्तमोगुणात्मकं ग्राह्यरूपं पृथिव्यादितन्मात्रादिलक्षणस्थूलसूक्ष्मपरि
वि णामकं बुद्धींद्रियकर्मेंद्रियांतःकरणात्रैविध्यें द्रियपरिणामभोगापवर्गप्रयोजकं धर्मं दृश्यं॥ स्वश व
क्तिस्वामिशक्तिशब्दितयोर्दृश्यद्रष्टृस्वरूपयोर्नित्ययोर्व्यापकयोरसंवेद्य पर्वणि स्थितयोर्यत्स्व
रूपोपलब्धिहेतुः स संयोगोऽनादिर्भोक्तृत्वस्वभावः स एव द्रष्टृदृश्यसंयोग इति॥ अत्रेदमालोचनी ११

यं॥ द्रष्टा दृशिमात्र इत्यत्र मात्रपदं नैयायिकाभिमतधर्मधर्मिभावनिराकरणपरं॥ तत्वानंद
स्वरूपत्वनिवारकं॥ यथा चैतन्यमात्रपरमार्थो निजस्वधर्मोऽभाव मितिसर्वज्ञात्ममुनिभिरुक्तं मा या
त्रपदं॥ तदेतत्प्रेयः पुत्रादिति श्रुतेर्निरुपाधिप्रेमास्पदत्वेन लिंगेन सुखमहमस्वाप्समित्यनु
भवेन च आत्मन आनंदरूपत्वस्य सिद्धत्वात्॥ अत एवाशरीरं वाव संतं प्रियाप्रिये न स्पृशत इति
श्रुतिर्वैषयिकसुखदुःखनिषेधपरा॥ऽन्यथा एतस्यैवानंदस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजी
वंतीति यो वै भूमा तत्सुखमिति को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनंदो न स्यादिति॥ [illegible]
[illegible]॥ एष ह्येवानंदयातीति॥ आनंदं ब्रह्मणो विद्वानिति विज्ञानमानंदं ब्र
ह्मेत्याद्यनंतश्रुतिविरोधः स्यात्॥ न चैवं ब्रह्मण आनंदत्वबोधनपरा न जीवस्येति वाच्यं तत्त्वम

यो॰
१२

सिअयमात्माब्रह्मयत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्मयआत्मासर्वान्तरइत्यादिश्रुतिभिर्जीवब्रह्मणोरैक्यबोध
नात्तस्मान्मात्रपदमानंदरूपताव्यवच्छेदकंकिंतुधर्मधर्मि भावव्यवच्छेदकमित्येवयुक्तं॥विवेक
ख्यातिरविप्लवाहानोपायइतिसूत्रस्यायमर्थः अन्येगुणाःअन्यःपुरुषइत्येवंविविधस्यविवेक
स्ययाख्यातिःप्रज्ञासाहानस्यदृश्यपरित्यागस्योपायःआगमानुमानाभ्यांजनितविवेकख्या
तिकस्यपुंसोव्युत्थाननसं स्कारानुवृत्तेर्नास्याउपायत्वमित्येतदुक्तमविप्लवेतिमिथ्याज्ञान
रहितस्येत्यर्थः एतदुक्तंभवतिश्रुतिमयेनज्ञानेनविवेकंगृहीत्वायुक्तिमयेनव्यवस्थाप्यदी॰
र्घकालनैरंतर्यसत्कारसेवितयाभावनयाप्रकर्षपर्यन्तप्रधिगतसाक्षात्कारवतीविवेक॰
ख्यातिर्नि वर्तितसवासनमिथ्याज्ञानानिर्विघ्नवाहानोपायइतिवाचस्पतिमिश्राः भोजरं
व्याख्यानंतुनविद्यतेविप्लवोविच्छेदोव्युत्थानरूपोयस्याअ न्येगुणाअन्यःपुरुषइतिप्रति १२

पक्षभावनाबलादविद्याविलयेनिवृत्तज्ञातृत्वकर्तृत्वाभिमानायारजस्तमोमलानभिभूताया
बुद्धेरं तर्मुखायायाचिच्छायातस्याविवेकख्यातिरित्युच्यतेतस्यांसंततत्वेनप्रवृत्तायांदृश्यस्या॰
धिकारनिवृत्तेर्भवतिकैवल्यमिति॥इदमत्रालोचनीयं॥प्रकृतिपुरुषविवेकधीमात्रंनहानसा
धनीभूतविवेकख्यातिस्वरूपंकिंतुविवेकख्यातिःप्रथमभूमिःएतदनंतरंतुरजस्तमोले॰
शहीनेनिर्मलेसत्त्वप्रकाशेंतःकरणस्यावृत्तिसारूप्यलक्षणात्तदाद्रष्टुःस्वरूपेवस्थानमितिसू
त्राभिहितापूर्वचैत न्यैकरसब्रह्मप्रतिभासलक्षणाहंब्रह्मास्मीत्येवंरूपासैवसर्वात्मता
त्य रूपप्रत्यक्स्वरूपप्राप्तिलक्षणस्यकैवल्यस्यहानशब्दाभिधेयस्यपरमउपायइति॥अन्येगुणाअ
न्यःपुरुषइतिज्ञानमितिविवेकख्यातिव्याख्यानंत्वनादिप्रवृत्तसकलानर्थमूलभूतजडदेहाद्यभि
माननिवृत्त्यसाधारणकारणत्वेनजडाजडविवेकमात्रोपयोगितयाऽतएवास्मिन्नयंमोक्षो

यो॰ पिहानकैवल्यादिशब्दैरेवोक्तः॥ यत्तुमोक्षदशायांप्रकाशमानंनिजात्मस्वरूपंयत्रमोक्षसा
१३ धनस्यासाधारणविषयावच्छिन्नंस्वरूपंतत्साक्षात्कुर्वैवव्यक्तमात्मज्ञानमितितत्प्राधान्येनविशे
षतोव्युत्पादितंभगवतापतंजलिना॥ तथाचबृहदारण्यके॥ ब्रह्मवाइदमग्रआसीत्तदात्मा
नमेवावेदहंब्रह्मास्मीतितस्मात्तत्सर्वमभवदितिविद्यासूत्रेसर्वात्मभावरूपमोक्षमुद्दिश्यतत्
त्साधनंतेनाहंब्रह्मास्मीतिज्ञानंसाधनमित्युपक्रांतमुपसंहरति॥ तदिदमप्येतर्हियएवंवे
दाहंब्रह्मा स्मीतिसइदंसर्वंभवतीतितथान्यथाज्ञानमविद्येत्यनदपिप्रदर्शितंतत्रैवावि
द्यासूत्रेअथयोन्यासावन्योहमस्मीतिनसवेदेत्यादिनेत्यलमतिप्रसंगेन॥ एतदुक्तंभवतिकाम्यनि
षिद्धवर्जितेश्वरार्थकृतसर्वकर्मभिर्नितांतनिर्मलस्वांतस्यविषयदो॰ दोषदर्शनसंजातवैराग्य
स्यतरतिशोकमात्मविदितिश्रुतिवाक्यावगतसमूलसर्वदुःखोच्छेदकात्मज्ञानार्थितयासद्गुरू १३

पसत्याश्रवणमननोपबृंहितनिदिध्यासनाभ्यासेनप्राप्तनिर्वीजसमाधेःपुंसोबुद्धिशुद्धिद्वारे
वंसमाधिरूपफलतःकार्याणिकर्माणिस्वतएवनिवर्तंते॥ तथाचनैष्कर्म्यसिद्धौ॥ प्रत्यक्प्रवणतां
त्रिवु बुद्धेःसंपाद्यशुद्धितः॥ कर्माणिविनिवर्तंतेप्रावृडंतेघनाइवेति॥ राजयोगे॥ नकर्माणित्यजेत्
योगीकर्मभिस्त्यज्यतेह्यसौ॥ कर्मणोमूलभूतस्यसंकल्पस्यैवनाशनात्॥ यथायथासदाभ्या
सात्संकल्पविलयोभवेत्॥ योगिनोभवतिश्रेयान्कर्मत्यागस्तथातथा॥ उत्तुंगसहजानंदस
दाभ्यासरतःस्वयं। सर्वसंकल्पसंत्यक्तः सविद्वान्कर्मसंत्यजेत्। सांसारिकक्रियासक्तंब्र
ह्मज्ञास्मीतिवादिनं॥ कर्मब्रह्मोभयभ्रष्टंतंत्यजेदंत्यजंयथाइति॥ कालिकापुराणे॥ धर्मःप्रय
त्नतःकार्योयोगिनातुविशेषतः॥ नास्तिधर्मादृतेयोगइतियोगविदोविदुः॥ याज्ञवल्क्यगीतासु॥
गार्ग्युवाच॥ योगयुक्तोनरःस्वामिन्संध्यायोवीर्यवान्निशिदिवंधंकर्मकथंकुर्यान्निःक्लांतःका

यो० त्वकुर्वतः ॥ या ॰ ज्ञवल्क्य उवाच ॥ योगयुक्तमनुष्यस्य संध्ययोर्याथवा निशि ॥ यत्कर्तव्यं वरारोहे
१४ कृतं योगेन तत्तत्खलु ॥ स्वात्माग्निहोत्र वन्हौ च प्राणायामैर्विवर्द्धिते ॥ विशुद्धचित्तद्विपाविशुद्धं कर्म कुर्वतः ॥ निःकृतिस्तस्य का बाले कृतकृत्यस्तदा खलु ॥ वियोगे सति संप्राप्ते जीवात्मपरमात्मनोः ॥ विधुक्तं कर्मकर्तव्यं ब्रह्मविद्भिश्च नित्यशः ॥ वियोगकाले योगी तु दुःखमित्येव न त्यजेत् ॥ कर्मोज्झितस्य नियमो नरकः परिकीर्तितः ॥ न योगिना यतः शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ॥ तस्मादामरणाद्वैधं कर्तव्यं योगिना सदा ॥ भगवद्गीतायां ॥ आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ कूर्मपुराणे ॥ तस्मात्सर्वप्रयत्नेन वर्णाश्रमविधौ स्थितः ॥ समाश्रितो तिमं भावं मायाशक्तिं तरेद्बुधः ॥ स्वधर्मपरमो नित्यमीश्वरार्पितमानसः ॥ प्राप्नोति परमं स्थानं यदुक्तं वेदवादिभिः ॥ ब्राह्मणक्षत्रियविशां स्त्रीशूद्राणां च सत्तमाः ॥ १५

स्वजाति विहितं कर्म रागद्वेषविवर्जितं ॥ ज्ञानकारणभावं हि तदेव प्रतिपद्यत इति ॥ योगबीजे ॥ न कर्मणा विना देवि योगसिद्धिः प्रजायते ॥ ज्ञानं वा स्वर्गभोगो वा पुण्यहीनैर्न लभ्यते ॥ तस्मात्कार्यं तदेवाशु यद्यस्यास्ति हि साधनं ॥ तेनैव प्राप्यते सिद्धिर्नान्यथा शिवभाषितमिति ॥ किंचेश्वराराधनमेव योगस्य मुख्योपायोस्ति ॥ तथा च पातंजले योगोपायनिरूपणे ॥ ईश्वरप्रणिधानाद्वेति ॥ वाशब्दान्त एवकारार्थः कायिकवाचिकमानसभक्तिविशेषेणाराधितस्येश्वरस्य प्रसादादेव योगो योगफलं च भवतीति सूत्रार्थः वेदांते व्याससूत्रं ॥ फलमत उपपत्तेरिति ॥ अनेन भक्तियोगस्यापि राजयोगांगत्वं वेदितव्यं ॥ वैराग्ययोगस्यापि राजयोगांगत्वेन पतंजलिनोक्तत्वात्तन्मुख्यं योगत्वं ॥ तथा हि ॥ अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोध इति ॥ अस्यार्थः वक्ष्यमाणाभ्यासवैराग्याभ्यां प्रकाशप्रवृत्तिनियमरूपाणां चित्तवृत्तीनां यत्प्रतिहननं स निरोधः ॥

यो० चित्तवृत्तीनांनिवृत्तबाह्याभिनिवेशानामंतर्मुखतयास्वकारणेचित्तशक्तिरूपतयावस्थानं॥अ
त्रविषयदोषदर्शनजेनवैराग्येणतद्वैमुख्यमुत्पाद्यते॥अभ्यासेनचसुखजनकशांतप्रवाहप्र
१५ भ्यां दर्शनद्वारेणदृढंस्थैर्यमुत्पाद्यते॥अतस्तौभवतिचित्तवृत्तिनिरोधाख्यसमाधिः॥अभ्यास
स्यसामान्यविशेषलक्षणमाहसूत्राभ्यां॥तत्रस्थितौयत्नोभ्यासः॥सतुदीर्घकालनैरंत
र्यसेवितोदृढभूमिरिति॥अस्यार्थः वृत्तिरहितस्यचित्तस्यस्वरूपनिष्ठःपरिणामः स्थितिस्तस्यां प्र
यत्नउत्साहः पुनः पुनस्तत्त्वेनचेतसिनिवेशनमभ्यासइत्युच्यते॥सएवाभ्यासोबहुका
लनैरंतर्येणादरातिशयेनचसेव्यमानोदृढभूमिःस्थिरोभवतीत्यर्थः॥स्कंदपुराणे॥आत्मज्ञा
नेनमुक्तिःस्यात्तच्चयोगादृतेनहि॥सचयोगश्चिरंकालमभ्यासादेवसिध्यति॥नारण्यसंश्रया
द्योगोनानाग्रंथविचिंतनात्॥नदानैर्नव्रतैर्वापितपोभिर्नवामखैः॥नचपद्मासनाद्योगोनच

रा

घ्राणाग्रवीक्षणात्॥नशौचेननमौनेननमंत्रौषधैरपि॥अभियोगात्सदाभ्यासात्तत्रैव
चविनिश्चयात्॥पुनःपुनरनिर्वेदात्सिध्येद्योगोनचान्यथा॥आत्मक्रीडस्यसततंतथात्म
मिथुनस्यच॥आत्मन्येवसुतृप्तस्ययोगसिद्धिर्नदूरतः॥अत्रात्मव्यतिरेकेणद्वितीयंयोनप
श्यति॥आत्मारामःसयोगीब्रह्मीभूतोभवेदिह॥स्वसंवेद्यंहितत्सुखंकुमारीस्त्रीसुखंय
था॥अयोगीनहितद्वेत्तिजात्यंधइववर्म्मिकां॥नित्याभ्यसनशीलस्यस्वसंवेद्यंहितद्भवे
त्॥तत्सूक्ष्मत्वादनिर्देश्यंपरंब्रह्मसनातनमिति॥आगमेपारमेश्वरतंत्रे॥तस्मादभ्य
सनंनित्यंकर्त्तव्यंमोक्षकांक्षिभिः॥अभ्यासाज्जायतेसिद्धिरभ्यासान्मोक्षमाप्नुया
त्॥संवित्तिंलभतेभ्यासाद्योगोभ्यासात्प्रवर्त्ततेमंत्राणांसिद्धिरभ्यासादभ्यासाद्वायुसाध
नंकालवंचनमभ्यासात्तथामृत्युंजयोभवेत्॥वाक्सिद्धिःकामचारत्वंभवेदभ्यासतोध्रुव

मिति॥ हठप्रदीपिकायां॥ युवा बालोपि वृद्धो वा व्याधितो दुर्बलोपि वा ॥ अभ्यासात्सिद्धिमाप्नो
ति सर्वयोगेष्वतंद्रितः ॥ अमृतसिद्धौ ॥ मुद्राप्राणायामनिरूपणानंतरमुक्तं ॥ एवं बुधैः सदाभ्या
सः कर्त्तव्यो मोक्षकांक्षिभिः ॥ अभ्यासाज्जायते योगो योगात्सर्वं प्रसिध्यति ॥ अनेनाभ्यासयोगे
न वायुरभ्यसितो भवेत् ॥ वायोरभ्यासतो वन्हिः प्रत्यहं वर्द्धते भृशं ॥ वन्हौ विवर्द्धमाने हि सुख
मन्नं हि पच्यते ॥ अन्नस्य परिपाकेन रसवृद्धिः प्रजायते ॥ रसे वृद्धिंगते नित्यं वर्द्धते धातवस्त
दा ॥ धातोः संवर्द्धनादेव प्रधानो वर्द्धते रसः ॥ प्रधानरससंपत्तौ दृढकायो महाबलः ॥ महावेधो
महाभ्यासो बलादेव प्रजायते ॥ महावेधान्महाभ्यासाद्द्रसस्य जारणं भवेत् ॥ दोषाः सर्वेपि शु
ष्यंति मलमूत्रकषायकाः ॥ दह्यंते सर्वपापानि जन्मकोटिकृतानि च ॥ इहैवाभ्यासयोगेन तृणा
नि वन्हिना यथा ॥ तपांसि यानि दिव्यानि अयुतान्ययुतानि च ॥ कोटिकोटिगुणैस्तानि भवं

त्यभ्यासयोगतः ॥ प्रकृतिश्च गुणा दोषा व्याधयो विविधास्तथा ॥ श्यंते त्वभ्यासयोगेन खे मेघा
वायुना यथेति ॥ तथा वैराग्यसामान्यविशेषलक्षणपरं सूत्रद्वयं ॥ दृष्टानुश्रविकविषयवितृ
ष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यं ॥ तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यमिति ॥ एतदर्थस्तु दृष्टो विषय इ ५५
हैवोपलभ्यमानः शब्दादिः आनुश्रविको विषयो देवलोकादौ अनुश्रूयते गुरूमुखादित्यनुश्रवो
वेदस्तत आगमश्चानुश्रविकस्तयोर्द्वयोर्विषययोरपि परिणामविरसत्वदर्शनेन विगता
कांक्षस्य या व शीकारसंज्ञा ममैवैते वश्या नाहमेतेषां वश्य इति योयं वि
मर्षस्तद्वैराग्यमुच्यते ॥ प्रथमं वैराग्यं विषयविषयं द्वितीयं गुणविषयं ॥ तत्र गुणविषयं वै
राग्यं परमुच्यते ॥ उत्पन्नगुणपुरुषविवेकख्यातेरेव तद्वैराग्यं भवति निरोधसमाधिर
स्यांतानुकूलत्वात् ॥ अनेन विवेकख्यातिबाह्यसांख्ययोगस्यापि योगाध्ययोगित्वमुक्तं ॥ ए

यो० वंचाद्वितीयेवस्तुनिवेदांतवाक्यतात्पर्यावधारणात्मकस्यश्रवणस्यश्रुतार्थस्ययुक्तिभिश्चिंतना
१७ त्मकस्यमननस्यचनियमेविजातीयप्रत्ययतिरस्कारेणसजातीयप्रत्ययप्रवाहीकरणात्मकनि
दध्यासनस्यध्यानेसंप्रज्ञातसमाधौचांतर्भावोद्रष्टव्यः॥तथाचयाज्ञवल्क्योनियमविवरणे॥
सिद्धांतश्रवणंप्रोक्तंवेदांतश्रवणंबुधैः॥वेदांतश्रवणंकुर्वन्योगंतस्मिन्समभ्यसेदिति॥त
स्मादष्टांगयोगाद्बहिर्भूतंकिमपियोगशब्दवाच्यमस्तीत्यवधेयं॥ननुवाशिष्ठेसंसारोत्तरणे
युक्तिर्योगशब्देनकथ्यते॥आत्मज्ञानप्रकारश्चप्राणानांसंयमस्तथा॥प्रकारौद्वावपिप्रोक्तौ
योगशब्देनयद्यपि॥तथापिरूढिमायातःप्राणयुक्तावसौभृशमिति उक्तत्वात्कथंमनोनिरो
धएवयोगइतिचेन्न॥सत्यंमनोनिरोधस्यप्राणनिरोधात्मकत्वाशयेनोक्तत्वात्॥अतएवप्रा
णायामएवाभ्यासक्रमेणप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधिशब्देनोच्यते॥तथाचदत्तात्रेयः॥ १७

प्राणानामुपसंरोधात्प्राणायामइतिस्मृतः॥शब्दादिभ्यःप्रवृत्तानियदक्षाणियतात्मभिः॥
प्रत्याह्रियंतेयोगेनप्रत्याहारस्ततस्मृतः॥धारणेत्युच्यतेसेयंधार्यतेयन्मनीषिणा॥प्राणा
यामादिशब्देभ्यश्चधारणापरिकीर्तिता॥द्वेधारणेस्मृतेयोगेयोगिभिस्तत्त्वदर्शिभिः॥स्कंदपु
राणे॥प्राणायामद्विषट्केनप्रत्याहारउदाहृतः॥प्रत्याहारैर्द्वादशभिर्धारणापरिकीर्तिता॥भ
वेदीश्वरसंगत्यैध्यानंद्वादशधारणं॥ध्यानद्वादशकेनैवसमाधिरभिधीयते॥समाधेःपर
तोज्योतिरनंतंस्वप्रकाशकं॥तस्मिन्दृष्टेक्रियाकांडंयातायातंनिवर्तत इति॥तथाधार
णादिपरिमाणंचोक्तं॥धारणापंचनाडिभिर्ध्यानंस्याद्घटिनाडिकं॥दिनद्वादशकेनस्या
त्समाधिःप्राणसंयमादिति॥घटिकामानमाहवशि ष्ठः॥षष्टिश्वासोभवेत्प्राणःषट्प्रा
णाद्घटिकाभवेत्॥घटिकाःपंचराशिःस्याद्राशिद्वादशकंदिनमिति॥एवंचद्वादशांशसा

यो० द्विप्राणद्वयंतावत्कालंधृतोवायुःप्रत्याहारइत्युच्यते॥तयासार्द्धप्राणद्वयस्यद्वादशांशोदे
१८ शःसार्द्धद्वादशश्वासास्तावत्कालंधृतोवायुःप्रथमःप्राणायामोभवति॥चतुर्विंशतिश्वा
सोंतोमध्यमःषट्त्रिंशच्छ्वासांतउत्तमइतिसिद्धांतःस्कंदपुराणे॥एकश्वाससमयीमात्रंप्रा
णायामेनिरुच्यतइतिनिद्रावशंगतस्यपुंसोयावत्तावत्कालेनैव श्वासोगच्छंगच्छतीत्या
चतावान्कालःप्राणायामस्यमात्रेत्युच्यतेविस्तरेणमात्रालक्षणमुपरिष्टाद्वक्ष्यते॥किं
चमनःप्राणयोःस्पंदोप्येकएवास्ति॥वाशिष्ठे यःप्राणपवनस्पंदश्चित्तस्पंदःसएवहि॥
प्राणस्पंदजयेयत्नःकर्त्तव्योधीमतोच्चकैरिति॥अतएवोभयप्रलयात्मकएकसमाधिः
सर्वयोगशास्त्रेषुप्रसिद्धःस्कंदपुराणे॥यदासंक्षीयतेप्राणोमानसंचप्रलीयते॥तदास
१ मरसत्वंयत्तत्समाधिरिहोच्यतइति॥अतएवोभयनाशेसत्येवज्ञानेमोक्षश्चभवतीतिशिव १८
ने

वाक्यं॥ज्ञानंकुतोमनसिजीवतिदेहिनांतावत्प्राणोपिजीवतिमनोम्रियतेनयावत्॥प्राणोम
नोद्वयमिदंविलयंनयेद्योमोक्षंसगच्छतिनरोनकथंचिदन्यः॥वासिष्ठे॥एकतत्त्वघनाभ्यासः
प्राणानांविलयस्तथा॥मनोविनिग्रहश्चेतिमोक्षशब्दार्थसंग्रहइति॥ननुअस्यसंसारेणगस्य
सर्वोपद्रवकारिणःउपायएकएवास्तिमनसःस्वस्यनिग्रहःचित्तमेवहिसंसारःकामकोपादि
भिर्युतमित्यादिसंपूर्णंवासिष्ठे।मनएवमनुष्याणांकारणंवंधमोक्षयोः॥वंधायविषयास
क्तंमुक्त्यैनिर्विषयंमतमित्यादिशास्त्रांतरेष्वपिसंसारस्यमनोमूलकत्वश्रवणात्॥तत्त्वज्ञानमो
क्षयोरपिमनोजयाधीनत्वश्रवणाच्चसर्वानर्थहेतुसविलासाविद्योन्मूलनपूर्वकमोक्षरूपपु
मर्थस्यमनोनिग्रहेणैवसंभवात्किंदुःसाध्यनानेरोगव्याधिदुःखदेनप्राणनिग्रहेणेतिचे
त्॥नप्राणजयंविनाचित्तजयस्यासाध्यत्वात्॥तथाचस्कंदपुराणे॥चलेवातेचलंचित्तंनिश्चलेत् निश्चले

यो० था॥योगीस्याणुत्वमाप्नोतिनततोवायुंनिरोधयेत्॥क्षणमप्येकमुदकंयथानस्थिरतामियात्॥वा

१८ ताहतंनथाचित्तंतस्मात्तस्मिन्नविश्वसेत्॥अतोऽनिलंनिरुंधीतचित्तस्यस्थैर्यहेतवे॥म रु

न्निरोधनार्थाय षडंगंयोगमभ्यसेत्॥यावद्देहेमरुद्बद्धस्तावच्चित्तंनिरामयं॥यावद्दृष्टिर्भ्रुवोर्म

ध्येतावत्कालभयंकुतइति॥मार्कंडेयपुराणे॥इतितेकथितंनृपयोगंचेमंनिबोधमे॥यंप्राप्य

ब्रह्मणोयोगीशाश्वतान्नान्यतांव्रजेत्॥प्रागेवात्मात्मनाजेयोयोगिनांसहिदुर्जयः॥कुर्वीततज्

ज्जयेयत्नंतस्योपायंशृणुष्वमे॥यथापर्वतधातूनांमलादह्यंति धम्यतां॥तथेंद्रियकृतादो

षादह्यंतेप्राणनिग्रहात्॥प्राणायामैर्दहेद्दोषांधारणाभिश्चकिल्बिषं॥प्रत्याहारेणसंसर्गा न्

न् ध्यानेनानीश्वरान्गुणान्इति॥हठप्रदीपिकायां॥विविधैःप्राणसंयामैर्नाडीचक्रेविशोधिते

॥सुषुम्णावदनंभित्त्वासुखाद्विशतिमारुतः॥मारुतेमध्यसंचारेमनःस्थैर्यप्रजायते॥योम १८

नःसुस्थिरीभावःसैवावस्थामनोन्मनीति॥वासिष्ठे॥योगिनश्चित्तशांत्यर्थंकुर्वंतिप्राणनिग्रहं॥

प्राणायामैस्तथाध्यानैःप्रयोगैर्युक्तिकल्पितैः॥चित्तोपशांतिफलदंपरमंशांतिकारणं॥सुम

गंसंविदःस्वास्थ्यंप्राणसंरोधनंविदुः॥द्वेबीजेचित्तवृक्षस्यप्रवृत्तिव्रतधारिणः॥एकंप्राणपरि

स्पंदोद्वितीयंदृढवासना॥चित्तंप्राणपरिस्पंदमंगरागमभूषणाः॥तस्मिन्संरोधितेनूनमुपशां

तंभवन्मनः॥मनःस्पंदोपशांत्यायसंसारःप्रविलीयते॥सूर्यालोकपरिस्पंदशांतौव्यवहृति

र्यथा॥अभ्यासेनपरिस्पंदेप्राणानांक्षयमागते॥मनःप्रशममायातिनिर्वाणमवशिष्य

तइति॥शास्त्रांतरे॥प्राणायामैर्विनायोगंसाधयेद्यस्तुमंदधीः॥नस सिद्धगतिर्यातिपंगुर्वा

जिगतिर्यथेति॥योगबीजे॥चित्तंप्राणेनसंबद्धंसर्वजीवेषुसंस्थितः॥रज्ज्वाबद्धस्समावद्धात्

पस्तद्वदिदंमनः॥नानाविधैर्विचारैस्तुनसाध्यं जायतेमनः॥तस्मात्तस्यजयोपायःप्राण

यो० स्यजयएवहि॥ तर्कैर्जल्पैःशास्त्रजालैर्युक्तिभिर्मंत्रभेषजैः॥ नवशोजायतेप्राणःसिद्धोपा
२० यंविनाप्रिये॥ उपायंतमविज्ञाययोगमार्गेप्रवर्त्तते॥ खंडज्ञानेनतेनैवजायतेक्लेशभागनरः॥ यो
ऽजित्वापवनंमोहाद्योगमिछतियोगिकः॥ सोऽपक्वंकुंभमारुह्यसागरंततुर्मिछतियस्यप्राणाः
प्रविलीनाःसाधकेजीवितेसति॥ पिंडोनपतितस्तस्यचित्तदोषैःप्रमुच्यते॥ शुद्धेचेतसित
स्यैवस्वात्मज्ञानंप्रकाशते॥ ~~तस्मात्ज्ञानंप्रकाशते~~ तस्माज्ज्ञानंभवेद्योगाज्जन्मनैकेनया
वेति॥ तस्माद्योगंतमेवादौसाधकोनित्यमभ्यसेत्॥ मुमुक्षुभिःप्राणजयःकर्त्तव्योमोक्ष
हेतवइति॥ पतंजलिसूत्रंच॥ प्रछर्दनविधारणाभ्यांप्राणस्येति॥ चित्तनिरोधःस्यादित्यर्थः
॥ एवंमनोजयेसत्येवप्राणजयोभवतितयोःव्यापारेपरस्परसापेक्षत्वात्॥ तथाचवा
सिष्ठेअविनाभाविनीनित्यंजंतूनांप्राणचेतसी कुसुमामोदवन्मिश्रेतिलतैलेद्रवस्थिते॥ आ २०

धाराधेयवच्चेतेएकाभावेविनश्यतः॥ कुरुतश्चविनाशेनकार्यमोक्षाख्यमुत्तमं॥ राजयोगे॥ दुग्धांबुवत्सं
प मिलितौसदैवतुल्यक्रियौमानसमारुतौच॥ यावन्मनस्तत्रमरुत्प्रवृतिर्यावन्मरुत्तत्रमनःप्रवृत्तिःत त्र
त्रैकनाशादपरस्यनाशएकप्रवृत्तावपरप्रवृत्तिः॥ अध्वस्तयोःस्वेंद्रियवर्गवृत्तिर्विध्वस्तयोर्मोक्षप ति
दस्यवृद्धिः॥ तत्रापिसाधकःपवनस्यनाशःषडंगयोगादिनिषेवणेन॥ मनोविनाशस्तुगुरुप्रसादान्नि
मेषमात्रेण सुसाध्यएव॥ यथायथासदाभ्यासान्मनसःस्थिरताभवेत्॥ वायुवाक्कायदृष्टी
प्रयत्नो नांतुस्थिरताहितथातथा॥ तस्मान्मनोनाशविधौयत्नात्रातोनश्यतिवायुरुग्रः॥ तस्मात्स्वदे
हेंद्रियबुद्धिनाशादद्वैतबुद्धिःसहजस्थितैवेति॥ सुरेश्वराचार्यः॥ चित्तेनिश्चलतांयातेप्राणो
भवतिनिश्चलः॥ चित्तस्यनिश्चलत्वाययोगमष्टांगमभ्यसेदिति॥ हठप्रदीपिकायां॥ मनःस्थैर्येस्थि
रोवायुस्ततोबिंदुःस्थिरोभवेत्॥ बिंदुस्थैर्यात्सदासत्वंपिंडस्थैर्यंप्रजायतइति॥ अमृतसिद्धौ॥ मर

णंविंदुपातेनजीवनंविंदुधारणात्॥ विंदौमहारसेसिद्धेसर्वसिद्धिःप्रजायते॥ विंदुर्वेधाविंदुर्विष्णु
र्विंदुर्देवःसदाशिवः॥ विंदुःसर्वगतोदेवोविंदुस्त्रैलोक्यदर्पणः॥ सर्वतत्वाधिपोदेवोभवरूपोनिरंज
नः॥ अयंचविंदुरूपेणवसतेसर्वजंतुषु॥ सविंदुर्द्विविधोज्ञेयःपौरुषोऽवनिसंभवः॥ वीजंचपौरुषं
प्रोक्तंरजश्चस्त्रीसमुद्भवं॥ अनयोर्वाह्ययोगेनसृष्टिःसंजायतेनृणां॥ यदाभ्यंतरतोयोगस्तदा
योगीतिगीयते॥ विंदुःसूर्यमयःप्रोक्तोरजश्चंद्रमयंतथा॥ अनयोः संगमादेवजायतेपरमंपदं॥
स्वर्गदोमोक्षदोविंदुर्धर्मदोधर्मदस्तथा॥ तन्मध्येदेवताःसर्वास्तिष्ठंतेसूक्ष्मरूपतः॥ इदंतत्व
मिदंवीजंसर्वसारोयमुच्यते॥ वायुनापततेविंदुर्नचान्यैर्विंदुसाधनं॥ यामवस्थांव्रजेद्वायुर्विं
दुस्तामवगच्छति॥ यथाहिसाध्यतेवायुस्तथाविंदुप्रसाधनं॥ मूर्छितोहरतेव्याधिंवद्धःखेच
रतांनयेत्॥ सर्वसिद्धिकरोलीनोनिश्चलोमुक्तिदायकः॥ यथावस्थाभवेद्वायोश्चित्तावस्थानया

म्रियते

तथा॥ चलत्वेपयदावायुस्तदाविंदुश्चलःस्मृतः॥ विंदुश्चलतियस्यांगेचित्तंतस्यैवचंचलं॥ चलेविंदौ
चलेचित्तेचलेवायौचसर्वदा॥ जायतेलोकःसत्यंसत्यमिदंवचः॥ यावेनादःसर्वविंदुस्तद्विचित्तौ
यदामौम्रियतेवायुर्मध्यमामध्ययोगतः॥ तदाविंदुश्चचित्तंचम्रियतेवायुनासह॥ सर्वा
णिविंदुतत्वानिशरीरेनिवसंतिच॥ चरंतिवायुसंचारेम्रियंतेवायुमारणादिति॥ वासिष्ठे॥ रा
मउवाच॥ अनिशंचरतोदेहगेहेगहनगामिनां॥ प्राणादीनांपरिस्पंदोवायूनांरोध्यतेकथं
॥ वसिष्ठउवाच॥ शास्त्रसज्जनसंपर्कवैराग्याभ्यासयोगतः॥ अनास्थायांकृतास्थायांपूर्वं
संसारवृत्तिषु॥ यथाभिवांछितध्यानाच्चिरमेकतयोदितात्॥ एकतत्वघनाभ्यासात्प्राण
घ स्पंदानिरुध्यते॥ पूरकाद्यनिलायामादृढाभ्यासादखेदजात्॥ एकांतध्यानसंयोगात्प्राण२
स्पंदानिरुध्यते॥ ॐकारोच्चारणप्रांतशब्दतत्वानुभावनात्॥ अवासनमनोध्यानात्प्राण

यो॰वि॰ स्पंदो निरुध्यते॥ द्वादशांगुलपर्यंते नासाग्रे विमलेंऽबरे॥ संविद्दृशोः प्रशाम्यंत्योः प्राणस्पंदो नि-
रुध्यते॥ प्राणायामैर्दृढाभ्यासैर्युक्त्या ।गुरुदत्तया॥ आसनाशनयोगेन प्राणस्पंदो निरुध्यते॥
२२ अभ्यासेन निराबाधमेतास्तायोगयुक्तयः॥ उपायतामुपायं तिभव्यस्य भवभेदने॥ अभ्या-
साद्दृढतां याते वैराग्यपरिलांछितः॥ यथावासनमायामः प्राणानां सफलाः स्मृतः य
तो वाचो निवर्त्तंते विकल्पकलनान्विताः॥ विकल्पसंक्षयाज्जंतोः पदं तदवशिष्यत इति॥
संत्यन्येपि प्राणजयोपायाविस्तरभयान्न लिख्यंते॥ तस्माद्धठराजयोगौ समुच्चितावेवाभ्य-
सनीयौ॥ हठप्रदीपिकायां॥ हठं विना राजयोगो राजयोगं विना हठः॥ वासिष्ठेपि॥ यावद्वि-
लीनं न मनो न तावद्वासनाक्षयः॥ न क्षीणा वासना यावच्चित्तं तावन्न शाम्यति॥ न यावत्तत्ववि-
ज्ञानं न तावच्चित्तसंक्षयः॥ यावन्न चित्तोपशमो न तावत्तत्ववेदनं॥ यावन्न वासनानाशस्ताव

त्त्वागमः कुतः॥ यावन्न तत्वसंप्राप्तिर्न तावद्वासनाक्षयः॥ तत्वज्ञानं मनोनाशो वासनाक्षय
एव च॥ मिथः कारणतां गत्वा दुःसाध्यानि स्थितान्यतः॥ तस्माद्राघव यत्नेन पौरुषेण वि
वेकतः॥ भोगाशां दूरतः कृत्वा त्रयमेतत्समाश्रयेत्॥ त्रय एते समं यावन्न स्वभ्यस्ता मु
हुर्मुहुः॥ तावन्न तत्वसंप्राप्तिर्भवत्यपि समाशतैः॥ वासनाक्षयविज्ञानं मनोनाशो महामते॥
समकालं समभ्यस्ता भवंति फलदा मुने॥ एकैकशो निषेव्यंते यद्येते चिरमप्यलं॥ तन्न सिद्धिं
प्रयच्छंति मंत्राः संकीर्त्तिता इव॥ त्रिभिरेतैश्चिराभ्यस्तैर्हृदयग्रंथयो दृढाः॥ निःशंकमेव त्रुट्यं
ति बिसच्छेदाद्गुणा इव॥ जन्मांतरशताभ्यस्ता राम संसारसंस्थितिः॥ सा चिराभ्यासयोगेन
तत्. न विना क्षीयते क्वचित्॥ वासनासंपरित्यागसमं प्राणनिरोधनं॥ विदुस्तत्वविदस्तस्मात्तद
प्येतत्समाहरेत्॥ वासनासंपरित्यागाच्चित्तं गच्छत्यचित्ततां॥ प्राणस्पंदनिरोधाच्च यथेच्छसि

यो॰वि॰ तथाकुतु॥असंगव्यवहारित्वाद्भवभावनवर्ज्जनात्॥शरीरनाशदर्शित्वाद्वासनानप्रवर्त्तते॥
वासनाविभवेनष्टेनचित्तंसंप्रवर्त्तते॥द्वेबीजेरामचित्तस्यप्राणस्पंदनवासने॥एकस्मिंश्च
२३ तयोर्नष्टेक्षिप्रंद्वेअपिनश्यतइति॥अथयोगोपायनिरूपणं॥तत्रपतंजलिप्रोक्ताःकेचि
त्प्रसंगात्पूर्वमेवोक्ताः॥अथमिहोपायक्रमः।प्रथममानुमानाचार्योपदेशसमधिगततत्
त्वविषयचेतोभिरतिस्त.।त्साधनभूतेयोगेश्रद्धांप्रसूतेतदनंतरमुत्साहः॥सोत्साहस्य
याश्वोत्पासुभूमिकासुस्मृतिःतत्स्मरणादनुकूलंचित्तंयमनियमादिनिविष्टंसयोगांग
समाधिमद्भवति॥ततश्चाखिलयोगांगसंपन्नस्यप्रज्ञाप्रकर्षाद्भवतिसंप्रज्ञातःसमा
धिः॥तदभ्यासात्तद्विषयाच्चपरवैराग्याद्भवतिअसंप्रज्ञातःसमाधिःइति॥सचकैवल्यहे
तुःसत्वपुरुषान्यताख्यातिपूर्वोहिनिरोधश्चित्तमखिलकार्यकरणोनचरितार्थमधिका २३

राद्वसाद्भवति॥तत्रप्रथमंमैत्र्यादिभिःयोगिनाचित्तप्रसादनंकार्यं॥ईर्ष्यादियुक्तस्यमनसो
जेतुमशक्यत्वात्॥तथाचगीतायां॥असंयतात्मनायोगोदुःप्रापइतिमेमतिः॥वश्यात्मनातु
यतताशक्योऽवाप्तुमुपायतइति॥स्कंदपुराणे॥दुर्निवारामनोवृत्तिर्यावत्सानिवर्त्तते॥किं
वदंत्यपियोगस्यतावन्नेदीयसीकुतइति॥राजयोगे॥यावत्प्रयत्नलेशोस्तियावत्संक
ल्पकल्पना॥यावन्नमनसाप्राप्तिस्तावत्तत्वस्यकाकथेति॥हठप्रदीपिकायां॥यावन्नैवप्र
विशतिगतिंमारुतोमध्यमार्गेयावद्बिंदुर्नभवतिदृढःप्राणवातप्रबंधः॥यावद्ध्यानेःस
हजसदृशंजायतेनैवतत्वंतावत्सर्वंवदतियदिदंदंभमिथ्याप्रलापइति॥अमृतसिद्धौ
तावद्बद्धोप्यसिद्धोसौनरःसांसारिकोमतः॥यावद्भवतिरसद्रोणोदेहगोब्रह्मरूपकः॥अ
सिद्धंतद्विजानीयात्कायमब्रह्मचारिणं॥जरामरणसंकीर्णंसर्वक्लेशसमाश्रयंतथा॥

यो॰चि॰ पादद्विमार्गगो वापुन्निः स्वलोने वमध्यगः ॥ असिद्धं तद्विजानीयाद्वायुं कर्मगुणान्वितं ॥ या

२४ वत्पस्पंदते चित्तं बाह्याभ्यंतर वस्तुषु ॥ असिद्धं तद्विजानीयाच्चित्तं कर्मवशानुगं ॥ तथा च प

तंजलिसूत्रं ॥ मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्त

मप्रसादनमिति ॥ अत्र सुखाहि शश्वास्तद्वत्पराः ॥ रागद्वेषकलुषीकृतस्य पुंसः सुखिनिदृ

ष्टे ईर्ष्या पुण्यवति द्वेषः दुःखिनि चोपेक्षा पापिनि चानुमोदनं जायते ॥ योगी तु सुखिनि मै

३भो त्रीं दुःखिनि करुणां पुण्यवत्सु मुदितां पापिषूपेक्षां भावयन्सकलखेदमूलरागद्वेषौ समूल

मुन्मूलयति ततश्चित्तं प्रसीदति प्रसन्नचित्तस्य सुलभो योग इति अभिमतध्यानादपि चित्तं

स्थिरं भवतीत्येतदुक्तं ॥ यथाभिमतध्यानाद्वेति सूत्रेण ॥ वासिष्ठे ॥ चित्तं कारणमर्थानां तस्मि

त॰ न्सति जगत्त्रयं ॥ स्मिन्क्षीणे जगत्क्षीणं तच्चिकित्स्यं प्रयत्नतः ॥ हस्तं हस्तेन निःपिष्य दंतान्दंतैर्विचूर्ण्य अं २४

च ॥ अंगान्यंगैः समाक्रम्य जयेदादौ स्वकं मनः ॥ विषयान्प्रति भोः पुत्र सर्वानेव हि सर्वथा ॥

अनास्था परमा ह्येषा सा युक्तिर्मनसो जये ॥ एषैव परमा युक्तिरनयैव महामदः ॥ स्वमनो

मत्तमातंगो द्रागित्येव विदम्यते ॥ चित्तस्य भोगैर्द्वौ भागौ शास्त्रेणैकं प्रपूरयेत् ॥ गुरुशुश्रूषया

भागमव्युत्पन्नस्य सत्क्रमे ॥ किंचिद्व्युत्पत्तियुक्तस्य भागं भोगैः प्रपूरयेत् ॥ गुरुशुश्रूषया भा

गौ भागं शास्त्रार्थचिंतया ॥ व्युत्पत्तिमनुयातस्य पूरयेच्चेतसोऽन्वहं ॥ द्वौ भागौ शास्त्रवै

राग्याद्वौ ध्यान गुरुपूजया ॥ प्रज्ञाविचारवशतः सममेव सदा सुत ॥ न शक्यते मनो जेतुं वि

ना युक्तिमनिंदितां ॥ अंकुशेन विना मत्तो यथा दुष्टमतंगजः ॥ अध्यात्मविद्याधिगमः सा

धुसंगम एव च ॥ वासनासंपरित्यागः समं प्राणनिरोधनं ॥ एतास्ता युक्तयः श्रेष्ठाः संति प्रा

णजये किल ॥ स्मनीषु युक्तिष्वेतासु हठान्नियमयंति ये ॥ चेतस्ते दीपमुत्सृज्य नाशयंति तमो ज

यो·वि· नैः॥विमूढाः कर्तुमुद्युक्ता ये हठाच्चेतसो जयं॥ते निबध्नंति नागेंद्रमुन्मत्तं विशतंतुभिरिति॥अ
२५ थ सुगमान्नादानुसंधानाद्ये योगोपाया निरूप्यंते॥हठप्रदीपिकायां॥इंद्रियाणां मनो नाथो
मनोनाथस्तु मारुतः॥मारुतस्य लयो नाथः स लयो नादमाश्रितः॥अयमेव तु मोक्षाख्यो अ
स्तु वापि मतांतरे॥मनःप्राणलयो नादो न च कश्चिद्विभिद्यते॥मनोमत्तगजेंद्रस्य विषयोद्या ग
नचारिणः॥नियामनसमर्थोयं निनादो निशितांकुशः॥मकरंदं पिबन्भृंगी गंधान्नापेक्षते
यथा नादासक्तं तथा चित्तं विषयान्नहि कांक्षति॥काष्ठे प्रवर्तितो वह्निः काष्ठेन सह शाम्यति।
॥नादे प्रवर्तितं चित्तं नादेन सह लीयते॥विस्मृत्य सकलं बाह्यं नादे दुग्धांबुवन्नरः॥एकीभू
यास्य सहसा चिदाकाशे विलीयते॥श्रीआदिनाथेन सपादकोटिलयप्रकाराः कथिता ज
यंति॥नादानुसंधानकमेवकार्यं मन्यामहे नान्यतमं लयानां॥औदासीन्यपरो भूत्वा सदाभ्या २५

समनसंयमी॥उन्मनीकरणं सद्यो नादमेवावधारयेत्॥कौ दशं चौदासीन्यं॥शीते काले का
पटी वा पटी वा पथ्याहारेण पयो वा पयो वा भक्ष्ये भिक्षा वृक्षमारण्यकं दे पाणौ द्रोणी का
त परा भोजपात्री॥उन्मन्यवस्थैर्ये शीघ्रं द्वौ मार्गौ मम संमतौ॥तत्त्वं परमसौख्यं वा नादोपा
सनमेव वा॥सौख्यप्रविष्टचित्तानां मूढानामपि संमतं॥शीघ्रमानंदसंधायी जायते नाद
जो लयः॥मुक्तासनस्थितो योगी मुद्रां संधाय शांभवीं॥शृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमंत
र्गतं सदा॥सर्वचिंतां परित्यज्य सावधानेन चेतसा॥नादमेवानुसंधत्ते योगसाम्राज्य
मिच्छता॥कर्णौ पिधाय हस्तेन यः शृणोति ध्वनिं मुनिः॥तावत्तं स्थिरं कुर्याद्यावत्स्थिर
पदं व्रजेत्॥अभ्यस्यमानो नादोयं बाह्यमावृणुते ध्वनिं॥पक्षाद्विक्षेपमखिलं जि त्वा ५८
योगी सुखी भवेत्॥श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो महान्॥ध मानेन तोभ्यासे सू
व

यो·चि· यतेसूक्ष्मसूक्ष्यतः॥आदौजलदजीमूतभेरीझर्झरसंभवः॥मध्येमर्द्दतशंखोत्थघंटाकाहलक
२६ स्तथा॥अन्येतुकिंकिणीवंदवीणाभ्रमरनिस्वनाः॥इतिनानाविधोनादःश्रूयतेदेहमध्यगः॥म
हतिश्रूयमाणेपिमेघभेर्यादिकेध्वनौ॥ततःसूक्ष्मात्सूक्ष्मतरंनादमेवपरामृशेत्॥घनमुत्सृ
ज्यवासूक्ष्मंसूक्ष्ममुत्सृज्यवाघनं॥परंतत्रैवनिःक्षिप्यमनोनान्यत्रचालयेत्॥यत्रकुत्रापि
वानादेप्रथमंविशतेमनः॥तत्रैवसुस्थिरंकुर्यात्तेनसार्द्धंविलीयते॥नादोबीजंहठःक्षेत्रमौ
दासीन्यंजलंस्मृतं॥उन्मनीकल्पलतिकासद्यएवभविष्यति॥राजयोगे॥यत्रदृष्टिर्ल
यस्तत्रभूतेंद्रियसनातनी॥स्याच्छक्तिःसर्वभूतानांदृष्टिर्लक्ष्येणसंगता॥ऊर्द्ध्वदृष्टिर
धोवेधऊर्द्ध्ववेधः [redacted] धोमुखः॥ ले
आधायात्रविधानेनजीवन्मुक्तोभविष्यति॥सर्वतोविततादृष्टिःसंक्षिप्ताचशनैःशनैः॥ २६

परतत्वमनादर्शेपश्यत्यात्मानमात्मना॥प्रथमंनिःसृतादृष्टिःसंगतायत्रकुत्रचित्॥स्थि
रीभूताचतत्रैवविनश्यतिशनैःशनैः॥प्रसह्यसंकल्पपरंपराणांनिपूदनेसंततसावधाना
॥आलंबनाशादपचीयमानाशनैःशनैःशांतिमुपैतिदृष्टिः॥वेदशास्त्रपुराणानिःसामा
न्यगणिकाइव॥एकैवशांभवीमुद्रागुप्ताकुलवधूरिव॥अंतर्लक्ष्यंबहिर्दृष्टिर्निमेषो
न्मेषवर्जिता॥एषातुशांभवीमुद्रासर्वशास्त्रेषुगोपिता॥हठप्रदीपिकायां॥अंतर्लक्ष्य
विलीनचित्तपवनोयोगीयदावर्त्ततेदृष्ट्यानिश्चलतारयाबहिरधःपश्यन्नपश्यन्नपि॥
मुद्रेयंखलुशांभवीनिगदितापुष्पात्प्रसादाद्गुरोःशून्याशून्यविवर्जितंस्फुरतियत्तत्वंपदंशां २
भवं॥नादानुसंधानसमाधिभाजांयोगीश्वराणांहृदयेप्ररूढ॥आनंदमेकंवचसामवाच्यं ६
ते जानातित्वंगुरुनाथएव॥अर्द्धोद्घाटितलोचनःस्थिरमनानासाग्रदत्तेक्षणश्चंद्रार्कावपि

यो·चि·
२७

ष्ठि

ष्विलीनतामुपनयेन्निःस्पंदभावोन्तरे॥ज्योतीरूपमशेषवीजरहितंदेदीप्यमानंपरंतत्वंतत्स
दमेतिवस्तुपरमंवाच्यंकिमत्राधिकं॥श्रीशांभव्याश्चरवेचर्य्याअवस्थाचलभेदतःतारे [redacted] ज्योतिषिसंयोज्यकिंचिदुन्नालयेद्भुवौ॥पूर्वयो
गस्यमार्गोयमुन्मनीकरणःक्षणात्॥केचिदागमजालेनकेचिन्नियमसंकुलाःकेचित्तर्के
णमुह्यंति नैवजानंतितारकं॥चतुर्विधयोगावस्थासुनानाभेदःश्रूयते॥अवस्था
श्चवक्ष्यंते॥ [redacted] ॥ब्रह्मग्रंथिर्भवेद्भिन्नआनं
न्य दःशून्यसंभवः॥विचित्रक्वणिकोदेहोनाहतःश्रूयतेध्वनिः॥विष्णुग्रंथिर्यदाभिन्नःपरमा २७

नंदसूचकः॥अतिशून्ये विमर्दश्चभेरीशब्दस्तदाभवेत्॥तृतीयंतुततोभित्वाविमायामर्दलध्व
निः॥महाशून्यंतयायातिसर्वसिद्धिसमाश्रयं॥चित्तानंदंततोभित्वासहजानंदसंभवः॥रुद्र
ग्रंथिंततोभित्वासर्वपीठगतोऽनिलः॥निष्पत्तौवैष्णवःशब्दःक्वणद्वीणाक्वणोभवेत्॥एकी
भूतंतयाचित्तंराजयोगाभिधायकं॥सुरेश्वराचार्याः॥प्राणेसुषुम्णांसंप्राप्तेनादोंतःश्रू
यतेमहान्घंटादुंदुभिशंखाब्धिवीणावेणवादिनादवत्॥तनूनपात्तडिन्नारातारेशातपनो
पमं॥ब्रह्मनाडीगतेप्राणेविश्वरूपंप्रकाशयेत्॥त्रिपुरासारसमुच्चयेनादोत्पत्तिविधिः॥अ
थपार्ष्णिनिरुद्धकंबुमूर्धध्वजमूलार्पितसम्यपादपार्ष्णिः॥ऋजुकायशिरोधरोयतात्मा
विषयेभ्योविनिवर्तितेंद्रियश्च॥काकीचंच्वाभिकुंचैर्मुहुरुदरदरीपूरयित्वासमीरैरंगु
ष्ठाभ्यामुभाभ्यांश्रुतिविवरेतर्जनीभ्यांचनेत्रेनासांरंध्रेनिरुध्यस्थिरविमलमतिर्मध्यमा

भ्यामथास्यंतुल्याभिर्न्नातिगात्रै कमलजनिलयेस्थापयेन्मानसंस्वं ॥ यथाशक्त्याभ्यासंप्रतिदि

वसमेवंविदधतः सुषुम्णातश्चापंप्रविशति शनैर्देहपवनः ॥ तदानादोनैजोभवतिसहजा
नंदजनकः क्रमाद्वीणावाद्यप्रहतकलवीणारवसमः ॥ अथो मत्तालिमालाजनितरवसमस्ता
रहुंकारहारीनादोसौवांशिकस्यानिलभरितलसद्वंशनिस्वानतुल्यः ॥ घंटानादानुकारीतद
नुचजलधिध्वानधीरोगभीरो गर्जत्पर्जन्यघोषः परइह कुहरे वर्त्तते ब्रह्मनाड्याः ॥
विजितोभवतीहतेनवायुः सहजोयस्यसमुत्थितः प्रणादः अणिमादिगुणाभवंतितस्यामि
तपुण्यस्यमहागुणास्पदस्य ॥ सुरराजतनूजवैरिरंध्रेविनिरुध्यस्वकरांगुलिद्वयेनजलधे
रिवधीरनादमंतः प्रसरंतंसहसाशृणोतिमर्त्यः ॥ परिभावयतोपिनादमेनंत्रिदशाधीशत
नूजवैरिजातं ॥ सततंभवतीहतस्यजंतोर्गुणसंप्राप्तिरपेतकल्मषस्य ॥ शृंगाग्र्यंगुलिभि

निरुध्यविधिवत्कोदंडयोः पंक्तितो मध्येरुद्रमरुन्निरुध्यवृषभश्चाष्टंचषष्ठेंद्रियं ॥ साक्षा
त्लक्षणमेवपश्यतिशनैस्तृप्यंतगीतंपरंज्योतिस्त्रैपुरमंकमुत्तरशरामल्लक्ष्याविलक्षभ्र
मम्मिति ॥ याज्ञवल्क्यः ॥ एवंवायुजयोपायः प्राणस्यतुवरानने ॥ शक्यमासनमास्थायस
माहितमनास्तथा ॥ करणानिवशीकृत्यविषयेभ्योवलात्सुधीः ॥ अपानमूर्द्ध्वमाकृष्यप्रण
वेनसमाहितः ॥ हस्ताभ्यांबंधयेत्सम्यक्कर्णादिकरणानिच ॥ अंगुष्ठाभ्यामुभेश्रोत्रेतर्ज्ज
नीभ्यांचचक्षुषी ॥ नासापुटेतथामाभ्यांप्रच्छादयकरणानिवै ॥ आनंदानुभवोयावत्तावन्मू
र्द्धनिधारयेत् ॥ प्राणः प्रयात्यनेनैवततस्त्वापूर्विज्ञानकृत ॥ ब्रह्मरंध्रेसुषुम्णायांमृणालांतरसू
त्रवत् ॥ नादोत्पत्तिस्त्वनेनैवशुद्धस्फटिकसंनिभा ॥ आमूर्द्ध्नावर्त्ततेनादोवीणानादवद्बहुस्थितः ॥
शंखध्वनिनिभस्त्वादौमध्येमब्दध्वनिर्यथा ॥ व्योमवर्त्मगते नादेगिरिप्रस्रवणंयथा ॥ व्योमव

र्भगते वायौ चित्तस्यात्मनि स्थिते ॥ सदानंदी भवेद्योगी वायुस्तेन जितो भवेत् ॥ इति स्कंदपुराणे ॥ पवन
ने गगनं प्राप्ते ध्वनिरुत्पद्यते महान् ॥ घंटादीनां प्रवाद्यानां ततः सिद्धिरंत इति हठप्रदीपिकायां ॥ श्रव जाय
णपुटनयननासापुटनिरोधनं कार्यं ॥ श्रीशुद्धसुषुम्णासरणौ स्फुटममलः श्रूयते नादः ॥ काष्ठको
निं ष्ठीप्रसंगेन नादमंतर्भणुौ ॥ पुरामत्स्येंद्रबोधाया दिनाथेनोदितं वचः मनः पाकमवाप्नोति नि =
रालंबाख्यबोटनैं नादोपास्तिरतो नित्यमवधेया हि योगिनां नादश्रवणता सूचितं मंतरं गतु दे
रंगमः विश्रून्यं सर्वमेकाग्र्यं कुत्रचिन्न हि धावति ॥ नादोंतर्णसारंगबंधेन वागुरायते ॥ अंतरं गु
गतुरंगस्य बंधने लीयते पि च ॥ घंटानिनादसक्तस्य शब्दनिःकरणस्य च अनाहतस्य शब्दस्य तस्य
शब्दस्य यो ध्वनिः ॥ ध्वनेरंतर्गतं ज्योतिर्ज्योतिरंतर्गतं मनः ॥ यन्मनो विलयं याति तद्विष्णोः परमं प
दं तावदाकाशसंकल्पो यावच्छब्दः प्रवर्तते निःशब्दं तत्परं ब्रह्म परमात्मा समीर्यते यत्किंचिन्नाम

रूपेण श्रूयते शक्तिरेव सा ॥ यस्तत्त्वांतो निराकारः स एव परमेश्वरः ॥ नादकोटिसहस्राणि बिंदुको
टिशतानि च सर्वे तत्र लयं यांति यत्र देवो निरंजन इति ॥ राजयोगे ॥ चित्ते चलति संसारोऽचले
लयः प्रजायते ॥ तस्माच्चित्तं स्थिरं कुर्यादौदासीन्यपरायणः ॥ यदा भवेदुदासीनस्तदा तत्त्वं
प्रकाशते ॥ स्वयं प्रकाशितेन तत्त्वे स्वानंदस्तत्क्षणाद्भवेत् ॥ आनंदेन च संतुष्टः सदाभ्यासपरो
भवेत् ॥ सदाभ्यासपरे भूते न विधिर्नैव च क्रमः ॥ न किंचिच्चिंतये द्योगी ह्यौदासीन्यपरो भवेत् ॥
न किंचिच्चिंतनात्तस्य स्वयं तत्त्वं प्रकाशते ॥ स्वयं प्रकाशिते तत्त्वे तत्क्षणात्तन्मयो भवेत् ॥ मनो दृ
श्यमिदं सर्वं यत्किंचित्सचराचरं ॥ मनसस्तून्मनीभावो द्वैताभावं प्रचक्षते ॥ जायमाना मनस्कस्य
कठिणत्वं उदासीनस्य तिष्ठतः ॥ मृदुत्वं च शरीरस्यापि जायते ॥ अमनस्कखनित्रेण समूलोन्मूलितं कृ
ते ॥ अंतःकरणशल्ये न सुखी संजायते मुनिः ॥ श्वाससूत्रसमापन्नमिंद्रियालयसंकुलं ॥ श

ॐ

यो·वि· यस्मिन्वा मनोजालं मौनवध्यायते सुखी ॥ प्रशांतेंद्रियवर्गोयं बुद्धिशक्तिसमन्वितः ॥ वायुना लयुतं जित्वा
मनःशत्रुं सुखी भवेत् ॥ गुणत्रयमयी रज्जुः सुदृढात्माल्मबंधिनी अमनस्कक्षुरेणैव क्षित्वा मोक्षम
३० वाप्नुयात् ॥ यथा संलीयते सर्वमस्तं गच्छति भास्करे ॥ करजालं तथा विश्वममनस्के विलीयते ॥ इं
द्रियग्राहविमुक्तो निर्वाते निर्मलायते ॥ अमनस्कहृदस्मात् परमामृतमश्नुते ॥ प्रनष्टोच्छ्वासनिः
श्वासविध्वस्तविषयग्रहः ॥ निश्चेष्टो निर्गतारंभो ध्यानं रपति योगिकः ॥ उच्छिन्नसर्वसंकल्पो
निर्गताशेषचेष्टकः स्वावगम्यो लयः कोपि जयतां वागगोचरः ॥ एकदंडत्रिदंडादिजटाभस्मा
दिकं तथा केशलुंचननग्नत्वं रक्तवस्त्रस्य धारणं ॥ उत्पन्नस्वावबोधस्य उदासीनस्य सर्व
दा सदाभ्यासरतस्यैतन्न कुत्राप्युपयुज्यते ॥ नदा दृष्टिविशेषाश्च विविधान्यासनानि च ॥ अं
तःकरणभावाश्च योगिनो नोपयोगिनः ॥ सदा जाग्रदवस्थायां सुप्तवद्योवतिष्ठते नि श्वा

धो सोच्छ्वासहीनश्च निश्चितं मुक्त एव सः ॥ निद्रादौ जागरस्यांते यो भावस्तूपजायते ॥ तं भावं भावयेद्
योगी निश्चितं मुक्त एव सः ॥ यथा सुप्तोत्थितः कश्चिद्विषयान्प्रतिपद्यते ॥ जागर्त्येव ततो योगियो
गनिद्राक्षयात्तथा ॥ औदासीन्यमतो ह्येव नवर्द्धमानेन योगिना ॥ उन्मूलितमनोमूलो जगर
द्वृक्षः पतिष्यति ॥ यदा यत्र यथा यस्मात्स्थिरो भवति मानसं तदा तत्र तथा तस्मात् तु चास्यं
कदाचन ॥ यत्र यत्र मनो याति न निवार्येत तत्ततः ॥ अवारितं मनस्तस्मात्स्वयमेव विलीयते ॥ नि
वार्यमाणं यत्नेन त्वत्कर्त्तुं नैव शक्यते ॥ उत्तिष्ठति क्षणे नैव मारुतस्य वशादतः ॥ दुर्निवार्य्यमनस्ताव
धावनत्वं न विंदति ॥ विदितेनु परे तत्त्वे मनो नौस्तंभकाकवत् ॥ यथा तुलां तुलाधारश्चंचलां [illegible]
[illegible] ंडे स्थिरां ॥ जाते सौख्यसदाभ्यासान्मनोवृत्तिस्तथात्मनि ॥ निक्षिप्य केवलं वि
द्यायफलं पं यद्वन्दं वन्निर्मलं निर्वातस्थितनिस्तरंगमुदकं स्वच्छस्वभावं परं ॥ तद्वत्सर्वमिदं विहा

 यसहसादेदीप्यतेनिः कलंतत्वंतत्सहजस्वभावममलंजानेऽमनस्के ध्रुवं॥ तस्मात्त्यागात्सकलवि
 षयंनिःकलाध्यात्मयोगाद्वायोर्नाशस्तदनुमनसस्तद्विनाशश्चमोक्षः॥सत्विदेवंसहजममलंनिः
कलंनिर्विकारंप्राप्स्यैमतंकुरुतकुशलाः पूर्वमेवामनस्कं। चतुर्विधामनोवस्थाविज्ञातव्यात्म
नीषिणा॥ विश्लिष्टंचगतायातंसुश्लिष्टंचसुलीनकं॥ विश्लिष्टंतामसंप्रोक्तंराजसंतुगतागतं।
सुश्लिष्टंसात्विकंप्रोक्तंसुलीनंगुणवर्जितं॥ विश्लिष्टंचगतायातंविकल्पंविषयग्रहं॥सुश्लिष्टं
[illegible] चसुलीनत्वंविकल्पविषयापहं॥ ततोभ्यासनियोगेननिरालंबंभवेद्यदि॥ तदा
समरसीभूतंपरमानंदमेवतत्॥ सानंदंनिश्चलेचेतस्ततःसुश्लिष्टमुच्यते॥ अतीवनिश्चली
भूतंसानंदंचसुलीनकं॥ अभ्यस्यतोमनःपूर्वंविश्लिष्टंचलमुच्यते॥ ततश्चलाचलंकिंचि
त्सानंदंचगतागतं॥ एवंभूतस्यकर्माणिपुण्यानिसंशयानिच॥ प्रयांतिनैवलिंपंतिक्रियमा

णानिसाधुनेति॥ योगारूढस्यस्वरूपंवदन्तस्यैवसमाधिरभ्यासदशायांब्रह्मानंदाविर्भाव
माहभगवान्वासुदेवः॥ तथाहि॥ यदाविनियतंचित्तमात्मन्येवावतिष्ठते॥ निस्पृहःसर्व
कामेभ्योयुक्तइत्युच्यतेतदा॥ इत्यारभ्य ईक्षतेयोगयुक्तात्मासर्वत्रसमदर्शनइत्यंतेन श्रु
तिश्च॥ समाधिनिर्धूतमलस्यचेतसोनिवेशितस्यात्मनियत्सुखंभवेत्॥ नशक्यतेवर्णयितुं
गिरातदास्वयंतदंतःकरणेनगृह्यतइति॥ विद्यारण्यश्रीपादाः॥ यावद्यावदहंकारोविस्मृ
ताभ्यासयोगतः॥ तावत्तावत्सूक्ष्मदृष्टेर्निजानंदोनुमीयते॥ यद्यप्यसौचिरंकालंसमाधिर्दु
र्लभोनृणां॥ तथापिक्षणिकोब्रह्मानंदंनिश्चाययत्यसौ इति॥ पातंजलेपि॥ गुणभेदेन
चित्तस्यचतस्रोवस्थाउक्ताः॥ व्युत्थानं॥ समाधिप्रारंभः॥ एकाग्रता॥ निरोधश्चेति॥ एषांतुन
त्रमक्रियात्रिगुणात्मकप्रकृतिकार्यत्वाच्चित्तस्यत्रिगुणप्रकृतेःपूर्वमेवाक्रांतत्वनिरूपणा

यो॰वि॰ नसरे॥गुणास्तुसत्वरजस्तमांसि॥तत्रसत्वंप्रसादप्रकाशधर्मशीलंरजः प्रवृत्तिपरितापशोका
३२ दिधर्मशीलं॥तमस्तुप्रवृत्तिविरोधिस्थित्याख्यधर्मशीलंगौरवावरणदैन्यादिधर्मशीलंचएवं न्या
चचित्तस्यैतादृशगुणत्रयवत्वाद्गुणत्रयस्यचपरस्परोपर्मर्दोपमर्दकरूपविचित्रपरिणामभेदेन म
क्षिप्तमूढविक्षिप्तैकाग्र्यानिरोधाख्यभूमिशब्दिताःपंचावस्थाभवंति॥तत्रक्षिप्तंरजसातेषु
याविषयेषुसुपादिषुप्रेरितमत्यंतमस्थिरंमूढंतमसानिद्रावृत्तिमन्मूर्छाद्युपेतंक्रोधादिभिः
पंक्ति कृत्याकृत्यविवेकशून्यंपरापकारनिरतंविक्षिप्तंप्राद्विशिष्टंवैशिष्ट्यंचास्यैमबहुलत्व कादा
प क्षिं कस्यैमायप्रयत्नसत्वोद्रेकोप्यस्तितथापिसत्वात्किंचिदूनरजस्तमस्स्पृष्टत्वात्॥ऐश्व
र्यशब्दादिविषयेषुचप्रियंभवतिसत्वप्राधान्याच्चतत्वंप्रणिधित्सदपितत्वस्यतमसापिहि
तत्वादणिमादिकमेवैश्वर्यमन्यमानंप्रणिधित्सति॥प्रणिधंतेचक्षणं॥अथरजोंशेन
३२

क्षिप्यमानंतत्रालब्धस्थितितत्रप्रियमात्रंभवति॥शब्दादिषुस्वरसवाहित्वेननिरूढप्रेमत्वमि
तिक्षिप्तैकाग्र्यविलक्षस्यसमाधेर्विक्षेपोपसर्जनतात्तयोगेऽनुपयोगित्वमिति॥सर्वस्याप्यत्रवृत्ति ये
विरोधेपारंपर्येणाप्यमोह साधनत्वाभावाद्धेयत्वमिति॥तिस्त्रोप्येताभूमयोहेयाएवए
काग्रनिरुद्धेतुभूमीसत्वोत्कर्षधियाक्रमंवहिर्वृत्तिनिरोधसर्वसंस्कारविलयद्वारेणसमा
ध्युपयोगिन्यावित्युपादेये॥तत्रैकाग्र्यमेकतानं॥अत्रहिचित्तमाविर्भूतसत्वमयंगतत
मःपटलमपिरजोमात्रयासंस्पृष्टत्वाद्धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्याद्यपगमंभवति॥यथासंप्रज्ञात
समाधिसंपन्नयोर्मधुमतीभूमिकप्रज्ञाज्योतिषोर्मध्यमयोगिनापेतसत्वंनिरुद्धंतुसकलवृ
त्तिकसंस्कारमात्रशेषं॥यथातिक्रांतभावनीयस्ययोगिनश्चित्तसत्वमपगतरजोलेशमलं
स्वरूपप्रतिष्ठंअभ्यासवैराग्यपुटपाकप्रबंधविधूतरजस्तमोमलस्यबुद्धिसत्वंनूपनीयस्य
ग

[redacted]स्वरूपप्रतिष्ठायांविषयेंद्रियप्रत्यात्वतस्यानवसिता
३३ धिकारकतयाचकार्यकारिणाविवेकख्यातिपरंकार्यविषेमेयशिष्यनरति॥अत्रभावनीयपद य
मान्यातिरिक्तवस्तुपरं॥एवंचैकाग्रेबहिर्वृत्तिनिरोधः॥निरुद्धेचसर्वासांवृत्तीनांसंस्कारस
हितानांप्रविलयइत्यनयोर्भूम्योर्योगस्यास्तिसंभवइति॥तत्रक्षिप्तमुक्षिप्तचित्तभूमीव्युः स
क्षि त्थानंविक्षिप्तभूमिः सत्वोद्रेकात्समाधिप्रारंभः एकाग्रतानिरोधःपर्यंतभूमी॥प्रतिपरिणा
मंचसंस्काराः॥तत्रव्युत्थानजनिताःसंस्काराःसमाधिप्रारंभजैःसंस्कारैर्हन्यंते॥तत्राप्येका
ग्रताजैःएकाग्रताजनितैःनिरोधैः॥निरोधजाअपिसंस्कारास्तैरेवहन्यंते॥यथासुवर्णसंव
रलितंध्मायमानंसीसमात्मानंसुवर्णमलंचनिर्दहति॥एवमेकाग्रत जनितान्संस्कारान्नि

रोधजाआत्मानंचनिर्दहंतीति॥अथोक्तोपायैःस्थिरचित्तस्ययोगिनःक्रमेणसविकल्पकसमा
धिप्रकाराआविर्भवंतिततो संप्रज्ञाताख्योनिर्बीजःसमाधिश्चाविर्भवतीत्येतत्प्रदर्शनपरा
णिपतंजलिसूत्राणिव्याख्यासहितानिप्रदर्श्यंते॥क्षीणवृत्तेरभिजातस्येवमणेर्ग्रहीतृ ग्र
ते हणग्राह्येषुतत्स्थतदंजनतासमापत्तिः॥उक्तोपायैर्लब्धस्थितिकस्यस्फटिकमणेरिवस्व
भावतःशुद्धस्यरजस्तमोभ्यामनभिभवेमहाभूततन्मात्रस्थूलसूक्ष्मरूपग्राह्येकाग्रतापू
र्विकाग्राह्यमयतारूपाग्राह्यसमापत्तिः॥ततोरजस्तमोलेशानुविद्धांतःकरणेकाग्रता र
पूर्विकातन्मयतारूपाग्रहणसमापत्तिस्ततोस्मिताख्यशुद्धसत्वांतःकरणेकाग्रता
पूर्विकातन्मयतारूपागृहीतृसमापत्तिश्चभवति॥सूत्रेतत्स्थत्वंतदेकाग्रतातदंजनत्वं
तन्मयत्वं॥क्षीणभूते चित्ते विषयस्यभाव्यमानस्यचोत्कर्षःतथाविधासमापत्तिस्तद्रूपः

यो॰ परिणाम इत्यर्थः।। साच समापत्तिः सविकल्पनिर्विकल्पसविचारनिर्विचारभेदेन चतुर्विधा।।
३४ तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः।। संकीर्णा सवितर्का यस्यां समापत्तौ शब्दार्थज्ञानविकल्पसंभि
न्नः स्थूलावभासः सा सविकल्पा समापत्तिः स्मृति परि शुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा
निर्वितर्का यदा अर्थमात्रप्रवणेन चेतसा अर्थमात्राविष्टेन तदभ्यासात्रांतरीयकता
नुपगता संकेतस्मृतिस्यक्ता तदा योगेच श्रुतानुमानविकल्पो तन्मूलो मुक्तौ तदा तच्छू
न्यायां समाधिप्रज्ञायां स्वरूपमात्रेणैवस्थितोर्थः।। तत्स्वरूपतयैवन तु विकल्पत्वेनेना
कारेणापि विघ्नते सा स्थूलविषया सती निर्वितर्का समापत्तिः।। एतयैव सविचारा निर्वि
चारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता। सूक्ष्मस्तन्मात्रेंद्रियादिः शब्दार्थविकल्पसहितत्वेन देश
कालधर्माद्यवच्छिन्नः सूक्ष्मार्थः प्रतिभाति यस्यां सा सविचारा समापत्तिः।। देशकालध ३४

र्मादिरहितो धर्मिमात्रतया सूक्ष्मोर्थः प्रतिभाति यस्यां सा निर्विचारा समापत्तिः।। सा योगि
नामेव परं प्रत्यक्षा असदारोपगंधस्याभावात्।। एतासु च समापत्तिषु सवितर्का स्थूलवि
न्यं षयामपेक्ष्य निर्वितर्कायाः प्राधां ततोपि सूक्ष्मविषयायाः सविचारायास्ततोपि निर्विक
ल्परूपायाः प्रधानपर्यंतसूक्ष्मार्थविषयायां निर्विचारायास्तस्याश्चापि निर्विचारायाः।।
प्रकृष्टाभ्यासवशान्नैर्मल्ये वितते क्लेशवासनारहितं स्थितिप्रवाहयोग्यं भवति।। ऋतंभरा
तत्र प्रज्ञा।। तदा च विपर्ययगंधेनापि न संस्पृष्टा ऋतं सत्यं नान रारब्धा प्रज्ञा जायते।। श्रुतानुमा
नप्रज्ञाभ्यामन्यविषयविशेषार्थत्वात्।। या ऋतंभरा प्रज्ञा शब्दानुमानज्ञानविलक्षणा सूक्ष्म
व्यवहितानू विषयान् स्फुटेनैव रूपेण भासयति।। तथा च माष्यं क्रं न्दिरुत्तोलितं श्लोक
द्वयं प्रज्ञाप्रासादयारुह्य अशोच्यः शोचते जनान् भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान्प्राज्ञोनुपश्य

यो॰चि॰ ति॥आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासबलेन चैत्रिधा प्रकल्पयन्प्रज्ञां लभते योगमुत्तममिति॥तज्जः
३५ संस्कारोन्यसंस्कारप्रतिबंधी एतज्ज निश्चेतैः संस्कारैर्विक्षेपजाः संस्काराः कार्याक्षमा भवंति।
न एवं सबीजः समाधिः नदेवमुक्ताश्चतस्रः समापत्तयः॥सहबीजेनालंबनेन वर्तत इति व्यु
त्पत्त्या सबीजः समाधिरित्युच्यते।यः सविकल्पः संप्रज्ञातसमाधिरिति पूर्वमुक्तः॥तस्या
पि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः तस्यापि सबीजस्यापि प्रविलये सर्वासां चित्तवृत्तीनां
स्वकारणप्रविलयायां संस्कारमात्राद्वृत्तिरुद्देति तस्यां नेति नेति केवलं पर्युदासनाविकल्पा
को निर्बीजाख्योऽसंप्रज्ञातसमाधिर्भवति॥यस्मिन्सति पुरुषः स्वरूपमात्रज्योतिः प्रतिष्ठः
शुद्धो भवति अयमेव निर्बीजसमाख्यो योगः परमपुरुषार्थहेतुः नैतद्व्यतिरेकेण मोक्षसंभावना
प्यस्ति॥अत्र च श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणादिवाक्यं प्रमाणं॥वासिष्ठे॥दुःसहाराम संसारवि ३५

षवेगविषूचिका॥योगगारुडमंत्रेण पावनेनोपशाम्यति॥गरुडपुराणे॥तथा यत्नेत मतिमान्
यास्यान्निर्वृतिः परा।योगेन लभ्यते सा तु न चान्येन तु केन चित्॥भवतापप्रतप्तानां योगो हि पर
मौषधं॥परावरप्रसक्ता धीर्यस्य निर्वेदसंभवा॥स च योगाग्निना दग्धसमस्तक्लेशसंचयः॥
निर्वाणं परमं सर्वं प्राप्नोत्यपि न संशयः॥समात्मयोगसिद्धिस्तु पूर्णो यत्स्वात्मदर्शनात्॥न किं
चिद्दृश्यते कार्यं नैमैव सकलं कृतं॥आत्मारामः सदा पूर्णः सुखमात्यंतिकं गतः॥अतस्तस्या
पि निर्वेदः सदानंदमयस्य च॥तपसा भावितात्मानो योगिनः संयतेंद्रियाः।प्रतरंति महात्मा
नो योगेनैव महार्णवमिति॥याज्ञवल्क्यस्मृतौ॥ईज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्म
णां॥अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनमिति॥महर्षिमातंगः॥अग्निष्टोमादिकान्यज्ञा २
न्विहाय द्विजसत्तमः॥योगाभ्यासरतः शांतः परं ब्रह्माधिगच्छति॥ब्राह्मणक्षत्रियविशां स्त्री

या॰चि॰ त्राद्दस्यचपावने॥शांतयेकर्मणामं[blot]योगान्नास्तिविमुक्तये॥कूर्मपुराणे॥शिववाक्यं॥अतः
३६ परंप्रवक्ष्यामियोगंपरमदुर्लभं॥येनात्मानंप्रपश्यंतिभानुमंतमिवेश्वरं॥योगाग्निर्दह
तिक्षिप्रमशेषंपापपंजरं॥प्रसन्नंजायतेज्ञानंसाक्षान्निर्वाणसिद्धिदं॥सं[blot]स्मिनोगह स्था
ने स्याश्चवनस्याब्रह्मचारिणः॥तेषां[blot]त्याभियुक्तानांमायातत्त्वंसमुत्थितं॥नाशयामितमः
कृत्स्नंज्ञानदीपेनमाचिरात्॥तथा॥विधूयमोहकलिलंलब्ध्वायोगमनुत्तमं॥गृहस्थोमुच्यते
बंधान्नात्रकार्याविचारणा॥तथावानप्रस्थप्रकरणे॥योगाभ्यासरतश्चस्यादूर्ध्वाध्यायीभ
वेत्सदेति॥अग्नीनात्मनिसंस्थाप्यद्विजःप्रव्रजितोभवेत्॥योगाभ्यासरतोनित्यमात्मविद्या
परायणः॥इतियतिधर्मप्रकरणेमनुः॥भूतभावान्नवेक्षेतयोगेनपरमात्मनः॥देहेषुचेचोप
यतिमुक्तमेवधर्मेचेति॥नरसिंहपुराणे॥योगाभ्यासरत स्येहपुंसोनश्यतिपातकं॥ ३६

विघातयोभ्यांसंपन्नोपःपुमान्योगतत्परः॥देहद्वयंविहायाशुमुक्तोभवतिबंधनात्॥स्कंदपुरा
णे॥अत्यल्पोपियथादीपःसुमहन्नाशयेत्तमः॥योगाभ्यासस्तथाल्पोपिमहापापंविनाश
येत्॥विष्णुधर्मे॥पृष्टश्चयःसर्वभूतानांस्त्रीणामप्युपकारकं॥अपिकीटपतंगेभ्यस्तन्मःश्रेयः
परंवद॥इत्युक्तःकपिलःपूर्वंदेवैर्देवर्षिभिःसह॥योगएवपरंश्रेयस्तेषामुक्तवासुरेति॥म ल
हाभारतेयोगमार्गंप्रकृत्याहव्यासः॥अपिवर्णावकृष्टस्तुनारीवाधर्मकांक्षिणी॥तावप्ये
तेनमार्गेणगच्छेतांपरमांगतिं॥यदिवासर्वधर्मज्ञोयदिवाप्यकृतोपुमान्॥यदिवाधार्मि
कश्रेष्ठोयदिवापापकृत्तमः॥यदिवापुरुषव्याघ्रोयदिवाक्लैब्यधारकः॥तरत्येवमहादुः
खंजरामरणसागरं॥अपिजिज्ञासमानोपिशब्दब्रह्मातिवर्ततइति॥योगत्वप्रकाशदत्तात्रे तो
यः॥ब्राह्मणःश्रमणोवापिबौद्धोवापतितोपिवा॥कापालिकोवाचार्वाकःश्रद्धयासहितःसुधीः॥ ध
य

यो॰वि॰ योगाभ्यासरतोनित्यंसर्वसिद्धिमनामुयादिति॥भगवद्गीतायां॥यत्सांख्यैः प्राप्यतेस्थानंत
३७ द्योगैरपिगम्यते॥एकंसांख्यंचयोगंचयःपश्यतिसपश्यति॥योगयुक्तोविशुद्धात्माविजिता
त्माजितेंद्रियः॥सर्वभूतात्मभूतात्माकुर्वन्नपिनलिप्यते॥नास्तिबुद्धिरयुक्तस्यनचायुक्तस्यभा
वना॥नचाभावयतःशांतिरशांतस्यकुतःसुखं॥युंजन्नेवंसदात्मानंयोगीनियतमान
सः॥शांतिंनिर्वाणपरमांमत्संस्थामधिगच्छति॥नेहाभिक्रमनाशोस्तिप्रत्यवायोनविद्यतेस्व
र्म ल्पमप्यस्यधर्मस्यत्रायतेमहतोभयात्॥वेदेषुयज्ञेषुतपःसुचैवदानेषुयत्पुण्यफलंप्रतिष्ठं॥
अत्येतितत्सर्वमिदंविदित्वायोगीपरंस्थानमुपैतिचाद्यं॥तस्माद्योगाययुज्यस्वयोगःक
र्मसुकौशलमिति॥योगशास्त्रे॥एतद्विमुक्तिसोपानमेतत्कालस्यवंचनं॥यद्व्यावृत्तंम
नोभोगादासक्तंपरमात्मनि॥योगबीजे॥देव्युवाच॥नमस्तेआदिनाथायविश्वनाथाय ३७

तेनमः॥नमस्तेविश्वरूपायविश्वातीतायतेनमः॥उत्पत्तिस्थितिसंहारकारिणेतेनमोनमः
नमस्तेदेवदेवेशनमस्तेपरमात्मने॥नमस्तेपरिपूर्णायजगदानंदहेतवे॥सदाशिवजगन्ना
थकरुणामृतवारिधे॥सर्वेजीवाःसुखैर्दुःखैर्मायाजालेनवेष्टिताः॥तेषांमुक्तिःकथंदेवकृ
पयावदशंकर॥सर्वसिद्धिकरोमार्गोमायाजालनिकृंतनः॥जन्ममृत्युजराव्याधिनाशकः
सुखदश्चयः॥नानामार्गास्त्वयादेवकथितास्तुमहेश्वर॥अधुनामोक्षदंमार्गंब्रूहियोगवि
दांवर॥ईश्वरउवाच॥वक्ष्यायेनविमुच्यंतेदेविमार्गमनः परं॥तमहंकथयिष्यामितवप्री
त्यासुरेश्वरि॥नानामार्गैस्तुदुःप्रापंकैवल्यंपरमंपदं॥सिद्धमार्गेणलभ्येतनान्यथाशिवभा
षितं॥अनेकशतसंख्याभिस्तर्कव्याकरणादिभिः॥पतिताःशास्त्रजालेषुप्रज्ञयातेविमोहि
ताः॥अनिर्वाच्यपदंवक्तुंशक्यतेनसुरैरपि॥स्वात्मप्रकाशरूपंतत्किंशास्त्रेणप्रकाश्यते॥

यो· निःकलंनिर्मलंशांतंसर्वातीतंनिरामयं॥तदेतज्जीवरूपेणपुण्यपापफलैर्वृतं॥देव्यु
वाच॥परमात्मपदंनित्यंतत्कथंजीवतांगतं॥तत्वातीतंमहादेवप्रसादात्कथयस्वमे॥ईश्व
३८ रउवाच॥सर्वभावपदातीतंज्ञानरूपंनिरंजनं॥वायुवत्स्फुरितंस्वस्मिंस्तत्रोहंकारउत्थितः॥
पंचात्मकमभूत्पिंडंधातुबंधगुणात्मकं॥सुखदुःखैःसदायुक्तंजीवभावनयाकुलं॥तेनजीवा
भिधाप्रोक्ताविशुद्धेपरमात्मनि॥कामःक्रोधोभयंचिंतालोभमोहमदांबुपैःजरामृत्युश्चका
र्पण्यंशोकस्तंद्राक्षुधातृषा॥द्वेषोलज्जासुखंदुःखंविषादोहर्षएवच॥जाग्रत्स्वप्नस्सुषु
प्तिश्चशंकोगर्वस्तथैवच॥एभिर्दोषैर्विनिर्मुक्तस्सजीवश्शिवएवहि॥तस्माद्दोषविनाशा
र्थमुपायंकथयामिते॥ज्ञानंकेचिद्वदंत्यत्रकेवलंतत्रसिद्धये॥योगहीनंकथंज्ञानंमोक्षदंभव
तीश्वरि॥योगोपिज्ञानहीनस्तुनक्षमोमोक्षकर्मणि॥देव्युवाच॥अज्ञानादेवसंसारोज्ञाना ३८

देवविमुच्यते॥योगेनैषांतुकिंकार्यंमेप्रसन्नोभगवद॥ईश्वरउवाच॥सत्यमेवत्वयाप्रोक्तंकथ
यामिसुरेश्वरि॥ज्ञानस्वरूपमेवादौज्ञेयंज्ञानेनसाधनं॥अज्ञानंकीदृशंचेतिप्रविचार्यविवेकि
नाज्ञातंयेननिजंरूपंकैवल्यंपरमंशिवं॥असौदोषैर्विमुक्तः किंकामक्रोधभयादिभिःसर्व
दोषैर्वृतोजीवःकथंज्ञानेनमुच्यते॥देव्युवाच॥स्वात्मरूपंयदाज्ञातंपूर्णंतद्व्यापकंत
दा॥कामक्रोधादिदोषाणांस्वरूपान्नास्तिभिन्नता॥पश्चात्तस्यविधिःकोवानिषेधोपि
वाकथंभवेत्॥विवेकीसर्वदामुक्तःसंसारभ्रमवर्जितः॥ईश्वरउवाच॥यदिपूर्णंस्वरूपं
तत्सत्यमेतद्वरानने॥सकलंनिःकलंचैवपूर्णत्वाच्चतदेवहि॥कलनात्स्फूर्तिरूपेणसं
सारभ्रमतांगतं॥निःकलंनिर्मलंसाक्षात्स्वरूपंगगनोपमं॥उत्पत्तिस्थितिसंहारस्फूर्ति
ज्ञानविवर्जितं॥एवंरूपंसमापन्नःसकथंमोहसागरे॥निमज्जतिवरारोहेत्यक्त्वाविद्यः

यो· पुनःपुनःसुखदुःखादिमोहेषु यथा संसारिणां स्थितिः ॥ तथाज्ञानी यदा तिष्ठेद्वासनावासि
३९ तस्तदा ॥ तयोर्नास्ति विशेषोत्र समा संसारभावना ॥ ज्ञानं चेदीदृशं जातमज्ञानं कीदृशं पु
नः ॥ ज्ञाननिष्ठो विरक्तोपि धर्मज्ञोपि जितेंद्रियः ॥ विना योगेन देवोपि न मोक्षं लभते प्रिये
॥ देव्युवाच ॥ अन्यत्किंचित्परिज्ञेयं ज्ञानिनां नास्ति शंकर ॥ विरक्तात्मकनिष्पत्तौ कथं
मोक्षो भवेन्ननु ॥ ईश्वर उवाच ॥ अपक्वाः परिपक्वाश्च द्विविधा देहिनः स्मृताः ॥ अपक्वा
योगहीनास्तु पक्वा योगेन देहिनः ॥ पक्वो योगाग्निना देही अजडः शोकवर्जितः जडस्तु
पार्थिवो ज्ञेयः अपक्वो दुःखदो भवेत् ॥ ध्यानस्थोसौ तथाप्येवमिंद्रियैर्विवशो भवेत् ॥ ता
नि गाढं नियंतापि तथाप्यन्यैः प्रबाध्यते ॥ शीतोष्णसुखदुःखाद्यैर्व्याधिभिर्मानवैस्तथा ॥
॥ अन्यैर्नानाविधैर्जीवैः शस्त्राग्निजलमा रुतैः ॥ शरीरं पीड्यते तैस्तु चित्तं संक्षोभ्यते ३९

ततः ॥ तथा प्राणविपत्तौ तु क्षोभमायाति मारुतैः ततो दुःखशतैर्व्याप्तं चित्तं क्षुब्धं भवेत्क्षणं ॥
ध देहावसानसमये चित्ते यद्यद्विभावयेत् ॥ तत्तदेव भवेज्जीव इत्येवं जन्मकारणं ॥ देहांते किं भवे
ज्जन्म तन्न जानंति मानवाः ॥ तस्माज्ज्ञानं च वैराग्यं जयश्च केवलं श्रमः ॥ पिपीलिका पदाल
ग्ना देहे ज्ञानाद्विमुच्यते ॥ असौ किं वृश्चिकैर्दष्टो देहांते वा कथं सुखं ॥ तस्मान्मूढा न जानंति मि
थ्यातर्केण चेष्टिताः ॥ अहंकृतिर्यदा यस्य नष्टा भवति देहतः स भवेत्तु नष्टो वै व्याधयस्तस्य किं
पुनः जलाग्निशस्त्रव्यालादिगंधः कस्य भविष्यति यथा यथा परिक्षीणा पुष्टा बहिः कृतिर्भवेत्
॥ तन्मानेनास्य नश्यंति ये सर्वेपि गुणादयः कारणेन विना कार्यं न कदाचन विद्यते ॥ अहंका
रं विना तद्वद्देहे दुःखं कथं भवेत् ॥ देव्युवाच ॥ योगिनः कथ्यमानास्तु किं ये व्यवहरंति च ॥ तेः क
थं व्यवहारस्तु क्षीयते वद शंकर ॥ देहावसानमप्येवं तेषां भवति कीदृशं ॥ एतन्मे संशयं छि

यो॰वि॰ छेत्तुमर्हसि यत्नतः॥ ईश्वर उवाच॥ शरीरेण जिताः सर्वे शरीरं योगिभिर्जितं॥ तत्कथं कुरुते तेषां सु
४० खदुःखादिकं फलं॥ इंद्रियाणि मनो बुद्धिः कामक्रोधादिकं जितं॥ तेनैव विजितं सर्वं नासौ केनापि
केनापि बाध्यते॥ महाभूतानि तत्त्वानि संहृतानि क्रमेण तु॥ सप्तधातुमयो देहो दग्धो योगा
ग्निना शनैः॥ देवैरपि न लक्ष्येत योगदेहो महाबलः॥ छेदबंधैर्विनिर्मुक्तो नानाशक्तिधरः परः॥
यथाकाशस्तथा देहो आकाशादपि निर्मलः॥ सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरो देहः स्थूलात्स्थूलो जडाज्ज
डः॥ इच्छारूपो योगदेहः स्वतंत्रस्त्वजरामरः॥ क्रीडति त्रिषु लोकेषु लीलया यत्र कुत्रचित्॥ अचिंत्य
शक्तिमान्योगी नानारूपाणि धारयन्॥ संहरेच्च पुनस्तानि स्वेच्छया विजितेंद्रियः॥ मरणं तस्य
किं देवि पृच्छसी दुसमानने॥ नासौ मरणमाप्नोति पुनर्योगबलेन च॥ पुनरेव मृतो वासौ मृ
तस्य मरणं कुतः॥ मरणं यत्र सर्वेषां तत्रासौ सखि जीवति॥ यत्र जीवंति मूढास्तु तत्रासौ म्रि ४०

यते सदा॥ कर्तव्यं नैव तस्यास्ति कृते नासौ न लिप्यते॥ जीवन्मुक्तः सदा स्वच्छः सर्वदोषवि
वर्जितः॥ विरक्ता ज्ञानिनश्चान्ये देहेन विजिताः सदा॥ ते कथं योगिभिस्तुल्या मांसपिंडाः
कुदेहिनः॥ देव्युवाच॥ ज्ञानिनश्च मृता ये वै तेषां भवति कीदृशी॥ गतिः कथय देवेश कारुण्या
२ मृतवारिधे॥ ईश्वर उवाच॥ देहांते ज्ञानिनः पुण्यात्पापात्फलमाप्यते॥ यादृशं तु भवेत्तत्तद्भुक्त्वा
ज्ञानी पुनर्भवेत्॥ पश्चात्पुण्येन लभते सिद्धेन सह संगतिं॥ ततः सिद्धस्य कृपया योगी भवति नान्य
था॥ ततो नश्यति संसारो नान्यथा शिवभाषितं॥ देव्युवाच॥ ज्ञानादेव हि मोक्षं च वदंति ज्ञानि
नः सदा॥ न कथं सिद्ध्यति ततो योगः किं मोक्षदो भवेत्॥ ईश्वर उवाच॥ ज्ञानेनैव तु मोक्षो
हि वाक्यं तेषां तु नान्यथा॥ सर्वे वदंति खड्गेन जयो भवति तर्हि किं॥ विना युद्धेन वीर्येण कथं जय
मवाप्नुयात्॥ तथा योगेन रहितं ज्ञानं मोक्षाय नो भवेत्॥ ज्ञानं विना हि योगोऽपि न सिद्ध्यति कदाच

यो॰भ॰वि॰ न॥ तस्मादत्र वरारोहे तपःश्रेष्ठं दोनविं ते॥ जन्मांतरैश्च बहुभिर्योगो ज्ञानेन लभ्यते॥ ज्ञानं तु ज
४१ न्मनैकेन योगादेव प्रजायते॥ तस्माद्योगात्परतरो नास्ति मार्गस्तु मोक्षदः॥ देव्युवाच॥ बहुभि
तृ र्जन्मभिर्ज्ञानी योगः संप्राप्यते कथं। योगात्तु जन्मनैकेन कथं ज्ञानमवाप्यते॥ ईश्वर उवाच॥
अविचार्य चिरं ज्ञानान्मुक्तोहमिति मिन्यते॥ किमस्य मननादेव मुक्तिर्भवति तत्क्षणात्॥ पुमा
न्जन्मांतरशतैर्योगादेव विमुच्यते॥ न तथा भविता योगाज्जन्ममृत्युः पुनः पुनः॥ प्राणापान मं
स्समायोगाच्चंद्रसूर्यैक्यता भवेत्॥ सप्तधातुमयं देहमग्निना जरयेद्बुधः॥ व्याधयस्तस्य नश्यं
ति छेदघातादिकास्तथा॥ तथासौ परमाकाशरूपो देही वतिष्ठते॥ किं पुनर्बहुनोक्तेन मरणं
नास्ति तस्य वै॥ देहीव दृश्यते लोके दग्धकर्पूरवत्स्वयं॥ योगात्परतरं पुण्यं योगात्परत
रा स्थितिः॥ योगात्परतरं सूक्ष्मं योगमार्गात्परं न हीति महाभारते॥ समीरणगतो वह्निरीहे ४१

त्कृत्स्नां महीमपि॥ तद्वज्ज्ञानबलो योगी दीप्ततेजा महाबलः॥ अंतकाल इवादित्यः कृत्स्नं
संशोषयेज्जगत्॥ विशंति चावशान्पार्थ योगान्योगबलान्विताः॥ प्रजापतीनृषीन्देवान्महाभूतानि
चेश्वराः॥ न यमो नांतकः क्रुद्धो न मृत्युर्भीमविक्रमः॥ ईशते नृपते सर्वे योगस्यामिततेजसः॥ आ
त्मनां सहस्राणि बहूनि भरतर्षभ॥ योगी कुर्याद्बलं प्राप्य तैश्च सर्वैर्महीं चरेत्॥ प्राप्नुयाद्विषया
न्कांश्चित्पुनश्चोग्रं तपश्चरेत्॥ संक्षिपेच्च पुनस्तात सूर्यस्तेजोगुणानिवेति॥ मानसोल्लासे॥ श्रुत्वा
चार्यप्रसादेन योगाभ्यासबलेन च॥ ईश्वरानुग्रहेणापि स्वात्मबोधो यदा भवेत्॥ भुक्तं यथा त्वं कु
क्षिस्थं स्वात्मत्वेन च पश्यति॥ पूर्णाहंता कवलितं विश्वं योगीश्वरस्तथेति॥ राजयोगे वामदेवं
प्रति शिववाक्यं॥ राजयोगस्य माहात्म्यं को हि जानाति तत्त्वतः॥ तज्ज्ञानी वसते यत्र स देशः पु
ण्यभाजनं॥ दर्शनादर्चनात्तस्य त्रिसप्तकुलसंयुताः॥ अज्ञा मुक्तिपदं यांति किं पुनस्तत्प

यो॰वि॰ रायणाः॥ अंतर्योगं बहिर्योगं योजानाति विशेषतः॥ त्वयामयाप्यसौवंद्यःशेषैर्वंद्यस्तु किंपुनरिति॥
४२ कूर्मपुराणे॥ एककालं द्विकालंवा त्रीकालं नित्यमेववा॥ येयुंजंतेमहायोगं विज्ञेयस्तेमहेश्वराइति
गीतायां॥ तपस्विभ्योधिकोयोगी ज्ञानिभ्योऽपिमतोधिकः॥ कर्मिभ्यश्चाधिकोयोगी तस्माद्योगी
भवार्जुनेति॥ ब्रह्मांडपुराणे॥ गृहस्थानां सहस्रेणवानप्रस्थशतेनच॥ ब्रह्मचारिसहस्रेण
गी योगीएवविशिष्यते इति ब्रह्मवैवर्ते॥ कृतार्थौपितरौतेन धन्योदेशः कुलंचतत्॥ जायतेयोग
वान्यस्यदत्तमक्षयतांव्रजेत्॥ दृष्टस्संभाषितस्स्पृष्टः पुंसश्चान्योविवेकवान्॥ वकोटिशतोपि न
ध तंपुनातिव्रजिनंनृणाम्॥ अयंतुपरमोधर्मोयद्योगेनात्मदर्शनमिति वाशिष्ठे॥ यस्यानुर्ध्वपर्यंतं भ
तत्वबुद्धिःप्रवर्तते॥ तद्दृष्टिगोचराः सर्वेमुच्यंतेसर्वपातकैः॥ स्कंदपुराणे॥ आसनेनरुजंहंतिप्रा
णायामेनपातकं॥ विकारंमानसंयोगीप्रत्याहारेणमुंचति॥ धारणाभिर्मनोधैर्यंध्यानादीश्व ४२

रदर्शनं॥ समाधिनालभेन्मोक्षंत्यक्त्वाकर्मशुभाशुभमिति॥ ननुचित्तवृत्तिनिरोधाख्ययोगस्यप्रमा
णवहिर्भूतस्यकथंतज्जन्यज्ञानेनाज्ञाननिवृत्तिमंतरामोक्षस्यसंभावनाप्यस्ति॥ तथाचश्रुतिः॥
तमेवविदित्वातिमृत्युमेतिनान्यःपंथाविमुक्तये इतिचेत्॥ सत्यं॥ मनसैवानुद्रष्टव्यं दृश्यतेत्व
ग्र्यया बुद्ध्यासूक्ष्मदर्शिभि इत्यादिश्रुतिबलात्मनः प्रमाणंतत्वमस्यादिवाक्यंतुपरोक्षज्ञान
जनकमेवेतिपक्षोपदाश्रीयतेतदायोगाभ्यासनिरस्तसमस्तदोषेणमनसात्मसाक्षात्कारोद
योभवेत्॥ यदातुयतोवाचोनिवर्तंतेअप्राप्यमनसासह॥ एतदप्रमेयंध्रुवमित्यादिश्रुतिब
लात्प्रमाणसहकारिताद्वसंस्कारवन्मनोऽप्रमाणंतत्त्वमसीत्यादिवाक्यादेवापरोक्षज्ञानो
नि दयइतिपक्षस्वीकारस्तदापिसमाधिरस्तसमस्तचित्तदोषस्यपुंसोमहावाक्यादेवसाक्षा
त्कारसंभवः॥ तथाचविद्यारण्यश्रीपादाःध्यातः ध्यानेपरित्यज्यक्रमाद्ध्यानैकगोचरं निर्वा

नदीपवद्बीजसमाधिरभिधीयते॥अमुनावासनाजालेनिःशेषंप्रविलापिते॥समूलोन्मूलितेपु

ण्यपापाख्यकर्मसंचये॥वाक्यमप्रतिबद्धंसत्प्राक्परात्म्यावभासिते॥करामलकवद्बोधमपरो
क्षंप्रसूयतेइति॥किंच॥प्रमाणप्रमेयप्रमातृनिष्ठात्रिविधासंभावनातन्निवारकस्यसांगयोगा
नुष्ठानस्यसाक्षात्कारोद्देशेनश्रुत्यैवविहितत्वात्॥तथाहि॥आत्मावारेद्रष्टव्यः श्रोतव्योमं
तव्योनिदिध्यासितव्यइति॥स्मृतिश्च॥श्रोतव्यःश्रुतिवाक्येभ्योमंतव्यश्चोपपत्तिभिः॥मत्वाचस
ततंध्येयएतेदर्शनहेतवइति॥श्रवणमननेनियमएवेत्युक्तंनिदिध्यासनंतुनिर्गुणोपासनरूपंध्या
नंवासंप्रज्ञातसमाधिरूपंवापरिपक्वंसन्निर्बीजसमाधिर्भवति॥तथाचविद्यारण्यश्रीपादाः॥निर्गु
णोपासनंपक्वंसमाधिः स्याच्छनैस्ततः॥यःसमाधिर्निरोधाख्यःसोनाभ्यासेन लभ्यते॥निरो
धलाभेपुंसोंतरसंगंवस्तुशिष्यते॥पुनःपुनर्वासितेस्मिन्वाक्याज्जायेततत्त्वधीः॥योगाभ्यासस्त्वे ४३

तदर्थोमन्तविंद्वादिषुश्रुतः॥धर्ममेघमिमंप्राहुःसमाधिंयोगवित्तमाः॥वर्षत्येषयतोधर्मामृत
धाराःसहस्रशः॥अनादाविहसंसारेसंचिताःकर्मकोटयः॥अनेनविलयंयांतिशुद्धोधर्मोविवर्द्धतइ
ति॥अत्रयद्यपिउद्दालकपुराणादिवाक्येषुप्राणिमात्रस्ययोगेधिकारोलभ्यते॥तथापिमोक्ष
रूपफलवतियोगेविरक्ताधिकारस्यैवोचितत्वात्॥तथाचवायुसंहितायां॥दृष्टेतथानुश्रविके
विरक्तंविषयेमनः॥यस्यतस्याधिकारोस्मिन्योगेनान्यस्यकस्यचित्॥सुरेश्वराचार्याः॥इहामुत्रविर
क्तस्यसंसारंप्रजिहासतः॥जिज्ञासोरेवचैकाग्र्यंरस्यसेत्यधिकारितेति॥अत्रेयंव्यवस्थाचतु
र्वर्ये।पुब्राह्मणस्यैव॥तत्रापिसंन्यासिनएवतत्रापिइहजन्मजन्मांतरचिराभ्यस्तयोगेनदेहा
त्मज्ञानवत्तानदेहात्मज्ञानबाधकमेतादृशसमुत्पन्नतत्त्वसाक्षात्कारस्यैवमोक्षोभवति॥अ
न्येषांतुक्षत्रियवैश्यशूद्रस्त्रीणांयोगाभ्यासेनतत्त्वनिष्ठानामपिक्रमेणब्राह्मणजन्मासाद्यैव

यो·विं· मोक्षोभवति॥तथाचगीतायां॥मनुष्याणांसहस्रेषुकश्चिद्यततिसिद्धये॥यततामपिसर्वेषांकश्चिन्मां
४४ वेत्तितत्त्वतइति॥तथाचगरुडपुराणे॥योगाभ्यासोन्नृणांयेषांनास्तिजन्मांतराहृतः॥योगस्यप्राप्त
येतेषांशूद्रवैश्यादिकःक्रमः॥स्त्रीत्वाच्छूद्रत्वमभ्येतिततोवैश्यत्वमाप्नुयात्॥ततश्चक्षत्रियोविप्रः
क्रियाहीनस्ततोभवेत्॥अनूचानस्ततोयज्वाकर्मन्यासीततःपरं॥ततोज्ञानित्वमभ्येतियोगीमुक्तिं
क्रमाल्लभेदिति॥येषांजन्मांतराभ्यस्तयोगसंस्कारोनास्तितेषांस्त्रीशूद्रवैश्यक्षत्रियाणांयोगस्यप्रा
प्त्यपेमोक्षस्यलाभपदानींतनयोगांगानुष्ठानेनवास्ववर्णाश्रमविहितधर्मानुष्ठानेनवाउक्तं २
सूक्ष्मधर्मांतरेणवाक्रमेणप्राप्तब्राह्मणजन्मनांकृतसंन्यासानांचिराभ्यस्तयोगानांमोक्षोभ
वतीत्ययंक्रमः॥येषांपुनर्जन्मांतराभ्यस्तयोगसंस्कारोनुवर्ततेतेषांतेनैवपूर्वसंस्कारेणपुनःप्रा
प्तयोगानांक्रमेणब्राह्मजन्मप्राप्तिद्वारामोक्षोभवतीत्यर्थः॥दानधर्मेतुशक्रेणब्राह्मण्या ४४

र्थंतप्यस्यतेमतंगायअयमर्थोविस्तरेणोपवर्णितः॥कदामुक्तिर्भवित्रीनोधर्मजेतेतिचापगाः॥स
माष्टयःप्रत्युवाचब्राह्मणोभवितायदा॥प्रार्थितोमुचुकुंदेनमोक्षार्थमिहकेशवः॥उक्तवानग्रजो
भूत्वामोक्षसेभवबंधनात्॥भरताख्योमहीपालोधर्मव्याधादयस्तथा॥योगाभ्यासरताःशांता
ब्रह्मज्ञानरताअपि॥विप्रजन्मसमासाद्यतेमुक्ताइतिदृश्यते॥तद्व्याख्यानेनलिखितंग्रंथविस्तर
भीतितः॥एवंचसतिजनकादयःक्षत्रियास्तुलाधारादयोवैश्याःगार्गीसुलभाद्याःस्त्रियोविदुरधै
त्नवकादयः॥शूद्राब्राह्मणजन्मासाद्यैवमुक्ताइतिनिश्चीयते॥ननुनिरस्तसमस्तशंकाकलंक
संजातब्रह्मात्मतत्त्वसाक्षात्काराणामपिपुनर्जन्मेत्यसंबद्धमिवभासइतिचेत्॥नसर्वब्रह्मत
चूडामणीनांवसिष्ठादीनामेवानेकजन्मश्रवणात्॥आस्तामेषांजन्मवार्तायेषांप्रसादादेते
षांतत्त्वसाक्षात्कारस्तेषामीश्वराणांब्रह्मविष्णुशिवादीनामनेकजन्मश्रवणात्॥तथाचवासि

द्वेवसिद्धंमतिमुशंकेत्तिः॥मुनेनेवब्रह्मपुत्रस्यजन्माष्टममिदंकिल॥संस्मराम्यष्टमेसर्गेतस्मिंस्त्वम
 मसंगतःकदाचिज्जायसेव्योम्नःकदाचिज्जायसेजलात्॥कदाचिज्जायसेशैलात्कदाचिज्जायु
धे से नलात्॥रक्षसांहननयेविलोमहीमवनारे तः॥अधुनैकादशंजन्मरामनाम्नीभविष्यति॥
वसुदेवगृहे विलोर्भुवोभारनिवृत्तये॥अधुनाषोडशंजन्मभविष्यतिमुनीश्वर॥रेणुकाजन्म
तोजातःपष्ठवारमिमंहरिः॥शतंकलियुगानांचहरेर्बुद्धदशाशत मितिसंस्मरामीत्थंरियासं न
वं धः गीतायांवहूनिमेव्यतीतानिजन्मानितवचार्जुन॥तान्यहंवेदसर्वाणिनत्वंवेत्थप
रंतप॥ननुतेषांजगद्रक्षारूपनियतपालनार्थंजन्मेतिचेत्॥एवंतर्हिमत्कृतेपिब्राह्मणाए
वमोक्षाधिकारीतिपारमेश्वरनियतेर्विद्यमानत्वात्॥ननुजन्ममरणलक्षणसंसारोविद्यते।
स्तत्वज्ञानवैयर्थ्यमितिचेत्॥नभोगैकनाश्यप्रारब्धकर्मप्रतिबंधकायगमेमोक्षस्यावश्यंभा

वित्वात्॥तन्देशगसमयेपिजीवन्मुक्तिकरत्वात्तथाचश्रुतिःतस्यतावदेवचिरंयावन्नविमोक्ष्येथ
संपत्स्येइत्यादिकाःप्रसिद्धश्चायमर्थःश्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासादिषु॥यथाचयोगिनमुक्ति
स्तथात्रापियोगबीजवाक्यान्युदाहरतादर्शितमेवपूर्वं॥ननुकाशीमरणात्प्राणिमात्रस्यमुक्तिः र
श्रूयतेकथंब्राह्मणएकमोक्षाधिकारीतिचेत्॥सत्यं॥तत्रापिशुभाशुभस्वकर्मभुक्तवतएवब्रा
ह्मदिव्यशरीरस्यैवविश्वनाथोपदेशाधिकारिणःश्रुतत्वात्॥दिव्यशरीरस्यचब्राह्मणशरीरस
मशीलत्वात्॥व्यक्तश्चायमर्थोब्रह्मवैवर्ते॥अन्येतुयोगश्रद्धावंतः॥योगाभ्यासेसर्वाधिकारश्चव
त् र्णोयोगोस्यतत्वज्ञानेनसर्वएवमुच्यंते॥योगहीनानांक्षत्रियादीनांतुक्रममुक्तिरित्याहुः॥कूर्म
पुराणेऋषयऊचुः॥भगवन्देवतारिघ्नहिरण्याक्षनिषूदन॥चत्वारोह्याश्रमाः प्रोक्तायोगिना
मकउच्यते॥कूर्मउवाच॥सर्वकर्माणिसंन्यस्यसमाधिमचलंश्रितः॥यआस्तेनिश्चलोयोगी॥

ससंन्यासीनपंचमः॥तस्मादेतद्द्विजातीनामाश्रमाणांचतुष्टयं॥सर्वेषुवेदशास्त्रेषुपंचमोनोप
पद्यतइति॥यःसंप्राप्तनिर्वीजसमाधिःसएवसंन्यासीज्ञेयःसर्वकर्मणांनिःशेषतस्त्यक्त्वात्सा
क्षाज्ज्ञानमोक्षाधिकारित्वात्॥अतएवयोगाभावेसंन्यासोदुःसाध्योऽनर्थाश्चपदेपदेभवंति
॥भगवद्गीतायां॥यंसंन्यासमितिप्राहुर्योगंतंविद्धिपांडव॥नह्यसंन्यस्तसंकल्पोयोगीभवतिक
श्चन॥संन्यासस्तुमहाबाहोदुःखमाप्तुमयोगतः॥योगयुक्तोमुनिर्ब्रह्मनचिरेणाधिगच्छति॥न
नुबहुकालसाध्येयोगेप्रवृत्तस्यपुरुषस्यदैवान्मध्येमृतस्यव्यर्थपरिश्रमभयेनप्रचंडविघ्ने
स वीविषयसंगेदोषेणवायोगंपरित्यक्तवतोदुरत्ययप्रत्यवायशंकयावनप्रेक्षावतोनप्रवृत्तिर्यु
ज्यतइतिचेत्॥योगाभ्यासमध्येनतस्ययोगिनोयागतिः॥साचवसिष्ठेनोक्तायोगसप्तभूमिकावि
वरणेभूमिकाश्चवक्ष्यंते॥रामउवाच॥मूढस्यासकृत्न्योत्यस्यप्रवृत्तस्याधमस्यच॥अप्राप्तयो

च
गसंगस्यकथमुत्तरणंभवेत्॥एकमथद्वितीयांवातृतीयामुत्तराःचवा॥आरूढस्यमृतस्यापिकीदृ
भूत शीभवेद्गतिः॥वसिष्ठउवाच॥भूम्यारूढ[illegible]स्यतावत्संसृतिरातता॥यावज्जन्मांतरशतैर्नो
दितासमयमात्रभूः॥अथवासाधुसंगत्याकाकतालीययोगतः॥संसारस्यपरामर्शाद्वैराग्यंसमु
देतिहिवैराग्येभ्युदितेजंतोरवरंभूमिकोदयः॥ततोनश्यतिसंसारइतिशास्त्रार्थसंग्रहः॥योगभू
मिकयोत्क्रांतजीवितस्यशरीरिणः॥भूमिकांशानुसारेणक्षीयतेपूर्वदुःकृतं॥ततःसुरविमाने
षुलोकपालपुरेषुच॥मेरूपवनकुंजेषुरमतेरमणीसखः॥ततःसुकृतसंभारेदुःकृतेचपुराकृते॥भो
गक्षयात्परिक्षीणेयोगीचजायतेपुनः॥शुचीनांश्रीमतांगेहेगुप्तेगुणवतांसतां॥जनित्वायो
गमेवैषसेवतेयोगवासितः॥तत्रप्राग्भावनाभ्यस्तयोगभूमिक्रमंबुधः॥दृष्ट्वोपरिपतत्युच्चैरुत्तरं
भूमिकाक्रमं॥योगबीजेदेव्युवाच॥कथंयत्वंप्रहादेवकाकमर्कटयोर्मते॥ईश्वरउवाच॥

अन्यग्रंथेमयाप्रोक्तंकथयामिसुरेश्वरि॥ आदिनाथमहामार्गएकएवहिनान्यथा॥ द्विधेवसंप्रती
येनजन्मांतरविभेदतः॥ क्रमेणप्राप्यतेप्राप्यमभ्यासादेवनान्यथा॥ एकेनैवशरीरेणयोगाभ्यासाछ
नैःशनैः॥ चिरात्संप्राप्यतेसिद्धिर्मर्कटक्रमएवसः॥ योगसिद्धिंविनादेहःप्रमादाद्यदिनश्यति॥ पूर्ववा
सनयायुक्तःशरीरंचान्यदाप्नुयात्॥ ततःपुण्यवशात्सिद्धगुरुणासहसंगतिः॥ पश्चिमद्वारमा
र्गेणजायतेत्वरितंफलं॥ पूर्वजन्मकृताभ्यासात्सत्वरंफलमश्नुते॥ एतदेवहिविज्ञेयंतत्काकम
तमुत्तमं॥ नस्मात्काकमतान्नास्तिह्यभ्यासस्यपरंपदमिति॥ भगवद्गीतायां॥ अर्जुनउवाच॥
अतिःप्रश्रद्धयोपेतद्धत्यारम्यतनोपतिपरांगतिमित्यंतप्रश्नोत्तररूपं॥ कीदृशोयोगोमयाविज्ञेय
इतिश्रद्धयायोगंजिज्ञासमानोपिपुरुषः॥ शब्दब्रह्मवेदस्तस्यातिवर्तनंचेदं॥ सर्ववेदोक्तसर्वक
र्मसर्वफलायेक्षयाधिकंचिरकालंब्रह्मादिलोकवासलक्षणंफलंप्राप्नोतिपदायोगजिज्ञासामा

त्रेणैतादृशंफलंतदाकिमुवक्तव्यंयोगाभ्यासेनफलाधिक्यमितिकैमुतिकन्यायमाहजिज्ञासुरपीत्या
न् दिना॥ राजयोगे॥ आरिशत्तिपुर्मोवेयामत्तोलब्धवत्तोपुरा॥ अधुनाजन्मसंस्कारंत्वमेकोलब्धवानसि॥
अन्यजन्मकृताभ्यासात्स्वयंतत्त्वंप्रकाशते॥ सुप्तोत्थितोसोप्रत्यक्षंगुपदेशादिनाविनेतिस्कंदपुरा
यत् णेअमार्गेणापियोगंश्रद्दधानःसमभ्यसेत्॥ सोपिकालेनवहुनाध्रुवंयोगमवाप्नुयादिति॥ जै
गीषव्योयथाविप्रोयथाचैवोषितादयः॥ क्षत्रियाजनकाद्यास्तुतुलाधारादयोविशः॥ संप्राप्तापूर्वजन्म न्म
समाधितःपरमांसिद्धिंपूर्वाभ्यस्तस्वयोगतः॥ धर्मव्याधादयः॥ सत्यशूद्राःपैलवकादयः॥ मैत्रेयीसु
लभाशार्ङ्गीशांडिलीचतपस्विनी॥ एतेचान्येचवहवोनीचयोनिगताअपि॥ ज्ञाननिष्ठांपरांप्राप्ताः
स पूर्वजन्मसमाधितः॥ केचपूर्वजन्माभ्यस्तयोगाःस्वाभ्यासपुण्यतारतम्येनकेचिद्ब्रह्मत्वंकेचि...
...केचिद्ब्रह्मपुत्रत्वंकेचिद्ब्रह्मर्षित्वंकेचिन्मुनित्वंभूपत्वंचप्राप्ताःसंतस्तत्रोपदेशंविनैवात्मसाक्षात्का

ति

नि रवँतावभूवुः॥यथाहिरण्यगर्भवसिष्ठनारदसनत्कुमारादिशैववामदेवशुकादयोजन्मसिद्धा ह्येव ३

पुराणादिषुश्रूयन्ते॥नास्तिरागसमंदुःखंनास्तित्यागसमंसुखं॥नास्तिशंभुसमोदेवोनास्तियोगस
मागतिः॥भूमिकास्तुहेयदुःखात्यंतहानाख्यकैवल्यसाधनीभूततत्वज्ञानेसत्यमपज्ञोर्याभिरूपिता नी
भगवतापतंजलिनासप्तमोक्तः॥सप्तविधातस्यप्रांतभूमौप्रज्ञेतिसूत्रेण॥तद्व्याख्यानंतु॥उत्प
न्नविवेकख्यातेःपुंसःप्रांतभूमौसकलसालंबनसमाधिपर्यंतेप्रज्ञासप्तविधाभवति॥तत्रका
र्यमुक्तिरूपाचतुर्विधा॥ज्ञातंमयाज्ञेयंनज्ञातव्यंकिंचिदस्ति॥क्षीणामेक्लेशानक्षेतव्यंकिंचिद
स्ति॥अधिगतंमयाहातं॥प्राप्तामयाविवेकख्यातिरिति॥प्रत्ययांतरपरिहारेणतस्यामवस्था
यामीदृश्येवप्रज्ञाजायते॥एषाधीःकार्यविषयनिर्मलज्ञानरूपत्वात्कार्यविमुक्तिरित्युच्यते॥
चित्तविमुक्तिस्त्रिविधाचरितार्थामेवुद्धिः॥गुणाःकृताधिकारागिरिशिखर॥पतिताग्रावाएवेन

पुनः॥स्थितिर्यास्यंतिस्वकारणेप्रलयाभिमुखानामेषांमोहाख्यमूलकारणाभावान्निःप्रयोजनत्वा
च्चकुतःप्रवाहः॥सात्मीभूतश्चमेसमाधिस्तस्मिन्सतिस्वरूपेप्रतिष्ठोहमित्येतादृशीत्रिविधाचित्तविमु
क्तिरिति॥तदस्याःसमस्तप्रज्ञायाःस्वरूपनिष्ठोहमित्याकारकत्वात्स्वरूपस्यचएतदात्म्यमिदं
सर्वंतत्सत्यंसआत्मातत् त्वमसि॥कमिह्यन्यंवावदिपतसएतमेवपुरुषंतमपश्यदितिएषतआ
त्मांतर्याम्यमृतइतिनान्यदतोस्तिद्रष्टेति॥अहंत्वमसित्वंवाहमस्मि॥सत्वमेवतदितिश्रुतिभिर्व्रति
स्वभेदसिद्धेरहंब्रह्मास्मीत्याकारोविवेकख्यातौभवत्येव॥अस्यापिनसाक्षान्मोक्षसाधनत्वंकिं
त्वेतदनंतरभाविनिर्विकल्पकद्वारैवतस्यैवसर्ववृत्तिनिरोधरूपस्यमुख्ययोगस्यमोक्षसाधन
ली त्वंपूर्वोपन्यस्तेपुस्मृतिपुराणवाक्येषुनिर्देशात्॥अस्याश्चहानसाधनीभूतायाविवेक रे
ख्यातेरुत्पत्तौयमनियमाद्यंगानुष्ठानमेवचित्तशुद्धिद्वारानिमित्तमितिव ते॥एतास्तुवासिष्ठे
ते क्ष्ये

यो॰वि॰ स्तरेणप्रोक्ताःतयाएष्ववाक्येषुनिर्देशात्॥अस्याश्चहानिःवसिष्ठउवाच॥इमांसप्तपदांज्ञानभूमि
४८ माकर्णयानघ॥नानयाज्ञातयाभूयोमोहपंके.नमज्जति॥वदंतिवहुभेदेनवादिनोयोगभूमिकाः
॥ममत्वभिमतानूनमिमाएवसुखप्रदाः॥अवबोधंविदुर्ज्ञानंतदिदंसप्तभूमिकं॥मुक्तिस्तुज्ञे
यमित्युक्तभूमिकाभूमिकांतरे॥ज्ञानभूमिःशुभेच्छाख्याप्रथमासमुदाहृता॥विचारणाद्विती
यातुत्ततीयातनुमानसा॥सत्वापत्तिश्चतुर्थीस्यात्ततोसंसक्तिनाभूमिका॥पदार्थभावनीषष्ठी
सप्तमीतुर्यगास्मृता॥आसामंतस्थितामुक्तिर्यस्यांभूयोनशोचति॥एतासांभूमिकानांत्वमि
दंद्विवचनंशृणु॥ किंमिस्तिष्ठामिमूढएवप्रेक्ष्येहंशास्त्रसज्जनैः॥वैराग्यपूर्वमिच्छेतिशुभेच्छेत्युच्यते
वुधैः॥शास्त्रसज्जनसंपर्कैर्वैराग्याभ्यासपूर्वकं॥सदाचारप्रवृत्तिर्याप्रोच्यतेसाविचारणा॥विचा
रणाशुभेच्छाभ्यामिंद्रियार्थेष्वरक्तता॥यत्रसातनुताभावात्प्रोच्यतेतनुमानसा॥भूमिकात्रितया ४८
भ्या

भ्यासाच्चित्ते र्थविरतेर्वशात्॥सत्वात्मनिस्थितेशुद्धेसत्वापत्तिरुदाहृता॥दशाचतुष्टयाभ्या
९ सादसंगफलाभ्यशं॥रूढसत्वचमत्कारात्प्रोक्तासंसक्तिनामिका॥भूमिकापंचकाभ्यासात्स्वा
त्मारामतयादृढं॥आभ्यंतराणांवाह्यानांपदार्थानांचभावनात्॥परप्रयुक्तेनचिरंप्रय
त्नेनावबोधनं॥पदार्थभावनीषष्ठीनामसंजायतेगतिः॥भूमिषट्कचिराभ्यासाद्भेदस्यानु
पलंभतः॥यत्स्वभावैकनिष्ठत्वंसाज्ञेयातुर्यगागतिः॥एषाहिजीवन्मुक्तेषुतुर्यावस्थेहविद्यते॥
विदेहमुक्तिविषयेतुर्यातीतमतःपरं॥रामउवाच॥सप्तानांयोगभूमीनामभ्यासःक्रियते
कथं॥कीदृशानितुचिन्हानिभूमिकांप्रतियोगिनः॥वसिष्ठउवाच॥प्रवृत्तश्चनिवृत्तश्चभवति
द्विविधःपुमान्॥स्वर्गापवर्गोन्मुखयोःशृणुलक्षणमेतयोः॥कियत्तन्नामनिर्वाणंवरंसंस्
तिरेवमे॥इतिनिर्णीयकर्तायःसप्रवृत्तउदाहृतः॥चलार्णवयुगच्छिद्रकूर्मग्रीवामवेशवत्॥

अनेकजन्मनामंते विवेकी जायते पुमान्॥ असारावत्तसंसारव्यवस्यालंममैत्तया॥ किंकर्मभिः
पर्युपितैर्द्दिनं तेनैवनीयते॥ क्रियातिशयनिर्मुक्तं किंस्याद्विश्रमणं परं॥ इतिनिश्चयवान्योऽहि
सनिवृत्तइतिस्मृतः॥ कथंविरागवान्भूत्वासंसारात्तुराम्यहं॥ एवंनिवारणपरोयदाभवतिसर ते
न्मतिः॥ विरागमुपयात्यंतर्वासनास्वनुवासरं॥ क्रियासूदाररूपासुक्रमतेमोदतेऽन्वहं॥ ग्रा
म्यासुजडचेष्टासुसततंविचिकित्सति॥ नोदाहरतिकर्माणिपुण्यकर्माणिसेवते॥ पापाद्वि
भेतिसततंनचभोगमपेक्षते॥ स्नेहप्रणयगर्भाणिपेशलान्युचितानिच॥ देशकालोप
ना पन्नानिवचंस्यभिभापते॥ तदासौप्रथमामेकांप्राप्तोभवतिभूमिकां॥ मनसाकर्मणावाचास
ज्जनानुपसेवते॥ यतःकुतश्चिदानीयज्ञानशास्त्राण्यवेक्ष्यते॥ एवंविचारणानाम्नीमागर
तोयोगभूमिकांश्रुतिस्मृतिसदाचारधारणाध्यानकर्मणा॥ मुख्यया व्याख्य यास्वातानश्रेष्ठ

पंडितान्॥ पदार्थप्रविभागज्ञःकार्याकार्यविनिर्णयं॥ जानात्यधिगतश्चान्योगृहंगृहपतिर्यथा॥ मदाभिर
मानमात्सर्यदंभमोहातिशायतां॥ वहिरर्थास्थितामीषत्यजत्यहिरिवत्वचं॥ इत्थंभूतमतिःशास्त्र
स गुरुज्जनसेवया॥ सरहस्यशेषेणयथावदधिगच्छति॥ असंसंगाभिधामन्यांतृतीयांयोगभूमिकां॥
त ॥ततःपंत्यसौकांतःपुष्पशय्यामिवामलां॥ यथावच्छास्त्रवाक्यार्थेमतिमाधाय निश्चलां॥
तापसाश्रमविश्रांतैरध्यात्मकथनक्रमैः॥ संसारनिरदकैस्तद्वदध्यात्मकथनक्रमैः॥ शिलाशय्यासना
सीनोजरयत्यापुरातनं॥ वनावविहारेणचित्तोपरमशोभिना॥ असंगसुखसौख्येन कालेनयति न
नीतिमान्॥ अभ्यासात्साधुशास्त्राणांकरणात्पुण्यकर्मणां॥ जंतोर्यथावदेवेयंवस्तुदृष्टिःप्रसीदतिप्र ३
॥तृतीयांभूमिकांप्राप्यबुद्धोऽनुभवतिस्वयं॥ द्विप्रकारमसंसंगंतस्यभेदमिमंश्रृणु॥ द्विविधायः
[illegible]

यो॰वि॰ [redacted])मसंमंगसामान्यःश्रु
५१ एवच॥नाहंकर्त्तानभोक्ताचनवाध्योनचवाधकः॥इत्यसंजनमर्थेषुसामान्यासंगनामकं॥प्राक्कर्म
निर्मितंसर्वमीश्वराधीनमेववा॥सुखंवाथदिवादुःखंकेवात्रममकर्तृता॥भीतुभो॰ ॰गामहारो
गाःसंपदःपरमापदः॥वियोगायैवसंयोगाआधयोव्याधयोधिपः॥कालःकलेवनीयुक्तःसर्वभा
वाश्विनाशयन्॥तियनीतिविचारोयःसामान्यासावसंगनः॥अनेनक्रमयोगेनसंयोगेनमहात्म
नां॥वियोगेनासत्तामंतः प्रयोगेनात्मसंविदां॥पौनुषेणप्रयत्नेनसंततात्प्यासयोगतः॥करा
६ मलकवैस्तुन्यागमेस्फुटतांदृढं॥नाहंकर्तेश्वरःकर्ताकिमेवाप्रा क्तनंमम्मैकृत्वादूरतरेनूनमिति
शब्दार्थभावनं॥संसारांवुनिधेःपारसाराम्सारपरमकारणं॥मं॰नसंभ्रामसश्रेष्ठासंगउ न्मौ
च्यते॥यत्रांतर्लेवहिर्न्नाधोनोर्ध्वनाशासुतांवरे॥नपदार्थेनवैक्यार्थेनहेनावैवचननं॥आमितंरे ५१
वा

भासनंशौन्सभाज्ञनसभावनं॥अनाद्यंतमजंकांतंतच्छ्रेष्ठोसंगउच्यते॥संतोषामोदमधुरसंगको
मलपल्लवः॥चित्तनालाग्रसंलीनोविद्रूकंटकसंकटः॥विवेकपयोरूढोनविवेकार्कविकाशितः॥
फलंफलात्पसंसंगात्तीयांभूमिकामिमां॥समवायाद्विशुद्धानांवियात्पुण्यकर्मणां॥काकता तं
लीययोगेनप्रथमोदेतिभूमिका॥भूमिःप्रोदितमात्रांतरम्नतांकुरिकेक्सा॥विवेकेनांवुसेकेन
रक्षापाल्याप्रयत्नतः॥येनांशेनाञ्जसत्वेपांविचारेणादयंनयेत॥तमेषानुदिनंयत्वाकृपीवल
द्रुवांकुरं॥एपाहिपरिमष्टांतरन्यासांपसवैक्कभूःद्वितीयांभूमिकांप्लानात्तीयांप्रामुयात्ततः॥
श्रेष्ठात्पसंगनाख्येपात्ततीयाभूमिकात्रहि॥[redacted]॥भषतिभ्रांतिनाशेपसंकल्पकलनःपुमान्॥भूमिकात्रि॥तयंवितद्रामजा

यो॰ वि॰ ग्रदिदं स्मृतं जाग्रं जीवात्र विस्पष्टं भेदबुद्ध्यनुवर्तनात्॥ उदेति योगयुक्ता नाम न्नके वलमां र्यता॥ यां द

५२ भ ष्ट्वा मूढबुद्धीनोप्युदेति मुमुक्षुता॥ कर्तव्यमाचरन्काममकर्तव्यमनाचरन्॥ तिष्ठति प्रकृताचारो यः

सत्रायं इति स्मृतः॥ प्रथमायामंकुरितं भूमौ विकाशितं ततः॥ द्वितीयायां तृतीयायां फलत्याये व

मुत्तमं॥ आर्यतायां मतो योगी शुद्धः संकल्पसंभ्रतान्॥ भोगान्मुक्त्वापि रंका लयो भवान्जायते पु

नः॥ भूमिकात्रितयाभ्यासादज्ञाने क्षयमागते॥ सम्यग्ज्ञानोदयो किते पूर्णचंद्रोदयोपमे॥ निर्विभा

गमनाद्यं तेयोगिनो युक्तचेतसः॥ समं सर्वं प्रपश्यंति चतुर्थी भूमिकां गताः॥ अद्वैते स्थैर्यमायाते द्वैते

भ प्रशमागते॥ पश्यंति स्वप्नवल्लोकं चतुर्थी भूमिकामिताः॥ भूमिकात्रितयं जाग्रच्चतुर्थी स्वप्न उच्यते॥

चित्तं शरत्तु रदभ्रांशविलासं प्रविलीयते॥ सत्तावशेष एवास्ते पंचमी भूमिकां गतः॥ जगद्विक

ल्पि नोदेति चित्तस्यात्र विलापनात्॥ पंचमी भूमिकामेत्य सुषुप्तपद नामिकां॥ शांताशेष विशेषां

५

शस्तिष्ठत्य द्वैतमात्रके॥ गलितद्वैतनिर्भासो मुदितोंतः प्रबुद्धवान्॥ सुषुप्तघन एवास्ते पंचमी॥

भूमिकां गतः॥ अंतर्मुखतया तिष्ठन्बहिर्वृत्तिपरोपि सन्॥ परिशांततया नित्यं निद्रालुरिव लक्ष्यते

॥ कुर्वन्नभ्यासमेतस्यां भूमिकायां विवासनः॥ षष्ठीं तुर्याभिधामन्यां क्रमात्पतति भूमिकां॥ यत्र

नासन्न सद्रूपो नाहं कृतिः॥ केवलं क्षीणमनन आस्ते द्वैतैक्यनिर्गतः॥ निर्ग्रंथिः शांतसंदेहो

जीवन्मुक्तो विभावनः॥ अनिर्वाणोपि निर्वाणश्चित्रदीप इव स्थितः॥ अंतःशून्यो बहिःशून्यः शून्यः

कुंभ इवांबरे॥ अंतःपूर्णो बहिःपूर्णः पूर्णः कुंभ इवार्णवे॥ किंचिदेव परं संपन्नस्त्वथवैव न किंचन॥

षष्ठ्यां भूम्यामसौ स्थित्वा सप्तमीं भूमिमाप्नुयात्॥ विदेहमुक्तिता नात्र सप्तमी योगभूमिका॥ अ

गम्या वचसां शांता सा सीमा भूमिपुकेश्चित्सा शिव इत्युताके श्चिद्ब्रह्मेत्युदान्हताके श्चिद्विद्वपुर

निप्रात्काकेश्चिच्छून्यमिति स्मृता॥ अर्थ इत्युदिता केश्चित्केश्चित्काल इति रोता॥ केश्चित्स्व कृति

पुंभावविभाग इति भावितः ॥ अन्यैरप्यन्यथा नानाभेदैरात्मविकल्पितैः ॥ नित्यमव्यपदेश्यं च कथं
चिद्व्यपदिश्यते ॥ सप्तैता भूमिकाः प्रोक्ता मयात्र वरवृद्धह ॥ आसामभ्यासयोगेन नरः स्वमनुभूय
न इति ॥ इति श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीरामचंद्रसदानंदसरस्वतीशिष्यशिवानंदविरचि
ते योगचिंतामणौ प्रथमः परिच्छेदः ॥ अथ योगिनः ॥ ॥ कृत्याकृत्यनिर्णयः ॥ ॥ सम्य
ग गाराधितसद्गुरुप्रसादा साधितसरहस्यसांगोपांगयोगो निरंतराभ्यसनशीलो यथोक्तफलं प्राप्नोत्येव
मुमान् ॥ स्कंदपुराणे ॥ आचार्याद्योगसर्वस्वमवाप्य स्थिरधीः स्वयं ॥ यथोक्तं लभते तेन प्राप्नोत्य
च पि निर्वृतिमिति ॥ सुरेश्वराचार्याः ॥ गुरुप्रसादाल्लभते योगमष्टांगसंयुतं ॥ शिवप्रसादाल्लभते
योगसिद्धिं च शाश्वतीमिति श्रुतिस्तु ॥ यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ॥ तस्यैते कथिता
ह्यर्थाः प्रकाशंते महात्मनः ॥ आचार्यवान्पुरुषो वेद इति ॥ योगबीजे ॥ मरुज्जयो यस्य सिद्धः सं ५३

सेवेत गुरुं सदा ॥ गुरुवक्त्रप्रसादेन कुर्यात्प्राणजयं बुधः ॥ याज्ञवल्क्यः ॥ गुरवः पंच सर्वेषां चतुर्णां
श्रुतिचोदिताः ॥ माता पिता तथाचार्यो मातुलः श्वशुरस्तथा ॥ एषां मुख्यास्त्रयः प्रोक्ता आचार्यः
पिता तथा ॥ एषां मुख्यतमस्त्वेक आचार्यः परमार्थवित् ॥ तस्मात्सर्वेषु कालेषु सर्वैर्निःश्रेय
सार्थिभिः ॥ गुरवः श्रुतिसंपन्नाः पूज्या वाङ्मनसादिभिरिति राजयोगे ॥ वेदांततर्कोक्तिभिरागमै
श्च नानाविधैः शास्त्रकदंबकैश्च ध्यानादिभिः सत्करणैर्न गम्यश्चिंतामणिस्त्वेकगुरुं विहाय
॥ दृष्टिः स्थिरा यस्य विनैव दृश्यं वायुः स्थिरो यस्य विना प्रयत्नं चित्तं स्थिरं यस्य विनावलंबं स नं
एव योगी स गुरुः स सेव्यः ॥ गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः ॥ गुरुदेवात्परं नास्ति तस्मात्तं
पूजयेत्सदा ॥ गुरुणा दर्शितं तत्त्वं तत्क्षणात्तन्मयो भवेत् ॥ मत्वा विमुक्तं चात्मानं मुच्यते नात्र संश
यः ॥ यथा सिद्धरसस्पर्शात्ताम्रं भवति कांचनं ॥ गुरूपदेशश्रवणाच्छिष्यस्तत्त्वमयस्तथा ॥ न केवलं

 गुरूपदेशमात्रादेवसिद्धिःस्यस्यैवपरिश्रमादेवसर्वः सर्वमाप्नोति॥ हठप्रदीपिकायां॥ श्रुतिप्रतीतिः
 स्वगुरुप्रतीतिःस्वात्मप्र तीतिर्मनसोनिरोधः॥ एतानिसर्वाणिसमुच्चितानिधीरैरिहैः कारणानि॥ वात्र
वाशिष्ठे उपदेशक्रमोरामव्यवस्थामात्रपालनंस्यस्यकारणंशुद्धाशिष्यप्रज्ञैवकेवलं॥ विनिवारि
तसर्वार्थारूपहस्तिनंबंधनात्वनस्थघैर्याद्भतेकश्चिदभ्युद्धरतिसंकटात्॥ वैराग्येणाथशास्त्रेणम
हत्वादिगुणैरपि॥ यत्नेनापद्धिआतार्यस्वमेवोल्लासयेन्मनः॥ नतत्त्रिभुवनैश्वर्यान्नकोशाद्धनधा
धे रिणः॥ फलमासाद्यतेचित्ताद्यन्महत्वापद्बृंहितात्॥ राजयोगे॥ तस्मादुपासीतसम्यक्तह्यंमाप्य
ता सद्गुरोः॥ अनायासेनसततमात्माभ्यासरतोभवेत्॥ नित्याभ्यसनशीलस्यस्वसंवेद्यंहितद्भवेत्
॥ इदंतदितितद्वक्तुंगुरुणापिनशक्यते॥ वाङ्मनःकायसंभोगमपत्नेनविवर्जयेत्॥ ब्रह्माहमस्मी
त्यात्मानंसुस्थिरंधारयेत्सदा॥ हठप्रदीपिकायां॥ वर्जयेद्दुर्जनप्रीतिंवह्निस्त्रीपथसेवनं॥ प्रा ५४

स्था

तःस्नानोपवासादि...कायक्लेशादिकंतथा॥ अल्पाहारःप्रयासश्चप्रजल्पोनियमग्रहः॥
न जनसंगश्चलौल्यंचषड्भिर्योगःप्रणश्यति॥ उत्साहात्साहसाद्धैर्यात्तत्त्वज्ञानाद्धिनिश्चयात्॥ जनसं
गपरित्यागात्षड्भिर्योगःप्रसिद्ध्यति॥ मारुतस्यविधिंसर्वंमनोयुक्तंसमभ्यसेत्॥ अन्यत्रतुनकर्तव्या वै
मनोवृत्तिर्मनीषिणेति॥ लिंगपुराणे॥ तप्तांगारसमानारीघृतकुंभसमःपुमान्॥ तस्मान्नारीपुंसंस
च र्ग...नयत्नेनविवर्जयेदिति॥ नारीसंसर्गवर्जनवन्महाविघ्नभूतांधूर्तगोष्ठींचप्रयत्नेनविव न
र्जयेत्॥ धूर्तस्वरूपंतुयथायोगतत्त्वप्रकाशेदत्तात्रेयेणोक्तं॥ तथाहि॥ मुंडितोदंडधारीवा
काषायवसनोपिवा॥ नारायणवदोवापिजटिलोभस्मलेपनः॥ नमः शिवायवाच्योवास्वाचा
रपरिपूजकः॥ स्थानद्वादशयुक्तोवामालाबाहुल्यभूषितः॥ क्रियाहीनोथवाक्रूरः कथंसिद्धि थ
मवाप्नुयात्॥ नवेषधारणंसिद्धेःकारणंनचतत्कथा॥ क्रियैवकारणंसिद्धेःसत्यमेतद्धिसांकृते

यो·चिं· शिश्नोदरार्थंयोगस्यकथयंतिवेषधारिणः॥अनुष्ठानविहीनास्तुवंचयंत्यखिलान्जनान्॥उच्चावचैः

प्रलापैस्तेकुशलादांभिकानराः॥योगिनोवयमित्याहुर्मूढाभोगपरायणाः॥शनैः [illegible] शनैस्तथावि

५५ द्यान्योगाभ्यासविवर्जितान्॥कृतार्थाश्चवचनैरेववर्जयेद्वेषधारिणः॥पतंत्येतेमीविघ्नभूतायोगा

भ्यासस्यसर्वदा॥वर्जयंतिप्रयत्नेनतादृशान्सुधियोनराइति॥वासिष्ठेयस्यस्त्रीतस्यभोगेछानिः

स्त्रीकस्यक्वभोगभूः॥स्त्रियंत्यक्त्वाजगत्त्यक्तंजगत्त्यक्त्वासुखीभवेत्॥नविषंविषमित्याहुर्विष

यंविषमंविषं॥जन्मांतरघ्नाविषयाएकजन्महरंविषं॥यथाशास्त्रविहरतात्वरकायानसिद्धि

रा षु॥चिरंकालप्रपक्वासिद्धिःपुष्टफलाभवेत्इति॥मार्कंडेयपुराणे॥अलर्कः॥भगवन्योगिन

श्चर्यांश्रोतुमिच्छामितत्वतः॥ब्रह्मवर्त्मन्यनुसरन्येनयोगीनसीदति॥दत्तात्रेयः॥संगदोषोभवेद्दुःखं

ममत्वासक्तचेतसां॥तस्मात्संगंप्रयत्नेनमुमुक्षुःसंत्यजेन्नरः॥संगाभावान्ममेत्यस्याःख्यातेर्हा ५५

निःप्रजायते॥निर्ममत्वंसुखायैववैराग्याद्दोषदर्शनं॥ज्ञानादेवचवै ज्ञानंवैरा ग्यपूर्वकं॥त राग्यात्

द्गृहंयत्रवसतिस्तद्भोज्यंयेनजीवति॥यन्मुक्तयेतदेवोक्तंज्ञानमज्ञानमन्यथा॥उपभोगेनपुण्याना

मपुण्यानांचपार्थिव॥कर्तव्यानांचनित्यानामकामकरणात्तथा॥असंचयादपूर्वस्यक्षयात्पू

र्वार्जितस्यच॥कर्मणोवंधनात्यातिशरीरंनपुनर्नरः॥मानापमानौयावेतौप्रीत्युद्वेगकरौनृ

णां॥तावेवविपरीतार्थौयोगिनःसिद्धिकारकौ॥मानापमानौयावेतौतावे वाहुर्विषामृतौ॥अपमा

नोमृतंतत्रमानस्तुविषमंविषं॥चक्षुःपूतंन्यसेत्पादंवस्त्रपूतंपिवेज्जलं॥सत्यपूतांवदेद्वाणींबु

द्धिपूतंविचिंतयेत्॥आतिथ्यश्राद्धयज्ञेषुदेवयात्रोत्सवेषुच॥महाजनेचसिद्ध्यर्थंनगच्छेद्योगवि

त्क्वचित्॥यथैवअवमन्यंतेजनाःपरिभवंतिच॥तथायुक्तश्चरेद्योगीसतांधर्ममदूषयन्॥सारभू

तमुपासीतज्ञानंयत्कार्यसाधकं॥ज्ञानानांवहुतायेयंयोगविघ्नकरीहिसा॥इदंज्ञेयमिदंज्ञेयमि

 नियस्तलिप्तश्चरेत्॥ अपिकल्पसहस्रेषु नैवज्ञेयमवाप्नुयात्॥ वाग्दंडः कर्मदंडश्च मनोदंडश्च ते
त्रयः॥ यस्मैते नियतारंडाः स त्रिदंडी महायतिः॥ सर्वमात्ममयं यस्य सदसज्जगदीदृशं॥ गुणा
५६ गुणमयं तस्य कः प्रियः को नृपाप्रियः॥ विशुद्धबुद्धिः स ॥मलोष्टकांचनः समस्तभूतेषु वसन्समा
चनत् हितः॥ स्थानं परंशाश्वतमव्ययंपरंहिगत्वा न पुनः प्रजापते॥ समाहितो ब्रह्मपरोप्रमादी शुचिस्त्व
थैकांतरुचिर्जितेंद्रियः॥ समामुपा घोगमिमं महात्मा विमुक्तिमाप्नोतिनतश्च योगतः॥ नाध्मा
तक्षुधितः। श्रांतो न चव्याकुलचेतनः॥ मुंजीत योगराजेंद्र योगी सिद्ध्यर्थमादृतः॥ रजसातमसो
वृत्तिं सत्वेन रजसस्तथा॥ संछाद्य विमले तत्वे स्थितो मुंजीत योगवित्॥ एतत्सर्वं समाख्यातं तवा
लर्क यथार्थवत्॥ प्राप्य सेयेन तद्ब्रह्म सनातनं॥ संक्षेपात्रिबोध मे॥ शशांकरश्मिसंयोगाच्चंद्रकांतो
मणिः पयः॥ समुत्सृजति नायुक्तः सोपमा योगिनः स्मृता॥ यथा र्करश्मिसंयोगादर्ककांतो हुता ५६

२ शनं॥ आविः करोति नैकः सन्नुपमा सापि योगिनः॥ पिपीलिकाखुनकुलगृहगोधाकपिंजलाः
॥ वसंति स्वामिवद्गेहे ध्वस्ते यांति ततोन्यतः॥ दुःखं तु स्वामिनो ध्वंसे न तस्य तेषां न किंचन॥ वेश्म
नो यत्र राजेंद्र सोपमा योगसिद्धये॥ नद्धृहंयत्र वसतिस्तन्मेराज्यं येन जीवति॥ यत्न संपद्यते स्वा
र्थस्तत्स्वकं ममता त्रका॥ अल्पपिनापितैः कार्यं करोति करणैर्यथा॥ तथा बुद्ध्यादिभिर्योगी
पारंपर्यैः साधयेत्परं॥ मृद्देहिका ल्पदेहापि मुखाग्रेणाल्पणीयसा॥ करोति मृन्मरा चयमुपमा
सैव योगिनः॥ द्रव्यपूर्णमुपादाय पात्रमारोहतो भुवः॥ तुंगमार्गं विलोक्याच्चैर्विज्ञानं तेन योगि
नः॥ रुनुशाव विषाणाग्रमालोक्य तिलकाकृतिं॥ सहते नैव वर्द्धनं योगी सिद्धिमवाप्नुयात्॥
जीवनोपालं सर्वस्वेति॥ रवान्तपुत्रस्य याचेष्टाताता तं त्वतो ज्ञात्वा योगिनः कृतकृत्यं लति॥
स्वं दपुराणैनानितन्नतः शुधार्तो न न विण्मूत्रप्रबाधितः॥ नाघ्रखिन्नो न चिंतार्तो योगंयुंजी

या·चिं· नयोगवित्॥युक्ताहारविहारश्चयुक्तचेष्टश्चकर्मसु॥युक्तस्वप्नावबोधश्चयोगीतत्वंप्रपश्यति
॥भगवद्गीतायां॥नात्यश्नतस्तुयोगोस्तिनचैकांतमनश्नतः॥नचातिस्वप्नशीलस्यजाग्रतोनै
५२ वचार्जुन॥युक्ताहारविहारस्ययुक्तचेष्टस्यकर्मसु॥युक्तस्वप्नावबोधस्ययोगोभवतिदुःखहा॥
आत्मौपम्येनसर्वत्रसमंपश्यतियोर्जुन॥सुखंवायदिवादुःखंसयोगीपरमोमतः इति॥ब्रह्म
पुराणे॥रजन्याःपश्चिमेयामेपूर्वेचसुसमाहितः॥पूर्वाह्नेमध्यमेचाह्नियुक्ताहारोजितेंद्रियः॥
योगंयुंजीतेतिसंबंधः॥याज्ञवल्क्यः॥प्रातःकालेप्रदोषेचनिशांतेसुसमाहितः॥इतिलिंगपुरा
णे॥नाजीर्णोनरसोहारीनविण्मूत्रप्रबाधितः॥नच्छर्दीनातिसारीचनातिभुक्तःश्रमान्वितः॥
नचातिकर्मनिरतश्चिंताव्याकुलितेंद्रियः॥नमुक्तोगुनुकार्येचनचातिक्षुत्पिपासितः॥नाचरेद्द्
ह्वाधायरोमेनस्याद्दिसंभव॥इतिवायुपुराणे॥नव्याध्यार्तःकदाचनेत्यादिनिषेधानंतरमुक्तं ५२

चोतलगे

४ मूत्रेपुरीषे[illegible]भोजनेचनराधिप॥त्रिकालेनाभियुंजीतयोगंयोगीकदाचन॥अप्रमत्तोयथाध्यायीलक्षंहेति
एतान्दोषान्विनिश्चित्यप्रमादाद्योयुनक्तिवै॥तस्यदोषाःप्रकुप्यंतिशरीरेविघ्नकारकाःजडत्वंब
धिरत्वंचमूकत्वंचापिजायते॥अंधत्वंधृतिलोपश्चज्वरोरोगस्तथैवच॥एतेदोषाःप्रकुप्यंतिह्यज्ञा
नाद्योयुनक्तिवै॥तस्माज्ज्ञानेनशुद्धेनयोगीयुंजन्समाहितः॥अप्रमत्तःसदाचैवनदोषान्प्राप्नु
यात्क्वचिदिति॥महाभारते॥ [illegible] धारःसमाहितः॥महार्णवगतांशीघ्रंनयेत्पार्थि
वसत्तम॥तद्वदात्मसमाधानेयुक्तोयोगेनतत्त्ववित्॥दुर्गमंस्थानमाप्नोतिहित्वादेहमिमंनृप
॥व्यासः॥योगदोषान्समुच्छेद्यान्पंचयान्कवयोविदुः॥कामंक्रोधंचलोभंचभयंस्वप्नं[illegible]
[illegible]चपंचमं॥क्रोधंशमेनजयतिकामंसंकल्पवर्जनात्॥सत्वसंसेवनाद्धीरोनिद्रामुच्छेत्तुमर्हति
धृत्याशिश्नोदरंरक्षेत्पाणिपादंचचक्षुषा॥चक्षुःश्रोत्रेचमनसामनोवाचंचकर्मणा॥अप्रमा
दाद्भयंजह्याद्दंभंप्राज्ञोपसेवनात्॥एवमेतान्योगदोषाञ्जयेन्नित्यमतंद्रितः॥मनसश्चेंद्रियाणां

या॰ चिं॰ चकृत्वैकाग्र्यंसमाहितः॥पूर्वरात्रापरार्द्धेचधारयेन्मनआत्मनि॥कुर्यात्परिचयंयोगेत्रैकाल्येनिय
५८ तोमुनिः॥संनियम्येंद्रियग्रामंकोशभांडमनाइव॥एकाग्रंचिंतयेन्नित्यंयोगान्नोद्वेजयेन्मनः॥येनो
पायेनशक्येतसंनियंतुंचलंमनः॥तंचयुक्तोनिषेवेतनचैवविचलेत्ततः॥नाभिषज्जेत्परेवाचाकर्मणा
मनसापिवा॥उपेक्षकोयताहारोलब्धालब्धेसमोभवेत्॥यश्चैनमभिनंदेतयश्चैनमपवादयेत्
॥समस्तयोश्चाप्युभयोर्नाभिध्यायेच्छुभाशुभं॥नप्रहृष्येत्लाभेषुनालाभेषुचचिंतयेत्॥एवं
स्वस्यात्मनःसाधोःसर्वत्रसमदर्शिनः॥षण्मासान्नित्ययुक्तस्यशब्दब्रह्मातिवर्तते॥एतस्मिन्नि
रतोमार्गेविरमेन्नचमोहितः॥इतिदेशकालाभावेयोगोनसिध्यत्येवनतत्स्तावदादौनिरूप्यते॥
लिंगपुराणे॥स्थानंलब्ध्वैवकुर्वीतयोगांगानितुवैक्रमात्॥अदेशकालेयोगस्यदर्शनंनचवि॰
द्यतइति॥मार्कंडेयपुराणे॥सत्वस्यानुपपन्नोचदेशकालविवर्जिते॥नसतोदर्शनंयोगेतस्मात्त ५८

त्परिवर्जयेत्॥नातिशीतेनचोष्णेवैद्वंद्वेनाग्न्यनिलात्मके॥कालेष्वेतेषुयुंजीतनयोगीध्यानतत्प
रः॥सशब्दाग्निजलाभ्यासेजीर्णगोष्ठेशिवालये॥शुष्कपर्णचयेनै[illegible]श्मशानेऽसरीसृपे॥समये धौ
कूपतीरेवाचैत्यवल्मीकसंचये॥देशेष्वेतेषुतत्वज्ञोयोगाभ्यासंविवर्जयेत्॥स्कंदपुराणे॥नतो
यवह्निसामीप्येनजीर्णारण्यगोष्ठयोः॥नदंशमशकाकीर्णेनचैत्येनचचत्वरे॥केशभस्मतु
षांगारकीकसादिप्रदूषिते॥नाभ्यसेत्पूतिगंधादौनस्थानेजनसंकुले॥इतिलिंगपुराणादिष्व
न्वि पि॥नाशुभेदुर्जनाक्रांतेमशकादिसमे॥नइत्यादिनिषेधाद्रष्टव्याः॥ब्रह्मपुराणे॥नदंशमश
काकीर्णेयोगंयुंजीतकर्हिचित्॥इत्यादिनिषेधानंतरमुक्तदोषानेताननादृत्यमूढत्वाद्योयुनक्ति
वै॥प्रवक्ष्येतस्यदेहेयेजायंतेविघ्नकारकाः॥बाधीर्यंजडतालोपःस्मृतेर्मूकत्वमंधता॥कास
श्वजायतेसद्यस्तद्वदज्ञाननयोगिनः॥तस्मात्सर्वात्मनाकार्यारक्षायोगविदासदा॥धर्मार्थ

यो·चिं· कामंमोक्षाणांशरीरंसाधनंमतरति॥रतात्रेयस्कएतदेशकालनिषेधानंतरंप्रमादेशोका
५८ नेवजन्यत्वादिदोषानभिधायतच्चिकित्सामाह॥प्रमादाद्योगिनांदोषामद्येतस्तुश्चिकित्सितं
॥तेषांनाशायकर्तव्यंयोगिनांतंनिबोधमे॥स्निग्धांयवागूमत्युष्णांभुक्त्वातत्रैवधारयेत्॥वात
गुल्मप्र शांत्यर्थमुदावर्तेतथावधियवागूंचापिपवनंचानयुर्ध्विंप्रतिक्षिपेत्॥तद्वत्कंपमहा
[illegible]शैलंस्थिरंमनसिधारयेत्॥विघातेषचसोवाचिवाधिर्यश्रवणेंद्रिये॥तथैवाम्ल
फलंध्यायेत्तृषार्तोरसनेंद्रिये॥यस्मिन्यस्मिन्रुजोदेहेशेतस्मिंस्तदुपकारिणीं॥धारयेद्धार
णामुष्णेशीतांशीतेविदाहिनीं॥कीलंशिरसिसंस्थाप्यकाष्ठंकाष्ठेनताडयेत्॥तु ल्पस्पत
यो स्मृतिःसद्योयोगिनस्तेनजायते॥[illegible]वाष्टथिवि[illegible]वाद्यग्नेर्व्यापिनावभिधारयेत्॥अमानुषाः
सत्वजानावाधास्वैताश्चिकित्सिताः॥अमानुषंसत्वमंतर्योगिनंप्रविशेद्यदि॥वाय्वग्निधारणा ५८
घो

हे
चैनदेहसंस्थंविनिर्दहेत्॥एवंसर्वात्मनाकार्यारक्षायोगविदान्पप धर्मार्थकाममोक्षाणांशरीरंसा
धनंयतइति अथविहितानिकथ्यंते॥तत्रकालः॥पूर्वमुक्तोवक्ष्यतेच॥आदिपुराणे॥एकांत
गिरिदुर्गेपुनीर्थायतननगद्धरे॥योगस्याभ्यासनंकार्यमितितत्त्वविदोविद्[illegible]दुरिति॥मात्तव
ल्क्यः॥तपाक्तंसुसंप्राप्यफलमूलोदकान्वितं॥तत्ररम्येशुचौदेशेब्रह्मघोषसमन्विते॥स्व
धर्मनिरतैःशांतैर्ब्रह्मविद्भिःसमावृते॥वारिभिश्चसुसंपन्नेपुष्पैर्नानाविधैर्युते॥फलमूलैः नी
सुसंपन्नेसर्वकामफलप्रदे॥देवालयेवानद्यांवाग्रामेवानगरेपिवा॥सुशोभनंमठंकृत्वासर्वकाम ग
समन्वितं॥तस्मिन्योगसबंधःयोगत लप्रकाश॥सुशोभनंमठंकुर्यात्सूक्ष्मद्वारंतुनिःप्रभं॥सु
लिप्तंगोमयेनैवसुधयावाप्र तेयतः॥मक्षिकाम शकैर्देशैरतैश्चवर्जितंसदा॥दिनेदि
नेचसंमृष्टंसंमार्जन्याप्रयत्नतः॥वासितंचसुगंधेनधूपितंगुग्गुलादिभिः॥इति हठप्रदीपिका

यो. वि.

६० यं॥सुराज्येधार्मिकेदेशेसुभिक्षेनिरुपद्रवे॥एकांतेमठिकामध्येस्थातव्यंहठयोगिना॥अल्पद्वा
रमरंध्रगर्तविवरंनात्युच्चनीचायतंसम्यग्गोमयसांद्रलिप्तममलंनिःशेषजंतूज्झितं॥बाह्येमंड
पकूपवेदिरचितंप्राकारसंवेष्टितंप्रोक्तंयोगमठस्यलक्षणमिदंसिद्धैर्हठाभ्यासिभिः॥एवंविधेमठे
स्थित्वासर्वचिंताविवर्जितः॥गुरूपदिष्टमार्गेणयोगमेवसदाभ्यसेदिति॥स्कंदपुराणेसर्वबा
धाविरहितेसर्वेंद्रियसुखावहे॥मनःप्रसादजननेस्रग्धूपामोदमोदितइति॥नंदिपुराणे॥मंदि
प रंरम्यविन्यासंनात्तंगंधोवासितं।धूपामोदादिसुरभिकुसुमोत्करमंडितं॥मुनितीर्थनदीवृक्षपद्मिनी ते
शैलशोभितं॥चित्रकर्मनिबद्धंचचित्रभेदविचित्रितं॥कुर्याद्योगगृहंधीमान्सुरम्यंशुभवर्त्मनाज
या॥दृष्ट्वाचित्रगतांश्लोकांमुनीन्यातिमनःशमं॥सिद्धान्दृष्ट्वाचित्रगतान्मतिरभ्युद्यमेभवेत्॥
मध्येयोगगृहस्याथलिखेत्संसारमंडलं॥श्मशानंचमहाघोरंनरकांश्चलिखेत्क्वचित्॥तान्दृष्ट्वा

६०

भीषणाकारान्संसारेसारवर्जितं॥अनवसादोभवतीयोगीसिध्यतिलालुकः॥पश्यंश्चव्याधिता
न्नग्नान्मत्तांश्चलक्षणान्॥एवंविधश्चशुद्धात्मास्थितोयोगगृहेशुभे॥योगांगान्यभ्य
सेदितिसंबंधः॥लिंगपुराणादिष्वप्येतदेवयोगमठलक्षणमुक्तं॥आहारनियमस्यनाडीशु
द्धिद्वारायोगेऽत्यंतानुकूलत्वादाहारशुद्धौसत्त्वशुद्धिरितिश्रुतेश्चनाडीशुद्धेः॥प्रागाहारोनि
रूप्यते॥तत्रवर्ज्यानि॥दत्तात्रेयः॥अथवर्ज्यानिवक्ष्यामियोगविघ्नकरायोगेऽत्यंतानुकूल
करा णिच॥लवणंसर्षपंचाम्लमुष्णंरूक्षंचतीक्ष्णकं॥अतीवभोजनंत्याज्यमतिनिद्रातिभाष
णमिति॥स्कंदपुराणेऽपित्यजेत्कट्वम्ललवणंक्षीरभोजीसदाभवेदिति॥हठप्रदीपिकायां॥
कट्वम्लतीक्ष्णलवणोष्णहरीतशाकसौवीरतैलतिलसर्षपमत्स्यमद्यं॥अजादिमांसदधि
तक्रकुलत्थकोलपिण्याकहिंगुलशुनाद्यमपथ्यमाहुः॥भोजनमहितंविद्यात्पुनरुष्णीकृतंत

थ॥ अतिलवणं सर्षपं चाम्लमुष्णं चाप्रसितं शाकोत्कटं वर्ज्यं॥ अथ देयानि च॥ गोधूमशालियव
६३ २नी पाष्टिकशोभनान्नं क्षीराज्यमंड न वैत [illegible] मधूनि शुंठीपटोलकफलादिक। तैला२
पंचशाकं मुद्गादि वाल्पमुदकं च मुनींद्रपथ्यं॥ पिष्टं सुमधुरं स्निग्धं गव्यं धातुप्रपोषणं॥ मनो
भिलषितं योग्यं योगी भोजनमाचरेदिति॥ दत्तात्रेये॥ आदेयानि च वक्ष्यामि क्षिप्रं योगस्य
सिद्धये॥ क्षीरं घृतं च मिष्टान्नं मिताहारश्च शस्यत इति॥ केचित्कर्पूरमिच्छंति तांबूलं शोभनं
तथा॥ चूर्णेन रहितं शस्तं पवनाभ्यासयोगिनां योगग्रंथे॥ भानुनाडीगते प्राणे योगी भोजन
माचरेत्॥ सोमनाडीगते प्राणे भोजनं नैव शस्यत इति॥ प्रथमाभ्यासे क्षीरमेव शस्तमित्याह
आत्मारामः॥ अभ्यासे प्रथमे काले शस्तं क्षीरभोजनं॥ ततोभ्यासे दृढीभूते न तादृक् नियम
ग्रहः इति॥ अत्र तांबूलभक्षणं नित्यं तांबूलभक्षक गृहस्थविषयं ज्ञेयमन्येषां भिक्षुकोरिति ६१

निषेधस्योक्तत्वात्॥ नायमस्ति नियमः क्षीरमेव भोक्तव्यमिति॥ किंतु देशकालानुसारेण
यदा यत्प्राप्यते यद्वस्तु विपूर्वकं स्वशरीरसहनेन तदेव भुक्त्वा योगोभ्यसनीय इति ध्येयं॥ य
च्चोक्तं भानुनाडीवहिन्येव प्राणे योगिना भोजनं कार्यमिति॥ तत्तु यदाकाशगमनसामर्थ्यं योगि
नः स्यात्तदा ज्ञेयं तदानीं खलु योगप्रतिबंधन तत्त्वज्ञानानुत्पत्त्या मोक्षासिद्धेः॥ ननु सायंप्रात
र्मनुष्याणामशनं देवनिर्मितं॥ अंतराभ्यासेन तत्र सर्वनियमानुष्ठानस्यावश्यकत्वं वक्ष्यमा
णत्वात्॥ प्रथमाभ्यासे तु यदा क्षुधा न दैव भोक्तव्यमेवान्यथा योगाग्निनिरोधे धातुवैषम्येन नाना
रोगसंभवादि संभवेन योगप्रतिबंधेन तत्त्वज्ञानानुत्पत्त्या मोक्षासिद्धेः॥ ननु सायंप्रातर्मनुष्याणा
मशनं देवनिर्मितं॥ अंतरा नाशनं कुर्यादग्निहोत्रसमो विधिः॥ यतीच ब्रह्मचारी च विधवा च र
जस्वला पुनर्भोजनं नाप्नुलं भुक्त्वा चांद्रायणं चरेदित्यादि॥ धर्मशास्त्रे चतुर्णामपि वर्णाश्रमाण

मेकद्विकालभोजनस्य विहितत्वात्कथमनियतभोजनं नियम्यते न च योगीनामाश्रमांतरमस्ति पू
र्वोक्तानामेव चतुर्णां वर्णाश्रमाणां योगाभ्यासेधिकारस्य दात्तत्पुराणादिवाक्येषु दर्शितत्वादिति
चेत्॥ न तथा तस्याः योगिविषयत्वात्॥ कुतो ज्ञातमिति चेत्॥ अतितस्यस्याति क्षुधार्तस्य योगा
भ्यासनिषेधात्सदाचाभ्यासविधानादवगच्छामः यदा यदा क्षुधान्तदा तदा भोक्तव्यमेवेति
न चैककालभोजनस्य ज्ञानांगभूतस्यानुरोधेन सर्वापेक्षया प्रधानभूतज्ञानस्य लोपो युक्त इति
मुख्यामुख्ययोः संपाते मुख्यं बलवदिति न्यायात्॥ अत एव श्रुत्यंतरे योगाभ्यासिनो
भोजनानियमः श्रूयते तथा हि॥ एककालं द्विकालं वा चरेत्परमहंसकः॥ येन केन प्रकारेण ज्ञा
नाभ्यासपरो भवति रिति॥ अत्र यतिपदं आश्रमत्रयस्याप्युपलक्षणं॥ अथाचरयं ज्ञातव्यं शरी
रयोगिना यन्नि रूप्यते न च न तज्ज्ञानं विना योगसिद्धिरस्ति तथा च गोरक्षः षट्चक्रं षोडशाधारं
न्नि

द्विलक्ष्यं व्योमपंचकं॥ स्वदेहे ये न जानंति कथं सिध्यंति योगिनः॥ एकस्तंभं नवद्वारं गृहं पंचाधि
दैवतं॥ स्वदेहं ये न जानंति कथं सिध्यंति योगिन इति॥ षट्चक्रं षोडशाधारा वक्ष्यं वा व्योमाभ्यांत
रं चा॥ भूब्राणादिकं मूलाधाराधिकं मव्योमपंचकं तुरीयं ठनानुमूर्रं भ्रांतं॥ एकस्तंभं नवगृहमन ले
सद॥ शरीरं धियतमनस्तंभरूपं मन एव मूलाधारस्वाधिष्ठानमणिपूरानाहतविशुद्ध्यंते षुय
थाक्रमं ब्रह्मविष्णुरुद्रेश्वरसदाशिवा देवताः कनोयापनशुद्धाः स्युर्न्नीरूपः सर्वदेहिनां॥ उ
चैव त्पत्तिं चौडीनां धारणां च यथाविधि॥ केदृशस्तु कीदृशप्रातः क तिति ष्ठंति वायवः स्थानानि
चैव वायूनां कर्माणि च पृथक् पृथक्॥ विज्ञातव्यानि यान्यस्मिन्देहे हे रमनां वर॥ वक्तुमर्हसि
तत्सर्वं न्ननो वतानविघते॥ इत्युक्तो भार्यया तत्र सम्यक्तद्गतमानसः॥ गार्गी तां च समालोक्य
तत्सर्वं समभाषत॥ शरीरं तावदेव देहं परंए वत्यंगुलात्मकं॥ विद्यते तत्सर्वजंतूनां स्वांगुलीभिरिति

यो·चिं· प्रीये॥ शरीराद्धिकः प्राणो द्वादशांगुलमानतः॥ चतुर्दशांगुलं केचिद्वदंति मुनिसत्तमाः॥ द्वादशां
गुलमेवेति वदंति ज्ञानि[illegible]नो नराः॥ प्राणोऽपानः समानश्च उदानो व्यान एव च॥ नागः कूर्मश्च कृ
६३ कलो देवदत्तो धनंजयः॥ एते नाडीषु सर्वासु चरंति हि दश वायवः॥ एतेषु वायवः पंच मुख्याः प्राणाद
यः स्मृताः॥ तेषु मुख्यतमावेतौ प्राणापानौ नरोत्तमे॥ प्राण एवैतयोर्मुख्यः सर्वप्राणभृतां
क्ष्य सदेति॥ नाडीशुद्धिरुपरिष्टाद्वते॥ नकुलीशयोगपरायणैः कौर्मीवायुः प्राणः नादिकर्मभेदा
द्यथाक्रमं॥ प्राणापानसमानोदिनां मांतरमुपागतरति अमस्तसिद्धौ॥ असंख्या वायवो दे
हे संति यद्यप्युदाहृताः॥ तथापि श्रेष्ठकर्त्तारौ प्राणापानौ कृतावुभौ॥ याज्ञवल्क्यः॥ आस्यनासि
कयोर्मध्ये हृन्मध्ये नाभिमध्यगे॥ प्राणालयमिति प्राहुः पादांगुष्ठेपि केचन॥ अधश्चोर्ध्वं च कुंडल्याः
परितः प्राणसंज्ञकः॥ तिष्ठत्यनेषु चतुर्षु प्रकाशयति दीपवत्॥ अपानानिलयं केचिद्गुदमेढ्रानुजानु ६३

षु॥ उदरे चेक्षणे कघाजंघेनाभौ च वदंति हि॥ व्यानः श्रोत्राक्षिमध्ये च कृकाटीगुल्फयोरपि॥ प्राणे ग
ले स्फिजोर्देशे तिष्ठत्यत्र न संशयः॥ उदानः सर्वसंधिस्थः पादयोर्हस्तयोरपि॥ समानः सर्वगात्रे
षु सर्वव्यापी व्यवस्थितः॥ भुक्तं सर्वरसं गात्रे व्यापयन् वह्निना सह॥ द्विसप्ततिसहस्रेषु नाडीमार्गे
ग्नि षु संचरेत्॥ समानवायुरेवैकः सोऽग्निर्व्याप्य व्यवस्थितः॥ अर्चिभिः सह सर्वत्र सांगोपांगकलेवरे॥
नागादिवायवः पंच त्वगस्थ्यादिषु संस्थिताः॥ तुंदस्थजलमन्नं च रसादि च समीकृतं॥ तुंदम
ध्यगतः प्राणस्तानि कुर्यात्पृथक् पृथक्॥ उपर्यग्रे जलं स्थाप्य त्वन्नादीनि जलोपरि॥ स्वयं त्व
पानं संप्राप्य तेनैव सह मारुतः॥ प्रयाति ज्वलनं तत्र प्राणो मध्यगतः पुनः॥ वायुना चलितो वह्नि
रपानेन शनैः शनैः॥ तदा ज्वलति विप्रेंद्र स्वकले देहमध्यमे॥ ज्वालाभिर्ज्वलनस्तत्र प्राणेन प्रेरित
स्ततः॥ जलमत्युष्णमकरोत्कोष्ठमध्यगतं तदा॥ अन्नं व्यंजनसंयुक्तं जलोपरि समर्पितं॥ ततः सुपक्वम

यो॰ वि॰ करोद्भिद्भिः संततत्रवारिणा ॥ स्वेदमूत्रे जलं स्यात्तो रूपं वीर्ये रसो भवेत् ॥ पुरीषमन्नं स्याद्द्वारिप्राणन्कुर्या

६४ त्पृथक्पृथक् ॥ समानवायुसार्द्धरसं सर्वासु नाडिषु ॥ व्याप्य पंछ्वासरूपेण देहे चरति मारुतः ॥ व्योमरं

ध्रेष्वनवभिर्विण्मूत्रादिविसर्ज्जनं ॥ कुर्वंति वायवः सर्वे शरीरेषु निरंतरं ॥ निश्वासोच्छ्वासकासा

श्च प्राणकर्मेति कीर्तितं ॥ अपानवायोः कर्मैतद्विण्मूत्रादिविसर्ज्जनं ॥ हानोपादानचेष्टादि

र्व्यानकर्मेति चेष्यते ॥ उदानकर्म तत्प्रोक्तं देहस्योन्नयनादि यत् ॥ पोषणादि समानस्य शरीरे कर्म

कीर्तितं ॥ उद्गारादिगुणो यस्तु नागकर्मेति चोदितं ॥ निमीलनादि कूर्मस्य क्षुतं च कृकरस्य च ॥ देव

दत्तस्य विप्रेंद्र जृंभनं कर्म कीर्तितं ॥ धनंजयस्य शोभादि सर्वं कर्म प्रकीर्तितं ॥ तथा पंचानामपि प्राणा

दीनां स्थानवर्णबीजानि नकुलीश योगपरायणे ॥ प्राणो घ्राणाग्रहृन्नाभिपादांगुष्ठांतसंस्थितः नी

लः सोंकाररेफादिबीजेन विनियोजितः ॥ कृष्णोपानः कृकटिस्थः पृष्ठपृष्ठांत्यपार्श्विगः सतारक ६४

नकारांतबीजेन विनियोजितः ॥ शक्रचापनिभो व्यानः सर्वगिंद्रियनिकेतनः ॥ तारको यत्तयोन्तौ

तयोर्ज्जा विराजितः ॥ मूर्द्धस्योन्मध्यतात्वग्रपाणिपादतलस्थितः उदानो ... छायस्तारका

क्रांतपांतपुरुः स्त्रुतः समानो हृन्नाभि सर्वसंधिनिकेतनः ॥ न्यणवाक्रांतलांतेन वाजेनात्यंत्तमुच्य

तेः रफस्यादिर्यकारः स चासौ वोंकारसहितो यकारः प्राणस्य बीजमित्यर्थः सतारकः सप्रणवः स

चासौ नकारस्यांतः पकारस्तेन बीजेन रंजितो ऽपानः पांतो तो लकारः सोंकारो लकारो व्यानस्य

बीजमित्यर्थः अस्यारुणोऽत्यंतस्त्रोहितस्ताल्वग्रं घंटिकाकोटिपललं रणतलं यांतो रफः ॥ सों

कारो रक उदानस्य बीजमित्यर्थः ॥ प्रणवनाक्रांतश्वासोलांतो वकारः स्वसोंकारो वकारः समानस्य

बीजमित्यर्थः ॥ अत्र सर्वत्र वायूनामरूपाणामपि नील्यादिवर्णविशेषो ध्यानार्थमभिहितः

इति द्रष्टव्यं ॥ याज्ञवल्क्यः ॥ देहमध्ये शिखिस्थानं तप्तजांबूनदप्रभं ॥ त्रिकोणं तु मनुष्याणां चतु

यो॰टी॰ रस्रं चतुःपदं मंडलं तु पतंगानांस त्यमेतद्ब्रवीमि ते॥ तन्मध्ये तु शिखा तन्वी सदा तिष्ठति यावकी
॥ देहमध्यं तु कुत्रेति श्रोतुमिच्छसि चेच्छृणु गुदात्तु द्व्यंगुलादूर्ध्वं मेधो मेद्रात्तु द्व्यंगुलात्॥ देहमध्य
६५ मिनीरितं॥ कंदस्थानं मनुष्याणां देहमध्यान्नवांगुलं चतुरंगुलविस्तारमायामं च तथाविधं॥ कु
कुक्कुटांडवदाकारं भूषितं तत्तु त्वगादिभिः चतुःपदां तिरश्चां च द्विजानां तु रमध्यमे॥ तन्मध्यं ना
भिरित्युक्तं नाभौ चक्रसमुद्भवः द्वादशारयुतं तच्च तेन देहः प्रतिष्ठितः॥ चक्रेस्मिन् भ्रमते जीवः
पुण्यपाप प्रचोदितः तंतु पंजरमध्यस्थो यथा भ्रम्यति लूतकः॥ जीवस्य मूलचक्रेस्मिन्न
धः प्राणश्चरत्यसौ॥ प्राणरूढो भवेज्जीवः सर्वदेहेषु सर्वदा॥ तस्योर्ध्वे कुंडलीस्थानं नाभेस्तिर्यगथा
ली गतं॥ अष्टप्रकृतिरूपा सा अष्टधा कुंडलीकृता॥ यथावद्वायुसंचारं जलान्नादीनि नित्यशः॥ परितः कं
दपार्श्वेषु निरुध्यैव सदा स्थिता॥ सुखेनैव समावेष्ट्य ब्रह्मरंध्रमुखं तया॥ योगकाले त्वपानेन प्र ६५

बोधं नीति वह्निना स्फुरंती न्हृदयाकाशे नागरूपा महोज्ज्वला॥ वायुर्वायुसखेनैव ततो याति सु
षुम्णाम्॥ कंदमध्ये स्थिता नाडी सुषुम्णेति प्रकीर्तिता॥ तिष्ठंति [illegible] परितः सर्वाश्चक्रेस्मिन्न हि
संतकाः नाडीनामपि सर्वासां मुख्या गार्गि चतुर्दश॥ इडा च पिंगला चैव सुषुम्णा च सरस्वती॥
वारुणी चैव पूषा च हस्तिजिह्वा यशस्विनी विश्वोदरी कुहूश्चैव शंखिनी च यशस्विनी॥ अलंबुषा
च गांधारी मुख्याश्चैताश्चतुर्दश॥ तासां मुख्यतमास्तिस्रस्तिसृष्वेकोत्तमा मता॥ मुक्तिमार्गेति सा
प्रोक्ता सुषुम्णा विश्वधारिणी॥ कंदस्य मध्यमे भागे सुषुम्णा सुप्रतिष्ठिता॥ पृष्ठवंशास्थिनेना
स्थ्ना सह मूर्ध्नि स्थिता सदा मुक्तिमार्गेति सा प्रोक्ता ब्रह्मरंध्रेति कीर्तिता अव्यक्ता सेव विश्वरूपा
सूक्ष्मरूपा च वैष्णवी स्मृता हठप्रदीपिकायां सुषुम्णा शून्यपदवी ब्रह्मरंध्रं महापथः श्मशानं शांभवी
अस्य मार्गश्चेत्येकवाचकमिति॥ अत्र सुषुम्णाया मुक्तिमार्गत्वं तया ईर्ष्मापन्नमत त्क्रमेनीति

यो॰ची॰ वक्ष्यमाणयाछांदोग्यश्रुत्यामुक्तिसाधनद्वारधारणादतएवकाशीवरिष्ठमविमुक्तमितिप्र
६६ समाख्यायतेतथाचोक्तमविमुक्तंत्रैविध्यंकाशीमीमांसायां॥त्रीण्याध्यात्मिकाधिदैविका
धिभौतिकानीतिसूत्रेआध्यात्मिकाविमुक्तमिडपिंगलानाडीतिस्कंदपुराणेपिदर्शितं॥स्कंदोवाचेडा ये
बालिरानुणोसिरिडामुता॥वरुणापिंगलानाडीतदंतस्त्वविमुक्तमित्नितथासासुषुम्णाप
रानाडीत्वियंवाराणसीत्वसाविति॥कूर्मपुराणेप्यस्याएवतत्तत्प्रदेशविशेषावच्छेदेनमु
श्री क्तिप्रदत्वात्क्षेत्रप्रदेशानामविमुक्तत्वसमाख्यानं॥भ्रूमध्येनाभिमध्येचहृदयेपिचमूर्द्ध
नि॥यथाविमुक्तमादित्येवाराणस्यांव्यवस्थितं॥वरुणायास्तथाचास्यामध्येवाराणसीपुरीति॥
यश्चात्रचाविमुक्तशब्दःशब्दचारःतथाचायमत्रान्वयःयथाविमुक्तशब्दआधिदैविकेद्या
वापृथिव्योःसंधिरूपेआदित्येव्यवस्थितइति॥याज्ञवल्क्यः॥इडाख्यपिंगलाचैवतस्याः ६६

सव्यक्ववदक्षिणे॥इडातस्याःस्थितासव्येदक्षिणेपिंगलास्मृता॥इडायांपिंगलायांचचरतश्चंद्रभा
स्करौ॥इडायांचंद्रमाज्ञेयःपिंगलायांरविःस्मृतः॥चंद्रस्तामसइत्युक्तःसूर्योराजसउच्यते॥विष
भागोरवेर्भागः सोमभागोऽमृतंस्मृतं॥तावेवधत्तःसकलंकालंरात्रिंदिवात्मकं॥भोक्त्रीसुषुम्णा २
कालस्यगुह्यमेतदुदाहृतम्॥अमृतसिद्धौ॥मेरुशृंगेस्थितश्चंद्रोद्विरष्टकलयान्वितः॥अहर्निशंतु
षारात्मासुधांवर्षत्यधोमुखः॥ततोऽमृतंद्विधाभूतंविज्ञातव्यंविवेकिभिः॥इडामार्गेणपुष्ट्यर्थंवि
यन्मंदाकिनीजलं॥पुष्णातिसकलंदेहंसूक्ष्मानाडीयथागतं॥एषचंद्रस्वरूपोहिवाममार्गेव्यव
स्थितः॥अपरःकुंदवृंदाभोहर्षाकर्षितविग्रहः॥मध्यमामध्यमार्गेणसृष्ट्यर्थंयातिचंद्रमाः॥म
ध्यमामूलसंस्थानेतिष्ठतेसूर्यमंडलं॥कलाद्वादशसंपूर्णोदीप्यमानश्चरश्मिभिः॥ऊर्द्ध्ववहति
दक्षेणनीत्वामूर्तिःप्रजापतिः॥एषसूर्यःपरामूर्तिर्नगंरीदक्षिणेपथि॥वहतेलग्नयोगेनसृष्टिसंहा

यो०चिं० रकारकः॥ रक्षतरगतिंत्पत्कायदामेरुसमोरविः विषुवंतं द्विजानीयात्पुण्युः कालंकलेवरे ज्ञा
क्री त्वा च विषुवं देहे साभ्यासावर्मशालिनः॥ उत्क्रांतिंकालयोगेनसुखंकुर्वंतियोगिनः॥ अतुःसंध्या
६७ दिशाः रात्रिः कलाकाष्ठाक्षणादयः॥ आदानश्च विसर्गश्च सर्वं तत्सूर्यतो भवेत् ग्रहणं तद्विजानी
याद्वाह्याभ्यंतरतो ध्रुवं बाह्ये पुण्यतमः कालो मुक्तिश्चाभ्यंतरे भवेत् चंद्रावेव यदा सूर्यो गच्छातिचं
द्रमंडले अन्योन्यं जायते योगस्तस्मा घोगो हि लभ्यते सूर्यो वहिर्यदा देवा दृ ईव हतिर्देहिनां अथ
श्चंद्रामृतं याति तदाभ्युत्पुभवेन्नणं॥ सर्वाण्येव हि तत्वा निव्रजंत्पूर्ड्ढकलेवरे॥ एतौ मुक्तिप्रदौ ख्यातौ
सूर्यचंद्रमसौ सदेति याज्ञवल्क्यः॥ सरस्वती कुहूश्चैव सुषुम्णा पार्श्वयोः स्थिते॥ गांधारी हस्तिजिह्वा
याः चद्रडाः पृष्टपूर्वयोः॥ पूषा पयस्विनी चैव पिंगलापृष्ठपूर्वयोः॥ कुहोश्च हस्तिजिह्वाभ्यामध्ये विश्वो
दरी स्थिता॥ पयस्विन्या कुहोर्मध्ये वारुणी च प्रतिष्ठिता पूषायाश्च सरस्वत्या स्थिता मध्ये
६७

पयस्विनी॥ गांधार्याश्च सरस्वत्याः स्थिता मध्ये च शंखिनी॥ आलंवुषा च विप्रेंद्र कंदमध्या
दधः स्थिता॥ पूर्वभागे सुषुम्णायास्त्वा मेढ्रांतं कुहूः स्थिता॥ अधश्चोर्द्ध्वं च विज्ञेया वारुणी
सर्वगामिनी॥ यशस्विनी च याम्यस्य पादांगुष्ठांतमिष्यते॥ पिंगला चोर्द्ध्वगा याम्य नासांतं वि
द्धि मे प्रिये याम्य पूषानु नेत्रांतं पिंगलायास्तु पृष्ठतः॥ पयस्विनी तथा गांधारी याम्य कर्णांतमि
ष्यते॥ सरस्वती तथा चोर्द्ध्वमा जिह्वायाः प्रतिष्ठिता॥ असव्यकर्णाद्विप्रेंद्र शंखिनी चोर्द्ध्वमाम
ता॥ गांधारी सव्यनेत्रांतमिडायाः पृष्ठतः स्थिता॥ इडा च सव्यनासांतसव्यभागे ... पायु
लादधो गता॥ एतास्त्वन्याः समुत्पन्ना नाड्योन्याश्च तास्वपि यथाश्वत्यदले तद्वदन्या प
त्रेषु वा शिराः॥ नाडीषितासु सर्वासु विज्ञातव्यास्तपोधनेदृति॥ सांख्ययोगे॥ चक्रमध्ये
स्थिता नाड्यस्तिस्त्रस्तिस्रोत्र देवताः॥ इडा च वैष्णवी नाडी पिंगला ब्रह्मदेवता॥ ऐश्वरी सा

सुषुम्णास्यान्मेरुमध्येप्यवस्थिता॥नाडीमध्यगतग्रंथित्रयपुक्तात्रिवेणिका॥उत्तरेस्कंहे
नेगंगायमुनादक्षिणस्मृता॥सरस्वतीपश्चिमायास्तासांसंगःसदांतरइति॥अमृतसिद्धौ॥
गंगायमुनयोर्मध्येवहत्येकासरस्वती॥आसांतुसंगमेस्नात्वाधन्यायांतिपरांगतिमिति
॥मानसोल्लासे॥गांधारीहस्तिजिह्वाच्चनयनांतंप्रधावतः॥नाडीचक्रेणसंस्पृतेनासिकांत
मुभेगते॥नाभिमंडलमाश्रित्यकुक्कुटांडमिवस्थिते॥पूषाचालंबुषानाडीकर्णद्वयमु
पाश्रितेनाडीशुक्लाह्वयातस्माद्भ्रूमध्यमनुसर्पति॥सरस्वत्याह्वयानाडीजिह्वांतावरसा त्व
रिणीनाडीविश्वोदरीनामभुंक्तेन्नंसाचतुर्विधंपीत्वापयस्विनीतोयंकंठस्याकुरुतेस्रु
तं॥नाडीचक्रात्समुद्भूतानाड्यस्तिस्रस्त्वधोमुखाः एकाशुक्रंसिनीवालीमूत्रंसिंचेत्कुहू
र्मलं॥मुक्तान्तरसमादायशंखिनीपुनःकपालकुहरंणंत्वामूर्द्धिसंचिनुतेसुधांशतंवे

न्ते

काचनाड्यःस्युस्तासामेकाशिरोगतास्तयोर्मार्गेन्मुक्तःस्यादिति वेदांतशासनं॥अत्रसुषुम्णा
मुखंमूलाधारएवविक्षेपंतथाचसुरेश्वराचार्यैःदेहस्यमध्यसंस्थानंमूलाधारइतीर्यते॥
गुदात्तुद्व्यंगुलादूर्द्ध्वंमेढ्रात्तुद्व्यंगुलादधःत्रिकोणाधोमुखाग्रश्चकन्यकायोनिसंनिभःयत्रकुं
डलिनीनाममहाशक्तिःप्रतिष्ठिता॥प्राणाग्निविंदुनादानांसावित्रीसासरस्वती॥मूला
धाराग्रकोणस्यासुषुम्णाब्रह्मरंध्रगामूलोर्द्ध्वछिन्नवंशाभापद्माधार[illegible]न्विता॥तत्पार्श्वको सम
णयोर्ज्ञातेद्वेइडापिंगलेस्थिते॥नाडीचक्रमितिमाहुस्तस्मात्राड्यौविनिर्गताःप द्मकभेद
नेनदेवीस्तवष्टिःश्रीशंकराचार्यैरपिसुषुम्णामुखंमूलाधारएवोक्तंतथाहि॥महींमूलाधा
रेकमणिपूरेहुतवहंस्थितंस्वाधिष्ठानेहृदिमरुतमाकाशमुपरी॥मनोपिभ्रूमध्येसकल
मपिहित्वाकुलपथंसहस्रारेपद्मेसहरहसिपत्याविहरसिइतिसर्वमंत्रशोस्त्रेघकंदस्थ

ध्ये

ग

यो·चिं· प्रेतपिशाचादीनाँधर्वनगराणि च सुवर्णवर्ण वृक्षांश्च नवमासं स जीवति स्थूलः कृशः [illegible] कृशः स्थू
६.१ लो यो कस्मादेव जायते प्रकृतेश्च निवर्तेत तस्यायुश्चाष्टमासिकं रवं उंयस्य पदं पांशुर्ण पादस्याग्रे
सा थवा भवेत् पांसुकर्दमयोर्मध्ये सप्तमासं स जीवति कपोतो गृध्रकाजोवाय सो वापि मूर्द्धनि कव्या द्वा
दो वा खगस्तिष्ठेत्षण्मासायुः प्रदर्शकः हन्यते काकपंक्तीभिः पांशुवर्षेण वा नरः पुष्पेत्रवै यस्य
या मर्मस्थानानि दामाद धस्तनं तस्यापि पंचभिर्मासैः विंघान्मृत्युमुपस्थितं स्वां छायामन्यथा दृष्ट्वा चतुर्मा
द्धे सान्स जीवति अनभ्रे वियुतं दृष्ट्वा दक्षिणां दिशमास्थितां उ दर्षे इंद्रधनुर्वापि वा ॥ तस्या जीवितं
द्वित्रिमासिकं घृतते लेतथादर्शे तोये वाप्यात्मनस्तनुं यः पश्येदशिरस्कां वा मासादूर्ध्वं न जीव
ति यस्य वस्तिसमो गंधो गात्रे शवसमोपि वा तस्यार्द्धमासिकं क्षेपं योगिनोऽन्यजीवितं यस्य वैस्ना
नमात्रस्य हृत्प्रमवशुष्यति पिबंश्च जलं चोष्ठे दशाहं सोपि जीवति संभिन्नो मानुतो यस्य ६८
त्य

मर्मस्थानानि कृंतति नत्वृष्यत्यंवुसंस्पर्शात्तस्य मृत्युरुपस्थितः ऋक्षवानरयानस्थः स्वय
न्यो दक्षिणां दिशं स्वप्ने प्रयाति तस्यापि न मृत्युः कालमिच्छति र क्तकृष्णांवरधरा गायती हस
ती च यं दक्षिणाशां नयेन्नारी स्वप्ने सोपि न जीवति नग्नं क्षपणकं स्वप्ने हसमानं महाबलं एवं
वावीक्ष्य बलांतं विंघान्मृत्युमुपस्थितं आमस्तकतलाद्यस्तु निमग्नः पंकसागरे स्वप्ने पश्य
त्यथात्मानं स सद्यो म्रियते नरः केशांगारांस्तथा भस्मा भुजंगं निर्जलां नदीं दृष्ट्वा स्वप्ने दशाहा
न्मृत्युरेकादशे हनि करालैर्विकटैः कृष्णैः पुनुष्ठैः तायुधैः पाषाणैस्ताडितः स्वप्ने स घो मृत्यु ध
मवाप्नुयात् ॥ सूर्योदये यस्य शिवा क्रोशंती याति सन्मुखं विपरीत्यापरीत्या च स सद्यो मृत्युम्
च्छति यस्य वै भुक्तमात्रस्य हृदयं वाधते क्षुधा जायते दंतघर्षश्च स गतायुरसंशयं दीपादि
गंधं नो वेत्ति त्रसत्यह्नि तथा निशि नात्मानं परनेत्रस्थं वीक्षते न स जीवति शक्रायुधं सार्द्ध

यो॰चि॰ राचेदिवं दुग्रहणं तथा दृष्ट्वा मन्येत संक्षीणमात्मनः ॥ जीवितमात्मवित् नासिकावक्रता मेति कर्णयोर्न
७० मनोन्नती ॥ नेत्रं च वामं स्रवति यस्य तस्यायुरंतगं आरक्तता मेति मुखं जिह्वा चाप्यसिता यदा तदा श
ग्रो ग्रो विजानीयान्मृत्युमासन्नमात्मनः ॥ उष्ट्रसभयानेन यः स्वप्ने दक्षिणां दिशं प्रयाति तं विजानीया
घ्रो त्सं मृत्युं नरेश्वर ॥ पिधाय कर्णौ निर्घोषं न शृणोत्यात्मसंभवं नश्यते च चक्षुषोर्ज्योतिर्यस्य सोपि
न जीवति ॥ पतितस्य च वै गर्ते यस्य द्वारं पिधीयते ॥ न चोत्तिष्ठति यः स्वप्ने तदंतं तस्य जीवितं ऊ
तो ओ र्ध्वा च दृष्टिर्न च संप्रतिष्ठिता रक्ता पुनः संपरिवर्तमाना मुखस्य चोष्मा शुषिरस्य चोष्म शिशिरा च नाभिः
शंसंति पुंसामपरं शरीरं स्वप्नेग्निमविशेय स्तनच तिक्रमते पुनः जलमवेशादपि वा तदंतं तस्य
न्य जीवितं पश्चाभिर्हन्यते दृष्टो भूतै रात्रावथो दिवा स मृत्युं सप्तरात्रांते नरः प्राप्नोत्यसंशयं स्ववस्त्रममलं सं
शुक्लं रक्तं पश्यत्यथासितं यः पुमान्मृत्युमासन्नं तस्यापि हि विनिर्दिशेत् स्वभाववैपरीत्यं ७०

च प्रकृतेश्च विपर्ययः कथयंति मनुष्याणां समासन्नौ यमांतकौ येषां विनीतः सन्नं यस्य पूज्यतमा
मताः नैव चावजानाति तानेव च विनिंदति देवानार्चयते वृद्धान् गुरून्विप्रांश्च निंदति मातापित्रोरहं
कारं जामातृणां करोति च ॥ योगिनां ज्ञानि विदुषामन्येषां च महात्मनां प्राप्ते काले च विदुषां तद्दिने यं
विचक्षणैः योगिना सततं यत्नात् दृरिष्टान्यवहनीयनते संवः ॥ पितन्नैव तन्मुखमुक्तं ॥ याज्ञवल्क्यवसि त
ष्ठादिमुनीनां गोरक्षादियोगिनां च मतेनाभिस्यकंदमध्ये सुषुम्णामुखं कुंडलिनी च ब्रह्मविष्णु
ग्रंथिभेदकृतयोर्मूलाधारस्वाधिष्ठानचक्रयोर्भेदादुपपते मेतन्मिहृचिंत्यं योगभास्करे ॥ दशना
ड्यो दशास्थीनि वन्हयो दश वायवः एतेषाम् विरोधेन योगाभ्यासपरो भवेत् ॥ तत्र नाड्यो वाय
वः पूर्वमेवोक्ताः पृष्टवंशो ललाटस्थिकंधरं चिबुकं तथा नासावंश शिरोबाहुः पादाबूरू च जानुनी
॥ एतानि तु दशास्थीनि ॥ दशवन्हीस्ततः शृणु ॥ भ्राजको रंजकश्चैव वा तक्षः श्लेष्मकस्तथा ॥ पा

वकोरचकः षष्ठो दाहकः शोषकोष्टमः॥ पोषको वं धुकश्चेति देहेस्मिन्दशवन्हयः॥ अमृतसिद्धो कं
लाभिर्दशभिर्युक्तः सूर्यमंडलमध्यगः॥ वेसत्तवस्ति प्रदेशे वन्हिरस्त विपावकः यावत्सूर्यस्यम ध्य

त स्थः कालानलः कले वेरेत्तावबिंदुप्रभावोपमविच्छिन्नः सुधामयः॥ वन्हिर्बलप्रदो लोके वन्हिरायुःप्र
दायकः स्वस्थो यावत्स्वंवन्हिर्निरस्तावन्निरामयः॥ अतस्तद्विरोधेनैव योगाभ्यासः कर्त्तव्य इति
भावः॥ अथ धाराः शिवयोगे॥ अथ तेषोडशाधारान्कथयामि विशेषतः॥ तेजो ध्यानं पदां
गुष्टे कुर्याद्दृष्टिः स्थिरा भवेत्॥ पादस्य पार्ष्णिनाभ्यासः कर्त्तव्य इति भानुमूलं द्वितीयाधारल
क्षणं॥ संपीड्य स्थापयेदग्निदीपनं भवति क्षणात्॥ आकुंचयेद्गुदाधारं पादसंकोचनेन तु
॥ अपानमरुतो धैर्य्यं जायते ततती यकं॥ मद्धाधारे दंडसंकोचनेन ब्रह्मग्रंथी स्त्रीन्समुत्प
धयश्वातु॥ चैतो वायो ब्रह्मनाद्यप्रवेशाद्बिंदुस्तंभः संभवत्येव स घः॥ पंचमाधारं मोडनं तु ना ७१

नं दत्वा मुहुर्मुहुः॥ मलमूत्र कृमीणां चतारणं भवति ध्रुवं॥ नाभ्याधारं ततस्तत्र प्रणवं योजयद्बुधः॥
समाधिनैक चित्तेन तस्य नादोदयो भवेत्॥ सप्तमं हृदयाधारं तत्र प्राणान्निरोधयेत्॥ तदात
न्मध्यकमलविकाशो भवति क्षणात्॥ कंठाधारं कं कूपं पीडयेच्चिबुकेन तु इडापिंगलयोर्वायु ८
प्रग्रहः सुस्थिरो भवेत्॥ नवमं घंटिकाधारं जिह्वाग्रं तत्र दापयेत्॥ सुधाकलास्रवत्येषा सा र
तुसंस्तंभकारिणी॥ १०॥ पालंबिकाचालनदोहनाभ्यां दीर्घीकृतासा विपरीतमार्गात्॥ यस्ता
लुमूलांतरगर्भदेशे प्रवेशयेत्सो मरतां प्रयाति॥ सेयं खेचरीमुद्रास्याः स्वरूपं प्रभावश्च मुद्रा
प्रकरणे वक्ष्यते॥ जिह्वाधो रसनाधारं कुर्याच्चेमघनं पदि सिद्ध्येत स्यामृतस्वादः कवित्ताच
स्फुटी भवेत्॥ द्वादशं दशनाधारमूर्द्ध्वतद्राजदंतकं॥ षण्मासात् दृश्यते ज्योतिस्तत्र जिह्वात्र
वेदनात्॥ त्रयोदशं घ्राणमूलं तत्र दृष्टिः स्थिरीकृता॥ यदिस्यान्मनसा नित्यं वायुस्तत्र स्थिरो भ

वेत्॥ चतुर्द्दशं ललाटाख्यमाधारं यत्र योगवित्॥ मनसा वायुमारोप्य सर्वसिद्धिमवाप्नुयात्॥ व्यो

माधारं पंचदशं नदूर्द्धं चक्षुषानु धः॥ पश्येत्स किरणाकारं शीघ्रमेव हि पश्यति॥ नेत्राधारं षोड

७२ शं तत्र दूर्द्धं चालयेद्बुधः॥ ज्योतिःपुंजमयं योगे तत्पश्यति क्षिप्रमेव हि॥ १६॥ अथ षट्चक्राणि॥ सां

ख्ययोगे॥ अतः परं प्रवक्ष्यामि षट्चक्राणि शृणु प्रिये॥ मूलाधारमधिष्ठानं मणिपूरमनाहतं

॥ कंठदेशे विशुद्धिः स्यादाज्ञा भ्रूमध्यसंस्थिता॥ चतुष्कोणो यमाधारः स्थितिः षट्कोणरूपि

णी मणिरर्द्धेंदुसंकाशस्त्रिकोणं स्यादनाहतं॥ विशुद्धिचक्रं पूर्णेंदुसदृशं परिकीर्त्तितं॥ आ

ज्ञा दिव्यशिखाकारा शृणु चातः परं प्रिये॥ आधारः पीतवर्णः स्यात्स्वाधिष्ठानं जलात्मकं॥ म

णिर्नीलांजनप्रख्यो रक्तवर्णं त्वनाहतं॥ विशुद्धिः स्फटिकप्रख्या स्यादाज्ञा सर्ववर्णभाक्॥

केचिद्वदंति शोणाभं स्वाधिष्ठानारविंदकं तथा पंकज शुक्लं परमात्मप्रकाशनं॥ शाक्तियोगे च॥ ७२

च

त्वारि च षट्। आधारादिद्वादश षोडश द्विच पद्मासनादीनां पत्रसंख्या समीरिता॥ अत्र द्विरंडेवा

न्याख्यस्तथा फणिपिनाकिना॥ छागलंडो महाकालः सिद्धास्त्वेते यथाक्रमं डाकिनी राकिनी

चैव लाकिनी काकिनी तथा॥ शाकिनी चैव क्रमाद्व्यो भवंति च त्वात्वेवं हंस त्वात्वेवं सर्वचक्रा

णि सर्वसिद्धिकराणि वै॥ गुरूपदेशविधिना भिंद्यात्तानि यथाक्रमं चक्रभेदनप्रकारस्त्रिपु

रासारसमुच्चये॥ अथ पूरकयोगयोजितांतःपृषदश्वो निज मूलचक्रे धृतिं विदधीत बुधः स म

ब्रह्मे वीर्यं माहितां जोपचिपदयं ग्रंथिविभेदनप्रयत्नेश कुसुमसमुत्सज्यशनैर्याः स्वं संकोचयेत्कुंडलिनीमा

र्गमध्यं बुधस्तथाधारनियोजितात्मा संकोचयेत्कुंडलिनीमार्गमुच्चैः विदधीत मुहुर्मुहुः गुरूक्तक्र

मतो हुंकृतिमंकलयन् पापिंडे द्रुतगुरुध्वजांतरालस्थितं तेजोमयपुष्पराग्र्यपानिः अथ कुंडलिनीमा

रुतं प्राणनिलास्य शनैःप्रवेशयन्तं ततः सनपंकजस्य मूलं स्वगुरुप्रोक्तविधानतो दृगायं अमुना विधि

यतात्मा

यो॰ चिं॰ नामुहुः कृतेन क्रमशः कंबुनिभा रुनस्ततो सौ॥ अजपंकजमूलदेशमार्गप्रणयग्रंथिविभेदनं करोति।
७३ परित्यत्परवगंधिपस्ततो सौ सरणिं चंद्रमसो नभोमणेश्च॥ कमलं कमलासनस्य पश्चाद्धृदधी
तोर्द्ध्वमुखं प्रविश्य सम्यक्॥ प्रतिभानमयाद्भुतं प्रविष्टे भवनांतः परमेष्ठिनः खगेशे॥ लघुनावपुषा
भवत्पुरग्राजठरां तर्द्दहनस्य चापि दीप्तिः तडित्कोटिभस्वयं स्वरुचिजितका लानलरुचि सहस्रारि
त्यांशुप्रकरसदृशोर्यांतकलितं। अमंत्रयोन्यंतः स्फुरत्तरुणबंधूककुसुमप्रभं कामं ध्यायेज्ज्वरठ
शशभ त्कोटिशिशिरं तस्योर्द्ध्वग्निशिखाचिरं तिलना पुंजप्रभाभास्वरा सूक्ष्मा ब्रह्मपथांतरांत ध्रु
रगता चैतन्यमात्राकला एकीभूतमनंतरं सहतपा ध्यायेद्धियानिश्चलं स्वात्मानं च निवातदी
पनिभया हं सस्वरूपं बुधः शक्तिः कुंडलिनीति या निगदिता आद्या समं संज्ञा जगन्निर्मणि सततो घ
ताभविलसत्सौदामिनीसंनिभा॥ शंखावर्त्तनिभां प्रसुप्तभुजगाकारां जगन्मोहिनी तन्मध्ये परिभा
७३

विधि
वपेद्विसलेन्नतंतूपमेयाकृतिं॥ हुंकारेण गुरूपदिष्टनाप्रोत्थाप्य सुप्तां ततः कृत्वा तां कलयात पाप
रमया चिद्रूपया संभुनां मायां कुंडलिनीं समाहितमनास्तामुच्चरेत्कौलिकी शक्तिर्ब्रह्ममहापथे
नसहिता माधारतः स्वात्मनां॥ भित्वा लिंगत्रयमथ च बुधो ब्रह्ममार्गे ... र्द्ध्वं गच्छंतीं तां कमलजनि ण-पो ३
लयात्याप्य पेरां ब्रह्मशक्तिं व्योमांभोजप्रणयि परमानंदकंदं विसर्गस्थानं चंद्रोपरि परिगलद्रक्त गुंढ
पीयूषधारं॥ पीत्वा कुलामृतरसं पुनरेव दिव्यं मध्ये विशेत्पवनस्य समाहितात्मा॥ यायात्कु
लादकुलमेव पुनश्च मात्रायोगेन देशिकवरप्रतिपादितेन॥ सा शक्तिः सकलस्य जीवभूता स्यु
प्राणेसाविनिपरिपठते मुनींद्रैः॥ उद्धातः सतु परिपठ्यते मुनींद्रैः प्राणानस्य शांति यदाक्रमेण व्य
नीतः॥ अमुं स्वाचारस्य प्रतिदिवसमभ्यासनिरतः करोति श्रद्धावान्सततनमवधूताखिलमलः॥
ने समुक्तो दुःखौघैरपगत जराक्लेशमरणो गुणग्रामोपेतः सुरइव चिरंजीवति भुवि चतुर्विधायाक
गदितान्नं तत्रसुरत्ने २

सौकलयाच

यो॰चिं॰ यिनेहसृष्टिः प्रवर्तते प्रासकालानियस्यां प्रलीयते त्वापि जगत्समग्रं कालाग्निरुद्रादि... शिवां

मे॰त॰॥ तेसिद्धं मयोक्ता खलु योनिमुद्रावंधस्तदेवैरपि दुर्लभोस्याः अनेनवंधेनन साध्यते यन्नास्त्येव त

२४ त्साधकपुंगवस्यगुरुतल्पनिषेवणं चपानं द्विजहत्यामधुनः सुवर्णचौर्यं अमुनाविलयं प्रयातिस पं॥

म्यक्सकृदप्याचरितेनवंधनेनसतुमंत्रिवरः सएव योगीगुणसिद्धः परमास्थितः सएव॥ अमुना

चरतीहबंधनं यः सततं स्वोचितधर्मकर्मनिष्ठः अमुनाभवतीहदेहभाजां नततास्यासकृतेन

वंधनेन॥ नजरापित्तराजवेजयं तीनचमृत्युप्रतिपादितापिभीतिः एतस्यैव हि बंधनस्य मनुजः प्रामो

ति... कृतास्याष्टणिमादि सिद्धिमतुलां संचितेमभूर्जितां योगं वाप्नतिमं जपंचमरुतः काल

स्यवावंचनं तद्बिलोः परमंपदंपरतरं पश्यतियत्सूरयइति॥ पारमेश्वरतंत्रे ईश्वरउवाच॥ पश्चि

मा भीमुखं लिंगं योनिस्यं परिकीर्तितं हृद ... यिर्विंदु संपुटं स्वयंभूवाणवाचकं इतरं वांतरालस्थं

सा॥ गं॥

७४

ध॰ विसर्गाधस्तथा परं महापद्मवनं चांतर्योगयोठं प्रकीर्तितं॥ करंबगोलकाकारं तत्कामं विंदुरूपिणं॥

म्णा ब्रह्मरंध्रं तु तत्रैव सुषुम्नाधारमंजसे पृथिव्यादीनिरंध्राणि सूत्राणां वाचकानि तु॥ पूर्णरव्यंच

दनं तत्वं कोरंडद्वयमध्यगं तद्दूर्द्धं नाद्नामानमुङ्गोयानं प्रकीर्तितं कामरूपे भवेद्भुक्तिर्विसर्गम

तुलं प्रियेवंधं तस्याः प्रवक्ष्यामि संवितिलभते मया॥ आदौ पूरकयोगेन ह्याधारे योजयेन्मनः॥

गुदमेढ्रांतरे योनिस्तामाकुंच्य प्रबोधयेत्॥ क्रमयोनिगतं ध्यात्वा कामं वंधूकसंनिभं॥ सूर्य

कोटिप्रतीकाशं चंद्रकोटिसुशीतलं तस्योर्द्ध्वं तु शिखासूक्ष्मा विचित्रापावकी कला॥ तयासहि

तमात्मानमेकीभूतं विचिंतयेत्॥ गच्छंती ब्रह्ममार्गेण लिंगत्रयक्रमेण तु अमृतं तद्विसर्गस्थं पर

मानंदलक्षणं द्रुतं रक्तं स्वनेजाख्यं धारापातैः प्रवर्तितं पीत्वा कुलामृतं दिव्यं पुनरेवविशेत्कुलं॥ पु

नरेवा कुलं गच्छेन्मात्रायोगेन नान्यथा साचप्राणः समाख्याता अस्मिंस्तंत्रे मयोदिते॥ सामात्रा

यो॰चिं॰ जायते भूय उच्चारवशवर्तिनी॥ उद्घातः प्रोच्यते सोपि प्राण संस्पृशते पदा॥ एवमभ्यसमानस्य ब्र
ह्मस्पृहनिनिश्चयं॥ जरामरणदुःखौघैर्मुच्यते भवबंधनात्॥ चतुर्विधा तु यास्सृष्टिर्यस्यां योनौ प्रवर्त्तते॥
.७५ पुनः प्रलीयते यस्यां कालाग्नादिशिवांतगा॥ योनिमुद्रा परा ह्येषा बंधस्तस्याः प्रकीर्तितः॥ तस्यास्तु
बंधमात्रेण तन्नास्ति यन्न साधयेत्॥ छिन्नानुद्रास्तथा मंत्राः कीलिताः स्तंभिताश्च ये॥ दग्धा मन्त्राः शि
खाहीनाम लिनास्त्तिरस्कृताः॥ भेदिता भ्रमसंयुक्ताः शप्ताः संमूर्छिताहताः॥ मंदा बालास्तथा या
वृद्धा प्रौढा यौवनगर्विताः॥ अरिपक्षे स्थिता ये च निर्वीर्याः सत्त्ववर्जिताः॥ तथांशकेन हीनाश्च खंड
शः शतधा कृताः॥ विधिनानेन संयुक्ताः प्रभवंत्यचिरेण तु॥ सिद्धिमोक्षप्रदाः सर्वे गुणा विनियो-
जिताः॥ यद्यदुच्चरते मंत्ररूपं शुभाशुभं॥ तत्तत्सिद्ध्यत्यनायासाद्योनिमुद्रानिबंधनात्॥ दीक्षयित्वा
विधानेन अभिषिच्य सहस्रधा॥ ततो मंत्राधिकारार्थमेषा मुद्रा प्रकीर्तिता॥ ब्रह्महत्यासहस्राणि ७५

त्रैलोक्यमपि घातयेत्॥ नासौ लिप्यति पापेन योनिमुद्रानिबंधनादिति॥ अथ चक्राणि लययोगि-
नि॥ शिवयोगे मूलाधारे त्रिधावर्त्तं ब्रह्मचक्रं भगोपमं॥ तत्कंदेग्निनिभं ध्यायेदधः शक्तिमभीष्ट-
दां॥ स्वाधिष्ठानं ततश्चक्रं तत्र चातुर्दलांबुजं॥ तदेवोड्डियानं ध्यायेत्पश्चिमाभिमुखं शिवं॥ पंचावर्त्ते
नाभिचक्रं स्य मकारांतं डिंभाभं तत्र कुंडलिनीस्थाप्य मध्यशक्तिं सुसिद्धिदां॥ अधोमुखाष्टप
त्राब्जयुक्तं हृच्चक्रमिष्टदं॥ तन्मध्यकर्णिकां ध्यायेज्ज्योतिर्लिंगाकृतिं विभां॥ पंचमं कंठचक्रं चतुरं
गुलचतुर्युतं॥ इडापिंगलयोर्ध्यायेत्सुषुम्णां मध्यसंस्थितां॥ षष्ठं च घंटिकामूलं लिंगं तद्राजदंतकं॥
ध्यायेत्तु दशमद्वारं तत्र शून्यं सुसिद्धये॥ भ्रूचक्रं संप्रभं सत्वे बिंदुनालं करं बाह्यप्रदं॥ ध्यायेद्दीपशिख
खाकारं तन्मध्ये ज्ञानलोचनं॥ ब्रह्मरंध्रे ष्टमं चक्रं निर्वाणाख्यं सुसूक्ष्मदं तत्र जालंधरं ध्यायेद्धूमसमीक्षम
दं ततः आकाशबीजं नवमं प्रशस्तं त्रिकूटकं पूर्णगिरेश्च दृष्टे॥ तत्रोर्ध्वशक्तिं शुभदां सुशून्यां ध्यायेद्व

साधारस्सरोजमध्ये इति॥ शास्त्रांतरे तु॥ प्रथमं मूलचक्रं स्यात्त्रिरावृत्तं भगाकृति॥ अपानेमूलकंदा
ख्यं कामरूपं च तज्जगुः॥ तदेव वह्निकुंडं स्यात्तत्र कुंडलिनी स्थिता॥ तां जीवरूपिणीं ध्यायेज्ज्योतिष्कं
मुक्तिहेतवे॥ स्वाधिष्ठानं मध्यमं स्याच्चक्रं तन्मध्यगं विदुः॥ पश्चिमाभिमुखं लिंगं प्रवालांकुरसन्निभं॥ त
त्रोड्डियानपीठं तु तं ध्यात्वाकर्षयेज्जगत्॥ तृतीयं नाभिचक्रं स्यात्तन्मध्ये भुजगी स्थिता॥ पंचाव
र्तेमध्यशक्तिश्चिद्रूपा विद्युदाकृतिः॥ तां ध्यात्वा सर्वसिद्धीनां भाजनं जायते बुधः॥ चतुर्थं हृदये चक्रं वि
ज्ञेयं तदधोमुखं॥ ज्योतिरूपं च तन्मध्ये हंसं ध्यायेत्प्रयत्नतः॥ तं ध्यायतो जगत्सर्वं वश्यं स्यान्नात्र सं
शयः॥ पंचमं कंठचक्रं स्यात्तत्र वामे इडा भवेत्॥ दक्षिणे पिंगला ज्ञेया सुषुम्णा मध्यतः स्थिता॥ त
त्र ध्यात्वा शुचिर्ज्योतिः सिद्धीनां भाजनं भवेत्॥ षष्ठं च तालुकाचक्रं घंटिकास्थानमुच्यते॥ दशमद्वा
रमार्गं तद्राजदंतं च तज्जगुः॥ तत्र शून्ये लयं कृत्वा मुक्तो भवति निश्चितं॥ भ्रूचक्रं सप्तमं विद्याद्बिंदुस्था

नं च तद्बिंदुः॥ भ्रुवोर्मध्ये वर्तुलं च ध्यात्वा ज्योतिः प्रमुच्यते॥ अष्टमं ब्रह्मरंध्रं स्यात्परं निर्वाणसूचकं॥
तं ध्यात्वा सूचिकाग्रं भूधूम्राकारं विमुच्यते॥ तच्च जालंधरं ज्ञेयं मोक्षदं लीनचेतसां॥ नवमं व्योमचक्रं
स्याद्दलैः षोडशभिर्युतं॥ संविद्रूपा च तन्मध्ये शक्तिरूर्द्ध्वे स्थिता परा॥ तत्र पूर्णगिरौ पीठे शक्तिं ध्या
त्वा विमुच्यते॥ ऊर्द्ध्वशक्तिनिपातेन अधःशक्तेर्निकुंचनात्॥ मध्यशक्तिप्रबोधेन जायते परमं सुख
मिति॥ एतत्फलं त्रिपुरासारसमुच्चये विस्तरेणोक्तं॥ तथा हि॥ अथाधारपंकेरुहाद्यपत्र वक्ष्ये सु
षुम्णांतरस्थे निसंक्षेपतोहं॥ तदंभोजपत्रस्थितां स्थापिते वास्तदाधारवर्णास्तदाधारदेवीः॥ अज
ग्रंथिपद्मं पुरा यन्मयोक्तं तदाधारमाद्यं चरंतीह संतः सुवर्णा ... वर्णैश्चतुर्भिः समेतं दलैर्योगिगम्यं
महाश्चर्यभूतं॥ चतुर्षु ज्वपत्रेषु देवी निरुद्धा ... वर्णैस्ससेत्केवलात्वा॥ स बिंदून मंदः स्वभा
वात्स सिद्धा स्फुरन्तो ति षाडाकिनी देवतात्र मूलाधारे संततं ध्यानयोगात् ... भस्तोभावुत्लुतिर्दुर्दुरी

भ
दिवर्णा
स्तादंभोजवर्णाषडाधार

यो॰ची॰ ७ व॥भूमित्यागः खेचरत्वं क्रमेणान्हृणामेतदूर्ध्वमुणाः संभवंति कांतिप्रकर्षो वपुषोपि नादव्यक्तिः प्रदी
प्तिर्जठरानलस्य॥लघुत्वमंगस्य निजेंद्रियाणां यत्त्वमारोग्यमदीनता च॥कृत्वा मनो निश्चलं
११ मध्ये मूलचक्रे नराः संततमादरेण भूतं भवच्चापि भविष्यदर्थं वदंति शास्त्राण्यपि चाश्रुतानि॥विहा
य सद्यः कमलासनस्य वक्त्रांबुजं प्रीतितरंगसंगात्॥तदीयवक्त्रांबुरुहोदरांतं सरस्वती नृत्यति दिव्य रे
रूपिणी॥अधिगम्य रसेंद्रमंत्रसिद्धीरपि कालं च विजित्य दुर्निवारं॥अजरामरतामवाप्य चांते प
रमानंदपदे स्मरारमंते॥एकीभूतार्णवांभस्सु तमखिलजगत्पूर्वमासीद्यत्पूर्वं ज्योतिर्मूर्तिस्तदंत ग
र्महिमहिमभूल्लिंगरूपी बभूव॥षट्सिद्धाधिष्ठितात्मा सकलसुरनुतः षड्भिरास्येरुपेतः ष तनुः
ड्भिः कोशैश्चदेवो नवभयतिमिरध्वंसहंसो महेशः॥अंगं लिंगं वपुर्यत्तो भगवतोदेवोदिरंग
नवद्वालीपूर्वमुखं त्रिवस्य तु महाकालस्तथोर्द्ध्वाननं॥वक्त्रं दक्षिणमाशुशुक्षणिरसोदेवः पिना ण
११

त्वं कीपुनः पार्श्व । हुगलेद एष भगवान्वामास्यमस्याभवत्॥स्वाधिष्ठानसमाह्वयं रसदलैर्मूले
ध्वजस्यांबुजं बालादित्यनिभं दलोपरिगतैः षष्ठादितर्कोक्षरैः॥विंदूभ्रासितमस्तकैर्भगवतो लिं
गात्मनः शूलिनः स्थानं योगिवरेण्यगोचरमिदं स्वास्याधिपा नाकिनी॥इहस्वाधिष्ठाने निहितनि
तो जचै...लम्बवशात्संदानंतो बुभिमितत्हृदयः साधकवरः॥समेतं गोनंगः क्षितितलमितो वामग
दृशां स्मरस्मेराभोगैरमयति गणं कांतिकलितं॥इह वेत्ति निधायमानसं स्वं विविधं चाश्रुतशास्त्र
जालमुच्चैः॥अवधूतजरामयः समर्त्येषु चिरंजीवति वीतमृत्युभीतिः॥वपुषोंशुचिभाजनस्पर्श स्व
रै त्परमां शुद्धिमिहातनोति पुंसां॥शरदंबुदस्मल स्पदे हे दृढरुद्धाव नतां चशी नरास्त्रिः॥चलितं सहसा
महारसेंद्र कमलालोकननो वियत्सरोजात॥इह ये विनिवारयंति संतोन्नुधीराः पुरुषोत्तमास्त एव॥
मदघातकटामहागजेंद्रोवशतामिति यथाशनैरुपायात्॥बलवानिह वैसुधाकरांसौ क्रमवद्धः

स्ववशो भवत्यवश्यं ॥ एतस्मिन्कुलिशाख्ययोगनिरता दार्दोलयो जायते ॥ रागादिंद्रियदंतिनां लर
 यवशात्संविन्निरपूर्जिता ॥ अंतर्लीनमहारसद्रवजुषां नृणां क्वेतालयं दाविर्भावमुपैत्यमंदसह
जानंदच्छलं दूरयः नाभिस्थं मणिपूरकं दशदलैर्नीलांजनाभैर्युतं डाद्यैस्तापिदशाक्षरैर्दलगतै
विंदूल्लसन्मस्तकैः ॥ लाकिन्यासमधिष्ठितं च सततं ध्यानान्नरः केवलं वश्याकर्षणनिर्विषीकरण
भूक्षोभादिकं कुर्वते ॥ स्थानेस्मिन्निहितात्मनः सुकृतिनः पातालसिद्धिः परा स्वर्गस्याप्रतिमस्य
साधनमपि स्याद्दीप्सितं च क्षितौ ॥ रूपं भूमिविसर्जनं परपुरे शक्तिः प्रवेशं जराहानिः सर्वाखिलदुः
खरोगशमनं कालस्य वा वंचनं ॥ हृदये सरसेंद्रगोपसंध्याद्युतसिंदूरसुवर्णवर्णमब्जं ॥ यदना
हतमित्युशंतिसंतो रविसंख्यैरुपशोभितं दलैश्च ॥ कादीशाद्यैर्भैरवैर्भानुसंख्यैर्ठांतोपेतैर्मंडि
तं चंडवीर्यैः ॥ तत्काकिन्याधिष्ठितं दिव्यशक्त्या देव्या हंसेनापि देवेन शश्वत् ॥ एतस्मिन्सततं नि

विष्टमनसः स्थाने विमाने स्थिताः क्षुभ्यंत्यद्भुतरूपकांतिकलिता दिव्यस्त्रियो योगिनः ॥ ज्ञा
नं चाप्रतिमं त्रिकालविषयं क्षोभं पुरस्यं श्रुतिर्दूराद्देक्च दर्शनं च खगतिः स्याद्योगिनीमेलनं ॥ विशु
नेत्रेने द्धाख्यं कंठे कमलममयधूम्रालिरुचिभिर्युतं श्रीकंठादिस्वरपरिगतैः षोडशदलैः ॥ इहस्थाने शाकि
न्यतुलनिजशक्तिर्भगवती स्थिता नित्यं देवी शरणगजनार्तिप्रशमनी ॥ अभ्यासयोगादिह संनिवि
ष्टस्वांतस्य शश्वन्नरपुंगवस्य ॥ समर्पतां स्यादनधीतशास्त्रसद्भावभावे वसुधातलेस्मिन् ॥ स्थानेत्र संस
क्तमना मनुष्यस्त्रिकालदर्शी विगताधिरोगः ॥ जित्वाजरांमञ्जनीलकेशः क्षितौ चिरंजीवति वीतमृत्युः
॥ इह स्थाने चित्तं सततमवधायात्तपवनो यदि क्रुद्धो योगी चलयति समस्तं त्रिभुवनं ॥ न च ब्रह्मा वि
 ष्णुर्न च हरिहरो नापि खमणिस्तदीयं सामर्थ्यं शमयितुमलं नापि गणपः ॥ आज्ञानाम भ्रूयुगमध्ये
दलयुग्मोपेतं पद्मं शारदचंद्रमयूखाभं ॥ हाकिन्युक्ता तत्रापि च देवी दलयुग्मे वर्णौ संत्या विंदुतौ सं
प

स्मरणीयो॥ध्यानयोगनिरतस्यजायतेपूर्वजन्मकृतकर्मणांस्मृतिः॥अत्रबिंदुनिलयेचदूरतोदर्शनश्रव-
णयोःसमर्थता॥इहसंनिहितस्वचित्तवृत्तिःप्रतिमायाःप्रतिजल्पनंकरोति॥गमनंचनरःपुरेपरेषांपु-
१० नरुत्थापनमं स्योम्नतस्य॥निरालंबामुं निर्विवदितामिहस्थानेवध्वास्थिरनिहितधीःसाधकवरः
॥सदाभ्यासात्पद्यत्यमरनिलयानंतरखिलामुहुश्रेणीविष्णोरपिपदमुडूनामधिपतिं॥ब्रह्माणं
सुरवृंदवंदितपदद्वंद्वंमुकुंदंतथात्र्यंबुंदेवनिकायनायकमपिप्रेताधिपंवारिपं॥अन्हांवन्हिमपिप्र
भुंचपवनंतार्क्ष्यंचयक्षेश्वरंगंधर्वानपिकिंनरानपिगुणैःसिद्धान्नसिद्धानपि॥यक्षान्राक्षसपुंग
वानपिमुनीन्दिव्यांश्चभव्याकृतीनंतःकांतिकलाकलापैलिता न्विद्याधरान्मानरः॥रंगोत्तुं
गत्तरंगसंततजलांसल्लोकिकल्लोलिनीर्योगीपश्यतिदाश्वरंचिरचिरंवापिहेमाचलंउत्तुंगपी
२ वरपयोधरभारनम्रकम्रांगमंगजमतंगजमंदपातं॥उल्लासिविल्लियुगलंचकितैणशावलोलेक्ष ७९

२ णंविसरमपास्तसांतथैव॥समुत्तुंगैःशृंगैःस्थगितगगनाभोगककु भोलसन्नानारत्नाकलितकटका
न्भूधरवरान्॥कुरंगैःसारंगैरपिचरमणीयांवनभुवंतथागुर्वीमुर्वीमहितविविधक्षेत्रसहितां॥तरं
गैरुत्तुंगैरहिमकरमातंगनिकरैःकरालानांभीरैरपिजलधरैर्भूधरवरैः॥तथापारावारान्मलसरितो
वारिस्फुरिताःसहंसालीपालीमपिचसरसांसारसजुषां॥चस्मरालंसचकोरमालं नडित्कराव्नस्वारि
नीलं॥कलापिकालंसधवानुकूलंप्रवासिकालंनवमेघमालं॥एतस्मिन्परमाद्भुतात्ययमहानं
देकंदरपरेस्थानेमानसमात्मनःस्थिरमतिःसंयोजयेन्मुद्रयायोगीतन्मयतामुपैतिज्ञानकैश्चेतोभि
रालंबयाथश्चाल्लैजमहासुखंलयवशादाविर्भवत्यां लीनेचतसितत्रविश्वनिलयेवन्हेरिवादौक
णाहश्यंतेचबरनंतरंचकितसद्रूपाःप्रदीपांकुराः॥बालस्येवदिवाकरस्यवहलोद्योतस्ततोद्योततेयद्वाभूग
गनांतरालविलसज्ज्योत्स्नासप महः॥नित्यानंदरतिश्रियःपतिरितिश्रीवासुदेवःपुमानात्मेत्यच्युतरत्य
दं

यो·चिं· चिंत्यमहिमा। योगीयतेयोगिभिः॥ स्थानेऽस्मिन्परमेश एव भगवान्व्यक्तोभवत्यव्ययः साक्षीराहुरिवांब
रांतरगतश्चंद्रार्कयोर्मंडले॥ विश्वस्यायतनंमहद्भगवतः स्थानंतदेतत्पं रंयत्रारोप्यसमीरणंसु
८० कृतिनःप्राणप्रयाणेनराः॥ दिव्यंतत्परमंपुराणपुरुषंवेदांतवेद्यंकविर्विश्वाद्यंप्रविशंतिसंततमहा
नंदैककंदंविभुं॥ सहस्रारपद्मंविसर्गादधस्तादधोवक्त्रमारक्तकिंजल्कपुंजं॥ कुरंगे हीनस्त्रिश्चं ण
त गस्तरं स्फुरद्रश्मिजालःसुधांशुःसमास्तेऽंतर्गतंब्रह्मरंध्रंसुसूक्ष्मंयदाधारभूतंसुषुम्णाख्य त
नाड्याः तदेतत्पदंदिव्यमत्यंतगुह्यंसुरैरप्यगम्यंसुगोप्यंप्रयत्नात्॥ एतत्कैलाशसंज्ञंपरमकुल
पदंविंदुरूपीस्वरूपीयत्रास्तेदेवदेवोभवभयतिमिरध्वंसहंसोमहेशः॥ भूतानामादिभूतोरसवि
सरसितासंततामृततरंगैः सौधाधारांविमुंचन्नभिमतफलदोयोगिनांयोगगम्यः॥ स्थानस्यास्यज्ञानमा ग
त्रेण पुंसांसंसारेस्मिन्संभवोनैवभूयः॥ भूतग्रामंसंततंतावत्यासयोगात्कर्तुंहर्तुंस्यात्रशक्तिः स राम:
मे. ८०

मग्र॥ स्थानेपरेहंसनिवासभूते कैलाशनाम्नीहनिविष्टचेताः॥ योगीगतव्याधिरधःकृताधिर्वाधि
श्चिरंजीवतिरम्यमुक्तः॥ स्थानेस्मिन्क्षयवृद्धिभावरहिता नित्योदिताधोमुखीबालादित्यनिभप्रभा
शशभृतःसास्तेकलाषोडशी॥ वालाग्रस्यविखंडितस्यशतधाभागेनचैकेनयासूक्ष्मत्वात्सदृशीनि
रंतरगलत्पीयूषधाराधरा। एतस्याःपरतःस्थिताभगवतीभूतादिदैवाधिपा निर्वाणाख्यकलार्द्ध
चंद्रकुटिलासाषोडशांतंगता वालाग्रस्यसहस्रधाविदलितस्यैकेनभागेनयासूक्ष्मत्वात्स
दृशीत्रिलोकजननीयाद्वादशार्कप्रभा॥ निर्वाणाख्यकलापदोपरिगतानिर्वाणशक्तिःपरा॥ कोट्यादि
त्यसमप्रभातिगहनावालाग्रभागस्यया॥ कोट्यंशेनसमासमस्तजननीनित्योदितानिर्मला॥ नित्यानं
दपरंपरांसुविगलद्धारानिरालंबना॥ एतस्याःपरतःपरात्परतरंनिर्वाणशक्तेःपदंशैवंशाश्वतमेयम मत्र
मलंनित्योदितंनिष्क्रियंतद्विष्णोःपदमित्युशंतिसुधियःकेचित्पदंब्रह्मणः केचिद्धंसपदंनिरंजनपदंकेचि

न्निरालंबनं॥आरोप्यारोप्यशक्तिं कमलजनिलयादात्मनासाकमेवस्थानेस्थानेषवसाने षवहितत्वदयश्चित
पीत्वाक्रमेणनीत्वानादावसानंस्वगमकुलमहापद्मसद्मांतरस्थांध्यायेद्वैतन्यरूपामंतफलसंप्राप्तयेश
क्तिमाद्यां॥साक्षाल्लाक्षारसाभंगगनगतमहापद्मसद्मस्थहंसासीनादिव्याम्नतौघंपुनरपिचविशं
न्मध्यदेशं कुलस्य।चक्रेचक्रेक्रमेणाम्नतरसविसरैस्तर्पयेद्देवतास्ताह्याविन्याद्याःसमस्ताःकमल
जपदगांतर्पयेत्कुंडलीतां॥अथषट्कर्माणि॥हठप्रदीपिकायां॥धौतिर्वस्तीतथानेतीत्राटकंनौलिकं
तथाकपालभातीचैतानिषट्कर्माणिप्रचक्षते॥कर्मषट्कमिदंगोप्यंघटशोधनकारकं॥विचित्रगुण
संधायिपूज्यतेयोगिपुंगवैः॥अथधौती॥चतुरंगुलविस्तारंसूक्ष्मंवस्त्रंशनैर्ग्रसेत्॥पुनःप्रत्याहरेदेत
दभ्यासाद्धौतिकर्मवित्॥कासश्वासप्लीहकुष्ठंकफरोगाश्चविंशतिः॥धौतीकर्मप्रभावेनप्रयांत्येवनसं
शयः॥अथवस्ती॥नाभिदघ्नेजलेपायुन्यस्तनालोत्कटासनः॥आधाराकुंचनंकुर्यात्क्षालनंवस्तिकर्म

कर्मवित्॥गुल्मोदरंचापिवातपित्तप्लीहकफोद्भवाः॥वस्तिकर्मप्रभावेनक्षीयंतेसकलामयाः॥धा
त्विंद्रयांतःकरणप्रसादंदध्याच्चकांतिंदहनप्रदीप्तिं॥अशेषदोषोपचयंनिहन्यादभ्यस्यमानंज
लवस्तिकर्म॥अथनेती॥सूत्रंवितस्तिसुस्निग्धंनासानालेप्रवेशयेत्॥मुखान्निर्गमयेत्साहिनेति
सिद्धैर्निगद्यते॥कपालशोधनीचैवदिव्यदृष्टिप्रदायिनी॥जत्रूर्ध्वजातरोगौघान्नेतिराशुनिहंति
वै॥अथत्राटकं॥निरीक्षेन्निश्चलदृशासूक्ष्मलक्ष्यंसमाहितः॥अश्रुसंपातपर्यंतमाचार्यैस्त्राट
कंमतं॥मोचनंनेत्ररोगाणांतंद्रादीनांकपाटकं॥यत्नतस्त्राटकंगोप्यंयथाहाटकपेटकं॥अथनौली
॥अमंदावर्तवेगेनतुंदंसव्यापसव्यतः॥नतांसोभ्रामयेदेषानौलीयोगैःप्रचक्षते॥मंदाग्निसं
दीपनपाचनादिसंदीपिकानंदकरीसदैव॥अशेषदोषामयशोषिणीचहठक्रियामौलिरियंचनौ
लिः॥अथकपालभाती॥भस्त्रावल्लोहकारस्यरेचपूरौससंभ्रमौ॥कपालभातीविख्या

यो॰चिं॰ नाकफदोषविशोषिणी॥ अथमुद्राः पवनयोगसंग्रहे॥ महामुद्रामहाबंधोमहावेधश्चखेचरी॥ शक्ति
८३ चालोमूलबंधुउड्डीयानंततःपरंजालंधराभिधोबंधोविपरीतकृतिस्तथेति॥ हठप्रदीपिकायां॥
सशैलवनधात्रीणांयथाधारोहिनायकः॥ सर्वेषांयोगतंत्राणांतथाधारोहिकुंडली॥ सुप्तागुरु
प्रसादेनबोधितासुखदाभवेत्॥ तथासर्वाणिपद्मानिभिद्यंतेग्रंथयोपिच॥ प्राणस्यशून्यप
दवीतथाराजपथायते॥ तथाचित्तंनिरालंबंतदाकालस्यवंचनं॥ तस्मात्सर्वप्रयत्नेनप्रबो
धयितुमीश्वरीं॥ ब्रह्मद्वारमुखेसुप्तांमुद्राभ्यासपरोभवेत्॥ महामुद्रामहाबंधोमहावेधश्च
बंधो खेचरी॥ उड्डीयानंमूलबंधोजालंधरोभिधः॥ करणीविपरीताख्यातथावैशक्तिचालनं॥ एत
द्धिमुद्रानवकंजरामरणवर्जितं॥ आदिनाथोदितंदिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकं॥ वल्लभंसर्वसिद्धीनां
दुर्लभंमरुतामपि॥ गोपनीयंप्रयत्नेनयथारत्नकरंडकं॥ कस्यचिन्नैववक्तव्यंकुलस्त्रीसुर ८३

तंयथा॥ अथमहामुद्रा॥ स्कंदपुराणे॥ शोधनंनाडिजालस्यचालनंचंद्रसूर्ययोः॥ रसानांशोष
णंसम्यक्महामुद्राभिधीयते॥ ईश्वरप्रोक्तंमहामुद्रांप्रवक्ष्यामितंत्रेस्मिन्ममदुर्लभां॥ यांप्रा
घ्रा: प्यसिद्धकाः सिद्धिंकपिलाद्याःपुरागताः॥ अपसव्येनसंपीड्यपादमूलेनसादरं॥ गुरूपदेश
तोयोनिंगुदमेढ्रांतरालगां॥ सव्यंप्रसारितंपादंधृत्वापाणियुगेनतु॥ नवद्वाराणिसंयम्य
चिबुकंहृदयोपरि॥ चित्तंचतुःपथेदत्वाप्रारभेद्वायुधारणं॥ महामुद्राभवेत्येषा स
र्वतंत्रेषुगोपिता॥ वामांगेनसमभ्यस्यदक्षांगेनाभ्यसेत्पुनः॥ प्राणायामंसमंकृत्वायोगीनियत
मानसः॥ मुद्रामेतांतुसंप्राप्यगुरुवक्त्रात्सुगोपितां॥ अनेनविधिनायोगीमंदभाग्योपि
सिद्ध्यति॥ सर्वासामेवनाडीनांचालनंबिंदुधारणं॥ जारणंतुकषायस्यपातकानांविनाशनं॥
कुंडलीतापनंवायोर्ब्रह्मरंध्रप्रवेशनं॥ सर्वरोगोपशमनंजठराग्निविवर्द्धनं॥ वपुषःकांति

यो·चिं· कमल्लाजराम्त्युविनाशनंवांछितार्थोवलंसौख्यमिंद्रियाणांचमार्ण॥एतान्युक्तानिसर्वाणिमा
२३ र्गानूढस्पयोगिनः॥मुद्राकामदुघात्वेषासाधकानांमयोदितांगुप्ताचारेणकर्त्तव्यानदेयायस्यक
स्यचित्॥इयंखलुमहामुद्रामहासिद्धैःप्रशस्यते॥महाक्लेशायनोदोषादीप्यंतेमरणादयःम
हामुद्राचतेनैववदंतिविविधानमादति॥हठप्रदीपिकायां॥यथादंडाहतःसर्पोदंडाकारःप्रजा
यते॥ऋज्वीभूतातथाशक्तिःकुंडलीसहजाभवेत्॥पादमूलेनवामेनयोनिसंपीड्यदक्षिणं॥
पादप्रसारितंधत्वाकराभ्यांपूरयेन्मुखं॥कंठवंधंसमारोप्यधारयेद्वायुमूर्द्धतः॥तयासोमरणाव
स्थांहरतेद्विपदाअयांमदिपथ्यमपथ्यंचारसाःसर्वेपिनीरसाः॥अपिभुक्तंविषंघोरंपीयूषमिवजी
र्यतिक्षयकुष्टगुदावर्त्तगुल्मप्लीहपुरोगमाः॥तस्यरोगाःक्षयंयांतिमहामुद्रांचयोभ्यसेत्॥अथ
महावंधःईश्वरप्रोक्ते॥योस्यांप्रसारितःपादोविन्यस्यतमुरूपरि॥गुदयोनीसमाकुंच्यनीत्वाचा २३

पानमूर्द्धगे॥योजयित्वासमानेनकृत्वाचास्याम धोमुखं॥वंधयेदूर्द्धगत्यर्थमपानप्राणयोःसुधीः
॥कथितोयंमहावंधःसिद्धिमार्गप्रदायकःनाडीगलदसचहमूर्द्धनिमतियोगिनः॥उभाभ्यांसा
धा धयेत्त्र्यं मेकैकंसुप्रयत्नतः॥मतमन्यंतुकेषांचित्कंठवंधंविवर्जयेत्॥राजदंतद्वयंतत्रजिह्वयां
स्तंभयेदितिभवेदभ्यासतोवायुःसुषुम्णामध्यसंगतः॥अनेनवपुषःकीर्तिर्दृढवंधोस्थिपंजरः॥सं
पूर्णहृदयोयोगीभवंत्येतानियोगिनः॥वंधेनानेनयोगींद्रःसाधयेत्सर्वमीप्सितं॥अथापानप्राणयो
रैक्यंकृत्वात्रिभुवनेपुवेहठप्रदीपिकायां॥पार्ष्णिवामस्यपादस्ययोनिस्थानेनियोजयेत्॥वामो
रूपरिसंस्थाप्यदक्षिणंचरणंतथा॥पूरयित्वामुखेवायुंहृदयेचिवुकंतथा॥निःपीड्ययोनि
माकुंच्यमनोमध्येनियोजयेत्॥रेचयेच्चशनैरेवमहावंधायमुच्यते॥अयंखलुमहावंधोमहासिद्धि
प्रदायकः॥कालपाशमहावंधविमोचनविचक्षणःअयंतुसर्वनाडीनामूर्द्धगमननिरोधकः॥त्रिवे

यो॰वि॰ णीसंगमंधत्नेकेदारंप्रापयेन्मनः अयमहावेधः॥रूपलावण्यसंपन्नायथास्त्रीपुरुषंविना॥ महा
मुद्रामहाबंधौ निःफलौवेधवर्जितौ॥ महाबंधेस्थितोयोगी कृत्वापूरकमेकधा॥ वायूनांगतिमावृत्य
८४ निभृतंकंठमुद्रया॥ समहस्तायुगोभूत्वास्फिजौसंताडयेछनैः॥पुटद्वयंसमाक्रम्यवायुःस्फुरतिमध्य
गः॥सोमसूर्याग्निसंधानंजायतेचामृतायते॥मृतावस्थासमुत्पन्नंततोमृत्युभयंकुतः॥महावेधोय
मभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः॥वली पलित वेपघ्नः सेव्यतेसाधकोत्तमैः॥ एतत्त्रयंमहागुह्यंजराम्
त्युविनाशनं॥वन्हिवृद्धिकरंचैव अणिमादिगुणप्रदं॥अष्टधाक्रियतेचैवयामेयामेदिनेदिने॥
पुराप्सेसंभारसंधायिपापोघभिदुरंसदा॥सम्यकुसिक्षावतामेवंस्वल्पंप्रथमंसाधनं॥इ स्वरप्रोक्ते॥
महाबंधस्थितोयोगीकुक्षिमापूर्यवायुना॥स्फिजौसंताडयेद्विद्वान्वेधोयंकीर्तितोमया॥वेधनानेन
संविद्धंवायुनायोगिपुंगवः॥ग्रंथीन्सुषुम्णामार्गेणब्रह्मरंध्रंभिनत्यसो॥यःकरोतिसदाभ्यासंमहावे ८४

धंसुगोपितं॥वायुसिद्धिर्भवेतस्यजरामृत्युविनाशिनः॥चक्रमध्येस्थितादेवाःकंपतेवायुताडना
त्॥कुंडल्यपिमहामाया कैलाशेसेविलीयते॥तस्माद्योगीप्रयत्नेनकरोतित्रितयंक्रमात्॥
एतत्त्रयंप्रयत्नेनचतुर्वारंकरोतियः॥षण्मासाभ्यंतरेमृत्युंजयत्येवनसंशयः॥एतत्त्रयस्य
माहात्म्यंसिद्धोजानातिनेतरः॥यज्ज्ञात्वासिद्धकाःसर्वेसिद्धास्थांलेभिरे चिरात्तत्[illegible]गोप
नीयंप्रयत्नेनसाधनंसिद्धिमिछता॥अन्यथाचनसिद्धिःस्यान्मुद्राणामेषनिर्णय इतिम्त्र
थखेचरी॥योगवीजे॥वितस्तिप्रमितंदीर्घंविस्तारंचतुरंगुलं॥मृदुलंधवलंप्रोक्तंचेष्टनाधा
रलक्षणं॥ हठप्रदीपिकायां॥छेदनचालनदोहैर्जिह्वांसंवर्धयेत्तावत्॥यावदियं भ्रूमध्यंस्
पृशतितदाखेचरीसिद्धिः॥कलांपराङ्मुखीकृत्वात्रिपथेपरिवर्तयेत्॥साभवेत्खेचरीमुद्रा
व्योमचक्रंतदुच्यते॥रसनामूर्ध्वगांकृत्वाक्षणार्धंयदितिष्ठति॥विषयैर्मुच्यतेयोगीव्याधि

ति

यो॰ चिं॰ मृत्युजरादिभिः खेचर्यामुद्रितं येन चित्तं विकोर्द्धतः न तस्य क्षरते विंदुः कामिन्यालिंगितस्य च ॥ च
८५ लितो पि यदा विंदुः संप्राप्तश्च हुताशनं ॥ व्रजत्यूर्द्धं हितश्चक्त्या निरुद्धो योनिमुद्रया ॥ संपानन विधौ
विंदुः पांडुरो लोहितस्तथा ॥ पांडुरं शुक्रमास्यातं लोहिताख्यं महारजः ॥ सिंदूरसंनिभं वीजं रविस्था
ने स्थितं रजः शशिस्थाने भवेद्विंदुस्तयोरैक्यं सुदुर्लभं ॥ विंदुः शि[illegible]वो रजः शक्ति विंदुरिंदू रजो रवि
याति विरोः स हैकत्वं भवेद्दिव्यं वपुस्तदा शुक्रं चंद्रेण संयुक्तं रजः सूर्येण संवृतं ॥ तयोः समरसैक
त्वं यो जानाति स योगवित् ॥ चिनाय [illegible]जंतूनां शुक्रं शुक्रायतं च जीवितं ॥ तस्माद्विंदुं च शुक्रं च र
क्षणीयं प्रयत्नतः तत्नातालुद्विय तिशिरे मेरुमूले तद्द्स्तिनत्वं चैतन्य वद्दति सुधीः संमुखे निम्न
ते गानां ॥ चंद्रात्सारः स्रवति सि नितेन मृत्युर्नराणां तद्बध्नीयात्स्वकरणमदानान्यथा कायसिद्धिः ॥ ई
धनाने ॥ यथा वन्हिस्तेलनर्तीव दीपकः ॥ निसंसोमकलापूर्णं देही देहं न मुंचति ॥ रसनावेशये दूर्द्ध ८५

पिबेन छ्रावितं जलं ॥ गोमांसं भक्षयेन्नित्यं संपिबेद मरवारुणीं कुलीनं तमहं मन्ये नेतरा न्कुलघातका
न् ॥ गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ॥ गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनं ॥ जिह्वाप्र
वेशसंभूतवन्हिनोत्पादितः खलु चंद्रात्स्रवति यः सारः सा स्यादमरवारुणी ॥ एकं सृष्टिमयं वीजमे
का मुद्रा च खेचरी ॥ एको देवो निरालंबः एकावस्था मनोन्मनी ॥ नासनं सिद्धसदृशं न कुंभः के
वलोपमः ॥ न खेचरीसमा मुद्रा न नादसदृशो लयः ॥ मूर्द्धः षोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठा
दूर्द्ध स्यो रसनां निपत्य विवरे शक्तिं परां चिंत्यतयन् ॥ तत्कल्लोलकलानलं च विमलं जिह्वाकु
लं यः पिबेन्निर्दोषः स मृणालकोमलतनुर्योगी चिरंजीव भिंचुवंती यदिलंवि काग्रमनिशं र
जिह्वारसस्पंदिनी सक्षारा कटुकाम्लदुग्धसदृशं मध्वाज्यतुल्यं सदा व्याधीनां हरणं जरांतक
करणं शास्त्रागमोच्चारणं तस्य स्यादिह सिद्धिरष्टगुणिता सिद्धांगनाकर्षणं ॥ स्कंदपुराणे ॥ कपा

यो॰वी॰ लकुहरे जिह्वाप्रविष्टा विपरीतगा। भ्रुवोरंतर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी॥ चित्तं चरति खे यस्मा
८६ ज्जिह्वा चरति खे गता॥ तेनैषा खेचरीनाममुद्रा सिद्धैर्निषेविता॥ यावद्बद्धा नभोमुद्रा॥
तावद्बिंदुर्न गच्छति॥ यावद्बिंदुः स्थितो देहे तावत्कालभयं कुतः॥ पीयते न स रोगेण न च लि
प्यते कर्मणा॥ बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीं॥ रसनां तालुविवरे निधायोर्द्ध्व
मुखामृतं॥ पिबेन्निर्ज्जरतां गच्छेत्परा मासान्नात्र संशयः॥ उर्द्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं
करोति यः॥ मासार्द्धेन न संदेहो मृत्युं जयति योगवित्॥ संपीड्य रसनाग्रेण राजदंतबिलं मह
त्॥ ध्यात्वामृतमयीं देवीं षण्मासेन कविर्भवेत्॥ अमृतापूर्णदेहस्य योगिनो द्वित्रिवत्सरा
त्। ऊर्द्ध्वं प्रवर्त्तते रेतो ह्यणिमादिगुणोदयं॥ नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य योगिनः॥ तक्ष
केणापि दष्टस्य विषं तं न च सर्पतीति॥ दत्तात्रेयः अंतःकपालविवरे जिह्वां व्यावृत्य चार्पयेत् ८६

भ्रूमध्ये दृष्टिरप्येषा मुद्रा भवति खेचरी। न रोगो मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा न च मूर्छा भवेत्तस्य
यो मुद्रां वेत्ति खेचरीमिति॥ ईश्वर उवाच॥ लंबिकोर्द्ध्वस्थिते गर्ते रसनां विपरीतगां॥ संयोजयेत्प्र
यत्नेन सुधाकूपे विचक्षणः॥ मुद्रैषा खेचरी प्रोक्ता भक्तानामनुरोधतः॥ निरंतरं कृताभ्यासः पी
यूषं प्रत्यहं पिबेत्। तेन विग्रहसिद्धिः स्यान्मृत्युमातंगकेसरी॥ मुद्रैषा खेचरी यस्य सुस्थिरा स्यात् तं
दृष्टिनाशतः ब्रह्मगतेनापि क्षणार्द्धमन्यत्ते हि से ति॥ अथ मूलबंधः॥ पादमूलेन संयोज्य गुदमा ज्य
न गे सुयंत्रितं॥ बलादपानमाकृष्य क्रमादूर्द्ध्वं समभ्यसेत्॥ कथितोयं मूलबंधो जरामरणनाशनः॥
र अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः॥ बंधेनानेन सुतरां योनिमुद्रा प्रसिद्ध्यति॥ सिद्धायां यो
निमुद्रायां किं न सिद्ध्यति भूतले। बंधस्यास्य प्रसादेन गगने विजितानिलः॥ पद्मासनस्थितो यो
गी भुवमुत्सृत्य वर्त्तते॥ सुगुप्ते निर्जने देशे बंधमेनं समभ्यसेत्॥ संसारसागरं तर्तुं यदीच्छेद्यो

गिपुंगवइति॥हठप्रदीपिकायां॥पार्ष्णिभागेनसंपीड्ययोनिमाकुंचयेद्गुदं॥अपानमूर्ध्वमाकृष्यमूल
वंधोयमुच्यते॥अधोगतमपानंचतदूर्ध्वकुरुतेहठात्॥आकुंचनेनतंप्राहुर्मूलवंधंतुयोगिनः॥
योगवीजे॥गुदंपार्ष्ण्यातुसंपीड्यवायुमाकुंचयेद्बलात्॥वारंवारंतथाचोर्ध्वंसमायातिसमीरणः॥
प्राणापानौनादविंदूमूलवंधेनचैकतां॥गत्वायोगस्यसंसिद्धिंगच्छतेनात्रसंशयः॥अपानेचो
प ध्वंगतेप्राप्तेसंप्राप्तेवन्हिमंडले॥तथानलशिखादीर्घावर्द्धतेवायुनाहता॥ततोयातौवन्ह्यपानौप्रा तौ
णमुक्तस्वरूपकौ॥तेनात्यंतप्रदीप्तस्तुज्वलनोदेहजस्तथा॥तेनकुंडलिनीसुप्तासंतप्तासंप्रबो
ध्यते॥दंडाहतभुजंगीवनिश्वस्यतंऋजुतांव्रजेत्॥विलंप्रविष्टेवततोब्रह्मनाड्यंतरंव्रजेत्॥त
स्मान्नित्यंमूलवंधःकर्तव्योयोगिपुंगवैः॥अथोड्डियानवंधः॥वद्धोयेनसुषुम्णायांप्राणस्तू
न् ड्डीयतेयतः॥तस्मादुड्डीयानाख्यायोगिभिःसमुदाहृतः॥उड्डीनंकुरुतेयस्मादविश्रांतंमहा

खगः॥उड्डीयानंतदेवस्यात्मूलवंधोभिधीयते॥उदरेपश्चिमंतानंनाभेरूर्ध्वंसमाचरेत्॥उ
ड्डियानोह्यसौवंधोमृत्युमातंगकेसरी॥उड्डीयानंतुसहजंगुरुणाकथितंयथा॥अभ्यसे
त्सततंयस्तुवृद्धोपितरुणायते॥नाभेरूर्ध्वमधोवापितानंकुर्यात्प्रयत्नतः॥षण्मासमभ्यसे
न्मृत्युंजयत्येवनसंशयः॥हठप्रदीपिकायां॥सतिवज्रासनेपादौकराभ्यांधारयेद्दृढं॥गुल्फ
देशसमीपेचतुउदरंतत्रपीडयेत्॥पश्चिमंताणमुदरेकारयेच्चिवुकंहृदि॥शनैःशनैर्यथाप्रा
व णस्तंदशुद्धिंनिगच्छति॥सर्वेषामेवंधानामुत्तमोह्युड्डियानकः॥उड्डियानेदृढेवद्धमूलः
स्वाभाविकोभवेत्इति॥ईश्वरप्रोक्तेनाभेनूर्ध्वमधश्चापितानंनिर्भरमभ्यसेत्॥उड्डियानो
वंधएषकंठदुःखौघनाशनः॥नित्यंयःकुरुतेयोगीचतुर्वारंदिनेदिने।तेननाभेर्विशुद्धिः
स्याद्येनसिद्धोभवेन्मरुत्॥षण्मासमभ्यसन्योगीमृत्युंजयतितत्त्ववित्॥तस्योदराग्निर्ज्वल

यो॰चिं॰ तिरसश्च सिद्धिश्च जायते॥ अनेन सुतरां सिद्धिर्विग्रहस्य प्रजापते॥ रोगाणां संक्षयश्चापि योगिनो
८८ भवति ध्रुवं॥ गुरोर्लब्ध्वा प्रयत्नेन साधयेत्तु विचक्षणः॥ निर्जने सुस्थिते देशे बंधं परमदुर्लभ
मिति॥ अथ जालंधरः॥ बध्वा गलशिराजालं हृदये चिबुकं न्यसेत्॥ बंधो जालंधरः प्रोक्तो देवाना
मपि दुर्लभः॥ नाभिस्थवह्निर्जंतूनां सहस्रकमलच्युतं॥ पिबेत्पीयूषं रसवत्तदर्थं बंधयेदिमं॥
बंधेनानेन पीयूषं स्वयं पिबति बुद्धिमान्॥ अमरत्वं च संप्राप्य मोदते भुवनत्रये॥ जालंधरो बं
धरूपः सिद्धानां सिद्धिदायकः॥ अभ्यासः क्रियते नित्यं योगिनां सिद्धिमिच्छता॥ इति योगबी
२ जे॥ कंठमाकुंच्य हृदये स्थापयेद्दृढमिच्छया॥ बंधो जालंधराख्योयममृताव्ययकारक इति॥ हठ
प्रदीपिकायां॥ बध्नातीह शिराजालमधोगामि नभोजलं॥ ततो जालंधरः ख्यातः कंठदुःखौघना
शनः॥ जालंधरे कृते बंधे कंठसंकोचलक्षणे॥ न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः कुप्यति॥ मध्यचक्र प्र
८८

मिदं ज्ञेयं षोडशाधारबंधनं॥ बंधत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धनिषेवितं॥ सर्वेषां हठतंत्राणां सा
धनं योगिनो विदुरिति॥ अथ विपरीतकरणी॥ हठयोगे नाभिदेशस्थितो नित्यं भास्करो दहना
त्मकः॥ अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमध्ये च चंद्रमाः॥ वर्षत्यधोमुखश्चंद्रो ग्रसत्यूर्ध्वमुखो रविः॥ क
रणं तच्च कर्तव्यं येन सा प्राप्यते सुधा॥ विशुद्धे परमे चक्रे बुद्धा सोमकलामृतं॥ तन्मार्गेण क्र
तं याति वंचयित्वा मुखं रवेः॥ भ्रमतं कंदरे कृत्वा नासांते शिखरे क्रमात्॥ स्वयमुज्ज्वलितं याति
वंचयित्वा मुखं रवेः॥ वहत्सोमकलाजलं च विमलं कंठस्थलादूर्ध्वतो नासांते शिखरे प्रयाति
गगनद्वारं ततः सर्वतः॥ ऊर्ध्वस्था भुवि से नित्यं निरंतरामृतानपारः पिबेदेवं यत्नतु नु जितेंद्रियश्च
योनवास्ति तस्य क्षयः॥ हठप्रदीपिकायां॥ यत्किंचित्स्रवते चंद्रादमृतं दिव्यरूपि च॥ तत्सर्वं ग्रस
ते सूर्यस्तेन पिंडो विनाशि च॥ तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवंचनं॥ गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु

यो.चिं. शास्त्रार्थकोटिभिः॥ ऊर्द्ध्वनाभिरधस्तालुरूर्द्ध्वं भानुरधः शशी॥ करणी विपरीताख्या सर्वव्याधिविनाशि
८८ नी॥ एतात्रेयः ऊर्द्ध्वभानुरधश्चंद्रस्तु यथा स्यात्तथा कर्त्तव्यं अधःशिर ऊर्द्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने॥
क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने॥ वलिश्च पलितं चैव षण्मासार्द्धेन दृश्यते॥ याममात्रं तु यो
नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित्॥ नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्द्धनं॥ आहारो बहुलस्तस्य ६
संपाद्यः साधकेन ध्रुवं॥ अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दाहं करोति वै॥ अथ शक्तिचालनं ईश्वरप्रोक्ते
॥ आधारकमले सुप्तां चालयेत्कुंडलीं दृढां॥ अपानवायुना कृष्य बलात्तां कुंचयेद् बुद्धिमान्॥ श
क्तिचालनमेवं हि प्रत्यहं यः समभ्यसेत् अग्निवृद्धिर्भवेत्तस्य रोगाणां च विनाशनं॥ विहाय निद्रां
भुजगी पयमूर्द्ध्वं भवेत्खलु॥ तस्मादभ्यसनं कार्यं योगिना सिद्धिमिच्छता॥ यः करोति सदाभ्यासं श
क्तिचालनमुत्तमं॥ येन विग्रहसिद्धिः स्यादणिमादिगुणप्रदा॥ गुरूपदेशविधिना तस्य मृत्युभ ८९

यं कुतः॥ मुहूर्त्तद्वयपर्यंतं विधिना शक्तिचालनं वज्रासनगतो नित्यं मासार्द्धं तु समभ्यसेत्॥ वा
२ युना ज्वलितो वह्निः कुंडलीं दहते नि शं॥ संतप्ता साग्निना जीव शक्तिस्त्रैलोक्यमोहिनी विश
५ ते वज्रतुंडे न सुषुम्णा वदनांतरे॥ वायुना वह्निना सार्द्धं ब्रह्मग्रंथिं विभिद्य सा॥ विष्णुग्रंथिं ततो भि ९
त्वा रुद्रग्रंथौ च तिष्ठति॥ ततस्तु कुंभकैर्गाढं पूरयित्वा पुनः पुनः भिद्यते ग्रंथयो वंशे तप्त लोहश
लाकया॥ तथैव पृष्ठवंशस्य ग्रंथिभेदस्तु वायुना पिपीलिका यथा लग्ना वंशस्तत्र प्रवर्त्तते॥
सुषुम्णायां तथाभ्यासात्सततं वायुना भवेत्॥ रुद्रग्रंथिं ततो भित्वा ततो याति शिवात्मकमिति
हठयोग॥ उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुंचिकया हठात्॥ कुंडलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत्
॥ येन द्वारेण गंतव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयं॥ मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी॥ कंदोर्द्ध्वं कुंड
लीशक्तिर्बुद्धमोक्षाय योगिनां॥ बंधनाय मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित्॥ अंभोधि शैलदीपाना

यो· चिं·

माधारःशेषकुंडली॥अशेषयोगतंत्राणामाधारःकुंडलीतथा॥कुंडलांगीकुंडलिनीभुजगीशक्ति

ता रीश्वरी॥कुटि[illegible]रुंधतीदेवीशब्दाःपर्यायवाचकाः॥कुंटिलीकुटिलाकारासर्पवत्सरिकीर्तिता॥

९० ॥साशक्तिश्चालितायेनसमुक्तोनात्रसंशयः॥गंगायमुनयोर्मध्येबालरंडांतपस्विनी॥बलात्का

रेणगृह्णीयात्तद्विष्णोःपरमंपदं॥पुच्छंप्रगृह्यभुजंगीसुप्तामुद्बोधयेदभि॥निद्रांविहायसाशक्ती

ऊर्द्धमुत्तिष्ठतेहठात्॥परिस्थितावैफणावतीसाप्रातश्चसायंप्रहरार्द्धमात्रं॥प्रपूर्य्यसूर्य्यात्प

रिधानमुक्त्याप्रगृह्यनित्यंविचालितासा॥वज्रासनस्थितोयोगीचालयित्वातुकुंडली॥सूर्य्या ता

दनंतरंभस्त्राकुंडलीमाशुबोधयेत्॥भानोराकुंचनंकुर्यात्कुंडलींचालयेत्ततः॥मृत्युवक्त्रगतस्या

पितस्यमृत्युभयंकुतः॥नासादक्षिणमार्गवाहिपवनात्प्राणोतिदीर्घीकृतश्चंद्रांभःपरिपूरि

तामृततनुःप्राग्घंटिकायास्ततः॥भिंदन्कालविशालवन्हिवशगान्भ्रूरंध्रनाडीगणान्संकीर्यकु ९०

रुतेपुनर्नवतरंजीर्णद्रुमस्कंधवत्॥कुंडलीचालयित्वातुकुर्याद्भस्त्रांविशेषतः॥एवमभ्यासतो

नित्यंयमिनःशंकतेयमः॥तदाभ्यसेत्सूर्य्यभेदमुज्जायीचापिशीतली॥एवमभ्यासयुक्तस्य

यमस्तत्रयमिनःकुतः॥मुहूर्त्तद्वयपर्य्यंतंनिर्भयंचालनाद्धिवै॥ब्रह्मचर्यरतस्यैवनित्यंहितमि

ताशिनः॥मंडलाद्दृश्यतेसिद्धिःकुंडल्याभ्यासयोगिनः॥द्विसप्ततिसहस्राणांनाडीनांमलशो

धनं॥कुतःप्रक्षालनोपायःकुंडल्याभ्यासतोविना॥अत्रशक्तिचालनेयमासनमेवद्रष्टव्यंन

वज्रासनमनुभवविरोधात्तथाचग्रंथांतरे॥कृत्वासंपुटितौकरौदृढतरंबद्ध्वाचपद्मासनंगाढंव

क्षसिसंनिधायचिबुकंध्यानंचतच्चेतसि॥वारंवारमपानमूर्द्ध्वमनिलंप्रोत्सारयेत्पूरितंप्राणंमुंच

तिबोधमेतिनिपतंशक्तिःप्रबोधोदयात्॥इतिमुद्रानवप्रोक्ताआदिनाथेनशंभुना॥एकैकाता

सुयमिनांमहासिद्धिप्रदापि.नी॥दत्तात्रेयः॥अभ्यासभेदतोभेदःफलानुसममेवहि॥अभ्या

सक्रमश्चोक्तः पवनयोगसंग्रहे॥ महामुद्रां समभ्यस्य महाबंधं ततः परं॥ महावेधश्च नियतं प्रकुर्या
च्छक्तिचालनं॥ आसनं सुदृढं बध्वा मूलबंधं विधाय च॥ उड्डीयानं तथा बंधं ततो जालंधराभि
धं॥ अभ्यासेदिति संबंधः हठप्रदीपिकायां॥ मूलस्थानं समाकृष्य उड्डियानं तु कारयेत्॥ इडां च
पिंगलां बध्वा वाहयेत्पश्चिमे पथि॥ अनेनैव विधानेन सेवयेसबनालयं॥ ततो न जायते मृत्युर्ज
रारोगादिकं तथेति॥ योगबीजे॥ चतुर्णामपि भेदानां कुंभके समुपस्थिते॥ बंधत्रयमिदं कार्यमेव
क्ष्यमाणं मया स्फुटं॥ पूरकांते तु कर्तव्यो बंधो जालंधराभिधः॥ कुंभकांते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डिया
नकः॥ अधस्तात्कुंचनेनाशु कंठसंकोचनेन च॥ मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः॥
अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्राणं कंठादधो नयन्॥ योगी जराविमुक्तः सन्वयसा षोडशो भवेत्॥ उड्डी
यानस्य सहजिकत्वात् कुंभकदशायां कर्तव्यः॥ अत्र केचित्प्यघपिकपलादिसिद्धानामेवम ८१

हामुद्रादयः संमता न याज्ञवल्क्यादिमुनीनां तथापि साधारण्येन बोद्धव्या इत्याहुः तत्तु न
हृद्यार्थविबोधविधुरत्वात्॥ तथाहि॥ नादोत्पत्तिप्रकरणे॥ अपानमूर्ध्वमाकृष्य प्रणवेन
समाहितः इत्यत्र मूलबंधः॥ कंठमतरोबोक्तः तदुक्ताच तत्संबंधिनावुड्डियानजालंधरावपि
प्राप्तौ॥ एकसमयावच्छेदेन त्रयाणामनुष्ठानस्य पूर्वं दर्शितत्वात्॥ किंच जिह्वायां वायुमानीर
य जिह्वामूले निरोधयेत्॥ यः पिबेदमृतं विद्वान्सकलं भद्रमश्नुते इत्यत्र खेचरीं विनानुपप
त्तेः स्पष्टत्वात्॥ तस्मात्संति याज्ञवल्क्यादीनामपि मुद्रा अभिप्रेताः॥ प्रतिपादनं तु ग्रंथांत
रे प्रसिद्धत्वाद्विशेषेण न कृतमस्माभिरित्यवधेयं॥ इदानीं पूर्वोक्तबाह्याभ्यंतरसाधनसंपन्नस्या
धारमुद्रा च मुद्राचक्रादिज्ञानवतो मुमुक्षोश्चित्तशुद्धिद्वारा मोक्षसाधनीभूततत्त्वज्ञानोपयोगी
नि योगांगानि निरूप्यंते॥ तथा च पातंजले॥ योगांगानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिरा विवे

कख्यातेरिति॥ वक्ष्यमाणानांयोगांगानामनुष्ठानादाविवेकख्यातेरशुद्धिक्षये चित्तसत्वस्यक्ला
शावरणक्लेशाख्यायाअशुद्धेर्नाशेसतियाभवतिज्ञानदीप्तिः॥ सात्विकःपरिणामोविवेकख्यातिप उ

र्यंतः॥ सतस्याविवेकख्यातेर्हेतुरित्यर्थः॥ योगांगोद्देशापरंचसूत्रं॥ यमनियमासनप्राणायामप्र
त्याहारधारणाध्यानसमाधयोष्टावंगानिइति॥ याज्ञवल्क्यः वक्ष्याम्यंगानितसम्यक्यथापूर्वं
मयाश्रुतं॥ समाहितमनागार्गिऋषिभिःसहतंशृणु॥ यमश्चनियमश्चैवआसनंचतथैवच॥ प्रा
णायामस्तथागार्गिप्रत्याहारश्चधारणा॥ ध्यानंसमाधिरनानियोगांगानि वरानने॥ यमश्च
नियमश्चैवदशधासंप्रकीर्तितः॥ आसनान्युत्तमान्यष्टौत्रयंतेषूत्तमोत्तमं॥ प्राणायामस्त्रि
धा धाप्रोक्तःप्रत्याहारश्चपंचधा॥ रणापंचधाप्रोक्ताध्यानंपीठाप्रकीर्तितं॥ त्रयंतेषूत्तमंप्रोक्तंस
माधिस्त्वेकरूपतः॥ वहुधाकेचिदिच्छंतिविस्तरेणपृथक्शृणु॥ अहिंसासत्यमस्तेयंब्रह्मचर्य्यं

दयार्जवं॥ क्षमाधृतिर्मिताहारःशौचंचेतियमादश॥ कर्मणामनसा वाचासर्वभूतेषुसर्व
दा॥ अक्लेशजननंप्रोक्तात्त्वहिंसासैवयोगिभिः॥ सत्यंभूतहितंप्रोक्तंयथार्थाभिभाषणं॥ कर्मणा म
मनसावाचापरद्रव्येषुनिःस्पृहा॥ अस्तेयमितितत्प्रोक्तमृषिभिस्तत्वदर्शिभिः॥ कर्मणामन
सावाचासर्वावस्थासुसर्वदा॥ सर्वत्रमैथुनत्यागोब्रह्मचर्यंप्रचक्षते॥ ब्रह्मचर्याश्रमाणांहिय
तीनांनैष्ठिकस्यच॥ ब्रह्मचर्यमिदंप्रोक्तंतथैवारण्यवासिनां॥ ऋतौ कृतौस्वदारेषुसंगतिर्याविधानतः॥ ब्रह्म चर्यंतुसैवोक्तागृहस्थाश्रमवासिनां॥ राज्ञश्चैवगृहस्थस्यब्रह्मचर्यंप्रकीर्ति
तं॥ शुश्रूषांचगुरोर्नित्यंब्रह्मचर्यमुदाहृतं॥ दयाचसर्वभूतेषुसर्वत्रानुग्रहःस्मृतः॥ विदितेपुत
दन्येषुमनोवाक्कायकर्मभिः॥ प्रवृत्तौवानिवृत्तौवाएकरूपत्वमार्जवं॥ प्रियाप्रियेषुसर्वेषुसमत्वंय
च्छरीरिणां॥ क्षमासैवतिविद्वद्भिर्गदितावेदवादिभिः॥ अर्थहानेभवेद्बंधूनांवियोगेष्वपिसंपदि॥

यो॰चिं॰ ॥तयोः प्राप्नोच सर्वत्र चित्तस्य स्थापनं धृतिः॥ आश्रमास्तामुने प्रोक्ताः षोडशारण्यवासिनां॥ द्वा

त्रिंशत्तु गृहस्थस्य यथेष्टं ब्रह्मचारिणां॥ एषामयं मिताहारो ह्येषामल्पभोजनं॥ शौचं च द्विविधं प्रो

८३ क्तं बाह्यमाभ्यंतरं तथा॥ मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं मनःशुद्धिस्तथांतरं॥ मनःशुद्धिश्च विज्ञेया धर्मेणा

अ ध्यात्मविद्यया॥ विद्याधर्मश्च पित्राचार्येण चानघ॥ तपः संतोष आस्तिक्यं दानमीश्वरपूजनं॥

श्री ॥सिद्धांतश्रवणं चैव ह्रीर्मतिश्च जपो व्रतं॥ एते तु नियमाः प्रोक्तास्तांश्च सर्वान्पृथक् शृणु॥ विधि

र नोक्तेन मार्गेण कृच्छ्रचांद्रायणादिभिः॥ शरीरशोषणं चैव प्राहुस्तापसास्तपः॥ इदं तु योगाभ्यासान्योगे प्रो

क्तव्यं॥ अभ्यासकाले कायक्लेशोपवासादीनां निषेधात्॥ भगवद्गीतोक्तमौनादिलक्षणं युज्यते

र्जे ॥तथा हि देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवं इत्यादि॥ याज्ञवल्क्यः॥ यदृच्छालाभतो नित्यमलं पुंसो भवे

मति दिति या मतिः प्राहुः संतोषं सुखलक्षणं॥ धर्माधर्मेषु विश्वासो यस्तदास्तिक्यमुच्यते॥ न्याया ८३

उनमे४

र्जितं धनं चान्नमन्यद्वा यत्प्रदीयते॥ अर्थिभ्यः श्रद्धया युक्तं दानमेतदुदाहृतं॥ यत्तमसं ब्रह्म तद्ब्रह्म

स्वभावेन विष्णुं वा रुद्रमेव वा॥ यथाशक्त्यर्चनं भक्त्या ह्येतदीश्वरपूजनं॥ रागाद्येतं तु हृदयं वागदुष्टा

नृतादिना॥ हिंसया रहितः कायः एतदीश्वरपूजनं॥ सिद्धांतश्रवणं प्रोक्तं वेदांतश्रवणं बुधैः॥ द्विज

ि वत्क्षत्रियस्यापि सिद्धांतश्रवणं बुधैः॥ विशां च केचिदिच्छंति शीलं कनवृतां सतां॥ शूद्राणां च स्त्रि

यां चैव स्वधर्मस्य तपस्विनां॥ सिद्धांतश्रवणं प्रोक्तं वेदांतश्रवणं बुधैः वेदलौकिकमार्गेषु कु

त्सितं कर्म यद्भवेत्॥ तस्मिन्भवति या लज्जा ह्रीः सैवेति कीर्तिता॥ विहितेषु सर्वेषु श्रद्धया या सा ⁊

मतिर्भवेत्॥ गुरुणा चोपदिष्टोपि वेदबाह्यविवर्जितः॥ विधिनोक्तेन मार्गेण मंत्राभ्यासो जपः स्मृतः॥

अधीत्य वेदसूत्रं वा पुराणं सेतिहासकं॥ वेदेष्वध्ययनं तत्र सदाभ्यासो जपः स्मृतः॥ व्यक्तिविपर्ययं तत्रो

ब्रह्म या विशेषमाह॥ अस्तेयं [illegible]चर्यं च त्यागो लोभस्य एव च॥ व्रतानि पंच भिक्षूणामहिंसा परमाणि च॥

अक्रोधो गुरुशुश्रूषा शौचमाहारलाघवं॥ नित्यंस्वाध्याय इत्येते नियमाः पंच कीर्तिता इति॥ पातंजले
पि अहिंसासत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः॥ शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानान्यनि
यमा इति॥ गरुडपुराणे तु॥ आनृशंस्यं मनोलौल्यं वैराग्यं चार्जवं परं॥ अचापल्यं धृतिः सत्यं ज्ञा
नं चैव यमं विदुः॥ आनृशंस्यं घातकत्वाभावः॥ शौचमाहारनियमो निर्ममत्वमसंगता॥ शमः क्षमा
दमस्तुष्टिरित्यष्टौ नियमाः स्मृताः अथासनं तत्र पतंजलिः स्थिरसुखमासनं॥ आस्यतेनेनेत्यास
नं पद्मादि तद्यदा निःकंपं सुखमनुद्वेजनीयं च भवति तदा तद्योगांगतां भजते तत्स्थानस्यैव सुखाप
त्यर्थं सूत्रं॥ प्रयत्नशैथिल्यासमापत्तिभ्यामिति तत्रानंतेति भावप्रत्ययांत पाठ इति भोजदेवः॥ प्रय
त्नशैथिल्येनानंतसमापत्त्या च स्थिरं सुखं च भवतीति संबंधः॥ यदासनं बध्नाति तदा प्रयत्नशैथिल्ये

प्यत्नेन शरीरं निःकंपं तद्यदा वाकाशगतानंत्ये चेतसः समापत्तिः क्रियते अवधानेन तादात्म्यमापद्य

ते तदा देहाहंकाराभावान्नासनं दुःखजनकं भवति॥ अस्मिंश्चासनजये सति समाध्यंतरायभूतान
प्रभवंत्यंगमेजयत्वादयः अनंतसमापत्तिभ्यामिति भावप्रत्ययरहितः सूत्रपाठ इति भाष्यसंप्रदा
यः॥ अत्र अनंतेनागनायकेन स्थिरतरफणासहस्रविधृतविश्वंभरामंडलेन समापन्नं चित्तमासनं नि
र्वर्तयतीति व्याख्यानमिति वाचस्पतिमिश्राः आसनसामान्यलक्षणं तु करचरणसंस्थानविशे
ष आसनमिति विशेषलक्षणं तु धर्मपुत्रिकायां॥ स्थानकौ भूतले पादौ वासनस्थेन योगिना दक्षि
णं वामभागे तु वामपादं तु दक्षिणे॥ अन्योन्याभिमुखं कृत्वा समशीर्षकरद्वयं॥ योगसंसिद्धि
हेतोस्तु स्वस्तिकमुच्यते॥ तलपादेन वामेन जानुना दक्षिणेन च॥ स्थित्वाहस्तपुटं कार्यमर्द्ध
चंद्रासनं विदुः॥ भुवि स्थित्वा तु जानुभ्यां तावन्मात्रेण योगिना॥ हृदि हस्तपुटं कार्यं ज्ञेयमंजलिकासनं॥
सुखप्रसारितौ पादौ सुश्लिष्टौ भूमिसंस्थितौ॥ उपविश्य पादकायं तु दंडासनमिति स्मृतं॥ आसनस्थेन पादौ

यो॰ वि॰ न्यस्येतो भूतलेसमौ॥ जानुद्वयेहस्ततलंकृत्वापीठासनंभवेदिति॥ मतंगः पर्यंकंयोगपट्टेनवध्री
८५ यात्पृष्ठयोगतः॥ आकुंच्यजानुनीसम्यक्कूर्परौत्वातुदक्षिणंवामतोवामजंघाभ्यांवामंसव्यादधो
बहिः॥ विनिर्गतंकृत्वासंनिविष्टाम्पृवैकटीं॥ पर्यंकमितिविख्यातमासनंयोगसिद्धिदं॥ आग्ने
यपुराणेपादौद्वौद्विगुणीकृत्यतिर्यग्दृष्ट्वायथाक्रमं॥ न्यसेत्पाणीयथायद्दंस्थितंश्लिष्टांगुलीन कृ
खो॥ योगपट्टासनंत्वेतत्सर्वेषामपिपूजितमितिचंद्रार्द्धलेशतः॥ भगुणे तद्वत्पादद्वयंकृत्वा
सुत्तलान्योन्यसंस्थितं॥ चंद्रार्द्धमेवंकथितमितितद्वत्पद्मासनवत्॥ द्विगुणपादद्वयंकृत्वोत्पर्यः
तद्वत्पाददद्वयंकुर्यात्तन्मुखंतुप्रणामितं॥ पृष्ठतोप्युप धानस्थंसंप्रसार्यकरद्वयंप्रसारितासनं
त्वेतत्सूचितंयोगसिद्धिदं॥ वसिष्ठः गुदंनियम्यगुल्फाभ्यांव्युत्क्रमेणसमाहितः॥ कूर्मासनंभवेदे
तदितियोगविदोविदुः॥ कूर्मपुराणे॥ एकंपादमथैकस्मिन्विन्यस्योरुणिसंस्थितः॥ आसीनार्द्धास ॥ राम॰

८५

नमिदंयोगसाधनमुत्तमं॥ याज्ञवल्क्यः जानूर्वोरंतरेसम्यक्कृत्वापादतले उभे॥ ऋजुकायःसमा
सीनःस्वस्तिकंतत्प्रचक्षते॥ सीवन्यामात्मनःपार्श्वेगुल्फौनिःक्षिप्यपादयोःसव्येदक्षिणगु
ल्फं तुदक्षिणेदक्षिणेतरं॥ एतत्तुस्वस्तिकंप्रोक्तंसर्वपापप्रनाशनं॥ सव्येदक्षिणगुल्फंतुपृष्ठ
पार्श्वेनिवेशयेत्॥ दक्षिणेपितथासव्यंगोमुखंयथा॥ एकंपादमथैकस्मिन्विन्यस्योरुणिसंस्थि गोमुखं
नः इतरस्मिंस्तथाचोरुंवीरासनमुदाहृतं॥ गुल्फौचवृषणस्याधःसीवन्याःपार्श्वयोःक्षिपेत्दक्षि
णंसव्यगुल्फेनदक्षिणेनतथेतरं॥ हस्तौजानूपरिस्थाप्यस्वांगुलीःसंप्रसार्यचव्यात्तवक्त्रोनिरीक्ष ध्र
ननासाग्रंसुसमाहितः॥ सिंहासनंभवेदेतत्पूजितंयोगिभिःसदा॥ गुल्फौचवृषणस्याधःसीवन्याः
पार्श्वयोःक्षिपेत्॥ पार्श्वपादौचपाणिभ्यांदृढंबद्ध्वासुनिश्चलः॥ भद्रासनंभवेदेतत्सर्वव्याधि
विषापहं॥ संपीड्यसीवनींसूक्ष्मांगुल्फेनैवतुसव्यतः॥ सव्यंदक्षिणगुल्फेनमुक्तासनमितिस्मृ

येन्ना

यो·पिं तंअवष्टभ्यधरांसम्यकू तलाभ्यांकरयोर्द्वयोः॥हस्तयोःकूर्परेचापिस्थापर्ये ।निपार्श्वयोः॥समुन्नतशि
९६ रःपादोदंडवद्व्योम्निसंस्थितः॥मयूरासनमेतद्धिसर्वपापप्रणाशनं॥सर्वेचाप्यंनरारोगाविनश्यंतिवि
षाणिचंहठप्रदीपिकायां॥वशिष्ठाद्यैश्चमुनिभिर्मत्स्येंद्राद्यैश्चयोगिभिः॥अंगीकृतान्यासनानिवर
क्ष्यंतेकानिचिन्मया॥हठस्यप्रथमांगत्वादासनंपूर्वमुच्यते॥तत्कुर्यादासनंस्थैर्यमारोग्यंचांगलाघवं॥
पद्मासनंतुसंयोज्यजानूर्वोरंतरेकरौ॥निवेश्यभूमौसंस्थाप्यव्योमस्थंकुक्कुटासनं॥कुक्कुटास
नवंधस्थोदोर्भ्यांसंबध्यकंधरां॥भवेत्कूर्मवदुत्तानएतदुत्तानकूर्मकं॥पादांगुष्ठौतुपाणिभ्यांगृही
त्वाश्रवणावधि॥धनुराकर्षणंकृत्वाधनुरासनमीरितं॥वामोरुमूलार्पितदक्षपादंजान्वोर्वहिर्वे
ष्टितदक्षदोष्णा॥प्रगृह्यतिष्ठेत्परिवर्तितांगश्रीमत्स्यनाथोदितमासनंस्यात्॥मत्स्येंद्रपीठंजठरप्रदू
दिप्रचंडरुग्मंडलखंडनास्त्रं॥अभ्यासतःकुंडलिनीप्रबोधंदंडस्थिरत्वंप्रकरोतिपुंसां॥प्रसार्यपा ९६

दौभुविदंडरूपौदोर्भ्यांचपादद्वितयंगृहीत्वा॥जानूपरिन्यस्तललाटदेशोवसेदिदंपश्चिमतान
माहुः॥इतिपश्चिमतानमासनाग्र्यंपवनंपश्चिमवाहिनंकरोति॥उदयंजठरानलस्यकुर्यादुद
रेकार्श्यमरोगितांचपुंसां॥धरामवष्टभ्यपुनःकराभ्यांतत्कूर्परस्थापितनाभिपार्श्वः॥तदासनेदंड
वदुत्थितःखेमयूरमेतत्प्रवदंतिसंतः॥हरतिसकलरोगान्नाशुगुल्मोदरादीनभिभवतिचदो
षानासनंश्रीमयूरं॥बहुकदशनभुक्तंभस्मकुर्यादशेषंजनयतिजठराग्निंजारयेत्कालकूटं॥
उत्तानंशववद्भूमौशयनंतच्छवासनं॥शवासनंश्रांतिहरंचित्तविश्रांतिसा धनं॥भूमौस्वम
स्तकंस्थाप्यहस्तयोःकूर्परेतथा॥पादौरेवदंडवत्कुर्यात्तत्रकासनमीरितं॥स्कंदपुराणे॥आस
नानीहतावंतियावंतोजीवयोनयः॥सिद्धंचैवस्वपद्मंचपर्यंतपुष्टक्षिप्रसिद्धिदे॥गोरक्षःचतुर ५ र
शीतिलक्षाणामेकैकंसमुदाहृतं॥एतेषामखिलान्भेदान्विजानातिमहेश्वरः॥ततःशिवेनपीठानां
म

षोडशोनंशानंक्षतं॥आसनेभ्यः समस्तेभ्यो[illegible]द्वयमेतदुदाहृतं॥एकंसिद्धासनंप्रोक्तंद्वितीयंक
मलासनंहठप्रदीपिकायांचतुरशीत्यासनानिशिवेकथितानिवै॥तेभ्यश्चतुष्कमादायसारभू
तंब्रवीम्यहं॥सिद्धंपद्मंतथाभद्रंसिंहंचेतिचतुष्टयं॥श्रेष्ठंतत्रापिचैपस्मिन्तिष्ठेत्सिद्धासनंसदा॥भद्र
सिंहासनेपूर्वमुक्ते॥याज्ञवल्क्यः दक्षिणेतरगुल्फेनसीवनींपीडयेच्छिरां॥अधस्ताद्दंडयोःसू॰
क्ष्मांसव्योपस्थिदक्षिणं॥जंघोर्वोरंतरंगार्गिनिष्क्रिष्टंबंधयेदृढं॥समग्रीवशिरःस्कंधःसमपृष्ठःस
मोदरः॥नेत्राभ्यांदक्षिणंगुल्फंलोकयन्नुपरिस्थितं॥एतत्सिद्धासनंनामशीघ्रसिद्धिविधायकं
॥तथासव्येनगु॰ ल्फेनगुदंनिपीड्यसव्येतरेणैवनिनुद्यसंधिं॥स्वव्येकरेंतरस्मिन्‌शिरवांसमा न्यस्तकर
लोकयथावकस्य॥आपुर्विब्रातकल्याणेनिनुद्दस्त्वासनेनबैयातिगार्गितदापानाकुलंव
शनैः न्हः शनैःपवनयोगसंग्रहे॥योनिस्थानकमंघ्रिमूलघटितंकृत्वादृढंविन्यसेन्मेढ्रेपादमथैकमेक

हृदयःकृत्वासमंविग्रहं॥स्थाणुःसंयमितेंद्रियोवलदृशापश्येद्भ्रुवोरंतरंत्वेतन्मोक्षकपाटभेदन
करंसिद्धासनंप्रोच्यतेतथा॥मेढ्रादुपरिविन्यस्यसव्यंगुल्फंतथोपरि॥गुल्फांतरंतुविन्यस्यसि
द्धासनमिदंभवेत्॥एतत्सिद्धासनंप्राहुःपद्मासनमथोविदुः॥गुप्तासनंवदंत्येकेप्राहुर्वज्रासनंपरेकेचि
न्मुक्तासनंप्राहुरिदमासनमुत्तमंहठप्रदीपिकायां॥नियमेषुमिताहारोपथ्याहिंसायमेष्विव॥मु॰
ख्यंसर्वासनेषेवंसिद्धासनमिदंविदुः॥चतुरशीतिपीठेषुसिद्धासनंसमभ्यसेत्॥द्वासप्ततिसह॰
स्त्रेषु सुषुम्णामिवनाडिषु॥आत्मध्यायीमिताहारोयावद्द्वादशवत्सरं॥सदासिद्धासनाभ्या
साद्योगीनिष्पत्तिमाप्नुयात्॥श्रमदैर्बहुभिःपीठैःकिंस्यात्सिद्धासनेसति॥प्राणानिलेसावधानेव
द्धेकेवलकुंभके॥उत्पद्यतेनिरायासात्स्वयमेवोन्मनीयथा॥अथैकस्मिन्नेवदृढे सिद्धासनेसहा बद्धे
दौबंधत्रयमनायासात्स्वयमेवोपजायते॥अथपद्मासनंयाज्ञवल्क्यः अंगुष्ठौचनिबध्नीयाद्धस्ता

भ्यांस्युत्क्रमेणतुउर्व्वोनुपरिविन्यसेत्कृत्वापादतलेउभेपद्मासनंभवेदेतत्सर्वेषामपिपूजितं॥मतंगः
अंगुष्ठेतुसमेरम्यविनिवेश्यसमाधिना॥दक्षिणेतुगंब्वामपादंवामोनुसंस्थितं॥दक्षिणंतुसमाकृ
ष्यतज्जंघेतुपरस्परं॥एतद्धिकमलंनामविधेरासनमुत्तमंहठयोगे॥वामोरूपरिदक्षिणंचचरणंसं
स्थाप्यवामंतथादक्षोरूपरिपश्चिमेनविधिनाधृत्वाकराभ्यांदृढं॥अंगुष्ठौहृदयेनिधायचिबु
न कंनासाग्रमालोकयेदेतद्व्याधिविकारनाशकरंपद्मासनंप्रोच्यते॥दत्तात्रेयः॥उत्तानौचरणौकृत्वा
ऊरूसंस्थौप्रयत्नतः॥ऊरूमध्येतथोत्तानौपाणीकृत्वाततोदृशौ॥नासाग्रेविन्यसेद्राजदंतमू
लंतुजिह्वयाउत्तभ्यचिबुकंवक्षस्युत्थाप्यपवनंशनैः॥यथाशक्त्यासमाकृष्यपूरयेदुदरंशनैः क्या
यथाशक्त्यैवपश्चात्तुरेचयेत्पवनंशनैः॥इदंपद्मासनंप्रोक्तंसर्वव्याधिविनाशनं॥दुर्लभंयेनकेनापि
गी धीमतालभ्यतेभुवि॥पद्मासनस्थितोयोगीनाडीद्वारेषुपूरयन्॥मारुतंधारयेद्यस्तुसमुक्तोनात्रसंश ९८
पू

यः॥एवमासनबंधेषुयोगींद्रोविजितश्रमः॥अभ्यसेन्नाडिशुद्धिंचमुद्रापवनक्रियामिति॥
॥ ॥०॥ ॥इतिश्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्रामचंद्रसदानंदसरस्वतीशिष्यशि
वानंदसरस्वतीविरचितेयोगचिंतामणौद्वितीयः परिच्छेदः॥ ॥ ॥अथोक्तदेशेयथोक्त
लक्षणविशिष्टमठेशुभकालेस्वानुकूलशुभताराचंद्रबलमुहूर्तेयोगयुक्तायांतिथौविनायकं
न् शिवंशिवांविष्णुंक्षेत्रपालंचगुरूंस्तच्छिष्यान्योगींद्रांश्चयथाशक्तिसंपूज्यकुशाजिनपोडशगुणि
तवस्त्रयुक्तासनेयमादिगुणसंपन्नःप्राङ्मुखोदङ्मुखोवोपविश्यशिवादिदेवान्योगीगुरूंश्च गीनो
प्रणम्यगुरुशास्त्रोक्तमार्गेणप्राणायामस्याभ्यासंततोतरंगंप्रथमंनाडीशोधनंकुर्यात्॥गीतासु॥
शुचौदेशेप्रतिष्ठाप्यस्थिरमासनमात्मनः॥नात्युच्छ्रितंनातिनीचंचैलाजिनकुशोत्तरमिति॥रा
जयोगे॥विविक्तेविजनेदेशेपवित्रेतिमनोहरे॥समासनेसुखासीनःपश्चात्तुकिंचित्समाश्रितः॥

या॰वि॰ सुसुखस्थितसर्वांगः सुस्थिरात्मा सुनिर्मलः॥ अतो विविक्तदेशे च सुखासनस्थः शुचिः॥ समग्रीवशि
रः शरीरः अंत्याश्रमस्थः सकलेंद्रियाणि निरुध्य भक्त्या स्वगुरुं प्रणम्येति॥ कूर्मपुराणे शिववा
९० क्यं॥ नमस्कृत्वाथ योगीशान् सशिष्यांश्च विनायकं॥ गुरुं चैवाथ मां योगी युंजीत सुसमाहितः॥ या
ज्ञवल्क्यः॥ कृतविघ्नो जितक्रोधः सत्यधर्मपरायणः॥ गुरुशुश्रूषणरतः पितृमातृपरायणः॥ स्वा
श्रमस्थः सदाचारो विद्वद्भिश्च सुशिक्षितः॥ विनायकं सुसंपूज्य फलमूलोदकादिभिः॥ इष्टदेवं गु
रुं नत्वा तत आरुह्य चासनं॥ ज्ञात्वैवं नाडिसंस्थानं वायूनां स्थानमेव च॥ विधिनोक्तेन मार्गेण नाडी
संशोधनं कुरु॥ वसिष्ठयोगे॥ विमुक्तकर्मसंयुक्तः सर्वकामविवर्जितः॥ यमादिगुणसंपन्नः सर्व
संगविवर्जितः॥ तपोवनं ततो गत्वा फलमूलोदकान्वितं॥ तत्र रम्ये शुचौ देशे नद्यां वा कानने पि
वा॥ सुशोभनं मठं कृत्वा सर्वरक्षासमन्वितं॥ त्रिकालस्नानसंयुक्तः शुचिर्भूत्वा समाहितः॥ मं ९१

त्रन्यस्ततनुधीरः सितभस्मधरः सदा॥ मृद्वासने परि कुशान्समास्तीर्याथ वाजिनं॥ विनायकं
सुसंपूज्य फलमूलोदकादिभिः॥ इष्टदेवं गुरुं नत्वा तत आरुह्य चासनं॥ प्राङ्मुखोदङ्मुखो वा ध्य
स्यात् जितासनगतः स्वयं॥ समग्रीवशिरस्कायः संवृतास्यः सुनिश्चलः॥ नासाग्रदृक् समासीनः
सव्येन्यस्येतरं करं॥ नासाग्रे शशभृद्बिंबं ज्योत्स्नाजालवितानितं॥ सप्तमस्य तु वर्गस्य चतुर्थं
बिंदुसंयुतं॥ विंबमध्यस्थमालोक्य नेत्राभ्यां मनसा सह॥ इडया पूरयेद्वायुं बाह्यं द्वादशमात्रकं॥ धं
॥ ततोग्निं पूर्ववद्ध्यायेत्स्फुरज्ज्वालावलीयुतं॥ रेफं च बिंदुसंयुक्तमग्निमंडलसंस्थितं॥ ध्याय
न्विरेचयेत्पश्चान्मंदं पिंगलया पुनः॥ ततः पिंगलयापूर्य प्राणं दक्षिणतः सुधीः॥ तद्वद्विरेचयेद्धी
मानिडयात्तु शनैः शनैः॥ त्रिचतुर्वत्सरं वापि त्रिचतुर्मासमेव वा॥ पुट्कृत्वा तु चरेदेवं त्रिषु कालेषु
यत्नतः॥ नाडीशुद्धिमवाप्नोति पृथक् चिह्नोपलक्षितां॥ शरीरलघुता दीप्तिर्जठराग्निविवर्द्धनं॥ नाद

मो॰ चिं॰ भिव्यक्तिरित्येतच्चिन्हं तत्सिद्धिसूचकं॥ यावदेतानि संपश्येत्तावदेवं समाचरेत्॥ विध्युक्तक
र्मसंयुक्त इति यथायोग्यं वर्णाश्रमविहितकर्मानुष्ठानयुक्तः यमादीत्यादिशब्देन नियमासनयो
१०० र्ग्रहणं तेषां यमनियमादीनां ये गुणास्तत्सिद्धिचिन्हभूतास्तत्प्रतिशयावैरत्यागादिस्वांगा
जुगुप्सादिशब्देनाभिव्याताद्यः तैः संयुक्त आर्यः तयोक्तं ततो गत्वेत्यादिना यं नाडीशुद्धेर रे
श नियमविधिर्वाक्यस्य क्रमपरत्वात्॥ अतोयं प्राणायामादियोगांगपंचागतया प्राप्तानां यो या
गदशानामेकदेशस्यानुवादः कुशान्समास्तीर्याथवा तिनमित्यत्राथवेति शब्दो न विकल्पप
रः किंतु अनुक्तसमुच्चयार्थो अथ्यपानामनेकार्थत्वात्॥ तथा चायमर्थः मृदुकुशोपरि चर्म व
स्त्रमपि दत्वेत्यर्थः तथा च भवद्दीनायां॥ नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरमित्यत्र पा
ठक्रमादर्थक्रमो बलीयानिति न्यायात्पाठक्रमो विपरीतक्रम इति शंकराचार्यचरणैरप्यभि १००

धानात् कुशोपरि मृगस्य व्याघ्रस्य वा चर्म तदुपरि कोमलं वस्त्रमिति व्याख्येयं चैलाजिनयोः कु
शाउत्तरः धस्ताध स्मिन्नासने तच्चैलाजिनकुशोत्तरमिति व्याख्यानेन काप्यनुपपत्तिः योगा
सारे कुशचैलाजिना … स्तीर्ण इति नारदीयपुराणे॥ कुशैश्च मृदुभिः श्छन्ने पवित्रेणाथ चर्मप
णा तत्रोपविष्टः सततं योगांगानि समभ्यसेत् इति॥ याज्ञवल्क्यः मद्धासनोपरि कुशान्समा
स्तीर्य ततो ऽजिनमिति॥ अन्ये तु अथ वेति शब्दः कुशाजिनयोर्विकल्पपर इत्याहुः तदयुक्तं स
र्वलोकगुरोर्भगवद्वासुदेवस्य वाक्यार्थानुसारेणान्यवाक्यार्थस्योचितत्वात्॥ किंच वसि
ष्ठगीता…स्त्रस्यानुक्तत्वात् कुशाजिनयोर्विकल्पाशये केवलकुशनिर्मिते केवलाजिननि
रं र्मिते वासने योगाभ्यासंभवस्यानुभवसिद्धत्वात्॥ ननु आसनतूलसंपूर्णसितवस्त्रावगुंफि
तं॥ कृष्णाजिनान्तरीयं च विन्यस्तं मृदुकर्मणी स्वगस्त्यगीतासु॥ धैर्यसंपन्नः सततं वस्त्रं चा

यो॰ चिं॰ जिनमेवबोनात्युच्छ्रितंनातिनीचमिति दत्तात्रेयवाक्ये च कुशाराहित्यस्यापि दर्शनाद्युक्त एव
विकल्प इति चेत्न तत्रापि सर्वशास्त्राधिकर ।णन्यायेन ह्रवन्तश्रुतौ भूतद्वयोपसंहारवद्दा
१०१ कुशोपसंहारस्यावश्यकत्वात् तथा च स्थिरसुखमासनमित्यपि युक्तं भवति अत्र तूलसं
पूर्णसितवस्त्रावगुंठितमासनं यतिव्यतिरिक्तविषयं ज्ञेयं तस्य धर्मशास्त्रे तूलसितवस्त्रयोर्निषि
धात् ॥ तथा हि व्याख्याशिष्या दिवास्वापो मठपुस्तकसंग्रहः तूलं तूलपटी चैव यतीनां पतन
नाय षट् एतेन पत्रासनादीनि षडंगान्येवोक्तानि तत्रापि यमनियमयोरुपसंहारो दर्शितः तः त॰ यु
यः सकलव्रतसाधारणत्वात्केषुचिदेव ग्रंथेषु तद्विशेषप्रतिपादनमित्यवधेयं अयं चा व
सनविधिर्न नाडीशुद्धिमात्रपरः किंतु सांगयोगाभ्यासार्थोऽपि द्रष्टव्यः ॥ तत्रापि विशेषयोगा
निसमभ्यसेदिति नारदीयवचनात् नासाग्रशशभृद्बिंबमिति अमृतमेवादिति द्रष्टव्यं

१०१

मप्तमस्पर्शोपसंहेत्यादिवर्गस्य चतुर्थं ह इति बीजं पूरयेद्वायुमिति अमृतमिश्रितमिति
द्रष्टव्ये एतेन नाडीशुद्धिसाधनं पूरको दर्शितः अत्र केचित्ततोग्निमित्यादिना पिंगलया पु
नरित्यंतेन रेचको दर्शितः पूर्वं च दित्यनेन साग्र इत्यस्यापि परामर्शस्तथा च चंद्राग्निध्या
नसहितौ पूरकरेचकावेवात्र नाडीशुद्धिसाधनत्वेनोपदिष्टौ न तु कुंभकोपि अत एवापूर्य
रेचयेत्पश्चाद्दक्षेनाकृष्य वर्त्मना इति योगसारे ॥ सोंकारेण द्वितीयेन मध्यमेपशोभितं
ळं त्रिपंचवारान्वापूर्य मं उ ॥ चं इवर्त्मना ततो विरेचयेन्नाडीजालशनो ज्ञात वेद सइ तिकु
क्षीशयोगपरायणं नाडीशुद्धिसाधनत्वेन पूरकरेचकमात्रं श्रुतमित्याहुः तत्र ॥ तथा
मति पूरकानंतर्यस्य ततोग्निमिति ततः शब्देनवलाभात्पश्चात्पिंगलया पुनरित्यत्र प
श्चात्संदं पुनरुक्तं स्याद्रेचकांगभूतध्यानस्य ध्यायान्नित्यनेनैवलाभान्न ध्यायेदितिपुनर्ध्या

नश्रवणंचमंदफलंस्यात्ध्यायन्विरेचयेदितिलिंगेनध्यानविशिष्टरेचनविधानाद्ध्यायेदिति
विधिश्रवणमत्यंतमनर्थकंस्यात्तस्मादेवंव्याख्येयंसर्वपदप्रधानभूतविधिप्रत्ययस्यान्य
थानेतुमशक्यत्वात्ध्यायेदितिलिङ्गा ध्यानंसविषयाभावताविधीयतेनत्रध्यानंनचित्तसंत
तिमात्रंकिंतुकुंभकसहितंपूर्वोत्तरग्रंथैकवाक्यताबलात्तथाहिनपूरकेइदंध्यानंसंभवति
पूरयेदित्यनेनपूरकसमाप्तिरुक्तासर्वेषामाख्यातानांसमाप्तिःशब्दार्थइतिन्यायात्॥ त
थानंतोग्निंध्यायेदित्यनेनपूरकसमाप्त्यनंतरमेवध्यानंविहितंनापिरेचकेइदंसंभवति।
ध्यायेत्पश्चाद्विरेचयेदितिपूर्वन्यायेनध्यानसमाप्त्यनंतरमेवरेचकविधानात्तस्माद्रेचका
त्पूर्वंपूर्वरेकात्र,नंतरमितिपूर्वोत्तरपरामर्शाद्वाक्यप्रमाणबलेनध्यायेदित्यनेनकुंभकाः
ख्यनिरोधसहितंध्यानमेवफलसाधनंविधीयतइत्येववसिष्ठवाक्यार्थःअतःकुंभकरहितयो १०२

रेचकपूरकयोर्नाडीशुद्धिसामर्थ्यमस्तीत्ययुक्त...मुक्तंकालिकापुराणेनाडीशुद्धिप्रकरणे॥
सोम्येनाकर्षयेद्वायुंनाभावुत्क्षिप्यधारयेत्॥विधार्यशक्तितोभूयआग्नेयेकिंचिदुत्सृजेत्॥एवं
संशोधयेद्वायुंमारंगुल्फादिषुस्थितं॥सदासर्वगताद्वायोर्नाडीशोधनमिष्यते॥इतितथान्येष्व
पिबहुग्रंथेषुनाडीशुद्धिप्रकरणेस्पष्टएवकुंभकउपदिष्टइतिग्रंथांतरसंवादबलेनपूर्वो
२ .त्तरग्रंथैकवाक्यतयाकुंभकसहितंध्यानमेवात्रविधीयतइत्येवयुक्तंनत्वेवंव्याख्यानेरेचकां
गभूतरेचनादिध्यानालाभस्ततोग्निमित्यादेस्तुपूर्ववद्ध्यायेदित्यनेनजनितान्वयःस्यनिष्कां
क्षत्वादिवाच्यंध्यायेत्विरेचयेदितिसाकांक्षपदानुरोधेनअग्नेःसुषुम्णाधिष्ठातृत्वस्यपिंग
लायाश्चसूर्यदैवतत्वस्यसर्वयोगशास्त्रेषुप्रसिद्धत्वात्सूर्यपदमत्राहरणीयंततश्चाग्निरू
पेणाहितंसूर्यंध्यायन्विरेचयेदितिवाक्यार्थःसंपद्यतेअतएवसूर्यस्याग्निरूपध्यानविवक्षये

ववर्त्मनाकृत्स्नवर्त्मनइतिनाड्यालेशस्तोजानवेदसइतियोगसारनकुलीशयोगपरायणयोः
सूर्यएवाग्निपदस्यप्रयुक्तत्वात्तथाचामृतसिद्धौयौवैवह्निःसवैसूर्योयःसूर्यःसहुताशनःए
तावेककरौदृष्टौसूक्ष्म:भेदेनभेदिनौ॥एवंचमंदंपिंगलयापुनरित्यत्रपुनःपदमपिसफलंपुन
र्ध्यायन्नित्येवमन्वयसामंजस्यात्॥अन्यथापूर्वंरेचकानंतर्यस्यानुक्तत्वात्॥पुनरेचयं
दितिपुनःशब्दानन्वयःस्यात्इदमात्रालोचनेप्यंनासाग्रेशशभृद्बिंबमित्यत्रनासाग्रपदं
भ्रूमध्यंलक्षयतिभ्रूमध्यस्यचंद्राधिष्ठानत्वेनसर्वयोगशास्त्रेषुप्रसिद्धत्वादतस्तत्स्थानं
स्यतत्त्वेनैवोचितत्वात्पूर्ववद्ध्यायेदित्यत्रद्वादशमात्रापरिमितकालस्यैवपरामर्शोनत्वन्य
स्यदेहमध्यइतित्वध्याहर्त्तव्यं।यंकुंभकेतत्रैववायोर्द्धारणात्ततश्चायमर्थःस्त्रवत्पीयूषधा
रांवंबीजयुक्तंचंद्रमंडलंभ्रूमध्येनत्राभ्यामालोक्यामृतमिश्रितंवायुंद्वादशमात्रकंपूरये

तत तोदेहमध्येबीजयुतंस्फुरज्ज्वाव[illegible]लोक[illegible]तंत्रिकोणमग्निमंडलंध्यायेत्द्वादश
मात्रकंवायुंसुषुम्णयांधारयेत्ततोत्सृदिनाभौवावन्हिरूपंसूर्यंध्यायेत्द्वादशमात्रकं
वायुंपिंगलयाविरेचयेदितिपुनर्ध्यानादिपूर्वकंपिंगलयापूर्यत्सृदिनिरुद्ध्येडयावि
रेचयेत्योगभास्करेतुइडयापूरयेद्वायुंधारयेत्तुसुषुम्णया॥रेचयेत्पिंगलानाड्याप्राणा
यामक्रमःस्मृतः॥एवंचयाचत्राडीशुद्धिसूचकानिचिन्हानिभवंतितावत्मानर्मध्यान्हसं
ध्याकालषट्कृत्वआचरेत्ततःशुद्धनाडीगणोयोगीप्राणायामेसमर्थःस्यात्तदेतदुक्तंया
वदेतानिसंपश्येत्तावदेवंसमाचरेत॥इतिस्कंदपुराणेशुद्धिमेतिपदासर्वेनाडीचक्रंमलाकु
लंतदैवजायतेयोगीक्षमःप्राणनिबंधनेदृढासनोयथाशक्तिप्राणंचंद्रेणपूरयेत्तदेरेचयेप
णा दथसूर्येणप्राणायामेनमुच्यतेस्रवत्पीयूषधाराढ्यध्यायंश्चंद्रमसंस्थितिप्राणा॥यामेनयोगीदः ज॰

सुखमाप्नोतितत्क्षणात्॥रविणाप्राणमाकृष्यपूरयेदोदरींदरीम्॥कुंभयित्वाशनैःपश्चाद्यो
गीचंद्रेणरेचयेत्॥ज्वलज्ज्वलनपुंजाभंशीलपलुल्लगंतदि॥अनेनप्राणायामेनयोगींद्रःसुख
भाग्भवेत्॥इतिमासत्रयाभ्यासादुभयायामसेवनात्॥शुद्धनाडीगणोयोगीसिद्धप्राणोभि
धीयते॥यथेष्टंधारणंवायोरनलस्यप्रदीपनं॥नादाभिव्यक्तिरारोग्यंभवेन्नाडीविशोधनात्॥इ
तिहठयोगे॥प्राणंचेदिडयापिबेन्नियमितंभूयोन्ययारेचयेत्पीत्वापिंगलयासमीरणम
योबद्ध्वात्यजेद्वामया॥सूर्याचंद्रमसोरनेनविधिनाबिंबद्वयंध्यायतांशुद्धानाडिगणाभवं
तियमिनांमासत्रयादूर्द्धतः॥यदानाडीविशुद्धिःस्यात्तदाचिंतानिराकृता॥कायस्यकृशतांकां
तिस्तदाजायेतनिश्चितं॥प्रातर्मध्यंदिनेसायमर्द्धरात्रेचकुंभका न्॥शनैरशीतिपर्यंतंच
तुर्वारंसमभ्यसेत्॥कनीयांसिभवेत्स्वेदःकंपोभवतिमध्यमे॥उत्तिष्टत्युत्तमेप्राणरोधेपद्मासन

स्थितेजलेनश्रमजातेनगात्रमर्द्दनमाचरेत्॥लघुतांदृढतांचापितेनगात्रस्यजायते॥शास्त्रा
तरे॥प्राणायामान्तरःषष्टिकुर्यादेवमहर्मुखे॥चत्वारिंशच्चमध्याह्नेसंध्यायांविंशतिर्भवेत्
॥अर्द्धरात्रेविंशतिःस्यादेवंप्राणविनिग्रहः॥इतिरत्नाकरेपः॥तस्मिन्पीठेसमास्तीर्णेत्वासनेनिस्त
रंगकं॥तत्रोपविश्यमेधावीपद्मासनसमन्वितः॥ऋजुकायःप्रांजलिश्चप्रणमेदिष्टदेवतां॥
ततोदक्षिणहस्तस्यअंगुष्ठेनैवपिंगलां॥निरुध्यपूरयेद्वायुंमिडयातुशनैःपा॥थाशक्त्यानिर शनैः॥
रोधेनततःकुर्याच्चकुंभकं॥ततस्त्यजेत्पिंगलयाशनैरेवनवेगतः॥पुनःपिंगलयापूर्यपूरयेदुदरंश
नैः॥धारयित्वायथाशक्तिरेचयेदिडयाशनैः॥यस्यजत्तयापूर्यधारयेदनिरोधतः॥प्रकुर्वीत्ते शक्त्येति
शक्त्याविंशतिकुंभकान्॥कुंभकंसहितंनामसर्वनिग्रहवर्जितं॥एवंमध्याह्नसमयेकुर्याद्विंश
तिकुंभकान्॥ततसायंप्रकुर्वीततथाविंशतिकुंभकान्॥कुर्याद्रेचकपूराभ्यांसहितंप्रतिवासरंस

हितोरेचपूराभ्यांतस्मात्सहितकुंभकः कुर्यादेवंचतुर्वारमनालस्यो दिने एवंमासत्रयंकुर्यान्ना
डीशुद्धिस्ततोभवेत् यदानाडीविशुद्धिःस्यात्तदाचिन्हानियोगिनःजायंतेतानिदेहेवैतन्मेनिग
दतःशृणुशरीरलघुतादीप्तिर्जठराग्निविवर्द्धनं कृशत्वंचशरीरस्यतदाजायेतनिश्चितमिति॥
योगभास्करेनासिकारंध्रयुग्मेनसूत्रमाकृष्यघर्षणंजीराधिकसिताभक्षउल्के दग्धजलान्नपः॥
नाडीशुद्धौमुनिप्रोक्ताउपायाएवमादयः भ्यस्यात्तभोजनंवापार्वधश्चैवेतिमेमतिः याज्ञवल्क्यः॥
नप्राणे नाप्यपानेनवेगैर्वा मुंसमुत्सृजेत् येन शत्रून् करस्थांश्च श्वासयोगेनचालयेत्॥
शनैर्नसापुटेवायुमुत्सृजेन्नतुवेगतः नकंपयेच्छरीरंतुसयोगोपरमोमत इतिस्कंदपुराणे
अथवायासनेयं शान्सुखमस्यापजापतेस्वस्तिकादौतदध्यस्ययोगंयुंजीतयोगवित् ऊरु
स्थोत्तानचरणाः सव्येन्यस्योत्तरंकरं उत्तानं किंचिदुन्नम्यवक्त्रंविष्टभ्यचोरसा निमीलिता १०५

क्षःसत्वस्थोरदैर्दंतान संस्पृशन् तालुस्थाचलजिह्वश्चसंवृतास्यः सुनिश्चलः सुनियम्येंद्रिय
ग्रामंनातिनीचोछ्रितासनः मध्यमंचोत्तमंचायप्राणायाममुपक्रमेत् त्रपाणामपिलघुमध्यो
त्तमानांप्राणायामानांप्राणायामानांलक्षणंवक्ष्यतेक्रमेणसेव्यमानोसौनपतेपन्नचेष्ठ
तिप्राणायामेनयुक्तेनसर्वव्याधिक्षयोभवेत्॥अयुक्ताभ्यासयोगेनसर्वव्याधिसमुद्भवः॥
हिक्काश्वासश्चकासश्चशिरःकर्णाक्षिवेदनाःभवंतिविविधारोगाःपवनस्यव्यतिक्रमात् पु
क्रंत्यजेद्वायुंयुक्तंयुक्तंचपूरयेत् युक्तंयुक्तंचबध्नीयादिति सिध्यतियोगवित् इत्यत्रिरुद्धश्चा
पापेरोमकूपेषुनिःसरेत् देहंविदारयत्येषकुष्ठादिजनयत्यपि ततःमत्स्यापितव्यासोक्रमे
णारण्यहस्तिवत् वन्योगजोगजारिर्वाक्रमेणमृदुतामियात् करोतिशास्त्रनिर्देशंनचतं
परिलंघयेत् तयाप्राणोहृदिस्थोपयोगिनाक्रमयोगतः गृहीतःसेव्यमानस्तु विश्रंभतु

पगच्छति॥ यावद्देहे स्थितः प्राणो जीवितं तावदुच्यते॥ निर्गते तत्र मरणं ततः प्राणं निरोधये
 त्॥ यावद्बद्धो मरुद्देहे यावद्बद्धो निरञ्जनं यावद्दृष्टिर्भ्रुवोर्मध्ये तावत्कालभयं कुतः कालसाध्यमतो
ब्रह्मा प्राणायामपरः सदा योगिनः सिद्धिमापन्नाः सम्यक् प्राणनियन्त्रणादिति वासिष्ठे राम उवाच ।
ब्रह्मञ्जीवन्ति चिरं कालं कथं जीवन्ति योगिनः एतन्मे संशयं छिन्धि सर्वब्रह्मविदां वर वसिष्ठ उवाच ॥
प्राणानां स्पंदनात्स्पंदः स्तरंति नेदृषत्समाः पतः स्थिता धारणायां तत्र नश्यंति योगिनः सबा
ह्याभ्यंतरस्पंदश्छिन्नजो वातजोथवा नयस्य विघ्ने तस्य हृदस्थो विकृतिक्षयो सबाह्याभ्यंतरेशां
तेस्पंदे पवने चेतसोः धातवः संस्थितिं देहे न त्यजंति कदाचन असमं वहति प्राणे नाड्यो यां
ति विसंस्थितिं असम्यक् संस्थिते भूपे यथा वर्णाश्रमक्रम इति मार्कंडेयपुराणे शृणुष्व च
महीपाल प्राणायामस्य लक्षणं युंजतश्च सदा योगं या घोरव्याहितमासनं पद्म॥ मस्त्रस

नं वापि तथा स्वस्तिकमासनं आस्थाय योगं युंजीत कृत्वा घं प्रणवं त्द दिसमः समासनो भूत्वा सं
हृत्य चरणावुभौ संहृतास्यस्तथैवोरू सम्यक् विष्टभ्य चाग्रतः पार्ष्णिभ्यां लिंगवृषणावस्पृश
न्प्रयतः स्थितः किंचिदुन्नामित शिरा दंतैर्दंतान संस्पृशन् संपश्यन्नासिकाग्रं स्वं दिशश्चा
नवलोकयन् रक्ष्यो योगी यताहारः प्राणायामपरायणः जितां जितां शनैर्भूमिमारोहेद्यथा गृहं॥ रो
दोषान्व्याधिं तथा मोहमक्रांता भूमिरेव वै विवर्द्धयति नारोहेत्तस्माद्भूमिमनिर्जितां॥ उपाय
श्चात्र कथितो योगिभिः परमर्षिभिः येन व्याध्यादयो दोषा न जायंते कदाचन॥ यथा तोया
 र्थिनस्तोयं पयं त्रनालादिभिः पूर्षानैः आपिबेयुरूयावाप्सु पिबेद्योगी जितश्रमं मरुत्वं सेव्यमा
नस्तु सिंह शार्दूलकुंजरात् यथा यांति तथा प्राणो वश्यो भवति योगिनः विश्वासतां पयेच्छा
तो नागं न पतिहस्तिपः तथैव योगी स्वच्छंदं प्राणं नयति साधितं यथा हि साधितः सिंहो मृ

गानहंतिनमानवात्तंतद्वन्निरुद्धः पवनः किल्बिषंनन्नृणांनुतं तस्माद्युक्तः सदा योगी प्राणाया
मपरो भवेदिति याज्ञवल्क्यः तस्मात्त्वं चवरारोहे नित्यंकर्मसमाचरसंध्याकालेषुवानित्यं प्राण
संयमनंकुरु प्राणायामपराः सर्वे प्राणामायपरायणाः प्राणायामेन . शुद्धापेनेयांतिपरमांग
तिं ।। प्राणायामाहृतेनान्यत्तारकंनरकारिषु ।। संसारार्णवमग्नानां तारकः प्राणसंयमइति
ति अथप्राणायामनिरूपणंतत्र भगवान्पतंजलिः तस्मिन्श्वासप्रश्वासयोर्गतिविछेदः प्राणा
यामइतितत्रभाष्यकृतः सत्यासनेबाह्यस्यवायोराचमनंश्वासः कोष्ठ्यस्यवायोर्निःसार
णंप्रश्वासः तयोर्गतीविछेदउभयाभावः प्राणायामइति अत्रवाचस्पतिव्याख्या रेचक
पूरककुंभकेष्वस्ति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविछेदः प्राणायामसामान्यलक्षणमेतत्तथाहि
।। यत्रबाह्योवायुराचम्यांतर्धार्यते पूरकेतत्रास्ति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविछेद इति यत्राप्यको

ष्ठ्योर्वायुर्विरेच्यतेवहिर्धार्यते रेचके तत्रास्ति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविछेदः ।। एवंकुंभके
षुभयाभावइति भोजदेवस्तु तस्मिन्नासनस्थैर्ये सति तन्निमित्तकप्राणायामलक्षणयो
गांगविशेषोनुष्ठेयोभवति कीदृशः श्वासप्रश्वासयोस्त्रिधा रेचनपूरणाक्षेपद्वारेणवाह
स्याभ्यंतरेषुस्थानेषु नासाग्रेहृदयेनाभौ च गतेः प्रवाहस्य विछेदोधारणं प्राणायामइ
त्युच्यते स्कंदपुराणे षट्त्रिंशदंगुलहंसः प्रयाणंकुरुतेवहिः सव्यापसव्यमार्गेणतेनप्रा
णोभिधीयते प्राणोदेहगतोवायुरायामस्तन्निबंधनमिति ।। आदित्यपुराणे अंतश्च
राणांवायूनांवाह्याभ्यंतररोधनं प्राणायाम इति प्रोक्तो द्विविधः सचकथ्यते द्विविधः
सगर्भोविगर्भश्चेति याज्ञवल्क्यः प्राणापानसमायोगः प्राणायामइतीरितः प्राणायामस्त्रिधा
प्रोक्तः पूरककुंभकरेचकैः पूरकलक्षणं बाह्याद्वा पूरणंवायोनुदरे पूरको हि सः कालिकापुरा

यो॰ चिं॰ णे पूरकः पूरणात्प्रोक्तः देवलः निःश्वासाध्मानं पूरणमिति स्कंदपुराणे बाह्येन वायुना
देहं दृतिवत्परिपूरयेत् परिपूर्णस्तथा तिष्ठेत्पूरणात्पूरकः स्मृतः याज्ञवल्क्यः बाह्ये स्थितं
१०८ नासपुटेन वायुमाकृष्य तेनैव शनैः समंतात् नाडीश्च सर्वाः परिपूरयेद्यः स पूरको नाम महा त
निरोधः देवलः तेनैव वर्त्मना तस्य कोष्ठस्यांतः प्रवेशनं पूरणात्पूरकः प्रोक्त इति तेन नासा
पुटं मुखब्रह्मरंध्रलक्षणेन वायुसंहितायां ।। नासिकापुटमंगुल्यापीड्यैकमपरेण तु बाह्ये
न मरुता देहं दृतिवत्परिपूरयेत् ।। नासापुटेनापरेण पूरणात्पूरकः स्मृतः कुंभकलक्षणं ।।
याज्ञवल्क्यः संपूर्य कुंभवद्वायोर्धारणं कुंभको भवेत् स्कंदपुराणे न मुंचति न गृह्णाति वायु
मंतर्बहिः स्थितं आपूर्य कुंभवत्तिष्ठेदचलः स तु कुंभकः योगियाज्ञवल्क्यः न रेचको नैव
च पूरकोऽयं नासाग्रवर्तीस्थित एव वायुः सुनिश्चलं धार्यते क्रमेण कुंभाख्यमेतत्प्रव १०८

दंति तज्ज्ञाः रेचकं पूरकं मुक्त्वा यत्सुखं वायुधारणं प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुंभकः
त आरेच्यापूर्य यः कुर्यात्स वै सहितकुंभकः अन्यान्यपि कुंभकविशेषास्ते वक्ष्यंते रेचकलक्षणं या
ज्ञवल्क्यः बहिर्यद्रेचनं वायोरुदराद्रेचकः स्मृतः तथा निःक्रम्य नासाविवरादशेषं प्राणं ब
हिः शून्यमिवानिलेन निरुच्छ्वसंस्तिष्ठति चोर्ध्ववायुः स रेचको नाम महानिरोधः कालिकापु
राणे भानुदैवतयासुंवे द्वापुं सर्वांगसंयुतं व्याहृतिप्रणवाद्येन यत्तद्रेचकसंज्ञितं स्कं
दपुराणे नासिकापुटमंगुल्या पीडयित्वापरेण तु उदराद्रेचयेद्वायुं रेचनाद्रेचकः स्मृतः दे
वलः अजस्रनिश्वासो रेचकः अजस्रोऽखंडो निश्वासो निःसारणं यद्वायोर्ब्रह्मरंध्रेण नासा
स्येन च वा बहिः निःसारणमौदर्यस्य रेचनात्स्यात्स रेचकः जैगीषव्यो योगशास्त्रे रेचकस्तु
द्विनाडीपोः कोष्ठस्य परिकीर्तितः लघुमध्यमोत्तमभेदेन प्राणायामत्रैविध्यं कथ्यते नारदीय

यो·चिं· पुराणे॥ मात्राभेदे॥ कृतैस्तस्तः कनीयान्मध्यमोज्येष्ठः प्राणायामः प्रकीर्तितः एकद्वित्रिगुणो विप्र
मात्राभेदेन संस्थितः॥ मार्कंडेयपुराणे लघुर्द्वादशमात्रास्तु द्विगुणः स तु मध्यमः॥ त्रिगुणाभि
१०१ स स्तु मात्राभिस्तु रीयः उदाहृतः प्रथमेन जयेत्स्वेदं द्वितीयेन तु वेपथुं॥ विषादं हि तृतीयेन जयेद्दोषान
नुक्रमात्॥ नंदिपुराणे॥ कनीयसस्तु मात्राभिः स्थितो द्वादशभिर्यमः॥ मध्यमो द्विगुणैस्तु मात्रा
भिः परिकीर्तितः॥ त्रिगुणाभिः स्मृतो ज्येष्ठो ज्येष्ठः स्वेयं समानयेत्॥ केवलः स पुनरेकद्वित्रिभिरुद्घाते
र्मृदुर्मध्यस्तीक्ष्णो भवति॥ स्कंदपुराणे॥ कनीयांस्तु सकृदुद्घातो द्वादशमात्रकः॥ मध्यमस्तु
द्विरुद्घातश्चतुर्विंशतिमात्रकः॥ उत्तमस्तु त्रिरुद्घातः षट्त्रिंशन्मात्रकः स्मृतः॥ स्वेदकंपाभिघाता
नां जनकश्चोत्तमो मतः॥ एभिश्चिन्हैश्चिन्हितव्यः सिद्धः प्राणोऽत्र योगिना॥ वायुसंहितायां कन्प
सादिक्रमवशात्प्राणापाननिरोधनं॥ तच्चतुर्द्धा परिदिष्टं स्यान्मात्रागुणविभागतः॥ कनीसक य: १०१

दुद्घातः स च द्वादशमात्रकः॥ मध्यमस्तु द्विरुद्घातश्चतुर्विंशतिमात्रकाः॥ उत्तरस्त्रिरुद्घातः ष
ट्त्रिंशन्मात्रकः स्मृतः॥ स्वेदकंपादिजनकः प्राणायामस्तदुत्तरः॥ आनंदोद्भवरोमांचनेत्रोदं
तांगमोटनं॥ जल्पभ्रमणमूर्च्छाद्यं जायते चात्र योगिनः॥ लिंगपुराणे॥ प्राणायामस्य मानं तु मा
त्राद्वादशकं स्मृतं॥ नीचो द्वादशमात्रस्तु सकृदुद्घात ईरितः॥ मध्यमस्तु द्विरुद्घातश्चतुर्विंशति
मात्रकः॥ मुख्यस्तु यस्त्रिरुद्घातः षट्त्रिंशन्मात्र उच्यते॥ प्रस्वेदकंपनोत्थानजनकश्च यथाक्रमं॥
आनंदो जायते चात्र निद्रा घूर्मस्तथैव च॥ रोमांचो ध्वनिसंवित्तिरंगमोटनकंपनं॥ भ्रमणस्वे
दजल्पाद्यसंविन्मूर्छा जपघदानदो नमोत्तमः प्रोक्तः प्राणायामः सुशोभनः॥ क्रमेश्चितांदोल
नं ध्वनिसंवित्तिरांतरनादाभिव्यक्तिः॥ वसिष्ठपागे प्रस्वेदं जनयेयस्तु प्राणायामेषु सोऽधमः॥
मध्यमः कंपनात्प्रोक्त उत्थानाच्चोत्तमो भवेत्॥ मात्रालक्षणं तु यथा ब्रह्मवैवर्ते॥ निमेषोन्मे

यो॰ विं॰ षणंमात्राद्विवलिप्त्वक्षरंनथा॥ नंदिपुराणेत्वरितंलघुभिर्वर्णैर्मात्राद्वादशभिःस्मृतेतिस्कं
११० दपुराणेजानुंप्रदक्षिणीकृत्यनद्रुतंनविलंवितंकरोतिछोटिकांयावत्सामात्रेतिचगीयत
त्री इतिदत्तात्रेयःअंगुलीर्मोक्षितास्तिस्त्रोजां[illegible]श्च परिमार्जयेत्प्रदध्याच्छोटिकामेकांमा
त्रासंस्थाययेत्तमितिनया॥ द्वादशछोगः कनीयान्द्विगुणोमध्यमः स्मृतःत्रिगुणोत्तममा
त्रः स्यान्मात्राभेदः प्रकीर्तितः याज्ञवल्क्यः अंगुलिमोक्षत्रितयंजानुपरिमार्जनंचापि॥
तालत्रयमपितज्ज्ञामात्रासंज्ञांप्रशंसंतिगोदोहंवत्सपानंवाइषुक्षेपमथापिवाघंटा
मात्तनितंचापिअतिमात्राप्युदात्ततांदेशकालानुसारेणसदासेव्याःशनैः इतिउद्धात शनैः
लक्षणंचयथाशास्त्रांतरैःप्राणेनोत्सर्पमानेनअपानःपीड्यतेप्रदागत्वाचोर्ध्वंनिवर्तेत
एतदुद्धातलक्षणं। अथपूरककुंभकरेचकेषुध्यानजपविशेषःप्रदर्श्यते। व्यासःनाभिपद्म
११०

स्थितंध्यायेत्कंरक्तंपूरकेणतुनीलोत्पलाभंहृत्पद्मेकुंभकेनजनार्दनं॥ ललाटस्थशिवंश्वेतं
रेचकेनविचिंतयेत्शुद्धस्फटिकसंकाशंनिर्मलंपापनाशनं बृहस्पतिःरक्तंप्रजापतिंध्याये
द्विष्णुंनीलोत्पलप्रभंशंकरंत्र्यंबकंश्वेतंध्यायन्मुच्येत्तवंधनात्याज्ञवल्क्यःकुंभकेनहृदि
स्थानेध्यायेत्तुकमलासनं॥ ब्रह्माणंरक्तगौरांगंचतुर्वक्त्रंपितामहंनीलोत्पलदलप्रख्यामं
नाभिमध्येप्रतिष्ठितंचतुर्भुजंमहात्मानंपूरकेनविचिंतयेत्रेचकेनेश्वरंविं[illegible]ल्ललाटस्थं घ
महेश्वरंशुद्धस्फटिकसंकाशंनिर्मलंपापनाशनं॥ पूरकेविष्णुसायुज्यंकुंभकेब्रह्मणोंतिकं॥
रेचकेनतृतीयेनप्राप्नुयादीश्वरंपदं॥ पद्मनिरोधसंयोगाद्देवतात्रयचिंतनं॥ अग्नेर्वायोर
पांयोगात्तदाप्नुयात्तयेत्रिभिःनिरोधान्जायतेवायुर्वायोरग्निश्चजायतेअग्नेरापोभिजायं
तेतैतोंतःशोध्यतेत्रिभिःप्राणायामइतिप्रोक्तःपूरकुंभकरेचकैःवर्णत्रयात्मकाह्येतेपूर

यो·चिं·

१११

कुंभकरेचकाः॥ एवँ णवः प्रोक्तः प्राणायामश्च तन्मयः॥ इडया वायुमारोप्य पूरयित्वोदरं
स्थितः॥ शनैः षोडशमात्राभिरकारं तत्र संस्मरन्॥ धारयेत्पूरितं पश्चात्प्राणं वाह्यानिला
न्वितं शनैः पिंगलया गार्गि द्वात्रिंशन्मात्रया पुनः॥ मकारमूर्तिमत्रापि संस्मरन्सुस
माहितः॥ प्राणायामो भवेदेष पुनश्चैवं समभ्यसेत्॥ प्रस्वेदजनको यस्तु प्राणायामेषु सोऽध
मः॥ कंपनान्मध्यमः प्रोक्त उत्थानाच्चोत्तमः स्मृतः॥ पूर्वं पूर्वं प्रकुर्वीत यावदुत्तमसंभवः॥ संभ
वत्युत्तमे गार्गि प्राणायामे सुखी भवेत्॥ प्राणी जयति तेनैव रेहस्यांतस्तनोधिकं [illegible]
[illegible] देहश्चोत्तिष्ठते तेन कृतासनपरिग्रहः॥ निश्वासोच्छ्वासकौ तस्य न विद्येते कृता
वनेदेहयद्यपितौ स्यातां स्वाभाविकगुणावुभौ तथापि नश्यतस्तो च प्राणायामोत्तमे
न हि तयोर्नाशे समर्थः स्यात्कृतं केवलकुंभकं सहितं केवलं वाथ कुंभकं नित्यमभ्यसेत्॥ या

१११

वत्केवलसिद्धिः स्यात्तावत्सहितमभ्यसेत्॥ केवले कुंभके सिद्धे रेचपूरणवर्जिते॥ न तस्य दुर्लभं
किंचित्त्रिषु लोकेषु विद्यते॥ मनोजवत्वं लभते पलितादि च नश्यति॥ मुक्तेरयं महामार्गो मका
राख्योंतरात्मकः॥ नादं चोत्पादयत्येष कुंभकः प्राणसंयमः॥ प्राणसंयमनं नाम देहे प्राणा
स्य धारणं॥ एष प्राणजयोपायः सर्वमृत्यूपघातकः॥ हठयोगे कुंभकात्कुंडलीबोधः॥ कुंडली
बोधतो भवेत्॥ अनर्गलः सुषुम्णा नो हठसिद्धिश्च जायते॥ वायुसंहितायां॥ रेचकादित्रयमि
दं न द्रुतं न विलंबितं॥ उद्घातक्रमयोगेन मन्यसे योगसाधनं॥ रेचकादित्रयाभ्यासो नाडीशो
धनपूर्वकं॥ स्वेच्छोत्क्रमणपर्यंतं प्रोक्तो योगानुमार्गिणे॥ स द्विविधः प्राणायामः सगर्भविगर्भभे
दात्॥ तथा हि नारदीयपुराणे॥ सगर्भयोगर्भयोगमतिवेदगमानुपंत्रितः॥ प्राणायामोस्य म
प्यनंतस्यादौ युक्तिरुच्यते॥ अगर्भश्च विगर्भश्च द्विविधः संप्रकीर्तितः॥ अस्य प्रापास्यस्य

यो॰ चिं॰ कयोर्मथनमिव मथने प्राणायामो नवनीतात्मज्ञानस्थानीयत्वात् तयोर्लक्षणं य
११२ था लिंगपुराणे सगर्भोगर्भइत्युक्तः सजयो विजयः क्रमात् वायुसंहितायां जपध्यानं वि
नागर्भः सगर्भस्तत्समन्वितः अगर्भो हु मं संयुक्तः प्राणायामः शताधिकः जपो मनसा प्र
संख्यानं ।। नंदिपुराणे जाप्येन तु जपं कुर्यात् विलंबितमद्रुतं मनसैव प्रसंख्यानं प्राणा
यमविधौ सदा जाप्ये तगायत्र्यादिमंत्रेण स्कंदपुराणे ध्येयं पदं क्षेश्रेण्यां वर्णाद्वर्णपदा २
त्पदं शब्दार्थचिंतनाभ्यासः स उक्तो मानसो जपः ।। नंदिपुराणे ।। मंत्रांशं देवता ध्यानात्स
ज्वालः परिकीर्तितः मंत्रावचनविद्धस्तु प्रशांतः परिकीर्तितः मंत्र ॐकारस्तु उक्तः सर्वमं
त्रविजित्वरः सर्वदेवतसंदोह आधारः सर्वयोगिनां यस्योदरे मंत्रजातं सर्वमेव प्रतिष्ठितं स एव
व योगिनां योगश्चिंतामणिसंमो हि सः स तु मात्रात्रयपुतो अ उ मा इति ताः स्मृताः अस्मि

११२

न्मात्रात्रये सर्वं भावाभावं प्रतिष्ठितं ब्रह्मविष्णुमहेशानां क्रमान्मात्रात्रयं स्मृतं स्कंदे मा शंक
रश्चोक्ता भूर्भुवः स्वश्च कीर्तिताः त्रयोग्नयस्तु ताः प्रोक्ता मात्राः प्रणवसंयुताः तस्य मात्रात्र
य ध्यानात्प्राणायामः स धूमकः कलांशं देवताध्यानात्सज्वालः परिकीर्तितः मात्रा धूमां
शनिर्वस्त्र योगनाडीसमाश्रयात् प्रशांत उक्तः शास्त्रेषु सर्वभावविनिर्गतः एते भेदाः सग
र्भस्य इह सगर्भस्य प्राणायामस्य त्रयो भेदाः प्रदृश्यंते सधूमः सज्वालः अशांत इति त्रमात्रा
त्रय ध्यानात्स धूमकः मात्रारूपाणां प्रणवांशानां तद्देवतानां च ध्यानात्सज्वालः मंत्रा
वचनविद्धस्तु प्रशांतः मंत्रस्यावचनं मनस्यालोचनं तेन विद्धो युक्तः अनेनायं मंत्रवा
च्यार्थध्यानरहितोपीत्युक्तं भवति कला मात्रा धूमांशोस्यादिमात्रा तद्देश ध्यानरहितः प्र
शांतः अत्रांशशब्देन मात्रावाच्या देवता गृह्यंते मात्रा धूमदेवता ज्वाला रूपनिर्गतवस्तु

समाश्रयात्तयोगनाडीसमाश्रयाच्चप्रशांतइतियोगनाडीसुषुम्णा तेदवंप्रणवगर्भः प्राणाया
मोदर्शितः मार्कंडेयपुराणे ॐमित्युच्चारणात्सर्वगहीनंसम्ग्वेत्तइत्येतदक्षरंब्रह्मपरमोंका
रसंज्ञितंप्रणवोधनुःशरश्चात्माब्रह्मणोत्स्यायुधान्वितः अप्रमत्तेनवेद्धव्यंशरवत्तन्मयोभ
वेत् याज्ञवल्क्यः सिद्धानानां च सर्वेषांवेदवेदांतयोस्तथा अन्येषामपिशास्त्राणांनिष्ठा ॐ
कारउच्यते प्रणवाद्याःस्मृतावेदाःप्रणवेपर्यवस्थिताः वाङ्मयंप्रणवंतच तस्मात्प्रणवम
भ्यसेत् तयाप्रणवेनसुसंयुक्ताव्याहृतिभिश्चसंयुताः गायत्रीवीजपेनूतिस्रः प्राणसं
यमनेद्विजः अनेनगायत्रीगर्भः प्राणायामोदर्शितः अस्यलक्षणमाह मनुः सव्याहृतिंस
प्रणवांगायत्रींशिरसासहत्रिःपठेदायतप्राणःप्राणायामःसउच्यते॥ व्याहृतयो भूरा
द्याःसप्तैवख्याताःसप्तव्याहृतयःप्रोक्ताःप्राणायामेतुनित्यशः भूर्भुवःस्वर्महर्जनस्त

पःसत्यंतथैवचेतियोगियाज्ञवचनात्॥ शिरश्चात्र ॐ आपोज्योतिरित्यादिर्यजुर्वेदोमंत्रः
तथाचव्यासः ॐ आपोज्योतिरित्येषभूरादिपुनवस्त्वपिप्रवेणे योगमाह याज्ञवल्क्यः भूर्भुवः
स्वर्महर्जनस्तपःसत्यंतथैवच प्रत्योंकारसमायुक्तास्तत्तस्तत्सवितुःपरं ॐ आपोज्योतिरि
त्येतच्छिरःपश्चात्प्रयोजयेत् त्रिरावर्तनयोगाद्धिप्राणायामस्तुशब्दितइति ॐकारोप्य
त्रमंत्रोद्दिष्टव्यःतथाचयमः ॐकारपूर्विकाःसप्तजपेतुव्याहृतीस्तथा शिरसासहगा
यत्रीप्राणायामःपरंतपः जपेदित्यत्रमनसेतिद्रष्टव्यंतथाचसंवर्तेप्रण वेनतुसंयुक्ता
या व्याहृतीःसप्तनित्यशः सावित्रींशिरसासार्द्धंमनसात्रिःपठेत्द्विजः याज्ञवल्क्यः ब्राह्मणाःश्रु
तिसंपन्नाःस्वधर्मनिरताःसदा सवैदिकंजयेन्मंत्रंलौकिकंनकदाचन नैकेचिभूतहितार्थाया
यजप्तुमिच्छंतिवैदिकं द्विजवत्क्षत्रियस्योक्तःप्राणसंयमनेजपः वैश्यानांधर्मयुक्ता

नास्त्री शूद्राणां न तपस्विनां प्राणसंयमने गार्गि मंत्रः प्रणववर्जितः नमोंतः शिवमंत्रो वा वैष्णवो वे
ष्यते तु धैः यद्वा समभ्यसेच्छूद्रो लोकिकं विधिपूर्वकं न वैदिकं जपेच्छूद्रः स्त्रियश्च न कदाचनेति
तदेवं सगर्भागर्भभेदो निरूपितः स्कंदपुराणे॥ रेचकः शून्यकश्चैव पूरकः कुंभकस्तथा प्रा
णागमनसभ्यासः प्राणायामश्चतुर्विधस्तत्र रेचितादयो लक्षिताः केचिद्दक्ष्यंते च शून्य
कलक्षणं कालिकापुराणे ततः सर्वं निराभासं मध्ये ज्ञानं विचिंतयेत् वायोस्तस्यं रोधयेद्वा
पुं शून्यकं न द्विनिर्दिशेच्च॥ तत इति भानुदेवत्वपानाप्तौ व्याहृति प्रणवाद्येन रेचकं
कृत्वं निजैगीषव्ययोगशास्त्रे आयामैः पंचभिः खिन्नो रेचकाद्यैर्यथाक्रमं रेचकः पूरकः कुं
भउत्कर्षो ह्यपकर्षकः स्वित्रीयो गोसिद्धिमाप्नोतीति संबंधः पद्मपुराणे॥ प्राणः प्रायाम
यो वायुर्वायुरात्मा निगद्यते तेनस्यायामः समुद्दिष्टः षट्प्रकारः सुयोक्तृभिः वायोरपि नि

रोधेन युक्तः समभिधीयते षट्प्रकारकत्वं च रेचक पूरकौ द्वौ सहितः केवलश्चेति कुंभकौ द्वौ द्वा
वुत्कर्षापकर्षकौ॥ रेचलः कुंभः सप्तविधो ज्ञेयो रेचितादि प्रभेदतः रेचितः पूरितः शांतः प्रत्या
हारांतरोधरः समश्चेति विनिर्दिष्टः कुंभकः सप्तभेदतः तथा रेचितादेः सप्तविधस्यापि लक्ष
णं चाह रेचितस्य बहिः स्तंभो वायो रेचितेकुंभकः पूरितस्यांदरे रोधः प्रोक्त पूरितकुंभकः का
यस्यांतर्बहिर्व्याप्तिर्यास्या शांतकुंभकः स्थानेयो रंतरे रोधः प्रत्याहाराख्यकुंभकः आ
पूर्यापक्रमात्कूर्द्ध मूर्द्धरोधात्ददादिपुर उनरः कुंभकः सत्यादधो धामूर्द्धतो ध घरः रेचनोपू
रणान्यत्का मनसा मनुतो धृतिः स्थानाभ्यादिप्रदेशेपु समः कुंभः प्रकीर्तितः कायस्यांतिरेचक
पूरकौ विहायशरीरस्यांतर्बहिश्च मनसा वायोर्द्धारणाद्व्याप्तिरित्यर्थः स्थानयोरित्यत्र
वीप्सा द्रष्टव्या पादतलगुल्फनाभिहृदुरः कंठघंटिका भ्रूमध्यललाटब्रह्मरंध्राणि स्थाना

निएतेषुस्थानेषुद्वयोर्द्वयोरंतरेमध्येवायोर्द्धारणांप्रत्याहाराख्यकुंभकः हृदादिस्थानेषुमूर्द्ध
तोत्हृदयपर्यंतंस्वेतापूरणेद्वतिस्थानभेदात्समशांतयोर्भेदः रेचकादिचतुर्विधप्राणाया
 मलक्षणमाहभगवान्पतंजलिः बाह्याभ्यंतरस्तंभवृत्तिर्देशकालसंख्याभिःपरिदृष्टोदीर्घ
सूक्ष्मःबाह्याभ्यंतरविषयापेक्षीचतुर्थ इति अस्यार्थः बाह्यवृत्तिःश्वासोरेचकः अंतर्वृत्तिःप्र
श्वासःपूरकः अंतस्तंभवृत्तिःकुंभकःरेचनेपूरणंविहायसकृद्बलवद्विधारकमपलावरू
द्वेतस्मिन्जलमिवनिश्चलतयाप्राणावस्थाप्यत इति कुंभकःसयथातप्तेन्यस्तमुपलेजलं
सर्वतःपरिशुष्यत्संकोचमापद्यतेतथाशरीरेसूक्ष्मस्तभ्यत इति स्तंभवृत्तिःत्रिविधोयंप्राणा
यामोदेशेनसंख्ययाचोपलक्षितोदीर्घसूक्ष्मसंज्ञोभवतिदेशेननासाद्वादशांतादेकाले
नसंख्ययाचोपलक्षितोयथाषट्त्रिंशन्मात्रकःसंख्ययाचोपलक्षितएतावद्भारंक

नएतावद्भिःश्वासप्रश्वासैःप्रथमउद्घातोभवतीत्येतज्ज्ञानोपसंख्योपग्रहणमुपात्तंउ
द्घातश्चनाभिमूलात्प्रेरितस्यवायोःशिरस्यभिहननंसरवल्वयंदिवसक्षमासादिक्रमे
णाभ्यस्तोदीर्घदेशकालव्यापितयैवदीर्घोलक्ष्यतयाचसूक्ष्मोदीर्घसूक्ष्मशब्दाभि
धेयोभवतिद्वितीयार्थस्तुबाह्योविषयोद्वादशांतादिःआभ्यंतरोविषयोहृदयनाभिच
क्रादिःतौद्वौविषयावाक्षिप्यपर्यालोच्यवःस्तंभरूपोगतिविच्छेदःसचतुर्थःप्राणायाम इ
तिततीयस्मात्कुंभकादयमस्यविशेषोवाह्याभ्यंतरविषयौपर्यालोच्यैवसहसातत्प्रोपल
५ मतिततौलवघुगपत्स्तंभवत्याभिःपाद्यतेअयंत्वालोचनसापेक्षंबहुप्रयत्नपूर्वमभ्यस्यमान
स्तांतामवस्थामापन्नस्ततद्वस्थाविजयानुक्रमेणभवतीतिचतुर्विधस्यापिप्राणायाम
स्यफलमाहभगवान्पतंजलिः ततःक्षीयतेप्रकाशावरणंधारणासुयोग्यताचमनस इति तस्त

यो·चिं· स्मात्प्राणायामात्मकाशस्य चित्तसत्वगतसार्वज्ञरूपस्य सदावरणं क्लेशरूपं क्षीयते विन
श्यतितया च मनसो धारणासु वक्ष्यमाणलक्षणासु योग्यता भवति प्राणायामैः क्षीणदोष
११६ मनो यत्र यत्र धार्यते तत्र तत्र स्थिरीभवतीति सूत्रार्थः स्कंदपुराणे श्लोका युक्ति व[...]शालाहि
ष्यते च यथा दारुतो वानलो लभ्यो वायुर्वा स्यात् तथा च ख्यः प्राणायामो स्य मथनं तस्माद्दो
युक्तिरुच्यते तथा समस्तेंद्रियवृत्तिश्च प्राणो वायुः प्रकीर्तितः तज्जयादिंद्रियाण्येवं निर्जिता
वृत्ति नि भवंति हि वृत्तिमतो यस्माद्भेदः परिकीर्तितः तस्माद्वा नेजयादेव वृत्तिमान्निर्जितो भवेत्
ज्ञानवैराग्ययोश्चाभ्यां प्राणायामकषाहतान् इंद्रियाश्वान्विनिर्जित्य सर्वमेव जितो भवेत् इंद्रि
याण्येव तत्सर्वं यत्स्वर्गनरकावुभौ निगृहीतविशिष्टानि स्वर्गाय नरकाय च शरीररथमित्याहु
रिंद्रियाण्यस्य वाजिनः सारथिः पुरुषः प्रोक्तः प्राणायामः कषास्मृतः ज्ञानविज्ञानरश्मिभ्यां

११६

स्थूलः

मायम्य विधृतं मनः शनैर्निश्चलतां याति प्राणायामकषाहतं योगे सूर्यभेदनमुज्जायी तथा १
सीत्कार शीतली भस्त्रिका भ्रमरी मूर्छा सहितं चाष्टकुंभकाः तत्र सहितलक्षणं पूर्वमेवोक्तं भ्र १
मरी वेगोद्घोषं पूरकं भृंगनादं भृंगीनादं रेचकं मंदं मंदं योगींद्राणां नित्यमभ्यासयोगाच्चित्ते जाय
ता काचिदानंदलीला मूर्छा पूरकांते गाढतरं बंधो जालंधरः शनैः रेचयेत् मूर्छनाख्या यं च
मनो मूर्छा सुखप्रदा सीत्कां कुर्यात्तथा वक्त्रे घ्राणे नैव विसर्जयेत् एवमभ्यासयोगेन १
कामदेवो द्वितीयकः योगिनी चक्रसंसेव्यः सृष्टिसंहारकारकः न क्षुधा न तृषा निद्रा नै १
वालस्यं न जायते भवेत्स्वछंददेहस्तु सर्वोपद्रववर्जितः अनेन विधिना यस्तु योगींद्रो
भूमिमंडले रसना तालुमूले यः प्राणं सततं पिबेत् अब्दार्धेन भवेत्तस्य सर्वरोगपरि वृ
क्षयः योगवीजे सूर्यभेदनं आसने सुखदे योगी बद्ध्वा चासनं ततः दक्षनाड्या समाकृ

यो·चिं· ष्यवहिस्थंपवनंशनैः॥ आकेशाग्रंनखाग्रंचशिरोधोवधिकुंभकंततःशनैःसव्यनाड्यारेचयेत्प
११७ वनंसुधीः॥ कपालशोधनंवातदोषघ्नंकृमिदोषहृत्॥ पुनःपुनरिदंकुर्यात्सूर्यभेदनमुत्तमं॥ उज्जा
यीमुखंसंयम्यनाडीभ्यामाकृष्यपवनंशनैः॥ यथालगतित्कंठाद्धृदयावधिसस्वनः॥ पूर्व
वत्कुंभयेत्प्राणंरेचयेदिडयाततः॥ श्लेष्मदोषहरंकंठेदेहानलविवर्द्धनं॥ नाडीजलोदरंधा
तुगतदोषविनाशनं॥ गच्छतस्तिष्ठतःकार्यमुज्जायाख्यंचकुंभकं॥ भस्त्रिकाऊर्वोरुपरिसंर
स्थाप्यउभेपादतलेतथा॥ पद्मासनंभवेत्सम्यक्सर्वपापप्रणाशनं॥ सम्यक्पद्मासनंबद्ध्वास
मग्रीवोदरःसुधीः॥ मुखंसंयम्ययत्नेनप्राणंघ्राणेनरेचयेत्॥ यथालगतित्कंठेकपालाव
६ धिपूरयेत्॥ वेगेनपूरयेत्सम्यक्हृत्पद्मावधिमारुतं॥ पुनर्विरेचयेत्तद्वत्पूरयित्वापुनःपुनः॥
यथैवलोहकाराणांभस्त्रावेगेनचाल्यते॥ तथैवस्वशरीरस्थश्चाल्यतेपवनोधिया॥ यथाश्र

११७

मोभवेद्देहेतथावेगेनपूरयेत्॥ यथोदरंभवेत्पूर्णंपवनेनतथालघु॥ धारयन्नासिकामध्ये
तर्जनीभ्यांविनादृढं॥ कुंभकंपूर्ववत्कृत्वारेचयेदिडयाततः॥ वा॥ तपित्तश्लेष्महरंशरीराग्नि
विवर्द्धनं॥ कुंडली॥ बोधनंकुर्यात्पापघ्नंसुखदंशुभं॥ ब्रह्मनाडीमुखेसंस्थकपाटार्गल॥ नाशनं॥
सम्यक्गात्रसमुद्भूतंग्रंथित्रयविभेदनं॥ विशेषेणैवकर्तव्यंभस्त्राख्यंकुंभकंत्विदं॥ शी
तलीजिह्वयावायुमारोप्यपूर्ववत्कुंभकादनुशनैस्तु॥ घ्राणरंध्राभ्यांरेचयेदनिलंसुधीः॥
गुल्मप्लीहोदरंचापिवातपित्तंक्षुधांतृषां॥ विषाणिशीतलीनामकुंभकीविनिहंतिच॥
पं याज्ञवल्क्यः॥ किंचप्राणजयोपायांतेवक्ष्यामितत्वतः॥ वाह्यात्प्राणंसमाकृष्यपूरयित्वोद
रंस्थितः॥ नाभिमध्यंचनासाग्रेपादांगुष्ठेचयत्नतः॥ धारयेन्मनसाप्राणंसंध्याकालेषुवाः
सदा॥ सर्वरोगविनिर्मुक्तोजीवेद्योगीगतक्लमः॥ नासाग्रधारणंगार्गिवायोर्विजयकार

योगचिं. रंध्रेसर्वरोगविनाशःस्यात्नाभिमध्येचधारणात्शरीरंलघुतांयातिपादांगुष्टेचधारणात्रस
११८ नांवायुमारोप्यपः पिबेत्सततंनरःश्रमदाहौतस्यनस्तोनश्यंतिव्याधयस्तथा॥संध्ययोर
र्कास्तकालेवावायुमाकृष्यपःपिबेत्त्रिमासात्तस्यकल्याणिजायतेवाक्सरस्वतीषण्मासा
भ्यासयोगेनमहारोगैःप्रमुच्यतेआत्मन्यात्मानमारोप्यकुंडलिन्यांतुधारयेत्क्षयरोगा
द्यस्तस्यनश्यंतीत्यपरेविदुःजिह्वायांवायुमानीयजिह्वामूलेनिरोधयेत्यःपिबेदमृतं
विद्वान्सकलंभद्रमश्नुतेआत्मन्यात्मानमिडयासमानीयांतरेभ्रुवोःपिबेद्यस्त्रिदशाहारंव्या
धिभिःसोपिमुच्यतेनाडीभ्यांवायुमारोप्यनाभौवातुंदपार्श्वयोःघटिकांवाहयेद्यस्तुर
व्याधिभिःसोपिमुच्यतेमासमेकंतुसंध्यायांजिह्वायांरोप्यमारुतंपिबेद्यस्त्रिदशा
हारंधारयेत्तुंदमध्यमेगुल्माष्ठीलाप्लीहाचान्येत्रिदोषजनितास्तथातुंदमध्यगतारोगाः
११८

वि सर्वेनश्यंतिकिल्बिषाःज्वराःसर्वेविनश्यंतिविषाणिविविधानिचबहुनोतेनकिंगोपि
लितादिनश्यंतित्रिपुरंसारसमुच्चयेराजदंतयुगलांतमस्पृशन्संनिधायरसनांतदंति
केकाकचंचुपुटमारुतंपिबेत्प्राणसंयमनमेतदुत्तमंद्विकचंचुसमीरणंशनैर्धयतःसं
रिक्रुष्यसंततंश्रमदाहगदोदरामयज्वरगुल्याःप्रशमंप्रयांतिचउभयोरपिसंध्ययोर्मुहू
र्तेपिकधातुर्यतस्त्रिमासमात्रंसरसंद्विकचंचुगंधवाहंभुविसारस्वतसिद्धिरुत्तमा
स्यात्॥विषमुग्रमुदग्रवीर्यभाजांप्रविनाशंसमुपैतिपन्नगानांकिमुवृश्चिककीटलूतिका
नामिहकाकोलमुखानिलस्यपानात्॥द्विकचंचुसमीरणंनरःसततंसंधःयरिप्येकसंध्य
योःकुरुतेनिजकुंडलीमुखेक्षयरोगंसविमुच्यजीवतिद्विकचंचुसमीरपानरोपःपिवती
त हार्नाशमववौतेंद्रःभवतिध्रुवमेवतस्यवर्षात्श्रवणंदर्शनमप्यतीवदूरात्बहुभिःकथितेन

मूर्छ्ना: किमेभिर्द्विकचंचुवातुसमीरणस्यपानात्तं॥ जरसा सह नाशमात्मुमानित्रवलंम्मृत्यु
कृतंभयंनराणां॥ जिह्वांञ्च त्वानाकुलस्तालुमूलेदंतैर्दृत्तानूगाढमापीड्यपित्वाममंदममंदं
११८ श्री मःपिवेद्दुधवाहसौधैःपूरैःसाकमंतःस्मृतं मिश्रैःप ड्भिर्मासैरत्ररोगैरशेषैः॥ पापायेतो मुच्य
त्तेसाधकेंद्रः॥ अब्दादेकांविस्त्रतांमृत्युदृतीजिव्हाभूमौरीर्घकालंसजीवेतत्तेवर्षत्रयाभ्या
सवशाद्दतीतमनागतंवेत्यलिनीलकेशः॥ विषनरेद्देहेक्रमतेतदीयेदृष्टेपिघोरैरपिप
न्नगेंद्रैः॥ नक्रत्रिमंस्थावरजंगमंवाविषंकिमन्यैरपिकालकूटैः॥ गुणाष्टकंकालवशाहुपैर
त्यमहीतलेक्रीडतिभैरवोवा पामुंडाधारदंडांतरकुहरगतताहारनीहारगौरीसौधी विव
धारांनभोमोद्भह कुहरविधोःसंस्त्रवंती वहंतींतस्यावज्राख्यनाड्याःखगमुदरदरी
मध्यगंयोविदध्यात्तस्यब्रह्मांडभांडप्रलयमवनंस्याद्दूनंमृत्युमृत्यो॥ मूर्छागतोहर ११८

५

तिरोगमशेष्यमद्धावद्धःकरोतिगगनेगमनंनराणां॥ वातोमतोवितनुतेमरतोसमस्त
मभ्यासतःसुलभमेवसमीरणस्य॥ शास्त्रांतरेशिववाक्यैरसस्यमन सश्चैवचंचलत्वं
समासतःरसोवद्धोमनोवद्धंकिंनसिध्यतिभूतलेमूर्छितोहरतेव्याधिंमृतोजीवयतिस्वयं।
वद्धःखेचरतांधत्तेमनोवायुश्चभैरविकिंचितुएतानेवप्राणायामान्योगिनांप्रमादा
ज्ञातविविधरोगेषुचिकित्सात्वेनोपवर्णयंतितदैसंगतंनयाध्यात्तःनचव्याकुलचेमनः तत्
नचितार्तःनाचरेद्देहवाधायांदौर्मनस्यादिसंभवद्’ ,त्यादिवहुभिर्वाक्यैरोगदशा
यांयोगाभ्यासस्यनिषिद्धत्वाद्दर्शितंचविस्तरेणपूर्वमेवअनुभवविरुद्धत्वाच्चपत्रेरोगना
शात्मकफलश्रवणंतत्तुसर्वांगसाधारणंनद्वित्रिप्राणायाममात्रस्यतथाहिसर्वज्ञंतुपु
ष्टथिव्यांवीजवत्सूक्ष्मरूपेणसर्वेरोगाव्याधयोज्वराघाश्चयेरोगास्तिष्ठंतितेकेचिद्दास

यो॰ चिं॰ नैः केचित्प्राणायामैः केचित्प्रत्याहारैः केचिद्धारणाभिर्न्नश्यंतीति सर्वयोगशास्त्रेषु स्पष्टमेवोप
१२० लभ्येत दर्शितं चास्माभिरपि पूर्वं तत्तत्प्रकरणे देवाज्ञातव्याधिरोगादिसर्वविघ्नानां निवारकं
परमेश्वराराधनमेवेति वक्ष्यते अन्ये च प्राणजयोपायाः प्रसंगात्प्रथमपरिच्छेद एव निरूपिताः
अपानादिजये विशेषो योगसागरे रेचकादिक्रमाज्जयो मान स्थान नियोगतः रेचकाभ्या स
सबाहुल्येनेत्यर्थः कालिकापुराणे अपानं कटिदेशे तु पृष्ठभागे विनिर्दिशेत् सदा तत्रैव
संधार्य एष वायुजयक्रमः समानस्थान संरोधाद्धृदयतोऽशनकैरियात् अत्रापि रेचकपू
रकाभ्यां स्थाननिरोधस्य विकल्पनात् [redacted] नाभौ मध्यरये दायुं शरीरं व्याप्य धारयेत् समा
नं जायते तदंतः प्रज्वलन्य दिपपस्य निष्कंपमानस तोयोगं ज्वलेत् वेद परिस्तुतः मोहयेद्व्योम रणम्
कूपे स्कन्त मेव व्यापकं मुनिः योगसारे नासाकर्षणयोगेन हृदमादिक्रमाद यं उत्कृष्यमाणो १२०

र॰ द्वी॰ वश्यलं तु द्वौ प्रयात्स लंघ्रः पादतलं पार्ष्णे हुत्यागत्य क्रिमागतः उक्तस्यानानुसंगे प्रातिश्रीघ्रंस न
म वश्यतां प्रयत्ना साम्ने संस्थाप्य हृत्कंठताल्वभ्रूमध्यमूर्द्धसु सक्रमात् दुर्द्धानुद्धेति गत्वा गत्वा रेचक
पूरककुंभकविषयप्रत्ययः [redacted]: कालिकापुराणे मूर्द्धान्वितेन चाकर्षन् कु
र्वन्नु च तरंस्वनं धारयन् जायते नूनमुदानं वायुदैवतं व्यानं तु योगसारे सर्वक्षेत्रे कुंभका
भ्यासात्संकोचप्रभृतेः क्रमात् जागृ आसियोगे न तु योव्यानद नैरितः सर्वेत्रं शरीरं कालिका
पुराणे पूरकुंभकस्येव रेचकस्य निगद्यते तेन साधितयेत् सूक्ष्मं योगी नित्यं पेक्षमात्तत प्रा या
णादिवायुजयोपायविशेषाः पूर्वोक्तस्थानवर्णबीजाद्यनुसंधानसहितापूर्वानुष्ठेयान निरपेक्षा
इति द्रष्टव्यं अथ युगपत्समस्तवायुजयोपायाः लक्ष्मीयोगार्णवे पूर्वेणावर्णबीजादिसंमेलत्वा मा
नाद्धृदयांबुजं एकीकृत्य तत्र सर्वहीच युगपत् जयेत् एकीकृत्य तत्पंकमले चित्र वर्णबद्धिस
प

हितं सकलवायुगोलकं मनसा विचिंत्य ततस्तं ब्रह्मरंध्रपर्यंतमंतरस्थानानि क्रमेण नीत्वा ब्रह्म-
रंध्रादर्वांतरस्थानोल्लंघनेन पादांगुष्ठाग्रं प्रावरावर्तनाद भ्यासाद्युगपत्तु येदित्यर्थः योगसारे ॥ प्रा-
णवृत्तिमपानेन संयोज्यो त्कृष्य तं हृदि व्यानमानीय तत्रैव मुदानेन सहैकतां नीत्वा न पेदुरोमध्ये
मध्यकंठतलं मुखं नासाग्रं नेत्रभ्रूमध्यललाटतलमूर्द्धगं कृत्वा कुर्या । ततः सर्वब्रह्मरायंध्रा व
यापि वा इत्युक्तः सर्ववायूनां शनकैर्युगपत्प्ये समानीतानुक्तो पिलभ्यत्वं तत्प्रतिबंधनात् ॥ का-
लिकापुराणे वायुं नीत्वा च नाभौ तु आग्नेयात्किंचिदुत्स जेत्तज येत्सु वनितेन वायून भ्या-
सतो मुनिः तयां ध्यात्वा यद्वारयेद्वायुं धारणानुक्रमेण तु यत्नेन योगविच्छ पूर्ववृत्तु स्तंद्वाविवर्जि-
तः ॥ एवमभ्यासयोगेन सूक्ष्मं ज्योतिः प्रपश्यति । अंघ्र्यं गुष्ठाग्रतन्मूलपार्ष्णिगुल्फानुजा-
नुयुपायूपस्थितयाबत्तो नाभिहृत्कंठवक्षसि जिह्वाघ्राणाक्षिके संधौ समं मूर्द्धनि संस्थि-

---

तं वितय न्य रमं धार्य स्यानुजिस्तेन तन्मयः ॥ याज्ञवल्क्यगीतायां योगिनस्त्वपरे ह्यत्र वदं-
ति समचेतसः ॥ प्राणायामपराः पूतास्त्वपूरकवर्जिताः ॥ दक्षिणेन तु गुल्फेन सीवनीं यो-
उये च्छिरां अधस्तादुभयोः सूक्ष्मां सव्योपरि च दक्षिणं जंघोर्वोरंतरं गार्गि निश्छिद्रं वंधये
दृढं ॥ समग्रीवशिरः स्कंधः समपृष्ठः समोदरः नेत्राभ्यां दक्षिणं गुल्फं लोकयंस्तु परिस्थि-
तं धारयं न्मनसा सार्द्धं व्याहरन्प्रणवाक्षरं आसनेन त्वधीरास्ते द्विजो रहसि नित्यशः ॥ क्षत्रि-
यश्च वरारोहे व्याहरन्प्रणवाक्षरं ॥ आसनेन त्वधीरास्तो ह्यस्य वजितेंद्रियः वैश्याः शूद्राः स्त्रि-
यश्चात्र योगाभ्यासरता नराः ॥ शैवं वा वैष्णवं वापि संस्मरन्मन्त्रमेव वा आसने तेसं धीयते दीपं ह-
स्तेव लोकयन् ॥ आयुर्विघातकृत्प्राणस्त्वनेनाग्निकुलं गतः ॥ धर्मध्वजजयो यावन्नास्य धीरेव
मभ्यसेत् धारणां कुर्वत स्तस्य शक्तिस्थाने प्रभंजनं ॥ देहस्थः स्तुवुनां यातिजठराग्नेश्च दीपनं ह

हृचिन्हस्ततस्तस्मिन्मनसारोप्यमानुतं॥ मंत्रमुच्चारयन्दीर्घेनाभिमध्येनिरोधयेत्॥ यावन्मनोल
यस्तस्मिन्नाभौसवित्मंडले॥ नावत्समभ्यसेद्योगी॥ नियतीतियैतो॥ निपतासनः एतेननाभिमध्य
स्थधारणेनेवमानुतंकुंडलीपातिवन्हिश्चरह स्पत्रनसंशयः संतप्तावन्दिनातेनवायु ना
चालितास्वयं॥ प्रसार्यफणमङ्गोगंप्रबोधंयातिसा तदा॥ प्रवक्ष्येसंचचत्रिणिब्रह्मरंध्रेसुषुम्णायां
प्रयातिप्राणसंज्ञकः॥ संप्राप्तेमारुतेतस्मिन्सुषुम्णायांवरानने॥ मंत्रमुच्चार्यमनसात्हन्मध्ये
धारयेत्सुधीः हृदयात्कंठकूपेचभ्रुवोर्मध्येच धारयेत्॥ तस्मादारोप्यमनसा वन्हिंप्राणमतन्द्रि न्र
धीः धारयेद्व्योम्निविप्रेंद्रेव्योमांहरत्प्रणवाक्षरं॥ वायुनापूरितेव्योम्नि संयोगोपांगेकलेवरे॥ तदा
त्माराजतेतस्ययथाव्योम्नि किर्तनः शरीरंविसिसृक्षुश्चेत्तदेवंसम्यगाचरेत्॥ एकाक्षरं
परंब्रह्मध्यायन्प्रणवमीश्वरं संनिधमनसामूर्ध्निब्रह्मरंध्रंसवायुनाप्राणमुन्मोचयेत्प्रश्वा

१२०

---

५९ ज्वलतिविप्रेंद्रे स्वकुलेरहमध्यमे॥ प्रातःकालेप्रदोषेच निशीथेचसमाहितः॥ मुहूर्तमभ्यसेदेवंयावत्पंचनखद्वयं॥ ततःस्वात्मनि
न्महाप्राणेखमध्यमेरहातीतेजगत्प्राणेशान्तेनित्येध्रुवेपदे आकाशेपरमानंदेस्वात्मानंयोज
येत्सुधीः अत्रैवासौभवेद्गार्गिनपुनर्जन्मभाग्भवेत्॥ तथागार्ग्युवाचभगवन्सर्वशास्त्रज्ञस
गी र्वभूतहितेरत नमोयंमोक्षाययोभवताभाषितस्फुवैयमाद्यष्टांगसहितोयोगोहिबहुविस्त
सर्व रःतरस्तद्विस्मृतंसर्वंकृतवं संनिधौयोगंम मोपदिश्याथसांगंसंक्षेपरूपतः त्रातुमर्हसिसं
वृत्तजन्मसंसारसागरात्॥ इत्युक्तोब्रह्मवादिन्याब्रह्मर्षिणस्तदा आलोक्यकृपयादृष्ट्यास्मि विहासि
तपूर्वमथाब्रवीत्॥ उत्तिष्ठोत्तिष्ठकिंशेषेभूमौगार्गिवराननेवक्ष्यामितेसमासेनयोगंसं
प्रतितंशृणु॥ याज्ञवल्क्यउवाच॥ सव्येनगुल्फेनगुदंनिपीड्यसव्येतरेणैवनिपीड्यसंधिं॥
सव्येतरेण्यस्यकरंसदास्मिन्नशिखांसमालोक्यपावकस्य आपुर्विधातक्तस्त्राण्योनि
रुद्ध्वास्वासतेनवैयातिगार्गितदापा नात्कुलंयन्नेहः शनैःशनैस्ततोप्रत्याहारमयकू॥

यो·चिं· संभवंतिसदानस्य जितोयेनसमीरणः॥ शरीरलघुतादीप्तिर्वह्नेर्जठरवर्तिनः॥ नादाभिव्यक्तिरि
त्येतच्चिह्नान्यादौ भवंति हि॥ स्वल्पमूत्रपुरीषंस्यात्षण्मासाद्वत्सरात्तथा॥ आसनेवाहनेष
१२३ त श्चान्नगंतव्यंत्रिवत्सरात्॥ ततोनिलेवायुसखेनसार्द्धंधियासमारोप्यनिरोधतन्येतैंध्यायं
त्सदाचक्रिणमप्रबुद्धंनाभौसदाकुंडलिनंनिविष्टं॥ द्वारंसमावेष्ट्यमुखेनमध्यमन्याःस्वभो
गेनशिरास्तथैवं॥ स्वपुच्छमास्येननिगृह्यसम्यक्कृत्वास्वसंयम्यमनुद्धुणानां॥ प्रबुद्धनागेंद्र
वदुच्छ्रसंतोससम्प्रबुद्धाप्रभयाज्वलंती॥ नाभौसदातिष्ठतिकुंडलीसातिर्यक्षुदेवेषुतथा
नरेषु॥ वायुनाचितनवह्निशिखाभिःकंदमध्यगतनाडिषुसंस्थां॥ कुंडलींदहतियस्त्वहि॰
रूपांसंस्मरन्नरवरस्त्वकसएव॥ संतप्तावह्निनात्रवायुनाचप्रचालिता॥ प्रसार्यफणभृद्भोगं
प्रबोधंयातिसाततः॥ बोधंगतेचक्रिणिनाभिमध्ये प्राणास्तुसंभूयकलेवरेस्मिन्॥ चरंतिसर्वेस १२३

हवह्निनैवयथापवेतंतुगतिस्तथैव॥ मित्येवचक्रिणःस्यान्नंसदाध्यानपरायणः॥ ततोतथ
वा दयानंतुनाभेरूर्द्ध्वमनुस्मरन्॥ वायुर्यदोपुसखेनसार्द्धंनाभिंव्यतिक्रम्यगतःशरीरे॥ रोगाः
प्रणश्यंतिबलाभिवृद्धिःकांतिस्तदानींभवतिप्रकृष्टा॥ ब्रह्मरंध्रमुखमत्रवायवःपाव
केनसहयांतिखमध्येकेनचेदिहवदामितवाहंवीक्षणाद्धृदिसुदीपशिखाभ्यांनिरो॰
धितःस्याद्धरितेनवायुमर्ध्येयदावायुसखेनसार्द्धंसहस्रपत्रस्यमुखंप्रविश्यकुर्यात्सु
नस्तूर्द्धमुखंद्विजेंद्रैः प्रबुद्धहृद्यांभोजेगार्ग्येस्मिन्ब्रह्मणःपुरे॥ बालार्कश्रेणिवद्भात्यविवि
रराजसमीरयाः॥ त्वन्मध्यात्तुसुषुम्णायांसंस्थितोहुतभुक्तदा॥ सजलांबुदमालासुवि॰
घु द्युल्लेखेवराजते॥ प्रबुद्धहृत्पद्मसुसंस्थितेस्मोप्राणेचतस्मिन्विनिवेशितेच॥ चिन्हानिबाह्या
नितथांतराणिदीप्तानिदृश्यानिभवंतितस्य॥ वायुमुन्नयनेस्कसवह्निंव्याहरन्प्रण
म

वमत्रसविंदुं॥ बालचंद्रसदृशेनललाटेबालचंद्रमवलोकयबुद्ध्या॥ सवन्हिंवायुमारोप्यभ्रु
वोर्मध्येधियानदां ध्यायेदनन्यधीःपश्चाद्दंतराःत्मानमात्मनिमध्यमेपित्हृदयेचललाटस्था
पुवज्ज्वलतिलिंगमदृश्यंअस्तिगार्गिपरमार्थमिदंत्वंपश्यपश्यमनसानुचिरूपंललाट
मध्येत्हृदयांबुजेचयःपश्यतिज्ञानमपीप्रभ्रांतुशक्तिंसदादीयवदुज्ज्वलंतीसंपश्यतिब्र
ग ह्मविदेकहृष्सां॥ मनोलयेंदायातिभ्रूमध्येयोगिनांनणां॥ जिह्वामूलेमतस्त्रावाभ्रूमध्ये
चात्मदर्शनेंकंपनंचतथामूर्द्धामिनसैवात्मदर्शनेंदेवोंनानिरम्याणिनक्षत्राणिच घ
चंद्रमाःऋषयःसिद्धगंधर्वाःप्रकाशंयांतियोगिनांभ्रुवोरंतरेविष्णुपदेनिविष्टमनोलयं
यावदियात्सबुद्धैतावत्समभ्यस्यपुनःस्वमध्येतेजःसदासंस्मरपूर्णरूपंसमीरणेविष्णुप
वि देनिविष्टेंशुद्धबुद्धेतवन्वात्मनिष्ठेंआनंदमत्यमृतमस्तिसत्यंत्वंगार्गिपश्याघविशुद्धबुद्ध्या॥

एवंसमभ्यस्यसुदीर्घकालंयमादिभिर्युक्तनुर्मितांशी॥ आत्मानमासाद्यगुहाप्रविष्टंमुतिंब्र घ
त जेब्रह्मपुरेसुनस्त्वंभूतानियस्मात्प्रभवंतिसर्गेये नैवजीवंतिचरोणिजानातियस्मिन्विलयं चरा
प्रयांतितद्ब्रह्मविद्धीतिवदंतिसर्वेंत्हृत्पंकजव्योम्निपरेकरूपंसत्यंसदानंदमयंसुसूक्ष्मंतद्ब्र
प ह्मविन्दावेंतगुहायामितिश्रुतेश्चापिसमानयंति॥ अणोरणीयान्महतोमहीयानात्मागु
हायांनिहितोस्यजंतोः॥ तमक्रतुंपश्यसिशुद्धबुद्ध्याप्रयाणकालेपिविदीनशोकाप्रभंजनं
मूर्द्धिगतंसवन्हिंधियासमासाद्यगुरूपदेशात॥ मूर्द्धानमुद्धिं पुनःस्वमध्येप्राणांस्त्यजो घ
कारमनुस्मरत्वंदृढयापरिशरीरविसर्गेत्वानुमिच्छसिसरवेनवक्ष्ये॥ व्याहरन्नेणवमुत्तमम्
द्धीभेदनंकुनुसत्यात्मनिकायमितिगीतायांसर्वद्वाराणिसंयम्यमनोत्हृदिनिरुध्यचेत्यादिषु
तोचशतंचैकाचत्हृदयस्यनाड्यस्तासांमूर्धानमभिनिःसृतैकातयोर्ध्वमापन्नमतत्वमेतिवि

यो·चिं· षुद्दः स्याउत्क्रमणेनभवंतिजीवन्मुक्तस्तपाचिरकालंस्थातुमिछाचेछरीरंरक्षणीयं॥योगिनातया
१२५ चदत्तात्रेयः जीवन्मुक्तःसदेहोहंविचरामिजगत्त्रयं॥इतिचज्ञापनेवांछायोगिनस्तंत्रिवोधमेश
रीरंनत्यजेदेवकाल ःकस्यापिकुत्रचित् अतःशरीररक्षार्थेयत्नःकार्यस्तयोगिनां॥योगिनास
नि ततंयत्नादरिष्टानां ॑वारणं॥ कर्त्तव्यंयेनकालोसार्वे .त्तोननिहंतितं॥ अरिष्टानितुव तो
क्ष्यंते ज्ञात्वाकालं ॑तुसम्पक्व लपस्थानंसमाश्रितः॥युंजीतयोगंकालोस्ययथासोजाय
तेऽफलं॥वद्धसिद्धासनोदेहंपूरयेत्प्राणवायुना॥ह्रत्वादृढंस्थिरंवुध्यादशद्वाराणिरोध
येत्॥बंधयेत्खेचरीमुद्रांग्रीवायांचजलंधरं॥अपानेमूलबंधंचउड्डियानंतथोदरे॥उत्था
प्यभुजंगीशक्तिंमूलाधारांवुजस्थितां॥सुषुम्णांतर्गतांपंचचक्राणांभेदिनींशिवां॥जीवंत्व
दाश्रयंनीत्वायांतीवुद्धिमतीनुगां॥सहस्रदलपद्मस्यशिवेलीनांसुधामये॥ततःसुधा १२५

प्ला येत्॥
कृऐम्ऋतममनंतेनमृत्स्नः॥ सिंचंतीसकलंदेहं[redacted]वयंतीविचिंतेत्तपासाद्वैततोयोगीशिवेनैका
क्यतांव्रजेत्॥परानंदमयोभूत्वाविहृतिमपिसंत्यजेत्॥ततोलक्ष्यमनाभासमहंभावविव
सदा र्जितं॥सर्वामकल्पताहीनंकालोनिहंतिनं॥सएवकालःसशिवःसर्वत्रापि॥किंचनंकःकेनह न
न्यतेतत्रम्रियतेनापिकश्चनं॥ततोव्यतीतिसमपेकालस्यभ्रांतिरूपिणः॥योगीसुप्तोत्थि
तद्वत्प्रवोधेप्रतिवोधितः॥एवंसिद्धोभवेद्योगीवंचयित्वाविधानतः॥कालंकल्पितसंसारंपा
नुपेणाद्भुतेनहि॥ततस्त्रिभुवनेयोगीविचरत्येकएवसः॥परफन्संसारवैचित्र्यंस्वेछयोनि
रहंकृतिरिति॥अथप्राणादिवायुजयेचिन्हान्युपलक्षयेत्॥स्कंदपुराणे॥प्राणेतुनिर्जितेस
म्यक्तचिन्हान्युपलक्षयेत्॥विण्मूत्रश्लेष्मदोषाणांस्वल्पभावःप्रजापते॥वहुभोजनसामर्थ्य
चिरादुछ्वसनंतथा॥आरोग्यंशीघ्रगामित्वमुत्साहस्वरसौष्ठवं॥वलवर्णप्रसादश्चसर्वदोषक्ष

यो॰चिं॰ यस्तथा॥ एवमादीनि चिन्हानि सत्वस्थः स्यैव जायते॥ वायुसंहितायां प्राणे तु विजिते सम्यक् त
च्चिन्हान्युपलक्षयेत् लघुत्वं शीघ्रगामित्वमुत्साहस्वरसौष्ठवं सर्वरोगक्षयश्चैव बलं तेजः सु
१२६ प॰ रूपता॥ धृतिर्मेधायुवत्वं च स्थिरता च पुमर्थतो दत्तात्रेयः ततोधिकतराभ्यासाद्बलमुत्प
त द्यते भृशं येन भूचरसिद्धिः स्यात् भूचराणां जयापहा व्याघ्रो लुलायो वन्यो गवयो गज
एव वा सिंहो वा योगिना तेन म्रियंते हस्ततालना तूनं कुलीशा योगपरायणे॥ प्राणस्य नि
यमे स्यातां दीर्घश्वासमनुज्जयो॥ विण्मूत्रस्याल्पता भावो रुजां नाशो पानं निर्जयेत् तु
भुक्षाक्षयो वन्हेरौदर्यस्याति पाटवं क्षतभग्नावरोहश्च समानस्य जये मतः जयादुदान्त
द स्योत्क्रांतिरं तिश्च जलादितः व्यानस्यारिव लनुद्भाशः शीतोष्मासंगनि स्त्वचि॥ समस्त
फलमेवैतन्मंतव्यं युगपज्जयेरचकाभ्यासत्तोशेषकल्पनानां च संक्षयः इति प्रायाः॥ १२६

वायूनां रेचकादेः फलं स्मृतं कालिकापुराणे वा पू॰ ब्रह्मत्योक्तं॥ एतेर्जिते निर्जयेद्धीमान् स्तत्वमु
र्व्यादिसंज्ञितं सर्वज्ञो जायते नूनं तेजिते योगविन्मुनिः कामान्कामीत्ववाप्नोति गुरुत्वं जाय
ते महत् यदापानं जये द्धीमानल्पविण्मूत्रसंभवः पातालादौ भवेत्प्राप्तिर्ल्लोलिया योगिनो
ध्रुवं क्षतस्य रोहणं साम्यं जठरे च विभावसोः बहुभोजी भवेन्नूनं भवेत्सत्वात्मको मुनिः॥
३॥ सत्वात्मको दैकत्वं तदैकत्वाद्यतन्मयः शस्त्रेण छिद्यते नैव न वापः क्लेदयंति हि व्याध
षंनैव योर्यर्विक्रमते व्यानशासनात्॥ योगभास्करे यावदंतः स्फुरेन्नाडी दीपावच्छितं चलीयते॥
॥ तावद्दुर्स्थं न योगी स्यान्न तत्त्वाद्रूढयोगवान्॥ आरूढयोगश्च भवेदृशा द्वादशाद्वत्सरात्॥
तथा नाडीशुद्धानंतरमुक्तं एवमुत्पन्नयोगीस्याच्छृणुष्वारूढयोगिनं॥ उत्पन्नयोगिनो दे
हः पुष्टोपि कृशतां व्रजेत्॥ आरूढयोगिनो देहः कृशोपि स्थूलतां व्रजेत्॥ उत्पन्नयोगिनश्चिर

 त्वबलादेकत्र नीयते आरूढयोगिनश्चित्तं तत्कदाचिच्चलं भवेत् उत्पन्नयोगी निर्विघ्न आरूढ
 स्तु सदा सुखी॥ उत्पन्नयोगी मंदाग्निरारूढस्तु महाशनः भक्षितान्यस्य जीर्यंते फलपुष्पद
लान्यपि स्थानत्रयात्परं प्राप्ते वायो बिंदुर्जीर्यते सिद्धस्य त्रीणि चिन्हानि दाता भोक्ता प्र
वंचकः इति॥ योगबीजे गुरुप्रसादान्मरुद्देवसाधितस्तेनैव चित्तं पवनेन साधितं स ए
व योगी स जितेंद्रियः सुखी मूढा न जानंति कुत र्कवादिनः चित्तं प्रनष्टं यदि भासते तेन
त्र प्रतीतो मरुतोपि नाशनः न वा यदि स्यान्न तु तस्य शास्त्रं नात्मप्रतीतिर्न गुरुर्न मोक्षः॥
जलौकारुधिरं यद्वद्बलादाकर्षति क्षिकवं ब्रह्मनाडी तथा धातून्संततनाभ्यासयोगतः अ
नेनाभ्यासयोगेन नित्यमासनबंधतः चित्तं विलीनतामेति बिंदुर्नो याति सर्वथा रे
चकं पूरकं त्यक्त्वा वायुनास्थीयते चिरं नानानादाः प्रवर्तंते संस्रवेच्चंद्रमंडलं॥ नश्यं

ति क्षुत्पिपासाद्या दोषाः सर्वे तथा सततं स्वरूपे सच्चिदानंदे स्थितिमाप्नोति केवले इति मार्कं
डेयपुराणे अलौल्यमारोग्यमनिष्ठुरत्वं गंधः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं कांतिः प्रसादः स्वर
सौम्यता च योगप्रवृत्तेः प्रथमं हि चिन्हं अनुरागी जनो याति परोक्षे गुणकीर्तनं न बिभ्यंति च
सत्वानि सिद्धेर्लक्षणमुत्तमं॥ शीतोष्णादिभिरत्युग्रैर्यस्य बाधा न विद्यते न भीतिमेति र
चान्येभ्यस्तस्य सिद्धिरुपस्थिता तथा वै योगयुक्तस्य योगिनो नियतात्मनः सर्वे दोषाः
प्रणश्यंति सुस्थश्चैवोपजायते वीक्षते च परं ब्रह्म लोके प्रांतांश्च गुणान्पृथक् व्योमादिप
रमाणूंश्च तथात्मानमकल्मषं श्रूयतां मुक्तिफलदं तस्यावस्थाचतुष्टयं धृतिः प्राप्ति
स्तथा संवित्प्रसादश्च महीपते स्वरूपं शृणु चैतेषां कथ्यमानमनुक्रमात् कर्मणामि
ष्टदुष्टानां जायते फलसंक्षयः चेतसोऽल्पकषायत्वाद्यत्र सा धृतिरुच्यते ऐहिकामु

यो·विं· ष्मिकान्कामांल्लोभमोहादिकांश्च यान् निनुद्यास्तेसदा योगी प्राप्तिः सा सार्वकामिकी अतीता
नागतानर्थान् विप्रकृष्टतिरोहितान् विजानाति दूरसूर्यर्क्षग्रहाणां ज्ञानसंपदा ॥ तुल्यस्वभाव
१२८ वतां राजन् योगी प्राप्नोति चेप्सदा तदा संविदितिरव्याता प्राणायामस्य सास्थितिः यांति प्रसादं ये
नास्य मनवायवः इंद्रियाणींद्रियार्थाश्च सप्रसाद इतीरितः वसिष्ठः संध्ययोरुभयोर्नित्यं गायत्र्याप्र
णवेनवा प्राणसंयमतं कुर्याद्ब्राह्मणो वेदपारगः नित्यमेवं प्रकुर्वीत प्राणायामांस्तु षोडश अपिभ्रू
णहनं मासात् पुनंत्यहरहः कृताः क्रतुत्रयात् पुनंत्येतान् मांतरं कृतादध्वात् वत्सराद्धस्त विद्वान् सं
नस्यात् तस्मान्नित्यमभ्यसेत् योगाभ्यासरताश्चैवं स्वधर्मनिरताश्च ये प्राणसंयमनेनैव
वसर्वे मुक्ता भवंति हि स्कंदपुराणे प्राणायामनि नूपणानंतरमुक्तं ब्रह्मचारी जितक्रोधो जि
तलोभो विमत्सरि अदमित्यं सदाभ्यासो योगी निगीयते हठप्रदीपिकायां आसनं कुंभकं चित्र १२८
न योगीति

+ संकल्पो जायते त ५

त्रं मुद्राख्यं करणं तथा अथ नादानुसंधानमभ्यासानुक्रमेण च ब्रह्मचारी मिताहारी त्यागी यो
द्वि गपरायणः अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्र कार्या विचारणा वपुः कृशत्वं वदने प्रसन्नता नादस्फुटत्वं नयः
जप नेसुयुनिर्मले अरोगिता विंदुजयोग्निदीपनं नाडीविशुद्धिर्हठशुद्धिलक्षणं ईश्वरप्रोक्तं आरंभ
श्च घटश्चैव तथा परिचयोपि च निष्पत्तिः सर्वयोगेषु योगावस्था भवंति ताः तथा हि यदा ना
डीविशुद्धि स्याद्योगिनस्तत्त्वदर्शिनः तदा विध्वस्तत्वदर्शिनः तदा विध्वस्तपापस्य भवेदा
रंभसंभवः चिन्हानि योगिनो देहे दृश्यंते नाडिशुद्धितः कथ्यंते मम भक्तायतानि संक्षेपतो
मया समकायः सुगंधिश्च सुकांतिः सरसाधरः प्रौढवन्हिः सुभोगी च सुखी सर्वांगसुंद
रः संपूर्णहृदयो योगी सर्वोत्साही बलान्वितः ततोयथेष्टशक्तिः स्याद्योगिनो वायुधारणे ॥
यथेष्टधारणाद्वायोः कुंभकः सिध्यति ध्रुवं केवलकुंभके सिद्धे किं तस्यादिह

यो॰ चिं॰ योगिनः स्वेदः संजायते देहे योगिनः प्रथमो धमः॥ द्वितीयो जायते कंपो दर्दुरो मध्यमो मतः॥
यदा संजायते स्वेदो मर्दनं कारयेत्सुखं अन्यथा विग्रहे धातुर्नष्टो भवति योगिनः॥ ततोधिकत
१२९ राभ्यासाद्भूसुतः साधकोधिपः योगोप ग्रासनस्थोपि भुवमुत्सृज्य वर्तते वायुसिद्धिस्तदा ज्ञेया
कु संसारध्वांतनाशिनी तावत्कालं तु र्बीत योगोक्त नियमग्रहं॥ स्वल्पनिद्रा पुरीषं च स्तोकं मूत्रं
च जायते॥ अरोगित्वमदीनत्वं योगिनस्तत्वदर्शिनः॥ स्वेदलाला कृमिश्चैव सर्वथैव न जायते॥ कफ
पित्तानिलाश्चैव साधकस्य कलेवरे॥ तस्मिन्काले योगिनस्तु भोज्ये पुनि यम ग्रहः॥ अत्यल्पं बहुवा
भुक्त्वा योगी न व्यथते तदा॥ तथा रहस्युपाविष्टः साधकः संयतेंद्रियः प्रणवं प्रजपेद्दीर्घं विघ्ना
नां नाशहेतवे॥ प्राणायामेन योगींद्रः सर्वैश्वर्याष्टकानि च॥ पापपुण्योदधिं तीर्त्वा त्रैले।वेत्र रामा॰
रतां व्रजेत्॥ अथ तत्सिद्धौ॥ वायुः सिद्धो यदा देहे संवित्तिर्जायते तदा॥ संवित्तेः क्रमयः सर्वाः संभ १२९

वंति च योगिनां॥ यदा तु सिध्यते ऋद्धिस्तदा सिद्धिरदूरतः॥ सिद्धरूपो हि यो वायुर्मध्यमापथ
संगतः॥ तदानंदमयं चित्तमेकरूपं मनोमयं॥ यदानंदमयं चित्तं बाह्यक्लेशविवर्जितं॥ भवदुःखा
निसंतत्य समाधिर्जायते तदा॥ यदा समाधिसंपन्नं सहजानंदसंभृतं चित्तं स्यात्तदा सिद्धं सर्व
दुःखभयापहं॥ यत्करोति यदा योगी सर्वं भवति तत्क्षणात्॥ योगिनः सिद्धकायस्य जानीयाल्लक्ष
णं ध्रुवं॥ कायस्पृहादिकं पश्च परमेश्वरनईक्षणं श्रवणं दू॥ तत्तत्सिद्धं वायुं वायुलक्षणं॥ जीव वै
न्मुक्तिस्तदा तेया सर्वाभीष्टफलप्रदा॥ जीवन्मुक्तिगतो योगी महामुक्तिपदं व्रजेत्॥ स्वेच्छासमा
न्तो धिसंपर्के योगींद्रो हि भवेत्तदा॥ तदा महासमाधिश्च धर्ममेघसमाह्वयः॥ तदानंदमयो योगी सर्व
ज्ञः सर्वदर्शनः संपूज्यस्त्रिषु लोकेषु अव्याहतज्ञश्च सर्वदा॥ अव्याहतगतिः प्राज्ञो व्याहतानंदसं
भृतः सर्वैश्वर्यगुणोपेतः सर्वसिद्धिसमन्वितः अवध्यः सर्वभूतानां योगींद्रो दोषवर्जितः॥ तस्मात्स दो

र्वमेषायोगीसर्वभूतमयोहिसः॥ संतुष्टस्तारयेल्लोकान्क्रुद्धःसर्वविनाशकः॥ज्ञातसिद्धिर्यदायोगीतदा
नैवभयंकरः॥एवंवर्षसहस्राणिल क्षाणिचशतानिच॥पर्वताग्रेगुहावासमानंदाःसिद्धयोगिन
 इतिईश्वरप्रोक्ते॥ततोभ्यासक्रमेणैवघटादित्रितयंभवेत्॥येनस्यात्सकलासिद्धिर्योगिनःप्रेप्सि
ताध्रुवं॥वाक्सिद्धिःकामचारित्वंदूरदृष्टिस्तथैवच॥दूरश्रुतिःसूक्ष्मदृष्टिःपरदेहेप्रवेशनं॥विण्मूत्रले
पनेस्वर्णमदृश्यकरणंतथा॥भवंत्येतानिमहतांखेचरत्वंचयोगिनां॥यदाभवेद्घटावस्थापवना
भ्यासिनांपरा॥तदासंसारचक्रेस्मिंस्तन्नास्तियन्नसाधयेत्॥दृढासनोभवेद्योगीज्ञानीदेवसमस्त
था॥आसनेषुदृढीभूतेवायुर्मध्येविशत्यसौ॥किंचिद्वायुप्रवेशेनयोगिनोज्ञानसंभवः॥संजातेज्ञान
संभारेयोगीदेवसमोभवेत्॥दोषदुःखक्षुधानिद्राजरामृत्युविवर्जितः॥सृष्टिसंहारकर्त्तासौयो
गीश्वरसमोभवेत्॥अस्तुवामास्तुवासिद्धिरत्रैवारव्यं(ज्ञि)तंसुखं॥प्राणापानोनादबिंदूजीवात्मप

रमात्मनो॥मिलित्वाघटतेयस्मात्तस्माद्धिघटउच्यते॥याममात्रंयदाधर्तुंसमर्थःस्यात्तदाद्भुतः॥प्रत्या
यघ हारस्तदैवस्यान्नांतराभवतिध्रुवं॥यं यं जानातियोगीन्द्रस्तत्तदात्मनिभावयेत्॥यैरिंद्रियैर्विधानं
द्रि तुतदिंद्रियजयोभवेत्॥याममात्रंयदापूर्णंभवेदभ्यासयोगतः॥एकवारंप्रकुर्वीततदायोगीतुकुंभकं॥
दंडाष्टकंयदावायुर्योगिनोनिश्चलोभवेत्॥असामर्थ्यात्ततोगुह्यात्तिष्ठेद्वातृणवत्सुधीः॥ततःपरिचया
वस्थायोगिनोभ्यासतोभवेत्॥यदावायुश्चंद्रसूर्यौत्यक्त्वातिष्ठतिनिश्चलः॥वायोःपरिचितेवायुः
सुषुम्णाव्योम्निसंचरेत्॥क्रियाशक्तिंगृहीत्वातुचक्रान्भित्वातुनिश्चितं॥तदापरिचयावस्थाभवे
दभ्यासयोगतः॥त्रिकूटंकर्मणोयोगीतदापश्यतिनिश्चितं॥ततःस्वकर्मकूटानिप्रणवेनविनाश्य
कायः[illegible] च॥योगीस्वकर्मभोगार्थंव्यूहंसमाचरेत्॥अस्मिन्कालेमहायोगीपंचधाधारणांचरेत्॥येनभूवरसिद्धिः गं
स्यात्ततोभूतभयापहा॥आधारेघटिकाःपंचनाभिस्थानेतथैवच॥तदूर्ध्वेघटिकाःपंचनाभिभ्रूमध्यगेत

यो॰चि॰ याभूमध्याद्देत्तयापंचघटिकाधारयेद्बुधः॥ तदासुवादिनानष्टो योगी ज्ञेन भवेत्खलु॥ मेधावी पंचभू
१२१ तानां धारणां यः समभ्यसेत्॥ शतब्रह्मगतेनापि मृत्युस्तस्य न विद्यते॥ ततोभ्यासक्रमेणैव निष्प
त्तिर्योगिनां भवेत्॥ अनादिकर्मबीजानि येन छित्वा मतं भवेत्॥ यदा निष्पत्तिसंपन्नः समाधिः स्वेच्छ
या भवेत्॥ जीवन्मुक्तस्य मासात्तु भवेद्धीरस्य योगिनः॥ गृहीत्वा चेतना वा युक्त्रियाए किंचवे भगवान्
धा सर्वांश्चक्रान्विभिद्य ज्ञानयज्ञो विलीयते त्रिकूटं कर्मणां इत्यादेरयमर्थः॥ कानिचित्कर्माणि
प केवलस्वर्गभोग्यानि कानिचित्तु नरकवीच्यादिनरकैकभोग्यानि कानिचिन्मर्त्यलोकोपभो
स्ठे ग्यानीतीदं कर्मणां त्रिकूटत्वात् तद्भोगार्थं स्वै[illegible]र्यानुभवाय च योगी कायव्यूहं स भावरेत् तत्सम्भि रा॰म॰
यापयापाते जले साक्षात्कृततत्त्वस्य योगिनो युगपत्कर्मफलोपभोगाय प्राणिमात्राष्टैश्वर्यानुभवा
य च युगपन्निर्मितेषु चिंतानिमित्तकारणस्मितामात्रात्संभवंति अग्नेरिव स्फुलिंगाः॥ ते याच चि १२१

तानां योगाभ्यासकालीनमलभंजेकस्वित्तप्रयोज्यत्वात् तदनुसारित्वं तेषां च जन्मादिसिद्धिप्रभव
चित्तविलक्षणत्वहेतुकर्मवासनारहितत्वं चोक्तं योगिनः स्वफलत्यागानुसंधानकृतत्वादन्यकर्मवि गा
लक्षणमरणलक्षकर्माक्कर्मणश्च फलत्यागानुसंधानेनानुष्ठानात्फलानारंभं सहस्रजन्मा मा
न्तरितप्राचीनज्ञानवासनायामपि तत च्छरीरग्रहणे आनुभूतस्मृत्यादिकफलोत्पादनेन आनंत
यो र्यं वासनानामनादित्वं अनादित्वेपि क्रमेणानुभवरागविपाकमलत्वात् ज्ञानयोगाभ्यासो वाँदग्धक विद्याय
ल्पत्वेन निर्मलत्वात्कर्मणां सुत्पत्त्वं नतु भोगे नैव कर्मक्षयश्चेत्तर्हि प्रायश्चित्तमिति या य
दः क श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणादि कर्मप्रमाणं स्यादिति चेत् न कर्मवैचित्र्यात्॥ तथाहि संचितानां स
र्वप्राणिनां कर्माणि कानिचित्कृच्छ्रचांद्रायणादिदेहांतप्रायश्चित्तनाश्यानि कानिचित्तु ज्ञा
नध्यानयोगादिनाश्यानि कानिचित्तु भोगैकनाश्यानि तत्र यानि भोगैकनाश्यानि तद्भोगार्थं यो

गिनाकायव्यूहः कर्तव्य एव यच्च नाभुक्तं क्षीयते कर्मेत्यादिवाक्यं तत्र योगेकृतात्प्रारब्धकर्मवि
षयं भक्तुमप्राप्यप्रतिनानोप्राणि नानाभोगं विना कर्मक्षोभनतस्तेन तद्विषयं वाक्यं॥ अन्यथामाय
श्चितप्रतिपादकालेन वा भवंति॥ तथा चामृतसिद्धौ॥ व्याधिता दुर्बलाहृद्धानिःसत्वागृहवासिनः॥
मंदोत्साहा मंदवीर्या ज्ञातव्या मंदवोत्तराः॥ द्वादशभिर्वत्सरैरधिकारिभेदेन बहुकालेनाल्पकालेन वा
द्वै॥ भवंति॥ तथा चामृतसिद्धौ वर्षै रेषामेकावस्थाप्रसिध्यतिनीतिप्रोढाः समाभ्यासाः सवीर्याः समबु
द्धयः॥ मध्यस्थायोगमार्गेषु तथा मध्यमयोगतः॥ मध्योत्साहा मध्यरागा ज्ञातव्या मध्यविक्रमाः॥ अ
ष्टाभिस्तु वर्षैरेषामेकावस्था प्रसिद्ध्यति॥ वीर्यवंतोदयावंतः क्षमावंतो महाशयाः॥ स्वस्थानेसंस्थि
ताः स्वस्था भवेयुः स्थिरबुद्धयः॥ साक्षराश्च सदाभ्यासाः सदा सत्कारसंयुताः॥ ज्ञातव्याः पुण्यकर्मा
णो ह्यधिमात्राधियोगिनः॥ एकावस्थाधिमात्राणां षड्भिर्वर्षैः प्रसिद्ध्यति॥ महाबला महाकाया महा १३२

वीर्या महागुणाः॥ महामोहोक्तिताः शांता महाकारुणिका नराः॥ सर्वशास्त्रकृताभ्यासाः सर्वलक्षणभू णं
षिताः॥ सर्वतत्त्वदृशाकाराः सर्वव्याधिविवर्जिताः॥ वरयौवनसंपन्ना निर्विकारा नरोत्तमाः॥ निर्मलाश्च
निरातंका निर्विघ्नाश्च निराकुलाः॥ जन्मांतरकृताभ्यासा गोत्रवंतो महाशयाः॥ तारयंति च सत्त्वा
नि तरां तिस्वयमेव च॥ अधिमात्रतराः सत्वा ज्ञातव्याः सर्वलक्षणाः॥ त्रिभिः संवत्सरैरेषामवस्थै
काप्रसिद्ध्यति॥ अवस्थाभिश्चतसृभिर्योगः संपूर्णतां व्रजेत्॥ योगशास्त्रे॥ द्वाराणां नवकं निरु
ध्य मरुतं पीत्वा दृढं धारितं नीत्वाकाशमपानवह्निसहितं शक्त्या समुच्चालितं॥ आत्मध्यानयु
(पनादि तं त्वनेन बिंबस्य भूद्वि स्थितं यावत्तिष्ठति तावदेव मनुतां संगेन संभूयते॥ नाभौ संयम्य चितं प
वनगतिमधः संनिरुध्य प्रयत्नादाकुंच्यापानमूलं हुतवहसशिखं तं तु नत्सूक्ष्मरूपं तत्रोत्था स्वं
हृत्सरोजे तदनु च गलके तालुनि ब्रह्मरंध्रे भित्वा शून्याति शून्यं प्रविशति गगनं यत्र देवो महेशः

यो॰वि॰ वासिष्ठे पर्युष्ठकापरारव्यस्य जीवस्य प्राणनात्मकं॥ विद्धि कुंडलिनी मंतरामोदस्येव मंजरी॥ भूतां च
१२३ फूत्करकाभ्यासादापूर्य स्थीयते समंततः दैतिभेरवंस्पे पर्यकायस्य पीनता तथा॥ यदा पूरकपूर्णांतरा
यतमाणमाः चुतेनीयते संविदे वोर्ध्वसोदं धर्मश्च संक्रमं सर्पवत्वरितैवोर्ध्वयाति दंडोपमा गतानां ना
डीः सर्वाः सपादाय देहलङ्कालतोपमाः॥ तदा समस्तमेवेदमाश्वावपति देहकंनीरंध्रयवनापू
त्य र्णाभस्त्रेवार्धगतेन रेचकाभ्यासविलासेन योगेन व्योमगामितां योगिन आप्नुवंत्युच्चैः ईनांइद्दररा
मिवंवहिर्नाडीप्रवाहेन शक्तिः कुंडलिनी यदा सहिरूर्ध्वकपाटस्य द्वादशांगुलमूर्ध्नि रेचकेन
प्रयोगेन नाडीगतनिरोधिना मुहूर्तंस्थिति ~~[illegible]~~ माप्नोति तदा व्योमगदर्शनं विद्धि त.
नाद्गसंस्थेन बुद्धिनत्रैणरक्तैर्दृश्यते व्योमगाः सिद्धाः स्वप्नवत्सार्थदा अधिमुखाद्बहिर्द्वादे रुम·
शांते रेचकाभ्यासयुक्तिनः प्राणे चिरं स्थितिं नीते प्रविश्य परापुरे॥ सर्वथात्मनि तिष्ठेत्स्वेच्छकौ १२३

चेद्दिगमाममोौ॥ तज्ज्ञेतोर्ह्रीयते व्याधिरंतर्मीनुतरो ध्रुतः॥ राज्यादिमोक्षपर्यंताः समस्ता एव संपदः॥
देहानित्वविधेयित्वसाध्याः सर्वस्यैव वै॥ अथ प्रत्याहारनिरूपणं तत्र प्रत्याहारस्वरूपफलं
चाह भगवान्पतंजलिः स्वस्वविषयसंयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेंद्रियाणां प्रत्याहारः ततः परमा
वश्यतेंद्रियाणामिति सूत्राभ्यां एतदर्थस्तु इंद्रियाणि स्वस्वविषयेभ्यः प्रतीपमाहियंतेऽस्मि ते
न्निति प्रत्याहारः सकथं निष्पाद्यत इत्यत आह चक्षुरादीनामिंद्रियाणां विषयो रूपादिस्तेन संयो
गस्तदाभिमुख्येन वर्तनं तदेकभावस्तदाभिमुख्यं परित्यज्य स्वरूपमात्रेवस्थानं तस्मिन्स
ति चित्तमात्रानुकारीणि भवंति ततश्चित्तमनुवर्तमानानि मधुकरराजमिव मक्षिकाः सर्वा
णींद्रियाणि प्रयांति अतश्चित्तनिरोधेन तानि प्रत्याहृतानि भवंतीति तन [illegible] वमभ्यस्यमाने प्र
त्याहारे तथा वश्यानि आयत्तानि संपद्यंते यथा बाह्याभिमुखं नीयमानान्यपि न यांतीत्यर्थः शि

यो·चिं· वगीतायां॥इंद्रियाणां विचरतां विषयेषु स्वभावतः॥निग्रहः प्रोच्यते सद्भिः प्रत्याहारः स उच्यते॥

१३४ योगशास्त्रे॥चंद्रामृतमयां धारां प्रत्याहरति भास्करः॥यत्प्रत्याहरणं तस्याः प्रत्याहारः स उ

च्यते॥यथा तृतीयकालस्थो रविः प्रत्याहरे[illegible]त्प्रभां॥तृतीयांशस्थितो योगी विकारं मानसं त यो

चि था॥याज्ञवल्क्यः॥इंद्रियाणां चरतां विषयेषु स्वभावतः॥बलादाहरणं तेषां प्रत्याहारः स

उच्यते॥यद्यत्पश्यति तत्सर्वं पश्येदात्मवदात्मनि प्रत्याहारः स च प्रोक्तो योगविद्भिर्महात्मभिः॥

कर्माणि यानि नित्यानि विहितानि शरीरिणां॥तेषामात्मन्यनुष्ठानं मनसा यद्बहिर्विना॥प्रत्या

हारो भवेत्सोपि योगसाधनमुत्तमं॥प्रत्याहारे प्रशस्तं तत्सेवितं योगिभिः सदा॥अष्टादशासु य

द्वायोर्मर्मस्थानेषु धारणं॥स्थानात्स्थानात्समाकृष्य प्रत्याहारो निगद्यते॥अश्विनौ तु तथा

प्रोक्तौ गार्गि देवभिषग्वरौ॥मर्मस्थानानि सिद्ध्यर्थं शरीरे योगमोक्षयोः॥तानि सर्वाणि वक्ष्या

१३५

२ मि यथा क्रमशः शृणु सुव्रते॥पादांगुष्ठे च गुल्फे च जंघामध्ये तथैव च॥चितेर्मूले च जान्वोश्च मध्ये चो

रुद्वयस्य च॥पायुमूलं ततः पश्चान्मध्ये देहं च मेढ्रकं॥नाभिश्च हृदयं गार्गि कंठकूपस्तथै

व च॥तालुमूलं च नासाया मूलं चाक्ष्णोश्च मंडले॥भ्रुवोर्मध्यं ललाटं च मूर्द्धा च मुनिसत्तमे॥मर्म

पृ·५५॥ स्थानानि चैतानि मानं तेषु पृथक् शृणु॥पादात्मानं च गुल्फस्य सार्द्धांगुलचतुष्टयं॥गुल्फाज्जंघा

स्य मध्यं तु वि[illegible]ज्ञेयं तु दशांगुलं॥जंघामध्याच्चितेर्मूलं यत्तदेकादशांगुलं॥चितिमूला

द्वरारोहे जानुः स्याद्द्व्यंगुलद्वयं॥जान्वोर्नवांगुलं प्राहुरूर्वोर्मध्यं मुनीश्वराः॥ऊरुमध्यात्तथा गार्गि प

गार्गि पायुमूलं नवांगुलं॥देहमध्यं तथा पायुमूलात्सार्धांगुलिद्वयं॥देहमध्यात्तथा मेढ्रं त

द्वत्सार्धांगुलिद्वयं॥मेढ्रान्नाभिश्च विज्ञेया गार्गि सार्द्धदशांगुलं॥चतुर्दशांगुलं नाभेर्हृन्म

ध्यं तु द्विजोत्तमे॥षडंगुलं तु हृन्मध्यात्कंठकूपस्तथैव च॥कंठकूपात्तु जिह्वाया मूलं स्याच्चतु

यो·चिं· रंगुलं॥ नासामूलं तु जिह्वायामूलात्तु चतुरंगुलं नेत्रस्थानं तु तन्मूलादर्धांगुलमितीष्यते॥ त
स्मादर्धांगुलं चैव भ्रुयोरंतरमात्मनः॥ ललाटाख्यं भ्रुवोर्मध्यादूर्द्ध्वं स्यादंगुलत्रयं॥ ललाटा
१३५. द्व्योमसंज्ञं तदंगुलत्रयमेव च॥ स्थानेष्वेतेषु मनसा वायुमारोप्य धारयेत्॥ स्थानात्स्थानात्समा
ष्य ५८ कृष्य प्रत्याहारमकुर्वतः सर्वे रोगा विनश्यंति योगाः सिध्यंति तस्य वै वदंति योगिनः केचिद्योगे
षु कुशला नराः॥ प्रत्याहारं वरारोहे शृणु त्वं तद्वदाम्यहं॥ संपूर्य कुंभवद्वायुमगुष्ठान्मूर्द्धिम
ध्यतः धारयेदनिलं बुद्ध्या प्राणायामप्रणोदितं॥ व्योमरंध्रात्समाकृष्य ललाटे धारयेत्पुनः॥ ष्य
ललाटाद्वायुमाकृष्य भ्रुवोर्मध्ये निरोधयेत् भ्रुवोर्मध्यात्समाकृष्य नेत्रमध्ये निरोधये
त् नेत्रमध्यात्समाकृष्य नासामूले निरोधयेत्॥ नासामूलात्तु जिह्वायामूले प्राणं निरोध
८ येत्॥ जिह्वामूलात्समाकृष्य कंठकूपे नियोजयेत्॥ कंठकूपात्तु हृन्मध्यान्नाभिमध्यतः ना १३५
ष्येहन्म

भिमध्यात्पुनर्मेढ्रे मेढ्रादाराजालये ततः देहमध्याद्गुदाग्रे गुदादूरुमूलके॥ ऊरुमू
लात्तयोर्मध्ये तस्माज्जान्वोर्निरोधयेत्॥ चितिमूलं ततस्तस्माज्जंघयोर्मध्यमेत्तथा॥ जं
वायुं घातः समाकृष्य गुल्फे निरोधयेत्॥ तस्मादंगुष्ठयोरग्रे पादयोस्तन्निरोधयेत्॥
स्थानात्स्थानं समाकृष्य यस्त्वेवं धारयेद्धिया॥ सर्वपापविशुद्धात्मा जीवेदाचंद्रतारकं॥
एतत्तु योगसिद्ध्यर्थमगस्त्येनापि कीर्तितं॥ प्रत्याहारेषु सर्वेषु प्रशस्तमिति योगिभिः॥
नाडीभ्यां वायुमारोप्य कुंडल्याः पार्श्वयोर्नरः धारयेद्योगयुक्तोपि भवरोगाद्विमुच्यते॥ पू
र्ववद्वायुमारोप्य हृदयेऽब्धौ निधारयेत्॥ सोपि याति वरारोहे परमात्मपदं नरः॥ व्याधयः
किं पुनस्तस्य वात्याभ्यंतरवर्तिनः॥ नासाभ्यां वायुमारोप्य पूरयित्वोदरं स्थितः भ्रुवोर्मध्या
दृशोः पश्चात्समारोप्य समाहितः धारयेत्क्षणमात्रं यः सोपि याति परां गतिं॥ किं पुनर्बहु

नोक्तेननित्यकर्मसमाचर॥आत्मनःप्राणमारोप्य भ्रुवोर्मध्यात्सुषुम्णया॥यावन्मनोल
यस्तस्मिंस्तावत्संयमनंकुरु॥दत्तात्रेयस्तु॥इंद्रियाणींद्रियार्थेभ्यःप्रत्याहरतिस्फुटं॥यो

गीकुंभकमास्थायप्रत्याहारःसउच्यते॥यंयंपश्यतिचक्षुर्भ्यांतंतमात्मनिभावयेत्॥यंयं
शृणोतिकर्णाभ्यांतंतमात्मनिभावयेत्॥जिह्वयायद्रसयतितत्तदात्मनिभावयेत्॥त्वचा
यत्स्पृशतियोगीतत्तदात्मनिभावयेत्॥एवंज्ञानेंद्रियाणांयत्तत्तदात्मनिभावयेत्॥यामभी
तंप्रतिदिनंयोगीयत्नादतंद्रितः॥तदाविचित्रसामर्थ्यंयोगिनोजायतेध्रुवं॥दूरश्रुतिर्दूर
२ दृष्टिःक्षणंदूरगतिस्तथा॥वाक्सिद्धिःकामचारित्वमदृश्यकरणंतथेति॰॥ ॥ ॥इति
श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीरामचंद्रसदानंदसरस्वतीशिष्यशिवानंदसरस्वतीवि
चिंता रचितेयोगचिंतामणौतृतीयःपरिच्छेदः॥ ॥ ॥ ॰ ॥अथधारणानिरूप्यते॰तत्रलक्ष

णमाहपतंजलिः॥देशबंधश्चित्तस्यधारणेतिसूत्रेण॥अस्यार्थः॥देशेआध्यात्मिकेनाभिके
नाभिचक्रहृदयपंकजमुखभ्रूमध्यमूर्धादिस्थानेवा॰॥स्वनासाद्ये॥चित्तस्यबंधोविषयांतरप
रिहारेणचित्तस्यस्थापनसाधारणेत्युच्यतेअयंभावः॥मैत्र्यादिपरिवासितांतःकरणेन
यमनियमवताजितासनपरिहृतप्राणविक्षेपेणप्रत्याहृतेंद्रियग्रामेणऋजुकायेनजित
द्वंद्वेनयोगिनानिर्बाधेप्रदेशेसंप्रोज्ज्ञातसमाधेरभ्यासायनासाग्रादौचेतःस्थिरीकर्तव्य
मिति॥यथोक्तंविष्णुपुराणे॥प्राणायामेनपवनंप्रत्याहारेणचेंद्रियंवशीकृत्यततःकुर
र्याच्चित्तवृत्तिंशुभाश्रयेशिवगीतायां॥हृत्पुंडरीकेनासाग्रेमूर्ध्निसर्वत्रसंभवे॥एवमादिषुदेशा
२ शेषुधारणाचित्तबंधनं॥स्कंदपुराणे॥आसनेनसमायुक्तःप्राणायामेनसंयुतः॥प्रत्या
हारेणसंपन्नोधारणांचसमभ्यसेत्॥हृदयेपंचभूतानांधारणंपृथक्पृथक्॥मनसोनिश्चल १५८

यो·चिं· त्तेनधारणासाविधीयते॥हरितालनिभांभूमिंसलकारांसवेधसांचतुष्कोणांहृदिध्यायेदेषा
१३७ स्यात्क्षितिधारणा॥कंठेवुतत्त्वमर्द्धेंदुनिभंविष्णुसमन्वितंवकारबीजंकुंदाभंध्यायन्नंबुजयेत्क्षिति॥
तालुस्थमिंद्रगोपाभंत्रिकोणंरेफसंयुतं॥रुद्रेणाधिष्ठितंसम्यग्ध्यात्वावह्निंजयेदिति॥वायु
तत्त्वंभ्रुवोर्मध्येरंजनांजनसंनिभं॥यंबीजमीश्वरदैवत्यंध्यायंवायुंजयेदिति॥आकाशंचवि
शुद्धवारिसदृशंपद्मस्थं ब्रह्मस्थितंतंनाथेनसदाशिवेनसहितंशांतंहकाराक्षरं॥प्राणांतत्र
विनीयपंचघटिकाश्चित्तान्वितंधारयेदेषामोक्षकपाटपाटनपटुःप्रोक्तानभोधारणा॥स्तंभ
नीद्रावणीचैवदहनीभ्रामणीतथा॥शमनीचभवंत्येताभूतानांपंचधारणाइतियाज्ञवल्क्यः एम्·
प्रमादिगुणयुक्तस्यमनसःस्थितिरात्मनि॥धारणेत्युच्यतेसद्भिःशास्त्रतात्पर्यवेदिभिः॥स्व ११७
स्मिन्ब्रह्मपुरेगार्गियदिदंदहरंपांबुजंतस्मिन्नेवांतरेकाशेपद्मात्याकाशधारणे एषाच

धारणेत्युक्तायोगशास्त्रविशारदैः॥चित्तकैर्योगशास्त्रज्ञैर्विद्वद्भिश्चसुशंकितैः॥धारणाःपंच
सा धाप्रोक्ताश्चसर्वाःस्थक्रमपक्॥भूमिरापस्तथातेजोवायुराकाशमेवच॥एतेषुपंचदेवानां
धारणंपंचधेष्यते॥पादादिजानुपर्यंतंपृथिवीस्थानमुच्यते॥आजानोःपायुपर्यंतमपां
स्थानंप्रकीर्तितं॥आपाय्वोर्हृदयांतंयद्वन्हिस्थानंतदुच्यते॥हन्मध्यात्तुभ्रुवोर्मध्यंयावद्वा दु
युकुलं· स्मृतं॥आभ्रूमध्यात्तुमूर्द्धांतमाकाशमितिचोच्यते॥पृथिव्यांधारयेद्गार्गिब्रह्माणं
परमेष्ठिनं॥विष्णुमस्वनिलेशुद्धमीश्वरंवायुमंडले॥सदाशिवंतथाव्योम्निधारयेत्सुसमा
हितः॥पृथिव्यांवायुमारोप्यलकारेणसमन्वितं॥ध्यायंश्चतुर्मुखाकारंब्रह्माणंसृष्टिका
रणं॥धारयेत्पंचघटिकाःपृथिवीजयमाप्नुयात्॥वारुणेवायुमारोप्यवकारेणसमन्वितं॥स्म
रन्नारायणंदेवं चतुर्बाहुंशुचिस्मितं॥शुद्धस्फटिकसंकाशंपीतवाससमच्युतं॥धारये

२ तुक्तचित्तः स तमानंमुयोजयरमेश्वरेण॥अस्मिन्नर्थैवदंत्यस्येयोगि का१ नो ब्रह्मविद्वरः॥ श्रणवेणतुकार्याणिस्वेस्वेसंहृत्य कारणे

यो·चिं· स्पंचघटिकाः सर्वरोगैः प्रमुच्यते॥वन्हावविलमारोप्य रेफाक्षरसमन्वितं॥त्र्यक्षंवरप्रदं देवंतरु रू

णादित्यसंनिभं॥भस्मोद्धूलितसर्वांगंसुप्रसन्नमनुस्मरन्॥धारयेद्घटिकाः पंचवन्हिनासौनद

१३८ ह्यते॥मारुतंमरुतांस्थानेवर्णदिवसमन्विते॥धारयेत्पंचघटिकावायुवद्व्योमगोभवेत्॥आ

काशेशुद्धामुमाएप्प हकारोपरिशंकरं बिंदुरूपंमहादेवंव्योमाकारंसदाशिवं॥शुद्धस्फटिकसंका

शंवांशंबालेंदुचंद्रशेखरं॥पंचवक्त्रयुतंशांतंदशबाहुंत्रिलोचनं॥सर्वायुधोद्यतकरंसर्वाभर

णभूषितं॥उमार्द्धदेहंवरदंसर्वकारणकारणं॥मनसाचिंतयत्पस्स मुहूर्त्तमं [illegible] धारयेत्॥ पि

स एवमुक्त इत्युक्तस्त्रांत्रिकैरथ शिक्षितैः॥एतदुक्तंभवस्यत्रगागिब्रह्मविदांवरे॥ब्रह्मादिका

र्यरूपाणिस्वेस्वेसंहृत्य कारणे॥तस्मिन्सदाशिवेप्राणंक्षिप्त्वा निजकारणे॥प्रणवस्यतुना

दांतेपरमानंदविग्रहं॥ [illegible] तंसत्यंपरंब्रह्मपुरुषंकृष्णपिंगलं॥चेतसासंप्रपश्यंति संततः संसारभे १३८ रणे॥२

षजं॥त्वंतस्मात्प्राण [illegible] वैनैवमाणायामैस्त्रिभिस्त्रिभिः॥ब्रह्मादिकार्यरूपाणिस्वेस्वेसंहृत्य सका

रणे विशुद्धचेतसापश्यनांदांते परमेश्वरं॥अस्मिन्नर्थे वदंत्यन्ये योगिनोब्रह्मविद्वराः॥नियम्प

णवारारोहेयोगेषुपरितिष्ठिताः॥शरीरंतावदेवंहियंचभूतात्मकं खलु॥भवेत्तत्र वरारोहे वातपि

त्तकफात्मकं॥वातात्मकानांसर्वेषांयोगेषुनियतात्मनां॥प्राणसंयमनेनैवशोषंयातिक

लेवरं॥पित्तात्मकाम चिरात्र शुष्यतिकलेवरं॥कफात्मकानांकार्यंतुसंपूर्णमचिराद्भ

वेत्॥धारणांकुर्वतस्त्वग्नौसर्वेनश्यंतिवातजाः॥पार्थिवांशेजलांशेच धारणांकुर्वतःसदा॥

पि नश्यंतिश्लेष्मजारोगावातश्चौ चिरात्तथा॥व्योमांशेमारुतांशेचधारणांकुर्वतः सदात्रिदो

षजनितारोगा विनश्यंतिनसंशयः॥अस्मिन्नर्थेतथाप्रूतामश्विनौच भिषग्वरौ॥प्राणसं

यमनेनैवत्रिदोषशमनं नणं॥दत्तात्रेयः भष्यानयोनिनर्थान्वेज्ञात्वा रहस्यपत्ननः॥पंचधारणं [illegible] नां

त

यो·चिं· कुर्यात्तत्तेभूतभयापहं ॥ नाभेरधोगुदस्योर्द्ध्वं घटिकाः पंच धारयेत् । वायुं ततो भवेत्पृथ्वी धारणे
चेभ्दयापहं ॥ पृथिवीसंभवो मृत्युर्न भवेत्तस्य योगिनः ॥ नाभिस्थाने ततो वायुं धारयेत्पंच नाडिकाः ॥
१३९ र्ध्व ततो जलाभ्दयं नास्ति जले मृत्युर्न योगिनः ॥ नाभ्यूर्ध्वं मंडले वायुं धारयेत्पंच नाडिकाः आग्नेयी धा
रणा पियं न मृत्युस्तस्य वन्हिनाऽनिर्दग्धतशरीरं च प्रविष्टं चाग्निसंस्तरे ॥ नाभि भ्रूमध्ययोर्मध्ये तु प्रादेशांत्र
यसंमिते धारयेत्पंच घटिका वायुं सैषा च वायवी ॥ धारणेनैव वायोस्तु भयं भवति योगिनः भ्रूम
ध्यादुपरिष्टात्तु धारयेत्पंच नाडिकाः ॥ वायुं योऽत्र यत्नेन सेयमाकाशधारणा आकाशधार
णां कुर्वन्मृत्युं तु यतिशाश्वतं ॥ एवं च धारणाः पंच कुर्याद्योगी विचक्षणः ततो दृढशरीरस्य मृत्यु त
य स्तस्य न विद्यते ॥ एवं पंचविधा भूतधारणाः समभ्यसेत् ब्रह्मणः प्रलयेनापि तस्य मृत्युर्न विद्यते ॥
मार्कंडेयपुराणे ॥ योगयुक्तः सदा योगी लघ्वाहारो जितेंद्रियः सूक्ष्मास्तु धारणाः सप्त भूराद्या मू

१३९

र्द्धि धारयेत् धरित्रीं धारयन्योगी तत्सौक्ष्म्यं प्रतिपद्यते आत्मानं मन्यते चोर्वीं तं द्गंधं च जहाति सः ॥ त
थैवाप्सु रसं सूक्ष्मं तद्वद्रूपं च तेजसि ॥ स्पर्शं वायौ तथा तद्वद्विभ्रतस्य धारणं ॥ व्योम्नः सूक्ष्मां प्र
वृत्तिं च शब्दं तद्वज्जहाति च ॥ मनसा सर्वभूतानां मनस्याविशते यदा मानसी धारणां बिभ्रन्म
नः सौक्ष्म्यं च जायते ॥ तद्वद्बुद्धिमशेषाणां सत्त्वानामेत्य योगवित् ॥ परित्यजति मंप्राप्य बुद्धि
सौक्ष्म्यमनुत्तमं ॥ परित्यजेत्ति सूक्ष्माणि सप्तैतानि योगवित् । सम्यग्विज्ञाय योऽलर्क तस्य
स्यावृत्तिर्न विद्यते ॥ एतासां धारणानां तु सप्तानां सौक्ष्म्यमात्मवान् ॥ दृष्ट्वा दृष्ट्वा ततः सिद्धिं
त्यक्त्वा त्यक्त्वा परां व्रजेत् यस्मिन्यस्मिंश्च कुरुते भूतेऽणां महीपते ॥ तस्मिंस्तस्मिन्समासक्तिं च
संप्राप्य स विनश्यति ॥ तस्माद्विदित्वा सूक्ष्माणि संसक्तानि परस्परं । परित्यजति यो देही
स परं प्राप्नुयात्पदं ॥ एतान्येव तु संधाय सप्त सूक्ष्माणि पार्थिव ॥ भूरादीनां विरागोऽत्र सद्भावज्ञ

स्यमुक्तये॥गंधादिषुसमासक्तमित्येतदखिलंजगत्॥पुनराकृतयेभूयसचल्पामरमानुषं॥स
त्येनाधारणायोगीसमतीत्यपरीछति॥तस्मिंस्तस्मिंल्लयंसूक्ष्मेमातिभूतेनरेश्वरदेवानामसु-
राणांचगंधर्वोरगरक्षसांदेहेषुलयमायातिसंगंनाप्रोतिचक्वचित्॥तथाप्रात्याभ्यांतदयेवा
त्रैततीयाचतथोरसि॥कंठेमुखेनासिकायेनेत्रभ्रूमध्यमूर्द्धसु॥किंचितस्मात्परस्मिन्साधार
णापरमात्मतः॥दशैता धारणाःप्राप्यप्रोत्यक्षरसाम्यता॥अथध्यानं॥तल्लक्षणमाहप
तंजलिः॥तत्रप्रत्ययैकतानताध्यानमिति॥तत्रयद्धारणायामालंबनीकृतंवस्तुतस्मिन्नत्प
यैकतानताप्रभ्यामस्यचित्तवृत्तेर्विजातीयप्रत्ययतिरस्कारेणसजातीयप्रत्ययप्रवाहीक
रणंयतध्यानमित्युच्यते॥शिवगीतायां॥दशावस्थितिमालंब्यबुद्धेर्यावृत्तिसंततिः॥वृत्त्यं
तरैरसंस्पृष्टाघ्यानंसूरयोविदुः॥विष्णुपुराणे॥तद्रूपप्रत्ययैकाग्रसंततिर्यान्यनिःस्पृहा॥ १४०

तध्यानंप्रथमैःषड्भिरंगैर्निःपाद्यतेनृप॥स्कंदपुराणे॥ध्यैचिंतायांस्मृतोधातुश्चिंतातत्त्वेसुनिश्च
लायातद्ध्यानमितिप्रोक्तंसगुणंनिर्गुणंद्विधासगुणंसर्वभेदेननिर्गुणंकेवलंमतं॥समंत्रंसगुणं
विद्धिनिर्गुणंमंत्रवर्जितं॥शब्दादीनीचतन्मात्रायावत्कर्णादिषुस्थिताः॥तावदेवस्मृतंध्यानंस्यात्स
माधिरतःपरं॥नाश्वमेधेनत ॥त्पुण्यंनचवैराजसूयतः॥यत्पु पण्यमैनलभेद्योगीस्थिरासनः॥ कध्याने
मार्कंडेयपुराणे॥त्यक्तसंगोजितक्रोधालघ्वाहारोजितेंद्रियः॥पिधायबुद्ध्याद्वाराणिमनोध्यानेनिवे ढा
शयेत्॥शून्येष्वायप्रकाशेषुगुहासुचवनेषुच॥नित्ययुक्तःसदायोगीध्यानंसम्यगुपक्रमेत्॥
॥वेदाःश्रेष्ठाःसर्वयज्ञक्रियासुयज्ञाज्जप्यंज्ञानमाहुश्चजप्यात्॥ज्ञानाद्ध्यानंसर्वरागव्यपेतं
तस्मिन्सिद्धेशाश्वतस्यापलब्धिः॥समाहितोब्रह्मपरोऽप्रमादीशुचिस्तथैकांतरतिर्जितेंद्रियः॥स
म प्राप्नुयाद्योगमिमंमहात्माविमुक्तिमाप्नोतितपश्चयोगतः॥याज्ञवल्क्यः॥ध्यानंततःप्रवक्ष्यामिशृणु

गागिविरानेने।।ध्यानमेवहिजंतूनांकारणंवंधमोक्षयोः।।ध्यानमात्म स्वरूपस्यवेदनंमनसाखलु।।सगुणंनिर्गुणंतच्चसगुणंवहुविस्तृरं।।पंचोत्तमानितेघाहुवैदिकानिहितानमा।श्रो
१४१ पिमुख्यतमान्येषुमेकमेवहिनिर्गुणं।।मर्मस्थानानिनाडीनांसंस्थानंचपृथक्पृथक्।।वायूनांस्थानकर्माणिज्ञात्वाकुर्वात्मवेदनं।।एकंज्योतिर्मयंशुद्धंसर्वगंव्योमवद्दृढं।।अत्यंतममलंनित्यंत्याद्यंतध्यांतवर्जितं।।स्थूलंसूक्ष्ममनाकाशमसंस्पर्शमचाक्षुषं।।नरसंनचगंधायमप्रमेयमनौपमं।।आनंदमजरंनित्यंसदसत्सर्वकारणं।।सर्वाधारंजगद्रूपममूर्त
मर्वांगं मजमव्ययं।।अदृश्यंदृश्यमध्यस्थंसर्वतोमुखं।।सर्वदृक्सर्वतःपादंसर्वस्पृक्सर्वतःशिरः।।ब्रह्मब्रह्ममयोहंस्यामितितत्त्वस्यवेदनं।।तदेतन्निर्गुणंध्यानमितियोगविदोविदुः।।अथवापरमात्मानमरमानंदविग्रहं।।गुरूपदेशाद्वित्तायंपुरुषंकृष्णपिंगलं।।ब्रह्मब्रह्मपुरेचास्मिन्देहरा

ज्यरवमध्यमे।।चेतसासंप्रपश्यंतिसंतेःसंसारभेषजं।।हृत्स्थं ष्टदलोपेतेकंदमध्यात्स ४ ध्या १
मुत्थिते।।द्वादशांगुलनालेस्मिंश्चतुरंगुलवन्मुखे।।प्राणायामैर्विकसितेकेसरान्वितक
र्णिके।।इष्टदेवंसमालोक्यमनसासर्वकामदं।।सोहमात्मेतिविज्ञानंसगुणंध्यानमुच्यते।।
हृत्सरोरुहमध्यस्मिन्प्रकृत्याद्यात्मकर्णिके।।अष्टैश्वर्यदलोपेतेविद्याकेसरसंयुते।।ज्ञानना
लेवृहत्कंदेप्राणायामप्रबोधिते।।विश्वार्चिषंमहावह्निंज्वलंतंविश्वतोमुखं।।वैश्वानरंजगद्यो।
निंशिखातन्विनमीश्वरं।।प्रतपंतंस्वकंदेहमापादतलमस्तकं।।निर्वातदीपवत्तस्मिन्दीपि
तंहव्यवाहनं।।दृष्ट्वातस्यशिखामध्येपरमात्मानमव्ययं।।नीलतोयदमध्यस्थविद्युल्ले
खेवभास्वरं।। [illegible]

यो॰वे॰ नीवारशूकवद्रूपंदीपाभंसर्वकारणं॥ ज्ञात्वावैश्वानरंदेवंसोहमात्मेतियामतिः॥ सगुणे
ध्यान ष्वुत्तमंध्यानंयोगविदोविदुः॥ वैश्वानरत्वंसंप्राप्यमुक्तिंतेनैवगच्छति॥ अथवामंडलेपश्येदादि
१४२ त्यस्यमहाद्युतेः॥ आत्मानंजगतोहेतुंपुरुषंहेमरूपिणं॥ हिरण्यश्मश्रुकेशंचहिरण्मयनखंहरिं॥ श्म
व रूपपेशलंदृश्यंसृष्टिस्थित्यंतकारिणं॥ पद्मासनस्थितंसौम्यंप्रबुद्धाब्जनिभाननं॥ पद्मोद
दलौष्ठाभंसर्वलोकाभयप्रदं॥ जानंतंसर्वदासर्वंनंदयंतंचधार्मिकान्॥ भासयंतंजगत्स
ले र्वंदृष्टालोकैकसाक्षिणं॥ सोहमस्मीतियाबुद्धिःसाचध्यानेप्रशस्यते॥ एषएवतुमोक्षस्यमहा
मार्गस्तपोधने॥ ध्यानेनानेनसौरेणमुक्तिंयास्यंतिसूरयः॥ भ्रुवोर्मध्येतंरात्मानंभारूपंस
र्वकारणं॥ स्थाणुवन्मूर्द्धपर्यंतमध्यदेहात्समुत्थितं॥ जगत्कारणमव्यक्तंज्वलंतममितौज
सं॥ मनसालोकसोहंस्यामित्येतद्ध्यानमुत्तमं॥ अथवाबद्धपर्यंकःशिथिलीकृतविग्रहः॥ १४२

शिवएवस्वयंभूत्वानासाग्रारोपितेक्षणः॥ निर्विकारंशिवंशांतंपरमात्मानमव्ययं॥ भारू
पममृतंध्यायेद्भ्रुवोर्मध्येवरानने॥ सोहमेवेतियाबुद्धिःसाचध्यानेप्रशस्यते॥ अथ
वाष्टदलोपेतेसकर्णिककेसरान्विते॥ उन्निद्रहृदयांभोजे सोममंडलमध्यमे॥ स्वात्मान
मर्भकाकारंभोक्तृरूपमीश्वरं॥ सुधारसंविमुंचद्भिःशशिरश्मिभिरावृतं॥ षोडशच्छदसं
युक्तंशिरःपद्मादधोमुखात्॥ निर्गतामृतधाराभिःसहस्राभिःसमंततः॥ प्लावितंपुरुषंतत्र
चिंतयित्वासमाहितः॥ तेनामृतरसेनैवसांगोपांगकलेवरं॥ अहमेवपरंब्रह्मपरमात्माहम
व्ययः॥ एवंपश्येदनंतत्रसगुणंध्यानमुच्यते॥ एवंध्यानामृतंकुर्वन्षण्मासान्मृत्युजिन्नरः॥ व
त्सरान्मुक्तएवस्याज्जीवन्नेवनसंशयः॥ जीवन्मुक्तस्यनक्वापिदुःखवाप्तिःकथंचन॥ विपुनर्जी
त्यमुक्तस्यमुक्तिरेवहिदुर्लभा॥ श्रुतिश्च॥ हृत्पुंडरीकंविरजंविशुद्धंविचिन्त्यमध्येविशदंविशो

कं॥अचिंत्यमव्यक्तमनंतरूपंशिवंप्रशांतममृतंब्रह्मयोनिं॥तथादिमध्यांतविहीनमेकंविभुं
चिदानंदमरूपमद्भुतं॥उमासहायंपरमेश्वरंप्रभुंत्रिलोचनंनीलकंठंप्रशांतं॥ध्यात्वामुनि
र्गच्छतिभूतयोनिंसमस्तसाक्षिंतमसःपरस्तात्॥ततस्तंपश्यतेनिष्कलंध्यायमानः॥दृश्यतेत्व
ग्र्यायाबुद्ध्यासूक्ष्मदर्शिभिः॥मनसैवतस्वात्मप्यमित्यादिकाः॥दत्तात्रेयः॥समभ्यसेत्तताध्यानंघ
टिकाःषष्टिमेवच॥वायुंनिरुध्ययंकाचिद्देवता   सिद्धिदायिनी॥सगुणंध्यानमेतत्स्याद
णिमादिगुणप्रदं॥निर्गुणंखमिवध्यात्वामोक्षमार्गंप्रपद्यते॥योगियाज्ञवल्क्यः॥ध्यानेनस
दृशंनास्तिशोधनंपापकर्मणां॥श्वपाकेष्वपिभुंजानोध्यायीनैवतुलिप्यते॥ध्यानमेवपरं
ब्रह्म ध्यानमेवपरंतपः॥ध्यानमेवपरंशौचंनाध्यानंपरमंपदं॥सर्वपापप्रसक्तोपिध्यायं
न्निमिषमच्युतं॥तदात्तपस्वीभवतिपंक्तिपावनपावनः॥महाभारते॥सर्वाधारविहीनोपि

युक्तोवासर्वपातकैः॥सर्वंनुदतितत्पापंभावयंश्शिवमात्मना॥शास्त्रांतरे॥पातकेषुचस
र्वेषुपातकेषुमहत्सुच॥प्रविश्यरजनीपादंब्रह्मध्यानंसमाचरेत्॥वासिष्ठे॥आत्मपू
जाप्रकरणेध्यानस्वरूप कथनानंतरमीश्वरउवाच॥ध्यानस्यहारएवात्माध्यानमस्य
मदार्चनं॥विनातेनेतरेणायमात्मालभ्यतएवनो॥ध्यानेनानेनसुमतेनिमेषांस्त्रयोदशमू
ढोपिपूजयित्वेशंगोप्रदानफलंलभेत्॥पूजयित्वानिमेषाणांशतमेकमितिप्रभुं॥अश्वमे
धस्ययज्ञस्यफलंप्राप्नोतिमानवः॥पूजयित्वास्वमात्मानंघटिकार्द्धमितिप्रभुं॥अश्वमेध
सहस्रस्यफलमाप्नोतिमानवः॥ध्यानवल्युपहारेणस्वयमात्मानमात्मना॥घटिकांपूजय
घस्कराजसूयंलभेतसः॥मध्याह्नपूजनादिस्यंराजसूयैकलक्षभाक्॥दिवसंपूजयित्वैनंपर
धाम्निवसेन्नरः॥एषोसौपरमोयोगइयंसापरमाक्रिया॥आत्मगीतायां॥साक्षात्कृतमश

कोऽपि चिंतयेन्मामशंकितः कालेनानुभवारूढो भवेत्सफलितो ध्रुवं॥ यथागाधनिधिर्लब्धो भेनापायः
खननं विना॥ मल्लाभेऽपि तथा स्वात्मचिंतां मुक्त्वा न चापरः॥ देहं स्युपलमाहं त्वबुद्धिकुद्दालका
त्पुनः खात्वा मनोभुवं भूयो गृह्णीयान्मां निधिं पुमान्॥ शास्त्रांतरे च॥ अनुभूतेरभावेऽपि ब्रह्मास्मी
त्येव चिंत्यतां॥ अप्यसत्प्राप्यर्थते ध्यानान्नित्याप्तं ब्रह्म किं पुनः॥ अनात्मबुद्धिशैथिल्यफलं ध्या
नाद्दिने दिने॥ पश्यन्नपि न चेद्ध्यायेत्कोऽपरोऽस्मात्पशुर्वद॥ उपेक्षातन्नीर्थे यात्रान्यादीनेव
कुर्वतां॥ पिंडं समुत्सृज्य करं लेढीति न्याय आपतेत्॥ अथ समाधिः तत्र पतंजलिः तदेवार्थमा
त्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ध्यानालंबनीकृतं वस्तु तदेव यदार्थमात्रनिर्भासं स्व
स्वरूपेणैव निःसंदिग्धं सर्वात्मना परिपूर्णरूपं भ तदेव सर्वविषयविहितत्वात्स्वरूपशू
न्यमिव नायं भासते सभावनाविशेषः समाधिरित्युच्यते॥ समाधिद्वयसामान्यलक्ष १४४

णमेतत्॥ विशेषलक्षणं प्रथमपरिच्छेद एव विस्तरेणोक्तं द्रष्टव्यं॥ अन्ये तु सम्यगाधीयत ए
काग्रीक्रियते विक्षेपान्परित्यज्य यत्र मनः स समाधिरित्याहुः॥ याज्ञवल्क्यः समाधिमधुना वक्ष्ये
भवपाशविनाशनं॥ भवपाशनिबद्धस्य यथा वच्छ्रोतुमर्हसि॥ समाधिः समतावस्था जीवात्म
परमात्मनोः॥ ब्रह्मण्येव स्थितिर्या सा समाधिः प्रत्यगात्मनः॥ ध्यायेद्यथा यथात्मानं स्यात्समा
धिस्तथा तथा॥ ध्यात्वैवात्मनि संस्थाप्य नान्यथात्मा यतो भवेत्॥ एवमेव हि सर्वत्र यत्र
यत्रास्तु योऽनरः॥ तदात्मा सोऽपि तत्रैव तदेव हि समाप्नुयात्॥ सरित्पतौ निविष्टांबु यथाऽभि
न्नं लयं व्रजेत्॥ तथात्माभिन्न एवात्र समाधिं सम्यगाप्नुयात्॥ कूर्मपुराणे॥ एकाकारः समाधिः
स्याद्देशालंबनवर्जितः॥ प्रत्ययो ह्यर्थमात्रेण योगसाधनमुत्तमं॥ विष्णुपुराणे तस्यैव क
ल्पनाहीनं स्वरूपग्रहणाय यत्नं मनसा ध्याननिःपाद्यं समाधिः सोऽभिधीयते॥ तच्च ध्या

नसंप्रज्ञातमाध्योर्भेदः शंकनीयः बहुप्रयत्नसाध्येपि ध्यानेभवत्प्रत्ययांतरसंचारः संप्रज्ञातसमाधौतु
सर्वथैवनास्त्येवप्रत्ययांतरावकाशइतितयोर्भेदः सुरेश्वराचार्याः ब्रह्मविष्णुशिवादीनां चिंताध्यानंप्र
१४५ चक्षते ध्यानादस्पंदनं कुर्दः समाधिरभिधीयते॥शैवधर्मे॥समोस्तुसमावस्थाजीवात्मपरमात्म धि
नोः निस्तरंयपदप्राप्तिः परमानंदरूपिणी॥निःश्वासोछ्वासयुक्तोवानिःस्पंदोस्पंदनोचनः॥शि
स वध्यायीसुलीनश्चससमाधिस्थउच्यते॥नशृणोतियदाकिंचिन्नपश्यतिनजिघ्रति॥नचस्पर्शंवि
जानातिससमाधिस्थउच्यतेइति॥स्कंदपुराणे॥यत्समत्वंद्वयोरत्रजीवात्मपरमात्मनोः सनष्टसर्व
संकल्पः समाधिरभिधीयते॥नात्मानंनपरंवेत्तिनशीतंनोष्णमेवच॥समाधियुक्तोयोगींद्रोनसु
खेतरं॥कल्प्यतेनैवकालेनलिप्यतेनैवकर्मणा॥भिद्यतेनैवशस्त्राद्यैर्योगीयुक्तः समाधिना॥यथा
जलेजलंक्षिप्तंजलमेवतुतद्भवेत्॥क्षीरेक्षीरंतथायोगीतत्रतन्मयतांव्रजेदिति॥दत्तात्रेयः निर्गु १४५

णध्यानसंपन्नः समाधिंचततोभ्यसेत्॥दिनद्वादशकेनैवसमाधिंसमवाप्नुयात्॥वायुंनि
रुध्यमेधावीजीवन्मुक्तोभवेद्ध्रुवं॥समाधिः समतावस्थाजीवात्मपरमात्मनोः॥यदिस्वदेहमुत्स्र
ष्टुमिच्छेच्चेदुत्सृजेत्स्वयं॥परब्रह्मणिलीयेततस्यत्कार्कर्मशुभाशुभं॥अथनोचेत्समुत्स्रष्टुंस्व
शरीरंयदिप्रियं॥सर्वलोकेषुविचरेदणिमादिगुणान्वितइति॥एवंचोक्तरीत्यासांगमनुति
ष्ठतोयोगिनः सात्विकराजसतामसाअंतरायाभवंतिसर्वेपितेतुशइतिमत्वायोगिनाहेया
एव॥तथाचदत्तात्रेयः प्रथमाभ्यासकालेहिविघ्नाःस्युर्विविधामुने॥आलस्यंप्रथमोविघ्नो
द्वितीयस्तुप्रकथ्यते॥पूर्वोक्तधूर्तगोष्ठीचतृतीयोमंत्रसाधनं॥चतुर्थोधातुवादःस्यादिति
योगविदोविदुः॥कंदर्पस्ययथारूपंतथातस्यैवयोगिनः तद्रूपवशगानार्यः कांक्षंतेतस्यसंग
मं॥एवंहिबहवोविघ्नाःमहात्मना समामुने॥स्थिरस्यास्यप्रजायंतेता ज्ञात्वासंत्यजेत्सु

यो॰ चिं॰ धीरिति॥मार्कंडेपुराणे॥उपसर्गाः प्रवर्त्तंते दृष्टेह्यात्मनि योगिनः ये तांस्ते संप्रवक्ष्यामि समा
न से ननिबोध मे॥काम्याः क्रियास्तथा कामान्मानुष्यानभिकांक्षति॥स्त्रियो दानफलं विद्यां मायां
१४६ कुप्यं धनं वसु॥देवत्वममरेशत्वं रसायनवयःक्रियां॥मेरुप्रपतनं यज्ञं जलाग्न्यावेशनं तथा
श्राद्धानां सर्वदानानां फलानि नियमांस्तथा॥तथोपवासात्पूर्ताच्च देवताभ्यर्चनादपि॥तेभ्यस्ते
भ्यश्च कर्मभ्य उपसृष्टोभिवांछति॥चित्तमित्थं प्रवर्त्तंतं यत्नाद्योगी निवर्त्तयेत्॥ब्रह्मसंगि मनः
कुर्वन्नुपसर्गैः प्रमुच्यते॥उपसर्गैर्जितैरेभिरुपसर्गास्ततः पुनः॥योगिनः संप्रवर्त्तंते सत्त्वराज
सतामसाः॥प्रातिभः श्रावणो दैवो भ्रमावर्त्तौ तथापरौ॥पंचैते योगिनां योगविघ्नाय कटुकोद
याः॥वेदार्थाः काव्यशास्त्रार्था विद्याशिल्पान्यशेषतः॥उपसर्गं तमप्याहुर्दैवं बुधोत्तमद्विजाः
भ्राम्यते यन्निरालंबं मनो दोषेण योगिनः समस्ताचारविभ्रंशाद्भ्रमः स परिकीर्तितः॥आवर्त्त इ
+प्रतिभातीयरस्यति प्रातिभः सनुयोगिनः॥शब्दार्थानखिलान्वेत्ति शृणुयाद्दूरतोपि च॥योजनानां स
१४६

वनोयस्य ज्ञानावर्त्तोयदाकुलः॥चित्तं नाशयते यत्र उपसर्गः स उच्यते॥ऐतैर्नाशितयोगास्तु सक
लादेवयोनयः॥उपसर्गैर्महाघोरैरावर्त्तंते पुनः पुनः॥प्रावर्त्यकेवलं शुद्धं योगी तस्मान्मनो
मयं॥चिंतयेत्परमं ब्रह्म कृत्वा तत्प्रवणं मन इति॥येचव्याध्यकर्मण्यता योगफलवत्व
संशयप्रमादालस्यविषयवैमुख्याभावभ्रांतिसमाधिभूम्यलाभचित्ताप्रतिष्ठादयो विघ्ना त
च्चित्तविक्षेपशब्दितास्तेपि ब्रह्मानुसंधानेनैव निवर्त्तंते तदुक्तं पातंजले॥ईश्वरप्रणि
धानाद्वेत्यादिना योगनिरूपणानंतरं॥तस्य वाचकः प्रणवस्तज्जपस्तदर्थभावनं॥ततः प्र
त्यक्चेतनाधिगमोंतरायाभावश्चेति सूत्रैः॥न च तदर्थभावनस्यापि संप्रमरूपत्वेन तत्रापि वि
घ्नावकाशः सर्वपापतूलानलरूपे भगवद्भजने विघ्नावकाशाभावात्॥तथा च विष्णुपुराणे॥
यथाग्निरुद्धतशिखः कक्षं दहति सानिलः तथा चित्तस्थितो विष्णुर्योगिनां सर्वकिल्बिषम्
ष्णु

योचिं० ती निं॥ तथा प्राप्युक्तानां विघ्नपारव्यविघ्नानां सर्वेषामपि विक्षेपसहजन्मनां च दुः [redacted]

१४७ [redacted] खदौर्मनस्यांगमेजयत्वश्वासनिद्रादीनां निरासाय यथाभिमतध्यानमेव तनुपादितेत्यतदु

क्तं तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः इति सूत्रेण वाचस्पतिना ब्रह्मतन्मात्रे दोषाः संनिद्रादीनां नि

रासाय यथा नित्साख्याधिदेहेन वः मनागपि न लुप्यंति चित्तमेकसमाहितं अधीकृत तदा

काशः कामक्रोधविकारजाः चिंतां न परिहिंसंति चित्तमेकसमाहितं वेदुरर्थौ दुरारंभा दुर्गुणा

उदम्रताः दुःक्रमास्तेन तत्त्वं निर्विघ्नमेकसमाहितं परिस्फुरति पस्पां तन्निर्लसत्संस्पनमत्कृतिः

स्वभस्मांड मिवारवंड दिगोशपः पालयंति तस्य हनदेवाश्च नाभून्पारैशतत आत्मा त्स्पेषां सम

वतीत्यादिका इति॥ किंच मोक्षादर्वाजायमानाः सिद्धयस्ता अपि विघ्नरूपा एवमंतव्याः

सिद्धासक्तमनसो योगिनो मोक्षो दुर्लभो यतः तथा च स्कंदपुराणे॥ अंतरायाभवंती

+तंदृति॥ आदित्यपुराणे॥ सम्यक्दर्शनसंपन्नो नाभिभूयेत कर्मभिः। योगवियोगयुक्तास्मापरां निर्वाणमृच्छति॥ श्रुतिस्मृत्युपर १४७

ह्योगिनो योगहानिदाः॥ श्रूयते दूरगा वार्ता दूरस्थं दृश्यते पुनः॥ योजनानां शतं या

तं शक्तिः स्यान्निमिषार्द्धतः॥ अचिंतिता निशास्त्राणि कंठपाठी भवंति हि॥ धारणाशक्ति

रस्युग्रा महाभारो लघुर्भवेत्॥ क्षणं कृशः क्षणं स्थूलः क्षणमल्पः [redacted] क्षणं म

हान्॥ परकायं प्रविशति तिरश्चो वेत्ति भाषितं॥ दिव्यं गंधं तनोधत्ते दिव्यां वाणीं प्रवक्ति

च॥ प्रार्थ्यते दिव्यकन्याभिर्दिव्यं प्रार्थयते वपुः॥ इत्याद्यो तंरायाः स्युर्योगसंसिद्धिसत्व

काः॥ मध्ये भिरंतरायैर्न्नक्षिप्यते स्य हि मानसं॥ तदाग्रे तन मान्यो ति परं ब्रह्मादिदुर्ल

भं॥ न यत्नाप्यविवर्तेत यत्नात्पनचशो चति॥ तच्च मन्यते पङ्गेनयोगेन कल्मशोन्द्रवेति॥

योगभास्करे॥ जितेंद्रियस्य दांतस्य जितश्वासस्य योगिनः॥ हरो धारयतश्चित्तमुत्पत्ति

ष्ठंति सिद्धयः॥ अणिमाद्या हि वद्यस्त धारणाभिरुपासिता॥ त्यजेद्यर्थतया सर्वा यतस्ता

यो॰ चिं॰ विघ्नकारिकः॥ सिद्ध्यादिवासनाबद्धस्तन्नद्रोगेषुसंगतः॥ भ्रश्यतेप्रायशः स्थानात्प्रकृतावेति
१४८ सैत्वंसात्विकींधृतिमालंब्ययोगीसत्वेनसुस्थिरः॥ निर्गुणंमनसाध्यायन्नुपसर्गैःप्रमुच्यते॥ एवं
योगमुपासीत शक्रादिष्वपिनिःस्पृहः॥ सिद्ध्यादिवासनात्यागीजीवन्मुक्तोभवेन्मुनिः॥ वि
स्तरस्यभियानोक्ताः सन्तिविघ्नाद्यनेकशः॥ ध्यानेनहरिहरयोर्वीरणीयाहियोगिना॥ इति
सर्वशास्त्रसिद्धांतः॥ एवंचपरमेश्वरानुग्रहीतस्यनिर्विघ्नंसांगयोगमातिष्ठतोयोगिनोवि
सा श्वासार्थंपरीक्षार्थंचक्रमेणामोक्षावांतरफलंसिद्धयोप्याविर्भवंति॥ पंचप्रकारालोके
सिद्धयोभवंति॥ तथाचपतंजलिः जन्मौषधिमंत्रतपःसमाधिजाःसिद्धयइति॥ यक्षा
दीनांप्राकाशगमानलक्षणाकपिलादीनांजन्मसमनंतरमेवोपजायमानज्ञानादि
लक्षणाजन्मसिद्धिः पातालादौरसायनाद्युपयोगलक्षणौषधसिद्धिःकेषांचित् आ १४९

काशगमनादिफलामंत्रसिद्धिः विश्वामित्रादीनांतपःसिद्धिः॥ याज्ञवल्क्यादियोगिनांसमाधि
सिद्धिः तत्रजन्मादीसिद्धीनांसर्वासामपिजन्मांतराभ्यस्तसमाधिसिद्धिरेवहेतुः मंत्रादि
कंतुनिमित्तमात्रमेवेत्यवधेयं॥ यथानंदीश्वरादीनामिंजात्यादिपरिणामोयःसप्रकृ व
त्यापूरात यच्चात्याएवहिप्रकृतयोस्मिन्जन्मनिस्थूलभूतात्मदेहेंद्रियल क्षणानि
कार्याणिजात्यंत रादिद्वारेणपूरयंति॥ क्रियमाणंधर्मादिप्रकृतीनामापूरणेनप्रयोजकं
तुतत्आवरणभूताधर्मक्षयोभवतियथाकृषीवलस्यसेतुभेदमात्रेव्यापारोजलनिःसरणंतु
स्वतएवेत्यतोनपूर्वोक्तजन्मांतराभ्यस्तसमाधिकारणमंगप्रसंगः॥ तथाचपतंजलिराह॥ जा
त्यंतरपरिणामःप्रकृत्यापूरात्निमित्तमप्रयोजकंप्रकृतीनांमेआवरणभेदस्तुततःक्षेत्रिक
वदितिसूत्राभ्यांयोगभास्करे॥ जन्मौषधितपोमंत्रैर्यावत्यरइहसिद्धयः॥ योगेनाभीताःस

यो०चिं० वानन्दिर्वियोगगर्तिंव्रजेत॥ योगवीर्तैरभ्यासस्यपालैरविकष्यमानितवायुना॥ अदैरोगाः प्र
पश्यंत्नेपश्चाज्जाघ्रंशरीरजैस्ततःसमसीभूत्वांवद्दीवर्षस्यनारतं॥ धातुरसंग्रसेद्वन्हिःपवने
१४९ न नसमंततंत्र नानादाःप्रवर्ततेमाईवंस्पालकलेवरे॥ जित्वाएथ्वादिकंजाड्यंखेचरःप्रसरेन्न
रः॥ सर्वज्ञोसौभवेत्कामरूपःपवनवेगवान्॥ क्रीडतित्रिषुलोकेषुजायंतेसिद्धयोखिलाःक
र्पूरेलीयमानेकिंकाठिन्यंतत्रविद्यते॥ अहंकारजयेतद्वद्देहेकठिनताकुतः॥ सर्वज्ञःसर्वकर्ता
यो चस्वतंत्रोविश्वरूपवान्॥ जीवन्मुक्तोमहायोगीजायतेनात्रसंशयः॥ देव्युवाच॥ यत्किंचित्क
ल्पनाजातंतत्त्वनीक्षायशंकरं॥ सिद्धयःकिंकरिष्यंतिनिर्विकल्पेचिदात्मनि॥ एतंमेसंशयं
नाथछेत्तुमर्हसिपावनं ईश्वरउवाच॥ सत्यमेतत्त्वयोक्तंतेवदामिप्पणुसुंदरि॥ द्विविधाः
सिद्धयोलोकेकल्पिताकल्पिताःशिवैरसौषधिक्रियाकालमंत्रयंत्रादिसाधनात्॥ सिद्ध्यं १४९

ति सिद्धयोयास्ताककल्पितास्ताःप्रकीर्तिताः॥ अनित्याअल्पवीर्यास्ताःसिद्धयःसाध्याःसिद्धयः
साधनेनविनाप्येवंजायंतेस्वतएवहि॥ स्वात्मयोगैकनिष्ठेतुस्वातंत्र्यादीश्वरत्वतःप्रभूताः
सिद्धयोयास्ताःकल्पनारहिताःस्मृताः॥ शुद्धानित्यामहावीर्याइच्छारूपाःस्वयोगताः॥ चिरका
लात्मजायंतेवासनारहितेषुच॥ तासुभाव्योमहायोगःपरमात्मपदेव्यये॥ विनासर्वसदी
यो त्पिर्योगसिद्धस्यलक्षणं॥ यथाकाशीसमुद्दिश्यगच्छन्निप्रथिकैःपथिनानातीर्थानिदृश्यं
तेतथामोक्षेतुसिद्धयः॥ स्वयमेवप्रजायंतेलाभालाभविवर्जिते॥ सिद्धिभिर्लक्षयेत्सि
ॐ द्धंजीवन्मुक्तिंतथैवच॥ अलौकिकगुणास्तुकदाचिद्दृश्यते भु वः इत्येतत्कथितंदेवि
योगसिद्धस्यलक्षणं॥ सिद्धिभिःपरिहीनंतनरं बद्धंतुलक्षयेत्॥ अजरामरपिंडोयोजीव
न्मुक्तःसएवहि॥ अलौकिकगुणास्तुकदाचिद्दृश्यतेभुवःइत्येतत्कथितंदेविसिद्धि

यो॰चि॰ ~~इत्यमवस्थानं सिद्धिनिः पास्सीनतां परं ...~~ लपहिय
१५० श्वकुक्कुटकीटाद्याश्मृतिं संप्राप्नुवंति वै तेषां किं पिंडपातेन मुक्तिर्भवति सुंदरि नवाहि श्रा
णआयाति पिंडस्यं पतनं कुतः पिंडपातेन या मुक्तिः सा मुक्तिर्न तु कथ्यते देहो ब्रह्मत्वमा
पासिजलत्वं तां सैधवंपृथाअमनस्कायदा पातितदा मुक्तः स उच्यते मानसोल्हासे चित्तेनि
श्चलतां प्राप्ते प्राणे मध्येलयं गते चिन्हान्येतानि जायंते एवं भूतजयात्यथकमलम् ... त्र त
कफाल्पत्वमारोग्यं पल्वुतानतोः सुमेधः स्वर्णवर्णत्वं प्रथमं योगलक्षणं॥ कंटकात्रे
त थसंगत्वं जलपंकेप्यमज्जनं क्षुत्तृषादिसहिष्णुत्वं द्वितीयं योगलक्षणं वह्न्यन्नपानभोक्तृ।
त्वमातपादिसहिष्णुता दर्शनं श्रवणं दूरात् तोगलक्षणं मडुकुल्पवनं भूमो मनुथसंग
त्वंजलपंकेप्यमज्जनं क्षुत्तृषादिसहिष्णुत्वं द्वितीयं योगलक्षणं वह्न्यन्नपानभोक्तृत्वंमतपादिस राम॰
१५०

हिष्णुता॥ दर्शनं श्रवणं दूरात् तृतीयं योगलक्षणं॥ मंडूकप्लवनं भूमे आकाशगमनं चेति चतुर्थं यो
गलक्षणं त्रैलोक्यज्ञानं त्रिकालविषयमैश्वर्यमणिमादिकं अनंतशक्तिमत्वं च पंचमं योगलक्षणं॥ त
थाणिमादिलक्षणं॥ अणिमा महिमा चैव लघिमा गरिमा तथा॥ प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चा
ष्टसिद्धयः॥ अनंतमणुप्राप्तिः स्वात्मत्वेन प्रवेशनं॥ अणिमासंज्ञमैश्वर्यं प्रोक्तस्य परमात्मनः
दृत्रि ब्रह्मांडादिशिवांतायाः ... शतत्वसंहृतेः वहिश्चव्याप्यवृत्तित्वमैश्वर्यं महिमाह्वयं॥ महामेर
उसमानस्यसमुद्धरणकर्मणि॥ अत्यल्पतूलतुल्यत्वं लघिमानं विदुर्बुधाः॥ परमाणुसमानस्य
स्यसमुद्धरणकर्मणि॥ गौरवे मेरुतुल्यत्वं गरिमाणं विदुर्बुधाः॥ पातालवासिनः पुंसो ब्रह्मलो
कावलोकनं॥ प्राप्तिर्नामिमहैश्वर्यासुदुः प्रापमयोगिनां॥ आकाशगमनादीनामन्यासांा
सिद्धिसंपदां॥ स्वेच्छामात्रेण संसिद्धिः प्राकाम्यमभिधीयते॥ स्वशरीरप्रकाशेन सर्वार्था

नांप्रकाशनंप्राकाम्यमिदमैश्वर्यमितिकेचित्प्रचक्षते॥स्वेछयायंत्रेणलोकानांसृष्टिस्थित्यंतकर्तृ
ता॥सूर्यादीनांनियोक्तृत्वमीशित्वमभिधीयते॥सलोकपालाःसर्वेपिलोकाश्चवशवर्तिनः॥

तदैश्वर्यंवशित्वाख्यंसप्तमं शिवयोगिनांसर्वात्मभावसाम्रा ज्यनिरंतरितचेतसां॥परिपक्व
समाधीनांकिंकिंनाम्पनसिध्यति॥यस्त्वेवंब्राह्मणोवेत्तितस्यदेवावशेस्थिताःकिंपुनःक्ष्मापतिव्याघ्र
व्यालस्त्रीपुरुषादयः॥अर्वाचीनेस्यल्लोकेमुंवेत्फलेस्वर्गादिसंभवैस्वर्गादिराज्यंसाम्राज्यंमनुते
नहिपंडितः॥तदेवतस्यसाम्राज्यंयत्तुसाम्राज्यमात्मनिपुत्रपौत्रगृहक्षेत्रधनधान्यसमृद्धयः॥
नि अर्वाचीनोसिध्यंतिस्वर्गपातालभूमिषु॥पाकेप्रवर्तमानेवशीतादिपरिहारवत्॥प्रासंगिक्या
श्चसिध्यंतियोगाभ्यासेनसर्वदा॥ऐश्वर्यमीश्वरत्वंतस्यनास्तिपृथक्स्थितिः॥पुरुषेधावमानेपिछायातमनुधावति॥अनंतशक्तिरैश्वर्यनिस्पंदश्चाणिमादयःस्वस्यैश्वरत्वेसंदिग्ध

सिध्यंतिस्वायमेवहि॥पुष्पमानयतांगंधोविनेछामनुभूयते॥पूर्णाहंभावयुक्तेनपरिछिन्ना
विभूतयः॥यदीयैश्वर्यविप्रुद्भिर्ब्रह्मविष्णुशिवादयः॥ऐश्वर्यवंतोभासंतेस एकात्मासदाशिवः॥
सर्वात्मभावनावंतंसेवंतेसर्वसिद्धयः॥तस्मादात्मनिसाम्राज्यंकुर्यान्नियतमानसइति॥त
यस्वंदेपिसमाध्यभ्यासनिरूपणपूर्वकंतदभ्यासक्रमेणैवसिद्धिक्रमश्चोक्तः॥तथाहिविश्वात्म
वि भावतावंतसेवंतेसनेसर्वविविक्तदेशेसुखसंनिविष्टः समासनेकिंचिदुपेत्ययश्चतिवाहुप्रमा
णंस्थिरदृक्कृश्यांगश्चिंताविहीनोभ्यसनंकुरुष्व॥सुखासनेसमासीनस्तत्वाभ्यासंसमा
चरेत्॥सदाभ्यासेनतत्कुर्यात्परतत्वप्रकाशने॥ब्रह्मांडपंचभूतस्थंपंचभूतमयीतनुःस
र्वेभूतमयंचेतित्यक्त्वानास्तीतिभावयेत्॥नकिंचिन्मनसाध्यायेत्सर्वचिंताविवर्जितः॥स
वाह्याभ्यंतरेयोगीजायंतेतत्वसं सुखः॥तत्वस्यसंमुखेजातेत्वमनस्कंप्रजायते॥अ

मनस्येतुसंजातेचितादिविलयोभवेत्॥चितादिविलयेजातेपवनस्यलयोभवेत्॥मनःपवन
योत्रीणद्विंपार्थेविमुंचति।इंद्रियार्थोयदामुक्तोवाद्यज्ञानंनजायते।वाह्यज्ञानेविनष्टेचतत
सर्वसमोभवेत्॥यदासर्वसमोजातोभवेद्व्यापारवर्जितः परेब्रह्मणिसंवद्धोयोगीप्राप्तलयस्तदा
॥सदाभ्यासरतानांचयःपरोजायतेलयः तस्यार्थयिष्यामिलर्णमुक्तचेतसः॥सुखंदुःखंन
जानातिशीतोष्णेनचविंदति।विचारचेद्रियार्थानांनवेत्तिहिलयंगतः॥तंचजीवन्मुक्तोवापिन
पश्यतिनमीलति॥नि जीवःकाष्ठवत्तिष्ठेल्लयस्थश्चाभिधीयते॥निर्वातस्थापितोदीपोभा
सतेनिश्चलोयथा॥जगद्व्यापारनिर्मुक्तस्तथायोगीलयंगतः यथावातैर्विनिर्मुक्तंनिश्चलं
निर्मलंसरः शब्दादिविषये स्त्यक्तोलयस्थोदृश्यतेतथा।प्रक्षिप्तंलवणंतोयेक्रमाघद्वद्विली
यते॥मनोप्यभ्यासयोगेनतद्वत्तणिलीयते॥लवणंतोयसंपर्कोद्यथातोयमयंभवेत्॥म

नोपिब्रह्मसंस्पर्शात्तथाब्रह्ममयंभवेत्॥यथाक्षारोदयेनेनप्राप्यतेलवणंध्रुवं॥ब्रह्मानंमय द
त्वेननिर्वाणंमनसस्तथा॥घृतात्स्पर्थग्विरहितघृतेलीनंघृतंयथा॥तत्वेलीनस्तथायोगीपृथ्य
कै गभावंनविंदति॥निमेषश्वासपलैर्नाडीभिःप्रहरैर्दिनैःमासैःसंवत्सरैःकालैर्लयस्थोयत्परंव्र
श्व जेत्॥श्वासोछ्वासात्मकःप्राणःषड्भिःप्राणैःपलंस्मृतं॥पलैःषष्टिभिरेवस्याद्घटिकाॅलसंमिता॥ ल
योगीनिमेषमात्रेणलयेनलयतेध्रुवं॥स्पर्शनंपरतत्वस्याप्युत्थानंचपुनःपुनःब्रमर्शा
तिःप्रजायेतमुहूर्त्तनिद्रावमूर्छना॥निमेषषट्कमात्रेणलयेनांतःस्थायोगिनःश्वासद्वयलम्बे
नापिकूर्मवातादिवायवःनिवर्त्ततेचधातूनांवर्धकुतिधातुगं॥श्वासत्रयलयेनापितेनप्राणा
दिवायवःश्वासप्रवाहसंवंधात्स्वस्वस्थानेवहंतिते॥चतुःश्वासे[illegible]येनापिसत्पधातुगतास्ता
ःसम्पशायुचिप्रंकुर्वतिधातूनांसमवायकल येनपलमात्रेणचासनस्थोनरिवघते॥स्व

यो॰ चिं॰ ल्पश्वासी भवेद्योगी स्वल्पोन्मेषयुतस्तथा ॥ पलद्वयलयेनापि द्वनाड्याश्चलनं भवेत् ॥ अ-
नाहतः स विज्ञेयो न तत्रैव न्यसेन्मनः ॥ चतुःपलप्रमाणेन लयेनानुभवो भवेत् ॥ अकस्मान्नियत
१५३ त्वेव शब्दः कर्णे शुभाशुभः ॥ पलाष्टकलयेनापि कामस्तस्य निवर्तते ॥ तथापि नैव जायेत कामि
न्यालिंगितस्यच ॥ कलापादलयेनापि सुषुम्णामार्गवाहिनी ॥ कला पश्चिममार्गे पानस्याभा
वेवन छति ॥ घटिकार्द्धलयेनापि शक्तिः संचलति ध्रुवं ॥ ऊर्द्ध्वपश्चिममार्गेन वा तरोधेन जाग्र
ती कलामात्रलयेनापि शक्तिः संचलति ध्रुवं ॥ कलाद्वयलयेनापि शक्तेः संचलनं न च ॥ क्ष
पाद्युत्पद्यते तस्य मनसः कंपनं सहजं ॥ चतुःकलालयेनापि नीद्राभावो निवर्तते ॥ त्रुटि
स्फुलिंगवद्योगी तेजोबिंबं प्रपश्यति ॥ दिनपादलयेनापि स्वल्पाहारो भवेन्नरः ॥ स्वल्पमूत्र
पुरीषत्वं लघुता स्निग्धता तनोः ॥ वासरार्द्धलयेनापि स्वात्मज्योतिः प्रकाशते ॥ सूर्योग्नि १५३

मिरिवोद्दीप्यो योगी विश्वे प्रकाशते ॥ दिनमात्रं लयेनापि स्वात्मतत्त्वं प्रकाशते ॥ इंद्रियज्ञान
विस्फारो ब्रह्मांड्यं प्रवर्तते ॥ अहोरात्रलयेनापि योगी स्वात्मनि संस्थितः ॥ चित्तवृत्तिनिरो
जै धेन ग्रज्ञानाति दूरतः ॥ अहोरात्रद्वयेनापि लयेनांतश्च योगींद्री दूरादपि न संशयः ॥ दूरदर्श
नविज्ञानं स्वभावेनैव वर्त्तते ॥ अहोरात्रत्रयेणापि लयानंद समुत्थितः ॥ दूरादपि रसं वेत्ति यो
गी संकल्पवर्जितः ॥ अहोरात्रचतुष्केन लय. . . . भावप्रभावतः स्पर्शं जानाति योगींद्रो दू
रादपि न संशयः ॥ पंचरात्रलयेनापि तस्याशुत्पद्यते ध्रुवं ॥ दूरश्रवणविज्ञानं दूरादाश्चर्यका
रणं ॥ एतत्पंचेंद्रियज्ञानं महत्त्वानुभवात्मकं ॥ जानंत्यनेन योगींद्राः सकलं विश्ववर्जनं ॥
ण षड्रात्रैः लयेनापि महाबुद्धिप्ररोहति ॥ यायातकर्मजातं च विश्वज्ञानं प्रवर्तते ॥ सप्त
रात्रलयेनापि परेलीनस्य योगिनः ॥ आब्रह्म विश्ववेत्तृत्वं श्रुतित्वं प्रवर्तते ॥ अष्टरात्रलये

नापिभवेद्योगीनिरामयः॥क्षुत्पिपासादिभावैश्चसहजस्थैर्नपीड्यते॥नवरात्रलयेनापिनिर्वा
दःस्वात्मवर्तितः॥वाचांसिद्धिर्भवेत्तस्यशापानुग्रहकारिणी॥दशरात्रलयेनापियोगींद्रःस्वा
 त्मधिष्ठितः॥पातिकौसुगुप्तानिमहीचित्राणिपश्यति॥ततश्चैकादशाहेनलयस्थांस्यजवोद
यात्॥मनसासहितस्यापिगंतुमिछतिविग्रहः॥द्वादशाहलयेनापिभूचरत्वंहिसिद्ध्यति
निमिषार्द्धप्रमाणेनपर्यटत्येवभूतलं॥ततस्त्रयोदशाहेनलयेनापिमहा ना॥योगींद्रः दु
खेचरींसिद्धिंलभतेचिंतनादपि॥चतुर्द्दशदिनांतंचलयस्थोयदितिष्ठति॥अणिमाख्या
स्यसिद्धिःस्याद् णुत्वंप्राप्यतेयया॥आत्मनैवात्मनालीनोयोगीषोडशवासरं॥लभते
कृ महिमासिद्धिस्समहीरूपधृग्यया॥अष्टादशदिनांतेंलयस्थोयदितिष्ठति॥गरिमाख्यांल त
भेत्सिद्धिंययाभूभारधृग्भवेत्॥यस्यविंशद्वासरांतोलयस्तिष्ठतिनिश्चलः॥लघिमाख्याभ

ग्रै तो
वेत्सिद्धिर्ययाणुत्वस्यभारधृक्॥द्वाविंशतिदिनानिस्यात्सल योलयंगतः॥प्राप्तिसिद्धि
र्भवेत्तस्यप्राप्यतेयाजगत्स्थितं॥यस्यत्रिंशलुपगतोयोगीचतुर्विंशंतिवासरान्॥तया
प्राकाम्यसिद्धिःस्यादीप्सितंलभतेयया॥यस्यैवास्तंगतंचित्तंषड्विंशतिदिनानिवै॥लभ
तेजगदीशित्वंयेनविश्वगुरुर्भवेत्॥अष्टाविंशत्यहर्यस्यलयस्तिष्ठेत्स्थिरासने॥वयशि
त्वसिद्धिमाप्तिःस्याद्ययावैवश्यकृज्जगत्॥गंतुमिछंतियेकेचित्परब्रह्मपदेलयं॥भवंतिसिद्ध
ले यःसर्वास्तेषांविध्वंसकारिकाः॥मासमेकंलयोयस्यग्रस्तेष्ठेदखंडितः॥नजीर्णिस्योगी ना
द्रोपावन्मोक्षंसगच्छति॥त्रिमासलयेनापिपृथ्वीतत्वंसगच्छति॥पृथ्वीतत्वेतुसंसिद्धेयो
गींद्रोवज्रसंनिभः॥सार्द्धसंवत्सरेणापिलयस्थस्यापियोगिनः॥तोयतत्वस्यसिद्धिः
स्यात्तोयतत्वमयोभवेत्॥संवत्सरत्रयेणापिलयस्थस्यापियोगिनः॥तेजस्तत्वस्यसिद्धिः

यो॰ चिं॰ स्यात् ब्रह्मस्तत्वमयो भवेत्।।षड्भिः संवत्सरैर्योगिवस्वंडलयसंस्थितः।।वायुतत्वस्यसिद्धिसा
छक्तितत्वमयो हि सः ब्रह्मांडसकलंयस्यात्यापिस्थमिवमौक्तिकं।।आत्मकायस्वरूपंचनिधा
१५५ याथयथास्थितं।।कायस्थो दृश्यते लोके तत्वचर्यां समाचरेत्।।तत्वचर्यां करोत्येवशक्तितत्व
भ क्षयोवेत्।दूत्यंक्रमविवृद्धेन लयाभ्यासेनयोगिनः।।भुंजंते परमानंदं भुशुंडादिमहात्मव
त्।।ब्रह्मविष्णुमहेशानां प्रलयेष्वपि योगिनः भुंजते परमानंदं भुशुंडादिमहात्मवत्।।अत्र
योगांगनिरूपणानंतरं सिद्धिक्रममाह भगवान्पतंजलिः।।वैशेषिकनये द्रव्यगुणकर्म
णामर्थसंज्ञावत् धारणाध्यानसमाधीनामेव विषयाणां व्यवहारलाघवाय संयाम इति
संज्ञां कृत्वा तस्य संयमस्य फलमुपयोगं च सूत्राभ्यां प्रादर्शयत्।।तज्जयात्प्रज्ञा
लोकः तस्य भूमिषु [illegible] योगपूर्ति।।एतदर्थस्तु तस्य संयमस्य जयादभ्यासेन सात्म्या १५५

यादनात्मज्ञाया ज्ञातव्यविवेकरूपाया आलोकः प्रसरो भवति।।प्रज्ञांज्ञातं ए नभिभूतत्वे
सति निर्मलस्य वाहे वस्थालक्षणा ओको प्रवर्तीत्यर्थः तस्य संयमस्य भूमिषु स्थूल सू
क्ष्मालंबनभेदेनास्थितासु चित्तवृत्तिषु विनियोगः कार्यः अधरामधरां जित्त भूमिं जितां
कृत्वोत्तरस्यामुत्तरस्यां चित्तभूमौ संयमः कार्यः नह्यसात्मीकृताधरभूमिउत्तरभूमौ संय
मं कुर्वाणः फलभाग्भवति।।यथोक्तस्य संयमस्य विषयपरिशुद्धिं कर्तुं परिणामत्रयं सू
त्रेणादर्शयत् व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधलक्षणचित्तान्वयो
निरोधपरिणामः व्युत्थानं क्षिप्तमूढविक्षिप्ताख्या भूमित्रयं।।निरोधः प्रकृतसत्व
स्यागत्त स्याचेत्यसः परिणामः ताभ्यां व्युत्थाननिरोधाभ्यां जनितौ यौ संस्कारौ तयो
र्यथाक्रममभि भवोन्यग्मू तयाकार्यांतरकरणासामर्थ्येनावस्थानं।।प्रादुर्भाव

र्त्तमानेध्वनिअभिव्यक्तारूपतयावस्थानं।।तत्रनिरोधावसरवर्त्तिनश्चित्तस्यधर्मिणोन्वयोद्वयो
र्व्युत्थाननिरोधाख्ययोरवस्थयोःस्वरूपेणावस्थानंसनिरोधपरिणामःप्रथमः।।अयमाश
यःयदाव्युत्थानसंस्काररूपोधर्मस्तिरोभवतिनिरोधसंस्काररूपश्चाविर्भवतिधर्मिरूपत
याचित्तमुभयात्वयित्वेनावस्थितंप्रतीयतेसनिरोधपरिणामशब्देनव्यवह्रियते।।यद्यपि
चलत्वाद्गुणवृत्तस्यचेतसोनिश्चलत्वंनास्तितथाप्येवंभूततापरिणामस्यस्थैर्यमुच्यते।।
एतत्परिणामफलंतुचित्तस्यपरित्यक्तविक्षेपतयासदृशप्रवाहपरिणामत्वं।।तथासर्वा
र्थतैकाग्रतयोःक्षयोदयौचित्तस्यसमाधिपरिणामःसर्वार्थतारूपस्यविक्षेपस्यात्यंतति
रस्कारादनुत्पत्तिरतीतध्वनिप्रवेशलक्षणःक्षयोनतुध्वंसभावमात्रंएकालंबनसदृशप
रिणामत्वलक्षणास्यैकाग्रतस्योद्भवोभिव्यक्तिःचित्तस्योद्रिक्तसत्वस्यान्वयितया १५६

वस्थानंवर्त्तमाने.ध्वविप्रकटत्वमितियावत्।।समाधिपरिणामोद्वितीयः॥अस्यैवपण
कापाएकाग्रतापरिणामः।।सयथाशांतोदितौतुल्यप्रत्ययौचित्तस्यैकाग्रतापरिणा
मःसमाहितस्यैवचित्तस्यएकःप्रत्ययोवृत्तिविशेषःशांतोऽतीतमध्वानंप्रविष्टःअप
रस्तुउदितोवर्त्तमानेध्वनिस्फुरितः।।द्वावपिसमाहितचित्तत्वेनतुल्यौएकरूपालंबन
त्वेनसदृशौप्रत्ययौउभयत्रापिसमाहितस्यैवचित्तस्यान्वयित्वेनावस्थानंयत्समाधि
रेकाग्रतापरिणामइत्युच्यतेए तदेवत्रैविध्यमन्यत्रातिदिशन्सूत्रे।।एतेनभूतेंद्रियेषुध
र्मलक्षणावस्थापरिणामाव्याख्याताः।एतेनत्रिविधोक्तेनचित्तपरिणामेनभूतेषुस्थू
लसूक्ष्मेषुइंद्रियेषुबुद्धिकर्मांतःकरणभेदेनावस्थितेषुधर्मलक्षणावस्थाभेदेनत्रिवि
धःपरिणामोव्याख्यातोऽवगंतव्यः॥परिणामोनामावस्थितस्यधर्मिणःपूर्वधर्मनिवृ

यो॰वृ॰ नोधर्मांतरप्राप्तिः तत्र धर्मपरिणामो यथा ॥ मृदादिलक्षणस्य धर्मिणः पिंडरूपादिधर्मपरित्या
गेन घटधर्मांतरस्वीकारः तथा तस्यैव घटस्यानागताध्वपरित्यागेन वर्तमानाध्वस्वीकारः तत्परि
१५२ त्यागेन वातीताध्वपरिग्रहलक्षणः परिणामः अवस्थापरिणामो यथा तस्यैव घटस्य प्रथमद्वि
तीययोः क्षणयोरन्वयित्वेनावस्थानं यत्तच्चलं गुणवृत्तं नापरिणममानं क्षणमप्यास्ते अथ संय
मबलोत्पद्यमानाः सिद्धीः प्रदर्शयति ॥ परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानं ॥ उक्तस्य धर्म
लक्षणावस्थाख्यपरिणामत्रयस्य अस्मिन्धर्मिणि अयं धर्मः इदं लक्षणमियमवस्था अनाग
ताध्वनः समेत्य वर्तमानेऽध्वनि स्वव्यापारं विधायातीतमध्वानं प्रविशतीत्येवं परित्यक्तविक्षेपत
यासंयमकरणा दतीतानागतं सर्वं जानाति ॥ स्वरित्यादिकृतविक्षेपप्रतिबंधस्य संयमेन ना
शः सति चित्तस्य सहजसर्वार्थग्रहणसामर्थ्याभिव्यक्तेः तथा गत्यर्थज्ञातानामभिन्नानामपीत

१५२

रेतराध्यासः कः शब्दः कोऽर्थः किं ज्ञानमिति प्रश्ने गौरित्येवंरूपो नरदानात्प्रसिद्धगोशब्दस्तदर्थज्ञाना
नां गौरित्येवमेकरूपप्रतिभासः तेन बुद्ध्येकरूपतायास्तेनात्संकीर्णानां योगविभागे गौरित्येश
ब्दो वाचकः सास्नादिमान्पिंडो वाच्यः ज्ञानं च तत्प्रकाशकमित्येवंरूपः तस्य संयमने न सर्वभूतरुतज्ञा
नमभिधाय धर्माधर्मलक्षणस्य संदृष्टितस्य परचित्तस्य कायरूपस्य नास्यस्मिन्कायेरूपमिति
भाव्यमानस्य शीघ्रचिरविपाकलक्षणकर्मणो मैत्र्यादीनां हस्त्यादिबलस्य सूर्यस्य तद्वर्णस्य
ध्रुवस्य संस्कायमातृयथात्रमं पूर्वजातिज्ञानपरचित्तविषयविशेषनिश्चयमरणाद्याशक्तिस्तंभपूर्व
कांतर्धानत्रियतदेशकालावच्छिन्नशरीरांतःकरणयोगज्ञानसर्वमित्रत्वादिप्राप्तिबलाविर्भाव
भुवनज्ञानताराव्यूहाख्यज्योतिश्चक्रज्ञानताराशगतिज्ञानानि भवंतीत्युपवर्णितं ॥ तथाप्रकृत्यालो
कन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानमित्यनेन प्रकृतो विषयवतीलक्षणायां ज्योतिष्मतीलक्ष

णायांचप्रागुक्तायांयोसावालोकःसात्विकःप्रसरस्तस्यनिश्चलेषुविषयेषुसंन्यासनद्वविषयाणांभा
वनाभिःसांतःकरणेष्विंद्रियेषुइप्रकृष्टशक्तितामापन्नेषुसूक्ष्मस्यपरमाण्वादेर्व्यवहितस्यभूम्यंतर्ग
तनिधानादेर्विप्रकृष्टस्यमेरुपार्श्ववर्तिनोरसायनादेर्ज्ञानंभवतीत्येवंवाह्याःसिद्धीअदृश्पात
र्यश्चनाहिचक्रविहाधस्तात्स्थितगर्तकूपकंठकूपाख्याद्देशात्तदधःस्थितकूर्मनाडीब्रह्मरंध्र
रूपमूर्द्धज्योतिसंयमेभ्योमयाक्रमनाडीसंनिवेशात्मकःकायगतव्यूहज्ञानक्षुत्पिपासानिवृ
त्तिसिद्धदर्शनलक्षणाःसिद्धयःप्रतिपादिताः तयासत्वपुरुषयोरत्यंतासंकीर्णयोःप्रत्याशा
विशेषोभोगःपरार्थात्स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानमित्यनेनसत्वेत्यपुरुषयोः॥प्रकाशसुखा
३ त्मकभोक्त्रधिष्ठानरूपयोर्ज्जडाजडत्वेनात्यंतभिन्नयोर्यःप्रत्ययस्याविशेषोभेदेनाप्रतिभास
नात्सत्वस्यैवकर्तृताप्रत्ययेनयासुखदुःखसंवित्सभोगः॥सचसत्वस्य स्वार्थनैरपेक्ष्येणप १५८

रार्थःपुरुषार्थः तस्मादन्योयःस्वार्थःपुरुषःस्वरूपमात्रावलंबनः॥परित्यक्ताहंकारसत्वेयाचिछसंक्रां
तिः तत्रकृतसंयमस्यपुरुषज्ञानमुत्पद्यते॥तत्रज्ञानेउत्पन्नेतदेवरूपंआलंबनज्ञानंसत्वनिष्ठंपुरु॰
षोजानातिनपुनः॥पुरुषोज्ञाताज्ञानस्यविषयभावमापद्यतेज्ञाऽज्ञायनेरितिपुरुषसाक्षात्कारफ
लंसिद्ध्यंतरमुक्ताततःप्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्त्ताज्ञायंतइत्यनेनसूक्ष्माद्यर्थफलकं॰
प्रातिभंज्ञानंदिव्यशब्दज्ञानफलकंश्रावणसंज्ञंदिव्यस्पर्शज्ञानफलकंवेदनासंज्ञंत्वाचज्ञानंदिव्य
रूपज्ञानफलकंआदर्शसंज्ञकंचाक्षुषज्ञानंदिव्यरसज्ञानफलकमास्वादनफलाख्यंरासनज्ञानं
दिव्यगंधज्ञानफलकंवृत्तिसंज्ञकंघ्राणेंद्रियजन्यज्ञानंअत्यंतदूरवर्तिशब्दग्रहणरूपवार्त्तास्यज्ञान
रूपमित्युक्त्वातेनसमाधानुपसर्गाव्युत्थानेसिद्धयइतिफलविशेषंविषयविभागंचाभिधायवंधकार
णशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्चचित्तस्यपरशरीरावेशइत्यनेनव्यापकीभूतस्यमनसोनियतकर्मवशा

यो॰वृ॰ देवशरीरांतर्गतयोरेवसुखंदुःखोममत्वमस्य भोक्तेत्येवमहमिदंममेतिभोग्यभोक्तृभावेन संवेदनं। ६
वेदनमुपजायते॥सचशरीरंबध इत्युच्यते तद्यथा समाधिवशाद्बंधकारणंधर्माधर्माख्यंकर्मशिथि
१५९ लंभवति तानवमापद्यते चित्तस्ययोसौप्रचारोहृदयप्रदेशादिंद्रियद्वारेण विषयाभिमुख्येनप्रसर
स्तस्यसंवेदनंइत्यंचित्तवहनाडी अनया चित्तंवहतिइदस्यैरसप्राणादिवहा भ्योनाडीभ्योविलक्षणे।
तिस्वपरशरीरयोर्यदाशरीरस्य संचारंजानातितदापर कीयंशरीरंमृतंजीवच्छरीरंयाचित्तसं
चारद्वारद्वारेणप्रविशति चित्तंपरशरीरंप्रविशदिंद्रियाण्यनुवर्तंतेमधुकरराजमिवमक्षिकाः
ततःपरशरीरप्रविष्टोयोगीस्वशरीरवत्तेनव्यवहरतिव्यापकचित्तपुरुषभोगसंकोचनिमित्तस्य
कर्मणःसमाधिनाक्षिप्तत्वात्स्वातंत्र्यात्संचैभोगनिष्पत्तिरितिसिद्धांतरमभिधायउदानजया
नृजलपंककंटकाद्यसंगसमानजयाज्वलनमिदीप्तिभावलक्षणाश्रोत्राकाशसंबंधसंयमात्सूक्ष्म
१५९

व्यवहितशब्दादिग्राहकंदिव्यंश्रोत्रंलाभं॥कायाकाशसंबंधसंयमाद्वुतूलादिमयाभाव
लाभंच॥आकाशगमनंचोपवर्ण्यबहिरकल्पितावृत्तिर्विदेहाततः॥प्रकाशावरणक्षयः
त्सनेनशरीराहंकारणवामनोवृत्तिःसाकल्पिताख्यायदापुनः॥शरीराहंकारभावंपरित्य
ज्यस्वातंत्र्येणमनोवृत्तिःसाकल्पितामहाविदेहाख्यानत्संयमाच्चित्तमलक्षयोभवती
तिएवंसिद्धांतरयुक्तं॥एवंसमाध्युपयोगिनीरांतःकरणबहिः॥करणलक्षणेंद्रियभवाः
प्राणादिवायुजयभवाश्चसिद्धीर्योगिनश्चित्तदार्ढ्यायसमाश्वासोत्पत्तयेप्रतियाद्यसबीज
निर्बीजसमाधिसिद्धयेविधिधोपायाःसूत्रैःप्रदर्शितास्तानिव्याख्यासहितानिप्रदर्श्यंतेय
था॥स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्वसंयमाद्भूतजयः।स्थूलभूतानांपरिदृश्यमानविशिष्टा
कारवच्छन्दनयंचानांभूतानांयथाक्रमंकार्कश्यहशाउष्णताप्रेरणावकाशदानलक्षणं।स्वरू

पंसूक्ष्माणिकारणभूतानितन्मात्राणिअन्वयिनोगुणाःप्रकाशप्रवृत्तिस्थितयः अर्थवत्वंच
तेष्वेवगुणेषुभोगापवर्गसंपादनाख्याशक्तिः॥इतिपंचावस्थाविभिन्नभूतेषुप्रत्यवस्थंकर्म
णोसंयमंकुर्वन्भूतजयीभवति ॥ यथाप्रथमंस्थूलरूपेसंयमंविधायतदनुस्वरूपेइत्येवंक्र य
मेणकृतसंयमस्यसंकल्पितानुविधायिन्योवत्सानुसारिण्योगावइवभूतप्रकृतयोभ
वंति॥तस्यैवभूतजयस्यफलमाह॥ततोणिमादिप्रादुर्भावःकायसंपत्तद्धर्मानभिघातश्च
अणिमापरमाणुरूपतापत्तिः॥तेनोवज्रादीनामप्यंतःप्रविशति॥महिमामहत्वप्राप्तिः लघि
मातूलपिंडवल्लघुत्वप्राप्तिःगरिमामेरुरूपतापत्तिः॥अंगुल्यग्रेणचंद्रादिस्पर्शयोग्यताप्रा
प्तिःप्राकाम्यमिच्छानभिघातःशरीरांतःकरणयोः॥ईशित्वंसर्वत्रप्रभविष्णुत्वशित्वंसर्वा
ण्येवभूतान्यनुवाप्तित्वात्तदुक्तंवातिक्रामंतियत्रकामावसायित्वंयस्मिन्विषयेकाम १६०

इच्छातस्मिन्विषयेयोगिनोऽवसायापंवतितंविषयंस्वीकारद्वारेणाभिलाषपर्यंतंनयतीत्य
र्थः॥एतेसमाध्युपयोगिनोऽणिमादयोष्टौगुणामहासिद्धयइत्युच्यंते॥कायसंपदस्त्वलक्ष
णंसूत्रेणाह॥ रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वंवज्रवत्कठिनासंहतिरस्यशरीरेभवति॥शे
षंस्पष्टं॥तस्यकायस्यधर्मारूपादयःतेषामग्निवायादिनानाशोनभवति॥ अथभूतज
यमभिधायप्राप्तभूमिकस्येंद्रियजयमाह॥ ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्वसंयमादिं
द्रियजयः॥ग्रहणंइंद्रियाभिमुखीवृत्तिः॥स्वरूपंसामान्येनप्रकाशकत्वं॥अस्मिताहं
कारानुगमःअन्वयार्थवत्वेपूर्वमुक्ते॥एषामिंद्रियाणामवस्थापंचकेनपूर्ववत्संचेतित्रि
यमंकृत्वाइंद्रियजयीभवति॥तस्यफलमाह॥ततोमनोजवित्वंविकरणभावःप्रधानज
यश्च॥शरीरस्यमनोवदुत्तमोगतिलाभः॥कायनिरपेक्षाणामिंद्रियाणांवृत्तिलाभः॥स

यो॰ वि॰ र्ववशित्वं चेति त्रितयं फलं एताः सिद्धयो जितेंद्रियस्य प्रादुर्भवंति एताश्च मधुप्रतीकाख्याः य
थामधुन एकदेशोपि स्वदते मुदं धत्ते एवमेताः प्रत्येकमिति॥ अथांतःकरणजयमाह स
९६ त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च॥ तस्मिन्शुद्धसात्विके
परिणामे कृतसंयमनस्य सत्वपुरुषयोरुत्पद्यते विवेकख्यातिः गुणानां कर्तृत्वाभिमा
नशिथिलीभावरूपा॥ तन्माहात्म्यात्तत्रैवस्थितस्य योगिनः सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञा
तृत्वं च समाधेर्भवति॥ सर्वेषां गुणपरिणामानां भावानां स्वामिवदाक्रमणं सर्वाधिष्ठा
तृत्वं तेषामेव शांतोदिताव्यपदेश्यधर्मत्वेन स्थितानां यथावद्विवेकज्ञानं सर्वज्ञा
तृत्वं॥ एषा चास्मिन्शांतेऽस्यां वशीकारसंज्ञायां प्राप्तायां विशोका नाम सिद्धिरुच्यते॥ क्र
मेण भूमिकांतरमाह तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यं विशोकायामपि वैराग्यं यदाऽस्य ९६

द्यते योगिनस्तदा तस्माद्दोषाणां रागादीनां यद्बीजं अविद्यादि तस्य क्षये निर्मूलने कैवल्यं
आत्यंतिकी दुःखनिवृत्तिः पुरुषस्य गुणानामधिकारपरिसमाप्तिः स्वरूपप्रतिष्ठत्वं अ
स्मिन्नेव समाधौ स्थित्युपायमाह॥ स्थान्युपनिमंत्रणे संगस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्र
संगात्॥ चत्वारि योगिनः स्थानानि भवंति तत्राभ्यासवान् प्रवृत्तमात्रज्योतिः प्रथमः प्रथ
मकल्पिक इत्युच्यते॥ ऋतंभरप्रज्ञो द्वितीयो मधुभूमिक इत्युच्यते॥ भूतेंद्रियजयी तृती स
यः प्रज्ञाज्योतिरिति॥ अतिक्रांतभावनश्चतुर्थः॥ तस्य चतुर्थस्य समाध्याविर्भूतस
सविधप्रांतभूमिप्रज्ञस्यांत्यां मधुमतीसंज्ञिकां भूमिकां साक्षात्कुर्वतः स्थानिनो देवा उ
[illegible] देवा उपनिमंत्रयितारो भवंति॥ दिव्यस्त्रीरसायनादिकं ढौकयंति॥ तस्मिन्नु
पनिमंत्रणे अनेन संगो न कर्तव्यः नास्मिन्स्मयश्च॥ संगतिकरणे पुनर्विषयभोगेन

यत्न तिरस्मयकरणे कृतकृत्यमिवात्मानंमन्यमानो नसमाधिमुत्सहते अतः संगस्मययो
स्तेन वर्ज्जनं कर्तव्यं ॥ अस्यामेव फलभूतायां विवेकख्यातौ पूर्वोक्तसंयमव्यतिरिक्तमुपा-
यांतरमाह क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानं ॥ क्षणः सर्वांत्यः कालावयवो यस्य
कलाः प्रविभक्तुं न शक्यंते तथाविधानां कालक्षणानां यः क्रमः ॥ पौर्वापर्येण परिणा-
मः तत्र संयमात्प्रागुक्तं विवेकजं ज्ञानमुत्पद्यते ॥ अयमर्थः ॥ अयं कालक्षणोमुष्मा-
त्कालक्षणादुत्तरोऽयमस्मात्पूर्व इत्येवंविधे क्रमे कृतसंयमस्यात्यंतसूक्ष्मेपि क्षणक्र-
मे यदा भवति साक्षात्कारस्तदान्यदपि सूक्ष्मं महदादि साक्षात्करोतीति विवेकज्ञानोत्प-
त्तिः अस्यैव संयमस्य विषयविवेकोपायमाह ॥ जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात्तुल्य-
योस्ततः प्रतिपत्तिः पदार्थानां भेदहेतवो जातिलक्षणदेशा भवंति यथा गौरिकर्बुरा

उणेति जातिलक्षणे भेदके तुल्यपरिणामयोर्देशो भेदकः ॥ यत्र पुनर्भेदोवधारयितुं न श-
क्यते यथैकदेशस्थितयोः शुक्लयोः पार्थिवयोः परमाण्वोस्तथाविधे विषये कृतसंयम-
स्य यदा भेदज्ञानमुपजायते तदा तस्याभ्यासात्सूक्ष्माण्यपि तत्वानि बुद्ध्यादीनि भेदेन प्रति-
पद्यते उक्तस्य विवेकज्ञानस्य संज्ञां विषयं स्वभावं चाख्यातुं ॥ तारकं सर्वविषयं सर्वथावि-
षयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानं उक्तसंयमबलादंत्यायां भूमिकायां उत्पन्नं ज्ञानं तारयत्यगा-
धसंसारपयोधेर्योगिनमिति तारकं तस्य विषयमाह ॥ सर्वाणि तत्वानि महदादीनि विष-
योस्येति सर्वविषयं स्वभावश्चास्य सर्वथाविषयत्वं ॥ सर्वाभिरवस्थाभिः स्थूलसूक्ष्मादिभे-
देन तैस्तैश्च परिणामैः सर्वथा प्रकारेणावस्थितानि तत्वानि विषयोस्येति सर्वथाविषयं
॥ स्वभावांतरमाह ॥ अक्रमं चेति ॥ निःशेषनानावस्थापरिणतद्व्येकभावग्रहणेनास्य क्र-

यो॰ चिं॰ मोविघनइत्यक्रमंसर्वंकरतलामलकवद्युगपत्पश्यतीत्यर्थः॥तस्माद्वृत्तारकाख्याद्विवेक
ज्ञानात्किंभवतीत्याह॥सत्वपुरुषयोःशुद्धिसाम्येकैवल्यं॥साम्यंसत्वस्यसर्वथाकर्तृत्वाभि
१६३ माननिवृत्त्यास्वकारणेऽनुप्रवेशःशुद्धिःपुरुषस्यशुद्धिरुपचरितभोगाभावइतिद्वयोःस
मातानाकर्तव्यस्तत्करणेसिद्धिर्न्नेष्टाभवेत्॥तथाचशुद्धोमोक्षोभवति॥एवंचाभ्यासक्रमे
पाराज्यादिमोक्षपर्यंतासुजाःयष्मासुसिद्धिषुयोगिनान्तक्वापिप्रकाशनीयानचविस्मयोभिमा
नोवाकर्तव्यस्तत्करणेसिद्धिर्न्नेष्टाभवेत्॥तथाचदत्तात्रेयप्रवृत्तिलक्षणाख्यानात्योगिनोवि
स्मयात्तथा॥विज्ञानंविलयंनितिनगोप्याःप्रवृत्तयः॥योगतत्त्वप्रकाशे॥नसंदर्शयेत्स्वलोका
नांस्वसामर्थ्यंकदाचन॥कदाचिद्दर्शयेत्प्रीत्याभक्तियुक्तस्यवापुनः॥यथामूकोयथामूढो
यथावैबधिरोजनः॥तथावर्तेतलोकेपुस्वसामर्थ्यस्यगुप्तये॥नोचेच्छिष्याहिबहवोभवेयु १६३

र्न्नचसंशयः॥स्वकार्यात्तंचयोगीद्रव्याचयेपुर्न्नसंशयः॥तत्कर्मकरणव्यग्रस्याभ्यासोविस्म
तोभवेत्॥अभ्यासेनविहीनस्तत्ततोलौकिकमाचरेत्॥लौकिकेचसमासक्तोभवेद्भ्रष्टोनसं
शयः॥एवंकृपितंप्रकाशनीयंप्रकाशनेनिःफलंभवेत्॥तथाहठप्रदीपिकायांहठविद्या
परंगोप्यायोगिनांसिद्धिमिच्छता॥भवेद्वीर्यवतीगुप्तानिर्वीर्यातुप्रकाशितेति॥अभ्यासिद्ध
योगेनासिद्धयोगेनवाकालविन्हानिसर्वदावश्यंद्रष्टव्यानियानितानिर्नि लिख्यंते॥तत्र
सिद्धयोयोगेनजीवन्मुक्तिकामेनकालवंचनार्थं॥असिद्धयोगेनतुमरणकालेयोगसंस्मृ
पु तिःनर्जन्मांतरेयोगप्राप्तये॥तथाचगीतायां॥यंवापिस्मरन्भावंत्यजत्यंतेकलेवरं॥तंतमेवै यं
तिकौंतेयसदातद्भावभावितः॥एषाब्राह्मीस्थितिःपार्थनैनांप्राप्यविमुह्यति॥स्थित्वास्या
मंतकालेपिब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥कालवंचनविधिस्तुप्रसंगात्पूर्वमेवोक्तःतद्विह्नानियथा

स्कंदपुराणे॥वामनासापुटेयस्यवायुर्वातिदिवानिशं॥अखंडमेकंतस्यायुर्न्नशत्पक्षत्रयंमहि
॥अहोरात्रंअहोरात्रंरविर्वहतिसंततं॥अद्यैकवर्षंतस्येहजीवितावधिरुच्यते॥वहेन्नासापुट
१६५ नि युगेदशाहानिरंतरं॥वायुश्चेत्त्रितिसंक्रांतितदात्रीवेहतु॥त्रयंनासावर्त्मद्वयंहित्वामातरि
श्वामुखाद्गमन्॥शंसेद्वियातस्मादर्वाक्प्रयाणंनरवाध्रुवं॥निसूर्येसत्तमराशिस्थेजन्मर्क्षस्थे
निशाकरेपौष्णःसकालोनष्टव्योपदस्येरविर्वहेत्॥अकस्मात्तस्य तत्कालेमृत्युसंनिहि
तोभवेत्॥चिंतनीयःप्रयत्नेनसकालोमृत्युभीरुणा॥अकस्माद्वीक्षतेयस्तुपुरुषंकृ[illegible]पिंग ष्णा
लं॥तस्मिन्नेवक्षणेनूपंसजीवेद्वयं॥यस्यवीर्यमलंमूत्रंक्षुतं॥मूलंतुवाद्दहैकदाफले
तच्चेद्वर्षंतस्यायुरिष्यतेइंद्रनीलनिभंव्योम्निनागवृंदमहेक्षते॥इतस्ततःप्रचलितंपरा
मासंतुसजीवति॥अरुंधतींध्रुवंचैवविष्णुःस्त्रीणिपदानिच॥आसन्नमृत्युर्नेक्षेतचतुर्थे १६५

मातृमंडलं॥अरुंधतीभवेज्जिह्वाध्रुवो नासाग्रमुच्यते॥विष्णोःपदानिभ्रूमध्येनेत्रयोर्मातृमंड
लं॥वेतिनीलादिवर्णस्यकट्वम्लादिरसस्यच॥अकस्मादन्यथाभावंप[illegible]सेस्तनसमृत्यु ष्मा
भाक्॥षण्मासमृत्योर्यस्यकंठोष्ठरसनरदाःशुष्यंतिसततंदंतुजिह्वास्तालुपंचमा[illegible]रतः
रजनेत्रांलंनीलिमानंभजंतिचेत्॥तर्हिकीनाशनगरीयष्टेमासिव्रजेन्नरः॥द्रुतमानु
घसरटस्त्रिवर्णोयस्यमस्तकं॥प्रयातियातितस्यायुःषण्मासेपरिसंक्षयं॥ [illegible]स्नातस्या[illegible]
पितस्याशुहृद्यंपरिशुष्यतिचरणौच[illegible]करौचापित्रिमासंतस्यजीवितं॥छायाप्रकं
पतेयस्यदेहेहवंधेपिनिश्चले॥कृतांतदूताक्रांतिचतुर्थेमासितंनरं॥मतिभ्रंशस्खलद्वा
३ णीधनुरंद्रनिरीक्षते॥रात्रौचंद्रद्वयंचैवदिवाचंद्रौदिवाकरौ॥दिवासतारकांवदंरोव्योम
किनारकं॥पुगपश्वचतुर्दिक्षुशाखांकोदंडमंडलं॥भूतुहेमधरोगेवर्गेवनगरालयं॥

यो·चिं· दिवापिशाचनन्त्वं चत्येनपंचत्वहेनवः॥सर्वेष्वेतेपुचिन्हे पुष्येकमपिवीक्षते॥नद्दामासावु
धिंमत्युंप्रतीक्षेतनचाधिकं मोक्षितेयोहिपि शाचासुरवापसैःभूतैःप्रेतैःश्वमिर्गृध्रैगोमायु
१६५ खरसूकरैःशरभैःकरभैःकीरैःश्येनैरश्वतरैर्वकैःस्वप्नेसजीवितांतंप्रत्याबद्धर्धातेयममी
क्षतेगंधपुष्पाक्षतेशोणैःखांतनुंभूपितं नरःप्रशेपपश्येत्स्वप्नेसमयेस्तोष्टोमासांस्त्क
जीवति॥यांसुराशिंचवल्मीकंमूपरंडमथापिवायो धिरोहतिवैस्वप्नेसपष्टमासिनश्यति॥प
य एसरूढमात्मानंतैलोभ्यक्तंचमुंडितनौ॥यमाल्यंमाशायांयः स्वेन्तनु पूर्वः वत॥स्व
मौलौस्वतनौवापियः पश्येत्स्वप्न गोनरः॥तृणानिशुष्ककाष्ठानिषष्ठेमासिविनश्यतिलो
हदंडधरंकृष्णपुनुषंकृष्णवाससं॥स्वपन्योग्रेस्थितंपश्यंस्त्रीन्मासान्नलंघयेत्॥[redacted] १६५

[redacted]कालीकुमा
रीयंस्वप्नेवधीयाद्बाहुपाशकैः॥समासेनसमीक्षेतनगरीशमनोपितं॥नरोयोवानराव्रू
ढोयायात्प्रचींदिशंस्वपन्॥ दिनैःसपंचेपेरेववश्यैपेत्सप्रमनीपुरी॥कूपणोपिवदान्यःस्या
स द्वन्यःकृपणोपदिंप्रकृतेर्विकृतिश्चस्यात्तदापंचत्वमृच्छति॥एतानिकालचिन्हानिसन्या
चे निवहून्यपि॥ज्ञात्वाभ्यसेन्नरोयोगमथवाकाशिकांश्रयेत्नकालवंचनोपायंमुनेस्यप्
मवैम्पहमिति॥मार्कंडेयपुरापोक्तक्षीणकर्मवंधश्चज्ञात्वामृत्युमनिष्ठतःउत्क्रांतिकाले
संस्मृत्यपुनर्योगित्वत्वमृच्छति॥ तस्मादसिद्धयोगेनसिद्धयोगेनवापुनःज्ञेयात्यरिष्टनि
र् सदायेनोत्क्रांतप्रसीद अरिष्टानिमहाराजश्रृणुवक्ष्यामितानिते॥येपामालोकनान्मृत्युं
निजंज्ञानातियोगवित्॥अरश्मिविंवंसूर्यचवन्हिंचैवांशुमालिनंदृष्टैकादशमासांस्तुनरो

वर्षसजीवतिवमेन्मूत्रंपुरीषंचमः॥स्वर्णरजतंतथाप्रत्यक्षमथवास्वमेजीवितंदशमासि
त्सरांतानितक्षेत्तफलदीनिदिवानिशंविलोक्यानिसदाचैषाफलयुक्तेषुयोगीभीरुणाविज्ञाय
कार्योमित्तसिस्तचकालोत्तरेश्वरज्ञात्वाकालंचनंसम्यगभयस्यानमाश्रितःमुंजीतयो
गीकालोसौयथातस्याफलोभवेत्तदृष्टारिष्टंतथायोगीस्वत्कामरणजंभयंतत्स्वभावंतदा
लोच्यकालेयावस्तुपागतेतस्यभागेतथेवान्होयोगंमुंजीतयोगवित्॥पूर्वान्हेचापरान्हेच
दिने॥ मध्यान्हेवादितेयत्रवारजनीभागेतदारिष्टंनिरीक्षितंतत्रैवतावद्युंजीतयावत्प्राप्तंहित
द्भितंततस्स्वत्कामभयंसर्वंजित्वातंकालमात्मवान्तत्रैवावसथ्ये स्थित्वायत्रचस्थैर्यमात्म
नःमुंजीतयोगीनिर्जित्यत्रीन्गुणान्परमात्मनितन्मयश्चात्मनाभूत्वाचिद्वृत्तिमपिसंत्यजेत्॥
तातःपरमनिर्वाणमतींद्रियमगोचरंयद्बुद्धेर्यत्रचारम्भातुंशक्यतेतत्समश्नुतेत्रलमाम १६६

लेआकाशेविगतावुद्धेनिशिसितेपक्षेमुनःप्रत्यहंनाभौवापदयोर्ललाटफलकेवैकाग्रचित्तस्थि
रंछायायांप्रयमंविधायनयनंपश्येत्ततस्त्वंवरंसयःपश्यतितत्रकालपुरुषंरक्तासिविकुंठापमंतस्य
दर्शनमात्रेणसर्वपापैःप्रमुच्यतेसंपूर्णचयदापश्येत्तदामृत्युमसंकुतःसंपूर्णलक्षणोपेतंयदा
पश्यन्निर्मेनिलंतदानविद्यतेकालोयावत्संवत्सरोध्रुवंशिरोहीनेभवेन्मृत्युःषण्मासान्तात्रसंर
शयःवाहुहीनेभवद्व्याधिःस्याद्वासहादरक्षयःकल्लेचधननाशःस्यपोनिछिद्रमतिःस्त्रियाः॥
प्रध्येछिद्रशस्त्रर्षतैर्दुर्भिक्षंवाभविष्यतिविकाशेचसुभिक्षंस्याद्बीवाभग्नेनपक्षयःपीतव
र्णेभवंल्लाभःकृष्णवर्णेऽपमृत्युकृतंरक्तवर्णेभवेद्राज्यंश्वेतामेचिरजीवितंतस्यदर्शनमात्रे
णपुनर्जन्मनविद्यतेश्वेतादिवर्णरहितंशब्दरूपविवर्जितंज्ञास्यतिपरंतत्वंमनोवाचामगो तत
चरंगोपितेहिहरेन्मृत्युंगुरोरपितदर्शयेत्तद्दर्शितेतुफलंनास्तिगुमेयश्पंस्कालहाइनिरि

यो॰ चिं॰ कं निरध्यासनमेतत्तु मया साधनसंयुतं यथाशास्त्रं यथाबोधं संक्षेपेण निरूपितं श्रवणं
१६७ मननं चैव सविशेषं सविस्तरं वेदांतेष्वेव द्रष्टव्यं नोक्तं विस्तरभीतितः रहस्यं राजयोगस्य हठ
योगस्य प्रतिष्ठितं ॥ प्रकाशितं मया सर्वं प्रीतये योगिनामिह अर्वाचीनैरसाध्यत्वात्तलि
खितो न मया हि सः ॥ उद्दालकभुशुंडाद्यैर्हठयोगस्तपःकृतः कापालिकप्रणीतास्त
इति कर्तव्यतादयः लिखितास्तु मया नेतः श्रुतिस्मृतिविरोधिनः येनाराधि महादेवो गौ
री ब्रह्माथवा हरिः लंबोपि स योगात्सिद्धिमाप्नुयात् ० ॥ ॥ इति श्रीमत्परमहंस
परिव्राजकाचार्यश्रीरामचंद्रसदानंदसरस्वतीशिष्यशिवानंदसरस्वतीविरचिते यो
गचिंतामणौ चतुर्थः परिच्छेदः समाप्तश्चायं ग्रंथः ॥ ॥ शुभं भवतु सर्वेषां सर्वतः ० श्री
सप्तेंदुस्वरभूमिभिः परिमितसंवत्सरे वैक्रमे मासि श्रावणके ऽसिते हरिनियो चंद्रे ह्नि स्वा
द॰ रोधवाचा॰ १६७

यो॰ चिं॰ वातटेराजन्वत्यभिपित्ते त्र रामनगरे ऽलेखीद्धरं पुस्तकं प्रीत्यै कमलापतिः सुखनिधिं श्रीयो
गचिंतामणिम् ० ॥ समाप्तः ॥ ॥ संपूर्णः ॥ ॥ शुभमस्तु ॥ १८६२ भाद्रपद कृ
१६८ ष्णा अष्टमी ० ॥ श्रीगणाधिपतये नमः ॥ श्री ॥ फसं ॥ ॥ ॥ ३४१३ ॥ ० ॥ ० ॥

नं०१०४१-घ

योगचिन्तामणि: सटीक: (योगशास्त्रम्)

पत्राणि ३ (सम्पूर्णम्)

नं०१०५१-घ

३ पत्रे

कर्त्ता दुर्गादास वाचस्पति:

श्रीगणेशायनमः ॐब्रह्मरंध्रेति अहंद्वादशारसरसीरुहं भजे सेवे इत्यर्थः।
क्रियया कर्तुरूपस्थितिः द्वादशारं हसखफ्रेंसहलक्षमलवयूं इति द्वादशा
क्षरविशिष्टं द्वादशपत्रं तत्र ब्रह्मरंध्रसरसीरुहोदरे ब्रह्मरंध्रे त्रिकोणच
क्रं कर्णिकामध्यस्थे विसर्गस्थानं बिंदुनिलयं तद्विशिष्टसरसीरुहं अधो
मुखं सहस्रदलपद्मं तदुदरे तत्कर्णिकावस्थितत्रिकोणाभ्यंतरे नित्यलग्नं सर्वदा
वस्थितं तत्पुनः किंभूतं [illegible] अवदातं शुक्लं पुनः किंभूतं अद्भुतं आ
श्चर्यं ज्योतिर्मयत्वात् पुनः किंभूतं कुंडलीविवरकांडमंडितं अधोमुखचतुर्दल

ॐब्रह्मरंध्रसरसीरुहोदरे नित्यलग्नमवदातमद्भुतं कुं
डलीविवरकांडमंडितं द्वादशारसरसीरुहं भजे १ ॥

मूलाधारपद्मकर्णिकामध्यस्थाधोमुखरंध्रनिवारवत् स्वयंभूलिंगस्थवामभ
वबीजमृणालत[विवर]पमहिमुखसर्पाकारविश्वजननी शक्तिस्तेन मंडितं भूषितमित्य
र्थः शक्तिः कुंडलिनीतिया निगदिता परमार्थरूपेति नागभट्टः मेढ्रदेशात् सि
रसिगता इति योगचिंतामणौ विवरं ब्रह्मरंध्रगमनपथरूपं छिद्रं तस्य कांडं मृ
णालरूपं दंडं वज्राभिधं तस्य बाह्यमुखं श्वासोच्छ्वासविभजनार्थं अधोवक्त्र
किंजल्क पुंजमूलपद्मं तन्मध्ये परिभावयेत् विसतालतंतूपमेयाकृतिमिति
नागभट्टः १ ॥

१ तस्येति अहं अबलालयं भजेत् अबलाकामकला तस्या आलयं त्रिकोणपीठमित्य
र्थः कुत्रा तस्य कंदलितकर्णिकापुटे तस्य द्वादशदलपद्मं कंदलं कदंमलं लातिअ
नुगृह्णाति तद्विशिष्टायाः कर्णिकायाः पुटे संपुटे कंदलितमिति तारकादित्वादि
तः किंभूतं अकथादि त्रिरेखायाल्कृप्त याकृप्तरेखे अकारादिषोडशाक्षरेण
ककारादिषोडशाक्षरेण थकारादिषोडशाक्षरेण रेखाकारेण कृप्तारेखाया
यस्य त्रिकोणस्य पुनः किंभूतं कोणलक्षितहलक्ष मंडलीभावलक्ष्यं कोण

तस्य कंदलितकंदलितकर्णिकापुटे कृप्तरेखमकथादिरेखया कोण
लक्षितहलक्षमंडलीभावलक्ष्यमबलालयं भजे २ तत्पुटे प्रकटदाडिम
प्रभास्पर्धमानमणिपाटलप्रभं चिंतयामि हृदि चिन्मयं वपुर्बिंदुनाद
मणिपीठमंडलं ३ ॥

पु. अंतस्त्रिकोणेषु लक्षितानां हलक्षाणां मंडलीभावेन लक्ष्यं लक्षणीयं २ त
त्पुटेति अहं हृदि मनसि चिन्मयं वपुश्चिंतयामि ज्ञानमयं शरीरं द्वादशशब्दरूप
मित्यर्थः तत्पुटे तस्य त्रिकोणस्य मध्ये संपुटे वपुः किंभूतं प्रकटदाडिमप्रभास्प
र्द्धमानमणिपाटलप्रभमुत्तम दाडिमकुसुमप्रभया उघात्कपिलवर्णया स्पर्धे
मानानां सदृशानां मणीनां पाटलप्रभेव प्रभा यस्य तत्पुनः किंभूतं बिंदुनाद १
मणिपीठमंडलं यत्र तत् ३ ॥

ऊर्ध्वमिति अस्यचिन्मयस्य वाग्भवबीजस्योर्ध्वे आदिहंसयोर्युगं अहंव्याख्यामि
आङ्·पूर्वेमख्यधातोल्मिंतार्थः हंसइति अजपागायत्री ब्रह्मस्वरूपा चिन्मयासंन्या
सिनामुपास्येयं हंइतिशिवः सइतिशक्तिः एतांचादिसृष्टेः कारणत्वात् जीविनांप्रा
णहारिणीच हकारेणबहिर्याति सकारेणविशेत्पुनः सर्वेषांजीवरूपोहंसध्यायेत्।
द्धियानिश्चलं स्वात्मानंनिर्वातदीपनिभं हंसस्वरूपं बुधः इतिनागभट्टः ब्रह्मस्था
नेतद्युगं ब्रह्मस्वरूपं प्रपंचव्यापकरूपत्वात् हकारसकारयोरोपसंधानिकशक्ति

ऊर्ध्वमस्यहुतभुक्शिखासखंतद्विलासपरिबृंहणास्पदं विश्वघ
स्मरमहोच्छिदोत्कटंव्याख्यामियुगमादिहंसयोः ४ ॥ ॥

त्वात् नित्यद्वित्वमेव यथास्तनयोर्युगमितिचंडी तत्पुनःकिंभूतं हुतभुक्शिखा
सखं हुतभुजोवन्हेः शिखायाःसखा हुतभुक्शिखासखं राजादित्वात् अग्नि
शिखातुल्यमित्यर्थः पुनःकिंभूतं तद्विलासपरिबृंहणास्पदं तदनिर्वचनीय
विलासानामद्भुतकांतीनां बृंहणं वर्धनंतस्यास्पदं· स्थानं अत्यंतकांतीनांवर्ध
नस्थानमित्यर्थः पुनःकिंभूतं विश्वघस्मरमहोच्छिदोत्कटं विश्वमेव घस्मरं
हेयत्वात् तस्यमहोच्छेदनं महोच्छिदआर्षत्वात् गुणाभावः तेनोत्कट अत्यंत
प्रपंचाभावादित्यर्थः ४ ॥

२ १ तत्रनाथेति तत्रहंसपीठे मुखमेकंतेषण्मुखानि कार्त्तिकेयस्यषण्मुखप्रसा
वेतद्व्यक्तीकृतं नाथचरणारविंदयोर्द्वंद्वमर्थान् मममानसंस्मरति चिंतयतीत्य
र्थः स्मृ चिंतायां नाथो गुरुः तयोः किंभूतयोः कुंकुमासवझरीकरंदयोः कुंकुम
मेवासवं· कुंकुमासवं रक्तवर्णं परमामृतं तस्यझरिप्रवाहः सएवाकरंदोमक
रंदः पुष्परसोययोः परमामृतस्यपुष्परसतुल्यत्वं करंदशब्दोमकरंदवाची
तिशिवोक्तत्वात् किंवाएकदेशान्वयः किंभूतंद्वंद्वं इंदुमकरंदशीतलं इंदोश्चंद्र

तत्रनाथचरणारविंदयोः कुंकुमासवझरीकरंदयोः द्वंद्वमिंदु
मकरंदशीतलंमानसंस्मरतिमंगलास्पदं ५ निषक्तमणिपादु
कानियमिताघकोलाहलं स्फुरत्किसलयारुणनखसमुल्लसत्

स्यमकरंदः किरणामृतंतद्वच्छीतलं इंदुकरः कंदशीतलमितिपाठे चंद्रस्यकरः
किरणमेव कंदंमूलंतद्वत् शीतलं पुनःकिंभूतं मंगलंमोक्षस्तस्यास्पदं मुक्तिस्था
नमित्यर्थः मुक्तिदमितियावत् ५ निषक्तमणिपादुकेति अहंगुरुपादारविं
दद्वयंभजामि किंभूतं सिरसिस्थितं तदस्थलक्षणया शिरसिस्थितंचंद्रमंडले॥
एतदेवपंचमपादुकास्थानं किंभूतं निषक्तमणिपादुकानियमिताघकोलाहलं
आसक्ताभ्यां मणिपादुकाभ्यांनियमितोनिरस्तीकृत आघानांकोलाहलः कलक २.
लोयत्र यद्वानिषक्तमणिपादुकामिति पृथक्पदं पुनःकिंभूतंस्फुरत्किसलयारुणं

स्फुरद्भिः किसलयैः पत्रैररुणैः किंवा स्फुरंति किसलयानि अरुणरागेणेत्यर्थः॥ पद्मासनस्थितत्वात् चक्रमद्धिसहस्रदलपद्मं कमलं सुधावर्षिणं इतिपंचम स्तवराजे पुनः किंभूतं नखसमुल्लसच्चंद्रकं नखैः समुल्लसन् समुल्लासयन्॥ चंद्रो येन अंतर्भावित एवार्थः हंसपीठे षोडशाकलापूर्णचंद्रमंडलैवा गुरोरख। स्थानात् नखएवसमुल्लसच्चंद्र इतिवापाठः पुनः किंभूतं परामृतसरोवरोदि तसरोजसद्रोचिषं परामृतानां अत्यंतशुक्लानां सद्रोचिषं रक्तप्रकाशोयत्र त दत्यंतशुक्लमित्यर्थः चंद्रशुक्लत्वादमृतस्य शुक्लत्वं तद्घटितत्वाच्चंद्रस्य ६॥

परामृतसरोवरोदितसरोजसद्रोचिषं भजामिशिरसिस्थितंगुरुपदा रविंदद्वयं ६ पादुकापंचकस्तोत्रं पंचवक्त्राद्विनिर्गतं षडाम्नायक्र मप्राप्तं प्रपंचेचातिदुर्लभम् ७ ॥ इतिजोगचिंतामणिसंपूर्णं ॥

स्तोत्रमिदंपंचवक्त्राद्विनिर्गतं शिवस्येत्यर्थः एतेन गायत्र्या अर्थो दर्शितः यथाच तुर्वेदप्रस्तुतगायत्रीमहेश्वरवदनोत्पन्ना ब्रह्मस्वरूपा ब्रह्मविष्णुशिवप्रभृतीनां प्रतिपादिका तथेदं स्तोत्रं ब्रह्मस्वरूपं सर्वप्रतिपादकं एतद्देवपंचवक्त्राद्विनि र्गतं किंभूतं पादुकापंचकं पादुकायाः पंचस्थानानि यत्र तत् अर्थाद्गुरोः पु नः किंभूतं षडाम्नायानां क्रमस्यप्राप्तं यत्र भावेक्तः केषडाम्नायाः तत्राह॥ शिवस्य पंचवदनानि पूर्वदक्षिणपश्चिमोत्तरोर्ध्वस्थानानि पूर्वईशानष

२ स्थितमेकं मुखं तेन षण्मुखानि कार्त्तिके यस्य षण्मुखप्रस्तावे प्रकटीकृता
नि तदा सत्ययुगे शिवपार्वतीसंवादे पि के देवाः धर्मनियमार्थदातारः कादेव्योऽ
3 र्मार्थकाममोक्षदाय्यः तत्र शिवेन पश्चिममुखेन नारायणवेङ्कवादि नारसिं
हवाराहप्रभृतयश्चतुर्वर्गदातारो मंत्राः कथिताः सोपायाः स पश्चिमाम्नायः।
दक्षिणमुखेन प्रासादादि दक्षिणामूर्त्तिप्रभृति चतुर्वर्गप्रदातारो मंत्राः सोपायाः
कथिताः स दक्षिणाम्नायः पूर्वमुखेन भुवनेश्वरी अन्नपूर्णा महालक्ष्मी सरस्व
ती प्रभृतीनां विद्याः सोपायाः कथिताः स पूर्वाम्नायः उत्तरमुखेन काली तारा म
हिषमर्द्दिनी त्वरिता जयदुर्गादि शक्तिप्रभृतीनां विद्याः सोपाध्यायाः कथिताः॥
चतुर्वर्गप्रदातारः स उत्तराम्नायः ऊर्ध्वमुखेन त्रिपुरेणा महात्रिपुरभैरवी त्रिपु
रसुंदरी प्रभृतीनां विद्याः कथिताः स ऊर्ध्वाम्नायः ईशानमुखे सर्वमंत्रविद्यास्था
नानि सन्तु मालानैवेद्यादि मंत्रविद्याभेदाः कथिताः स ईशानाम्नायः एते षडाम्नायाः
कथिताः तेषां यानि फलानि तेषां प्राप्तिः स्तोत्रे स्मिन् पुनः किंभूतं प्रपंचे आब्रह्मस्त
म्बपर्यंते चतुर्द्दशभुवनेपि दुर्लभं यदुक्तं द्वापरादौ युगे कल्ये कलया मानुषादिषु आ
गमैः कल्पितैर्वत्स जनान्मद्विमुखान्कुरु अस्यार्थः द्वापरादौ द्वापरसमीपे कलि
युगे आदिशब्दोत्र समीपवाची द्वापुरस्यावसाने युगेतु श्रीकृष्णानुमत्या पूर्वा
म्नाय उक्तः भुवनेश्वरी मंत्रस्य धनंजयोपासितत्वात् मानुषादिषु कलौ कलया।
शेन उन्मत्तो भूत्वा तेनोयकादि सिद्धिप्रपंचभूतडमरादिरूपैरागमैः कल्पितैर्वत्स
जनान्मद्विमुखान्कुरु अन्यथा पश्चिमाम्नायोक्तक्रमेण गौतमीयसनत्कुमारी २
यतंत्रप्रतिपादितोपासनाबाधाप्रतिपत्तिः स्यात् तेनोत्तरोत्तरास्त्यपि स्यादिति।
श्रीकृष्णार्पणमस्तु लिखितं जवाहरगिरस्येदं पुस्तकं श्रीराम जयराम ॥

प्रति एतद्वचनानुसारेण षडाम्नायोक्तोपासनाबाधां ये कुर्वन्ति ते मंदबुद्धयः इति

।। अमनस्कयोग ।।

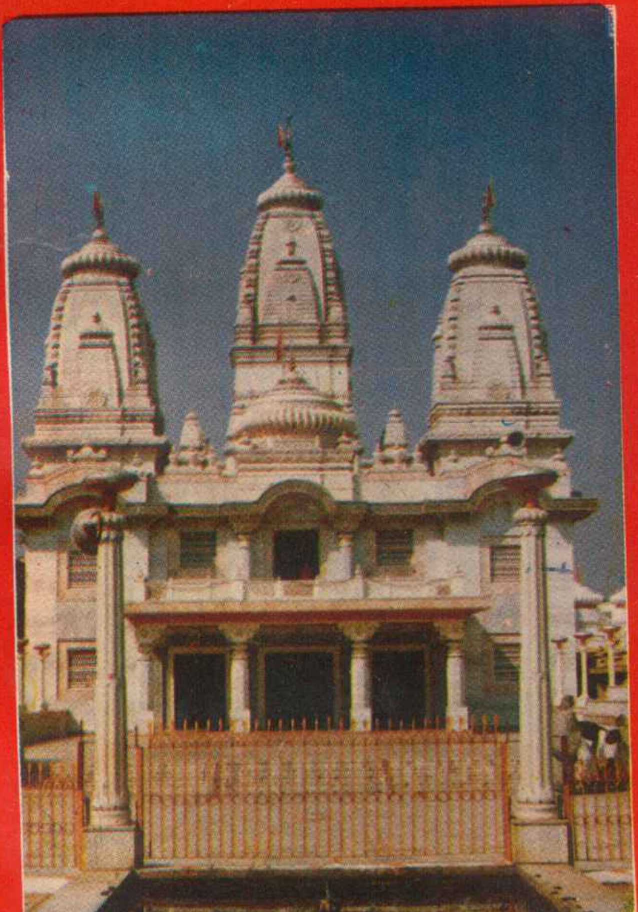

गोरखनाथ मन्दिर, गोरखपुर

30-00

अमनस्कयोग

प्रणेता

{शिवगोरक्ष}

महायोगी गोरक्षनाथ

सम्पादक

रामलाल श्रीवास्तव

गोरक्षनाथ-मन्दिर

गोरखपुर

सं० २०५६ वि०

अमनस्क

निक्षिप्तं कनकं विहाय कलुषं यद्वद् भवेन्निर्मलं
निर्वातस्थितनिस्तरंगमुदकं स्वच्छस्वभावं परम्।
तद्वद् सर्वमिदं विहाय सकलं देदीप्यते निष्कलं
तत्त्वं तत्सहजं स्वभावमलं जातेऽमनस्के ध्रुवम्।।

अग्नि में डाला हुआ सोना जैसे कालिमा का त्याग कर निर्मल हो जाता है एवं जैसे निर्वात (वायुरहित) स्थान पर जल तरंगरहित तथा स्वच्छ-स्वभाव रहता है, वैसे ही अमनस्क हो जाने पर सकल (कलासहित) तत्व निश्चय ही इस प्रपंच का त्याग कर निर्मल, निष्कल, सहजस्वभाव हो जाता है।

{ अमनस्कयोग २ / ७८ }

निवेदन

'अमनस्कयोग' शिवगोरक्ष महायोगी गोरखनाथ का असाधारण मौलिक तथा अन्तरंग योगसम्बन्धी अनुग्रहवाङ्मय है, जिसकी महनीयता के रसास्वादन का प्राण है स्वसंवेद्य अलखनिरंजन परमतत्व-परमपद, महाशून्यस्वरूप परमेश्वर का अनायास सहज साक्षात्कार। उन्होंने असंख्य प्राणियों को भवसागर से तरने का सहज उपाय निर्दिष्ट किया, जो साधनापेक्ष होकर भी नितान्त निरपेक्ष और स्वसंवेद्य तथा स्वाभिव्यक्त है। यह अमनस्कयोग गुरू के सन्निधान से श्रद्धापूर्वक संस्थित होकर अन्तरंग साधना के अमृततत्व से जीवन को सम्पन्न करने पर अथवा जीवनमुक्त का वरण करने पर ही साध्य है, जब तक गुरू के उपदेशामृत से अन्तःकरण की मायिक तमिस्रा का मूलोच्छेद नहीं होता, तब तक अमनस्कसिद्धि का स्वर्णोदय स्वप्न मात्र है।

जागतिक विषय-प्रपञ्च और योग-साधना के बाह्य अंगों से मन को तटस्थ और उदासीन रखने के साथ-ही-साथ उसे इनसे अतीत करना ही अमनस्कयोग है। गोरखनाथजी ने इसे तारकयोग कहा है। यह योग का अन्यतम साधनास्वरूप है। इसमें इसमें अतिमानसता नहीं, अमनस्कता का ही पक्ष ग्रहण किया जाता है। इस तारकयोग के दो विभाग हैं। पहला पूर्वतारक है। इसकी साधना मनसापेक्ष है और दूसरा अमनस्क योग है, जिसकी साधना में मन उन्मनी समाधि की सिद्धि के द्वारा उन्मन कर दिया जाता है और परमात्मस्वरूप में उसका महालय स्थापित कर अमनस्कता की सिद्धि की जाती है। महायोगी गोरखनाथ ने कहा है कि मन के द्वारा कल्पित समस्त बाह्य साधना के अंगो का परित्याग कर एकमात्र अमनस्कयोग का ही सेवन करना श्रेयस्कर है। उनका स्पष्ट और सहज उपदेशामृत है-

तस्मात् तत्सकलं मनोविरचितं त्यक्त्वाऽमनस्कं भज।

(अमनस्कयोग १ / २०)

उन्होंने अमनस्कयोग को सद्यः प्रत्ययकारक बताया है। इसकी साधना से तत्वज्ञान की सहज अनायास प्राप्ति होने पर साधक सिद्ध होकर परमपद

अथवा परमशिव परब्रह्म अलख निरंजन में प्रतिष्ठित हो जाता है।

अमनस्कयोग का गोरखनाथजी की अन्यान्य संस्कृत रचनाओं में महत्वपूर्ण स्थान है। पहले यह ग्रंथरत्न केवल चर्चा का विषय था, पर जिज्ञासा-जगत् के लिये यह ग्रन्थरत्न अधिक दिनों तक प्रच्छन्न न रह सका। महामहोपाध्याय गोपीनाथजी कविराज महोदय ने इसके बंगला लिपि में एक संस्करण का दर्शन किया था। श्रीयोगनाथ स्वामी को इस ग्रंथरत्न की खोज करते समय कन्नड़ लिपि में प्रारम्भ के ९८ श्लोक मिले और अनवरत परिश्रम के परिणामस्वरूप उन्होंने राजस्थान, सौराष्ट्र, नेपाल आदि के नाथयोगसम्प्रदाय के प्रसिद्ध संस्थानों, मठों में खोजकर अपरभाग-अमनस्कखण्ड के शेष ११३ श्लोकों की प्राप्ति भी की। योगनाथस्वामी महोदय ने 'सिद्ध-साहित्य-संशोधन मण्डल' पूना से सम्वत् २०२४ वि० में अमनस्कयोग का हिन्दी में भाषान्तरसहित प्रकाशन किया। गोरखनाथ-मंदिर, गोरखपुर के तत्वावधान में प्रकाशित होनेवाले प्रस्तुत संस्करण में पूना-संस्करण का ही पाठ न्यून परिवर्तन के सहित देने का प्रयास किया गया है, यद्यपि यह पाठान्तर नगण्य ही है। इस अमनस्कयोग ग्रंथरत्न के प्रकाशन के लिए श्रीयोगनाथ स्वामी के प्रति हम आभार-ज्ञापन करते हैं और स्वीकार करते हैं कि यदि उन्होंने इतना मनोयोगपूर्वक श्रम न किया होता तो अमनस्कयोग ग्रंथ का शाब्दिक दर्शन दुर्लभ ही था।

इस ग्रंथरत्न के सम्पादन में मुझे गोरक्षपीठाधीश्वर महन्त श्रीअवेद्यनाथजी महाराज ने जो प्रोत्साहन और सत्प्रेरणा दी है, वह उनका आर्शीवाद ही है। मैं महायोगी गोरखनाथ की यौगिक दिव्य विभूति की वन्दना करते हुए महन्त श्री .... के श्रीगोरखनाथसम्बन्धी योगवाङ्मय के प्रकाशन-संकल्प की पूर्ति की दिशा में इस ग्रंथ के सम्पादन और प्रकाशन को अपना सौभाग्य समझता हूँ। इस अमनस्कयोगग्रंथरत्न के साधना-जगत् की जिज्ञासा का सहज समाधान होगा।

आनन्दसदन, अलीनगर, गोरखपुर
रामनवमी, २०३७ वि०

रामलाल श्रीवास्तव
सम्पादक 'योगवाणी'

अमनस्कयोग की साधना

शिवगोरक्ष महायोगी गोरखनाथजी ने अपने सिद्धमत में साधना की सिद्धि की पृष्ठिभूमि में मन की अमनस्कता-उन्मनीकरण पर अत्यधिक बल दिया है और इस उन्मनी अवस्था की कैवल्यस्वरूपिणीज्योति अथवा अलखनिरंजन के साक्षात्कार के रहस्य की अनुभूति पिण्ड में साम्यरस्यसिद्धान्त के स्तर पर की है। उन्होंने कहा है :-

पिण्डे सर्वगतं विधानममलं सिद्धान्तसारं वरम्।
(सि० सि० प० ६/९३)

हमारे सिद्धामृत मार्ग अथवा नाथयोग में यही चरम प्रतिपाद्य परमोत्कृष्ट सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त का प्राण है द्वैताद्वैतविवर्जितवाद। यह सिद्धान्त "अद्वैतोपरि सदानन्द देवता" की अपरोक्षानुभूति का पोषण करता है, यही नाथयोग का गुह्यतम मर्म है। महायोगी गोरखनाथ की विज्ञप्ति है कि शून्य, निरंजन, परमपद, परमशिव ही निरंजन है। सिद्धमत में यह निरंजन ही परमात्मा है।

अपरम्परं परमपदं शून्यं निरञ्जनं परमात्मेति।
(सि० सि० प० १/१७)

इस परमपद की प्रतिष्ठा मन की उन्मनी स्थिति में है। यही अमनस्कयोग साधना का परम निगूढ़ रहस्य है। प्राणीमात्र पर अहैतुक कृपा करने के लिए, उन्हें कायिक, वाचिक और मानसिक अन्धकार से बाहर निकालकर परमात्मास्वरूप में प्रतिष्ठित कर भव-सागर से पार उतारने के लिए गुरूगोरखनाथ ने शाश्वत, सनातन प्राणसंजीवनी के रूप में महाज्ञानस्वरूप योगामृत का प्रकाशन किया। उनकी योगबीज, सिद्धसिद्धान्तपद्धति, महार्थमंजरी, गोरक्षसंहिता, विवेकमार्तण्ड, योगमार्तण्ड तथा अमनस्कयोग आदि संस्कृत रचनाओं में तथा भाषा में उपलब्ध "गोरखबानी" जैसी महनीय कृति में उनके योग का प्रतिपादन सहज

सुलभ है। अण्ड-पिण्डगत समस्त ब्रह्माण्ड-परिव्याति के स्तर पर शिवपद-परमपद में सामरस्य के स्थापना द्वारा अमनस्क की सिद्धि ही नाथयोग का सनातन अमृतस्रोत है, जो अनन्त है, अकाल है, अनादि है, अस्ति-नास्ति दोनों अवस्थाओं से विलक्षण अथवा विवर्जित स्वसंवेद्यत्व है।

चित्त की संचलता पर नियंत्रण प्राप्त कर लेना योगसाधना की सिद्धि के पथ में एक महान प्रयोग् है। जब तक चित्त चंचल है, तबतक साधक प्राणशक्ति पर स्वामित्व स्थापित नहीं कर सकता और इस तरह चित्त की चंचलता और प्राण की असमर्थता से योग में सफलता मिलना बड़ा कठिन है, चित्त की चंचलता का निरोध ही मन की वृत्तियों के निरोधपूर्वक अमनस्क भाव की उपलब्धि है। महायोगी गोरखनाथ ने अपनी भाषारचना "सिष्टपुराण" में चित्त की चंचलता को सबसे बड़ा रोग कहा है, उससे बड़ा कोई रोग है ही नहीं। उनका कथन है :-

चित चंचल उपरांति रोग नाहीं।

(सिष्टपुराण)

इस रोग का निराकरण अलख-निरंजन की अपरोक्षानुभूति से ही होती है और अपरोक्षानुभूति का माध्यम है मन का उन्मनीकरण अथवा अमनस्कयोग का अभ्यास। नाथयोग में अमनस्कता का तात्पर्य अतिमानसता नहीं है, अतिमानसता प्राण और मन के लय की स्थिति है, इस स्थिति से ऊँकारातीत शून्यावस्था ही अमनस्क्ता का पर्याय है, जिसमें एकमात्र निरंजन परमतत्व परमेश्वर ही परिव्याप्त होता है, यही ध्यान की परिपूर्णावस्था है, इसी अमनस्कता अथवा ध्यानातीत अवस्था को दृष्टि में रखकर महायोगी ने 'सिष्टपुराण' की अन्तिम पंक्ति में कहा है -

निरंजन उपरांति ध्यान नाहीं।

निरंजनतत्व की अपरोक्षानुभूति ही आत्मज्ञान की चरम परिणति महायोगज्ञान है, इसी का शिवसंहिता में शिव ने परिलक्षण किया है कि एक ज्ञान ही नित्य और आदि-अन्त से रहित है, जगत् में ज्ञान से भिन्न अन्य वस्तु नहीं हैं, यही आत्मज्ञान स्वरूपाभिव्यक्ति की प्रतीक, सच्चिदानन्दस्वरूप की परमज्योति है।

एकं ज्ञानं नित्यमाद्यन्तशून्यम्।
(शिवसंहिता १/१)

इसी परमज्ञान में मन की विलीनता- सहज-शून्य में निरंजन मायातीत स्थिति ही अमनस्कयोग की सिद्धि का स्तर है। शिवगोरक्ष महायोगी गोरखनाथ ने इस अमनस्कयोगविद्या को अमृतत्व की प्रतिपादिका सनातन-अक्षय और मायातीत कहा है। यह कला-उत्कृष्ट योगप्रक्रिया साधक के लिए योगसिद्धि की दिशा में परमानन्दप्रदायिनी है। योगेश्वर गोरखनाथजी की अमृतमयी विज्ञप्ति है:

अमृतोद्दीपन विद्या निरपाय निरंजना।
अमनस्का कला कापि जयत्यानन्ददायिनी।।
(अमनस्योग २/२१)

अपनी अमनस्कयोग रचना में गोरखनाथजी ने वामदेव और शिव के योगपरकसंवाद के रूप में अमनस्कत्वपर प्रकाश डाला है। शिव ने वामदेव की जिज्ञासा के समाधानरूप में तारकयोग के रहस्य, योगीगुरू के लक्षण और महत्व अथवा गुरूत्व, योगसाधना के स्थान, योगासन, क्रियायोग आदि का प्रतिपादन करते हुए मन के निरंजन परमात्मतत्व में विलीनीकरण अथवा लय-साधना का मर्म अत्यन्त सरल-सुबोध भाषा में समझाया है।

अमनस्कयोग में दो खण्ड हैं। पहले खण्ड में साधना के स्तर पर बाह्याडम्बर और ब्यर्थ की बाह्य साधना के प्रति उपेक्षात्मक दृष्टिकोण अपनाया गया है। आसन, बन्ध, मुद्रा आदि में श्रम को समय का अपव्यय कहा गया है, अज्ञान कहा है। षटचक्रों के बेधनस्वरूप उनमें ध्यान-क्रिया को चित्त का विभ्रमभाव कहा गया है और अन्ततः अमनस्कता की साधना के ही वरण पर विशेष बल दिया गया है। योगसाधना से प्राप्त अष्ट सिद्धियों को परमतत्व के साक्षात्कार के मार्ग में अश्रेयस्कर बताया गया है। प्राण में मन के और मन में प्राण के लय के द्वारा अजरत्व और अमरत्व को योगाभ्यास का श्रेय कहा गया है। अजरता और अमरता की मनोलय के स्तर पर प्राप्ति से महाप्रलय होने पर भी योगी का पात अथवा लय या क्षय नहीं होता। दूसरे खण्ड में तारकयोग

और अमनस्कयोग में भेद का निरूपण उपलब्ध होता है। इस अमनस्कखण्ड में शाम्भवी मुद्रा के रहस्य और शाम्भवयोग तथा मन के सम्पूर्ण लय अथवा अमनस्कविद्या के स्वरूप का विवेचन किया गया है। परम कारूणिक गोरखनाथ ने इस यौगिक कृति में बाह्याडाम्बर तथा हठयोग के नाम पर प्रचलित बाह्य अनावश्यक साधन-क्रमों की साधक के लिए उपेक्षा अथवा तटस्थता को ही श्रेयस्कर कहा है। अमनस्कविद्या वास्तव में योग की महाविद्या है।

मन की शक्ति अप्रमेय है। नाथयोग में और विशेषरूप से महायोगी गोरखनाथ की करूणा दृष्टि में मन साक्षात् शिव-स्वरूपा शक्ति और शक्ति का सहज अधिष्ठान शिव है, जीवात्मा का अभिन्नशिवस्वरूप है और इन सभी विधाओं से अतीत परमशिव है, यह परमशिवस्परूपावस्थिति ही उसकी निरंजन अमनस्कता है। हमारे सिद्धमत में कहा गया है-

यहु मन सकती यहु मन सीव।
यहु मन पाँच तत्व का जीव।।
यहु मन ले जै उनमन रहै।
तो तीनि लोक की बातां कहै।।
(गोरखबानी सबदी ५०)

योगसाधना में सिद्धि मन को सम्पूर्ण वश में करने (लय करने) का चरम फल है। यह मन योग के क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है। इस मन को योगी उन्मन रखता है, परमात्मचिन्तन के अभिमुख रखता है। मन को शून्यपद ब्रह्मरन्ध्र में स्थित करना ही योगी की उन्मनी अवस्था की प्राप्ति कही जाती है। मन फिर उस पद से वापस नहीं होता है, नहीं उतरता। मन के उन्मन होने पर चन्द्रस्राव का पान करने पर पिण्ड में ही स्थित सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों का तात्विक अभिज्ञान योगी की बुद्धि में अभिव्यक्ति हो उठता है, वह उनका प्रत्यक्ष दर्शन (साक्षात्कार) कर परमात्मस्वरूप के अनुभव से कृतार्थ हो जाता है। अमनस्कयोग की साधना मनोवैज्ञानिक होकर भी आत्मवैज्ञानिकता के प्रकाश में साधक को स्वरूपानुभूति की परमचिन्यम ज्योति अथवा आत्माभिव्यक्ति में

प्रतिष्ठित करती है। अमनस्कयोग गोरखनाथजी की साधना-जगत् को मौलिक देन है, जो महर्षि पंतजलिप्रतिपादित असम्प्रज्ञातसमाधि के परे की मन की महालयावस्था है। योगीन्द्र मत्स्येन्द्रनाथ ने इस महालयावस्था को शून्य के रूप में मन का वासस्थान बताया है। मन ऐसे तो हृदय से अतीत होता है, पर यदि हृदय से अतीत होता है, उन्मन होकर अमनस्क होता है तो वह शून्य में ही महालयस्थ हो जाता है। गोरखनाथजी ने गुरू मत्स्येन्द्रनाथ से पूछा कि यदि हृदय न होता तो मन कहाँ रहता। मत्स्येन्द्रनाथ ने तत्काल उनकी जिज्ञासा का समाधन किया।

अवधू हिरद न होता तब सुंनि राता मन।
(मछीन्द्रगोरष-बोध २८)

मन के स्वरूप पर हमारे परमपूज्य सिद्धपुरूष गम्भीरनाथजी ने (योगरहस्य के पृष्ठ ७६ पर) कहा है कि केवल मात्र समाहितचित्त योगियों की ही चांचल्य निवृत्ति होती है- संकल्प-विकल्प ही मन है। मन नाम की कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं है। संकल्प-विकल्प के प्रवाह को ही मन कहा जाता है। ये तत्वप्रकाश में बाधा डालते हैं। मनुष्य जितने दिन तक योग में समाहित होकर अमरत्व नहीं प्राप्त कर पाता, तब तक संकल्प-विकल्प से मुक्ति नहीं पाता। संकल्प-विकल्प के नाश से ही मनोनाश होता है और तत्वज्ञान की स्फुरणा होती है। संकल्प-विकल्प की लयावस्था ही मन की अमनस्कता है। हमारे नाथसिद्धों ने मनोलय के स्तर पर अत्यन्त समन्वयात्मक शास्त्रसम्मत दृष्टिकोण अपनाते हुए भी नाथयोग के सिद्धान्त की विशिष्टता सुरक्षित रखी है। 'नाथयोग में मनोलय एक अत्यन्त गूढ़ और रहस्यात्मक साधन-प्रक्रिया का मौलिक दृष्टिकोण है ।

समुद्र की अनन्तता का अन्त मिल सकता है, उसकी लहरों के पार जाना सम्भव है, पर मन की रहस्यात्मकता का पार पाना कठिन है। मन की वृत्तियों का लय होने पर ही अंजनरहित निरंजनपद की प्रतिष्ठा प्रकाशित होती है। सिद्धकृष्णपाद की वाणी है :-

समदां की लहर्‌याँ पार जुपाइला।

मनवा की लहर्याँ पार न आवै रै लो।।

(नाथसिद्धों की बानियाँ ५८)

निःसन्देह हेतुदृष्टान्तनिर्मुक्त और मन तथा बुद्धि से अगोचर व्योम (शून्य) विज्ञानानन्दस्वरूप परमतत्व की अपरोक्षानुभूति के लिए अमनस्कता की साधनसापेक्षता अनिवार्य है। जिस तरह घी में घी मिलने पर घी हो जाता है, दूध में दूध मिलने पर दूध हो जाता है, उसी तरह अमनस्कता के स्तर पर तत्व में समाहित होकर योगी तत्वाकार हो जाता है। वह नित्य शक्तितत्वानन्दस्वरूप शक्तिमान् परमेश्वर हो जाता है, यही सिद्धमत का स्वारस्य है और अमनस्कयोग का श्रेय है। महायोगी गोरखनाथ ने मन के अवारित रूप को ही अपनी-योग-प्रक्रिया में प्रश्रय दिया है। उनका कथन है :-

अवधू यो मन जात है याही तै सब जांणि।
मन मकड़ी का ताग ज्यूं उलटि अपूठौ आंणि।।

(गोरखबानी सबदी २३४)

आशय यह है कि मन बड़ा ही चंचल है, इसका निग्रह बहुत ही कठिन है, यह क्षण-क्षण में अस्थिर होता रहता है। अवधूत के प्रति गोरखनाथजी का निर्देश है कि मन का निग्रह करना आवश्यक है। समस्त सृष्टि, उसके अधिष्ठाता और अधिष्ठात्री तथा उसमें जन्म लेने वाले और मरने वाले शरीरधारी जीव सब-के-सब इसी मन के ही स्वरूप, अरूप, और रूप है। जहाँ से मन को न तो रोकना चाहिए और न चंचल होने देना चाहिए। जहाँ से मन की चंचलता आरम्भ होती है, उसे वहीं वापस ले जाना चाहिए। जिस तरह मकड़ी जाल से बाहर निकलने पर उसमें वापस जाने में ही अपनी सुरक्षा समझती है, ठीक इसी तरह मन का धर्म स्थिरता है, वह स्थिर होने पर ही सुरक्षित रहता है, स्थिर मन ही उन्मन अथवा अमनस्क होकर योगसाधना को सिद्धि कर देता है।

यह अच्छी तरह समझ लेने का विषय है कि हठयोग में प्राण-अपान के संगम पर मनोबल विहित स्वीकार किया गया है पर अमनस्कयोग के धरातल पर

मन का सम्पूर्ण सहज स्वाभाविक उन्मनीकरण ही राजयोगसिद्धि की चरम अथवा अन्तिम भूमिका है। यही मन का आत्यन्तिक लय है, जिसका फल है ब्रह्मत्व में समाहित होना। यह अमनस्क सिद्धान्त ही द्वैताद्वैतविलक्षण योगदर्शन का, निरूपाधि ब्रह्मसाधना का अथवा अवाच्य निरंजन परमात्मा के साक्षात्कार का प्रकाशस्तम्भ है। इस अमनस्क विज्ञान से परमतत्व का निर्वचन सम्भव होता है।

महायोगी गोरखनाथ ने अमनस्कयोग के अमनस्कखण्ड में इस बात की पुष्टि की है कि योगी को किसी भी विषयवस्तु का चिन्तन न करते हुए सहज स्वरूप में, निरंजन परमशून्यतत्व में समाहित रहना चाहिए। उसे वाणी, मन और शरीर में लेशमात्र भी संक्षोभ का अनुभव नहीं करना चाहीए। जब तक संक्षोभ है, चिन्तन और संकल्प की कल्पना है, तब तक अमनस्क स्थिति की प्राप्ति नहीं हो सकती और न तो तत्वसाक्षात्कार, स्वरूपावस्थान ही सम्भव है।

न किञ्चिच्चिन्तयेद्‌योगी औदासीन्यपरो भवेत्।
न किञ्चिच्चिन्तनादेवं स्वयं तत्व प्रकाशते।।
वाङ्मनःकायसंक्षोभं प्रयत्नेन विवर्जयेत्।
शिलाचित्रमिवात्मानं सुस्थिरं धारयेत् तदा।
यावत् प्रयत्नलेशोऽस्ति यावत् संकल्पकामना।
अहं त्वमिति सम्प्राप्तिस्तावत्तत्त्वस्य का कथा।।
(अमनस्कयोग २/५५, ५७, ५८)

गोरखनाथजी ने "गोरखबानी" में एक अत्यन्त महत्व की बात यह कही है कि तन ही पोथी (कागज) है और मन ही लेखनी है, उसमें निषपत्ति अथवा मुक्ति ही अक्षरलिपि हैं

तन मेरे पोथी मन मेरे लेखनी।
एती निज तत निसपती।
(गो० बा० दयाबोध १२)

इसका आशय यह है कि तन और मन के अजरत्व-अमरत्व और अमनस्क के सहारे अलख-निरंजन के ही साक्षात्कार में योगी को निरन्तर तल्लीन रहना चाहिए। निरंजन रूपातीत है, ऐसा गुरूगीता में कहा गया है कि 'रूपातीतं निरंजनम् ।" इस रूपातीत निरंजन का परिचय ही अमनस्कसाधनसापेक्ष है, जब तक मनोलय की महा-अवस्था नहीं सिद्ध होती है, तब तक रूपातीत निरंजन का साक्षात्कार कल्पनामात्र है। केवल अमनस्क की कोरी कल्पना कर लेने से अथवा यह मान लेने से कि मन विषयप्रपंच के रस्वादन में अनासक्त होकर आत्म चिन्तन में उन्मन होता जा रहा है, सिद्धि का हाथ लगना असम्भव है। अमनस्कयोग की साधना अन्य योगसाधनों की तरह क्रियासापेक्ष है।

क्रियायुक्तस्य सिद्धिर्स्यादक्रियस्य कथं भवेत्।
(हठयोग प्र० १/६५)

निरन्तर योगाभ्यास से ही मन स्थिर और उन्मन होता है। अमनस्कयोग साधना के स्तर पर अथवा चिन्तनभूमि पर यह सर्वदा निर्विवाद है कि अमनस्कता की साधना अन्तरंग है, बहिरंग साधना में इसकी न तो परिगणना है और न बहिरंग साधन आसन, मुद्रा, बन्ध आदि की इसके लिये उतनी आवश्यकता है, जितनी योगसाधना की दृष्टि से अन्य अभ्यासों में इसकी अपेक्षा न्यूनाधिक स्वीकार की गयी है। योगोपनिषद् में महायोग की बात कही गयी है कि स्वाभाविक योग तो एक ही है। वह महायोगनाम से ख्यात है। भूमिकाक्रम और अवस्था-भेद के अनुसार यह एक महायोग ही मंत्र, हठ, लय और राजयोग के रूप में उदय होता है।

मंत्रोलयोहठो राजयोगोऽन्तर्भूमिकाः क्रमात्।
एक एव चतुर्धाऽयं महायोगोऽभिधीयते।।
(योगशिखोपनिषद् १/१२६-१३०)

इसी महायोग-भावना का पोषण हमारे योगेश्वर गोरखनाथजी ने अपनी प्रसिद्ध रचना योगबीज के १४३-१४४ वें श्लोक में किया है और इस समन्वयात्मक दृष्टिकोण में उन्होंने योगसाधना के अन्तरंग पक्ष को ही श्रेय प्रदान किया है। अमनस्कयोग की रचना में पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश,

पंचभूत और मनस्तत्व (छठे) से अतीत सप्तम तत्व के रूप में परमतत्व की प्राप्ति को ही महायोगज्ञान की परमसिद्धि कहा है, यह सिद्धि मन के उन्मनीकरण में सहज संश्लिष्ट है।

यस्मादुत्पद्यते सर्वं यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम्।
यस्मिन् विलीयते सर्वं परतत्वं तदुच्यते।।
भावाभावविनिर्मुक्तं विनाशोत्पत्तिवर्जितम्।
सर्वसंकल्पनातीतं परतत्वं तदुच्यते।।
(अमनस्कयोग १/२३-२४)

यह परमतत्व समस्त उपाधियों से विनिर्मुक्त है, समस्त कामनाओं से परे है। जन्म और मरणरूप बन्धन को नष्ट कर देने वाला है। यह परमतत्व अन्तरंग साधनासापेक्ष है। यह परमतत्व निरालम्ब, अमूल, अम्लान और मायातीत स्वरूपतः निरंजन और निष्प्रपंच है। इसका तो अनुभव ही किया जा सकता है बहिरंग साधना की इस दिशा में तनिक भी अपेक्षा नहीं दीखती है, न होती ही है। महायोगी गुरू गोरखनाथजी ने स्पष्ट इस तत्व की ही संस्तुति की है।

जयत्यमूलममलानमौत्तारं तत्वमद्वयम्।
(महार्थमंजरी)

तारकयोग में तो मन साधना में सहायक है पर उत्तरयोग अथवा अमनस्क साधना में मन की स्थिति उन्मनी हो जाती है, मन तत्वाकार होकर सदा के लिए महालय हो जाता है। यद्यपि असम्प्रज्ञात समाधि में और अमनस्क स्थिति में मनोनाश अथवा मनोलय प्रत्यक्ष दीख पड़ता है, पर केवल मनोलय से ही सत्यतत्व की प्राप्ति का प्रतिपादन नहीं होता है। मन की निवृति हो जाने मात्र से ही योगज्ञान में तत्व-साक्षात्कार नहीं होता। मन का लय यद्यपि बहुत आवश्यक प्रक्रिया है, तथापि उस मनोलय का फल सत्यस्वरूप का बोध है, यह

बोध अमनस्क योग की साधना में ही साध्य है और इसलिए गोरखनाथजी ने अमनस्कयोग की रचना कर अन्तरंग साधना में उन्मनी अवस्था की प्राप्ति की विद्या का निरूपण किया। केवलमात्र मनोलय होने पर मन चंचल हो सकता है, पर यदि मनोलय ब्रह्मतत्व अथवा अलख-निरंजन तत्व के साक्षात्कार का माध्यम हो जाता है तो वह सदा स्थिर और अचंचल तथा समाधिस्थ या समाहित रहता है। यद्यपि नाथपंथ में हठयोग की अनिवार्यता स्पष्ट है, तथापि उसकी परिणति राजयोग है। हठयोग के साधनस्तर पर समाधि, उन्मनी, लय, परमपद, अद्वय, निरालम्ब तथा सहज राजयोग के ही पर्याय स्वीकार किये हैं। हठयोग के बहिरंग साधन आसन, प्राणायाम, मुद्राबन्ध आदि के परिणामस्वरूप जब तक देह में प्राणशक्ति स्थिर है और मन स्थिर और शान्त है तथा चक्रध्यान के फलस्वरूप दृष्टि भौंहौं के मध्य में एकाग्र है, तब तक मृत्यु का भय नहीं है, पर इस कालवंचन के परे की स्थिति में अजरत्व-अमरत्व की सिद्धि में अथवा तत्व में प्रतिष्ठिा की संस्थिति अन्तरंग साधना की परम अवस्था-अमनस्कता में ही सहज सिद्ध है। हठयोग के महनीय आर्चाय योगी स्वात्माराम ने कहा है कि जब प्राण (वायु) का प्रवेश सुषुम्ना में हो जाता है और मन स्थिरता प्राप्त कर लेता है, तब वही अवस्था, मन की अमनस्कता की स्थिति ही उन्मनी अवस्था है। हठयोग और राजयोग के समन्वयात्मक साधन मे यही उन्मनी परा सिद्धि है।

मारूते मध्यसंचारे मनः स्थैर्यप्रजायते।
यो मनः सुस्थिरी भावः सैवावस्था मनोन्मनी।।
(हठयोगप्रदीपिका २/४२)

योगीराज गोपीचन्द ने इस समन्वयात्मक दृष्टिकोण को महत्व दिया है।

पवन कूं प्रेरिबा पछिम दिसि फेरिबा।

अपानं प्रांण कौ उलटि मेलै।
नाद गगनै बहै ब्यंद अस्थिर रहै।
जोग करि जनम नहि गमै हेलै।
पवन थिरंतां कंध थिर। मन थिरंतां व्यंद।
व्यंद थिरंतां कंध थिर। यों भाषम गोपीचन्द।।
मन राजा मन प्रजा। मन सयल का बन्ध।
मन कूँ चीन्हि पारगांमी भये। राजा गोपीचन्द।
(नाथसिद्धों की बानियाँ १०५-१०७)

नाथसिद्ध योगीराज चरपटनाथजीने भी इसी साधना-स्तर को मान्यता दी है।

थिर करि मनवां द्रिढ़ करि चित।
काया पवन पषालै नित।
अभरा भरौ ज्यूं थिरवै कंध।
न उड़ै हंसा न पड़ै जिन्द।।
(नाथसिद्धों की बानियाँ १८८)

पवन के संयम और मन की स्थिरता से जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है, और तत्व का परिचय होता है। इतना विचारणीय है कि इस साधन-सम्बन्धी समन्वयात्मक बहिरंग और अन्तरंग दृष्टिकोण में मनोलय तो है, प्राणायाम की सिद्धि तो है और जीवन्मुक्ति भी है, पर वास्तविक मनोन्मनी दशा का उदय हुए बिना तत्व का परिचय होने पर भी तत्व में प्रतिष्ठा शेष रह जाती है।

गोरखनाथजी ने कहा है, 'अमनस्कयोग पाँच भौतिक तत्त्व- क्षिति, जल, पावक, समीर और आसमान तथा छठें तत्व मन को वश में कर लेने पर निरंजन (सातवें तत्व) का साक्षात्कार ही नहीं होता, उस परमात्मसत्ता में मन भी अन्तर्लीन हो जाता है।'

प्रथमं पृथिवीतत्वं जलतत्वं द्वितीयकम्।
तेजस्तवं तृतीयं च वायुतत्वं चतुर्थकम्।।
आकाशं पंचमं तत्वं मनः षष्ठमुदीरतम्।
सप्तमं परमं तत्वं यो जानाति स मोक्षभाक्।।
परं तत्वं समाख्यातं जन्मबन्धविनाशनम्।।
(अमनस्कयोग १/२६-२८)

इसी तथ्य का पोषण महायोगी गोरखनाथजी ने 'गोरखबानी' में भी किया है। उन्होंने योगी को- योगसाधक को सावधान किया है कि हे योगी ! पाँचों तत्व क्षिति, जल, पावक, समीर और गगन को यौगिक प्रक्रिया अथवा साधना के द्वारा धारणा कर उन पर विजय पा जाने से, उन्हें वश में कर लेने से अलखनिरंजन निराकार परब्रह्म (परमशिव) का साक्षात्कार सहज सुलभ हो जाता है। इसी तरह मनरूपी गज को साधना के अंकुश से अपने वश में कर लेने पर तथा मन को उन्मन कर ब्रह्मरन्ध्र में विलीन कर देने पर अक्षयभण्डार सहस्रार से झरता अमृत उपलब्ध हो जाता है। भौतिक प्रपंच से परे होकर मन को वशीभूत कर लेने पर परमात्मतत्व की प्राप्ति हो जाती है।

पंच तत्त सिधां मुड़ाया तब भेटिलै निरंजन निराकारं।
मन मसत हस्ती मिलाइ अवधू, तब लूटिलै अषै भंडारं।।
(गो० बा० सबदी ६७)

महायोगी गोरखनाथजी ने आसन, प्राणायाम आदि बहिरंग-साधना को उतनी ही सीमा तक स्वीकार किया है, जिसमें अन्तरंग-साधना में सहायता मिलती है। हठयोग की सार्थकता तो इसमें है कि वह राजयोग की सिद्धि की सीढ़ी है अथवा अधिरोहिणी है। हठयोगप्रदीपिका के रचयिता की इस स्वीकृति में बहिरंग अन्तरंग-साधनाओं की सहज संश्लिष्टि की सिद्धि की परा प्रतिष्ठा है।

श्रीआदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै।
येनोपदिष्टा हठयोगविद्या।
विभ्राजते प्रोन्नतराजयोग
मारोढुमिच्छोरधिरोहिणीव।।
(हठयोगप्रदीपिका १/१)

यह हठयोग-विद्या शरीर में पवन-प्राण की स्थिरता और मन की अचंचलता को सुदृढ़तापूर्वक स्थापित करनेवाली योगविद्या है, जिसके द्वारा साधक की उन्मनी अवस्था सिद्ध होती है और यह राजयोग का चरमफल प्राप्त कर लेता है। योगसाधना में तत्व-साक्षात्कार के लिए हठ और राजयोग- दोनों की परम अपेक्षा है।

हठं बिना राजयोगो राजयोगं बिना हठः।
न सिध्यति ततो युग्ममानिष्पत्तेः समभ्यसेत्।।
(हठयोगप्रदीपिका २/७६)

प्राणतोषिणी में भी हठयोग की महिमा का अंकन उपलब्ध होता है कि हठयोग की साधना के द्वारा साधक को परमात्मज्योति से सम्पन्न अन्तर में शिवतत्व का साक्षात्कार कर शिवरूप हो जाना चाहिए। यह हठयोग सिद्धों द्वारा सेवित होकर योगसिद्धि प्रदान करता है।

हठाज्ज्योतिर्मयो भूत्वा ह्यान्तरेण शिवो भवेत्।
अतोऽयं हठयोगः स्यात् सिद्धिदः सिद्धसेवितः।।
(प्राणतोषिणी)

हमारे योगाचार्य परमश्रद्धेय महामति गम्भीरनाथजी ने कहा है (योगरहस्य पृष्ठ ८१) कि केवल हठयोग तो कसरत मात्र है। राजयोग की सहायता करने में ही हठयोग की सार्थकता है। हठयोग द्वारा कितनी ही शक्तियाँ और विभूतियाँ प्राप्त की जा सकती हैं सही, किन्तु उनसे जीवन की कृतार्थता

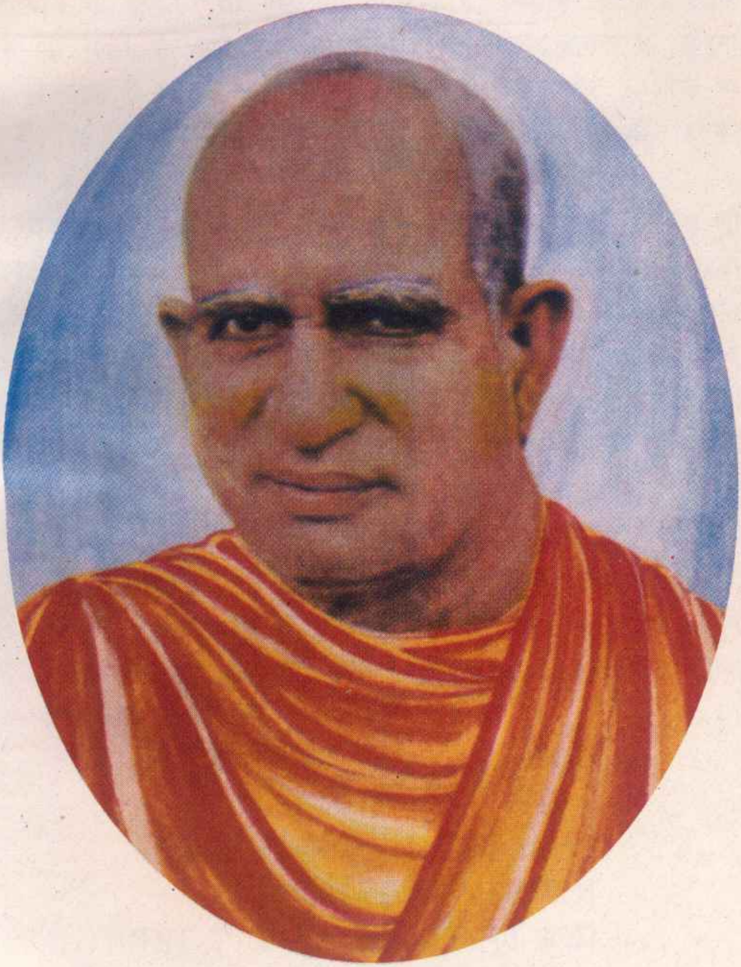

युग पुरुष महन्त दिग्विजय नाथ

नहीं होती, मोक्षप्राप्ति नहीं होती। राजयोग में अधिकार प्राप्त करने के लिए एवं राजयोग में सहज ही सिद्धि प्राप्त करने के लिए हठयोग से बड़ी सहायता मिलती है। हठयोग के अन्दर ऐसी गुह्य साधन-पद्धति है, जिसका नियमित रूपसे अभ्यास कर सकने पर अति सहज ही राजयोग की अन्तरंग-साधना में पहुँचना सम्भव हो जाता है एवं अन्तःकरण अति सहज ही तत्वसाक्षात्कार के योग्य हो जाता है। यह राजयोग अन्तरंग-साधना की ही एक विद्या है और इसकी परिपक्वता से उन्मनी अवस्था की सिद्धि में सहायता मिलती है।

नाथयोग में यद्यपि विभिन्न नाथसिद्धियों और योगाचार्यों ने हठयोग की आवश्यकता पर बल दिया है तथापि अन्तरंगसाधना को ही यौगिक सिद्धि अथवा तत्वप्राप्ति की आधारशिला स्वीकार किया गया है और उसकी अन्तिम स्थिति मनोलय की महावस्था या उन्मनी बतायी गयी है। महायोगी गोरखनाथ ने अमनस्कयोग की सिद्धि के स्वरूप का प्रकाशन किया है कि जिस तरह नमक पानी में घुल-मिल कर जल हो जाता है, उसी तरह मन ब्रह्म के सम्पर्क से ब्रह्ममय हो जाता है अथवा बह्म का आकार धारण कर लेता है, आकार धारण करने की शक्ति मन में नहीं है, उसमें लीन हो जाने की- लयावस्था प्राप्त करने की ही शक्ति है, वह ब्रह्म-ज्ञानमय होकर निर्वाणपद में प्रतिष्ठित हो जाता हैं घी में मिलने पर घी जिस तरह घी हो जाता है, ठीक उसी तरह तत्व में लीन होने पर योगी तत्वस्वरूप हो जाता है। योगी द्वारा तत्वस्वरूप-स्थिति की प्राप्ति अन्तरंग-योगसाधना की अन्यतम महती सिद्धि है।

लवणं तोयसंस्पर्शाद् यथा तोयसमं भवेत्।
मनोऽपि ब्रह्मसंस्पर्शात्तथा ब्रह्ममयं भवेत्।।
यथा क्षारमयत्वेन प्राप्यते लक्षणं स्वकम्।
ब्रह्मज्ञानमयत्वेन निर्वाणं मनसस्तथा।।
घृतात् पृथक्ता रहितं घृते लीनं घृतं यथा।
तत्वेलीनस्तथा योगी पृथग्भावं न विन्दति।।
(अमनस्कयोग १/४३-४५)

महायोगी गोरखनाथ ने अपनी अन्तरंग-साधना में पिण्ड-ब्रह्माण्डपद में

सामरस्य, प्राणलय, मनोलय, चक्रवेध, जीवनमुक्तिक्रम, कैवल्य, नादसन्धान तथा ऊँकार से भी परे निष्कल शिवपद की प्राप्ति को महत्व दिया, उनमे से किसी एक को भी उन्होंने योगसिद्धि का वाह्य अंग (आडम्बर) नहीं होने दिया। उनके द्वारा निर्दिष्ट समस्त योगांग अमनस्कयोग की सिद्धि के अत्यन्त आवश्यक उपकरण अथवा सहायक साधन हैं। यद्यपि नाथयोग की पूर्णता अथवा प्रतिष्ठा-महतीसिद्धि स्वसंवेद्यता की प्रतीक है तथापि स्थूल वेद, श्रुतिप्रतिपादिता निर्वाणसिद्धान्त उसी से प्रेरणा ग्रहण करता है। माध्यन्दिन श्रुति की स्पष्ट विज्ञप्ति है कि ब्रह्मनिष्ठ इस मर्त्य शरीर में अभिमान (अहंता) का त्याग कर ब्रह्म श्रवण तथा ब्रह्मभाव से भावित होकर ब्रह्मस्वरूप का अनुभव कर है।

स वा एष ब्रह्मनिष्ठ इदं शरीरं मर्त्यमभिसृज्य
ब्रह्माभिसम्पद्य ब्रह्मणा पश्यति ब्रह्मणा श्रृणोति ब्रह्मणो-
वेदं सर्वमनुभवति।

यह ब्रह्म-आकारिता, स्वरूपप्राप्ति तभी सम्भव होती है, जब मन उन्मनी भाव में अधिष्ठित होकर ब्रह्मलीनता में समाहित हो जाता है, ऐसी उन्मनी अवस्था में मन अमनस्क या तदाकार हो जाता है। उन्मनीकरण के द्वारा जीवात्मा का पाश (बन्धन) छिन्न हो जाता है और वह समस्त शक्तियों के मूल अधिष्ठान परम शिव में- परमात्मभाव में स्वस्थ हो जाता है। नाथपंथ की संम्पूर्ण साधना-प्रणालियों का चरम परमपद, परमात्मभाव, पूर्णत्व अथवा शिवत्व की प्राप्ति है। यह परमपद वाच्य-वाचक भेद से रहित है, भाव भाव-अभाव और सत्-असत्, दोनों से परे है, यह निर्नाम अथवा अनाम है, यह स्वप्रकाश, स्वयंपूर्ण है। यह परमपद ही नाथयोग की अन्तरंग-साधना का विशिष्टतम लक्ष्य है।

गोरखनाथजी की स्वीकृति है कि परमपद की प्रतिष्ठा- संस्थिति गुरू की करूण दृष्टि से ही अधिगम्य है, महासिद्धयोगिजन परिमित अपनी देह को परपिण्ड के साथ अत्यन्त शुद्ध चैतन्यभाव से समरस कर स्वसंवेद्य परमपदमें प्रतिष्ठित हो जाते है।

तस्माद् गुरूकटाक्षपातात् स्वसंवेद्यतया च महासिद्धयोगिभिः
स्वकीयं पिण्डं निरूत्थानानुभवेन समरसं क्रियत इति सिद्वान्तः।
(सि० सि० प० ५/७)

इसी तत्व का स्पस्टीकरण करते हुए महायोगी गोरखनाथ ने कहा है कि जो मुमुक्ष साधक परमशान्ति चाहता है, वह योगतत्वज्ञ गुरू के चरण-कमल का आश्रय ग्रहण करे, उसके द्वारा निर्दिष्ट विधि के अनुसरण से योगाभ्यास में तत्पर होकर वह समरस की प्रणाली से पिण्डसिद्धि औंर परम निर्वाणस्वरूप परमपद की प्राप्ति कर अपनी अन्तरंग-साधना को सफल कर सकता है।

अनुबुभूषति योनिजविश्रमं
सगुरूपादसरोरूहमाश्रयेत्।
तदनुसंसरणात्परमं पदं
समरसीकरणं न च दूरतः।
(स० स० प० ५/४५)

नाथमत के परिप्रेक्ष्य में यह बात निर्विवाद है कि सदगुरू की कृपा से चित्तविश्रान्तिलाभ करना बहुत ही आवश्यक है। इस चित्त-विश्रान्ति मे सामरस्य की प्राप्ति होती है। नाथयोगी पिण्डसिद्धि के द्वारा जीवन्मुक्ति की प्राप्ति को बहुत महत्व देते है। इस जीवन्मुक्ति से तथा पिण्डसिद्धि से उनके लिए मृत्यु की चिन्ता समाप्त हो जाती है और इस कालवंचन के उपरान्त समरसीकरण के द्वारा परामुक्ति की सहज सिद्धि होने में तनिक भी संशय नहीं रह जाता। पिण्डसिद्धि और जीवन्मुक्ति की अवस्था प्राप्त होने पर योगसाधक में ओंकार-साधना के द्वारा परामुक्ति का आविर्भाव होता है। यही नाथस्वरूप में अवस्थान है। अमनस्कयोग की साधना से नाथस्वरूप में अवस्थान अन्तरंग-साधना का कल्पतरू हो जाता है। आशय यह है कि नाथस्वरूप में संस्थिति से समस्त पारमार्थिक तथा आध्यात्मिक सम्पन्नता का निगूढ़ मर्म साधक की सिद्धावस्था में अभिव्यक्त होकर उसे अलखनिरंजन की ज्योति में ज्योतिर्मय कर

देता है। यह ज्योतिर्मयता गुरूकृपा से ही साध्य है।

समाधि की असम्प्रज्ञात स्थिति में जीवात्मा और परमात्मा में द्वन्द्वात्मक भेद की समाप्ति हो जाती है, क्योंकि दोनों मूलतः स्वरूप है, एक है, अभेद है, यही कारण है कि समाधि की सम्प्रज्ञात स्थिति में मनोन्मनी अथवा मन की महालयावस्था का उदय सहज स्वाभाविक हो जाता है, क्योंकि समाधि की इस स्थिति में संकल्प रह जाते हैं, संकल्प का न रहना ही मन की तत्व में तल्लीनता है। महायोगी गोरखनाथ का कथन है :

यत्सर्व द्वन्द्वयोरैक्यं जीवात्मपरमात्मनोः।
समस्तनष्टसंकल्पः समाधिः सोऽभिधीयते।।
अम्बुसैन्धवयोरैक्यं यथा भवतियोगतः।
तथात्ममनसोरैक्यं समाधि सोऽभिधीयते।
यदा संक्षीयते प्राणा मानसे च प्रलोयते।
यदा समरसत्वं च समाधिः सोऽभिधीयते।।
न गन्धं न रसं रूपं न च स्पर्शं न निःस्वनम्।
नात्मानं न परस्व च योगी युक्तः समाधिना।।
(गोरक्षसंहिता २/८५-८८)

इसका आशय यह है कि सभी द्वन्द्वों का अन्तरूप ऐक्य- जीवात्मा परमात्मा की एकता का ज्ञान प्राप्त कर सभी संकल्पों के नाशपूर्वक योगी अपने ध्येय-परमात्मा अलख-निरंजन तत्व में लीन हो जाय, यही समाधि है। जिस तरह जल में सेंधा नमक डाल देने से दोनों एक हो जाते हैं, उसी तरह आत्मा और मन एक का एक हो जाना समाधि है। जब स्थिर होकर प्राणवायु आत्मा में ही लीन हो जाती है और जीवात्मा-परमात्मा में समरसत्व स्थापित हो जाता है, तो वही समाधि है। जब योगी समाधि में लीन हो जाता है, तब उसे गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द आदि का तथा अपने-पराये का भान नहीं रहता। इस विवेचन में यह स्मरणीय है कि यह समाधि है और यह साधन-साध्य है और इसके द्वारा सहजसमाधि होने पर, निरंजन तत्व की सर्वत्र परिव्याप्ति की अनुभूति होने पर ही वास्तविक मनोन्मनी का उदय हो जाता है,

जिसमें द्वन्द्व का लेशमात्र नहीं रहता, जिसमें द्वैताद्वैत का भाव नहीं रहता, द्वैताद्वैत-विवर्जित परमात्म अलख-निरंजन तत्व ही शेष-अशेष दोनों अवस्थाओं से अतीत की ओर अभिव्यक्त हो उठता है, यही अमनस्कयोग का परम निगूढ़ रहस्याभिव्यंजन है।

नाद के अनुसन्धान में यद्यपि समाधि की प्रतीति बनी रहती है तथापि ॐकार की- शब्द-ब्रह्म की उपासना स्वसंवेद्यता का वरण कर ॐकारातीत पद में सिद्धि के रूप में परिणत हो जाती है और यह परिणति ही मन की महालयावस्था अथवा पराउन्मनी है। समाधि सिद्धि होंने पर शिव-शक्ति का सायुज्य- ऐक्य स्वतः स्पष्ट है पर उन्मनी सिद्धि होने पर न तो शिव के शक्ति के बिना शव मात्र रह जाने का प्रश्न है और न ही शक्ति की कर्तृत्वपरायणता से शिव की सार्थकता या सत्ता है। उन्मनी में तो शिव निष्कल हैं, साक्षात् अलख-निरंजन परम कैवल्यस्वरूप परमेश्वर हैं। महायोगी गोरखनाथ की विज्ञप्ति है :-

निष्कलं निष्प्रपंचं च परतत्वं तदुच्यते।
(अमनस्कयोग १/२२)

इसी निष्कल-निरंजन-निष्प्रपंच परम पद में योगिराज भर्तृहरि को उन्मनी सिद्ध हुई थी। उनकी सबदी है कि जिसमें न अंकुर है, न वीर्य है और न आकार तथा रूप और रेखा है, न ॐकार ही है, न जन्म-मरण है और न उत्पत्ति तथा विनाश-उदय और अस्त है, उसी परमपद में मैंने आत्मलय प्राप्त किया-

अंकुर बीरज नहीं आकार।
रूप न रेष न वो ॐकार।।
उदै न अस्त आवै नहीं जाई।
तहाँ भ्रथरी रह्या समाई।।
(नाथसिद्धों की वानियाँ ६६०)

योगिराज भर्तृहरि ॐकारातीत निष्कल निरंजन परमपद-परमशिव-स्वरूप में मन की उन्मनी समाधि सिद्ध कर अमर हो गये, समा गये। अमनस्कयोग की

सहज-साधना के द्वारा योगिराज भर्तृहरि ने हरिपद का स्पर्श कर लिया, गुरू की कृपा से दिव्यबुद्धि के द्वारा उन्होंने अविनाशी पद में रमण किया।

गुरूसूं ग्यान सूं बुधि भई।
बुधि सूं अकल प्रकासी।।
भनंत भरथरी हरिपदपरस्या सहज भया अविनासी।
(नाथसिद्धों की वानियाँ ६७६)

महायोगी गोरखनाथ ने अपार महायोगज्ञानसागर का अपने अनुभव के मन्दराचल से अमृतमन्थन कर अमनस्कयोगरूपी रत्न के प्रकाश से योगसाधन जगत् को आश्चर्यचकित कर दिया। यह अमनस्कयोग उनकी सिद्धि-कल्पलता का अमृतफल है, जिसका सहज आस्वादन कर जगत् के असंख्य प्राणी विषय-प्रपंच के अथाह भवसागर से पार उतरते आ रहे हैं और यह परम्परा सदा अक्षुण्ण रहेगी। गोरखनाथजी का कथन है :-

मन मांहिला हीरा बीधा सो सोधी नैं लीणां।
सोषाणां सो पीवणां मछिंद्र प्रसादे जती गोरष बोल्या।।
विमल रस जोई-जोई नै मिलणां मेरे ग्यानी।
(गोरखबानी पद ४/५)

मन के द्वारा जीवात्मा परमात्मारूपी हीरे की प्राप्त करता (वेधता) है, मन को अमनस्क अथवा उन्मन करने पर उन्मनी समाधि में परमात्मारूपी हीरक की दिव्य-ज्योति का साधक को साक्षात्कार हो जाता है। यही साधक का सर्वस्व है, आहार-विहार और स्वात्मरमण है। गुरू मत्स्येन्द्र के अनुग्रह से इस परमात्मारूपी हीरक के प्रकाश में निर्मल-सहज रसानन्द मिलता है। शून्य में यही मन का विलय है और इस विलय के बाद योगी कर्म के बन्धन से मुक्त हो जाता है। हठयोगप्रदीपिका (४/१२) 'शून्ये विशति मानसे' का यही तात्पर्य है। शून्य मं प्रवेश करने पर मन का विलय होता है, इस विलयावस्था में भी तारकयोग में मन का अस्तित्व रहता है पर अमनस्कयोग में मन तिरोहित ही नहीं होता, शाश्वत परमपद में आकारित भी होता है। तिरोधान की अवस्था तारकयोग में

रह सकती है, क्योंकि मन का अस्तित्व अथवा कर्तृत्व उसमें शेष रहता है और तिरोधानस्वरूप मन फिर प्रकट हो सकता है पर अमनस्कयोग की साधना में ऐसी बात नहीं है, क्योंकि मन का अस्तित्व अथवा कर्तृत्व उसमें शेष रहता है और तिरोधानस्वरूप मन फिर प्रकट हो सकता है पर अमनस्कयोग की साधना में ऐसी बात नहीं हैं, क्योंकि उसमें तत्व-ही-तत्व परिलक्षित है, मन के प्रकट और अप्रकट (तिरोहित) होने का उसमें प्रश्न ही नहीं है। साधना की सिद्ध के लिए अमनस्कयोग के वरण की परम आवश्यकता है पर महायोगी गोरखनाथ ने मत व्यक्त किया है कि योग-साधक को रात-दिन निरन्तर विषय-भोग तथा सांसारिक प्रलोभनों और ममता-मोह के आज्ञानान्धकार में ग्रस्त मन को अन्तर्मुखी करना चाहिए। उन्मनी अवस्था में लीन मन के द्वारा ही मन के द्वारा ही वह आत्मसाक्षात्कार में समर्थ हो सकता है। आत्मसाक्षात्कार के मार्ग में अथवा निरंजन तत्व के अनुभव की दिशा में विषयोन्मुखी मन ही महान् बाध ाक है, इसलिए मन को उन्मनी अथवा अमनस्क करना चाहिए।

अहनिसि मन लै उनमन रहै, गम की छाड़ि अगम की कहै।
(गो० बा० सबदी १६)

तारकयोग और अमनस्कयोग, दोनों की ही सिद्धि में गुरू कृपा की सापेक्षता अनिवार्य है, क्योंकि तारकयोग के उपरान्त सम्पूर्ण उन्मनीकरण में साधक पर गुरू की करूणादृष्टि का पात हो जाये तो वह (साधक) परम पद में निःसंशय प्रतिष्ठित हो जाता है। ब्रह्म में मन का उन्मनीकरण अथवा महालय ही योग की यर्थाथ सिद्धि है। परमात्मपद में मन की तल्लीनता गुरू के सदुपदेश तथा कृपामय दृष्टिपात से ही सम्भव होती है।

तारक्योग की विशद और अनुभूतिपूर्ण व्याख्या गोरखनाथजी ने अमनस्कयोग की रचना में आरम्भ के ही श्लोकों में कर दी है और कृपापूर्वक मत व्यक्त किया है कि कई साधक मन्त्रयोग की साधना में लगे रहते हैं, कई ध्यान सिद्धि के मोह में पड़े रहते हैं, कई जप करते हैं, तो आगम-निगम में कई उलझे रहते है, वे तारकयोग जानते ही नहीं नहीं हैं, यह तारक्योग सर्वमंगलकारी है, जब तक सुयोग्य पात्र की प्राप्ति न हो जाय, तब तक गुरू इस योग का उपदेश दे

ही नहीं। यह तारकयोग सब योगों में परमोत्तम है, इसका पूर्वभाग तारकयोग कहा जाता है और अपर भाग अमनस्कयोग कहा जाता है, मन से युक्त योगस्वरूप तो तारक है और मन से अतीत जो योगस्वरूप है, वह अमनस्क है। तारों (आँख की पुतलियों) की ज्योति में लगा कर भौहों को कुछ ऊँची करे-चढ़ा ले। यह पूर्व (तारक) योग का मार्ग क्षण भर में उन्मनी भाव पैदा कर देता है।

पूर्वयोगस्य मार्गोऽयमुन्मनीकारकः क्षणात्।
(अमनस्कयोग १/८)

तारिका के उन्मेष से युक्त होने के कारण यह तारक कहा जाता है। यह गुरूमुख से ही प्राप्त होता है। दृश्य के बिना ही जिसकी दृष्टि स्थिर हो जाय, बिना किसी प्रकार के प्रयत्न के जिसकी वायु स्थिर हो जाय तथा बिना किसी अवलम्ब के जिसका चित्त स्थिर हो जाय, वही गुरू होने योग्य है, वही सेव्य है, ऐसे गुरू से ही तारकयोग का उपदेश प्राप्त होता है।

दृष्टिः स्थिरा यस्य विनैव दृश्यं।
वायुः स्थिरो यस्य विना प्रयत्नम्।
चित्तं स्थिरं यस्य विनावलम्बं
स एव योगी स गुरूः स सेव्यः।।
(अमनष्कयोग १/१४)

अमनस्कयोग की साधना के लिए योगसाधक को सभी तरह की चिन्ताओं से रहित होकर एकान्त स्थान में सम आसन पर कुछ पीछे की ओर झुक कर स्थिर दृष्टिपूर्वक बैठना चाहिए। इस तरह ही अभ्यास करते मन स्थिर हो जाता है। वायु, वाणी, देह और दृष्टि में भी स्थिरता आ जाती है। जिसको अमनस्कयोग की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, उस साधक में उदासीनता, अचंचलता, कोमलता और शारीरिक हल्कापन परिलक्षित होता है। साधक का मन परमतत्व के चिन्तन में तल्लीन होते-होते तत्वाकार हो जाता है।

यह सदा ध्यान रखना चाहिए कि अमनस्कयोग की साधना में गुरू की सम्मुखता से ही सिद्धि सम्भव है अन्यथा स्वयं हाथ-पैर पटक कर हठयोग आदि का आश्रय लेकर भी अपने साधन-बल से साधक इस महायोगसागर में संतरण का उपाय नहीं पा सकता। महायोगी गोरखनाथ ने कहा है कि साधक को बड़ी शुद्धता से साधना के पथ में अग्रसर होकर शान्तिपूर्वक गुरू की सेवा में तल्लीन होना चाहिए। गुरू की कृपा से ही तत्वज्ञान प्रकाशित होता है।

शुद्धाभ्यासस्य शान्तस्य सदैव गुरूसेवया।
गुरूप्रसादात्तत्रेव तत्वज्ञानं प्रकाशते।।
(अमनस्कयोग २/११३)

यही कारण है कि बड़े-बड़े श्‍िद्ध पुरूषों और योग के आचार्यों ने गुरू की करूणा के सुधारस-सागर में अपने चित्त को निमग्न कर देने को ही श्रेयस्कर और साधना में सिद्धि का उपाय बताया है। सिद्धसिद्धान्तसंग्रह के रचयिता की मार्मिक उक्ति है :-

यत्कारुण्यविलोकनादपिभवेच्चिद्‌विश्रमः पारदः।
तस्मिन् श्रीकरुणासुधारसनिधौचेतोऽस्तुमग्नं गुरौ।
(सि० सि० स० ५/३६)

गुरू की महिमा असंदिग्ध है। गुरू की चरणकृपागंगा में मनरूपी कमल का समर्पण निःसन्देह मोक्ष का विधायक है। चिन्तामणिस्वरूप गुरू के अनुग्रह के सिवा वेदान्त, तर्क, आगम तथा अन्यान्य शास्त्रों के अध्ययन और ध्यानादि उत्तम साधनों से लक्ष्य की प्राप्ति सम्भव नहीं है। गोरखनाथ का कथन है कि गुरु ही ब्रह्मा, गुरु ही विषणु और महेश्वर है, गुरु से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है, इसलिए गुरु परमपूज्य है।

गुरुर्ब्रह्मा गुरुविष्णुर्गुरुर्देवोमहेश्वरः।
गुरुर्देवात्परं नास्ति तस्मात्तं पूजयेत्सदा।।
(अमनस्कयोग २/४४)

अच्युतस्वरूप ब्रह्मपद में दो सनातनी शक्तियाँ विद्या और अविद्या है। अविद्या का फल संसार है और विद्या का फल अमृततत्व है। विद्या और अविद्या दोनों के अद्वितीय अधीश्वर बन्धमोक्षातीत परमेश्वर हैं। कहा गया है कि अविधा तो परमात्मा की मायिक ऐश्वर्य-शक्ति है, पर विद्या गुरू की शक्ति की प्रतिष्ठा है। यह निर्विवाद है कि सद्‌गुरू पूर्ण साम्यावस्था में नित्य अधिष्ठित परम शिवस्वरूप है। उनका अनुग्रह साधक को क्षणमात्र में सामरस्यात्मक पूर्णत्द के परम पद पर अधिष्ठित कर देता है। वह गुरूपद स्वसंवेद्य है, परमाराध्य है। गुरू की कृपा से शिष्य गुरुरूप हो जाता है, गुरु-शिष्य, दोनों ही एक ह, काया हैं। परमगुरु मत्स्येन्द्रनाथ ने कहा है -

गुरु-सिख की एकै काया,
परचा होई तौ बिहड़िन जाया। (मछीन्द्रगोरषबोध ७४)

महायोगी गोरखनाथ ने गुरू के दृक्‌पात की महिमा प्रकट की है कि सिद्ध पुरूष अदैहिक (सहज) साधनों का आश्रय ग्रहण कर परमपद की प्राप्ति करते हें और इन साधनों में स्थिति गुरु के दृक्‌पात से ही होती है। वह अपनी करूणा के दृक्‌पात से ही साधक के बन्धनों का नाश कर देता है और उसे परमपद में प्रतिष्ठित कर देता है। उसकी कृपा से परमपद प्राप्त होता है।

करूणाखण्डपातेनच्छित्वा पाशाष्टकं शिशोः।
सम्यगानन्दजनकः सद्‌गुरूः सोऽभिधोयते।
निमिषार्धार्धपाताद्वायद्‌वापादावलोकनात्।
स्वात्मानं स्थिरमाद्यन्तेतस्मै श्रीगुरुवे नमः।।
(सि० सि० प० ५/६८-६६)

बिना गुरू की कृपा के चित्तविश्रान्ति दुर्लभ है। गुरू के बिना अमनस्क-साधना में सिद्धि का मिलना उसी जरह कठिन है, जिस तरह किसी बावने के द्वारा गगन-स्पर्श असम्भव और कठिन है। उन्मनी समाधि में जीवात्मा की परमपद में प्रतिष्ठित उसकी पूर्ण चिन्मयता है और यह चिन्मयता गुरू के सानिन्नध्य का फल है। इसलिए हमारे सिद्धमतें में स्वानन्दविग्रह गुरूवंद्य है

श्रीगुरुं परमानन्दं वन्दे स्वानन्दविग्रहम्।

यस्य सान्निध्यमात्रेण चिदानन्दायते तनुः।।
(गोरक्षशतक १)

मन के उन्मनीकरण के स्तर पर तन का (शरीर का) चिदानन्दायित होना, सम्पूर्ण सच्चिदानन्दस्वरूप होना ही परासिद्ध- सम्पूर्णउन्मीकरण, अलखनिरंजन परमपद में स्वसंवेद्यता है। सम्पूर्ण उन्मीकरण अथवा पूर्ण अमनस्कता के पथ में प्रगति के लिए अष्टांगयोग की साधना और युक्ताहारविहार के द्वारा मन और पवन के उन्मन होने पर ही परमपद, तत्व-प्राप्ति का दरवाजा खुल जाता है। गोरखनाथजी ने योगसाधक को सावधान किया है।

देवकाल ते संजम रहिबा।
भूत-कला अहारं
मन पवना लै उनमनी रहिबा
ते जोगी ततसारं।।
(गोरखबानी सबदी ३४)

योगसाधना-क्रम में योगसाधक आत्मसाक्षात्कार, परमेश्वर की ज्ञान-प्राप्ति में आत्मशक्ति, आन्तरिक दिव्य-ज्ञान और शरीर के आरोग्य तथा मन और पवन की शक्ति के सहारे सिद्धि प्राप्त करता है। देवकला, दिव्य अन्तरशक्ति अष्टांग योग के अभ्यास से सिद्ध होती है। भूतकला, भौतिक-शक्ति के लिए युक्त आहार आवश्यक है। आत्मबल और शरीर के आरोग्य से सम्पन्न योगसाधक अपनी चित्तवृत्तियों का निरोध कर मूलाधार से उत्थित कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत करते हुए प्राण (पवन) को सुषुम्नानाड़ी के पथ से प्रवाहित करते हुए मन को ब्रह्मरन्ध्र में शून्य-परमपद में समाहित कर देता है, यही मन का उन्मन होना है, उन्मनी अवस्था है, इससे तत्वज्ञान होता है। इसी उन्मनी की विवेचना में हठयोग प्रदीपिका का मत है कि जब मरुत का सुषुम्ना में प्रवेश होता है और मन की स्थिरता स्थापित होती है तो मन की यह सुस्थिर अवस्था ही उन्मनी है।

मारुते मध्यसंचारे मनः स्थैर्यं प्रजायते।

यो मनः सुस्थिरीभावः सैवावस्था मनोन्मनी।।
(हठयोगप्रदीपिका २/४२)

जब तक प्राण स्थिर नहीं होता और विभिन्न संकल्पों में उसकी तल्लीनता नहीं होती तथा मन चंचल रहता है, तब तक तत्वज्ञान सम्भव ही नहीं है। मन और प्राण, दोनों के विलय का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इन दोनों के विलय में तत्वज्ञान का उदय होता है और उस उदयाचल से निर्मल उन्मनी की पुण्यसलिला दिव्यता अथवा परमज्योति के अजस्र प्रवाह में योगसाधक निमग्न होकर आत्मस्वरूप अथवा आत्मपरिचय प्राप्त कर लेता है। उन्मनी स्थिति शून्य पद के विशिष्ट पंचगुणलीनता, लोलता, मूर्च्छता और पूर्णता के साथ परिगणित है। सिद्धसिद्धान्तपद्धति (१/२१) में यह उन्मनी शून्य पद के गुण के रूप में सहजावस्था में निमग्न रहने की स्थिति का द्योतक है। समस्त चराचर में समदृष्टि ध्यान का लक्षण है और सबमें समान अवस्था में आत्मरूप दर्शन, जो सहज और स्वतः तथा अनायास है ही, समाधि है, क्रमभेद से समाधि अवस्था के ही एक अन्यतम क्रम के रूप में उन्मनी स्थिति की परिगणना है, पर यह नितान्त असंदिग्ध है कि यह विशिष्ट क्रम-ध्यान दोनों से अतीत स्थानीय है। इसी में परासिद्धिपर प्रकाश डालते हुए उन्मनी अथवा अमनस्कता की सिद्धि पर अपना मत निरूपण किया है। जो जोगी समस्त चिन्ताओं को विवर्जित कर देता है और मन से कुछ नहीं सोचता है, उसे तत्व का साक्षात्कार होता है। तत्व के सम्मुख होने पर अमनस्कता का उदय होता है, इससे चित्तादि का विलय हो जाता है। चित्त के विलय से पवन का लय स्थापित होता है, मन-पवन के लय से इन्द्रियार्थ का त्याग हो जाता है।......... सर्वसम की अवस्था आती है और सर्वसमत्व के उदय होने पर योग का कार्य-व्यापार समाप्त हो जाता है। इसके बाद परब्रह्म में स्वरूपभूत योगी लय को प्राप्त होता है, ऐसा होने पर सुख, दुःख, शीत-उष्ण आदि द्वन्द्व समाप्त हो जाते हैं। जिस तरह वायुशून्य में स्थापित दीप निश्चल हो जाता है, उसी प्रकार जगद्व्यापार से युक्त योगी लय को प्राप्त हो जाता है।

सुख दुःखे न जानाति शीतोष्णं न च विन्दति।
विचारं चेन्द्रियार्थाना न वेति विलयं गतः।।
न जीवन्न मृतो वापि न पश्यपि न मीलति।
निर्जीवः काष्ठवत्तिष्ठेत् लयस्थश्रचाभिधीयते।।
निर्वातस्थापितो दीपो भासते निश्रचलो यथा।।
जगद्व्यापारनिर्मुक्तस्तथा योगी लयं गतः।।
(अमनस्कयोग १/३८-४०)

इस लयावस्था में मन ब्रह्म के स्पर्श से ब्रह्ममय हो जाता है, योगी मन से अतीत हो जाता है। ब्रह्म-प्रतिष्ठा ही परासिद्धि है, ब्रह्म-प्रतिष्ठा का है अलख-निरंजन परमपद परमशिवस्वरूप स्थिति। यह भावाभावनिर्मुक्त विनाशोत्पत्तिवर्जित, सर्वसंकल्पनातीत परतत्व है।

भावाभावविनिर्मुक्तं विनाशोत्पत्त्विवर्जितम्।
सर्वकंल्पनातीतं परतत्वं तदुच्यते।।
(अमनस्कयोग १/२५)

इस परम तत्व-शाम्भव तत्व के उदय में शाम्भवी-मुद्रा की सिद्धि लक्षित की है हठयोग-प्रदीपिका के रचयिता ने, जो स्वरूपतः उन्मनी समाधि ही है।

अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी यदी वर्तते।
दृष्ट्या निश्चलतारया बहिरध पश्यन्नपश्यन्नपि।।
मुद्रेयं खलु शाम्भवी भवति सालब्धा प्रसादाद् गुरोः।
शून्याशून्यविलक्षणं स्फुरति तत् तत्वं पर शाम्भवम्।।
(हठयोगप्रदीपिका ४/३७)

हठयोग-प्रदीपिका में इस शाम्भव परमतत्व की विवेचना के परिलक्षण में यह निरूपण उपलब्ध होता है। जो कुछ भी जाना जाता है, वह ज्ञान कहलाता है और यह ज्ञान ही मन कहा गया है। शान्ति-प्राप्ति का परमोत्तम मार्ग यही दृश्य और अदृश्य कां परिज्ञान मन का धर्म है, यह द्वन्द्व है, जब मन उन्मन

होता है, तब यह द्वन्द्व स्वतः समाप्त हो जाता है। ज्ञेय वस्तु के परित्याग से मनविलय के उपरान्त एक मात्र कैवल्य ही अवशेष रहता है।

ज्ञेयं सर्वप्रतीतं च ज्ञानं च मनउच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं समं नष्टं नान्यः पन्था द्वितीयकः।
मनोदृश्यमिदं सर्वं यद् किन्चित् सचराचरम्।
ज्ञेयवस्तुपरित्यागाद् विलयं याति मानसम्।
मनसो विलये जाते कैवल्यमवशिष्यते।।
(हठयोगप्रदीपिका ४/६०-६२)

इस कैवल्य में परमशिव की विद्यमानता ही शक्ति की सनातन विद्यमान शक्ति के रूप में शाश्वत शिवमयता है। इस शिवमयता-परम शिवतत्व की परिव्याप्ति के परिलक्षण में गुरू गोरखनाथजी ने कहा है-

शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेराभ्यन्तरः शिवः।
अन्तरं नैव जानोयाच्चन्द्रचन्द्रिकयोरिव।।
(सिद्धसिद्धान्तपद्धति ४/२६)

यह परम शून्यावस्था है, इसमें किसी भी विषय-वस्तु का चिन्तन नहीं होता है और तत्व स्वतः प्रकाशित हो जाता है।

न किन्विच्चिन्तयेद योगी औदासीन्यपरो भवेत्।
न किञ्चिचिन्तनादेव स्वं तत्वं प्रकाशते।।
(अमनस्कयोग २/५५)

स्व तत्व का सहज-स्वरूप में अभिव्यक्त अथवा प्रकाशित हो उठना अमनस्कयोग की साधना की सिद्धि है। इसी सिद्धि में मोक्ष-पद का निरूपण करते हुए गोरखनाथजी ने उसे मन से मन को देखना कहा है।

अथ मोक्षपदं कथ्यते-यत्र सहजसमाधिक्रमण मनसा मनः सभालोक्यते स एव मोक्षः। (अमरौधशासनम्)

यही द्वैताद्वैतविलक्षण समतत्व का महाज्ञान है। मुक्त तो वास्तव में वही है, जिसका चित्त न सुप्त है, न जाग्रत् है। जिसे न स्मृति है, न विस्मृति है, जो न अचेत है न सचेत है। ऐसा प्राणी ही मुक्ति में स्वस्थ होता हैं

चित्तं न सुप्तं नो जाग्रत् स्मृतिविस्मृतिवर्जितम्।
न चास्तमेति नोदेति यरूयासौ मुक्त एव सः।।
(हठयोगप्रदीपिका ४/११०)

नाथयोग में द्वैताद्वैत भाव से अतीतता की अवस्था ही मुक्ति की परमावस्था है। अमनस्कयोग की साधना में गुरू गोरखनाथजी ने एक गुप्त प्रयोग के द्वारा मुक्ति-प्राप्ति का मार्ग निर्दिष्ट किया है। यह प्रयोग अत्यन्त गूढ़ है।

उर्ध्वमुष्टिरघोदृष्टिरूर्ध्वभेदस्त्वधः शिरा।
धरायन्त्रविधानेन जीवन्मुक्तो भविष्यति।।
(अमनस्कयोग २/१५)

इसका शाब्दिक आशय यह है कि ऊपर की ओर मुष्टि, नीचे की ओर दृष्टि, ऊपर को भेद और नीचे की ओर सिर का धरायंत्र की विधि से साधक जीवन्मुक्त हो जाता है। धरायंत्र का तात्पर्य है शाम्भवी मुद्रा की विधि और इस मुद्रा के अभ्यास से साधक जीवन्मुक्त होता है। जिस तरह अर्जुन ने मत्स्वेध कर द्रोपदी स्वयंवर में विजय पायी थी, उसी तरह साधक शाम्भवी मुद्रा में बहिर्दृष्टि स्थिर कर लक्ष्य का भेदन करता है, परमपद में स्थित होता है। योगी योग के विधान से अभ्यास में सिद्धि होने पर उन्मनीकरण की अवस्था में स्थित होने पर निर्भय निरालम्ब निराधार और निर्मल ब्रह्मपद में लीन हो जाता है।

निरातंके निरालम्बे निराधारे निरामये।
योगी योगविधानेन परे ब्रह्मणि लीयते।।
(गोरक्षसंहिता २/६५)

यही महाशून्य समाधि में तन्मयता अथवा तत्वाकारिता अथवा परब्रह्म स्वरूप की प्राप्ति है। यह अवस्था अनिर्वचनीय और शब्दब्रह्म से अतीत है, यही नाथस्वरूप अथवा निरंजनपद है। शिवसंहिता में इस महाशून्य समाधि के निरूपण में कहा गया है कि जब आत्मा-जीवात्मा समस्त उपाधियों से परे हो जाता है, तब अखण्ड ज्ञानरूप निरंजन ब्रह्म की प्रतीति होती है।

निखिलोपाधिहीनो वै यदा भवति पूरूषः।
तदा विजयतेऽखण्डज्ञानरूपी निरंजनः।।
(शिवसंहिता १/७३)

यह चराचर जगत् मन का दृश्य है, मन का उन्मनी भाव होने पर अद्वैत भाव अभिव्यक्त हो जाता है। अमनस्क की साधना को परिलक्षित कर गोरखनाथ जी ने कहा है कि चित्त के अचल होने पर ही मोक्ष प्राप्त होता है।

चित्ते चलति संसारोऽचले मोक्षः प्रजायते।
तस्माच्चितं स्थिरीकुर्यादौदासीन्यपरायणः।।
(अमनस्कयोग २/६३)

अमनस्कयोग की साधना के लिए योगी को मन पर स्वामित्व स्थापित करना बड़ा ही आवश्यक है, जिसका अभाव होने पर मन बहुत विघ्नकारी सिद्ध हो सकता है। प्रत्येक योगसाधना-क्षेत्र में इसलिए मन के नियंत्रण पर बल दिया गया है। योगीराज चौरंगीनाथ ने अपनी एक सबदी में कहा है कि मन को ही मारना चाहिए। मारने का तात्पर्य है उन्मन करना चाहिए और पवन के भण्डार पर ही अधिकार करना चाहिए, प्राणायाम के द्वारा चित्त की निरोधावस्था सम्भव होती है, इसलिए प्राण को भी ऊर्ध्वस्थानीय-ब्रह्मरन्ध्र में संयमित करना परमआवश्यक है। ऐसा होने पर स्थिर तत्व की साधना सिद्ध होती है और योग-साधक के लिए निरंजन के साक्षात्कार का मार्ग स्पष्ट हो जाता है। चौरंगीनाथ का कथन है-

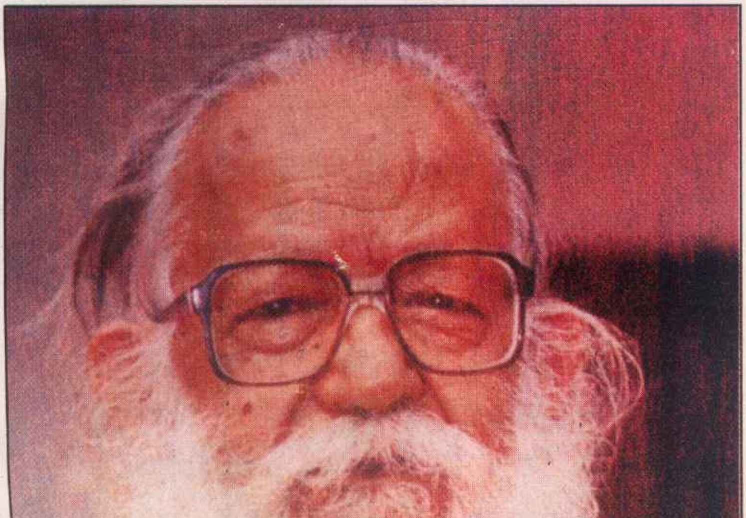

महन्त अवेद्यनाथ

मारिबा तौ मन मस्त मारिबा।
लूटिबा तौ पवन भण्डारं।।
साधिबा तौ थिरतत्त साधिबा।
सेइबा निरंजन निराकारं।।
(नाथसिद्धों की बानियाँ ३४४)

इस तथ्य पर योगसिद्ध भर्तृहरि ने भी बल दिया है। उन्होंने शून्य निःशब्द पद में प्रतिष्ठित होने की सीख देते हुए समस्त विकारों के परित्याग को श्रेयस्कर कहा है। योगिराज भर्तृहरि का वचन है :-

साधिबा एक पवन आरंभ साधिबा।
छाड़िबा तौ सकल विकारं।
रहिबा तो निहिसबद की छाया।
सेईबा तौ निरंजन निराकारं।। (नाथसिद्धों की बानियाँ ६१८)

योगसंहिताओं में भी इसी तरह के स्पष्ट निर्देश उपलब्ध होते है। ज्ञान के द्वारा जहाँ आरोप-अपवाद में सभी उत्पन्न कार्यों का लीन हो जाना निश्चित है, वहाँ शाश्वत विद्यमान नित्य निरंजन आत्मा में मन को लीन कर लेना चाहिए। आत्मा में सभी उत्पन्न पदार्थों का लय हो जाता है, इसलिए मन का भी आत्मलय अथवा उन्मनीकरण निरंजन के साक्षात्कार की दिशा में आवश्यक है।

अमनस्कयोग के रचयिता महायोगी गोरखनाथ ने एक बड़े महत्त्व की बात कही है कि जिस तरह फूल से फल होने पर फूल का स्वतः लोप हो जाता है, उसी तरह देह में जब तत्त्व प्रकाशित होता है, ब्रह्मस्वरूप की सम्पूर्ण प्रतिष्ठा हो उठती है, तब देहातीतता की स्थिति प्रकट होती है।

पुष्पात् प्रकाशते यद्वत् फलं पुष्पविधातकम्।
देहात्प्रकाशते तत्त्वं तत्त्वं देहविनाशकम्।।
फलं प्रकाशकं पुष्पं फलं पुष्पविधातकम्।
देहात्प्रकाशते तत्त्वं तत्त्वं देहविनाशकम्।।
(अमनस्कयोग २/१७-१८)

उन्मनीकरण का राजपथ यह है कि योगसाधक मन को वारित न करे, यदि मन को वारित करने का प्रयत्न किया जाता है तो क्षय अथवा लय को नहीं प्राप्त होता है। यदि मन अवारित रहता है, तो स्वतः मर जाता है, अचंचल हो जाता है और वह क्षय अथवा लय को सहज अनायास प्राप्त हो जाता है। उन्मनी करण की साधना में यह महान् रहस्य है और अमनस्कयोग की सिद्धि का परम उपाय है। जिस तरह अग्नि में गला सोना कालिमा का त्याग कर निर्मल होता है, निर्वात जल स्वच्छ और स्थिर रहता है, उसी तरह अमनस्क सिद्ध होने पर तत्त्व प्रपंचत्यागपूर्वक निष्कल-निर्मल हो जाता है। अमनस्क-साधना की यही सिद्धि है कि एकमात्र तत्त्व-परमतत्त्व ही अवशेष रह जाय। यह अमनस्कयोग-सद्यः प्रत्ययकारकः (अमनस्कयोग २/२६) तत्काल तत्त्वज्ञान प्रदान करनेवाला है।

श्रीगोरखनाथ-मन्दिर,
गोरखपुर
रामनवमी २०३६ वि०

महन्त अवेद्यनाथ
गोरक्षपीठाधीश्वर

श्रीगोरक्षनाथो विजयतेतराम्

स्वसंवेद्य

सबद हमारा षरतर षांडा
रहणि हमारी साँची।
लैषै लिषी न कागद माडी
सो पत्री हम बाँची।।

{गोरखबानी सबदी २६४}

स्वयंबोध अमनस्कयोग[१]

अमनस्कखण्ड[२]

प्रथमाध्याय[३]

कैलासशिखरासीनं सर्वज्ञं (श्री सदा) शिवम्[४]।
वामदेवो मुनिश्रेष्ठः प्रणम्य परिपृच्छति।।१।।

मुनिश्रेष्ठ वामदेवजी ने कैलास पर्वत के शिखर पर बैठे हुए सर्वज्ञ (श्री सदा) शिवजी को प्रणाम कर पूछा।।१।।

वामदेव उवाच

देवदेव महादेव सर्वानुग्रहकारक[५]।
जीवन्मुक्तिप्रदोपायं कथयस्व मम प्रभो।।२।।

वामदेवजी ने कहा - सब पर अनुग्रह करनेवाले देवाधिदेव हे महादेव जी! हे प्रभो! जीवन्मुक्ति प्रदान करनेवाला उपाय मुझसे कहने की कृपा कीजिये।।२।।

---

१. (ख) अमनस्क योगशास्त्र। २. (ख) नहीं है। ३. (ख) नहीं है। ४. (ख) नहीं है। ५. (ख) प्रणम्य शिरसा देवं कृतांजलि-रूमापतिम्। जीवन्मुक्तिदोपायं कथयस्वेति पृच्छति। ६. पाद पूरणार्थ कल्पित।

श्रीमहादेव उवाच[1]

श्रृणु वत्स महाप्राज्ञ संसारार्णवताररकम्।
अगम्यं सर्ववेदानां गोपितं सकलागमे।।३।।
तदहं संप्रवक्ष्यामि तव संवीक्ष्य वासनाम्।
अद्वैतं परमं चापि तव भक्तिरहैतुकी।।४।।

श्रीमहादेवजी ने कहा है - हे वत्स, महामते, संसार-सागर से पार करनेवाला जीवन्मुक्ति उपाय तुम सुन लो, यह उपाय सब वेदों का अगम्यं है, सब आगमों में छिपाकर रख हुआ है। तुम्हारी उत्कट अभिलाषा एवं परमाद्वैत (-निष्ठा) देखकर मैं तुमसे कहूँगा, क्योंकि तुम्हारी भक्ति अहैतुकी है।।३-४।।

अस्त्येकस्तारको योगः सर्वयोगोत्तमोत्तमः।
स एव द्विविधः प्रोक्तः पूर्वापरविभागतः।।५।।

सब योगों में परमोत्तम एक "तारक योग" है। वही "पूर्व" और "अपर" विभाग से दो प्रकार का कहा गया है।।५।।

पूर्वोक्तस्तारकस्तत्र अमनस्कस्तथापरः।
प्रथमं तु प्रवक्ष्यामि पूर्वमङ्गल समासतः।।६।।

उन योगो में 'पूर्व' जो कहा गया है, उसका नाम "तारकयोग" है और 'अपर' जो कहा गया है, वह "अमनस्कयोग" है। पहले मैं अंगभूत 'पूर्व' योग अर्थात् "तारकयोग" को संक्षेप में कहूँगा।।६।।

सर्वमूतिमयं रूपं गुणैरिन्द्रियमानदम्।
द्विधा कृतं मनोयुक्तं तारकं सर्वसारकम्।।७।।

सर्वमूर्तिमय, गुणों से इन्द्रियों को रूचिकर योग-स्वरूप दो प्रकार का किया गया है। उनमें मन से युक्त जो योगस्वरूप है, वह 'तारक' कहलाता है और मन से अतीत जो योगस्वरूप है, वह सर्वसार 'अमनस्क' कहा जाता है।।७।।

---

१. (ख) ईश्वर उवाच। परं ज्ञानमहं येन तत्त्वं प्रकाशते। येन विच्छिद्यते सर्वमाशापादिबन्धनम्।।२२।।

तारे ज्योतिषि संयोज्य किञ्चिचदुन्नमयन् भ्रुवौ।
पूर्वयोगस्य मार्गोऽयमुन्मनीकारकः क्षणात्।।८।।[1]

तारों (आँख की पुतलियों) को ज्योति में लगा कर भौहों को कुछ ऊँची करें (चढ़ा ले)। यह पूर्वयोग (तारकयोग) का मार्ग क्षणभर में उन्मनीभाव उत्पन्न करता है।।८।।

एष योगो मया प्रोक्तः पूर्वापरविभागतः।
सर्वमंगलसिद्धार्थं न देयो यस्य कस्यचित्।।६।।[2]

इस योग का पूर्वयोग और अपरयोग के विभाग से सब कल्याणों की सिद्धि के लिए मैनें प्रतिपादन किया है। इसे जिस किसीको योग्यता का विचार किये बिना नहीं प्रदान करना चाहिये।।६।।

मन्त्रयोगरताः[3] केचिद् केचिद् ध्यानविमोहिताः।
जपेन केचिद् क्लिश्यन्ति नैव जानन्ति तारकम्।।१०।।

कई मन्त्रयोग की साधना में लगे हुए हैं, कई लोग ध्यान के मोह में पड़े हुए हैं, कई जप से क्लेश पा रहे हैं, ये सब तारकयोग को जानते ही नहीं हैं।।१०।।

केचिदागमजालेन केचिन्निगमसंकुलैः।
केचित्तर्केण मुह्यन्ति नैव जानन्ति तारकम्।।११।।

कई आगमों से, कई निगमों से और कई तर्कों से मोहित (उलझे) है। ये सब तारक को जानते ही नहीं है।।११।।

---

१. गंगायमुनयोर्मध्ये बालरण्डा तपस्विनी।
बलात्कारेण गृह्णीयात् तद्विष्णोः परमं पदम्।। हठयोगप्रदीपिका ३ १०६ के इस श्लोक में उपर्युक्त श्लोक के भावानुसार ही उन्मनी भाव अथवा विष्णु पद का व्याख्यान है।

२. (ख) श्लोक संख्या ५ से ६ तक नहीं है।

३. (ख) 'तत्र योगरजाः' पाठ है। इसके पूर्व (ख) में-
आधारादिषु चक्रेषु सुषुम्णादिषु नाडिषु।
प्राणादिषु शरीरेषु परं तत्वं न तिष्ठति।। - यह श्लोक है,

तारकोऽयं भवाम्भोधौ तारणो गुरूशिष्ययोः[1]।
तारकोन्मेषयुक्तत्वादपि तारक उच्यते।।१२।।

यह तारकयोग भवसागर में गुरू और शिष्य दानों को ही पार उतारता है। तारिका के उन्मेष[2] से युक्त होने के कारण यह "तारक" कहा जाता है।।१२।।

न मीमांसातर्कग्रह[3]गणितसिद्धान्तपठनै-
र्न वेदैर्वेदान्तैः स्मृतिभिरभिधानैरपि न च।
न चापिच्छन्दोव्याकरणकवितालंकृतिगणै[4]-
र्मुनेस्तद्व्याप्ति[5]र्निजगुरूमुखादेव विहिता।।१३।।

मुनि को तारक योग की विशिष्टरूप से प्राप्ति न तो मीमांसा. तर्क (न्याय) तथा फलित, गणित और सिद्धान्तरूप त्रिस्कन्ध ज्योतिष पढ़ने से होती है, न वेद, वेदान्त, स्मृति और कोषों के अनुशीलन से होती है, न छन्दःशास्त्र, व्याकरण, काव्य और अलंकारों के अध्ययन से होती है। एकमात्र अपने गुरू के मुखारबिन्द से उसकी विशिष्ट प्राप्ति शास्त्रों में कही गयी है।।१३।।

दृष्टि स्थिरा यस्य विनैव दृश्यं,
वायुः स्थिरो यस्य बिना प्रयत्नम्।
चित्तं स्थिरं यस्य विनावलम्बं,
स एव योगी स गुरूः स सेव्यः।।१४।।

दृष्य के बिना ही जिसकी दृष्टि स्थिर हो जाय, बिना किसी प्रकार के प्रयत्न के जिसकी वायु स्थिर हो जाय एवं बिना किसी अवलम्बन के जिसका चित्त स्थिर हो जाय, वही योगी है, वह गुरू होने योग्य है, उसी की सेवा (शरणप्राप्ति) करनी चाहिए।।१४।।

---

१. (ख) ११ और १२ श्लोक नहीं है।

२. संसार-सागर से उत्तीर्ण करनेवाली शक्ति का जागरण। इस शक्ति को चित्-शक्ति, बोध-शक्ति या कुण्डलिनी शक्ति कहते हैं।

३. (ख) तर्कसंग्रह। ४. (ख) लंकृतिमयै -

५. (ख) तत्वं प्राप्ति।

एवंविधगुरोः[1] शब्दात् सर्वचिन्ताविवर्जितः।
स्थित्वा मनोहरे देशे योगमेव समभ्यसेत्।।१५।।

इस प्रकार गुरू के उपदेशानुसार सब प्रकार की चिन्ताओं से रहित होकर रमणीण प्रदेश में बैठकर योग का ही अच्छी तरह अभ्यास करना चाहिए।।१५।।

विविक्तदेशे सुखसंनिविष्टः
समासने किञ्चिदुपेत्य पश्चात्।
बाहुप्रमाणं स्थिरदृक् स्थिराङ्ग-
श्चिन्ताविहीनोऽभ्यसनं कुरूष्व।।१६।।

सब प्रकार की चिन्ताओं से रहित हो एकान्त स्थान में सम आसन पर कुछ पीछे की ओर झुक कर (तन कर) स्थिरअंग हो, सुखपूर्वक बैठ कर एक हाथ तक स्थिर दृष्टिकर निश्चिन्तता से योग का अभ्यास करो।।१६।।

एवमभ्यसतो योगं मनो भवति सुस्थिरम्।
वायुवाक्कायदृष्टीनां स्थिरता च तथा तथा ।।१७।।

इस प्रकार योग का अभ्यास करते-करते मन सुस्थिर हो जाता है, वायु, वाणी, देह और दृष्टि में भी स्थिरता आ जाती है ।।१७।।

जायमानामनस्कस्य उदासीनस्य सवर्तः।
मृदुत्वं च लघुत्वं च शरीरस्योपजायते ।।१८।।

जिसको अमनस्क योग की प्राप्ति हो रही हो और जो सब ओर से उदासीन हो, ऐसे योगी के शरीर में मृदुता (कोमलता) लघुत्व (हल्कापन) हो जाता है।।१८।।

---

१. ऐसे सद्गुरू के विषय में हठयोग-प्रदीपिका में लिखा है कि-
दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम्।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करूणां बिना।।

काषायग्रहणं कपालधरणं केशावलीलुंचनं[1]।
पाखाण्डव्रतभस्मचीवरजटाधारित्वमुन्मत्तता।।
नग्नत्वं निगमागमादिकवितागोष्ठीसभाभ्यन्तरे,
सर्व चोदरपूरणाय[2] पठनं न श्रेयसः कारणम्।।१६।।

काषाय (गेरूवे) वस्त्र धारण करना, खप्पर धारण करना, केशों को नोचना, पाखण्ड व्रत लेना, भस्म, कन्था और जटा धारण करना, उन्मत्तवत् रहना, नग्न रहना, सभाओं में निगम और आगमों पर व्याख्यान देना, काव्य-गोष्ठी में भाग लेना- यह उदरपूर्ति के लिए है। पढ़ना निःश्रेय का साधन नहीं है ।।१६।।

[3]द्वेषोच्चाटनमारणादिकुहकैर्मन्त्रैः प्रपंचोद्गमः[4]
सर्वाभ्यास[5] विचित्रबन्धकरणाद्यज्ञानयोगः परः[6]।
ध्यानं देहपदेषु नाडिषु षडाधारे च चेतोभ्रम-
स्तस्मात् तत्सकलं मनोविरचितं त्यक्त्वाऽमनस्कं भज।।२०।।

द्वेष (विद्वेषण), उच्चाटन, मारण आदि प्रवचंनाओं से युक्त मन्त्रों से प्रपंच की उत्पत्ति होती है, पूर्ण अभ्यास, भाँति-भाँति के आसन बन्धों का बिना अन्तरंग साधन-विवेक के करना केवल अज्ञान ही है, देहस्थित नाड़ियों में तथा छः आधार वाले चक्रों में ध्यान केवल चित्त का विभ्रम है, इसलिए मन से कल्पित इन सब का त्याग कर अमनस्क योग का सेवन करो ।।२०।।

---

१. (ख) मुंचन। यही पाठ अच्छा प्रतीत होता है। इसका अर्थ होगा केशों का त्याग अर्थात मुण्डित होना।
२. (ख) पूरणार्थपठनम्
३. (ख) रक्षोच्चाटन।
४. (ख) मन्त्रप्रपंचोद्गमैः।
५. (क) पूर्णाभ्यास
६. (क) अज्ञानबोधिः परम् (ख) अज्ञानभोगः परः।

अन्ये च जगतो भावा ये च तिष्ठन्त्यनेकधा।
तेषां तु लक्षकेणापि परतत्वं न मीयते[1] ।।२१।।

और भी जगत् के जो विविध प्रकार के पदार्थ हैं, उनके लक्ष से भी परम तत्त्व की बराबरी नहीं की जा सकती। वे लाखों हैं परन्तु परमत्तत्व से अत्यन्त विलक्षण हैं ।।२१।।

अथाहं वच्मि मोक्षाय ज्ञानरागजितां[2] नृणाम्।
निष्कलं निष्प्रपंच[3] परतत्त्वं तदुच्यते।।२२।।

अब मै ज्ञान से राग पर विजय प्राप्त करने वाले लोगों की मुत्ति के लिए परतत्व का निरूपण करता हूँ, जो निष्कल, (निरंजन) और निष्प्रपंच कहा जाता है।।२२।।

यस्मादुत्पद्यते सर्वं यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठिम्।
यस्मिन् विलीयते सर्व परतत्त्वं[4] तदुच्यते।।२३।।

जिससे सब कुछ उत्पन्न होता है, जिसमें सब स्थित है और जिसमें सब लीन होते हैं, वह "पर तत्त्व"-परमतत्व-कहा जाता है।।२३।।

भावाभावविनिर्मुक्तं विनाशोत्पत्तिवर्जितम।
सर्वसंकल्पनातीतं परतत्तं[5] तदुच्यते।।२४।।

सत् (अस्ति), असत् (नास्ति), सदसत् (अस्तिनास्ति) और असत्-असत् (नास्तिनास्ति) इस चतुष्कोटि से विनिर्मुक्त, विनाश और उत्पक्ति से रहित एवं सर्व कल्पनाओं से अतित जो तत्त्व है, वह "परतत्त्व" कहा जाता है।।२४।।

---

१. (ख) तेषां तु लक्षणोनापि पर तत्त्वं न गीयते। (क) परतत्त्वं न गीयते।

२. (ख) ज्ञानं रागजिताम्। ३. (ख) निष्प्रपंचं यत् परं तत्वं।

४. (ख) परं तत्त्वं तदुच्यते।

५. (ख) परं तत्त्वं तदुच्यते।

अनाकारमविच्छन्नमग्राह्यमचलं ध्रुवम्।
सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं सर्वकामविवर्जितम्।।२५।।

परम तत्त्व निराकार, अविच्छिन्न अर्थात् जन्म, मरण आदि से रहित अर्थात् शाश्वत, मन और वाणी का आगम्य, निश्चल, अविनश्वर, सब उपाधियों से रहित एवं सब कामनाओं से शून्य है।।२५।।

प्रथमं पृथिवीतत्त्वं जलतत्त्वं द्वितीयकम्।
तेजस्तत्त्वं तृतीयं च[1] वायुतत्त्वं चतुर्थकम्।।२६।।
आकाशं पञ्चमं तत्त्वं मनः षष्ठमुदीरितम्।
सप्तमं परमं तत्त्वं यो जानाति स मोक्षभाक्।।२७।।

पहला पृथ्वी तत्त्व, दूसरा जल तत्त्व, तीसरा तेजस्तत्त्व, चौथा वायुतत्त्व, पाँचवा आकाश तत्त्व, और छठा मनतत्त्व कहा गया है। सातवाँ परम तत्त्व है, उसे जो जानता है, वह मोक्ष को प्राप्त होता है।।२६-२७।।

परं तत्त्वं समाख्यातं जन्मबन्धविनाशनम्।
तस्याभ्यासं प्रवक्ष्यामि येन संजायते लयः।।२८।।

"परमतत्त्व" जन्मरूप बन्धन का विनाशक कहा गया है। मैं उसके अभ्यास की विधि बताऊँगा, जिससे लय होता है।।२८।।

विविक्तदेशे सुखसंनिविटः
समासने किञ्चिदुपेत्य पश्चात्।
बाहुप्रमाणं स्थिरदृक् स्थिराङ्ग-
श्चिन्ताविहीनोऽभ्यसनं[2] कुरूष्व।।२९।।[3]

निर्जन और पवित्र स्थान में सम आसन पर कुछ पीछे की ओर झुककर (तनकर) सुख से बैठे हुए तुम एक हाथ दूर तक दृष्टि को स्थिर कर निश्चल शरीर और चिन्ताविहीन होकर उस परम तत्त्व का अभ्यास करो।।२९।।

---

१. (ख) स्यात्।
२. (ख) स्थिरांगं। ३. श्लोक १६ की यहाँ पर पुनरावृत्ति हुई है, इसका कारण आसन के पश्चात् ही ध्यान की प्रक्रिया द्वारा अमनस्कयोग का निरूपण करना है।

सुखासने समासीनस्तत्त्वाभ्यासं समाचरेत्।
सदाभ्यासेन तत्कुर्यात् परतत्त्वप्रकाशनम्[1]।।३०।।

सुखासन पर बैठकर परतत्व का अभ्यास करना चाहिए। साधक को चाहिए कि सदा के अभ्यास द्वारा उस परतत्व को प्रकाश में लाये, परम तत्व का साक्षात्कार करे।।३०।।

ब्रह्माण्डं पञ्चभूतस्थं पञ्चभूतमयी तनुः।
सर्वं भूतमयं चेति[2] त्यक्त्वा नास्तीति चिन्तय[3]।।३१।।

सारा ब्रह्माण्ड पञ्चभूतों पर आधारित है, शरीर भी पञ्चभूतमय है, यही क्यों, सब कुछ भूतमय है, इसलिए उन सबका परित्याग कर "ये है ही नहीं"- ऐसी भावना करो।।३१।।

न किञ्चन्मनसा ध्यायेत्सर्वचिन्ताविवर्जितः।
स बाह्याभ्यन्तरे योगी जायते तत्त्वसम्मुखः।।३२।।[4]

सब तरह की चिन्ताओं से मुक्त होकर होकर मन से किसी का भी चिन्तन न करें, ऐसे योगी के बाहर और भीतर तत्त्व सम्मुख (प्रकाशित) हो जाता है अर्थात् उसे बाहर और भीतर तत्त्व का स्फुरण हो जाता है।।३२।।

तत्त्वस्य सम्मुखो जाते अमनस्कं[5] प्रजायते।
अमनस्केऽपि संजाते चित्तादि[6]विलयो भवेत्।।३३।।

तत्त्व के सम्मुख होने पर[7] अमनस्क योग सिद्ध हो जाता है। अमनस्क योग की प्राप्ति होने पर चित्त आदि का भली भाँति (परम तत्त्व में) लय हो जाता है।।३३।।

---

१. (ख) परं तत्त्वं प्रकाशते।
२. (ख) वेति।
३. (ख) भावयेत्।
४. हठयोगप्रदीपिका में भी लिखा है कि :-
बाह्यचिन्ता न कर्तवया तथैवान्तरचिन्तन।
सर्वचिन्तां परित्यज्य न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।।
५. (ख) त्वमनस्कं
६. (ख) चिन्तादिविलयो।
७. आत्मा के सम्मुख होने पर।

चित्तादिविलये जाते पवनस्य लयो भवेत्[1]।
मनःपवनयोर्नाशादिन्द्रियार्थं विमुञ्चति।।३४।।

चित्त आदि का विलय हो जाने पर (वायु) का लय हो जाता है। मन और पवन दोनों का विनाश (विलय) होने पर साधक इन्द्रियार्थों विषयों (रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श) का त्याग कर देता है।।३४।।

इन्द्रियार्थैर्यदा मुक्तो[2] बाह्यज्ञानं न जायते।
बाह्यज्ञाने विनष्टे च ततः सर्वसमो भवेत्।।३५।।

जब साधक इन्द्रियार्थों का त्याग कर देता है अथवा उनसे मुक्त हो जाता है, तब उसे बाहरी ज्ञान नहीं होता है। बाहरी ज्ञान के विनष्ट होने पर वह सर्वसम-विषमतारहित हो जाता है।।३५।।

यदा सर्वसमे जाते[3] भवेद् व्यापारवर्जितः।
परब्रह्मणि[4] सम्पन्नो[5] योगी प्राप्तलयस्तदा।।३६।।

जब साधक सर्वसम होने पर व्यापाररहित होता है, तब परब्रह्म मे, सम्पन्न योगी लय को प्राप्त कहा जाता है- ब्रह्ममय हो जाता है।।३६।।

सदाभ्यासरतानां च यः परो जायते लयः।
तस्याहं संप्रवक्ष्यामि लक्षणं मुक्तचेतसः।।३७।।

सदा परम तत्त्व-परतत्त्व के अभ्यास में निरत योगियों का जो उत्कृष्ट लय होता है, उसका, जिसमें चित्त मुक्त हो जाता है, लक्षण मैं आगे कहूँगा।।३७।।

---

१. (ख) यह पूरी पंक्ति नहीं है।
२. (ख) इन्द्रियार्थै विनिर्मुक्ते।
३. (ख) यदासर्वसमो जातो।
४. (ख) परे ब्रह्मणि।
५. (ख) संबुद्धः।

सुख-दुःखे न जानाति शीतोष्णं न च विन्दति।
विचारं चेन्द्रियार्थानां न वेत्ति[1] विलयं गतः।।३८।।

लय को प्राप्त हुए योगी सुख और दुःख नहीं जानता है, शीत और उष्ण की प्रतीति भी उसे नहीं होती है एवं इन्द्रियार्थो- रूप, रस, गन्ध आदि विषयों का विचार तक उसके कान में नहीं आता।।३८।।

न जीवन्न मृतो[2] वापि न पश्यति न मीलति।
निर्जीवः काष्ठवत्तिष्ठेत् लयस्थश्चाभिधीयते।।३६।।

जो पुरूष न जीवित है न मृत है, न पलक खोलता है, और न पलक गिराता है, निर्जीव काष्ठ के तुल्य रहता है, वह लयस्थ कहा जाता है।।३६।।

निर्वातस्थापितो दीपो भासते निश्चलो यथा
जगद्व्यापारनिर्मुक्तस्तथा योगी लयं गतः।।४०।।

वायुरहित स्थान पर रखा हुआ दीपक जैसा निश्चल दिखायी देता है, वैसा ही लय को प्राप्त हुआ योगी जगत् के सब व्यापारों से निर्मुक्त (निश्चेष्ट) हो जाता है।।४०।।

यथा वातैर्विनिर्मुक्तो निश्चलो निर्मलोऽर्णवः।
शब्दादिविषियैस्त्यक्तो लयस्थो दृश्यते तथा[4]।।४१।।

जैसे वायु से रहित (बिना ज्वारभाटे का) सागर निर्मल और निश्चल दिखायी देता है, वैसे ही शब्दादी विषयों से परित्यक्त लयस्थित योगी भी निश्चल दिखायी देता है।।४१।।

प्रक्षिप्तं लवणं तोये क्रमाद् यद्वद्विलीयते।
मनोऽप्यभ्यासयोगेन तद्वद् ब्रह्मणि लीयते[5]।।४२।।

जैसे जल में छोड़ा हुआ नमक का ढेला धीरे-धीरे लीन हो (मिल) जाता है, वैसे ही अभ्यासयोग से मन भी परब्रह्म में लीन (तद्रूप) होता है।।४२।।

---

१. (ख) चेष्टा विलयं गतः।
२. (ख) न च जीवन्मृतो।
३. (ख) तदा । ४. (ख) इस श्लोक के आदि के दो पदों के बाद श्लोक सं ३४ का पूर्वार्द्ध और जोड़ दिया गया है- 'चित्तादिविलये जाते पवनस्य लयो भवेत्'।

लवणं तोयसंस्पर्शाद् यथा[1] तोयमयं भवेत्।
मनोऽपि ब्रह्मसंस्पर्शात्तथा ब्रह्ममयं भवेत्।।४३।।

जैसे नमक जल के सम्पर्क से जलमय हो जाता है, वैसे ही ब्रह्म के संस्पर्श से मन भी ब्रह्ममय हो जाता है।।४३।।

यथाक्षारमयत्वेन प्राप्नोति[2] लवणं स्वकम्।
ब्रह्मज्ञानमयत्वेन निर्वाणं मनसस्तथा।।४४।।

जैसे जल में लवण की सत्ता जल के क्षारमय होने से प्राप्त होती है, वैसे ही मन का ब्रह्म में निर्वाण मन के ब्रह्मज्ञानमय होने से प्रतीत होता है।।४४।।

घृतात् पृथक्तारहितं घृते लीनं घृतं यथा।
तत्त्वे लीनस्तथा योगी पृथग्भावं न विन्दति।।४५।।

जैसे घृत में डूबा हुआ घृत घृत से पृथकता (भेद) रहित अर्थात भिन्न नहीं है, वैसे ही तत्त्व (सत्ता) में लीन हुआ योगी पृथग्भाव अर्थात् तत्त्व से अपना भेद नहीं जानता है।।४५।।

निमेषेण श्वासपलै[3] र्नाडीभि प्रहरैर्दिनैः।
मासैः संवत्सरैः कालैर्लयस्थस्तत्परं[4] व्रजेत्।।४६।।

एक निमेष (पलक गिरने के समय तक), श्वास, पल, घड़ी, पहर, दिन, मास और वर्ष तक लयस्थित हुआ होगी उस परतत्त्व को प्राप्त होता है।।४६।।

शासोच्छ्वासात्मकः प्राणः षड्भिः प्राणैः पलं स्मृतम्।
पलैः षष्टिभिरेव स्यात् घटिका कालसम्मिता[5]।।४७।।

श्वास और उच्छ्वासरूप काल 'प्राण' कहलाता है, छः प्राणों से एक पल कहा गया है और साठ पलों से एक घड़ी समय कहा गया है।।४७।।

---

१. (ल) संस्पर्शात्
२. (क) प्राप्यते
३. (ख) निमेषश्वासपलकैः
४. (ख) लयस्थोऽत्थपरं
५. (क) कालसम्मता

योगी निमेषमात्रेण लयेन लभते ध्रुवम्।
स्पर्शनं परतत्त्वस्याप्युत्थानं च पुनः पुनः।।४८।।

योगी एक निमेषमात्र के लय से निश्चय ही परतत्व के स्पर्श को प्राप्त होता है और उससे पुनः पुनः व्युत्थान को प्राप्त होता है।।४८।।

धर्मशान्तिः प्रजायेत मुहुर्निद्रा च मूर्च्छना।
निमेषषट्कमात्रेण लयेनान्तःस्थ योगिनः[1]।।४६।।

छः निमेषों तक के लय से अन्तवृत्तिवाले योगी की तापशान्ति होती है, बार-बार निद्रा और मूर्च्छा आती है।।४६।।

श्वासमात्रलयेनापि तेन प्राणादिवायवः।
श्वासप्रवाहसम्बन्धात् स्वे स्वे स्थाने बहन्ति ते।।५०।।

एक श्वास तक रहने वाले लय से भी प्राण आदि वायु स्वास-प्रवाह के साथ सम्बन्ध होने से अपने-अपने स्थान में बहते है।।५०।।

श्वासमात्रयलेनापि कूर्मनागादिवायवः[2]।
निवर्तन्ते च धातूनां बन्धं कुर्वन्ति धातुगाः[3]।।५१।।

दो श्वास तक रहने वाले लय से भी कूर्म, नाग आदि वायु निवृत्त हो जाते हैं और धातुगत होकर धातुओं को पुष्ट करते हैं।।५१।।

चतुःश्वासलयेनापि सप्तधातुगताः रसाः।
रसपुष्टिं[4] प्रकुर्वन्ति धातूनां समवायवः।।५२।।

यार श्वास तक के लय से भी सातों धातुओं (कफ, पित्त, रक्त, वसा, मज्जा, शुक्र) के रस समवायु होकर धातुओं के रसों को पुष्टि करते हैं।।५२।।

---

१. (ख) लयेनिष्ठा च योगिनः।
२. (ख) कूर्मवातादिवायवः।
३. (ख) धातवः।
४. (ख) समं पुष्टिं।

लयेन पलमात्रेण[1] चासनस्थो न खिद्यते[2]।
स्वल्पश्वासो भवेद् योगी स्वल्पोन्मेषयुतस्तदा[3]।।५३।।

एक पल तक के लय से भी आसन पर चाहे कितनी ही देर तक क्यों न बैठे, योगी को थकान नहीं लगती (खिन्नता नहीं होती); तब उसके श्वास-प्रश्वास कम हो जाते हैं और निमेष-उन्मेष भी बहुत कम होते हैं।।५३।।

पलद्वयलयेनापि हृन्नाड्याश्चालनं[4] भवेत्।
अनाहतः स विज्ञेयो मनस्तत्रैव विन्यसेत्[5]।।५४।।

दो पल तक के लय से भी हृदय-नाड़ी का चालन (जागना) होता है[6], उसे अनाहत जानना चाहिए। योगी मन को उसी में लगाये।।५४।।

चतुःपलप्रमाणेन लयेनानुभवो भवेत्।
अकस्मान्निपतत्येव शब्दः कर्णे शुभावहः[7]।।५५।।

चार पल तक के लय से अनुभव होता है। अकस्मात् कान में सुन्दर सुमधुर शब्द सुनायी पड़ता है।।५५।।

पलाष्टकलयेनापि कामस्तस्य निवर्तते।
कदापि[8] नैव जायेत कामिन्यालिंगितस्य च।।५६।।

आठ पल तक के लय से उसकी कामवासना निवृत हो जाती है। कामिनी द्वारा आलिंगित होने पर उसे कभी भी कामोत्पत्ति (काम-प्रवृत्ति) नहीं होती है।।५६।।

---

१. (ख) लयेन लयमात्रेण।
२. (ख) विद्यते।
३. (ख) स्वल्पो मेखलयस्तथा।
४. (ख) हृन्नाड्याश्चलनं।
५. (ख) तत्रैवमभ्यसेन्मनः।
६. "हृदय-नाड़ी का चालन" का अर्थ है अनाहत का क्रियाशील होना।
७. (ख) शब्दस्पातं शुभाशुभम्।
८. (क) तथापि।

कलापादलयेनापि सुषुम्णां यान्ति वायवः[1]।
सुषुम्णावदने गत्या आशु शुद्ध्यन्ति वायवः[2]।।५७।।

चौथाई कला(घड़ी) तक के लय से भी प्राणादि वायु सुषुम्णा में चली जाती हैं। सुषुम्णा के मुख में गमनसे तत्काल सव वायु शुद्ध हो जाती हैं।।५७।।

घटिकार्द्धलयेनापि शक्तिः कुण्डलिनी परा[3]।
मनोवातनिरोधेन जागर्त्याधारसंस्थिता[4]।।५८।।

आधी घड़ी के लय से भी निश्चय ही मूलाधार में स्थित परा कुण्डलिनी शक्ति मन और वायु के निरोध से जाग जाती है।।५८।।

कलामात्रलयेनापि[5] शक्तिः संचलते ध्रुवम्।
[6]ऊर्द्ध्वपश्चिममार्गेण वातरोधेन जाग्रती[7]।।५९।।

एक घड़ी तक के लय से भी वायु का रोध होने पर जगी हुई कुण्डलिनी शक्ति पश्चिम मार्ग (सुषुम्णा मार्ग) द्वारा ऊर्ध्वमुखी होकर ऊपर उठकर चलने लगती है।।५९।।

कलाद्वयलनापि शक्तेः संचलनेन वा[8]।
क्षणादुत्पद्यते तस्य मनसः कम्पनं सकृत्।।६०।।

दो घड़ी तक के लय से भी या शक्ति के संचलन से एक क्षण में एक बार योगी के मन में कम्पन उत्पन्न होता है।

---

१. (ख) सुषुम्णामार्गवाहिनी।
२. (ख) तदा पश्चिममार्गेण तस्य भोगेन गच्छति। (क) मील्य (शुचिवद्यान्ति) वायवः।
३. (क) शक्तिः संचलते ध्रुवम्। (ख) शक्तिः कुण्डलिनी परा।
४. (क) ऊर्ध्वपश्चिममार्गेण वातरोधेन जाग्रति (जाग्रति?),
५. (क) घटिकैकलयेनापि सुषुम्णा मार्गवाहिनी।
६. कला।
७. गच्छति।
८. (क) शक्तिसंचालने वा। (ख) शक्ते संचलनेन च।

चतुः कलालयेनापि निद्राभावो निवर्तते।
हृदि स्फुलिंगवद् योगी तेजोबिन्दुं प्रपश्यति।।६१।।

चार घड़ी तक के लय से योगी का निद्राभाव निवृत्त हो जाता है और वह हृदय में चिनगारी के सदृश तेजोबिन्दु का दर्शन करता है।।६१।।

दिनपादलयेनापि स्वल्पाहारो भवेन्नरः[1]।
स्वल्पमूत्रपुरीषश्च लघुता स्निग्धता तनोः[2]।।६२।।

दिन के चौथे भाग तक के लय से भी योगी का आहार बहुत घट जाता है, उसका मूत्र और पुरीष (मल) भी अल्प मात्रा में होता है एवं शरीर में हल्कापन और स्निग्धता आ जाती है।।६२।।

वासरार्धलयेनापि स्वात्मज्योतिः प्रकाशते।
सूर्यो गोभिरिवोद्दीप्तो[3] योगी विश्वं प्रकाशते।।६३।।

आधे दिन के लय से आत्मज्योति प्रकट होती है। सूर्य जैसे किरणों से उद्दीप्त रहता है, वैसे ही योगी उद्दीप्त होकर विश्व को प्रकाशित करता है।।६३।।

दिनमात्रलयेनापि स्वात्मतत्त्वं प्रकाशते।
इन्द्रियज्ञानविस्तारो ब्रह्माण्डेऽप्यनुवर्तते[4]।।६४।।

दिन भर तक रहने वाले लय से आत्मतत्व प्रकाशित होता है और इन्द्रियों के ज्ञान का विस्तार सारे ब्रह्माण्ड तक हो जाता है।।६४।।

---

१. (ख) भवेत्ततः।

२. (ख) स्वल्पमूत्रपुरीषत्वं लघुता स्निग्धता तथा।

३. (ख) स सुगोभिरिवोद्दीप्तो।

४. (ख) ब्रह्माण्डेष्व्यस्य जायते।

अहोरात्रलयेनापि योगी च स्वासने स्थितः[1]।
चित्तवृत्तिनिरोधेन[2] गन्धं जानाति दूरतः।।६५।।

एक दिनरात तक के लय से भी अपने आसन पर स्थित ही योगी चित्त-वृत्ति का निरोध होने से दूर से ही गन्ध जान जाता है।।६५।।

अहोरात्रद्वयेनापि लयेनानन्दमूर्च्छितः।[3]
दूरादपि रसं वेत्ति योगी संकल्पवर्जितः।।६६।।

दो दिन-रातों तक के लय से भी लयजनित आनन्द से मूर्च्छित हुआ संकल्परहित योगी दूर से ही रस को जान लेता है।

अहोरात्रत्रयेणापि लयेनान्तस्थयोगिनः[4]।
दूरदर्शनविज्ञानं[5] स्वभावेनैव वर्तते।।६७।।

तीन दिन-रातव्यापी लय से अन्तर्मुख हुए योगीका स्वभावतः ही दूरदर्शन विज्ञान सिद्ध हो जाता है (वह दूरस्थित प्राणी-पदार्थ को देखता है)।।६७।।

अहोरात्रचतुष्केण लयभावप्रभावतः।
स्पर्श जानाति योगीन्द्रोदूरादपि न संशयः।।६८।।

चार दिन-रातव्यापी लयभाव के प्रभाव से उस योगिराज का निश्चय ही आश्चर्यजनक मन से दूर के शब्द को सुनने का विज्ञान उत्पन्न (सिद्ध) हो जाता है।।६६।।

---

१. (ख) लयादानन्दमूर्छितः।

२. (ख) स्थितिवृत्तिनिरोधेन।

३. (ख) लयानन्दसमूर्छितः। (क) लयनादेषु मूर्छित।

४. (ख) लयानन्दस्य योगिनः।

५. (ख) दूराद् दर्शन विज्ञानं।

एकत्वं चेन्द्रियज्ञानं महत्स्वानुभवात्मकम[1]।
जानात्यनेन योगीन्द्रः सकलं विश्ववर्तनम्।।७०।।

इससे योगिराज स्वानुभवात्मक एकत्व, विस्तृत ब्रह्माण्डव्यापी इन्द्रिय ज्ञान तथा सकल विश्व में स्थिति जान जाता है।।७०।।

रात्रिषट्कलयेनापि[2] महाबुद्धिः प्ररोहति।
तावत्कार्यमतीतं[3] च विश्वज्ञानं प्रवर्तते।।७१।।

छः दिन-रातव्यापी लय से महाबुद्धि उत्पन्न होती है, जिससे सब कार्यों तथा अतीत और अनागत विश्व का ज्ञान होता है।।७१।।

सप्तरात्रलयेनापि परे लीनस्य योगिनः।
आब्रह्मविश्ववेतृत्व श्रुतिज्ञानं च वर्तते[4]।।७२।।

सात दिन-रातव्यापी लय से भी परतत्व में लीन हुए योगी का ब्रह्म पर्यन्त विश्वज्ञान तथा श्रुतिज्ञान हो जाता है।।७२।।

अष्टरात्रलयेनापि भवेद् योगो निरामयः।
क्षुत्पिपासादिभावैश्च सहजस्थे न पीड्यते[5]।।७३।।
नवरात्रलयेनापि निर्वेदस्यात्मवर्त्मनः[6]।
वाचः सिद्धिर्भवत्येव[7] शापानुग्रहकारिणी।।७४।।

नौ दिन-रातव्यापी लय से अपरोक्ष आत्मज्ञान के मार्गरूप निर्देश (वैराग्य) की सिद्धि तथा शाप और अनुग्रहकारिणी वाक्सिद्धि अवश्य होती है।।७४।।

---

१. (ख) एवं पंचेन्द्रियज्ञानं महत्तत्त्वस्य कारणम्।
२. (ख) षड्रात्रिविलयेनापि।
३. (ख) यावत्कर्ममतीतं च। (ख)यावत्तर्कमतीतं च।
४. (ख) आब्रह्मविश्वेश्वरत्वं श्रुतिज्ञानं न जायते।
५. (ख) सहजैरपि न पीड्यते।
६. (ख) निर्भेदः स्वात्मवर्तिनः।
७. (ख) वाचासिद्धि भवेत्तस्य।

दशरात्रलयेनापि योगिन्द्रः स्वात्मनि स्थितः।
यानि कानि च गुप्तानि[1] महाचित्राणि पश्यति।।७५।।

दस रातव्यापी लय से स्वात्मनिष्ठ (ब्रह्मनिष्ठ) योगीन्द्र भाँति-भाँति के गुप्त महाश्चर्यों को देखता है।।७५।।

[2]ततश्चैकादशाहेन[3] लयस्थस्य जयोदयात्।
मनसा सहितस्यापि गन्तुमिच्छापि विग्रहः।।७६।।

ग्यारह रातक लय में स्थित योगीन्द्र को मन के साथ-साथ काया की गति होती है।।७६।।

द्वादशाहलयेनापि भूचरत्वं हि सिद्ध्यति।
निमेषार्धप्रमाणेन[4] पर्यटत्येव भूतले[5]।।७७।।

बारह रातव्यापी लय से योगिराज को भूचरत्व की सिद्धि होती है, जिसके कारण केवल आधे निमेष (पलक मारने) में सारे भूतल में चारों ओर घूम लेता है, इसमें सन्देह नहीं है।।७७।।

ततस्त्रयोदशाहेन लयेनापि महाद्भुताम्[6]।
योगीन्द्र खेचरीसिद्धिं लभते चिन्तनादपि[7]।।७८।।

तदनन्दर तेरह दिन व्यापी लय से योगिराज को केवल चिन्तनमात्र से अद्भुद खेचरी सिद्धि प्राप्त होती है।।७८।।

---

१. (ख) सुगुप्तानि
२. (ख) तथा।
३. (क) तस्य चैकादशाहेन लयस्थस्य जयोदयात्।
४. (क) निमिषार्धप्रमाणेन ।
५. (ख) भूतलम्।
६. (ख) चेतनादपि।

चतुर्दशदिनान्तं तु[1] लयस्थो यदि तिष्ठति।
अणिमाख्या च सिद्धिः[2] स्यादणुत्वं प्राप्यते यया।।७६।।

यदि योगी चौदह दिन पर्यन्त लगातार लयस्थित रह जाता है तो अणिमा नाम की स्थिति उसे प्राप्त होती है, जिससे अणुत्व प्राप्त किया जाता है।।७६।।

आत्मन्येवात्मना लीनो योगी षोडशवासारान्[3]।
लभते महिमासिद्धिं महारूपस्य धृगू यया[4]।।८०।।

यदि योगी लगातार सोलह दिनों तक आत्मा में स्वयं लीन रहे तो 'महिमा' नाम की सिद्धि उसे प्राप्त होती है, जिससे वह महान् रूप धारण करता है।।८०।।

अष्टादशदिनान्तं तु[5] लयस्थो यदि तिष्ठति।
गरिमाख्या भवेत् सिद्धिर्यथाभूभारधृग् भवेत्।।८१।।

यदि योगी अठारह दिनों तक लगातार लयस्थ रहता है तो उसे 'गरिमा' नाम की सिद्धि प्राप्त होती है, जिससे वह आवश्यक होने पर भूमिका-सा भारीपन धारण कर लेता है।।८१।।

अभिन्नार्थो लये वापि यश्च विशतिवासरान्[7]।
लघिमाख्या भवेत्सिद्धिर्ययाणुत्वस्य[8] भारधृक्।।८२।।

जो योगी परतत्त्व में लगातार बीस दिनरात तक लीन रहता है, उसे 'लघिमा' नाम की सिद्धि प्राप्त होती है, जिससे वह अणु का भार धारण कर लेता है।।८२।।

---

१. (ख) चतुर्दशदिनानां च ।
२. (ख) अणिमाद्यषसिद्धिः स्याद्।
३. (ख) वासरात्।
४. (ख) स महारूपधृक् यथा।
५. (ख) अष्टादशदिनानां च।
६. (ख) गरिमाख्यां लभते सिद्भि यथा।
७. (ख) पंचविंशतिवासरन्।
८. (ख) सिद्धिर्यथा।

द्वाविंशतिदिनान्येवं स्वलक्ष्ये विलयं गतः[1]।
प्राप्तिसिद्धिर्भवेत्तस्य प्राप्ये जगत्स्थितिम्।।८३।।

यदि योगी अपने लक्ष्यभूत परतत्त्व में इस प्रकार से लगातार बाईस दिनों तक विलय को प्राप्त होता है तो उसे 'प्राप्ति' नाम की सिद्धि प्राप्ति होती है, जिससे वह सारे जगत् की स्थिति प्राप्त करता है।।८३।।

परे लयं गतो योगी चतुर्विंशतिवासरान्।
तस्य प्राकाम्यसिद्धिः स्यादिच्छितं लभते ध्रुवम्[2]।।८४।।

यदि योगी लगातार चौबीस दिनों तक परतत्व में लय को प्राप्त रहता है तो उसे 'प्राकाम्य' नाम की सिद्धि प्राप्त होतीं है, जिससे अवश्य ही उसे मनोभिलषित पदार्थों की प्राप्ति होती है।।८४।।

यस्यैवास्तगतं चितं षड्विंशतिदिनानि वै।
लभते जगदीशित्वं[3] येन विश्वगुरूर्भवेत्।।८५।।

जिसका चित्त लगातार छब्बीस दिनों तक परतत्त्व में अस्त (लीन) रहता है, वह जगत् में 'ईशित्व' नाम की सिद्धि प्राप्त करता है, जिससे वह विश्वगुरू होता है।।८५।।

अष्टाविंशत्यहान्यस्य[4] लयस्तिष्ठेत् स्थिरात्मनः[5]।
वर्शिवसिद्धिप्राप्तिः स्याद्ययावै वशयेज्जगत्[6]।।८६।।

जिस स्थिरात्मा योगिराज का लगातार अट्डाईस दिनों तक परतत्व में लय स्थायी रहती है; उसे 'वशित्व' नाम की सिद्धि प्राप्त होती है, जिससे वह सम्पूर्ण जगत् को अपने वश में कर सकता है।।८६।।

---

१. (ख) द्वाविंशतिदिनानि स्याल्लयक्षेपो लयंगतः।
२. (ख) वशित्वं लभते तथा।
३. (क) 'जगदीशित्वम्' और (ख) 'जगदीशत्वम्।
४. (क) और (ख) अष्टविंशत्यहर्यस्य।
५. (ख) लयस्थस्यस्थिरासने।
६. (ख) वश्यकृज्जगत्।

गन्तुमिच्छन्ति ये केचित् परे ब्रह्मपदे लयम्।
भवन्ति सिद्धयस्तेषां[1] सर्वाः विध्वंसकारिकाः।।८७।।

जो कोई महापुरूष परब्रह्म पद में लीन होना चाहते हैं, उनके लिए ये पूर्वोक्त सब सिद्धियाँ सर्वनाशकारी होती है।।८७।।

मासमेकं लयो यस्य लग्नस्तिष्ठत्यखण्डितः[2]।
न जागर्ति स योगीन्द्रो यावन्मोक्षं न विन्दति[3]।।८८।।

जिन योगी का एक मास तक लगातार अखण्डित लय रहता है, वह योगिराज जब तक मोक्ष नहीं (प्राप्त) होता, तब तक जागता नहीं है।।८८।।

नवमासलयेनापि पृथ्वीतत्त्वं स विन्दति[4]।
पृथ्वीतत्त्वे तु[5] संसिद्धे योगीन्द्रो वज्रसंनिभः।।८९।।

नौ महीने तक के लय से योगिराज को पृथिवीतत्त्व का लाभ हो जाता है। पृथिवीतत्त्व के सिद्ध हो जाने पर योगिराज वज्रतुल्यदेह हो जाता है (उसकी कार्य-सिद्धि हो जाती है)।।८९।।

सार्धसंवत्सरेणापि लयस्थस्यापि योगिनः।
तोयतत्त्वस्य सिद्धिः स्यात् तोयतत्त्वमयो भवेत्[6]।।९०।।

डेढ़ वर्ष तक लगातार परतत्त्व में लीन योगी को जलतत्त्व की सिद्धि होती है, जिससे योगी जलतत्त्वमय हो जाता है।।९०।।

---

१. (ख) सर्वस्तेषां।
२. (ख) मासमेकं लये यस्य लयस्तिष्ठेदखडितः।
३. (ख) यावन्मोक्षं स गच्छति।
४. (ख) स गच्छति।
५. (ख) पृथ्वीतत्त्वेति संसिद्धे।
६. (ख) तोयतत्त्वमयो हि सः।

संवत्सरत्रयेणापि लयस्थस्यापि योगिनः।
तेजस्तत्त्वस्व सिद्धिः स्यात्तेजस्तत्त्वमयो भवेत्[1]।।६१।।

तीन वर्षों तक निरन्तर लयस्थ योगी को तेजस्तत्व की सिद्धि होती है, जिससे वह तेजस्तत्त्वमय (परमज्योतिस्वरूप) हो जाता है।।६१।।

षड्भिः संवत्सरैरेवमखण्डलयसंस्थितः[2]।
वायुतत्त्वस्य सिद्धिः स्यात् वायुतत्त्वमयो भवेत्[3]।।६२।।

इसी प्रकार छः वर्षों तक यदि योगी अखण्ड परतत्त्वलय में स्थित हो तो उसे वायुतत्त्व की सिद्धि होती है। वायुतत्त्व की सिद्धि से वह वायुतत्त्वमय हो जाता है।।६२।।

तथा द्वादशभिर्वर्षैर्लयस्थस्य निरन्तरम्।
व्योमतत्त्वस्य सिद्धिः स्याद् व्योमतत्त्वमयो भवेत्[4]।।६३।।

इसी प्रकार बारह वर्षों तक निरन्तर लयस्थ योगी को आकाशतत्त्व की सिद्धि प्राप्त होती है, जिससे वह आकाशतत्त्वमय (सर्वव्यापक) हो जाता है।।६३।।

ब्रह्माण्डंसकलं पश्येत् करस्थमिव मौक्तिकम्[6]।
आत्मकायस्वरूपं च निर्धार्याथ यथेप्सितम्[7]।।६५।।

तदनन्तर वह (योगिराज) अपने शरीर का मनचाहा स्वरूप प्राप्त कर अर्थात् अपना, जैसी इच्छा हो, वेसा स्वरूप बना कर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को हथेली में रखे मोती के समान देखे।।६५।।

---

१. (ख) तेजस्तत्त्वमयो हि सः।
२. (ख) षड्भिः संवत्सरैर्भूतैररखडलयसंस्थिते।
३. (ख) वायुतत्त्वमयो हि सः।
४. (ख) व्योमतत्त्वमयो हि सः।
५. (ख) शक्तितत्त्वमयो हि सः।
६. (ख) ब्रह्माण्डान् सकलान् पश्येत्पाणिस्थमिव मौक्तिकम्।
७. (ख) निर्धार्याथ यथास्थितम्।

कायस्थो दृश्यते लोकं[1] तत्त्वचर्या समाचरन्।
तत्त्वचर्या करोत्येव शक्तितत्त्वक्षयाय च।।६६।।

कायस्थ (शरीरस्थित) योगी लोक में तत्वचर्या का आचरण करता हुआ दिखायी देता है, क्योंकि शक्तितत्त्व के विनाश के लिए उसे तत्वचर्या अवश्य ही करनी पड़ती है।।६६।।

इत्थं क्रमविवृद्धेन लयाभ्यासेन योगिनः।
भुञ्जते परमानन्दं भुशुण्ड्यादिमहात्मवत्।।६७।।

इस प्रकार क्रम से वृद्धि प्राप्त हुए लयाभ्यास से योगी भुशुण्डि आदि महात्माओं के तुल्य परमानन्द का भोग करते हैं।।६७।।

ब्रह्माविष्णुमहेशानां प्रलयेष्वपि योगिनाम्।
नास्ति पातो लयस्थानां महातत्त्वे विवर्तिनाम्।।६८।।

ब्रह्मा, विष्णु और महादेव के प्रलय होने पर महातत्त्व में अधिष्ठित लयस्थ योगियों का पात (नाश) होता है।।६८।।

इत्यमनस्कखण्डे[2] ईश्वरपार्वतीसंवादे[3]

प्रथमोऽध्यायः।।

---

१. (ख) लोको
२. (ख) पुस्तकपाठः, अमनस्केयोगशास्त्रे।
३. (ख) पाठः - ईश्वरवामदेवसंवादे।

उत्तरार्ध

श्रीवामदेव उवाच-

भगवन् देवदेवेश परमानन्दसुन्दरम्।
अपरं किञ्चदाख्याहि भवता यदुदीरितम्।।१।।

श्रीवामदेवजीने कहा - भगवान ! हे देवाधिदेव !! आपने जो पहले कहा था, उसी तरह का परमानन्दायक वृतान्त कहने की कृपा कीजिये।।१।।

श्रीईश्वर उवाच -

बहिर्मुद्रान्वितं पूर्वं बहिर्योगेन तन्मयम्।
अन्तर्मुद्राख्यमपरं तयोर्योगः तदेव हि।।२।।

श्रीमहादेवजी ने कहा - हे मुने! पूर्वोक्त तारक और अमनस्क, दो योगों में पूर्वयोग अर्थात् तारकयोग बाहरी मुद्रा से युक्त होने के कारण वाह्ययोग अर्थात बहिर्योगमय है, दूसरा अर्थात् अमनस्क अन्तर्मुद्रा नामक है, अतएव वही यथार्थ योग है।।२।।

राजयोगः स कथितः स एव मुनिपुंगव।
राजत्वात् सर्वयोगगानां राजयोग इति स्मृतः।।३।।

हे मुनिश्रेष्ठ! वही राजयोग कहा गया है, क्योंकि वह सब योगों का राजा है, इसलिए राजयोग कहलाता है।।३।।

राजानं दीप्यमानं तं परं ब्रह्मणमव्ययम्।
देहिनः प्रापयेद् यस्तु राजयोगः स उच्यते।।४।।

जो योग देहधारियों को राजा के तुल्य शोभायमान (देदीप्यमान) उस अव्यय परब्रह्म में पहुँचता है, वह राजयोग कहलाता है।।४।।

राजयोगस्य माहात्म्यं को वा जानाति तत्त्वतः।
ज्ञानात् सिद्ध्यति मुक्तिर्हि गुरोर्ज्ञानं च लभ्यते।।५।।

हे मुनिवर! राजयोग का वास्तविक माहात्म्य कौन जान सकता है? उसके ज्ञान से मुक्ति प्राप्त होती है और गुरू से ज्ञान प्राप्त होता है।।५।।

अन्तर्योगं वहिर्योगं यो जानाति विशेषतः।
मया त्वयाप्यसौ वन्द्यः शेषैर्वन्द्यस्तु किं पुनः।।६।।

जो पूर्वोक्त अर्न्तयोग और बहिर्योग को विशेषरूप से (तत्त्वतः) जानता है, वह मेरा और तुम्हारा भी वन्दनीय है। औरों का वन्दनीय है, इसमें तो कहना ही क्या है?।।६।।

चित्तं बुद्धिरहंकार ऋत्विक् सोमश्च पञ्चमः।
इन्द्रियाणि दशप्राणान् जुहोति ज्योतिर्मण्डले।।७।।

चित्त, बुद्धि, अहंकार, ऋत्विक् और पाँचवा सोम- ये दस इन्द्रियों और प्राणों का ज्योतिर्मण्डल में हवन करते हैं[1]।।७।।

---

१. देह में पाँच तत्त्व हैं- चित्त, बुद्धि, अहंकार, ऋत्विक् (कर्म करने वाली अस्मिता) एवं सोम (अमृत, मन)। ये पाँचों होम करने वाले हैं। दस इन्द्रियाँ होम की सामग्रीयाँ हैं (हव्य हैं) और ज्योतिर्मण्डल होम कुण्ड है।

तन्मूलान्नादिपर्यन्तं विभाति ज्योतिर्मण्डलम्।
योगिभिः सततं ध्येयमणिमाद्यष्टसिद्धिदम्।।८।।

उनके मूलभूत अन्नादिपर्यन्त ज्योतिर्मण्डल शोभित होता है। उसका योगियों को सदा ध्यान करना चाहिए। वह अणिमा आदि सिद्धियाँ देनेवाला है।।८।।

वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव।
एकैव शाम्भवी विद्या गुप्ता कुलवधूरिव।।६।।

वेद, शास्त्र, पुराण गणिका के तुल्य सर्वसाधारण हैं, सबकी उन तक पहुँच है, केवल एकमात्र शाम्भवी विद्या ही कुलवधू की तरह गुप्त है।।६।।

अन्तर्लक्षवहिर्दृष्टिनिमेषोन्मेषवर्जिता।
एषा हि शाम्भवीमुद्रा सर्वशास्त्रेषु गोपिता।।१०।।

यह शाम्भवी-मुद्रा अन्तर्लक्ष्यवाली, बहिर्दृष्टिवाली और निमेष एवं उन्मेष से शुन्य है अर्थात शाम्भवी मुद्रा में बहिर्दृष्टे होने पर भी अन्तर्लक्ष्य होता है और दृष्टि में निमेष और उन्मेष नहीं होते हैं। यह सब शास्त्रों में छिपाई गई है, गोपित है।।१०।।

आदिशक्तिरुमाचैषा मत्तोजन्मवतीपुरा।
अधुना जन्मसंस्कारात्त्वमेको लब्धवानसि।।११।।

यह साम्भवी-मुद्रा आदिशक्ति उमारूप है, यह पहले मुझसे उत्पन्न हुई थी, इस समय जन्मसंस्कारवश तुमने इसे प्राप्त किया है।।११।।

गुह्याद् गुह्यतरा विद्या न देया यस्य कस्यचित्।
एतज्ज्ञानं वसेद् यत्र स देहः पुण्यभाजनम्।।१२।।

यह विद्या गुह्य से भी गुह्यतर (अधिक गुह्य) है। इसे किसी को नहीं देना चाहिए। यह ज्ञान जहाँ रहता है, वह (देह) पुण्यभाजन है[1]।।१२।।

---

१. 'देश' के स्थान पर 'देहः' पाठ अच्छा मालूम होता है।

दर्शनात् स्पर्शनात्तस्य त्रिसप्तकुलसंयुता।
जना मुक्तिपदं यान्ति किं पुनस्तत्परायणः[1]।।१३।।

उसके दर्शन और स्पर्श से अपनी इक्कीस पीढ़ियों के साथ लोग मुक्ति पद को प्राप्त होते हैं। इस मुद्रा से युक्त पुरूषों का तो कहना ही क्या है।।१३।।

नोर्द्ध्वाधः कुण्डलीभेद उन्मन्याश्चैव न क्रमः।
अनुसन्धानमात्रेण योगोऽयं सिद्धिदायकः।।१४।।

इस योग में ऊर्ध्वकुण्डली या अधःकुण्डलिनी भेद नहीं है। उन्मनी-मनोन्मनी का भी क्रम नहीं है। यह योग केवल अनुसन्धान मात्र से[2] सिद्धि प्रदान करता है।।१४।।

ऊर्द्ध्वमुष्टिरधोदृष्टिरूर्द्ध्वभेदस्त्वधः शिराः।
धरायन्त्रविधानेन जीवन्मुक्तो भविष्यति।।१५।।

ऊपर की ओर मुष्टि, नीचे की ओर दृष्टि, ऊपर को भेद और नीचे की ओर सिर का "धरायन्त्र" की विधि से साधक जीवनमुक्त होगा।।१५।।

---

१. तुलनीय - कृतार्थौ पितरौ तेन देशः कुलं च तत्।
जायते योग्यवान् यत्र दत्तमक्षययतां व्रजेत्।।
दृष्टः सम्भाषितः स्पृष्टः पुंप्रकृत्योर्विवेकवान्।
भवकोटिशतापातं पुनाति वृजिनं नृणाम्।। (ब्रह्मवैवर्तपुराण)

२. शास्त्रों में तीन प्रकार के योग का वर्णन है-(१) आणवयोग (२) शाक्तयोग और (३) शांभयोग।
आणवयोग में शरीर, प्राण, मन, बुद्धि को लेकर साधना होती है, जैसे आसन द्वारा देहजय, मुद्रा-बंध-प्राणयाम द्वारा प्राणजय, ध्यान द्वारा मनजय इत्यादि।
जब कुण्डलिनी शक्ति जाग जाती है, तब शाक्तयोग (शक्तिअनुसंधान) होता है। ऐसा होता है कि शक्ति सहस्रार में तो पहुँच गयी है, किन्तु शिवत्वबोध नहीं है। इसलिए बोध करने का जो उपाय है, वह शांभवयोग (स्वरूपअनुसंधान) है, जो अनुसंधानात्मक है ('शिवोऽम्')।
कुलाचाररताः सन्ति गुरवो बहवो मुने।

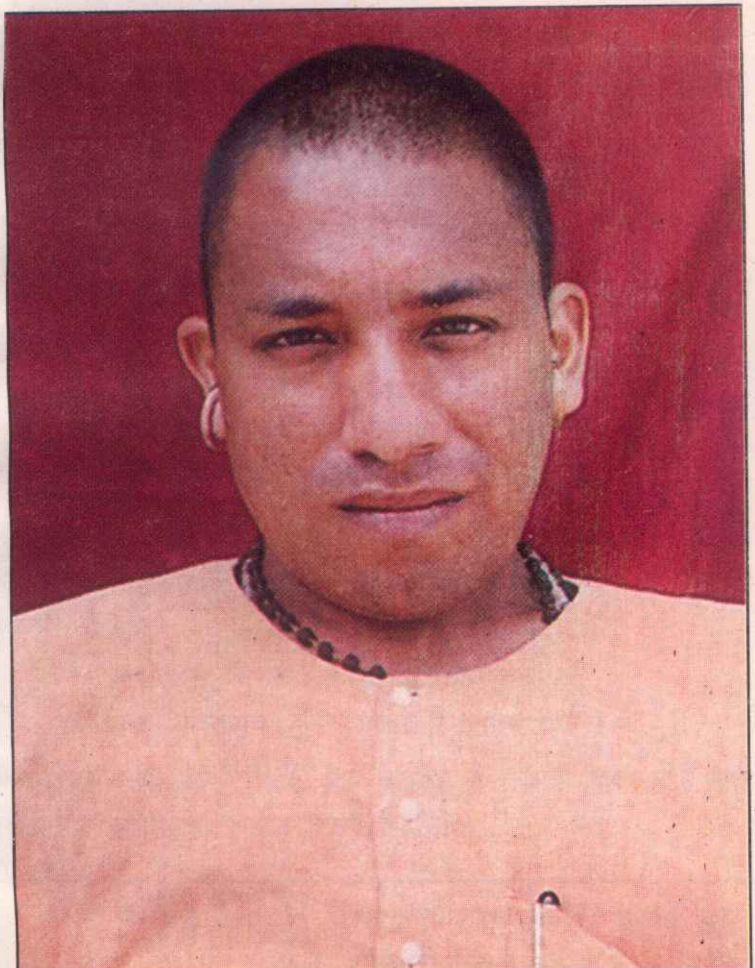

योगी आदित्यनाथ

कुलाचारविहीनस्तु गुरूरेको हि दुर्लभः।।१६।।

हे मुने! कौलों के आचार में रत बहुत से गुरू हैं, किन्तु कौलाचार से विहीन एक ही गुय है, उसका प्राप्त होना सरल नहीं है।।१६।।

पुष्पात् प्रकाशते यद्वत् फलं पुष्पविघातकम्!
देहात्प्रकाशते तत्त्व तत्त्वं देहविनाशकम्।।१७।।

जैसे फूल से फल प्रकट होता है, परन्तु फल फूल का विनाशक है, वैसे ही देह से तत्त्व प्रकट होता है, तत्त्व देह का विनाशक है।

फलप्रकाशकं पुष्पं फलं पुष्पविनाशकम्।।
तत्त्वप्रकाशको देहस्तत्त्वं देहविनाशकम्।।१८।।

फूल फल का प्रकाशक है, फल फूल का विनाशक है। देह तत्त्व का प्रकाशक है, तत्त्व देह का विनाशक है।।१८।।

तत्त्वमात्मस्थमज्ञात्वा मूढ़ः शास्त्रेषु मुह्यति।
गोः कक्षगते छागे कूपे पश्यति दुर्मतिः।।१६।।[1]

जैसे मूर्ख ग्वाला बकरी के बच्चे के बगल में रहते ही मूर्खतावश उसे कुएँ में झाँकता फिरता है, वैसे ही मूढ़ पुरूष अपने में स्थित तत्त्व को न जानकर शास्त्रों में मोह को प्राप्त होते हैं अर्थात् व्यर्थ शास्त्रों (के पठन-पाठन) में भटकते हैं।।१६।।

नमोऽस्तु गुरूवे तुभ्यं सहजानन्दरूपिणे।
यस्य वाक्यामृतं हन्ति संसारमोहनामयम्।।२०।।

सहजानन्दरूपी आप गुरू के लिए नमस्कार है, जिनका वाक्य-रूपी अमृत संसारमोहरूपी व्याधि का विनाश करता है।।२०।।

---

१. अन्यत्र भी कहा गया है- शुष्कशास्त्रविवादेषु नैवायुः क्षपयेद् बुधः।
नहि दीपकवार्तायामन्धकारो विनश्यति।।

अमृतोद्दीपिनी विद्या निरपाया निरंजना।

अमनस्का कला कापि जयत्यानन्ददायिनी।।२१।।

यह अमनस्का विद्या अमरता को उद्दीप्त करनेवाली, कभी विनष्ट न होनेवाली और किसी भी प्रकार के कालुष्य से रहित (पुण्यस्वरूपा) है। यह आनन्दप्रदायिका लोकोत्तर कला सबसे उत्कृष्ट होने के कारण सर्व वन्दनीय है।।२१।।

प्राणाष्टोच्छवासनिःश्वासविध्वस्तविषयग्रहः।
निश्चेष्टो निर्गतारम्भोह्यान्द एव योगिनः।।२२।।

प्राणवायु के आठ उच्छ्वास और निःश्वासो से जिसमें रूप आदि विषयों का ग्रहण नहीं होता, जिसमें हस्त, पाद आदि अंगों की चेष्टाएँ नहीं होती अर्थात् निश्चलतायुक्त एवं किसी प्रकार का कार्यारम्भ जिसमें नहीं होता अर्थात् निष्क्रियातासम्पन्न आनन्द ही योगी का है।।२२।।

उच्छिन्नसर्वसंकल्पो निश्शेषाशेषचेष्टितः।
स्वावगम्यो लयः कोऽपि जगतां वागगोचरः।।२३।।

जिसमें सब प्रकार के संकल्प छिन्न-भिन्न हो चुके हैं, सब चेष्टाएँ निश्शेष हो गयी हैं, केवल अपने अनुभव से ज्ञेय कोई अद्भुत लय लोगों की वाणी का अगोचर है, उसका वाणी द्वारा प्रतिपादन नहीं किया जा सकता।।२३।।

वदन्त्येव परं ब्रह्म बुद्धिमन्तो हि सूरयः।
सर्वबोधृकलालापकुशलम दुर्लभा भुवि।।२४।।

बुद्धिमान् विद्वान पुरूष परम ब्रह्म को वाणी से कहते भर हैं, सबको बोध (ज्ञान) कराने की कला के आलाप में कुशल पुरूष पृथ्वी में दुर्लभ हैं या सब बोधकलाओं (ज्ञानकलाओं) के उपदेश में कुशल पुरूष पृथ्वी पर दुर्लभ हैं।।२४।।

विन्दन्त्यनात्मनोऽभावं वेदान्तोपनिषद्विदः।
रहस्यमुपदिश्यापि स्वयं नानुभवन्ति ते।।२५।।

वेदान्तउपनिषदों के मर्मज्ञ अनात्मा के अभाव को तत्व जानते हैं। वे उसका उपदेश देते हैं पर स्वयं उसका अनुभव नहीं करते हैं।।२५।।

विज्ञाय योगशास्त्राणि नानागुरूमतानि च।

निबद्धः स्वावबोधो यं सद्यः प्रत्ययकारकः।।२६।।

विविध योगशास्त्रों का तत्व भली भाँति जानकर तथा अनेकानेक गुरूजनों के मतों को भी भली प्रकार जानकर यह जानकर यह अमनस्क नामक नामक स्वावबोध (आत्मबोध) रचा गया है। यह सद्यः ज्ञानकारक है।।२६।।

सकलं समनस्कं च सोपायं च सदा त्यज।
निष्कलं निर्मनस्कं स निरायासं सदा भज।।२७।।

समनस्क, सकल (प्राणदि नामान्त कलाओं से युक्त) और विनश्वर है, का सदा त्याग करो और निर्मनस्क (अमनस्क), जो कलारहित और आयासविहीन है[1], का सदा सेवन करो।

दुग्धाम्बुवत् संमिलितौ तुल्यक्रियौ मानसमारूतौ च।
यावन्मनस्तत्र मरूत्प्रवृत्तियविन्मरूच्चापि मनः प्रवृत्तिः।।२८।।[2]

मन और वायु दूध और जल की तरह परस्पर मिले हुए हैं, उन दोनों की क्रिया भी एक-सी है। उन दोनों में जब तक मन रहेगा तबतक वायु की प्रवृत्ति भी रहेगी और जबतक वायु रहेगी तब तक मन की भी प्रवृत्ति रहेगी।।२८।।

तत्रैकनाशादपरस्य नाशः एकप्रवृत्तेरपरप्रवृतिः।
अभ्यस्तियोरिन्द्रिय[3] वर्गवृद्धिर्विध्वस्तयोर्मोक्षपदस्यसिद्धिः।।२६।।

उन दोनों में एक के विनाश से दूसरे का विनाश हो जाता है और एक की प्रवृत्ति से दूसरे की प्रवृत्ति होती है। उन दोनों के प्रवृत्ति होने पर इन्द्रियवर्ग की वृद्धि (रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श आदि की ओर अधिक आकर्षण) होती है और उनके विध्वस्त होने पर मुक्ति प्राप्त होती है।।२६।।

---

१. 'निरपायम्' ऐसा पाठ मानने पर 'अविनाशी' है- यह अर्थ होगा।
२. चले वाते चले चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत्।। (हठयोगप्रदीपिका २/२)
३. अभ्यस्तयोस्तत्र त्रिवर्गवृद्धिः इति पाठः समीचीनः प्रतिभाति। अर्थात् मन और वायु के अभ्यस्त होने पर त्रिवर्ग- धर्म, अर्थ और काम की वृद्धि होती है।

तत्राप्य[1]साध्यः पवनस्य नाशः

षडंगयोगादिनिषेवणेन
मनोविनाशस्तु गुरूप्रसादा-
न्निमेषमात्रेण सुसाध्य एव।।३०।।

उन दोनों में वायु का विनाश षडंग-योग आदि के कौशल के साथ सेवन से साध्य है और मन का विनाश तो श्रीगुरूदेव के अनुग्रह से एक पलभर में ही सुसाध्य होता है।।३०।।

तस्मान्मनोनाशवतोऽमनस्कता
यन्नाशतो नश्यति वायुरग्रे।
तस्मात्सुबुद्धीन्द्रियदेहनाशा-
दद्वैतबुद्धिः सहजस्थितस्य।।३१।।

इसलिए जिसके मन का विनाश हो चुका, उसे अमनस्कता (अमनस्क योग) प्राप्त है। मन के नाश के पहले वायु विनष्ट हो जाती है। वायु और मन के विनाश से बुद्धि, इन्द्रिय और देह का विनाश होने के कारण अमनस्क योग को (सहजतत्त्व में स्थित योगी को) अद्वैतबुद्धि होती है।।३१।।

जित्वा वायुं विविधकरणैः क्लेशमूलैः कथंचित्,
कृत्वा यत्नं निजतनुगताशेषनाडीप्रचारान्
अश्रद्धेयां परपुरगतिं साधयित्वापि नूनम,
विज्ञानेऽपि व्यसनसुखिनो नास्ति तत्त्वस्यसिद्धिः।।३२।।

कष्टकारी विविध साधनों से किसी प्रकार कठिनाई से वायु परविजय प्राप्त कर और उसका प्रयत्नपूर्वक अपने शरीर की सम्पूर्ण नाड़ियों से संचार कर, अश्रद्धेय (अविश्वसनीय) परकायप्रवेश को असंदिग्ध रूप से सिद्ध कर विज्ञान में व्यसन से सुख मानने वाले को भी अर्थात् विज्ञानार्जन में अत्यन्त परिश्रमशील साधक को भी तत्त्व की सिद्धि नहीं होती है।।३२।।

---

१. थ।

केचिन्मूत्रं पिबन्ति स्वमलमथ तनौ केचिदुज्झन्ति लालां

केचित्काष्ठां प्रविष्टा युवतिभगगतं विन्दुमूर्ध्वं नयन्ति।
केचित्खादन्ति धातून् अखिलतनुशिरावायुसंचारदक्षा-
नैतेषां देहसिद्धिर्विगतनिजमनोराजयोगादृते स्यात्।।३३।।

कई (अघोरपंथी) अपना मूत्र पीते हैं, कई अपना मल ग्रहण करते हैं, कई अपने शरीर पर राख पोतते हैं, दुराचरण की पराकाष्ठा को प्राप्त हुई कई युवती जनों के गुह्यांग की बूदों को ऊपर खींचते हैं, कई विविध प्रकार की धातुओं (रसों) का सेवन करते हैं, और कई शरीर की समस्त नाडिऋयों में वायु का संचार करने में निपुण हैं, परन्तु इन सबको कार्यसिद्धि प्राप्त नहीं होती। कार्यसिद्धि का अमनस्क (जिससे अपना मन विलीन हो गया ऐसे) राजयोग के सिवा दूसरा साधन नहीं है।।३३।।

केचित्तर्कवितर्ककर्कशधियोऽहंकारदर्पोद्धताः
केचिज्जातिगताभिमानभरिता ध्यानादिकर्माकुलाः।
प्रायः प्राणिगणा विमूढ़मनसो नानाविकारान्विता
दृष्यन्ते नहि निर्विकारसहजानन्दैकभोगाकुलाः।।३४।।

नाना तर्कों के ऊहापोह से कर्कश बुद्धिवाले कई लोग निविड़ अहंकार से उद्धत रहते हैं एवं कई जातिगत अभिमानान्वित होकर ध्यान आदि कर्मों में व्यग्र रहते हैं। पृथ्वी पर प्रायः सभी प्राणी मूढ़मन (विकृतमस्तिष्क) है तथा अनेक प्रकार की विकृतियों से युक्त हैं। एकमात्र निर्विकार सहजानन्द का उपभोग करनेवाले लोग नहीं दिखाई देते हैं।।३४।।

एकदण्डत्रिदण्डादि जटाभस्मादिकं तथा।
केशमुंचननग्नत्वे रक्तचीवरधारणम्।।३५।।
उन्मत्ततामभोज्यान्नपानं पाखण्डवृत्तिता।
इत्यादिलिंगग्रहणं नानादर्शनदर्शनम्।।३६।।

कई एक दण्डधारी हैं तो कई त्रिदण्ड आदि धारण करने वाले हैं, कई जटाधारी हैं तो कई सर्वाङ्ग में खूब भभूत रमाये हुए हैं, कई मुण्डितमस्तक है तो कई नग्न रहने वाले हैं और कई रक्तवस्त्र धारण करनेवाले हैं। कई उन्मत्त-से हैं तो कई अभोज्य भक्षण, अपेय पान आदि पाखण्डवृति धारण करते

हैं- इत्यादि अनेक लिगोंका ग्रहण केवल नाना रूपों का प्रदर्शनमात्र है[1]।।३५-३६।।

नोत्पन्नस्वावबोधस्य ह्युदासीनस्य सर्वतः।
सदाभ्यासरतस्यैतेष्वेकमप्युपयुज्यते।।३७।।

जिनको आत्मज्ञान हो चुका, जो सर्वदा सभी ओर से उदासीन हैं और सदा अभ्यास में निरत हैं उनमें पूर्वोक्त एकदण्ड, त्रिदण्ड धारण आदि लिगों में एक भी उपयोगी नहीं होता।।३७।।

सदा दृष्टिविशेषाश्च विविधान्यासनानि च।
अन्तःकरणभावाश्च योगिनो नोपयोगिनः।।३८।।

सदा दर्शनविशेष अर्थात् निरन्तर विविध प्रकार की दृष्टियों का अभ्यास (त्राटक आदि), नाना प्रकार के आसनों का अभ्यास तथा अन्तःकरण भाव (एकाग्रता का अभ्यास), ये सब योगी के लिए उपयोगी नहीं हैं।।३८।।

अहंकारवृत्ताः केचिद् ज्ञात्वा शास्त्रसमुच्चयम्।
उपदेशं न जानन्ति ते च ग्रन्थशतैरपि।।३९।।

जो लोग विविध शास्त्रों का ाान प्राप्त कर अहंकारवान् होते हैं, प्रचुर गर्वयुक्त होते हैं, वे सैकड़ों ग्रन्थों के अध्ययन से भी उपदेश देना नहीं जानते हैं।।३९।।

---

१. श्रीमद् आद्यशंकराचार्यजी ने स्वरचित "चर्पटपंजरिकास्तोत्रम्" में ऐसा ही लिखा है-

जटिलो मुण्डी लुंचितकेशः
काषायाबंरबहुकृतवेषः।
पश्यन्नपि च न पश्यति मूढ़ः
उदरनिमित्तं बहृकृतवेषः।।

-भजगोविन्दम्.......

संकल्पमूलध्यानादिचिन्ताशास्त्रे समाकुलाः।

क्लेशेनापि न विन्दन्ति प्राप्तव्यस्थानमीप्सितम् ।।४०।।

संकल्पमूलक ध्यान आदि की विचार-चर्चा से भरे हुए शास्त्रों में आकुलमति लोग क्लेश से भी अपने अभीष्ट गन्तव्य स्थान को नहीं जान पाते हैं ।।४०।।

वेदान्ततर्कोक्तिभिरागमैश्च
नानाविधैः शास्त्रकदम्कैश्च।
ध्यानादिभिः सत्करणैर्नगम्यं
चिन्तामणिंह्येकगुरूं विहाय।।४१।।

चिन्तामणिस्वरूप एकमात्र गुरू के अनुग्रह के सेवा वेदान्त-प्रतिपादित महावाक्यों के उपदेशों से, तर्कशास्त्र में प्रतिपादित युक्तियों के कथनों से आगमों के अध्ययन से, विविध प्रकार के अन्यान्य शासत्रों के ज्ञानार्जन से, ध्यानादि उत्तम साधनों से अपने गन्तव्य स्थान की प्राप्ति संभव नहीं है।।४१।।

तस्मान्नूनं सकलविषया निष्कलाध्यात्मयोगाद्
वायोर्नाशस्तदनु मनसस्तद्विनाशाच्च मोक्षः।
स्याच्चेदेवं सहजममलं निर्विकारं निरीहं
ज्ञात्वा यत्नं कुरूत कुशलः पूर्वमेवामनस्के।।४२।।

इसलिए यह निश्चित है कि सब विषय निष्कल अध्यात्मयोग से विनिष्ट होते हैं। आत्मयोग से ही वायु का का विनाश होता है, वायु-विनाश के उपरान्त मन का विनाश होता है और मनके विनाश से मोक्ष होता है यदि सहज, निर्मल, निर्विकार और निरीह आत्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर ऐसा होता हो तो कुशल पुरूषो! पहले ही अमनस्क के सम्बन्ध में (अमनस्क प्राप्ति के लिए) यत्न करो ।।४२।।!

अभ्यस्तैः किमुदीर्घकालममलैर्व्याधिप्रदैर्दुष्करैः

प्राणायामशतैरनेककरणैर्दुःखात्मकैर्दुर्जयैः।
यस्मिन्नभ्युदिते विनश्यति बली वायुः स्वयं तत्क्षणात्
प्राप्त्यैतत्सहजं स्वभावनिशं सेवध्वमेकं गुरूम्।।४३।।

विविध व्याधियाँ उत्पन्न करनेवाले, बड़ी कठिनाई से करने योग्य, दुःखरूप, दुर्जय तथा अनेक साधनों से सम्पन्न होनेवाले सैकड़ों प्राणायामों के सुदीर्घ काल तक अभ्यास करने से क्या लाभ? जिसके उदित होने पर बलवती वायु स्वयं तत्क्षण विनिष्ट हो जाती है; उसी सहज सवभावभूत अमनस्क की प्राप्ति के लिए निरन्तर एकमात्र गुरी की सेवा करो।।४३।।

गुरूर्ब्रह्मा गुरूर्विष्णुर्गुरूर्देवो महेश्वरः।
गुरूदेवात्परं नास्ति तस्मातत्तं पूजयेत्सदा।।४४।।

गुरू ब्रह्मा है, गुरू विष्णु है, गुरू ही देवाधिदेव महादेव है। गुरूदेव से बढ़कर दूसरा कोई नहीं है। इसलिए सदा गुरू की पूजा-अर्चना करनी चाहिए।।४४।।

दृष्टिः स्थिरा यस्य विना निमेषाद्,
वायुः स्थिरं यस्य विनावलम्बात्,
चित्तं स्थिरं यस्य विनावलम्बात्,
स एव योगी स गुरूः स सेव्यः।।४५।।[1]

जिसकी निमेष (पलक गिरने) के बिना ही दृष्टि स्थिर हो, निरोध के बिना ही जिसकी वायु स्थिर वायु हो, बिना किसी अवलम्ब के जिसका चित्त स्थिर हो, वही योगी है, वही योगी है, वही गुरू है, उसी की सेवा करनी चाहिए।।४५।।

अमनस्कं सुशिष्येषु संक्राम्येन्द्रियजं सुखम्।
निवारयन्ते ते वन्द्या गुरूवोऽन्ये प्रतारकाः।।४६।।

जो सुशिष्यों में 'अमनस्क' को संक्रान्त कर इन्द्रियजन्य सुख को हटाते हैं, निवृत्त करते हैं, वे गुरू वनदनीय हैं, उनसे अन्य गुरू- गुरू नहीं हैं, वंचक हैं।।४६।।

---

१. प्रथमखण्ड के १४ वें श्लोक में यही भाव व्यक्त है।
गुरूणा दर्शिते तत्त्वे तत्क्षणात्तन्मयो भवेत्।

विमुक्तं मन्येतात्मानं मुच्यते नात्र संशयः।।

श्रीगुरू द्वारा उसके अर्थात् अमनसक योग के प्रदर्शित किये जाने पर शिष्य को ततक्षण तन्मय हो जाना चाहिए और अपने को विमुक्त समझना चाहिये। इस प्रकार का शिष्य अवश्य मुक्त हो जाता है, इसमें संशय नहीं है।।४७।।

यथा सिद्धरसस्पर्शात ताम्रं भवति काञ्चनम्।
गुरूपदेशश्रवणाच्छिष्यस्तत्त्वमयस्तथा।।४८।।

जैसे सिद्ध (शोधे गये) पारे के स्पर्श से ताँबा सोना हो जाता है, वैसे ही गुरू के उपदेश सुनने से शिष्य तत्त्वमय हो जाता है।।४८।।

तस्मादुपासनात् सम्यक् सहजं प्राप्यते गरोः।
अनायासेन सततमात्माभ्यासरतो भवेत्।।४६।।

इसलिए गुरू की भलीभाँति उपासना करने से वह सहज तत्त्व (अमनस्क) अनायास गुरू से प्राप्त होता है। शिष्य को उसको प्राप्त कर निरन्तर आत्माभ्यास करना चाहिए।।४६।।

विविक्ते विजने देशे पवित्रेऽतिमनोहरे।
समासने सुखासीनः पश्चात् किंचित्समाश्रयेत्।।५०।।
सुखास्थापितसर्वाङ्गः सुस्थिरात्मा सुनिश्चलः।
बाहुदण्डप्रमाणेन कृतदृष्टिः समभ्यसमेत्।।५१।।

पवित्र निर्जन मनोहर प्रदेश में सम आसन पर कुछ पीछे की ओर तनकर सुखपूर्वक आसीन होकर[1] सुख से सब अंगो को यथास्थान सथापित कर, सुस्थिर चित्त और निश्चल होकर एक हाथ तक आगे की ओर दृष्टि लगाकर अभ्यास करे।।५०-५१।।

---

१. देखिये श्रीगीता-

"समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्।।६/१३।।
एवं श्रीपाञ्तजल योगसूत्र,-'स्थिरसुखमासनम्'।।२/४६।।

शिथिलीकृतसर्वाङ्ग आनखाग्रशिखाग्रतः।

सबाह्याभ्यन्तरे सर्व चिन्ताचेष्टाविवर्जितः।।५२।।
यदा भवेदुदासीनस्तदा तत्त्वं प्रकाशते।
स्वयं प्रकाशिते तत्त्वे स्वानन्दस्तत्क्षणाद् भवेत्।।५३।।

पैर के नख से लेकर शिखा के अग्रभाग तक सम्पूर्ण अंगों को शिथिल कर योगी बाहरी और भीतरी सब चिन्ता और चेष्टा का त्याग कर जब उदासीन होगा, तब अमनस्क तत्त्व का प्रकाश होता है। उक्त तत्त्व के स्वयं प्रकाश में आने पर आत्मानन्द तत्क्षण प्राप्त होता है।।५२, ५३।।[1]

आनन्देन च सन्तुष्टः सदाभ्यासरतो भवेत्।
सदाभ्यासे स्थिरीभूते न विधिर्नैव च क्रमः।।५४।।

आनन्द से सन्तुष्ट होकर सदा अभ्यास में निरत रहना चाहिए। सदा अभ्यास के स्थिर होने पर फिर न कोई विधि है और न कोई क्रम है।।५४।।[2]

न किंचिच्चिन्तयेद् योगी औदासीन्यपरो भवेत्।
न किंचिच्चिन्तनादेव स्वयं तत्त्वं प्रकाशते।।५५।।

योगी कुछ भी चिन्तन न करे, औदासीन्यपरायण (चिन्तप में उदासीन अथवा तटस्थ) हो। कुछ चिन्तन न करने से ही तत्त्व स्वयं प्रकाश में आ जाता है।।५५।।[3]

---

१. देखिये श्रीगीता, अध्याय ६, श्लोक १४ एवं १५।

२. विधि कर्तव्य = निश्चय। क्रम = पूर्वापरभाव (प्रथम, द्वितीय, तृतीय) अर्थात् करणीय कर्म किस नियम से, किससमय में, किस प्रकार करना चाहिए, यह सब जानने की आवश्यकता नहीं है।

३. "चिंतन न करने का अभ्यास करना चाहिए" अर्थात् गीता के ६/२५ (शनैः शनैरुपरमेद्बुद्धया घृतिगृहीतया। आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्) के अनुसार आत्मस्वरूप में मन को बैठाकर सर्वप्रकार के विषयों का चिंतन-वर्जन करे और चित्त कर्तृत्व-बोधशून्य रहे।
स्वयं प्रकाशिते तत्त्वे तत्क्षणात्तन्मयो भवेत्।

इदं तदिति तद्वक्तुं गुरूणापि न शक्यते।।५६।।'

तत्त्व जब स्वयं प्रकाशित होता है, तब तत्क्षण उपासक (योगी) तत्त्वमय हो जाता है। 'यह वह (तत्त्व) है' इस प्रकार उसका प्रतिपादन गुरू भी नहीं कर सकते'।।५६।।

वाङ्मनःकायसंक्षोभं प्रयत्नेन विवर्जयेत्।
शिलाचित्रमिवात्मानं सुस्थिरं धारयेत्तदा।।५७।।

वाणी, मन तथा शरीर के क्षोभ का प्रयत्नपूर्वक परित्याग करना चाहिए अर्थात साधक सदा ऐसा प्रयत्न करे, जिससे वाणी, मन और शरीर में क्षोभ न आये। शिला की प्रतिमा के समान उसे अपने शरीर को अच्छी तरह सुस्थिर (निश्चल) रखना चाहिए।।५७।।

यावत्प्रयत्नलेशोऽस्ति यावत्संकल्पकामना।
अहं त्वमिति सम्प्राप्तिस्तावत्तस्य का कथा।।५८।।

जब तक थोड़ा-सा भी प्रयत्न रहेगा, जब तक संकल्प-कामना होगी, अहं-त्वम्-मैं-तुम का ज्ञान है अर्थात मैं और तुम - इस प्रकार का द्वैत बोध । रहेगा तब तक तत्त्व की बात कहाँ?।।५८।।

औदासीन्यामृतौघेन वर्धमानेन योगीनाम्।
उन्मूलितमनोमूलो जगद्वृक्षः पतिष्यति।।५९।।

योगियों के निरन्तर बढ़ रहे उदासीनतारूपी अमृत के प्रवाह से मन रूपी मूल (जगत् की जड़) के उखड़ जाने पर, उन्मूलित हो जाने पर जगत्रूपी वृक्ष गिर जायगा।।५९।।

सदा जाग्रदवस्थायां स्वप्नवद् योऽवतिष्ठते।
निःश्वासोच्छ्वासहीनसतु निश्चितं मुक्त एव सः।।६०।।

जो योगी सदा जाग्रतअवस्था में स्वप्नवत्, निःश्वास और उच्छ्वास से विहीन रहता है, वह निश्चय ही मुक्त ही है।।६०।।

---

१. "इदं तत् = प्रत्यभिज्ञा होना।
स्वप्नजागरणोपेता जन्तवो जगतीं गताः।

योगिनस्तत्त्वसम्पन्ना न जाग्रति न शेरते।।६१।।

संसार को प्राप्त जीव अर्थात् सांसारिक लोग स्वप्न और जागरणवाले हैं अर्थात् वे सोते भी हैं और जागते भी हैं। किन्तु तत्त्वसम्पत्र योगी जन न जागते हैं और न सोते ही हैं। वे स्वप्नजागरणविहीन हैं।।६१।।

स्वपने चिदंशशून्यत्वं जागरे विषयग्रहः।
स्वप्नजागरणातीतमतस्तत्वं बिदुर्बुधाः।।६२।।

स्वन में चिदंश नहीं रहता और जागरण में विषयों का ग्रहण होता है, इसलिए विद्वान् पुरूष तत्त्व को स्वप्न और जागरण से अतीत कहते हैं अथवा इसलिए स्वप्न और जागरण से अतीत को तत्त्व कहते हैं।।६२।।

भावाभवद्वयातीतं सवप्नजागरणातिगम्।
मृत्युजीवननिर्मुक्तं तत्त्वं तत्त्वविदो विदुः।।[1] ६३।।

तत्त्व के जानकार विद्वान् तत्त्व को भाव और अभाव दोनो से अतीत, स्वप्न और जागरण से परे एवं मरण जीवन से रहित जानते हैं।।६३।।

निद्रादो जागरस्यान्ते भावउपद्यते।
तं भांव भावयेद् योगी निश्चितं मुक्त एव सः।।६४।।

निद्रा के आदि में और जागरण के अन्त में जो भाव होता है, उस भाव की जो योगी भावना करे, वह निश्चय रूप से मुक्त ही है।।६४।।[2]

---

१. अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
समतत्त्वं न द्वैताद्वैतविवर्जितम्।। (अवधूत गीता १/३५)

२. जाग्रत अवस्था के अन्त में जब विषयज्ञान तिरोहित हो जाता है और निद्रा के आदि में जब जड़तत्त्वज्ञान (अज्ञान) का उदय होता है, इन दो अवस्थाओं के बीच (सन्धि) में क्षणभर के लिए जिस अवस्था का स्फुरण रहता है, वही शुद्ध चैतन्य अवस्था है। इसे सायंसंध्या कहते हैं। निद्रा भंग होने के बाद और विषयाान उदय होने से पूर्व ठीक इसी प्रकार की सन्धि-अवस्था में शुद्ध चैतन्य का उदय होता है, जिसे प्रातःसन्ध्या कहते हैं।

यथा सुप्तोत्थितः कश्चिद् विषयान प्रतिपद्यते।

जागर्त्येव ततो योगी योगनिद्राक्षणे तथा।।६५।।

जैसे सोकर उठा हुआ कोई पुरूष रूप, रसादि विषयों को प्राप्त करता है, वैसे योगनिद्रा के समय में योगी जागता ही रहता है, इसलिए वह योगी है।।६५।।[1]

सर्वतो भविता दृष्टिः प्रत्याभूता शनैः शनैः।
परतत्त्वमनादर्शं पश्यतयात्मानमात्मना।।६६।।

चारों ओर फैलाई हुई दृष्टि जब धीरे-धीरे प्रत्याहत होकर लौटती है, तब साधक परतत्त्व को अपने में अपने-आप देखता है।।६६।।[2]

प्रथमं निःसृतादृष्टिः संगता यत्र कुत्रचित्।
स्थिरीभूता च यत्रैव विनश्यति शनैः शनैः।।६७।।[3]

त्रिपुरारहसय-ज्ञानखण्ड में भी कहा है कि-

निद्राजाग्रन्मध्यभागे संविद्भेदानन्तरे तथा।
मध्ये संविद्वेद्ययोश्चसूक्ष्मबुद्धयाऽभिलक्षय।।६/६४।।
एतत्पदं निजं रूपं यत् प्राप्य न विमुह्यति।
एतदज्ञज्ञनमात्रेण प्रवृत्तं जगदीदृशम्।।६/६५।।

1. साधारण व्यक्ति निद्रा की व्यस्था से जाग करके जैसे विषय का ग्रहण करते हैं, वैसे योगी योगनिद्रा-समय में भी विषय ग्रहण करते हुए जागता ही रहता है अर्थात लौकिक दृष्टि से प्रतीत होता है कि वह साधारण मनुष्य के सदृश जागता है परन्तु वासतव में यह योगी निद्रा में ही स्थित है।
2. दृष्टि प्रत्याहत करना = अंतमुर्ख करना।
3. नष्ट हो जाती है = उसी में लीन हो जाती है।

प्रसह्य संकल्पपरम्पराणामुच्छेदने संततसावधानाम्।

आलम्बभांवादपचीयमानन शनैः शनैः शान्तिमुपैतिदृष्टिः।।६८।।

संकल्प - परम्पराओं के बलात् उच्छेद में (विनाश करने में) सदा सावध ाान दृष्टि आलम्बन के अभाव से नष्ट (क्षीण) होती हुई धीरे-धीरे शान्त हो जाती है।।६८।।

यथा यथा सदाभ्यासान्मनसः स्थिरता भवेत्।
वायुवाक्कायदृष्टीनां स्थिरता च तथा तथा।।६६।।

सदा के अभ्यास से जैसे-जैसे मन में स्थिरता आती है, वैसे-वैसे वायु, वाणी और शरीर में स्थिरता आ जाती है।।६६।।

दृश्यं पश्यति येन सत्प्रियकरं श्राव्यं तथा श्रृण्वतः
घ्रातव्यं परिजिघ्रतोऽथवदतो ध्येयं सदा ध्यायतः।
स्पर्शं च स्पृशतो निरन्धनशिला प्रख्यं मनोऽत्रक्रमाद्
अद्वैताख्यपदस्य तत्त्वपदवीं प्राप्तस्य सद्योगिनः।।७०।।

सुन्दर दृश्य को देख रहे, मनोहारी श्रव्य को सुन रहे, सूँघने योग्य सुन्दर पदार्थों को सूँघ रहे, वक्तव्य वचनों को बोल रहे, ध्येय तत्त्व का हृदय में ध्यान कर रहे, स्पृश्य वस्तु का सपर्या कर रहे, अद्वैत पद के तत्त्व को प्राप्त हुए सत्य-तत्त्व में स्थित (सच्चे) का मन क्रम से निरन्धन अग्निशिखा के तुल्य शान्त हो जाता है।।७०।।

यदा यत्र यथा यत्र स्थिरं भवति मानसम्।
तदा तत्र तथा तस्माद् न तु चाल्यं कदाचन।।७१।।

अतः जब जहाँ पर जिस प्रकार मन स्थिर हो, तब वहाँ उसी प्रकार उसको रहने देना चाहिए। वहाँ से उसे कदापि नहीं हटाना चाहिए।।७२।।

यत्र यत्र मनो याति न निवार्य ततस्ततः।
अवारितं क्षयं याति वार्यमाणं तु बर्द्धते।।७२।।

जहाँ जहाँ मन जाय, वहाँ-वहाँ से उसे निवृत करना (हटाना) नहीं चाहिए। अवारित मन (न हटाया गया, न रोका गया मन) क्षय को प्राप्त हो जाता है। यदि उसे रोका जाय तो वह बढ़ता है।।७२।।

यथा निरंकुशो हस्ती कामान् प्राप्य निवर्तते।

अवारितं मनस्तद्वत् स्वमव विलीयते।।७३।।

जैसे निरंकुश हाथी अपने अभिलषित पदार्थों को प्राप्त कर लौट जाता है, वैसे ही आवारित (न रोका गया) मन भी अपनी इच्छा पूरी कर अपने-आप शान्त हो जाता है।।७३।।

निवार्यमाणं यत्नेन तत्कर्तुं नैव शक्यते।
न तिष्ठति क्षणेनैव मारूतस्य वशोदायात्।।७४।।

मन प्रयत्नपूर्वक निवारित करने पर भी निवारित नहीं किया जाता है। वह मन (मन) वायु के वशीभूत रहने के कारण एक क्षण के लिए भी स्थिर नहीं रहता[1]।।७४।।

दुनिवार्यं मनसतद्वद्यावत्तत्त्वं न विन्दति।
विदिते तु परे तत्त्वे मनो नौस्तम्भकाकवत्।।७५

वैसे ही जबतक तत्त्व प्राप्त नहीं होता, तबतक इधर-उधर भागता हुआ मन दुनिवार्य है। पर-तत्त्व जब प्राप्त हो जाता है, तब मन समुद्र में जहाज के (स्तम्भ) मस्तूल पर बैठे हुए कौए की तरह स्थिर हो जाता है।।७५।।

यथा तुलां तुलाधारश्चंचला कुरूते स्थिराम्।
याने ृसौख्येसदाभ्यासान्मनोवृत्तिस्तदात्मनि।।७६।।

जैसे तराजू से तोलनेवाला बनिया चंचल तराजू को स्थिर कर देता है, उसी प्रकार सदा के अभ्यास से ध्यान में तथा सुख में मनोवृत्ति सदा आत्मा में स्थिर रहती है।।७६।।

निष्पन्नाखिलभावशून्यनिसृजः स्वान्तःस्थितिस्तत्क्षणात्
निश्चेष्टश्लथपाणिपादकरणग्रामों विकारोंज्झितः।

---

१. चञ्चल हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढ़म्।
तस्याहं निग्रहं मन्थे वायोरिव सुदुष्करम्।।(श्रीगीता ६/३४)

निर्मूलप्रविनष्टमारूततया निर्जीवकाष्ठोपमो

निर्वातस्थितदीपवत्[1] सहजवानूयस्याः स्थितेर्लक्ष्यते२।।७७।।

जिस पुरूष का मन सब प्रकार के भावों से विहीन हो चुका, उसकी तुरन्त आत्मनिष्ठा हो जाती है, उसमें निष्ठा होने पर सहजवान् पुरूष के हाथ, पैर आदि इन्द्रिय-समूह निश्चेष्ट और शिथिल हो जाते हैं, विकार हट जाते हैं, वायु के निर्मूल अतएव विनिष्ठ होने के कारण वह निर्जीव काठ के तुल्य तथा निर्वात स्थान पर स्थित दीपक की तरह निश्चल दिखाई देता है।।७७।।

निक्षिप्तं कनकं विहाय कलुषं यद्वद् भवेन्निर्मलं
निर्वातस्थितनिस्तरंगमुदकं स्वच्छस्वभावं परम्।
तद्वत् सर्वमिदं विहाय सकलं देदीप्यते निष्कलं
तत्त्वं तत्सहजं स्वभावममलं जातेऽमनस्के ध्रुवम्।।७८।।

अग्नि में डाला हुआ सोना जैसे कालिमा का त्याग कर निर्मल हो जाता है एवं जैसे निर्वात (वायुरहित) स्थान पर जल तरंगरहित तथा स्वच्छस्वभाव रहता है, वैसे ही अमनस्क हो जाने पंर सकल (कला-सहित) तत्त्व निश्चय ही इस निश्चलपंच का त्याग कर निर्मल, निष्कल, सहज स्वभाव हो जाता है।।७८।।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासंगि मुक्तये निर्विषयं मनः।।७६।।

मन ही मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का हेतु है। विषयों में आसक्त मन बन्धन के लिए और निर्विषय मन मुक्ति के लिए कारण होता है[3]।।७६।।

---

१ गीता ६/१६ देखिये।

२. स्थितिर्लक्ष्यते।

३. आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।। (गीता ६/५)
मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय. विषयासक्तं मुक्तिनिर्विषयं स्मृतम्।।(पंचदशी)
मनोदृश्यमिदं सर्व यत् किंचित्सचराचरम्।

मनसोऽप्युन्मनीभावेऽद्वैतभावः प्रकल्पते ।।८०।।

जो कुछ चराचर तगत् है, यह सब मन से दृश्य है। मन की उन्मनी भाव (अर्थात् विलय) होने पर अद्वैतभाव हो जाता है।।८०।।

जायमानामनस्कस्य ह्युदासीनस्य तिष्ठतः।
मृदुत्वं च परत्वं च शरीरस्याथ जायते।।८१।।

अमनस्कता जिसमें उत्पन्न हो रही है और जो चारों ओर से सर्व विषयों में उदासीन रहता है और जो स्थितशील हो गया है, ऐसे योगी का शरीर कोमल और श्रेष्ठ हो जाता है।।८१।।

अमनस्के क्षणात्क्षीणं कामक्रोधादिबन्धनम्।
नश्यतिकरणस्तम्भं देहगेहं स्लथं भवेत्[1]।।८२।।

अमनस्क भाव का उदय होने पर क्षणभर में काम-क्रोधादि बन्धन क्षीण हो जाते हैं, इन्द्रिय-स्तम्भ (इन्द्रियसमूह) नष्ट हो जाते हैं, देहरूपी घर शिथिल हो जाता है।।८२।।

सहजेनामनस्केन मनःशल्ये नियोजिते।
आतपत्रमिवास्म्भं शरीरं शिथिलायते।।८३।।

सहज अमनस्क के द्वारा मनयपी काँटे को निकाल फेंकने पर शरीर बिना डंडे के छाते के सदृश शिथिल पड़ जाता है।।८३।।

अमलस्कखानित्रेण समूलोन्मूलने कृते[2]।
अन्तःकरणशल्ये तु सुखी संजायते मुनिः।।८४।।

अमनस्करूपी कुदारी से अन्तःकरण (मन) रूपी शल्य (काँटे) के समूल (जड़सहित) उन्मूलित होने पर तो मुनि (योगी) सुखी हो जाता है।।८४।।

---

१. भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्यकर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।। (श्रुति)
इस श्लोक का अंतिम चरण श्रीमद्भागवत (११.२०.३०) में इस प्रकार है- "मयि दृष्टेऽखिलात्मनि।"

२. समूलोन्मूलिते सति (कृते)
कदलीव महामाया समनस्केन्द्रिये सदा।

अमनस्कफलं दत्वा सर्वदैव विनश्यति ।।८५।।

कदली (केले के पेड़) के सदृश महामाया समनकेन्द्रिय पुरूष को एक बार अमनस्करूप फल प्रदानकर सर्वदा के लिए विनिष्ट हो जाती है।।८५।।

इन्द्रियग्राहपदयोः निःश्वासोच्छ्वासपक्षयोः।
संक्षीणयोर्मन पक्षी स्थिरसत्तोऽवसीदति।।८६।।

मनरूपी पक्षी, जिसके निःशवास और उच्छ्वास रूप दो पंख हैं, जो इन्द्रिय तथा विषयालम्बन से युक्त है, के सम्यक्रूप से क्षीण होने पर उसकी सत्ता स्थिर हो जाती है और वह नाश को प्राप्त हो जाता है[1]।।८६।।

श्वाससूत्रशतोपेतमिन्द्रियालयसंकुलम् ।
त्रोटयित्वा मनोजालं मीनवज्जायते सुखी।।८७।।

जैसे मत्स्य शत सूत्रों से बने हुए है और बहुत छिद्रसम्पत्र जाल को तोड़ने पर निश्‍चित हो जाता है, उसी प्रकार योगी श्वास-प्रश्वास से युक्त और इन्द्रियों से प्रभावित मन का नाश कर सुखी हो जाता है।।८७।।

प्रशान्तेन्द्रियपादातो बुद्धिशक्तिसमन्वितः।
वायुयानयुतश्छित्वा मनः शत्रुं सुखी भवेत्[2]।।८८।।

अत्यन्त शान्त इन्द्रियाँ ही जिसकी पैदल सेना हैं, बुद्धि ही जिसके पास शक्ति (शक्ति नामक शस्त्र) है एवं वायु ही जिसकी सवारी है, ऐसा योगी मनरूपर शत्रु को नष्ट कर सुखी हो जाय।।८८।।

गुणत्रयमयी रज्जुं सुदृढामात्मबन्धनीम् ।
अमनस्कक्षुरेणैव च्छित्वा मोक्षमवाप्नुयात् ।।८९।।

योगी सत्त्व, रज और तमरूपी तीन गुणों की बनी (माया) जो आत्मा को बांधनेवाली मजबूत रस्सी है, को अमनस्क योगरूपी छुरे से ही काटकर मोक्ष को प्राप्त हो जाय।।८९।।

---

१. अर्थात् श्वास के नष्ट होने पर मन का नाश हो जाता है।
२. ''प्रशान्तेन्द्रियपादातं बुद्धिशक्तिसमन्वितम्।
वायुयानयुतं छित्वा मनः शत्रुं सुखी भवेत्।।''
यह पाठ उपयुक्त प्रतीत होता है।

यथा संह्रियते सर्वमस्तं गच्छति भास्करे।

करजालमं तथा सर्वममनस्के विलीयते।।६०।।

जैसे सूर्य के अस्त होने पर किरणजाल संहत (छिन्न-भिन्न) हो जाते हैं, वैसे ही योगी के अमनस्क होने पर सब (विश्व) लीन हो जाता है।।६०।।

इन्द्रियग्राहनिर्मुक्ते निर्वाते निर्मलामृते।
अमनस्कह्रदे स्नातः परामृतमुपाश्नते।।६१।।

जिस प्रकार मगर आदि जन-जन्तुओं से मुक्त, वायुशून्य निर्मल जलवाले सरावर में स्नान करने पर तृप्ति-लाभ होता है, उसी प्रकार इन्द्रियों के प्रभाव से मुक्त तथा प्राण, अपान आदि क्रिया से शून्य अमनस्क अवस्था में अवगाहन करने पर परा शान्ति (परमसुख) प्राप्त होती है।।६१।।

इत्युक्तमेतत् सहजामनस्कं,
शिष्यप्रबोधाय शिवेन साक्षात्।
नित्यं हि नूनं विगतप्रपंचं,
वाचामवाच्यं स्वमेव बोध्यम्।।६२।।

साक्षात् भगवान् शिवजी ने शिष्यों के प्रबोध (ज्ञान) के लिए यह सहज अमनसक योग इस प्रकार कहा। यह नित्य-नूतन, निष्कल, निष्प्रपंच वाणी द्वारा कथनीय नहीं है। इसे स्वयं ही जानना चाहिए अर्थात् यह स्वानुभवैकवेद्य है।।६२।।

चित्ते चलति संसारोऽचले मोक्षः प्रजायते।
तस्माच्चित्तं स्थिरीकुर्यादौदासीन्यपरायणः।।६३।।[1]

चित्त के चंचल होने पर संसार का भान होता है और निश्चल होने पर मोक्ष का उदय होता है। अतएव उदासीन (निष्क्रिय) होकर चित्त को स्थिर करना चाहिए।।६३।।

चतुर्विधा मनोवस्था विाातव्या मनीषिभिः।
विश्लिष्टं च गतायातं सुश्लिष्टं च सुलीनकम्।।६४।।

विद्वान् पुरूषों की मनोवस्था चार प्रकार की जाननी चाहिये- १. विश्लिष्टावस्था, २. गतांगतावस्था, ३. सुश्लिष्टावस्था और ४. सुलीनावस्था।।६४।।

---

१. चित्तमेव हि संसारः। (मैत्रेयी उपनिषद्)
विश्लिष्टं तामसं प्रोक्तं राजसं च गतागतम्

सुश्लिष्टं सात्विकं प्रोक्तं सुलीनं गुणवर्जितम्।।६५।।

विश्लिष्टावस्था तामस कही गई है, गतागतावस्था राजस, सुश्लिष्टावस्था सात्विक और सुनीलावस्था निर्गुण कही गई है।।६५।।

विश्लिष्टं च गतायातं विकल्पविषयग्रहम्।
सुश्लिष्टं च सुलीनं च विकल्पविषनाशनम्।।६६।।

विश्लिष्ट और गतागत अवस्था में विकल्प और विषयों का ग्रहण होता है। सुश्लिष्ट और सुलिन अवसथा में विकल्परूपी विष का नाश हो जाता है।।६६।।

ततोऽभ्यासनियोगेन निरालम्बो भवेद् यदि।
तदा सरिसभूतानि (सहजभूतात्मा?) परमानन्द एव सः।।६७।।

तदुपरान्त निरन्तर अभ्यासयोग से यदि योगी निरालम्ब हो जाय तो उसकी आत्मा सहजावस्था को प्राप्त करके परमानन्द ही बन जाती है।।६७।।[1]

अभ्यस्तो मनःपूर्व विश्लिष्टं चलमुच्यते।
ततश्च निश्चलं किञ्चित् सानन्दं च गतागतम्।।६८।।
सानन्दं निश्चलं चेतः ततः सुश्लिष्टमुच्यते।
अतीव निश्चलीभूतं सानन्दं च सुलीनकम्।।६६।।

अभ्यास कर रहे योगी का मन पहले चल रहने के कारण विश्लिष्ट कहा जाता है। उसके बाद किंचित् निश्चल होने पर सानन्द कहा जाता है और अत्यन्त निश्चल हो जाने पर उसे सुलिन कहा जाता है।।६८, ६६।।

बभूव तस्य कर्माणि पापपुण्यस्य संक्षयः।
प्रयान्ति नैव लिम्पन्ति क्रियमाणानि साधुना।।१००।।

साधु द्वारा किये जा रहे कर्म नष्ट हो जाते हैं, उसे लिप्त नहीं करते हैं, क्योंकि उसके पाप और पुण्य का संक्षय हो चुका रहता है।।१००।।

---

१. यहाँ पर "सरिसभूतानि" शब्द उचित प्रतीत नहीं हो रहा है, अतः 'सहजभूतात्मा" शब्द ही योग्य है।

उत्तुङ्ग सहजानन्दः सदाभ्यासरतः स्वयम्।

सर्वसंकल्पसंत्यक्तः स विद्वान् कर्मसंत्यजेत्।।१०१।।

स्वयं सदा अभ्यास में निरत अतएव बहुत उन्नत सहज आनन्दवाला तथा सब संकल्प और विकल्पों से मुक्त हुआ वह विद्वान् पुरुष कर्म का सम्यक् त्याग कर दे।।१०१।।

ये तु विद्यार्थविज्ञान[1] विद्वांस इति कीर्तिताः।
आत्मतत्त्वं न जानन्ति दर्वो पाकरसं यथा।।१०२।।

किन्तु जो लोग पुस्तकीय विद्या और धनार्थ अर्जित विज्ञानवाले विद्वान कहे जाते हैं, वे आत्मतत्त्व को वैसे ही नहीं जानते हैं, जैसे दर्वी (करछुल) पाक (रसोई) के रस (स्वाद) को नहीं जानती।।१०२।।

सांसारिकक्रियायुक्तं ब्रह्मज्ञोऽस्मीति वादिनम्।
कर्मब्रह्मोभयभ्रष्टं तं त्यजेदन्त्यजं यथा।।१०३।।

जो सांसारिक क्रियाओं से युक्त हो और मैं 'ब्रह्मज्ञानी हू' ऐसा दम भरता हो, कर्म और ब्रह्म दोनों को भ्रष्ट उस तथाकथित ब्रह्मज्ञानी का अन्त्यज के समान त्याग कर देना चाहिए।।१०३।।

वृथा देवान् परित्यज्य कर्मकाण्डविवर्जितान्।
पाखण्डपण्डितान् मन्ये न ते किमपि जानते।।१०४।।

वृथा यजनीय देवताओं का परित्याग कर कर्मकाण्ड से रहित लोगों को मैं पाखण्डी पण्डित मानता हूँ, वे कुछ नहीं जानते हैं।।१०४।।

न कर्माणि त्यजंद् योगी कर्मभिस्त्यजते ह्यसौ।
कर्मणो मूलभूतस्य संकल्पस्यैव नाशतः।।१०५।।

योगी को कर्मों का त्याग नहीं करना पड़ता है, क्योंकि कर्मों के मूलभूत संकल्प का नाश होने से वह सवयं कर्मों का त्याग जाता है।।१०५।।

---

१. "विदितविज्ञाना" इति पाठान्तरम्।

यदा यदा सदाभ्यासात् संकल्पविलयो भवेत्।

योगिनो भवति श्रेयान् कर्मस्यागस्तदा तदा।।१०६।।

जब-जब सदा अभ्यास से संकल्प का विनाश होता है, तब-तब योगी का श्रेयस्कर कर्मत्याग होता है।।१०६।।

दान्तानां कुशलानां च सततं मोक्षमिच्छताम्।
श्रद्धावतां सुशिष्याणां शास्त्रमेतत्प्रकसशयेत्।।१०७।।

इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर चुके एवं सदा मोक्ष की इच्छा रखनेवाले दक्ष श्रद्धावान् सद् शिष्यों के लिए इस शास्त्र को प्रकट करना चाहिए।।१०७।।

शास्तमेतत् प्रयत्नेन सदाभ्यास्यं मुमुक्षुभिः।
यस्य धारणामात्रेण स्वयं तत्त्वं प्रकाशते।।१०८।।

मुमुक्ष पुरूषों को इस शास्त्र का यत्नपूर्वक सदा अभ्यास करना चाहिए, जिसके धारणामात्र से तत्त्व अपने-आप प्रकाश में आ जाता है।।१०८।।

न दिवा जागरितव्यं स्वपितव्यं नैव रात्रिभागेऽपि।
रात्रावह्नि च सहजे स्वपितव्यं योगिना नित्यम्।।१०९।।

यागी को न तो दिन में जागरण करना चाहिए और न रात्रि में शयन। योगी को नित्य रात में और दिन में सहजतत्व में शयन (विश्राम) करना चाहिए।।

निर्मनः सहजस्थिते पुरूषे न दिवारात्रिशब्दोऽस्ति।
जागरणशयनवर्जित चिन्मात्रानन्दस्थानात्[1]।।११०।।

अमनसकयप सहजतत्व में स्थित पुरूष के विशय में दिन और रात्रि शब्द घटित नहीं होते हैं, क्योंकि वह जागरण और शयन से रहित चिन्मात्रनन्द में स्थित रहता है।।११०।।

ॐ कारप्रमुखैर्विचित्रकरणैः प्रायस्य वा यो जपः[2],
तेजाश्चिन्तनमन्तरालकमले शून्याम्बरालम्बनम्।

---

१. स्वप्नः प्रबोधो न च योगमुद्रा नक्तं दिवा वापि न में कदाचिद्।
अतुर्यतुर्यं च कथं वदामि स्वरूपनिवार्णमना मयोऽहम्।।
(अवधूतगीता ४-१७)

२. 'प्रणस्ययद्योजनम्' इतिपाठान्तरम्।

त्यक्त्वा सर्वमिदं ....[1] मत्वा मनो विभ्रमं,
देहान्ते तदवाच्यमेकममनस्कत्त्वं बुधैः सेव्यताम्।।१११।

ओंकारादि विभिन्न कारणों से प्राण का संयोंजन (१) हृदयकमल में ज्योतिश्चिन्तन, (२) महाशून्यरूप आकाश का आलम्बन अर्थात् चित्त का निरालम्बन, (३) इन सबका, मन के विश्नरम हेतु, त्यागकर अन्तिम समय में ज्ञानियों को एकमात्र अवाच्य को अमनस्क का सेवन करना चाहिए।।१११।।

अन्यजन्मकृताभ्यासात्स्वयं तत्त्वं प्रकाशते।
सुप्तोथितः प्रत्यूषे ह्युपदेशाद विना प्रबुद्ध्यते।।११२।।

अन्य जंन्मों में किये गये अभ्यांस से तत्त्व स्वयं प्रकाशित होता है। सोकर जागा हुआ पुरूष प्रातःकाल उपदेश के बिना ही जैसे सब कुछ जान जाता है।।११२।।

शुद्धाभ्यासस्य शान्तस्य सदैव गुरूसेवया।
गुरूप्रसादात्तत्रैव तत्त्वज्ञानं प्रकाशते।।११३।।

सदैव गुरूसेवा से ही जिसका अभ्यास शुद्ध है, ऐसे शान्त पुरूष को गुरू के प्रसाद से ही इसी जन्म में तत्त्वज्ञान प्रकाशित हो जाता है।।११३।।

इति श्रीईश्वरवामदेवसंवादेऽमनस्के योगशास्त्रे द्वितीयोलयः

---

१. (ख) करो नरवरं।

अमनस्क योंग की सिद्धि

भगवान् पतंजलि के अनुसार योग के सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात- दो प्रकार हैं। असम्प्रज्ञात योग ही मुख्य योग है, क्योंकि इसी में चिंत्त की वृत्तियों का पूर्ण निरोध हो जाता है। यह असम्प्रज्ञात योग भवप्रत्यय असम्प्रज्ञात नहीं है, जो प्रकृतिलय के नाम से प्रसिद्ध है। यह उपायप्रत्यय है। उपाय शब्द से प्राा समझनी चाहिए। श्रद्धा, वीर्य, स्मृति और समाधि से प्रज्ञा का उदय होता है। इस प्रज्ञा के निरोध से उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञात योगसमाधि होती है। यही योगपद वाच्य है। सम्प्रज्ञात समाधि में क्षिप्त, विक्षिप्त और मूढ़ वृतियों का निरोध होकर एकाग्र भूमि में स्थित होती हैं। यह भी गौण दृष्टि से योगपद वाच्य है, क्योंकि इस भूमि में विशुद्ध ज्ञान का उदय होता है, अज्ञान की निवृति हो जाती है। परन्तु मुख्य दृष्टि से यह भी पूर्ण योग नहीं है। जब एकाग्र भूमि में उपलब्ध प्रज्ञा का निरोध हो जाता है, तभी सर्वचित्तवृतिनिरोधरूप योग का उदय होता है। स्थूल दृष्टि से देखने पर यह प्रतीत होता है कि पतंजलि की प्रक्रिया वर्तमान ग्रन्थ की प्रक्रिया के सर्वथा अनुरूप है। जैसे सम्प्रज्ञात भूमि में मन रहता है, वैसे पूर्वयोग या तारक योग में भी मन रहता है। पक्षान्तर में जैसे असम्प्रज्ञात योग में मन नहीं रहता, उसी प्रकार मन की निवृत्ति होने से योग नहीं होता, प्रकृतिलय की अवस्था में भी मन का लय होता है। वह योग नहीं है। मन का लय तो होना चाहिए परन्तु सत्यज्ञान का भी उदय होना चाहिए। अमनस्कयोग में भी यही बात है। अमनस्क में आत्मा का सांक्षात्कार होता है।

- गोपीनाथ कविराज

मुद्रक : दि इउरेका प्रिंटिंग वर्क्स, असुरन चुंगी, मेडिकल कालेज रोड, गोरखपुर, फोन-280979

योग बीज

YOGA BIJA

With English and Hindi Translation

Siddha Guru Gorakhnath

Edited & Translated by
Swami Anant Bharti
(M.M. Dr. Brama Mitra Awasthi)
English. Translation by
Abhay Kumar Shandilya

Yoga Bija
With English and Hindi Translation

By

Siddha Guru Gorakhnath

Edited & Tanslated by

Swami Anant Bharti

(M.M. Dr. Brahma Mitra Awasthi)

English Translation by

Abhay Kumar Shandilya

Dept. of Sanskrit

Jamia Millia Islamia, New Delhi

Indu Prakashan

Delhi-110007

Published By :

Indu Prakashan
29/5 Shakti Nagar, Delhi-110007
(M) 9818884003
Email : indu_prakashan17@yahoo.in

Incorporating with
Swami Keshwananda Yoga Institute
B-2/139-140, Sec. 6, Rhoini, New Delhi-85

Branch Office :
Shop No. 26, Subhash Market
Bus stop No. 6 Shivaji Nagar
Bhopal-462016 (M) 9968536565

ISBN : (10) 81-86863-23-0
(13) 978-81-86863-23-7
Edition 2019

Price 120.00

Preface

In huge Sanskrit literature, the books published on yoga branch are very little in number. Through ancient times yoga has been considered as a strictly secret subject to be taught only to a deserving disciple. But now time has come to unveil the obscure literature of this occult science to popularise this knowledge in the interest of humanity.

Indu Prakashan has determined to publish these rare texts alongwith translations in English and Hindi languages. The manuscripts of the following works have been procured—

1. Yoga-Shastra of Dattatreya.
2. Yogabija.
3. Taraka-Amanaskayoga.
4. Chandrodaya-Vilas (by Chandra Singh).
5. Yoga-Ratnakara (by Veereshvara).
6. Yogatattvopanishad.
7. Yoga chudamani-Upanishad.
8. Yoga Shikha-Upanishad.
9. Yoga-Kundalini-Upanishad.
10. Yoga-Raja-Upanished.
11. Jabaladarshna-Upanished.
12. Shandilya-Upanished.
13. Mandala Brahmana Upanished.
14. Dhyana-Bindi-Upanished.
15. Nada-Bindu-Upanished.
16. Amrita-Nada Upanished.
17. Hansa-Upanished.
18. Kshurika-Upanished.

19. Trishikhi Brahmana-Upanished.
20. Varaha-Upanished.
21. Sarasvati Rahasya Upanished.
22. Saubhagya Laxmi Upanished.
23. Advaya Taraka Upanished.
24. Amrita Bindu Upanished.
25. Muktika-Upanished.
26. Tejobindu-Upanished.
27. Darshana-Upanished.
28. Brahma Vidya-Upanished.

The important work *Yoga-Bija* is generally unknown to common reader-yet. Although it was used and oftenly quoted by some scholars like Late Pt. Gopi Nath Kaviraj, but it was not available to scholars even in reputed Libraries.

Swami Anant Bharti, Maha Mahopadhyaya (Dr. Brahma Mitra Awasthi) engaged himself in search of it and found it's copies in Mss. Libraries and edited it with Hindi and English translation with the most humble co-operation of Dr. (Mrs.) Amita Sharma, Dr. Abhaya Kuamar Shandilya.

We are deeply indebted to our reader who have shown very keen interest in our first publication–*Dattatreya Yoga Shastra* with Hindi and English translatins-sparately. We hope that this work *Yoga Bija* with the Hindi and English translation alongwith the original Sanskrit text will be greeted with the same enthusiasm.

Some of other Sanskrit text on yoga with Hindi and English translations and some original works like 'Divine Path by Holi Saints' 'Rajayoga Sadhana Aur Siddanta' and 'Yoga Aur Svasthya' etc. are ready.

We hope this work will be very useful to them who wants to know the straight way of ancient yoga tradition to reach the goal of their life.

Guru Purnima
Vikram 2075

—Diwakar Awasthi
Indu Prakashan

CONTENTS

Introduction

The ultimate aim of human life is to achieve liberation after being freed from all passions. This liberatin is also called Mukti, Moksha, Nirvana, Nishreyas Paramapada etc. It is general opinion of philosophers and thinkers that after getting liberation the self becomes free from delusion of pairs and bondage of birth and death. At the same time it also experiences immense pleasure.

The thinkers and scholars of various schools of philosophy have accepted the knowledge of ultimate reality obtained after practising the means described in their respective Shastras as the cause of liberation. The devotee saints of Vaishnavism accept devotedness or dedication to God as caused of liberation whereas scholars like Patanjali have described cessation of mind-stuff as the cause of liberation.[1]

Yogastra of Patanjali is perhaps the first systematic work on yogastastra but it is quite difficult to decide its chronology. Shankar has been mentioned as Adi Guru of Teacher or this shastra. Mostly in all the yogagranthas written in verse form for instance Shiva Samhita or Gheranda Samhita Shankar has been described as preacher and Parvati or at some places Bhairava has been described as listener or disciple. In 'Amanaskayoga' Vamadeva has expressed his desire to known the means of emancipation from the Lord 'Shiva'. Lord Shiva then preached him Amanaskayoga to quench his thirst of knowledge. In Yogashikhopanishad and Yogabija, Parvati puts up the questions and lord Shiva answers them.[2]

Hear line numbers are refered from Yoga-Bija and Dattatreya Yoga Shastra.

विष्णुर्नाम महायोगी महाभूतो महातपः।
तत्त्वमार्गे यथा दीपो दृश्यते परमेश्वरः।
तमाराध्य जगन्नाथं प्रणिपत्य पितामहः।
पप्रच्छ योगतत्त्वं मे ब्रूहि चाष्टाङ्गसंयुतम्।।योग तत्त्वोपनिषद् 1-2-3

On the contrary, in Yogatattvopanishad, Vishnu is the preacher and Brahma is described as listener–

Similarly in Daltatreya-prokta-yogashastra Dattatreya or Vishnu has been mentioned as preceptor and Samkriti as disciple.[3] In Mahabharata also the preacher of Bhagavadgita Lord Krishna is incarnation of Vishnu. In this work Lord Krishna has been described as *Yogeshvara*[4] and every chapter describes a particular branch of yogasthastra as expressed in concluding lines of each chapter. Vijnanabhikshu the well known commentator of Vyasabhashya on Patanjalayoga-shastra has indicated Lord Hiranyagarbha as the originator of Yogashastra.

Keeping in view the above facts it is much appropriate to admit that it is rather impossible to answer the question of originator of yogashastra. From the very beginning of inner growth of human being, the concept of yoga with its scriptural structure proped up and developed. The devotees of different lords accepted their tutelary gods as the preacher of yoga.

Dattatraya—yogashastra which is a treaty of Vaishnava school describes four brances of yoga viz. Mantrayoga, Layayoga, Hathayoga and Rajayoga or Ashtangayoga. Adinatha or in other words Lord Shiva has been accepted as the originator of Layayoga.

लययोगश्चित्तलयः संकेतैस्तु प्रजायते।
आदिनाथेन संकेताः अष्टकोटिप्रकीर्तिताः।।[5]

Rajayoga or Ashtangayoga was originated by Shukracharya as pointed out in Dattatreya yogashastra while describing this yoga—

कविमार्गोऽयमुक्तस्ते सांकृतेऽष्टाङ्गयोगतः।[6]

Mahamunikapila has been described as originator and foremost teacher of Hathayoga—

कपिलाद्यास्तु शिष्याश्च हठं कुर्युस्ततो यथा।[7]

In yogasutra of Patanjali 'ईश्वरप्रणिधानाद् वा[8]' 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरामृष्ठः पुरुषविशेष ईश्वरः'[9] 'तस्य वाचकः प्रणवः'[10] 'तज्जपस्तदर्थभावनम्'[11] sutras clearly mention Mantrayoga *i.e.* repetition of particular mystic syllable (mantra) with reflection upon the Ishvara. It is obvious that Mantrayoga was prevalent prior to Patanjali and it was well established as an independent branch of yoga practice. It is notable that in Dattatreya yogashastra it has been accepted as an inferior kind of yoga (Adhamayoga) and the practicant of this yoga has been described as 'Mriduyogi' or 'Sadhakadham.'[12]

In the light of above observations there may not be any objection to accept the yoga as an ancient discipline and its various branches such as Mantrayoga, Hathayoga, Layayoga etc were prevalent in ancient times also but historical background of these branches is still unknown. Perhaps this has been the reason for accepting tutelary lords of various schools as the preacher of the yoga learning.

Patanjali has pointed out eight different systems of yoga practice which were prevalent in his times—1. Practice and passionlessness 2. Devotion to Ishvara 3. Expulsion and retention of breath 4. Arise of a sense activity connected with an object bringing the central organ into a relation of stability 5. An undistressed luminous sense activity 6. By having as the supporting object a perception in dream or in sleep 8. By contemplation upon any such an object as in desired.[13] Of these eight systems first one i.e. cessation of mind-stuff through passionlessness appears to be the view point of Patanjali himself. Apart of it, Patanjali has given special emphasis on Ishvara-pranidhan. Many branches of yoga have accepted Ishvarapranidhan, the favourite concept of Vaisnavism in the form of perception of God and absorbance of mind-stuff there. Indulgence of God attained by Ishvarapranidhan has been accepted as cause of salvation by Patanjali.

Besides the eight techniques or disciplines of yoga pointed out by Patanjali in his yogasutra, there are some more techniques as indicated in Shrimadbhagavadgita and some other works. The text books

containing the details of these systems have not been published so far and are rare for not only the public but for the yoga practicants and researchers also. After a thorough search of libraries and manuscript libraries we have obtained the following manus cripts 1. Yogashastra of Dattatreya 2. Yogabija 3. Amanaska yoga or Tarakayoga 4. Candrodaya vilasa 5. Yogaratnakara of Vagishvara 6. Yogatattvopanishad 7. Yogarajopanishad 8. Yogashikhopanishad 9. Yogacudamani Upanishad 10. Yoga Kundali Upanishad 11. Jabala darshana Upanishad 12. Shandilya Upanishad 13. Mandala Brahmana Upanishad 14. Nadabindu Upanishad 15. Dhyanabindu Upanishad 16. Amrita bindu Upanishad 17. Tejobindu Upanishad 18. Mahavakya Upanishad 19. Amrita nada Upanishad 20. Kshurikopanishad 21. Hansopanishad 22. Trishika Brahmana Upanishad 23. Varaha Upanishad 24. Sarasvati Rahasya Upanishad 25. Saubhagya Lakshmi Upanishad 26. Advayataraka Upanishad 27. Muktika Upanishad 28. Darshanopanishad 29. Pashupata Brahmana Upanishad 30. Brahmavidya Upanishad etc.

Each of the above works plays a significant role in the sphere of yoga-practice and the techniques of practice preached in these works are eulogised way to salvation. Here in further lines we will discuss the subject matter treated in yogabija.

An Introductory Analysis

The date and author of yogabija is quite unknown, but on the basis of references given by many ancient and recent scholars, it is quite certain that this work is popular in 'guru parampara' (among teachers of yoga) for a long time.

This is also notable that first chapter of Yogashikhopanishad which has been published by Motilal Banarsidas has much resemblance with yogabija. It seems that one has borrowed the word series from the other as there is no difference in the wordings. For example—

1. अचिन्त्यशक्तिमान्योगी नानारूपाणि धारयेत्। यो.बी. 54, यो.शि. 1.14
2. अजरामरपिण्डो यो जीवन्मुक्त: स एव हि। यो.बी. 192, यो.शि. 1.67

3. अज्ञानं कीदृशं चेति प्रविचार्यं मुमुक्षुणा। यो.शि. 1.15
   अज्ञानं कीदृशं चेति प्रविचार्य विवेकिना। यो.बी. 22
4. अणिमादिपदं प्राप्य राजते राजयोगत:। यो.बी. 282, यो.शि. 1.138
5. अधस्तात्कुञ्चनेनाशु कण्ठसंकोचने कृते।
   मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिग:। यो.बी. 116
   यो.शि. 111-112
6. देहे ब्रह्मत्वमायाते जलानां सैन्धवं यथा।
   अनन्यतां यदा याति तदा मुक्त: स उच्यते।यो.बी. 195
   यो.शि. 1.163-164
7. देहावसानसमये चित्ते यद यद् विभावयेत्।
   तत्तदेव भवेज्जीव इत्येवं जन्मकारणम्। यो.बी 39 यो.शि. 1.31
8. नानाविधैर्विचारैस्तु न साध्यं (बाध्यं) जायते मन:।
   तस्मात्तस्य जयोपाय: प्राण एव हि नान्यथा। यो.बी. 74 यो.शि. 1.160
9. यस्य प्राणो विलीनोन्त:साधके जीविते सति।
   पिण्डो न पतितस्तस्य चित्तं दोषै: प्रबाध्यते। यो.बी. 78 यो. शि. 1.64

266 out of 364 stanzas are similar in these two works. It is quite obvious that the writer of either of these two works has copied the other.

In this work Lord Shiva or Adinatha has been described as preacher and Goddess Parvati who has been named as Sureshvari at some places as listener. Yoga in general has been treated in this work but special emphasis has been given to Pranayama Sadhna. In his opinion salvation can be attained by yoga and not by mere knowledge. Among various techniques of yoga, Pranayama is the best way to attain ultimate reality and it is meaningless to even think of liberation without getting success in Pranayama practice.[14] The self itself merges in supreme God after attaining Pranajaya or control over Prana or air. On getting a Guru having full control over Prana or air, the disciple can also attain success by his grace.[15] After this general introduction the writer has described the way to attain Pranajaya or control over prana (air).

Subject-matter treated

In the beginning of this work, the author has performed a prayer in praise of Lord Adinath. He is the ultimate cause of the creation, existence and destruction of this universe and is therefore called by the names of Jagannatha, Vishvarupa, Vishvanatha and Vishvatita. He is the ocean of the nectar of pity or Karuna. He is content and the cause of pleasure in the world.[16] In response to the queries made by Parameshvari Parvati he preached the system of yoga. The questions put forth by Parvati are quite skillful and helpful in gearing up the subject. The following twelve questions have been discussed in this work and the writer has managed to reply these questions through the holy voice of Lord Shiva—

1. How could the self be emancipated from the sufferings of pairs of delusion, i.e. what are the means of salvation.
2. How did the self which itself is supreme God get the state of individual soul.
3. If ignorance is the cause of bondage, salvation must be achieved by knowledge, then what is the use of yoga?
4. If ignorance is something different from the evils like anger and desire etc., what are the means to get rid of this ignorances?
5. On the one hand Jnani (one who has attained the spiritual knowledge) has been described as inferior to yogi (who has attained success in yoga), on the other hand it has also been accepted that nothing remains unknown for a Jnani in this world; then why is it so that a Jnani does not attain liberation?
6. How does a yogi behave and how does he attain liberation after giving up this body?
7. Upto what stage does a Jnani reach?
8. How and why is it so that a jnani attains the salvation through many lives whereas a yogi attains it during one and the same birth?

9. What is yoga? What is the procedure of yoga practice? How does one accrue salvation through yoga?
10. What are the four systems of yoga with their brief introducation?
11. What is meant by kakamata and karkatamata?
12. What is Siddhi and what is its utility in yoga?

The answer to these queries is the subject matter dealt with in Yogabija. According to the author although there are many paths which lead to salvation but yoga or Siddi marg is the easiest among them. By adopting other paths, either the liberation can not be achieved at all or may be achieved with great difficulties. Many persons confused by the shastras like Nyaya, Vyakarana etc. loiter in this world and can not get freedom from bondage. The notable reason in this regard is that the nature of the soul can not be described in words; as such its manifestation is not possible through Shastras.

The author has tried to give appropriate reply to the question that how is it so that self illuminuous supreme being falls in bondage in the form of individual soul? He has opined that the self is above all the states and is devoid of attachments but Ahankara rises in it due to a flash of ignorance just like a bubble in the water. As a result tanmatra or potential states etc. are generated and subtle body alongwith five gross elements is evolved. With the evolution of subtle body, self is manifested into individual beings. On getting this stage, even the soul which is free from all desires seems to be trapped by various impurities and passions like desire, anger, fear, vorries, greed, intoxication, disease, old age, death, pitiful circumstances, sorrows, sleepiness, hunger, thirst, repugnance, modesty, happiness, grief, despair, pleasure, suspicion, pride, state of awakening, dreaming and deep sleep (complete unconsciousness) etc.

In various systems of philosophy like Nyaya,[17] Vaisheshika,[18] Sankhya,[19] Vedanta[20] and Vyakarana[21], knowledge has been accepted as the means to get rid of the impurities. But according to the author of this work, knowledge alone cannot lead to salvation without yoga

practice. But at the same time this is also an expounded fact that yogi attains salvation after achieving knowledge of self.

In this context, through Parvati, the author has put forth a query that in case the ignorance is the cause of bondage of self, knowledge should lead to salvation? Then is it *righteous* to say that knowledge alone can not bring liberation to the soul? In reply to these queries the author has raised two questions. First, what is knowledge which is the only way to liberation and what is ignorance which is the cause of bondage? Secondly, is it possible to get rid of desire, anger, greed etc. by merely knowing that the self itself is Supreme Brahman? It is impossible to attain liberation without removing theses demerits. Thus it is inevitable to accept that even after attaining the knowledge of various shastras, till a person does not conquer his passions there is no difference between him and an ignorant person.

After expressing this fact the author has made it more clear by stating that a jnani is like an earthenr pot half baked and yogi is like a fully baked earthern pot. By yoga practice a person becomes self illuminous and devoid of all passions, On the contrary a Jnani (knower) does not enjoy such condition due to lack of yoga practice. Even while practising meditation, his sense organs lead him to sense objects. Being troubled by hunger, thirst, heat, cold-happiness, sorrow, deceases, fire, water, air etc. his mindstuff reaches the stage of disturbance and he can note escape death in this situation and takes rebirth according to his thoughts at the time of his death. Thus he does not get rid of this birth chain and ultimately this knowledge proves to be deceptive. By yoga practice the ego which is the cause of rebirth completely destroys and as a result he becomes free from the chain of rebirth and sorrows.

In the course of practising yoga, first of all yogi has to conquer the sense organs so as to have full control over mind, intellect, sense organs, anger etc. After achieving this stage, all the five mahabhutas after consolidation are purified.

The body of yogi becomes purified by yoga fire and attains such a vigorous power that even the gods prove weaker in

comparison to them. The body of the yogi can not be pierced or divulged and none of the sorrows can trouble him. It is clearer then the skay, grossest of the gross things and most minute of the minutes. Yogi can change himself into any shape. The gross body of the yogi also remains under his control and in this way he becomes immortal.

On the contrary, the Jnanins are bound with birth and death and are liable to bear the fruits of sins and virtues. In due course when he meets a yogi and his yoga sadhna attracts him and he also starts to follow the yoga path then he ultimatel gets liberation. As for the statement knowledge leads to salvation', this is correct in itself. When we say that victory can be achieved by various arms and ammunitions, it means that by using this weapons, one can win the battle, not by their existence only. In the same way the knowledge becomes helpful in getting salvation by yoga sadhana. Yoga practice is an action, knowledge is an *instrument* and liberation is the result. No result can be obtained without any action. Thus knowledge alone can not lead to salvation without yoga-sadhana. One can achieve liberation after obtaining knowledge through yoga sadhana. Jnana and yoga are supplements to each other and liberation is achieved with the help of these two. Yoga through jnana is achieved in many births whereas on achieving success in yoga, knowledge itself comes to the yogi and he can attain salvation in the same birth. Thus yoga sadahna is much superior to Jnana-sadahna. In fact yoga is the best way to achieve liberation.

According to the author of this work yoga is the assimilation of Prana and Apana. In this stage Prana or breath enters the Sushumna nadi. As a result, this body made of various dhatus perishes in yoga-fire. The body becomes like a burnt cloth though its visibility remains the same. It becomes devoid of diseases or any other kind of harm. Since the yogi gives up all types of Vasanas, death does not come to him. Thus yoga i.e. control over Prana or breath is the only way to salvation. It is impossible to get liberation without having control on breath just as we can not cross the ocean with the help of unbaked earthern pot.

After elaborating the comparative importance of yoga, the author has described the yoga and the ways of yoga practice. According to the author, assimilation of Prana and Apana, Rajas and Retas, Surya and Chandra Nadis is called yoga. First of all, the Sadhak or practitioner of yoga should find out a Guru or teacher who has controlled the breath. By virtue of such a teacher, sadhak can attain success. With the help of the wonderful power obtained from the Guru, the practitioner should control the breath or Prana so that the kundalini or Serpent power having eight folds could be unfolded. After unfolding the serpent power, he should contract his naval and awake his kundalini. Sitting in Vajrasana (Siddhasana) the practitioner should practice for 15 days to attain this stage. During this period, the fire kindled by the practice of Pranayama heats the kundalini and the kundalini enters the Sushumna nadi alongwith breath and fire and goes ahead piercing the brahmagranthi. Afterwards entering the Vishnugranthi and Rudragranthi, it settles there. After reaching this stage, the practitioner should perform kumbhaka practising Suryabheda, Ujjayi, Shitali and & Bastri Pranayams.

The author has described above Pranayamas in detail—

Suryabheda

To perform this pranayama, the practitioner should take very moderate diet. After taking his seat in a deserted place, the practitioner should inhale the external air through the right nostril and should hold it. Thereafter he should slowly exhale through left nostril. This is called Suryabheda or Surya pranayama. Regular practice of this Pranayama cures all types of abdominal and Rheomatic diseases as well as the diseases of throat.

Ujjayi Kumbhaka Pranayama

The Practicantitioner should breathe in the air throuth both the nostrils i.e. right and left simultaneously and after holding it for as much time as he can, breathe out the air through left nostril. This is called Ujjayi pranayama. No posture has been fixed for this pranayama.

By practising this pranayama, the diseases of throat, abdomen, head and nerves are cured and the fire inside the body is blazed.

Shitali Pranayama

By raising the tongue upward, the air should be inhaled in such a way that it may enter touching the lower tip of the tongue,then exhale it through both the nostils. This is called Shitalikarana Pranayama.

Bhastra Pranayama

Inhale the air speedily by expanding and contracting the chest like blacksmiths bellows so as to produce tiredness in the body. In this pranayama also the air should be inhaled through the right nostril and be exhaled through the left nostril. This is calle Bhastra or Bhastri pranayama. By practising this pranayama the diseases caused by Vata, pitta and cough are cured, the kundalini awakens and all the chakras are opened. This pranayama pierces all the three granthis by destroying the phlegm and other foreign matters collected on the mouth of Brahmanadi. Therefore this kumbhak is specifically recommended.

It is to be noticed here that in all the four pranayamas mentioned above, the method of inhaling or exhaling differs but the technique of kumbhaka is the same and kumbhaka is inevitable in all the four pranayamas.

At the time of performing these Pranayamas, the three bandhas i.e. Mulabandha, Uddyana bandha and Jalandharbandha, should also be performed simultaneously; otherswise one can not get success in Pranayama. The detailed description of these bandhas is as follows–

Mulabandha

To draw the apana-vaya upward after contracting the anal splincters forcibly is called mulabhandha. By doing it repeatedly the apanavaya tends upwards. Prana-apana and nada– bindu are assimilated and the practitioner gets success in his yoga sadhna. This is helpful in getting success in pranayama and should be performed through out the course of pranayama.

Uddiyana Bandha

In Uddiyanabandha, the abdomen above and below the naval is tightend by drawing it towards the back of the body. This should be performed in the end of Puraka and before the Rechak. By doing it, the Pranavayu enters the Sushumna. This bandha is called Uddiyanabandha because this forces the Prana-vayu to enter the Sushumna and to rise upward. By practising it for six months, old age can be converted into yound age and the practitioner can attain victory over the death.

Jalandharbandha

This is done by contracting the throat. After contracting the throat, one should tightly fix the chin on the chest. While doing this bandha, the practitioner should retain the air carefully. This should be performed in the end of Puraka. By doing it the nectar dripping from the Sahasrar chakra becomes imperishable.

In this way after getting pressure due to Mulabandha from downward and getting the upward way closed by Jalandhar bandha the air or pranavayu enters the Brahmanadi by the force of Uddiyanabandha. Thus sitting in Vajrasana posture and performing the Bhastra pranayama alongwith the three bandhas, one can awake the kundalini. Through its regular practice the knots of merudands are pierced just as bamboo's knots are pierced by the heated rod.

When the Kundalini or serpent power enters the Sushumma nadi alongwith fire and air piercing the brahmagranthi, there is sensation of itchingin merudanda (backbone) as if the ants are creeping there. By constant practice of these *Kriyas,* kundalini or serpent power enters Sahasrar chakra, the seat of Shiva after piercing Vishnugranthi and Rudragranthi. On reaching this stage, the air flows evenly in Chandra and Surya nadis. This called yoga. The victory over Chandra and Surya nadi leads to the victory over death. On getting this stage, the air inhaled through puraka does not come out. This is called Rahita or Kevalkumbhaka. In this stage, the air after entering through Sushumna nadi occupies the whole body. On dissolution of Rechak kriya, if Sadhak avoids the Puraka kriya also, he becomes Siddha.

The author of this book has decribed this knowledge as top secret. When the yogi dissolves his citta by practice of these kriyas, he does not lose his bindu or semen. While practising these kriyas, when the yogi becomes able to hold the prana air for certain period, he experiences various sounds which are termed as Anahata-nada (unstruck sound). On reaching this stage,nectar in chandramandala starts to flow, the agony of thirst and hunger is removed and the citta attains oneness with supreme God.

According to the author in the course of practice of yoga, some particular stages have been termed as Mantrayoga, Layayoga, Hathayoga and Rajyoga; all these yogas collectively is called Mahayoga. When the air comes out with the sound 'ह' and enters the body with the sound 'स' this mantra 'हंस' becomes 'सोहं' with the help of Guru and practitioner starts to repeat the mantra 'सोहं', it is called mantrayoga. Hathayoga signifies the combination of, Sun and moon. 'Ha' signifies sum and 'tha' signifies moon. The combination *i.e.* to make the air move through these two nadis simultaneously is called hathayoga. As has been explained before, the air moves through either of these two (Chandra and Surya) nadis at a time but after the practice of Pranayama, when the prana (air) enters the Sushumna, it starts to moves through both these nadis simultaneously. This stage of pranayama which is called hathayoga removes all the troubles. When the individual soul attains oneness with Supreme God, this is called Layayoga. The Sadhak obtains supreme state of bliss by Layayoga. The Unity of Prana and Apan is called Rajayoga. On getting success in Rajayoga, the practicant achieves various siddhis like Anima, mahima etc.[22]

While replying the question whether success can be attained in one birth or many a births are required for it, the author has described kakamata and markatamata. Some practicants of yoga sadhana get ultimate success in one and the same birth after getting, a worthy teacher just like a monkey who starts climbing a tree and reaches upto the top of the tree without any break. But some other practicants do not get success in one life due to lack of appropriate qualities for receiving a

worthy teacher. They achieve the ultimate goal after practising yoga sadhana for two or three birthus. Thus to get success after practising yoga for two or three births is termed as kakamata. The practicant should not get disappointed and should continue his practice which will ultimately lead him to success.

By constant practice of yoga, all the mental and physical diseases are removed and the yogi achieves immense energy. The nectar begins to flow from Sahasrar Chakra (chandramandala), the yogi attains full control over hunger and thirst etc. Air alongwith fire enters the Sushumna so that all the dhatus becomes purified are various anahata sounds appear. The bodyis softened. The yogi achieves victory over five gross elements like earth etc. and gets all the siddhis like Anima, garima, prapti, prakamya etc. Ego of the yogi is also destroyed and achieves liberation easily. Evenwhile living in the body, he remains liberated and can leave his body wherever he wishes to do so or he can serve the mankind through his mortal body.

The siddhis mentioned above are numerous and can be divided into two kinds-imaginative and unimaginative. The siddhis attained with the help of chemicals, medicines, stones, mantra e tc. are called imaginative siddhis and the siddhis attained by yoga sadhana are clled unimaginative. The imaginative powers are temporary and less powerful while the unimaginative powers are permanent and possess innumerable powers. These siddhis can be attained only after destruction of all the impurities whereas imaginative siddhis are achieved by less efforts . But these siddhis are not ultimate aim for a yogi. They come in the way of a yogi aspiring for moksha (salvation) just as various pilgrimages come in the way while going to visit Kashi. But this much is definite that a yogi can be recognised by virtue of his siddhis. A yogi who is not in possession of these siddhis can not be considered as a siddha yogi. Thus the unknown author of this work has put forth several very important facts about yoga for the benefit of yoga practicants. The study of this work gives tremendous guidance to the practicant and inspires him to proceed further on this path.

संदर्भ

1. तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्।यो.सू. 3.50
2. (a) सर्वे जीवा: सुखैर्दु:खैर्मायाजालेन वेष्टिता:।
   तेषा मुक्ति: कथं देव कृपया वद शंकर। योगशिखोपनिषद्. 1.1.
   (b) नानामार्गास्त्वया देव कथितास्तु महेश्वर।
   अधुना मोक्षदं मार्गं ब्रूहि योगविदांवर।।
   बद्धा येन विमुच्यन्ते नाथ मार्गमत: परम्।
   तमहं कथयिष्यामि तव प्रीत्या सुरेश्वरि।।योगबीज 11-14
3. (a) दत्तात्रेययोगशास्त्र-8-18
   (इ) दत्तात्रेयस्य विष्णो: पदनलिनयुगं नित्यमेव प्रपद्ये। वही 336
4. यत्र योगेश्वर: कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धर:। भगवद्गीता, 18 ।
5. दत्तात्रेय योगशास्त्र 29-30
6. दत्तात्रेय योगशास्त्र 259
7. दत्तात्रेय योगशास्त्र 578. यो.सू. 1.23
9. यो.सू. 1.24
10. यो.सू. 1.27
11. यो.सू. 1.28
12. अंगेषु मातृकान्यासपूर्व मन्त्रं जपन् सुधी:,
    यं कंचनाभिसिद्धयै स्यान्मन्त्रयोग: स कथ्यते।
    मृदुस्तस्याधिकारी स्याद् द्वादशाब्दैस्तु साधनात्,
    प्रायेण लभते सिद्धिं सिद्धीश्चैवाणिमादिका:।
    अल्पबुद्धिरिमं योगं सेवते साधकाधम:।
    मन्त्रयोगोऽह्यं प्रोक्तो योगानामधमस्तथा। दत्तात्रेय योगशास्त्र 25-28
13. अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोध: (1, 13), ईश्वरप्रणिधानाद्वा (1,23), प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य (1,34), विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनस: स्थिति निबन्धनी (1,35), विशोका वा ज्योतिष्मती (1,36) वीतरागविषयं वा चित्तम् (1,37) स्वप्न निद्राज्ञानालम्बनं वा (1,38), यथाभिमताध्यानाद्वा (1,39) योगसूत्र
14. योऽजित्वा पवनं मोहाद्योगमिच्छति योगिन:।
    सोऽपक्वं कुम्भमादाय सागरं तर्त्तुमिच्छति।।149-50।।
15. मरुज्जयो यस्य सिद्धो सेवयेत्तं गुरुं सदा।
    गुरुवस्त्रप्रसादेन कुर्यात्प्राणजयं बुध:।।165-166।।
16. Yogabija-106

17. प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजन...तत्त्वज्ञानान्निश्रेयसाधिगमः। न्यायसूत्र 1.1.1.1.
18. अथातो धर्मजिज्ञासा, यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। वैशेषिकसूत्र 1.1.1.2
19. दुःखत्रयाभिघातात् जिज्ञासा तदपघात के हेतौ।
तद्विपरीतः श्रेयानृ व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्।।सांख्यकारिका 1.2
20. अथातो ब्रह्मजिज्ञासा, ब्रह्मसूत्र 1.1.1.1.
21. शब्दब्रह्मणि निष्णातः परब्रह्माधिगच्छति। वाक्यपदीय
22. अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व।

योगबीजम्

1. नमस्ते आदिनाथाय विश्वनाथाय ते नमः।
नमस्ते विश्वरूपाय विश्वातीताय ते नमः।।

हे विश्वातीत विश्वरूप एवं सकल विश्व के स्वामी भगवान् आदिनाथ शंकर[1] आपको हमारा बारम्बार प्रणाम है।

O God Adinath Sankara, you are beyond world, the world-form, the only master of the whole world. We constantly offer you our obeisance.

2. उत्पत्तिस्थितिसंहारकारिणे क्लेशहारिणे।
नमस्ते देवदेवेश नमस्ते परमात्मने।।

हे देवों के भी देव, विश्व के उत्पत्तिकर्त्ता उसके पालक और संहारक, हे समस्त क्लेशों को हरने वाले परमात्मन् आपको हमारा बारम्बार प्रणाम है।

O Lord of the Gods, you are the progenitor, sustainer and destroyer of the world. Remove all of our sorrows. We constantly offer you our obeisance.

3. नमस्ते परिपूर्णाय जगदानन्दहेतवे।
सदाशिव जगन्नाथ कारुण्यामृतवारिधे।।

हे सदा कल्याण स्वरूप (सदाशिव), सकल विश्व के स्वामी, करुणारूपी अमृत के सागर, समस्त चराचर जगत् को आनन्दित करने वाले परिपूर्णस्वरूप ब्रह्मन्, आपको हमारा बारम्बार प्रणाम है।

---

1. महादेवस्य नामानि आदिनाथादिकान्यपि।
शिवेश्वरश्च देवोऽसौ लीलया व्यचरत्प्रभुः।। दत्तात्रेय योग शास्त्र (32-33)के अनुसार आदिनाथ भगवान्शंकर को ही कहते हैं।

O Sadasiva, you are all form of well-being the master of the whole world, ocean of nectar of compassion, provider of bliss to the whold world, obsolute form Brahman, we offer you our obeisance.

देवी उवाच–

4. Goddess Parvati said.

महादेवी जगदम्बा पार्वती भगवान् शंकर से अनुरोध पूर्वक प्रश्न करती हैं–

4. सर्वे जीवा: सुखै: दुखै: मायाजालेन वेष्टिता:।
तेषां मुक्ति: कथं देव कृपया वद शंकर।।[1]

हे देवादिदेव शंकर, समस्त जीव माया जाल में फँसकर सुखों और दु:खों के द्वन्द्व से पीड़ित हैं, उनकी मुक्ति का क्या उपाय है? हे प्रभु, कृपया उसका उपदेश कीजिए।

O Sankara, the lord of gods, all the living beings are deluded and suffering from the dual of joys and sorrows. Sankara, please guide us as to what is the path of their salvation.

5. सर्वसिद्धिकरो मार्गो मायाजालनिकृन्तक:।
जन्मृत्युजराव्याधिनाशक: सुखदो वद।।[2]

हे भगवान् शंकर, हर प्रकार की सिद्धियों को प्रदान करने वाला, मायाजाल को काटने वाला, जन्ममृत्यु बुढ़ापा और रोग इनको नष्ट करने वाला और पूर्ण सुख प्रदान करने वाला मार्ग क्या है? कृपा करके उसका उपदेश कीजिए।

O God Sankara, bestower of all sorts of Siddhis, severer of delusion–what is the path of destruction birth, death, old age and disease. Please guide us.

1. तुलनीय योगशिखोपनिषद् 1.1
2. तुलनीय योगशिखोपनिषद् 1.2

6. नानामार्गास्त्वया देव कथितास्तु महेश्वर।
अधुना मोक्षदं मार्गं ब्रुहि योगविदांवर।।

हे योग विद्या के विशेषज्ञों में श्रेष्ठ, देव महेश्वर आपने योग साधना के अनेक मार्गों का उपदेश किया है, किन्तु आज उस मार्ग का उपदेश कीजिए जो संसार के समस्त दु:ख प्रपञ्चों से मुक्ति प्रदान करने वाला हो।

O Maheswara (the great God), you are the best of authorities on the knowledge of yoga Sadhana. You have shown many paths of yoga Sadhana. Please enlighten us about the path which would lead to Moksha (Salvation) after removing all of our worldly cares and sorrows.

ईश्वर उवाच–

God Sankara Said–

पार्वती के उपर्युक्त प्रश्न को सुनकर भगवान् शंकर (ईश्वर) उत्तर देते हैं–

7. बद्धा येन विमुच्यन्ते नाथमार्गमत: परम्।
तमहं कथयिष्यामि तव प्रीत्या सुरेश्वरि! ।।

हे देवों की भी अधीश्वरी पार्वती! अब मैं तुम्हें वह योग मार्ग बताने जा रहा हूं जिसे **'नाथमार्ग'**[1] कहते हैं, जिसे जान लेने और साधना करने से बन्धन में पड़े हुए जीव मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। साधना पद्धति का उपदेश मैं तुम पर अत्यन्त प्रसन्न होने के कारण ही कर रहा हूँ।[2]

1. 'नाथमार्ग' पद में नाथ शब्द योगसाधना के एक संप्रदान का वाचक है, जिसके प्रवर्त्तक मत्स्येन्द्रनाथ एवं प्रतिष्ठापक गोरक्षनाथ या गोरखनाथ हुए हैं। 'नाथ' शब्द का व्युत्पत्ति लम्य अर्थ (न + अथ) "इस साधना के बाद पुनर्भव नहीं है" अर्थात् 'अवश्य मोक्ष प्राप्त हो जाता है' है। प्रस्तुत श्लोक से भी वक्ष्यमाण साधना पद्धति की यही विशेषता सूचित है।
2. श्लोक के अन्तिम चरण से यह भी सूचित होता है कि योग साधना में सिद्धि प्राप्त करने के लिए गुरु की कृपा अत्यन्त आवश्यक है।

God Sankara said.

O Goddess Parvati, the object of worship of all gods, I am reveling to you the path of yoga, which is called as Nathmarga. After acquiring knowledge about this path and practising it, deluded jivas (embodied souls) achieve moksha (salvation). I am revealing to you this path the Sadhana, since I am pleased with you.

8. नाना मार्गैस्तु दुष्पापं कैवल्यं परमं पदम्।
सिद्धिमार्गेण लभ्येत नान्यथा शिवभाषियम्।।[1]

हे पार्वती परमपद, जिसे कैवल्य भी कहते हैं, साधना की अन्य अनेक पद्धतियों द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता है। उसकी प्राप्ति केवल सिद्धि मार्ग से ही हो सकती है,[2] शिव का यह कथन अन्यथा न समझाता। तात्पर्य यह है कि कैवल्य प्राप्ति का सर्वोत्तम मार्ग यह सिद्धि मार्ग या नाथ मार्ग ही है।

O Parvati, the supreme seat, which is called kaivalya, can not be achieved by other various systems of Sadhana. It can only be achieved by Siddhi path. Do not take this utterance of Siva lightly. It signifies that the best path of achievement of kaivalya. Straight is the Siddhipath or the Nathmarg.

9. अनेकशतसंख्याभिस्तर्कव्याकरणादिभिः ।
पतिताः शास्त्रजालेषु प्रज्ञयाऽतो विमोहिता।।[3]

जो लोग शास्त्र जाल मे पड़े हुए हैं, अर्थात् शास्त्रों का ज्ञान-प्राप्त करके ही मोक्ष या निःश्रेयस् पद प्राप्त करना चाहते हैं, वे सैकड़ों तर्क (न्याय) व्याकरण आदि शास्त्रों का अभ्यास करके उन शास्त्र बुद्धियों में ही विमोहित हो जाते हैं, अर्थात् भटक जाते हैं, परमपद कैवल्य का लाभ नहीं ले पाते।

1. योगशिखोपनिषद् 1.3-4
2. योगबीज में वर्णित साधना पद्धति का दूसरा नाम **सिद्धिमार्ग** भी है। इस प्रकार **'नाथमार्ग'** और **'सिद्धिमार्ग'** शब्दों को समानार्थक (पर्यायवाची) समझना चाहिए।
3. तुलनीय यो.शि. 1.4

Those persons who are obsessed with the study of scripture and seek to achieve moksha (Salvation), the Supereme State with the aid of study of Scriptures, are deluded or led astray by practising logic, grammar and Scriptures. They do not succeed in achieving the supereme state, kaivalya.

10. अनिर्वाच्यं पदं वक्तुं शक्यते न सुरैरपि।
स्वात्मप्रकाशरूपं तत् किं शास्त्रेण प्रकाशते।।[1]

उपर्युक्त प्रकार से कहने का कारण यह है कि वह कैवल्य रूप परमपद जो परमात्मा का पद भी कहा जा सकता है, अनिर्वचनीय है, वाणी से उसका वर्णन संभव नहीं है।[2] देवता भी उसका वर्णन नहीं कर सकते; क्योंकि वह **स्वात्म-प्रकाशरूप** है, फिर शास्त्रों द्वारा उसका प्रकाशन कैसे सम्भव है।

The reason for stating the above is that the kaivalya State, which can also be terned as Supreme consciousness is inexplicable and can not be described by words. Even the gods fail to define it. When it is self-enlightened how can then it be enlightened by scriptures.

11. निष्कलं निर्मलं शान्तं सर्वातीतं निरामयम्।
तदेव[3] जीवरूपेण पापपुण्यफलैर्वृतम्।।[4]

परमतत्त्व अर्थात् आत्मा निष्कल अर्थात् अखण्ड, निर्मल अर्थात् समस्त रागद्वेष आदि कषायों से रहित, सर्वातीत अर्थात् भौतिक पदार्थों से परे है और इन पदार्थों के सादृश्य से उसे जाना भी नहीं जा सकता है। वह निरामय अर्थात् मूलतः शुक्ल एवं कृष्ण कर्माशियों से परे है। किन्तु वह परम तत्त्व आत्मा ही पाप एवं पुण्यों के फलों से लिपटा होने पर जीव रूप से जाना जा सकता है।

1. तुलनीय वही 1.5
2. तुलनीय–'यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते। केनोपनिषद् 1.4'
'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति, न मनो न विद्मो न विजानीमः।
यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथोऽविदितादधि।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ।।केनोपनिषद् 1.3'
3. तदेतत् क.
4. तुलनीय यो.शि. 2.5-6

Since the supreme knowledge, i.e. self is unassuming indivisible, pure, devoid of all sorts of attachment and repulsoions, beyond all materialistic possessions, it can not be realised with the aid of such materials. The supreme essence, self is also considered as jiva (bounded self) due to its being enveleped with good and bad karmas (deeds).

श्रीदेवी उवाच–

"आत्मा सर्वातीत और निरामय है, तथा पाप पुण्यों के फलों से घिरने पर वह जीव कहलाता है" इस शिव के रहस्यपूर्ण कथन को सुनकर देवी पार्वती उनसे पूछती हैं–

Goddess said.

Self is beyond time and the creature having been developed by the results of good and bad karmas (deeds) is called Jiva (individual soul). On hearing the secret statement of Siva, Parvati asks.

12. परमात्मपदात् नित्यं तत्कथं जीवतां गतम्।
तत्त्वातीत! महादेव! प्रसादात्कथयस्व मे।।[1]

हे सब तत्त्वों से परे महादेव आप कृपा करके हमें यह बताइये कि जो आत्मा नित्य है, परमपद रूप है, उस परमात्म भाव से पृथक् होकर वह जीवन भाव को कैसे प्रापत हो गया है?

O Mahadeva, you are beyond all the essences. Please enlighten us as to how the self. which is immutable, Supreme form, how did it take the form of bounded self, after having been separated from the supereme.

[ईश्वर उवाच[2]]–

पार्वती के प्रश्न को सुनकर शिव अपने पूर्वकथन को स्पष्ट करते हुए कहते हैं–

God Said—

On hearing the query raised by Parvati, Siva, while elaborating his dialogue, says—

1. तुलनीय यो.शि. 1.6-7
2. क.पुस्तक में कोष्ठगत पाठ प्राप्त नहीं है।

13. सर्वभावपदातीतं ज्ञानरूपं निरञ्जनम्।[1]
वारिवत् स्फुरितं स्वस्मिन् तत्राहंकृतिरुत्थिता।।[2]

हे पार्वती, निश्चय ही आत्मा सभी ज्ञात अथवा इन्द्रियों द्वारा जानने योग्य सभी भाव पदार्थों से परे ज्ञान स्वरूप और निर्लेप है। जैसे जल में बुलबुला स्वतः उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार उस आत्मा में स्वयं में ही प्रथमतः अहंकार (अहंभाव) स्फुरित हो गया।

O Parvati, self is undoubtedly beyond all known objects and the objects comprehensible through senses and is in the form of wisdom and is immutable. As bubble automatically rises above the water similarly first of all ego emerged from the self, on its own.

14. पञ्चात्मकमभूत् पिण्डं धातुबद्धं गुणात्मकम्।
सुखदुःखैः सदायुक्तं जीवभावनयाऽऽकुलम्[3]।।[4]

आत्मा में अहंकार का उदय होने के अनन्तर ही वह आत्मा पञ्चभूतात्मक पिण्ड रूप में आ गया, जो पिण्ड रस रक्त मांस मेद अस्थि मज्जा और शुक्र इन सात धातुओं में बंधा हुआ और सत्त्व रजस् और तमस् इन तीन गुणों वाला है। इस पिण्ड में आते ही वह सुखों और दुःखों से निरन्तर युक्त हो गया। यह पिण्ड ही जीव भावना से युक्त है अर्थात् इस पिण्ड (शरीर) के सम्पर्क में विद्यमान आत्मा ही जीवात्मा कहलाता है।

After the rise of the ego, the self took the form of five elements—the body which is bound by these seven elements such as juice, blood, flesh, fat, bones, marrow and semen and possesses three attributes like satva, Rajas and Tamas. On taking the form of body, it constantly developed sensations of joys and sorrows. This body is full of awareness of jiva (individual soul). Self in contact with the body is called as jivatma (embodied soul).

1. तुलनीय यो.शि. 1.7
2. तत्राहंकृतिउत्थिता यो.शि. 1.8
3. जीवभावनया कुरु क.1
4. तुलनीय यो.शि. 5-9

15. तेन जीवभिधा प्रोक्ता विशुद्धे परमात्मनि।[1]
काम: क्रोधो भयं चिन्ता लोभो मोहो मदो रुज:।[2]

16. जरा मृत्युश्च कार्पण्यं शोको निद्रा क्षुधा तृषा।
द्वेषो लज्जा सुखं दु:खं विषादो हर्ष एव च।।[3]

17. जाग्रत्स्वप्नं सुषुप्तिश्च शंका गर्वस्तथैव च।
एभिर्दोषैर्विनिर्मुक्त: स जीव: शिव एव हि।।[4]

वह आत्म तत्त्व यद्यपि विशुद्ध परमात्म स्वरूप ही है, किन्तु पूर्वोक्त अहंकार एवं उसके संसर्ग से शरीर आदि से युक्त होने पर उस आत्मतत्व को ही जीव कहा जाता है। इस स्थिति में काम क्रोध भय चिन्ता लोभ मोह मद रोग बुढ़ावा (वृद्धावस्था) मृत्यु दीनता शोक निद्रा भूख प्यास द्वेष लज्जा सुख दु:ख विषाद हर्ष तथा जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति अवस्थाएँ शंका एवं गर्व ये दोष उसमें आ जाते हैं। इन दोषों से सर्वथा मुक्त होने की स्थिति में वह जीव साक्षात् शिव अर्थात् परमात्म स्वरूप ही है।

Though self is pure supreme self, but by virtue of its contact with ego and body, it is called as jiva (individual soul). In this state, all imperfections such as desire, anger, fear, care, greed, attachment, pride, disease, old age, death, miserliness, sorrows, sleeping, hunger, thirst, jealousy, shame and pleasure, sorrow, joys, awakening, the state of sound sleep, doubt and arrogance develop with in his person. After completely getting rid of these imperfections, the jiva himself becomes siva (The form of God).

18. तस्माद् दोषविनाशार्थमुपायं कथयामि ते।
ज्ञानं केचिद् वदन्त्यत्र केवलं तत्र सिद्धये।।[5]

1. तुलनीय वही 109
2. तुलनीय वही 1.10-11
3. तुलनीय वही 1.11
4. तुलनीय 1.12
5. तुलनीय 1.12

अतएव इन उपर्युक्त दोषों के विनाश के लिए मैं तुम्हें उपाय (साधना का मार्ग) बता रहा हूँ, सुनो। कुछ आचार्य इन दोषों के विनाश के लिए तथा कैवल्य सिद्धि के लिए ज्ञान को ही कारण बताते हैं।

I , therefore, explain herewith the method (the path of Sadhna) for destroying the above imperfections. Listen, some scholars attribute the way of destructions of these imperfections and to achieve kaivalya siddhi through possession of wisdom.

19. योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवतीश्वरि!
योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि।।[1]

किन्तु हे ईश्वरी, देवी पार्वती, योग के बिना कोई ज्ञान मोक्षदायक कैसे हो सकता है? और योग भी ज्ञान के बिना मुक्ति देने में समर्थ नहीं है। तात्पर्य यह है कि केवल ज्ञान अथवा केवल योग कभी मोक्ष प्रदान नहीं कर सकता, दोनों एक दूसरे के पूरक हैं।

But O Goddess, how can possession of wisdom bring moksha without the aid of yoga. Yoga is also not capable of providing mksha without possession of wisdom. Whether it is yoga or wisdom or both— they do not help in achieving moskha seperately. Both yoga and wisdom complement each other.

देवी उवाच–

Goddess said,

ज्ञान और योग की स्वयं में अपूर्णता की बात सुनकर और अधिक स्पष्टता के लिए पार्वती पूछती हैं–

20. अज्ञानादेव संसारो ज्ञानादेव विमुच्यते।
योगेनैषां तु किं कार्यं में प्रसन्नगिरा वद।।

हे आदिनाथ शिव कृपया स्पष्ट शब्दों में बताइये कि जब संसार चक्र माया के प्रपञ्च से उत्पन्न अज्ञान से ही प्रारम्भ होता है, और अज्ञान (अविद्या) की निवृत्ति से, दूसरे शब्दों में ज्ञान के द्वारा ही मुक्ति प्राप्त होती है, तो योग की इसमें क्या उपादेयता है? और इस स्थिति में योग साधना की क्या आवश्यकता है?

1. तुलनीय यो.शि. 1.13

O Adinath Siva, please elaborate as to when is the cycle of the world born out of ignorance and when is the delusion dissolved on the destruction of ignorance? If moksha is achieved by possession of wisdom, what is then the need of yoga under such circumstances.

ईश्वर उवाच–

पार्वती का प्रश्न सुनकर शिव पूर्ण कथन को स्पष्ट करते हुए कहते हैं–

God said,

After hearing the remarks of Parvati Siva elaborates his earlier Statement—

21. सत्यमेतत् त्वयोक्तं, ते कथयामि सुरेश्वरि।
ज्ञानस्वरूपमेवादौ ज्ञेयं ज्ञानैक साधनम्।।[1]

हे देवि, देवेश्वरी, तुम्हारा कथन बिल्कुल ठीक है कि 'बन्धन का कारण अज्ञान और मोक्ष का हेतु ज्ञान है' इसलिए ज्ञान का स्वरूप और ज्ञान का मुख्य साधन क्या है? यही सर्वप्रथम जानना चाहिए।

O Goddess, your word is true that ignorance is the cause of bondage and wisdom is the means of remove it. So the form of wisdom and the main method for achieving wisdom are required to be know first of all.

22. अज्ञानं कीदृशं चेति प्रविचार्यं विवेकिना।
ज्ञातं येन निजं रूपं कैवल्यं परमं शिवम्।।[2]

23. असौ दोषैविर्मुक्तः किं कामक्रोधभयादिभिः।
सर्वैर्दोषैर्वृत्तो जीवः कथं ज्ञानेन मुच्यते।।[3]

1. तुलनीय यो.शि. 1.14
2. तुलनीय यो.शि. 1.15
3. तुलनीय यो.शि. 1.16

इसके साथ ही विवेकी पुरुष को चाहिए कि अज्ञान का स्वरूप क्या है? इसे जाने तथा जिसने अपने इस स्वरूप को जान लिया है कि वह कैवल्य रूप अर्थात् परमशिव स्वरूप है, वह क्या इस ज्ञान मात्र से काम क्रोध भय आदि से छूट जाता है? तथा इन सभी दोषों से युक्त रहने पर भी जीव कैसे ज्ञान द्वारा मुक्ति प्राप्त कर लेता है। इस पर भी विचार करे।

The wise should try to probe as to what is the form of ignorance. Whether it is possible only by knowing himslef, that he is pure to get rid of desire, anger, fear etc.? or he may be free from bondage having these imperfections? Certainly not.

श्रीदेवी उवाच–

Goddess said–

24. स्वात्मरूपं यदा ज्ञानं पूर्णं तद् व्यापकं तदा।
कामक्रोधादिदोषाणां स्वरूपान्नास्ति भिन्नता।।[1]

25. पश्चात्तस्य विधिः किञ्च निषेधोऽपि कथं भवेत्।
विवेकी सर्वथा मुक्तः संसारभ्रमवर्जितः।।[2]

ज्ञान और मोक्ष की चर्चा प्रारम्भ होने पर देवी पार्वती शिव से पूछती हैं कि यदि स्वयं आत्मा के स्वरूप को जानना ही ज्ञान है तथा वह आत्मा परिपूर्ण और सर्वव्यापक है, तो काम क्रोध आदि दोष जो आत्मा में उत्पन्न होते हैं, आत्मा तद् रूप भी होनी चाहिए, अर्थात् काम क्रोध रूप होना भी आत्मा का स्वरूप है, यह मानना होगा। ऐसा मानने पर 'ज्ञान प्राप्त करो अथवा पहले ज्ञान नहीं था अब ज्ञान हो गया इस प्रकार के विधि कथन और काम क्रोध आदि दोषों को दूर करो, अथवा काम क्रोध आदि दोष निवृत्त हो गये' इत्यादि निषेध कथन की संगति कैसे होगी? साथ ही 'विवेकी (ज्ञानी) संसार के भ्रम से अविद्या से रहित होना है, और वह पूर्णतः मुक्त होता है' इत्यादि शास्त्र वचनों की संगति भी कैसी होगी?

1. तुलनीय यो.शि. 1.17
2. तुलनीय वही 1.18

On opening the dialogue of jnan (nowledge) and moksha (salvatin) Parvati asks Siva if relisation of self is knowledge and if the self is perfect and omnipresent, then the imperfections such as desire, anger etc. rising out of the self should be corresponding to the self. It would have therefore to be admitted that desire and anger are also the attributes of self. If we assume this we would have to seek knowledge and admit that we were devoid of knowledge before self-relisation and now we have relised knowledge. Such conflicting statements bidding us to remove imperfections like desire, anger etc. or imperfections have been removed, how would such statements and counter statements be resolved. Apart from this, the fact that man possessing knowledge is completely freefrom delusion of the world or ignorance etc. how would these assertions made bythe scriptures be reconciled.

ईश्वर उवाच–

God Said—

पार्वती के उपर्युक्त तर्कपूर्ण प्रश्नों को सुनकर शिव उत्तर देते हैं–

26. परिपूर्णस्वरूपं तत् सत्यमेतद् वरानने।
सकलं निष्कलं चैव पूर्णता तु तदेव हि।।[1]

हे सुमुखी, पार्वती, तुम्हारा यह कथन पूर्णतः ठीक है कि आत्मा परिपूर्णस्वरूप है, किन्तु परिपूर्णता दो प्रकार की होती है सकल अर्थात् कला सहित और निष्कल अर्थात् कला रहित। यहां कला सहित का तात्पर्य यह है कि जिसका खण्ड रूप से बोध हो, यह मैं हूँ, यह मुझ से भिन्न है, यह मेरा है, यह मेरा नहीं है, इत्यादि का बोध हो वह आत्मा सकल है और जहाँ उपर्युक्त प्रकार की अहंता ममता सत्ता आदि का बोध नहीं है अथवा पूर्णतः विलीन हो चुका है, उसे निष्कल आत्मा कहते हैं।

O Parvati, you are perfectly right that the self is perfect. But the perfection is of two kinds–attributive and nonattributive (with or without attributes). The implication of self with attributes is that one is concious of being 'I' and that "He is separate from me." "This is not mine" wherever awareness of division does not occur or it has completely been dissolved is called as nonattributive self.

1. तुलनीय वही 1.19

इस तथ्य को ही स्पष्ट करते हुए आगे कहा गया है–

Elaborating further, it is said—

27. कलनास्फूर्तिरूपेण संसारभ्रमतां गतम्।
एतद्रूपः, समायातः स कथं मोह सागरे।।[1]

कलना अर्थात् स-कला का अर्थ है, स्फूर्ति। अर्थात् अहंकार का स्फुरण। अहंकार का स्फुरण होने पर ही यह अविद्या (भ्रम) का प्रपञ्च संसार विद्यमान रहता है। अहंकार अर्थात् अहंता ममता का स्फुरण ही वह 'कला' है, जिससे वह इस संसार रूपी मोह के सागर में फंसता है।

Having attributes means activeness i.e. the emergence of ego, when the ignorance is formed, emergence of ego, pride, attachment take the form of activity with which jiva is involved in worldly attachment.

28. निष्कलं निर्मलं साक्षात् स्वरूपं गगनोपमम्।
उत्पत्तिस्थितिसंहारस्फूर्तिज्ञानविवर्जितम् ।।[2]

निष्कल आत्मा का स्वरूप साक्षात् निर्मल आकाश की भांति अर्थात् अहन्ता ममता आदि दोषों से पूर्णतः रहित है। इस निर्मलता, दोषों के अभाव के कारण ही यह निष्कल आत्मा उत्पत्ति स्थिति विनाश तथा अहंता ममता आदि की स्फूर्ति अथवा इनके बोध से पूर्णतः रहित होता है।

The form of nonattributive self is devoid of imperfections like ego, attachment etc. and is pure like the sky. By virtue of its purity and in the absence of imperfections this unattributive self is without brith consistancy and destruction. It is without ego, attachment etc. or is completely free from their awareness.

29. निमज्जति वरारोहे त्यक्त्वा विधिं पुनः पुनः।
सुखदुःखादिमोहेषु यथा संसारिणां स्थितिः।।[3]

1. तुलनीय यो.शि. 1.21
2. तुलनीय वही 1.20.21
3. तुलनीय वही 1.32

हे सुन्दरी, पार्वती, विधि अर्थात् ज्ञान को छोड़ देने पर अर्थात् अविद्या युक्त रहने की स्थिति में आत्मा बारम्बार सुख दु:ख आदि मोह जाल में फंसता जाता है, जैसा की सभी संसारी आत्माओं की स्थिति हुआ करती है, [अगले श्लोक से सम्बन्ध करके पूर्ण वाक्यार्थ देखें]

O Beauteous. Parvati self, after giving up knowledge i.e. while being attached to ignorance, repeatedly involved itself in joys, sorrows, death and birth etc. as normally happens with all the jivas (individual souls).

30. तथा ज्ञानी यदा तिष्ठेत् वासनावासितस्तदा।
तयोर्नास्ति विशेषोऽत्र समा संसारभावना।।[1]

यदि उसी प्रकार ज्ञानी भी वासनाओं में उलझा हुआ है, उनसे संसक्त है, तो यह समझना चाहिए कि दोनों में ही संसार भावना समान रूप से विद्यमान रहने के कारण दोनों में अर्थात् ज्ञानी और अज्ञानी में कोई अन्तर नहीं है।

If in the same manner the man of wisdom is also involved in the worldly attachments, it should be accepted that both the man of wisdom and the man of ignorance are sailing the same boat and they are equally attechad to the physical world.

31. ज्ञानं चेदीदृशं जातम् अज्ञानं कीदृशं पुनः।
ज्ञाननिष्ठो विरक्तोऽपि धर्मज्ञो विजितेन्द्रियः।[2]

यदि संसार भावना अर्थात् अहंता ममता आदि के विद्यमान रहने पर उस आत्मा में ज्ञान का होना माना जाएगा तो फिर अज्ञान किसे कहा जाएगा? तात्पर्य यह है कि जिस आत्मा में संसार भावना अर्थात् 'मैं, तुम, मेरा, तेरा' की भावना विद्यमान है, उसे ज्ञानी नहीं माना जा सकता है। जो ज्ञानी है, वह इन सब भावनाओं से रहित अतएव विरक्त तथा धर्म और अधर्म को पूर्णतः जानने वाला एवं जितेन्द्रिय हुआ करता है। जो जितेन्द्रिय नहीं है, इन्द्रिय लोलुप है, वह कभी भी ज्ञानी नहीं है।

1. तुलनीय वही 1.23
2. तुलनीय यो.शि. 1.24

31. If the jiva, haveing worldly involement like ego, attachment etc. is considered to be possessing wisdom, then how would we define ignorance. The jiva being concious of worldly feelings like, you mine, yours can not be considered as man of wisdom. He is free from such feelings and is therefore, indifferent to them and is possessed of full knowledge of Dharma (righteousness) and adharma (unrightcousness) and is master of his senses. The persons who is not master of his senses and is rather sensual can never be considered as a man of wisdom.

32. विना योगेने देवोऽपि न मोक्षं लभते प्रिये।।

हे पार्वती, चाहे देवता भी क्यों न हों, योग साधना के बिना उन्हें भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। तात्पर्य यह है कि पूर्व श्लोकों में वर्णित पूर्ण ज्ञान, जो मोक्ष प्राप्ति का उपाय है, योग के बिना प्राप्त ही नहीं हो सकता, ज्ञान लाभ होने पर भी उसकी पूर्णता योग के बिना संभव नहीं है, अतः निर्विवाद रूप से यह स्वीकार करना चाहिए 'योग के बिना मोक्ष की प्राप्ति संभव नहीं है।'

O Parvati, Even the gods can not achieve moksha without Yoga S adhana. Complete wisdom as explained in the previous slokas, which is the method of achievement of moksha, can not be achieved without Yoga. Even after gainig wisdom, its maturity is not possible withour yoga. Thus it should be accepted without any controversy that it is not possible to achieve salvation without yoga.

देवी उवाच–

Goddess said

शंकर के उपर्युक्त कथन को सुनकर विषय को और अधिक स्पष्ट करने के लिए पार्वती पुनः प्रश्न करती हैं–

On hearing the above dialgue of Sankara, Parvati, in order to elaborate the subject further asks.

33. अन्यत्किञ्चित्परिज्ञेयं ज्ञानिनां नास्ति शंकर!
विरक्तात्मकनिष्ठानां कथं मोक्षो भवेन्न तु।।

हे शंकर यदि पूर्वोक्त प्रकार के ज्ञान से सम्पन्न आत्मा के लिए अन्य कुछ भी ज्ञान हेतु शेष नहीं रह जाता, तब तो आत्मनिष्ठ विरक्त ज्ञानी को अर्थात् लिसे यह ज्ञान हो गया है कि आत्मा निष्कल एवं निर्मल आकाश की भांति निर्मल है, ऐसे ज्ञानी पुरुष को उस ज्ञान को प्राप्त कर लेने के बाद ही तत्काल मोक्ष की प्राप्ति क्यों नहीं हो जाती?

O Sankara, If for the jiva possessing complete wisdom, nothing is required to be achieved, why does the self-concious person does not receive moksha instantly despite the fact that he has grasped the truth that self is nonattributive and pure like the sky.

ईश्वर उवाच–

God said

पार्वती के पूर्वोक्त 'प्रश्न को सुनकर विषय को और अधिक स्पष्ट करते हुए शंकर कहते हैं'–

On hearing the question put up by Parvati, Sankara, elaborates his statements.

34. अपक्वा: परिपक्वाश्च द्विविधा: देहिन: स्मृता:।
अपक्वा: योगहीनास्तु पक्वा योगेन देहिन:।।[1]

35. पक्वो योगाग्निना देही ह्यजड: शोकवर्जित:।
जडस्तु पार्थिवो ज्ञेयो ह्यपक्वो दु:खदो भवेत्।।

ज्ञानी आत्मा के दो प्रकार हैं अपक्व और परिपक्व। योग के बिना ज्ञान का परिपाक नहीं होता है, अत: जो योग साधना नहीं करते वे अपक्व ज्ञानी आत्मा हैं, और जो योग साधना में संलग्न है, उनका योग के द्वारा परिपाक हो गया है, अत: उन्हें परिपक्व ज्ञानी आत्मा कहा जाता है। योगरूपी अग्नि में परिपक्व हो जाने पर आत्मा शोक आदि से रहित और अजड़ अर्थात् पूर्ण ज्ञानी हो जाता है, जबकि अपक्व आत्मा अर्थात् जिसने योग साधना द्वारा अपने ज्ञान को परिपक्व नहीं किया है, वह जड़ और पार्थिव है। यह दु:खग्रस्त रहता है और दूसरों को भी दु:ख प्रदान करता है।

1. तुलनीय यो.शि. 1.25-26

Wise souls are of two kinds-immature and mature. Wisdom does not become mature without yoga. Therefore, those souls who do not practise yoga sadhana are immature whild those pactising yoga sadhana, have matured with the aid of yoga. Such souls are called as wise souls. On burning in the fira of yoga, the jiva (individual soul) becomes free from sorrow and achieves complete wisdom,where as the immature soul, who has not matured itself with the help of yoga is inanimate and material. The said soul is attached to sorrows and is also cause of sorrows to the others.

36. ध्यानस्थोऽसौ तथाप्येवमिन्द्रियैर्विवशो भवेत्।[1]
नातिगाढं निपत्यापि तथाप्यन्यै: प्रवाप्यते।।

अपक्व प्राणी अपने ध्यान काल में भी अर्थात् ध्यानस्थ होने पर भी इन्द्रियों से अत्यधिक विवश हो जाता है, और विषय तृष्णा में अत्यन्त डूब जाता है, तथा दूसरों द्वारा उपहास का पात्र बनता है।

The immature soul, even during medition is victim of his own senses and is completely involved in desires and becomes an object of ridicule for others.

37. शीतोष्णसुखदु:खाद्यै: व्याधिभिर्मानवैस्तथा।
अन्यैर्नानाविधैर्जीवै: शस्त्राग्निजलमारुतै:।
शरीरं पीड्यते चास्य चित्तं संक्षुभ्यते तत:।।[2]

अपक्व प्राणी का शरीर सर्दी गर्मी आदि से उत्पन्न दु:खों आदि द्वारा, विविध रोगों द्वारा, मनुष्यों तथा विविध प्रकार के जीवों द्वारा, शस्त्र बाधा, अग्नि बाधा तथा जल बाधा आदि से पीड़ित होता है, और उसके फलस्वरूप उसका चित्त चंचल (व्याकुल) हो जाता है।

The body of an immature soul suffers from the calamities of joys and sorrows, of cold and heat of various diseases and troubles created by men and other jivas (creatures) the agony of weapons, fire and water as a result its mind stuff becomes distract.

1. तुलनीय वही 127
2. तुलनीय वही 1.28-29

38. प्राणापानविपत्तौ तु क्षोभमायाति मारुतः।
ततो दुःखशतै र्व्याप्तं चित्तं संक्षुभ्यते नृणाम्।।[1]

उपर्युक्त विविध पीड़ाओं के कारण प्राण और अपान वायु की क्रिया में स्वाभाविकगति में, बाधा उत्पन्न हो जाती है फलतः वायु में (प्राणों में) विकार उत्पन्न हो जाता है, जिसके फल स्वरूप उसे सैकड़ों दुःख झेलने पड़ते हैं, और इसके परिणामस्वरूप चित्त व्याकुल हो जाता है, तथा वह ध्यान में स्थिर नहीं रह पाता।

Due to various agonies, there is an obstacle in the natural flow of prana and apana, as a result where of there is deterioration in the prana due to which he has to undergo innumerable a gonies so the mind of such a jiva, loses its equanimity and can not concentrate itself in medition.

39. देहावसानसमये चित्ते विभावयेत्।
तत्तदेव भवेज्जीव इत्येवं जन्मकारणम्।।[2]

इस प्रकार व्याकुल चित्त अपक्व जीव देह के अवसानकाल में अर्थात् मृत्यु के समय जो-जो सोचता है, वही उसे प्राप्त होता है, जिसके कारण वह विविध योनियों में जन्म ग्रहण करता है।

So whatever thoughts are predominent in the disturbed mind at the time of death the jiva (soul) emerges in the same form in the next birth. On account of this the jiva undergoes repeated transmigration.

40. देहान्ते किं भवेज्जन्म तन्न जानन्ति मानवा।
तस्माज्ज्ञनं च वैराग्यं जपः स्यात्केवलं भ्रमः।।[3]

इस प्रकार अपक्व जीव को स्वयं के सम्बन्ध में भी कुछ पता नहीं होता कि इस शरीर के अन्त के बाद उसे कौन सा जन्म प्राप्त होगा अर्थात् किस योनि में जन्म मिलेगा।

1. तुलनीय वही 1.30
2. तुलनीय वही 1.31
3. तुलनीय यो.वि. 1, 32

अतः मोक्ष की प्राप्ति के लिए कहे जाने वाले यह ज्ञान वैराग्य एवं जप रूपी उपाय केवल भ्रम है, मोक्ष प्राप्ति के एक मात्र उपाय नहीं हैं। तात्पर्य यह है कि केवल ज्ञान साधना, केवल वैराग्य साधना अथवा केवल मन्त्रजप मोक्ष का साधन नहीं है, योग साधना के साथ ही ये मोक्ष के हेतु बन पाते हैं।

In such a manner, the imperfect jiva is not aware of the body which it will receive in the next birth.

Thus it is merely a delusion to conclude that wisdom, detachment and japa (repeating of mantras) are the means to achieve moksha. Solely wisdom, detachment and japa are not the means to achieve moksha. Combined with yoga sadhana. they become aids to achievment of moksha.

41. पिपीलिका यदा लग्ना देहे घ्यानाद् विमुच्यते।
असौ किं वृश्चिकैर्दष्टौ देहान्ते वा भवेत्[1] सुखी।।[2]
तस्मान्मूढा न जानन्ति मिथ्या तर्केण वेष्टिताः।।[3]

प्राणायाम आदि योगाभ्यास के बिना ध्यान करते हुए मनुष्य के शरीर पर यदि एक चींटी रेंगने लगती है, तो उसका ध्यान टूट जाता है, फिर यदि उसे बिच्छू डंक मार दे अर्थात् अत्यन्त पीड़ादायक कोई कारण बन जाए अथवा शरीर ही छूटने की स्थिति उपस्थित हो जाये, तो वह कैसे सुख पूर्वक ध्यान में संलग्न रह सकेगा? इसलिए योग साधना के बिना केवल ज्ञान ध्यान जप और वैराग्य आदि से मोक्ष की कामना करने वाले व्यक्ति मूढ हैं और वे झूठे तर्कों के चक्कर में पड़कर भटक गये हैं।

During medition without pranayam or yogabhyasa if an ant creeps over the body his concentration is lost (as if he has been stung by a scorpion) or if any other painful event occurs or a stage of leaning one's body arrives, then how can he maintain his equipoise. So persons aspiring for moksha simple with the aids of silence, meditation, japa, and detachment are fools, who have been misled by false arguments.

1. 'कथम्' इति क.
2. तुलनीय यो.शि. 1.33
3. तुलनीय यो.शि. 1.33

42. अहंकृतिः यदा यस्य नष्टा भवति तस्य वै।
देहः स्वयं[1] भवेन्नष्टो विषयैस्तेषां च[2] किं पुनः।।
जलादिशस्त्रघातादिबाधा कस्य भविष्यति।।[3]

वस्तुतः योग साधना के द्वारा जिसका अहंकार नष्ट हो जाता है, उसका शरीर स्वयं ही कारण के अभाव में नष्ट हो जाता है, फिर ऐसे पुरुष को विषयों से क्या लेना देना। तात्पर्य यह है कि यदि समस्त विश्व प्रायञ्च का मूल अहंकार नष्ट हो जाता है, तो जीवन का समस्त विश्व प्रपञ्च से ही नाता टूट जाता है, अतः उसका शरीर से सम्बन्ध भी समाप्त हो जाता है, और ऐसी स्थिति में विषय उसे अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर पाते। तथा ऐसे सिद्ध पुरुष के लिए जल अग्नि तथा शस्त्र आदि से पीड़ा होने का कोई प्रश्न नहीं उठता।

In fact the person whose ego is destroyed by yoga sadhana his body automatically falls in the absence of the cause. How is then that person concerned with desires? If the root cause of this creation is destroyed the jiva is completely separated from the worldly play. His relation with the body is severed and the desires can not toment him on reaching this state. So the question of suffereing pangs of pains at the hands of water, fire and weapons etc. by such elightened couls does not arise.

43. यथा यथा परिक्षीणाऽपुष्टा चाहंकृतिर्भवेत।
अभ्यासेनास्य नश्यन्ति प्रवर्त्तन्ते शमादयः।।

योगी के निरन्तर अभ्यास के कारण जैसे-जैसे अहंकार क्षीण और निर्बल होता जाता है, वैसे-वैसे ही उसमें क्रमशः शम दम तितिक्षा आदि बढ़ने लगते हैं।

On constant practice of yoga sadhana when the ego is gradually dissolved, peace, selfcontrol and patience continue to increase in the jiva.

1. स तु क. 2. विषयस्तेभ्यः क
2. तुलनीय यो. शि. 1.34-35

44. कारणेन विना कार्यं न कदाचन विद्यते।
अहंकारं बिना तद्वद् देहे दुःखं कथं भवेत्।।[1]

यह सब दर्शनों में स्वीकृत सिद्धान्त है कि कारण के बिना कार्य की सत्ता कभी भी नहीं हो सकती अर्थात् कारण होने पर ही कार्य होता है कारण न होने पर कार्य नहीं होता, तथा कारण (उपादानकरण) के नष्ट हो जाने पर कार्य का भी विनाश हो जाता है। अतएव देह आदि विश्व प्रपञ्च के मूल कारण अहंकार का नाश हो जाने पर अहंकार रूपी कारण के अभाव में योगी को देह में सुख-दुःख का अनुभव भी कैसे हो सकता है, अतः उसे सुख-दुःख का अनुभव नहीं होता।

This is an admitted fact that there can not be any effect without cause. Cause brings forth effect. Since there is no effect without the cause, effect is also destroyed. So with the destruction of ego–the root cause, body existing due to the world play is also destroyed. How can the body of a yogi experience the sensation of pain and joy in the absence of ego.

श्री देवी उवाच–

Goddess said

देवी पार्वती पुनः दूसरा प्रश्न करती हैं–

45. योगिनः कथ्यमानास्तु किं ते व्यवहरन्ति नः।
तैः कथं व्यवहारस्तु क्रियते वद शंकर!

46. देहावसानमथवा तेषां भवति कीदृशम्।
एतन्मे संशयं देवि! छेत्तुमर्हसि पावन! ।।

हे जगत्पावन भगवान् शंकर, कृपया आप हमें यह भी बताएं कि आप जिन योगियों का वर्णन कर रहे हैं, वे हम जैसे लौकिक जनों के साथ किस प्रकार व्यवहार करते हैं, तथा उनके साथ हमें किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए? इसके अतिरिक्त हमें एक संशय और है कि योगियों का देहावसान किस प्रकार होता है। कृपया आप हमारे इस संशय को भी दूर कीजिए।

1. तुलनीय यो.शि. 1.37

O immutable god Sankara, please tell us as to how do the yogins behave with the worldly persons and how should we deal with them. Besides this, we have another doubt as to how do the yogins cast off their bodies, Please clear our doubt about this also.

ईश्वर उवाच–

Godess said

योगियों के व्यवहार और उनके देह त्याग सम्बन्धीपार्वती के प्रश्न को सुनकर शिव उनका समाधन करते हैं–

48. शरीरेण जिताः सर्वे शरीरं योगिभिर्जितम्।
तत्कथं कुरुते तेषां सुख-दुःखादिकं फलम्।।[1]

सामान्य मनुष्य (अपक्व जीव) शरीर के द्वारा विजित होकर उसके आधीन रहते हैं, किन्तु योगी जन शरीर पर ही विजय प्राप्त कर लेते हैं, इस स्थिति में पराजित शरीर योगी की आत्मा को सुख-दुःख आदि फल कैसे प्रदान कर सकता है?

Ordinary persons (immature jivas) remain subjected to their bodies, where as yogin gain victory over their bodies. How can such yogins as have achieved victory over their bodies undergo pain and joy.

49. इन्द्रियाणि मनोबुद्धिः कामक्रोधादिकं जितम्।
तेनैव विजितं सर्वं नासौ केनापि बाध्यते।।[2]

जिस साधक ने इन्द्रियों को मन और बुद्धि को तथा काम-क्रोध आदि को जीत लिया है, उसने मानों सकल विश्व को ही जीत लिया है, उसे कोई भी स्थूल या सूक्ष्म पदार्थ कष्ट नहीं पहुँचा सकता।

The Sadhaka, who has controlled his senses, mind and intellect as well as over their desire and anger etc. has rather controlled the whole universe, No gross of subtle object can harm him.

1. तुलनीय यो.शि. 1.38
2. तुलनीय वही, 1.39

50. महाभूतानि तत्त्वानि संगृहीतानि च क्रमात्।
सप्तधातुमये देहे दग्धे योगाग्नि शनैः।।[1]

योगरूपी अग्नि द्वारा रस-रक्त आदि सात धातुओं वाले शरीर को धीरे-धीरे भस्म कर देने पर पृथ्वी जल आदि तत्त्व भी योगी के लिए सिमट जाते हैं, अर्थात् उसके लिए अति प्रभावहीन हो जाते हैं।

The fire of yoga gradually burns the impurities of body and its seven elements like juice & blood. The elements like earth, water etc. lose their effectiveness over a yogi.

51. देवैरपि न लभ्येत योगदेहो महाबलः।
देहबन्धै र्विमुक्तोऽसौ नाना शक्तिधरः परः।।[2]

इन्द्रियाँ मन बुद्धि और काम क्रोध आदि पर विजय प्राप्त किए हुए योगी का शरीर अत्यन्त बल शाली होता है, इस शरीर को देवगण भी नहीं प्राप्त कर पाते, अर्थात् ऐसा शरीर देवताओं को भी नहीं मिल पाता। ऐसा योगी अनेक लोकोत्तर शक्तियों से युक्त तथा देह बन्धन से मुक्त रहता है।

The body of a yogi, who has gained victory over his senses, mind intellect, desire, anger etc. is very strong. Even gods cannot acquire such a body. Yogi confines many super powers and also becomes free from bondage of the body.

52. यथाऽऽकाशस्तथा देहः आकाशादपि निर्मलः।
सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरो देहः स्थूलात्स्थूलो जडाज्जडः।।[3]

योगी का शरीर आकाश के समान अथवा आकाश से भी अधिक निर्मल होता है। वह शरीर सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, सूक्ष्म से भी स्थूल तथा किसी दृढ़ पदार्थ से भी अधिक दृढ़ होता है।

The form of the yogi is like that of the sky or even purer than the sky. His body is the subtlest, the grossest and is even stronger than any other solid object.

1. तुलनीय यो.शि. 1.40
2. तुलनीय वही 1.41
3. तुलनीय यो.शि. 1.42

53. इच्छारूपो हि योगीन्द्रः स्वतन्त्रस्त्वजरामरः।
क्रीडति त्रिषु लोकेषु लीलया यत्र कुत्रचित्।।[1]

योगीराज का स्व-रूप इच्छा स्वरूप हुआ करता है, वह किसी अन्य के आधीन न होकर स्व-आधीन तथा अजर और अमर होता है। वह तीनों लोकों में जब जहाँ चाहता है, लीला पूर्वक विचरण करता है।

The body of a yogi is formed out of his will. He is not subservient to anyone and is independent and immortal. He travels all the three worlds sportingly.

54. अचिन्त्यशक्तिमान् योगी नाना रूपाणि धारयेत्।
संहरेच्च पुनस्तानि स्वेच्छया विजितेन्द्रियः।।[2]

योगी की शक्तियाँ इतनी होती हैं कि जन सामान्य उनकी कल्पना भी नहीं कर सकता। वह अपनी इच्छानुसार विविध रूपों को धारण कर लेता है, अपनी इच्छानुसार उन रूपों को अपने में समेट लेता है। समस्त इन्द्रियाँ पूर्णतः उसके वश में हुआ करती हैं।

The power of a yogi are so immense that a common person cannot even imagine them. He takes various forms in accordance to his will. He also withdraws his various forms according to his will. All his senses remain completely under his control.

55. मरणं तस्य किं देवि पृच्छसीन्दुसमानने।
नासौ मरणमाप्नोति पुनर्योगबलेन तु।।[3]

56. पुरैव मृत एवासौ मृतस्य मरणं कुतः।
मरणं यत्र सर्वेषां तत्रासौ सु खिजीवति।।[4]

57. यत्र जीवन्ति मूढास्तु तत्रासौ म्रियते तदा।
कर्त्तव्यं नैव तस्यास्ति कृतेनासौ न लिप्यते।।[5]

1. तुलनीय यो.शि. 1.43
2. तुलनीय यो.शि. 1.44
3. तुलनीय यो.शि. 1.45
4. तुलनीय यो.शि. 1.46
5. तुलनीय यो.शि. 1.46-47

जिस स्थिति में मूढ जन अर्थात् योग साधना रहित जनसामान्य जीते हैं, अर्थात् जिसे जीवन कहते हैं, उसे जीवन का मानदण्ड मान कर देखें तो वह योगी मर चुका है, उसका कोई जीवन है ही नहीं, ऐसे योगी के लिए कुछ भी करणीय नहीं होता, और जो कुछ भी वह करता है, अहंकार के अभाव के कारण वह उन कर्मों अथवा उसके फलों से लिप्त नहीं होता।

The circumstances under which the ignorant persons lead their lives (which is called life according to the yardstick laid down by the world) we can conclude that yogi is virtually dead. He has no duty to perform and what ever acts he performs he is neither attached to those acts nor to the results thereof.

58. जीवन्मुक्तः सदा स्वस्थः सर्वदोषविवर्जितः।।[1]
विरक्ताः ज्ञानिनश्चाथ देहेन विजिताः सदा।।
ते कथं योगिभिस्तुल्याः मांसपिण्डाः कुदेहिनः।।[2]

यह योगी जीवन धारण करता हुआ भी मुक्त होता है, वह स्वयं में ही स्थित रहता है, तथा काम क्रोध आदि समस्त दोषों से पूर्णतः रहित होता है। इसके विपिरीत ज्ञानी और वैरागी स्वयं अपने शरीर से पराजित रहते हैं, अर्थात् शरीर के सुख-दुःख उन्हें पीड़ित किए रहते हैं, और इसी कारण वे कुत्सित शरीर वाले मांस पिंड स्वरूप हैं, वे भला योगियों की समानता कैसे कर सकते हैं?

58. Yogi, while living in the body, remains confined in his self completely devoid of all imperfections such as desire, passion etc. On the other hand the wise and the ascetics remain humbled by their bodies. Bodily sensations like joys and sorrows torment them and due to this reason, they are merely bundle of flash of a clumsy body. How can they be compared with yogins?

देवी उवाच—

Goddess said—

1. तुलनीय यो.शि. 1.47
2. तुलनीय यो.शि. 1.48

योगिजनों की स्थिति का परिचय प्राप्त कर तुलना की दृष्टि से पार्वती ज्ञानियों की वास्तविक स्थिति के सम्बन्ध में शिव से पूछती हैं।

In order to have comparative studies of yogins with the wise, Parvati asks Siva about the real state of the man of wisdom.

59. ज्ञानिनस्तु मृता एव तेषां भवति कीदृशी।
गतिः, कथय देवेश कारुण्यामृतवारिधे।।

हे करुणारूपी अमृत के सागर, देवों के देव, कृपया यह स्पष्ट कीजिए कि–ज्ञानी जनों की मृत्यु के बाद क्या गति होती है।

O Compassionate ocean of nectar, lord of gods, please elucidate as to what is the state of man of wisdom after death.

ईश्वर उवाच–

God said

मृत्यु के उपरान्त ज्ञानियों की गति के विषय के प्रश्न को सुनकर शिवजी बोले–

On hearing the quetion about the state of the wise, Siva spoke—

60. देहान्ते ज्ञानिभिः पुण्यात् पापाच्च फलमाप्यते।
यादृशन्तु भवेत्तत्र भुक्त्वा ज्ञानी पुनर्भवेत्।।[1]

ज्ञानी जन अपने द्वारा किये गये पाप और पुण्य के अनुसार मृत्यु के उपरान्त फल प्राप्त करते हैं, और अपने कर्मों के अनुसार फल भोग कर पुनः अग्रिम जन्म में ज्ञानवान् ही बनते हैं।

The men of wisdom (without yoga practice) get the results of their karmas after death in accordance with their good and bad deeds and after enjoying the fruits of their deposit of karmas take next birth as wisemen.

61. पुण्यात् पुण्येन लभते सिद्धेन सह संगतिम्।
ततः सिद्धस्य कृपया योगी भवति नान्यथा।

62. ततो नश्यति संसारो नान्यथा शिवभाषितम्।।[2]

1. तुलनीय यो.शि. 1.49
2. तुलनीय यो.शि. 1.50-51

ज्ञानी की गति के सम्बन्ध में भगवान् शिव का यह भी कथन है कि वही ज्ञानी दूसरे जन्म में अपने पुण्य के प्रभाव से किसी पुण्यात्मा सिद्ध की संगति प्राप्त करता है, तथा उस सिद्ध पुरुष (सिद्ध योगी) की कृपा से ही संसार से उसकी मुक्ति होती है, अन्यथा नहीं।

Lord Siva states about the fate of the wise that he receives the company of a pure soul a Siddha in the next birth by virtue of his righteous actions in the pravious births and he gets liberation from transmigration with the grace of the said siddha yogi and not merely because of his good deeds or wisdom.

देवी उवाच–

Godees said.

ज्ञानियों की गति के सम्बन्ध में शिव के उत्तर को सुनकर पार्वती 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' अर्थात् ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती, विद्ययाऽमृतमश्नुते [यजु. 40.14 ईशोपनिषद्-11] अर्थात् विद्या से अमृतत्व (मोक्ष) को प्राप्त करता है इत्यादि श्रुति वचनों को स्मरण करते हुए प्रश्न करती हैं कि–

On hearing Siva's reply about the state of wise Parvati recalling the saying of Shruti like :" No moksha without wisdom. " Said—

63. ज्ञानादेव मोक्षं च वदन्ति, ज्ञानिनस्तदा।
न कथं सिध्यति ततो योगश्च[1] मोक्षदो भवेत्।।

जबकि अनेक श्रुतियों में यह कहा गया है कि 'ज्ञान द्वारा ही मोक्ष प्राप्त होता है, अन्य किसी उपाय से नहीं' तो फिर ज्ञानी को मोक्ष की प्राप्ति क्यों नहीं होती? और फिर योग मोक्ष दायक कैसे हो जाता है?

When it has been stated in many Srutis that moksha is only achieved by wisdom and not by only othermeans, then why does the man of wisdom not receive Salvation. How is then the yoga may become the means to salvation?

ईश्वर उवाच–

God said,

1. योग संमोक्षदो क

पार्वती के इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न के उत्तर में भगवान् शिव कहते हैं–

Listening to the very important question of Parvati, Lord Siva said—

64. ज्ञानेनैव हि मोक्षोऽस्ति वाक्यं तेषां तु नान्यथा।
सर्वे वदन्ति खड्गेन जयो भवति नान्यथा।।

65. विना युद्धेन वीर्येण कथं जयमवाप्नुयात्।
तथा योगेन रहितं ज्ञानं मोक्षाय नो भवेत्।।

हे देवि सुनो, श्रुतियों का यह कथन असत्य नहीं है कि 'ज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त होता है', किन्तु यह श्रुति वचन 'तलवार से ही विजय प्राप्त होती है' इस लौकिक वचन के समान ही प्रमाण है। क्योंकि तलवार रहने पर भी बिना पराक्रमपूर्ण युद्ध किए विजय कैसे प्राप्त हो सकती है? अर्थात् तलवार तभी विजय प्रदान करती है, जब उसकी सहायता से पराक्रमपूर्वक युद्ध किया जाये, इसी प्रकार योग के साथ रहने पर ज्ञान मोक्ष का हेतु बनता है, बिना योगसाधना के केवल ज्ञान मुक्ति देने वाला नहीं हो सकता है।

O Goddess, listen, this statement of Sruti that moksha is obtained only with wisdom and the proverb that, "Victory is achieved with the help of sword", are similar. How can the victory be achieved with the help of a Sword without performing bravery in the war.The sword only becomes instrumental in achieving victory when the war is fought with bravery with its help. Similarly the wisdom combined with the yoga, becomes the cause of moksha. How can the wisdom without the aid of yoga, provide moksha?

66. जन्मान्तरैश्च बहुभिर्योगो ज्ञानेन लभ्यते।
ज्ञानं तु जन्मनैकेन योगादेव प्रजायते।।
तस्माद् योगात्परतरो नास्ति मार्गस्तु मोक्षदः।।[1]

1. तुलनीय यो.शि. 1.52-53

वस्तु स्थिति यह है कि ज्ञान द्वारा अनेक जन्म-जन्मान्तर के बाद कहीं योग की प्राप्ति होती है, और तब कहीं मोक्ष मिल पाता है, जबकि योगसा धना द्वारा एक जन्म में अर्थात् उसी जन्म से पहले ज्ञान की प्राप्ति होती है, और ज्ञान की प्राप्ति के बाद मोक्ष की भी प्राप्ति हो जाती है। अर्थात् योग और ज्ञान दोनों के रहने पर ही मोक्ष की प्राप्ति होती है, किन्तु ज्ञान साधना में संलग्न होने पर अनेक जन्मों की साधना के परिणामस्वरूप स्वतः योग की (सिद्ध गुरु की प्राप्ति और उससे योग की) प्राप्ति होती है, इस प्रकार अनेक जन्मों तक साधना करने पर कहीं मोक्ष मिल पाता है, जब कि योगसाधना में प्रवृत्त होने पर एक जन्म में ही योगसिद्धि, उससे ज्ञान का लाभ और उसके परिणाम स्वरूप मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार मोक्ष की प्राप्ति के लिए योग से अधिक प्रशस्त अन्य मार्ग नहीं है।

It is a fact that the man of wisdom obtains yoga through innumerable previous births.Only then he can achieve moksha, whereas wisdom is achieved only in the same birth by practicing yoga. And after gaining wisdom, moksha is also achieved.Possession of both yoga and wisdom lead to salvation. But on prectice of wisdom during many births the success in yoga is achieved on meeting with a Siddha guru (teacher). So moksha is achieved with the practice of wisdom acquired during many births where as by practice of yoga only in one birth; knowledge is revealed as a result where of moksha is achieved. Thus there is no other easier path to achieve moksha than yoga.

श्री देवी उवाच–

Goddess said.

भवगान् शिव के उपर्युक्त उत्तर को सुनकर और अधिक स्पष्टता के लिए पार्वती उनसे पुनः पूछती हैं–

On hearing the above reply from Lord Shiva to her question, and in order to seek an elaborate explanation, She asks him further.

67. बहुभिर्जन्मभिः ज्ञानाद्योगः सम्प्राप्यते कथम्।
योगात्तु जन्मनकेन कथं ज्ञानमवाप्यते।।

हे देव? इस कथन में क्या प्रमाण है, अर्थात् यह कैसे स्वीकार कर लिया जाए कि ज्ञान द्वारा अनेक जन्मों में योग की प्राप्ति होती है, और योग से एक ही जन्म में ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

O God what is the plea of fered for your assertion. How can it be accepted that yoga is achieved through wisdom during many births, where as knowledge is revealed by possession of yoga only in the same birth.

ईश्वर उवाच–

God said,

अपने पूर्व कथन को भगवान् शिव तर्क द्वारा प्रमाणित करते हुए पुनः कहते हैं कि–

Emphasising the statement already given by him Lord Siva gives further evidences—

68. प्रविचार्य चिरं ज्ञानात् मुक्तोऽहमिति मन्यते।
किमसौ मननादेव मुक्तो भवति तत्क्षणात्।।[1]

ज्ञानी गुरु के उपदेश अथवा शास्त्र के अध्ययन से 'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात् मैं अमुक देवदत्त आदि सांसारिक प्राणी नहीं हूँ, अपितु मैं नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव वाला ब्रह्म हूँ। इस सिद्धान्त को जानकर तथा इस पर मनन करके ज्ञान के कारण 'मैं मुक्त हूँ' ऐसा मानने लगता है, किन्तु क्या केवल मनन मात्र से वह तत् क्षण मुक्त हो जाता है? अर्थात् केवल पूर्वोक्त प्रकार से मननमात्र से मुक्ति नहीं हो पाती, अपितु इसके विपरीत–

On receiving the preachings from Guru or by study of scriptures he comes to know "Aham Brahmasmi." that I am not so called Devadutta or any other worldly creature but am pure knowledge i.e. Brahman. By getting this knowledge he considers himself free by virtually possessing knowledge. But does he achieve liberation by mere contemplation. Contemplation alone does not lead to moksha.

1. तुलनीय यो.शि. 1.54

69. पुमान् जन्मान्तरशतैर्योगादेव विमुच्यते।
न तथा भवतो योगाज्जन्ममृत्यू पुनः पुनः।।[1]

उपर्युक्त सत्य को जानकर भी मनुष्य (ज्ञानी मनुष्य) सैकड़ों जन्मों में कहीं योग को प्राप्त करके योग द्वारा मुक्ति को प्राप्त करता है, और उसके परिणामस्वरूप पुनः पुनः जन्म और मृत्यु नहीं होते।

Even after knowing the above fact the wise receives moksha after gaining yoga during innumerable births. Then with the help of yoga, he does not undergo repeated births and deaths.

70. प्राणापानसमायोगात् चन्द्रसूर्यैक्यता भवेत्।
सर्वधातुमयं देहमग्निना जारयेद् बुधः।।[2]

इसका कारण यह है कि प्राण और अपान के समायोजन के फलस्वरूप चन्द्र और सूर्य नाड़ियों द्वारा पृथक्-पृथक् काल मे पृथक्-पृथक् प्रवाहित होने वाला प्राण एक साथ प्रवाहित होने लगता है, जिसे संक्षेप में चन्द्र और सूर्य का एक होना कहते हैं। इसे ही दूसरे शब्दों में सुषुम्ना में प्राणों का प्रवाहित होना भी कहते हैं।योग साधना द्वारा इस स्थिति में पहुँचने पर रस रक्त मांस आदि सात धातुओं वाला शरीर अग्नि के पूर्ण प्रदीप्त होने के कारण दग्ध अर्थात् पूर्ण शुद्ध कर हो जाता है,इसे ही नाड़ी शुद्धि भी कहते हैं। तात्पर्य यह है कि प्राण और अपान के समायुक्त होने पर जब प्राण साथ-साथ सूर्य और चन्द्र नाड़ी में प्रवाहित होते हैं, उस समय कन्द स्थान के निकट अग्नि अत्यन्त प्रदीप्त हो जाती है, जिसके फलस्वरूप सम्पूर्ण नाड़ी शुद्धि हो जाती है, इस नाड़ी शोधन को ही यहाँ 'देहं जारयेत्' 'देह को जीर्ण कर डालता है' शब्दों द्वारा कहा गया है। इस नाड़ी शोधन के उपरान्त ही कुण्डलिनी जागरण ब्रह्मग्रन्थि-विष्णुग्रन्थि एवं रुद्रगन्थि का भेदन हुआ करता है।

70. The reasons there of is that due to combination of prana and apana breaths, which normally flow from two separate nadis (nerves) like solar and lunar nadis, start flowing in one Nadi, which in brief can be called as union of mon and the sun. In other-words, it can be stated

1. तुलनीय यो.शि. 1.55
2. तुलनीय यो.शि. 1.56

flow of prana breaths through Sushumna. On reaching this state of yoga sadhana, the body, consisting of seven elements like juice, blood and flesh etc. become completely purified due to full illumination of the fire. This is called Nadi Shuddhi (purification of nerves). After merging of prana and apana breaths when prana breaths simultaneously flow in the solar and lunar nadis (sushumna) fire near the place of kanda (tubar root) becomes much illuminated as a result where of there is a complete Nadi Shuddhi (purification of nerves). This purification of nerves has been stated as "deham jaryet" (burning of the body). After this purification of nadis and awakening of kundalini the penetration of Brahman granthi (knot), Vishnu granthi and the Rudra granthi takes place.

71. व्याधयस्तस्य नश्यन्ति छेदघातादि का कथा।
तथाऽसौ परमाकाशरूपो देह्यवतिष्ठते।।[1]

इस स्थिति में पहुँच जाने पर योगी के शरीर में स्थित एवं संभावित सभी व्याधियाँ (रोग) नष्ट हो जाती हैं, जिसके परिणाम स्वरूप योगी के शरीर के कटने अथवा उसमें चोट आदि लगने से प्रभावित होने का कोई प्रश्न नहीं उठता, तथा वह योगी (आत्मस्वरूप योगी) परम आकाश स्वरूप हो जाता है। आकाशरूपता का तात्पर्य यह है कि बाह्य स्थूल पदार्थों के संसर्ग का प्रभाव योगी के शरीर पर नहीं पड़ता।

On reaching the 'stage' all the existing and potential diseases in the body of a yogi are destroyed, as a result where of the question of effect of any kind of injury on yogi's body does not arise. Thereafter the enlightened yogi becomes the absolute form of sky and the contact of gross objects does not affect his body.

72. किम्पुनर्बहुनोक्तेन मरणं नास्ति तस्य वै।
देहश्च दृश्यते लोके दग्धकर्पटवत्स्वयम्।।[2]

1. तुलनीय यो.शि. 1.57
2. तुलनीय यो.शि. 1.58

भगवान् शिव कहते हैं कि इस प्रसंग में अधिक क्या कहा जाए योगी की मृत्यु भी योग में सिद्धि प्राप्त करने के बाद नहीं होती, क्योंकि योग में सिद्धि मिलने के बाद योगी के शरीर आत्मा का सम्बन्ध भी केवल बाहर से प्रतीत मात्र होता है, वास्तविक अर्थात् जन सामान्य के शरीर और आत्मा के सम्वन्ध में समान नहीं रह जाता। इसे जले हुए वस्त्र की उपमा से समझा जा सकता है। वस्त्र जल जाने के बाद भी देखने में वस्त्र के समान प्रतीत अवश्य होता है, किन्तु उससे आच्छादन बन्धन आदि वस्त्र के कार्य सम्पन्न नहीं हो सकते। उसी प्रकार योगी का दग्ध शरीर भी शरीर के समान प्रतीत अवश्य होता है, किन्तु वह सामान्य जन के शरीर की तरह योगी के लिए सुख दु:ख का हेतु नहीं बनता।

Lord Siva says, what more could be said in this context that yogi does not even die after the attainment of yoga Siddhi since on attaining this the contact of yogi's body with the soul appears only out world. His relation to his body is not similar to that of a common person. This could be illucidated in terms of burnt clothes. The clothes appear like normal clothes even after having been burnt, but they can not be used as robes. Similarly, the kindled body of a yogi appears like the normal body but it is not subjected to joys and sorrows as the bodies of common folk.

73. चिरं प्राणनसम्बन्ध:[1] सर्वजीवेषु संस्थित:।[2]
रज्जु: यद्वत् परीबद्ध रज्वी तद्वदिदं मतम्।[3]

जिस प्रकार रस्सी अपने से भिन्न पदार्थ किसी काष्ठ आदि में बंधी होती है, और पदार्थ को रज्जुवान् (रज्वी) अर्थात् रस्सी वाला कहते हैं, उसी प्रकार प्राणन अर्थात् प्राण आदि वायुओं की क्रियाओं का सम्बन्ध आत्मा के साथ चिरकाल से चलता चला आ रहा है और इसी कारण आत्मा के साथ शरीर का भी सम्बन्ध बना हुआ है। शरीर मन आदि की क्रियाएं भी प्राण समबन्ध के कारण ही आत्मा के साथ जुड़ी हुई है, और मन उसे इन्द्रियों के माध्यम से विषयों की ओर संयुक्त करके शरीर और आत्मा के सम्बन्ध को छूटने नहीं देता, और आत्मा उस बन्धन में फंसा रहता है।

1. सम्बन्धम् क.
2. तुलनीय यो.शि. 1.59
3. संस्थितम् क

If rope is bound with the separate object, like wood that wood is called 'rajjuvan' (rope-wood). Similarly the relation of prana (the activities connected with prana breath) with the soul has been continuing since times immemorable. And due to the very reason, the relation and the bondage of soul with the body continues. The body, mind and the activities there of, due to their having contact with the soul are related to the soul. Mind does not allow the contact of the senses with the sense object to be servered, as a result whereof jiva (individual soul) remains engrossed in bondage.

74. नानाविधैर्विचारैस्तु न साध्यं जायते मनः।
तस्मात्तस्य जयोपायः प्राण एव हि नान्यथा।।[2]

अनेक प्रकार के विचार करने मात्र से अर्थात् केवल विविध प्रकार के शास्त्रों अथवा उपदेशों के चिन्तन करने से ही मन वश में नहीं होता, वह विषयों की ओर आकृष्ट होकर शरीर के माध्यम से आत्मा को भी उनमें फंसाये रहता है; क्योंकि इस शरीर मन आदि के मूल आत्मा का पांच प्राणों से सम्बन्ध है, अतः मन और शरीर आदि को जीतने का उपाय प्राणों पर विजय प्राप्त करना ही है, प्राण जय अर्थात् प्राणों को वश में करने के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय मन को जीतने अथवा मन और शरीर के बन्धन से आत्मा को मुक्त करने के लिए नहीं है।

Simply contemplation or concentrating on various scriptures or religious discourses, does not help in controlling one's mind. It is drawn towards desires and keep the soul entrapped since body is connected with mind and five prana breaths. There-fore the means to control the mind and body etc. is to have control over five prana breaths. There is no other method for controlling the mind and realising the self except by controlling the prana breaths.

75. तर्कैः जल्पैः शास्त्रजालैर्यक्तिभिः मन्त्रभेषजैः।
न वशे जायते प्राणः सिद्धोपायं बिना प्रिये।।[2]

1. तुलनीय वही1.60
2. तुलनीय वही, 161

हे पार्वती! प्राण विविध प्रकार के तर्कों, अपने पक्ष के प्रतिपादक वाद प्रपंचों, विविध शास्त्रों के व्याख्यानों, युक्ति प्रयुत्युक्तियों, मन्त्रों अथवा औषधियों के द्वारा वशीभूत नहीं होता। प्राणों को वश में करने के लिए सिद्धजनों में सुप्रचलित योगसाधना (प्राणायाम) ही एक मात्र उपाय है। अर्थात् प्राणायाम रूपी योग साधना के अतिरिक्त प्राणों को वशीभूत करने का कोई उपाय नहीं है।

O Parvati, mind is not controlled by various arguments, discourses on various scriptures, mantras or medicaments. The famous yoga sadhana pranayam (controlling the breath) is the only method of controlling the prana breath for the Siddhas. There is no other method to control prana breaths except by yoga sadhana i.e. Pranayama.

76. उपायं तमविज्ञाय योगमार्गे प्रवर्त्तते।
खण्डज्ञानेन तेनैव जायते क्लेशभाक् नरः।।[1]

जो साधक प्राणायाम साधनारूपी उस उपाय को बिना जाने ही योग मार्ग में प्रवृत्त होता है, वह साधक अपने खण्डित ज्ञान के कारण साधना के मार्ग में सफलता के लिए भटक कर क्लेश का भाजन बनता है।

The Sadhak, who follows the path of yoga without the knowledge of pranayam Sadhana, is led astray on the path and involves himself in trouble due to the partial knowledge of yoga Sadhana.

77. योऽजित्वा पवनं मोहाद् योगमिच्छति योगिनः।
सोऽपक्वं कुम्भमारुह्य सागरं तर्त्तुमिच्छति।।[2]

जो साधक प्राणों पर विजय प्राप्त किये बिना अर्थात् प्राणायाम साधना में सफलता प्राप्त किए बिना योगियों के रूप में सफल होना चाहते है, उसकी साधना उस व्यक्ति के कार्य की तरह उसके उपहास और प्राणहानि का कारण बनती है, जो व्यक्ति कच्चे घड़े का आश्रय लेकर समुद्र को पार करना चाहता है।

1. तुलनीय यो.शि. 1.62
2. तुलनीय वही, 1.63

The Sadhak, who wants to achieve success in the yoga without controlling the the prana breaths or without practising the pranayam Sadhana his condition is like that of a person, who wants to cross the ocean with the help of a raw earthen pitcher, as a consequence where of he loses his life.

78. यस्य प्राणो विलीनोऽथ साधके जीविते सति।
पिण्डं न पतितं तस्य चित्तदोषैः प्रमुच्यते।।[1]

प्राणायाम साधना द्वारा जिसके प्राण जीवन काल में ही विलीन हो जाते हैं, अर्थात् वश में हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में जिसे केवल कुम्भक की सिद्धि हो जाती है, उस साधक का शरीरपात तो नहीं होता, अर्थात् वह शरीर को धारण किए रहता है, किन्तु उसके चित्त के सभी दोष काम क्रोध आदि दोष मिट जाते हैं।

The prana breaths of the Sadhaka are controlled during his life time with the help of pranayam Sadhana. On attaining kewala Kumbhak Siddhi his body does not fall. Though he maintains his body yet imperfections of his mind like desire, passion etc. are destroyed.

79. शुद्धं चेतसि तस्यैव स्वात्मज्ञानं प्रकाशते।
तस्माद् हानं भवेद् योगाज्जन्मनैकेन पार्वति।।[2]

हे पार्वती! चित्त के समस्त दोष मिट जाने पर योगी के शुद्ध चित्त में स्वात्मज्ञान का परमतत्त्व का प्रकाश सहज ही हो जाता है, और उस आत्मज्ञान के फलस्वरूप उसी जन्म से उसके संसार बन्धन नष्ट हो जाते हैं, अर्थात् योगी को एक जन्म में ही मुक्ति हो जाती है।

O Parvati, on the destruction of all imperfections of mind, the yogi of a purified mind attains self realisation and self-enlightenment. As a result of self-realisation, all his bondages are destroyed during the same birth and yogi attains moksha during the same life.

80. तस्माद्योगं तमेवादौ साधको नित्यमभ्यसेत्।
मुमुक्षुभिः प्राणजयः कर्त्तव्यो मोक्षहेतवे।।[3]

1. तुलनीय वही, 164 2. तुलनीय वही, 1.65
3. तुलनीय वही, 1.66

हे पार्वती! अत एव साधक को चाहिए कि वह प्राणों पर विजय प्रदान करने वाले उस योग अर्थात् प्राणायाम साधना का ही नित्य अभ्यास करें। और उसे चाहिए कि वह मोक्ष को प्राप्त करने के लिए प्राणों पर विजय अर्थात् केवल कुम्भक की सिद्धि अवश्यमेव प्राप्त करें।

O Parvati, therefore the Sadhak should regularly practise pranayam Sadhana which helps in controlling the prana breaths. He should also determine to control the prana breaths and attain kewala Kumbhak Siddhi to achieve moksha.

81. योगात्परतरं पुण्यं योगात्परतरं स्थिरम्।[1]
योगात्परतरं सूक्ष्मं योगात्परतरं नहि।।[2]

हे पार्वती! योग की अपेक्षा अधिक पुण्य फलदायी, योग की अपेक्षा अधिक स्थिर अर्थात् स्थायी आनन्द का देने वाला, योग की अपेक्षा अधिक रहस्य अर्थात् रहस्यमय आत्म ज्ञान को प्रदान करने वाला और योग की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ और कुछ नहीं है।

81. O Parvati nothing is so fruitful, pleasing, subtle, mysterious, enlightening and lovely as yoga.

देवी उवाच–

Goddess said—

योग की इस अद्‌भुत महिमा के सम्बन्ध स्वयं शंकर के मुख से पूर्वोक्त विवरण सुनकर पार्वती पुनः योग के सम्बन्ध में ही प्रश्न करती हैं–

On hearing such wonderful qualities of yoga from the mouth of Sankra, Parvati asks further.

82. योगः कः उच्यते देव योगाभ्यासोऽपि कीदृशः।
योगेन वा भवेत्किञ्च तत्सर्वं वद शंकरः।।

हे आदि देव शंकर! कृपया इस तथ्य का उपदेश कीजिए कि योग किसे कहते हैं? योग का अभ्यास किस प्रकार किया जाता है; और योग के अभ्यास से क्या-क्या लाभ होता हैं? कृपया इन प्रश्न पर विस्तार से प्रकाश डालिए।

1. योगात्परतरं स्थितम् क. 2. तुलनीय यो.शि. 167

O first god Sankara, please enlighten about this fact as to what is the definition of yoga. How is the yoga practised and what benefits are accrued from practice of yoga. Please enlighten on this question in detail.

ईश्वर उवाच–

God said,

पार्वती के उपर्युक्त तीनों प्रश्नों का उत्तर देते हुए शंकर कहते हैं–

Replying to three question put in by Parvati Sankra Says—

83. योऽपानप्राणयोर्योगः स्व-रजोरेतसोस्तथा।
सूर्यचन्द्रमसोर्योगो जीवात्मपरमात्मनोः।।[1]

84. एवं तद् द्वन्द्वजालस्य संयोगो योग उच्यते।।[2]

हे पार्वती! प्राण और अपान का, अपने रजम् और वीर्य का, सूर्य नाड़ी और चन्द्र नाड़ी से प्रवाहित होने वाले प्राण वायु का, जीवात्मा और परमात्मा का और इसी प्रकार विविध द्वन्द्वों का योग करना मिलनकरा देना योग कहलाता है।

तात्पर्य यह है कि योग पर अर्थात् द्वैत का नाश करके अद्वैत स्थिति पर पहुँचना, इस क्रम में प्रथम स्थूल द्वैत प्राण और अपान के द्वैत को समाप्त करके क्रमशः सूक्ष्म सूक्ष्मतर द्वैत का नाश करके जीवात्मा और परमात्मा में अद्वैत की स्थापना की जाती है, अर्थात् इन विविध दो-दो पदार्थों का योग स्थापित किया जाता है। अतः इस अद्वैत की सिद्धि को योग कहते हैं।

O Parvati to combine various dualities like prana and apana breaths, rajas and retas (semen), Solar and lunar nadis, jiva (individual soul) and Brahman (universal soul) is called yoga.

Yoga means the destructon of dvait (duality) and reaching the Stage of advait (oneness). In this process, first of all, after the destructin of the gross duality of prana and apana breaths and consequently Subtle dvait (duality) between the jiva and the Brahman is destroyed and the advait (oneness) is established. Attainment of this Advaita, is called yoga.

1. तुलनीय यो.शि. 1.68
2. तुलनीय यो.शि. वही, 1.69

85. अधुना सम्प्रवक्ष्यामि योगाभ्यासस्य लक्षणम्।
मरुज्जयो यस्य सिद्धो सेवयेत्तं गुरुं सदा।।
गुरुवस्त्रप्रसादेन[1] कुर्यात्प्राणजयं बुधः।।[2]

शंकर आगे कहते हैं कि–'मैं अब अग्रिम वाक्यों में योगाभ्यास के लक्षण कहूंगा। जिसे प्राणों पर विजय प्राप्त हो गयी है, अर्थात् जिसे प्राणायाम साधना में सिद्धि मिल चुकी है, सर्व प्रथम ऐसे गुरु को प्राप्त करे, अर्थात् इस प्रकार के गुरु को खोजकर उसकी सेवा करें और सेवा के फल स्वरूप उसकी कृपा प्राप्त करे और कृपापूर्वक गुरु से वस्त्र (वेष्टनाम्बर) प्राप्त करके बुद्धिमान् साधक प्राणों पर विजय प्राप्त करें।' ('गुरुवक्त्र प्रसादेन' पाठ मानने पर 'गुरु के उपदेशवचनरूपी कृपा प्राप्त कर प्राणों पर विजय प्राप्त करें' यह अर्थ होगा।)

Sankara elaborates, "I shall explain the characteristics of yogabhyasa in the next sentences. The Sadhak, who has attained success in the pranayam Sadhana, first of all should seek the guru (Teacher) and should serve him to receive his blessings. An intelligent Sadhak should receive robes from his guru and control his prana breaths. (Some manuscriptes read "Vaktra" in place of "Vastra" then the menaing will be "On receiving the sacred word of guru" he should achieve control over his prana breaths.)

86. वितस्तिप्रमितं दैर्घ्ये विस्तारे चतुरङ्गुलम्।
मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टनाम्बरलक्षणम्।।[3]

प्राणायाम साधना में सिद्धि लाभ के लिए आवश्यक और जिसे गुरु प्रसाद के रूप में प्राप्त किया जाता है, वह **वेष्टनाम्बर** कोमल शुद्ध धवल वस्त्र होता है, जिसकी लम्बाई एक वितस्ति (एक वित्ता) अर्थात् बारह अंगुल और चौड़ाई चार अंगुल होती है। प्राणायाम साधना में अपेक्षित इस वस्त्र खण्ड की पारिभाषिक संज्ञा **'वैष्टनाम्बर'** है।

1. गुरुवक्त्रप्रसादेन क.
2. तुलनीय यो.शि. 1.79-80
3. तुलनीय वही, 1.81

The essential requirement for attainment of Siddhi which is received as a blessing from the Guru, is the soft, pure and white robe, the length of which is twelve fingers and the breadth, four fingers. This piece of cloth is called as Veshtanambar.

87. निरुध्य मारुतं गाढं शक्तिचालनयुक्तितः।
अष्टधा कुण्डलीभूतां ऋजुं कर्त्तुं तु कुण्डलीम्।।[1]

88. नाभेराकुञ्चनं कुर्यात् कुण्डलीञ्चालयेत्ततः।
मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः।।[2]

वायु को पूर्ण रूप से बाहर निकाल कर बाहर ही रोकते हुए शक्ति चालन अर्थात् न्योली चलाने की युक्ति से कुण्डली को ऋजु (कोमल) करने के लिए आठ बार कुण्डलित होकर स्थिर कुण्डली को नाभि का आकुञ्चन करते हुए अर्थात् नाभि को सिकोड़ते हुए चलावे। इसका क्रम इस प्रकार है–प्रथम रेचक करना, पुनः उड्डियान बन्ध की भाँति उदर को तानना, फिर नाभि का आंकुञ्चन करते हुए दोनों नलों को उठाने का प्रयत्न करना, नल भली प्रकार उठने पर उनको चलाना। बाद में यही क्रिया पूरक करके करनी चाहिए। इस सम्पूर्ण क्रिया को **शक्तिचालन** क्रिया कहते हैं। इसके अभ्यास से कुण्डलिनी कोमलभाव (ऋजुभाव) को प्राप्त कर लेती है, जिसके फलस्वरूप उसके जागरण का मार्ग सहज हो जाता है। कुण्डलिनी मूलाधार चक्र से ऊपर एवं कन्द स्थान से नीचे पेडू के पीछे भाग के पास आठ बार वक्र होकर स्थित रहती है। उसके मुख में सुषुम्ना नाड़ी का मुख बन्द रहता है, और उसमें (सुषुम्ना में) प्राणों का संचार नहीं हो पाता। शक्ति चालन की उपर्युक्त क्रिया कुण्डलिनी को ऋजु बना देती है, जिससे उसको जागृत करने में सुविधा हो जाती है।

शक्तिचालन का अभ्यास होने से साधक मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है, फलतः मृत्यु के उपस्थित होने पर भी उसे मृतयु का भय नहीं होता।

1. तुलनीय वही, 1.82
2. तुलनीय वही, 1.83

After inhaling the breath and withholding it out, Saktichalan (operation of power) should be performed i.e. in order to soften the kundalini, the Sadhak should operate it (wound eight times forming a curve) by squeezing the navel. The process is first to exhale prana, tighten abdomen like an Uddyan bandh (knot) and then while maintaining Uddyan, make the abdomen tight and roll them from right to left and from left to right and repeat the process, The whole of this process is termed as Sakti chalan (operation of power). Kundlini achieves softness while under going this process as a result where of the parth of its awakening becomes smooth. Kundalini is located at muladhar chakra near the back bone in octane curves. The mouth of sushumna remains blocked and the prana breaths cannot flow through it. The above process of Sakti Chalan (operation of power) softens the kundalini, which facilitates its awakening.

Sadhak achieves victory over death by practice of Saktichalan as a consequence where of he overcomes the fear of death, when faced with it.

89. एतदेव परं गुह्यं कथितं तु मया तव।[1]

शक्तिचालन की यह विद्या योगिजनों में अत्यन्त गोपनीय है, अर्थात् केवल अधिकारी शिष्य को ही इसका उपदेश किया जाता है, सर्व साधारण के मध्य इसकी चर्चा भी नहीं की जाती। जिसका उल्लेख ऊपर की पंक्तियों में अभी किया गया है।

This vidya (knowledge) of Saktichalan is very confidential among the Yogins and is only revealed to the deseriving sisyas (disciples). It is never discussed among the commom folk as has been stated in the above lines.

90. वज्रासनगतो नित्यं मासार्धन्तु समभ्यसेत्।
वायुना ज्वलितो वह्निः कुण्डलीमनिशं दहेत्।।[2]

1. तुलनीय यो.शि. 1.84
2. तुलनीय वही, 1.84-85

इस प्रकार साधक को चाहिए कि वह वज्रासन (सिद्धासन[1]) में बैठकर पन्द्रह दिनों तक निरन्तर अभ्यास करें, इस अवधि (पन्द्रह दिन) में शक्तिचालन का अभ्यास हो जाता है। इसके फलस्वरूप वायु (प्राण) के सम्पर्क से प्रदीप्त जठराग्नि कुण्डलिनी को निरन्तर तप्त करती रहती है।

Thus Sadhak should sit in Vajrasan (Siddhasan) posture and practise it continuously for fifteen days. During this period the process of saktichalan is practised as a resutl where of enflamed fire of stomach, on its contact with prana breaths, keeps the kundalini illumined continuously.

91. सप्तमासाग्निना जीवशक्तिस्त्रैलोक्यमोहिनी।
प्रविशेद् वज्रदण्डे तु सुषुम्ना वदनान्तरे।।[2]

इस पूर्वोक्त प्रकार से निरन्तर अभ्यास करने से सात मास पर्यन्त अग्नि से तपाये जाने पर त्रैलोक्य को मोहित करने वाली जीवशक्ति अर्थात् कुण्डलिनी जागृत हो जाती है। अर्थात् तप्त कुण्डलिनी के मुख में बन्द पड़ा हुआ सुषुम्ना मुख उससे बाहर आ जाता है, और इस स्थिति में कुण्डलिनी का मुख सिकुड़कर सुषुम्ना मुख में आ जाता है। क्योंकि सुषुम्ना नाड़ी का ही दूसरा नाम **ब्रह्मनाड़ी** भी है। अतः सुसुम्ना मुख के इस भेदन (खुलने) को **ब्रह्मग्रन्थिभेदन** कहते हैं, इसे ही कुण्डलिनी का जागरण भी कहते हैं।

By constant practice of this process and having remained illumined continuously for seven months, the kundalini which fascinates the three worlds, is awakened. The mouth of Sushumna, lying coiled in the mouth of kundalini becomes-squeezed and enters into the Sushuma. Another name of sushumna is Brahman nadi, So the piercing the mouth of sushumna is called piercing of Brahman Granthi. This is called awakening of kundalini.

92. वायुना वह्निना सार्धं ब्रह्मग्रन्थिं भिनत्ति सा।
विष्णुग्रन्थिं ततो भित्त्वा रुद्रग्रन्थौ च तिष्ठति।।[3]

1. वज्रासन की जानकारी के लिए राजयोग साधना और सिद्धान्त ग्रन्थ में आसन प्रकरण देखें
2. तुलनीय यो.शि. 1.85-86
3. तुलनीय वही, 1-86-87

इस पूर्वोक्त प्रकार से वायु से प्रदीप्त अग्नि के द्वारा सन्तापित कुण्डलिनी ब्रह्मग्रन्थि का भेदन करती है और सुषुम्ना नाड़ी के अन्दर ऊपर की ओर उठती जाती है। हृदय कमल के निकट पहुँचने पर एक बार उसका उठना रुक जाता है, किन्तु साधना क्रम निरन्तर चलते रहने पर हृदय कमल, जिसे अनाहत चक्र भी कहते हैं, जागृत हो जाता है, और सुषुम्ना में विद्यमान अवरोध हट जाता है। क्योंकि हृदय कमल को विष्णु का स्थान माना गया है, अतः इसके खुलने को ही **विष्णुग्रन्थि भेदन** कहा जाता है। इसके अन्तर कुण्डलिनी ब्रह्मनाड़ी के अन्दर ऊपर उठती हुई सभी चक्रों को पार करती हुई मूर्धाभाग में स्थित सहस्रार चक्र पर पहुँचती है। सहस्रार चक्र मस्तिष्क का स्थान है। इसको रुद्र का स्थान माना जाता है, अतः इस सहस्त्रार चक्र के जागरण को **रुद्रग्रन्थि भेदन** कहते हैं। ब्रह्मनाड़ी का यह सबसे ऊपर का भाग है, कुण्डलिनी के साथ यहाँ पर प्राणों के पहुँच जाने पर योगी की असम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध हो जाती है, वह परमानन्द स्वरूप ब्रह्म (इसे ही विविध सम्प्रदायों में विष्णु अथवा शिव नामों से भी स्मरण करते हैं, यही परमतत्त्व है), का साक्षात्कार कर लेता है, और उसमें लीन हो जाता है, यह योग की पूर्णता की स्थिति है। इस स्थिति में पहुँचने पर सभी भेद ज्ञाता ज्ञेय और ज्ञान का भेद मिट जाता है, उस स्थिति में जीव और ब्रह्म का भी भेद बोध मिट जाने से अद्वैत ज्ञान की प्रतिष्ठा हो जाती है।

Thus the fire illumined by the prana breaths as stated above, heats kundalini and heated kundalini pierces the Brahman granthi and flows upwards through the sushumna nadi. On reaching near the lotus of the heart, its movement upwards halts, but on continuous practice of the sadhana, the lotus of the heart, called anahat chakra, becomes awakened and the path of sushumna is further cleared, therefore, this opening is called as piercing of Vishnu Granthi. Thereafter, Kundalini travelling upwards through the Brahman nadi, while piercing all the chakras, on her path, reaches the Sahsra chakra, placed in the head. The Sahsra chakra which is settled in the head is called the seat of Rudra (siva). So, awakening of this chakra is called piercing of Rudra granthi. This is the highest place of Brahma nadi. On reaching of kundalini here with prana breaths the yogi achieves attributeless (Asampragyata) Samadhi. He sees absolute bliss, the Brahman (this

stage is remembered as Vishnu Pada or Siva Pada in the different religious sects), this is the supreme essence of yoga sadhna. This is the highest attainment of yoga. All distinctions of knower, known and the knowledge are removed in this stage. On the removal of duality of jiva (indiviudal, soul, and Brahman called conciousness) the advaita gyan (knowledge of oneness) is established.

93. ततस्तत्कुम्भकै गर्ढि पूरयित्वा पुनः पुनः।[1]
तथाऽभ्यसेत् सूर्यभेदमुज्जायीं वापि शीतलम्।
भस्त्री च सहितो नाम स्याच्चतुष्टय कुम्भकम्।।[2]

पूर्वोक्त कुण्डलिनी जागरण तभी हो पाता है, जब साधक को प्राणायाम की सिद्ध हो जाए। इसीलिए पूर्व पंक्ति में कहा भी गया है–'वायुना ज्वलितो वह्निः कुण्डलीमनिशं दहेत्। [90]' अतः प्राणायाम की सिद्धि के लिए अब प्राणायाम साधना विधि का वर्णन किया जा रहा है, जिसका निरन्तर तब तक अभ्यास करना चाहिए जब तक कि सिद्धि न हो जाए।

प्राणायाम की मुख्य क्रिया कुम्भक है, अन्य क्रियाएं उसकी सहायक क्रियाएं हैं। कुम्भक दो प्रकार का होता है–1. **केवल कुम्भक** 2. **सहित कुम्भक।** सहित कुम्भक भी केवल कुम्भक का साधन मात्र है। केवल कुम्भक की सिद्धि होने पर सहित कुम्भक करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। इनका संक्षिप्त विवरण **दत्तात्रेय योग शास्त्र** एवं **योग तत्त्वोपनिषद्** में देखें। अग्रिम पंक्तियों में केवल कुम्भक के साधनभूत **सहित कुम्भक** के भेदों का वर्णन करने के लिए नाम परिगणन किया गया है।

इस पूर्वोक्त क्रिया में सफलता के लिए चार प्रकार के सहित कुम्भक का अभ्यास करें। ये चार प्रकार हैं–1. सूर्यभेद 2. उज्जायी 3. शीतला 4. भस्त्री। वायु को पूर्णतया अन्दर खींचकर बार–बार इसका अभ्यास करना चाहिए। इन पंक्तियों के प्रारम्भ में 'ततः' शब्द प्रयुक्त है, जिसका प्रयोग प्रायः 'उसके बाद' अर्थ को प्रगट करने के लिए होता है; किन्तु यहां 'उसके लिए [तद् हेतोः] अर्थ का बोध अभीष्ट है।'

1. तुलनीय यो.शि. 1.87
2. तुलनीय यो.शि. 188

Kundalini can only be awakened where the sadhaka attains pranayam (control of breath) siddhi. Therefore, it has been stated in the previous line वायुना ज्वलितो वह्निः कुण्डलीमनिशं दहेत (90) so in order to attain pranayam siddhi, its method have to be explained which should be practised till pranayam siddhi is attained.

The main activity of pranayam is kumbhak. Kumbhak is of two kinds (1) kewal (exclusive) kumbhak (2) Sahit (inclusive) kumbhak. Sahit kumbhak is also the means of keval kumbhak. On attainment of keval kumbhak, even practice of Sahit kumbhak is not required. Brief description of these two may be seen in Dattatreya yoga shastra and Yogatattvopanishad. In the next lines the characteristics of Sahit kumbhak, which is the means to keval kumbhak, have been enumerated.

In order to achieve success in the above process, the following four methods of sahit kumbhak should be practises. (1) Suryabheda (2) Ujjayi (3) Sheetli (4) Bhastri. These should be repeatedly practised after complete inhalation of breath. In the beginning of these lines, the word 'tat' has been used which normally signifies as 'there after' but here the desired connotation of this term is for him (tat-he-toh).

94. बन्धत्रयेण संयुक्तः केवलप्राप्तिकारकः।
अथास्य लक्षणं सम्यक् कथयामि समासतः।।[1]

इन चारों प्रकार का सहित कुम्भक यदि तीनों बन्धों अर्थात् मूलबन्ध, जालन्धर बन्ध और उड्डियान बन्ध के साथ किया जाए तो इसे अभ्यास से **केवल कुम्भक** की सिद्धि होती है। अग्रिम पंक्तियों में **सहित कुम्भक** के इन चारों प्रकारों का संक्षेप में किन्तु स्पष्ट लक्षण (करने की विधि का वर्णन) किया जा रहा है।

If Sahit kumbhak is practised with all these three bandha (knots) like moolbandha, jallandhar bandha and Uddyan bandha, there is an attainment of kewal kumbhak. In the next lines a brief but clear description (the method of practice) of Sahita kumbhak, with its four kinds is given.

1. तुलनीय वही, 1.89

95. एकाकिना समुपगम्य विविक्तदेशम्
प्राणादिरूपममृतं परमार्थतत्त्वम्।
लघ्वासिना धृतिमता परिभावितव्यम्
संसाररोगहरमौषधमद्वितीयम् ।।[1]

प्राणायाम का अभ्यास सदा किसी एकान्त स्थान में बैठ कर ही किया जाना चाहिए। दत्तात्रेय ने प्राणायाम साधना के लिए साधनागृह निर्माण और उसके स्वरूप का विवरण विस्तृत दिया है। वह वहाँ [107-113] द्रष्टव्य है।

प्राणायाम के अभ्यासी को मिताहारी धैर्यशाली और अभ्यासी होना चाहिए। भोजन का प्रेमी जिह्वालोलुप प्राणायाम में सफल नहीं हो सकता। धृति (धैर्य) भी प्राणायाम साधना के लिए अत्यन्त आवश्यक है। धैर्य के अभाव में साधक कभी तो उतावले पन में साधना की अनिवार्य आवश्यक तैयारी न रहने पर भी हठपूर्वक साधना में प्रवृत्त होकर हानि उठा लेता है, और कभी अविलम्ब सफलता न देखकर साधना ही छोड़ बैठता है। अभ्यास शीलता भी प्राणायाम में सिद्धि के लिए आवश्यक है, आलस्यवश अभ्यास में अनियमितता रहने पर भी सिद्धि नहीं मिल पाती।

यह प्राणायाम साधना संसार में मनुष्यों को होने वाले सभी रोगों की तथा संसार अर्थात् जन्ममरणरूपी रोग की अद्वितीय औषधि है, इससे परम पुरुषार्थ (परमार्थ तत्त्व) मोक्ष की प्राप्ति और अपुनर्भव (अमृतत्व) की अवश्यमेव प्राप्ति होती है। अवश्य ही मोक्ष एवं अमृतत्त्व प्रदान करने वाला होने के कारण ही लक्षण शक्ति का प्रयोग करते हुए ग्रन्थकार ने प्राणायाम (प्राणादिरूप) को सीधे अमृत और परमार्थतत्त्व कह दिया है। ग्रन्थकार का कहना है कि प्राणायाम के लिए आवश्यक सभी तैयारियाँ करके सभी नियमों का पालन करते हुए नियमित रूप से निरामय होकर प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए।

The practice of pranayana (control of breath) should always be done in a lonely place. Dattatreya has given (in 107-113) detailed description of sadhana griha (place for sadhana) for pranayam sadhana, which is as under—

1. तुलनीय यो.शि. 1.90

The Sadhak of pranayam should take a balanced diet, should be equanimous and should keep himself in practice. A glutton can not achieve success in pranayam. Equanimity is also essential requisite for pranayam sadhana. In the absence of patience, the sadhaka, sometimes in anxiety, while forcing himself to sadhana, can come to harm. Sometimes, he discontinues his sadhana, then he does not achieve quick results. Constant practice is also very necessary for attainment of siddhi in pranayam. Irregularity in practice due to idleness is an obstacle in getting siddhi.

The pranayam sadhana is unparalled medicine for human diseases and cure of the diseases of birth and death. This leads to achievemnt of moksha and nectar of immortality. The author, while using a mettaphor, has defined pranayam as nectar and pure essence because of its power of providing moksha and elements of nectar. According to the author after making all preparations for pranayam after observing all the rules without idleness, the practice of pranayam should be regularly done.

सूर्यभेद प्राणायाम–

Surya Bheda Pranayam

96. सूर्यनाड्या समाकृष्य वायुमभ्यासयोगिना।
विविधत्कुम्भकं कृत्वा रेचयेत् शीतरश्मिना।।[1]

सूर्यभेद नामक सहित कुम्भक प्राणायाम का अभ्यास करने के लिए योगी अर्थात् योग का अभ्यास करने वाला साधक सूर्यनाड़ी अर्थात् दाहिने नासिका से वायु को सम्पूर्ण मात्रा में अर्थात् जितना वायु अन्दर लिया जा सके उतना वायु लेकर विधिवत् अर्थात् जालन्धर बन्ध मूलबन्ध और उड्डियान बन्ध पूर्वक जितनी देर अन्दर रोक सके उतनी देर अन्दर रोक कर चन्द्र नाड़ी अर्थात् बायीं नासिका से वायु को निकाले। इस प्राणायाम क्रिया को **सूर्यभेद** प्राणायाम कहते हैं।

1. तुलनीय यो.शि. 1.91

The sadhak, practising Sahit kumbhak pranayama namely suryabheda, should inhale the maximum quantity of breath through solar nadi i.e. right nostril and with hold the breath regularly to the maximum extent on the above method i.e. with jalandhar bandh, moolbandh and Uddiyan bandh, exhale it through lunar nadi i.e. left nostril. This process of pranayam is called Suryabheda Pranayam.

97. उदरे वातदोषघ्नं कण्ठदोषान् निहन्ति च।
मुहुर्मुहुरिदं कार्यं सूर्यभेदमुदाहृतम्।।[1]

यह उपर्युक्त प्राणायाम सूर्यभेद प्राणायाम कहा जाता है। इसका बारम्बार अभ्यास करना चाहिए। इसके अभ्यास करने से उदर (पेट) के सभी प्रकार के रोग तथा सभी प्रकार के वात रोग दूर हो जाते हैं। इनके अतिरिक्त सभी प्रकार के कण्ठ के रोगों को भी सूर्यभेद प्राणायाम से नष्ट किया जाता है।

This Suryabheda Pranayam should be practised constantly. By practising of this pranayam, all diseases of stomach and all types of rheumatic diseases are removed. In addition to this all types of throat diseases are also removed.

उज्जायी प्राणायाम–

Ujjayi Pranayam

98. नाडीभ्यां वायुमाकृष्य कुण्डल्या पार्श्वयोर्नरः।
पूरयेदुदरे सोऽपि रेचयेदिडया सुधीः।।[2]

दोनों चन्द्र और सूर्य नाड़ियों से प्राण वायु को पेट में अन्दर खींचकर साधक योगी उसे कुण्डलिनी के पास अर्थात् कन्द स्थान में (नाभि से नीचे तथा मूलाधार चक्र से ऊपर जहां समस्त नाड़ियों की सन्धि है) यथाशक्ति रोके, तथा इडा नाड़ी अर्थात् सूर्यनाड़ी (दाहिने नासिका छिद्र से) बाहर निकाल देवे।

The sadhak should inhale the prana breaths through lunar and solar nadis and should withold it according to his resistance, near the place of kandha (below the stomach and above the muladhar chakra, and should inhale it through ida nadi i.e. solar nadi the right nostril).

1. तुलनीय वही, 1.92
2. तुलनीय वही, 1.93

99. कण्ठे कफादि दोषघ्नं शरीराग्निविवर्धनम्।
शिरो जलोदरान् धातुगतरोगविनाशनम्।
गच्छतः तिष्ठतः कार्यमुज्जय्याख्यं तु कुम्भकम्।।[1]

यह **उज्जायी कुम्भक** कण्ठ में होने वाले रोग, सभी प्रकार के कफजन्य रोग, सिर में होने वाले, रोग धातु गत रोग तथा जलोदर आदि रोगों को दूर करता है तथा शरीर की अग्नि में वृद्धि करता है। यह **उज्जायी कुम्भक** प्राणायाम चलते-फिरते, उठते-बैठते विभिन्न स्थितियों में कियाजा सकता है।

This ujjayi kumbhak removes all diseases of throat all diseases connected with phelgm, head, semen and dropsy and increase heat in the body. This ujjayi kumbhak pranayam can be practised in different positions like moving, standing, sitting etc.

शीतली प्राणायाम–

Sheetali Pranayam

100. मुखेन वायुं संगृह्य घ्राणरन्ध्रेण रेचयेत्।
शीतलीकरणं चेदं हन्ति पित्तं तथा ज्वरम्।।[2]

'मुख से वायु खींच कर नासिका से निकालना' इसे **शीतलीकरण** प्राणायाम कहते हैं। यह प्राणायाम पित्त जन्य रोगों तथा ज्वर को नष्ट करता है।

To inhale the breath by the mouth and exhale it through the nostril is called sheetali (cooling) pranayam. This pranayam removes the diseases of bile and fever.

1. तुलनीय वही, 194
2. तुलनीय यो.शि. 1.95

भस्त्री प्राणायाम–

Bhasti Pranayam

101. स्तनयोरथ भस्त्रेव लोहकारस्य वेगतः।[1]
रेचयेत्पूरयेद् वायुं आ-श्रमं देहगं धिया।
102. यथा श्रमको भवेद् देहे तथा सूर्येण पूरयेत्।।[2]
कण्ठसंकोचनं कृत्वा पुनश्चन्द्रेण रेचयेत्।।[3]

लोहार की भस्त्रा (हाथी) के समान वेगपूर्वक स्तनों को फुलाते और दबाते हुए वायु को इतना वेग से निकालें और अन्दर ले जाए कि शरीर को थकावट होने लगे और यह क्रिया तब तक करें जब तक शरीर थके नहीं इस क्रिया में पहले सूर्य नाड़ी से अर्थात् दाहिने नासिका के छिद्रसे वायु अन्दर खींच कर फिर चन्द्र नाड़ी अर्थात् बायें नासिका छिद्र से कण्ठ का संकोचन करते हुए वायु को वेग पूर्वक निकालें।

The Sadhak should vigoroulsy expand his chest like the blow pipe and inhale and exhale the breath repeatedly till the body becomes fatigued. In this process, firstly he shoule inhale the breath from the solar nadi (right nostril) and exhale it through lunar nadi vigorously while squeezing the throat.

103. वातपित्तश्लेष्महरं शरीराग्निविवर्धनम्।
कुण्डलीबोधकं चक्रं भावघ्नं सुखदं शुभम्।।[4]

इस **भस्त्री प्राणायाम** के अभ्यसा से वात पित्त तथा कफ इन तीनों ही दोषों से उत्पन्न रोग दूर होते हैं, कफ तथा कफ से उत्पन्न रोग दूर होते हैं, शरीरस्थ अग्नि प्रदीप्त होती है। कुण्डलिनी के जागरण में इससे सहायता मिलती है, चक्र प्रबुद्ध हो जाते हैं, वासनाएँ क्षीण होती हैं, तथा योग के अभ्यास से सुख और कल्याण की प्राप्ति होती है।

1. तुलनीय वही 1.96
2. तुलनीय वही 1.97
3. तुलनीय वही 1.98
4. तुलनीय वही, 1.98-99

By practice of the Bhastri Pranayam, all diseases borne out of three defects, those of wind, bile and phelgm are removed and the fire with in the body is illumined. It helps in awakening the kundalini. The chakras become unravelled, desires are removed and by practice of yoga, bliss and prosperity are achieved.

104. ब्रह्मानाडीमुखे संस्थं कफाद्यर्गलनाशनम्।[1]
सम्यग्गात्रसमुद्भूतं ग्रन्थित्रय-विभेदकम्।
105. विशेषेणैव कर्त्तव्यं भस्त्राख्यं कुम्भकं त्विदम्।।[2]

यह **भस्त्रा** प्राणायाम ब्रह्मनाड़ी अर्थात् सुषुम्ना नाड़ी के मुख भाग में स्थित कफ आदि मलों को तथा शरीर में उत्पन्न विविध रोगों को नष्ट करता है। तीनों ग्रन्थियों अर्थात् ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि एवं रुद्रग्रन्थि का भेदन करता है। अतः इस **भस्त्रा** नामक प्राणायाम का अभ्यास विशेष रूप से करना चाहिए।

This pranayam removes filth like phelgm etc. of mouth of Brahma nadi and also removes many diseases of body. It pierces three granthis i.e. Brahma granthi, Vishnu granthi and Rudra granthi. Thus it should be speedily practised.

बन्ध–

Bandha

106. बन्धत्रयमथेदानी प्रवक्ष्यामि यथार्थतः।
नित्यं कृतेन येनासौ वायोर्जयमवाप्नुयात्।।[3]
107. चतुर्णामपि भेदानां कुम्भके समुपस्थिते।
बन्धत्रयमिदं कार्यं वक्ष्यमाणं मया स्फुटम्।।[4]

शिव पार्वती से कहते हैं कि–अब अग्रिम श्लोकों में मैं तीनों बन्धों का यथावत् उपदेश करूंगा, जिनका नित्य अभ्यास करने से प्राणों पर विजय प्राप्त हो जाती है। कुम्भक प्राणायाम के पूर्वोक्त चारों भेदों को करते हुए इन तीनों बन्धों को अवश्य करना चाहिए। अतः मैं इनका सुस्पष्ट वर्णन कर रहा हूं।

1. तुलनीय वही 1.99
2. तुलनीय वही 1.101
3. तुलनीय वही 1.101
4. तुलनीय वही 1.102

Siva tells Parvati, "Now I will systematically explain to you about all the three Bandhas in the next slokas. The practice of which leads to victory over prana breaths. These three bandhas should be performed while practising above explained four catagories of pranayam which I am elucidating here with.

108. प्रथमो मूलबन्धस्तु द्वितीयस्तूड्डियाणक:।
जालन्धरस्तृतीयस्तु लक्षणं कथयाम्यहम्।।[1]

इन तीन बन्धों में प्रथम मूलबन्ध है, द्वितीय उड्डियान बन्ध कहलाता है। तृतीय बन्ध जालन्धर है। अग्रिम श्लोकों में मैं इनके लक्षण कहूंगा।

Of all the three bandhas the first is called the mool bandha, second the uddya bandh and third the jallandar bandh. I shall give you their definition in the next slokas.

मूलबन्ध–

Mool bandh—

109. गुदं दार्ढ्यात् तु संपीड्य वायुमाकुञ्चयेद् बलात्।
बारं बारं तथा चोर्ध्वं समायाति समीकरण:।।[2]

गुदा को अत्यन्त दृढ़ता से दबाकर वायु को ऊपर की ओर बलपूर्वक बारम्बार खींचे जिससे अपान वायु ऊपर की ओर आ सके। इस क्रिया को ही **मूलबन्ध** कहते हैं।

The sadhak should forcefully press the perineum with the the heel contract it to draw the apan upwards. This process is called mool bandh.

110. प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम्।
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशय:।।[3]

1. तुलनीय वही 1.103
2. तुलनीय वही 1.104, दत्तात्रेय 28-87
3. तुलनीय यो.शि. 1.105, दत्तात्रेय 288-289

मूलबन्ध के अभ्यास से प्राण और अपान, नाद और बिन्दु एक हो जाते हैं, अर्थात् इनकी दूरी समाप्त हो जाती है, जिसके फलस्वरूप योग के अभ्यासी को योग में निश्चित सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

By practice of mool bandh, the prana and apana breaths, nad (primal sound) and bindu (point) become one and their distance is removed as a result where of sadhak certainly attains siddhi in yoga.

उड्डियान बन्ध–

Uddiyan Bandh

111. कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्त्तव्यस्तूड्डियाणक:।
बद्धो येन सुषम्नायां प्राणस्तूड्डीयते तथा।।
तस्मादुड्डीयाणाख्योऽयं योगिभि: समुदाहृत:।।[1]

उड्डियान बन्ध कुम्भक के अन्त में और रेचक के प्रारम्भ में किया जाता है, इसके करने से प्राण बँध कर अर्थात् अन्यत्र निकलने का मार्ग न पाकर सुषुम्ना नाड़ी में उड़ने अर्थात् प्रवेश करने लगता है, प्राणों के इसी उड्डीयन के कारण योगी जन इस बन्ध को **उड्डीयान या उड्डियान बन्ध** कहते हैं।

Uddiyan Bandh is done at the end of kumbhak and at the begining of Rechak. On practice of this the prana is concenterated in one place and not finding any other outlet, moves upwards through sushumna. Due to this fight of the prana breath in this manner, this bandh is called Uddiyan Bandh by the yogins.

112. उड्डीयाणं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा।
अभ्यसेदस्ततन्द्रस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते।।[2]

गुरु द्वारा उपदेश से उड्डीयाण बन्ध बहुत सरल हो जाता है। इसका सदा अभ्यास बिना आलस्य के प्रतिदिन करना चाहिए। इसके निरन्तर अभ्यास से वृद्ध भी युवा हो जाता है।

1. तुलनीय यो.शि. 1.106-107
2. तुलनीय यो.शि. 1.107-8

Under the advice of the Guru (teacher) this bandh beomces easy. It should be practised daily and regularly without any lethargy. By constant practice of this, old man also attains youth.

113. नाभेरूर्ध्वमधश्चापि ताणं कुर्यात् प्रयत्नत:।
षण्मासमभ्यसन्मृत्युं जयत्येव न संशय:।।[1]

नाभि के ऊपर और नीचे के पेट के भाग को प्रयत्नपूर्वक पीछे की ओर ताने, इस क्रिया को ही उड्डीयाण बन्ध कहते हैं। कुम्भक के अन्त में एवं रेचक के आदि में प्रतिदिन अभ्यास करने से योगी छ: मास के अन्दर मृत्यु को निश्चय जीत लेता है।

The sadhak should make an effort to pull in the upper portion of the navel and the lower portion of the stomach. It is practised at the end of kumbhak and at the beginning to Rechak The process ais called Uddiyan Bandh. The yogi can certainly overcome death by practising it daily for six months.

जालन्धर बन्ध–

Jallandhar Bandh.

114. पूरकान्ते तु कर्त्तव्यो बन्धोजालन्धराभिध:।
कण्ठसंकोचरूपोऽसौ वायुमार्ग निरोधक:।।[2]

जालन्धर बन्ध प्राणायाम के अन्तर्गत पूरक क्रिया करने के अन्त में किया जाता है। इस बन्ध में कण्ठ का संकोचन किया जाता है, जिससे अन्दर लिया गया प्राण वायु अन्दर ही रुका रहे, श्वास नली के दबे होने के कारण वायु बाहर न निकल पाये।

Jallandher Bandh is done during pranayam at the end of poorak kriya. The throat is squeezed in this bandh so that inhalation of the breath may be with held and the prana breaths may not come out due to the squeezed windpipe.

1. तुलनीय यो. शि. 1.108-109
2. तुलनीय यो.शि. 1.109-10

115. कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेद् दृढ़निश्चय:।
बन्धो जालन्धराख्योऽयमृतव्ययकारक:।।[1]

कण्ठ को सिकोड़ कर दृढ़ निश्चय के साथ हृदय पर रखें, अर्थात् कण्ठ को सिकोड़ कर छाती (वक्ष) पर जमा दें कि इससे अब प्राण वायु बाहर न जा सके। जालन्धर बन्ध के अन्यास से ब्रह्मरन्ध्र से स्रवित होने वाला अमृत द्रव अव्यय हो जाता है, अर्थात् वहीं शोषित होने लगता है, वह जठराग्नि में पहुँच कर व्यर्थ जलता नहीं।

The Sadhak should contract his throat and hole the chin firmely against the chest with a strong determination so that prana breath can not allow it to be exhaled. Due to practice of this bandh the nectar which comes out from Brahmrandhra and drops on stomach fire is with held in its origin and is made unmutable.

116. अधस्तात्कुञ्चनेनाशु कण्ठसंकोचनेन च।
मध्ये पश्चिमताणेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिग:।।[2]

इन ऊपर कहे गए तीनों बन्धों के करने से मूल बन्ध द्वारा अधो भाग और अधो मार्ग अर्थात् गुदा मूलाधार चक्र आदि नीचे का भाग सिकुड़ने से, प्राण कुछ ऊर्ध्वगामी होते हैं, जालन्धरबन्ध द्वारा कण्ठ का संकोचन करने से ऊपर निकलने का मार्ग न पाने के कारण तथा उड्डीयान बन्ध द्वारा मध्य भाग पेट के तानने से मध्य में भी दबाव पड़ने से प्राण हठात् ब्रह्मनाड़ी अर्थात् सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश कर जाता है।

By practice of the above three bandhan and by contraction of the lower portion of the Muladhar chakra i.e.half channel near the anus, the flow of the prana breaths some with what tends upwards. By practice of jallandhar bandh and contracting the throat, finding no outlet to move upwards and shrinking the stomach in the middle, pressure forces prana breaths upwards Brahman nadi i.e. Sushumna nadi.0

1. तुलनीय यो.शि. 1.110-111
2. तुलनीय यो.शि. 1.111-12

उड्डीयान बन्ध–

117. वज्रासनस्थितो योगी चालयित्वा तु कुण्डलीम्।
कुर्यादनन्तरं भस्त्रीं कुण्डलीमाशु बोधयेत्।।[1]

साधक योगी को चाहिए कि वह वज्रासन जिसे सिद्धासन[2] भी कहते हैं,में बैठकर प्राणायाम क्रिया का अभ्यास प्रारम्भ करे। इसमें सर्वप्रथम कुण्डली संचालन अर्थात् न्योली क्रिया, करे उसके अनन्तर तीनों बन्धों के साथ सूर्यभेद उज्जायी शीतली कुम्भक प्राणायाम करके भस्त्री प्राणायाम करे और इस प्रकार कुण्डलिनी का जागरण करने का प्रयत्न करे, ऐसा करने से कुण्डलिनी जागृत हो जाती है और प्राण ब्रह्मग्रन्थि का भेदन कर सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश कर जाते हैं। (इस श्लोक में दो बार कुण्डली शब्द का प्रयोग दो भिन्न-भिन्न अर्थों में हुआ है, प्रथम कुण्डली शब्द से कुण्डली चालन शब्द) से न्योली (नलों को उठाकर) चलाना अर्थ समझना चाहिए और द्वितीय कुण्डली शब्द से 'कुण्डलिनी', अर्थ लेना चाहिए। ये दोनों भिन्न अर्थ ही यहां प्रसंग के अनुकूल हैं।

The Sadhak should practice pranayam, while sitting in the posture of vajrasana i.e. siddhasana. First of all he should practise the operation of kundali called Neoli kriya. There after he should do pranayam suryabheda Ujjai and sheetali kumbhak pranayam with three bandhs and thus endeavour to awaken his kundalini. The kundalini is awakened by this process and pierces into Brahman-granthi, or sushumna nadi. In this sloka, the term kundalini has been used twice. The connotation of the first term is to operate neoli (to raise the testicles) and the connotation of the other term Kundi is the kundalini. Both these different connotations are within the context.

118. भिद्यन्ते ग्रन्थ श्चास्य तदा लोहशलाकया।
तथैव पृष्ठवंशे स्यात् ग्रन्थिभेदस्तु वा पुनः।[3]

1. तुलनीय यो.शि. 1.112-12
2. वज्रासन या सिद्धासन की जानकारी के लिए 'राजयोग साधना और सिद्धान्त' ग्रन्थ देखें।
3. तुलनीय यो.शि. 1.113-14

119. पिपीलिका यथा लग्ना कण्डूस्तत्र प्रजायते।
120. सुषुम्नायां तथाऽभ्यासात् सततं वा पुनर्भवेत्।।[1]

इस प्रकार पूर्वोक्त प्रकार से अभ्यास करने से पृष्ठवंश अर्थात् मेरुदण्ड में स्थित ग्रन्थियों का एक एक करके क्रमशः भेदन उसी भांति हो जाता है, जिस प्रकार लोहे की शलाका से बांस की ग्रन्थियों का भेदन सम्पन्न हो जाता है। साथ ही सुषुम्ना में प्राणों के प्रवेश के उपरान्त निरन्तर अभ्यास करते रहने पर सुषुम्ना के स्थान मेरुदण्ड के अन्दर ऐसी खुजलाहट सी प्रतीत होती है, मानों वहां चींटी चल रही हो। इस प्रकार का अनुभव होने पर समझना चाहिए कि कुण्डलिनी का जागरण होकर सुषुम्ना नाड़ी (ब्रह्म नाड़ी) में प्राणों का प्रवेश हो चुका है, और अब अभ्यास से योग में पूर्ण सिद्धि अत्यन्त निकट है।

By practice of the above exercises the granthis combined in the backbone are pierced one by one as the poress of a bamboo are pierced with an iron rod. After the entrance prana breaths into the sushumna nadi, there is sensation of itching on this portion of backbone as if the ants are creeping there. After undergoing this experience, the yogi should realise that the kundalini is awakened and prana breaths have pierced through sushumna nadi (Brahman nadi) and he is now nearing the attainment of complete siddhi by practice of yoga

121. रुद्रग्रन्थिन्ततो भित्त्वा सैवायाति शिवात्मकम्।
122. चन्द्रसूर्यौ समं कृत्वा ततो योगः प्रवर्त्तते।।[2]

इस पूर्वोक्त अभ्यास क्रम में स्वाधिष्ठान चक्र के निकट ऊपर प्रथम ब्रह्मग्रन्थि का भेदन होता है, जिससे सुषुम्ना में प्राणों का प्रवेश होता है, पुनः प्राण ब्रह्मनाड़ी में सुषुम्ना में ऊपर उठते हुए अनाहत चक्र अर्थात् हृदय स्थान के निकट पहुँचते हैं, तब विष्णुग्रन्थिका भेदन होता है, उसके अनन्तर प्राण कण्ठ में स्थित विशुद्ध चक्र का एवं भ्रू मध्य के निकट स्थिति आज्ञा चक्रों को खोलते हुए मस्तिष्क के निकट पहुँचते हैं और वहाँ रुद्रग्रन्थि का भेदन

1. तुलनीय यो.शि. 1.114-15
2. तुलनीय यो.शि. 1.115-16

होने पर प्राणों का प्रवेश सहस्रार चक्र के उद्घाटन के साथ सहस्रदल कमल जिसे शिवस्थान कहते हैं, में होता है। यहाँ प्राणों का प्रवेश होने पर जीव शिवभाव को प्राप्त कर लेता है, दूसरे शब्दों में शिवस्वरूप हो जाता है। इस स्थिति में चन्द्र और सूर्य एक हो जाते हैं, जीवात्मा और परमात्मा का मिलन हो जाता है, भेद बुद्धि पूर्णतया विलीन हो जाती है, अर्थात् योगी का पूर्ण योग प्रवृत्त होता है, अथवा यह कह सकते हैं कि योगी को योग की सिद्धि, योग में पूर्णता मिल जाती है।

By practice of the above exercises, first Brahman granthi above the swadhisthan chakra is pierced as a result where of prana breaths trabel upwards for Manipur chakra, reaching Anahat chakra—the place corresponding the heart, the Vishnu granthi is also pierced. of Rudra granthi there the prana breaths enter towards sushumna chakra and after piercing it reach sahsradal chakra...(place of a thousand petalled lotus) which is called the seat of siva. On reaching here the yogi reaches siva state. In this stage moon and sun combine into oneness. Jiva and Brahman are face to face with each other. The conciousness duality is destroyed. In this state it may be said that yogi is fully established into yoga and attains complete siddhi.

123. गुणत्रयादतीतस्य ग्रन्थित्रय-विभेदकः।

124. शिवशक्ति-समायोगाज्जायते परमा स्थितिः॥[1]

पूर्वोक्त यह योग त्रिगुणातीत साधक के तीनों ग्रन्थियों का भेदन करने वाला होता है और अन्ततः शिव अर्थात् सहस्रार चक्र में स्थित शिव एवं शक्ति अर्थात् कुण्डलिनी का मिलन होने से साधक को परम स्थिति अर्थात् मोक्ष पद की प्राप्ति हो जाती है। तात्पर्य यह है कि इस पूर्वोक्त साधना क्रम में ग्रन्थि भेदन से पूर्व ही साधक त्रिगुणातीत हो जाता है, उसकी तामसी और राजसी वृत्तियों का लय हो जाता है एवं केवल सात्त्विक प्रकाश और आनन्दमय वृत्ति में विद्यमान होता है। इस स्थिति में ग्रन्थिभेदन होता है, क्रमशः एक एक चक्र खुलते जाते हैं और प्राण वायु और मन के सहित कुण्डलिनी शकित मूलाधार चक्र के ऊपर से उतरोत्तर ऊपर उठना प्रारम्भ

1. तुलनीय यो.शि. 1.116-17

करती है और क्रमशः स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञाचक्रों को पार करती हुई सहस्रारचक्र के खुलने पर सहस्रदल कमल में, शिवस्थान में पहुँचती है। यहाँ शिवस्थान में शक्ति (कुण्डलिनी) का शिव से मिलन होता है। जिससे साधक को परमपद प्राप्त हो जाता है। इन चक्रों में स्वाधिठान चक्र को, जहाँ से ब्रह्मनाड़ी सुषुम्ना में कुण्डलिनी प्राणों के साथ प्रवेश करती है, ब्रह्मा का स्थान माना जाता है और ब्रह्मनाड़ी मुख भेदन को ब्रह्मग्रन्थि भेदन कहते हैं। इसी प्रकार अनाहत चक्र को विष्णु स्थान माना जाता है। उसके भेदन को विष्णुग्रन्थि भेदन कहते हैं। इसी प्रकार सहस्रार चक्र (सहस्रदल कमल) को रुद्रस्थान कहते हैं, इसके उद्‌भेदन को रुद्रग्रन्थि भेदन कहते हैं। रुद्रग्रन्थि का भेदन होने पर सहस्र दल में प्राण और मन के साथ कुण्डलिनी का पहुँचना शिव और शक्ति का मिलन कहलाता है। यहाँ पहुँचने पर मोक्ष (परम पद) की प्राप्ति सुनिश्चित हो जाती है।

The sadhak, beyond the three modes of prakriti (nature) is able to pierce and three granthis and ultimately on reaching the sahsrara chakra, on metting the kundalini with Siva, the sadhak attains the supreme state. In face the sadhak becomes liberated from three modes of prakriti (nature). Durijg Sadhana even before all the granthis are pierced systematically his tamsik and rajsika tendencies are subdued and only sattviki light and a state of bliss remains with him. Then only granthis are pierced during that state, one by one all chakras are pierced and the prana breaths, mind as well as kundalini power starts its upwards journey from muladhar chakra and while passing through manipoor, Anahata, Vishudda and Agya chakra respectivaly and on passing Sahsrar chakra (a thousand petalled lotus) reaches sahsraal kama, the seat of Siva and sadhak attains supreme state. Swadhisthan chakra where from the kundalini while travelling through sushumna, along with rana breaths pierces Brahman nadi known as the seat of Brahma and the piercing of Brahman nadi is called Brahman granthi *bhedan* similarly anahat chakra is known as the seat of Vishnu and piercing it is considered as piercing of Vishnu granthi. Similarly, sahsrar cchakra sahsrar dalkamal i.e. one thousand petalled kamal which is known as the seat of rudra it piercing is called rudra granthi bhedan. On piercing of Rudra granthi the reaching of kundalini with prana and mind are

known as meeting of Siva and Sakti. On reaching to this state of moksha (supreme state) is ensured.

125. यथा करी करेणैव पानीयं प्रपिबेत् सदा।
126. सुषुम्ना वक्त्रनलिनं यतमानं ग्रसेत् सदा।।[1]

जिस प्रकार हाथी सदा सूंड को पानी में डालकर जल पीता है, उसी प्रकार प्राण और मन सहित कुण्डलिनी सुषुम्ना नाड़ी के ऊपर भाग के मुखकमल (सहस्रदल कमल) के साथ निरन्तर संसक्त हो जाती है।

As the elephant drinks water while putting its trunk into the water, similarly mind and prana breaths along with kundalini constantly remain united on the upper portion of sushumna along with mount of lotus (a thousand petalled lotus).

127. वज्रदण्डे तु सम्भूता मणयश्चैकविंशतिः।
सुषुम्नायां स्थिताः सर्वे सूत्रे मणिगणा इव।।[2]

वज्रदण्ड, जिसे मेरुदण्ड भी कहते हैं (रीढ़ की हड्डी) इसके अन्दर ही ब्रह्मनाड़ी स्थित है, में नाभिस्थान मणिपूरचक्र से सहस्रार चक्र के मध्य इक्कीस मणि सदृशग्रन्थियाँ हैं (मणियाँ हैं)। सुषुम्ना उन सबके मध्य से होती हुई सहस्रार चक्र (शिवस्थान) तक पहुँचती हैं, इस प्रकार वे सभी इक्कीस मणियाँ सुषुम्ना में पिरोई हुई रहती हैं, मानो एक सूत्र में इक्कीस मणियाँ पिरोई हुई हों।

In Vajradanda, which is generally called a backbone, there resides Brahmanadi and from kamal place to sahsrar chakra, there are twentyone circular fragment like gems. Sushumna passes amidst then before reaching sahsrar (seat of siva). Thus all twenty one gems are studded in sushumna.

128. मोक्षमार्गे प्रसिद्धा सा सुषम्ना विश्वधारिणी।
129. यत्रैव निर्जितः कालश्चन्द्रसूर्यनिबन्धनात्।।[3]

1. तुलनीय यो.शि. 1.117-118 2. तुलनीय यो.शि. 1.118-19
3. तुलनीय यो.शि. 1.119-20

मोक्ष के लिए साधना के इस योग मार्ग में इन इक्कीसों मणियों को धारण करने से और इसके द्वारा जीवन को धारण करने से सुषुम्ना को **विश्वधारिणी** कहते हैं। चन्द्र और सूर्य नाड़ी से प्राणों को निरुद्ध करके इस सुषुम्ना में उनका संचार होने पर काल अर्थात् मृत्यु पर भी योगी विजय प्राप्त कर लेता है। अथवा इसमें प्राण संचार होने पर सहस्रार चक्र के खुल जाने पर समस्त द्वैतभाव मिट जाते हैं और अद्वैतभाव प्रतिष्ठित हो जाता है, तब न तो मृत्यु का प्रभाव रह जाता है और न समय की गति का ही कोई प्रभाव, जिसमें बोधरूप प्रभाव भी सम्मिलित है, शेष रहता है।

Sushumna is known as Viswadharini as the above said twenty one fragments (mani) are held by in practice of yoga for moksha (salvation). By blocking the flow of prana of prana breaths through lunar and solar nadis making it flow through sushumna, yogi attains victory over death. On flowing breaths through sushumna and on piercing of sahsrar chakra, all considerations of dvait (dualism) are removed and on being established in advait (oneness) neither does their remain any influence of death nor awarness of time including sensations.

130. आपूर्य कुम्भितो वायुर्बहिर्नो याति साधके।
131. पुनः पुनः तद्वदेतत्पश्चिमद्वार-लक्षणम्।।[1]

सुषुम्ना में प्राणों के प्रवेश के उपरान्त अर्थात् कुण्डिलिनी के जागृत होने पर प्राप्त होने वाली स्थितियों का विवरण करने के अनन्तर ग्रन्थकार पुनः प्राण-साधना के क्रम को स्पष्ट करता है–

इस पूर्वोक्त प्रकार से ब्रह्मनाड़ी में प्राणों के प्रवेश के अनन्तर एक बार पूरक करके कुम्भक करने पर जब साधक के प्राण पुनःपुनः बाहर नहीं निकलते तो साधक सिद्धि (पश्चिम द्वार) के अन्तिम द्वार तक पहुँच गया है, ऐसा समझना चाहिए। अर्थात् रेचक क्रिया का विलय सिद्धि के निकट पहुँचने का लक्षण है, इसे ही केवल कुम्भक का सिद्ध होना कहते हैं, जिसकी चर्चा श्लोक 185-87 की व्याख्या में हुई है।

1. तुलनीय यो.शि. 1.120-21

The author of the book, after describing the various stages of the prana breaths through sushamna or awakening of kundalini further elaborates the prana sadhana.

One the enthry of prana breaths into Brahman nadi (sushumna) when they do not come out after performing kumbhak, then it should be concluded that the sadhak has reached the last stage of siddhi (Pashchim dwar). The dissolution of Rechak process is the symptom of nearing attainment of siddhi. This is called keval kumbhak as has been described in sloka-185-187.

132-33 परितस्तु नवैंद्वारैरीषत्कुम्भकतां गतम्।
प्रविशेत्सर्वगात्रेषु वायुः पश्चिममार्गतः।।[1]

पश्चिम द्वारा अर्थात् सहस्रारचक्र में प्राणों का प्रवेश होकर केवल कुम्भक सिद्ध होने पर शरीर के सभी मार्गों नवों द्वारों से वायु का निकलना कुछ काल के लिए भी बन्द होने पर पश्चिम मार्ग से वायु समस्त शरीर में अर्थात् शरीरगत सभी बहत्तर हजार नाड़ियों में प्राणों का प्रवाह प्रारम्भ हो जाता है। इस स्थिति में पहुँचने पर योगी अनन्त काल तक एक ही स्थिति में स्थिर रह सकता है।

On the entry of prana breaths into the pashchima dwar (last stage), i.e. sahasrachakra and after attainment of keval (exclusive) kumbhak the flow of prana breaths stops flowing through all the channels i.e. nine doors and its flow from the paschim marg to all seventy two of nerves starts flowing. On reaching this stage, the yogi can manitain it for long.

134-35 रेचके क्षीणतां याते पूरकं शोषयेत् यदा।
स एव नाथसंकेतः सिद्धसंकेतलक्षणः।।[2]

पूर्वोक्त प्रकार से रेचक क्रिया में विलीन होने पर साधक को सतत अभ्यास द्वारा पूरक का भी शोषण करना चाहिए अर्थात् योगी इस स्थिति को प्राप्त कर लें कि वह पूरक के बिना भी केवल कुम्भक में स्थित हो सके। उसे पूरक करने की आवश्यकता भी न रहे। रेचक और पूरक दोनों के ही लय हो जाने पर प्राणों का पूर्ण लय होता है, इस स्थिति को ही **नाथसंकेत** या **सिद्धसंकेत** कहते हैं।

1. तुलनीय यो.शि. 1.121-22
2. तुलनीय वही 1.122-23

On the disolution of Rechak kriya the sadhak should, by constant practice avoid poorak. On reaching this stage, the yogi should learn to establish himself in kewal (exclusive) kumbhak without the aid of Poorak. On the dissolution of both Rechak and Poorak prana breaths are also merged. This state is called as Nath Sanket or Siddha Sanket.

136. अति गुह्यं च संकेतं तव प्रीत्या प्रकाशितम्।[1]

हे पार्वती यह सिद्धसंकेत (नाथसंकेत) आदिनाथ द्वारा उपदिष्ट आठ कोटि संकेतों[1] में अत्यन्त गोपनीय सर्वश्रेष्ठ संकेत अर्थात् साधना का मार्ग है, हमने अत्यन्त प्रीति के कारण इसे तुम्हारे समक्ष प्रकट कर दिया है।

O Parvati, this siddha sanketa, (Nath Sanketa) enunciated among eightly millions of sanket is the top secret and wonderful sanket. I have revealed it to you out of my sheer love foryou.

137. गुरु प्रसादान्मरुदेव साध्यते
तेनैव चित्तं पवनेन साधितम्।
स एव योगी स जितेन्द्रियः सुखी
138. मूढा न जानन्ति कुतर्कवादिनः।।[2]

इस पूर्वोक्त प्राणसाधना में सिद्धि गुरु की कृपा से ही मिला करती है और इस प्राण साधना के द्वारा ही चित्त (मन) वश में हो पाता है। जिस साधक ने साधना द्वारा प्राण और मन को वश में कर लिया है वही योगी है, वही जितेन्द्रिय है, और वही सुखी होता है। अन्य व्यक्ति अर्थात् जिन लोगों ने प्राण साधना न करके विविध शास्त्रों में तर्क वितर्क करते हुए समय व्यतीत कर डाला है वे न तो मोक्ष का मार्ग जानते हैं और न परमात्म तत्त्व को ही जान पाते हैं।

Siddhi in this prana sadhana is attained by the grace of a siddha guru (teacher). By this prana sadhana, mind is controlled. The sadhak, who has controlled his prana breaths and mind with thehelp of sadhana,

1. प्रकाश्यते. क.
2. देखिये-आदिनाथेन संकेता अष्टकोटिप्रकीर्त्तिताः।। दत्तात्रेय योगशास्त्र

has subdued his passions and is happy. Other persons, who have not done prana sadhana and have studied various scriptures and passed their time in arguments and counnter-arguments neither do they know the way of salvation nor attain the supreme soul.

139-40. चित्तं हि नष्टं यदि मारुते स्यात्
तत्र प्रतीतो मरुतोऽपि नाशः।
न चेद्यदि स्याद्, नतु तस्य शास्त्रं
नात्मानमेति न गुरु र्न मोक्षः।।[1]

साधक को साधना द्वारा यदि प्राणों में उसके चित्त (मन) का विलय हो गया है, चित्त में किञ्चित्मात्र भी चंचलता शेष नहीं रह गयी है, तो समझना चाहिए कि प्राणों का (वायु का) विलय हो गया है, अर्थात् साधक को प्राणायाम की सिद्धि हो गयी है। और यदि मन और प्राणों का विलय नहीं हुआ है, तो उस स्थिति में यह समझना चाहिए कि उसे न तो शास्त्र सिद्ध है, न आत्म साक्षात्कार हुआ है, और उस पर गुरु की कृपा भी नहीं है, ऐसी स्थिति में उसे मोक्ष नहीं मिल सकता है।

If the mind of a sadhak has been merged into prana breaths by sadhana, and there is not the slightest disturbance in the mind, it should be concluded that the prana breaths have attained pranayam siddhi. And if the mind and the prana breaths have not been merged, it should be recognised that neither has he attained the wisdom of scriptures nor has be attained self realisation. He has not even received the grace of the guru and he cannot attain moksha in such a state.

141-42. तुम्बिका रुधिरं यद्वद् बलादाकर्षति ध्रुवम्।
ब्रह्मनाड़ी तथा धातून् सन्तताभ्यासयोगतः।।[2]

जिस प्रकार विषवैद्य द्वारा प्रयोग किये जाने पर तुम्बी निश्चय ही दूषित रक्त को बलात् खींच लेती है, उसी प्रकार सुषुम्ना में प्राणों का

1. तुलनीय यो.शि. 1.124
2. तुलनीय यो.शि. 1.125

प्रवाह होने पर निरन्तर योग अभ्यास के कारण ब्रह्मनाड़ी सुषुम्ना सभी धातुगत दूषित मलों को बलात् खींच लेती है, अर्थात् वह धातुगत सभी दोषों को (मलों को) बलात् बाहर करके उन्हें पूर्ण शुद्ध कर देती है, फिर धातुक्षय कभी नहीं होता।

As toxologist extracts poison from the polluted blood forcefully with the help of a guard shell, similarly Brahmna nadi i.e. sushumna by constant practice of yoga when pranas flow into it extracts all polluted elements from constituent elements of the body and purify them. There is never any further loss of elements.

143-44. अनेनाभ्यासयोगेन नित्यमासनबन्धतः।
चित्तं विलीनतामेति. बिन्दुर्नो यात्यधस्तथा।।[1]

इस प्रकार पूर्व वर्णित विधि से वज्रासन (सिद्धासन) में बैठकर नित्य प्राणायाम का अभ्यास करने से चित्त का विलय हो जाता हैं, अर्थात् चित्त (मन) की चंचलता समाप्त हो जाती है, और वह पूर्ण वश में हो जाता है, साथ ही बिन्दु (वीर्य) नीचे को प्रवाहित नहीं होता, फलतः साधक योगी ऊर्ध्वरेता हो जाता है।

Thus by sitting in the Vajrasan posture (siddhasana) by constant practice of prana breaths the mind is merged, its impluses cease and it becomes completely controlled. Besides the semen does not flow down wards as a result where of the yogi leaves in perpetual chastity.

145-46. रेचकं पूरकं कृत्वा वायुना स्थीयते चिरम्।
नाना नादाः प्रवर्त्तन्ते संस्रवेच्चन्द्रमण्डलम्।।

147-48. नश्यन्ति क्षुत्पिपासाद्याः सर्वदोषोस्तथा सदा।
स्वरूपेसच्चिदानन्देस्थितिमाप्नोति केवलम्।।[2]

1. तुलनीय यो.शि. 1.26
2. तुलनीय यो.शि. 1.127-28

इस पूर्वोक्त प्रकार से रेचक और पूरक का विलय होकर जब वायु निरन्तर स्थिर रहने लगता है, अर्थात् साधक को **केवल कुम्भक** की सिद्धि मिलती है, प्राणों तब के मणिपूरचक्र को पारकर अनाहत चक्र हृदय कमल के पास पहुँचने पर विविधनाद सुनाई पड़ने लगते हैं। चन्द्रमण्डल से अमृत द्रव का प्रवाह होने लगता है, फलतः योगी की क्षुधा और पिपासा (भूख और प्यास) पूर्णतया नष्ट हो जाती हैं, उसके सभी काय और चित्त के मल भी नष्ट हो जाते हैं और वह शुद्ध सच्चिदानन्द के स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। अर्थात् कैवल्य को प्राप्त कर लेता है।

By merging of Poorak and Rechak, when the Prana breaths are stabilised the Sadhak attains keval (exclusive) kumbhak Siddhi. After crossing the manipur chakra, when the prana breaths reach anahat chakra (lotus of the heart), various sounds are heard. The nector starts flowing from the chandramandal (circle of the moon) as a result where of the hunger and thirst of the yogi is dedtroyed. All the impurities of his body and mind are destroyed as well and he is established in the pure essence of bliss and attains kaivalaya.

149. कथितं तु तव प्रीत्या एतदभ्यासलक्षणम्।
150. मन्त्रो हठो लयो राजयोगस्तद् भमिकाः क्रमात्।।
151. एक एव चतुर्धाध्यं महायोगोऽभिधीयते।।[1]

प्रस्तुत प्रकरण का उपसंहार करते हुए शिव पार्वती से कहते हैं कि हे पार्वती तुम पर प्रीति के कारण मैंने यह योगाभ्यास के स्वरूप और क्रम का विवरण, किया है। यही अभ्यास क्रम विविध भूमिकाओं में क्रमशः मन्त्रयोग हठयोग लययोग और राजयोग कहा जाता है। वस्तुतः यह चार प्रकार का प्रतीत होते हुए भी एक ही है, अतः चारों को मिलाकर इसे एक नाम **महायोग** से स्मरण किया जाता है।

On concluding the present context. Siva says to Parvati, "I have revealed to you the form and classification of yoga out of my sheer love for you. This constant practice through many stages is respectively called as mantra yoga, hathyoga, layayoga and rajyoga. Though it appears to have four forms but after combining all these forms, it is known as mahayoga.

1. तुलनीय वही 1.129-30

देवी उवाच–

Godess said–

शंकर के मुख से मन्त्रयोग हठयोग लययोग और राजयोग इन चार योग प्रकारों का नाम सुनकर इनके सम्बन्ध में पार्वती शंकर से पूछती हैं।

On listening to the query of Parvati regarding Mahayoga etc. Mahadeva Lord Shiva clarifies—

152-53. कथयेदं महादेव योगतत्त्व चतुर्विधम्।
भूमिका शास्त्रसारेण यथाभूतं क्रमान्मम।।

हे महादेव, मन्त्र हठ आदि चार प्रकार के जिन योगतत्त्वों की ओर अपने संकेत किया है, उसका यथावत् क्रमशः उपदेश उन योगशास्त्र के साररूप भूमिका के साथ संक्षेप में कीजिए।

O Mahadeva! Mantra, hatha etc; four types of yogatatva which you have indicated, please explain briefly about these in the background of yogashastra.

ईश्वर उवाच–

God said–

मन्त्रयोग आदि के सम्बन्ध में पार्वती के प्रश्न को सुनकर महादेव भगवान् शिव उत्तर देते हुए कहते हैं–

After listening question from Parvati about Mantrayoga etc; Mahadeva; the God Shiva started elaboraties:

ईश्वर उवाच–

God said–

154-55. हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः।
हंस हंसेति मन्त्रोऽयं जीवो जपति सर्वदा।।[1]

प्राणायाम के साधना के क्रम में अथवा सहज रूप से श्वास प्रश्वास की क्रिया में जब प्राणवायु बाहर निकलता है, तब 'ह' ध्वनि प्रगट होती है, और

1. तुलनीय यो.शि. 1.130-31

जब प्राणवायु अन्दर प्रवेश करता है, तब 'स' ध्वनि निकलती है, इस प्रकार 'ह+स' ध्वनियों को प्रगट होने के कारण जीव सदा ही 'हंस' इस मन्त्र मा जाप करता रहता है, यह मानना चाहिए।

During the process of pranayama or, natural inhalation-exhalation process; when pranavayu gets exhaled than it comes out the sound 'Ha' and inhaled than it comes out the sound 'Sa'. In this way one has to understand that due to these two 'Ha + Sa. Sound, give always chants the word 'Hansa'.

156-57. गुरुवाक्यात्सुषुम्नायां विपरीतो भवेज्जपः।
'सोऽहं' 'सोऽहम्' इति प्राप्ते मन्त्रयोगःस उच्यते।।[1]

यह सहज जप ही, जब गुरु के उपदेश के द्वारा सुषुम्ना में प्राणों के प्रवेश होने से, विपरीत चलने लगता है, तब 'हंसो' (हंसः) के ध्वनि के वर्णों में विपरीत भाव से वर्ण विपर्यय हो जाने (वर्णों का स्थान बदल जाने) से 'सोऽहम्' 'सोऽहम्' ध्वनि प्रगट होती है, इसप्रकार जीव द्वारा 'सोऽहम्' इस मन्त्र का निरन्तर जप चलने लगता है; इस जपको ही मन्त्रयोग कहते हैं।

Due to prechings from Guru, when pranvayu enters into 'Sushumna' than letters of overaide natural chantings of 'Hansa' gots reversed and converted into 'Soham'. Thus the jiva starts chanting 'Soham' mantra regulerly. This chanting is called 'Mantrayoga'.

158. प्रतीतिर्वायुयोगाच्च जायते पश्चिमे पथि।[2]

पश्चिम पथ अर्थात् योग साधना द्वारा सुषुम्ना में प्राणों का प्रवेश होने पर वायु सम्पर्क से साधक को यह अनुभव अर्थात् 'सोऽहं' ध्वनि के उच्चारण का अनुभव निरन्तर होता है।

In the western patha, or when 'Pranavayu' enters into sushumna by yoga Sadhana, Sadhaka always feels the pronunciation of the sound of 'Soham', due to constant touch with 'Pranavayu' of the 'Sushumna'.

1. तुलनीय वही 1.131-32
2. तुलनीय वही 1.132

हठयोग

Hathayoga

159. हकारेण तु सूर्योऽसौ ठकारैणेन्दुरुच्यते।
सूर्याचन्द्रमसोरैक्यं हठ इत्यभिधीयते।।
हठेन ग्रस्यते जाड्यं सर्वदोषसमुद्भवम्।।[1]

हठयोग शब्द का अर्थ भी प्राणायाम साधना ही है। यहाँ 'हठ' शब्द में 'ह' शब्द सूर्यनाड़ी से प्राण प्रवाह का वाचक है, और 'ठ' शब्द चन्द्र नाड़ी से प्राण प्रवाह का। जब प्राणायाम साधना के क्रम में सूर्य और चन्द्र का ऐक्य हो जाता है, अर्थात् दोनों नासिका छिद्रों से प्राणों का प्रवाह साथ-साथ होता है, तो इसी प्राण-साधना को 'हठयोग साधना' कहते हैं। इस हठयोग के द्वारा अर्थात् सूर्यनाड़ी और चन्द्रनाड़ी दोनों में साथ-साथ प्राणों का प्रवाह होने पर सभी प्रकार के दोषों से उत्पन्न जड़ता नष्ट हो जाती है।

The meaning of term Hathayoga is pranayam-Sadhana. The letter 'Ha' in the term 'Hatha' signifies the follow of Prana breaths in the Solar-Nadi (nerve) and the letter 'Tha' signifies flow of Prana breaths in the lunar Nadi. When Sun and the Moon become one during the process of Pranayam, breaths simultaneously passes throuhg both the nostrils, the Prana Sadhana is termed as 'Hathayoga Sadhana'. With this Hathayoga, as a result of the simultaneous flow of Prana breaths in both, the solar and lunar Nadis, the stupidity created due to all sports of imperfection is removed.

लयगोग–

160. जीवःक्षेत्र इति ख्यातः क्षेत्रज्ञः परमेश्वरः।[2]
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरैक्यं लययोगोऽभिधीयते।।[3]

क्षेत्र जीव की संज्ञा है, एवं परमेश्वर को **क्षेत्रज्ञ** कहते हैं, इन क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ की एकता की सिद्धि को ही लययोग कहते हैं।

1. तुलनीय यो.शि. 1.133-1/1
2. यह पंक्ति क. मातृका एवं योग शिखोपनिषद् में प्राप्त नहीं है।
3. 'क्षेत्रज्ञः परमात्मा च तयोरेक्यं यदा भवेत्' क., यो.शि. 1.134

In the system of yoga Jeeva is called Ksetra and Parmeshwar (Supreme God) Ksetrajna. Developing oneness of Ksetra (field) and Ksetrajna is called Laya Yoga.

161. तदैक्ये साधिते देवि चित्तं याति विलीनताम्।
पवनं स्थैर्यमायाति लययोगोदये सति।।
लयात्संप्राप्यते सौख्यं स्वात्मानन्दं परम्पदम्।।[1]

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ की एकता सिद्ध हो जाने पर चित्त (मन) का भी लय हो जाता है, इसी प्रकार लययोग की सिद्धि हो जाने पर प्राणों को भी स्थिरता प्राप्त हो जाती है, तथा लययोग के सिद्ध होने से अतिशय सुख शान्ति एवं स्वात्मानन्द की प्राप्ति हो जाती है, यही परम पद की प्राप्ति कही जाती है। अर्थात् लययोग के द्वारा परमानन्द रूप परमपद भी साधक को मिल जाता है।

On developing oneness of Kestra and Kstrajna the mind inhalates. After inhalation of mind the Prana also resolved. As a result where of bliss, calmness and self-realisation are attained. This is the Supreme state. The Sadhak attains the supreme state of bliss by Laya yoga.

162. योनिमध्ये महाक्षेत्रे जपाबन्धूकसन्निभम्।
रजो वसति जन्तूनां देवीतत्त्वं समावृतम्।।[2]

प्रत्येक प्राणी में योनिस्थान के मध्य में, जिसे साधक परम्परा महाक्षेत्र कहा जाता है, में जपा (गुड़हल) बन्धूक (गुलदुपहरिया) फूल के समान रंग वाला रजस् हुआ करता है। यह प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान तत्त्व है।

सामान्यतः स्त्रियों में यौवन काल 13 से 40-45 वर्ष की आयु तक (गर्भावस्था को छोड़कर) अन्य समय में प्रतिमास होने वाले मासिक धर्म में जो रक्त निकलता है, उसे 'रजस्' कहते हैं। किन्तु योग साधकों की परम्परा में यह स्वीकार किया जाता है कि प्रत्येक पुरुष में भी योनि स्थान के निकट रजस् हुआ करता है, इसका वर्ण गुड़हल या गुलदुपहिया के फूल की भाँति एक दम लाल होता है। प्रत्येक प्राणी में विद्यमान रहने वाला यह देवीतत्त्व है।

1. तुलनीय यो.शि. 1.135-35-1/2
2. यह श्लोक क. मातृकामें नहीं है; यो.शि. 1.136-1/2

In the centre of yoni of every human being there is Mahaksetra. According to the yogic tradition, there is Rajas of the colour of Japa Bassia Latifolia and Bandhuk (midday flower) flower. This shows the presence of Goddess element in every human being.

Normally the menstrual flow of women from the age of 13 to 40-45, except during the period of pregnancy is called 'Rajas'. But according to the tradition of Yoga Sadhana, this is admitted that these is presence of 'Rajas' in men in the place near the centre of yoni the colour of the 'Rajas' is scarlet like the colour of 'Japa' (Bassia Latifolia) and Bandhuk (Midday flower) flower. This is Goddess element present in every human being.

163. रजसो रेतसो योगात् राजयोग इति स्मृतः।[1]
अणिमादिपदं प्राप्य राजते राजयोगतः।।[2]

जिस योग साधना द्वारा प्रत्येक प्राणी में विद्यमान उपर्युक्त रज और रेतस् (वीर्य) का एकीभाव होता है, उसे राजयोग कहते हैं। तात्पर्य यह है कि राजयोग वह साधना है जिसके द्वारा साधक के अपने रजस् और रेतस् का अन्तर स्थान में ही योग (एकीभाव) हो सके। तीनों बन्धों के साथ सम्पादित कुम्भक प्राणायाम द्वारा यह ऐक्य सम्पन्न होता है, अतः इसे ही राजयोग कहते हैं। इस **राजयोग** की साधना द्वारा साधक योगी अणिमा महिमा लघिमा गरिमा प्राप्ति प्राकाम्य ईशित्व और वशित्व[3] इन सिद्धियों को प्राप्त करके सुशोभित होता है।

The yoga in which oneness of Rajas (illumination) and Retas (Seman) is attained is knwon as Rajyoga. Rajyoga is a Sadhana of achieving oneness of Rajas (illumination) and Retas (seman) within the body With the help of three Bandha and Kumbhak Pranayam this oneness can be achieved. By practice of Sadhana of Rajyoga the Sadhak yogi attains Anima, Mahima, Laghima, Garima, Prapti, Prakamya, Ishitva and Vashitva.

1. यह पंक्ति क. मातृका में नहीं है। यो.शि. 1.167
2. तुलनीय यो.शि. 1.138 (पूर्वार्ध)
3. अणिमा आदि सिद्धियों का विवरण 'पातंजल योगशास्त्र एक अध्ययन' में द्रष्टव्य है।

164. प्रणापानसमायोगे ज्ञेयं योग चतुष्टयम्।
संक्षेपात्कथितं देवि नान्यथा शिवभाषितम्।।[1]

प्रस्तुत ग्रन्थ में पूर्व पद्यों में वर्णन की गयी विधि से सहित और केवल कुम्भक की साधना करने पर जब प्राण और अपान का समायोजन होकर दोनों का ऐक्य सिद्ध हो जाता है, तब मन्त्रयोग हठयोग लययोग और राजयोग चारों की ही सिद्धि हो जाती है।

हे देवि पार्वती हमने संक्षेप में इन योगों का परिचय यहाँ दिया है, यह शिव भाषित है, इसे ऐसा ही समझना चाहिए, इसमें थोड़ी मात्रा में ही अवास्तविक कथन नहीं हुआ है।

In the presnt book, description has been made in the previous stanzas about inclusive Kumbhak and exclusive Kumbhak Sadhan as, when the combination of Parana and Apana breaths lead to attainment of oneness and all the yogas i.e. Mantra Yoga, Hathayoga, Layayoga and Rajyoga are achieved.

"O Goddess Parvati, I have given you a brief description of all of these yogas. This should be considered as an utterance from the mouth of Lord Shiva and there is not a slightest doubt about its virtuality.

श्री देवी उवाच–

Goddess Spoke—

देवी पार्वती योगिपरम्परा में प्रचलित का मर्कट मतों के सम्बन्धों में प्रश्न करती हैं, जिसका तात्पर्य यह है कि क्या योग साधना से एक जन्म में ही मोक्ष अवश्य ही मिल जाता है अथवा कभी-कभी अनेक जन्मों में साधना की अपेक्षा होती है?

Goddess Parvati seeks about prevalent Kak and Markat Matas principles in the yoga tradition where Moksha (Salvation) can be attained with yoga Sadhana in one birth or some times many births are required to be taken for Sadhana.

1. तुलनीय यो.शि. 1.138

165. कथय त्वं महादेव काकमर्कटयोर्मतम्।
अन्यग्रन्थे त्वयोक्तं तु कथमेका द्वयोर्गतिः।।

हे महादेव, अन्य ग्रन्थों में आपने जिनका उपदेश किया है, उन काकमत और मर्कटमतों के सम्बन्ध में भी स्पष्ट उपदेश कीजिए कि 'क्या दोनों की गति एक समान ही है? और कैसे?'

O Mahadeva the word which you have uttered in other scriptures about Kak Mata and Market Mat, please explain them; whether the end of both the principles is uniform? If so explain the details there of.

ईश्वर उवाच–

God spoken

काकमत और मर्कट मतों के बारे में पार्वती द्वारा पूछने पर शिव उनका विवरण देते हुए कहते हैं–

On the query raised by Parvati about Kak and Markat principles, Lord Shiva describes the details there of—

166. सत्यमेतत्त्वयोक्तं ते कथयामि सुरेश्वरि।
आदिनाथ महामार्ग एक एब हि नान्यथा।।

हे पार्वती, तुम्हारा यह प्रश्न बहुत ठीक और प्रासङ्गिक है, वस्तुतः आदिनाथ द्वारा जिस महामार्ग का उपदेश किया गया है, वह एक ही है, उनमें कोई भेद अथवा सन्देह की संभावना नहीं है।

O Parvati, your question is quite correct and relevant. The Mahamarg (great path) propounded by Adinath is in face one. There is no possibility of difference or doubt about it.

167. द्विधेव सम्प्रतीयेत जन्मान्तरविभेदतः।
क्रमेण प्राप्यते प्राप्यमभ्यासादेव नान्यथा।।[1]

1. तुलनीय यो.शि. 1.138

योग साधना द्वारा मोक्ष की प्राप्ति तो सदा ही क्रमशः होती है, किन्तु इस साधना मात्र में जन्मातर का सम्बन्ध होने और न होने से इसमें दो भेदों की प्रतीति होती है, वस्तुतः दोनों में सिद्धान्त रूप में न कोई अन्तर है और न दोनों परस्पर भिन्न ही हैं।

The attainment of Moksha through yoga Sadhana is always by stages-births due to its relation with journey of Sadhana during various births and without. There appears difference between the two though in principle, there is no such difference.

मर्कट क्रम–

Markat Principales

168. एकेनैव शरीरेण योगाभ्यासैः शनैः शनैः।
चिरात्संप्राप्यते सिद्धिः मर्कटक्रम एव सः।।[1]

यदि योगी धीरे-धीरे अभ्यास करता हुआ एक जन्म में किन्तु बहुत देर में सिद्धि प्राप्त करता है, तो इस स्थिति को **मर्मटक्रम** या **मर्कटमत** शब्द के द्वारा अभिहित किया जाता है। यहाँ मर्कट शब्द का प्रयोग उपमा के रूप में किया गया है। मर्कट शब्द का अर्थ है बन्दर। किसी ऊँचे वृक्ष की चोटी पर लगे हुए फल को प्राप्त करने के उद्देश्य में प्रयत्नशील बन्दर वृक्ष के मूल से वृक्ष पर चढ़ना प्रारम्भ करता है, और धीरे-धीरे उस वृक्ष की विविध ऊँचाइयों को पार करता हुआ वृक्ष की सबसे ऊँची टहनी पर पहुँच कर फल को प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार साधक योगी भी योग साधना द्वारा प्राप्तव्य सर्वोच्च फल मोक्ष को प्राप्त करने के उद्देश्य से साधना की प्रारंभिक स्थिति से साधना प्रारम्भ करता है और विविधि अन्तरायों (विघ्न बाधाओं) को धीरे-धीरे पार करते हुए अनेक वर्षों में किन्तु एक जन्म में ही अन्तिम सिद्धि मोक्ष को प्राप्त कर लेता है, इस स्थिति को **मर्मट क्रम** या **मर्कट मत** कहते हैं।

If a yogi continues gradual progress during one birth and attains Siddhi after long, this stage is known as Markat Principle. Here the description of the 'Markat' has been made as symbol. The term market

1. तुलनीय यो.शि. 1.140

means monkey. In order to reach the fruit hanging on the highest branch of the tree, the monkey undertakes its upward journey from below and reaches the top of the tree and achieves the fruit. Similarly, the Sadhak yogi, in order to attain the highest goal Moksha (salvation) starts Sadhana at the initial stages, and after crossing many hurdles by and by, attains the highest siddhi moksha (salvation) after many years of sadhana even during one birth. This stage is called as markat series or markat principle.

काकमत–

Kak Mat

169. योगसिद्धिं विना देहः प्रमादाद् यदि नश्यति।
पूर्ववासनया युक्तः शरीरं चान्यमाप्नुयात्।।[1]

170. ततः पुण्यवशात् सिद्धो गुरुणा सह संगतः।
पश्चिमद्वारमार्गेण जायते त्वरितं फलम्।।[2]

किन्तु साधना के क्रम में कोई बड़ा प्रमाद (बड़ी भूल) हो जाने के कारण अथवा साधना के क्रम में अपेक्षित तत्परता में कमी हो जाने के कारण यदि योग में सिद्धि की प्राप्ति के बिना ही अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के पूर्व ही, शरीर नष्ट हो जाए, तो दूसरे जन्म में साधक अपने पूर्व संस्कारों के कारण नवीन शरीर को अर्थात् पुनः जन्म को प्राप्त करता है और दूसरे जन्म में अपने पूर्व पुण्य के कारण कुछ सिद्धियों से युक्त होता है, अतः उसे प्रारम्भ से साधना में श्रम नहीं करना पड़ता, साथ ही गुरु की खोज में भी उसे न श्रम करना पड़ता है, न गुरु की प्राप्ति में विलम्ब होता है, बल्कि गुरु की प्राप्ति भी उसे अनायास ही हो जाती है, और पश्चिम द्वारा अर्थात् जितनी सिद्धि पूर्वजन्म में मिल चुकी है, उसके आगे से साधना प्रारम्भ करके वह थोड़े समय में ही अन्तिम सिद्धि अर्थात् मोक्ष की सिद्धि प्राप्त कर लेता है।

If, during the process of sadhana, some blunder is committed or the body falls before the attainment of yoga siddhi due to irregularity

1. तुलनीय यो.शि. 1.141
2. तुलनीय यो.शि. 1.142

and careless in yoga sadhana then the yogi attains new body by virtue of his previous sadhanas (deeds). In the next birth since he already possesses some siddhis due to the good deeds of previous births and thus neither has he to exert himself, nor is there any delay in meeting the Guru (teacher) since he meets Guru suddenly, by virtue of the siddhis attained in the previous birth. He continues sadhana in the next birth and attains the highest siddhi i.e. Moksha (salvation).

171. पूर्वजन्मकृताभ्यासात्सत्त्वरं फलमश्नुते
एतदेव हि विज्ञेयं तत्काकमतमुच्यते।।[1]

जिस प्रकार कौआ जमीन से अथवा किसी दूसरे वृक्ष से उड़ कर वृक्ष की सर्वोच्च टहनी पर (अपने अभीष्ट गन्तव्य पर) तुरन्त पहुँच जाता है, उसी प्रकार साधक भी पूर्व जन्म में किए गए योगाभ्यास के परिणाम स्वरूप शीघ्र ही योग के सर्वोच्च फल मुक्ति को प्राप्त कर लेता है, इसे ही काक (कौआ) की उपमा देकर स्पष्ट करने के उद्देश्य से **काकमत** या **काकक्रम** कहते है।

As crow can reach the highest branch of another tree by flying off from one tree, similarly the sadhak, due to the practice of yoga achieved in his previous birth, attains the supreme fruit, the Moksha (salvation). This has been symbolized as kaka (crow) mata or kak-krama.

172. तस्मात्काकमतान्नास्ति अभ्यासाख्यमतः परम्।
न कर्मणा विना देवि योगसिद्धिः प्रजायते।।

अतः अभ्यास का कोई अन्य मार्ग **काकमार्ग** से भिन्न नहीं है। तात्पर्य यह है कि काकमत अथवा मर्कट मत कोई अलग-अलग साधना मार्ग नहीं हैं, अभ्यास का मार्ग एक ही है। वस्तुतः योग का अभ्यास किये बिना अर्थात् कर्म किये बिना योग की सिद्धि कभी किसी मार्ग से नहीं हुआ करती।

Therefore, no path if practised is different from the kaka patha. Kaka mata or markat mata are not two different paths of practice. In fact without practice of yoga, siddhi cannot be attained by any path.

1. तुलनीय यो.शि. 1.143

173. ज्ञानं वा स्वर्गभोगो वा पुण्यहीनै र्न लभ्यते।
तस्मात्कार्यं तदेव यद् यस्य यस्य हि साधनम्।।

योग की सिद्धि ही नहीं, साधना द्वारा संचित पुण्य के बिना न ज्ञान की प्राप्ति होती है, न स्वर्ग की और न भोगों की ही। सभी के लिए श्रम साधना तो करनी ही होती है। अतः जिसे जिसकी प्राप्ति अभीष्ट है, उसे उसके साधन के लिए उस उस प्रकार का कर्म करना चाहिए।

Not to talk of yoga siddhi, neither the possession of knowledge nor the attainment of heaven and enjoyments can be achieved without the accummulation of good deeds. For attainment of all these sadhana has to be done. So in order to achieve the described object, sadhana has to be performed.

174. तैनैव प्राप्यते सिद्धिः नान्यथा शिव भाषितम्।[1]
नानाविद्याः क्रमाः काष्ठाः सहजं वा लयादिकम्।
न तु तन्मोक्षमार्गं स्यात्प्रसिद्धं पश्चिमं बिना।।[2]

इस उपर्युक्त अभ्यास क्रम से प्राणायाम साधना करने पर सिद्धि प्राप्त होती है, इसमें कोई सन्देह नहीं है, भगवान् शिव के वचन अन्यथा नहीं होते। इनसे भिन्न जो अनेक साधना के क्रम (मार्ग) हैं, जैसे आचार की सीमा का अतिक्रम करते हुए अमरोली वज्रोली एवं सहजोली, सहजयोग लययोग आदि ये सब साधना क्रम मोक्ष के मार्ग नहीं हैं, मोक्ष मार्ग केवल **पश्चिम मार्ग** अर्थात् प्राणायाम साधना ही है।

There is no doubt about it that siddhi is positively achieved from the practice of above Pranayam Sadhana. The utterance of Lord Shiva cannot be proved as untrue. As compared to them, the other various system, of sadhana (Amaroli, Vajroli and Sahajoli after transgressing all the moral limits and sahaj yoga etc.) do not lead to attainment of moksha. Moksha patha is only achieved through paschim marga (pranayam sadhana).

1. तुलनीय यो.शि. 1.144
2. तुलनीय–हठयोगः क्रमात्काष्ठा सहजीवलयादिकम्।
प्राकृतं मोक्षमार्गं स्यात्प्रसिद्धं पश्चिमं बिना।।यो.शि. 1.145

175-176. अभ्यासस्य फलं देवि कथायाम्यधुना स्फुटम्।
आदौ रोगाः प्रणश्यन्ति पश्चाज्जाड्यं शरीरजम्।
ततः समरमो भूत्वा चन्द्रो वर्षत्यनारतम्।।
धातूंश्च संग्रहेद् वह्निः पवनेन समन्ततः।।[1]

हे पार्वती अभ्यास के क्रम में कब क्या स्थिति होती है, इसे मैं सुस्पष्ट रूप से कह रहा हूँ सुनो–सर्वप्रथम प्राणायाम साधना में संलग्न साधक के सभी प्रकार के शारीरिक एवं मानसिक रोग नष्ट हो जाते हैं, उसके अनन्तर शरीरगत जड़ता नष्ट हो जाती है, और साधक योगी के शरीर में अपूर्व स्फूर्ति आ जाती है तथा शरीर के सभी रसों का तथा वात पित्त और कफ इन दोषों का पूर्ण सन्तुलन हो जाता है, इस स्थिति में पहुँचने पर पूर्ण नाड़ी शुद्धि हो जाने के कारण रोग आदि की सम्भावनाएँ समाप्त हो जाती हैं। साथ ही सोमरस ब्रह्मरन्ध्र से टपकने लगता है, इसके परिणाम स्वरूप क्षुधा पिपासा का कष्ट समाप्त हो जाता है और प्रदीप्त अग्नि प्राणों के साथ शरीरगत समस्त धातुओं को संगृहीत कर देता है। फलतः शरीर की क्षीणता और विनाश की संभावना समाप्त हो जाती है, भले ही उसे अन्य पोषक तत्त्व मिलें अथवा न मिलें।

O Parvati I am elucidating here the stages of progress during practice. First of all with the practice of pranayama sadhada, all sorts of bodily and mental diseases are destoryed. During the process of further practice physical inertia is removed and the body of sadhak yogi achieves immense energy and the presence of all juices of the body and wind, file and phlegm become balanced. On reaching the stage due to the purification of nerves, the possibilities of disease are removed. Besides, the nectar starts dropping from the Brahmarandhra. As a result of this, the agony of hunger and thirst are destroyed and the illumined fire stores pranas and all the elemetns in the body as a result where of the possibility of weakening and destruction of the body ends whether there is an intake of good diet or not.

1. तुलनीय यो.शि. 1.146 एवं 46.1/2

177.-178. नाना नादाः प्रवर्त्तन्ते मार्दवं स्यात्कलेवरे।
जित्वा पृथ्याव्यादिकं जाड्यं खेचरन्प्रसरेन्नरः।।[1]
सर्वतोऽसौ भवेत्कामरूपः पवनवेगवान्।
क्रीडते त्रिपु लोकेषु जायन्ते सिद्धयोऽखिलाः।।[2]

इस स्थिति में साधना का क्रम चलते हरने पर योगी को विविध प्रकार की अनाहत ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं, शरीर अत्यन्त कोमल हो जाता है, उसे पृथिवी आदि पाँचों महाभूतों पर विजय प्राप्त हो जाती है, अर्थात् उनके द्वारा न तो योगी को भय रहता है, और न वे उसकी किसी गति में अवरोधक बनते हैं, और वह समस्त अणिमा महिमा लघिमा गरिमा प्राप्ति प्राकाम्य ईशित्व और वशित्व सिद्धियों से युक्त होकर तीनों लोकों में इच्छानुसार विचरण करता है।

During this state of sadhana, Anahat (unhurt) sounds are audible to the yogi. The body becomes quite softened and the yogi achieves victory over five subtle elements like eart etc. Neither do these elements scare the yogi nor can they become hurdle in any of his activities. And possessing all the siddhis like Anima Mahima, Laghima, Garima, Prapti, Prakamya, Ishitwa and Vashitva, he can travel the three worlds according to his will.

179. कर्पूरे लीयमाने हि काठिन्यं कुत्र वर्त्तते।
अहंकारजये तद्वद् देहे कठिनता कुतः।।[3]

जिस प्रकार कपूर के गल जाने या वायु में विलीन हो जाने पर उसमे कठोरता कहाँ रह सकती है, उसी प्रकार अहंकार पर विजय प्राप्त कर लेने पर अर्थात् अहंभाव के विलीन हो जाने पर शरीर में भी कठिनता कहाँ रह सकती है?

1. तुलनीय वही 1.147-48
2. तुलनीय वही 1.148-49
3. तुलनीय वही, 1.149-50

Can the hardness of comphor remain after his melting or dissolution into the air? Then how can the ego remain in the body after attaining victory over it?

180. सर्वज्ञः सर्वकर्त्ता च स्वतन्त्रो विश्वरूपवान।
जीवन्मुक्तो महायोगी जायते नात्र संशयः।।[1]

अहंभाव की समाप्ति के अनन्तर वह योगसाधक महायोगी कहा जा सकता है,वह सर्वज्ञ होता है, इच्छामात्र से ही वह कुछ भी कर सकता है, वह पूर्ण स्वतन्त्र रहता है, वह विश्व रूप हो जाता है, और जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त कर लेता है, अर्थात् शरीर में रहते हुए भी वह मुक्त रहता है।

On the destruction of ego, the sadhak become a Mahayogi. He becomes omniscient and can perform all deeds at his will. He remains completely free and beomes the Vishwa Rupa and achieves the state of Jeevanmukta (liberated) while living in the body.

देवी उवाच–

Gooddess said.

योग साधना का पूर्ण विवरण सुनकर पार्वती पुनः पूछती हैं–

On hearing the Yog Sadhana Parvati ask again,

181–82. यत्किञ्चित्कल्पना जाल[2] न तन्मोक्षाय शंकर।
सिद्धयः किं करिष्यन्ति निर्विकल्पे चिदात्मनि।
एवं मे संशयं नाथ छेत्तुमर्हसि भावन।।

हे सर्वभावन शंकर, कृपया हमारे इस एक संशय को भी दूर करें संशय यह है कि चिदात्म तत्त्व तो निर्विकल्प स्वरूप है, उसकी प्राप्ति में ये सब सिद्धियाँ कैसे उपयोगी हो सकती हैं? और इस चिदात्मतत्त्व की प्राप्ति के लिए सिद्धियों की अनुपयोगिता स्वीकार कर लेने पर यह सब कल्पना जाल (सिद्धियों का प्रपञ्च) मोक्ष प्राप्ति में सहायक नहीं माना जा सकता।

1. तुलनीय वही, 1.50-51
2. किलनालालं क।

O Lord Shiva, please remove our boubt about chidatma (suprome soul) which is at atributeless. How can all these siddhis be useful in attaining this after admitting the uselessness of siddhis for attaining the supreme soul, this fabric of imagination (the all magic of siddhis) cannot be considered to be instrumental in achieving moksha.

ईश्वर उवाच–

God said

पार्वती के तर्कसम्मत सिद्धियों के उपयोगिता विषयक प्रश्न को सुनकर शिव उत्तर देते हैं–

On hearing to the concrete arguments of Parvati regarding the usefulness of siddhis Lord Shiva replies.

183. सत्यमेतत्त्वयोक्तं ते वदामि सुरसुन्दरि।
द्विविधा सिद्धयो यास्तु कल्पिताकल्पिताः शिवे।।[1]

हे देवसुन्दरी! पार्वती! तुम्हारा प्रश्न पूर्णतया प्रासङ्गिक और तर्क के अनुकूल है; किन्तु इसका उत्तर सुनो–ये जितनी सिद्धियाँ है, इन्हें दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है, एक वर्ग को **कल्पित सिद्धियां** कहेंगे और सिद्धियों के दूसरे वर्ग को **अकल्पित सिद्धियां** कहा जाएगा।

O beauteous Parvati, your query is completely relevant and logical. Now listen to its clarification—All there siddhis can be divided into two categories. One category can be called as imaginative and the another unimagi-native.

कल्पित सिद्धियाँ–

184. रसौषधिक्रियाकालमन्त्रक्षेत्रादिसाधनात् ।
सिध्यन्ति सिद्धयो यास्तु कल्पितास्ताः प्रकीर्त्तिताः।।[2]

1. तुलनीय यो.शि. 1.151
2. तुलनीय यो.शि. 1-152

जो सिद्धियाँ रस रसायनों का प्रयोग करने से, औषधियों का सेवन करने से, एकादशी प्रदोष अमावस्या, ग्रहणकाल आदि समय विशेष में साधना करने से, अथवा किसी मन्त्र विशेष को सिद्ध कर लेने से, अथवा पुष्कर प्रयाग काशी कामाख्या आदि तीर्थ क्षेत्रों में तपश्चर्या करने से प्राप्त होती हैं, वे सभी सिद्धियाँ कल्पित सिद्धियाँ कही जाती है।

The Siddhis, which are attained by carrying experiments with chemicals, use of medicines or doing special sadhana on the occasion like Ekadashi, Amavasya or eclipse or on attaining siddhi of a particular mantra or doing Tapa (austerities in holy place like Pushkar. Prayag, Kashi, Kamakhya etc.) all of these Siddhis are called as imaginative.

185. अनित्या अल्पवीर्यास्ताः सिद्धयः साधनोद्भवाः।
साधनेन विनाप्येवं जायन्ते स्वत एव हि।।[1]

उपर्युक्त साधनाओं से प्राप्त होने वाली जितनी सिद्धियाँ हुआ करती हैं, वे सभी कम शक्तिशाली तथा अनित्य होती हैं। इस प्रकार की सभी उपलब्धियाँ (सिद्धियाँ) उपर्युक्त साधनों के बिना स्वतः भी हुआ करती हैं।

All the siddhis attained by the above methods are less powerful and temporory. All of these siddhis can also be attained without applying these methods.

186. स्वात्मयोगैकनिष्ठेषु स्वातन्त्र्यादीश्वरप्रियाः।[2]
प्रभूताः सिद्धयो यास्ताः कल्पनारहिताः स्मृताः।।[3]

जो योगी इन विविध रस औषध मन्त्र आदि अथवा समय और स्थान विशेष की अपेक्षा न करते हुए, स्वात्म साक्षात्कार में परम आनन्द समझ कर केवल योगसाधना में निष्ठापूर्वक व्याप्त रहते हैं, उन्हें स्वतन्त्र भाव से अर्थात् पूर्वोक्त साधनों के बिना ही ईश्वर प्रिय अर्थात् भगवान् शिव के पास रहने वाली अनेक अनेक सिद्धियाँ स्वतः प्राप्त होती हैं। ये सिद्धियाँ कल्पना रहित या अकल्पि सिद्धिया कही जाती हैं।

1. तुलनीय वही 1.153
2. स्वातन्त्र्यादीश्वरः स्वतः क.
3. तुलनीय यो.शि. 1.154

Those yogis not wishing any siddhis with various methods like medicines, mantra or in relation to any time or place enjoying the supreme bliss by self-realization and remaining absorbed in yoga sadhana with devotion, attain many siddhis automatically, the siddhis which are unlimited treasures of Lord Shiva. These Siddhi are called unimaginative.

187. सिद्धाः नित्याः महावीर्या इच्छा रूपा'श्च योगजाः।
चिरकालात्प्रजायन्ते वासनारहितेषु च।।[5]

ये अकल्पित सिद्धियाँ पूर्ण सिद्ध नित्य और अनन्त शक्तियों वाली होती हैं, अर्थात् ये किसी अन्य शक्तियों से बाधित या खण्डित नहीं होती। योगसाधना से प्राप्त इन सिद्धियों के लिए किसी प्रयत्न की,साधना की, अपेक्षा नहीं होती, ये इच्छामात्र से योगी को प्राप्त होती हैं, योगी का चित्त जब विविध कर्मवासनाओं और काम क्रोध आदि दोषों से रहित हो जाता है, तभी ये सिद्धियाँ योगी में प्रगट होती हैं शीघ्र प्रकट नहीं हुआ करतीं। दूसरे शब्दों में, ये सिद्धियाँ बहुत देर में प्रगट होती हैं, किन्तु नित्य स्थायी होती हैं।

These unimaginative siddhis are permanent and possessing innumerable powers and they are not subject to any limitations or violation. These Siddhis attained as a result of Yoga Sadhana, do not require any sustained efforts. There are acquired by the yogi at his discretion. When the Chitta (seat of memory) of a yogi becomes free of various impurities like desires, passions, anger, only then do these siddhis appear and not prematurely. But these siddhis are permanent. On concluding the discussion on siddhis, Siva diverts to the main issue and elucidating the Moksha Marga (Path of salvation).

188. तासु चान्या महायोगात्परमात्मपदेऽव्यये।
विना कायं सदा दीप्तमेतत् सिद्धस्य लक्षणम्।।[3]

1. दृढा रूपाश्च क
2. तुलनीय यो.शि. 1.155
3. तुलनीय यो.शि. 1.156

इन **कल्पित अकल्पित** सिद्धियों में प्रथम अर्थात् उत्कृष्ट **अकल्पित** सिद्धियाँ **महायोग** के द्वारा अव्यय परमात्मपद में लीन अर्थात् एकात्मभाव प्राप्त करने के उपरान्त प्राप्त होती है। इस स्थिति में पहुँचा हुआ महायोगी, बिना कामना के ही निरन्तर दीप्तिमान् रहता है। यह अपूर्व दीप्ति ही योग साधकों में सिद्ध योगी का लक्षण है।

Among the imaginative and unimaginative siddhis, the best unimaginative siddhis are those attained by mahayoga, when the sadhak attains supreme state. After attaining such a state, the mahayogi remains constantly illumined without any wish. This wonderful illumination is true evidence of his siddhi in yoga.

189-190. यथा काशीं समुद्दिश्य गच्छद्भिः पथिकैः पथि।
नाना तीर्थानि दृश्यन्ते तथा मोक्षेऽपि सिद्धयः।।[1]
स्वयमेव प्रजायन्ते लाभालाभविवर्जिते।
योगमार्गे तथैवेदं सिद्धिजालं प्रवर्त्तते।।[2]

जिस प्रकार काशी को लक्ष्य बनाकर जाते हुए पथिकों को मार्ग में अनेक तीर्थ प्राप्त हो जाते हैं, उन तीर्थों में पहुँचने के लिए उन्हें पृथक् रूप से कोई प्रयत्न करने की अपेक्षा नहीं होती है, उसी प्रकार मोक्ष की प्राप्ति के लिए साधना करने वाले महायोगियों को अनेक अनेक सिद्धियाँ स्वतः ही प्राप्त होती हैं, योगी को उन सिद्धियों से लाभ या अलाभ की अपेक्षा नहीं होती। तात्पर्य यह है कि मोक्ष की प्राप्ति के लिए अपनाए गए योग मार्ग में सिद्धियों का अनन्त समूह स्वतः प्रकट होता है, योगी को उनसे कुछ भी लेना देना नहीं रहता।

Those pilgrims visiting Kashi pass through various places of pilgrimage. They need not make any separate efforts to reach other places of pilgrimage. Similarly the Mahayogin aspiring for moksha (salvation) automatically attain many Siddhis. Yogi do not wish to take adantage of any of these Siddhis, thus attained on the yoga path.

1. तुलनीय यो.शि. 1.157
2. तुलनीय वही 1.158

191. परीक्षकैः स्वर्णकारैः हेम सम्प्रोच्यते यथा।
सिद्धिभिर्लक्षयेत् सिद्धं जीवन्मुक्तं तथैव च।।[1]

जिस प्रकार स्वर्ण की परीक्षा में कुशल स्वर्णकार स्वर्ण के कुछ चिह्नों को देखकर ही यह हेम (स्वर्ण) है, यह स्वर्ण नहीं है, ऐसा पहचान कर निश्चय पूर्वक कहते हैं, इसी प्रकार सिद्धियों के द्वारा ही योग में सिद्ध जीवन्मुक्त पुरुष को भी पहचाना जाता है। अर्थात् सर्व साधारण व्यक्ति और जीवनमुक्त महायोगी को पहचान सकने के लिए ये सिद्धियाँ ही लक्षण का कार्य करती हैं।

As the expert goldsmiths identify gold by examining its specific characteristics similarly the yogi is recognised by virtue of his possession of some Siddhis.

192. अलौकिकौ गुणस्तस्य कदाचिद्दृश्यते ध्रुवम्।[2]
इत्येतत्कथितं देवि योगसिद्धस्य लक्षणम्।।

महायोगी पुरुषों में ये सिद्धिरूप कुछ अलौकिक गुण अवश्य ही दिखाई पड़ते हैं। ये अलौकिक गुण ही सिद्धियाँ हैं, हे देवि इन सिद्धियों को योग सिद्धि का लक्षण समझना चाहिए।

Mahayogins possess certain super natural qualities in the form of Siddhis. These supernatural qualities are Siddhis. O Goddess, these Siddhis should be identified as the characteristic of Yoga siddhi.

193. सिद्धिभिः परिहीनं तं नरं बद्धं तु लक्षयेत्।[3]
अजरामरपिण्डो यो जीवन्मुक्तः स एव हि।।[4]

जिस साधक को सिद्धियां प्राप्त नहीं हैं, उसे सामान्य बद्ध पुरुष ही समझना चाहिए, मुक्त नहीं। जिस योगी का शरीर सिद्धियों के कारण अजर अमर हो गया है वह पुरुष ही जीवन्मुक्त है।

1. तुलनीय वही 1.158
2. तुलनीय वही 1.160 पूर्वार्ध
3. तुलनीय यो.शि. 1.160 (उत्तरार्ध)
4. तुलनीय वही 131 पूर्वार्ध

The Sadhak who does not possess any Siddhi should be considered like an ordinary person. The Yogi whose body has become immortal as a result of attainment of Siddhis, is liberated while living.

194. पशुकुक्कुटकीटाद्याः मृतिं सम्प्राप्नुवन्ति ते।
तेषां किं पिण्डपातेन मुक्तिः भवति सुन्दरि।।[1]

हे सुन्दरि! पार्वती! विश्व के सभी जीव-जन्तु पशु पक्षी कीड़े आदि मरते रहते हैं, किन्तु क्या शरीर पात अर्थात् जीव तथा शरीर के विलग होने मात्र से उनकी मुक्ति हो जाती है? अर्थात् मरने मात्र से मुक्ति नहीं हुआ करती।

O beauteous Parvati, all the creatures of the world like animals, birds, insects die but do they become liberated simply by separting from their bodies. Death ordinarily does not lead to liberation.

195. न बहिः प्राण आयाति पिण्डस्य पतनं कुतः।
पिण्डपातेन या मुक्तिः सा मुक्तिर्न तु कथ्यते।।[2]

जब तक प्राण शरीर से बाहर नहीं आते तब तब शरीर पात अर्थात् मृत्यु नहीं होती, अर्थात् पिण्ड पात का सम्बन्ध तो प्राणों के शरीर से बाहर निकलने से है, मोक्ष से नहीं। मृत्यु के कारण शरीर से आत्मा (जीव) के छूटने को मुक्ति नहीं कहा जाता।

Unless the prana breath leave the body, it does not fall. In fact the relation of the death of a body is its parting with Prana breaths and not with Moksha (salvation). Death cannot lead to libration.

196. जीवो ब्रह्मत्वमायाति[3] जलतां सैन्धवं यथा।
अनन्यतां यदा याति तदा मुक्तः स उच्यते।।[4]

जिस प्रकार नमक जल के सम्पर्क में आकर जल रूप हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म का साक्षात्कार करके जीव ब्रह्मभाव को प्राप्त करके अर्थात्

1. तुलनीय यो.शि. 1.161-62
2. तुलनीय वही 1.162-63
3. देवब्रह्मत्वमायाति क., देहे ब्रह्मत्वमायाते यो.शि. 1.163
4. तुलनीय यो.शि. 1.163-64

ब्रह्ममय होकर ब्रह्म से अभिन्न हो जाता है, अर्थात् जीव और ब्रह्म के बीच अद्वैत स्थापित हो जाता है, तभी वह मुक्त कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि जब तक जीव और ब्रह्म के मध्य द्वैत रहता है, भेद रहता है, तब तक मुक्ति का कोई प्रश्न नहीं है, किन्तु द्वैत समाप्त होकर अद्वैत आने पर ही जीव मुक्त हो जाता है।

As the salt on dissolution into the water takes the form of water, similarly the jeeva (soul) after seeing Brahman, takes the form of Brahman and becomes one with Him. Until there is duality between the Jeev and Brahman, there cannot be any question of liberation. On the end of duality and achievement of oneness the jeeva becomes liberated.

197. चिन्मयानि[1] शरीराणि इन्द्रियाणि तथैव च।
ब्रह्मदेहत्वमायाति जलतां सैन्धवं यथा।।[2]

जीव और ब्रह्म के मध्य अनन्यभाव (अभेद) स्थापित हो जाने पर जीव की स्वतन्त्र सत्ता मिट-सी जाती है, किन्तु उस स्थिति भी में जब तक वह जीव शरीर में रहता है अर्थात् जीव जीवन्मुक्त अवस्था में रहता है, उस समय उसका चेतनायुक्त (चिन्मय) शरीर तथा उसमें स्थित इन्द्रियाँ **ब्रह्मशरीर** हो जाती है, अर्थात् सामान्य प्राणी के शरीर और इन्द्रियों से उसकी स्थिति सर्वथा भिन्न होती है। इस **ब्रह्मशरीर** की स्थिति को स्पष्ट करने के लिए ग्रन्थकार ने जल और लवण की उपमा प्रदान की है। लवण जब जल में मिल जाता है, तब उसका पृथक् अस्तित्व दिखाई नहीं पड़ता, किन्तु उसकी सत्ता जल के रूप में विद्यमान रहती है। जीव के ब्रह्मभाव को प्राप्त होने पर उसकी सत्ता पृथक् तो नहीं रह जाती, किन्तु उसके शरीर और इन्द्रियों में ब्रह्म (ईश्वर) के गुणों के कारण अलौकिक सामार्थ्य प्रगट होते रहते हैं।

On the attainment of oneness between jiva (soul) and Brahman, the separate identity of Jeeva comes to an end but in that event Jeeva (soul) while remaining in body, remains in a state of liberation. At that time, his body in full of consciousness and his senses turn into Brahman

1. विमतानि यो.शि. 1.164
2. तुलनीय यो.शि. 1.164-65

body. The state of his body and senses is completely different to that of an ordinary person. The author of this book has used the symbol of water and salt to explain this state. When salt is dissolved into the water, its separate identily is not visible though it is present in the water. Jeeva on attaining Brahman form ceases to have a separate identity but his body and divine sensibilities show supernatural capacities.

198. अनन्यतां यदा याति तदा मुक्तः स उच्यते।
यया ब्रह्मत्वमापन्नं यथैवाज्यघनत्ववत्।।

इस प्रकार जब जीव और ब्रह्म में अनन्य भाव प्राप्त कर लेता है। अर्थात् अभेद स्थापित हो जाता है, तब वह मुक्त हो जाता है, इस अनन्य भाव की स्थिति में जीव ब्रह्म स्वरूप हो जाता है, और तब उसमें सामान्य जीव के गुण धर्म से सर्वथा भिन्न गुणधर्म (ब्रह्म के गुण धर्म) आ जाते हैं। गुण धर्म के इस परिवर्तन को घृत के जमने की उपमा से समझा जा सकता है। जिस प्रकार घृत हिम के सम्पर्क में आकर जब जम जाता है, तो उसमें घृत का स्वरूप घृतत्व विद्यमान रहने पर भी घृत से भिन्न शुभ्र रूप प्रगट होता है, और उसकी तरलता (चंचलता) पूर्णतः समाप्त हो जाती है, वह हिम वर्णयुक्त एवं हिम के समान कुछ शीतल भी प्रतीत होता है, इसी प्रकार जीव जब ब्रह्मभाव को प्राप्त कर लेता है, तब उसके काम क्रोध आदि धर्म लुप्त हो जाते हैं, अल्पज्ञता (अविद्या) विलीन हो जाती है, सर्वज्ञता और अनन्तशक्तियाँ उसमें प्रगट होती हैं, स्थैर्य प्रतिष्ठित हो जाता है, उसकी तरलता अर्थात् चंचलता पूर्णतः समाप्त हो जाती है, अर्थात् उसमें जीवत्व रहने पर भी ब्रह्म के गुण धर्म आ जाते हैं, इसीलिए उसने ब्रह्मभाव प्राप्त कर लिया है, ऐसा कहा जाता है।

When oneness is achieved between the indiviual soul and supreme soul the jeeva (soul) becomes liberated and achieves Brahman form and he acquires completely different qualties as compared to normal individual soul. Such change in qualities has been described in the form of a symbol of condensing the Ghee (clarified butter). As Ghee becomes condensed by contact with ice, though the contents of Ghee changes its form into a new one, it somewhat takes the shape of ice and appears even cold like it, similarly when the jeeva changes into Brahman form then its characteristics like desire, anger etc. are removed and ignorance is destroyed and replaced omniscience and innumerable powers appear which are automatically stabilised. Its restlessness completely disappear. Though it possesses the form of an individual soul but acquires the qualities of Brahman.

199-200. एतत्ते कथितं देवी तव प्रीत्या सुरेश्वरि।
गोपनीयं प्रयत्नेन क्रूरे धूर्त्ते शठे खले।।
दातव्यं शिवभक्तेषु सदाचारपरेषु च।।
योगबीजं महागुप्तं यन्मया प्रकटीकृतम्।।

हे देवी सुरेश्वरी पार्वती, मैंने इस योगविद्या (योगबीज) का उपदेश किया है, वह तुम पर अनन्त प्रीति के कारण किया है, इस विद्या को प्रयत्न पूर्वक क्रूरों धूर्तों दुष्टों और दुर्जनों से बचाकर (छिपाकर) रखना चाहिए अर्थात् जो अहिंसा आदि नियमों का पालन करने वाले नहीं हैं, अतएव जो क्रूर दुष्ट हैं, वे इस विद्या के अधिकारी नहीं है, उनके पास यह विद्या न पहुँचने पाये, इसके लिए निरन्तर प्रयत्न शील रहना चाहिए। इस विद्या के अधिकारी वे ही हैं, जो शिव भक्त अर्थात् आस्तिक ईश्वर की आराधना करने वाले तथा सदाचार सम्पन्न हैं। उन्हें ही इसका उपदेश करना चाहिए। वस्तुतः योगविद्या की बीजभूतः, अतः **योगबीज** इस अन्वर्थ नाम वाली यह विद्या है, जिसे मैंने यहाँ प्रगट किया है, अर्थात् जिसका उपदेश अभी किया है।

O Goddess Parvati, I have revealed to you this knowledge of yoga (yoga bija) out of sheer love. This knowledge should be secretly guarded from the rogues. Those who do not observe Yama, Niyama etc. do not deserve this knowledge. Only those persons have the right to acquire this knowledge who are devotees of Shiva and possess moral values. Only such persons should be trained in this knowledge. In fact this knowledge in called yogabija.

देवी उवाच–

Goddess said,

इस समस्त परमगोपनीय योगबीज का उपदेश प्राप्त करने के बाद सन्तुष्ट होकर पार्वती कहती हैं–

On being delighted after receiving the secret knowledge of yogabija, Parvati says—

201. गतो में संशयो नाथ कृपया तव शंकर।
नमस्ते योगिराजाय सर्वज्ञाय नमो नमः।।

हे नाथ शंकर! आपकी कृपा से इस योगबीज नामक योग विद्या का उपदेश पाकर मेरा सम्पूर्ण संशय निवृत्त हो गया है, अविद्या की निवृत्ति हो गयी है, और मैं सम्पूर्णतया तृप्त और कृतकाम (पूर्णमनोरथ वाली) हूँ। अत: हे सर्वज्ञ योगीराज, आपको मेरा बारम्बार प्रणाम हैं। [इस अन्तिम पद्य में बारम्बार प्रणाम का निबन्धन करते हुए योग साधक के लिए सर्वतोभावेन ईश्वर प्रणिधान की परमात्मा के प्रति समर्पित हो जाने की अनिवार्यता की और संकेत किया गया है।

O Lord Shankara, all my doubts havebeen removed after receiving the knowledge of yogabija and I am completely contented and blessed. In this last stanza, again and again it has been emphasized for the yogi to surrender to the worship of God.

अंकरामनभोयुग्मे [2039 वि] वैक्रमाब्दे गुरौ दिने।
पौषेऽमायामुषःकाले व्याख्येयं पूर्णतामगात्।।
केशवानन्दशिष्येन ब्रह्ममित्रेण योगिना।।
सुखेनार्थावबोधाय दीपिका विहिता शुभा।।

इति श्री मत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य योगिराजस्य स्वामि श्री केशवानन्दसरस्वत्यभिख्यस्य शिष्येन उन्नावमण्डलान्तर्गतकरोवनग्रामवास्तव्यस्य पं. लक्ष्मणप्रसाद शर्मण: पौत्रेण परमपूज्यस्य योगिराजस्य पं. रविनाथशर्मण: पुत्रेण सर्वतन्त्रस्वतन्त्रेण महामहोपाध्याय-डाक्टराद्यनेकोपाधिविभूषितेन उपमन्युगोत्रोद्भवेन ब्रह्ममित्रावस्थिना कृतेयं योगबीजदीपिका पूर्णतामयात्।

इति योगबीजम् समाप्तम्

परिशिष्ट श्लोक सूची

Scanned by CamScanner

परमहंस स्वामी अनन्तभारती जी की कुछ महत्वपूर्ण रचनाएं

1.	पातञ्जल योगशास्त्र : एक अध्ययन	500.00
2.	पातञ्जलयोग पर बौद्धधर्म का प्रभाव	50.00
3.	योग रत्नाकर	200.00
4.	राजयोग साधना और सिद्धान्त	100.00
5.	प्राणायामसाधना	55.00
6.	योग और मानसिक स्वास्थ्य	80.00
7.	शाण्डिल्य योग शास्त्र हिन्दी व्याख्या सहित	100.00
8.	योगसूत्र-योगप्रभाकर भाष्यसंहिता	500.00
9	कुण्डलिनी साधना	40.00
10.	योग और स्वास्थ्य	100.00
11.	योग चूडामणि हिन्दी व्याख्या सहित	45.00
12.	Dattatrey Yoga Shastra with English & Hindi Transtation	140.00
13.	Yoga Beja with English Hindi Commentary	[redacted]
14.	Rajayoga and its Practice	100.00

कुछ अन्य प्रमुख पुस्तकें

1.	अभिघावृत्त मातृका विस्तृत हिन्दी भूमिका एवं व्याख्या सहित	50.00
2.	शब्दव्यापार विचार विस्तृत हिन्दी भूमिका एवं व्याख्या सहित	50.00
3.	वृत्तिवार्त्तिक विस्तृत हिन्दी भूमिका एवं व्याख्या सहित	50.00
4.	कोविदानन्द विस्तृत हिन्दी भूमिका एवं व्याख्या सहित	50.00
5.	त्रिवेणिका विस्तृत हिन्दी भूमिका एवं व्याख्या सहित	50.00
6.	वाक्यार्थ मातृकावृत्ति विस्तृत हिन्दी भूमिका एवं व्याख्या सहित	100.00
7.	अलंकार कोश	700.00
8.	एकावली (मू० ले० विद्याधर) हिन्दी व्याख्या सहित	500.00

ISBN 818686323-0
9 788186 863237

मूल्य : [redacted]/-

इन्दु प्रकाशन
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्

मुख्य कार्यालय

इन्दु प्रकाशन

29/5, शक्ति नगर, नांगिया पार्क, दिल्ली-110007

ई-मेल: induprakashan17@yahoo.in

मो.: 9818884003

शाखा कार्यालय

शॉप नं. 26, सुभाष मार्केट, बस स्टॉप नं. 6, शिवाजी नगर, भोपाल-462016

मो.: 9968536565

गोरखबानी

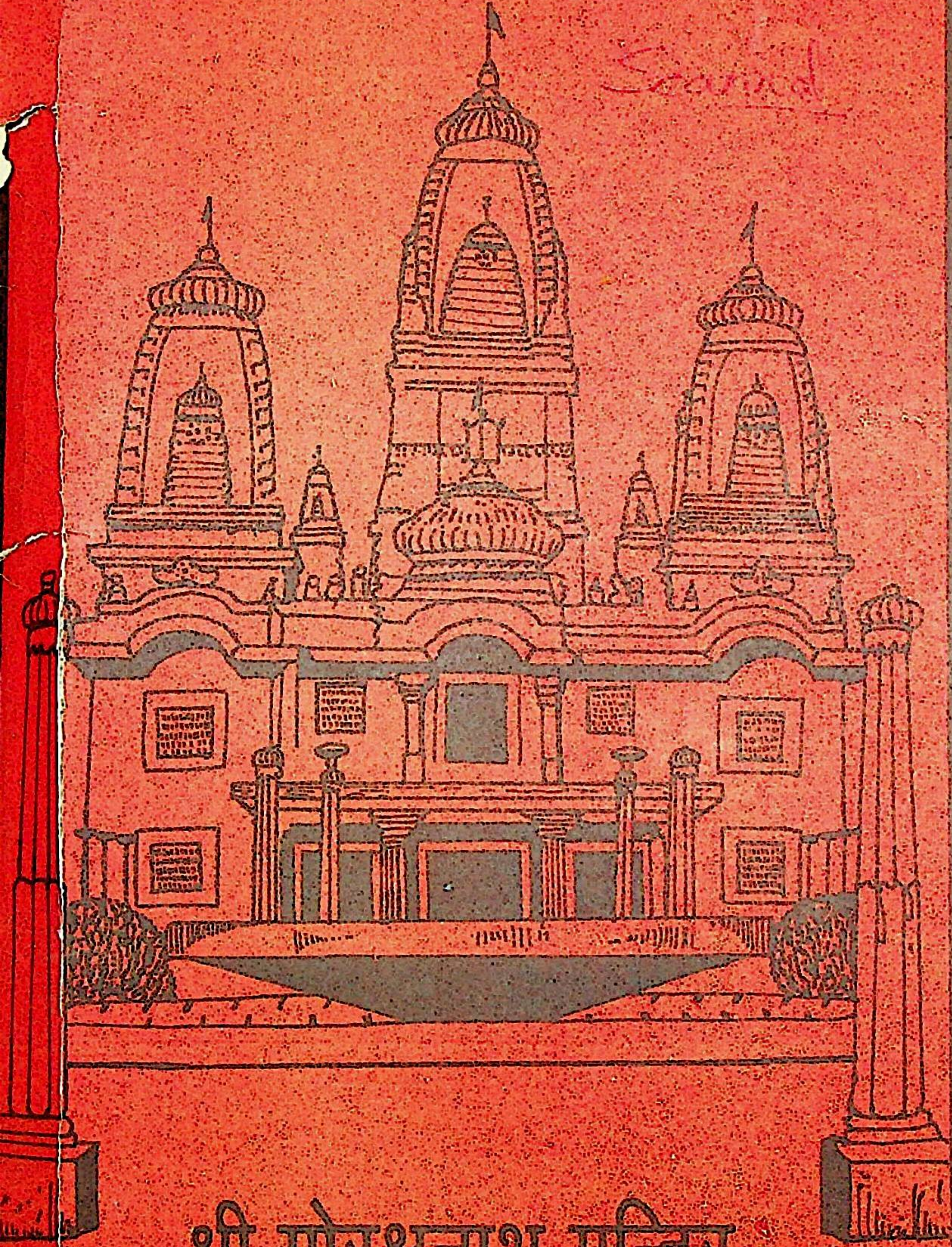

श्री गोरक्षनाथ मन्दिर

गोरखपुर

हमारा शब्द

सबद हमारा षरतर षांडा
रहणि हमारी साची ।
लेषे लिखी न कागद माडी
सो पत्री हम बाची ॥

हमारा शब्द ज्ञानोपदेश तेज तलवार है। यह सत्स्वरुप परमात्मा में प्रतिष्ठित है, जो लिपिबद्ध नहीं है, न किसी ग्रन्थ में अंकित है, वह तो स्वसंवेद्य है।

गोरखबानी सबदी २६४

महायोगी गोरखनाथ

गोरखबानी

टीकाकार तथा सम्पादक :

राम लाल श्रीवास्तव

गोरखनाथ मन्दिर

गोरखपुर

प्रकाशक :

गोरखनाथ-मन्दिर

गोरखपुर

पहला संस्करण :
विजया दशमी २०३५ वि.
दूसरा संस्करण :
अक्षय तृतीया २०५१ वि.

मूल्य ४० रुपये

प्राप्तिस्थान :

गोरखनाथ-मन्दिर, गोरखापुर

फोन नं0 : ३३६०३१

मुद्रक :

दी इउरेका प्रिंटिंग वर्क्स (प्रा0) लिमिटेड

गीता प्रेस रोड, गोरखपुर

फोन नं0 : ३३५३१०

गोरखबानी

विषयानुक्रम

गोरखबानी

शिवगोरक्ष योगेश्वर गोरखनाथजी की योगसिद्धिस्वरूपिणी रहनी ही लोकमानस में प्रतिष्ठित 'गोरखबानी' है । यह हठयोगविद्या का ही अक्षर वाङ्मय नही, सम्पूर्ण योगदर्शन का प्राणामृत भी है, जिसके रसास्वादन से जीव शिवस्वरूप हो जाता है, अमृतत्व में स्वस्थ हो जाता है । गोरखनाथजी सिद्धयोगदेह में अमर हैं, जीवों पर अहेतुकी कृपा करने के लिए, संसार-सागर से पार उतारने के लिये वे परमकारुणिक समय-समय पर अपने श्रीविग्रह से प्रकट होकर लोगों को महायोगज्ञान प्रदान करते हैं, सदुपदेश से कृतार्थ करते हैं । 'गोरखबानी' उनके सदुपदेश का योगशास्त्र है, 'गोरखबानी' की यही विशिष्टता है । नाथयोगपरम्परा भगवान् शिव द्वारा सप्तशृगं पर पार्वती के प्रति निरूपित महायोगज्ञान से समृद्ध है, जिसे श्रवण कर योगीन्द्र मत्स्येन्द्रनाथ ने गोरखनाथजी को प्रदान किया । उसी सदुपदेश को गोरखनाथजी ने अपनी रहनी और कहनी (अनुभूति) के रूप में अपनी संस्कृत रचनाओं और लोकवाणी में अभिव्यक्त किया । हिन्दी साहित्य के इतिहास के मध्यकाल के पहले चरण से ही अनेक सिद्धों, योगियों, संत-महात्माओं ने गोरखनाथजी की सबदियों, पदों तथा अन्यान्य उपदेशों को श्रद्धापूर्वक संग्रह करते रहने का जो प्रयास किया है, उसी का सफल रूप डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल द्वारा संग्रहीत और सम्पादित तथा हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग द्वारा प्रकाशित 'गोरखबानी' है । विभिन्न प्राचीन प्रामाणिक प्रतियों के पाठ के अनुरूप स्वनामधन्य डा० बड़थ्वाल ने जिस निष्ठा और श्रद्धा से 'गोरखबानी' का प्रस्तुतीकरण किया, वह एक महती प्रेरणा और तपोमयी शोधवृत्ति का परिचायक है । डा० पीताम्बरदत्त ने इस दिशा में अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया । उन्होंने गोरखनाथजी की लोकवाणी और नाथसिद्धों के पदों, सबदियों आदि को जोगेसुरी बानी के रूप में प्रकाशित करने का संयोजन किया था । 'गोरखबानी', जोगेसुरी बानी के प्रथम भाग के रूप में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग से उनके जीवन-कालम में ही सम्बत् 1999 वि० में प्रकाशित हुई और अन्य नाथसिद्धों की बानी का वे प्रकाशन नहीं कर सके । इस जोगेसुरी बानी, द्वितीय भाग का सम्पादन पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी ने किया और

नागरी-प्रचारिणी-सभा, काशी से सम्वत् 2014 वि0 में उसका प्रकाशन और मुद्रण सम्पन्न हुआ ।

'गोरखबानी' अद्‌भुत योगवाङ्‌मय है । इसकी निरन्तर माँग बढ़ती देखकर गोरक्षपीठाधीश्वर महन्त अवेद्यनाथजी महाराज ने नाथयोग-प्रचार के सन्दर्भ में इच्छा व्यक्त की कि 'गोरखबानी' का एक परिमार्जित संस्करण प्रकाशित किया जाय तथा उसका विशद भाष्य भी प्रस्तुत किया जाय, जिससे लोक-मानस को योगेश्वर गोरखनाथ की योग-पद्धति, महायोगज्ञान आदि समझने में विशेष सुविधा हो । ऐसे तो गोरखनाथ-मंदिर से प्रकाशित 'योगवाणी' मासिक पत्र में अपने सम्पादकत्व में उसके पहले वर्ष के दूसरे अंक से ही मैंने 'गोरखबानी' से प्रत्येक अंक में 'गोरखवाणी' स्तम्भ के अन्तर्गत अपने भाष्यसहित सबदियों को देने का मांगलिक क्रम आरम्भ कर दिया था, पर महन्त श्रीअवेद्यनाथजी महाराज की इच्छा से मुझे 'गोरखबानी' को संशोधित और परिमार्जित रूप में सम्पादित तथा उसके अधिकांश अंशों पर अपना भाष्य प्रस्तुत करने की विशेष प्रेरणा मिली और भगवान् शिवगोरक्ष की विभूति के रूप में 'गोरखबानी' का यह नया कलेवर प्रकाशित हो सका । 'गोरखबानी' के संग्रह और सम्पादन में डा0 बड़थ्वाल ने मध्यकाल की जिन हस्तलिखित प्रतियों का उपयोग किया, उनमें पौड़ी-गढ़वाल के पण्डित तारादत्त गैरोला को जयपुर से प्राप्त प्रति 'पौड़ी हस्तलेख', जोधपुर दरबार पुस्तकालय की प्रति, जोधपुर के श्रीशुभकरण चारण से प्राप्त सम्वत् 1825 की प्रति, मंदिर बाबा हरिदास, नारनौल, पटियाला की सम्वत् 1794 की प्रति, पुरोहित हरिनारायण, जयपुर से प्राप्त सम्वत् 1715 वि0 की प्रति आदि प्रमुख हैं । पौड़ी हस्तलेख का चौथा भाग संत रज्जब द्वारा संकलित सर्वांगी है, जिसमें गोरखनाथजी से लेकर संत तुलसीदास तक अनेक प्रसिद्ध संत-महात्माओं की वाणी उपलब्ध है । साथ-ही-साथ डा0 बड़थ्वाल ने योगियों की रचनाओं के एक संस्कृत हस्तलिखित अनुवाद की भी सहायता ली थी, जो मध्यकाल की है तथा काशी के सरस्वती भवन में सुरक्षित है । 'गोरखबानी' के इस नये कलेवर का मूल पाठ डा0 बड़थ्वाल की 'गोरखबानी' पर आधारित है, यद्यपि कहीं-कहीं मुझे पाठान्तर भी स्वीकार करना पड़ा है और उपर्युक्त प्रतियों के

पाठ के आधार पर ही पाठ संशोधित हैं, पर यह अल्पांश ही है । सबदी, पदों तथा अन्य संग्रहीत रचनाओं का भाष्य मैंने स्वयं किया हे और यथाशक्ति उसे विस्तृत करने का भी प्रयास किया है, पर यह स्वीकार करने में आपत्ति नहीं है कि डा0 बड़थ्वाल के भाष्य से मेरे कार्य में बड़ी सुविधा हुई है । अनेक रचनाओं का भाष्य उपलब्ध नहीं था, उसका भी मैंने भाष्य दे दिया है, किन्हीं-किन्हीं का सारांश ही देकर काम चलाया है ।

'गोरखबानी' के इस नये कलेवर से गोरखनाथजी के नाम से प्रचलित प्रसिद्ध कृति 'ग्यान चौतीसा' के, जो अप्राप्त कहीं जाती रही है, सम्बन्ध में विद्वानों और शोध -जगत् में व्याप्त भ्रक का निवारण हो गया । वह कृति तो संग्रह के रूप में डा0 बड़थ्वाल द्वारा संग्रहीत 'गोरखबानी' में ही उपलब्ध हैं, पर इसका पता डा0 बड़थ्वाल को भी नहीं था, उन्हें भी अपने संग्रह की भूमिका में स्वीकार करना पड़ा था - 'इनमें से ग्यान चौंतीसा' 'च' प्रति में है और 'छ' तथा 'अ' में उसका समर्थन हो जाता है. । परन्तु उसको मैं समय पर प्राप्त करने में समर्थ न रहा । फिर भी आशा है कि शीघ्र ही वह भी अवश्य साहित्यिकों को उपलब्ध हो जायेगा ।' डा0 बड़थ्वाल की इस स्वीकृति से लोगों के मन में 'ग्यान चौंतीसा' के प्रति उत्सकुकता का भाव जागना स्वाभाविक ही है । जनवरी 1977 में 'योगवाणी' का 'गोरख विशेषांक' प्रकाशित हुआ, उसके पृष्ठ 85 पर अगरचन्द नाहटाजी ने अपने लेख में मत अभिव्यक्त किया कि राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जयपुर के संग्रह में पुरोहित हरिनारायणजी का संग्रह सुरक्षित है, उसकी सूची 'विद्याभूषणग्रन्थ-सूची' के नाम से प्रकाशित हुई है । उसके अनुसार 'गोरखबानी' में प्रकाशित ग्रन्थों के अतिरिक्त गोरखनाथजी की अप्रकाशित बारह रचनाओं के नाम और भी हैं, नौ के नाम 'गोरखबानी' की भूमिका में आ चुके हैं, यद्यपि वे उस ग्रन्थ में प्रकाशित नहीं है, पर वे सम्पादक की जानकारी में आ चुकी थीं । इनमें से 'ग्यानचौंतीसा'. को मैंने 'सप्तसिन्धु' मासिक में प्रकाशित करा दिया था । मैंने 'गोरखबानी' के इस नये कलेवर के सम्पादन में 'ग्यान चौंतीसा' का उपयोग करना चाहा, नाहटाजी को पत्र लिखा । उनका पत्रोत्तर मिला कि रचना 'सप्तसिन्धु' में नहीं, 'साहित्य'

पत्र में प्रकाशित करायी गयी थी और उन्होंने कृपापूर्वक उसकी प्रति नकल करवा कर मेरे पास भेज दी । प्रतिलिपि 'जैन बड़े भाण्डार' की सम्वत् 1770 वि0 की हस्तलिखित (नाथ सम्प्रदायी) गुटका से करवायी गयी थी । मैं नाहटाजी द्वारा प्रेषित 'ग्यान चौंतीसा' की प्रतिलिपि देखकर आश्चर्यचकित हो गया । 'गोरखबानी' में ही डा0 बडथ्वाल ने परिशिष्ट 1क -क (6) के अन्तर्गत पृष्ठ 241 से 243 पर 'कुछ पद' शीर्षक से तीन पदों में उसे दिया है तथा 'गोरखबानी' में ही पृष्ठ 120 पर पद संख्या 27 वाँ भी ग्यान चौंतीसा का अन्तिम अंश है । मैंने 'गोरखबानी' के इस नये कलेवर में 'ग्यान चौंतीसा' में इनका अपने भाष्यसहित संकलन कर दिया है । इस संकलन में क्रम सं0 12, 13, 17, 18, 19 की दस पंक्तियाँ नाहटाजी द्वारा प्रेषित 'ग्यान चौंतीसा' की प्रति से ली गयी हैं, क्योंकि मुझे 'गोरखबानी' के सम्मेलन वाले संस्करण में ये नहीं मिली । लगता है कि 'ग्यान चौंतीसा' गोरखनाथजी के चार पदों का संकलन है, जिसे किसी श्रद्धालु शिष्य ने इस नाम से 34 सबदियों में अथवा दो-दो पंक्ति के पदों में संग्रहीत कर दिया । कहीं डा0 बड़थ्वाल को यह पता होता कि 'गोरखबानी' में ही 'ग्यान चौतीसा' संग्रहीत है तो उनकी आत्मा को कितना संतोष होता । श्रीअगरचन्द नाहटाजी का सौजन्य चिरस्मरणीय है, मैं उनका कृतज्ञ हूँ, आभारी हूँ ।

'गोरखबानी' के प्रस्तुतीकरण में हमें गोरखपुर विश्वविद्यालय के सेवानिवृत्त हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉ0 गोपीनाथजी से समय-समय पर अमित प्रोत्साहन मिलता रहा । मैं उनके स्नेहसिक्त सौजन्य के प्रति आभार प्रकट करता हूँ । 'गोरखबानी' की सामग्री के टंकन-कार्य में महन्त अवेद्यनाथजी महाराज के विशिष्ट कृपापात्र पं0 द्वारिका प्रसाद तिवारी ने जो श्रम किया तथा योगदान दिया, वह सराहनीय है । इउरेका प्रेस के व्यवस्थापक श्रीपरेश दत्त को इस महनीय कृति के यथाशक्ति शुद्ध मुद्रण और समलंकरण के लिए धन्यवाद देना मैं नहीं भूल सकता । मैं महन्त श्रीअवेद्यनाथजी महाराज के आशीष और अनुग्रह से कृतार्थ हूँ । उनकी प्रेरणा से 'गोरखबानी' ऐसी दिव्य- अक्षर विभूति के प्रकाशन-यज्ञ में तत्पर होने का मुझे सौभाग्य मिला । भगवान् गोरखनाथ की कृपा-विभूति से लोक-लोकान्तर का मंगल हो ।

रामलाल श्रीवास्तव

आनन्दसदन, गोरखपुर
विजयादशमी, सं0 2035 वि0

महन्त अवैद्यनाथ

(गोरक्षपीठाधीश्वर)

भगवान् योगेश्वर शिवगोरक्ष गोरखबानी ने लोक-लोकान्तर के प्राणियों को सत्स्वरूप के योगज्ञान में प्रतिष्ठित करने के लिये योगदेह धारण कर (शिवोपदिष्ट) महायोगज्ञान का भगवती पार्वती के प्रति सप्तश्रृंगपर निरूपण किया । यही हमारे सिद्धामृतमार्ग अथवा नाथयोग की मांगलिक परम्परा है । संस्कृत (देववाणी) और लोकवाणी में उन परम कारुणिक द्वारा उपदिष्ट योगामृत ज्ञान प्राणीमात्र को कायिक, वाचिक और मानसिक अन्धकार से बाहर निकाल कर परमात्मस्वरूप में स्वस्थ करने का यौगिक बीजमन्त्र हैं । योगेश्वर गोरखनाथ जी के योगज्ञान का चरम प्रतिपाद्य साक्षात् अलख-निरंजन है । उन्होंने निश्चित मत अभिव्यक्त किया कि निरंजन का ध्यान ही सर्वोपरि है । 'सिष्ट-पुराण' में उनका कथन है- 'निरंजन उपरांति ध्यान नाहीं' । अपनी प्रसिद्ध रचना 'ग्यांनतिलक' में गोरखबानी ने निरंजन के साक्षात्कार पर प्रकाश डाला है ।

अंजन माहिं निरंजन भेट्या, तिलमुख भटया तेलं ।
मूरति माहिं अमूरति परस्या, भरा निरंतरि षेलं ।।
(ग्यांनतिलक-4।)

भगवान् गोरखनाथ की योगसिद्धि सर्वात्मबोध के विचार-धरातल पर ही जीवन में चरितार्थ करने से मायिक प्रपंच और स्वरूप विस्मृति से आक्रान्त जीवात्मा के लिये संसार-सागर से पार उतारने की नौका है । उन्होंने भवसंतरण के लिये निर्देश दिया है कि अहंकार का नाशकर सद्गुरू की खोज करनी चाहिए । योगमार्ग के ज्ञान की अवहेलना नहीं करनी चाहिये, यह मनुष्य जन्म बार-बार नहीं मिलता है, इसलिये सिद्ध पुरूष से मिलकर उनसे अपने निरंजन स्वरूप के साक्षात्कार का ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये ।

आपा भांजिबा सतगुर षोजिबा जोग पंथ न करिबा हेला ।
फिरि-फिरि मनिषा जनम न पायबा करिलै सिघ पुरसि सूं मेला ।।
(गोरखबानी : सबदी 203)

योगात्परतरं पुण्यं योगात्परतरं सुखम् ।
योगात्परतरं सूक्ष्मं योगमार्गात्परं न हि ।।

(योगबीज 66, 87)

इसी तरह अपनी अत्यन्त सारगर्भित संस्कृत रचना (सिद्धसिद्धान्तपद्धति 5 । 21-22) में उनका कथन है कि सत्स्वरूप के अभिज्ञान अथवा विज्ञान के लिए योगमार्ग से बढ़कर दूसरा मार्ग भासित ही नहीं होता ।

योगमार्गात्परो मार्गो नास्ति नास्ति श्रुतौ स्मृतौ ।
शास्त्रेष्वन्येषु सर्वेषु शिवेन कथितः पुरा ।।

गोरखनाथजी के योगज्ञान का यही स्वारस्य है कि यह सत्स्वरूप का परम अभिज्ञान है, दर्शनशास्त्र है । उनकी सबदी ।53 है :

बदंत गोरष सति सरूप । तत विचारै ते रेष न रूप ।।

गोरखनाथजी ने महायोगरहस्य का भेदन करते हुए कहा है कि योगदर्शन के स्तर पर शून्यावस्था में केवल अनाम (निरंजन), अव्यक्त, शून्यस्थ शिव ही सम्पूर्ण अशेष विद्यमान रहते हैं ।

अव्यक्तं च परं ब्रह्म अनामा विद्यते तदा ।
(सिद्धसिद्धान्तपद्धति । । 4)

घट-घट में प्रत्येक जीवात्मा के भीतर अलख-निरंजन, नाथकी विद्यमानता की अनुभूति ही गोरखनाथजी की योगदृष्टि में योगारम्भ है । गोरखनाथजी का वचन है :

जोगारंभ की गाही वांणी ।
सब घटि नाथ एकै करि जांणी ।।

(दयाबोध - ।)

भगवान गोरखनाथ के योगज्ञान के धरातल पर शरीर का संशोधन, निर्मलीकरण साधना का अनिवार्य और अत्यन्त उपादेय अंग है । 'गोरखबानी' के तेइसवें पद की पंक्ति है - 'कायागढ़ जीतैगा बिरला कोई ।'. काया के भीतर ही गोरखनाथजी ने निर्वाणपद की खोज पर बल दिया है । कर्मफल के रूप में पाप - पुण्य के सोच-विचार में मन को भ्रमित करना अज्ञान है । हरि-अलख-निरंजन, परब्रह्म शिव के स्वरूपभूत होने पर, तादात्म्य प्राप्त करने पर ही परम कैवल्य अथवा मोक्ष की प्राप्ति सहज सिद्ध है । काया में ही कैवल्य की प्राप्ति अनायास होती है । गोरखनाथजी ने उपदेश दिया है :

पाप पुंन करम का बासां । मोष मुक्ति चेतहु हरि पासा ।।
जोगजुक्त जब पाओ ग्यांन । काया षोजौ पद नृबांन ।।
(प्राणसंकली 2)

कुण्डलिनी महाशक्ति का प्रबुद्ध होकर ब्रह्मरन्ध्र में परमशिव में अन्तर्लीन हो जाना ही कायायोग की सिद्धि है, अमृतत्व है । उन्होंने एक सबदी में नाथयोग का सम्पूर्ण मर्म भर दिया है ।

अदेषि देषिबा देषि विचारिबा अदिसिटि राषिबा चीया ।
पाताल की गंगा ब्रह्मंड चढ़ाइबा तहाँ विमल बिमल जल पीया ।।
(गोरखबानी सबदी 2)

शरीर-शोधन और प्राणायाम की साधना से तथा बिन्दु (वीर्य) के ऊर्ध्वाकर्षण से मन की उन्मनी अवस्था सिद्ध होती है, उन्मनी समाधि लग जाने पर मन अपने शिवस्वरूप में संस्थित हो जाता है । गोरखनाथजी ने मनोविजय को बड़ा महत्व दिया है, मन के अमनस्क होने पर अलख-निरंजन का स्वबोध सिद्ध होता है । गोरखनाथजी ने कहा है :

यह मन सकती यहु मन सीव । यहु मन पांच तत्व का जीव ।।
यहु मन ले जै उनमन रहै । तौ तीनि लोक की बातां कहै ।।
(गोरखबानी सबदी 50)

भगवान् गोरखनाथजी ने संसार के सम्बन्धों से, प्रपंचों से अतीत होने की सीख दी है । उनकी भाषा में यही अमृतत्व है, मृत्यु-विजय है और इस तरह जीते जी, आत्मा के परमात्मा में अन्तलीन होने पर ही अमायिक निरंजन तत्व प्रकाशित हो उठता है । गोरखनाथजी का संकेत मात्र है :

मरौ वे जोगी मरौ, मरण है मीठा ।
तिस मरणी मरौ, जिस मरणी गोरष मरि दीठा ।।
(गोरखबानी सबदी 26)

नाथयोग की सिद्धि के मार्ग में सद्‌गुरू की प्राप्ति आवश्यक है तथा उनके द्वारा उपदिष्ट ज्ञान के प्रकाश में ही शिवस्वरूप की प्राप्ति होती है । भगवान् गोरखनाथजी ने कहा है कि गुरू के उपदिष्ट ज्ञान-मार्ग पर चल कर राजा भर्तृहरि और राजा गोपीचन्द्र ने अभय-पद प्राप्त किया, परमात्मसाक्षात्कार किया । अनेक राजाओं ने परमानन्द प्राप्त किया ।

मान्यां सबद चुकाया दंद । निहचै राजा भरथरी परचै गोपीचंद ।।
(गोरखबानी सबदी 15)

गोरखनाथजी का स्पष्ट मत है कि बिना गुरू के स्वरूप-ज्ञान नहीं हो सकता है ।

गुरू कीजै गहिला निगुरा न रहिला ।
गुरू बिन ग्यांन न पायला रे भाईला ।।
(गोरखबानी पद - 34)

गोरखनाथजी ने कहा कि जो अंजन (माया) का परित्याग कर निरंजन में स्वस्थ रहता है, वही योगी है । सबदी 230 में उनकी उक्ति-"अंजन छोड़ि निरंजन रहे । ताकूँ गोरष जोगी कहे ।।' - योगी के वास्तविक स्वरूप का प्रकाशन करती है । योगी को सिद्धि-प्राप्ति की दिशा में गोरखनाथजी ऐसे सद्‌गुरू योगी और उनके योगज्ञान की सदा अपेक्षा है ।

मलिक मुहम्मद जायसी ने चार सौ साल पहले ठीक ही कहा था :

बिन गुरू पंथ न पाइय, भूलै सो जो भेट ।
जोगी सिद्ध होइ तब, जब गोरख सौं भेंट ।।
(पदमावत 217)

'गोरखबानी' में सारगर्भित और सहज सरल लोकभाषा में उपदिष्ट भगवान् गोरखनाथ का योगज्ञान भरा-पड़ा है । हमारी वड़ी अभिलाषा थी कि 'गोरखबानी' का एक शुद्ध और परिमार्जित-विशद भाष्ययुक्त संस्करण गोरखनाथ मन्दिर, गोरखपुर से प्रकाशित हो । हमारे संकल्प की पूर्ति में हमारे गोरक्षपीठ से प्रकाशित 'योगवाणी' के सम्पादक रामलाल श्रीवास्तव ने जिस श्रद्धा और तन्मयता का परिचय दिया है, वह भगवान् गोरखनाथ की दिव्य विभूति से ही सत्प्रेरित है, मैं उन्हें हृदय से स्नेहसिक्त आशीर्वाद देता हूँ ।

सच्चिदानन्द तत्व, योगामृतोद्भूत परमेश्वरतत्व अचिन्त्य अवाच्य होते हुए भी शिवगोरक्ष का साक्षात् तेजस्वरूप है, उस ज्योतिर्मय नाथ तेज की जय हो, वही हमारा गुरू है । 'गोरक्षसिद्धान्त संग्रह' प्रमाण है ।

अवाच्यमुच्येत कथं पद तत्,
अचिन्त्यमप्यस्ति कथं विचिन्तये ।
अतो यदस्त्येव तदस्ति तस्मै,
नमो स्तु कस्मै बत नाथतेजसे ।।

गोरखनाथ मन्दिर
गोरखपुर
विजयादशमी, 2035 वि०

महन्त अवेद्यनाथ

सद्‌गुरू मत्स्येन्द्रनाथ की वन्दना

श्रीगुरू परमानंद तिनको दंडवत् है । है कैसे परमानन्द आनंद स्वरूप है सरीर जिन्हि को । जिन्हि के नित्य गाये ते सरीर चेतन्नि अरू आनन्दमय होतु हैं । मैं जु हौं गोरिष सो मछंदरनाथ को दंडवत् करत हौं । हैं कैसे वे मछंदरनाथ । आत्मा जोति निस्चल है अंतहकरन जिनि कौ अरू मूल द्वार तैं छह चक्र जिनि नीकी तरह जानै अरू जुग काल कल्प इनि की रचना तत्व जिनि गायो । सुगंध को समुद्र तिनि कौ मेरी दंडवत । स्वामी तुमे तो सतगुय अम्है तो सिष सबद एक पुछिबा दया करि कहिबा मनि न करिबा रोष ।

\- **गोरखनाथ**

सबदी

बसती न सुन्यं सुन्यं न बसती अगम अगोचर ऐसा ।
गगन-सिषर महिं बालक बोलै ताका नाँव धरहुगे कैसा ।। । ।।

परमतत्व, परमात्मा अगम और अगोचर है । न तो वह भाव (सत्) है और न अभाव (असत्) ही है, सत्-असत्, दोनों से अतीत पद में वह चैतन्य, सिच्चदानन्दघन परमात्मा स्वतः अभिव्यक्त है । वह बालक की तरह निष्प्रपंचतम अभिज्ञान से परिलक्षित निष्पक्ष-निर्मल चेतन ब्रह्म, पापपुण्य-विकार से सर्वथा परे, जीवन-मरण की अवस्था से सदैव अबाधित, रूप-नाम से रहित परमात्म चैतन्य ही योगियों, परमज्ञान से युक्त सिद्ध संत-महात्माओं और आत्मविज्ञानियों का ध्येय तथा साध्य है ।

अदेषि देषिबा देषि बिचारिबा अदिसिटि राषिबा चीया ।
पाताल की गंगा ब्रह्मंड चढ़ाइबा तहां बिमल बिमल जल पीया ।। 2 ।।

परब्रह्म परमात्मा अलख है, निरंजन और सर्वथा त्रिगुणातीत-निर्गुण और निराकार है । उसका अनुभव करने के बाद उसे चित्त में अधिष्ठित, सुव्यक्त कर लेना चाहिये । ब्रह्मसाक्षात्कार के लिये मणिपूरचक्र, पाताल में स्थित गंगा, परम ज्योति (योग-शक्ति कुण्डलिनी) को ब्रह्माण्ड (ब्रह्मरन्ध्र, सहस्रार अथवा सहस्त्रदलकमल) में उन्मुख (प्रबुद्ध) कर वहाँ परब्रह्म का साक्षात्कार करना चाहिये । ब्रह्मरन्ध्र में कुण्डलिनी के सम्मिलन से अमृत, अमता अथवा सनातन, अक्षय-अव्यय ब्रह्मपद का रसानुभव सुगम हो जाता है ।

इहां ही आछै इहां ही अलोप । इहां ही रचिलै तीनि त्रिलोक ।
आछै संगै रहै जू धा । ता कारिण अनंत सिधा जोगेस्वर हूवा ।। 3 ।।

वह परमात्मा इस शून्य स्थान-ब्रह्मरन्ध्र में निर्विकार चेतन तत्व के रूप में निराकार है, अभिव्यक्त होकर अनभिव्यक्त-सा है । यह ब्रह्मरन्ध्र,

हे काजी । परमात्मा के सन्देशवाहक रसूलमुहम्मद साहब के विचार बड़े ही निगूढ़ और रहस्यपूर्ण थे । उनके पवित्र शब्दों का रहस्य अत्यन्त मार्मिक है । मुहम्मद साहब ने तो भगवत् प्रेम का मार्ग प्रशस्त किया, उन्होंने जीव की हिंसा का प्रतिपादन नहीं किया, उनके हाथ में जो छूरी (शस्त्र) थी, वह लोहे या इस्पात की बनी हुई नहीं थी, वह तो प्रेम (प्राणिमात्र के प्रति कल्याण) से निर्मित दिव्य शब्दों की शक्ति थी ।

सबदै मारी सबदैं जिलाई ऐसा महंमद पीरं ।
ताकै भरमि न भूलौ काजी सो बल नहीं सरीरं ।। ।0 ।।

हे काजी ! इस्लाम के प्रवर्तक मुहम्मद साहब ने अपने शब्दों में शुद्ध अध्यात्म का प्रतिपादन किया, उनके आध्यात्मिक दिव्य सदुपदेशों से जीवात्मा की भौतिक, मायिक आसक्ति का नाश होता है तथा आत्मा की शक्ति प्राप्त होती है । सदुपदेश अथवा शब्द की ओट लेकर स्थूल बुद्धि से उनकी नकल (अनुकरण) करने से उद्देश्य सिद्ध नही होगा । तुम्हारे तो शरीर में वह बल नहीं है, जो आध्यात्मिक बल कहा गया है और जो मुहम्मद साहब को सहज प्राप्त था ।

नाथ कहंतां सब जग नाथ्या गोरष कहतां गोई ।
कलमा का गुर महंमद होता पहलैं मूवा सोई ।। ।। ।।

केवल शब्द मात्र रटते रहने से उसमें अनुस्यूत आध्यात्मिक तत्व से वंचित होना पड़ता है । 'नाथ' शब्द बहुत ही मार्मिक है, नाथ का तात्पर्य है उस परमात्मा से, परब्रह्म शिव से, जो माया को नियंत्रित कर अपने वश में रखता है पर 'नाथ' मात्र के उच्चारण से कोई यह सोचे कि वह माया के बन्धन से मुक्त है, तो यह युक्तिसंगत नही है, 'गोरख' शब्द का तात्पर्य है उस महान् यौगिक शिवब्रह्म से, जिनके द्वारा अध्यात्म का तत्व सुरक्षित रहता है और जिनके नाम के उच्चारण मात्र से अन्तर्जीवन जाग उठता है पर जो लोग 'गोरख' का नाम लेते हैं, वे केवल शब्द मात्र का उच्चारण करते हैं, इसलिये उनके लिये आध्यात्मिक तत्व का अनावरण अथवा प्रकाशन नही

हो सकता । इसी तरह, (हे काजी,) मुहम्मद साहब ने, इस्लाम के प्रवर्तक ने 'कलमा' का प्राकट्य किया, यह 'कलमा' दिव्य शक्तिप्रदाता, आध्यात्मिक जीवनदाता पवित्र वचन है पर केवल इसके उच्चारण मात्र से ही काम नहीं चल सकता । कलमा से अन्तर्जीवन का मर्म प्रकाशित करना चाहिए । मुहम्मद साहब का पार्थिव शरीर तो नहीं रह गया है पर उनका कलमा अमर है, अक्षर है, परमात्मतत्व का प्रकाशक है ।

सारमसारं गहन गंभीरं गगन उछलिया नादं ।
मानिक माया फेरि लुंकाया झूठा बाद-बिबादं ।। ।2 ।।

योगी योगाभ्यास के द्वारा कुण्डलिनी, प्राण-ज्योति को जगाते हुए सहस्त्रार में उसके प्रवेश करने पर अनाहत नाद, शब्द-ब्रह्म के स्वरूप अथवा बोध का रसास्वादन करता है, अनाहत शबद निगूढ़तम है - यही परम वस्तुतत्व है । अनाहत शब्द के द्वारा ब्रह्मानुभव व्यक्तिगत (योग) साधना का अमृत फल है, अनाहत शब्द से ब्रह्मस्वरूपानुभवरूपी माणिक्य, अमूल्य वस्तुरत्न, की प्राप्ति होती है और यह बात पूर्ण रूप से समझ में आ जाती है कि मुख्य वस्तु ब्रह्मानुभूति, परमात्मपद में रमण है, इससे इतर अन्य ज्ञान मिथ्या वाद-विवादमात्र है ।

कोई बादी कोई बिबादी जोगी कौं बाद न करनां ।
अठसठि तीरथ समंदि समावैं यूँ जोगी कौं गुरूमुषि जरनां ।। ।3 ।।

योगी को अपने सिद्धान्त और मत के प्रतिपादन के लिये किसी दूसरे दार्शनिक विचार और मत-मतान्तर में उलझे प्रतिवादियों की तरह एक - दूसरे की मान्यता का खण्डन कर तथा अपनी विचारधारा का मण्डन कर पृथक्तावादी दृष्टिकोण नहीं अपनाना चाहिए । गुरू द्वारा उपदिष्ट परमात्मज्ञान अप्रतर्क्य है, निर्विवाद और सम्पूर्ण स्वानुभवगम्य है । जिस तरह अड़सठ तीर्थ का जल-प्रवाह, स्रोत समुद्र में समाविष्ट हो जाता है, ठीक उसी तरह गुरूप्रदत्त परमात्म ज्ञानोपदेश के महासमुद्र में प्रपत्ति-स्वरूप साक्षात्कार ही

योगी की सिद्धि है, यही योगी का परम ध्येय है, उसकी आत्मदृष्टि की यह अबाध गति है ।

उतपति हिन्दू जरणां जोगी अकलि पीर मुसलमांनी ।
ते राह चीन्हों हो काजी मुलां ब्रह्मा बिस्न महादेव मांनी ।। ।4 ।।

गुरू गोरक्षनाथ कहते हैं कि हमने हिन्दू के घर में जन्म लिया, अथवा हम शरीर से हिन्दू हैं पर योगाग्नि में उस देह को परिपक्व कर योगी है और गुरू के ज्ञान-प्रकाश में हम साधना के पथ पर अग्रसर हैं । जिस तरह इस्लाम के अनुयायियों के सर्वस्व (गुरू) पीर होते हैं और सभी मुसलमान उनका सम्मान करते हैं, उसी तरह गहन निष्ठा के द्वारा हम अपने गुरू का सम्मान करते हुए योगमहाज्ञान से आत्मस्वरूप के मनन, चिन्तन और ध्यान में निरन्तर तत्पर हैं । हे काजी और मुल्लाओ ! उस योगमार्ग पर चलो और योग साधना करो, जिसको ब्रह्मा (सृष्टिकर्ता), विष्णु (पालनकर्ता) और महादेव (संहारकर्ता) ने भी अपनाया है ।

मांन्यां सबद चुकाया दंद । निहचै राजा भरथरी परचै गोपीचंद ।।
निहचै नरवै भए निरदंद परचै जोगी परमानंद ।। ।5 ।।

श्रद्धापूर्वक गुरू के उपदेश के अनुसार आचार-विचार अपनाने पर साधक द्वन्द्वावस्था, सुख-दुःख, ज्ञान-अज्ञान, मोक्ष-बन्धन, प्रकाश-अन्धकार के सांसारिक प्रपंच में व्यामोह की अवस्था से परे होकर आत्मज्ञान प्राप्त करता है। राजप्रासाद के विषय-सुख से ऊब कर महराज भर्तृहरि और राजकीय ऐश्वर्य में विभ्रान्त महाराजा गोपीचन्द (गोविन्दचन्द्र) ने योगसिद्धि प्राप्त कर आपको योगिराजपद पर अभिषिक्त होने का परमगुरू, योगिगुरू से आत्मोपदेश प्राप्त किया । गुरूज्ञान प्राप्ति में निश्चय, संकल्प ने अनेक विषय-भोग में आसक्त राजाओं को निर्द्वन्द्व बनाकर आत्म-साक्षात्कार प्रदान किया है ।

अहनिसि मन लै उनमन रहै, गम की छांड़ि अगम की कहै ।
छांड़ै आसा रहै निरास, कहै ब्रह्मा हूँ ताका दास ।। ।6 ।।

योगसाधक को रात दिन निरन्तर विषय-भोग तथा सांसारिक प्रलोभनों और ममता-मोह के अज्ञानान्धकार में ग्रस्त मन को अन्तर्मुखी करना चाहिए, उन्मनावस्था में लीन मन के द्वारा ही वह आत्मसाक्षात्कार में समर्थ हो सकता है । जो साधक भौतिक और विनश्वर जागतिक पदार्थो और प्राणियों तथा परिस्थितियों से प्रभावित न होकर आध्यात्मिक जीवन को श्रेयकर समझकर आत्मज्ञान में रमण करता है, वही मन की चंचलता को नष्ट कर स्वरूपानन्द का योग प्राप्त करता है । ऐसा साधक ही योगी कहलाने का अधिकारी है । इस तरह का योगी (वेदज्ञानी) ब्रह्मा से भी उच्चस्थानीय कहा जाय तो इस कथन में किसी तरह का संशय नहीं किया जा सकता है ।

अरधै जाता उरधै धरै, कांम दगध जे जोगी करै ।
तजै अल्यंगन काटै माया, ताका बिसनु पषालै पाया ।। 17 ।।

योगाभ्यास में रत साधक, योगी के लिये वीर्य, बिन्दु की रक्षा उसकी योगसाधना का परम आवश्यक अंग है, वह सम्पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत का अखण्ड रूप से पालन करने पर ही विषयभोगगामिनी वीर्य-धारा को काम-परायण अथवा अधोमुखी होने से रोक पाता है । ऐसा ब्रह्मचर्यव्रती साधक ही ऊर्ध्वरेता कहा जाता है । आशय यह है कि जो साधक कामिनी के भोगास्वादन, विषयसुखरपक सेवन के सुखानुभव का परित्याग कर माया, सांसारिक अविद्यामूलक बन्धन-प्रवृत्ति को छिन्न-भिन्न कर देता है, वही योगसिद्ध कहलाता है, ऐसे योगव्रती का चरण धोने के लिये विष्णु भी लालायित रहते हैं ।

अजपा जपै सुंनि मन धरै, पांचौं इंद्री निग्रह करै ।
ब्रह्म अगनि मैं होमै काया, तास महादेव बंदै पाया ।। 18 ।।

जो योगसाधक, योगी अजपा-जाप करता है, जिसकी चितवृत्ति तैलधारावत् अनवरत 'ॐ' 'सोऽहं' तथा परमात्मा के इष्ट नाम-मंत्र के जप में लगी रहती है, जिसका मन ब्रह्मरन्ध्र (शून्य पद) में रमण करता है अर्थात् ऊर्ध्वमुखी रहता है, जिसके इन्द्रिय समूह चंचलता को छोड़कर स्ववश

(साधक के वश में) रहते हैं, जो विनश्वर शरीर को ब्रह्मानुभूतिरूपी अग्नि में परिशुद्ध कर देता है, उस (योगसिद्ध) पुरूष की चरण वन्दना साक्षात् योगेश्वर भगवान् शिव भी करते हैं ।

धन जोवन की करै न आस, चित्त न राखै कांमनि पास ।
नाद बिंद जाकै घटि जरै, ताकी सेवा पारबती करै ।। 19 ।।

धन और यौवन सदा साथ नहीं देते, मन को कामिनी के भोगास्वाद में आसक्त नही करना चाहिए । नाद और बिन्दु, परमात्म (शिवपरक) महाज्ञान अनाहत नाद और वीर्य शरीर रहते आत्मसात् कर लेना चाहिए, जो साधक इस तरह साधना में रत रहता है, आद्या शक्ति भगवती कल्याणस्वरूपिणी पार्वती महामाया उस पर प्रसन्न रहती हैं, उसे समस्त सिद्धियों से सम्पनन कर देती हैं । ध्यातव्य है कि शक्ति ही नाद है, शिव ही बिन्दु है । कुण्डलिनी जागरत होकर जब शून्य पद में परम शिव का योग पाती है, तब योगी अमृतरस का पान करता है । कहा जाता है कि इच्छा ही नाद है, सगुण या सकल परमात्मा में इच्छा ही स्पन्द है, कम्पन है, इसका स्थूल कर्ण से नहीं, बौद्धिक ज्ञान से आस्वादन होता है । इच्छा के साथ जो क्रिया हे, वह बिन्दु है । शिव की शक्ति से नाद और नाद से बिन्दु उत्पन्न होता है । शिवस्वरूप बिन्दु और बीजस्वरूप शक्ति का सम्बन्ध ही नाद है । वीर्य की रक्षा (बिन्दु की रक्षा) और नादानुसन्धान से योगी जीवन्मुक्त होकर सिद्ध देह में स्थित रहता है । शक्ति स्वरूपिणी पराम्वा जगदीश्वरी शिवा उसकी रक्षा करती हैं ।

बालै जोबनि जे नर जती, काल दुकालां ते नर सती ।
फुरतैं भोजन अलप अहारी, नाथ कहै सो काया हमारी ।। 20 ।।

बाल्यावस्था और जवानी के समय जो मनुष्य संयमित जीवन व्यतीत करते हैं, मन को वश में रखते हैं तथा इन्द्रियों पर निग्रह रखते हैं, जो समय-असमय, दोनों तरह की परिस्थितियों में सद्ज्ञान का आश्रय लेकर सदाचारपरायण रहते हैं, जो जीवन को स्थित रखने के लिए ही अल्प आहार

करते हैं, वे सदा स्वस्थ रहते हैं । ऐसे लोग भौतिक भोगसुख में अपने समय का दुरूपयोग न कर आध्यात्मिक उन्नतिपथ पर निरन्तर अग्रसर होते रहते हैं, वे आत्मस्वरूप में रमण करते हैं, साक्षात् परमात्मस्वरूप हो जाते हैं ।

सबदहिं ताला सबदहिं कूँची, सबदहि सबद जगाया ।
सबदहिं सबद सूं परचा हूआ सबदहिं सबद समाया ।। 2। ।।

योगाभ्यास में शब्द-साधना का पर्याप्त महत्व है । योग-साधना की दृष्टि से शब्द ही ताला है क्योंकि यह परमात्म तत्व को गुप्त रखता है । शब्द की धारा ही सूक्ष्म परमात्म तत्व पर स्थूल आवरणों को बाँधकर सृष्टि का संयोजन तथा निर्माण करती है । मूल अधिष्ठान तक पहुँचने के लिए शब्द की धारा पकड़ कर वापस आना पड़ता है, इसलिए शब्द कुंजी भी है । इसके द्वारा परमात्मरहस्य अभिव्यवत होता है । गुरू-शब्द में परमात्म तत्व अधिष्ठित रहता है, गुरू-उपदेश से ही शब्द (नाद) का जागरण होता है, जीव-आत्मा शब्द का स्थूल और सूक्ष्म स्तरक्रम से श्रवण कर अमृतपद में प्रतिष्ठित हो जाता है । नादानुसन्धान के फलस्वरूप अनाहत ध्वनि सुनायी पड़ती है, स्थूल शब्द का सूक्ष्म शब्द में यही लय है, प्राणवायु के सुषुम्ना-पथ से ब्रह्मरन्ध्र में स्थिर होने पर क्षुद्रघण्टिका, वंशीवीणा भ्रमरादि के नाद की तरह सूक्ष्मतर नाद सुनायी पड़ते हैं । इसके उपरान्त योगी की समाधि-अवस्था आती है । प्राण ब्रह्मरन्ध्र में स्थित हो जाता है और योगी शून्यपद में आत्मामृतपान कर शिव का साक्षात्कार लाभ करता है । उपाधिरहित शब्द-तत्व के रूप में ओंकार, प्रणव अथवा ब्रह्म का प्रकाश होने पर जीवात्मा परमात्मा में अभेद हो उठता है ।

पंथ बिन चलिबा अगनि बिन जलिबा, अनिल तृषा जहटिया ।
संसबेद श्रीगोरख कहिया बुझिल्यौ पंडित पढ़िया ।। 22 ।।

योग-मार्ग कठिन साधना-मार्ग है, इस मार्ग में अनुभव, बोध के प्रकाश में ही चला जाता है । इस मार्ग में अग्नि (स्थूल अग्नि), प्राण का संयमन है, जिसके द्वारा नाड़ी - जाल का मल-शोधन होता है और समस्त विकार

तथा आवरण अपने आप नष्ट हो जाते हैं । इस मार्ग में कुण्डलिनी-जागरण के द्वारा (प्राण) वायु के सुषुम्ना पथ से चक्र-भेदन करते हुए ब्रह्मरन्ध्र, शून्यपद गगन में झरते चन्द्रमामृत के पान से ही आत्मा तृप्ति प्राप्त करता है, अमृतपद में स्थित हो जाता है । योग-मार्ग स्वसंवेद्य मार्ग है, स्वानुभवगत है, यह (योगतत्वज्ञ महाज्ञानसिद्ध गुरू के द्वारा उपदिष्ट) योग-मार्ग अनुभवगम्य है । हे शास्त्र में पारंगत विद्वानो ! योग, साधना से ही सिद्ध होता है, इसे जीवन में उतारना पड़ता है, योग जीवन है, सत्स्वरूप में स्थित रहने की साधन-प्रक्रिया है ।

गगन मंडल मैं ऊँधा कूबा तहां अंमृत का बासा ।
सगुरा होइ सु भरि भरि पीवै निगुरा जाइ पियासा ।। 23 ।।

गगन-मंडल, सहस्रार अथवा ब्रह्मरन्ध्र में एक ऐसा कुंआ है, जिसका मुख औंधा है, इसमें अमृत का वास है । इस अमृत का पान वही प्राणी कर सकता है, जो सद्गुरू की शरणागति में स्थित है, सद्गुरू ही अमृत पान का उपाय बतलाते हैं । जिसे सद्गुरू की प्राप्ति नही हो सकी है और साधना के पथ पर अकेला भटक रहा है, उसे अमृत पीने को नहीं मिल सकता, वह प्यासा ही रह जाता है । योग-पथ का प्रदर्शक सद्गुरू प्राणायाम की शक्ति को बढ़ाते हुए मूलाधार चक्र में स्थित सोई विद्युत-प्रभा के समान कुण्डलिनी को सुषुम्णा नाड़ी के माध्यम से जाग्रत करते हुए शून्य पद, ब्रह्मरन्ध्र में परमशिव के साक्षात्कार के द्वारा अमृतपान कराता है । जिसे सद्गुरू की प्राप्ति नही है, वह निगुरा है, उसे आत्मतृप्ति, साधना में सिद्धि नहीं मिलती है, वह अमृतपान से वंचित रह जाता है ।

गगने न गोपंत तेजे न सोषंत पवने न पेलंत बाई ।
मही भारे न भाजंत उदके न डूबन्त कहौ तौ को पतिआई ।। 24 ।।

आत्मा सर्वव्यापक है, सर्वत्र है, अविनाशी है, साक्षात् परमात्मा का ही अभिन्न अद्वय रूप है । यद्यपि गगन का अमित विस्तार है, तथापि यह असीम और अनन्त आत्मा को अपने में आविष्ट नहीं करता है, यह आत्मा

तेज (अग्नि) के द्वारा शोषित नहीं किया जाता है, इसी तरह वायु में इतनी शक्ति नही है कि आत्मा को इधर-उधर कर अस्थिर कर दे, यह आत्मतत्व जल में भी लीन होकर अस्तित्वहीन नही हो सकता, इसी तरह पृथ्वी की भार-शक्ति इस आत्मा को खण्डित नहीं कर सकती । आशय यह है कि आत्मा, आकाश, अग्नि, वायु, जल और पृथ्वी के विनश्वर गुण का धर्मवाला नही है, यह इन पाँच भूतों से परे चिन्मय परम सत्ता है ।

बास सहेती सब जग बास्या, स्वाद सहेता मीठा ।
साच कहूँ तौ सतगुर मांनैं रूप सहेता दीठा ।। 25 ।।

सच्चिदानन्दघन स्वरूप परब्रह्म परमात्मा, परमशिव सौन्दर्यसार-सर्वस्व हैं, उनकी दिव्यता, माधुर्य और ऐश्वर्य की रसानुभूति योगसिद्ध सद्‌गुरू की कृपा से ही जीवात्मा के लिए सहज अनायास उपलब्ध है । परमात्मा सर्वत्र व्याप्त है, उनकी दिव्य अनन्त माधुरी में जो स्वाद, आनन्द है, जो मादक सुगन्ध है, वह उन्हीं का अखण्ड स्वरूप है, समस्त जगत् इस मादकता से आप्यायित है, उनके दिव्य-चिन्मय माधुर्य का स्वाद-भोग समस्त जगत् को माधुर्य-ही-माधुर्य में रूपान्तारित कर देता है । ब्रह्मानन्द-रस का आस्वादन करने वाले प्राणी के लिये समस्त जगत् ब्रह्मानन्दमय हो उठता है, परमात्म सौन्दर्य का आकार हो जाता है । यह सत्यानुभव है पर इसका विवेक सद्‌गुरू की कृपा से सम्भव है, सौन्दर्यमाधुर्यऐश्वर्यनिधि अनन्त परमात्मा का साक्षात्कार, दर्शन सद्‌गुरू प्रदत्त विवेक प्रकाश में ही होता है ।

मरौ वे जोगी मरौ, मरण है मीठा ।
तिस मरणीं मरौ, जिस मरणीं गोरष मरि दीठा ।। 26 ।।

हे योगी । मरो, जीवन्मुक्ति अवस्था में स्थित होकर अमृतपद प्राप्त कर लो, इस तरह जीते जी संसार की दृष्टि में मर कर अमृतपद में प्रतिष्ठित हो जाना बड़ा ही मधुर है, मीठा है, इस मधुरामृत का वर्णन हो ही नहीं सकता । हे योगी ! उस मृत्यु, अमरता का वरण करो, जिसके द्वारा मैंने (गोरखनाथ ने) अमृतपद प्राप्त कर, जीवन्मुक्त होकर परब्रह्म परमात्मा,

परमशिव का अपने दिव्य चक्षु, आत्मविवेक से दर्शन अथवा साक्षात्कार कर लिया, यह मरण सामान्य मरण नहीं है, इस मरण द्वारा योगी पार्थिव तत्व का, भौतिक शरीर का दिव्यीकरण, परमात्मीकरण कर अमृतरस का निरन्तर पान कर अमर हो जाता है ।

हबकि न बोलिबा, ठबकि न चालिबा, धीरैं धारिबा पावं ।
गरब न करिबा सहजैं रहिबा, भणत गोरष रावं ।। 27 ।।

(योगी का जीवन पूर्ण रूप से संयमित और विनियमित होना चाहिए) आचार-विचार और संयम तथा युक्त-उचित व्यवहार से परम श्रेयस्कर जीवन ही सफल जीवन है, बिना सोचे-समझे, अपने विचार और कार्य का परिणाम-दर्शन किये बिना ही अचानक किसी विषय में बोल नहीं उठना चाहिए । चलने में भी सावधान रहना चाहिए कि पैर किसी ऐसी दिशा की ओर न उठ पड़े, जिधर पथ कुश-कण्टक से आकीर्ण हो, रास्ते में गड्ढे हों, क्षण-क्षण में पतन, गिर पड़ने की सम्भावना हो, इसलिये सोच-विचार कर धीरे-धीरे अपने अभीष्ट कार्य-पथ पर अग्रसर होने वाला ही युक्त जीवन से सम्पन्न कहा जाता है । मन में उन्माद नहीं आने देना चाहिए, इससे अभिमान, मिथ्या अहंकार और गर्व उत्पन्न होता है । योगसाधक को सामान्य जीवन, स्वाभाविक जीवन अपनाना चाहिए, साधक की यही सहज अवस्था है, जो संयम, आचार-विचार और विनियम से युक्त है । (महायोगी गोरखनाथ का कथन है कि) यह मेरा (गोरखनाथ का) उपदेश है ।

भर्या ते थीरं झलझलंति आधा ।
सिधें सिध मिल्यारे अवधू बोल्या अरू लाधा ।। 28 ।।

योगसिद्ध पुरूष गम्भीर होते हैं । वे यत्र-तत्र, इधर-उधर अपने अध्यात्मज्ञान अथवा योगसिद्ध जीवन का प्रचार करते नहीं फिरते । जो आत्मज्ञान से पूर्ण हैं, वे शान्त रहते हैं । जो अधकचरे हैं, जिन्हें आत्मज्ञान की प्राप्ति नहीं हो पाती है, केवल इधर-उधर सुनकर थोड़ा-बहुत योगाभ्यास कर आत्मतत्व का प्रकाशन करते हैं, उनसे आत्मज्ञानी - योगानुभवी अथवा

योगसिद्ध पुरूष वाद-विवाद कर अपनी शान्ति भंग नही करते हैं, वे तो सिद्धों के मिलने पर आत्मज्ञान की चर्चा करते हैं, परस्पर एक दूसरे के आत्मबोधामृत का रसास्वादन कर संतुष्ट होते हैं और परमानन्द का अनुभव करते हैं । हे अवधूत ! सिद्धपुरूष के इस मिलन अथवा समागम में ही आत्मसाक्षात्कार का लाभ सहज-सुलभ होता है ।

नाथ कहै तुम सुनहु रे अवधू दिढ़ करि राषहु चीया ।
काम क्रोध अंहकार निबारौ तौ सबै दिसंतर कीया ।। 29 ।।

अनेक योगी देश-देशान्तर में भ्रमण कर अपनी भ्रमण-लालसा की पूर्ति करते हैं, ऐसे योगियों को (महायोगी गोरखनाथ का) उपदेश है कि वे वास्तविक देशान्तर की स्थिति का लाभ सहज रूप से कर सकते हैं, यदि उनको काम, क्रोध, अंहकार नही सताते, ये ही साधना में विघ्न हैं । गुरू गोरक्षनाथ अवधूतयोगी से कहते हैं कि हे अवधूत ! चित्त को समाहित और स्थिर कर लोभ-काम-क्रोध, अहंकाररूपी विघ्नों को नष्ट कर वैराग्य के राज्य में रमण करना चाहिए ।

स्वामी बंन षंडि जाउं तो षुध्या व्यापै नग्री जाउं त माया ।
भरिभरि षाउं त बिंद बियापै क्यों सीझति जल ब्यंद कि काया ।। 30 ।।

योग-साधना के पथ में क्षुधा, भूख की निवृत्ति, साधक के लिये एक महती समस्या है, जिसके समाधान के बिना वह स्वस्थचित्त और सावधान होकर योगाभ्यास में सफलता नहीं पाता । साधक अपनी समस्या को प्रस्तुत करते हुए कहता है कि हे स्वामी ! आत्मयोगानुभवी गुरूदेव ! जब मैं वैराग्य की भावना को दृढ़ करने के लिये एकान्त सेवन की दृष्टि से वन-प्रान्त में जाता हूँ तो वहाँ आहार की उचित व्यवस्था के अभाव में भूख शरीर को प्रभावित कर उसे क्षीण और दुर्बल बनाती है, यदि मैं नगर में भिक्षा माँग कर जीवन यापन करते हुए साधना में तत्पर होने का यत्न करता हूँ तो (नगर में) इन्द्रिय-सुख, विषय-भोगासक्ति और कृत्रिम वैषयिक जीवन

के प्रति मन में राग उत्पन्न होता है । हे देव । मैं ऐसी स्थिति में रज और वीर्य से उत्पन्न शरीर को किस प्रकार स्वस्थ रखूँ, विकारों और दोषों से बचा कर योग-साधना में इसका सदुपयोग करते हुए आत्मसाक्षात्कार का सौभाग्य प्राप्त करूँ ?

धाये न षाइबा भूषे न मरिबा अहनिसि लेबा ब्रह्म अगनि का भेवं ।
हठ न करिबा पड़्या न रहिबा यूँ बोल्या गोरष देवं ।। 31 ।।

योगी के लिये युक्त-समुचित आहार-विहार से जीवन-यापन करना बड़ा आवश्यक है । शरीर अन्नमय है, इसका पोषण उचित आहार से ही होता है, ऐसी स्थिति में भूख लगने पर सामान्य रूप से उतना ही भोजन ग्रहण करना चाहिए, जितना शरीर की यात्रा के लिये आवश्यक है, उपवास उतनी ही मात्रा में आवश्यक है, जितनी से शरीर का तेज बढ़ता हो, यदि शरीर की शक्ति-क्षीण होती हो और उस स्थिति में भी योगाभ्यासी भूखा रहने का हठ करता है तो निस्सन्देह उसकी योग-साधना में अनेक विघ्न उपस्थित हो जाते हैं । योगी को उतनी ही साधना करनी चाहिए, उतनी ही मात्रा में योगाभ्यास में रत रहना चाहिए, जितनी उसकी उत्तरोत्तर सफलता, अभ्यास की दृढ़ता के लिये आवश्यक है । न तो उसे अभ्यास अधिक बढ़ा देना चाहिए और न तो नितान्त कम ही कर देना चाहिए, जिससे साधना की गति मन्द पड़ जाय । साधना में युक्त विवेक की बड़ी आवश्यकता है, अन्यथा गोरखनाथ की उक्ति है कि योगाभ्यासी को लाभ के बदले हानि हो सकती है । साधना संयमित होनी चाहिए ।

थोड़ा बोलै थोड़ा षाइ तिस घटि पवनां रहै समाइ ।
गगन मंडल मैं अनहद बाजै प्यंड पड़ै तौ सतगुर लाजै ।। 32 ।।

योगी को अल्पाहार करना चाहिए, अल्पाहार के साथ-ही-साथ उसके लिये मितभाषी भी होना परमावश्यक है । जिस योगी की वाक्-शक्ति संयमित और आहार अल्प होता है, वही प्राण और अपान वायु का सन्तुलन का सुषुम्ना आदि नाड़ियों का शोधन करते हुए ब्रह्मरन्ध्र से झरते चन्द्रामृत का

पान कर अमृतत्व-लाभ करता है, ऐसे ही योगी को नादानुसन्धान की प्रक्रिया के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र में अनाहत नाद सुनायी पड़ता है । वाक् संयम और स्वल्पाहार के अभाव में यदि योगी का शरीर-पात हो जाता है, तो यही समझना चाहिए कि उसने गुरू के द्वारा विधिपूर्वक प्रदत्त उपदेश (ज्ञान) की उपेक्षा कर दी है, यह उसके लिये निस्संदेह बड़ी लज्जा की बात है, यह गुरू-ज्ञान का साक्षात् अनादर है ।

अवधू अहार तोड़ौ निद्रा मोड़ौ कबहुँ न होइगा रोगी ।
छठै छमासै काया पलटिबा ज्यूँ को को बिरला बिजोगी ।। 33 ।।

हे अवधूत ! योगाभ्यास में लीन रहने वाले योगी ! तुम युक्त आहार-विहार का अभ्यास करो । अधिक मात्रा में भोजन करने से योग साधना में विघ्न पड़ता है । इसी तरह रात में अधिक सोने से साधना खंडित होती है । आत्मचिन्तन तथा परमात्म-चिन्तन में विक्षेप आ जाता है । साथ - ही - साथ वर्ष में कम-से-कम छः-छः माह के अन्तर से आयुर्वेद के निर्देशानुसार कायाकल्प करने से शरीर आरोग्य लाभ करता है, उसमें नयी प्राण-शक्ति और दीप्ति तथा स्फूर्ति आती है । अच्छे वैद्य की देख-रेख में विहित शीशे और टिन के भस्म अथवा वनस्पति, जड़ी - बूटी के सेवन से कायाकल्प सिद्ध हो सकता है । आम्रकल्प और तक्र के (मट्ठे के) कल्प की भी आयुर्वेद में विधि निर्दिष्ट है । मित आहार, यथोचित निद्रा, और अर्धवार्षिक कायाकल्प के द्वारा शरीर को नीरोग रखते हुए योगी अपनी साधना में सिद्धि प्राप्त करता है, पर यह कार्य इतना दुष्कर है कि विरले कोई-कोई योगी ही इसमें सफल होते हैं ।

देव कला ते संजम रहिबा, भूत कला अहारं ।
मन पवना लै उनमनि धरिबा ते जोगी तत सारं ।। 34 ।।

योगी साधक को अष्टांग योग, - यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि–के अभ्यास से देव कला प्राप्त होती

है । इन्हीं के द्वारा देवकला-दिव्य-शक्ति से जीवन संयमित होता है । भूतकला (भौतिक शक्ति) पांचभौतिक शरीर के आरोग्य की शक्ति को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये युक्त आहार का सेवन आवश्यक है । आत्मबल और शरीर के आरोग्य से सम्पन्न योग-साधक अपनी चित्तवृत्तियों का निरोध कर मूलाधार से उत्थित कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत करते हुए प्राण (वायु) को सुषुम्ना नाड़ी के पथ से प्रवाहित करते हुए मन को ब्रह्मरन्ध्र - शून्य परम पद में समाहित कर देता है, यही मन का उन्मन होना है, यही उन्मनी अवस्था है । मन के उन्मन होने पर और प्राण के वश में होने पर योगी मन-पवन की विजय द्वारा परम वस्तुतत्व, परमात्म पद का साक्षात्कार कर लेता है ।

अवधू निद्रा कै घरि काल जंजालं अहार कै घरि चोरं ।
मैथुन कै घरि जुरा गराजै अरध-उरध लै जोरं ।। 35 ।।

हे अवधूत ! अधिक सोने से योग-साधक अपने अमूल्य समय का सदुपयोग आत्मतत्व, परमात्मतत्व के चिन्तन में नहीं कर पाता है, वह मृत्यु के पाश में फँस जाता है । योगाभ्यासी को आहार-विहार में पूरा सावधान रहना चाहिए । पौष्टिक और स्वाद के लिये किये गये अधिक आहार से शरीर में बल बढ़ता है और उसमें चोर कामदेव प्रवेश कर काम-विकार उत्पन्न करता है, इससे वह कामोपभोगपरायण हो जाता है, काम-वासना की तृप्ति करते-करते, जरा-वृद्धावस्था-से शरीर जर्जर हो जाता है, वह साधना के योग्य नहीं रह जाता है, इसलिये योगाभ्यासी के लिये पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत में स्थित रह कर शरीर को जराग्रस्त होने से बचाना चाहिए । यह तभी हो सकता है, जब वह वीर्य को अधोगामी न बनाकर ऊर्ध्वगामी कर दे, (वीर्य के) अधोगमन का आशय कामोपभोग और स्त्री-समागम में वीर्य का अपव्यय करना है, ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी ही वास्तविक योगी है ।

अति अहार यंद्री बल करै नासै ग्यांन मैथुन चित धरै ।
व्यापै न्यंद्रा क्षंपै काल ताकै हिरदै सदा जंजाल ।। 36 ।।

अधिक आहार ग्रहण करने से इन्द्रियाँ बलवती हो जाती हैं और उनके बलवती होने पर मन में विषय-भोग और काम-वासना (मैथुन) की तृप्ति की इच्छा जागती है । योगी का विवेक नष्ट हो जाता है । वह वासना में रत हो जाता है । इस तरह वह काल के वश में होता जाता है, उस पर मृत्यु का आक्रमण किसी भी समय होने की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है । वह व्यर्थ के चिन्ता-जंजाल में उलझ जाता है और साधना में सफलता का स्वारस्य उसे नहीं मिलता है । वह जीवन में योग-साधना के फलस्वरूप आनन्द -लाभ से वंचित हो जाता है । योगाभ्यास में संयमित अल्प आहार का ही पक्ष लेना चाहिए, इससे इन्द्रियों में भौतिक बल के स्थान पर आध्यात्मिक स्फूर्ति आती है ।

घटि घटि गोरख बाही क्यारी । जो निपजै सो होइ हमारी ।
घटि घटि गोरष कहै कहांणी । काचै भांडै रहै न पांणी ।। 37 ।।

शरीर क्षेत्र (खेत) है, इस खेत की क्यारी में शुद्ध योगकर्म ही उपज है । यह शरीर में सूक्ष्म रूप से विद्यमान ब्रह्म का प्रकाश है । गोरखनाथ प्रत्येक शरीर में विद्यमान होकर आत्मज्ञान का उपदेश करते हैं । उनके द्वारा उपदिष्ट योगज्ञान-प्राप्ति का परम फल योगाभ्यास से परिपक्व शरीर में फलित होता है, वह योगसाधनारहित शरीर में स्थिर नहीं रह सकता है । जिस तरह मिट्टी के कच्चे घड़े में पानी नहीं ठहरता, वह बह जाता है, घड़ा फूट जाता है, इसी तरह अपरिपक्व शरीर जरा-रोग आदि विकारों से जर्जर हो जाता है, उसमें ब्रह्मज्ञान नहीं पच पाता । योगसाधना में सिद्ध प्राणी के ही शरीर, प्राण और मन तथा हृदय में (गोरखनाथ के द्वारा उपदिष्ट) योगज्ञान-आत्मज्ञान, परमात्मज्ञान स्थित होता है ।

घटि घटि गोरष फिरै निरूता । को घट जागे को घट सूतां ।
घटि घटि गोरष घटि घटि मींन । आपा परचै गुर मुषिचींन्ह ।। 38 ।।

प्रत्येक प्राणी के शरीर में उसकी आत्मा के अभिन्न स्वरूप गोरखनाथ व्याप्त हैं । किसी-किसी प्राणी के शरीर में वे (ज्ञानस्वरूप योगेश्वर

गोरखनाथ) जाग रहे हैं और किसी-किसी के शरीर में वे (उसकी अविद्या के कारण) आवरित से हैं, सोते से लगते हैं । इसका आशय यह है कि कोई-कोई आत्मज्ञानी योगी उनकी व्यापकता का अनुभव कर पा रहा है और कोई प्राणी भौतिकता में ही मुग्ध होने के कारण उनके आत्मा में विद्यमान रहते हुए भी उन्हें नही जान पा रहा है । वे अपने गुरू परम योगीन्द्र मत्स्येन्द्रनाथजी की कृपा से उनसे प्राप्त आत्मबोध के द्वारा उन्हीं के अभिन्न रूप होकर घट-घट में विचरण करते हैं । प्रत्येक प्राणी को वे उपदेश देते हैं कि मेरा (गोरखनाथ का) यही मार्ग-दर्शन है कि जीवात्मा गुरू के सम्मुख होकर निजानन्दस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाय ।

पावड़ियाँ पग फिसलै अवधू लोहै छीजंत काया ।
नागा मूनी दूधाधारी एता जोग न पाया ।। 39 ।।

यहाँ योग साधना में वाह्य वेश-भूषा पर अधिक बल देने का निषेध किया गया है । गोरक्षनाथ का कहना है कि पादुकाओं के सेवन करने वाले बड़े-बड़े ज्ञानियों और सिद्धों के पैर फिसल जाते हैं, वे पतनोन्मुख हो जाते हैं । इसी तरह केवल मात्र लोहे की जंजीर लंगोटीरूप में पहनने से शरीर दुर्बल और शक्तिहीन हो जाता है, इस विधि से यौगिक साधना में सिद्धि नहीं मिलती है । नग्न रहने वाले (नागा) केवल वाक्शक्ति के संयम पर आध्यात्मिक साधना के लिये निर्भर रहने वाले मौनी महात्मा, जिनमें चंचलता, इन्द्रियों की संयमहीनता, विषयानुगामिता बनी रह सकती है, योगसाधक नहीं कहला सकते हैं, उनमें निश्चात्मिका बुद्धि प्रायः नही रहती और आहार, एक मात्र सात्विक आहार, गाय के दूध का सेवन करने वाले पयोहारी भी केवल पयोहार मात्र के ही आश्रय से आत्मज्ञान की प्राप्ति से दूर रह सकते हैं । यह आवश्यक नही है कि दिगम्बर (नंगे रहने वाले संन्यासी), मौंनी और पयोहारी, शरीर में लोहे की जंजीर मात्र धारण करने वाले यती और खड़ाऊँ पर चलने वाले तपस्वी उपर्युक्त साधनाओं से योगसिद्ध हो जायं । यद्यपि इन साधनाओं से सद्‌विवेकी योगी योगाभ्यास में उत्तरोत्तर प्रगतिशील होता है तथापि योग का मर्म तो विचित्र ही है, दिव्य ही है, योग-ज्ञान का उदय सुदृढ़तापूर्वक यौगिक साधनों, यम-नियमपूर्वक आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार,

धारणा, ध्यान-समाधि से ही होता है, आत्मविवेकी ही योगसम्पन्न होता है। सहज वैराग्य से ही योग-सिद्धि होती है।

दूधाधारी पर धरि चित । नागा लकड़ी चाहै नित ।।
मौनी करै म्यंत्र की आस । बिनु गुर गुदड़ी नही बेसास ।। 40 ।।

योगाभ्यास में साधक के लिये स्वाश्रय ही सहज वैराग्य का बोधक है। साधना में पराश्रय, दूसरों से प्राप्त वस्तु के द्वारा शरीर-यात्रा के निर्वाह की इच्छा अत्यन्त बाधक है। पयोहारी को सदैव इस बात की चिन्ता बनी रहती है कि किसी के घर से शुद्ध स्वच्छ दूध की प्राप्ति हो जाय, इस तरह वह अनिकेत नहीं कहा जाता, क्योंकि उसकी दृष्टि दूसरे के निकेत (घर) पर दूध की प्राप्ति के लिये लगी रहती है। दिगम्बर, नग्न रहने वाला नागा सन्यासी भी शरीर को शीत आदि से सुरक्षित रखने के लिये धूनी को निरन्तर प्रज्वलित करते रहने की दिशा में दूसरे से लकड़ी की अपेक्षा रखता है, पराश्रयी होता है। इसी तरह वाक्शक्ति को संयमित करने वाले मौनी महात्मा का भी अपने मन्तव्य के स्पष्टीकरण के लिये एक सहायक, साथी की अपेक्षा रहती है। इसलिये मौनी भी पूर्ण रूप से आत्मनिर्भर नहीं हो पाता और स्वात्म-प्रकाश की प्राप्ति से, अलख दिव्य परमात्मज्योति के साक्षात्कार से किसी-न-किसी अंश में न्यूनाधिक वंचित रह जाता है। सहज वैरागय तो गुरू की कृपा से ही सुलभ होता है, गुरूप्रदत्त वेश (ज्ञान) गुदड़ी को अपना कर यथालाभसन्तोष की दृष्टि से सम्पूर्ण सांसारिक हलचलों में तटस्थ रहते हुए गुरूज्ञान के प्रकाश में योगी आत्मसाक्षात्कार के परम आधार योगविवेक से सम्पन्न होता है।

दषिणी जोगी रंगा चंगा, पूरबी जोगी बादी ।
पछमी जोगी बाला भोला, सिधजोगी उतराधी ।। 41 ।।

(इस सबदी में योगेश्वर गोरखनाथ की योग-साधना से सम्बन्धित प्रमुख स्थान हिमालय आदि की ऐतिहासिकता और पवित्रता तथा आध्यात्मिक दिव्यता पर प्रकाश पड़ता है, उनका कथन है) दक्षिण-नर्मदा नदी के

तटवर्ती, अथवा विन्ध्याचल के क्षेत्र से रामेश्वरम् तक के भूमिभाग में योग-साधना करने वाले योगी आहार-विहार और विषय-सुख प्रदान करने वाले पदार्थों के सेवन से मायामय जीवन से युक्त होते हैं। वे पद्मिनी स्त्रियों के रूप-जाल में मुग्ध होकर योगज्ञान से हाथ धो बैठते हैं । पूर्वक्षेत्र-विशेषतः आसाम-उड़ीसा और बंगाल प्रदेश के योगी शक्ति-साधना के वातावरण में साधना करते हुए अपने आपको तान्त्रिक-मान्त्रिक आकर्षण और सम्मोहन से दूर नहीं रख पाते हैं, अपने जीवन का अमूल्य समय वाद-विवाद में खो देते हैं । पश्चिम दिशा-काश्मीर, पंजाब, सिंध, गुजरात और राजस्थान-के योगी निर्गुण निराकार परमात्मा के स्वरूप-चिन्तन में निर्मल आत्मज्ञान और प्राप्ति को प्रमुखता देते हुए योग के अभ्यास को गौणता प्रदान करते हैं, इसी कारण उन्हें असमय मृत्यु का शिकार भी हो जाना पड़ता है । उत्तराखण्ड-हिमालय के वातावरण के तिब्बत, नेपाल, गंगोत्री, यमुनोत्री तथा बदरी क्षेत्र-में योग-साधक का मन शान्त, एकान्त, निर्मल स्थान में साधना में लग जाता है, वे चित्तवृत्ति का सर्वथा निरोध करते हुए संयमित और योगानुशासित जीवन-यापन करते हुए आत्मज्ञान और परमात्मचिन्तन में लगे रहकर योगसिद्ध महात्मा हो जाते हैं । हिमालय की रमणीय उपत्यकाओं में एकान्त सेवन करते हुए वे सिद्धयोगी हो जाते हैं ।

अवधू पूरब दिंसि ब्याधि का रोग, पछिम दिसि मिर्तु का सोग ।
दक्षिण दिसि माया का भोग, उत्यर दिसि सिधका जोग ।। 42 ।।

हे अवधूत ! योग-साधना के लिये पूर्व प्रदेश-आसाम, उड़ीसा और बंगाल-का वातावरण तंत्रमत और कौलाचार तथा शाक्त साधना से प्रभावित होने के कारण उपयुक्त नही है । यहाँ योगी साधक को व्याधियों से ग्रस्त होना पड़ता है । पश्चिम दिशा,-काश्मीर, पंजाब, राजस्थान और सिंध प्रदेश-के भी योगसाधनानुकूल वातावरण में, कहीं शीत का प्रकोप है, तो कहीं मरूस्थल की नीरसता है, कहीं भयानक हिमपात होता है, इस प्रकार यहाँ मृत्यु का प्रकोप प्राणियों की चिन्ता का महान् विषय है । दक्षिणांचल मे रमणियों के रूप-जाल में उलझ कर योगी विषय-भोग में आसक्त होकर अपनी योग-साधना का मूल उद्देश्य, परमात्म साक्षात्कार अथवा शिवात्मैक्य

का विस्मरण कर देते हैं । योगसाधना और योगसिद्धि के एकमात्र अनुकूल एकान्त पुण्यक्षेत्र उत्तरांचल, हिमालय प्रदेश की उपत्यकायें हैं, उत्तराखण्ड हिमालय ही सिद्धों के योगानुभव की शान्तिपूर्ण तपोभूमि है ।

धूतारा ते जे धूतै आप, भिष्या भोजन नही संताप ।
अहूठ पटण मैं भिष्या करै । ते अवधू सिवपुरी संचरै ।। 43 ।।

योगी सदाचारी और सत्यवादी होते हैं और वे किसी भी प्राणी के साथ कपट नहीं करते, उनके व्यवहार में निश्छलता रहती है । वे अहंकार को अपने मन में रंचमात्र भी ठहरने नही देते हैं, वे अहंकार का धूनन करते हैं, उपेक्षा करते हैं, उनकी अहंकार से मैत्री रहती ही नही है । वे जितने से पेट भर जाय, उतना ही भोजन माँग कर क्षुधा की तृप्ति करते हुए सन्तोषपूर्वक आत्मचिन्तन और परमात्मा के ध्यान में समाहित रहते हैं । आधिदैविक और आधिभौतिक तथा आधिदैहिक ताप उन्हें संतप्त तथा क्लान्त नही करते हैं । वे अपने शरीर के भीतर अन्तरात्मा का ध्यान करते हैं, उसी साढ़े तीन हाथ (अहुठ) वाले नगर में उनकी आध्यात्मिक जिज्ञासा, साधना अथवा सिद्धि-प्राप्ति की पिपासा शान्ति होती है । शरीर ही उनका नगर (पत्तन-पटण) है, उसी में संस्थित रहकर, बाह्य वृत्तियों का निरोध करते हुए योगी कुण्डलिनी - जागरण, षट्चक्र-भेदन और नाड़ी-शोधन तथा आसन और प्राणायाम के अभ्यास से स्वस्थ रहते हैं । वे इस तरह शरीर रूपी नगर के भीतर स्थित शिवलोक, ब्रह्मरन्ध्र, में शिव का साक्षात्कार कर जीवनामृत का रसास्वादन करते हैं । (गोरखनाथ महायोगी का कथन है,) हे अवधूत ! ऐसे योगी ही परमातमा का साक्षात्कार कर महेश्वर आदिनाथ का स्वरूपानुभव करते हैं ।

घरबारी सो घर की जाणै । बाहरि जाता भीतरि आणै ।।
सरब निरंतरि काटै माया । सो घरबारी कहिए निरंजन की काया ।। 44 ।।

योगी वैराग्य के अभय राज्य का नागरिक होता है, जिसमें निवास करने वाला प्राणी संन्यास-धर्म का पालन करता है, वह अनिकेत होता है ।

योगी का घर तो शरीर ही है, वह इसे यम-नियमपूर्वक आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि, षट्चक्रभेदन और नाड़ी-शोधन के द्वारा प्रत्येक क्षण पवित्र और निर्मल रखता है, वह अपने घर की पूरी देखभाल रखता है, उसमें कहीं भी छिद्र, सूराख नहीं होने देता अन्यथा सांसारिक विषय-वृष्टि से उसका घर ढह जाता है । प्राणवायु को वह संयमित करते हुए प्राणशक्ति, जीवन-शक्ति को अक्षुण्ण बनाये रखता है तथा निरन्तर ब्रह्मचर्य में स्थित रहता है, वह माया-इन्द्रियों की विशेषसेवन-प्रवृत्ति का नाश कर देता है, उसे माया प्रभावित नहीं कर पाती है, अमृत की शीतल ज्योत्सना से उसकी काया और मन, दोनों स्वस्थ और नीरोग रहते हैं । ऐसे पवित्र शरीर से सम्पन्न योगी के चित्त में परम शिव का रमण होता है । वह परमात्मा शिव का ही चिन्मय विग्रह हो जाता है, साक्षात् शिवस्वरूप हो जाता है ।

गिरही सो जो गिरहै काया । अभि अंतरि की त्यागै माया ।
सहज सील का धरै सरीर । सो गिरही गंगा का नीर ।। 45 ।।

गुरू गोरक्षनाथ कहते हैं कि सच्चा गृही वह है जो अपने शरीर रूपी गृह की बड़ी तत्परता से रक्षा करता है, आसन और प्राणायाम, खेचरी आदि मुद्रा तथा जालन्धर आदि बन्धों की सिद्धि कर वह अपने घर की सदा देखभाल करता है । उसके घर में, शरीर के अन्तःकरण में माया ज्ञानरत्न, वस्तुतत्व की तस्करी नहीं करने पाती, माया का जाल कट जाता है, अन्तःकरण में आध्यात्मिक ज्योत्सना से अमृतरस प्रवाहित होता रहता है । वह योगी शीलमर्यादित जीवन के आचार-विचार से सम्पन्न होनें के लिये सम्पूर्ण शीलविग्रह हो जाता है, ऐसा शरीरसाधक, गृही योगी गंगा-जल की तरह पवित्र जीवन से पूर्णतया सम्पन्न होता है, दूसरों के पाप-ताप उसके चरण-संस्पर्श और सन्निधान से मिट जाते हैं और वह अपने सम्पर्क में आये हुए लोगों को पवित्र बना देता है ।

अमरा निरमल पाप न पुंनि । सत रज बिबरजित सुंनि ।।
सोहं हंसा सुमिरै सबद । तिहिं परमारथ अनंत सिध ।। 46 ।।

'सोऽहम्' शब्द, मंत्र का निरन्तर जप-स्मरण करते हुए योगी हंस, परमात्मास्वरूप हो जाता है, उसका तन, मन और हृदय-सब कुछ 'सोऽहम्' मंत्र से अभिमन्त्रित हो उठता है। ज़ो साधक, योगाभ्यास में रत जीवात्मा (प्राणी) निर्गुण, सत्, रजस्, और तमस् के बन्धन से विवर्जित (रहित) है अर्थात् त्रिगुणों से ऊपर उठ जाता है, जो पाप और पुण्य के परिवेश (सीमा) से अतीत हो जाता है, जिसे दुःख, लोभ-मोह, हर्ष-शोक के द्वन्द्व परिश्रान्त नही करते हैं, जो अनासक्त और निष्प्रपंच है, निर्मल मन और अन्तःकरण से युक्त है, 'सोऽहम्-हंस' आ र शब्द-मंत्र का अनवरत जप करते हुए अर्थात् अजपाजाप में तत्पर रहते हुए अपने स्वरूप-चिन्तन में लगा रहता है, उसे समस्त जगत् स्वरूपगत दीख पड़ता है।

पाषंडी सो काया पषाले। उलटि पवन अगनि प्रजालै।।
व्यंद न देई सुपनैं जाण। सो पाषंडी कहिए तत्त समांन।। 47।।

योगी पाखंडी नहीं होता है, वह तो मन, वचन और कर्म से निर्मल तथा पवित्र अन्तःकरणवाला होता है। यदि यौगिक क्रियायें पाखण्ड हैं तो वह पाखंडी अवश्य होता है, पाखंडी योग की क्रियाओं, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि के द्वारा तन को निर्मल रखता है, मन को वश में रखता है, वह पवन को उलट कर (प्राणायाम के द्वारा) योगाग्नि को प्रज्वलित करता है। योगी बिन्दुपात नही होने देता है, वह उर्ध्वरेता होता है, वीर्यस्खलन नहीं होने देता। इस तरह का योगी ही पाखण्डी-पवित्र आचार-विचार से सम्पन्न कहा जाता है, वह परमात्मस्वरूप का अनुभव करता है, आत्मतत्वज्ञ होता है।

मनवां जोगी काया मढ़ी। पंच तत्त ले कंथा गढ़ी।
षिमा षड़ासण अघारी। सुमति पावड़ी डंड बिचारी।। 48।।

यह शरीर मन्दिर, मठ (मढी) है। इस शरीर रूपी मढ़ी में मनरूपी योगी निवास करता है, मन महान्योग-साधक है। जिस तरह योगी के शरीर पर कन्था (गुदड़ी, चिथड़ों से गुँथा वस्त्र) रहती है, उसी तरह मनरूपी योगी पाँच

तत्व पृथ्वी जल, तेज, गगन और वायु के संयोग से निर्मित परिधान से आवेष्टित रहता है, मनरूपी योगी के लिये क्षमा ही षड़ासन है । षड़ासन के सहारे योगी को खड़े-खड़े बैठने का सुख मिलता है, इसी प्रकार जिसके मन में क्षमा है, वह साधन में सफलता पाता है । मनरूपी योगी ज्ञानकी अधारी का उपयोग करता है । (काठ के डंडे में लगे पीढ़े को अधारी कहा जाता है) इसे योगी सहारे के लिये रखता है । ज्ञान से ही मन योग-पंथ में अग्रसर होता है । वह सुमति-सद्बुद्धि की पादुका का उपयोग करता है, यदि मन में सद्बुद्धि, सद्विवेक न हो तो पतन की आशंका रहती है । जिस तरह योगी डंडा लिये रहता है, इसी तरह मनरूपी योगी विचाररूपी डंडा का उपयोग कर पथ में, साधना के मार्ग में, भ्रमित होने से बच जाता है । काया-मन्दिर में रहने वाले मनरूपी योगी के लिये क्षमा, ज्ञान, सद्बुद्धि और विचार की निरन्तर अपेक्षा रहती है अथवा वह निरुद्धवृत्ति वाला नहीं हो सकता है ।

चालत चंदवा षिसे-षिसे पड़ै । बैठा ब्रह्म अगनि परजलै ।
आडै आसणि गोटिका बंध । जावत प्रथिमी तावत कंध ।। 49 ।।

योगी कुण्डलिनी-जागरण और षट्चक्र-भेदन के परिणामस्वरूप सहस्त्रदल-सहस्रार में स्थित चन्द्रमा से झरते अमृत का पान कर इसी शरीर से प्रलयपर्यन्त अमर हो जाता है । चंचलता से चन्द्रद्रव, प्राणामृत खिसक-खिसक कर क्षरित हो जाता है, स्थिरता से ब्रह्माग्नि प्रज्वलित होती है, ज्ञानदीप्ति स्थिर रहती है । तिरछी अवस्था में, चल और अचल के मध्य की अवस्था में (आदि) अभ्यास से गोटिकाबन्ध-सिद्धि की प्राप्ति होती है, जिससे योगी इच्छानुसार सूक्ष्म शरीर धारण कर अदृश्य हो जाता है । (कहा जाता है कि सिद्ध योगी अभिमंत्रित गुटिका, गोली मुख में रख कर अदृश्य हो जाता है) इस तरह वह अमरत्व प्राप्त कर लेता है, अमृतपद में स्थित हो जाता है और जब तक पृथ्वी स्थिर रहती है, तब तक उसका शरीर बना रहता है ।

यहु मन सकती यहु मन सीव । यहु मन पांच तत्त का जीव ।
यहु मन ले जै उनमन रहै । तौ तीनि लोक की बातां कहै ।। 50(क) ।।

योग-साधना में सिद्धि मन को सम्पूर्ण वश में करने का चरम फल है । मन योग-क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है, यही मन परम शक्ति, जागृत कुण्डलिनी महामाया है, तो यही मन परमशिव का रूप ग्रहण कर लेता है । यही मन पांचभौतिक शरीर में निवास करनेवाला जीवात्मा है । इस मन को योगी उन्मन रखता है, परमात्म चिन्तन के अभिमुख रखता है, वह तीनों लोक, आकाश, पाताल, और मृत्युलोक का रहस्य समझ लेता है ।

अवधू नव घाटी रोंके लै बाट । बाई बणिजै चौसठि हाट ।
काया पलटै अबिचल बिध । छाया बिबरजित निपजै सिध ।। 50 (ख) ।।

हे अवधूत ! प्राणायाम की सिद्धि के लिये अत्यन्त आवश्यक है कि शरीर के नवों द्वार, एक मुख, दो नेत्र, दो कान, दो नासिका रन्ध्र, उपस्थ और गुदा पर संयम रखे । इसका सुपरिणाम यह होगा कि शरीर भीतर वायुको पचा लेने में समर्थ होगा और शरीर की चौसठ सन्धियों में वायु का व्यापार सुव्यवस्थित ढंग से होगा, वायु में विकार नहीं आयेगा और प्राणायाम में सिद्धि मिलेगी । शरीर में पूर्ण आरोग्य का लाभ होगा, यह एक प्रकार का कायाकल्प है, इससे योग-साधक सिद्धावस्था में पहुँच जायेगा, उसके शरीर की छाया नही पड़ेगी, वह सर्वत्र गमन करने में सक्षम होगा ।

अवधू दंग कौं गाहिबा उनमनि रहिबा, ज्यूं बाजबा अनहद तूरं ।
गगन मंडल मैं तेज चमंकै, चंद नहीं तहां सूंर ।। 51 ।।

हे अवधूत ! प्राण का संयम करना चाहिए । दम अथवा प्राण का संयम प्राणायाम के अभ्यास से ही सिद्ध होता है । प्राण को नियन्त्रित करने पर मन पूर्णतया वश में हो जाता है, उन्मनावस्था सिद्ध होती है । नव द्वार, मुख, नेत्र, नासारन्ध्र, कान, उपस्थ, गुदा तो प्रत्यक्ष हैं पर ब्रह्मरन्ध्र दसवां द्वार अप्रत्यक्ष है । दशम द्वारा में ही योगी उन्मन होता है, नाद बिन्दु के मेल से उत्पन्न अनाहत नाद का श्रवण कर वह निराकार परब्रह्म शिव के प्रकाश का ब्रह्मरन्ध्र में दर्शन करता है । ब्रह्मरन्ध्र में सूर्य और चन्द्रमा की ज्योति के बिना ही अलख निरंजन, चिन्मय तत्व भासित होता है ।

सास उसास बाइ कौं भषिबा, रोकि लेहु नव द्वारं ।
छठै छमासि काया पलटिबा, तब उनमैंनी जोग अपारं ।। 52 ।।

कुम्भक प्राणायाम के द्वारा शरीर के भीतर श्वासोच्छ्वास का भक्षण करना चाहिए, इस कार्य में जितनी अधिक सफलता मिलेगी, उतनी ही प्राणशक्ति अक्षुण्ण होती जायेगी और मृत्यु का भय दूर होता जायेगा । नवों द्वारों को रोक कर वायु को शरीर में पचा लेने से कायाकल्प तो अनायास हो ही जाता है, पर साथ-ही-साथ सालभर में दो बार, छः-छः माह की अवधि में यौगिक विधि से कायाकल्प करने से शरीर में नये प्राण दौड़ने लगते हैं, इससे उन्मन योग सिद्ध होता है । मन स्थिर हो जाता है, ब्रह्मरन्ध्र, दसवाँ द्वार के खुल जाने पर निष्कल निरंजन, चिन्मय परमात्मतत्व अभिव्यक्त हो उठता है, इस तरह उन्मनी अवस्था सिद्ध होती है ।

अवधू सहंस्र नाड़ी पवन चलैगा, कोटि झमंकै नादं ।
बहतरि चंदा बाई सोष्या किरणि प्रगटी जब आदं ।। 53 ।।

हे अवधूत ! ब्रह्म्रन्ध्र, दसवें द्वार में मन के स्थिर तथा उन्मनी अवस्था में सिद्ध होने पर शरीर प्राणामृत से परिपूर्ण हो उठता है । शरीर को समस्त नाड़ियों का मल निकल जाता है, शरीर में फैली सहस्र नाड़ियों में पवन का संचार होने पर करोड़ों नाद के समान अनाहत नाद प्रस्फुटित हो उठता है, इस तरह ब्रह्म के मूल प्रकाश (आदि ज्योति) के प्रकट होने पर वायु बहत्तरों चन्द्रमाओं को सोख लेती है । प्राणायाम के सफल प्रयास से ही शरीर की नाड़ियों में पवन का संचरण होता है और मन की चंचलता मिट जाती है । इस तरह उन्मनी अवस्था सिद्ध होती है और योगाभ्यासी सहज समाधि में परब्रह्म-निरंजन शिव का साक्षात्कार कर लेता है ।

अमावस के घरि झिलिमिलि चंदा, पूनिंम कै घरि सूरं ।
नादकै घरि ब्यंद गरजै, बाजंत अनहद तूरं ।। 54 ।।

षट्चक्र-भेदन तथा महाशक्ति कुण्डलिनी की जागृति की पूर्व स्थिति ही अज्ञानान्धकार, अमावस्या है । कुण्डलिनी इसी अवस्था में सुप्त रहती हैं ।

जब जीव बिन्दु (चन्द्र)-रज (सूर्य) के संयोग के मार्ग पर चलते हुए मूलाधार स्थित परमशक्ति कुण्डलिनी को जगाते हुए मूलाधारचक्र, मणिपुर, स्वाधिष्ठान आदि चक्रों का भेदन करते तथा सुषुम्णा-मार्ग में स्थित प्राण-शक्ति को ऊर्ध्वमुख करते हुए सहस्रार में परम शिव के सान्निध्य में उपस्थित होता है तो अमावस्या पूर्णिमा में परिवर्तित होती है, इस तरह सहस्रार में चन्द्रमा और सूर्य अथवा बिन्दु और रज अथवा शिव और शक्ति के महायोग के पर्व पर जीवात्मा अमृत पान करता है, प्राण अमर परब्रह्म से भी अतीत परमशिव अलख निरंजन शून्य पद में संस्थित हो जाता है । प्राणायाम की सम्पूर्ण सिद्धि होने पर शरीर को चौसठ सन्धियों में वायु के वेगवान प्रवाह से नाद में बिन्दु, (चन्द्रमा) शुक्र के प्रवेश से जीवात्मा अमरता की दिशा में ऊर्ध्वमुख हो उठता है, उसकी उन्मनावस्था सिद्धि होती है और सहज अनाहतनाद का श्रवण होने लगता है ।

उलटंत नादं पलटंत ब्यंद, बाई के घरि चीन्हसि ज्यंद ।
सुनि मंडल तहाँ नीझर झरिया, चंद सुरजि ले उनमनि धरिया ।। 55 ।।

प्राण-शक्ति का संयम हो अमरत्व है, अमृतत्व है । चन्द्र (बिन्दु) और सूर्य (रज) के योग से अथवा शिव और शक्ति के समागम से उन्मनावस्था की सिद्धि होती है । मन पाँचभौतिकक्षेत्र, शरीर से अमनस्क होकर सहस्रार की ओर गमन करता है । चन्द्र और सूर्य के योग से शून्य मण्डल, ब्रह्मरन्ध्र अथवा सहस्रार में अमृत का निर्झर झरने लगता है और नाद उलट जाता है नाद सूक्ष्म-शब्द तत्व का क्रियमाण स्वरूप है और यह क्रमशः स्थूल रूप में परिणत होकर सृष्टि का कारण होता है । नाद का सृष्टि-निर्मायक स्थूल स्वरूप अपने मूल स्रोत की ओर लौट पड़ता है और अधोगामी बिन्दु ऊर्ध्वगामी हो जाता है ।

अवधू प्रथम नाड़ी नाद झमंकै, तेजंगनाड़ी पवनं ।
सीतंग नाड़ी ब्यंद का बासा, कोई जोगी जानत गवनं ।। 56 ।।

योग-साधना की सिद्धि के मार्ग में निर्मल नाड़ियों से प्रवाहित वायु, प्राण-शक्ति के सुषुम्णा नाड़ी में स्थित होने पर नाद अपने सूक्ष्म स्वरूप में

सहज निनादित होकर श्रवणगत होने लगता है । सूर्य (रज), यह प्राण का शोषण करता है परन्तु इस पिंगला (सूर्य)- नाड़ी-पवन का संचार होने पर शरीर में अमृतरस को पचाने की शक्ति बढ़ती है, शीतल (इड़ा) चन्द्र-नाड़ी में बिन्दु, वीर्य के समाहित होने पर मन उन्मन होने लगता है, इस तरह नाद-बिन्दु का व्यापार सुषुम्णा के द्वारा पिंगला और इड़ा में यौगिक विधि से आरम्भ होने पर और मन के उन्मन होने पर प्राण-शक्ति शरीर में प्रवाहित होती है । यह योगानुभव किसी महान् योगी को ही सुलभ होता है ।

उठंत पवनां रवी तपंगा, बैठंत पवनां चंदं ।
दहूँ निरंतरि जोगी बिलंबै, बिंद बसै तहाँ ज्यंदं ।। 57 ।।

सूर्य नाड़ी (पिंगला) में पवन की गति बड़ी तीव्र होती है, जब श्वास बाहर निकलता है तब सूर्य नाड़ी चलती है और जब श्वास भीतर आता है तब चन्द्र (इड़ा) नाड़ी में स्थिर होता है । नाड़ी से वायु के इस बहिर्गमन तथा उसमें अन्तर्गमन से परे होकर योगी सुषुम्णा नाड़ी में समाश्रित होकर बिन्दु को स्थिर करता है क्योंकि सुषुम्णा में ही बिन्दु का निवास होता है । इस बिन्दु-साधन से योगी अमरत्व का लाभ करता है, बिन्दु का क्षरण ही मृत्यु है, बिन्दु का संरक्षण ही अमृतत्व है ।

केता आवै केता खाई, केता मांगे केता जाई ।
केता रूष विरष तलि रहै, गोरष अनभै कासौं कहै ।। 58 ।।

योग की बात योगी ही समझते हैं । घर का त्याग कर, पारिवारिक बन्धन से विरक्त होरक इधर-उधर अनेक स्थानों पर परिभ्रमण करते रहने से ही कोई योगी नही बन जाता है, संचय और संग्रह की वृत्ति का परित्याग, भिक्षा माँग कर जीवन-यापन करना मात्र ही योग-साधना नहीं है, इसी तरह गांव और नगर से दूर होकर अरण्य में या वृक्ष के नीचे आवास बदलते रहने से और अनिकेत कहलाने मात्र से कोई योगी नहीं हो जाता । (गोरखनाथजी का कथन है) अभयपद ज्ञान का अनुभव, महायोग का निरूपण मैं किसके प्रति करूँ, मुझे वास्तविक योगी तो दीख ही नहीं पड़ते हैं ।

पढ़ि देखि पंडिता रहि देषि सारं । अपणी करणी उतरिवा पारं ।
बदंत गोरखनाथ कहि धू साषी । घटि घटि दीपक (बलै) पषि पसु न (पेषे) आंषी ।। 59 ।।

शास्त्र-बचन पढ़ने मात्र से ही कराल भवसागर, माया-मोह-व्याधिग्रस्त संसारसागर से पार उतरना सम्भव नहीं है, इस ज्ञान को अपने जीवन में उतारने से, उसके अनुसार सद्गुरू के सान्निध्य में जीवन बनाने से ही ज्ञानियों में जीवन के रस का अनुभव पाया जाता है, (गोरखनाथजी का कथन है,) प्रत्येक घट, शरीर में आत्मज्योति प्रकाशित है, मैं इसके लिये किसे साक्षी बनाऊँ, साक्षी की आवश्यकता नहीं है । इस ज्ञान दीपक-ज्योति, आत्मप्रकाश का दर्शन आँख रहते भी पशु, योगानुभवशून्य प्राणी को नही हो पाता है ।

सुसबदे हीरा बेधिलै अवधू जिम्या करि टकसालं ।
औगुंन मध्ये गुंन करिले, तौ चेला सकल संसारं ।। 60 ।।

जिह्वा टकसाल के समान है, इसमें 'सोऽहम्'-जप के द्वारा परमतत्वरूपी हीरे का साक्षात्कार कर लेना चाहिए । अमृतवचन में ही परमात्मा का निवास है । अमृतवचन, मधुरवाणी से असार संसार में, जो अवगुण अथवा दुर्गुण का स्थान है, गुण (सुन्दर जीवन का परिचय देकर) को अपना लेने से जीवन निस्सन्देह सार्थक और परम कृतार्थ हो उठता है । शब्द-साधना में सिद्ध योगी के पीछे-पीछे परमात्मज्ञान से लाभ के लिये सारा संसार चलने लगता है ।

अभरा था ते सूभर भरिया नीझर झरता रहिया ।
षांडे थैंबुरसाण दुहेला, यूँ सतगुरि मारग कहिया ।। 61 ।।

जो ज्ञान से रिक्त रहता है, वह प्राणी भी योगाभ्यास के द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है । योग-साधना से सहस्रार में स्थित चन्द्रामृत का स्राव निरन्तर होने लगता है पर यह सद्गुरू मार्ग, सद्गुरू की कृपा से ही अनुभवगम्य योगमार्ग, खड्ग, कृपाण की धार से भी सूक्ष्म और

और दुस्साध्य है, इस पर चलते समय तनिक भी पद के पतित हो जाने पर, पैर के फिसल जाने पर निरापद महाज्ञान से हाथ धोना पड़ता है, इस पर बड़ी सावधानी से चलना चाहिए ।

प्यंडे होई तौ पद की आसा, बंनि निपजै चौतारं ।
दूध होई तौ घृत की आसा, करणी करतब सारं ।। 62 ।।

निस्सन्देह परमात्मा वन के जीव-जन्तुओं में उसी तरह सहज व्याप्त है, जिस तरह पिण्ड मात्र में उसके विद्यमान होने की आशा की जाती है । शरीर में, वन में, सब जगह परमात्मा है पर उसको पाने की युक्ति होती है, बिना युक्ति के वह प्रकाशित नही होता है । यह सच है कि दूध में जिस तरह घृत की आशा की जाती है, उसी तरह पिण्ड में ब्रह्म है ही परन्तु उसकी खोज करनी चाहिए । दूध को बिना मथे जिस तरह घी नहीं मिला करता, उसी तरह योग-साधनामें ही सारवस्तु है, योगानुभव से ही परमात्म साक्षात्कार होता है ।

मन मैं रहिणां भेद न कहिणां, बोलिबा अंमृत बांणी ।
आगिला अगनी होइबा अवधू, तौ आपण होइबा पांणी ।। 63 ।।

सच्चे योगी साधक को मन में ही स्थिर रहना चाहिए और अपनी साधना की बात किसी से प्रकाशित नही करनी चाहिए । सबसे मधुर बचन बोलना चाहिए, इस अमृतवाणी से किसी के मन में क्षोभ नहीं होता है और साधना बिना किसी विघ्न के सफलता की दिशा में बढ़ती रहती है । यदि सांसारिक अथवा लोक-व्यवहार में हमारे ऊपर कोई अज्ञानवश क्रोध करे, आलोचना करे, कड़ी बात कहे तो हमें सदा शान्त रहना चाहिए । इससे हमारा विरोध करने वाला स्वतः शान्त हो जाता है । योग-मार्ग का रहस्य है, कोई आग बने, तो हम पानी बन जाँय, मन में उद्वेग आने ही न दें ।

उनमनि रहिबा भेद न कहिबा, पीयबा नीझर पांणी ।
लंका छाड़ि पलंका जाइबा, तब गुरमुष लेबा बांणी ।। 64 ।।

योगी को उन्मनावस्था में रहना चाहिए, सदा सहस्रार में स्थित चन्द्रामृत का पान करना चाहिए, उसे जगत् के प्रपंचों से ऊपर उठ जाना चाहिए और अपनी आत्ममुखी अन्तरंग साधना का रहस्य किसी भी व्यक्ति से नहीं कहना चाहिए । जो प्रपंची और सांसारिक माया-मोह में ग्रस्त होता है, वह योग-साधना का स्वारस्य नहीं समझ सकता है । गुरू के वचन में पूर्ण श्रद्धा रखकर योगी को जगत् के माया-मोह का बन्धन तोड़ देना चाहिये और इससे परे अमायिक, आध्यात्मिक विचार का गुरू की कृपा से परिशीलन करना चाहिए । ऐसा योगी ही सद्गुरुनिष्ठ होता है ।

नग्री सोभंत बहु जल मूल बिरषा, सभा सोभंत पंडिता पुरषा ।
राजा सोभंत दल प्रवांणी, यूँ सिधा सोभंत सुधि-बुधिकी बांणी ।। 65 ।।

नगर की शोभा उसमें स्थित अनेक उद्यानों और तड़ागों से बढ़ती है, इसी तरह सभा की शोभा विद्वानों से सार्थक होती है, राजा तभी शक्तिमान् कहा जाता है, उसे जब अपनी सेना का विश्वास प्राप्त रहता है अन्यथा वह नाममात्र का राजा होता है और निर्बल तथा शक्तिहीन समझा जाता है । ठीक इसी तरह योगसिद्ध पुरूषों की शोभा आध्यात्मिक सत्ता की परिचायिका निर्मल शुद्ध बुद्धियुक्त विवेकमयी वाणी है, जिसके श्रवणमात्र से इस बात का परिज्ञान हो जाता है कि यह सिद्ध पुरूष की अनुभूति की ही प्रकाशिका है ।

बिरला जाणंति भेदांनिभेद बिरला जाणंति दोइ पष छेद ।
बिरला जाणंति अकथ कहांणी,
बिरला जाणंति सुधि बुधि की बांणी ।। 66 ।।

अभेद-अखण्ड अलख निरंजन शून्य पद, परमपद अथवा परमात्मा के रहस्य को कोई-कोई ही जान पाते हैं, परमात्मा अद्वैत, निराकार, निर्विकार और केवल शून्य है, अपनी योग माया के प्रभाव से वह द्वैत रूप में प्रतिभासित होता है । इस द्वैत का निरसन किसी बिरले विवेकी सद्-असद्

के निर्णायक के ही द्वारा हो पाता है । उसकी इस अकथनीय कथा का तात्पर्य किसी विरले योगसिद्ध की वाणी में परिलक्षित होता है ।

उत्तरखंड जाइबा सुंनिफल खाइबा, ब्रह्मअगनि पहरिबा चीरं ।
नीझर झरणैं अंमृत पीया, यूं मन हूबा थीर ।। 67 ।।

योगी को उत्तर खण्ड सहस्रार अथवा ब्रह्मरन्ध्र में कुण्डलिनी को जागृत करते हुए स्थित होना चाहिए, वहाँ शून्यपद का अनुभव प्राप्त होता है, अलख निरंजन की ज्योति का साक्षात्कार होता है । योगी उस सहस्रार में स्थिति होकर ब्रह्माग्निरूपी चीर (वस्त्र) धारण करता है, समस्त संकल्पों का होम कर परमात्मज्ञान की महाज्योति का वरण करना ही उसका परिधान धारण करना है । इस तरह योगी सहस्रार में स्थित चन्द्रामृत के पान के द्वारा अपनी आध्यात्मिक ज्ञानसिद्धि की चिर पिपासा की तृप्ति कर लेता है । (गोरखनाथजी का कथन है ।) इस तरह की शून्य अन्तरंग साधना के द्वारा मेरा मन स्थिर अथवा उन्मन हो गया ।

हिन्दू ध्यावै देहुरा मुसलमान मसीत ।
जोगी ध्यावै परम पद जहा देहुरा न मसीत ।। 68 ।।

हिन्दू मन्दिर में परमात्मा के श्रीविग्रह की प्राण प्रतिष्ठा कर उसके स्वरूप का ध्यान करते हैं । मुसलमान, इस्लाममत के अनुयायी मसजिद में निराकार ईश्वर के स्वरूप का आवाहन और चिन्तन करते हैं, पर योगी के लिये यह परम पद सर्वत्र है, देवालय, मन्दिर, मसजिद, सब जगह उसे परमात्मा का सहज बोध सुलभ होता है । योग का परम तात्पर्य यही है कि जीवात्मा-परमात्मा के अभिन्न सामरस्य की सिद्धि हो ।

हिन्दू आषैं अलष कौं तहां राम अछै न षुदाइ ।। 69 ।।

हिन्दू राम के नाम से अपने उपास्य परमात्मा का ध्यान करते हैं । वे परमात्मा को राम कहते हैं, इसी तरह इस्लाम में विश्वास रखने वाले मुसलमान अपने परमात्मा को अल्लाह और खुदा के सम्बोधन से स्मरण और

चिन्तन करते हैं । यह राम, यह खुदा (अल्लाह) परमात्मा घट-घट में व्यापक अलख निरंजन चैतन्यस्वरूप परब्रह्म है, यही योगियों का परम ध्येय परमशिव है ।

प्यंडे होई तौ मरै न कोई, ब्रह्मांडे देषै सब लोई ।
प्यंड ब्रह्मंड निरंतर बास, भणंत गोरष मछ्यंद्र का दास ।। 70 ।।

परमात्मा, निराकार अलख निरंजन, शून्यपद में स्थित अदृश्यब्रह्म है सर्वत्र परिव्याप्त है, वह शरीर में आत्मारूप में हैं पर शरीर भौतिक है, परमात्मा चिन्मय है, यदि शरीर सम्पूर्ण चिन्मय अथवा परमात्म होता तो उसका नाश नहीं होता, परमात्मा ब्रह्माण्ड में व्याप्त हैं पर ब्रह्माण्ड स्थूल हैं, आँखों से प्रत्यक्ष दीख पड़ता है, उसमें सूक्ष्मामातिसूक्ष्म स्वरूपस्थ परमात्मा निराकार होने के कारण प्रत्यक्ष (साकार) नहीं हो पाता है । यह नितान्त सच है कि शरीर ब्रह्माण्ड में समान रूप से परमात्मा विद्यमान है । वह सच्चिदानन्द-स्वरूप परमशिव अलक्षित है । ऐसा मत्स्येन्द्रनाथ के दास गोरखनाथ का ही स्वतः सिद्धः सत्य है, अनुभव है ।

बैठा अवधू लोह की षूंटी, चलता अवधू पवन की मूंठी ।।
सोवता अवधू जीवता मूवा, बोलता अवधू प्यंजरै सूवां ।। 71 ।।

योगी जब योगासनों से सुदृढ़ अभ्यास में सफल अथवा सिद्ध हो जाता है तो वह अपनी इन्द्रियों की कार्य-विधि पर पूरा-पूरा नियन्त्रण रखता है । जिस तरह लोहे की खूँटी को उखाड़ना अथवा हिला-डुलाकर निकाल लेना आसान नहीं है ठीक उसी तरह आसनसिद्ध योगी को किसी प्रलोभन के द्वारा चंचल चित्तवाला नहीं बनाया जा सकता है । अभ्यास में सिद्ध योगी जब प्राणायाम में सफल होता है, प्राण पर विजय प्राप्त कर लेता है तो वह आकाश में पवन के द्रुत वेग के समान उड़ता रहता है । वह क्षणमात्र में संकल्प करते ही समय और स्थान के बन्धन से परे होकर मनोवांछित स्थान में पहुँच जाता है । जो अवधूत अथवा योगी योगाभ्यास से विमुख होकर, इन्द्रियों के वश में होकर, भोग-सुख और वैषयिक रसास्वादन में कालक्षेप करता है, आलस्यवस होकर उद्‌बोधन की शक्ति का त्याग कर निद्राभिभूत

(सोता) रहता है, उसे जीते जी मृतक के समान ही समझना चाहिए, जो योगी साधना-सिद्ध होकर शरीर, आत्मा और परमात्मा का सद्विवेक प्राप्त कर मौन नही धारण कर लेता, वह उस सुग्गे के समान है, जो पिंजरे में डाल दिया जाता है और उसी में चहचहाता रहता है । ऐसे योगी के शारीरिक - मानसिक बन्धन का अन्त नही होता, वह बद्ध ही रहता है ।

गोरष कहै सुणह रे अवधू जग मैं ऐसैं रहणां ।
आंषैं देषिबा कांनैं सुणिबा मुष थैं कछू न कहणां ।। 72 ।।

(गोरखनाथजी का कहना है) हे अवधूत, यह संसार द्वन्द्वात्मक है, इसमें सुख-दुख, स्तुति-निन्दा, शीत और उष्णता, दिन-रात, ये सभी प्रपंच चलते रहते हैं, योगी को इनके प्रति तटस्थ रहकर इनकी गति-विधि का द्रष्टा मात्र रहना चाहिए । द्रष्टा बने रहने का तरीका यह है कि जो कुछ संसार के सम्बन्ध में वार्ता चले, उसे सुने, जो दृश्य हों, उन्हें देखे, पर इनके सम्बन्ध में अपना मत न व्यक्त करे, सर्वथा तटस्थ और मौन रहे, संसार की माया, मोह से परे रहना ही युक्त जीवन है, योगसाधना है ।

नाथ कहै तुम आपा राषौ, हठ करि वाद न करणां ।
यहु जुग है कांटे की बाड़ी, देषि देषि पग धरणां ।। 73 ।।

(गोरखनाथजी का कथन है कि) हे योगी, आत्मरक्षा करनी चाहिए, शरीर-धर्म अथवा भौतिकता का वरण करने से श्रेयस्कर आत्मधर्म नष्ट हो जाता है, व्यर्थ वाद-विवाद में पड़ने से सद्वस्तु हाथ नही लगती । यह संसार कंटकमय है, यह कांटे के खेत के समान है, जिसमें चलने पर पद-पद पर कांटे गड़ने की सम्भावना बनी रहती है । इसमें सोच-विचार कर एक-एक पग सावधानी से रखते हुए चलना चाहिए । अन्यथा भौतिक प्रपंच में उलझने का भय है ।

गोरष कहै सुणौं रे अवधू सुसूपाल थैं डरिये ।
ले मुदिगर की सिर मैं मेलै तो बिनही षूटी मरिये ।। 74 ।।

(गोरखनाथजी का कथन है कि) हे योगी सदा योग-साधना में तत्पर रह कर आत्मचिन्तन करना चाहिये, मृत्यु (सुसपाल) से निरन्तर सावधान रहना चाहिये, यह किसी भी समय और किसी भी परिस्थिति में शरीर पर आक्रमण कर उसे अपना ग्रास बना सकती है, इसमें किसी भी तरह का आश्चर्य नही करना चाहिये, यह नहीं देखती है कि आयु में कितने दिन बाकी रह गये है, यह तो किसी भी समय सिर पर अपने मुद्‌गर से आघात अथवा प्रहार कर सकती है ।

दृष्टि अग्रे दृष्टि लुकाइबा सुरति लुकाइबा कांनं ।
नासिका अग्रे पवन लुकाइबा, तब रहि गया पद निरबांनं ।। 75 ।।

योगी के लिए प्रत्याहार के अभ्यास से इन्द्रिय-निग्रह अनिवार्य है । नेत्र का कार्य देखना है, प्रपंच-विकार (भौतिकरूपरस) में आसक्त रहने का नेत्र का स्वभाव, दृष्टिन्यास रूपान्तरित कर देना चाहिये, इसी तरह कान का धर्म सुनना है उसके, प्रपंच अथवा (लोक)-चर्चा, व्यर्थ प्रलाप सुनने की शक्ति को अनाहत नाद-श्रवण में नियोजित कर परमानन्द का अनुभव करना चाहिये, नाक से निकलने वाले श्वास-प्रश्वास को प्राणायाम से नियंत्रित कर प्राण को सबल बनाना चाहिये । इसह तरह अभ्यास में तत्पर होने पर परमपद, कैवल्य की सिद्धि होती है ।

अवधू मनसा हमारी गोंद बोलिये, सुरति बोलिये चौगानं ।
अनहद ले षेलिबा लागा, तब गगन भया मैदानं ।। 76 ।।

हे योगी, योग-साधना चौगान का खेल है, इसमें मन गेंद हैं, सुरति, मन का उन्मन होना, ही चौगान अथवा बल्ला है, जिससे मन को अपने वश में किया जाता है । शब्दातीत अनहदनाद ही घोड़ा है, जिस तरह घोड़े पर सवार होकर मैदान में चौगान खेला जाता है, ठीक उसी तरह अनहदनाद के श्रवण के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र (शून्य गगन) रूपी मैदान में योगी, योगसिद्धि प्राप्त करता है ।

पंच तत्त सिधां मुड़ाया तब भेटिलै निरंजन निराकरं ।
मनमस्तहस्ती मिलाइ अवधू, तब लूटिलै अषै भंडारं ।। 77 ।।

हे योगी, पाँचों तत्त्व, क्षिति, जल, पावक, समीर और गगन को यौगिक प्रक्रियां अथवा साधना के द्वारा धारण कर उन पर विजय पा जाने से, उन्हें वश में कर लेने से, अलख निरंजन निराकार परब्रह्म (परमशिव) का साक्षात्कार सहज सुलभ हो जाता है । इसी तरह मनरूपी गज को साधना के अंकुश से अपने वश में कर लेने पर तथा मन को उन्मन कर ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच कर उसमें विलीन कर देने पर अक्षय भण्डार, सहस्रार से झरता चन्द्रामृत उपलब्ध हो जाता है ।

अरध-उरध बिचि घरी उठाई, मधि सुंनि मैं बैठा जाई ।
मतवाला की संगति आई, कथंत गोरषनाथ परमगति पाई ।। 78 ।।

मूलाधार में स्थित सुप्त कुण्डलिनी शक्ति को जागरत करते हुए मैंने षट्चक्रों का भेदन करते हुए ब्रह्मरन्ध्र अथवा सहस्रार में अपनी प्राणचेतना, जीवनी-शक्ति प्रतिष्ठित कर ली अथवा-अपान प्राणवायु को संयमित कर या कुम्भक प्राणायाम का अभ्यास करते हुए (शून्य) गगन, ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच कर परमशिव से सायुज्य प्राप्त कर लिया अथवा महाशक्ति कुण्डलिनी ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच कर परमशिव में अन्तर्भूत हो गयी, ऐसा होने पर मैंने अलख निरंजन का साक्षात्कार कर लिया, कैवल्य पद पा लिया ।

डंडी सो जे आप डंडै, आवत जाती मनसा षंडै ।
पंचौ इन्द्री का मरदै मांन, सो डंडी कहिये तत्त समांन ।। 79 ।।

दण्डधारी संन्यासी वह होता है, जो अहंकार के वश में नहीं रहता, अहंकार का दमन कर देता है, तथा क्षणिक, चंचल कामनाओं से छोटी-छोटी इच्छाओं की पूर्ति में अपने जीवन का दुरूपयोग नहीं करता है । दण्डी अपनी पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को वैषयिक सुखोंपभोग में आसक्त होने से रोकता है, उसी विषयासक्ति की शक्ति का मर्दन कर देता है, इस तरह अहंकार, इच्छाओं और पाँचों ज्ञानेन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर दण्डी (संन्यासी) ब्रह्मपद अथवा परमात्मपद, सत्य का साक्षात्कार करता है ।

पाया लो भल पाया लो, सबद थांन सहेती थीति ।
रूप संहेता दीसण लाया, तब सर्व भई परतीति ।। 80 ।।

मुझे तत्वबोध हो गया , मैंने अच्छी तरह स्वरूप समझ लिया, शब्द की साधना, नादानुसन्धान के द्वारा मैंने ब्रह्मपद में प्रवेश कर शिवैक्य की स्थिति प्राप्त कर ली, मुझे पिण्ड और ब्रह्माण्ड में सर्वत्र परमशिव अथवा परब्रह्म का, अलख निरंजन शून्य पद में समाहित परमात्मतत्व का साक्षात्कार अथवा निर्मल-निर्विकार दर्शन हो गया । मुझे इस बात पर तनिक भी संशय नहीं है कि मुझे तत्वबोध नहीं हो सका ।

अरधंत कवल उरधंत मध्ये प्रांण पुरिस का बासा ।
द्वादस हंसा उलटि चलैगा, तबही जोति प्रकासा ।। 8। ।।

मूलाधार में स्थित कमल (चक्र) में सुप्त कुण्डलिनी महाशक्ति का जागरण करते हुए द्वादश प्रणवात्मक जप, प्राणाभ्यास के द्वारा ऊपर के अन्य चक्रों (कमलों) का भेदन करते हुए जब सहस्रार, ब्रह्मरन्ध्र अथवा शून्य पद में प्राण पुरूष जीवात्मा निवास कर परमशिव का सायुज्य अथवा अलख निरंजन ब्रह्म का सहज साक्षात्कार करता है, तब परमात्मज्योति सम्पूर्ण कलाओं से प्रकाशित हो जाती है और जीवात्मा अपने अभिन्न कैवल्य स्वरूप में संस्थित हो जाता है, प्राणवायु जो, बाहर उत्क्रमित होती है, कुम्भक की विधि से भीतर कर उसकी गति ऊर्ध्वमुखी करने से आत्महंस जो कुण्डलिनी से समाश्रित रहता है, ऊर्ध्वमुखी हो उठता है, हंस प्राण के आधारभूत होता है, और वह प्राण द्वादस अंगुल के परिमाण का होता है । अजपा (गायत्री) जप द्वारा (प्रणवात्मक हंस को ऊर्ध्वमुख करते हुए) जब जीवात्मा ऊर्ध्व कमलों का भेदन करते हुए कुण्डलिनी के जागरण द्वारा शून्यपद -ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच जाता है तो वहाँ उसे परम ज्योति का सहज दर्शन होने लगता है ।

आसण बैसिबा पवन निरोधिबा, थांन मांन सब धंधा ।
बदंत गोरखनाथ आतमां विचारंत, ज्यूं जल दीसै चंदा ।। 82 ।।

(गोरखनाथ का कहना है,) योगाभ्यास की सिद्धि का परमफल है आत्मचिन्तन और आभ्यन्तर साधना । जब तक आत्मा का विचार नहीं किया जाता, आत्मतत्व के परिशीलन में दृष्टि नहीं रहती, तब तक आसन, प्राणायाम

और प्रत्याहार आदि बहिरंग साधनों का कोई महत्व ही नहीं है, वे तो योग की सिद्धि की दिशा में बाह्य उपकरण (धंधा) है, आत्मतत्व का विचार करने से यह पता चल जाता है कि सारा दृश्य (जगत्) ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है, जिस तरह जल में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब वास्तविक चन्द्रमा नहीं है, उसी का प्रतिबिम्ब मात्र है, उसी तरह जगत् परमात्मा का प्रतिबिम्ब मात्र है, जगत् ब्रह्म नहीं है, ब्रह्म से प्रतिबिम्बित दृश्य मात्र है ।

गोरष बोलै सुणि रे अवधू पंचौं पसर निबारी ।
अपणी आतमां आप बिचारी, तब सोवौ पान पसारी ।। 83 ।।

(गोरखनाथ के वचन हैं,) हे अवधूत, हे योगी, सदा आत्मा का ही चिन्तन करना चाहिए । शरीर नश्वर है, जड़ है और इसमें विद्यमान पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को उनके भौतिक विषयों (रूप, रस, स्पर्श, गन्ध, शब्द,) से प्रत्याहारित कर आत्मा के चिन्तन की ही ओर मोड़ना चाहिये । ज्ञानेन्द्रियों के इस तरह अन्तर्मुखी हो जाने पर जीवात्मा अनायास ही परमात्मपद में प्रतिष्ठित हो जायेगा । उसका आत्मचिन्तन उसे जीवन्मुक्त बना देगा और वह भौतिक सम्बन्धों की हानि और बियोग की चिन्ता से सम्पूर्ण मुक्त होकर निर्भय पद में निश्चिंत और निश्चल हो जायेगा । वह पैर पसार कर (पूर्ण अभय यपद में स्थित होकर) परमात्मा में विश्राम करेगा ।

अहार न्यंद्रा बैरी काल, कैसे कर रखिबा गुरू का भंडार ।
अहार तोड़ो, निंद्रा मोड़ौ, सिव सकती लै करि जोडौं ।। 84
तब जानिबा अनाहद का बंध, ना पड़ै त्रिभुवन नहीं पड़ै कंध ।
रकत की रेत अंग थैं न छूटै, जोगी कहतां हीरा न फूटै ।। 84 ।।

योगी को अल्पाहारी होना चाहिए । अधिक भोजन कर लेने से नींद सताती है, समय काल बन जाता है, समय बीत जाता है और योग-साधना नहीं हो पाती है । जिस तरह सोने वाले की सम्पत्ति चोरों के द्वारा अपहृत कर ली जाती है, ठीक उसी तरह भौतिक विषय और निद्रा में आसक्त होने से आत्मज्ञान की रक्षा करना कठिन हो जाता है । इसका तो एक मात्र उपाय

यह है कि योगी कम-से-कम आहार ग्रहण करे और समय का आत्मचिन्तन में उपयोग करते हुए योगाभ्यास में तत्पर रह कर कुण्डलिनी महाशक्ति को जगाकर ब्रह्मरन्ध्र में स्थित परम शिव से संयुक्त कर अलख निरंजन का साक्षात्कार करे। अत्यल्पाहार से इन्द्रियों में स्फूर्ति बनी रहेगी, नाड़ियों के मल का प्राणनिरोध अथवा प्राणायाम के अभ्यास से शोधन होगा, नाड़ियों में सम्यक् प्राण-संचार और चक्रों के भेदन से अनाहत नाद-श्रवण होगा। परमात्मा की ज्योति प्रकाशित होगी। यह उसी अवस्था में सिद्ध समझना चाहिए, जब योगी का शरीर-पात न हो, वह पक्व देह, सिद्ध देह की प्राप्ति कर ले और तीनों लोकों में उसकी प्राणायाम की सिद्धि के द्वारा (आकाश-मार्ग से) अबाध गति, आना-जाना हो, वीर्य, लाल रक्त का सारतत्व अधोगामी न होकर ऊर्ध्वगामी हो जाय और पूर्ण ब्रह्मानुभव प्राप्त हो गया, ऐसा योगी कह पड़े।

सबद एक पूछिबा कहौ गुरू दयालं, बिरिधि थैं क्यूं करि होइबा बालं।
फूल्या फूल कली क्यूं होई, पूछैं कहै तो गोरष सोई ।। 86 ।।

गुरू के चरण में शिष्य की एक शब्द में जिज्ञासा है कि शरीर में जीर्ण-शीर्ण होने पर वृद्धावस्था आने पर किस तरह उसे नव यौवन प्रदान कर तरूणावस्था का रसास्वादन किया जा सकता है, क्या यह सम्भव है कि पूर्ण विकसित फूल अपनी प्रारम्भिक अवस्था (कलीरूप) में परिणत हो जाय। शिष्य के इस एक शब्द की जिज्ञासा में षडंग-योग अथवा हठयोग का सम्पूर्ण सारतत्व अन्तर्निहित है, जिसके समाधान में जीवन का अविकल अमृततत्व भरा पड़ा है, इस रहस्य का, जिज्ञासा का समाधान करनेवाले गुरू ही जितेन्द्रिय सर्वसमर्थ महायोगी गोरखनाथ हैं (इस सबदी का यही महत्व है)।

सुणौं हो देवल तजौ जंजालं, अमिय पीवत तब होइबा बालं।
ब्रह्म अगनि सीचत मूलं, फूल्या फूल कली फिरि फूलं ।। 87 ।।

हे नाथसाधक, श्रद्धापूर्वक इस बात को सुनो कि सहस्रार में स्थित परम शिवपद की अनुभूति के लिये इन्द्रिजन्य विषयभोगों के रसास्वादन का

त्यागकर जगत् के प्रपंचों और बन्धनों से मुक्त होने पर ही शुद्ध परिपक्व शरीर की इसी जीवन में फिर प्राप्ति हो जाती है । इस साधना में सहस्रार से द्रवित अथवा स्रावित चन्द्रामृत का पान और ब्रह्मअग्नि अथवा ब्रह्मानुभूतिमयी अग्नि अथवा तेज के प्रति पूर्ण निष्ठा अथवा श्रद्धामयी समर्पण-भावना अमित सहायक स्वीकार की गयी है । चन्द्रामृत - पान शारीरिक यौवन अथवा पुष्टि और आरोग्य के लिये आवश्यक है । इड़ा - चन्द्रनाड़ी है, सुषुम्ना अग्निनाड़ी है, प्राण को विपरीत कर, उलटकर सूर्यनाड़ी द्वारा अमृत का शोषण रोक देना ही अमृतपान की सिद्धि है । जब तक प्राण या पवन संयमित नहीं होता, तब तक सांसारिक भोग में रुचि रहती है । इस पवन के प्रत्यावर्तन से शरीर में आरोग्य बढ़ता है, इसके विपरीतकरण से योगाग्नि का प्रज्वलन होता है तथा इसके ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश से परमतत्व का साक्षात्कार होता है । सुषुम्ना द्वारा पवन की विपरीतकरण-स्थिति में अमृतपान सहज सुलभ हो जाता है । गुरू की कृपा से अपने भीतर ज्ञान प्रकाशित होता है, ब्रह्माग्नि का प्रज्वलन होता है । पिण्डगत पवन से ही ब्रह्माग्नि का प्रज्वलन होता है । ब्रह्माग्नि आभ्यंतरिक अग्नि है, जिस तरह बाह्य हवन में आहुति दी जाती है, उसी तरह ब्रह्माग्नि में श्रद्धापूर्वक भाव समर्पित किया जाता है । शरीर अथवा दिव्य काया से ब्रह्म-साक्षात्कार होता है । दिव्य काया प्राप्त करना ही फूलेफूल की फिर से कली की अवस्था की प्राप्ति है । आशय यह है कि योग की युक्ति से अमृत का पान करने से बालक का तरूण होना सम्भव है तथा ब्रह्माग्नि से मूल प्राण को सीचने से खिला फूल भी कली हो जाता है । यही अमरकायत्व है ।

उलट्या पवनां गगन समाइ तब बाल रूप परतषि होई ।
उदै ग्रहि अस्त हेम ग्रहि पवनमेला, बंधिलै हस्तिय निज साल मेला ।। 88 ।।

शरीर को परिपक्व करने, नित्य तारूण्य, यौवन अथवा अमरकायत्व प्रदान करने का एकमात्र उपाय यह है कि प्राणवायु (पवन) को उलट कर अथवा प्रत्यावर्तित कर उसे सुषुम्ना नाड़ी के द्वारा परमशिव के निवास-स्थान शून्यपद में सहस्रार अथवा ब्रह्मरन्ध्र में स्थापित कर दिया जाय । इससे वहाँ से द्रवित चन्द्रमामृत का पान करने से शरीर परिपक्व हो जाता है, उसमें

जरा-मृत्यु का भय नहीं रह जाता है । मूलाधार, उदय के घर में सूर्य को अस्त कर देना चाहिए, उसका प्रभाव निर्मूल कर देना चाहिए, जिससे वह ऊर्ध्वमुख (उत्क्रमित) होकर चन्द्रामृत (प्राणामृत) का शोषण न कर सके, और इसी तरह चन्द्रमा के निवास-स्थान ब्रह्मरन्ध्र में पवन को अधोमुख होने से प्रत्याहारित अथवा उलटकर सुषुम्नानाड़ी में संचारित कर प्राणामृत का, चन्द्रामृत-द्रव का निरन्तर पान करना चाहिए, पवन अथवा प्राण के संयमित अथवा स्थिर होने पर मनरूपी मतंग योगी के वश में हो जाता है, और योगी अपनी योग-साधना में सिद्धि प्राप्त करता है ।

बारा कला सोषै सोला कला पोषै, चारे कला साधै अनंत कला जीवै ।
ऊरम धूरम जोती ज्वाला सीधि साधंत चारि कला पीवै ।। 89 ।।

मूलाधार में स्थित बारह कला वाले सूर्य (अपान वायु की उष्णता) को सोख लेने से, प्रभावहीन कर देने से योगी ब्रह्मरन्ध्र में स्थित सोलह कला वाले चन्द्रमा का पोषण करने में समर्थ होता है । इस तरह बारह कलावाले सूर्य के प्रभावहीन होने पर सोलह कला से युक्त चन्द्रमा की चार कलायें विशेषता से अमृतदायिनी हैं और इन चार कलाओं से पुष्ट अमृत के द्वारा अनन्त कलामयी, शक्तिमयी ब्रह्मानुभूति प्राप्त होती है । ऐसी स्थिति में महत् चैतन्य तेज, ज्योतिस्वरूप परमात्मा के अभिव्यक्त होने पर योगसाधक चार कला से युक्त अथवा विशिष्ट चन्द्रद्रवपान कर परमानन्द में मग्न रहता है ।

असाध सांधत गगन गाजंत, उनमनी लागंत ताली ।
उलटंत पवनं पलटंत बांणी, अपीव पीवत जे ब्रह्मग्यांनी ।। 90 ।।

ब्रह्मज्ञान, परमात्मसाक्षात्कार के लिए योगी को अपने चंचल मन को वश में करने की असाध्य साधना करनी चाहिए । इसी तरह प्राणायाम के द्वारा मलरहित शुद्ध नाड़ियों से पवन (प्राण) संचारित करते हुए नादानुसन्धान भी ब्रह्मानुभूति के लिये आवश्यक है । ब्रह्मरन्ध्र में नाद (अनाहत नाद) के गर्जन से तथा षट्चक्र-भेदन करते हुए कुण्डलिनी महाशक्ति के जागरण

के द्वारा उन्मनी समाधि सिद्ध होने से ब्रह्मानन्द का अनुभव होता है । पवन को अधोमुखी होने से रोक कर उसे सुषुम्ना (सरस्वती अथवा अग्नि) नाड़ी के मार्ग में उलट कर लगा देने से, स्थिर कर देने से ब्रह्मरन्ध्र अथवा सहस्रार से द्रवित चन्द्रामृत का पान सहज सुलभ हो जाता है ।

अलेष लेषंत अदेष देषंत अरस परस ते दरस जांणी ।
सुंनि गरजंत बाजंत नाद अलेष लेषंत ते निज प्रवांणी ।। 91 ।।

अलख निरंजन, शून्यपद में स्थित परब्रह्म परमशिव परमात्मा अक्षर है, वह वर्णन में नही आता, वह नेति-नेति शब्द द्वारा श्रुति में प्रतिपादित है । वह निराकार है, उसे चक्षु-इन्द्रियों से देखा नहीं जा सकता है पर वह विज्ञानचक्षु द्वारा आभ्यन्तरिक अनुशीलन में दर्शनीय है । ब्रह्मरन्ध्र में, सहस्रार में अनाहतनाद का श्रवण करते हुए योगी उसकी महिमा और वयापकता का शब्दांकन करते हैं, वे वर्णनातीत परब्रह्म का निरूपण करते हैं, पर यह निरूपण उनकी परमात्म अनुभूति का ही परम फल है, यह निर्विवाद है, समस्त ब्रह्माण्ड में व्यापक ब्रह्म पिण्ड में अनुभवसंवेद्य है । परब्रह्म का साक्षत्कार, स्वरूप-चिन्तन अनुभवगम्य है ।

निहचल घर बैसिबा पवन निरोधिबा कदे न होइबा रोगी ।
बरस दिन मैं तीनि बार काया पलटिबा, नाग बंग बनासपती जोगी ।। 92 ।।

योगी को आत्मस्थ होकर प्राणायाम की साधना करनी चाहिए और शारीरिक आरोग्य की प्राप्ति के लिए पूरे एक वर्ष में तीन बार, चार-चार मास के अन्तर पर कायाकल्प करते रहना चाहिए । आयुर्वेद शास्त्र में निर्दिष्ट विधि से चार-चार मास के अन्तर से नाग (सीसे) के भस्म, बंग (टीन) के भस्म तथा वानस्पतिक आहार (आम के रस आदि) का क्रमशः सेवन करते हुए कायाकल्प के द्वारा शरीर का पोषण करना चाहिए । इस प्रकार आत्मशक्ति, मनोबल और शारीरिक आरोग्य के द्वारा योगी को सदा स्वस्थ रहना चाहिए ।

षोड़स नाड़ी चंद्र प्रकास्या द्वादस नाड़ी भांनं ।
सहंस्त्र नाड़ी प्रांण का मेला, जहां असंष कला सिव थांनं ।। 93 ।

अमृत की वर्षा करने वाली नाड़ी इड़ा है । वह चन्द्रनाड़ी है, ब्रह्मरन्ध्र अथवा गगन से इस चन्द्रनाड़ी से निरन्तर अमृत की निर्झरिणी बहती है, यह चन्द्रनाड़ी सोलह कला से युक्त है । सूर्य नाड़ी पिंगला है, वह सदा अमृत को सोखती है, इसलिए योगी इसे मूलाधार में समाहित कर चन्द्र की चार कलाविशिष्ट नाड़ी से झरते अमृत का पान करता है । सहस्र नाड़ी सुषुम्ना है । यही सरस्वती नाड़ी कहलाती है, योगी अपने प्राण-पवन को अधोमुखी से ऊर्ध्वमुखी कर (इसमें संस्थित कर) मन को वश में कर असंख्य कला से युक्त परम शिव का सहस्रार में अनुभव अथवा साक्षात्कार करता है ।

अवधू ईडा मारग चंद्र भणीजै, प्यंगुला मारग भांनं ।
सुषमनां मारग बांणी बोलिये त्रिय मूल अस्थांनं ।। 94 ।।

हे अवधूत योगी, इड़ा नाड़ी ही चन्द्रनाड़ी है, यह अमृतवर्षिणी हैं और पिंगला भानु अथवा सूर्यनाड़ी है । इसके द्वारा अमृत का शोषण होने पर योगी जरा-मृत्यु के वश में हो जाता है । सुषम्नानाड़ी सरस्वती नाड़ी कही जाती है । इसमें ऊर्ध्वमुख प्राण स्थित होकर (योगी को) अमृत पीने में सहायता करता है । ये तीन नाड़ियाँ (योगी द्वारा) मूल स्थान, ब्रह्मरन्ध्र में शिव के साक्षात्कार के माध्यम का कार्य सम्पादित करती हैं ।

अवधू काया हमारी नालि बोलिये दारू बोलिये पवनं ।
अगनि पलीता अनहद गरजै ब्यंद गोला उड़ि गगनं ।। 95 ।।

हे अवधूत (योगी), शरीर बन्दूक की तरह है, उसमें बारूद का कार्य प्राण-वायु द्वारा सम्पन्न होता है और अनाहतनाद ही अग्नि का पलीता है, जिसके द्वारा धड़ाका सुन पड़ता है । जिस तरह बारूद अग्नि के पलीते से धड़ाका करती हुई बन्दूक से गोले को आकाश की ओर उड़ा देती है, ठीक

उसी तरह शरीर में प्राण की साधना करते हुए तथा अनाहतनाद का श्रवण करते हुए योगी अपने बिन्दु (वीर्य) को ऊर्ध्वगामी कर गगन ब्रह्मरन्ध्र में प्रतिष्ठित कर लेता है । इस तरह वह ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी हो जाता है और सहज ही शिवपद में स्थित होकर अलख निरंजन परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार करने में सफल होता है ।

काजी मुलां कुरांण लगाया, ब्रह्म लगाया बेदं ।
कापड़ी संन्यासी तीरथ भ्रमाया न पाया नृबांण पद का भेवं ।। 96 ।।

मुसलमानों के काजी और मुल्ला 'कुरान' को सब कुद मानते हैं । मन्त्र द्रष्टा ब्रह्मज्ञानी ऋषि तत्वबोध के लिए वेदों के अध्ययन पर बल देते हैं । कापड़ी (गंगोत्री से गंगा जल लेकर चलने वाले तीर्थ यात्री) और सन्यासी तीर्थ यात्रा को महत्व देते हैं । गुरू गोरक्षनाथ का मत है कि इनमें से किसी ने परमतत्व का रहस्य नही समझा है । परमपद या निर्वाण मात्र पुस्तक ज्ञान या तीर्थ-भ्रमण से प्राप्त नही होता । वह साधना गम्य है ।

देवलजात्रा सुंनि जात्रा, तीरथ जात्रा पांणी ।
अतीत जात्रा सुफल जात्रा, बोलै अमृत बांणी ।। 97 ।।

तीर्थ-यात्रा और देव-दर्शन की तुलना में आत्मज्ञान का महत्व प्रतिपादित करते हुए गुरू गोरक्षनाथ कहते हैं, वास्तव में तीर्थ और देवालय-देव-दर्शन से कही महत्वपूर्ण आत्मज्ञान-प्राप्ति की यात्रा है, यही अतीत यात्रा है, यही सत्संग है, इस पुण्य-यात्रा में संत सद्गुरू ब्रह्मनिष्ठ महात्माओं, परमात्मा के तत्वज्ञों और बड़े-बड़े योगियों और संन्यासियों की अनुभववाणी सुनने का सौभाग्य मिलता है । संत महात्मा साक्षात् तीर्थ और चलते-फिरते देवालय हैं । इस अतीत यात्रा का फल है कि साधक भी अमृत वाणी बोले । यह सत्संग का फल है ।

अधरा धरे बिचारिया, धर या ही मैं सोई ।
धर अधर परचा हूवा तब उत नाही कोई ।। 98 ।।

परमात्मा समस्त ब्रह्माण्ड में, प्रत्येक पिण्ड में घट-घट में विद्यमान अथवा व्यापक है । मैंने (गोरखनाथ) अधर, शून्य ब्रह्मरन्ध्र, सहस्रार में उस (परम तत्व) का अनुभव किया । सहस्रार (शून्य) में अलख निरंजन स्वरूप में वह है ही, पर वही धरा (मूलाधार) में भी विद्यमान है । उसकी व्यापकता के विचार के माध्यम से सहस्रार में जब कुण्डलिनी (मूलशक्ति) प्रबुद्ध होकर शिव की प्राप्ति करती है (शिव-शक्ति का मिलन हो जाता है), तब साधक के लिए अपने अनुभव ज्ञान से बाहर कुछ विचारणीय ही नही रह जाता, वह ब्रह्मानुभूति के द्वारा परमज्योतिमय अलख-निरंजन तत्व का साक्षात्कार कर लेता है ।

ऊभा मारूं बैठा मारूं, मारूं जागत सूता ।
तीनि लोक भग जाल पसार्‌या, कहां जाइगौ पूता ।। 99 ।।

गोरखनाथ जी का कथन है कि काल कहता है कि मुझसे बचकर अमर होना कठिन है, मैं यह नहीं देखता कि सोते हो या जागते हो, खड़े हो या आसन लगाकर बैठे हो, तीनों लोक में मेरा प्रभुत्व स्थापित है, आकाश पाताल और पृथ्वी के समस्त जीवजन्तु क्षण-क्षण में मेरे ग्रास बनते रहते हैं, मैंने सर्वत्र योनिरूप जाल पसार रखा है । उसमें गिर कर प्राण से हाथ धोना ही पड़ेगा, तीनों लोगों में कही कोई भी ऐसा स्थान नही है, जहाँ मेरा अभाव हो, मुझसे बच कर रहोगे कहाँ ?

ऊभा षंडौं बैठा षंडौं जागत सूता ।
तिहूं लोक तैं रहूँ निरंतरि तौ गोरख अवधूता ।। 100 ।।

महाकालस्वरूप शिवगोरक्ष योगिराजेश्वर गोरखनाथ काल (मृत्यु) का समाधान करते हैं कि तुम आत्मा को नही मार सकते, आत्मा अमृत है । मैंने कुण्डलिनी महाशक्ति को प्रबुद्धकर षट्चक्रों का भेदन करते हुए सहस्रार में परमशिव का सायुज्य प्राप्त कर लिया, इसलिए मेरे शरीर और प्राण पर तुम्हारा वश नही चल सकता । मैं आसन-सिद्धि के द्वारा प्रत्येक अवस्था में खड़े-सोते जागते-बैठते तुम्हारा खण्डन कर तीनों लोकों में पसारे गये योनिरूप

जाल से सर्वदा मुक्त, अलग (निरन्तरि) और परे हो जाऊँ, तो मुझे योगसिद्धि अमरकाय गोरख अवधूत जानो अर्थात् मैं स्वयं तुम्हारा काल हूँ, तुम्हारा अस्तित्व क्षीण करने में सर्वथा समर्थ योगी हूँ ।

न्यंद्रा कहै मैं अलिया, ब्रह्मां विष्न महादेव छलिया ।
न्यंद्रा कहै हूं षरी बिगूती, जागै गोरष हूँ पड़ि सूती ।। ।01 ।।

निद्रा (अविद्या) का कथन हे कि त्रिदेव ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी, मेरे मायावी प्रभाव से मुक्त नहीं रह सके । बड़े आश्चर्य की बात है कि मेरी अविद्या-तामिस्त्रा अथवा माया या स्वरूप-विस्मृतिकारिणी शक्ति शिवगोरक्ष योगेश्वर गोरखनाथ को अपने वश में नहीं कर सकी, उन्होंने मेरे रूप को, स्वभाव को ही, निष्प्रयोजन और विकृत करके छोड़ दिया, वे अलख-निरंजन के शून्य पद से भी परे कैवल्य पद में स्वरूप से ही आत्मलीन होकर जागते हुए, शाश्वत चैतन्य में सम्पूर्ण प्रबुद्ध रहते हुए योगसिद्धि में स्थित हैं और मैं ही उनकी योगशक्ति से बिमोहित होकर, अपना स्वभाव भूल कर निष्क्रिय हो उठी । उन योगब्रह्म गोरखनाथ को मैं नहीं छल सकी ।

जोगी सो जे मन जोगवै बिलाइत राज भोगवै ।
कनक कांमनी त्यागें दोइ, सो जोगेस्वर निरभै होइ ।। ।02 ।।

योगी वह है, जिसका मन पर एकच्छत्र राज्य स्थापित हो जाता है । योगी मन को वश में कर योग की साधना में सिद्धि प्राप्त करता है । वह विलाइत राज्य का (शून्य पद में स्थित होकर) अधिकार भोग करता है अथवा परमात्मा के सायुज्य में स्वराज्य की स्थापना कर परब्रह्मपद में, कैवल्यपद में, तल्लीन हो जाता है । वास्तव में योगसिद्धि का अधिपति योगीन्द्र वह है, जो कनक और कामिनी के विषय-भोग में अनुरक्त नहीं रहता, उसकी आसक्ति से परे होकर वैराग्य के राज्य में निर्भय और स्वच्छन्द होकर विचरण करता है ।

संन्यासी सोई करै सर्वनास, गगन मंडल महि माँडै आस ।
अनहद सूं मन उनमन रहै, सों संन्यासी अगम की कहै ।। ।03 ।।

(गोरखनाथजी संन्यासी के स्वरूप और स्वभाव, स्थिति तथा गुण अथवा धर्म का वर्णन करते हुए कहते हैं कि) संन्यासी वह है, जो अपने सर्वस्व (जगत् के सम्बन्धियों और पदार्थों) का मन से पूर्णरूप से त्याग कर शून्यपद, अलख निरंजन परमशिव में स्वस्थ हो जाता है । वह अनाहतनाद का श्रवण करता हुआ मन को उन्मन अथवा परमात्म चिन्तन में तल्लीन कर अमनस्कयोग की साधना में निरंन्तर - तत्पर रहता है । स्वाध्याय अथवा स्वानुभव की वाणी में वह अगम-अलख निरंजन परब्रह्म परमशिव का तात्विक विवेचन करता है ।

लाल बोलंती अम्हे पारि उतरिया, मूढ़ रहै उर वारं ।
थिति बिहूंणां झूठा जोगी, ना तस वार न पारं ।। ।04 ।।

(गोरखनाथजी का वचन है कि) योगी लालनाथ का दावा है, विश्वास है कि मैं (लालनाथ) संसार-सागर से योगसाधना के बल से पार उतर गया पर जो अविद्याग्रस्त और अज्ञानी और आधी राह तक ही आकर भटकने वाले योग-साधक हैं, वे केवल संसार-सागर से पार उतरने की बात करते हैं पर वास्तव में न वे संसार में ही अपना प्रयोजन सिद्ध कर सकते हैं और न संसार बन्धन से मुक्त होकर आत्मज्ञान के सहारे परमात्मा का ही साक्षात्कार कर सकते हैं, वे न इधर रहे हैं न उधर (उस पार) ही पहुँच सके हैं ।

उलटिया पवन षटचक्र बेधिया, तातै लोहै सोषिया पांणी ।
चन्दसूर दोऊ निज घरि राष्या, ऐसा अलख बिनांणी ।। ।05 ।।

योगी अलख-निरंजन तत्व का मर्मज्ञ होता है, वह अलखविज्ञानी है । वह प्राणायाम के द्वारा नाड़ियों का मल-शोधन कर प्राणावायु को ऊर्ध्वगामी बनाता है, वह प्राणवायु निरूद्ध होकर जब सुषुम्ना के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र में यथाक्रम उत्थित होती है, तब शरीर में स्थित षट्चक्र, का भेदन होता है और इड़ा (चन्द्र) और पिंगला (सूर्य) नाड़ियाँ सुषुम्ना में स्थित हो जाती हैं, मूलाधार स्थित सूर्य ब्रह्मरन्ध्र (सहस्त्रार) से द्रवित चन्द्रामृतद्रव का शोषण

नहीं कर पाता तथा योगी परमशिव का मन को उन्मन कर सायुज्य प्राप्त कर लेता है ।

नाद हमारै बावै कवन, नाद बजाया तूटै पवन ।
अनहद सबद बाजता रहै, सिध संकेत श्रीगोरष कहै ।। 106 ।।

श्रीगोरखनाथजी का संकेत है कि योगसिद्ध पुरुष अनाहतनाद-श्रवण में पूर्णतन्मय होकर अपनी योगसाधना में सदा तत्पर रहता है और इस नादानुसन्धान के द्वारा वह आभ्यन्तर आत्मानुभूति में निरन्तर रमण करता है, उसे बाह्य वाद्यध्वनि आदि के श्रवण की आवश्यकता ही नहीं रहती । श्रृंगीनाद बजाने का उसे अवकाश ही नहीं मिलता है । श्रृंगीवाद बजाने से प्राण की गति टूट जाती है। वह प्राणवायु का संयम कर नाड़ियों का मल-शोधन करने के बाद सुषुम्ना-मार्ग से प्रस्फुटित नाद का श्रवण करता है । नादानुसन्धान में कान, नेत्र, नासारन्ध्र तथा मुख आदि को निरूद्ध कर इन्द्रियों और मन को एकाग्र किया जाता है । योगसाधक घंटा, भेरी, मर्दल, वंशी-वीणा आदि की ध्वनि का श्रवण यथाक्रम करता रहता है तथा इस नाद-श्रवण से चित्त का एकाग्र होकर परमशिव के चिन्तन अथवा साक्षात्कार में तन्मय हो जाना ही राजयोग है ।

सुणि गुणवंता सुणि बुधिवंता, अनंत सिधां की बांणी ।
सीस नवावत सतगुर मिलिया, जागत रैंणि विहांणी ।। 107 ।।

हे गुणवानो, हे बुद्धिमानो ! अनन्त (असंख्य) सिद्धों के बचन को श्रवण करो, उन्होंने अपनी अनुभूति की वाणी में योग-साधना में सिद्धि-प्राप्ति की ओर संकेत करते हुए इस सत्य का प्रतिपादन किया है कि सद्गुरूदेव की कृपा से साधक में अविद्या अन्धकार का नाश होता है । साधना के क्षेत्र में सिद्धि-प्राप्ति का एकमात्र उपाय है गुरू-सद्गुरू के चरण में श्रद्धापूर्वक प्रणति, इस विनम्रता के वरण से ही साधक महत्तम परमात्मा में अनुरक्त होने का गुरू की कृपा से सौभाग्य प्राप्त करता है ।

भिष्या हमारी कामधेनि बोलिये, संसार हमारी बाड़ी ।
गुर परसादे भिष्या षाइबा, अंति कालि न होइगी भारी ।। 108 ।।

योगी अपरिग्रही होता है, वह लोक-संग्रह की भावना से भी अपने आप को मुक्त रखकर अत्यन्त निष्काम भाव से भिक्षा माँग कर जीवन यापन करता है, उसकी भिक्षा-वृत्ति अक्षुण्ण रहती है, जिस प्रकार कामधेनु सर्वदा दूध देती रहती है, योगी भिक्षावृति पर निश्चिन्त रहता है तथा समस्त संसार उसकी खेती का रूप धारण कर अक्षय भण्डार बन जाता है । गुरूकृपा से जो कुछ वह भिक्षा माँग कर लाता है, प्रसाद के रूप में उसे ग्रहण कर वह जीवन धारण करता है । इस तरह निष्काम प्रवृत्ति, पूर्ण निवृत्ति का वरण कर योगी अपनी योगसाधना में तत्पर रह कर जीवन को सांसारिक सम्बन्धों और वस्तुओं के क्षणभंगुर भोगास्वाद से मुक्त रखकर अन्तकाल में, देहावसान के समय जीवन्मुक्त अवस्था परमपद, कैवल्य में स्थित हो जाता है ।

बड़े-बड़े कूले मोटे-मोटे पेट, नही रै पूता गुरू सौं भेट ।
षड़ षड़ काया निरमल नेत, भई रे पूता गुय सों भेट ।। 109 ।।

योगी का शरीर योगाग्नि में पक्व होकर सर्वथा निर्मल और स्वस्थ होता है । यदि उसके कूल्हे बड़े-बड़े हैं (कमर के पेड़ू के निकट की हड्डियां दृढ़ और अत्यधिक बड़ी हैं) और पेट बढ़ गया है, तोंद बढ़ी है तो यही समंझना चाहिए कि वह साधनारत. नही है, योगसाधक तो वह है, जिसकी काया निर्मल है जो क्षीणकाय है तथा जिसने नेति कर्म के द्वारा वात-पित्तकफ, त्रिदोष से छुटकारा पा लिया है अथवा जिसके नेत्र में तेज है । उस योगी को ही सद्‌गुरू का ज्ञानोपदेश प्राप्त हुआ है, यह समझना चाहिए ।

निरति न सुरति जोगं न भोगं, जुरा मरण नही तहाँ रोगं ।
गोरष बोलैं एकंकार, नहि तहँ बाचा ओअंकार ।। 110 ।।

परम शून्य, अलखनिरंजन के परमानुभव-पद में निवृत्ति, निर्विकल्प समाधि तथा सुरति, नादानुसन्धान और परमशिव का ध्यान आदि कुछ भी नहीं है, वहाँ न योग है, न भोग। उसमें जरा, मृत्यु और रोग का भी प्रभाव नहीं पड़ता। वहाँ वाणी की भी पहुँच नहीं है, उस निर्विकल्प समाधि से परे कैवल्य पद का वर्णन वाणी के द्वारा नहीं हो सकता और यह पद ओंकार-अ, उ, म- तीनों अक्षरों से सर्वथा परे सहज शून्य है। यह एकाकार कैवल्यपद अलख-निरंजन परमशिव की मौन अभिव्यक्ति मात्र है।

उदै न अस्त राति न दिन, सरबे सचराचर भाव न भिन।
सोई निरंजन डाल न मूल, सब व्यापीक सुषम न अस्थूल ।। ।1। ।।

समस्त ब्रह्माण्डनायक अलख निरंजन परमात्मा सर्वव्यापक हैं, वह महान् से महान् और अणु से भी अणु है - ऐसा भी कहना उचित नहीं दीखता है, क्योंकि न तो वह सूक्ष्म है और न स्थूल ही है, वह सर्वाकार है, वह काल और देश से सर्वथा अतीत है। वह सार्वकालिक और सर्वाकार है, उस परब्रह्म विराट्पुरूष के लिए यही संकेतमात्र सम्भव है, वह कालातीत है, वह अकाल पुरूष है, वह जिस स्थिति में है, उसमें सूर्य के उदय और अस्त, दोनों का अभाव है, इसलिए रात और दिन की कालावधि से वह अतीत है। उसकी व्यापकता अथवा विस्तृति या सृष्टिमयता से उसकी आकृति को वाणी से व्यक्त नहीं किया जा सकता, वह शून्य है, मूल से भी परे है, उत्पत्ति-धर्मी है ही नहीं। वही (योगियों का) परमाराध्य अलख निरंजन है।

ब्रह्मांड फूटिबा नगर सब लूटिबा, कोई न जांणवां भेवं।
बदंत गोरषनाथ प्यंड दर जब घेरिबा, तब पकड़िबा पंच देवं।। ।।2।।

गोरखनाथ का वचन है कि मूलाधार में स्थित प्रसुप्त कुण्डलिनी महाशक्ति को जगाकर स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा, चक्रों का भेदन करते हुए तथा नाड़ियों का प्राणायाम द्वारा मल-शोधन करते हुए योग-साधक को ब्रह्मरन्ध्र फोड़ना चाहिये, कुण्डलिनी का परमशिव से संगम

चाहिए, (शरीर के विभिन्न शक्ति-केन्द्रों) पर साधक का अधिकार हो जाता है, यह बड़े रहस्य का विषय है, इसका भेद कोई दूसरा नही जान पाता है। पाँचों भूत- छिति, जल, पावक, वायु और आकाश-की योगिक धारणा करने से पाँचों देव सहज जीत लिये जाते हैं और मन पर भी योगी का सम्पूर्ण अधिकार हो जाता है।

अहंकार तूटिबा निराकार फूटिबा, सोषीला गंग जमन का पानी।
चंद सूरज दोऊ ...षि राषिला, कहो हो अवधूत तहांकी सहिनांणी।। ।।3।।

जब योगी को अपनी पृथक् सत्ता के होने का अहंकार या बोध नही रह जाता तब शरीर में व्याप्त परब्रह्म अलख निरंजन, निराकार परमात्मा प्रकाशित अथवा अभिव्यक्त हो उठता है, इड़ा (चन्द्र) नाड़ी और पिंगला (सूर्य) नाड़ी का प्राणायाम के द्वारा सुषुम्ना की मध्यवर्तिनी ब्रह्मनाड़ी में विलय अथवा संगम कर कुण्डलिनी को ब्रह्मरन्ध्र, सहस्रार. के अभिमुख कर उसे शिव के योग से, सम्मिलन से पूर्ण प्रबुद्ध कर देने से योगी को सहज सिद्धिपद कैवल्य की अनुभूति हो जाती है। मूलाधार स्थित सूर्य सहस्रार स्थित कमलयोनि से द्रवित चन्द्रद्रव, चन्द्रामृत का शोषण करता है। योगी इस सूर्य को चन्द्रामृत का पान करके संरुद्ध करता है। विपरीतकरिणी मुद्रा के द्वारा नाभि में स्थित सूर्य को ऊर्ध्वमुखी करता है और तालुमूल में स्थित चन्द्र को अधोमुखी कर स्वयं अमृत का पानकर जरा और मृत्यु से शरीर की रक्षा करता है। ऐसा होने पर अवधूत परब्रह्म शून्यस्थ अलखनिरंजन परमात्मा की प्रत्यक्षानुभूति में रमण करता है।

चेता रे चेतिबा आपानरेतिबा, पंच की मेटिबा आसा।
बदन्त गोरष सतिते सूरिवां, उनमाने मन मैं बासा।। ।।4 ।।

इस सबदी में अमनस्कयोग की साधना पर प्रकाश डाला गया है। गोरखनाथ का कथन है कि वीरात्मा योगी साधक वह है, जो चंचल मन का सम्पूर्ण निग्रह अथवा नियंत्रण कर इन्द्रियजन्य विषय-भोगों के बन्धन से मुक्त होकर मन को विषयातीत अथवा उन्मन कर देता है। गोरखनाथ सावधान

करते हैं कि योगी का विषय-सुख की कामना नहीं करनी चाहिए । पंचेन्द्रियों से मिलने वाले विषय-सुख की आशा का परित्याग करने से ही सहज स्थिति की प्राप्ति होती है ।

सिध क संकेत बुझिलै सूरा, गगन अस्थांनि बाइलै तूरा ।
मीमा के मारग रोपीलै भांणं, उलट्या फूल कली मैं आणं ।। ।।5 ।।

(योगेश्वर गोरखनाथ ने इस सबदी में योगीन्द्र मत्स्येन्द्रजी द्वारा प्रतिपादित हठयोग की साधना का संकेत मीनमार्ग कह कर किया है । गोरखनाथ जी का कथन है) हे शूर वीर योगसाधक, यह योगसिद्ध पुरूष का संकेत है, इसे अच्छी तरह समझ लेना चाहिये । हे साधक, शून्य गगन, ब्रह्मरन्ध्र में अनाहत नाद का श्रवण कर कैवल्यपद में स्थित रहना चाहिए। नाभि में स्थित सूर्य (अग्नि) तालुमूल में द्रवित चन्द्रामृत का शोषण न करने पाये, इसके लिये विपरीतकरिणी मुद्रा का अभ्यास कर अमृत का पान करना चाहिए । जिस तरह मछली नदी की धारा के विरूद्ध चल देती है, किन्तु इसका पता किसी को नहीं चलता है, क्योंकि यह कार्य पानी के तल में होता है, इसलिये इस विपरीतकरिणी के द्वारा सूर्य को चन्द्र के सम्मुख करने की हठयोग की प्रक्रिया का पता दूसरे को नही लगता है । योग का मार्ग अत्यन्त गुप्त है । इस तरह यह मीन मार्ग कहा गया है । इससे फूल कली में बदल जाता है, योगाग्नि में शरीर को पक्व कर योगी चन्द्रामृत का पान कर नवयौवन प्राप्त करता है, नित्य स्वस्थ रहता है, वृद्धावस्था तरूणावस्था में परिणत हो जाती है ।

बास बसंत तहां प्रगट्या षेलं । द्वादस अंगुल गगन घरि मेलं ।
बदंत गोरख पूतां होइबा चिराई । न पडंत काया न जंम घरि जाई ।। ।।6 ।।

गोरखनाथ का कथन है कि जो योगी ब्रह्म के साक्षात्कार अथवा अनुभव से सुवासित हो जाता है, सौरंभित रहता है, उसके लिये (वहाँ) उस शून्य कैवल्य पद, परमात्मपद की ज्योति का दर्शन सहज हो जाता है । योगी प्राणायाम के द्वारा नाड़ियों का मलशोधन कर द्वादस अंगुल तक नासिका

के बाहर प्रसरित प्राण (वायु) को सुषुम्ना के मध्यवर्ती मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र में प्रविष्ट कर जन्ममृत्यु के चक्र से मुक्त हो जाता है । वह योगाग्नि में शरीर को पक्व कर दीर्घ आयु का भोग करता है, न तो उसके शरीर का पात (नाश) होता है और न उसे यमराज के प्रकोप का शिकार होना पड़ता है ।

अंन का मास अनिल का हाड़ तत का बंद भषिबा बाई ।
बदंत गोरषनाथ पूता होइबा चिंराई न पड़ै घट न जंम घरि जाई ।। ।।7 ।।

इस सबदी में प्राण-साधना का निरूपण किया गया है । गोरखनाथ का योगसाधक को निर्देश है कि हे वत्स ! यह शरीर अन्न से बने माँस और वायु से बनी हड्डी से निर्मित है, इसमें निवास कर तत्व (ज्ञान और अमृत पान) का बन्ध देकर संजीवन प्रदान कर वायु (प्राण) की साधना करनी चाहिये, इससे प्राण शरीर में स्थिर रहता है, श्वास-प्रश्वास की क्षीणता-विच्छिन्नता से वह प्रभावित नहीं होता है । शरीर का इस प्राण-साधना से नाश, पतन नहीं होता है, वह स्वस्थ रहता है तथा यम (मृत्यु) का भय समाप्त हो जाता है ।

ॐ लोहा पीर । तांबा तकबीर ।
रूपा महंमद सोना षुदाई । दुहु बिचि दुनिया गोता षाई ।
हम तो निरालंभ बैठे देखत रहैं, ऐसा एक सुषन बाबा रतन हाजी कहै ।। ।।8 ।।

(गोरखनाथजी का इस सबदी में संकेत है कि) बाबा रतननाथजी सिद्धपुरूष की यह उक्ति है कि गुरू लोहे के समान है, उसके द्वारा उपदिष्ट योग की युक्ति ताँबे के समान है । मोहम्मद चाँदी के समान है और खुदा (परमात्मा) सोने के समान है । दुनिया के लोग जबतक सद्गुरू से योगज्ञान नहीं प्राप्त करते हैं, तब तक वे ईश्वरीय ज्ञान और ईश्वर को समझ नहीं पाते हैं । उनके मन में भ्रम बना रहता है, वे गोता खाते रहते हैं । पार तो सद्गुरू की कृपा से ही परमात्मज्ञान देने वाले और परमात्मा के सन्निधान में जीवात्मा हो पाता है । हम तो योगी हैं, अलख निरंजन परब्रह्म परमशिव का चिन्तन करते रहते हैं ।

कहणि सुहेली रहणि दुहेली कहणि रहणि बिन थोथी ।
पढया गुंण्या सूबा बिलाई षाया पंडित के हाथि रह गई पोथी ।। ।।9।।

कहना या कोरा उपदेश देना या ज्ञान की बात करना सरल है, पर उसके अनुरूप आचरण करना या उस ज्ञान को जीवन में उतारना कठिन है, दुर्लभ है । यदि करनी नहीं है, आचरण नहीं है, तो कहना केवल बकवाद है, जिस तरह पिंजड़े में बन्द सुग्गा (शुक पक्षी) बड़े बड़े ज्ञान की बात रटता है पर सावधान न रहने पर पिंजड़े का द्वार खुलते ही बिलार का ग्रास बन जाता है, ठीक इसी तरह पण्डित के हाथ में ज्ञान की पोथी (शास्त्र) पड़ी रहती है, वह शब्द मात्र का उच्चारण करता रहता है, पर उसके अनुसार जीवन यापन न करने पर वह मृत्यु का ग्रास बन जाता है ।

कहणि सुहेली रहणि दुहेली बिन षायां गुड़ मीठा ।
खाई हींग कपूर बषांणै गोरष कहै सब झूठा ।। ।20 ।।

गोरखनाथ का कथन है कि कहना या कोरा उपदेश देना आसान है पर उपदेश को अपने जीवन में धारण कर दूसरों के लिये आदर्श या उदाहरण प्रस्तुत करना कठिन है । यदि कोई व्यक्ति गुड़ को बिना खाये ही उसके मीठे स्वाद का बखान करता है तो यह उसका दूसरों को धोखा देना है, यह बात तो ऐसी ही है कि कोई खाय हींग और कहता फिरे कि मैंने कपूर का रसास्वाद लिया है । इसी तरह जो व्यक्ति ब्रह्मज्ञान की बात करता है, योग का उपदेश करता है और रहता है सांसारिक बन्धन में आसक्त विषयी पुरूष की तरह या भोग में रचा-पचा रहता है, उसका कहना प्रपंचमात्र है ।

मूरिष सभान बैसिबा अवधू पंडित सों न करिबा बादं ।
राजा संग्रामे झूझ न करबा हेलै न षोइबा नादं ।। ।2। ।।

हे योगी, मूर्खो की सभा में कभी नहीं बैठना चाहिये, जो व्यक्ति अपने आप को पण्डित कहता है तथा पोथियों को पढ़-पढ़ कर ज्ञान तो बढ़ा लिया है पर जिसने उसे जीवन में अनुभूत नहीं किया है, उससे वाद-प्रतिवाद

नहीं करना चाहिये, हे योगी, राजा के साथ युद्ध या उसके विरोध में संलग्न नहीं रहना चाहिए । कभी अनाहतनाद-श्रवण से प्राप्त चित्त की ब्रह्मरन्ध्र में लयावस्था की अवहेलना नहीं करनी चाहिए, परमशिव के चिन्तन में सदा लगे रहना चाहिए ।

हिरदा का भाव हाथ मैं जाणिये यहु कलि आई षोटी ।
बदंत गोरष सुणौं रे अवधू करवै होई सु निकसै टोटी ।। ।22 ।।

गोरखनाथ का वचन है कि अवधूत योगी, सुनो, यह भयानक कलिकाल है, इसमें असत्य व्यवहार-अनाचार और मिथ्याचरण की ही प्रबलता होती है । इस कलिकाल में जिसके हृदय में जो भाव रहता है, वह उसके हाथ (कर्म) से प्रकट हो जाता है । यह निर्विवाद है कि जलपात्र (करवे) में जो द्रव (जल या अन्य पेय) रहता है, वही उसमें लगी टोटी से बाहर आ जाता है, करवा में विषैला द्रव हो तो निर्मल पेयजल नहीं आ सकता, इसलिये योगी को तटस्थ हो कर साधना में तत्पर रहना चाहिए ।

जल कै संजमि अटल अकास अन कै संजमि जोति प्रकास ।
पवनां संजमि लागे बंध, व्यंद कै संजमि थिर ह्वै कंध ।। ।23 ।।

जल का संयम करने से आकाश, (ब्रह्मरन्ध्र) में योगसाधक की सुदृढ़ स्थिति होती है तथा अन्न का संयम करने से ज्योति प्रकाशित होती है । प्राण का संरोध अथवा संयम करने से, (प्राणायाम करने से) नाड़ियों का मल-शोधन होता है और शरीर के नवद्वारों को अवरुद्ध कर योगी प्राण के बल से निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर परमात्मा का साक्षात्कार करता है । इसी तरह बिन्दु (वीर्य) के संयम से वह मृत्यु-भय से सर्वथा मुक्त हो जाता है । उसका शरीर स्थिर और स्वस्थ रहता है, शरीर पात नहीं होता ।

सबद बिंदौ रे अवधू सब बिंदौ रे अवधू सबद बिंदौ थांनमांन सब धंधा ।
आतमांमधे प्रमातमा (परमात्मा) दीसै ज्यौं जल मधे चंदा ।। ।24 ।।

हे अवधूत, शब्द की प्राप्ति करो, शब्द ही सारतत्व है, अनवरत अनाहतनाद-श्रवण से परमतत्व का रहस्य समझ में आता है, यही अन्तरंग साधना का मूल है, साधना के बाह्य उपकरण, स्थान आदि में मन को उलझाने से तत्व की प्राप्ति दुर्लभ और अगम हो जाती है । आत्मा में परमात्मा की साक्षात् अभिव्यक्ति है, यह परमात्मा आत्मा में उसी तरह प्रतिभासित है, जिस तरह जल के मध्य में चन्द्रमा प्रतिबिम्बित होता है ।

आसण दिढ़ अहार दिढ़ जे न्यंद्रा दिढ़ होई ।
गोरष कहै सुणौं रे पूता मरै न बूढ़ा होई ।। ।25 ।।

गोरखनाथ का कथन है कि हे वत्स, शिष्य, योगी को युक्त आहार-विहार से ही योग-साधना में सिद्धि सुलभ होती है । यदि वह अपने आसन में दृढ़ है, अल्प मात्रा में शरीर के निर्वाह-मात्र के लिये भोजन लेता है और निद्रा को वश में रखता है, तो वह बुढ़ापा का शिकार नहीं बनता और दीर्घायु प्राप्त करता है, उसे जरा और मृत्यु का भय आतंकित नहीं करता है ।

कोई न्यंदै कोई ब्यंदै कोई करै हमारी आसा ।
गोरष कहे सुणौं रे अवधू यहु पंथ षरा उदासा ।। ।26 ।।

गोरखनाथ का कथन है कि हे अवधूत, सुनो, हमारा योग-पंथ, सिद्धामृत मार्ग अनुपम है, यह पूर्ण वैराग्य, और सांसारिक प्रपंचों से सर्वथा उदासीन और तटस्थ योगमार्ग है । कोई हमारे मार्ग की निन्दा करता है, कोई हमारे मार्ग की प्रशंसा करता है, तो कोई हमसे वरदान और सिद्धियों को पाना चाहता है । किन्तु हमारा योगमार्ग तो तटस्थता, अनासक्ति और पूर्ण वैराग्य का मार्ग है । यह न निन्दा से प्रभावित होता है न स्तुति से ।

इक लष सींगणि नव लष बांन । बेध्या मीन गगन अस्थांन ।
बेध्या मीन गगन कै साथ । सति सति भाषंत श्रीगोरषनाथ ।। ।27 ।।

ब्रह्मरन्ध्र में स्थित लक्ष्य, शून्यस्थ कैवल्य पद का भेदन अमित कठिन है, मीन मार्ग, योगी मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा निर्धारित लक्ष्य उतना ही दुर्गम है, जितना एक लाख प्रत्यंचाओं पर नव लाख (असंख्य) बाण के संधान से गगन (उच्चातिउच्चस्थान) में प्रतिष्ठित मीन (लक्ष्य) का भेदन कठिन है । गोरखनाथ का यह सत्य वचन है कि हठयोग की साधना द्वारा ब्रह्मरन्ध्र अथवा शून्य गगन में स्थित परमशिव अलख-निरंजन अथवा पूर्णतम कैवल्य पद की प्राप्ति सहज हो गयी है ।

तूटी डोरी रस कस बहै । उनमनि लागा अस्थिर रहै ।
उनमनि लागा होइ अनंद । तूटी डोरी बिनसै कंद ।। ।28 ।।

योगसाधना की परमफलरूपा सिद्धि योग के अन्तिम अंग 'समाधि' में ही पूर्ण रूप से चरितार्थ होती है, यदि समाधि टूट जाती है, तो सद्वस्तु-परमात्मतत्व का रस ध्यानावस्था से बह जाता है, और साधक दिव्य (रसौ वे सः) रूपी सच्चिदानन्दधन के आस्वादन से वंचित हो जाता है । मन के अमनस्क अथवा उन्मन होने से-मन के ब्रह्मरन्ध्र में विलय से प्राप्त समाधि (उन्मनी अवस्था की समाधि) में स्थिरता होती है, इस तरह की उन्मनी समाधि से योगसाधक परमानन्द की प्राप्ति करता है । समाधि टूट जाने पर योगसाधना का स्वारस्य नष्ट हो जाता है और शरीर का पतन (अवसान) हो जाता है ।

सबद बिन्दौ अवधू सबद बिन्दौ सबदे सीझंत काया ।
निनांणवै कोड़ि राजा मस्तक मुड़ाइले परजा का अंत न पाया ।। ।29 ।।

हे अवधूत । शब्द की प्राप्ति अथवा परमानुभूति करनी चाहिये । शब्द की प्राप्ति अर्थात् अनाहत नाद के अनुसंधान से शरीर की समस्त नाड़ियों में प्राणामृत का संचार होता है । शब्द ब्रह्म परमात्मा में विलीन चित्तवृत्ति (उन्मनी समाधि) में योगी सिद्ध देह की प्राप्ति करता है, उसका शरीर अमृत के रसायन से परिपक्व हो उठता है, उसे कायसाधन की सिद्धि होती है । इस कायसिद्धि और अनाहत नाद के स्वारस्य की परमानुभूति के लिये

निन्यानबे करोड़ (असंख्य) ऐश्वर्यशाली राजाओं ने योगमार्ग की दीक्षा ग्रहण की तथा कितने लोगों ने इस मार्ग का अनुशीलन किया । यह कहना असम्भव है ।

षरतर पवनां रहै निरंतरि । महारस सीझै काया अभिअंतरि ।
गोरख कहै अम्है चंचल ग्रहिया । सिव सक्ती ले निजघरि रहिया ।। ।30.।।

प्राणायाम, बन्ध (मूलबन्ध, उड्डियान और जालन्धर बन्ध) तथा मुद्रा के अभ्यास से शरीर में प्राण स्थिर हो जाता है । शरीर में प्राण के स्थिर होने पर मन की चंचलता का सहज निरोध हो जाता है । गोरखनाथ का कथन है कि मैंने शरीर में महारस की सिद्धि कर मन को अपने वश में कर लिया, महाशक्ति कुण्डलिनी को जगाकर उसे सुषुम्ना-मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र में संस्थित कर परमशिव से उसका सामरस्य, अभिन्नत्व सम्पादित कर मैं अपने आप में, स्वरूप में, अलख निरंजन (शून्य) कैवल्य पद में, स्थित हो गया ।

पेट कि अगनि बिबरजित दिष्टि की अगनि षाया ।
ग्यांन गुरू का आगैं ही होता पणि बिरलै अवधू षांया ।। ।31 ।।

हे अवधूत । मैंने (गोरखनाथ ने) क्षुधा, भूख को नियंत्रित किया, जठराग्नि की वृद्धि नहीं होने दी । मैंने भ्रूमध्य में स्थित ज्ञान-नेत्र की अग्नि-ज्योति से, ज्ञान की दीप्ति से मायारूपी अविद्या-अन्धकार का अन्त कर दिया और सद्‌विवेकपूर्वक परमात्मा में स्वस्थ होकर योगसिद्धि प्राप्त कर ली। यह सद्ज्ञान ही गुरूज्ञान है, यह ज्ञान पहले से ही प्राप्त रहता है पर इसकी प्रतीति सबको नहीं हो पाती, किसी बिरले साधक अथवा योग-साधना में रत प्राणी को गुरूज्ञान का सद्‌बोध उपलब्ध होता है ।

अगम अगोचर रहै निहकांम । भंवर गुफा नांही बिसराम ।
जुगति न जांणैं जागैं राति । मन काहू कै न आवै हाथि ।। ।32 ।।

परमात्मा - परमशिव अलख निरंजन परब्रह्म अगम है, यह अगोचर है, इन्द्रियों के द्वारा इसकी अनुभूति अथवा साक्षात्कार सम्भव नही है । जब

तक कुण्डलिनी को जगाते हुए तथा प्राण को सुषुम्ना की मध्यनाड़ी (बह्मनाड़ी) में स्थापित अथवा स्थिर करते हुए षट्चक्र का भेदन कर उन्मनी समाधि के द्वारा जीवात्मा, योगसाधक ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश कर विश्राम नहीं करता स्थिर नहीं होता, तबतक उसकी साधना निष्फल है, केवल रात भर जागते हुए साधना में रत रहने से सिद्धि नहीं मिल सकती, जबतक मन उन्मन अथवा ऊर्ध्वमुख होकर स्थिर और विषयातीत नहीं होता, तबतक अमनस्कता अथवा निर्विकल्पसमाधि की प्राप्ति नहीं हो सकती ।

नव नाड़ी बहोतरि कोठां । ए अष्टांग सब झूठा ।
कूंची ताली सुषमन करै उलटि जिभ्या ले तालू धरै ।। ।33 ।।

योग की साधना का चरम-परम फल आभ्यन्तरिक अनुभूति है, जो ब्रह्मरन्ध्र में परमशिव के, अलख निरंजन ब्रह्म के साक्षात्कार और सहस्रार से द्रवित चन्द्रामृतपान के आधारभूत है । शरीर में कितनी नाड़ियाँ हैं, कितने कोठे हैं, अष्टांगयोग-साधना के अन्तर्गत इन विषयों के ज्ञान से किसी भी तरह की यौगिक सिद्धि की उपलब्धि नहीं हो सकती । मूलाधारस्थित कुण्डलिनी महाशक्ति को जगाते हुए तथा इड़ा-पिंगला नाड़ियों के प्राण को सुषुम्ना में स्थित करते हुए षट्चक्रों के भेदन द्वारा योगी को ब्रह्मरन्ध्र में चित्तवृत्ति निरुद्ध कर परमशिव से आत्मा का सामरस्य स्थापित करना चाहिए तथा विपरीतकरिणी मुद्रा के द्वारा नाभिस्थित सूर्य से सहस्रार से द्रवित चन्द्रामृत को अमृतरसायन को बचाकर जिह्वा को उलट कर तालुमूल में स्थित कर स्वयं उस (अमृत) का पान कर योगी को सिद्धि प्राप्त करनी चाहिये ।

पंडित ग्यांन मरौ क्या झूझि । औरे लेहु परम पद बूझि ।
आसण पवन उपद्रह करैं । निसिदिन आरम्भ पचि पचि मरैं ।। ।34 ।।

शास्त्रों में वर्णित ज्ञान केवल सिद्धान्त मात्र हैं, मात्र उन्हीं पर निर्भर रहकर व्यर्थ शास्त्रार्थ (वाद-विवाद) में उलझे रहने से अलख निरंजन परब्रह्म परमात्मा का ज्ञान महाज्ञान मिलना कठिन है, यह कैवल्यपद (परमात्मपद) आभ्यन्तर अनुभूतिगम्य है । बाह्य साधन, आसनों और प्राणायाम के अभ्यास

तबतक व्यर्थ हैं, जबतक उनके अभ्यास से योगी आत्मज्ञान के द्वारा परमपद की प्राप्ति की प्रक्रिया में अग्रसर नही होता । इस बाह्य साधन से साधक सदा आरम्भ में ही अटका रहेगा, वह परमात्मा की प्राप्ति नहीं कर सकता ।

उनमन जोगी दसवैं द्वार । नाद ब्यंद ले धूं धूं कार ।
दसवे द्वारे देइ कपाट । गोरख षोजी औरै बाट ।। ।35 ।।

योग-साधना की सिद्धि योगी के लिए दसवें द्वार (ब्रह्मरन्ध्र) में समाधिस्थ होकर, मन को उन्मन कर अथवा उन्मनी समाधि में नाद-बिन्दु को एकीभूत अथवा समरस कर अनाहतनाद, महाशब्द का श्रवण है । बिन्दु साक्षात् शिवस्वरूप है । नाद से प्राण की उत्पत्ति होती है । पवन को उलट कर ब्रह्मरन्ध्र में स्थापित कर देने से नाद-बिन्दु, दोनों की स्थिरता होती है । बिन्दु (वीर्य) का ऊर्ध्वगमन, ब्रह्मरन्ध्र में (उसका वहाँ) पहुँचना तथा नाद का उसमें गर्जन ही योग-साधना की पूर्णता है । (गोरखनाथ का कथन है कि) मैंने ब्रह्मरन्ध्र में नाद बिन्दु के सामरस्य के परे ब्रह्मरन्ध्र-दसवें द्वार को बन्द कर अलख निरंजन परमशिव की खोज की और उनका सहज साक्षात्कार लाभ किया ।

आरम्भ जोगी कथीला एकसार । षिणषिण जोगी करै सरीर विचार ।
तलबल व्यंद धरिबा एक तोल । तब जांणिबा जोगी आरंभ का बोल ।36

(हठयोग की साधना में) आरम्भ योगी वह है, जो सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए बिना किसी व्यतिक्रम के एकरस होकर साधन और योग के अभ्यास में तत्पर रहता है, आरम्भ योगी अपनी दृष्टि शरीर के प्रत्येक अंग पर केन्द्रित रख कर उसकी नीरोगता और कार्य की शक्ति पर प्रत्येक क्षण विचार करता रहता है, इसके साथ-ही-साथ आरम्भ योगी वीर्य की पूर्ण रूप से रक्षा करता है, क्योंकि वह समझता है कि बिन्दुपात से ही शरीर मृत्यु का ग्रास बन जाता है । ऐसा होने पर ही यह बात समझनी चाहिये कि योगसाधक घट-साधन अथवा काययोग में प्रवृत्त है ।

घट ही रहिबा मन न जाई दूर । अहनिस पीवै जोगी बारूणी सूर ।
स्वाद विस्वाद बाई कालछीन । जांनिबा जोगी घटकालछीन ।। ।37 ।।

काययोग अथवा घट-दशा की विद्यमानता अथवा उत्पत्ति या आगम योगी में तब समझना चाहिये, जब वह पिण्ड, शरीर में ही ब्रह्माण्ड की शक्तियों और विस्तार का अनुभव करता हो तथा उसका मन बाह्य विषयों में न भटककर स्थिर हो गया हो । ऐसा योगी शरीर में स्थिर कुण्डलिनी महाशक्ति को जगाते हुए तथा षट्चक्रों के भेदन द्वारा प्राण को सुषुम्ना नाड़ी में प्रवाहित करते हुए सहस्रार से द्रवित चन्द्रामृत, अमरवारूणी का रात-दिन निरन्तर आस्वादन करता है । योगी कुम्भक की विधि से प्राण को संयमित कर सुख-दुख, स्वाद-विस्वाद आदि द्वन्द्वों से परे होकर परमानन्द में तल्लीन होकर परब्रह्मपरमात्मा का चिन्तन करता है । उसकी यह स्थिति उसकी घट अवस्था के लक्षणों की उपस्थिति सूचित करती है ।

परचय जोगी उनमन षेला । अहनिसि इंछया करै देवता स्यूं मेला ।
षिन षिन जोगी नानां रूप । तब जानिबा जोगी परचय सरूप ।। ।38 ।।

परिचय योगी मन और पवन की साधना कर उन्मनी समाधि में लीन होकर अमनस्क योग के अभ्यास से सच्चिदानन्द स्वरूप परमशिव, अलख निरंजन की अभिन्नता अथवा तादात्म्य लाभ करता है । वह अष्टसिद्धियों पर ध्यान, धारणा, और समाधि की साधना के द्वारा विजय प्राप्त कर लेता है, कभी सूक्ष्म, लघु रूप धारण कर अन्य लोगों की दृष्टि से अदृश्य रहता है तो कभी आकाश मार्ग से लोकलोकान्तर में भ्रमण करता है । वह ब्रह्मरन्ध्र में मन को उन्मन कर देता है, स्थिर कर देता है । यही परिचय योगी का लक्षण है ।

निसपती जोगी जानिबा कैसा । अगनी पांणीं लोहामांनै जैसा ।
राजा परजा समि करि देष । तब जांनिबा जोगी निसपति का भेष ।। ।39 ।।

आरम्भ योगी, घट योगी और परिचय योगी की दशा से भी उत्कृष्ट दशा निष्पत्ति-प्राप्त योगी की होती है । जिस तरह लोहा को अग्नि से

तपा कर उसे पानी में डालकर निर्मल अथवा शुद्ध किया जाता है, ठीक उसी तरह अनेकानेक कठोर योगसाधना के द्वारा योगी अपने शरीर, नाड़ियों, प्राण को शुद्ध करता है, योगाग्नि से पक्व अथवा सिद्ध देह की प्राप्ति कर उन्मनी समाधि की सिद्धि के द्वारा निष्पत्ति-कैवल्य पद की अनुभूति करता है तथा प्रत्येक प्राणी में आत्मभाव रख कर समदृष्टि से सम्पन्न रहता है । इस तरह का योगी ही निष्पत्ति-प्राप्त कहा जाता है ।

अवधू षारे षिरै षाटै झरै मीठै उपजै रोंग ।
गोरष कहै सुणौ रे अवधू अंनै पांणी जोग ।। ।40 ।।

हे अवधूत । योगसाधना की सिद्धि के लिये सात्विक आहार का सेवन बड़ा ही उपयोगी होता है । भोजन के पदार्थो में नमकीन का सेवन नही करना चाहिए, अधिक नमक का सेवन करने से वीर्य नष्ट हो जाता है और यदि खटाई अथवा खट्टे पदार्थ का उपयोग किया जाता है तो वीर्य पतला और शक्तिहीन रहता है, इसी तरह अधिकाधिक मीठे पदार्थो का सेवन आरोग्य का नाश करता है और शरीर में अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं । हे अवधूत । सात्विक आहार में तो केवल अन्न से सिद्ध पदार्थ और जल ही पर्याप्त है, जहाँ तक हो सके, सादा भोजन ही करना चाहिए ।

बजरी करंतां अमरी राषै अमरि करंतां बाई ।
भोग करंतां जे ब्यंद राषै ते गोरष का गुरभाई ।। ।41 ।।

योगी के लिए ही नहीं, भोगी के लिये भी यह आवश्यक है कि वीर्य की रक्षा करें, शरीर वीर्य के स्थिर रहने पर स्वस्थ रहता है, क्षीण नहीं होने पाता है । वीर्य की रक्षा के लिए वज्रोली मुद्रा और उसकी सहायिका अमरोली मुद्रा का अभ्यास किया जाता है । वज्रोली और अमरोली का अभ्यास करते हुए योगसाधक को अपानवायु को उर्ध्वगामी करना चाहिये तथा प्राण को सुषुम्ना में स्थापित कर पवन-विजय का अभ्यास करना चाहिए । इससे प्राण स्थिर होता है तथा विन्दुपात नहीं होता है, साधक का वीर्य शरीर में स्थिर रहता है । गोरखनाथ का वचन है कि स्त्री के सहवास-काल में जो

योगी वीर्यस्खलित न होने देकर स्वयं उसको ऊर्ध्वस्थ रखता है और प्राण का संयमन करता है, वह महायोगी है, मेरा गुरूभाई है अथवा योगाभ्यास में मेरे समकक्ष है ।

भग मुषि ब्यंद अगनि मुषि पारा। जो राषै सो गुरू हमारा ।। ।42 ।।

वह प्राणी महान् योगी है, जो भोगकाल में अपने वीर्य को स्खलित न होने देकर उसे ऊर्ध्वगामी बनाकर सुषुम्ना में प्राण को स्थिर कर शरीर को क्षीण अथवा नष्ट होने से बचा लेता है । जिस तरह अग्नि के ताप से पारद की रक्षा कठिन है, उसी तरह रमणोन्मुख प्राणी का वीर्य-संयमन कठिन है पर जो वीर्य की रक्षा कर लेता है, वह योगसिद्ध साक्षात् गुरू है ।

जिभ्या स्वाद तत तन षोजै हेला करै गुरू बाचा ।
अगनि बिहूँणां बंध न लागै ढलकि जाइ रस काचा ।। ।43 ।।

जो योगी जीभ के स्वाद के लिए अनेक स्वादिष्ट, नमकीन और खट्टे भोज्य पदार्थ का सेवन करता है और गुरू के उपदेश की उपेक्षा कर मनमाने ढंग से साधना करता है, वह कभी यौगिक सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता है । जबतक शरीर को योगाग्नि में पक्व कर पुष्ट नहीं किया जाता है, तबतक वीर्य क्षीण रहता है, इन्द्रियाँ चंचल रहती हैं और कामवासना साधक को सताती रहती है । प्रत्येक क्षण पतन की सम्भावना बनी रहती है और क्षीण वीर्य शरीर में नहीं ठहर पाता है । वह ढलक जाता है, बाहर निकल जाता है, शरीर निर्बल हो जाता है ।

अवधू ईस्वर हमारै चेला भणींजै मछींद्र बोलिये नाती ।
निगुरी पिरथी परलै जाती ताथैं हम उल्टी थापना थापी ।। ।44 ।।

हे अवधूत । योगमहाज्ञान, जो शिवप्रदत्त कहा गया है, मूल-स्वरूप (शिवगोरक्ष-रूप) मुझसे ही प्रकट है । परमाराध्य ईश्वर, जो योगज्ञान के प्रतिपाद्य हैं, इस दृष्टि से हमारे ही शिष्य हैं और उनसे महायोगी (हमारे

गुरू) मत्स्येन्द्रनाथ ने महायोगज्ञान श्रवण किया था, उन्हें हमारा पौत्र शिष्य स्वीकार करने में कोई आपत्ति नही है । मैंने गुरू की गरिमा सुरक्षित और मर्यादित रखने के लिये ही गोरक्षनाथ के रूप में प्रकट होकर मत्स्येन्द्रनाथ को अपना पथप्रदर्शक गुरू बनाया, यदि मैं ऐसा नहीं करता तो गुरूतत्व से रहित पृथ्वी का नाश हो गया होता, इसलिये हमने गुरू होकर भी शिष्य का वेश अपना कर उलटा (विपरीत) अनुक्रम स्थापित किया ।

भरि भरि षाइ ढरि ढरि जाइ । जोग नहीं पूता बड़ी बलाइ ।
संजंम होइ बाइ संग्रहौ । इस विधि अकल पुरिस कौ गहौ ।। ।45 ।।

योगसाधक को युक्ताहार-विहार का सेवन करना चाहिए । भर-भर पेट भोजन करने से कामवासना की तीव्रता बढ़ जाती है, वीर्य का नाश होता है, यह योग नही है, हे वत्स । यह तो योगसाधना के नाम पर बला है, व्यर्थ का दिखावा और प्रपंच है । योगी के लिये संयम बहुत आवश्यक है, आहार-विहार में संयम रखकर प्राणायाम करने से नाड़ियों का मलशोधन होता है, मन की चंचलता मिट जाती है, वह उन्मन हो जाता है, कुण्डलिनी शक्ति जाग जाती है और योगसाधक षट्चक्रों का भेदन करते हुए सहस्रार में अकल-निष्कल पर परब्रह्म शिव का साक्षात्कार कर लेता है ।

षायि भी मरिये अणषायि भी मरिये । गोरष कहैं पूता संजमि ही तरिये ।
मधि निरंतर कीजै बास । निहचल मनुवा थिर होइ सास ।। ।46 ।।

योगी साधक के लिये अत्यधिक शरीर पोषण और अत्यधिक व्रत उपवास दोनों ही हानिकर है उसे मध्यम मार्ग पर चलना ही श्रेयस्कर है, उसे स्वल्पाहार से काम चलाना चाहिए, इस संयम के फलस्वरूप वह साधना में सिद्धि प्राप्त कर लेगा और परमशिव का साक्षात्कार कर कैवल्य पद में स्थित हो जायगा, उसका मन स्थिर रहेगा तथा शरीर में प्राण भी स्थिर रहेगा, प्राण के क्षीण न होने पर वह मुद्राबन्ध, आसन, कुण्डलिनी जागरण और षट्चक्रभेदन की साधना में पारंगत रहेगा ।

पवन ही जोग पवन ही भोग। पवन ही हरै छतीसौं रोग।
या पवन कोई जांणै भेव। सो आपैं करता आपैं देव ।। ।47 ।।

योगसाधना का एक प्रमुख अंग पवन का संयम है। प्राणायाम के साधन से योग-भोग दोनों में निपुणता और सिद्धि मिलती है। जिसका शरीर प्राण का संयम करने से स्वस्थ और निर्विकार रहता है। उसके छतीसों (सारे) रोग नष्ट हो जाते हैं। जो साधक प्राण को अपने शरीर में स्थिर रखता है और इसका रहस्य समझ लेता है, वह सिद्ध हो जाता है, वह सृष्टि करने की शक्ति रखता है और शिव स्वरूप हो जाता है।

ब्यंद हीं जोग ब्यंद ही भोग। ब्यंद ही हरै चौसठि रोग।
या बिंद का कोई जांणै भेव। सो आपैं करता आपैं देव ।। ।48 ।।

योगी साधक के लिए वीर्य (बिन्दु) की रक्षा अनिवार्य है। वीर्य रक्षा से योग और भोग दोनों की सिद्धि होती है। वीर्य के पुष्ट होने पर शरीर की शक्ति बनी रहती है और वह सदा स्वस्थ और नीरोग रहता है, उसके सभी (चौसठों) रोग नष्ट हो जाते हैं। जो योगी या साधक वीर्य का रहस्य समझ लेता है, वह स्वयं सृष्टि कर सकता है, ब्रह्म है और स्वरूप में स्थित परब्रह्म परमात्मा में अभिन्न हो जाता है।

साच का सबद सोना का रेख। निगुरां कौं चाणक सगुरा कौं उपदेस।
गुर का मुंड्या गुंण मैं रहै। निगुरा भ्रमै औगुण गहै ।। ।49 ।।

सत्य शब्द सत्स्वरूप में स्थिति का मूल आधार है। सत्य की साधना खरा सोना है, जो समस्त कसौटियों, परीक्षाओं में धूमिल नहीं होता है। यह सत्य शब्द उन्हीं को प्राप्त होता है अथवा इसको धारण करने के वे ही अधिकारी हैं, जो गुरु की कृपा - दृष्टि से कृतार्थ और अनुगृहीत हैं। जो व्यक्ति गुरु से हीन होते हैं, निगुरे होते हैं, वे चालाकी से अपनी सिद्धि का ढोंग करते रहते हैं। जिस व्यक्ति को गुरु, ज्ञाननिष्ठ महायोगी अपनी शरण में स्वीकार कर दीक्षा प्रदान करते हैं, वही वास्तव में सत्यज्ञान का

अधिकारी है और साधना - सम्बन्धी समस्त गुणों को ग्रहण कर लेता है । जो निगुरे हैं वे अवगुण ग्रहण करते हैं और भ्रमित होते हैं ।

अवधू बूझना ते भूलना नही अनबूझ मग हारै ।
सूंने जंगल भटकत फिरहीं, मारि लिहीं बटमारैं ।। ।50 ।।

हे अवधूत । गुरूपदेश जब अच्छी तरह समझ जाये, तब फिर किसी भी स्थिति में इस गुरूज्ञान और इसके प्रभाव की विस्मृति न होने पाये, इस बात का ध्यान रखना चाहिए । जो साधक इस महान् गुरूज्ञान को भूल जाता है, वह साधना के पथ में गिर पड़ता है । यह संसार एक भयानक जंगल है, इसमें काम, क्रोध, मद, मत्सर, लोभ, मोह आदि बटमार, डाकू साधना-निधि को लूट लेने की ताक में हैं, वे अवसर पाते ही टूट पड़ेंगे और उसका सर्वस्व अपहरण कर लेंगे, जो गुरूज्ञान को भूलकर इस संसार में भटकता फिर रहा है ।

गुरू की बाचा षोजैं नाहीं, अहंकारी अहंकार करै ।
षोजी जीवैं षोजि गुरू कौं, अहंकारी का प्यंड परै ।। ।51 ।।

योगसाधक को अहंकार से दूर रहना चाहिए । जब तक साधक गुरूपदेश और गुरू के बचन के अनुसार आत्मतत्व का चिन्तन नहीं करता है, तबतक वह अज्ञान में भटकता है और अहंकार करता है कि मैं अध्यात्मतत्व का रहस्य समझ गया । जो आत्मा के खोजी हैं, वे गुरू की खोज करते हैं, क्योंकि बिना गुरू की प्राप्ति के परमार्थ-सिद्धि नहीं हो सकती । अहंकारी अज्ञानी है, वह आत्मज्ञान के अभाव में विनाश को प्राप्त है उसका शरीर मृत्यु का ग्रास बन जाता है ।

यंद्री का लड़बड़ा जिभ्या का फूहड़ा । गोरष कहै ते पर्तषि चूहड़ा ।
काछ का जती मुष का सती । सो सत्पुरूष उतमो कथी ।। ।52 ।।

जो व्यक्ति शिश्नइन्द्रिय पर नियंत्रण नहीं रखता और अपनी जिह्वा को असंयमित वाणी और असत्यभाषण तथा अशिष्ट और व्यर्थ वचनों से दूषित करता है, वह तो प्रत्यक्ष भंगी है, विषयवासना के मैल से उसकी चित्तवृत्तियाँ ढँकी रहती हैं । गोरखनाथ का कथन है कि जो व्यक्ति ब्रह्मचर्य का पालन करता है, और जिसकी वाणी में सत्य होता है, वही सत्पुरूष उत्तम कहा जाता है ।

अवधू मन चंगा तो कठौती ही गंगा । वांध्या मेल्हा तो जगत्र चेला ।
बदंत गोरष सति सरूप । तत विचारैं ते रेष न रूप ।। ।53 ।।

हे अवधूत । मन के शुद्ध और संयमित तथा पवित्र विचारों से सबल होने पर कठवत का जल भी गंगाजल है । माया ही मन को अपवित्र बनाती है, वह निर्मल नहीं हो पाता और बन्धन में बँधा रहता है, यदि इस तरह मायाबद्ध दूषित मन को सद्विचार और सदाचार के द्वारा मुक्त कर लिया जाय तो व्यक्ति अपने आत्मस्वरूप में स्थित हो जायेगा, और तीनों लोक, आकश,पाताल और पृथ्वी के समस्त प्राणी उससे सद्ज्ञान प्राप्त करेंगे । गोरखनाथ का कथन है कि मन का दोषमुक्त होकर शुद्ध हो जाना ही सत्स्वरूप में जीवात्मा का अवस्थान है । इस सत्स्वरूप अथवा कैवल्य का विचार करते-करते प्राणी रूप-रेखा, रूप और नाम की उपाधि से सर्वथा परे होकर अपने आप (स्वयं) में स्वस्थ हो जाता है ।

सीषि सीषि बिसाह्या बुरा । सुपिनैं मैं धन पाया पड़ा ।
परषि परषि ले आगैं धरा । नाथ कहै पूता षोटा न षरा ।। ।54 ।।

जिस तरह स्वप्न में द्रष्टा धन की राशि देखता है और द्रव्य उसके नेत्रों के सामने एकत्र रहता है, पर वह असत् हैं, आँख खुलने पर अदृश्य हो जाता है, व्यर्थ सिद्ध होता है, ठीक उसी तरह ज्ञाननेत्र के खुल जाने पर, शास्त्र और ग्रन्थादि के शब्दों का कोई महत्व नहीं रहता, क्योंकि यह वस्तुतत्व है ही नहीं, न तो यह सत्य है और न खोटा ही है, क्योंकि वास्तविक ज्ञान (धन) है ही नहीं । ग्रन्थों में वर्णित ज्ञान के शब्द तो एक निकम्मा सौदा है, व्यर्थ की खरीद हैं ।

आओ देवी बैसो । द्वादिस अंगुल पैसो ।
पैसत पैसत होइ सुष । तब जनम मरन का जाइ दुष ।। ।55 ।।

(गोरखनाथ जी का कथन है,) हे देवि कुण्डलिनी। द्वादस अंगुल प्राणवायु को वहन करने वाली सुषुम्ना नाड़ी में अपने जागरत रूप में प्रवेश करके चक्रों के स्थान से ऊर्ध्वमुख होते हुए सहस्रार में परमशिव में मिल जाओ । इस मिलन से परमानन्द की प्राप्ति होती है और योगी (जीवात्मा) साधना में सिद्धि लाभ कर आवागमन, जन्म लेने और पार्थिव शरीर के मरने, के बन्धन से मुक्त होकर परमशून्य कैवल्यपद गोक्षस्वरूप अलखनिरंजन तत्व में स्वस्थ हो जाता है ।

स्वामी काची बाई काचा जिंद । काची काया काचा बिंद ।
क्यंकरि पाकै क्यूंकरि सीझै । काची अगनी नीर न षीजै ।। ।56 ।।

योग साधना में काया-साधना अनिवार्य है । यदि काया कच्ची है (योगाग्नि में तपाकर सिद्ध नहीं की गई है) तो प्राण वायु भी कच्ची रह जायेगी और बिन्दु (वीर्य) भी कच्चा रहेगा और योगी का जीवन भी कच्चा रह जायेगा । योगाग्नि में पक जाने पर शरीर सुदृढ़ होता है । शरीर में योगाग्नि के सिद्ध होने पर ही शरीर, वीर्य, जीवन और प्राण की स्थिरता होती है । जब तक योगाग्नि के द्वारा इन्हें पक्व नहीं किया जाता, तबतक साधन में लाभ नहीं मिलेगा, कच्ची अग्नि से पानी नहीं पक सकता, सिद्ध नहीं हो सकता ।

तौ देबी पाकी बाई पाका जिंद । पाकी काया पाका बिंद ।
ब्रह्मअगनि अषंडित बलै । पाका अगनी नीर परजलै ।। ।57 ।।

हे महाशक्ति कुण्डलिनी देवि । हठयोग की साधना से प्राण शुद्ध हो जाता है, जीवन पवित्र हो जाता है, शरीर नीरोग और वीर्य पुष्ट हो जाता है । इन चारों की पुष्टि अथवा परिपक्वता का आधार है निरन्तर ब्रह्माग्नि अथवा योगाग्नि का शरीर के भीतर प्रज्वलित रहना । यही योगाग्नि ही

ज्ञानाग्नि है । सूर्य और चन्द्र, प्राण और अपान वायु के संयोग से इड़ा-पिंगला की भट्टी में योगाग्नि प्रज्वलित होती है, इसके तेज से हमारे जीवन का रस, वीर्य परिपक्व होता है और हमें कायसाधनयोग में सिद्धि सुलभ होती है ।

सोवत आडां ऊभां ठाढां । अगनी ब्यंद न बाई ।
निस्चल आसन पवनां ध्यानं । अगनी ब्यंद न जाई ।। ।58 ।।

यदि योगसाधक तिरछा सोता है, सीधा सामान्य अवस्था में खड़ा होता है, तब वह शरीर की स्थिरता और प्राण की संयमन-शक्ति के अभाव में अपने शरीर में अपान-प्राणवायु के संयोग से योगाग्नि प्रज्वलित नहीं रख सकता और न तो वीर्य और प्राण की रक्षा ही कर सकता है, इसलिये योगसाधक को साधनोपयोगी योगासनों में स्थिर रहना चाहिए । इससे ज्ञानग्नि, योगाग्नि की दीप्ति से शरीर अथवा पिण्ड पुष्ट होगा और साधक पूर्णरूप से वीर्य को ऊर्ध्वगामी बनाकर ब्रह्मचर्य में स्थित रहेगा, क्योंकि योगाग्नि और वीर्य ही योगासाधना के आधार हैं ।

उगवंत सूर पत्र पूर काल - कंटक जाइ दूर ।
नाथका भंडार भरपूर रिजक रोजी सदा हजूर ।। ।59 ।।

मूलाधार स्थित कुण्डलिनी और सहस्रार स्थित शिव के सामरस्य से पिंड में ब्रह्मतेज का उदय होने पर मृत्युरूपी कण्टक, अविद्या-अन्धकार और आत्मविनाश का भय समाप्त हो जाता है । परब्रह्म शिव-माया से परे अनादि रूप में स्थापित आकाश, पाताल और पृथ्वी से नाथ शब्द की सार्थकता चरितार्थ होती है, यह नाथ परब्रह्म हमारे पिंड में पूर्ण प्रकाशित है, अक्षय है, उसका आश्रय ग्रहण करने पर योगी अथवा योगसाधना में रत प्राणी अमृत हो जाता है, वह शाश्वत ब्रह्म अथवा कैवल्यपद में प्रतिष्ठित हो जाता है ।

थांन मांन गुर ग्यांन । बेधां बोध सिधां परग्रांम ।
चेतनि बाला भ्रम न बहै । नाथ की कृपा अषंडित रहै ।। ।60 ।।

आकाश, पाताल, मृत्युलोक में सर्वत्र ही अनादि परब्रह्म परमात्मा नाथ-परमशिव परिव्याप्त है, उसकी कृपा निरन्तर समस्त सृष्टि का अभिषेक करती रहती है । नाथ सिद्ध महायोगी गुरू की शरणागति में महाज्ञानोपदेश प्राप्त कर शिष्य अविद्या-अन्धकार, अज्ञान में न तो भ्रमित होता है और न विमुग्ध रहता है । वह इस संसार में सिद्धों की सिद्धि आदि से सर्वथा निर्लिप्त रहकर एकान्त में आत्मचिन्तन कर स्वबोध प्राप्त करता है । सद्‌गुरू श्रीनाथ महायोगेश्वर शिव की कृपा और प्रसन्नता से वह कृतार्थ हो जाता है ।

अधिक तत्त ते गुरू बोलिये हींण तत ते चेला ।
मन मांनैं तो संगि रमौ नहीं तौ रमौ अकेला ।। ।6। ।।

गुरू गुरूता से सर्वथा सम्पन्न रहता है ओर शिष्य उससे गुरूता, गुरूज्ञान प्राप्त कर अपनी कमी, हीनता का नाश कर गुरूपद में अभय होकर स्थित रहना चाहता है, गुरू और शिष्य का यही अन्योन्याश्रय शाश्वत सम्बन्ध है । गुरू से ज्ञान प्राप्त कर लेने पर वह उसके सत्संग में रहकर आत्मज्ञान में रमण कर सकता है या गुरू की कृपा से वह इतना समर्थ हो जाता है कि वह असंग होकर उसके ज्ञान के प्रकाश में स्वेच्छा से जीवनयापन कर जीवन्मुक्तावस्था का अनुभव कर सकता है ।

चलंत पंथा तूटंत कंथा उडंत षेहा बिचलंत देहा ।
छूटंत ताली हरि सूंनेहा ।। ।62 ।।

हठयोग की साधना में योगाग्नि से पक्व शरीर, प्राण और बिन्दु, वीर्य का अमित तथा असाधारण महत्व है । शरीर वस्त्र की तरह है, इसके जीर्ण-शीर्ण होने पर जीवात्मा इसका या तो परित्याग कर देता है या उसके साधन और अभ्यास छूट जाते हैं । यदि साधक की चित्तवृत्ति चंचल है, शरीर सुदृढ़ नहीं रह सकता है, जीवन-यात्रा में साधक भटकता रहेगा तो शरीर कपड़े की तरह जीर्ण हो जायेगा और शरीर की जीर्णता का अर्थ यह है कि वह धूलि में मिल जायेगा, नाश को प्राप्त होगा । ऐसा होने पर साधक की धारणा-ध्यान द्वारा सिद्ध समाधि टूट जायेगी । वह परमशिव,

परब्रह्म परमात्मा के सरस प्रेम की प्राप्ति से, अनुग्रह और कृपा की अनुभूति से वंचित हो जायेगा । वह भ्रमित हो उठेगा और हरि की स्नेह-प्राप्ति उसके लिये दुर्लभ हो जायेगी ।

पंथि चले चलि पवनां तूटै नाद बिंद अरू बाई ।
घट ही भीतरि अठसठि तीरथ कहाँ भ्रमै रे भाई ।। ।63 ।।

योगसाधक को अपनी चित्तवृत्तियों का निरोध करते हुए अन्तस्साधना में तत्पर रह कर जीवन्मुक्ति की प्राप्ति करनी चाहिए । अन्तर्मुखी साधक को बाहर बाह्य तीर्थो में सद्ज्ञान-प्राप्ति करने के लिये भटकते रहने से व्यर्थ श्रम होता है और वह स्वरूपबोध से दूर रहता है । समस्त (अड़सठों) तीर्थ हमारे शरीर में ही हैं और उन्हीं में चित्त को लगाते हुए हम परमात्म-साक्षात्कार और जीवन्मुक्ति की सिद्धि कर सकते हैं ।

जोगी होइ पर निंद्या झषै । मद मांस अरू भांगि जो भषै ।
इकोतरसै पुरिषा नरकहि जाई । सति सति भाषंत श्री गोरषराई ।। ।64 ।।

योगी वह है, जो अपनी जिह्वा और वाणी पर पूरा-पूरा नियंत्रण रखता है । वह कभी दूसरे प्राणी की (राग) द्वेषवश (स्तुति) निन्दा नहीं करता । वह मद, मांस और भांग का सेवन नहीं करता । परनिन्दक और मदिरा-मांस आदि का सेवन करने वाले प्राणियों के पितर वैकुण्ठ और स्वर्ग से च्युत होकर नरकगामी होते हैं । अपनी सन्तान के पाप और असत्कर्म से उनकी दुर्गति होती है । योगी का स्वभाव तो सद्ज्ञान और पवित्र आचरण के परिशीलन का फल है । (यह गोरखनाथ का) सत्यवचन है ।

अवधू मांस भषंत दया धरम का नास । मद पीवत तहाँ प्रांण निरास ।
भांगि भषंत ग्यांन ध्यांन षोवंत । जम दरबारी ते प्रांणी रोवंत ।। ।65 ।।

मांस-भक्षण हिंसा को प्रोत्साहन देता है और उससे प्राणी में दया-भाव और दूसरे के प्रति सद्-व्यवहार अथवा सदाचार-सत्कर्तव्य का नाश

होता है । इसी तरह जो प्राणी मदिरा का सेवन करता है, उसकी प्राणशक्ति क्षीण होती है, शरीर विकारग्रस्त होता है और जो प्राणी भाँग का सेवन करता है, वह ज्ञान और ध्यान दोनों से वंचित होता है । हे अवधूत । मांस- भक्षण, मदिरा-भाँग-सेवन से मनुष्य की बुद्धि विकृत होती है, वह अपने पापकर्म के विपाककेरूप में नरक में जाता है, यमराज की यातनाओं से प्रताड़ित होकर निरन्तर शोकसंविग्न होकर रोता रहता है ।

चालिबा पंथा के सीबा कंथा । धरिबा ध्यांनं कै कथिबा ग्यानं ।
एकाएकी सिधके संग । बदंत गोरषनाथ पूता न होयसि मन भंग ।। ।66 ।।

योगी के लिए मन की एकाग्रता अनिवार्य है । मन भंग न हो, इसके लिये या तो वह अकेला रमता रहे या एकान्त स्थान में बैठकर अपनी गुदड़ी सीता रहे (शरीर का शोधन करता रहे) अथवा अपने इष्टदेव परब्रह्म परमात्मा अथवा परमशिव के ध्यान में तल्लीन रहे या अनुभव से प्राप्त आत्मज्ञान का दूसरों के हित और मार्ग-दर्शन के लिये उपदेश करता रहे । गोरखनाथ का कथन है कि ऐसा करने से मन चंचल नहीं होगा और साधना सुचारू रूप से चलती रहेगी ।

पढ़ि देषि पंडिता ब्रह्मगियानं । मूर्बां मुकति बैकुंठा थांन ।
गाडया जौल्या चौरासी मैं जाई । साति साति भाषंत गोरष राइ ।। ।67 ।।

हे विद्वानों ! शास्त्र में वर्णित आत्मज्ञान, परमात्मज्ञान आदि को पढ़कर उसका अपने जीवन में अनुभव करना चाहिए । पार्थिव शरीर से प्राण के निकल जाने पर मुक्ति की प्राप्ति या बैकुण्ठ में निवास आदि की बात का आत्मज्ञान के अभाव में कोई महत्व नहीं है । शरीर निष्प्राण होने पर गाड़ दिया जाता है, समाधि में सुरक्षित किया जाता है या चिता पर रखकर जला दिया जाता है, जीवात्मा अपने कर्मों के अनुसार अगणित (चौरासी लाख) योनियों में जन्म लेता रहता है तथा शरीर छोड़ता रहता है, इसलिये परब्रह्म

का ज्ञान, स्वरूप का अनुभव करना चाहिए । अपरोक्षानुभूति का ही मार्ग सिद्धिप्रद है ।

आकाश तत सदासिव जांण । तिस अभिअंतरि पद निरबांण ।
प्यंड परचांनै गुरमुषि जोइ । बाहुड़ि आवागवन न होइ ।। ।68 ।।

हमारे शरीर में षट्चक्रों के ऊपर सहस्रार स्थित है, यह आकाश, शून्य-गगन है, यह कैलाश है, इसमें परम शिव सदाशिव निवास है, जिसके साक्षात्कार से अथवा मूलाधारस्थित प्रसुप्त कुण्डलिनी शक्ति के शिव में सामरस्य से, जागरत अवस्था में मिलन से कैवल्यपद का सहस्रार में अवस्थान होता है । इस परमतत्व का परिज्ञान सद्‌गुरू के मुख से श्रवण करना चाहिए, उनकी कृपा से कैवल्यपद में स्थित होकर परमनिर्वाण स्वरूप सदाशिव का साक्षात्कार करना सुलभ होता है, जिससे बार-बार शरीर में जन्म लेना और मरना समाप्त हो जाता है, जीवात्मा नित्यमुक्त हो जाता है ।

ऊरम धूरम ज्वाला जोति । सुरजि कला न छीपै छोति ।
कंचन कवल किरणि परसाइ । जल मल दुरगंध सरब सुषाइ ।। ।69 ।।

मूलाधारस्थित प्रसुप्तकुण्डलिनी महाशक्ति जागरत होने पर षट्चक्रों को प्रकाशित करती हुई ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच कर अपनी पूर्ण प्रदीप्ति से उसे प्रकाशित कर परमशिव में अभिन्न हो उठती है, अध्यात्मसूर्य की यह कला, प्रज्वलित परमज्योति आधिभौतिक मल से आच्छन्न नहीं हो सकती, इस अखण्ड सूर्यकला से ब्रह्मरन्ध्र स्थान, सहस्रार (कमल) पूर्ण रूप से खिल जाता है, उसके स्पर्श से प्रकाशित हो उठता है । सूर्य की प्रभा से जिस तरह अपवित्र जल सूख जाता है, उसी तरह सहस्रार से प्रकाशित महाशक्ति के तेज से मायिक विकार मिट जाते हैं, आत्मकला अथवा आत्मशक्ति प्रकाशित हो उठती है ।

घटि घटि सूण्यां ग्यांन न होइ । बनि बनि चंदन रूष न कोइ ।
रतनरिधि कवन कै होइ । ये तत बूझै बिरला कोइ ।। ।70 ।।

यह नितान्त असंदिग्ध है कि सभी वनों में चन्दन के पेड़ नहीं होते हैं, किन्हीं-किन्हीं वन में उनकी उत्पत्ति होती है, ठीक इसी तरह

रत्न-ऋद्धि, परमात्मज्ञान की समृद्धि किन्हीं बिरले अधिकारी में प्रकाशित होती है । परमात्मज्ञान का श्रवण कर उसे स्वानुभूति के धरातल पर प्रकाशित करने के अधिकारी सभी नहीं होते, यह सौभाग्य तो (परमात्मा के अनुग्रह से) किन्हीं-किन्हीं को ही उपलब्ध होता है ।

नीझर झरणैं अमींरस पीवणां षटदल बेध्या जाइ ।
चंद बिहूंणां चांदिणां तहाँ देष्या श्रीगोरष राइ ।। ।7। ।।

(इस सबदी में गोरखनाथजी की योगसाधना की सम्पूर्ण सिद्धि की, फल-प्राप्ति की उन्हीं की अमृतवाणी में सहज अभिव्यक्ति परिलक्षित है ।) सहस्रार में अमृत का प्रपात द्रवित होता है, ब्रह्मरन्ध्र, शून्य आकाश के सहस्रार पद्म के मूल में योनि नाम का त्रिकोण चक्र है, वहीं चन्द्रमा का स्थान है, इसी से सदा अमृत झरता रहता है । गोरखनाथ का कथन है कि मैंने कुण्डलिनी महाशक्ति को जगाकर षट्चक्र का भेदन करते हुए सहस्रार से द्रवित निर्झर के अमृत रस को पी लिया और वहाँ निरालम्ब शून्य गगन में निराधार, स्वरूपस्थ अलख निरंजन की परमज्योति का स्वयं साक्षात्कार कर लिया, जो ऐसी अमृतचन्द्रिका है कि उसका उद्गम वह स्वयं है, उसमें अन्याश्रय अथवा अन्य आधार में निर्भरता नहीं है । कारणरहित स्वतः प्रकाशित परब्रह्म परमशिव का मैंने स्वयं साक्षात्कार कर लिया ।

कै मन रहै आसा पास । कै मन रहै परम उदास ।
कै मन रहै गुरू के ओलै । कै मन रहै कांमनि कै षोलै ।। ।72 ।।

मन स्वभाव से चंचल है, या तो यह सदा आशान्वित रहकर अतृप्त अवस्था में यत्र-तत्र चंचल रहता है, या आशा, अभिलाषा-पूर्ति की वासना के पाश में आबद्ध रहता है या परम उदास हो जाता है, या यह विषयरत और कामोपभोग-परायण रहकर कामिनी की रति में आसक्त रहता है, या सद्गुरू की शरणागति का वरण कर यह विषय-प्रपंच से परे होकर वैराग्यरस में निमग्न होकर परमात्म साक्षात्कार में जीवात्मा की सहायता करता है ।

दाबि न मारिबा षाली न राषिबा जांनिबा अगनि का भेवं ।
बूढीहीं थै गुरबानी होइगी सति सति भाषंत श्रीगोरष देवं ।। ।73 ।।

मन को वश में करने के लिये उसे अवारित रखना चाहिये, उसे वारित करने, रोकने, प्रताड़ित करने या हठपूर्वक प्रत्याहारित करने से साधना में विघ्न उपस्थित होने की आशंका सदा विद्यमान रहती है । इसका आशय यह नहीं है कि उस पर संयम ही न किया जाय, असंयमित मन तो और भी अस्थिर और चंचल रहता है, इसलिये उसे सदा अभ्यास में तत्पर रखकर योगाग्नि के ज्ञान से अपने आप को सम्पन्न रखना योगसाधक का महान् कर्तव्य है । इस तरह योगाग्नि से शरीर के पक्व होने पर साधक में आत्मज्ञान स्वरूपस्थिति के साक्षात्कार की जिज्ञासा का उदय होता है, आदिशक्ति, अनादि पुराणपुरूष परब्रह्म की संगिनी, अभिव्यक्ति शक्ति मूलमाया अविद्यारूपिणी न होकर विद्यास्वरूपिणी हो जाती है, गोरखनाथ का यह अनुभवसिद्ध सत्यवचन है कि यह विद्यास्वरूपिणी माया परम बोधस्वरूप साक्षात् गुरूवाणी है और गुरूज्ञान की चिरसंगिनी ब्रह्मविद्या है । मन की शक्ति से इस महाविद्या का अनुग्रह मिलता है ।

बाहरि न भीतरि नेड़ा न दूर । षोजत रहे ब्रह्मा अरू सूर ।
सेत फटक मनि हीरै बीधा । इहि परमारथ श्रीगोरष सीधा ।। ।74 ।।

गोरखनाथजी का कथन है कि परमात्मतत्व न केवल मात्र भीतर खोजने से, न बाहर (पिण्ड के बाहर) देखने से, न देश-काल से परे दूर अथवा अपने स्वरूप में सन्निकट समझने से उपलब्ध हो सकता है, इस महत्तम का परिज्ञान ब्रह्मा (वेदज्ञ) और सूर्य तक भी न पा सके । आत्मा ही निर्मल स्फटिक मणि है, जो परमात्म हीरकरत्न का भेदन कर सकता है, आत्मा ही परमात्मा का साक्षात्कार करता है, यही परमार्थ है, इसी को मैंने (गोरखनाथ ने) आभ्यन्तरिक साधना के स्वरूपस्थ सिद्ध किया । इस महाज्ञान का परिशीलन ही योगसाधना का चरम परम फल है ।

आवति पंच तत कूं मोहै जाती छैल जगावै ।
गोरष पूछै बाबा मछिंद्र या न्यंद्रा कहाँ थैं आवै ।। ।75 ।।
गगन मण्डल मैं सुंनि द्वार बिजली चमकै घोर अंधार ।
ता महि न्यंद्रा आवै जाइ । पंच तत मैं रहै समाइ ।। ।76 ।।

गोरखनाथ जी अपने परमगुरू, महायोगज्ञान के सिद्ध अधीश्वर मत्स्येन्द्रनाथ से जड़तत्वविमोहिनी निद्रा की जिज्ञासा करते हैं कि हे गुरूदेव! यह निद्रा क्या है, जिससे पंचतत्व के शरीर में स्थित जीवात्मा संज्ञाशून्य होकर (सुषुप्ति का वरण कर) अचेतन-सा हो जाता है और जिसके चले जाने पर परमात्मानन्द का भोगी, शाश्वत चेतन, रसिक जीवात्मा संज्ञा में स्थिर होकर जागृति-अवस्था में समाहित हो जाता है । (श्री मत्स्येन्द्रनाथ की कृपा से उन्हें बोध सुलभ होता है कि) यह निद्रा, सुषुप्ति शून्य गगन, ब्रह्मरन्ध्र से आती है और वहीं समा जाती है, गगनमण्डल सहस्रार में शून्यद्वार स्थित है, यही ब्रह्मरन्ध्र है, यहाँ गहनतम प्रलयान्धकार है और रह-रहकर परम चेतना, विद्युल्लता (अपनी कनक आभा में) चकमती रहती है । इसी ब्रह्मरन्ध्र से अविद्यास्वरूपिणी महामोहमयी निद्रा पंचतत्व के शरीर में प्रवेश कर उसके जीवात्मा को संज्ञाशून्य कर देती है पर यह स्थिति परिवर्तनशील है, क्योंकि निद्रा चंचल प्रकृति की है, अविद्या अथवा असत् की अभिधा का स्वभाव अस्थिर होता है, इसलिए निद्रावश जीव सोता है और निद्रा से परित्यक्त अथवा उन्मुक्त होने पर अपने सनातन स्वरूप के परिज्ञान में जाग जाता है ।

ऊभां बैठां सूतां लीजै। कबहूँ चित भंग न कीजै ।
अनहद सबद गगन मैं गाजै। प्यंड पड़े तो सतगुर लाजै ।। ।77 ।।

अनाहतनाद का गर्जन सहस्रार गगन-मण्डल में अनवरत हो रहा है, इसे योग-साधक को निरन्तर श्रवण करना चाहिए । इस अनाहतनाद को सोते, बैठते और खड़े होते - समस्त स्थितियों में साधक को सुनना चाहिए, इस नादानुसन्धान से जीवात्मा सहज समाधि में समाहित हो जाता है, यह सहस्रार में द्रवित अमृत का पान करता है तथा उसका वीर्यरस योगाग्नि में पक जाता है और शरीर स्थिर रहता है । यदि नादानुसन्धान के अभाव में, वीर्य के योगाग्नि से पकने के अभाव में, शरीर स्थिर नहीं रहता, मृत्यु का ग्रास बन जाता है, तो साधक अपने गुरू से प्राप्त ज्ञान की अवहेलना करता है, वह उस महाज्ञान को लज्जित करता है ।

एकलौ बीर-दूसरौ धीर, तीसरौ षटपट चौथौ उपाध ।
दस पंच तहाँ बाद विवाद ।। ।78 ।।

वह साधक वीरात्मा है, जो एकान्त में निवास कर जन-सम्पर्क से सर्वथा अप्रभावित और दूर रहकर योगाभ्यास करता है । वह साधक धीर है, जो अपने साथ में एक सहायक भी रखता है और उसकी उपस्थिति में अपनी साधना में किसी भी तरह का विघ्न नहीं होने देता । जब साधक के सम्पर्क में दो व्यक्ति आ जाते हैं, तब तीन की संगति से परस्पर कलह आरम्भ होता है और साधना में विघ्न पड़ता है तथा साधक के साथ जब तीन संगी रहकर साधना करते हैं तो साधना-स्थल की शान्ति भंग हो जाती है और आपस में चारों उत्पात करते हैं और जब योगसाधक के आश्रम में दसपाँच जन एकत्र हो जाते हैं, तब तो साधना के नाम पर राग-द्वेष के वातावरण में एक - दूसरे को नीचा दिखाने के लिये पारस्परिक संघर्ष और उपद्रव का बोलबाला होता है ।

एकाएकी सिधनांउं दोइ रमति ते साधवा ।
चारि पंच कुटुम्ब नाउं दस बीस ते लसकरा ।। ।179 ।।

अध्यात्म की साधना की सिद्धि एकान्तवास से ही होती है । वास्तव में जो एकान्त में अकेले साधना करता है । वही सिद्ध नाम को चरितार्थ करता है । एक से दो होने पर साधारण स्तर पर साधना में तल्लीन योगसाधक साधु कहे जाते हैं और जो साधक चार-पाँच लोगों के साथ रहकर साधना और योगाभ्यास करता है, वह तो एक कुटुम्बी है, इसके कुटुम्ब और सांसारिक गृहस्थों के परिवार के राग-द्वेष के बन्धन समान होते हैं और जो दस-बीस लोगों को एकत्र कर आध्यात्मिक साधना में लगता है, वह तो एक सेना ही एकत्र कर लेता है, जिससे लाभ के स्थान पर हानि की ही सम्भावना रहती है ।

मन मुषि जाता गुरमुषि लेहु । लोही मास अगनि मुषि देहु ।
मात पिता की मेटौ धात । ऐसा होइ बुलावै नाथ ।। ।180 ।।

मन बड़ा चंचल है, उसकी वृत्तियाँ चंचल रहती हैं, अमनस्क योग की साधना करते हुए उसकी वृत्तियों को गुरूज्ञान से अन्तर्मुखी कर उनका (हठयोग) साधना में उपयोग करना चाहिए । रक्त-मांस से निर्मित शरीर को

योगाग्नि में शुद्ध कर लेना चाहिए । माता की रज और पिता के वीर्य के संयोग से युक्त शरीर को पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत के पालन से निर्विकार और निर्दोष कर लेना चाहिए, ऐसा करने से साधक अनायास नाथ, परमशिव का साक्षात्कार कर लेता है ।

नादा नाद सब कोइ कहै । नादहिं लै को बिरला रहै ।
नाद बिंद है फीकी सिला । जिहिं साध्या ते सिधैं मिला ।। ।81 ।।

नाद का अनुसन्धान साक्षात् ऊँस्वरूप शब्द ब्रह्म परमात्मा की उपासना है, केवल नाद, नाद रटने से साधना की सिद्धि नहीं होती, इसमें मन को सम्पूर्ण एकाग्र कर, अमनस्क कर चित्तवृत्ति का पूर्ण निरोध कर नाद की अन्तिम अवस्था, शब्दातीत अवस्था में प्रवाहित अनाहत ध्वनि में अपने आत्मस्वरूप को लय कर परमात्मा में तादात्म्य स्थापित किया जाता है, यह साधना कोई बिरला योगी ही कर पाता है । नाद बिन्दु, दोनों सूखे पाषाण-खण्ड के समान हैं पर उनकी साधना से आत्मरस-परमामृततत्व के बोध में योगसाधक सिद्धावस्था में समाहित अथवा स्वरूपस्थ हो जाता है ।

दरवेस सोइ जो दर की जांणै । पंचे पवन अपूठां आंणै ।
सदा सुचेत रहै दिन राति । सो दरवेस अलह की जाति ।। ।82 ।।

दरवेश वह है, जो परमात्मा के प्रेमस्वरूप में आत्मा को तदाकार कर देता है । इस महाज्योति के साक्षात्कार के लिये वह पंच प्राण-अपान, उदान, प्राण, व्यान, और समान-को नियंत्रित कर समस्त विषयसुखों में पूर्ण वैराग्य का वरण कर सर्वथा अनासक्त हो जाता है । रात-दिन वह निरन्तर परमात्मा, प्रियतम के ध्यान में सावधान रहता है, वह प्रियतम परमात्मा के स्वरूप में ध्यान करते-करते उन्हीं की आकृति में अभिव्यक्त हो उठता है । दोनों प्रेमस्वरूप हो जाते हैं, यही उसकी सजातीयता है । यह स्वरूपस्थिति ही परम कैवल्यपद की प्राप्ति है और दरवेश की यही श्रेय-सिद्धि है ।

बैसंत पूरा रमंति सूरा, एकरसि राषंति काया ।
अंतरि एकरसि देषिबा बिचरंति गोरषराया ।। ।83 ।।

गोरखनाथ का कथन है कि जिस योगी ने सहस्रार स्थित अलख निरंजन परब्रह्म का कुण्डलिनी महाशक्ति के जागरण द्वारा साक्षात्कार कर लिया और कैवल्यपद में स्वरूपस्थिति प्राप्त कर ली, वह पूरा सिद्ध है । इसी तरह जो साधक साहसपूर्वक साधनागत विघ्नों और प्रतिकूल परिस्थितियों पर विजय प्राप्त कर शरीर को एकरस स्थिर रखते हैं, वे वीर हैं; पर मैं (गोरखनाथ) परमात्मा परब्रह्म अलख निरंजन, शून्य गगनस्थ अमृतब्रह्म के सहज साक्षात्कार, स्वरूप-बोध के लिये निरन्तर आभ्यन्तर साधना में सावधान रहता हूँ ।

नाद बिंद बजाइले दोऊ पूरिले अनहद बाजा ।
एकंतिका बासा सोधिले भरथरी कहै गोरष मछिंद्र का दासा ।। ।84 ।।

गोरखनाथ, महायोगीश्वर परम सद्गुरू मत्स्येन्द्रनाथ के सेवक का योगिराज भर्तृहरि के प्रति योगोपदेश है कि हे भर्तृहरि ! प्राणायाम के द्वारा नाड़ियों का मलशोधन कर तथा चित्तवृत्ति को निरूद्ध कर नाद-बिन्दु की साधना में तत्पर हो जाना चाहिये । हे भर्तृहरि, इस तरह नाद-बिन्दु की साधना में निरन्तर तत्पर रहकर एकान्त स्थान में निवास कर अथवा सहज शून्य गगनस्थ सहस्रार में आत्मा का लय (परमशिव से ऐक्य) कर सिद्धावस्था में रमण करना चाहिए । नाद-बिन्दु की साधना ही पूर्ण योग-सिद्धि का साधन-पथ है ।

सूर माहिं चंदचंद माहिं सूर । चपंपि तीनि तेहुड़ा बाजल तूर ।
भणन्त गोरषनाथ एक पद पूरा । भाजंत भौंदू साधंति सूरा ।। ।85 ।।

जब 'ह' सूर्य (पिंगला नाड़ी) और 'ठ' चन्द्र (इड़ा नाड़ी) अथवा मूलाधार में स्थित सूर्य का सहस्रार स्थित चन्द्रमा से मेल हो जाता है, (और विपरीतकरिणी मुद्रा सिद्ध हो जाती है) और सत्, रज, तम तीनों गुणों की वृत्तियों में साधक का मन चंचल नहीं होता है, तब सहस्रार में अनाहद नाद का श्रवण होने पर साधक सिद्धावस्था को प्राप्त हो जाता है । इस तरह की सुदृढ़ योगसाधना में वीर साधक-तपस्वी ही सफलता का सौभाग्य पाता है, जो अज्ञानी है और साधना न कर, केवल शब्दमात्र का प्रलाप करता है, वह कायर कभी योगसिद्ध नहीं हो सकता ।

छत्र पवन निरंतर रहै, छीजै काया पंजरा रहै।
मन पवन चंचल निजि गहिया बोलै नाथ निरंतरि रहिया ।। ।86 ।।

शरीर में प्राण वायु, छत्र पवन की निरंतर अवस्था से नाड़ियों का मल-शोधन होता है, शरीर में स्थित दोष और विकार नष्ट हो जाते हैं, शरीर क्षीण और निर्मल होने पर एक पंजरमात्र सा दीख पड़ता है। योगसाधक मन और पवन तथा चंचल इन्द्रियों को अपने वश में कर लेता है, और इस तरह वह तपस्वी योगी (निरन्तरि=अलग) एकान्त रहनी से जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त हो जाता है।

इकटी बिकुटी त्रिकुटी संधि पछिम द्वारे पवनां बंधि।
षूटै तेल न बूझै दीया बोलै नाथ निरन्तरि हूवा ।। ।87 ।।

निरन्तर स्थिति, जीवन्मुक्ति अवस्था की सिद्धि अथवा सिद्धदेह या अमरकायत्व की प्राप्ति का मूलाधार शरीर में प्राण की स्थिरता है, जिसका प्रवाह इड़ा, पिंगला, और सुषुम्ना नाड़ियों की निर्मलता और ग्रहणशीलता के आधारभूत है। इकटी का आशय पहली नाड़ी इड़ा से है, यह नासिका के बायें भाग में स्थित है, दायें भाग में पिंगला है और इन दोनों के बीच में सुषम्ना नाड़ी स्थित है। इन तीनों का मूल, उद्गम, मूलाधार पद्म (चक्र) की कर्णिका के त्रिकोण में है। उनके वायें कोण से इड़ा, दायें कोण से पिंगला और पश्चिम कोण से पिंगला और पश्चिम कोण से सुषुम्ना की उत्पत्ति है, ये तीनों नासिका-छिद्रों में प्रवाहित हैं और सुषुम्ना ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करती है। इन्हीं तीन नाड़ियों से प्राणायाम की साधना कर अमरता की प्राप्ति की जाती है। सुषुम्ना-मार्ग में पवन का निरोध होने पर साधक अमर हो जाता है। उसकी प्राण-ज्योति उसी तरह स्थिर रहती है, जिस तरह दीपक में तेल रहने तक उसकी दीप्ति बनी रहती है, इस तरह प्राण अपान का सुषुम्ना में संगम कर साधक नित्यस्वरूप जीवन्युक्त होकर अमरकाय हो जाता है।

ज्यू ज्यूं भुयंगम आवै जाई सुरही घरि नहीं गरड़ रहाइ।
तब लग सिध दुर्लभ जोग तोयं अहार बिन ब्यापै रोग ।। ।88 ।।

यह श्वास भुजंग के समान है । सुषुम्ना ही इसका संरोध-स्थान है । जिस तरह सर्प को गरूड़ नियंत्रित करता है, सर्प का प्रभाव समाप्त हो जाता है, उसी तरह सुरही (सुरभी) गाय के घर-सुषुम्ना-में प्राण का स्थैर्य ही गरूड़ की विद्यमानता है, बाहर आते-जाते श्वासरूपी भुजंग को सुषुम्ना में संरोध करना ही योगसिद्धि का पथ प्रशस्त करना है । जल के आहार के बिना, वीर्य को ऊर्ध्वगामी या सुरक्षित क्रिये बिना शरीर पुष्ट और नीरोग नहीं होता हैं । इसलिए ब्रह्मचर्य के द्वारा वीर्य को ऊर्ध्वस्थ करते हुए श्वासभुजंगम को सुषुम्ना में निरूद्ध कर, स्थिर कर योगसिद्धि की प्राप्ति योगाभ्यासी का लक्ष्य है ।

ग्यांन सरीषा गुरू न मिलिया चित्त सरीषा चेला ।
मन सरीषा मेलू न मिलिया तीर्थं गोरष फिरै अकेला ।। ।89 ।।

गुरू गोरक्षनाथ का कथन है कि ज्ञान, आत्मतत्व ही गुरू है, जिस तरह गुरू के सदुपदेश से शिष्य का अज्ञान, अविद्या अथवा मायामोहग्रस्त जीवन में ज्ञान का प्रकाश होता है, उसी तरह मेरा (गोरखनाथ का मत्स्येन्द्ररूप में अभिव्यक्त) आत्मज्ञान ही गुरू है और इस आत्मज्ञान को ग्रहण करने वाला चेला ही मेरा चित्त है, मुझे अपनी अन्तस्साधना के लिये योगमहाज्ञानस्वरूप मत्स्येन्द्ररूप गुरूज्ञान से ही संतोष है, उस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए मेरा चित्त ही योग्य शिष्य है और मन ही गुरू और शिष्य, ज्ञान और चित्त में सामंजस्य स्थापित करने वाला सहायक है, इसलिए ज्ञान, चित्त और मन के सहारे मैं अकेला, स्वरूपस्थित होकर साधना में तत्पर हूँ ।

सांग का पूरा ग्यांन का ऊरा । पेट का तूटा डिंभ का सूरा ।
बदंत गोरखनाथ न पाया जोग । करि पाषंड रिझाया लोग ।। ।90 ।।

जो योगी वेश-भूषा और ब्रह्याडम्बर मात्र का सहारा लेता है और ज्ञान से (ऊरा) अधूरा है, खाली है, सद्ज्ञान की प्राप्ति नहीं कर सका है, जिसका क्षुधा पर अधिकार नहीं है, भूख लगने पर अत्यधिक मात्रा में आहार ग्रहण करता है और जो दम्भ करने में कुशल है, वह योग की साधना में सिद्धि से वंचित रहता है, ऐसा गोरखनाथ का वचन है । वह पाखण्डी है,

स्वांग बनाकर और अपने अज्ञान को आडम्बर के सहारे छिपा कर लोगों का योगसाधना के नाम पर मन बहला कर योगी कहलाने का मिथ्या गौरव पाता है ।

अगनि हीं जोग अगनि हीं भोग । अगनि हीं हरै चौंसठि रोग ।
जो इहि अगनि का जाणै भेव । सो आप ही करता आप ही देव ।। ।91 ।।

शरीर में स्थित दिव्य तेज, अग्नि ही योगसाधना, भोगास्वाद और आरोग्य का मूलाधार है । जिस प्राणी के शरीर में प्राणवायु से निरन्तर शुद्ध अग्नि प्रदीप्त है, वही साधना, भजन और युक्ताहार-विहार में जीवन का सदुपयोग कर सकता है । देहस्थ अग्निमण्डल शरीर में त्रिकोण के आकार में विद्यमान है, मध्यस्थान गुदाद्वार से दो अंगुल ऊपर स्थित है, यहीं से सारे शरीर में अग्नि व्याप्त रहती है । यह अग्नि पाँच प्रकार की है, मूल अग्नि से शरीर नीरोग होता है, रक्त पित्त के विकार का शमन होता है, भुजंगम अग्नि से प्राण की स्थिरता रहती है, रूद्र अग्नि से बहिर्मुख वृत्तियाँ नष्ट होती हैं और साधन में मन लगता है । कालाग्नि से त्रिभुवन का ज्ञान होता है और ब्रह्माग्नि से जीवात्मा सहस्रार में परमात्मा का साक्षात्कार करता है । जो योगाभ्यासी इस अग्नि-साधना के महत्व और रहस्य का व्यावहारिक रूप समझ जाता है, वह सिद्धदेह प्राप्त कर जीवन्मुक्तावस्था से अमरकाय होकर ब्रह्मस्वरूप हो जाता है, उसमें सृष्टि, स्थिति (पालन) और संहार की दिव्य शक्ति आ जाती है ।

जीवता जोगी अमीरस पीवता अहनिस अषंडित धारं ।
दिष्टि मधे अदिष्टि बिचारिबा ऐसा अगम अपारं ।। ।92 ।।

जीवन्मुक्त योगी जीते-जी सिद्ध देह, अमरकायत्व की प्राप्ति कर परमात्मस्वरूप में, अलख निरंजन, अगम अपार परमतत्व में समाहित अथवा निरन्तर समाधिस्थ रहता है । वह सहस्रार में स्थित योनि नामक त्रिकोण चक्र (चन्द्र स्थान) से स्रवित अमृत रस का निरन्तर पान करता है । वह दृश्य में अदृश्य अलख निरंजन की परिव्याप्ति का बोध पाता है । बाह्य सृष्टि ही हमारे शरीर में, पिण्ड में भी विद्यमान है, इस बाह्य सृष्टि के नियामक परब्रह्म शाश्वत चैतन्य, अगम, अपार, अलख निरंजन का वह

चिन्तन, विचार करता है । पाताल की गंगा-कुण्डलिनी शक्तिरूपी परमज्योति को ब्रह्माण्ड, ब्रह्मरन्ध्र में संस्थित कर योगी चन्द्रामृत का निरन्तर पान करते हुए जीवन्मुक्त अथवा अमर हो जाता है ।

जीवता बिछायबा मूंवां वोढ़िबा कबहु न होयबा रोगी ।
बरसै दिन काया पलटिबा यूं कोई कोई बिरला जोगी ।। ।93 ।।

आसन से जड़ शरीर को निर्विकार और सुदृढ़ तथा निर्दोष करना चाहिये और प्राण को स्थित रखकर संयमित अथवा शरीर में निरुद्ध कर निरन्तर जीवन-शक्ति का संवर्धन करना चाहिये । कोई-कोई बिरला योगी शरीर (मूवां-जड़) को आसनों के अभ्यास से पुष्ट करता है तथा प्राण (जीवता) का संयम अथवा संरोध करता है, इस तरह साधना करते रहने से शरीर क्षीण नहीं होता, प्राण पर मृत्यु का भय नहीं रहता, प्रत्येक वर्ष पूरा होते रहने पर यह साधना कायाकल्प की भूमिका निभाती है । काया संशोधित और प्राणवती बनी रहती है ।

सूरजे षायबा चंद्र सोयबा उभै न पीबा पांणी ।
जीवता कै तलि मूंवा बिछायबा यूं बोल्या गोरष बांणी ।। ।94 ।।

सूर्य (पिंगला) नाड़ी से दायाँ स्वर चलने पर ही हमें भोजन करना चाहिये, इसी तरह चन्द्र (इड़ा) नाड़ी से बायां स्वर चलने पर ही हमें शयन करना चाहिये, दोनों स्वरों के चलने पर पानी नहीं पीना चाहिये । आत्मा (जीवता) के नीचे शरीर (मूंवा) को बिछाना चाहिये, इसका आशय यह है कि आत्मचिन्तन के लिये, योग-साधना के लिये शरीर आधार है, उसके नीरोग रहने पर ही परमात्म चिन्तन होता है, ऐसा गोरखनाथ का वचन है ।

जहां गोरष तहां ग्यांन गरीबी दुंद बाद नहीं कोई ।
निसप्रेही निरदावै षेलै गोरष कहीयै सोई ।। ।95 ।।

जहाँ महायोगी गोरक्षनाथ हैं वहाँ न किसी प्रकार का दैन्य है, न द्वन्द्व । वहाँ पुस्तकीय ज्ञान को लेकर चलने वाला पण्डितों का वाद-प्रतिवाद भी नहीं है । नाथ योगी निस्पृह भाव से बिना किसी

शर्त के ज्ञान-साधना में लीन रहता है । पूर्ण ज्ञान या आत्मबोध ही गुरू गोरक्षनाथ के स्वरूप का प्रतिमान है ।

गिगनि मंडल मैं गाय बियाई कागद दही जमाया ।
छाँछि छाँणि पंडिता पीवी सिधां माषण षाया ।। ।96 ।।

सिद्धों ने हठयोग की साधना में स्थित होकर (मूलाधार में प्रसुप्त कुण्डलिनी शक्ति को जगाकर, षट्चक्रों के भेदन और नाद-बिन्दु की साधना में सुदृढ़ रह कर सहस्रार से द्रवित चन्द्रामृत का पान करते हुए परब्रह्म परमात्मा, परम शिव, अलख निरंजन की) परमानुभूति प्राप्ति की, यह परमानुभूति ही गाय द्वारा वत्सामृत पय अथवा दूध देना है, जिस तरह दूध का सारतस्व खीचकर दही जमाया जाता है और उससे छांछ-माखन, दोनों प्राप्त होते हैं, ठीक इसी तरह सिद्धों ने परमानुभूति प्राप्त कर उसका सारतत्व (दूध) निगमागम, उपनिषदादि में भर दिया । शब्द ज्ञान में उलझने वाले पंडित केवल छांछ पीते हैं । परमानुभूति रूपी सारतत्व (माखन) तो सिद्ध योगी ही प्राप्त करते हैं ।

गूदड़ी जुग च्यारि तैं आई । गूदड़ी सिध साधिकां चलाई ।
गूदड़ी मैं अतीत का बासा । भणंत गोरषनाथ मछिंद्र का दासा ।। ।97 ।।

योगी योगसाधना में पूर्ण वैराग्य और पूर्ण अपरिग्रह (लोकसंग्रह में निःस्पृहता) और दैन्य का प्रतीक गूदड़ी को धारण करता है, यह परंपरा युग-युग (चारों युगों से) से चली आ रही है । गुदड़ी में ही, मूर्तिमान् वैराग्य अथवा अकिंचनता तथा दैन्य से ही परमात्मा की प्राप्ति एवं अनुभूति होती है। गुदड़ी में ही अतीत (अलख निरंजन परब्रह्म शिव) की अभिव्यक्ति तथा परिव्याप्ति है । योगीन्द्र मत्स्येन्द्र के सेवक (परमयोगिगुरू) गोरखनाथ का यह अनुभव है ।

असाध कंद्रप बिरला साधंत कोई ।
सुर नर गण गंध्रप ब्याप्या बालि सुग्रीव भाई ।
ब्रह्मा देवता कंद्रप ब्याप्या । यंद्र सहंस्र भग पाई ।। ।98 ।।

अठ्यासी सहंस्र रषीसर कंद्रप ब्याप्या असाधि विष्न की माया ।
यंन कंद्रप ईस्वर महादेव नाटारंम नचाया ।। 199 ।।
विष्न दस अवतार थाप्या असाधि कंद्रप जतीगोरषनाथ साध्या ।
जनि नीझर झरंता राष्या ।। 200 ।।

कामदेव पर विजय पाना बड़ा कठिन है, कोई बिरला महायोगी ही इसको अपने वश में कर पाता है । देवता इसके आकर्षण से नहीं बच सके, मनुष्य तो इसके प्रभावशाली आकर्षण से बच ही नहीं सकता । यक्ष, किन्नर, गन्धर्व, सभी इस कामदेव के द्वारा प्रशासित हैं । काम के वशीभूत बालि और सुग्रीव भी थे । ब्रह्मा भी पुष्पधनुष के टंकार से सदाचार की मर्यादा को तिलांजलि देकर अपनी अंगजा सरस्वती का ही कामोपभोग के लिये वरण करने में अपने मन को चंचल होने से न बचा सके । स्वर्ग-वैभव के विलासी शचीपति इन्द्र तक ने महर्षि गौतम की तपस्विनी गृहिणी अहल्या के सौन्दर्य का कामप्रेरित होकर उपभोग किया और महर्षि के शाप से सहस्रभगयुक्त शरीर वाले हो गये । इतना ही नहीं, असंख्य तपस्वी ऋषि मुनि भी कामोपभोग की परायणता से अपने आपको विरक्त न कर सके । उन पर विष्णु, (श्रीराम) की मोहिनी, सौन्दर्य-माया का रंग चढ़ गया । महादेव ने इस कामदेव को जला कर अनंग कर दिया था पर नटराज भगवान् शिव ने (रति की प्रार्थना पर) पार्वती का पाणिग्रहण कर, दाम्पत्यजीवन के नाटक का समारम्भ कर कामदेव का, अनंग का, वरण किया । विष्णु ने दस अवतार लिये और प्रत्येक अवतार में उन्होंने अपनी लीलाशक्ति, लक्ष्मी, सीता, राधा, पद्मावती, पृथ्वी आदि) का वरण किया । असाध्य काम पर विजय करने में योगी गोरखनाथ (मैं) ने कठिन योगसाधना का वरण किया, सहस्रार से द्रवित चन्द्रामृत-प्रवाह को नाभिस्थिति सूर्य के तेज से शोषित होने से बचा कर और बिन्दु को ऊर्ध्वगामी कर पूर्ण ब्रह्मचर्य में स्थित होकर काम के विकार से शरीर को अप्रभावित रखकर योगसिद्धि प्राप्त की ।

आसति छै हो षंडिता नासति नाहीं अनभै होय परतीति निरंतरि माहीं ।
ग्यान षोजि अमे बिग्यांन पाया सतिसति भाषंत सिध सति नाथ राया ।। 201 ।।

अलख निरंजन परब्रह्म परमात्मा है (आसति-अस्ति) । हे विद्वानों ! परमार्थतत्व नहीं है, (नास्ति-नासति) ऐसा कहना सम्भव नहीं है, उसका

कही भी कभी अभाव नही है, अनुभव से यह विश्वास अटल हो गया है कि हमारे भीतर वह निरन्तर विद्यमान है, मैंने ज्ञान-दृष्टि से उस परमतत्व की खोज कर महाज्ञान, विज्ञान की प्राप्ति कर ली । यह सत्य वचन है, सत्य वचन है, यह सिद्धों की वाणी है । सिद्ध सत्यनाथ का भी ऐसा ही अनुभव है, अथवा बड़े बड़े सिद्धेश्वरों ने भी अपने अनुभव में परमात्मतत्वरूपी विज्ञान पाया ।

माता हमारी मनसा बोलिये पिता बोलिये निरंजन निराकरं ।
गुरू हमारे अतीत बोलिये जिनि किया पिंड का उधारं ।। 202 ।।

हमारी उत्पत्ति अनादि है, इसकी उत्पत्ति (मनसा) अथवा (माया-प्रधान-प्रकृति) से ही कही जानी चाहिये, निरंजन निराकार शून्यपद, पिता से ही इसकी स्थिति है अथवा यह परमात्मा का ही स्वरूप है । आत्म विवेक ही हमारा गुरू है । इस आत्मविवेकरूपी गुरू के ज्ञान-प्रकाश में ही हम शरीर और आत्मा का भेद समझ सके और उसी समझ के फलस्वरूप (हमने हठयोग की साधना पर) पिण्ड में ब्रह्माण्ड की विद्यमानता का अनुभव कर शरीर रहते जीवन्मुक्ति प्राप्त कर ली ।

आपा भांजिबा सतगुर षोजिबां जोगपंथ न करिबा हेला ।
फिरिफिरि मनिषा जनम न पायबा करि लै सिध पुरिस सूं मेला ।। 203 ।।

'यह मेरा है', 'यह मैं हूँ' - इस अहंकार (आपा) को तोड़ देना चाहिये, इस सीमित बन्धन से जीवात्मा को मुक्त करने के लिये सद्गुरू, परमात्मज्ञानी की खोज करनी चाहिये । यह योगमार्ग ही ऐसा है, जो निर्मल और निष्पक्ष है इसलिये इस पुण्यमार्ग की कभी उपेक्षा या अवहेलना (हेला) नही करनी चाहिये । मनुष्य का जन्म अनेक जन्मों के पुण्य का फल है, यह बार-बार नही मिलता है । मनुष्य - जन्म पाकर योग की साधना कर लेनी चाहिये, योग की सिद्धि सिद्ध पुरूष, परमार्थज्ञानी के सत्संग से ही सुलभ है ।

थंभ बिहूँणी गगन रचीलै तेल बिहूँणी बाती ।
गुरू गोरष के बचन पतिआया तब धौंस नही तहाँ राती ।। 204 ।।

(शाम्भवी मुद्रा की साधना से यह तथ्य ज्ञात होता है कि) व्यापक शून्य, निरालम्ब आकाश, (ब्रह्मरन्ध्र) में परमात्मा का पूर्ण प्रकाश प्रकट होता है। गोरखनाथ ने गुरुज्ञान के प्रकाश में गुरूपद में स्थित होकर यह जान लिया, और उनके वचन में यह विश्वास हो गया कि सहज उन्मनी समाधि, मन की ब्रह्मरन्ध्र में लयावस्था में, निरालम्ब आकाश की अमनष्क समाधि में बिना तेल और बत्ती, (साधन) के ही ब्रह्म निरन्तर प्रकाशित रहता है। न उस शून्य में भाव (सत्) है और न अभाव (असत्) ही है, सत्-असत्रूपी द्वन्द्वों से परे सहज-शून्य निरालम्ब गगन में अक्षय परमात्म प्रकाश की ही सत्ता है। निर्विकल्प समाधि में स्वरूपस्थिति का ही बोध है और इस बोध में विश्वास करना ही गोरखनाथ ऐसे गुरू योगसिद्ध के वचन में (गुरू) ज्ञान-प्रकाश में स्थित रहना है।

षंडित ग्यानी षरतर बोलै सांति का सबद उछेदै।
काया के बलि करड़ा बोलै भीतरि तत्त न भेदै।। 205।।

पाण्डित्य तो आत्मज्ञान से होता है, पण्डित-(विद्वान्) वह है, जो आत्मज्ञान के बल पर भौतिक शरीर को अपना स्वरूप नहीं मानता बल्कि उसमें स्थित (जीव) आत्मा को परमात्मा में अभिन्न अनुभव करता है। जो अधूरा ज्ञानवाला है, जिसने शरीर को ही अपना रूप समझ लिया है, वह व्यर्थ तर्क-वितर्क का आश्रय लेकर रूखे और निरर्थक कड़े, असह्य शब्दों का वाग्जाल प्रस्तुत कर अपने अज्ञान को छिपाता है, वह आन्तरिक चैतन्यतत्व का भेदन नहीं कर पाता।

महमां धरि महमां कूँ मेटै सति का सबद बिचारी।
नांन्हां होइ जिनि सतगुर षोज्या तिन सिर की पोट उतारी।। 206।।

वास्तव में महिमावान् अथवा यशस्वी तो वह है, जो प्रभुता और महनीयता से यशस्वी अथवा सम्पन्न होते हुए भी अपने आपको महिमावान् नहीं समझता है। ऐसा प्राणी ही सद्ज्ञान की प्राप्ति का अधिकारी होता है, वह अत्यन्त विनम्र (नन्हा) और लघु होकर महान् सद्गुरूदेव के चरणाश्रय से सद्ज्ञान प्राप्त कर सिर की गठरी उतार फेंकता है, साक्षात् मुक्ति का वरण कर निर्द्वन्द्व और स्वस्थ हो जाता है।

एक कांमध्येनि बारि सिंधि कै गगन सिंदर लै बांधी ।
लागि जीव ऊपरि बारि सिंधे की ल्यौ निरंजन सू सांधी ।। 207 ।।

सृष्टि, स्थिति और संहार की मूलशक्ति महामाया कुण्डलिनी योगसिद्ध पुरूष की साक्षात् कामधेनु है, जिसके द्वारा वह आध्यात्मिक अनुभूति का निरन्तर रसास्वादन करता रहता है, इस महाशक्ति को उसने सुप्त अवस्था से जगाकर षट्चक्रों का भेदन करते हुए परमशिव के द्वार, (ब्रह्मरन्ध्र) शून्य गगन में पहुँच कर प्रतिष्ठित कर दिया । जीवात्मा आसन, प्राणायाम, नाड़ी-मलशोधन, षट्कर्म आदि के द्वारा उत्तरोत्तर साधना में सफलता प्राप्त करते हुए ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश का अधिकारी हो जाता है, उसकी चित्तवृत्तियाँ निरूद्ध हो जाती हैं और वह कुण्डलिनी के शाश्वत प्रकाश में ब्रह्मरन्ध्र में अलख निरंजन परमशिव का साक्षात्कार कर लेता है ।

आफू षाय भांगि भसकावै । ता मैं अकलि कहाँ तै आवै ।
चढ़तां पित्त ऊतरतां बाई । तातैं गोरष भांगि न षाई ।। 208 ।।

जो मनुष्य अफीम और भाँग का सेवन करता है, उसकी बुद्धि, सोचने-समझने और सदसत् के विवेक की शक्ति नष्ट हो जाती है । भाँग के सेवन से पित्त का प्रकोप बढ़ता है, पित्त चढ़ता है और वायु की गति नीचे की ओर होने से प्राण-अपान का सामरस्य नष्ट हो जाता है, शरीर रोगी हो जाता है, वह साधना के योग्य नहीं रह पाता है । यही कारण है कि गोरखनाथ ने भाँग का सेवन नहीं किया अथवा गोरखनाथ का वचन है कि भाँग का सेवन नहीं करना चाहिए ।

म्यंदर छाड़ै कुटी बंधावै । त्यागै माया और मंगावै ।
सुन्दरि छाड़ै नकटी बासै । ताते गोरष अलगै न्हासै ।। 209 ।।

साधक को निष्प्रपंच होना चाहिए । यदि वह अपने प्रति ममता का त्याग कर एकान्त में जाकर कुटी बनाकर गृहस्थ की तरह रहते हुए साधना करता है तो यह तो वैराग्य नहीं है । इसी तरह यदि वह माया का परित्याग कर रूपये-पैसे आदि के संग्रह के प्रति निष्काम होकर साधना-काल में अपने अनुयायियों को प्रोत्साहित करता है कि वे द्रव्य आदि

का संग्रह कर उसे अर्पित करें तो यह साधना के नाम पर ढोंग है । यदि वह कामिनी के बन्धन से अपने आप को मुक्त करके शिष्य-शिष्याओं को अपने आश्रम में निवास करने की अनुमति देकर अपनी इन्द्रियजन्य कामनाओं की पूर्ति करता है तो वह वास्तविक त्यागी नहीं है । गोरखनाथ के लिये तो एकान्त साधना में प्रवृत्त होकर सम्पूर्ण त्याग और वैराग्य का वरण कनक-कामिनी के बन्धन से परे होकर योगपथ पर अकेला चलते रहना ही श्रेयस्कर है ।

त्रिया न सांति, ब[illegible] रोगी, रसायणी अर जाचि षाय ।
बूढ़ा न जोगी सूरा न पाठि पाछैं घाव यतनां न मानैं श्रीगोरषराय ।। 210 ।।

स्त्री, (कामस्वरूपा रमणी) से भोगासक्ति बढ़ती रहती है, वह कामिनी है, चंचला है, मनुष्य अपनी वृत्तियों को उसके सहवास में कभी भी निरूद्ध करने में सफल नहीं हो सकता, उसे शान्ति, की उपलब्धि नहीं हो सकती है । जो वैद्य है, जिसे शरीर के आरोग्य का ज्ञान है, वह कभी असंयमित जीवन-यापन के द्वारा रोगी नहीं हो सकता । यह बात सम्भव ही नहीं है कि रसायनी (रसायन के द्वारा ताम्बे-लोहे को स्वर्ण में रूपान्तरित करने वाला) कभी भिक्षा माँगकर शरीर का पोषण करे । योगी सिद्धदेह प्राप्त कर सदा नीरोग रहता है । कभी उसका शरीर जीर्ण ही नहीं होता, वह बूढ़ा नहीं हो सकता है । इसी तरह जो शूर है, वह शत्रु के सामने रहता है, कभी पीठ उसकी ओर (पीछे) कर उस पर घाव नहीं होने देता है । गोरखनाथ यह मान नहीं सकते कि स्त्री के साथ रहकर कोई शान्ति का जीवन बिताये, वैद्य रोगी रहे, रसायनी भिक्षा माँगकर भूख की निवृत्ति करे, योगी बूढ़ा हो तथा वीर अपनी पीठ पर शत्रु का प्रहार झेले ।

हंड ब्रह्मण्ड चहोड़ीया मानूं बेस्या अंन ।
कोई कोई कोरड़ रह गया यूं भाषै नाथ रतंन ।। 21[illegible] ।।

(गोरखनाथजी का वचन है कि) [illegible] बाबा रतननाथजी कहते हैं कि समस्त ब्रह्माण्ड माया से चारों ओर (चहोड़ीया) प्रभावित है । माया नर्तकी के समान है, वह वेश्या है । जिस तरह वेश्या के अन्न पर पलनेवाला प्राणी बिना घर-बार के होता है, न तो उसके माता-पिता का पता

रहता है, न उसके वर्ण-गोत्र का ही परिचय मिलता है, उसी तरह माया, असत् वस्तु की चमक और मोहिनी शक्ति से प्रभावित प्राणी परमात्मा के सान्निध्य और साक्षात्कार से दूर होकर जन्म-मरण और सुख-दुःख तथा विषय-भोग के द्वन्द्व में भ्रमित रहता है । माया के प्रभाव से कोई बिरला ही बच पाता है, वह सभी का स्पर्श कर सद्वस्तु से विमुख बना देती है ।

निंद्रा सुपनैं बिंद कूं हरै । पंथ चलंतां आतमां मरै ।
बैठां षटपट ऊभां उपाधि । गोरख कहै पूता सहज समाधि ।। 2।2 ।।

योगसाधना में निद्रा, भ्रमण, व्यर्थ बैठे और खड़े रहना, सब-के-सब बाधक हैं । गोरखनाथजी का कथन है कि हे शिष्य, वत्स, सहज समाधि में ही स्थित रहना श्रेयस्कर है । निद्रा में स्वप्न-दोष के द्वारा वीर्यपात होने का भय बना रहता है, ब्रह्मचर्य खण्डित होता है । इसी तरह, व्यर्थ भ्रमण करते रहने से भी योगी आत्मस्थ नहीं हो पाता । आसन लगाकर बैठने से ही योग-साधना की सिद्धि नहीं हो जाती, न खड़े रहकर तपस्या आदि करने से ही कार्यसिद्धि हो सकती है । उत्तम मार्ग तो यह है कि साधक स्वरूप में स्थित होकर आत्मचिन्तन करते हुए कैवल्यपद में प्रतिष्ठित हो जाय । यही सहज समाधि है, जो स्वानुभूति की अनायास देन है ।

सूकै कंठ अरू भूष संतापै । देह बिसर अर निंद्रा ब्यापै ।
बुधि बिन बकै बिकल होय जाय । तातैं गोरष भांगि न षाय ।। 2।3 ।।

भाँग का सेवन करने से शरीर के स्नायुओं में शुष्कता आती है, गला सूखने लगता है और बड़े जोर की भूख लगती है, अधिक भोजन कर लेने से पाचन-शक्ति का ह्रास होता है, देह में जो चेतना रहती है, वह क्षीण होने लगती है, उसमें संज्ञा-शून्यता अथवा जड़ता आ जाती है और भाँग खाने वाले प्राणी को निद्रा के सिवा कुछ भी अच्छा नहीं लगता है, इस तरह उसकी बुद्धि भी जड़ बन जाती है, वह व्यर्थ बकवास करता है । यही कारण है कि गोरखनाथ भाँग का सेवन नहीं करते ।

रूसता रूठा गोला-रोगी । भोला भछिक भूषा भोगी ।
गोरष कहै सरबटा जोगी । यतनां मैं नही निपजै जोगी ।। 2।4 ।।

गुरू गोरक्षनाथ कहते हैं कि योगी क्रोध नहीं करता, चिड़चिड़ा (रूठा) नहीं होता, वह वायु (गोला) का रोगी नहीं होता । योगी बुद्धिमान् होता है, अधिक खानेवाला (भछिक) नहीं होता और न भूखा ही रहता है । वह भोगों में आसक्त नहीं रहता, केवल जटा रख कर (बढ़े बालवाला, सरबटा) योगी होने का स्वांग नही बनाता है । योगी तो शान्त, स्वस्थ, आत्मचिन्तन में तत्पर, अल्पाहारी और कृत्रिम वेश-भूषा तथा आडम्बरों से परे होता है । इसके विपरीत आचरण में योगी पैदा (निपजै) ही नहीं हो सकता ।

अवधू अहार कूं तोड़िबा पवन कूं मोड़िबा ज्यौ कबहु न होयबा रोगी ।
छठै छमासि काया पलटंत नाग बंग बनासपती जोगी ।। 215 ।।

हे अवधूत ! अल्पाहार के सेवन और प्राणायाम के अभ्यास (निरोध) से योगी का शरीर नीरोग रहता है और वह योग की साधना में तत्पर रहता है । शरीर को निर्दोष, शुद्ध और स्वस्थ रखने के लिये उसे साल में कम-से-कम दो बार कायाकल्प करना चाहिए । यह कायाकल्प रासायनिक भस्म, सीसे (नाग) और टिन (वंग) के भस्म की आयुर्वेद में वर्णित विधि द्वारा सम्पन्न होता है तथा वनस्पति (आम्र आदि के रस) के प्रयोग से भी किया जाता है ।

सूरां का पंथ हार्‌यां का बिसराम सुरता लेहु बिचारी ।
अपंरचै पिंड भिष्या षात है अंति कालि होयगी भारी ।। 216 ।।

योग की साधना यही है कि इसमें बिना पंथ के ही चलना होता है, (पंथबिन चलिबा-सबदी 22) चलना-ही-चलना, निरन्तर परम शिव के साक्षात्कार का अनुभव ही योग का परम प्रतिपाद्य है, यह मार्ग वीरों का है, जो इन्द्रियों और मन पर विजय प्राप्त कर लेते हैं, इस योग-पंथ पर हार मान कर ठहरने वाला, विश्राम करने वाला, माया, मोह - इन्द्रियों के भोगास्वाद में अटकने वाला कायर है, पराजित अथवा विवश है । हे श्रोताओं! जिज्ञासुओ !! इस बात का अच्छी तरह विचार कर लो, इसको समझ लो । जो साधक पिंड में व्याप्त, परमशिव का साक्षात्कार नहीं कर लेता है और भिक्षा

माँग-माँग कर शरीर के ही पोषण में लगा रहता है, उसका पिंडपात होना, मृत्यु होना निश्चित, है, उसे कर्मविपाक का भोग करना ही पड़ेगा । अन्ततः उसके लिए कर्मफल का भार भारी पड़ेगा ।

उलटी सकति चढ़ै ब्रह्मण्ड नषसष पवनां षेलै सरबंग ।
उलटि चन्द्र राह कूं ग्रहै । सिध संकेत जती गोरष कहै ।। 217 ।।

योगी गोरखनाथ का संकेत है कि योगसिद्ध पुरूष सहस्रार में स्थित चन्द्र के मूलाधार में स्थित सूर्य द्वारा शोषित होने वाले अमृत को प्रत्याहरित कर लेता है । योगसिद्ध प्राणायाम के द्वारा कुण्डलिनी को जगाकर उसकी गति ऊर्ध्वमुखी कर सुषुम्ना मार्ग के द्वारा उसे षट्चक्रों का भेदन करते हुए ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचा देता है और इस तरह उसके अंग-प्रत्यंग समस्त (नखशिखपर्यन्त) शरीर में प्राणवायु स्थिर हो जाती है, प्रत्येक नाड़ी और स्नायु में प्राण शक्ति भर उठती है, ऐसा होने पर योगी के सहस्रार में योनिनामक त्रिकोणच्रक में स्थित चन्द्रमा से द्रवित अमृत मूलाधार में स्थित सूर्य का ग्रास होने से बच जाता है, यह प्रत्याहरित हो जाता है, इस तरह चन्द्रमा सूर्य का शोषणकारी प्रभाव समाप्त कर देता है । यही चन्द्रमा द्वारा सूर्य को अपना ग्रास बना लेना है ।

धरे अधर बिचारीयां धरी याही मैं सोय ।
धरे अधर परचा हूवा तब दुतीया नाही कोय ।। 218 ।।

जीवात्मा के पिंड (धरे - धरा, पांचभौतिक शरीर) में ही ब्रह्म (अधर - पंचभूत में परमात्मा) व्याप्त है । पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड का मूलाधार ब्रह्म है, जो दोनों में व्याप्त है । योग की साधना से हठयोग के द्वारा शरीर के अन्तर अवयवों के सूक्ष्म विशलेषण से स्वरूपानुभूति के प्रकाश में पिंड में ब्रह्म की विद्यमानता का रहस्य ज्ञात होने पर सभी तरह का द्वैत समाप्त हो जाता है ।

जिभ्या इन्द्री एकैं नाल । जो राषैं सो बंचै काल ।
पंडित ग्यांनी न करसि गरब । जिभ्या जीती जिन जीत्या सरब ।। 219 ।।

गोरष कहै हमारा षरतर पंथ । जिभ्या इन्द्री दीजै बन्ध ।
जोग जुगति मैं रहै समाय । ता जोगी कूं काल न षाय ।। 220 ।।

जो साधक अपनी जीभ (वाणी) को वश में रखकर एकमात्र परमेश्वर परमशिव (एकै नाल) के आश्रित रखता है, वह काल का भी वंचन (मृत्यु-विजय) कर लेता है । हे पण्डितों । ज्ञानियों । शास्त्रज्ञान को जीवन में बिना आचरित किये वाद-विवाद में ही कालक्षेप करने वालो । अपनी जानकारी का गर्व मत करो, यह तो व्यर्थ प्रलाप है और जिह्वा का दुरूपयोग है । वास्तव में जिसने जिह्वा को स्वाद के पीछे भटकने न देकर मिताहार से शरीर का पोषण कर लिया और व्यर्थ शास्त्रज्ञान का ढिंढोरा न पीटकर प्रभु, परमेश्वर के चिन्तन में लगा दिया - उसने समस्त साधन सम्बन्धी विघ्नों पर विजय पा ली । हमारा (हठ) योग-मार्ग सूक्ष्म है, अनुभवगम्य और सर्वग्राह्य तथा निर्मल है, निष्पक्ष है और इस मार्ग का सबसे उत्कृष्ट साधन यह है कि साधक स्वादवृत्ति और वाणी को संयमित रखकर योग की युक्ति (साधना) में लग जाय, ऐसे योग-साधक योगी को मृत्यु का भय नहीं रहता । गोरखनाथ का वचन है कि हमारा योगमार्ग अनुभूति का मार्ग है, (लेषै लिषी न कागद माड़ी सो पत्री हम बाचीं: सबदी 264) हमारे योगमार्ग पर चलने में मृत्यु का भय मिट जाता है ।

बरष एक देखिलै हो पंडिता तत एक चीन्हिबा सबदैं सुरति समाई ।
गोरखनाथ बोलै भ्रम न भूलिबा रे भाई ।। 221 ।।

हे ज्ञानियो (पंडिता), यह जगत् (वरष = वृक्ष) परमात्मा में अधिष्ठित है, उत्पन्न है, भीतर-बाहर एक ही परब्रह्म परमात्मतत्व की परिव्याप्ति का ज्ञान प्राप्त कर परमात्मा में चित्त की वृत्ति (सुरति) का लय कर देना चाहिए, अज्ञान में भटकने से लाभ नहीं होगा, भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए । इस सबदी में शब्द सुरति योग का आख्यान किया गया है । नाथ-सिद्धों की इस साधना का सन्त साहित्य पर व्यापक प्रभाव पड़ा है । मन की उन्मनी अवस्था सिद्ध होने पर शब्द का शून्य में लय ही शब्द में सुरति का समा जाना है । गोरखनाथ सावधान करते हैं कि हे ज्ञानियो । अविद्यावश भूल में नहीं पड़ना चाहिए, स्वरूप की विस्मृति नहीं करनी चाहिए, सूक्ष्म नादस्वरूप

परब्रह्म अलख निरंजन परमशिव में सुरति, चित्तवृत्ति की लयावस्था से ही स्वरूपबोध होता है ।

अबूझि बूझिलै हो पंडिता अकथ कथिलै कहांणी ।
सीस नवांवत सतगुर मिलीया जागत रैंण बिंहाणी ।। 222 ।।

हे विद्वानों । अलख निरंजन परब्रह्म परमात्मा ज्ञान-विज्ञान से परे परमतत्व है, वह अज्ञेय है पर अन्तर्चक्षु ज्ञाननेत्र से उनके स्वरूप का साक्षात्कार होता है, यह साक्षात्कार कर लेना चाहिए । वह शब्द से परे हैं (वेद की ऋचायें नेति-नेति के द्वारा उसके स्वरूप-चिन्तन में विवशता प्रकट करती हैं) हे ज्ञानियो, उसका रूप यद्यपि वाणी का विषय नहीं है तथापि अनुभव करने वाले अपनी अनुभूति का वर्णन करते ही हैं, इसलिये उसका वर्णन कर लेना गुरू के प्रति श्रद्धावनत होकर परमतत्व का बोध किया जा सकता है । इसलिए गुरू के चरण पर नतमस्तक होकर श्रद्धापूर्वक गुरूज्ञान की प्राप्ति, गुरू के उपदेश की प्राप्ति से परमात्मा के स्वरूप का साक्षात्कार कर लेना चाहिये । गुरूज्ञान मे ही संसाररूपी रात जागते-जागते कट जायेगी, अविद्या अन्धकार का नाश हो जायेगा और परमात्म ज्ञान का प्रभात प्रकाशित हो उठेगा ।

विद्या पाढ़ि र कहावै ग्यांनी । बिनां अविद्या कहै अग्यांनी ।
परम तंत का बोय न मरमी । गोरष कहै ते महा अधरमी ।। 223 ।।

जबतक परमतत्व परमात्मा का तत्वबोध-स्वरूपानुभव नहीं होता, तबतक ज्ञान-अज्ञान, दोनों ही समान हैं । यद्यपि विद्या की प्राप्ति आवश्यक है, तथापि परमात्म ज्ञानशून्य विद्या पढ़कर ज्ञानी कहलाने से ही कोई ज्ञानी नही हो जाता । इसी तरह जिसने विद्या नही पढ़ी, वह यद्यपि लोकदृष्टि में अज्ञानी है पर ऐसा भी सम्भव है कि बिना विद्या पढ़े ही वह परमात्मज्ञानी हो जाय, वस्तुतः तत्वबोध के लिए पुस्तकीय ज्ञान के होने न होने का कोई अर्थ नही है । गोरखनाथ का वचन है कि जो परमात्मा का मर्मज्ञ, नहीं वह महा अधर्मी है ।

पंथ चले चलि पवनां तूटै तन छीजै तत जाई ।
काया तैं कछू अगम बतावै ताकी मूंडूं भाई ।। 224 ।।

पिण्ड में ही समस्त ब्रह्माण्ड तत्वतः समाविष्ट है, जो कुछ सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पर्वत, सरिता, समुद्र आदि ब्रह्माण्ड में हैं, वे ही हमारे पिण्ड में समान रूप से अधिष्ठित हैं । योगी को चाहिये कि वह पिण्ड में ही ब्रह्माण्डनायक, अलख निरंजन का योगयुक्ति से साक्षात्कार कर ले, इधर-उधर जिज्ञासावृत्ति से भ्रमण करने से इन्द्रियाँ चंचल हो उठती हैं, शरीर में प्राण की शक्ति क्षीण होती हैं, शरीर निस्तेज और दुर्बल हो जाता है और आत्मज्ञान अथवा परमात्मबोध की प्राप्ति में बाधा पड़ती है । शरीर परमात्मा के स्वरूपानुभव का माध्यम है । वह बाहर-भीतर सर्वत्र है । यह कोई सिद्ध नही कर सकता कि परमात्मा का स्वरूपबोध शरीर से परे अथवा अगम है । मैं ऐसा सिद्ध करने वाले शिष्यत्व ग्रहण कर सकता हूँ पर यह असम्भव है, ऐसा सिद्ध करने वाला अज्ञान, अविद्या का ही परिचय देगा । यह स्वतः सिद्ध है कि शरीर में हम परब्रह्म परमात्मा अलख निरंजन का स्वरूपानुभव करते हैं ।

महमंद महमंद न करि काजी महमंद का बौहोत बिचारं ।
महमंद साथि पैंकंबर सीधा ये लष असी हजारं ।। 225-26 ।।

हे काजी, न्याय प्रस्तुत करते समय मुहम्मद साहब के पवित्र शब्दों का मर्म समझे बिना बार-बार उनके नाम का उल्लेख मत करो, मुहम्मद साहब ने निष्पक्ष और निर्मल अमृतवाणी में कुरान में जीवन तत्व, मर्म अथवा सिद्धान्त निरूपित किया है । उनके वचन का मर्म समझने के लिये एक लाख अस्सी हजार पैगम्बरों ने, असंख्य सिद्ध महात्माओं ने कठोर साधना की और आत्मचिन्तन किया । मुहम्मद साहब के विचारों का रहस्य तो परमात्मा के अनुग्रह से ही प्रकट हो सकता है ।

जीव सींव संगे बासा । बधि न षाइबा रूध्र मासा ।
हंस घात न करबा गोतं । कथंत गोरष निहारि पोतं ।। 227 ।।

जीवात्मा ओर परमात्मा में भेद नही है, वे एक साथ निवास करते हैं, वे दो नहीं हैं, परमात्मा प्रत्येक जीवधारी के शरीर में भीतर-बाहर सर्वत्र

परिव्याप्त है, ऐसी स्थिति में किसी भी जीवकी हत्या कर उसके शरीर और रक्त-मांस को अपना आधार नहीं बनाना चाहिए । जीव-हिंसा महान् पाप है, प्राण का घात करना, किसी को मारना अपकर्म है । जिस तरह हम अपने पुत्र आदि का प्राणघात नहीं करते, उसी तरह हमें अन्य जीवधारियों को भी नहीं मारना चाहिए । गोरखनाथ का कथन है कि अपने पुत्र आदि को देखकर इस तरह विवेक से काम लेना चाहिए ।

जीव क्या हतिये रे प्यंड धारी । मारिलै पंच भू म्रगला ।
चरै थारी बुधि बाड़ी । जोग का मूल है दयादाण ।।
कथंत गोरष मुकतिलै मानवा मारिलै रे मन द्रोही ।
जाकै बप बरण मास नहीं लोही ।। 228 ।।

हे पिण्डधारी । जीव-हत्या क्यों करते हो ? वह तुम्हारे ही समान शरीरधारी हैं । तुम्हें मृगया का शौक हो, तो अपने मन को मारो । यह पांच भौतिक मृग है, यह मृग बुद्धिरूपी उपवन को सुषमा और हरीतिमा को नष्ट कर देता है, योग-साधना का आधार तो दया है, शुभ कर्म है, परोपकार है । यदि बुद्धि परोपकार से शून्य है तो ऐसा इसलिये है कि चंचल मृगरूपी मन ने इसकी विशिष्टता अथवा शक्ति का नाश कर दिया है । वास्तव में मुक्ति - प्राप्ति तो मन को अमन, अस्तित्वहीन करने से ही सम्भव है, इस मन को मारने में हिंसारूपी अधर्माचरण का पाप भी नहीं लगेगा, क्योंकि मन रक्त और मांस का शरीरवाला है ही नही । गोरखनाथ का यह अनुभवपूर्ण कथन है कि मन मारने से पुण्य होता है, मनोनाश से स्वबोध अथवा मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

जिनि मन ग्रासे देव दाण ।
सो मन मारिले गहि गुरू ग्यांन बांण ।। 229 ।।

मन को मारना (जीत लेना अपने वश में कर लेना) बहुत ही कठिन है (पर योगयुक्ति से यह वश में हो जाता है, मर जाता है अथवा उन्मन हो जाता है) मन (रूपी मृग) देवता और दानव, दोनों को अपने शासन में पराधीन रखता है, इसको अपने वश में करने अथवा मारने का उपाय है गुरू का उपदेश, उनके शब्दरूपी बाण को (अपने विवेकरूपी धनुष) से संधानित

करने पर मन का अस्तित्व समाप्त हो जाता है, इसलिये गुरू के शब्द, उपदेश, ज्ञानरूपी बाण का आश्रय लेकर मन को मार डालना, नष्ट कर देना अथवा उन्मन या अमनस्क कर देना चाहिए ।

जोगी सो जो राषै जोग । जिभ्या यंद्री न करै भोग ।
अंजन छोड़ि निरंजन रहै । ताकू गोरष जोगी कहै ।। 230 ।।

योग अमूल्य रत्न है, योगी वह है, जो परमात्मा में, स्वरूप में सदा युक्त रहता है । यदि योगसाधक जिह्वा-इन्द्रिय की तृप्ति के लिये भोगास्वाद में आसक्त हो जाता है, आहार की विधि का उल्लंघन कर देता है, तो यह योग की साधना नहीं कर सकता, वह तो माया (अंजन) के वशीभूत होकर शरीर के पोषण और भौतिकता में तल्लीन हो जाता है । गोरखनाथ का कथन है कि योगी तो वह है, जो माया के वशीभूत न होकर, अमायिक (निरंजन, परब्रह्म पद, परमशिव) स्वरूप में स्वस्थ रहता है ।

सुंनि ज माई सुंनि ज बाप । सुंनि निरंजन आपै आप ।
सुंनि कै परचै भया सथीर । निहचल जोगी गहर गंभीर ।। 231 ।।

अनाहत नाद-श्रवण की अन्तिम निष्पत्ति अवस्था तथा उन्मनी समाधि के परे की अवस्था ही शून्य है, कैवल्यपद है, यही योगसिद्ध पुरूष की स्वरूप में स्थिति का अधिष्ठान है । यही अलख निरंजन मायातीत परब्रह्म परमात्मा परमशिव की स्वाभिव्यक्ति है, इस शून्य समाधि में परिचय (आत्मस्वरूपज्ञान अथवा स्वरूप बोध) से ध्रुव, अटलपद, स्थैर्य्य की प्राप्ति होती है । योगी अचंचलता अथवा सम्पूर्ण निरूद्धचित्तावस्था, उन्मनी समाधि में, गाम्भीर्य (गहर) में अथवा 'तद्धाम परमं मम' के अनुरूप परमपद में प्रतिष्ठित हो जाता है ।

तजौ कुलती मेटौ भंग । अह निसि राषौ ओजुद बंधि ।
सरब संजोग आवै हाथि । गुरू राषै निरबाण समाधि ।। 232 ।।

हे योगसाधक ! योगसाधना की परम-चरमसिद्धि कैवल्यपद की प्राप्ति है, कुलती, कुण्डलिनी की साधना, जागृति, षट्चक्रभेदन और प्राण के

स्थैर्य तथा नाद बिन्दु की साधना की सर्वथा अपेक्षा है, पर कुल, पृथ्वी-तत्व में प्रसुप्त अथवा लीन, मूलाधार चक्र में स्थित महाशक्ति (स्त्री) के सहस्रार में स्थित सकल शिव के सायुज्य से भी परे अलख निरंजन परमशिव विराजमान है, उसके स्वानुभवबोध में अवरोध (भंग) को मिटा देना चाहिए । अनवरत रात-दिन तैलधारावत् शरीर (ओजुद) को संयमित कर सहज शून्य समाधि में (अभंग पद में) कैवल्यानुभव करना चाहिए, इससे सम्पूर्ण योगसिद्धि की अनुभूति होगी और गुरू निस्सन्देह अनुग्रह करेंगे, वे रक्षा करेंगे । (इस सबदी में कुलती, कुलथी की दाल और भांग के सेवन के त्याग का भी संकेत है । कुलथी से वायु विकार और भांग से पित्त-विकार होता है ।)

अकुच कुचीया बिगसिया पोहा ।
सिधि परिजलि उठी लागिया धुवा ।।
कहै गोरषनाथ धुवा प्राण । ऐसे पिंड का परचा जाणै प्राण ।। 233 ।।

इन्द्रियजन्य विषयभोगों में चंचल (अकुंचित) मन प्रत्याहार के अभ्यास के द्वारा स्थिर (कुंचित) हो गया है और ऐसा होने पर जीवात्मा रूपी पुष्प (पोहा) प्रफुल्लित हो उठा है, खिल गया है, योगसाधना की शिक्षा में उत्तरोत्तर उन्नत होते हुए पूर्ण रूप से योगानुभव में परब्रह्म अलख निरंजन शिव के साक्षात्कार में सावधान है । यही योगसिद्धि है, इस सिद्धिरूपी अग्नि का परिचायक प्राण (का संयम) है । जिस तरह धुवाँ देखकर यह निश्चित हो जाता है कि अग्नि विद्यमान है, इसी तरह प्राण के ऊपर उठने से सुषुम्ना के पथ से ब्रह्मरन्ध्र में स्थिर होने से पता चल जाता है कि योगसाधक सिद्धि में स्थित है ।

अवधू यो मन जात है याही तै सब जांणि ।
मन मकड़ी का ताग ज्यूं उलटि अपूठौ आंणि ।। 234 ।।

मन बड़ा ही चंचल है, इसका निग्रह बहुत ही कठिन है, क्षण-क्षण में अस्थिर होता रहता है । हे अवधूत ! इसका निग्रह करना आवश्यक है, क्योंकि समस्त सृष्टि उसके अधिष्ठाता और अधिष्ठात्री इसी मन के ही स्वरूप, अरूप और रूप हैं । सावधानी की बात यह है कि इसे पीठ की ओर (अ-पूठौ), पीछे जहाँ से इसकी चंचलता आरम्भ होती है, वापस ले जाना

चाहिए चंचल नहीं होने देना चाहिए, मकड़ी के तार की तरह इसे वापस लाना चाहिए, जिससे यह स्थिर हो जाय ।

जे आसा तो आपदा जे संसा तो सोग ।
गुर मुषि बिना न भाजसी ये दून्यों बड़ रोग ।। 235 ।।

आशा और संशय, ये दोनों-के-दोनों भयंकर रोग हैं । आपदा का कारण है, इससे मनुष्य कभी सुखी नहीं हो सकता, आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्' इस सिद्धान्तवाक्य में विश्वास कर परमात्मा का आश्रय ग्रहण करना ही निरापद है । इसी तरह संसार के असत् रूप को सत् मान लेना ही महान् संशय है । इस संशय से साधक के मन में विषाद होता है, शोक होता है, वह आनन्द-स्वरूप का विस्मरण कर देता है । गुरू के ज्ञानोपदेश से ही साधक के ज्ञान नेत्र खुलते हैं और संशय तथा आशा का नाश हो जाता है ।

इस ओजुदा मैं मारि लै गोता, कछु मगज भीतरि ष्याल रे ।
पंच कटार है भीतरि निमस करि बेहाल रे ।। 236 ।।

(हठ) योग की साधना से अपने पिण्ड में परिव्याप्त परमात्मा का साक्षात्कार कर लेना चाहिए, जो ब्रह्माण्ड हमें शरीर के बाहर स्थित दीख पड़ता है, वही तत्वतः हमारे शरीर में विद्यमान है । (ओजुदा) में ही गीता लगाने से योगसिद्धिरूपी रत्नावली की प्राप्ति हो जाती है, अध्यात्म का सागर शरीर में लहरा रहा है । मस्तिष्क (मगज) में विंचार करना चाहिए, और पंच इन्द्रियसहित मन को बुद्धिरूपी कटार (शस्त्र) से शक्तिहीन कर, क्षणमात्र में विवश (बेहाल) कर आत्मज्ञानं के प्रकाश में चैतन्यघन परमानन्दस्वरूप अलख निरंजन का बोध अथवा अनुभव प्राप्त कर लेना मानवजीवन अथवा मानव-शरीर की प्राप्ति की सार्थकता है ।

ब्यंद ब्यंद सब कोई कहै । महाब्यंद कोइ बिरला लहै ।
इस ब्यंद भरोसे लावै बंघ । असथिरि होत न देषो कंध ।। 237 ।।

महाबिन्दु (सम्पूर्ण वीर्य सिद्धि) की प्राप्ति कोई बिरला ही करता है, ऐसे तो सभी लोग कहते हैं कि वीर्य (बिन्दु) की रक्षा से शरीर स्थिर होता

है, इसका पात (मृत्यु) नहीं होता, परन्तु वीर्य को ऊर्ध्वगामी करते हुए सहस्रार में नाद के साथ उसका संयोजन करने से परिपक्व रस, योगाग्नि से सिद्ध महारसायन (महाबिन्दु) को प्राप्त करना सबके वश की बात नहीं है, इसी महाबिन्दु से अमरकायत्व की प्राप्ति होती है । शरीर स्थित वीर्य के भरोसे बिना उसको योगाग्नि में सिद्ध किये शारीरिक (यौगिक) क्रिया, मुद्राबन्ध आदि, से शरीर स्थिर होते नहीं देखा गया है ।

उलटै मूल डाल नहीं रहै । फाड़ि कछौटा रात्यौं बहै ।
न वोह छीजै ना वोह गलै । ब्यंद नहीं सो भगमुष ढलै ।। 238 ।।

बिन्दु की साधना, वीर्य की रससिद्धि (हठ) योग-साधना का एक आवश्यक अंग है, जिसके सिद्ध होने पर अमरकायत्व और ब्रह्मानुभूति की प्राप्ति होती है । जो वीर्य कामोपभोग में, स्त्री के संभोगसुख की पूर्ति में भगमुखी, स्त्री की योनि में अधोमुखी, हो जाता है, वह अपक्व और निस्सार वीर्य है, जिसके द्वारा योगी सिद्धि के वंचित रह जाता है । इस वीर्य को ऊर्ध्वगामी करने से, इसके मूल को, उद्गम को उलट देने से कामोपभोगपरायणताजन्य चंचल मानसिक वृत्तियों का नाश हो जाता है, यह वीर्य ऊर्ध्वमुखी होने पर योगी के द्वारा वस्त्र (कछौटा) त्याग देने से, कामोपभोग रूपी वस्त्र (लज्जा, आवरण) को उतार कर निरावरण दिगम्बर होने पर, जो अधोमुखी होता है, ऊर्ध्वमुखी हो जाता है, यह न गलता है, न ढलता है, न क्षीण होता है और न नष्ट होता है । यह पक्व अथवा सिद्ध वीर्य ब्रह्मानुभूति का प्रशस्त माध्यम हो जाता है ।

बिणि बैसंदर जोति बलत है गुर प्रसादे दीठी ।
स्वामी सीला अलुणी कहिये जिनि चीन्हा तिन दीठी ।। 239 ।।

शरीर में वही ब्रह्मज्योति है, जो घट-घट में, जड़-चेतन में विद्यमान है । मैंने (गोरखनाथ ने) गुरू की प्रसन्नता (कृपा) से इस ज्योति का, अलख निरंजन परब्रह्म परमात्मा के स्वप्रकाश का अपने शरीर के भीतर साक्षात्कार कर लिया, यह ज्योति बिना अग्नि के ही प्रकाशित है, इसका आधार पांचभौतिक तेज नहीं है, इस ज्योति का दर्शन तीसरे नेत्र (तिन दीठी) से, ज्ञाननेत्र से उन वैराग्य-रसिकों को होता है, जो संसार के प्राणी, पदार्थ और

परिस्थिति से परे होकर शीलोछंवृत्ति से ही जीवनधारण करते हैं, (खेत की फसल कट जाने पर उसके स्वामी द्वारा अन्न ग्रहण कर लेने के बाद खेत में जो अन्न के दाने, शिल बच जाते हैं, अलुणी, उंछ, (त्यक्त) रह जाते हैं, उन्हें अयाचित वृत्ति से एकत्र कर उनसे जीविका चलाते हुए पूर्ण वैराग्यमय जीवन का वरण शरीर की रक्षा करने वाले) त्यागी महात्मा ही आन्तरिक साधना से परब्रह्म ज्योति का साक्षात्कार करते हैं ।

ऊजल मीन सदा रहै जल मै सुकर सदा मलीना ।
आतम ग्यांन दया बिणि कछु नाहीं कहा भयौ तन षीणा ।। 240 ।।

किसी के स्वभाव की निन्दा-स्तुति व्यर्थ है । मछली सदा जल में रहने से निर्मल रहती है और सूकर कीचड़ में रहने से मैला रहता है । इसी तरह योग-साधक की बात है, केवल काय साधन, कुण्डलिनी-जागरण करते हुए षट्चक्रभेदन, प्राणायाम, आसन-मुद्राबन्ध से शरीर को शोधित कर लेने से ही कोई योग में सिद्धि प्राप्त नहीं कर लेता । मूल बात यह है कि जीवमात्र के प्रति हमारे भीतर आत्मभाव होना चाहिए, हमारी चित्तवृत्ति में दूसरों के प्रति दया रहनी चाहिए, वास्तविक आत्मज्ञानी वही है, योगसिद्ध वही है, जिसके हृदय में दया और करूणा है, अन्यथा तप करके शरीर शोधित कर लेने मात्र से कोई आत्मविज्ञानी नहीं कहला सकता ।

धोतरा न पीवो रे अवधू भांगि न षाश्रौ रे भाई ।
गोरष कहै सुणौ रे अवधू या काया होयगी पराई ।। 241 ।।

हे अवधूत । इस मनुष्य-शरीर की प्राप्ति बड़ी दुर्लभ है । इस शरीर की चेतन वृत्तियों को धतूर-सेवन कर तथा भाँग खाकर दुर्बल नहीं करना चाहिये । इन मादक द्रव्यों के सेवन से स्नायु निर्बल हो जाती है और मन चंचल हो जाता है, बुद्धि क्षीण हो जाती है, यह काया काम, क्रोध, मोह, मद, मत्सर आदि शत्रुओं द्वारा आक्रान्त हो जायेगी और जीवन निष्फल हो जायेगा ।

साइं सहेली सुत भरतार सरब सिसटि कौ एकौ द्वार ।
पैसता पुरसि निकसता पूता ता कारणि गोरष अवधूता ।। 242 ।।

गोरखनाथ का कथन है कि इस संसार में स्वामी, सखा, सहेली, पुत्र, पति, सब को गर्भ में प्रवेश कर शरीर धारण करना पड़ता है और जन्म लेने का, अथवा शरीर धारण करने का सकल सृष्टि का एक ही द्वार है, स्त्री की योनि से (चौरासी लाख योनियों में) जन्म लेकर कर्म का विपाक भोगते हुए मनुष्य जन्म लेता है, इसलिये अवधूत होने पर, वैराग्य का मार्ग ग्रहण करने पर, कामोपभोग परायणता के परिणाम स्वरूप जीवात्मा माता के गर्भ में प्रवेश करने से बच जाता है । इसलिए मैं (गोरखनाथ) ने वैरागय का ही वरण कर लिया, जिससे बार-बार जननी के जठर में निवास कर मलमूत्र से निर्मित शरीर में गर्भस्थ रहने से बच गया ।

राष्या रहै गमाया जाय सतिसति भांषंत श्रीगोरषराय ।
येकै कहि दुसरै मानी गोरष कहै वो बड़ौं ग्यांनी ।। 243 ।।

यह गोरखनाथ का सत्य वचन है, ज्ञानोपदेश है । एक कहता है, और दूसरा गुरूवचन सदृश उसके ज्ञान को स्वीकार कर अपने जीवन में चरितार्थ करता है । यह परम्परागत सत्यवचन है कि किसी वस्तु की रक्षा करने से वह सुरक्षित रहती है और उसको गवाँ (खो) देने से वह सदा के लिये हाथ से निकल जाती है । कहने वाला गुरू ज्ञानसम्मत उपदेश देने वाला और उस उपदेश को जीवन में उतारने वाला, दोनों ही निस्सन्देह उत्तम कोटि के (बड़े) ज्ञानी हैं ।

च्यंत अच्यंत ही उपजै च्यंता सब जुग षीण ।
जोगी च्यंता बीसरै तौ होई अच्यंतहि लीन ।। 244 ।।

किसी भी तरह की साधना में, चाहे यौगिक हो या आध्यात्मिक हो, चिन्ता एक बहुत बड़ी बाधा है, यह अनायास ही उत्पन्न हो जाती है, किसी भी तरह के अभाव के दुःख की अनुभूति अथवा धारणा से चिन्ता की उत्पत्ति होती है । चिन्ता की आग में जलता हुआ समस्त जगत् नैराश्य की स्थिति में निर्बल, उदास, और विपन्न हो जाता है, यह निर्विवाद है कि योगी को चिन्ता नही सताती है, क्योंकि वह स्वरूपानुसन्धान में तत्पर रह कर परमात्मा के आश्रय में स्थित हो जाता है और इस तरह अलख निरंजन परब्रह्म शिव के (अचिन्त्य निष्कल परमेश्वर के) चिन्तन में, ध्यान और विचार में तल्लीन रहता है ।

गिरही को ग्यांन अमली को ध्यांन । बूचा को कान बेश्या को मान ।
बैरागी अर माया स्यूं हाथ या पांचां को एको साथ ।। 245 ।।

गृहस्थाश्रम के प्रपंच में आसक्त रहकर स्वरूपानुसन्धान तथा आत्मा और परमात्मा का चिन्तन गृहस्थ नहीं कर पाता है । इसी तरह (अमली) व्यसनी को जिस बात का व्यसन हो जाता है अथवा जिस पदार्थ के सेवन में उसे सुख मिलता है, वह उसे नहीं छोड़ पाता, अमली, व्यवसनी का जीवन सदाचार-परायण नहीं हो सकता । जो प्राणी बूचा है अथवा जिसका कान कट गया हो, उसके लिये कान का महत्व ही नहीं रह जाता है और वेश्या कितनी भी सुन्दरी क्यों न हो, कितना भी धन उसने (वेश्यावृत्ति)से क्यों न कमा लिया हो उसे समाज में वह प्रतिष्ठा नहीं मिल सकती जो एक साध्वी-सती गृहस्वामिनी को मिलती है । जो वैराग्य के पथ पर चल रहा है, अथवा विरक्त है, वह कभी माया में, लोक-संग्रह और धन आदि के संचय के प्रपंच में नहीं पड़ सकता, विरक्त माया में आसक्त होने से नष्ट हो जाता है । अतः यह निश्चित सत्य है कि प्रपंच में गृहस्थ, व्यसनी, कान से हीन बूचा, व्यभिचारिणी वृत्तिवाली वेश्या और माया में फँसा सन्यासी, यती अथवा विरक्त, ये पाँचों-के-पाँचों समानधर्मी हैं, अपनी मर्यादा से रिक्त हैं, कदापि सम्मानित नहीं कहे जा सकते हैं ।

गिरही होय करि कथै ग्यांन, अमली होय करि धरै ध्यान ।
बैरागी होय करै आसा, नाथ कहै तीन्यों षासा पासा ।। 246 ।।

सांसारिक विषयभोगों में आसक्त गृहस्थ आध्यात्मिक तत्व की चर्चा नहीं कर सकता, इसी तरह जो इन्द्रियजन्य सुखों का व्यसनी हैं, वह परमात्मा या अपने इष्ट उपास्य देव का ध्यान नहीं कर सकता क्योंकि उसकी चित्तवृत्ति तो व्यसनों की मृगमरीचिका में उलझ जाती है । संसार के प्राणी, पदार्थ और परिस्थितियों का आश्रय न ग्रहण कर तथा वैराग्य का वरण कर जो संसार के लोगों से जीवन-निर्वाह की आशा करता है, वह वास्तविक वैराग्ययुक्त पुरूष नहीं है । ये तीनों-के-तीनों ही बन्धन में जकड़े तथा मायामुग्ध हैं ।

रांड मुवा जती, धाये भोजन सती धन त्यागी ।
नाथ कहै ये तीन्यौ अभागी ।। 247 ।।

यति, सत्यवादी (सती) और त्यागी (वैराग्यवान्) यदि इन तीनों के जीवन में क्रमशः संयम, सदाचार और वैराग्य का अभाव हो जाता है, तो तीनों-के-तीनों अपने मार्ग से पतित हो जाते हैं । यदि स्त्री के मर जाने पर कोई यति (योगी) होने का स्वाँग रचता है, तो वह यति नहीं है, इस तरह साधु का वेश धारण, कर भिक्षा माँग कर पेट की आग शान्त करके ही जो जीविका चलता है, वह सदाचारी साधु नहीं है तथा धन के रहते जो दान-पुण्य में अभिरुचि नहीं रखता और उसके नष्ट या क्षय हो जाने पर त्यागी कहलाने के मिथ्या गौरव में सुख मानता है, वह वास्तविक त्यागी नहीं है । नाथ (गोरखनाथ) का कथन है कि इस तरह के योगी, साधु और संन्यासी (त्यागी) तीनों-के-तीनों अभागे हैं ।

पढ़ि पढ़ि पढ़ि केता मुवा कथि कथि कहा कीन्ह ।
बढ़ि बढ़ि बढ़ि बहु घट गया पारब्रह्म नहीं चीन्ह ।। 248 ।।

ग्रन्थों के पठन-पाठन, शास्त्रों के अध्ययन और अध्यात्म आदि के निरूपण का प्रयोजन ही यह है कि मनुष्य परमात्मा के केवलानुभवानन्द स्वरूप का रसास्वादन करें, शास्त्र-चिन्तन और अध्यात्म ज्ञान-कथन इस पुण्यकर्म के साधन हैं पर यदि मनुष्य केवल शास्त्र ही पढ़ता रहे और आध्यात्मिक चर्चा ही करता रहे और वह परमात्मा के साक्षात्कार और अनुभव से रिक्त या शून्य रहे तो वह जीवन के वास्तविक लाभ से वंचित हो जाता है । उसकी उन्नत स्थिति क्षीण हो सकती है, इसलिये उसकी प्रगति का कोई महत्व नहीं है । परब्रह्म परमात्मा का अनुभव प्राप्त करना ही मानव-जीवन का परम लाभ है ।

सति सति बोलै गोरष राणा ।
तीनि जणै का संग निवारौ नकटा बूचा काणा ।। 249 ।।

गोरक्षनाथ का यह अनुभव - सिद्ध सत्य कथन है कि यदि किसी नकटे, कनकटे और काने व्यक्ति ने वैराग्य धारण किया है तो उसके साहचार्य का निवारण करना चाहिए क्योंकि ये तीनों हीनता-ग्रंथि से पीड़ित होने के कारण विरक्त हुए हैं । इनका वैराग्य विवेकजन्य नहीं है ।

कदैन सोभै सुन्दरी सनकादिक के साथि ।
जब तक कलंक लगाइंसी काली हांडी हाथि ।। 250 ।।

स्त्री का संग योगसाधना में भयानक बाधा उपस्थित करता है । यह निर्विवाद है कि ब्रह्मचर्य व्रती, आजीवन बालयोगी सनक, सनातन, सनन्दन, सनत्कुमार के साथ सुन्दरी रमणी नहीं शोभित हो सकती है, उपयोगी हो नहीं सकती है । जिस तरह आग पर जली हाँडी, मिट्टी के बर्तन की कालिख (कालिमा) हाथ में धारण करने पर हाथ को कभी-न-कभी काला कर ही देती है, ठीक इसी तरह यति के साथ यदि स्त्री रहे तो उसे कामोपभोग-परायण बना सकती है, यह बात असंदिग्ध है । योगी को स्त्री के संग का परित्याग कर देना चाहिये अन्यथा उसके विषयवासना में पतित होने की आशंका सदा बनी रहती है ।

पासि बैठी सोभै नहीं साथि रमाई भुंडि ।
गोरष कहै असतरी कहा सलह कह मुण्डि ।। 251 ।।

योगसाधना और विशेष रूप से हठयोग-साधना में स्त्री के सम्पर्क में रहना सर्वथा निषिद्ध है, क्योंकि स्त्री के संग में रहने से मन की वृत्तियाँ चंचल रहती हैं । ऐसी स्थिति में साधक नाद-बिन्दु की साधना के द्वारा परमात्मसाक्षात्कार करने में असमर्थ हो जाता है, स्त्री चाहे सीधी हो, चाहे भोड़ी हो या दीक्षित हो, (योगमार्ग में साधनारत हो), प्रत्येक स्थिति में, उसके संग का त्याग करना ही योगसाधक के लिये सर्वथा श्रेयस्कर है ।

जरणा जोगी जुगि जुगि जीवै झरणा मरि मरि जाय ।
षोजै तन मिलैं अविनासी अगह अमर पद पाय ।। 252 ।।

योगी के लिये ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक है । जो योगी अपने शरीर में वीर्य को स्थिर रखकर उसे प्राणायाम की साधना द्वारा ऊर्ध्वमुखी कर लेता है और वीर्यरस को शरीर में सिद्ध अथवा जीर्ण कर लेता (पचा लेता) है, वह पक्व योगी (जरणा योगी) अथवा सिद्ध योगी है । जो साधक वीर्य की रक्षा नहीं करता है और कामेन्द्रियजन्य विषयसुख की प्राप्ति में उसका क्षरण

कर देता है, वह तो योगी नहीं है, सच्चा योगी शरीर में नाद-बिन्दु की साधना करते हुए परमात्मा की खोज, प्राप्ति अपने पिण्ड में ही कर लेता है और दुर्लभ अग्राह्य (अगह) पद कैवल्य में प्रतिष्ठित होकर योगसिद्धि का रसास्वादन करता है ।

जप तप जोगी संजम सार। बाले कंद्रप कीया छार।
येहा जोगी जग मैं जोय। दूजा पेट भरै सब कोय ।। 253 ।।

इस संसार में वास्तविक योगी तो वह प्राणी है, जो जप और तप तथा संयम के अभ्यास से अपनी इन्द्रियों को प्रत्याहारित कर विषयोन्मुखी बनने से रोकता है और काम को जलाकर क्षारकर देता है । जिस साधक का आचरण जप तप संयम के विपरीत है, विमुख है, वह तो नाममात्र के लिये योगी है, उसने भिक्षा माँग कर जीवन-यापन करने और पेट भरने के लिये योगी का वेश धारण किया है, वास्तविक योगी तो जपी, तपी, संन्यासी अथवा संयमी और अखण्ड ब्रह्मचर्यव्रती होता है, वह परमशिव में स्वस्थ रहता है ।

जोगेसर की इहै परछ्या, सबद बिचार्‌या षेलैं ।
जितना लाइक बासणा होवैं, तेती तामैं मेल्है ।। 254 ।।

शब्द ब्रह्म है, शब्द ही गुरू का सदुपदेश है, यही नादब्रह्म की उपासना का प्रतीक है । योगसिद्ध योगेश्वर की परख अथवा लाक्षणिक परिचय यह है कि वह बड़े विवेक से शब्द-विचार कर, अनुभव-निरूपण कर शिष्य को योगसाधना में नियोजित कर उसका साधक-जीवन कृतार्थ और श्रेयस्कर कर देता है । सद्‌गुरू योगेश्वर वह है, जो शिष्य की योग्यता और पात्रता का ध्यान रखकर उसे उतना ही ज्ञान प्रदान करता है, (मेल्है) देता है, जितना उसे साधन-पथ में बढ़ाते रहने में पर्याप्त होता है । गुरूप्रदत्त सदुपदेश की यही महत्ता है कि वह योग्य शिष्य की पात्रता अथवा योग्यता के अनुरूप हो । योगेश्वर ही ऐसा सद्‌गुरू होता है ।

चांपि भरै तो बासण फूटै बारै रहै तौ छीजै ।
बसत धणेरी बासण ओछौ कहो गुर क्या कीजै ।। 255 ।।

अवधू सहजै लैणा सहजै देणा सहजै प्रीती ल्यौ लाई ।
सहजै सहजै चलेगा रे अवधू तौ बासण करैगा समाई ।। 256 ।।

(इन सबदियों में योग की सहज स्वाभाविक साधना का प्रक्रम निरूपित किया गया हैं ।) योगसाधक शिष्य अपने योगिगुरू के चरणों में निवेदन करता है कि शिष्य गुरूज्ञान को प्राप्त करने के योग्य किस तरह हो, यदि वह ज्ञान प्राप्त करने का सुयोग्य पात्र नहीं रहता है तो कितना भी हठपूर्वक ज्ञान प्रदान कि... ..., उसमें योग्यता न होने से, ज्ञान नहीं ठहर पाता । साथ-ही-साथ ... पूरा ज्ञान न प्रदान कर अल्पमात्र का उपदेश देता है और शेष ज्ञान बाहर ही रह जाता है, तो वह भी क्षीण अथवा नष्ट हो जाता है । शिष्य दैन्यपूर्वक निवेदन करता है कि हे गुरूदेव इस स्थिति में क्या करना चाहिये ।

गुरू का विवेकपूर्वक उत्तर है कि योग्य गुरू शिष्य की योग्यता का विवेक रखता है और वह धीरे-धीरे उसे साधनपथ में अग्रसर कर स्वाभाविक रूप से साधना में पारंगत करने की कृपा अथवा अनुग्रह करता है । ऐसा करने से शिष्य की साधना में रूचि बढ़ जाती है, उसकी चित्तवृत्ति ईश्वर-प्रणिधान में लग जाती है, उसे अपने स्वरूपबोध... में प्रीति हो जाती है और वह परमात्म साक्षात्कार में लग जाता है । इस तरह सहज रूप से, स्वाभाविक गति से यथाविधि यथाक्रम साधना करते हुए गुरू के अनुग्रह से शिष्य की योग्यता अपने-आप बढ़ जाती है ओर वह पूर्णात्पूर्ण परमात्मपद में स्वस्थ अथवा स्वरूपस्थ होने में सक्षम हो जाता है ।

तूंबी में तिरलोक समाया त्रिबेणी रबि चंदा ।
बूझौ रे ब्रंभ गियानी अनहदनाद अभंगा ।। 257 ।।

अलख, निरंजन, शुद्ध (मायातीत) परब्रह्म परमशिव का साक्षात्कार अथवा निर्मल स्वरूपानुभव अनाहतनाद (ध्वनि) के श्रवण से होता है । माया की तूंबी में बीजरूप से समस्त त्रैलोक्य, त्रिकुटी (त्रिवेणी) और रवि तथा चन्द्र आदि समाये हुए हैं और उनके द्वारा परब्रह्म केवलानुभवानन्द स्वरूप परमशिव का साक्षात्कार नहीं हो सकता । हे ब्रह्म ज्ञानियों ! ब्रह्म के

स्वरूप का (ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है, इस तत्व का) विचार करनेवालो, अभंग अनाहत नाद का, जो निरन्तर सहज अभिव्यक्त होता रहता है, श्रवण करो । माया के बन्धन से छूटने और ब्रह्मानुभव का एकमात्र साधन अनाहत नाद श्रवण ही है ।

सत्यो सीलं दोय असनांन त्रितीये गुर बायक ।
चत्रथे षीषा असनान पंचमे दया असनान ।
ये पंच असनान निरमला नितिप्रति करत गोरखबाला ।। 258 ।।

बालयति (योगी) गोरखनाथ का वचन है कि मैं पाँच प्रकार के स्नान नित्य करता हूँ, ये सत्य, शील, गुरूपदेश-चिन्तन, स्वाध्याय (षीषा, सीषा-शिक्षा) और दया हैं । इनको आचरण में उतारने से तन, मन, बुद्धि सबकी शुद्धि हो जाती है । इन पाँच स्नानों से योगी का जीवन सदा संयमित और पुण्यशाली होता है । इस सबदी में इस बात पर बल दिया गया है कि वस्तुतः चित्त का परिष्कार ही वास्तविक स्नान है ।

त्रियाजीत ते पुरिषा गता मिलि भानंत ते पुरिषा गता ।
बिसासघातगी पुरिषा गता कायरौ तत ते पुरिषा गता ।। 259 ।।

अभष भषंते पुरिषा गता । सबद हीण ते पुरिषा गता ।
उदिक राषंत ते पुरिषा गता । परत्रिया राचंत ते पुरषा गता ।।
सति सति भाषंत गोरष बाला इतना त्यागि रहो निराला ।। 260 ।।

जो पुरूष स्त्री के द्वारा जीत लिया जाता है, स्त्री के वश में हो जाता है, वह नष्ट (गता) हो जाता है, जो पुरूष एक दूसरे से अपना (सहृदयतापूर्ण) सम्बन्ध तोड़ लेता है, (भानंत) और वैरभाव को अपना लेता है, वह नष्ट हो जाता है । जो विश्वासघाती होता है, वह नष्ट हो जाता है, जो पुरूष कायर है, अपने कर्तव्य से विमुख रहता है, उसका जीवन व्यर्थ है । जो युक्ताहार से विमुख होकर अभक्ष्य तामसिक पदार्थो का भोजन के रूप में उपयोग करता है, वह नष्ट हो जाता है, जो अपने गुरू के उपदेश के अनुसार जीवन और आचार-विचार नहीं बनाता और पथभ्रष्ट होकर अपकर्म में लग जाता है, उसका भी अस्तित्व व्यर्थ है, वह किसी काम का नहीं रह जाता । इसी तरह जो पुरूष कामोपभोगसुख में आसक्त होकर वीर्य

का स्त्री के संभोग में क्षरण करता है, वीर्य (उर्दिक-उदक) रस को शरीर में पचा नहीं लेता, उसे भी नष्ट ही समझना चाहिये । जो परस्त्री पर कुदृष्टि रखता है, वह पतित है, उसे भी नष्ट ही जानना चाहिये । गुरू गोरक्षनाथ सत्य कहते हैं कि उपर्युक्त पुरूषों का त्याग करके इनसे सर्वथा अलग रहना चाहिए ।

पंडित भंडित अर कलवारी । पलटी सभा विकलता नारी ।
अपढ़ बिपर जोगी घरबारी । नाथ कहै रे पूता इनका संग निबारी ।। 261 ।।

जो पण्डित होकर भाँड़ के समान केवल प्रलाप मात्र करते हुए अपने ज्ञान का प्रदर्शन करता है, उसका, जो कल-कल्य मदिरा का सेवन करने वाला है, उसका अथवा शराब की दुकान (कलवारी) का और जो सभा समाप्त हो गयी है, उसका, कामातुर, कामविह्वल स्त्री, का, अपढ़ ब्राह्मण (विप्र) का और जो योगमार्ग में दीक्षित होकर योगी का वेष धारण कर, वैराग्य और त्याग की उपेक्षा कर घर में आसक्त रहता है, (घरवारी है) इन सभी से योगसाधक को दूर रहना चाहिये । गोरखनाथ का अपने शिष्यों को सदुपदेश है कि हे वत्स, उपर्युक्त सभी व्यक्ति सर्वथा त्याज्य हैं ।

राति गई अध राति गई बालक एक पुकारै ।
है कोई नगर मैं सूरा बालक का दुःख निवारै ।। 262 ।।

यह सांसारिक जीवन अज्ञानमयी रात्रि है । जीवात्मा शुद्ध बुद्ध रूप में रहता है, जिस तरह एक बालक निष्प्रपंच होता है, वह सांसारिक दुःख-दोष से अप्रभावित रहता है, उसी तरह आत्मा शाश्वत चैतन्य, शुद्धस्वरूप है । संसार में शरीर धारण कर जन्म लेने वाला जीवात्मा अपनी आन्तरिक मनोव्यथा व्यक्त करता है कि क्या इस संसार में रात के अन्धकार में (अज्ञान में) ज्ञान प्रकाश देने वाला (आत्मा के स्वरूप का परिचय कराने वाला) समर्थ वीरात्मा (योगी गुरू) है, जो बालक का दुःख मिटा दे, उसे अज्ञान-अन्धकार में भटकने से उबार ले ।

दिसटि पड़े ते सारी कीमति कीमति सबद उचारं ।
नाथ कथै अगोचर बाणी ताका वार न पारं ।। 263 ।।

शब्द ब्रह्म का बोध अगम है, अपार है, शब्द बड़ा कीमती है, अमूल्य है, उसकी सार्थकता तो इस बात में है कि शब्द में अभिव्यक्त (स्वरूपस्थ) ब्रह्म, अलख निरंजन परब्रह्म साधक (योगसाधक अथवा योगी) की दृष्टि में पड़ जाय, साधक उसका साक्षात्कार अथवा बोध प्राप्त कर अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाय । नाथ (गोरखनाथ) ऐसी वाणी बोलते हैं, जिसका श्रवण-इन्द्रियों से स्वारस्य नहीं ग्रहण किया जा सकता, यही योगवाणी इन्द्रियातीत परा वाक् है, शब्द ब्रह्म के व्यापक स्वरूप से, अनाहत नाद में स्थित हो जाने पर ही योगी इस परावाक् के, (नाथोक्त) वाणी के वर्णातीत अक्षरज्ञान के अनुभव में स्वरूपस्थ होता है । यह परावाक् निर्विकल्प समाधि का विषय है । वहाँ मन का प्रवेश नहीं है, यह अपार है ।

सबद हमारा षरतर षांडा, रहणि हमारी साची ।
लेषै लिषी न कागद माडी, सो पत्रीं हम बाची ।। 264 ।।

(गोरखनाथजी का कथन है कि) हमारी कथनी और करनी में पूर्ण संगति (अभिन्नता) है । हमारे योगमार्ग में शब्द, गुरू से प्राप्त उपदेश तथा अनुभव-वाणी की ही विशिष्टता है, शब्द तेज तलवार है, जिससे अज्ञान का नाश कर हम परमात्मज्ञान में, स्वरूपबोध में स्वस्थ रहते हैं । हमारा सबसे बड़ा शास्त्र है अनुभव वचन, गुरू का उपदेशामृत । यह ज्ञानामृत वचन साक्षात् भगवान् शिव का सप्त श्रृंग पर पार्वती को प्रदत्त उपदेशामृत है । हमने इसी पत्री (पुस्तक), खुले पत्र का पाठ किया है, यह लिपिबद्ध नहीं है, न (ग्रन्थ के) कागज पर अंकित है । यह तो हमारे जीवन में अनुस्यूत है ।

मन बांधूंगा पवन स्यूं पवन बांधूंगा मन स्यूं ।
तब बोलैगा कोवत स्यूं ।
मन तेरा की माई मूंडू, पवना दउं र बहाई ।
मन पवन का गम नहीं, तहां रहै ल्यौ लाई ।। 265 ।।

योग को चित्तवृत्ति का निरोध कहा गया है । मन बहुत चंचल है । योगसाधक इन मन को इन्द्रिय के विषयों से मोड़कर आत्म चिन्तन में प्रवृत्त करते हैं । इसी तरह प्राण को भी शरीर में स्थिर करने से योगी का शरीर मृत्यु का ग्रास नहीं बनता है । चित्त का पवन में लय और मन का चित्त में लय हो जाने से योगी को उन्मनी समाधि सुलभ होती है और मूलाधार में सुप्त कुण्डलिनी महाशक्ति जाग जाती है । मन-पवन के पारस्परिक लय से शक्ति-(कोवत-कूबत)-मय, समर्थ शब्द, अनाहतनाद होने लगता है । साधक कहता है कि मैं मन को माया को मुण्डित कर, मूड़कर उसे अपने वश में कर लूँगा, चेली बना लूँगा, वह मेरी दासी हो जायगी और पवन को सहस्रार अथवा ब्रह्मरन्ध्र में समाहित करने पर उन्मनी अवस्था, समाधि के परे परमात्म साक्षात्कार, अलख-निरंजन का स्वारूपानुभव, सहज कैवल्यपद प्राप्त हो जायेगा । यह पद, यह अनुभव, मन और पवन से परे हैं, प्राण और मन का वहाँ प्रवेश ही नही है ।

कोण देस स्यूं आये जोगी, कहा तुम्हारा भाव ।
क़ौण तुम्हारी बहण भाणजी, कहाँ धरोगो पांव ।। 266 ।।
पछिम देस स्यूं आये जोगी, उतर हमारा भाव ।
धरती हमारी बहण भाणजी, पापी के सिरि पाव ।। 267 ।।

हे योगी ! तुम किस देश से आये, तुम तो निर्विकार जीवात्मा हो, तुम्हारे शरीर की किस तरह उत्पत्ति हुई, तुम शाश्वत चैतन्य चेतनस्वरूप हो, तुम्हारी क्या इच्छा है, तुम्हारे सगे-सम्बन्धी, बहन और भानजी कौन हैं और तुम कहाँ पैर धरोगे अर्थात् किसका दमन करोगे । योगी का इस प्रश्न के सन्दर्भ में उत्तर है कि हम पश्चिम देश माया से आये हैं, अर्थात् हम तो निर्मल चेतन जीवात्मा हैं, पर हमने माया, पंचतत्वमयी प्रकृति से शरीर की प्राप्ति की है अथवा पश्चिम-मार्ग, सुषुम्ना में प्राण ही हमारा जीवस्वरूप है । हम उत्तर की ओर, सहस्रार में स्थित परब्रह्म अलख-निरंजन परमात्मा के स्वरूप में प्रतिष्ठित होना चाहते हैं । धरती अथवा कुण्डलिनी-शक्ति (जिसका निवास-स्थान मूलाधार से मणिपूरचक्र पर्यन्त स्थान भी धरती के नाम से जाना जाता है) ही हमारी बहन-भानजी है, जिससे हमने योग की (साधना की सिद्धि के लिए) भिक्षा प्राप्त की है, हम पापी के सिर पर पाँव धरते हैं

(रखते हैं) अथवा सांसारिक त्रयताप से पीड़ित बद्ध पापी को बन्धनमुक्त कर उसे स्वरूप में, परमात्मा में प्रतिष्ठित करते हैं, हम पाप का दमन कर जीवात्मा को उसके परम निर्मल शुद्ध चैतन्य स्वरूप में प्रतिष्ठित करते हैं ।

सकति अहेड़ै मिस रिध, कोस बल स्यूं बागो ।
गोरष कहै चालती मारूं, कान गुरू तौ लागो ।। 268 ।।

माया-शक्ति बड़ी चंचल है । वह अपनी ऋद्धि और सम्पत्ति (सामर्थ्य) के बल से मृगया के बहानें जीवात्मा पर, अपने मिथ्या वैभव और विमोहक प्रभाव से हल्ला (वागो) बोल देती है, वह साधना-पथ में पतित हो जाता है । गोरखनाथ का कथन है कि मैंने गुरू से दीक्षा ग्रहण की है और अपने गुरूज्ञान के प्रकाश में समाहित हूँ, वह मेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ पाती है ।

नाथ कहै मेरा दून्यौ पंथ पूरा । जत नहीं तौ सत का नीसूरा ।
जत सत किरिया रहणि हमारी । और बलि बाकलि देवि तुम्हारी ।। 269 ।।

हे मायादेवि ! तुम्हारा वश मुझ पर नहीं चल सकता है । गोरखनाथ का कथन है कि (गुरू की कृपा से उनके ज्ञान प्रकाश में) मैं सजग हूँ, मेरा शारीरिक संयम (यत) पूरा है, इसी तरह मेरे हृदय में सत्य की शक्ति है, मेरा सत्य पूरा है । सत्य का पालन वही करता है, जिसका संयम पूरा रहता है, शरीर पूर्ण रूप से संयमित होता है । हमारे आचार-विचार, रहनी अथवा जीवन में संयम और सत्य, दोनों समान रूप से विद्यमान हैं । हे माया ! मुझ पर तुम्हारा जादू नहीं चल सकता है । तुम्हारी बलि के लिये तो बकरे (बाकलि) ही होते हैं, जिनमें सत्य का अभाव होता है, उन्हीं पर तुम्हारा प्रभाव पड़ता है और साधन-पथ से पतित होकर अपने जीवन की बलि चढ़ा देते हैं, नष्ट हो जाते हैं ।

कथणी कथै सों सिष बोलिये, बेद पढ़ै, सो नाती ।
रहणी रहै सो गुरू हमारा, हम रहता का साथी ।। 270 ।।

जो गुरू से उपदेश प्राप्त कर कथन करता रहता है, वह शिष्य है। जो वेद पढ़ता है, केवल उनके पाठ मात्र से सन्तुष्ट हो जाता है। वह शिष्य से नीचे की अवस्था में है, जो जीवन में महायोग के ज्ञान को चरितार्थ कर परमात्मा का साक्षात्कार करता है और निरन्तर अपनी साधना में लगे रहकर योगसिद्धि कर लाभ करता है, उसकी रहनी ही सार्थक है, हमारी मैत्री उसी (रहनी से सम्पन्न, जीवन कं प्रयोगात्मक विधा से संयमित) व्यक्ति से ही होती है, हम उसी के साथ हैं।

रहता हमारै गुरू बोलिये, हम रहता का चेला।
मन मानै तौ संगि फिरै, नहितर फिरै अकेला ।। 271 ।।

गुरू गोरक्षनाथ का कथन है कि जो गुरू के शब्द-बोध पर पूरी तरह आचरण करता है, वह गुरू-रूप है। उसी रहनी वाले पुरूष (रहता) का ही जीवन सद्ज्ञान से परिपूर्ण है, वास्तव में उससे हमें जीवन यापन (रहनी) की प्रेरणा लेनी चाहिए, वह गुरू है, हम ऐसे के सत्संग (साथ) का समर्थन करते हैं, ऐसे गुरू स्वरूप आचार-विचार युक्त प्राणी के संग में रहने से साधना में उत्तरोत्तर लाभ की प्राप्ति होती है, साथ रहने वाले में दोष या विकार नहीं उत्पन्न होते। ऐसे रहनी वाले प्राणी के जीवन क्रम से प्रेरित होकर साधक को अकेला निवास करने अथवा भ्रमण करते रहने में किसी प्रकार की साधनागत विकृति नहीं आती।

दरसण माई दरसण बाप। दरसण माही आपै आप।
या दरसण का कोई जाणै भेव। सो आपै करता आपै देव ।। 272 ।।

दर्शन, स्वरूप में स्थिति का अनुभव अथवा परमात्मसाक्षात्कार अथवा उन्मनी समाधि से परे सहज शून्यस्थ कैवल्य, आध्यात्यिक जीवन की सम्पूर्ण सिद्धि अथवा शाश्वत चैतन्यस्वरूप में प्रतिष्ठा, सब-के-सब एक ही वस्तुतत्व के अनेक अभिव्यक्ति माध्यम हैं। दर्शन अपने आप में निगूढ़तम कैवल्य अथवा मोक्ष पदार्थ है। इसमें स्वयं परमात्मा समग्रतः व्याप्त है। इस दर्शन का गूढ़ मर्म (रहस्य) कोई विरला मर्मी साधक ही जानता है। यह दर्शन ज्ञान विज्ञान से परे महायोगज्ञान का पुण्यफल है, यह साधना का मूल (उद्गम) है और यही साधना की सिद्धि अथवा पर्यवसान है, जिसका वाणी के माध्यम से

अभिव्यक्ति न कर अनुभव में आस्वादन किया जाता है । इस दर्शन का भेदज्ञ, मर्मज्ञ, साक्षात् परमात्म स्वरूप हो ज़ाता है, वही परमेश्वर है और वही अपने परमेश्वरत्व का स्वानुभवी है, अपने आपका कर्ता है, अपने आप ही देव है ।

(नाथयोगी की भाषा में इस दर्शन का अभिप्राय ब्रह्मानुभूति अथवा स्वरूपबोध ही है । बाह्य रूप से नाथ योगी कानों में मुद्रा धारण करता है । मुद् और रा को क्रमशः जीवात्मा-परमात्मा का प्रतीक कहा गया है, और जीवात्मा की परमात्मा में स्वरूप-प्राप्ति मुद्रा है, यही अलख-निरंजन का साक्षात्कार है । मुद्रा दो प्रकार की कही जाती है, कुण्डल और दर्शन । अनेक योगी अनेक प्रकार के धातुओं की बनी मुद्रा धारण करते हैं और अनेक स्वर्णनिर्मित मुद्रा धारण करते हैं ।) दर्शन (कान में मुद्रा, छोटा कुण्डल) धारण करने वाला ब्रह्म-साक्षात्कार से सम्पन्न कहा जाता है । दर्शनी योगी स्वरूप में अवस्थित हो जाता है, कैवल्यपद में प्रतिष्ठित हो जाता है ।

जिनि जाण्या तिनि षरा पहैचाण्या, वा अटल स्यूं लोलाई ।
गोरष कहै अमैं कानां सुणता, सो आंष्या देष्या रै भाई ।। 273 ।।

गोरखनाथ का अनुभवपूर्ण कथन है कि जिन्होंने योगसाधना से ब्रह्म का साक्षात्कार किया, उन्होंने परब्रह्म परमात्मा को ठीक-ठीक जान लिया, वे उसके स्वरूपभूत हो गये । उन्होंने शून्यपद, ब्रह्मरन्ध्र में सम्पूर्ण अभिव्यक्त अलख-निरंजन में आत्मा का लय कर कैवल्यपद का अनुभव कर लिया । मैंने गुरूपदेश का श्रवण कर यह ज्ञान, महायोगज्ञान प्राप्त किया । मैंने उस ज्ञान के चिन्मय प्रकाश में परमशिव का अपने ज्ञाननेत्र से प्रत्यक्ष साक्षात्कार किया ।

बैठां बारै चलत अठारै, सूतां तूटै तीस ।
कई थन करंतां चौसटि तूटै, क्यों भजिबो जगदीस ।। 274 ।।

यह निर्विवाद है कि जब तक शरीर में साँस है, प्राण स्थिर है, तभी तक जीवन है और मृत्यु से शरीर अभय है, इसलिए प्राण को स्थिर रखना बड़ा आवश्यक है, बैठते, चलते, सोते, हमा... सांसें व्यर्थ निकल जाती हैं, अस्थिर होकर टूट जाती हैं और हमारी आयु व्यर्थ समाप्त हो जाती है ।

बैठते समय बारह, चलते समय अट्ठारह, सोते समय तीस और अन्य अनेक स्थितियों में चौसठ साँसें क्रमपूर्वक व्यर्थ टूटती रहती हैं, जिनका उपयोग भगवच्चिन्तन में होता । इसलिए नाथ योगी प्राणायाम की प्रक्रिया से प्राण वायु को स्थिर कर लेता है । इसके लिए उसे 'ह' कार के साथ बाहर जाने वाली और 'स' कार के साथ भीतर जाने वाली प्राण वायु को नियंत्रित कर अजपा जाप करना पड़ता है । इस जाप के द्वारा बिना साँस टूटे निरन्तर परमात्मा का स्मरण होता रहता है ।

नासिका अग्रे भ्रूमंडले अहनिस रहिबा थीरं ।
माता गरभि जनम न आयबा, बहुरि न पीयबा षीरं ।। 275 ।।

(इस सबदी में सम्पूर्ण योगसाधना की सिद्धि के परम फल कैवल्य अथवा मोक्षपद में स्वरूपतः स्थिति का निरूपण किया गया है ।) भ्रूमध्य में चित्त का लय कर उसमें जीवात्मा का स्थिर अथवा ध्यानस्थ हो जाना और नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि स्थिर रखना ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश कर परमशिव का साक्षात्कार कर लेना है । आज्ञाचक्र में भौंहों के मध्य में जीवात्मा अपने शिव स्वरूप का साक्षात्कार करता है, कैवल्य मोक्ष मिलता है । माता के गर्भ से शिशु रूप से प्रकट होकर, जन्म लेकर दूध नहीं पीना पड़ता, जन्म-मरण का चक्र समाप्त हो जाता है, इसलिए जीवात्मा को भ्रूमध्य में चित्त लय कर तथा स्वरूपतः ध्यानस्थ होकर मोक्ष की प्राप्ति करनी चाहिए। यह मोक्ष ही सहस्रारस्थ शिव के साक्षात्कार का परम पद है ।

।।इति।।

(पद)

(राग रामग्री)

(1)

चारि पहर आलंगन निद्रा, संसार जाइ बिषिया बाही ।
ऊभी बांह गोरषनाथ पुकारै, मूल न हारौ म्हारा भाई ।। टेक ।।
अमावस पड़िवा मन घट सूंनां, सूंनां ते मंगलवारे ।
भणतां गुंणता ब्राह्मण बेद बिचारै, दसमी दोष निबारै ।। 1 ।।
पड़वा आनन्दा बीजसि चंदा, पांचौ लेबा पाली ।
आठमि चौदसि ब्रत एकादसी, अंगि न लाऊं बाली ।। 2 ।।
संभी सांझैं सोइबा मंझै जागिबा, तृसंधि देणांपहरा ।
तीनि पहर पर दोइ घट जाइबा, तिंहा छै काल का हेरा ।। 3 ।।
बांमां अंगे सोइबा जम का भोगिबा, संगे न पीयबा पांणी ।
इमतौ अजसंवर होइ मछिंद्र, बोल्यौ गोरष बांणी ।। 4 ।।

प्राचीन टीका

(यह टीका सम्वत् 1825 वि0 की जोधपुर में प्राप्त प्राचीन किसी निरंजनी साधु संग्रहीत प्रति से यथा पदानुक्रम प्रस्तुत है । आलिंगन कामनींद । ।टेक। अमावस अग्यांन करि मन सूंनौ।घट ही सूनौ।मंगल झूठा। दस दोष की काया।पड़िबा उजालौ ग्यान तो आनंद । पंच वसिबौ ही ठांम । ससि पहलौ पहरौ । बीचि कौ पहरौ त्रिगुणी माया । तीन पहरा गया । धांम देह । दूजा घट परमेस्वर बामौ अंग माया । जम भै भांगौ ।।)

योगी को निरन्तर ब्रह्मचर्य में स्थित रहकर अपने शरीर के अमृत स्वरूप वीर्य की रक्षा करनी चाहिए । वीर्य का पात ही मृत्यु है । शरीर का अन्त है । गोरखनाथ ने कहा कि हे गुरुदेव । संसार में कामोपभोगपरायण प्रायः सभी लोग रात-दिन, चारों पहर स्त्री के संभोग, आलिंगन, परिरम्भण में अपने दुर्लभ मानव-जीवन का नाश कर रहे हैं, संसार विषय के प्रवाह में वहा जा रहा है । मैं बांह उठाकर (ऊंभी बाह) आप से प्रार्थना करता हूँ,

आपका ध्यान सिद्धमत, नाथयोग की ओर आकृष्ट करता हूँ । यह शास्त्रसम्मत तथ्य है कि प्रायः सभी तिथियाँ, व्रत, उपवास, संयम से जुड़ी हैं, इसलिए उन सभी तिथियों पर हमें दृढ़तापूर्वक योगसाधना के द्वारा परमानन्द स्वरूप अलख निरंजन शिव का साक्षात्कार कर लेना चाहिए । अमावस्या और प्रतिपदा (पड़िवा) को शास्त्रादिग्रंथों का अनाध्याय किया जाता है, योगी के लिये शून्य (ब्रह्मरन्ध्र) में मन को उन्मन करना और शरीरगत शक्तियों को, प्राणादि को मुद्राबन्ध, आसन, प्राणायाम आदि के द्वारा स्थिर करना ही अमावस्या और प्रतिपदा का अनाध्याय है । मंगलवार को व्रत रखने का भी यही उद्देश्य है । दशमीव्रत की महत्ता का विचार वेदज्ञ ब्राह्मण करते हैं, पर दशों यम-नियमादि (सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, और स्वाध्याय, तप, शौच, संतोष, ईश्वर प्रणिधान आदि) के द्वारा शरीर और मन की शुद्धि ही योगी के लिये दशमी तिथि के व्रत के आचार-विचार के रूप में ग्राह्य है । प्रतिपदा को अध्ययन न करने का आशय है पूर्ण शान्तिमय उन्मनी अवस्था में, ब्रह्मानन्द में, योगी का मग्न रहना । द्वितीया (बीजसि) तिथि को चन्द्रदर्शन का अभिप्राय है, पंच ज्ञानेन्द्रियों को उनके रूप, रस, स्पर्श, शब्द, गन्ध आदि विषय-सुख में आसक्त होने से रोक कर अमृतव्रत का रसास्वादन करना, इसी तरह अष्टमी, एकादशी, चतुर्दशी को स्त्री के आलिंगन से, स्पर्श से अपने शरीर की रक्षा करना, जिससे शरीर में वीर्य स्थिर रहकर ऊर्ध्वगामी हो जाय । योगी को दिन-रात सावधान रहना चाहिए, सायंकाल होते ही उसे परमात्मा के ध्यान में नेत्र मूँद लेना चाहिए, रात के पहले, मध्य और अन्तिम पहर में जागना चाहिए, त्रियामा रात के बीतते ही काल की दृष्टि योगी पर लगी रहती है कि ब्राह्म मुहूर्त में चिन्तन-ध्यान में न लगे और मृत्यु का ग्रास बन कर नष्ट हो जाय, ब्राह्ममुहूर्त में योगी को परमात्मा का ध्यान करना चाहिए । गोरखनाथ का वचन है कि हे गुरूदेव । स्त्री के आलिंगन में आयु नष्ट करना यमराज का ग्रास बनना है, उसके साथ तो बैठकर पानी तक नहीं पीना चाहिए, प्रत्येक क्षण पतन की आशंका रहती है । इस तरह सदा सावधान रहकर अमर हो जाना चाहिए ।

छाँटै तजौ गुरू छाँटै तजौ-तजौ लोभ मोह माया ।
आत्मां परचै राषौ गुरूदेव सुन्दर काया ।।टेक।।
कांन्हीं पाव भेटीला गुरू, बिद्यानग्र सैं ।
तार्थैं मैं पाइला गुरू, तुम्हारा उपदेसैं ।। । ।।
एतैं कछू कथीला गुरू, सर्बै भैला भोलै ।
सर्व रस षोईला गुरू बाघंनी के षोलै ।। 2 ।।
नाचत गोरषनाथ घूंघरी चें घातैं ।
सबै कमाई षोई गुरू बाघनी चैं राचैं ।। 3 ।।
रस-कुस बहि गईला, रहि गई छोई ।
भणत मछिंद्रनाथ पूता, जोग न होई ।। 4 ।।
रस-कुस बहि गईला रहि गईला सारं ।
बदंत गोरषनाथ गुर जोग अपारं ।। 5 ।।
आदिनाथ नाती मछिन्द्रनाथ पूता ।
षटपदी भणीलै गोरष अवधूता ।। 6 ।।

हे योगीन्द्र मत्स्येन्द्रनाथ ! आप महायोगज्ञान के स्वामी हैं, आप सिद्धमत, नाथयोग के सद्गुरू हैं । आप लोभ, मोह और माया को पृथक् कर (छाँटै-छाँट कर, अलग कर) इनका त्याग कर दीजिए । आप आत्मा के साम्राज्य के अधिपति हैं, आत्मज्ञान-महायोगज्ञान में स्वरूपस्थ हो जाइए, आप आत्मा के योगी हैं, गुरूपद पर प्रतिष्ठित योगेश्वर हैं । विद्यानगर (विजयनगर) के योगिराजेन्द्र सम्मान्य कृष्णपाद (कान्हीपांव-कानिपा) से मुझे यह उपदेश (सन्देश) मिला कि आप ने कामरूप के रमणीराज्य में योगिनीकौलमत की साधना में आसक्त होकर सिद्धामृत ज्ञान का विस्मरण कर दिया है । यह निर्विवाद है कि योगज्ञान से आप विमुख नहीं हो सकते, आप को कामनियों के सौन्दर्य ने भ्रमितमात्र कर दिया और आप को योगज्ञान के शुद्ध स्वरूप में भ्रम-सा हो गया है । हे गुरूदेव ! आपने माया (बांधनी, बाघनी) को क्रोड़ (षोलै-गोंद) में आलिंगित कर अमृतरस नष्ट कर दिया है, आपने माया नर्तकी के नृत्य पर उसकी नूपुरध्वनि से मूर्च्छित होकर उसके राग में बन्धन स्वीकार कर लिया और इस तरह महायोगज्ञान की साधना की सिद्धिरूपी

कमाई (सम्पत्ति) खो दी है । आप के शरीर से रस (वीर्य) अधोगामी होकर रमणी के आलिंगन से बाहर निकल गया । केवल निस्सार तत्व ही शेष है । मैं, आपका शिष्य (मछिन्द्रनाथपूता, पुत्र) कहता हूँ कि योग की साधना की शक्ति आप में अब नहीं रह गयी । वीर्य के अधोगामी हो जाने पर भी आप में आत्मामृत, सहस्रार के चन्द्रमण्डल से द्रवित अमृतरस सुरक्षित है, यह अपार अगम महायोगतत्व है, मैं अवधूत गोरखनाथ योगी, इस षट्पदी में सिद्धामृतमार्ग अथवा नाथयोगमत के अमृतत्व का प्रतिपादन करता हूँ ।

(3)

सुणौं हो मछिन्द्र गोरष बोलै, अगम गवन कह हेला ।
निरति करी नैं नीका सुणिज्यों, तुम्हें सतगुर मैं चेला ।।टेक।।
कांमनी बहतां जोग न होई, भंगमुष परलै केता ।
जहाँ उपजै तहाँ फिरि आवटै, च्यंतामनि चित एता ।। । ।।
द्वादस षोड़ि षटांणां नौसत, जीव सीव ना बासा ।
चौदह ब्रह्मांड नौ एक दंम है, इम ही जाइ निरासा ।। 2 ।।
पवन का नीर ले अंबर धोवै स्वासैं उसासै आया ।
भणत गोरषनाथ इम होइ निरंतर, बीजैं बटक समाया ।। 3 ।।

प्राचीन टीका

(चिंतामणि सरीषौ चित । द्वादस नैं षोड़ि । षट नैं षोड़ि । नौ द्वारै नै षोड़ि । चवदै ब्रह्मंड का मोल एक दम । पवन ही जल । अंबर आत्मां । बीज ब्रह्म । बटक प्रांण ।)

हे योगीन्द्र गुरूदेव, मत्स्येन्द्रनाथजी ! गोरखनाथ का (आप के चरण में) निवेदन है, विनय है कि अगम, अचिंत्य अलख-निरंजन के साक्षात्कार, परमानुभव में प्रमाद (हेला, उपेक्षा,) नहीं करना चाहिए । आप मेरे सद्गुरू हैं, मैं आप का शिष्य हूँ । आप के अनुग्रह से ही मुझे इस महाज्ञान का अनुभव हुआ है कि योगानन्द (निरति) परमात्मा में स्वरूपानुभूति ही उत्तम (नीका) है, ऐसा मैंने आप के मुखारबिन्द से योगानुभूति का रहस्य-श्रवण किया है । हे गुरूदेव ! यह नितान्त सच है कि कामिनी के आलिंगन, परिरम्भण,

मायिक रूपजाल में पतित होने से योगी योग की साधना नहीं कर सकता है। न जाने कितने लोग भगमुखी (कामोपभोगपरायण) होकर, स्त्री के संभोग में आसक्त होकर योगज्ञान से हाथ धो बैठे । यह चित्त चिन्तामणि है, चित्त को सदा सचेत या सावधान करते रहने से वह शिवमयी शक्ति से सम्पन्न रहता है, चित्त को समझांना चाहिए कि कामोपभोग में आसक्त रहने से जिस भग से, योनि से शरीर की उत्पत्ति होती है, उसी में फिर गर्भस्थ होकर चक्कर काटना पड़ता है । सूर्य (द्वाद्श कला वाले) के दोष को, पिंगला नाड़ी के विकार को सोलह (नौसत-नव+सात) कलावाली चन्द्रनाड़ी, इड़ा की शीतलता, अमृतत्व से शमित करना चाहिए । जीवात्मा को शिव में निवास करना चाहिए, चौदहों भुवनों, ब्रह्माण्डों का प्राण परब्रह्म परमेश्वर है, वही चैतन्यधन सर्वत्र विद्यमान है । इस तरह जीव और शिव की एकता हो जाने पर मृत्यु (इम-यम) का भय समाप्त हो जाता है, पवन प्राण को सुषुम्ना के मार्ग से ऊर्ध्वमुख कर ब्रह्मरन्ध्र, सहस्रार, शून्य गगन, अम्बर का निर्मल स्वरूप प्रकाशित करना चाहिए । विपरीतकरणी मुद्रा के द्वारा सूर्य के दोष को नष्ट कर चन्द्रद्रव का स्वयं पान करते हुए शिवपद में स्थित होना चाहिए । यह सनातन सत्य है कि जिस तरह बीज में बट का वृक्ष समाया रहता है, उसी तरह माया आत्मा में लीन हो जाती है, माया की भिन्न सत्ता ही नहीं है ।

(4)

बोल्या गोरष घर जोई, ये तत बूझै बिरला कोई, मेरे गयांनी ।।टेक।।
जोज्यौ जोज्यौ रे जहूँबा बन जोज्यौ, तत राष्यौं त्रियाली ।
आसण इन्द्री जेणै आप बसि राष्यां, तेणै पाया सर्ब निरंतर, मेरे ग्यांनी ।। । ।।
मन मांहैं तेणैं तन तारयां मन बिसवासैं मिलणां ।
मन मैं कुंभ कलस रस भरिया, तेणैं मनवै अलष लषाया, मेरे ग्यांनी ।। 2 ।।
पैर जोई ने एद्धा पुरिष पधारया, पुरिष नी पारिषा पाई ।
पुरिषै मिलि पुरिष रस राष्या, पुरिषैं पुरिष निपाया, मेरे ग्यांनी ।। 3 ।।
जिहि धरि चंद सूर नहिं ऊगै, तिहिं धरि होसी उजियारा ।
तिंहा जे आसण पूरै तौ सहज का भरौ पियाला, मेरे ग्यांनी ।। 4 ।।

मन मांहिला हीरा बीघा सो सोधीनै लीणां,
सो षांणां सो पीवणां मछिंद्र प्रसादै जती गोरष बोल्या,
बिमल रस जोई जोई नै मिलणां, मेरे ग्यांनी ।। 5 ।।

प्राचीन टीका

(घर हिरदा । तत आत्मां ।।टेक।। त्रियाली त्रिगुणी माया । आसण मन यंद्री । मन मैं तन बसि कीया । मन मैं कुंभ काया बसी । कलश कंवल । पैर षोंज । पुरषै पुरष निपाया । जिहिं तटि ताता सीला न ऊगै । तौ ग्यान न उदै होय । तहां आसण करै । मन मांहिला हीरा । साध सोधि लीणां तत ग्यांनी । बिमल नृमल ।)

हृदय (घर) को देखकर, हृदय में परमात्मा का विचार कर गोरखनाथ बोलते हैं कि जो इसमें निवास करने वाले परमात्मा को समझता है, जानता है, वह कोई विरला है । हे मेरे ग्यानी, योग की साधना करने वाले ! यह बात नितान्त सच है । जिन-जिन लोगों ने इसको देखा, अनुभव किया, उन्होंने इसको सुरक्षित कर त्रिगुणी, सत्व-रज-तमोगुणी माया (त्रियाली) से परे निर्मल परमात्मतत्व का विचार किया, उसे मायाग्रस्त नहीं होने दिया । जिन्होंने (सिद्धासन, पद्मसान आदि) आसनों के अभ्यास से इन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रियों) को अपने वश में रखा और मन को उन्मन अथवा अमनस्क कर परमात्मा अथवा स्वरूप का चिन्तन किया, उन्होंने ही समस्त मायिक विकारों से परे (सर्व निरंतर-अतीत) स्वरूप अथवा कैवल्य की प्राप्ति अथवा अनुभूति की, मन के स्थिर होने पर, उन्मन होने पर शरीर की शक्ति मन की शक्ति के रूप में परिणत होकर योग-साधना की सिद्धि में, परब्रह्म के साक्षात्कार में सहायक बनती है । मन में तन के बस जाने, समा जाने पर, मन से तन के मिलने अथवा मन के द्वारा शरीर की शक्ति के सही दिशा में, सत्य प्राप्ति की दिशा में अग्रसर होने का विश्वास ही योगसाधक की मन की शक्ति में आस्था का प्रतीक है, वह साधना पथ पर आत्मानुभूति के द्वारा परमशिव में स्वरूपस्थ हो जाता है । हे मेरे ज्ञानी ! मन ही शिव है, यही मन पंचतत्व से निर्मित शरीर में निवास करने वाला जीव है, यही शक्ति है । शरीररूपी कुम्भ, कलश अमृतरस से भरा है, वीर्य-रसामृत से यह सुरक्षित और सुगठित है । इस शरीर में निवास करने वाला जीवात्मा अपने हृदय-कमल में

परमात्मा को प्रतिष्ठित कर उसकी अभिन्नता की रसानुभूति अथवा उसमें तादात्म्य-स्थापना से ब्रह्मानन्द की सहज प्रत्यक्ष दिव्यता अथवा चिन्मयता या स्वरूपानन्द सुरक्षित कर उसमें मग्न रहता है । कहा जाता है कि द्वादशदल कमलचक्र, अनाहतचक्र (हृदय) में परमात्मा का निवास है और पाप-पुण्य से विवर्जित आत्मा-जीवात्मा उसका साक्षात्कार या प्राप्ति करता है । जीवात्मा जिस शरीर में निवास करता है, उसके सहस्रार अथवा ब्रह्मरन्ध्र रूपी घर में बिना सूर्य और चन्द्रमा के ही परमात्मा की दिव्य ज्योति स्वतः अभिव्यक्त रहती है । उस सहस्रारपद, शून्यगगन, ब्रह्मरन्ध्र में जीवात्मा के द्वारा अपना चित्त लय कर देने पर ब्रह्मानन्द का सहज अनुभव होता है । वह सहजामृत, सहस्रार के चन्द्रमण्डल से द्रवित अमृत रस का आस्वादन करता है । मन के द्वारा जीवात्मा परमात्मारूपी हीरे को प्राप्त करता है । यही साधक का सर्वस्व है, आहार-विहार और स्वात्मरमण है । गुरू मत्स्येन्द्रनाथ के अनुग्रह से गोरखनाथ का कथन है कि इस परमात्मरूपी हीरक के प्रकाश में निर्मल-सहज रसानन्द मिलता है ।

(5)

गोरष जोगी तोला तोलै, भिड़ि भिड़ि बाधीलै रतन अमोलै ।।टेक।।
आछै आछै बिंद न पडिबा कंध ।
लाष तोला मोल जाये जे एक षिसै बिंद ।। । ।।
जैसी मन उपजै तैसा करम करै ।
कांम क्रोध लोभ लै संसार सूंनां मरै ।। 2 ।।
गगन सिषर आछै अंबर पांणी ।
मरतां मूढां लोकां मरम न जांणी ।। 3 ।।
पूनिम महिला (मैला) चंदा जिमनारी संगै रहणां ।
ग्यांन रतन हरि लीन्ह परांणां ।। 4 ।।
आदिनाथ नाती मछिंद्रनाथ पूता ।
ब्यंद तोलै राषी लै गोरष अवधूता (औधूता) ।। 5 ।।

प्राचीन टीका

(तोला मन तोलै पवन । ग्यांन सूं बांधे । तब अमोल । टेक । जे बिंद छे तौ । कंद आत्मां न पड़े । बिंद पड़्यां कोटि मोल जाय । जैसी उपजै भली बुरी तैसा करम करै । गगन ब्रह्म । अमररामंरस । पून्यं चंद विषै रत कीजै । बिंद तोला तोलि लै ।)

श्री गोरखनाथ का कथन है कि यह संसार एक बाजार है, इसमें परमात्मारूपी अमूल्य रत्न का भाव लगाकर मैं उसे प्राप्त करने की (योग) साधना में लगा हुआ हूँ । मैं बड़ी सावधानी से परमात्मारूपी अनमोलरत्न को अथवा वीर्य को बड़े विवेक से मन और पवन को स्थिर कर अपनी गाँठ में सबसे आगे होकर बाँधता हूँ, जिससे वह खो न जाय (इस पद में रत्न परमात्मा और वीर्य, दोनों का ही वाचक है) । वीर्य के एक कण का भी पतन होने से अमूल्य रत्न हाथ से निकल जाता है, अमृत क्षीण हो जाता है और साधक मृत्यु के मुख में चला जाता है । मनुष्य कर्म करने में स्वतंत्र है, चाहे तो वह पुण्याचरण से अमरत्व प्राप्त कर ले या पापकर्म से नष्ट हो जाय । सबसे बड़ा सदाचार यही है कि परमात्मा का साक्षात्कार हो अथवा शरीर में अमृतरस वीर्य सुरक्षित रहे, ब्रह्मचर्य का पालन हो । योगी (हठ) योग की साधना के द्वारा पवन और मन पर विजय प्राप्त करते हुए, कुण्डलिनी-जागरण के द्वारा षट्चक्रों को भेदन करते हुए सहस्रार में चित्त का लय कर परमानन्दरस का आस्वादन करता है, गगनशिखर, त्रिकुटी (ब्रह्मरन्ध्र) अथवा सहस्रार में त्रिकोण योनिचक्र में स्थित चन्द्रमा से अमृतरूपी निर्मल जल प्रवाहित होता रहता है, जिसका पानकर योगी अमरकायत्व में स्थित होकर जीवन्मुक्त हो जाता है । गगन, ब्रह्मरन्ध्र में ही इस सहज रामरस-भगवद्रस अथवा अलख-निरंजन शिव, सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्मा के रसामृत की उपलब्धि होती है । जो अज्ञानी पुरूष योग ज्ञान से रहित हैं, मूढ़ हैं, वह इस रस का मर्म नहीं जानता है, इसका अनुभव नहीं कर पाता है । स्त्री के संग में उसके सम्भोग में आसक्त होने पर, उसके रमणरस के आस्वादन में वीर्य का शोषण होता है, इसलिये योग की युक्ति से योगी को स्त्री के संग से दूर रहकर अमृत-प्राप्ति की साधना करनी चाहिए, स्त्री के

संग रहने से ज्ञानरत्न, परमात्मसाक्षात्कार नही हो पाता और वीर्य के शरीर से बाहर निकल जाने पर प्राणान्त हो जाता है । आदिमहादेव आदिनाथ के महायोगज्ञान में दीक्षित और सद्‌गुरू योगीन्द्र मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य, मैं (गोरखनाथ) ने वीर्य को शरीर में ऊर्ध्वगामी कर, सिद्धकर अमृतत्व प्राप्त कर लिया, वीर्य तौल कर उसका मूल्य समझ लिया ।

(6)

सोनांल्यौ रस सोनां ल्यौ, मेरी जाति सुनारी रे ।
धंमणि धमी रस जांमणि जांम्या,
तब गगन महारस मिलिया रे ।।टेक।।
आपैं सोनां नै आप सुनारी, मूलचक्र अंगीठा ।
अहरणि नाद नै ब्यंद हथौड़ा, घटिस्यूं गगन बईठा ।। । ।।
अषै आरण नै विषै कोइला, सहज फूक द्रोनलियां ।
चंद सूर दोऊ समि करि राष्या आपै आपजु मिलिया ।। 2 ।।
रती का कांम मासे की चोरी, रती मैं मासा चौरै ।
मासा चोरि रहै मासे मैं, इहि विधि गरथैं जोरै ।। 3 ।।
अरधे सोनां उरधै सोनां, मध्ये सोनं सोनां ।
तीनि सुन्यं की रहनी जानैं, ता घटि पाष न पुंनां ।। 4 ।।
उनमनि डांडी मन तराजू, पवन कीया गदियांनां ।
आपै गोरषनाथ जोषण, बैठा, तब सोनां सहज समांनां ।। 5 ।।

प्राचीन टीका

(सुनारी कुनारी नही । सास उंसास धमणि । गगन अंतहकरण ।।टेक ।। मूल नाभि नाद अहरणि । बिंद काया । गगन ब्रह्म । अषै गगन आसण । विषै कोयला । ताता सीला गुण न लीया । चंद सूर मन पवन सम । काम रती कौ स्वाद मासौ मन उनमन मैं रहै । अरध उरध मन । तीन सुंनि ब्रह्म मैं । उनमनी डोरी । मन तराजू । पवन गदियांनां । तौल्यौ ब्रह्म बराबरि ।)

(इस पद में गोरखनाथ ने अपनी उपमा स्वर्णकार से दी है और अपनी योगसिद्धि को स्वर्णरस की सिद्धि के रूप में वर्णित किया है । गोरखनाथ का वचन है, अरे सिद्ध, स्वर्णरस, आत्मामृतरस ले लो, मैं स्वर्णकार की जाति का हूँ । मैंने प्राण, श्वास की क्रिया से, धौकनी से इस रस को जमाया है, शुद्धकर सिद्ध किया है, अजपाजप के द्वारा हंसमंत्र की शक्ति से चंचलमन को ब्रह्मरन्ध्र में उन्मन कर अथवा मन की उन्मनी समाधि सिद्ध कर इस निर्मल स्वर्णरस की सिद्धि की है, इसके द्वारा ब्रह्मरन्ध्र में, सहस्रार में स्थित योनिनाम के त्रिकोणचक्र से द्रवित चन्द्रामृत, महायोगरसामृत, परब्रह्मरसामृत की प्राप्ति होती है । ब्रह्मरन्ध्र (गगन) में महायोगामृत निरन्तर प्रवाहित रहता है, झरता रहता है । यह स्वर्णरस मेरा ही स्वरूप है, परमतत्व है, मैं स्वर्णकार हूँ, स्वर्ण और स्वर्णकार में नाममात्र का अन्तर अथवा भेद नहीं है । मूलचक्रस्थ नाभि ही अंगीठी है, जिसमें अग्नि (सूर्यतेज) प्रज्वलित है । अनाहतनाद ही निहाई (अहरणि-अहरन) है, वीर्य, बिन्दु ही हथौड़ी है । मैं इस स्वर्णरस को ब्रह्मरन्ध्र में शून्य गगन में आसन लगाकर नाद-बिन्दु की साधना के द्वारा पक्व, आकारित करता हूँ, गढ़ता हूँ (घटिस्यूं), अक्षय, अनन्त अरण्य में (शून्य में) विषयरूपी कोयला, को जलाकर प्राणाग्नि को इड़ा-पिंगलारूपी दो श्वास-नलिकाओं से दहकाता रहता हूँ । (अर्षआरण के स्थान पर अषैआसण भी पाठ लिया जा सकता है ।) मैंने इस प्रक्रिया में चन्द्रमा और सूर्य का, अपान और प्राणवायु का सामरस्य स्थापित कर सहज-सनातन ज्योति, परब्रह्म-प्रकाश का साक्षात्कार कर लिया है । पंचतत्वनिर्मित स्थूल शून्य ही रत्ती के बराबर (अल्पमात्रा में) है मासा परब्रह्म परमात्मा उसमें व्याप्त है । शरीर में परमात्मा का अनुभव करना ही दोनों ग्रथित करना है । (गरथै जौरै) अधः (मूलाधारचक्र), मध्य (अनाहतचक्र, हृदय) और ऊर्ध्व (सहस्रार, ब्रह्मरन्ध्र), तीनों केन्द्रों में परमतत्व, परमात्मारूपी स्वर्ण विद्यमान है । जो साधक इन तीनों स्थानों में व्याप्त परमात्मा के स्वरूप का रहस्य जान लेना है, वह पापपुण्य के फल-भोग से परे हो जाता है । आत्मामृतरूप स्वर्ण को परखने अथवा तौलने के लिये तराजू, तुला का डंडा (डाड़ी) मन की उन्मनी अवस्था अथवा उन्मनी समाधि है और मन ही तराजू है, पवन प्राण ही इस तराजू पर सोने को तौलने का बांट (गदियांना-छः मासे का तौलने का बांट, जिसका उल्लेख शार्गंधर संहिता । । । । 4। और योगचिन्तामणि । । ।03 में है) है । गोरखनाथ ने मन को उन्मन कर,

उन्मनी समाधि लगाकर इस स्वर्णरस को, प्राणरस को सुषुम्नामार्ग में प्रवाहित कर परब्रह्म रस में अन्तर्भूत, स्वरूपभूत कर दिया, आशय यह है कि परब्रह्म अलख निरंजन की प्राप्ति कर ली ।

(7)

जांणा ने जोसी जोओ ने बिचारी, पहलां पुरिष कै नारी जी ।।टेक।।
बाइ नही तहूँवां बादल नाही, बिन थाभां बाबै मंडप रचीया ।
तिहां आप उपांवन हारी जी ।। । ।।
बाप नही होतौ तिह्या बैठण डैरे, माता बाल कुंवारी जी ।
पीवर्नें पौढ्यों माझौ पालनैं, तिंहा हूँ हीज हिडोलँन-हारी जी ।। 2 ।।
ब्रह्मा बिष्न नैं आदि महेस्वर, ये तीन्यूं मैं जाया ।
इन तिहवां नी मैं घर धरणीं द्वैकर मोरी माया जी ।। 3 ।।
गंग जमुन मोरी षाटलड़ी रे, हंसा गवन तुलाई जी ।
धरणि पाथरणौं नैं आभ पछेवड़ौ, तौ भी सोडी न माई जी ।। 4 ।।
षांडतड़ी मांझौ जनम बदीतौ, चांवल सांवि न सारी जी ।
मछिंद्र प्रसादै जती गोरष बोल्या, ये तत जोओ बिचारी जी ।। 5 ।।

प्राचीन टीका

(बाय नहीं थेकर बादल घट । तारा गुण । तेज त्रिगुण । थंभौ सबद । बाप बप । माया माया । पीव प्रांण माहिं डालै । द्वैकर माया गंगाजमुन सास-उसास । बिचि षाट षट । पांच यंद्री छठौ मन । हंस प्राण बिछाय । दोष गुण तलै ऊपरि चावल चोषौ ।)

हे ज्योतिषी, जानने का दावा करने वाले विज्ञानी, अच्छी तरह अपने ज्योतिषशास्त्र को देखकर विचारो कि किससे किसकी उत्पत्ति हुई है, जो कुछ भी दीख पड़ता है, जो कुछ भी सृष्टि दृष्टिगोचर है, उससे यही आभासित होता है कि निराकार परमेश्वर ने बिना वायु और बादल के जिस शून्य गगनरूपी मण्डप की रचना की है, उसकी अभिव्यक्ति माया के उपाश्रय से है । यद्यपि माया परमात्मा की सृजन-इच्छा, सिसृक्षा की प्रतीक है तथापि यह कहना आसान नहीं है कि उसका रूप किस तरह अभिव्यक्त है,

देखने से तो यही लगता है कि उसका कोई पिता, जनक नही है और वह सदा कुँवारी है, उसका कोई पति अथवा स्वामी नहीं प्रतीत होता है । वह अपने पति को, पुरूष को स्वयं बालरूप में पालने में पौढ़ाती है और हिंडोले में झुलाती रहती हैं । माया द्वारा इसी तथ्य का प्रतिपादन होता है कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश (शिव) मुझसे उत्पन्न हैं । सृष्टि, स्थिति और संहार के कार्य मेरे संकेत और मेरी शक्ति से ही चलते रहते हैं, ऐसा माया संकेत करती है, इनके दोनों हाथों में मेरी ही शक्ति है - आशय यह है कि इनकी समस्त क्रिया मेरे द्वारा सम्पादित है । इड़ा, पिंगला मेरी चारपाई (खाटलड़ी) हैं, पाँचों ज्ञानेन्द्रियों और छठें मन (षाट-खाट-षट्) से इड़ा-पिंगलारूप श्वास-उच्छ्वास द्वारा निर्मित इस चारपाई पर जीव या प्राण (हंस) ही रजाई (तुलाई) है । पृथ्वी, पत्थर और पानी-सारी सृष्टि मेरा पक्षपट (पक्षयोड़ा) है पर मेरे बिछाने की चादर (सौड़ी, सौर) के रूप में पर्याप्त नही है, इसी सृष्टि को देखने मात्र से ही यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि मेरा विस्तार केवल इतना ही है । सृष्टि तो मेरी शक्ति के विस्तार का, क्रियाकलाप का अंश मात्र है । जीवात्मा (मनुष्य) मेरे बन्धन में विमुग्ध होकर अज्ञानवश संसार में शरीर धारण कर सुख-दुःखरूपी कर्मो से पराधीन है । इस तरह ओखली (खांडतड़ी) में पड़े धान के चावल की तरह वह आज तक स्वच्छ, मुक्त नही हो सका, संवर (संबि) नहीं सका, जन्म-जन्म से बन्धन में पड़ा है । मत्स्येन्द्रनाथ के कृपाप्राप्त शिष्य गोरखनाथ का कथन है कि इस तत्व का पूरा-पूरा विचार कर जीवात्मा को माया की विमुग्धकारिणी लीला के बन्धन से मुक्त होकर अपने निर्मल शाश्वत चैतन्यस्वरूप में अवस्थित होना चाहिए ।

(8)

चाल्यो रे पांचौ भाइला तेणैं बन जाइला
जहाँ दुष सुष नांव न जानिये ।। टेक ।।
षेती करौं तौ मेह बिन सूके, बनिज करौ तौ पूंजी तूटे ।। । ।।
अस्त्री करौं तो धरभंग हवेला । मित्र करौं तो बिसहर भैला ।
जुवटै षैलौं तो बैठड़ौं हारौं, चोरी करौं तो प्यंडड़ौं भारौं ।। 3 ।।

बन षंड जाऊं तौ बिरछ न फलना । नगरी मैं जाऊं तौ भिष्या न भिलनां ।। 4 ।।
बोल्या गोरषनाथ मछिंद्र का पूता । छांड़े नैं माया भया अवधूता ।। 5 ।।

(गोरखनाथजी का कथन है कि) हे ज्ञानेन्द्रियों ! उस वन का आश्रय लो, जिसमें द्वन्द्वात्मक सुख-दुःख नहीं सताते । इस संसार में किसी भी युक्ति से सुख (परमानन्द) की प्राप्ति नहीं हो सकती । यहाँ खेती करने से मन उसके सूख जाने की द्विविधा में रहता है, व्यापार करने से पूंजी (आयु) समाप्त हो जाती है, परन्तु परमात्मारूपी पदार्थ, अमूल्य रत्न हाथ में नहीं आता । स्त्री के साथ गृहस्थी नहीं चल पाती है । घर में अनेक प्रकार के कलह उत्पन्न हो जाते हैं । सगे-साथी परमार्थ में सहायक नहीं होते, स्वार्थ में धक्का लगने पर वे साँप की तरह काट लेते हैं, साक्षात् बिसहर (विषधर) हैं वे । सांसारिक जीवन जुआ है, सर्वस्व दाँव पर लगा देने पर भी हार-ही हार है । इसी तरह छल-प्रपंच (चोरी) करने से शरीर प्रापग्रस्त होकर नष्ट हो जाता है, यदि इस संसार के सम्बन्ध से पीछा छुड़ा कर वन का सेवन किया जाता है, तो वहाँ न वृक्ष है, न फल है अर्थात् न तो परमात्मा की ही प्राप्ति होती है और न जीवन ही सुखी और शान्त रहता है । नगर में भ्रमण कर भिक्षा माँग कर जीवन-यापन करने में अनेक बाधायें हैं, लोग खरी-खोटी आलोचना करते हैं और भिक्षा की समुचित व्यवस्था के अभाव में साधन नहीं हो पाता है । सद्‌गुरूमत्स्येन्द्रनाथ के वात्सल्य (ज्ञानस्नेह) से पोषित गोरखनाथ ने इसीलिये अवधूत-मार्ग का वरण कर लिया और माया का साथ छोड़ दिया ।

(9)

गुरदेव स्यंभदेव सरीर भींतरिये ।
आत्मां उत्तिम देव ताही की न जांणौ सेव ।
आंन देव पूजि-पूजि इमही मरिये ।।टेक।।
नवे द्वारे नवे नाथ, तृबेणी जगन्नाथ, दसवें द्वारि केदारं ।। । ।।
जोग, जुगतिसार तौ भौ तिरिये पारं ।
कथंत गोरषनाथ विचारं ।। 2 ।।

यह शरीर ही अनादि शिव (जो ज्ञान स्वरूप गुरू हैं) का अधिष्ठान है । शरीर स्थित आत्मा ही सर्व श्रेष्ठ देवता है । इस तत्व को न जानकर लोग व्यर्थ ही अन्य देवताओं की पूजा करते हैं । हमारे शरीर में नवद्वार हैं, इनमें शिवस्वरूप नवोंनाथ अधिष्ठित हैं, इड़ा, पिंगला के संगमस्थान सुषुम्ना में साक्षात् जगन्नाथ देव का निवास है और दसवें द्वार ब्रह्मरन्ध्र में परमशिव निवास करते हैं, यह दसवाँ द्वार ही केदार धाम है, केदारनाथ भगवान् शिव, अलख-निरंजन, का केवलानुभवस्वरूप परमशिव का यहीं साक्षात्कार होता है । गोरखनाथ का सुदृढ़ मत है कि योगमार्ग ही मोक्ष प्रद मार्ग है, यह समस्त युक्तियों, साधनाओं का सारतत्व हैं, इसका आश्रय लेकर जीवात्मा भवसागर से पार हो जाता है ।

(10)

मनसा मेरी ब्यौपार बांधौ, पवन पुरषि उतपनां ।
जाग्यौ जोगी अध्यात्म लागौ, काया पाटण मैं जांनां ।।टेक।।
इकबीस सहंस षटसां आदू, पवन पुरिष जप माली ।
इला प्यंगुला सुषमन नारी, अहनिसि बहै प्रनाली ।। । ।।
षटसां षोडि कवल दल धारा, तहां बसै ब्रह्मचारी ।
हंस पवन ज झूलन पैठा, नौ सै नदी पनिहारी ।। 2 ।।
गंगातीर मतीरा अवधू, फिरि-फिरि बणिजां कीजै ।
अरघ बहन्ता उरधैं लीजै, रवि ससि मेला कीजै ।। 3 ।।
चंद सूर दोऊ गगन बिलूधा, भईला घोर अंधारं ।
पंच बाहक जब न्यंद्रा पौढ्या, प्रगट्या पौलि पगारं ।। 4 ।।
काया कंथा, मन जोगोटा, सत गुर मुझ लाषाया ।
भणंत गोरषनाथ रूढ़ा राषौ, नगरी चोर मलाया ।। 5 ।।

प्राचीन टीका

(मनसा ब्यौपार पार ब्रह्म सूं कीयौ । पवन करि पुरूष । मन बिनसतौ उपज्यौ । मनसा कहै रे जोगी मन अध्यात्म लागौ काया पटण मैं ।टेक । यकीस हजार छसै दम आदि का पुरष मन कै हाथि । जप माला दीनी ।

यड़ा मन पिंगुला पवन । सुषुमनां सुरति । अहनिस राति दिन । प्रनाली नाड़ि उलटि बहै । षटछह सांसू षोड़ि. काया । कँवल मैं दहै करि परिसिध । पर-ब्रह्मचारी प्रांन । हंस ही पवन । जल ब्रह्म नौसै नाड़ि नदी सोई । पणिहारी आत्मां । गंगातीर तहि कै तटि । बणिज ब्रह्म सूं । चंद सूर मन पवन । गगन ब्रह्मद्वार । घोर अंधार गुणां कौ हूवै (पंच यंद्री पौढ़ी । सुंनि प्रगट्या दसवै द्वार । काया हो कन्था । मन जगोटा ।।)

हे मेरी मनसा ! (इच्छा) योगसाधना (व्यापार) में तत्पर होकर ब्रह्मानुभूति प्राप्त करने का समय आ गया है । प्राणपुरूष उत्पन्न हो गया है, मन और पवन का संयोग सम्भव हो गया है । (मन और पवन के योग अथवा प्राणायाम से) जागा हुआ (सचेत- सावधान) योगी आध्यात्मिक साधना में तल्लीन है । वह शरीर में ही विद्यमान परमात्मा के साक्षात्कार के लिये मन को, उन्मन करने में लग गया है, वह शरीररूपी नगर (काया-पाटण) में प्रवेश कर उसमें विद्यमान परमात्मा की प्राप्ति द्वारा योगसिद्धि में सफल होना चाहता है । प्राणपुरूष अर्थात् बाहर-भीतर जाती हुई सांस ही उसकी जपमाला है और निरन्तर अजपाजाप में रत होकर वह हंस मंत्र सिद्ध करता है । इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ी में निरन्तर पवन प्रवाहित है । स्वाधिष्ठान चक्र (षटसां-षट्दलकमल) और विशुद्ध चक्र (षोडिकवलदल-षोडशदलकमल) की धारा में ब्रह्मपुरूष, आत्मा का निवास है । (सूक्ष्म तत्व की धारा से स्थूल का निर्माण हुआ है) स्वाधिष्ठान और विशुद्ध आदि चक्रों का निर्गाण इसी धारा से हुआ है । नौ सौं नाड़ियाँ-नदियाँ पनिहारिन के रूप में प्राणधारा से हंस को सीचती हैं, जिससे आत्मारूपी वेलि पुष्पित होती है और इड़ा, गंगा के तट पर मतीरा - तरबूज, शीतलदायक अमृतोपम ज्ञान उत्पन्न होता है, इस ज्ञान का बार-बार जीवन में (व्यापार) करना चाहिए । नीचे बहने वाली अमृत-धारा को ऊपर ब्रह्मरन्ध्र में ले जाना चाहिए (पाताल की गंगा का यही ब्रह्माण्ड में चढ़ाया जाना है), इस तरह इड़ा (चन्द्र) और पिंगला (सूर्य) नाड़ी का सुषुम्ना में लय करना चाहिए । ब्रह्मरन्ध्र में इन दोनों नाड़ियों के लय से और सुषुम्ना की प्रधानता से (बाह्यार्थो के लिए) घोर अन्धकार हो गया, जिससे पंचेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों की गति (उसमें प्रवेश के

लिए) अवरूद्ध हो गयी, वे सो गयी और जीवात्मा के लिए ब्रह्मरन्ध्र, सहस्रार में प्रवेश करने का सिंहद्वार, प्रधान द्वार (पौलि-पौर, पगार-परकोटा-परकोटे का द्वार) प्रकट हो गया अर्थात् आध्यात्मिक जीवन के रसास्वादन का मार्ग खुल गया । मुझे गुरू से यह रहस्य विदित हो सका कि मनरूपी योगी की गुदड़ी कंथा उसकी काया है । मन जोगौटा (योगपट्ट) धारण कर उन्मनी समाधि में, ब्रह्म में अभिन्न हो उठता है । गोरखनाथ का ऐसा कथन है कि शरीररूपी नगर में काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर, ये छः शत्रु घूम रहे हैं, उनसे सदा सावधान रहकर परमात्मा, अलख-निरंजन परब्रह्म परमशिव का अजपाजप से हंसमंत्र की सिद्धि का साक्षात्कार कर लेना चाहिए।

(11)

अवधू बौल्या तत बिचारी, पृथ्वी मैं बकबाली ।
अष्टकुल परबत जल बिन तिरिया, अदबुद अचंभा भारी ।।टेक।।
मन पवन अगम उजियाला, रवि ससि तार गयाई ।
तीनि रांज त्रिबिधि कुलं नांही, चारि जुग सिधि बाई ।। 1 ।।
पांच सहस में षट अपूठा, सप्त दीप अष्टनारी ।
नव षंड पृथी इकबीस मांही, एकादसि एक तारी ।। 2 ।।
द्वादसी त्रिकुटी यला पिंगुला, चवदसि चित मिलाई ।
षोड़स कवल दल सोल बतीसौ, जुरा मरन भौ गमाई ।। 3 ।।
दसवें द्वार निरंजन उनमन बासा, सबदैं उलटि समांनां ।
भषंत गोरषनाथ मछींद्र नां पूता अविचल थीर रहांनां ।। 4 ।।

प्राचीन टीका

(अवधू बौल्या तत्व विचारी । तत्व ईश्वर बिचार । पृथी काया बंक सुरति बली समाई । अष्टकुली परबत काया । जल माया ।टेक। मन पवन परे अगन ईस्वर । रवि ससि पार गियाई । रवि ससि मन पवन तार तिमिर गियाई । (गिधाय-यथादृष्ट) गया । तीन गुण त्रिविध संसार नही । चारि जुग

में बाई । सिधिकरतां आया । पंच सहस मैं षट अपूठा । पंच सहस सुर कवंल बाय, षट प्राण कवंल सपत धात आठई बाय । मनी मनारी । द्वादस बाय कलात्रिकुट के बिषै । चवदैतबक ऊपरै चित मेल्यौ । षोडस कवल बतीस पंषुड़ी समझ्या जुरा गई । दसवै उनमनी । सम तति हूवा सबद ।।)

अवधूत ने अच्छी तरह विचार कर तत्व निरूपण किया है कि इस काया में (पृथ्वी में) ही समस्त ब्रह्माण्ड का ध्यान करना चाहिए, (इस पद में पूर्णिमा और अमावास्या को मिलाकर 16 तिथियों के बहाने योग का वर्णन किया गया है ।) प्रतिपदा तिथि का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, पर इसकी अभिव्यक्ति की गयी है कि सबसे पहले तो यह आश्चर्य की बात है कि अष्टकुल पर्वत बिना जल के तैर गये, पार उतर गये । अष्टकुल पर्वत स्थूल काया है. और जल माया है, काया में माया और आत्मा दोनों हैं, माया से रहित होकर योगसाधना से काया में ही परब्रह्म की प्राप्ति हो गयी, जीवात्मा कैवल्यपदमें स्थिर होकर जीवन्मुक्त हो गया । मन और पवन के संयम से, मन को उन्मन करने और प्राण का सुषुम्ना मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र में लय करने पर अलख-निरंजन की ज्योति का दर्शन होता है, मन और पवन द्वितीया तिथि के प्रतीक हैं, इनके संयम से अगम अपार परमात्म ज्योति के प्रकट होने पर सूर्य, चन्द्रमा, तारे निस्तेज हो जाते हैं । तृतीया तिथि का महत्व यह है कि त्रिगुण, सत्व, रज और तम की माया का राज्य समाप्त हो गया । योगसाधक त्रिगुणों के विकार से निर्मल होकर अपने शुद्ध आत्मस्वरूप में रमण करता है और चतुर्थी (चौथे) का महत्व यह है कि चारों ओर सिद्धि का डंका बज गया, योगसिद्धि की बात फैल गयी । पंचमी का लक्षण यह है कि सहस्रार में स्थिति हो गयी और छठी का प्रतीक यह है कि जीवन की धारा उलट गयी (अपूंठा, पीठ की ओर हो गयी) साधक की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति हो गयी । सप्तमी का लक्षण यह है कि अलख ज्योति का दीप जल उठा और अष्टमी के रूप में कुण्डलिनी (नारी) महाशक्ति का शिव में लय (अभिन्नत्व) हो गया । नौमी का आशय यह है कि काया के भीतर ही नवखण्ड पृथ्वी और इक्कीस ब्रह्माण्ड स्थित हैं । शरीर में ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड, सात द्वीप, सात लोक और सात समुद्र स्थित हैं, इनको शरीर में जानकर इनका ध्यान करने से इनके साक्षात्कार की सामर्थ्य मिलती है । नवखण्डों की स्थिति शरीर के नवों द्वार में हैं, एकादशी की प्रतीक एकतार

अथवा एकरस समाधि है । द्वादशी का अभिप्राय है इड़ा-पिंगला का त्रिकुटी में सुषुम्ना द्वारा मेल अथवा लय । (त्रयोदशी का उल्लेख नहीं है ।) चतुर्दशी का अभिप्राय है कि चित्त ब्रह्म में लीन हो गया है । पूर्णिमा अथवा अमावस्या का अभिप्राय यह है कि षोडश दलवाले कमल, विशुद्ध चक्र के सिद्ध होने पर योगी को बत्तीसों लक्षण प्राप्त हो गये और वह जरा-मरण तथा संसार के भय से मुक्त हो गया । दशमी तिथि, जिसका संकेत पहले न कर, अन्त में किया गया है, साधना की सम्पूर्ण सिद्धि की प्रतीक है कि उन्मनी समाधि के द्वारा योगी निरंजन स्वरूप में स्थित होकर दसवें द्वार में, शब्दब्रह्म में, अन्तर्लय में तल्लीन है, शिव और जीव की एकतानुभूति में अन्तर्हित है । इस तरह गोरखनाथ का कथन है कि जीवात्मा अपने मूल, परमात्मा में स्वस्थ हो गया ।

(12)

ऊं नमो सिवाई बाबू ऊं नमो सिवाइ ।
अह निसि बाइ मंत्र कोर्णैं रे उपाइ ।।
भ्यंने भ्यंने अष्यरे जे देवै रे बुझाइ,
ताका मैं चेला बाबू सो गुरू हमारा ।।टेक।।
ऊंकार आछै बाबू मूल मंत्र धारा,
ऊंकार व्यापीले सकल संसारा ।
ऊंकार नाभी हृदै देवगुर सोई,
ऊंकार साधे बिना सिधि न होई ।। । ।।
नादैं लीना ब्रह्मा नादैं लीना नरहरि,
नादै लीना ऊमापति जोग ल्यो धरि-धरि ।
नाद ही तो आछै बाबू सब कछू, निधांनां,
नाद ही तैं पाइये परम निरबांनां ।। 2 ।।
बाई बाजै बाई गाजै बाई धुनि करै,
बाई षटचक्र बेधै अरधैं उरधैं मांधे फिरै ।
सोहं बाई हंसा रूपी प्यंडै बहै,
बाई कै प्रसादि ब्यंद गुरमुष रहै ।। 3 ।।

मन मारै मन मुरै मन तारै मन तिरै ।
मन जै अस्थिर होइ तृभुवन भरै ।
मन आदि मन अंत मन मधे सार ।
मन ही तैं छूटै बाबू विषै विकार ।। 4 ।।
सक्ति रूपी रज आछै सिव रूपी ब्यंद ।
बारह कला रवि आछै सोलह कला चंद ।।
चारि कला रवि की जे ससि धरि आवै ।
तौ सिव सक्ती सम होवै, अन्त कोई न पावै ।। 5 ।।
एही राजा राम आछै सर्वे अंगे बासा ।
ये ही पांचौ तत बाबू सहजि प्रकासा ।
ये ही पांचौ तत बाबू समझि समांनां ।
बदंत गोरष हम हरिपद जांनां ।। 6 ।।

प्राचीन टीका

:

(अह निस राति दिन बाई ईश्वर बिनां बहे है । कौंण मंत्र कौंण उपाय बसि हो । ताका रे मैं चेला ।।टेक।। गुरू कहै ऊंकार जो छै सू मूल मंत्र छै । ताहि करिं संसार पंडित छै । नाभि हृदा बिचि बहै तो देवगुरू बतावा । सोते साधे बिना सिंधि नाहीं । ऊंकार करि नरहरि ब्रह्मा महादेव प्रसिधि है । नाद सबकौ निधांन । षटचक्रा कू बेंधिवे कूं बाई ही संम्रथ है । बाई ही स्रोहं द्वैं बित रष नहीं पिंड, बिषै असधि बहै । बिंदू कूं बाई जीते मन कूं मन मारै । त्रिभुवन में मन-मन दैषै । आदि मन हीं समाइसी (समदिसी-यथादृष्ट)। अति सुधि मनह । समझ्या काम । मन ही सूं विषै छूटै अनि करणी नाहीं । बिंद रज की भांड है । बारा कला सूरज, सोला कला ससि । रज रेत सम जे ह्वै तब परम गति होय । यती समिं कीयां आपै आप है । पंच तत्व की समझि है ।)

ऊंकारस्वरूप (आदिनाथ) शिव का नमस्कार है, रातदिन प्राणवायु के चलते रहने से बराबर 'सोहं-हंस' मंत्र का जाप साँस के द्वारा होता रहता है, प्राणहंस मंत्र का यह अजपाजप अनवरत हो रहा है । प्राणवायु हकार की ध्वनि से बाहर और सकार की ध्वनि से भीतर आती जाती रहती है ।

(यही अजपा गायत्री है ।) इस प्राणविद्‌यास्वरूप हंस-मंत्र का मूल कौन है, कहाँ से यह मंत्र उत्पन्न है, यह बड़े रहस्य का विषय है । इसके भिन्न-भिन्न दोनों अक्षरों के रहस्य का उद्‌घाटन अथवा प्रकाशन योगसिद्ध गुरु के द्वारा ही होता है, निस्सन्देह जो इस हंस-मंत्र का स्वरूपबोध प्रदान कर दे, वही हमारा गुरू है । इस प्राण-मंत्र (प्राणहंस) की उत्पत्ति ऊँकार से ही है । समस्त सृष्टि, जगत् के प्राकट्य का मूल ऊँकार ही है । ऊँकार ब्रह्म ही हमारे नाभिदेश (स्वाधिष्ठान चक्र) और हृदय (अनाहतचक्र) में स्वाभिव्यक्त अथवा सहज विद्यमान है । ऊँकार ही देवता (परमशिव महादेव) है, ऊँकार ही गुरू है । योगसिद्धि ऊँकार की उपासना से ही सम्भव है । मूल ऊँकार का अभिव्यक्त रूप नाद है, नाद ही में ब्रह्मा, नरहरि (विष्णु) और उमापति (महादेव महेश्वर) लीन हैं, उनकी लीला-भिव्यक्ति का माध्यम ऊँकारस्वरूप नाद ही है, इस नाद में ही लव लगाकर (चित्तवृत्ति का लय कर) योग की साधना से ऊँकाररूपी परमधन, कैवल्यपद (निर्वाण) को प्राप्त करना चाहिए । प्राणवायु इड़ा और पिंगला नाड़ी से प्रवाहित होकर सुषुम्ना की मध्यवर्तिनी ब्रह्मनाड़ी में प्रवेश कर शरीर की चौसठ सन्धियों को निनादित करती हुई सहस्रार में प्रवेश कर अनाहतनाद में लीन हो जाती है और सहस्रार में संरचण करती रहती है और इस तरह षट्‌चक्रों के भेदन में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निबाहती है । यह प्राणवायु सोहं रूप में अभिव्यक्त होकर हंस-मंत्र का रूप धारण कर लेती है और इसके (प्राण-अपान के) समरसत्व के फलस्वरूप बिन्दु ब्रह्मरन्ध्र में स्थित हो जाता है और इस तरह योगसाधक का शरीर मृत्यु का ग्रास होने से बच जाता है । वायु, प्राण को शरीर में स्थिर करने पर मन भी स्थिर हो जाता है, वह मर जाता है (उन्मन हो जाता है), इस तरह मन ही मारनेवाला है और स्वयं अपने (मन के) मरण का साधन भी है, वह अमनस्क होकर जीवात्मा को मुक्त करता है और स्वयं उन्मन हो जाता है (तर जाता है), मन के स्थिर होने पर त्रिभुवन तर जाता है, मन ही शिव (आदि) है, मन ही समस्त षट्‌चक्रभेदन आदि अन्तर्साधनाओं का माध्यम है और वही अन्तिम (कैवल्य) अवस्था, परममुक्ति प्रदान करने का भी अमोघ साधन है । बाह्य विषय-विकारों का अन्त मन को ही वश में करने से सम्भव हो जाता है, रज ही शक्ति है, शिव बिन्दु है । मूलाधारस्थ अमृतशोषक सूर्य बारह कलाओंवाला है और सहस्रार में स्थित

अमृतस्रावक चन्द्रमा सोलह कलाओं का है, विपरीतकरणी मुद्रा के अभ्यास से बारह कलावाले शक्तिमान सूर्य को ऊपर और तालुमूल में स्थित अमृतमय चन्द्र को नीचे कर शेष चार कलाओं के द्वारा योगी अमृतपान कर दिव्य देह की प्राप्ति करता है । बिन्दुरूपी शिव ही चन्द्रमा है और रजरूपिणी शक्ति ही सूर्य है । इन दोनों के समरसत्व से योगी अमरकायत्व प्राप्त करता है । यही शरीर में व्याप्त परब्रह्म राजाराम के सहज स्वरूप का बोध है । पाँचों तत्व का यथोचित प्रकाशन इसी परमात्मानुभूति का फल है । पाँचों तत्व इस बोध के परिणामस्वरूप परब्रह्म में अन्तर्लय प्राप्त कर उसी में प्रविष्ट हो जाते हैं । गोरखनाथ का वचन है कि यही हरिपद, परमपद की प्राप्ति है, महायोगज्ञान है ।

(13)

अवधू जाप जपौ जपमाली चीन्हौं, जाप जप्यां फल होई ।
अगम जाप जपीला गोरष, चीन्हत बिरला कोई ।।टेक।।
कवल बदन काया करि कंचन, चेतनि करौ जपमाली ।
अनेक जनम का पातिग छूटै, जपंत गोरष चवाली ।। । ।।
एक अषीरी एकंकार जपीला, सुंनि अस्थूल दोइ वांणी ।
प्यंड ब्रह्माण्डसमि तुलि ब्यापीले, एक अषिरी हम गुरमुषि जांणीं ।। 2 ।।
द्वै अषिरी दोई पष उधारीला, निराकार जापं जपियां ।। 3 ।।
जे जाप सकल सिष्टि उतपंनां, ते जाप श्रीगोरषनाथ कथियां ।। 3 ।।
त्रिअषिरी त्रिकोटी जपीला, ब्रह्मकुंड निज थांनं ।
अजपाजाप जपंता गोरष, अतीत अनुपम ग्यांनं ।। 4 ।।
चौ अक्षरी चतरवेद थापिला, चारि षोंणी चारि वांणी ।
मछिंद्र प्रसादे जती गोरष बोल्या, अजपा जपिला धीर रहांणी ।। 5 ।।

प्राचीन टीका

(जाप समझौ तिहि करि अगम जपीए ।टेक। बदन प्रांन सुसम भजतां । काया कंचनी बसि होवै । तौज होय चवै कहै । एक अक्षर यड़ाकार कुंभक सुंनि नाभि बांणी बसि हुई जो पिंड-ब्रह्माण्ड में समतत हैं । द्वै

अक्षरी दूजी नाड़ी। दोय पष पांन अपांन। तिहि कारे भौ पार उतरे। त्रे अक्षरी सुषमन त्रेमंत्र जपी। ब्रह्मकुण्ड ब्रह्मद्धार चौ अक्षरी परा चारे षांणी चारि बांणी बसि हुई।)

हे अवधूत! दुर्लभ मनुष्य-शरीर की प्राप्ति का पुण्य फल है कि सदा अगम सर्वातीत अलख-निरंजन परमात्मा का चिन्तन होता रहे, यही जप है। यह चैतन्यघन परमात्मा ही जपमाला है, इसका अच्छी तरह तत्वतः ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए। परमात्मारूपी जपमाला पर चित्त की वृत्ति का लगा रहना परमफल है। इसका रहस्य विरला (योगसिद्ध) ही समझ पाता है। जप की माला परमेश्वर है, कमल (चक्र), जो शरीर में मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञाचक्र के रूप में विद्यमान हैं, जप करते रहने के लिये मुख हैं, प्राण-अपान का सामरस्य इन्हीं चक्रों के भेदन का फल है और प्राण का इस तरह सहस्रार में पहुँच जाना ही जप का फल है, यह कंचनकाया ही इस माला के मनके के रूप में हमें प्राप्त है। इस तरह की माला पर अगम का जप करते हुए गोरखनाथ का कथन (चवाली) है कि जन्म-जन्म के पातकों का, परमात्मा से विमुखतारूपी अपकर्मों का कुफल नष्ट हो जाता है और, गोरखनाथ जी का कथन है कि हम पंचाक्षर, द्वादशाक्षर, षोडशाक्षर आदि मंत्रों का जप नहीं करते हैं, हमारा मंत्र तो केवल एकाक्षरी है, अलख-निरंजन अगम परमशिव के स्वरूप का वाचक, स्थूल और आभ्यन्तर (शून्य तथा स्थूल), दोनों तरह की वाणियों से परे अथवा अतीत है। यह शून्याकार महत्तत्व अलख के ध्यान में चित्तवृत्ति का लय कर देने वाला सूक्ष्म से भी सूक्ष्म प्राणविद्या, महाविद्या, अथवा एकाक्षर (एकमात्र परमात्मबोधक) महामंत्र है। एक चैतन्यमंत्र स्वरूपतः पिंड और समस्त ब्रह्माण्ड में समान रूप से व्याप्त है। निराकार से ही साकार सृष्टि उत्पन्न है। अक्षर मंत्र के जप से हमने (गोरखनाथ ने) त्रिकुटी में ब्रह्मकुण्ड, ब्रह्मरन्ध्र अथवा सहस्रार में अजपाजप (प्राणहंसगायत्री मंत्र के जप) से परम शिव, अलख-निरंजन का अनुभव कर लिया है। सृष्टि में उद्भिज, उष्मज, अण्डज और पिण्डज-चार प्रकार के प्राणियों में परब्रह्म व्याप्त है। पिण्ड में यथाक्रम रोमावली, हड्डी, नेत्र और वीर्य के रूप में अवस्थित है, इनमें परमात्मा, चैतन्य, पुरुष, प्राणपुरुष, परमहंस, अलख

निरंजन विद्यमान है, इसी तरह परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी वाणी के रूप में शरीर में सहज, संयम, सुपाइ, अतीत की विद्यमानता है । वैखरी साधक की क्रिया-शक्ति मध्यमा, (ज्ञानमयी) बुद्धिवृत्ति अथवा ज्ञानशक्ति, परम परमेश्वर की प्राप्ति अथवा स्वरूपानुभूति की वृत्ति का द्योतन करती है । यह समरसावृत्ति है । गोरखनाथ की महार्थमंजरी रचना 49 में स्वीकृति है - 'वैखरी नाम क्रिया ज्ञानमयी भवति मध्यमा वाक् । इच्छा पुनः पश्यन्ती सूक्ष्मा (परा) समरसावृत्तिः ।।'

मत्स्येन्द्रनाथ के कृपापात्र गोरखनाथ का कथन है कि यही चतुरक्षरी मंत्र है । शरीर में प्राण की यही सार्थकता है कि वह निरन्तर परमात्मा के चिन्तन का साधन बनते हुए जीवात्मा को भवसागर से पार उतारने का सम्वल बन जाय । यही एकाक्षरी मंत्र की सहज सिद्धि है ।

(14)

रमि रमिता सौं गहि चौगानं, काहे भूलत हौ अभिमांनं ।
धरंन गगन बिचि नहीं अंतरा, केवल मुक्ति मैदांनं ।।टेक।।
एक मैं अनंत अनंत मैं एकै एकै अनंत उपाया ।
अंतरि एक सौं परचा हूवा, तब अनंत एक मैं समाया ।। । ।।
अहरणिनाद नैं ब्यंद हथौड़ा, रवि ससि षाला पवनं ।
मूल चापि डिढ़ आसण बैठा, तब मिटि गया आवागवनं ।। 2 ।।
सहज पलांण पवन करि घोड़ा, लै लगांग चित चवका ।
चेतनि असवार ग्यांन गुरू करि, और तजौ सब ढवका ।। 3 ।।
तिल कै नाके तृभवन सांध्या, कीया भाव विधाता ।
सौतौ फिर आपणही हूवा, जाकौ ढूंढण जाता ।। 4 ।।
आस्तिकहूँ तो कोइ न पतीजै, बिन आस्ति (अनंतसिध) क्यूं सीधा ।
गोरष बोलै सुणौ मछिंद्र, हीरै हीरा बीघा ।। 5 ।।

प्राचीन टीका

(अहरणि नाद-बिंद की काया । ताती सीली नाड़ी ए पवन । मूल द्वार पाचौ आसन करि ।।टेक।। सहज़ ही पलांण । पवन का घोड़ा । ल्यौ

लगाम । चित्त चाबक । चेतन असवार । ग्यांन गुरू । तिलं ब्रह्मद्वार हीरौ पांन । अहीर अपान) ।

जीवन चौगान का खेल है, (चौगान के खेल में लकड़ी के बल्ले से गेंद को उछाला जाता है ।) हमारे शरीर में परब्रह्म अलख निरंजन परमाशिव परिव्याप्त है, उससे जीवात्मा का अभिन्नत्व-स्थापन ही चौगान खेल की, योग-साधना की सिद्धि है, शरीर ही ब्रह्मसाक्षात्कार का विस्तृत क्रीड़ाक्षेत्र है, इसमें रमण करनेवाले राम, परब्रह्म अन्तर्लय ही जीवात्मा के जीवन की सिद्धि अथवा विजय है । (गोरखनाथ सावधान करते हैं कि) अहंकार ही अविद्या है, जो परमात्मा और जीवात्मा के सामरस्य में आवरण है, इस अहंकार को, मिथ्या कर्तृत्व के अपने आप पर आरोपण को नष्ट कर देने से परमात्मा की प्राप्ति होती है । धरा (मूलाधार) और गगन (सहस्रार, ब्रह्मरन्ध्र) के बीच दूरी नहीं है, सर्वत्र समान रूप से अलख निरंजन चैतन्य, सच्चिदानन्द परब्रह्म व्याप्त है, इस विस्तृत क्षेत्र को ही मुक्ति-प्राप्त का कैवल्यपद की सिद्धि का असीम और आवरण-रहित मैदान कहा जाता है । इस विस्तृत पिण्ड में सम्पूर्ण ब्रह्माण्डनायक परब्रह्म की निरन्तर क्रीड़ा होती रहती है । सर्वत्र ब्रह्म-ही-ब्रह्म अभिव्यक्त है ! जीवात्मा (योगसाधक) उससे सर्वथा अभिन्न हैं, एकरस सम्बद्ध है । यह क्रम सदा बना रहता है । इसी क्रम को सदा अभिन्न रखने की युक्ति यह है कि मूलबन्ध में आसन लगाकर, सिद्धासन में स्थित होकर जीवात्मा मूलाधार में स्थित प्रसुप्त कुण्डलिनी महाशक्ति को षट्चक्र के भेदन द्वारा जगाते हुए सहस्रार में स्थित परम शिव में अभिन्न कर जन्म-मरण, आवागमन (बार-बार शरीर धारण करने) से मुक्त होकर, जीवन्मुक्त अवस्था में स्थित होकर अमरकायत्व प्राप्त कर ले । प्राणायाम के बल से नाद-बिन्दु को सहस्रार में एकात्मकर जीवन्मुक्ति का वरण करना चाहिए । बिन्दु (वीर्य) रूपी हथौड़े से नाद की निहाई पर रवि-शशिरूपी नलिकाओं से (इड़ा-पिंगला नाड़ियों से) प्राण को प्रवाहित कर सहस्रार में नाद-बिन्दु की एकता स्थापित कर परमात्मा का साक्षात्कार ही स्वर्णकाररूपी जीवात्मा का अभीष्ट है । इस चौगान के खेल में सफलता प्राप्त करने का साधन यह है कि योगसाधक पवनरूपी घोड़े पर (प्राणायाम में) सहज के जीन पर स्थित होकर लय की लगाम लगाये और चित्त को चाबुक बनाकर

क्रीड़ा-क्षेत्र में (योग-साधना के क्षेत्र में) उतर पड़े, प्रवेश करे, गुरू के पथ-प्रदर्शन में क्रीड़ा करते हुए, खेल खेलते हुए (जीवात्मारूपी असवार) अन्य उपायों को त्यागकर सफलता प्राप्त करें । (गोरखनाथ की प्रेरणा है कि) चेतन, जीवात्मा इस तरह गुरू के ज्ञान प्रकाश में योगसाधना कर परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर आवागमन से मुक्त हो जाये । मैंने ब्रह्मानुभव प्राप्त कर लिया, ब्रह्म मुझसे (जीवात्मा से) तिलमात्र भी भिन्न नही हैं, मैंने त्रिभुवन में उसका संधान किया, खोज की पर वह अपने भीतर ही व्याप्त, अनुभवानंदस्वरूप में अभिव्यक्त है । परमेश्वर के अनुग्रह से (हृदय में परमात्मा की कृपा की ज्योति प्रकट होने पर) मैं वही हो गया, जिसे मैं त्रिभुवन में खोजता फिरा, मुझे पता चल गया कि मैं परब्रह्म ही हूँ, अलख निरंजन परमशिव में, कैवल्यपद में स्वस्थ हूँ । परमात्मा है, वह हमारे भीतर हैं, ऐसा कहने मात्र से लोग विश्वास नही कर लेते हैं, वह अनुभवगम्य है, अगम होते हुए सहज सुगम है पर उसके साक्षात्कार के लिये ज्ञाननेत्र का उन्मीलन आवश्यक है । गोरखनाथ का अपने गुरू से निवेदन है कि आत्मा से ही परमात्मा की पहचान, परख होती है, काया के राज्य में भ्रमण न कर आत्मराज्य में विचरण करना चाहिए । परमात्मा के साक्षात्कार का आधार आत्मा है ।

(15)

तत बणिजील्यौ ततबणिजील्यौ, ज्यूं मोरामन पतियाई ।।टेक।।
सहज गोरषनाथ बणिज कराई । पंच बलद नौ गाई ।
सहज सुभावै वाषर ल्याई । मोरे मन उडियांनी आई ।। । ।।
सुरहट घाट अम्है बणिजारा । सुंनि हमारा पसारा ।
लेण न जाणौं देण न जाणौं, ऐसा बणज हमारा ।। 2 ।।
भणंत गोरषनाथं मछिंद्र का पूता ऐसा बणिज ना अरथी ।
करणी अपणी पार उतरणां, बचने लेणां साथी ।। 3 ।।

प्राचीन टीका

(तत नाम । पंचभूत नौ गाय । मन बछौ (वत्स) । नौ द्वार बाखर बरह वरत । उडियान अडिग । सिरांकौ हाट सुंनि । अभ्यास बनिज । कूड़ा

लैन दैन ।)

परमात्मतत्व (रूपी रत्न) ही इस जगत् में अमूल्य पदार्थ है, मैं उसी का वाणिज्य करता हूँ । (हे अवधूत) इस परमात्मतत्व को सदा सुरक्षित रखना चाहिए, इससे मन में यह विश्वास हो जायेगा, यह सहज ज्ञान का व्यापार है । मैं बनजारा हूँ । इस सहज ज्ञान को मैं अपने पाँच ज्ञानेन्द्रियरूपी बैलों पर तथा शरीर में स्थित नव द्वाररूपीगायी के सहारे करता हूँ । पाँचों ज्ञानेन्द्रिय और नवोंरन्ध्र शरीर रूपी बखार (पदार्थ सुरक्षित रखने के स्थान) से इस पदार्थरत्न को जागतिक मायामोह में लुप्त नही होने देते हैं । ये उपकरण ही हमारे व्यापार के सहज साधन हो गये हैं, ये बाह्य विषयों में प्रवाहित न होकर निरन्तर प्राण का संयमन करते हुए परमतत्व के साक्षात्कार में (जीवात्मा को) प्रवृत्त करते हैं । मेरा मन ऊँची उड़ान लेता है, उन्मन होता जाता है, मैं ऊँचे घाट (सुरहट) सहस्रार प्रदेश, ब्रह्मरन्ध्र और शून्य का व्यापारी हूँ, शून्यस्थ परब्रह्म का ही व्यापार होता है, इसके बदले में लेन-देन की बात ही नही है, यह स्वतः स्वरूपबोध है । मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य गोरखनाथ का वचन है कि अपनी साधना और सदाचार के बल पर इस व्यापार में जीवन्मुक्ति अवस्था की प्राप्ति कर स्वरूप में स्थित होकर ब्रह्मानन्द का रसास्वादन कर लेना चाहिए ।

(16)

मांहरा रे बैरागी जोगी, अहनिसि जोगी जोगणि संग न छोड़ै ।
मानसरोवर मनसा झूलंती आवै, गगनमंडल मठ माँड़े रे ।।टेक।।
कौंण अस्थांनिकि तोरा सासू नै ससुरा, कौंण अस्थान का तोरा बासा ।
कौंण अस्थांन क तूनै जोगणि भेंटी, कहाँ मिल्या घर बासा ।। 1 ।।
नाम अस्थांन-क मोरा सासू नै ससुरा, ब्रह्म अस्थांन-क मोरा बासा ।
इडाप्यंगुला जोगणा भेंटी, सुषमन मिल्या घर बासा ।। 2 ।।
कांम क्रोध बाली चूनां कीधा, कद्रप कीया कपूर ।
मन पवन दो काथ सुपारी, उनमनी तिलक सींदूरं ।। 3 ।।
ग्यांन गुरू दोऊ तूबा अम्हारे, मनसा चेतनि डांडी ।
उनमनी तांती बाजन लागी, यहि बिधि तृष्णां षांडी ।। 4 ।।

एण सतगुरि अम्है परणाब्यां, अबला बाल कुंवारी ।
मछिंद्र प्रसाद श्रीगोरषबोल्या, मायानां भौटारी ।। 5 ।।

प्राचीन टीका

(जोगणि मनसा । मन जोगी । मन सरोवर ईश्वर । गगन ब्रह्म । मठ आसन ।टेक। सासू सुरति ससुरौ सबद । जोगणि मनसा । नाभि बसै ब्रह्म अस्थांन के बास ।)

हमारा विरागी, वैराग्यराज का निवासी योगी मन है, यह मन रात-दिन योगिनी (महामाया कुण्डलिनी) के साथ भोगासक्त रहता है, निरंतर वैराग्यरस का आस्वादन करते हुए कुण्डलिनीरूपी योगिनी के सहवास में परमानन्द, सच्चिदानन्द, ब्रह्मानन्द में निमग्न रहकर कैवल्य पद में अलख-निरंजन परमशिव का साक्षात्कार करता है । यह इच्छास्वरूपिणी-दिव्यकामस्वरूपिणी महामाया कुण्डलिनी पराम्बा मनरूपी मानसरोवर में झूलती (विहार करती) है और गगनमण्डल, ब्रह्मरन्ध्र में अपने निवास के लिये, परम शिव के मिलनसुख के योग के लिये अपनी मढ़ी (मठ) या मन्दिर बना लेती है, उन्मनी समाधि में स्थिर होकर सहस्रार में प्रकाशित अथवा अपने मूल स्वरूप (आदिनाथ) में अभिव्यक्त हो उठती है ।

(गोरखनाथ का मनरूपी योगी से प्रश्न है कि) हे योगी । तुमने जिस योगिनी का (कुण्डलिनी, मायाशक्ति का) संग प्राप्त किया है, उसके पिता और माता कौन हैं अर्थात् तुम्हारे सासु-ससुर कौन हैं, कुण्डलिनी योगिनी से भेंट होने पर तुम उसके साथ किस स्थान पर रहते हो । (जीवात्मारूपी) योगी का उत्तर है कि (यद्यपि महामाया आदिमाया है, उसके माता-पिता नहीं है, वह मूल माया और अक्षतयोनि बालकुमारी है तथापि) जिस योगिनी का मुझे सहवास प्राप्त है, वह मूलाधार चक्र में निवास करती है; वहाँ स्वयंभूलिंग को साढ़े तीन वलयों में लपेट कर वह विराजमान रहती है, इस मूलाधार के अधिपति देवता ब्रह्मा हैं, इसलिये प्रकारान्तर से उन्हें इस योगिनी का जनक, पिता कहा जा सकता है, मणिपूर अथवा नाभिचक्र महाविद्या, ब्रह्मा की प्राणसंगिनी प्राणविद्या गायत्री ही उसकी माँ है, जननी स्वीकार की

जा सकती है । रूप की (स्थूलाकार) दृष्टि से (क्योंकि कुण्डलिनी तो स्वाभिव्यक्ति है, अपने आप में ही उसकी स्वरूपस्थिति है) नाभि में प्राणवायु प्राणहंस का जप ही अजपाजाप महागायत्री है, इसी के द्वारा कुण्डलिनी महामाया प्रबुद्ध होती है और इसके प्रबुद्ध स्वरूप के साथ सुषुम्ना में मेरा विहार, रमण आरम्भ हो जाता है, सुषुम्ना में ही मैं निवास करता हूँ और त्रिकुटी, ब्रह्मरन्ध्र में मूलमाया योगिनी (कुण्डलिनी) का परम शिव से साक्षात्कार होने पर मैं तादात्म्य अथवा अन्तर्लय प्राप्त करता हूँ । (मनरूपी योगी का कथन है कि मैंने काम, क्रोध को जलाकर चूना (भस्म) बना डाला और इस तरह मुझे काम-विकार विमुग्ध अथवा पतनोन्मुख नहीं कर सका, मन को मैंने कत्था, पवन (प्राण) को सुपारी बना डाला तथा उन्मनी समाधि की अवस्था मेरे भाल का सिन्दूरी तिलक बन गयी, ज्ञान और गुरू, (आत्मज्ञान और गुरूपदेश) इन दोनों को मैंने तूँबा बनाकर तथा उन्हें मनसा (इच्छा) की डांडी पर उन्मनी समाधिरूपी ताँत से कसकर तम्बूरा का रूप प्रदान किया, इस तम्बूरे पर (वैराग्य का) महाराग, संगीत प्रस्फुटित हो उठा, मैं नाद ब्रह्म में तल्लीन हो गया और मेरी तृष्णा-वासना, भौतिक जगत् के विषयसुखोपभोग में रमण की कामना का अन्त हो गया । इस तरह आत्म-ज्ञान के प्रकाश में सद्गुरू देव के अनुग्रह और स्नेह-वात्सल्य से मैंने आजीवन कुमारी, पराशक्ति, पराम्बा, महाकुण्डलिनी शिव योगिनी से अपने शिवस्वरूप में चिरसम्बद्ध हो गया । मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य गोरखनाथ का वचन है कि इस तरह मनरूपी योगी ने माया को शिवस्वरूप में स्थित होकर अपने वश में कर लिया और भवबाधा, माया के अविद्यारूप से उत्पन्न भय का नाश हो गया । कैवल्यपद की प्राप्ति हो गयी, मन की उन्मनी समाधि में ।

(17)

ततबेली लो ततबेली लो, अवधू गोरषनाथ जांणी ।
डाल न मूल पहुप नही छाया, बिरधि करै बिन पांणी ।।टेक।।
काया-कुंजर तेरी बाड़ी अवधू, सतगुर बेलि रूपांणी ।
पुरिष पांणती करै धणियांणौं नीकै बालि धरि आंणी ।। । ।।

मूल एद्रा जेद्रा ससिहर अवधू, पांन एद्रा जद्रा भांणं ।
फल एद्रा जेद्रा पूनिम चंदा, जोउ-जोउ जांण सुजांणं ।। 2 ।।
बेलड़ियां दौं लागी अवधू, गगन पहुँची झाला ।
जिम-जिम बेली दाझबालागी, तब मेल्है कूंपल डाला ।। 3 ।।
काटत बेली कूँपलमेल्ही सीचतड़ाँ कुमलाये ।
मछिंद्र प्रसादै जती गोरष बोल्या, नितनबेलड़ी थाये ।। 4 ।।

प्राचीन टीका

(तत बेलै आत्मां । डाल करम । मूल मन प्रकृत, छाया नहीं । माया जल बिनां बधै ।टेक। कुंजर मन । काया वाड़ी । बेलि आत्मा सुबधि । धरती रोपी पुरष प्रांन । मूल एद्रा । ससि चंद्र पांन भांण । सूरिज पवन । फल पूनिम । चंद ग्यांन गगन ब्रह्म । झाल बिरह । दाया लहै काटत कूंपल-मेल्है । स्वाद सीच्य कुमलावे ।)

आत्मा अथवा परमात्मा को आच्छादित करने वाली तत्ववेलि को, माया को मैंने (गोरखनाथ ने) समझ लिया है । हे अवधूत ! यह माया हमारे शरीर में और समस्त लोकलोकान्तर, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त है और नित्य स्थित है । यह बन्धनकारिणी मायावेलि विचित्र है, न तो इसका मूल है (उत्पत्ति का पता है), न इसके डाल-पुष्प और छाया का ही पता है, यह बिना सीचे ही अपने आप बढ़ती रहती है । हे अवधूत ! इस काया-कुंज की रमणीय फुलवारी, वाटिका में सद्गुरू ने इस तत्ववेलि का रोपण किया है, जिसका ज्ञान प्राप्त कर मनुष्य स्वरूप में स्थित होता है और इसमें नही उलझता है अर्थात् सद्गुरू-ज्ञान के प्रकाश में यह पता चला कि इस शरीर में तत्वबेलि है । इस माया को, तत्वबेलि को परमात्मसाक्षात्कार का साधन भी कहना संगत है । इस तत्वबेलि का मूल सहस्रारस्थित चन्द्रमा में है और इसका पूर्ण विस्तार, प्रसार और पुष्पित-पल्लवित रूप मूलाधार चक्र में स्थित सूर्य में है । यह माया ऊर्ध्वमूल और अधः शाख है । चन्द्रमा शीतल आत्मज्ञानामृत का बोधक है और सूर्य भौतिकता, सांसारिक विषय-सुख के विस्तार का प्रतीक है । विलक्षण बात तो यह है कि कोई-कोई बिरले ज्ञानी ही माया के मूलअधिष्ठानं, सहस्रारस्थित चन्द्रमा के अमृत, ज्ञानामृत का

आस्वादन (सदुपयोग) कर पाते हैं । माया-बेलि भव-दुःख की अग्नि से प्रज्वलित होने पर ऊपर बढ़ती है, विकसित होती है । ज्यों-ज्यों यह जलने लगती है, त्यों-त्यों इसकी शाखाओं में नई-नई कोंपलें आने लगती हैं। यह मायावेलि काटने पर नष्ट नहीं होती, इसके विपरीत वह अत्यधिक पल्लवित होती है, और जितना ही ज्ञानामृत से इसका सिंचन किया जाता है, उतनी ही कुम्हलाती जाती है । यह माया-वेलि-संसार के प्राणियों के लिये निरन्तर बन्धनकारिणी है । अध्यात्म-साधक अपने स्वरूप की प्राप्ति कर इसको प्रभावहीन कर देता है । सद्गुरुमत्स्येन्द्रनाथ के अनुग्रह से गोरखनाथ का वचन है कि यह मायावेलि नित्य नवीन बनी रहती है । यह माया संसार में फंसाती है और संसार से मुक्ति भी देती है ।

(18)

बूझौ पंडित ब्रह्म गियांनं, गोरष बोलै जाण सुजांनं ।।टेक।।
बीज बिन निसपती मूलबिन बिरषा पांन फूल बिन फलिया ।
बांझ केरा बालूड़ा, प्यंगुल तरवरि चढ़िया ।। 1 ।।
गगन बिना चंद्रम ब्रह्मांड बिन सूरं, झूझ बिन रचिया थांनं ।
ए परमारथ जे नर जांणैं ता घटि परम गियांनं ।। 2 ।।
सुंनि न अस्थूल लिंग नहीं पूजा, धुंनि बिन अनहद गाजै ।
बाड़ी बिन पहुप-पहुप बिन साइर पवन बिन भृंगा छाजै ।। 3 ।।
राह बिन गिलिया अगांने बिन जलिया, अंबर बिन जलहर भरिया ।
यहु परमारथ कहौ हो पंडित, रूग जुज स्यांम अथरबन पढ़िया ।। 4 ।।
ससंमवेद सोहं प्रकासं, धरती गगन न आदं ।
गंग जुमन बिच षेलै गोरष, गुरू मछिंद्र प्रसादं ।। 5 ।।

प्राचीन टीका

(बीज कांम । निसपती ग्यांन । मूलमाया बिनां पांण तरवर । पांन परकीरति । फूल कांमनां । बांझ का पूत ग्यांन । लिंग प्रांण । बाड़ी काया रहत ईश्वर । कँवल काया । भृंग मन। स्वांसवेद । सोहं बाणी । गंगजमनां स्वास उसास । बिचि गोरष षेलै ।)

हे विद्वानो । ब्रह्मज्ञान को समझो, यह परमार्थ है, यह साधना से साध्य और अनुभवगम्य है, शब्दातीत है, मैं (गोरखनाथ) ने इस परमार्थ का (अपने गुरूप्रदत्त महायोगज्ञान के प्रकाश में) योगसाधना के द्वारा अनुभव कर अलख-निरंजन परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार किया है । परमात्मा की उत्पत्ति नहीं होती, यह निर्बीज है । यह निर्मूल है, मूलमाया प्रकृति से इसकी उत्पत्ति नही है, मूलमाया तो इसका स्वयं उपाश्रय करती है और यह शाश्वत चेतन शक्ति के रूप में आभासित होता है । वह सकाम होकर भी पूर्ण निष्काम है, प्रकृति का अधिष्ठान होकर भी, स्वाश्रय होकर उससे परे हैं, यही इस परमात्मवृक्ष का पुष्प और पत्र के बिना फलना है । स्वज्ञानस्वरूप परमात्मा परब्रह्म अलख-निरंजन कारणरहित है, चिन्मय निराकार होकर साकार और कार्य ब्रह्म-सा प्रतीत होता है । यद्यपि यह प्रतीतिमात्र ही है, उसके स्वरूप में विकृति (प्रकृति की परिणति) है ही नहीं यह सम्भव नहीं है कि बन्ध्या पुत्र पैदा करे, पुत्र की उत्पत्ति में रज़-बिन्दु (वीर्य), प्रकृति पुरूष के स्त्रीत्व-पुरूषत्व की प्रधानता है, केवल यह कथन मात्र है कि बन्ध्या पुत्र-प्रसव करती है । इस तरह यह असम्भव है कि ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन हो सके, क्योंकि ब्रह्मज्ञान तो शब्दातीत है, अनुभवगम्य है । सूर्य (प्यंगुल) का चन्द्रमा के घर में (सहस्रार) में चढ़ना, जीवात्मा का परमात्म्-साक्षात्कार कर लेना अनुभवस्वरूप है, शब्दसाक्ष्य नहीं है । सूर्य-चन्द्रमा का समरसैक्य असाधारण बात है । बिन्दु शिव है, चन्द्रमा है, सूर्य रज है, प्राण-वायु के द्वारा शक्ति (कुण्डलिनी) का चालन होने पर रज का बिन्दुरूपी चन्द्र से सामरस्य सिद्ध होने पर सहज स्वरूप में स्थिति हो जाती है । (तरवरि, तरूवर) चन्द्रमा के घर में यही सूर्य का चढ़ना है, और इस तरह जीवात्मा - परमात्मा परब्रह्म शिव के अमृतस्वरूप में स्थित हो जाता है । यह परमात्मज्ञान अथवा परमात्मतत्व ऐसा चन्द्रमा है, जो गगन (आकाश) में निराधार है, निरालम्ब है, शून्य है, परमात्मा ऐसा सूर्य है, जो ब्रह्माण्ड से परे है । वह ऐसे कर्तृत्व का शक्ति-केन्द्र है, जिसका क्षेत्र असीम है, वह युद्धक्षेत्र से परे युद्धकार्य का कर्ता है, उसका कर्तृत्व युद्ध-क्षेत्र की सीमा से परे का कार्य है । अलख-निरंजन परमशिव का यही परमात्मतत्व है, इसी परमात्मज्ञान को परमार्थ कहा जाता है, जो इस परमार्थ को जान जाता है, जो सद्‌गुरूदेव द्वारा कृपापूर्वक प्रदत्त योगज्ञान से परमात्मा

में अपना अभिन्नत्व समझ लेता है, उसी के भीतर (हृदय में) परमात्मज्ञान अथवा परमज्ञान अभिव्यक्त अथवा प्रकाशित हो उठता है । परमात्मा न शून्य है, न स्थूल है (साकार) है, उसका लिंग, कोई आकृतिपरिचायक लक्षण भी नहीं हैं, न पूजा ही है, अथवा पूजा से (स्वकर्म द्वारा उसकी अभ्यर्चना से) सिद्धि, कामना-पूर्ति, आत्म-साक्षात्कार तो हो जाता है, पर उसकी प्राप्ति पूजा से नहीं होती है, परमात्मा सिद्धि अथवा आत्मसाक्षात्कार की स्थिति का आलम्बन तो हैं पर परमात्मा निरालम्ब है, इसलिये पूज्य होकर भी वह पूजा से परे है । वह यद्यपि शब्दाकार (भी) है, शून्य में आकृतिवान है, शून्याभिव्यक्त है, तथापि ऊँकार (शब्द मंत्र) से परे परम सत्ता के रूप में शब्द, वेद से भी परे होकर, नेति-नेति की सहज अनाहत धारा में स्थित है, महाभावस्वरूप है, अपनी परमाह्लादिनी शक्ति में सहज विद्यमान है । वह रमणीय उपवन का पुष्प है, पर यह उपवन लोकोत्तर, अलौकिक, चिन्मय है, यह परमात्मपुष्प ऐसे सौरभ का सन्निधान है, जिसका आधार-पुष्प प्रकृति सौन्दर्य से परे है, इस सौरभ की गति वायु अथवा पवन के अधीन नहीं है, इस सौरभ से आकृष्ट होकर असंख्य साधकों के मनरूपी भृंग पुष्प-रस (कमल-पुष्प के मकरन्द) के लोभ से, परमात्मरस की अनुभूति के लिए इसके अभिमुख रहते हैं । इसकी सर्वत्र गति है, यह परमात्मा अलख-निरंजन किसी विशेष निर्दिष्ट पथ पर प्रकट नहीं है, गतिमान नहीं है, सहज शून्य में स्थित, परमाकाश में विराजमान शाश्वत चैतन्य है, गति से परे है, यह सम्पूर्ण तेज है, अग्नि का अधिष्ठान है, इसके तेज से समस्त सृष्टि प्रकाशित है अथवा समस्त विकृति का उच्छेद हो जाता है, यह ऐसा बादल है, जो शून्यस्थ, आकाशस्थ नहीं है, शून्य से भी परे हैं और इसके रस से चराचर संतृप्त और अमृतत्व में स्थित हैं । हे वेद के विद्वानों ! इस परमार्थ का रहस्य कहो, यह रहस्य वेद भी नहीं कह सकते । यह परमात्मा स्वसंवेद्य है, यह स्वप्रकाश है, यह धरती, आकाश, और जल तत्व से परे परमात्महंस, प्रकाशब्रह्म अनुभव से साक्षात्कार का विषय बनता है, इड़ा, पिंगला, गंगा-यमुना (नाड़ियों) में प्राण को प्रवाहित कर सुषुम्ना (सरस्वती) में संगम के फलस्वरूप त्रिकुटी, ब्रह्मरन्ध्र में परमात्मा के प्रकाश का स्वानुभव होता है, इसी संगम में (गोरखनाथ) मैं सद्गुरू योगीन्द्र मत्स्येन्द्रनाथ के अनुग्रह से

नित्य बिहार करता हूँ, प्रकृति से परे होकर अकुल साधना-एकमात्र शिव अलख निरंजन का शून्यपद-सहस्रार में यौगिक ज्ञाननेत्र से दर्शन करता हूँ, निस्सन्देह परमात्मा सर्वाधार, निराधार निरंजन परब्रह्म शिव है ।

(19)

बदत गोरषनाथ दसवीं द्वारी सरग नै केदार चढ़िया ।
इकबीस ब्रह्मण्ड ना सिषर ऊपरि, ससमवेद ऊचरिया ।।टेक।।
द्वादसदल भीतरि रवि सक्ती, ससि षोडस सिवथांनं ।
मूल सहंसर जीव सीव धरि उनमनी अचल धियांनं ।। 1 ।।
नाद अनाहद गरजै गगणं (गेणं), पछिम ऊंग्यां भाण ।
दक्षिण डीबी उत्तर नाचै, पाताल पूरब तांणं ।। 2 ।।
चंद सूर नी मुद्रा कीन्ही, धरणि भस्म जल मेला ।
नादी ब्यंदी सींगी आकासी, अलख गुरू नां चेला ।। 3 ।।
तीन सै साठि थेगली कंथा, इकवीस सहंस छ सै धागा ।
बहतरि नाड़ी सुई नवासी, बावन बीर सीया लागा ।। 4 ।।
इली सोधि धरि प्यंगुली पूरी, सुषमनी चढ़ी असमांनं ।
मछिंद्र प्रसादै जती गोरष बोल्या, निरंजन सिधि के थांन ।। 5 ।।

प्राचीन टीका

(स्वरगरंध्र के पुरुष चढ़या । यकीस ब्रह्मण्ड ऊपरि ससमवेद ।टेक। द्वादस अंगुल की बाई । रज बीरज की सकति बस हुई । ससिम षोडसु सरकंवल । सिव थांनं सहंस पषुड़ी । थांनं जीव सीव धरि । अनहद सबद । पछिम ऊँचे भाणं ग्यानं । डीबी मनसा । पाताल गुणां परै । चंद सूर तातासीला । धरया का गुण भस्म किया । नादी बिंदी नाद बिंद सींगी । आकास आत्मां । थेगली काया । छ सै सहंस स्वास । बहतरि नाड़ी । सूइ सुरति । बावन वीर मन । यड़ा पिंगुला सुषमनी । आसमांन ब्रह्मद्वार ।)

(गोरखनाथ का कथन है कि) मैंने शरीर के नव द्वारों को पार कर दसवें दरवाजे में स्थित परमानन्दस्वरूप केदार धाम में अलख-निरंजन का

साक्षात्कार कर लिया । मैंने मूलाधार से ललाटपर्यन्त समस्त नवद्वारों को पार कर लिया, मूलाधार में प्रसुप्त महाकुण्डलिनी शक्ति को जगाया, इड़ा-पिंगला नाड़ी में प्रवाहित प्राण को सुषुम्ना की ब्रह्मनाड़ी में स्थित कर, नाद-बिन्दु की साधना के द्वारा सहस्रार से द्रवित चन्द्रामृत से अमरकायत्व प्राप्त कर ब्रह्मरन्ध्र, केदार में अलख निरंजन केवलानुभवस्वरूप परब्रह्म, परमशिव का, वेदातीत शब्द (नाद) ब्रह्म के ऊँकारस्वरूप में स्थित सूक्ष्मवेदगत, स्वसंवेद्य महत् चैतन्य के पद में स्थित हो गया । अपने पिंड में स्थित (सप्त पाताल सहित) इक्कीस ब्रह्माण्डों के शिखर पर चढ़कर स्वसंवेद्य (सुषमवेद, सूक्ष्मवेद) ऊँकारस्वरूप में अलख निरंजन का मैंने उच्चारण अथवा मंत्र-दर्शन किया । सूर्य की मूलाधारस्थ बारहकलाओं में शक्ति का निवास है, और सहस्रार में चन्द्रमा की सोलह कलाओं में शिव का अधिवास है । उन्मनी समाधि में मैंने शिव-शक्ति का तादात्म्य-अनुभव कर लिया, शक्ति शिव में मिल गयी है, अन्तर्लीन है, मैंने ध्यान में स्थित होकर यह प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया है । गगन (त्रिकुटी अथवा ब्रह्मरन्ध्र) में अनाहतनाद का गर्जन हो रहा है, सूर्य का पश्चिम दिशा (सुषुम्ना) में उदय हो गया है, चन्द्रमा से सूर्य के मिलन का उपक्रम हो रहा है, दक्षिण (मूलाधार चक्र और स्वाधिष्ठान) में स्थित प्रसुप्त शक्ति महाकुण्डलिनी मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञाचक्रों से होती हुई ब्रह्मरन्ध्र अथवा सहस्रार में प्रवेश कर अपनी पूर्ण ज्योति में अभिव्यक्त हो उठी है (नाच रही है) । मैंने चन्द्र और सूर्य, इड़ा-पिंगला, दोनों नाड़ियों को मूँद दिया है अथवा उनमें प्रवाहित प्राण को सुषुम्ना नाड़ी (अग्नि नाड़ी अथवा सरस्वती) में प्रवाहित कर दिया है, यह हमारा मुद्राबन्ध है । पृथ्वी (सांसारिकता) का भस्म जल में मिल गया है अर्थात् शरीर में वीर्य (रस) की सिद्धि हो गयी है, वह उसमें जीर्ण हो गया है और इस तरह शरीर दिव्य हो गया है । निरंजन की साधना, अलख-निरंजन परब्रह्म की प्राप्ति ही योग का परम-चरम प्रतिपाद्य है । इसके लिए पिण्ड को योगाग्नि में पक्व करना ही श्रेयस्कर है । इस शरीर के प्रति सदा सावधान रहने की आवश्यकता है क्योंकि इसी में परमपुरुष, परमात्मा के अधिवास का, स्वरूप का अनुभव प्राप्त होता है, अलख-निरंजन का साक्षात्कार होता है, समस्त ब्रह्माण्ड इसी में अभिव्यक्त है, हठयोग, सूर्य और चन्द्र के सहस्रार में सामरस्य का अमृतत्व इसी में विद्यमान है, यह जीवात्मा रूपी योगी का कन्था

है, गुदड़ी है, जिसके सहारे वह योगसिद्धि, कैवल्यपद, परमामृत स्वरूप की प्राप्ति करता है । यह कन्था शरीर में स्थित तीन सौ साठ हड्डियों से निर्मित है, ये हड्डियाँ ही (थेगली, थिगली) चकतियाँ हैं, जिनसे देहरूपी गुदड़ी बनती है, इस गुदड़ी को सीनेवाली (ठीक रखने वाली) इक्कीस हजार छः सौ साँस ही धागे हैं, बहत्तर नाड़ियाँ ही असँख्य (नवासी) सुइयाँ हैं, जिनसे शरीररूपी कन्था को बावनवीर, चेतन जीवात्मा अथवा मनरूपी दर्जी निरन्तर सीता रहता है, अन्यथा गुदड़ी के (शरीर के) फट जाने, नष्ट हो जाने की आशंका सदा बनी रहती है । इस शरीर, गुदड़ी में स्थित जीवात्मारूपी योगी को इड़ा-पिंगला नाड़ियों में प्रवाहित प्राण का शोधन कर सुषुम्ना मार्ग में उसे संस्थित कर ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच कर, प्रवेश कर परम शिव अलख-निरंजन, योगब्रह्म, परब्रह्म शिव का साक्षात्कार कर लेना चाहिए । इस तरह मैं (गोरखनाथ) ने निरंजन की सिद्धि का स्थान ब्रह्मरन्ध्ररूपी दसवें द्वार केदार का दर्शन कराया है, बतलाया है और स्वयं परमानन्द का आस्वादन किया है ।

(20)

आंबलियौ थलि मौरियौ ऊपरि नींब बिजौरे फलियौ ।
सो फल षातां लागै मीठौ, जांणै रे जिन गुरू प्रसादे दीठौ ।।टेक।।
ऊँट सिचाणैं जब ग्रह्यौ जाइ कैरो डाली बैठौ ।
बांझै बेटा जनमियूं नेणै पुरिष न दीठौ ।। । ।।
लाकड़ डूबे सिलतिरै, देषतां जग जाइ ।
ऊँटप्रनालै बहिगयो, सुसिल्यौ पौली न माइ ।। 2 ।।
डूंगरि मंछा जलि सुसां, पांणी में दौं लागा ।
अरहट बहै तुसालवौं, सूलै कांटा भागा ।। 3 ।।
एक गाइ नौ बछड़ा, पंच दुहेबा जाइ ।
एक फूल सोलह करंडियां मालनि मन मैं हरिष न माइ ।। 4 ।।
पगां बिहूनड़े चोरी कीधी, चौरी नै आंणी गाई ।
मछिंद्र प्रसादे जती गोरष बोल्या, दूझै पाणीन ब्याई ।। 5 ।।

(आंबलीयौ आत्मा । थल ब्रह्म । नींब बपु । बिजौरा बिचारा । टेक। ऊँट सिंचाणै जब ग्रह्यौ । ऊँट आंपौ । सिंचाणौ सबद । केरूं करम । बांझ आत्मां । बेटौ ग्यांन । पुरिष न दीठौं । पुरिष परमेस्वर बिना और पुरिष । लाकड़ बूड़ै सिलातिरै । लाकड़ कठोर सिला सुध । ऊँट आपौ । प्रनाली प्रीति । सुसलौ सांसौ । मछ मन । डूंगर ब्रह्म । जल संसार । ससौ सांसौ । पांणी बूंद । ब्रह्म अगनि । रहट रटणि । सूल बिरह । कांटा (करम) क्रम, गाय आत्मा नौ नाड़ि पंच भू । फूल कवंल । करंडीया कली । पग करम बिनां चोरी । गाय मनसा धरया मैं ब्यावै नहीं ।)

परब्रह्म परमात्मा, मूलअधिष्ठान स्वरूप यद्यपि माया मूलप्रकृति (प्रधान) के वश में नहीं है तथापि उसकी साकार अभिव्यक्ति का उपाश्रय यह प्रकृति ही है, इस परमात्मारूपी, आत्मब्रह्मरूपी अधिष्ठान (थलि-स्थल) अथवा थाले में जीवात्मा (मौरियौ) प्रकट हो गया पर वह मायारूपी निबौरी, नीम के बीज से आवृत्त हो गया, जो खाने में, आस्वादन में बड़ा ही मधुर है, इसका आस्वाद तो जीवात्मा करता ही है, पर गुरू की कृपा होने पर वह इसकी कड़ुवाहट से बंच सकता है । इस मनरूपी जीवात्मा को (अपने अज्ञान और स्वरूप-विस्मृति के कारण) सचान, (सिचाणै) बाज (यम) पकड़ लेता है, अपने पाश में बाँध लेता है तो मन अपनी शक्ति (परमात्मा में अन्तर्लीनता की शक्ति) से हाथ धोकर संसाररूपी कटीले वृक्ष की शाखा (कैरो डाली) का आश्रय लेता है, दुःख-सुख में आस्था रखकर जागतिक मायाजाल में फँस जाता है । दुःख-भोग के बाद उसे सम्यक् विवेक की प्राप्ति होती है, ब्रह्म से नितान्त विमुख जागतिक माया बाँझ (बन्ध्यास्त्री) उसे ब्रह्म की ओर प्रेरित करती है, वह स्वरूप का अनुसन्धान करते हुँए ब्रह्मानुभव (वन्ध्यापुत्र) के द्वारा स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करता है । इस भवसागर में विपरीत बात यह है कि लकड़ी तो डूब जाती है, पर शिला तैर कर पार हो जाती है । लकड़ी में चंचलता है, शिला में स्थिरता है, इस तरह संसार नष्ट हो जाता है, समाप्त हो जाता है, स्थूल माया, जो ऊँट के समान है, नेहर में बह जाती है और सूक्ष्म माया (आत्मप्रपंच में स्वरूप की प्राप्ति की व्यामोहवृत्ति) जो खरहा (खरगोश) के समान दरवाजे (पौलि-पौर) तक आकर भी भीतर प्रवेश

नहीं कर पाती, अर्थात् स्थूल (अविद्यास्वरूपिणी) माया और सूक्ष्म माया, दोनों का प्रभाव नष्ट हो जाता है और जीवात्मा स्वरूप में स्थिति का विवेक प्राप्त करने के परिणामस्वरूप जन्म-मरणरूपी दुःख के बन्धन से सर्वथा मुक्त हो जाता है । मछली (मन) पहाड़ी (डूँगर) पर (ऊँची दशा में) पहुँच जाती है। पानी में आग लग जाने पर जिस तरह मछली डूँगर-भीटें या छोटी पहाड़ी पर चढ़ जाती हैं, खरहा सूक्ष्म माया जल में समा जाता है, उसी तरह भवसागर की जलरूपी माया जल जाती है, जीवात्मा पर संसार का प्रभाव नहीं पड़ता है । सत्-असत् का (यह ब्रह्म है, यह माया है, इसका) पहले विवेक पैदा होता है और इसके बाद असत् का नाश होता है । सूक्ष्म माया का नाश होने पर केवलमात्र रहट की तरह मुमुक्षुओं को चिरतृप्त करने के (पिपासुओं की पिपासा की निवृति के) लिये ब्रह्मानुभूति रह जाती है । इस तरह विवेक रूपिणी, सत्स्वरूपिणी सूक्ष्म माया के द्वारा अविवेकस्वरूपिणी, अविद्या अथवा माया का अन्त हो जाता है, माया से ही माया मिट जाती है, यह कार्य ऐसा है मानो कण्टक से ही कण्टक नष्ट हो गया है । तृसालवाँ का आशय है तृषालु जन अथवा मुमुक्षु लोग, जो निरन्तर ब्रह्मानुभूति से चिरतृप्ति प्राप्त करना चाहते हैं । भवसागर में आग लग जाने पर, माया का अस्तित्व मिट जाने पर मन उन्मन हो जाता है और जीवात्मा अपने सत्स्वरूप में परब्रह्म का अनुभव पाता है, उसी में तादात्म्य लाभ कर सच्चिदानन्द स्वरूप हो जाता है । मनरूपी मछली का डूँगर (भीटा) ब्रह्मरन्ध्र है, मन ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश कर उन्मनी समाधि में तल्लीन जीवात्मा का, अमायिक निरंजन ब्रह्म का अनुभव प्राप्त करने में सहायक होता है । हमारे शरीर में (जीव-) आत्मा गाय है और शरीर के नवों रन्ध्र इस जीवात्मारूपी गाय के बछड़े हैं, पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ इस गाय को निरन्तर दुहती (शक्तिहीन करती) रहती हैं, इस तरह जिस साधक की दृष्टि केवल शारीरिक पोषण और माया-मोह में ही, असत् सम्बन्ध में ही लगी है, वह कभी आत्मिक (आध्यात्मिक) उन्नति नहीं कर सकता । शरीर में व्याप्त (जीव) आत्मा योगसाधना के द्वारा सहस्रार में स्थित चन्द्रमारूपी पुष्प के रस (अमृत) का कुण्डलिनी जागरण और षट्चक्रभेदन तथा नादानुसन्धान आदि यौगिक प्रक्रियाओं द्वारा पानकर परमात्मा, अलख-निरंजन ब्रह्म का साक्षात्कार कर सकता है । यह फूल सोलह कलाओं (करंडियों) का है, इसका रसामृत पान

कर जीवात्मारूपी मालिन के मन में अपार आनंद उमड़ पड़ता है । बिना पैरों की आहट के (चोरी-चोरी) उन्मनी समाधि के द्वारा आत्मारूपी गाय का परब्रह्म परमात्मा से ब्रह्मरन्ध्र में साक्षात्कार लाभ, तादात्म्य अथवा स्वरूपानुभव हो जाने पर वह जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाती है, उसे शरीर धारण कर नव (बछड़ों के) द्वार से पंचेन्द्रियों द्वारा फिर दुहे जाने का, शक्ति से हीन होने का भय नहीं रहता है । आवागमन से मुक्ति मिल जाती है तथा इस तरह जीवात्मारूपी गाय ब्रह्मानुभूतिरूपी (चन्द्रामृतस्वरूपिणी) मुक्ति में स्वरूपस्थ हो जाती है, जीवात्मा कैवल्यपद की प्राप्ति कर लेता है । सद्गुरू योगिराजेन्द्र मत्स्येन्द्रनाथ के अनुग्रह प्राप्त शिष्य का यह अनुभव है, वचनामृत है ।

(21)

गोरष लो गोपालं लो, गगन गाय दुहि पीवै लो ।
मही बिलोय अमीरस पीजै, अनभै लागा जीजै लो ।।टेक।।
ममिता बिनां माइ मुइ, पिता बिनां मूवा छोरूलो ।
जाति बिहूनां लाल ग्वालिया, अहनिस चारै गोरू लो ।। 1 ।।
अनहद सबदै संष बुलाया, काल महादल दलिया लो ।
काया कै अंतरिं गगन मंडल मैं, सहजै स्वामी मिलिया लो ।। 2 ।।
ऐसी गावत्री धरबारि हमारै, गगन मंडल मैं लाधी लो ।
इहि लागि रह्या परिवार हमारा, लेइ निरंतरि बांधी लो ।। 3 ।।
कानां पूछां सींग बिबरजित, बरन बिबरजित गाई लो ।
मछिंद्र प्रसादै जती गोरष बोल्या, तहाँ रहै ल्यो लाई लो ।। 4 ।।

प्राचीन टीका

(गोष्ट थी पाली । गगन की गाय मनसा । मही मन । अनभै ईस्वर ।टेक। ममित मिट्यो । तब माया मुंई । बाप बपु । छोरू यंद्री । लाल गवाल प्रांन । गाय मनसा । अनहद ईस्वर सबद । संष असत काया । गगन कँबल । सुंनि असथांन गगन । गाय मनसा । परवार मन पवन । सुरति निरंतरि प्रांण धरि । वरण रहत मनसा गाय ।)

गोरखनाथ का कथन है कि मैं ग्वाला हूँ, जिस तरह ग्वाला गाय का दूध दुहकर पीता है, उसी तरह मैं उन्मनी समाधि में स्थित होकर सहस्रार स्थित चन्द्रमा से स्रवित होने वाले अमृत का पान करता हूँ । अर्थात् परमशिव का साक्षात्कार करता हूँ । यह शुद्ध ब्रह्मामृत है । मैंने इस दूध में स्थित छाँछ, मट्ठे (निस्सार मायिक द्रव) को बुद्धि की मथानी से मथकर, बिलोकर अलग कर दिया है, अभयपद में स्थित होकर जीवन का आनन्द ले रहा हूँ । सांसारिक, प्राणी, पदार्थ और परिस्थितियों में आसक्त होने से जो असत् स्वीकृति, ममता उत्पन्न होती है, वह मुझमें नाममात्र को भी नहीं रह गयी है । इस तरह माया प्रभावहीन हो गयी है, माया के प्रभावहीन होने से अहंकार भी नष्ट हो गया है । यही शरीर का बाप है और माया ही शरीर की माँ है, माया, अहंकार तथा उसके षड्विकारों से परे होकर जीवात्मा स्वरूपानुसन्धान में लगकर उन्मनी समाधि सिद्ध कर परब्रह्म के निवास स्थान, गगन मण्डल, ब्रह्मरन्ध्र में संस्थित होकर रसमयी ब्रह्मामृतानुभूति का पान कर जीवन्मुक्त हो जाता है । जन्म-मरण से परे होकर (जातिविहीनता अथवा चौरासी लाख योनियों में जन्म लेने और मरने की क्रिया की समाप्ति से) लाल (बाल) ग्वाल, बालगोपाल, बालयोगी गोरखनाथ, अखण्डब्रह्मचर्यव्रती योगी रात-दिन गो-चारण करता है, इन्द्रियों को संयत रखकर साधना की सिद्धि में अनवरत सावधान रहता है । गोरूपिणी इन्द्रियों को मृत्यु विनाश की ओर नहीं ले जाने पाती, इस संसाररूपी वन में मैं (गोरखनाथ) शंखनादकरता हूँ, अनाहतनाद, ध्वनि के द्वारा अमृतत्व की साधना कर यमराज की सेना, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि का वीरता और निर्भीकतापूर्वक दमन करता हूँ और इस तरह सहस्रार में स्थित परब्रह्म ऊँकारस्वरूप अलख-निरंजन की सहज प्राप्ति कर लेता हूँ । हमारा घर गगनमण्डल सहस्रार है, ब्रह्मरन्ध्र इसका दरवाजा है, इस दरवाजे पर ब्रह्मानुभूतिरूपिणी अमृतप्रदायिनी गाय (गायत्री) बंधी हुई है, हमारी आत्मरक्षिणी है, अजपाजप, महाविद्या, प्राणविद्या की सिद्धि है और इसने हमें अमृतत्व में प्रतिष्ठित कर जन्म-मरण के चक्र से सर्वथा मुक्त कर दिया है । मेरा सारा परिवार (ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अन्तःकरण आदि) इस गाय की सेवा में संयत है, तत्पर है, इसी ब्रह्मानुभूतिरूपिणी गाय से पता चलता है

कि जगत् अलख निरंजन का अधिष्ठान है, वह पिण्ड और समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त है, यह गाय सीग, कान, पूँछ और रूपरंग से परे हैं, इसका आशय यह है कि यह ब्रह्म की निरंजन अमायिक, निर्विकार, निराकार, निर्गुण सत्ता की अभिव्यक्ति है । गोरखनाथ का वचन है कि परमगुरू मत्स्येन्द्रनाथ के अनुग्रह से मैं इस ब्रह्मानुभूति में सदा लवलीन, स्वस्वरूपस्थ रहता हूँ ।

(22)

अवधू ऐसा ग्यांन बिचारी, तामैं झिलिमिल जोति उजाली ।टेक।
जहाँ जोग तहाँ रोग न व्यापै, ऐसा परषि गुर करनां ।
तन मन सूंजे परचा नाहीं, तौ काहे को पचि मरनां ।। 1 ।।
काल न मिट्या जंजाल न छूट्या, तप करि हूवा न सूरा ।
कुल का नास करै मति कोई, जै गुरू मिलै न पूरा ।। 2 ।।
सप्त धात का काया पींजरा, ता माहिं जुगति बिन सूवा ।
सतगुरू मिलै तो ऊबरै बाबू, नहीं तौ परलै हूवा ।। 3 ।।
कंद्रप रूप काया का मंडण, अँबिरथा कांइ उलीचौ ।
गोरष कहै सुणौं रे भौंदू, अरंड अंमी कत सीचौं ।। 4 ।।

हें अवधूत मैंने (साक्षात् शिवस्वरूपप्रदत्त योगमहाज्ञान के स्वामी मत्स्येन्द्रनाथ के अनुग्रह से) अपने शरीर के भीतर ब्रह्मरन्ध्र में अलख निरंजन, की झिलमिल ज्योति का दर्शन कर लिया है । यह निर्मल ज्योति ब्रह्मरन्ध्र में निरन्तर झिलमिलाती रहती है, यह सत्य है कि जहाँ योग है, वहाँ जन्ममरणरूपी रोग का सर्वथा अभाव है । सोच-विचार कर योगज्ञान में निष्णात सद्गुरू का चरणाश्रय ग्रहण करना चाहिए, जिससे भवरोग नष्ट हो जाय, अमृतत्व, योग, शाश्वत चैतन्याधार, आत्मसंबल बन जाय । यदि शरीर और मन के सहारे अपने भीतर व्याप्त स्वरूपानुभव नहीं होता है तो साधना व्यर्थ. और निस्सार है, अर्थहीन और श्रममात्र है । योगसाधना में सिद्धि का फल है मोक्ष की प्राप्ति और मृत्युभय का समाप्त हो जाना तथा भवबन्धन, (जगत् के प्राणी, पदार्थ और परिस्थिति के प्रति असत् सम्बन्ध की स्वीकृति) के जाल अथवा (प्रपंच) जंजाल का अन्त हो जाना पर यह अध्यवसाय और साधना में सतत लगे रहने से ही सम्भव होता है, यह कठोर तप है और

वीरात्मा योगी इस तरह की योग-साधना रूपी तप में तत्पर हो पाता है । जबतक सद्गुरू सर्वसमर्थ का चरणाश्रय नहीं प्राप्त हो जाता, तब तक योग-साधना के परम उद्देश्य, अलख निरंजन का साक्षात्कार नहीं हो सकता, इसलिये अधूरे ज्ञानवाले गुरू के आश्रय में योगसाधना करना शरीर और मन को थकाना मात्र है, यह निष्फल है । साधक को अधकचरे गुरू के फेर में पड़कर कुल का नाश नहीं करना चाहिए, अपने आश्रमसम्बन्धी (गृहस्थाश्रम के) आचार-विचार में लगे रहना चाहिए । यह शरीर रस-रक्त, मांस, मज्जा, मेद, अस्थि और शुक्र, सात धातुओं से निर्मित पिंजरा है, जिसमें जीवात्मा योगयुक्ति से हीन होकर मुक्ति प्राप्ति के ज्ञान से शून्य होकर सुग्गे के समान तड़फड़ा रहा है, यदि सद्गुरू, का आश्रय सुलभ होता, तब तो वह शारीरिक बन्धन से ऊपर उठकर सहस्रार ब्रह्मरन्ध्ररूपी गगनमण्डल में उड़कर मुक्त हो सकता है, अन्यथा मृत्यु का ग्रास बन जाता है । हे अवधूत ! परमात्मा की कृपा से कामदेव के शरीर के समान सुन्दर काया (देह) की प्राप्ति हुई, इसको व्यर्थ नहीं चले जाने देना चाहिए, अधूरे गुरू के योगज्ञान में इस शरीर को साधनारत करना उसी तरह व्यर्थ और निष्प्रयोजन है, जिस तरह रेड़ के वृक्ष को अमृत से सीचना अज्ञान है ।

(23)

आऊँ नहीं जाऊँ निरंजन नाथ की दुहाई ।
प्यंड ब्रह्मण्ड षोजंता, अम्हे सब सिधि पाई ।।टेक।।
कायागढ़ भीतरि नव लष खाई ।
दसवै द्वारि अवधू ताली लाई ।। । ।।
कायागढ़ भीतरिं देव देहुरा कासी ।
सहज सुभाइ मिले अविनासी ।। 2 ।।
बदंत गोरषनाथ सुणौ नर लोई ।
काया गढ़ जीतैगा बिरला कोई ।। 3 ।।

अलख निरंजन, घट-घट में विद्यमान परमात्मा साक्षी है कि मैं स्वरूपतः उसमें स्वस्थ हूँ । (परमात्मा और जीवात्मा में मायिक भेद का समाप्त हो जाना ही परम कैवल्य अथवा स्वरूपानुभव है ।) मैं मुक्त हो गया

हूँ, मेरी काया जन्म-मृत्यु से परे हो गयी है, मैं जीवन्मुक्तावस्था में शरीर से अमर होकर, कायारूपीगढ़ पर विजय प्राप्त कर आवागमन से मुक्त हो गया हूँ । अपने शरीर (पिण्ड) के भीतर व्याप्त समस्त चराचर विश्व, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का मैंने प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया है । सम्पूर्ण सिद्धियों की सिद्धि परमात्मा के स्वरूप का मैंने अपने ब्रह्मरन्ध्र में अनुभव कर लिया, निरंजन की ज्योति का मुझे दर्शन हो गया । शरीर में नवरन्ध्र हैं, ये नवों दरवाजे हमारे चौरासी लाख योनियों में जन्म लेने और मरने के अनेकानेक संस्कारों से भरे पड़े हैं, जीवात्मारूपी योगी इन दरवाजों को तोड़ कर, इनको अवरुद्ध करने वाले संस्कारों (नव लाख खाइयों) का भेदन करते हुए दसवें दरवाजे (ब्रह्मरन्ध्र) में प्रवेश कर परमशिव का साक्षात्कार करता है । (नव लाख खाइयों की स्थिति का आशय यह भी है कि हमारे शरीर के भीतर बहत्तर हजार नाड़ियाँ हैं, ये मल से भरी-पड़ी हैं, षोडशआधार, षट्चक्र, पंच व्योम आदि अन्यान्य भी इसी शरीर में स्थित हैं, ये नव लाख खाइयाँ (असंख्य खाइयाँ) हैं, आसन, प्राणायाम, षट्कर्म, चक्रभेदन, मुद्राबन्ध आदि के अभ्यास तथा नाद-बिन्दु-सामरस्य से इन खाइयों को पार किया जाता है । इस कायागढ़ में परम पदार्थ, महारत्न परमात्मा का अधिवास है, वह स्वरूपतः अभिव्यक्त है, । इसी में ब्रह्मा, विष्णु, महेश, शक्ति, सूर्य, चन्द्रमा, देवालय, त्रिकुटी, (काशी, केदार, कैलाश) गंगा, यमुना, सरस्वती आदि विद्यमान हैं । इन तीर्थो के दर्शन से अलख-निरंजन, निराकार, सनातन, शाश्वत सच्चिदानन्द परमात्मा की सहज अनुभूति प्राप्त हो जाती है । परमात्मा अपने पूर्ण स्वरूप में इसी कायागढ़ में अपनी समस्त शक्तियों में अभिव्यक्त है । यह कायागढ़-विजय बहुत कठिन काम है, वीरात्मा योगी ही इस पर अपना अधिकार, प्रभुत्व स्थापित कर पाते हैं । गोरखनाथ का कथन है कि हे सज्जनों । मेरा अनुभव यही है कि कोई बिरला आत्म-शक्तिसम्पन्न (योगाभ्यासी) प्राणी ही अमरकायत्व का सौभाग्य पाता है, कायागढ़ को जीतता है ।

(24)

पवनां रे तूं जासी कौनें बाटी ।
जोगी अजपाजपै त्रिवेणीं कै घाटी ।।टेक।।

चंदा गोटा टीका करिलै, सूरा करिलै बाटी ।
मनी राजा लूगा धोवै, गंग जमुन की घाटी ।। । ।।
अरधैं उरधैं लाइलै कूंची, थिर होवै मन तहाँ थाकीले पवनां ।
दसवां द्वार चीन्हिलै, छूटै आवागवनां ।। 2 ।।
भणत गोरखनाथ मछिंद्रना पूता, जाति हमारी तेली ।
पीड़ी गोटा काढ़ि लीया, पवन षलि दीयां ठेली ।। 3 ।।

(इस पद में प्राण-मन की विजय पर बल दिया गया है, प्राणवायु के द्वारा ही जीवात्मा शरीर में स्थित रहता है, अपान, उदान, समान, व्यान और प्राण में प्राण ही ज्येष्ठ अथवा प्रधान है । गोरखनाथ जी प्राण से पूछते हैं कि हे प्राण (पवन), तुम शरीर के किस रास्ते (दरवाजे) से बाहर जाओगे, शरीर के नवों द्वार, दोनों नेत्र, दोनों नासारन्ध्र, मुख, दोनों कर्णरन्ध्र और उपस्थ एवं पायु मुद्रित (बन्द) हैं और दसवाँ द्वार ब्रह्मरन्ध्र भी मुद्रित है, इसलिए तुम्हारे बाहर निकलने का भय (मृत्यु का भय) समाप्त हो चला है । हे प्राण । तुम शरीर को नहीं छोड़ सकते । यह शरीर मैला हो चला है । इसे मन राजा (धोबी) गंगा (इड़ा) और यमुना (पिंगला) के घाट, सुषुम्ना में आज्ञाचक्र में स्थित अथवा उन्मन होकर निर्मल कर रहा है, प्राणापान के सामरस्य के द्वारा शुद्ध कर रहा है । अपान और प्राणवायु, दोनों का एकरसत्व स्थापित हो गया है, चन्द्रमा ही साबुन की टिकिया है और सूर्य पाटा है, इस तरह चन्द्रमा और सूर्य, इड़ा और पिंगला के संगम, सुषुम्ना के घाट पर मन द्वारा शरीर धुलकर साफ किया जा रहा है । यह शरीररूपी वस्त्र (लूगा) अथवा कपड़ा निर्मल हो गया है, इसकी अनेकानेक नाड़ियों में मल एकत्र हो जाने पर इसके जीर्ण हो जाने का भय रहता है और जीवात्मा (प्राणहंस) इसके बाहर चला जाता है । निःश्वास और प्रश्वास (अपान और प्राणवायु) को ताली लगा कर, एकरस कर कुम्भक द्वारा प्राण को रोक लेने पर यह स्थित हो जाता है और पवन का नीचे-ऊपर, अधः-ऊर्ध्व का आकर्षण, अपान का प्राण की ओर खिंचना और प्राण का अपान की ओर जाना बन्द हो जाता है । पवन थक कर ठहर जाता है और सुषुम्ना के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र के द्वार पर (त्रिकुटी में) अजपाजाप में तत्पर योगी (जीवात्मा) का ब्रह्मरन्ध्र में विद्यमान अलख-निरंजन शिव के साक्षात्कार में मन सहायक

होता है । वह त्रिकुटी में पहुँचते-पहुँचते उन्मन अथवा अमनस्क हो उठता है । (पद में 'अरधै-उरधै लाइलै कूंची' का आशय मूलाधार-स्थित परम शक्ति कुण्डलिनी को प्रबुद्ध कर ऊर्ध्व, सहस्रार, ब्रह्मरन्ध्र में स्थित परमशिव में अन्तर्लीन (समाधिस्थ) करना भी हो सकता है ।) दशम द्वार ब्रह्मरन्ध्र में परमात्मा का साक्षात्कार (परिचय) प्राप्त करने पर आवागमन, जन्म-मरण के चक्र से जीवात्मा मुक्त हो जाता है अथवा जीवन्मुक्त होकर अमरकायत्व प्राप्त कर कालदण्ड का खण्डन कर लोक-लोकान्तर में विचरण करता रहता है । मन, प्राण, शरीर-तीनों की शुद्धि से ही जीवात्मा को सहस्रार में ब्रह्म सच्चिदानन्द का अनुभव प्राप्त होता है । मत्स्येन्द्रनाथ के पुत्र (शिष्य) गोरखनाथ का कथन है कि मेरा काम तेली का है । जिस तरह तेली तिल के पिंडों को (कोल्हू में) पेर-पेर कर तेल निकाल लेता है और खली को निस्सार तत्व को अलग कर देता है, उसी तरह योग-साधना की विधियों को सिद्धकर मैंने शरीर को पूर्णतः निर्मल कर लिया । निस्सार पदार्थों को अलग कर इसमें स्थित परमतत्व का साक्षात्कार कर लिया ।

(25)

अवधू गागर कंपै पांणीहारी, गवरी काधैं नौरा (नवरा) ।
घर का गुसांई कौतिग चाहै, काहेन बंधौ जौरा ।।टेक।।
लूँणकहै अलूंणां बाबू, धृत कहै मैं रूषा ।
अनील कहै मैं प्यासा मूवा अंन कहै मैं भूखा ।। । ।।
पावक कहै मैं जाडण मूवा, कपड़ा कहै मैं नागा ।
अनहद मृदंग बाजै, तहाँ पांगुल नाचन लागां ।। 2 ।।
आदिनाथ बिहबलिया बाबा, मछिंद्रनाथ पूता ।
अभेद-भेद भेदीले जोगी, बदंत गोरष अवधूता ।। 3 ।।

(इस पद में निगूढ़तम हठयोगसाधन-प्रक्रिया का निरूपण किया गया है । मत्स्येन्द्र के शिष्य (पुत्र) गोरखनाथ ने अन्तस्साधना पर प्रकाश डाला है ।) हे अवधूत ! पानी भरने वाली (पनिहारिन) के कन्धे पर गागर काँप रहा है । जिस तरह कुएँ से रस्सी के सहारे पानी कलश में भर कर

पनिहारिन अपने कान्धे पर घट रख लेती है और जब तक उसे रखने का पूरा अभ्यास नहीं सध जाता है, गागर रह-रह कर हिल जाता है, उसी तरह ब्रह्मरन्ध्र से निरन्तर अमृत की वृष्टि होती रहती है, यह अमृतधारा ही पनिहारिन है, सहस्रार में योनि नामक त्रिकोण चक्र है, वही चन्द्रमा का स्थान है, यह चन्द्रमा ही अमृत का कलश है, अमृतधारारूपी पनिहारिन के कन्धे पर यह तब तक अस्थिर रहता है, जबतक योगी इसे निरन्तर प्रवाहित करने में पूर्ण समर्थ नही होता है । कुण्डलिनी को जगाकर षटचक्रों का भेदन करते हुए प्राणवायु का सुषुम्ना मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र में लय कर देने से चन्द्रमारूपी घट से अमृतधारा झरती है । अमृत धारा (पनिहारिन) नित्य नवेली, नवयुवती (नौरा) गौरवर्ण, ज्योत्स्ना (गवरी, गौरी, गौरवर्णवाली) है । धारारूपी युवती कन्धे पर अमृतघट रखकर नित्य नृत्य करती रहती है । सहस्रार में स्थित शिव, अलख-निरंजन परमात्मा इस कौतुक (तमाशे) को देखता रहता है । इस अमृतधारारूपी युवती का उपभोंग करते हुए जरा (जौरा) को नियंत्रित कर लेना (बाँध लेना) चाहिए । यहाँ जोरा का आशय यम अथवा मृत्यु से भी है । अमृत का पान करने से, अमृतधारा रूपी युवती के सहवास से योगी को मृत्यु को वश में करना चाहिए । जौरा का आशय भुइधरा, भँवरगुफा, ब्रह्मरन्ध्र से भी है, ब्रह्मरन्ध्र में अमृतधारारूपी रमणी को सुरक्षित कर लेना चाहिए । (पनिहारिन सहस्रार में स्थित परमशिवय में अन्तर्लीन जागरत कुण्डलिनी, महाशक्ति नित्यतरूणी के भी प्रतीक के रूप में स्वीकार की जा सकती है । पनिहारिन को जीवात्मा भी कहा गया है, कुण्डिलिनी को गागर कहा गया है । 'तलि गागरि ऊपर पनिहारिन ।' पद 47।5) जीवनमुक्त योगी के लिए लवण के लवणत्व की शक्ति समाप्त हो जाती है, लवण का स्वाद उसके लिये निष्प्रयोजन हो जाता है, घी की रससिक्तता शक्तिहीन हो जाती है, हवा कहती है कि मैं स्वयं प्यासी हूँ, मेरी शोषणशक्ति समाप्त हो गयी, अन्न में भूख मिटाने की क्षमता नहीं रह जाती है, योगी प्रांणायाम के सहारे शरीर में स्थित रहता है, वह अणिमा आदि सिद्धियों पर शासन करता है । उसके लिए अग्नि की शक्ति भी समाप्त हो जाती है, अग्नि स्वयं जड़ा उठती है, इसी तरह शरीर को कपड़े से ढकने की प्रवृत्ति मिट जाती है । इन वस्तुओं और शक्तियों का आत्मा पर प्रभाव समाप्त हो जाता है । ब्रह्मरन्ध्र में निष्पति-अवस्था में अनाहत

नादरूप मृदंग के बज उठने पर मन सर्वथा उन्मन हो जाता है, आनन्दमग्न होकर नाच उठता है, अमनस्कता में परमानन्द का अनुभव कर आत्म-विभोर हो उठता है । मन इन्द्रियों का साथ छोड़ देता है, इसलिये वह पंगु हो जाता है विषयास्वाद के क्षेत्र में । मत्स्येन्द्रनाथ के पुत्र (शिष्य) गोरखनाथ का कथन है कि मैंने अमृत-पान कर सहस्रार में अलख-निरंजन शिव का साक्षात्कार कर लिया, परम निगूढ़ परमात्मतत्व का रहस्य-भेदन कर लिया ।

(26)

अवधू अहूठ परबत मझार, बेलड़ी माडयौ बिस्तार ।
बेली फूल बेली फल, बेंलि अछे मोत्याहल ।।टेक।।
सिष्टि उतपनी बेलि प्रकाश, मूल न थी चढ़ी अकास ।
उरध गोढ़ कियो बिसतार, जांण मैं जोसी करै विचार ।। । ।।
आइसौं भील पारधी हाथ नही, पाई प्यंगुलो मुष दांत न काही ।
हयो हयो मृधलौ धुणही न तंही, घंटा सुर तिहां नाद नाहीं ।। 2 ।।
भीलड़े तिहां ताणियौ बांण मन ही मृधलौ बेधियो प्रमांण ।
हयों हयों मृधलो बेधियौं बांण, धुणही बांण न थी सरतांण ।। 3 ।।
भीलड़ी मातंगी रांणी, मृधलौ आंणी ठांणी ।
चरंण बिहूणौं मृधलौं आण्यौं, सीस सींग मुष जाइ न जाण्यौं ।। 4 ।।
भणत गोरषनाथ मछिंद्र ना पूता, मारयो मृध भया अवधूता ।
याहिं हियाली जे कोई बूझै, ता जोगी को तृभुवन सूझै ।। 5 ।।

हे अवधूत ! यह पार्थिव शरीर एक पर्वत के समान है । इस साढ़े तीन हाथ (अहूँठ) के पर्वत रूपी शरीर में मायारूपी वेलि फैली हुई है, मूलमाया की मनोमोहिनी वेलि का विस्तार दर्शनीय है । यह माया ही इस शरीर में फूल और फल है, (मायारूपी बेलि अच्छी तरह फल-फूल गयी है) इस मायाबेलि से मुक्ताफल (मोक्ष) की भी प्राप्ति होती हैं । इस बेलि की शक्ति अथवा प्रकाश से यह सृष्टि उत्पन्न हुई है, इसका मूल नहीं है, फिर भी यह ऊपर-ही-ऊपर चढ़ती गयी है, फैलती गयी है । इस माया का विस्तार ऊर्ध्वस्थल ब्रह्मरन्ध्र तक में हो गया है, इस माया का वहाँ भी विस्तार हो जाने पर योगी परमात्मानुभूति नहीं कर पाता है, क्योंकि अविद्या-

रूपिणी माया की तमिस्रा अथवा घनी छाया से ब्रह्मरन्ध्र आवरित हो गया है, तमसाच्छन्न है । शास्त्रज्ञान के प्रकाश में परमात्मतत्व की खोज कर करने वाले विद्वानों, ज्योतिषियों को इस रहस्य पर विचार चाहिये । इस शरीररूपी पर्वत की प्राकृतिक रमणीयता से अलंकृत मायारूपी बेलि की हरीतिमा और मनोमुग्धकारिणी सुन्दरता में मनरूपी मृग (चंचल मन) विहार कर रहा है । इस मृग को मारने के लिये जीवात्मारूपी पारधी, भील (योग-साधक अथवा आत्मा) निरन्तर उसके पीछे पड़ा हुआ है और अब मारता है कि तब मारता है, ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी है । इस आत्मारूपी शिकारी के (मनरूपी मृग का वध करने के लिये) न तो हाथ है, न पैर है, न मुख में दाँत हैं, और न धनुष है, न मृग को आकृष्ट करने के लिये सुरीला नाद, घण्टा, ध्वनि आदि ही हैं, फिर भी आत्मारूपी पारधी ने बाण ताना और इच्छा करते ही (मन से ही) मृग, मन को मार डाला (उसने जो बाण ताना था, वह भी बाण नहीं था, बिना धनुष और बाण के ही शरीररूपी पर्वत की मायारूपिणी बेलि की हरीतिमा को विकृत करने वाला मन मारा गया, यह मृग बिना चरण के ही दौड़ता रहता है ।) यह मृग चरणहीन है । मतवाली, आनन्दोन्मादित आत्मशक्तिरूपी भीलनी, उस उन्मन मन को, अपने स्थान (परमात्मा और शक्ति के मिलन-स्थान) ब्रह्मरन्ध्र में ले आयी । न उस मनरूपी मृग के सींग था, न पूछ थी, न सिर ही दीख पड़ता था । वह मन परम शिव में मुक्तिस्वरूप हो गया । आशय यह है कि कुण्डलिनी महाशक्ति, परमेश्वरी चक्रों के भेदन द्वारा प्रबुद्ध हो उठी और विषय-भोगों में आसक्त मन के स्वतः उन्मन होने पर उसे उन्मनी में अन्तर्लीन कर उस महाशक्ति मूलमाया ने उसे शिवस्वरूप प्रदान किया । मनरूपी मृग विरक्त योगी हो गया । मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य गोरखनाथ का कथन है कि इस हियाली (यह एक छन्द है) को समझ लेने पर शरीर में ही व्याप्त त्रिभुवन का पूरा-पूरा ज्ञान हो जाता है ।

(27)

अवधू ऐसा नग्र हमारा, तिहाँ जोवौ ऊजूद्वार ।
अधर-उरध बजार मंड्या है, गोरष कहै विचारं ।।टेक।।
हरि प्रांण पातिसाह, साह बिचार काजी ।
पंच तत ते उजहदौर मनः पवन दोऊ हस्ती घोड़ा,
गिंनान ते अषै भंडारं ।। ।।

काया हमारै सहर बोलिये, मन बोलिये हुजदारं ।
चेतनि पहरै कोटवाल बोलिये, तौ चोर न झंकै द्वारं ।। 2 ।।
तीनि सै साठि चीरा गढ़ रचीले, सोलह षणिलै षाई ।
नव दरवाजा प्रगट दीसैं, दसवाँ लष्या न जाई ।। 3 ।।
अठारह भार कोट कंठजरा जाइलै, बहतर कोठड़ी निपाई ।
नव सुत्र ऊपरै जंत्र फिरै, तब काया गढ़ लिया न जाई ।। 4 ।।
अनहद घड़ी घड़ियाल बजाइ लै परम जोति दुइ दीपक लाई ।
काम क्रोध दोइ ग ।न मारिलै,
ऐसी अदली पातिसाही, बाबै आदम चलाई ।। 5 ।।
तहाँ सत्य बीबी संतोष साहिजादा, षिमां भगति द्वै दाई ।
आदिनाथ नाती मछिं ।थ पूता, काया नगरी गोरष बसाई ।। 6 ।।

गोरखनाथ का कथन है कि मैंने शरीररूपी नगर को बसाया है, जिस तरह नगर की सुरक्षा की जाती है, उसी तरह योगसाधना के द्वारा मैंने कायागढ़, शरीर पर विजय प्राप्त कर ली है, मैंने अमरकायत्व की सिद्धि कर ली है । हे अवधूत । हमारे कायानगर के महाद्वार का, ब्रह्मरन्ध्र का दर्शन करो, इसका दर्शन करने पर ही इस नगर के निर्माण और सुरक्षा तथा इसकी वस्तुओं और रक्षकों तथा स्वामी का पता लग सकता है । इस कायानगर में श्वास-प्रश्वास (अरध-उरध) का बाजार लगा है अथवा मूलाधार चक्र से सहस्रार तक के क्षेत्र में असंख्य नाड़ियाँ, दस प्राण, मन, सूर्य और चन्द्रमा, अनेक प्रकार के नाद आदि का विस्तार देखते ही बनता है । मैंने ज्ञाननेत्र से इस बाजार को देख लिया और नगर का पूरा-पूरा दर्शन कर लेने के बाद ही अपना विचार प्रकट कर रहा हूँ । हमारा प्राणप्रियतम परमात्मा, साक्षात् हरि इस कायानगर का राजराजेश्वर (बादशाह) है, (सद्विवेक) विचार ही इस नगर का न्यायाधीश (काजी) है, जब तक हम सद्विवेक में स्थित हैं, इस नगर में अधर्म और पाप का आतंक नहीं रह सकता है, पाँचों तत्व, छिति, जल, पावक, गगन, समीर ही वजीर हैं, मंत्री हैं अथवा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, विषयों के अधिपति पाँचों ज्ञानेन्द्रिय ही वजीर हैं, उनके संकेत और बुद्धि के बल पर ही इस घर का ठीक-ठीक शासन चलता है । यदि ये

ज्ञानेन्द्रिय सत्पथ से भटक जायँ तो शासन बिगढ़ जाता है और कायागढ़ ढह जाता है, इसलिये ज्ञानेन्द्रिय ही वजीर (उजहदार) हैं । इस नगर की रक्षा के लिये मन और पवन (प्राण) हाथी और घोड़े हैं, इन पर सदा अंकुश रखना पड़ता है, इस बाजार का अक्षय भण्डार ज्ञान (आत्मविवेक)है,जो कभी नष्ट ही नही होता है, मन इस नगर का रक्षक सेनापति (हुजदार) है । वह अपार शक्तिशाली है, इस नगर का प्रहरी चेतन आत्मा है, वही नगररक्षक कोतवाल है, उसके देखते काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि चोर तथा रागद्वेष आदि परिपंथी (बटमार) कायानगर में प्रवेश नहीं कर पाते हैं । यह कायागढ़ बहुत अच्छी तरह निर्मित है । तीन सौ हड्डियाँ ही इस नगर के ढाँचे के लिये प्रयुक्त हैं, वे ही पाषाण-भित्ति हैं और गहरी-गहरी सोलह खाइयों से यह नगर पूर्ण सुरक्षित है, ये सोलह खाइयाँ ही शरीर के भीतर स्थित सोलह आधार हैं, षादांगुष्ठ, मूलाधार, गुह्याधार, बज्रगर्भनाड़ी, उड्डिया-नबन्धाधार, नाभिमण्डलाधार, हृदयाधार, कण्ठाधार, कण्ठमूलाधार-जिह्वामूलाधार, जिंह्वाअधोभागाधार, ऊर्ध्वदन्तमूलाधार, नासिकाग्राधार, नासिकामूलाधार भ्रूमध्यआधार और नेत्राधार - इन आधारों का ध्यान करने से योगसिद्धि के द्वारा कायागढ़ को वश में रखना सम्भव होता है । इस कायानगर में नौ दरवाजे तो स्पष्ट दीख पड़ते हैं, पर दसवाँ दरवाजा ब्रह्मरन्ध्र नहीं दीख पड़ता है, यही महाद्वार है और इसमें प्रवेश कर जीवात्मा रूपी योगी अलख-निरंजन परब्रह्म शिव के स्वरूप में अभिन्नता का सम्पूर्ण अनुभव करता है । इस नगर की सुरक्षा की दृष्टि से, कोट अथवा गढ़ को सुरक्षित रखने के लिये (अठारह भार योगसाहित्य में काठ के लिए प्रयुक्त) कटहरे लगाये गये हैं और (72 हजार नाड़ियों) बहत्तर कोठरियों को इन कटहरों से छाया गया है और इसके नवों द्वारों पर जंजीरें (सूत्र) चढ़ा दी गयी हैं, ये नवों द्वार प्राणायाम के द्वारा मुद्रित हैं, मूँद दिये गये हैं तथा बड़े-बड़े नवरन्ध्रों, दरवाजों पर बड़े-बड़े यंत्र लगा दिये गये हैं, कोई भी विजातीय विषय, विरोधी तत्व कायागढ़ में प्रवेश कर उसे नष्ट नहीं कर सकता है । इस गढ़ के भीतर निरन्तर नाद होता रहता है, घण्टे बजते रहते हैं, इसलिए निरन्तर सावधानी रहती है और काम-क्रोध आदि भीतर प्रवेश कर साधना में विघ्न नहीं डाल सकते हैं । इस विशाल गढ़ में परमात्मा के सगुण-निर्गुण

अभिव्यक्तिरूपी दो दीपक प्रकाशित हैं और चारों ओर ज्ञान का प्रकाश फैला है । इसमें परमात्मा का शासन है, उसकी आज्ञा है कि किसी भी तरह काम, क्रोध इस गढ़ में प्रवेश न कर पायें । इस गढ़ की महारानी सत्य (की शक्ति) है, निष्काम भाव से साधना की जाती है, सन्तोष ही इस साधना का फल (राजपुत्र) है और इस फल की देख-रेख दो दाइयाँ, धाय, क्षमा तथा भक्ति करती हैं, साधक क्षमा की शक्ति से विकारों को जीत लेता है और परमात्मा की भक्ति से साधना की सिद्धि का फल, स्वरूपानुभव का आस्वादन करता है । मत्स्येन्द्रनाथ के पुत्र और आदिनाथ के पौत्र, गोरखनाथ (मैं) ने इस कायागढ़ को बसाया है, सिद्धदेह की प्राप्ति की है ।

(28)

ईकीस ब्रह्मण्ड भाठी चिगावै, पीवत सदा मतिवालं,
मनसा कलालिनि भरि भरि देवै आछा आछा मदना प्यालं ।।टेक।।
अमृतदाषी भाठीं भरिया, ता मधे गुड़ झकोल्या ।
मन महुवा तन धाहुबा, बनासपती अठारै मेल्यां ।। । ।।
भ्रमर गुफा मैं मन थरि ध्यानै बैस्या आसण बाली ।
चेतनि रावल मद भरि छाक्या, जुग-जुग, लागो ताली ।। 2 ।।
तृकुटी संग कूपी भरिया मदनीपज्या अपार ।
कुसमल होंता ते झड़ि पड़िया, रहि गया तहाँ तत सारं ।। 3 ।।
एवहां मद श्रीगोरष क़ेवट्या, बदंत मछिंद्र ना पूता ।
जिनि कैवट्या तिनि भरि-भरि पीया, अमर भया अवधूता ।। 4 ।।

हमारे शरीर में निरन्तर अमृतवारूणी सिद्ध होती है और जीवात्मारूपी (आत्मानन्दी) मतवाला योगी इसका पान करता है । अमृतवारूणी मदिरा के चुआने के लिये शरीर में स्थित इक्कीस ब्रह्माण्ड ही भट्ठी हैं, जिस तरह भट्ठी में आग प्रज्वलित कर मदिरा, महुवा, अंगूर आदि का अर्क निकाला जाता है, उसी प्रकार इक्कीस ब्रह्माण्ड की भट्ठी है और उनमें अमृतवारूणी सिद्ध की जाती है । इच्छा ही कलालिनी है, वह अच्छा-अच्छा प्याला मदिरा से भर कर देती रहती है । इस अमृतवारूणी के, अमृतानुभूति के निर्माण के लिये भट्ठी पर पात्र में अंगूर (दाष, द्राक्षा) रखा जाता है और

उसमें गुड़ मिलाकर मनरूपी महुवा और तनरूपी धाहुवा (धाहुड़ अथवा धव, एक वनस्पति, जिससे औषधि बनायी जाती है अथवा घौर, एक तरह की सफेद ईख) तथा अठारह (अनेक) तरह की वनस्पतियाँ डाली जाती हैं । इस तरह अमृतवारूणी तैयार की जाती है । चेतनआत्मारूप रावलयोगी ब्रह्मरन्ध्र में मन को उन्मन कर उसमें स्वरूपस्थ होकर अथवा आसन लगा कर इस अमृतासव का पान कर आनन्द में निमग्न हो जाता है । आज्ञाचक्र में इड़ा-पिंगला, चन्द्रनाड़ी और सूर्य नाड़ी के सुषुम्ना में संगम, त्रिकुटीरूपी कूपी में पूर्ण रूप से यह अमृतासव भर उठता है, वहीं यंह उत्पन्न होता है । सारे पाप, (कश्मल, कुसमल, गन्दगी) का अन्त हो जाता है, चेतन आत्मारूपी योगी इस अमृतवारूणी के संगम त्रिकुटी में स्नान कर परम पवित्र, निर्मल हो जाता है । इस मद, अमृतासव को मत्स्येन्द्रनाथ के पुत्र (शिष्य) गोरखनाथ ने इक्कीस ब्रह्माण्डों की भट्ठी पर चुआ कर उतारा है, सिद्ध किया है । जिन सिद्धों और योगस्थ पुरूषों ने इस तरह अपने शरीर के भीतर इस मदिरा को, अमृतवारूणी को उतारा (केवट्या) और अच्छी तरह प्याला भर-भर कर उसका पान किया, वे जीवन्मुक्त होकर, शरीर से अमर हो गये ।

(29)

सति सति भाषंत श्रीगोरष जोगी, अमे तौरहिबा रंगै ।
अलेष पुरसि जिनि गुरमुषि चीन्ह्यां, रहिबा तिसकैं संगै ।।टेक।।
सतजुग मधे जुग एक रचीला, बिसहरएक निपाया ।
ग्यांन बिहूणां गण गंध्रप अवधू, सबहीं डसि-डसि षाया ।। । ।।
त्रेता जुग मधे जुग दोइ रचीला, राम रमांइणा कीन्हां ।
नरबंदर सब लड़ि-लड़ि मूए, तिन भी ग्यांन न चीन्हां ।। 2 ।।
द्वापर जुग मधे जुग तीनि रचीलै, बहुडम्बर बहुभारं ।
कैरों पांडौ लड़ि-लड़ि मूए, नारद कीया संघारं ।। 3 ।।
कलिंजुग मधे जुग चारि रचीला, चूकिला चार बिचारं ।
धारे-धारे दंदी धारे-धारे बादी, धारे-धारे कथण हारं ।। 4 ।।
चौथु जुग मधे जुगचारि थापिला, ग्यांन निरालंब रहिया ।
मछींद्र प्रसादे जती गोरष बोल्या, कोई बिरला उतारिया पारं ।। 5 ।।

गोरखनाथ योगी का यह सत्य बचन है, कि मैं निराकार, निर्विकार, निर्गुण अलख-निरंजन परमेश्वर के रंग, स्वरूप में स्वस्थ हो गया। जिस योगात्मा ने महायोगज्ञानोपदेश के प्रकाश में सद्गुरू (के अनुग्रह) से अलेख-रूपरंगरहित अथवा अलख, ज्ञानेन्द्रिय, मन, बुद्धि से परे अन्तर्बोधगम्य, निरंजन का परिचय प्राप्त किया है, मैं उसी के सत्संग में, सन्निधान में सदा निरन्तर निवास करना ही जीवन का परम श्रेय समझता हूँ। अलख पुरूष अकाल हैं, युगसापेक्ष उसका स्वरूप रूप में अभिव्यक्त तो होता है, पर यह उसकी सनातन अखण्डता का ही परिचायक है। परमात्मा का अखण्ड स्वबोध सनातन है, कालविशिष्ट नहीं है। यह सच है कि युगानुक्रम से सत्युग (आदियुग) में घट-घट में व्याप्त शाश्वत चैतन्य की अभिव्यक्ति का विशेष रूप से अनुभव किया गया, पर उसमें अहंकाररूपी विषधर साँप, सकाम कर्मफल की प्राप्ति की ऐषणा ने यक्ष, किन्नर, गन्धर्व,-जो आत्मज्ञान, स्वबोध से शून्य थे, सभी को डँस लिया। सत्ययुग के बाद त्रेतायुग का क्रम है, इसमें परब्रह्म ने दिव्य प्रकृति, परम दैवी सम्पत्ति के संरक्षण के लिये रामरूप में लीला की, अपने चरित, रामायण का प्रकाश किया, पर नर-बन्दर का घोर संग्राम छिड़ गया, दोनों पक्षों की महती हानि हुई, भयंकर संहार हुआ, पर सगुण-साकार ब्रह्म के अभिव्यक्त होने पर भी उसके वास्तविक साक्षात्कार, अनुभव अथवा बोध या सत्स्वरूप का परिज्ञान दैवी और आसुरी शक्ति में संघर्षरत प्राणियों को न हो सका। इसी तरह तीसरे युगानुक्रम द्वापर में साक्षात् परमात्मा की कृष्णरूप में साकार अभिव्यक्ति हुई। उस समय लोग अहंकारजन्य आडम्बर और पारस्परिक कलह (नारद) के कारण एक-दूसरे को नीचा दिखाने में आसक्त हो गये। कौरव और पाण्डव ने भीषण संहार का दृश्य उपस्थित किया और सत्स्वरूप का बोध दुर्लभ हो गया। चौथे युगानुक्रम, कलियुग में तो प्राणी आचार-विचार से हीन ही है, प्राणियों में द्वन्द्व है, ज्ञान-अज्ञान, सत् और असत् विद्या-अविद्या के वास्तविक रूप को समझने की उनमें शक्ति ही नहीं है, व्यर्थ वाद-विवाद और प्रलापमात्र में उलझ कर वे सद्ज्ञान से शून्य हैं। चारों युगों की विशिष्टता को दृष्टि में रखकर यही बात समझ में आती है कि एकमात्र निराधार, सर्वाधार, घट-घट में, सचराचर में व्याप्त अलख-निरंजन परमात्मा का ही अनुभव करना

चाहिए । मत्स्येन्द्रनाथ के अनुग्रह प्राप्त शिष्य गोरखनाथ का वचन है कि कोई बिरला पुरूष ही अलख-निरंजन का साक्षात्कार कर संसार-सागर से पार उतर जाता है ।

(30)

ऐसा जाप जपौ मन लाई, सोहं सोहं अजपागाई ।।टेक।।
आसण दिढ़ करि धरौ धियानं, अहनिस सुमिरौ ब्रह्म गियानं ।
जाग्रत न्यंद्रा सुलप अहारं, काम-क्रोध अहंकार निवारं ।। । ।।
नासा अग्र निपुज्यौ बाई, इड़ा प्यंगुला मधि समाई ।। 2 ।।
छ सै सहंस इकीसौ जाप, अनहद उपजै आपहि आप ।
बंक नालि मैं ऊगै सूर, रोम-रोम धुनि बाजै तूर ।। 3 ।।
उलटै कंवल सहंसदल वास, भ्रमर गुफा महि जोति प्रकास ।
मछिंद्र प्रताप जती गोरष रहै, परम तत कोई बिरला कहै ।। 4 ।।

परमात्मतत्व के साक्षात्कार का यौगिक साधन यह है कि पहले पद्मासन, सिद्धासन, अथवा योगासन में दृढ़तापूर्वक स्थित हो जाओ और मन की वृत्ति, चित्तवृत्ति को परब्रह्म के स्वरूप (ब्रह्मज्ञान) में संयोजित कर परमात्मा का स्मरण करो । चित्त को परमेश्वर के ध्यान में लगा दो । प्राण (जीवात्मा) का उत्थान, ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश अजपाजप की सिद्धि से सम्भव होता है । रात-दिन में प्राण का इक्कीस हजार छः सौ बार शरीर में उत्थान होता है, प्रत्येक श्वास को, हंस को सोहं के जाप में स्थिर कर दो । प्राण हकार की ध्वनि से बाहर जाता है और सकार की ध्वनि से भीतर आता है । इस तरह सदा हंस-हंस मंत्र का जप होता है । यही अजपागायत्री अथवा अजपाजाप है, जिसके द्वारा जीवात्मा को सोऽहं, अपने परब्रह्मस्वरूप में स्वस्थिति का बोध होता है । निद्रा आने पर जागते रहो, निद्रा से साधना में अवरोध उत्पन्न होता है, इसी तरह अल्प मात्रा में आहार ग्रहण करो, क्योंकि अधिक भोजन करने से आलस्य उत्पन्न होता है, प्राणवाहिनी नाड़ियों में विजातीय द्रव्य (मल) एकत्र हो जाता है और साधक प्रमाद करने लगता है, प्राण इड़ा और पिंगला नाड़ियों से नाभि से समुस्थित होकर बायें और दायें नासारन्ध्रों के मार्ग से नासाग्र तक गति कर आज्ञाचक्र में, त्रिकुटी में जब प्रवेश

करता है, तब अनाहतनाद सोऽहं मंत्र की अजपाजाप द्वारा सिद्धि से स्वतः उत्पन्न हो जाता है, इसलिये इस नाद में अन्तर्लीन होने के लिये काम, क्रोध और अहंकार का भाव मन में कभी नही पैदा होने देना चाहिए, ये तीनों साधना में भयानक रूप से बाधक हैं । अनाहतनाद के सहज उत्पन्न होने से बंकनालि, सुषुम्ना में सूर्योदय, आत्मज्ञानोदय हो जाता है और रोम-रोम में तूर्यनाद का श्रवण होने लगता है, अंग-अंग में अनाहतनाद का संचार हो उठने पर सच्चिदानन्दस्वरूप की परिव्याप्ति का शरीर के भीतर अनुभव होने लगता है । भ्रमरगुफा, ब्रह्मरन्ध्र में, जहाँ शून्य-ही-शून्य गहनतम नीरवता है, प्रकाश छा जाता है , परमशिव का प्रबुद्ध कुण्डलिनी महाशक्ति से सायुज्य स्थापित हो जाता है । नाभिस्थान में रहने वाला प्राणहंस उलटकर ब्रह्मरन्ध्र में स्थित हो जाता है, जीवात्मा परमात्मा में अन्तर्लय अथवा तादात्म्य में आत्मरमण करता है । महायोगसिद्ध सद्गुरू मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य गोरखनाथ का कथन है कि यह परमात्मानुभव, महत्तत्व का ज्ञान किसी बिरले को ही होता है ।

(31)

जागा जोगी कनक रावलिया, गुरूदेव मेंहली बूठौं ।
षोजतां षोजतां सतुगरू पाया, सहजै नैं भावे तूठौ ।।टेक।।
उतर देस मैं मेंह धड़क्या, दक्षिण बादल छाया ।
पूरब देस थी पाणिग बिछूटी, पछिम खेत्र मैं पाया ।। । ।।
मन पवना धोरी जोतावो सतनां सांतीड़ा समधावो ।
दयाधर्म ना बीज अणावो, इणी परि षेत्रे जावो ।। 2 ।।
षांता न षूटै, देतां न निठै, जम बार नही जाई ।
मछीद्र प्रसादै जती गोरष बोल्या, नित नवेरडौं थाइ ।। 3 ।।

रससिद्ध रावलयोगी (राजयोगी) साधना में सावधान हैं, जग गया हैं, उसने सिद्ध गुरू का चरणाश्रय ग्रहण कर लिया, (रसायन के द्वारा लोह का स्वर्ण में परिवर्तन करने की विद्या के द्वारा जीवन-यापन करने से ऊब कर) उसने खोजते - खोजते जिज्ञासा की तृप्ति के लिये सद्गुरू की खोज की और उसकी साधना गुरू-प्राप्ति में सफल हो गयी, उसे सद्गुरू मिल गये । गुरू की

प्रसन्नता और कृपा से उसका जीवन सफल, सार्थक और कृतार्थ हो गया । गुरु ने मेघ के रूप में दयामृत की वृष्टि की । अथक परिश्रम और बड़ी खोज के फलस्वरूप उसे सद्गुरु की प्राप्ति हो सकी और उसकी साधना से वे कृपामय, अनुग्रह-विग्रह सहज संतुष्ट हो गये, उत्तर दिशा, (कनकरावल योगी के) ब्रह्मरन्ध्र में अमृत के बादल घहर-घहर कर दक्षिण दिशा (स्वाधिष्ठान चक्र) में छा गये । प्राण हंस साधन-मार्ग पर, ब्रह्मरन्ध्र में उस अमृत का पान करने के लिए अग्रसर हो उठा, इस तरह पूर्व दिशा, इड़ा-पिंगला नाड़ियों से प्राणामृत की धारा छूट पड़ी, प्रवाहित हो उठी और पश्चिम दिशा (सुषुम्ना) में पहुँच गयी । इस तरह योग-साधना में तत्पर योगी को मन और पवनरूपी दो धवल, निर्मल बैलों को जोतना चाहिए और नाथने की रस्सी (प्राणायाम की साधना, सांतीड़ा) से उन्हें नाथ कर वश में कर लेना चाहिए । मन और पवन ही शरीररूपी खेत को जोत कर साधन-क्षेत्र में परिवर्तित करते हैं । दया और धर्म ही बीज हैं, सत्य ही नाथने की रस्सी (सांतीड़ा) है । जीवन में दया और धर्म के आचरण से अक्षय पुण्य की प्राप्ति होती है । इसलिए दया और धर्म की ही सदा हरी-भरी रहने वाली, हरीतिमा से लहलहाती रहने वाली खेती करनी चाहिए । इस पुण्यमयी खेती से प्राप्त दया और धर्मरूपी अन्न-भण्डार का जितना ही परोपकार में उपयोग होता है, उतना ही यह बढ़ता है । इस तरह प्राण-साधना करने पर योगी, योग-साधक यमराज के द्वार पर नहीं जाता, उसका शरीर मृत्यु को नहीं प्राप्त होता । मत्स्येन्द्रनाथ के अनुग्रहप्राप्त शिष्य गोरखनाथ का कथन है कि शरीर नित्य-नवीन (नवेरडो) बना रहता है ।

(32)

जीव सीव न संगै बासा, ना बधि षाइवा रे रूध्र मासा ।।टेक।।
धाव न धातिबा हंस गोतं, बदंत गोरषनाथ निहारि पोतं ।। 1 ।।
मारिबा रे नरा मन द्रोही, जाकै बप बरण नही मांस लोही ।। 2 ।।
सब जग ग्रासिया देव दाणं, सो मन मारीबा रे ।
गहि गुरूग्यांन बांण ।। 3 ।।
पसू क्या हतिये रे प्यंडधारी, मारिये पंच भू मृघला जे चरै बुधि बाड़ी ।
जोग का मूल है दया दानं, भणत गोरषनाथ ए ब्रह्म ग्यांन ।। 4 ।।

परमात्मा बड़े करूणामय हैं, वे अन्तर्यामी हमारे शरीर में और सभी प्राणियों के शरीर में विद्यमान हैं । सभी जीवात्मायें, अपने ही स्वरूप हैं, इसलिए मृगया में किसी पशु-पक्षी तक का भी वध नहीं करना चाहिए, न उनके इस तरह मृत शरीर के मांस और रूधिर का ही भोजन के लिए उपयोग करना चाहिए, सचराचर आत्मरूप है । जो प्राण हमारे पुत्र, पौत्र के शरीर में है, वही दूसरे के शरीर में है । इस तरह सभी से आत्म सम्बन्ध है, अपने पुत्र-पौत्र को देखकर दूसरों के वध से निवृत्त होकर हृदय में सभी के प्रति दया का भाव रखना चाहिए । पर-पीड़ा से बढ़कर दूसरा कोई महापाप है ही नहीं । हे मनुष्यो ! यदि मृगया का ही शौक है, तो इसके लिए अपने मन को मारो, मन पर विजय प्राप्त करो, यह भी तो मृग है, चंचल है, न इसके शरीर है, न मांस है और न रक्त है, इसलिए इसे मारने से वह पाप नहीं लगेगा, जो जीव की हत्या अथवा वध करने से लगता है । इस मनरूपी मृग ने देव-दानव, सभी को अविद्याग्रस्त कर दिया है, मुग्ध कर दिया है, इसे मारने का उपाय है गुरूज्ञानरूपी बाण । गुरू के शब्द, उपदेश को जीवन में उतारने पर ही मनरूपी मृग अपने आप मर जाता है, उन्मन अथवा अमनस्क होकर ब्रह्मरन्ध्र में विराजमान परमशिव के साक्षात्कार का साधन बन जाता है । शरीरधारी पशुओं का बध करना हिंसा है, जीवहिंसा करने से किसी तरह का आध्यात्मिक, पारमार्थिक लाभ नहीं मिलता है, तो पांचभौतिक शरीर में निवास करने वाले चंचल मन को मारना चाहिए, यह मन हमारे बुद्धिरूपी, सद्विवेक रूपी उपवन को श्रीहीन कर देता है, विषयवासना में बुद्धि को भ्रमित कर परमेश्वर के भजन में विघ्न डालता है । योग की साधना का परम फल यही है कि हमारे हृदय में प्राणीमात्र के प्रति सद्भाव हो, यह सद्भाव ही दया अहेतुकी करूणा का रंगमंच है, दयाभाव का पोषण करना ही योगज्ञान, जीवात्मा और परमात्मा के अभिन्नत्व, अखण्डत्व, निरंशता, निर्विकल्पता और निश्चयात्मक स्वरूप का प्रतिपादक है, यही ब्रह्मज्ञान है, अलख-निरंजन परम शिव के स्वरूप का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विज्ञान है । सर्वात्मदर्शन ही ब्रह्मज्ञान है ।

(33)

ऐसा रे उपदेस दाषै श्रीगोरष राया ।
जिंनि जगचतुर बरन राह लाया ।।टेक।।

पढ़िलै संसवेद । कारिलै बिधे नषेद ।
जाणिलै भेदांन भेद । पूरिलै आसा उमेद ।। ।।
विषमी संधि मंझारी । संझाया पंची वषत सारि ।
रहिबा दसवैं दुवारि । सेइबा पद निराकार ।। 2 ।।
जपि लै अजपाजाप । विचारि लै आपै आप ।
छुटिला सबै बियाप । लिपे नाही तहां पूनि पाप ।। 3 ।।
अहो निसि समो ध्यांन । निरंतर रमेबाराम ।
कथै गोरषनाथ ग्यांन । पाईला परम निधांन ।। 4 ।।

प्राचीन टीका

(स्वास सुसमवेद । बिदि हदि । अजपाजाप । विषमी संधी नाभि विषनाड़ी सुषमन ।)

(शिवगोरक्ष योगेश्वर) गोरखनाथ का बचन है कि मेरा यह योगज्ञान प्राणीमात्र के लिये हितकारी और कल्याण स्वरूप है । यह (मेरे) ऐसे योगी का योगानुभव, योगज्ञान है, जिसने चारों वर्णो के लोगों के लिये, समस्त जगत् के प्राणियों के लिये योग की साधना के मार्ग पर (बिना किसी भेदभाव के) चलने की सत्प्रेरणा प्रदान की है, (गोरखनाथ का उपदेश है कि) चारों स्थूल वेद, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के ही पढ़ने मात्र से आत्मज्ञान और परमात्मानुभव की प्राप्ति नहीं हो जाती है, इसलिए स्वसंवेद्य तत्व, अलख-निरंजन, निजाशक्ति में स्वरूपस्थ ऊँकार ब्रह्म का अनुभव, योगसाधना, कुण्डलिनी, षट्चक्रभेदन, नादानुसन्धान और सहस्रार में सुषुम्ना के मार्ग से मन-पवन के लय द्वार से भी परे स्वसंवेद्य परमात्मा का साक्षात्कार कर लेना चाहिए । इस स्वसंवेद्यानुभूति के प्रकाश में शरीर और आत्मा के सम्बन्ध और रूप, दोनों में भेद का ज्ञान हो जाता है, पिण्ड में ही व्याप्त महासाकारपिण्ड पद ब्रह्म का अनुभव हो जाता है । योगसाधना में सिद्धि-प्राप्ति का यही सुगम और सहज मार्ग है । इड़ा और पिंगला नाड़ियाँ विपरीत दिशागामिनी हैं, ये विषम नाड़ियाँ हैं, एक चन्द्रनाड़ी शीतल है, तो दूसरी सूर्यनाड़ी उष्ण है, इन दोनों में संचारित होने वाले श्वास को सुषुम्ना, विषमीसन्धि नाड़ी में संस्थित कर गंगा, यमुना, सरस्वती के तट पर स्थित होकर प्राणहंस, जीवात्मा को संगम-स्नान कर लेना चाहिए, त्रिवेणी में स्नान कर जीवात्मा को, मन को

उन्मन कर, उन्मनी समाधि लगाकर दसवें द्वार ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश कर अलख-निरंजन के ध्यान, चिन्तन और भजन में समाहित हो जाना चाहिए। सुषुम्ना में स्थित होकर पाँचों समय की संध्या पूरी करनी चाहिये। पाँचों समय की संध्या का तात्पर्य पंचज्ञानेन्द्रिय से है, पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को अन्तर्लीन कर परमात्मा के अभिमुख कर देना ही पंच संध्या का अनुष्ठान है। नाभिस्थान में उत्थित प्राणहंस की, शरीर की प्राणवाहिनी नाड़ियों में इक्कीस हजार छः सौ बार आवृत्ति, पुनरावृत्ति होती रहती है, प्राण हकार ध्वनि से बाहर आता है, सकार ध्वनि से भीतर जाता है, सोऽहं-सोऽहं का जप निरन्तर चलता रहता है, यही हंसगायत्री महाविद्या, प्राणविद्या है, अजपाजप के द्वारा, सहज जप के द्वारा हंस-मंत्र की सिद्धि कर जीवात्मा को आत्मस्वरूप का चिन्तन करना चाहिए, परमात्मा से अभिन्न सम्बन्ध का अनुभव करना चाहिए। इस स्वरूपज्ञान से जीवात्मा को पाप-पुण्य, विधि-निषेध से परे स्वसंवेद्य, ऊँकारस्वरूप निरंजन ब्रह्म में तल्लीन होकर रात-दिन, सब समय (समौ) समाधिस्थ होकर ध्यानस्थ रहना चाहिए। अलख-निरंजन, घट-घट में रमण करने वाले आत्माराम में ही रमण करना चाहिए। गोरखनाथ का बोध-वचन है कि इस तरह की साधना के द्वारा मैंने परम पद, सच्चिदानन्दस्वरूप की प्राप्ति कर ली।

(34)

गुर कीजै गहिला निगुरा न रहिला,
गुर बिन ग्यांन न पायला रे भाईला ।।टेक।।
दूधैं धोया कोइला ऊजला न होइला,
कागा कंठे पहुप माल हंसला न भैला ।। 1 ।।
अभाजै सी रोटली कागा ले षाइला,
पूछो म्हारा गुरू नैं कहाँ बैसि षाइला ।। 2 ।।
उतर दिस आविला, पछिम दिस जाइला,
पूछौ म्हारा सत गुरू नैं, तिहां बैसि षाइला ।। 3 ।।
चोटी केरा नेत्र में गज्येंद्र समाइला,
गावड़ी के मुष में बाघला बिवाइला ।। 4 ।।
बारैं बरसैं बंझ ब्याई, हाथ पाव टूटा,
बदंत गोरखनाथ मछिंद्र नापूता ।। 5 ।।

(कायेला मन । दूध तीरथ । काग मंन । पहुंप पुरांन । आभा काया । काग काल । उतर सबद में । पछिम पाछिली बुधि । दूजा अरथ । उतर माया । पाछिल परमेश्वर । चीटी मनसा । गजिंद्र मन । गाय आत्मां । बोध ग्यांन ।)

(इस पद में गहिला का आशय अज्ञान में भटकने वाले और मानसिक विकार से ग्रस्त प्राणी से है ।) हे अज्ञानी, मूढ़, मायाग्रस्त मनुष्य ! बिना गुरू के शरणागत हुए आत्मज्ञान का प्रकाश नहीं मिलेगा, गुरू ही आत्मा और परमात्मा के अभिन्नस्वरूप का प्रतिपादक ज्ञान-प्रकाश प्रदान करते हैं । निगुरा (जिसे सद्गुरू की प्राप्ति नहीं हो सकी है) अज्ञान के अन्धकार से बाहर निकलने में समर्थ नहीं हो सकता, निगुरा नहीं रहना चाहिए, संसारसागर से पार उतरने और परमात्मा की प्राप्ति अथवा योगानुभूति के लिये गुरूमुख (गुरूज्ञानप्रकाश के सम्मुख) रहना चाहिए । हे भाई, गुरू ही जगत् के असत् सम्बन्ध और मोहान्धकार से निवृत्त, मुक्त करने में समर्थ है । यह लोकप्रसिद्ध बात है कि (काले) कोयले को, जिसका सहज नैसर्गिक रंग ही काला है, उजले द्रव, दूध में धोने से उस में धवलता नहीं आ सकती, वह उजला नहीं हो सकता, कौए को पुष्पों की माला पहना देने मात्र से ही वह हंस नहीं कहला सकता, इसी तरह मनरूपी कौए को केवल उपदेशों के श्रवणमात्र से ही निर्मल नहीं बनाया जा सकता । जीवात्मारूपी काग सम्पूर्ण अखण्ड ब्रह्मानुभूतिरूपी रोटी (जो काग का भक्ष्य है, भोज्य है) को खाता है, परमात्मानुभूति का आस्वादन करता है । यह जीवात्मा परमात्मा ही का स्वरूप है, अभिन्न रूप है, कर्म-विपाक के भोगवश अपने अंशी परमात्मा से अभिन्न-सा प्रतीत होता है, यह कुण्डलिनी-जागरण, षट्चक्रभेदन तथा अजपाजप के द्वारा प्राणहंस सोऽहं मंत्र की सिद्धि कर ब्रह्मरन्ध्र, उत्तर दिशा में स्थित होकर परम कैवल्य की अनुभूति करता है । हमारे सद्गुरू से ही इस सत्य का प्रकाशन होता है । उनके अनुभव से विदित होता है कि पश्चिम दिशा, सुषुम्णा के मार्ग से ही वह अपने स्वरूप, ब्रह्मरन्ध्रस्थ शिव में ही अधिष्ठित होता है । जीवात्मा ब्रह्मरन्ध्र में ही पुनः उन्मनी समाधि में स्थित होकर पूर्ण ब्रह्मानुभूति का रसास्वादन करता है । यद्यपि यह असम्भव है कि चींटी के नेत्र में हाथी प्रवेश करें, समा जाय, तथापि इस तरह

की सम्भावना के पोषण का आशय है कि आत्मतत्व अत्यैन्त सूक्ष्म है, अणु से भी अणु है और उसमें सारा स्थूल प्रपंच सन्निविष्ट हे । जिस तरह गाय के मुख में बाघिन के बच्चा देने का आशय है गाय का बाघिन से नष्ट हो जाना, इसी तरह मायारूपी गाय में आध्यात्मिक ज्ञान का उदय होता है और इस तरह ज्ञान के प्रकाश में अविद्या-अज्ञान का अन्धकार स्वतः नष्ट हो जाता है । मायिक जीवन निष्फल है, माया में ज्ञान का, आत्मज्ञान का प्रकाश होना कठिन है, यह माया बाँझ स्त्री के समान है, बाँझ पुत्र-प्रसव कर ही नहीं सकती । माया में (बारह वर्ष के बाद, सुदीर्घ काल तक योगाभ्यास करने के बाद) जीवात्मा को आत्मज्ञान, स्वरूपबोध मिलता है तो मिल जाता है, माया में यह ज्ञानोदय ही बाँझ का पुत्र-प्रसव है । यह आत्मज्ञान होने पर माया के हाथ-पैर की शक्ति नष्ट हो जाती है, उसका वन्ध्यापन समाप्त हो जाता है, हाथ-पैर के टूटने का आशय है माया का अपंग हो जाना । योगीन्द्र मत्स्येन्द्रनाथ के पुत्र (शिष्य) गोरखनाथ ने यह अनुभव किया है, योगसिद्धि में सद्गुरूज्ञान के प्रकाश में परमात्मा का साक्षात्कार कर अच्छी तरह समझ लिया है कि आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति में मन का निर्मल होना आवश्यक है, तन का योगाग्नि में पकना आवश्यक है । ऐसा होने पर ही गुरू के अनुग्रह से जीवात्मा कैवल्य अथवा परमपद में स्वस्थ होकर अलख-निरंजन का साक्षात्कार करता है'।

(35)

कहा बुझै अवधू राई गगन न धरनी
चंन न सूर दिवस नहीं रैनी ।।टेक।।
ऊंकार निराकार सूछिम न अस्थूलं,
पेड़ न पत्र फलैं नहीं फूलं ।। । ।।
डाल न मूल न वृष न बेला, साषी न सबद गुरू नहीं चेला ।। 2 ।।
ग्यानें न ध्यानें जोगे न जुक्ता, पापे न पुंने मोषे न मुक्ता ।। 3 ।।
उपजै न बिनसै आवै न जाई, जुरा न मरण वांके बाप न माई ।। 4 ।।
भणत गोरखनाथ मछींद्र ना दासा,
भाव भगति और आस न पासा ।। 5 ।।

हे अवधूतराज । योगसिद्धपुरूष, वह परमेश्वर ज्ञान का विषय नहीं है, नादबिन्दुकलातीत है, वह धरती और गगन, चन्द्रमा और सूर्य, दिन और रात-दिक्कालातीत, अणु से अणु, महान्-से-महान्, सूक्ष्म, विराट् है । यह ओंकार ब्रह्म न गगन (ब्रह्मरन्ध्र) में ही अपने स्वरूप में सीमित है, न धरणी, पृथ्वी (मूलाधार) में ही है, यह तो पृथ्वी से आकाश, स्थूल से सूक्ष्म, सभी में व्याप्त है, यह न चन्द्रमा (सहस्रारस्थित अमृतज्योति तत्व) और न सूर्य (नाभि में स्थित तेजस्तत्व) ही से प्रकाशित है, यह स्वयंप्रकाश है, यह दिवस और रात्रि के भेद से भी प्रभावित नहीं है, दिन और रात की सीमा से अप्रमेय है, यह निराकार ब्रह्म अनादि है, मूलरहित है, यह न वृक्ष है और न उसकी आश्रित बेलि-माया है, यह पत्र, पुष्प-फल भी नहीं है, इसके स्वरूप का अनुभव तो है पर स्वरूप के वर्णन का कोई साखी नहीं है, वह साखी और शब्द के अतीत है, यह न चेला है, न गुरू है । यह उपास्य, उपासक, ज्ञेय और ज्ञाता, सभी भावों से परे और असीम है । वस्तुस्थिति तो यह है कि परमात्म सत्य का साक्षात्कार ज्ञान-ध्यान का भी विषय नहीं है, योग और युक्ति (यौगिक साधना) से भी यह तत्व अभिव्यक्त नहीं होता है, यह पाप-पुण्य के द्वन्द्व में सर्वथा निर्लिप्त है, यह सर्वतंत्र स्वतंत्र परम सत्ता है और कर्म की गति इसका स्पर्श ही नहीं कर सकती है, मोक्ष और मुक्ति से भी सहज शून्य है यह परमतत्व । न इसका जन्म होता है, न इसकी मृत्यु होती है, उत्पत्ति और विनाश के नियम इसके आकार अथवा स्वरूप-निश्चय में निष्प्रयोजन और निरर्थक है । न तो यह अपने पद से च्युत होता है, न अपने आकार के बाहर होता है, यह अच्युत है, निजाकार अथवा स्व है । यह जन्म और मृत्यु से परे है, न उसको जन्म देने वाला कोई पिता है, न पोषण और पालन करने वाली माँ है, वह सकल सृष्टि का स्वामी, नियामक और स्वयं उत्पत्ति और लय का अनादि, सनातन कारण है । उसे भाव (प्रेम) और भक्ति (श्रद्धा-विश्वास) से भी नहीं समझा जा सकता, उसमें उपास्य और उपासक-भाव की यद्यपि उसके रूप (सौन्दर्य-माधुर्य) के आस्वादन की दृष्टि से सार्थकता है तथापि वह इससे परे है, वह आशापाश (माया के जाल) में आवृत्त नहीं होता है, मत्स्येन्द्र योगेश्वर के शिष्य गोरखनाथ का यह सत्य अनुभव है, परमात्मा स्वसंवेद्य है ।

(36)

आवो माई घरि-घरि जावो, गोरष बाला भरि-भरि खावो ।।टेक।।
झरै न पारा बाजै नाद, ससिहर सूर न बाद-बिबाद ।। । ।।
पवन गोटिका रहणि अकास, महीयल अतंरि गगन कविलास ।। 2 ।।
पयालनीं डीबी सुंनि चढ़ाई, कथंत गोरषनाथ मछींद्र बताई ।। 3 ।।

प्राचीन टीका

(घरि-घरि घरया की तासीर जाई । टेक । पारा बिंद । नाद सबद; ससि सूर ताता सीला । पवन गोटिका । आकास ब्रह्म । गगन कँवल । डीबी मनसा । सुंनि समाधि ।)

हे माताओं ! मैं भिक्षा के लिये फेरी लगा रहा हूँ, बालयोगी, बालयती (गोरखनाथ) से अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिये आशीर्वाद प्राप्त करो, मुझे भिक्षा दो, दरवाजे पर आकर भिक्षा रख दो और मुझे आदेश दो कि हे गोरखनाथ बालयोगी ! भिक्षा ग्रहण करो और इससे भोजन सिद्ध कर अपने शरीर को योगाचरण में लगाये रहो । हे माताओं ! मैं अखण्ड ब्रह्मचर्य का व्रत ग्रहण कर योगाभ्यास में तत्पर हूँ, मैंने बिन्दु (शरीर के रस, पारा) को क्षरित होने से बचा कर उसे ऊर्ध्वमुख कर प्राणायाम के द्वारा शरीर में जीर्ण कर, पचा कर (शरीर की) चौसठ सन्धियों और सभी प्राणवाहिनी नाड़ियों को शुद्ध कर, आज्ञाचक्र में स्थापित कर ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचा दिया है । यह आज्ञाचक्र ही नाद की उत्पत्ति का स्थान है । ('आकाशे यत्र शब्दः स्यात्तदा ज्ञाचक्रमुच्यते'-गोरक्षसंहिता) प्राण और अपान, ह और ठ, सूर्य और चन्द्र का समरसत्व करने से वीर्य अपने आप ऊर्ध्वगामी होकर ब्रह्मरन्ध्र में नाद से मिल जाता है और जीवात्मारूपी योगी परमशिव का साक्षात्कार करता है । हे माताओं ! मैंने प्राणविद्या की सिद्धि कर, भगवती गायत्री के अनुग्रह से हंसमंत्र को अभिमंत्रित कर पवन गुटिका के सहारे ब्रह्मरन्ध्र, आकाश में प्रवेश किया है, हंसमंत्र, सोऽहं-सोऽहं मंत्र का जप ही पवन-गुटिका (गोटिका) है, इस तरह मेरा निवास ब्रह्मरन्ध्र अथवा सहस्रार में है, शिवलोक, ब्रह्मरन्ध्र ही कैलाश है, जिसमें परमात्मा परब्रह्म अलख-निरंजन अपनी निजाशक्ति में नित्य विद्यमान है और हठयोग ही नहीं,

सम्पूर्ण योगविद्या का परम प्रतिपाद्य है । ब्रह्मरन्ध्र (आकाश) कैलाश, शरीर में (पृथ्वी पर) ही विद्यमान है । मैंने पाताल (पयाल) की शक्ति (डौबी), मूलाधार में प्रसुप्त कुण्डलिनी को षट्चक्रों के भेदन, प्राणायाम, मुद्राबन्ध, नादसन्धान आदि से जागरत कर शून्य आकाश में ब्रह्मरन्ध्र में चढ़ा लिया है । यही महायोगज्ञान है कि ब्रह्मरन्ध्र में कुण्डलिनी शक्ति को जागरत करते हुए स्थापित कर योगी परमशिव का साक्षात्कार करें । मेरे गुरूदेव महामति योगाधीश्वर सद्गुरू मत्स्येन्द्रनाथ ने कृपापूर्वक मुझे इस महायोगज्ञान की सिद्धि का उपाय बताया है ।

(37)

कैसे बोलौं पंडिता देव कौने ठांई,
निज तत निहारतां अम्हें तुम्हें नाहीं ।।टेक।।
पषांण की देवली पषांण का देव,
पषांण पूजिला कैसैं फटीला स्नेह ।। । ।।
सरजीव (तेड़िया) तोड़ीला निरजीवी पूजीला,
पाप की करणी कैसैं दूतर तिरीला ।। 2 ।।
तीरथि-तीरथि सनांन करीला,
बाहर धोये कैसैं भीतर भेदीला ।। 3 ।।
आदिनाथ नाती मछींद्रनाथ पूता,
निज तत निहारै गोरष अवधूता ।। 4 ।।

हे पण्डितों ! परमात्मा सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में सर्वत्र विद्यमान है, सर्वव्यापक है, ऐसा कोई भी स्थान नहीं है, जहाँ वह विद्यमान नहीं है, इसलिये किसी एक स्थान पर उसे विद्यमान कहना निरा अज्ञान है । निज तत्व (आत्मा) की व्यापकता का सर्वत्र ज्ञान (दर्शन) हो जाने पर 'मैं' 'तुम' का भेद उसी स्थल (परमात्म) दर्शन में अन्तर्लीन हो जाता है । हे पण्डित ! परमात्मा के सगुण रूप के उपासको, पाषाण का मन्दिर बना कर उसमें पाषाण की इष्ट देव की प्रतिमा की प्राण-प्रतिष्ठा मात्र से ही सर्वव्यापक महाशक्तियुक्त परमेश्वर के ऐश्वर्य, माधुर्य और सौन्दर्य के प्रति हृदय में स्नेह नहीं प्रस्फुटित हो सकता । प्राषाण प्रतिमा निर्जीव है । पत्र-

पुष्प आदि सजीव हैं । इन्हें तोड़कर निर्जीव प्रतिमा पर चढ़ाने में पाप लगता है । यह पाप कर्म करके तुम दुस्तर भव सागर का संतरण कैसे कर सकते हो ? तीर्थों में जाने और उनमें स्नानादि सत्कर्म द्वारा शरीर तप-पूर्वक शुद्ध ओर संस्कारित कर लेने मात्र से ही जीवन के परम-चरम प्रतिपाद्य परमात्मा के स्वरूपानुभव की प्राप्ति नहीं हो जाती, मन और हृदय के भाव की परिशुद्धि आवश्यक है । बाह्य शुद्धि के साथ आन्तरिक शुद्धि होने पर ही परमात्मा का साक्षात्कार होता है, शरीर के भीतर स्थित ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि और रूद्रग्रन्थियों का भेदन होने पर ही जीवात्मा ब्रह्मरन्ध्र में उन्मनी समाधि में परमतत्व का बोध पाता है । कुण्डलिनी के जाग्रत होकर सुषुम्ना नाड़ी के भीतर प्रवेश करने पर ब्रह्मग्रन्थि का भेदन होता है, कुण्डलिनी विद्युत्रेखा के समान सुषुम्ना में चढ़ने लगती है, वह अनाहतचक्र (हृदय) में पहुँच कर विष्णुग्रन्थि और आज्ञाचक्र (भूमध्य) में प्रवेश कर रूद्रग्रन्थि का भेदन करती है । इस प्रकार ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचकर शिव में मिल जाती है । बाह्य (तन की) शुद्धि के साथ-ही-साथ आन्तरिक शुद्धि (मन शरीर की प्राणवाहिनीनाड़ियों की शुद्धि) आवश्यक है, ऐसा होने पर ही परमात्म दर्शन होता है । मत्स्येन्द्रनाथजी के शिष्य (पुत्र) गोरखनाथ ने इस तरह स्वरूपबोध, परमात्मा का अन्तर्दर्शन प्राप्त किया ।

(38)

पंडित जण जण बाद न होई, अणबोल्या अवधू सोई ।।टेक।।
पत्रे ब्रह्मा कली बिसना, फल मध्ये रूद्रमदेवा ।
तीनि देव का छेद किया, तुम्हें करहु कौन की सेवा ।। । ।।
येक डंडी दुडंडी त्रियडंडी भगवान हूवा ।
विष्न को तिन पार न पायौ, तीरथां भ्रमि भ्रमि मूवां ।। 2 ।।
येक काल मुहां जटाधारी, ल्यंग उपासिका हूवा ।
महादेव को तिन पार न पायो, राष रौलि रौलि मूवां ।। 3 ।।
चारि महधर बारह चेला, येकंकारी हूवा ।
कायम को तिन पार न पायो, जोते बालि बालि मूवां ।। 4 ।।
चौदसियांने पूनमिया, जैन ब्रतधारी हूवा ।
अरहंत को तिन पार न पायो केस लौंचि लौंचिमूवां ।। 5 ।।

येक मुलांनमदोइ कुरांनम, ग्यारह षुरसांणी हूवा ।
अलह को तिन पार न पायौ, बंग देइ देइ मूवां ।। 6 ।।
नौ नाथ नै चौरासी सिधा, आसणधारी हूवा ।
जोग को तिन पार न पाया, बनषंडा भ्रमे भ्रमे मूवां ।। 7 ।।
पंच तत्त की काया बिनसी राषि न सक्या कोई ।
कालदेवन जब ग्यान प्रकास्या, बदंत गोरष सोई ।। 8 ।।

हे पंडितो, ज्ञानियो, अलख-निरंजन, परमेश्वर अप्रतर्क्य है । अवधूत योगी, योगसिद्ध पुरूष उसका अनुभव करता है और अपनी अनुभूति से दूसरे लोगों को परमात्मा की अपरोक्षानुभूति से कृतार्थ करता हैं, वह वाद-विवाद से ब्रह्म की सिद्धि नहीं करता है । पत्र, पुष्प, फल में ब्रह्मा, विष्णु, महादेव व्याप्त हैं, उन्हें तोड़कर, परमदेव को समर्पित कर उसकी उपासना अथवा पूजा (सेवा) में विघ्न और विच्छेद उपस्थित करना मात्र है, इससे परमतत्व का साक्षात्कार नहीं होता है, इस बाह्य पूजोपकरण से उनकी अनुभूति नहीं होती है, यह शरीर ही पत्र है, मन ही पुष्प है, हृदय ही फल है, तन-मन और हृदय के समर्पण में ही परमात्मा की पूजा सिद्ध होती है । यद्यपि तीर्थो में भ्रमण कर तन-मन की शुद्धि की जाती है और सत्संग के द्वारा सत्स्वरूप के बोध में सहायता मिलती है, पर इस बाह्याचार में अटके रहने से सर्वव्यापक विष्णु का साक्षात्कार नहीं होता है । दण्ड धारण कर यतिवेष में भ्रमण करने वाले एकदण्डी (हंस) तथा दो दण्ड और त्रिदण्ड धारण करने वाले त्रिदण्डी संन्यासी का संन्यासग्रहण तभी सार्थक होता है, जब अपने भीतर व्याप्त परमेश्वर की निरन्तर अनुभूति होती है । वास्तव में दण्डी तो वह है, जो अहंकार का नाश करता है और कामना का खण्डन करता है । इन्द्रियों की विजय कर परमतत्व का साक्षात्कार करता है । कालमुख जटाधारी, लिंगोपासक शैव योगी शरीर पर राख पोत-पोत कर मर गए किन्तु वे महादेव (परमशिव) का अनुभव नहीं कर सके, क्योंकि उन्होंने भी बाह्य वेष आदि को ही विशेष महत्त्व दिया । अद्वैतब्रह्मनिष्ठ (एकंकारी), ऊँकार ब्रह्म के उपासक योगस्थ सनक, सनन्दन, सनत्कुमार और सनातन तथा उनके बारह शिष्य (अनेक शिष्य, नारद, याज्ञवल्क्य, जनक, जड़भरत, वसिष्ठ आदि) भी आत्मज्योति प्रज्ज्वलित करके (ज्ञानज्योति, के द्वारा) भी परब्रह्म (कायम-मूलस्वरूप) का रहस्य नहीं प्राप्त कर सके । इसी तरह

साधनमय जीवन में अर्हन्त पद (कैवल्य) की प्राप्ति के लिये तीर्थंकर पद में स्थित होने के लिये चौदह व्रतों को धारण करने वाले (चौदसिया) श्रावक अथवा उपासक और पूर्णव्रत धारण करने वाले (पूनमिया) श्रमण भी कठोर- से-कठोर तपस्या में रत होकर केश लोंच कर, अहिंसाव्रत में स्थित रह कर भी अर्हन्तपद का अनुभव न कर सके । वे तप और बाह्य साधन को ही विशेष महत्व देते रह गये और स्वबोध, कैवल्य, परमतत्व के तादात्म्य में स्थिर न रह सके । इसी तरह इस्लाम में परमेश्वर, परम-महान्, परमज्योति की अनुभूति पर विशेष बल दिया गया है और पवित्र ग्रंथ कुरान में अपने परमात्मसाक्षात्कार अथवा परमज्योति के रसूल- (ईश्वरीय ज्ञान के सन्देशवाहक) मुहम्मद साहब ने अनुभव वर्णन किया है, पर उनकी आन्तरिक परमात्मानुभूति पर विशेष बल न देकर एक अल्लाह के माननेवाले अनुयायियों में भी दो सम्प्रदाय हो गये और बारह नबियों ने, तत्वज्ञों ने अपनी-अपनी साधना के अनुरूप एकही तत्व की व्याख्या की, इस तरह अल्लाह के (परमात्मा के) तत्व का उन्हें सम्यक् वास्तविक बोध न मिला, वे इस बोध के लिये, परमात्मज्योति के साक्षात्कार के लिये बाँग देते रह गये, पर शब्द में ही उलझने पर आन्तरिक परमात्मानुभव न हो सका । यही दशा नवनाथों और चौरासी सिद्धों की है, वे महायोगज्ञान के प्रकाश में परब्रह्म का (अलख-निरंजन का) साक्षात्कार अथवा अनुभव करने के लिये स्थित हो गये, आसनस्थ हो गये, पर स्वरूप में स्थित न हो पाये और अपने-अपने अनुभव के आधार पर परमात्मज्ञान को शब्दों में व्यक्त किया, स्वरूपानुभव अथवा योग का रहस्य वन-खण्ड में घूम-घूम कर, वैराग्य की धूनी प्रज्ज्वलित कर वे नाथयोगी भी न समझ सके । (जिसने समझा, वह मौन हो गया, स्वरूपस्थ हो गया ।) परमतत्व का अनुभव सिद्धदेह, योगाग्नि में पक्व शरीर की प्राप्ति से होता है और योगी अमरकायत्व का लाभ कर जीवन्मुक्ति अवस्था में काल-दण्ड का खण्डन कर लोक-लोकान्तर में योगबल से विचरण करता है । पाँच तत्व, क्षिति, जल, पावक, समीर, और गगन से निर्मित शरीर देखते-देखते मृत्यु का ग्रास बन जाता है, इसको कोई रख नहीं पाता है, यह नष्ट हो जाता है । गोरखनाथ का वचन है कि काल-देवता के द्वारा ही यह ज्ञान प्रकाशित हो सका है कि शरीर नश्वर है, इसके रहते परमतत्व का अनुभव करना चाहिए, मैं इसी ज्ञान-प्रकाश में शरीर को योगसिद्धि कर परमात्मा के साक्षात्कार पर बल देता हूँ ।

भणंत गोरषनाथ कायागढ़ लेबा,
कायागढ़ लेबा जुगे जुगी जीबा ।।टेक।।
कायागढ़ भीतरि नौ लख षाई,
जंत्र (चक्र) फिरै गढ़ लीयौ न जाई ।। । ।।
ऊंचे-नीचे परबत झिलमिलि षाई,
कोठड़ी का पांणी पूरण गढ़ जाई ।। 2 ।।
इहां नहीं, उहां नहीं त्रिकुटी मँझारी,
सहज सुंनि मैं रहनि हमारी ।। 3 ।।
आदिनाथ नाती मछिंद्रनाथ पूता,
कायागढ़ जीतिले गोरष अवधूता ।। 4 ।।

शरीर को योगाग्नि में पका कर, सिद्ध देह की प्राप्ति करना योगसाधना की सिद्धि है, इसमें व्याप्त परमात्मा के साक्षात्कार अथवा अलख-निरंजन के दर्शन के लिये, स्वरूपबोध के लिये यह आवश्यक है कि शरीर शक्तिहीन और जीर्ण न हो । शरीर को जरा जीर्णता से सुरक्षित रखना ही कायागढ़ को विजय करना है । योगी साधक के लिये यह विजय अनिवार्य है । गुरू गोरक्षनाथ कहते हैं, कि योगी को कायागढ़ पर अवश्य विजय प्राप्त करनी चाहिए । अन्यथा प्राणहंस, जीवात्मा के इसमें से बाहर निकर जाने पर इसकी उपयोगिता अथवा सार्थकता नष्ट हो जाती है । इस कायागढ़ को वश में कर लेने पर इसमें दीर्घकाल तक जीवन्मुक्त होकर कालवंचन (कालदण्ड का खण्डन) कर योगी निवास कर अपने स्वरूप में स्थिर रहता है । इस तरह कायागढ़ पर अधिकार कर इसमें निवास करना चाहिए । इस कायागढ़ में नवद्वार की नवलाख (असंख्य) खाइयाँ हैं, जिन्हें योगाभ्यास द्वारा मुद्रित कर गढ़ की सुरक्षा की जाती है, ये नवों रन्ध्र भीतर प्रवेश कर स्थिर हो जाने में जीवात्मारूपी योगी को बाधा पहुँचाते हैं, उसके काम में विघ्न डालते हैं, प्राणायाम की शक्ति से इन रन्ध्रों को बन्द कर दसवें द्वार ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करने से ही स्थिति सुदृढ़ होती है । इसमें जगह-जगह पर यंत्र हैं, चक्र हैं, उन चक्रों का भेदन कर इसमें प्रगति की जाती है । इस दुर्ग में ऊँचे-नीचे अनेक पर्वत हैं, इस गढ़ के ऊपर सहस्रार में स्थित योनि नामक

त्रिकोण चक्र है. यह चंद्रमा का स्थान है. यहाँ से अमृतद्रव (जल) निरन्तर झरता रहता है और पूरे गढ़ का उसके द्वारा पोषण होता है. गढ़ में जीवन ठप्प नहीं होने पाता है । आज्ञाचक्र में त्रिकुटी है. यह भ्रूमध्य में स्थित है. यहाँ मन का लय होता है । अन्य नीचे के पाँच चक्रों में (मूलाधार. स्वाधिष्ठान. मणिपूर. अनाहत. विशुद्ध में) इन्द्रियों का लयस्थान है । इस त्रिकुटी के मध्य में सहज-शून्य ब्रह्मरन्ध्र में मन को उन्मनी समाधि में स्थिर कर मैं (गोरखनाथ योगी) अपने स्वरूप में. अलख निरंजन परब्रह्म परमात्मा में तादात्म्य लाभ कर निरन्तर अमृतपान करते हुए. शरीर को मृत्यु का ग्रास होने से बचा कर (अमरकायत्व प्राप्त कर) इसी ब्रह्मरन्ध्र में निवास करता हूँ और अमृत की कोठरियों पर. जहाँ से सारे शरीर में अमृत की धारा पहुँचती रहती है. मैंने पूरा-पूरा अधिकार कर लिया है । योगेश्वर मत्स्येन्द्रनाथ के पुत्र (शिष्य) गोरखनाथ अवधूत. योगी ने कायागढ़ पर विजय प्राप्त कर ली है. और इसी तरह योगाग्नि से पक्व सिद्धदेह. योगदेह में रहकर अलख-निरंजन का साक्षात्कार कर लिया है ।

(40)

बदंत गोरषराई परसि ले केदारं.
पांणी पीवो पूता तृभुवन सारं ।।टेक।।
ऊंचे-ऊंचे परबत विषम के घाट.
तिहां गोरषनाथ कै लिया सबाट ।। । ।।
काली गंगा धौली गंगा झिलमिल दीसै.
काउरू का पांणी पुनिर गिरि पईसै ।। 2 ।।
अरघै जोगेस्वर उरधै केदारं भोला लोक न जानै मोख दुवारं ।। 3 ।।
आदिनाथ नाती मछींद्रनाथ पूता.
काया केदार साधीले गोरष अवधूता ।। 4 ।।

प्राचीन टीका

(केदार ब्रह्मद्वार । पांणी रामरस ।टेक। ऊँचा परबत । रागदोष । ता आगें बाट । यला पिंगुला । झिलमिल पवन । काँवरू काया । पूरण गिरि दसवौ द्वार ।)

हे वत्स (शिष्य) कायसाधन द्वारा शरीर में ही ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश कर चन्द्रामृत का पान करते हुए अलख-निरंजन परमात्मा का साक्षात्कार कर लेना चाहिए। इस काय-साधन की सिद्धि के लिये, ब्रह्मद्वार, स्वर्गद्वार, केदार का स्पर्श कर लेना चाहिए, ब्रह्मरन्ध्र में विराजमान परम परमेश्वर, शिव (लिंग) स्वरूप का स्पर्श भी साक्षात्कार अथवा दर्शन के साथ-ही-साथ आवश्यक है । त्रिभुवन, स्वर्ग, मृत्युलोक और पाताल में परमामृत-जो अमृतमन्दाकिनी त्रिपथगा का त्रिकुटी में स्थित रसद्रव है, का पान करना चाहिए । गोरखनाथ ने प्रत्यक्ष ज्ञाननेत्र से देख लिया है कि काया में स्थित ऊँचे-ऊँचे (राग-द्वेष आदि) पर्वत हैं बड़ी विकट घाटियाँ हैं, परन्तु उनको पार करने के बाद सपाट मैदान-ही-मैदान हैं, जिनमें वाम भाग में बहने वाली इड़ा नाड़ी (गंगा) और दक्षिण भाग में बहने वाली पिंगला नाड़ी (यमुना) का भ्रूमध्य में सुषुम्ना नाड़ी में संगम हो जाता है । ये तीनों नाड़ियाँ मूलाधार में स्थित मूलकन्द से ही प्रवाहित होती हैं । सहस्रार से द्रवित चन्द्रामृत का मूलाधार में सूर्य के द्वारा जो शोषण होता है, उसे धवल गंगा इड़ानाड़ी और काली गंगा (यमुना) पिंगलानाड़ी ऊर्ध्वमुखी करती हुई भ्रूमध्य में सुषुम्ना से मिल जाती हैं, इस तरह कावरू का पानी ऊपर आ जाता है, कावरू कामरूप है। मूलाधार चक्र (ब्रह्मचक्र) में कामरूपपीठ है और यहाँ पावकाकार शक्ति का ध्यान करने से प्राण ऊर्ध्वमुख होता है, कुण्डलिनी जागकर ऊर्ध्वमुखी होती है, इड़ा-पिंगला से प्राणामृत प्रवाहित हो उठता है, यही कावरू-कामरूपपीठ से अमृत (पानी) का ऊपर चढ़ना है और यह अमृतमयी शक्ति सुषुम्नामार्ग से आकाश चक्र में स्थित सहस्रार के ऊर्ध्वभाग में मध्य में सोलहदल कमलवाली कर्णिका में पूर्ण गिरि पीठ पर पहुँच कर परमशिव में अन्तर्लीन होकर जीवात्मारूपी योगी का जीवन अलख-निरंजन परमशिव के प्रकाश से अभिव्यक्त कर देती है । ब्रह्मरन्ध्र ही स्वर्गद्वार केदार है, यही मोक्ष का द्वार है, इसे अबोध लोग, जिन्हें परमात्मतत्व का अनुभव नही है, नही जानते हैं । मत्स्येन्द्रनाथ के पुत्र (शिष्य) गोरखनाथ का कथन है कि हमारे शरीर में ही केदारेश्वर-दसवें द्वार ब्रह्मरन्ध्र में स्वरूपस्थ है, इस काया में ही इड़ा-पिंगला के सहारे प्राणामृत को सुषुम्ना-मार्ग से प्रवाहित करते हुए दसवें द्वारा केदार में प्रवेश की साधना कर लेनी चाहिए । परमशिव केदार में, ब्रह्मरन्ध्र में विराजमान है ।

(41)

कासौं झूझौं अवधू राइ, विपष न दीसै कोई ।
जासौं अब झूझौरे आत्मा रामा सोई ।।टेक।।
आपण ही मछ कछ अपण ही जाल,
आपण ही धीवर आपण ही काल ।। । ।।
आपण ही सिंध बाघ आपण ही गाय,
आपण ही मारीला, आपण ही षाय ।। 2 ।।
आपण ही टाटी फड़िका, आपण ही बंध,
आपण ही मृतग आपण ही कंध ।। 3 ।।
न्हाइबे कौं तीरथ न पूजिबे कूं देवा,
भणंत गोरषनाथ अलख अभेवा ।। 4 ।।

गुरू गोरक्षनाथ कहते हैं कि हे अवधूत राज सम्पूर्ण विश्व में एक ही परमतत्व विद्यमान है । किसे प्रतिपक्षी मानकर युद्ध करूँ । सर्वत्र आत्मा राम रम रहा है । आत्मा ही मछ (मछली), कच्छप (कछुआ), जाल है, वही मछली और कच्छप को पकड़नेवाला मछुवा (धीवर) है । और वही जाल भी है, जिसमें मछ और कछ पकड़े जाते हैं । इस आत्मसत्ता में राग-द्वेष (किसी भी प्रकार के वैर-विरोध और द्वन्द्व) के लिये तिल मात्र भी अवकाश नहीं है, यही बाघ में है, यही सिंह में है और यही गाय में है । यही मारने-वाला और यही खानेवाला भी है । यही पशु है (जीवात्मा है), यही पाश है (बन्धन है) और यही पशुपति है (शिवस्वरूप है), यह आत्मा ही छप्पर है, बाँस का ठट्टर है और यही फरका (फड़का) भी है, जिससे ठट्टर को (छान के ढाँचे) को छाया जाता है । ठट्टर और फरका (छान) को बाँधनेवाला बन्धन (रस्सी की गाँठ) भी आत्मा है । यह आत्मा जीवात्मा में स्वयं मारने वाला है, शरीररूप में मरनेवाला है अर्थात् आत्मा ही जीवात्मा और शरीर (कन्ध) है । आत्मा (अपना शुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूप) ही तीर्थ है और आत्मा ही परमपूज्य परमात्मा है, (समस्त तीर्थों में आत्मा है, समस्त स्थापित देव-मन्दिरों में (परमात्मस्वरूप में) इष्ट आत्मा ही प्रतिष्ठित है । वह अलख-निरंजन और एक है, वही एक सर्वत्र है ।

मेरा गुरू तीनि छंद गावै ।
ना जांणौं गुर कहां गैला, मुझ नींदड़ी नआवै ।।टेक।।
कुम्हरा के घरि हांड़ी आछै, अहीरा कै घर सांड़ी ।
बभना कै घरि रांडी आछै, रांडी सांडी हांडी ।। । ।।
राजा कै घरि सेल आछै, जंगल मधें बेल ।। 2 ।।
तेली के घरि तेल आछै तेल बेल सेल ।। 2 ।।
अहीर कै घरि महकी आछैं, देवल मधें ल्यंग ।
हाटी मधे हींग आछैं, हींग ल्यंग स्यंग ।। 3 ।।
एकै सुत्रैं नाना बणियां, बहुँ भांते दिखलावै ।
भणंत गोरषि त्रिगुणीं माया, सतगुरू होइलाषावै ।। 4 ।।

प्राचीन टीका

(त्रिगुणी माया ।टेक।। कुंभार काय कै वसि । हांडी ही माया । अहीर कै महकी माया । ब्राह्मण कै ब्राह्मणी माया । राजा कै सेल माया । वाणियां कैं हींग माया । तेली कै तेल माया । जंगलि बेलि माया । एक ऊँकार नांना प्राण पोया ।।)

मेरे गुरूदेव ने महायोग ज्ञान में स्वस्थ, अलख-निरंजन आदिनाथ शिव के स्वरूप योगीन्द्र (मत्स्येन्द्र) ने मुझे माया के रूप को तीन-तीन उदाहरण देकर (अच्छी तरह) समझाया है और सद्ज्ञान प्रदान किया है । वे कहाँ अदृश्य हो गये, उनके दर्शन के बिना मुझे पलमात्र भी विश्राम नहीं मिलता है, नींद ही नहीं आती है । यह माया कुम्हार के घर मिट्टी से ही आकारित बर्तन-हाँड़ी के रूप में विद्यमान है, पृथ्वीतत्व है पर आकारित होने के नाते उसकी सत्ता भिन्न प्रतीत होती है, सत्ता की भिन्न प्रतीति ही माया है । अहीर के घर में दूध की साढ़ी (मलाई) के रूप में मायां विद्यमान है, यद्यपि साढ़ी दूध की आकृति है, उससे भिन्न नहीं है, पर साढ़ीरूप में आकारित दूध की भिन्न सत्ता की प्रतीति ही माया है, इस तरह साढ़ीरूपिणी माया सत्स्वरूप दूध का ज्ञान नहीं देती है । यही माया ज्ञानी के घर में स्त्री के रूप में विद्यमान है । ज्ञानी (ब्राह्मण, ब्रह्म का चिन्तन करने वाले) के लिये यह स्त्री

मायारूपिणी हो जाती है । इस तरह हाँड़ी, साढ़ी और स्त्री (रांड़ी) में एक ही आत्मा व्याप्त है, पर भिन्न-भिन्न आकृति में उनमें भिन्न होने की प्रतीति होती है । माया राजा के घर में बरछे अथवा बांण (सेल-शल्य अथवा शर) के रूप में विद्यमान है । उसे वह अपनी शक्ति समझता है । जंगल में (वृक्षों से लिपटी) लता-वेलि है, इसका मूल उसी में है, जिसमें उसके आश्रय वृक्ष का मूल है, संसाररूपी जंगल में यह मायारूपिणी लता-वेलि अपने ही मूल के वृक्ष से भिन्न दीखती है । लता-वेलि की भिन्न आकृति की यह प्रतीति ही माया है । तेली के घर में तेल है, यह तेल तिल का ही रूप है, इस तेल की तिल से अलग सत्ता ही नहीं है, तेल अलग हो जाने पर उसकी भिन्न आकृति अथवा सत्ता की प्रतीति ही माया है, (सेल, बेल, तेल) लोहे से बने बरछे या बांण, जंगल की वेलि और तिल के तेल में एकही सत्ता अभिभूत है, व्याप्त है । अहीर के घर में भैंस है, भैंस दूध देती है, देवालय में मूर्ति (लिंग) स्थापित है, उसमें परमात्मा की व्याप्ति है, हाट, बाजार में हींग है, उसमें से सुगन्ध निकलती है, भैंस, मूर्ति, और हींग से दूध, परमात्मसत्ता (दिव्यता) और सुगन्ध में एक ही आत्मसत्ता (परमात्मा) की परिव्याप्ति है । (स्यंग का आशय है सींगवाली भैंस-श्रृंगी) इसी प्रकार एक ही सूत्र से नाना रूप बने हैं । बहुविध आकृतियों में सूत्र एक ही है । गोरखनाथ का कथन है कि सद्गुरू ही कृपापूर्वक त्रिगुणी माया के अन्धकार से ग्रस्त जीवात्मा को अपनी मूल सत्ता (परमात्मा) का बोध देते हैं ।

(43)

गुरुजी ऐसा करम न कीजै, ताथैं अमी महारस छीजै ।।टेक।।
दिवसै बांधणि मन मोहै राति सरोवर सोषै ।
जांणि बूझि रे मूरिष लोया धरि-धरि बाघणि पोषै ।
नदी तीरै बिरषा नारी संगै पुरषा अलप जीवन की आसा ।
मन थैं उपज मेर षिसि पड़ई ताथैं कंध बिनासा ।। 1 ।।
गोड़ भए डगमग पेट भया ढीला, सिर बगुलां की पंषियां ।
अमी महारस बांधणी सोष्या घोर मथन जैसी अषियां ।। 2 ।।
बाघनी कौ निंदिलै बाघनीं कौ बिंदिलै बाघनी हमारी काया ।।
बाघनी घोषे सुरनर षाये भणंत गोरष राया ।। 3 ।। घोषि

हे गुरूदेव ! स्त्री के सहवास में योगी को नहीं रहना चाहिए, उसकी कामोपभोगपरायणता में प्रवृत्ति होने पर शरीर में विद्यमान जीवनरस, प्राणामृत (वीर्य) क्षीण हो जाता है और भोगी का शरीर मृत्यु का ग्रास बन जाता है। हे गुरूदेव ! स्त्री (कामिनी) रात-दिन योग की साधना में विघ्न डालती है, इसके सहवास में तो जीवन का नाश-ही-नाश है । वह दिन में अपने हावभाव, कामुक प्रवृत्ति और साज-श्रृगारयुक्त सुन्दर शरीर के प्रति योगी के मन में आकर्षण पैदा करती हैं, अपनी मोहिनी माया में मुग्ध करती है और रात में, जब योगी साधना में प्रवेश करना चाहता है, अपने आलिंगन, परिरम्भण से सद्‌विवेक का अपहरण कर लेती है, वह इस तरह वीर्यरूपी अमृत के सरोवर को सोख लेती है, यह स्त्री वाघिन है । लोग जानते हुए मूर्खता वश घर-घर में इसका पोषण करते हैं । जिस तरह नदी के किनारे का वृक्ष कभी भी गिर सकता है, उसके बने रहने की प्रायः सम्भावना नहीं रहती है, ठीक उसी तरह जो पुरूष स्त्री में कामासक्त होता है, उसका शरीर अब ढहे, तब ढहे, किसी भी शरीर का प्राणरहित होना सम्भव हो जाता है । सहस्रार में योनिनामक त्रिकोणचक्र ही चन्द्रमा का स्थान है, वहाँ से शरीर का पोषण करने के लिये अमृतद्रव निरन्तर प्रवाहित होता है, वीर्य हमारे मन में उत्पन्न कामदेव का आस्वाद्य है, ज्यों ही हमारे मन में काम-विकार उत्पन्न होता है, त्यों ही वीर्य अधोमुखी होकर स्खलित हो जाता है, उसका ऊर्ध्वगमन रूक जाने पर शरीर में उसकी जीवन-पोषकतत्व के रूप में महत्ता समाप्त हो जाती है और मेरूशिखर (सुषुम्ना के उर्ध्वमुख ब्रह्मरन्ध्र) से अमृत का स्राव रूक जाता है, शरीर ढीला हो जाता है, नष्ट हो जाता है, पैर डगमगाने लगते हैं, शक्ति में निर्बलता आती है और बुढ़ापा आ जाता है । उसके केश सफेद हो जाते हैं मानो बगुला के सफेद पंख हों । मन को मथने वाली अपने कटाक्षबाण से पुरूष को बिद्ध करनेवाली आँखों से युक्त बाघिन (स्त्री) इस तरह अमृत के सरोवर को सोखकर उसे निष्क्रिय और निर्बल बना देती है । इस बाघिन को दलित कर देना चाहिए, इसके रूपजाल में न पड़ने से यह शक्तिहीन हो जाती है । इस तरह इसे बाँध रखना चाहिए अथवा अपने साधन-अंकुश अथवा संयम से इसे बिद्ध करना चाहिए, जिससे यह शरीर का नाश न कर सके । इस बाघिन से सुर-नर, कोई भी नहीं बच सका, इसने

सबाका आवाहन कर सभी को नष्ट कर दिया । वह इस काया को नष्ट कर देती है । गोरखनाथ का वचन है कि इस कुरमणी से सदा दूर रहना चाहिए।

(44)

भोगिया सूते अजहूँ न जागे । भोग नहीं रे रोग अभागे ।।टेक।।
भोगिया कहै भल भोग हमारा । मनसइनारि किया तन छारा ।। 1 ।।
एक बूंद नरनारी रीधा । ताही मैं सिधसाधिक सीधा ।। 2 ।।
भोगिया सोइ जो भगर्थें न्यारा । राजस-तामस झरै न पारा ।। 3 ।।
भणंत गोरषनाथ सुणो नर लोई । कथणी बदणी जोग न होई ।। 4 ।।

(गोरखनाथजी का कथन है कि यह बड़े ही आश्चर्य की बात है कि भोगियों की अभी मोहमयी निद्रा का अन्त न हो सका । वे अब भी संसार में ठोकरें खाकर भी होश में नहीं आ सके । वे ऐसे भोगियों को सम्बोधित करते हैं कि हे अभागे ! सद्वस्तु परमात्मा से विमुख भोगी, जिसे तुमने आनन्द माना है, वह आनन्द नहीं है, वह दुःख से भरा सुखरूपी रोग है । हे भोगियो ! जागो, योग में तत्पर होकर सच्चिदानन्दस्वरूप की प्राप्ति करो । तुम भोगी न बने रहो, क्योंकि भोगी तो यह कहता है कि हमारा भोग ही, असत् में सुख का क्षणभंगुर संयोग ही अच्छा है, भला है । इस तरह इन भोगियों ने रमणी के भोगास्वाद की इच्छा करके अपने वीर्य को अधोगामी और स्खलित कर शरीर को (चिन्ता की अग्नि में) जला कर भस्म कर डाला है, नष्ट कर दिया है । वीर्य के एक बूँद के स्खलन से प्राप्त भोगसुख में स्त्री-पुरुष आसक्त होकर जीवन नष्ट करते रहते हैं और इस बिन्दु को प्राणायाम तथा मुद्राबन्ध आदि की साधना के द्वारा ऊर्ध्वगामी कर शरीर में जीर्ण कर लेने (पचा लेने) से तथा उसे सहस्रार के मूल अमृतस्रोत में प्रतिष्ठित कर देने से असंख्य सिद्धों और योगसाधकों ने योगसाधना में सिद्धि प्राप्त की तथा अलख-निरंजन का दर्शन किया, स्वरूपानुभव में वे स्वस्थ हो गये । वास्तव में आनन्द का भोगी, वास्तविक योगी तो वह है, जो तमोगुणी अज्ञान से विमुग्ध होकर रजोगुणी काम-प्रवृत्ति से दूर रहता है और कामोपभोग की तृप्ति में

वीर्य (पारा) को क्षरित नही होने देता है, गोरखनाथ का कथन है कि हे भाइयों । मनुष्यो । ज्ञान के कथन और श्रवण मात्र से योग की सिद्धि नही होती है, यह तो साधना और अनुभव का विषय है तथा शरीर में व्याप्त वीर्यरस को सुरक्षित रखने से ही योगसिद्धि सुलभ होती है ।

(45)

मारौ मारौ स्रपनीं निरमल जल पैठी,
त्रिभुवन डसती गोरषनाथ दीठी ।।टेक।।
मारौ स्रपणी जगाईल्यो भौंरा,
जिनि मारी स्रपणी ताकौ कहा करै जौरा ।। 1 ।।
स्रपणी कहै मैं अबला बलिया,
ब्रह्मा बिष्न महादेव छलिया ।। 2 ।।
माती माती स्रपनी दसौं दिसि धावै,
गोरषनाथ गारड़ी पवन बेगि ल्यावै ।। 3 ।।
आदिनाथ नाती मछिंद्रनाथ पूता,
स्रपणी मारिलै गोरष अवधूता ।। 4 ।।

असत् में सत् की प्रतीति ही अविद्या है, यही माया है, यह माया-सर्पिणी के समान है । इसके विषाक्त दर्शन से प्रायः सभी लोग मूर्छित और अचेत हैं, इसने त्रिभुवन को डस लिया है । (गोरखनाथ का कथन है कि) मैंने इसे तीनों लोकों को डँसते देखा है । इस सर्पिणी से, विषैली माया के दर्शन से बचने का उपाय है, निर्मल जल में प्रवेश करना, सहस्रार में स्थित योनि नामक त्रिकोण चक्र से प्रवाहित चन्द्रामृत का पान करते रहने से ही माया सर्पिणी नही डँसेगी, इस सर्पिणी को मार डालना चाहिए और भ्रमरगुफा, ब्रह्मरन्ध्र में विद्यमान परमशिव का, शाश्वत सच्चिदानन्दघन अलख-निरंजन परमेश्वर का बोध प्राप्त कर लेना चाहिए । जिसने ब्रह्ममंत्र को सिद्धकर सर्पिणी को मार डाला है, वह मृत्यु का ग्रास नही बन सकता । उसके अमृतमय शरीर को यमराज (जौरा) नष्ट नही कर सकता है । इस मायारूपी सर्पिणी का वचन है कि मैं कहने मात्र के लिये अबला हूँ, माया हूँ, मैं अत्यन्त प्रबल हूँ और त्रिदेव ब्रह्मा, विष्णु और महेश, सभी को मैंने काटा है

और वे मेरे विष से अचेत हैं, वे मेरे चक्र में भ्रमित हैं। यह सर्पिणी चारा और मदोन्मत्त होकर घूमती रहती है, गारूड़ी पवन (मन, इन्द्रियों को वश में करने वाले आसन, मुद्राबन्ध, प्राणायाम और नादसन्धान) ही इस सर्पिणी को निर्विष कर देता है, नष्ट कर देता है, वह जीवात्मा को काटने में असमर्थ हो जाती है, मैं (गोरखनाथ) ने इसे निर्विष कर दिया हैं, गारूड़ी पवन, योगसाधना की सिद्धि कर इसकी शक्ति नष्ट कर दी है। आदिनाथ के पौत्र और मत्स्येन्द्रनाथ के पुत्र (शिष्य) गोरखनाथ ने इस मायारूपी सर्पिणी को मार डाला है। इस अविद्या का अन्त कर दो, माया को मार डालों।

(46)

थान दे गोरीए गोरष बाला माई बिन प्याले प्याला।
गिनांन ची डाल्हीला पालंषू गोरष बाला पौढ़िला ।।टेक।।
देव लोकची देव कंन्या, मृत लोकची नारी।
पाताल लोकची नागकन्या, गोरष बाला भारी ।। । ।।
माया मारिली मावसी तजीली, तजीला कुटंव बन्धु।
सहंसर कवल तहाँ गोरष बाला, जहाँ मन मनसा सुर संधू ।। 2 ।।
आसा तजीला, तजीला मनसा माई। तृसना तजीला
नौ षंड पृथ्वी फेरि ने आलौं गोरष रहीला मछिंद्र ठांई ।। 3 ।।

हे कामिनियों! यति गोरखनाथ तुम्हारे शरीर के नश्वर सौन्दर्य-भोग में कभी भी आसक्त नहीं हो सकता। मैंने उन्मनी समाधि में स्थित होकर योगाग्नि में पक्व सहस्रार से द्रवित अमृतवारूणी से भरा प्याला पी लिया है, हे कामिनी! मेरा रास्ता मत रोको, मुझे योगमार्ग में बढ़ने दो, मेरे लिए जगह छोड़ों, मेरा रास्ता रोकने से, मेरी साधना में विघ्न डालने से तुम्हें कुछ न मिलेगा, क्योंकि मेरा ज्ञाननेत्र उन्मीलित है, मुझे मायिक सौन्दर्यजाल में विमुग्ध नही किया जा सकता है! मैंने ज्ञान की पालकी में अपने लिये स्थान बना लिया है, मैं उस पालकी में आरूढ़ हूं। देवलोक की नित्य तरूणी, दिव्य कन्याएँ, मृत्युलोक की रमणियों और पाताल की नागकन्याओं के वश की बात नहीं हैं कि वे मुझे अपने सौन्दर्य से विमुग्ध कर परमशिव के साक्षात्कार, स्वरूप और शून्यस्थ सहज कैवल्य से विमुख कर सकें। मैंने माया को

शक्तिहीन कर दिया है, वह मेरे लिये बन्धनकारिणी नहीं हो सकती है । मैंने, कुटुम्ब, भाई, बन्धु, गृहस्थ-जीवन, सभी का त्याग कर दिया है । मेरा निवास-स्थान सहस्रदल कमल-सहस्रार है, मैंने दसवें दरवाजे से ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश कर शाश्वत पद, कैवल्य में अपना निवास स्थान बना लिया है, मेरा मन उन्मन हो गया है, चित्तवृत्ति (मनसा) - इच्छा उन्मनी समाधि में तल्लीन है और प्राण सुषुम्ना के ब्रह्ममार्ग से ब्रह्मरन्ध्र में समा गया है, इस तरह मन, इच्छा और प्राण, तीनों का सहस्रार में संगम हो गया है, मैं जीवन्मुक्त और अमरकाय होकर अलख-निरंजन परमेश्वर के स्वरूप में स्वस्थ हूँ । आशा, तृष्णा और कामना में आसक्ति ही बन्धनकारिणी होती है, मैंने तीनों का त्याग कर दिया है । मैंने नवखण्डोंवाली समग्र पृथ्वी का भ्रमण कर लिया है, मुझे कहीं भी सत्स्वरूप-सच्चिदानन्द परब्रह्म की वास्तविक अनुभूति नहीं हो सकी । मैंने उसकी प्राप्ति महायोगज्ञानके मर्मज्ञ योगीन्द्र गुरूदेव मत्स्येन्द्रनाथ के चरणकमलों में की और गुरूपद में सदा के लिये मैंने आत्मसमर्पण कर परमात्मस्वरूप की सहज अनुभूति कर ली । मुझे जागतिक नश्वर मायामोह का भय नहीं है, मैं अभयपद में स्थित हूँ ।

(47)

नाथ बोलै अमृत बांणीं, बरिषैगी कंबली भीजैगा पांणीं ।।टेक।।
गाड़ि पडरबा बांधिलै षूंटा, चल दमांमां बाजिले ऊंटा ।। । ।।
कउवा की डाली पीपल बासै मूसा के सबद बिलइया नासै ।। 2 ।।
चले बटावा थाकी बाट, सावै डुकरिया ठौरै षाट ।। 3 ।।
ढूकिले कूकर भूकिले चोर, काढै घणी पुकारै ढोर ।। 4 ।।
मगरी परि चूल्हा घूंधाइ, पीवणहारा कौं रोटी खाइ ।। 6 ।।
कामिनि जलै अंगीठी तापैं, बिचि बैसंदर थरथर कापै ।। 7 ।।
एक जु रढिया रढ़ती आई, बहू बियाई सासू जाई ।। 8 ।।
नगरी कौं पांणी कूइ आवै, उलटी चरचा गोरष गावै ।। 9 ।।

प्राचीन टीका

(कांमलि काया । पाणी प्राण ।टेक। पडरवा परकीरति । षूंटा मन । दमांगा दम, ऊंट काया । कऊवा काल, डारी बसु भली । पीपल पारब्रह्म ।

मूंसामंन । बिलाई कुबुधि । बटाऊँ प्राण । चलै ब्रह्मपंथ । चौरासी बाट थाकी डोकरी आत्मां । षाट षट । कूकर मन । चोर संसार । धणी ईस्वर काढ़े । ढोर संसार । ऊजड़ गुण नहीं । बली ब्रह्म, गागरि गुण । पणिहारी आत्मां । कामनि कामना, अंगीठी आत्मां । बैसंदर विकार । मगरी माया । चूल्हौ चित । रोटी रटणि । पौवे कुमति रंडीया आत्मां । बहु बुधि । सासू सुरति । नगरी काया । प्राणी प्राण । कूई कंवल ।।)

गोरखनाथ की यह अमृतवाणी है कि अविद्यास्वरूपिणी माया से प्रेरित जो शारीरिक और मानसिक कर्म योगी को अमृतवर्षा में भीगने से बचाते रहते हैं, वे सद्ज्ञान से शुद्ध और निर्मल हो गये हैं और अमृतजल में निर्मित अस्तित्व के ऊपर बरस रहे हैं, यही कंबली का बरसना है और जल का, (जिसका स्वभाव बरसना है) भींगना है । शरीर ही कंबली है, प्राण ही पानी है, शरीर प्राण से जीवित रहता है, पर उलटी बात यह है कि प्राण का स्थैर्य्य शरीर के अधीन है । शरीर में बिन्दु (वीर्य) को ऊर्ध्वमुख कर योगाग्नि में उसे पकाया जाता है और जल-बिन्दु, सहस्रार में द्रवित अमृत का स्वरूप ग्रहण कर लेता है, सिद्धदेह की प्राप्ति होती है और प्राणामृत भीगता है । खूँटा बाँधने में उपयुक्त होता है और पड़रवा, गाय का बछवा या भैस का पड़रवा बाँधा जाता है, गोरखनाथ जी मायारूपी गाय या भैंस के बछवे और पड़रवे को अविवेक कहते हैं, जो बाँधा जाता है और माया उसे बाँधती है, पर माया को ही खूँटा बना कर उसमें अविवेक को बाँध देना ही उचित योगसाधना है । व्यवहार में तो यह देखा जाता है कि ऊँट की पीठ पर दमामा रखकर बजाया जाता है, साधना में यह दम-अनाहतनाद निरन्तर प्रवाहित है और ऊँट (काया अथवा मन) पर तड़ातड़ मार पड़ रही है, शब्द निनादित हैं । ऐसे तो शरीर पर मृत्यु का अधिकार रहता है, काया नश्वर होती है, पर वास्तविक बात तो यह है कि शरीररूपी पीपल कौवारूपी काल पर विराजमान है, मृत्यु पर अमृतत्व अथवा सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्म का अमृतत्व विराजमान है । संसार में चूहे को बिलार खाती है, पर योगसाधना में योगी का मन ही, जो पहले मूस के समान आबद्ध रहता है, बिलाररूपी कुबुद्धि पर हावी है, यह विचित्र बात है कि रास्ता थकता है और ज्ञानमार्ग का बटोही राहगीर चलता रहता है । जीवात्मा ज्ञानमार्ग पर चलकर जब मोक्ष प्राप्त कर लेता है तो ज्ञानमार्ग थक जात

है । चलना बन्द हो जाता है । इसका आशय यह भी है कि प्राणरूप जीवात्मा सदा सनातन काल से ब्रह्म की प्राप्ति में संलग्न है । प्राण का यही चलते रहना है और ब्रह्मपथ-ब्रह्म प्राप्ति भले ही कैवल्य में आकारित हो जाय पर जीवात्मा को सत्स्वरूप में निरन्तर गति करना रहता है । जो जीवात्मा माया के अधीन रहता है, वह अब माया को वश में कर लेता है, जीवात्मा को खाट बना कर माया (डुकरिया) पहले विश्राम करती है, पर अब वह खाट ही माया को वश में करके निश्चित और स्वस्थ हो जाता है । यह विचित्र बात है कि कुत्ता तो छिपता है, और चोर भूँकता है कुत्ता मन है, वह आत्मज्ञान को चोर की तरह पहले भगाता है, पर अब मन निर्बल है, छिप गया है और आत्मज्ञान, जो उसके लिये चोर बना रहा है, भौतिकता और माया को भगाता है । ईश्वर ही धनी है, स्वामी है । वह जीवात्मा के उद्धार में प्रवृत्त है और संसार (ढोर) अस्तित्वहीन हो चला है । इस कायानगरी की स्थिति विचित्र दीखती है । इसमें मगरी, (राजस्थानी भाषा में जंगल की लकड़ी) जल नहीं रही है, चूल्हा (जिसके संसर्ग में जीव जलता था,) स्वयं जल रहा है । इन्द्रियों का विभव समाप्त हो गया है, उन्हें विषयों का खाद्य नहीं मिल रहा है, यह कायानगर गुणहीन है, उसका पूर्वरूप समाप्त है । सामान्य बात तो यह है कि कुँआ नीचें होता है, गगरी कुँए के ऊपर होती है, पर इस कायानगर में मूलाधार, पृथ्वी पर, नीचे गगरी है, कुण्डलिनी महाशक्ति है और ऊपर ब्रह्मरन्ध्र में परब्रह्म परमामृतरूप परमात्मा है, उसमें जीवात्मारूपी (पनिहारिन) स्वस्थ है । कामिनी, कामना, जो जलाती रहती है, स्वयं जल रही है, आत्मा उसके जलने को प्रत्यक्ष देख रहा है । अग्नि का कार्य जलाना है, पर इस कायानगर में विकाररूपी अग्नि (बैसंदर) थर-थर काँप रही है, विषय-विकार भी नष्ट हो चले हैं । रोटी पोने वाली को रोटी खा जाती है, इसका आशय यह है कि माया से ही अनेक मायिक भेद उत्पन्न हैं और वे ही मायिक भेद माया को खा जाते हैं, जीव ही रोटी है, यह जीवात्मा सद्विवेक के प्रकाश में माया को मार कर, खाकर अपने शुद्ध स्वरूप ब्रह्म में स्वस्थ हो जाता है । कुमति आत्मा को विकृति नहीं कर सकती है, बुद्धिरूपी बहू से ज्ञान प्रगट हो गया है और यह सुरतिरूपी सासु की संतति है । इस कायागनर में स्थित जल कुँए में (ब्रह्मरन्ध्र में) आता है । सामान्य बात तो यह है कि कुँए से सारे नगर में जल पहुँचता है और पिपासुओं की तृप्ति

होती है । इस कायानगर की बात विपरीत है, कुण्डलिनीरूपी नगरी को जीवात्मारूपी पनिहारिन अपने कन्धे पर रखकर कुँए में, ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करती है, शरीर का जल (वीर्य) योगाग्नि में सिद्ध होकर सहस्रार में ऊर्ध्वगमन कर अमृतस्वरूप होकर जीवात्मा को परमामृत, परमात्मा में स्वरूपस्थ करता है । यह संसार की बुद्धि से विपरीत चर्चा गोरखनाथ करते हैं ।

(48)

भग राकसिलो, भग राकसिलो, बिण, दंतां जग षाया लो ।
ग्यांनी हुता सु ग्यांनमुषरहिया, जीवलोक आपै आप गंवायालो ।।टेक।।
दिन-दिन बाघिनी सीयां लागी, राति सरीरै सोषै ।
बिषै लुबधी तत न बूझै, धरि लै बाघिनी पोषै ।। । ।।
भणंत गोरषनाथ द्वै कर जोड़ी, भिडैं आगै चावड़ तोड़ी ।
चामै चांम घसंता लोई, दिन दिन छीजै काया ।
आपा परचै गुरमुषिन चिन्हैं, फाड़ि फाड़ि बांघणी षाया ।। 2 ।।
बाघनी उपाया बाघनी निपाया बाघनी पाली काया ।
बाघनी डाकरै जीरियों पाषरै, अनुभुइ गोरष राया ।। 3 ।।

गुरू गोरक्षनाथ का कहना है कि स्त्री की योनि (भग), राक्षसी है, जिस तरह राक्षसी रात में अपना प्रभाव अधिक बढ़ा लेती हैं और वह निशाचरी कही जाती है, ठीक उसी तरह पुरूष रात में ही भोगास्वाद के लिये स्त्री के आलिंगन में आबद्ध होकर जीवन का रस-बिन्दु (वीर्य) क्षरित कर देता है और जीवन से हाथ धो बैठता है । यह भग (वाली स्त्री) बिना दाँत के ही जगत् के प्राणियों को खा लेती है । जिस मनुष्य में ज्ञान होता है, जो आत्मा और शरीर का भेद समझ कर परमात्मा की प्राप्ति के लिये प्रवृत्त रहता है और आत्म-विवेक से काम लेता है, वह इस राक्षसी से बच जाता है, पर अन्य लोग तो मूढ़तावश मायिक और नश्वर रमणी के रूप से मुग्ध होकर भग के शिकार बन जाते हैं । वह बाघिन (स्त्री) दिन में सोती है, अधिकाधिक निष्क्रिय ही रहती है, पर रात में मनुष्य में कामतृप्ति की प्रबल इच्छा जागने पर यह भी जागती रहती है, सक्रिय रहती है और शरीर का शोषण कर लेती है । विषयासक्त मनुष्य बाघिन को (स्त्री को) स्वयं पालता-पोषता रहता है ।

गोरखनाथ का कथन है कि इस बाघिन के दाँत तोड़ देने चाहिए, उसका जबड़ा (चाबड़, जाबड़, जबड़ा), तोड़ देना चाहिए । इस तरह यह बाघिन निष्क्रिय हो जायेगी, इसका आशय यह है कि उसके नश्वर शरीर के रूप के कामोन्माद को नष्ट कर देना चाहिए । स्त्री के आलिंगन में बँधे संभोगपरायणपुरूष की काया दिन-प्रति-दिन क्षीण होती जाती है । उन्हें गुरूमुख से आत्मज्ञान का परिचय नहीं प्राप्त है, सत्स्वरूप में प्रवृत्ति और स्थिर न होने के नाते ही उन्हें बाघिन (माया) फाड़-फाड़ कर, बिदीर्ण कर खा जाती है । मनुष्य की उत्पत्ति इस बाघिन (स्त्री) से ही होती है, वह शैंशवकाल से उसके शरीर को पालते-पोषते हुए बड़ा करती है, वही बाघिन स्त्री उसके लिये कालरूप बन जाती है, यह कामोन्मादिनी तरूणी रमणी बाघिन की तरह यमराज की बगल में ही दहाड़ती रहती है और पुरूष को निर्बल तथा क्षीणकाय बना देती है । गोरखनाथ का यह अनुभव है कि स्त्री के साथ कभी नहीं रहना चाहिए, उससे सावधान रहकर योगमार्ग में आरूढ़ रह कर अलख-निरंजन परब्रह्म परमेश्वर की प्राप्ति करनी चाहिए, माया का त्याग कर देना चाहिए ।

(49)

रूपे-रूपे कुरूपे गुरदेव, बाघनीं भोले-भोले,
जिन जननीं संसार दिषाया, ताकौं ले सूते षोले ।।टेक।।
गुरू षोजौ गुरदेव गुरू षोजौ, बदंत गोरष ऐसा,
मुषते होइ तुम्हें बंधन पड़िया, ये जोग है कैसा ।। । ।।
चांम ही चांम धसंता गुरदेव दिन-दिन छीजै काया,
होठ कंठ तालुका सोषी काढ़ि मिजालू षाया ।। 2 ।।
दीपक-जोति पतंग गुरदेव, ऐसी भग की छाया,
बूढ़े होइ तुम्हें राज कमाया, नां तजी मोह माया ।। 3 ।।
बदंत गोरषनाथ सुनहु मछंदर तुम्हें ईस्वर के पूता,
ब्रह्म झरंता जे नर राषै, सो बोलौ अवधूता ।। 4 ।।

हे गुरूदेव ! यह स्त्री, रमणी देखने में तों बाहर से बड़ी सीधी-सादी और भोली होती है, चाहे वह रूपमती हो, चाहे कुरूपा हो, पर यह मायाविनी बाघिन है, जो देखते-ही-देखते मनुष्य के शरीर को खा जाती है, निर्बल, निस्तेज और वीर्यरहित कर देती है, सारे शरीर का रस सोख लेती है । यह

बड़े आश्चर्य की बात है कि यह जन्म देनेवाली और पालन-पोषण करने वाली माँ है, और इसी मां को तरूण होने पर मनुष्य सम्भोग के साधन के रूप में आलिंगन में आबद्ध कर, गोद में चिपका कर कामवासना की तृप्ति करता है। हे गुरूदेव ! इसके सहवास में, संभोग में प्रवृत्त होने पर शरीर से प्राणामृतरस, वीर्य बाहर निकल जाता है और शरीर निर्बल और क्षीण हो जाता है, ओंठ, कण्ठ और तालु, सबके-सब रसरहित हो जाते हैं, सूख जाते हैं और बाघिन स्त्री, कामिनी शरीर के मज्जा, मेद (मिजाल) तक को खा जाती है, नष्ट कर देती है । हे गुरूदेव ! आप तो मुक्त हैं, आप पर माया का वश ही नहीं चल सकता । मुक्त होकर भी आप स्त्री के रमणराज्य में नश्वर सौन्दर्य-भोग और उसकी कामवासना की तृप्ति के लिये, उसके आलिंगन में बँध गये, यह तो बंधन है, यह भोग नहीं है । जिस तरह दीपशिखा से आकृष्ट होकर पतंगे जल जाते हैं, उसी तरह स्त्री के रूप-सौन्दर्य से मनुष्य आकृष्ट होकर, भोग में आसक्त होकर विनष्ट हो जाता है । आपने सदा मोह, माया और जागतिक ऐश्वर्य के त्याग की ही शिक्षा दी है । आप ज्ञानवृद्ध हैं, आपके लिये यह उचित नहीं है कि आप नश्वर जागतिक वैभव में आत्मस्वरूप का विस्मरण कर महायोगज्ञानसम्पत्ति गवाँ दे । हे गुरूदेव ! आप जानते हैं कि जो पुरूष अधोगामी, कामवृत्ति में क्षरित होने वाले वीर्यरस को ऊर्ध्वगामी कर लेता है, ब्रह्म (वीर्य) की सुरक्षा करता है, वही अवधूत है, सिद्ध है । हे गुरूदेव ! आप स्त्रीरमणसुख का परित्याग कर शिवस्वरूप में स्थित हो जाएँ ।

(50)

सखा रे सखा त्रिभुवन ते गखा । पांणी तैं पतला पहुप तैं हलवा ।।टेक।।
काया थैं मन जांन न देह । राति दिवस अभिअंतरिं लेह ।
मन मुद्रा कै रूप न रेष । जगत रूप मन ही मन देषि ।। । ।।
उलटैगा पवनां तब काया कौं गहेगा । काच गहे कंचन ह्वै रहेगा ।
यहु तन साच साचका धरवा रूध्र पलट अमीरस भरवा ।। 2 ।।
अतीत पुरस ग्यांन पद परसै । अविचल होइ सरीरं दरसै ।
जुरा मृतु काल का भछिण । निसपति जोगी जोगी का लछिन ।। 3 ।

गरड़ भुवंगम संमि करि सूता । देव द्वार रस मरदौ पूता ।
मर्दत मर्दत ह्वै है पीठी । ते बात गोरष प्रतषि दीठी ।। 4 ।।

प्राचीन टीका

(मन त्रिभवन सारिषौ । टेक । जगत मन कौ पसारौ । मन काया गहै । उलटि फिरि षीर होय । निसपती जोगी काल भषै । गरूड़ मन, भुवंगम । पांन अपांन नान्हौ कीयौ ।)

गोरखनाथ का अमृतोपदेश है कि त्रिभुवन, आकाश पाताल, मृत्युलोक, समस्त ब्रह्माण्ड में सर्वत्र परमात्मतत्व व्याप्त है । यह सच्चिदानन्द अलख-निरंजन तत्व ही सर्वोपरि मूर्धन्यतत्व है । यह महान्-से-महान् गुरूतत्व (गरवा) है और यही सूक्ष्म से सूक्ष्म है, अणु से अणु भी है । पानी और पुष्प के गन्ध से भी सूक्ष्म (हलवा-हलका) है । इसका न कोई रूप है, न रेखा अथवा आकृति है, यह रूपरंग से परे निराकार-निर्विकार चैतन्यघन सत् है । इस परमतत्व की अनुभूति उन्मनी समाधि में होती है, उस समाधि में मन का प्रवेश नहीं है, वह उन्मन अथवा अमनस्क हो जाता है, मन परम तत्व में आकारित हो उठता है । मन को इन्द्रियों के बाह्य विषयगत रूप, स्पर्श, शब्द गन्ध और रस में बहिर्मुखी नहीं होने देना चाहिए । उसे निरन्तर अन्तर्मुखी रखकर विषयातीत कर स्वरूप-प्राप्ति की दिशा में ब्रह्मरन्ध्र की ओर उन्मुख करना चाहिए क्योंकि चित्तवृत्ति का निरोध ही योग है । दिन-रात मन पर दृष्टि रखनी चाहिए और बाह्य विषयों में उसकी दौड़-धूप का अन्त कर देना चाहिए। मन की मुद्रा की कोई स्थूल आकृति अथवा वर्णन नहीं है । मन की साधना सूक्ष्म साधना है, अन्तर्जगत् में योगसाधना का विषय है । मन को वश में करने के लिए पवन-विजय आवश्यक है । प्राण को अधोमुखी नहीं होने देना चाहिए, प्राण-साधना की योगनिर्दिष्ट विधि से रेचक, पूरक, कुम्भक के द्वारा शरीर में उसे प्राणवाहिनी नाड़ियों में प्रवाहित करते हुए सुषुम्ना, ब्रह्मनाड़ी के मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र में प्रविष्ट करना चाहिए । पवन के स्थिर होने पर शरीर स्थिर होता है, प्राणाग्नि में तप्त होकर शरीर पक्व होता है और मन-पवन के साथ ब्रह्मरन्ध्र में अन्तर्लीन हो उठता है । जिस योगसाधक के

द्वारा मन और पवन वश में कर लिये जाते हैं, वह व्यक्ति योगसिद्ध हो उठता है और परमपदार्थ-परमात्मतत्व उसके हस्तगत हो जाता है । वह काँच अथवा मिट्टी का स्पर्श कर दे. तो वह सोना हो जाता है । यह शरीर-व्यष्टि-पिण्ड, अखिल ब्रह्माण्डनायक परमशिव का अधिवास है । यह सत्य का स्थान है, घर है, इसमें परमात्मा निरन्तर विद्यमान है, प्राण को उलट कर ब्रह्मरन्ध्र में स्थिर करना चाहिए । योगाग्नि में शरीर के पक्व होने पर, मन-पवन के स्थिर होने पर जीवात्मारूपी योगी ब्रह्मरन्ध्र में परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है । आत्मज्ञान की अनुभूति द्वारा परम पद का स्पर्श मिलता है । योगी जरा, मृत्यु और काल को खा जाता है, वह निष्पत्तियोगी कहा जाता है, मुक्तिपद अथवा स्वरूप में स्थित हो जाता है । उसकी प्रसुप्त कुण्डलिनी, सोयी सर्पिणी-शक्ति जाग जाती है और पवनरूप गरूड़ के साथ बह्मरन्ध्र में प्रवेश कर समरस हो जाती है, प्राण और कुण्डलिनी का समरसत्व स्थापित हो जाने पर ब्रह्मरन्ध्र में मन का अन्तर्लय हो जाता है । मन का मर्दन हो जाता है, मन को मूर्छित कर ब्रह्मामृतरस की सिद्धि कर ली जाती है और योगी रससिद्ध होकर सच्चिदानन्दस्वरूप में विहार अथवा रमण करता है । गोरखनाथ का कथन है कि मैंने अपने जीवन में इस रससिद्धि का प्रत्यक्ष अनुभव किया है। मन की उन्मनी समाधि में अन्तर्लीनता ही मन का मारण है, इससे अमृतत्व प्राप्त होता है ।

(51)

बांधौ बांधौ बछरा पीओ षीर ।
कलि अजरावर होय सरीर ।।टेक।।
आकास की धेन बछा जाया । ता धेन के पूछ न पाया ।। । ।।
बारह बछा सोलह गाइ । धैनु दुहावत रैंनि बिहाई ।। 2 ।।
अचरा न चरै धन कचरा न षाई ।
पंच ग्वालियां कौं मारण धाई ।। 3 ।।
याही धेनका दूध जु मीठा । पीवै गारेषनाथ गगन बईठा ।। 4 ।।

प्राचीन टीका

(बछरो यंद्री । षीर यमतरस । अजरांवर मारै न ।।टेक।। आकास ऊँची

दसा ।। धेनि आत्मा । त्रिभुवन त्रिगुणी काया । राजा जीव पूछ परकीरति नाहीं । बारह बछरा सो बारह कला सूरज की सो बांधों । सोलह कला चंद्रमा की सो यंम्रत सखै । धेनि आत्मां । रैणि चेतन आयुबल । अचर ब्रह्म । कचरा माया । विषै रस । पाँच ग्वालियाँ पाँच यंद्री । आत्मां धेनि । अमृतरस । गगन ब्रह्म ।)

(इस पद में योगि-राजेश्वर गोरखनाथजी ने अमृतपान की साधना पर प्रकाश डाला है ।) सहस्रार में योनि नामक त्रिकोणचक्र में ही चन्द्रमा का स्थान है, इस चन्द्रमा से निरन्तर अमृत प्रवाहित होता है, पर मूलाधार अथवा नाभि-स्थान में स्थित द्वादश कलावाला सूर्य इस अमृत को पी लेता है और शरीर के अंग-प्रत्यंग में अमृत यथाविधि नही पहुँच पाता है । यह सूर्य भी ब्रह्मरन्ध्र से ही उद्भूत है अथवा सहस्रारस्थ चन्द्रमा का पोषित बछड़ा (वत्स) है । इसको बाँध कर योगी को ब्रह्मानुभूतिरूपी गाय का अमृत स्वयं पीना चाहिए । सूर्य रूपी बछड़े को बाँधने का आशय यह हे कि सहस्रार में स्थित चन्द्रमा और मूलाधारस्थ सूर्य का मेल हो जाय । विपरीतकरणी मुद्रा के अभ्यास से योगी को बारह कलावाले सूर्य का मुख ऊपर और सोलह कलावाले चन्द्रमा का मुख नीचे की ओर कर शेष चार कलाओं में स्थित अमृत को पीना चाहिए । आकाश की धेनु, बह्मानुभूति निरंजन है, निराकार है, न इसके पैर हैं, न पूछ है, यह सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुभूति है । बारह कलावाला सूर्यरूपी बछड़ा सोलह कलावाली चन्द्ररूपी गाय का दूध, अमृत पीता रहता है, योगी को युक्तिपूर्वक इस दूध को स्वयं पीना चाहिए । इस गाय को दुहते-दुहते मायारूपी रात का अन्धकार मिट जाता है और ज्ञान का अमृतोदय, अरूणोदय (प्रकाश) हो गया है । यह गाय, ब्रह्मानुभूति अचल है, यह माया (कचरा) का भोग नहीं करती है, यह चंचल नहीं है, स्थिर है और शरीर की पाँच ज्ञानेन्द्रिय ही पाँच ग्वाले हैं, जिन्हें यह अपना अमृत नहीं लेने देती है, उन्हें मारने दौड़ती है, यह अमृत पाँच ज्ञानेन्द्रियों और मन से परे उन्मनी समाधि में स्थिर होने पर ही जीवात्मारूपी योगी पीता रहता है । वह ब्रह्मानुभूतिरूपी गाय, पाँच ज्ञानेन्द्रियों के वश में नही रह सकती है, वे विषयभोग में इसके दूध (अमृत) का उपयोग नहीं कर सकती हैं । यह अमृतस्वरूपिणी ब्रह्मानुभूति बड़ा मधुर दूध (अमृत) देती रहती है और इसका पान करते रहने से शरीर कभी क्षीण नहीं होता है, मन चंचन नहीं होता है तथा इन्द्रियाँ (ज्ञानेन्द्रिय)

विषयानुगामिनी नहीं हो पातीं, वे संयमित रहती हैं। गोरखनाथ ने (कुण्डलिनी-जागरण, षट्चक्रभेदन, मुद्राबन्ध और प्राण की साधना कर) ब्रह्मरन्ध्ररूपी आकाश में निर्विकल्प सहज समाधि में स्थित होकर ब्रह्मानुभूति के अमृतरस का पान किया है।

(52)

आवै संगै जाइ अकेला। ताथै गोरष रांभ रमेला ।। टेक ।।
काया हंस संगि ह्वै आवा। जाता जोगी किनहुँ न पावा ।। 1 ।।
जीवत जग मैं मूवां मसांण। प्राण पुरिस कत कीया पयांण ।। 2 ।।
जांमण मरणां बहुरि बिओगी। ताथै गोरष भैला जोगी ।। 3 ।।

यह बड़े आश्चर्य की विषय है कि शरीर से सर्वथा भिन्न शाश्वत चेतन जीवात्मा इस शरीर के साथ आता है, पर इसके क्षीण हो जाने पर अथवा रोगाक्रान्त होकर निष्प्राण हो जाने पर जीवात्मा इसका त्याग कर विलीन हो जाता है, शरीर निर्जीव होकर पड़ा रहता है। यही कारण है कि गोरखनाथ आत्माराम परब्रह्म अलख-निरंजन परमात्मा के स्वरूप में ही रमण करते हैं। हंस-प्राणस्वरूप जीव शरीर के साथ आता है, यह शरीर भौतिक है, आत्मस्वरूप नहीं है, इसलिये प्राणहंस, जीवात्मा के इससे बाहर हो जाने पर यह बात बुद्धि में नहीं आती है कि आत्मा कहाँ गया और यही कारण है कि सर्वसाधारण आत्मज्ञान से, स्वरूपबोध से दूर रहते हैं, उन्हें आत्मविवेक की प्राप्ति नहीं होती है। इस शरीर में जब तक जीवात्मा निवास करता है, तब तक यह जीवित ही दीख पड़ता है और आत्मा के, प्राणहंस जीवात्मा के निकल जाने यही शरीर मृतक, श्मशानस्वरूप हो जाता है। यह पता नहीं चलता है कि प्राण-पुरूष ने कहाँ प्रयाण किया। जन्म-मरण का होते रहना बड़ा ही क्लेशकर है, यह महान् दुःख है, जन्म-मरण की स्थिति से विमुक्त होकर गोरखनाथ ने योगी होकर, परमात्मा में स्थित होकर जीवन्मुक्ति का अमरकायत्व द्वारा वरण कर लिया।

(53)

चेला सब सूता नाथ सतगुर जागै। दसवैं द्वारि अवधू मधुकरी मांगै।।टेक।।
सहजै षपरा सुषमाने डंडा। पाँच संगाती मिलि षेलै नवषंडा ।। 1 ।।

गंग-जमन मधि आसण बालौ । अनहदनादकाल भैटालौ ।। 2 ।।
गगन मंडल में रमूं अकेला । उरध मुषि बंकनालि अमीरस झेला ।। 3 ।।
कथंत गोरषनाथ गुरू उपदेसा । मिल्यां संत जनटल्या अंदेसा ।। 4 ।।

गुरू साक्षात् आदिनाथ परब्रह्म शिवस्वरूप है, वह निरन्तर सद्ज्ञान-प्रकाश में जागता रहता है । शिष्य तब तक सोता ही रहता है, जब तक अविद्यास्वरूपिणी माया-निद्रा, असत्सम्बन्ध में व्यामोहित है । गुरू के शब्द से संसार-निशा में सोने वाले शिष्य जाग जाते हैं और परमात्मस्वरूप में स्थित हो जाते हैं । आदिनाथस्वरूप गुरू संसार में भिक्षाटन नहीं करता है, वह शरीर में अन्तर्मुखी वृत्तियों में शान्तचित्त होकर उन्मनी समाधि में स्थित होकर दसवें द्वार ब्रह्मरन्ध्र में अमृत की मधुकरी का आस्वादन करता है, यह नाथयोगी गुरू सहज ज्ञान का खप्पर धारण करता है, इस सहज ज्ञान से ही अमृत को सुरक्षित रखता है, उसे नाभिस्थित सूर्य के द्वारा शोषित नहीं होने देता है, इस योगी का दण्ड सुषुम्ना ही है, चक्रों का भेदन पूरा होने पर यह सुषुम्ना नाड़ी, जो मेरूदण्ड में स्थित है, सीधी हो जाती है और इस सद्गुरू योगी के पीछे (शिष्य रूप में) पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ चलती रहती हैं । वे विषयों में उसे (योगी को) आसक्त कर उसके लिये विरोधिनी नहीं सिद्ध होती हैं, उनके साथ नाथस्वरूप सद्गुरू नवां खण्डों में (शरीर के नवों द्वारों में) खेलता (विहार करता) रहता है, ये नवों द्वार संसार के लोगों के लिये मुद्रित (बन्द) रहते हैं, वे आत्मज्ञान का प्रकाशन नहीं होने देते हैं, पर योगीगुरू के लिये वे सदा खुले रहते हैं । हे साधकों । इसी तरह आसन, प्राणायाम, और मुद्राबन्ध आदि के द्वारा इड़ा (चन्द्र) नाड़ी और पिंगला (सूर्य) नाड़ी के द्वारा प्राण की साधना करते हुए प्राण को सुषुम्ना (सरस्वती) में स्थिर कर देना चाहिए, यही गंगा और यमुना में आसन लगाना है । इस तरह प्राण को स्थिर करने पर अनाहत चक्र में उत्पन्न अनाहतनाद का श्रवण करते हुए ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश कर चन्द्रामृत का पान कर मृत्यु पर विजय प्राप्त करनी चाहिए । मैंने (गोरखनाथ ने) इसी तरह की योगसाधना की है और अलख निरंजन परब्रह्म परमात्मा के स्वरूप में ब्रह्मरन्ध्र में रमण करता हूँ । गोरखनाथ का कथन है कि मैंने गुरू का उपदेश ग्रहण किया ओर संतजनों की कृपा से मेरा संशय नष्ट हो गया, मुझे सत्स्वरूप का बोध हो गया ।

रे मन हीरै हीरा बेघिला, तौ काया केणैं जाई ।
गिगन सिषर चंदा रहिबौ समाई ।।टेक।।
सात पाच तीनि नव घरि लै उपाई ।
विपरीतकरणी क़रिलै ज्यू थिर ह्वै बाई ।।
बाई जबथिर ह्वै महारस सीझै ।
कोट्यां मधे गुरू देवा गोटा एक बूझै ।। । ।।
कांने रातां डोरौ गाटाक्रिणि मीर मूलैं ।
सदा अभ्यास रहे जोगी गंगा जमुन कूंले ।।
गंगा जमुना कूंले पैसि करिले असनानं ।
चांपीला मूले अवधू घरीला घियांनं ।। 2 ।।
मेर डंड थिरि करै स्यौ सकती जोड़े ।
कोई गुरू आराधीला जो ब्रह्मगाँठि छोड़े ।
छूटे जब ब्रह्म गाँठि भरिये मेर नाला ।
सहजे पांचे चूरा भया पूरण कला ।। 3 ।।
चंदा गोटा षूटा करिलै सूरिज करिले पाटी ।
अहनिसि धोबी धोवे त्रिवेणी की घाटी ।।
तलै एक चंदा गोटा पाटी गोटा आछै (षै)
भौजल नदी पारि उतरीया सिघ गोरष भाछै (माषै) ।। 4 ।।

सिद्ध योगी गोरक्षनाथ का कथन है कि हे मन ! जब हीरे ने हीरे को बेध लिया अर्थात् आत्मा और परमात्मा में जब पूर्ण अद्वैत हो गया तो फिर काया को कौन महत्व देने जाय । काया को महत्व देने पर परमात्म तत्व का विस्मरण हो जाता है । परमात्म तत्व के बोध के लिए आवश्यक है कि साधक गगन शिखर, ब्रह्मरन्ध्र में स्थित अमृतस्वरूप चन्द्रमा में साधक अन्तर्लीन हो जाय । सप्त धातु, से निर्मित शरीर, पंचज्ञानेन्द्रिय, सत्व, रज, तम-तीनों गुणों और मुद्राबन्ध द्वारा नवों द्वारों पर अधिकार कर लेना चाहिए । इसके बाद विपरीतकरणीमुद्रा की सिद्धि के द्वारा नाभिस्थित सूर्य को ऊर्ध्वमुख और सहस्रार स्थित चन्द्र को अधोमुख कर सूर्य-चन्द्र के सामरस्य द्वारा अमृत की शेष चार

कलाओं का पान करते हुए प्राणसाधना के द्वारा प्राण को इड़ा-पिंगला से प्रवाहित करते हुए आज्ञाचक्र में सुषुम्ना में स्थिर कर देना चाहिए । इस तरह प्राण के सुषुम्ना में स्थिर हो जाने पर सहस्रार से द्रवित चन्द्रामृत का पान सहज सुलभ हो जाता है अथवा शरीर में महारस (वीर्य) जीर्ण होकर पच जाता है, ऊर्ध्वमुख होकर अमृत में बदल जाता है । कोटि-कोटि प्राणियों में केवल मात्र गुरूदेव इस प्राणगुटिका का रहस्य जानते हैं, प्राण को सुषुम्ना में रख लेने से, स्थिर कर लेने से अमृतस्वरूप में जीवात्मा की स्थिति हो जाती है । केवल बाह्य वेश से, कान में कुण्डल और लाल डोरा (सेल्ही) धारण करने से ही आत्मसिद्धि हाथ नहीं लग जाती है, इन्हें धारण करने की सार्थकता तो इसमें है कि जीवन की वृत्ति अन्तर्मुखी हो जाय और परमात्मस्वरूप की प्राप्ति में अपनी भूमिका निबाहे । योगी को अपने प्राण को कुम्भक की विधि से इड़ा (चन्द्रनाड़ी, गंगा) और पिंगला (सूर्यनाड़ी यमुना) में, प्रवाहित करना चाहिए, यही उसका गंगा-यमुना में स्नान करना है और इस तरह प्राण-साधना करते हुए उसे परमात्मा में ध्यान लगाना चाहिए । इस ध्यान की दृढ़ता के लिये मूलबन्ध आवश्यक है, गुदाद्वार का बार-बार संकोचन-आकुंचन कर प्राण को मेरूदण्ड में प्रवाहित सुषुम्ना में स्थापित करते हुए दसवें द्वार ब्रह्मरन्ध्र में स्थिर करना चाहिए । मेरूदण्ड के सीधा होने पर अथवा प्राण-साधना से वंकनाल, सुषुम्ना नाड़ी के उत्थित होने पर महाशक्ति कुण्डलिनी का ब्रह्मरन्ध्र में शिव से तादात्म्य अथवा मिलन होता है । गुरू की आराधना करने से ही, ब्रह्मग्रन्थि का भेदन होता है और योगी को सत्स्वरूप की प्राप्ति होती है । बिना ब्रह्मग्रन्थि का भेदन हुए (जीवात्मारूपी) योगी सहस्रार अथवा ब्रह्मरन्ध्र में शिव के परम पद का स्पर्श ही नहीं कर सकता, अलख-निरंजन का साक्षात्कार अथवा दर्शन ही नही कर सकता । ब्रह्मग्रन्थि का भेदन होने पर गुरू द्वारा ब्रह्मगाँठि छुड़ाए जाने पर कैवल्यपद का दरवाजा खुल जाता है । इड़ा-पिंगला नाड़ी सुषुम्ना में समा जाना ही मेरूदण्ड का प्राण से पूरित होना है और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ भी मन को चंचल करने का अपना स्वभाव छोड़ देती हैं, मन उन्मन हो जाता है और चन्द्रमा का पूर्ण प्रकाश प्रकट हो जाता है, अलख-निरंजन ज्योतिब्रह्म परमशिव का साक्षात्कार होता है । जिस तरह धोबी पाटे पर पटक-पटक कर जल से कपड़े को धोता है और उसका मैल

छुड़ाने के लिये खूँट (मुँगरी) से (कपड़े को) पीटता है, उसी तरह साधक के लिये यह चन्द्रमा ही खूँटा है और सहस्रार से प्रवाहित अमृत ही जल है, सूर्य पाटा है, इसी सूर्यरूपी पाटे पर चन्द्रमारूपी खूँटे से अमृतरूपी जल में काया को निर्मल कर लेना चाहिए । सहस्रार में स्थित चन्द्रमा के अमृत में मूलाधारस्थ सूर्यस्वरूप प्राणहंस (प्राणवायु) को सुषुम्ना से प्रवाहित करते हुए समरस कर शेष चार कलायुक्त अमृत का पान कर शरीर को अमरकायत्व प्रदान करना चाहिए, यही चन्द्रमारूपी खूँटे द्वारा अमृतरूपी जल से सूर्यरूपी पाटे पर शरीर का निर्मलीकरण है । चन्द्रमा और सूर्य के रूप में गोटा और पाटा (पाटी) हमें इस शरीर में उपलब्ध हैं, इनका योग-साधना में सदुपयोग कर भवसागर से पार उतर जाना चाहिए । गोरखनाथ का कथन है कि मैं इस तरह योगसाधना में तत्पर होकर अमृतपान से अमरकायत्व प्राप्त कर भव जल सरिता से पार उतर गया ।

(55)

जागौ हो जोगी अध्यात्म लागौ जागतड़ामूल न हारौ म्हारा भाई रे ।
अंदरि बैठौ अपणौ साहिब, देषै सोधै सकल कमाई रे ।।टेक।।
दासी नैं नारी अरूधर द्वारी, तुम्हें बेस्यांन करमन कीज्यो रे ।
विधवा नारी नौ संग करेस्यौ, तौ रोमि रोमि नरक पड़ीस्यो रे ।। 1 ।।
एक बूँदि के कारणि आप सवारथि, तुम्हें बाल हत्या फललेस्यौ रे ।
नरनारी दोन्यूँ नरकि पड़िस्यौ, घाणी घालि पड़ेस्यौ रे ।। 2 ।।
अंजनि भूला निरंजन चूका तुम्हें लीया सालिम बालौ रे ।
मछिंद्र प्रसादे जती गोरष बोल्या जीती सारि न हारौ रे ।। 3 ।।

हे योगी ! जागो, इस नश्वर क्षणभंगुर संसार की वैषयिक माया-निद्रा में सोने का समय नहीं है, भौतिक जीवन में सुख नहीं है, अध्यात्म में ही स्थित होकर निरन्तर ज्ञान-प्रकाश में जागते रहो । परमात्मा (साहब) हमारे शरीर में विराजमान है, और हमारे कर्मफल (कमाई) का शोधन करता रहता है । हे योगी, योग का मूल सांसारिक विषयों में वैराग्य और अनासक्ति का वरण है, योगी कहीं भी कभी भी अपने सत्स्वरूप से विमुख होकर अविद्या-स्वरूपिणी माया और अज्ञान के अन्धकार में जीवन नष्ट नहीं होने देता है ।

हे योगी, ! कभी भी सेविकाओं, स्त्रियों, घरबार आदि के कार्यो में नहीं फँसना चाहिए । योगी के जीवन का ध्येय तो अलख-निरंजन परमात्मा का साक्षात्कार है, उसे विवाह कर गृहस्थी चलाने, दासियों को सेवा-कार्य में रखने और मकान आदि बनाने से किसी भी तरह का पारमार्थिक लाभ नहीं हो सकता, ऐसा करना तो वेश्या के कर्म में प्रवृत्त होना है, मन की चंचलता और अपनी भोगैषणा का परिचय देना मात्र है । विधवा से दूर रहना चाहिए, उनका संग करने से योगी अपने साधनमार्ग से भ्रष्ट हो जाता है । शरीर से कामवासना की तृप्ति करने के लिये वीर्य के एक बूँद को भी क्षरित होने देना बालहत्या के समान है, यह महान् पाप है और अपने आप को मृत्यु के मुख में डाल देना है । नर और नारी, दोनों को ही नरक की यंत्रणा भोगनी होगी, एक ही घानी में दोनों डाले जायेगें । हे योगी, माया (अंजन) में आसक्त होकर निरंजन, परब्रह्म परमात्मा को भूल जाना ऐसा है, मानो धान की बालि, हरी फसल में आग लगा कर जला देना है । इसका आशय यह है कि जीवन को नष्ट नहीं करना चाहिए । ब्रह्मरन्ध्र में स्थित परमशिव अलख-निरंजन का साक्षात्कार कर लेना चाहिए । यही साधना की परमचरम सिद्धि है । योगिराजेश्वर सद्गुरू श्रीमत्स्येन्द्रनाथ की कृपा से मैं गोरखनाथ योगी, अपना अनुभव व्यक्त करता हूँ कि माया में फँस जाना, स्त्री और दासी रखने और घर बनाने में आसक्त हो जाना जीती बाजी को हार जाना है, योग मार्ग से भ्रष्ट होना है । श्रेय तो यही है कि निरंतर योगी अध्यात्म में स्थित रहे ।

(56)

चलि रे अबिला कोयल मौरी, धरती उलटि गगन कूँ दौरी ।टेक।
गईयां बपड़ी सिंध नै धैरै । मृतक पसू सूद्र कूं उचरै ।
काटै ससत्र पूजै देव । भूप करै करसा की सेव ।। । ।।
तलि करि ढकणी ऊपरि झाल । नछीजैगा महारस बंचेगाकाल ।
दीपक बालि उजाला कीया । गोरष के सिरि परबत दीया ।। 2 ।।

यह पद एक तरह की उलट बासी है । सामान्यतः मनुष्य की मनोवृत्ति माया की ओर दौड़ने की है किन्तु जब मन में ज्ञान उदय होता है तब स्थिति बदल जाती है । यहाँ 'अविला' (आम) और 'माया' कोयल

मनोवृत्ति, का प्रतीक है । मन में ज्ञान का प्रकाश हो चुका है । इसलिए अब मन (कोयल) माया (अविला) की ओर प्रवृत्त नहीं हो सकता । गोरखनाथ माया को सावधान करते हैं कि हे माया । जीवात्मा अपने ज्ञान-प्रकाश में स्थित है, उसे तुम अपनी ओर आकृष्ट कर बन्धन में नहीं डाल सकती, धरती (कुण्डलिनी) आकाश की ओर, ब्रह्मरन्ध्र की ओर चढ़ गयी है, सुषुम्ना नाड़ी में उत्थित होकर कनकाभा से युक्त विद्युज्ज्योतिमयी महाशक्ति का ब्रह्मरन्ध्र में शिव से मिलन हो गया है, जीवात्मा साक्षात् सच्चिदानन्दस्वरूप हो गया, इसलिये हे माया । अब तुम्हारा त्रिगुणात्मक आकर्षण, सम्मोहन उसे प्रभावित नहीं कर सकता, तुम स्वयं सत्स्वरूपिणी महाविद्या मूलमाया हो, अपने आनन्दआश्रय में प्रतिष्ठित हो जाओ । संसार में देखा तो यह जाता है कि गाय सिंह से भयभीत रहती है, मनुष्य की अन्तर्मुखी शान्तिमयी सात्त्विक प्रवृत्ति ही गाय है, और उसकी काम, क्रोध, लोभ, मोह, मदमत्सरमयी बाह्य वृत्ति ही सिंह है, अब ज्ञान का प्रकाश हो जाने पर यह सिंह परास्त हो गया है । शरीर मृत होने पर यमराज द्वारा अपहृत कर लिया जाता है, पर अब तो परिस्थिति बदल गयी है । यह अमृतस्वरूप शरीर ही अब मृत्यु (यमराज) को चुनौती दे रहा है । अभी तक तो यही क्रम रहता आया है कि भोग-कामनाओं की तृप्ति के लिये अन्य देवों की (सत्स्वरूप से भिन्न मानते हुए) प्रसन्नता के लिए बलि होती रही, अब बलिवाले शस्त्र निरर्थक हो गये आत्मदेव की, अलख-निरंजन की पूजा में, ज्ञान-प्रकाश में तृप्ति प्राप्त करने वाले जीवात्मा के लिये भोगपूर्ति के समस्त साधन परमात्मा की पूजा के उपकरण हो गये, इन्द्रियाँ (पंचज्ञानेन्द्रिय) और मन आदि सत्स्वरूप की प्राप्ति के साधन हैं । हमारी नाभि में स्थित बारह कलावाला सूर्य सहस्रार में स्थित सोलहकला वाले चन्द्रमा के अमृत का शोषण करता है, विपरीतकरणी मुद्रा के द्वारा ब्रह्मरन्ध्ररूपी पात्र को, जिसमें चन्द्रमा का अमृत प्रवाहित होता है, नीचे की ओर करना चाहिए और सूर्य को ऊपर कर देना चाहिए, इस तरह सूर्य-चन्द्र (ह और ठ) हठ के योग से शेष चार कलावाले अमृत का पान करना चाहिए, इससे महारस का नष्ट होना रुक जाता है और काल-वंचन होता है । कुण्डलिनी, परम ज्योतिमयी शक्ति ऊर्ध्वमुख होकर मूलाधार में स्थित कामरूपपीठ से उत्थित होकर ब्रह्मरन्ध्र में स्थित पूर्ण गिरिपीठ पर स्थित हो जाती है । इस तरह पर्वत पर दीपक का प्रकाश जल उठता है ।

गोरखनाथ ने इस कुण्डलिनी महाज्योति को ब्रह्मरन्ध्र में जगाकर प्रतिष्ठित कर दिया है।

(57)

सांभलि राजा बोल्या रे अवधू । सुणौ अनोपम बांणी जी ।
निरगुण नारी सूं नेह करंता । झबकै रैणि बिहांणी जी ।।टेक।।
डाल न मूल पत्र नहिं छाया । बिण जल पिंगुला सीचै जी ।
बिण ही मढीयां मंदला बाजै । यण बिधि लोका रीझै जी ।। । ।।
चींट्यां परबत ढोल्यारे अवधू । गायां बाघ विडारया जी ।
सुसलै समदां लहरि मनाई । मृघां चीता मारया जी ।। 2 ।।
ऊझड़ मारिग जाता रे अवधू । गुर बिण नहीं प्रकासा जी ।
जीत्या गोरष अब नही हारे । समझि ररालै पासा जी ।। 3 ।।

(जागतिक ऐश्वर्य और वैभव तथा भोगसुख में आसक्त, भौतिक सम्पत्ति के स्वामी को अवधूत योगी उपदेश देता है कि) हे राजा ! सावधान होकर अनुपम वाणी, का श्रवण करना चाहिए । प्राणी इस संसार की माया में रागासक्त होकर सोते हुए जीवन बिता रहे हैं, सोते-सोते ही रात बीत गयी, आयु समाप्त हो रही है । यह माया उस वृक्ष के समान है, जिसका न मूल है न शाखा है, न पत्ते हैं, इसकी छाया भी नहीं है कि इसके तले (इसकी छाया में) बैठ कर विश्राम किया जाय । इस माया-वृक्ष को सींचने वाला पंगु हैं, आत्मा है, आत्मा के न हाथ है, न पैर है, वह निराकार है । यह माया ऐसा मृदंग है, जो मढ़ा तक नहीं गया है । जिस तरह बिना चमड़े से मढ़े मृदंग को बजाने पर किसी भी तरह की ध्वनि नहीं निकल सकती, उसी तरह इस माया से आत्मज्ञान नही हो सकता । (गोरखनाथ का योगमार्ग पर चलनेवालों से कथन है कि) हे अवधूत, हे योगी, यह माया एक साधारण चींटी है पर यह आत्मरूप पर्वत को ढहा देती है । देखने में तो यह गाय के समान सीधी लगती है, पर आत्मारूपी बाघ को, शक्तिमान् को अपने पंजों से दबोच देती है । यह बात तो ऐसी है कि मानो समुद्र की अतल लहरियों को सुसलै (खरगोश) ने अपने वंश में कर लिया तथा मृग (मन) ने चीते को मार डाला है । हे योगी ! योगमार्ग ऊबड़-खाबड़ है, यह कठोर साधना का पथ है और

इस पर जो सावधान होकर नहीं चलता है, उसका पतन हो जाता है, गुरू के उपदेशामृत के (ज्ञान) प्रकाश में ही इस मार्ग पर चल कर श्रेय की प्राप्ति की जाती है । गोरखनाथ तो समझ-बूझ कर पासा फेंकते हैं, दाँव लगाते हैं, जीती बाजी हार जाना ठीक नहीं है । मैंने गुरू की कृपा से माया पर विजय प्राप्त कर ली है । अब गुरू ही रक्षक है, मेरे पतन की आशंका ही नहीं है ।

(58)

तुझि परिवारी हो अणघड़ीया देवा ।
घड़ी मूरति कूं सब कोई सेवै, ताहिन जाणै भेवा ।।टेक।।
तू अबिनासी आदू कहीए, मोहि भरोसा पड़ीया ।
सब संसार घड़्या है तेरा, तू किनहूँ नहिं घड़ीया ।। 1 ।।
दस औतार औतिरीया तिरिया, वै पणि रामन होई ।
कमाई अपणी, उनहूँ पाई, करता और कोई ।। 2 ।।
तूं पूरण ब्रह्म पुरूष प्रिथमी का, सूरति मूरति सारा ।
श्रवणां सुण्यां न नैनां देष्यां, तेरा घड़णैं हारा ।। 3 ।।
तूं तौ आप तैं हूवा, तूं देष्यां उजियारा ।
गोरष कहै गुरू कै सबदां तूं ही घड़नैं हारा ।। 4 ।।

हे (अलख निरंजन) स्वेच्छा अथवा निजा शक्ति में स्वरूपस्थ परब्रह्म निराकार परमेश्वर, मैं आप की बलिहारी लेता हूँ । मैं आपके स्वरूप का स्तवन करता हूँ । आप के साकार रूप की उपासना तो सभी लोग करते हैं, पर वह किस तरह आकारित है, किस तरह निजाशक्ति, पराशक्ति, अपराशक्ति, सूक्ष्मशक्ति और कुण्डलिनी शक्ति के समस्त गुणों से अभिव्यक्त है, इसका लोगों को पता नहीं रहता है । आप आदि पुरूष अविनाशी हैं । इस बात में मुझे पूरा भरोसा है । आपने समस्त जगत् का सृजन किया है, आप को सृजन करने में कोई भी समर्थ नहीं है । यह संच है कि (शास्त्र के अनुसार) आप ने दस अवतार लिये, पर हे राम, निरंजन, आप उनसे (मायातीत) अतीत हैं । वे अवतरित होकर लीला कर गये और वे आप के ही स्वरूप हैं, पर आप निराकार अलख ब्रह्म हैं, वे साकार ब्रह्म हैं । समस्त जगत् आप के रूप में प्रकट अथवा अभिव्यक्त है । आप सम्पूर्ण हैं, इसलिये आप का कोई स्रष्टा ही नहीं हो सकता है । न मैंने आप के स्रष्टा का (ज्ञाननेत्र से) दर्शन किया है और न उनके सम्बन्ध में सुना ही है । आप

आप अपनी इच्छा, निजाशक्ति में ही अभिव्यक्त हैं । आप अपने आप प्रकट हैं । मैं (गोरखनाथ) गुरू ज्ञान के प्रकाश में कहता हूँ कि आप ही अपने स्रष्टा अविनाशी परब्रह्म परमात्मा हैं ।

(59)

(राग रामश्री)

मन रे राजा राम होइलै नृदंद, मूलै कमलै साजिलै रविचंद ।।टेक।।
अनहद भौरौ भव तृबेणी कै घाट,
पीयलै महारस फाटिलै कपाट ।। 1 ।।
चंदा करिलै षूटा सूरजि करि लै पाट ।
नित उठि धोबी धोवै तृबेणी के घाट ।। 2 ।।
भरिलै नाड़ी षोड़ी, पुरिलै बंक नालि,
बदंत गोरषनाथ अवधू इम उतरिबौ पार ।। 3 ।।

हे मन । इन्द्रियजन्य विषय-भोगासक्ति से परे होकर ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश कर, अमनस्क होकर अथवा उन्मनी समाधि में स्थित होकर अपने अलख निरंजन, रामरूप में, निराकार स्वरूप को प्राप्त कर लेना चाहिए । मूलाधार चक्र (कमल) में स्थित द्वादश कलावाले सूर्य को विपरीतकरणी मुद्रा से ऊर्ध्वमुख कर और सहस्रार में योनि नामक त्रिकोण में स्थित चन्द्रमा को अधोमुख कर उसकी सोलह कला में चार कलावाले अमृत को बचा कर पान करना चाहिए, इड़ा-पिंगला-सुषुम्ना में प्राण का स्थैर्य्य ही त्रिवेणी है और इस त्रिकुटी में, हृदय में उत्थित ऊँकारस्वरूप अनाहतनाद रूप भौंरा गूँज रहा है । आज्ञाचक्र में सहस्रार से चन्द्रमा का अमृत बरस रहा है, झर रहा है, ब्रह्मरन्ध्र दसवें द्वार को खोल कर इस महारस का पान कर स्वरूपानन्द में मग्न हो जाना चाहिए आज्ञाचक्र में, हे मन । स्थित होकर आत्मस्वरूप का ध्यान करना चाहिए, त्रिवेणी में स्नान करना चाहिए । सूर्य को पाटा बनाना चाहिए । चन्द्रमा को कपड़ा पीटने का खूँटा (लकड़ी) बना लेना चाहिए और शरीर के पाँचों ज्ञानेन्द्रियों और प्राण (वायु) को धोकर निर्मल बना लेना चाहिए । जिस तरह धोबी पाटे पर कपड़ा रखकर जल में भिगोकर लकड़ी-खूँटे अथवा मुँगरी से पीट-पीट कर उसका मैल निकाल देता है, धो देता है, उसी तरह त्रिकुटी में, त्रिवेणी में तन और प्राण को निर्मल बनाकर ब्रह्मद्वार, दसवें द्वार का भेदन

कर परम शिव का साक्षात्कार कर लेना चाहिए । प्राणवाहिनी नाड़ियों को प्राणायाम से शुद्ध करना चाहिए । इड़ा - पिंगला से प्रवाहित प्राण को सुषुम्ना के ब्रह्ममार्ग में स्थापित कर शुद्ध कर लेना चाहिए । वंकनाल-सुषुम्ना में प्राण के स्थिर हो जाने से, अमृतत्व की प्राप्ति होती है ! गोरखनाथ का कथन है कि हे मन ! इस तरह जीवन को अमृतत्व प्रदान कर संसार-सागर से पार उतर जाना चाहिए, यही मोक्षपद है ।

(60)

गोरष बालूड़ा बोलै सतगुरू बांणी रे ।
जीवता न परण्यां तेन्हैं अगनि न पांणी ।।टेक।।
षीली दूझै भैंसि बिरौलै सासूड़ीपालनड़ै बहुड़ी हिंड़ौलै ।। । ।।
कोयल मोरी आंबौ बास्यौ गगन मछलड़ी बगलौं गरास्यौ ।। 2 ।।
करसन पाकु रषवालू षाधू, चरि गया मृघला पारधी बांधू ।। 3 ।।
सींगी नादै जोगी पूरा, गोरषनाथ परन्यां तिहां चंद न सूरा ।। 4 ।।

प्राचीन टीका

(गोरष बालूड़ा जीवन परण्या नहीं । अगनि ब्रह्म । पांणी रामरस ।।टेक।। षीलौ मन । भैंसि (भींसि) काया । बिरौलै विचार । सासू सुरति । बहू बुधि । कोयल बांणी । आंब आत्मा । गगन ब्रह्म । मछली मनसा । बगुलौ काल । करसण कांम पाकौ । रषबालौ काल । मृघला मनोरथ । पारधी मन । सींगी सुरति । नाद सबद ।)

अपने सद्गुरू का शिष्य (बालक) योगी गोरखनाथ अपने गुरू से प्राप्त सदुप-देशामृत का वर्णन करते हैं कि परमतत्व, अलख-निरंजन परमात्मा परम शिव से मैंने सत्सम्बन्ध स्थापित कर लिया है, गाँठ जोर ली है । इस गठ जोड़ (विवाह) के लिये भौतिक विवाह की तरह हवन (अग्नि) और पानी (चरण-प्रक्षालन के जल) की आवश्यकता नहीं रहती है । मैंने अग्नि और जल से अतीत होकर अपने स्वामी का वरण किया है । पहले माया असत्स्वरूपेणी और तामसी वृत्तियों की पोषिका रहती है, पर परमात्मा से जीवात्मा का वैवाहिक सम्बन्ध हो जाने पर वह सद्विवेक के प्रकाश में

सतोगुणी हो जाती है । माया की खूँटी पर बँधी इच्छारूपी भैंस पहले लौकिक आनन्दरूप दूध देती है, पर अब माया का तमोरूप समाप्त हो जाने पर स्वरूपानन्द का अमृत (दूध) देती है, जिसे इच्छारूपी (मनसा) भैंस बिलो रही है, ब्रह्मतत्वरूप मक्खन (नवनीत) निकाल रही है । माया सास की बहू ब्रह्मानुभूति है, जिससे उसके पुत्र (जीवात्मा) ने विवाह किया है, ब्रह्मानुभूति के प्रकट होने पर माया की दशा एक बालक की तरह होती है, निर्बल और वह शक्तिहीन हो जाती है तथा ब्रह्मानुभूति के वश में हो जाती है । यही बहू द्वारा (ब्रह्मानुभूति द्वारा) सास (माया) को हिंडोले में झुलाना है । मनसा, इच्छा ही कोयल है, जो पहले माया (आम) के बौरने पर आनन्दमग्न हो जाती है पर परमात्मा से जीवात्मा का परिणय हो जाने पर यह मनसा ही अन्तर्मुखी हो जाने से स्वयं ब्रह्मानुभूति से पुष्पित और पल्लवित हो जाती है और माया अपने निर्मल सात्विक रूप में आनन्द मनाती है । पहले बगुला, अहंकार-चेतना को निगल जाता है और अब ब्रह्मानुभूति प्राप्त होने पर चेतना रूपी मछली गगन, ब्रह्मरन्ध्र में स्थिर हो गयी है, वह मायिक, जल-प्रकृति से मुक्त होकर अमृतरस में पहुँच गयी है और अहंकार रूपी बगुले का अस्तित्व ही समाप्त हो गया है । समाधि ही (करसनपाकु) पकी हुई खेती है, उसमें अहंकार जीवात्मा को प्रवेश करने से रोकता है, रखवाली करता है । अब ब्रह्मानुभूतिमयी समाधि सिद्ध हो गयी है, इस पकी खेती ने अहंकार का भक्षण कर लिया । अहंकार समाधि में विलीन हो गया और पहले कालपारधी ही मनरूपी मृग को अपना शिकार बनाता है, पर मनरूपी मृग के उन्मन हो जाने पर कालरूपी पारधी स्वयं मर गया है, मृत्यु की ही मृत्यु हो गयी है । पर-ब्रह्मानुभूति के पहले योगी सींगी बजा कर नाद का रसास्वादन करता है, पर जीवात्मा का परमात्मा से पाणिग्रहण हो जाने पर वह अनाहतनाद में स्वयं रमण करता है । गोरखनाथ का कथन है कि अलख-निरंजन की ज्योति में अन्तर्लीनता के लिये सूर्य-चन्द्रमा साक्षी नहीं हैं, वे दोनों प्रकाशहीन हैं, परब्रह्म के प्रकाश में उनकी भिन्न गति नहीं है, परमात्मा से जीवात्मा का प्रेम - सम्बन्ध हो गया है ।

(61)

आरती

नाथ निरंजन आरती गाऊँ । गुरदयाल अग्यां जो पाऊँ ।।टेक।।
जहाँ अनन्त सिंधा मिलि आरती गाई । तहां जम की बाच न नैड़ी आई ।। । ।।
जहाँ जोगेसुर हरि कूं ध्यावैं । चंद सूर तहां सीस नवावैं ।। 2 ।।
मछिंद्र प्रसादैं जती गोरषनाथ आरती गावै ।। 3 ।।
नूर झिलमिलि दीसै तहाँ अनत न आवैं ।। 4 ।।

अलखन-निरंजन ब्रह्म, शाश्वत अखण्ड ज्योति, सनातन परमात्मा की आरती हो रही है, इस आरती का मैं प्रत्यक्ष दर्शन कर रहा हूँ । इस चिन्मय आरती का गान, योगीन्द्र सद्‌गुरू (मत्स्येन्द्रनाथ) की कृपा से ही करने में समर्थ हो सकता हूँ । अनन्त (असंख्य) सिद्ध, योगसिद्ध इस परमपद, परम ज्योति-स्वरूप में अन्तर्लीन होकर, अमृतपद में अथवा स्वरूप में स्थित होकर आदिनाथ निरंजन देव की आरती गा रहे हैं, बड़ी भव्य झाँकी है, यह अविनाशी पद है, इस परम धाम में यम, मृत्यु के स्वामी, काल की गन्ध तक नहीं है, क्योंकि महाकाल परमशिव के पद में यमराज का प्रवेश ही नहीं है, बड़े-बड़े योगेश्वर ध्यान कर रहे हैं । परमशक्तिमान् परमेश्वर के प्रणिधान और चिन्तन में लीन हैं, श्रीहरि के चरणदेश में, परमपद में, प्रकाश के देवता सूर्य-चन्द्र अपने-अपने तेज का समर्पण कर रहे हैं, प्रणत हैं, इस ब्रह्म स्थान, ब्रह्मरन्ध्र में सूर्य (पिंगला) और चन्द्र (इड़ा) नाड़ी ब्रह्म मार्ग में, सुषुम्ना में स्थित होकर योगी के वश में हो गये हैं अथवा मूलाधारस्थ सूर्य और सहस्रारस्थ चन्द्रमा का सामंजस्य स्थापित हो गया है । मैं योगेश्वर परम गुरू (सिद्धनाथ) मत्स्येन्द्रनाथ की कृपा से परमात्मा में, अभिन्न स्वरूप में योगस्थ होकर, अपना अनुभव शब्दांकित करता हूँ, अलख-निरंजन की आरती का, चिन्मय सच्चिदानन्द प्रकाश का वर्णन करता हूँ ।

(62)

नाथ निरंजन आरती साजै । गुर के सबदूं झालरि बाजै ।।टेक।।
अनहदनाद गगन मैं गाजै । परम जोति तहाँ आप बिराजै ।। । ।।

दीपक जोति अषंडत बाती । परम जोति जगै दिन-राती ।। 2 ।।
सकल भवन उजियारा होई । देव निरंजन और न कोई ।। 3 ।।
अनत कला जाके पार न पावै । संष मृदंग धुनि बेनि बजावै ।। 4 ।।
स्वाति बूंद लै कलस बंदाऊँ । निरति सुरति ले पहुप चढ़ाऊँ ।। 5 ।।
निज तत नांव अमूरति मूरति । सब देवां सिरि उदबुदि सूरति ।। 6 ।।
आदिनाथ नाती मछेन्द्रनाथ पूता । आरती करै गोरष औधूता ।। 7 ।।

आदिनाथ, अलख-निरंजन, परब्रह्म परमप्रकाशस्वरूप, शाश्वत ज्योतिर्मय की आरती हो रही है, गोरखनाथ आरती कर रहे हैं, आरती सजाते हैं । ब्रह्मरन्ध्र में विराजमान परमेश्वर की आरती की प्रत्यक्ष अनुभूति के स्तर पर (योगिराजेश्वर गोरखनाथ का) शब्दांकन है कि अलख निरंजन की मैं आरती कर रहा हूँ, गुरू का उपदेश ही झाँझ है, अनाहतनाद बज रहा है, (मृदंग निनादित है) तथा निरंजन ज्योतिस्वरूप परब्रह्म विराजमान है । ज्ञाननेत्र ही दीपक है, आज्ञाचक्र में स्थित तृतीय नेत्र, शिवनेत्र में प्राणवाहिनी सुषुम्ना नाड़ी में (इड़ा-पिंगला-सुषुम्ना के संगम), त्रिवेणी में अमृतस्वरूप प्रकाश ज्योतित है, यह अखण्ड रूप से प्रकाशित है, इस ज्योति से अखिल-ब्रह्माण्ड, सचराचर ज्योतित है और एकमात्र अलख-निरंजन परब्रह्म परमेश्वर ही अपनी पूर्ण ज्योति में सर्वत्र अभिव्यक्त हैं । यह ज्योति रात-दिन प्रकाशित है, पलमात्र के लिये भी इसकी गति का अवरोध नहीं होता है । परब्रह्म परमेश्वर की अनन्त कलायें हैं, शक्तियाँ हैं, उनका पार नहीं पाया जा सकता है । इस अखण्ड आरती में अनवरत शंख, मृदंग, बाँसुरी की मीठी ध्वनि, अमृतध्वनि प्रवाहित होती रहती है । अलख-निरंजन को अर्घ्य प्रदान करने के लिए मेरा शरीर ही पवित्र कलश है, जिसमें सहस्रार से द्रवित (परम निर्मल, जल, स्वाति नक्षत्र का अमृत जल) है, मैं इस अमृत को उसके चरण पर प्रणतिपूर्वक समर्पित करता हूँ अथवा आत्मज्ञानामृत से उसका चरण-प्रक्षालन करता हूँ । मैं उस परब्रह्म को वैराग्य और सुरतिरूपी पुष्पांजलि अर्पित करता हूँ । वह निराकार है, समस्त जगत् में व्याप्त है, पर रूप-रंग से परे अलख-निरंजन परमेश्वर है, वह निज तत्व है, निजाशक्ति में अभिव्यक्त है । आदिनाथ का पौत्र शिष्य और मत्स्येन्द्रनाथ के गुरुज्ञान में अनुग्रहीत गोरखनाथ अलख-निरंजन की आरती करता है ।

(इति)

ॐ अबिगत उतपतते ॐ। ॐ उतपतते आकासं। आकासंउतपतते बाई। बाई उतपतते तेज। तेज उतपतते तुया। तुया उतपतते मही। मही रूप देवी का रंग। जल रूप ब्रह्मा का वरण। तेज रूप विश्न की माया। पवन रूप ईश्वर की काया। आकास रूप नाद की छाया। नादरूप अबिगत उपाया। सुंनि निरंजन भूचर देव। भूचर का नही पाया भेव। अगम अगोचर। अनंत तरवर। अनन्त साषा। ससंवेद परम भेद। भेदांनि भेद आत्मा ध्यांन ब्रह्म ग्यांन। षेचरी मुंद्रा। भूचरी सिधि। चाचरी निधि। अगोचरी बुधि। उनमनी अवस्था। अनभै करा-माति। अतीत देवता। अबिगत पूजा। अनील आश्रम आध्यात्म विद्या। गगन आसन अमृत प्याला। मनसा माई। पंचभू चेला। मन रावल, पवन भोगी। दसवैं द्वारि प्राणंनाथ जोगी। सहजि आवंणां। अवधू संजमें जाणां। सुषमनां नदी। निहिकेवल जल। तृबेणी सनांन। तृकाल संझ्या। अजपा गावत्री। अनूंपम मंत्र।

निरंजन माला, निराकार ज्वाला। कवल गरजै सबद उजियाला।
छसै सहंस इकवीस मेला। नष सष पवन ले बंधिबा मेलां।
नाद अनाहद निहसबद बांणी। जीव थैं सीव होइबा प्रांणी।
देही बदेही अविचल थीरं। रूंध्र उलटि फिरि होइबा षीरं।।
दिष्टि बिदिष्ट जोइबा नैनं। पवन निरंजन बोलिबा बैनं।
सबद निहसबद तब होइबा थूलं। आदि का आदि सो होइबा मूलं।।
नाद ब्यंद गांठिबा पवन अकास। पड़ै घट न होइबा नासं।
धरणि गगन परिमाध न कोई। जंत्र चलै तहं काल न होई।।
अषंड मढ़ी तहां जोतिबा ध्यानं, जुग जुग तालीकथिबा ग्यांनं।
मूलच्रक तहाँ प्रगटै ज्यंदू। पलटै काया थिरह्वै कंधू।
मूलबन्ध बज्र कछोटा पकड़िबा थीरं। सत उडियांणी बंधिबा बीरं।।
जत जगोटा आसणपूरं, अमृत धारा कमंडल होइबा सूरं।
कुंभ पात्रे पीयबा नीरं। चेतनां बिभूति अंगि सरीरं।।
अजर कथा नहिं बाद बिबादं। अनाहद सींगी बजायबा नादं।
संतोष तिलक तहां पद नृबाणं। ब्रह्म कवल टोपी पहरिबा त्राणं।।
मन बैराग मुद्रा जोई रूपं। बदंत गोरष ए तत अनूपं।

दया दंड तहां तृकुटी ध्यानं । छिमा लाठी टेकिबा मांनं ।।
चंद सूर भाटी उजेबा धारं । झुरै गगन तहां होइ मतिबारं ।
सो जोग्यंद्र जोग जुगता अबिचलं सारं । छछंद मुक्ता भै भ्रम पारं ।।
दोइ पछि ब्रह्म बिधवा सूलं । गुर बचन अनाहद मानिबा मूलं ।
अनंत सिधा तहाँ सारमसारं । निस्चल थीरं तब होई निरालं ।।
अजाचीक भिष्या आइबि थानं । गुरू मछींद्रनाथ नी सिछ्या पहरिबा कानं ।
अकलप डीबी झोली निरासं । सजीवन मात्रा बीरजनासं ।।
एकांति रहीबा अवधू बेधिबा थूलं । नहि होवै आवागमन का मूलं ।
बारह कला देवी सोलह कला देवं । सुषुमना नाड़ी बंधिबा भेवं ।।
नौ से जोगणी चालिबा साथ । बुरिज बहतरि गाइबा नाथं ।
नव षंड प्रिथमी मांगिबा भिछ्या । त्रिलोक मथैन होइबी विप्यष्या ।।
चवदह ब्रह्मंड तहां जोइबा द्वारं । षट दरसन ए पंथ लै सारं ।
दार बहनी ज्यूं होइबा भेवं । असषं दल पंषुडी गगन करि सेवं ।।
बदंत गोरष अबिचल जापं । लिपै नहीं तहां पुंन न पापं ।
सुनि ध्यांन सोलह कला सपूरण माला । आपण स्यंभू श्रीगोरषबाला ।।

(सारांश)

अलख-निरंजन परब्रह्म परमेश्वर से शब्द-ब्रह्म ऊंकार अभिव्यक्त है । ऊँसे आकाश, आकाश से वायु, वायु से तेज (अग्नि), तेज से जल और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति है । पृथ्वी का रूप देवी के स्वर्णिम (पीताभ) वर्ण का है । जल का रूप ब्रह्मा के वर्ण के समान (कुन्द धवल) श्वेत है । तेज (अग्नि) का रंग विष्णु की माया (लक्ष्मी) के वर्ण के समान लाल (रक्तवर्ण) है । पवन का रंग ईश्वर की काया के समान (धूम्रवर्ण) है और आकाश काला अथवा श्वेत हैं, शब्द की छाया है । अलख अनादि ब्रह्म से नाद उत्पन्न है । शून्य निरंजन ही देव है । यह अगम, अगोचर और अनन्त है । यह स्वानुभवगम्य, स्वसंवेद्य है, वेद इसका वर्णन नहीं कर पाते हैं । इस एक के अनेक भेद हैं, स्वरूपतः यह सहज शून्य अनादि शाश्वत चैतन्यतत्व है । आत्मा का ध्यान ही ब्रह्मज्ञान है । खेचरी आदि-मुद्राओं के अभ्यास से उन्मनी समाधि में अतीत-देवता अलख-निरंजन परब्रह्म का अनुभव होता है । उसकी

प्राप्ति ही उसकी (सूक्ष्मातिसूक्ष्म) पूजा है । प्राणवायु ही आश्रम है, जिसमें जीवात्मारूपी योगी निवास करता है । अध्यात्मविद्या है, ब्रह्मरन्ध्र अथवा गगन ही आसन है, सहस्रार से द्रवित अमृत से भरा प्याला पीकर जीवात्मा अमर हो जाता है । इच्छा ही माया है । पाँचों भूत चेला हैं । मन राजा है, रावल योगी है और प्राण ही भोगी है । ब्रह्मरन्ध्र में जीवात्मा योगी शिव का साक्षात्कार करता है । सुषुम्ना नदी है, त्रिकुटी में ही इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना के संगम में स्नान है, अनुपम ऊँमंत्र अथवा हंसगायत्री का जप चलता रहता है । निरंजन का ध्यान ही माला है, ब्रह्मरन्ध्र में निराकार, शाश्वत चैतन्यज्योति सदा प्रकाशित है । सहस्रदल कमल में नाद का गर्जन होता है । बिजली चकमती है । इक्कीस हजार छः सौ श्वास-प्रश्वास शरीर में व्याप्त रहते हैं, अनाहत नाद होता रहता है । जीवात्मा शिवस्वरूप में स्थित हो जाता है । शरीर में प्रवाहित रुधिर वीर्यरस के रूप में सहस्रार में प्रवेश कर अमृत हो जाता है । नाद-बिन्दु का मेल होता है, प्राण ब्रह्मरन्ध्र में स्थित हो जाता है । मूलबन्ध का अभ्यास करना चाहिए, वज्र कौपीन धारण कर कुम्भक प्राणायाम की विधि से शरीर के भीतर प्राण को स्थिर करना चाहिए तथा उड्डियान बन्ध लगाना चाहिए । दया का दंड ग्रहण कर वैराग्यमय जीवन में स्थित होकर त्रिकुटी में अलख-निरंजन परब्रह्म का ध्यान करना चाहिए । माया और ब्रह्म में द्वैतभाव का निरसन कर शुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूप का आश्रय ग्रहण करना चाहिए । द्वैताद्वैतविवर्जित तत्व का चिन्तन करना चाहिए । गुरू के उपदेशामृत को ही अनाहतनाद समझना चाहिए । गुरू मत्स्येन्द्रनाथ की शिक्षा के अनुसार योगज्ञान के प्रकाश में जीवन सार्थक करना चाहिए । एकान्त में निवास करना चाहिंए । हे अवधूत ! आवागमन स मुक्त होने का यही उपाय है कि चित्त वृत्ति परमात्मा के स्वरूप में लीन रहे । बारह कलावाले सूर्य को ऊर्ध्वमुख कर तथा सोलह कलावाले सहस्रारस्थ चन्द्रमा को अधोमुख कर अमृत पीते हुए अजपाजाप में स्थिर रह कर शिवस्वरूप हो जाना चाहिए ।

इति श्रीगोरष सिष्या पढ़ंते गुणंते, कथंते, करंते, पापे न लिपंते, पुन्ने न हारंते, ऊंनमो सिवाइ, ऊँ नमो सिवाइ, गुरू मंछीद्रनाथ पावुका नमस्तते । एवं सिष्या दरसण जोग ग्रंथ सास्त्र संपूरण समाप्तः ।

प्रथमे प्रणऊँ गुर के पाया । जिन मोहि आत्मब्रह्म लषाया ।
सतगुरू सबद कह्या तैं बूझ्या । तृहूँ लोक दीपक मनि सूझ्या ।। 1 ।

सबसे पहले मैं अपने गुरूदेव (योगिराजेश्वर मत्स्येन्द्रनाथ) के चरण (कमल) में प्रणाम करता हूँ, जिन्होंने (कृपापूर्वक) मुझे अपने ही शरीर में विद्यमान आत्मब्रह्म अलख-निरंजन, परमशिव का (ज्ञाननेत्र से) साक्षात्कार अथवा दर्शन कराया । सद्गुरू के शब्द (उपदेशामृत) से मुझे (ज्ञान) दीपमणि की प्राप्ति हो गयी और तीनों लोक मेरे ज्ञाननेत्र में प्रकाशित हो गये ।

पाप पुंन करम का बासा । मोष मुक्ति चेतहु हरि पासा ।
जोग जुक्त जब पाओ ग्यांना । काया षोंजौ पद नृबाना ।। 2 ।।
सप्तदीप नवखंड ब्रह्मण्डा । धरती आकास देवा रवि चंदा ।
तजिबा तिहुँ लोक निवासा । तहाँ निरंजन जोति प्रकासा ।। 3 ।।

पाप और पुण्य, दोनों तरह के कर्म बन्धनकारक हैं, मोक्ष, मुक्ति अथवा स्वरूप-स्थिति में निरन्तर चित्त को लय करने से कर्म बन्धनकारक नहीं होते । परब्रह्म परमेश्वर हरि का ही चिन्तन करना चाहिए । मुक्ति बाह्यवृत्तियों में चित्त को लगाये रहने से नहीं मिलती है । अपने शरीर में अखिलब्रह्माण्डनायक जगदीश्वर अलख-निरंजन विद्यमान है । उसकी खोज भीतर ही करनी चाहिए, निर्वाणपद की प्राप्ति अपने शरीर में ही योग-साधना के द्वारा करनी चाहिए । सातों द्वीप और नव खण्ड, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड हमारे शरीर में ही विद्यमान है । अलख-निरंजन परमेश्वर, सूर्य और चन्द्र हमारे शरीर में ही हैं । बाह्यवृत्तियों को समेट कर शरीर के भीतर ही इनमें व्याप्त परब्रह्म का साक्षात्कार करना चाहिए ।

दिवस न रात बरषे न मासा । गरजै मेघ गगन कबिलासा ।
अगम सुगम गढ़ रच्या बिनांणी । अगनि पवन खेह जल सांणी ।। 4 ।।
तीस पौलि तेरह प्रवांणी । तीनि गुप्त दस प्रकट जांणी ।
नौ नाटिका कोटड़ी बहतरि । चोर पचास पचीस पंच धरि ।। 5 ।।

चीरा लगा तीनि सै साठी । नौ से षाई नाटिक गांठी ।
नदी अठारह गंडिक बहई । मगर मच्छ जल पैरत रहई ।। 6 ।।
अट्ठठ कोटि बनासपती माला । सहज कमलदल पदमनी नाला ।
भेदि षट चक्र बसै नागंणी । कोटणी सत मोहि फणी ।। 7 ।।
सबद एक जै प्रकट कहूँ सतगुर होई लषावै ।
गृहज्य नाम अमीरस मीठा जो षोजै सो पावै ।। 8 ।।

परब्रह्म अलख-निरंजन परमेश्वर दिक्काल से परे परमपद में स्वस्थ हैं । इसमें दिन, रात, वर्ष और मास नहीं है, यह निराकार और अकाल है । ब्रह्मरन्ध्र शून्यगगन ही परमशिव का निवास-स्थान है, निरन्तर मेघ का गर्जन, अनाहतनाद (निष्पत्ति अवस्था में) होता रहता है । अग्नि, पवन, जल, पृथ्वी (और आकाश) से विज्ञानी द्वारा ज्ञानस्वरूप परब्रह्म का निवास-स्थान, यह सामान्यतः अगम्य किन्तु योग साधना से सुगम कायागढ़ रचा गया है । उसके (तीस-तिसके) तेरह प्रामाणिक फाटक अथवा द्वार हैं, जिनमें दस प्रकट हैं और तीन गुप्त हैं । गुदा-उपस्थ, मुख, दो आँख, दो कर्णरन्ध्र और दो नासारन्ध्र, इन नवों द्वारों के सहित दसवाँ द्वार ब्रह्मरन्ध्र प्रगट है । ब्रह्मरन्ध्र के परे तीन परम गुप्त द्वार हैं, जिनको योगियों ने शब्दों के द्वारा प्रकाशित करना उचित नहीं समझा । ब्रह्मरन्ध्र निर्वाणचक्र कहा जाता है, इसके ऊपर ग्यारहवाँ द्वार सहस्रार अथवा आकाश (कैलाश है), जहाँ निरन्तर चन्द्रामृत द्रवित होता रहता है, यही पूर्णगिरि पीठ है, जिसमें परमशून्य अलखनिरंजन का ध्यान कर योगी सर्वेच्छा की सिद्धि प्राप्त करता है । यह निरालम्ब अवस्था है, देहात्मबोध समाप्त होकर शून्य का भेदन करने पर महाशून्य का भेदन होता है, इसके बाद अतिशून्य का भेदन होता है । यह साधना की चरमसिद्धि है और अन्तिम तेरहवें द्वार का यही भेदन है, जिससे पूर्ण स्वरूपबोध होता है । हमारे शरीर में प्राण जीवत्व-शक्ति-वाहिनी नौ नाड़ियाँ और बहत्तर कोठे हैं । ये नौ नाड़ियाँ इड़ा, पिंगला, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलम्बुषा, कुहू, और शंखिनी हैं, ये सब दसवीं प्रधान केन्द्रीय नाड़ी सुषुम्ना में मिलती हैं, इसलिए सुषुम्ना के अतिरिक्त ये नौ नाड़ियाँ हमारे कायागढ़ को स्वच्छ, निर्मल और सुदृढ़ रखती हैं । हमारे शरीर में बहत्तर हजार नाड़ियाँ हैं, उनमें बहत्तर प्रधान हैं । ये ही बहत्तर नाड़ियाँ शरीर के बहत्तर कोठे हैं । इस

कायागढ़ में पचास, पचीस और पाँच मुख्य चोर हैं, षट्चक्रों के पचासदल, पचीस प्रकृति और पाँच तत्वों-क्षिति, जल, पावक, गगन और वायु, इन चोरों को वश में करने से ही (इनके वश में न होने से ही) शरीरगढ़ स्थित रहता है, आशय यह है कि षट्चक्रों का भेदन करना चाहिए, पचीस प्रकृतियों को वश में करना चाहिए । इस कायागढ़ का निर्माण तीन सौ साठ हड्डियों से हुआ है, इन्हीं पर यह गढ़ खड़ा है । इस शरीर में नौ नाड़ी ही प्रधान खाई हैं, जिनसे गढ़ सुरक्षित है । ऐसे तो अठारह गण्डा (चार की संख्या को गण्डा कहा जाता है), बहत्तर करोड़ नाड़ियाँ हैं, पर मुख्य बहत्तर हैं । ये बहत्तर नाड़ियाँ इस शरीररूपी गढ़ में बहने वाली नदियाँ हैं, जिनमें मगर-मच्छ, अज्ञान और अहंकार आदि प्राण में, जीवन में निरन्तर प्रभावी रहते हैं । इन नाड़ियों से उठने वाले साढ़े तीन करोड़ रोम ही वनस्पतिमालायें हैं, ये नाड़ियाँ एक-दूसरे से ग्रथित होकर कोठरी का काम देती हैं । ये कोठरी अथवा ग्रंथियाँ षट्चक्र कही गयी हैं । ये नाल दलयुक्त कमल हैं, कुण्डलिनी जाग्रत् होने पर इन चक्रों का भेदन करती हुई, इनसे परे दसवें द्वारा ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश कर सहस्रार में स्थित परमशिव का साक्षात्कार कर उससे अभिन्न हो जाती है । यह कुण्डलिनी अपने मोहरूप फणों से सत्यस्वरूप-परब्रह्म का निर्मल स्वरूप सुरक्षित रखती है । इस परमात्म रहस्य का अनुभव सद्गुरू के उपदेशामृत से ही हो पाता है । अमृतत्व अत्यन्त गुह्य पदार्थ है, इस मधुर अमृतरसका आस्वादन वही कर पाता है, जो इसकी योगमार्ग में आरूढ़ होकर, सत्यनिष्ठा, श्रद्धा और तत्परता से खोज करता है । यह परमामृत, परमात्मत्वरूपी अमृत महायोगज्ञान के प्रकाश में गुरू का अनुग्रह प्राप्त करने पर ही सुगम हो पाता है ।

गंगा जमुना तृबेणी संधी । अजपा जपौ गावत्री बन्धी ।
पदया नीर उरध अस्थांनां । हिरदा पंकज मैं रहे समांना ।। 9 ।।
नाद बिंद गांठि प्रबांनां । कवणघटि जोति कवण अस्थांना ।
कहां निरंजन बासा करही । कहां काली नागनी मीड़क धरही ।। 10 ।।
कहां जलधर पवनां मेला । उद्र कहाँ बिलइया धेरा ।
सीगी नाद कहाँ जोगी पूरा । जीत्या संग्राम पुरिष भया सूरा ।। 11 ।।
पूंनम चंदा कैसैं, छीनां । रबि ससि फेरि पवन धरि कीन्हां ।
सुपिनैं इंद्री कांम न गहई । ता कारणि जोगेस्वर परलै ढहई ।। 12 ।।

सप्त गाँठि सरीर की नाड़ी, अरध उरध मैं लाइलै ताली ।
बिचबिच लागी नौ नौ काली । अष्ट कंवल बत्तीस पाषुंडी ।। ।3 ।।
नाद रह्या सरबत्र पूरि । गंगनमण्डल मैं षोजौ अवधू वस्तु अगोचर मूर ।
नगर कोटि की बहु विधि गली । सुन्दिर एक राजंदरि खड़ी ।। ।4 ।।
पंच महारिषि तहाँ कुटवाल । तिन की तृया महा झूझारि ।
इनहि मारे जे लागै पंथा । सुन्दिर जीतै लौक सौं कंथा ।। ।5 ।।
इड़ा प्यंगुला सुषमनां नाड़ी । छूटै भ्रम मिलै बनवारी ।
पंच तत विष अंमृत बसई । गुरू बचने अमृतभया अंचई ।। ।6 ।।

इड़ा (चन्द्र) और पिंगला (सूर्य) नाड़ी का आज्ञाचक्र में सुषुम्नानाड़ी से संगम होता है, इड़ा गंगा है, पिंगला यमुना है और सुषुम्ना सरस्वती है । अजपाजाप द्वारा हंस गायत्री मंत्र की सिद्धि कर इड़ा - पिंगला से प्रवाहित प्राण को सुषुम्ना में स्थापित करना ही योग-साधक के लिये त्रिवेणी-स्नान कहा जाता है । (पदया सुषुम्ना नाड़ी ब्रह्मनाड़ी अथवा ब्रह्मपथ या शून्यपदवी से) ऊर्ध्वगामी करते हुए नीर (वीर्य) को ब्रह्मरन्ध्र में अनाहत-नाद में एकीभूत करना चाहिए, नाद-बिन्दु के इस सामरस्य से साधक को चित्त की वृत्ति समाहित अथवा संयमित कर हृदयकमल (अनाहतचक्र) में अपने इष्टदेव का ध्यान करना चाहिए । इससे शरीर में दिव्यता बढ़ती है और जीवात्मारूपी योगी ब्रह्मरन्ध्र में परमशिव के साक्षात्कार में सफल होता है । नादबिन्दु का (ब्रह्मरन्ध्र में) ऐक्य स्थापित करना चाहिए । किस घट में परब्रह्म की ज्योति हैं, कहाँ निरंजन (परमशिव) का निवास है, कहाँ काली सर्पिणी माया जीवात्मारूपी मेढक को पकड़ कर खाया करती है, कहाँ अमृत बरसनेवाले मेघ का पवन से मेल, सामंजस्य स्थापित होता है, कहाँ जीवरूपी चूहे (उद्र) को कायारूपिणी बिल्ली घेरती है, जोगी कहाँ सींगीनाद (अनाहतनाद) बजाता है, कहाँ योगसाधकवीरात्मा संग्राम (योगसाधना) सिद्धि अथवा विजय प्राप्त करता है, चन्द्रमा, जिससे सहस्रार में अमृतस्राव होता है, किस तरह क्षीण होता है, सूर्य चन्द्रमा को लौटा कर पवन के घर पर अधिकार स्थापित कर लेता है, स्वप्न में इन्द्रियों को विषयवासना (कामना) से ग्रस्त होने नहीं देना चाहिए । इन्हीं सब साधनाओं के परिचय के लिये तथा योगज्ञान में पारंगत होने के लिये योगेश्वर मन को अमनस्क अथवा उन्मनी अवस्था में अन्तर्लीन करते हैं । शरीर

के मूलकन्द से प्रवाहित मेरूदण्डस्थित सुषुम्ना नाड़ी के ब्रह्ममार्ग में सात गाँठ-चक्र (कमल) स्थित हैं, वे मूलाधार चक्र, स्वाधिष्ठानचक्र, मणिपूरचक्र, अनाहतचक्र, विशुद्धचक्र, आज्ञाचक्र तथा निर्वाण चक्र (ब्रह्मरन्ध्र) और आकाशचक्र सहस्रार हैं । मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी को प्रबुद्ध कर ब्रह्मरन्ध्र में प्रविष्ट करना चाहिए, इस तरह (अरध) मूलकन्द से (उरध) ब्रह्मरन्ध्र तक अपान और प्राण को समरस कर उलट देना चाहिए । शरीर में नव द्वार हैं, उन्हें मुद्रित कर आठों कमलों (चक्रों) को भेदन कर परमशिव से साक्षात्कार करना चाहिए । ब्रह्मरन्ध्र और सहस्रार से परमशून्य स्थान आठवाँ कमल कैवल्यपद है, इन आठों कमलों के बत्सीस (लक्षण) पंखुड़ियाँ हैं । हे अवधूत । सारे शरीर में, प्रत्येक सन्धि में प्राण प्रवाहित है और अनाहतनाद हो रहा है । आकाशमण्डल, ब्रह्मरन्ध्र में जीवनधन परमपदार्थ परमात्मा का ध्यान कर उसकी स्वरूपानुभूति करनी चाहिए । इस शरीररूपी नगर में अनेक गलियाँ हैं, यह नगर प्राचीरों से सुरक्षित हैं । इस नगर के मुख्य द्वार को रोककर कुण्डलिनी स्थित है, वह भीतर अलख-निरंजन का ब्रह्मरन्ध्र में साक्षात्कार करने में बाधा उपस्थित करती है । इस नगर में पाँच (कर्मेन्द्रियाँ) कोतवाल हैं, वे मन की सहायता से जीवात्मा को भौतिक विषयभोगों में बाँधे रहते हैं और परमशिव तक पहुँचने में बाधक बनते हैं । इन कोतवालों की शक्ति (मनसा) बड़ी बलवती है । इन पाँचों इन्द्रियों को अपने वश में करने पर उसकी शक्ति भी साधक के वश में हो जाती है, जो साधक पाँचों कर्मेन्द्रियों को जीत लेता है, उसके वश में सारा जगत् और शरीर हो जाता है, (शरीर को योगियों की भाषा में कंथा अथवा गुदड़ी कहा गया है) माया पर विजय प्राप्त करनी चाहिए । इड़ा, पिंगला नाड़ियों को आज्ञाचक्र में सुषुम्ना से मिलाकर सहस्रार से द्रवित चन्द्रामृत का पान करना चाहिए । इससे सारे भ्रम छूट जाते हैं और परम पद की सिद्धि होती है । पंचतत्व के निर्मित शरीर में जो अमृत विषरूप में मायाबन्धन का कारण बनता है, जीवात्मा को विषयभोग में बाँधता है, वहीं गुरू के उपदेशरूप में जीवात्मा के लिये अमृत हो जाता है । अपरिपक्व शरीर में अमृत विष का कार्य करता है, पर परिपक्व शरीर में वह गुरू के उपदेश से अमृत हो जाता है ।

(इति श्रीगोरषनाथ विरंचते प्रांण संकली सरीर विचारण, एवं प्राण संकली जन्य विचारंत, पापे न लिंपन्ते पुंने न हरंते मृतलोके भये अस्थित अमर लोकपु गछिते ।। ऊँ नमो सिवाई, गुरू मछींद्रनाथ पादुका नमस्तते इती प्रांण संकली ग्रंथ सास्त्र संपूरण समापतः ।

बतीस लछन

ग्यांन पारछ्या निरलोभी, निहचल, निरवासिक, निहिसबद ।
विचार पारछ्या निरमोही, निरबंध, निसंक, निरबांन ।
बमेक पारछ्या सरबंगी, सावधान, सति, सारग्राही ।
संतोष पारछ्या अजाचीक, अवांछीक, अमांनीक, अस्थिर ।
निरबल पारछ्या निहितरंग, निहपरपंच, निरदुंदी, निरलोप ।
सहज पारछ्या सुमती सुहृदी, सीतल, सुषदाई ।
सील पारछ्या सुचि, संजम, सति, श्रौता ।
सुंनि पारछ्या ल्यौ, लषि, ध्यांन, समाधि ।
एती अष्टांग जोग पारछ्या, भगति का लछिन ।
सिधां पाई साधिका पाई जे जन उतरे पारं ।

(इति)

सुणौ हो नरवै सुधि-बुधि का विचार ।
पंच तत ले उतपनां सकल संसार ।।
पहलै आरम्भ घट परचा करौ निसपती ।
नरवै बोध कथंत श्रीगोरष जती ।। 1 ।।
पहलै आरम्भ, छाड़ौ काम क्रोध अहंकार । मन माया विषै विकार ।
हंसा पकड़ि घात जिनि करो । तृस्नां तजौ लोभ परहरौ ।। 2 ।।
छाड़ौ दंद रहौ निरदंद । तजौ अल्यंगन रहौ अबंध ।
सहज जुगति लै आसण करौ । तन मन पवनां दिढ़ करि धरौ ।। 3 ।।
संजम चित ओ जुगत अहार । न्यंद्रा तजै जीवन का काल ।
छाड़ौ तंत मंत बैदंत । जंत्र गुटिका धात पाषंड ।। 4 ।।
जड़ी बूटी का नांव जिनि लेहु । राजदुवार पाव जिनि देहु ।
थंमन मोहन बसि करन छाड़ौ सकल अवचाट ।
सूणौ हौ जोगैसरौ जोगारम्भ की बाट ।। 5 ।।
और दसा परहरौ छतीस । सकल विधि ध्यावो जगदीस ।
बहु विधि नाटारम्भ निवारि । काम क्रोध अहंकारहिं जारि ।। 6 ।।

हे नृपति ! (नरवै) राजा, योगसाधना के सम्बन्ध में विचार (उपदेश) सुनो और इसको सदा अपने ध्यान में रखो, बुद्धि में विचार करो ! यह संसार क्षिति, जल, पावक, समीर और गगन, पाँच तत्वों से उत्पन्न है । यह योग चार प्रकार का है,-आरम्भ, घट, परिचय, और निष्पत्ति । मैं (गोरखनाथ) इस नृपतिबोध (नरवैंबोध) का वर्णन करता हूँ । योगारम्भ की अवस्था में योगसाधक को सबसे पहले काम, क्रोध और अहंकार का त्याग करना चाहिए । मायिक विषय-विकार में आसक्त भोगमुखी मन को योगमुखी बनाना चाहिए । जीवमात्र के प्रति अहिंसा-व्रत धारण करना चाहिए, जीव को पकड़ कर उसको न मारना चाहिए, न उसे दुःख पहुँचाना चाहिए, साधना की प्रगति में तृष्णा और लोभ बहुत बाधक हैं । इन दोनों को त्याग देना चाहिए । सुख-दुःख, शीत-उष्ण, अनुकूल-प्रतिकूलआदि सभी द्वन्द्वों से ऊपर उठकर निर्द्वन्द्व हो जाना चाहिए । स्त्री के रूपजाल में पड़कर कामवासना की तृप्ति के लिये उसके आलिंगन का त्याग कर सदा स्वरूपानन्द में ही रमण करना चाहिए । सहज युक्ति से,

शरीर को बिना क़ष्ट दिये आसनों का अभ्यास करना चाहिए, प्राण की साधना कर तन, मन और प्राण को स्थिर और जीवनोपयोगी बनाना चाहिए । यम-नियमों का पालन करते हुए युक्ताहार-विहार का सेवन करना चाहिए । नींद तमोगुणी है, ज़ीवन का काल है, मृत्यु है, इसके वश में होकर आलस्य-प्रमाद में जीवन का दुरूपयोग नहीं करना चाहिए, तंत्र, मंत्र (झाड़-फूँक, टोटका) और हानिकर दवाओं के सेवन से दूर रहना चाहिए । यंत्र आदि धारण करने अथवा गुटिका मुख में रखकर आकास आदि में उड़ते हुए अदृश्य होने से तथा अनेक धातु (वैद्यक भस्म अथवा तामा, लोहा आदि की अंगूठियों) के सेवन आदि से किसी भी तरह के यश और लाभ की आशा नहीं करनी चाहिए । राजा के दरवाजे पर जीविका-निर्वाह के लिए भिक्षा- प्राप्ति की आशा से कभी नहीं जाना चाहिए । स्तम्भन, मोहन, मारण, वशीकरण और उंच्चाटन आदि की विधियों से दूसरों को प्रभावित कर कार्यसिद्धि की भावना का परित्याग करना चाहिए । हे योगेश्वरों ! योगारम्भ का मार्ग यह है कि समस्त पराश्रयों का त्याग कर परब्रह्म परमात्मा जगदीश्वर का ध्यान करना चाहिए । हे राजा ! (छत्तीस, क्षितीश अथवा पृथ्वीपति) बाहरी दिखाओं और साधना सम्बन्धी बाह्य वेश-वूषा और कृत्रिमताओं को दूर करना चाहिए, काम, क्रोध और अहंकार-ये तीनों साधनमार्ग के महान शत्रु हैं, इनको जीत कर परमात्मा का ध्यान करना ही योगसाधना है ।

नैणं महारंस फिरौ जिनिदेस । जटा भार बंधौ जिनि केस ।
रूष बिरष बाड़ी जिनि करौ । कूवा निवांण षोदि जिनि मरौ ।। 7 ।
टूटै पवनां छीजै काया । आसण दिढ़ करि बैसौ राया ।
तीरथ वर्त कदै जिनि करौ । गिर परबतां चढ़ि प्रान मति हरौ ।। 8 ।
पूजा पाति जपौ जिनि जाप जोग माँहिं विटंबौ आप ।
छाड़ौ बैद बणज-ब्यौपार । पढ़िबा गुणिबा लोकाचार ।। 9 ।।
बहु चेला का संग निवारि । उपाधि मसांण बाद बिष टारि ।
येता कहिये प्रतक्षि काल । एकाएकी रहौ भुवाल ।। 10 ।।
सभा देषि भांड़ौ मति ग्यांन । गूंगा गहिला होइ रहौ अजांण ।
छाड़ौ राव रंक की आस । भिछ्या भोजन परम उदास ।। ।। ।।

महारस-अमृत अपने ही पास (नैण-निकट है अथवा) नैण-नेत्र में है। परब्रह्म अपने ही भीतर हैं, देश-देशान्तर में घूमने से कोई लाभ नहीं है, सिर पर केश बढ़ा कर जटा रखने से कोई लाभ नहीं है, यदि परमतत्व का ज्ञानामृत नहीं प्राप्त होता है। वृक्ष की छाया में कुटी बनाकर न रहो। ये सभी व्यर्थ हैं, यदि अपने आत्मस्वरूप का बोध अथवा अलखनिरंजन ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं हो पाया। दान-पुण्य, गहरे कूप आदि खनाना भी परमात्मज्ञान की अनुभूति के अभाव में, शून्यता में व्यर्थ है। इधर-उधर भ्रमण करने से तथा व्यर्थ श्रम करने से प्राण शरीर में स्थिर नहीं रह पाता है, काया क्षीण हो जाती है। हे राजा ! एक आसन में दृढ़ होकर बैठ जाना चाहिए। परमात्मतत्व की प्राप्ति के लिए तीर्थव्रत करना या पर्वतों पर चढ़कर प्राण देना व्यर्थ है। पूजा-पाठ तथा तरह-तरह के जाप आदि करके योग मार्ग की विडम्बना न करो। यह सब वाह्याचार हैं। वाह्याचार से सहज तत्व बोध नहीं होता। मन तो उन्मन, योग से ही हो पाता है। शास्त्र आदि के पठन-पाठन केवल लोकाचार मात्र हैं, ये तो विधि-निषेधात्मक आचार-विचार व्यापार मात्र है। योगसाधना में अनेक शिष्यों का समुदाय बनाना भी हानिकारक है, उपाधि और वाद तो साक्षात् मरण (मसान-श्मशान भाव) और विष हैं, इनसे दूर रहना चाहिए। हे राजा ! इन सभी व्यापारों, कृत्रिम पूजा-पाठ, व्यवहार, लोकाचार आदि से दूर रहकर एकान्त में, असंग स्थिति में निवास कर योग की साधना में तत्पर रहना चाहिए। विद्वानों की सभा में अपने ज्ञान का प्रदर्शन नहीं करना चाहिए, व्यर्थ तर्क और बकवाद से साधना में विघ्न पड़ता है, वाणी से मौन धारण करना चाहिए और अपने-आप को ऐसा प्रकट करना चाहिए कि तद्विषयक किसी भी तरह की जानकारी ही नहीं है। राजा-रंक, सब की समान गति है, किसी का भी आश्रय ग्रहण किये बिना भिक्षाटन करते हुए योगसाधना का पक्ष लेना चाहिए। समस्त द्वन्द्वों में अनासक्त रहकर उदासीनवृत्ति का परिचय देना चाहिए।

सींगी नाद पयांना देहु। देव कला के लछिन लेहु।
बगज्यूध्यान मांडि जिनि रहौ। स्वान जती की निंद्रा गहौ।। ।2 ।।
रसरसाइनगोटिका निवारि। रिधि परिहरौ सिधि लेहु बिचारि।।
परहरौ सुरापांन अरुभंग। तातैं उपजै नाना रंग।। ।3 ।।

नारीसारी कींगुरी । तीन्यूं सतगुर परहरी ।
आरंभ घट परचै निसपती । नरवै बोध कथंत श्री गोरषजती ।। ।4।

सींगीनाद की क्या सार्थकता है, यदि शरीर के भीतर दिव्यशक्ति, दिव्यज्योति, परमात्मशक्ति का अनुभव नही हो पाया । सींगीनाद के बजाने से प्राण टूटता है, अनाहत-नादानुसन्धान करना चाहिए । योगी को बकध्यानी नहीं बनना चाहिए, हे राजा । श्वान और यती की तरह निद्रा के सेवन के समान ही साधन-भजन में प्रत्येक क्षण सावधान रहना चाहिए । रासायनिक प्रयोग द्वारा लोहे को स्वर्ण में परिवर्तित करने की विद्या तथा मुख में यंत्रित और अभिमंत्रित गुटिका रखकर अदृश्य हो जाने की कला आदि से दूर रहना चाहिए, ये प्रपंच हैं, ऋद्धि-सिद्धि के फेर में नहीं उलझना चाहिए, ऋद्धियों का त्याग कर देना चाहिए और सिद्धियों से भी अन्तस्साधना में बाधा पड़ती है, इसका भी विचार कर लेना आवश्यक है । इस तरह कनक-कामिनी का त्याग कर देना चाहिए । स्त्री के संग का त्याग करना चाहिए, सारिका (सारी) को नाम पढ़ा कर बाहर से साधन-प्रवृत्ति प्रकट कर भीतर स्वरूपज्ञान से दूर रहने की भावना का त्याग करना चाहिए, सारंगी (कींगरी) बजा कर मनोरंजन करने से कोई लाभ नहीं है, नादानुसन्धान से मन को उन्मन करना चाहिए । हमारे सद्गुरू देव ने इन सभी बाह्याचारों के त्याग का उपदेश दिया है और योग की चार अवस्थाओं, आरम्भ, घट, परिचय, और निष्पत्ति के अनुसार साधना में प्रवृत्त रहने पर ही बल दिया है ।

इति श्रीगोरषनाथ विरचंते, नरवैबोध ग्रंथ, पठंते गुणंतेकथंते, पापे न लिप्यंते पुण्ये न हरंते, ऊँ नमो सिवाई ऊँ नमो सिवाई गुरू मछीन्द्रनाथ पादुका नमस्तते इति श्री नरवै बोध-ग्रंथ जोगसास्त्रपूरण समापत ।

व्रत

एक बरत गुरू मुषि लहै भेवा । दूजा ब्रत संतोष सेवा ।
तीजा ब्रत दया चित रहै । चौथा ब्रत ब्रह्म को लहै ।। । ।।
एक ब्रत जो इंद्री गहै । दूजा ब्रत राम मुष कहै ।
तीजा ब्रत मिथ्या नहि भाषै । चौथा ब्रत दया मनि राषै ।। 2 ।।

सांचौं ब्रत कहे ये चारी । जिस भाव सो लेहु बिचारी ।
और सकल जग का ब्यौहारा । तासौ कदे.न पावै पारा ।। 3 ।।
सील संतोष सुमिरण ब्रत करै । ताकै भुषी कौंण कहि मरै ।
मन इन्द्रियन को अस्थिर राषै । राम रसाइन रसना चाषै ।। 4 ।।
इन ब्रत समि ब्रत नही कोई । बेद अरू नाद. कहै मति दोई ।
ताथै ए ब्रत हिरदय धारौ । गुरू साधौ की साष बिचारौ ।। 5 ।।
सील ब्रत संतोष ब्रत छिमा दया व्रत दान ।
ये पांचों ब्रत जो गहै, सोइ साध सुजांन ।।
इन ब्रतां का जांणै भेव । आपै करता आपै देव ।
मन पवनां लै उनमन रहै । ऐते ब्रत गोरंषनाथ जी कहै ।। 7 ।।

इति

आत्मबोध

ऊँ आसण करि पदम आसण बंधि । पिछलै आसण पवनां संधि ।
मन मुछावै लावै ताली । गगन सिषर में होइ उजाली ।। । ।।
प्रथम बैसि बाई दर बंधि । पवनां षैलै चौसठ संधि ।
नव दरवाजा देवै ताली । दसवां मधें होइ उजाली ।। 2 ।।
ऐसा भुवंगम जोगी करै । धरती सोषै अंबर भरै ।
गगने सुर पवनें सुरतांणि । धरती की पांणी अंबरि आंणि ।।. 3 ।।
ता जोगी की जुगति पिंछाणि । मन पवन ले उनमनि आंणि ।
मन पवन ले उनमनि रहै । तौ काया गरजै गोरष कहै ।। 4 ।।
चढ़ै महारस अमरा भरै । ऐसा आरम्भ जोगी करै ।
उलटी सक्ति चढ़ै ब्रह्मण्ड । नष सष पवनां षेलैं नव षंड ।। 5 ।।

ऊँकार स्वरूप का ध्यान करते हुए पहले पद्मासन में स्थित हो जाना चाहिए । इसके बाद प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए । ऐसा करने से मन की चंचलता मिट जाती है, और गगनशिखर में अलख निरंजन की ज्योति प्रकाशित हो उठती है । जिस तरह घाटियों में वायु का वेग बढ़ जाता है,

उसी तरह आसन लगाकर प्राणायाम करने से शरीर की विभिन्न नाड़ियों में वायु प्रवाहित होने लगती है, शरीर की गाँठों और जोड़ों, चौसठ सन्धियों में प्राण का यथाविधि संचार होता है, इस तरह शरीर में प्राण को स्थिर कर मन को उन्मन करते हुए साधक के शरीर के नवों द्वारों को मुद्रित (बन्द) करना चाहिए। ऐसा करने से दसवें दरवाजे, ब्रह्मरन्ध्र में प्रकाश हो जाता है और साधक अलखनिरंजन परमशिव का साक्षात्कार करता है। अपान और प्राणवायु का मेलन कर सुषुम्नामार्ग से प्रवाहित करने पर मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी-शक्ति (भुजंगम), का प्रबोध होता है, इस तरह योगी (भुवंगम) कुण्डलिनी को जगाता है, धरती (मूलाधार) का रस (वीर्य) ऊर्ध्वगामी करते हुए ब्रह्मरन्ध्र में बिन्दु और नाद का मिलन करता है, अम्बर (ब्रह्मरन्ध्र) महारस-वीर्यरूपी अमृत से परिपूर्ण हो उठता है। गगन की ओर पवन का खिंचाव (तणि-तान) होता है, मन-पवन उन्मन हो जाते हैं, इस तरह योगी मन-पवन की साधना कर धरती (मूलाधार में) स्थित पानी (वीर्य) को आकाश में ऊर्ध्वगामी करता है। मन और पवन से ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करने पर अनाहत नाद का गर्जन होता है। महारस (वीर्य) अधोगामी न होकर, आकाश (ब्रह्मरन्ध्र) की ओर ऊँचे स्थान पर चढ़ता है। इस तरह योगसाधना का योगी आरम्भ करता है, धरती में स्थित मूलाधार में प्रसुप्त कुण्डलिनी जाग उठती है, वह ब्रह्माण्ड (ब्रह्मरन्ध्र) में परमशिव के निवास-स्थान में प्रवेश कर, उससे मिलकर समरस अथवा एक हो जाती है, सारे शरीर के नवों खण्डों में पवन का संचार हो उठता है।

उलटै चन्द्र राह कौं ग्रहै। सूरज उलटि केत संग्रहै।
ससि द्वार सूरज थिर रहै। तत्व भांण जोगेस्वर कहै ॥ 6 ॥
अरधै जाता उरधै गहै। द्वादस पवनां उनमन रहै।
अहनिसि बाई धुंनि मैं बाजै। पछिम द्वारै पवनां गाजै ॥ 7 ॥
अभि अंतरि ब्रह्म अगनि परजाले। पंच चोर लै ग्यांन संभालैं।
जोगी अपणौ घरि दिवाला दीपै। ता जोगी की काया काल न छीपै ॥ 8 ॥
हलि हलिं पवनां काया गरजै। सूरा होइ अभिअंतरि झूझै।
ग्यांनषडग ले झूझिबाद्वारं। अजीतजीतिबा पंच गहि सारं ॥ 9 ॥
अष्ट परबत असाध साधिबा। नव दरवाजा दिढ़ करि बांधिबा।
दसवैं दरवाजै कूची सार। मैमंत हस्ती बांधिबा बार ॥ 10 ॥

भीतरि राजा झूझण हार । चहुँ दिसि जाता राष्या मार ।
राजा झूझै विषमैं धाइ । मन पवन ले रहे समाइ ।। ।। ।।

कुण्डलिनी-शक्ति प्रबुद्ध होकर ब्रह्माण्ड में प्रवेश करती है । सूर्य और चन्द्र उलट कर राहु-केतु को ग्रस लेते हैं, आशय यह है कि सूर्य ऊर्ध्वमुख होने पर (विपरीतकरणी मुद्रा द्वारा) प्रभावहीन हो जाता है, इसी तरह चन्द्रमा अधोमुख हो उठता है, योगी सहस्रार से द्रवित चन्द्रामृत को स्वयं पी लेता है । चन्द्रमा और सूर्य का मेल हो जाता है, ब्रह्मरन्ध्र में तत्वप्रकाशित हो उठता है, इस तरह योगसिद्ध पुरूष, योगेश्वर अपना अनुभव व्यक्त करता है । नीचे की ओर प्रवाहित अपानवायु का ऊर्ध्वाकर्षण करते हुए प्राण में उसे एकीभूत कर अथवा मिलाकर सुषुम्ना में स्थापित कर देना चाहिए, इस तरह द्वादशांगुल प्राणवायु को आयामित अथवा नियंत्रित कर योगसाधक को उन्मनी अवस्था में स्थित रहकर स्वरूप अथवा परमशिव का चिन्तन करना चाहिए । सुषुम्ना में वायु के स्थैर्य से अनाहतनाद होने लग जाता है, इस तरह प्राणायाम की साधना कर साधक को शरीर के भीतर ब्रह्मअग्नि प्रज्वलित करनी चाहिए। ब्रह्मअग्नि की साधना आज्ञाचक्र में ब्रह्मनाल, सुषुम्ना में की जाती है, यही से शक्ति, कुण्डलिनी ब्रह्मरन्ध्र अथवा सहस्रार में प्रवेश करती है । पंच ज्ञानेन्द्रियों को पांचभौतिक विषयों में आसक्त न होने देकर उन्हें परमात्म चिन्तन का साधना बनाना चाहिए । योगी को अपने शरीर के भीतर अलख-निरंजन की ज्योति प्रकाशित करनी चाहिए, जो योगी इस तरह परब्रह्म में तल्लीन हो जाता है, वह मृत्यु को अपने वश में कर लेता है, काल उसका बाल बाँका नहीं कर सकता है । प्राण शरीर की प्रत्येक सन्धि में प्रवेश कर गरजता है, अनाहतनाद उत्पन्न होता है, इस नाद से प्रोत्साहित होकर वीरात्मा योगी अपने भीतर ही भयानक संघर्ष कर विषय-वासनाओं पर विजय प्राप्त करता है, युद्ध ज्ञानरूपी खड्ग के द्वारा करना चाहिए, दुर्निग्रह मन को जीत लेना चाहिए और पाँचों ज्ञानेन्द्रियों पर अधिकार कर लेना चाहिए । शरीर में आठ पर्वत स्थित हैं, इनकी चढ़ाई बड़ी दुर्गम हैं । शरीर के नव द्वार हैं । शरीर के नवों द्वारों को मुद्रित कर अन्तः साधना के द्वारा अलखनिरंजन का दसवें द्वार में प्रवेश कर ब्रह्मरन्ध्र में साक्षात्कार करना चाहिए, मदमत्त हाथी के समान मन ब्रह्मरन्ध्र अथवा दसवें द्वार पर बाँध लेना चाहिए, उन्मन करना

चाहिए । हमारे भीतर ही आत्मारूपी राजा निरन्तर योगसंग्राम में तत्पर है, उसने मन को वश में कर लिया है, वह विषयेन्द्रियों के अनेक आक्रमण का निवारण करते हुये घाव-पर-घाव सहता रहता है, वह मन और पवन को उलट कर ब्रह्मरन्ध्र में स्थापित योगसंग्राम में विजयी होता है । कर

मन पवन की विषमी संधि । चंद सूर द्वै समि करि बधि ।
नवसै नवासी सायर सोषै । जोगी सोषै सदा भरि पोषै ।। ।2 ।।
बिन पुस्तक बंचिबा पुरांण । सुरसती उचरै ब्रह्मगियांन ।
अझर सोषै बजर करै । सरब दोष काया ले हरै ।। ।3 ।।
षैरै षोजै लावै बंध । तौ अजरावर थिर ह्वै कंध ।
सोषै पोषै जालैं बालैं । अहनिसि ब्रह्मअगनि पर जालै ।। ।4 ।।
अहनिसि अगनि पाप कूंषाइ ।संधै संधै पवन लुकाइ ।
मन ह्वै धीर थीर बहै पवनं । सिवपुरी जीता राषै कवनं ।। ।5 ।।
ब्रह्मसागर सोषै बंध ज्यंद । षीर सागर सोषै अजरांवर कंद ।
बजर कछोटा आसण करै । रोगव्याधि षुध्या सब हरै ।। ।6 ।।

अपान और प्राण का सुषुम्ना में संयोग कठिन होता है । इड़ा और पिंगल से प्रवाहित प्राण को आज्ञाचक्र में सुषुम्ना में स्थिर करने अथवा प्राण-अपान को समरस करके सूर्य और चन्द्र को समरस कर दो । योगी नव सौ नवासी (असंख्य) नाड़ियों में प्राण को उत्थित करते हुए वीर्य-महारससागर को सोख लेता है, ऊर्ध्वगामी कर ब्रह्मरन्ध्र में नाद-बिन्दु का सामरस्य स्थापित कर देता है, योगी खाली नाड़ियों को वीर्य से भर देता है, इस तरह निरन्तर वीर्य को ऊर्ध्व करने की क्रिया होती रहती है । योगी के हृदय में साक्षात् सरस्वती निवास कर ब्रह्मज्ञान का उच्चारण करती है और वह परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार करता है । योगी को यौगिक क्रियाओं से अपनी काया निर्मल और निर्दोष बना लेना चाहिए, इससे ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति अथवा अनुभूति में बड़ी सुविधा होती है । क्षरित होने वाले वीर्य को ऊर्ध्वगामी कर, अझर (न झरने वाला) कर उसे शरीर में सोख लेना चाहिए, वज्रोली मुद्रा के अभ्यास द्वारा योगी को शरीर का शोधन करना चाहिये और सहस्रार से द्रवित चन्द्रामृत के पान में सफल होना चाहिए । वीर्य को कभी अधोगामी होकर क्षरित नहीं होने देना चाहिए । मूलबन्ध, उड्डियान बन्ध तथा जालन्धर आदि बन्धों के द्वारा इसे

ऊर्ध्वमुख कर रससिद्ध करना चाहिए, वीर्य महारस है, यही परिपक्व होकर सहस्रार से द्रवित चन्द्रामृत का स्वरूप ग्रहण कर लेता है, इस वीर्य को शरीर में सोख लेना चाहिए, जीर्ण कर लेना चाहिए, पचा लेना चाहिये, इससे ज्ञानदीप्ति प्रकाशित हो जाती है, सुषुम्ना में आज्ञाचक्र में ब्रह्मअग्नि प्रज्वलित हो जाती है, योगी को इस ब्रह्माग्नि को निरन्तर प्रज्वलित रखना चाहिये । ब्रह्मकुण्ड में प्रज्वलित ब्रह्माग्नि से ब्रह्मरन्ध्र में परमशिव अपने पूर्ण प्रकाश में अभिव्यक्त हो उठता है । यह ब्रह्माग्नि पाप का नाश करती है । इस ब्रह्माग्नि के शरीर में प्रज्वलित होने पर प्राण भी क्षीण नहीं होता, प्राणवायु शरीर की समस्त सन्धियों में यथास्थान स्थिर हो जाती है । नाड़ियाँ मलरहित हो जाती हैं और मन स्थिर अथवा उन्मन हो जाता है, उसकी चंचलता मिट जाती है, जीवात्मा शिवपुरी में प्रवेश कर अलख-निरंजन परब्रह्म शिव का साक्षात्कार करने में सफल हो जाता है । ब्रह्मसागर वीर्य को सोख लेने से, ऊर्ध्वगामी करने से प्राण शरीर में स्थिर होता है, इससे योगी को वीर्य को ऊर्ध्वगामी करना चाहिये, सहस्रार में द्रवित चन्द्रामृत-क्षीर-सागर का पान करने से शरीर अजर और अमर हो जाता है, इसलिये योगी को अमृत का पान करना चाहिये । योगी को वज्रकोपीन धारण करना चाहिए, और वज्रासन में स्थित रहने का अभ्यास करना चाहिए, इससे व्याधि और रोग नष्ट हो जाते हैं, भूख नहीं सताती हैं । (दोनों जाँघों को वज्र के समान दृढ़ कर दोनों पैरों को गुदा के पार्श्व-भाग में जमाकर बैठना ही वज्रासन है-घेरण्डसंहिता 2।।।)

जड़ी बूटी भूलै मति कोइ । पहली रांड बैद की होइ ।
जड़ी बूटी अमर ज करै । तो बैद धनन्तर काहे मरै ।। ।7 ।।
सोने रूपै सीझै काज । तो कत राजा छाड़ै राज ।
पसुवा होइ जपै नहिं जाप । सो पसुवा मोषि क्यूं आप ।। ।8 ।।
रिधि सकेलै रोलांणी धरै । गुरू न षोजै मुरिष मरै ।
रोलाणी आगै बैसै फूलि । गुरू की बाचा गया जे भूलि ।। ।9 ।।
अकल पुरिस कै सकल नियाव । मीठा बोलै झूठा भाव ।
सत बोलै सोई सतबादी । झूठ बोलैं सो महापापी ।। 20 ।।
देषत भौंदू विषिया षाई । झूठा बोलैं मरि-मरि जाई ।
जैसा करैं सो तैसा पाय । यकोतर से पुरिषा नरकिलैं जाय ।। 2। ।।

एक पुरिष बहुं भाँति नारी । सरब निरन्तर आत्मां सारी ।
सरब निरंतर भरि पूरि रहिया । आत्मांबोध सपूरण कहिया ।
पाप न पुन्ने लिपे न काया । आत्मांबोध कथंत श्रीगोरष राया ।। 22 ।।

योगासाधक को जड़ी-बूटी के सेवन के फेर में नही पड़ना चाहिए, इससे शरीर अजर-अमर नहीं हो सकता । यदि जड़ी-बूटी के सेवन से ही कोई अमर हो जाता तो वैंद्य की स्त्री विधवा नही होती, वैद्य धन्वन्तरि की मृत्यु नही होती योग की सिद्धि के लिये स्वर्ण और चाँदी का संग्रह भी व्यर्थ है, यदि इन दोनों से सिद्धि मिल जाती तो राजा (महाराज भर्तृहरि और महाराज गोपीचन्द्र) राजकार्य का त्याग कर वैराग्य के पथ में अग्रसर होकर योगमार्ग में नही प्रवृत्त होते । अज्ञानी मनुष्य तो पशु है, जो जड़ी-बूटी और सोने-चाँदी में विश्वास कर अजपाजप द्वारा हंसगायत्री मंत्र को सिद्ध नही कर पाता और मोक्ष-प्राप्ति अथवा आत्मस्वरूप बोध तथा परमात्म साक्षात्कार से सर्वथा दूर हो जाता है । बिना गुरू की प्राप्ति के आत्मबोध नही प्राप्त हो सकता । सोना-चाँदी का संग्रह कर, घर बसाकर रावलिन योगिनी के संग में निवास करना भ्रममात्र हैं, जो प्राणी अपने शरीर में ब्रह्मरन्ध्र में निष्कल-निराकार परब्रह्म परमेश्वर का स्वरूपबोध प्राप्त कर लेता है, वह समस्त प्राणी में अलख-निरंजन परमात्मा की विद्यमानता का अनुभव करता है, उसके जीवन में राग-द्वेष, द्वन्द्वादि के लिए स्थान नही रहता, उसका सब काम सद्व्यवहार ही होता है । वह सत्य बोलता है, मीठा बोलता है, वह सत्यवादी है, झूठ बोलनेवाला पापी होता है । असत्यभाषी भोंदू हैं, अज्ञानी है, असत्य बोलकर मृत्यु का ग्रास बनता है, सत्यवादी अमृत में निवास करता है । यह सनातन सत्य है कि जो जैसा करता है, वैसा फल पाता है, इसलिए असत्य-भाषण से सभी पितर नरक में पतित हो जाते हैं, सारे प्राणी ही नारीरूप में एक पति परमेश्वर के उपासक हैं, सभी का स्वामी परमेश्वर है । आत्मा ही सर्वव्यापक परमात्मा है, पूर्ण है, सचराचर परमात्मा में स्वस्थ है, यही आत्मबोध है, इससे काया पा-पुण्य में लिप्त नही होती, प्राणी आत्मरूप होता हैं ।

इति श्रीगोरष आतमबोध, पठंते करंते गुणंते कथंते । पापे न लिपंते पुंने न हरंते । ऊँ नमो सिवाई । ऊँ नमो सिवाई, गुरूमछिंद्रनाथ पादुका नमस्तते । इति श्रीआतमांबोध ग्रंथ जोगशास्त्र संपूरण समापतः ।

आदिनाथदि पारब्रह्म ऊँ सिव सकती । नाद-बिन्द लेकाया उतपती ।
नाद-बिंद रूपी बोलिए ऊँकार ।
बिंदरूपी बोलिए काया । प्रथम आदि उतपती माया ।। । ।।
उदै भईला सूर अस्त भईला चंदा । दुहु बिच कल्पना काल का फंदा. ।
उदै ग्रह अस्त एक करि बासा । तब जानबा जोगींद्र जीवन आसा ।
बारह कला रबि सोलह कला ससी । चारि कला गुरूदेव निरंतर बसी ।। 2 ।।
हीण पद सुराया लागा डंसा । तन का तेज ले उड़िया हंसा ।
हंस का तेज लैथिर रहै काया । काल का भेद कहौ गुरराया ।। 3 ।।
द्वैपष छेदि एक ह्वै रहणां । चंद सूर दोउ सम करि गहणां ।
ऊँच भै उपरै मध्य निरंतरै ता तलि भाठि जराई ।। 4 ।।

सीजि अमीरस कंचन हुआ । यहि बिधि पिंजरै बानवै सुआ ।
उपजंत दीसंत निपजंत नाहीं । आबरण नास्ति संसार माहीं ।। 5 ।।
बूझि लै सतगुर बुद्धि भेद सिद्ध संकेत । परचा जाणि लगावो हेत ।
उरस धूरम जोती झाला । नौ कोटि षिड़की पूर ले वाला ।। 6 ।।
ताला न टूटै षिड़की न भाजै । पिंड षडै तौ सतगुर लाजै ।
भरे सागर धुनि धूसर कूंची । तहाँ सकल विघ्न है सोई सूची ।। 7 ।।
इहि बिधि जोगी अतीत होई । अमर पद ध्यावत बिरला कोई ।
सहज मरे अष्ट पग धरणां । ग्यान खड़ग ले काल संहरणां ।। 8 ।।
अमर कोट काया एक ब्रह्म मध्ये । जीतले जमपुरी राषि ले कंधे ।
आतमा झूझ जती गोरषनाथकिया । संसार बिणास्या आपण जिया ।। 9 ।।

आदिनाथ परमेश्वर ही ऊँकारस्वरूप है । 'ना' का आशय है अनादि और 'थ' का आशय है भुवनत्रय । अनादि ब्रह्म में भुवनत्रय का स्थापित होना ही ओंकार स्वरूप अलखनिरंजन परब्रह्म का आदिनाथरूप है । नाद-बिन्दु से काया की उत्पत्ति होती है । (नाथ का अंश नाद है, नाद का अंश प्राण है, शक्ति का अंश बिन्दु है और बिन्दु का अंश शरीर है । शक्ति-अंश-बिन्दु के प्रसर से सृष्टि होती है, शिवांश-बिन्दु का प्रसरण नहीं है । बिन्दु के आदि स्पन्द से सृष्टि के विकास अथवा निर्माण की क्रिया

होती है ।) ओंकार नाद-बिन्दु-स्वरूप हैं । नाद-बिन्दु का लय ही ऊँकाररूप है । सगुण ब्रह्म में इच्छा ही नाद है । इच्छा के साथ क्रिया बिन्दु है, ऊँकार ब्रह्म की अभिव्यक्ति का कारण नाद-बिन्दु की यही अन्तरलीनता है । अतः ऊँकार-नाद बिन्दुरूप है । मनुष्य के शरीर की उत्पत्ति मूलाधार बिन्दु से है । इस तरह पहले माया (मण्डल) की उत्पत्ति होती है शरीर की उत्पत्ति के साथ ही नाभिस्थान में सूर्य (अग्नि) की उत्पत्ति होती है और सहस्रारस्थ अमृतस्वरूप चन्द्रमा क्षीण होने लगता है । इस तरह उदय और अस्त के मध्य में शरीर की मृत्यु अथवा काल की स्थिति होती है । सूर्य बारह कला का है, चन्द्रमा सोलह कला का है । चार शेष कला ही शरीर को अमृत प्रदान करती है । हे गुरूदेव । हे योगीन्द्र ।। चन्द्रमा के शेष चार कलारूपी अमृत के पान से ही जीवन के स्थिर रहने की आशा की जाती है । हीनपद में स्थित रहने से शरीर क्षीण हो जाता है और प्राण (हंस) शरीर के बाहर हो जाता है, प्राण से ही शरीर स्थित रहता है, इसलिए प्राण की साधना करनी चाहिए । द्विविधा (माया) द्वैत-अद्वैत के विचार में न पड़कर अपने परमात्मस्वरूप, द्वैताद्वैतविवर्जित परमात्मतत्व का चिन्तन करते हुए अमृत का पान कर अमरकायत्व प्राप्त करना चाहिए ।

अमृत-रस को सिद्ध करने का उपाय यह है कि शरीर के भीतर स्थित अनेक चक्ररूपी भट्टियों को प्राणवायु के स्थैर्य से, अपान और प्राण के सामरस्य से प्रज्वलित किया जाय । मूलाधारबन्ध लगा कर अपान वायु को (चन्द्र को) प्राण (सूर्य) से मिला कर उसे सुषुम्ना नाड़ी में प्रवाहित किया जाय, इस तरह प्राण ऊपर उत्क्रमित होकर अग्निमण्डल में प्रवेश करता है । कुण्डलिनीशक्ति चक्रों का भेदन करती हुई ऊपर उठती है, वीर्य (रस) और मन भी ऊर्ध्वगामी होते हैं । अपान मूलबन्ध के अभ्यास से ऊपर उठ कर नाभि के नीचे त्रिकोण जठराग्नि में प्रवेश करता है । इस तरह अपान और अग्नि, दोनों प्राण में मिल जाते हैं । चक्रों की भट्टी प्रज्वलित हो उठती है । प्राण की साधना के द्वारा कुण्डलिनी को प्रबुद्ध करते हुये शरीर के रस (वीर्य) को मन के साथ उर्ध्वगामी कर सहस्रार में संचित करना चाहिए और जालन्धर बन्ध सिद्ध कर स्वय अमृत का पान करना चाहिए । इस अमृतरस की सिद्धि से ही शरीर कंचन बन जाता है, अमरत्व प्राप्त करता है और इस

पिंजरे में (शरीर में) प्राणहंस (शुक्र) ठहर जाता है । यह जीवन्मुक्त हो जाता है, न पैदा होता है, न उत्पन्न होता है, माया का आवरण सदा के लिये समाप्त हो जाता है और जीवात्मा परमशिव का स्वरूप हो जाता है । सद्गुरूदेव । यही सिद्ध का संकेत है । परमात्मा के साक्षात्कार (परिचय) का यही तरीका है । इससे मन (ऊरम) और पवन (धूरम) ज्योतित हो उठते हैं, चिन्मय प्रकाश से सारा शरीर पूर्ण हो उठता है । नवों द्वारों को बन्द कर लेने से उन्मनी समाधि में अलख निरंजन परमात्मा की ज्योति का सम्पूर्ण दर्शन होता है, शरीर में अमृत भर उठता है, नवों दरवाजों का ताला नहीं टूटता है, समाधि लगी रहती है, इतना होने पर भी यदि पिण्डपात हो जाय, शरीर की मृत्यु हो जाय तो इससे सिद्ध होता है कि सद्गुरूज्ञान का आदर नहीं किया गया है, आशय यह है कि शरीर मृत्यु का ग्रास बनता ही नहीं है । सहस्रार में अमृतसागर में अनाहतनाद की तरंगें उठती हैं । चारों ओर पवित्रता-ही-पवित्रता अथवा निर्मलता और निरंजनता का ही दर्शन होता है, उन्मनी समाधि में स्थित योगी कैवल्यपद में अतीत, स्वरूपस्थ हो जाता है । कैवल्यपद अथवा अमर पद का ध्यान कोई बिरला ही कर पाता है । अष्ट पद (पग) धूर्म ब्रह्माण्ड (ललाट), आकाश ब्रह्माण्ड (मस्तक सन्धि), शून्यब्रह्माण्ड (सहस्रदल कमल), परमशून्य ब्रह्माण्ड (तालु), अकल्पित ब्रह्माण्ड (तालुऊर्ध्व), निरंजन ब्रह्माण्ड (भ्रमरगुहा), निराकार ब्रह्माण्ड (शिखामण्डल) तथा निराधार ब्रह्माण्ड या अष्टचक्र, आधारचक्र, दृष्टिचक्र, मणिपूर, अनाहतचक्र, विशुद्धचक्र, अग्निचक्र, ज्ञानचक्र, सूक्ष्मचक्र में सहज परब्रह्म व्याप्त है । परमात्मज्ञानरूपी खगं से काल को जीत लेना चाहिए, मृत्यु को मार डालना चाहिए, मृत्यु का संहार ही जीवन में महाकाल परमशिव का, अमृतब्रह्म का साक्षात्कार है । ब्रह्म में अमरकायत्व ही कायागढ़ की विजय है । मृत्यु को जीत कर शरीर को अमर कर लेना चाहिए, गोरखनाथ का कथन है कि यही आत्मयुद्ध है, संसार (असत्) का अन्त कर शाश्वत जीवन में मैं स्थित हो गया ।

झूंझति सूरा बुझंति पूरा अमरपद ध्यावंत गुरू ग्यान बंका ।
दल को मारि जंजाल को जीतिले, निर्भय होइ मेटिले मन की संका ।।
अझूझि झूझि लै पैसदरिया । मूल बिन वृष अमीरस भरिया ।। ।0 ।।
तन मन लै करि शिव पुर मेला । ग्यांन गुरू जोगी संसार चेला ।
मन राइ चंचल थांन थिति नाहीं । बांधि लै पंच भूत आत्मां माही ।

अलष अकथ चछुबिन सूझिया । सिद्ध का मारग साधके बूझिंया ।। ।। ।।
परख बिन गुर करै जुगते बिन बाहे मरे। बिचार उपरांते कछु ग्यांन नाहीं।
भ्रमि भूले ते बहि चलै पंडिता । उतरे पार ते फिरे समाही ।। ।2 ।।
सबद की पारेखा निहसबद हुवा । ग्यांन का पारिखा जीवता मुवा ।
रहते करणी मुखें प्रकास । नासिका जाणंति पहुप की बास ।। ।3 ।।
उलटि यंत्र धरे सिपर आसण करे, कोटि सर छूटतां घाव नाही ।
सिलहट मध्ये कांवरू जीत लै, निर्मल धुनि गगन माही ।। ।4 ।।
मन की भ्रमना तब छूटंत होइ जोगीन्द्र, जब बिचारंत निहसब्द की बांणी ।
नैण के दांता सार धरि पीसिबा, तब जोग पद दुर्लभ सत्य करि जाणी ।। ।5 ।।
उलटि गंगा चलै धरणि ऊपर मिलै नीर में पैसि करि अग्नि जालै ।
घटहि मैं पै सिंकर कूप पानी भरै, तब पाइ परि पुरूषा आप उजालै ।
ग्यांन के प्रगटे श्रीस्यंभूनाथ पाया । अकल अकथ जती गोरषनाथ ध्याया ।। ।6 ।।
संसार में भ्रम्या सरब भ्रम सोई । निज पद पीवतां बिनस्या न कोई ।
बजरंग कोटडी पर दल पूरा । पच मुवा सब जग पहुँचा स सूरा ।। ।7 ।।
मन सौ जूझणा खांड़ा न लागै । सुन्य गढ़ रमि रहे तौ दीप धुनि जागै ।
धरणी न सोषै अगनी न षाई । बेलि का रस लै भौंरा न जाई ।। ।8 ।।
कथणी कथी हो पंडिता रहणी न पाई । आचार के बंधै मनसा गमाई ।
कथंत श्रीस्यम्भु नाथ सुणौ नर लोई । भ्रम में भूल्या सो बहुरा न कोई ।। ।9 ।।

असत् सम्बन्ध की स्वीकृति और अविद्यारूपिणी माया के बन्धन में जकड़ा जीवात्मा सत्स्वरूप की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता है, वह निरंतर संघर्ष करता है, इस तरह वह आत्मयुद्ध में उतर कर अमरपद, परमात्मयपद का कैवल्यपद का ध्यान करता है । ऐसा आत्मवीर गुरूज्ञान (गुरू से प्राप्त उपदेशामृत) का चिन्तन करता रहता है । चारों ओर इन्द्रियजन्य विषयभोगों में रागासक्त करने वाली शत्रु-सेना खड़ी हैं, मनोबल के सहारे सारी शंकाओं को मिटा कर इस युद्ध को जीतकर जीवन को निर्भय कर लेना चाहिए । बिना युद्ध किये ही युद्ध करना आत्मयुद्ध है, यह आत्मसाधना है । शून्यपद में स्थित सहस्रारूपी वृक्ष चन्द्रामृतद्रव से परिपूर्ण है, यह निराधार; सर्वाधार अलख निरंजन परमात्मा परमशिव इसमें नित्य स्वरूप में विराजमान हैं । इस सहस्रार में जीवात्मा का परमात्मा से अभिन्नत्व ही योगसिद्धि है । ब्रह्मरन्ध्र, शिवपुर में तन, मन को प्रतिष्ठित कर देना चाहिए । प्राण-साधन के द्वारा मन को

उन्मन कर उन्मनी समाधि में स्थित रह कर चन्द्रामृत का पान कर सिद्धदेह की प्राप्ति कर लेनी चाहिए, यही जीवन्मुक्ति है । गुरूयोगी ही महायोग ज्ञानी है, महायोगज्ञानी का सारा संसार शिष्यत्व ग्रहण कर लेता है । मन चंचल है, स्वतंत्र और कही एक जगह स्थिर नहीं रह पाता, इसको उन्मन अथवा अमनस्क कर क्षिति, जल, पावक, गगन और समीर को यौगिक धारणाओं से अथवा पांचभौतिक शरीर को अमृतरस के पान से आत्मा के निवास का अविनश्वर स्थान बना लेना चाहिए । इस तरह (योग) सिद्धि के मार्ग पर ाधक को चलना चाहिए, यह योगज्ञान-मार्ग है, अनुभवगम्य है, वाणी से इसका र्णन नहीं हो सकता है, न चक्षु से यह दीखता ही है, इसका बोध तो ाज्ञाचक्र में स्थित ज्ञानचक्षु, (शिवनेत्र अथवा तृतीय नेत्र) से ही होता है । ह्मरन्ध्र अथवा शिवपुरी में प्रवेश के लिए पवन और मन को उत्क्रमित करने साथ ही साथ विपरीतकरणी मुद्रा का अभ्यास कर चन्द्रमा से द्रवित अमृत ा पान करने से जीवन में विजय प्राप्त हो जाती है । अच्छी तरह परख र ही गुरू बनाना चाहिये, यदि युक्ति, साधन की प्रक्रिया का अभाव है तो ाधक नष्ट हो जाता है । आत्मविचार से श्रेष्ठ कोई ज्ञान नहीं है । हे द्धानों । भ्रम में नही रहना चाहिये । संसार-सागर से पार उतर जाना ाहिये । नादब्रह्म का साधन कर सहज शून्यस्थ अलख निरंजन का ाक्षात्कार करना चाहिये । आत्मज्ञानी जीवन्मुक्त हो जाता है । रहनी से ही रनी का पता चलता है, नासिका ही पुष्प-गन्ध ग्रहण करती है । यन्त्र को लटा कर दिया जाता है, और शीर्षासन किया जाता है, इसका आशय यह है क हमारे मूलाधार चक्र में कुण्डलिनी प्रसुप्त रहती है, मूलबन्ध और अपान के त्क्रमण द्वारा उसे जगाया जाता है कुण्डलिनी प्रबुद्ध होकर ऊपर उठंती ाती है । हमारे नाभि-स्थान में द्वादश कलावाला सूर्य (अग्नि) रहता है, वह हस्रार में स्थित चन्द्रमा के द्रव को सोख लेता है और शरीर अमृत से वंचित रहता है, विपरीतकरणी मुद्रा से सूर्य का मुख ऊपर हो जाता है और चन्द्रमा का नीचे हो जाता है, अमृत का शोषण रूक जाता है, अग्नि के ऊर्ध्वमुख हो जाने से अधोमुख चन्द्रामृत बच जाता है और इसका पान करने से अमरकायत्व का लाभ होता है । इस तरह यन्त्र उलट देने से और शीर्षासन में स्थित हो जाने से जीवात्मा मन और इन्द्रियों के आघात से प्रभावित नहीं होता, अनेक विषयबाण छूटते रहते हैं पर जीवात्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है ।

ब्रह्मरन्ध्र (सिलहट) में कुण्डलिनी महाशक्ति मूलाधार में स्थित कामरूप-पीठेश्वरी का शिव से साक्षात्कार, मिलन करा देना चाहिए । यही सिलहट में काँवरू को जीतना है । निर्मल अनाहतनाद ब्रह्मरन्ध्र में ध्वनित हो रहा है, मन की चंचलता इस ब्रह्मरन्ध्र में उन्मनी समाधि, शून्य सहज समाधि में अथवा निर्विकल्प एवं निर्बीज समाधि में समाप्त हो जाती है । सहजशून्यस्थ शब्दब्रह्म-ऊँकार स्वरूप परम शिव का साक्षात्कार करते ही योगीन्द्रपद की प्राप्ति हो जाती है । सूक्ष्माति-सूक्ष्म का दर्शन होता है और दुर्लभ योगपद प्राप्त होता है । गंगा उल्टी बहने लगती है, प्राण-वायु सुषुम्ना-मार्ग से प्रवाहित होकर ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करती है, और धरती कुण्डलिनी आकाश (ब्रह्मरन्ध्र) में मिल जाती है । अमृत में प्रवेश से अग्नि-ज्योति प्रज्वलित अथवा प्रकाशित हो उठती है, (घट) शरीर में ही कूप (ब्रह्मरन्ध्र में संचित अमृत) प्रवेश करता है, और सम्पूर्ण शरीर के भीतर निरंजन परब्रह्म की ज्योति अभिव्यक्त हो उठती है । परमात्मज्ञान अथवा योगज्ञान प्रकाशित हो जाने पर परब्रह्म आदिनाथ शिव की प्राप्ति होती है, यह निष्कल और अचिन्त्य अकथ ब्रह्म है । योगी गोरखनाथ ने इसको ध्यान में प्राप्त किया, अथवा इसका ध्यान किया । संसार के मायामोह के भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये । स्वरूप में स्थित होने पर जीवात्मा विनष्ट नहीं होता है । योगाग्नि में सिद्ध देह को प्राप्त कर वज्रांगरूपी कोठड़ी में विषयगामी पंच इन्द्रियों के शक्तिहीन हो जाने पर, मर जाने पर वीरात्मा अपने पद में पहुँच जाता है, स्वरूप-बोध प्राप्त कर लेता है । मन से ही कायागढ़ में युद्ध (साधना) करना चाहिये, तलवार की इसमें आवश्यकता नहीं है । मन के उन्मन हो जाने पर अनाहत नाद का श्रवण होता है तथा ब्रह्मरन्ध्र में अलख निरंजनरूपी दीपक प्रकाशित हो उठता है । शरीर में अमृतरस प्रवाहित हो उठता है, मूलाधार (धरती) में स्थित सूर्य इसे नहीं सोखता है, पंचेन्द्रियरूपी भौंरा इसे बाहर नहीं ले जाता है । हे विद्वानों ! केवल (शास्त्रज्ञान के) कथन मात्र से ही ज्ञान-प्राप्ति नहीं हो सकती । आचार, व्रत आदि का पालन करने पर भी यदि स्वरूपबोध नहीं होता तो यह निरर्थक है । शिवस्वरूप गोरखनाथ का कथन है कि जो माय में भ्रमित रहता है वह सद्ज्ञान नहीं पाता है ।

भूल्या सो भूल्या बहुरि चेतना । संसार के लोहै आपा न रेतना ।
भेष तजि भ्रम तजि राषि सत्य सोई । तत बिचारता देवता होई ।। 20 ।।

आपा सोधौ ब्रह्म निरोधौ सहज पलटौ जोती ।
काया के भीतर मषि माणिक निपजै, तहाँ धुनि-धुनि बरषै मोती ।। 2। ।।
अरध उरघ संपुष्टि करीजै। संषणि नाल अमीरस पीजै।
अषंड मंडल तंह नाद मेरीलै। हरिं आसण तह भगति करीलै।। 22 ।।
अलेष मन्दिर तंह सिव सक्ति निवासा। सहज सुन्न भया प्रकासा ।
तहाँ चंद बिना चाँदण अगिन बिन उजाला। एतन भेदंतबृद्ध से बाला ।। 23।।
करतार तजिहूँ साकत हूँ न जाई । मन मृग राषिले बाड़ी न पाई ।
आकास बाड़ी पाताल कूंआ। भरि-भरि सीचता जो सिद्ध हुआ ।। 24 ।।
अवघू अमर कोट काया अलेष दरवाजा ।
ग्यांन गढ़ आसण प्राण भयो राजा ।। 25 ।।
अवघू फेरि ले तौ तत सार बुद्धि साँच ।
नहीं तौ लोहा गढ़िले तौ कंचन नहीं तौ काँच ।। 26 ।।
अवघू सिद्धा पाया साधक पाया ते उतरिया पारं ।
कथंत जती गोरषनाथ जेते न जानंत विचारं, ते जलि भये अंगारं ।। 23 ।।

हे अवधूत ! मनुष्य-शरीर की प्राप्ति बहुत दुर्लभ कही गयी है, इसमें जन्म लकर जो परमात्मा का स्वरूपानुभव नही कर लेताहै, उसका जीवन व्यर्थ चला जाता हैं और जीवन के इस तरह व्यर्थ और निस्सार चले जाने का एक मात्र कारण है अज्ञान, इस अज्ञान में ही अनेक भूले होती रहती हैं । जो भूल हो गयी, वह हो गयी, ज्ञान-प्रकाश में सावधान हो जाना चाहिए, जाग जाना चाहिए, चेतना चाहिये । संशय नही करना चाहिये, संशय (लोहे की रेती) से आत्मा को नष्ट नहीं करना चाहिए । केवल (योगी का) भेष धारण कर लेने से भ्रम का नाश नही होता है, भेष और भ्रम से सद्ज्ञान मिलने में असुविधा होती है । आत्म-तत्व का विचार करते-करते परमात्म-स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है । अपने आत्मा के मायिक आवरण और विकारों का शोधन करना चाहिए, शुद्ध आत्मस्वरूप पर विचार कर शरीर में ब्रह्म का अनुभव करना चाहिए, परमात्मा हमारे भीतर विराजमान है, मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी को ब्रह्मरन्ध्र में शिवस्वरूप में प्रतिष्ठित करना चाहिए । काया के भीतर मणि-माणिक्य भरे पड़े हैं, उसमें अनेक (ज्ञान) रत्न उत्पन्न होते हैं, उसमें सहस्रार में स्थित चन्द्रमा के अमृतकण, मुक्तामणि आदि ब्रह्मरन्ध्र (आकाश) से झरते रहते हैं । शंखिनी-नाल से अमृत रस पीना चाहिए । अपान और प्राण को

उत्क्रमित कर सुषुम्ना नाड़ी से उनको (प्राण के रूप में) ब्रह्मरन्ध्र में प्रविष्ट करना चाहिए अथवा नाभिस्थित सूर्य को ऊर्ध्वमुख कर तथा सहस्रारस्थ चन्द्र को अधोमुख कर तालु में द्रवित अमृत का स्वयं पान करना चाहिए । शून्य आकाश-मण्डल, ब्रह्मरन्ध्र में अनाहतनाद में आत्मलय कर परब्रह्म परमेश्वर का करना चाहिए, उसकी भक्ति के रस में समाधिस्थ हो जाना चाहिए । वह शून्य गगन ब्रह्मरन्ध्र अरूप और अलेख है, निराधार है, उसमें शक्ति-शिव का निवास है, अलख-निरंजन की सहज ज्योति प्रकट है । वहाँ बिना चन्द्रमा के चाँदनी (सच्चिदानन्दमयी), ब्रह्मज्योति है, बिना अग्नि के प्रकाश है । इस आकाश-मण्डल का भेदन कर उसमें प्रवेश कर (चन्द्रमामृत का पान करने से) वृद्ध बालक हो जाता है । उसे अमरकायत्व के रूप में चिरतारूण्य की प्राप्ति हो जाती है । मनरूपी मृग को आकाशरूपी उपवन से बाहर नहीं जाने देना चाहिए अथवा मन को ब्रह्मरन्ध्र में उन्मन कर लेना चाहिए । सिद्ध पाताल के कुएँ के जल से वीर्य-(रस) से आकाशरूपी उपवन को सींचते हुए योग-सिद्धि प्राप्त करते हैं । हे अवधूत । इस तरह अमरत्व में स्थित कायागढ़ में योगी निवास करता है, वह नवों द्वारों को बन्द कर दसवें द्वार, ब्रह्मरन्ध्र में स्थित होकर उन्मनी समाधि सिद्ध कर लेता है । ज्ञानगढ़ में आसन लगाकर प्राण ही राजा बन जाता है, (गुरू) ज्ञानगढ़ में अमृत शरीर में प्राण का राज्य है । प्राण इस शरीर से बाहर नहीं हो पाता है, क्योंकि शरीर चन्द्रामृत से पोषित है, अमृतस्वरूप है । शरीर में ज्ञानाग्नि प्रज्वलित है, लोहा से स्वर्ण बना लेना चाहिए, यही रससिद्धि है, अन्यथा यह शरीर शीशे की तरह से विदीर्ण हो जायेगा । सिद्ध और साधक सब-के-सब, ज्ञान के प्रकाश में भवसागर से पार उतर गये । गोरखनाथ का कथन है कि जिन्होंने गुरू-ज्ञानं-प्रकाश से शरीर को अमृतत्व में स्थित कर परमशिव का साक्षात्कार नहीं कर लिया, वे जल कर अंगारे के समान बुझ कर राख हो गये, नष्ट हो गये । अमर-जीवन प्राप्त करना चाहिए ।

अवधू ऐसा नग्र हमारा । तिहाँ जोवौ ऊजूद्वारं ।
अरध-उरध बजार मंड्या है । गोरष कहै बिचारं ।। 28 ।।
हरि प्राण पातिसाह, साह बिचार काजी ।
पंच तत ते उजहदारं, मन पवन दोंऊ हस्ती घोड़ा,
गिनान ते अषै भडार ।। 29 ।।

काया हमारै सहर बोलिये, मन बोलिये हुजदार ।
चेतनि पहरै कोटवाल बोलिये, तौ चोर न झंकै द्वारं ।। 30 ।।
तीनि सै साठि चीरा गढ़ रचीले, सोलह षणिलै षाई ।
नव दरवाजा प्रगट दीसै, दसवां लष्यां न जाई ।। 31 ।।
अठारह भार कोट कठंजरा लाइलै, बहत्तर कोठड़ी निपाई ।
नव सत्र ऊपरै जंत्र फिरै, तब कायागढ़ लिया न जाई ।। 32 ।।
अनहद घड़ी घड़ियाल बजाइ लै परम जोति दुइ दीपक लाई ।
काम क्रोध दोइ गरदनि मारिलै,
ऐसी अदली पातिसाही, बाबै आदम चलाई ।। 33 ।।
तहाँ सत्य बीबी संतोष साहिजादा, षिमा भगति द्वै दाई ।
आदिनाथ नाती मछिंद्रनाथ पूता, काया नगरी गोरष बसाई ।। 34 ।।

विशेष : 28 से 34 पदों का अर्थ पृष्ठ 175-176 पर देखना चाहिए ।

इति श्रीग्यांन चौतीसा पठंते गुणंते करंते पापे न लिपयते ।
पुंने न हारंते ऊँ नमो सिवाइ ऊँ नमो सिवाइ ।
गुरू मछिन्द्रनाथ पादुका नमोऽस्तु ते ।

अष्ट चक्र

ऊँ गोरष देव अष्ट चक्र बोलिये घट भीतर । ये कौंण कौंण बोलिये । अवधू प्रथमें आधार चक्र बोलिए गुदा अस्थांने, चत्र दल कंवल, षटसै सांस । तिस चक्र ऊपरि द्रिष्ट चक्र, लिंग अस्थांने षट दल कंवल षटसै सांस । तिस चक्र ऊपरि मणिपुर चक्र, नाभि अस्थांने, दस दल कंवल, षट सै सांस । तिस चक्र ऊपरि अनहद चक्र, हिरदा सथांने द्वादस कंवल, षटसै सांस । तिस चक्र ऊपरि विसुध चक्र, कंठ सथांने षोडस कंवल, एक सहंसर सांस, अजपा गायत्री पारब्रह्म ध्यांन । तिस चक्र ऊपरि अगनि चक्र, नेत्र सथांने षोडस दल कंवल एक सहस्र सांस अजपा गायत्री पारब्रह्म ध्यांन । तिस चक्र ऊपरि गिनांन चक्र ब्रह्मण्ड सथांने एक सहंस्र दल कंवल एक सहंस्र सांस । अजपा गायत्री पारब्रह्म ध्यांन।

तिस चक्रऊपरि सुक्षिम चक्र, बिग्यांन सथांने एक बीस सहस्र दल कंवल । ए अष्ट कमल का जांणी भेव । आपै करता आपै देव ।

इती अष्ट चक्र कथंत जती गोरषनाथ संपूर्ण

ग्यांन तिलक

ऊँ सबदहि ताला सबदहि कूची सबदहिं सबद भया उजियाला ।
कांटा सेती कांटा षूटै कूंची सेती तला ।।
सिध मिलै तो साधक निपजै, जब घटि होय उजाला ।। । ।।
अलख-पुरूष मेरी दृष्टि समाना, सो सा गया अपूठा ।
जब लग पुरूषा तन मन नहीं निपजै, कथै बदै सब झूठा ।। 2 ।।
सहज सुभाव मेरी तृष्ना फीटी, सींगी नाद सँगि मेला ।
यंम्रत पीया विषै रस टारया गुर गारड़ौ अकेला ।। 3 ।।

ऊँस्वरूप परब्रह्म अलख-निरंजन परमेश्वर अपनी निजाशक्ति में, इच्छाशक्ति में अप्रकट है, उसके प्राकट्य का अनुभव गुरू के उपदेशामृत (शब्द) से होता है, जिस तरह ताला खोलने में कुंजी की आवश्यकता है, बिना उसके वह खुल नहीं पाता, इसी तरह शब्द ब्रह्म का बोध गुरू के शब्द अथवा उपदेशामृत से ही होता है । यह निर्विवाद और सहज सामान्य तथ्य है कि काँटे से ही काँटा निकलता है, इसी तरह इसमें तनिक भी संशय नही है कि शब्द ब्रह्मरूपी ताले का रहस्यभेदन गुरूशब्दरूपी कुंजी, उपदेश से होता है । योगसिद्ध गुरू की प्राप्ति होने पर ही योगमार्ग पर चलनेवाले साधक साधना में लगते हैं और इसकी कसौटी यह है कि गुरू के उपदेश से साधक के शरीर के भीतर आत्मज्ञान प्रकाशित हो उठता है । जब मुझे गुरू की कृपा से पता चल गया कि परब्रह्म परमेश्वर अलख-निरंजन परम पुरष परमात्मा मेरे तन और मन में ही व्याप्त हैं, विद्यमान है तो परब्रह्म में मुझे निजस्वरूप की अभिन्नता का ज्ञान हो गया, मैं उससे अभिन्न हो गया । मेरी ज्ञानदृष्टि में परब्रह्म समा गया और मुझे अपने निर्विकार सच्चिदानन्दस्वरूप का ज्ञान हो गया । जब तक साधक के आत्मदर्शन के स्तर पर स्वसंवेद्य परमात्मा की

व्यापकता नहीं प्रकाशित होती, तब तक कोरा आत्मज्ञान कथन बकवाद मात्र है, मेरी तृष्णा-विषयभोगासक्ति मिट गयी है और मैंने अनाहतनाद के (निष्पत्ति, सूक्ष्म शब्दलयावस्था में) सहज श्रवण के फलस्वरूप नाथपंथ की योगसाधना में सीगीनाद धारण कर लिया है, मैं अभय हो गया हूँ, मुझे गरूड़मंत्र के मर्मज्ञ, सिद्ध गुरूदेव ने माया अथवा कामना, तृष्णा (मनसा) के विषय-रसरूप विष से मुक्त कर सहस्रार से द्रवित अमृतरस का पान कराया है, अथवा गुरू के उपदेशामृत का पान करने से मुझ पर मायारूपी सर्पिणी का विष नहीं चढ़ सकता हैं, मैंने आत्मस्वरूप में स्थित होकर अमृतब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है ।

सरंप मरै बांबी उठि नाचै, कर बिन डेरू बाजै ।
कहै नाथ जो यहि बिधि जीतै, पिंड पड़े तो सतगुर लाजै ।। 4 ।।
दरपन माहीं दरसन देष्या, नीर निरंतरि झांई ।
आपा माहीं आपा प्रगट्या, लखै तौ दूर जाई ।। 5 ।।
चकमक ठरकै अगनि झरै यूं, दध मथि घृत करि लीया ।
आपा माही आपा प्रगट्या, तब गुरू सन्देसा दीया ।। 6 ।।

शरीर में कुण्डलिनी सर्पिणी उसी तरह सोती है, जिस तरह अपने बिल में सर्पिणी पड़ी रहती है । पर उसके मरते ही बिल में अभय का वातावरण छा जाता है, ठीक उसी तरह अविद्या-मायारूपिणी कुण्डलिनी के मरते ही (ज्ञानस्वरूप में प्रबुद्ध होते ही) सारे शरीर में नवजीवन का प्रकाश छा जाता है, रोम-रोम में नाड़ियों में प्राणसंजीवनी प्रवाहित हो उठती है, शरीर उठ कर नाचने लगता है - शरीर में आनन्द छा जाता है । अनाहतनाद का गर्जन होने लगता है, ऐसा लगता है कि बिना हाथ से ग्रहण किया गया डमरू ही किसी अदृश्य शक्ति से बज रहा है । इस तरह योगसंग्राम में अविद्या-सर्पिणी माया को मार कर जीवात्मा प्राणसाधना के द्वारा शरीर को योगाग्नि में पक्व कर ब्रह्मरन्ध्र में परमशिव में स्वरूपस्थ हो जाता है । यदि साधक के शरीर का पात हो जाता है तो यह स्पष्ट है कि उसने गुरूज्ञान की उपेक्षा और अवहेलना कर साधना के नाम पर अहंकार का पोषण ही किया । शरीर निस्संदेह अमर हो जाता है । दर्पण में जो रूप या प्रतिबिम्बि देखा जाता है, वह देखने वाले की ही आकृति है, उससे भिन्न नहीं है, स्थूलाकृति है, इसी तरह आत्मा

में शाश्वतचैतन्यघन परमात्मा व्याप्त हैं, उसकी अभिव्यक्ति ज्ञानेन्द्रिय और मन में नहीं हो सकती है । चेतन में ही चेतन की अभिव्यक्ति-स्वरूप अभिव्यक्ति है । जिसे स्वरूपबोध हो जाता है, जिसे परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है, वह फिर अन्यत्र भटकनेवाला भिन्नरूप ही नहीं रह जाता है । जिस तरह चकमक पत्थर में रगड़ लगने से अग्नि-स्फुलिंग का प्राकट्य होता है, उस स्फुलिंग और अग्नि में भेद नहीं है, उसी तरह आत्मा-परमात्मा में भेद नहीं है, दधि मथ कर घृत निकाला जाता है, दधि और घृत, दोनों दूध ही हैं । अभिन्न हैं, पर घृत निकालने का साधन किया जाता है, इसी तरह आत्मा में परमात्मा का प्राकट्य होता है, पर ऐसा गुरू-ज्ञानामृत से ही समभव है ।

सुरति गहौ संसै जिनि लागौ, पूंजी हांन न होई ।
एक तत सूं एता निपजै, टारया, टरै न सोई ।। 7 ।।
निहिचा ह्वै तो तेरा निपजै, भया भरोसा नेरा ।
परचा ह्वै तौ ततषिन निपजै, नहीं तर सहज न बेरा ।। 8 ।।
जे लूट्या जिनि षबरि न पाई, कसि करि यंद्री डांडी ।
तन मन की कछु षबरि न पाई, सुरति बिगोया रांडी ।। 9 ।।
बिंद और भगबाघणि औरै, बिन दांता जग षाया ।
प्रांण पुरूष का मर्म न पाया, छोंड़ि बिगूते माया ।। 10 ।।

परमात्मा अव्यय, सनातन और अनन्त है, सदा उसके स्मरण और ध्यान में चित्त को लगाये रखना चाहिए । बुद्धि को संशय-अज्ञान और भ्रम में नहीं डालना चाहिए । आत्मा ऐसी पूंजी है, जिसका कभी क्षय नहीं होता है, यह अक्षय है, इस परमात्मतत्व के निश्चय, सनातन में समग्र विश्वास से स्वरूप-बोध की प्राप्ति होती है, निश्चय साधना-सिद्धि का परम-फल है, इस परमात्मतत्व में परिचय अथवा साक्षात्कार का तात्कालिक तत्क्षण फल है,परमात्मा में निर्द्धन्द्वता पूर्वक जीवात्मा की संस्थिति-अभिन्नता । यदि माया इसमें बन्धनकारिणी बनती है, जीवात्मा विषय-प्रपंच में लिप्त होकर आत्मविस्मरण करता है तो उसका सहज परमात्मसम्बन्ध से भिन्नत्व स्थापित होता है, वह सहज स्वरूपस्थिति तक नहीं पहुँच पाता है, भटक जाता है, अक्षय परमात्म धन नहीं मिलता । माया के द्वारा जो जीवात्मा परमात्मज्ञान से विमुख कर दिया

जाता है, विषय-भोग में अज्ञानपूर्वक बाँध दिया जाता है, उसे पता ही नहीं रहता है कि इन्द्रिय-जन्य विषय-भोगों की तृप्ति से परमानन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती । उसका शरीर भोग-तृप्ति और काम-वासना की पूर्ति में निरन्तर क्षीण होता रहता है और मन चंचल रहता है, चित्तवृत्तियाँ निरूद्ध नहीं हो पाती । वह योगमार्ग से विमुख होकर माया के चक्कर में पड़ कर अपनी आध्यात्मिक निधि खो देता है । (हठ) योग की साधना का आधार है वीर्य की रक्षा, शरीर में वीर्य को ऊर्ध्वगामी कर उसे महारस में परिणत कर देने से दुर्लभ अमृतपान का योगी अवसर प्राप्त करता है । बिन्दु अमूल्य है, रत्न है, पर वह भगमुखी (स्त्री के आलिंगन परिरम्भण में पुरूष की कामवासना की तृप्ति का आधार) बन जाता है, स्त्री का भग बाघिन से भी भयानक रूपवाला है, बाघिन तो दाँत से चबा कर अपने शिकार को खाती हैं, पर भग तो बिना दाँत के ही पुरूष का सर्वनाश कर देता है । वह कामुकता में प्रवृत्त होकर अपना पुरूषतत्व नष्ट कर देता है और मृत्यु का ग्रास बन जाता है । ऐसे कामुक को प्राण-पुरूष (अन्तर्यामी परब्रह्म) के रहस्य, तत्व का ज्ञान नहीं होता है, वह माया के द्वारा विनष्ट हो जाता है ।

सौंट्यौ लाकड़ि ज्यूं घुण लागै, लोहै लागै काई ।
बिन परतीति कहा गुरू कीजै, काल जग्रास्यां जाई ।। ।। ।।
रांडी तज्यां न षसिया जीवै, पुरूष तज्यां नहीं नारी ।
कहै नाथ ये दोनयूं बिनसे, घोषा की असवारी ।। ।2 ।।
बैसन्दरमुषि ब्रह्म जो होते, सुद्र पढ़ाऊँ बानी ।
असंभेद बिधि ब्रह्म जग निपजां, नै जुगति जमाया पांनी ।। ।3 ।।
तौ जुग रांड्या जोगेस्वर ब्याह्या, सिवसकती सूं फेरा ।
जा पद मिंदर पुरूष बिलंव्या, वहि मिंदर घर मेरा ।। ।4 ।।

जिस प्रकार सूखी लकड़ी को घुन खा जाते हैं और उपेक्षित लोहे में जंग लग जाती है उसी तरह आस्था हीन शिष्य को काल खा जाता है, गुरू उसकी रक्षा नहीं कर सकता । स्त्री के रूपजाल से पुरूष अपने-आप को नही मुक्त कर सकता है । इसी तरह स्त्री भी बिना पुरूष से अपनी कामाग्नि को शीतल किये अथवा तृप्त किये रह नहीं सकती । इस तरह एक-दूसरे के संग में रहकर पुरूष और स्त्री, दोनों-के-दोनों धोखे में हैं और दोनों एक-दूसरे

से आकृष्ट होकर अपने जीवन के उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर पाते हैं । जो योगाग्नि में अपने प्राण (ब्रह्म, आत्मा-परमात्मा को उपनिषदों में प्राण कहा गया है) का हवन कर दे अथवा शरीर में योगाग्नि प्रकाशित कर ब्रह्म की उपासना, करे, वही सद्शिष्य है । चाहे ऐसा शिष्य शूद्रवर्ण का भी क्यों न हो । ऐसे शिष्य का जीवन यद्यपि एक यज्ञ है तथापि योगाग्नि में जीवन को परिशुद्ध करने का उसका संकल्प साक्षात् महापुण्यस्वरूप अश्वमेध यज्ञ है, जिसके लिए वीर्य (महारस) को ऊर्ध्वगामी कर अमृत में रूपान्तरित कर दिया जाता है । माया ने (स्त्री के प्रति आकर्षण ने) साक्षात् महादेव को भी, काम को जलाकर छार कर देने वाले को भी, प्रभावित कर दिया, शिव ने महामाया स्वरूपिणी जगदीश्वरी उमा का पाणिग्रहण किया । परमपद, ब्रह्मरन्ध्ररूपी मन्दिर के इष्टदेव परमशिव भी माया से विमुग्ध होकर अपने निष्कल रूप से सकल-साकार रूप में अभिव्यक्त हो गये पर उसी ब्रह्मरन्ध्र में मैं निष्कल, अकुल शिव का साक्षात्कार कर अलख-निरंजन ब्रह्म में समा गया, अभेद हो गया । स्त्री के रूपजाल में मैं आसक्त नहीं हो सका ।

या रहनी मे घर बासा, जोग जुगति करि पाया । घर
सिव समाधि पंच वर मेला, गोरष तहां समाया ।। 15 ।।
हाली भीतरि षैंत निदांणै, बगु मैं ताल समाई ।
बरषै मोर कुहूकै सावण, नदी अपूठी आई ।। 16 ।।
गऊ पद मांही पहौकर फकदै, दादर भर्य्य झिलारे ।
चात्रिग मैं चौंरासी बोलै, ऐसा समा हमारे ।। 17 ।।
आसा तृष्णां थिर ह्वै बैठी, पद परचैसुष पाया ।
सुकै तरवर कूंपल मेल्ही, यहि बिधि निपजी काया ।। 18 ।।

मैंने स्त्री रहित (मायारहित) रहनी से योग की साधना के द्वारा वास्तविक घर-ब्रह्मरन्ध्र की प्राप्ति कर ली । पंच-ज्ञानेन्द्रियाँ भी स्त्री द्वारा काम-तृप्ति की प्राप्ति की दिशा में सहायता कर योग-प्राप्ति के मार्ग में शत्रु के समान हो जाती है, मैंने उनकी शक्ति का ब्रह्म-प्राप्ति में उपयोग किया है, वह ब्रह्मरन्ध्र में लीन हो गयी, मेरी बाह्यवृत्ति समाप्त हो गयी और मैं अलख-निरंजन परमशिव से अभिन्न हो उठा । जीवात्मारूपी किसान सदा अपने शरीररूपी खेत की खर-पतवार, घास आदि नष्ट कर रक्षा करता है ।

जिस तरह किसान (हलवाला - हाली) खेत को निराता है और उसमें फसल लहलहा उठती है, ठीक इसी तरह सावधान योगसाधक षट्कर्म, आसन-प्राणायाम और मुद्राबन्ध आदि से शरीर के दोष दूर करता है और इस तरह अपने भीतर आध्यात्मिक जीवन लहलहा उठता है । यह मन बगुला है, यह किसी भी समय साधक की सात्विक वृत्ति को उसी तरह नष्ट कर देता है, किन्तु योग साधना के पश्चात् मन का आधार ही समाप्त हो गया, मानो सारा तालाब ही बगुले में समा गया हो । सारी बातें अन्तर्मुखी और विपरीत हो गयी । सामान्य रूप से मायारूप से मायारूप सावन बरसता है और मन-मयूर आनन्द-मग्न होकर नृत्य करता है पर अन्तर्मुखी वृत्ति होने से मन साक्षात् ब्रह्मामृत स्वरूप हो गया और माया उलटे (अपूठा) परब्रह्मस्वरूपिणी हो गयी, शिवमयी हो गई । जिस तरह गोपद में पुष्कर (पोहकर) जलाशय समा जाता है, स्पन्दित हो उठता है, उसी तरह योगसाधक का स्थूल (बाह्य) अस्तित्व अन्तर्मुखी हो जाता है, सूक्ष्म होकर परमशिव में आकारित हो उठता है । उस सूक्ष्म जीवन में- अमृत स्वरूप अस्तित्व में सूक्ष्म मन, शिवस्वरूप उन्मनी अवस्था में बिलीन मन जो दादुर-मेढक और भर्रय-बर्हि (मोर) के समान है, आनन्दमग्न हो उठता है । इस चौमासे (पावन ऋतु अथवा योगसिद्धि की अवस्था) में आत्मारूपी चातक स्वातिधनस्वरूप प्राणेश्वर परमात्मा के अभिमुख हो उठता है, साक्षात् शिव हो उठता है । इस तरह की रमणीय छवि (दृश्य) उपस्थित हो उठती है । आशा तृष्णा की अस्थिरता समाप्त हो जाती है । साधक का जीवन ब्रह्मानन्दस्वरूप अमृत से परिपूर्ण हो उठता है । माया का वृक्ष सूख जाता है, आध्यात्मिकता की कोपलें निकल पड़ती हैं, काया की सार्थकता प्रगट हो जाती है, शरीर के भीतर परब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है ।

पूरब देस पछाहीं घाटी, (जनम) लिष्या हमारा जोगं ।
गुरू हमारा नांवगर कहीए, भेटै भरम विरोगं ।। 19 ।।
नव ग्रहमारि अगनि मुषि झौक्या, दुदरहि लग्या डोरी ।
परम पुरूष पिंजरि बिलंब्या, भई अगम गति मोरी ।। 20 ।।
अकथ कथ्या अन अष्पिर बांच्यां, अगम गवन करि लीया ।
हंस बिलंव्या बूंद न ढ़लकै, वहि सरवर बंध दीया ।। 21 ।।

बोलै नाथ गगन घर बासा, अंतरि बसीया जाई ।
परम पुरस मेरै कागद मांड्या, दिन दिन कला सवाई ।। 22 ।।

हमारे पिण्ड के भीतर प्राण ही हमारा (चेतन आत्मारूपी योगी गोरखनाथ का) पूर्वदेश है, (शाश्वत चैतन्य आत्मा का), निवास स्थान है और मेरूदण्ड में स्थित सुषुम्ना नाड़ी (पछाहीं घाटी) ही हमारे आने जाने का मार्ग है । (इसी में प्राणहंस आता है, जाता है) हमारे भाग्य में (विधाता ने) योग लिखा है । संसार-सागर से पार उतारने के लिये हमें सद्‌गुरू (मत्स्येन्द्रनाथ) के रूप में एक अनुभवी नाविक की प्राप्ति हो गयी है । उन्होंने हमारे अज्ञानजन्य भ्रम-रोग का नाश कर दिया है, गुरू के ज्ञान-प्रकाश में मुझे इस बात का पता चल गया है कि मेरे अमृतस्वरूप जीवन पर क्रूर और अनुकूल दोनों प्रकार के (नवों) ग्रहों की चाल का लेश मात्र प्रभाव भी नहीं है । माया से उत्पन्न द्वन्द्वों का भी पता लग गया है, मुझे इन्द्रिजन्य विषय भोगों में पूरी-पूरी उपरति हो गयी है । मेरा प्राणहंस मेरे शरीर में स्थित हो गया है और मुझे अलख-निरंजन की स्वरूपानुभूति हो गयी है । कैवल्यपद की प्राप्ति हो गयी है । इस तरह अगम-अपार परमगति, मुक्ति में मैं स्वस्थ हूँ । ब्रह्मप्राप्ति का वर्णन शब्दसापेक्ष नहीं है, नाद (शब्द) से भी परे अलख-निरंजन के स्वरूप का मुझे बोध मिल गया है, यह स्वसंवेद्य बोध है, मैंने गुरू के अनुग्रह से ज्ञानोदय के प्रकाश में इस अकथ, शब्दातीत रहस्य को पढ़ लिया है, बाँच लिया है । इस अकथ परमात्मपद में परब्रह्मस्वरूप में मेरा प्राणहंस स्वस्थ हो गया है । मेरे शरीर में महारस (वीर्य) का एक कण भी क्षीण रेत नहीं हो पाया, वीर्यरस अमृत में परिणत हो गया है, मैं पूर्ण ब्रह्मचर्यपद में प्रतिष्ठित होकर अलख-निरंजन ब्रह्मस्वरूप हो गया । गोरखनाथ का वचन है कि गगनरूप-आकाशचक्ररूप घर में अथवा ब्रह्मरन्ध्र में हमने शिव से तादात्म्य प्राप्त कर लिया है, ब्रह्मरन्ध्र में ही हमारा निवास है । परमपुरूष-शब्दातीत अलख-निरंजन ब्रह्म ही मेरी भाग्य-लिपि है, जन्मपत्र है, जिससे मेरी शक्ति निरन्तर बढ़ती चली जा रही है, मुझे आत्मस्वरूपबोध हो गया है ।

ऐसे रमहुँ जैसे नष सिष भेदै, संक्या सरीर न लूटै ।
चलत फिरत पद माहिं समावै, जांमण मरण न छूटै ।। 23 ।।

मरि मरि जाय सुसंसा मांही, तन का मरम न पाया ।
समझया होय तो पदपंथ और धोषै जनम गमाया ।। 24 ।।
या पद की कठिन है करनी, केवल-मतापुरूष की रहनी (सोई) ।
या रहनी तैं पारस निपजै लोहा कंचन पद भेट्यां पद होई ।। 25 ।।
नीझरनीर अगनि मुषि बरपै, सींचै बाग हमारा ।
या रहनी तैं पैंकंबर निपजै, तिसिया मरै संसारा ।। 26 ।।

(पूर्ण योगसिद्धि तो यही है कि) साधक को अलख निरंजन की स्वरूपानुभूति में इस तरह रमण करना चाहिए, लीन रहना चाहिए कि नखशिख पर्यन्त पूरे शरीर के भीतर ब्रह्मानुभूति-ही-ब्रह्मानुभूति व्याप्त हो गयी है । शरीर पर माया का तनिक भी प्रभाव न रह जाय, सोते-जागते, चलते-फिरते, उठते-बैठते, निरन्तर ही ब्रह्मानुभूति में चित तल्लीन हो जाय और जन्म-मरण का भय छूट जाय, जीवन्मुक्ति मिल जाय । यही कैवल्यपद की प्राप्ति कही गयी है । संशय का अन्त कर देने से ही सद्ज्ञान के द्वारा शरीर के भीतर परमात्मा का (ब्रह्मरन्ध्र में) साक्षात्कार होता है, शरीर योगसिद्धि का महान् साधन है । जो इस बात को नहीं समझता है, वह संशय और अज्ञानजनित भ्रम के द्वारा आत्मज्ञान नष्ट कर देता है । कैवल्यपद की प्राप्ति के लिये साधना में निरन्तर लगे रहने वाले साधक की करनी (अभ्यास) अत्यन्त कठिन और श्रमसाध्य है । इस रहनी-कैवल्यपदप्राप्ति में, तल्लीनता में, अलखनिरंजन परमात्मरूपस्पर्शमणि (पारसमणि) की प्राप्ति होती है । इस पारसमणि से शरीररूप लोहा-मरणशील जीवन अमृतत्वरूपी स्वर्ण में परिणत हो जाता है । (आसन, प्राणायाम, मुद्राबन्ध आदि के द्वारा कुण्डलिनी जागरण और वीर्यरस के ऊर्ध्वीकरण से सहस्रार में निरन्तर (चन्द्रमा का) अमृत बरसता रहता है । चन्द्रमा का अमृत सोलह कला से पूर्ण है, सूर्य का अग्नि तेज (विष) बारह कलावाला है, साधक इस अमृत (शेष चार कलावाले पोषकरस) का सूर्यमुख से वंचन कर स्वयं पीता है, इससे सारे शरीर में चेतनता प्रवाहित रहती है । यह शरीर एक उपवन है, हरा-भरा बाग है । यह इस अमृत से सदा पालित-पोषित अथवा सजीव रहता है । ब्रह्मानुभूति के फलस्वरूप योगसिद्ध पुरूष पैदा होते हैं, और उनके उपदेशामृत और अनुभवामृत से असंख्य लोग योगमार्ग में प्रवृत्त होकर जीवन में परमानन्द का रसास्वादन करते हैं ।

ब्रह्मानुभूति से सांसारिकता का नाश होता है, अविद्यारूपिणी माया मर जाती है ।

यंद्र मिल्या तैं धरती निंपजै, यंद्री वरषै देही ।
गुरू हमारा बांनी बोली, माणेक चुगि चुगि लेही ।। 27 ।।
पाथर मैं पारस अबिनासी, ज्यूं अस्ट धात मैं सोना ।
यूं सब जग मांहि समझि अबिनासी, ताघटि पाप न पूनां ।। 28 ।।
बहती नदी भाव भरि थांभी, सूरिज देषि पछांही ।
दुलभ देवल मन अगोचर, ता बेल्यां फल षांही ।। 29 ।।
नव लख किरणि अपूठी प्रकटी, कोटि किरणि मुषि आगै ।
कहै नाथ धरम का पैंडा, संसै बूंद न लागै ।। 30 ।।

जलवृष्टि का देवता इन्द्र है । इन्द्र पानी बरसाता है, तब धरती में (अन्नादि की) उपज होती है, इसी तरह हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ जब अन्तर्मुखी हो उठती हैं, तब देह में आत्मज्ञान उत्पन्न होता है । हमारे गुरू का उपदेशा मृत है कि ऐसा होने पर साधक अपने शरीर में ही परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार करता है, वह मुक्ति प्राप्त करता है । जिस तरह पत्थर में पारस (स्पर्शमणि की) सूक्ष्मसत्ता-शक्ति अन्तर्हित रहती है, जिस तरह आठों धातु (अष्टधातु) में स्वर्ण विद्यमान रहता है, उसी तरह हमारे शरीर में अविनाशी परब्रह्म अलख-निरंजन परमात्मा सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्वरूप में विद्यमान है । जो साधक शरीर में ही अविनाशी परब्रह्म का अनुभव कर लेता है, वह साक्षात् ब्रह्मरूप होता है, उसके कर्म पाप-पुण्य के परे हो जाते हैं । प्राण-अपान का संयोग अथवा मेल हो गया है । मुद्राबन्ध और प्राण-साधना के परिणामस्वरूप कुण्डलिनी के जाग्रत होने पर नाभिस्थित सूर्य सुषुम्ना, पश्चिममार्ग से सहस्रार में स्थित चन्द्रमा से मिलने के लिये ब्रह्मरन्ध्र-दसवें द्वार से अमृतलोक में पहुँच गया है । ऐसी स्थिति में बहिर्मुख मनोवृत्ति रूप नदियाँ स्तम्भित हो गयी हैं अथवा निरूद्ध हो गयी हैं, साधक की वृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो गयी हैं । अमरकायत्व की प्राप्ति हो गयी है तथा मन अलख-निरंजन परब्रह्मस्वरूप हो गया है, अविद्या, अन्धकारमयीमाया विलुप्त हो गयी और ज्ञानप्रकाश फैल गया है, विद्यास्वरूपिणी मायावेलि का अमृतफल-

योगसिद्धिपद योगी को प्राप्त हो गया है । योगमार्ग पर जीवन को सार्थक करना ही धर्ममार्ग का आश्रय है, इस मार्ग पर चलने से साधक को अपने शरीर के भीतर अलखनिरंजन स्वरूप का बोध हो जाता है । उसके मन में तनिक भी संशय नहीं रह जाता है, वह आत्मविवेक से सम्पन्न होकर शिवस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है । उसे आगे-पीछे, भीतर-बाहर, नीचे-ऊपर सर्वत्र परमात्मज्योति प्रकाशित अथवा अभिव्यक्त दीख पड़ती है, उसके ज्ञाननेत्र में प्रकट हो जाती है । (अपूठी में अशब्द निरर्थक है, पूठी का अभिप्राय है पीठ पीछे) इस तरह आगे-पीछे नौ लाख-असंख्य किरणें, परमात्मज्योति की आभायें प्रकट हो जाती हैं । गोरखनाथ का वचन है कि परब्रह्मप्रकाश में जीवात्मा का तादात्म्य ही योगपथ का स्वारस्य अथवा परमलाभ है ।

गिरही कै घरि जनम हमारा, संगति सुरति दिढांणी ।
कहै नाथ जीव ब्रह्म एकै, जब सिव घरि सक्ति समांणी ।। 31 ।।
अनहदधुनि मैं रहनि हमारी, तत्तदेखि मन लागा ।
आपा मांही आपा प्रकट्या, जब जाय धोषा भागा ।। 32 ।।
जे नर जोनि अजोनी सिंभू, सिध पुरिष सूं मेला ।
जा रहनी मैं थान हमारा, ता घटि पुरिष अकेला ।। 33 ।।
उरधै भरे सो थिर ह्वै पीवै, सूधै घटि संवारी ।
अंधै लोचन सब जग सूझै, सालिम सब अंधियारी ।। 34 ।।
तूंबी मैं तिरलोक समाणा, तिरबेणी रवि चंदा ।
बूझौ हो कोइ ब्रह्म गियानी, अनहदनाद अभंगा ।। 35 ।।

हमारा जन्म तो गृहस्थ के घर हुआ, पर हमें सौभाग्य से सत्पुरूषों के संग में रहकर महायोगज्ञान (सुरति) प्राप्ति करने का अवसर मिला । गोरखनाथ का कथन है कि जब मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी शक्ति जाग कर सुषुम्नामार्ग से ऊर्ध्वमुखी होती हुई ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करती है, तब शिव में वह अभिन्न अथवा स्वरूपस्थ हो उठती है, शिव अलख-निरंजन परमात्मा का यही जीवात्मा से साक्षात्कार अथवा तादात्म्य है । शिव और शक्ति के मिल जाने पर मैं अनाहतनाद में स्थित हो गया हूँ, नाद की अन्तिम अवस्था (निष्पत्ति) में मुझे ऊँकारब्रह्म अलखनिरंजन शिव का साक्षात्कार हो गया है तथा मुझे अपने

शिवस्वरूप का (परमात्मतत्व का) बोध हो गया है, जब मुझे आत्मा (जीवात्मा) और परमात्मा की तद्रूपता अथवा स्वरूप का पता चला, तब कहीं मायाजन्य अविद्यास्वरूप अहंकारमय अज्ञान-अन्धकार अथवा भ्रम नष्ट हो पाया। इस नर-योनि, दुर्लभ मनुष्य-शरीर में अज, अविनाशी अयोनि, परब्रह्म अलख-निरंजन का निवास है, सिद्धपुरुषों-महायोगियों के सत्संग से ही इस अलख-निरंजन ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। इसी तरह के परमात्मसाक्षात्कार में हम अन्तलीन हैं। जो सिद्ध पुरुष के सत्संग और उपदेशामृत, योगज्ञान-प्रकाश में स्वरूपबोध प्राप्त कर लेता है, निस्सन्देह उसके (ब्रह्मरन्ध्र में) भीतर परब्रह्म अलख निरंजन (केवल-मुक्तिस्वरूप, निराकार ब्रह्म) अभिव्यक्त हो उठता है, ऐसा योगी सहस्रार से द्रवित चन्द्रामृत का पान कर अमरकायत्व लाभ करता है। (इसी पाताल की गंगा को आकाश में चढ़ाना कहा जाता है।) जो साधक घड़ा को सीधा रखता है, वह अमृत-पान नहीं कर पाता है, स्वारस्य तो औंधे घड़े में ही अमृत भरने का है। यह बाह्य नेत्र को देखने का विषय नहीं है, ज्ञाननेत्र से ही इस परम सत्य का अनुभव होता है, जो बाह्य आँख से ही-बाह्यवृत्ति से ही अन्तर्मुखता का आनन्द लेना चाहता है, उसके लिए चारों ओर पूरा अन्धकार है, उसे स्वरूपानुभव का प्रकाश-दर्शन नहीं हो सकता है। इस शरीर में — पिण्ड में ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड विद्यमान है, समाया हुआ है। जो पिण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड में है। इसी शरीर में इड़ा (गंगा), पिंगला (यमुना) और सुषुम्ना (सरस्वती) नाड़ियाँ बहती हैं, जिनका आज्ञाचक्र में — भ्रूमध्य में त्रिवेणीरूप संगम हुआ है। सूर्य (नाभिस्थानीय अग्नितेज) और चन्द्रमा (सहस्रार-स्थानीय अमृतत्व) इसी शरीर के भीतर प्रकाशित हैं। ब्रह्मरन्ध्र में निरन्तर अनाहतनाद अपनी अन्तिम लयावस्था-निष्पत्ति में हो रहा है। उसमें परब्रह्म की अनुभूति योगी कर रहा है। ब्रह्मज्ञानी को योग-प्रतिपादित इस द्वैताद्वैतविवर्जित महाज्ञान-अलख-निरंजन के बोध का मर्म समझना चाहिए।

आवागवण भरम का मारग पुरषां पंथ बताया।
सबद अतीत अनाहत बोलै, अतरि गीत समाया।। 36।।
बिमल पंथ बीजल ज्यूं चमकै, घुररती घन गाजै।
तौ रहनी मैं जोगी का घर, अनहद बाजा बाजै।। 37।।

जा पद मिंदर धजा फरहरै, मढी सवारे चेला ।
कोटि कला जहाँ अनाहद बांणी, गावैं पुरिष अकेला ।। 38 ।।
नौ लष पातरि आगैं नाचैं, पीछैं सहज अषाणां ।
ऐसे मन लै जोगी षेलै, तब अंतरि बसे भंडारा ।। 39 ।।
ग्यांन कहै तो त्रिस्ना हारै, सूरज देषि पछांही ।
सतगुरू मिलै तो सांसा भागै, मूल बिचाऱ्या मांही ।। 40 ।।

योग मार्ग की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हुए गोरक्षनाथ कहते हैं । योगमार्ग स्वसंवेद्य अनुभव का अन्तर्मुखी साधना-पथ हैं । वह बाह्यसाधना-मार्ग है ही नहीं, जिस पर चलने से जन्म-मरण के दुःख से, आवागमन के चक्र से मुक्ति नहीं मिलती है । सिद्ध पुरुष अनाहत नाद की लयावस्था के ाधुर्य में निष्पन्न अथवा निमग्न होकर शब्दातीत स्वसंवेद्य कैवल्यपद में स्थित ा गये हैं, उन्हीं के द्वारा प्रतिपादित सिद्धामृत सिद्धान्त का वरण कर योगसाधना के द्वारा भवसागर से पार उतर कर योगसाधक को जन्म-मरण के :ख से मुक्त हो जाना चाहिए । यह मार्ग अथवा शिवशक्ति का ालन-स्थान, ब्रह्मरन्ध्र परमात्मज्योति से बिजुली की तरह प्रकाशित है, इस ार्ग में बादल घहरा रहा है, बिजुली चमक रही है, अनाहदनाद हो रहा है, ी ब्रह्मरन्ध्र में योगी निवास करता है, और अपने अमृत-स्वरूप में, ...रूप में प्रतिष्ठित रहता है । ध्वजायुक्त मन्दिर के समान कैवल्यपद ... ान अथवा ब्रह्मरन्ध्र में विद्यमान है । हे शिष्य, उसी कैवल्यपद को पना निवास-स्थान अथवा योगमठ बनाना चाहिए । उस परमपद में अपनी रोड़ों-करोड़ों (असंख्य) कलाओं अथवा शक्तियों सहित ऊंकारस्वरूप परब्रह्म नाहतनाद में अभिव्यक्त है, यह अनाहतनाद का गान करता है, जो शब्दातीत और स्वसंवेद्य अथवा अनुभवगम्य है । योगी द्वन्द्वात्मक संक्षोभ से परे होता है, उसे न विषय-भोग व्यामोहित कर सकते हैं, न साधन-सम्बन्धी सिद्धियों और तप, त्याग और वैराग्य की साधना मात्र में ही वह अपने लक्ष्य को भूल सकता है । चाहे असंख्य वारागनायें नृत्य करती हों, राग-रंग आदि अनेक मनोरंजन हों, चाहे-ज्ञान-वैराग्य का अखाड़ा हो, वह इनमें से किसी में भी अपनी बुद्धि भ्रमित नहीं होने देता है, इस तरह की अमनस्कस्थिति में रहने वाले योगी की भीतरी अन्तर्मुखी साधन-सम्पत्ति सदा सुरक्षित रहती है । नाभिस्थित सूर्य का

सुषुम्ना-मार्ग से (पश्चिम मार्ग से) सहस्रार में स्थित चन्द्रमा से मिलने के लिए ऊर्ध्वगमन होने पर योगसाधक में अन्तर्मुखी वृत्तियों के द्वारा आत्मज्ञान (परमात्मविवेक) उदित होता है, इनसे विषयभोगों की तृप्ति की कामना, तृष्णा नष्ट हो जाती है । इसी तरह महायोग-ज्ञान से सम्पन्न सद्गुरु की शरणागति से योगी अपने हृदय में मूलतत्व-अलख-निरंजन के स्वरूप का संचार करता है और इसके परिणामस्वरूप उसका संशय (व्यामोह) नष्ट हो जाता है ।

अंजन माहि निरंजन भेट्या, तिल मुष भेट्या तेलं ।
मूरति माँहि अमूरति परस्यां, भरा निरंतरि षैलं ।। 41 ।।
जहां नहीं तहां सब कछु देष्या, कह्यां न को पतिआई ।
दुविधा भाव तबै ही गइया, बिरलां पदां:समाई ।। 42 ।।
दिषणि हमारी डीबी पाकै, अगनि बलै मुलतानं ।
ऐसे हम जोगेस्वर निपनां, प्रगट्या पद निरबानं ।। 43 ।।
बाफ न निकसै बूंद न ढलकै सहज अंगीठी भरिभरि रांधै ।
सिध समाधि योग अभ्यासी, तब गुरू परचै सांधै ।। 44 ।।
धीरजि थंभि ज डोरि धुनि समानां, असमानं ।
अटल दुलीचा अषै पद, जहां गोरष का दीवानं ।। 45 ।।

जिस तरह तिल पेरने से तेल की प्राप्ति हो जाती है, उसी तरह अंजन में योग ज्ञान के प्रकाश में मैंने निरंजन ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है मैंने साकार में निराकार का - मूर्ति में अमूर्त परमात्मा का स्पर्श (अनुभव) कर लिया है । यह निगूढ़ (निरंतरि-मायाव्यतिरिक्त) लीला सनातन है, सच्चिदानन्दघन अलखब्रह्म ही सर्वत्र अभिव्यक्त हैं । मैंने शून्य में, जिसे 'नहीं' कहा गया है, अखिल ब्रह्माण्डनायक परब्रह्मअलख-निरंजन का दर्शन किया है, मैंने आकाशचक्र ब्रह्मरन्ध्र में परमशिव का स्वरूपानुभव किया है । शून्यस्वरूप परब्रह्म का साक्षात्कार ही कैवल्य (विरला) पद की प्राप्ति है, उसमें समाकर, तादात्म्य लाभ कर मेरा द्वैतभाव मिट गया, मुझे परमशिव में और अपने आप (आत्मस्वरूप) में भेद का लेश मात्र भी भाव नहीं रह गया है, मूलाधारचक्र (दक्षिण) में हमारी कुण्डलिनी शक्ति (डीबी) योगाग्नि से पक रही है, ज्योतिर्मय रूप में सुषुम्नामार्ग से ब्रह्मरन्ध्र की ओर उठती जा रही है और यह योगाग्नि उत्तर दिशा (मुलतान) में ब्रह्मरन्ध्र में जल रही है, चन्द्रमा से

सूर्य का मेल हो गया है और हमें निर्वाण (कैवल्यपद) की प्राप्ति हो गयी है। इस तरह योगाग्नि में अपनी शक्ति सिद्धकर युक्त कर हम योगेश्वर पद-परमशिवस्वरूप में स्वस्थ हो गये। जिस तरह अंगीठी में आग प्रज्वलित कर सावधानी से भोजन सिद्ध किया जाता है और इस बात पर निरन्तर दृष्टि रखी जाती है कि भोजन पात्र में से न भाप निकले और न जल की बूंद गिरे जिससे अंगीठी की आग बुझ जाय अथवा नष्ट हो जाय, ठीक उसी तरह सहज योगाग्नि शरीररूपी अंगीठी में प्रज्वलित कर अधोगामी वीर्य को ऊर्ध्वगामी कर महारस सहस्रार से द्रवित अमृत का पान योगसाधक सिद्ध करता है। यदि वीर्य का एक भी कण क्षरित हो कर शरीर से बाहर निकल जाता है तो यह साक्षात् मृत्यु है। योगसाधक इस बात की सावधानी रखता है कि उसका मन मद, मोह, काम, क्रोध, लोभ आदि से क्षुब्ध न होने पाये, ऐसी दूषित भावनायें चित्त में विकार न उत्पन्न करें। ऐसा होने पर ही योगसाधक उन्मनी समाधि में सहज स्थित होने पर गुरुज्ञान में सन्निष्ठ होता है। संयम और साधना में धैर्य तथा तल्लीनता (श्रद्धा) अथवा लगन से सिद्धिप्रद, शून्य निरालम्ब ब्रह्मरन्ध्ररूपी आसमान यथास्थित है अन्यथा योगसाधक साधना के सोपानों से उस पर पहुंच ही नहीं सकता है। यह आसमान अथवा शून्यपद गलीचा है, जिसपर गोरखनाथ का दीवान (दरबार) लगता है, इस निरालम्ब शून्य आकाशपद-ब्रह्मरन्ध्र में ही योग की परमसिद्धि अलख-निरंजन के सम्पूर्ण ऐश्वर्य की अनुभूति होती है।

इति ग्यानतिलक

पंच अग्नि

मूल अगनि (…) आंव। सोषि लेह रक्त पीत अर आंव।
पेट पूठ दोऊ सम रहै। तौ मूल अगनि जली गोरष कहै।
भुयंगम अगनि का भुयंगम … सजिबा भिछ्या (भोजन ग्राम)।
मूल की मूल समीर (स्थिर)। तिसकूं कहिए सीधा पवनं का सरीर।
ब्रह्म अगनि ब्रह्म माली धरि … जाणं।

उलटंत पवनां रवि ससि गिगन समांन ।
ब्रह्म अगनि मधे सीझिबा कपूर । तिस कूं देषि मन जायबा दूरं ।
सिव धारै सकति अहनिस रहै । ब्रह्म अगनि जती गोरष कहै ।।
काल अगनि तीनि भवन प्रवांनी । उलटंत पवनां मोषंत पानी ।
षाया पीया षाष होय रहै । काल अगनि जती गोरष कहै ।।
रूद्र अगनि का त्राटिका नांम । सोषि लेव होठ कंठपेट पूठि नव ठांम ।
उलटंत कंस पलटंत चांम । तिसकूं कहियै हो सिधो त्राटिका नांम ।।
रूद्र रेवंती संजम षिवंती । जोग जुगति करि साधंत जोगी ।
पंच अगनि भरि पूर रहै । सिध संकेत श्रीगोरष कहै ।।
पूरिको पीवत वायु कुंभ कौ कीया सोधनं ।
रेचको तजतं विकार त्राटिको आवागवण बिबरजंत ।।
सिधका का मारग कोई साधू जांणै । पंच अगनि श्रीगोरषनाथ बषांणैं ।
पांचौं अगनि संपूरण भई । अनंत सिधां मधे जती गोरष कही ।

इति श्री पंच अगनि पठंते सुणंते कथंते करंते पापे नह लिपंते पुंने न हारंते । ऊँ नमो सिवाय ऊँ नमो सिवाय । गुरू मछंद्रनाथ के पादुका नमस्तुते ।

अभै मात्रा जोग

ऊँ अकल पंथ, अकलि का मारग, सतभोमि, सहजआसन, प्रांण जोगी पवन गुटिका, निज भुवन गुफा, संजम कोपीन, मरजादा मेषली, निहकेवुल जगौटा, जुगति उड़यांणी, साचमुद्रा, सीलकंथा, षिमां टोपी, जरनां अधारी, अंतरिगति झोली, धीरज डंड, बमेक फाहुड़ी, तप चक्र, मूल कमंडल, मन उदिक, महाअमृतभोजन, दया रहरासि, विचार पुसतक, जिम्यारसांयन, सरबंगी कला, विद्याकालबंचणी, नृपै नग्री, अकल बनषंड, निरास मढ़ी, अतीत देवता, गिनांन दीपक, अकलपरहनी, आजाचीक भिक्ष्या, सबद सींगी, अनहदकींगुरी, स्याम सरोवर, अमृत प्याला, निहंचल रिधी, सति करामाति, मुक्ति सिधि, अलेष ध्यांन, अटल समाधि, निराकर तरवर, जुग पल्लव, अमीं फल ।

सारांश

ऊँकारस्वरूप निष्कल निराकार अलख-निरंजन का योगानुभव ही पथ है । साधना का मार्ग सहज अथवा निरालम्ब है । सत्यस्वरूप ही साधनाभूमि है । सहज आसन में स्थित प्राणयोगी पवन-प्राणायाम की साधना करता है । उसका निवास-स्थान भ्रमर गुफा-ब्रह्मरन्ध्र है । संयम ही कौपीन है । मर्यादा की मेषला ही आरवंद है, कैवल्यपद ही योगपट्ट अथवा जगौटा है । (जगौटा एक प्रकार का वस्त्र है, जिससे ध्यान-काल में योगी शरीरं को ढक लेता है) । उड्डियानबन्ध ही मुक्ति है । सत्यही मुद्रा है, शील ही गुदड़ी है, क्षमा ही टोपी है, वीर्य को शरीर में जीर्ण करते रहना, पचाना अथवा ऊर्ध्वमुख करना ही अधारी है । (अधारी काठ के दंड में लगा हुआ पीढ़ा है, इसे जहाँ-कहीं रख कर योगी बैठ जाता है ।) अन्तर्मुखीवृत्ति ही झोली है, धैर्य दंड है, ऊँ नमः शिवाय अथवा बम-बम का उच्चारण ही फाहुड़ी है, तप ही चक्र है । (चक्र हाथ में पहनने की एक प्रकार की अंगूठी है ।) मूल बंध को लगाना ही कमण्डलु है, उससे मन को स्थिर रखना ही उदक है । सहस्रार से द्रवित चन्द्रामृत ही भोजन है, दया ही आदेश है । विचार करते रहना, आत्मतत्व का चिन्तन ही पुस्तक अथवा योगशास्त्र है । जीभ ही रसायन है । रस-सिद्ध का साधन है, सर्वांगी ही कला है । मृत्यु को जीतना ही विद्या है......स्वरूप में स्थित रहना वनखण्ड है, निराशा ही मठ है,

अलख-निरंजन ब्रह्म ही इष्टदेव है, ज्ञान ही दीपक है, निर्विकल्प समाधि में ही स्थिति है, अमृत ही सहज द्रवित भिक्षा है, शब्द ही सींगीनाद है, अनाहतनाद ही किंगरी है, शिव ही सरोवर है, अमृत शरीररूपी प्याले में भरा रहता है, निश्चलता ही ऋद्धि है, सत्य ही सिद्धि है, मुक्ति की प्राप्ति ही कैवल्य है, अलख-निरंजन का ही ध्यान है । निर्बीज समाधि लगी रहती है, निराकार ब्रह्मवृक्ष में जगत् ही पल्लव है, अमृत ही फल है ।

सिष्ट पुराण

ऊँ एक उपरांति लेष नाहीं । दोय पाषै सिष्टि नाहीं । आपा पाषै परचा नाहीं । काया उपरांति क्षेत्र नाहीं । सील उपरांति व्रत नाहीं । चक्षु उपरांति दृष्टि नाहीं । श्रवण ऊपरि सुरति नाहीं । निर्भय उपरांति अभय नाहीं । संजम उपरांति सुचि नाहीं । संतोष उपरांति सुख नाहीं । अमर उपरांति सिद्धि नाहीं । अभय उपरांति करामति नाहीं । माता उपरांति जन्म नाहीं । गर्भ उपरांति नरक नाहीं । षलंत उपरांति हरिण नाहीं । चित चंचल उपरांति रोग नाहीं । व्रिध उपरांति मृत्यु नाहीं । काल उपरांति बैरी नाहीं । नासिका उपरांति रूप नाहीं । दया उपरांति धरम नाहीं । ध्यान उपरांति ग्रंथ नाहीं । चंदन उपरांति काष्ट नाहीं । बिंद उपरांति उत्पत्ति नाहीं । समुद्र उपरांति गंभीर नाहीं । पाताल उपरांति अर्ध नाहीं । सूरज उपरांति तप्त नाहीं । काया उपरांति रतन नाहीं । सच उपरांति सास्त्र नाहीं । अजप उपरांति जाप नाहीं । अघोर उपरांति मंत्र नाहीं । नारायण उपरांति इष्ट नाहीं । निरंजन उपरांति ध्यान नाहीं ।

सारांश

ऊँकार, शब्द ब्रह्म ही एक मात्र अक्षर है । आत्मस्वरूप का ज्ञान ही परिचय अथवा परमात्म साक्षात्कार है । काया ही योगसाधना का महान् क्षेत्र है । शील ही व्रत है, चक्षु ही दृष्टि है, श्रवण ही सुरति योग है, निर्भय पद से श्रेष्ठ और कोई अभेद पद ही नहीं है । संयम ही सदाचार है, संतोष ही परम सुख है । अमरकायत्व ही सर्व-श्रेष्ठ योगसिद्धि है । अभयपद की प्राप्ति ही परमसिद्धि है । जन्म का कारण माँ है । गर्भवास ही नरक है- चिन्ता की चंचलता ही रोग है, जरा ही मृत्यु है - काल ही सबसे बड़ा शत्रु है, दया ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है, इष्टदेव का ध्यान ही ग्रन्थ (का अवलोकन) है,

चन्दन से श्रेष्ठ कोई काष्ठ नही है, पाताल ही निम्नतम है, सूर्य के तेज से बढ़कर दूसरा कोई तेज नही है, शरीर ही सर्वश्रेष्ठ रत्न है, सत्य ही सर्वश्रेष्ठ शास्त्र है । अजपाजाप ही सर्वश्रेष्ठ जाप है, अघोरमंत्र (शिवमंत्र) ही सर्वश्रेष्ठ मंत्र है । नारायण ही सर्वश्रेष्ठ इष्टदेव है, निरंजन का ध्यान ही सर्वश्रेष्ठ ध्यान है ।

दयाबोध

आओ सिद्धौ षोज बताऊं । आदिनाथ का पूत कहाऊं ।।
जोगारंभ की याही बांणी । सब घटि नाथ एकै करि जांणी ।। 1 ।।
जोगारंभ हिरदा मैं मांडौ । दया उपावो जूती छांड़ौ ।
नांगां पांवां जे नर मूंवां । ताका कारज पहिलै हूवा ।। 2 ।।
आप सवारथ धालौ धूंई । तामैं चींटी केती मूंई ।
तजौ कहरि नजरि भभूत । बटवा फाउड़ि जिनि लेउ हाथ ।
एता आरंभ परिहरौ सिद्धौ । यों कथंत जती गोरषनाथ ।। 3 ।।
मारग चलंता धरणि दिष्टि लागै । ताकै कांटी कंद न लागै ।
पहिले आरंभ हम भी करते । जीवजन्तु बहोतेरे हतते ।। 4 ।।
आरम्भ तजौ गूदड़ी चलावौ । निरति सुरति अविनासी सूं लावौ ।
अबिनासी पुरूष का लागा रंग । रिद्धि-सिद्धि ताहीं कै संग ।। 5 ।।
रिधि छाड़्या सिधि पाइए । सिधि संकर कै हाथि ।
छाड़ौ सकल अकल कूंध्याबौ । यों कथंत जती गोरषनाथ ।। 6 ।।
आसन तजि अनत जिनि जावौ । अकलप भिछ्या बैठा खाऔ ।
कनक न पकड़ै मोरौ न झेलै । [illegible] सिद्ध [illegible] जोगी [illegible]
हरया तिणांका न सतावै जीव । [illegible] जोगी [illegible]
चकमक कफ नांव न धरौ । [illegible] आत्मा [illegible] परिला जिनि [illegible]
अगनि न बालौ धुंआ न घोटौ । भिछ्या [illegible]
ग्वांड़ा बिच आसण जिनि मांडौ । [illegible] आपा [illegible] मांडौ ।
बाई बावड़ी को मन नहिं दीजै । [illegible] दिष्टि [illegible] काया [illegible]
पंडित पढ़ि गुणि करै न आसा । [illegible] निरास [illegible]

काहे कौं पढ़ि गुणि भला कहावै । जब लगि हिरदै दया न आवै ।
जब लगि हिरदै दया न आई । जब लगि कहिये सुद्ध कसाई ।। 11 ।
कनक न पकड़े सबदन बाहे । जोगी कागद कहां ते लावै ।
तन मेरे पोथी मन मेरे लेषनि । एती निज तत निसपती ।। 12 ।।
यो कथंत गोरष जती ।।
वहां चलिबे का करौ बिचार । अगम अगोचर सुलप आकार ।
घड़ा देवरा औघड़ देव । तहां जोगेस्वर लाग्या सेव ।। 13 ।।
पंच चेला मिलि पूरयानाद । धरणि गगन बिच भई अवाज ।
दीपक एक अखंडित बिन बाती । तहां जोगेस्वर थापनां थापी ।। 14 ।।
अगम अगोचर सकल ब्रह्मण्ड । ता दीपक के चरण प्यंड । न
सिषा न नैन सीस नहिं हाथ । सो दीपक देख्या जती गोरखनाथ ।। 15 ।।
तादीपक कै डाल न मूल । तादीपक कै कली न फूल ।।
तादीपक कै रंग न रूप । तादीपक कै छांहन धूप ।। 16 ।।
तादीपक के सबद न स्वादं । तादीपक के विद्या न बादं ।
तादीपक के मोह न मायां । सो दीपक सूनै सून समाया ।। 17 ।।

सारांश

हे सिद्धों ! आओ ! मैं अनुभव कहता हूँ । मैं आदिनाथ परमशिव का आत्मास्वरूप (पुत्र-'आत्मा वे जायते पुत्रः') हूँ । यही योगसाधना का आरम्भ है कि घट-घट में, प्रत्येक जीवात्मा में एकही नाथ-परमात्मा को विद्यमान जानना चाहिये । योगसाधना बहिर्मुखी नहीं, अन्तर्मुखी है, इसका हृदय में अभ्यास करना चाहिए, हृदय में प्राणी मात्र के प्रति दयाभाव पैदा करना चाहिए, सांसारिक साज-श्रृंगार से दूर रह कर योगसाधना करने वाले को ही सिद्धि मिलती है । धूनी प्रज्वलित कर उसके सामने बैठकर योगसाधना करने से क्या लाभ है, उसमें तो अनेक चींटी जल जाती हैं, बाहरी टीमटाम को छोड़कर साधना में लगना चाहिए । जो योगसाधक मार्ग में चलते समय देखता रहता है, उसके पैर में काँटे नहीं गड़ते, न पैरों तले दब कर जीवजन्तु ही मरते हैं । साधना के आरम्भ में मुझसे भी असावधानी हो गयी थी, अनेक जीवजन्तु मर गये । अविनाशी अलख निरंजन का ही ध्यान करना चाहिए । जिसका मन अविनाशी के रंग में, ध्यान-चिन्तन में लग जाता है, उसके

पीछे-पीछे ऋद्धि-सिद्धि चलने लगती है । ऋद्धि का त्याग करने पर ही योगसिद्धि की प्राप्ति होती है । यह शंकर के अनुग्रह का फल है । निष्कल निराकार, अलख-निरंजन का ध्यान करना चाहिए, माया-उपाधियुक्त सकल पुरूष की उपासना की अपेक्षा ब्रह्म के ध्यान से योगसिद्धि अनायास मिलती है । ऐसा योगी गोरखनाथ का वचन है । हे सिद्धो ! आसन का त्याग कर कहीं नहीं जाना चाहिए । जो भिक्षा प्राप्त हो जाय, उसी से जीवन-यात्रा पूरी करनी चाहिए । सोना (धन) को नहीं पकड़ना चाहिए, नहीं रखना चाहिए, ऋद्धि की प्राप्ति होने पर योगी उसे त्याग देता है । जीव को नहीं सताना चाहिए । ऐसा आचरणवाला योगी साक्षात् शिवस्वरूप हैं । अग्नि जला कर भोजन सिद्ध करने से क्या लाभ है, जब भिक्षा से काम चल जाता है, गाँव की सीमा में (निकट) आसन नहीं लगाना चाहिए, मोहबन्धन से दूर रहना चाहिए। बापी, बावली आदि खुदाने के पुण्य के चक्कर में समय को नहीं बिताना चाहिए । देखते-ही-देखते शरीर क्षीण हो जाता है । इसका साधन में उपयोग करना चाहिये । पंडित-विवेकी को पढ़ और गुन कर किसी की आशा नहीं करनी चाहिये । एकान्त-सेवन करना चाहिये, तथा परमात्मा के शरणागत रहकर संसार के प्राणी, पदार्थ और परिस्थिति में पूर्ण निराशा का वरण करना चाहिए । पढ़-सुन कर अच्छा कहलाने से क्या लाभ है, यदि हृदय में दया नहीं है । दयाहीन पुरूष निरा कसाई है । सोना का संग्रह कर बही-खाता के चक्कर में, हिसाब-किताब रखने के जंजाल में नहीं पड़ना चाहिए । योगी कागज कहाँ पायेगा । तन ही पोथी है, मन ही कलम है, उसमें निष्पत्ति अथवा मुक्ति ही अक्षरलिपि है । ऐसा योगी गोरखनाथ का कथन है । सदा अगम-अलख निरंजन के ध्यान में तल्लीन रहना चाहिए । निरंजन ही परम देवता है और बड़े-बड़े योगेश्वर उसके ध्यान में लीन रहते हैं । पंच ज्ञानेन्द्रिय ही शिष्य हैं, वे नाद प्रकट करते हैं, इन्द्रियों के संयम से मन और प्राण योगी के वश में हो जाते हैं, अनाहतनाद उत्पन्न होता है, यह मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र तक निनादित हो उठता है । बिना बत्ती के अखण्ड दीपक जल रहा है, अलख-निरंजन (प्रकाश ब्रह्म) की ज्योति प्रकट है । यह समस्त ब्रह्माण्ड में स्वज्योतित है, इसका न रूप है, न आकार है, न शिखा है, न नेत्र है, न सिर है, न हाथ है, इस दीपक का दर्शन गोरखनाथ ने किया है । इस दीपक की न शाखा है, न मूल है, यह अनादि है, अनन्त है, सनातन है,

इसकी न कली है, न फूल है, यह रंगरूप से अतीत है, इसकी न छांह (छाया) है, न धूप है । इसका न शब्द है, न स्वाद है, इसका वर्णन करना कठिन है । यह मोह माया से परे परम मुक्तिस्वरूप है । यह दीपक शून्य में सहज स्थित है ।

(इति दयाबोध संपूर्ण)

रहरासि

ऊँ आदेस आदेस अलष अतीतं । तदा न होती धरती न आकासं ।।
तदा काले सिंभू भई उतपन्य ।
माता न लेबी दस मास भारं । पिता न करिबा आचार बिचारं ।।
जोनी न आयबा, नाभि न कटायबा । पुस्तग पोथी ब्रह्मा न बचायबा ।।
तहाँ अलेष पुर पटणि अनोपम सिला तहां बैठे गोरषराई ।।
तुम दमड़ी चमड़ी का संग्रह करौ । गुर का सबद ले ले दोजिग भरौ ।।
गुप्ती चक्र चलावौ. हथियार । षंडित बुद्धि बहोत अहंकार ।।
ऊभा ते सिध बैठा पाषांण । श्री गोरष बाचा परबांण ।।
अनंत सिधां मैं रहरासि कही । गोदावरी के मेलै ऐसी भई ।।

(इति)

पन्द्रह तिथि

बंदै गौरष एककार । पंद्रह तिथि का करहुं बिचार ।।टेक।।
अमावस दिढ़ आसण होइ । आतम परचै मरै न कोइ ।
मूल सहस्र पवनां बहै । बंक नालि तब बहत रहै ।। । ।।
पड़िवा है द्वै पष की आदि । सतगुरू सबदां सहज समाधि ।
गगन मंडल मैं रहै समाई । तौ चारि जुग लौं हेलै टलि जाई ।। 2 ।।
दुतिया द्वै कुल उधरन धीर । उनमन मनवां अखलि सरीर ।
बाहरि भीतरि एकंकार । गुरू प्रसादै भौ निधि पार ।। 3 ।।
तृतीया तृबेणी करौ स्नान । पाप पुंनि दोउ देउ दान ।
तब जोग जुगति पाऔ बिसवास । जुरा मरण नहीं कंध बिनास ।। 4 ।।
चौथे चंचल निहचल करौ । काल विकराल दूर परहरौ ।

जम जौरा का मर्दौ मांन । सतगुर कथिया पद निरबांन ।। 5 ।।
पंचमि पंच तत की संधि । माता मैंगल राषौ बंध ।
अमीं महारस छिन-छिन पीवौ । गुर परसादे जुगि-जुगि जीवौ ।। 6 ।।
छटि षट चक्र बिचारौ सार । रिधि सिधि बुधि मति अषिल भंडार ।
अरथ दरब को छाड़ौ आस । काया कांमिनि भोग बिलास ।। 7 ।।
सातन सतरज तम गुण बांधे । पाबौ जीवण मरण की सांधे ।
अबिहड़ अजर अमर पद गहौं । मन पवन ले अनमन रहौ ।। 8 ।।
आठमि अष्ट भैरौ नवनाथ । अनंत सिधां सौ मिल्यौ संघात ।
अचंभ बांणी कथी न जाइ । झरत महारस गगन समाइ ।। 9 ।।
नवमीं नव निधि काया मंझारि । पाप पुंनि देषौ पट तारि ।
बूड़े पाप तिरै सत धरम । काया बाहरि जाति न जनम ।। 10 ।।
दसमी दह दिसि लागै बंध । जत सत संजम थिर ह्वै कंध ।
धरम करम गुर बाचा लीन । ग्यांन बिचषन बाजै बीन ।। 11 ।।
एकादसी अग्यारह रूद्र । मांणक पायो काया समुद्र ।
अलष रतन गुरि दीयौ बताइ । एकादसी तिथि की राइ ।। 12 ।।
द्वादसी दिनकर तपै अकास । पसरै किरण होइ प्रकास ।
तहां चढ़ि भवरा रह्या समाइ । सतगुरि कथिया जीवन उपाइ ।। 13 ।।
तेरसि तृकुटी समि करि मेलि । चंद सूरज दो संमि करि भेलि ।
एक सिंघ रूध्या नव घाट । सत गुर षौजौ ऊजू बाट ।। 14 ।।
चौदसि चौदह रतन बिचार । काल बिकाल आवता निवारि ।
आपै आप देषौ पट तारि । उतपति परलै काया मंझारि ।। 15 ।।
पून्यं पूगी मन की आस । माया मोह तजि भये उदास ।
सोलह कला सपूरण चंद । गुर परसादे थिर भया कंधि ।। 16 ।।
पंद्रह तिथि कला की संधि । मछींद्र प्रसादे थिर भया कंध ।
भया थिर तब आछै धीर । अनंत सिधा श्री गोरष पीर ।। 17 ।।

सप्तवार

जोग मूल गहि बारंबार । सतगुरु सबदां सहज बिचार ।।टेक।।
आदित सोधौ आवागवन । घट मैं राषौ दिढ़ करि पवन ।
स्यौ पूजा करि बसवै ध्वारि । तौ गुरू पावौ आदीत वार ।। 1 ।।
सोमवार मन धरिवा सुंनि । निहचल काया पाप न पुंनि ।
ससिहर बरिषै अंबर भरै । तौ सोमवार गुंण एता करै ।। 2 ।।
मंगल विषमी माया बांधे । चंद सूर दोऊ समि कर संधि ।
जुरा मरण बंचौ भौ काल । तौ गुर पावौ मंगल वार ।। 3 ।।
बुधवार गुर दीन्ही बुधि । बिवरौं काया पावौ सिधि ।
सिव धरि सकती पांणी भरै । तौ बुधवार गुन एता करै ।। 4 ।।
बृसपति वार विषम मन धरौ । पांचौं इंद्री निग्रह करौ ।
संषणी लै रूंध्या ध्वार । तौ गुर पावौ बृसपति वार ।। 5 ।।
सुक्रवार सोधिवा सरीर । कहाँ बसै अंमृत कहां बस षीर ।
नव बहतरि पवनां बहै । तौ सुक्रवार गुण बिरला लहै ।। 6 ।।
थावर थिर करि आसण देहु । बारह सोलह गिणिगिणि लेहु ।
ससि हर कै धरि आवै भांण । तौ दिन दिन थावर गगँन सनन ।। 7 ।।
सातौं आंन्या एकै रास । काला भौंरा बेधै पास ।
प्यंडे प्रांणी परचा भया । सप्त बार श्रीगोरष कह्या ।। 8 ।।

इति

मछींद्र-गोरष-बोध

गोरषोवाच-स्वांमी तुम्हें गुरू गुसांई अम्हें जु सिष ।
(सबद एक पूछिबा) दया करि कहिबा मनांहे न करिबा रोस ।
आरंभि चेला कैसैं रहै । सतगुर होइ सो बूझया कहै ।। 1 ।।
मछिंद्र उवाच - अवधू रहिबा हाटै बाटैं रूष वृष की छाया ।
तजिबा काम क्रोध तृष्णां संसार की माया ।।
आप सौं गोष्टी अनन्त विचार ।
षंडित निद्रा सुछिम अहार ।। 2 ।।

गोरष-स्वांमी कौन देषिबा कौन विचारिबा कौंन ले धरिबा सारं ।

कौंन दोष मस्तक मुडाइबा कौंन ले उतरिबा पारं ।। 3 ।।

मछिंद्र-अवधू ! आपा देषिबा अनंत बिचारिबा तत ले धरिबा सारं ।

गुरू का सबद देषि मसतग मुड़ाइबा, ब्रह्म ग्यांन ले उतरिबा पारं ।। 4 ।।

गोरष-स्वांमी आदेस का कौन उपदेस सुंनि का कथं वास ।

सबद का कौन गुरू, पूछंत गोरषनाथ ।। 5 ।।

मछिंद्र-अवधू आदेस का अनूषम उपदेस, सुंनि का निरंतर बास ।

सबद का परचा गुरू, कथंत मछिंद्र नाथ ।। 6 ।।

गोरष-स्वांमी मन का कौन रूप, पवन का कौन आकार ।

दंम की कौन दसा साधिबा कौंन द्वार ।। 7 ।।

मछिंद्र-अवधू मन का सुंनि रूप, पवन का निरालंभ आकार ।

दंभ की अलेष दसा, साधिबा दसवै द्वार ।। 8 ।।

गोरष-स्वांमी कौंन पेड़ि बिन डाल कौन पंषि बिन सूवा ।

कौन पालि बिन नीर, कौन बिन कालहिं मूवा ।। 9 ।।

मछिंद्र-अवधू पवन पेड़ि बिन डाल, मन पंषि बिन सूवा ।

धीरज पालि बिन नीर, निद्रा बिन कालहिं मूवा ।। 10 ।।

गोरष-स्वांमी कौंन बीरज कौंन षेत्र । कौंन सरवंण कौंन नेत्र ।

कौंन जोग कौंन जुगति । कौंन मोक्षि कौंन मुकति ।। 11 ।।

मछिंद्र-अवधू मंत्र बीरज मति षेत्र । सुरति श्रवण निरति नेत्र ।

ऊरम जोग धूरम जुगति । जोति मोक्षि ज्वाला मुकति ।। 12 ।।

गोरष-स्वांमी कौंण मूल कौंण बेला । कौंण गुरू कौंन चेला ।

कौंण षेत्र कौण मेला । कौण तत्व ले रमै अकेला ।। 13 ।।

मछिंद्र-अवधू मन मूल पवन बेला ! सबद गुरू सुरति चेला ।

त्रिकुटी षेत्र उलटि मेला । नृवांण तत्व ले रमौ अकेला ।। 14 ।।

गोरष-स्वांमी कौंण घरि चंद कौंण घरि सूर कौण घरि काल बजावै तूर ।

कौंण धरि पंच तत्व समि रहै । सतगुर होइ सु बूझ्या कहै ।। 15 ।।

मछिंद्र-अवधू मन घरि चंद पवन घरि सूर । सुन्नि घरि काल बजावै तूर ।

ग्यांन घरि पंच तत्व समि रहै । सतगुर होइ सु बूझ्या कहै ।। 16 ।।

गोरष-स्वांमी कौण अमावस कौण सु पड़िबा । कहां का महारस कहां ले चढ़िबा ।

कौंण अस्थांने मन उनमन रहै । सतगुर होइ सु बुझ्या कहै ।। 17 ।।

मछिंद्र-अवधू रवि अमावस चंद सु पड़िबा । अरध का महारस उरध ले चढ़िबा ।
गगन अस्थांने मन उनमन रहै । ऐसा विचारि मछिंद्र कहै ।। 18 ।।
गोरष-स्वांमी कुसबद का कौण ग्रास । सुसबद का कथं बास ।
द्वादस अंगुल बाई कौण मुषि रहै । सतगुर होई सु बूझ्या कहे ।। 19 ।।
मछिंद्र-अवधू कुसबद का सुसबद ग्रास । सुसबद का निरंतर बास ।
द्वादस अंगुल बाई गुरमुषि रहै । ऐसा बिचार मछिंद्र कहै ।। 20 ।।
गोरष-स्वांमी आदि का कौंण गुरूं । धरती का कौंण भरतार ।
ग्यांन का कौंण अस्थांन । सुंनि का कथं द्वार ।। 21 ।।
मछिंद्र-अवधू आदि का अनादि गुरू । धरती का अम्बर भरतार ।
ग्यांन का अस्थांन चैतनि । सुंनि का परचा द्वार ।। 22 ।।
गोरष-स्वांमी कौंण परचै माया मोह टूटै । कौंण परचै ससि घ फूटै ।
कौंण परचै लागै बंध । कौंण परचै थिर हूवै कंध ।। 23 ।।
मछिंद्र-अवधू मन परचै माया मोह टूटै । पवन परचै ससि घर फूटै ।
ग्यांन परचै लागै बन्ध । गुरू परचै अजरावर कन्ध ।। 24 ।।
गोरष-स्वांमी कहां बसै मन कहां बसै पवन । कहां बसै सबद कहां बसैं चंद ।
कौंण अस्थाने ए तत रहै । सतगुर होय सु पूछ्या कहै ।। 25 ।।
मछिंद्र-अवधू हिरदै बसै मन नाभी बसै पवन,
रूप बसै सबद गंगन बसै चंद ।
उरध्र सथांने ए तत रहे । ऐसा बिचार मछिन्द्र कहै ।। 26 ।।
गोरष-स्वामी हिरदै न होता, तब कहां रहिता मन ।
नाभि न होती तब कहां रहिता पवन ।।
रूप न होता तब कहाँ रहिता सबद ।
गगन न होता तब कहां रहिता चंद ।। 27 ।।
मछिंद्र-अवधू हिरदा न होता तब सुंनि राता मन ।
नाभी न होती तब निराकार रहिता पवन ।।
रूप न होता तब सुंनि रहिता सबद ।
गगन न होता तब अन्तरष रहिता चंद ।। 28 ।।
गोरष-स्वांमी राति न होती दिन कहां थैं आया ।
दिन प्रसरया राति कहाँ समाया ।।
दिवा बुझांनां जोति कहां लीया बास ।
प्यंड न होता तब प्रांण का कौंण बेसास ।। 29 ।।

मछिंद्र-अवधू राति न होती दिन सहजै आया ।
दिन प्रसरया राति सहजै समाया ।।
दिवा बुझांनां जोति निरन्तरि लीया बास ।
प्यंड न होता तब प्राण का सुंनि बेसास ।। 30 ।।
गोरष-स्वांमी काया मधे कै लष चंद । पुहुप मधे कहां बसै गंध ।
दुध मधे कहां बसै घीव । काया मधै कहां बसै जीव ।। 31 ।।
मछिंद्र-अवधू काया मधे द्वे लख चंद । पहूप मधे चेतनि गंध ।
दूध मधे निरंतर बसै घीव । काया मधै सरब व्यापीक जीव ।। 32 ।।
गारेष-स्वांमी कहां बसै चंद कहां बसै सूर । कहाँ बसै नाद बिंद का मूर ।
कहाँ होइ हंसा पीवै पांणी । उलटी सक्ति आप धरि आंणी ।। 33 ।।
मछिंद्र-अवधू उरधै बसै चंद अरधै बसै सूर ।
हिरदै बसै नाद बिंद का मूर ।।
गगन चढ़ि हंसा पीवै पाणी । उलटी सक्ति आप धरि आंणी ।। 34 ।।
गोरष-स्वांमी कथं उतपन्यों नादं, कथं नाद समभवते ।
कौंण ले थापते नादं, कथं नादं बिलीयते ।। 35 ।।
मछिंद्र-अवधू ऊँकार उतपतते नादं नाद सुन्नि समिभवते ।
स्रवन ले थापते नादं, नादं निरंजन बिलीयते ।। 36 ।।
गोरष-स्वांमी नादेन नादिबा बिंदिन बिंदबा, गगनेन लाइबा आसा ।
नाद बिंद दोऊ न होइगा, तब प्रान का कहां होइगा बासा ।। 37 ।।
मछिंद्र-अवधू नादे भी नादिबा बिंदे भी बिंदबा, गगने भी लाइबी आसा ।
नाद बिंद दोऊ न होइगा, तब प्राण का निरंतर होइगा बासा ।। 38 ।।
गोरष-स्वांमी आकार छूटिसी निराकार होइसी, पवन न होसी पांणी ।
चंद सूर दोऊ न होसी, तब हंस की कौन सहनांणी ।। 39 ।।
मछिंद्र-अवधू सहज हंस का षेल भणीजै, सुंनि हंस का बास ।
सहजै ही आकार निराकार होइसी, परम जोति हंस का निवास ।। 40 ।।
गोरष-स्वांमी अमूल का कौंण मूल, मूल का कथं बास ।
पद का कौंण गुरू, पूछंत गोरषनाथ ।। 41 ।।
मछिंद्र-अवधू अमूल का सुंनि मूल, मूल का निरंतर बास ।
पद का निरबांन गुरू, कथंत मछिंद्रनाथ ।। 42 ।।

गोरष-स्वांमी जी कथं उतपदिते प्रांण, कथं उतपदिते मन ।
कथं उतपदिते बाचा, कथं बाचा बिलीयते ।। 43 ।।
मछिंद्र-अवधू अबगति उतपदिते प्रांण, प्रांण उतपदिते मन ।
मन उतपदिते बाचा, बाचा मन बिलीयते ।। 44 ।।
गोरष-स्वांमी कौंन सरोवर कौंण सनाल । कौंण मुष होइ बचिये काल ।
लोक अगोचर कैसे लिव लहै । मन पवन कैसें समि रहै ।। 45 ।।
मछिंद्र-अवधू मन सरोवर पवन सनाल । उरध मुष होइ बँचिये जंम काल ।
अरधउरध अगोचर लिव लहे । मन पवन ऐसैं समि रहै ।। 46 ।।
गोरष-स्वांमी कौंन सो विषभी कौंण सो संधि । कौंणे चक्री लागै बंध ।
कौंणे चेतनि मन उनमनि रहै । सतगुर होइसु बूझां कहै ।। 47 ।।
मछिंद्र-अवधू अनली बिमली विषमी संधि । चाकी ऊपरि लागै बंध ।
सदा चेतनि मन उनमन रहै । ऐसा विचार मछिंद्र कहै ।। 48 ।।
गोरष-स्वांमीं कहां उतपन्यां व्यापक, कहाँ आदि की अस्तुत समाई ।
ए तत्व कहौ गुरू गुसाई जहां हमारी उत्पति रहाई ।। 49 ।।
मछिंद्र-अवधू तिल मधैं जथा तेलं, काष्ट मधै हुतासन ।
पहुप मधे जथा बासं देही मधै तथा देवता ।। 50 ।।
गोरष-स्वांमी सापणि कुहकै कौंणे भाइ, बंक नालि हूवै कौंणै ठांइ ।
जब यहि प्रांणी निद्रा करै, पिंड मधे प्रांण कहां होइ रहै ।। 51 ।।
मछिंद्र-अवधू सापिणी कुहकै सहज सुभाइ । बंक नालि हूवै नाभी ठांइ ।
जब यहि प्रांणी निद्रा करै, पिण्ड मधै प्राण अपरछन रहै ।। 52 ।।
गोरष-स्वांमीं कौंणैं चक्र दिढ़ करि चंद । कौंणैं चक्रै लागै बन्ध ।
कौंणैं चक्रै निपावै निरोध । कौंणैं चक्रै मन प्रमोध ।।
कौंणैं चक्रै धरिये ध्यानं कौंणैं चक्रै लीजै विश्रांम ।। 53 ।।
मछिंद्र-अवधू अरधै चक्रै दिढ़ करि चंद । उरधै चक्रै लागै बन्ध ।
पछम चक्रै निपावै निरोध । हिरदा चक्र में मन प्रमोघ ।।
कांठे चक्रै धरिये ध्यांन । ग्यांनै चक्रै लीजै विश्रांम ।। 54 ।।
गोरष-स्वांमी कौंन उदैं माया सुन्नि । नौ ग्रह कैसे पाप न पुन्नि ।।
कौंन ग्रह लै उनमन रहै । सतगुर होइ सु बुझ्यां कहै ।। 55 ।।
मछिंद्र-अवधू बोलता जैसे माया सुंनि नवग्रह बिचारै पाप न पुंनि ।
सिव सकती ले उनमन रहै । ऐसा विचार मछिंद्र कहै ।। 56 ।।

गोरष-स्वांमी कौंण धर कौंण बास । कौंण गरभि रह्या दस मास ।
कौंण मुषि पांणी कौंण मुषि अस्तुति षीर,
कौंण, दिसा भई उतपति सरीर ।। 57 ।।
मछिंद्र-अवधू अनील गृह अबिगत बास, अतीत गरभि रह्या दस मास ।
मन मुषि पांणी पवन मुषि अस्तुति षीर,
ओंकार दिसा भइ उतपति शरीर ।। 58 ।।
गोरष-स्वांमी कौंण नालि सिव संचरया, कौंण मुषि पईठा जीव ।
कौंण गरभि बसंतडां, कौंण नालि रस पीव ।। 59 ।।
मछिंद्र-अवधू संषनि नालि सिव संचरया, सुषमनि पईठा जीव ।
माता गरभि बसंतडां, बंक नालि रस पीव ।। 60 ।।
गोरष-स्वांमी कौंन सुंनि उतपनां आइ । कौंण सुंनि सतगुरू बुझाइ ।
कौंन सुंनि मैं रह्या समाइ । ए तत्वा गुरू कहौ समुझाइ ।। 61 ।।
मछिंद्र-अवधू सहज सुनि उतपनां आइ । समि सुंनि सतगुरू बुझाइ ।
अतीत सुंनि मैं रह्या समाइ । परम तत्व मैं कहूँ समझाइ ।। 62 ।।
गोरष-स्वांमी कौंण मुषि लागै समाधि । कौंण मुषि छूटै उपाधि ।
कौंण मुषि ले तुरिया बन्ध । कौंण मुषि अजरावर कंध ।। 63 ।।
मछिंद्र-अवधू मन मुषि बाला लागै समाधि । पवन मुषि बाला छूटै उपाधि ।
सुरति मुषि बाला तुरिया बन्ध । गुर मुषि बाला अजरावर कन्ध ।। 64 ।।
गोरष-स्वांमी कौंण सौवै कौंण जागै । कौंण दहदिसि जाइ ।
कहां थै उठंत कहां होइ होठ कण्ठ तालुका बजाइ ।। 65 ।।
मछिंद्र-अवधू मन सौवै पवन जागै । कलपनां दह दिसि जाइ ।
नाभी थै उठंत पवनां, आगै होठ कंठ तालुका बजाइ ।। 66 ।।
गोरष-स्वांमी कहां थै करै मन गुंणघणां ।
कहां थै करै पवन आवागवनां ।।
कौंण मुषि चंदा नीझर झरै । कौंण मुषि काल निद्रा करै ।। 67 ।।
मछिंद्र-अवधू हृदा थै मन करै गुंण घणां । नाभी थैं करै पवन आवागवनां ।
आप मुषि चंदा नीझर झरै । मन मुषि काल निद्रा करै ।। 68 ।।
गोरषस्वांमी कौंण तेज थै जोति पलटैं । कौंण सुंनि थै बाचा फुरै ।

कौंण सुंनि थै त्रिभुवन सार । कौंण सुंनि थै उतरिबा पार ।। 69 ।।

मछिंद्र-अवधू उग्र तेज थै जोति पलटै । अभय सुंनि थैं बाचा फुरै ।

परम सुंनि थै त्रिभुवन सार । अतीत सुंनि उतरिबा पार ।। 70 ।।

गोरष-स्वांमी कथं उतपनी षुध्या, कथं उतपनां अहार ।

कथं उतपनीं निद्रा, कथं उतपनां काल ।। 7। ।।

मछिंद्र-अवधू मनसा उतपनीं षुध्या, षुध्या उतपनां अहार ।

अहार उतपनी निद्रा निद्रा, उतपनां काल ।। 72 ।।

गोरष-स्वांमीं सति सति भाषंत हो गुरू पंडिता, मन पवन कौंण दिसा ।

कौंण द्रिष्टि कौंण बिधि ग्यांन, नृगंथापार पार उतरिबा किसा ।। 73 ।।

मछिंद्र-अवधू द्रिष्टि थैं दिव द्रिष्टि होइबा, गिनांन थैं गिनांन होइबा ।

तथा गुरू सिख की एकै काया, परचा होइ तौं बिहड़ि न जाया ।। 74 ।।

गोरष-स्वांमी कहां थै उठंत सास उसासं । कहां परमहंस का बासं ।

कौंण घर मन थिर होइ रहै । सतगुर होइ सु बूझयां कहैं ।। 75 ।।

मछिंद्र-अवधू अरधै उठंत सास उसासं । उरधै परमहंस का बासं ।

सहज सुन्नि मैं मन थिर रहै । ऐसा विचार मछिंद्र कहै ।। 76 ।।

गोरष-स्वांमी कैंसे आवैं कैंसें जाइ । कैंसें चीया रहै समाइ ।

कैंसे मन तन सदा थिर रहै । सतगुर होइ सु बूझ्या कहै ।। 77 ।।

मछिंद्र-अवधू सुंनै आवै सुंनै जाइ । सुंनै चीया रहै समाइ ।

सहज सुंनि मन तन थिर रहै । ऐसा विचार मछिंद्र कहै ।। 78 ।।

गोरष-स्वांमी कहां बसै सक्ती कहां बसै सीव । कहां बसै पवनां कहां बसै जीव ।

कहां होइ इनका परचा लहै । सतगुर होइ सु बूझ्या कहै ।। 79 ।।

मछिंद्र-अवधू अरधै बसै सक्ती उरधै बसै सीव । भीतरि बसै पवनां अंतरी बसै जीव ।

निरंतर इनका परचा लहै । ऐसा विचार मछींद्र कहै ।। 80 ।।

गोरष-स्वांमी कौंण मुषि बैठै कौण मुषि चलै । कौंण मुषि बोलै कौंण मुषि मिलै ।

क्यूं करि स्वांमी नृभै रहै । सतगुर होइ सुबूझ्यां कहै ।। 8। ।।

मछिंद्र-अवधू सुरति मुषि बैठै सुरति मुषि चलै । सुरति मुषि बोलै सुरति मुषि मिलै ।

सुरति निरति मैं नृभैं रहै । ऐसा बिचार मछिंद्र कहै ।। 82 ।।

गोरष-स्वांमी कौंण सो सबद कौंण सो सूरति । कौंण सो बंध कौंण सो निरति ।

दुबध्या भेटैं कैसैं रहै । सतगुर होइ सु बूझ्यां कहै ।। 83 ।।

मछिंद्र-अवधू सबद अनाहद सुरित सोचित । निरति निरालम्भ लागै बंध ।
दुबध्या मेटि सहज मैं रहै । ऐसा विचार मछिंद्र कहै ।। 84 ।।
गोरष-स्वांमी कौंण सो आसण कौंण सो ग्यांन । किहिं बिधि बाला धरै धियानं ।
कैसै अबिगत का सुष लहैं । सतुगर होइ सु बूझ्या कहै ।। 85 ।।
मछिंद्र-अवधू संतोष सो आसण विचार सो ग्यानं । काया तजि करि धरिये ध्यान ।
गुरमुष अबिगत का सुष लहै । ऐसा विचार मछिंद्र कहै ।। 86 ।।
गोरष-स्वांमी कौंण संतोष, कौंण विचार । कौंण ध्यान काया कै पार ।
कैसै इन मैं मनसा रहै । सतगुर होइ सु बूझ्यां कहै ।। 87 ।।
मछिंद्र-नृभै संतोष अनभै बिचार । दुह मैं ध्यांन काया कै पार ।
गुर मुषि मनसा इन मैं रहै । ऐसा विचार मछिंद्र कहै ।। 88 ।।
गोरष-स्वांमी पाइ बिन कौंन मारग । चक्षि बिन कौंन दृष्टि ।
करण बिन कौंण श्रवण । मुष बिन कौंण सबद ।। 89 ।।
मछिंद्र-अवधू पाइ बिन बिचार मारग । चक्षि बिन निरति द्रिष्टि ।
करण बिन सुरति श्रवण मुष बिन लय सबद ।। 90 ।।
गोरष-स्वांमी कौंण सो धोवती कौंण सो आचार ।
कौंण जाप मन तजै बिकार ।
कौंण भाव थैं नृभै रहै । सतगुर होइ सु बूझ्यां कहै ।। 91 ।।
मछिंद्र-अवधू ध्यांन सो ब्रह्म आचार । अजपा जाप मन तजै बिकार ।
आतम भाव थै नृभै रहै । ऐसा बिचार मछिंद्र कहै ।। 92 ।।
गोरष-स्वांमी कौंण सो ऊं कौंण सो आप । कौंण सो माई कौंण सो बाप ।
कैसे मन में दरियाव रहै । सतगुर होइ सु बूझ्यां कहै ।। 93 ।।
मछिंद्र-अवधू सबद सो ऊँ जोति सो आप ।
सुंनि सोई माई चेतनि बाप ।
निहचल मन में दरियाव रहैं ऐसा बिचार मछिंद्र कहै ।। 94 ।।
गोरष-स्वामी कौंण सो चेतनि कौंण सार । कौंण निद्रा कौंण काल ।
कौंण महि पाँचों तत्व समि रहै ।
सतगुर होइ सु बुझ्यां कहै ।। 95 ।।
मछिंद्र-अवधू जोति चेतनि निरभै सार । जागिबा उतपत निद्रा काल ।
जोति महि पाँचौ तत्व समि रहै । ऐसा बिचार मछिंद्र कहै ।। 96 ।।

गोरष-स्वांमी कौंण बोलै कौंण सोवै । कौंण रूप में आपा जोवै ।
कौंण रूप में जुगि जुगि रहै । सतगुर होइ सु बूझ्या कहै ।। 97 ।।
मछिंद्र-अवधू सबद बौलै सक्ति सोवै । अदेष रूप में आपा जोवै ।
अरूप रूप में जुगि जुगि रहै । ऐसा बिचार मछिंद्र कहै ।। 98 ।।
गोरष-स्वांमी कौंण मुषि रहणी कौन मुषि ध्यान,
कौंण मुषि अमी रस कौंण मुषि पांन ।
कौंण मुषि छेदि बदेही रहै ।
सतगुर होइ सु बूझ्या कहै ।। 99 ।।
मछिंद्र-अवधू सहज मुषि रहणी सक्ति मुषि ध्यांन,
गगन-मुंषि अमीरस चित मुषि पांन ।
आसा मुषि छेदि बदेही रहै । ऐसा बिचार मछिंद्र कहै ।। 100 ।।
गोरष-स्वांमी कौंण मुषि आवैं कौंण मुषि जाइ ।
कौंण मुषि होइ काल कौंण षाइ ।
कौंण मुषि होई जोति मैं रहै । सतगुर होइ सो बूझ्यां कहै ।। 101 ।।
मछिंद्र-अवधू सहज मुषि होइ आवै सक्ति मुषि होइ जाइ ।
निपष होइ काल कौं षाइ ।।
निरास मुषि होइ जोति में रहै । ऐसा बिचार मछिंद्र कहै ।। 102 ।।
गोरष-स्वांमी कौंण सो काया कौंण सो प्रांण,
कौंण पुरिस का करिये ध्यांन ।
कौंण अस्थानं घरि काल सौं रहै,
सतगुर होइ सु बूझ्यां कहै ।। 103 ।।
मछिंद्र-अवधू पवन सो काया मन सो प्रांण,
परम पुरिस का धरिये ध्यांन ।
सहज अस्थानं धरि काल सौं रहै, ऐसा बिचार मछिंद्र कहै ।। 104 ।।
गोरष-स्वांमी कौंण सो कूंची कौंण सा ताला,
कौंण सो बूढ़ा कौंण सो बाला ।
कौंण अस्थानं मन चेतनि रहै । सतगुर होइ सु बूझ्या कहै ।। 105 ।।
मछिंद्र-अवधू निहसबंद कूंची सबद ताला । अचेत बूढ़ा चेतनि बाला ।
ग्यांन अस्थांन मन चेतनि रहै । ऐसा बिचार मछिंद्र कहै ।। 106 ।।

गोरष-स्वांमी कौंण सौ साधिक कौंण सो सिधि,

कौंण सो माया कौंण सो रिधि ।

कैसे मन की भ्रांति नसाइ । गुरू गुसांइ कहौं समझाइ ।। ।07 ।।

मछिंद्र-अवधू सुरति सो साधिक सबद सो सिधि ।

आप सौं माया पर सो रिधि ।

दुहुँ कौ मेटि निरति मैं रहै । ऐसा बिचार मछिंद्र कहै ।। ।08 ।।

गोरष-स्वांमी कौंण सो सांचा कौंण सो रांग । कौंण आभूषण चढ़ै सुरंग ।

तामैं निहचल कैसे रहै । सतगुर होइ सु बूझ्यां कहै ।। ।09 ।।

मछिंद्र-अवधू ज्ञान सौ सांचा प्राणा सौ रांग जत आभूषण चढ़ै सुरंग ।

तामहि निहचल उनमन रहैं । ऐसा बिचारि मछिंद्र कहै ।। ।10 ।।

गोरष-स्वांमी कौंण सौ मन्दिर कौंण सौ देव । कहां बैसि करि कीजै सेव ।

कौंण सौ पाती किहि बिध रहै, सतगुर होइ सुबूझ्यां कहै ।। ।।। ।।

मछिंद्र-अवधू सुंनि सौ मन्दिर मन सौ देव । बैसि निरंतर कीजै सेव ।

पाचौ पाती उनमनि रहै । ऐसा विचार मछिंद्र कहै ।। ।12 ।।

गोरष-स्वांमी कौंण सो मन्दिर कौंण सो द्वार । कौंण सो मूरति कोंण अपार ।

कौंण रूप मन उनमन रहै .। सतगुर होइ सु बूझ्यां कहै ।। ।13 ।।

मछिंद्र-अवधू सुंनि सौ मन्दिर सबद सौ द्वार । जोति सौ मूरति ज्वाला अपार ।

रूप अरूप मन उनमनि रहै । ऐसा विचार मछिंद्र कहै ।। ।14 ।।

गोरष-स्वांमी कौंण सौ दीवा कौंण प्रकास । कौंण बाती तेल निवास ।

कैसे दीवा अबिचल रहै । सतगुर होइ सु बूझ्यां कहै ।। ।15 ।।

मछिंद्र-अवधू ग्यांन सौ दीवा सबद प्रकास । संतोष बाती तेल निवास ।

दुबध्या मेटि अषंडित रहै । ऐसा बिचार मछिंद्र कहै ।। ।16 ।।

गोरष-स्वांमी कौंण सौ बैठा कौंण सौ चल्या । कौंण सौ फिर्या कौंण सौ मिल्या ।

कौंण सो धरि मैं निरभै रहै । सतगुर होइ सु बूझ्यां कहै ।। ।17 ।।

मछिंद्र-अवधू धीरज बैठा चल्या बिकार । सुरति सौ फिर्या मिल्या सोइ सार ।

सदा अतीत धरि निरभै रहै । ऐसा बिचार मछिंद्र कहै ।। ।18 ।।

गोरष-स्वांमी कौंण सौ जौगी केसे रहै । कौंण सौ भोगी कैसे लहै ।

सुष मैं कैसे उपजै पीर । तामैं कौंन बधावै धीर ।। ।19 ।।

मछिंद्र-अवधू मन जोगी जै उनमनि रहै । उपजै महारस सब सुष लहै ।

रस ही माँहिं अषंडित पीर। सतगुर सबद बंधावै धीर।। ।20।।
गोरष-स्वांमी कौंण सु आत्मां आवै जाइ। कौंण सु आत्मा रहै समाइ।
कौंण सौ आत्मा त्रिभुवन थीर। कौंण परचै बांवन बीर।। ।21।।
मछिंद्र-अवधू पवन सौ आत्मा आवै जाइ। मन सौ आत्मा सुंनि समाइ।
ग्यांन सौ आत्मां त्रिभुवन थीर। सबद परचै बावन बीर।। ।22।।
गोरष-स्वांमी मन का कौंण जीव, जीव का कौंण बेसास।
वैसास का कौंण आधार, आधार का कौंण रूप।। ।23।।
मछिंद्र-अवधू मन का पवन जीव, पवन का सुंनि बेसास।
बेसास का ब्रह्म आधार, ब्रह्म का अच्यंत रूप।। ।24।।
गोरष-स्वांमी कौंण चक्र थिर हौवै कंध। कौंण चक्र अगोचर बंध।
कौंण चक्र मैं हंस निरौधै। कौंण चक्र मैं मन परमौधै।
कौंण चक्र मैं लहै सवाद। कौंण चक्र मैं लागै समाध।। ।25।।
मछिंद्र-अवधू मूल चक्र थिर हौवै कंद। गुदा चक्र अगोचर बंध।
मणि चक्र मैं हंस निरौधै। अनाहद चक्र मैं चित्त परमौधै।।
बिसुध चक्र मैं लहै सवाद। चंद चक्र मैं लागै समाध।। ।26।।
गोरष-ए षटचक्र का जांणैं भेव। सौ आपै करता आपै देव।
मन पवन साधै ते जोगी। जुरा पलटै काया होइ निरोगी।। ।27।।

पापे न लिप्यते पुन्ये न हरंते ऊँनमो सिवाइ
ऊँनमो सिवाइ। श्रीमछिंद्रनाथ पादुका नमस्तते।।

इति

अष्ट मुद्रा

स्वामीजी अष्ट मुद्रा बोलिए घट भींतरि, ते कौंण कौंण।
अवधू यंद्री मध्ये मूलनी मुद्रा, कांम त्रिष्णा ले उतपनी काम।
कांम त्रिष्णा समो कृतवा, मुद्रा, तौ भई मूलनी।।
नाभी मधे जलश्री मुद्रा, काल क्रोध ले उतपनी।

काल क्रोध समो कृतवा, मुद्रा तौ भई जलश्री ।
ह्रदा मधे षीर नी मुद्रा, ग्यांन दीप ले उतपनी ।
ग्यांन दीप समो कृतवा, मुद्रा तौ भई षीर नी ।
मुष मध्ये षेचरी मुद्रा, स्वाद विस्वाद ले उतपनी ।
स्वाद विस्वाद समो कृतवा, मुद्रा तौ भई षेचरी ।।
नासिका मध्ये भूचरी मुद्रा, गंध विगंध ले उतपनी ।
गंध विगंध समो कृतवा, मुद्रा तौ भई भूचरी ।
चषि मध्ये चाचरी मुद्रा, दिष्टि विदिष्ट ले उतपनी ।
दिष्टि विदिष्टि समो कृतवा, मुद्रा तौ भई चाचरी ।।
करण मध्ये अगोचरी मुद्रा, सबद कुसबद ले उतपनी ।
सबद कुसबद समो कृतवा, मुद्रा तौ भई अगोचरी ।
ब्रहमंड असथांनि उनमनी मुद्रा, परम जोति लै उतपनी ।
परम जोति समो कृतवा, मुद्रा तौ भई उनमनी ।।
यती अष्ट मुद्रा का जाणै भेव, सौ आपै करता आपै देव ।।

इती अष्ट मुद्रा कथंत श्रीगोरषनाथजती संपूरण समापत सिवाय ।

रोमावली

सत पिता रज माता तम करि गाड़ी पाई,
लोह मास तुचा नाड़ी ये चारि धात माता की बोलिये,
बीरज हाड गूद्र ये तीनि धात पिता की बोलिये,
ए सप्त धात का सरीर बोलिये ।
द्वै हाथ द्वै पैर छाती लिलाट घाट अष्टांग जोग बोलिये ।
बंद भेद मुद्रा तीन्यूं साधंति ते सिधा बोलिये ।
कौंण बंधि बाँधिये, कौंण भेद भेदिये, कौंण मुंद्रा मुंदिये ।
ये बोलिये घट भीतरि । ते कौंण कौंण ।
मन बन्धि बांदिये पवन भेद भेदिये बिंद मुंद्रा मुंदिये ।
कौंण विमल बिचारै कौंण षिरै कौंण झरै ।

मन बिमल बिचारै सूरज थिरैं चंद्र झरै ।
हिंद पीर जिंद पीर ए बोलिये घट भीतरि । ते कौंण कौंण ।
हिंद पीर बोलिये मन, जिंद पीर बोलिये पवन ।
षेचरी भूचरी गुपत प्रगट । ते कौंण कौंण ।
षेचरी बोलिये मन, भूचरी बोलिए पवन ।
गुपत बोलिये ग्यांन, प्रगट बोलिये सरीर ।
सरीरारथ परमारथ, गूढ़ारथ । ते कौंण कौंण ।
सरीरारथ बोलिये सरीर भेद, परमारथ बोलिये प्रांण भेद,
गूढ़ारथ बोलिजै विचार ।
चारी पीर बोलिजै घट भीतरि । ते कौंण कौंण ।
मन मछिंद्रनाथ पवन ईश्वरनाथ, चेतना चौरंगीनाथ, ग्यांन श्रीगोरषनाथ ।
चारि तकबीर बोलिजै घट भीतरि । ते कौंण कौंण ।
दृष्टि कहै क्यूं लीजै दीजै, सुरति कहै क्यूं बोलिये सुणिये,
नासका कहै क्यूं सुगन्ध बांस परमलादि लीजै, जिभ्या कहै क्यूं षाटी मीठी षाइये ।
चारि दिसा बोलिये धन भीतरि । ते कौंण कौंण ।
सबद बोलिये उत्तर, पवन बोलिए पछिम ।
दृष्टि बोलिये दषिण सूरति बोलिए पूरब ।
चारि आप कला बोलये घट भीतरि । ते कौंण कौंण ।
ऊरम धूरम जोति ज्वाला ।
ऊरम बोलिये मन, धूरम बोलिये पवन,
जोति बोलिये नेत्र, ज्वाला बोलिये श्रवन ।
चारि षांणी बोलिजै घट भीतर । ते कौंण कौंण ।
स्वेतरज अंडरज जेरज उदबीरज ।
सेतरज बोलिये हाड़, जेरज बोलिये बीरज, अण्डरज बोलिये नेत्र,
उदबीरज बोलिये रोमावली ।
चारि बांणी बोलिये घट भीतरि । ते कौंण कौंण ।
सहज संजम सुपाइ अतीथ ।
सहज बोलिये सरीर, संजम बोलिये पवन, अतीत बोलिये परमपद ।
महा मुद्रा महां अजाच नग्री महां जोगणी स्वयंभू बोलिये ।

जे बांणी षांणी कौ बिचारैं ते निराकार बोलिये, ऊँकार मधे जोति जांणियै ।
ऊरम धूरम जोति ज्वाला । भेदी रवि का चाएयूं कला ।
मन करि हस्ती विमल जल पीवै । द्वै पष चीन्हे तौ सोलह कला जीवै ।
बारह कला सूरज, सोलह कला चंद ।
गुरू जिसका लषावै नही चेला तिसका अंध ।
बारह कला सूरज की, ताकौ गुण घट भीतरि ब्यापै । ते कौंण कौंण ।
चिंता, तरंग ड्यंम, माया, परग्रहणै, परपंच हेत, बुधि ।
काम, क्रोध, लोभ, दृष्टि ये बारह कला सूरज बारह की बोलिये ।
सोलह कला चन्द्रमा की ताकै गुण घट भीतरि राषैं । ते कौंण कौंण ।
सांति, नृवर्त, क्षिमा, नृमल, निहचल, ग्यांन सरूप, पद,
नृबांण, नृबिष, निरंजन, अहार, निद्रा, मैथुन, बाई, अमृंत
ये सोलह कला चंद्रमा की बोलिये ।
ए चारि कला सूरज की साधै तो सोलह कला चंद्रमा की पावै ।
एती एक रोमावली ग्रंथ जोग कथितं श्रीगोरषनाथ ।

(इति)

गोरष-गणेश गुष्टि

गणेस पूछे गोरष कहे ।
तुम्हें स्वामी कहाँ थे आव्या, कहा तुम्हारा नाम ।
अम्हें निरंतरि थैं बर आंव्या, जोगी अम्हारा नाम ।
स्वांमी जोगी तौ ते बोलिए जिन एता मेर मेषला रच्या ।
तुम्हें कोण जोगी ।
अम्हें निरंजन जोगी अतीत गुर चेला ।
स्वांमी ते क्यूं जाणिये ।
रहति करि जाणिये, सबद करि प्रवांणिये ।
स्वांमी रहति ते क्या बोलिये, सब्द ते क्या बोलिये ।
सब्द बोलिये सब थैं बिबरजित, रहति बोलिये तृगुण रहित ।

स्वांमी सब थैं निरन्तर ते क्या बोलिये ।
सरब थैं व्यबरजित बोलिये अवधू सुछिम,
त्रिगुण बोलिये सत रज तम ।
तौ स्वांमी सुक्षम ते क्या बोलिये, सतरजतम ते क्या बोलिये ।
सुछिम ते बोलिये अवधू दिष्टि न देखिये मुष्ट न आवै ।
सतगुन बोलिये पवन रजगुन बोलिये पानी ।
तृगुण बोलिये तामसरूपी । पंच तत्त पचीस परकीरती बोलिये आदम ।
तौ स्वांमी पंचतत्व ते क्या बोलिये । पचीस परकीरती ते क्या बोलिये ।
पंच तत्त बोलिये पृथ्वी आप तेज बाई आकास,
येक-येक तत्त संजुगत पंच-पंच परकीरती बोलिये ।
प्रथम पृथ्वी प्रकीरती बोलिये (1) अस्त (2) मास (3) तुचा (4) नाड़ी (5) रोम
एती पृथ्वी की प्रकीरती बोलिये ।। 1 ।।
दुतिये आप प्रकीरती बोलिये (1) लाल (2) मूत्र (3) प्रसेद (4) सुकल
(5) सुनीत । एती आप की प्रकीरती बोलिये ।। 2 ।।
तृतीये तेज प्रकीरती बोलिये (1) पुहूया (2) तृसा (3) न्यंद्रा (4) आलस
(5) क्रोध । एती तेज प्रकीरति बोलिये ।। 3 ।।
चतुरथे बाई प्रकीरति बोलिये (1) गाँवण (2) धावण (3) बलगण (4) ग्यांन
(5) अगोचरि, एती बाई प्रकीरति बोलिये ।। 4 ।।
पंचमें आकास प्रकीरति बोलिये (1) माया (2) मोह (3) लज्जा (4) राग
(5) द्वेष । एती पंच तत्त पचीस परकीरति का भेद बोलिये ।। 5 ।।
स्वांमी पृथ्वी का कौंण बरण, आप का कौंण बरण,
तेज का कौंण बरण, बाई का कौंण बरण, आकास का कौंण बरण ।।
पृथ्वी का पीत बरण, आप का सेत बरण, तेज का रक्त बरण,
बाई का नील बरण, आकास का काला बरण ।।
स्वांमी पृथ्वी का कौंण स्वाद, आप का कौंण स्वाद,
तेज का कौंण स्वाद, बाई का कौंण स्वाद, आकास का कोंण स्वाद ।।
पृथ्वी का मधुर स्वाद, आप का षारा स्वाद, तेज का तीषा स्वाद,
बाई का षाटा, स्वाद, आकास का मिलबला स्वाद ।
तौ स्वामी पृथ्वी का कौंण सुभाव, आप का कौंण सुभाव,

तेज का कौंण सुभाव, बाई का कौंण सुभाव, आकास का कौंण सुभाव ।
पृथ्वी का बैठा सुभाव, आप का सीतल सुभाव, तेज का ताता सुभाव,
बाई का चंचल सुभाव, आकास का ऊभा सुभाव ।
तौ स्वांमी आकास का कौंण घर, कौंण द्वार,
कौंण आहार, कौंण बिहार; कौंण ब्यौहार ।
बाई का कौंण घर, कौंण द्वार, कौंण आहार, कौंण बिहार, कौंण ब्यौहार ।
आप का कौंण घर, कौंण द्वार, कौंण आहार, कौंण बिहार, कौंण ब्यौहार ।
तेज का कौंण घर, कौंण द्वार, कौंण आहार, कौंण बिहार, कौंण ब्यौहार ।
पृथ्वी का कौंण घर, कौंण द्वार, कौंण आहार, कौंण बिहार, कौंण ब्यौहार ।
आकाश का ब्रह्मण्ड घर, श्रवन द्वार, सुंनै सु आहार
जिह्वा बिहार दिम्भ पाषंड ब्यौहार ।
बाई का घर नाभी, नासिका द्वार, बासना आहार
निरबासीक बिहार, अहं क्रोध, ब्यौहार ।
तेज का पीता घर, चछू द्वार, द्रिष्ट देषै सु आहार
हरष बिहार, प्रीती मोहब्यौहार ।
आप का लिलाट घर, यन्द्री द्वार स्त्री, आहार
बिंद बिहारमैथुन ब्यौहार ।
पृथ्वी का घर कलेजी, मुदा द्वार, षाइ सु आहार
अमरीबजरी बिहार लोभ लालच ब्यौहार ।
तौ स्वांमी पृथ्वी का कौंण गुरू, आप का कौंण गुरू, तेज का कौंण गुरू,
बाई का कौंण गुरू, आकास का कौंण गुरू ।
पृथ्वी का गुरू मन, देवता बाचासरूपी, आप का गुरू चन्द्र-देवता बुधि सरूपी,
तेज का गुरू सूरज देवता अनादि सरूपी
आकास का गुरू श्रीगोरष जती अविगति सरूपी ।
स्वांमीं जी प्रिथी की कौंण भारिज्या । आप की कौंण भारिज्या ।
तेज की कौंण भारिज्या, बाय की कौंण भारिज्या । आकास की कौंण भारिज्या ।
अवधू प्रिथी की भारिज्या आसा धनवंती । आप की भारिज्या मनसा चोरटी ।
तेज की भारिज्या कलपनां चंडाली । बाय की भारिज्या चिंता डाकणी ।
आकास की भारिज्या संक्या सीलवंती ।

स्वांमीजी प्रिथी कौंण गुणी । आप कौंण गुणां ।
तेज कौंण गुणां बाय कौंण गुणां । आकास कौंण गुणां ।
अवधू प्रिथी मूल गुणी । आप बृध गुणां । तेज रूप गुणां ।
बाय प्रमल गुणा । आकास मैथुन गुणां ।
तौ स्वांमी पंच तत्त की कथं उतपती, कथं षपती ।
अबिगत उतपना ऊँ । ऊँ उतपदितें आकास । आकास उतपनी बाई । बाई उत्पन्यां तेज । तेज उत्पन्यां तोया । तोया उत्पनी मिट्टी । मिट्टी ग्रासंत तोया । तोया ग्रासंत तेज । तेज ग्रासंत बाई । बाई ग्रासंत आकास । आकास ग्रासंत ऊँ । ऊँ ग्रासंत ते अबिगत । अबिगत गति रहेत । आवते न जावते एवं पंच तत पचीस प्रकीरति का भेद बोलिये । निरंजन देवता । पांणी का जामन । अगनि का पुट । पवन का थंमा । सुरति निरति सोध्या सुंनि में समाया । अबिगत सरूपी एवं उचितम् ।

पापे न लिप्यतें पुन्ये न हारंते जोगारम्भे भवे सिधा आवागवन निबर्तते । ऊँ नमो सिवाई ऊँ नमो सिवाई श्री स्यम्भुनाथ पादुका नमस्तुते ।

वौउं अनादि बोलंत षरतर पंथ। जिभ्या इंद्री दीजै बंध।
जोग जुगुति मैं रहै समाइ। सो जोगी सिर भद्र कराइ।। ।।।
द्वादस मंदिर सिव थांन। तेहूँ उत्तम ब्रह्म ग्यांन।
द्वादस निहचल एक मै रहै। तै जोगी सिर टोपी बहै।। 2।।
दैषै ये तत सून्य अकास। पंच तत मैं महा पुरिस का बास।
पंच तत्त लै अनमनि रहै। अछ्या होइ तौ जोगेंद्र कहै।। 3।।
पंच तत्त का करौहु बिचार। बाहर भीतर येकंकार।
भिछ्या मांगैं नग्री द्वार। माया मोहूँ तजै जंजार।। 4।।
अरघ उरघ बीची कंमली भोग। सुणौं हो अवधू अध्यातम जोग।
मनमूंडे तौ मस्त मूंडी। नहीं तर पड़ौ नरक की कूंडी।। 5।।
ये तौ येक अवधू पंच तत्त मात्रा का बिचार। बदंत गोरष दसवै द्वारि।
आदि संष अनिल उपाया। अनंत सिधां लैं मस्तकि लायां।। 6।।
कान सुणाय गुरं दीन्ही दीष्या नवषंड प्रथी मांगों भीष्या।
भिछ्या मांगि निरंतरि रहै। ते जोगी कानां मुद्रयां बहै।। 7।।
अहुँठ हाथ गल कंथा पाई। चंद सूर दौउ थंगली लाई।
अहुँठ कोटि दस धागा भरौ। गुरू परसादे दुतिर तिरौ।। 8।।
काया षड़ासण मन जोगौटा पांचों इन्द्री करौ कछौठा।
जत सत क्रीया संजम चलवौ। डंडा लाठी डीबी पावौ।। 9।।
पछिम उत्तर दछिण पूरब। वै तौ जोगी जोगौटा चलावौ।
माथे जटा दरसन विकराल। तौ अवधू जोगी बंचौ काल।। ।0।।
सींमी सेली अर जपमाला। बाई फेरो गगन मंझारा।
नव बैहैतर पवनां मूल। षट चक्रं गंगा गौरी तिरसूल।। ।।।।
अलष पुरिष तहां कू ध्याया। नग्र कोट उरध थी आया।
चीत चक्र में जै पवनां गहे। ब्रह्म अगिनि प्रगट जल रहै।। ।2।।
बीस्नं बीस्नं करै सब कोय। बिना निरंजन मुकति न होय।
मूल चक्र तहां सहस्र दल बाट। मन पवन लै षौलौ कपाट।। ।3।।
गोरष बिस्न लागा बाद। गोरष लेय बजाया नाद।

बीस्न कीया मृघ का रूप मार्‌या मृघ ध्याया अवधूत ।। ।4 ।।
पूरब जाता पछीम हांस । मार्‌या मन मृघ भषीलै मांस ।
नांली चांपी सीगी नाद बजाया । यही सीगी नाद गगन कूं जाइ ।। ।5 ।।
गगन मंडल मैं रहै समाइ । अनंत सिघां पाई जोग बाई ।
सीगी नाद गगन कूं जाई । अह निसि चंदा (रहै) गगन समाइ ।। ।6 ।।
पांचूं इन्द्री पूरै स्वाद । तै अवधू बजावै सीगी नाद ।
अनहद नांद उरध का मूल । चंद सूर सुषमन अस्थूल ।। ।7 ।।
वारि गंगा पारि गंगा, मंझी जोगौटा ध्यांन ।
गंग जमन लै मेर चढ़ाई, तहां प्रगट्या ब्रह्म गियांन ।। ।8 ।।
सीगी सेली और षड़ासण, अनंत सीघां लीन्हा जाइ ।
द्वादस डीबी उरघ का मेला । अलेष मंढ़ी तांहा गगन समाइ ।। ।9 ।।
सोना रूपा ग्रही कूं दीन्हा । आदी पत्र लै ईस्वर कूं दीन्हा ।
जोगारंभ तहां सीध समाइ । आदि धंरम सुरग उतपना आइ ।। 20 ।।
बारा बरस का मुवा समांण, । श्री गोरषनाथ जगाया ।
चौसठि जोगणि भ्याष्या पूरै, अनंत सिघां आदि पत्र पाया ।। 2। ।।
आदी पत्र आदी उत्यंम अनादि धरम संकर कूं पेस ।
निगुरा कूं गड़बड़ बौलिये सुगरा कू उपदेस ।। 22 ।।
येता येक पंच मात्रा का ऊचार अनंत सीधां तहां सुण्या बिचार ।
मच्छंद्र प्रसादै जती गौरष कहै । ते अवधू पंच भू आत्मा लहै ।। 23 ।।
जे जौगी जाणै पंच मात्रा का भेव । सौ आपै करता आपै दैव ।
ये पंच मात्रा जोगी बूझै । ताकूं त्रिभुवन सूं सकल देवता पूजैं ।। 24 ।।

इति श्री पंच मात्रा पठंत गुणंत कथंते करंते पापेन लिपंते पुन्ये न हरंते आवागवण बिब्रजते अमरलोकी सगछते । वो उं नमसिवाय । उन्मोस्यवाय गुरू मछंद्रनाथ पादुका नमस्ते । इति श्री गोरषनाथजी की पांच मात्रा ग्रंथ जोगसास्त्र संपूरण समाप्ता ।

ईश्वरोवाच ऊँ, अबिगत उतपते इच्छा । इच्छा उतपते आकास । आकास उतपते वाय । वाय उतपते तेज । तेज उतपते तोयम । तोयम उतपते मही ।

अबिगत ते इच्छा । इच्छा तैं आकास । आकास नाम, स्याम वरण, दसवैं द्वार बासा, दाहिणे पैसार, वामं श्रवण निकास, नाद सुनै सो आहार दंभ बड़ाई ब्यौहार । राग दोष हर्ष शोक मोहादिक ये पाँच प्रकृति आकास की बोलिये । इन आकास मारग जीव अनुसरै तौ सेतरंज षानि भोगवै ।

आकास से वायु नाम, नील वरण, नाभि बासा, इला पैसार, पिंगुला निसार, गंध बासना आहार, क्रोध व्यवहार । गावण, धावण, बलगन, संकोचन, पसारणये पाँच प्रकृति वायु की बोलिये । इन वायु मारग जीव अनुसरै तौ अण्डरज षानि भोगवै ।

वायु से तेज नाम, रक्त वरण, त्रिकुटीवासा, दाहिणै नेत्र पैंसार, बामें निसार, दृष्टि देषै सो आहार, मोह ब्यौहार । क्षुधा, त्रिषा, निद्रा, आलस, क्रांति, ये पाँच प्रकृति तेज की बोलिये । इन तेज मारग जीव अनुसरै तौ रज षानि भोगवै ।

तेज ते आप नाम, स्वेत वरण, ललाट वासा, जिभ्या पैसार, इन्द्री निकास, स्त्री-आहार, काम ब्यौहार । लाल, मूत्र, प्रस्वेद रूधिर, मज्जा-ये पाँच प्रकृति आप की बोलिये । इन आप मारग जीव अनुसरै तौ उदबीरज षानि भोगवै ।

आप ते पृथ्बी नाम, पीत वरण, कलेजे वासा, मुष पैंसार, मूल द्वार निकास, षावे पीवे सो आहार, लोभ लालच ब्यौहार । अस्थि, मांस, त्वचा, नाड़ी, रोम, ये पाँच प्रकृति पृथ्वी की बोलिए । इन पृथ्बी मारग जीव अनुसरै तौ पिंडरज षानि भोगवै ।

इति पंच प्रकृति, पंच घर, दस द्वार, पंच अहार, पंच ब्यौहार, पंच वरण,

पंच षानि चौरासी लाष जीव जोनि भ्रमते। तथा ये पंच कर्मानि बोलिये सुनो गोरष अवधूत। ईश्वरो कथंति। महा ग्यांन कर्म पटल प्रथमो अध्याय।

इश्वरोवाय पंच तत्वभेव कथितं। पृथ्वी ग्रासन्ति तोया। तोया ग्रासन्ति तेज। तेज ग्रासन्ति वायु। वायु ग्रासन्ति आकास। आकास ग्रासंति इच्छा। इच्छा ग्रासन्ति अबिगत। अविगत रहत, आवते न जाते। जैसा है तैसा हो रहते। असंष मनि नाम। अवरण वरण। हिरदै वासा।

भाव घर, अदृष्टि द्वार, सहज पैसार। समाधि निकास, अमी आहार, अर्थ ब्यौहार, इन मन मारग जीव अनुसरै तौ सायोज्य मुक्ति भोगवै।

असंष बुद्धि नाम। अवरण वरण, निर्मल वासा, विचार घर, अनाहद द्वार, निहशब्द पैसार, अनभैं निकास, रस आहार, अगह ब्यौहार, इन बुद्धि भार्ग अनुसरै तौ सागीप मुकति भोगवै।

सहज सून्य चिन्ता नाम, अवरण वरण, त्रिकुटी वासा, विवेक घर, अजपा द्वार, निहकाम पैसार, सन्तोष निसार, कमरन्द अहार, अगम ब्यौहार। इन चित्त मारग जीव अनुसरै तौ स्वरूप मुक्त भोगवै।

परम ध्यानं अहंकार नाम, अवरण वरण, विषमी वासा, विवेक लय घर, नृवासीक द्वार, अगम पैसार, अगोचर निसार, अजर अहार, अगाध ब्यौहार। इन अहंकार मारग चित्त अनुसरै तौ सालोक मुक्ति भोगवै।

प्रांण अंतहकरण नाम, अवरण वरण, अस्थिति वासा, धीर घर, अकिल द्वार ग्यांन पैसार, बिग्यांन निसार, अमरा अहार, अबंध ब्यौहार। इन अन्तहकरण मारग जीव अनुसरै तौ महामुक्ति (भोगवै) आत्मा परमात्मा भवति। जोगेस्वर जीव एक भवन्ति। परम सून्य भावे स्थिति। पारब्रहम भवे लीनं। सत्यंसत्यं च वदाम्यहम। तत्व ग्यांन श्रीशम्भूनाथ अकथ कथितं सुनो हो गोरष अवधूतं परम जोग संप्रापितं जोगी। ईस्वरो कथंत महाग्यांन इति ग्यांन इन्द्रादि बोलिये। इति ग्यांन पटल द्वितीयो अध्याय।

(इति गोरष-महादेव सम्वाद)

गोरष जोगी कथै बिचारं । ये तत जीतै सातौ वारं ।।टेक।।
आदित बार ब्यौरि ले आप आपा व्यौरत·पुंनि न पाप ।।
दुहुँ पषां सों आरंभ करै । अनभै करि जमपुर परहरै ।।
सोमवार ससि षटण भरौ । सतगुरू षोजौ दूतरि तिरौ ।।
दसवें द्वारि दीजै बंध । तौ अजरावर थिर ह्वै कंध ।।
मंगलवार अम्हे पाया भेव । आतमां अछै निरंजन देव ।।
पंच पुहुप लै पूजा करौ । मति बुधि लै सिवपुरी संचरौ ।।
बुधिवार मति बुधि प्रकास । अहि निसि रहिबा जोग अभ्यास ।।
दिढ़ करि लोचन आसा पास । सिधि साधौ अमरापुरि बास ।।
ब्रहसपति बार विषम मन लिया । ग्यान षड़ग लिया बिग्रह किया ।।
अट्ठ कोटि दल दीया पयाणां । जम मस्तकि बाजै निस्राणां ।।
सुक्रवार सूषिम जल साधि । लहरि न पसरै सहज समाधि ।।
माया मारि मरि थिर जु होइ । आत्मा परचै मरै न कोइ ।।
थिरि थावर जु सनीचर बार । काया मध्ये सातौं बार ।।
सतगुरू षोजौं उतरौ पार । सुसमवेद सुषमना बिचार ।।
वेद पुरान पढ़ै चित लाइ । विद्या ब्रह्म कंध थिरि थाइ ।।
मछिंद्र प्रसादैं जती गोरष कहै । सप्त वार कोई बिरला लहै ।।
आदित आंष्यां सोम श्रवण, मंगल मुष परवांण ।।
बुध हिरदै बृहस्पति नाभी, सुक्र ते इंद्री जांण ।।
सनि गुदा वाय राह ते मंन, केत ते नासिका रहै ।।
सप्तवार नवग्रह देवता काया भीतरि श्रीगोरष कहै ।।

(इति)

चौबीस सिद्धि बोलिये प्रिथी के विषै ते कौंण कौंण । प्रथम अनूमां सिधि ताकौं लछिन, माया सुंनि सूझै । महिमां सिधि ताकौ लछिन, लघु दीरघ होय दिखावै । गरीमा सिधि ताकौ लछिन, ब्रहम कौ रूप दिषावै । लघुमां सिधि ताकौ लछिन, अनेक रूप धरै । प्रापति सिधि ताकौ लछिन, यंछै सो करै । प्रकासक सिधि, ताकों लछिन, सरब सूझै । असत्या सिधि ताकौ लछिन, उपावै षपावै । आवस्या सिद्धि ताकौ लछिन, ब्रह्मादिक अग्या में रहै । एती अष्ट भूतान सिद्धि, मनोजा सिधि ताकौ लछिन, सरब कांमनां की जाण । छुछुमुक्ता सिधि, ताकौ लछिन, मन मानै वहाँ सरीर छाड़े । अनूरा सिधि ताकौ लछिन, सीत उसन तै रहित होय । परकाया प्रबेस सिधि, ताकौ लछिन, और काया प्रवेस करै । सूरज बसि सिधि, ताकौ लछिन, सूरज आग्या मैं रहै, जल बसि सिधि ताकौ लछिन, जल आग्या में रहै । दूरि श्रवण सिधि, ताकौ लछिन, दूरि की सुणै । दूरि दरसण सिधि, ताकौ लछिन, दूरि की दरसै । कांस कांमोद सिधि, ताकौ लछिन, कांमनां यंछै सो करै । अप्रहता सिधि, ताकौ लछिन, मन मांनै तहां जाय । देवता सैल सिधि, ताकौ लछिन, सर्व देवतां सूं केला करि आवै । रूपसेल देवता सिधि, ताकौ लछिन, सरब देवता का रूप धरै । हारै नाही सिधि ताकौ लछिन, कहूँ प्रकार हारै नाही । त्रिकाल सिधि, ताकौ लछिन, छमास की आगली कहै छमास की पाछली सूझै । अगनि बसि सिधि ताकौ लछिन, अगनि मैं जलै नहीं । सबद बसि सिधि ताकौ लछिन, सबद फुरै ।

यती चौबीस सिधि ब्रह्म ग्यांनी कै आड़ी आवै । यती चौबीस सिधि सिधि आई होय तौं सतगुरू प्रसाद तै तयागै । सोई जोगेस्वर, सोई ब्रह्म ग्यांनी । बल अपार जती गोरषनाथ समझावै । यती चौबीस सिधि त्यागै । सोई परम जोति कूं पावै ।

(इति)

(गोरष-दत्त गुष्टि)

गोरष-स्वांमी कि तुम्हें ब्रह्मा कि ब्रह्मचारी, कि तुम्हें बांभण पुस्तक कि डंडधारी ।
कि तुम्हें जोगी कि जोग जुगता, कौंण प्रसादैं रमो छछंद मुक्ता ।। । ।।
दत्तात्रेय-अवधू न अम्हें ब्रह्मा न ब्रह्मचारी, न अम्हें ब्राह्मण पुस्तक न डंडधारी ।
न अम्हें जोगी न जोग जुगता, आप प्रसादैं रमौ छछंद मुक्ता ।। 2 ।।
गोरष-आपा मेटण सतगुरू थापणां, अनपरचै जग षाया ।
गोरष कहै सुणौ हो स्वामी, तुम्हें कौंण कहां थै आया ।। 3 ।।
दत्त - अवधू होता गुपत गुपत थै प्रगट, रहता पुरूष की छाया ।
दत्त कहै सुणौ हो गोरष, हम गैबी पुरस गैब थै आया ।। 4 ।।
गोरष-स्वांमी अजर ब्यंद असाध बाई, अप्रबल बिष्न की माया ।
गोरष कहै सुणौ हो दत्तात्रेय क्यू घूं सीझंति जल ब्यंद की काया ।। 5 ।।
दत्त - अवधू कन्द्रप न बाई अप्रबल न माया, आकार निराकार सूषिम निकाया ।
जलो न जलविंबो दरपनों न छाया, दत्त न गोरष काया न माया ।। 6 ।।
गोरष-कौंणस्य आवै कौंणसि जाय, जो बोलै सो कहां समाइ ।
जोगमि होइ सु कहिये भेव, गोरष कहै सुनौ दतदेव ।। 7 ।।
दत्त - अवधू न कोई आवै न कोइ जाई, कांसा नाद मधि समाई ।
येकैं सूत्रैं प्रोया हार, सांभलि हो गोरष कहूँ विचार ।। 8 ।।
गोरष-स्वांमी कौंणस्य माता कौंणस्य पिता, कौंणस्य गुरू उपदेस स्थिता ।
कौंणस्य आसण करौ बिश्रांम, कौंण घर सौ दाषौ ठांम ।। 9 ।।
दत्त - अवधू षमा माता सत पिता, ग्यांन गुरू परचाया स्थिता ।
अलेष आसण तहां विश्राम, सांभलि गोरष दाषूं ठांम ।। 10 ।।
गोरष-स्वांमी कोंण मुकत कौंण दुष सहै, कौंण सि बिणसैं कौंण अजरावर रहै ।
जो गमि होइ सु कहिये भेव, गोरष कहै सुणौ दतदेव ।। 11 ।।
दत्त - अवधू ब्रह्म मुकता प्रकीरति दुष सहै, प्रकीरति बिनसै ब्रह्म अजरावर रहै ।
गुह्य ग्यांन कथिले अपार, सांभलि गोरष कहौं बिचार ।। 12 ।।
गोरष-स्वांमी कौंणसि सुषिम कौंण अस्थूल, कौंणस्य डाला कौंणस्य मूल ।

जो गमि होइ सु कहिये भेव, गोरष कहै सुणौ दतदेव ।। 13 ।।

दत्त - अवधू ब्रह्म सूषिम तत सथूल, पवनस्य डाला मनस्य मूलं ।

गुरहि ग्यांन कथिले अपार, सांभलि गोरष कहौं बिचार ।। 14 ।।

गोरष-स्वांमी कौंणस्य गुर कौंण सि चेला, किहि बिधि होय अनंत सिधां सौं मेला ।

ब्रह्म कमल का कहिये भेव, गोरष कहै सुणौ दतदेव ।। 15 ।।

दत्त - अवधू परमात्मा सि गुर आतम चेला, सहज सुंनि होइगा अनंत सिधा सूं मेला ।

ब्रह्म कमल उरध मुष षिला, सांभलि गोरष उनमन कला ।। 16 ।।

गोरष-स्वांमी कौंणस्य कला, किस बिधि षूठें त्रिकुटी ताला ।

नाद बिन्द का कहियै भेव, गोरष कहै सुणो दतदेव ।। 17 ।।

दत्त - अवधू उनमनि ध्यांन पवन विधि काया, नाभ दम षूठें त्रिकुटी ताला ।

दसवैं द्वारि ब्यंद का बास, सांभलि-गोरष नाद का प्रकास ।। 18 ।।

गोरष-स्वामी कौंणसि कंटक कौंण उचाट, किहिं बिधि षूलै ब्रह्म कपाट ।

अगम पंथ का कहिये भेव, गोरष कहै सुणौ दत देव ।। 19 ।।

दत्त - अवधू कंटक सोई जिहिं अतिवंत क्रोध, उचाट सोई आत्मा बिरोध ।

गुरूगमि षूलैं ब्रह्म कपाट, सांभलि गोरष ऊजू बाट ।। 20 ।।

गोरष-स्वामी कौंनसि दया कौन सि धन, कौंणसि बूडण कौंण सि तिरण ।

कौंन सि ग्यांन करम का भेव, गोरष कहै सुणौ दतदेव ।। 21 ।।

दत्त - अवधू बूडण सोइ ज कंटक षुधि, तिरण सोई जु निरमल बुधि ।

ध्यांन सोइ जो दया धरम, ग्यांन सोइ बिबरजित करम ।। 22 ।।

गोरष-स्वांमी कौंण स्य बंधा कौंण स्य मुकता, कौंण सि जोगी कौंण सि जुगता ।

देव कला का कहिये भेव, गोरष कहै सुणौं दतदेव ।। 23 ।।

दत्त - बंध्या सोई जु करमहि बंध, मुकता सोई रहै निरदंद ।

जोगी सोई जुगति मन रहै, गोरष पूछै दत्तात्रय कहै ।। 24 ।।

गोरष-स्वांमी कौंण स्य जुगता कौंण स्य जोग, कौंण स्य काया व्यापै रोग ।

इनका हमसे कहियै भेव, गोरष कहै सुणौ दतदेव ।। 25 ।।

दत्त - अवधू जुगती सोई जो जुगि-जुगि ताला, जुगति सोई जो विषै निराला ।

जोगी सोई मन भ्रम न रहै गोरष पूछै दत्तात्रय कहै ।। 26 ।।

गोरष-स्वांमी कौंण सि भरम कौंण स्य धरम, कौंण सि निसचल कौंण अधरम ।

अगम ग्यांन का कहियै भेव, गोरष कहै सुणौ दतदेव ।। 27 ।।

दत्त - अवधू भ्रम सोई जिहि ब्यापै संसा, धरम सोई दरसण आदेसा ।
निसचल सोई जो ल्यो सू रहै, अधरम सोई जो मिथ्या कहै ।। 28 ।।
गोरष-स्वांमी कौंण सि मिथ्या कौंण सि सांच, कौंण सि षरा कौंण सी कांच ।
कौंण कि कहै सबद का भेव, गोरष कहै सुणौं दतदेव ।। 29 ।।
दत्त - अवधू माया मिथ्या ब्रह्म सु साचा, सबद सुषरा प्यंड को काचा ।
सबद बिचारी जहाँ मन रहै, गोरष पूछै दत्तातृय कहै ।। 30 ।।
गोरष-स्वांमी कौंण सि काया कौंण सिं माया, कौंन सि भ्रम जग धन्धै लाया ।
अपार धंद का कहै भेव, गोरष कहै सुणौ दतदेव ।। 31 ।।
दत्त - अवधू मन कलपत लागी माया, करम आचरै तहां लूं काया ।
ध्यान बिना जगुधंद अपार, सांभलि गोरष कहूँ विचार ।। 32 ।।
गोरष-स्वांमी कौंन सिं ध्यांन, कौंन सिं ग्यांन, कौंन सि मन, कोंन सि आसांन ।
ग्यांन ध्यांन का कहियै भेव, गोरष कहै सुणौ दतदेव ।। 33 ।।
दत्त - अवधू ध्यान सो ब्रह्म सू रहै, ग्यांन सोई जो सब गमि कहै ।
मन सोइ जहां मनहिं समांन, आपण जाणौ सोई आसांन ।। 34 ।।
गोरष-स्वामी कौंन सि मानै कौन सि जानै, ससिहर सूर कौन संभि ठानै ।
प्रकास अगोचर कहियै भेव, गोरष कहै सुणौ दतदेव ।। 35 ।।
दत्त - अवधू जानै सोइ परचै जग, नाथ न जांणै सोइ बिषियारत ।
ससिहर सूर अगोचर बासा । सांभलि गोरष कहूँ प्रकासा ।। 36 ।।
गोरष-कौंन अगोचर कौंन प्रकास, कौंर धरि षेलै निरास ।
कौंन सिधा का कहियै भेव, गोरष कहै सुणौ दतदेव ।। 37 ।।
दत्त - अवधू ब्रह्म अगोचर मन प्रकास, परचै धरि षेलै निरास ।
परम जोति यहाँ सिध गहि रहै, गोरष पूछै दत्तात्रय कहै ।। 38 ।।
गोरष-स्वांमी कौंण सि परचै, कौंण प्रतीत, कैसे थिर चंचल चीत ।
मन पवन का कहियै भेव, गोरष कहै सुणौ दतदेव ।। 39 ।।
दत्त - अवधू गुर परिचय मन प्रतीत, निसचल अस्थीर चंचल चीत ।
पवन थिरंता मन थिर रहै, गोरष पूछै दत्तात्रय कहै ।। 40 ।।
गोरष-कौन सि निसचल ले बंधे बंद, जुरामरण अजरावर कंद ।
गगन पद का कहियै भेव, गोरष कहै सुणौ दतदेव ।। 41 ।।
दत्त - अवधू निसचल सो जो न पडै काया, तृगुण रहत सो गगन समाया ।

सहज पद परम नृबांन, सांभलि गोरष ए परवांन ।। 42 ।।

गोरष-स्वांमी कौन सकति कौन सीव, कौन तीनि भुवन का जीव ।

कौंण सि आसा पुरवई भेव, गोरष कहै सुणौं दतदेव ।। 43 ।।

दत्त - अवधू सकति सोइ जो सबही सोषै, सीव सोइ जो सब को पोषै ।।

जीव इक तीनि भुवन जगनाथ, सोइ संग जो पूरइ आस ।। 44 ।।

गोरष-स्वांमी कौन कौन ले कथिबा ग्यांन, कौंण तत्त ले धरिबा ध्यांन ।

कौंण समाधी तुम्हें लागे भेव, गोरष कहै सुणौं दतदेव ।। 45 ।।

दत्त - अवधू आत्मा चिनंति कहा कथिबा ग्यांन तत्व बिचारिबा कहा धरिबा ध्यांन ।

दत्त कहै हम सहज समांन, सांभलि गोरष पद निरबांन ।। 46 ।।

गोरष-स्वांमी कौंन तत तुम रहौ समाई, कौन तत तुम मधे आई ।

कौंन परचै तुम्हें कहियै भेव, गोरष कहै सुणौं दतदेव ।। 47 ।।

दत्ता - अवधू दत्त जु लागा तत सो, तत दत्त ही माँहि ।

दत्त तत्त परचा भया, तब दूजा कहणां नाहिं ।। 48 ।।

गोरष-स्वांमी त्वमेव दत्तं, त्वमेव देवं, आद मधे तुम्हें जान्या भेवं ।

तुम्हें नारायण तुम्ह कृपाल, तुम्ह हो सकल बिस्ब के पाल ।। 49 ।।

दत्त - स्वामी तुमेव गोरष तुमेव रछिपाल, अनंत सिधां माही तुम्हें भोपाल ।

तुम हो स्यंभूनाथ नृबांण, प्रणवे दत्त गोरष प्रणांम ।। 50 ।।

गोरष-स्वांमी दरसण तुम्हारा देव, आदि अंति मधि पाया भेव ।

गोरष भणई दत्त प्रणांम, भोग जोग परम निधांन ।। 51 ।।

ज्ञानदीप बोध ग्रंथ जोग सास्त्रं, पढ़ंते हरंते पापं, श्रुत्वा मांषि सभ्यते जोगारम्भे भवे सिधा आवागवन निवरतते । येवं ग्यांन दीष बोध संवादे ज्रोग स्रास्त्र संपूरण समाप्त । ऊँ नमो सिवाये ऊँ नमो सिवाये गुरू मछिंद्र पादुका नमस्तते ।

समापन

गुरू गोरष बचन प्रवाणंजी

नहीं आऊँ कांमणी नहीं आऊं लो ।
नहीं आऊँ राजभार लेबा तोर ।। टेक ।।
एवां नैरां कां कौन बसेषू ।
मारिबा नांयक जमागं ।।
हूं तोहिं पूछू मार्‌हा पढ़िया रे पंडित ।
कांई मरिबा ना लौ लागं ।।
मन पवन मार्‌हा हस्ती रे घोड़ा ।
गिनांन ते अषै भंडार ।।
बर ले कांमणि षोलै बैठा ।
ताथैं षरा डराऊं ।
बूढ़ा था सो बाला हूवा ।।
इब मैं काई जाणां जी ।
सतगुरू सबदूं राजा भरथरी सीधा रे ।
गुरू गोरष बचन प्रवाणं जी ।।

--योगिराज भ

(नाथसिद्धों की बानियाँ 597

सम्बोधन

ा भंजिबा सतगुर षोजिबा जोग पंथ न करिबाहेला ।

फिरि मनिषा जनम न पायबा करिलै सिध पुरिस सूंमेला ॥

यह मेरा है, यह मैं हूँ, इस अहंकार (आपा) को तोड़ देना चाहिये। त् बन्धन से जीवात्मा को मुक्त करने के लिये सद्गुरु, परमात्म ज्ञानी त करनी चाहिये। यह योगमार्ग ही ऐसा है, जो निर्मल और निष्पक्ष है, इस पुण्य मार्ग की कभी उपेक्षा या अवहेलना (हेला) नहीं करनी मनुष्य का जन्म नहीं मिलता है। मनुष्य का जन्म अनेक जन्मों के पुण्य है, यह बार-बार नहीं मिलता है। मनुष्य का जन्म पाकर योग की लेनी चाहिये। योग की सिद्धि सिद्ध पुरुष परमार्थ ज्ञानी के सत्संग भ है।

गोरखबानी सबदी -२०३

नाथ निरंजन की आरती

नाथ निरंजन आरती साजै ।
गुर के सबदूं झालरि बाजै । टेक ।
अनहद नाद गगन में गाजै ।
परम जोति तहां आप बिराजै । १ ॥
दीपक जोति अषंडत बाती ।
परम जोति जगै दिन - राती । २ ॥
सकल भवन उजियारा होई ।
देव निरंजन और न कोई । ३ ॥
अनँत कला जाके पार न पावै ।
संष मृदंग धुनि बेनि बजावै । ४ ॥
स्वाति बूंद लै कलस बंदाऊँ ।
निरति सुरति लै पहुप चढ़ाऊँ । ५ ।
निज तत नांव अमूरति मूरति ।
सब देवां सिरि उदबुदि सूरति । ६ ।
आदिनाथ नाती मछेन्द्र नाथ पूता ।
आरती करै गोरष औधूता । ७ ।

[महायोगी गोरखनाथ (गो०बा० पद-६२)]

ॐश्रीमदमृतमूर्तये शंकराय नमः

अथ

अमरौघशासनम् ।

श्रीगोरक्षनाथसिद्धविरचितम् ।

ऊर्ध्वशक्तिनिपाताच्च तथाधःशक्तिकुञ्चनात् ।
मध्यशक्तिप्रबोधेन जायते परमं सुखम् ॥

ऊर्ध्वशक्तिनिपातः कन्दचतुष्टयेन ज्ञायते ।

यच्चन्द्रप्रभवं वराम्बरगतं यल्लिङ्गसंज्ञं जलं
स प्राणस्तदधः स्थिरं च कमलं धत्ते मुखोर्ध्वं हृदि ।
बद्ध्वा कुम्भकमात्मगाढरचितं तद्ब्रह्मनाडीगतं
ह्यानेतुं वदने षडध्वगकला सैवंविधा सारणा ॥

षडध्वगा कथ्यते

घण्टाकोटिकपोलकोटरकुटीजिह्वाग्रमध्याश्रया-
च्छङ्खिन्यागतराजदन्तविवरं प्रान्तोर्ध्ववक्रेण यत् ।
संप्राप्तं हनुरन्ध्रमूलविधिना यच्चन्द्रतोयं मुखे
तत्सर्वं रविकालरूपसदने रक्षेत्परा सारणा ॥

कर्मान्तरेण परा सारणा कथ्यते

नृत्यन्नित्योर्ध्वजिह्वो यदि पिबति पुमान्वक्रधारामृतौघं
सुस्वादं शीतलाङ्गं दुरितभयहरं क्षुत्पिपासाविनाशि ।
पिण्डस्थैर्यं यदस्माद्भवति बत महामृत्युरोगा द्रवन्ते
दौर्भाग्यं याति नाशं हरति विषजरां याति काले भ्रमित्वा॥

सारणानन्तरं सारणा कथ्यते

जिह्वाग्रं त्वथ राजदन्तविवरं नीत्वा ततो घण्टिकां
संस्थाप्य प्रतिजिह्वपर्व शशिनो मार्गे कलां च क्षिपेत् ।
एवंसारणिके पतन्ति च सुधाधाराः पुनः षण्मुख-
गान्धाराप्यथ तत्कलापमथनं नाडीमुखोज्जृम्भणम् ॥

सारणानन्तरं प्रतिसारणा कथ्यते

प्राणवातेन नीत्वोर्ध्वं कोटरे चन्द्रजां कलाम् ।
मन्थितां दिव्यजातां च तेन गान्धारकर्मणा ॥

गान्धारानन्तरं प्रतिसारणा कथ्यते

नासापश्चिममार्गवाहपवनात्प्राणेऽतिदीर्घीकृते
चन्द्राम्बु प्रतिसारणां सुकृतिनः प्राग्घण्टिकायाः पथः ।
सिञ्चन्कालविशालवह्निवशगं भूत्वा स नाडीशतं
तत्कार्यं कुरुते पुनर्नवतनुं जीर्णद्रुमस्कन्धवत् ॥

प्रतिसारणानन्तरं शङ्खसारणा कथ्यते

प्रोत्क्षिप्तं वृषणस्य गोलकयुगं मध्ये ध्वजं प्रोद्धृजं
नित्योर्ध्वे बत शङ्खसारणविधौ वक्रं विधेयं निजम् ।

सर्वस्थानशरीरबन्धनवशात्स्कन्धोद्धृतानां यथा
नाडीनां मुखतः सुधानिधिजलं सिञ्चन्नधो गच्छति ॥

कर्मान्तरेण शङ्खसारणा कथ्यते

वृषणाकर्षणं कार्यमथवा शङ्खसारणा ।
बोधनं चैव कुण्डल्यास्तिष्ठेच्चैवोत्कटासनम् ॥

शङ्खसारणानन्तरं महासारणा कथ्यते

पश्चादासनशुद्धवातनिकरानादाय कण्ठव्रणात्
संस्थाप्या रविमण्डले तु भुजगी संभूतनाडीत्रयात् ।
देवी मध्यपथोदिता प्रकुरुते कम्पं ततो मूर्च्छनां
दूराकर्षणदर्शनं श्रुतिगणांश्चान्या महासारणा ॥

कर्मान्तरेण महासारणा कथ्यते

आधाराम्बुजकोशकन्दभुजगी संभूय नाडीत्रयात्
चन्द्रार्कोद्भवनाडिकोर्ध्वयुगलं चाद्वैतपथ्यागतम् ।
तत्रैवाङ्गुलिभिर्निपीड्य क्रमशः शान्ति मनो मारुतं
चन्द्रो याति रविं ततश्च भुवने तुल्या महासारणा ॥
सूर्यान्तः शशिवीचिदन्तवदन[ने]प्रान्तप्लवौघोरगी
संप्राप्ते पवनातिसङ्गहरणे क्षिप्रं ततो धाविता ।
श्रीमन्मध्यपथान्ततो विदधती कम्पादि कोपान्विता
तस्यैवाश्रययायिनोऽपि शशिनो दत्ता सुधा संमता ॥
आदौ शोषणिकोऽत्र सारणमतः कार्यं महासारणं
कर्तव्यं प्रतिसारणं च गुरुणा निर्दिष्टमार्गे क्रमात् ।
पश्चादेव च शङ्खसारणविधौ कार्यं महासारणं
संमूर्च्छा विततकृतिः प्रतिदिनं वेलात्रयं दीयताम् ॥

आकुञ्चयागजकामरूपमचलं बन्धत्वजातं तनौ
नात्यूर्ध्वे चतुरङ्गुलाग्रविदिते स्थाने हृदा प्राणिते ।
दन्तैर्बन्धुरिते च वातयुगले प्रश्लेषणाश्लेषणात्
नाभिग्रन्थिविमोक्षपातसहजे मार्गे मनःसिद्धयः ॥

दूराकारविसर्पिते च पवने नाभेश्च मार्गस्थिते
बन्धेषु त्रिषु सत्सु सोऽपि शिथिले मध्यप्रबोधे सति ।
क्षिप्रं च ध्रियते द्विपीठमरुतोऽप्यूर्ध्वक्रमाकर्षणे
संयुक्तो गतिचित्तशोषणमतः प्राप्येऽनिले तिष्ठति ॥

मूले मूलोर्ध्वचक्रे वृषणकुलतले वह्निमातङ्गकूले
कम्पक्षोभभ्रमाढ्ये ध्वनितपरिचयं घर्मपातोर्ध्वरोम ।
भूमित्यागं कवित्वं परपुरविशनं वश्यमाकर्षणं च
ह्येवं वा चेतनाप्ता प्रभवति निखिला खेचरत्वप्रतिष्ठा ॥

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च तत् ।
हृदये परमे धाम्नि मध्ये तु रविचन्द्रमाः ॥

नादं तु तं गृहीत्वा च चैतन्यं तत्र योजयेत् ।
द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च तत् ॥

शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ।
अन्यत्सर्वं परित्यज्य शब्दब्रह्म सदाभ्यसेत् ॥

स्वसंवेद्यमसंवेद्यं शब्दब्रह्म द्विधा स्थितम् ।
चिनोति प्रथमः शब्दश्चिञ्चिनोति द्वितीयकः ॥

विवरश्च तृतीयः स्याच्छङ्खशब्दश्चतुर्थकः ।
पञ्चमो मेघनिर्घोषः षष्ठमेतदुदीरणम् ॥

सप्तमं कांस्यतालाख्यं मेघशब्दस्तथाष्टमम् ।
नवमोऽप्यग्निदाहश्च दशमो दुन्दुभिस्वनः ॥
अनाहतनिनादोऽयं पवनान्तविनिर्गतः ।
ध्वनितेन विना यस्तु नादश्चैवमपण्डितः ॥
चिनोति रसमुद्धृत्य चिञ्चिनोति भगाश्रितम् ।
विरसांशेन संप्राप्तं मेघशब्देन चाविशेत् ॥
मज्जां पतति निर्घोषः संस्थितोदधिभीषणः ।
कांस्यताले नभःशब्दः प्राणमेघध्वनिः क्रमात् ॥
जीवश्चैवाग्निदाहः स्यान्मोक्षः समरसो भवेत् ।
विशुद्धमित्थमात्मानं पश्येत चात्मनात्मनि ॥
प्रथमे जनवात्सल्यं द्वितीये रोगनाशनम् ।
तृतीयेन कवित्वं च दूराकर्षं चतुर्थके ॥
पञ्चमे वाचि कामित्वं षष्ठे भूमिं परित्यजेत् ।
सप्तमे दूरमालोक्य चाष्टमे वज्रवद्भवेत् ॥
नवमे स्फुरते कायो दशमे सामरस्यकम् ।
पृथ्वीमध्ये भवेत्पृथ्वी चापामापस्तथैव च ॥
तेजोमध्ये भवेत्तेजो वायुर्वायौ प्रलीयते ।
आकाशे लीयते सर्वः सतत्त्वः पिण्डसंग्रहः ॥
अनाहतो दिवारात्रौ ध्वनते तु धनञ्जयः ।
तत्रारूढो यदा योगी प्राप्नुयात्परमं पदम् ॥

अयं प्रकृतिभेदः, पृथ्वी आपः तेजः वायुः आकाशश्च—इति शरीरे पञ्च गुणाः महाभूतानि

भवन्ति, तत्रैव तानि पञ्चविधानि भवन्ति। अस्थि मांसं त्वक् नाडी रोमाणि इति पञ्चगुणा पृथिवी। लालामूत्रास्तुनिःस्वेदप्रस्वेदाः—इति पञ्चगुणा आपः। क्षुधा तृष्णा निद्रा आलस्यं कान्तिश्च—इति पञ्चगुणं तेजः। धावनं वल्गनम् आकुञ्चनं प्रसारणं निरोधश्च—इति पञ्चगुणो वायुः। रागो द्वेषो लज्जा भयं मोहश्च—इति पञ्चगुण आकाशः—इति पञ्चगुणालङ्कृतानि पञ्चतत्त्वानि। शब्दः स्पर्शः रसः रूपं गन्धश्च—इति पञ्च भूतगुणाः। शृङ्गारादिनवनाट्यरसाः इति हास्यादिभावाः शृङ्गारादीनाम्। कटुक-तिक्त-कषायाम्लमधुर-लवणाश्च—इति षट् आस्वादाः। शुभमशुभं च—इति कर्मद्वयम्। प्राणापान-समानो-दान-व्याना, नाग-कूर्म-कृकर-देवदत्त-धनञ्जयाश्च—इति दश वाताः। इडा-पिङ्गला-सुषुम्ना-गान्धारी-हस्तिजिह्वा-यशस्विनी-पूषालम्बुसा-कुहू-शङ्खिनीप्रभृतयः द्वासप्ततिर्नाडीसहस्राणि। उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयाश्च—इति मार्गत्रयम्। अ-

स्थिसंचयं षष्ठ्यधिकं शतत्रयम् अस्त्यस्य प्राणेन संबन्धः । काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मानाहङ्काराश्च—इति सप्त बन्धनानि । विवेक-बोधसन्तोष-हर्ष-पुलक-क्षमोपशम-ध्यान-ज्ञानोत्सव-राग-वैराग्यानन्द-कम्प-मूर्च्छा-विकार-मनोवासनादीनि प्रकृतिस्वरूपाणि। रोम्णां कोटित्रयं सार्धं। वात-पित्त-श्लेष्माण – इति प्रकृतित्रयम्। वातः प्राणप्रकृतिः, पित्तं हुताशनोद्भूतं, श्लेष्मा निरोधात् भवति । त्वक् अस्रक् मांसं मेदः अस्थि मज्जा शुक्रं प्राणो जीवः शक्तिः – इति दश धातवः। घ्राणरन्ध्रद्वयं लोचनरन्ध्रद्वयं कर्णरन्ध्रद्वयं मुखरन्ध्रद्वयम् उत्सर्गरन्ध्रद्वयम्—इति दश द्वाराणि। अथ दशमद्वारं द्विविधं शुक्रमार्गममृतं, कालमार्गश्च – इति ब्रह्मदण्डमूले रविशशिमध्ये भगाकारमस्ति, तस्मादागतब्रह्मदण्डाश्रितं पश्चिमलिङ्गमस्ति, पश्चिमशब्देन स्थानमस्ति, तस्य मध्ये लिङ्गाकारमस्ति । अत्र पुरुषाणां रेतोमार्गः स्त्रीणां रजोमार्गः, सहैव तेन ब्रह्मदण्डरेखाश्रितपुष्पसमये सर्व-

व्यापकनाडीसमूहागतं कामिनीरजः स्रवति । तत्रैव कामविषहरनिरञ्जनानां संयोगं बीजपातात् आनन्दागमः प्रलयकाल-विषकालयोः कर्ता निरञ्जनश्च इति ।

शक्तित्रयविनिर्भिन्ने चित्ते बीजनिरञ्जनात् ।
वज्रपूजापदानन्दं यः करोति स मन्मथः ॥
चित्ते तृप्ते मनोमुक्तिरूर्ध्वमार्गाश्रितेऽनले ।
उदानचलितं रेतो मृत्युरेखाविषं विदुः ॥
चित्तमध्ये भवेद्यस्तु बालाग्रशतधाश्रये ।
नानाभावविनिर्मुक्तः स च प्रोक्तो निरञ्जनः ॥
निरञ्जनाश्रिता शक्तिः सूक्ष्मशक्त्या तयाश्रितम् ।
मनस्याश्रयतामेति ज्ञेयं शक्तित्रयं तु तत् ॥
शक्तित्रयोद्भवं बीजं बीजात्कामो विषं ततः ।
कामः सृष्टितया प्रोक्तो विषं मृत्युपदं भवेत् ॥

किं बहुना, काम-विषहर-निरञ्जनानां ब्रह्मदण्डमूलाङ्कुरे निवासः एभिर्यदमुखो [एभिर्यदा मुक्तिः स] मोक्षः भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनकार्यं नास्ति । अहो मूर्खता लोकस्य, केचिद्वदन्ति – शुभाशुभकर्मविच्छेदनं मोक्षः । केचिद्वदन्ति – वेदपाठाश्रितो मोक्षः । केचिद्वदन्ति – निरालम्बनलक्षणो मोक्षः । के-

चिद्वदन्ति – ध्यानकलाकरणसंबद्धप्रयोगसंभवेन रूपबिन्दुनादचैतन्यपिण्डाकाशलक्षणो मोक्षः । केचिद्वदन्ति – पूजापूजकमद्यमांसादिसुरतप्रसङ्गसानन्दलक्षणो मोक्षः । केचिद्वदन्ति – मूलकन्दोल्लासितकुण्डलिनीसंचारलक्षणो मोक्षः । केचिद्वदन्ति – सुसमदृष्टिनिपातलक्षणो मोक्षः, इत्येवंविधभावनाश्रितलक्षणो मोक्षो न भवति । अथ मोक्षपदं कथ्यते – यत्र सहजसमाधिक्रमेण मनसा मनः समालोक्यते स एव मोक्षः । कामविषहरस्थानं मानसोद्भवः मनोमध्ये कारणं कारणात् उत्पत्तिस्थितिप्रलयाः प्रवर्तन्ते । उक्तं च भगवता महेश्वरेण ।

'जीवन्मुक्तिपदे देवि चित्तं बीजनिरञ्जनम् ।
मृत्युमार्गस्थितो योगी ज्ञात्वा कर्म समभ्यसेत् ॥'

उम्मजन्त मरण हकारण मरणहजं मइ ।
अब सुजीवनमरण इसरण गतकन्दुनाबिहत इतासु॥

इति जीवन्मुक्तिपदम्, अनेन मार्गेण स्थिरत्वं भवति । अथाधारणकर्मोदितशङ्खिनीभेदव्यवस्थाव्याख्या – गुदमेढ्रान्तरे त्रिकोणत्रिधा-

वर्तभगमण्डलमुच्यते, तत्र आधारग्रन्थय एकद्वित्रयश्च इति, एकद्वित्रयाणां मध्ये ग्रन्थीनामुपान्तरे चतुष्पत्रं पद्मम् अधोमुखं तिष्ठति, तत्र कर्णिकामध्ये मृणालसूत्रपरिमाणा शङ्खावर्ता तत्र प्रवालाङ्कुरसन्निभा द्वित्रिनाडीभूता कुण्डलिनी शक्तिः चैतन्यबीजमुखं गत्वा सुप्ता ।

तत्र त्रिपथमध्ये तु सूक्ष्मीभूता व्यवस्थिता ।
ऊर्णातन्तुनिभाकारा गता सा नाभिमण्डलम् ॥
चतुरङ्गुलमानेनाप्यष्टधा कुटिलाकृतिः ।
स्फुरिता नाभिमध्ये तु शाखाशाखमनेकधा ॥
दशनाड्याश्रितं चक्रं नाभिमध्ये प्रकीर्तितम् ।
इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्ना च तृतीयका ॥
ऊर्ध्वमार्गास्थिता ह्येता बृहच्छाखावलम्बिताः ।
जयन्त्यलम्बुसा चैका बृहच्छाखावलम्बिनी ॥
प्रणीता सा ह्यनेकैस्तु ब्रह्मावर्तेन संस्थिता ।

ब्रह्मदण्डचक्रेणासौ कपालकर्परं यावत्, तस्मिन् कपालकर्परे चन्द्रमण्डलान्तर्गतं कपाललिङ्गं लम्पिकास्थानोर्ध्वेऽमृतधारामभिस्रवति, मस्तकमध्ये गर्भे तिष्ठति तदेवामृतं राजदन्तमये शङ्खिनी ब्रह्मदण्डतले दमयित्वा

स्रवति। एकं मुखरन्ध्रं राजदन्तान्तरे, एतदेव शङ्खिनीमुखं 'दशमद्वारम्' इत्युच्यते। यत्र च मूलभगमण्डलान्ते कुण्डलिनी शक्तिर्विनिर्गता तत्र वामभागोद्भवसोमनाडिका, दक्षिणभागोद्भवसूर्यनाडिका, चन्द्रो वामाङ्गव्यापकः, सूर्यो दक्षिणाङ्गव्यापकः, चन्द्रो वामाङ्गे वामनासापुटं, सूर्यो दक्षिणाङ्गे दक्षिणनासापुटम्—इत्येवं सूर्यचन्द्रौ व्यवस्थितौ। यत्र मूलकन्दे पवनोदयः, मनस उदयः, तपनोदयः, जीवोदयः, शब्दोदयः, मातृकाक्षरोदयश्च—इति। मनोमध्ये निद्राविषयम् इच्छाकार्यो निरञ्जनः परमात्मा।

मूलकन्दोद्यतो वायुः सोमसूर्यपथोद्भवः।
शक्त्याधारास्थितो याति ब्रह्मदण्डकभेदकः॥
मूलकन्दे तु या शक्तिः कुण्डलाकाररूपिणी।
उद्गमावर्तवातोऽयं प्राण इत्युच्यते बुधैः॥
कन्ददण्डेन चोद्दण्डैर्भ्रामिता या भुजङ्गिनी।
मूर्च्छिता सा शिवं वेत्ति प्राणैरेवं व्यवस्थिता॥

जन्मावस्थानादधो लिङ्गः स चाधारकन्दजातिमध्यस्थितो गुह्य ऊर्ध्वे भवति, तस्योर्ध्वे

लिङ्गस्थानं स्वाधिष्ठानं नाभिमण्डले मणिपूरकस्योर्ध्वभागेऽनलकः तेनोद्दण्डकाद्यं समागच्छति, अधःप्रदेशे मणिपूरकस्य दक्षिणपश्चिमवर्ति अमेध्यस्थानम्, मध्ये नाभेःकन्दः, तत्र पद्माकृतिः, तत्र शरीरनाडीनामाधारः कथ्यते, हृदये पृथिवीतत्त्वं पीतवर्णं, मध्ये कदम्बगोलकाकृति, तत्र चित्तविश्रान्तिस्थानं तदेव अनलचक्रम्, कण्ठे चोदकप्रवाहपूर्णमात्मतत्त्वं तत् विशुद्धिस्थानम्, तालुमध्ये दीपशिखाकारः सदोद्द्योतः तत्तेजस्तत्त्वम्, कपालकन्दराङ्कुरे वायुतत्त्वम्, नासाग्रे आकाशतत्त्वम्, तस्योर्ध्वे आज्ञास्थानम्, आज्ञास्थानान्तरे ग्रन्थिषोडशान्तरे अमृता षोडशी कला, तदन्तरे वालाग्रशतधाश्रया अन्ते तस्योर्ध्वे कलान्ते बिन्दुः, बिन्दुभेदादनन्तरं शृंगाटकाकृतिर्मस्तकस्योद्देशः, तस्मिन् चित्तलयस्थानम्, चित्तस्य शरीरबन्धनाद्धयोपेतस्त्रैलोक्यविहारः, तस्याश्रिता ज्ञानशक्तिः, एवं शक्तित्रयालंकृतश्चिद्दर्पणप्रतिबिम्बः समो विविधभावकलाक-

लितः संसारचेष्टावलोकनकुशलः सुप्तावस्थायां रूपी जलचन्द्रवत् दृश्यते यः स परमात्मा सर्वव्यापी महेश्वरः चतुर्दशविधभूतग्रामकर्ता च इति, सोऽयं परमात्मा ॥

इति श्रीगोरक्षनाथविरचितं परमरहस्योपदेशमहाज्ञान-
ममरौघशासनं संपूर्णम् ॥

सद्विद्यानां संश्रये ग्रन्थविद्वद्-
व्यूहे ह्रासं कालवृत्त्योपयाते ।
तत्तत्सद्धर्मोद्दिधीर्षैकतान-
सत्प्रेक्षौजःशालिना कर्मवृत्त्यै ॥ १ ॥
श्रीमत्कश्मीराधिराजेन मुख्यै-
र्धर्मोद्युक्तैर्मन्त्रिभिः स्वैर्विवेच्य ।
प्रत्यष्ठापि ज्ञानविज्ञानगर्भ-
ग्रन्थोद्धृत्यै मुख्यकार्यालयो यः ॥ २ ॥
तत्राजीवं निर्विशद्भिर्मुकुन्द-
रामाध्यक्षत्वाश्रितैः सद्भिरेषः ।
पूर्त्या शुद्ध्या व्याख्यया संस्कृतः स्तात्
पूर्णो ग्रन्थः श्रेयसे सज्जनानाम् ॥ ३ ॥
(तिलकम्)

श्रीमदमरेशशिवार्पणं भूयात् ।

अध्याय–द्वितीय

गोरखनाथ

व्यक्तित्व एवं कृतित्व

अध्याय–द्वितीय

गोरखनाथ : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

गोरखनाथ का व्यक्तित्व

गोरखनाथ नाथ सम्प्रदाय के प्रवर्तक के रुप में हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं। परन्तु इनके नाम के विषय में अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ हैं। कोई इन्हें गोरक्षनाथ कहता है तो कोई गोरखनाथ। साधारण तौर पर इनका प्रचलित नाम गोरखनाथ ही है। गोरक्ष या गोरखनाथ अपने युग के सबसे महान् धर्मनेता थे। उनकी संगठनशक्ति–अपूर्व थी। जिस युग में इनका प्रादुर्भाव हुआ उस समय भारतीय धर्म साधना की विचित्र अवस्था थी। शुद्ध जीवन सात्विक वृत्ति और अखण्ड ब्रह्मचर्य उन दिनों अपनी न्यूनतम सीमा तक पहुँच चुकी थी। गोरखनाथ ने साधु और गृहस्थ दोनो की कुरीतियों की आलोचना की। लोक जीवन में जो धार्मिक चेतना पूर्ववर्ती सिद्धो से आकर अपने पारमार्थिक उद्देश्यों से विमुख हो रही थी, उसे गोरखनाथ ने नई जीवन शक्ति से अनुप्राणित किया। उन्होंने तत्कालीन प्रचलित समस्त साधना पद्धतियों में उचित समन्वय किया। वे ज्ञान के उपासक थे उनके द्वारा उपदिष्ट वाक्य साधना के स्वर हैं।

गोरक्ष–रचित कही जाने वाली रचनाओं में गोरखनाथ के विभिन्न नामों के दर्शन होते हैं। लामा तारानाथ उन्हें बौद्ध–रुप में अनंगवज्र एवं हरप्रसाद शास्त्री जी रमणवज्र के नाम से भी परिचित कराते हैं, पर गोरखनाथ जी मूलतः शैव है। बौद्धों की सूची में उनका नाम परिगणित होना उनके महिमाशाली व्यक्तित्व का ही द्योतक है। नाथ योगियों एवं परवर्ती बौद्धों में जो साम्य दृष्टिगत होता है वह तंत्र प्रभाव के नाते हैं। गोरखनाथ

की सारग्राही दृष्टि ने तत्कालीन सभी साधन सम्प्रदायों के सार्थक एवं उपयोगी तत्वों को संग्रहीभूत कर एक ऐसे योगपरक मार्ग का प्रवर्तन किया जिसमें साधन की पवित्रता, चरित्र की परमोच्चता, संयमपूर्ण जीवन की शक्तिमत्ता एवं आडम्बर–रहित जीवन की महिमा का उद्घोष था।

नाथ योगियों में यह परम्परा रही हैं कि दीक्षा–ग्रहण के समय उनकी बाल्यावस्था का नाम महत्वहीन समझ गुरु स्वेच्छा से किसी अन्य नाम से शिष्य को सम्बोधित करता था। वही नाम लोक विद्युत हो जाता था। नाथ सिद्ध अपना पारिवारिक परिचय गोपनीय रखते थे। वंश परम्परागत लौकिक बन्धनो को सर्वथा त्याग कर 'आत्मतत् सर्वभूतेषु' की भावना को साकार करने का आदर्श उनके सम्मुख था। गोरखनाथ का यह नामकरण वंशपरम्परागत था अथवा दीक्षागत, यह कहना कठिन है, पर उनका यह 'गोरक्षनाथ' नाम सार्थक अवश्य था। 'गोरक्ष' शब्द प्रायः दो अर्थो में गृहीत है–गौ–रक्षक एवं इन्द्रिय–रक्षक। गोरक्षनाथ का अपनी इन्द्रियों पर पूर्ण नियन्त्रण था, यह विषय तो निर्विवाद है, साथ ही गोरक्ष अथवा गोसेवक के रुप में भी उनके व्यक्तित्व का भी परिचय मिल जाता है अनेक किबदन्तियाँ गोरक्षनाथ के गोपालक रुप से सम्बद्ध है। नेपाल स्थित काठमाण्डू नगर की मृगस्थली गोरक्षनाथ की तपो भूमी बतायी जाती है। अनुश्रुति है कि नेपाल (काठमाण्डू) में द्रव्यनारायण शाह गायों की सेवा किया करते थे। उन्हें उपकृत करने के लक्ष्य से गोरक्षनाथ ने उनसे दुग्ध की भिक्षा ग्रहण की और उन्हे नेपाल का राज्य हस्तगत कराया काठमाण्डू स्थित मृगस्थली के सन्निकट का क्षेत्र आज भी 'गोशाला' नाम से सम्बोधित किया जाता है। नेपाल में 'गोबध' घोरतम अपराध माना जाता है। वप्पा रावल के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार की कहानियाँ मिलती हैं। गोसेवक के रुप में वप्पा को गोरक्षनाथ ने कृतार्थ किया था। योगी सम्प्रदाय विष्कृति में उल्लेख है कि गोरखनाथ दीक्षाग्रहण करने से पूर्व स्वयं गोपालकों के साथ गायों की देखभाल के लिए वन मे जाया करते थे। नाथयोगी वर्तमान समय मे भी गायों को मातृवत सम्मान देते हैं। नाथ मठो एवं मन्दिरो में ऐसी

व्यवस्था है कि गौ के लिए नियमित रुप से ग्रास (भोजन का अन्न) निकाल कर आदर के साथ उसे ग्रहण कराया जाता हैं।

व्यक्ति और व्यक्तित्व के अनुरुप ही गोरक्षनाथ की उत्पत्ति भी दो रुपों में देखी गयी है। व्यक्तित्व के रुप में गोरक्षनाथ शिवावतार है। महाकाल योग शास्त्र में शिव ने स्वयं स्वीकार किया है कि मै 'योगमार्ग का प्रचारक गोरक्ष हूँ हठयोग प्रदीपिका में उल्लेख है कि आदिनाथ शिव ने योग–मार्ग के प्रचारार्थ गोरक्ष का रुप ग्रहण किया था। 'गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह' मे गोरक्षनाथ को ईश्वर संतान कहा गया है। बंगीय काव्य 'गोरक्ष–विजय' के अनुसार गोरक्षनाथ महादेव जी की जटा से प्रकट हुए।[1] नेपाल दरबार ग्रंथालय में प्राप्त 'गोरक्ष सहस्रनाम' से ज्ञात होता है कि गोरक्षनाथ दक्षिण मे बड़ब नामक देश में महामन्त्र के प्रसाद से प्रकट हुए थे।[2] 'तहकीकाक चिश्ती' नामक पुस्तक मे उल्लेख है कि शिव के एक भक्त ने सन्तानोत्पत्ति की इच्छा से शिव–धूनी से भस्म प्राप्त कर अपनी पत्नी को ग्रहण करने के लिए दिया पर लोक–लज्जा के भय से उस स्त्री ने उस भस्म को घूर में डाल दिया। वह भस्म व्यर्थ न गया और उसी स्थान पर एक होनहार बालक उत्पन्न हुआ। शिव ने उसका नाम गोरक्ष रखा।[3] वर्तमान समय में भी गोरक्षनाथ को नाथ योगी लोग 'शिव–गोरक्ष' के रुप में ही मान्यता देते है। 'योग सम्प्रदाय विष्कृति' में भी इसी प्रकार का उल्लेख हुआ है। यहाँ गोरक्षनाथ की उत्पत्ति मत्स्येन्द्रनाथ जी की कृपा से बतायी गयी है। कहा गया है कि मत्स्येन्द्रनाथ जी ने एक सदाचार निष्ठ ब्राह्मण दम्पत्ति सुराज एवं सरस्वती को जो निःसंतान थे, पुत्र प्राप्ति कराने की इच्छा से भस्म प्रदान किया उन्ही से गोरक्षनाथ अविर्भूत हुए।[4]

व्यक्ति के रुप में गोरक्षनाथ के माता–पिता अथवा जन्म स्थान के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद दृष्टिगत होता है। महार्थमंजरी के त्रिवेन्द्रम संस्करण से ज्ञात होता है कि वे चोल देश के निवासी थे। उनके पिता का नाम माधव और गुरु का नाम महाप्रकाश था। अवध की परम्परा में

गोरक्षनाथ जायस नगर के एक पवित्र ब्राह्मण कुल में उत्पन्न माने जाते हैं।[5] ब्रिग्स ने गोरक्ष को पंजाब का मूल निवासी बताया है।[6] ग्रियर्सन ने उनका पश्चिमी हिमालय का निवासी होना स्वीकार किया है तो डॉ० मोहनसिंह पेशावर के निकट रावलपिण्डी जिले के एक ग्राम 'गोरखपुर' को उनकी मातृभूमि बताते है।

डॉ० रांगेयराघव का मत है कि गोरखनाथ का जन्मस्थान पेशावर का उत्तर–पश्चिमी पंजाब है।[7] पं० परशुराम चतुर्वेदी का अनुमान है कि गोरख का जन्म पश्चिमी भारत अथवा पंजाब प्रान्त के किसी स्थान में हुआ था और उनका कार्य–क्षेत्र नेपाल, उत्तरी भारत आसाम, महाराष्ट्र एवं सिन्ध तक फैला हुआ था।[8] नेपाल पुस्तकालय से उपलब्ध ग्रन्थ "योगिसाम्प्रदायविष्कृति" के अनुसार गोरक्ष की जन्मभूमि गोदावरी नदी के तट पर स्थित 'चन्द्रगिरि' नामक स्थान है। डॉ० अशोक प्रभाकर का मत है कि महाराष्ट्र मे त्रियादेश की स्थापना बताकर तथा नाथपंथ की कतिपय गुफाओं व प्रतीकों को आधार बनाकर गोरक्षनाथ की जन्मभूमि महाराष्ट्र–स्थित 'चन्द्रगिरि' को बताते है।[9] पर ऐतिहासिक तथ्यों का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि गोरक्षनाथ को 10वीं शताब्दी में उत्तरभारत में ही विशाल संगठन करने की आवश्यकता पड़ी थी। मुस्लिम आक्रमण ने उत्तर भारत को ही अपना लक्ष्य बनाया था। दक्षिण में कर्नाटक कोणार्क आदि के मन्दिर अब भी अपनी संस्कृति और कला के परिचायक है। सम्भव है उत्तर भारत के संगठनकर्ता गोरक्षनाथ उत्तर भारत के ही रहे हों उत्तर भारत के साधना सम्बन्धी अनेक मठ–मन्दिरो को उनकी तपोभूमि के रुप में पहचाना जाता है। यह अन्य बात है कि स्वधर्म प्रचारार्थ उन्हें महाराष्ट्र, गुजरात आदि प्रान्तों में भी जाना पड़ा हो। अक्षयकुमार बनर्जी का मत है कि मत्स्येन्द्र गोरक्ष आदि ने सर्वप्रथम हिमालय प्रदेश–नेपाल, तिब्बत आदि देशों में अपनी योग साधना आरम्भ की और सम्भवतः इन्हीं स्थानो में वे प्रथम देव सदृश पूजे गये। उनका स्थान देवाधिदेव पशुपतिनाथ शिव को छोड़कर अन्य सभी देवताओं से ऊँचा था उन्ही स्थानो में मत्स्येन्द्र–गोरक्ष से सम्बन्धित अनेक जनश्रुतियाँ भी प्रचलित

हैं। तिब्बत व नेपाल के क्षेत्र से ही योग साधना का आन्दोलन पूर्व में काम–रुप (आसाम) बंगाल, मनीपुर तथा निकटवर्ती क्षेत्रो में फैला। पश्चिम में कश्मीर, पंजाब पश्चिमोत्तर प्रदेश, यहाँ तक कि काबुल और फारस तक पहुँचा उत्तर प्रदेश हिमालय के समीप होने के कारण अधिक प्रभावित हुआ। दक्षिण पश्चिम और दक्षिण पूर्व में भी गोरखनाथ तथा अन्यान्न नाथ योगियों की शिक्षाएं तथा उनकी आश्चर्यजनक शक्ति सम्बन्धी कहानियाँ प्रचार पाती रही जो धीरं–धीरे धार्मिक देश के कोने–कोने में फैल गयीं।

गोरक्षनाथ की जाति के सम्बन्ध में भी प्रायः विद्वान एक मत नहीं हैं 'दविस्तान' के लेखक ने गोरक्ष को मोहम्मद का पालक पिता एवं शिक्षा–गुरु स्वीकार किया है तथा गोरक्ष का मुस्लिम नाम 'रीन हाजी' बताया है सिन्ध–प्रदेश में गोरक्षनाथ जामिलशाह नाम से परीचत कराये जाते हैं।[10] आसामी परम्परा उन्हे जुलाहा जाति का होना बताती है।[11] जायस की परम्परा गोरक्ष को ब्राह्मण कुलोत्पन्न होने का संकेत देती है। गोरक्षनाथ स्वयं को 'अतिवर्णाश्रमी' कहकर सम्बोधित करते हैं। वास्तव में गोरक्षनाथ से पूर्व भी योगियों के चमत्कारो का जाल सर्वत्र छाया हुआ था। बंगाल के योगियों के कुछ गोत्र यह प्रकट करते हैं कि गोरखनाथ से पूर्व कुछ योगी हो चुके थे जिनमें काश्यप, आदिनाथ, अनादि, बतुक,वीरभैरव, मत्स्येन्द्र, मीन सत्य आदि के नाम लिये जा सकते हैं।[12] श्री मजुमदार का मत है कि योगी जाति चिरकाल के आर्यभावी श्रेष्ठ ब्राह्मण जाति के समकक्षस्थान पाती रही। अतः प्राचीनतम् पुराणों अथवा स्मृतियो आदि में इस जाति का स्वतंत्र उल्लेख नहीं हुआ है। प्राचीन भारत में ब्राह्मण जाति से भिन्न कोई जाति योग–साधना नहीं करती थी[13] हैमिल्टन का मत है कि सेन राजाओं की कुदृष्टि परिणामस्वरुप नाथ योगी हिन्दू समाज में हीन समझे जाने लगे। नाथ मतानुयायियों में मुसलमान लोग भी शामिल हुए। डॉ० उपाध्याय का मत है कि नाथ योगी जन वर्ण–व्यवस्था के विरोधी होने के कारण हिन्दू जाति के लोगो से तथा इस्लामेतर धर्मावलम्बी होने के नाते मुस्लिम वर्ग के द्वारा हेय दृष्टि से देखे जाने लगे[14] हर प्रसाद ने 'प्रवासी' नामक पत्रिका

में एक उदाहरण प्रस्तुत करते हुए बताया है कि अभी कुछ दिन पहले जो शैव, कौल, बौद्ध योगीगण भारत के बाहर भारत का गौरव–प्रचार कर रहे थे उनको हम लोग 'युगी' कहकर घृणा करते हैं।[15] डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी नाथ योगियो को बंगाल की 'युगी' जाति से सम्बद्ध बताते हैं। जी०एस० घुरे का मत है कि धार्मिक आन्दोलनों के परिणाम स्वरुप अनेक प्रकार की जातियाँ एवं वर्ग उत्पन्न हो गये जो पहले साम्प्रदायिक व धार्मिक समूह के रुप मे ही थे।[16] वस्तुतः योगी परम्परा के लोग ही आगे चलकर 'युगी' जाति के रुप में आबद्ध जान पड़ते हैं। उच्चवर्गीय समाज द्वारा इन्हे उपेक्षा का ही भाव मिला पर इसका अर्थ यह नहीं कि योगी जनो में उच्च वर्ग के लोग थे ही नहीं। वर्ग भेद को अमान्य घोषित करने वाले इन योगियों में निश्चय ही उच्च व्यक्तित्व एवं प्रतिभाशाली साधक थे। गोरखनाथ सम्भवतः इसी परम्परा के सफल साधक थे– गोरखनाथ का तात्विक स्वरुप तो अलौकिक है ही, पर एक व्यक्ति के रूप में भी इनका व्यक्तित्व मध्ययुगीन साधकों में अखिल भारतीय है। मध्यकाल में विकृत होती हुई भारतीय साधनाओं के स्वरुप तत्वों को आत्मसात कर योगी–गुरु गोरखनाथ ने नाथ योग को नयी शक्ति प्रदान की थी। बौद्ध धर्म की तांत्रिक परिणति एवं–तन्त्र साधना में वाममार्गीय प्रवृत्तियों के प्रवेश के बाद भारतीय साधना क्षेत्र में विकृतियाँ आ गयी थी। साधना के नाम पर साधक अनेक प्रकार के कुत्सित यौन–आचारों में प्रवृत्त हो जाते थे। मद्य–माँस, मैथुन आदि का सेवन साधना का अंग बन गया था। इस विकृति से साधको को मुक्त करते हुए गोरखनाथ जी ने नाथ–योगियों को राष्ट्र की नैतिक शक्ति के रूप में अखिल भारतीय स्तर पर पुनः संगठित करने का अभूतपूर्व कार्य किया।

उनके व्यक्तित्व में निर्भीकता, मस्ती एवं अक्खड़पन समाहित है। उन्होंने न केवल वज्रयानी सिद्धों द्वारा अनुमोदित साधनाओं के बदले अपने काया–साधन प्रधान संयत जीवन को ही प्रतिष्ठित किया अपितु विधिध तांत्रिक शैव सम्प्रदायों के भीतर लक्षित होने वाली अनेक विड़म्बनाओं की

निःसारता सिद्ध करते हुए उनमें अपने ढंग की समन्वयात्मक चेतना जागृत करने में कोई कमी नहीं आने दी आचरण की शुद्धता के साथ–साथ जॉति–पॉति की निःसारता, बाह्यचार एवं तद्मूलक श्रेष्ठता के प्रति फटकार की भावना गोरक्षनाथ में लक्ष्य की जा सकती है–

मूरिष सभा न बैसिवा अवधू,

पंड़ित सौ न करिवा वादं।

राजा संग्रामे झूझ न करवा,

हेले न षोड्या नादं।।

गोरखनाथ ने योगी–जीवन को वाद–विवाद से परे देखने का प्रयास किया। उन्होंने योगी के लिए 'षिमा' ही 'घडाषण' और 'ग्यान' ही 'अधारी' बताया। कार्य की सात्विकता और झूठ के महापाप के प्रति गोरक्ष ने चेतावनी दी है–

'जैसा करै सो तैसा पाय'
'झूँठ बोलै सो महापापी।[17]

गोरक्षनाथ का जीवन उदात्त था, जिनमें सत्याचरण, ईमानदारी एवं कथनी–करनी का मेल था योग को उन्होंने 'दया दान का मूल' कहा। 'सहजशील' का शरीर धारण करने का उपदेश दिया। उनका चरित्र बहुमुखी था। बालको से उन्हें स्नेह था स्त्री को उन्होंने माता के रूप में देखा। युवती स्त्रियों को गृहस्थ धर्म में लीन एक पतिव्रता के रूप में देखना चाहते थे। सामान्य जनों को संयमित जीवन व्यतीत करने का मध्य मार्ग ग्रहण करने का तथा शीलाचरण का आदेश गोरक्षनाथ ने दिया है–

हबकि न बोलिबा ठबकि न चलिबा धीरे धरिबा पावं।
गरब न करिबा सहजै रहिबा भणत गोरष रावं।।

सिद्धों के यहाँ कामिनी का बड़ा महत्व था, वही उनकी योगिनी हुआ करती थी। गोरक्ष को स्त्री के कामिनी रुप से अपार घृणा थी। अतः

उन्होंने बिन्दू–रक्षा तथा अखण्ड ब्रह्मचर्य पर अधिक बल दिया। कंचन और कामिनि को सर्वथा त्याज्य समझा बंशीय काव्य 'गोरख विजय' में उल्लेख है कि महादेव से अनुमति ले देवी ने सभी सिद्धों की परीक्षा ली। उनकी विकट परीक्षा में गोरखनाथ ही खरे उतरे।[18] पांडित्य को उन्होंने कभी महत्व नहीं दिया, पर उनकी 'अमरोघशा सनम्' एवं 'महार्थमंजरी' जैसी कृतियाँ उन्हें भारतीय दर्शनों का एक अच्छा ज्ञाता होने का संकेत देती है। गोरक्ष ने हिन्दुओं के 'वेद' ओर मुसलमानों के 'कतेब' का समन्वय करने का प्रयास किया जिस 'परमपद' का ध्यान योगी करता है वह हिन्दू–मुस्लिम संकीर्णता से ऊपर हैं अतः अन्य सम्प्रदायों के लिए इसमें पर्याप्त आकर्षण था। गोरक्ष–प्रवर्तित पंथ में अनेकानेक सम्प्रदायों का अन्तर्भुक्त हो जाना उसकी लोक प्रियता का ही परिचायक है। भारत की यह प्राचीन परम्परा रही है कि गुरु के बिना ज्ञान तथा ज्ञान के बिना जीवन व साधना में सफलता नहीं मिल सकती। नाथ–योग में गुरु की प्राप्ति योग– साधना का प्राण है आपा भजिबा सतगुरु खोजिबा जोग पंथ न करिबा हेला।[19] गुरु के अभाव में ज्ञान की प्राप्ति सम्भव नहीं 'गुरु बिन ग्यान न पायला रे भाई ला।[20]

मद्य–मांस के निषेध पर गोरखनाथ ने स्पष्ट रूप से कहा है–

जोगी होई न निद्या झषै भाद मांस अरु
भागि जो भषै।
इको तरसै पुरिया नरकहि जाई।
सति सति भाषंत श्री गोरषराई।।

व्यवस्था के कुचालों को दूर करने के लिए उन्हें कहना पड़ा था।[21]

बड़े–बड़े कूल मोटे–मोटे पेट,
नहीं रे पूता गुरु सौं भेंट।

गोरक्षनाथ के अलौकिक एवं महिमामय व्यक्तित्व से जुड़ी हुई अनेक गाथायें भारतवर्ष के प्रत्येक प्रान्त में प्रचलित है। उनके व्यक्ति की महानता

ने ही उन्हें देवत्व तक पहुँचा दिया। मन के सम्बन्ध में विचार करते हुए कबीर ने उन्हें गोविन्द के स्तर पर महत्व दिया–

'मन गोरख मन गोविन्दौ, मन ही औघड़ होई, तो जायसी ने मुक्तकण्ठ से यह स्वीकार किया कि योगी तभी सिद्ध हो सकता है जब उसकी भेंट गोरखनाथ से हो–

जोगी सिद्ध होई तब, जब गोरक्षसौं भेंट।[22]

गोरखनाथ की सुन्दरता के विषय में प्रसिद्ध है कि इन्हे विजित करना स्त्रियों के लिए स्पर्धा का विषय था तथा जब ये स्त्री वेश में कदलीवन गये तो स्त्रियों ने इनकी सुन्दरता को देखकर इन्हे मत्स्येन्द्रनाथ से मिलने नहीं दिया परन्तु अपने सौन्दर्य के प्रति इन्हे कोई आसक्ति नहीं थी क्योकि वह उसे असत्य समझते थे।

डॉ० रांगेय राघव के अनुसार इनका चरित्र बहुमुखी था और प्रायः कहीं भी वे निर्बल नहीं थे[23] स्त्रियों के प्रति उनके हृदय में श्रद्धा थी तथा उन्हें माता के समान आदर देते थे। इनका काव्य योगपंथ में डूबा हुआ है तथापि उसमें अनेक उत्कृष्ट स्थल भी है। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इन के चरित्र की विशेषताओं के आधार पर इन्हें शंकराचार्य के बाद दूसरा महिमाशाली व्यक्तित्व वाला महापुरुष घोषित किया है क्योकि जिस समय भारतवर्षीय धर्म सम्प्रदायो में वामाचार, पंचमकार के परम परिशुद्ध और साधनों का दुरुपयोग और कुरुपोप स्थापन होने लगा और उसे मनुष्य की विगर्हित वासनाओं की पुर्ति का साधन समझा जाने लगा था, उस समय साधना की पवित्रता, चरित्र की परमोच्चता, संयमपूर्ण जीवन की शक्ति मत्ता और आडम्बर रहित जीवन की महिमा का उद्घोष इन्होनें ही किया था।

महायोगी गोरखनाथ का व्यक्तित्वदर्शन साक्षात् नाथयोग का स्वरुप दर्शन है। नाथ सम्प्रदायगत परम्परा और अनुश्रुति के अनुसार अभिनवशिव गोरखनाथ जी को चारो युगो में विद्यमान कहा गया है। इस तरह उनका देहसिद्ध अथवा अमर होना युक्तिसंगत ठहराया जाता है।

महामति बिग्स ने अपनी 'गोरखनाथ' एण्ड दि कनफटा योगीज पुस्तक में एक ऐसी ही परम्परा के उल्लेख में यह निरुपित किया है कि गोरखनाथ जी सत्युग में पंजाब में प्रकट हुए। त्रेतायुग में वे गोरखपुर में अधिष्ठित थे, द्वापर में वे द्वारिका (हरमुज) में थे और कलियुग में उनका प्राकट्य सौराष्ट्र में काठियाबाड़ के गोरखमढ़ी स्थान में हुआ। इसका तात्पर्य यह है कि गोरखनाथ जी अमर है और चारो युगो को अपनी योगसिद्धि से उन्होनें कृतार्थ और प्रभावित किया है। उपर्युक्त स्थल उनकी तपः स्थली है समाधि नहीं।

नाथ–सम्प्रदाय की प्राचीनता और गोरखनाथजी की अयोनिज उत्पत्ति का एक अनुश्रुति से पता चलता है। इसमें कहा गया है कि जब विष्णु कमल में प्रकट हुए तब गोरखनाथ जी पाताल में तपस्या कर रहे थे। सृष्टि–कार्य के लिये उन्होने अपनी धूनी से विभूति दी, क्योकि विष्णु चारो ओर जल–ही–जल की समस्या से चिन्तित थे। सृष्टि कार्य सुगम हो गया। बिग्स महोदय ने अपने ग्रन्थ में (गोरखनाथ एण्ड दि कनफटा योगीज में पृ० 228 पर) इस अनुश्रुति का उल्लेख किया है गोरखनाथ जी की उत्पत्ति की कथा फैजुल्ला–रचित 'गोरख विजय' बंगला काव्य मे भी वर्णित है जिसमे उनके अयोनिज स्वरुप प्राकट्य पर प्रकाश पड़ता है इसमें कहा गया है कि शिव की नाभि से मत्स्येन्द्रनाथ, हाड़ से हाड़िपा, कान से कानपा (ललाट) से गोरखनाथ की उत्पत्ति हुई।

> **नाभि से जन्मिल मीन गुरु मच्छन्दर साक्षाते सिद्धारवेश धरे कलेवर। हाड़इते हाड़िफा जन्मिया निकलिल, सर्वाग सिद्धारवेश ताइते आछिल। कर्ण हइते जन्मिल कानफा जुगाइ अति खरतर हइल सिधाइ। जटा भेद निकलिल जति गोरखनाथ।।**

यद्यपि यह बंगीय कथा एक रुपक मात्र है तथापि लोकमानस में ये चारों नाथसिद्ध अयोनिज हैं। ऐसे तो गोरखनाथजी साक्षात् शिव स्वरूप

ही हैं, पर उन्होंने समय–समय पर भारत के विभिन्न स्थानों में तपस्या की, जिसका प्रामाणिक विवरण जोधपुराधीश महाराज मानसिंह द्वारा संग्रहीत 'श्रीनाथतीर्थावलीग्रन्थ' में यथाक्रम उपलब्ध होता है। सौराष्ट्र पंजाब, उत्तराखंण्ड में हिमालय के अनेक स्थान में, कर्नाटक तथा बंगाल आदि में उनके साधनापीठ–योगकेन्द्र विद्यमान हैं, उत्तर प्रदेश का प्रसिद्ध नगर गोरखपुर तो उन्हीं के नाम से गौरवान्वित है और यह नगर उनकी तपः–स्थली है। मत्स्येन्द्रनाथजी के सन्मार्गदर्शन में उन्होने कठोर तप का पवित्र आचरण अपनाया। मत्स्येन्द्रनाथजी ने कहा कि अपने आप को देखना चाहिये और अनन्त ऐश्वर्य, माधुर्य और सौन्दर्य से सम्पन्न चिन्मय शिव तत्व का विचार करना चाहिये आत्मज्ञान की प्राप्ति से ही चेतना का रहस्य जाना जाता है। परम ज्योति– परब्रम्ह परमात्मा में ही जीव सदा निवास करता है। शिव और शक्ति की कृपा–प्राप्ति ही योगी की पूर्ण सिद्धि है। गोरखनाथजी ने अपने गुरु मत्स्येन्द्रनाथ जी के योगसिद्धान्त और उपदेशों के अनुरुप ही अपना जीवन परिष्कृत किया उन्होंने माया पर विजय पायी, सांसारिक जीवन के बंधन से अपने आप को मुक्त कर अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया। उन्होने आशा तृष्णा और इच्छा का परित्याग कर दिया। देवलोक की अप्सराओं मृत्युलोक की नवरमणियों और पाताल की नागकन्याओ को उन्होनें विस्मरण कर दिया। वे पहाड़ी गुफाओं और सघन वनों में तथा हिमालय की शीतल निर्जन कन्दराओ में तप करने लगे। उन्होने उस जीवात्मा के स्वरुप की गहरी खोज की, जो जगत में शरीर के साथ आता है और उसका त्याग कर चला जाता है। उन्होने अनुभव व्यक्त किया।

आवै संगै जाइ अकेला।

ताथैं गोरख राम रमेला। काया हंस संगि है आवा।

जाता जोगी किन हूँ न पावा।

जीवन जग में मूवा मसाणं। प्राण पुरिस कत कीया पयाणं।

जामण मरणां बहुरि वियोगी। ताथैं गोरख भैला जोगी[25]

जीव के स्वरुप का परिज्ञान प्राप्त कर गोरखनाथ ने योगी का स्वरुप अपनाया। उन्होंने प्राणपुरुष का अन्वेषण कर जगत में जन्म–मरण के बन्धन से छूटने का रास्ता समझ लिया। उनकी वाणी है कि ज्ञान ही सबसे बड़ा गुरु है, चित्त ही सबसे बड़ा चेला है। ज्ञान और चित्त का योग सिद्ध कर जीव को जगत में अकेला रहना चाहिये। यही श्रेय अथवा आत्मकल्याण का पथ है।

ग्यांन सरीखा गुरु न मिलिया, चित्त सरीखा चेला।
मन सरीखा मेलू न मिलिया, तीर्थे गोरख फिरै अकेला।।[26]

महायोगी गोरखनाथ को एकान्त वास का जीवन परम प्रिय था। उन्होने घट–घट में अपने आप को ही व्याप्त पाया। मत्स्येन्द्रनाथ के प्रसाद से उन्हे कैवल्य पद–स्वरुपावस्थान ही प्राप्ति हुई वे निन्दा–स्तुति से ऊपर उठ गये और उनकी समस्त वृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो गयी। उन्होने आत्मसाक्षात्कार की भाषा में कहा कि मैने पिण्ड में ब्रह्माण्ड को ढूँढ कर सारी सिद्धियाँ प्राप्त कर ली हैं। देव, देवालय, तीर्थ आदि इसी शरीर में है। मैनें शरीर के भीतर अनिवासी परमात्मा अलख निरंजन की अनुभूति प्राप्त कर ली है कायागढ़ को जीतना वीर का काम है। उनका कथन है–

आऊँ नहीं जाऊँ निरंजन नाथ की दुहाई। प्यण्ड ब्रह्मण्ड खोजता अम्हे सब सिधि पाई।। काया गढ़ भीतरि नव लख खाई। दसवैं द्वारि अवधू ताली लाई।। काया गठ भीतरि नव लख खाई दसवै द्वारि अवधू ताली लाई।। काया गढ़ भीतरि देव देहुरा कासी। सहज सुभाइ मिले अबिनासी।। बदंत गोरखनाथ सुणौ नर लोई कायागढ़ जीतेगा बिरला कोई[27]

गोरखनाथजी ने नेपाल, गिरिनार, ज्वालादेवी की स्थली आदि में

अमित समय तक तपस्या की। उन्होने संतयुग में झेलम नदी के किनारे गोरखटिल्ला में तपस्या की। त्रेतायुग में उन्होने भगवती इरावती (राप्ती) के तट पर गोरखपुर तपःस्थली में रघुवंशी नरेश रघु अज और राम ने उनका दर्शन कर अपने आप को कृतार्थ किया था। द्वापर युग में जूनागढ़ राज्य में प्रभास पट्टन के समीप गोरखमण्ढ़ी में उन्होने तप किया था। कलि में पेशावर के किले में गोरख–हट्टी उनकी तपस्या से समलंकृत है। यहाँ प्रत्येक वर्ष असंख्य श्रद्धालु इस स्थान पर एकत्र होकर उनको अपनी श्रद्धा–भक्ति समर्पित करते है।

नेपाल में गोरखनाथ जी शिवगोरक्ष के रुप में पूज्य है। निःसन्देह उन्होंने अपनी साधना और तपस्या से नेपाल के जनजीवन को अमित प्रभावित किया। नेपाल में मृगस्थली उनकी योगसाधना की भौमप्रतीक है। नेपाल में वागमती नदी के तटवर्ती सिद्धांचल पर मृगस्थली में गोरखनाथजी ने विकट तप किया था।

गोरखनाथ जी ने नेपाल और भारत की सीमा पर स्थित प्रसिद्ध शक्ति पीठ पाटन में भगवान शिव की इच्छा की पूर्ति के रुप में तपस्या की थी दक्ष के यज्ञ के विनाश के बाद सती के प्राण–रहित शरीर को लेकर महादेवजी के भ्रमण करते समय देवी का पट वामस्कन्ध के सहित पुष्यक्षेत्र पाटन में गिरा था। इस सम्बन्ध में श्लोक प्रसिद्ध हैं–

गोरखनाथजी ने नेपाल और भारत की सीमा पर स्थित प्रसिद्ध शक्ति पीठ पाटन में भगवान शिव की इच्छा की पूर्ति के रुप में तपस्या की थी। दक्ष के यज्ञ के विनाश के बाद सती के प्राण–रहित शरीर को लेकर महादेवजी के भ्रमण करते समय देवी का पट वामस्कन्ध के सहित पुण्यक्षेत्र पाटन में गिरा था। इस सम्बन्ध में श्लोक प्रसिद्ध है–

पटेन सहितः स्कन्धः पपात यत्र भूतले।

तत्र पाटेश्वरी नाम्ना ख्यातिमाप्ता महेश्वरी।।

पाटेश्वरी पीठ की स्थापना का श्रेय गोरखनाथजी को ही है। उन्होने भगवान शिव की आज्ञा से पीठ स्थापित कर भगवती की आराधना और योग की साधना की थी। देवीपाटन में उपलब्ध 1874 ई० के शिलालेख में उल्लेख है–

महादेवसमाज्ञाप्तः संतीस्कन्धवि–भिषिताम।

गोरखनाथ योगीन्द्रस्तेन पाटेश्वरीमठभ।।

गोरखनाथ जी के समग्र भारत में अनेकानेक स्थान उनकी तपस्या के स्मारकरुप में पूज्य हैं। पंजाब, राजस्थान, सौराष्ट्र, कर्नाटक, बंगाल आसाम, उड़ीसा, बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश में और उत्तरांचल के अनेक प्रखण्डों और नेपाल आदि में उनके श्रीविग्रह प्रस्थापित हैं तथा चरणयुगल–प्रतिमायें अंकित हैं और उनकी पूजा सम्पन्न होती है। गोरखनाथ जी ने झोपड़ी से महल, रंक से राजा, सभी को अपनी योगसाधना और तपस्या से प्रभावित किया।

महायोगी गोरखनाथ जी के कांगड़ा के ज्वाला देवी स्थान से गोरखपुर आने तथा तपस्या और योगसाधना करने के सन्दर्भ में नाथसम्प्रदाय में ही नहीं, लोकमानस में भी एक ऐतिहासिक परम्परा सम्मानित है। महायोगी गोरखनाथ एक बार हिमांचल प्रदेश के कागड़ा स्थान में ज्वालादेवी का दर्शन करने पहुँचे। देवी ने उन्हें वहां ठहरने की प्रेरणा दी इस पर उन्होने कहा कि आप के स्थान पर तामसी पदार्थो का भोग लगता है हमारे लिये यहाँ आहारग्रहण की उचित व्यवस्था नही हो सकती है। विशेष आग्रह पर गोरखनाथजी ने कहा कि अच्छा आप चूल्हा जला कर खिचड़ी के लिए पात्र में जल गर्म करने हेतु रख दें, मै भिक्षा माँग कर (खिचड़ी का) अन्न स्वंय लाता हूँ। इस पर देवी ने पात्र में जल भर कर आग पर चढ़ा दिया, देवी का चूल्हा आज भी जल रहा है परन्तु गोरखनाथजी उस स्थान पर आजतक नहीं पहुँच सके। वे भ्रमण करते हुए गोरखपुर आ पड़े जो उन्ही के नाम से विश्रुत है। यहाँ की हरीतिमा और प्राकृतिक रमणीयता पर

विमुग्ध होकर गोरखनाथजी इस स्थान को अपनी तपःस्थली का रुप प्रदान कर तपस्या में तत्पर हो गये। श्रद्धालु जनता ने उनके खप्पर को खिचड़ी से भरने का प्रयत्न किया पर वह नहीं भरा जा सकता इस तपोमयी घटना की स्मृति में गोरखनाथ–मन्दिर में प्रत्येक वर्ष मकरसंक्रान्ति के महापर्व पर विशाल खिचड़ी मेला का आयोजन होता है। गोरखपुर में गोरखनाथ मंन्दिर में महायोगी गोरखनाथ की भव्य प्रतिभा प्रतिष्ठित है। जिसकी नित्य यथासमय यथाक्रम पूजा सम्पन्न होती है। महायोगी गोरखनाथ की तपोभूमि होने के नाते यह मन्दिर नाथयोगियो सिद्धो संत–महात्माओं एवं जनसामान्य के सतत आकर्षण का केन्द्र होने का गौरव प्राप्त करता आ रहा है। यह सिद्ध योगपीठ के रुप में परिगणित है। गोरखनाथ जी की दिव्य तपो भूमि में अक्षय सलिला भगवती राप्ती के तट पर स्थित गोरखपुर का गोरखनाथ मन्दिर अपनी समस्त गरिमा और महिमा से अलंकृत होकर चिरकाल से त्रयताप से संतप्त प्राणीमात्र को योगामृत प्रदान करता आ रहा है। इस मन्दिर में गोरखनाथ का व्यक्तित्व अभिव्यक्त है। गोरखनाथजी ने त्रेतायुग में तपस्या करते समय अखण्ड ज्योति प्रज्वलित की थी, आज भी मंन्दिर के गर्भगृह में अनवरत अनेक झंझावातों एवं प्रलयकारी परिस्थितियों के आघात–प्रतिघात का प्रतिरोध करती हुई यह ज्योति अखण्ड रुप से जल रही है। त्रेतायुग में ही गोरखनाथ जी ने अखण्ड धूना भी जलाया था, जो आज भी दर्शनीय है। कहा जाता है कि भगवान राम के राज्याभिषेक उत्सव मे पधारने के लिए गोरखनाथ जी से प्रार्थना की गयी थी, तप में तत्पर होने के कारण केवल उनका आशीर्वाद ही प्रेषित किया जा सका। ठीक इसी तरह यह अनुश्रुति गोरखनाथ जी के व्यक्तित्व से युक्त हैं कि युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में पधारने के लिए पाण्डव वीर भीमसेन गोरखनाथ जी के चरण में निमन्त्रण समर्पित करने आये थे उस समय महायोगी गोरखनाथ जी गहन समाधि में तल्लीन थे इसलिए भीमसेन ने कुछ समय तक यहाँ विश्राम किया था। कहा जाता है कि उनके शरीर के भार से एक सरोवर बन गया। यह सरोवर मन्दिर के प्रांगण में दर्शनीय है। भीमसेन

की शयन मुद्रा में विश्राम करती एक विशाल प्रतिमा भी दर्शनीय है। महायोगी गोरखनाथ के अमर, अखण्ड और अमृतमय व्यक्तित्व का प्रण उनका तपोमय जीवन है। उन्होंने योग का तप स्वरूप अभिव्यक्त कर उसे आचार–सदाचार अथवा रहनी से समृद्ध किया। अपनी तपस्या से उन्होंने योग का तप स्वरूप अभिव्यक्त कर उसे आचार सदाचार अथवा रहनी से समृद्ध किया। अपनी तपस्या से अन्होने शुद्ध शैवयोगशास्त्रसम्मत नाथयोग को प्राणशक्ति प्रदान की।

कहा जाता है कि गोरखनाथ जी एक बकुल वृक्ष के निचे ध्यानस्थ थे। आकाश – मार्ग से सिद्ध कृष्णपाद कही जा रहे थे। गोखनाथ जीने उन्हें योग बल से नीचे अतारा। कृष्णपाद (कन्हीपाव – कानिपा) ने कहा कि आप के गुरू कदली वन में सोलह सौ सेविकाओं द्वारा सेवित महारानी कमला और मंगला के साथ महाज्ञान भूलकर कामोपभोग में व्यस्त हैं उनकी आयु के केवल तीन दिन शेष है। गोरखनाथ जी मत्स्येन्द्रनाथ को स्त्रीराज्य से मुक्त करने चल पड़े। गोरखनाथ जी ने लंग और महालंग नामक दो शिष्यों को लेकर कदली वन में प्रवेश किया। लोगों ने उनसे आशीष मांगे। सिद्ध की वाणी थी, फलवती होनी लगी। उन्होने योगी का वेष धारण किया। कदलीवन के एक सरोवर के किनारे बैठी एक नवरमणी उनके दिव्य सौन्दर्य से मुग्ध हो गयी। उसने उन्हे मत्स्येन्द्रनाथ जी का पता बताकर कहा कि महारानी मंगला और कमला के राज्य में योगी का प्रवेश निषिद्ध है, केवल नर्तकी जा सकती है। गोरखनाथ जी ने नर्तकी का वेष धारण किया। वे राज – द्वार पर जाकर मर्दल – ध्वनि करने लगे–

छाटै तजौ गुरू छाटै तजौ, लोभ मोहमाया आत्मा परचैं राखौ गुरूदेव, सुन्दर काया। कान्ही पाव भेंटीला गुरू, विद्यानग्र सै। ताथैं में पाइला गुरू, तुम्हारा उपदेशै।। एतै कछ् कथीला गुरू, सर्वे भैला भौलै। सर्व रस खोइला गुरू बांधनी के षोलै।। नाचत गोरखनाथ धूंधरी चे घातैं। सबै कमाई खोई गुरू बाधनी चै राचैं।। रस कुस बहि गईला रहिगई छोई। भणत मछिद्रनाथ पूता, जोग न होई।। रस

कुस बहि गईला रहि गईला सारं। बदंत गोरखनाथ गुरू जोग अपारं।। आदिनाथ नाती मच्छिन्द्रनाथ पूता।। षटपदी भणीं लै गोरष अवधूता।।[28]

शिवगोरक्ष महायोगी गोरखनाथ जी ने नेपाल में वागमती नदी के तट के पर स्थित सिद्धांचल पर मृगस्थली में कठोर तप किया था। मृगस्थली मन्दिर में उनकी तपस्या का भौम स्मारक है। नेपाली बौद्ध कथा में उनके गुरु मत्स्येन्द्रनाथजी को अवलोकितेश्वर समझा गया है। मत्स्येन्द्रनाथय जी एक पर्वत पर रहते थे। गोरखनाथजी उनके दर्शन के लिए गये। पर्वत पर चढ़ना दुष्कर समझकर नवनागों को बांधकर तथा अपने आसन के नीचे छानबे करोड़ मेघमालाओं को दबाकर बैठ गये। उपर्युक्त आख्यान का ऐसा भी वर्णन मिलता हैं कि गोरखनाथ जी पर्वत पर वर्षा के देवता कर्कोटक नाग को दबाकर आसनस्थ हो गये। नेपाल में कर्कोटक नाग अथवा नवनागों अथवा छानबे करोड़ मेघमाला को दबाने का परिणाम यह हुआ कि बारह साल तक वर्षा नहीं और भीषण अकाल पड़ गया। सारे नेपाल में हाहाकार मच गय। राजा नरेन्द्रदेव के गुरु (बुद्धदत्त) ने अकाल का कारण समझ लिया। गोरखनाथ जी के गुरु मत्स्येन्द्रनाथय को गोरखनाथजी के सामने लाने का निश्चय किया गया। यह विचार किया गया कि जब अपने गुरुदेव की प्रणाम करने के लिये आसन से गोरखनाथ जी उठेंगे, तब मेघमालायें स्वतः मुक्त हो जायेंगी। यथोचित अनुष्ठान द्वारा अवलोकितेश्वर मत्स्येन्द्रनाथजी गोरखनाथ जी के समक्ष मृगस्थली में लाये गये । वे आसन से उठे नहीं, गुरु को मानसिक प्रणाम करते समय उनका बायाँ घुटना कुछ हिल गया और मेघमालायें मुक्त हो गयीं। जलवृष्टि हुई और अकाल का संकट टल गया। मत्स्येन्द्र नाथजी के आगमन के स्मरण में प्रत्येक वर्ष रथयात्रा उत्सव मनाया जाता हैं। गोरखनाथ जी के मेघमालासनीकृत रुप के संस्तवन मे उनके शिवगोरक्षरुप को रमणीय झांकी मिलती है–

चन्द्रार्कद्रु हिणाच्युताम्बुजलसल्लोकेशकंसा रिभिः काली भैरव

सिन्धुरास्य हनुमत्कोड़ैः परीवारितम्। वन्देतं नवनाथसिद्ध महितं मेघाहिमालासनं माला पुस्तक शूल डिण्डिमधरं गोरक्षमृत्युन्जयम्।।

महायोगी गोरखनाथ जी ने उड़ीसा के योगी मल्लिकानाथ जी को अपने व्यक्तित्व और प्रत्यक्ष दर्शन से कृतार्थ किया था। योगिराज मल्लिका नाथ उड़ीसा के निवासी थे उनका पूर्व नाम विबुधेन्द्रमल्ल था। वे क्षत्रिय योद्धा थे एक बार आखेट के समय कृपामुर्ति गोरखनाथ जी का उन्हे दर्शन हुआ। उन्होने योगेश्वर के चरणदेश में प्रणाम किया। आशीर्वाद न पाकर उन्होने गोरखनाथ जी के मस्तक पर खड्ग से प्रहार किया। जटाजूट से टकराकर खडग के टूट जाने पर राजा को पश्चाताप हुआ। उन्होने योगबल से प्रभावित होकर गोरखनाथ जी से योगदीक्षा ली। तथा शिष्य बन गये। उन्होने चक्रार्चन मे उत्तरसाधिका के रुप में एक कन्या का वरण कर सिद्धिलाभ किया था। उसका नाम मल्लिका था। इसलिये वे मल्लिकानाथ के नाम से प्रसिद्ध हुए। गोरखनाथ जी ने उन्हे पिण्ड में आत्मा की स्थिरता,जन्म–मृत्यु से परे होने की अवस्था, शरीर की अमृतपान द्वारा अमरतादेहसिद्धि और मन–पवन की साधना का उप देश दिया। मल्लिकानाथ यद्यपि तांत्रिक थे पर गोरखनाथ के प्रभाव से वे महान नाथयोगी के रुप में प्रसिद्ध हुए।

महामति ब्रिग्स ने अपनी पुस्तक गोरखनाथ एण्ड दि कनफटा योगीज में गोरखनाथ के व्यक्तित्व तथा विलक्षण और यौगिक सिद्धियों पर प्रकाश डाला है। गोरखनाथ जी का प्रकृति की शक्तियों और पंचभूता पर अद्भुत नियन्त्रण था। उन्होंने गोपीचन्द की माता और योगिराज भर्तृहरि की बहन मयनावती को वरदान दिया था कि तुम पानी में नही डूब सकती। ब्रिग्स ने लिखा है कि कहा जाता है कि धर्मराज युधिष्ठिर के महाप्रस्थान के समय हिमांचल के भयानक हिमपात से भीमसेन आगे बढ़ने में असमर्थ और 'संज्ञाशून्य हो गये। गोरखनाथ जी ने उन्हे दर्शन दिया और गंगोत्तरी से भूटान तक विस्तृत भूमि भाग का राजा बना दिया। 'गोरखनाथ एण्ड दि कनफटा योगीज'ग्रन्थ में ही उनकी सिद्धियों की झोली का वर्णन है।

वह अद्‌भुत शक्तिमयी थी। गोरखनाथ जी उसमें से सेब, अंगूर, पुष्प फल, रत्न तथा अनेक दुर्लभ पदार्थ प्रकट कर लोगो को देते थे। उनकी झोली की विभूति से असंख्य स्त्रियो ने पुत्र प्राप्ति की गरीब धनी हो गये, असहाय और विपन्न सम्पन्न हो गये कहा जाता है कि गोरखनाथ जी ने अपनी झोली से कीमती साड़ियाँ, बहुमूल्य आभूषण आदि प्रकट कर अपने शिष्य गूँगा का विवाह कराया था। चौरंगीनाथ जी को योगदीक्षा के समय उसी झोली से कुण्डल प्रकट कर उनके कान में पहनाये गये थे। इसी झोली से चावल और अंगूर निकाल कर गोरखनाथ जी ने चौरंगीनाथ की विमाता लूना को संतान प्राप्ति के लिए खाने को दिया था। इसी झोली की विभूति से उन्होने एक उजड़े बगीचे को हरा–भरा कर दिया था। गोरखनाथ जी योग–सिद्धियों के स्वामी थे। ब्रिग्स ने 'गोरखनाथ एण्ड दि कनफटा योगीज' में उल्लेख किया है कि 'गोरखनाथ जी के शिष्यो ने चौरंगीनाथ जी से निवेदन किया था कि गोरखनाथ जी शिव के परम प्रिय है उनकी कृपा से सारे मनोरथ पूरें होते है वे बड़े सुन्दर है, भारत भूमि में उनसे सुन्दर कोई नहीं है, वे मानसरोवर के राजहंस हैं। गोरखनाथ जी मूर्तिवान योग है महायोग ज्ञान के परम तत्वज्ञ योगिराजेश्वर है। उन्होने अपने योग सिद्धान्त हठयोग की साधना और सिद्धि के माध्यम से 'सच्चिदानंद स्वरुप परब्रह्म परमात्मा शिव का आत्मा से एकात्मबोध सिद्ध किया। उन्होने शास्त्रसम्मत योगज्ञान से जनचेतना को जागृत कर सत्य और शिव के तत्व से उसे समृद्ध किया, यही उनकी अमरता की आधार शिला है।

गोरखनाथ–कृतित्व

गोरख–विरचित कही जाने वाली रचनाओ का सुव्यवस्थित सम्पादन डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्थवाल ने 'गोरखवानी' के अन्तर्गत जोगेसुरी बानी प्रथम भाग के रुप में 1942 ई० में हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग से किया था। डॉ० बड़थ्थवाल अन्य नाथ सिद्धों की बानियों का प्रकाशन न कर सके थे कि अनका देहावसान हो गया उस कार्य को डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने सम्पन्न किया। यह कृति 'नाथ सिद्धों की बानियाँ' के अर्न्तगत जोगेसुरी बानी द्वितीय भाग के रुप में नागरी प्रचारिणी सभा काशी से सन् 1957 में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक मे 25 नाथसिद्धों की बानियाँ तीन हस्तलिखित ग्रन्थों से संगृहीत हैं। कुछ नाथसिद्धों के नाम पौराणिक है। जिनका उल्लेख नाथ सिद्धो की सूची में उपलब्ध नहीं होता महादेव, पार्वती, रामचन्द्र जी के नामों से प्राप्त रचनाओं के वास्तविक रचयिता का पता नही चलता। डॉ० द्विवेदी का अनुमान है कि किसी सिद्ध ने ही देवताओ के उपदेशो को देशी भाषा में लिख डाला है। सर्वप्रथम पं० तारादत्त गैरोला ने गोरक्षनाथ के 17 ग्रन्थों की सूचना दी थी इनमे से कुछ रचनाओं को उन्होने गोरक्षकृत स्वीकार नही किया था।[29]

सन् 1954 में डॉ० मल्लिक ने नाथयोगियों की रचनाओं का सम्पादन 'सिद्ध–सिद्धान्त पद्धति एण्ड अदर वर्क्स आव नाथ योगीज' नामक संग्रह ग्रन्थ में किया। इसमें उन्होंने गोरखनाथ' गोरख उपनिषद नाम की रचना प्रकाशित की जो गोरखाबानी में प्रकाशित न हो सकी थी। इस रचना में पहली वार मत्स्येन्द्र, भरथरी और गोपीचन्द की हिन्दी रचनाओं का परिचय मिला।[30] डॉ० मल्लिक ने सिद्ध–सिद्धान्त–पद्धति, मीन नाथकृत 'योगविषय' गोरखचरितः अमरौध प्रबोध' और 'योगमार्तण्ड' नामक संस्कृत ग्रन्थों का सम्पादन किया। 'सिद्ध–सिद्धान्त पद्धति का सर्वप्रथम वैज्ञानिक सम्पादन करते हुए उन्होने 'अमरौध –प्रबोध और 'योग मार्तण्ड' को भी गोरक्ष विरचित स्वीकार किया है। ब्रिग्स ने सिद्ध–सिद्धान्त पद्धति को नित्यानन्द सिद्ध कृत बताया पर एक अन्य स्रोत से इसे गोरक्षकृत भी कहा गया।[31] अगरचन्द नाहटा ने अपने सम्पादित ग्रन्थ 'राजस्थान में हिन्दी के हस्त लिखित ग्रन्थो की खोज– भाग–4 पृ० 39 में गोरक्ष रचित 'योग–चिन्तामंणि' नामक 185

पद्यों की अपनी संग्रह प्रति का विवरण दिया था। उन्होने पृ० 440 और 445 में संतवाणी संग्रह के दो बड़े गुटको का विवरण प्रकाशित किया था। जिनमें गोरखनाथ की 25 के करीब रचना मिली थी। इसके पश्चात् प्रकाशित राजस्थान के हस्तलिखित ग्रन्थों की सूचियों में महावीर तीर्थ के 'जैन साहित्य शोध संस्थान' से प्रकाशित जैनशास्त्र भण्डारों की सूचियों में एक ऐसे गुटके का विवरण है जिसमे गोरक्षनाथ की रचनाएं लिखित है। राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान जयपुर के संग्रह मे पुरोहित हरिनारायण जी का महत्वपूर्ण संग्रह सुरक्षित है। उसकी सूची 'विद्या–भूषण ग्रन्थ संग्रह सूची' के नाम से प्रकाशित हुई है। इसमें गोरक्षनाथ की रचनाओ की कई हस्तलिखित प्रतियां है। उक्त सूची के अनुसार 'गोरखबानी' में प्रकाशित ग्रन्थों के अतिरिक्त गोरखनाथ की अप्रकाशित 12 रचनाओं के नाम और भी हैं उनमे से नौ के नाम गोरखबानी की भूमिका में लिए जा चुके हैं यद्यपि इनका प्रकाशन उस ग्रन्थ में नही हुआ है। शेष तीन रचनाएं– **1.** सांख्यदर्शन योग, **2.** कंठडबोध (कंथडबोध), **3.** अष्टदल कमल का भेद, विद्याभूषण ग्रन्थ की सूची में उल्लिखित हैं पर 'गोरखवानी' की भूमिका में इनका उल्लेख नहीं हुआ। नाहटा जी को वीकानेर के 'भारतीय विद्या–मंन्दिर शोध–संस्थान' से एक गुटका प्राप्त हुआ जिसमे गोरखनाथ की 25 रचनाएं हैं। इनमें 22 तो गोरखवानी में प्रकाशित है तथा आत्मबोध नं०. 2 का उल्लेख गोरखवानी की भूमिका में मिलता हैं साडोक्खरी (षडाक्षरी) और ज्ञानमाला का उल्लेख बड़थ्थवाल ने नही किया। पुरोहित हरिनारायण की सूची के पृ०.15 में 'ज्ञानमाला' का उल्लेख हैं पर षडाक्षरी बाकी है। 'राजस्थान में हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज' के चौथे भाग में नाहटाजी ने जिस बड़े गुटके की सूची प्रकाशित की है उसमे उसका नाम 'षड़छिरी' मिलता है।[32] नाहटाजी ने दो जैन ग्रन्थो का भी उल्लेख किया हैं जिनमें कुछ पंथ गोरखनाथ के नाम से है। पहला ग्रन्थ हैं– शुभशील रचित 'विक्रमचरित्र' जिसकी रचना 1499 में हुई है। इस ग्रन्थ में गोरखनाथ के चार पद्य उद्धृत है। दूसरा ग्रन्थ 17 वी शताब्दी के जैन कवि बनारसी दास की रचनाओं का संग्रह 'बनारसी विलास' के नाम से है जिसमे गोरखनाथ सात चौपाइयाँ है।[33] डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल द्वारा प्रकाशित 'गोरखवानी' के बीस वर्ष पूर्व

महाराष्ट्र में गोरक्ष–पदावली का संकलन और मुद्रण हुआ है। 'श्री शीलनाथ–शब्दामृत' नामक महत्वपूर्ण ग्रन्थ इंदौर के निकट देवास नामक मराठी रियासत में शीलनाथ के शिष्यों ने संकलित किया था सन् 1923 में मुद्रित इस ग्रन्थ में नाथ पंथीय दर्शन को स्पष्ट करने वाले गोरक्षनाथ की नाममुद्रा से अंकित कुल 55 पद और गोरखनाथ की साम्प्रदायिक आरती प्राप्त है।[34] राजस्थान में गोरखनाथ के नाम से प्रचलित अनेक प्रतियाँ लक्ष्य की जा सकती है जो प्रायः 18 वी शताब्दी के बाद की लिखी हुई हैं 'राजस्थानी शोध' संस्थान चौपासनी में गुटका सं० 16522 में 'गोरखावली' नामक रचना, जो 19 वीं श० में लिखित हैं, गोरखनाथ के नाम से प्रचलित है। यही 5115 संख्या के गुटके में 'गोरख प्रश्नावली' नामक रचना गोरखनाथ के नाम पर है। इसकी भाषा राजस्थानी है। गुटका सं० 3285 में 19वीं शताब्दी का एक हस्तलेख उपलब्ध होता है जिसमें लेखक ने 'अर्थ गोरक्षनाथ बावनी लिख्यते' का उल्लेख कर अपने 67 छन्दो को उसके अर्न्तगत रखा है। इन छन्दो में योगियो के लिए उपदेश दिये गये है। गुटका सं०11602 के अर्न्तगत 'गोरखनाथ जीरौ' शीर्षक से 18 छन्दो का उल्लेख है। राजकीय सुमेर पुस्तकालय जोधपुर में पुस्तक योग क्रमसंख्या 167 ने खडी बोली में लिखित रचना 'विराटपुराण' के लेखक गोरखनाथ के नाम से पायी जाती है। 'प्राच्यशोध विद्या–प्रतिष्ठान जोधपुर' में गुटका सं०10898 में गोरख छंद नामक रचना के अर्न्तगत 29 छन्द संगृहीत है। यही गुटका संख्या 31000 में 'गोरख–सुकनावली' रचना एक पृष्ठ की है जिसमें चारों दिशाओं चार पहर एवं 12 तिथियों को कब किधर प्रस्थान करने से क्या लाभ–हानि सम्भव है, इस तथ्य का परिचय कराया गया है। एस०पी० चन्दोला ने अपने शोध प्रबन्ध के अन्तमें नाथयोगियों की कुछ रचनाएं प्रकाशित की हैं, जिनमें से कुछ तो शोध–प्रबन्ध लिखे जाने से पूर्व ही डॉ० मल्लिक ने अपने संग्रह–ग्रन्थ में प्रकाशित कर दिया था। अधिकांश रचनाएं बाद में डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने संग्रह–ग्रन्थ में प्रकाशित की। 'सिद्ध हड़ताली जी की सबदियाँ 'काफर बोध : 'अवलिमीर का लवलिसिलूक' ग्रन्थ अभी उसी शोध–प्रबन्ध में सुरक्षित है। उनके हस्तलेखों का विवरण शोध–प्रबन्ध में उपलब्ध नहीं होता।[35]

'गोरखबानी' के संग्रह और सम्पादन में डॉ० बड़थ्थवाल ने मध्यकाल की जिन हस्तलिखित प्रतियों का उल्लेख किया, उनमें 'पौड़ी हस्तलेख' जोधपुर–पुस्तकालय की प्रति, मन्दिर बाबा हरिदास, नारनौल, पटियाला की प्रति एवं पुरोहित हरिनारायण जयपुर से प्राप्त 1751 वि० की प्रति आदि प्रमुख हैं। डॉ० बड़थ्थवाल ने गोरक्षनाथ की हिन्दी रचनाओं को 'गोरखबानी' में निम्नलिखित क्रम से सम्पादित किया है–

गोरखबानी–

1. **सबदी** 2. **पद (राग सामग्री)**
3. **सिष्यादर्शन** 4. **प्राणसंकली**
5. **नरवैबोध** 6. **आत्मबोध**
7. **अभैमात्रायोग** 8. **पन्द्रहतिथि**
9. **सप्तवार** 10. **मछीन्द्र–गोरखबोध**
11. **रोमावली** 12. **ग्यानतिलक**
13. **पंचमात्रा**

परिशिष्ट–1 (क–1) गोरख–गणेश गुष्टि
(क–2) ज्ञानदीप बोध (गोरख–दत्तगुष्ठि)
(क–3) महादेव गोरख गुष्टि
(क–4) सिष्टपुराण
(क–5) दया बोध
(क–6) कुछ पद

परिशिष्ट–2 (ख–1) सप्तवार–विग्रह (ख–2) व्रत
(ख–3) पंचअग्नि (ख–4) अष्टमुद्रा
(ख–5) चौबीस सिद्धि (ख–6) बतीस लक्षन
(ख–7) अष्टचक्र (ख–8) रहरासि

परिशिष्ट–3 'घ' प्रति के परिशेष में गोरखनाथ के 27 पदों का सुन्दर तिलक

किसी निरंजन साधुकृत प्रतीत होता है। डॉ० बड़थ्थवाल ने प्रथम पंक्ति देकर तिलक दे दिया है।[36]

'ज्ञान चौतीसा' समय से न उपलब्ध होने के कारण गोरखबानी में प्रकाशित न हो सका। गोरखबानी में प्रकाशित प्रथम तेरह रचनाएं एवं ज्ञान चौंतीसा को लेकर कुल 14 रचनाएं डॉ० बड़थ्थवाल द्वारा प्रामाणिक मानी गयी।[37] यद्यपि गोरखबानी की भूमिका में उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि ये रचनाएं जैसी हमें उपलब्ध हो रही है, ठीक वैसी ही उस समय की हैं, यह नहीं कहा जा सकता परन्तु इसमें में भी प्राचीनता के प्रमाण विद्यमान हैं। डॉ० द्विवेदी जी का मत है कि गोरक्षनाथ की कुछ पुस्तकें अनेक प्रकार से परिवर्तित परिवर्द्धित एवं विकृत होती हुई आजतक चली आ रही हैं। इनमें कुछ न कुछ गोरखनाथ की वाणी अवश्य रह गयी है, पर सभी की सभी प्रामाणिक नहीं हैं।[38] **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** देशभाषा में रचित गोरखनाथ की इन रचनाओं को वि० सं० 1400 के आस–पास का मानते हैं। साखी एवं बानी की कुछ रचनाओं के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल गोरक्षकृत होने की सम्भावना व्यक्त करते हैं।[39]

18वीं शताब्दी और उसके बाद लिपिबद्ध पृथ्वीनाथ की रचनाओं की अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध हुई हैं। इनमें उनकी छोटी–बड़ी 29 रचनाओं का पता चला है। उनके "जुक्ति स्वरूप सिधा संकेत जोगग्रन्थ" में 50 छन्द हैं। प्राप्त सभी प्रतियों में ग्रन्थ का पाठ और छन्द संख्या समान है। इनमें चार–पाँच छन्दों के अतिरिक्त यह सारा का सारा ग्रन्थ गोरखबानीमें उसी रूप में 'ज्ञानतिलक' नाम से गोरखनाथ की रचना मानकर छाप दिया गया है।[40] 'ज्ञानतिलक' गोरक्षनाथ एवं रामानंद दोनों के नामों से ही प्रचलित बताया जाता है। 'सिष्टपुराण', 'दयाबोध', निरंजनी सेवादास की मानी गयी है। प्रतिलिपिकार ने 'गोरख–गणेश', 'महादेव–गोरख गुष्टि' ओर 'निरंजनपुरान' को भी सेवादास की रचनाएं बताया है। 'जाती भौरावली' गोरक्ष की स्तुति होने के नाते उनकी नहीं हो सकती। 'अवलिसिलूक' और 'काफिर–बोध' कबीर का भी बताया जाता है। 'मूलगर्भावली' एवं 'खाणी–वाणी' पौराणिक रचनाएं होने के कारण ही दी गयी हैं। 'गोरखवचन' की भाषा आधुनिक है।[41] डॉ० मल्लिक के मतानुसार 'गोरखवचन' 17वीं श०

में बनारसी दास नामक जैन दिगम्बर पुरोहित द्वारा प्रणीत है। 'गोरखसत' संस्कृतग्रन्थ, सप्तवार, सप्तवार नवग्रह, व्रत, पंचअग्नि एवं रहरासि रचनाएं परवर्ती हैं जो गोरखनाथ के उपदेशों को उद्धृत करने के कारण उन्हीं के नाम के साथ जोड़ दी गयी हैं। मछीन्द्र गोरखबोध, गोरखगणेश गुष्टि गोरखदत्त गुष्टि तथा महादेव गोरखगुष्टि गोरखनाथ के परवर्ती शिष्यों द्वारा रचित हैं, जो संवादों की पुरानी परम्परा पर लिखी गयी हैं। रोमावली, अष्टमुद्रा, चौबीससिद्धि तथा अष्टचक्र भी शिष्य–परम्परा से उद्भूत रचनाएं हैं। प्राणसंकली प्रन्द्रहतिथि, पंचमात्रा भी परवर्ती ग्रन्थ हैं। तिलक या सूत्र रूप में लिखी गयी रचनाएं–शिष्यादर्शन, अभैमात्राजोग, बतीस लछन या अष्टपारछ्या नितान्त परवर्ती रचनाएं हैं। परिशिष्ट तीन के पदों की प्रथम पंक्तियों में से अनेक 'पद' आ चुकी है।

निष्कर्ष रूप में डॉ० रांगेय राघव यह स्वीकार करते हैं कि गोरक्ष के नाम से प्रचलित रचनाओं में आज बहुत कम के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहा जा सकता है। उनकी मूल रचनाओं का रूप सद्यः प्राप्त रचनाओं का ही कोई पुराना स्वरूप होगा। डॉ० बड़थ्थवाल ने भी स्वीकार किया है कि जो आज प्राप्त है वह भी शिष्यों की श्रद्धा भक्ति के कारण है, जिसने अधिक से अधिक यह प्रयत्न किया कि मूल रूप वैसा ही बना रहे।[42]

डॉ० बड़थ्थवाल ने 'सबदी' को गोरखनाथ की सर्वाधिक प्रामाणिक रचना माना है। सबदी में कुछ छन्द अन्य लोगों के भी पद संकलित हो गये हैं, जिसकी सम्भावना को डॉ० बड़थ्थवाल ने भी स्वीकार किया है। उन्होंने विशेषकर उन सबदियों को अधिक प्रामाणिक माना जो सभी प्रतियों में समान है (189 साखी तक) दो एक सखियों को जो स्पष्ट रूप से अन्य लोगों की है, इसलिए उन्होंने नहीं निकाला कि उनके आगे पीछे के कुछ अंश भी उन कवियों के हो सकते हैं, जिनकी वे जान पड़ती हैं।

बड़थ्थवाल जी ने सबदी 104 को लालनाथ की 118,221 को रतननाथ की तथा सबदी 250 को कबीर द्वारा रचित माना है।[43] डॉ० रांगेयराघव ने गोरखबानी में संग्रहीत रचनाओं में सम्भात्य परवर्ती सम्प्रदायों का प्रभाव, परवर्तियों का उल्लेख, अभिव्यक्ति के दृष्टिकोण एवं

उठते हुए तथा दृढ़तर होते हुए ब्राह्मणवाद का प्रभाव। इन तत्वों की गवेषणा करते हुए डॉ० राघव ने 36 सबदियों एवं 11 पदों के परवर्ती होने का अनुमान किया है।[44] डॉ० हीरालाल माहेश्वरी का मत है कि वर्तमान समय में प्रचलित नाथों की अधिकांश वाणियाँ उन नाथों की नहीं है, जिनकी वे बतायी जाती हैं। ऐसी अधिकांश वाणियों का संकलन–संग्रह विक्रम की 17वीं शताब्दी से आरम्भ हुआ जान पड़ता है।[45] डॉ० माहेश्वरी का मत है कि जाम्भोजी की 'सबदवाणी' की ही कुछ रचनाएं 'गोरखबानी' में संकलित कर दी गयी हैं। सबदी संख्या 9,225 तथा साखी 14 की गणना इन्हीं में उन्होंने की है। डॉ० राघव भी इन सबदियों को परवर्ती ही मानते हैं। गोरक्षनाथ के अतिरिक्त अन्य नाथसिद्धों काणेरीपाव और भरथरी के नाम से भी 'सबदवाणी' की कतिपय पंक्तियाँ कुछ हेर–फेर के साथ प्रचलित हैं। डॉ० माहेश्वरी ने ऐसी कुछ पंक्तियाँ उद्धृत भी की है। 'गोरखबानी' की सबदी सं० 19 'नाथसिद्धों की बानियाँ' में पार्वती जी के नाम से प्रचलित है।[46] 'सबदवसणी' की कुछ पंक्तियाँ जालंधरी पांव और चरपटनाथ के नाम से भी 'नाथसिद्धों की बानियाँ' में मिल जाती है। भरथरी जी की सबदी के अनेक छंद विष्णोई कवि कालू की भरथरी विषयक साखियों के है। 'नाथ सिद्धो की बानियाँ' में संग्रहीत गोपीचंद जी की सबदी (पृ० 13–16) विष्णोई कवि हरिनाम (कवि 62) कृत तद्‌विषयक साखी है गोपीचन्द का 'पदसंवाद' भी (नाथसिद्धों की बानियाँ पृ० 20–21) गोपीचन्द की कृति न होकर उनसे सम्बन्धित एक प्राचीन राजस्थानी लोक गीत है। डॉ० हीरालाल माहेश्वरी का निष्कर्ष है कि नाथों की वाणियों की अधिकांश प्राचीन और प्रामाणिक समझी जाने वाली हस्तलिखित प्रतियाँ राजस्थान से ही उपलब्ध हुई है। उनमें से कोई भी विक्रम की 18 वीं शताब्दी से पूर्व की नहीं हैं।[47] गोरखबानी में संग्रहीत पद संख्या 12,30,31,38 को डॉ० रांगेय राघव ने परवर्ती घोषित किया हैं।[48] डॉ० द्विवेदी के मतानुसार गोरखबानी के इस पदों मे से कई दादूदयाल कबीर एवं नानक के नाम पर भी पाये गये है, कुछ पद लोकोक्ति, जोगीड़ा एवं अनुभव सिद्ध ज्ञान के रुप में चल पड़े है।[49] गोरक्षनाथ की वाणियों के सम्बंध में डॉ० अशोक प्रभाकर का मत है कि 'उदारधर्म विचार को समुचे भारतवर्ष में प्रचारित करते हुए निरन्तर घुमक्कड़ व्रत को अपनाने

वाले उस महापुरुष को ग्रन्थ–रचना करने की फुर्सत ही कहाँ थी ? और ग्रन्थ कर्त्तव्य की हवस तो उनके स्वभाव के ही प्रतिकूल रही। गोरक्ष–साहित्य की वास्तविकता तो यह है कि वह महान रमता योगी अपनी 'जोगेसुरी बानी' गाता हुआ घुमता रहा उसके उदात्त स्वर समस्त देश में गूजते रहे । सदियों की दासता के कारण पीड़ित बहुजन समाज ने उन प्रेरक शब्दो की हृदय–मंन्दिर में स्थान दिया और गुरु गोरक्षनाथ के असख्य पद लाकोक्ति का रुप धारण कर गये ।[50]

वस्तुतः गोरक्षनाथ के नाम पर जो भी परवर्ती साहित्य उपलब्ध होता है उससे उनके व्यक्तित्व का ही बोध होता हैं। 19वीं शताब्दी में लिखित 'दीपदान क्रम–विधि' आदि पुस्तके उनके देववत्व को ही द्योतित करती है। 'आदि गोरक्ष' के ही विचार जो किसी समय लुप्तप्राय होते हुए भी क्षीण दशा में श्रुति–परम्परा से चले आ रहे थे अनुकूल अवसर पाकर लगभग 10 वीं शताब्दी के अन्त एवं 11वीं शताब्दी के प्रारम्भ में उसी परम्परा के सुयोग्य संगठनकर्ता 'परवर्ती गोरक्ष' के द्वारा अधिकाधिक सुनियोजित एवं सुव्यवस्थित ढंग से जन–जीवन में प्रचार व प्रसार पा सके। सम्भव है परवर्ती गोरक्षनाथ ने यथा– समय लेखनी भी उठायी हो पर अधिक सम्भव यही जान पड़ता है कि उनके किसी सहयोगी अथवा श्रद्धालु भक्त ने उनके विचारो को लिपिबद्ध करने का प्रयास किया हो । यह प्रयास उत्तरोत्तर होता रहा। गोरक्षनाथ के प्रति अपनी असीम श्रद्धा के नाते ग्रन्थ – कर्तव्य का श्रेय गोरक्षनाथ जी को ही दिया जाता रहा वे विचार मूलतः गोरक्षनाथ के ही थे। ऐसा करने से ये रचनाएं समाज में श्रद्धा की दृष्टि से भी देखी जाती रहीं आज भी यह क्रम पूर्णतः बन्द नहीं है।

यथासमय 'आदिगोरक्ष' के विचारों में परिवर्तन परिवर्द्धन व संशोधन भी होते हैं। विभिन्न सम्प्रदाय–प्रवर्तको के नाम से उनके अनुयायी जनों ने अनेक रचनाएं प्रचलित कर दी है। गोरखनाथ इसके अपवाद नहीं हैं। गोरक्षनाथ की 'सबदी' और 'पद' में विशेषकर उनके प्राचीन व मौलिक विचार किसी न किसी रुप मे सुरक्षित हैं। गोरखनाथ के नाम से प्रचलित रचनाओं का संक्षिप्त परिचय दे देना आवश्यक समझते हुए पहले हम 'गोरखबानी' में संग्रहीत सबदी के सम्बंध में निवेदन करना चाहेगें–

सबदी

'गोरखबानी' में संग्रहीत सबदियों की संख्या कुल 275 है। ये सबदियाँ विशेषकर योगी–जनो के लिए उपादेय है। इनमें दर्शन, साधना एवं आध्यात्म विषयक विचार प्रस्तुत किये गये है। मुक्तक रचना होने के नाते इनमे परस्पर सम्बन्ध नहीं हैं। इनमें वर्णित सभी विषय मुख्यतः योग और ज्ञान में अन्तर्भूत दीख पड़ते है। परमोपास्य के स्वरुप–निर्वचन से लेकर साधना की गम्भीर क्रियाओं तक के संकेत इन सबदियों में उपलब्ध हो जाते हैं। ये सबदियाँ वाह्माडम्बर–निषेध, आत्मा संयम की घोषणा करती हुई जन सामान्य को सफल जीवन व्यतीत करने हेतु नीति विषयक उपदेश भी देती है। गृहस्थवर्ग को लक्ष्य करके कहा गया है 'गिरही सो जो गिरहे काया।[51] योगी साधक को 'मन में रहने' 'अमृत वाणी बोलने' एवं 'जल के समान शान्त रहने' के उपदेश दिये गयें हैं। अवधूत की रहनी के सम्बन्ध में कहा गया है कि– 'आँषै देसिबा कांने सुणिवा मुखथै कछू न कहणा'[52] साधनायुक्त विवेक पर ध्यान देते हुए कहा गया है कि ईश्वर प्राणिधान के लिए साधक को उतनी ही मात्रा में साधना रत रहना चाहिए जिससे उसका उत्तरोत्तर अभ्यास दृढ़ होता रहे । वह शरीर–पोषण के लिए अल्पाहार करे । उसे भूखे मरने की आवश्यकता नहीं। उसके उपवास करने कि लक्ष्य शरीर–तेज की वृद्धि करना हो, शरीर को क्षीण करना नहीं। भूखे रहने का हठ करना साधना में विघ्न उपस्थित करना है।[53]

थाए न षाइवा भूषे न मरिबा अहनिसि लेवा ब्रह्म अगिनि का मेवं।
हठ न करिबा पड़या न रहिबा यूँ बोल्या गोरव देवं ।। 31।।

2. पद

'गोरखबानी' में कुल 62 पद संग्रहीत हैं। बहुत से पदो में साधना मूलक पदो की अपेक्षा लेखक के नैतिक विश्वास का भी पता चलता है। अनेक पदों में सम्बोधनात्मक पद्धति अपनायी गई है। इन पदों में बिन्दू रक्षा, वाक् संयम्, शारीरिक शौच, मानसिक शुद्धता, ज्ञान के प्रतिनिष्ठा, बाह्माचरणों के प्रति अनादर एवं मद्य मांसादि के पूर्ण बहिष्कार पर जोर दिया गया है। पद संख्या 2,43,49, इस तथ्य, की पुष्टि होती है कि

मत्स्येन्द्रनाथ कहीं स्त्री जाल में आबद्ध हुए थे और वहाँ से उनके शिष्य गोरक्षनाथ ने उनका उद्धार किया था।

3. *शिष्यादर्शन*

शिष्यादर्शन (शिक्षादर्शन) का आरम्भ सूत्र जैसे वाक्यों से होता हैं। पंचतत्वों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यहाँ कहा गया हैं कि अलखनिरंजन परब्रह्म से शब्दब्रह्म ऊंकार की अभिव्यक्ति हुई है ऊँ से आकाश, आकाश से वायु, वायु से तेज (अग्नि) तेज से जल और जल से पृथ्वी की उत्पति हुई। आत्मा का ज्ञान ही ब्रह्मज्ञान है। प्राणवायु ही आश्रय है जिसमें जीवात्मा रूपी योगी निवास कर ब्रह्मरंध्र में आसन लगाता है। सहस्रार से द्रवित अमृत – रस को पीकर जीवात्मा अमर हो जाती है। ब्रह्मरंध में जीवात्मा योगी शिव का साक्षात्कार करता है। त्रिकुटी में ही इड़ा, पिगंला और सुषुम्ना के संगम का स्नान है। अवधूत के लिए आवागमन से मुक्ति प्राप्ति हेतु मात्र एक ही मार्ग है कि वह मूलबन्ध का अभ्यास कर वज्र कौपीन धारण करे, प्राणायाम – विधि से प्राण को शरीर से भीतर स्थिर करे तथा उड्डीयान बन्ध लगा द्वैता – द्वैत बिवर्जित तत्व का चिन्तन करे। गुरू के उपदेश को ही अनाहत नाद समझे – गुरू वचन अनाहद मानिवा मूल।[54]

4. *प्राणसंकली*

इस रचना के प्रारम्भ में ही स्वीकार किया गया है कि गुरू कृपा से ही आत्मब्रह्म परमशिव का साक्षात्कार सम्भव है। पापकर्म अथवा पुण्यकर्म दोनों ही बन्धनकारक है। परमात्मचिन्तन में निरंतर चित्त को लय किए रहने से ये कर्म बन्धन कारक नहीं होते। त्रयलोक में एक मात्र विद्यमान सच्चिदानन्द , ब्रह्म के दर्शन हमें घट में स्थित ब्रह्मरंध्र में ही करना चाहिए। शरीर को एक गढ़ के रूप में चित्रित करते हुए इसमें 13 द्वार , नौ नाड़ियो, 72 कोठे, 5 मुख्यचोर, 360 हड्डियाँ आदि के संकेत दिये गये है। शिवत्व की प्राप्ति इस काया – गढ़ में ही सम्भव बतायी गयी है।[55]

तीस पौलि तेरह प्रवांणी। तीनि गुप्त दसप्रकर जांणी। नौ नाटिका कोटडी बहतरि। चोर पचास पचीस पंथ धरि।।5।।

चीरा लगा तीनि सै साठी। नौ सै धाइ नाटिका गांठी।
नदी अठारह गांडिक बहई। मगर मच्छ जल पैरत रहई।। 6।।

5. नरवै बोध

इस रचना के अर्न्तगत कुल 14 छंद संग्रहीत है। प्रथम पाँच छन्दों में कहा गया है कि यह संसार पंचतत्व को लेकर उत्पन्न हुआ। व्यक्ति को काम, क्रोध मोह लोभ, अहंकार आदि को त्याग कर समस्त द्वन्द्वजाल से परे रहना चाहिए। सहजयुक्ति से तन–मन को प्राणायाम के माध्यम से दृढ़ करना चाहिए। संयमित जीवन युक्त आहार, पाखण्ड़ – त्याग एवं वैभव–विलास से पूर्णतः उदासीन हो योगारम्भ करना चाहिए। छठें से 14 वें छन्द तक जगदीश के अहर्निश ध्यान, बाह्य आडम्बरों से दूर रहने एवं आसन पवन को दृढ़ करने के निर्देश दिये गये है। तीर्थ व्रत, पूजा–जाप, वेदशास्त्र, व्यापार वाणिज्य अथवा लोकाचार की निस्सारता बतायी गयी है। योगी को एकाकी जीवन–व्यतीत करने, राजा–रंक की आशा छोड़ने तथा आकर्षक वेश–भूषा त्यागने के उपदेश दिये गये है[56]–

पूजा पाति जपौ जिनि जाय, जोग माहिं विटबौ आप।
छाडौ वेद वणज–व्यौपार, पढ़िवा गुणिबा लोकाचार ।।9।।
सभा देषि भांडौ मति ग्यांन।
गूंगा गहिला होई रहौ अजांण।
छाडौ राव रंक की आस।
भिछ्या भोजन परम उदास।।11।।

6. आत्म बोध

'आत्मबोध' नामक रचना में आसन और प्राणायाम की साधना से मन का निःश्चल होना बताया गया है। आसन, मन और पवन को नियंत्रित कर लेने पर तथा आत्मब्रह्म का ध्यान करने पर गगन शिखर में अलखनिरंजन की ज्योति प्रकाशित हो उठती है। कुण्डलिनी–जागरण कर साधक मूलाधर का रस (वीर्य) उर्ध्वगामी करते हुए ब्रह्मरंध में बिन्दू और

नाद का मेल करता है। मूलाधार में प्रसुप्त कुण्डलिनि जागृत होकर ब्रह्मरंध में शिव के साथ तादात्म्य की अनुभूति करती है। ब्रह्माण्ड की सभी वस्तुएं पिण्ड में ही विद्यमान है। जो प्राणी अपने पिण्डस्थ परब्रह्म का स्वरुप–बोध कर लेता है वह समस्त प्राणियो में उस अलखनिरंजन की विद्यमानता का अनुभव करता है।

7. अभैमात्रा जोग

इस रचना में रुपक के मानस से योगी की बाहरी वेश–भूषा को उसके अन्तवर्ती संयमित जीवन का ही प्रतीक बताया गया है योगी के लिए ऊँकार स्वरुप परब्रह्म का योगानुभव ही पथ है। सत्यस्वरुप ही साधना भूमि है सहजासन में स्थित प्राणायाम की साधना करते हुए प्राणयोगी के लिए ब्रह्मरंध ही उसका निवास स्थान है। इसी प्रकार संयम को कौपीन, मर्यादा को मेषला, कैवल्य पद को जागोटा (एक प्रकार का वस्त्र है, जिससे ध्यान–काल में योगी शरीर को ढ़क लेता है) उड्डीयानबन्ध को मुक्ति, सत्य को मुद्रा, शील को गूदडी, क्षमा को टोपी, वीर्य को शरीर में धारण किये रहना अधारी, अन्तर्मखी वृत्ति को झोली बताया गया है। इसी क्रम में धैर्य ही दण्ड, ऊँ नमः शिवाय फाहुड़ी तप ही चक्र, मूल बन्ध लगाना ही कमण्ड, मनस्थैर्य ही उदक, सहस्रार से द्रवित चन्द्रामृत ही भोजन, दया ही आदेश, आत्मतत्व का चिन्तन ही योगशास्त्र, जीभ ही रसायन मृत्यु को जीतना ही विद्या,आत्मस्वरुप में स्थिर रहना ही वनखण्ड, निराशा ही मठ, अलख निरंजन ब्रह्म ही इष्टदेव, ज्ञान ही दीपक निर्विकल्प सहजसमाधि ही स्थिति, अमृत ही सहज द्रवित भिक्षा, शब्द ही सिंही नाद, अनाहतनाद ही किंगरी, शिव ही सरोवर , निश्चलता ही रिद्धि एवं सत्य ही सिद्धि है। निराकार ब्रह्मवृक्ष में जगत ही पल्लव है और अमृत ही उसका फल है।

8. पन्द्रह तिथि :–

कुल 17 छंदो की इस लघु रचना में पन्द्रह तिथियों पर साधक के लिए पन्द्रह प्रकार के अनुष्ठान बताये गये है। प्रथमा तिथि से लेकर अमावस्या तक योगी साधक को क्रमशः निर्दिष्ट विभिन्न प्रक्रियाओं को अपनाते हुए अपना योगसाधना को दृढ़तर बनाना चाहिए।

9. सप्तार

सप्तवार मे योगी साधक सात दिनों के लिए सात प्रकार की चर्या का निर्देश किया गया है।

10. मछिन्द्रगोरख–बोध

डॉ० मल्लिक का मत है कि 'गोरक्षबोध' प्राचीन हिन्दी भाषा में रचित हैं। टेसीटरी के मतानुसार यह 14 वीं शताब्दी की रचना है।[57] 126 छन्दों की यह रचना मछिन्द्र गोरख के संवाद से भरी पड़ी हैं। संवाद की यह परम्परा संस्कृत ग्रन्थों से ही चली आ रही है। इस ग्रन्थ में प्रश्नकर्ता गोरक्षनाथ मन, पवन, बन्ध, कन्ध आदि के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न करते हैं। उन प्रश्नो के उत्तर उनके गुरु मत्स्येन्द्रनाथ जी देते है। हिन्दी पदों के बीच कहीं–कहीं संस्कृत के छन्द भी देखे जाते है।[58]

गुरुजीः कथमुत्यद्यते नादः? कथं नादः समोभवेत ?

कथं संस्थाप्यते नाद ? कथं नादो विलीय ते ?।।37।।

डॉ० द्विवेदी ने इसे मत्स्येन्द्र के सिद्धान्तों का व्याख्याता ग्रंथ बताया है। परवर्ती होते हुए भी बाद के योगियों का विश्वासपरक ग्रन्थ है। गोरखदत्तगुष्टि, गोरखगणेश गोष्ठी, महादेव, गोरख गोष्ठी, नरवैबोध आदि रचनाओं की भी इसी श्रेणी में रखा जा सकता है।[59]

11. रोमावली

रोमावली में मानव–शरीर को सप्तसाधुओं से निर्मित बताया गया है जिनमें से चार धातुएं–रक्त, मांस त्वचा और नाड़ी माता की तथा तीन धातुएं– वीर्य, हाड़ और गुदा पिता की हैं। बन्ध, मुद्रा एवं भेद के सम्यक अभ्यास से मन को नियंत्रित कर पवन का भेद न करना चाहिए तथा बिन्दु की रक्षा करनी चाहिए। इस प्रकार के अनेक प्रश्न उठाये गये हैं और संक्षेप में उनका हल भी ढूढा गया है।

12. ज्ञानतिलक

कुल 45 छन्दों की रचना 'ज्ञानतिलक' की प्रारम्भिक पंक्तियाँ इस तथ्य पर प्रकाश डालती हैं कि 'नादब्रह्म' का रहस्याभिव्यंजन गुरु के शब्द

प्रकाश में ही होता है। शब्द ब्रह्म रुपी ताला गुरु–शब्द रुपी कुंजी से ही खोला जा सकता है। गुरु वह माध्यम है, जिसके द्वारा यौगिक प्रक्रिया की सूक्ष्म जानकारी प्राप्त होती है। ज्योति–स्वरूप परब्रह्म की प्राप्ति हेतु साधक अपने को उसमें तन्मय कर लेता है। जो शिष्य गुरु के उपदेशामृत की अपेक्षा कर देता है और शरीर की (योगाग्नि में) पक्वता और मनः स्थिरता की ओर ध्यान नहीं देता है, उसका मन विषय भोगों में आसक्त हो उठता है। उसका शरीर क्षीण हो जाता है और वह काल के वशीभूत हो जाता है। ज्ञानतिलक के 45 छन्दों में लेखक ने अपने यौगिक अनुभवों की जानकारी दी है। तथ्यों को अधिक स्पष्ट करने के लिए जगह–जगह दृष्टान्त भी दिए गए हैं।

13. पंचमात्रा

पंचमात्रा के अन्तर्गत 24 छन्द संग्रहीत हैं। इनमें बताया गया है कि पंचतत्व में ही शिव का निवास है। इन्हें नियंत्रित कर उन्मनी अवस्था में विचरण करने वाला साधक ही 'योगीन्द्र' है। मन को नियंत्रित किए बिना जिसने अपना मूड मुड़ा लिया वह नरक का भागीदार है। सच्चे साधक ही काया ही 'षडासन' और मन ही 'जंगोटा' है वह पंचेन्द्रियों की ही 'कछोटी' बाँधता है। योगीसाधक सहस्रार तक पहुँचने के लिए मूलाधार चक्र से अपनी यात्रा आरम्भ करता है। इस मार्ग की सही जानकारी मन–पवन के नियंत्रण पर ही सम्भव है। योगीसाधक प्राणायाम के सम्यक् अभ्यास से मन को नियंत्रित कर सुषुम्ना–मार्ग से प्राणवायु को ब्रह्मरंध्र में प्रवेश कराता है। अनाहद नाद का श्रवण करता है। चन्द्रामृत–पान करता है और ब्रह्म की अनुभूति करता है।

14. ज्ञानचौंतीसा

ऊँकार स्वरुप आदिनाथ परमेश्वर अपनी निजाशक्ति में लीन रहता है। निजा, परा, सूक्ष्मा ओर कुण्डलिनी शक्ति के गुणों में अभिव्यक्त ऊँकार ब्रह्म शक्ति स्वरुप शिव है। ऊँकार नाद–बिन्दु स्वरुप है। मानव शरीर की उत्पत्ति मूलाधार बिन्दू से है। शरीर की उत्पत्ति के साथ ही नाभि स्थान में सूर्य (अग्नि) की उत्पत्ति होती है और सहस्रार में स्थित अमृतस्वरूप चन्द्रमा

क्षीण होने लगता है इस तरह उदय और अस्त के मध्य मृत्यु की स्थिति है। चन्द्रमा की 16 कलाएं सूर्य की 12 कलाओं से चार अधिक हैं। चंद्रमा की चार विशेष कलारुपी अमृत के पान से ही जीवन स्थिर रखा जा सकता है। शरीर की स्थिति प्राण से है। अतः प्राण साधना अभीष्ट है। अविद्यारुपिणी माया–पाश में जकड़ी हुई जीवात्मा अपने सत्स्वरूप की प्राप्ति के लिए सतत् प्रयत्नशील रहती है। उनका निरन्तर संघर्षरत् रहना ही आत्मयुद्ध है। काम–क्रोधादि के रूप में जो शत्रु सेना उसके सामने है, उस पर विजय प्राप्त करने के लिए ऊँचे मनोबल की आवश्यकता है।

परिशिष्ट–(1) (क–1) गोरखगणेशगुष्टि–

गोरक्ष–गणेश के सम्वाद रूप में लिखी गयी इस रचना में प्रश्नकर्ता गणेश तथा उत्तर देने वाले गोरक्षनाथ है। गणेश जी तीन गुण, पंचतत्व एवं उनके वर्ण, स्वाद, स्वभाव, घर–द्वार एवं आहार–विहार के सम्बन्ध में गोरक्षनाथ जी से प्रश्न करते हैं और उनका समाधान पाते हैं। पुनः उसी क्रम में उन्होंने पंचतत्वों के गुरु भार्या, पंचतत्वों के गुण उत्पत्ति एवं विलय के सम्बन्ध में प्रश्न कर गोरक्षनाथ से समुचित हल प्राप्त किया है।

(क–2) ज्ञानद्वीप प्रबोध (गोरखदत्त गुष्टि)

गोरक्ष–दत्तात्रेय के संवाद रूप में 51 छन्दों की इस रचना में गोरक्षनाथ प्रश्न करते हैं और दत्तात्रेय उत्तर देते हैं। गोरक्ष के प्रश्न साधक की कुतूहल पूर्ति करने वाले हैं। दत्तात्रेय की वाणी में परमाद्वैत का सिद्धान्त विवेचित है।

(क–3) महादेव–गोरखगुष्टि

महादेव–गोरक्ष के संवाद–रूप में यह सिद्ध रचना दो पटल में विभक्त है। वक्ता महादेव और स्रोता गोरक्षनाथ है। प्रथम पटल में पंच–प्रकृति, पंचधर, दस द्वारा, पंचआहार, पंचव्यवहार, पंचवरण एवं पंच वानि की गणना करते हुए यह बताया गया है कि इनमें चौरासी लाख जीव–योनियाँ भ्रमण करती हैं। दूसरे पटल में महादेव के वचन है कि पृथ्वी को जल ग्रसित कर लेता है, जल को तेज को वायु, वायु को आकाश, आकाश को इच्छा और इच्छा को अलखनिरंजन परब्रह्म ग्रसित कर लेता

है। तदुपरान्त सायुज्यमुक्ति सामीप्य मुक्ति, स्वारुप्य, सालोक्य एवं महामुक्ति का उपभोग करने के लिए अलग–अलग मार्ग–निर्देशित किए गए हैं।

(क–4) सिष्टपुराण

लेखक ने इस रचना में रुपक के माध्यम से अपने विचारों को प्रस्तुत करते हुए कहा है कि ऊँकार शब्द ब्रह्म ही एक मात्र–अक्षर है। आत्म स्वरूप का ज्ञान ही परमात्म–साक्षात्कार है। काया ही योगसाधन का महान् क्षेत्र है। शील ही व्रत चक्षु ही दृष्टि, श्रवण ही सुरतियोग एवं निर्भय पद ही श्रेष्ठ अभेदपद है। इसी प्रकार संयम, संतोष, अमरकायत्व दया आदि की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गयी है। चित्त की चंचलता, रोग एवं काल आदि की हीनता बतायी गयी है।

(क–5) दयाबोध

सत्रह छन्दों की इस रचना में योगी साधकों को उपदेश देते हुए कहा गया है कि 'नाथ' का निवास घट–घट में मानते हुए सांसारिक प्रपंचों से दूर हो, एकान्त स्थान में अलखनिरंजन के ध्यान में तल्लीन रहना चाहिए। इन्द्रियों को संयमित कर तथा मन और प्राण को नियंत्रित कर अनाहत ध्वनि का श्रवण करना चाहिए।

(क–6) कुछ पद– (ड़) के आधार पर तीन पद दिए गए हैं। इन पदों में सिद्ध–पथ की ओर संकेत किया गया है।

(ख–1) सप्तवार नवग्रह

इस रचना के अन्तर्गत योगी साधक को सात दिनों और नवग्रहों पर विजय प्राप्त करने के लिए निर्देश दिए गए हैं।

(ख–2) व्रत

कुल सात छंदों की इस लघुरचना में भीतरी व्रत को ही अभीष्ट बताया गया है। साधक को गुरुपदिष्ट सेवा–संतोष एवं ब्रह्म प्राप्ति की लगन आदि के प्रति सचेष्ट रहना चाहिए।

(ख–3) पंचअग्नि

यहाँ अग्नि के पाँच प्रकार तथा उनके गुण–दोष विवेचित है। पंच अग्नियों में मूलअग्नि, भुयंगम, ब्रह्मअग्नि, कलाग्नि, रुद्राग्नि की गणना की गयी है।

(ख–4) अष्टमुद्रा

'अष्टमुद्रा' में आठ प्रकार की मुद्रायें उनके स्थान व कार्य निर्देशित हैं। इनकी जानकारी रखने वाला साधक स्वयं देवता कहा गया है।

(ख–5) चौबीस सिद्ध

इस रचना में 24 सिद्धियों के त्याग का उपदेश दिया गया है। इन्हें परित्याग करने वाला साधक योगी बालयोगेश्वर अथवा ब्रह्मज्ञानी बताया गया है।

(ख–6) बतीस लक्षण

इस रचना में आठ प्रकार की परीक्षाएं तथा प्रत्येक के चार–चार लक्षण बताये गये हैं। इन्हें जानने वाला साधक भव से मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

(ख–7) अष्टचक्र

यहाँ आठ चक्र एवं उनके स्थान शरीर के अन्तर्गत निर्देशित हैं इन अष्टचक्रों के भेद को जानने वाला 'आपै करता आपै देव' कहा गया है।

3/ब/2– गोरखनाथ की संस्कृत रचनाएं

गोरक्षनाथ के नाम से प्रचलित हिन्दी रचनाएं जहाँ योग–साधना की परम्परा में उपदेश प्रधान रचनाएं हैं वहीं उनके नाम से प्रचलित संस्कृत रचनाएं योग–विद्या के ग्रन्थ हैं। मिश्रबन्धुओं ने गोरक्ष के नाम से नौसंस्कृत ग्रन्थों का परिचय दिया–गोरक्षशतक, चतुरशीत्यासन, ज्ञानामृत, योगचिन्तामणि, योगमहिमा, योगमार्त्तण्ड, योगसिद्धान्त पद्धति, विवेक मार्तण्ड तथा सिद्ध–सिद्धान्त पद्धति।[60] योगनाथ स्वामी ने गोरक्षनाथ के 20 संस्कृत ग्रन्थों का उल्लेख किया है– अमनस्क योग अमरौधशासनम्, सिद्ध–सिद्धान्त पद्धति,

गोरक्षसिद्धान्त संग्रह, सिद्ध–सिद्धान्त से संग्रह, महार्थ मंजरी, विवेक मार्त्तण्ड, गोरक्षपद्धति, गोरक्षसंहिता, योगबीज, योग चिन्तामणि, हठयोग संहिता, श्रीनाथ–सूत्र, योगशास्त्र चतुश्षीत्यासन, गोरक्षचिकित्सा, गोरक्षपंचय, गोरक्षगीता, गोरक्षकौमुदी, गोरक्षकल्प।[61]

ब्रिग्स ने नाथपंथी ग्रन्थों की जो लम्बी सूची दी है उसमें संस्कृत तथा हिन्दी ग्रन्थों का विभेद नहीं किया गया है। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने गोरक्ष विरचित कही जाने वाली 28 ग्रन्थों की एक सूची प्रस्तुत की है–

1. अमनस्क योग	2. अमरौधशासनम्	3. अवधूतगीता
4. गोरक्षकल्प	5. गोरक्षकौमुदी,	6. गोरक्षगीता
7. गोरक्षचिकित्सा	8. गोरक्षपंचय	9. गोरक्षपद्धति
10. गोरक्षशतक	11. गोरक्षशास्त्र	12. गोरक्षसंहिता
13. चतुरशीत्यासन	14. ज्ञान प्रकाश	15. ज्ञानशतक
16. ज्ञानामृत योग	17. नाड़ीज्ञान प्रदीपिका	18. महार्थ मंजरी
19. योगचिन्तामणि	20. योगमार्त्तण्ड	21. योगबीज
22. योगशास्त्र	23. योगसिद्धान्त पद्धति	24. विवेक मार्तण्ड
25. श्रीनाथ–सूत्र	26. सिद्ध–सिद्धान्तपद्धति	27. हठयोग
28. हठसंहिता।		

द्विवेदी जी ने स्वयं स्वीकार किया है कि उन पुस्तकों में अधिकांश के कर्त्ता स्वयं गोरक्षनाथ नहीं थे।[62] डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय ने 15 ग्रन्थों की गोरक्षकृत होने की सम्भावना व्यक्त की है–

1. अमरौधशासनम्	2. अवधूतगीता	3. गोरक्षगीता
4. गोरक्षशतक	5. विवेकमार्त्तण्ड	6. महार्थमंजरी
7. सिद्ध–सिद्धांन्तपद्धति	8. चतुरशीत्यासन्	9. ज्ञानामृत

10. योगमहिमा 11. योग–सिद्धान्तपद्धति 12. गोरक्ष कला

13. गोरक्षसहस्रनाम 14. गोरक्षपिष्टिका 15. योगबीज

पर सिद्ध–सिद्धान्त पद्धति, महार्थ मंजरी, गोरक्षसंहिता एवं अमरौधशासनम्–इन चार ग्रन्थों को उपाध्यायजी ने प्रामाणिक एवं महत्वपूर्ण माना है।[63] प्राच्यशोध विद्यासंस्थान जोधपुर (राजस्थान) में 'छुरिका–मंत्र' नामक एक पृष्ठ की हस्तलिपि गोरक्ष के नाम से बतायी जाती है। यहीं पर 'ज्ञान–सागर' नामक रचना गोरक्ष की बतायी जाती है। 20 पेजों की इस रचना के अन्त में कहा गया है– **'गोरक्षनाथेन कथितमिदं मत्स्येन्द्रनाथस्य श्रृणवतः।। गुरु–शिष्यौ परमानंदौ लब्ध्वाविजहतुरिति।।'** निरंजन पुराण के सम्बन्ध में कहा गया है– 'निरंजन पुराण नामकों ग्रन्थ विरचितो गोरक्षनाथेन।' तीन सौ बत्तीस श्लोकों की रचना 'सर्वज्ञान' गोरक्ष विरचित बतायी गयी है। 19वीं शताब्दी की रचना 'दीपदान–क्रमविधिं गुटका संख्या 39290 के अन्तर्गत संग्रहीत है, जिसमें गोरक्ष की अर्चना, दीपदान के मंत्र आदि बताये गये हैं। कहना न होगा कि ये रचनाएं नितान्त परवर्ती हैं। गोरक्षनाथ के प्रति श्रद्धा–भक्ति की ही परिचायिका है। यद्यपि गोरक्षनाथ के योग विषयक विचारों के पोषक कुछ संस्कृत ग्रन्थ हैं, पर उनकी वाणी का मौलिक रुप जनभाषा में ही अधिक सुरक्षित रहा होगा।

इस दृष्टि से गोरक्षनाथ की 'सबदी एवं 'पद' विशेष महत्वपूर्ण है। कहने का यह आशय कदापि नहीं है कि गोरक्ष के नाम से प्रचलित संस्कृत ग्रन्थों का कोई महत्व नहीं। इन संस्कृत ग्रन्थों में गोरक्षनाथ की योगविषयक प्रक्रियाएं व मान्यताएं व्यवस्थित रूप में मिल जाती हैं। अतः कुछ प्रमुख संस्कृत रचनाओं की चर्चा यहाँ आवश्यक है।

(1) सिद्ध–सिद्धान्त पद्धति (गोरक्षोपनिषद्)

सिद्ध–सिद्धान्त पद्धति के प्रथम श्लोक से इस रचना के गोरक्ष–विरचित होने का संकेत मिलता है। डॉ० उपाध्याय के मतानुसार यह ग्रन्थ गोरक्षसिद्धान्त संग्रह एवं सिद्ध–सिद्धान्त संग्रह से पूर्व लिखा जा चुका था, क्योंकि इन ग्रन्थों में सिद्ध–सिद्धान्त पद्धति के कुछ उदाहरण मिल जाते हैं।[64] गोरक्षसिद्धान्त–संग्रह के अनुसार गोरक्षोपनिषद् के रचयिता को

कभी–कभी श्रीनाथ तथा नित्यनाथ भी कहा गया है। हठयोग प्रदीपिका में नित्यनाथ का नाम आता है। इन्हें 'रसरत्नाकर' का लेखक भी बताया जाता है। वाग्भट्ट के 'रसरत्नसमुच्चय' में इन्हें इन्द्रजाल तत्व का रचयिता बताया गया है।[65] नित्यनाथ को नित्यानन्द के नाम से भी परिचित कराया जाता है। नेपाल की राजकीय लाइब्रेरी में नेवारी सं० 835 (सन् 1718 ई०) में लिपिबद्ध सिद्ध–सिद्धान्त पद्धति नेवारी लिपि में देखने को मिली थी। उसे 'नन्द' नामधारी किसी व्यक्ति ने लिपिबद्ध किया था। सम्भव है गोरक्ष के वे विचार जो सदियों से पूर्व जन–मानस में प्रचलित थे अथवा क्षीण योगी परम्परा के माध्यम से चले आ रहे थे, उन्हें नित्यनाथ अथवा नित्यानन्द नामक किसी नाथसिद्धि ने लिपिबद्ध करने का प्रयास किया हो।

'सिद्ध–सिद्धान्त पद्धति' कुल छः उपदेशों (अध्यायों) में विभक्त है। प्रथम उपदेश के अन्तर्गत यह बताया गया है कि निरपेक्ष, भेदातीत एवं शाश्वत परमात्मा किस प्रकार स्वरुपभूत शक्ति के द्वारा दिक्काल सीमित' वैविध्यपूर्ण ब्रह्मण्ड एवं असंख्य पिण्डों के रूप में रुपायित होता है। और स्वयं उनमें अन्तर्यामी बनकर निवास भी करता है। दूसरे उपदेश में अष्टांग योग की चर्चा करते हुए पिण्डस्थ नौचक्र षोडश आधार, तीन लक्ष्य तथा पंचव्योम का परिचय कराया गया है। शरीर के विशिष्ट भागों में उनकी स्थिति बतायी गयी है। उन पर ध्यान करने की विधि समझाई गयी है। तीसरे उपदेश में ब्रह्मण्ड की सभी वस्तुओं को व्यष्टिपिण्ड में विद्यमान बताया गया है। दोनों की मूलभूत एकता स्थापित की गयी है। चौथे में समस्त मानवपिण्डों का अन्तिम आधार परमशक्ति को बताया गया है, जो अपने मूलरूप में अद्वैत परमात्मा शिव से अभिन्न एवं तद्रूप है। पाँचवें उपदेश में समरसत्व की उपलब्धि के साधनों पर प्रकाश डाला गया है जिसकी प्राप्ति के बाद पदार्थ–आत्मा, ससीम–असीम अथवा आत्मा–अनात्मा का भेद शमित हो जाता है। ऐसी स्थिति में योगी सबकुछ शिवमय अनुभव करता है। छठें उपदेश में योगी के चरित्र एवं आचरणों का उल्लेख है। समरसत्व की प्राप्ति कर लेने वाला, समस्त बन्धन मुक्त, भेद–भाव परित्यक्त, दिव्य प्रकाशयुक्त योगी ही अवधूत है। उसे ही सही अर्थों में 'नाथ' कहा जाता है और वही सद्गुरु होने के योग्य है।[66]

2. गोरक्षशतक

ब्रिग्स ने गोरक्षशतक को सर्वाधिक प्रामाणिक रचना स्वीकार करते हुए ज्ञानशतक एवं ज्ञान प्रकाश शतक को नामान्तर बताया है। ब्रिग्स का मत है कि गोरक्षशतक टीका, गोरक्षशतक टिप्पण, गोरक्षकल्प, गोरक्षपद्धति, योग सिद्धान्त पद्धति और सिद्ध–सिद्धान्त पद्धति नामक ग्रंथ गोरक्षशतक के ही भाष्य, परिशिष्ट टिप्पणी आदि है। डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय का मत है कि गोरक्ष संहिता से इस ग्रन्थ की तुलना करने पर गोरक्षसंहिता अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन लगती है। गोरक्षसंहिता आदि को आधार बनाकर गोरक्षशतक को गोरक्ष के नाम से प्रचलित कर दिया गया है। यह ग्रंथ गोरक्षसंहिता की अपेक्षा बहुत बाद को लिखा गया है।[67]

नेपाल के राष्ट्रीय अभिलेखालय में नेवारी सं० 825 (सन् 1705 ई०) में लिपिबद्ध 'गोरक्षशतकम्' देखने को मिला था जो सिद्ध सिद्धान्त–पद्धति (सन् 1718) के पूर्व का सिद्ध होता है। नेपाल स्थित मृगस्थली गोरक्ष–पीठ में उपलब्ध गोरक्षशतक के एक प्राचीन हस्तलेख में कुल 204 श्लोक दिये गये हैं। समय का विवरण यहाँ अनुपलब्ध है। पुस्तक के अन्त में लिखा गया है–

"श्रीमत्सदानन्दायते नमः सततम्।'

गोरक्षशतक का आरम्भ गुरु–वन्दना से होता है। योग को मुक्ति के परमसाधन के रूप में स्वीकार करते हुए उसे 'श्रुतिकल्पतरु का 'फल' कहा गया है। षंडांग योग की चर्चा करते समय आसनों के विवेचन के बाद चक्र, षोडशाधार आदि का ज्ञान कराया गया है। नाड़ी एवं वायु के प्रकार का परिचय देते हुए प्रमुख नाड़ियों एवं वायु की महत्ता प्रदिपादित की गई है। कुण्डलिनी–जागरण एवं मुद्रा–सिद्धि की विस्तृत विवेचना यहाँ उपलब्ध है। ऊँकारों पासना की महत्ता बताते हुए लेखक का कहना है कि, 'ऊँ' वह परम् ज्योति है, जिसमें भूः भुः स्वतः, सूर्य–चन्द्र–अग्नि, इच्छा–ज्ञान–क्रिया, ब्राह्मनी–वैष्णव, रुद्री, अ–उ–म् अर्थात लोक–त्रय, कालत्रय, देवत्रय एवं वेदत्रय सभी विद्यमान हैं प्राणसंरोध का विवेचन करते हुए कहा गया है कि जब–तक शरीर में वायु निरुद्ध है, चित्त

असंक्षुब्ध है, भ्रूद्वय में दृष्टि स्थिर है तबतक मृत्यु का भय नहीं। प्रायः– निरोध नाड़ी–साधन से ही सम्भव है। योगी को आसनस्थ ही पूरक–रेचक और कुम्भक का अभ्यास करना चाहिए।

3. गोरक्ष संहिता

राय दिनेशचन्द्र सेन ने अन्य संस्कृत ग्रंथों की तुलना में गोरक्ष संहिता को श्रेष्ठ माना है।[68] डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के मतानुसार गोरक्ष संहिता को पं० प्रसन्नकुमार कविरत्न ने सं० 1497 में छपाया था। इसकी एक प्रति द्विवेदी जी को नेपाल दरबार लाइब्रेरी में भी मिली थी। जिसका कुछ अंश डॉ० बागची ने कौलावलि निर्णय की भूमिका में उद्धृत किया हे। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के गायकवाड़ ग्रंथालय में इसका एक दूसरा संस्करण भी डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय को मिला था, जिसकी टंकित प्रति भी उनके पास है। उन्हीं के मतानुसार यह संस्करण इन्द्रजी शर्मा द्वारा सन् 1950 में प्रकाशित हुआा था, जिनका प्रकाशन काठियावाड़ के प्रभासपाटण में तथा मुद्रण अहमदाबाद में हुआ था।[69] गोरक्षसंहिता के दो प्रकरण उपलब्ध होते हैं– आदि और भूति। इसके बहुत से श्लोक गोरक्ष–विरचित कहे जाने वाले अन्य ग्रन्थों में भी पाये जाते हैं।[70]

गोरक्ष संहिता के कादि प्रकरण में 27 पटलों का निर्देश है, वहाँ रेखामात्र दे दी गयी है। गोरक्षसंहिता की सूची में प्रत्येक पटल के सामने सम्पादक ने यद्यपि पटलों का नाम शुद्ध करके रखने का प्रयास किया है फिर भी कुछ पटलों का वस्तु–निर्देश नहीं किया जा सकता है। प्रथम पाँच पटलों के अन्तर्गत तंत्रानुकूल भैखस्थान एवं स्वरुप–वर्णन, पीठाधार हिमवत की स्थिति, पूर्ण पीठ तथा कामरुप पीठ का अपूर्व वर्णन प्रस्तुत है। कामदेव के दहनोपरान्त पार्वती–ग्रहण के लिए देवों द्वारा शिव की स्तुति शिव–परिणय, पश्चिम आम्नाय सिद्धों का संतान विषयक पार्वती–प्रश्न, माहेश्वरी आदि षड़मातृ मूर्तियों का स्वरुप वर्णन तथा शव–साधन प्रकार एवं मालिनी चक्रपूजन की विधि विवेचित की गयी है।

पाँचवें पटल में कौमारी, वैष्णवी, बाराही ऐन्द्री, चामुण्डा, आग्नेयी माताओं की पदसंख्या, वर्णसंख्या, षड्विधि न्यासमार्ग, स्वाभाविक न्यास से

चक्रभेदन एवं चल–चक्रभेदन के प्रकार वर्णित हैं। छठें से लेकर 10वें प्रकरण तक देवीचक्र, वर्ण, न्यास, उपक्रम, त्रिशिखा, पद्म, योनि–तीन मुद्राओं एवं इनके तीन–तीन भेदों पर प्रकाश डाला गया है। इनके साधनक्रम, स्वरूप एवं फलों की चर्चा की गयी है। जालंधरनाथ की उत्पत्ति तथा उनका मंत्र, यंत्र, ध्यान एवं पूजा विधि बतायी गयी हे। दसवें पटल में समयोंद्धार एवं वक्रागोद्धार की विवेचना है। एकादश से लेकर 27वें पटल तक शिरोदूती निर्णय, साधन, शिखादूती, समुद्धार, कुला–कुल निर्णय शिखास्वच्छद निर्णय, आज्ञाधिकार, द्वादश श्लोक निर्णय, योगिनी चक्रनिर्णय, खेचरी चक्र निर्णय, वज्रगहरोद्धार में समस्त विद्या निर्णय, षोडान्यास, छोम्मासवाच लक्षण, पंचाशुद्रध्यान वर्णन, चौबीस द्वीप द्वीपाधिप क्षेत्रपाल ध्यान–विधान क्रम, परमदूतियो एवं षोड़श दित्य योगिनियों की विवेचना की गयी है। खण्डित स्थलों पर सम्पादक ने सुसम्बद्ध अनुमित पाठकोष्ठ के अन्तर्गत दे दिया है।

गोरक्ष संहिता का 'कादि प्रकरण' तंत्र विद्या का ग्रन्थ है तो उसका भूति प्रकरण रसायन विद्या से सम्बद्ध है। देह के स्थिरीकरण की सामर्थ्य केवल पारद में है। पारद में ही सभी द्रव्यों का लय होता है। पारद का विशद् विवेचन एवं उसके विविध प्रयोग एवं उपयोग की चर्चा यहाँ उपलब्ध है। गोरक्ष संहिता के भूति प्रकरण में नौ पटल है। प्रथम पटल के अन्तर्गत रसकर्म में अपेक्षित सहाय निरूपण, रस महिमा एवं उसके आठगुण, रस संस्करणजन्य पुण्य, फल एवं उसका उपयोग आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है। श्लोक संख्या एक सौ ग्यारह से 123 तक रस–प्रणेताओं एवं उनके ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है। द्वितीय पटल में रसों–उपरसों के नाम एवं लक्षणों का स्फुट निर्देश तथा उनके अशुद्ध होने पर उनके निष्फलत्व की भी विवेचना की गयी है। तृतीय पटल में रस के अष्टादश संस्कार एवं उनकी विधि, धातु एवं रत्नों की शुद्धि, अथकादि सत्वपातन एवं स्वर्णरजत कारक बीज–विधान निर्देशित है। चौथे पटल में जीवोत्सर्ग के समय का विधान, रस–बन्धन की प्रक्रिया एवं रसों के संयोग से रस बीजत्व का वर्णन है विभिन्न पदार्थों के बीजों का वर्णन करने के उपरान्त कालबेधी रस से लेकर स्पर्शबेधी पर्यन्त रसों का प्रतिपादन किया गया है।

अनेक प्रकार के सत्वों का निःसारण, रसशाला ओर रसकर्म में क्रिया कुशल शास्त्रज्ञों की नियुक्ति का विधान बताया गया है। पाँचवें पटल में अभ्रक–ग्रास का रस में विधान, विविध धातुओं और औषधियों के योग से रस–बन्धन एवं उनके उपयोग में आने वाली 64 महौषधियों के नाम, गर्भविवरण, विविध सुवर्णों की उत्पत्ति, रस–कामधेनु एवं अभ्रक–भक्षण से बल–प्राप्ति का वर्णन किया गया है। षष्ठम् पटल में उत्तम स्वर्ण की उत्पत्ति, का विधान, रस–भक्षण से बल–आयु की प्राप्ति, गन्धक शोधनोपयोगी दस औषधियों के नाम आदि विषयों का सविस्तार वर्णन है। 7वें पटल में 64 दिव्य औषधियों के नाम, लक्षण और कर्मों का प्रतिपादन सविषा और निर्विषा–दो प्रकार की लताएँ, अम्लवेतस की उत्पत्ति स्वरूप, लक्षण कर्म एवं गुण, रसायन सेवन के समय पथ्यापथ्य विचार निर्देशित है। आठवें पटल में अयसकान्तमणि की उत्पत्ति, लक्षण, पराक्रम एवं उसके रसबन्ध का वर्णन है। कान्तायसंयुक्त रसायन के उपयोग से अनेक रोगों के नाश की विधि और उनके अनुमान का विधान किया गया है। नवें पटल में शास्त्रानुसार औषधियों के प्रयोग की विधि रसमंत्रोंच्चार एवं उसकी फलश्रुति का वर्णन है।[71]

4. महार्थ मंजरी

महार्थ मंजरी नामक रचना माहेश्वरानन्द–प्रणीत बतायी जाती है। इसके दो संस्करण उपलब्ध है–एक कश्मीरी सिरीज में प्रकाशित है तो दूसरा त्रिवेन्द्रम् सिरीज में। कश्मीरी सिरीज में प्रकाशित संस्करण से लेखक के माता–पिता गुरु एवं निवास–स्थान का कुछ पता नहीं चलता परन्तु त्रिवेन्द्रम, संस्करण से ज्ञात होता है कि माहेश्वरानन्द चोल–देश के निवासी थे, उनके पिता का नाम माधव और गुरु का नाम महाप्रकाश था। गुरु ने ही उनका माहेश्वरानन्द रखा था, लोकदृष्टि से उनका नाम गोरक्ष था।[72] महार्थ मंजरी के श्लोक महाराष्ट्रीय प्राकृत में है और उन पर परिमल नामक टीका संस्कृत में है। काश्मीरी संस्करण के प्रथम श्लोक का अर्थ 'परिमल' में दिया गया है। यहाँ 'महाप्रकाश' शब्द 'परमशिव' के लिए प्रयुक्त हुआ है, न कि किसी मानव गुरु के लिए। डॉ० अवस्थी का मत है कि त्रिवेन्द्रम संस्करण का बाद में किसी के द्वारा परिवर्तन हुआ है अतः उसकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। महार्थ मंजरी के त्रिवेन्द्रम संस्करण में कुल 71

मूल श्लोक हैं। 70वें श्लोक में कहा गया हे कि, 'इसी महार्थ–युद्ध का उपदेश आरम्भ में पाण्डुपुत्र को सोलह सहस्र शक्तियों में सम्पन्न देव माधव श्रीकृष्ण ने दिया था। 52वें श्लोक में टीकाकार ने श्री शिवानन्द, श्रीमहाप्रकाश और माहेश्वरानन्द को योगीन्द्र कहा है। अतः टीकाकार कोई अन्य व्यक्ति जान पड़ता है। वह माहेश्वरानन्द का शिष्य भी हो सकता है। यहाँ पर महाप्रकाश का भी मानव गुरु के रूप में उल्लेख है।[73] डॉ० अवस्थी का अनुमान है कि यदि शिवानन्द तंत्रालोक के टीकाकार जयरथ के द्वारा उल्लिखित शिवन्द्रनाथ हैं। तो ये काश्मीरी क्रमदर्शन, शाक्त दर्शन के उद्भावक हो सकते हैं, जो विक्रम की 8वीं शताब्दी में विद्यमान थे। महार्थमंजरी के काश्मीरी संस्करण में टीका या मूल गाथाओं में कहीं भी गोरक्ष का नाम नही मिलता।[74]

महार्थमंजरी में महाप्रकाश को चरमतत्व बताते हुए कहा गया है कि इसी 36 तत्वमय संसार का उदय होता है। इस महार्थ दर्शन में मुमुक्षु को शिवयोगी कहा गया है। यामली सिद्धि ही यहाँ पुरुष की मुक्ति है। विमर्शरूपता का ध्यान, जप, प्राणायाम आदि आतंकरहित पूर्ण अनुभव शिवयोगियों की यामली सिद्धि या मोक्ष हैं ब्रह्माण्ड का अनुकरण रूप यह स्वशरीरात्मक पिण्ड ही पीठ है। इसमें इन्द्रियात्मककरण देवियाँ स्फुरित हो रही है और इसके बीच में ज्ञाननिधि परमशिव विराजमान है। इनकी अर्चना का विधान है। ब्राह्मपूजा को आन्तरिक पूजा का अनुकल्प माना गया है। इसके अतिरिक्त श्रीचक्रपूजन, आणवोपाय, शाक्तोपाय और शाम्भवोपाय का निरुपण हुआ है। इस प्रकार क्रम, कुल एवं प्रत्यभिज्ञा तीनों दर्शनों का इस ग्रन्थ में समन्वय लक्ष्य किया जा सकता है।[75]

5. *अमनस्क योग*

अमनस्कयोग की एक अपूर्ण एवं त्रुटिपूर्ण प्रति योगनाथ स्वामी की कन्नड़ भाषा में लिखी हुई मिली थी, जिसमें 98 श्लोक थे। शोध प्रयास से उन्हें 211 श्लोक उपलब्ध हो सके। डॉ० गोपीनाथ कविराज के सहयोग से उसकी अपूर्णता एवं अशुद्धियाँ दूर की जा सकीं। इस कन्नड़ प्रति को संस्कृत में लिपिबद्ध करने का श्रेय एक कन्नड भाषी को ही हैं बाद में

योगनाथ स्वामी को अमनस्क योग की कुछ जीर्ण पोथियाँ भी प्राप्त हुई और उनमें उस ग्रन्थ के विभिन्न नाम भी पाये गये।[76] ग्रन्थ के सम्पादक योगनाथ स्वामी का मत है कि यह गोरक्षनाथ द्वारा रचित ग्रन्थ है पर डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी एवं पंडित गोपीनाथ कविराज जैसे गम्भीर विचारकों ने इसकी प्रामाणिकता में सन्देह व्यक्त किया है।[77]

अमनस्क योग ग्रंथ पूर्वार्द्ध एवं उत्तरार्द्ध– दो भागों में विभक्त हैं पूर्वार्द्ध के 98 श्लोकों में 'तारक योग' का विवरण उपलब्ध है तो उत्तरार्द्ध के 113 श्लोकों में अमनस्क योग का सविशेष व्याख्यान किया गया है। अमनस्क योग की प्रस्तावना लिखते हुए पं० गोपीनाथ कवि राज ने बताया है कि जिस प्रकार पतंजलि के सम्प्रज्ञात भूमि में वन का अस्तित्व बना रहता है पर असम्प्रज्ञात में नहीं, उसी प्रकार तारक योग (पूर्वयोग) में मन की सत्ता रहती है पर अमनस्क योग (उत्तर योग) में नहीं।[78] अमनस्क ग्रंथ ईश्वर एवं बामदेव–सम्वाद के रूप में लिखा गया है। बामदेव को भगवान महादेव ने जिस जीवन–मुक्ति–प्रद उपाय का उपदेश किया वह तारक योग था, जिसके दो विभागों–पूर्व एवं उत्तर में उत्तर तारक ही अमनस्क योग है। पूर्वतारक बहिर्योग है तथा उत्तर तारक अमनस्क अन्तर्योग है। बामदेव के प्रति भगवान शिव का कथन है कि पवित्र स्थान में सुखासनपूर्वक बैठकर, लगभग एक हाथ की दूरी तक, दृष्टि स्थिर कर, निश्चल शरीर एवं निश्चिन्त मन वाला होकर परमतत्व का अभ्यास करना चाहिए। परमतत्वावबोध कर लेने पर योगी इस पंचभौतिक शरीर से ऊपर उठ जाता है। ऐसी अवस्था में उसके बाहर–भीतर सर्वत्र परमतत्व का स्फुरण होने लगता है। चित्त–लय के साथ वायु का भी लय हो जाता है और योगी इन्द्रिय विषयों से मुक्त हो जाता है। वह सर्वसम हो व्यापार–रहित हो जाता है, परब्रह्म में लीन हो जाता है। अमनस्क योग की साधना करने से योगी चिरकाल तक लयस्थ रह जाता है तो उसे आठों सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती है वह सम्पूर्ण जगत को वश में कर लेता है। योगी मनचाहा स्वरूप बनाकर ब्रह्माण्ड को हथेली पर रखे हुए मोती के समान देख सकता है।[79] इस महातत्व में अधिष्ठित योगी का पता नहीं होता भले ही ब्रह्मा–विष्णु–महेश आदि का प्रलय क्यों न हो जाय–

ब्रह्माविष्णुमहेशाना प्रलयेष्वपि योगिनाम्।

नास्ति पातो लयस्थानां महातत्वे विवर्तिनाम्।।

6. *अवधूत गीता*

अवधूत गीता दत्तात्रेय कृत बतायी जाती है। दत्तात्रेय ने इसे उपदेश के रूप में कार्तिकस्वामी को सुनाया था। सम्भवतः प्रारम्भिक श्लोकों में गोरक्षनाथ का नाम जोड़ देने का श्रेय किसी नाथ सिद्ध को ही है।[80] अवधूत गीता के सभी अध्याय आत्मसविति के उपदेश से भरे पड़े हैं। सविति से अभिप्राय पूर्वज्ञान से है। आत्मा परमात्मा जीव एवं शिव की एकता का पूर्णज्ञान प्रतिपादित करना अवधूत गीता का मुख्य विषय है।

आत्मा ही सबकुछ है। वह भेद–अभेद से परे हैं। स्वभावतः निर्मल और शुद्ध स्वरूप है। वह अत्यय अनंत एवं द्वन्द्व–रहित है। आत्मा का जन्म नहीं होता अतः उसकी मृत्यु का प्रश्न ही नहीं। आत्मा चैतन्य रूप व अनादि है। वह आदि मध्य एवं अन्त की अवस्थाओं से रहित है। अतः वह बन्धन मुक्त है।[81]

न बद्यौ नैव मुक्तो हं न चाहं ब्रह्मणः पृथक।

न कर्ता न च भोक्ताहं व्याप्य व्यापक वर्जितः।।

आत्मतत्व ही कल्याण स्वरूप शिव है। यही गुण रंग से मुक्त, ज्ञान–अज्ञान से परे, निष्काम–निःसंग तथा निःसार है। वह न तो स्थूल है और न तो सूक्ष्म है। वह सभी अवस्थाओं से परे आदि अंत रहित देशकाल से परे है। इस सर्वव्यापक चेतनस्वरूप आत्मा की पूजा पान–फूल आदि से नहीं की जा सकती। वह मन–बुद्धि एवं इन्द्रियों से परे है। न बाहर है और न भीतर है न तो उसका कोई मित्र है और न ही कोई उसका शत्रु। इस प्रकार अवधूत गीता के सभी अध्याय आत्मपरमत्म तत्व के ऐक्य भाव की ही पुष्टि करते दीख पड़ते हैं।

7. *अमरौधशासनम्*

शैवागमों से शैवनाथमत का सम्बन्ध निरुपण करने के लिए अमरौध–शासनम् एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। सन् 1919 ई० में कश्मीर ग्रंन्थागार

के संस्कृत सिरीज में प्रकाशित 'जन्म–मरण–विचार' में अमरौध शासनम् नामक संस्कृत पुस्तक को गोरक्षकृत बताया गया है।[82] इस ग्रन्थ की रचना तिथि तथा लिपिकाल है। काश्मीर के महाराजा श्री प्रताप सिंह द्वारा प्रतिस्थापित 'प्रयत्नविद्याप्रकाश' (रिसर्च) कार्यालय में उसके अध्यक्ष पं० मुकुन्दराम शास्त्री ने इसका संग्रह संशोधन एवं पर्यायांकन कर प्रकाशित कराया। शास्त्री जी ने स्वयं भी ग्रन्थ कराया। शास्त्री जी ने स्वयं भी ग्रन्थ–रचनाकाल एवं ग्रन्थ–कर्ता के सम्बन्ध में अनभिज्ञता प्रकट की है। इस पुस्तक में योग–प्रक्रिया का उल्लेख उपदेशात्मक ढंग से किया गया है।

'अमरौध प्रबोध' नामक रचना उद्बोधनात्मक ढंग से लिखी गयी मिलती है, जिसका विषय है क्रियात्मक अष्टांग योग। पिण्ड–ब्रह्माण्ड का समरसीकरण यहाँ भी काम्य है। कहा जाता है कि उक्त दोनों पुस्तकें काश्मीर अमरकण्टक की अमरनाथ गुहा में गोरखनाथ द्वारा लिखी गयी थी।

8. गोरक्ष पद्धति

डॉ० मल्लिक ने 'गोरक्षपद्धति' की उत्पत्ति 'गोरक्षशतक' और 'गोरक्षसंहिता'–दोनों के मिश्रण से माना है। उसके प्रथम सौ श्लोक गोरक्षशतक के अनुरुप है, द्वितीय शतक में प्राणायाम प्रत्याहार आदि का वर्णन है।[83] डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय ने गोरक्ष पद्धति के प्रथम शतक अथवा द्वितीय शतक को गोरक्षनाथ की मूल रचना मानने से इन्कार किया है।[84] गोरक्ष पद्धति में गोरक्ष–संहिता का उल्लेख कई बार आया है अतः यह ग्रंथ गोरक्ष–संहिता के बाद का जान पड़ता है। उपाध्याय जी गोरक्ष–पद्धति को एक स्वतंत्र ग्रंथ के रूप में मान्यता देते हैं।[86]

गोरक्ष पद्धति दो शतकों में विभक्त है। प्रथम शतक को 'योगांग पूर्वाभ्यास विधि' तथा दूसरे शतक को 'मुक्ति सोपान उत्तर शतक' के नाम से अभिहित किया गया है। प्रथम शतक के अन्तर्गत आसन, षट्चक्र निरुपण, दशनाड़ी वर्णन, दस वायु वर्णन, शक्ति चालन एवं उसकी विशेष विधि मुद्रा, बन्ध, महावेध, विपरीतकरण, प्रणवाभ्यास, प्राणायाम प्रकार एवं नाड़ी शोधन आदि विषय विवेचित है। द्वितीय शतक में षट्कर्मों द्वारा शरीर को दोष–रहित

बना आसन–प्रणायाम के सम्यक् अभ्यास निर्देश दिया गया है। आसन् प्राणायाम के उपरान्त प्रत्याहार एवं उसकी विधि तथा अमृत–रसपान की चर्चा की गयी है। तत्पश्चात धारणा के सम्बन्ध में विचार स्पष्ट करते हुए लेखक ने पृथ्वी धारणा, वारुणी धारणा, आग्नेयी धारणा, वायवी तथा नभोधारणा– इन पाँच प्रकार की धारणाओं की गणना की है तथा उनके फलों से परिचित कराया है। उसी क्रम में सगुण–निर्गुण दो प्रकार के ध्यान बताये गये हैं। ध्यान–विधि की यहाँ विस्तृत विवेचना उपलब्ध है। कहा गया है कि ध्यानावस्था में स्थिर रहते हुए योगी के कर्ण आदि इन्द्रियों में शब्दादि विषयों का सूक्ष्म भाग भी जब प्राप्त होता है तभी तक ध्यानावस्था कहलाती है, पर जब आत्मा में पंचेन्द्रिय वृत्ति लीन हो जाय तो आत्मा में अर्थ मात्र का भान रहने वाली अवस्था समाधि कहलाती है। इस द्वन्द्वतीत अवस्था में आत्मा–परमात्मा के ऐक्य की अनुभूति होती है जीव और परब्रह्म का सांसारिक दशा में उपाधि द्वारा भेद होने पर भी दोनों चिद्रूप होकर एकत्व की प्राप्ति करते हैं।

9. गोरक्ष सिद्धान्त–संग्रह

गोरक्षसिद्धान्त–संग्रह की एक अपूर्ण मातृका पं० गोपीनाथ कविराज को मिली थी। इसे महत्वपूर्ण समझकर उन्होंने सन् 1925 में सरस्वती भवन ग्रंथ माला पुष्प 18 के अंतर्गत इसका प्रथम संस्करण प्रकाशित किया। फिर भी कई वर्षो तक यह दुष्प्राप्य ही बना रहा। एक दूसरी मातृका जनार्दन शास्त्री पाण्डेय को उनके एक मित्र से मिली थी, जिसे संशुद्ध कर एक अन्य संस्करण उन्होंने सन् 1973 ई० में सरस्वती भवन ग्रन्थ माला 110 के अन्तर्गत प्रकाशित किया।[87]

ग्रन्थ के आरम्भ में 'नाथ' की स्तुति की गयी है। तदुपरान्त अवधूत का स्वरूप एवं लक्षण योगी के मुख्य चिन्ह मुक्तिरूप परमपुरुषार्थ में अवधूतों की विशेषता नाथ लक्षण, अन्य मतवादियों की तत्व–प्राप्ति में असमर्थता, भोग की अपेक्षा योग की श्रेष्ठता, कापालिक मत की उत्पत्ति, 'नाथ' द्वारा शैव–शाक्त मत का प्रवर्तन, अवधूत की सर्वश्रेष्ठता, योगी तथा योगमत की श्रेष्ठता ज्ञानियों की मरणोत्तर गति का निरुपण सभी दर्शनों का स्वरूप–दर्शन में समन्वय, नादानुसंधान से राज योग की प्राप्ति,

नाथसिद्धान्त का महत्व एवं स्वरूप अजपाजाप, महाभूत धारणा गोरक्ष शब्द की निरुक्ति, स्तवन एवं गोरक्ष मंत्र के बिना कर्म की सिद्धि असम्भव, चारों युगों में 'नाथ' की उपस्थिति एवं चार प्रकार की मुक्ति, नवनाथों की वास भूमि, रसायनी महाविद्या, सिद्धि प्रकार प्रणव महिमा एवं परमधर्म निर्णय, शिव की श्रेष्ठता एवं ललिता–महिमा, शास्त्राभ्यास, की अपेक्षा योगाभ्यास का प्रतिपादन भर्तहरि एवं नागेश की शाप–प्रदान, आचार की अपेक्षा विचार का प्राधान्य, गुरु–वचन का महात्म्य स्मार्त्त आदि का मिथ्या धर्मत्व, अवधूतों के त्याग, योग एवं शक्ति का निरुपण निर्गुण–सगुण की अपेक्षा 'नाथ' की सर्वोपरिता साम्प्रादायिक ग्रंथों की अनुपयोगिता आदि अनेक विषय विवेचित है।

10. हठ्योग प्रदीपिका

डॉ० मल्लिक का मत है कि हठयोग प्रदीपिका की रचना स्वात्माराम अथवा चिन्तामणि आदि ने 15वीं श० में की जिसका मूल 'गोरक्ष पद्धति' अथवा 'गोरक्षशतक' आदि ग्रंथ हैं।[88] सुरेशचन्द्र नाथ मजुमदार तथा ब्रिग्स ने भी हठयोग प्रदीपिका को 15वीं श० की रचना माना है। गोरक्षशतक के कुछ श्लोक हठयोग प्रदीपिका में भी यंत्र–तंत्र पाये जाते हैं।[89] प्राच्य शोधविद्या–प्रतिष्ठान जोधपुर में इस ग्रन्थ की कई प्रतियाँ देखने को मिली थी, जो सभी 19वीं श० की लिपिबद्ध थीं। गुटका सं० 8656 में संग्रहीत इस ग्रन्थ का लिपि समय 1844 ई० अनुमानित है। लिपिकर्ता निर्मलगिरि बताये गये हैं तथा ग्रंथकर्त्ता स्वात्माराम। सन् 1915 ई में पंचमसिंह ने इनका अंग्रेजी अनुवाद भी किया जो इलाहाबाद के 'दी सिक्रेट ब्रुक्स आप दी हिन्दुज' द्वारा प्रकाशित हुई।[90]

'हठयोग प्रदीपिका' कुल चार उपदेशों में विभक्त है। प्रथम उपदेश में आदिनाथ की वन्दना के उपरान्त योगी साधक के लिए योग्य कुटीनिर्माण, यम–नियम, आसन, पथ्यापथ्य विचार आदि का विधान बताया गया है। द्वितीय उपदेश में कहा गया है कि साधक को आसन–सिद्धि कर हितकारी मिताहार करते हुए योगी गुरु द्वारा निर्देशित मार्ग से प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। प्राणायाम की विधि बताते हुए लेखक ने युक्त अयुक्त प्राणायाम से उत्पन्न लाभ–हानि की भी चर्चा की है। शरीर–शुद्धि के लिए षट्कर्मो का निर्देश है। तृतीय उपदेश में कुण्डलिनी शक्ति की सभी प्रकार के योगों

की धारिका बताया गया है। कुण्डलिनी–जागरण में मुद्रा–बेध आदि की उपयोगिता सिद्ध की गयी है। चतुर्थ उपदेश में समाधि को विभिन्न नामों से सम्बोधित करते हुए राजयोग की प्रशंसा की गयी है। 'नाद' की चार अवस्थाओं में आरम्भावस्था, घटावस्था, परिचयावस्था एवं निष्पत्ति अवस्था की गणना की गयी है। प्रारम्भावस्था में साधक को अनेक प्रकार की ध्वनियाँ सुनायी पड़ती है। अभ्यास ज्यों–ज्यों दृढ़तर होता जाता है सूक्ष्म ध्वनियाँ के रूप में जो कुछ सुनाई पड़ता है वह शक्ति ही अर्थात् नाद ही शक्ति है और जहाँ तत्व का लय होता है वहीं निराकार ब्रह्म है। ध्यान की एकरूपता हेतु प्राण और बिन्दु का स्थिर होना अभीष्ट है। इसी से जीवात्मा तथा परमात्मा में ऐक्य की सिद्धि सम्भव है।[91]

11. घेरेण्य संहिता

घेरेण्य संहिता के लेखक घेरेण्य नामक एक बंगाली वैष्णव माने गये हैं। इस ग्रन्थ का प्रकाशन कलकत्ता से भुवनचन्द्रवसाक के सम्पादन में 1877 ई० में सम्पन्न हुआ।[92] घेरेण्ड संहिता का द्वितीय संस्करण 1921 ई० में 'फैक्वाइर एण्ड फैक्वार्टन' के नाम से प्रकाशित हुआ रीचैण्ड सेट मिड्ट ने जर्मन भाषा में इसका अनुवाद प्रस्तुत किया।[93] स्वामी रामचरण पुरी जी ने इसका हिन्दी में अनुवाद प्रस्तुत किया है। उसी को मूल संस्कृत संहिता, पंडित धर्मदत्त त्रिपाठी (दूध–विनायक काशी) ने प्रकाशित किया है।[94]

घेरेण्ड संहिता के सात प्रकरणों में हठयोग का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है। प्रथम उपदेश में षट्कर्म– विधान तथा दूसरे उपदेश में आसनों का विवरण प्रस्तुत है। तृतीय उपदेश में विभिन्न मुद्राओं के अभ्यास एवं उनके अनेक प्रकार के रोगों से मुक्ति बतायी गयी है। शाम्भवी मुद्रा के ज्ञातायोगी को स्वयं नारायण के समकक्ष बताया गया है। चौथे और पाँचवें उपदेश में प्रत्याहार व प्राणायाम के नियम निर्देशित हैं। छठें उपदेश में ध्यानयोग का संक्षिप्त वर्णन देते हुए ग्रंथकार ने स्थूल ध्यान, ज्योतिर्ध्यान, सूक्ष्मध्यान तीन प्रकार के ध्यान की बात बतायी है। सातवें उपदेश में समाधि–सुख का वर्णनहै। समाधि प्रकारों में ध्यान योग समाधि, नाद योग, रसनानन्दयोग समाधि, लय सिद्धियों समाधि, भक्ति योग समाधि एवं राजयोग समाधि की गणना की गयी है।

12. विवेक मार्त्तण्ड

विवेकमार्त्तण्ड की विभिन्न मुद्रित प्रतियों की श्लोक संख्या में अन्तर परिलक्षित होता है। कल्याणी मल्लिक द्वारा मुद्रित प्रति में 188 श्लोक हैं क्षेमराज की मुद्रित प्रति में 201 श्लोक, जोधपुर से प्राप्त प्रति में कही 203 तथा कहीं 204 श्लोक हैं। बीकानेर से प्राप्त प्रति में 197 श्लोक हैं। इन प्रतियों की अन्तिम पंक्तियों में भी भिन्नता पायी जाती है। वि०सं० 1976 में राजा महीन्द्र की प्रेरणा एवं भीकम्म भट्टा तथा भीष्मट्ट के सहयोग से योगितोषिणी टीका संहित इस ग्रन्थ का प्रस्तुतीकरण किया गया। 2015 वि० में चन्द्रनाथ योगी ने इसे काशी गोरक्षटिल्ला योग–प्रचारिणी से प्रकाशित कराया है।[95]

विवेकमार्तण्ड में सर्वप्रथम गुरु परमानन्द की वन्दना की गयी है। तत्पश्चात् यम–नियम, आसन, चक्र प्राणायाम आदि का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। अजपाजाप गायत्री को योगियों के लिए मोक्षदायिनी कहा गया है। योगिसाधक को युक्त आहार का ध्यान रखते हुए कुण्डलिनी–जागरण से मोक्ष–द्वार को खोलना चाहिए। इसी प्रसंग में मुद्रा–बन्ध लगाने की विधियों का भी निर्देश किया गया है। वायु–निरोध कर शनैः–शनैः सूर्यनाड़ी से प्राणवायु की आकर्षण कर उदर–पूरण करना चाहिए। इसी प्रसंग में मुद्राबन्ध लगाने की विधियों का भी निर्देश किया गया है। वायु–निरोध कर शनैः–शनै सूर्यनाड़ी से प्राणवायु की आकर्षण कर उदर–पूरण करना चाहिए तथा योग–विधान से कुम्भक कर चन्द्रनाड़ी से रेचन करना चाहिए। नाड़ी शोधन, ध्यान–धारणा एवं प्रत्याहार की विवेचना करते हुए कहा गया है कि घटिकाओं के अभ्यास से धारणा, साठ घड़ियों के अभ्यास से ध्यान तथा बारह दिनों के प्राण–संयम से समाधि–दशा की प्राप्ति होती है–

धारणां पंचनाड़ीमिर्ध्यानं स्यात् षष्टिनाडिभिः।
दिन द्वादशकेनैव समाधिः प्राण संयमात्।।

'विवेकमार्त्तण्ड' के अन्तिम श्लोक में एकात्मभाव से ब्रह्मचिन्न की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि, जिसका मन क्षणभर के

लिए भी ब्रह्मविचार में धैर्य प्राप्त करता है उसने समस्त तीर्थों के जल में स्नान कर लिया, हजारों यज्ञ कर लिए, तैंतीस कोटि देवताओं की सम्यक् रीति से पूजा कर ली उसने समस्त, पितरों का तर्पण कर उन्हें स्वर्ग में भेज दिया यह सत्य है।[96]

13. योगबीजम्

कर्णाटक निवासी श्री कड़वशम्भु शर्मा की नाथ–सिद्ध–साहित्य पर विशेष रुचि है। उन्होंने योगबीजम्, अमरौधशासनम्, गोरक्षसिद्धान्त संग्रह, सिद्ध–सिद्धान्त पद्धति, अमनस्क योग, चर्षटशतकम्, कद्रीमंजुनाथ माहात्म्य, विज्ञान शतकम् आदि अनेक ग्रंथों को मूल तथा व्याख्या सहित सम्पादित कर गोरक्षगंथमाला के पुष्प–रूप में प्रकाशित कराया है।[97]

योगबीजम् में कुल 190 श्लोक हैं। पूरी रचना माहेश्वर–गौरी–संवाद के रुप में लिखी गयी है। देवी को मुक्ति का उपाय बताते हुए शिवजी का कथन है कि केवल ज्ञान से सिद्धि नहीं होती, ज्ञान–हीन योग मोक्ष दिलाने में सक्षम नहीं है। योगाभ्यास से अहं भाव का नाश होता है। योगदेह को आकाश से भी निर्मल, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर तथा स्थूल से स्थूलतर तथा जड़ से जड़ एवं चेतन से चेतन बताया गया है।[98]

यहाँ समस्त द्वन्द्व–जालों के संयोग को ही 'योग' कहा गया है। नाथमार्ग में योग और ज्ञान का भेद नहीं है। पार्वती की जिज्ञासा का समाधन करते हुए इस ग्रन्थ में माहेश्वर द्वारा कुण्डलिनि जागरण, वायु–आकर्षण, कंठ संकोचन एवं बन्धों की उपयोगिता एवं लक्षण बताये गये हैं इसी प्रसंग में अजपा गायत्री के जाप तथा सिद्धि प्राप्त योगी के लक्षणों का भी निर्देश है।

14. योगसारावली

26 श्लोकों की रचना में नादानुसंधान की महत्ता बताते हुए कहा गया है कि राजयोग में लयस्थ योगी के लिए सम्पूर्ण विश्व दृश्य होता है। राजयोग की सहज अमलताजन्य स्थिति में राजयोगी निर्विकल्प समाधि में विचरण करता है। वह गुण–दोष–विवर्जित होता है। प्राणवायु को ब्रह्म में प्रविष्ट करा अनाहत ध्वनियों का श्रवण कर योगी साधक मुक्ति प्राप्त कर लेता है–

यदायं श्रृणुते नादं तदा मुक्तो न संशयः।[99]

15. *गोरक्षगीता*

गोरक्षगीता शक सं० 1721 में गंगनाथ नामक सिद्ध द्वारा लिखी गयी। गंगनाथ को नाथ परम्परा का ही सिद्ध बताया जाता है– आदिनाथ मछिन्द्रनाथ–चौरंगीनाथ, गोरक्ष–गहिनी, निवृत्ति–ज्ञाननाथ–सोपाननाथ–मुकुन्दनाथ आवृत्तिनाथ–अच्युतनाथ–नृसिंहनाथ–आलक्षनाथ–जनार्दननाथ–रघुनाथ।[100] गोरक्षगीता में भगवत गीता के सिद्धान्तों से मिलता–जुलता गोरक्षनाथ के षडांगयोग का विशद वर्णन उपलब्ध है।

इस तरह योग विषयक विभिन्न ग्रन्थ चाहे वे हिन्दी हो अथवा संस्कृत के, गोरक्ष के बहुत बाद लिखे हुए भी उपलब्ध होते हैं निश्चय ही ये परवर्ती ग्रन्थ गोरक्षनाथ के प्रति अपनी श्रद्धा अर्पित करते हुए उनकी परम्परा के नाम सिद्धों द्वारा लिखे गये हैं।

ये साम्प्रादायिक ग्रन्थ विभिन्न भाषाओं में ही उपलब्ध होते हैं। राजस्थानी शोध–संस्थान, चोपासनी में राजस्थानी भाषा में लिखित, 'गोरक्षनाथ जीरौ खंद' में गोरखनाथ की महिमा का वर्णन है। यहाँ पर 'गोरखप्रश्नावली' गुटका संख्या 5151 गोरखनाथ की रचना बतायी गयी है, यह पुस्तक की राजस्थानी भाषा में ही लिखित है। सुवर्णाचार्य विरचित 'श्रीगोरक्षनाथ स्तोत्रम्' के अन्तर्गत 22 श्लोक संग्रहीत है। गंगानाथ कृत 'श्रीगुरुगोरक्षनाथाष्टक' 92 श्लोकों की रचना है 1861 में रचित 'श्रीमद्गोक्षनाथाष्ठकम्' भी उपलब्ध होता है।[101] सं० 2009 में रचित 'श्रीगोरक्ष योग–शास्त्रे मुक्ति सोपान' के रचयिता केशरी पंडित हैं, इसमें कुल एक सौ एक श्लोक हैं। 193 श्लोक की रचना 'गकारादि गोरक्षसंहग्रनाम' भी उपलब्ध होती है। 'अमृतवाक्य' नामक रचना गोरक्षनाथ की बतायी गयी है। इसने निर्वाण प्राप्ति विषयक उपदेश दिये गये हैं। इसका प्रथम श्लोक गोरखबानी का ही प्रथम श्लोक है। मात्र इसकी भाषा में रंचमात्र परिवर्तन कर दिया है–

वसतिर्नशून्यं शून्यं न वसतिरगम्यमगोचरमेता।
गगन शिखरे बालको वदति तस्य नाम कीदृशंधर्त्रत्यमिति।।1।।

प्राच्य–शोध–विद्या प्रतिष्ठान जोधपुर में गुटका संख्या 12159 में सं० 1965 में लिखित 'गोरक्ष सहस्रनाम स्तोत्र' की एक हस्तलिखित प्रति देखने को मिली थी संस्कृत भाषा में लिखित इस रचना में गोरक्षनाथ के अनेकशः पर्यायवाची नामों की गणना की गयी है। 'आत्मबोध' गोरक्षनाथ का भी बताया जाता है, पर इसी शोध प्रतिष्ठान में गुटका सं० 7757 में पृ० 210 से 219 के अन्तर्गत संग्रहीत 69 श्लोकों की यह रचना शंकराचार्य विचरित बतायी गयी है। 19वीं शताब्दी में लिपिबद्ध 'ज्ञानप्रदीकम्' का विषय ज्योतिष है। 19वीं शताब्दी में ही लिपिबद्ध कुल 5 पृष्ठों की रचना 'गोरखजती की आड़' गुटका सं० 39246 में संग्रहीत है। 'कायाबोध' नामक डेढ़ पेज की रचना के अंत में कहा गया है कि गोदावरी क्षेत्र में इसका उपदेश गोरक्षनाथ ने सिद्धों को दिया था।

मात्र गोरखनाथ के नाम पर ही नहीं अपितु अन्य प्रभावशाली नाथ सिद्धों–जालधंर, मीननाथ, चर्पट, भर्तृहरि आदि के नाम से भी अनेक परवर्ती रचनाएं जोड़ दी गयी हैं, वस्तुतः ऐसा जान पड़ता है कि मध्यकाल में विशेषतः दर्शन से सम्बन्धित विचारधाओं के लेखन में समय और सीमा का ध्यान कम रखा गया। उन महत्वपूर्ण विचारों को जनता तक पहुँचाने के लिए लोग उनकी प्रतिलिपियाँ तैयार किया करते थे। आज भी यह परम्परा पूर्णतः बन्द नहीं है। दर्शन एवं चिन्तन की दृष्टि से नाथपंथीय साहित्य का विशेष महत्व है। गोरक्षनाथ अपने सम्प्रदाय के अन्तर्गत अनन्त सत्ता के प्रतीक है। उन्हें सीमा में बाँधा नहीं जा सकता उनके भक्तों अथवा अनुयायियों ने सम्भवतः इसी भाव से प्रेरित हो गोरक्षनाथ के ही विचारों को स्वयं लिखकर भी उसका श्रेय बार–बार उन्हीं को दिया है। यह बात भी प्राचीन भारतीय परम्परा के ही अनुरूप है, जिसमें महान् ग्रन्थों की रचना करने वालों ने कहीं अपना उल्लेख तक नहीं होने दिया है।

* * *

सन्दर्भ ग्रन्थ–सूची

1. नाथ सम्प्रदाय का इतिहास, दर्शन एवं साधना प्रणाली–डॉ० कल्याणी मल्कि पृ० 30–33.
2. योगवाणी वर्ष–2 फरवरी– 1977, अंक 3 पृष्ठ 18–19.
3. गोरक्षनाथ एण्ड कनफटा योगीज–ब्रिग्स पृ० 182.
4. योगीसम्प्रदाय विस्कृति– पृ० 22–30.
5. योगवाणी– वर्ष 2 फरवरी 1977, अंक 2 पृ० 19.
6. गोरखनाथ एण्ड कनफटा योगीज–ब्रिग्स, पृ० 229.
7. गोरक्षनाथ और उनका युग–रांगेय राघव, पृ० 44–45.
8. उत्तरी भारत की संतपरम्परा–परशुराम चतुर्वेदी, पृ० 60–61.
9. महाराष्ट्र के नाथपंथीय कवियों का हिन्दी काव्य डॉ० अशोक प्रभाकर कामत, पृ० 88–89.
10. नाथ सम्प्रदाय का इतिहास, दर्शन और साधना प्रणाली–कल्याणी मलिक, पृ० 30–33.
11. गोरक्षनाथ (नाथ सम्प्रदाय के परिप्रेक्ष्य में) डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, पृ० 99.
12. गोरखनाथ और उनका युग– रांगेय राघव, पृ० 32–34.
13. गोरखनाथ (नाथ सम्प्रदाय के परिप्रेक्ष्य में) डॉ० नागेन्द्रनाथ उपध्याय, पृ० 61.
14. वही, पृ० 56–57.
15. राजगुरु योगिवंश–सुरेशचन्द्रनाथ मजुमदार, पृ० 39.
16. नाथ और सन्त साहित्य, तुलनात्मक अध्ययन, डॉ० नागेन्द्र उपाध्याय, पृ० 56–58.
17. गोरखबानी–आत्मबोध, पृ० 21–22.
18. नाथ साहित्य का इतिहास दर्शन और साधना–प्रणाली–कल्याणी मल्लिक, पृ० 137–50

19. गोरखबानी–सबदी, पृ० 203.

20. वही, पद 34 (टेक)

21. गोरखनाथ और उनका युग– रांगेय राघव, पृ० 49.

22. गोरख विशेषांक– वर्ष 2 जनवरी 1977, अंक 1, पृ० 96–97.

23. डॉ० राघेय राघव– गोरखनाथ और उनका युग, पृ० 55.

24. डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, पृ० 93.

25. गोरखबानी–पद 52.

26. गोरखबानी सबदी 189.

27. गोरखबानी–पद 23.

28. गोरखबानी–पद 2.

29. गोरक्षविशेषांक–वर्ष 2 जनवरी 1977, अंक–1, पृ० 44.

30. नाथ और संत साहित्य : तुलनात्मक अध्ययन डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, पृ० 31.

31. गोरखनाथ सम्प्रदाय के परिप्रेक्ष्य में डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, पृ० 45.

32. गोरख विशेषांक– वर्ष 2 जनवरी 1977, अंक 1, पृ० 85–86.

33. गोरख विशेषांक– वर्ष 2 जनवरी–1977, अंक 1, पृ० 87.

34. महाराष्ट्र में नाथपंथीय कवियों का हिन्दी काव्य–डॉ० अशोक प्रभाकर कामत, पृ० 62.

35. नाथ और संत साहित्य–तुलनात्मक अध्ययन, डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, पृ० 32.

36. गोरखनाथ और उनका युग– रांगेय राघव, पृ० 166–67.

37. महाराष्ट्र में नाथपंथीय कवियों का हिन्दी काव्य–डॉ० अशोक प्रभाकर कामत, पृ० 194.

38. नाथ सम्प्रदाय–डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० 108.

39. दक्खिनी हिन्दी का साहित्य–डॉ० श्रीराम शर्मा, पृ० 46.

40. जाम्भोजी, विष्णोई सम्प्रदाय और साहित्य, पहला भाग, पृ० 25–26.

41. गोरखनाथ और उनका युग–रांगेय राघव–193.

42. नाथ सम्प्रदाय का इतिहास–दर्शन और साधना–प्रणाली–कल्याणी मल्लिक, पृ० 123.

43. गोरखनाथ और उनका युग–रांगेय राघव, पृ० 200–201.

44. महन्त दिग्विजयनाथ स्मृतिग्रन्थ–सं० भगवती प्रसाद सिंह, पृ० 334–335.

45. गोरखनाथ और उनका युग–रांगेय राघव, पृ० 194–200.

46. जाम्भोजी, विष्णोई सम्प्रदाय और साहित्य, पहला भाग–भूमिका, पृ० 1–2–3.

47. जाम्भोजी, विष्णोई सम्प्रदाय और साहित्य, पहला भाग–भूमिका, पृ० 421–425.

48. जाम्भोजी, विष्णोई सम्प्रदाय और साहित्य, पहला भाग, पृ० 425.

49. गोरखनाथ और उनका युग–रांगेयराघव, पृ० 199.

50. नाथ सम्प्रदाय डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० 122.

51. महाराष्ट्र के नाथपंथीय कवियों का हिन्दी काव्य–डॉ० अशोक प्रभाकर का मत, पृ० 194.

52. गोरखबानी–सबदी–63.

53. गोरखबानी–सबदी–72.

54. गोरखबानी–सबदी–31, पृ० 14.

55. गोरखबानी विशेषांक वर्ष 4, 1979, सं० रामलाल श्रीवास्तव, शिष्यादरसन, पृ० 327.

56. गोरखबानी विशेषांक, वर्ष–4, 1979, सं० रामलाल श्रीवास्तव शिष्या दरसन, पृ० 330.

57. गोरखबानी विशेषांक– वर्ष 4, 1979, नरवैबोध, पृ० 337.

58. नाथ सम्प्रदाय का इतिहास दर्शन और साधना–प्रणाली–कल्याणी मल्लिक, पृ० 123.

59. राजगुरु योगिवंश– सुरेशचन्द्रनाथ मजुमदार, पृ० 44.

60. नाथ सम्प्रदाय–डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० 221.

61. नाथ और संत साहित्य–तुलनात्मक अध्ययन डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, पृ० 27.

62. अमनस्क योग–श्री योगनाथ स्वामी, पृ० 7.

63. नाथ सम्प्रदाय– डॉ० द्विवेदी, पृ० 109–111.

64. अमनस्क योग– योगनाथ स्वामी, पृ० 8.

65. नाथ और संत साहित्य तुलनात्मक अध्ययन डॉ० ना० ना० उपाध्याय, पृ० 29.

66. गोरख विशेषांक– वर्ष 2 जनवरी 1977, अंक–1, पृ० 221–222.

67. गोरख विशेषांक– वर्ष 2 जनवरी 1977, अंक–1, पृ० 221–222.

68. नाथ और संत–साहित्य–तुलनात्मक अध्ययन डॉ० ना०ना० उपाध्याय, पृ० 28–29.

69. राजगुरु योगिवंश–सुरेशचन्द्रनाथ मजुमदार, पृ० 42.

70. अमनस्क योग–भूमिका, डॉ० ना०ना० उपाध्याय, पृ० 21.

71. गोरक्ष संहिता, प्रथमोभाग सं० भगीरथ प्रसाद त्रिपाठी, पृ० ट, ठ.

72. गोरक्ष संहिता– द्वितीयोभागः (भूतिप्रकरण) जनार्दन शास्त्री पाण्डेय.

73. गोरक्षो लोकधिया देशिक दृष्टिया महेश्वरानन्दः।
उम्मीलयामि परिमलमन्तर्ग्राह्मयं महार्थमंजर्याम।। (महार्थमंजरी–व्रजवल्लभद्विवेदी पृ० 129)

74. महार्थमंजरी– ब्रजबल्लभ द्विवेदी, पृ० 129.

75. गोरख विशेषांक– वर्ष 2 जनवरी 1977 अंक–1, पृ० 271.

76. वही, पृ० 273–274.

77. अमनस्क योग– पृ० 9.

78. योगवाणी वर्ष–2 मार्च 77, अंक 3, पृ० 29.

79. अमनस्क योग–पृ० 17–18.

80. ब्रह्माण्डं सकलं पश्येत करस्थमिव भौक्तिकम्
आत्मकाय स्वरुपं च निर्धार्याथ यथेप्सितम्।। अमनस्क योग–95.

81. अमनस्क योग– योगनाथ स्वामी, पृ० 8.

82. नाथ सम्प्रदाय उदय व विस्तार, प्र०न० जोशी, पृ० 380.

83. नाथ सम्प्रदाय का इतिहास–दर्शन और साधना–प्रणाली–कल्याणी–मल्लिक.

84. नाथ सम्प्रदाय का इतिहास–दर्शन और साधना–प्रणाली–कल्याणी–मल्लिक, पृ० 124.

85. नाथ और संत साहित्य तुलनात्मक अध्ययन डॉ० ना०ना० उपाध्याय, पृ० 29.

86. अमनस्क योग, पृ० 20.

87. गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह, पृ० (67).

88. नाथ सम्प्रदाय का इतिहास, दर्शन और साधना प्रणाली, कल्याणी–मल्लिक, पृ० 124.

89. गोरखनाथ एण्ड कनफटा योगीज–ब्रिग्स, पृ० 253.

90. राजगुरु योगीवंश–सुरेशचन्द्रनाथ मजुमदार, पृ० 44.

91. हठयोग पदीपिका, पृ० 97–200.

92. नाथ सम्प्रदाय का इतिहास दर्शन और साधन–प्रणाली, डॉ० मल्लिक, पृ० 123.

93. राजगुरु योगीवंश–सुरेशचन्द्रनाथ मजुमदार, पृ० 44.

94. सरस्वती, सचित्र मासिक पत्रिका, भाग–13, 1 अक्टुबर 1912, आश्विन कृष्ण 5, 1969.

95. विवेक मार्तण्ड– सम्पादकीय, विवेक मार्तण्ड, पृ० 65, श्लोक 203.

96. योगसारावली, पृ०–11.

97. यथाकाशस्तथा देह आकाशदीप निर्मलः।

सूक्ष्मात्मसूक्ष्मरो देहः स्थूलात्स्थूलो जडाज्जडः।। (योगबीजम्–53)

98. योगसारावली–श्लोक, पृ० 26.

99. नाथ सम्प्रदाय उदय व विस्तार, प्र०न० जोशी, परिशिष्ट–1, पृ० 650.

100. नाथ सम्प्रदाय उदय व विस्तार, प्र०न० जोशी, परिशिष्ट–1, पृ० 665–671.

* * *

सिद्धसिद्धान्तसंग्रहः

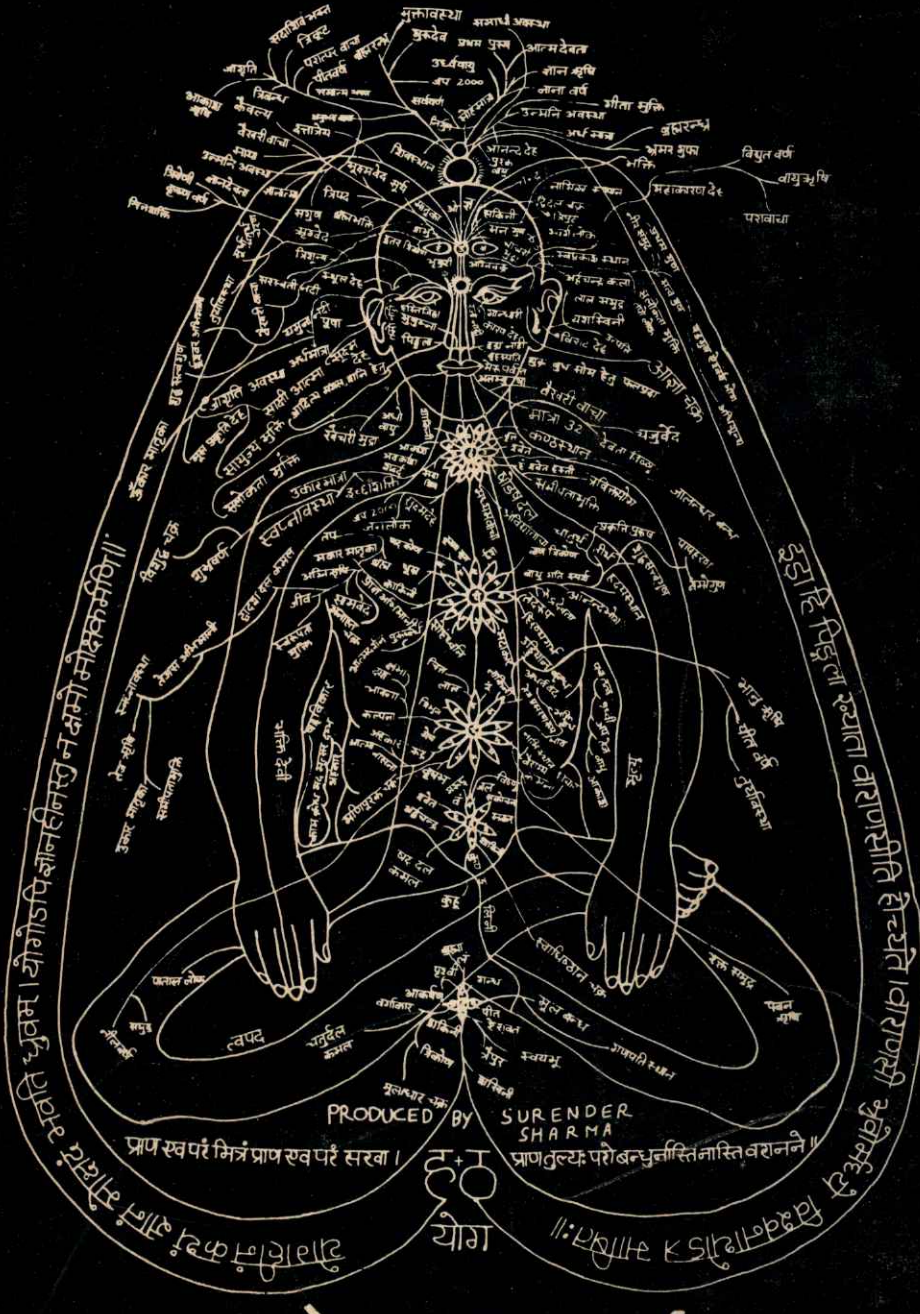

सुरेन्द्र कुमार शर्मा

बलभद्रविरचितः

सिद्धसिद्धान्तसंग्रहः

सुरेन्द्र कुमार शर्मा

ईस्टर्न बुक लिंकर्स

दिल्ली :: (भारत)

प्रकाशक:
ईस्टर्न बुक लिंकर्स
५८२५, न्यू चन्द्रावल, जवाहर नगर, दिल्ली-११०००७

प्रथम संस्करण : १९८६
मूल्य : रु० ८०.००

मुद्रक :
अमर प्रिंटिंग प्रेस, (श्याम प्रिंटिंग एजेन्सी),
८/२५, विजयनगर (डबल स्टोरी), दिल्ली-११०००९

कल्पान्तक्रूरकेलिः क्रतुकदनकरः कुन्दकर्पूरकान्तिः
क्रीडन्कैलासकूटे कलितकुमुदिनीकामुकः कान्तकायः ।
कङ्कालक्रीडनोत्कः कलितकलकलः कालकालीकलत्रः
कालिन्दीकालकण्ठः कलयतु कुशलं कोऽपि कापालिको नः ॥

देवा दिक्पतयः प्रयात परतः खं मुञ्चताम्भोमुचः
पातालं व्रज मेदिनि प्रविशत क्षोणीतलं भूधराः ।
ब्रह्मन्नुन्नय दूरमात्मभुवनं नाथस्य नो नृत्यतः
शंभोः संकटमेतदित्यवतु वः प्रोत्सारणा नन्दिनः ॥

शवारूढां महाभीमां घोरदंष्ट्रां वरप्रदाम् ।
हास्ययुक्तां त्रिनेत्रां च कपालकर्तृकाकराम् ॥
मुक्तकेशीं लोलजिह्वां पिबन्तीं रुधिरं मुहुः ।
चतुर्बाहुयुतां देवीं वराभयकरां स्मरेत् ॥

(सङ्कलित)

पुरोवाक्

महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज द्वारा संपादित एवं सरस्वतीभवन टेक्सट्स (१३) वाराणसी से १६२५ ई० में प्रकाशित 'सिद्धसिद्धान्तसंग्रह' आचार्य बलभद्र की योग विषयक एक विलक्षण कृति है जो सात उपदेशों में तान्त्रिक योगसाधना के निखिल सिद्धान्तों का अतिसंक्षिप्त निरूपण प्रस्तुत करती है। सुरेन्द्र कुमार शर्मा ने योगसाधना पर उपलभ्यमान विपुल सामग्री का मन्थन कर उसकी सहायता से परम निगूढ़ रचना सिद्धसिद्धान्तसंग्रह का अध्ययन प्रस्तुत किया है जो प्रकृत पुस्तक के रूप में हमारे समक्ष है। साधना-मार्ग के अन्वेषकों, जिज्ञासुओं एवं तन्त्रविद्या के मनीषियों को इससे परिचित कराने के लिए इन शब्दों को लिखने में मुझे अत्यधिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

भारतीय निखिलवाङ्मय का मर्म अध्यात्म है चाहे वह निगम, आगम जैन या बौद्ध किसी भी परम्परा में रचित है। इसमें कोई विसम्वाद नहीं कि आध्यात्मिकता ही वास्तव में भारतीयता है। यही वह सूत्र है जो विविध प्रकार के आहार-विहार, रहन-सहन, वेष-भूषा तथा देश-भाषा आदि अनेकताओं में विभक्त समाज एवं जनमानस को एकता में पिरोये हुए है। पर यह आध्यात्मिकता कोई बाह्य वस्तु नहीं जिसका सहजरूप से साक्षात्कार किया जा सके, न ही यह कोई ऐसा तत्त्व है जो युक्ति एवं तर्क से बुद्धिगम्य हो, अपितु यह एक अनुभव का विषय है जो मात्र साधनागम्य है। इसीलिए ऋषियों, मुनियों एवं आचार्यों ने इसे दुरूह एवं गुरुकृपा से उपलम्भनीय बताया है। केवल इतना ही नहीं अपितु जिस किसी को भी मात्र जिज्ञासा या कुतूहल से इसकी प्राप्ति सम्भव नहीं क्योंकि इसके लिए संयम एवं सदाचरण सर्वथा अपेक्षित होते हैं, किसी सत्पात्र में ही इस विद्या के आधान की परम्परा रही है। अतएव इसे गुह्य माना गया है।

उपर्युक्त सभी परम्पराओं में साधना के अपने विशेष प्रकार हैं पर लक्ष्य सबका एक ही है—परमतत्त्व का साक्षात्कार। अतएव उपर्युक्त चारो ही परम्पराओं में इस विषय पर रचित साहित्य उपलब्ध होता है जो यद्यपि बहुत विपुल नहीं है तथा जो भी उपलब्ध है वह विशिष्ट विद्वानों के लिए भी बोधगम्य नहीं है। अतः इस विषय पर कोई शोधकार्यात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना एक बड़ा ही कठिन कार्य है, विशेषतः सिद्धसिद्धान्तसंग्रह जैसी कृति के लिए जो अत्यन्त ही संक्षेप तथा साधनाविषयक पारिभाषिक पदावली में उपनिबद्ध है।

योगसिद्धान्त के अनुसार परम सत्ता एक ही है जिसे चित् अर्थात् चैतन्य कहते हैं, उसी का स्फुरण निखिल-ब्रह्माण्ड है। मानव-शरीर एक ऐसी इकाई है जिसमें निखिल-ब्रह्माण्ड सूक्ष्मतः कलात्मक ढंग से निहित है––

"ब्रह्माण्डवर्त्ति यत्किञ्चित्तत्पिण्डेऽप्यस्ति सर्वथा"

परम तत्त्व का ब्रह्माण्ड और पिण्ड उभयत्र सन्निहित होना ही उसकी कला है। परमपद को ही शिव और उसकी इस कला को ही शक्ति कहा गया है। योगी-साधक निजपिण्ड में व्याप्त उसी चित्-शक्ति को उद्बुद्ध कर निखिल-ब्रह्माण्ड में विराट्रूप से विद्यमान परमशिव का अनुभवात्मक साक्षात्कार करता है। इस पिण्ड में चिच्छक्ति के उद्बोधक कुछ स्थल विशेष हैं, जिन्हें साधनामार्ग में चक्र कहते हैं तथा इनकी संख्या नौ है। प्रथम मूलाधारचक्र सुषुम्ना के निचले छोर पर गुदा और ध्वजमूल के मध्य स्थित है और अन्तिम नवम ब्रह्मचक्र है जो पिण्ड के ऊपरी भाग कपाल प्रदेश में सहस्रदलकमल के समान अधोमुख अवस्थित है। कुण्डलिनी मूलाधारचक्र में साढ़े-तीन कुण्डल मार कर पूँछ को मुख में देकर सोई हुई सर्पिणी के समान निश्चेष्ट बनी रहती है। उसी को जाग्रत कर नौ चक्रों में क्रमशः प्रवेश कराते हुए सहस्राधार तक पहुँचाना ही योगी का कार्य है, जिससे वह कौंधती हुई बिजली के समान सुषुम्ना मार्ग का अनुसरण करती हुई नीचे से ऊपर और ऊपर से नीचे गमनागमन करने लगती है और नौ चक्रों को परस्पर सम्पृक्त कर देती है। इसके परिणामस्वरूप साधक में एक ऐसी क्षमता का आविर्भाव होता है जिससे वह न केवल पिण्ड में अपितु निखिल-ब्रह्माण्ड में व्याप्त परमतत्त्व का अनुभव करने लगता है। यह क्षमता ही शक्ति है और परमतत्त्व शिव जो दोनों ही एक दूसरे से सर्वथा अभिन्न होते हैं। यौगिक साधना का यही निर्गलित है।

मेरे अन्तेवासी सुरेन्द्र ने सिद्धसिद्धान्तसंग्रह की शाब्दिक व्याख्या न कर इसका एक अध्ययन प्रस्तुत किया है जिससे इसके वर्ण्यविषय की सङ्गति लग जाती है और इसके व्यापक परिवेश का भी पता चल जाता है। इस प्रकार इनका यह प्रयास सर्वथा श्लाध्य है जो एतद्विषयक जिज्ञासुओं को पूर्ण तृप्ति चाहे भले न प्रदान करे पर उनकी इस विद्या में प्रवृत्ति को सुतराम् प्रोत्साहित करता है। इस पुस्तक को पढ़कर व्यक्ति के मन में यह इच्छा जाग्रत होती है कि वह भी इस मार्ग में प्रवृत्त हो और साधना के द्वारा आत्मानुभूति करके अपने जन्म को कृतकृत्य एवं सफल बनाये।

मेरी यह निश्चित धारणा है कि पाठकों को इस पुस्तक से मार्गदर्शन मिलेगा एवं साधनामार्ग में प्रवृत्ति होगी। मैं इस लघुग्रन्थ के लेखक सुरेन्द्र कुमार शर्मा को हृदय से आशीर्वाद देता हूँ कि ये इसी प्रकार इस तन्त्रविद्या के रहस्योद्घाटन में निरन्तर लगे रहें और एक के बाद एक उत्तमोतम ग्रन्थों की रचना करें।

ब्रजमोहन चतुर्वेदी
प्रोफेसर संस्कृत-विभाग
दिल्ली-विश्वविद्यालय दिल्ली-७

मकरसंक्रान्ति
२०४२

भूमिका

आन्तरिक एवं बाह्य मलों का क्षालन क्रमशः अज्ञान के निराकरण और यौगिक-क्रिया द्वारा सम्भव है और इन्हीं दोनों का मञ्जुल समन्वय साधना सिद्धान्तों में दृष्टिगोचर होता है। इसी अत्यन्त शक्तिशाली एवं भावपूर्ण विचारधारा ने भारतीय सन्तों, तन्त्रों, पन्थों, धर्मों, दर्शनों एवं सम्प्रदायों के चिन्तन में अपना विशिष्ट स्थान बनाया और दोनों ही प्रकार के मलों का क्षालन भारतीयों ने प्राचीन मनीषियों द्वारा परिवर्धित वैदिक, अवैदिक और आगमिक परम्परा रूपी त्रिपथगा से किया। वेदान्तादि षड् दर्शन तथा जैन और बौद्ध एवं द्वैत (शैव), द्वैताद्वैत (वीरशैव) और अद्वैत (काश्मीर शैव) दर्शनों का समावेश क्रमशः वैदिक, अवैदिक और आगमिक परम्परा में किया जाता है। ये सभी दर्शन तथा इनसे सम्बद्ध सम्प्रदाय निश्चित एवं किसी न किसी रूप में धर्म साधना की नींव पर प्रतिष्ठित हैं। इन सभी धर्म साधनाओं में आगममूलक और विशेष रूप से नाथ-योगसाधना का अपना एक अलग एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है।

इस नाथ-सम्प्रदाय की परम्परा में भक्ति, ज्ञान एवं क्रिया का मनोहर सामञ्जस्य दृष्टिगोचर होता है और यह परम्परा कोई अर्वाचीन नहीं, अपितु ईसा की कई शताब्दी पूर्व से प्रवाहित होती चली आ रही है। समय, स्थान और परिवेश वश चाहे इसका नामकरण अवधूत-मत, अवधूत-सम्प्रदाय, कनफटा-योगी, सिद्ध-मार्ग, सिद्ध-मत, योग-सम्प्रदाय और नाथ-सम्प्रदाय इत्यादि हो गया हो। इस प्रकार अनेक नामों से प्रचलित साधना-सम्प्रदाय के सिद्धों के सिद्धान्तों का संग्रह ही सिद्धसिद्धान्तसंग्रह है। इस सम्प्रदाय में सिद्धान्त से अभिप्राय वादी तथा प्रतिवादी द्वारा निर्णीत अर्थ न होकर सिद्धों द्वारा

व्याख्यात ही सिद्धान्त हैं ।[1] इस परम्परा में सिद्ध अथवा अवधूत वही होता है जो समस्त प्राकृत सम्बन्धों से मुक्त एवं समरस में सदा स्थित हो, अर्थात् 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों का जो लक्ष्यार्थ हो, वही अवधूत कहलाता है ।

इस प्राचीन परम्परा की लोकप्रियता महायोगी गोरक्षनाथ तथा उनके परवर्ती काल में अपने प्रकर्ष के चरम पर थी। केवल शुष्क चिन्तन से कल्पनातीततत्त्व के रहस्यों को समझ पाना जब असम्भव लगने लगा तो उसमें साधना पथ का मञ्जुल समन्वय किया गया। उस समय शैव और शाक्त साधनाएँ एक दूसरे में समा चुकी थीं परिणामतः शिव-शक्ति में अविनाभूत सम्बन्ध मान लिया गया । शक्ति के अभाव में शिव शव हो चले थे और शिव के अभाव में शक्ति आत्मप्रकाशन में असमर्थ। पातञ्जलयोग-दर्शन में उपलब्ध न होने वाली ब्रह्माण्ड-व्यापिनी चिद्रूपा शक्ति की स्थिति व्यष्टिपिण्ड में कुण्डलिनी के रूप में एवं शिव जीव रूप में मान लिए गये। सर्वत्र ही इस सम्प्रदाय का उद्घोष होने लगा था क्योंकि इस सम्प्रदाय के सिद्धों ने मात्र दार्शनिक चिन्तन के आधार पर उपलब्ध न होने वाले तर्कातीत का ज्ञान और उत्कृष्ट साधना द्वारा पिण्ड में ही अनुभवात्मक साक्षात्कार खोज निकाला था तथा यह एक ऐसा विशिष्ट मार्ग था जो अनेक प्रकार की सिद्धियों, जादुई करामातों एवं अनेक प्रकार की परम्पराओं का समावेश लिए हुए था।

इस प्रकार अनेक सम्प्रदायों को अपने में अन्तर्भूत करते हुए इस सिद्ध-सम्प्रदाय की समस्त मूर्धन्य व्यवहारिक गतिविधियों एवं सैद्धान्तिक आदर्शों का चरम लक्ष्य उस परम लक्ष्य की प्राप्ति था जो कि शाङ्कर, कपिल और पातञ्जल के अनुरूप न होकर अद्वैतवादी आगमानुसार था। सिद्ध-सिद्धान्तसंग्रह में उद्धृत ललितस्वच्छन्द और तत्त्वसार सदृश ग्रन्थों के उद्धरणों से यह प्रमाण और भी पुष्ट हो जाता है। इस सम्प्रदाय का अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण पिण्डसिद्धिसिद्धान्त महर्षि पतञ्जलि के काय-संयत से भिन्न है क्योंकि "पिण्ड सिद्धि को परम पद के दर्शन का फल तथा सामरस्य की पूर्व स्थिति माना गया है, जबकि महर्षि पतञ्जलि के काय-संयत का चरम लक्ष्य केवल शरीर शुद्धि तक ही है। इसे पुरुष की स्वाभाविक शुद्धि के समान नहीं माना जा सकता अतः यह प्रकृति का एक स्वाभाविक लक्षण ही रह जाता है।"[2]

---

१. सिद्धान्तस्तु सिद्धस्य तात्पर्यार्थ एव सिद्धान्तो न तु वादि-प्रतिवादि-भिर्निर्णीतोऽर्थः सिद्धान्तः । गोरक्षसिद्धान्तसंग्रहः—पृ० १४

२. डॉ० गोपीनाथ कविराज, प्रस्तावना—गोरख-दर्शन पृ० ५

अवधूतों के द्वैताद्वैतविलक्षण के सिद्धान्त का परमादर्श है—आत्यन्तिक निरुत्थान दशा तथा जिसके लिए समरसीकरण के व्युत्थान का अभाव आवश्यक है और जो पिण्ड-संविति (देह पिण्ड का ज्ञान) के अभाव में कभी पूर्ण नहीं हो सकती। देह पिण्ड का ज्ञान चित्तविश्रान्ति के अनन्तर होता है और इसके कारण हैं स्वसंवेद्य गुरु। चित्तविश्रान्ति होने पर ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का निराकरण तथा स्वसंवेद्य आत्मतत्त्व का साक्षात्कार। इस अवस्था में व्युत्थान के अभाव में परमपद का उदय फलस्वरूप स्वपिण्ड का ज्ञान अर्थात् पिण्ड सिद्धि। इस प्रकार व्यष्टि पिण्ड को भली प्रकार जान लेने पर उसका समष्टि पिण्ड के साथ, पिण्डों का शक्ति के साथ और इन सबका परमपद के साथ एकीकरण ही समरसक्रिया है और इसी का अभाव, अर्थात् इस क्रिया से च्युत होने का अभाव ही आत्यन्तिक निरुत्थान कहलाता है।

समष्टि ब्रह्माण्ड व्यष्टि पिण्ड में अभिव्यक्त है जो केवल चेतना के उच्चतम स्तर पर ही अनुभूत होता है क्योंकि पशु की व्यष्टि चेतना ऐन्द्रिकानुभवों तक ही सीमित रहने के कारण उसका बोध नहीं कर सकती और जब इस व्यष्टि चेतना का ऐन्द्रिकावरण हट जाता है तो स्वसंवेद्य और अत्यन्ताभासाभासकमय परमपद का उदय होता है। व्यष्टि अनुभव की समस्त सीमाओं से परे अत्यन्त उच्चतम सीमा पर अनुभूत स्वानुभवैकगम्य परम तत्त्व की प्रकाशिका पिण्डाधार शक्ति है और यही चिद्रूपा शिव का प्रापञ्चिक स्तर है। इसी महामाया का प्रसार और सङ्कोच होता है। यही चिच्छक्ति जगत् के रूप में प्रकट होती है और इसी का सङ्कोच ही शिव है। इसको हम इस प्रकार से भी कह सकते हैं कि शिव का प्रसार शक्ति और शक्ति का संकोच शिव है। शिव-शक्ति प्रकाश और विमर्श की भाँति स्थित हैं तथा निरुत्थानावस्था में शक्ति, शिव और व्युत्थानावस्था में शिव, शक्ति हो जाते हैं। अखण्ड-आत्मावबोध ही आत्म जागरण है और अष्टांग योग एक ऐसा अनुशासित पथ जिस पर गमन कर पथिक (योगी) व्यष्टि चेतना के धरातल से ऊपर उठ जाता है उस ब्रह्माण्डातीत से एकीकरण हेतु जिसकी संस्थिति व्यष्टि पिण्ड में है।

इस प्रकार इतनी सुदीर्घ दर्शन परम्परा को कारिका पद्धति में निबद्ध करने वाले इस महान् दार्शनिक आचार्य बलभद्र का समय अद्यावधि पूर्णरूप से ज्ञात नहीं हो पाया है। प्रस्तुत ग्रन्थ की एक कारिका से यह ज्ञात होता है कि काशी के राजा श्री कृष्णराज की आज्ञा से ग्रन्थकार ने प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रणयन किया। गोरक्षपीठाधीश्वर आचार्य महन्त अवेद्यनाथ जी ने इस ग्रन्थ

का रचनाकाल आज से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व स्वीकारा है।[1] जबकि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसका समय अट्ठारहवीं शताब्दी का अन्तिम भाग माना है।[2] किन्तु आचार्य अक्षय कुमार बनर्जी के अनुसार यह एक प्राचीन ग्रन्थ है।[3] सम्भवतः अन्तिम मत अधिक उचित प्रतीत होता है जिसकी प्रामाणिकता मूलग्रन्थ के पाठ के आधार पर भी सिद्ध होती है।

प्रस्तुत ग्रन्थ सिद्धसिद्धान्तसंग्रह सात उपदेशों में विभक्त है जिनमें क्रमशः पिण्डोत्पत्ति, पिण्डविचार, पिण्डसंवित्ति, पिण्डाधार, पिण्डपरमपदसमरसीकरण तथा अवधूत लक्षण का प्रतिपादन है और अन्तिम सप्तम उपदेश में समस्त विवेचन का निर्गलितार्थ प्रस्तुत किया गया है।

इस ग्रन्थ का सर्वप्रथम सम्पादन परम श्रद्धेय महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज जी ने (सन् १९२५) में किया था। इस ग्रन्थ की उपयोगिता को अनुभव करते हुए ही पुनः इसका सम्पादन किया जा रहा है।

ग्रन्थ के दुर्बोध विषय का यथार्थ अवगम श्रद्धेय गुरुवर प्रो० ब्रजमोहन चतुर्वेदी संस्कृत-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय के स्निग्ध निर्देशन के कारण ही सम्भव हो सका है। अत्यन्त व्यस्त होते हुए भी उन्होंने ग्रन्थ का पुरोवाक् लिखने की कृपा की, इसके लिए उनका कृतज्ञ हूँ।

मैं पूज्य गुरु आदरणीय डॉ० बलदेवराज शर्मा रीडर संस्कृत-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय का हृदय से अनुगृहीत हूँ। यह ग्रन्थ उन्हीं की अपार कृपा व असीम स्नेह का परिणाम है।

मित्रवर हरीश कौशिक, रमण कुमार शर्मा एवं सत्यकाम शर्मा का इस कार्य में सहयोग के लिए अत्यन्त आभारी हूँ। दिल्ली विश्वविद्यालय पुस्तकालय के श्री जे० बी० खन्ना, श्री कल्याण सिंह, श्री रघुवीर सिंह, श्री हरमिन्दर पाल और श्री बनवारी लाल का मैं अत्यन्त आभारी हूँ क्योंकि इनके अथक प्रयासों के कारण ही मुझे सहायक ग्रन्थों की उपलब्धि हो सकी। अन्त में प्रकाशक श्री श्यामलाल मलहोत्रा (प्रोपराइटर, ईस्टर्न बुक लिंकर्स) का भी मैं आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने अल्प समय में इस ग्रन्थ को प्रकाशित करने की कृपा की।

सुरेन्द्र कुमार शर्मा

---

१. सिद्धसिद्धान्तपद्धति—पृ० १
२. नाथ-सम्प्रदाय—पृ० १
३. गोरख-दर्शन—पृ० ३२

विषयानुक्रमणी

संकेतिका

अहि० सं०	अहिर्बुध्न्य संहिता
ईश्वर प्रत्यभिज्ञा०	ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी
जा० द० उ०	जाबालदर्शनोपनिषद्
तैत्ति० उ०	तैत्तिरीयोपनिषद्
पा० यो० द०	पातञ्जलयोगदर्शन
बृ० उ०	बृहदारण्यकोपनिषद्
भा० दर्शन	भारतीय दर्शन
भा० द० और मु० मी०	भारतीय दर्शन और मुक्ति मीमांसा
श्वेता०	श्वेताश्वतरोपनिषद्
सि० सि० प०	सिद्धसिद्धान्तपद्धति
सि० सि० सं०	सिद्धसिद्धान्तसंग्रह

प्रथम-पुष्प

प्रथमोपदेश

विचार जब बुद्धिमार्ग से उद्भूत होते हैं तो दर्शन का जन्म होता है जो जिज्ञासा से प्रारम्भ होकर परम तत्त्व के अनुसन्धान पुनश्च उसके साथ सायुज्य में अवसित होता है। अनुसन्धान की इस प्रक्रिया में बुद्धि का स्पर्श होते ही तर्क का जन्म होता है परन्तु बुद्धि और तर्क की सीमा उस असीम और तर्कातीत तत्त्व का इदमित्थम् के रूप में व्याख्यान नहीं कर पाती।[1] और फिर ध्यान और साधना के मार्ग से उसे दिव्यदृष्टि प्राप्त होती है[2] और जीव परम तत्त्व के दर्शन कर कृतकृत्य हो जाता है।[3] उपनिषद् का ब्रह्म; योग का ईश्वर तथा वैष्णव और शैव तन्त्रों का परम तत्त्व इसी प्रक्रिया से साक्षात्कृत होता है।

उपनिषद् का ब्रह्म अनिर्वचनीय, अव्यय एवं नेति-नेति से अभिहित है।[4] वह परम आन्तरिक एवं बाह्य भेद रहित एकमात्र अद्वैत है।[5] वह माया शक्ति द्वारा समस्त सांसारिक नामरूपवस्तुजात में प्रकट हो रहा है।[6] इसी शक्ति द्वारा जगत् के रूप में आभासित होता है और उसी में व्याप्त है।[7]

---

१. न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा, नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
—मुण्डकोपनिषद् ३।१।८

२. दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ गीता ११।८

३. ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
—श्वेताश्वतरोपनिषद् १।३

४. स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न गृह्यतेऽशीर्यो न शीर्यतेऽसङ्गो न सज्यतेऽसितो न व्यथ्यते न रिष्यति।
—बृहदारण्यकोपनिषद्

५. तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्, अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः, इत्यनुशासनम्। वही २।५।१९

६. क. इन्द्रो मायाभिः पुरुरुप ईयते —वही २।५।१९
ख. य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वांल्लोकानीशत ईशनीभिः।
—श्वेताश्वतरोपनिषद् ३।१

७. अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः —बृ० उ०

यद्यपि उपनिषदों का लक्ष्य निर्गुण ब्रह्म है किन्तु सगुण का भी वर्णन दृष्टिगत होता है। छान्दोग्योपनिषद् में वर्णित है कि ब्रह्म मनोमय, प्राणशरीर, भारूप और सत्यसङ्कल्पादि है।[1] श्वेताश्वतरोपनिषद् में उक्त है कि सृष्टि के आरम्भ में परब्रह्म निज शक्ति द्वारा प्रयोजन रहित अनेकों वर्ण धारते हैं।[2]

'एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय' में यद्यपि शक्ति का समावेश निश्चित रूप से सर्वमान्य है, किन्तु आगमिक विचारधारा ने वेदों में अंकुरित एवं उपनिषदों में पल्लवित चैतन्य ब्रह्म को विशेषकर ज्ञान प्रधान न मानकर परम तत्त्व को ज्ञान एवं क्रिया दोनों रूपों में समान रूप से स्वीकारा है। अर्थात् एक ही परम तत्त्व शक्ति रूप होकर सर्वाकारों में स्फुरित है। वह परम विश्वोत्तीर्ण और विश्वात्मक है। केवल निष्क्रिय मात्र नहीं, अपितु स्पन्दशील है। वह प्रकाशात्मक होते हुए भी विमर्शात्मक है, क्योंकि केवल प्रकाशमय होता तो शिव, शक्ति रहित एवं जड़ होता।[3] और शिव-शक्ति का समन्वित रूप ही वास्तव में परम तत्त्व है।

"प्रत्येक तान्त्रिक रहस्यमयी साधना में चाहे वे ब्राह्मण (शैव, शाक्त तथा वैष्णव) हों या ब्राह्मणेतर (बौद्धादि),—यह समान रूप से स्वीकार किया जाता है कि मूलतत्त्व (प्रत्येक दृश्यमान विशेष का सामान्य रूप) दो तत्त्वों का समरस रूप है। इन दोनों पक्षों में एक अभावात्मक है और दूसरा भावात्मक, एक निष्पन्द और दूसरा सस्पन्द, एक निष्क्रिय और दूसरा सक्रिय, एक निवृत्त और दूसरा प्रवृत्त, एक प्रकाशमय और दूसरा विमर्शमय, एक भोक्ता और दूसरा भोग्य, एक पुरुष और दूसरा स्त्री अर्थात् संसार के समस्त दृश्यमान द्वैतभावापन्न विशेषों को आत्मसात् करने वाले दो तत्त्वों का समरस और सामान्य रूप ही वह मूल तत्त्व है। उस निरपेक्ष परम तत्त्व में ये दोनों तत्त्व या दोनों पक्ष समरसीभूत होकर अद्वय रूप में विराजमान रहते हैं।

---

१. मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसङ्कल्पः आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभिव्याप्तः।

—छान्दोग्योपनिषद् ३।४।२

२. य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति।
विचैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्धया शुभया संयुनक्तु॥

—श्वेताश्वतरोपनिषद् ४।१

३. यदि निर्विमर्शः स्यात् अनीश्वरो जडश्च प्रसज्येत। (परा प्रावेशिका)

इसीलिए आगम-सम्मत तमाम साधनाओं में उसके लिए अद्वय,[१] मिथुन,[२] युगनद्ध[३], यामल,[४] समरस,[५] युगल[६] अथवा सहज[७]—आदि संज्ञाओं का प्रयोग किया गया है। शान्त एवं सुस्थिर समुद्र की भाँति निष्पन्द पड़े हुए मूल तत्त्व के वक्षःस्थल पर उसकी स्पन्दात्मा आत्मशक्ति अपने स्पन्दमय स्वभाव को समस्त अणुओं में और अपने समरस पर दृष्टि या सृष्टि काल में विषम रह चिन्मय स्वरूप की अपेक्षाकृत सन्निहित समस्त जीवों में सदा प्रकाशित कर रही है। इस तथ्य या सत्य की पुष्टि भूतविज्ञान और प्राणि-विज्ञान भी कर रहे हैं।"[८]

यथा वट-बीज में पत्र-फलादि यहाँ तक कि समस्त वृक्ष ही समाया हुआ है, उसी प्रकार समस्त जगत्-प्रपञ्च उस परम तत्त्व में बीज रूप से विद्यमान है।[९] उसी परम तत्त्व विषयक ज्ञान की चर्चा के सन्दर्भ में यह नितान्त आवश्यक है कि भारतीय चिन्तकों के उस परम सत्ता विषयक चिन्तन पर हम एक सामान्य दृष्टिपात करें जिससे सिद्धसिद्धान्तसंग्रह में निर्दिष्ट परम तत्त्व का स्पष्टीकरण हो सके।

परम तत्त्व का स्वरूप वैष्णव, शैव एवं शाक्त सम्प्रदायों के परि-प्रेक्ष्य में—

१ वैष्णव दर्शनाचार्य श्री रामानुज तत्वों की परिकल्पना कर चित्

---

१. "तन्त्रालोक भाग २ अ० ३।२०३, २०४..."शिवशक्त्यद्वयात्मनि"।
२. शिवशक्तिमिथुनपिण्ड...कामकलाविलास, कारिका ५ पृ० ७
३. युगनद्ध इति ख्यातः "पञ्चक्रम"।
४. तन्त्रालोक, प्रथमाह्निक, पृ० ४ "तयोर्यद्यामलं रूपम्......"।
५. जाते समरसानन्दे... .. ...बोधसार, पृ० २००-२०॥
६. सर्वेश्वर (पत्रिका) पृ० २८९ (वर्ष-२० अङ्क २-७)
७. श्रीकृष्णप्रसङ्ग —पृ० ३७७
८ तन्त्र और सन्त, पृ० ४०-४१ से उद्धृत।
९. क. यथा न्यग्रोधबीजस्थ शक्तिरूपो महाद्रुमः।
तथा हृदयबीजस्थं विश्वमेतच्चराचरम्॥

—परा प्रावेशिका पृ० ११

ख. मयूराण्डरसे सर्वशिख्यवयवानुप्रविष्टवर्होपवर्हादिपूर्ण रेखादि-वैचित्र्यशिल्पनाकौशलवद् अवधानधनैः सूक्ष्मेक्षिकयावधार्यम्।

—वही पृ० ११

(जीव) और अचित् (प्रकृति) इन दोनों तत्त्वों से युक्त ईश्वर नामक तीसरे तत्त्व की एकमात्र स्वतन्त्र सत्ता मानते हैं। क्योंकि ईश्वर इन दोनों तत्वों में अन्तर्भूत होकर रहता है। यह कल्पना श्वेताश्वतरोपनिषद् से अभिभूत है।[१] यह विशिष्टाद्वैत की विशेषता है कि इनका ब्रह्म कभी भी विशिष्टता से हीन नहीं होता। प्रलयावस्था में जीव और जगत् सूक्ष्म रूप धारण कर लेते हैं और उस समय भी ब्रह्म चित् और अचित् से विशिष्ट ही रहता है।[२] यही रामानुजाचार्य का संक्षिप्त सार है।[३]

२ **माध्वमत** में विष्णु ही साक्षात् परमात्मा है,[४] जो कि अनन्तगुण-परिपूर्ण है। इनके गुण निरवधिक और निरतिशय हैं। उनमें सजातीय उभयविध आनन्त्य है। यह सत् शक्तियों से परिपूर्ण, सर्वव्यापी, स्वतन्त्र, नित्य, असाधारण चित् तथा किसी के द्वारा नियमित नहीं होता है।[५] भगवान् ही उत्पत्ति, स्थिति, संहार, नियमन, ज्ञान, आवरण, बन्ध और मोक्ष का कर्ता है। इनके समस्त मत्स्यादि अवतार स्वयं में परिपूर्ण हैं।[६]

३. **निम्बार्क** मत में **ब्रह्म** सगुण तथा अविद्यास्मितादि रहित और अशेष ज्ञान, बल आदि कल्याण गुणों का निधान है। जगत् के दृष्टिगोचर अथवा श्रुतिगोचर में भगवान् सबके भीतर और बाहर व्याप्त होकर विद्यमान रहता

---

१. 'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म एतत्'
—श्वेताश्वतरोपनिषद् १।१२

२. भा० दर्शन पृ० ३९०-३९२

३. समस्तचिदचिद्वस्तुशरीरायाऽखिलात्मने।
श्रीमते निर्मलानन्दोदन्वते विष्णवे नमः॥
—(रामानुजकृत वेदान्तसार)

अशेषचिदचिद्वस्तुशेषिणे शेषशायिने।
निर्मलानन्तकल्याणनिधये विष्णवे नमः॥ (वेदार्थसंग्रह)

४. परस्य ब्रह्मणो विष्णोः प्रसादाद् इति वा भवेत्।
—ब्रह्मसूत्रभाष्य १।१।१

५. सर्वत्राखिलसच्छक्तिः स्वतन्त्रोऽशेषदर्शनः।
नित्यस्तादृशचिच्चेत्ययन्ता इष्टो रमापतिः॥ तत्त्वोद्योत

६. भा० दर्शन पृ० ४०२-४०३

है ।[1] विष्णु ही इस चराचर जगत् के उपादान एवं निमित्त कारण हैं।[2] भगवान् नारायण स्वेच्छा से जगत् की सृष्टि आदि व्यापार का सम्पादन करते हैं।

४. **वल्लभ** मत के अनुसार ब्रह्म सर्व धर्म विशिष्ट है। शुद्धाद्वैत के इस मत में ब्रह्म माया से अलिप्त एवं नितान्त शुद्ध है। यह समस्त संसार ब्रह्म की लीलाओं का विकास मात्र है। ईश्वर जगत् का समवायिकारण है।[3] वल्लभानुसार ब्रह्म तीन प्रकार का है—

१. आधिदैविक (परब्रह्म) २. आध्यात्मिक (अक्षरब्रह्म) और ३. आधिभौतिक (जगत्)। जगत् रूप कार्य का ब्रह्म कारण है, और कार्यकारण में अभेद होने से जगत् ब्रह्म रूप ही है। इस मत के अनुसार ब्रह्म ही जगत् के कर्ता स्वभाव से ही हैं। उनके कर्त्तापन में माया का व्यापार बिल्कुल भी नहीं होता। सृष्टि और प्रलय उनकी लीला विलास मात्र ही हैं। यह जगत् ब्रह्म रूप एवं ब्रह्म सदृश नित्य है।[4]

५. **चैतन्य** मत अद्वैत मत के अनुरूप ही ब्रह्म को सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद से शून्य मानता है। उस परम में अचिन्त्य अपरिमेय शक्ति होने के कारण वह नानात्मक प्रतीत होने पर भी एकात्मकता युक्त रहता है। इसी शक्ति के कारण परमात्मा मूर्त होकर भी विभु है।[5] इस विशेष[6]

---

१. यच्च किञ्चिज्जगत्यस्मिन् दृश्यते श्रूयतेऽपि वा।
अन्तर्बहिश्च तत् सर्वं व्याप्य नारायण स्थितः।
—सिद्धान्तजाह्नवी, पृ० ५३

२. जन्माद्यस्य यतः —वेदान्त पारिजात १।१।२

३. तद्ब्रह्मैव समवायिकारणम्। समन्वयात् सम्यगनुवृत्तत्वात्। अस्ति भातिप्रियत्वेन सच्चिदानन्दरूपेणान्वयात्। नामरूपयोः कार्यरूपत्वात् —अणुभाष्य १।१।३

४. भा० दर्शन पृ० ४१२-४१३

५. पन्थास्तु कोटिशतवत्सरसम्प्रगम्यो, वायोरथापि मनसो मुनिपुङ्गवानाम्।
सोऽप्यस्ति यत् प्रपदसीम्न्यविचिन्त्यतत्त्वे गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥
—ब्रह्मसंहिता ५।४३

६. 'विशेषनिर्भेदेऽपि तत्त्वे भेदव्यवहारो विशेषबलात्'।
—सिद्धान्तरत्न, पृ० २३

संज्ञक शक्ति की परिकल्पना माध्वमत से गृहीत है ।[1]

६. **पाञ्चरात्र** मत में परब्रह्म अद्वितीय, दुःखविहीन, अनादि और अनन्त है। त्रिविध परिच्छेद शून्य वह निर्विकारी समस्त जगत् में व्याप्त होता हुआ प्रत्येक प्राणी में निवास करता है। उभय गुण सम्पन्न यह परब्रह्म अपनी शक्ति लक्ष्मी का आश्रय लेकर ही निर्गुण से सगुण रूप में प्रकट होता है, किन्तु इन दोनों रूपों में विद्यमान रहने पर भी उसका मूल रूप एक ही है। ज्ञान स्वरूप[2] यह परब्रह्म, सर्व उपाधि विवर्जित है तथा शक्ति, ऐश्वर्य, वल, वीर्य और तेज इन पाँच गुणों से युक्त अर्थात् ज्ञान समेत षड्गुण्य रूप है।[3]

७. **श्रीमद्भागवत** मत में श्रीकृष्ण ही परम तत्त्व हैं। तथा वे विशुद्ध परमार्थ रूप, परिपूर्ण और सर्वथा निर्विकार हैं। परम तत्त्व रूप भगवान् को लोग वासुदेव कहते हैं।[4] श्रीमद्भागवत में अद्वैत का प्रतिपादन करते हुये भगवान् स्वयं कहते हैं कि सृष्टि से पूर्व मैं ही था और कोई क्रिया नहीं थी। इस समस्त सृष्टि का प्रपञ्च मैं ही हूँ और प्रलय में एकमात्र मैं ही अवशिष्ट रहूंगा।[5]

८. **पाशुपत** मत में महेश्वर ही जगत् की सृष्टि एवं संहार का कारण हैं। पशुपति विप्र, रुद्र, ऋषि और शिव आदि इनके पर्याय हैं। स्वतन्त्र कर्त्ता

---

१. भा० दर्शन पृ० ४२०

२. ज्ञानं नाम गुणं प्राहुः प्रथमं गुणचिन्तकाः ।
स्वरूपं ब्रह्मणस्तच्च गुणश्च परिगीयते ॥ नारदपाञ्चरात्र २.५७

३. (क) सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तं सर्वोपाधिविवर्जितम् ।
षाड्गुण्यं तत् परं ब्रह्म सर्वकारणकारणम् ॥
—अहिर्बुध्न्य संहिता २।५३

(ख) एते शक्त्यादयः पञ्च गुणा ज्ञानस्य कीर्तिताः ।
ज्ञानमेव परं रूपं ब्रह्मणः परमात्मनः ॥
षाड्गुण्यं तत्परं ब्रह्म स्वशक्तिपरिबृंहितम् ॥

४. वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥ भागवत १।१।११

५. अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत्परम् ।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ॥ वही २।९-३२

शिव में ज्ञान शक्ति होने से वह परमेश्वर[1] हैं और क्रीड़ा हेतु जगत् का आविर्भाव और तिरोभाव करता है।[2]

९. **रसेश्वर** दर्शन महेश्वर (शिव) को परम तत्त्व के रूप में स्वीकार करने वाले दार्शनिक ही माहेश्वर कहलाते हैं। इन माहेश्वरों में रसेश्वर का अपना विशिष्ट स्थान रहा है। इस दर्शन में 'रस' (पारद)[3] को ईश्वर कहा जाता है। तैत्तिरीय उपनिषद्[4] इसी रस को ब्रह्म का प्रतीक बतलाता है जिसे प्राप्त कर साधक आनन्द का अधिकारी बन जाता है।[5]

१०. **व्याकरण** सिद्धान्त में स्फोट रूप शब्द ही एकमात्र सत्यभूत पदार्थ है। व्याकरण सिद्धान्त मत में ज्ञान मात्र ही वाक् स्वरूप है और यही वाक्य परम तत्त्व है।[6]

११ **वीरशैव** सिद्धान्त में परम शिव नित्य स्वरूप, आद्यन्तरहित, सर्वव्यापक और सर्वशक्ति समन्वित हैं। उन्हीं से शक्ति का स्फुरण

---

१. "सार्वकामिक इत्याचक्षते" — पाशुपत सूत्र २।६
कौण्डिन्य भाष्य — 'तत्र कामी ईश्वरः। कामोऽस्येच्छा। काम्यं विद्यादि-कार्यम्। तदक्रमेण क्रमशो वा यथेष्टमुत्पादयति। कस्मात्? कामित्वात्। अकर्मापेक्षित्वं चास्यात एव सिद्धम्। कर्मकामिनश्च महेश्वर-मपेक्षन्ते, न तु भगवानीश्वरः कर्म पुरुषं वापेक्षते। अतो न कर्मापेक्ष ईश्वरः।' —वही.

२. भा० दर्शन, पृ० ४५९-४६०

३. शिवाङ्गात् प्रच्युतं रेतः पतितं धरणीतले।
तद्देहसारजातत्वाच्छुक्लमच्छमभूच्च तत्॥
अत्र भेदेन विज्ञेयं शिववीर्यं चतुर्विधम्।
श्वेतं रक्तं तथा पीतं कृष्णं तत्तु भवेत् क्रमात्।
ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रस्तु खलु जातितः।
—सर्वदर्शनसंग्रह पृ० ३७६

४. रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।
—तैत्ति० उ० २।७।१

५. भा० दर्शन पृ० ४६३

६. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थ भावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥ वाक्यपदीय १।१

हुआ।[१] अर्थात् परशिव में अविनाभाव सम्बन्ध से वर्तमान विमर्श शक्ति का स्फुरण ही तत्त्व रूप से परिणत होता है। इस मत में छत्तीस तत्वों की परिगणना की गई है, जिसमें मुख्य शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, माया, विद्या, पुरुष, प्रकृति, मन और अहङ्कार हैं। ज्ञान शक्ति से एकाकार होने पर परम शिव 'शिवतत्त्व तथा क्रिया शक्ति में लीन होने पर 'शक्ति तत्त्व' कहलाता है। शिव में अपृथक् सिद्धि विशेषण से वर्तमान शक्ति के सङ्कोच और विकास से जगत् का तिरोभाव और आविर्भाव होता है। इसी कारण इस मत में परशिव ब्रह्म 'स्थल' कहलाते हैं।[२] अर्थात् यह समस्त चराचर जगत् जिसमें उत्पत्ति और लय को प्राप्त होता है, वही ब्रह्म 'स्थल' नाम से अभिहित है। यही स्थल स्व लीला से 'अङ्गस्थल' और 'लिङ्गस्थल' दो नामों से पुकारा जाता है।[3] "इसी तरह लिङ्ग और अंग के भी तीन-तीन भेद होते हैं। यद्यपि इन विभिन्न अङ्ग और लिङ्गों की सत्ता भिन्न दिखायी देती है; परन्तु अन्त में शुद्धात्मा अङ्ग नामक जीव का लिङ्ग नामक शिव में सामरस्य प्राप्त कर लेना ही 'लिङ्गांग-सामरस्य' कहलाता है। यही है 'शिव तथा जीव का ऐक्य' और यही शक्ति विशिष्टाद्वैत मत का सार है।"[४]

१२. **शैव** मत में तीन पदार्थ स्वीकृत हैं—पति (शिव) पशु (जीव) और पाश (मल, कर्म आदि अर्थपञ्चक)।[५] स्वातन्त्र्य[६]—और सर्वज्ञत्व पर शिव के असाधारण गुण हैं। शिव की सत्ता अनुभवातीत है। इसे शब्द और विचार के परे कहा गया है, अतएव यह किसी के द्वारा ज्ञात नहीं हो

---

१. यदा तमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्नचासच्छिब एव केवलः।
तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं प्रज्ञा च तस्मात् प्रसृता पुराणी॥

२ स्थीयते लीयते यत्र जगदेतच्चराचरम्।
यद् ब्रह्म स्थलमित्युक्तं स्थलतत्त्वविशारदैः।

३. (क) भा० दर्शन० पृ० ४६६
(ख) भा० द० और मु० मी० पृ० २६५

४. भा० दर्शन, पृ० ४६६

५. शैवागमेषु मुख्यं पतिपशुपाशा इति क्रमात्त्रितयम्।
तत्र पतिः शिव उक्तः पशवो ह्यणवोऽर्थपञ्चकं पाशाः।
श्रीशैवसिद्धान्त परिभाषा

६. 'पत्युः स्वातन्त्र्यमेवासाधारणो धर्मः'। वही, पृ० २३

सकता।[1] मुक्त जीवों तथा विद्येश्वरादिकों में शिवत्व का वास है, किन्तु ये परशिव के अधीन हैं। सृष्टि, स्थिति, संहार तिरोभाव और अनुग्रहकरण इन कृत्यपञ्चक के कर्त्ता साक्षात् शिव हैं।[2] शिव की दो अवस्थाएं लयावस्था और भोगावस्था हैं। शक्ति के समस्त व्यापारों को समाप्त कर केवल रूप मात्र में अवस्थान से शिव शक्तिमान कहलाते हैं, यही लयावस्था है और जिस समय शक्ति उन्मेष को प्राप्त कर बिन्दु को कार्योत्पादन के निमित्त अभिमुख और कार्योत्पादन कर शिव के ज्ञान और क्रिया में समृद्धि करती है वही शिव की भोगावस्था है।[3] इस मत में शिव को पूर्ण, असीम, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, ज्ञान स्वरूप तथा आत्म-चेतना से युक्त कहा गया है।[4] शिव की ज्ञान शक्ति संवित रूपा है, इससे वे ब्रह्माण्ड के पदार्थों का ज्ञान करते हैं और दूसरी क्रिया शक्ति कुण्डलिनीरूपा है, जिससे संसार का निर्माण-कार्य सम्पादित होता है।[5]

१३. **प्रत्यभिज्ञादर्शन** और शाक्त दर्शन दोनों ही अद्वैतवाद के प्रतिष्ठापक हैं। इन दोनों के मत में एक अद्वैत परम तत्त्व है जो शिव तथा शक्ति का, कामेश्वर और कामेश्वरी का सामरस्य रूप है। चैतन्य स्वरूप आत्मा निर्विकार रूप से समस्त पदार्थों में अनुस्यूत हैं।[7] शिव आत्मा ही है, जिसकी सत्ता स्वतः सिद्ध है।[6] इसी का नाम चैतन्य; परासंवित् और परमशिव है।

---

१. शैव-सिद्धान्त दर्शन पृ० ४०

२. तत्त्वप्रकाशिका, कारिका ७

३. भा० दर्शन पृ० ४७१-७२

४. शैव-सिद्धान्तदर्शन पृ० ४२

५. द्वे शक्ती समवायिन्यौ शिवे ज्ञान-क्रियात्मिके।
आद्या तु संविद्विज्ञानं क्रिया कुण्डलिनी परा॥
ज्ञानशक्त्या विजानाति क्रियया कुरुते जगत्।
क्रिया हि फलदा पुंसां न ज्ञानं स्यात्फलप्रदम्॥
—रत्नत्रयकारिका १२७-१२८

६. भा० दर्शन ४७५

७. तेन आत्मादेर्निराकरणे साधने वापि अवश्यमेव साधयिता पूर्वकोटावातिनः सिद्धः। नहि साधयितारमन्तरेण अर्थानां साध्यतैव स्यात् स च स्वतःसिद्धः प्रकाशात्मा परमार्थरूपः परमेश्वरः शिव एव।
—तन्त्रालोक १।५६ टीका

परम शिव के दो रूप हैं—(१) विश्वात्मक स्वचित् शक्ति के समस्त विश्व को व्याप्त करने वाला और (२) विश्वोतीर्ण ग्राह्य-ग्राहक भाव से रहित। परम शिव प्रत्येक वस्तु में व्यापक होते हुए भी स्व विश्वोत्तीर्ण रूप से सब पदार्थों का अतिक्रमण करता है। यह समस्त चराचर जगत् परम से अभिन्न और उसी का स्फुरण मात्र है।[1] विश्वोत्तीर्ण, विश्वस्वरूप परमानन्दमय तथा प्रकाशैकघन परम शिव का, शिव से लेकर क्षिति पर्यन्त निखिल जगत् उनसे अभिन्न रूप में ही विस्फुरित होता है। ग्राह्य एवं ग्राहक, वस्तुतः और कुछ नहीं है प्रत्युत परमशिव ही अपने को विभिन्न एवं सहस्रों रूपों में प्रस्फुरित करते हैं।[2] शक्तिसम्पन्न परमशिव स्वेच्छया स्वभित्ति में, स्वाधार पर जगत् का उन्मीलन करते हैं। प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में उक्त है कि (चिति) अपनी इच्छा से अपनी भित्ति पर विश्व का उन्मीलन करती है।[3] जगत् की विद्यमानता पूर्व थी, केवल उसका **प्रकटीकरण** सृष्टिकाल में शिव-शक्ति से सम्पन्न होता है।[4] उनकी ज्ञानशक्ति विषयों को प्रकाशित और क्रिया शक्ति पदार्थों का निर्माण करती है।[5]

१४. **त्रिपुरा** मत में ३६ तत्त्व माननीय हैं और इनसे परे एक ऐसा पदार्थ है जो विश्व में व्यापक होता हुआ भी विश्व से पृथक् है। शक्ति तत्त्व

---

१. तन्नाना अनुरूपग्राह्यग्राहकभेदात्।
—प्रत्यभिज्ञाहृदयम् सूत्र ३

२. "श्रीमत्परमशिवस्य पुनः विश्वोत्तीर्णविश्वात्मकपरमानन्दमयप्रकाशैकघनस्य एवंविधमेव शिवादिधरण्यन्तमखिलम् अभेदेनैव स्फुरति। न तु वस्तुतः अन्यत् किञ्चित् ग्राह्यं ग्राहकं वा। अपि तु श्रीपरमशिवभट्टारक एव इत्थं नानावैचित्र्यसहस्रैः स्फुरतीति अभिहितप्रायम्"। वही

३. स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति। —प्रत्यभिज्ञाहृदयम् २

४. भा० दर्शन पृ० ४७५

५. क. इत्थं तथा घटपटाद्याकारजगदात्मना।
तिष्ठासोरेवमिच्छैव हेतुकर्तृकृता क्रिया॥

ख. अनादिनिधनाच्छान्ताच्छिवात् परमकारणात्
इच्छाशक्तिर्विनिष्क्रान्ता ततो ज्ञानं ततः क्रिया॥
—महार्थमञ्जरी सपरिमल पृ० ३९

का ही यह विश्व उन्मेष है।[1] इस मत में "महाशक्तिस्थानीया एवं अनन्त नामरूपात्मिका है। इसका स्वरूप सूक्ष्म, इन्द्रियातीत है। यह साक्षात् ब्रह्म स्वरूपा एवं मोक्षप्रदायिका है।[2] शक्ति के साथ शिव सदा मिलित रहते हैं। शक्ति ही अन्तर्मुख होने पर शिव और शिव ही बहिर्मुख होने पर शक्ति हैं। शिव तत्त्व में शक्ति भाव गौण और शक्ति तत्त्व में शिव भाव गौण रहता है तत्त्वातीत दशा में प्रधान गौण भाव से रहित दोनों की साम्यावस्था होती है किन्तु यही सामरस्य है। इसी को शैव परम शिव और शाक्त पराशक्ति से अभिहित करते हैं।[3] "कोटि कोटि संख्या में प्रविभक्त चराचर विश्व, उस पराशक्ति की देह से स्फुरित होने वाली किरणें हैं। वे सबके अन्तःकरण में प्रविष्ट होकर भासित होती हैं, बिना उनके कुछ भासित नहीं होता।[4] "प्रत्यभिज्ञादर्शन में वर्णित शिव और शक्ति तत्त्व ही त्रिपुरा मत में कामेश्वर और कामेश्वरी तथा गौडीय वैष्णव मत में श्रीकृष्ण और राधा हैं। त्रियुरा मत में कामेश्वर और कामेश्वरी के सामरस्य को 'सुन्दरी' या 'त्रिपुरासुन्दरी' के नाम से अभिहित करते हैं। त्रिपुरा ही सकलाधिष्ठानरूपा सत्यरूपा 'समानाधिकवर्जिता, सच्चिदानन्दा, समरसा श्रीललिताम्बिका है।"[5]

---

१. भा० दर्शन, पृ० ४८२

२. "मोक्षैकहेतुर्विद्याश्रीः श्रीविद्या नात्र संशयः"।
—भा० द० और मु० मी० पृ० ३३८

३. (क) सा जयति शक्तिराद्या निजसुखमयनित्यनिरुपमाकारा।
भाविचराचरबीजं शिवरूपं विमर्शनिर्मलादर्शः॥
—कामकलाविलास २

(ख) सदाशिवेन सम्पृक्ता तत्त्वातीता महेश्वरी।
ज्योतिरूपा पराकारा यस्या देहोद्भवा शिवे॥
—लुप्तागमसंग्रह पृ० ४१

(ग) भा० दर्शन पृ० ४८२

४. तद्भासा रहितं किञ्चिन्न च यच्च प्रकाशते।
तस्याश्च शिवशक्तेश्च चिद्रूपायितं विना॥
—भा० द० और मु० मी० पृ० ३३६

५. भा० दर्शन पृ० ४८२

सिद्धसिद्धान्तसंग्रह में परम तत्त्व एवं शक्ति तत्त्व—

आचार्य वलभद्र विरचित प्रस्तुत ग्रन्थ, सिद्धसिद्धान्त पद्धति में निरूपित विषय का ही अनुमोदन करता है। प्रथमोपदेश के प्रथम श्लोक में वर्णित है कि जिनके चरणकमल की रज के स्पर्श से मन रजोगुणशून्य हो जाता है। वे ही कृपा सागर श्री गुरुनाथ मुझ पर कृपा करें। क्योंकि श्रीकृष्ण* की तुष्टि हेतु ही सिद्धसिद्धान्तपद्धति के विषय का ही संग्रह सिद्धसिद्धान्तसंग्रह है।

सप्त उपदेशों में विभक्त प्रस्तुत ग्रन्थ में पिण्डोत्पत्ति, पिण्डविचार, पिण्डसंवित्ति, पिण्डाधार, पिण्डपदसमरसभाव, श्री अवधूत मत और अन्तिम उपदेश में समस्त ग्रन्थ का सार प्रस्तुत है। पिण्डोत्पत्ति विषयक ज्ञान की परिचर्चा करने से पूर्व परम तत्त्व के स्वरूप की द्योतना की गई है।[1] जहाँ वर्णित है कि समस्त सृष्टि प्रक्रिया से पूर्वकार्य-कारण और कर्तृत्व का सर्वथा अभाव एवं कुल (व्यक्त अथवा शक्तिक्रम) और अकुल (अव्यक्त, ब्रह्म की कारणता का निषेध अथवा शिव) भी नहीं था तब केवल सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद रहित एकमात्र अव्यक्त (ब्रह्म ही विद्यमान था। अर्थात् उस अवस्था में शिव कार्य-कारण, कुल-अकुल भेद रहित अव्यक्तावस्था में विद्यमान रहते हैं। इसी कारण उस अवस्था का नाम 'स्वयं' है।[2] हठयोगप्रदीपिका में वर्णन है कि सृष्टि का मूल बीज एक ही है। जबकि टीकाकार ब्रह्मानन्द के अनुसार सृष्टिरूप जो प्रणव (ॐ) नामक बीज है, वही मुख्य है। जैसाकि माण्डूक्य उपनिषद् में कहा गया है कि यह जगत् ॐ अक्षर रूप है।[3] कुल और अकुल से तात्पर्य है—शक्ति और शिव। साधक को योग द्वारा शक्ति (कुण्डलिनी) को ऊर्ध्वगामी कर सहस्रार स्थित शिव से मिला देना चाहिए। कौल सम्प्रदाय से अभिप्राय है कि कुल से अकुल का

---

* कृष्णराजाज्ञया काश्यां सिद्धसिद्धान्तसङ्ग्रहः ।
कृतो यो बलभद्रेण श्रीकृष्णस्तेन तृष्यतु ॥ सि० सि० सं० ६।१७

१. वही १।१-३

२. वही १।४

३. एकं सृष्टिमयं बीजम् —हठयोगप्रदीपिका—३।५४
टीका—सृष्टिमयं सृष्टिरूपं प्रणवाख्यं बीजमेकं मुख्यम् । तदुक्तं माण्डूक्योपनिषदि 'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्'—वही

सम्बन्धस्थापन ।[1] अतएव कुल और अकुल को मिलाकर समरस बनाना ही कौल साधना का लक्ष्य है और कुल और अकुल की सामरस्य स्थिति अर्थात् समरस होना ही कौल ज्ञान है। संक्षेप में यहाँ इतना ही कहना उचित होगा कि कुल से तात्पर्य शक्ति और अकुल से तात्पर्य शिव है। शिव को अकुल इसलिये कहा जाता है क्योंकि शिव का कोई कुल गोत्र नहीं है।[2] डा० गोपीनाथ कविराज लिखते हैं कि "कौलों में भी पूर्वकौल और उत्तरकौल—ये दो अवान्तर विभाग थे। पूर्व कौलों के मत से शिव और शक्ति आनन्दभैरव और आनन्द भैरवी नाम से परिचित हैं। इस मत से शिव और शक्ति में शेषशेषिभाव स्वीकृत हैं। किन्तु उत्तरकौल मत में यह स्वीकृत नहीं। उत्तरकौलों का कहना है कि शक्ति की ही सदा प्रधानता रहती है, इसलिए शक्ति कभी शेष नहीं होती। शिव तत्त्वरूप में बदलते हैं पर शक्ति सदैव तत्त्वातीत रहती है। शक्ति जब सभी कार्यात्मक प्रपञ्चों को अपने में खींच लेती है, तो उनका नामकरण होता है। इसी का पारिभाषिक नाम है 'आधारकुण्डलिनी"।[3]

प्रस्तुत ग्रन्थ का परम तत्त्व दो रूपों में प्रकट है जिसे परासंवित् और निजा शक्ति से अभिहित किया गया है। निजा शक्ति ही परासंवित् का एक ऐसा अभिन्न अङ्ग है जो अपने आपको विश्व-ब्रह्माण्ड के लिये प्रकट करती है। अव्यक्त परम में सिसृक्षा होने पर वह सगुण कहलाता है। और यही सिसृक्षा शक्ति है। जिसकी उत्पत्ति के साथ शिव और शक्ति दो तत्त्व

---

१. क. कुलं शक्तिरिति प्रोक्तमकुलं शिव उच्यते।
कुलेऽकुलस्य सम्बन्धः कौलमित्यभिधीयते॥
सौभाग्यभास्कर पृ० ५३

ख. 'कुलामृतैकरसिका' शब्द के 'सौभाग्यभास्कर' भाष्य में भास्करार्य ने लिखा है—"कुलं सजातीयसमूहः। स च एकविज्ञानविषयत्वरूपसाजात्यापन्नज्ञातृज्ञेयज्ञानरूपत्रयात्मकः। ततः सा त्रिपुटी कुलम्।" इस अर्थ में कालिदासकृत 'चिद्गगनचन्द्रिका' का प्रामाण्य भी है—मेयमातृमितिलक्षणं कुलं प्रान्ततो व्रजति यत्र विश्रमम्"।
—भारतीय दर्शन पृ० ६३७

२. नाथ सम्प्रदाय पृ० ६७

३. तान्त्रिक साधना और सिद्धान्त पृ० २२

हो जाते हैं, जो भिन्नता रहित हैं। परम तत्व केवल मात्र सच्चिदानन्द ही नहीं अपितु वह गतिशील है जो कि शक्ति है।

प्राचीन काल से अनवरत प्रवाहित ज्ञान गंगा के अद्वैत और द्वैत प्रधान दो तटों के मध्य प्रवाहित द्वैताद्वैतविलक्षणवाद रूपी अमृतसार ही इस मत का वास्तविक ध्येय प्रतीत होता है जिससे परम में शक्ति की स्थापना से द्वैत-अद्वैत, निर्गुण-सगुण और सत्-असत् में समन्वय स्थापित हुआ। परम ही शक्ति द्वारा जगत् की विविधता में अभिव्यक्त होता है। अपनी शक्ति द्वारा समस्त जागतिक प्रपञ्च में लिप्त होता हुआ भी वह परम सर्वथा मुक्त एवं निर्लेप ही है।

इस मत में शिव स्वयं प्रकाश और अपरिवर्तनीय तो है लेकिन एक पक्ष से और दूसरे पक्ष में वह शक्ति रूप होकर जगत् में विलासवान हो रहा है। शक्तिमान् और शक्ति में अभेद सम्बन्ध है। इस शक्तिमान् की शक्ति सांख्य की प्रकृति की तरह न तो भौतिक है और न ही जड़ तथा न ही अद्वैत प्रतिपाद्य माया की तरह अनिर्वचनीया एवं मिथ्या है क्योंकि इस मत की शक्ति अद्वैत वेदान्त की माया से सर्वथा भिन्न एवं चिद्रूपिणी और अनन्त शक्ति सम्पन्न है। वास्तव में जगत् इसी का परिणाम है।

इस मत का नैकट्य काश्मीर शैव दर्शन से स्पष्ट है क्योंकि इस ग्रन्थ में काश्मीर शैव ग्रन्थों के उद्धरणों द्वारा अपने मत की पुष्टि की गई है। शक्ति को चिद्रूपिणी स्वीकार कर अद्वैत-वेदान्त से स्पष्ट मतभेद स्थापित किया गया है और परमशिव एवं शक्ति इत्यादि की परिकल्पना भी त्रिक् दर्शनानुसार ही है। द्वैताद्वैतविलक्षणवाद के सिद्धान्त का अनुमोदन करने वाला यह मत परम तत्त्वों को द्वैत एवं अद्वैत इन दोनों से परे मानता है।

इस ग्रन्थ का विषय प्राचीन अद्वैतवादी आगमों के अनुरूप अगर स्वीकारा जाए तो कोई दोष सम्भवतः उत्पन्न नहीं होगा। शिव धर्मी एवं शक्ति धर्म अभिन्न है क्योंकि शिव में शक्ति और शक्ति में शिव का वास स्वयं श्री बलभद्र जी ने माना है।[1] जब यह शक्ति वार्धक्य को प्राप्त करती है तब सृष्टि होती हैं और जब शिव अपनी शक्ति का सङ्कोच अर्थात् अपने में लीन

---

१. शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः।
अन्तरं नैव पश्यामि चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ॥

—सिद्धसिद्धान्तसङ्ग्रह ४।३७

करता है, तब सृष्टि का सङ्कोच होता है। इस प्रसार और सङ्कोच की साम्यावस्था ही परममुक्ति है।[1] "इस प्रसार और सङ्कोच का जो आदि और अन्त है, वही साम्यावस्था है और वही निराभास है, वही शिवावस्था है। जब यह साम्य भङ्ग होता है, अर्थात् शक्ति के स्फुरण या प्रसर में स्तरानुसार विश्व का आविर्भाव होता है, तब शक्ति परिणाम लाभ करती है या जगत् आभासित होता है। शक्ति की सङ्कोचन क्रिया के अवसान काल तक जगत् क्रमशः स्थूल-सूक्ष्म-भेद से आभासित होता है। अतएव जगत् का आभास ही शक्ति भाव और निराभास ही शिवभाव है। शिव, एकरस और अपरिणामी हैं। शक्ति का तिरोभाव ही जगत् का लय है। फिर भी शिव और शक्ति सूर्य और सूर्यकिरण के समान अभिन्न हैं। अतएव शक्ति की उपासना से शिव की उपलब्धि होती है। शक्ति उपासना साधन है और शिवत्वलाभ उसका फल। विमर्श ही शिव की शक्ति है।[2]" इस मत के परिप्रेक्ष्य में महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ कविराज जी ने अनेक निर्देश दिये हैं, जिनसे पाठक गण अधिकाधिक लाभ उठा सकते हैं।[3]

---

१. प्रसरं भासते शक्तिः सङ्कोचं भासते शिवः।
तयोः संयोगकर्ता यः स भवेद्योगराट् शिवः॥ वही ६।६

२. ना० सं० द० सा० प्र०, पृ० २२८-२९ के शब्द गोरक्षनाथ नाथ सम्प्रदाय के परिप्रेक्ष्य में पृ० ११७ से उद्धृत।

3. "The Supreme Ideal of yoga-Sādhanā as conceived in this school seems to differ essentially from the conceptions of Patañjali, of the earlier and some later Buddhistic systems and even to a great extent of Śaṅkara's Vedānta. Nevertheless we must observe that the Nātha ideal is analogous to what we find in the Āgamic systems of non-dualistic thought in ancient and medieval India.

This ideal is described in one word as Sāmarasya, which implies obliteration of traces of all kinds of existing differences, not by a process of transcendence as in Sāṅkhya, or of sublation as in Vedāntic Māyāvāda, but by a positive process of what may be described as mutual interpretation. This ideal underlies the principle of unification between Puruṣa and Prakṛti, or between

शक्ति का संकेत किसी न किसी रूप में प्राचीन काल से ही उपलब्ध होता आया है। चाहे वह ऋग्वेद[1] हो अथवा उपनिषद्[2] और गीता।[3] "साधना के क्षेत्र में महाशक्ति की कल्पना भवानी, काली, दुर्गा आदि रूपों में की गई है। वह परमेश्वर की ही शक्ति है जो भोग में भवानी योग में कुण्डलिनी कोप में काली और समर में दुर्गा है।"[4] नाना प्रकार से अनुभूत यह समस्त जगत् प्रपञ्च वस्तुतः शक्ति का ही आत्मप्रकाश है। सुसूक्ष्म, लिङ्गात्मक और इन्द्रियगोचर स्थूल जगत् शक्ति के ही विभिन्न विकास हैं। इस विश्व के मूल में जो पूर्ण सत्ता पारमार्थिक रूप में विद्यमान है, वही शक्ति का परम रूप है।[5]

"ऋग्वेद के रात्रिसूक्त, देवीसूक्त तथा श्रीसूक्त में एवं अथर्ववेद के 'देव्यथर्वशीर्ष' में भगवती की शक्ति और आराधना का विकसित रूप विद्यमान है। वैदिक प्राकृतिक सौन्दर्य-बोध शक्ति की भावानुभूति का ही प्रतीक है। यही प्रकृति-परक उपासना शक्ति की उपासना में परिवर्तित हो गयी है। शाक्त मत में परमेश्वर को स्त्री रूप माना गया है।"[6] वैष्णव शैव एवं शाक्त सम्प्रदायों ने इस शक्ति को किस-किस रूप में स्वीकृत किया है, इस विषय पर एक सामान्य दृष्टि प्रस्तुत है।

Śiva and Śakti. The attainment of this ideal is the Supreme Unity of Parama Śiva, where Śiva and Śakti are one Undivided and indivisible whole. It is called Mahā-Śakti in the language of the Śāktas and represents the Absolute of the Śākta Āgamas....." (A prefactory Note by Gopinath Kaviraj on the philosophy of Gorakhnath).

१. अग्ने यत्ते दिवि वर्च्चः पृथिव्यां यदोषधीष्वप्स्वायजत्र।
येनान्तरिक्षं भुवति तन्वन्वेषं सा भानुरर्णवो नृचक्षाः॥
—ऋग्वेद

२. माण्डूक्योपनिषद् ३।२४, श्वेताश्वतरोपनिषद् ६।८

३. गीता ७।२५, १४।३

४. काश्मीर शैव दर्शन पृ० ६२

५. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि पृ० ८५

६. काश्मीर शैव दर्शन पृ० ६२

शक्ति तत्त्व का स्वरूप वैष्णव, शैव एवं शाक्त सम्प्रदायों के परिप्रेक्ष्य में—

१. **रामानुजाचार्य** – चित्, अचित् और ईश्वर इन तीन नित्य पदार्थों में अचित् तत्त्व के तीन भेदों—शुद्ध, मिश्र और सत्त्व में से मिश्र तत्त्व ही माया, अविद्या या प्रकृति है।[1] माया (अद्‌भुत पदार्थों की सृष्टि करने वाली शक्ति) द्वारा ही ईश्वर जगत् की सृष्टि करता है। जहाँ शङ्कराचार्य विवर्तवाद को मानते हैं, वहीं रामानुजाचार्य परिणामवादी हैं।[2] माया से तात्पर्य है—विभिन्न पदार्थों की उत्पादिका त्रिगुणात्मिका प्रकृति। इसके अतिरिक्त अनादि, अनिर्वचनीय, भावरूपा माया, अविद्या या अज्ञान कुछ नहीं। 'माया'' शब्द प्रकृति का वाचक है और विचित्र सृष्टि रचने के कारण ही प्रकृति को माया कहा जाता है।[3]

२. **माध्व** मत में—परमात्मा की शक्ति लक्ष्मी परमात्मा के अधीन एवं उससे भिन्न है।[4] तन्त्र मत के विपरीत इस मत में शक्ति और शक्तिमान् में पूर्ण सामञ्जस्य या अभेद भाव नहीं रहता। अपितु शक्ति शक्तिमान् से गुणादिकों में कुछ न्यून रहती है। यह ईश्वर के समान नित्य मुक्ता, नानारूपधारिणी भगवान् की भार्या है। भौतिक आकार से रहित यह अप्राकृत देहधारिणी है। इस अक्षरा से ईश्वर जगत् को उत्पन्न, स्थित एवं विलीन करते हैं। शक्ति गुण में शक्तिमान् से न्यून तथा देश और काल की दृष्टि से उसके समान ही व्यापक है।[5]

३. **निम्बार्क** मत में—निग्रह और अनुग्रह दो ब्रह्म की शक्तियाँ हैं। स्वक्रीड़ा हेतु ब्रह्म, जीव को बन्धन में डालने के लिए निग्रह शक्ति का आश्रय लेता है और अनुग्रह शक्ति से जीव की मुक्ति होती है। निग्रह गुण और अनुग्रह स्वरूप शक्ति है। सृष्टि के आरम्भ में पर पुरुष अपनी आह्लादिनी

---

१. वल्लभ-वेदान्त पर एक दृष्टि, पृ० ४२
२. भा० दर्शन, पृ० ३९६
३. भा० द० और मु० मी०, पृ० १९९-२००
४. 'परमात्मभिन्ना तन्मात्राधीना लक्ष्मीः'—म० सि० सा०, पृ० २६
५. (क) द्वावेव नित्यमुक्तौ तु परमः प्रकृतिस्तथा।
देशतः कालतश्चैव समव्याप्तावुभावजौ ॥ भागवततात्पर्यनिर्णय
(ख) भा० दर्शन, पृ० ४०३
(ग) द्वैत वेदान्त का तात्त्विक अनुशीलन, पृ० ८८

शक्ति जागरित करने के पश्चात् अपनी प्रकृति (माया) शक्ति को जागरित करते हैं ।[1]

परमात्मा की यह अपूर्वा शक्ति माया ही उसके स्वरूप गत आनन्द की प्रकाशिका है । दशश्लोकी में प्रकृति के तीन (सत्त्व, रजस् और तमस्) गुण बताए हैं । अचेतन (अविद्या), अप्राकृत और काल रूप से यह तीन प्रकार की है । वह प्राकृत ही माया, प्रधान आदि नामों से कही गई है, जिसके शुक्ल, रक्त और पीत आदि रूप भी हैं ।[2] अपने में विद्यमान चिच्छक्ति के कारण ही ब्रह्म अनन्त रूपों में दिखायी पड़ते हैं ।[3] जगत् की सृष्टि, स्थिति और संहार हेतु ही परम पुरुष श्रीकृष्ण इन तीन गुणों के आश्रय से ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर रूप धारते हैं ।[4] भगवान् श्रीकृष्ण विज्ञानमात्र, कर्मबन्धन से रहित, निर्मल और साक्षात् सच्चिदानंदघन परमेश्वर हैं । इनकी सच्चिदानन्दमय सूक्ष्म सृष्टि के अन्दर शुद्ध सत्त्व गुण का अवलम्बन करने वाले ब्रह्मा, विष्णु और महेश गौण ईश्वर रूप माने जाते हैं । ये ईश्वर तथा उनकी शक्तियाँ विश्व के कल्याणार्थ परब्रह्म श्रीकृष्ण और आह्लादिनी शक्ति श्री राधा के अंश से प्रकट होती हैं । श्रीकृष्ण सर्वोच्च ब्रह्म हैं ।[5] राधा ही श्रीकृष्ण की परम शक्ति है । इस मत में शक्ति और शक्तिमान् का भेदाभेद सम्बन्ध है ।

४. **वल्लभ** मत में—माया को परब्रह्म की शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है । तत्त्वार्थदीपनिबन्ध में माया को सर्वभवनसामर्थ्यरूपा, आत्ममाया और अन्यानुपजीवन माना है ।[6] "वल्लभाचार्य ने माया के दो रूप माने हैं—

---

१. श्रीनिम्बार्क वेदान्त, पूर्वार्ध, पृ० ६०

२. अप्राकृतं प्राकृतं रूपकं च कालस्वरूपं तदचेतनं मतम् ।
मायाप्रधानादिपदप्रवाच्यं शुक्लादिभेदाश्च समेऽपि तत्र ।।
—दशश्लोकी—६

३. स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमशेषकल्याणगुणैकराशिम् ।
व्यूहाङ्गिनं ब्रह्म वरं वरेण्यं ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम् ।।
—वही २

४. श्री निम्बार्क वेदान्त, पृ० ६०

५. वही, पृ० ६०

६. 'माया हि भगवतः शक्तिः सर्वभवनसामर्थ्यरूपा तत्रैव स्थिता । यथा पुरुषस्य कर्मकरणादौ सामर्थ्यम् । तेन स्वसामर्थ्येन अन्यानुपजीवनेन स्वात्मरूपं प्रपञ्च कृतवान् इति फलितम्—'तत्त्वार्थदीपनिबन्ध

(१) विद्या माया—विद्या-माया के द्वारा जीव संसार के बन्धन से मुक्ति प्राप्त करता है। माया का प्रभाव जीव पर ही पड़ता है।

(२) अविद्या माया—अविद्या-माया शक्ति के द्वारा जीव अपने ही द्वारा कल्पित संसार में कर्म बन्धन आदि चक्र में पड़ जाता है। इससे वह अनन्त दुखों का भागी बनता है।[1] आचार्य ने श्रीमद्भागवत की सुबोधिनी में माया के दो रूपों का वर्णन किया है—

(क) व्यामोहिका माया[2]—यह माया भगवान् की चरणदासी के रूप में है अतएव वह भगवान् के सेवकों के समीप जाने में लज्जा का अनुभव करती है।

(ख) करण माया[3]—इसके द्वारा भगवान् जगत् की उत्पत्ति, पालन और संहार करते हैं।"[4]

कुछ विद्वानों ने शुद्धाद्वैत-सम्प्रदाय में माया के तीन भेदों को स्वीकारा है।

(क) "एक परब्रह्म की अन्तरंग शक्तिरूपा माया है, जिसे पांचरात्र आदि तन्त्रग्रन्थों में लक्ष्मी या रमा शब्द से भी कहा गया है।

(ख) दूसरा माया का स्वरूप है भगवान् परब्रह्म का सामर्थ्य, जिससे वे सम्पूर्ण जगत् का निर्माण किया करते हैं।

(ग) तीसरी माया है जीवों को मोह कराने वाली भगवान् की शक्ति जिसे अविद्या शब्द से कई स्थानों पर कहा गया है। इसका ही त्याग करने के लिए भागवत की वेद स्तुति के आरम्भ में भगवान् से प्रार्थना की गई है।"[5]

---

१. (क) विद्याऽविद्ये हरेः शक्ती माययैव विनिर्मिते।
ते जीवस्यैव नान्यस्य दुःखित्वं चाप्यनीशता॥
—तत्त्वार्थदीपनिबन्ध कारिका-३१

(ख) विद्याविद्ये मम तनू।
—श्रीमद्भागवत, ११।११।३

२. सुबोधिनी, श्रीमद्भागवत, २।७।४७

३. वही, १०।५७।१५

४. वल्लभ सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त, पृ० १२६

५. दर्शन अनुचिन्तन, श्री गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, पृ० ७७ के शब्द वल्लभ वेदान्त पर एक दृष्टि, पृ० २०५ से उद्धृत।

५. चैतन्य मत के अनुसार भगवान् की तीन शक्तियाँ स्वीकृत हैं—

१. स्वरूपशक्ति (२) तटस्थशक्ति और (३) मायाशक्ति। विष्णुपुराण में उक्त है कि विष्णु शक्ति परा है, क्षेत्रज्ञ नामक शक्ति अपरा है और कर्म नाम की तीसरी शक्ति अविद्या कहलाती है।[1]

१. स्वरूप शक्ति—इसी का नाम चित्त शक्ति तथा अन्तरङ्ग शक्ति है। भगवान् की यह शक्ति तीन रूपों में प्रकाशित होती है। विष्णुपुराण[2] में वर्णन है कि सबके आधारभूत आप में ह्लादिनी (निरन्तर आह्लादित करने वाली) और सन्धिनी[2] (विच्छेदरहित), संवित् (विद्याशक्ति) अभिन्नरूप से रहती हैं। आप में (विषयजन्य) आह्लाद या ताप देने वाली (सात्त्विकी या तामसी) अथवा उभयमिश्रा (राजसी) कोई भी संवित् नहीं है क्योंकि आप निर्गुण हैं।[3]

२. तटस्था—इसे जीव शक्ति भी कहते हैं। इससे नाना प्रकार के जीवों का आविर्भाव होता है। "इससे विशिष्ट भगवान् के अंश ही विविधांश कहलाते हैं।

३. माया शक्ति—अन्तरङ्ग चिच्छक्ति की छायास्वरूपा।"[4] "माया शक्ति से प्रकृति तथा जगत् का आविर्भाव साधन होता है।"[5]

उपर्युक्त तीन शक्तियों का समुच्चय ही पराशक्ति कहलाता है। प्रमेय-रत्नावली में उक्त है कि विष्णु की तीन शक्तियों में से पराशक्ति से भगवान् अभिन्न हैं।[6] "भगवान् 'स्वरूप शक्ति' से जगत् के निमित्त कारण और

---

१. विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथाऽपरा।
अविद्याकर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते॥
—विष्णु पुराण ६।७।६१

२. 'सदात्मापि यथा सत्तां धत्ते ददाति च, सा सर्वदेशकालद्रव्यव्याप्तिहेतुः सन्धिनी'।

३. ...ह्लादिनी संवित्त्वय्येका सर्वसंस्थितौ।
ह्लादतापकरी मिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते॥
—विष्णुपुराण १।१२।६९

४. भा० द० और मु० मी० पृ० २४२

५. भा० दर्शन पृ० ४२१

६. विष्णोः स्युः शक्तयस्तिस्रस्तासु या कीर्तिता परा।
सैव श्रीशादभिन्नेति प्राह शिष्यान् प्रभुर्महान्॥
—प्रमेयरत्नावली १।१२

माया जीव शक्तियों से उपादान कारण हैं। इस प्रकार माध्वमत के विपरीत वे केवल निमित्त न होकर अभिन्न निमित्तोपादान कारण हैं।"[1]

६. **पाञ्चरात्र मत** में शक्तिमान् अपनी शक्ति लक्ष्मी का आश्रय तब लेते हैं, जब वह निर्गुण से सगुण बनते हैं। अद्वैत प्रतीत होता हुआ शक्तिमान् और शक्ति का सम्बन्ध वास्तव में अद्वैत नहीं है। केवल ऐक्य की प्रतीति ही होती है।[2] 'धर्म-धर्मी, अहन्ता-अहं, चन्द्रिका-चन्द्रमा और आतप सूर्य के सदृश परम और शक्ति में भेद अवश्य रहता है'।[3] परम की यह स्वतन्त्र शक्ति सभी कार्यों को सम्पादित करती हुई जगत् में उन्मेष-निमेष को प्राप्त करती है।[4] "स्थूल जगत् के रूप से लक्षित होने के कारण यही लक्ष्मी है। विष्णु का आश्रयण करने के कारण यह श्री है। विष्णु की सामर्थ्य होने के कारण यह शक्ति है। जगत् का पालन करने के कारण उनकी पत्नी है। फिर जगत् को अपने में संकुचित करने के कारण यही 'कुण्डलिनी' कहलाती है "जगदाकारसंकोचात्स्मृता कुण्डलिनी बुधैः"। भक्तों पर अनुग्रह करके उन्हें संसार से तारने के कारण यह तारा है। समस्त विकारों का उपशम होने के कारण यह शान्त है। संसार में सत्ता और निषेध के जितने भी पदार्थ हैं, उन सब में अनुस्यूत होकर रहती है, ऐसी दिव्य और सर्वाङ्गपूर्ण यह विष्णु की माया शक्ति[5] है"।[6] इसी शक्ति के सृष्टि काल में दो रूप हो जाते हैं—

---

१. भा० दर्शन पृ० ४२१

२. व्यापकावतिसंश्लेषादेकं तत्त्वमिव स्थितौ। —अहि० स० ४।७८

३. (क) देवाच्छक्तिमतो भिन्ना ब्रह्मणः परमेष्ठिनः।

—अहिर्बुध्न्यसंहिता ३।२५।२७

(ख) भा० दर्शन पृ० ४३६

४. (क) स्वातन्त्र्यरूपा सा विष्णोः प्रस्फुरत्ता जगन्मयी।
उदितानुदिताकारा निमेषोन्मेषरूपिणी॥

—अष्टावक्रसंहिता ३।६

(ख) स्वातन्त्र्यादेव कस्माच्चित् क्वचित् सोन्मेषमृच्छति।
आत्मभूता हि या शक्तिः परस्य ब्रह्मणो हरेः॥

—अहिर्बुध्न्यसंहिता ५।४

५. विष्णोः सर्वाङ्ग-सम्पूर्णा भावाभावानुगामिनी।
शक्तिर्नारायणी दिव्या सर्वसिद्धान्तसम्मता॥

—वही ३।२४

६. भा० द० और मु० मी०, पृ० २४८

१. क्रिया शक्ति और २. भूति शक्ति।[1] ईश्वर की सिसृक्षा का नाम क्रिया शक्ति तथा जगत् की परिणति भूति शक्ति है।[2]

७. **श्रीमद्भागवत में**—माया ही भगवान् की शक्ति है। माया से अभिप्राय है कि वास्तविक, वस्तु के बिना भी जिसके द्वारा आत्मा में किसी अनिर्वचनीय वस्तु की प्रतीति होती है और जिसके द्वारा विद्यमान रहने पर भी वस्तु की प्रतीति नहीं होती।[3]

---

१. लक्ष्मीमयः समुन्मेषः स द्विधा व्यवतिष्ठते। क्रिया भूति......
—वही ३।२८

२. क्रियाख्यो योऽयमुन्मेषः स भूतिपरिवर्तकः।
लक्ष्मीमयः द्रोणरूपो विष्णोः सङ्कल्प उच्यते॥ वही ३।२१

३. (क) ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद् विद्यादात्मनो मायां यथा भासो तथा तमः॥
—श्रीमद्भागवत २।९।३३

(ख) 'एवं चिदचिद्विलक्षणस्य परमात्मनः परस्वरूपमुक्त्वाऽवरशब्दोक्तमङ्गतया ज्ञातव्यं चिदचित्स्वरूपमाह। ऋतेऽर्थमिति। प्रकृत्यनुसन्धाने केवलं तस्यां प्रतीयमानायां सत्यामिति शेषः। यदचिद्वस्तु अर्थं चित्तत्वम् ऋते विना प्रतीयेत सर्वकालं जडमेव। न स चैतन्यमिति ज्ञायते इत्यर्थः। आत्मस्वरूपानुसन्धानवेलायामिति शेषः। आत्मनि केवले चित्स्वरूपे प्रतीयमाने सति तु यच्चित्तत्त्वं तच्च प्रतीयेत। न तु केवले चित्तत्वमित्यर्थः। तत्र यच्चित्स्वरूपं वस्तु सर्वकालचेतनतावदेव तत्, यदचित्स्वरूपं वस्तु तज्जडमेव, एवं सति तयोर्मध्ये यदचित् तद् आत्मनो मम मायां विद्यात्। एवं चित्प्रकाशस्वरूपम् अचिदप्रकाशस्वरूपमिति तयोर्लक्षणे अभिहिते। अथ चित्प्रकाशे चिदचितोः प्रकाशनं यदभिहितं तच्च विरुद्धाकारवेदनतस्ततस्तद्दृष्टान्तेन समर्थयते यथाभासः यथा तम इति तेजसि सति पर्वतादौ तेजस्तमश्चेत्युभयमपि प्रकाशमानं जायते। तमसि तेजः प्रकाशमानं न जायते उभयोर्विरुद्धाकारत्वादिति भावः। —वही, भक्तमनोरञ्जनी पृ० १३९

इसी माया से मोहित होकर जीव अपने आपको त्रिगुणात्मक समझता हुआ ही अनर्थों का भोग करता रहता है।[1]

पाशुपत मत में—"परमेश्वर की शक्ति अचिन्तनीय है, उसकी क्रिया शक्ति अव्याहत है (कहीं भी कुण्ठित नहीं होती) जो उसकी इच्छा का ही अनुसरण करती है। परमेश्वर की इस शक्ति में कोई भी कार्य करने की शक्ति है। सम्प्रदाय के वेत्ताओं ने कहा है—चूंकि वह (ईश्वर) कर्मादि से निरपेक्ष (स्वतन्त्र) है, अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करने वाला है इसी कारण से शास्त्र में उसे सभी कारणों का कारण कहा गया हैं।"[2] भगवान् कौण्डिन्य ने महेश्वर की शक्ति को सनातनी के रूप में स्वीकारा है।[3]

६. **वैयाकरण** सिद्धान्त में विद्यमान शक्ति अविद्या है जो वेदान्तियों के समान अनादि एवं भावरूपा न होकर वासनारूपा है। इस शक्ति के माया, प्रकृति आदि पर्याय हैं। तथा यह ब्रह्म के संरक्षण में रहती है। शक्ति और शक्तिमान् का अभेद सम्बन्ध है किन्तु शक्ति भेद को लेकर पदार्थ भेद की प्रतीति होती है पर वास्तव में भेद नहीं है। जल के विभिन्न विकारों की भाँति विलक्षण कार्यों के उदय से विलक्षण शक्तियाँ ब्रह्म की एकता में बाधक नहीं हैं।[4] अतः विभिन्न ४ रूपों में स्फुरित शब्दशक्ति भेदप्रतीति का कारण है और संस्कृत वाणी के प्रयोग से इसकी निवृत्ति सम्भव है।[5]

---

१. मायासम्मोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकम्।
परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतं चाभिपद्यते॥
—श्रीमद्भागवत १।७।५

२. "अचिन्त्यशक्तिकस्य परमेश्वरस्य इच्छानुविधायिन्या अव्याहतक्रिया-शक्त्या कार्यकारित्वाभ्युपगमात्। तदुक्तं सम्प्रदायविद्भिः—
कर्मादिनिरपेक्षस्तु स्वेच्छाचारी यतो ह्ययम्।
ततः कारणतः शास्त्रे सर्वकारणकारणम्॥"
—सर्वदर्शनसंग्रह पृ० ३१७-३१८

३. भगवतो महेश्वरस्य शक्तिः सनातनी—कौण्डिन्यभाष्य २।६

४. एकमेव यदाम्नातं भिन्नं शक्तिव्यपाश्रयात्।
अपृथक्त्वेऽपि शक्तिभ्यः पृथक्त्वेनेव वर्तते॥
—वाक्यपदीय ८०

५. भा० द० और मु० मी० पृ० ३१८

(१०) **वीरशैवसिद्धान्त** में परमशिव में अपृथक् रूप से वर्तमान सिद्ध विशेषण ही शक्ति है। शक्तिमान् और शक्ति में अविनाभाव होने से शिव बिना शक्ति और शक्ति विना शिव अपूर्ण है। शक्तिविशिष्टाद्वैत[1] के इस सिद्धान्त में शक्ति के दो प्रकार स्वीकृत हैं—

सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट शक्ति (परम के साथ अभिन्नत्व रूप में विद्यमान और स्थूलचिदचिद्विशिष्ट शक्ति (जीव और जगत् का बोध कराने वाली)। धर्म (शक्ति) और धर्मी (शिव) में अभिन्नत्व है। यह शक्ति ब्रह्म में अत्यन्त गुप्त रीति से विद्यमान है, तथा नित्य है।[2] 'मं' से शक्ति रूप ब्रह्म का बोध होता है और अनायास ही उसे पाकर सदा उसमें निवास हेतु यह माया है।[3] परब्रह्म स्थित विमर्श शक्ति ही सूक्ष्म चिदचिदात्मिका कहलाती है। तथा इसी से परमशिव समस्त पदार्थों के ज्ञाता होने से सर्वज्ञ कहलाते हैं।[४] ।'अतः परमशिव की शक्ति स्वभावसिद्ध है। वह ज्ञानशक्ति क्रियाशक्ति आदि के रूप में विविध नामों से पुकारी जाती हैं।"[५]

(११) **शैव मत**—शक्ति को अत्यन्त महत्वपूर्ण सत्ता के रूप में स्वीकार करता है। यह शिव में समवेत अर्थात् यह परमशिव में अविभाज्य एवं

---

१. 'शक्तिश्च शक्तिश्च शक्ती, ताभ्यां विशिष्टौ जीवेशौ, शक्तिबिशिष्टौ, तयोरद्वैतं शक्तिविशिष्टाऽद्वैतम्'।

२. (क) तदा तमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासच्छिव एव केवलः।
तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं प्रज्ञा च तस्मात् प्रसृता पुराणी ॥

(ख) तदीया परमा शक्तिः सच्चिदानन्दलक्षणा।
समस्तलोकनिर्माणसमवायत्वरूपिणी ॥
तदिच्छयाऽभवत्साक्षात् तत्स्वरूपानुकारिणी ॥
—सिद्धान्तशिखामणि परिच्छेद २

(ग) भा० द०, पृ० ४६६

३. मं शिवं परमं ब्रह्म प्राप्नोतीति स्वभावतः।
मायेति प्रोच्यते लोके ब्रह्मनिष्ठा सनातनी ॥
—भा० द० और मु० मी०, पृ० २६४

४. यथा चन्द्रे स्थिता ज्योत्स्ना विश्ववस्तुप्रकाशिनी।
तथा शक्तिर्विमर्शाख्या प्रकाशे ब्रह्मणि स्थिरा ॥ वही.

५. 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'।
—वही

तादात्म्य सम्बन्ध से विद्यमान है । शक्ति से रहित शिव अचिन्त्य हैं। शक्ति ही शिव के स्वरूप को अभिव्यक्त करती है एवं इसी के द्वारा शिव के रूप का निर्माण होता है। अपनी इस गति के विना शिव स्वकृत्यों का सम्पादन नहीं कर सकता। यही शक्ति बन्धन और मोक्ष का कारण है। इसी के कारण शिव जीवों की सृष्टि, स्थिति और संहार का कार्य सम्पादित करता है।[१] शिव की यह शक्ति चेतन एक और पराशक्ति से अभिहित है। यह नाद से पृथ्वी पर्यन्त सभी तत्त्वों की नियन्त्रिका है। शिव-शक्ति से सृष्ट सभी वस्तुयें उन्हीं के रूप हैं। शक्ति को हम शिव की ऊर्जा कह सकते हैं।[२]

शिव की दो (समवायिनी और परिग्रहरूपा) शक्तियाँ हैं। प्रथम शक्ति चिद्रूपा, निर्विकारा और परिणामिनी तथा द्वितीय परिग्रहरूपा; अचेतन और परिणामशालिनी है; यही विन्दु कहलाती हैं। इसके दो भेद (१) शुद्ध (शुद्ध विन्दु का नाम महामाया) और (२) अशुद्ध (माया) हैं। महामाया सात्त्विक जगत् (शुद्ध अध्वा) का उपादान और माया प्राकृत जगत् (अशुद्ध अध्वा) का उपादान कारण है। स्वसमवायिनी शक्ति द्वारा परमात्मा जब बिन्दु पर आघात करते हैं तब उसमें क्षोभ होता है परिणामतः शुद्ध जगत् की सृष्टि और माया के क्षोभ से अशुद्ध प्राकृत जगत् की उत्पत्ति होती है।[३] "ज्ञान और क्रिया शक्ति पाँच प्रकार से कार्य करती हैं। जब ईश्वर ज्ञान शक्ति से कार्य करता है, वह शिव कहा जाता है, जब क्रिया शक्ति से कार्य करता है, उसे शक्ति कहा जाता है। जब वह ज्ञान और क्रिया के बराबर शक्ति से कार्य करता है, उसे सदाशिव कहा जाता है।[४] जब ज्ञानात्मक पक्ष घटता है जबकि क्रियात्मक पक्ष बढ़ता है, वह महेश्वर कहा जाता है। जब ज्ञान पर क्रिया का प्राधान्य होता है, उसे शुद्ध विद्या कहा जाता है।"[५]

---

१. शैव सिद्धान्त दर्शन, पृ० ५५
२. वही पृ० ५६-५७
३. 'माया के रूप में जो बिन्दु है जिसे 'शिवतत्त्व' भी कहते हैं वही पञ्चम पाश है। जिस मुक्ति में शिवपद की प्राप्ति ही जाय वही परम मुक्ति है। इसकी अपेक्षा करने से तो विन्दु पाश ही है।—"विन्दोर्मायात्मनः शिवतत्त्वपदवेदनीयस्य शिवपदप्राप्तिलक्षणपरममुक्त्यपेक्षया पाशत्वेऽपि...।

—सर्वदर्शनसंग्रह पृ० ३४३

४. भा० द०, पृ० ४७१
५. शैवसिद्धान्तदर्शन, पृ० ५६

प्रत्यभिज्ञादर्शन— इस मत में सम्पूर्ण सृष्टि के मूल में एक शक्ति तत्त्व है जिनके अभिव्यक्त होने के अनेक रूप हैं। सृष्टि, स्थिति और संहार करने में शिव शक्ति के बिना असमर्थ है। अनन्त शक्ति सम्पन्न परम की पाँच शक्तियाँ विशेष रूप से मान्य हैं—

(१) चित् (२) आनन्द (३) इच्छा (४) ज्ञान और (५) क्रिया। चिद् शक्ति प्रकाशरूपा, जिससे परम प्रकाश्याभाव में भी स्वतः प्रकाशित रहते हैं। जिससे परम निरतिशय आनन्द का, बाह्य वस्तु की बिना अपेक्षा किए, स्वयं अनुभव करता है, स्वातन्त्र्यरूपा 'आनन्दशक्ति' है।[1] निज को स्वतन्त्र बोध करना एवं अविघात इच्छा-सम्पन्न मानना ही 'इच्छा' शक्ति है। 'ज्ञानशक्ति' आमर्ष (वेद्य पदार्थ का साधारण ज्ञान)[2] रूपा है। सर्वाकार धारण योग्यता ही 'क्रिया शक्ति' है।[3] इन्हीं शक्तियों से परम अपने को, स्वभित्ति पर जगत् रूप से परिणत करते हैं।[4] शिवसूत्रविमर्शिनी में शिव को चैतन्य कहा है।[5] चिद्रूपता, विमर्शात्मकता, स्वतन्त्रता आनन्दैकघनता और महेश्वरता ये सब उनके पर्याय हैं। इसको हम यह भी कह सकते हैं कि ये सब उनकी शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित गुण हैं। इन्हीं से वे समस्त पदार्थों को अवभासते हैं। शिव की ज्ञानशक्ति विषयों को प्रकाशित और क्रियाशक्ति पदार्थ निर्मात्री है।[6] यह शक्ति कुण्डलिनी[7] शब्द से अभिहित है जिसका

---

१. आनन्दः स्वातन्त्र्यम्, स्वात्मविश्रान्तिस्वभावाह्लादप्राधान्यात्।
—तन्त्रसार

२. आमर्षं ईषत्तया वेद्योन्मुखतरः।

३. सर्वाकारयोगित्वं क्रियाशक्तिः —तन्त्रसार, ।[1] प्रथम आह्निक।

४. भा० द० पृ० ४७६

५. चैतन्यमात्मा—शिवसूत्रविमर्शिनी—१।१
वार्तिक—चैतन्यमात्मनो रूपं सिद्धं ज्ञानक्रियात्मकम्।
तस्यानावृतरूपत्वाच्छिवत्वं केन वार्यते ॥ वही पृ० ४

६ इत्थं तया घटपटाद्याकारजगदात्मना।
तिष्ठासोरेवमिच्छैव हेतुकर्तृकृता क्रिया ॥

७. (क) सात्र कुण्डलिनी बीजजीवभूता चिदात्मिका।
तज्जं भ्रुवेच्छोन्मेषाख्यं त्रिकं वर्णास्ततः पुनः ॥
—सिद्धामृत

स्थान मूलाधार है। इस कुण्डलिनी के बोध, नाद और प्राण कुण्डलिनी तीन स्तर हैं तथा ये स्तर भी शक्ति की अभिव्यक्ति के ही विभिन्न स्तर हैं। बोध कुण्डलिनी स्पन्दरूप है जो शिव के स्वरूप में निहित तथा नाद और प्राण-कुण्डलिनी ज्ञान और क्रिया के स्तर हैं। यह एक है किन्तु शिव की अभिव्यक्तियों हेतु अनेक रूपों में प्रकाशित होती है। शक्तिमान् की अभिव्यक्तियाँ ही शक्ति की अभिव्यक्तियाँ हैं। इसके विना शिव अभिव्यक्त नहीं हो सकते क्योंकि निष्क्रिय, शक्तिहीन शिव जड़ पदार्थ सदृश ही होगा। इस मत में शिव-शक्ति की परिकल्पना है।[1] "यह शक्ति अपने को अशेष शक्तिजाल के रूप में विकसित कर लेती है तथा खेचरी, गोचरी, दिग्चरी तथा भूचरी आदि रूपों में पशु प्रमाता के हृदय में भेद की भाबना को दृढ़ करती है तथा परमेश्वर के पारमार्थिक स्वरूप का गोपन कर लेती है। वे ही दिग्चरी चिद्गगनचरी आदि देवियाँ पति प्रमाता के हृदय में अभेदप्रतीति उत्पन्न करके उसके हृदय को विकसित करके अपने स्वरूप का प्रस्फुरण करती हैं।"[2]

(१३) **त्रिपुरा मत**—इस सिद्धान्त के अनुसार शक्ति तत्त्व का ही यह विश्व उन्मेष है। शक्ति और शिव में तादात्म्य सम्बन्ध होने के कारण ही शक्ति की अन्तर्मुखता शिव (अन्तर्लीनविमर्शः) और शिव की बहिर्मुखता शक्ति है।[3] परमानन्दतन्त्र में कहा गया है कि प्रपञ्चवासना शक्ति और निष्प्रपञ्चचिदेकात्मा शिव है।[4] शिव तत्त्व में शक्ति और शक्ति तत्त्व में

(ख) सा परमेश्वरी संविन्मात्ररूपा विसर्गशक्तिरेव गर्भीकृतनिखिल-विश्वत्वात् कुण्डलिनीशब्दव्यपदेश्या अनच्ककलारूपा वाच्यवाचका-त्मनि अत्र विश्वतः अविद्यादेः तत्कारणत्वे दूरापास्तत्वाद् बीज-भूता; तत्त्वेऽपि संविन्निष्ठत्वात् सर्वव्यवस्थितीनां जीवभूता नहि संविदमन्तरेण किञ्चिदपि स्फुरेदिति भावः।

—शिवसूत्रविमर्शिनी पृ० ६५

१. काश्मीर शैव दर्शन—पृ० ६३

२. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् की भूमिका, पृ० ५१

३. भा० द० पृ० ४८२

४. परमानन्दतन्त्रे—

प्रपञ्चवासनारूपा शक्तिरित्यभिधीयते।
निष्प्रपञ्चचिदेकात्मा शिवतत्त्वं समीरितम्॥

शिवस्य विश्वसिसृक्षाशक्तिः 'शक्तितत्त्व'मिति

शिव भाव गौण रहता है और तत्त्वातीत दशा में दोनों तत्त्वों की साम्यावस्था होती है। यही शिवशक्ति का सामरस्य है और इसी को शैव परमशिव तथा शाक्त पराशक्ति कहते हैं।[1] "शाक्तमत स्वतन्त्राद्वैतवाद है। इस मत में कोई भाव तद्व्यतिरिक्त नहीं माना जाता। यद्यपि सभी सब हैं, अर्थात् शिव भी शक्ति है और शक्ति भी शिव है, तथापि प्रकाश कदापि विमर्श-क्रियता छोड़ता नहीं तथा विमर्श भी प्रकाशकर्तृत्व का त्याग नहीं करता। इसलिए, शिव और शक्ति का वास्तविक रूप ऐक्य स्वभाव है। 'कोमलवल्लीस्तव' में सिद्ध महेश्वरानन्द ने भगवती को लक्ष्य करके कहा है—

त्वं यथा शिवमयी तथा शिवस्त्वन्मयो हि शिवयोरभेदिनोः।
तत्त्वमेकमबहिर्मुखास्पदं यत्र भिन्न इव विश्वविक्रिया॥"[2]

यह तान्त्रिक विशेषता है कि इसने महामाया के साम्राज्य का विवेचन किया है जहाँ वैन्दव उपादान से निर्मित अनन्त लोकों की सत्ता है।[3]

शाक्त शक्ति की उपासना चन्द्ररूप में करते हैं। सोलह कलाएँ सम्पन्न इसे नित्यषोडशिका के नाम से भी जाना जाता है। प्रथम पन्द्रह कलाओं का उदय-अस्त होता रहता है किन्तु अन्तिम कला सर्वदा नित्य है जिसे अमृता कला कहते हैं। शाक्त मत में शक्ति को चित्स्वरूपा माना है। यहाँ पूर्ण

रामेश्वरः परशुरामकल्पसूत्रटीकायामवदत्—निर्गुण एव शिवो यो "बहु स्यां प्रजायेय" इतीच्छाशक्त्या युक्तः सृष्ट्युन्मुखः स एव शिवः शक्तिपदवाच्योऽभवत्"—शाक्तदर्शन पृ० ६०

१. सा जयति शक्तिराद्या निजसुखमयनित्यनिरुपमाकारा।
भाविचराचरबीजं शिवरूपं विमर्श-निर्मलादर्शः॥
—कामकलाविलास

२. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, पृ० ६

३. सदाशिवेन सम्पृक्ता सर्वतत्त्वातिगा सती।
शक्रं त्रिपुरसुन्दर्याः ब्रह्माण्डाकारमीश्वरी॥
पञ्चभूतात्मकञ्चैव तन्मात्रात्मकमेव च।
इन्द्रियात्मकमेवं च मनस्तावात्मकं यथा॥
मायादि तत्त्वरूपं च तत्त्वातीतं च बैन्दवम्।
वैन्दवे जगदुत्पत्ति-स्थिति-संहार कारिणी॥
सदाशिवेन सम्पृक्ता तत्त्वातीता महेश्वरी।
ज्योतिरूपा पराकारा यस्या देहोद्भवा शिवे॥
—लुप्तागमसंग्रह, पृ० ४१

अद्वैतवाद और भक्ति का मञ्जुल समन्वय दृष्टिगत होता है। कुलार्णव तन्त्र में इस साधना के अन्तिम फल का निरूपण प्राप्त होता है।[1]

इस मत का सारांश यह है कि शक्ति रहित शिव सामर्थ्यहीन है और इससे रहित होने पर शिव में न तो कोई क्रिया हो सकती है और न ही ब्रह्माण्ड संचालन रूप स्पन्दन। शिव-शक्ति के अनादि संयोग को बिन्दु कहते हैं। किन्तु यही एक तरह का निस्पन्द शिव का अहंकार है जिससे सत्त्व, रजस् और तमस् की उत्पत्ति होती है। इन तीनों की निरन्तर समता ही महामाया, महामाया के नीचे माया और उसके बाद प्रकृति है। ये तीनों ही परमेश्वरी की अचित् शक्ति के विभाग हैं। इन तीनों के ऊपर चित् शक्ति या पराशक्ति है। यह शरीर जिन छः तत्त्वों से निर्मित है, वे त्रिपुरासुन्दरी के ही तत्त्व हैं। अर्थात् छः तत्त्वों को लेकर ही भगवती विश्वरूपी देह में परिणत हुई है।[2] सिद्धसिद्धान्तसंग्रह में स्पष्टोक्त है कि शक्ति का प्रसार एवं संकोच ही जगत् की सृष्टि एवं लय है।[3] कामकला विलास में इस शक्ति को विमर्श-रूपिणी कहा है।[4]

---

१. भोगो योगायते सम्यक् पातकं सुकृतायते।
मोक्षायते च संसारः कुलधर्मे कुलेश्वरि॥
—भा० द० पृ० ४८३

२. भा० द० और मु० मी० पृ० ३३९-३४०

३. शक्तिप्रसरसङ्कोचौ जगतः सृष्टिसंहृती।
भवतो नात्र सन्देहस्तस्मात्तन्मूलमुच्यते॥
—सि० सि० सं० ४।२४

४. विद्यापि तादृगात्मा सूक्ष्मा सा त्रिपुरसुन्दरी देवी।
विद्यावेद्यात्मकयोरत्यन्ताभेदमामनन्त्यार्याः॥
एक एव प्रकाशाख्यः परः कोऽपि महेश्वरः
यस्य शक्तिर्विमर्शाख्या सा नित्या गीयते बुधैः॥
विमर्शाख्या च सा देवी पाञ्चविध्यं समागता।
आकाशानिलसप्तार्चिः सलिलावनिभेदतः॥
एकैकगुणवृद्धा तु तिथिसंख्यात्वमागता।
विमर्शरूपिणी विद्या षोडशी या प्रकीर्तिता।
गता सा षोडशैर्भेदैस्त्रिपुरा परमेश्वरी॥
विचित्रान्तं समन्ततः।
स्वागमादेव बौद्धव्यमिति संकल्पमात्रतः॥
—कामकलाविलास, पृ० १९-२०

सिद्धसिद्धान्तसंग्रह में उस अव्यक्त[1] परम तत्त्व की सत्यसंकल्पमयी इच्छामात्र रूपी धर्म को धारण करने वाली एवं समस्त जीवों के सुख-दुःख निमित्तार्थ सृष्टि एवं प्रलय की एकमात्र कारणभूता निजा शक्ति की विद्यमानता थी। अर्थात् शक्तिमान् और शक्ति में अभिन्नत्व था। शिव में शक्ति और शक्ति में शिव का वास था। यह निजा शक्ति ही संकल्प अथवा इच्छा शक्ति है। इस निज शक्ति को शिव की अभिव्यक्ति भी कह सकते हैं। तदनन्तर सकलज्ञानोत्पादक परा नामक शक्ति उन्मुख हुई। इस पराशक्ति के स्पन्दनमात्र से उसमें प्रसुप्त समस्त जगत् की उत्पादिका क्रिया प्रधान धर्मा अपरा शक्ति जाग्रत हुई। इसी को सिसृक्षामयी भी कहते हैं। उस अपरा शक्ति से परमेश्वर में अहंकार से सूक्ष्मा शक्ति प्रकट हुई अर्थात् परम शिव की अहंभाव प्रधान सूक्ष्मा शक्ति प्रकट हुई और अन्त में चिच्छिला कुण्डलिनी शक्ति प्रकट हुई।[2] इसको इस क्रम द्वारा भी अभिव्वक्त किया जा सकता है बीज, अंकुर, काण्ड, शाखा और पत्र एवं फल। यह चिच्छिला अन्तरूपा और अनन्तशक्तिस्वरूपा है। यही शक्ति जगत् रूप में परिणत होती है। अर्थात् वस्तुतः परम शक्ति एक ही है, किन्तु जब वह सृष्टि हेतु उन्मुख होती है तो क्रमशः सूक्ष्म से स्थूल होकर जगत् रूप में प्रकट होती है। यही जगत् की कारण है। निज विभिन्न-२ स्वरूपों को धारण करती हुई अन्त में साकार शक्ति, सृष्टिकुण्डलिनी अथवा स्थूल शक्ति के रूप में प्रकट होती है। पराशक्ति की सहायता से परमशिव सृष्टि प्रक्रिया को सम्भालने में समर्थ होते हैं, क्योंकि इससे रहित होने पर शिव कुछ भी करने में असमर्थ हैं तथा इससे युक्त होने पर वे सब कुछ कर सकते हैं।[3]

इस प्रकार उस अव्यक्त परम तत्त्व की पाँच शक्तियाँ पाँच-पाँच गुणों से युक्त थीं। अर्थात् प्रत्येक शक्ति के पाँच-पाँच गुण थे। जो इस प्रकार से हैं—

---

१. ततः सम्पूर्णसर्वाङ्गो जातोऽभ्युदित उच्यते।
पुरुषः प्रलये चेष्टैः पुनर्भावैर्वियुज्यते॥
—चरकसँहिता, शरीरस्थानम् १।६६

२. सि० सि० सं० १।५-६

३. परो हि शक्तिरहितः शक्तः कर्तुं न किञ्चन।
अतस्तु परमेशानि शक्त्या युक्तो तदा भवेत्॥
—वामकेश्वरतन्त्र ४।६

निजा

निराकृतित्व नित्यत्व निरन्तरत्व निष्पन्दत्व निरुत्थत्व

परा

अस्तित्व अप्रमेयत्व अभिन्नत्व अनन्तता अव्यक्तता

अपरा

स्फुरता स्फारता स्फुटता स्फोटता स्फूर्तिता[1]

सूक्ष्मा

निरन्तरत्व नैरंश्य नैश्चल्य निश्चयत्व निर्विकल्पत्व

कुण्डलिनी

पूर्णता प्रतिबिम्बता प्रकृतिरूपता प्रत्यङ्मुखता औचल्यता

इस प्रकार प्रत्येक शक्ति के पाँच-पाँच गुणों (कुल पच्चीस)[1] के समुदाय से परपिण्ड की उत्पत्ति हुई, ऐसा सिद्धान्ततत्त्ववेत्ता कहते हैं।[2] अर्थात् पञ्च शक्तियों के इन गुणों के समुदाय से सगुण परमेश्वर के पिण्ड का आविर्भाव होता है। परपिण्ड की उत्पत्ति शक्ति के संयोग से होती है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि परपिण्ड को प्रथम या आद्य पिण्ड नहीं कहा गया है क्योंकि आद्य या प्रथम कहने से वह संख्या उपाधि युक्त हो जाती है। अतएव पर तत्त्व को एक संख्या द्वारा भी सूचित नहीं किया जा सकता। वह उससे भी अतीत अखण्ड ज्ञानरूपी निरञ्जन है।[3]

काश्मीर शैव दर्शन में शक्ति भेद मुख्यतया दो प्रकार से किया गया है। एक वे जो शिव के स्वरूप में निहित हैं तथा दूसरे वे जिन्हें शिव सृष्टि की

---

१. सि० सि० सं० १।७-६

२. वही, १।१०-१२

३. निखिलोपाधिहीनो वै यदा भवति पूरुषः।
तदा विवक्षतेऽखण्डज्ञानरूपी निरञ्जनः॥
—शिवसंहिता १।६८ नाथ सम्प्रदाय पृ० १२२-१२३

अभिव्यक्ति के क्रम में स्फुटित करता है अथवा जो शिव के स्वातन्त्र्य पर आश्रित हैं। चित् और आनन्द शक्ति से शिव विमर्श एवं आनन्दरूप है। इच्छा, ज्ञान और क्रियाशक्तियों को शिव की स्वातन्त्र्य शक्ति कह सकते हैं, जिन्हें वह सृष्टि की अभिव्यक्ति हेतु प्रकट करता है।[1] "चित् आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया इन पञ्च शक्तियों से भरित होने के कारण शिव पूर्ण हैं। अन्य की आकांक्षा या अपेक्षा न होने के कारण स्वतन्त्र; चिन्मात्र स्वरूपता के कारण निराशंस रूप में शिव को अभिहित किया जाता है। अपने स्वातन्त्र्य की महिमा से वे पूर्वोक्त शक्तिपञ्चक की शिव, शक्ति, सदाशिव ईश्वर और शुद्ध विद्या रूप तत्त्व दशा का आभासन करते हैं।"[2]

पूर्वोक्त पञ्च (निजा, परा, अपरा, सूक्ष्मा और कुण्डलिनी) शक्तियों में शक्ति चक्र क्रम (प्रत्येक शक्ति के विकास से एक-एक पिण्ड का प्रादुर्भाव और इन पिण्डों के पञ्च देव होते हैं शक्ति चक्र त्रिकोण जिसके मध्य बिन्दु है अर्थात् अविकृत कारण परमब्रह्म। जब सदाशिव की शक्ति का विकास होता है तब वह शक्ति एक साथ तीन आकारों को धारण करती है और वे तीन आकार इच्छा, ज्ञान और क्रिया अथवा रुद्र, विष्णु और ब्रह्मा अथवा गौरी, और सरस्वती अथवा सत्त्व, रजस् और तमस्। शैव मत में इच्छा से विन्दु में तनाव, ज्ञान से बिन्दु में क्षोभ और ज्ञानशक्ति द्वारा प्रेरित बिन्दु स्व उत्तेजित रूप में शिव कहलाता है। यही बिन्दु का प्रथम परिवर्तन है। बिन्दु अपने तार में कुण्डलिनी और शिव अपनी जाग्रतावस्था में वही कुण्डलिनी है।)[3] द्वारा सदाशिव आविर्भूत हुआ।[4]

अनादि पिण्ड—पञ्च शक्ति सम्पन्न पञ्च देवताओं का क्रम –

१. अपरम्पर-सदाशिव—विद्यमानता, अपूर्वता और अचितायुक्त। निजा शक्ति के अधिष्ठाता।

---

१. काश्मीर शैव दर्शन पृ० ६६

२. स्वान्त्र्यभासितभिदा पञ्चधा प्रविभज्यते।
चिदानन्देषणाज्ञानक्रियाणां सुस्फुटत्वतः॥
शिवशक्तिसदेशानविद्याख्यं तत्त्वपञ्चकम्॥

—तन्त्रालोक ९।५०

काश्मीर शैव दर्शन पृ० ५२ से

३. (क) सि० सि० प० पृ० ६१
(ख) शैव-सिद्धान्त दर्शन पृ० १२१

४. सि० सि० सं० १।१३

२. परम-ईश्वर—स्वसंवेदनाभास युक्त । परा शक्ति के अधिष्ठाता ।

३. शून्य-रुद्र—स्वेच्छा मात्र । अपरा शक्ति के अधिष्ठाता ।

४. निरञ्जन-विष्णु—सत्तामात्र (अहंकार) युक्त । सूक्ष्मा शक्ति के अधिष्ठाता ।

५. परमात्मा-ब्रह्मा—समष्टिपिण्डयुक्त । कुण्डलिनी शक्ति के साक्षी ।[1]

सम्भवतः सूक्ष्म दृष्टि से अगर षट् चक्रों में से पञ्च चक्रों का पर्यालोचन किया जाए तो इन पञ्च चक्रों के देवताओं का भी यही क्रम प्रतीत होता है—

१. विशुद्ध चक्र – सदाशिव
२. अनाहत चक्र—ईश
३. मणिपूरक चक्र – रुद्र
४. स्वाधिष्ठान चक्र—विष्णु
५. मूलाधार चक्र—ब्रह्मा ।

यहाँ यह निर्दिष्ट किया जा सकता है कि सूक्ष्म से स्थूल जगत् की उत्पत्ति में ये पाँचों देव अपने-अपने विशेषणों से युक्त समष्टि (ब्रह्माण्ड) से व्यष्टि (पिण्ड) की ओर उन्मुख होते हैं। स्थूल जगत् के स्रष्टा ब्रह्मा के स्थान मूलाधार चक्र से कुण्डलिनी शक्ति को ऊर्ध्वगामी करना अर्थात् स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर उन्मुख होना ही वास्तविक मुक्ति है । क्योंकि साकार का विनाश हो जाता है किन्तु निराकार कभी नष्ट नहीं होता, अतएव प्रयत्नपूर्वक साकार का परित्याग करना चाहिए ।[2] ऊर्ध्वमूल और अधःशाखारूप इस वृक्षाकार कलेवर में महामाया रूपवासुकी का वास रहता है और वह ब्रह्माण्ड संज्ञक शिव से मिलने हेतु सदा व्याकुल रहता है । जब वह वासुकी स्वर्गषट्क को भेदकर उत्थित होता है तो पिण्डस्थ

---

१. सि० सि० सं०, १।१४-१५

२. ब्रह्माण्डलक्षणं सर्वं देहमध्ये व्यवस्थितम् ।
साकाराश्च विनश्यन्ति निराकारो न नश्यति ॥
निराकारं मनो यस्य निराकारसमो भवेत् ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन साकारं तु परित्यजेत् ॥
—ज्ञानसङ्कलिनीतन्त्रम् २९-३०

सभी नदियाँ ऊर्ध्वगामी हो जाती हैं।[1]

सिसृक्षावस्था में पूर्वोक्त वर्णित देवताओं का क्रमिक विकास एवं आरोहण में इनका विपरीत क्रम उत्पन्न होता है और अन्त में केवल स्वयं अथवा अनाम तत्त्व ही विद्यमान रहता है।

पञ्च देवताओं के पाँच-पाँच गुणों का निरूपण—

- अपरम्पर
  - अकलत्व
  - असंशयत्व
  - अनुमतत्व
  - अन्यपारता
  - अमरत्व
- परम
  - निःकलत्व
  - अलोलत्व
  - असंख्येय
  - अक्षयत्व
  - अभिन्नता
- शून्य
  - नीलता
  - पूर्णता
  - मूर्छा
  - उन्मनी
  - लयता
- निरञ्जन
  - सहजत्व
  - सामरस्य
  - सत्यत्व
  - सावधानता
  - सर्वगत्व
- परमात्मा
  - अभयत्व
  - अभेद्यत्व
  - अच्छेद्यत्व
  - अनाश्यता
  - अशोष्यत्व

---

१. श्रृणु देवि प्रवक्ष्यामि योगसारं समासतः।
ऊर्ध्वमूलमधःशाखं वृक्षाकारं कलेवरम्॥
ब्रह्माण्डे यानि तीर्थानि तानि सन्ति कलेवरे।
बृहद्ब्रह्माण्डं यद्रूपं तद्रूपं क्षुद्ररूपकम्॥
वासुकी या महामाया भुजगाकाररूपिणी।
सार्धत्रिवलाकारा पातालतलवासिनी॥
सत्यलोके महाविष्णुं शिवं ब्रह्माण्डसंज्ञकम्।
तस्य संदर्शनार्थाय वासुकी व्याकुला सदा॥
स्वर्गषट्कं भेदयित्वा उत्थिता वासुकी यदा।
सर्वाः समुद्रगामिन्य ऊर्ध्वस्रोता भवन्ति हि॥
तोडलतन्त्रम्—२।१, २, ५, १०,११

इस प्रकार पञ्चशक्ति-समन्वित चेतन ही अनाद्य-पिण्ड कहलाता है और विद्वद्जनों द्वारा इस पिण्ड के पाँच तत्त्वों तथा उनके पच्चीस गुणों का वर्णन किया गया।[1] अन्त में यह समस्त चराचर जगत् महाशक्ति के गर्भ में स्थित होता है और वह चेतनस्वरूपा शक्ति भी चेतनस्वरूप परम से अभिन्न रहती है। तब केवल निर्गुण तत्त्व था। सृष्टि-प्रक्रिया के साथ सर्व-प्रथम पञ्च-पञ्च गुणों से युक्त पञ्च महाशक्तियों में एक-एक शक्तियुक्त एक-एक देव का आविर्भाव हुआ। इन सब शक्तियों से युक्त चेतन ही अनाद्य पिण्ड है और वही सगुण परमेश्वर सदाशिव के नाम से विख्यात है, उसी सर्वेश्वर के अपरम्पद, परमपद, शून्य, निरञ्जन और परमात्मा ये अवयव रूप हैं।[2]

सृष्टि के सम्बन्ध में अनागमिक सृष्टि, स्थिति और संहार इन तीन स्थितियों को स्वीकार करते हैं जबकि वैष्णव, शैव और शाक्तों ने इनसे सम्बद्ध निग्रह और अनुग्रह भी माना है। ये दोनों शक्ति के विलास हैं। निग्रह स्वेच्छावश संकोच और अनुग्रह परमेश्वर की शक्ति जिससे वह पुनः अभेदमय निजस्वरूप हेतु अग्रसर होता है। 'पञ्चकृत्यकारी' परतत्त्व की निजा शक्ति अन्तःस्थ प्रपञ्च बहिः प्रसारित होकर समस्त ब्राह्मणागमों में त्रिधा विभक्त है—शुद्ध अर्थात् अभेद दशा, शुद्धाशुद्ध अर्थात् भेदाभेद दशा और अशुद्ध अर्थात् भेद दशा।[3] "शक्ति शिवता है और शिवता शिव का स्वभाव है। अतः सृष्टि-संहार स्वभावतः हो रहा है—स्वभावसिद्ध कार्य में निमित्त का प्रश्न ही नहीं खड़ा होता।"[4]

शिव निज सिसृक्षा शक्ति के कारण जगत् के रूप में परिणत होता है। सभी पिण्डों में उस परम तत्त्व की विद्यमानता है। स्वयं ग्रन्थकार ने कहा है कि जो कुछ भी ब्रह्माण्ड में है वह सभी पिण्ड में है।[5] तोडलतन्त्रम् और

---

१. सि० सि० सं०, १।१६-२१
२. सि० सि० प० पर हिन्दी टीका, पृ० ६७-६८
३. तन्त्र और सन्त, पृ० ५०
४. महाप्रकाशरूपाहि येयं संविद् विजृम्भते।
सा शिवः शिवतैवास्य वैश्व रूप्यावभासिता ॥
—तन्त्रालोक, भाग ६

आ० १५।२६५, २६६, तन्त्र और सन्त पृ० १५०-१५१
५. ब्रह्माण्डवर्त्ति यत्किञ्चित्तत्पिण्डेऽप्यस्ति सर्वथा।
इति निश्चय एवात्र पिण्डसंवित्तिरुच्यते ॥
—सि० सि० सं० ३।२

ज्ञानसङ्कलिनीतन्त्रम् में भी इसी प्रकार के संकेत उपलब्ध होते हैं ।[1]

इस मत में जगत् अद्वैत वेदान्त की भाँति मिथ्या प्रतीति नहीं, अपितु वह स्वयं को अपनी शक्ति से इस व्यावहारिक जगत् रूप में अभिव्यक्त करता है । शिव-सिसृक्षा से सृष्टि होती है और यही जगत् का कारण है । वैष्णव, शैव एवं शाक्तों में सृष्टिविचारपरक एक दृष्टि यहाँ प्रस्तुत है—

सृष्टि-विचार वैष्णव, शैव एवं शाक्त सम्प्रदायों के परिप्रेक्ष्य में—

१. **रामानुजाचार्य** —सृष्टिविषयक प्रसङ्ग हेतु उपनिषदों का ही अनुसरण करते हैं । आचार्य ब्रह्म में चित् एवं अचित् तत्त्वों की विद्यमानता मानते हैं तथा उपनिषदों, पुराणों एवं स्मृति ग्रन्थों में प्रतिपाद्य प्रकृति के रूप को स्वीकार करके उसे ईश्वर का अंश और उसी के द्वारा परिचालित मानते हैं । इस मत में प्रकृति ईश्वर की अध्यक्षता में ही सृष्टि कार्य का सम्पादन करती है ।[2] नित्य एवं अनादि प्रकृति का यह जगत् परिणाम होने से अनादि है । क्योंकि रामानुजाचार्य ईश्वर, चित् (जीव) और अचित् (प्रकृति) इन तीन पदार्थों की नित्यता मानते हैं ।[3] ईश्वर की इच्छा से ही प्रकृति तीन तत्त्वों (तेज, जल और पृथिवी) में विभाजित हो जाती है । इनमें क्रमशः सत्त्व, रजस् और तमस् की प्राप्ति होती है । समस्त स्थूल पदार्थों का निर्माण इन तीनों तत्त्वों के नाना प्रकार के संयोगों से ही सम्पादित होता है ।[4]

---

१. (क) बृहद्ब्रह्माण्डं यद्रूपं तद्रूपं क्षुद्ररूपकम् ॥
—तोडलतन्त्रम्, २।२

(ख) ब्रह्माण्डलक्षणं सर्वं देहमध्ये व्यवस्थितम् ।
साकाराश्च विनश्यन्ति निराकारो न नश्यति ॥
—ज्ञानसङ्कलिनीतन्त्रम्, २६

२. भा० द०, पृ० ३६६

३. एष हि तस्य सिद्धान्तः—चिदचिदीश्वरभेदेन भोक्तृ-भोग्य-नियामक-भेदेन च व्यवस्थितास्त्रयः पदार्था इति । तदुक्तम्—
ईश्वरश्चिदचिच्चेति पदार्थत्रितयं हरिः ।
ईश्वरश्चिदिति प्रोक्तो जीवो दृश्यमचित्पुनः ॥
—सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० १८७

४. भा० द०, पृ० ३६६

२. द्वैतवादी माध्वों के अनुसार जगत् के जन्मादि व्यापार में परमात्मा निमित्त और प्रकृति उपादान कारण है। अर्थात् प्रकृति ईश्वर के अधीन है और वही जगत् का उपादान कारण है।[1] जगत् ईश्वर से भिन्न एवं सत् है तथा उसकी सत्ता प्रामाणिक है। "सृष्टि ईश्वर के जगत् से, आठ प्रकार के सम्बन्धों में से, प्रथम सम्बन्ध है। इस प्रकार सृष्टि-प्रक्रिया ईश्वर के अधीन है। प्रकृति में प्रवेश एवं उसे परिणामित करके वहाँ परिणाम एवं नियमन आदि के कारण वह उसका स्वामी है।"[2] माध्व मत सत्त्वाभिमानी श्री, रजोऽभिमानी भू तथा तमोभिमानिनी दुर्गा को स्वीकारते हैं।[3]

प्रकृति प्रत्यक्ष रूप से काल एवं त्रिविध गुणों की कारण और अप्रत्यक्ष रूप से महत् अहङ्कार की कारण है। प्रकृति के चौबीस तत्त्वों से यह ब्रह्माण्ड बनता है। सृष्टि-प्रक्रिया के सांख्य सिद्धान्त को स्वीकार कर मध्व ने सृष्टि को ब्रह्म का परिणाम अथवा विवर्त नहीं माना है।[4]

३. श्री निम्बार्क—मत में जगत् मिथ्या अथवा भ्रम नहीं अपितु परमात्मा का स्वाभाविक परिणाम है।[5] इस मत में जगत् के विवर्त्तवाद का खण्डन किया गया है क्योंकि जगत् की वास्तविक सत्ता को स्वीकार न करने पर जगत् के निर्माता की वस्तुस्थिति असम्भव है। जीव, जगत् और ब्रह्म में भेदाभेद सम्बन्ध है। जीव और जगत् परमात्मा के आश्रित होने से अभिन्न हैं।[6] जब परमात्मा सृष्टि करना चाहते हैं तब तीनों गुणों की साम्यावस्था प्राकृत माया में विक्षोभ होता है और उसी से महत् तत्त्व की उत्पत्ति होती है। दशश्लोकी में वर्णित है कि 'अचेतन (अविद्या) अप्राकृत, प्राकृत और काल रूप से तीन प्रकार की है। वह प्राकृत ही माया, प्रधान आदि नामों से

---

१. ब्रह्मसूत्रभाष्य, २।१।१५
२. 'मध्व—'प्रकृतावनुप्रविश्य, तां परिणाम्य, तत्परिणामनियामकतया, तत्र स्थित्वा आत्मनो बहुधाकरणात्।' ब्रह्मसूत्रभाष्य, १।१४।२७
द्वैत वेदान्त का तात्त्विक अनुशीलन, पृ० १९६
३. भा० द०, पृ० ४०४
४. द्वैत वेदान्त का तात्विक अनुशीलन, पृ० १९९
५. सर्वं हि विज्ञानमतो यथार्थकं श्रुतिस्मृतिभ्यो निखिलस्य वस्तुनः।
ब्रह्मात्मकत्वादिति वेद विन्मतं त्रिरूपतापि श्रुतसूत्र साधिता।
—दशश्लोकी, ६
६. श्रीनिम्बार्क वेदान्त पर डा० राधाकृष्णन के विचार, पृ० १४-१५

कही गई है और उसी के शुक्ल, रक्त, पीत आदि रूप भी हैं'।[1] प्रकृति, महत्, अहङ्कार, मन, दश इन्द्रिय, पञ्चतन्मात्राएँ और पञ्चमहाभूत ये २४ तत्त्व हैं (जो कि प्राकृत सृष्टि है)। अप्राकृत माया स्वर्गादि लोकों की है। काल स्वरूप माया में सम्पूर्ण सृष्टि निर्धारित है।[2]

४. **वल्लभ मत**—जगत् को अद्वैत वेदान्तियों की भाँति मायिक तथा असत्य न मानकर ब्रह्मरूप[3] और ब्रह्मसदृश नित्य मानता है। जगदुत्पत्ति के विषय में वल्लभाचार्य अविकृत परिणामवाद (दूध का दही में परिवर्तन विकृत परिणाम और पुनः अपने वास्तविक रूप में आना अविकृत परिणाम)[4] के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। इस मत के अनुसार जगत् की उत्पत्ति और विनाश न होकर जगत् का आविर्भाव और तिरोभाव होता है। ईश्वर की इच्छामात्र से सदंश के प्रकट होने पर जगत् का आविर्भाव तथा चिद् और आनन्द के तिरोभाव से जगत् का तिरोभाव समझना चाहिए।[5] यह भी कहा जा सकता है कि अनुभव योग्य होना जगत् का आविर्भाव और अनुभव योग्यता रहित होने पर जगत् का तिरोभाव होता है।[6] पट की भाँति ही जगत् का आविर्भाव और तिरोभाव होता है।[7] २८ तत्त्वों को इस मत में जगत् का कारण माना है। तत्त्वों की संख्या इस प्रकार से है—सत्त्व, रजस्,

---

१. अप्राकृतं प्राकृतरूपकं च कालस्वरूपं तदचेतनं मतं।
माया प्रधानादि पद प्रवाच्यं शुक्लादिभेदाश्च समेऽपितत्र ॥
—दशश्लोकी, ६

२. श्री निम्बार्क वेदान्त, उत्तरार्ध, पृ० २७१

३. तदेवैतत्प्रकारेण भवतीति श्रुतेर्मतम्।
—सिद्धान्तमुक्तावली षोडश ग्रन्थाः ५

४. यथा सुवर्णं सुकृतं पुरस्तात् पश्चाच्च सर्वस्य हिरण्मयस्य। तदेव मध्ये व्यवहार्यमाणं नानापदेशैरहमस्य तद्वत्। श्रीमद्भागवत
—भा० द०, पृ० ६३३

५. वल्लभ सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त पृ०, १२४

६. 'अनुभवविषयत्वयोग्यता आविर्भावः, तदविषयत्वयोग्यता तिरोभावः—विद्वन्मण्डल, पृ० ७—भा० द०; पृ० ६३३

७. पटवच्च—अणुभाष्य; ब्रह्मसूत्र २।१।१९

तमस्, पुरुष, प्रकृति, महत्, अहङ्कार, पञ्चतन्मात्रा, पञ्चमहाभूत, पञ्च-ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्चकर्मेन्द्रियाँ, और मनस्।[1]

५. **चैतन्य मत**—में जगत् एकमात्र सत्यभूत पदार्थ है क्योंकि यह बहिरङ्ग शक्ति का ही विलास है और यह शक्ति प्रभु के अधीन है। भगवान् ने ही सम्पूर्ण सृष्टि की है। अतएव यह जगत् सत्य है। जगत् की सत्यता की उद्घोषणा ईशावास्योपनिषद्[2] श्वेताश्वतरोपनिषद्[3] विष्णुपुराण[4] और महाभारतादि[5] में की गई है। 'जिस प्रकार उपवन में पक्षीगण लीन रहते हैं उसी प्रकार यह विश्व प्रलय काल में वनविलीन विहंगवत् परमात्मा में लीन रहता है। इस प्रकार जगत् मिथ्या नहीं अपितु सत्य ही है।'[6]

६. **पाञ्चरात्र मत**—में भगवान् निर्गुण (अप्राकृत गुणों से रहित) होकर भी सगुण (जगत् व्यापार हेतु षड्गुण-ज्ञान,[7] शक्ति, ऐश्वर्य, बल,

---

१. तत्त्वार्थदीपनिबन्ध, सर्वनिर्णयप्रकरण, वल्लभाचार्य, कारिका, ९४-९६, वल्लभ सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त, पृ० १२६

२. स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरम् शुद्धमपापविद्धम् ;
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यधाच्छाश्वतीभ्यः
समाभ्यः ॥ —ईशावास्योपनिषद्, ८

३. य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति।
विचैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्धया शुभया संयुनक्तु ॥
—श्वेता०, ४।१

४. तदेतदक्षरं नित्यं जगन्मुनिवराखिलम्।
आविर्भावतिरोभावजन्मनाशविकल्पवत् ॥
—विष्णुपुराण; १।२२।६६ पृ० १२२

५. ब्रह्म सत्यं तपः सत्यं सत्यं चैव प्रजापतिः।
सत्याद् भूतानि जातानि सत्यं भूतमयं जगत् ॥
—महाभारत अश्वमेधपर्व, ३५।३४

६. (क) प्रलयेऽपि जगत्सत्स्याद्वनलीनविहङ्गवत्।
वैराग्यार्थमसत्त्योक्तिरिति प्राहुर्मनीषिणः ॥
नवरत्न—२२

(ख) भा० द०, पृ० ४२१

(ग) चैतन्य-सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य, पृ० १०३

७. ज्ञानं नाम गुणं प्राहुः प्रथमं गुणचिन्तकाः।
स्वरूपं ब्रह्मणस्तच्च गुणश्च परिगीयते ॥
—नारदपाञ्चरात्र, २।५७

वीर्य और तेज युक्त)[1] हैं। शक्तिमान् की आत्मभूताशक्ति प्रारम्भ में किसी अचिन्त्य कारण से उन्मेष पाती है तथा सृष्टि-प्रक्रिया में प्रवृत्त होती है।[2] शक्तिमान् की शक्ति लक्ष्मी-संज्ञक है तथा इन दोनों में अभेद नहीं है। वह स्वतन्त्र रूप से जगत् में निमेष-उन्मेष को प्राप्त होती है।[3] उन्मेष द्वारा दो भागों में विभक्त यह शक्ति क्रिया एवं भूति-शक्ति के रूप में अभिव्यक्त होती है। परम की सिसृक्षा क्रियाशक्ति[4] और जगत् की परिणति भूतिशक्ति अभिहित है।[5] शक्तिमान् और शक्ति में भेद होने पर भी भगवान् ही जगत् की आत्मा है और वास्तव में क्रिया एवं भूति उनकी कलाएँ हैं।[6] जगत हेतु भगवान् स्वयं चार रूपों की सृष्टि करते हैं—व्यूह, विभव, अर्चावतार और अन्तर्यामी अवतार। शुद्ध सृष्टि के आधार शुद्धेतर सृष्टि की सत्ता है।

सृष्टि क्रम—प्रद्युम्न; कूटस्थ पुरुष, मायाशक्ति, नियति, काल, सत्त्व, रजस्, तमस् बुद्धि, अहंकार (वैकारिक-तैजस और भूतादि क्रमशः सात्त्विक, राजस और तामस) सात्त्विक से बुद्धीन्द्रिय, मन, कर्मेन्द्रिय और तामस से पञ्चतन्मात्रा स्थूलभूत। इस मत में प्रकृति, पुरुष की अध्यक्षता में सृष्टि की उत्पादिका है।[7]

---

१. एते शक्त्यादयः पञ्च गुणा ज्ञानस्य कीर्तिताः।
ज्ञानमेव परं रूपं ब्रह्मणः परमात्मनः॥
षाड्गुण्यं तत्परं ब्रह्म स्वशक्तिपरिबृंहितम्॥

२. स्वातन्त्र्यादेव कस्माच्चित् क्वचित् सोन्मेषमृच्छति।
आत्मभूता हि या शक्तिः परस्य ब्रह्मणो हरेः॥
—अहिर्बुध्न्य-संहिता ५।४

३. स्वातन्त्र्यरूपा सा विष्णोः प्रस्फुरत्ता जगन्मयी।
उदितानुदिताकारा निमेषोन्मेषरूपिणी॥
—अष्टावक्रसंहिता, ३-६

४. क्रियाख्यो योऽयमुन्मेषः स भूतिपरिवर्तकः।
लक्ष्मीमयः प्राणरूपी विष्णोः संकल्प उच्यते॥
—अहिर्बुध्न्य-संहिता ३।२१

५. भा० द०

६. भा० द० और मु० मी०, २४६

७. भा० द० पृ०, ४३६-४४१

(७) **श्रीमद्भागवत मत**—में परब्रह्म सृष्टि-हेतु पुरातन पुरुष के रूप में प्रकट हुआ और यही प्रथम अवतार है—'आद्योऽवतार: पुरुष: परस्य' (भा० ११।४।३)। अन्य तत्त्वों की उत्पत्ति इसी से समझनी चाहिए। वे स्वांश रूप से समस्त जड़-चेतन में प्रविष्ट होते हैं, तो जीव, जगत्, ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर आदि रूपों में स्फुरित होने लगते हैं।[1] अर्थात् जीव और जगत् ईश्वर के ही रूप हैं। एक ही परब्रह्म शरीर, इन्द्रिय, विषय आदि विविध धर्मों से समन्वित है। परब्रह्म ही विविध अहङ्कार (वैकारिक, राजस और तामस), पञ्चमहाभूत एवं ग्यारह इन्द्रियाँ और उनके अधिष्ठातृ देवता बनते हैं तथा स्वयं प्रकाश वे इन उपाधियों के संयोग से जीव कहलाते हैं।[2]

८. **पाशुपत मत**—में शिव ही पशुपति[3] तथा समस्त पदार्थ उनके पशु हैं। ये पशुपति ही उनके स्वामी हैं।[4] इस मत में कार्य, कारण, योग, विधि और दुःखान्त ये पञ्च पदार्थ स्वीकृत हैं।[5] विद्या, कला और पशु[6] कार्य के तीन प्रकार हैं। जिनमें से विद्या जीव का गुण, कला जड़ स्वभावा और परतन्त्रा

---

१. भा० द० और मु० मी०, २५६

२. वही २५६

३. हितार्थमखिलं येन सृष्टं ब्रह्मादिकं जगत्।
प्रणम्य तं पशुपतिं शिरसा सदसस्पतिम्॥
अर्थातिशयसम्पन्नं ज्ञानातिशयमुत्तमम्।
पञ्चार्थं क्रियते भाष्यं कौण्डिन्येनानुपूर्वशः॥

पाशुपत सूत्र, पृ० १

४. ब्रह्माद्याः स्थावरान्ताश्च देवदेवस्य शूलिनः।
पशवः परिकीर्त्यन्ते समस्ताः पशुवर्तिनः॥

५. (क) 'एवं सदुःखान्तः कार्यं कारणं योगो विधिरिति पञ्चैव पदार्थाः समासत उद्दिष्टाः।'

—पाशुपत सूत्र पर कौण्डिन्य भाष्य, १।१

(ख) ज्ञानमात्रे यथाशास्त्रं साक्षाद् दृष्टिस्तु दुर्लभा।
पञ्चार्थाद् यतो नास्ति यथावत् तत्त्वनिश्चयः॥

—सर्वदर्शनसंग्रह

६. क्रीडावानेव भगवान् विद्याकलापशुसंज्ञकं त्रिविधमपि कार्यमुत्पादयति अनुगृह्णाति तिरोभावयति च उक्तं हि—'अप्रचोद्यः प्रचोद्यैस्तु कामकारकरः प्रभुः। क्रीडते भगवान् लोकैर्बालः क्रीडनकैरिव'।

पाशुपतसूत्र, पृ० १४-१५

के दो प्रकार—कार्य कला (पञ्च महाभूत तथा इनके सूक्ष्म गुण) और कारणकला (पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्च कर्मेन्द्रियाँ, बुद्धि, अहङ्कार और मन)। इन्हीं दोनों से युक्त आत्मा पशुता को पाता है।

९. वैयाकरण—मत में एकमात्र सत्यभूत पदार्थ शब्द-ब्रह्म का ही यह जगत् विवर्त है।[1] शारदातिलक में वर्णन है कि समस्त भूतों में विद्यमान चैतन्य स्वरूप तत्त्व शब्द-ब्रह्म ही है जो प्राणियों के मध्य वर्तमान कुण्डलिनी रूप को पाकर गद्य-पद्य भेदात्मक वर्णरूपों में आविर्भूत होता है।[2]

(१०) **वीरशैव मत**—में जगत् ब्रह्म का विवर्त न होकर परिणाम है। जगत् की सत्यता इस कारण सिद्ध है क्योंकि इसकी सृष्टि परब्रह्म की शक्तियों द्वारा होती है। इस मत में परब्रह्म की शक्ति का विकास और संकोच होता है।[3] इसी कारण जगत् का आविर्भाव और तिरोभाव होता है। शिव की 'स्थल' संज्ञा का भी यही कारण है।[4] शिव की विमर्श शक्ति ही इच्छा शक्ति के रूप में परिणत हो जाती है। जिसकी अन्तरङ्ग-स्थानीया ज्ञानशक्ति है तथा क्रिया-शक्ति बहिरङ्ग स्थानीया है। ज्ञानशक्ति के साथ अहङ्कार का संयोग होने से परम शिव 'शिव', शिव की क्रियाशक्ति के साथ अहङ्कार का योग होने से 'शक्ति तत्त्व' कहलाते हैं। इच्छा शक्ति की अन्तरङ्ग-स्थानीया ज्ञानशक्ति से प्रपञ्च के उत्पादक 'सदाशिव' कहलाते हैं। स्थूल जगत् के निर्माण का अभिमान होने से 'ईश्वर'[5] और अन्तःकरण उपाधि

---

१. विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।
—वाक्यपदीय, १।१

२. चैतन्यं सर्वभूतानां शब्द ब्रह्मेति मे मतिः।
तत्प्राप्य कुण्डलीरूपं प्राणिनां देहमध्यगम्॥
वर्णात्मनाविर्भवति गद्यपद्यादिभेदतः॥
—शारदातिलक, १।१३-१४

३. आत्मशक्तिविकासेन शिवो विश्वात्मना स्थितः।
कुटीभावाद्यथा भाति पटः स्वस्य प्रसारणात्॥
—रेणुकाचार्य

४. स्थीयते लीयते यत्र जगदेतच्चराचरम्।
तद्ब्रह्मस्थलमित्युक्तं स्थलतत्त्वविशारदैः॥

५. ज्ञानं क्रियेति द्वयोरपि प्रथमोन्मेषे सदाशिवो देवः।
द्वितीयाया उल्लेखे द्वितीयः स भवतीश्वरो नाम॥
—महार्थमञ्जरी, पृ० ४०

सहित होने पर 'जीव' कहलाते हैं। जीव और शिव में अन्तर यह है कि शिव शुद्ध चित् या चैतन्य हैं।

परम शिव विविध शक्तियों के आश्रय से ही विश्व की रचना करते हैं।[1] इस मत में ३६ तत्त्वों की परिगणना की गई है—

शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, शुद्धविद्या, माया, कला, विद्या, राग, काल, नियति, पुरुष, प्रकृति, बुद्धि, अहङ्कार, मन, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ पञ्च कर्मेन्द्रियाँ, पञ्च तन्मात्राएँ और पञ्च महाभूत। इन्हीं तत्त्वों से जगत् की उत्पत्ति होती है।

११. **शैव सिद्धान्त मत**—'जहाँ अद्वैत-वेदान्त ब्रह्म को शुद्ध ज्ञानस्वरूप, निष्क्रिय अथवा साक्षी मात्र मानता है वहीं काश्मीर-शैव और शैवदर्शन सृष्टि प्रक्रिया में शिव का सक्रिय होना स्वीकारते हैं। काश्मीर-शैवानुसार शिव स्वयं को ही जगत् के रूप में आभासित करते हैं, वहीं शैव मत में आत्माओं की भलाई हेतु शिव जगत् की सृष्टि, स्थिति और संहार करते हैं। इसके अतिरिक्त जहाँ अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म के विश्वोत्तीर्ण होने पर अधिक बल देकर विश्वमय पर उतना अधिक प्रयास नहीं किया गया, वहीं इन दोनों दर्शनों में शिव के विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय, दोनों पहलुओं पर समान रूप से बल दिया है।'[2] काश्मीरशैव और शैवसिद्धान्त में मौलिक विभेद यह है कि काश्मीर शैव, अभिन्ननिमित्तोपादान-कारणता तथा शिव से ही सम्पूर्ण सृष्टि-क्रम को आभासवादी व्याख्या करता है, किन्तु शैवसिद्धान्त निमित्त और उपादानकारण का भेदकर, शिव को निमित्त और माया को उपादान कारण मानकर एक यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाता है।[3]

शैव सिद्धान्त का सृष्टि-क्रम इस प्रकार है—शिव, शक्ति, सदाशिव, महेश्वर, शुद्धविद्या, कार्य माया, काल, नियति, कला, विद्या, राग, पुरुष, प्रकृति, मन, अहङ्कार, बुद्धि, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्च कर्मेन्द्रियाँ, पञ्च-

---

१. (क) अनादिनिधनाच्छान्ताच्छिवात् परमकारणात्।
इच्छाशक्तिर्विनिष्क्रान्ता ततो ज्ञानं ततः क्रिया॥
यत्रोत्पन्नानि भूतानि भुवनानि चतुर्दश॥
—महार्थमञ्जरी सपरिमल, पृ० ३६

(ख) भा० द० और मु० मी०

२. शैव-सिद्धान्त दर्शन, पृ० ४

३. वही, पृ० १११

तन्मात्राएँ और पञ्चमहाभूत ।[१]

(१२) **प्रत्यभिज्ञा दर्शन**—के अनुसार सृष्टि एकमात्र परमशिव का ही आत्म प्रसार है अर्थात् उस परम तत्त्व का स्पन्द अथवा लीला-विलास ही सृष्टि है । सम्पूर्ण जगत् सिसृक्षा अवस्था में उसी से प्रकट होता है ।[२]

सिसृक्षा में परम के दो रूप हो जाते हैं—शिव और शक्ति ।

सृष्टि की अभिव्यक्ति एवं उसका लय ही शिव और शक्ति, प्रकाश और विमर्श का ही प्रसार और सङ्कोच है ।[3] शिव प्रकाशरूप एवं शक्ति विमर्श-(पूर्ण अकृत्रिम अहं की स्फूर्ति और यह स्फूर्ति सृष्टिकाल में विश्वाकार स्थिति में विश्व प्रकाश और संहार काल में विश्वसंहरण के रूप में होना) रूपिणी है ।[४] "प्रमा के दो रूप हैं—अहमंश और इदमंश । अहमंश ग्राहक शिव हैं और इदमंशग्राह्य शक्ति है । विमर्श के द्वारा प्रकाश का अनुभव और प्रकाश में विमर्श की कल्पना न्याय्य है ।"[५] स्वकीय कार्य में धर्म समुदाय में, या स्वसमान गुणवाली वस्तु में, सामान्य रूप से व्यापक पदार्थ को

---

१. श्रीशैवसिद्धान्तपरिभाषा ।

२. यथा न्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः ।
तथा हृदयबीजस्थं विश्वमेतच्चराचरम् ॥

—पराप्रवेशिका, पृ० ११

यथेति, यथा वटबीजे तत्समुचितेनैव वपुषा अङ्कुरपत्रफलानि तिष्ठन्ति एवं नानाविधतनुकरणादिवैचित्र्यशालि विश्वमिदं हृदयबीजान्तः-स्थितं । मयूराण्डरसे सर्वशिख्यवयवानुप्रविष्टवर्होपवर्हादिपूर्ण रेखादि—वैचित्र्यशिल्पकल्पनाकौशलवत् अवधानधनैः सूक्ष्मेक्षिकयावधार्यम् ।

—वही, पृ० ११

३. काश्मीर शैव दर्शन, पृ० ११६

४. (क) इह खलु परमेश्वरः प्रकाशात्मा, प्रकाशश्च विमर्शस्वभावः विमर्शो नाम विश्वाकारेण विश्वप्रकाशेन विश्वसंहरणेन च अकृत्रिमाहमिति विस्फुरणम्—परा प्रावेशिका पृ० १-२

(ख) 'तस्य अन्तर्लीनत्वं नाम अन्तर्मुखत्वम्' ।

—कामकलाविलास, पृ० २

५. भा० द०, पृ० ४७७-४७८

ही तत्त्व कहते हैं।[1]

चैतन्य की अभिव्यक्ति के तत्त्वों की निश्चित संख्या के विषय में शैव दार्शनिकों में मतभेद है। उत्पलाचार्य तत्त्वों की संख्या छत्तीस मानते हैं किन्तु अभिनवगुप्त शिव के आध्यात्मिक और भौतिक रूपों के आधार पर तत्त्वों की संख्या सैंतीस बताते हैं।[2]

पराप्रवेशिका में कहा गया है कि परमशिव ही छत्तीस तत्त्वात्मक प्रपञ्च है।[3] आचार्य सोमानन्दानुसार शक्तियुक्त शिव ही निजेच्छा से पदार्थों का निर्माण करते हैं। शिव तथा शक्ति में अभेद है।[4] इस सृष्टि क्रम का प्रारम्भ सदाशिव से होता है।[5]

प्रत्यभिज्ञा का सृष्टि-क्रम इस प्रकार से है—

शुद्धाध्व के तत्त्वों का क्रम—

(१) शिव—चित् शक्ति का प्राधान्य।
(२) शक्ति—आनन्दशक्ति का प्राधान्य।
(३) सदाशिव—इच्छाशक्ति का प्राधान्य 'अहमिदम्' भाव।
(४) ईश्वर—ज्ञानशक्ति का प्राधान्य 'इदमहम्' भाव।[6]

---

१. एवं जलादितत्त्वेषु वाच्यं यावत्सदाशिवे।
स्वस्मिन् कार्येऽथ धर्मौघे यद्वापि स्वसदृग्गुणे॥
आस्ते सामान्यकल्पेन तननाद् व्याप्तृभावतः।
तत् तत्त्वं क्रमशः पृथिवी प्रधानं पुंशिवादयः॥ तन्त्रालोक ६/४-५

२. काश्मीर शैव दर्शन, पृ० ११६

३. एवं च शब्दराशिमयपूर्णाहन्तापरामर्शसारत्वात् परमशिव एव षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मकः प्रपञ्चः॥ पराप्रावेशिका, पृ० ६

४. न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी।
शिवः शक्तस्तथा भावान् इच्छया कर्तुमीहते॥
शक्तिशक्तिमतोर्भेदः शैवे जातु न वर्ण्यते॥
—सोमानन्द शिवदृष्टि ३।२।३

५. श्रीमत्सदाशिवोदारप्रारम्भं वसुधान्तकम्।
—भास्करी, भा० २ पृ० २१६

६. ईश्वरो बहिरुन्मेषो निमेषोऽन्तः सदाशिवः।
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, ३।१।३

(५) सद्विद्या—क्रियाशक्ति का प्राधान्य —समधृतपुटतुलान्यायेन 'अहम् इदम्'[1] की समतुल्यता ।

शुद्धेतराध्व के तत्त्व—

(६) माया—प्रमातृस्वरूप की आवश्यक और अपने आगे के तत्त्वों की कारण ।

(७) से (११) पञ्चकञ्चुक—कला, विद्या, राग, काल और नियति ।

(१२) पुरुष—जीवावस्था—सांख्य पुरुष से भिन्न क्योंकि सांख्य के असंख्य पुरुष स्वतन्त्र सताएँ हैं, किन्तु इस मत में वे परमात्मा के ही विभिन्न आभास हैं । इसके अतिरिक्त त्रिक का पुरुष 'पुष्करपलाशवत् निर्लेप चेतन' नहीं है । यह चेतन तो है किन्तु परिस्थितियों से सर्वथा अप्रभावित नहीं रहता ।

(१३) प्रकृति—समस्त कार्यों एवं कारणों की कारण । सांख्य की प्रकृति से त्रिक की प्रकृति में दो भेद—

क—सांख्यदृशा यह अनेक कार्यों के लिए स्वतन्त्र है और त्रिकानुसार यह कार्य तभी करती है जब अनन्त द्वारा प्रेरित हो ।

ख—सांख्य एक प्रधान है एवं त्रिक अनेकों ।

(१४) मन—सङ्कल्पादि का कारण ।

(१५) बुद्धि—अध्यवसायात्मिका ।

(१६) अहंकार—ग्राह्यग्राहकाभिमान रूप ।

(१७) से (२१)—पञ्च बुद्धीन्द्रिय—श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और घ्राण ।

(२२) से (२६)—पञ्च कर्मेन्द्रिय—पाणि, पाद, पायु, वाक् और उपस्थ ।

(२७) से (३१)—पञ्च महाभूत—पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और आकाश ।

---

१. प्ररूढभेदस्य इदन्तांशस्य समधृततुलापुटन्यायेन अहमंशस्फुरणायां शुद्धविद्यातत्त्वम् । अत्र विश्वस्य स्फुटतरं परामर्शनात् क्रियाशक्तिः प्रधाना । इयति च शुद्धस्वातन्त्र्यमेव तत्तद्वैचित्र्येण प्रस्फुरति इति शुद्धोध्वा । —षट्‌त्रिंशत् तत्त्वसन्दोह—४ पर राजानक आनन्द कवि की टीका

(३२) से (३६)—पञ्च सूक्ष्म कार्य—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ।[1]

इस शुद्धेतर अवस्था में ग्राह्यग्राहक भाव स्फुट होता है ।'[2]

(१३) **त्रिपुरा मत**—त्रिक एवं शाक्त इन दोनों दर्शनों को ३६ तत्त्व मान्य हैं । इन तत्त्वों से परे एक तत्त्वातीत पदार्थ है, जो विश्वात्मक और विश्वोत्तीर्ण हैं । तत्त्वातीत दशा में शिव और शक्ति की साम्यावस्था होती है । इसी सामरस्य स्थिति को शैव 'परमशिव' और शाक्त 'पराशक्ति' कहते हैं ।[3] शाक्तों में श्रीविद्या ही पराशक्ति का पर्याय है । इस सूक्ष्म, इन्द्रियातीत, ब्रह्मस्वरूपा और मोक्षप्रदायिका[4] शक्ति से ही समस्त ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति होती है । यह समस्त चराचर जगत् उस पराशक्ति की देह से स्फुरित होने वाली किरणें हैं । सांख्य के पच्चीस तत्त्वों के साथ शिव, शक्ति, ईश्वर, प्राणादि पञ्चक और गुण-त्रय भी माने जाते हैं । यहाँ प्रधान और गुण-त्रय पृथक्-पृथक् माने गए हैं । पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार के समुदाय से निर्मित पिण्ड में चैतन्य शिव, जीवरूप में विराजते हैं । परन्तु ब्रह्मस्थानीया पराशक्ति और परमशिव की तादात्म्यावस्था से ही यह समस्त जगत् प्रकाशित होता है । तत्त्वातीत शिव शक्ति का संयोग अनादि है ।[5] पाँचवाँ मकार मैथुन भी इसी का बोधक है ।[6]

---

१ अयमेवातिनिकृष्टो जातो भूतात्मनापि भूतेशः ।
गगनमलिनश्च तेजः सलिलं भूमिश्च पञ्चभूतानि ॥
—षट्त्रिंशतत्त्वसन्दोह १८
'अत्यन्तसङ्कोचग्रहणात् अचिद्रूपतामवभास्य आकाशादीनि पञ्चभूतानि ।
—राजानकानन्द टीका १८

२. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् । —श्रीविशालप्रसाद त्रिपाठी, पृ० ४६-४७

३. सा जयति शक्तिराद्या निजसुखमयनित्यनिरुपमाकारा ।
भाविचराचरबीजं शिवरूपं विमर्श-निर्मलादर्शः ॥
— कामकलाविलास, भा० द०, पृ० ४८२

४. 'मोक्षैकहेतुर्विद्याश्रीः श्रीविद्यानात्र संशयः' ।

५. भा० द० और मु० मी०, पृ० ३३८-३३९

६. 'मैथुनं परमं तत्त्वं सृष्टिस्थित्यन्तकारणम् ।
मैथुनाज्जायते सिद्धं ब्रह्मज्ञानं सुदुर्लभम् ॥
मैथुनक्रिया सृष्टि-स्थिति-लयानां कारणं परमं तत्त्वम् । मैथुनक्रियायोगे सिद्धिलाभो जायते । तस्माच्च सुदुर्लभं ब्रह्मज्ञानमुत्पद्यते ।

सिद्धसिद्धान्तसंग्रह में—आद्य पिण्ड पुरुष–पञ्च तत्त्व तथा उनके गुण—

पूर्वोक्त तत्त्वों के सगुण समवेत द्वारा आद्य पिण्ड उत्पन्न हुआ, जिसकी अभिव्यक्ति के पाँच तत्त्व हैं—परमानन्द, प्रबोध, चिदुदय, प्रकाश और सोऽहम् भाव। अर्थात् आद्य पिण्ड पुरुष में इन पाँचों का प्रादुर्भाव हुआ। ये सब आद्यपिण्ड की अभिव्यक्तियाँ हैं। "सृष्टि व्यापार को अग्रसर करने के लिए इस प्रकार अहन्ता की प्राप्ति पाँच अवस्थाओं के भीतर होती है। इन अवस्थाओं को आनन्द कहते हैं। पाँच आनन्द हैं—परमानन्द, प्रबोध, चिदुदय, प्रकाश और सोऽहं। इन्हीं आनन्दों के भीतर से गुजरते हुए शिव क्रमशः जीव-रूप की ओर अग्रसर होते हैं।"[1]

महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराज के अनुसार "शक्ति के स्फुरण की पूर्वावस्था में ब्रह्म निर्गुण है—शक्ति की स्फूर्त्ति तथा गुणों का आविर्भाव समार्थक है। शक्ति के सदृश अनादि पिण्ड भी स्वरूपतः निर्गुण है, परन्तु शक्ति-विभाग के साथ-साथ उससे क्रमशः गुणमय परमानन्द, प्रबोध, चिद्रूप प्रकाश तथा सोऽहं भाव का विकास होता है। यहाँ भी प्रत्येक भाव में पाँच-पाँच गुणों का आविर्भाव होता है। इसीलिए, सृष्टिमार्ग में अनादि पिण्ड भी पंचविंशतिगुणविशिष्ट हो जाते हैं।"[2]

इनके पाँच-पाँच (कुल पच्चीस) गुण इस प्रकार से हैं—

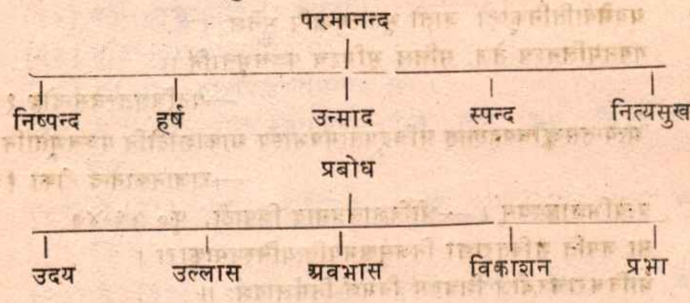

अपि च —
कुलकुण्डलिनी शक्तिर्देहिनां देहधारिणी।
तया शिवस्य संयोगो मैथुनं परिकीर्तितम्॥'

—शाक्त-दर्शन, पृ० १२८

१. नाथ सम्प्रदाय, पृ० ११६
२. भारतीय संस्कृति और साधना, प्रथम खण्ड, पृ० १५२

चिदुदय

सद्भाव | विचार | कर्तृत्व | ज्ञातृत्व | स्वातन्त्र्य

प्रकाश

निर्विकार | नैष्कल्य | सद्बोध | समता | विश्रान्ति

सोऽहं भाव

अहन्ता | खण्डितैश्वर्य* | स्वानुभूति | समर्थता | सर्वज्ञता[1]

इस प्रकार इन पञ्च तत्त्वों के गुणों से युक्त आद्य पिण्ड कहलाता है और इसी सूत्रात्मा आद्यपिण्ड से महाकाश, महाकाश से महानिल, महानिल से महातेज, महातेज से महावारि और महावारि से महाधरा उत्पन्न हुई।[2] चरक-संहिता में पञ्चमहाभूतों का वर्णन कर, यह निर्दिष्ट किया गया है कि आकाश आदि पाँच गुणियों में से प्रथम गुणी आकाश में एक गुण शब्द होता है। इसके पश्चात् के भूतों में एक-एक गुण क्रमशः बढ़ता जाता है।[3]

ज्ञानसङ्कलिनीतन्त्रम् में भी इसी क्रम का तथा विपरीत क्रम का उल्लेख प्राप्त होता है। और अन्त में केवल निरञ्जन ही शेष रह जाता है।[4]

---

* ऐश्वर्यों से निर्लेप
अणिमा महिमा चैव लघिमा गरिमा तथा।
प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चाष्टसिद्धयः ॥ भागवत

१. सि० सि० सं०—१।२२-२८ —नोट—ग्रन्थ में प्रबोध के पञ्च गुणों का निरूपण परमानन्द के गुणों से पूर्व निर्दिष्ट है।

२. वही, १।२९-३०

३. महाभूतानि खं वायुरग्निरापः क्षितिस्तथा।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणाः ॥
तेषामेकगुणः पूर्वो गुणवृद्धिः परे परे।
पूर्वः पूर्वगुणश्चैव क्रमशो गुणिषु स्मृतः ॥
—चरकसंहिता-शरीरस्थानम्, अ० १/२६-२७

४. आकाशाज्जायते वायुर्वायोरुत्पद्यते रविः।
रवेरुत्पद्यते तोयं तोयादुत्पद्यते मही ॥
मही विलीयते तोये तोयं विलीयते रवौ।
रविर्विलीयते वायौ वायुर्विलीयते तु खे ॥

पञ्चमहाभूतों के पांच-पांच गुणों का निरूपण—

महाकाश

अवकाश | छिद्र | अस्पृश्यत्व | रव | नीलवर्ण

महानिल

संचार | चालन | स्पन्द | शोषण | धूम्रता[1]

महातेज

दाहकत्व | पावकत्व | सूक्ष्मत्व | रूपभासिता | रक्तवर्णत्व

महावारि

प्रवाह | आप्यायन | रस | द्रव | श्वेतवर्णता

महाधरा

स्थूलत्व | नानाकृतिता | काठिन्य | गन्ध | पीतवर्णता

इस प्रकार पञ्च महाभूतों के पाँच-पाँच (कुल पच्चीस) गुणों का समूह ही महासाकारपिण्ड कहलाता है।[2] यह महासाकार-पिण्ड शिवात्मक है। अर्थात् इन सब का सम्मिश्रण ही शिव है।

महासाकार पिण्ड की अष्टमूर्ति—महासाकार पिण्ड रूप में प्रकट साकार पिण्ड पंचानन शिव कहलाता है, उस साकार शिव की आठ मूर्ति अर्थात् रूप हैं। उसी को शिव कहते हैं। उसी शिव से भैरव, भैरव से श्रीकण्ठ, श्रीकण्ठ से सदाशिव, सदाशिव से ईश्वर, ईश्वर से रुद्र, रुद्र से विष्णु और विष्णु से ब्रह्मा उत्पन्न हुये। इस प्रकार महासाकार पिण्ड की आठ मूर्तियों का विभाग

पञ्चतत्त्वाद् भवेत् सृष्टिस्तत्त्वात् तत्त्वं विलीयते।
पञ्चतत्त्वात् परं तत्त्वं तत्त्वातीतं निरञ्जनम्॥

ज्ञानसङ्कलिनीतन्त्रम्, २५-२७

१. सि० सि० सं०, १।३०-३१

२. वही, १।३२-३५

जानना चाहिए और इन्हीं देवों के द्वारा समस्त जगत् का संचालन होता है।

नरनारी रूप प्राकृत पिण्ड—जगत् के स्रष्टा ब्रह्मा के संकल्प से नर-नारी रूप प्राकृत पिण्ड की उत्पत्ति हुई। यह प्राकृत पिण्ड पञ्चभूतों के पाँच-पाँच (कुल पच्चीस) गुणों के कारण पञ्चभूतात्मदेह कहलाता है।[1] अतएव शरीरगत पञ्चभूतों के पच्चीस गुणों का निरूपण इस प्रकार से है—

पृथ्वी
- अस्थि
- त्वक्
- मांस
- लोम
- नाड़ी

अप्
- लाला
- मूत्र
- असृक्
- स्वेद
- शुक्र

तेज
- क्षुधा
- तृषा
- आलस्य
- निद्रा
- कान्ति

वायु
- धावन
- चलन
- रोध
- प्रसार
- आकुञ्चन

आकाश
- राग
- द्वेष
- भय
- लज्जा
- मोह

इस प्रकार पञ्च भूतों के पाँच-पाँच (कुल पच्चीस) गुणों से प्राकृत

---

१. (क) सि० सि० सं०, १।३६-३७

(ख) पञ्चभूतात्मको देहः पञ्चमण्डलपूरितः।
काठिन्यात्पृथिवी ज्ञेया पानीयं यद्द्रवाकृतिः॥
दीपनं तु भवेत्तेजः स्पर्शो वायोस्तथा भवेत्।
आकाशे चेतनं सर्वं ज्ञातव्यं योगमिच्छता॥

—अमरौघप्रबोध, ५६, ५७

पिण्ड की संरचना होती है। अर्थात् प्राकृत्-पिण्ड में पञ्चभूत अपने सभी गुणों सहित विद्यमान रहते हैं[1]*।

अन्तःकरणपञ्चक—अन्तःकरण के भेदों का निरूपण करते हुए निर्दिष्ट है कि मन, बुद्धि, अहङ्कार, चित्त और चैतन्य भेद से यह पाँच प्रकार का है। इनके पाँच-पाँच (कुल पच्चीस) गुणों का निरूपण इस प्रकार से है—

मन

संकल्प | विकल्प | जड़ता | मूर्छना | मनन

बुद्धि

विवेक | वैराग्य | परा | प्रशान्ति | क्षमा

अहंकार

मान | ममत्व | सुख | दुःख | मोह

---

१. सि० सि० सं०, १।३७-४१

*. तुलनीय—उमा पृच्छति हे देव पिण्डब्रह्माण्डलक्षणम्।
पञ्चभूतं कथं देव गुणाः के पञ्चविंशति॥
अस्थि मांसं नखं चैव त्वङ्लोमानि च पञ्चमम्।
पृथ्वी पञ्चगुणा प्रोक्ता ब्रह्मज्ञानेन भासते॥
शुक्रशोणितमज्जा च मलं मूत्रं च पञ्चमम्।
अपां पञ्चगुणाः प्रोक्ता ब्रह्मज्ञानेन भासते॥
निद्रा क्षुधा तृषा चैव क्लान्तिरालस्यपञ्चमम्।
तेजः पञ्चगुणाः प्रोक्ता ब्रह्मज्ञानेन भासते॥
धारणं चालनं क्षेपं संकोचं प्रसरं तथा।
वायोः पञ्चगुणाः प्रोक्ता ब्रह्मज्ञानेन भासते॥
कामं क्रोधं तथा मोहं लज्जा लोभञ्च पञ्चमम्।
नभः पञ्चगुणाः प्रोक्ता ब्रह्मज्ञानेन भासते॥
(ज्ञानसङ्कलिनीतन्त्रम्, १६-२४)

चित्त

मति | धृति | संस्मृति | उत्कृति | स्वीकार

चैतन्य

विमर्ष | हर्ष | धैर्य | चिन्तन | निःस्पृहत्व[1]

कुलपञ्चक—

अन्तःकरण धर्मों का निरूपण कर मन, बुद्धि और इन्द्रिय व्यापार के सञ्चालन में मुख्य सत्त्व, रजस्, तमस्, काल और जीव रूप कुलपञ्चक तथा उनके पाँच-पाँच (कुल पच्चीस) गुणों का निरूपण इस प्रकार है--

सत्त्व

दया | धर्म | क्रिया | भक्ति | श्रद्धा

रजस्

दान | भोग | शृंगार | स्वार्थ | आदान

तमस्

मोह | प्रमाद | निद्रा | हिंसा | क्रूरता

काल

विवाद | कलह | शोक | बन्ध | वञ्चन

जीव

जाग्रत | स्वप्न | सुषुप्ति | तुर्य्यक | तुरीयातीत[2]

व्यक्तिपञ्चक एवं उनके गुण—कुलपञ्चकवर्णनोपरान्त व्यक्ताख्य शक्ति पञ्चक एवं उनके पाँच-पाँच (कुल पच्चीस) गुणों का निरूपण इस प्रकार है—

व्यक्तिपञ्चक—इच्छा, कर्म, विमोहिनी, प्रकृति और वाक्।

---

१. सि० सि० सं०, १।४२-४५

२. वही, १।४६-४९

इच्छा
- उन्मेष
- वासना
- वीप्सा
- चिन्ता
- चेष्टा

कर्म
- स्मृति
- उद्यम
- उद्वेग
- कार्य
- निश्चय

माया
- मद
- मात्सर्य
- कपट
- कर्त्तव्य
- असत्य

प्रकृति
- आशा
- तृष्णा
- कांक्षा
- स्पृहा
- मृषा

वाक्
- परा
- पश्यन्ती
- मध्यमा
- वैखरी
- मातृका[1]

प्रत्यक्षकरणपञ्चक एवं उनके गुण—'जिन प्रधान साधनों द्वारा जीव को इस जगत् में सुख-दुःख का उपभोग करना पड़ता है, उनकी संख्या पाँच है—कर्म, काम, चन्द्रमा, सूर्य और अग्नि। बिन्दु रूप शरीर के निमित्त-कारण कर्म और वासना माने जाते हैं। यह संसार अग्निषोमात्मक कहलाता है। कारण सोमरस भोग्य और अग्नि शोषक भोक्ता है तथा इन दोनों के संयोग से जगत् की स्थिति मानी जाती है, केवल एक के रहने पर नहीं। यथा भोज्य पदार्थ जठराग्नि के रहने पर भी शान्त हो जाने से शरीर की स्थिति असम्भव है तथैव केवल अग्नि मात्र से भी स्थिति नहीं हो सकती। इन दोनों के समीकरण से ही जगत् की स्थिति सम्भव होती है। प्रस्तुत ग्रन्थ में सूर्य और अग्नि को दो पृथक् रूपों में स्वीकार किया गया है। सूर्य की बारह कलाएँ और अग्नि की दस कलाएँ भोक्ता हैं। तथा सोम की सोलह कलाएँ भोग्य हैं। इन्हीं दोनों के संयोग से समस्त जगत् बनता है। इस शरीर का

---

१. सि० सि० सं०, १।५०-५३

माता के रज और पिता के वीर्य से निर्माण होता है। रज सोम और वीर्य अग्नि और सूर्य रूप है। अतः शरीर का उपादान कारण अग्नि और सूर्य हैं। यद्यपि सोम और अग्नि ये दोनों सर्वत्र ही रहते हैं तथापि जिसका अंश जहाँ अधिक रहता है, उसका उसी पद से व्यवहार होता है। कला शब्द से अभिप्राय है—चित्त से मिली हुई शक्ति'।[1]

इस प्रकार काम, कर्म, अग्नि, चन्द्र और सूर्य रूप प्रत्यक्षकारी पञ्चक के गुण इस प्रकार हैं—

१. काम

(१) रति, (२) प्रीति, (३) लीला, (४) आतुरत्व (५) अभिलाषा।

२. कर्म

(१) शुभ, (२) अशुभ, (३) कीर्ति, (४) अकीर्ति, (५) इच्छागत।

३. चन्द्र

(१) उल्लोल, (२) कल्लोल, (३) उच्चलत्व, (४) उन्माद, (५) ऊर्मि, (६) विलेपन (७) लहरी, (८) विलोला, (९) विलेलिहास, (१०) प्रसरा, (११) प्रवृत्ति, (१२) स्रवन्तिका, (१३) नामवती, (१४) प्रवाहा, (१५) सौम्या और (१६) प्रसन्ना। (इस प्रकार चन्द्र की सोलह कलाएँ तथा सत्रहवीं उसकी स्व अमृत कला है।)

४. सूर्य

(१) तपिनी, (२) ग्रासिनी, (३) क्रूरा, (४) कुञ्चनी, (५) शोषणी, (६) बोधिनी, (७) स्मरा, (८) कर्षिणी, (९) अर्थसन्तुष्टिवर्धिनी, (१०) ऊर्मिरेखा, (११) किरणिनी और (१२) प्रभावती। (तेरहवीं कला स्व-प्रकाशिका कला है और यह सूर्य की निज कला है)।

५. अग्नि

(१) बीजिनी, (२) दीपिका, (३) ज्वाला, (४) विस्फुलिङ्गा,

---

१. सि० सि० प०—पृ०, ९७

(५) प्रचण्डिका, (६) पाचिका, (७) रौद्रिका, (८) दाहा, (६) रोचिनी और (१०) शोषिणी। (ये अग्नि की दस कलाएँ हैं और ज्योति उसकी ग्यारहवीं निज कला है।) इस प्रकार प्रत्यक्षकरण के पाँच भेद तथा उनके गुणों एवं कलाओं का निरूपण समाप्त हुआ।[1]

दश मुख्य नाड़ियाँ तथा उनका स्थान—दश मुख्य नाड़ियों तथा दश मुख्य द्वारों के प्रसंग में यह बता देना अनिवार्य होगा कि लिङ्ग के ऊपर और नाभि के नीचे पक्षी के अण्डे के समान समस्त नाड़ियों का उद्गम स्थान मूलकन्द है। शिवस्वरोदय में कहा गया है कि नाड़ियाँ नाभिस्थान के कन्द से ऊपर अंकुर के समान निकली हैं तथा देह मध्य बहत्तर सहस्र नाड़ियाँ हैं। नाड़ी में स्थित तथा सर्प सदृश कुण्डलिनी शक्ति है, उससे ऊपर दश और नीचे दश नाड़ियाँ हैं। दो-दो नाड़ियाँ तिरछी गई हैं। इस प्रकार इन चौबीस नाड़ियों में दश नाड़ियाँ प्रधान हैं और दश वायु प्रवाहिका हैं। उन दश नाड़ियों में तीन इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना श्रेष्ठ हैं।[2] इसी प्रकार का उल्लेख योगमार्तण्ड,[3] योगचूडामण्युपनिषद्[4] और ध्यानबिन्दूपनिषद्[5] में भी प्राप्त होता है।

इन सब नाड़ियों में सुषुम्ना सर्वश्रेष्ठ मानी गई है क्योंकि सुषुम्ना अग्नि, चन्द्र और सूर्य स्वरूपा कही गई है और इसी सुषुम्ना के अन्तर्गत विद्यमान ब्रह्मनाड़ी का ध्यान करना चाहिए।[6] सुषुम्ना नाड़ी के प्रवाह में भोग और मुक्ति फल के देने वाले कार्यों को ही करना चाहिए।[7] इस परम्परा के अतिरिक्त अन्य भारतीय परम्पराओं में भी नाड़ी-ज्ञान विषयक सन्दर्भ का उल्लेख प्राप्त होता है। जहाँ कहा गया है कि "हृदय के अनाहत चक्र में

---

१. सि० सि० सं० १।५४-६१
२. शिवस्वरोदय, ३२-३६
३. ऊर्ध्वं मेढ्रादधो नाभेः कन्दो योऽस्ति (निः) खगांडवत्।
तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणि द्विसप्तति॥
तेषु नाडीसहस्रेषु द्विसप्ततिरुदाहृता।
प्रधानाः प्राणवाहिन्यो भवस्तत्र दश स्मृता॥
—योगमार्तण्ड, १६-१७
४. योगचूडामण्युपनिषद्, १४-२१
५. ध्यानबिन्दूपनिषद्, ५०-५८
६. चक्रकौमुदी, १।१३
७. शिवस्वरोदय, ६१

कमल के आकार का मांस पिण्ड है जो कि सुषुम्ना नाड़ी पर स्थित है। वह मांस पिण्ड आँतों से घिरा होने के कारण 'पुरीतत' कहलाता है। इस पुरीतत के मध्य में आकाश है, उसी में उपासना ध्यान करने का विधान है। सुषुम्ना नाड़ी से सम्बद्ध ७२ हजार नाड़ियाँ हैं जिन्हें उपनिषद् में 'हिता' नाड़ियाँ कहा गया है। वहाँ हिता का तात्पर्य सहयोगी या उपकारी किया गया है। इन हिता नाड़ियों के अनेक रङ्ग कहे गए हैं।[1] सुषुम्ना नाड़ी से विशेष सम्बन्धित अंकुरित होने वाली कुहू, वरुणा, यशस्विनी, पिंगला, पूषा, पयस्विनी, सरस्वती, शंखनी, गांधारी, इडा, हस्तिजिह्वा, विश्वोदरा आदि १२ नाड़ियाँ हैं। ये सुषुम्ना की विशेष हितैषी नाड़ियाँ हैं। हृदय के अनाहत चक्र में आठ दल का अरुण (लाल) वर्ण का कमल है जिसके मध्य में छः कोण हैं। मध्यवर्त्ती कोण का रंग धूम्र है। इस अनाहत यन्त्र के ईशान कोण से जिस प्रधान नाड़ी का सम्बन्ध है उसी से इस यन्त्र का संचालन होता है।[2] ईशान कोण की नाड़ी में ही मुख्य प्राण तत्त्व का स्थाई निवास है। यह प्राण ही अयास आंगिरस है, जो कि अङ्गों का सार रूप प्रधान रस तत्त्व है। सम्पूर्ण नाड़ियाँ इसकी अंग हैं।[3] हृदय से सम्बद्ध १०१ मुख्य नाड़ियाँ हैं। इनमें सुषुम्ना ही प्रधान है।"[४]*

सिद्धसिद्धान्तसंग्रह में नाड़ियों का स्थान निर्धारित करते हुए निर्दिष्ट है कि इड़ा और पिङ्गला क्रमशः दोनों नासिकाओं में, सुषुम्ना मध्य में, गान्धारी और हस्तिजिह्वा दोनों कर्णों में, शंखिनी लिङ्गद्वार में, पूषा और अलम्बुषा दोनों नेत्रों में, पयस्विनी मुख द्वार में रहती है और कुहू नाड़ी का स्थान गुदा प्रदेश है।[५] सिद्धसिद्धान्तपद्धति, शाण्डिल्योपनिषद् और योगचूडामण्युपनिषद् में नाड़ी स्थान में भेद प्राप्त होता है।[६] शिवस्वरोदय शास्त्र में नाड़ी स्थान

---

१. बृह०, ४।४।२०, कौषीतकि ब्राह्मण, ४।४।१९

२. बृह०, ६।३।५

३. वही, १।३।१९

४. छान्दोग्योपनिषद्, ८।७।६।६

\+ श्री निम्बार्क वेदान्त—पूर्वार्ध – पृ० १२१-१२२

५. सि० सि० सं०, १।६२-६४

६. (क) सि० सि० प०, १।६७,
(ख) शाण्डिल्योपनिषद्, १।९-११
(ग) योगचूडामण्युपनिषद्, १४-२१

निर्धारित करते हुए वर्णित हैं कि इडा वाम भाग में, पिंगला दक्षिण भाग में, सुषुम्ना मध्यदेश में, गान्धारी वाम नेत्र में, हस्तिजिह्वा दक्षिण नेत्र में, पूषा दक्षिण कर्ण में, यशस्विनी वाम कर्ण में, अलम्बुषा मुख में, कुहूँ लिङ्ग देश में और गुदास्थान में शंखिनी नाड़ी जाननी चाहिये।[1] "श्री निम्बार्क मत में सुषुम्ना श्री राधा हैं। ललिता पिङ्गला नाड़ी है तथा रंगदेवी इड़ा नाड़ी है। पिङ्गला चन्द्र नाड़ी तथा इडा सूर्य नाड़ी है। चन्द्र नाड़ी पोषण करती है तो इड़ा उन्मीलन (प्रेरणा) करती है। "उन्मीलनी तु साज्ञेया विशेषेण हरिप्रिया" पद्मपुराण-६।३६।३४ उन्मीलनी को ही हरिप्रिया समझना चाहिए।[2] इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना का उल्लेख तोडलतन्त्रम् में भी प्राप्त होता है।[3]

बौद्ध मत में "बांई से ललना और दाहिनी नासिका से रसना नामक प्राणवायु को वहन करने वाली नाड़ियाँ चलती हैं। जिनमें पहली प्रज्ञा-चन्द्र है और दूसरी उपाय सूर्य। प्रज्ञा और उपाय नाथपंथियों की इच्छा और क्रिया शक्ति की समशीला हैं। मध्यवर्ती नाड़ी अवधूती है जो नाथपंथियों की सुषुम्ना की समशीला है। इस नाड़ी से प्राणवायु ऊर्ध्वगति को प्राप्त होता है तो ग्राह्य और ग्राहक का ज्ञान नहीं रहता। इसीलिए अवधूती नाड़ी को ग्राह्यग्राहकवर्जिता कहा जाता है।"[4]

दश वायु एवं उनका स्थान—नाड़ियों के आश्रय वायु भी दस माने गए हैं—यथा प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान। नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त

---

१. इडा वामे स्थिता भागे पिङ्गला दक्षिणे स्मृता।
सुषुम्ना मध्यदेशे तु गान्धारी वामचक्षुषि॥
दक्षिणे हस्तिजिह्वा च पूषा कर्णे च दक्षिणे।
यशस्विनी वामकर्णे आनने चाप्यलम्बुषा॥
कुहूश्च लिङ्गदेशे तु मूलस्थाने तु शंखिनी।
एवं द्वारं समाश्रित्य तिष्ठन्ति दश नाडिकाः॥ शिवस्वरोदय, ३८-४०

२. श्री निम्बार्क वेदान्त, पृ० ७७

३. एवं क्रमेण देवेशि शरीरे नाड्यः स्थिताः।
इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्ना मध्यवर्तिनी॥ तोडलतन्त्रम्, २।१२

४. ललना प्रज्ञा स्वभावेन रसनोपायसंस्थिता।
अवधूती मध्यदेशे तु ग्राह्यग्राहकवर्जिता॥
हे वज्र—नाथ सम्प्रदाय, पृ० १०२

और धनञ्जय। इनमें हृदय में प्राण, गुदा में अपान, नाभि में समान, कण्ठ में उदान और सम्पूर्ण शरीर में व्यान वायु का वास रहता है। उद्गार में नाग, नेत्रों के उन्मीलन में कूर्म, छींकने में कृकल, विजृंभण में देवदत्त और सर्व-शरीर में व्यापी धनञ्जय वायु मृतशरीर का भी त्याग नहीं करता। जीवरूप ये दश वायु नाड़ियों में भ्रमण करते हैं।[1]

इसी प्रकार का वर्णन प्रस्तुत ग्रन्थ में उपलब्ध होता है। जहाँ निर्दिष्ट है कि आहार हेतु हृदय में प्राण, कुम्भक-स्तम्भन हेतु गुदा में अपान, जठराग्नि प्रदीप्त हेतु नाभि में समान, नाड़ी विशुद्धि हेतु कण्ठ में उदान और अशन तथा जल्प हेतु तालु समाश्रय व्यान है।[2]

व्यान हेतु सिद्धसिद्धान्तपद्धति में वर्णित है कि समस्त शरीर के अङ्गों में व्याप्त होकर व्यान वायु रहता है और समस्त नाड़ियों में विद्यमान मलिन, मज्जादि का शोषण भी वही करता है तथा शरीर में बल-वृद्धि का भी कारक है।[3] अमृतनादोपनिषद् में कहा गया है कि प्राणवायु लोहित मणि, अपान इन्द्रगोप, समान गोदुग्ध, उदान धूसर और व्यान अग्नि शिखा के समान वर्ण एवं तेज वाला है।[4]

---

१. नामानि नाडिकानां तु वातानां तु वदाम्यहम्।
प्राणोऽपानः समानश्च उदानोव्यान एव च॥
नागः कूर्मोऽथ कृकलो देवदत्तो धनञ्जयः।
हृदि प्राणो वसेन्नित्यमपानो गुदमण्डले॥
समानो नाभिदेशे तु उदानः कण्ठमध्यगः।
व्यानो व्यापी शरीरेषु प्रधाना दश वायवः॥
प्राणाद्याः पञ्च विख्याता नागाद्याः पञ्च वायवः।
तेषामपि च पञ्चानां स्थानानि च वदाम्यहम्॥
उद्गारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने स्मृतः।
कृकलः क्षुतकृतज्ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे॥
न जहाति मृतं वापि सर्वव्यापी धनञ्जयः।
एते नाडीषु सर्वासु भ्रमन्ते जीवरूपिणः॥ शिवस्वरोदय, ४२-४७

२. सि० सि० सं०, १।६६

३. सि० सि० प०—पृ० १०३-१०४

४. अमृतनादोपनिषद्— ३४-३७

मोडनोच्चाटन हेतु नाग सर्वाङ्गव्यापी, उन्मेषार्थ नेत्रों में कूर्म, भूख और उद्गार हेतु नासिका में कृकल, विजृम्भण हेतु मुखाग्र देवदत्त और अव्यक्त शब्द की उद्घोषणा हेतु कण्ठ से नीचे धनञ्जय की विद्यमानता है।[1] इस प्रकार इन दश वायुओं का निरूपण हुआ। अनेक ग्रन्थों में इन दश वायुओं में से प्रथम पाँच को मुख्य प्राणवायु एवं बाद के पाँच वायुओं को उपप्राण वायु कहा गया है।

गर्भपिण्ड—गर्भ पिण्डोत्पत्ति के निरूपण में निर्दिष्ट है कि ऋतुकाल में बिन्दु और रज के आश्रय से स्थूल जीव की उत्पत्ति होती है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि व्यष्टि में जीव और समष्टि में ईश्वर कहलाने वाला शक्ति-विशिष्ट चैतन्य ही वास्तव में बिन्दु है क्योंकि बिन्दु शिव रूप और बीज शक्ति रूप है तथा उसी के समवाय को नाद कहते हैं।[2] योगचूडामण्युपनिषद् में उक्त है कि बिन्दु ब्रह्मा है और रज शक्ति है, बिन्दु चन्द्र है और रज सूर्य रूप है। इन दोनों के संगम में परम पद की प्राप्ति होती है। जब वायु से चालित रज बिन्दु से मिलकर एक हो जाता है तो देह दिव्य हो जाती है।[3]

रज और बिन्दु के सम्मिश्रण से उत्पन्न जीव की गर्भावस्था में विकासावस्था को दर्शाते हुए वर्णित है कि प्रथमावस्था में रज-वीर्य में गाढ़ापन, एक सप्ताह में बुलबुले सदृश और पक्षान्तर वह बुलबुला गोलाकार रूप हो जाता है। प्रथम मास में वही गोला कठिन अवस्था में, द्वितीय मास में उसी गोले से शिर; तृतीय मास में हाथ पैर आदि, चतुर्थ मास में नेत्र, चक्षु आदि, पंचम मास में पृष्ठ और उदर, षष्ठ मास में केश, नख, रोम आदि, सप्तम मास में चेतना युक्त, अष्टम मास में बाल लक्षण, नवमास में तत्त्वज्ञान (अर्थात् पूर्व जन्मों के संस्कारों एवं गर्भ नरक से मुक्ति की प्रार्थना से युक्त*) और

---

१. सि० सि० सं० १।६७-७०

२. बिन्दुः शिवात्मको बीजं शक्तिर्नादस्तयोर्मिथः।
समवाय इति ख्यातः सर्वागमविशारदैः॥

३. योगचूडामण्युपनिषद्, ६२-६३

* उस समय गर्भ में जीव सोचता है कि अपने हजारों जन्मों को देखा और उनमें विभिन्न प्रकार के भोजन किये तथा विभिन्न योनियों में स्तन पान किया। मैं अनेक बार जन्मा और मृत्यु को प्राप्त हुआ। उन-उन जन्मों में किये शुभ एवं अशुभ कर्मों को विचार कर मैं अब अकेला ही दग्ध हो रहा हूँ। जब मैं इस गर्भ-नरक से मुक्त हो जाऊँगा तो महेश्वर

दश मास में योनि स्पर्श से नष्ट ज्ञानवान् अज्ञानी जीव उत्पन्न होता है। गर्भ में वीर्य की अधिकता से पुरुष एवं रज की अधिकता से स्त्री और इन दोनों के समभाव होने पर जीव नपुंसकत्व को प्राप्त करता है।[1] इसी प्रकार चरक-संहिता में भी गर्भ की विकासावस्था पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाला गया है।[2]

रतिकाल में स्त्री एवं पुरुष के चित्त की प्रतिकूलता से जीव (शरीर) छोटा, कुबड़ा और अंगहीन होता है। वीर्य का रोधक गति से पतन अधिक जीवों की उत्पत्ति का कारण होता है। गर्भस्थ बालक के शरीर में साढ़े तीन पल वीर्य, बीस पल रक्त, दस पल मेद, लगभग इतनी ही मज्जा, शत पल माँस, दस पल पित्त, तीन सौ साठ अस्थियाँ, इतनी ही सन्धियाँ और साढ़े तीन करोड़ रोम कूप होते हैं। इस प्रकार रज और वीर्य संयोग के परिणाम से मज्जा, अस्थि, मेद इत्यादि दस धातुमय गर्भपिण्ड का निर्माण होता है।[3]

प्रस्तुत ग्रन्थ सिद्धसिद्धान्तसंग्रह के प्रथमोपदेश में सूक्ष्मता से स्थूलता का विकासोन्मुखी निरूपण समाप्त हुआ।

की शरण जाऊँगा। जब मैं इस गर्भ-नरक से मुक्त हो जाऊँगा तो नारायण का आश्रय लूंगा अथवा सांख्य-योग की साधना करूँगा। ब्रह्म चिन्तन में समय व्यतीत करूँगा। इस प्रकार से विचार करता हुआ जीव बड़े कष्ट से जन्म ले पाता है, किन्तु जन्मोपरान्त माया के स्पर्श से पूर्व जन्मों और मृत्युओं को भूल जाता है। उसे अपने गर्भ-नरक का भी बोध नहीं रहता और उसके शुभ-अशुभ कर्मों का भी लोप हो जाता है। —गर्भोपनिषद्, ४

१. सि० सि० सं०-१।७२-७४

२. चरक-संहिता—शरीर स्थानम्—अध्याय ४

३. सि० सि० सं०, १।७३-७८

द्वितीयोपदेश:

पिण्डोत्पत्ति प्रकरणानन्तर पिण्डविचारविमर्शान्तर्गत विषय वासना से चलायमान मन को अवरुद्ध करने के निमित्त पिण्डस्थ नवचक्रों,* सोलह आधारों, त्रिविध लक्ष्यों एवं अष्टांग योग का वर्णन अत्यन्त युक्तियुक्त एवं संक्षिप्त और लक्षणों सहित किया गया है। चक्रनिरूपण के प्रसंग में सर्वप्रथम यह स्पष्ट कर देना नितान्त अनिवार्य है कि चक्रों की संख्या में इस परम्परा में कुछ मतभेद अवश्य रहे होंगे। सिद्धसिद्धान्तपद्धति,[१] योगराजोपनिषद्[२], षडाम्नायतन्त्र[3] इत्यादि ग्रन्थों में जहाँ नवचक्रों का उल्लेख प्राप्त होता है वहीं गोरक्षपद्धति,[४] शिवमहापुराण,[५] योगचूडामण्युपनिषद्[६] और सौन्दर्यलहरी[७] इत्यादि ग्रन्थों में षट्चक्रों का ही उल्लेख प्राप्त होता है। ग्रन्थानुसार यहाँ

---

* प्रस्तुत ग्रन्थ में शरीरस्थ नवचक्रों की विद्यमानता निर्दिष्ट है, किन्तु यहाँ सात चक्रों के ही श्लोक उपलब्ध हैं। —सि० सि० सं०, २।१

१. पिण्डे नवचक्राणि। सि० सि० प०, २।१

२. नवस्वेव हि चक्रेषु लयं कृत्वा महात्मभिः ॥ योगराजोपनिषद्, ५

३. नवचक्राः कलाधाराः त्रिशून्यं पञ्चव्योमकम्। —षडाम्नायतन्त्रम्, ४।४३

४. षट्चक्रं षोडशाधारं द्विलक्ष्यं व्योमपञ्चकम्।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्धयन्ति योगिनः ॥ गोरक्षपद्धति, १।१३

५. मूलादिब्रह्मरन्ध्रान्तं षट्चक्रं परिचिन्तयेत्।
विद्युत्कोटिसमप्रख्यं सर्वतेजोमयं परम् ॥ शिवमहापुराण, ६।४।७

६. षट्चक्रं षोडशाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम्। योगचूडामण्युपनिषद्, ३

७. महीं मूलाधारे कमपि मणिपूरे हुतवहं
स्थितं स्वाधिष्ठाने हृदि मरुतमाकाशमुपरि।
मनोऽपि भ्रूमध्ये सकलमपि भित्वा कुलपथं
सहस्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसि ॥ सौन्दर्यलहरी, ९

शरीरस्थ नवचक्रों का ही उल्लेख किया जा रहा है—प्रथम ब्रह्म चक्र (मूलाधार चक्र)[1] का निरूपण करते हुए निर्दिष्ट है कि यह चक्र मूलाधार में तीन वलयों से आवृत, भगमण्डल सदृश है, उसी के समीप मूलकन्द में अग्नि* सदृश देदीप्यमान शक्ति का ध्यान करना चाहिए। इसी को कामरूपपीठ कहते हैं तथा इसके ध्यान से सर्वकामनाओं की पूर्त्ति होती है।[2] गोरक्षपद्धति में वर्णन है कि मूलाधार और स्वाधिष्ठान चक्रों के मध्य योनिस्थान को ही कामरूप पीठ कहते हैं।[3] षट्चक्रनिरूपण में निर्दिष्ट है कि गुदा से ऊपर और लिङ्गमूल से नीचे मूलाधार पद्म है। जिसके चार सुवर्णाभा सदृश व से स तक के वर्णरूप पत्र हैं।[4]

---

१. वस्तुतः शरीरस्यैवाधारः सा, तां विना शरीरस्य स्थितिरेव दुर्लभा किन्तु बालानां बोधाय घटे मृत्तिकेतिवत् मूलस्याधार इति व्युत्पत्ति प्रदर्श्यते तत्राध्यात्मिकप्राणवायुसहिता चित् शक्ति शरीरकारणत्वात् ब्रह्म-चक्रम्, त्रिधावर्तम्, त्रिवलयान्वितम् क्वचित् सार्धत्रिवलयान्वितम् इत्युपलभ्यते न तेन विरोधश्चतुष्ट्वसंख्यापूर्तिपर्यन्तं त्रिपदेनैव कथ्यते यथाऽमर कोश आदशतः संख्या संख्येय इत्यत्र दशपदेनाऽष्टादश पर्यन्तं गृह्यते (भगमण्डलाकारम्) अधोमुख त्रिकोण यन्त्रम् तत्रेत्यौपश्लेषिका सप्तमी तथा च तत्समीपे किंचिदूर्ध्वदेशे मूलकन्दः पक्ष्यण्डसरूपं एतस्मादेव सर्वानाड्यः प्ररोहन्ते"

—सि० सि० प० पर श्रीद्रव्येश झा कृत संस्कृत टीका

* अग्नि—मानव देह में तप्त सुवर्णाभा सदृश तीन, चार पैर वाले पशुओं में चार, पक्षियों में गोल, सर्प जाति में छः और स्वेदजों में आठ कोण वाला अग्नि विद्यमान रहता है।

—त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्, ५६-५७

२. सि० सि० सं०, २।२-३

३. आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम्।
योनिस्थानं द्वयोर्मध्ये कामरूपं निगद्यते ॥ गोरक्षपद्धति, १।१७

४. अथाधारपद्मं सुषुम्णास्यलग्नं ध्वजाधो गुदोर्ध्वं चतुःशोणपत्रम्।
अधोवक्त्रमुद्यत् सुवर्णाभवर्णैर्वकारादिसान्तैर्युक्तं वेदवर्णैः ॥

षट्चक्रनिरूपणम्, पृ०-७

शिवपुराण[१] और चक्रकौमुदी[२] में भी इसी तथ्य की पुष्टि की गई है। त्रिकोण की चर्चा करते हुए चक्रकौमुदीकार कहते हैं कि इस चक्र की चतुर्दल कर्णिका में अतिसुन्दर ऊर्ध्वकोण त्रिकोण है; उसके ऊर्ध्व कोण में सुषुम्ना, वाम में इडा और दक्षिण में पिङ्गला की स्थिति है।[३] यह मत षट्चक्रनिरूपण से सम्भवतः गृहीत है।[४] योगराजोपनिषद् में वर्णित है कि प्रथम चक्र भगाकृति युक्त तीन बार आवृत ब्रह्मचक्र है। अपान स्थल में मूलकन्द, जिसे कामरूप कहते हैं, उसी को वह्निकुण्ड तथा कुण्डलिनी कहा जाता है। मुक्ति हेतु उस ज्योति स्वरूप जीव का ध्यान परमावश्यक है।[५]

योगशिखोपनिषत् में भी कुण्डलिनी का स्थान मूलाधार त्रिकोण ही निर्दिष्ट है।[६] हठयोगप्रदीपिका में कहा गया है कि पृथ्वी के आधार सर्पों के अधिपति शेषनाग की भाँति सम्पूर्ण योग-तन्त्रों की आधार यह कुण्डलिनी जब गुरु के प्रसाद से जागृत हो उठती है, तब सभी पद्म और सभी ग्रन्थियाँ

---

१. शिवपुराण-७।२।३८।६९

२. चक्रकौमुदी-१।६

३. कर्णिकायामूर्ध्वकोणं त्रिकोणमतिसुन्दरम्।
ऊर्ध्वकोणे सुषुम्णाख्या वामदक्षिणयोः क्रमात्॥
इडाख्यापिङ्गलाख्या हि वीणातन्तुवदास्थिता।
इडा तु चन्द्रनाडी स्यात् पिङ्गला सूर्यनाडिका॥ वही, १।११-१२

४. षट्चक्रनिरूपण-६।६

५. नवस्वेव हि चक्रेषु लयं कृत्वा महात्मभिः।
प्रथमं ब्रह्मचक्रं स्यात् त्रिरावृत्तभगाकृति॥
अपाने मूलकन्दाख्यं कामरूपं च तज्जगुः।
तदेव वह्निकुण्डं स्यात् तत्त्वकुण्डलिनी तथा॥
तां जीवरूपणीं ध्यायेज्ज्योतिष्ठं मुक्तिहेतवे॥
—योगराजोपनिषद्, ५-७

६. गुदमेढ्रान्तरालस्थं मूलाधारं त्रिकोणकम्।
शिवस्य जीवरूपस्य स्थानं तद्धि प्रचक्षते।
यत्र कुण्डिलनी नाम पराशक्तिः प्रतिष्ठिता॥
—योगशिखोपनिषद्, १।१६८-१६९

स्वयमेव ही खुल जाती हैं।[1] प्रसुप्त सर्पाकृति सदृश यह शक्ति नित्य है और इसी को प्रकृति कहते हैं। यह प्रकृति जब सत्त्व, रजस् और तमस् की साम्यावस्था से युक्त होती है तब चित्कला से सम्बोधित होती है। और जब इसके अर्द्धांश में ब्रह्म संश्लिष्ट होते हैं तब यह ईश्वरी कहलाती है। सत्त्व, रजस् और तमस् इसके तीन वलय और अर्धवलय ब्रह्मांश कहलाता है। इसी को शब्दब्रह्म कहते हैं एवं यही समस्त वर्णों के रूप में उपस्थापित होकर गद्य-पद्य भेद से समस्त भूमि मण्डल में परिव्याप्त है।[2]

शिव-संहिता में इस चक्र के निरूपण के प्रसङ्ग में वर्णित है कि गुदा से दो अङ्गुल ऊर्ध्व और मेढ्र से एक अंगुल अधः, चार अङ्गुल प्रमाण के कन्द में कुण्डलिनी का वास है। यह कुण्डलिनी सभी नाड़ियों को आवृत्त कर साढ़े तीन वलय लगाकर मुख में पूँछ को धारण कर सुषुम्ना विवर में ठहरती है। यह शक्ति सर्पाकृति, निज प्रकाश से प्रकाशित, वाग्देवी बीज संज्ञक है। भगवान् विष्णु की यह शक्ति तपाये हुए सुवर्णाभा युक्त त्रिविध* गुणों की उत्पादिका है। इसी स्थान पर बन्धूक पुष्प सदृश रक्तवर्ण की आभा लिये हुये कामबीज स्थित है। इसी कामबीज के साथ सुषुम्ना की विद्यमानता है। बीजसंज्ञक त्रिपुर भैरवी (कुण्डलिनी, कामबीज और सुषुम्ना का एकीकरण) क्रिया एवं ज्ञानशक्ति से समन्वित होकर सम्पूर्ण शरीर में विचरती है। यही बीज प्रज्वलित वह्नि सदृश आभामय होकर बिन्दुरूप से योनिस्थान में स्वयंभूलिंग की संज्ञा पाता है। यही आधार पद्म है और जिसके मध्य की योनि में कुण्डलिनी है। जिसके ऊपर अत्यन्त तेजस्वी कामबीज भ्रमण करता है। इस चक्र के ध्यान से साधक को दादुरी वृत्ति,

---

१. सशैलवनधात्रीणां यथाधारोऽहिनायकः।
सर्वेषां योगतन्त्राणां तथाधारो हि कुण्डली ॥
सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च ॥
—हठयोगप्रदीपिका-३।१-२।

२. चक्रकौमुदी, १।२२-२७

* तीन लोक, तीन वेद, तीन संख्या, तीन स्वर, तीन अग्नि और तीन गुण
त्रयो लोकास्त्रयो वेदास्तिस्रः संध्यास्त्रयः स्वराः ॥
त्रयोऽग्नयश्च त्रिगुणाः स्थिताः सर्वे त्रयाक्षरे।
त्रयाणामक्षराणां च योऽधीतेऽप्यर्धमक्षरम् ॥
—योगतत्त्वोपनिषद्, १३४-१३५

आकाशमार्गी की सामर्थ्य, शरीर में कान्ति और जठराग्नि प्रदीप्त होती है।[1] स्वामी विवेकानन्द जी के मतानुसार "प्राणायाम से पहले त्रिकोणमण्डल को ध्यान में देखने का प्रयत्न करना चाहिए। आँखें बन्द करके इसके चित्र को मन-ही मन स्पष्ट रूप से कल्पना कर सोचना चाहिए कि इसके चारों ओर अग्निशिखा है और उसके बीच में कुण्डलिनी सोई पड़ी है। ध्यान में इस कुण्डलिनी शक्ति को मूलाधार चक्र में जब स्पष्ट भाव से देख सकोगे, तब उसको जगाने के लिए कुम्भक करके उस वायु के बल से उसके मस्तक पर आघात करो। जिनकी कल्पनाशक्ति जितनी अधिक है, वो फल भी उतनी शीघ्रता से पाते हैं और उनकी कुण्डलिनी भी उतनी ही शीघ्र जागृत होती है।"[2]

कुण्डलिनी के उत्थापन से समस्त जागतिक साधनाएँ उसी प्रकार से दग्ध प्रायः हो जाती हैं जिस प्रकार काष्ठस्थ अग्नि काष्ठ को स्वयमेव दग्ध कर डालती है। डा० गोपीनाथ कविराज जी के शब्दों में "अरणि-मंथन करने से जिस प्रकार अग्नि प्रज्वलित की जाती है अर्थात् अरणिस्थ सुप्त अग्नि जिस प्रकार संघर्षण से उद्दीप्त होती है, उसी प्रकार साधन प्रणाली द्वारा प्रसुप्त कुण्डलिनी को जगाना पड़ता है। अग्नि जिस प्रकार प्रकट होते ही ईंधन (काष्ठादि) को दग्ध करती है, उसी प्रकार कुण्डलिनी के चैतन्य होने पर साधना विलुप्त हो जाती है। बाह्य साधना मात्र......अर्थात् विचार, भक्ति या हठ किंवा मन्त्रयोगादि......यह सम्पूर्ण उपासना पुरुषाकारसापेक्ष अथवा कर्तृत्वाभिमान जन्य है। यह कर्तृत्व-बोधक्रम से कुण्डलिनी-चैतन्य के समान लुप्त हो जाती है और कर्त्तृत्व-बोध के लुप्त होने से कुण्डलिनी अधिक जाग्रत होती है। जिस समय एक बार कुण्डलिनी चेतन होने लगती है, उस समय स्वभाव के नियम से ही सब कार्य स्वयं ही होते जाते हैं। जिस प्रकार अनुकूल स्रोत में नौका छोड़ देने पर उसको समुद्र में पहुंचाने के अन्य प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार कुण्डलिनी को जगाने से और उसके प्रवाह में प्राण व मन को डाल देने से जीव को ब्रह्मावस्था प्राप्त करने के लिये पृथक् उपाय करने की आवश्यकता नहीं रहती। सङ्कोच शक्ति अथवा ऊर्ध्वबिन्दु-स्थित आकर्षण-शक्ति के प्रभाव में अन्तर्मुखगति क्रमशः वृद्धिगत होती है और अन्त में साम्यावस्था में स्थिर हो जाती है।"[3]

---

१. शिव-संहिता, ५।७४-८७

२. सरल राजयोग—स्वामी विवेकानन्द, पृ०, २१

३ भारतीय संस्कृति और साधना—डा० गोपीनाथ कविराज

द्वितीय चतुर्दल युक्त (अन्य ग्रन्थों में इसे षड्दल युक्त कहते हैं)[१] स्वाधिष्ठान चक्र है, वहाँ प्रवाल (मूँगा) की आभा वाले पराङ्मुख शिवलिङ्ग का ध्यान करना चाहिए। वहीं उड्डीयान पीठ है। इस शिव-लिङ्ग के ध्यान से जगदाकर्षण की सामर्थ्य साधक को सिद्ध होती है।[२] गोरक्षपद्धति में वर्णन है कि रक्तवर्णी इस षट्दलकमलकर्णिका में निर्गुण अथवा सगुण ज्योति:स्वरूप आत्मा को नासाग्रदृष्टि करके ध्यान से योगी को आनन्दावस्था की प्राप्ति होती है।[3]

यहाँ स्वशब्द प्राण (हंस) का बोधक है, इसका आश्रय स्वाधिष्ठान (लिङ्गमूल) है। प्राण का अधिष्ठान होने से उसे ही मेढ्र कहा जाता है।[४] योगराजोपनिषद् में उक्त है कि द्वितीय स्वाधिष्ठान चक्र है, जो मध्य में स्थित है। वहाँ पश्चिमाभिमुख एक लिङ्ग प्रवालाङ्कुर सदृश है। उड्डीयाण पीठों में उसका ध्यान कर समस्त जगत् का आकर्षण करना चाहिए।[५] षट्चक्र-निरूपण में इसकी शक्ति राकिनी निर्दिष्ट है।[६]

शिवसंहिता में द्वितीय चक्र हेतु निर्दिष्ट है कि द्वितीय कमल लिङ्गमूल में छः दलों वाला रक्तवर्णी है। इसके स्थान में बाण संज्ञक सिद्ध और राकिणी नाम अधिष्ठातृ देवी प्रतिष्ठित है। इसका देवता ब्रह्मा है। इस पद्म पर ध्यान से साधक के प्रति अङ्गनाएँ आकर्षित होती हैं तथा वह अश्रुत शास्त्रों पर भी व्याख्यान कर सकता है। उसे आरोग्य सिद्धि और भय से मुक्ति प्राप्त होती है। वह किसी के द्वारा मारा नहीं जा सकता। उसे अणिमादि ऐश्वर्यों के साथ-साथ शरीर में वायु-संचार और उसके शरीर में रस की अभिवृद्धि होती है।[७]

---

१. (क) गोरक्षपद्धति—१।१५, २।६५
(ख) योगचूडामण्युपनिषद्, ४
(ग) लिङ्गमूले स्मरेत्पद्मं सिन्दूराभन्तु षड्दलम्।
बादिलान्तयुतन्तस्मिन् मण्डलं ध्येयमम्भसः॥
—चक्रकौमुदी, २।२

२. सि० सि० सं०, २।४-५

३. गोरक्ष पद्धति, २।६५

४. स्वशब्देन भवेत्प्राणः स्वाधिष्ठानं तदाश्रयः।
स्वाधिष्ठानाश्रयादस्मान्मेढ्रमेवाभिधीयते॥ वही, १।२२

५. योगराजोपनिषद्, ७-८

६. षट्चक्रनिरूपणम्, ६।१८

७. शिवसंहिता, ५।९८-१०३

भूतशुद्धितन्त्रम् में स्वाधिष्ठान चक्र का निरूपण अत्यन्त युक्तियुक्त किया गया है।[1]

तृतीय नाभिचक्र है जिसको अन्य ग्रन्थों में मणिपूरक चक्र से अभिहित किया गया है। उस पंचावृत्त प्रातःकालीन सूर्य की प्रभा सदृश कुटिल आकार[2] वाली कुण्डलिनी का ध्यान करना चाहिए।[3] योगराजोपनिषद् में इस चक्र के सन्दर्भ में कहा गया है कि तृतीय चक्र नाभि में है जिसमें संसार की विद्यमानता द्योतित है। वहाँ पंचावृत* विद्युत् सदृश मध्यशक्ति का चिन्तन करने से साधक को सर्व सिद्धियों की उपलब्धि होती है।[4] शिव-संहिता में इसकी स्थिति पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि नाभि-मण्डल स्थित इस चक्र की आभा स्वर्ण सदृश है। दश दल वाले इस कमल की पंखुड़ियों में 'ड' से 'फ' तक के वर्णाक्षर विद्यमान हैं। इस पद्म के ध्यान से पाताल सिद्धि, इच्छाओं की पूर्ति, रोगों का नाश, काल-वञ्चन, परकाया प्रवेश योग्यतादि और निधियों के दर्शन का गुण प्राप्त होता है।[5] शिव-संहिता में वर्णित इस नाभि

---

१ तदूर्ध्वं ध्वजमूले तु पङ्कजं षड्दलं परम्।
स्वाधिष्ठानाख्यमाश्चर्यं सूक्ष्मं सर्वगुणान्वितम्॥
बभमैर्यवलैर्युक्तमारक्तं राकिणीस्थितम्॥
श्यामां शूलाग्रहस्तां डमरूकरयुतां तीक्ष्णटङ्कं वहन्तीम्।
उग्रां रक्तां त्रिनेत्रां शुचिकुटिललसच्चोग्रदंष्ट्रां प्रभाति।
दीप्तां तां देवदेवीं त्रितयकमलगां रक्तधारैकनाथां
शुक्लान्ने सक्तचित्तामभिमतफलदां राकिनीं चिन्तयेत् ताम्॥
रं बीजं कर्णिकायां तु तदन्ते विष्णु लिङ्गकम्॥
—भूतशुद्धितन्त्रम्—१।२०-२२

२. तेन कुण्डलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते।
दण्डाहतभुजङ्गीव निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत्॥
—योगकुण्डल्युपनिषत्—१।४५

३. सि० सि० सं०-२।६

* मूलाधार में तीन वलयों में और मणिपूरक-चक्र में यह पंचावृत्त होती है।

४. योगराजोपनिषद्, ६-१०

५. शिव-संहिता, ५।१०४-१०८

पद्म के ध्यान से रोगों का नाश होता है।[1] इस तथ्य की पुष्टि जाबाल-दर्शनोपनिषद् से हम यहाँ कर सकते हैं, जहाँ कहा गया है कि इडा-पिङ्गला से वायु का रेचन कर उसका नाभि में अवरोध करने से सभी रोगों का नाश होता है।[2]

चतुर्थ अष्टदल युक्त हृदय चक्र है जिसकी कर्णिका में परमोज्ज्वला शिवलिङ्ग रूपी कान्ति का ध्यान करना चाहिए। सर्व इन्द्रियों को वश में करने वाली यह ज्योति हंसकला संज्ञक है। इसके विधिवत् ज्ञान से योगी सर्वलोक को वशीभूत कर सकता है।[3] शिवयोगदीपिका में भी लिङ्गाकार ज्योति के ही ध्यान का निर्देश दिया गया है।[4] योगराजोपनिषद् में कहा गया है कि चतुर्थ, अधोमुखी चक्र को हृदय में जानना चाहिए और वहाँ प्रकाश स्वरूप हंस (परम ब्रह्म) का प्रयत्नपूर्वक ध्यान करना चाहिए। इससे सर्व जगत् साधक के वशीभूत हो जाता है, इसमें संशय नहीं है।[5]

अष्टदल कमल के लिए पद्मपुराण में कहा गया है कि हृदय के सूक्ष्माकाशस्थ अष्टदलकमल के मध्य में श्रीराधा कृष्ण की युगलमूर्ति विराजमान है। उनके "सम्मुख के दल पर ललिता, वायुकोण पर श्यामला, उत्तर में धन्या, ईशनकोण में हरिप्रिया, पूर्व में विशाखा, अग्निकोण में शैव्या, दक्षिण में पद्मा, नैऋत्य में चन्द्रावली क्रमशः विराजती हैं। ये अष्ट सखियाँ कृष्ण की पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार आदि आठ प्रकृति की प्रतीक हैं। हरिप्रिया, रङ्गदेवी अहङ्कार की प्रतीक हैं, यही श्री निम्बार्क है।"[6]

---

१. वही.

२. 'नाभौ निरोधयेत्तेन व्याधिभिर्मुच्यते नरः' ॥
—जबालदर्शनोपनिषद्-२८

३. सि० सि० सं०, २।७-८

४. अधोमुखाष्टपत्राब्जयुतं हृच्चक्रमिष्टदम्।
तन्मध्ये कर्णिकां ज्योतिर्लिङ्गाकारमिमं स्मरेत्।
—शिवयोगदीपिका, ३।११

५. योगराजोपनिषद्-१०-११

६. संमुखे ललितादेवी श्यामला वायुकोणके।
उत्तरे श्रीमती धन्या ऐशान्यां श्रीर्हरिप्रिया ॥
विशाखा च तथा पूर्वे शैव्या चाग्नौ ततः परं।
पद्मा च दक्षिणे पश्चान्नैर्ऋते क्रमशः स्थिता ॥

योगदर्शन में यही अष्ट प्रमुख आठ नाड़ियाँ हैं।[१]

पंचम चक्र चार अंगुल परिमाण वाला कण्ठ में स्थित है। जिसके वाम भाग में चन्द्र और दक्षिण भाग में सूर्य नाड़ी स्थित है। इन दोनों नाड़ियों के मध्य में सुषुम्ना नाड़ी का ध्यान करना चाहिए। योगियों के मन्तव्यानुसार अनाहत सिद्धि प्रदायक वही अनाहत कला के नाम से प्रसिद्ध है।[२] इसी प्रकार का वर्णन शिवयोगदीपिका में भी प्राप्त होता है।[३] योगराजोपनिषद् में कहा गया है कि पञ्चम कण्ठचक्र के वाम और दक्षिण भाग में इडा और पिङ्गला नाड़ियाँ स्थित हैं तथा उनके मध्य सुषुम्ना नाड़ी की विद्यमानता है। वहाँ सर्वसिद्धिप्रदायक परम ज्योति का ध्यान करना चाहिए।[४] श्रीनिम्बार्क वेदान्त पारिजातसौरभ ब्रह्मसूत्र के अधिकरण आठ में कहा गया है कि "एक सौ एक हृदयसम्बद्ध नाड़ियों में मूर्द्धा तक जाने वाली एक विशेष नाड़ी है, उसी से निष्क्रमण कर उपासक अमृतत्त्व को प्राप्त करता है।[५] इस प्रकार श्रुति में कही गई सुषुम्ना नाड़ी विशेष है। उसी नाड़ी को उपासना के सामर्थ्य से और उसके प्रभाव से गमनकाल का ज्ञान हो जाने से प्रसन्न भक्त जब परमात्मा से अपने को अनुगृहीत मानता है, तब उसका तेज हृदय के अग्रभाग में प्रज्वलित हो जाता है, तब परमेश्वर से प्रकाशित सुषुम्ना रूप उस मार्ग को जानकर उसी मार्ग से निष्क्रमण करता है। उपासक मूर्द्धा से जाने वाली सुषुम्ना नाड़ी से निकलकर सूर्य की किरणों के सहारे ऊपर जाता है। जैसा

योगपीठे केदाराग्रे चारु चंद्रावली प्रिया।
अष्टौ प्रकृतया पुण्याः प्रधानाः कृष्णवल्लभाः॥
—पद्मपुराण—५।७०।५-७

श्री निम्बार्क वेदान्त, पृ० ७६ से

१. वही, ७७

२. सि० सि० सं०, २।६-१०

३. पञ्चमं कण्ठचक्रं च तत्राङ्गुलिचतुष्टये।
इड़ापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्नां सुस्थितां स्मरेत्॥
—शिवयोगदीपिका—३।१२

४. योगराजोपनिषद्—१२-१३

५. कठोपनिषद्—२।३।१६

कि "उस सूर्य की रश्मि द्वारा;' इस प्रसङ्ग से ज्ञात होता है।"[1]

षष्ठ तालु चक्र है और वहाँ पर स्थित चन्द्रमँण्डल से अमृत स्राव स्रवित होता रहता है। इस अमृत स्राव का प्रवाह शरीर की समस्त नाड़ियों में विद्यमान रहता है। इस चक्र के समीप लिङ्गाकार घण्टिका से लेकर राजदन्त पर्यन्त विवर—जिसको दशम द्वार या शंखिनी विवर भी कहते हैं, पर शून्य के ध्यान से मन का लय करना चाहिए।[2] नाभिमूल में सूर्य और तालुमूल में चन्द्र नाड़ी का वास है। सहस्रार से अमृत धारा का प्रवाह प्रवाहित होता रहता है। सूर्य नाड़ी द्वारा उस अमृत को ग्रसने से मृत्यु और चन्द्र नाड़ी द्वारा ग्रहण करने पर अमरत्व की प्राप्ति होती है।[3] जहाँ से अमृत का स्राव स्रवित होता है, वहाँ पर ध्यान से चित्त का लय हो जाता है। शिवयोग-दीपिका में भी इसी प्रकार का निरूपण प्राप्त होता है।[4] योगराजोपनिषद् में भी इसका वर्णन करते हुए कहा गया है कि छठा तालुचक्र जिसको घण्टिका स्थान कहा जाता है और जो दशम द्वार का मार्ग है उसे राजदन्त कहते हैं। वहीं शून्य में मन का लय करने से मुक्ति प्राप्त होती है।[5]

सप्तम और अष्टम चक्रों का उल्लेख प्रस्तुत पुस्तक में उपलब्ध नहीं होता। कराल काल अथवा अन्य किसी हेतु पर दोषारोपण करने की जगह; इन दोनों चक्रों का उल्लेख अन्य ग्रन्थों की सहायता से यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

सप्तम चक्र दो दलों से युक्त भ्रूचक्र है। इसी भ्रूमध्य चक्र में दीपशिखा के आकार सदृश अंगुष्ठ परिमाण का ज्ञान नेत्र है, वहीं पर साधक द्वारा

---

१. (क) सू०—तदेकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारोविद्यासामर्थ्यात्तच्छेष-गत्यनुस्मृतियोगाच्चहार्दानुग्रहीतशताधिकया।
(ख) रश्म्यनुसारी। ब्रह्मसूत्र, ४।२।१६-१७
(ग) श्री निम्बार्क वेदान्त, उत्तरार्ध पृ० १६८

२. सि० सि० सं०—२।११

३. नाभिमूलेवसेत्सूर्यस्तालुमूले च चन्द्रमाः।
अमृतं ग्रसते मृत्युस्ततो मृत्युवशो नरः॥ घेरण्डसंहिता—३।३३

४. शिवयोगदीपिका, ३।१३

५. योगराजोपनिषद्, १३-१४

ध्यान लगाने से वाक् सिद्धि प्राप्त होती है।[1] योगराजोपनिषद् के अनुसार सप्तम चक्र भ्रूचक्र है, जिसे बिन्दु स्थान कहा जाता है। यहाँ वर्त्तुलाकार ज्योतिपुञ्ज के ध्यान से साधक मुक्त हो जाता है।[2] शिवसंहिता में दो दलों वाले भ्रूमध्य स्थित चक्र को आज्ञाचक्र माना है। इस पर तीन पीठ विराजित हैं जिन्हें नाद, बिन्दु और शक्ति कहते हैं। इसके ध्यान से साधक मोक्षाधिकारी होता है।[3]

अष्टम चक्र ब्रह्मरन्ध्र में सूचिका के अग्रभाग सदृश धूमशिखा के आकार वाला निर्वाण चक्र कहलाता है। जिसके ध्यान से मुक्ति प्राप्त होती है, वहीं पर जालन्धर पीठ है।[4] योगराजोपनिषद् के अनुसार अष्टम चक्र ब्रह्मरन्ध्र परं मोक्ष का संज्ञक है। उस धूम्रवर्ण सूचिका का ध्यान कर योगी मोक्ष पाता है। उसे जालन्धर समझना चाहिए जो नीलवर्णी एवं मोक्ष-प्रदायक है।[5]

---

१. (क) सप्तमं भ्रूचक्रं मध्यममंगुष्ठमात्रं ज्ञाननेत्रम्।
दीपशिखाकारं ध्यायेद् वाचां सिद्धिर्भवति॥
—सि० सि० प०, २।७

(ख) भ्रूचक्रं सप्तमं त्वेकं नालं कन्दं सुवाक्प्रदम्।
ध्यायेद्दीपशिखाकारं तन्मध्ये ज्ञानलाञ्छनम्॥
—शिवयोगदीपिका, ३।१४

२. भ्रूचक्रं सप्तमं विद्याद् बिन्दुस्थानं च तद्विदुः।
भ्रुवोर्मध्ये वर्तुलं च ध्यात्वा ज्योतिः प्रमुच्यते॥
—योगराजोपनिषद्, १५

३. शिव-संहिता, ५।१२२-१४८

४. (क) अष्टमं ब्रह्मरन्ध्रं निर्वाणचक्रं सूचिकाग्रभेद्यं, धूमशिखाकारं ध्यायेत् तत्र जालन्धरपीठं मोक्षप्रदं भवति॥
—सि० सि० प०, २।८

(ख) ब्रह्मरन्ध्रेऽष्टमं चक्रं निर्वाणाख्यं सुसूक्ष्मकम्।
तत्र जालन्धरं धूमशिखाभं मोक्षदं स्मरेत्॥
—शिवयोगदीपिका, ३।१५

५. अष्टमं ब्रह्मरन्ध्रं स्यात् परं निर्वाणसूचकम्।
तं ध्यात्वा सूचिकाग्राम धूमाकारं विमुच्यते॥
तच्च जालन्धरं ज्ञेयं मोक्षदं नीलचेतसाम्॥
—योगराजोपनिषद्, १६-१७

नवम चक्र सहस्रदलयुक्त ब्रह्मचक्र है। वहाँ गोक्षीराभा वाले हंस के ध्यान से योगी का परमपुरुष से एकाकार होता है।[1] सिद्धसिद्धान्त पद्धति के अनुसार नवम चक्र आकाश-चक्र है। वह सहस्रदल कमल के ऊपर मध्य भाग में सोलहदल सहित और ऊर्ध्वमुखी है। इसकी मध्य कर्णिका में त्रिकोणाकार ऊर्ध्वमुखी पराशक्ति का ध्यान करने से साधक की समस्त कामकाएँ पूर्ण होती हैं। इसी का नाम पूर्णगिरि है।[2] शिवयोगदीपिका में भी इसी प्रकार का उल्लेख प्राप्त होता है।[3] योगराजोपनिषद् के अनुसार नवम व्योमचक्र सोलह दल वाले के मध्य पराशक्ति स्थित है। उस पूर्णगिरि में पूर्णशक्ति के ध्यान से योगी मुक्त हो जाता है। इस प्रकार इन नौ चक्रों में से क्रमशः एक-एक चक्र के ध्यान से योगी को प्रतिदिन मुक्ति से युक्त सभी सिद्धियों की उपलब्धि होती है। जो योगी ज्ञान चक्षु से कदम्बगुच्छ के सदृश गोलाकार मध्यस्थित दण्ड को देखता है वह ब्रह्मलोक का अधिकारी है। ऊर्ध्व शक्ति के निपात तथा अधः शक्ति के संकोचन और मध्य शक्ति को जागृत करने पर परम सुख की उपलब्धि होती है।[4] शिव-संहिता में वर्णन है कि शिर में स्थित कपाल विवर में सोलह कलाओं से युक्त एवं अमृत कलाओं से सम्पन्न हंसाख्या संज्ञक निरञ्जन के ध्यान से उसका साक्षात्कार होता है।[5] सिद्धसिद्धान्तसंग्रह में प्रयुक्त हंस शब्दार्थ ज्ञान हेतु उपनिषदों का विश्लेषण अत्यावश्यक हो जाता है। ब्रह्मविद्योपनिषद् के अनुसार हंस रूपी विद्यामृत सदृश इस मर्त्यभूमि में नित्यत्व का अन्य कोई साधन नहीं है। जो इस हंस संज्ञक परमेश्वरी विद्या को प्रदान करता है, उसकी सेवा सदैव करनी चाहिए।[6] हंसोपनिषद् के अनुसार सर्वप्रथम गुदा का आकुञ्चन कर आधार

---

१. सि० सि० सं०, २।१२

२. नवममाकाशचक्रं षोडशदलकमलमूर्ध्वमुखं तन्मध्ये कर्णिकायां त्रिकूटाकारं तदूर्ध्वशक्तिं तां परमशून्यां ध्यायेत् तत्रैव पूर्णगिरिपीठं सर्वेच्छा सिद्धिर्भवति इति। —सि० सि० प०, २।९

३. आकाशचक्रं नवमं प्रशस्तं त्रिकूटकं पूर्णगिरीशपीठम्।
तत्रोर्ध्वशक्तिं शुभदां सुशून्यां ध्यायेद्द्वयाष्टारसरोजमध्ये॥
—शिवयोगदीपिका, ३।१६

४. योगराजोपनिषद्, १७-२१

५. शिव-संहिता, ५।१७५-१८५

६. ब्रह्मविद्योपनिषद्, २६-२७

चक्र की वायु का बहिर्गमन कर स्वाधिष्ठान चक्र की तीन प्रदक्षिणा कर मणिपूरक चक्र में जाकर अनाहत चक्र का अतिक्रमण कर विशुद्ध चक्र में प्राण का अवरोध कर आज्ञाचक्र का ध्यान कर, ब्रह्मरन्ध्र में ध्यान लगाना चाहिए। इस प्रकार त्रिमात्रा आत्मा मैं हूँ, ऐसा ध्यान होने पर आधार से लेकर ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त नाद होता है। वही स्वच्छ स्फटिक तुल्य परमात्मा है।......एतदुपरान्त अष्टदल हृदयपद्म में हंसात्मा का ध्यान करना चाहिए। अग्नि और सोम हंस के पंख, ओंकार मस्तक, बिन्दु नेत्र, रुद्र मुख, रुद्राणी चरण, काल बाहु और दोनों बगलें अग्नि स्वरूप हैं। पश्यन्ती तथा अनाकार (सगुण और निर्गुणब्रह्म) दोनों पार्श्व रूप हैं। ऐसा जो परमहंस है, वह करोड़ों सूर्य सदृश प्रकाशवान और सभी उससे व्याप्त हैं।[1] पाशुपतब्राह्मणोपनिषद् में उक्त है कि छियानवे तन्तुओं के रूप में व्यक्त, चित् के तीन सूत्रों से चिन्मय, नौ तत्त्वों से तिगुणा, ब्रह्मा, विष्णु और महेश रूप तीन अग्नियों से युक्त, चिद्ग्रन्थि से बँधा, अद्वैतग्रन्थियुक्त, यज्ञ के साधारण अंगरूप में बाह्य और आन्तरिक का प्रकाशक यज्ञोपवीत हंस ही है।[2]

मुख्य उपनिषद् श्वेताश्वतरोपनिषद् के अनुसार सम्पूर्ण स्थावर जंगम जगत् को वशीभूत करने वाला हंस रूपी परमात्मा ही इस नव इन्द्रियों से युक्त इस देह के अन्दर और बाह्य जगत् में लीला करता है।[3]

नादबिन्दूपनिषद् के अनुसार 'प्रणव' को यदि हंस माना जाए तो 'अकार' उसका दाहिना पंख, 'उकार' उनका बायाँ पँख, 'मकार' पूंछ और अर्द्धमात्रा सिर है। सतोगुण शरीर, रजस् और तमस् दोनों पैर, नाभि में महर्लोक, कटि में स्वर्लोक, जानुओं में भुवर्लोक और पैरों में भूलोक है। इसी प्रकार जन, तप और सत्य लोक क्रमशः उसके हृदय, कण्ठ और ललाट में स्थित हैं। अतः प्रणव रूपी हंस पर चढ़कर उसके ध्यान से साधक मोक्ष पाता है।[४] उपनिषदों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में भी इस शब्द का निरूपण प्राप्त होता है। चक्रकौमुदी के अनुसार 'हंस' में हम् पुरुष और सः प्रकृति का वाचक है। अतः हंस शब्द में पुरुष और प्रकृति दोनों का एक साथ बोध

---

१. हंसोपनिषद्, ५-२१
२. पाशुपतब्राह्मणोपनिषद्, १४-१५
३. नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च॥
—श्वेताश्वतरोपनिषद्, ३।१८
४. नादबिन्दूपनिषद्, १-५

होता है।[1] जीवन लक्ष्य और साधना में काशी खण्ड के एक पद्य[2] को उद्धृत करते हुए कहा गया है कि "केवल प्राण अर्थात् हंस शब्द से जीव का सम्बन्ध होना चाहिए। यह हंस प्रवाह मणिपूरचक्र से मायाचक्र तक है। इसमें सत्त्व-गुणात्मक चैतन्य ईश्वर का वास है और जीव मणिपूरचक्र के नीचे अपानवायु के साथ सोऽहं प्रवाह में प्राप्त होता है और इन दोनों प्रवाहों की एक दूसरे के परस्पर आकर्षण से विषमगति होती है।[3]"

चक्रों का विस्तृत निरूपण करते हुए जीवन लक्ष्य और साधना में कहा गया है कि "मनुष्य के पृष्ठ भाग के बीचोबीच जो लम्बी हड्डी है उसको मेरुदण्ड कहते हैं। वह खोखला है। उसके भीतर एक सुषुम्ना नाड़ी है वह भी खोखली है, उसके भीतर कमल के फूल हैं, उन फूलों की कर्णिका भेदकर वज्रा नाड़ी का प्रवाह है, उस वज्रा नाड़ी के भीतर जो शून्य है उसमें त्रिकोण है। उन त्रिकोणों को भेदकर चित्रा नाड़ी प्रवाहित होती है इसी को वेद में त्रिवृत कहा है "त्रिवृतोऽसि" उस चित्रा नाड़ी के सबसे नीचे आधार चक्र है, उसके ऊपर मूलाधार; स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहद, विशुद्धाख्या, माया, आज्ञा, ललना और सहस्रार यह सब दश चक्र हैं। उन्हीं चक्रों को भेदकर ब्रह्मनाड़ी अर्थात् चैतन्य का प्रवाह है। इनमें मूलाधारादि पाँच चक्रों को अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोष के नाम से शास्त्र में व्यवहार करते हैं। इनमें क्रम से गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द यह पंचतन्मात्राएँ हैं तथा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश यह पंचीकृत पंचमहाभूत हैं। यह मूलाधारादि पंचचक्र ही शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध के लीला क्षेत्र हैं।

जीव तत्काल में इस पञ्चचक्र के लीलाक्षेत्र के मनोमय कोष में रहता है और उसका स्थूल शरीर से सम्बन्ध होता है, इसी कारण पाँच वस्तुओं का बोध होता है, स्वप्नावस्था में विज्ञानमय कोष में सूक्ष्म शरीर से सम्बन्ध होने

---

१. हंसौ तौ पुम्प्रकृत्याख्यौ हम्पुमान् प्रकृतिस्तु सः।
अजपा कथिता ताभ्यां जीवो यामुपतिष्ठते॥
—चक्रकौमुदी १/३१

२. षट्त्रिंशदङ्गुलो हंसः प्रयाणं कुरुते बहिः।
सव्यापसव्यमार्गेण प्रयाणात्प्राण उच्यते॥

३. अपानः कर्षति प्राणं प्राणोऽपानं च कर्षति।
सोऽहं हंसः पदे नैव जीवो जपति सर्वदा॥
—(जीवनलक्ष्य और साधना पृ० ५२-५३)

के कारण उस समय उन्हीं पाँच वस्तुओं का बोध होता है। सुषुप्ति अवस्था में आनन्दमय कोष में कारण-शरीर के साथ सम्बन्ध होने के कारण जड़वस्तु का अभाव हो जाता है। इसी से चैतन्य वस्तु का तत्काल बोध होता है किन्तु जीव उसको व्यक्त नहीं कर सकता। क्योंकि चैतन्य वस्तु इन्द्रियातीत है। यह तीनों कोष मणिपूर, अनाहत, विशुद्धाख्या चक्र में हैं। मनोमय कोष में चित् शक्ति मनोरूपा इच्छा शक्ति स्वरूप से संशय करती है, बिज्ञानमय कोष में वही शक्ति बुद्धिरूपा ज्ञानशक्ति स्वरूप से निश्चय करती है और आनन्दमय कोष में वही शक्ति क्रियाशक्ति स्वरूप से अभिमान करती है। इसी को संशयात्मक मन निश्चयात्मक बुद्धि और अभिमाननामकोऽहङ्कार कहा गया है। चित् शक्ति को मिलाकर यही अन्तःकरण चतुष्टय हो जाता है। शक्ति के क्रियाशील होने के कारण जाग्रदवस्था तथा स्वप्नावस्था में यह चक्र बराबर दक्षिणावर्त व वामाबर्त में घूमा करता है। सुषुप्ति अवस्था में तीनों चक्र ठहर जाते हैं तब बोध नहीं होता।"[1]

नवचक्रनिरूपणोपरान्त सोलह आधारों का वर्णन इसलिए किया जा रहा है, क्योंकि आधारों द्वारा ही नव चक्रों का विभाग जानना चाहिए। चक्र आन्तरिक लक्ष्य और आधार बाह्य लक्ष्यान्तर्गत आते हैं। सोलह आधारों का क्रम इस प्रकार से निर्दिष्ट है—

(१) पादांगुष्ठाधार—इसके अग्रभाग पर स्थित तेजोमय अग्नि के ध्यान से दृष्टि निर्मल और स्थिर होती है।

(२) मूलाधार—इसमें स्थित (सीवनी) नाड़ी को पैर की एड़ी से दबाने पर अग्नि प्रदीप्त होता है।

(३) गुदाधार—गुदा के विकास और सङ्कोच से अपान वायु स्थिर होता है।

(४) लिङ्गाधार—लिङ्ग के सङ्कोच द्वारा वीर्य का स्तम्भन एवं ऊर्ध्वगामिता। फलस्वरूप वज्रदेह और कामदेव सदृश रूप की प्राप्ति। वज्रोली नाम संज्ञक।

(५) नाड्याधार—मन का लय और योगियों के मल और मूत्र का शीघ्र बिनाशक।

(६) नाभ्याधार—इसमें एकाग्रचितता से प्रणवोच्चारण द्वारा नाद का लय।

---

१. जीवन लक्ष्य और साधना, पृ० १६-२०

(७) हृदयाधार—इसमें प्राणवायु के निरोध से हृदय कमल का विकास।

(८) कण्ठाधार—कण्ठकूप को चिबुक से दबाकर अर्थात् जालन्धर बन्ध लगाने पर इड़ा और पिङ्गला नाड़ियों में प्राणवायु स्थिर होता है।

(९) घण्टिकाधार—अमरत्व हेतु ब्रह्मरन्ध्र से स्रवित अमृत स्राव का जिह्वा द्वारा पान। यह क्रिया खेचरी मुद्रा की सहायिका है।

(१०) ताल्वन्ताधार—जिह्वा को चालन और दोहन क्रियाओं से दीर्घ कर पुनः मुख में विपरीत रीति से प्रवेश कराना। इससे योगी काष्ठ सदृश निश्चल हो जाता है।

(११) रसाधार – जिह्वामूल में जिह्वा के अग्रभाग को लगाने से परमानन्दोत्पादिका कविता की उत्पत्ति।

(१२) ऊर्ध्वरदाधार—रस ग्रन्थि में जिह्वाग्र को दृढ़तापूर्वक स्थापित करना चाहिए। इससे साधक की व्याधियों का क्षणमात्र में ही नाश हो जाता है।

(१३) नासिकाधार—नासिका के अग्रभाग पर ध्यान लगाने से मन में स्थिरता आती है।

(१४) नासामूलाधार—कपाट संज्ञक इस आधार पर ध्यान लगाने से छः मास में दृष्टि द्वारा ज्योति का दर्शन होता है।

(१५) भ्रूवाधार—ऊर्ध्व नेत्रों द्वारा भ्रूमध्य पर ध्यान लगाने से उज्ज्वल किरणाकार का दर्शन होता है।

(१६) नयनाधार--इसके ध्यान से दिव्य ज्योति का प्रत्यक्ष अवभासित होना।[1*]

इस प्रकार सोलह आधारों का वर्णन कर अन्तर, बाह्य और मध्य भेद से तीन लक्ष्यों (ध्येयों) का वर्णन इस प्रकार से प्रस्तुत किया गया है—

(१) अन्तर्लक्ष्य—मूलकन्द से उत्पन्न और मूलाधार चक्र से होकर सुमेरु दण्ड तक लग्न सित प्रभावान् ब्रह्मनाड़ी का ध्यान करना चाहिये। सुषुम्ना के मध्य कमलतन्तु और उज्ज्वल विद्युत् सदृश मूर्तिस्वरूपा कुण्डलिनी शक्ति का ध्यान करना चाहिए। यह शक्ति सर्वसिद्धिप्रदायिनी है। अथवा ललाट के

---

१. सि० सि० सं०, २।१३-३०

* तुलनीय—शिवयोगदीपिका, ३।१७-३२

ऊपर गुह्याट पर ध्यान लगाना चाहिए। अथवा भ्रमर गुफा में रक्तवर्णी भ्रमर का ध्यान या मुख और कर्णों को भली प्रकार बन्दकर सिर में घुं घुं इस प्रकार के नाद पर मन का लय अथवा नेत्रों के मध्य पुतलियों के सदृश नील ज्योति का ध्यान करना चाहिए।[1]

(२) बहिर्लक्ष्य—बहिर्लक्ष्य के निरूपण के प्रसंग में यह यहाँ स्पष्ट कर देना नितान्त उचित ही होगा कि बहिर्लक्ष्य में दृष्टि को बाहर की ओर शून्य में स्थिर कर पञ्च तत्त्वों की अवधारणा करनी पड़ती है। सिद्धसिद्धान्तसंग्रह में इन तत्त्वों के प्रसंग में जहाँ यह निर्दिष्ट है कि नासिका से एक अंगुल पर आकाश, बारह अंगुल पर पृथ्वी, सोलह अंगुल पर वायु अथवा आकाश के सन्मुख होकर आकाश का लक्ष्य करना अथवा ऊर्ध्व दृष्टि कर जहाँ तक दृष्टि की गति हो उसके आधे भाग पर ज्योतिपुञ्ज को दृष्टिगत करना चाहिए। अथवा शिर को ऊर्ध्व कर बारह अंगुल से प्रारम्भ कर अठारह अङ्गुल पर्यन्त शून्य में ज्योति पुञ्ज का दर्शन करना चाहिए। इस प्रकार बहिर्लक्ष्य अनेक प्रकार का है।[2] शिवयोगदीपिका में बहिर्लक्ष्य को अत्यन्त स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट किया गया है। जहाँ वर्णित है कि नासिकाग्र से चार, छः, आठ, दस, और बारह अङ्गुल पर्यन्त क्रमशः नील, धूम्र, रक्त इत्यादि वर्णी पञ्च तत्त्वों को दृष्टिगत करना चाहिए। अथवा सन्मुख आकाश को जो स्थिरदृष्टि से देखता है, ऐसे योगी को ज्योति पुञ्ज के दर्शन होते हैं। दृष्टि के अग्रभाग में अथवा दृष्टि के कोनों में तप्त सुवर्णाभा सदृश भूमि को जो योगी लक्ष्य कर दृष्टि को स्थिर करता है। अथवा शिर को ऊर्ध्व कर बारह अङ्गुल पर्यन्त पर निराकार ज्योतिपुञ्ज का लक्ष्य करता है, वह योगी मुक्त हो जाता है। जो-जो जिसका लक्ष्य हो, योगी को चाहिए कि वहीं-वहीं दृष्टि को स्थिर करे। आकाश का लक्ष्य करने से चित्त उसी की भाँति निर्मल और व्यापक हो जाता है।[3] इसके अतिरिक्त बहिर्लक्ष्य का स्पष्ट निरूपण सिद्धसिद्धान्त पद्धति[4] एवं अद्वयतारकोपनिषद्[5] में भी दृष्टिगोचर होता है।

---

१. (क) सि० सि० सं०, २।३१-३६
(ख) तुलनीय—शिवयोगदीपिका, ४।३६-४१
२. सि० सि० सं०, २।३७-४३
३. शिवयोगदीपिका, ४।४२-४७
४. सि० सि० प०, २।२८
५. अद्वयतारकोपनिषद्, ६

भगवान् शङ्कराचार्य के अनुसार वृत्ति को ज्ञानमयी करके संसार को ब्रह्ममय देखे। यही ब्रह्माकारवृत्ति अति उत्तम है, नासिका के अग्रभाग को देखने वाली दृष्टि वास्तव में दृष्टि नहीं है। जिस ब्रह्म में द्रष्टा, दर्शन और दृश्य इस त्रिपुटी का लय हो जाता है वही वृत्ति करनी चाहिए। नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि सही नहीं है।[1]

मध्य लक्ष्य– वस्तु अथवा पदार्थ आदि की सीमाओं से अतीत निरवयव श्वेत, पीत, रक्त, हरित अथवा श्यामलवर्णी, प्रदीपाकार, धूमशिखातुल्य स्फुरज्ज्योतीरूप, चन्द्रकिरणाकृति अथवा सूर्याकाररूप यह योगियों के ध्यान का विषय है।[2]

इस प्रकार तीन लक्ष्यों के अनन्तर पञ्चाकाश का निरूपण निर्दिष्ट है क्योंकि आत्मतत्त्व वस्तुतः अति व्यापक मान्य है। और उस स्वरूप की अभिव्यक्ति के निमित्त ध्येय रूप पञ्चाकाश का प्रविधान है। ध्येय रूप के ध्यान से चित्त की तादृशावस्था होती है।[3] इस तादृशावस्था से चित्त आकाश सदृश निराकारत्व को प्राप्त कर व्याप्य-व्यापक भाव से स्वयं भी व्यापकत्व को प्राप्त करता है। इस पञ्चाकाश को इस प्रकार से दृष्टिगत करना चाहिए—कि देह घट के बाह्य और आभ्यन्तर उज्ज्वल शून्याकाश, अत्यन्त अन्धकारमय पराकाश, प्रद्योत रूप महाकाश, आत्मतत्त्व स्वरूप तत्त्वाकाश और कोटि सूर्य सदृश सूर्याकाश का ध्यान करने से जीव आकाश सदृश निर्मल अन्तःकरण युक्त और निराकार* भाव को प्राप्त करता है। इस प्रकार जो

---

१. दृष्टिं ज्ञानमयीं कृत्वा पश्येद् ब्रह्ममयं जगत्।
सा दृष्टिः परमोदारा न नासाग्रावलोकिनी ॥
द्रष्टृ—दर्शन – दृश्यानां विरामो यत्र वा भवेत्।
दृष्टिस्तत्रैव कर्तव्या न नासाग्रावलोकिनी ॥
(अपरोक्षानुभूतिः— ११६-११७)

२. सि० सि० सं०, २।४४

३. यः पश्यति नरो लक्ष्ये स व्योमसदृशो भवेत्।
—शिवयोगदीपिका, ४।५०

*. निराकारं मनो यस्य निराकारसमो भवेत्।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन साकारं तु परित्यजेत् ॥
(ज्ञानसङ्कलिनीतन्त्रम्— ३०)

नवाङ्ग षोडशाधार, त्रिलक्ष्य और व्योमपञ्चक को नहीं जानता वह केवल मात्र नाम का ही योगी है।[1]

इसके अनन्तर अन्त में अष्टाङ्ग योग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) का निरूपण प्रस्तुत किया गया है। योगाङ्ग के विषय में यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित है कि अङ्गों के विषय में यह परम्परा एक मत नहीं है। जहाँ गोरक्ष संहिता[2] योगमार्तण्ड[3] अमृतनादोपनिषद्[4], ध्यानबिन्दूपनिषद्[5] क्षुरिकोपनिषद्[6] और योगचूडामण्युपनिषद्[7] में योग के षड्भेद मान्य हैं, वहीं घेरण्ड संहिता[8] में सात। किन्तु अष्टाङ्ग योग ही अधिक प्रचलित है। इसको मानने वाले ग्रन्थों के अन्तर्गत पातञ्जल योगदर्शन,[9] दत्तात्रेय योगशास्त्र,[10] सिद्धसिद्धान्तपद्धति,[11] मण्डलब्राह्मणोपनिषद्[12] जाबालदर्शनोपनिषद्,[13] वराहोपनिषद्[14], शाण्डिल्योपनिषद्[15], योगतत्त्वोपनिषद्[16], और शिवयोगदीपिका[17] आते हैं।

कहीं-कहीं अङ्गों की संख्या पन्द्रह मान्य है यथा अपरोक्षानुभूति[18] और

---

१. सि० सि० सं० २।४५।४८
२. गोरक्षसंहिता १।६
३. योगमार्तण्ड २
४. अमृतनादोपनिषद् ६
५. ध्यानबिन्दूपनिषद् ४१
६. क्षुरिकोपनिषद्-सम्पूर्ण
७. योगचूडामण्युपनिषद् २
८. घेरण्ड संहिता १।९-११
९. पातञ्जल योग दर्शन २।२९
१०. दत्तात्रेययोगशास्त्र—श्लोकार्घसंख्या ५२-५६
११. सि० सि० प० २।३२
१२. मण्डलब्राह्मणोपनिषद् १।२
१३. जाबालदर्शनोपनिषद् ४-५
१४. वराहोपनिषद् ५।११-१२
१५. शाडिल्योपनिषद् १।२
१६. योग तत्त्वोपनिषद् २४-२५
१७. शिवयोगदीपिका २।४-८
१८. अपरोक्षानुभूतिः १०२-१४४

तेजोबिन्दूपनिषद् ।[1] इन दोनों ग्रन्थों में उपलब्ध पन्द्रह अङ्गों के श्लोकों का निरूपण करने वाली कारिकायें प्रायः समान हैं। इन दोनों ग्रन्थों के पौर्वापर्य का निर्णय किए बिना किसी एक की उत्तमर्णता अथवा अधमर्णता का निश्चयन सम्भव नहीं। शिवमहापुराण में जहाँ अष्टाङ्ग[2] योग को माना है वहीं पर आसन, प्राणसंरोध, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि को संक्षेप में योग के षडङ्ग[3] माने हैं। इस विषय पर अधिक न जाते हुए सिद्धसिद्धान्त-संग्रह में निर्दिष्ट अष्टाङ्ग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) योग[4] का ही वर्णन यहाँ प्रस्तुत है—

(१) **यम**—दुःखादि द्वन्द्वों को सहन करना ही यम कहलाता है।[5] सिद्ध-सिद्धान्तपद्धति के अनुसार अपने-अपने विषयों से सब इन्द्रियों को हटाकर शान्ति प्राप्ति ही यम है।[6] पातञ्जल योगदर्शन के अनुसार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यम है।[7] भोजवृत्तिटीकाकार इनकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि उनमें प्राणों का शरीर से वियोग करने के लिए जो कार्य किया जाता है, वह हिंसा कहलाती है। वह हिंसा सर्वरूपों वाली अनर्थ का कारण है। उसका अभाव अहिंसा है। हिंसा का सर्वकाल में त्यागने योग्य होने से प्रथम उसके अभाव रूप अहिंसा का निर्देश किया है। सत्य यह है कि वाणी और मन दोनों की यथार्थता, अर्थात् जैसा अर्थ है उसी के अनुसार ही कहना और मन में धारण करना। दूसरे के धन का हरण करना चोरी है। उसका अभाव चोरी का त्याग कहलाता है। उपस्थेन्द्रिय के रोकने को ब्रह्मचर्य कहते हैं। भोग साधनों का स्वीकार न करना अपरिग्रह कहलाता है।[8] श्रीविज्ञानभिक्षु योगारुरुक्षु गृहस्थादियों के लिए अष्टाङ्गयोग

---

१. तेजोबिन्दूपनिषद्, १।१५-५१
२. शिवमहापुराण, ७।२।३७-१४-१५
३. वही, ७।२।३७-१६
४. सि० सि० सं०, २।४६
५. वही, २।५०
६. यम इति उपशमः सर्वेन्द्रियजय आहारनिद्राशीतवातातपजयश्चैवं शनैः-शनैः साधयेत्। —सि० सि० प०, २।३२
७. अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। —पा० यो० द०, २।३०
८. वही, २।३०

का विधान करते हुए यम के पाँच अङ्गों का वर्णन करते हैं।[1] शाण्डिल्योपनिषद् में यम के अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, आर्जव, क्षमा, धृति, मिताहार और शौच ये दस अङ्ग निर्दिष्ट हैं।[2] शिवयोगदीपिका[3] और दर्शनोपनिषद्[4] में भी यम के दस अङ्ग कहे गये हैं।

यम हेतु भगवान् शंकराचार्य कहते हैं कि 'सब ब्रह्म है' इस निश्चय से इन्द्रियों का नियन्त्रण यम कहलाता है और इसका बार-बार अभ्यास करना चाहिए।[5]

इस परम्परा से किञ्चित् हटकर योगतत्त्वोपनिषद्,[6] दत्तात्रेय योगशास्त्र[7] एवं हठयोगप्रदीपिका[8] में मिताहार की यम में एवं अहिंसा की नियम में परिगणना की गई है। सम्भवतः ऐसा प्रतीत होता है कि इन ग्रन्थकारों ने किसी अन्य हठयोग परम्परा का अवलम्बन किया हो, क्योंकि हठयोग की दो परम्पराओं का उल्लेख प्राप्त होता है।[9]

(२) **नियम**—मानसिक वृत्तियों का नियमन नियम कहलाता है। जिनमें सन्तोषादि आते हैं।[10] सिद्धसिद्धान्तपद्धति के अनुसार मन की समस्त वृत्तियों का नियन्त्रण करना अर्थात् जिन-जिन विषयों की ओर मन जाए उन सब

---

१. अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहौ।
यमाः संक्षेपतः प्रोक्ताश्चित्तशुद्धिप्रदा नृणाम्॥
—योगसारसंग्रह, पृ० १६

२. शाण्डिल्योपनिषद्, १।१।४

३. शिवयोगदीपिका, २।६

४. दर्शनोपनिषद्, १।६-२५

५. सर्वं ब्रह्मेति विज्ञानादिन्द्रियग्रामसंयमः।
यमोऽयमिति सम्प्रोक्तोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः॥
—अपरोक्षानुभूति, १०४

६. योगतत्त्वोपनिषद्, २८-२६

७. दत्तात्रेययोगशास्त्र —श्लोकार्ध संख्या, ६४-६५

८. हठयोगप्रदीपिका, १।३८

६. द्विधा हठः स्यादेकस्तु गोरक्षादिसुसाधितः।
अन्ये मृकण्डुपुत्राद्यैः साधितो हठसंज्ञकः॥

१०. सि० सि० सं०, २।५१

विषयों में दोष देखकर मन को रोकना तथा एकान्तवास करना, मित्र और शत्रु में भी रागद्वेष रहित, सन्तोषयुक्त और निज गुरु के चरणों में दृढ़भक्ति होना ही नियम का लक्षण है।[1]

शिवयोगदीपिका में गुरु की अनन्य-भक्ति, परमपद में अनुरक्ति, निःसङ्गतादि को नियम में परिलक्षित किया गया है।[2] पा० यो० दर्शनानुसार शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान यह पाँच नियम हैं।[3] ईश्वरप्रणिधान को स्पष्ट करते हुए व्यास जी लिखते हैं कि शय्या अथवा आसन पर बैठा हुआ व मार्ग में चलता हुआ अपने स्वरूप में स्थित वितर्करूप जाल को नष्ट किए हुए संसार बीज के नाश का विचार करता हुआ नित्य परमात्मा में युक्त हुआ अमृत भोग का भागी होता है अर्थात् मोक्ष प्राप्त करता है।[4]

भोजवृत्तिटीकानुसार शौच दो प्रकार का है—बाह्य और आन्तरिक। मिट्टी, जलादि से काया का धोना बाह्य और मैत्र्यादि के द्वारा चित्त मलों का धोना आन्तरिक शौच है। तृप्ति को सन्तोष कहते हैं। शास्त्रों में कहा हुआ तप है, जो कृच्छ्र चान्द्रायणादि हैं। मन्त्रों के पूर्व में ओंकार लगाकर जप करना स्वाध्याय कहलाता है। और क्रियाओं को फल की अपेक्षा से रहित उस परम गुरु में अर्पण करना ईश्वरप्रणिधान कहलाता है। इनको क्रिया-योग भी कहते हैं।[5] विज्ञानभिक्षु भी इनका निरूपण करते हैं।[6]

---

१. नियम इति मनोवृत्तीनां नियमनमिति एकान्तवासो निःसंगतौदासीन्यं यथा-प्राप्ति-सन्तुष्टिर्वैरस्य गुरुचरणावरूढत्वमिति नियमलक्षणम् ॥
—सि० सि० प०, २।३३

२. भक्तिर्गुरौ परमतत्त्वपदेऽनुरक्तिर्निःसङ्गता स्वयमुपागतलाभतुष्टिः ।
एकान्तवासपरता च मनोनिवृत्तिर्वैराग्यभाव इति ये नियमास्त एव ॥
(शिवयोगदीपिका, ४।५)

३. शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।
—पा० यो० दर्शन, २।३२

४. शय्यासनस्थोऽथ पथि व्रजन्वा स्वस्थः परिक्षीण वितर्कजालः
संसारबीजक्षयमीक्षमाणः स्यान्नित्ययुक्तोऽमृतभोगभागी ॥
—व्यासभाष्य, वही

५. भोजवृत्तिटीका, २।३२, २।१

६. तपः स्वाध्यायसन्तोषाः शौचमीश्वरपूजनम् ।
समासान्नियमाः प्रोक्ता योगसिद्धिप्रदायिनः ॥—योगसारसंग्रह, पृ० २०

दर्शनोपनिषद्[1], शाण्डिल्योपनिषद्[2] और शिवयोगदीपिका[3] में नियम के दस अंग स्वीकृत हैं। अपरोक्षानुभूति में वर्णित है कि सजातीय-प्रत्ययों का प्रवाह और विजातीय का तिरस्कार यही परमानन्द रूप नियम है। मुमुक्षु-गण इसका नियमपूर्वक अभ्यास करते हैं।[4]

(३) **आसन**—स्वस्वरूप में सदा स्थित होना आसन कहलाता है। यह आसन, सुख, स्वस्थ, अम्बुजादि के भेद से अनेक प्रकार का माना गया है।[5] सिद्धसिद्धान्तपद्धति के अनुसार सदा स्वस्वरूप चेतनमात्र आत्मा में स्थित होना ही आसन का द्योतक है। बहुधा प्रकार के आसनों में स्वस्तिक, पद्म और सिद्धासन ये तीनों योग-साधना हेतु अत्यन्त उपकारक हैं।[6] पा० यो० दर्शनानुसार जिसमें स्थिरता और सुख हो वही आसन है।[7] व्यास भाष्य के मत में उस विषय में जैसे पद्मासन, वीरासन, भद्रासनादि जो जिसको इष्ट हो वही करे परन्तु जिसमें शरीर कम्पादि न हो और सुख हो इसका विचार करना चाहिए।[8] भोजवृत्तिटीकानुसार जिसके द्वारा बैठा जाए वह आसन कहलाता है। वह पद्मासन, दण्डासन, स्वस्तिकासनादि हैं। जब आसन स्थिर अर्थात् निष्कम्प, सुखरूप और जो व्याकुलता करने योग्य न हो, ऐसा होता है, तब योगाङ्गता को प्राप्त होता है।[9] आत्मपूजोपनिषद् के अनुसार निश्चल ज्ञान ही आसन है।[10]

---

१. तपः सन्तोषमास्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम्।
सिद्धान्तश्रवणं चैव ह्रीर्मतिश्च जपो व्रतम्॥
—दर्शनोपनिषद्, २।१

२. शाण्डिल्योपनिषद्, १।१।११

३. संतोष आस्तिक्यगुणो मतिश्च तपो व्रतं शंकरपूजनं च।
ह्रीर्योगशास्त्रश्रवणं जपश्च प्रदानमेते नियमा दश स्मृताः॥
—शिवयोगदीपिका, २।१०

४. सजातीय-प्रवाहश्च विजातीय-तिरस्कृतिः।
नियमो हि परानन्दो नियमात्क्रियते बुधैः॥
—अपरोक्षानुभूतिः, १०५

५. सि० सि० सं०, २।५२

६. सि० सि० प०, २।३४

७. स्थिरसुखमासनम्—पा० यो० दर्शन, २।४६

८. व्यासभाष्य—वही

९. भोजनवृत्तिटीका—वही

१०. निश्चिलज्ञानमासनम्—आत्मपूजोपनिषद्

शाण्डिल्योपनिषद् में आसन के आठ प्रकार वर्णित हैं।[1] जबकि दर्शनोपनिषद् में इसके नौ प्रकार स्वीकृत हैं।[2] यहाँ आसनों की विकासावस्था पर अधिक न जाते हुए केवल कुछ प्रमुख ग्रन्थों का नामोल्लेख करना ही उचित होगा, क्योंकि '**आसनानि समस्तानि यावत् जीवजन्तवः।**' विज्ञानभिक्षु तीन (स्वस्तिक, पद्म और अर्धासन) आसनों की ही योग साधना में अत्यधिक उपयोगी बताते हैं।[3] शिवयोगदीपिका में आसनों के दस भेद मानकर उनमें तीन को ही उत्तम माना है।[4]

भगवान् शङ्कराचार्य के मत में जिस आसन में सुखपूर्वक निरन्तर ब्रह्म-चिन्तन हो सके उसे ही आसन जानना चाहिए, दूसरा आसन नहीं है क्योंकि वे सब सुखनाशकर्ता होने से। जो समस्त भूतों का आदि कारण है, विश्व का अविनाशी अधिष्ठान है और जिसमें ब्रह्मवेत्ता स्थित रहते हैं, उसे ही सिद्धासन अथवा सिद्धों का आश्रय कहते हैं।[5]

(४) **प्राणायाम**—प्राणों की स्थिरता का हेतु ही प्राणायाम कहलाता है।[6] सिद्धसिद्धान्तपद्धति के अनुसार प्राण वायु की स्थिरता का कारण प्राणायाम कहलाता है और वह रेचक, पूरक, कुम्भक और संघटकरण (वायुओं का योग) भेद से चार प्रकार का है।[7] पातञ्जलयोगदर्शन के अनुसार आसन के होते हुए श्वासप्रश्वास की गति का रोकना प्राणायाम कहलाता है तथा इसके चार भेदों को स्वीकार किया गया है।[8] व्यास जी के मत में आसन के होते हुए बाहर वायु को अन्दर खींचना 'श्वास' कहलाता है। उदर में वायु का बाहर निकालना प्रश्वास कहलाता है, उन दोनों की

---

१. शाण्डिल्योपनिषद्, १।३।१

२. दर्शनोपनिषद्, ३।१

३. आसनं स्वस्तिकं प्रोक्तं पद्ममर्धासनं तथा।
आसनानां तु सर्वेषामेतदासनमुत्तमम्॥
—योगसारसंग्रह, पृ० २१

४ शिवयोगदीपिका, १।१२-१३

५. अपरोक्षानुभूतिः, ११२-११३

६. सि० सि० सं०, २।५३

७. सि० सि० प०, २।३५

८. तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।
—पा० यो० दर्शन, २।४९-५१

गति को रोकना अर्थात् उन दोनों का अभाव 'प्राणायाम' कहलाता है ।[1] दर्शनोपनिषद् में प्राणायाम के रेचक, पूरक और कुम्भक तीन भेद माने हैं। इन तीनों को वर्णत्रयात्मक मानकर इनका सविस्तर वर्णन प्रस्तुत किया गया है ।[2] शाण्डिल्योपनिषद् में प्राणायाम का निरूपण (समस्त नाड़ियों सहित) प्राप्त होता है ।[3] शिवयोगदीपिका में प्राकृत; वैकृत और केवल कुम्भक भेद से त्रिविध प्राणायाम मान्य है ।[4] इस परम्परा से हटकर अन्य ग्रन्थों में भी प्राणायाम का निरूपण प्राप्त होता है यथा याज्ञवल्क्य-संहिता ।[5] पशुपत दर्शन के प्रमुख ग्रन्थ गणकारिका की टीका में प्राणायाम का वर्णन अत्यन्त युक्तियुक्त दृष्टिगत होता है ।[6]

---

१. व्यासभाष्य, २।४९

२. दर्शनोपनिषद्—सम्पूर्ण षष्ठ प्रकरण

३. शाण्डिल्योपनिषद्, १।७ खण्ड

४. शिवयोगदीपिका, २।२०-२५

५. प्राणायामपरः सर्वे प्राणायामपरायणः ।
प्राणायामैर्विशुद्धा ये ते यान्ति परमां गतिम् ॥
प्राणायामादृते नान्यत्तारकं नरकादिव ।
संसारार्णवमग्नानां तारकं प्राणसंयमः ॥
—याज्ञवल्क्यसंहिता

६. "उपस्पर्शनेनाक्षपितकलुषक्षापणार्थं प्राणायामः । कोष्ठचस्य वायोर्गतिनिरोधः प्राणायामः । तत्रोपस्पृश्य कारणतीर्थकरगुरूननुप्रणम्य प्राङ्-मुख उदङ्मुखो वा पद्मकस्वस्तिकादीनामन्यतमं यथासुखमासनं बद्ध्वा कृतमुन्नतं च कृत्वा शनैः संयतान्तः करणेन रेचकादीन् कुर्यात् । कलुषाभावेऽपि चित्तस्यातिनिर्मलत्वापादनार्थमभ्यासार्थं नित्यं कुर्यात् ।"
उक्तं हि—
"प्राणायामैर्दहेद्दोषान् धारणाभिश्च किल्बिषम् ।
प्रत्याहारेण विषयान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान् ॥
प्रणायामेन युक्तस्य विप्रस्य नियतात्मनः ।
सर्वे दोषाः प्रणश्यन्ति सत्त्वस्थश्चैव जायते ॥
जलबिन्दुकुशाग्रेण मासे मासे च यः पिबेत् ।
संवत्सरशतं साग्रं प्राणायामैकतत्समम् ॥"

आदि शङ्कराचार्यानुसार चित्तादि सर्ववृत्तियों में ब्रह्मरूप से ही भावना करने से सम्पूर्ण वृत्तियों का निरोध प्राणायाम कहलाता है। नानारूपात्मक प्रपञ्च का निषेध करना रेचक प्राणायाम है और 'मैं ब्रह्म ही हूँ' ऐसी जो वृत्ति है, वह पूरक-प्राणायाम कहलातो है। फिर उस ब्रह्माकार वृत्ति की निश्चलता ही कुम्भक प्राणायाम है। प्रबुद्ध पुरुषों के लिए तो यही प्राणायाम है, अज्ञानियों के लिए घ्राणपीडन प्राणायाम है।[1]

श्री लाहिड़ी महाराज वेदान्त व्याख्या में लिखते हैं कि "हृदयस्थ वायु ही प्राण है, वह वायु ही बल है और वही मनुष्य का जीवन है। इस प्राणवायु के ही स्थानभेद से प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान नाम हो जाते हैं। इस प्राण-अपान के द्वारा ही होम करना पड़ता है। होम करने में अग्नि की आवश्यकता होती है। क्रिया द्वारा प्राण के ऊर्ध्वमस्तक में गमन करने से ही ब्रह्माग्नि प्रज्वलित होती है।

प्राण—अपानादि समस्त प्राण क्रियाओं को उसमें होम करना पड़ता है, तभी यज्ञविशेष क्रिया की परावस्था प्रकाशित होती है और यह क्रिया की परावस्था ही ब्रह्म है। इसमें जिसका मन लीन हो जाता है उसे ही "सर्वं ब्रह्ममयं जगत्" की अवस्था प्राप्त होती है। ब्रह्मरन्ध्र को भेदकर प्राण की गति होती है। प्राण ही कूटस्थ है और उसी के होने से सब कुछ होता है। यह कूटस्थ प्राण ही मुख्य प्राण है, यह समस्त इन्द्रियों से अतीत है, इस मुख्य प्राण का कोई रूप नहीं है। क्रिया की परावस्था में स्थिति प्राप्त होते ही मुख्य प्राण अथवा आत्मा का परिचय प्राप्त होता है। आत्मा के विभिन्न

प्राणायामविशुद्धात्मा यस्मात् पश्यति तत्परम्।
तस्मात्किञ्चित्परं नास्ति प्राणायामादिति श्रुतिः॥
... ...
"अह्ना रात्र्या च याञ्जन्तून्निहन्त्यज्ञानतो यतिः।
तेषां स्नात्वा विशुद्धयर्थं प्राणायामान् षडाचरेत्॥"
(आचार्य-भासर्वज्ञ-विरचित, गणकारिका, पृ० १२-१३

१. चित्तादिसर्वभावेषु ब्रह्मत्वेनैव भावनात्।
निरोधः सर्ववृत्तीनां प्राणायामः स उच्यते॥
निषेधनं प्रपञ्चस्य रेचकाख्यः समीरणः।
ब्रह्मैवास्मीति या वृत्तिः पूरको वायुरीरितः॥
ततस्तद्वृत्तिनैश्चल्यं कुम्भकः प्राणसंयमः।
अयं चापि प्रबुद्धानामज्ञानां घ्राणपीडनम्॥
—अपरोक्षानुभूति, ११८-१२०

अभिप्राय इन्द्रिय-द्वारों पर ही व्यक्त होते हैं। प्राण का भेद ही इन्द्रियों की विभिन्नता है। ऐसा होने पर ही पञ्च प्राण, मन और इन्द्रियाँ फूट उठती है, किन्तु ये समस्त मुख्य प्राण (क्रिया की परावस्था) से भिन्न होते हैं। चञ्चल प्राण स्थिर होने पर ही आत्मा अथवा ब्रह्म का ज्ञान होता है। क्रिया करने से ही प्राण स्थिर होते हैं।

क्रिया करते-करते जो क्रिया की परावस्था में पहुँच जाते हैं वे प्रथम ही तृतीय नेत्र कूटस्थ को पाकर शिवरूप हो जाते हैं, और फिर उस कूटस्थ के स्थिर होने पर ही विष्णु हो जाते हैं।

चेष्टाशील साधक प्रयत्न करने पर ही इस अवस्था को प्राप्त कर सकते हैं। जो साधन का क्लेश सहन कर प्रयत्नपूर्वक क्रिया करते चलते हैं उनकी कुलकुण्डलिनी मूलाधार में जागृत हो जाती है, उन्हीं का हृदयस्थ काम नष्ट हो जाता है और वे ही समस्त इच्छाओं से मुक्त हो जाते हैं। ये समस्त योगी लोग अमृत-पान करते हैं।"[1]

"कुण्डलिनी शक्ति के जागरण के मूल में प्राण और अपान शक्तियों का साम्य स्थापन होता है। प्राण और अपान के द्वारा यावत् विरुद्ध शक्तियों का संग्रह समझना चाहिए। विरुद्ध शक्तियों में साम्य होना ही समान वायु की क्रिया का फल है। इस समय निद्रित कुण्डलिनी-शक्ति जाग उठती है। योगी का मन इस जाग्रत कुण्डलिनी-शक्तिरूपा अग्नि के साथ मिलकर एक हो जाता है। इस कुण्डलिनी-शक्ति को जाग्रत करने के लिए प्राणायाम रूप योग कौशल को जानना चाहिये। प्राणायाम के द्वारा ही श्वास चैतन्य युक्त होता है, इससे सुषुम्ना का मुंह खुल जाता है। इससे मन का त्राण होता है अर्थात् चाञ्चल्य रहित होकर स्थिरता प्राप्त करने के कारण यहाँ मन्त्र के मन्त्र नाम की (मननात् त्रायते) सार्थकता दृष्ट होती है। तन्त्र में लिखा है।क—

शिव से लेकर कृमि पर्यन्त प्राणियों के प्राणवर्तन रूप श्वास-प्रश्वास को मन्त्र कहते हैं। मन्त्र का यथार्थ मानी है, श्वास और उसको चैतन्य करने का उपाय श्वास-क्रिया या प्राणायाम"।[2]*

---

१. जीवन-लक्ष्य और साधना पृ० ८८ से

२. शिवादिकृमिपर्यन्तं प्राणिनां प्राणवर्तनम्।
नि:श्वास-श्वासरूपेण मन्त्रोऽयं वर्तते प्रिये॥

* जीवन लक्ष्य और साधना, पृ० ११-१२

(५) प्रत्याहार—चित्तवृत्तितरङ्गों का विषयों से निवर्तन ही प्रत्याहार कहलाता है तथा यह चित्त विकारों को ग्रसने वाला है।[1] सिद्धसिद्धान्तपद्धति के अनुसार देहरूपी रथ के स्वामी चैतन्य आत्मा की अश्व रूपी इन्द्रियों की स्व-स्व विषयों में प्रवृत्ति स्वभाव से प्रसिद्ध है। उन इन्द्रियों को विषयों से हटाकर आत्मा में लगाना ही प्रत्याहार कहलाता है।[2] पातञ्जल योग दर्शन के अनुसार इन्द्रियों का अपने विषयों को त्याग कर चित्तस्वरूपानुकूल होना ही प्रत्याहार कहलाता है।[3] व्यास जी लिखते हैं कि अपने विषय के संयोग से रहित चित्त स्वरूप के अनुकूल ही होना इन्द्रियों का प्रत्याहार कहलाता है। चित्त के रोकने पर चित्त के समान इन्द्रियां का भी रुक जाना। इन्द्रियजय के समान अन्य उपायों की अपेक्षा नहीं करते अर्थात् आवश्यकता नहीं होती। जैसे मधु-निर्माणकर्त्री रानी मक्खी के उड़ते हुए उसके पीछे सब मक्खियाँ उड़ती हैं और प्रवेश करती हुई के पीछे प्रवेश करती हैं। उसी प्रकार इन्द्रियां चित्त निरोध होने पर निरुद्ध हो जाती हैं। इसी का नाम प्रत्याहार है।[4] गीता में प्रत्याहार हेतु कूर्म को साक्ष्य ठहराया है।[5] दत्तात्रेय योगशास्त्र के अनुसार साधक जब कुम्भक लगाकर इन्द्रियों को उनके विषयों से खींच लेता है, तो उसे प्रत्याहार कहते हैं।[6] शाण्डिल्योपनिषद् में इसकी चर्चा करते हुए वर्णित है कि विषयों में विचरण करने वाली इन्द्रियों को बलपूर्वक खींच लेना प्रत्याहार है। जो-जो देखता है वह सब आत्मा ही है, ऐसा विचार प्रत्याहार है। नित्यकर्म फल का त्याग, सर्व विषयों से विमुख, अठारह मर्म स्थलों में क्रम से धारण, पैर का अंगूठा, गुल्फ, जानु, जङ्घा, गुदा, लिङ्ग, नाभि, हृदय, कण्ठकूप, तालु, नासिका, नेत्र,

---

१. सि० सि० सं०, २।५४

२. सि० सि० प०, २।३६

३. स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥
—पा० यो० दर्शन, २।५४

४. व्यास भाष्य, २।५४

५. यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥
—गीता, २।५८

६. इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो यत्प्रत्याहरति स्फुटम् ।
योगी कुम्भकमास्थाय प्रत्याहारः स उच्यते ॥
—दत्तात्रेय योगशास्त्र श्लोकार्ध संख्या, १८६-१८७

भ्रूमध्य, ललाट और मूर्धा इन स्थानों में आरोहण और अवरोहण क्रम से प्रत्याहार करना चाहिए।[1] शिवयोगदीपिका में प्रत्याहार को अन्तरङ्गाङ्ग के रूप में स्वीकार करते हुए प्रत्याहार का पालन करने वाले को संयतात्मा के रूप में स्वीकारा है।[2] अपरोक्षानुभूति के अनुसार विषयों में आत्मभाव करके अन्तःकरण को चेतन में डुबो देने को ही प्रत्याहार जानना चाहिए। मुमुक्षुओं के द्वारा इसी का अभ्यास श्रेयस्कर है।[3]

(६) **धारणा**—वृत्तियों का निर्विकार में धारण ही धारणा है।[4] सिद्धसिद्धान्तपद्धति के अनुसार शरीर के बाह्य और आभ्यन्तर सर्वत्र एक ही आत्मा को व्यापक मानते हुये मानसिक भावना करनी चाहिये और जैसा भी भूत-भौतिक प्रपञ्च उत्पन्न होता है, उस सबको निज आत्मरूप निराकार में ही धारण करे कि यह सब प्रपञ्च समुद्रतरङ्गवत् ब्रह्म में ही कल्पित है। तथा उस परब्रह्म से अभिन्न आत्मा को वायु रहित दीप के समान निश्चल चित् प्रकाश रूप से ध्यान करें। यही धारणा है।[5] पातञ्जलयोगदर्शन के अनुसार चित्तवृत्ति का देश विशेष में बाँधना अर्थात् रोकना धारणा कहलाती है।[6] व्यास भाष्य मत में नाभिचक्र—हृदयकमलमूर्धज्योति में नासिका के अग्रभाग में अथवा जिह्वा के अग्रभागादि शरीर देशों में अथवा किसी बाह्य विषय में चित्त की वृत्तिमात्र का रोकना धारणा कहलाती है।[7] दत्तात्रेय

---

१. शाण्डिल्योपनिषद् प्रथम अध्याय, अष्टम खण्ड।

२ संकोचमाचरति कूर्म इहाङ्गकाना-
मङ्गे यथा भुवि तथा निखिलेन्द्रियाणि।
प्रत्याहरस्व नियतात्मनि संयतात्मा-
मन्यामहे परमतत्त्वमिदं तदेव ॥ —शिवयोगदीपिका, ३।३

३. विषयेष्वात्मतां दृष्ट्वा मनसश्चिति मज्जनम्।
प्रत्याहारः स विज्ञेयोऽभ्यसनीयो मुमुक्षुभिः ॥
— अपरोक्षानुभूति, १२१

४. सि० सि० सं०, २।५५

५. सि० सि० प०, २।३७

६. देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। पा० यो० दर्शन, ३।१

७. व्यास भाष्य वही.

योगशास्त्र[1] शिवयोगदीपिका[2] और जाबालदर्शनोपनिषद्[3] में धारणा के पञ्च* (पञ्चमहाभूतों के) प्रकार निर्दिष्ट हैं।

अपरोक्षानुभूति के अनुसार जिस-जिस पदार्थ में मन जाए, उसी-उसी में उसके अधिष्ठान ब्रह्म का दर्शन करते हुए मन को स्थिर करना ही उत्तम धारणा है।[४]

(७) **ध्यान**—द्वन्द्वता रहित परमात्मा और आत्मा में औपाधिक सम्बन्ध के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, ऐसा समझकर परमात्मस्वरूपानुरूप अन्तर्वृत्ति का होना ही ध्यान कहलाता है।[५] सिद्धसिद्धान्तपद्धति के अनुसार, जिसका नाम रूप से निर्देश न किया जाये ऐसा जो सर्वान्तर्यामी व्यापक अद्वैत ब्रह्म है, उसी की जो सर्वत्र व्यापक चिद् रूप सत्ता है वह इन्हीं सब का व्यापकरूपात्मा है। मुझ और उस व्यापक आत्मा में औपाधिक सम्बन्ध को छोड़कर कुछ भी भेद नहीं है। अतः जो-जो वस्तु जैसे-जैसे प्रतीत हो उसको सर्वत्र आत्मरूप जानकर ऐसी भावना करनी चाहिए कि यह मेरी ही आत्मा है और ब्रह्म से लेकर सभी स्थावर जङ्गम प्राणियों में समदर्शी हो जाना ही ध्यान है।[६] पातञ्जल के अनुसार उस प्रदेश में अर्थात् जिस विषय में

---

१. दत्तात्रेय योगशास्त्र—श्लोकार्ध संख्या, २२०-२४२

२. धारिणी वारुणी चैव आग्नेया मारुती तथा।
नभोमयीति कथ्यन्ते सूरिभिः पञ्च धारणा॥
—शिवयोगदीपिका, ३।३६

३. अथातः सम्प्रवक्ष्यामि धारणाः पञ्च सुव्रतः।
देहमध्यगते व्योम्नि बाह्याकाशं तु धारयेत्॥
प्राणे बाह्यानिलं तद्वज्ज्वलने चाग्निमौदरे।
तोयं तोयांशके भूमिं भूमिभागे महामुने॥
—जा० द० उ०, ८।१-२

* पञ्च धारणा की विस्तृत व्याख्या हेतु द्रष्टव्य—दर्शनोपनिषद् एवं जाबालदर्शनोपनिषद् का अष्टम खण्ड।

४. यत्र तत्र मनो याति ब्रह्मणस्तत्र दर्शनात्।
मनसो धारणं चैव धारणा सा परा मता॥
—अपरोक्षानुभूति, १२२

५. सि० सि० सं०, २।५६

६. सि० सि० प०, २।३८

धारणा की गई है उसी ध्येय विषयक ज्ञान वृत्तियों का समान प्रवाह ध्यान है। समान प्रवाह से अभिप्राय है कि दूसरा ज्ञान मध्य में न हो।[1] व्यास मतानुसार 'उस देश में जिसमें धारणा की गई ध्येय-स्वरूप आलम्बन वाले ज्ञान की एकतानता अर्थात् समान प्रवाह अन्य ज्ञानों से रहित ध्यान कहलाता है। सदृश प्रवाह का अभिप्राय यह है कि जिस ध्येय विषयक पहली वृत्ति हो उसी विषयक दूसरी और उसी विषयक तीसरी इस प्रकार ध्येय से अन्य का ज्ञान मध्य में न हो सो सदृश प्रवाह का अभिप्राय है।'[2] भोजवृत्ति टीका के मत में जिस प्रदेश में चित्त एकाग्र किया गया हो, उसमें प्रत्यय अर्थात् ज्ञान की जो एकतानता विपरीत परिणाम के त्याग द्वारा जो वह धारणा में आलम्बन किया है, उस आलम्बनता से ही सर्व ध्यान काल में ज्ञान उत्पत्ति ध्यान है।[3] ध्यानबिन्दूपनिषद् में ध्यान का अत्यन्त विस्तर निरूपण दृष्टिगोचर होता है। वहाँ वर्णित है कि पर्वत सदृश अनेक योजनपर्यन्त यदि पाप भी हो तो वे ध्यान योग द्वारा नष्टता को प्राप्त करते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है।[4] अपरोक्षानुभूति के अनुसार 'मैं ब्रह्म ही हूँ' इस सद्वृत्ति से जो निरालम्ब स्थिति है वही 'ध्यान' शब्द से प्रसिद्ध है और यह वृत्ति परमानन्द प्रदायिका है।[5]

(८) **समाधि**—सर्व तत्त्वों की समावस्था ही समाधि की द्योतक है। इस अवस्था में अन्य बाह्य व्यापारादियों का अवरोध होने पर अनायास ही परमात्मा से एकीकरण हो जाता है।[6] पा० यो० दर्शन के अनुसार वह ध्यान ही अर्थमात्र भासित होना चाहिए जिसमें अर्थात् ध्येय का स्वरूप ही भासित

---

१. तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्—पा० यो० दर्शन, ३।२

२. व्यास भाष्य, ३।२

३. भोजवृत्तिटीका — वही.

४. यदि शैलसमं पापं विस्तीर्णं बहुयोजनम्।
भिद्यते ध्यानयोगेन नान्यो भेदः कदाचन।
—ध्यानबिन्दूपनिषद्, १

५. ब्रह्मैवास्मीति सद्वृत्या निरालम्बतया स्थितिः।
ध्यानशब्देन विख्याता परमानन्ददायिनी॥
—अपरोक्षानुभूति, १२३

६. सि० सि० सं०, २।५७

हो, जिसमें योगी अपने स्वरूप से शून्य सा हुआ अर्थात् अपना स्मरण योगी को न रहे, इस समान गति को समाधि कहते हैं।[1] व्यासभाष्यानुसार ध्याता-ध्येय-ध्यान इन तीनों के भेदपूर्वक ध्यान होता है। उस भेद से रहित समाधि होती है। यह ध्यान और समाधि में अन्तर है। इस समाधि के अङ्ग ध्यान के अङ्गि सम्प्रज्ञात योगादि में भेद है। जब इस ध्यान में चिन्तारूप होने के कारण सम्पूर्णता से ध्येय का स्वरूप भासित नहीं होता। उस ध्यान के अङ्गि सम्प्रज्ञात योग में जानने योग्य जो ब्रह्मस्वरूप उसके साक्षात्कार होने पर समाधि के अविषय अर्थात् ब्रह्मस्वरूप से भिन्न अन्य सर्व पदार्थ भी विषय रूप से भासित होते हैं अर्थात् जाने जाते हैं।[2]

भोजवृत्ति के अनुसार 'ऊपर निर्दिष्ट जो ध्यान है वह जिसमें अर्थमात्र का भान हो, अर्थ के रूपाकार का अपने ज्ञान में प्रवेश होने से अपना ज्ञान स्वरूप दब जाने से अर्थ का स्वरूप उद्भूत होने के कारण स्वरूप शून्य की समानता को प्राप्त होता है। वह समाधि है, ऐसा कहा जाता है यथार्थता से धारण किया जाता अर्थात् एकाग्र किया जाता, विक्षेपों को हटाकर मन जिसमें वह समाधि कही जाती है।'[3] दत्तात्रेय योगशास्त्र के अनुसार जीव और परमात्मा की समता अवस्था समाधि है।[4] शाण्डिल्योपनिषद् के अनुसार जीवात्मा और परमात्मा की एकता का अनुभव करने से ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय इस त्रिपुटी रहितता से परमानन्दस्वरूपशुद्धचैतन्यावस्था ही समाधि है।[5] संक्षेप में यही कहना उचित है कि परमात्मा और आत्मा का जल और सैन्धव की भाँति एकाकार होना ही समाधि है।

इस प्रकार प्रकृत ग्रन्थ के द्वितीय उपदेश में नवचक्रों, सोलह आधारों, त्रिविध लक्ष्यों एवं अष्टाङ्ग योग का निरूपण अत्यन्त युक्तियुक्त और संक्षेप से किया गया है।

---

१. तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः —पा० यो० दर्शन, ३।३
२. व्यासभाष्य, वही.
३. भोजवृत्तिटीका, वही.
४. दत्तात्रेय-योगशास्त्र श्लोकार्ध—२५०
५. अथ समाधिः। जीवात्मपरमात्मैक्यावस्था त्रिपुटीरहिता परमानन्दस्वरूप शुद्धचैतन्यात्मिका भवति।
—शाण्डिल्योपनिषद्, १।११

तृतीयोपदेशः

पिण्ड विचारानन्तर पिण्ड-संवित्ति (सम्पूर्ण भूत-भौतिक, जड़-चेतन के ज्ञान) की आवश्यकता का अनुभव इसलिए आवश्यक है क्योंकि पिण्ड-संवित्ति के आश्रयीभूत जीव को शीघ्र ही तत्त्वों का बोध हो जाता है। जो ब्रह्माण्ड में है वही सब इस देह में विद्यमान है, ऐसा हठयोग के आचार्यों का ही नहीं अपितु तान्त्रिक मत का भी कथन है।[1] शिव-संहिता में वर्णित है कि यह शरीर ब्रह्माण्ड संज्ञक है।[2] देहविज्ञानियों के अनुसार यह शरीर सर्वमय है। केवलमात्र यही नहीं अपितु सब कुछ से परे जो कुछ है वह भी इस देह में विद्यमान है। केवलमात्र पिण्ड और ब्रह्माण्ड में अभिन्नता ही नहीं अपितु ब्रह्माण्डातीत तत्त्व का प्रकाश भी इसी देह में प्राप्त होता है।[3] पिण्डसंवित्ति के आश्रय से सभी तत्त्वों का ज्ञान शीघ्र हो जाता है तथा ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी है वही सब इस देह पिण्ड में है ऐसा निश्चय ही पिण्डसंवित्ति कहलाता है।[4]

---

१. (क) शृणु देवि प्रवक्ष्यामि योगसारं समासतः ।
ऊर्ध्वमूलमधः शाखं वृक्षाकारं कलेवरम् ॥
ब्रह्माण्डे यानि तीर्थानि तानि सन्ति कलेवरे ।
बृहद्ब्रह्माण्डं यद्रूपं तद्रूपं क्षुद्ररूपकम् ।
ब्रह्माण्डे वर्तते तीर्थं सार्द्धकोटित्रयात्मकम्
द्विसप्तति सहस्राणि प्रकाशं वीरवन्दिते ॥—तोडलतन्त्रम्, २।१-३

(ख) ब्रह्माण्डलक्षणं सर्वं देहमध्ये व्यवस्थितम् ।
साकाराश्च विनश्यन्ति निराकारो न नश्यति ॥
—ज्ञानसङ्कलिनीतन्त्रम्, २६

२. ब्रह्माण्डसंज्ञके देहे यथादेशं व्यवस्थितः ।
मेरुशृङ्गे सुधारश्मिर्बहिरष्टकलायुतः ॥
—शिव-संहिता, २।५

३. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि, पृ० १३५

४. सि० सि० सं०, ३।१-२

सिद्धसिद्धान्तपद्धति में उक्त है कि जो साधक इस देह पिण्ड में समस्त भूत-भौतिक, जड़-चेतन जगत् को जानता है उसका नाम पिण्ड संवित्ति होता है। अर्थात् वह योगी व्यष्टि और समष्टि रूप दोनों ही प्रकार के शरीर पिण्डों का तत्त्ववेत्ता होता है। व्यष्टि सृष्टि में अन्तःकरणाभिमानी अस्मदादि जीव हैं और समष्टि में विराट् हिरण्यगर्भादि हैं। तथा शरीर रूप पिण्डों का भी दोनों सृष्टियों में प्रादुर्भाव होता है। भेद केवल यह है कि समष्टि शरीर व्यापक, अधिक शक्तिशाली और चिरस्थायी है। और वह शरीराभिमानी सर्वेश्वर सत्य-सङ्कल्प होने से अस्मदादि शरीरों का कारण और नियन्ता है। व्यष्टि पिण्ड क्षणभंगुर तथा विनश्वर है और उसका अभिमानी जीव भी कर्मपाश में बँधा हुआ बार-बार पहले शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को धारण करता है। अतः दुःख बन्धन से जीवों का उद्धार करने की इच्छा से योगाचार्य व्यष्टि और समष्टि रूप पिण्ड के अभेद अभिप्राय से समष्टि पिण्ड-गत कार्य को भी व्यष्टि शरीर में ही समझाते हैं। जिससे कि उक्तपिण्ड के यथार्थ ज्ञानपूर्वक योग ध्यान द्वारा सार्वभौम ऐश्वर्य को प्राप्त करता हुआ यह जीव परम शान्त और अखण्डानन्द श्री आदिनाथ स्वरूप मोक्षधाम को प्राप्त हो।[1]

महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ कविराज जी के शब्दों में "व्यष्टि तथा समष्टि के भेद से यह देह दो तरह की है। व्यष्टिदेह को पिण्ड या पिण्डाण्ड (Microcosm) कहते हैं, समष्टिदेह का दूसरा नाम ब्रह्माण्ड(Macrocosm) है। समष्टि और महासमष्टि के भेद से ब्रह्माण्ड की भी दो तरह की स्थिति है। एक पृथक्-पृथक् ब्रह्माण्ड के रूप में और दूसरी है—सब ब्रह्माण्डों की समष्टि के रूप में। इस प्रसङ्ग में हम प्रकृत्यण्ड (जो ब्रह्माण्डों की समष्टि से भी विशाल है।) मायाण्ड (जो प्रकृत्यण्ड की समष्टि से भी विशाल है)। एवं शाक्ताण्ड (जो मायाण्ड से भी अनन्तगुण विशाल है) आदि की आलोचना नहीं करेंगे। समग्र ब्रह्माण्ड में जो कुछ है, वह सब का सब पृथक्-पृथक् रूप से इस छोटी-सी नरदेह में भी है, इसलिए यदि ठीक तरह से इस मानव-देह का परिचय प्राप्त हो जाये, तो ब्रह्माण्ड की बात तो क्या, समग्र विश्व का परिचय प्राप्त हो सकता है। उपनिषदों में कही गई 'दहरविद्या' पर विचार करने पर ज्ञात होता है कि बाहरी आकाश में जो कुछ भी विद्यमान है, वह सब मानव

---

१. सि० सि० प० पर हिन्दी टीका, ३।१

के अन्तराकाशरूपी हृदय-पुण्डरीक में विद्यमान है । अतएव, बाहर की ओर दृष्टि न डालकर अन्तर्मुख दृष्टि के द्वारा हृदय की ओर लक्ष्य निविष्ट करना ही ऋषियों का मुख्य उपदेश था ।"[1]

संक्षेप में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि यह छोटी सी देह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का प्रतिबिम्ब है । सृष्टिकर्त्तारूप अत्यन्त निपुण चित्रकार ने माया के काँच द्वारा पञ्चभूत के बने इस अत्यन्त छोटे पत्र पर अनन्त कोटि योजन विस्तार के ब्रह्माण्ड को चित्रित कर दिखाया है ।[2] सर्वप्रथम सप्त पातालों की स्थिति निरूपित करते हुए वर्णित है कि कूर्म पादतल में स्थित है जो व्यष्टि शरीर का आधार है ।[3] सप्ततलों का क्रम इस प्रकार है—

अँगुष्ठतल में पाताल, अँगुष्ठ के अग्रभाग में तलातल, पादपृष्ठ में महातल,

---

१. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि पृ०, १२४-१२५

२. यस्मिन्दर्पणबिम्बजृम्भितपुरीसंदर्भतुल्यं जगत् ।
भातं यत्परसंविदो यत् इदं रूप्यादिवल्लीयते ।।
यस्याज्ञानविजृम्भिता परभिदा वारीन्दु भेदादिवत् ।
तं भूमानमुपास्महे हृदि सदा वामार्धजानिं शिवम् ।।
—षट्चक्र निरूपण, पृ० ३-४ से सम्पादक श्री हंसस्वरूप

३ भुवनाधारः कूर्मावतार इति प्रसिद्धम् पुराणेषु । तस्यायं गूढाभिसन्धिः । शक्ति सहितस्य शिवस्यैव सृष्टयादावस्थाविशेषः कूर्म इवेति, सादृश्यं चात्र यथा कूर्मादङ्गानि निःसरन्ति तत्रैव च संकुचन्ति तथा तत एव च सर्वे प्राणिनः निःसरन्ति तत्रैव काले संकुचन्ति च सर्वेषामाधारः वेदोप्याह (स दाधार पृथिव्यां, द्यामुतेमाम्) गीतायां 'गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा' अतः सुष्ठूक्तम् कूर्मः पादतले वसति । ननुपादाधारस्तु पृथिवी दृश्यते कथमाह कूर्म इति चेत् शृणु रहस्यम् यदा ब्रह्माण्डपिण्डयोरभेदो ज्ञायते, य एव ब्रह्माण्डः स एव पिण्ड इति तदा कथं ब्रह्माण्डाधार कूर्मो मदीय पिण्डाधारो नेति निषेद्धुं शक्यम्, इति हृदय सङ्कोचं विहायोदारचेतसा विवेक्तव्यम् तत्रांगुष्ठान्त्यदेशमारभ्योरूपर्यन्तं पातालादि सप्तलोक भावना विधेयेति निष्कर्षः । मूले यत्र यस्य स्थितिः प्रतिपादिता तत्क्रमेणैव ज्ञेया नतु व्युत्क्रमेणान्यत् स्पष्टम् । अस्य सप्तपातालस्याधिपति देवो रुद्रः स एव पिण्डे क्रोध रूपः समष्टौ कालाग्नि रुद्रः प्रलयकारकः ।। सि० सि० प० पर श्री द्रव्येश झा कृत् संस्कृत टीका ३.२

गुल्फ में रसातल, जंघा में सुतल, जानुदेश में वितल और मूल में अतल[1] का वास है। इन सप्ततलों के अधिपति रुद्र हैं जो इस व्यष्टि देह में क्रोध रूपी भाव है वही कालाग्नि रुद्र है।[2]

तोडलतन्त्रम् में इन्हीं सप्ततलों का क्रम यहाँ वर्णित क्रम से विपरीत बताया गया है।[3] प्रस्तुत ग्रन्थ में इक्कीस ब्रह्माण्ड स्थानों का निरूपण प्रस्तुत किया गया है, जो इस प्रकार से है—

ब्रह्माण्ड	स्थान	देवता	स्वभाव
१. भूः लोक	—मूलाधारे	=देवता इन्द्र, जो इन तीनों का नियन्ता है तथा समस्त इन्द्रियों का नियामक है।	
२. भुवः लोक	—लिङ्गाग्रे		
३. स्वः लोक	—लिङ्गमूले		
४. महः लोक	—मेरुदण्डाग्रे	=देवता ब्रह्मा, जो शिव-शक्ति की आत्माभिव्यक्ति है।	
५. जनः लोक	—मेरुदण्डकुहरे		
६. तपः लोक	--मेरुदण्डतले		
७. सत्यलोक	—मेरुदण्डमूले		
८. विष्णुलोक	—नाभि—	विष्णु	—रक्षण-पोषण करना।
९. रुद्र लोक	— हृदय—	रुद्र	— उग्र।

---

१. **अतल न०** अस्य भूखण्डस्य तलं पृषो० इदमोऽत्वम्। सप्तपातालमध्ये प्रथमखण्डे भूमेरधोभागे। तल्लोकाश्च सप्त, अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल, पातालसंज्ञका अधोधस्तिष्ठन्ति तेषां निवेश-स्थानञ्च "स्वादूदकान्तर्वड्यानलोऽसौ पाताललोकाः पृथिवीपुटानीति" सि० शि० गो० उक्तम्। विशेषस्तत्तच्छब्दे वक्ष्यते। तलशून्ये त्रि नास्ति तलः प्रतिष्ठा यस्य। अप्रतिष्ठेत्रि० [गभोरे]।

—वाचस्पत्यम्, भाग १

२. सि० सि० सं०, ३।३-५

३. अतलं वितलञ्चैव सुतलञ्च तलातलम्।
महातलञ्च पातालं रसातलमतः परम्॥
रसातलाच्च सत्यान्तं महाधीरा प्रतिष्ठिता।
मेरुमध्यस्थिता नाडी महाधीरा च मुक्तिदा॥

—तोडलतन्त्रम्, २।८-९

ब्रह्माण्ड	स्थान	देवता	स्वभाव

१०. ईश्वर लोक—वक्षःस्थल—ईश्वर देव—तृप्ति स्वरूप ।
११. सदाशिव लोक—कण्ठ—सदाशिव—सौम्य स्वभावी ।
१२. श्रीकण्ठलोक—कण्ठमध्य—श्रीकण्ठ—सनातनत्व ।
१३. भैरव लोक—लम्बिका मूल—भैरव—उद्यम ।
१४. शैवलोक—तालुद्वार—शिव—विश्ववन्द्य ।
१५. सिद्धलोक—तालोरभ्यन्तर—महासिद्ध—प्रबोधात्मा ।
१६. अनादिलोक—ललाट—अनादिदेव—पराहन्ता स्वरूप ।
१७. कुललोक—शृङ्गाट प्रदेश—शक्तियुक्त कुलेश्वर—आनन्दस्वरूप ।
१८. अकुलेश लोक—शङ्ख नाड़ी के ऊपर मध्य नलिनी स्थान में—अकुलेश्वर-अभिमानावस्थारहित ।*
१९. परब्रह्मलोक—ब्रह्मरन्ध्र—परब्रह्मदेवता—परिपूर्ण स्वरूपवान् ।
२०. परापर लोक—सहस्रदलकमल—परेश्वर—अस्तित्वरूप ।
२१. शक्तिलोक—त्रिकुट—पराशक्ति—सर्वकर्तृत्व की सामर्थ्ययुक्ता ।[१]

उपर्युक्त लोक ईश्वर के ब्रह्माण्ड-शरीर के अन्तर्गत व्यावहारिक अस्तित्वों के ही विभिन्न स्तरों में मान्य हैं। ये सभी इन्द्रियानुभवों से परे हैं तथा इनमें से कुछ तो मानसिक व बौद्धिक धारणाओं के क्षेत्र से भी बहुत ऊपर हैं। किन्तु जब व्यावहारिक चेतना तत्त्वज्ञानालोकित हो जाती है तब शरीर के अन्तर्गत उन सभी स्तरों का अनुभव प्राप्त हो जाता है।[२]

चार-वर्ण— ब्राह्मण—सदाचार तत्त्व में ।
क्षत्रिय—शौर्य में ।
वैश्य—उद्यम (व्यवसाय) में ।
शूद्र—सेवा भाव में ।[3]

---

* इस लोक का वर्णन प्रस्तुत पुस्तक में उपलब्ध नहीं है। अतएव इसका निरूपण सिद्धसिद्धान्तपद्धति के अनुसार किया गया है।
मूल—शंखमध्ये नलिनीस्थानेऽकुलेश्वरो देवता पिण्डमध्ये निरभिमानावस्था तिष्ठति । —सि० सि० प०, ३।५

१. सि० सि० सं०, ३।६-२०
२. गोरख-दर्शन, पृ० १९५-९६
३. (क) सि० सि० सं०, ३।२१
(ख) ब्राह्मणोऽस्यमुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्ययद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ॥ ऋग्वेद

तथा चौसठ कलाओं में चौसठ तरह के व्यवसायी जन स्थित हैं।[1]*

सप्त-द्वीप

	द्वीप	—	स्थान
१.	जम्बू	—	मज्जा
२.	शाल्मली	—	अस्थि
३.	प्लक्ष	—	नाड़ी
४	कुश	—	माँस
५.	क्रोञ्च	—	त्वचा
६.	गोमय	—	रोम
७.	श्वेत	—	नख[2]

सप्त-समुद्र

	समुद्र	—	स्थान
१.	क्षार	—	मूत्र
२.	इक्षु	—	शुक्र
३.	दधि	—	कफ
४.	घृत	—	मेद
५.	मधु	—	वसा
६.	वारि	—	लार
७.	अमृत	—	रक्त[3]

नव-खण्ड

ये नव खण्ड शरीर के नवद्वारों में स्थित हैं। यद्यपि इनका वर्णन प्रस्तुत ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होता तो भी इस क्षति पूर्ति हेतु सिद्धसिद्धान्तपद्धति में वर्णित नवखण्डों को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—

---

१. सि० सि० सं०, ३।२७

* यह खण्ड (३।२७)वें श्लोक का प्रथम खण्ड है जो (३।२१)वें श्लोक के अनन्तर ही आना चाहिए था, जैसा कि यहाँ प्रस्तुत किया गया है सम्भवतः यह खण्ड किसी कारण विशेष से अभिभूत होकर यहाँ से च्युत होकर अप्रासङ्गिक जगह उपस्थित हो गया होगा।

२. वही, ३।२२

३. सि० सि० सं०, ३।२३

नवखण्ड

खण्ड		स्थान
१. भारत खण्ड	—	मूल
२. कर्फर खण्ड	—	लिङ्ग
३. काश्मीर खण्ड	—	मुख
४. श्री खण्ड	—	दक्षिण नासिका
५. शङ्ख खण्ड	—	वाम नासिका
६. एकपाद खण्ड	—	दक्षिण कर्ण
७. गान्धार खण्ड	—	वाम कर्ण
८. कैवर्त्तक खण्ड	—	दक्षिण नेत्र
९. महामेरु खण्ड	—	वाम नेत्र[1]

अष्टकुलपर्वत

पर्वत	—	स्थान
१. सुमेरु	—	मेरुदण्ड
२. कैलाश	—	मस्तक
३. हिमाद्रि	—	पीठ
४. मलयाचल	—	वाम स्कन्ध
५. मन्दराचल	—	दक्षिण स्कन्ध
६. विन्ध्याचल	—	दक्षिण कर्ण
७. मैनाक	—	वाम कर्ण
८. श्रीपर्वत	—	ललाट में स्थित है। तथा अन्य उपपर्वत हस्ताङ्गुलियों में विद्यमान हैं।[2]

निर्वाण-तन्त्र में भी कहा गया है कि मध्य में मेरु पर्वत तथा अन्य सात कुलपर्वत शरीर में स्थित हैं।[3]

---

१. सि० सि० प०, ३।९
२. सि० सि० सं, ३।२५-२७
३. मेरुः पर्वतस्तन्मध्ये तथा सप्त-कुलाचलाः ।
मूलादि-मस्तकान्तं वै सुमेरुर्नाम पर्वतः ॥
—निर्वाण-तन्त्र, प्रथम पटल

नव-नदी

१. गङ्गा २. सरयू ३. यमुना ४. चन्द्रभागा ५. सरस्वती ६. वितस्ता ७. शतरुद्रा ८. नर्मदा ९. इरावती	ये मुख्य नदियाँ देहस्थ प्रधान नाड़ियों में तथा अन्य उपनदियाँ शरीरस्थ बहत्तर हजार नाड़ियों में प्रवाहित होती हैं। जिनका साक्षात्कार केवल तत्त्वज्ञाता ही कर सकता है।[1]

इनके अतिरिक्त (अश्विनी, भरणी, कृत्तका, पुनर्वसु इत्यादि सत्ताईस) नक्षत्र, (मेष, वृष, धनु इत्यादि बारह) राशियाँ, (सूर्य, चन्द्र, बुध इत्यादि नव) ग्रह, तारागण और तिथियाँ ये सभी शरीर के कोष्ठों में वास करते हैं। अनेक तारागण नेत्रान्त ज्योतिपुञ्ज के और तेंतीस करोड़ देवता शरीर के रोम कूपों के आश्रयीभूत होकर रहते हैं। अनेक मुनि कक्षरोम में एवं सर्वपीठ (मुख्य देवोपासना स्थान) और उपपीठों का स्थान श्मश्रु है। भूत-प्रेत, पिशाच राक्षस, दैत्य और दानवों का वास अस्थि-सन्धियों में है। समस्त तृपनागादि उदरस्थ रोमों में, गन्धर्व, किन्नरगण, अप्सराएँ और यक्ष आदि विविध प्रकार के अवयवों में और परा देवतादि का वास वाच्य रश्मिवितताओं में है। अनेक प्रकार की आकाश में विचरण करने वाली, उग्र मातृ-शक्तियाँ* शरीरस्थ वायु वेग में, मेघ आँसुओं में, तीर्थ-मर्मस्थानों में, बुद्धि के प्रकाश में सिद्ध, नेत्रों में सूर्य और चन्द्र, लता, गुल्म और तृणादि जङ्घाओं के रोमों में और अनेक प्रकार के कीट, पतङ्गादि पुरीष (विष्ठा) में वास करते हैं। शरीरस्थ सुख-दुःख स्वर्ग-नरक हैं। निर्विकल्पता से मोक्ष की प्राप्ति होती है। अखण्ड आत्मबोध ही आत्म जागरण है। इस

---

१. सि० सि० सं०, ३।२८-२९

* ये गिनती में आठ हैं—ब्राह्मी माहेश्वरी चंडी वाराही वैष्णवी तथा।
कौमारी चैव चामुंडा चर्चिकेत्यष्टमातरः॥

कुछ के मत में इनकी संख्या सात हैं—

ब्राह्मी माहेश्वरी चैव कौमारी वैष्णवी तथा।
माहेन्द्री चैव वाराही चामुंडा सप्त मातरः॥ (संस्कृत-हिन्दी कोश)
वामन शिवराम आप्टे, पृ० ७९१

प्रकार अखण्डपरिपूर्णात्मा विश्वरूप महेश्वर घट-घट में चित्प्रकाशस्वरूप से सर्वत्र विद्यमान हैं।[1]

"महायोगी गोरक्षनाथ जी कहते हैं कि यह विश्वरूप प्रत्येक व्यष्टि-शरीर में वस्तुतः विद्यमान रहता है तथा एक पूर्णतया तत्त्वज्ञानालोकित योगी इसका दर्शन न केवल दिव्यपुरुष श्रीकृष्ण के शरीर में ही कर सकता है, वरन् अपने शरीर तथा दूसरे व्यक्ति के शरीर में भी कर सकता है। परमात्मा द्वारा व्याप्त ब्रह्माण्ड-शरीर प्रत्येक व्यष्टि रूप में अभिव्यक्त है और पूर्ण तथा असंख्य अंशों में भेद अनावश्यक है। जब तक व्यष्टि-चेतना भौतिक-ऐन्द्रिक अनुभव स्तरों पर विचरण करती है तथा इनके द्वारा निर्मित आवरणों को दूर नहीं कर सकती, ये भेद प्रमुख प्रतीत होते हैं, पूर्ण अंशों की ओट में वह विशिष्ट वास्तविक विशेषों में अन्तर्निहित एक सामान्य सिद्धान्त के रूप में वह छिपा रहता है। आध्यात्मिक दृष्टि के समक्ष पूर्ण प्रत्येक अंश में स्पष्ट दिखाई देता है, असीम प्रत्येक ससीम में अभिव्यक्त प्रतीत होता है।"[2]

इस प्रकार समष्टि और व्यष्टि रूप से ब्रह्माण्ड और पिण्ड का ज्ञान ही पिण्ड-संवित्ति कहलाता है।

---

१. सि० सि० सं०, ३।३०-४०

२. गोरख-दर्शन, पृ० १९७

चतुर्थोपदेशः

पिण्ड-संवित्ति के अनन्तर इस प्रकरण में शक्ति रूप पिण्डाधार (पिण्ड के आधार के रूप में, यथा शरीर के रक्षक इत्यादि) का निरूपण प्रस्तुत किया गया है। यह शक्ति मूल में परम से अभिन्न एवं उसी के रूप वाली है तथा यही शक्ति समस्त देहों का आधार है। इसी चित् एवं कार्य-कारण और कर्तृत्व की अवस्था को स्फुटित करने वाली शक्ति के सन्दर्भ में प्रथम अध्याय में निरूपित पञ्चत्व (निजा, परा, अपरा, सूक्ष्मा और कुण्डलिनी) की गणना को प्रकाशित कर शक्ति और शिव रूप कुलाकुल के सामरस्य को प्रकाशित करने वाली अपरम्परा शक्ति का निरूपण इस प्रसङ्ग में किया गया है। यह शक्ति समस्त जड़-चेतन पदार्थों का उसी प्रकार एकमात्र आधार है यथा नाना प्रकार के तन्तु एकमात्र पट के आश्रयीभूत होकर विराजते हैं।[1]

गोरख-दर्शन में उक्त है कि "शिव को शक्ति का पारमार्थिक रूप कहा जा सकता है और शक्ति को शिव का प्रापंचिक स्तर। शिव से भिन्न और स्वतन्त्र, शक्ति का कोई अस्तित्व नहीं है और यदि शक्ति की अवहेलना की जाए तो शिव की आत्माभिव्यक्ति, उनका नानात्मक आत्म-प्रकाशन सम्भव नहीं और आत्मचेतना से सम्पन्न उनका कोई व्यक्तित्व भी सम्भव नहीं।"[2] यह शक्ति देह-पिण्ड के प्रत्येक परमाणु में व्याप्त है। प्रत्येक प्राणी इसे इच्छा, क्रिया और ज्ञान रूप में अनुभव करता है। समस्त ब्रह्माण्ड में विद्यमान यह शक्ति देह पिण्ड में कुण्डलिनी रूप से स्थित है। केवल इस शक्ति का जागरण ही साधक का लक्ष्य नहीं, अपितु लक्ष्य है शिव और शक्ति का सामरस्य रूप सहज समाधि।[3]

---

१. सि० सि० सं०, ४।१-३
२. गोरख-दर्शन, पृ० ६६
३. नाथ-सम्प्रदाय, पृ० १२४

मायातन्त्र[1] और षडाम्नायतन्त्र[2] जैसे ग्रन्थों में भी इस शक्ति का वर्णन अत्यन्त युक्तिपूर्ण दृष्टिगोचर होता है। सिद्धसिद्धान्तपद्धति की व्याख्या में उक्त है कि 'जीव का शिव और शक्ति के साथ ज्ञानपूर्वक अभेद होना ही समरस रूप मोक्ष है, जो कि लक्ष्य है तथा साधन जिसका योग है। सर्वश्रेष्ठ ज्ञानस्वरूप बुद्धि आदि के अनित्य प्रकाश से भिन्न नित्यप्रकाश रूप और सकल चराचर जगत् की आधारभूत परमेश्वर की निजा शक्ति वेदादि शास्त्र और सिद्धों के सिद्धान्त में प्रसिद्ध है। वह शक्ति शरीरादि कार्य तथा उनके पाँच सूक्ष्म कारण और जीव, इनकी जो अच्छी प्रकार से अभिव्यक्ति अवस्था है उस अवस्था रूप अङ्कुर के प्रकाश से सकल विश्व के कर्त्ता हिरण्यगर्भादि को भी उत्पन्न करती है, इसलिए वह चिद्रूप शक्ति शिव की अत्यन्त अन्तरङ्ग है। वही शक्ति भूत भौतिक प्रपञ्च की अपेक्षा आधार कहलाती है। इसी से वह सबका उपादानकारण है। वह शक्ति केवल स्वप्रकाश स्वरूप है। अतः निज अनुभव से ही जानने योग्य और लोक तथा

---

१. शृणु देवि प्रवक्ष्यामि तस्याश्चाराधनं महत्।
या चित्छक्तिः सैव माया सा दुर्गा परिचक्ष्यते ॥
या दुर्गा सा महाकाली तारिणी बगलामुखी।
अन्नपूर्णा च सा माया गृहिणां कल्पशाखिनी ॥
भोगदा मोक्षदा देवी तस्मात् पूर्णेति चक्ष्यते।
माया गुणवतां देवी निर्गुणानां चिदात्मिका ॥
यदि सा बहुभिः पुण्यैः प्रसीदति जनान् प्रति।
तदैव कृतकृत्यास्ते संसारात् ते बहिष्कृता ॥
दुरन्ता चावशा माया मुनीनामपि मोहिनी।
श्रीकृष्णं मोहयामास राधा च गोकुले स्थिता ॥
—मायातन्त्रम्, २।३-७

२. चित्छक्तिः परमाराध्या मायाशक्त्यपि पूजिता।
गुणशक्तिः सृष्टिरूपा पूजापूज्या द्विधा मता ॥
पिण्डं कुण्डलिनी शक्तिस्त्रिविधा बहुधा मता।
चिद्घनो ह्यच्युतानन्दः सकला परमेश्वरी ॥
—षडाम्नायतन्त्रम्, ३।५, ८

शास्त्र सम्बन्धी बुद्धि वृत्ति को देखने वाली जो चिद्‌रूपशक्ति है वही परमेश्वर आदिनाथ की पराशक्ति कही जाती है। वही पराशक्ति जब प्रलयकाल में स्वभाव से अपने शुद्ध रूप में विकसित होती है, तब शिव रूप भी हो जाती है। अर्थात् महाप्रलय में विलीन होकर समस्त जगत् जिसमें शयन करता है, उसको शिव कहते हैं। वास्तव में उस समय शिव से शक्ति का किंचित् मात्र भी भेद नहीं रहता।'[1] गोरक्ष-वचन-संग्रह में जल-बुद्‌बुद्‌वद् शिव-शक्ति के अभिन्नत्व को प्रतिपादित किया गया है।[2]

जब यह शिव की अभिव्यक्ति समस्त स्थावर एवं जङ्गम रूप प्रापंचिक स्तरों सहित अपने आपको लीन करती है तो उस दशा को निरुत्थान दशा कहते हैं जिसकी संज्ञा शिव है।[3] अर्थात् निरुत्थान दशा में शक्ति का स्वरूप शिव हो जाता है और व्युत्थान दशा में शिव शक्ति के रूप में आभासित होते हैं। परन्तु परम सत्ता के इन दोनों रूपों में भेद का सर्वथा अभाव है। डा० गोपीनाथ कविराज जी तन्त्र और आगमशास्त्रों का दिग्दर्शन में लिखते हैं कि ज्ञान और क्रिया शक्ति में मूलतः कोई भेद नहीं और जो प्रतीत होता है वह केवल औपाधिक है, वस्तुतः शक्ति एक ही है। जब शक्ति समस्त व्यापारों का उपसंहार कर स्वरूप-मात्र में उपस्थित होती है, तो शिव को शक्तिमान् कहा जाता है। क्रियाशक्ति उस समय मुकुलिका सदृश शिव में अवस्थान करती है। यही शिव की पूर्ववर्णित लयावस्था है।[4]

सृष्टि के प्रसार और सङ्कोच की आदि और अन्त की अवस्था ही साम्यावस्था अथवा निराभास अथवा शिवावस्था है। साम्यभङ्ग अर्थात् शक्ति के स्फुरण में स्तरानुसार विश्व का आविर्भाव होता है। जगत् का आभासित होना ही शक्ति और निराभास होना शिव है जो एकरस और अपरिणामी हैं। शक्ति साधन और शिवत्वलाभ उसका फल है। विमर्श ही शिव की शक्ति है। सगुण-निर्गुण, सक्रिय-निष्क्रिय की एकावस्था ही नाथस्वरूप है।[5]

---

१. सि० सि० प० पर सारदीपिका टीका ४।१

२. अकुलं कुलमाधत्ते कुलं चाकुलमिच्छति।
जलवुद्‌वुद्‌वद् न्यायात् एकाकारः परः शिवः॥
—गोरक्ष-वचन-संग्रह, ८

३. सि० सि० सं०, ४।५

४. तन्त्र और आगमशास्त्रों का दिग्दर्शन, पृ० २७

५. ना० स० द० सा० प्र० के शब्द गोरक्षनाथ नाथ-सम्प्रदाय के परिप्रेक्ष्य में, पृ० ११७

यह शक्ति कुल और अकुल दोनों (शिव के लौकिक एवं पारलौकिक स्वरूपों) का सामञ्जस्य प्रदर्शित करने वाली है। इसी कारण इसे कुलाकुल स्वरूपिणी कहते हैं। इस प्रकार अपने स्वभाव से चिद्रूप यह शक्ति मोक्षावस्था में आत्मस्वरूप में ही उद्बुद्ध होती है। अतः कुलाकुल की सामरस्य स्थिति ही शिव-शक्ति की अभेदावस्था का द्योतन करती है। जिसको प्रकाशित करते हुए कहा गया है कि विश्व के आधार की एकमात्र द्योतक वह शक्ति परा, सत्ता, अहन्ता, स्फुरता और कला रूप पाँच प्रकारों से अभिव्यक्त होती है, जिसे कुलशक्ति कहते हैं।

परा—स्वयं चेतनप्रकाशरूपा होने से समस्त जड़प्रकाश को प्रकाशित करने वाली।

सत्ता—परम की सर्वव्यापकता को अङ्गीकार करने वाली।

अहन्ता—आदि और अन्त रहित तथा बुद्धि ज्ञान से अज्ञेय प्रकाशस्वरूप मैं ही हूँ, इस प्रकार परमात्म-आत्म की अभेदावस्था के प्रकाश की प्रकाशिका।

स्फुरता—परमात्मा और आत्मा की अभेदावस्था की ज्ञान दशा को अभिव्यक्त कराने वाली।

कला—शुद्धबुद्धस्वभाववान् आत्मा के स्वरूप के ज्ञान की अवबोधिका।[1]

अकुल—वर्ण और गोत्रादि से रहित प्रलयावस्था में एकमात्र अकुल (परम तत्त्व) ही शेष रहता है। शिव को अकुल इसलिए कहा जाता है क्योंकि उसका कोई कुल गोत्र नहीं है तथा वह आदि और अन्त रहित है। शिव अनन्य, अखण्ड, अद्वय, अविनश्वर, निर्धर्म और अनङ्ग होने से अकुल कहलाता है और शक्ति सृष्टि का हेतु और समस्त प्रापञ्चिक स्तरों की प्रवर्तिका होने से कुल कहलाती है।[2] तात्पर्य यह है कि "अकुल (अद्वैत आत्मा) की आन्तरिक प्रवृत्ति स्वयं को कुल (लौकिक द्वैतताओं) के रूप में अभिव्यक्त करके विलास करने की है और चूँकि अद्वैत आत्मा एवं समस्त द्वैततायें सत्यतः एक ही हैं, अतः अद्वैत आत्मा से एकाकार होने की समस्त द्वैतताओं की आभ्यंतरिक प्रवृत्ति होती है। द्वैत और अद्वैत का सम्बन्ध प्रकट करने के लिए गोरखनाथ बुद्बुदों और जल का उदाहरण देते हैं।"[3]

---

१. सि० सि० सं०, ४।६-९

२. वही, ४।१०-१३

३. गोरख-दर्शन पृ०, ७४

दर्शनमाला में भी इस समस्त जगत् प्रपञ्च का आधार शक्ति को माना है।[1]

नाथ-सम्प्रदाय की कुलाकुल रूप शक्ति समरस को स्फुट करने हेतु पाँच प्रकार की कुलावस्था एवं अखण्डादि रूप अकुलावस्था से तत्पर होती है। अपरम्परा, निजा आदि संज्ञाओं से प्रसिद्ध यह शक्ति महाप्रलय में सकलाधार रूप से अवशिष्ट रहती है। इसके अनन्तर अपरम्परा पदार्थ के निरूपण के प्रसङ्ग में यह कहना नितान्त उचित ही होगा कि समस्त भूत-भौतिक विश्व-प्रपञ्च को जो परम में सम्पादित करती हुई एक कर देती है उसी शक्ति का नाम अपरम्परा है तथा इसी को आज्ञावती भी कहते हैं। महाप्रलय में शिव के साथ अभिन्नत्वरूप से विद्यमान रहने के कारण अकुल तथा जब यह शक्ति प्राणियों के कर्मों के साथ मिलकर परा, अपरा, सूक्ष्मादि भेद से कुल रूप व्यक्तावस्था को धारण करती है तब यह कुल कहलाती है। और पुनः प्रलयावस्था में अकुलावस्था-युक्त हो जाती है। जिस प्रकार जल का स्वकार्य की अपेक्षा से फेन, तरङ्ग, बुबबुला आदि नाम हो जाता है और जल भी कहलाता है किन्तु तत्त्व की दृष्टि से वह केवल जल ही होता है उसी प्रकार द्वैत एवं अद्वैत से रहित सर्वाधिष्ठान समरस रूप द्वैताद्वैतविलक्षण ही सत् है।[2] इस अभेद रूप समरस से ब्रह्म ही सर्वत्र विद्यमान है और वही स्वशक्ति से नित्य सम्बद्ध होकर शक्तिमान् कहलाता है। वही सभी स्थावर-जङ्गम, जड़-चेतनादि में व्यवहार की दृष्टि से भासित होने पर भी वास्तव में वह स्वस्वरूप प्रतिष्ठा में सदा स्थित रहता है। वही सबका आधार है किन्तु उसका कोई आश्रय नहीं है। दृष्टि भेद से शिव-शक्ति का आधार भले ही भासित हो, किन्तु यथार्थ में आधाराधेयभाव भी नहीं है क्योंकि शिव-शक्ति का नित्य तादात्म्य सम्बन्ध है। समस्त जड़-चेतन में वह जल के बुद्बुदों के सदृश भासित होता है और अन्त में निज व्यापक चिदखण्डस्वरूप से एकमात्र

---

१. प्रागुत्पत्तेरिदं स्वस्मिन् विलीनमथ वै स्वतः।
बीजादङ्कुरवत् स्वस्य शक्तिरेवासृजत्स्वयम्॥
—दर्शनमाला, १।३

२. अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
समं तत्त्वं न विन्दन्ति द्वैताद्वैतविलक्षणम्॥
—गोरक्ष-वचन-संग्रह, १

ही अवशेष रहता है ।[१]

सर्वशक्तिमान् होने से ही शिव समस्त प्रापञ्चिक स्तरों के परम कारण हैं । शक्ति रहित होने पर शिव कुछ भी करने में समर्थ नहीं है और शक्ति युक्त होने पर वह सर्वसमर्थ हैं । अर्थात् निज शक्ति से वे सभी के सृजनकर्ता एवं प्रकाशक हो जाते हैं ।[२] "शक्ति के बिना शिव कुछ भी करने में असमर्थ हैं । इकार शक्ति का वाचक है और शिव में से इकार निकाल देने से वह शव हो जाता है ।[3] इसीलिए शक्ति ही उपास्य है । इस शक्ति की उपासना करने वाले शाक्त लोग ही कौल हैं । यह मत बौद्ध धर्म साधना से मूलतः भिन्न है । इस साधना के तीन लक्ष्य हैं—अखण्ड, अद्वय और अविनश्वर शिव और बौद्ध साधना का लक्ष्य है नैरात्म्य भाव । वे लोग किसी अविनश्वर सत्ता में विश्वास नहीं रखते । कौलज्ञाननिर्णय में भी शिव और शक्ति के उपर्युक्त सम्बन्ध का प्रतिपादन है ।[४] कहा गया है कि जिस प्रकार वृक्ष के बिना छाया नहीं रह सकती, अग्नि के बिना धूम नहीं रह सकता । उसी प्रकार शिव और शक्ति अविच्छेद्य हैं, एक के बिना दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती ।"[५]

यह तो नितान्त स्पष्ट ही है कि शक्ति रहित शिव असमर्थ हैं और स्व-शक्तियुक्त होने पर ही वह अभासी भासवान् हो जाता है । अर्थात् नित्य शक्तिमान् वह परमेश्वर सर्वविश्व का एकमात्र आधारभूत अधिष्ठान होने से सर्वव्यापी कहलाता हुआ जगत् रूप हो जाता है । सिद्धों के मत में इस जगत्

---

१. (क) सि० सि० प०, ४।१०-१२
(ख) तुलनीय सि० सि०, सं० ४।१२-१५

२. सि० सि० सं०, ४।१६

३. शिवोऽपि शवतां याति कुण्डलिन्या विवर्जितः ।
—(देवीभागवत)

४. अकुलं तु इमं भद्रे यत्राहं तिष्ठते सदा—कौलज्ञाननिर्णय १६।४१

५. न शिवेन बिना शक्तिर्न शक्तिरहितः शिवः ।
अन्योऽन्यं च प्रवर्तन्ते अग्निधूमौ यथा प्रिये ।
न वृक्षरहिता छाया न च्छायारहितो द्रुमः ॥
—वही, १७।८-९ नाथ-सम्प्रदाय, पृ० ६८ से

से उस परम शिव की भेद सत्ता नहीं है। शिव की यही निजा शक्ति कुण्डलिनी शक्ति रूप होकर देह में विराजमान हो जाती है।[1]

तन्त्र और सन्त में इसकी विस्तृत विवेचना करते हुए वर्णित है कि "विश्व के आधार की भाँति व्यक्ति पिण्ड में भी इसकी संस्थिति स्वीकार की गई है। वैष्णवों में यही महाशक्ति विष्णु की महालक्ष्मी, बौद्धों में प्रज्ञापारमिता अथवा प्रज्ञा तत्त्व है। इस प्रसुप्त शक्ति का प्रबोध ही समस्त आगमिक साधनाओं का लक्ष्य है। इसके जागरण हेतु शैवों, शाक्तों एवं वैष्णवों के यहाँ परमेश्वर अनुग्रह माना गया है। बौद्धों के यहाँ भी गुरु कृपा से पृथक् जन, 'स्रोतापन्न' हो जाता है। परमेश्वर शक्तिपात के शक्ति उद्बोधन में यदि कुछ कमी रह जाए तो उसकी पूर्ति गुरु-दीक्षा और साधक द्वारा किए जाने वाले उपायों द्वारा की जा सकती है। शक्तिपात, दीक्षा एवं विभिन्न प्रयोगात्मक उपायों द्वारा जागरित कुण्डलिनी अद्वैत, अद्वैताद्वैत एवं द्वैत के स्तरों को पार करती हुई सङ्कोचों या कञ्चुकों को विलीन करती हुई समस्त प्रकार को उपसंहृत करती हुई अन्ततः सामरस्य अद्वयावस्था को प्राप्त करती है। बौद्धों का बिन्दु का उद्बोधन और कुण्डलिनी जागरण एक ही बात है। गुह्य प्रक्रिया अथवा महामुद्रा साधना द्वारा साधक यत्नपूर्वक बिन्दु को क्षुब्ध एवं ऊर्ध्व संचारी करता है। इसके ऊर्ध्वगामी होने पर बिन्दु में से पार्थिव, जलीय, आग्नेय एवं वायवीय अंश समाप्त हो जाता है और अन्त में वह गगनोपम बोधिचित्त हो जाता है। बौद्धागमों में ब्राह्मण तन्त्रों की भाँति चक्रों की प्रक्रिया को आत्मसात् किया गया है। इनके यहाँ निर्माण, धर्म, सम्भोग और उष्णीषचक्र स्वीकृत है तथा बिन्दु का क्षोभ निर्माणचक्र में ही होता है। इस क्षुब्ध बिन्दु का ऊर्ध्वसंचार मध्यवर्तिनी अवधूतिका नाड़ी द्वारा होता है। ऊर्ध्वसञ्चार से अभिप्राय है समस्त विरोधी प्रवाहों का एकरस होकर ऊर्ध्व प्रवाह। कुण्डलिनी के ऊर्ध्व संचार और अधः संचार वृत्त पूरा होने की भाँति ही बौद्धों में बिन्दु का उष्णीष कमल तक सञ्चार होकर पुनः जब निर्माण चक्र में प्रतिष्ठा होती है तब वह स्थिर निर्वात दीपशिखा की भाँति निष्कम्प और स्थिर हो जाता है। यहाँ चित्त शोधन वृत्त पूरा हो जाता है और शून्यताकरुणाभिन्न बोधिचित्त की महासुखात्मा निज दशा की स्थिर स्थिति हो जाती है।"[2]

---

१. सि० सि० सं०, ४।१७-१८

२. तन्त्र और सन्त, पृ० ५३-५४ से उद्धृत।

सिद्धसिद्धान्तसंग्रह में इस शक्ति की चर्चा के प्रसंग में निर्दिष्ट है कि परापर स्वरूपा शब्द और अर्थ सृष्टि की उत्पादिका यह कुण्डलिनी सर्वत्र व्यापक है किन्तु देह में इसकी विशेष अभिव्यक्ति है। यह चेतनात्मिका शक्ति प्रबुद्ध और अप्रबुद्ध भेद से दो प्रकार की है। अर्थात् यह शक्ति चेतन* स्वभाव वाली है किन्तु जब तक यह शरीर में सुप्तावस्था में विद्यमान रहती है, तब तक प्राणियों के लिए शोकमोहादि बन्धन का हेतु है और अज्ञानियों के लिए जन्ममरण रूप विपरीत फल की प्रदायिका बनी रहती है और जब यह मूलाधारस्था अधोमुखी प्रयत्नपूर्वक उद्बुद्ध होकर ऊर्ध्वगामिनी हो जाती है, तब यह साधक के सभी अशुभ कर्मों और मन के सभी विकारों को नष्ट करती हुई सहज समाधि की प्रकाशिका कहलाती है।[1] हठयोगप्रदीपिका में भी कहा गया है कि जब यह प्रसुप्त कुण्डलिनी जग जाती है, तब सभी ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं।[2] और जब तक यह देह में सोई रहती है तब तक जीव पशु के समान आचरण करता रहता है तथा असंख्य योगाभ्यास करने पर भी उसको ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती।[3] इस विमर्श विद्या को ऊर्ध्व शक्ति के नाम से भी जाना जाता है। क्योंकि यह शक्ति समग्र भूत-भौतिक प्रपञ्चों की रचयिता एवं सब पदार्थों की अधिष्ठातृ रूप में सर्वत्र विद्यमान होने के कारण देह में व्याप्त आत्मावबोधक की कारण है।

देह पिण्ड में स्थित जीव की यह मार्मिक शक्ति वस्तुतः एक ही है किन्तु स्थान भेद के कारण यह तीन अवस्थाओं का अवलम्बन करती है। प्रथमावस्था में यह मूलाधार चक्रस्थ अज्ञान स्वरूप में विराजित होती है और यही इसकी अधोगति कहलाती है। जब इसका मूलबन्ध इत्यादि मुद्राओं के निरन्तर अभ्यास से जागरण किया जाता है तब यह शक्ति अपानवायु के घर्षण से उद्वेलित होकर मणिपूरकचक्र में पहुँच जाती है, जहाँ इसका स्वरूप ज्ञानवान् हो जाता है। यही इसकी मध्यमावस्था है। एतदनन्तर जब

---

* परम शिव धर्मी तथा उसकी शक्ति धर्म होने के कारण चेतन की शक्ति चेतन ही होगी। अन्यथा जगत् की उपादान शक्ति के जड़ होने पर समस्त जगत् प्रपञ्च जड़ ही होगा।

१. सि० सि० सं०, ४।१६-२१

२. हठयोगप्रदीपिका, ३।२

३. घेरण्ड-संहिता, ३।५०

यह प्राण-अपान के संयोग से सहस्रदल तक पहुँच जाती है, तब सर्वेन्द्रियों के व्यापारों के अवरुद्ध होने पर जीव को परमपद को प्राप्त कराती हुई बोध जनक स्वरूप होकर ऊर्ध्वा कहलाती है । यही इसकी तीन (अधः, मध्य और ऊर्ध्व) संज्ञाएँ हैं। अमरौघशासन में भी इसी प्रकार का निरूपण किया गया है।[1]

प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में कहा गया है कि मध्य के विकसित होने से चिदानन्द की प्राप्ति होती है।[2] जिसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि 'मध्य में भगवती संवित् ही है, क्योंकि वह सभी के रूप में विद्यमान रहती है तथा उसकी भित्ति में संलग्न हुए बिना अपने (वास्तविक) स्वरूप का ज्ञान नहीं होता । उसी (संवित्) ने माया की स्थिति में उस रूप में होते हुए भी (अपने) स्वरूप को छिपाकर "पहिले जो संवित् थी वही अब प्राण के रूप में परिणत हो गयी" इस विचार के द्वारा प्राणशक्ति-भूमि को स्वीकार करके अपने अवरोहण काल में देहादि भूमियों में विश्राम करती हुई सहस्रों नाड़ियों के मार्ग का अनुसरण किया है। और वहाँ भी वह संवित् पलाशपर्णमध्यशाखान्याय से ब्रह्मरन्ध्र से लेकर अधोवक्त्र पर्यन्त प्रधानतया प्राणशक्ति के रूप में ब्रह्म के आश्रय मध्य नाड़ी में स्थित है। उसी के द्वारा सभी वृत्तियों का उदय भी होता है और वहीं वे विश्रान्त भी हो जाती हैं। इस रूप में होते हुए भी यह पशु (प्रमाता) से (अपने) स्वरूप को छिपा लेती है और जब उक्त योग-साधना-काल में सभी के अन्तरतम में मध्यरूप में विद्यमान भगवती संवित् विकसित होती है अथवा मध्यरूपा ब्रह्मनाड़ी विकसित होती है तो उसी के विकास से उक्त चिदानन्द की प्राप्ति होती है और उसी के पश्चात् उपर्युक्त जीवन्मुक्ति'।[3]

मूलाधार की चर्चा के प्रसङ्ग में यह स्पष्ट करना उचित ही होगा कि समष्टि-व्यष्टि में अभिन्नत्व स्थापित कर यह समस्त जड़ और चेतन पदार्थों का जनक है मूलाधार होने से । इस पीठ के ध्यान और कुण्डलिनी के उत्थान से जीव ज्ञानी कहलाता है। यद्यपि मूलाधारादि पूर्वोक्त नव चक्रों में नव शक्ति की विद्यमानता है किन्तु वस्तुतः वह उसी प्रकार से एक ही है यथा

---

१. ऊर्ध्वशक्तिनिपाताच्च तथाधः शक्तिनिकुञ्चनात् ।
मध्यशक्तिप्रबोधेन जायते परमं सुखम् ॥

—अमरौघशासनम्, पृ० १

२. मध्यविकासात् चिदानन्दलाभः । प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, १७

३. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्—सम्पादक श्री विशालप्रसाद त्रिपाठी, पृ० १२६-१२९

महाकाश के उपाधि भेद से घटाकाश, और मठाकाशादि। मूलाधारस्थ इसी शक्ति के प्रसार और सङ्कोच से जगत् की सृष्टि और विनाश होता है, इसमें संशय नहीं करना चाहिए, क्योंकि जगत् के समस्त कार्यों की उत्पादिका होने के कारण ही यह मूल शक्ति है तथा उसी शक्ति के मूलाधार में प्रबुद्ध होने पर योगियों को सिद्धियों की प्राप्ति होती है।[१] तोडलतन्त्र में भी इसका वर्णन उपलब्ध होता है।[२] आगमों में निर्दिष्ट शक्ति जड़ नहीं, अपितु यह स्वतन्त्र चिति है जो विश्व की सिद्धि में कारण है।[३] यह चिति जब अपना विस्तार करती है तब विश्व का उन्मीलन और अवस्थान तथा जब यह अपने विस्तार को रोक लेती है तब विश्व भी निमीलित हो जाता है।[४] परम से अभिन्न इस शक्ति का प्रकृति एवं माया के सदृश परिणाम नहीं होता अपितु सृष्टि के इस मूल कारण का प्रसार एवं सङ्कोच होता है। आगमों की माया अशुद्धाध्वा की प्रथम अवस्था है जो बिना किसी प्रकाश के अनेकता का प्रकाशन करती है।[५]

श्रीसर्वमङ्गल में शक्ति और शक्तिमान् केवल दो पदार्थ स्वीकृत हैं।[६] न्याय और वैशेषिक शक्ति के जड़त्व को स्वीकार नहीं करते, मीमांसक और

---

१. सि० सि० सं०, ४।२०-२५

२. नाडीद्वयेन देवेशि समीरं पूरयेद् यदि।
ततस्तु प्राणमन्त्रेण कुण्डलीचक्रमं चरेत्॥
सहस्रारे महापद्मे नित्ये चाव्ययपङ्कजे।
त्रासयुक्ता कुण्डलिनी प्रविशेन्नित्यमन्दिरम्॥
सर्वाः पातालगामिन्य ऊर्ध्वस्रोता भवन्ति हि।
एतस्मिन् समये देवि वर्णमालां विचिन्तयेत्॥
—तोडलतन्त्रम्, २।१३-१५

३. चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः। प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, १

४. वही, टीका

५. माया च नाम देवस्य शक्तिरव्यतिरेकिणी।
भेदावभासस्वातन्त्र्यं तथा हि स तया कृतः॥
—तन्त्रालोक, ६

६. शक्तिश्च शक्तिमांश्चैव पदार्थद्वयमुच्यते।
शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः॥'
—(शिवसूत्र-विमर्शिनी, पृ० ८९ से)

अद्वैत वेदान्तियों ने भी शक्ति को जड़ और अनिर्वचनीया या मिथ्या माना है। यह मायारूपा शक्ति अचिन्त्य तथा दुर्घट अर्थ का सम्पादन करने वाली है, जो प्राचीन काल से ही प्रसिद्ध है। 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' इत्यादि स्थलों से ज्ञात होता है कि एक के बहु होने में मूल में इस शक्ति की क्रिया मानी जाती थी। वास्तव में यह परमेश्वर की अचिन्त्य महिमा है। उपनिषदों में वर्णित है कि "एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः"। इन स्थलों से यह ज्ञात होता है कि शक्ति पुरुषाभिन्न है। कहीं-कहीं शक्ति के चिद्रूप के उदाहरण भी प्राप्त होते हैं। सांख्य और पातञ्जल दर्शनों में 'चितिशक्तिरपरिणामिनी' का उद्घोष हुआ है। अद्वैत का अनुकरण करने वाले संक्षेपशरीरकार सर्वज्ञात्ममुनि 'अमला चितिशक्ति' की बात कहते हैं। इन स्थलों में शक्ति ब्रह्माभिन्न है। अर्थात् प्रथम स्थल में वर्णित शक्ति पुरुष एवं द्वितीय स्थल में वर्णित शक्ति ब्रह्म के लिए प्रयुक्त नामान्तर है।[1] सिद्धसिद्धान्तसंग्रह में वर्णित शक्ति शिव से अभिन्न है तथा इसी के प्रसार और संकोच से जगत् की सृष्टि और लय होता है।[2]

मध्य कुण्डलिनी के निरूपण में उक्त है कि यह शक्ति चिद्रूप होने से जीव का ही रूप है और जब तक जीव उस अपने में प्रतिष्ठित मध्यम शक्ति का उत्थान नहीं करता, तब तक वृथा ही जन्म-मरण के पाश में बँधा रहता है।[3] यह शक्ति भोगादि में आसक्त जीव को अपने चेतन रूप स्वप्रकाश में धारण करने में सर्वदा समर्थ है। भेद विषय से यह मध्यमा शक्ति स्थूला और सूक्ष्मा दो प्रकार की वर्णित है। शब्दात्मक स्थूल जगत् प्रपञ्च एवं पञ्चभूतात्मक अर्थ सृष्टि को उत्पन्न करने पर यह स्थूल कहलाती है। इस स्थूल कारण शक्ति के कार्य रूप में प्रकट होने पर यह शक्ति इन्द्रियगोचर होती है, जिससे इसे साकार मध्य शक्ति कहते हैं। महामहोपाध्याय डा०

---

१. (क) तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, प्रस्तावना पृ० ३, ४
(ख) तन्त्र और सन्त, पृ० ३९-४०

२. शक्तिप्रसरसङ्कोचौ जगतः सृष्टिसंहृती।
भवतो नात्र सन्देहस्तस्मात्तन्मूलमुच्यते॥
—सि० सि० सं०, ४।२४

३. कन्दोर्ध्वे कुण्डली शक्तिर्मुक्तिरूपाऽथ योगिनाम्।
बन्धाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित्॥
—योगशिखोपनिषद्, ६।५५

गोपीनाथ कविराज लिखते हैं कि "यह अनन्त वैचित्र्यमय विश्व, जिसे हम निरन्तर नाना प्रकार से अनुभव करते हैं, वस्तुत: वह शक्ति के आत्मप्रकाश के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। सुसूक्ष्म कारणजगत् लिङ्गात्मक सूक्ष्म जगत् और इन्द्रियगोचर जगत्, शक्ति के ही विभिन्न विकासमात्र हैं। इस विश्व के मूल में जो पूर्ण सत्ता पारमार्थिक रूप में वर्तमान है, वही शक्ति का परम रूप है। विशुद्ध चैतन्य के नाम से वर्णन करने पर भी, इसका ठीक-२ निर्देश नहीं किया जा सकता। इस वाणी और मन के अगोचर अनिर्देश्य अवर्णनीय परमार्थसत्ता को ही शास्त्र में 'परमपद' कहा गया है। यह सत् है या असत्—यह विषय लौकिक विचार के विषयीभूत होने पर भी विचार-दृष्टि से देखने पर आलोचना-प्रसङ्ग से यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इसमें प्रकाश और विमर्श—ये दोनों अंश अविनाभूत रूप में वर्त्तमान हैं। प्रकाश के बिना जिस प्रकार विमर्श असम्भव है, उसी प्रकार विमर्श को त्याग कर प्रकाश की स्थिति भी सम्भव नहीं है यह शिवशक्ति-स्वरूप प्रकाश और विमर्श का नित्य सम्बन्ध ही, चैतन्यरूप से महापुरुषों की अनुभूति में आता है तथा शास्त्रों में प्रचारित होता है। परन्तु चैतन्य होने पर भी वह प्रकाश और विमर्श की साम्यावस्था में अव्यक्त ही रह जाता है। इसी अवस्था का दूसरा नाम 'परमपद' है, इसमें सन्देह नहीं............। कहने की आवश्यकता नहीं कि अखण्ड परमार्थस्वरूप शिव, शक्ति से अभिन्न रूप होते हुए भी, स्वातन्त्र्य-जनित विक्षोभ के कारण उसके द्वारा अथवा उसी में भेदमय विश्वप्रपञ्च का उदय होता है। अतएव, त्रिविधविभागविशिष्ट (निष्कल, निष्कल-सकल और सकल) समस्त विश्व मूलतः शक्ति का ही विकास है, यह सुनिश्चित है।"[१]

पूर्वोक्त साकार मध्य शक्ति अर्थात् महामाया जब इस सम्पूर्ण जगत् कार्य-कलाप का त्याग कर सर्वत्र व्यापक रूप से विद्यमान एवं प्रबुद्ध रूप होकर योगियों के देह में विद्यमान है तब यह आनन्दस्वरूपा आत्मावबोधक सूक्ष्मा शक्ति कहलाती है। तात्पर्य यह है कि मूलाधार में स्थित यह कुण्डलिनी सूक्ष्मातिसूक्ष्म है किन्तु शब्दात्मक-स्थूल जगत् एवं पञ्चभूतात्मक अर्थ सृष्टि की उत्पादिका होने से यह स्थूल कहलाती है। सृष्टि रूपी कार्य में यह कुण्डलिनी कारण रूप से विराजमान है। इसी कारण यह साकार स्थूल शक्ति कहलाती है और नाभि-स्थान में विद्यमान यह शक्ति निज चतन्य

१. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, पृ० ८५-८६

स्वरूप से साधक को अखण्ड आत्मा का बोध कराती है। यह प्रबुद्ध शक्ति सूक्ष्म रूप से निराकार और सर्वत्र व्यापक रहती है। तात्पर्य यह है कि यह कुण्डलिनी स्थूल और सूक्ष्म भेद से दो प्रकार की है। स्थूल जगत् की उत्पादिका होने से यह स्थूल कहलाती है और नाभिचक्र में प्रबुद्ध होने पर यह सर्वव्यापक, सूक्ष्म और व्याप्तिव्यापक भाव से रहित है तथा विषय वासना से मोहित जन उसके भेद को नहीं जान सकते।[1] भाव यह है कि मूलाधारस्थ यह कुण्डलिनी सृष्टि-कुण्डलिनी के नाम से प्रसिद्ध है तथा यही समस्त जीवों के जीवन का निर्वाह करती है। और नाभिचक्र में ध्यान द्वारा प्रबुद्ध एवं ऊर्ध्वगामिनी यह शक्ति व्याप्य-व्यापक भाव का त्याग कर सूक्ष्मा तथा उपाधि और अवयव विहीन होकर अखण्ड की द्योतक हो जाती है। विषयासक्त जन इसके यथार्थ स्वरूप को न जानकर जन्म-मरण रूपी दुःख दावाग्नि में सदा दग्ध रहते हैं। अतः इसके यथार्थ स्वरूप का सम्यक् ज्ञान कर इस मध्य शक्ति महेश्वरी को प्रयत्नपूर्वक ऊर्ध्वगामिनी करना चाहिये जिसके फलस्वरूप जीव स्वस्वरूप का ज्ञाता बन जाता है क्योंकि "योगदर्शन में साधनाओं द्वारा पराशक्ति प्राणवायु को मणिधारचक्र से उठाकर हृदय के अनाहतचक्र में स्थिर कर देने पर पश्यन्ती अवस्था होती है, यही ज्ञान शक्ति का कोण है। इसमें बीजाङ्कुर होता है, जिसे समाधि की प्रथमावस्था कहते हैं। फिर उस बीज से दो पत्तियाँ निकलती हैं जो कि आपस में चिपकी रहती हैं, यह मध्यमा अवस्था है। यही इच्छाशक्ति का कोण है, जिसे समाधि की मध्यम अवस्था कहते हैं। दो पत्तियों के पारस्परिक संघर्षण से जो रस क्षरण होता है, वह क्रियाशक्ति का कोण है। इसे समाधि की चरमावस्था कहते हैं, यही निर्जीव निर्विकल्प समाधि है, इसमें ब्रह्म के प्रकाश की अनुभूति होती है।"[2]

ज्ञानस्वरूप व्यापक पूर्वोक्त इस सूक्ष्मा शक्ति को आत्माभिव्यक्ति हेतु ऊर्ध्वोन्मुखी करना परमावश्यक है क्योंकि इसके प्रबोधन से योगियों को पिण्ड की सिद्धि होती है। कुण्डलिनी का सहस्रार में प्रवेश ही ऊर्ध्वशक्तिनिपात कहलाता है जिसके प्रसंग में निर्दिष्ट है कि समस्त जागतिक प्रपञ्चों के ऊपर की स्थिति ही ऊर्ध्व कहलाती है। उस परमपद के स्वरूप को अभिव्यक्त

---

१. सि० सि० सं०, ४।२५-३२
२. श्री निम्बार्क वेदान्त, पृ० ११६

करने वाली शक्ति ही ऊर्ध्वशक्ति है। जीव जब बन्धन के हेतु अज्ञान की अवस्था में पर और स्व को द्वैत भावना से देखता हुआ घोर दुःखदावाग्नि से सदा दग्ध रहता है, तब यह प्रबुद्ध सर्वव्यापी शक्ति उस भेद का निराकरण कर अखण्ड का ज्ञान कराती है।[1]

हठयोगपरम्परा में शिव-शक्ति का अभेद सम्बन्ध है क्योंकि कूटस्थ परमशिव भी स्वरूप से सर्वत्र व्यापक है तथा समस्त विश्व को धारण करने वाली शक्ति भी सर्वत्र व्यापक है। शिव में शक्ति निहित है, शक्ति में शिव निहित है। दोनों वस्तुतः चिद्रूप हैं तथा उन दोनों में उसी प्रकार का अभेद सम्बन्ध है यथा चन्द्रमा और उसकी चन्द्रिका में क्योंकि विरल प्रकाश रूपी चन्द्रिका के प्रकाश पिण्ड समुदाय को ही चन्द्रमा कहते हैं। इन (विरल एवं पिण्ड) धर्मों के अतिरिक्त अन्य कोई अन्तर नहीं है। "इस दृष्टान्त में महा-योगी चन्द्रमा को अतिशय घनीभूत शान्त ज्योति, जो अपने भीतर स्वतः प्रकाशित है, के रूप में देखते हैं और चन्द्रिका को उसके चारों ओर समस्त दिशाओं में छिटकी हुई किरणों के रूप में, उसकी आत्माभिव्यक्ति मानते हैं।"[2]

दर्शनमाला में भी एक ही की सत्ता का प्रतिपादन किया गया है।[3] नाथमत में कूटस्थ सर्वव्यापक चेतन ब्रह्म और सृष्टि प्रक्रिया के सन्दर्भ में संकोच एवं विकास वाली शक्ति चिद्रूप है। ये दोनों अभिन्न सर्वव्यापक और चिद्रूप हैं। डा० गोपीनाथ कविराज जी लिखते हैं कि "तान्त्रिकों की दृष्टि में शिव तथा शक्ति में कोई भेद नहीं है। मूलतः दोनों एक ही हैं। जो परम शिव है, वही परमा शक्ति है। शक्ति के बिना शिव इच्छाहीन, ज्ञानहीन, क्रियाहीन और स्पन्दन में असमर्थ, शवमात्र है, और प्रकाशात्मक शिव के बिना शक्ति आत्म प्रकाश में भी असमर्थ है। दोनों ही चिद्रूप होने के कारण स्वरूपतः अभिन्न हैं, एवं एक को छोड़कर दूसरा रह भी नहीं सकता। वस्तुतः चित्स्वरूप में लिङ्गभेद नहीं है, इसीलिए वह अलिङ्ग होकर भी सर्वलिङ्ग रूप में प्रकाशित होता है तथा नाना लिङ्ग-रूप में प्रकट होने पर भी अलिङ्ग

---

१. सि० सि० सं०, ४।३३-३६
२. गोरख दर्शन, पृ० ६८
३. एकस्यैवास्ति सत्ता चेदन्यस्यासौ क्व विद्यते।
सत्यास्त्यात्माश्रयो यद्यप्यसति स्यादसंभवः॥ — दर्शनमाला—२।६

है।[1] यह यथानिर्दिष्ट श्वेताश्वतरोपनिषद् की ही प्रतिध्वनि है।[2] यह मूलगत परम साम्य ही अद्वैत स्थिति है। यही सामरस्य है, जिसके सम्बन्ध में श्रुतियों में भी कहा गया है।[3] यह स्थिति अभेदात्मक है, इसमें भेद नहीं है। परन्तु भेद न रहने पर भी दृष्टि भेद से विलक्षण है।........... समयी कहते हैं कि शिव और शक्ति में पाँच प्रकार का साम्य विद्यमान है (१) अधिष्ठान-साम्य (२) अनुष्ठान-साम्य (३) अवस्थान-साम्य (४) रूप-साम्य और (५) नाम-साम्य। दोनों के साम्य में सम-प्राधान्य ही है, शेष-शेषिभाव नहीं है।"[4]

इस प्रकार परासंवित्स्वरूप शिवशक्ति के सामरस्य से अभिप्राय यह है कि चिद्रूप सर्वत्र व्यापक अनादि शिव ही निजा, परा इत्यादि शक्ति-रूपों के द्वारा समस्त ब्रह्माण्डों एवं पिण्डों का आधार मात्र है। इन दोनों तत्त्वों की सामरस्य स्थिति को समझकर सकलपिण्ड की आधारभूता कुण्डलिनी को ब्रह्मरन्ध्र तक ले जाना ही मुक्ति है क्योंकि समस्त जगत् प्रपञ्चावयवों की रचना करने वाली परम से अभिन्न शक्ति ही सर्वत्र विराजित है। चेतन रूप समस्त तत्त्वों में पर महिमा युक्त सर्वत्र प्रकाशित है। भाव विषयक वस्तुओं में प्रकाश की तरह व्यापक एवं समस्त जागतिक विषयों में अनुगत यह संवित् है। स्वात्मानुभूति का हेतु भी यही है।[5]

चतुर्थ उपदेश का उपर्युक्त अन्तिम पद्य सम्भवत: गोरक्षनाथ जी रचित सिद्धसिद्धान्तपद्धति में से लिया गया है। सिद्धसिद्धान्तपद्धति में इस पद्य की व्याख्या करते हुए वर्णित है कि परब्रह्म सर्वत्र व्यापक है। क्योंकि समस्त भूत-भौतिक द्रव्यों के अवयवों की रचना करने वाली परम से अभिन्न शक्ति सर्वत्र है। चेतन के बिना जड़ वस्तु की स्थिति सर्वथा असम्भव है अत:

---

१. शिवो देव: शिवा देवी शिवं ज्योतिरिति त्रिधा।
अलिङ्गमपि तत्तत्वं लिङ्गभेदेन कथ्यते॥
(कुमार कृत् तत्त्वप्रकाश-व्याख्या)

२. नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं (स्यात्) नपुंसक:॥
—श्वेताश्वतरोपनिषद्, ५।१०

३. "परमं साम्यमुपैति दिव्यम्"।

४. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, पृ० ३-४

५. सि० सि० सं०, ४।३८-३९

सबका आधार चेतन है। प्रकृति मायादि तत्त्वों में पर-महिमा-सहित शक्ति सर्वत्र प्रकाशमान हो रही है। एवं भाव रूप स्थिर वस्तुओं में सूर्यप्रभा की तरह व्यापक और सकल कार्यों में अनुगत रूप से यह संवित् शक्ति ही भासमान है और सकल प्राणियों की बुद्धिवृत्ति में निश्चय रूप से बढ़ी हुई भी यह संविद् शक्ति ही है। इसी से प्राणी स्व-स्व कार्यों में तत्पर रहते हैं। या ज्ञान, ध्यानादि में स्थिति कराने वाली भी यही शक्ति है। अतः सर्वत्र व्यापक सर्वाधार महासिद्ध योगियों के ध्यान से ही गम्य चेतन ब्रह्म नाना आकार से प्रकाशमान हो रहा है।[1]

बङ्गाल के शाक्त सन्त (सन् १७१८ ई०) श्री रामप्रसाद सेन कहते हैं कि "मां तारा, मां काली ! क्या ऐसा दिन भी आयेगा जब तारा-तारा पुकारते मेरी आंखों से आंसू की धारा उमड़ पड़ेगी ? हृदय-कमल खिल उठेगा, मन का अन्धकार दूर हो जायेगा और मैं धरती पर लोट-लोटकर तुम्हारे नाम को जपते-जपते आकुल हो जाऊँगा। भेद-भाव छोड़ दूंगा, मन की खिन्नता मिट जाएगी। अरे सौ-सौ वेद की ऋचाओ। मेरी मां तारा निराकार है, वह घट-घट में विराजमान है। ऐ अन्धे ! देखो न, माँ अन्धकार को हटाती हुई अँधेरे में ही विराज रही है।"[2] यह तो है शाक्त वाणी और गोरक्षनाथ "परा-संवित्' (शुद्ध चैतन्य) का वर्णन करते हुए कहते हैं (पुनः उसी अन्तिम पद्य का अनुवाद कुछ भेद से गोरखदर्शन पृ० ५२ से उद्धृत) कि "एक संवित् समस्त प्रकार के पदार्थों की समस्त व्यवस्थाओं के अंगों और गुणों को

---

१. सि० सि० प० ४।२८

२. ए मन दिन कि हबे तारा।
जब तारा तारा तारा बले ॥
तारा बये पड़बे धारा ॥
हृदि पद्म उठ्बे फुटे मनेर आँधार जाबे घुटे,
तखन धरातले पड़ब लूटे, तारा बले हब सारा ॥
त्याजिब सब भेदाभेद, घुचे जाबे मनेर खेद,
ओरे शत शत सत्य वेद, तारा आमार निराकार ॥
श्रीरामप्रसाद रटे, मा विराजै सब्बं घटे,
ओरे आखि अन्ध, देख माके तिमिरे तिमिर-हरा ॥
(सन्त वाणी अंक—कल्याणाङ्क संख्या (२९) सन् १९५५)
पृ० ३३८

एकत्रित करने वाला तथा समस्त प्रकार की सत्ताओं की व्यवस्थाओं में सर्व-गौरवपूर्ण अकेला प्रकाशमान है। वह एक संवित् समस्त व्यावहारिक सत्ताओं के सीमित, परिवर्तनशील तथा नानावस्तुरूपों में स्वयं को प्रकट कर रहा है। सब प्रकार के मानसिक अनुभवों में स्वयं को अनेक प्रकार के आत्मगत रूपों में प्रकट करता हुआ कौशल से यह एक संवित् अनेक सीमित विशेषताओं को धारण कर लेता है।"[1]

इन सब प्रमाणों से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि परम, निजा, परा इत्यादि शक्तियों से ही इस ब्रह्माण्ड रूप समष्टि एवं पिण्ड रूप व्यष्टि में समाया हुआ है। उसकी अपनी शक्ति का प्रसार और सङ्कोच ही सृष्टि और लय है। यही शक्ति कुण्डलिनी रूप से देह पिण्ड में विद्यमान है, इसका प्रबुद्ध होना ही आत्मावबोध है। क्योंकि उस शक्ति के प्रबुद्ध होने से यह परम और जीव की द्वैत भावना का निराकरण कर अखण्डाद्वैत को प्रकाशित करती है। यही है योगियों की सहज समाधि।

---

१. सत्त्वे सत्त्वे सकल रचना राजते संविद् एका,
तत्त्वे तत्त्वे परम महिमा संवित् एवावभाति।
भावे भावे बहुल तरला लम्पटा संविद् एका,
भासे भासे भजन चतुरा बृंहिता संबिद् एव॥
—सि० सि० प०, ४।२८

पञ्चमोपदेश

इस उपदेश में योगियों की साधना के अन्तिम आदर्श **'समरसकरण'** को उपस्थापित किया गया है। व्यष्टि पिण्ड का समष्टि पिण्ड के साथ, पिण्डों का शक्ति के साथ और इन सबका परमपद के साथ एकीकरण ही समरसीकरण कहलाता है। साधक के द्वारा व्यष्टि पिण्ड और समष्टि पिण्ड का सम्यक् ज्ञान होने पर कूटस्थ शिवशक्ति रूप परमपद में समरस की भावना करनी चाहिए। जिसके फलस्वरूप **'ज्ञाते द्वैतं न विद्यते'** अर्थात् समस्त पदार्थों का और आत्मा का भेद नष्ट हो जाता है। जीव ही शिवस्वरूप हो जाता है। समस्त ब्रह्माण्ड के शिवमय होते ही **' न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते ।'**[1]

इस सम्प्रदाय की योग साधना का चरम लक्ष्य पतंजलि के पूर्व या परवर्ती कुछ बौद्ध मतों तथा शाङ्कर वेदान्त की धारणाओं से मूलतः भिन्न है और प्राचीन व मध्यकालीन अद्वैतवादी आगमों के अनुरूप है। इसी आदर्श को सामरस्य कहते हैं, जिससे अभिप्राय है कि समस्त भेदात्मक स्थितियों से ऊपर उठकर समरस हो जाना। यह प्रक्रिया सांख्यदर्शन की परातत्परता तथा वेदान्तिक मायावाद की उदात्तता इन दोनों से ही भिन्न है। पुरुष-प्रकृति अथवा शिव-शक्ति के मध्य एकत्व ही इसका सिद्धान्त है। इस अवस्था में शिव-शक्ति समरस होकर अभिन्न एवं अविभाज्य बन जाते हैं,[2] यथा अग्नि और दाहकता। वैषम्य से रहित अवस्था ही समरस भाव है, इसे अद्वयावस्था भी कहा जाता है क्योंकि इस अवस्था में दो या बहुतों का भेद तो रहता ही नहीं अपितु वैषम्य के बीज का भी अभाव हो जाता है। यही अवस्था चिदानन्दमयी अद्वैत निष्ठा है। इसके परे जो अवस्था है वह अनाम, बुद्धि के अतीत, अव्यक्त और स्वयम्प्रकाश है। वह निर्विकल्प निरुत्थान निर्द्वन्द्व स्थिति है।[3] दर्शनमाला में श्री नारायण गुरु ने निर्वाण को शुद्ध और

---

१. मुक्त होने पर पुरुष पुनः लौटकर नहीं आता।

—छान्दोग्योपनिषद् ८।१५।१

२. प्रस्तावना—गोरख दर्शन—डा० गोपीनाथ कविराज

३. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, पृ० १८४-८५

अशुद्ध भेद से दो प्रकार का कहा है ।[1]

नाथमत में वह साधक श्रेष्ठ नहीं जो केवल एक ही पिण्ड व्यष्टि अथवा समष्टि को जानता है, अपितु श्रेष्ठ साधक वही है जो व्यष्टि पिण्ड और समष्टि पिण्ड को सम्यक् ज्ञात कर उनका परमपद में समभाव करता है। इस मत में पिण्ड सिद्धि सामरस्य की पूर्व स्थिति निर्दिष्ट है। परमपद और समष्टि-व्यष्टि पिण्डों का समरस करने वाले योगनिष्ठ साधक की समस्त इच्छाओं का नाश हो जाता है। यह कठोरतम साधना गुरु निर्देशन के अभाव में कभी सफल नहीं हो सकती।

गुरु के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग के अनुसार परपिण्ड और स्वपिण्ड को चित्त में धारण कर परमपद में उनका रससाम्य करना चाहिए। वह परमपद स्वसंवेद्य एवं अत्यन्ताभासाभासकमय है।[2] द्वैताद्वैतविवर्जित वह परमपद स्वानुभवैकगम्य है। वह स्वसंवेद्य और स्वप्रकाशरूप है। अर्थात् परमपद स्वयं चेतन प्रकाशमय होने के कारण अन्य जड़ प्रकाश से प्रकाशित न होकर उन (जड़) प्रकाशों को प्रकाशित कर स्वयं भासित होता है। कठोपनिषद् और मुण्डकोपनिषद् में वर्णित है कि उस स्वप्रकाश परब्रह्म के समीप यह सूर्य प्रकाशित नहीं होता। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश होने पर खद्योत का प्रकाश लुप्त हो जाता है, उसी प्रकार सूर्य का तेज भी उस असीम तेज के सामने लुप्त हो जाता है। चन्द्र, तारागण और विद्युत् भी वहाँ नहीं चमकते फिर इस लौकिक अग्नि की तो बात ही क्या? समस्त जगत् के

---

१. निर्वाणं द्विविधं शुद्धमशुद्धञ्चेति तत्र यत्।
शुद्धं निर्वासनं तद्वदशुद्धं वासनान्वितम्॥
अतिशुद्धं शुद्धमिति शुद्धं च द्विविधं तथा।
अशुद्धशुद्धञ्चाशुद्धमशुद्धाशुद्धमुच्यते॥
अतिशुद्धं त्रिधापश्चाद्वरे चैकं वरीयसि।
एकमेकं वरिष्ठेऽथ शुद्धं ब्रह्मविदि स्थितम्।
अशुद्धशुद्धं विरजस्तमोऽन्यत्सरजस्तमः।
मुमुक्षौ प्रथमं विद्याद् द्वितीयं सिद्धिकामिषु॥
दग्ध्वा ज्ञानाग्निनां सर्वमुद्दिश्य जगतां हितम्।
करोति विधिवत्कर्म ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः॥
(वेदान्तदर्शन, दर्शन माला-१०।१-५)

२. सि० सि० सं०, ५।१-३

प्रकाशशील तत्त्व उसी परमतत्त्व की प्रकाश शक्ति के अंश को पाकर ही प्रकाशित होते हैं।[1]

आगम मत में परम शिव की अवस्था ही पूर्णता की परिचायक चरमावस्था है, जिसमें शिव और शक्ति का साम्य प्रकट होता है। शिव भाव अभिव्यक्त भाव का प्रकाश है, जिसके कारण सब कुछ प्रकाशित होता है और कुछ भी न रहने पर जो स्वप्रकाश से प्रकाशित होता रहता है। इसी प्रकाश की अहंरूप विमर्शन ही शक्ति है।[2]

प्रस्तुत ग्रन्थ में स्पष्ट कहा गया है कि परम-पद बुद्धि और मन से भी अतीत है, स्वरूप में स्थित कराने वाली कला भी उसका निर्वचन नहीं कर सकती, ऊहापोह और तर्क-वितर्क भी जहाँ नहीं पहुँच सकते वहाँ वाणी तो कर ही क्या सकती है। जब वह परमपद मन और वाणी से अतीत है तो गुरु भी उसका उपदेष्टा किस प्रकार से बन सकता है, अतएव स्वयं महेश्वर ने उस परमपद को स्वसंवेद्य कहा है।[3] उस परम को योग-समाधि द्वारा ही अनुभव किया जा सकता है या वह परम उसके लिए लभ्य है, जिसके लिए वह अपने यथार्थ स्वरूप को प्रकट करता है।[4]

वह परमपद विविध प्रकार के विचारों में निपुण विद्वानों की चर्चा के प्रसङ्ग से भी अलभ्य है। उस निरुपाधि परम को उपाधि रहित गुरु ही स्वसंवेद्यता के आधार पर बता सकता है क्योंकि सन्मार्ग (योग-मार्ग) को जानने वाले गुरु द्वारा स्वसंवेद्य स्वरूप का बोध होता है।[5] शिव-शक्ति सदृश गुरु-शिष्य के सामरस्य की भी आवश्यकता होती है।[6]

---

१. न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं,
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥
—कठोपनिषद्, २।२।१५, मुण्डकोपनिषद्, २।२।१०

२. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, पृ० ६०

३. सि० सि० सं०, ५।४-५

४. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्॥
—कठोपनिषद् १।२।२३

५. सि० सि० सं०, ५।६

६. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, पृ० १६२

सामरस्य की प्राप्ति से पूर्व स्वविश्रान्ति अत्यन्त आवश्यक है और जिसके कारण है स्वसंवेद्य गुरु।[1] गुरु की कृपापूर्ण दृष्टि से एक क्षण में ही चित्त विश्रान्त हो जाता है।[2] चित्तविश्रान्ति के अनन्तर परम का सक्षात्कार और इसके बाद परमपद में अपने पिण्ड का समरसीकरण होता है। तब उत्पन्न होती है आत्यन्तिक निरुत्थानदशा।[3]

परम्परा से प्राप्त सन्मार्ग (योग-मार्ग) प्रदर्शन की योग्यता में समर्थ ही वास्तव में गुरु संज्ञक हैं क्योंकि वास्तविक आत्मविश्रान्ति (स्वसंवेद्य स्वरूप अथवा अखण्ड व्यापक आत्मज्ञान) के प्रदाता की सामर्थ्य उन्हीं में है। अतएव गुरु का देवभाव से चिन्तन करना चाहिए। यहाँ सन्मार्ग का अभिप्राय योग-मार्गातिरिक्त मार्ग का निषेध है। उस गुरु के निर्दिष्ट मार्ग का अनुसरण करने के अनन्तर स्वसंवेद्य होता है, क्योंकि उस क्षण जब परमपद प्राप्ति के उपाय सन्मार्ग का अवलोकन कराने वाले गुरु आत्मज्ञानोपदेष्टा के रूप में उपस्थापित होते हैं तब आत्मसाक्षात्कार सहित अष्ट सिद्धियों का आविर्भाव होता है। इसी हेतु गुरु को आत्मविश्रान्ति के रूप में उपस्थापित किया गया है। अतः यह स्पष्टोक्त है कि ज्ञानहीन गुरु का त्याग[4] और सन्मार्ग के उपदेष्टा गुरु का देव भाव से चिन्तन करना चाहिए।[5] इस प्रकार के गुरु की करुणार्द्र कटाक्ष से मुनि लोग सब सिद्धियों के फलों का त्याग कर स्वात्मैकवेद्य रूप से निरुत्थानत्व की प्राप्ति के उपरान्त कृतार्थ होते हैं और स्वपिण्ड को परपिण्ड के साथ शुद्धचैतन्य का निश्चल अभेदानुभव द्वारा समरस की योग्यता में सामर्थ्य पाते हैं। अर्थात् जब योगी योग्य गुरु के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का अनुसरण कर परपिण्ड को समस्त चराचर सहित स्वपिण्ड में अभेदानुभव की योग्यता को प्राप्त कर लेता है, तब ध्येय और ध्यान की अभिन्नत्वावस्था से निजावेश (समष्टि और व्यष्टि तथा जीवात्मा और परमात्मैकता की भावना से निजदेहाभिमान अर्थात् निज पिण्ड के सञ्चालन सदृश परपिण्ड

---

१. सि० सि० सं०, ५।७
२. किमत्र बहुनोक्तेन शास्त्रकोटिशतेन च।
   दुर्लभा चित्तविश्रान्तिर्बिना गुरुकृपां पराम्॥
३. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, पृ० १९६
४. सि० सि० सं०, ५।३८
५. वही, ५।८

सञ्चालन की योग्यता का होना) होता है।[1] छान्दोग्योपनिषद् में भी सम्भवतः इसी दशा की ओर संकेत करते हुए वर्णित है कि वही (भूमा) नीचे, ऊपर, पश्चिम, पूर्व, दक्षिण और उत्तर में है। वही यह सब है। अब उस (भूमा) का अहङ्कार आदेश है। मैं नीचे, ऊपर, पश्चिम, पूर्व, दक्षिण और उत्तर में हूँ। मैं ही यह सब हूँ। अब उस (भूमा) का आत्मा आदेश है। आत्मा ही नीचे, ऊपर, पीछे, आगे, दक्षिण और उत्तर है, आत्मा ही यह सब है। निश्चय वह यह (विद्वान्) इस प्रकार देखता, मनन एवं जानता हुआ तथा आत्मा में ही क्रीड़ा, रत, योग और आनन्द प्राप्त करता हुआ स्वतन्त्र अधिपति होता है। उसकी सब लोकों में स्वतन्त्र गति होती है। यह निश्चय है कि इस प्रकार देखने, मनन और जानने वाले उस विद्वान् को आत्मा ही से यह सब प्राप्त होता है। आत्मा से ही प्राण, आशा, स्मृति, आकाश, तेज, जल, आविर्भाव, तिरोभाव, अन्न, बल, विज्ञान ध्यान, चित्त, सङ्कल्प, मन, वाणी, नाम, मन्त्र और कर्म आत्मा ही से सब प्राप्त होते हैं।[2]

निजावेश से स्थायी महानन्दावस्था और अमलानन्दमय प्रकाश का उद्भव होता है। इस परम प्रकाश के अनुभव से द्वैत-भावना रूपी भेद के नष्ट होने पर स्वसंवेद्यानुभवाधार से अभिन्न, अद्वैत, अपारचैतन्यभासक परमपद का उदय हो जाता है। अभिप्राय यह है कि स्वचित्तविश्रान्ति होने पर ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद नष्ट हो जाता है। यही महानन्दावस्था है। तब केवल स्वसंवेद्य, स्वप्रकाश, स्वप्रबोध आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होता है और साधक उस अवस्था में नित्य अस्खलित भाव से विराजमान हो जाता है, फलस्वरूप अभिन्न परमपद का उदय होता है। परमपद के अनुभव के प्रभाव से भली प्रकार स्वपिण्डज्ञान उत्पन्न होता है और स्व का परम में निर्वाण और ऐक्य प्राप्त होता है। इसके पश्चात् स्वरश्मिपरावृत्ति नाम का द्वितीय उन्मेष प्रकट होता है और उसका त्याग होना ही समरस क्रिया है। तब निज किरण-पुंजों का स्वस्वरूप से साक्षात्कार होता है।[3] सिद्धसिद्धान्तपद्धति में वर्णित है कि व्यष्टिपिण्ड को सम्यक् प्रकार से जानकर उसे परम में एकीकृत कर और उस परमपद को अपने व्यष्टि-पिण्ड में एकात्मस्वरूप कर निरन्तर एकता की आवृत्ति करनी चाहिए। इससे साधक परमपद का अनुभव करते हैं। उनके व्यष्टि-पिण्ड में ही सर्वभौम ऐश्वर्य और परमानन्द का प्रादुर्भाव होता है। इसके अनन्तर स्वपिण्डपरीक्षा करते हुए कहा गया है कि निज

१. सि० सि० सं०, ५।६-१०
२. छान्दोग्योपनिषद्, ७।२५-२६ खण्ड।
३. सि० सि० सं०, ५।११-१४

शरीर में भी परमात्मस्वरूपकिरणरूप आनन्द का ही विस्तृत विकास होता है। उस आनन्द विकास को पुनः स्वपिण्ड में समेट लेना ही समरसकरण कहलाता है।[१] इस स्थिति में अद्वय का बोध होता है जिससे द्वैत और अद्वैत की एकता हो जाती है। ब्रह्मविद्योपनिषद् में कहा गया है कि मैं प्रज्ञाता, प्रशान्त, प्रकाशरूप परमेश्वर हूँ तथा द्वैत और अद्वैत से भिन्न मैं ही एकमात्र चिन्तनीय हूँ।[२] सिद्ध जालन्धर जी ने भी नाथ को द्वैताद्वैतविलक्षण कहा है।[३]

एक ही तत्त्व की उद्‌घोषणा परवर्ती उपनिषदों में भी की गई है। ब्रह्मोपनिषद् में वर्णित है कि उस आत्मा अर्थात् ब्रह्म में लोक, लोक स्वरूप में नहीं है, माता, माता रूप में नहीं है, भार्या, भार्या रूप में नहीं है, चाण्डाल, चाण्डाल रूप में नहीं है, भील, भील रूप में नहीं है, सन्यासी, संन्यासी रूप में नहीं है और वानप्रस्थी, वानप्रस्थी रूप में नहीं है। परन्तु वह ब्रह्म सदा एक ही रहकर निर्वाण स्वरूप में प्रकाशित होता है।[४] ब्रह्मविद्योपनिषद् में निर्दिष्ट है कि मैं नित्य, निर्दोष, निष्क्रिय, निरञ्जन, निर्मल, निर्विकल्प, निराख्यात और निश्चल हूँ।..... ....। मैं परामृत एवं पुरातन, पूर्णानन्द, एकबोधरूप तथा एकरस रूप हूँ।[५]

समरस भाव की चर्चा बौद्ध तन्त्रों में भी उपलब्ध होती है। इनकी सहजावस्था में प्रज्ञा और उपाय का भेद समाप्त हो जाता है। इस दशा में हीन, मध्य और उत्कृष्ट सभी भाव सत्त्व भाव से समरूप हो जाते हैं। समर-

---

१. सि० सि० प०, ५।१०-११

२. प्रज्ञातोऽहं प्रशान्तोऽहं प्रकाशः परमेश्वरः।
एकधा चिन्त्यमानोऽहं द्वैताद्वैतविलक्षणः॥

—ब्रह्मविद्योपनिषद्, १०१

३. बन्दे तन्नाथतेजो भुवनतिमिरमहं भानुतेजस्करं वा।
सत्कर्तृव्यापकं त्वा पवनगतिकरं व्योमवन्निर्भरं वा।
मुद्रानादविशूलैर्विमलरुचिधरं खर्परं भस्ममिश्रं
द्वैतंवाऽद्वैतरूपं द्वय उतपरं योगिनं शंकरं वा॥

४. ब्रह्मोपनिषद्, २

५. ब्रह्मविद्योपनिषद्, ९७-१००

सता की चर्चा हेवज्रतन्त्र के अतिरिक्त भी प्राप्त हो जाती है।[1] प्रज्ञा और उपाय का सामरस्य ही वज्रयोग है।...............यह समरसता अद्वय भाव की द्योतक है।[2]

पूर्वोक्त पिण्डसिद्धि के अनन्तर योगियों में सिद्धियों का प्रादुर्भाव होता है, किन्तु साधक को उन प्राप्त सिद्धियों में आसक्त नहीं होना चाहिए। क्योंकि सर्वत्र व्यापक परमपद को जान लेने पर समस्त जागतिक प्रपञ्च अनायास ही जाना जाता है। अतएव परमपद को ही जानना चाहिए और वह सहज, संयमयुत, सोपाय और साद्वय क्रम से परिलक्षित होता है। इन ज्ञानों के सिद्ध होने पर साधक को स्वविश्रान्ति होती है[3] और तब होती है—आत्यन्तिक निरुत्थान दशा।

सहज—यद्यपि परमपद विश्व से अतीत हैं किन्तु स्वशक्ति से नाना रूप धारण कर विश्व में व्याप्त है। तत्त्व की दृष्टि से वह एक ही है। ऐसा स्वाभाविक ज्ञान सहज कहलाता है।[4] "यह विश्वातीत परमेश्वर की विश्व-रूप में अवस्थिति अथवा आत्मा में विश्वदर्शन है।"[5] श्वेताश्वतरोपनिषद् में वर्णित है कि जो निज शक्तियों से सभी लोकों पर प्रभुत्व रखता है, वह रुद्र एक ही है। सभी देहधारियों में स्थित होकर लोक की रचना करता हुआ सबका रक्षणीय है और प्रलयावस्था में सबको अपने भीतर समेट लेता है।[6] जबकि पाशुपतब्राह्मणोपनिषद् में कहा गया है कि तत्त्व की दृष्टि से एक ही तत्त्व वास्तविक है तथा व्यावहारिक दृष्टि से सब कुछ आभास मात्र है। यह सब अद्वैत ही है।[7]

---

१. समं तु तुल्यमित्युक्तं तस्य चक्रे रसः स्मृतः।
समरसं त्वेकभावत्वमेतेनात्मनि भण्यते॥

२. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, पृ० १९७-१९८

३ सि० सि० सं०, ५।१५-१७

४. वही, ५।१८

५. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, पृ० १९९

६. श्वेताश्वतरोपनिषद्।

७. तत्त्वदृष्टया तु नास्त्येव तत्त्वमेवास्ति केवलम्।
व्यावहारिकदृष्टिस्तु प्रकाशाव्यभिचारतः॥
प्रकाश एव सततं तस्मादद्वैत एव हि।
अद्वैतमिति चोक्तिश्च प्रकाशाव्यभिचारतः॥
पाशुपतब्राह्मणोपनिषद्, उत्तरकाण्ड, १९-२०

ससंयम—देह में स्थित विषयों के प्रति जाने वाली वृत्तियों को विषयों से निवृत्त कर संयत भाव से आत्मा में लगाना ही संयम कहलाता है।[1] "देदीप्यमान सब वृत्तियों को आत्मा में संयतभाव से धारण करना।"[2]

सोपाय—प्रकाशमय आत्मा को सर्वत्र व्यापक रूप से एक जानकर उसी में स्थित रहना सोपाय ज्ञान कहलाता है।[3] इस ज्ञान से अखण्ड आत्मा का बोध होता है। "प्रकाशमय आत्मा को स्वयं ही स्वरूपतः एक कर लीला-भाव से स्थिति।"[4]

साद्वय—अजाति का सत्त्वदर्शन ही साद्वय कहलाता है।[5] इस दशा में आत्मा की परमात्मा में अभेदता हो जाती है। अद्वयतारकोपनिषद् में वर्णित है कि जीव और ईश्वर को मायिक जानते हुए अन्य सबको नेति-नेति कहते हुए जो कुछ शेष रहता है वही अद्वय ब्रह्म है।[6]

ये चारों भाव परमपद प्राप्ति के हेतु हैं। तब योगी निरुत्थान भाव से परमात्मस्वरूप में सदा तृप्त होता रहता है। और साधक निरुत्थान दशा में स्थित हो जाता है। परमपद प्राप्ति के इन चारों साधनभूत उपायों को संक्षेप में इस प्रकार से कहा जा सकता है कि जीव और परम का अभेद सहज, इन्द्रिय-निग्रह संयम, स्वविश्रान्ति सोपाय और परमपद अद्वैत है। इसको सद्गुरु के मुख से ही जाना जा सकता है न कि करोड़ों शास्त्र ग्रन्थों द्वारा, न कर्तृत्व न विज्ञान, न हठपूर्वक वेदपाठ, न वैराग्य, न निराशा, न प्राणायाम, न मुद्रा धारणा, न मौनव्रत धारण, न औदासीन्य, न निर्वाण, न कायक्लेश, न दास्यता, न सन्देश, न नानाव्रतों के पालन, न षड्दर्शन, न वेषधारण, न मुण्डन और न ही अनन्त उपायों के द्वारा परमपद का बोध होता है। अपितु सद्गुरु की कृपादृष्टि होने पर ही परमभक्त शिष्य को परमपद का बोध होता है। यह शिक्षा औपदेशिक अथवा दृष्टिपात अथवा करुणा-वलोकन से पूर्ण होती है।[7] इस उपाय को शक्तिपात कहते हैं। इसका दूसरा

---

१. सि० सि० सं०, ५।१९
२. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, पृ० १९६
३. सि० सि० सं०, ५।२०
४. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, पृ० १९६
५. सि० सि० सं०, ५।२१
६. 'जीवेश्वरौ मायिकाविति विज्ञाय सर्वविशेषं नेति नेतीति विहाय यदवशिष्यते तदद्वयं ब्रह्म'। अद्वयतारकोपनिषद्-३
७. सि० सि० सं०, ५।२२-३०

नाम कृपा या भगवदनुग्रह है।[1] यह शक्तिपात सद्गुरु ही कर सकता है। इस कृपा के परिणामस्वरूप साधक परमपद को प्राप्त करता है।

इसके अनन्तर सद्गुरु लक्षण के अन्तर्गत निर्दिष्ट है कि सम्यक् आनन्दोत्पादक सद्गुरु कहलाता है। क्योंकि सद्गुरु के चतुर्थांश निमेष दृष्टिपात से शिष्य आत्मानन्द स्वरूप में स्थित हो जाता है। ऐसे सम्यक् ज्ञान के उपदेष्टा गुरु को नमस्कार है। स्वस्वरूपानन्द ज्ञान बोधक उपदेशों से नाना संकल्प-विकल्प रूपी उद्वेगों को शान्त करने वाला ही सद्गुरु है न कि परमपद के स्वरूप से वञ्चित कराने वाला मिथ्यावादी। जो शिष्य को सम्यक् चैतन्य विश्रान्ति का उपदेश प्रदान करे, वही सद्गुरु है क्योंकि उससे परमपद प्राप्त होता है।

जिसकी करुणापूर्ण दृष्टि से पारा भी स्थिरता प्राप्त करता है, ऐसे करुणामय परमनिधि गुरु में ही मन मग्न होना चाहिये न कि अन्य वाद और तर्क-वितर्क रूपी मकरों के उछलने से अत्यन्त भयदायक और अभेद्य भ्रमों को धारण करने वाले अत्यन्त कठोर संसार रूपी लवण सागर में। सद्गुरु के सम्यक् उपदेशों से ही परमपद प्राप्त हो सकता है अन्य उपाय तो केवल नामधारक मात्र ही हैं।[2] शैव और शाक्त सम्प्रदायों के अतिरिक्त वैष्णव सम्प्रदायों में भी गुरु की महिमा का गुणगान किया गया है। 'श्री हरि भक्ति विलास' में वर्णित है कि 'जो परम भागवत है अर्थात् जो पूर्णरूप से वैष्णव धर्म में रत है, ऐसा ब्राह्मण ही जनों का गुरु होता है और वह श्रीहरि सदृश ही सभी लोकों में पूजनीय है। जो शिष्य से सेवा तथा धनादि प्राप्त करने का इच्छुक होता है, वह गुरु कहलाने योग्य नहीं है। जो कृपासिन्धु एवं सब प्रकार से परिपूर्ण, सबका उपकारक, निःस्पृह, सिद्ध, सर्वविद्याविशारद, संशयों का भेद करने वाला और आलस्य रहित हो, वही

---

१. तान्त्रिक साधना और सिद्धान्त, पृ० ७८
इसकी विस्तृत जानकारी के लिए द्रष्टव्य—वही, ७८-६८, लेखक—महामहोपाध्याय प० गोपीनाथ कविराज, तथा भारतीय दर्शन, पृ० ४१३-४१४, ४७४-४७५, लेखक—आचार्य बलदेव उपाध्याय, और भारतीय दर्शन और मुक्ति मीमांसा पृ० २८३, २६०-२६१ लेखक—डा० किशोरदास स्वामी।

२. सि० सि० सं०, ५।३१-३७

वास्तव में गुरु कहलाता है ।[1]

आत्मनिष्ठ गुरु ही सम्यक् ज्ञान का उपदेष्टा हो सकता है अन्य नहीं क्योंकि उसी की कृपा से साधक शिष्य को परमपद की प्राप्ति होती है। जो गुरु आत्मनिष्ठ न हो उसका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। स्वयं ग्रन्थकार कहते हैं कि भ्रमोत्पादक, मिथ्यावादी और ज्ञानरहित गुरु त्याज्य है, क्योंकि जो स्वयं ही स्वविश्रान्ति को नहीं जानता वह दूसरों के लिये कर ही क्या सकता है। वैसे भी शिला के संग शिला कभी भी पार नहीं पा सकती जो स्वयं पार करना जानता हो, वही दूसरों को पार लगा सकता है। इसी प्रकार स्वविश्रान्ति से रहित गुरु भी शिष्य को स्वविश्रान्ति नहीं करा सकता। अतएव बन्धनमुक्त ही दूसरों के बन्धनों को काट सकता है। विषयवासना तरंगों वाले इस संसार सागर को पार कराकर परमपद को प्राप्त कराने वाला ही वास्तव में गुरु संज्ञक है क्योंकि उसकी कृपा से शिष्य ब्रह्मस्वरूपमय होकर निश्चित ही स्थिरता को पाता है। सिद्ध गुरु तो असंख्य कुलों को भी क्षणमात्र में इस संसार सागर से पार लगा देता है। तथा जो शिष्य अपने गुरु के दृष्टिपात अथवा औपदेशिक अथवा करुणावलोकन को धारण कर लेता है, वह शिष्य इस संसार से पार तथा स्वस्वरूप में स्थिर हो जाता है। अतः संसार के जन्म-मरण रूपी बन्धनों से जो मुक्त करा देता है, ऐसे सद्गुरु को तीनों कालों में अभिवादन करना चाहिए। शिष्य को चाहिए कि वह सहस्रकोटिशास्त्रों से भी निराकरण न होने वाली भ्रान्तियों के निवारणार्थ गुरु के समीप बड़ी विनम्रता से उपस्थित हो। इस प्रकार गुरु की परम कृपा से समस्त इन्द्रियों को मन सहित जीतने वाले और परम शान्ति को प्राप्त स्वस्वरूपात्मानन्द में मग्न योगियों का विशेष रूप से निरुत्थान होता है। और तब अर्धपल मात्र में ही दुर्लभ परमपद भासित हो जाता है। उस भासित परमपदपिण्ड में व्यष्टिपिण्ड सहसा लीन हो जाता है अर्थात् समष्टि-व्यष्टि का समरस। पिण्ड में लीन होने पर योगी सर्वसिद्धियों में

---

१. महाभागवतश्रेष्ठो ब्राह्मणो वै गुरुर्नृणाम्।
सर्वेषामेव लोकानामसौ पूज्यो यथा हरिः ॥
परिचर्यायशोलाभलिप्सुः शिष्याद् गुरुर्नहि।
कृपासिन्धुः सुसम्पूर्णः सर्वसत्त्वोपकारकः ॥
निःस्पृहः सर्वतः सिद्धः सर्वविद्याविशारदः।
सर्वसंशयसंछेत्ताऽनलसो गुरुराहृतः ॥
श्री हरिभक्तिविलास कल्याणाङ्क, १९५८ पृ० ७११

सिद्ध हो जाता है, अर्थात् योगी में परमतत्त्व सदृश समस्त सिद्धियों का आविर्भाव हो जाता है। वह योगी इच्छावेगी, सबका कर्त्ता और जन्म-मरण से रहित हो जाता है। वह देव और दैत्यों से अबध्य होकर भगवान् भैरव सदृश क्रीड़ा करता हुआ निश्चित ही लीला से सब कुछ प्राप्त कर लेता है। सब असाध्य सिद्धियाँ ईश्वर द्वारा प्रोक्त हैं, इसमें संशय नहीं करना चाहिए। प्रथम वर्ष में साधक रोगों से मुक्त और सर्वलोकप्रिय हो जाता है। उस नित्य-आत्मरूप में स्थित रहने वाले के सभी दर्शन करना चाहते हैं। द्वितीय में काव्य और तत्त्वभाषा में नैपुण्य। तृतीय में देवसदृश दिव्यदेह। चतुर्थ में दूरश्रावी। पंचम में वाक् और परकायप्रवेश सिद्धि। षष्ठ में शस्त्र और वज्रपात के भय से रहित देह वाला। सप्तम में वायुसदृश वेगवान्, पृथ्वी-त्यागी और दूरदर्शी। अष्टम में अणिमादि अष्ट महासिद्धियों से युक्त। नवम में वज्रकाय, आकाशगामी और दिक्चर, अर्थात् समस्त दिशाओं में अबाध गति से विचरण करने वाला। दशम में पवन से अधिक वेगवान् होकर जहाँ जाना चाहे जा सकता है। एकादश में सर्वज्ञ और सर्वसिद्धियों से युक्त और द्वादश वर्ष में शिवतुल्य स्वयं ही समस्त विश्व का कर्त्ता-हर्त्ता होकर तीनों लोकों में पूजित होता है। यह कथन एकदम सत्य और भगवान् भैरव द्वारा प्रोक्त है। इस प्रकार साधक सद्गुरु के चरणों के प्रसाद से द्वादशवर्षपर्यन्त महाबलशाली हो जाता है। अतः जो साधक निजविश्राम का स्वयं अनुभव करना चाहता हो वह श्री गुरु-चरणकमलों का ही आश्रय ले, क्योंकि उनके द्वारा निर्दिष्ट विधि के पालन से शीघ्र ही समरसकरण होता है। इस प्रकार सद्गुरु की कृपा के बिना निरुत्थान असम्भव है। परमपद की प्राप्ति केवल गुरु के प्रसाद से ही सम्भव है, यह नितान्त सत्य है।[1] डा० गोपीनाथ कविराज के शब्द यहाँ उचित प्रतीत होते हैं—"शिव और शक्ति के सामरस्य के तुल्य गुरु और शिष्य का सामरस्य भी आवश्यक है। प्रभुदेव ने अपने वचनामृत में कहा है कि शिष्य जिस प्रकार गुरु-स्वरूप में विश्रान्ति प्राप्त करता है, गुरु भी ठीक उसी प्रकार शिष्य-स्वरूप में विश्रान्त होते हैं। शिष्य जैसे गुरु में आत्मसमर्पण कर अपने को खो डालता है अथवा गुरु में स्थिति लाभ करता है, ठीक वैसे ही गुरु भी शिष्य को आत्मसमर्पण करते हैं, तभी तो शिष्य गुरु-स्वरूप को प्राप्त हो सकता है।...............यह सामरस्य अवस्था में पहुँचने की सीढ़ी है।"[2]

---

१. सि० सि० सं०, ५।३८-५६

२. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, पृ०, १९२-१९३

षष्ठोपदेश:

पिण्डपद और परमपद के समरसीकरण के उपरान्त अवधूत योगी के स्वरूप की चर्चा की गई है। अवधूत रूप अधिकारी का लक्षण करते हुए वर्णित है कि जो सभी प्रकृतिजन्य विकारों का विधूनन करता है, अर्थात् समस्त प्राकृत सम्बन्धों से मुक्त रहकर एकमात्र समरस में स्थित रहने वाला योगी ही अवधूत कहलाता है।[1] मण्डलब्राह्मणोपनिषद् में वर्णित है कि समाधि के निरन्तर अभ्यास से जनित ब्रह्मरूप अमृतपान में परायण सन्यासी परमहंस अवधूत होता है। उसके दर्शनमात्र से ही समस्त जगत् पवित्र हो जाता है। उसकी सेवा करने से अज्ञ भी मुक्त हो जाता है तथा उसके एक सौ एक कुल तर जाते हैं।[2] अवधूतोपनिषद् में कहा गया है कि जो अविनाशी श्रेष्ठ, बन्धन-मुक्त और तत्त्वमसि आदि वाक्यों के लक्ष्यार्थ हो, वह अवधूत कहलाता है। जो साधक आत्मा में सदा रत हो वह अवधूत कहलाता है।[3]

संस्कृत ग्रन्थों में इस नाथ-सम्प्रदाय के विभिन्न नामों का उल्लेख प्राप्त होता है। यथा "सिद्ध-मत (गो० सि० सं०, पृ० १२) सिद्धमार्ग (योगबीज) योगमार्ग (गो० सि० सं०, पृ० ५, २१), योग-सम्प्रदाय (गो० सि० सं०, पृ० ५८) अवधूत मत (पृ० १८), अवधूत-सम्प्रदाय (पृ० ५६) इत्यादि।"[4]

इस अवधूत लक्षण के उद्धरण देते हुए निर्दिष्ट है कि जिसने अविद्या इत्यादि क्लेश तरङ्गों का उच्छेदन कर उनका त्याग किया है, तथा जो सभी अवस्थाओं से मुक्त हो गया हो उसे अवधूत कहते हैं। कटिप्रदेश में कौपीन धारक अवधूत कहलाता है।[5] निर्वाणतन्त्र में शिव अवधूत के लक्षण को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जिसका अङ्गभूषण भस्म हो, वह अवधूत

---

१. सि० सि० सं०, ६।१-२
२. मण्डलब्राह्मणोपनिषद्, ५।६
३. अवधूतोपनिषद्—१, २
४. नाथसम्प्रदाय, पृ० १
५. सि० सि० सं०, ६।३-४

कहलाता है।[1] मुक्ति द्वार पर जिसकी मति अत्यन्त प्रकाशवती हो जाती है तथा जो माया विकारों से रहित हो वह सात्त्विक कहलाता है। चित्तवृत्तियों के निरोध से राग-द्वेष को त्याग कर जिसने निर्मल आकाश में चित्त को मग्न कर लिया हो, अर्थात् चित्त को निर्मल आकाश सदृश समस्त जागतिक प्रपञ्चों से निर्लेप कर लेता है, वह क्षपणक कहलाता है। समस्त भ्रान्तियों को निरस्त कर जिसका ध्यान सहस्रार में सदा रत रहता है, ऐसा बोध-ज्ञाता प्रबुद्ध कहलाता है। सृष्टि का प्रसार शक्ति और सङ्कोच शिव है जो साधक इस प्रसार और सङ्कोच का संयोगकर्त्ता हो वह योगिराज कहलाता है[2] क्योंकि प्रसार और सङ्कोच की साम्यावस्था ही परम मुक्ति है। शिव और शक्ति अन्योन्याश्रयभूत हैं, शिव में शक्ति और शक्ति में शिव का वास है, और वही अखण्डतत्त्व शिव-शक्ति रूप में प्रकट होता है। शक्ति का प्रसार और सङ्कोच ही जगत् की सृष्टि और लय है। वास्तविक दृष्टि से शिव-शक्ति अभिन्न हैं और व्यावहारिक दृष्टि से शक्ति का प्रसार सृष्टि, शक्ति का सङ्कोच लय है और अवशिष्ट रहता है केवल शिव, इस प्रसार और संकोच का संयोग करने वाला ही सिद्धयोगी कहलाता है। यही है सामरस्य। गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह में वर्णित है कि शक्ति विश्व का सृजन, शिव परिपालन, काल संहार और नाथ मुक्ति प्रदाता हैं।[3] विश्वातीत विश्व में विराजमान परमशिव से जो संयोग करता है, अर्थात् समाधि में जो साधक उससे अभिन्नत्व स्थापित करता है वह सिद्धयोगी कहलाता है। जो समस्त इन्द्रियों की वृत्तियों की विसृति करता है वह सिद्धसिद्धान्त में महाबलशाली सिद्धयोगी कहलाता है। जो समस्त जागतिक प्रपञ्चों से उदासीन, शान्त-चित्तस्वरूप का प्रकाशक और महानन्दमय धीर युक्त हो उसे सिद्धयोगि-राज जानना चाहिए। जो आप्तकाम से सदा प्रसन्न रहता है, सबका प्रदाता है ऐसे निर्भरानन्द विश्रान्तात्मा को ही सिद्धयोगिराज जानना चाहिए। हर्ष-

---

१. "वीरस्य मूर्ति देवेशि ! सदा भस्माङ्गभूषणाम्"
निर्वाण-तन्त्र-चतुर्थ पटल

२. सि० सि० सं०, ६।५-६

३. शक्त्या तु सृज्यते विश्वः शिवेन परिपाल्यते।
कालेन संह्रियते च मुक्तिर्नाथेन दीयते॥
—गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह, पृ० ४४

शोक में सम, नित्यानन्द, नित्यपरिपूर्णात्मा में संलग्न योगी ही कालपाश से सदा मुक्त रहता है। इस प्रकार इन उपदेशों का पृथक्-पृथक् ज्ञान जब हो जाता है तब योगी सुख-दुःख रहित पूर्णविश्रान्ति का लाभ पाता है। अर्थात् चित्त विश्रान्त हो जाता है।[१]

इस उपदेश के अन्त में ग्रन्थकार स्व एवं ग्रन्थ सम्बन्धी परिचय देते हुए लिखते हैं कि शिवनगरी काशी में राजा श्रीकृष्णराज की आज्ञा से शाण्डिल्य गोत्र में उत्पन्न बलभद्र ने प्रस्तुत ग्रन्थ सिद्धसिद्धान्तसंग्रह का प्रणयन किया।[२]

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि समरसकरण को पूरा करने वाला योगी ही अवधूत कहलाता है। ऐसा योगी जो सभी अवस्थाओं से मुक्त होकर स्वात्मानन्दरूप से विचरण करता है अवधूत कहलाता है। जो समस्त जागतिक प्रपञ्चों को करता हुआ भी सहज समाधि में सदा स्थित रहता है अवधूत कहलाता है।

—०—

१. सि० सि० सं०, ६।१०-१५
२. वही, ६।१६-१७

सप्तमोपदेशः

अवधूतरूप अधिकारी के विस्तृत विवेचन के अनन्तर इस उपदेश में सिद्धमत की स्थापना की गई है। इस सिद्ध से अभिप्राय यह है कि जिसने समरसीकरण कर लिया हो। अन्य प्रकार की कष्ट साधनाओं के साधक केवल कुछ क्षण का ही सुख प्राप्त करते हैं परन्तु वे आत्यन्तिक निरुत्थानत्व की प्राप्ति से सदा ही वञ्चित रहते हैं। इस दशा हेतु परमावश्यक है सामरस्य, जिसकी स्थापना इस ग्रन्थ में की गई है। सिद्धमत की स्थापना से पूर्व अन्य मतों का खण्डन करते हुए वर्णित किया गया है कि लौकिक तर्क निपुण, स्वदेह को आत्मा मानने वाले, प्रत्यक्ष प्रमाणवादी चार्वाक परलोक से वञ्चित होकर इस असार संसार से कभी भी पार नहीं पा सकते। इसी प्रकार पाप में रत निर्दय यवन भी इस लोक के क्षणिक सुख हेतु परमपद से वञ्चित हो जाते हैं। सम्पूर्ण पदार्थों के कोष रूप सहस्रारचक्र के ऊर्ध्वभाग में स्थित त्रिकोणयन्त्र के छिद्र ब्रह्मरन्ध्र के ध्यान से तथा उससे अधःस्थित ललाट, भ्रूमध्य, नेत्र, नासिकाग्र, श्रोत्र, कण्ठमूल, कण्ठ, हृदय, नाभिमूल, त्रिकोणकमल, और स्वाधिष्ठान आदि के ध्यान से भी परमपद रूप निरुत्थान पद की प्राप्ति नहीं होती। जो सर्वप्रथम पूरक, कुम्भक और रेचक विधि से नाड़ी पथ का शोधन कर हृदयपद्म में चित्त को एकाग्रकर अव्यय, अक्षय, परकल और शुभ ओंकार रूप दीपक को निरन्तर ध्याते हैं, उन्हें भी बिना समरस के निरुत्थान की प्राप्ति नहीं होती है।[1]

गोहाट में दीप्तिपुञ्ज का, सिन्धुजालन्धर स्थान में प्रलयकालीन अग्नि सदृश का, शृङ्गाट में (सर्वोपरिभाग में), ब्रह्मनाड़ी के अभ्यन्तर, कालान्त में, विद्युत् सदृश प्रभा वाले करोड़ों सूर्यों के समान भास्वान्, उससे उच्च जो 'सत्' जन विद्युत् के समान एकमात्र ज्योति का नित्य ध्यान करते हैं, उनको भी निरुत्थानदशा की प्राप्ति नहीं होती।

---

१. सि० सि० सं० ७।१-२

मन और पवन को एककर लिङ्ग से लेकर मेरुदण्ड तक ले जाते हुए ब्रह्मग्रन्थि को भेदकर, वज्रोलि मुद्रा द्वारा बिन्दु को भ्रमर गुहा में स्थापित कर जो साधक सदा व्यापक नाद का श्रवण करते हैं वे केवल कष्ट ही पाते हैं और उनको भी परमपदरूप निरुत्थान दशा की प्राप्ति नहीं होती। सम्यक् प्रकार से चालन और दोहन क्रियाओं द्वारा जिह्वा को दीर्घ कर तालु के भीतर प्रवेश कराकर दशमद्वार में संयुक्त कर सहस्रार से स्रवित होने वाले षट् प्रकार के अमृतस्राव को ग्रहण करने वालों को भी परमपद की प्राप्ति नहीं होती। मूलाधार से लेकर दोनों पश्चिम और पूर्व मार्गों को निरुद्ध कर अर्थात् इड़ा और पिङ्गला दोनों नाड़ियों को अवरुद्ध कर मध्यमार्ग अर्थात् सुषुम्ना मार्ग से प्राणवायु को ऊर्ध्वगामी कर समाधि हेतु नाना प्रकार के अभ्यास से जो नाड़ी कुहर में वायु के गतागत में लगे रहते हैं, वे भी दुःख रूप जल में सदा मग्न रहते हैं, किन्तु परमपद को प्राप्त नहीं कर सकते। मूलाधार को सम्यक् प्रकार से दबाकर तत्रस्थ अग्नि के उद्दीपन से और अपानवायु को ऊर्ध्वगामी कर जब इन दोनों का परस्पर घर्षण होता है, तब कुण्डलिनी शक्ति जागृत हो जाती है। और साधक उस प्रबुद्ध कुण्डलिनी शक्ति को मूर्धस्थान में स्थित पूर्णगिरि-संज्ञक सहस्रदलकमल रूप ब्रह्म स्थान पर ले जाकर ध्यान लगाते हैं और ध्यान की समाप्ति पर पुनः उस शक्ति को उसके स्थान पर वापस ले आते हैं तथा माया जाल से आबद्ध होकर सांसारिक क्रिया-कलापों में पुनः संलग्न हो जाते हैं। इस प्रकार के खण्ड-ज्ञानवान् साधकों को अखण्ड की प्राप्ति नहीं होती। तीनों बन्ध, नवचक्र-भेदन, मुद्राओं, कण्ठकूप का अवरोध, चन्द्र-सूर्य का सुषुम्ना में संयोग, शम-दमादि नियमों के पालन, नाद और बिन्दु का सहस्रार में स्थापित और मन द्वारा उन्मनी योग से युक्त योगी भी स्वात्मानन्द सुख से वञ्चित होकर कर्मरूप दुःखान्धकार के भागी ही रहते हैं। परमपद की प्राप्ति उन्हें नहीं होती। यमनियमादि अष्टाङ्गयोगमार्गानुपालन, कुण्डलिनी द्वारा मूला-धारादि चक्रभेदन, ऊर्ध्व, अधः, बाह्य और मध्य में रविकिरण सदृश सर्वतो-व्यापक आभा अथवा दृष्टि के अग्रभाग पर निर्मल जल समान नीलवर्णी आकाश की भावना कर जो साधक ध्यान लगाते हैं। वे अज्ञानी केवल कष्ट को ही भोगते हैं, स्वविश्रान्ति को कभी नहीं पाते। जो साधक आकाश, पराकाश और महाकाश धारणा को सिद्ध करने के उपरान्त प्रत्येक तत्त्वाकाश धारणा को लक्ष्य कर विधिबल से दृष्टि को निर्मल करते हैं तथा षट्कर्मादि हठयोग क्रियाओं द्वारा केवल शरीर को सन्तुलित करते और कराते रहते हैं,

वे केवल संसार-चक्र में भ्रमित और माया से सदा बाधित ही रहते हैं, निरुत्थान की प्राप्ति उन्हें कदापि नहीं होती। शङ्खक्षालनोपरान्त अर्थात् शङ्खनाड़ी को शोधित कर रसना द्वारा तालु, ओष्ठ एवं अमरीपान, खर्पर धारण, स्वबिन्दु का ग्रास और विलेपन करने वालों को भी मुक्ति प्राप्त नहीं होती।[1]

इस प्रकार अन्य मतों का निराकरण करते हुए कहा है कि घण्टा, ढोल, मृदङ्ग और महाभेरी निनाद सदृश अनाहत नाद का जो साधक स्वपिण्ड में तथा ब्रह्माण्ड में सम्यक् तथा निरन्तर श्रवण करते हैं उन्हीं को सिद्धपद की प्राप्ति होती है और उन्हीं को परमपद प्राप्त होता है।[2] मण्डलब्राह्मणोपनिषद् में वर्णित है कि विषयासक्त मन बन्धन और निर्विषयक मन मुक्ति का हेतु होता है। अतः समस्त प्रपञ्च चित्त के ही विषय हैं। यदि चित्त निराश्रय हो जाए तो मन लय योग्य बन जाता है और लय का परिपूर्ण 'मैं' में अभ्यास आवश्यक है चूँकि मन लय का कारण 'अहम्' ही है। अनाहत शब्द की जो ध्वनि होती है उसके अन्दर ज्योति रहती है और उसी ज्योति में मन की विद्यमानता है। इसी मन से इस जगत् की तीन स्थितियों का कर्म सम्पादित होता है। उस मन का जिसमें विलय होता है, उसी को विष्णु का परमपद जानना चाहिए। इस परमपद में मन के विलय से शुद्ध अद्वैत तत्त्व की सिद्धि के अनन्तर सब भेदों का अभाव हो जाता है।[3]

ग्रन्थ के अन्त में कहा गया है कि वैराग्य अमृतरूप पल्लव से (वैराग्य भाव से) सलिल, कन्द, फूल, मूल को भोगकर जो वनों अथवा देशदेशान्तरों में रमण करता है तथा स्थिर निश्चय से रात्रिन्दिवा परमतत्त्व का दर्शन करता है वह, समस्त जागतिक भावों को त्यागकर एकमात्र और निर्मल आत्मपद को प्राप्त करता है।[4]

इस प्रकार इस अन्तिम अध्याय में विभिन्न दर्शनों और अनेक साम्प्रदायिक क्रिया-कलापों का निरास कर अपने मत का प्रतिपादन किया

---

१. सि० सि० सं०, ७।४-१२
२. वही, ७।१३
३. मण्डलब्राह्मणोपनिषद्, ५।१-६
४. सि० सि० सं०, ७।१४

है । सम्पूर्ण ग्रन्थ की विषय वस्तु का पर्यालोचन कर यही तथ्य हमारे समक्ष उपस्थित होता है कि गुरु की असीम कृपा के फलस्वरूप चित्तविश्रान्त हो जाता है । तदनन्तर आविर्भाव होता है परमानन्द ज्योति का। शक्ति के प्रकाश से पिण्ड सिद्धि । स्वपिण्ड, ब्रह्माण्ड और शक्ति का परमपद से एकत्व स्थापन । यही है समरसीकरण और इसकी निरन्तरता से प्राप्त होती है आत्यन्तिक निरुत्थान दशा । डा० गोपीनाथ कविराज के अनुसार "नाथ पंथ का आदर्श है—पहले पिण्ड सिद्धि द्वारा जीवन्मुक्ति प्राप्त करना और तत्पश्चात् समरसीकरण द्वारा परामुक्ति"[1]

---

१. महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथकविराज-प्रस्तावना, गोरख-दर्शन, पृ० ५

उपसंहार

उपर्युक्त सात उपदेशों में निरूपित सिद्धमत का परमतात्पर्य न तो अद्वैत-वेदान्त के निरुपाधिक-ब्रह्म सदृश विशुद्ध ज्ञान में है और न ही द्वैत-वेदान्तियों के सर्वगुणसम्पन्न ब्रह्म की अधीनता में ही इसकी शक्ति निहित है। सांख्यों के समान ये किसी ऐसे अव्यक्त तत्त्व में भी आस्था नहीं रखते जिसका परिणाम यह जगत् है, अपितु अलुप्तशक्तिमान् परम विश्वोत्तीर्ण और विश्वात्मक है।

चन्द्र-चन्द्रिका सदृश शिव-शक्ति एक दूसरे में निहित हैं। शक्तिरहित शिव, शव और शिव रहित शक्ति आत्मप्रकाशन में असमर्थ तथा ज्ञान-प्रधान होने के साथ-साथ शिव क्रिया-प्रधान और जगत् चेतन-शिव से अभिन्न चिद्रूपाशक्ति का ही प्रसार और सङ्कोच है। प्रसार शक्ति और सङ्कोच शिव और इस प्रकार विश्वोत्तीर्ण ही विश्वमय है। अवरोहण में शिव ही जीवत्व को प्राप्त करते हैं और महाशक्ति कुण्डलिनी रूप में।

द्वैताद्वैतविलक्षणवाद के इस सिद्धान्त में समरसता ही अद्वय है, जिसकी अनुभूति गुरु द्वारा शक्तिपातजन्य स्वविश्रान्ति के अनन्तर ही सम्भव है। व्यष्टिपिण्ड को समष्टिपिण्ड से एकीकृत कर क्रमशः शक्ति और परमपद में विलीन करना पड़ता है। प्रकाशात्मा शिव की विमर्शशक्ति ही शिव की प्रकाशिका बन जाती है। परमपद के साथ सामरस्य स्थिति और इसी के व्युत्थान का अभाव है—आत्यन्तिक निरुत्थान दशा अर्थात् शब्दब्रह्म से अतीत स्थिति। यही है शवारूढ़ा, चिद्रूपा, जगत्व्यामोहिनी, महामाया, महाकाली का नृत्य शिव के वक्षःस्थल पर।

——:o:——

सन्दर्भग्रन्थसूची

१. अपरोक्षानुभूति—आदिशङ्कराचार्य, सम्पादक – पं० मनोहरलाल शर्मा, प्रकाशक – श्री मनोहरलाल शर्मा, १९२, चित्तरंजन एवेन्यू—कलकत्ता-७, सम्वत्—२०२१

२. अमरौघ-प्रबोध – श्रीमद्गोरक्षनाथ विरचित सिद्धसिद्धान्तपद्धति ऐण्ड अदर वर्क्स ऑव दि नाथयोगीज़
सम्पादिका—डॉ० कल्याणी मल्लिक, पूना ओरियन्टल बुक हाउस, पूना, १९५४

३. अष्टोत्तरशतोपनिषत्सु, योग-उपनिषदः—श्री उपनिषद्ब्रह्मयोगिविरचित-व्याख्यायुताः, आ० महादेवशास्त्रिणा संपादिताः, अड्यार—पुस्तकालयार्थे प्रकटीकृताश्च, १९२०

४. ईशादिदशोपनिषदः—शाङ्करभाष्यसमेतम्, प्रकाशक — मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६४

५. ईशादि नौ उपनिषद्—गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०१०

६. एक सौ आठ उपनिषद्—सम्पादक – पं० श्री रामजी शर्मा आचार्य, प्रकाशक—संस्कृति-संस्थान, ख्वाज़ा कुतुब, वेद नगर, बरेली—१९७८

७. उपनिषत्सङ्ग्रहः—सम्पादक—पं० जगदीश लाल शास्त्री
प्रकाशक—मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली—१९८०

८. ऋग्वेद – म० म० श्री दामोदर सातवलेकर, प्रकाशक – वसन्त श्रीपाद सातवलेकर, स्वाध्याय-मण्डल, भारत मुद्रणालय, किल्ला पारडी (जि० वरसाड), गुजरात राज्य, सन्-१९७८

९. कठोपनिषद्—ईशादि नौ उपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०१०

१०. कल्याणाङ्क—सन्त वाणी अङ्क, गीता प्रेस, गोरखपुर, सन्-१९५५

११. कल्याणाङ्क – श्री हरिभक्तिविलास, गीता प्रेस, गोरखपुर, १९५८

१२. काश्मीर शैव दर्शनः मूल सिद्धान्त—डॉ० कैलाशपति मिश्र—अर्द्धनारीश्वर प्रकाशन, वाराणसी-१९८२

१३. गणकारिका – आचार्य-भासर्वज्ञविरचित, सम्पादक– श्रीचिमनलाल, ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा-१९६६

१४. गोरक्षनाथ (नाथ-संप्रदाय के परिप्रेक्ष्य में) – डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, सम्वत्-२०३३

१५. गोरक्षपद्धति—अनुवादक – पं० महीधर शर्मा, प्रकाशक—खेमराज श्रीकृष्णदास 'श्री वेंकटेश्वर' स्टीम प्रेस, ७वीं खेतवाड़ी, बम्बई, सम्वत्-२०२४

१६. गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह—सम्पादक—श्री जनार्दनशास्त्री पाण्डेय, सरस्वती भवन ग्रन्थमाला (११०), वाराणसी, संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, सन्—१९७३

१७. गोरक्ष-संहिता प्रथम भाग—सरस्वती भवन ग्रन्थमाला (११०) प्रधान सम्पादक –डॉ० भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी, सम्पादक—श्री जनार्दन पाण्डेय, प्रकाशक—सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, १९७६

१८. गोरक्ष संहिता द्वितीय भाग—प्रधान सम्पादक– डॉ० भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी, सम्पादक—श्री जनार्दन पाण्डेय, वही, १९७७

१९. गोरक्ष-वचन-संग्रह –प्रकाशक—महंत अवेद्यनाथ, दिग्विजयनाथ न्यास, गोरखनाथ मन्दिर, गोरखपुर

२०. गोरख-दर्शन—लेखक, श्री अक्षय कुमार बनर्जी, सम्पादक—डॉ० भगवती प्रसाद सिंह, प्रकाशक - महंत अवेद्यनाथ दिग्विजयनाथ न्यास, गोरखनाथ मन्दिर, गोरखपुर, सम्वत्-२०२८

२१. घेरण्ड-संहिता –सम्पादक-श्री श्रीशचन्द्र वसु, अड्यार, मद्रास-१९३३

२२. चक्रकौमुदी – श्री बदरीनाथ विरचित, सम्पादक –श्री जीवेश्वर झा, गङ्गानाथ झा, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद-१९७९

२३. चरक-संहिता—सम्पादक—श्री जयदेव विद्यालङ्कार, प्रकाशक—मोतीलाल बनारसीदास, बनारस, सं०, १९९३

२४. चैतन्य सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य—डॉ० नरेश चन्द्र बंसल, प्रकाशक—विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा—१९८०

२५. छान्दोग्योपनिषद्—आर्य पुस्तकालय, अनारकली, लाहौर

२६ छान्दोग्योपनिषद्—गीता प्रेस, गोरखपुर, सं०—२०२३

२७. जीवन लक्ष्य और साधना—लेखक, श्री रामावतार प्रसाद विशारद, प्रकाशक—श्री रामावतार प्रसाद विशारद, डी० ३८।४, हौज़ कटोरा, वाराणसी

२८. ज्ञानसङ्कलिनीतन्त्रम्—योगतन्त्र ग्रन्थ माला (४) तन्त्रसंग्रह भाग २ सम्पादक—डॉ० गोपीनाथ कविराज, सं०—२०२६

२९. तत्त्व प्रकाशिका – ब्रह्मसूत्रभाष्य पर श्री जयतीर्थयति कृत टीका, सम्पादन—पूर्णप्रज्ञा रिसर्च इन्स्टिट्यूट—१९६७

३०. तत्त्वार्थदीपनिबन्ध (शास्त्रार्थप्रकरण)—श्रीमद्वल्लभाचार्यकृत [प्रकाश संस्कृतटीका तथा अभिनव स्नेह प्रपूरणी हिन्दी व्याख्या सहित, व्याख्याकार—श्री केदारनाथ मिश्र, प्रकाशक—भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९७१

३१. तन्त्र और आगमशास्त्रों का दिग्दर्शन—श्री गोपीनाथ कविराज, अनुवादक—पं० हंसकुमार तिवारी, प्रकाशक, बिहार-राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९७७

३२. तन्त्र और संत—डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी, साहित्य भवन (प्रा०) लिमिटेड, इलाहाबाद-३ । १९७५

३३. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि—महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराज, प्रकाशक—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना-१९६३

३४. तान्त्रिक साधना और सिद्धान्त—म० म० गोपीनाथ कविराज, बिहार-राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना ४ । १९७९

३५. तैत्तिरीयोपनिषद्–शाङ्करभाष्य सहित, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०१९

३६. तोडलतन्त्रम्—योगतन्त्र ग्रन्थमाला (४), तन्त्रसंग्रह-भाग (२), सम्पादक—डॉ० गोपीनाथ कविराज, वाराणसी, सं० २०२६

३७. दत्तात्रेय योगशास्त्र—सम्पादक एवं व्याख्याकार—डॉ० ब्रह्ममित्र अवस्थी, स्वामी केशवानन्द योगसंस्थान-८।३, रूपनगर, दिल्ली-७, सन्—१९८२

३८. दशश्लोकी--श्री निम्बार्क वेदान्त, प्रकाशक—श्री निम्बार्क पीठ, १२ महाजनी टोला, इलाहाबाद-३, सं०-२०२०

३९. द्वैत वेदान्त का तात्त्विक अनुशीलन—डा० कृष्णकान्त चतुर्वेदी, प्रकाशक—विद्या प्रकाशन मन्दिर, १६८१, दरियागंज, दिल्ली-६। सन् १९७१

४०. नाथ-सम्प्रदाय—श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी, नैवेद्य निकेतन, वाराणसी-५, सन् १९६६

४१. निर्वाण तन्त्र—सम्पादक - पं० रमादत्त शुक्ल, प्रकाशक—पं० देवीदत्त शुक्ल स्मारक कल्याण मन्दिर, प्रकाशन, प्रयाग-६

४२. पातञ्जल योगदर्शन—व्यास भाष्य, भोजवृत्ति सहित, अनुवादक—श्री स्वामी विज्ञानाश्रम, प्रकाशक—श्री मदनलाल लक्ष्मी निवास, चंडक, अजमेर नगर, सम्वत्-२०१८

४३. पातञ्जल योगदर्शन—श्रीमद् हरिहरानन्द आरण्य कृत बंगला-भाष्यानुवाद और टीका का मूल सहित हिन्दी रूपान्तर। सम्पादक—श्री भगीरथ मिश्र, श्रीहरिकृष्ण अवस्थी, श्री ब्रजकिशोर मिश्र, प्रकाशक—लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

४४. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्—(क्षेमराजकृत), सम्पादक—श्री विशालप्रसाद त्रिपाठी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६९

४५. ब्रह्मसूत्रभाष्यम्—श्री जयतीर्थकृत-तत्त्व प्रकाशिका टीका, श्री राघवेन्द्र-यतिकृत भावदीपा टिप्पणी, सम्पादक—आर० एस० पंचमुखी, प्रकाशक—राघवेन्द्र तीर्थ प्रतिष्ठान, कर्नाटक हिस्टोरिकल रिसर्च सोसाइटी धरवाद (Dharwad), १९८०

४६. ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य—श्री स्वामी सत्यानन्द सरस्वती विरचित भाषानुवाद तथा सत्यानन्दी-दीपिका सहित, प्रकाशन स्थान--गोविन्द-मठ, टेढ़ीनीम, वाराणसी, सम्वत्-२०३५

४७. ब्रह्मसूत्रसिद्धान्तमुक्तावलिः—श्रीवनमालिविरचिता, प्रकाशित स्थान—आनन्दाश्रम मुद्रणालय, सन्-१९४२

४८. भारतीय दर्शन और मुक्ति मीमांसा—डॉ० किशोरदास स्वामी, प्रकाशक, महालक्ष्मी ग्लास वर्क्स प्रा० लि०, बम्बई, पुस्तक प्राप्ति स्थान—श्री साधुबेला उदासीन आश्रम, १८ ए० बी० देसाई रोड, बम्बई—१९८०

४९ भारतीय दर्शन—पं० बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, वाराणसी, सप्तम संस्करण-१९६६

५० भारतीय संस्कृति और साधना—प्रथम खण्ड—महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज, बिहार-राष्ट्र-भाषा परिषद्, पटना, द्वितीय संस्करण-१९७७

५१ भारतीय संस्कृति और साधना—महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराज, द्वितीय खण्ड, द्वितीय संस्करण, बिहार-राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना-१९७९

५२. महार्थमञ्जरी—योगतन्त्र ग्रन्थमाला भाग (५) सम्पादक—पं० श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी, वाराणसी, ख्रिस्ताब्दे-१९७२

५३. माण्डूक्योपनिषद्—ईशादिदशोपनिषदः- मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली-१९६४

५४. मुण्डकोपनिषद्—वही

५५. मायातन्त्रम्—तन्त्र संग्रह चतुर्थ भाग, सम्पादक—श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, १९८१

५६. याज्ञवल्क्यस्मृतिः—निर्णयसागर, बम्बई ।

५७. योगमार्तण्ड—सम्पादिका—डॉ० कल्याणी मल्लिक, पूना, सन् १९५४

५८. योगसारसंग्रह—श्रीविज्ञानभिक्षु प्रणीत, सम्पादिका—डॉ० पवन कुमारी, प्रकाशक—ईस्टर्न बुक लिंकर्स, न्यू चन्द्रावल रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-७, सन् १९८१

५९. लुप्तागम संग्रह—भाग १, सं०--श्री गोपीनाथ कविराज, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी सन्—१९७०। भाग-२ सं० पं० वज्रवल्लभ द्विवेदी, वही, सन्-१९८३

६०. वल्लभ वेदान्त पर एक दृष्टि—(प्रस्थान रत्नाकर पर आधारित), लेखिका—स्नेहलता, प्रकाशक, श्री गुरु मन्दिर, सी-५५, शिवाजी पार्क, नई दिल्ली-११००२६, सन्-१९८०

६१. वल्लभ सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त— डॉ० (श्रीमती) राधारानी सुखबाल, प्रकाशक—पं० रामप्रताप शास्त्री, चैरिटेबल ट्रस्ट, ३४, रामप्रताप शास्त्री, मार्ग, ब्यावर (राजस्थान)—१९८०

६२. वाक्यपदीयम् - श्रीभर्तृहरि विरचित, सम्पादक—श्री रामगोविन्द शुक्ल, प्रकाशक—चौखम्बा संस्कृत संस्थान, गोपाल मन्दिर लेन, वाराणसी, सम्वत्-२०३७

६३. वाचस्पत्यम् —(बृहद् संस्कृताभिधानम्) चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ ऑफिस, वाराणसी-१ श्री तारानाथ भट्टाचार्य १९६२

६४. विष्णु पुराण—गीता प्रेस, गोरखपुर, सं०-१९९३

६५. वेदान्त पारिजात सौरभ—ब्रह्मसूत्रनिम्बार्कभाष्यम्— पं० ढुण्ढि-राजशास्त्रिणा संशोधितम्, प्रकाशक-चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ ऑफिस, बनारस-१९३२

६६. वेदान्त पारिजात सौरभ—ब्रह्मसूत्र-श्री निम्बार्क वेदान्त, प्रकाशक— श्री निम्बार्क पीठ, १२ महाजनी टोला, इलाहाबाद-३, सम्वत् २०२०

६७. शाक्त दर्शनम्—पं० श्री चक्रेश्वर भट्टाचार्य दत्तै, गोहाटी-१९७०

६८. शारदातिलकम्—प्रकाशक—श्री जयकृष्णदास, हरिदास गुप्त, चौखम्बा-संस्कृत-सीरीज़ ऑफिस, बनारस सिटी— १९३४

६९. शिव पुराण—सम्पादक—श्रीराम शर्मा आचार्य, प्रकाशक—संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब (वेदनगर), बरेली—१९६८

७०. शिवमहापुराण की दार्शनिक समालोचना—डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी, प्रकाशक—हरिशङ्कर त्रिपाठी, अस्सी, वाराणसी, सन्-१९७५

७१. शिवयोगदीपिका—सदाशिव योगीश्वर विरचित, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलिः, ग्रन्थाङ्कः-१३९ द्वितीयावृत्तिः

७२. शिव-संहिता—सम्पादक, डॉ० चमनलाल गौतम, प्रकाशक—संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब (वेदनगर), बरेली (उ० प्र०), १९८२

७३. शिव-संहिता—सम्पादक—श्री रायबहादुर, श्री चन्द्र वसु, प्रकाशक— श्री सत्गुरु प्रकाशन, एस० एस० पी०, सन्-१९८१

७४. शिवस्वरोदय—अनुवादक पं० हरेकृष्ण शास्त्री, प्रकाशक—ठाकुरदास एण्ड सन्स, राजा दरवाजा, वाराणसी, सन् १९८०

७५. शैव-सिद्धान्त दर्शन—डॉ० कैलाशपति मिश्र, प्रकाशक—स्वामी राम-नरेश, अर्द्धनारीश्वर प्रकाशन २७, दीनदयाल नगर कालोनी नवाब गंज, वाराणसी-१०, सन् १९८२

७६. श्रीतन्त्रसार— सम्पादक, पं० मुकुन्दराम शास्त्री, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि, ग्रन्थाङ्क १७, सन् १९१८

७७. श्री निम्बार्क वेदान्त— आचार्य ललित कृष्ण गोस्वामी, प्रकाशक— श्री निम्बार्क पीठ, १२ महाजनी टोला, इलाहाबाद-३, सम्वत्-२०२०

७८. श्रीमदणुभाष्यम् - पाठकोपाह्वश्रीधरशर्मविरचितया, बालबोधिन्याख्य-टीकया समेतम्, भण्डारकर-प्राच्यविद्या-संशोधनमन्दिराधिकृतैः प्रकाशितम् सन् १९२६

७९. श्रीमद्देवीभागवत—सम्पादक, पं० रामतेजपाण्डेय, पण्डित पुस्तकालय, राजा दरवाजा, बनारस २०१२

८०. श्रीमद्भगवद्गीता—गीताप्रेस, गोरखपुर, सं०-२०२९

८१. श्रीमद्भागवत भक्त मनोरञ्जनी—श्री भगवत् प्रसादाचार्य विरचिता, सम्पादक—श्रीकृष्णशङ्कर शास्त्री, वि० सं०-२०२५

८२. श्री शिवदृष्टिः—श्री सोमानन्दनाथरचिता, श्रीमदुत्पलदेवकृतवृत्त्युपेता, सम्पादक—पं० मधुसूदन शास्त्री, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि—काश्मीर, सन्-१९३४

८३. श्रीशैवसिद्धान्त परिभाषा—श्री कविराजशेखर सूर्यभट्टारक विरचिता, प्रकाशक—तलकाडु आगमिक कृष्णदीक्षित 'श्रीमनोन्मनीकृपा' बेंगलोर, १९५८

८४. षट्चक्रनिरूपण और पादुकापञ्चम—तृतीय संस्करण, सम्पादक—श्री तारानाथ विद्यारत्न, प्रकाशक - बी० घोष, आगमानुसन्धान समिति कलकत्ता-१९४१

८५. षट्चक्रनिरूपण—सम्पादक, श्री स्वामी हंसस्वरूप, प्रकाशक—विज्ञान मन्दिर (विज्ञान प्रेस), ऋषिकेश (देहरादून) उ० प्र०, सन्-१९८०

८६. षडाम्नायतन्त्रम्—तन्त्रसंग्रह चतुर्थभाग, सम्पादक—श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, सन्-१९८१

८७. सरल-राजयोग—स्वामी विवेकानन्द, अनुवादक—श्री पृथ्वीनाथ शास्त्री, प्रकाशक—श्री राम कृष्ण आश्रम, मध्य प्रदेश

८८. सर्वदर्शन-सङ्ग्रह—श्रीमन्माधवाचार्य, सम्पादक—डॉ० उमाशंकर शर्मा ऋषि, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी—१९६४

८९. सिद्धसिद्धान्तपद्धति—गोरक्षनाथ, प्रकाशक—श्री १०८ पूर्णनाथ जी, संस्कृत टीकाकार—श्री पं० द्रव्येश झा शास्त्री । भाषाकार—पं० योगिभीष्मनाथ जी, संशोधक—पं० ज्ञानिराम शास्त्री वि० सं०—१९९६

९०. सिद्धसिद्धान्तपद्धति—सम्पादक, श्री रामलाल श्रीवास्तव, गोरखनाथ मन्दिर, गोरखपुर, सं० २०३८
९१. सौन्दर्यलहरी (श्री शंकराचार्य विरचिता, श्रीलक्ष्मीधर व्याख्यासमलङ्कृता, भावोपनिषद्, श्रीभास्करराजभाष्य सहिता देवीपञ्चस्तरी च), सम्पादक—पं० एन० एन० गणपति, मैसूर-१९५३
९२. संस्कृत-हिन्दी कोश—वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली-७, सन् १९६९
९३. हठयोग एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य एवं हठयोगप्रदीपिका—सुरेन्द्र कुमार शर्मा, प्रकाशक—ईस्टर्न बुक लिंकर्स, ५८२५, न्यू चन्द्रावल, जवाहर नगर, दिल्ली, सन् १९८५

योग-उपनिषद्

९४. अद्वयतारकोपनिषद्—उपनिषत्-संग्रह—सम्पादक प्रो० जगदीशलाल शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, सन् १९८०
९५. अमृतनादोपनिषद्—वही।
९६. अवधूतोपनिषद्—वही
९७. क्षुरिकोपनिषद्—वही
९८. गर्भोपनिषद्—वही
९९. जाबालदर्शनोपनिषद्—वही
१००. तेजोबिन्दूपनिषद्—योग-उपनिषदः—सम्पादक, अ० महादेव शास्त्री, अड्यार पुस्तकालय मद्रास, १९२०
१०१. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्—वही
१०२. दर्शनोपनिषद्—वही
१०३. ध्यानबिन्दूपनिषद्—वही
१०४. नादबिन्दूपनिषद्—वही
१०५. पाशुपतब्राह्मणोपनिषद्—वही
१०६. ब्रह्मविद्योपनिषद्—वही
१०७. ब्रह्मोपनिषद्—उपनिषत्-संग्रह, सम्पादक, प्रो० जगदीशलाल शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास—दिल्ली, सन् १९८०
१०८. मण्डलब्राह्मणोपनिषद्—वही
१०९. योगकुण्डल्युपनिषद्—योग-उपनिषदः, अड्यार, १९२०
११०. योगचूडामण्युपनिषद्—वही
१११. योगतत्त्वोपनिषद्—वही

११२. योगराजोपनिषद्—उपनिषत्-संग्रह, मोतीलाल बनारसी दास-दिल्ली, सन् १९८०

११३. योगशिखोपनिषद्—योग-उपनिषदः, सम्पादक अ० महादेव शास्त्री, अड्यार, मद्रास-१९२०

११४. वराहोपनिषद्—वही

११५. शाण्डिल्योपनिषद्—वही

११६. हंसोपनिषद्—वही

117. Bhāskarī—Vol. I, A Commentary on the Iśvarapratyabhijñāvimarśini of Abhinava Gupta—Edited by K. A. Subramnia Iyer and Dr. K. C. Pandey, Allahabad—1983.

118. Haṭha-Yoga Pradipikā of Sh. Svātmārāma Svāmin, English Translation by Yogi Śrīnivāsa Iyangār, The Theosophical Publishing House, Adyar Madras, India. Third Edition – 1949.

119. Kāmakalāvilās of Puṇyā Nanda with Comm. Edited with Notes of Māhāmahopādhyaya Paṇdit Mukunda Rāma Shāstrī. Kashmir Series of Texts and Studies No. XII—1918.

120. Kāmakalāvilās by Puṇyānanda Natha with the Commentary of Natanānanda-Natha, Translated with commentary by Arthur Avalon (Sir John Woodroffe), Ganesh & Co. (Madras) Private Ltd. Madras-17, 1961

121. Parā Prāveshikā of Kṣhēmarāja—Edited with notes by Mahāmahopādhyaya Paṇdit Mukunda Rāma Shārtrī, Kashmir Series of Texts and Studīes. No.—XU. 1918.

122. Pāśupata Sūtram : with Pañchārtha-Bhāṣya of Kauṇḍinya, Translated with an Introduction on the History of Śaivīsm in India. Sh. Haripada chakraborti. (1970) Academic Publishers – II Panchanan Ghosh Lane Calcutta.

123. Pāśupata Sūtras : with Pañchārtha-Bhāṣya of Kauṇḍinya, Edited by Sh. R. Anantha Krishna Shastri, Published

by—The Oriental Manuscripts Library of the University of Travancore. Trivandrum—1940.

124. Philosophy of Gorakhnath with Gorakshavachan Sangraha by Sh. Akshaya Kumar Benerjea, Published by—Mahant Dig Vijai Nath Trust, Gorakhnath Temple, Gorakhpur—1962.

125. Ṣaṭtriṁśattattva-Sandoha (A Text of Trika Philosophy of Kashmir) with the Commentary of Rājānaka Ānanda Kavi, Translated into English with explanatory notes and Introduction by—Dr. Debabrata Sen Sharma, B.N. Chakravarty, University, Kurukshetra—1977.

126. Siddhānta Bindu—A Commentary on the Daśaślokī of Śaṁkarācārya : Edited with an Original Commentary by Mahāmahopādhyaya Vasudev Shastri Abhyankar, 1928. Second Edition by MM. K. V. Abhyankar, Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona-4, 1962.

127. Siddha-Siddhānta-Paddhati and other works of the Nāth Yogīs—by Smt. Kalyani Mallik. Poona Oriental book House, 330 A, Sadashiv Peth, Poona—First impression, 1954.

128. Sīva Svarodaya—Text with English Translation by Sh. Ram Kumar Rai—Prachya Prakashan, Varanasi. 1980.

129. Tantrā Loka of Abhinava Gupta with Comm. by Rājānaka Jayaratha—Edited with Notes by Pandit Madhusudan Kaul Shastri, Kashmir Series of Texts and Studies. No. XXIX—1921.

130. The Bṛhadāraṇyaka Upniṣad : with the Commentary of Śankarācārya, Translated by Swāmī Mādhavānanda. Published by Swami Yogeshwarananda Advaita Ashrama, Mayavati Almora, Himalayas—1950.

131 The Shiva Sūtra Vimarshinī being The Sūtras of Vasu Gupta with the Commentary called Vimarshinī by Kshemarāja—Kashmir Series of Texts and Studies Vol. I—1911,

132. The Siddhānta Ratna with Comm. of Baladeva Vidyābhūṣaṇa, Edited with Introduction Etc. by Sh. Gopinath Kaviraj –1927, Benares Saraswati Bhavana Texts No.(10).

133. The Spanda Sandoha of Kṣhēmarāja—Edited with Notes by Māhāmahopādhyaya Paṇdit Mukunda Rāma Shāstrī. Published under Sir Pratāp Singh Sāhib Bahādur—Jammu and Kashmir State—1917.

134. The Tantrā Loka of Abhinava Gupta : with Comm. by Rājānaka Jayaratha, Edited with notes by Mahāmahopādhyāya Pandit Mukunda Rām Shāstrī.
Printed at the Indian Press—1918.

135. Vedānta Darśanam—Vision of Vedānta—Sh. R. Karunakaran.
Sri Śankara Sanskrit Vidyapeetham, Edakkadom, Quilon, S. India—1980.

अनुक्रमणिका

त

म

य

———

द्वितीय-पुष्प

श्रीः

सिद्धसिद्धान्तसंग्रहः

श्रीगणपतिचरणारविन्दाभ्यां नमः ।

यत् पादाब्जरजःस्पर्शादरजस्कं मनो भवेत् ।
स एव गुरुनाथो मे कृपासिन्धुः प्रसीदताम् ॥१॥

अर्था ये सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ सुनिरूपिताः ।
संग्रहं तनुते तेषां कश्चिच्छ्रीकृष्णपुष्टये ॥२॥

पिण्डसम्भवविचारसंविदाधारतत्पररसैक्यभूमयः ।
तीक्ष्णधीभिरवधूत इत्ययं दर्शितः खलु निरूप्य संग्रहः॥३॥

कार्य्यकारणकर्तृत्वं यदा नास्ति कुलाकुलम् ।
अव्यक्तं परमं तत्वं स्वयं नाम तदा भवेत् ॥४॥

तस्यावस्थामात्रधर्माधर्मिणीति प्रसिद्धिभाक् ।
निजा शक्तिरभूत् तस्या औन्मुख्याद्भा परोत्थिता ॥५॥

ततः स्पन्दनमात्रा स्यादपरेति स्मृता ततः ।
सूक्ष्माहन्तार्धार्धमात्रा चिच्छिलाकुण्डलिन्यतः ॥६॥

निराकृतित्वान्नित्यत्वान्निरन्तरतया तथा ।
निष्पन्दत्वान्निरुत्थत्वान्निजाः पञ्च गुणाः स्मृताः ॥७॥

अस्तित्वमप्रमेयत्वमभिन्नत्वमनन्तता ।
अव्यक्ततेति पञ्च स्युः परायां सम्मता गुणाः ॥८॥

स्फुरत्ता स्फारतायुक्ता स्फुटता स्फोटता तथा ।
स्फूर्तिरेवं पञ्च गुणा अपरायामपि स्मृताः ॥९॥

निरन्तरत्वं नैरंश्यं नैश्चल्यं निश्चयत्वकम् ।
निर्विकल्पत्वमेव स्यात् सूक्ष्माया गुणपञ्चकम् ॥१०॥

पूर्णत्वं प्रतिविम्बत्वं तथा प्रकृतिरूपता ।
प्रत्यङ्मुखत्वमौच्चल्यं पञ्चैते भोगिनां गुणाः ॥११॥

शक्तिपञ्चकसम्भूतपञ्चविंशतिसंश्रयात् ।
परपिण्डसमुत्पत्तिः सिद्धान्तज्ञैः समीरिता ॥१२॥

उक्तं च—

निजा पराऽपरा सूक्ष्मा कुण्डली तासु पञ्चधा ।
शक्तिचक्रक्रमेणैव जातः पिण्डः परः शिवे ॥१३॥

तत्तोऽस्तितापूर्वमर्चिर्मात्रं स्यादपरं परम् ।
तत्स्वसंवेदनाभासमुत्पन्नं परमं पदम् ॥१४॥

स्वेच्छामात्रं ततः शून्यं सत्तामात्रं निरञ्जनम् ।
तस्मात्ततः स्वसाक्षाद्भूः परमात्मपदं मतम् ॥१५॥

अकलत्वासंशयत्वानुमतत्वान्यपारता ।
अमरत्वमिति प्रोक्ता गुणाः पञ्चापरे पदे ॥१६॥

निःकलत्वमलोलत्वमसंख्येयाक्षयत्वके ।
अभिन्नतेति पञ्चोक्ता गुणाः स्युः परमे पदे ॥१७॥

नीलता पूर्णता मूर्छा उन्मनी लयतेत्यमी ।
शून्ये पञ्च गुणाः प्रोक्ताः सिद्धसिद्धान्तवेदिभिः ॥१८॥

सहजत्वं सामरस्यं सत्यत्वं सावधानता ।
स्वर्गगत्वमिति प्रोक्ता गुणाः पञ्च निरञ्जने ॥१९॥

अभयत्वमभेद्यत्वमच्छेद्यत्वमनाश्यता ।
अशोष्यत्वमिति प्रोक्ता गुणाः पञ्च परात्मनि ॥२०॥

तत्त्वपञ्चकमाख्यातमाद्यपिण्डस्य पण्डितैः ।
एवं तथा गुणाः प्रोक्ताः पञ्चविंशतिसंख्यकाः ॥२१॥

सगुणैः समवेतैस्तैरादिपिण्डः समुद्भवेत् ।
आदेस्तु परमानन्दः प्रबोधः स्यात्ततस्ततः ॥२२॥

भवेच्चिदुदयस्तस्मात् प्रकाशः सोऽहमित्यतः ।
उदयः स्यात्तथोल्लासोऽवभासोऽथ विकाशनम् ॥२३॥

प्रभेति स्युर्गुणाः पञ्च प्रबोधस्य प्रकीर्त्तिताः ।
निष्पन्दहर्षावुन्मादः स्पन्दो नित्यसुखं तथा ॥२४॥

इति पञ्च गुणाः प्रोक्ताः परमानन्दसंज्ञके ।
सद्भावोऽत्र विचारश्च कर्तृत्वं ज्ञातृता तथा ॥२५॥

स्वातन्त्र्यमिति पञ्चैव गुणाश्चिदुदयस्य च ।
निर्विकारत्वनैष्कल्ये सद्बोधः समता तथा ॥२६॥

विश्रान्तिरेवं संप्रोक्तं प्रकाशगुणपञ्चकम् ।
अहन्ता खण्डितैश्वर्यं स्वानुभूतिः समर्थता ॥२७॥

सर्वज्ञतेति पञ्चोक्ताः सोऽहम्भावगुणा इमे ।
इत्याद्यपिण्डः संपृक्तः तत्त्वपञ्चकगैर्गुणैः ॥२८॥

पञ्चविंशतिसंख्याकैरिमैरेव समुत्थितः ।
आद्यादभून्महाकाशं ततो जातो महानिलः ॥२९॥

तस्मात्तेजो महत्तस्मान्महत् कं तन् महा धरा ।
अवकाशं तथा छिद्रमस्पृश्यत्वं तथा रवः ॥३०॥

नीलवर्ण इति प्रोक्ता गुणाः पञ्च महाम्बरे ।
सञ्चारश्चालनं स्पन्दः शोषणं धूम्रवर्णता ॥३१॥

इमे पञ्च गुणाः प्रोक्ता महावायौ मनीषिभिः ।
दाहकत्वं पावकत्वं सूक्ष्मत्वं रूपभासिता ॥३२॥

रक्तवर्णत्वमेवं स्युः गुणाः पञ्च महानिले ।
प्रवाहाप्यायनरसद्रवाश्च श्वेतवर्णता ।
इमे पञ्च गुणाः प्रोक्ता महावारिणि पण्डितैः ॥३३॥

स्थूलत्वनानाकृतिते काठिन्यं गन्धपीतते ।
इति पञ्च गुणाः प्रोक्ता महामह्यां मर्हाषभिः ॥३४॥

इति साकारपिण्डस्य तत्त्वपञ्चकमिष्यते ।
पञ्चविंशतिसंख्याका गुणास्तैर्मिलितैः शिवः ॥३५॥

शिवाद्भैरव एतस्माच्छ्रीकण्ठोऽतः सदाशिवः ।
ईश्वरोऽस्माद्रुद्र आसीत्ततो विष्णुस्ततो विधिः ॥३६॥

महासाकारपिण्डस्य सूर्त्यष्टकमिदं स्मृतम् ।
ब्रह्मणः प्राक्कृतं दृष्ट्वा नरनार्य्यात्मपिण्डकम् ॥३७॥

पञ्चपञ्चात्मकं तच्च शरीरमिदमुच्यते ।
अस्थित्वङ्मांसलोमानि नाड्यः पृथ्व्यंशका इमे ॥३८॥

लालामूत्रे असृक्स्वेदौ शुक्रमित्यंशका अपाम् ।
क्षुधातृषालस्यनिद्राकान्तयोंऽशा विभावसोः ॥३९॥

धावनं चलनं रोधः प्रसाराकुञ्चने तथा ।
वाय्वंशा उदिता एते पञ्च सिद्धान्तवेदिभिः ॥४०॥

रागद्वेषौ भयं लज्जा मोह एवं नभोगुणाः ॥
इति प्राकृतपिण्डे स्युः पञ्चभूतानि तद्गुणाः ॥४१॥

मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तं चैतन्यमित्यथ ।
सिद्धसिद्धान्तगैरुक्तमन्तःकरणपञ्चकम् ॥४२॥

संकल्पश्च विकल्पश्च जडता मूर्छना तथा ।
मननं चेति संप्रोक्ता गुणाः स्युः पञ्च मानसाः ॥४३॥

विवेकवैराग्यपरा प्रशान्तिक्षमा गुणा बुद्धिगता भवन्ति ।
मानो ममत्वं सुखदुःखमोहा गुणा इमेहंकृतिवर्तिनःस्युः॥४४॥

मतिर्धृतिः संस्मृतिरुत्कृतिश्च स्वीकार इत्थं खलु पञ्च चैताः ।
चैतन्यनिष्ठास्तु विमर्षहर्षौ धैर्यं गुणाश्चिन्तननिःस्पृहत्वे ॥४५॥

अन्तःकरणधर्मा ये त एते संप्रदर्शिताः ।
सत्त्वं रजस्तमः कालो जीवश्च कुलपञ्चकम् ॥४६॥

दया धर्मः क्रिया भक्तिः श्रद्धेत्थं सत्त्वगा गुणाः ।
दानं भोगश्च शृङ्गारः स्वार्थादाने रजोगुणाः ॥४७॥

मोहप्रमादौ निद्रा च हिंसाक्रौर्ये तमोगुणाः ।
विवादः कलहः शोको बन्धो वञ्चनमेव च ॥४८॥

एवं पञ्च गुणाः प्रोक्ताः कालस्य मुनिपुङ्गवैः ।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुर्य्यकतुरीयाऽतीतसंज्ञा गुणाः ॥४९॥

जीवस्था इह कीर्तिता इति भवेज्जीवेऽपि तत्पञ्चकम् ।
इच्छा कर्म विमोहिनी प्रकृतियुक् वाक् चेति पञ्चाऽपि ते ॥५०॥

व्यक्ताख्याधरशक्तिपञ्चकगुणाः सन्तीति सिद्धान्तवाक् ।
उन्मेषो वासना वीप्सा चिन्ता चेष्टैच्छिका गुणाः ॥५१॥

स्मृत्युद्यमोद्वेगकार्य्यनिश्चयकारिणी क्रिया ॥
मदमात्सर्यकपटकर्त्तव्यासत्यसंज्ञकाः ॥५२॥

प्राकृता मायिका आशा तृष्णा काङ्क्षा स्पृहा मृषा ।
परास्ति पश्यन्त्यथ मध्यमा च वैखर्य्यपीष्टाक्षरमातृका च ।
एते गुणा वाचि भवन्ति पञ्च प्रपञ्चनिर्मुक्तजनोपदिष्टाः ॥५३॥

पञ्चविंशतिरेते स्युर्व्यक्तिशक्तिगुणा इह ।
कालकर्माग्निचन्द्रार्काः प्रत्यक्षकृतिहेतवः ॥५४॥

इति प्रीतिलीलातुरत्वाभिलाषा
गुणाः पञ्च कामे वसन्तीत्यणन्ति ।
शुभं चाशुभं कीर्त्यकीर्त्ती तथेच्छा-
गताः कर्मणि ब्रह्मनिष्ठास्तथा ते ॥५५॥

उल्लोलकल्लोलसमुच्चलत्वप्रोन्मादवत्यूर्मिविशेषवत्यः ।
विलेपयन्ती लहरीविलोला विलेलिहासप्रसरा प्रवृत्तिः ॥५६॥

स्रवन्तिका नामवती प्रवाहा सौम्या प्रसन्नेति कलाः सुधांशोः ।
उदीरिता षोडश तस्य चान्या न वृत्तिसंज्ञामृतनाम तस्याः ॥५७॥

तपिनी ग्रासिनी क्रूरा कुञ्चनी शोषणी तथा ।
बोधिनी घस्मरार्काषिण्यर्थसन्तुष्टिवर्द्धिनी ॥५८॥

ऊर्मिरेखाकिरणिनी प्रभावत्यंशुमालिनः ।
इमा कला द्वादश स्युरन्याप्यस्ति प्रकाशिका ॥५९॥

वीजिनी दीपिका ज्वाला विस्फुलिङ्गा प्रचण्डिका ।
पाचिका रौद्रिका दाहा रोचिनी शोषिणीति ताः ॥६०॥

फला दश भवन्त्यग्नेर्ज्योतिर्निजकला परा ।
इति प्रत्यक्षकारिणो गुणाः स्युः सिद्धसम्मताः ॥६१॥

द्वाराणि द्वादशोक्तानि नाडीनां यानि तान्यथ ।
दर्श्यन्ते सिद्धसिद्धान्तनिर्णीतानि यथामतम् ॥६२॥

इडापिङ्गले नासिकारन्ध्रगे द्वे
सुषुम्णा भवेत्तालुमूलेजरन्ध्रम् ।
समे तावधीकृत्य गान्धारिकाख्या
तथा हस्तिजिह्वा श्रवोयुग्मके स्यात् ॥६३॥

भवेच्छङ्खिनी लिङ्गवक्त्रादिदण्डा-
ध्वनापद्मजद्वारमाप्ताथ पूषा ।
तथालम्बुषा चक्षुषोः सन्तगास्या-
ग्रगा स्यात्पयस्विन्यपाने कुहूश्च ॥६४॥

दश नाड्यो दशद्वारवर्त्तिन्य इति कीर्त्तिताः ।
द्वासप्ततिसहस्राणि नाड्योऽन्या रोमकूपगाः ॥६५॥

हृदि प्राणो गुदेऽपानो नाभिगामी समानकः ।
उदानः कण्ठनिलयो व्यानस्तालुसमाश्रयः ॥६६॥

सर्वाङ्गव्यापको नागः कूर्मोऽक्षिणि कृकलो नसि ।
देवदत्तो मुखाग्रस्थः कण्ठाधः स्याद्धनञ्जयः ॥६७॥

आहाराकाङ्क्षकः पूर्वो द्वितीयः स्तम्भकुम्भकः ।
तृतीये दीपनं पाकस्तुर्ये नाड़ीविशोधनम् ॥६८॥

आप्यायनं रुचिश्चैव पञ्चमेऽशनजल्पने ।
मोडनोच्चाटने षष्ठे मेषोन्मेषौ च सप्तमे ॥७६॥

क्षुदुद्गारावष्टमे स्तां जृम्भणं नवमे भवेत् ।
दशमे नादघोषौ तु स्युरेते दश वायवः ॥७०॥

अवलोकनपिण्डस्य समुत्पत्तिरितीरिता ।
नरनारीरूपमाहुरिदमेव मुनीश्वराः ॥७१॥

गर्भपिण्डसमुत्पत्तिमथ वक्ष्यामि सम्मताम् ।
ऋतौ स्त्रीतरयोर्योगे जीवो बिन्दुरजाश्रयात् ॥७२॥

पूर्वस्मिन् कलिलं ततो रविदिनैः स्याद् बुद्बुदाभं ततः ।
पक्षाद्गोलकसन्निभं कठिनताभाङ्मासमात्राद्भवेत् ॥
तद्द्वन्द्वेन शिरस्त्रिभिः करपदाद्यं स्याच्चतुर्भिः श्रुती ।
नेत्रे घ्राणगुदास्यमेढ्रकमथो पृष्ठोदरं पञ्चभिः ॥७३॥

षड्भिर्गात्ररुहाणि सप्तभिरथो स्याच्चेतनालक्षणा-
न्यष्टाभिर्यदि जायते सुविरहस्तत्तत्त्वलाभस्ततः ॥
मासेज्ञो दशमेऽथ योनिसमयाच्छुक्राधिकत्वे पुमान् ।
शुक्रस्याधिकतान्वये तु वनिता साम्ये तयोः क्लीबकः ॥७४॥

अन्योन्यचित्तप्रतिकूलभावात्
स्त्रीपुंसयोर्वामनकुब्जखञ्जाः ।
अन्धादयोङ्गाविनिपीडना स्या-
द्रेतोविभावात्सुतयुग्मता च ॥७५॥

शुक्रं सार्द्धपलत्रयं निगदितं रक्तं पलाविंशतिः ।
तस्यार्द्धं खलु मेदसोरविपला मज्जा शतं मांसकम् ॥

पित्तं रावणवक्त्रसम्मितपलं षष्ट्युत्तरा स्याच्छत-
त्र्यस्थामथ सन्धयस्तदुपमाः सार्द्धत्रिकोटयः कचाः ॥७६॥

मज्जास्थिमेदांसि सशुक्रकाणि
भवन्ति वीर्य्याज्जनकस्य पुत्रे ।
मांसासृजी गात्ररुहाणि वातः
पित्तं कफस्तद्द्वययोगतः स्यात् ॥७७॥

दशधातुमयो देह इत्थं भवति निश्चितः ।
गर्भपिण्डोत्पत्तिरेवं सिद्धसिद्धान्तसम्मता ॥७८॥

इति सिद्धसिद्धान्तसङ्ग्रहे षड्विधपिण्डोत्पत्तिः प्रथमोपदेशः ॥

द्वितीयोपदेशः

नव चक्राणि देहेस्मिन् भवन्तीति विनिश्चितम् ।
तेषां विभागो ज्ञातव्य आधारादिक्रमादथ ॥१॥

ब्रह्मचक्रं त्रिधावर्तं भगमण्डलकाकृति ।
आधारे तदधः कन्दे ध्यायेच्छक्तिं हुताशभाम् ॥२॥

कामरूपाभिधं पीठं सर्वकामप्रदायि तत् ।
तदत्र भवतीत्युक्तं सिद्धसिद्धान्तवेदिभिः ॥३॥

स्वाधिष्ठानाभिधं चक्रं द्वितीयं यच्चतुर्दलम् ।
पद्मं तत्र प्रवालाभं लिङ्गं ध्यायेत् पराङ्मुखम् ॥४॥

तत्रैवोड्यानपीठं स्याज्जगदाकर्षसिद्धिदम् ।
भवतीति महासिद्धाः सिद्धान्तं चक्रिरे पुरा ॥५॥

तृतीये नाभिचक्रे तु पञ्चावर्तादिसन्निभे ।
ध्यायेत् कुण्डलिकाकारे बालार्कद्युतिकुण्डलीम् ॥६॥

तुर्यं हृदयचक्रं यत्तत्राष्टदलवारिजे ।
लिङ्गं ध्यायेत् कर्णिकान्तर्ज्योतिर्मत्परमोज्ज्वलम् ॥७॥

सैव हंसकला ख्याता सर्वेन्द्रियवशङ्करी ।
योगिभिर्विधिवद् ज्ञाता सर्वलोकान् वशं नयेत् ॥८॥

पञ्चमं कण्ठचक्रं तु चतुरङ्गुलबिन्दुभम् ।
तद्वामदक्षचन्द्रार्कनाडचोर्ध्यायेत् सुषुम्णिकाम् ॥९॥

अनाहतकला सैव विख्याता योगिनां मते ।
अनाहतमहासिद्धिविश्राणनधुरन्धरा ॥१०॥

तालुचक्रं षष्ठमत्र सुधाधाराप्रवाहभृत् ।
घण्टिका राजदन्तान्तर्ध्यायेत् शून्यं मनोलये ॥११॥

नवमं ब्रह्मचक्रं यत्सहस्रदलवारिजम् ।
ध्यायेद्गोक्षीरभं तत्र हंसं तत्तन्मयो भवेत् ॥१२॥

नवचक्रविचारोऽयं कथितः परमार्थदः ।
अथाहं षोडशाधारान् वक्ष्यामि कृपया गुरोः ॥१३॥

पादाङ्गुष्ठात्परं ध्यायेत्तेजस्वत्प्रथमं यदि ।
दृष्टिः स्थैर्यं समायाति नैरन्तर्य्येण निर्मला ॥१४॥

मूलसूत्रं समालम्ब्य स्थातव्यं पादपार्ष्णिना ।
यदा तदानीमाधारो द्वितीयोऽग्निप्रदीपनः ॥१५॥

विकाससङ्कोचनतो गुदमाकुञ्चयेद्यदा ।
तृतीयाधार उक्तस्तदपानस्थैर्य्यकारकः ॥१६॥

सङ्कोचनेन मणिकस्य परत्र तुर्य्ये
दण्डाध्वनैव चरमेण निवेश्य चित्तम् ।
वज्रोदरे सगतिबन्धनभेदिदर्प्यां
भृङ्गस्य चेद्हृदिदरे (?)खलु बिन्दुबन्धः ॥१७॥

एषा वज्रोलिका प्रोक्ता सिद्धसिद्धान्तवेदिभिः ।
ज्ञानादेव भवेदस्याः सिद्धमार्गः प्रकाशितः ॥१८॥

नाड्याधारे पञ्चमे तु सन्निवेश्य मनोनिलम् ।
जारणं भवति क्षिप्रं योगिनां मलमूत्रयोः ॥१९॥

नाभ्याधारे तथा षष्ठे प्रणवोच्चारणक्रियाम् ।
कृत्वैकाग्रेण मनसा नादोदयमुपैत्यलम् ॥२०॥

सप्तमे हृदयाधारे प्राणवायुं निरोधयेत् ।
यदा तदैवाम्बुरुहं विकासमधिगच्छति ॥२१॥

कण्ठाधारेऽष्टमे कण्ठं चिबुकेन निपीडयेत् ।
इडापिङ्गलयोर्वायुस्थैर्य्यंभावस्तदा भवेत् ॥२२॥

नवमे घण्टिकाधारे जिह्वां सङ्घट्टयेत् क्रमात् ।
सुधाकलापरिस्रावस्तदा स्यादमरत्वदः ॥२३॥

जिह्वां चालनदोहाभ्यां दीर्घीकृत्य निवेशयेत् ।
दशमाधारताल्वन्तः काष्ठा भवति सा परा ॥२४॥

एकादशे रसाधारे जिह्वाग्रमथनात्स्फुटम् ।
परमानन्दसन्दोहकारिणी कविता भवेत् ॥२५॥

द्वादशोर्द्धरदाधारे जिह्वाग्रं ग्रन्थयेद् दृढम् ।
व्याधयः क्षणमात्रेण परिक्षीणा भवन्त्यलम् ॥२६॥

त्रयोदशो नासिकाख्य आधारो यः प्रकीर्तितः ।
तदग्रं लक्षयेन्नित्यं मनो भवति सुस्थिरम् ॥२७॥

कपाटाकारमाहुर्यन्नासामूलं चतुर्दशम् ।
तत्र दृष्टिनिबन्धेन षण्मासाज्ज्योतिरीक्षणम् ॥२८॥

भ्रुवाधारं पञ्चदशं पश्येच्चेदूर्ध्वचक्षुषा।
पुरोऽवलोकयेच्छ्रीमान् किरणाकारमुज्ज्वलम् ॥२९॥

षोडशं नयनाधारमूर्द्धभागे प्रचालयेत् ।
अङ्गुल्या चेदपाङ्गे स्वे ज्योतिःपुञ्जं प्रपश्यति ॥३०॥

सदा कृन्तनमेवाऽथ लोकयेन्निर्मलाशयः ।
इत्युक्ताः षोडशाऽऽधारा लक्ष्यत्रयमथोच्यते ॥३१॥

मूलकन्दाद्दण्डलग्नां ब्रह्मनाडीं सितप्रभाम् ।
ब्रह्मरन्ध्रावधि ध्यायेत् तन्मध्ये विद्युदुज्ज्वलाम् ॥३२॥

मूर्ति तां लक्षयेन्नित्यं बिसतन्तुतनीयसीम् ।
सर्वसिद्धिप्रदाने सा कल्पवल्लीयते सताम् ॥३३॥

ललाटोर्ध्वेऽथवा ताराकारं गुह्याटमण्डलम् ।
लक्षयेद्वालिकुहरे रक्तं मधुकराकृतिम् ॥३४॥

तर्जनीमुखनिरुद्धकर्णको योऽथवा भवति पूरुषोत्तमः ।
मूर्द्धमध्यगतसिंहहाटके तस्य नाद उदयेत घुंध्विति ॥३५॥

चक्षुर्मध्ये पुत्तलीसन्निभं वा
नीलज्योतीरूपमुद्यत् प्रकाशम् ॥
नैरन्तर्य्याल्लक्षयेदेतदुक्तं
प्राज्ञैरन्तर्लक्ष्यमल्लब्धचित्तैः ॥३६॥

एकाङ्गुलचतुर्मार्गे नासाग्राद्बहिरम्बरम् ।
श्यामलज्योतिरुपमं नैरन्तर्य्येण लक्षयेत् ॥३७॥

नासाग्रतो बहिर्व्यापि सततं द्वादशाङ्गुले ।
लक्षयेद्धरितालाभं पुरः पार्थिवमण्डलम् ॥३८॥

वायुतत्त्वं धूम्रवर्णं नासाग्रात् षोडशाङ्गुलम् ।
लक्षयेत्तन्मुखं वा खं स्थिरदृग्गोकुलेक्षणे ॥३९॥

इति सिद्धसिद्धान्तसङ्ग्रहे निर्मलीकरणम् ॥

ऊर्द्धदृष्टयान्तरालम्बे लक्षयेत्सिद्धवर्त्मगः ।
ज्योतिर्मयूखा दृश्यन्ते तदाऽकस्मादितस्ततः ॥४०॥

अथवा यत्र कुत्रापि व्योमैव परिलक्षयेत् ।
आलम्बते स्थिरत्वं दृक् योगिनोऽभ्यासतः सदा ॥४१॥

द्वादशाङ्गुलमारभ्याष्टादशाङ्गुलकावधि ।
शिरस्यूर्द्धेऽथवा पश्येज्ज्योतिःपुञ्जं विमुक्तिदम् ॥४२॥

दृष्टयग्रे तप्तभर्माभां लक्षयेद्वा वसुन्धराम् ।
दृष्टिः स्थिरत्वमेतीति बहिर्लक्ष्यमनेकधा ॥४३॥

सितं पीतं रक्तं हरितमथवा श्यामलनिभं
प्रदीपाकारं वाधिगततुलनं धूमशिखया ।
स्फुरज्ज्योतीरूपं हिमकिरणबिम्बाकृति तथा
दिनेशाकारं वा नवयवकमीक्षेत मनसा ॥४४॥

मध्यलक्ष्यमिदं प्रोक्तमिति लक्ष्यत्रयोरिता ।
सिद्धसिद्धान्तविज्ञातं व्योमपञ्चकमुच्यते ॥४५॥

बाह्याभ्यन्तरदेशमुज्ज्वलतमं शून्यं खमालोकयेत्
ध्वान्ताकारधरं परं खमथवा कल्पान्तकालाग्निभम् ।
आहोस्विद् गमनं महत्पदमुत प्रद्योतरूपं नभ-
स्तत्त्वाद्यं दिनरत्नकोटिरुचि वा सूर्य्याम्बरं सन्ततम् ॥४६॥

व्योमपञ्चकविलोकनात् पुमान् जायते कुलिशतुल्यविग्रहः ।
इत्यवेत्य विमलेन चेतसा व्योमपञ्चकमिदं प्रपञ्चितम् ॥४७॥

नवाङ्गं षोडशाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम् ।
समानं यो न जानाति स योगी नामधारकः ॥४८॥

इति प्राचीनोक्तिः ॥

योगाङ्गानि भवन्त्यष्टौ यमो नियम आसनम् ।
प्राणायामस्तथा प्रत्याहारः स्यादथ धारणा ॥४९॥

ध्यानं समाधिरेतेषां पृथगर्थानथ ब्रुवे ।
द्वन्द्वदुःखादिसहनं यम इत्यभिधीयते ॥५०॥

वृत्तीनां मानसीनां हि यैः स्यान्नियमनं स्फुटम् ।
नियमास्ते प्रकीर्त्यन्ते सन्तोषप्रमुखा बुधैः ॥५१॥

स्वस्वरूपे सदासन्नभाव आसनमुच्यते ।
सुखस्वस्थाम्बुजादीनां भेदात्तद् बहुधा मतम् ॥५२॥

प्राणानां स्थैर्यहेतुर्यः स प्राणायाम इष्यते ।
निःश्वासतारे चक्राद्यैः सम्पुटीकरणं यथा ॥५३॥

चेतोवृत्तितरङ्गाणां विषयेभ्यो निवर्तनम् ।
प्रत्याहारः स उत्पन्नो विकारग्रासकारकः ॥५४॥

उत्पन्नोत्पन्नवृत्तीनां निर्विकारे हि धारणम् ।
धारणेति समाख्याता नियम्यैकाऽवधारणा ॥५५॥

परमात्माऽस्ति निर्द्वन्द्वः स्वात्मारामोऽत्र यद्भवेत् ।
यत्तत्स्वरूपमित्यन्तर्वृत्तिर्ध्यानमिति स्मृतम् ॥५६॥

सर्वतत्त्वसमावस्था समाधिरिति कीर्तितः ।
निरुद्यमत्वानायासावेकशीलैकभावते ॥५७॥

निर्विकल्पत्वमेते ते सन्ति भेदाः समाधिजाः ।
अष्टाङ्गयोग इत्येष निरूपित इह स्फुटम् ॥५८॥

इति सिद्धसिद्धान्तसङ्ग्रहे पिण्डविचारे द्वितीयोपदेशः ॥

——:०:— —

अथ तृतीयोपदेशः

पिण्डसम्वित्तिरधुना कथ्यते योगिसम्मता ।
यस्याः समाश्रयाद् भाति तत्त्वज्ञानमदूरतः ॥१॥

ब्रह्माण्डवर्त्ति यत्किञ्चित्तत्पिण्डेऽप्यस्ति सर्वथा ।
इति निश्चय एवात्र पिण्डसम्वित्तिरुच्यते ॥२॥

कूर्मः पादतलेऽङ्गुष्ठतले पातालमुच्यते ।
तलातलं पुरोऽङ्गुष्ठात्पादपृष्ठे महातलम् ॥३॥

गुल्फे रसातलं प्रोक्तं जङ्घायां सुतलं मतम् ।
वितलं जानुदेशे स्यादतलं मूल इष्यते ॥४॥

ऊद्र्ध्वः स्वभावो यः पिण्डे स स्यात्कालाग्निरुद्रकः ।
पातालपदवाच्यानां सत्त्वानामधिदेवता ॥५॥

भूरादिलोकत्रितयं गुह्ये लिङ्गाग्रमूलयोः ।
तत्राधिदेवता शक्रः पिण्डेऽस्थत(?)विनायकः ॥६॥

वण्डाग्रे दण्डकुहरे महर्लोको जनस्तथा ।
तपो दण्डतले सत्यं मूले योमान(?)एतदीट् ॥७॥

अनेकव्यापकः पिण्डे धर्मोऽयमहसो(?)च्युतः ।
स्वर्लोकभूतकुक्षेः स देवतात्वेन सम्मतः ॥८॥

हृदये रुद्रलोकोऽस्ति रुद्रस्तत्राधिदेवता ।
उग्रः स्वभावो यः पिण्डे तत्स्वरूपः स सम्मतः ॥९॥

वक्षसीश्वरलोकोऽस्ति तत्राधीश्वर ईश्वरः ।
पिण्डे तृप्तिस्वरूपेण तिष्ठतीति मतं सताम् ॥१०॥

कण्ठं सदाशिवनिवासमुदाहरन्ति
तत्राधिनायकतया स सदाशिवोऽस्ति ।
पिण्डे जितेन्द्रियगणैरनुभूयमानः
सौम्यस्वभाव इति यः प्रथितप्रतिष्ठः ॥११॥

श्रीकण्ठलोकः खलु कण्ठमध्ये श्रीकण्ठ एवात्र भवेदधीशः ।
सनातनत्वात्मकतां दधानः पिण्डान्तरे वाविकृताधिवासः ॥

लम्बिकामूलके भैरवोऽधीश्वर-
स्तत्र यत्कीर्त्तितस्तस्य लोको बुधैः ।
प्राणिनां सर्वदा सर्वकार्य्योद्यमो
भैरवाख्याधरः पिण्डमध्ये मतः ॥१३॥

तालुद्वारे शैवलोकः प्रसिद्धः
तत्राधीशः स्याच्छिवो विश्वबन्द्यः ।
विद्वद्वर्य्यैर्योगशान्तिः प्रतीता
तद्रूपोऽसौ पिण्डमध्ये विभाति ॥१४॥

तालोरभ्यन्तरे भाति सिद्धलोकोऽत्र देवता ।
महासिद्धः प्रबोधात्मा पिण्डमध्येऽनुभूयते ॥१५॥

ललाटेऽनादिलोकोऽस्ति तत्रानादिरधीश्वरः ।
पराहन्तास्वरूपेण पिण्डमध्येऽवतिष्ठते ॥१६॥

शृङ्गाटे कुललोकोऽस्ति तत्र देवः कुलेश्वरः ।
पिण्डमध्ये सदानन्दस्वरूपेणावतिष्ठते ॥१७॥

ब्रह्मरन्ध्रे परब्रह्मलोकस्तत्राधिदेवता ।
परब्रह्माभिधा पिण्डे परिपूर्णस्वरूपतः ॥१८॥

परापरस्य लोकोऽस्ति तत्र देवः परेश्वरः ।
अस्तित्वरूपतः सोऽयं पिण्डमध्येऽनुभूयते ॥१९॥

त्रिकूटे शक्तिलोकोऽस्ति परा शक्तिस्तु देवता ।
सर्वकर्तृत्वसामर्थ्यपरावस्थात्मता तनौ ॥२०॥

पिण्डे सप्ततलानि स्युर्लोकाश्चात्रैकविंशतिः ।
वृत्ते विप्रो नृपः शौर्य्ये उद्यमे विड् भयेङ्घ्रिजः ॥२१॥

स्युर्जम्बूशाल्मलीप्लक्षकुशक्रौञ्चकगोमयाः ।
श्वेतोमज्जास्थिनाडीषु मांसे त्वचि कचे नखे ॥२२॥

मूत्रं शुक्रं कफो मेदो वसा प्रस्वेदरेतसी ।
क्षारेक्षुदधिसर्पींषि मधुवारिपयांसि च ॥२३॥

नवसु द्वारदेशेषु नवखण्डान्यकीर्त्तयन् ।
अथ शैलादिकान् ब्रूमो यथाभागमवस्थितान् ॥२४॥

मेरुदण्डे मेरुरस्ति कैलासो ब्रह्मशङ्कके ।
पृष्ठे हिमाद्रिर्मलयो वामेंऽशे मन्दरः परः ॥२५॥

विन्ध्याद्रिर्दक्षिणे कर्णे वामे मैनाकपर्वतः ।
श्रीपर्वतो ललाटे स्यादेवमष्टौ कुलाचलाः ॥२६॥

चतुःषष्टिर्मता वर्णा योगिन्यः सकलास्तथा ।
हस्ताङ्गुलिषु राजन्ते सर्व एवोपपर्वताः ॥२७॥

गङ्गा सरयूर्यमुना चन्द्रभागा सरस्वती ।
वितस्ता शतरुद्रा च नर्मदैरावती शिराः ॥२८॥

द्वासप्ततिसहस्राणि नद्यो याः परिकीर्तिताः ।
अन्या नद्युपनद्याद्यास्ता ज्ञेयास्तत्त्वदर्शिभिः ॥२९॥

नक्षत्रराशिग्रहतारकाणि तथा तिथीनां वलयेऽत्र कोष्ठाः ।
द्वासप्ततिर्ये विलसन्ति तेषु निवासमाहुः श्रुतितत्त्वविज्ञाः
॥३०॥

अनेकतारानेत्रान्तस्तेजःपुञ्जे कृताश्रयाः ।
त्रयस्त्रिंशत्कोटिदेवा रोमकूपसमाश्रयाः ॥३१॥

अनेकमुनिसङ्घाताः कक्षरोमकृताश्रयाः
पीठोपपीठा येऽनेके श्मश्रुस्थाने वसन्ति हि ॥३२॥

भूतप्रेतपिशाचराक्षसगणा दैत्यास्तथा दानवाः
सर्वे कीकससन्धिसङ्गतिकराः सन्तीति सिद्धोदितम् ।

नागा अक्षितनूरुहेषु सकला ये तूपनागा मताः
तेषामस्ति निवासभूमिरुदरप्रोद्भूतरोमोद्गमे ॥३३॥

नानाविधेष्ववयवेषु वसन्ति चान्ये
गन्धर्वकिन्नरगणाप्सरसोऽथ यक्षाः ।
याः स्युः परा इह सदा खलु देवताश्च
वाच्येषु रश्मिविततेषु समुल्लसन्ति ॥३४॥

खेचर्य्यो मातरश्चान्या डाकिन्याद्युग्रदेवताः ।
वायुवेगे वसन्त्यत्र जलदा अश्रुपातगाः ॥३५॥

मर्मस्थानेष्वनेकेषां तीर्थानामस्ति संश्रयः ।
मतिप्रकाशेष्वावासः सिद्धानामपि कीर्तितः ॥३६॥

सूर्य्यचन्द्रमसोर्वासो नेत्रद्वय उदीरितः ।
लतागुल्मतृणादीनां जङ्घारोमसु संश्रयः ॥३७॥

कृमिकीटपतङ्गाद्याः पुरीषे कृतसंश्रयाः ।
यत्सुखं स भवेत्स्वर्गो यद्दुःखं नरकं हि तत् ॥३८॥

निर्विकल्पो भवेन्मोक्षो निद्रादौ जागरोत्तरम् ।
स्वस्वरूपदर्शेत्युक्तं पिण्डसंवित्तिहेतवे ॥३९॥

अखण्डपरिपूर्णात्मा विश्वरूपो महेश्वरः ।
घटे घटे चित्प्रकाशस्तिष्ठतीति प्रबुध्यताम् ॥४०॥

॥ इति पिण्डसंवित्तिस्तृतीयोपदेशः ॥

अथ चतुर्थोपदेशः

पिण्डाधारमथो वक्ष्ये यज्ज्ञानादात्मतत्त्ववित् ।
पिण्डाधारो भवेच्छक्तिः चित्प्रबुद्धाऽपरम्परा ॥१॥

कार्यकारणकर्तृणामुत्था(?)वस्थाकरं स्फुटम् ।
कर्त्तुं शक्नोति यत्तस्माच्छक्तिरित्यभिधीयते ॥२॥

नानासूत्रस्वरूपेण पटे तन्तुर्यथाश्रयः ।
तद्वदाधारतां सेति देहे नानांशुभिर्जडे ॥३॥

अत्यन्तस्वप्रकाशैकवेद्याभावैकसाङ्ख्यभूः ।
प्रत्यक्षसाक्षिणी या तां भावयेदपरम्पराम् ॥४॥

सहजेनात्मलीना सा यदा सञ्जायते तदा ।
निरुत्थानदशेत्युक्ता शिवसंज्ञापि तत्र हि ॥५॥

कुलाकुलस्वरूपाऽसौ सामरस्यस्वभूमिका ।
सत्ताहन्ता परा भासा स्फुरत्ता च कुलाकुलम् ॥६॥

परस्परनिराभासभासि सम्यक् प्रकाशिका ।
पराभासैकमेवास्तीत्येका सत्ता निरुच्यते ॥७॥

अनादिनिधना मेयस्वभावांशुसुखाऽस्म्यहम् ।
इत्यहन्ताज्ञानदशा स्फुरणात्मा स्फुरन्तिका ॥८॥

शुद्धबुद्धस्वरूपस्य कलयत्यात्मवित्पदम् ॥
यतस्ततः कलेत्युक्ता कुलपञ्चकमस्त्यदः ॥९॥

वर्णगोत्रादिराहित्यादेकमेवाकुलं मतम् ।
उमामहेशसम्वादादर्थोऽयमवगम्यताम् ॥१०॥

तथा च—

अनन्यत्वादखण्डत्वादद्वयत्वादनाशनात् ।
निर्धर्मत्वादनङ्गत्वादकुलं स्यान्निरन्तरम् ॥११॥

कुलस्य सामरस्येति सृष्टिहेतुः प्रकाशभूः ।
सा चापरम्परा शक्तिराज्ञेशस्यापरं कुलम् ॥१२॥

प्रपञ्चस्य समस्तस्य जाग्रद्रूपप्रवर्त्तनात् ।
एकैव कर्त्तुं यच्छक्ता तस्मादाज्ञेचरीह सा ॥१३॥

उक्तं ललितस्वच्छन्देन—

अकुलं कुलमाधत्ते कुलाद्व्यवहृतिर्भवेत् ।
अतः कुलाकुलस्थित्यानीश ईशोपि शङ्क्यते ॥१४॥

अलुप्तशक्तिमान्नित्यस्सर्वाकारतया स्वयम् ।
प्रस्फुरन्तं पुनः स्वेन स्वयमेकं प्रपश्यति ॥१५॥

शिवोऽपि शक्तिरहितः कर्त्तुं शक्तो न किञ्चन ।
शिवः स्वशक्तिसहितो ह्यभासाद्भासको भवेत् ॥१६॥

शक्तितत्त्वानन्दनित्यशक्तिमान् परमेश्वरः ।
सम्विद्रूपोऽस्ति विषय इति सिद्धिमतं सताम् ॥१७॥

परम्परास्वरूपा सा पिण्डाधारतया श्रुता ।
भवेत्कुण्डलिनी यद्वत् पिण्डसंसिद्धिकारिणी ॥१८॥

बुद्धाऽबुद्धा द्विधा प्रोक्ता द्वितीया चेतनात्मिका ।
नानाचित्रक्रियोद्योगप्रपञ्चमयविग्रहा ॥१९॥

सर्पकुण्डलिनीभावाल्लोके कुण्डलिनी मता ।
पूर्वास्तविकृतेः पुंसो निवृत्युद्यमरूपिणी ॥२०॥

ऊद्र्ध्वगामित्वमेतस्यामूर्ध्वाकुञ्चनतो भवेत् ।
तदप्याकुञ्चनं मूलाधारबन्धेन सिद्ध्यति ॥२१॥

चिदचिद्रूपमेतद्यज्जगद्भवति सन्ततम् ।
मूलाधारकसंवित्तिप्रसरत्वेन तन्मतम् ॥२२॥

मूलाधारादिसकलचक्रेषु नव शक्तयः ।
नाथेन यदपि प्रोक्तास्तथाप्येकास्ति तत्र सा ॥२३॥

शक्तिप्रसरसङ्कोचौ जगतः सृष्टिसंहृती ।
भवतो नात्र सन्देहस्तस्मात्तन्मूलमुच्यते ॥२४॥

मलाधारे प्रबुद्धे तु सिद्धिर्भवति योगिनाम् ।
नियतोपाधिजीवात्मा वृथा भ्रान्तिरपि स्वयम् ॥२५॥

मध्ये स्वरूपतापन्नो यया सा मध्यकुण्डली ।
सूक्ष्मासूक्ष्मस्वरूपेण द्विविधा सा प्रतीयते ॥२६॥

निश्चला निश्चलग्राह्या स्थूलान्या ध्यानरूपिणी ।
अर्थान्तरपरिभ्रान्तिहेतुः सर्वस्वरूपिणी ॥२७॥

सर्वत्रास्तीति साकारा मध्यशक्तिः प्रकीर्तिता ।
सैव प्रसरसङ्कोचात्पर्य्यावृत्तिमुपागता ॥२८॥

नित्यानन्दतया लोला सूक्ष्माख्या तिमिराकृतिः ।
बुद्धेति सिद्धास्तामाहुः प्रसिद्धाः सिद्धवर्त्मनि ॥२९॥

तत्त्वसारेऽयमेवार्थो निरूपणपदे कृतः ।
यथा—
सृष्टिस्तु कुण्डली ख्याता सर्वभावगता हि सा ॥३०॥

बहुधा स्थूलरूपा च लोकानां प्रत्ययात्मिका ।
अपरा सर्वगा सूक्ष्मा व्याप्तिव्यापकवर्ज्जिता ॥३१॥

तस्या भेदं न जानाति मोहितः प्रत्ययेन तु ।
ततः सूक्ष्मा परा संविन्मध्यशक्तिर्महेश्वरी ॥३२॥
स्वस्वरूपदशायां सा बोधनीया गुरुश्रिता ।
प्रबोधनात्पिण्डसिद्धिस्तस्या भवति योगिनाम् ॥३३॥

ऊर्ध्वशक्तिनिपातोऽथ मुमुक्षूणां कृतेष्यते ।
सर्वतत्त्वोद्‍र्ध्ववृत्तित्वान्निर्नाम परमं पदम् ॥३४॥

तत्त्वसम्वेदसाक्षाद्भूः पिशुनोक्तोद्‍र्ध्वशक्तिका ।

निपातः स्वरवरूपे नित्यथा(?) निरसनं मतम् ॥३५॥
निरुत्थाने स्वस्वरूपाखण्डैव प्रतिभाति सा ॥३६॥

उक्तञ्च—
शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः ।
अन्तरं नैव पश्यामि चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ॥३७॥

नानाशक्तिस्वरूपेण सर्वपिण्डाश्रयत्वतः ।
पिण्डाधार इतीष्टाख्या सिद्धान्त इति धीमताम् ॥३८॥

अत्र सङ्ग्रहश्लोकः—
सत्त्वे सत्त्वे सकलरचनासंविदेका विभाति
तत्त्वे तत्त्वे परमरचना संविदेका विभाति ।
ग्रासे ग्रासे बहलतरला लम्पटा संविदेका
भासे भासे भजति भवता बृंहिता संविदेका ॥३९॥

इति सिद्धसिद्धान्तसंग्रहे चतुर्थोपदेशः ।

——:o:——

अथ पञ्चमोपदेशः

समरसकरणं वदाम्यथाहं परमपदाखिलपिण्डयोरिदानीम् ।
यदनुभवबलेन योगनिष्ठा इतरपदेषु गतस्पृहा भवन्ति ॥१॥

परपिण्डसुखं स्वपिण्डकान्तं प्रथमोक्तक्रमतो विधाय चित्ते ।
परमेण पदेन तस्य कुर्य्याद्रससाम्यं मतिमान् गुरूक्तिदृष्ट्या ॥२॥

परमं पदमात्मवेद्यमेकं निखिलात्यन्तविभासिमात्रमुक्तम् ।
अयमर्थ उदाहृतोऽस्ति दृष्टो जठराख्याधरसंहितानिबन्धे ॥३॥

यथा—

यत्र बुद्धिर्मनो नास्ति सत्ता संवित्परा कला ।
ऊहापोहौ न तर्कश्च वाचा तत्र करोति किम् ॥४॥

वाङ्मात्राद् गुरुणा सम्यक् कथं तत्पदमीर्य्यते ।
तस्मादुक्तं शिवेनैव स्वसम्वेद्यं परं पदम् ॥५॥

नानाविचारचातुर्य्यचर्वाधिक्याद्धनाश्रयात् ।
निरुपाधितयोपाधिशून्यत्वात्तत्स्ववेद्यता ॥६॥

पारम्पर्य्याप्तसन्मार्गदर्शने यस्य योग्यता ।
स गुरुर्भवति श्रीमानात्मविश्रामकारणम् ॥७॥

तेन सन्दर्शिते मार्गे स्वसंवेद्यस्य दर्शनम् ।
भवतीति गुरुं देवभावेन परिचिन्तयेत् ॥८॥

तद्दृक्सरोजकरुणार्द्रकटाक्षपातात्
स्वात्मैकवेद्यकतया मुनिभिः स्वपिण्डम् ।

सर्वं स्वसिद्धिफलवर्गमपास्य लब्ध-
नैरुत्थ्यतः समरसं क्रियते कृतार्थैः ॥९॥

सिद्धान्तमेतमनुशास्य निरुत्थितिश्री-
लाभाभ्युपायकथने कुरुतेऽथ यत्नम्।
स्वस्वाशयप्रलयकर्ममुखानुसन्धे-
रावेशतो भवति कश्चन तत्र नैजः ॥१०॥

निजावेशान्निबिडतमनैरुत्थ्यविधिव-
न्महानन्दावस्था स्फुरति वितता कापि सततम्।
ततः संविन्नित्यामलसुखचमत्कारगमक-
प्रकाशप्रोद्बोधो यदनुभवतो भेदविरहः ॥११॥

साक्षात्तयास्य कलनात् स्फुरति प्रकामं
चैतन्यभासकमभिन्नमपारमङ्कं।
पुंसः पदं परमनाम समभ्युदेति
यस्यानुभूतिबलतो निजपिण्डवित्तिः ॥१२॥

विज्ञाय पिण्डमथ सम्यगिति प्रकारा-
दारात्पदे परमनाम नितं (?) विधाय।
ऐक्यं विधाय निजरश्मिपरावृतात्मा-
श्वभ्याससून्मिषिरुदेति ततो द्वितीया ॥१३॥

तदुन्मेषप्रत्याहरणभवमाहुः समरस-
क्रियाभूतं यस्मान्निजकिरणपुञ्जं निजतया।
प्रपश्यन्तस्तस्मान्निखिलमनुसन्धाय मुनयः
स्वरूपेऽङ्गीकृत्य स्वतःफलसिद्ध्यै व्यवसिताः ॥१४॥

मुनीनां पिण्डसंसिद्धौ सिद्धयः सन्ति सन्निधौ।
एतमर्थं विनिश्चित्य कश्चिच्छ्लोकेन चोक्तवान् ॥१५॥

यस्मिन् ज्ञाते जगत्सर्वं प्रसिद्धं भाति लीलया।
सिद्धयः स्वयमायान्ति तस्माज्ज्ञेयं परं पदम् ॥१६॥

सहजं संयमयुतं सोपायं साद्वयं क्रमात्।
ज्ञानं संसाधयेत्तच्च स्वविश्रान्तिरितीरितम् ॥१७॥

विश्वातीतः परेशानो विश्वरूपेण तिष्ठति।
इत्येकं सहजं त्वन्यद्विश्वस्यात्मनि दर्शनम् ॥१८॥

प्रस्फुरद्रूपवृत्तीनां कृत्वा संयममात्मनि ।
यद्धारणं तदेवात्र ससंयममिति स्मृतम् ॥१९॥
प्रकाशमयमात्मानं स्वयमेव स्वरूपतः ।
एकीकृत्य सदा लौल्यात्स्थित्तिः सोपायशब्दभाक् ॥२०॥
अजातिमत्त्वदृक् प्राज्ञैः सा द्वितीयमिति स्मृतम् ।
चत्वार एते भावाः स्युः परमोदयहेतवः ॥२१॥
तथा च परमो योगी सुतृप्तो निर्विकल्पकः ।
सदा निरुत्थापनया तिष्ठतीति प्रसिद्ध्यति ॥२२॥
परमस्य पदस्याप्तौ साधनं केनचित्पुरा ।
यत्र श्लोकाष्टके प्रोक्तं तदिदं दृश्यतामिह ॥२३॥
सहजं स्वात्मसंवित्तिः संयमः सर्वनिग्रहः ।
सोपायं स्वस्वविश्रान्तिरद्वैतं परमं पदम् ॥२४॥
ज्ञात्वैवं सद्गुरोर्वक्त्रान्नान्यथा शास्त्रकोटिभिः ।
न कर्तृत्वान्न विज्ञानान्न बलाद्वेदपाठनात् ॥२५॥
न ज्ञानान्न च वैलक्ष्यात्कर्त्रभ्यासान्न वासनात् ।
न वैराग्यान्न नैराश्याद् घटनात्प्राणधारणात् ॥२६॥
न मुद्राधारणाद्वा स्यान्न मौनवचनाश्रयात् ।
औदासीन्यान्न निर्वाणान्न कायक्लेशमोचनात् ॥२७॥
न दास्यान्न च सन्देशान्न नानाव्रतधारणात् ।
न षड्दर्शनवेषादिधारणान्न च मुण्डनात् ॥२८॥
अनन्तोपाययत्नेभ्यः प्राप्यते परमं पदम् ।
गुरुदृक्पातमात्राणां हठानां सत्यवादिनाम् ॥२९॥
कथनाद् दृष्टिपाताद्वा सान्निध्याद्वावलोकनात् ।
प्रसादात्सद्गुरोः सम्यक् प्राप्यते परमं पदम् ॥३०॥
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां सार्द्धश्लोकद्वयोक्तितः ॥
श्रीगुरोर्लक्षणं प्राह यज्ज्ञानान्मुच्यते भयात् ॥३१॥

सम्यगानन्दजननं सद्गुरुः सोऽभिधीयते ॥
निमिषार्द्धं तदर्द्धं वा यद्वाक्यस्यावलोकनात् ।
आत्मानं स्थिरमाप्नोति तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥३२॥

नानाविकल्पविश्रान्तिं कथनात्कुरुते तु यः ।
सद्गुरुः स तु विज्ञेयो न तु मिथ्याविकल्पकः ॥३३॥

परपदमधिगन्तुमुत्सुकानां
यदमलदृक्करुणाकटाक्षमाला ।
जयति दृढतराधिरोहणश्रीः
परमनिधिः स ममास्ति देशिकेन्द्रः ॥३४॥

सम्यक्चैतन्यविश्रान्तेरुपदेशस्तु सम्मतम् ।
यथा स्यात्सामरस्याख्यं तत्परं परमं पदम् ॥३५॥

यत्कारुण्यविलोकनादपि भवेच्चिद्विश्रमः पारदः
तस्मिन् श्रीकरुणासुधारसनिधौ चेतोऽस्तु मग्नं गुरौ ।
नान्यस्मिन्बहुवादतर्कमकरोच्छालातिभीतिप्रदे
दुर्भेदभ्रमधारकेऽतिकठिने क्षारोदधौ लौकिके ॥३६॥

उपदेशो निगरणपदवाच्यतयोच्यते ।
तत् करोति यतस्तस्माद् गुरुरित्यभिधीयते ॥३७॥

गुरुदोषगुणनिरूपणपुरःसरं गुरुसेवाफलं
विंशतिश्लोकैः कश्चिदाह—

ज्ञानहीनो गुरुस्त्याज्यो मिथ्यावादी विकल्पकः ।
स्वविश्रांतिं न जानाति परेषां स करोति किम् ॥३८॥

शिलायाः किं परं पारं शिलासङ्घातप्रतार्यते ।
स्वयं तीर्णो भवेद्योऽसौ स परं तारयत्यलम् ॥३९॥

विकल्पजागराद् घोराच्चिन्ताकाले न दुस्तरात् ।
प्रपञ्चवासनावर्त्तात्कलाजालसमाकुलात् ॥४०॥

वासनालहरीवेगात्स्वस्थस्तारयितुं क्षमः ।
स्वस्थैर्येणोपदेशेन लोनो(?)त्थानेन तत्क्षणात् ॥४१॥

परानन्दमयो भूत्वा निश्चयः स्थिरतां व्रजेत् ।
कुलानि कोटिकोटीनां तारयत्येव तत्क्षणात् ॥४२॥

धारयत्येव दृक्पातात्कथनाद्वावलोकनात् ।
तारणेच्छुर्वरं दत्ते स्वस्वरूपे स्थिरो भव ॥४३॥

अतोऽसौ मुच्यते शिष्यो जन्मसंसारबन्धनात् ।
अतस्तं सद्गुरुं साक्षात् त्रिकालमभिवादयेत् ॥४४॥

सर्वाङ्गप्रणिपातेन शिक्षां कृत्वा गुरुर्भवेत् ।
किमत्र बहुनोक्तेन शास्त्रकोटिशतेन च ॥४५॥

लब्धविश्रामवित्तानां योगिनां दृढचेतसाम् ।
स्वस्वमध्यनिमग्नानां निरुत्थानां विशेषतः ॥४६॥

निमिषार्द्धात् स्फुटं भाति दुर्लभं परमं पदम् ।
तस्मिन्पिण्डे भवेल्लीनं सहसा नात्र संशयः ॥४७॥

लीने पिण्डे भवेद्योगी सर्वज्ञः सिद्धिपारगः ।
इच्छावेगी स्वयं कर्त्ता लीलयैवाजरामरः ॥४८॥

अवध्यो देवदैत्यानां क्रीडते भैरवो यथा ।
इत्येवं निश्चयो योऽसौ क्रमादाप्नोति लीलया ॥४९॥

असाध्याः सिद्धयः सर्वाः सत्यमीश्वरभाषितम् ।
प्रथमे रोगनिर्मुक्तः सर्वलोकप्रियो भवेत् ॥५०॥

काङ्क्षते दर्शनं तस्य स्वात्मा गूढस्य नित्यशः ।
द्वितीये वत्सरे काव्यं कुरुते तत्त्वभाषया ॥५१॥

प्रजायते दिव्ययोगी दूरश्रावी न संशयः ।
वाक्सिद्धिः पञ्चमे वर्षे परकायप्रवेशनम् ॥५२॥

षड्भिर्न छिद्यते शस्त्रैर्वज्रपातैर्न भिद्यते ।
वायुवेगो क्षितित्यागी दूरदर्शी च सप्तमे ॥५३॥

महासिद्ध्यष्टकं सम्यगष्टमे वत्सरे भवेत् ।
नवमे वज्रकायः स्यात् खेचरो दिक्चरो भवेत् ॥५४॥

दशमे पवनाद्वेगी यत्रेच्छा तत्र गच्छति ।
सम्यगेकादशे वर्षे सर्वज्ञः सिद्धिभाग् भवेत् ॥५५॥

द्वादशे शिवतुल्योऽसौ कर्त्ता हर्त्ता स्वयं भवेत् ।
त्रैलोक्ये पूज्यते सिद्धः सत्यं भैरवभाषितम् ॥५६॥

एवं द्वादशवर्षे तु सिद्धयोगी महाबलः ।
जायते सद्गुरोः पादप्रसादान्नात्र संशयः ॥५७॥

अनुबुभूषति योनिजविश्रमं स गुरुपादसरोरुहमाश्रयेत् ।
तदनुसंसरणात्परमं पदं समरसीकरणं च न दूरतः ॥५८॥

अनन्यभावेन निरुत्थितिश्रीलाभेन चाञ्चल्यविधूननेन ।
अवस्थितिः श्रीकरुणासुधाब्धिगुरुप्रसादाद्भवतीति सत्यम् ॥५९॥

इति सिद्धसिद्धान्तसङ्ग्रहे पिण्डपरमपदयोः समरसकरणं
नाम पञ्चमोपदेशः ।

अथ षष्ठोपदेशः

निरूप्य सर्वं विषयमधिकारी निरूप्यते ।
अवधूतो भवेत्सोऽत्र तल्लक्षणमिदं यथा ॥१॥

प्रकृतिजन्यविकारविधूननं कलयितुं भजतीह समर्थताम् ।
यदवधूततया तदुदीर्यते रचितसंसृतिपारगतिर्जनः ॥२॥

लक्षणान्तरमप्याह कश्चित् –
केशपाशतरङ्गाणां व्रजं येन विकुण्ठितम् ।
सर्वावस्थाविनिर्मुक्तः सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥३॥

सकलोच्चं स्थिरं पीनं संवेद्यं वासनोक्तितम् (?) ।
कौपीनकं कटौ यस्य सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥४॥

कस्य भावमयैः सूत्रैः स्वीकारस्थैर्यतां गतैः ।
कन्था विरचिता येन सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥५॥

मुक्तिद्वारे मतिर्यो वै प्राप्तकोषप्रकाशकः ।
मायाविकारानापन्नः स सात्त्विक उदाहृतः ॥६॥
क्षपणं चित्तवृत्तीनां रागद्वेषविलुण्ठनम् ।
कुरुते व्योममग्नो यस्तस्मात् क्षपणको भवेत् ॥७॥

भ्रान्तिकौरं जनं कृत्वा यो रक्तविवरे सदा ।
प्रबुद्धो यः स्वयं बुद्धः सद्यः सोऽत्राभिधीयते ॥८॥

प्रसरं भासते शक्तिः सङ्कोचं भासते शिवः ।
तयोः संयोगकर्त्ता यः स भवेद्योगयोगराट् ॥९॥

विश्वातीतं यदा विश्वमेकमेवावभासते ।
संयोगेन यदा यस्य सिद्धयोगी भवेत्तु सः ॥१०॥

सर्वासां निजवृत्तीनां विसृतिं भजते तु यः ।
स भवेत्सिद्धसिद्धान्ते सिद्धयोगी महाबलः ॥११॥

उदासीनवदासीनः स्वस्थोऽन्तर्निजभासकः ।
महानन्दमयो धीरः स भवेत्सिद्धयोगिराट् ॥१२॥

परिपूर्णः प्रसन्नात्मा सर्वासर्वप्रदोऽपरः ।
निरुत्थो निर्भरानन्दः स भवेत् सिद्धयोगिराट् ॥१३॥

गतेन शोकेन भयेन वीप्साप्राप्तेन हर्षं न करोति योगी ।
आनन्दपूर्णो निजबोधलीनो न बाधते कालपथो न नित्यम् ॥१४॥

एतेषामुपदेशानां सूचितानां पृथक् पृथक् ।
जायते तत्र विश्रान्तिः सा विश्रान्तिश्च जायते ॥१५॥

यो गङ्गापदपद्मभक्तिविमलः शाण्डिल्यगोत्रोद्भवः
चञ्चच्छारदचन्द्रिकासहचरीं कीर्त्तिन्नयन्विष्टपे ।
शौर्य्यौदार्यमुखैर्गुणैरविरलैरालम्ब्यमानोऽनिशं
स श्रीकृष्णविभुः स्मरारिनगरे ग्रन्थं मुदाचीकरत् ॥१६॥

कृष्णराजाज्ञया काश्यां सिद्धसिद्धान्तसङ्ग्रहः ।
कृतो यो बलभद्रेण श्रीकृष्णस्तेन तुष्यतु ॥१७॥

इति सिद्धसिद्धान्तसङ्ग्रहेऽवधूतादिलक्षणः षष्ठोपदेशः ।

अथ सप्तमोपदेशः

चार्वाकाश्चतुराः स्वतर्कनिपुणा देहात्मवादे रताः
सर्वे सन्धिरताः सदैव परताधानाश्रिताः सात्त्विकाः ।
कर्त्तारं प्रभजन्ति चैव यमनाः पापे रता निर्दया-
स्तेषामैहिकमल्पमेव हि सुखं सत्यं न मोक्षः परम् ॥१॥

सीहट्टे मस्तकान्ते त्रिकुटपुटबिले ब्रह्मरन्ध्रे ललाटे
भ्रूनेत्रे नासिकाग्रे श्रवणपथवरे घण्टिकाराजदण्डे ।
कण्ठे हृन्नाभिमूले त्रिकमकुहरे ह्युड्डियानेऽथ शूले
ये त्वेवं स्थानमग्नाः परमपदमहो नास्ति तेषां निरुत्थम् ॥२॥

आदौ पूरककुम्भरेचकविधौ नाडीपथं शोधितं
कृत्वा हृत्कमलोदरे च सहसा चित्तं समं मूर्छितम् ।
तस्मादव्ययमक्षयं परकलं चोङ्कारदीपं शुभं
ये पश्यन्ति समाहिताः पदमहो नास्ति तेषां निरुत्थम् ॥३॥

गोहाटे दीप्तिपुञ्जं प्रलयशिखिनिभं सिन्धुजालन्धरे च
शृङ्गाटे ज्योतिरेकं तडिदिव तरलं ब्रह्मनाड्यन्तराले ।
कालान्ते विद्युदाभं तदुपरि शिखरे कोटिमार्त्तण्डचण्डे
ये नित्यं संशयन्ते परमपदमहो नास्ति तेषां निरुत्थम् ॥४॥

लिङ्गाच्चण्डाकुलान्ते मनपवनगमे(?) ब्रह्मग्रन्थ्यादिभेदे
कृत्वा बिन्दुं नयन्ते भ्रमरपदमहाशङ्खमम्भोदरोधे ।
नेत्रान्तर्नादघोषं गगनगुणमयं वज्रदण्डी क्रमेण
ये कुर्वन्तीह कष्टात्परमपदमहो नास्ति तेषां निरुत्थम् ॥५॥

सम्यक्चालनदोहनेन सततं दीर्घीकृतां लम्बिकां
ताल्वभ्यन्तरर्दाशतान्तदशमद्वारोदरे शङ्खिनीम् ।
प्राप्तां मध्यमसम्पुटे (?) पुटां सप्तादशीं कोटरां
पीत्वा षड्विधपानकाष्ठभजनं वाञ्छन्ति ये मोहिताः ॥६॥

गुह्यात्पश्चिमपूर्वमार्गमुभयं रुद्धानिलं मध्यमं
नीत्वा ध्यानसमाधिलक्ष्यकरणैर्नानासमाध्यासनैः ।
प्राणापानगमागमेन सततं हंसोदरे संघटा-
घेनास्यैव नयन्ति ये भवजले मज्जन्त्यहो दुःखिताः ॥७॥

शक्त्याकुञ्चनमग्निदीपकरणं चाधारसम्पीडनात्
ज्ञात्वा कुण्डलिनीप्रबोधनमनो नादादिना मूर्द्धनि ।
नीत्वा पूर्णगिरिं निपातनमनः कुर्वन्ति ये स्वाश्रये
खण्डज्ञानरतास्तु ते निजपदं तेषां ह्यदूरं परम् ॥८॥

बन्धं भेदं च मुद्रां गलबिलचिबुकं मध्यमार्गं सुषुम्णां
चन्द्रार्के सामरस्यं शमदमनियमैर्नादबिन्दुं कलान्ते ।
ये नित्यं कलयन्ते तदनु च मनसामुन्मनो योगयुक्तं
तेषां लोकामयन्ते निजसुखविमुखाः कर्मदुःखौघभाजः ॥९॥

अष्टाङ्गं योगमार्गं कुलपुरुषमतं षण्मुखीचक्रभेद-
मूर्ध्वाधो बाह्यमध्ये रविकिरणनिभं सर्वतो व्याप्तिसारम् ।
दृष्टचग्रे वीक्षयन्ते तरलजलसमं नीलवर्णं तमो वा
एवं ये भावयन्ते विमलमतयस्तेऽपि हा कष्टभाजः ॥१०॥

आदौ सारणशङ्खसारणमतः कृत्वा महासारणं
सम्पूर्णं प्रतिसारणं विधिबलाद्दृष्टिस्तथा निर्मला ।
आज्ञालो हठयोगयोगकलया सद्दीप्तसन्तूलिकां
ये कुर्वन्ति च कारयन्ति च सदा भ्राम्यन्ति बाधन्ति च ॥११॥

शङ्खक्षालनमन्तरं रसनया ताल्वोष्ठलीलासमं
वीते तूल्लुठनं कवाटममरीपानं त्रिधा खर्परी ।
वीर्यंद्रावितमात्मजं विकलये ग्रासं च लेपञ्च वा
कुर्वे तीर्थजले स्यात् (?) तेन हि फलं तेषां तु सिद्धान्तजम् ॥१२॥

घण्टाकालहमर्द्दलं त्वथ महाभेरीनिनादं यथा
सम्यङ् नादमनाहतं ध्वनियुतं शृण्वन्ति ये तादृशम् ।
पिण्डे सिद्धिपरं निरन्तरतया ब्रह्माण्डमध्येऽथ वा
तेषां सिद्धमतेस्कतेः(?) समुदितं सत्यं परं लभ्यते ॥१३॥

वैराग्यामृतपल्लवेन सलिलं कन्दं फलं मूलकं
भुक्त्वा यो वनवास एव रमते चाऽनेकदेशान्तरे ।
स्थित्वा सादितनिश्चयेन मनसा रात्रौ दिने वीक्ष्यते
स त्यक्त्वाखिलभावमेकममलं प्राप्नोत्यहो स्वं पदम् ॥१४॥

इति श्रीसिद्धसिद्धान्तसङ्ग्रहे सप्तमोपदेशः समाप्तिमगमत् ।

शुद्धिपत्रम्

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
१	४	पुष्टये	तुष्टये
,,	७	कार्य्यंकारणकर्तृत्वं	कार्य्यकारणकर्तृत्वं
,,	१२	अर्धामात्रा	अर्धमात्रा
,,	१६	अव्थक्तता	अव्यक्तता
२	३	निरन्तरत्बं	निरन्तरत्वं
,,	१७	अक्षयत्वके	अक्षयत्वेक
,,	२२	स्वर्गगत्वम्	सर्वगत्वम्
४	१६	नथा	तथा
,,	२३	ल्युः	स्युः
,,	२५	ममत्दं	ममत्वं
,,	,,	वर्तिनः	वर्त्तिनः
५	२	हर्षौं	हर्षौं
,,	२१	काल	काम
,,	२२	इति	रति
६	१	समुच्लत्व	समुच्चलत्व
,,	११	फला	कला
,,	१५	द्व	द्वे
८	२	अस्थाम्	अस्थ्नाम्
१०	२५	निरोघयेत्	निरोधयेत्
१२	६	नावाग्रतो	नासाग्रतो
,,	१३	ऊर्द्ध	ऊर्द्ध्व
१५	१	यीगि	योगि
,,	१३	वण्डाग्रे	दण्डाग्रे
,,	१८	स्वमावो	स्वभावो
१६	४	स्वनाव	स्वभाव

१६	६	सनातनत्ब	सनातनत्व
,,	,,	अविकृत	अधिकृत
,,	१०	घरः	धरः
,,	१७	अस्त्ति	अस्ति
,,	२२	परिपूणं	परिपूर्ण
,,	२६	सर्वकर्तृत्द	सर्वकर्तृत्व
२०	२	निर्धमंत्वाद्	निर्धर्मत्वाद्
२१	१	चक्रषु	चक्रेषु
,,	५	मलाधारे	मूलाधारे
२५	४	स्थित्तिः	स्थितिः
३१	१२	तेपां	तेषां
३२	१२	ह्यदूरं	हि दूरं
,,	२३	आज्ञालो	आज्ञाली

श्लोकानुक्रमणी

—o—

THE

PRINCESS OF WALES

SARASVATI BHAVANA TEXTS

No. 13

THE

SIDDHA SIDDHĀNTA SANGRAHA

GOVERNMENT SANSKRIT LIBRARY,

BENARES.

1925

THE

PRINCESS OF WALES

SARASVATI BHAVANA TEXTS

EDITED BY

GOPĪ NĀTHA KAVIRĀJA

No. 13

THE

SIDDHA SIDDHĀNTA SANGRAHA

Printed by

JAI KRISHNA DASS GUPTA,

at the VIDYA VILAS PRESS,

Gopal Mandir Lane,

Benares City.

1925

बलभद्रविरचितः

सिद्धसिद्धान्तसंग्रहः

THE

SIDDHA SIDDHĀNTA SANGRAHA

OF

Balabhadra

WITH INTRODUCTION

BY

GOPĪ NĀTH KAVIRĀJ, M. A.,

OFFG. PRINCIPAL, GOVERNMENT SANSKRIT COLLEGE,

BENARES.

1925

INTRODUCTION

The text of Siddhasiddhānta Saṅgraha published for the first time in the following pages represents a summary of the Siddhasiddhānta paddhati, attributed to Nityanātha. It is a work on Yoga and contains a brief exposition of some of the most important doctrines associated with the name of Gorakṣanātha.

As the doctrines of this sect are not known to any but the members of its esoteric circle I may be excused for attempting a brief analysis of the contents of this work here. But those who wish to have a detailed account are referred to my forthcoming tract on "Studies in Nathism." The book is divided into seven sections (उपदेशाः), which treat of the following topics—

Section I—Origin of six-fold body (पिण्डोत्पत्ति).
Section II–Discussion of body (पिण्ड विचार).
Section III–Knowledge of body (पिण्डसंवित्ति).
Section IV–The Foundation (आधार) of body.
Section V–Equation of body (पिण्ड) and Supreme Reality (परम पद).
Section VI–Definition of Avadhūta.
Section VII–Conclusion.

The first section deals with the gradual formation of six piṇḍas, designated here as Para or Ādi, Sākāra, Mahāsākāra, Prākṛta, Avalokana and Garbha. The physical body with which we are familiar represents in its incipient condition the last type named in the list, viz. garbha, and is the outcome of physical procreation. An interesting account of embryonic growth in furnished, showing its different stages in order and also distinguishing the contributions of each of the

parents to this growth. The other 5 piṇḍas stand for subtler and subtler states of the garbha and exhibit how and under what circumstances the Supreme Reality evolves itself into the material organism. It may be of interest to note that each piṇḍa is supposed to comprise five factors, and as each factor is said to display five qualities, each piṇḍa represents an aggregate of 25 qualities.

The second section dwells upon the 9 chakras, 16 ādhāras, 3 lakṣyas & 5 vyomans-principles with which one must be familiar in order to be a Yogī in the true sense of the word. The 8 yogāṅgas also have been briefly described. The nine chakras include, besides the well-known six psychic centres, Ghaṇṭikā, Manolaya and Brahmachakra or the thousand-petalled lotus. It may not be out of place to note here that this scheme does not exactly tally with the usual account. The first chakra, for instance, is called here Brahmachakra like the last one, & is described as a three-folded triangular region, below which is kanda where S'akti is located. This is known as Kāmarūpa Pīṭha. The second chakra is said to be a four-petalled lotus, which represents the Uḍḍiāna Pīṭha in the body. The next chakra is the locus of the Kuṇḍalinī. The Anāhata chakra is usually described as a lotus of 12 petals, but here it is called an eight-petalled lotus, within which is a bright liṅga, known as Hansakalā. The Suṣumṇā, lying between Iḍā and Piṅgalā, is the Anāhatakalā. The usual Ājñā chakra is replaced by Tālu chakra, from which the current of nectar is said to flow. The sixteen ādhāras mentioned here are so many places

within the body on which the mind has to be fixed for attainment of different results. The three laksyas are connected with three kinds of gazing, ऊर्द्ध मध्य and अधः। The 5 vyomans indicate the Supreme Ākāśa in varying stages of its purity.

The third section treats of the identity of the microcosm with the macrocosm, and shows that whatever exists in the world outside is present also in the human body. Thus the 7 nether regions are located in the region below the bottom of the spinal column, and the 21 heavens in the upper regions of the body. In the 9 avenues are the 9 Khaṇḍas. The hills, rivers, stars, planets, tithis, devas, munis, bhūtas, pretas, piśachas, rākṣasas, daityas, dānavas, &c have their counterparts in the body. These include khecharas, ḍākinīs, sun, moon, clouds, tīrthas, creepers, plants & insects. Heaven, hell & also mokṣa are realisable in the body itself.

The fourth section treats of the support (आधार) of the body which is S'akti. This S'akti is known as S'iva when it is unruffled & quiet. She is both kula and akuḷa. Kula is fivefold—i) Parā ii) Bhāsā iii) Sattā iv) Ahantā, and v) Kalā.

Akula is unique. It assumes kula & thence descends into vyavahāra. S'iva withont S'akti is impotent.

As the support of the piṇḍa she is called Kuṇḍalinī, & is either sleeping or waking. In the latter state alone she is conscious. Owing to upward tension, effected by the so-called mūlabandha, she rises upwards. The sentient & insentient world illustrates the different degrees of expansion or self-revelation of this Power. There are said to be 9 minor śaktis in the 9 chakras, but the Primal S'akti is one. As creation and dissolution of the world follow from her expansion and contraction, she is usually described as the Mūla or Root of the Universe. The Madhya Kuṇḍalī is two-fold, one being lower & gross, and the other higher & subtle. The stability and purity of body (देहसिद्धि)

are possible only when she is roused. Difference between S'iva and S'akti is unreal & due to ignorance.

The 5th section deals with the manner how the piṇda and the supreme pada may be equilibrated. The establishment of their equilibrium is known as Piṇḍa-siddhi. The Grace of Guru–which is nothing but the Supreme Transcendent Reality beyond words–enables the aspirant to shake off all siddhis & other fruits, realise the निरुत्थान state & obtain Union (सामरस्य) of the body with Itself. This attempt leads to Supreme Delight through the revelation of the Self (निजावेश), thence to awaking of an awareness causing the flavour of pure and eternal joy, to loss of duality, realisation of the highest state of the Puruṣa & knowledge of one's own Piṇḍa. Knowledge of one's own piṇḍa is followed by unification with the Supreme Reality (परमं पदं).

The sixth section gives a brief account of the Avadhūta who alone deserves to be called a kṣapaṇaka, yogī and siddha.

The seventh section contains miscellaneous matter.

The work claims to have been compiled at Benares by one Balabhadra at the bidding of Kṛṣṇarāja. Balabhadra was of S'āṅdilya gotra. His time is not known. There is a reference in the work to the following authors and books–Lalita Svachchhanda (p. 24), Tattvasāra (p. 26) and Jaṭhara Saṁhitā nibandha (p. 28). But as the dates of these latter are not known the reference is of no use in determining the author's age.

The edition is based upon a single incorrect manuscript. There are numerous errors, some due to the carelessness of the scribe and some caused through inadvertence of the author himself. The importance of the book, as representing a hitherto unknown system of culture, has presuaded me to present it with all its errors, in the hope that it will prove a useful contribution to our knowledge of the subject.

Sanskrit College, Benares. } GOPINATH KAVIRAJ

॥ श्रीः ॥

सिद्धसिद्धान्तसंग्रहः ।

श्रीगणपतिचरणारविन्दाभ्यां नमः ।

यत् पादाब्जरजःस्पर्शादरजस्कं मनो भवेत् ।
स एव गुरुनाथो मे कृपासिन्धुः प्रसीदताम् ॥ १ ॥

अर्था ये सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ सुनिरूपिताः ।
संग्रहं तनुते तेषां कश्चिच्छ्रीकृष्णतुष्टये ॥ २ ॥

पिण्डसम्भवविचारसंविदाधारतत्पररसैक्यभूमयः ।
तीक्ष्णधीभिरवधूत इत्ययं दर्शितः खलु निरूप्य संग्रहः ॥३॥

कार्यकारणकर्तृत्वं यदा नास्ति कुलाकुलम् ।
अव्यक्तं परमं तत्त्वं स्वयं नाम तदा भवेत् ॥ ४ ॥

तस्यावस्थामात्रधर्माधर्मिणीति प्रसिद्धिभाक् ।
निजा शक्तिरभूत् तस्या औन्मुख्याख्या परोत्थिता ॥ ५ ॥

ततः स्पन्दनमात्रा स्यादपरेति स्मृता ततः ।
सूक्ष्माहन्तार्धार्धमात्रा चिच्छिलाकुण्डलिन्यतः ॥ ६ ॥

निराकृतित्वान्नित्यत्वान्निरन्तरतया तथा ।
निष्पन्दत्वान्निरुत्थत्वान्निजाः पञ्च गुणाः स्मृताः ॥ ७ ॥

अस्तित्वमप्रमेयत्वमभिन्नत्वमनन्तता ।
अव्यक्ततेति पञ्च स्युः परायां सम्मता गुणाः ॥ ८ ॥
स्फुरत्ता स्फारतायुक्ता स्फुटता स्फोटता तथा ।
स्फूर्तिरेवं पञ्च गुणा अपरायामपि स्मृताः ॥ ९ ॥
निरन्तरत्वं नैरंश्यं नैश्चल्यं निश्चयत्वकम् ।
निर्विकल्पत्वमेव स्यात् सूक्ष्मायां गुणपञ्चकम् ॥ १० ॥
पूर्णत्वं प्रतिबिम्बत्वं तथा प्रकृतिरूपता ।
प्रत्यङ्मुखत्वमौचल्यं पञ्चैते भोगिनां गुणाः ॥ ११ ॥
शक्तिपञ्चकसंभूतपञ्चविंशतिसंश्रयात् ।
परपिण्डसमुत्पत्तिः सिद्धान्तज्ञैः समीरिता ॥ १२ ॥

उक्तं च—

निजा पराऽपरा सूक्ष्मा कुण्डली तासु पञ्चधा ।
शक्तिचक्रक्रमेणैव जातः पिण्डः परः शिवे ॥ १३ ॥
ततोऽस्तितापूर्वमर्चिर्मात्रं स्यादपरं परम् ।
तत्स्वसंवेदनाभासमुत्पन्नं परमं पदम् ॥ १४ ॥
स्वेच्छामात्रं ततः शून्यं सत्तामात्रं निरञ्जनम् ।
तस्मात्ततः स्वसाक्षादभूः परमात्मपदं मतम् ॥ १५ ॥
अकलत्वासंशयत्वानुमतत्वान्यपारता ।
अमरत्वमिति प्रोक्ता गुणाः पञ्चापरे पदे ॥ १६ ॥

निःकलत्वमलोलत्वमसंख्येयाक्षयत्वेक ।
अभिन्नतेति पञ्चोक्ता गुणाः स्युः परमे पदे ॥ १७ ॥
नीलता पूर्णता मूर्छा उन्मनी लयतेत्यमी ।
शून्ये पञ्च गुणाः प्रोक्ताः सिद्धसिद्धान्तवेदिभिः ॥१८॥
सहजत्वं सामरस्यं सत्यत्वं सावधानता ।
सर्वगत्वमिति प्रोक्ता गुणाः पञ्च निरञ्जने ॥ १९ ॥
अभयत्वमभेद्यत्वमच्छेद्यत्वमनाश्यता ।
अशोष्यत्वमिति प्रोक्ता गुणाः पञ्च परात्मनि ॥ २० ॥
तत्त्वपञ्चकमाख्यातमाद्यपिण्डस्य पण्डितैः ।
एवं तथा गुणाः प्रोक्ताः पञ्चविंशतिसंख्यकाः ॥ २१ ॥
सगुणैः समवेतैस्तैरादिपिण्डः समुद्भवेत् ।
आदेस्तु परमानन्दः प्रबोधः स्याच्चतस्ततः ॥ २२ ॥
भवेच्चिदुदयस्तस्मात् प्रकाशः सोऽहमित्यतः ।
उदयः स्यात्तथोल्लासोऽवभासोऽथ विकाशनम् ॥ २३ ॥
प्रभेति स्युर्गुणाः पञ्च प्रबोधस्य प्रकीर्तिताः ।
निष्पन्दहर्षावुन्मादः स्पन्दो नित्यसुखं तथा ॥ २४ ॥
इति पञ्च गुणाः प्रोक्ताः परमानन्दसंज्ञके ।
सद्भावोऽत्र विचारश्च कर्तृत्वं ज्ञातृता तथा ॥ २५ ॥

स्वातन्त्र्यमिति पञ्चैव गुणाश्चिदुदयस्य च ।
निर्विकारत्वनैष्कल्ये सद्बोधः समता तथा ॥ २६ ॥
विश्रान्तिरेवं संप्रोक्तं प्रकाशगुणपञ्चकम् ।
अहन्ता खण्डितैश्वर्यं स्वानुभूतिः समर्थता ॥ २७ ॥
सर्वज्ञतेति पञ्चोक्ताः सोऽहम्भावगुणा इमे ।
इत्याद्यपिण्डः संपृक्तः तत्त्वपञ्चकगैर्गुणैः ॥ २८ ॥
पञ्चविंशतिसंख्याकैरिमैरेव समुत्थितः ।
आद्यादभून्महाकाशं ततो जातो महानिलः ॥ २९ ॥
तस्मात्तेजो महत्तस्मान्महत् कं तन् महा धरा ।
अवकाशं तथा छिद्रमस्पृश्यत्वं तथा रवः ॥ ३० ॥
नीलवर्ण इति प्रोक्ता गुणाः पञ्च महाम्बरे ।
सञ्चारश्चालनं स्पन्दः शोषणं धूम्रवर्णता ॥ ३१ ॥
इमे पञ्च गुणाः प्रोक्ता महावायौ मनीषिभिः ।
दाहकत्वं पावकत्वं सूक्ष्मत्वं रूपभासिता ॥ ३२ ॥
रक्तवर्णत्वमेवं स्युः गुणाः पञ्च महानिले ।
प्रवाहाप्यायनरसद्रवाश्च श्वेतवर्णता ।
इमे पञ्च गुणाः प्रोक्ता महावारिणि पण्डितैः ॥ ३३ ॥

स्थूलत्वनानाकृतिते काठिन्यं गन्धपीतते ।
इति पञ्च गुणाः प्रोक्ता महामह्यां महर्षिभिः ॥ ३४ ॥
इति साकारपिण्डस्य तत्त्वपञ्चकमिष्यते ।
पञ्चविंशतिसंख्याका गुणास्तैर्मिलितैः शिवः ॥ ३५ ॥
शिवाद्भैरव एतस्माच्छ्रीकण्ठोऽतः सदाशिवः ।
ईश्वरोऽस्माद्रुद्र आसीत्ततो विष्णुस्ततो विधिः ॥ ३६ ॥
महासाकारपिण्डस्य मूर्त्यष्टकमिदं स्मृतम् ।
ब्रह्मणः प्राकृतं दृष्ट्वा नरनार्य्यात्मपिण्डकम् ॥ ३७ ॥
पञ्चपञ्चात्मकं तच्च शरीरमिदमुच्यते ।
अस्थित्वङ्मांसलोमानि नाड्यः पृथ्व्यंशका इमे ॥३८॥
लालामूत्रे असृक्स्वेदौ शुक्रमित्यंशका अपाम् ।
क्षुधातृषालस्यनिद्राकान्तयोऽशा विभावसोः ॥३९॥
धावनं चलनं रोधः प्रसाराकुञ्चने तथा ।
वाय्वंशा उदिता एते पञ्च सिद्धान्तवेदिभिः ॥ ४० ॥
रागद्वेषौ भयं लज्जा मोह एवं नभोगुणाः ॥
इति प्राकृतपिण्डे स्युः पञ्चभूतानि तद्गुणाः ॥४१॥
मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तं चैतन्यमित्यथ ।
सिद्धसिद्धान्तगैरुक्तमन्तःकरणपञ्चकम् ॥४२॥

संकल्पश्च विकल्पश्च जडता मूर्छना तथा ।
मननं चेति संप्रोक्ता गुणाः स्युः पञ्च मानसाः ॥४३॥
विवेकवैराग्य परा प्रशान्तिक्षमा गुणा बुद्धिगता भवन्ति ।
मानो ममत्वं सुखदुःखमोहा गुणा इमेहं कृतिवर्त्तिनःस्युः४४
मतिर्धृतिः संस्मृतिरुत्कृतिश्च स्वीकार इत्थं खलु पञ्च चेताः
चैतन्यनिष्ठास्तु विमर्षहर्षौ धैर्यं गुणाश्चिन्तननिःस्पृहत्वे ४५
अन्तःकरणधर्मा ये त एते संप्रदर्शिताः ।
सत्त्वं रजस्तमः कालो जीवश्च कुलपञ्चकम् ॥४६॥
दया धर्मः क्रिया भक्तिः श्रद्धेत्थं सत्त्वगा गुणाः ।
दानं भोगश्च शृङ्गारः स्वार्थादाने रजोगुणाः ॥४७॥
मोहप्रमादौ निद्रा च हिंसाक्रौर्ये तमोगुणाः ।
विवादः कलहः शोको बन्धो वञ्चनमेव च ॥ ४८ ॥
एवं पञ्च गुणाः प्रोक्ताः कालस्य मुनिपुङ्गवैः ।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुर्य्यकतुरीयाऽतीतसंज्ञा गुणाः ॥४९॥
जीवस्था इह कीर्तिता इति भवेज्जीवेऽपि तत्पञ्चकम् ।
इच्छा कर्म विमोहिनी प्रकृतियुक् वाक् चेति पञ्चाऽपि ते५०
व्यक्ताख्यधरशक्तिपञ्चकगुणाः सन्तीति सिद्धान्तवाक् ।
उन्मेषो वासना वीप्सा चिन्ता चेष्टेच्छिका गुणाः ॥५१॥

स्मृत्युद्यमोद्वेगकार्य्यनिश्चयकारिणी क्रिया ॥
मदमात्सर्यकपटकर्त्तव्थासत्यसंज्ञकाः ॥ ५२ ॥
प्राकृता मायिका आशा तृष्णा काङ्क्षा स्पृहा मृषा
परास्ति पश्यन्त्यथ मध्यमा च वैखर्य्यपीष्टाक्षरमातृका च ।
एते गुणा वाचि भवन्ति पञ्च प्रपञ्चनिर्मुक्तजनोपदिष्टाः ॥५३॥
पञ्चविंशतिरेते स्युर्व्यक्तिशक्तिगुणा इह ।
कालकर्माग्निचन्द्रार्काः प्रत्यक्षकृतिहेतवः ॥ ५४ ॥

इति प्रीतिलीलातुरत्वाभिलाषा
गुणाः पञ्च कामे वसन्तीत्यणान्ति ।
शुभं चाशुभं कीर्त्यकीर्त्ती तथेच्छा-
गताः कर्मणि ब्रह्मनिष्ठास्तथा ते ॥ ५५ ॥

उल्लोलकल्लोलसमुच्चलत्वप्रोन्मादवत्यूर्मिविशेषवत्यः ।
विलेपयन्ती लहरीविलोला विलेलिहासप्रसरा प्रवृत्तिः॥५६॥
स्रवन्तिका नामवती प्रवाहा सौम्या प्रसन्नेति कलाः सुधांशोः।
उदीरिता षोडश तस्य चान्या न वृत्तिसंज्ञामृतनाम तस्याः५७
तपिनी ग्रासिनी क्रूरा कुञ्चनी शोषणी तथा ।
बोधिनी घस्मराकर्षिण्यर्थसन्तुष्टिवर्द्धिनी ॥ ५८ ॥
ऊर्मिरेखाकिरणिनी प्रभावत्यंशुमालिनः ।
इमा कला द्वादश स्युरन्याप्यस्ति प्रकाशिका ॥ ५९ ॥

वीजिनी दीपिका ज्वाला विस्फुलिङ्गा प्रचण्डिका ।
पाचिका रौद्रिका दाहा रोचिनी शोषिणीति ताः ॥ ६० ॥
कला दश भवन्त्यग्नेर्ज्योतिर्निजकला परा ।
इति प्रत्यक्षकारिणो गुणाः स्युः सिद्धसंमताः ॥ ६१ ॥
द्वाराणि द्वादशोक्तानि नाडीनां यानि तान्यथ ।
दर्श्यन्ते सिद्धसिद्धान्तनिर्णीतानि यथामतम् ॥ ६२ ॥

इडापिङ्गले नासिकारन्ध्रगे द्वे
सुषुम्णा भवेत्तालुमूलेजरन्ध्रम् ।
समे तावधीकृत्य गान्धारिकाख्या
तथा हस्तिजिह्वा श्रवोयुग्मके स्यात् ॥६३॥
भवेच्छङ्खिनी लिङ्गवक्त्रादिदण्डा-
ध्वनापद्मजद्वारमासाथ पूषा ।
तथाऽलम्बुषा चक्षुषोः सन्तगास्या-
ग्रगा स्यात्पयस्विन्यपाने कुहूश्च ॥ ६४ ॥

दश नाड्यो दशद्वारवर्त्तिन्य इति कीर्त्तिताः ।
द्वासप्ततिसहस्राणि नाड्योऽन्या रोमकूपगाः ॥ ६५ ॥
हृदि प्राणो गुदेऽपानो नाभिगामी समानकः ।
उदानः कण्ठनिलयो व्यानस्तालुसमाश्रयः ॥ ६६ ॥
सर्वाङ्गव्यापको नागः कूर्मोऽक्षिण कृकलो नसि ।
देवदत्तो मुखाग्रस्थः कण्ठाधः स्याद्धनञ्जयः ॥ ६७ ॥

आहाराकाङ्क्षकः पूर्वो द्वितीयः स्तम्भकुम्भकः ।
तृतीये दीपनं पाकस्तुर्ये नाडीविशोधनम् ॥ ६८ ॥

आप्यायनं रुचिश्चैव पञ्चमेऽशनजल्पने ।
मोडनोच्चाटने षष्ठे मेषोन्मेषौ च सप्तमे ॥ ६९ ॥

क्षुदुद्गारावष्टमे स्तां जृम्भणं नवमे भवेत् ।
दशमे नादघोषौ तु स्युरेते दश वायवः ॥ ७० ॥

अवलोकनपिण्डस्य समुत्पत्तिरितीरिता ।
नरनारीरूपमाहुरिदमेव मुनीश्वराः ॥ ७१ ॥

गर्भपिण्डसमुत्पत्तिमथ वक्ष्यामि संमताम् ।
ऋतौ स्त्रीतरयोर्योगे जीवो बिन्दुरजाश्रयात् ॥ ७२ ॥

पूर्वस्मिन् कलिलं ततो रविदिनैः स्याद् बुद्बुदाभं ततः ।
पक्षाद्गोलकसन्निभं कठिनताभाङ्मासमात्राद्भवेत् ॥
तद्द्वन्द्वेन शिरस्त्रिभिः करपदाद्यं स्याच्चतुर्भिः श्रुती ।
नेत्रे घ्राणगुदास्यमेढ्रकमथो पृष्ठोदरं पञ्चभिः ॥ ७३ ॥

षड्भिर्गात्ररुहाणि सप्तभिरथो स्याच्चेतनालक्षणा- ।
न्यष्टाभिर्यदि जायते सुविरहस्तत्तत्त्वलाभस्ततः ॥
मासेऽज्ञो दशमेऽथ योनिसमयाच्छुक्राधिकत्वे पुमान् ।
शुक्रस्याधिकतान्वये तु वनिता साम्ये तयोः क्लीबकः॥७४॥

अन्योन्यचित्तप्रतिकूलभावात्
स्त्रीपुंसयोर्वामनकुब्जखञ्जाः ।
अन्धादयोङ्गातिनिपीडना स्या-
द्रेतोतिभावात्सुतयुग्मता च ॥ ७५ ॥

शुक्रं सार्द्धपलत्रयं निगदितं रक्तं पलाविंशतिः ।
तस्यार्द्धं खलु मेदसोरविपला मज्जा शतं मांसकम् ॥
पित्तं रावणवक्त्रसंमितपलं षष्ट्युत्तरा स्याच्छत-।
त्रय्यस्थामथ सन्धयस्तदुपमाः सार्द्धत्रिकोट्यः कचाः॥७६॥

मज्जास्थिमेदांसि सशुक्रकाणि
भवन्ति वीर्य्याज्जनकस्य पुत्रे ।
मांसासृजी गात्ररुहाणि वातः
पित्तं कफस्तद्द्वययोगतः स्यात् ॥ ७७ ॥

दशधातुमयो देह इत्थं भवति निश्चितः ।
गर्भपिण्डोत्पत्तिरेवं सिद्धसिद्धान्तसंमता ॥ ७८ ॥

इति सिद्धसिद्धान्तसङ्ग्रहे षड्विधपिण्डोत्पत्तिः प्रथमोपदेशः ॥

नवचक्राणि देहेऽस्मिन् भवन्तीति विनिश्चितम्।
तेषां विभागो ज्ञातव्य आधारादिक्रमादथ ॥ १ ॥
ब्रह्मचक्रं त्रिधावर्त्तं भगमण्डलकाकृति।
आधारे तदधःकन्दे ध्यायेच्छक्तिं हुताशभाम् ॥ २ ॥
कामरूपाभिधं पीठं सर्वकामप्रदायि तत्।
तदत्र भवतीत्युक्तं सिद्धसिद्धान्तवेदिभिः ॥ ३ ॥
स्वाधिष्ठानाभिधं चक्रं द्वितीयं यच्चतुर्दलम्।
पद्मं तत्र प्रवालाभं लिङ्गं ध्यायेत् पराङ्मुखम् ॥ ४ ॥
तत्रैवोड्यानपीठं स्याज्जगदाकर्षसिद्धिदम्।
भवतीति महासिद्धाः सिद्धान्तं चक्रिरे पुरा ॥ ५ ॥
तृतीये नाभिचक्रे तु पञ्चावर्त्तादिसन्निभे।
ध्यायेत् कुण्डलिकाकारे बालार्कद्युतिकुण्डलीम् ॥ ६ ॥
तुर्य्यं हृदयचक्रं यत्तत्राष्टदलवारिजे।
लिङ्गं ध्यायेत् कर्णिकान्तर्ज्योतिर्मत्परमोज्ज्वलम् ॥ ७ ॥
सैव हंसकला ख्याता सर्वेन्द्रियवशङ्करी।
योगिभिर्विधिवद् ज्ञाता सर्वलोकान् वशं नयेत् ॥ ८ ॥
पञ्चमं कण्ठचक्रं तु चतुरङ्गुलविन्दुभम्।
तद्वामदक्षचन्द्रार्कनाड्योर्ध्यायेत् सुषुम्णिकाम् ॥ ९ ॥
अनाहतकला सैव विख्याता योगिनां मते।
अनाहतमहासिद्धिविश्राणनधुरन्धरा ॥ १० ॥

तालुचक्रं षष्ठमत्र सुधाधाराप्रवाहभृत् ।
घण्टिका राजदन्तान्तर्ध्यायेत् शून्यं मनोलये ॥ ११ ॥
नवमं ब्रह्मचक्रं यत्सहस्रदलवारिजम् ।
ध्यायेद्गोक्षीरभं तत्र हंसं तत्तन्मयो भवेत् ॥ १२ ॥
नवचक्रविचारोऽयं कथितः परमार्थदः ।
अथाहं षोडशाधारान् वक्ष्यामि कृपया गुरोः ॥ १३ ॥
पादाङ्गुष्ठात्परं ध्यायेत्तेजस्तत्प्रथमं यदि ।
दृष्टिः स्थैर्य्यं समायाति नैरन्तर्य्येण निर्मला ॥ १४ ॥
मूलसूत्रं समालम्ब्य स्थातव्यं पादपार्ष्णिना ।
यदा तदानीमाधारो द्वितीयोऽग्निप्रदीपनः ॥ १५ ॥
विकाससङ्कोचनतो गुदमाकुञ्चयेद्यदा ।
तृतीयाधार उक्तस्तदपानस्थैर्य्यकारकः ॥ १६ ॥

सङ्कोचनेन मणिकस्य परत्र तुर्य्ये
दण्डाध्वनैव चरमेण निवेश्य चित्तम् ।
वज्रोदरे सगतिबन्धनभेदिदर्प्या
भृङ्गस्य चेद्गुदिदरे(?)खलु बिन्दुबन्धः ॥१७॥

एषा वज्रोलिका प्रोक्ता सिद्धसिद्धान्तवेदिभिः ।
ज्ञानादेव भवेदस्याः सिद्धमार्गः प्रकाशितः ॥ १८ ॥
नाड्याधारे पञ्चमे तु सन्निवेश्य मनोनिलम् ।
जारणं भवति क्षिप्रं योगिनां मलमूत्रयोः ॥ १९ ॥

नाभ्याधारे तथा षष्ठे प्रणवोच्चारणक्रियाम् ।
कृत्वैकाग्रेण मनसा नादोदयमुपैत्यलम् ॥ २० ॥
सप्तमे हृदयाधारे प्राणवायुं निरोधयेत ।
यदा तदैवाम्बुरुहं विकासमधिगच्छति ॥ २१ ॥
कण्ठाधारेऽष्टमे कण्ठं चिबुकेन निपीडयेत् ।
इडापिङ्गलयोर्वायुस्थैर्य्यभावस्तदा भवेत् ॥ २२ ॥
नवमे घण्टिकाधारे जिह्वां सङ्घट्टयेत् क्रमात् ।
सुधाकलापरिस्रावस्तदा स्यादमरत्वदः ॥ २३ ॥
जिह्वां चालनदोहाभ्यां दीर्घीकृत्य निवेशयेत् ।
दशमाधारताल्वन्तः काष्ठा भवति सा परा ॥ २४ ॥
एकादशे रसाधारे जिह्वाग्रमथनात्स्फुटम् ।
परमानन्दसन्दोहकारिणी कविता भवेत् ॥ २५ ॥
द्वादशोर्द्ध्वरदाधारे जिह्वाग्रं ग्रन्थयेद दृढम् ।
व्याधयः क्षणमात्रेण परिक्षीणा भवन्त्यलम् ॥ २६ ॥
त्रयोदशो नासिकाख्य आधारो यः प्रकीर्तितः ।
तदग्रं लक्षयेन्नित्यं मनो भवति सुस्थिरम् ॥ २७ ॥
कपाटाकारमाहुर्यन्नासामूलं चतुर्दशम् ।
तत्र दृष्टिनिबन्धेन षण्मासाज्ज्योतिरीक्षणम् ॥ २८ ॥
भ्रुवाधारं पञ्चदशं पश्येच्चेदूर्ध्वचक्षुषा ।
पुरोऽवलोकयेच्छ्रीमान् किरणाकारमुज्ज्वलम् ॥ २९ ॥

षोडशं नयनाधारमूर्द्धभागे प्रचालयेत् ।
अङ्गुल्या चेदपाङ्गे स्वे ज्योतिःपुञ्जं प्रपश्यति ॥३०॥
सदा कृन्तनमेवाऽथ लोकयेन्निर्मलाशयः ।
इत्युक्ताः षोडशाऽऽधारा लक्ष्यत्रयमथोच्यते ॥ ३१ ॥
मूलकन्दाद्दण्डलग्नां ब्रह्मनाडीं सितप्रभाम् ।
ब्रह्मरन्ध्रावधि ध्यायेत् तन्मध्ये विद्युदुज्ज्वलाम् ॥ ३२ ॥
मूर्तिं तां लक्षयेन्नित्यं बिसतन्तुतनीयसीम् ।
सर्वसिद्धिप्रदाने सा कल्पवल्लीयते सताम् ॥ ३३ ॥
ललाटोर्ध्वेऽथवा ताराकारं गुह्याटमण्डलम् ।
लक्षयेद्वालिकुहरे रक्तं मधुकराकृतिम् ॥ ३४ ॥
तर्जनीमुखनिरुद्धकर्णको योऽथवा भवति पूरुषोत्तमः ।
मूर्द्धमध्यगतसिंहहाटके तस्य नाद उदयेत घुंध्विति ॥३५॥

चक्षुर्मध्ये पुत्तलीसन्निभं वा
नीलज्योतीरूपमुद्यत् प्रकाशम् ॥
नैरन्तर्याल्लक्षयेदेतदुक्तं प्राज्ञै-
रन्तर्लक्ष्यमलुब्धचित्तैः ॥ ३६ ॥

एकाङ्गुलचतुर्मार्गे नासाग्राद्बहिरम्बरम् ।
व्योमामलज्योतिरूपमं नैरन्तर्येण लक्षयेत् ॥ ३७ ॥
नासाग्रतो बहिर्व्यापि सततं द्वादशाङ्गुले ।
लक्षयेद्धरितालाभं पुरः पार्थिवमण्डलम् ॥ ३८ ॥

वायुतत्त्वं धूम्रवर्णं नासाग्रात् षोडशाङ्गुलम् ।
लक्षयेत्तन्मुखं वा खं स्थिरदृग्गोकुलेक्षणे ॥ ३९ ॥

इति सिद्धसिद्धान्तसङ्ग्रहे निर्मलीकरणम् ॥

ऊर्द्धदृष्ट्यान्तरालम्बे लक्षयेत्सिद्धवर्त्मगः ।
ज्योतिर्मयूखा दृश्यन्ते तदाऽकस्मादितस्ततः ॥ ४० ॥
अथवा यत्र कुत्रापि व्योमैव परिलक्षयेत् ।
आलम्बते स्थिरत्वं दृक् योगिनोऽभ्यासतः सदा ॥४१॥
द्वादशाङ्गुलमारभ्याष्टादशाङ्गुलकावधि ।
शिरस्यूर्द्ध्वेऽथवा पश्येज्ज्योतिःपुञ्जं विमुक्तिदम् ॥ ४२ ॥
दृष्ट्यग्रे तप्तभर्माभां लक्षयेद्वा वसुन्धराम् ।
दृष्टिः स्थिरत्वमेतीति बहिर्लक्ष्यमनेकधा ॥ ४३ ॥

सितं पीतं रक्तं हरितमथवा श्यामलनिभं
प्रदीपाकारं वाधिगततुलनं धूमशिखया ।
स्फुरज्ज्योतीरूपं हिमकिरणबिम्बाकृति तथा
दिनेशाकारं वा नवयवकमीक्षेत मनसा ॥ ४४ ॥

मध्यलक्ष्यमिदं प्रोक्तमिति लक्ष्यत्रयीरिता ।
सिद्धसिद्धान्तविज्ञातं व्योमपञ्चकमुच्यते ॥ ४५ ॥

बाह्याभ्यन्तरदेशमुज्ज्वलतमं शून्यं खमालोकयेत्
ध्वान्ताकारधरं परं खमथवा कल्पान्तकालाग्निसमम् ।

आहोस्विद् गमनं महत्पदमुत प्रद्योतरूपं नभ-
स्तत्त्वाद्यं दिनरत्नकोटिरुचि वा सूर्य्याम्बरं सन्ततम् ।४६।
व्योमपञ्चकविलोकनात् पुमान् जायते कुलिशतुल्यविग्रहः ।
इत्यवेत्य विमलेन चेतसा व्योमपञ्चकमिदं प्रपञ्चितम् ।४७।
नवाङ्गं षोडशाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम् ।
समानं यो न जानाति स योगी नामधारकः ॥४८॥

इति प्राचीनोक्तिः ॥

योगाङ्गानि भवन्त्यष्टौ यमो नियम आसनम् ।
प्राणायामस्तथा प्रत्याहारः स्यादथ धारणा ॥४९॥
ध्यानं समाधिरेतेषां पृथगर्थानथ ब्रुवे ।
द्वन्द्वदुःखादिसहनं यम इत्यभिधीयते ॥५०॥
वृत्तीनां मानसीनां हि यैः स्यान्नियमनं स्फुटम् ।
नियमास्ते प्रकीर्त्यन्ते सन्तोषप्रमुखा बुधैः ॥५१॥
स्वस्वरूपे सदासन्नभाव आसनमुच्यते ।
सुखस्वस्थाम्बुजादीनां भेदात्तद् बहुधा मतम् ॥५२॥
प्राणानां स्थैर्यहेतुर्य्यः स प्राणायाम इष्यते ।
निःश्वासतारे चक्राद्यैः सम्पुटीकरणं यथा ॥ ५३ ॥
चेतोवृत्तितरङ्गाणां विषयेभ्यो निवर्तनम् ।
प्रत्याहारः स उत्पन्नो विकारग्रासकारकः ॥५४॥

उत्पन्नोत्पन्नवृत्तीनां निर्विकारे हि धारणम्।
धारणेति समाख्याता नियम्यैकाऽवधारणा ॥५५॥
परमात्माऽस्ति निर्द्वन्द्वः स्वात्मारामोऽत्र यद्भवेत्।
यत्तत्स्वरूपमित्यन्तर्वृत्तिर्ध्यानमिति स्मृतम् ॥५६॥
सर्वतत्त्वसमावस्था समाधिरिति कीर्तितः।
निरुद्यमत्वानायासात्वेकशीलैकभावते ॥५७॥
निर्विकल्पत्वमेते ते सन्ति भेदाः समाधिजाः।
अष्टाङ्गयोग इत्येष निरूपित इह स्फुटम् ॥५८॥

इति सिद्धसिद्धान्तसङ्ग्रहे पिण्डविचारे द्वितीयोपदेशः॥

अथ तृतीयोपदेशः ।

पिण्डसंवित्तिरधुना कथ्यते योगिसंमता ।
यस्याः समाश्रयाद् भाति तत्त्वज्ञानमदूरतः ॥ १ ॥
ब्रह्माण्डवर्त्ति यत्किञ्चित्तत्पिण्डेऽप्यस्ति सर्वथा ।
इति निश्चय एवात्र पिण्डसंवित्तिरुच्यते ॥ २ ॥
कूर्मः पादतलेऽङ्गुष्ठतले पातालमुच्यते ।
तलातलं पुरोऽङ्गुष्ठात्पादपृष्ठे महातलम् ॥ ३ ॥
गुल्फे रसातलं प्रोक्तं जङ्घायां सुतलं मतम् ।
वितलं जानुदेशे स्यादतलं मूल इष्यते ॥ ४ ॥
ऊर्ध्वः स्वभावो यः पिण्डे स स्यात्कालाग्निरुद्रकः ।
पातालपदवाच्यानां सत्त्वानामधिदेवता ॥ ५ ॥
भूरादिलोकत्रितयं गुह्ये लिङ्गाग्रमूलयोः ।
तत्राधिदेवता शक्रः पिण्डेऽप्यत्रिनायकः ॥ ६ ॥
दण्डाग्रे दण्डकुहरे महर्लोको जनस्तथा ।
तपो दण्डतले सत्यं मूले योमान(?) एतदीट् ॥ ७ ॥
अनेकव्यापकः पिण्डे धर्मोऽयमहसो(?)च्युतः ।
स्वर्लोकभूतकुक्षेः स देवतात्वेन संमतः ॥ ८ ॥

हृदये रुद्रलोकोऽस्ति रुद्रस्तत्राधिदेवता।
उग्रः स्वभावो यः पिण्डे तत्स्वरूपः स संमतः॥ ९॥
वक्षसीश्वरलोकोऽस्ति तत्राधीश्वर ईश्वरः।
पिण्डे तृप्तिस्वरूपेण तिष्ठतीति मतं सताम्॥ १०॥
कण्ठं सदाशिवनिवासमुदाहरन्ति
तत्राधिनायकतया स सदाशिवोऽस्ति।
पिण्डे जितेन्द्रियगणैरनुभूयमानः
सौम्यस्वभाव इति यः प्रथितप्रतिष्ठः॥ ११॥
श्रीकण्ठलोकः खलु कण्ठमध्ये श्रीकण्ठ एवात्र भवेदधीशः।
सनातनत्वात्मकतां दधानः पिण्डान्तरे वाधिकृताधिवासः॥
लम्बिकामूलके भैरवोऽधीश्वर-
स्तत्र यत्किंचितस्तस्य लोको बुधैः।
प्राणिनां सर्वदा सर्वकार्योद्यमो
भैरवाख्याधरः पिण्डमध्ये मतः॥ १३॥
तालुद्वारे शैवलोकः प्रसिद्धः
तत्राधीशः स्याच्छिवो विश्ववन्द्यः।
विद्वद्वर्यैर्योगशान्तिः प्रतीता
तद्रूपोऽसौ पिण्डमध्ये विभाति॥ १४॥
तालोरभ्यन्तरे भाति सिद्धलोकोऽत्र देवता।
महासिद्धः प्रबोधात्मा पिण्डमध्येऽनुभूयते॥ १५॥

ल्लाटेऽनादिलोकोऽस्ति तत्रानादिरधीश्वरः ।
पराहन्तास्वरूपेण पिण्डमध्येऽवतिष्ठते ॥ १६ ॥
शृङ्गाटे कुललोकोऽस्ति तत्र देवः कुलेश्वरः ।
पिण्डमध्ये सदानन्दस्वरूपेणावतिष्ठते ॥ १७ ॥
ब्रह्मरन्ध्रे परब्रह्मलोकस्तत्राधिदेवता ।
परब्रह्माभिधा पिण्डे परिपूर्णस्वरूपतः ॥ १८ ॥
परापरस्य लोकोऽस्ति तत्र देवः परेश्वरः ।
अस्तित्वरूपतः सोऽयं पिण्डमध्येऽनुभूयते ॥ १९ ॥
त्रिकूटे शक्तिलोकोऽस्ति परा शक्तिस्तु देवता ।
सर्वकर्तृत्वसामर्थ्यपरावस्थात्मता तनौ ॥ २० ॥
पिण्डे सप्ततलानि स्युर्लोकाश्चाप्येकविंशतिः ।
वृत्ते विप्रो नृपः शौर्ये उद्यमे विड् भयेऽङ्घ्रिजः ॥२१॥
स्युर्जम्बूशाल्मलीप्लक्षकुशक्रौञ्चकगोमयाः ।
श्वेतोमज्जास्थिनाडीषु मांसे त्वचि कचे नखे ॥ २२ ॥
मूत्रं शुक्रं कफो मेदो वसा प्रस्वेदरेतसी ।
क्षारेक्षुदधिसर्पींषि मधुवारिपयांसि च ॥ २३ ॥
नवसु द्वारदेशेषु नवखण्डान्यकीर्त्तयन् ।
अथ शैलादिकान् ब्रूमो यथाभागमवस्थितान् ॥ २४ ॥
मेरुदण्डे मेरुरस्ति कैलासो ब्रह्मशङ्खके ।
पृष्ठे हिमाद्रिर्मलयो वामेंऽशे मन्दरः परः ॥ २५ ॥

विन्ध्याद्रिर्दक्षिणे कर्णे वामे मैनाकपर्वतः ।
श्रीपर्वतो ललाटे स्यादेवमष्टौ कुलाचलाः ॥ २६ ॥
चतुःषष्टिर्मता वर्णा योगिन्यः सकलास्तथा ।
हस्ताङ्गुलिषु राजन्ते सर्वे एवोपपर्वताः ॥ २७ ॥
गङ्गा सरयूर्यमुना चन्द्रभागा सरस्वती ।
वितस्ता शतरुद्रा च नर्मदैरावती शिराः ॥ २८ ॥
द्वासप्ततिसहस्राणि नद्यो याः परिकीर्तिताः ।
अन्या नद्युपनद्याद्यास्ता ज्ञेयास्तत्त्वदर्शिभिः ॥ २९ ॥
नक्षत्रराशिग्रहतारकाणि तथा तिथीनां वलयेऽत्र कोष्ठाः ।
द्वासप्ततिर्ये विलसन्ति तेषु निवासमाहुः श्रुतितत्त्वविज्ञाः ३०
अनेकतारानेत्रान्तस्तेजःपुञ्जे कृताश्रयाः ।
त्रयस्त्रिंशत्कोटिदेवा रोमकूपसमाश्रयाः ॥ ३१ ॥
अनेकमुनिसंघाताः कक्षरोमकृताश्रयाः ।
पीठोपपीठा येऽनेके श्मश्रुस्थाने वसन्ति हि ॥ ३२ ॥
भूतप्रेतपिशाचराक्षसगणा दैत्यास्तथा दानवाः ।
सर्वे कीकससन्धिसङ्गतिकराः सन्तीति सिद्धोदितम् ॥
नागा अक्षितनूरुहेषु सकला ये तूपनागा मताः ।
तेषामस्ति निवासभूमिरुदरप्रोद्भूतरोमोद्गमे ॥ ३३ ॥
नानाविधेष्ववयवेषु वसन्ति चान्ये
गन्धर्वकिन्नरगणाप्सरसोऽथ यक्षाः ।

याः स्युः परा इह सदा खलु देवताश्च
वाच्येषु रश्मिविततेषु समुल्लसन्ति ॥ ३४ ॥
खेचर्य्यो मातरश्चान्या डाकिन्याद्युग्रदेवताः ।
वायुवेगे वसन्त्यत्र जलदा अश्रुपातगाः ॥ ३५ ॥
मर्मस्थानेष्वनेकेषां तीर्थानामस्ति संश्रयः ।
मतिप्रकाशेष्वावासः सिद्धानामपि कीर्तितः ॥ ३६ ॥
सूर्य्यचन्द्रमसोर्वासो नेत्रद्वय उदीरितः ।
लतागुल्मतृणादीनां जङ्घारोमसु संश्रयः ॥ ३७ ॥
कृमिकीटपतङ्गाद्याः पुरीषे कृतसंश्रयाः ।
यत्सुखं स भवेत्स्वर्गो यद्दुःखं नरकं हि तत् ॥३८॥
निर्विकल्पो भवेन्मोक्षो निद्रादौ जागरोत्तरम् ।
स्वस्वरूपदशेत्युक्तं पिण्डसंवित्तिहेतवे ॥ ३९ ॥
अखण्डपरिपूर्णात्मा विश्वरूपो महेश्वरः ।
घटे घटे चित्प्रकाशस्तिष्ठतीति प्रबुध्यताम् ॥ ४० ॥

॥ इति पिण्डसंवित्तिस्तृतीयोपदेशः ॥

——:o:——

अथ चतुर्थोपदेशः ।

पिण्डाधारमथो वक्ष्ये यज्ज्ञानादात्मतत्त्ववित् ।
पिण्डाधारो भवेच्छक्तिः चित्प्रबुद्धाऽपरम्परा ॥ १ ॥
कार्यकारणकर्तॄणामुत्था(?)वस्थाकरं स्फुटम् ।
कर्त्तुं शक्नोति यत्तस्माच्छक्तिरित्यभिधीयते ॥ २ ॥
नानासूत्रस्वरूपेण पटे तन्तुर्यथाश्रयः ।
तद्वदाधारतां सेति देहे नानांशुभिर्जडे ॥ ३ ॥
अत्यन्तस्वप्रकाशैकवेद्याभावैकसांख्यभूः ।
प्रत्यक्षसाक्षिणी यातां भावयेदपरंपराम् ॥ ४ ॥
सहजेनात्मलीला सा यदा सञ्जायते तदा ।
निरुत्थानदशेत्युक्ता शिवसंज्ञापि तत्र हि ॥ ५ ॥
कुलाकुलस्वरूपोऽसौ सामरस्यत्वभूमिका ।
सत्ताहन्ता परा भासा स्फुरत्ता च कुलाकुलम् ॥ ६ ॥
परस्परानिराभासभासि सम्यक्प्रकाशिका ।
पराभासैकमेवास्तीत्येका सत्ता निरुच्यते ॥ ७ ॥
अनादिनिधना मेयस्वभावांशसुखोऽस्म्यहम् ।
इत्यहन्ताज्ञानदशा स्फुरणात्मा स्फुरन्तिका ॥ ८ ॥

शुद्धबुद्धस्वरूपस्य कलयत्यात्मवित्पदम् ॥
यतस्ततः कलेत्युक्ता कुलपञ्चकमस्त्यदः ॥ ९ ॥
वर्णगोत्रादिराहित्यादेकमेवाकुलं मतम् ।
उमामहेशसंवादादर्थोऽयमवगम्यताम् ॥ १० ॥

तथाच—

अनन्यत्वादखण्डत्वादद्वयत्वादनाशनात् ।
निर्धर्मत्वादनङ्गत्वादकुलं स्यान्निरन्तरम् ॥ ११ ॥
कुलस्य सामरस्येति सृष्टिहेतुः प्रकाशभूः ।
सा चापरंपरा शक्तिराज्ञेशस्यापरं कुलम् ॥ १२ ॥
प्रपञ्चस्य समस्तस्य जाग्रद्रूपप्रवर्त्तनात् ।
एकैव कर्त्तुं यच्छक्ता तस्मादाज्ञेचरीहसा ॥ १३ ॥

उक्तं ललितस्वच्छन्देन—

अकुलं कुलमाधत्ते कुलञ्चाव्यवहृतिर्भवेत् ।
अतः कुलाकुलस्थित्यानीशईशोपि शङ्क्यते ॥ १४ ॥
अलुप्तशक्तिमान्नित्यस्सर्वाकारतया स्वयम् ।
प्रस्फुरन्तं पुनः स्वेन स्वयमेकं प्रपश्यति ॥ १५ ॥
शिवोऽपि शक्तिरहितः कर्त्तुं शक्तो न किञ्चन ।
शिवः स्वशक्तिसहितो ह्याभासाद्भासको भवेत् ॥ १६ ॥
शक्तितत्त्वानन्दनित्यशक्तिमान् परमेश्वरः ।
संविद्रूपोऽस्ति विषय इति सिद्धिमतं सताम् ॥ १७ ॥

परंपरास्वरूपा सा पिण्डाधारतया श्रुता ।
भवेत्कुण्डलिनी यद्वत् पिण्डसंसिद्धिकारिणी ॥ १८ ॥
बुद्धाऽबुद्धा द्विधा प्रोक्ता द्वितीया चेतनात्मिका ।
नानाचित्रक्रियोद्योगप्रपञ्चमयविग्रहा ॥ १९ ॥
सर्पकुण्डलिनीभावाल्लोके कुण्डलिनी मता ।
पूर्वास्तविकृतेः पुंसो निवृत्त्युद्यमरूपिणी ॥ २० ॥
ऊर्द्ध्वगामित्वमेतस्यामूर्द्धाकुञ्चनतो भवेत् ।
तदप्याकुञ्चनं मूलाधारबन्धेन सिद्ध्यति ॥ २१ ॥
चिदचिद्रूपमेतद्यज्जगद्भवति सन्ततम् ।
मूलाधारकसंवित्तिप्रसरत्वेन तन्मतम् ॥ २२ ॥
मूलाधारादिसकलचक्रेषु नव शक्तयः ।
नाथेन यदपि प्रोक्तास्तथाप्येकास्ति तत्र सा ॥ २३ ॥
शक्तिप्रसरसङ्कोचौ जगतः सृष्टिसंहृती ।
भवतो नात्र सन्देहस्तस्मात्तन्मूलमुच्यते ॥ २४ ॥
मूलाधारे प्रबुद्धे तु सिद्धिर्भवति योगिनाम् ।
नियतोपाधिजीवात्मा वृथा भ्रान्तिरपि स्वयम् ॥ २५ ॥
मध्ये स्वरूपतापन्नो यया सा मध्यकुण्डली ।
सूक्ष्मासूक्ष्मस्वरूपेण द्विविधा सा प्रतीयते ॥ २६ ॥
निश्चला निश्चलग्राह्या स्थूलान्या ध्यानरूपिणी ।
अर्थान्तरपरिभ्रान्तिहेतुः सर्वस्वरूपिणी ॥ २७ ॥

सर्वत्रास्तीति साकारा मध्यशक्तिः प्रकीर्तिता ।
सैव प्रसरसंङ्कोचात्पर्य्यावृत्तिमुपागता ॥ २८ ॥
नित्यानन्दतया लोला सूक्ष्माख्यातमिराकृतिः ।
बुद्धेति सिद्धास्तामाहुः प्रसिद्धाः सिद्धवर्त्मनि ॥ २९ ॥
तत्त्वसारेऽयमेवार्थो निरुपणपदे कृतः ।
यथा—
सृष्टिस्तु कुण्डली ख्याता सर्वभावगता हि सा ॥३०॥
बहुधा स्थूलरूपा च लोकानां प्रत्ययात्मिका ।
अपरा सर्वगा सूक्ष्मा व्याप्तिव्यापकवर्जिता ॥ ३१ ॥
तस्या भेदं न जानाति मोहितः प्रत्ययेन तु ।
ततः सूक्ष्मा परा संविन्मध्यशक्तिर्महेश्वरी ॥ ३२ ॥
स्वस्वरूपदशायां सा बोधनीया गुरुश्रिता ।
प्रबोधनात्पिण्डसिद्धिस्तस्या भवति योगिनाम् ॥ ३३ ॥
ऊर्ध्वशक्तिनिपातोऽथ मुमुक्षूणां कृतेण्यते ।
सर्वतत्त्वोदूर्ध्ववृत्तित्वान्निर्नाम परमं पदम् ॥ ३४ ॥
तत्स्वसंवेदसाक्षाद्भूः पिशुनोक्तोदर्ध्वशक्तिका ।
निपातः स्वस्वरूपे नित्यथा(?) निरसनं मतम् ॥३५॥
निरुत्थाने स्वस्वरूपाखण्डैव प्रतिभाति सा ॥ ३६ ॥
उक्तञ्च—
शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः ।

अन्तरं नैव पश्यामि चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ॥ ३७ ॥
नानाशक्तिस्वरूपेण सर्वपिण्डाश्रयत्वतः ।
पिण्डाधार इतीष्टाख्या सिद्धान्त इति धीमताम् ॥३८॥
अत्र सङ्ग्रहश्लोकः—
सत्त्वे सत्त्वे सकलरचनासंविदेका विभाति
तत्त्वे तत्त्वे परमरचना संविदेका विभाति ।
ग्रासे ग्रासे बहलतरला लम्पटा संविदेका
भासे भासे भजति भवता बृंहिता संविदेका ॥ ३९ ॥

इति सिद्धसिद्धान्तसंग्रहे चतुर्थोपदेशः ।

अथ पञ्चमोपदेशः ।

मम रसकरणं वदाम्यथाहं परमपदाखिलपिण्डयोरिदानीम् ।
यदनुभवबलेन योगनिष्ठा इतरपदेषु गतस्पृहा भवन्ति॥ १ ॥
परपिण्डसुखं स्वपिण्डकान्तं प्रथमोक्तक्रमतो विधाय चित्ते ।
परमेण पदेन तस्य कुर्य्याद्रससाम्यं मतिमान् गुरूक्तिदृष्ट्या॥ २ ॥
परमं पदमात्मवेद्यमेकं निखिलात्यन्तविभासि मातमुक्तम् ।
अयमर्थ उदाहृतोऽस्ति दृष्टो जठराख्याधरसंहितानिबन्धे॥ ३ ॥

यथा—

यत्र बुद्धिर्मनो नास्ति सत्ता संवित्परा कला ।
ऊहापोहौ न तर्कश्च वाचा तत्र करोति किम् ॥ ४ ॥
वाङ्मात्राद् गुरुणा सम्यक् कथं तत्पदमीर्य्यते ।
तस्मादुक्तं शिवेनैव स्वसंवेद्यं परं पदम् ॥ ५ ॥ इति ॥
नानाविचारचातुर्य्यचर्चाधिक्याद्घनाश्रयात ।
निरुपाधितयोपाधिशून्यत्वात्तत्स्ववेद्यता ॥ ६ ॥
पारंपर्य्यातसन्मार्गदर्शने यस्य योग्यता ।
स गुरुर्भवति श्रीमानात्मविश्रामकारणम् ॥ ७ ॥
तेन संदर्शिते मार्गे स्वसंवेद्यस्य दर्शनम् ।

भवतीति गुरुं देवभावेन परिचिन्तयेत ॥ ८ ॥

तद्दृक्सरोजकरुणार्द्रकटाक्षपातात्
स्वात्मैकवेद्यकतया मुनिभिः स्वपिण्डम् ।
सर्वं स्वसिद्धिफलवर्गमपास्य लब्ध-
नैरुत्थ्यतः समरसं क्रियते कृतार्थैः ॥ ९ ॥

सिद्धान्तमेतमनुशास्य निरुत्थितिश्री-
लाभाभ्युपायकथने कुरुतेऽथ यत्नम् ।
स्वस्वाशयप्रलयकर्ममुखानुसन्धे-
रावेशतो भवति कश्चन तत्र नैजः ॥ १० ॥

निजावेशान्निबिडतमनैरुत्थ्यविधिव-
न्महानन्दावस्था स्फुरति वितता कापि सततम् ।
ततः संविन्नित्यामलसुखचमत्कारगमक-
प्रकाशप्रोद्बोधो यदनुभवतो भेदविरहः ॥ ११ ॥

साक्षात्तयास्य कलनात् स्फुरति प्रकामं
चैतन्यभासकमभिन्नमपारमङ्के ।
पुंसः पदं परमनाम समभ्युदेति
यस्यानुभूतिबलतो निजपिण्डवित्तिः ॥ १२ ॥

विज्ञाय पिण्डमथ सम्यगिति प्रकारा-
दारात्पदे परमनाम नितं (?) विधाय ।

ऐक्यं विधाय निजरश्मिपरावृतात्मा-
श्वभ्यासमुन्मिषिरुदेति ततो द्वितीया ॥ १३ ॥
तदुन्मेषप्रत्याहरणभवमाहुः समरस-
क्रियाभूतं यस्मान्निजकिरणपुञ्जं निजतया ।
प्रपश्यन्तस्तस्मान्निखिलमनुसन्धाय मुनयः
स्वरूपेऽङ्गीकृत्य स्वतः फलसिद्ध्यै व्यवसिताः ॥१४॥
मुनीनां पिण्डसंसिद्धौ सिद्धयः सन्ति सन्निधौ ।
एतमर्थं विनिश्चित्य कश्चिश्छ्लोकेन चोक्तवान् ॥ १५ ॥
यस्मिन् ज्ञाते जगत्सर्वं प्रसिद्धं भाति लीलया ।
सिद्धयः स्वयमायान्ति तस्माज्ज्ञेयं परं पदम् ॥१६॥
सहजं संयमयुतं सोपायं साद्वयं क्रमात् ।
ज्ञानं संसाधयेत्तच्च स्वविश्रान्तिरितीरितम् ॥ १७ ॥
विश्वातीतः परेशानो विश्वरूपेण तिष्ठति ।
इत्येकं सहजं त्वन्याद्विश्वस्यात्मनि दर्शनम् ॥१८॥
प्रस्फुरद्रूपवृत्तीनां कृत्वा संयममात्मनि ।
यद्धारणं तदेवात्र ससंयममिति स्मृतम् ॥ १९ ॥
प्रकाशमयमात्मानं स्वयमेव स्वरूपतः ।
एकीकृत्य सदा लौल्यात्स्थितिः सोपायशब्दभाक् ॥ २० ॥
अजातिमत्त्वदृक् प्राज्ञैः सा द्वितीयमिति स्मृतम् ।
चत्वार एते भावाः स्युः परमोदयहेतवः ॥ २१ ॥

तथा च परमो योगी सुतृप्तो निर्विकल्पकः ।
सदा निरुत्थापनया तिष्ठतीति प्रसिद्ध्यति ॥ २२ ॥
परमस्य पदस्यासौ साधनं केनचित्पुरा ।
यत्र श्लोकाष्टके प्रोक्तं तदिदं दृश्यतामिह ॥ २३ ॥
सहजं स्वात्मसंवित्तिः संयमः सर्वनिग्रहः ।
सोपायं स्वस्वविश्रान्तिरद्वैतं परमं पदम् ॥ २४ ॥
ज्ञात्वैवं सद्गुरोर्वक्त्रान्नान्यथा शास्त्रकोटिभिः ।
न कर्तृत्वान्न विज्ञानान्न बलाद्वेदपाठनात् ॥२५॥
न ज्ञानान्न च वै लक्ष्यात्कर्त्रभ्यासान्न वासनात् ।
न वैराग्यान्न नैराश्याद् घटनात्प्राणधारणात् ॥ २६ ॥
न मुद्राधारणाद्वा स्यान्न मौनवचनाश्रयात् ।
औदासीन्यान्न निर्वाणान्न कायक्लेशमोचनात् ॥२७॥
न दास्यान्न च सन्देशान्न नानाव्रतधारणात् ।
न षड्दर्शनवेषादिधारणान्न च मुण्डनात् ॥ २८ ॥
अनन्तोपाययत्नेभ्यः प्राप्यते परमं पदम् ।
गुरुदृक्पातमात्राणां हठानां सत्यवादिनाम् ॥ २९ ॥
कथनाद्दृष्टिपाताद्वा सान्निध्याद्वावलोकनात् ।
प्रसादात्सद्गुरोः सम्यक् प्राप्यते परमं पदम् ॥३०॥
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां सार्द्धश्लोकद्वयोक्तितः ।
श्रीगुरोर्लक्षणं प्राह यज्ज्ञानान्मुच्यते भयात् ॥ ३१ ॥

सम्यगानन्दजननं सद्गुरुः सोऽभिधीयते ॥
निमिषार्द्धं तदर्द्धं वा यद्वाक्यस्यावलोकनात् ।
आत्मानं स्थिरमाप्नोति तस्मै श्रीगुरवे नमः॥" इति ॥३२॥
नानाविकल्पविश्रान्तिं कथनात्कुरुते तु यः ।
सद्गुरुः स तु विज्ञेयो न तु मिथ्याविकल्पकः ॥३३॥
परपदमधिगन्तुमुत्सुकानां
यदमलदृक्करुणाकटाक्षमाला ।
जयति दृढतराधिरोहणश्रीः
परमनिधिःस ममास्ति देशिकेन्द्रः ॥ ३४ ॥
सम्यक्चैतन्यविश्रान्तेरुपदेशस्तु सम्मतम् ।
यथा स्यात्सामरस्याख्यं तत्परं परमं पदम् ॥ ३५ ॥
यत्कारुण्यविलोकनादपि भवेच्चिद्विश्रमः पारदः
तस्मिन् श्रीकरुणासुधारसनिधौ चेतोऽस्तु मग्नं गुरौ ।
नान्यस्मिन्बहुवादतर्कमकरोच्छालातिभीतिप्रदे
दुर्भेदभ्रमधारकेऽतिकठिने क्षारोदधौ लौकिके ॥ ३६ ॥
उपदेशो निगरणपदवाच्यतयोच्यते ।
तत् करोति यतस्तस्माद् गुरुरित्यभिधीयते ॥ ३७ ॥
गुरुदोषगुणनिरूपणपुरःसरं गुरुसेवाफलं
विंशतिश्लोकैःकश्चिदाह-
ज्ञानहीनो गुरुस्त्याज्यो मिथ्यावादी विकल्पकः ।

स्वविश्रान्तिं न जानाति परेषां स करोति किम् ॥ ३८ ॥
शिलायाः किं परं पारं शिलासङ्घात्प्रतार्यते ।
स्वयं तीर्णो भवेद्योऽसौ स परं तारयत्यलम् ॥ ३९ ॥
विकल्पजागराद् घोराच्चिन्ताकाले न दुस्तरात् ।
प्रपञ्चवासनावर्त्तात्कलाजालसमाकुलात् ॥ ४० ॥
वासनालहरीवेगात्स्वस्थस्तारयितुं क्षमः ।
स्वस्थैर्येणोपदेशेन लोनो(?)त्थानेन तत्क्षणात् ॥ ४१ ॥
परानन्दमयो भूत्वा निश्चयः स्थिरतां भवेत् ।
कुलानि कोटिकोटीनां तारयत्येव तत्क्षणात् ॥ ४२ ॥
धारयत्येव दृक्पातात्कथनाद्वावलोकनात् ।
तारणेच्छुर्वरं दत्ते स्वस्वरूपे स्थिरो भव ॥ ४३ ॥
अतोऽसौ मुच्यते शिष्यो जन्मसंसारबन्धनात् ।
अतस्त्वं सद्गुरुं साक्षात् त्रिकालमभिवादयेत् ॥ ४४ ॥
सर्वाङ्गप्रणिपातेन शिक्षां कृत्वा गुरुर्भवेत् ।
किमत्र बहुनोक्तेन शास्त्रकोटिशतेन च ॥ ४५ ॥
लब्धविश्रामचित्तानां योगिनां दृढचेतसाम् ।
स्वस्वमध्यनिमग्नानां निरूत्थानां विशेषतः ॥ ४६ ॥
निमिषार्द्धात् स्फुटं भाति दुर्लभं परमं पदम् ।
तस्मिन्पिण्डे भवेल्लीनं सहसा नात्र संशयः ॥ ४७ ॥
लीने पिण्डे भवेद्योगी सर्वज्ञः सिद्धिपारगः ।

इच्छावेगी स्वयं कर्त्ता लीलयैवाजरामरः ॥ ४८ ॥
अवध्यो देवदैत्यानां क्रीड़ते भैरवो यथा ।
इत्येवं निश्चयो योऽसौ क्रमादाप्नोति लीलया ॥ ५० ॥
असाध्याः सिद्धयः सर्वाः सत्यमीश्वरभाषितम् ।
प्रथमे रोगनिर्मुक्तः सर्वलोकप्रियो भवेत् ॥ ५१ ॥
काङ्क्षते दर्शनं तस्य स्वात्मा गूढस्य नित्यशः ।
द्वितीये वत्सरे काव्यं कुरुते तत्त्वभाषया ॥ ५२ ॥
प्रजायते दिव्ययोगी दूरश्रावी न संशयः ।
वाक्सिद्धिः पञ्चमे वर्षे परकायप्रवेशनम् ॥ ५३ ॥
षड्भिर्न छिद्यते शस्त्रैर्वज्रपातैर्न भिद्यते ।
वायुवेगो क्षितित्यागी दूरदर्शी च सप्तमे ॥ ५४ ॥
महासिद्ध्यष्टकं सम्यगष्टमे वत्सरे भवेत् ।
नवमे वज्रकायः स्यात् खेचरो दिक्चरो भवेत् ॥५५॥
दशमे पवनाद्वेगी यत्रेच्छा तत्र गच्छति ।
सम्यगेकादशे वर्षे सर्वज्ञः सिद्धिभाग् भवेत् ॥ ५६ ॥
द्वादशे शिवतुल्योऽसौ कर्त्ता हर्त्ता स्वयं भवेत् ।
त्रैलोक्ये पूज्यते सिद्धः सत्यं भैरवभाषितम् ॥ ५७ ॥
एवं द्वादशवर्षे तु सिद्धयोगी महाबलः ।
जायते सदगुरोः पादप्रसादान्नात्र संशयः ॥ ५८ ॥
अनुबुभुषति योनिजविश्रमं स गुरुपादसरोरुहमाश्रयेत् ।

तदनुसंसरणात्परमं पदं समरसीकरणं च न दूरतः॥५९॥
अनन्यभावेन निरुत्थितिश्रीलाभेन चाञ्चल्यविधूननेन।
अवस्थितिः श्रीकरुणासुधाब्धिगुरुप्रसादाद्भवतीति सत्यम् ६०

इति सिद्धसिद्धान्तसङ्ग्रहे पिण्डपरमपदयोः समरसकरणं नाम पञ्चमोपदेशः।

अथ षष्ठोपदेशः ।

निरूप्य सर्वं विषयमधिकारी निरूप्यते ।
अवधूतो भवेत्सोऽत्र तल्लक्षणमिदं यथा ॥ १ ॥
प्रकृतिजन्यविकारविधूननं कलयितुं भजतीह समर्थताम् ।
यदवधूततया तदुदीर्यते रचितसंसृतिपारगतिर्जनः ॥२॥
लक्षणान्तरमप्याह कश्चित—
केशपाशतरङ्गाणां व्रजं येन विकुण्ठितम् ।
सर्वावस्थाविनिर्मुक्तः सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥ ३ ॥
सकलोर्ध्वं स्थिरं पीनं संवेद्यं वासनोक्तितम् (?) ।
कौपीनकं कटौ यस्य सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥ ४ ॥
कस्य भावमयैः सूत्रैः स्वीकारस्थैर्य्यतां गतैः ।
कन्था विरचिता येन सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥५॥
मुक्तिद्वारे मतिर्यो वै प्राप्तकोषप्रकाशकः ।
मायाविकारानापन्नः स सात्त्विक उदाहृतः ॥६॥
क्षपणं चित्तवृत्तीनां रागद्वेषविलुण्ठनम् ।
कुरुते व्योममग्नो यस्तस्मात् क्षपणको भवेत् ॥ ७ ॥
भ्रान्तिक्षौरं जनं कृत्वा यो रक्ताम्बरे सदा ।
प्रबुद्धो यः स्वयं बुद्धः सद्यः सोऽत्राभिधीयते ॥८॥
प्रसरं भासते शक्तिः सङ्कोचं भासते शिवः ।

तयोः संयोगकर्त्ता यः स भवेद्योगयोगराट् ॥ ९ ॥
विश्वातीतं यदा विश्वमेकमेवावभासते ।
संयोगेन यदा यस्य सिद्धयोगी भवेत्तु सः ॥ १० ॥
सर्वासां निजवृत्तीनां विस्मृतिं भजते तु यः ।
स भवेत्सिद्धसिद्धान्ते सिद्धयोगी महाबलः ॥ ११ ॥
उदासीनवदासीनः स्वस्थोऽन्तर्निजभासकः ।
महानन्दमयो धीरः स भवेत्सिद्धयोगिराट् ॥ १२ ॥
परिपूर्णः प्रसन्नात्मा सर्वासर्वप्रदोऽपरः ।
निरुत्थो निर्भरानन्दः स भवेत सिद्धयोगिराट् ॥१३॥
गतेन शोकेन भयेन वीप्साप्राप्तेन हर्षं न करोति योगी ।
आनन्दपूर्णो निजबोधलीनो न बाधते कालपथो न नित्यम् ॥१४॥
एतेषामुपदेशानां सूचितानां पृथक् पृथक् ।
जायते तत्र विश्रान्तिः सा विश्रान्तिश्च जायते ॥१५॥
यो गङ्गापदपद्मभक्तिविमलः शाण्डिल्यगोत्रोद्भवः
चञ्चच्छारदचन्द्रिकासहचरीं कीर्त्तिं नयन्विष्टपे ।
शौर्यौदार्यमुखैर्गुणैरविरलैरालम्ब्यमानोऽनिशं
स श्रीकृष्णविभुः स्मरारिनगरे ग्रन्थं मुदाचीकरत ॥१६॥
कृष्णराजाज्ञया कार्यं सिद्धसिद्धान्तसङ्ग्रहः ।
कृतो यो बलभद्रेण श्रीकृष्णस्तेन तुष्यतु ॥ १७ ॥

इति सिद्धसिद्धान्तसंग्रहेऽवधूतादिलक्षणः षष्ठोपदेशः ।

अथ सप्तमोपदेशः ।

चार्वाकाश्चतुराः स्वतर्कनिपुणा देहात्मवादे रताः
सर्वे सन्धिरताः सदैव परताधानाश्रिताः सात्त्विकाः ।
कर्त्तारं प्रभजन्ति चैव यमनाः पापे रता निर्दया-
स्तेषामैहिकमल्पमेव हि सुखं सत्यं न मोक्षः परम् ॥१॥
सीहट्टे मस्तकान्ते त्रिकुटपुटाबिले ब्रह्मरन्ध्रे ललाटे
भ्रूनेत्रेनासिकाग्रे श्रवणपथवरे घण्टिकाराजदण्डे ।
कण्ठे हृन्नाभिमूले त्रिकमकुहरे ह्युड्डियानेऽथ शूले
ये त्वेवं स्थानमग्नाः परमपदमहो नास्ति तेषां निरुत्थम् ॥२॥
आदौ पूरककुम्भरेचकविधौ नाडीपथं शोधितं
कृत्वा हृत्कमलोदरे च सहसा चित्तं समं मूर्छितम् ।
तस्मादव्ययमक्षयं परकलं चोङ्कारदीपं शुभं
ये पश्यन्ति समाहिताः पदमहो नास्ति तेषां निरुत्थम् ॥३॥
गोहाटे दीप्तिपुञ्जं प्रलयशिखिनिभं सिन्धुजालन्धरे च
शृङ्गाटे ज्योतिरेकं तडिदिव तरलं ब्रह्मनाड्यन्तराले ।
कालान्ते विद्युदाभं तदुपरि शिखरे कोटिमार्त्तण्डचण्डे
ये नित्यं संश्रयन्ते परमपदमहो नास्ति तेषां निरुत्थम् ॥४॥
लिङ्गाचण्डाकुलान्ते मनपवनगमे(?) ब्रह्मग्रन्थ्यादिभेदे
कृत्वा बिन्दुं नयन्ते भ्रमरपदमहाशङ्खभम्भोदरोधे ।

नेत्रान्तर्नादघोषं गगनगुणमयं वज्रदण्डी क्रमेण
ये कुर्वन्तीह कष्टात्परमपदमहो नास्ति तेषां निरुत्थम॥५॥
सम्यक्चालनदोहनेन सततं दीर्घीकृतां लम्बिकां
तालुभ्यन्तरदर्शितान्तदशमद्वारोदरे शङ्खिनीम् ।
प्राप्तां मध्यमसम्पुटे पुटां सप्तादर्शी कोटरां
पीत्वा षड्विधपानकाष्ठभजनं वाञ्छन्ति ये मोहिताः॥६॥
गुह्यात्पश्चिमपूर्वमार्गमुभयं रुद्धानिलं मध्यमं
नीत्वा ध्यानसमाधिलक्ष्यकरणैर्नानासमाध्यासनैः ।
प्राणापानगमागमेन सततं हंसोदरे संघटा-
घेनास्यैव नयन्ति ये भवजले मज्जन्त्यहो दुःखिताः॥७॥
शक्त्याकुञ्चनमग्निदीपकरणं चाधारसम्पीडनात्
ज्ञात्वा कुण्डलिनीप्रबोधनमनो नादादिना मूर्द्धनि ।
नीत्वा पूर्णगिरिं निपातनमनः कुर्वन्ति ये स्वाश्रये
खण्डज्ञानरतास्तु ते निजपदं तेषां ह्यदूरं परम् ॥८॥
बन्धं भेदं च मुद्रां गलबिलचिबुकं मध्यमार्गं सुषुम्णां
चन्द्रार्के सामरस्यं शमदमनियमैर्नादबिन्दुं कलान्ते ।
ये नित्यं कलयन्ते तदनु च मनसामुन्मनी योगयुक्तं
तेषां लोकामयन्ते निजसुखविमुखाःकर्मदुःखौघभाजः ॥९॥
अष्टाङ्गं योगमार्गं कुलपुरुषमतं षण्मुखीचक्रभेद-
मूर्द्धाधो बाह्यमध्ये रविकिरणनिभं सर्वतो व्याप्तिसारम् ।

दृष्टयग्रे वीक्षयन्ते तरलजलसमं नीलवर्णं तमो वा
एवं ये भावयन्ते विमलमतयस्तेऽपि हा कष्टभाजः ॥१०॥
आदौ सारणशङ्खसारणामतः कृत्वा महासारणं
सम्पूर्णं प्रतिसारणं विधिबलाद्दृष्टिस्तथा निर्मला ।
आञ्जाली हठयोगयोगकलया सद्दीसन्तुलिकां
ये कुर्वन्ति च कारयन्ति च स भ्राम्यन्ति बाधन्ति च॥११॥
शङ्खक्षालनमन्तरं रसनया ताल्वोष्ठलीलासमं
वीते तूल्लुठनं कवाटममरीपानं त्रिधा खर्परी ।
वीर्यद्रावितमात्मजं त्रिकलये ग्रासं च लेपश्च वा
कुर्वे तीर्थजले स्यात् तेन हि फलं तेषां तु सिद्धान्तजम्॥१२॥
घण्टाकालहमर्द्दलं त्वथ महाभेरीनिनादं यथा
सम्यङ् नादमनाहतं ध्वनियुतं शृण्वन्ति ये तादृशम् ।
पिण्डे सिद्धिपरं निरन्तरतया ब्रह्माण्डमध्येऽथ वा
तेषां सिद्धमतेस्कतेः(?) समुदितं सत्यं परं लभ्यते॥१३॥
वैराग्यामृतपल्लवेन सलिलं कन्दं फलं मूलकं
भुक्त्वा यो वनवास एव रमते चाऽनेकदेशान्तरे।
स्थित्वा सादितनिश्चयेन मनसा रात्रौ दिने वीक्ष्यते
स त्यक्त्वाखिलभावमेकममलं प्राप्नोत्यहो स्वं पदम्॥१४॥

इति श्रीसिद्धसिद्धान्तसङ्ग्रहे सप्तमोपदेशः समाप्तिमगमत् ।

शुद्धिपत्रम् ।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
६	५	चैताः	चैत्ताः
,,	१७	व्यक्ताख्यर्धर'	व्यक्ताख्याधर'
७	७	काल	काम
,,	८	इति	रति
१६	१२	यत्किर्त्ति'	यत्कीर्त्ति'
२०	१६	सर्पीषि	सर्पींषि
२३	८	लीला	लीना
,,	११	'स्वरूपो'	'स्वरूपा'
,,	१५	'सुखो'	'सुखा'
२६	३	'तमिरो.	'तिमिरो'
२८	१	मम रस'	समरस'
३३	१३	अतस्त्वं	अतस्तं

THE PRINCESS OF WALES SARASVATI BHAVANA TEXTS:

Edited by
GOPINATH KAVIRAJ, M. A.

No. 1—The Kiraṇāvalī Bhāskara, a Commentary on Udayana's Kiraṇāvalī, Dravya section, by Padmanābha Miśra.
Edited with Introduction and Index by Gopināth Kavirāj, M.A.

No. 2—The Advaita Chintāmaṇi, by Raṅgoji Bhaṭṭa, Ed. with Introduction etc. by Nārâyaṇa S'āstrī Khiste Sāhityāchārya.

No. 3—The Vedānta Kalpalatikā, by Madhusūdana Sarasvatī.
Ed. with Introduction etc. by Rāmājñā Pāṇḍeya Vyākaraṇāchārya.

No. 4—The Kusumāñjali Bodhanī, a Commentary on Udayana's Theistic Tract, Nyāya Kusumāñjali, by Varadarāja.
Ed. with Introduction etc. by Gopinath Kaviraj, M. A.

No. 5—The Rasasāra, a Commentary on Udayana's Kiraṇāvalī, Guṇa Section, by Bhaṭṭa Vādīndra.
Ed. with Introduction etc. by Gopīnath Kaviraj, M. A.

No. 6 (Part I)–The Bhavanā Viveka by Maṇḍana Miśra, with a Commentary by Bhaṭṭa Umbeka.
Ed. with Introduction etc. by Mm. Gaṅgānātha Jhā, M.A., D. Litt.

No. 6 (Part II)—Ditto Ditto

No. 7 (Part I)–Yoginīhṛdaya dīpikā, by Amṛtānanda Nātha, being a Commentary on Yoginīhṛdaya, a part of Vāmakeśvara Tantra.
Ed. with Introduction etc. by Gopīnath Kaviraj, M.A

No. 7– (Part II) Ditto Ditto

No. 8—The Kāvyaḍākinī, by Gaṅgānanda Kavīndra.
Ed. with Introduction etc. by Jagannātha S'āstrī Hoshing Sāhityopādhyāya.

No. 9 (Part I)–The Bhakti Chandrikā, a Commentary on S'āṇḍilya's Bhaktistūras, by Nārāyaṇa Tīrtha.
Ed. with a Prefatory Note by Gopinath Kaviraj, M.A .

No. 10(PartI)-The Siddhāntaratna, by Baladeva Vidyābhūṣaṇa.
Ed. with a Prefatory Note by Gopinath Kaviraj, M. A.

No. 11-The S'rī Vidyā Ratna Sūtras, by Gauḍapāda, with a Commentary by S'aṅkarāraṇya.
Ed. with Introduction etc. by Nārāyaṇa S'āstrī Khiste Sāhityāchārya.

No. 12-The Rasapradīpa, by Prabhākara Bhaṭṭa.
Ed. with Introduction etc. by Nārāyaṇa S'astrī Khiste Sāhityāchārya.

No. 13-The Siddhasiddhānta Saṅgraha, by Balabhadra.
Ed. with Introduction by Gopinath Kaviraj, M. A.

No. 14-The Triveṇikā, by Āśādhara Bhaṭṭa.
Ed. with Introduction by Baṭukanātha S'armā Sāhityopādhyāya, M. A. and Jagannātha S'āstrī Hoshing Sāhityopādhyāya.

No. 15 (Part 1)-The Tripurārahasya.
Ed. with a Prefatory Note by Gopinath Kaviraj, M.A.

No. 16-The Kāvya Vilāsa, by Chirañjīva Bhaṭṭāchārya.
Ed. with Introduction etc. by Baṭukanātha S'armā Sāhityopādhyāya, M.A. and Jagannātha S'āstrī Hoshing Sāhityopādhyāya.

No. 17-The Nyāya Kalikā, by Bhaṭṭa Jayanta.
Ed. with Introduction by Mm. Gaṅgānātha Jhā, M.A., D.Litt.

No. 18 (Part I)-The Gorakṣa siddhānta Saṅgraha.
Ed. with a Prefatory Note by Gopinath Kaviraj, M.A.

ॐ

श्री महेश्वरावतार योगाचार्य श्री गोरक्षनाथ

विरचिता

* सिद्धसिद्धान्तपद्धतिः *

प्रकाशक—

श्रीमत्पूज्यपाद बोहराधिपति योगीन्द्र

श्री १०८ श्री पूर्णनाथ जी

संस्थापक—

श्रीयोगाश्रम संस्कृत कौलेज

वि० सं० १९९६ मू० ३।)

ॐ

श्री महेश्वरावतार योगाचार्य श्री गोरक्षनाथ

विरचिता

* सिद्धसिद्धान्तपद्धतिः *

प्रकाशक—

श्रीमत्पूज्यपाद बोहराधिपति योगीन्द्र

श्री १०८ श्री पूर्णनाथ जी

(कैसरहिन्द, गोल्डमेडलिस्ट प्रोविंशियल दरबारी

संचालक श्री योगाश्रम संस्कृत कॉलेज

संस्कृत टीकाकार

व्याकरण ज्योतिषाचार्य सर्व दर्शन सूरि

श्री पं० [illegible]श झा शास्त्री

भाषाकार—

वेदान्ताचार्य श्री पं० योगि भीष्मनाथ जी

संशोधक—

श्री पं० ज्ञानिराम शास्त्री

वि० सं० १९८६

श्रीमत्स्तनाथायनमः

भूमिका

यों तो इस विशाल विश्व के गर्भ में अनेक दार्शनिक साहित्यिक एवं कलाकार हो गये हैं, परन्तु पक्षपात को तिलाञ्जलि देकर यदि विवेचनात्मक बुद्धि से विचार किया जाय तो साफ साफ मालूम हो सकता है कि भारतीय दर्शनकार हमारे पूज्य पूर्वज महर्षि महोदय अध्यात्म विषय को लक्ष्य बनाकर अपने अलौकिक ज्ञानगौरव और अगाध पाण्डित्य का जितना परिचय दे गये हैं तथा बाल की खाल खींचने में जिस बुद्धि बल का सदुपयोग उन्होंने किया है शायद ही उतना आज तक किसी विदेशी दर्शन धुरन्धर ने किया हो।

यह सब कुछ ठीक होते हुये भी जब हम अपने दर्शन शास्त्रों पर दृष्टि डालते हैं तो सर्वप्रथम सांसारिक जन्म मरणादि दुःखों की निवृत्ति और अन्त में परम पद की प्राप्ति के लिये योग शास्त्र से बढ़कर दूसरा दर्शन इतना उपयुक्त नहीं जँचता। वास्तव में योगज धर्म एक बहुत ही अनूठी वस्तु है इसके प्रभाव से महर्षि विश्वामित्र ने त्रिशंकु के लिये एक दूसरे ही स्वर्ग का निर्माणकर डाला था। इसी धन के धनी वशिष्ठ जी ने भूपति दिलीप सन्तान निरोधक अदृश्य कारण का पता लगा लिया था। इसी अजेय शक्ति की सामर्थ्य से हठ योग के प्रवर्तक योगाचार्य्य श्री मत्स्येन्द्रनाथ तथा श्रीगोरक्षनाथादि महासिद्धों की अमिट छाप आबाल वृद्ध सभी के अन्तस्तल में अङ्कित हो रही है। उनका यश आज भी समस्त भूमण्डल पर सूर्य के प्रकाश की तरह उज्ज्वलरूप से देदीप्यमान है। सारांश यह है कि एक मात्र योगशास्त्रही ऐसा है जिसकीकृपासे भुक्ति और मुक्ति ये दोनों पदार्थ सहज ही प्राप्त किये जा सकते हैं। तथा उस सनातन आत्मा को साक्षात्कार करने की शक्ति भी योगियों में ही विशेषरूप से पाई जाती है। इस भाव की पुष्टि निम्न लिखित वाक्यों से हो जाती है।

नतस्य रोगोनजरानमृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्,

"यं विनिद्रा जित श्वासाः सन्तुष्टाः संयतेन्द्रियाः।

ज्योतिः पश्यन्ति युञ्जाना स्तस्मै योगात्मने नमः"॥

"योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ।

किं बहुना स्वयं श्री आदिनाथ महेश्वर ने भी भगवती भवानी के प्रश्न करने पर सर्वकल्याण साधनों में योग को ही शिरोमणि कहा है। "योगबीज" नामक ग्रन्थ में देखिये—

" बद्धा येन विमुच्यन्ते नाथमार्गमतः परम्।
तमहं कथयिष्यामि तव प्रीत्या सुरेश्वरि ॥
नानामार्गैस्तु दुष्प्राप्यं कैवल्यं परमं पदम् ।
सिद्ध मार्गेण लभ्येत नान्यथा शिव भाषितम् ॥

हे पार्वति ! जिस नाथ मार्ग अर्थात सिद्धान्त के अनुष्ठान से प्राणी इस संसार बन्धन से मुक्त हो जाते हैं वह योग मार्ग है। उसका आदि प्रवर्तक मैं हूँ और मत्स्येन्द्रनाथादि सिद्धों से सर्वदा सेवित है। मैं प्रसन्न होकर तेरे को उस सिद्धान्त का उपदेश देता हूँ। क्योंकि कैवल्यपद की प्राप्ति दूसरे अनेक शास्त्रोंसे अतिदुष्कर है वह मोक्ष पद केवल सिद्ध मार्ग से ही सुलभ है दूसरे प्रकार से नहीं इस मेरे बचन को तुम सत्यमानो ।

अतएव सिद्धराज योगाचार्य श्री गोरक्षनाथ जी ने सिद्ध सम्प्रदाय के कल्याणार्थ योग के गहन एवं गूढ़ रहस्यों के प्रकाशन पूर्वक इस "सिद्धसिद्धान्त पद्धति" नामक योग के अनन्य ग्रन्थ को निर्माण कर इस संसार के लिये महान् उपकार किया है। प्राचीन समय से प्रचलित सिद्धमार्ग ही इस समय योग सम्प्रदाय सिद्ध सम्प्रदाय और नाथ सम्प्रदाय इन नामों से प्रसिद्ध है ।

योग के अन्य ग्रन्थों के होते हुये भी इस ग्रन्थ का महत्व इस लिये है कि इसमें पञ्च महाभूतों इड़ा, पिंगला और सुषुम्णा नाड़ियों तथा षट् चक्रों का बड़ा ही विशद एवं साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है।कुण्डलिनी का जागरण कैसे होता है, पञ्चमहाभूतों में कौन कौन से गुण हैं, अणिमादि अष्टसिद्धियाँ कैसे प्राप्त होती हैं, सिद्धियों में न फँसकर मोक्ष प्राप्त

कैसे होता है सहस्रदल क्या चीज़ है, महाशक्ति कुण्डलिनी के अन्दर कौन सी सामर्थ्य छिपी है, सिद्धों के मत में योग शब्द का क्या अर्थ है और अवधूत के क्या लक्षण हैं इत्यादि अनेक योग के गुप्ततर रहस्यों का इसमें स्पष्टरूप से वर्णन किया गया है।

इस ग्रन्थ में वर्णित रीति के अनुसार यदि योग का अनुष्ठान किया जाय तो सद्गुरु की कृपा से प्रथम वर्ष में ही सिद्धि प्राप्त होने लगती है और बारहवें वर्ष मेंपहुँचते ही पूर्ण सिद्ध एवं साक्षातशिव तुल्य सकल विश्व का कर्ता, धर्ता और हर्ता हो जाता है। इसबात को स्वयं श्री गोरक्षनाथ जी ने इसी ग्रन्थ में साफ साफ वर्णन किया है। देखिये—

"प्रथमेत्वरोगता सिद्धिः सर्वलोक प्रियो भवेत्।
कांक्षन्ते दर्शनं तस्य स्वात्मारूढस्य नित्यशः ॥

तथा च

"द्वादशे शिव तुल्योऽसौ कर्ता हर्ता स्वयं भवेत्।
त्रैलोक्ये पूज्यते सिद्धः सत्यं श्री भैरवो यथा ॥

अन्य ग्रन्थों के अभ्यास करने से इतने स्वल्प समय में ऐसी सिद्धि कदापि नहीं हो सकती। अतः यह पुस्तक अत्यन्त उपादेय और आदरणीय है।

यद्यपि इस ग्रन्थ का निर्माण श्री गोरक्षनाथ जी के द्वारा प्राचीन समय में ही हो चुका था और अब तक यह हस्त लिपि के आकार में ही रहता आया है इसलिये इस ग्रन्थ रत्न के अनुपम ज्ञान से जनता वंचित ही रहती आयी है। अतः इस कमी को दूर करने के लिये योग सम्प्रदाय के धुरन्धर एक ऐसे महान् व्यक्ति ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन भार को अपने सुयोग्य कन्धों पर लिया है। जिनको मैं संस्कृत साहित्य संरक्षक योग सम्प्रदाय के अनन्य हितैषी दानवीर उत्साही और उच्चकोटि के त्यागी कह सकता हूँ। वे हैं पी० ऐन० संस्कृत कालेज मायापुर हरिद्वार के संस्थापक और मेरे परम गुरु योगीन्द्र १०८ श्री स्वामी पूर्णनाथ जी महाराज कैसरे हिन्द प्रोविन्शियल दर्बारी गोल्ड मैडलिस्ट गद्दी योगाश्रम बोहर, रोहतक।

आपने गत १९९५ विक्रम सम्वत् के फाल्गुन मास में अपने सुयोग्य शिष्य श्री श्रेयोनाथ जी महाराज आयुर्वेदाचार्य को बोहर की गद्दी पर उत्तराधिकारी के रूप में अभिषिक्त करते समय पाँच हजार रुपयें योग ग्रन्थों के प्रकाशन विभाग के लिये अलग निकाल कर आप ने योग सम्प्रदाय विषयक परम प्रेम का परिचय दिया है।

यह ग्रन्थ उसी द्रव्य राशि के अंश से छपकर आप लोगों के सामने आरहा है। योग विषयक एक और "गोरक्ष सिद्धान्त संग्रहः,, नामक ग्रन्थ गत वर्ष कुम्भ के मौके पर इसी विद्यालय तथा इसी द्रव्य राशि से मुद्रित होकर सर्वसाधारण की सेवा में पहुँच चुका है। आप के इस परम पुनीत शुभ कार्य के लिये योगि सम्प्रदाय आपका बड़ा कृतज्ञ एवं आभारी है।

अब जिन २ महानुभावों ने इस ग्रन्थ की टीका, संशोधन, लेखन एवं प्रूफ शोधन आदि अपने २ कार्यों के द्वारा इस ग्रन्थ के कलेवर को भूषित और परिमार्जित किया है' उन सबको इस ग्रन्थ की भूमिका लेखक की हैसियत से धन्यवाद देना मेरा मुख्य कर्तव्य हो जाता है। अतः सर्व प्रथम हमारे कालेज के मुख्याध्यापक माननीय पं० श्री द्रव्येश झा' व्या० वे० आचार्य को सादर अनन्त धन्यवाद देता हूँ। जिनकी इस ग्रन्थ पर लिखी गई संस्कृत टीका से इस पुस्तक की हिन्दी टीका लिखने में मुझे बहुत सहायता एवं सौकर्य प्राप्त हुवा है। तदनन्तर पं० ज्ञानिराम शास्त्री हिन्दी एडवांस, अनेक धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने हिन्दी टीका के संशोधन का भार अपने ऊपर लेकर अपना कर्तव्य पालन किया है।

इसके बाद योगी शंकरनाथ शास्त्री, योगी दयालुनाथ शास्त्री गयाप्रसाद शास्त्री, भवानी शंकर पन्त, और नेत्रबल्लभ जोशी, जो कि इसी कालेज के सुयोग्य स्नातक हैं इन सबका भी मैं हृदय से इनके लेखन व मुद्रण विषयक अटूट परिश्रम का कृतज्ञ हूँ और इनको भी धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता।

अब मैं गुण ग्राही पाठकों से विनम्र निवेदन करता हूँ कि इस पुस्तक में प्रमाद वश या प्रेस की जहां कहीं कोई अशुद्धि रह गई हो

उसको प्रथम तो शुद्धि पत्र में देख कर ठीक करलें, अगर वहाँ भी त्रुटि हो तो दोष दृष्टि को छोड़कर मुझे सूचित करने की कृपा करें। जिससे द्वितीया वृत्ति में सुधार हो सके।

आपका विनीत

योगी भीष्मनाथ

ॐ

श्री गणेशाय नमः

अथ सिद्धसिद्धान्तपद्धतिः प्रारभ्यते

मू० आदिनाथं नमस्कृत्य, शक्तियुक्तं जगद्गुरुम् ।
वक्ष्ये गोरक्षनाथोऽहं सिद्धसिद्धान्तपद्धतिम् ॥

अथ संस्कृतटीका

पंचात्मकं विश्वमिदं विरच्य, पंचाननो यः प्रथितः पृथिव्याम् ।
गणेशनन्दीश्वरसेवितः स ईशः सदा पातु सहेशयाऽस्मान् ॥१॥

पंचदेवात्मको भूत्वा पंचशक्तिसमन्वितः ।
पंचसृष्टिमधिष्ठाय प्रपंचरहितोऽवतु ॥२॥

विपक्षपक्षोन्मथनेषु दक्षः स्वच्छाचलक्ष्यीकृतविश्वकक्षः ।
स्वपक्षरक्षार्थभृताऽवतारो गोरक्षनाथस्तनुतां शिवन्नः ॥३॥

विश्वप्रमाणानि विचारपद्धतौ, यस्यामशक्तानि तु तत्वतोलनात् ।
तां योगिराजैर्निजयोगचक्षुषा, कृतां प्रवेष्टुं ममकीदृशी गतिः ॥४॥

अनाथे नाथतां कर्तुमाचार्यः स्वप्रतिज्ञया ।
गत्वरीं शेमुषीं कुर्यादित्याशा मेनियोजिका ॥५॥

यद्यपि सिद्धराजस्य ग्रन्थमिमं प्रतुष्टुषोराचार्यपादस्य कृति दुरितोपनीतप्रत्यूहव्यूहः प्रतिबध्नीयादिति कैव कथा, तल्लेश समुन्मेषस्यापि स्वप्नेप्यसम्भाव्यमानतेत्यत्र नकश्चन विचित्तोपि संशेते, किमुत त्रिकालदर्शिनो दृष्टिमात्रेण तत्क्षणसूक्ष्माऽसूक्ष्मविघ्न

बहुलभक्तदुःखप्रतिकारक्षमतासनाथस्य श्रीगोरक्षनाथस्य विघ्न शङ्काप्रसङ्गः ।

यत स्तद्दवयितुकामनया मङ्गलं निबबन्धेत्युत्प्रेक्षा प्रेक्षावतां दूरोत्सारिता, तथापि "यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः" इति नीतिमनुसृत्य 'आचिनोतीह शास्त्रार्थ माचारे स्थापयत्यपि, स्वयमाचरते यस्मादाचार्य स्तेन चोच्यते । इति पारम्पर्याऽऽयाताऽऽचार्यमर्यादा परिपालनतत्परतया शिष्टाचारोपि प्रमाणमेवेति शिष्याणामुपदेशाय अभ्यासशालिनामनुषङ्गतो मङ्गलाय च वस्तुत एक एव सन् मूर्तिद्वयं परिकल्प्य स्वेष्टदेवपरमाचार्यधिया परमेश्वरस्य आदिनाथस्य नमस्कारात्मकं मङ्गलमातनुते, प्रथमतः (आदिनाथमिति) आदिश्चासौ नाथः, आदिः कारणरूपः नाथत इति नाथः, अत्र नाथधातुर्याचनो पतापैश्वर्याशिःषु चतुर्षु अर्थेषु तत्र प्रथमे नाथो याचक इत्यर्थः ।

महेश्वरोऽपि सन् भक्ताऽनुग्रहार्थं निजशक्तिबलेन नानाविध विग्रहं गृहीत्वा पर्यटन्नटवों भक्तिपरीक्षणाय भक्तभवने भिक्षुकपरिपाटीमिमामुररीकृत्य याचकतास्वभावं स्वभक्तात्परिहृत्य स्वस्मिन् परिदधत् धूलिधूसरितं स्वबालकं विरजीकृत्य स्वहस्तावेव मलिनयन् जनक इव सकललोकानुकम्पातिशायिनीं निजकरुणां कलयन्नात्म चरित्रं विचित्रचित्रमभिनयति, अत्र पक्षे परस्वत्वनिवृत्तिपूर्वक स्वस्वत्वोत्पत्यनुकूलव्यापाररूपो याचनार्थः, यथा बलिं याचते वसुधामित्यत्र, अथवा स्वीकारानुकूलव्यापारोऽपि याचना यथा अविनीतं विनयं याचते, ततश्च स्वशिष्यान् योगविज्ञानकर्मादिकल्याणैकतान नानाविधोगायसाद्गुण्यादेशं स्वीकारयतीत्यर्थेन नाथ इति आचार्याऽपर पर्यायः ।

किंच अविद्याऽस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः, शुक्लमशुक्लम शुक्लाऽशुक्लमिति त्रिविधंकर्म । एतद् विपाको जात्यायुर्भोगरूपः । तत्तद्दुःख सुखाद्यनुभवजवासनाराशिः ।

एतेषां संसारबन्धनानामुपतापकः स्वेन सह सम्बन्धस्य विच्छेदको नाथपदार्थः, अपरञ्च १ अणिमा, अणुभावः, येन शिला-

मन्तः प्रविशति, २ लघिमा लघुत्वं येन तरुणकिरणमवलम्ब्य रवि लोकं प्रयाति, ३ गरिमा गुरुत्वं येन गुरुर्भवति, ४ महिमा महत्वं यतो महान् भवति, ५ प्राप्तिः यतः पाणिपल्लवेन शशिनमपि स्पृशति, ६ प्राकाम्यम्, इच्छाविघातविरहो येनेलायामुन्मज्जति निमज्जति च यथा पाथसि, ७ वशित्वं येन भूतभौतिकं सकलं स्ववश्यं भवति, ८ ईशित्वं सकलोत्पत्तिस्थितिलयेशो भवति, एतदष्टविधैश्वर्यसम्पन्नो नाथपदाभिधेयः, इतरश्च स्वीकीयाशीर्वचसा श्रद्धालुलोकान्-स्वस्वाभीष्ट फल प्रदानेन सन्तोषयतीत्यर्थकोनाथः "अयमत्र निर्गलितोर्थ" आदित्वकथनेनास्य जनको नान्यः । अयंच निखिलविरंचि प्रपञ्चप्रवर्तको नाथपदाभिधेय एव सच्चिदानन्द इति, 'सकारणं कारणाधिपाधिपो नचास्य कश्चिज्जनिता नचाधिप' इति श्रुतिशिरसा प्रमीयते । ननुकथमद्वितीयो निरञ्जनो विचित्रमिमं विश्वप्रपञ्च मनन्तभेदभिन्नं विरचयितुं प्रभविष्णुरित्याशङ्कामपनोदयितुमाह शक्तिसहितमिति शक्तिभिर्वक्ष्यमाणपंचावयवात्मकपंचशक्तिभिः सहितंसमन्वितम्, साहित्यञ्च विश्वरचनात्मकैककार्यकारित्वम्, अत्र मायापदं विहाय शक्तिपदं प्रयुज्य स्वाभिमतशक्तेर्मायापद शक्तिपदयोः पर्यायतां मन्वानस्य विवर्तवादिनो मते स्वीकृततुच्छत्वं नाङ्गीकरोति, किन्तु चिदभिन्नापि नित्यसंश्लिष्टावयववत् कार्यगत भेदकारकतया भिन्नत्वेन निचनार्हा अतएव व्यवहारे सर्वैरेव अस्य शक्तिरित्येव निगद्यते नतु अयंपुरुषः शक्तिरिति । अतएव वेदेऽपि 'पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, इति मंत्रे षष्ठया भेदः प्रदर्शितः, ननु अस्तु भेदो व्यवहारे परमार्थदशायान्तु अभेद एव तदा को विशेषो वेदान्तिमतादिति चेच्छृणु रहस्यं सावधानमनसा संकोचविकाशशालिचिद्रूपशक्तिवादिनां मते चिद्रूपत्वमेव विशेषः शिवोपि कूटस्थ चिद्रूपः तथाच संकोचविकाशशालित्वेन भेदेपि चित्त्वेनाभेदः अतएव विदेहकैवल्यमाप्तवतोऽद्वैतमनुभवतो योगबलेन भेदाभेदोभयानुभवोभवत्येवेति योगिनां दृष्टिचरो न शक्यो विकल्पबलेन निरसितुमित्यतो भवदीयाऽद्वैतात् मदीयाऽद्वैतो विलक्षण एवेत्यादि विस्तरेण प्रतिपादयिष्यते परस्तात् । शक्तिस्वरूपे यत्किञ्चिद् विवदमानोऽपि वेदान्ती तत्सद्भावन्तु न निरस्यतीत्यतो मदनुयायितया

चिरंजीव्यस्तु, एवमत्र कुतर्कप्रपञ्चपाशाऽवसिता नैयायिका न क्वापि पदार्थे स्वरूपातिरिक्ताशक्तिरस्ति; प्रतिबन्धकाभावविशिष्टं वस्तुस्वरूपमेव तत्तत्कार्यं प्रति कारणम्. यथा वह्निस्वरूपमेव प्रतिबन्धकमण्यभावसहितं सद् दाहं जनयति, अतोयत्र चन्द्रकान्तमणि सहितोवह्निस्तत्र न दाहः। नच सत्यपि चन्द्रकान्तमणौ उत्तेजकसद्भावे कथं दाह इति वाच्यम, उत्तेजकाभावविशिष्टमण्य भावस्य हेतुत्वेन तत्र विशेषणाऽभावप्रयुक्तविशिष्टाभावस्य सद्भावात् तथाहि उत्तेजकाभावो विशेषणं मणिर्विशेष्य: यत्र केवलोऽनल स्तत्रोत्तेजकाभावरूपविशेषणस्य सद्भावेऽपि विशेष्यभूतमणेर-भावाद्दाहः, यत्रोत्तेजक: चन्द्रकान्तश्च तत्र विशेषणाऽभावात् यत्र च उत्तेजकसहितो वह्नि स्तत्रोभयाऽभावात् विशिष्टाभावः, अनेनैव सर्वत्र कार्यनिर्वाहे अनन्तशक्तितत्प्रागभावध्वंसादिकल्पने गौरवात्, स्वरूपसहकारिसमवधानातिरिक्तां शक्तिमेव न जानीम इत्याहुः, अत्राभिदध्महे-परपक्षप्रतिक्षेपात् प्रथमं स्वपक्षस्थापनस्यैवाऽभ्यर्हितता इति प्रथमत: शक्तिसद्भावेऽविकलप्रमाणाभ्युपन्यस्य पराभिमतं व्युदसिष्यते 'न तस्य कार्यं करणञ्च दृश्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।

परास्य शक्ति र्विविधैवश्रूयते।
स्वभाविकी ज्ञानबलक्रियाच।
ते ध्यानयोगानुगता अपश्न्॥
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निरूढाम्॥ श्वे० ३०

इत्यादि प्रमाणराजवेदः, स्वरूपातिरिक्तामेव शक्तिं ब्रूते, अन्यथा अस्य शक्ति रित्यत्र षष्ठी नोपपद्येत, विविधैवेति कथनेन एकैव प्रकृतिरिति सांख्योक्तमपि पराणुद्यते, स्वाभाविकीतिपदेन नित्यसिद्धत्वोक्त्या वेदान्तिकल्पिततुच्छत्वमपि निरसितम्। अतोऽनाद्यनन्तचिद्रूपा चिदाश्रिता समस्तसंसारप्रसर्विनी सकल वस्त्वन्तर्हिता जगज्जन्मादिनियन्त्री जगदम्बा विविधभेदान् जनयतीति सिद्धम, ध्यानयोगमन्तरायं न दृष्टिपथे पथिकायत इति स्पष्ट

मेवोपदिशति ते ध्यानयोगेतिपदेन परमेश्वरसाक्षात्कारे योग एव गरीयान् मार्गो नान्य इति निगदमेव व्याख्यायते, एतेन शारीरकग्रन्थादिभिरयं ग्रन्थो गतार्थ इत्यपि शंका दूरोत्सारिता, शक्तिभेदतत्तत्कार्यभेदतत्प्रापकयोगविधिभेदानां तत्राऽनुक्तेः। अतएव शक्तिपदार्थे योगिजनप्रत्यक्षमपि प्रमाणतयोपस्थापयितुं शक्यते। तदुक्तं विष्णुपुराणे। शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचराः। यतोऽतोब्रह्मणस्तासु सर्गाद्या भावशक्तयः॥ सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः। अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य इति स्मृतिरपि तामेवानुवदति नचैतानि वचनानि सहकारिमात्रबोधनानि कार्यकारणादिरूपसहकारिनिरसनपूर्वकं तस्या व्यवस्थापनात्

किंच व्रीहीन् प्रोक्षतीति वेदेन व्रीहीणां प्रोक्षणसंस्कारो विधीयते यदि नाम यज्ञे तण्डुलसम्पादनमेव तेषां प्रयोजनं तदा प्रोक्षणं विनापि तत्सिद्धेः तद्विधानं वैयर्थ्यमीयात्। अतः संस्कारकर्मणा व्रीहिषु स्वर्गप्रदपुण्यजननसामर्थ्यापरपर्य्यायशक्तिराविष्क्रियते इत्यवश्यं कल्पनीयम्, अन्यथा लक्षणादिजघन्यवृत्त्याऽर्थान्तरकल्पने वेदस्य व्यवस्थापकत्वमेव भज्येत, अनुमानमपि-एनां साधयति तथाहि-प्रथमं प्रत्यक्षवस्तुनि शक्तिमनुमाय तद्दृष्टान्तबलेन अदृश्येष्वप्यनुमास्यते, अक्षिलक्ष्यीभूतवह्निः , द्विष्ठस्थितिस्थापकेतरातीन्द्रियाऽयुतसिद्धभावसम्बन्धी , गुणाश्रयत्वात् घटवत्। द्व्यणुकगतरूपमादायाऽर्थान्तरवारणाय प्रत्यक्षेति पक्षविशेषणम्, एवञ्च प्रत्यक्षं द्व्यणुकादिकमेव पक्षः, तत्र द्व्यणुकगतरूपविरहादेव न तेनार्थान्तरं सिद्धसाधनंवा। साध्यदले द्विष्ठेतरनिवेशात् वह्नौ इन्धनादृष्टवदात्मवाय्वाकाशसंयोगं स्थितिस्थापकेतरनिवेशात् न्यायशास्त्रोक्तसंस्कारविशेषस्थितिस्थापकम् अतीन्द्रियविशेषणेन स्थूलरूपादिगुणम्, अयुतसिद्धपददानेन परमाणुञ्चादाय भावत्वकथनेन प्रतिवन्धकाभावमादाय च नार्थान्तरसिद्धसाधने समवायीत्यनिवेश्य सम्बन्धिपदनिवेशेन समवायमनङ्गीकुर्वतां मते नाऽप्रसिद्धविशेषणता घटे नैयायिकमते गुरुत्वमादाय स्वमते शक्तिमादाया ऽपि साध्यप्रसिद्धिः, तथाचोभयमतप्रसिद्धदृष्टान्तभूतघटे व्याप्तिग्रहस्य निर्बाधतया पक्षीभूते वह्नौ विवक्षितशक्तिसिद्धिः।

नचात्र नैयायिका गुरुत्वमादाय साध्यं विधातुमीशते। गुरुणी द्वे रसवतीत्यादिना जलेतरस्मिन् तेजःस्वरूपाऽनले तैस्तदनङ्गीकारात्, अन्यस्य च तादृशस्य विरहेण गलेपादुकान्यायेन शक्तिजनन्याः पदपद्मावलम्बादृते नान्यच् शरणं व्रजेलिमम्। ननु प्रभाकराः कर्मणोऽप्रत्यक्षत्वं मन्वते तथाच तेषां मते अतीन्द्रियं कर्म गृहीत्वाऽर्थान्तरता स्यादितितु देवानांप्रियं प्रत्येव परं शोभते। चक्षुषा सहक्रियायां संयुक्त समवाय (तादात्म्य) स्य प्रत्यक्षकारणस्य सम्बन्धस्य विद्यमानत्वे प्रत्यक्षं न भवतीति प्रमाणशून्यं वचनं साहसमात्रमेव, अन्यथा घटपटादावपि प्रत्यक्षताऽपलप्येत, अतएव लोके भवद्गमनं पश्यामि गच्छन्तं पचमानं च देवदत्तं साक्षात्करोमीति प्रतीति र्विश्वजनीना। व्याकरणमहाभाष्ये 'क्रिया नामेयमत्यन्ताऽपरदृष्टा' इत्यनेन क्रियाया अप्रत्यक्षतोपपादिता तस्याऽयमभिसन्धिः—शाब्दिकमते धात्वर्थो व्यापारकलापः क्रिया इति पारिभाषिकं तल्लक्षणम्, आद्यव्यापारमारभ्य चरमव्यापारपर्यन्तो यः समुदायः स एव धातुवाच्यः, तस्य च कश्चिद् व्यापारात्मकाऽवयवो नष्टो भावी वा कश्चन विद्यमानः, अतस्तादृशसमुदायस्य युगपत् पिण्डीकृत्य द्रष्टुमशक्यता। एकदा सर्वेषामवयवानां सहाऽवस्थानाऽसम्भवेन वस्तुतः समुदायस्यैवाऽभावात् तस्मात् कल्पित एव समुदायो धातुवाच्यतया क्रियापदेन परिभाषित इति योगिराजश्रीभर्तृपादाः—"बुद्ध्याप्रकल्पिताऽभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते" इत्यनेन स्पष्टमेव जगदुः। अतएव क्रिया नामेत्यस्याऽग्रे पूर्वापरीभूताऽवयवा न शक्या पिण्डीभूता निदर्शयितुम्, इति कण्ठत एवोपरितनाशयं स्पष्टयाञ्चक्रु र्भगवन्तो भाष्यकाराः, तथाच व्यापारात्मिकाया लौकिक्याः क्रियायाः प्रत्यक्षत्वे न तेषां विप्रतिपत्तिलेशः। अतो लौकिकपरीक्षकानुभवविरुद्धं केवलवैतण्डिकप्रभाकरोहितं कर्मणोऽतीन्द्रियत्वं गगनकुसुमायमानं कथमर्थान्तरतामावहेत कर्मणामिति कलयन्तु कल्पनाकल्पवासिनः सुधियः। नन्वस्तु वह्नौ शक्तिः चिदानन्दघने निरञ्जने श्रीमदाद्रिनाथे किमायातमनयाऽनुमया निभालयोन्मील्य

त्रिणीनविज्ञाननयनं तद् यदायातं विमतः शक्तिसहितो भावरूपकारणत्वात् वह्निवत् इत्यनेन सर्वत्र तत्सद्भावसिद्धिः, प्रपञ्चरचनाचणेन विरञ्चिनाप्यशक्यनिरसना, एवंदाहादिकार्यान्यथानुपपत्तिरपि शक्तिसद्भावे, मानम्,

अन्यथा चन्द्रकान्तमणिसमवधानेपि वह्निस्वरूपस्य पूर्ववत्सद्भावेन सहकारिकारणान्तराऽनपेक्षत्वे तत एव दाहेन पूर्ववद् भवितव्यमेव । ननु प्रतिबन्धकाभावस्य कार्यमात्रं प्रति कारणत्वेन तमादायैवान्यथोपपत्तिः । तथाहि-दाहस्य प्रतिबन्धकश्चन्द्रकान्तोऽतस्तस्य विद्यमानत्वे प्रतिबन्धकाऽभावरूपसहकारिविरहादेव न दाह इति चेच्छृणु, रहस्यम्-अभावस्य क्वापि जनकतानास्ति, इतरथा शशशृङ्गादप्युत्पद्येत नाम कार्यम्, अभावत्वाऽविशेषात् को निवारयितुमीष्टे तथा सति अभावाद्भावोत्पत्तिवादिनां सौगतानामपि दत्तावसरता प्रसज्येत, नच काचन क्वचन लौकिकी युक्तिरपि चेटी अभावस्य कारणतां कलयति । श्रुतिरपि भगवती 'कथमसतः सज्जायेत' इति शून्यस्य, कारणतामाक्षिपति, किंच इतरेतराश्रयदोषदूषितत्वेन, न, प्रतिबन्धकाभावस्य, कारणकोटौ, समावेशः, समुत्प्रेक्ष्यः प्रेक्षावताम् । तथाहि-कारणसमुदायस्वरूपसामग्रीत्वज्ञानं समुदायान्तर्भूतप्रतिबन्धकाभावज्ञानंविनानस्यात्, प्रतिबन्धकाभावघटक प्रतिबन्धकत्व-ज्ञानं-च प्रतिबन्धाभिसामग्रोति लक्षणाऽनुसारेण-सामग्र्यभावसम्पादकत्वरूपप्रतिबन्धकत्वघटकसामग्रीत्वबोधादृते न सम्भवति, अतः सामग्रीत्वप्रतिबन्धकत्व बोधयोः परस्परापेक्षत्वं, वज्रलेपायितं नच वाच्यम् यथावह्निस्वरूपस्याऽन्वयव्यतिरेकाभ्यामेवकारणता निश्चीयते तथैव प्रतिबन्धकाभावस्यापिप्रतिबन्धकत्वज्ञानमन्तरापि ताभ्यामेव लोके पक्षस्थले- दाहतदभावावलोक्य-निर्णेया तदा कान्योन्याश्रयता-इतिप्रत्येकं- मण्याद्यभावस्य-प्रत्यक्षेण कारणताग्रहे-मण्यभावानामनन्तत्वेनाऽनुगतस्वरूपप्रतिबन्धकरूपोपसंग्राहकधर्म- विना—पुरुषायुषेणापि-साक्षात्कृत्य -निश्चेतुमशक्यतया—प्रतिबन्धकत्वात्मकसंग्राहकधर्मस्याऽवश्यज्ञेयतया सामग्रीत्वज्ञाने प्रतिबन्धकत्वज्ञानसापेक्षत्वेनाऽन्योन्याश्रयस्य तादवस्थ्यात्. ननु कार्यौदासीन्यमेव-प्रतिबन्ध स्तत्प्रयोजकःप्रतिबन्धकस्तदा प्रतिबन्धकपदार्थाङ्गतया, सामग्रीत्वस्याप्रवेशेन, नाऽन्योन्याश्रय, इति चेन्मैवं-चन्द्रकान्तसहिते एवाऽनले कार्यौदासीन्यं नतुतद्रहिते इत्यत्र किं बीजमिति जिज्ञासायां मौनमवलम्बमानः स्वभाव एव शरणमित्युत्तरं प्रब्रुवाणो वा भवान्नूनं तार्किककुलादपसार्य देवानांप्रिय संघे एव संस्थाप्येत, अतो महत्ते बुद्धिकौशलम्, एकं संधित्सतोऽपरं प्रच्यवते मम तु सर्वत्रोत्साहजननी शक्तिरेवेति राद्धान्तः, अतएव यस्य

ह्रासोन्मुखा शक्तिर्भवति तस्यालस्यं प्रसमेधितुमुपक्रमते तन्निरासाय शक्त्युत्तम्भकौषधाद्युपचार: प्रयुज्यते वृद्धभिषग्वरै:, तस्या अत्यन्तोच्छेदे जीवनादेवाऽपैतिमृतइतिव्यवह्नियते, क्वचिच्च यन्त्रादिना यावत् कालं शक्तिस्तिरोधीयते तावत्कालं स्वरूपस्य सद्भावेऽपि कार्यकरणाक्षम ताऽऽयाति मृतवदेव व्यवह्रियते यन्त्रादिनि:सारणे पुनरपि साऽऽविर्भवति पूर्ववदेव कार्यं कर्तुमुद्युङ्क्ते, तस्माच्चन्द्रकान्तमणिवह्नौ शक्तिं तिरोधाप्य औदासीन्यं सम्पादयति, न तु स्वरूपं विना स्वत एव समुन्मिपति, अत औदासीन्यस्य प्रयोजक: प्रतिबन्धको न तु साक्षादुत्पादक:, अभा वस्य कार्यत्वाभावात् तथा च भावस्यैव कारणता कार्यता नत्वभावस्य कारणता कार्यता वा इति सार्वलौकिको दार्शनिकदृष्टिपथिकपरिरक्षित: पन्था: नावगाहित उत्पथगामितार्किकवरै: ? अत एव सांख्ययोगयोर्मते ऽभावो नातिरिक्त: पदार्थ: कार्यकारणोभयबहिर्भूतस्य तस्य संकलने केवल बुद्धिकन्थाकदर्थनात् फलान्तरस्य कस्याप्युत्प्रेक्षयितुमशक्यत्वात्, मीमांस का अपि भावान्तरमभावोहि कयाचित्तु व्यपेक्षया अर्थात् घट एव पटापेक्षया अभावो व्यवह्रियते न तु अभावो नाम कश्चित् पदार्थ:. लोकेऽपि दण्डचक्रचीवरादिभावभूत एव भावभूतघटादिं प्रति कारणं कुलालादिगतेच्छाप्रयत्नादिभावविघटनद्वारा कार्याभावप्रयोजको राजा ज्ञादि: प्रतिबन्धक:,तदभावश्च कार्यविरोधकनिरासार्थमेवाऽपेक्ष्यते न तु कार्योत्पत्तौ, अत उत्पत्तौ यानि अपेक्ष्यन्ते तानि कारणानि विरोधि निरासार्थं यदपेक्ष्यते तत्प्रयोजकमिति द्वैविध्यम्, अत एव लोके इदमस्य कारणम्. इदञ्च प्रतिबन्धकम्, इतिद्विविधं व्यवह्नियते, दण्ड विरहदशायां घट: प्रतिबद्धोजात इति न केन चित्कथ्यते, तत्कस्य हेतो: कारणाऽभावस्य प्रतिबन्धकत्वाऽनङ्गीकारात्, अन्यथा सकलकारणं प्रतिबन्धकाभावस्वरूपमेव भवेत् यदि च दाहस्य जनने किमपि वैकल्य मविदधानो मणि: प्रतिबन्धक 'उत्पत्तौ च किञ्चनोपकारमनाचरतस्तद भावस्य कारणता चोरीक्रियते तदा किमपराद्धं खपुष्पेण यत्तस्य प्रतिबन्धकता कारणता वा नाङ्गीकृता, तन्नूनं ते चेतसि द्वेषदोष प्रकोपावधीरिता विवेकशक्तिर्यत आसकलात् स्थितसत्ताकामपि भगवतीं शक्तिमपह्नोतुमुद्यतोऽसि, अत: संत्यज्य विग्रहाग्रहं, युक्त्यैकशरणो भवान् भवदूहितयैव युक्त्या व्यवस्थाप्यमानाया. शक्ते: कथं नाम

सद्भावं नोररीकरोति वयं तु बाह्यलौकिकप्रमाणमनपेक्षमाणाः परं केवलमृतंभरां प्रज्ञामवलम्बमानाः स्वानुभवैकशरणा योगनयनविहीनैर्नरैरगम्यां निजां शक्तिं तद्भेदांश्च साक्षात्कृत्य लवमपि नेह सन्दिह्यामहे इत्याशयवन्तो भगवन्त आचार्यपादा विशिंषन्ति स्म 'शक्तियुक्तमित्यनेन' आदिनाथम्, अत्र शिष्टविवेकस्त्वग्रे वक्ष्यते, नन्वस्तु नाम स्वेमहिम्नि निरतिशयाऽखण्डानन्दकन्दमनुभवन् शक्ति सहितः शिवः किमस्माकं साधकानां प्रयोजनम्, औदासीन्यपथ पथिकेन तेनेति संशीतिमुच्छेत्तुमाह जगद्गुरुमिति जगतां निखिल प्राणिनां गुरुः, अज्ञाननिवारको ज्ञानप्रद इति यावत् गुरुशब्दार्थमाह— अद्वयतारकोपनिषदि ।

गुशब्दस्त्वन्धकारः स्यात् , रुशब्दस्तन्निरोधकः ।
अन्धकारनिरोधित्वात् गुरुरित्यभिधीयते ॥
तस्य माहात्म्यमपि तत्रैव ब्रूते
गुरुरेव परं ब्रह्म गुरुरेव परागतिः ।
गुरुरेव परा विद्या गुरुरेव परायणम् ॥
गुरुरेव पराकाष्ठा गुरुरेव परंधनम् ।
यस्मात्तदुपदेष्टाऽसौ तस्माद् गुरुतरोगुरुः ॥

ज्ञानवत्त्वे सति, अज्ञानविनाशकत्वं गुरोर्लक्षणम् , अत्र विशेषणाऽनुपादाने दीपकादावतिव्याप्तिः स्यात्, तद्वारणाय तदुपादानम्, नच कालिकसम्बन्धेन विषयतासम्बन्धेन वा दीपकादौ ज्ञान सद्भावादतिप्रसङ्गस्तदवस्थ एवेति वाच्यम् समवायसम्बन्धेन विवक्षायामदोषात्, यत्तु समवायमनङ्गीकुर्वतां मतेऽप्रसिद्धविशेषणता स्यादिति चेन्न तादात्म्यसमवायान्यतरसम्बन्धेन ज्ञानवत्त्वमिति निवेशे सकलारिष्टविनाशात् । विशेष्यानुपादाने, उदासीनपुरुषेऽति व्याप्तिरतस्तन्निरसितुं तदुपादानम् नचवाच्यम् सकलधर्मातीते ब्रह्मणि कथमुक्तलक्षणमिति, शक्तियुक्तमिति विशेषणेनैवास्य दोषस्य शक्तिमत्त्वाङ्गीकारेण पराहतत्वात्, व्यवहारकाले कल्पितताद्दश

धर्मस्वीकारे बाधकाभावेन लक्षणसंगमनाच्च, मुक्तिदशायान्तु लक्षण करणस्यैव प्रयोजनविरहतया, असंगमनेपि क्षतिविरहः, अथवा ज्ञान वत्त्वविशिष्टाज्ञानविनाशकत्वात्यन्ताभावाऽनधिकरणत्वमिति निकृष्ट-लक्षणे दोषगन्धोऽपि न प्रसरति ॥ तथाहि-यथा गन्धवत्त्वलक्षणस्य उत्पत्तिकालाऽवच्छेदेन पृथिव्यां गन्धाभावेना व्याप्तिपरिहाराय नैया यिका गन्धात्यन्ताभावानधिकरणत्वलक्षणं स्वीकृत्य कदाचिदपि तस्यां गन्धसद्भावे तदत्यन्ताभावाऽधिकरणत्वस्याभावेनानधिकरणत्वघटि तोक्तलक्षणस्य समन्वयं विधायाऽव्याप्तिं वारयन्ति, तथैवाऽस्माकमपि व्यवहारकाले कल्पितोक्तधर्मस्वीकारे तदत्यन्ताभावस्यानधिकरणत्वे न लक्षणसमन्वयो न विरोधलेशमप्यावहति इति सुधियः कलयन्तु अत्रेदमवधेयम् यत्किञ्चिज्ज्ञानप्रदानेन एकमप्यज्ञानं यो निरस्यति सोऽपि गुरुः, अतएवापेक्षिकगुरुत्वं सर्वेषां किन्त्वध्यात्मविद्याप्रकाशक महामंत्रोपदेशको मंत्रगुरुः । तदर्थदार्ढ्यकारकोऽध्यात्मशास्त्रोपदेष्टो पाध्यायगुरुश्च परमोत्कृष्टः, सो हि मानवजन्मलक्ष्यमोक्षमधिरोहयति विच्छेद्याऽविद्यातिमिरबन्धम् । निरतिशयगुरुत्वं चादिनाथे परमेश्वरे एव तस्य सर्ववित्त्वेन निखिलविषयकाऽज्ञाननिरासकत्वात्, अतएवोक्तं योगसूत्रे—

'पूर्वेषामपि गुरुः कालेनाऽनवच्छेदात्' १ पा २६

इति एतेन संसारपाशावसितान् निखिलान् ब्रह्माण्डभाण्डोदरवर्तिनः स्वोपदेशामृतेन मोचयिष्यामीति संकल्प्य गुरुपदमध्यासीनः श्रीमदादि-नाथः सकलैर्नमस्य इति व्यज्यते । ननु तस्य प्रयोजनवत्त्वेऽनाप्त-कामतयाऽस्मदादिवद् ईशत्वमेव भज्येत । प्रयोजनाऽभावे च कथं प्रवृत्ति रिति शङ्का तु व्यासपादैरेव योगसूत्रभाष्ये तस्य स्वप्रयोजनाभावेपि भूतानुग्रह एव प्रयोजनमित्यनेन दूरोत्सारिता । अयमाशयः—परम-कारुणिको हि भगवान् स्वप्रयोजनविरहेऽपि प्राणिनां बन्धविमोचनेन नित्यनिरतिशयानन्दप्रापणमेव प्रयोजनं मन्वानो भक्तानुपदेष्टुं समु-ज्जृम्भते । यदि सर्वज्ञः सर्वसामर्थ्यवान् तदा युगपदेव कथन्न विमो-चयति नानाविधशोकोपप्लुतान् निखिलान् जीवानिति प्रष्टारं प्रति ब्रूवे-

प्रश्नपटुर्भवान् ममोपरि कथं कथमिति प्रश्नशरं निरस्यन् वैतण्डिकतया प्रचोदने, ऋते मतिकर्दमात् नान्यां काञ्चन विवेकपद्धति-मध्यास्य निश्चितिफलं विचिनुयात्। अतः समाश्रयतु विचारपद्धतिम् तदैव नूनं गहनतरमिमं पारयिष्यति विवेकम्। तथाहि, आदौ स्वानुभवेन स्वस्वरूपं विनिश्चित्य संसारसद्भावं निर्णयति तत्र द्विविधं वस्तु एकं चिरस्थायि स्वस्वरूपम्। अपरञ्चागन्तुकं शोकमोहादि विच्छिद्य विच्छिद्य वर्तमानम् दृष्टैव तद्द्वयं सन्दिग्धे यत् कुत आयातं कदापर्यन्तं स्थास्यति किञ्चास्य निदानं तदुपशमस्य च कः प्रतीकारः कोऽप्यस्य संचालको न वा इत्यादि, तत्र विहितविचारः स्वस्वरूपस्य तत्रागन्तुकदुःखसुखादिनिदानस्य चाऽनादितामुपश्रुत्य तत्संचालकतया सर्वज्ञं सर्वशक्तिसम्पन्नं कञ्चनाधिकृत्य पृच्छति तदुत्तरे सरलसरणिरियं यत् स्वतो निरपेक्षोपि सन् प्राणिकृत कर्माण्यपेक्ष्य विचित्रचित्रमिव संसारं विरच्य तदध्यक्षतामनुभवति, इदमेवानुवदति श्रुतिः—कर्माध्यक्षः कर्मणोऽधिवासः, इति तदा सूक्ष्म-तमस्यापि कर्मणः फलेन यथा समयं प्राणिनः संयोजयन् कथंन सर्वज्ञतां वहेत, कस्याप्यवसरविपर्यासं चिकीर्षतः प्रतिरोधमाचरन् कथंन सर्वशक्तिमत्तां प्राप्नुयात्। अतोऽध्यक्षपदमध्यारूढो जानन्नपि प्राणिनां दुःखबहुलं, कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं शक्तोऽपि सन् कर्मानुरूपमेव करोति अध्यक्षेण कर्तव्यस्यस्वतो निरपेक्षत्वस्य निर्वाहाय, अन्यथा स्वस्य निरपेक्षत्वभङ्गेनाऽध्यक्षत्वं भज्येत। तत्रेदमेव कारुणिकत्वं यत्प्राणि-कृतस्य स्वल्पस्यापि प्रयत्नस्य फलव्यतिरेकतां व्यर्थतां वा न विदधाति तस्माद् युगपदनुद्धरन्नपि, उचितकारितया कारुणिकः प्रशस्यतरश्चेति सिद्धम्, लोकेऽपि समुचितकारी एवाध्यक्षः सर्वजनप्रशस्यो दयालुश्च निगद्यते, इति दिक्।

[नमस्कृत्येति] परनिष्ठोत्कृष्टत्वप्रकारकबोधानुकूलव्यापारो नमस्कारस्तथाच परमाचार्यो भवान् मत उत्कृष्ट इत्याकारस्याऽऽदिनाथ-गतस्य बोधस्य जनकं मानसिकस्मरणात्मकव्यापारं कृत्वा इत्यर्थः।

[अहम्] भक्तजनोपकाराय कृतावतारः **[गोरक्षनाथः]** गाः इन्द्रियाणि पृथ्वीं वाणीं च योगमत्रानुष्ठानेन तदुपदेशेन च रक्षति

स चासौ नाथः शिवरूपः (सिद्धानां) ऋतंभराप्रज्ञामध्यारूढानां सिद्धान्तः (सिद्धः) निश्चितो न तु केनचित् प्रमाणेन साधनीयः **[अन्तः]** चरमो यदनु कापि कक्षा केनापि प्रमाणेन केनचिदपि विचारकेण नानेतुं शक्या, यत् पश्चात् न कोऽप्यन्यः निर्णय इति यावत्, तस्य **[पद्धतिम्]** सरणिं **[वक्ष्ये]** व्याख्यास्ये ।

ननु एतदुपदेशजफलस्य शिष्यगतत्वेन परगामिक्रियाफलत्वात् कथमात्मनेपदमिति न शंक्यम, स्वशिष्यान् स्वाभिन्नान् मत्वैतद्गत-फलं ममैवेति मन्यमानः स्वशिष्येषु करुणातिशयं दर्शयन् आत्मने पदमभिदधावित्याशयात् । अत्र सिद्धपदेनेदं व्यज्यते यदत्रत्याः सिद्धान्ता योगजप्रत्यक्षात्मिकया ऋतंभरप्रज्ञया प्रमिता न केवलानुमानेन अतोऽनुमानेनाप्रमिता अपि विषया इहोच्यन्ते । यथा पंचपंचगुणा-त्मकपञ्चविधशक्त्यादयः,

तावताऽस्य ग्रन्थस्य स्वतः प्रामाण्यं प्रस्थानान्तरैरगतार्थत्वञ्च ध्वनितम् । किंच प्रमाणाधीना प्रमेयसिद्धिः, तथा च प्रमाणान्यनुपन्यस्य प्रमेयमात्रवर्णने न्यूनता स्यादिति विवादोऽपि दूरोत्सारितः । प्रमाणराजऋतंभरप्रज्ञासमुल्लेखेन प्रमाणान्तरे निरपेक्षत्वात्, यदि-चेत्तदनुकूलतयाऽनुमानमपि उपन्यस्येत न तदपि वारयामः । ननु सर्वासां स्मृतीनामागममूलकत्वे प्रामाण्य मस्यापि स्मृतित्वेनागम मूलकत्वं मन्तव्यम् । अन्यथा वेदाननुयायिनामनादेयता स्यादिति प्रच्छकाः प्रष्टव्याः कथमस्य वेदमूलविरहितत्वमवधारितं वा वेदविरुद्धत्वम्, वेदेऽपि **"सदेव सौम्येदमग्र आसीत् तदैक्षत तत्तेजोऽसृजत, आत्मन आकाशः संजातः,,** तत्वमसीत्यादिनाऽद्वितीय ब्रह्मतः सृष्टिप्रतिपादनं तत्र द्वितीयसहायमन्तरा सृष्ट्यनुपपत्त्या अनाद्यविद्यात्मक माया सहायेति केचिद् वर्णयन्ति, अत्र तु,अनेकावस्था विशिष्टा चिद्रूपशक्तिरेव विद्यास्वरूपिणी सृष्टिकर्त्री तस्या-एवाऽवस्था भेदेन निजादि संज्ञा इति, 'तेध्यान योगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निरूढामितिवेदमार्गेण समाधिना प्रत्यक्षीकृत्य वर्णितम्, वेदे सूक्ष्मरूपेणवर्णनम् अत्र तु तस्यैव विस्तरेण

वर्णने महानुपकारोऽकारि वेदस्य, वस्तुतो वेद-तात्पर्यमत्रैवोद्घाटितम्, स्मृत्यन्तरेऽविद्यान्युपवर्णनं केवल-तर्कबलेनाऽभ्युपगमवादेन वा अतस्तादृशव्याख्यानस्य दुर्बलत्वम्, अत्र समाधिबलेन व्याख्यानस्यास्य प्रबलत्वमिति बालेनापि सुज्ञेयम्, अत्रैव वेदतात्पर्योट्टङ्कनेनोभयोस्तात्पर्यभेदाभावात् विरोधस्य च गन्धोऽपि नाऽऽयातीति स्पष्टतरं मर्मविदाम्। आगमोक्तार्थ रक्षाऽपि योगनिकषकृतपरीक्षणेनैवेति विदांकुर्वन्तु विचक्षणाः।

भा० टी० मंगल

यस्य निःश्वसितम् वेदा
यतो जातं जगत्त्रयम्।
तं भवानीयुतं देवम्
प्रणमामि सदाशिवम् ॥१॥

* अथ हिन्दी टीका *

श्री जगदम्बा भवानी सहित जगन्नियन्ता श्री आदि नाथ महेश्वर को प्रणाम कर मैं गोरक्षनाथ, श्रीमत्स्येन्द्रनाथ तथा ज्वालेन्द्रनाथादि समस्त सिद्धों के सिद्धान्तभूत तात्पर्य का निरूपण करने वाली इस "सिद्ध सिद्धान्त पद्धति" को वनाता हूँ।

शंका—श्री गोरक्षनाथ जी तो साक्षात् शिवरूप हैं, इसलिये अपने आपको प्रणाम करना परम असंगत है। श्री गोरक्षनाथ जी शिवरूप हैं ऐसा महाकाल योग शास्त्र में भी कहा है। देखिये

"अहमेवास्मि गोरक्षो मद्रूपं तन्निबोधत।
योगमार्गप्रचाराय मया रूपमिदं धृतम् ॥

अर्थ—श्री गोरक्षनाथ जी के अद्भुत योग बल को देखकर चकित हुए देवताओं ने श्री महादेव के पास जाकर विनय पूर्वक पूछा कि हे प्रभो ? आप के समान शक्ति शाली गोरक्षनाथ नामक यह सिद्ध कौन है, जिसकी समस्त संसार में प्रसिद्धि हो रही है।

यह सुन श्री महादेव ने कहा हे देवताओ ? मैं ही गोरक्षनाथ हूं, लोगों के कल्याण के लिये योग मार्ग का प्रचार करूं इस लिये मैंने ही यह दूसरा रूप धारण किया है । अतः सिद्धराज श्री गोरक्षनाथ को मेरा ही स्वरूप समझो । इसी कारण श्री गोरक्षनाथ जी को बाल और वृद्ध सभी पुरुष शिव स्वरूप मानते हैं, इतना ही नहीं अपितु योग सम्प्रदाय में योगी भी श्री गोरक्षनाथ जी को "शम्भुयति" ऐसा कहते हैं। और "ॐ शिवगोरक्ष" इस पंचाक्षर मंत्र का योगी लोग अपने शिष्यों के लिये उपदेश देते हैं , तथा "खड़े हुए सो सिद्ध भये बैठे सो पाषाण, भेष में आये श्री शम्भुयति गुरु गोरखनाथ निर्वाण ॥ इत्यादि कहावतें भी प्राचीन समय से योगियों में प्रसिद्ध हैं। इससे यही सिद्धहोता है कि साक्षात् शिव ही गोरक्षनाथ हैं।

उत्तर—श्री गोरक्षनाथ जी शिव स्वरूप हैं यह कथन सत्य है किन्तु योग मार्ग का प्रचार करने के लिये रूपान्तर धारण करके अपने आपको ही दूसरे रूप से प्रणाम किया है। इसलिये यहां पर 'अपने आपको ही प्रणाम किया' ऐसा दोष नहीं आता ।

शंका—मंगलाचरण का मुख्य प्रयोजन विघ्नों के नाश पूर्वक निर्विघ्न ग्रन्थ समाप्ति है, परन्तु योगसिद्ध श्रीगोरक्षनाथ जी के विषय में तो स्वप्न में भी विघ्नों की सम्भावना नहीं होसकती, कारण सिद्धों के तो दर्शन मात्र से ही अन्य पुरुषों के भी पाप नष्ट हो जाते हैं अपनों का तो कहना ही क्या है। फिर श्रीनाथ जी ने नमस्कारात्मक मगल क्यों किया।

उत्तर—"यद्यदाचरति श्रेष्ठ स्तत्तदेवेतरोजनः" इस प्राचीनरीति के अनुसार योगाचार्य श्री गोरक्षनाथ जी ने भी अनादिकाल से

प्रचलित प्रणामादि शिष्टाचार को शिष्यशिक्षार्थ दिखलाते हुए आचार्यत्व की मर्यादा का परिपालन मात्र किया है । पाठकगण ? गोरक्ष शब्द का अर्थ नीचे लिखा जाता है ।

देखिये—गो पद से गौ-पृथिवी-स्वर्ग-इन्द्रीय-वेद तथा वेदप्रतिपादित धर्म, इन सबका संग्रह होता है । और इन की रक्षा करने वाले का नाम 'गोरक्ष' है। कहा भी है कि—

'स्थापयित्वाच यो धर्मान् सज्जनानभिरक्षति ।
स्वात्म स्वरूप बोधेन गोरक्षोऽसौ निगद्यते ॥

अर्थ—प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप धर्मों के स्थापक सज्जन साधु महात्मा और गोब्राह्मण आदि की रक्षा करने वाले तथा अन्त में आत्म स्वरूप का बोध कराने वाले एवं संसार सागर से पार कर मोक्ष देने वाले को गोरक्ष कहते हैं ।

नाथ शब्द के चार अर्थ हैं- याचक, उपतापक, ईश्वर, और आशीर्वाददाता, यह चारों अर्थ नाथ जी में अच्छी प्रकार घटते हैं, नीचे देखिये—

याचक— नाथ जी स्वयं महेश्वर होते हुए भी लोक कल्याणार्थ लीलामय शरीर को धारण कर श्रद्धालु तथा आस्तिक भक्तों की भक्ति से प्रेरित होकर उनके घरों पर 'जय अलख निरंजन' कहकर भिक्षा मांगते हुए याचक के रूप में दिखाई पड़ते हैं । अर्थात् भिक्षुक के बहाने अपने धार्मिक भक्तों में आतिथ्य सत्कार की भावना को जगाकर उनकी समस्त कामनाओं को सफल करते हुए उनके हृदय से याचक भाव को समूल नष्ट कर देते हैं । जैसे पिता धूली धूसर अपने प्रिय पुत्र को धूली में से उठाकर अपने दयार्द्र हाथ से उस के शरीर से समस्त धूली को झाड़ देता है और अपने हाथ के मैला होने की कुछ भी परवाह नहीं करता इसी प्रकार नाथ जी भी अपने प्रिय श्रद्धालू भक्तों के याचकत्वरूप मलिन

भाव को स्वयं धारण करके उन की इष्ट कामनाओं को पूरण कर अन्त में मोक्षरूप परमपद को देते हैं।

उपतापक—अविद्यादि पांच क्लेशों को दूर करने वाले को नाथ कहते हैं। अविद्यादि पंच क्लेश योग दर्शन में निम्न लिखित प्रकार से कहे हैं—

अविद्या—अविद्या नाम अज्ञान का है अर्थात् वस्तु के सच्चे स्वरूप को न जानना ही अविद्या है।

अस्मिता—आत्मा और बुद्धि के परस्पर एकीभाव अर्थात् एक होजाने को अस्मिता नामक क्लेश कहते हैं।

राग—पूर्वकाल में सुख का अनुभव करने वाले पुरुष को जब अनुभूत सुख का स्मरण होता है तब उस सुख को प्राप्त करने की इच्छा से सुख और उस के साधनों में जो तृष्णा वा लोभ होता है उसी को राग नाम का क्लेश कहते हैं।

द्वेष—दुःख का अनुभव किये हुए पुरुष को जब अनुभूत दुःख का स्मरण होता है तब उस दुःख और दुःख के साधनों में जो द्वेष होता है वही द्वेष नाम का क्लेश है।

अभिनिवेश—भूमण्डल के समस्त प्राणियों को सदा ही यह इच्छा बनी रहती है कि मैं हमेशा ही रहूँ मेरा नाश कभी न हो यह अभिनिवेश नाम का क्लेश है। इन उपर्युक्त पांच क्लेशों को जिस ने निज योगबल से समूल नष्ट कर दिया हो वही नाथ कहा जा सकता है।

ईश्वर—अणिमादि अष्ट सिद्धि सम्पन्न ईश्वर भी नाथ शब्द का अर्थ है।

आशीर्वाद दाता—अनेक दीन दुःखियों तथा भक्त जनों का अपने शुभाशीर्वाद से कल्याण करने वाले को आशीर्वाद देनेवाला कहते हैं यह अर्थ भी नाथ शब्द का होता है और श्री नाथ जी में तो यह अर्थ मुख्यरूप से घटता है।

शंका—यद्यपि इस ग्रन्थ का निर्माण नाथ जी ने किया है, इस लिये यह ग्रन्थ अत्यन्त आदरणीय और उपादेय है, तथापि प्रमाण के बिना ज्ञेय वस्तु की सिद्धि होना असम्भव है; प्रमाण के निरूपण बिना इस ग्रन्थ में न्यूनता दोष है।

उत्तर—'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' इस पद के कहने से ही उपर्युक्त शंका का निराकरण हो जाता है क्योंकि सिद्धसिद्धान्त पद्धति इतना समस्त पद अतिगम्भीर आशय का द्योतक है।

सिद्ध—इस पद से त्रिकाल दर्शी योगिराजों का बोध होता है।

सिद्धान्त—उन सिद्धों की दिव्य योग दृष्टि के द्वारा अच्छी प्रकार से निश्चित पदार्थ का नाम यहां सिद्धान्त है।

पद्धति—सिद्धयोगिराजों की दिव्य योग दृष्टि से निश्चित पदार्थ को बतलाने के मार्ग का नाम पद्धति है। अर्थात् महासिद्ध योगिराजों की ऋतंभरा प्रज्ञा के द्वारा अच्छी प्रकार से निर्णीत और विश्वस्त पदार्थ को बताने के लिये यह ग्रन्थ मार्ग स्वरूप है। अतः महासिद्ध योगिराजों का सर्वप्रमाण शिरोमणि ऋतंभरा नाम का योगज धर्म ही यहां प्रमाण है। इस ग्रन्थ में मुख्यतया प्रतिपाद्य समरस करण ही विषय है, समरसकरण का व्याख्यान पंचम उपदेश में स्वयं श्री गोरक्षनाथ जी करेंगे। अतः पाठक वहीं देखें।

आदिनाथ— आदि शब्द का अर्थ कारण है, और नाथ शब्द का अर्थ पहले कहा जा चुका है। आदिनाथ शब्द से श्री महेश्वर

का ही बोध होता है, क्योंकि यह सिद्धों का सांकेतिक शब्द है। सिद्ध सम्प्रदाय में हठयोगादि विद्याओं के आदि परम आचार्य श्री आदि नाथ शिवजी हैं। पीछे श्री महेश्वर की कृपा से यह विद्या श्रीमत्स्येन्द्र नाथ और ज्वालेन्द्रनाथ (जलन्धरनाथ) आदि सिद्धों में आई। वह सर्वेश्वर आदिनाथ सब के कारण हैं परन्तु उनका कोई कारण नहीं है और न उन पर किसी का प्रभुत्व ही है।

वह शिव संसार का कारण कैसे हो सकता है ? क्योंकि वह असंग है, संसार के रचने की कोई सामग्री उसके पास नही है। इस शंका को दूर करने के लिये "शक्ति युक्त" यह विशेषण दिया गया है, जब परमेश्वर अपनी अचिन्त्य और अनन्त शक्ति से परिपूर्ण है, तो वह सत्य संकल्प होने के कारण चराचर समस्त विश्व को लीला पूर्वक ही क्षण भर में रच सकता है। परमेश्वर भी यदि शक्ति रहित है तो वह कुछ नहीं कर सकता, ऐसा श्री नाथ जी ने कहा है नीचे देखिए—"शिवोऽपि शक्तिरहितः कर्तुं शक्तो न किंचन" यहां पर यह जान लेना जरूरी है कि शक्ति और शक्ति वाले का नित्य अभेद सम्बन्ध है। जैसे हाथ पैर आदि अङ्ग समुदाय अंगी (शरीर) से भिन्न नहीं रह सकता उसी प्रकार शरीर भी अपने अवयव हस्त पदादिकों से अलग नहीं रहता। यदि ये दोनों भिन्न २ रहें तो इनका स्वरूप ही बनना असम्भव हो जाय। इसी प्रकार शक्ति और शक्तिमान् का भी नित्य सम्बन्ध है। इसलिये शिव से उसकी शक्ति कभी भी अलग नहीं हो सकती। इसी कारण श्रीगोरक्षनाथ जी ने मंगल श्लोक में 'शक्तियुक्त' ऐसा विशेषण दिया है शक्ति क्या पदार्थ है नीचे इसी का उल्लेख किया जाता है—

जैसे गहरे तेज का पुंज चन्द्रमा और उसके चारो तरफ फैला हुआ मन्द प्रकाश चांदनी कहलाती है। उसी प्रकार शुद्ध बुद्ध असंग नित्य और चित् शिव कहलाते हैं, और संकोच विकाश वाली चित्स्वरूप शक्ति कहलाती है। अर्थात् चांद और उसकी चांदनी की तरह क्रमशः शिव और उसकी शक्ति समझनी चाहिये।

शंका—शक्ति को चिद्रूप कहना महा असंगत है, क्योंकि शक्ति-माया-प्रकृति-तुच्छ-अविद्या-तम इत्यादि पर्याय शब्द हैं। ये सब जड़ रूप माया के बोधक हैं। और माया की ज्ञान से निवृत्ति होती है। ऐसा श्रुति में भी कहा है।

तम आसीत्, भूयश्चान्ते विश्वमाया निवृत्तिः

इत्यादि। इस प्रकरण के देखने से तो तम-माया-अविद्या इत्यादि नामों से बोधित जो जड़ रूप माया है, उसी का पर्याय यह शक्ति शब्द है और वह भी जड़ रूप है। जड़ रूप शक्ति को चिद् रूप कहना तो आकाश पुष्प के सदृश है तथा वेदादि प्रमाणों से भी विरुद्ध है?

उत्तर—महेश्वर की वह निज शक्ति चिद् रूप है, इसकी पुष्टि तो स्पष्ट रूप से पहले ही 'चन्द्र चन्द्रिका दृष्टान्त से हो चुकी है और आगे भी ग्रन्थकार श्री गोरक्षनाथ जी मूल में स्वयं व्यक्त करेंगे। जब महेश्वर स्वयं चिद् रूप हैं तो उससे अभिन्न शक्ति को जड़ कहना स्वयं अपनी बुद्धि की ही जड़ता को प्रसिद्ध करना है।

वास्तव में चिद् रूप शक्ति का ज्ञान तो महा सिद्ध योगिराजों की ऋतंभरा प्रज्ञा से ही गम्य है, लौकिक प्रमाणों की वहां गति नहीं है। इस सिद्धान्त का अनुमोदन समस्त श्रुति और स्मृतियों में भी किया गया है और अन्तिम पंचम अवस्था को प्राप्त हुई जो चिद् रूप महा कुंडलिनी शक्ति है, उसी के मध्य में छिपी हुई जड़रूपा महामाया है। जिसको सांख्य और पातञ्जल मतानुयायी जड़ रूप प्रकृति और प्रधान कहते हैं। और वेदान्ती उसको जड़ रूप माया, तम और अविद्या कहते हैं, यह जड़ात्मिका त्रिगुण माया असंग शिव की चिद् रूप शक्ति से अधिष्ठित होकर सकल ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करती है। इसी उपर्युक्त भाव का वेद भी स्पष्ट रूप से प्रतिपादन करते हैं—

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्

देवात्म शक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ।
न तस्य कार्यं करणं च विद्यते
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च ॥

इत्यादि ।

जगद्गुरुम्—श्री आदिनाथ जी जगत् अर्थात् समस्त विश्व के गुरु हैं । कारण यह है कि सकल विद्याओं का विस्तार श्रीआदिनाथ महेश्वर से हुआ है और तो क्या जगन्नियन्ता ब्रह्मा, विष्णु आदि देवताओं को भी सब से पहले श्री महेश्वर ने ही उपदेश दिया था। इसके उपरान्त यह वेदादि विद्या सिद्धों, ऋषियों और मुनियों के द्वारा जगत् में फैली, अतः श्री आदिनाथ जी ही उपर्युक्त परम्परा के द्वारा सब जगत के गुरु अर्थात् उपदेष्टा हैं । इसी लिये योगाचार्य श्री गोरक्षनाथ जी ने "जगद्गुरु" ऐसा मंगल श्लोक में विशेषण दिया है ।

गुरु शब्द में दो वर्ण हैं 'गु' और 'रु' इनका भी अलग अलग अर्थ पाठकों के लिये दिखाते हैं—

सर्व प्राणियों के अन्तःकरण में स्थित अज्ञान का नाम 'गु' है उस अज्ञान को समूल नाश करना "रु" का अर्थ है अर्थात् अज्ञाननिवारक और ज्ञान का उपदेश देने वाला सर्वोत्कृष्ट गुरु है ।

इस मूल मंगल श्लोक का सारभूत भाव यह है कि जिस श्री आदिनाथ महेश्वर की महिमा यथार्थ रूप से वेदों में गाई गई है, उसी जगद्गुरु श्री आदिनाथ ने "गोरक्ष रूप से प्रकट होकर योगसम्प्रदाय में अपने सिद्धान्तों के प्रचारार्थ और लोक कल्याण के लिये इस "सिद्ध सिद्धान्त पद्धति" नामक ग्रन्थ को प्रकाशित किया ।

मू०—नास्ति सत्यविचारेऽस्मिन्नुत्पत्तिश्चाण्डपिण्डयोः।
तथापि लोकवृत्त्यर्थं वक्ष्ये सत्सम्प्रदायतः ॥२॥

सं० टी० नास्तीति

[अस्मिन्] विवेक मार्गे [सत्य विचारे] सत्यश्चासौ विचारः, तस्मिन् सति यथार्थविचारणायां सत्यां [अण्डपिण्डयोः] अण्ड पदेन ब्रह्माण्डः गृह्यते पिण्डपदेन, अस्मदादि व्यष्टि शरीरम्। तथाच भूत भौतिक निखिलविरञ्चिप्रपञ्चस्य [उत्पत्तिः] जन्म [नास्ति] प्रमाणेन न सिद्ध्यति, तथा च अजातवादपक्ष एव महतां माननीयः, उत्तमाधिकारिणां कृते च तस्यैवोपदेशः। अतएव अस्यैव वादस्याभ्यर्हितत्त्वं परैरपि विस्तरेण व्युत्पादितं स्वस्वग्रन्थे। न च तदीयमेव मतमत्र स्वग्रन्थेऽनुद्यते इति वाच्यम्—तदीय ग्रन्थेभ्योऽस्य प्राचीनत्वेन, तदीयानुवादकत्वस्या संभवेन एतदनुवादकत्वस्यैव तत्कल्पने लाभाभावात्, अन्यथा वेदस्यापि अनुवादकत्वं कथं न स्यात् [illegible] वेदादपि गरीयान् भवेत्, यदि च समस्तजन प्रसिद्धं वेदस्य प्राचीनत्वं ते निर्गलतुण्डं तोडयति, तदा एतद् ग्रन्थ कर्त्तुराचार्यपादस्य अवतारकः श्रीदत्तात्रेयसमकालीनत्वं स्वीकुर्वद्भिः [illegible] चपेटा न प्रदीयेतेति का प्रत्याशा, इत्यलं तैः सहनिरर्गलप्रलापेन, ये हि खमपि मुष्टिना जिघृक्षन्ति। वस्तुतस्तु सिद्धान्तस्यानादितया तत्प्रवर्त्तका एव तत्तदाचार्याः, तत्र केचित् पूर्वम् अपरे परं स्व स्व समये ह्यसतोऽशस्य विस्तरेणव्याख्यानं चक्रुः शेषस्य च सूक्ष्मेण न तावता कस्यापि वैमत्यम्। यन्मतं मानवकपोल कल्पितम् तत्तदाधुनिकोत्प्रेक्षिततया हेयमेव। अथाजातवादसिद्धि प्रकारः। तथाहि उत्पत्तेः प्राग् घटः स्वोपादाने वर्त्तमानो न वेति विप्रतिपत्ता आद्यकोटिः सांख्यानां द्वितीयकोटिर्नैयायिकानाम्। तत्र प्रथम पक्षे दोषः। यदि सन्नेव घटो मृदि तदा तदुत्पत्त्यर्थं दण्डचक्रादीनां व्यापारो व्यर्थ एव।

न च आविर्भावार्थमेव तस्य साफल्यम्, यथावटधानायां सूक्ष्मरूपेण विद्यमान एव वटः क्षितिसलिलपवनादिना प्राकाश्यं नियते, रूपान्तरेणाच्छादितस्य वस्तुनः आवरणापनयद्वारा कारक व्यापारतः प्रकटकरणमेवाविर्भावः । अयमेव परिणामवाद इति वाच्यम्—दण्ड व्यापारात्प्रागाविर्भावो विद्यमानो नवेति विकल्पे विद्यमानत्वे तस्याप्याविर्भावः इत्येवं कल्पने ऽनवस्थापातात्, न वा पक्षावलम्बने असत्या अपि आविर्भावक्रियाया उत्पत्तिस्वीकारे । अन्ते रण्डा विवाहः स्यादादावेव कुतोनहीति न्यायेन असत एव घटस्योत्पत्तिस्वीकारे बाधकाभावाच्च, वटधानादृष्टान्तस्य च साध्यकोटिनिक्षिप्ततया उभयसम्मतत्वाभावेन दृष्टान्तस्यैवासं- प्रतिपन्नत्वात् ।

तथा च असन्नेव घट उत्पत्तिमान् अदृष्टत्वे सति दृष्टिगोचर- त्वात्, आविर्भाववत् सन् घटः, नोत्पद्यते सत्वात् आत्मवत् । इत्यनुमाने निर्बाधप्रसरे ।

अतएव नैयायिकाः असद्वादमेवावलम्बन्ते, किन्तु निपुणतर- विवेचने तदपि निःसारतरम् । तथाहि यदि, उत्पत्तेः प्रागसतो घटस्य कारण कलापेन सम्बन्धविरहेऽपि समुत्पत्तिः,, तदा गगनकुसुमस्यापि कथं नोत्पत्ति रिति प्रश्ने तद्व्यवस्थायै प्रागभाव एव कारणं भवति न तु तदरिक्तोऽभावः, इत्यादि नियमस्य यस्य कस्यचिद्वलम्बने प्रागभावस्या त्यन्ताभावादितः येन वैलक्षण्यं तेनैव रूपेण तत्र कार्यस्य सद्भावापत्तौ सद्वादपादावलम्बनस्यैव शरणीकर्त्तव्यत्वपातः कष्टतरं लज्जास्पदं तेषाम्, तथा च असन् घटः नोत्पद्यते, असत्वात्, शशश्रृङ्गवत्, इत्यनु- मानानुचरचपेटाबारकः कः । इत्थं तयोर्विवादं विलोक्य धीराः महान्त उभयतो विनिसृत्य स्वतः सिद्धे सदात्मनि शिवे भार मवलम्ब्य कृतार्थतां मन्वते । यदा कथं संसृतेः प्रतीतिः किञ्चास्य निदानमिति केनचित् बहुकृत्वः पृष्टस्तदा विवर्त रूपेणेयं प्रतीतिरिति–पराभिमत्यो- त्तरं ब्रूते नतु तात्पर्येण, अतः परमविरक्तोत्तमाधिकारिणां स्वदृष्ट्या अजातिवादः । उपदेशसमये विवर्त्तवाद इति स्वरसतः प्रतीयते ।

ननु वेदान्तिमतादस्य को भेदः ।अन्यथा तेनैव गतार्थतया नास्य प्रस्थानान्तरत्वम् इति चेत्—शृणु रहस्यम्, तत्र चिन्मात्रस्यैवाधिष्ठानत्व मुररीकृत्य प्रपञ्च वर्णनम्। अत्र तु कूटस्थचित् शिवः तस्य संकोच विकाशावस्था शक्तिः सा चिद्रूपा न तु जडात्मिका उभौ अधिष्ठान कोटौ समावेश्य प्रपञ्चवर्णनमिति भेदोऽनुपदं विवेचिष्यते स्वयमेव ग्रन्थकृत्पादैः, किञ्च व्यवहारदशामवलम्ब्य सृष्टिवर्णनप्रक्रियाऽपि सुसूक्ष्मतमे त्वनुपद स्फुटीभविष्यति किञ्च उपनिषदा सह समानार्थत्वे प्रामाण्य मेवास्य प्रमाणान्तरेण विरोधाभावात् । अथवा सत्यस्य शक्तिसहितस्य सदाशिवस्य **[सत्य विचारे]** विवेके सति यतः कस्याप्यन्यस्य पार्थक्येन सत्ताविरहतया **[अण्डपिण्डयोः उत्पत्तिः]** असतः सद्भावात्मकं जन्म **[नास्तिः]** किन्तु शक्तिसहितः श्रीसदाशिवः सूक्ष्मरूपेण स्वात्मनि स्थितानेव पदार्थान् परिणामरूपेण सृष्टिसमये विकाशयति, प्रलये सङ्कोचयति, अतः अवस्थाया आगमापायित्वेऽपि नासद्वादपक्षः, अतएव—

"नासतो विद्यते भावो नाभावोविद्यते सतः"

इति सद्वादपक्षस्यैवाभ्यर्हितत्वं स्वीकृतं गीतायां भगवतापि एवं च अवस्थाया आगन्तुकतया पदार्थकोटौ न गणना। अवस्थावतां सदासद्भावेन पदार्थत्वं व्यवह्रियते, अतः पदार्थो नासन् इति सिद्धान्ते न कोऽपि बाधः । यदप्यनुमानमुपन्यस्तम् असन्नेव घट उत्पत्तिमान् इत्यादि तदपि उत्पत्तेः प्राग् घटस्यैव शशशृङ्गायमानतया आश्रयासिद्धिः, पश्चाच्चोत्पन्नत्वेनोत्पत्तिसाधने सिद्धिसाधनम् । हेतु रस्तु, साध्यं मास्त्वित्यनुयोगे विपक्षबाधकतर्काभावः पटावृत घटस्यावरणापनयने व्यभिचारः। इत्यादि दोषग्राहनिकरकवलग्रस्तम् द्वितीयानुमाने उत्पत्तिपदार्थस्यैवाद्यावधि, अनिर्णीतत्त्वेन साध्या प्रसिद्धिः, तस्मात्परिणाम पक्षएवाचार्य्यसम्मतः । नच साङ्ख्येन गतार्थता, तैः शक्तेः अचिद्रूपत्वेन, आत्मनश्च शक्तिशून्यचिद्रूपा-

सङ्कृत्वेन स्वीकारे सदा शक्तिसम्बद्धचिद्रूपसदाशिवस्यावर्णनात् । एवञ्च परिणामपक्षएवाचार्य्याभिमतः, अनयोः कतरत् युक्ततर मिति स्वयमेव सुधियो विवेचयन्तु ॥ लक्ष्यसिद्धिस्तूभयोः समैव । तथापि **लोकबुद्ध्यर्थं** लोके व्यापारसाफल्यप्रदर्शनार्थं मन्द बुद्धि मनुसृत्य **वक्ष्ये सत्** इति, मूले असत इतिच्छेदः, असत् सम्प्रदायतः । असद्वादरूपेणाप्युत्पत्तिं वक्ष्ये इत्यन्वयः—मन्दानाम् ऋजुरीत्या बोधायैवाऽसद्वादपक्षो नतु स्वच्छः, वलक्षपक्षश्च सत्सम्प्रदाय एवाचार्य्यपाद स्वरस कबलीकृत इति ध्वनि रिति दिक् ॥

हिन्दी टीका

नास्तीति--

यद्यपि यथार्थ विचार करने पर ब्रह्माण्ड और अस्मदादि शरीर वर्ग की उत्पत्ति किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि कूटस्थ, असंग, चित आदिनाथ की सत्ता से पृथक् जगत् की सत्ता नहीं है और इससे अजातिवाद सिद्ध होता है । तथापि लोक में व्यवहार के लिये सत्कार्यवाद की रीति से अंड और पिंड की उत्पत्ति को आगे कही प्रणाली के द्वारा कहूँगा । इससे परिणामवाद सिद्ध हुआ । अर्थात् श्लोक के पूर्वार्ध से अजातिवाद और उत्तरार्ध से परिणामवाद निकलता है । परिणामवाद का दूसरा नाम सत्कार्यवाद भी है। तथा अजातिवाद का ही रूपान्तर विवर्तवाद है । अजातिवाद शब्द का अर्थ उत्पत्ति प्रमाण सिद्ध नहीं, किन्तु माया का विलासरूप पदार्थ स्वप्न के पदार्थ की तरह झूठा है । इस प्रकार से जहां उत्पत्ति का निषेध होता है उसी को अजातिवाद कहते हैं । अंड पिण्ड की उत्पत्ति प्रमाणों के द्वारा क्यों नहीं सिद्ध होती, इसका उत्तर यह है, कि नाथ तत्त्व की सत्ता से पृथक् भूत भौतिक जगत् की सत्ता ही नहीं, जिसका प्रमाणों से निरूपण किया जाय, किन्तु अविद्या का स्वभाव है कि कुछ का कुछ दिखला देना, जैसे स्वप्न में अनेक हाथी, घोड़े, रथ

पर्वत, सागर, आकाश, पाताल, देव, मनुष्य, पशु, पक्षी इत्यादि विचित्र भूत भौतिक दृश्यमान प्रपंच केवल अविद्या के प्रभाव से दिखाई देता है, क्योंकि जिसका आदि अन्त नहीं वह वर्तमान में भी नहीं के बराबर है। स्वप्न के जगत् से व्यवहारिक जगत का फर्क केवल इतना ही है, कि स्वप्न का भ्रम नींद टूट जाने पर बाधित होजाता है, और जाग्रत् प्रपंच चिरकाल में ब्रह्मज्ञान से बाधित होता है, अर्थात् श्री आदिनाथ जी की कृपा का फल रूप जो तत्त्व ज्ञान है उसके बिना जन्म मरण रूप दारुण दुःखमय संसार का उच्छेद नहीं होता। आत्म साक्षात्कार से ही इसकी निवृति होती है। क्योंकि ज्ञान सूर्य के उदय होजाने पर अन्धकार रूप अविद्या नहीं रह सकती देखने में भी आता हैं कि जहां अविद्या का प्रभाव नहीं है वहां संसार का भी भान नहीं होता जैसे समाधि अवस्था में आत्म ज्योति के अतिरिक्त अन्य वस्तु का भान नहीं होता और तो क्या, अहंभाव भी नहीं रहता केवल कूटस्थ सच्चिदानन्द स्वयं ज्योति आत्मा का ही भान होता है। इससे साफ मालूम होता है कि जहां तक जितनी अधिक अविद्या की गति है वहां उतना ही अधिक मोह, माया, राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, अहंकार आदि का पसारा है। केवल एक अखण्ड आत्मा ही सच्चा है। यह उपर्युक्त अजातिवाद की शैली है। इसी रीति को लेकर आचार्य उत्तम अधिकारी के लिये उपदेश किया करते हैं क्योंकि इस प्रणाली से उत्तम अधिकारी को शीघ्र आत्मबोध हो जाता है। अत एव आचार्य से सुशिक्षित शिष्य आत्मा से भिन्न सबको मिथ्या जानकर सांसारिक विषयों में राग द्वेषादि न करता हुआ निरन्तर आत्म चिन्तन में लगा रहता है। इससे यह सिद्ध हुवा कि यह अजाति वाद प्राचीन सिद्धों का माना हुवा सर्वोच्च आदरणीय सिद्धान्त है। इस अजातिवाद की प्रणाली से ही मत्स्येन्द्रनाथादि सिद्धों ने असंख्य उत्तमाधिकारियों को ब्रह्मज्ञान के उपदेश द्वारा मोक्ष धाम को पहुँचा कर कृतार्थ किया। श्री मत्स्येन्द्रनाथ और जलन्धर नाथादि सिद्धों से लेकर श्री गोरक्षनाथ और दत्तात्रेय आदि सिद्धों ने इस सिद्धान्त को माना है। इसी मत का श्री व्यास जी ने पुराणों तथा वेदान्त दर्शन में

अनुवाद किया है। इसके उपरान्त सिद्ध विचारनाथ भर्तृहरि ने भी स्वनिर्मित वाक्यपदीय आदि बहुत से ग्रन्थों में अजातिवाद का जो रूपान्तर विवर्त है उसी का वर्णन किया है। नीचे देखिये—

"अनादि निधनं ब्रह्म" इत्यादि

वाक्यपदीय के मंगलाचरण श्लोक में ही विवर्त पद का प्रयोग करने से सिद्ध विचारनाथ भर्तृहरि जी का भी विवर्तवाद अत्यन्त अभिप्रेत सिद्धान्त है। इसके बाद वेदान्त भाष्य कर्ताओं ने अपने ग्रन्थों में इसी सिद्धान्त को अपनाकर समर्थन किया है। वास्तव में वस्तु का स्वरूप तो जैसा का तैसा ही रहता है, पर अविद्या के बल से वह वस्तु विपरीत आकार में दिखाई देती है जैसे रज्जु, आदि का विवर्त सर्प होता है। जहां पर रज्जु मन्द अन्धकार में पड़ी हुई है उस समय उसका ठीक ज्ञान न होकर लम्बायमान कुछ है इस प्रकार सामान्य अंश का ज्ञान और विशेष अंश का अज्ञान होने से उसी समय पूर्व दृष्ट सर्प विषयक संस्कारों का उद्बोध होता है। उस उद्बुद्ध संस्कार और अविद्या के बल से तत्काल वह रज्जु सर्प रूप दिखाई देने लगती है। इसी प्रकार यह संसार ब्रह्म का विवर्त है ब्रह्म तो अपने स्वरूप में जैसा का तैसा अखण्ड ही है परन्तु पूर्व २ देखे गये संसार विषयक संस्कार और अविद्या के बल से शुद्ध चित् कुटस्थ, असङ्ग आदि नाथ ही मिथ्या संसार रूप से लोगों को प्रतीयमान होरहे हैं। परन्तु जब तक परमनाथतत्व का ज्ञान नहीं होता तब तक रागद्वेष, शीतोष्ण और सुखदुःखादि का द्वन्द रूप संसार बना ही रहता है। केवल स्वानुभववेद्य आदिनाथ के विशेष ज्ञान से ही इस मिथ्या जगत् की निवृत्ति होती है।

उत्तमाधिकारी के लिये अजातिवाद का उपदेश देकर मध्यम अधिकारी के लिये परिणामवाद की रीति को कहते हैं। पूर्वोक्त प्रकार से यद्यपि अण्ड पिण्ड की उत्पत्ति प्रमाण सिद्ध नहीं है तथापि लोक व्यवहार के लिये सत्कार्यवाद की रीति से सब के लिये हितकारी अण्ड पिण्ड की उत्पत्ति कहता हूँ क्योंकि अण्ड पिण्ड के ज्ञान पूर्वक आत्मज्ञान सबको सुगमता से होगा।

दूसरे आकार में बदल जाने को परिणाम कहते हैं, जैसे दूध का दही परिणाम होता है। इसी प्रकार प्रकृति का परिणाम रूप यह संसार है। जैसी त्रिगुण स्वरूप जड़ माया है वैसा ही उसका कार्यभूत शीतोष्ण सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोहात्मक संसार है, इस संसार में शुभाशुभ कर्म रूपी पाश में बंधा हुआ यह प्राणी जन्म मरणादि दुःखों की परम्परा को पराधीन होकर सहन करता है, अतः जन्म मरणरूप अगाध संसार सागर से पार होने के लिये तत्वज्ञानी महात्मा की शरण में पहुँच कर आत्मा का विचार करे।

यद्यपि नैयायिक कार्य को उत्पत्ति से पहले असत् कहते हैं, और कारक व्यापार द्वारा उत्पत्ति के बाद सत् कहते हैं, जैसे सृष्टि से पहले महाप्रलय में ये पृथिवी आदि समस्त भूत भौतिक कार्य असत् थे। किन्तु केवल परमाणु आदि नित्य पदार्थ ही विद्यमान थे पीछे सृष्टि के आरम्भ काल में उन परमाणुओं के संयोग द्वारा द्वयणुक, त्र्यणुक इत्यादि क्रम से जब समस्त कार्य उत्पन्न हुआ तब पीछे वह सत्स्वरूप हुआ। इसी का नाम आरम्भवाद है। तथापि यह मत आचार्य को रूचिकर न होने से दूसरे श्लोक के पूर्वार्ध में इसका खंडन किया गया है। आरम्भवाद के खंडन में प्रधान युक्ति नीचे दी जाती है—

यदि कारण में अविद्यमान कार्य कारक के व्यापार से उत्तपन्न हो जाय तो शशश्रृंग आकाशपुष्प आदि भी उत्पन्न हो जायेंगे और तैल आदि कार्य की अभिव्यक्ति करने के लिये नियत रूप से उत्पत्ति से तिल आदि कारण का भी ग्रहण नहीं करना चाहिये। क्योंकि उत्पति से पहले यदि तैल असत् है तो बालु से भी कारक व्यापार द्वारा तेल की उत्पत्ती हो जानी चाहिए। और कार्य असत्स्वरूप हो तो उसका सम्बन्ध भी कारण के साथ कभी नहीं हो सकता, कारण कि दोनों सम्बन्धियों के विद्यमान होने पर ही सम्बन्ध होता है, अतः यह आरम्भवाद समस्त युक्ति और प्रमाणों से विरुद्ध है। वेद ने भी सत्कार्य वाद का ही समर्थन किया है। देखिए-

"सदेवसौम्येदमग्रआसीत्" । "तथा गीता में भी—"नासतोविद्यतेभावः" इत्यादि ।

मू०—सा पिण्डोत्पत्त्यादिः सिद्धमते सम्यक् प्रसिद्धा पिण्डोत्पत्तिः १ पिण्डविचारः २ पिण्डसंवित्तिः ३ पिण्डाधारः ४ पिण्डपदसमरसभावः ५ श्री नित्यावधूतः ६

संस्कृत टीका

[पिण्डोत्पत्त्यादिः] पिण्डोत्पत्तिः, आदिर्यस्याम् **[सा]** पद्धतिः **[सिद्धमते]** सिद्धानां ऋतम्भरप्रज्ञामधिष्ठितानाम् "मते" अनुभवे **[सम्यक्]** संशयविभ्रमानाक्रान्ततया **[प्रसिद्धा]** विषयीभूता इत्यर्थः । अयंभावः, ये हि सिद्धास्तेषां स्वानुभवगोचरीभूता एवैते पदार्थाः—अतस्तेषां सन्देहलेशोऽपि नोदेति ये च केवलतार्किकाः पदे पदे सन्दिहानास्तर्कैस्तत्त्वं विनिश्चेतुमिच्छन्ति ते भ्राम्यन्ति भ्रमन्तु नाम तेषां नात्राधिकारः, तर्कागम्य पदार्थस्यात्र वर्णनेन समान विषयत्वाभावात् । अनेन समरसकरणद्वारा परमपुरुषार्थसिद्धिःफलम्, तत्प्रेप्सुरधिकारी समरसकरणादयो विषयाः प्रतिपाद्यप्रतिपादकाभावः सम्बन्ध इति प्रेक्षावत्प्रवृत्त्युपयोग्यनुबन्धचतुष्टयंप्रदर्शितम् समरस पदार्थ स्त्वग्रे वक्ष्यते । अनुबन्धत्वञ्च प्रवृत्तिजनक ज्ञानत्वम् । प्रवृत्तिजनकज्ञानन्तु, अयं मां प्रेरयतीति ज्ञानानन्तर प्रवृतिदर्शनात्, भावनाज्ञानमेवेति भाट्टाः, इदं मम कार्यमिति ज्ञानादेव प्रवृत्तिर्लोकानामतः कार्यत्वज्ञानमेवेति प्राभाकाराः, इदं मत्कृतिसाध्यं मदिष्टसाधनं बलवदनर्था जनकञ्चेति ज्ञानत्रयादेव प्रवृत्तिर्नत्वेकैकज्ञानात् तथाहि प्रथमज्ञानमात्रात् जलताडने द्वितीयज्ञानमात्रात् चन्द्रानयने तृतीयास्वीकारे मधु, विष सम्पृक्तान्न भोजने प्रवृत्तिरापद्येत, अतोज्ञान-त्रयमेवेति नैयायिकाः इष्टसाधनत्वज्ञानमेवेति शाब्दिकोदयनाचार्य्य-वेदान्तिनः, इत्येवमस्तु परस्परं स्वरूपवर्णने वैमत्यं किन्तूक्त ज्ञानविषयता

अधिकारि विषयप्रयोजनसम्बन्धेषु सकलैः सम्मता इति। चतुर्ष्वपि अनुबन्धत्वं निर्विवादमिति दिक् । प्रस्थानेऽस्मिन् षडुपदेशाः सन्ति तत्र प्रत्येकं वर्णनीयविषयानां प्रथमतः समासेन नामानि निर्दिशति पिण्डोत्पत्यादिरिति संक्षेपविस्तराभ्यां हि व्याख्यानं झटिति श्रोतुश्चित्ते समाविशति स्पष्टत्वात् प्रतिपद वर्णनं नापेक्ष्यते पिण्डपदेन शरीरेन्द्रियादीनां ग्रहणंज्ञेयम्

अथ हिन्दी टीका

इस ग्रन्थ में निम्न लिखित छः उपदेश हैं, और यह ग्रन्थ सिद्धों के मत में अत्यन्त आदरणीय है, अतः इसको प्रकाशित करता हूं।

१ विशेष रूप से पिण्ड की उत्पत्ति तथा गौण रूप से अन्य विषय का भी निरूपण करने वाले प्रकरण को इस पद्धति का प्रथम उपदेश कहते हैं।

२ पिंड के विचार को अच्छी प्रकार बताने वाला इस पद्धति का द्वितीय उपदेश है।

३ विशेष रूप से पिण्ड के ज्ञान का निरूपण करने वाला इस पद्धति का तृतीय उपदेश है।

४ शरीरस्थ चक्र तथा आधारादि का प्रधान रूप से वर्णन करने वाला भाग इस ग्रन्थ का चौथा उपदेश है।

५ पिण्डपद की सिद्धि के लिये समरस भाव को कहने वाला इसका पंचम उपदेश है। पिण्डपद समरस भाव का अर्थ पंचम उपदेश में स्वयं योगाचार्य श्री गोरक्षनाथ जी मूल ग्रन्थ में समझायेंगे।

६ कार्यसिद्ध और परम पूज्य अवधूत योगियों के लक्षण का वर्णन करने वाला इसका छठा उपदेश है।

ग्रन्थ के पढ़ने में लोगों की प्रवृत्ति तब होती है जब उसका विषय तथा प्रयोजन का ज्ञान होजाय, अतः इस ग्रन्थ में प्रवृत्ति के लिये

शक्ति सहित आदिनाथ रूप विषय और उसके ज्ञान द्वारा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पदार्थों की प्राप्तिरूप प्रयोजन आचार्य ने दिखाया है।

मू०—यदा नास्ति स्वयंकर्ता कारणं न कुलाकुलम्।
अव्यक्तञ्च परं ब्रह्म अनामा विद्यते तदा ॥४॥

संस्कृत टीका

[यदा] दृश्यमानसृष्ट्युत्पत्तेःपूर्वसृष्टेरासन्नसमये आसन्नत्व-बोधनायैव अस्तीत्यत्र वर्तमानसामीप्ये लट् **[स्वयं]** ब्रह्म **[कर्ता नास्ति]** कर्तृत्वरहितः आसीत् यद्यपि तस्यासंगतया-कर्तृत्वराहित्यम्-सदैव तथापि सृष्टि समये कृत्या आध्यासिक सम्बन्ध सद्भावः, इतरथा तत्कर्तृत्वमेव न संघटेत किन्तु तस्यापि तत्समये अभाव इति ध्वनितम् **[न कुला कुलम्]** कुलेन भूतभौतिक सृष्टिसमूहेन आकुलं, व्याप्तम् कारणम् उपादान सामग्री सहितं नासीत् भूतभौतिक कार्यं तदुपादानं प्रबुद्धशक्तिरूपं च नासीत् इति ध्वन्यते प्रलीनं सूक्ष्मतया आसीत् इतितु न विस्मर्त्तव्यं सद्वादिभिः। अथवा कुलाकुलमिति स्वतन्त्रम् विशेषणम् ब्रह्मणि। तथा च कुलं सर्वेषां कारणस्वरूपयोग्यम् "अकुलम्" कुलं कारणं न विद्यते यस्येति बहुव्रीहिः स्वस्य कारणं नान्यत् इति यावत् मूलतत्त्वमिदमितिध्वनितम् अथवा कुलं शाक्तक्रमः, अकुलं योगक्रमश्च नासीदित्यर्थस्तान्त्रिकः **[अव्यक्तम्]** रूपरहितम् **[अनाम]** नाम रहितं तदा द्वैताभावे व्यवहाराभावात् ब्रह्मसंज्ञाऽपि नासीत् **[परम्]** अपरिच्छिन्नम् सजातीयविजातीयस्वगतभेदत्रय-शून्यम् अतएव **[ब्रह्म]** व्यापकम् **[आविद्यते]** स्वप्रकाशरूपः भाव-पदार्थः कश्चित् आसीत् नतु शून्यरूप इति शून्यवादबौद्धमतं

निरसितम् वेदेऽपि सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्-इत्युपवर्णितम्। असदेवसोम्येदमिति पूर्वपक्षमुपदर्श्य कथमसतः संजायेतेत्यादिना ज्ञिप्यान्ते सदेव सौम्य इत्येव निर्द्धारितम्-अयं भावः अभावात् भावोत्पत्तिस्वीकारे शशशृङ्गादपि शस्य मुत्पद्येत तथा च सर्वत्रैव-कार्यकारणभावव्यवस्थोच्छेदे कार्य्यार्थिनां कारण विशेषोपादान नियमस्याना श्वास एव स्यात् इत्यादि युक्त्या शून्यवाद बौद्धमतखण्डन प्रकारो ब्रह्ममीमांसादौ विस्तरेण प्रपञ्चितः विस्तारभयान्नेह वितन्यते विशेष जिज्ञासुभिस्तत एवावगन्तव्यम् अतः भावादेवभाव इतिवादएव गरीयानिति। इदमत्र निर्गलितम् तदा सर्वेषां सूक्ष्मरूपेणावस्थानेऽपि ब्रह्मणः स्वानुभवात् पार्थक्येनानुभवविषयत्वाभावात किञ्चिदपि नासीत् ब्रह्मतुस्वसाक्षिकतया आसीत् यथा समाधिमाधाय स्थितः कश्चित् द्वैतजातमपश्यन्नपि स्वसाक्षितया स्वात्मानं न निषेधति नाहमिति अहमाकारवृत्ति विरहतयाहमस्मीति बोधविरहेऽपि स्वरूपमनुभूयत एव। अतएव उत्थानसमये संजाताहंकारविशेषणेन विशिष्य तमेव स्मरति अहमासमिति। यदि स्वरूपानुभवो नासीत् तदा नाहमासम् इत्यपि स्मर्त्तव्यम् न च कदापि तथा स्मरति तस्मात् सिद्धं सर्वेषाम भावेऽपि स्वस्वरूपानुभवो न जातु व्यभिचरतीति दिक्।

हिन्दी टीका

सृष्टि की उत्पत्ति से पहले आदिनाथ कर्तृत्व धर्म सहित नहीं था, क्योंकि जब कर्म की ही सत्ता नहीं तो कर्ता किसका कहलावे। इसी लिये उस महाप्रलय में वह किसी का कारण भी नहीं होसकता, क्योंकि किसी कार्य के प्रति ही कारण में कारणता आती है, जब उस अव्यक्त अवस्था में कोई कार्य ही नहीं था, तो उस समय किसी का कारण भी कैसे कहला सकता है। तथा उस महाप्रलय में कुल और अकुल का व्यवहार भी नहीं था। यहां कुल पद से शक्तिक्रम और अकुल से योगक्रम जानना, कुल अर्थात् सृष्टी अवस्था विशिष्ट चेतन की उपासना. इसी का तान्त्रिक नाम 'श्रीकुल' है।

तथा प्रलयावस्थाविशिष्ट चेतन की उपासना भी कुल कहलाती है, इसका तान्त्रिक संकेत 'कालीकुल' है । इन दोनों श्रीकुल और कालीकुल का व्यवहार कुलपद से होता है। इन दोनों में जब किसी एक की सिद्धि होजाती है तब वह अधिकारी 'अकुल' पद को प्राप्त होता है, उसीका 'पूर्णाभिषेकी' ऐसा तांत्रिक नाम है, अर्थात् कुलावस्था में निष्काम कर्म में निष्ठा रहती है, और अकुलावस्था में परिपक्व योग में निष्ठा होजाती है । अतः निष्काम कर्म निष्ठा का नाम 'शक्तिक्रम' जानना, उसी का दूसरा नाम कुल है और परिपक्व योग निष्ठा का नाम 'योगक्रम' है। उसी का दूसरा नाम 'अकुल' भी है। कुल पद बोधित शक्तिक्रम में पूज्य पूजक भाव रहता है, और अकुल पद वाच्य योग क्रम में योज्य योजक भाव रहता है, जब उस महा प्रलय में कुल और अकुल इन दोनों का भी विलय होजाता है तब उस अखण्ड कूटस्थ असङ्ग चित्स्वरूप श्री आदिनाथ में कुलाकुल का व्यवहार भी नही रहता । अथवा शुद्ध अखंड ब्रह्म में कुल (व्यक्तावस्था) और अकुल (अव्यक्तावस्था) इन दोनों का भी महाप्रलय में अभाव रहता है। अतः उस समय वह परमेश्वर कुलाकुल भाव से भी रहित है।

और उस समय परब्रह्म में कारणता भीनहीं थी। कुलाकुल शब्द के प्रथम अर्थ के पक्ष में 'अव्यक्त' इस मूल पद से ब्रह्म में कारणता का निषेध जानना और तृतीय पक्ष में अव्यक्त यह पद ब्रह्म का विशेषण जानना।

शंका—इससे तब तो बौद्ध मत से अभिमत शून्यता का ही परिचय हुआ ।

उत्तर—अव्यक्त उस समय नाम रूप से रहित तथा सजातीय विजातीय स्वगत तीन भेदों से शून्य केवल एक परब्रह्म था । उससे अतिरिक्त कुछ नहीं था। ऐसा सिद्ध योगिराजों का सिद्धान्त है ।

इसी भाव को स्पष्ट करते हुये पूज्यपाद योगाचार्य्य श्रीमत्स्येन्द्रनाथ जी ने वर्णन किया है कि—

न ब्रह्मा विष्णु रुद्रौ न सुरपतिसुरा नै व पृथ्वी न चापो ।
नैवाग्निर्नापि वायु र्न च गगन तलं नो दिशो नैव कालः ॥
नो वेदा नैव यज्ञा नच रवि शशिनौ नो विधि र्नैव कल्पाः ।
स्व ज्योतिः सत्यमेकं जयति तव पदं सच्चिदानन्द मूर्ते ॥

–अनामेति स्वयमनादिसिद्धम् एकमेवानादि निधनं सिद्धसिद्धान्तप्रसिद्धं तस्येच्छामात्र धर्मा धर्मिणी निजा शक्तिः प्रसिद्धा ॥५॥

संस्कृत टीका

अनामेतिः–

अस्मिन् ग्रन्थे गद्यप्रधानात्मकता क्वचिच्च पद्येनापि वर्णनं पद्यते इयं शैली वेदस्य ब्राह्मणभागेऽपि प्राप्यते । इमामेव शैलीं मनुसृत्य वाचस्पति प्रभृतयोऽपि गद्येन व्याख्याने प्रस्तुते क्वचिदादौ क्वचिदन्ते श्लोकरूपेणोपब्रबन्धुरिति प्राचीन ग्रन्थावलोकनतत्पराणां ना विदितम् । गद्येन व्याख्यानं प्रस्तुवन् तमेव कूटस्थं स्मारयति **[अनामेत्यादि]** अतः पुनरुक्तदोषोद्भावकमुखं शैल्दनवबोध पङ्क कलङ्केन मलिनीकृतम् ॥

[स्वयमनादि सिद्धम्] स्वस्य कारणं नान्यदित्यर्थः **[एकम्]** सजातीय द्वितीयरहितम् **[एवेत्यनेन विजातीय भेद शून्यम्** **[अनादि निधनम्]** प्रागभावध्वंसाभावाप्रतियोगि । अन्योन्याभाव निषेधेनात्यन्ताभावोऽपि निरस्तः । तथा च निखिलाभावप्रतियोगितान-वच्छेदकभावत्वविशिष्टः शिव एव कूटस्थः सर्वेषां मूलकारणम् **[सिद्धसिद्धान्त प्रसिद्धम्]** सिद्धसम्मतम् ॥ ननु भावत्व धर्मं शक्ति चादाय भेद इति चेन्न धर्मधर्मिणोः शक्तिशक्तिमतोश्च

तादात्म्यमिति सिद्धान्तेनादोषात् तस्य संकोचविकाशावस्था शक्तिः सापि चिद्रूपा शिवेन सह नित्य संसृष्टा नतु सांख्यमतवत् जडा वा वेदान्तिमतवद् अनिर्वचनीया विनाशशीला अत एव स्वयमेवाग्रे वक्ष्यते[**अन्तरं नैव जानीयात् चन्द्र चन्द्रिकयोरिव शैवागमे प्युक्तम्[न शिवेन विना शक्ति र्न शक्ति रहितः शिवः]** इति अस्याः सृष्टिसम्पादने या या ऽवस्थोपजायते तस्याः प्रत्येकं पृथङ् नामनिर्देशेन पञ्चविधत्व मुपपादयति निजेत्यादि । अत्र सर्वत्रैव पञ्चप्रकारतयैवोपवर्णने किं प्रयोजन मिति ब्रुवन्तं प्रतिब्रुवीत । पञ्चभूतात्मिकैव सृष्टि रितिसकलै रेव दार्शनिकैरङ्गी कृतम् तान् प्रत्यपि प्रष्टव्यं यत् कुत एतत् भूत द्वयात्मकमेव कथं नेति । यदि चते समादधते ।

सृष्टौ पञ्चानामपि स्वरूपाणि फलानि च पृथक् पृथगुपलभ्य समेषां सद्भावो ऽकामेनापि बलादङ्गीकरणीय इति तदा तैरेव भवत् प्रश्नस्याप्युत्तरं प्रत्तम् । किन्तु स्थूलदर्शित्वान्नावधारयसि । किञ्च तैरपि भवत्स्थुलदृष्टिमनुसरद्भिरपलप्य सत् सम्प्रदायपद्धतिं यथेच्छं प्रातिकूल्येनोपवर्णिताः पदार्थाः स्व स्व दर्शने । अतोऽद्धा विप्रलब्धोऽसि तैर्यत एवं भाषसे, सूक्ष्मदृष्ट्या तु सर्वत्रैव पञ्चविधत्वम् ऋते कूटस्थात् । अतस्तामेव वास्तविकीं स्थितिमादाय निरूप्यते पञ्चविधत्वम् । न तु श्रोतृबुद्धिप्ररोचनाय स्वेच्छया व्युत्क्रम्य कृता व्याख्या । किञ्च कार्ये पञ्चविधत्वं दृष्ट्वा कारणेऽपि तदनुमातव्यमिति सरलसरणिः । विमतं कारणं पञ्चविधम्, पञ्चविधकार्योपादानत्वात् । यन्नैवं तन्नैव घटवदिति सामान्यतो व्याप्तिग्रहः । अनन्तरं पक्षधर्मताविशेषबलाद् विशेषसाध्यसिद्धिः ।

ननु वेदे न क्वापीत्थमभिहितमिति चेत् शृणु । पाङ्क्तं वा इदं सर्वम् । पाङ्क्तेनैव पांक्तं स्पृणोति इति तै०७ अनुवाके तस्यार्थः सर्वो हि संसारः पंचावयवात्मको ऽतः "पंचपदा पङ्क्तिः

इति पङ्क्तिश्छन्दसः लक्षणानुसारेण पञ्चावयवात्मकं पङ्क्तिच्छन्दोदृष्ट्या उपास्यः, तदुपासनेन पंचावयवात्मकं प्रजापतिं

प्राप्नोतीत्यर्थः । अनेन स्पष्टमेवोक्तम् यत् कार्यरूपसंसारस्य कारण-रूपप्रजापतेश्च पञ्चावयवात्मकत्वमस्तीति—

भगवद्व्यासपादेनापि गरुड़पुराणे पंच पंच प्रकारेणैव संसृति स्वरूपवर्णनंकृतम् इत्यलम् प्रसंगागतेन प्रकृतमनुसरामः **[तस्य]** पूर्वोक्त लक्षणलक्षितस्य महेश्वरस्य या नित्यसंसृष्टा अनपायिनी चिदात्मिका शक्तिः, निखिलप्राणिनां सुखदुःखान्यतरात्मक भोगप्रद यावत्कर्मोपरमे सति महाप्रलये प्रसुप्ता सती पृथग् व्यवहाराभावभाजिनी एकत्वमापन्नासीत सैवेदानीम् प्राणिनां भोगप्रदकर्मवशात् सृष्ट्युत्पादनाय इच्छाधर्मविशिष्टा संजाता तदा निजा शक्तिरियमिति व्यवह्रितिमापद्यते अनयैव भक्तोद्धारकत्वं शिवस्य अन्यथा असंगत्वात् अद्वितीयत्वाच्च तन्नोपपद्येत अस्या एव अनुग्रह शक्ति शब्देनापि कथ्यते निगमे यया भक्तान् मोचयति निगडबन्धनात् । श्रीमदादिनाथेच्छां बिना जीवस्य स्वप्रयत्न मात्रेण मोक्षलाभम्

प्रत्याशा सिकताभ्यस्तैलनिष्पीड़नाशयैव समा वन्ध्यातः सुतो-त्पत्ति प्रयासवच्चेतिशैवराद्धान्त रहस्यम् -ऋते शिवादियं नान्यत्र कुत्रापि जीवे गच्छति किन्तु सर्वदा तदनुगामिनी सत्येव तिष्ठति अतोस्या निजेति नाम नानर्थकम् । महा प्रलय समये ऽस्मिन् निखिलसंसार संसारिणां सूक्ष्मरूपतां सम्पाद्य स्वकुक्षौ समाविश्य चिद्रूपा महाशक्ति रन्तर्मुखासती शिवेनाभेदमनुभवन्ती सृष्टिमकुर्वाणा शिवाश्रिता तिष्ठति इयमेव श्मशानवासिनी महाकाली महाबिन्दुश्च व्यवह्रियते-तदधिष्ठानम् आदिनाथः श्मशानवासी महाकालशब्देन बोध्यते अयमेव अर्द्धाङ्गीगौरीश्वरः अयं हि त्रैकालिकबाधविधुरतया पारमार्थिकः शक्तिमिमामादाय नाद्वैतभंगः किञ्चास्या अविनाशित्वेऽपि न मोक्षा-नुपपत्तिः न वा केनापि दर्शनान्तरेण विरोध इत्यादि विस्तरेणाग्रे विवेचिष्यते प्रविपदार्थस्तु, इच्छैवेति, इच्छामात्रम् मयूरव्यंसकादित्वात् मात्र शब्देन नित्य समासः स धर्मो यस्या इति बहुव्रीहिसमासे टापि **[इच्छामात्रधर्मा]** ननु धर्मादनिच् केवलादित्यनिच् कथं नेति चेन्न समासान्त विधिरनित्य इति परिभाषाबलात् अथवा इच्छा मात्र

श्चासौधर्म इतिकर्मधारये ततो मत्वर्थीयेऽचि साधु, अतएवधर्मिणीति भूमि निन्दा प्रशंसासु नित्ययोगेति शायने "इति प्राचीनोक्ति बलेन प्रशस्तो धर्मोऽस्याः सा, प्राशस्त्यमस्या विषयबाध वैयूर्थ्यं या तु लौकिकीच्छा सा कदाचित् काचित् विफलापि भवति इय तु न जातु वैफल्यमनुभवति । इच्छा धर्मे, एतद् वैलक्षण्यबोधनान्न पुनरुक्ति दोषः ।

हिंदी टीका

उपरोक्त पद्य में कहे हुये अनाम पद का स्वयं श्री नाथ जी गद्य के द्वारा व्याख्यान करते हैं—यदि वास्तव में बिचार किया जाय तो वह परमेश्वर नाम रूप से भी रहित है और वह स्वय ज्योति अनादि सिद्ध है। उसका न कोई पिता न माता न बन्धु न पुत्र कलत्रादि और न कोई उसका कारण है वह केवल एक ही है। भाव यह है कि सजातीय विजातीय तथा स्वगत इस रीति से तीन प्रकार का भेद लोक में ही देखने में आता है जैसे आम आदि वृक्ष का जामुन-नीम, आदि अन्य वृक्षों से जो भेद है वह सजायीय भेद कहलाता है। यद्यपि यहां वृक्षत्व रूप जातिकृत भेद नहीं तथापि आमत्व आदि अवान्तर जातिकृतभेद अवश्य है। और वृक्ष में विजातीय भेद पत्थर आदि से तथा स्वगत भेद शाखा पत्र आदि से जानना । इस प्रकार उस पर ब्रह्म में तीनो ही प्रकार का भेद नहीं है, क्योंकि वह एक है, इसी लिये उसका सजातीय दूसरा नहीं है।

तथा एव शब्द का प्रयोग करने से सिद्धहुआ कि वह ब्रह्म स्वगत भेद से भी रहित है। और स्वयं आदि पदों से यह भाव निकलता है कि उस ब्रह्म का विजातीय भी कोई नहीं है इतना । ही नहीं अपितु वह ब्रह्म उत्पत्ति और मरण से रहित है अर्थात् न उसकी स्वतः उत्पत्ति होती है और न उसकी मृत्यु होती है। वस्तुतः वह परमेश्वर ही अपनी चिद्रूप शक्तिद्वारा सबकी उत्पत्ति और संहार करता है। यह परम रहस्य सिद्धों के सिद्धान्त में प्रसिद्ध है। ५

सकल लोक के कल्याणार्थ इच्छा मात्र धर्म को धारण करने वाली और जीवों के सुख दुःख आदि भोगों के निमित सृष्टि और प्रलय में संकोच विकाश धर्म वाली उस श्री आदिनाथ की चिद्रूप से प्रसिद्ध निजा नाम की शक्ति थी। सृष्टि के आरम्भ काल में जाग्रत हुई। इसी निजा शक्ति का धर्म इच्छा है उसी को परमेश्वर का सत्य संकल्प जानना। इसी के बल से परमेश्वर क्षणमात्र में असम्भव वस्तु का भी निर्माण करसकता हैं। अतएव इसी का दूसरा नाम निग्रहानुग्रह शक्ति भी है। क्योंकि प्राणियों के कर्मानुसार भोग देना निग्रह शक्ति का कार्य है और मोक्ष देना अनुग्रह शक्ति का काम है। यह शक्ति महेश्वर को छोड़कर अन्यत्र नहीं रहती इस लिये इसका निजा नाम सार्थक है। ॥५॥

मू० तस्योन्मुखत्वमात्रेण पराशक्तिरुत्थिता ॥६॥

सं० टी०—तस्येति तस्य, निजशक्तिसम्पन्नस्य आदिनाथस्य (उन्मुखत्वमात्रेण) उत्साहगुणेन (पराशक्तिरुत्थिता) सब जननी समुद्गता इत्यर्थः भावः। तस्या एवशक्तेः यदा सृष्टिरचनायै किञ्चिदुच्छून्नता जाता सैवोत्साहः शिवस्य यथा ऽस्माकं कार्यारम्भे मानसोल्लासे समुत्साह इति निगद्यते तथैव शिवस्य शक्तिरेव मनः तस्या उद्रेक एव तस्योत्साहः उन्मूखत्वा पर पर्यायो निरुच्यते ऽतः तदवस्थाविशिष्टा सैव शक्तिः पराशक्तिः प्रबुद्धेति व्यवह्रियते अत्रोत्थिता शब्देन ध्वन्यते यत्पूर्वमपि इयमासीदेव नतुनवीनेय जाता एतावानेव विशेषः, यत् पूर्वविरलावस्था सुप्ता सीत् साम्प्रतं घनीभूततया प्रबुद्धेति ॥ अनयैव सृष्टि कर्तृत्वम् इयमेव निग्रहशक्तिशब्देन क्वचित् प्रदर्श्यते यदि शक्तावुच्छून्नत्वस्वभावो न विद्येत तदा निष्प्रपञ्चा संगस्यास्य कथं प्रपञ्च वर्धकता घटेत। इयमपि शिवं विहाय नान्यत्र गच्छति। अतएव परा इति सार्थिका संज्ञा। क्वचिदुभयोः इच्छा शक्तित्व मेकीकृत्य एकनैवेच्छाशक्ति शब्देन प्रतिपादनम् तस्या एवोपासनाकाले ध्यानाय स्त्रीरूपेण गौरीति नाम्ना निर्देशः तथा चोक्तम् स्वेनैव गोरक्षसंहितायाम्। इच्छा क्रिया तथाज्ञानं गौरी ब्राह्मी तु

वैष्णवी, त्रिधाशक्ति स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति, अनेन स्पष्टमेवोक्तम् एकैव मूलशक्तिः । तत्सहित आदिनाथश्चैक एव शक्त्यवस्थाभेद प्रयुक्त तत्तदवस्था विशिष्टः सन् गौरीपतिः सरस्वतीशः लक्ष्मीरमणश्च निगद्यते नास्ति तेषु भेदलेशः किन्तु पासनायां भेदमाधाय चिन्तने अवस्थासु पूर्वस्या अभ्यर्हितत्वेन मर्यादयो गौरीरमण एव वरीयानिति समस्तशैवाननसम्मुल्लासावसरः । नाथानुयायिनान्तु कथैव का स्वादिनाथं कूटस्थमुपसृण्वताम् । तथा च शैवागमे क्वचित् समासेन इच्छा क्रिया ज्ञानात्मकशक्तित्रय वर्णनम् क्वचिच्च व्यासेन पञ्चभेदनिर्वचनम् अतो न परस्पर विरोधस्तयोः, उपसंहार न्यायात् ॥२॥

भा० टी०-पूर्वोक्त निजा नाम की शक्ति सहित श्री आदिनाथ जी के उत्साह मात्र से ज्ञान प्रधान जगत् जननी सर्वोत्कृष्ट परा नाम की शक्ति जाग्रत् हुई । तात्पर्य यह है कि जैसे हम लोगों का जब कोई कार्य आरम्भ होता है उस समय कार्य सम्पादन के लिये मैं इसे करूं इस रीति से जो मन में उल्लास होता है उसी का नाम उत्साह है । पराशक्ति का मुख्य धर्म ज्ञान है अतः इसका ज्ञानशक्ति भी दूसरा नाम है । इसी ज्ञान प्रधान पराशक्ति के प्रभाव से महेश्वर को परमाणु से लेकर सूक्ष्म से सूक्ष्म सकल पदार्थों के स्वरूप का हस्तामलक की तरह प्रत्यक्ष ज्ञान होता है । यहां उत्थित अर्थात् जाग्रत आदि शब्दों से सर्वत्र यह भाव निकलता है कि शक्ति स्वकार्यारम्भ से प्रथम निज कारण में सोई हुई थी और वही शक्ति सृष्टि के आरम्भ में सकल प्राणियों के कर्म से प्रेरित होकर जाग्रत् होती है अन्तर केवल इतना है कि महाप्रलय में वह शक्ति अतिसूक्ष्म रूप से रहती है और जब प्राणियों के कर्मानुसार सृष्टि का समय आता है तब उस शक्ति के जाग्रत होने से प्रबुद्धावस्था अर्थात् स्थूलावस्था होजाती है । यहां पर शक्ति को ही महेश्वर का मनः स्थानीय साधन जानना और उस शक्ति का बढ़ना ही उन्मुखत्व का पर्याय शब्द है और पूर्व अवस्था विशिष्ट परमेश्वर की ही वह

'परा शक्ति' कहलाती है। यह पराशक्ति भी परमेश्वर को छोड़कर अन्यत्र नहींजाती।

मू०—तस्य स्पन्दन मात्रेण अपराशक्ति रुत्थिता ॥७॥

सं० टी०[तस्य] पूर्वावस्थस्य**[स्पन्दनमात्रेण]** अत्र प्रकृत्यादिभ्य इत्यनेन अभेदे तृतीया तथा च केवल स्पन्दनरूपा क्रिया रूपेति यावत् **[अपरा शक्तिः उत्थिता]** पूर्व वदर्थः इयं हि पृथगपि भवति अतएवास्या नामापरा। एतद्विशिष्टः सृष्टिसमये ब्रह्मेति व्यवह्रियते-अनयैव तस्य सृष्टि कर्तृत्वम् इदमत्रावधेम् उत्तरस्याविर्भावे पूर्वस्य विनाशो जात इति न भ्रमितव्यम् पूर्वस्य तदवस्थस्य यथावद् विद्यमानत्व एव उत्तरावस्थाऽपरो विशेषः सञ्जातः। अन्यथा एकस्यै व स्वरूपस्य सद्भावे सृष्टिरेव न सम्भवेत् तथा च सर्वतः प्रथमं अनयैवादिनाथस्य अनन्तब्रह्माण्डकर्तृत्वम् पश्चात् प्रत्येक ब्रह्माण्डे एकैकं ब्राह्मणं विरचय्य तस्मै तस्मै इमां शक्तिं प्रदाय स्वयं स्वस्थाभविष्यन्ति ततः प्रभृति ते एव ब्रह्माणः प्रत्येक ब्रह्माण्डे सृष्टिं रचयिष्यति। अतएवोक्तम् इयमन्यत्रापि गच्छति। ७

भा० टी० आदिनाथ से अधिष्ठित जो परा शक्ति है उसके कुछ चलने मात्र से उसमें सोई हुई 'अपरा' नाम की शक्ति जाग्रत हुई, यह शक्ति क्रिया प्रधान है, और महेश्वर से अलग भी हो सकती है। इसी कारण इसका नाम अपरा शक्ति है। इस शक्ति विशिष्ट को हिरण्यगर्भ, ब्रह्म इत्यादि नामों से कहते हैं। इसी शक्ति के द्वारा परमेश्वर जगत् की रचना करने में समर्थ होता है। यहां पिछली शक्ति के जाग्रत होने पर पूर्व शक्ति का नाश नहीं होता। किन्तु पूर्व २ अवस्था विशिष्ट आदि नाथ के रहते हुए ही उत्तर २ शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। क्योंकि एक अवस्था विशिष्ट होने से तो सृष्टि का होना ही असम्भव है। इससे यह सिद्ध हुआ कि वह परमेश्वर समस्त सूक्ष्म सृष्टि के कार्य को समाप्त करके बाद में इसी क्रिया प्रधान शक्ति के द्वारा

अनन्त ब्रह्माण्ड और असंख्य ब्रह्माओं की रचना करता है। तथा प्रत्येक ब्रह्माण्ड में एक २ ब्रह्मा को अध्यक्ष रूप से नियुक्त करता है। और उन सब ब्रह्माओं को भी इस क्रिया प्रधान शक्ति से सम्पन्न बनाकर अपने अपने ब्रह्माण्ड में स्थूल सृष्टि का कार्यभार देकर स्वयं स्वस्थ होजाता है। बाद में ये सब ब्रह्मा अपने २ ब्रह्माण्ड में स्थूल जगत् की रचना के धन्धे में लग जाते हैं। ७

मू०—ततोऽहंतार्थ मात्रेण सूक्ष्मशक्तिरुत्पन्ना ८

सं० टी०—तत इति [ततः] पूर्वावस्थोदयानन्तरम। अहन्तार्थ मात्रेण सूक्ष्मशक्तिरुत्पन्ना। अभेदे एव तृतीया तथा च अहंता, अहं भावश्चासौ अर्थः, प्रयोजनं तद्रूपा कर्मधारयेण अहंभवरूपैव न तु तज् जनिका इत्यर्थः फलितः। अथवा बहुव्रीहिः तदा अहमाकार साधनीभूता विमर्शापरपर्य्यायाशक्ति रुत्पन्ना प्रबुद्धा इति सिद्धान्ताभिमन्तॄणां दृष्ट्या, उत्पत्ति पदमभिहितम् इति तु वक्ष्येऽसत्संप्रदायेऽत्रैवोक्तं मया मात्रपदेन तदानीम् अयमिति प्रथमपुरुषव्यवहार कारणस्येदमाकारस्य वृत्तिविशेषस्य। त्वमिति मध्यमपुरुषव्यवहृते निदानस्य त्वमाकारस्य च व्यावृत्तिः प्रतिपाद्यते अर्थात् निखिल संसार द्वैतजातस्य तदानीं तद्गर्भप्रविष्टतया पार्थक्येनाननुभूयमानतया भेदकाभावात् अहमित्याकारक एव विमर्शशक्ते वृत्तिविशेषः प्रादुरासीत् स एव सूक्ष्माशक्तिः सर्वसृष्टिसामग्री अत्रैव सूक्ष्मतया निहिता। अनन्तरं प्राणिभोगप्रदकर्मसंक्षोभवशेन बहिर्निः सरिष्यति विरंचि प्रपञ्चो यथा प्रावृषि मृद्भावापन्नाः भेकाः मृदः निःसृत्य भकभकायन्ते। इयमेव शुद्धा विद्या ज्ञानशक्तिरिति च निगद्यते अनयैव पालकत्वम॥ इयमपि अन्यत्र गच्छतीति पूर्ववज्ज्ञेयम। अयमत्र विशेषो यत्, एतच्छक्तिसमन्वितो विष्णु र्विराट् इति निगद्यते इदमेवं स्वरूपं सच्चिदानन्दकन्दो भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रः स्वभक्तमर्जुनं प्रदर्शयांचकार यत्प्रतिपादितम् श्रीव्यास पादेन भगवद्गीतायाम। वेदेऽपि तदैक्षत बहुस्याम प्रजायेय, सोऽकामयत बहुस्याम् प्रजायेय, इत्यादा अहमाकारेणैवाभिलापः।

ननु इयं शुद्धा विद्या इत्यत्र किं मूलमिति चेत् शृणु। अहम् ब्रह्मास्मीत्यादि महावाक्यजज्ञानस्यैव विद्यात्वं सर्वत्र प्रतिपादितम् उपपद्यते चापीदमेव यथा परमेश्वरस्य अहमाकारेणैवनिखिलसंसारस्य भाने न भेदप्रयुक्तदोषादिमालिन्य प्रसङ्गः तथैव तं विना भेदप्रयुक्तदोष-मालिन्यनिरासस्य न कोऽप्यन्यः प्रतिकारो भवितुमर्हः। भेदभाने अशुद्धत्वम् तस्मिंश्च सति कथमन्यत्र शक्यम् शुद्धविद्यात्वं वक्तु मतः सैव शुद्ध विद्या।

अतएव विद्यया मोक्षप्रेप्सवः तदधिष्ठातारं ब्रह्मविष्णुरुद्र समष्टीभूतमादिनाथं महाकालं महाकालीरूपनिजशक्ति सहितम् वा महाकाल सहित महाकालीं समुपासते वस्तुतस्तु एतासां शक्तीनाम विनाभावतया सर्वत्र सर्वासां सद्भावः, ताभिः रुद्रो ब्रह्माविष्णुर्वा सर्वं कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्त्तुं समर्थः। भेद व्यवहारस्तु तत्तद्गुण बाहुल्याभिप्रायेण वस्तुतस्तु एक एव तत्तत्कार्यावसरे तत्तत्स्वरूपं प्राधान्यं तत्तत्संज्ञया प्रख्यायते, इत्थमभेदभावनयैव स्वीयध्येयस्वरूपो पासनेन निजध्येयरूपं, साक्षात्कृत्य अन्यदपि रूपं साक्षात्करोत्येव तेनैव बलेनेति निः कण्टकः पन्थाः। अनयैव जगत्कर्तृत्वं शिवस्य। अयमेव शब्दार्थौ भयात्मक सृष्टिकारणं बिन्दुरूपं शब्दब्रह्मेति व्यवह्रियते—इममेव मनसि निधायाह श्री भर्तृहरि योगीन्द्रः वाक्य पदीय अनादि निधनं ब्रह्म शब्दतत्त्व इत्यादि। अस्यार्थो विस्तृतरहस्य पिपासूना मत्कृततद्दीय टीकायां द्रष्टव्यः।

हिन्दी टीका—उसके बाद आदिनाथ से अधिष्ठित अपरा शक्ति के अहंकार के अभिमान मात्र से सूक्ष्मा नाम की शक्ति और प्रकट हुई। इसी शक्ति के बल से परमेश्वर को सर्वप्रथम मैं ऐसा अभिमान होता है। उस सृष्टि के आरम्भ समय में अन्य की अभिव्यक्ति न रहने से केवल एक परमेश्वर का ही अहंकार था। और उस अहंकार को कुक्षि में समस्त चराचर जगत् सूक्ष्म रूप से विलीन था। इसी लिये उस समय अयम् (यह) इस प्रकार प्रथम पुरुष का और त्वम् (तू) इस मध्यम पुरुष का व्यवहार नहीं था,

किन्तु अहम् (मैं) यही व्यवहार था। अतएव अहं यह उत्तम पुरुष कहा जाता है इसी का दूसरा नाम विमर्श शक्ति भी है। और यही शुद्ध विद्या (ब्रह्म विद्या कहलाती है, क्योंकि इसमें किसी द्वैत प्रपंच का भान नही रहता, और साधारण जनों की अहं बुद्धिद्वैत विशिष्ट रहने से अविद्या कहलाती हैं। इसी लिये यह बन्धन का हेतु होती है, और शुद्ध विद्या मोक्ष का हेतु होती है। इसी शुद्ध विद्या ने हिमालय की पुत्री उमा का रूप धारण कर इन्द्रादि देवताओं को दर्शन दिया। यह कथा केनोपनिषद् में प्रसिद्ध है। अतएव उपनिषदों में भी 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि महावाक्यों से उत्पन्न होने वाली अभेदभावना को ही ब्रह्म विद्या, महाविद्या, शुद्धविद्या राजविद्या इत्यादि नामों से कहते हैं। ८

मू० ततो वेदनशीला कुण्डलिनी शक्तिरुद्गता। ६

सं० टी०—ततो वेदनेति [ततः] अनन्तरम् [वेदनशीला] विद्यते अनयेति करणसाधनेन ज्ञानसाधनीभूत शब्दा वेदनपदार्थाः। विद्यन्ते ये ते वेदना इति कर्म व्युत्पत्त्या ऽर्थभूताः घटपटादिस्वरूपाः वेदनपदार्थाः भावसाधनेन चिद्रूपोऽर्थः। तथाच परिणामरूपेण शब्दार्थोभयकारणरूपा। स्वयमचिदंशबीजवासनान्तर्निहित सत्वसमाविष्टा चित् [कुण्डलिनी शक्तिरुद्गता] तन्नाम्नीशक्ति रुदिता। अयमत्र संग्रहेण सूक्ष्मतमसारतरोऽर्थः ॥ उपभोगप्रदयावत्कर्मोपरमे विरञ्चिप्रपञ्चे प्रचलितानवरतव्यापारजनितश्रमनितान्तश्रान्ता खिल निज सन्तान प्राणिनिकराय स्वास्थ्यं प्रदातुं निखिल ब्रह्माण्डं स्वोदरभाण्डे प्रविलाप्य जगदम्बा निजा शक्तिर्महामाया प्रकाशमात्र स्वरूपमाधाय सच्चिदानन्दघनशिवेना त्यन्ताभिन्ना भूत्वा तिष्ठति अयमत्र महाप्रलयकालः। तस्मिन् समये सकल कार्य्य करण दक्षोपि शिवः, अशक्तः सन् किमपि कृत्यं कर्त्तुमलं न भवति। इयमेव विश्रमणावस्थाशिवस्य यथा व्यष्टौ प्रत्यहं जीवानां सुषुप्त्यवस्था इदमत्र वैलक्षण्यं यज् जीवस्य सुषुप्तौ प्रकाशात्मकान्तःकरणस्य तमोरूपात्मकाविद्यायां लीनतया ऽन्धकारस्यैवानुभवः, निज ज्ञाना

नन्दस्यानाविर्भावेऽपि द्वैतप्रपञ्चविरचितशोकसमुहाननुभवनिमित्तक सुखानुभवश्च भवति। अतएव तदनन्तरं प्रबोधे सुखमस्वाप्सम् नाहं किञ्चिदवेदिषम् मूढोहमासमित्यादि स्मृतिर्जायते ऽन्यथा विनानुभवं स्मृतेरभाव एव भवेत् लोके कालान्तरेऽनुभूतस्यैव समयान्तरे स्मृति नियमात्, तदानीन्तु तमोऽपि नासीत् प्रकाशमात्रातिरिक्तस्य सर्वस्यैव विरहो ऽतएव तदनन्तरं सृष्टिसिसृक्षासमये, अज्ञोहमासमिति न परामर्शः शिवस्य द्वैतप्रपञ्चानुभवविरहितत्वेनोभयोः साम्यादुप मानोपमेयभावो वेद्यः। इयमेवावस्था आचार्य्यपादैः सूचिता प्रारम्भे अनामेत्यादिना, वेदेऽपि सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवा द्वितीयम् इत्यादि। एतत्कालिकमहाशक्तिस्वरूपवर्णनं राजतन्त्रे ऽपि कृतम्। अचिन्त्या मिताकार शक्तिस्वरूपा प्रतिव्यक्त्यधिष्ठान सत्तैकमूर्त्तिः। गुणातीत निर्द्वन्द्व बोधैक गम्या त्वमेका परब्रह्म रूपेण सिद्धा। अस्मिन् समये विश्वाधारनिजमहाशक्तेः प्रसुप्ततया ज्ञानघनोऽपि शिवः सत्सम्प्रदायमतेन तत्रैव निखिलपदार्थस्य सूक्ष्म रूप सद्भावेऽपि नैव वेत्ति नवा किञ्चिदपि करोति। अतः स्पष्टतः सिद्धं यत् शक्ति रहितः शिवो न किञ्चदपि वेदितुं वा विधातुं पारयति। अयमेव महानुभव आचार्य्यपादेन मादृग्भ्यः शिक्षयितु मुद्गारि "शिवोऽपि शक्ति रहितः शक्तः कर्तुं न किञ्चन" इति एतदेवानुमोदितमन्यैः "शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि। लोकेऽप्यनुभूयते कोऽपि श्रान्तो विश्रान्त्यै एकान्ते सुखशय्यामध्यासीनः तत्र तदाय शक्तिःप्रसुप्ता सती तदभिन्ना भूत्। अतो महालस्येन व्याप्तः शान्ति सुखमनुभवति तदानीमन्येन केनचन पृष्टो जानन्नपि अज्ञइव न किञ्चिद्वेत्ति नवा किञ्चित्करोतीति सार्वजनीनोऽनुभवोजागर्ति इयं निजाऽपि न व्यवह्रियते यतो साऽपि कूटस्था शिवोऽपिकूटस्थः। अनया एतर्हि किमपि न करोति किन्तु सर्वेषां शून्यतया शिवः श्मशान वासी महाकाल शब्देन शक्तिश्च महागौरी महाकाली शब्देन व्यव ह्रियते। उमाकात्यायनी गौरी काली हैमवतीश्वरीत्यमरः। इयंभक्ता नुग्रहायानरतीति देवराजाय स्वभक्ताय सर्वतः प्रथमं दर्शनं ददाविति

केनोपनिषदि ३ खं० स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमां हैमवतीमिति सोऽपि व्यवहार इदानीमेव स्वीयलक्ष्य परिचयाय साधकाः कुर्वन्ति न तदानीमासीत्। अतएव केनचित् विन्दुशब्देन व्यवहारोऽकारि तन्त्रे परब्रह्म पदेन वेदान्ते, अन्येऽपि तत्त्वज्ञाः साधका एतत्स्वरूपमेवलक्ष्यी कृत्य स्वस्वाभीष्ट शब्देन व्यवहरन्ति व्यवहरन्तु। आचार्यकरुणा कटाक्षप्रदर्शित मार्गे वस्तुतोऽन्वर्थतासंघटनात् महाकालशब्देन शिवशब्देन च व्यवहार एव समुचितः सफलश्च। कालयति, क्षेपयति अन्त्यभावंनयतीतिकालः। तस्यापि अन्त्यभावप्रापकः महाकालः शेते जगदस्मिन्निति शिवः। एतत्स्वरूपप्राप्तिरेव मोक्षः। अयं हि स्वभोगार्थं न किमपि करोति आप्तकामत्वात् प्राणिनांकर्मानुसारफलदानार्थं व तटस्थः सन्, सकलं कृत्यं करोति वहुरूपमपि धारयति महारूपमपिदेवमनुष्य विग्रहं वराहरूपं वा स्त्रीरूपं पुरूपं सर्वशक्तिमतोऽस्य कृते किन्तत् विचित्रं यन्न चित्रयेत। वेदोऽप्याह त्वंस्त्री, त्वम्पुमान्, त्वं कुमार उत वाकुमारी त्वं जीर्णो दण्डे न वञ्चसि इत्यादि श्वे ३ किन्तु मन्दो बालः तत्वज्ञभाषां श्रुत्वा हसत्येव दोहि स्वनगरं हीत्वा नगरान्तरं जानात्येव नहि तम्प्रति देशान्तरीयमहानगरस्थ नाना पदार्थ वर्णनं हास्यायैव नूनं तथा स्वभुवनं विहाय यो लोकान्तरं स्वीकरोत्येवमहि तम्प्रति, अनन्त शक्तिमतः गुणानां गानम् खपुष्पायमाणमेव तावता तत्वज्ञा न जातूदासते स्वकृत्यं मत्वा वर्णयन्त्येव सम्भवेत्कदाचिद् ईश्वरानुग्रहेण तस्यापि तोषः। अवतार वादे इयमत्र सुरगुरुणाप्यशक्यनिरसना युक्तिः। भक्ताः स्वभावनानुसारेण ऽल्पमपि फल मनल्पं मन्यमानाः प्रार्थयन्ते यदिचात्र सर्वज्ञः स्वभावनानुसारेण सर्वोत्कृष्टं मोक्षमेव फलं कर्मोद्देश्य विपरीतं वितरेत् तदा सर्वेषां विनैव ज्ञानं कथन्नैक पदे मोक्षं विदधाति तथासति नेदानीं विश्वमिदं नयनपथ मधिगच्छेत् किञ्च कस्मै चिन् मोक्षं परस्मैनेति स्वेच्छया विदधद् रागादि दोष वत्तये श्वरत्वादेव प्रच्यवेते त्यपरञ्च गण्डोपरिस्फोटसमंदूषणं यदुनभिलषितं वितरणे, उन्मत्ततापत्तिः। रसालफलं प्रलिप्सवे द्राक्षाफल प्रदानवत।

दरिद्रजनवच्च याचकभावनाननुरूपवितरणे सर्वशक्तिमत्त्वभंग प्रसंगो वज्रलेपायितः।

अत ईश्वर सिद्धि लोभाद् भक्त संकल्पानुकूलमेव फलं ददातीति स्वीकरणीयम्। तथाच भक्ता यद्यत् संकल्पयन्ते तत्तत् सम्पादयितुं नटवत् नृत्यतीति किमिति चित्रं सर्वज्ञस्य सर्वशक्तिमतश्च-कृत इति। एवमेव मुक्ताअपि योगिनः स्वप्रयोजनाभावेऽपि अनया शक्त्या स्वभक्तानां संकल्पसिद्धयेऽवतरन्ति। पुनरुपदिश्य योगधर्मान् स्वमहिम्न्यवतिष्ठन्ते यथा आचार्यपादा इति विशेषजिज्ञासुनाऽस्यचरित्रवर्णने द्रष्टव्यम्। यदान्तर्निहित प्राणिकर्मवासना संक्षोभवशान्महाशक्तौ संसार सिसृक्षा जायते तयैवेच्छया शिवोऽपि संसारं सिसृक्षुः, तदेयम् निजा १ व्यवह्रियतेऽनन्तरं निविडा भूत्वा शिवस्यसाम्मुख्यमाधत्ते सापरा २ तत्रशिवस्य प्रतिबिम्बो जायते शिवे च तस्याः प्रतिविम्वः तदा शिवशक्त्योः सम्पुटीभावः। इदमेव स्पन्दनम् इयमपराशक्तिः ३ अत्रात्मदर्शनं यथा स्वमुखदर्शनेच्छा जायते तदा आदर्शमानीय स्वसन्निधौ संस्थाप्य तत्र प्रतिविम्वे सति स्वमुखम्पश्यति। अनन्तरं विमर्शशक्तिश्चतुर्थी ४। अहमाकारानुभवकारणम् सूक्ष्माशक्तिरायाति अहमनुभवविशिष्टः शिवो वासनारूपेण शक्तिकुक्षिनिक्षिप्तानखिलान् संसारान्स्वाभिन्न-तयैवानुभवति, अत इयं शुद्धाविद्या व्यवह्रियते। एतस्या वलेनैव दुःखा-नुभवस्यात्यन्तविरहः। अस्या जगत्कारणत्वेऽपि ईदृश्या एवावस्थायाः सद्भावे सृष्टिरेवासम्भविनी, अतोऽस्या अवस्थान्तरः परिणामः। शब्दार्थोभयरूपाकुण्डलिनी शक्तिः ५ समष्टौ ब्रह्माण्डस्य व्यष्टौ पिण्डाण्ड-स्य च जननी, इयमेव विन्दुपदेन व्यवह्रियते, अचिदंशसत्वनिविष्टा चिद्रूपा तत्राप्यर्थसृष्टेः पूर्वमेव शब्दसृष्टिर्भवति श्रुतिरप्याह भूरिति व्याहरन् भूमिमसृजतेत्यादि, अतः प्रभवः प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्। वेद शब्देभ्य एवादौ निर्ममे समहेश्वर इत्यादि स्मृतिः। लोकेऽपि प्रथमं शब्द एव बुद्धौ निपतति पश्चात्तदनुकूलमर्थं विरचयन्दृष्टः। अर्थोऽविद्यमानं-शब्दं नोपस्थापयितुमलम्। शब्दस्त्वविद्यमानमप्यर्थं समुपस्थापयति अतएव योगसूत्रे शब्दज्ञानानुपातीवस्तुशून्यो विकल्प इति। शब्द वशात्

वाह्यसत्ताविहीनोऽपि बौद्धोऽर्थोऽव्यवहृतिगोचरतामुपैतीत्यतो विपर्ययातिरिक्त इति सिद्धान्तितम्। तेन परावागित्यपि सैव यत एतस्या एव परिणामः। अर्थात् वहिर्मुखावस्था विद्या, शब्दसृष्टौ पश्यन्ती मध्यमा वैखरी रूपा अर्थसृष्टौ जाग्रत् स्वप्न सुषुप्त्यवस्थारूपा वा इच्छा क्रिया ज्ञानरूपा गौरी ब्राह्मी वैष्णवीरूपा रौद्री ज्येष्ठा वामारूपा वा त्रिकोणरूपचक्रं जायते तदेव शक्तिचक्रम्, शक्तिचक्रक्रमेणैवेत्यत्र वक्ष्यन्ते आचार्यपादा विस्तरेण ॥ अस्या एव ज्ञाने समुत्थापनेच मोक्षोऽणिमादिसिद्धिश्च पद्यते, अस्याः सर्वत्र सद्भावेऽपि सास्नादिमति गोत्ववत् लिङ्ग गुदयोरन्तराले गुह्यदेशे मूलाधारे विशेषेणाभिव्यक्तिः सर्वेषान्तदेवोक्तम् स्वेनैव "हठयोगप्रदीपे कन्दोर्ध्वकुण्डलिनीशक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम्। बन्धायच मूढानां यस्तांवेत्ति सयोगवित्। इयं न सर्वजनवेद्या नाड़ीरन्ध्रस्य सम्वृततया तत्र बुद्धेर्वा मनसो योगाभावेन निश्चयस्य विकल्पस्य वा विषयो न भवितुमर्हः किन्तु योगक्रियया निर्विकल्पकसमाधिप्रज्ञावेद्या, यदेयं चिद्रूपा प्रयत्न पवन प्रेरितेन संस्कारीभूता नाभिदेशं गच्छति तत्र सैव पश्यन्ती संज्ञां लभते तदा मनसः संयोगेन विकल्पविषयो भवति ततोप्युदूर्ध्वं गच्छन्ती हृद्देशे पदरूपा सती तत्रबौद्धार्थेन तादात्म्यापन्ना भूत्वा ऽर्थ बोधंजनयन्ती तत्र बुद्ध्या संयोगेच निश्चितिगोचरीजायते, ततोप्युदूर्ध्व म्प्रयान्ती मुर्द्धानमाहत्य परावृत्य तत्तत्स्थानेषु वाय्वभिघातेन वखरी पदवाक्य रूपमाधाय परश्रवणविजयो भवतीति शिक्षायामुक्तम् आत्माबुद्ध्या समेत्यर्थान्मनोयुङ्क्ते विवक्षया, मनःकायाग्नि माहन्ति सप्रेरयति मारुत मिति, अवशिष्टन्तत्स्वरूपवर्णने व्याख्यास्यते। एतावानर्थ एतावत्प्रघट्टकस्येतिदिक्।

भा० टी० उसके अनन्तर वेदन शीला तत्त्वज्ञान की साधन भूत चित् स्वरूप परावाक् शब्द ब्रह्मस्वरूप सर्वत्र व्यापक सकल चराचर जगत् की जननी 'महाकुण्डलिनी" शक्ति प्रबुद्ध हुई। वही कुण्डलिनी आत्म विमूढ पुरुषों के बन्धन का हेतु होती है, और जो योगाभ्यास द्वारा इसको जाग्रत् कर लेते हैं उनके लिये सकल सिद्धियों

को देती हुई मोक्षद्वार के कपाट खोल देती है। इसी भाव को स्पष्टरूप से आगे चलकर कुण्डलिनी प्रकरण में कहेंगे। इस कुण्डलिनी शक्ति में दो अंश हैं। चिदंश, और जडांश। जब जडांश की प्रधानता होती है और चिदंश गौण होता है, तब उस चित् अंश का दृश्य होकर वह जड़ांश अपने परिणाम द्वारा शब्द सृष्टि का तथा सकल भूत भौतिक ब्रह्माण्ड आदि अर्थ सृष्टि का कारण होती है। इसी कुण्डलिनी महा शक्ति का जो अचिदंश है उसी को अनिर्वचनीय माया भी कहते हैं, तथा कितने ही उसको प्रकृति और प्रधान पद से कहते हैं।

अर्थ सृष्टि और शब्द सृष्टि इन दोनों में भी पहले शब्द सृष्टि होती है। सब से पहले श्रीमहेश्वर आदिनाथ जी की कृपा से हिरण्यगर्भ ब्रह्मा की बुद्धि में सकल विद्याओं के भंडार 'वेद' स्वतः अभिव्यक्त हुए, फिर ब्रह्मा जी ने उन वेदों में जो जो शब्द देखा उसी के अनुसार समस्त जगत की रचना की। इसी भाव को श्रुति कहती है—

"भूरिति व्याहरन् स भूमिमसृजत"

स्मृति में भी कहा है—

"अनादि निधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥

यद्यपि शुद्ध ब्रह्म से सृष्टि होना असम्भव है तथापि यहां सन्देह का अवकाश नहीं है क्योंकि शुद्ध ब्रह्म में भी परम्परा से निजा शक्ति द्वारा बीज रूप से यह समस्त विश्व विलीन था, उसी विलीन जगत का सृष्टि के आरम्भ में प्रादुर्भाव हुआ, तथा ब्रह्मगत असंगत्व की हानि भी नहीं होसकती अज्ञान के बल से रस्सी में देखा सर्प रस्सी की कुछ भी हानि नहीं कर सकता। वास्तव में ब्रह्म तो जैसा का वैसा ही है, परन्तु अज्ञानी को संसार रूप से भासमान दिखाई

देता है। यह उपर्युक्त प्रक्रिया वेद में भी सूक्ष्म रूप वर्णित है उसीका यहां स्फुट रूप से व्याख्यान किया गया है।

देखिए वेद में—

"सदेव सौम्येदमग्रआसीदेकमेवाद्वितीयम्" ६

मू०—नित्यता १ निरञ्जनता २ निष्पन्दता ३ निराभासता ४ निरुत्थानता ५ इतिपञ्चगुणा निजाशक्तिः १०

टी० मूलशक्तेः पञ्चावस्थाः। अवस्थैव गुणो धर्मो वा व्यवहर्तुं युज्यते तदाश्रितत्वात्, तथाच साऽपि समष्टिरूपिणी पञ्चगुणा, अतः तस्याः प्रत्येकावस्थास्वपि पञ्चगुणकत्वस्य सामञ्जस्यम्, तयोरभेदात् तत्र के के गुणा इति जिज्ञासां शमयति तन्नामोल्लेखेन भगवान्मूलकारः, निजशक्तौ पञ्चगुणाः सन्ति प्रथमः **[नित्यता]** ध्वंसप्रागभाव रहितत्वम्, इदानीं नास्ति किन्तु भविष्यतीति प्रतीतिसाक्षिकः प्रागभावः, इदानीं नास्ति किन्त्वासीदिति प्रतीतिसाक्षिकोध्वंसश्चेत्युभयं निजशक्तौ न जातु केनापि प्रेक्षावता व्यवहर्त्तुं शक्यते तस्याः परिणामेऽपि सेयमिति बुद्धिविघाताभावात्, यथा मृदो घटावस्थायामपि मृन्नेतिबुद्ध्यभावः। द्वितीयः। **[निरञ्जनता]** रागद्वेषादि दोषनिकरोऽञ्जनंतद्रहितत्वम् तृतीयः **[निष्पन्दता]** चलनरहितत्वम् व्यापकत्वात् अथवा तत्त्वान्तरदशाशून्यत्वम् नित्यत्वात् वयमुत्वश्यामः स्पन्दनं पूर्वदेशं विहायान्तरदेशसंयोगानुकूल व्यापारः तदभावो निष्पन्दता। इयं हि परमशिवं कूटस्थं विहाय नान्य माश्रयते, अतःस्पन्दन शून्यत्वमस्याः स्वभावसिद्धोधर्म इति। चतुर्थः **[निराभासता]** आभासः प्रतिबिम्बः तद्विरहत्वम् अस्यां न शिवस्य प्रतिबिम्बोभवति स्वतोभेदभानाभावे तदानीमुपाधिरभावात् पञ्चमः **[निरुत्थानता]** उत्थानं संसाररूपेण परिणामः, तद्विधुरत्वम्, तदानीं सृष्ट्यभावात्, ननु द्वयोश्चिद्रूपत्वेपि-

चन्द्रचन्द्रिकयोरिव आश्रयाश्रितत्वस्वीकारेण शिवो जगतो विवर्तोपादानम् शक्तिश्च परिणामोपादानम् इति विशेषो बलादङ्गीकार्यः। अन्यथा सर्वसाम्ये शक्तिरेव न सिद्ध्येत् एकत्वापत्तेः, तथा च सांख्ये या प्रकृतिः वेदान्ते च माया सैव भवतां शक्तिनामान्तरेण व्यवह्रियते तदा तन्मतात्को विशेषोऽत्रेतिचेन्न जगदुपादानभूता सांख्यीया प्रकृतिः मदीयचिद्रूप शक्तौ प्रलये लीयते सृष्टौ ततएवाविर्भवतीति स्वीकारेण तस्याः स्वातन्त्र्यभंगः केवलजडत्वभंगश्च शक्तिः चिज्जडोभयात्मिका। तत्र चिदंशः प्रधानमाविर्भावतिरोभवरहितो जडंशस्त्व प्रधानम् आविर्भावतिरोभाववती प्रकृतिपदवाच्या मायापदाभिधेया च भवतीति महान्विशेषः शक्तिः स्वीयजडांशप्रकृति रूपेण जगतः परिणामोपादानम् इति शिवशक्तयोर्भेदः। एतेनसर्वसाम्ये निर्भेदैकत्वमापद्यतेति परास्तम्। तस्याधिष्टानत्वेनास्या अधिश्रितत्वेन भेदाच्च। इदमेवोक्तम् तेध्यान योगानुगतेति पूर्वोक्तश्रुतौ देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् इतिपदेन। देवस्य शिवस्यात्मभूता शक्तिः। अत्र त्मपदस्वारस्येन चितोदेवस्य चिद्रूपैव शक्तिः सा स्वगुणैः सत्वरजस्तमोभिः प्रलयकाले साम्येन सूक्ष्मरूपैः निगूढाम्, अन्तर्हितनामाच्छन्नां सृष्टौ वैषम्येण कार्यात्मक स्थूलरूपै राच्छादितामिति भंगमकृत्वैव स्वारसिकोऽर्थः सहृदयैराकलनीयः। अत्रस्वपदेन जडप्रकृतौ चिद्रूपपराशक्तेरात्मीयत्वबोधनेन तदंशत्वं सूचयति। एवञ्चोभयात्मिका शक्ति रिति स्पष्टम्। अतो जडांशस्यागमापायित्वेऽपि चिद्रूपाया निजशक्तेर्नित्यत्वम् युक्त मुक्तं भगवता योगिराजेन मूले। ननु वेदान्ते चिद्रूप शक्तिं ब्रह्मण्यन्तर्भाव्य जडोपादानभूतमायाया अनिर्वाच्यत्वमाविथषत तथाहि न सत् सर्वथाऽवाध्यत्वाभावात् नाप्य सद् असत्वेनाप्रतीयमानत्वाभावात् शशश्रृङ्गवत् 'नाप्युभयरूपम् अवाध्यत्वरूपसत्वस्य तद्विपरीतवाध्यत्वरूपासत्वस्यचोभयोरेकत्र क्वाप्य दर्शनेन च परस्पर विरोधात्, अतोऽनिर्वाच्यत्वम्, अयञ्चालंकार एवेति। अस्यास्तत्त्वज्ञानेनात्यन्तोच्छेदे मोक्षोभवतीति **[भूयश्चान्ते विश्वमाया निवृत्ति रिति श्रुत्या]** प्रमीयते, एवञ्च कथं शक्तेर्नित्यत्वम्प्रतिष्ठाप्यतेऽन्यथा तथापि मोक्षदशायां संसारादविशेषः प्रसज्येत इतिचेच्छृणु रहस्यम्। निवृत्तिपदार्थः स्थूलावस्था-

विरहविशिष्ट सूक्ष्मरूपेणावस्थितिः कार्यस्य, यथा घटावस्थाविरहविशिष्ट मृद्रूपम् न तु निरन्वयविनाशः सद्वादिमते प्रमाणपद्धति मध्यास्त इति बौद्धमतखण्डनावसरे वेदान्तिभिरपि बहुशः समुद्घुष्यते। तदिह कथं विस्मृतमिति त एव प्रष्टव्याः। वयन्तु ब्रूमो ऽचिद्रूपा परा शक्तिरेव भोगप्रदसञ्चितकर्मभिः क्षुभिता जडांशतः संसाररूपेण परिणमति तत्र शिवस्य मायायां प्रतिविम्वः। अवच्छेदोऽत्रेश्वरः। अन्तः करणेषुप्रतिविम्वा अवच्छिन्ना वा जीवाः। प्रथमः प्रेरयिता ऽन्तर्यामी, द्वितीयाभोक्तारो जीवाः, पञ्चभूताद्यात्मकपरिणामश्चभोग्यम् इतित्रिविधव्यवहारः सृष्टौ तदाह **[भोक्ता भोग्यं प्रेरितारञ्च मत्वा। जीवेशा वा भासेन करोति माया चाविद्याच स्वयमेवभवतीति]** अनया जीवेश्वरकर्तृत्वम् शक्ताविति स्पष्ठमेवोक्तम्। तत्वज्ञानेन शुद्ध विद्यया यदा कर्मणां वीजभावः प्रदह्यति तदा सहकारि कारणविरहात् संसारं न रचयति। अचिदंशस्य चिद्रूपे लयात् केवल चिद्रूपा तिष्ठति सैव शक्तिरन्तर्मुखा व्यपदिश्यत इयमेव मोक्षावस्था संसाराद्विशेषः. शक्तेश्चदग्धवीजवदत्यन्तोच्छेदोऽपि न भवतीत्युभयं सिद्धम् शक्ति र्नित्या मोक्षश्चेति महत्कौशलमायातम् येहि परमेश्वर स्वरूप प्राप्तिरेव मोक्ष इति स्वीकुर्वन्ति ब्राह्मण जैमिनिरिति तेषांमते सत्यका-मत्वादिधर्माणां तत्रापि विद्यमानतया तत्कारणशक्तेरपिसद्भावेन मोक्षेऽपि शक्ते र्विनाशाभावान्नानित्यत्वम् किंचपादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपाद-स्यामृतं दिवी तिमन्त्रेण सृष्टेरेकदेशतया तत्रत्यशक्ते र्विनाशेऽपि मोक्षे ब्रह्मसमव्याप्तशक्ते स्त्रिदेशे विद्यामानतया न नित्यत्वस्वीकारे काचित् क्षतिः। किञ्च येहि, अविद्या तत्कार्याविषयकसत्वोपहित शुद्ध चिद्विषयिण्या विद्यावृत्ते रविद्याविनाशकत्वं स्वीकृत्य स्वस्या अपि स्वया विनाशं वदन्ति। एतन्मते शुद्धब्रह्मरूपावस्थानं मोक्षः। तत्रविचारणीयम् एकस्यैव विनाश्यविनाशकभावो न क्वापि लोके दृष्टचरः। एवं चेय मुत्प्रेक्षा स्वशिष्यान् जडभक्तान् प्रत्येव परं शोभते यत्तु कतकरजो दृष्टान्ततया समुपन्यस्यते तदपि न प्रेक्षावतां, मनःसंतोषमा-धातुमलं तथा हि कतकं न स्वस्य विनाशकमपि तु सलिलमनाविलं विदधत् स्वयन्तदधस्तिष्ठति न जातु विनश्यतीति प्रत्यक्षं क्षणेनैव

परीक्षणीयम् ? ननु विद्यावृत्ते विनाशकारणमन्यदेव भवत्विति चेद् बद किं तत्। वृत्यन्तरं तत्सजातीय मिति चेत् तस्याप्यन्यद्विना शकं तस्याप्यन्यदिति निरवधिकवृत्तिस्वीकारेऽनवस्था प्रसङ्गादन्ते कस्याअपि नित्यत्वमवश्यमङ्गीकरणीयम् ततोवरं यदादावेव तदभ्यु- पेयम् अविद्याध्वंस एव विद्यावृत्तेर्विनाशकइत्यपि न युक्ततरम् अभावस्य कारणत्वानभ्युपगमात् अन्यथाऽभावकारणवादिनां सौगातनां साम्राज्ये गगनसुमनात् प्रसृमरममन्दमामोदं ब्रुवाणोऽशक्यनिरसनः स्यात् न च भावं प्रत्यभावस्य कारणत्वानभ्युपगमेऽप्यभाव प्रत्यभावस्य कारणत्व- स्वीकारे कात्ततिरिति वाच्यम् विद्यावृत्त ध्वंसस्य ब्रह्मरूपत्वपक्षे जन्य- त्वस्यैव विरहात् तदतिरेकोररीकरणे तस्यापि ध्वंसस्यध्वंस इत्यादि निरवधिक स्वीकारेऽनवस्था च ध्वंसस्यानन्तत्व मनंगीकारपराहतं क्रियारूपत्वात्, अभावस्वरूपस्वीकारे तत्र जन्यत्वमेव वाधग्रस्तम् किञ्च निरन्वयविनाशः सद्वादिमते निषिद्ध इत्यपि पूर्वोक्तं न विस्मतव्यं यदि च सुन्दोपसुन्द न्यायेनाविद्याया विनाशिका- विद्या तस्याश्च विनाशिकाऽविद्येति व्यवस्थाप्येत तदा प्रमया अवि- द्यया प्रमात्मकविद्याया वाधकथनं विरुद्धम्। तस्मात् कारणविरहात् शक्तेर्न सर्वात्मना समुच्छेदः, अतो नित्यत्वं सुष्ठूक्तं योगिराजपादेन। न च शक्ते र्नित्यत्वे द्वैतापत्तिः तथा च भवतापि कथमद्वैतं स्थाप्येत इति वाच्यमेकैव सत्ता पर्याप्त्या शिवशक्त्यो र्न पृथगित्यङ्गीकारे सत्तापर्याप्त्यधिकरणनिष्ठ सत्तापर्याप्त्यधिकरण प्रतियोगिकभेदशून्यत्वरूपस्याद्वैतस्य भवन्मत- वदक्षतेः, अन्यथा भवन्मतेऽपि संसारमादाय कथं न द्वैतम् यदि च संसारस्य पृथक् सत्ताभावान्नद्वैतं तदा ममापि सैवगतिः सत्तामादाय न विवदनीयम् तस्याः स्वरूपानतिरेकत्वस्योभयमतसम्मतत्वात्, अतिरिक्त स्वीकर्तृणां मतेऽनवस्थाभिया सत्तायां सत्तान्तराभावे उक्त- लक्षणाभावाच्च किञ्चैतन्मते द्वैताद्वैत विवर्जितमिति वक्ष्यमाणत्वात्, अद्वैतमपि भवद्भाषयैव ब्रूमहे नतु तत्स्थापनाग्रहोऽस्माकमितिदिक् ॥१०

भा० टी०—पूज्यपाद श्री गोरक्षनाथ जी ने प्रथम पांच शक्तियों का निरूपण किया। अब उन शक्तिओं के जो स्वाभाविक पांच २

गुण हैं उनके क्रम से निरूपण करते हैं । उनमें भी सबसे पहले क्रम प्राप्त महेश्वर की मुख्य निजा शक्ति के गुणों का वर्णन किया जाता है ।

नित्यता १—भूत भविष्यत वर्तमान इन तीनों कालों में नाश न होना । अर्थात् सदा रहना ।

निरञ्जनता २—निर्दोषता । यहां पर रागद्वेष काम-क्रोध लोभ मोह आदि दोषों का नाम अञ्जन जानना और इस अञ्जन (दोष) का न होना ही निर्दोषपन है ।

निष्पन्दता ३—चलन आदि क्रिया का नहोना । अर्थात् स्थिर स्वभाव का नाम निष्पन्दता है ।

निराभासता ४—आभास नाम प्रतिविम्ब का है उससे रहित का नाम ही निराभासता है । क्योंकि जहां दो वस्तुओं का भेद रहता है वहां विम्ब प्रतिविम्ब भाव होता है जैसे दर्पण में मुख का और जल में चन्द्र सूर्यादि का । यहां शिव के साथ इस शक्ति का भेद भान न रहने से प्रतिविम्ब का अभाव कहा गया है । अतः प्रति-विम्बाभाव रूप निराभासता नाम का निजा शक्ति का चौथा गुण है ।

निरुत्थानता ५—संसार रूप से परिणाम का न होना । इस निजा शक्ति में सृष्टि का भान नहीं रहता । ये पूर्वोक्त पांचगुण निजाशक्ति में सदा रहते हैं । १०

मू०—अस्तिता १ अप्रमेयता २ अभिन्नता ३ अन-न्तता ४ अव्यक्तता ५ इति पञ्चगुणा पराशक्तिः ॥११॥

सं० टी०—सृष्ट्यादौ यस्यां प्रतिविम्बः शिवस्य सा पराशक्ति-रित्युक्तमधस्मात्. इतः पूर्वं शक्ते रन्तर्लीनतया ऽस्तित्वव्यवहारोनासीत् अस्याः अस्तीति व्यवहारविषयता जाता ऽत उच्यतेऽस्तिता

अस्तीति विभक्तिप्रतिरूपकमव्ययं ततस्तलि रूप मेतेना ऽस्तीति तिङन्तात् कथं तल् इति शङ्कापि निरस्ता, नन्वेवं यदा शिवेन शक्तिरस्तीति ज्ञानं तदा तस्या परिच्छेदोऽपि ज्ञातोभवेति तित्प्रति पत्तौ द्वितीय कोटि मवलम्बते **[अप्रमेयता]** परिच्छेद शून्यत्वम्, एतेन शक्तिः, अनित्या परिच्छिन्नत्वात् इत्यनुमानमपि स्वरूपासिद्ध्या आभासीकृतम् नन्वस्तु दैशिक परिच्छेदविरहः, वस्तु कृत भेदावभासेन भवितव्यम्, तदा तन्निषेधति, अभिन्नता ऽनन्ततेति पदद्वयेन **[अभिन्नता]** मत्तो भिन्न इत्याकारक स्वप्रतियोगिक भेदस्याभाव इत्यर्थः। अस्तु तर्हि जगत् प्रतियोगिक भेदः, अत आह **[अनन्तता]** तदानीं जगतोऽभावेन तत्प्रतियोगिकस्यापि भेदस्याभाव इत्यथः, नन्वेवं तर्हि जनिष्यमाणजगतोऽसत्वे ऽसद्वादमतापत्तिरत आह **[अव्यक्तता]** कार्य्याणां सूक्ष्मावस्थाविशिष्टता यत्कार्यं यस्मिन्कारणे सूक्ष्मावस्थयाऽवतिष्ठते, तत्कार्यं प्रति तत्कारणम् अव्यक्तमिति कथ्यते यथा घटस्य अव्यक्तम् मृद्रूपम् इति सांख्यादि दर्शनाभिज्ञै र्नाविदितमतो नासद्वादः ॥११॥

भा० टी०—अस्तिता १ विद्यमानता, 'है' इत्यादि पद से व्यवहार होने की योग्यता।

अप्रेमयता २—व्यापकता, जिसका अत्यन्ताभाव किसी देश में न हो वह धर्मी व्यापक कहलाता है। जैसे आकाश। अतः इस पराशक्ति में व्यापकता गुण का कथन करने से यह सूचित होता है कि इसका अत्यन्ताभाव कहीं नहीं है।

अभिन्नता ३—एकता, भाव यह है कि दो वस्तुओं का परस्पर अन्योन्याभाव होता है इसी का दूसरा नाम भेद है जैसे कि यह घट पट नहीं और यह पट घटस्वरूप नहीं। इस प्रकार पराशक्ति में जगत् का भेद नहीं है क्योंकि पराशक्ति के प्रादुर्भाव के समय जगत् का अस्तित्व ही नही था। अतः जगत् का भेद शक्ति में वा शक्ति का भेद जगत में होना असम्भव है। यही उपरोक्त भाव अभिन्नता पद से प्रकट किया गया है।

अनन्तता ४—अविनाशिता, ध्वंस और प्रागभाव का न होना तात्पर्य यह है कि जिस वस्तु का उत्पत्ति के बाद ध्वंस होता है और उत्पति के पहले प्रागभाव रहता है वह घट पटादि वस्तु अन्त सत्तावाली कहलाती है और जिसका ध्वंस और प्रागभाव ये दोनों ही न हों वह वस्तु अनन्त कहलाती है। परमेश्वर की पराशक्ति नित्य और व्यापक होने से प्रागभाव और विनाश रूप ध्वंस से रहित है। अतः अनन्तता रूप चौथा गुण पराशक्ति का जानना।

अव्यक्तता ५—कार्य की सूक्ष्म अवस्था, जैसे दूध में घी सूक्ष्म रूप से रहता है घृतकार्य के प्रति दूध अव्यक्त कारण कहलाता है तथा तेल के प्रति तिल और सरसों आदि अव्यक्त अर्थात् सूक्ष्म कारण कहलाते हैं इसी प्रकार जगत् कार्य के प्रति पराशक्ति अव्यक्त कारण कहलाती है क्योंकि अपनी उत्पत्ति के पूर्व यह जगत् उसी अव्यक्त पराशक्ति में लीन था इसीलिये पराशक्ति का स्वाभाविक अव्यक्तता रूप पंचम गुण जानना। ११

मू० स्फुरता स्फुटता स्फारता स्फोटता स्फूर्तितेति पञ्चगुणाऽपरा शक्तिः ॥१२॥

सं०टी०—क्रियारूपेति पूर्वमुक्तं तत्र **[स्फुरता]** संचलनम् **[स्फुटता]** विकाशता, प्रकाशः शिवस्याहमित्यनुभवविषयतया ज्वलनमिति यावत् **[स्फारता]** संचालनम् ण्यन्तस्फुरधातोः, चिस्फुरोर्णौ वित्यात्वे अचि निष्पन्नात स्फारशब्दात्तलि रूपम् **[स्फोटता]** विकासकता यथा सूर्य्यः कमलं विकासयति तथेदं जगत्। अथवा बोधकता व्याकरणे स्फोटशब्देन क्वचिच् शब्दब्रह्मपदेन **[शब्द ब्रह्मेति तं प्राहुः सर्वागमविशारदाः]** इतिव्याजह्रुः।वाक्यपदीये ऽनादिनिधनेत्यादि यत प्रतिपाद्यते तस्यात्रैवान्तर्भावः कृतोनाथपादेनेति बोध्यम् [स्फूर्तिता] उत्साह उच्छूनता, क्रियात्वरतेतियावत्। १२

भा० टी० [स्फुरता] १ चलन आदि क्रिया।

[स्फुटता] २ खिलना जैसे पुष्प गुल्मादि खिलते हैं।

[स्फारता] ३ अपने शासन में चलाना जैसे राजा अपने मंत्री द्वारा प्रजा को अपने शासन में चलाता है, और सारथी घोड़ों के द्वारा रथ को चलाता है।

[स्फोटता] ४ खिलाना जैसे सूर्य कमलों को खिलाता है,।

[स्फूर्त्तिता] ५ गमनादि क्रिया की शीघ्रता, जैसे जल्दी चलना, जल्दी खाना इत्यादि। ये उपरोक्त स्फुटता आदि स्वाभाविक पाँच गुण अपरा शक्ति में रहते हैं। १२

मू० निरंशता निरन्तरता निश्चलता निश्चयता निर्विकल्पतेति पञ्चगुणा, सूक्ष्माशक्तिः ॥१३॥

सं० टी०—अहमाकारानुभवकारणं विमर्श शक्तिरित्युक्त मधस्तात्-तस्या धर्मान्नाह-निरंशतेति तदानीमहमहमित्येकरूप एवानुभव आसीन्नतु त्वं वायंत्रेति खण्डव्यवहारः। अत आह "निरंशता" अंशो नाम, अवयव इदमादिपदवाच्यः, तद्रहितत्वं निरंशत्वम् "निरन्तरन्तरता" अन्तरा व्यवधानम् तद्द्विविधं भवति कालकृतं देशकृतञ्च तत्र संकोचे कारणाभाद् द्विविधस्यापि व्यव धानस्य विरहो निरन्तरत्वम्-एतेन किञ्चित् क्षणमहमित्यनुभूय मध्ये विश्रम्य पुनरनुभवइति व्याबृत्तः, अतएव निश्चलत्वम्, चलनं स्वरूपात् प्रच्युतिः। तद्रहितत्वं, [निश्चयता] विद्यारूपता एतेन संशय विभ्रम विपर्य्ययात्मकत्वम् व्यावृत्तम् [निर्विकल्पता] एकरूपता विशेषणरहितेति यावत् ॥१३॥

भा० टी०—यह सूक्ष्म शक्ति विद्या रूप विमर्श शक्ति है यह भाव पहले दिखला चुके हैं। उस सूक्ष्म शक्ति के पांच गुणों का यहां वर्णन किया जाता है —

(निरंशता) १ अवयव विभाग का अभाव, अर्थात् अयं (यह) प्रथम पुरुष, तथा त्वम् (तूं) यह मध्यम पुरुष, ये दोनों भिन्न अंश कहलाते हैं, सृष्टि के आदि में इन दोनों का व्यवहार नहीं था किन्तु केवल अहम् (मैं) यही अखण्ड व्यवहार था।

(निरन्तरता) २ दो वस्तुओं के बीच में अन्य का व्यवधान

न रहना। भाव यह है कि- लोक में व्यवधान का व्यवहार दो प्रकार से होता है कालकृत और देशकृत, कालकृत जैसे प्रतिपद् और तृतीया के बीच में द्वितीया का, तथा वसंत और वर्षा के मध्य में ग्रीष्म ऋतु का व्यवधान होता है। देशकृत व्यवधान जैसे हरिद्वार और ज्वालापुर के बीच में "श्री पूर्णनाथ संस्कृत कालेज योगाश्रम। परन्तु सूक्ष्म शक्ति में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं है।

(निश्चलता) ३ जिस में चंचलता दोष न हो अर्थात् स्व स्वरूप विचलित न होना ही निश्चलता कहलाती है!

(निश्चयता) ४ निश्चयरूपता, सारांश यह है कि संशय भ्रम विपरीत ज्ञान आदि दोषों से रहित यथार्थ ज्ञान का होना ही निश्चयता कही जाती है।

(निर्विकल्पता) ५ एक रूपता अर्थात् विशेषण विशेष्य भाव का न रहना जैसे 'नील घट, यहां नील विशेषण और घट विशेष्य है अत एव इन दोनों का विशेषणविशेष्यभावसम्बन्ध कहलाता है, पर इस सूक्ष्मा शक्ति में उपर्युक्त सम्बन्ध नहीं रहता। यद्यपि विशेष्यभूत शक्ति तो है भी तथापि विशेषण के न रहने से केवल शक्ति में विशेषणविशेष्यभाव का संकलन नहीं हो सकता। उपर्युक्त पांचगुण सूक्ष्मा शक्ति के जानना। १३॥

मू०-पूर्णता प्रतिबिम्बता प्रबलता प्रोच्चलता प्रत्यङ्मुखतेति पञ्चगुणा कुण्डलिनी शक्तिः, ॥१४॥

सं० टी०-इयं शब्दार्थोभयकारणरूपेति पूर्वं निगदितम्, तदुपयोगिगुणान् वर्णयति। इयं शब्दसृष्ट्यपेक्षया परावागुच्यते, अर्थसृष्ट्यपेक्षया प्रकृतिरिति कथ्यते क्वचिद्बिन्दुः [पूर्णता] व्यापकता अनेन परिच्छिन्नतया केनचिदुत्प्रेक्षितम् अनित्यत्वम् दूरोत्सारितम्, किंच संसार प्रति व्यापकत्वेनोपादान कारणत्वम् समुचितम्, लोकेऽपि घट शरावादयः स्वोपादानमृदादे र्व्याप्या दृश्यन्ते—एतेन परमाणुभ्य, ए वसृष्टिः।

यथासूक्ष्मतमवटधानादितो महावटवृक्षादयो जायन्ते । इति स्थूलदृष्ट्या व्यवस्थापयन्त स्तार्किकवराका अपि तुच्छीकृताः । सूक्ष्मदृष्ट्या विवेचने वटधानादयोऽपि सूक्ष्मैः स्वावयवैः समस्तान्वृक्षान् व्याप्नुवन्त्येव, अन्यथा तूपादानमनाश्रित्य वृक्षस्थिति रेवासम्भविनी न जातु लोके मृत्तिकामनाश्रित्य अधस्थितां वा मृत्तिकामनवलम्ब्य मृत्तिकावयवरहितः केवलो घटो वियति दोलायमानो दृष्टिचरः । यदि भवन्मतमहावेशनिविष्टा विचित्रमिदं चित्रं प्रदर्शयेयुस्तदा स्युर्लोके श्रद्धेय वचनाः,वयन्तु पश्यामः, उन्मत्तप्रलाप एव यन्न स्वोपादानावयवदेशाद् भिन्न देशेऽपि कार्यस्थितिः कार्य्यञ्चमहदिति । किञ्च समवायिकारण देश एव कार्य्य देश इति वृद्धनैयायिक मतरक्षालोभेनापि स्वोपादानावयवानुस्यूतान्येव कार्य्याणीति मन्तव्यम् । तथाच परिणामवादस्यैव परमाणु वादपदेन कथने न नो हानिः । अतः सुष्ठु कथितम् व्यापकत्वमिति **प्रतिविम्वता** २ पश्यन्तीमध्यमादिवर्णपदात्मकशब्दरूपेण महत्तत्वा हंकाराद्यर्थरूपेण च परिणामस्वभाव एव प्रतिविम्वता । अथवा निखिपदार्थाना मंकुरभावेन प्रतिविम्वनम् । **प्रवलता** ३ उच्चावचनानाविधप्रपञ्चरचनाचातुर्य्यात्मकोत्कृष्टसामर्थ्यम् **प्रोच्चलता** ४ वर्धमानता स्थूलादिरूपेण परिणमनशीलत्वम् उर्द्ध्वचलनम् वा । **प्रत्यङ्मुखता** ५ सृष्ट्युन्मुखत्वं वहिर्मुखा सती स्वान्तरस्थितान् अर्थान् वहिर्निःसारयति तदा संसारः समुत्पद्यते । सृष्टि सम्पादनोपयोगि निखिलसामग्री परिपूर्णतेति निगलितः १४

भा० टी०—अब पांचवी कुण्डलनी शक्ति के स्वाभाविक पांच गुणों का वर्णन करते हैं ।

१-(पूर्णता) सर्वत्र विद्यमानता अर्थात् व्यापकता, यह कुण्डलिनी शक्ति का प्रथम गुण है । जो इस कुण्डलिनी शक्ति को परिच्छिन्न मान कर अनित्य कहते हैं उन के मत का खण्डन व्यापकता गुण कहने से होजाता है और उचित भी यही है क्यों कि इतने लम्बे चौड़े संसार का जिस व्यापक कुण्डलिनी से विस्तार होता है उस को छोटा कहना स्वयं अपनी बुद्धि छोटे पन को ही प्रकाशित करना है अत एव जो नैयायिक परमाणुओं से जगत् की उत्पत्ति कहते हैं उनके

मत का भी व्यापकता गुण कहने से खण्डन होगया क्योंकि परिच्छिन्न परमाणुओं से जगत् की उत्पत्ति होना सर्वथा असम्भव है किन्तु यह कुण्डलिनी शक्ति ही परा पश्यन्ती आदि शब्दसृष्टि का तथा महत्तत्व अहंकार पंच तन्मात्रा पंचभूत और एकादशइन्द्रिय इत्यादि अर्थ सृष्टि का कारण होती है।

२-(प्रतिविम्बता) इस कुण्डलिनी का शब्द और अर्थ रूप से परिणाम होना ही प्रतिविम्बता कहा गया है। अथवा प्रतिविम्बता रूप कुण्डलिनी शक्ति का खास गुण है क्यों कि जब योगी योगाभ्यास के द्वारा कुण्डलिनी शक्ति का उत्थान करता है और जिस समय वह उत्थान परिपक्व होजाता है तब जैसा कुण्डिनी का तेजमय स्वरूप है उसी तरह का उस योगी के समस्त शरीर में कुण्डलिनी शक्ति का प्रतिविम्ब पड़ने लगता है। इसी कारण योगी के शरीर में चारों तरफ से अग्नी की चिनगारियां सी नजर आने लगती हैं तब योगी का शरीर तेजपुंज से व्याप्त हो जाता है। यही कुण्डलिनी का प्रतिविम्बतारूप दूसरा गुण जानना।

३-(प्रबलता) उत्कृष्टसामर्थ्य अर्थात् छोटा, बड़ा ऊंचा नीचा नानाप्रकार के रचनात्मक चमत्कार का चातुर्य इस कुण्डलिनी महाशक्ति में भरा हुआ है। वही इस का तीसरा गुण है।

४-(प्रोच्चलता) स्थूलादि आकार से परिणाम होना। या ऊपर को उछलना जैसे योगाभ्यासी के निरन्तर अभ्यास से जब कुण्डलिनी शक्ति जग जाती है तब विशेष रूप से प्राण सहित कुण्डलिनी शक्ति की ऊर्ध्वगति देखने में आती है। इसे चौथा गुण जानना।

५—(प्रत्यङ्मुखता) सृष्टि रचने के लिये तत्पर होजाना। इसको कुण्डलिनी शक्ति में पांचवा गुण जानना ॥१४॥

मू०—'एवं शक्तितत्त्वे पंच पंच गुण योगात् पर-पिण्डोत्पत्तिः। १५

सं० टी० एवमिति प्रथमं व्यष्टिसृष्ट्युपयोगिनीं समष्टिसृष्टिमाह

[एवम्] पूर्वोक्त प्रकारेण [शक्तितत्त्वे] तत्संघाते सति [पञ्च पञ्चगुणयोगात्] पञ्चविंशतिगुणानां समवायेन [परपिण्डोत्पत्तिः] परपिण्डस्य निग्रहानुग्रहसंहारस्थितिसृष्टिगुणकस्य सदाशिवस्य [उत्पत्तिः] आविर्भावो भवतीति ज्ञेयम्। अयमेव सांख्यप्रकृतिविलक्षणकेवलसत्त्वोपहितपुरुषविशेष ईश्वरो योगसूत्रोक्तः। सत्त्वस्यापि चैतन्यमिति विशेषोऽत्रवेद्यः ॥१५॥

भा० टी०—पूर्वोक्त प्रकार से शक्तितत्व में ऊपर लिखे हुये पांच शक्तियों के स्वरूप विद्यमान होने पर एक एक शक्ति में पांच २ गुण होने से सब गुणों को मिलाकर पच्चीस गुण होते हैं। उन पच्चीस गुणों का समुदाय रूप जो परपिण्ड है उसकी उत्पत्ति हुई। तात्पर्य यह है कि जैसे हम लोगों का यह स्थूल शरीर पंचभूतों का समुदाय पिण्ड कहलाता है वैसे ही उन शक्तियों का समुदाय पर अर्थात् श्रेष्ठ पिण्ड कहलाता है।

और जैसे इस भौतिक पिण्ड का अधिष्ठाता यह जीव कहा जाता है वैसेही उस पर पिण्ड का अधिष्ठाता सगुण परमेश्वर कहलाता है। इसी शक्ति सहित परमेश्वर का इस ग्रन्थ में अनादिपिण्ड पद से व्यवहार किया जाता है इसी को वेदान्ती माया शवलित ब्रह्म कहते हैं। इसी को महर्षि पतञ्जलि ने योगसूत्र में "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः" ऐसा कहा है।

अर्थ—अविद्यादि पंचक्लेश, तथा शुभाशुभ त्रिविध कर्म, जाति, आयु, भोगरूप त्रिविध कर्मों का फल, और सकल बासना, इन सब से निर्लेप पुरुष विशेष को ईश्वर कहते हैं? "निरतिशय सर्वज्ञबीजम्"

उस परमेश्वर में सर्वज्ञता का कारण सर्व श्रेष्ठ सत्त्व रूप उपाधि है। इसी के बल से उस असङ्गचिद् रूप परमेश्वर में सर्वज्ञता है, अन्यथा असङ्ग चेतन में सर्वज्ञता धर्म का रहना ही असम्भव है। इस योग सूत्र प्रतिपादित सत्त्व उपाधि में निरतिशय विशेषण देने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि जगत् की उपादान भूत सांख्योक्त त्रिगुण स्वभाव वाली प्रकृति के सत्त्व से यह सत्त्व विलक्षण है। क्योंकि

सांख्य शास्त्र में कही हुई प्रकृति में तीनों गुणों का साहचर्य कहा है, इसीलिये सांख्यवादियों के मत में रजो गुण और तमोगुण का विच्छेद होने पर केवल सत्त्वगुण नहीं रह सकता। तब निरतिशय सत्व कैसे कहला सकता है। उस सत्त्व में निरतिशय सत्त्व तभी हो सकता है, जब रजोगुण और तमोगुण का लेशमात्र भी सम्पर्क न हो। अतएव सांख्योक्त सत्त्व से योगोक्त सत्त्व विलक्षण है। और योगाचार्य श्रीनाथजी ने उस निरतिशय सत्त्व को चिद्रूप माना है। इसीलिये उसको सत्त्व न कहकर शक्तिपद से कहा है।

यहां उत्पत्ति पद का अर्थ आविर्भाव है, क्योंकि सद्वाद में असत् की उत्पत्ति नहीं होती ॥१५॥

मू०—उक्तञ्च- निजा पराऽपरा सूक्ष्मा कुण्डलिन्यासु पञ्चधा। शक्तिचक्रक्रमेणोत्थो जातः पिण्डः परः शिवः। १६

सं० टी० गद्येनोक्तम् पद्येनोपसंहरति, उक्तञ्चेति मयेति शेषः, अस्यार्थस्तूपर्य्येवोक्तः। अवशिष्टः किञ्चिदिहोच्यते शक्तेर्बिन्दुरूपिण्याः मूलप्रकृतेर्महामायायाः, चक्रः। त्रिकोणात्मगोलकरूपः। तन्मध्ये बिन्दुःकारणशिवरूपः तस्य शक्ते र्विकाशकाले युगपत् त्रिरूपता भवति त्रिरूपता, त्वित्थं तथाहि इच्छाशक्तिज्ञानशक्तिक्रियाशक्तत्र्यात्मकः, सत्वरजस्तमोरूपात्मकः, रुद्रविष्णुब्रह्मात्मकः। गौरीलक्ष्मीसरस्वतीरूपः। आधिदैविकाध्यात्मिकाधिभौतिकस्वरूपः, इतिपञ्चात्मकः, अतएवाद्यशक्तेः पञ्चत्रिकोणात्मकः श्रीयन्त्रः तस्य **क्रमेण** अपेक्षाबुद्ध्या, अयम्भावः सर्वासां शक्तीनां समवायापेक्षया तदधिष्ठाता एकः सदा शिवः **परः** व्यापकः, **उत्थः** आविर्भूतः प्रत्येक शक्तेरधिष्ठात्रपेक्षया पञ्चदेवा आविर्भूताः। तेऽपि परा अस्मदपेक्षया कथ्यन्ते। मूले कुण्डलिनी, आसु, इति छेदः।१६।

भा० टी०–निजा-परा-अपरा-सूक्ष्मा, कुण्डलिनी, ये पूर्वोक्त पांच शक्तियां हैं। इनमें शक्ति चक्र क्रम द्वारा सदाशिव पांच प्रकार से आविर्भूत हुआ, भाव यह है कि पूर्वोक्त पांच शक्तियों के अध्यक्ष

रूप से सदाशिव श्री आदिनाथ जी प्रकट हुए। यहां पूर्वापर ग्रन्थ की समालोचना से गूढ़ भाव यह निकलता है कि एक एक शक्ति के विकाश से एक एक पिण्ड का प्रादुर्भाव हुआ इस क्रम से पांच पिण्ड। और फिर उन पांच पिण्डों के अधिष्ठाता रूप पांच देव हुए जिनके नाम और गुण आगे चलकर वर्णन करेंगे। यहां शक्ति चक्र क्रम का अभिप्राय है शक्ति चक्र त्रिकोण. उसके मध्य में विन्दु रहता है, विन्दु का अर्थ अविकृत कारण परमनाथ ब्रह्म जानना। जब उस सदा शिव की शक्ति का विकाश होता है तब वह शक्ति एक साथ तीन आकारों को धारण करती है, वे तीन आकार नीचे देखिये इच्छा, ज्ञान, क्रिया। रुद्र, विष्णु, ब्रह्मा। गौरी लक्ष्मी, सरस्वती। सत्व, रज, तम। आधिदैविक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक। इत्यादि रूप से शक्ति चक्रक्रम जानना ॥१६॥

मू०—अपरम्परं परमपदं शून्यं निरञ्जनं परमात्मेति १७

सं० टी०— तानेव व्यष्टिरूपान् पञ्चदेवान् प्रदर्शयति अपरम्परमित्यादि निजाशक्त्यधिष्ठाता सदाशिवः। स्वस्यनास्त्यन्यत् कारणमिति कारणपरम्पराशून्यतया अपरम्परपदेन व्यवह्रियते १ पराशक्त्यधिष्ठाता परमेश्वरो मुमुक्षुभिः प्राप्यते ऽतः परमपदशब्देन निगद्यते। अपराशक्त्यधिष्ठाता रुद्रः प्रलयकर्ता भेदाभावात् शून्यपदेन निगद्यते। सूक्ष्माशक्त्यधिष्ठाता ज्ञानशक्तिविशिष्टः विष्णू रागादि रूपाञ्जन रहिततया निरञ्जनपदेनोच्यते। कुण्डलिनीशक्तिसाक्षि जगत्कर्तृत्वेन ब्रह्मा सर्वेषां प्रत्यगात्मतया परमात्मपदेनात्र व्यवह्रियते। अन्यत्र क्वचिदागमे विन्द्वात्मकमायासहित शम्भोः सदाशिवो जातः, तस्मादीशः, तस्माद्रुद्रः, ततो विष्णुः, ततो ब्रह्मा, एते यथा संख्यमनुग्रह निग्रह प्रलय स्थिति सृष्टि कर्त्तारः पंच देवाः, उत्तरोत्तरं समुत्पन्नाः शम्भुस्तु पञ्चात्मकः सदैकरूप इत्याहुः—अत्र तु पूर्वं पञ्च शक्त्युत्पत्तिं प्रदर्श्य तस्या एकैकस्या अधिष्ठातृतया पञ्च देवान् अन्वर्थ नाम्ना निर्दिश्य, अनन्तरं तेष्वेकैकस्माद्देवादेकैको विशेषगुणः सृष्ट्युप-

योगी समुत्पन्नस्तदेवं प्रदर्शयति ॥१७॥

भा० टी० अब एक २ शक्ति के अभिमानी पाँच देवताओं का नाम निर्देश किया जाता है।

अपरंपद (सदाशिव) परमपद (ईश्वर) शून्य (रुद्र) निरञ्जन (विष्णु) परमात्मा (ब्रह्मा) १७

मू०—अपरम्परात् स्फुरतामात्रमुत्पन्नं परमपदाद् भावनामात्रमुत्पन्नं शून्यात्स्वसत्तामात्रमुत्पन्नं निरञ्जनात् स्वसाक्षात्कारमात्रमुत्पन्नं परमात्मनः परमात्मोत्पन्नः ॥१८॥

सं० टी०—(स्फुरता) उत्साहः क्रिया सामान्यं (भावना) ईक्षणमन्वालोचनमिति यावत् (सत्तामात्रं) महत्तत्वं (बुद्धितत्त्वम्) (साक्षात्कारमात्रम्) अहंकारमात्रं (परमात्मा) बीजावस्थापन्नपिण्डविशेषः गुणसमवायः सृष्ट्युत्पादनोपयोगीत्यभिप्रायेणात्रोक्तम् एकैकस्य पञ्च पञ्च गुणानाह ॥१८॥

भा० टी० इन पूर्वोक्त पांच देवताओं से आगे होने वाली सृष्टि के उपयोगी पदार्थों की उत्पत्ति का निरूपण किया जाता है—

अपरंपरनामक देव से उत्साह मात्र उत्पन्न हुआ। परमपददेव से समालोचनात्मक ज्ञान उत्पन्न हुआ। निरंजन से स्वसाक्षात्कारमात्र अर्थात् अहंकार उत्पन्न हुआ।

परमात्मा नामक पंचम देव से संसार की बीजावस्थापन्न समष्टि पिण्ड उत्पन्न हुआ। क्योंकि अस्मदादि व्यष्टि पिण्डों की अपेक्षा वह पिण्ड उत्कृष्ट है। इसी लिये उस पिण्ड को मूल में परमात्मा कहा है। १८

मू०—अकलंकत्व मनुपमत्व मपारत्व ममूर्तत्व मनुदयत्व मिति पंच गुणमपरंपरम् ॥१९॥

सं० टी०—अकलंकत्वमिति दोषशून्यत्वं १ सजातीयद्वितीय रहितत्वम् २ अन्तविरहितत्वम् ३ परिच्छेदविधुरत्वम् ४ उत्पत्तिरहितत्वम् ५ भावरूपदोषस्य प्रथमेन व्यावृत्तिः, इतरैश्चतुर्भिः यथाक्रमेण अन्योन्याभावध्वंसाभावात्यन्ताभावप्रागभावानां निवृत्तिरिति तत्वम् ।१९।

भा० टी० अब पूर्वोक्त पांच देव में से प्रत्येक के पांच पांच गुणों का वर्णन करते है ।

१—अकलङ्कत्व रागादि दोषों का नाम कलंक है उन का अभाव ही अकलङ्कत्व नामक अपरंपर देव का प्रथम गुण है ।

२—अनुपमत्व इस अपरंपरदेव का सजातीय कोई दूसरा नहीं है जिस की उपमा दी जाय इसी लिये इस देव का अनुपमत्वरूप दूसरा गुण जानना ।

३-अपारत्व सीमावाली वस्तु का अन्त होता है पर इस अपरंपरदेव का पार नहीं है अतः अपारत्व इसका तीसरा गुण है ।

४--अमूर्तित्व परिच्छेद रहित सारांश यह है कि जो परिमित वस्तु होती है वह मूर्ति कहलाती है इस अपरंपरदेव का किसी परिमाण से परिच्छेद नहीं है इसीलिये अमूर्तित्व यह चौथा गुण है ।

५--अनुदयत्व जिसका प्रागभाव होता है उसी की उत्पत्ति कही जाती है किन्तु अपरंपरदेव की सदाव्यापकस्थिति होने से उसका प्रागभाव नहीं है । अतः अनुदयत्व नामक पंचमगुण इसमें सदैव रहता है ।।१९।।

मू० निष्कलत्व मणुतरत्व मचलत्व मसंख्यत्व मनाधारत्व मिति पंच-गुणं परमपदम् । २०

भा० टी०—निष्कलत्वम् कला, अवयः, तच्छून्यत्वम् (अणुतरत्वम्) सूक्ष्मत्वम् नतु तार्किकसम्मतपरमाणुत्वम् । अस्य व्यापकत्वात, अत एवाह (अचलत्वम्) ; स्पन्दनक्रियाशून्यत्व (असंख्यत्वम्) संख्या द्वित्वादि घटकादि तद्रहितत्वम् । (अनाधारत्वम्)

अनाश्रितत्वम् व्यापकत्वात् नहि व्यापकं क्वचिदाश्रीयते, यथाकाशः। २०

सं० टीका—अब परंपद देव के पांच गुणों का वर्णन किया जाता है।

१-निष्कलत्व कला शब्द का अर्थ अवयव जानना। अवयव का अभाव रूप निष्कलत्व गुण परमपददेव का होता है।

२-अणुतरत्व सूक्ष्मता यहां नैयायिकों की तरह परमाणु रूप अणुतरत्व का अर्थ नहीं है क्योंकि परमपददेव व्यापक है उसको अणु कहना भी अनुचित है किन्तु अणुतरत्व का आकाश की तरह अति सूक्ष्म अर्थ जानना। यह परमपददेव का दूसरा गुण है।

३-अचलत्व छोटी वस्तु में चलनादि क्रिया होती है व्यापक में क्रिया कहना असंगत है इसलिये व्यापक परमपददेव की चलनादि क्रिया का अभाव रूप अचलत्व तीसरा गुण है।

४-असंख्यत्व द्वित्वादि संख्या शून्यत्व रूप असंख्यत्व परमपददेव का चौथा गुण है।

५-अनाधारत्व किसी के आश्रित न रहना। भाव यह है कि व्यापक वस्तु स्वप्रतिष्ठित होती है जैसे न्याय के मत से आकाश यह परमपददेव भी व्यापक स्वप्रतिष्ठित है। इसलिये यह अनाधारत्व रूप पंचमगुण उक्तदेव का जानना।

मू०—लीनता पूर्णोन्मनी लोलता मूर्छेति पञ्च गुणं शून्यम् ॥२१॥

सं० टी० कार्याणामव्यक्तावस्था लीनता। कार्यं प्रति व्यापकता पूर्णता। सृष्ट्यै वैषम्ययोग्यता उन्मनी, सहजावस्था वा कार्याय तरलावस्था लोलता। संपिण्डीभावो मूर्छता ॥२१॥

भाषा टीका—अब शून्य देव के पांच गुणों को व्याख्यान करते है।

१—(लीनता) कारण में कार्यों का प्रलय होना ही लीनता रूप प्रथम गुण शून्यदेव अर्थात् रुद्र का जानना।

२—(पूर्णता) सर्वत्र सदाविद्यमानता रूप दूसरा गुण शून्यदेव में रहता है।

३—(उन्मनी) सहजावस्था सदैव स्वरूपानुभव में निमग्न रहना ही उन्मनी का अर्थ है यह तीसरा गुण शून्यदेव में स्वाभाविक हैं।

४-(लोलता) चंचलता। भाव यह है कि संहार आदि कार्य संपादन करने के लिये चंचलता का नाम लोलता हैं यह शून्यदेव रुद्र का चौथा गुण है।

५—(मूर्च्छता) महाप्रलय में सकल संसार एकभाव को प्राप्त होता हुवा शुन्यदेव में मूर्च्छित हो जाता है इसी लिये मूर्च्छता यह पंचमगुण पूर्वोक्त शून्यदेव में जानना ॥२१॥

सत्यत्वं सहजत्वं समरसत्वं सावधानत्वं
सर्वगतत्वमिति पंचगुणं निरञ्जनम् ॥२२॥

सं० टी०—सहजत्वम् स्वरूपप्रतिष्टत्वम् नन्वेवं कार्यस्य बिनाशे तस्यापि विनाशः स्यादत आह सत्यत्वम् एकव्यक्तविनाशेऽपि व्यक्त्यन्त रे ऽनुस्यूततया नित्यत्वम् यथा घटध्वंसेऽपि कपालशर्करादौ मृद्बुद्धे विनाशाभाववत् "समरसत्वम्" एकरूपेण सर्वत्रविद्यमानत्वम् सावधानत्वम् भ्रमप्रमादरहितत्वम् सर्वगतत्वम् स्वकार्ये सर्वत्र विद्यमानत्वम्।

भा० टी०—अब क्रमप्राप्त निरञ्जन (विष्णु देव के पांच गुणों का वर्णन किया जाता है।

१—(सत्यत्व) जिस वस्तु का तीनों काल में बाध न हो वही वस्तु सत्य कहलाती हैं इस निरंजन देव का भी बाध तीनों कालों में नहीं हो सकता। अतः सत्यत्व यह उस का प्रथम गुण है।

२—(सहजत्व (अपने स्वरूपानुभव में मग्न रहना ही सहजावस्था है यही सहजत्वरूप निरंजन देव का दूसरा गुण है।

३—(समरसत्व) जिस के स्वरूप में किसी प्रकार की विषमता नहीं यह निरंजनदेव का तीसरा गुण है।
४—(सावधानत्व) समाहितात्मा। भ्रम और प्रमादादि दोषों से रहित का नाम सावधान है। निरंजन देव भी प्रमादादि दोषों से शून्य है सावधानत्व यह चौथा गुण उक्तदेव में स्वाभाविक है।

५—(सर्वगतत्व) सूत्रात्मा रूप से सर्वत्र विद्यमान रहना यही सर्वगतत्व रूप पंचम गुण निरंजनदेव का है।

मू० अक्षयत्व मभेद्यत्व मच्छेद्यत्व मविनाशित्व मदाह्यत्व मिति पंचगुणः परमात्मा। इत्यनादि पिण्डस्य पंचतत्वं पंचविंशति गुणाः ॥२३॥

सं० टी०—शक्तेः परिणामेऽप्यस्य तद्भावः प्रथमेन उपाधेरनेकत्वेऽपि स्वस्यैकत्वम् द्वितीयेन, अनवयवत्वं-तृतीयेन नित्यत्वं चतुर्थेन, आन्तरिकचिन्तादिदुर्गुणाभावः पंचमेन व्याकृतः, एतेषां समष्टि : पंच विंशति गुण समुदायः पंचतत्त्वात्मक एक एव देवः परपिण्डः सदाशिव इत्युच्यते ॥२३॥

भा० टी० अब परमात्मा (ब्रह्म) देव के पाँच गुणों का वर्णन किया जाता है।

१—(अक्षयत्व संसार रूप उपाधि के क्षय होने पर भी परमात्मदेव के स्वरूप का क्षय नहीं होता। अतः अक्षयत्वरूप प्रथम गुण परमात्मा का जानना।

२—(अभेद्यत्व) अनेकउपाधियों के भेद रहने पर भी वास्तव में परमात्मा के स्वरूप में भेद नहीं हो सकता। अतः अभेद्यत्वरूप दूसरा गुण जानना।

३—(अछेद्यत्व) परमात्मा निरवयव है इस लिये अवयवके छेदन से इसका उच्छेद नहीं होता। अतः अछेद्यत्व रूप तीसरा गुण परमात्मदेव का जानना।

४—(अविनाशित्व) अवयव विनाश को छोड़ कर स्वतः भी इस परमात्मदेव के स्वरुप का विनाश न होने से अविनाशित्व रूप चौथा गुण जानना।

५—(अदाह्यत्व) आध्यात्मिक आधिदैविक आधिभौतिक इन त्रिविध ताप रूपी दुखों से समस्त चराचर विश्व व्याप्त है। अतः इन त्रिविध दुखों की परम्परा से दग्ध होता रहता है किन्तु परमात्मदेव आन्तरिक तापादि दुःखों से रहित है अतः अदाह्यत्व रूप पंचम गुण जानना। ऊपर लिखे ये पांच गुण परमात्म देव में सदैव रहते हैं।

मू०-उक्तञ्च। अपरंपरं, परमपदं शून्यं निरञ्जन परमात्मानौ, पंचभिरेतैः सगुणै रनाद्यपिण्डः समुत्पन्नः २४

सं० टी०—अयमत्र निष्कर्षः। महाप्रलये निखिलं जगत् महा मायायां लीनं सापि चिद्रूपा सती चिद्रूपशिवेना भिन्नतयाऽभिन्नः आदिनाथो निर्गुणस्तदा सम्वृत्तः। ततः सृष्टिसमये सर्वतः प्रथमं पञ्चपंचगुणात्मकपंचशक्तीनामाविर्भावः। तत्र एकैकया सहित चेतनस्यैकैकदेवत्वेन पंचदेवा आविर्भूताः सर्वासां एकत्रीकरणे तत्समष्टिसहित श्चेतनः, अनाद्यपिण्डः सगुणपरमेश्वरः सदाशिव इत्यादि रूपेण प्रसिद्धोस्ति तस्यैव पंचावयवा अपरम्परेत्यादि, एकैकोऽप्य वयवः सकलकार्यसम्पादनपटुः। समुदायस्त्वेको ऽतएव पञ्चा- नन नामप्रसिद्धिः—श्लोके सगुणैरिति सहयोगे तृतीया पूर्वं पिण्डाभावा दयमेव प्रथमः पिण्डः साकारः। अथवा नास्ति, आद्यो यस्मादि त्यनाद्य इतः पूर्व—आद्यकारणं यस्य स इति नित्यपिण्डत्वं सूचितम् ॥२४॥

भाषा टीका—पूर्वोक्त रीति से पांच शक्तियों के समुदाय अनादि पिण्ड के अपरंपर आदि पांच देव रूप पांच तत्त्व हैं और वेही पांच अङ्ग होते हैं उन अङ्ग भूत पंच देवों में भी प्रत्येक में पांच ५ गुण रहते हैं उन सब को जोड़ देने से पच्चीस गुण होते हैं इसी अभिप्राय को श्री नाथ जी गद्य में वर्णन कर के अपरंपरमित्यादि पद्यद्वारा उपसंहार करते हैं।

यहां सारांश यह है कि महाप्रलय में यह समस्त जगत् महा शक्ति में विलीन होता है और वह चिद्रूपा महाशक्ति भी चिद्रूप परमेश्वर से अभिन्न रहती है। उस समय निर्गुण आदि

नाथ अर्थात् परमनाथ तत्त्व था उस के उपरान्त जब सृष्टि रचने का समय आता है तब सब से पहले अपने पांच २ गुणों से युक्त पांच महा शक्तियों का प्रादुर्भाव होता है और उन पाच शक्तियों में एक एक शक्ति युक्त एक २ देव रूप से सब को मिला कर पांच देव का आविर्भाव हुआ। इन सब शक्तियों के सहित जो चेतन है उसी का नाम "अनाद्यपिण्ड है और वही सगुण परमेश्वर सदाशिव इत्यादि नाम से भी प्रख्यात है, उसी सर्वेश्वर के अपरंपर, परमपद शून्य, निरञ्जन, परमात्मा ये पाँच देवता अवयव रूप हैं। इन देवों की सामर्थ्य भी जीव बुद्धी से अगम्य है। अतः 'अनाद्य" पिण्ड का अङ्ग भूत एक २ देवता भी संसार विषयक रचना पालन संहारादि कार्य सम्पादन में समर्थ है यह सब मिला कर समष्टि देव के अङ्ग स्वरूप हैं। इसी लिये उस समष्टि देव का पंचानन (पंचमुख) हर नाम भी प्रसिद्ध है। इस से पहले कोई अन्य पिण्ड नही था, इस कारण यह अनाद्य पिण्ड कहलाया। २४॥

मू०—अनाद्यात् परमानन्दः परमानन्दात् प्रबोधः प्रबोधाच्चिद्उदय श्चिदुदयात्प्रकाशः प्रकाशात् सोहम्भावः ॥२५॥

सं० टी० एतस्मात् अनाद्यपिण्डाख्यपरमेश्वरादाद्य पिण्डाख्यस्य महातत्त्वस्य पंचभूत बीजस्योत्पत्तिं व्याख्यास्यमानाः प्रथमतः तस्य पंचावयवान् पंचपंचगुणकान् क्रमेण दर्शयन्ति। अनाद्यादित्यादि ॥२५॥

भाषा टीका—अब अनाद्यपिण्ड परमेश्वर से आद्यपिण्ड पुरुष की उत्पत्ति का वर्णन किया जायगा। इस आद्यपिण्ड पुरुष के भी पांच २ गुणों से युक्त परमानन्दादि पंच देवों को अंग स्वरूप जानना। उन पाचों देवों के नाम निर्देश पूर्वक उत्पत्ति का क्रम निम्नलिखित प्रकार से जानना।

अनादि पिण्ड परमेश्वर से परमानन्द देव उत्पन्न हुआ, तथा

परमानन्द से प्रबोध, प्रबोध से चिदुदय, चिदुदय से चित्प्रकाश, चित्प्रकाश से सोहंभाव उत्पन्न हुआ । २५॥

मू०—स्पन्दो हर्ष उत्साहो निष्पन्दो नित्यसुखत्वमिति पञ्चगुणः परमानन्दः ॥२६॥

सं० टी०—अत्र आद्य पिण्डस्य पंचावयवान् परमानन्देत्यादि नाम्ना निर्दिश्य तेषु प्रत्येकं पंच पंच गुणानाह स्पन्द इत्यादि। यद्यत्कार्य सम्पादिका या या शक्तिः सा सा तत्तत्पदेनोल्लिखिता शक्तिरेव पुरुषस्य गुण इति सिद्धान्तात् तथा च **[स्पन्दः]** चलन शक्तिः **[हर्षः]** वैषयिकानन्दशक्तिः **[उत्साहः]** कृतिशक्तिः **[निष्पन्दः]** परिणाम शक्तिः **[नित्यसुखत्वम्]** स्वरूपसुखानुभवशक्तिः । एताभिः पञ्चशक्तिभिः सहितः, चेतनः परमानन्दः, आद्य पिण्डस्यैकोऽवयवः ।एवं सर्वत्र शक्ति रूहनीया ॥२६॥

भाषा टीका—अब परमानन्दादि देवों के पांच पांच गुणों का निरूपण करते हैं ।

१—(स्पन्द) चलनादि क्रिया को स्पन्द कहते हैं ।

२—(हर्ष) आनन्द या खुशी हर्ष का अर्थ है ।

३—(उत्साह) प्रयत्न की शक्ति अर्थात् हिम्मत ।

४—(निष्पन्द) नानारूप धारण करना अथवा स्थिरता ।

५—(नित्य सुखत्व) सदैव आत्म स्वरूप में नित्य सुख का अनुभव ।

ये पांच गुण परमानन्द देव में रहते हैं । २६॥

मूल—उदय उल्लासोऽवभासो विकासः प्रभा इति पंच गुणः प्रबोधः ॥२७॥

संस्कृत टीका—(उदयः) उत्पत्तिः (उल्लासः) उच्छूनता (अवभासः) 'प्रतीतिः' (विकाशः)कार्योद्गमनम् (प्रभा)स्वरूपप्रकाशः, एतत्पञ्च शक्ति सहितः प्रबोधो द्वितीयावयवः ॥२७॥

भाषा टीका—अत्र प्रबोध के गुणों का वर्णन किया जाता है।

१–(उदय) उत्पत्ति अर्थात् पैदा होना।

२–(उल्लास) चित की प्रफुल्लता।

३–(अवभास) ज्ञान।

४–(विकाश) खिलना जैसे पुष्पादि खिलते हैं।

५–(प्रभा) तेज अर्थात् स्वरूप प्रकाश।

ये पांच गुण प्रबोध देव में रहने हैं ॥२७॥

मूल–सद्भावो विचारः कर्त्तृत्वं ज्ञातृत्वं स्वतन्त्रत्व मिति पंचगुणश्चिदुदयः ॥२८॥

संस्कृत टीका—सद्भावः सत्ता (विचारः) विवेकः। कर्तृत्व ज्ञातृत्व स्वातन्त्र्य शक्ति सहित श्चिदुदय स्तृतीयावयवः ॥२८॥

भाषा टीका—अब चिदुदय के पांच गुणों का वर्णन करते हैं।

१–(सद्भाव) सदा रहना।

२–(विचार) नित्य अनित्य वस्तु का विवेक।

२–(कर्तृत्व) कर्तापन अर्थात् करने का स्वभाव।

४–(ज्ञातृत्व) जानने का स्वभाव।

५–(स्वतन्त्रत्व) दूसरे के अधीन न रहना।

ये उपरोक्त पांच गुण चिदुदय देव में रहते हैं। २८

मूल–निर्विकारत्वं निष्कलत्वं निर्विकल्पत्वं समता विभ्रान्ति रिति पञ्च गुणः प्रकाशः ॥२९॥

संस्कृत टीका—निर्विकारत्वं कार्यगतदोषासङ्गित्वशक्तिः, निःकलत्वं कार्यसम्बन्धि भेदरहितत्वम् निर्विकल्पत्वं संशयरहितत्वम् समता, एकरूपेण सर्वत्रानुगतत्वम् विभ्रान्तिः, विगता भ्रान्तिरिति विग्रहे विपर्य्ययादि दोषशून्यत्वम् एतत्पञ्चशक्तियुक्तः प्रकाशश्चतुर्थावयवः।२९

भाषा टीका—१–(निर्विकारत्व) उत्पत्ति, बृद्धि इत्यादि वि-

कारों का अभाव।

२-(निष्कलत्व) अवयव आदि का न होना।

३-(निर्विकल्पत्व) संशय रूप विकल्प का न होना।

४-(समता) सर्वत्र एक रूप से रहना।

५-(विश्रान्ति) विषयों से उपराम अर्थात् हट जाना।

ऊपर के ये पांच गुण चित्प्रकाश देव में रहते हैं ॥२९॥

मूल—अहन्ताऽखण्डैश्वर्यं स्वात्मता विश्वानुभव सामर्थ्यं सर्वज्ञत्वमिति पञ्चगुणः सोऽहम्भावः। इत्याद्य पिण्डस्य पंचतत्वं पञ्च विंशति गुणाः। परमानन्दः प्रबोधश्चिदुदय श्चित्प्रकाशः सोहम्भावइत्यन्त आद्यपिण्डो महातत्त्व युक्तः समुत्थितः ॥३०॥

संस्कृत टीका—अहंता समष्टि रूपत्वात् सर्वत्राहंभावः। अतएवाऽखण्डैश्वर्यं सर्वोपरिशासन शक्तिः किं द्वेष दृष्ट्या नेत्याह (स्वात्मता) अत्र स्वपदमात्मीयबोधक मन्यथा आत्मपदेन पौनरुक्त्यं स्यात् स्वस्व, आत्मा, आत्मीय इति यावत् तस्यभावः, तथा च सर्वत्र आत्मीयत्वेन द्वेषस्या सम्भव एवेति बोध्यम्। अतएव विश्वानुभवसामर्थ्यम् सकल साक्षात्कार शक्तिः। सिंहावलोकन न्यायेन शक्तिपदस्य प्रत्येकं योजनाय अन्त्यान्ते शक्तिपर्य्यायसामर्थ्यपदमुपन्यस्तम्। सर्वज्ञत्वमतीतानागत विषयक ज्ञान शक्तिः, एतत्पंचशक्तिविशिष्टः सोहंभावः पञ्चमावयवः। एतेषां समवाय आद्यपिण्डः! अयमेव पञ्च विंशति गुणात्मक महाततत्व गुण योगात् महत्तत्वपदेन निगद्यते हिरण्यगर्भशब्देन वा सवै शरीरी प्रथमः सवै पुरुष उच्यते इति स्मृतिः। हिरण्य गर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातःपतिरेक आसीदिति श्रुतिः ॥३०॥

भाषा टीका—१-(अहन्ता) सर्वत्र अहंभाव, अर्थात् मैं ही सब जगह व्यापक रूप से हूं।

२-(अखण्डैश्वर्य) अणिमादिक अष्टविध ऐश्वर्य।

३-(स्वात्मता) सर्वत्र आत्म बुद्धि, अर्थात् सब प्राणियों को अपने समान देखना।

४-(विश्वानुभव सामर्थ्य) सूक्ष्म और स्थूल सकल पदार्थों के प्रत्यक्ष करने की योग्यता।

५—(सर्वज्ञत्व) सर्वज्ञता अर्थात् सब कालिकक ज्ञान शक्ति।

ये पूर्वोक्त पांच गुण सोऽहंभाव देव में जानना।

इस प्रकार आद्य पिण्ड के परमानन्द आदि पांच देवता ही पांच अङ्ग हैं, और प्रत्येक अङ्ग में पांच पांच गुण होने से सबको मिला कर पच्चीस गुण होते हैं। इन पांच देवों का समुदाय महत्तत्व रूप आद्यपिण्ड उत्पन्न हुआ। इसी को शास्त्रान्तर में हिरण्यगर्भ नाम से कहा है।

मूल—आद्यान्महाकाशो महाकाशान्महावायुर्महावायोर्महातेजो महातेजसो महासलिलम् महासलिलान्महापृथ्वी ॥३१॥

संस्कृत टीका—एते पञ्च भूताः कार्यभूताः। महापदादानेन कारणभूताः शब्दतन्मात्र स्पर्शतन्मात्र रूपतन्मात्र रसतन्मात्र गन्धतन्मात्र रूपा अपि संगृहीता द्रष्टव्याः। तेषां प्रत्येक मेकैकस्य पञ्च पञ्चगुणान् प्रदर्शयन्ति ॥३१॥

भाषा टीका—अब क्रम से आकाश आदि पंच महाभूतों की उत्पत्ति क्रम का निरूपण किया जाता है।

पांच महा भूतों का कारण आद्यपिण्ड सूत्रात्मा है उस से महा आकाश उत्पन्न हुआ। एवं महा आकाश से महावायु प्रकट हुआ। तथा महावायु से महातेज और महा तेज से स्थूल जल, स्थूल जल से स्थूल पृथिवी उत्पन्न हुई। ३१॥

मूल—अवकाशोऽच्छिद्रमस्पृशत्वं नीलवर्णत्वं शब्दत्व मिति पञ्च गुण आकाशः।

सं० टी०—[अवकाश] सर्वेषां मूर्तपदार्थानां समावेशो यथावस्थैव

... त यत्रावकाश आकाशेन न प्रदीयेत । अन्यथा परस्परं प्रतिघाते चलन विहरणादि न सिद्ध्येत । **[अच्छिद्रम्]** छिद्रपदार्थः शून्यं तच्छिद्रम् । एतेनावरणाभाव एवाकाशो न तु भाव पदार्थइति सुगत समयो निरस्तो वेदितव्यः । तथाहि वहुजन समाकुले स्थले क तिष्ठेयमिति केन चित् पृष्टोऽपरो ब्रूते यत्रावरणाभावस्तत्र तिष्ठेति वाक्ये यत्रेत्याधारभूतः कश्चन पदार्थो बोध्यतेऽभाव पदेन चाधेयभूत स्तथा चा धाराधेययोः कुण्डवदरवल् लोके भेदो दृष्टः । ततश्चाभावाद् भिन्नो य आधेयभूतः स एवाकाशो ऽभाव भिन्नत्वाद् भावभूतः । किञ्च शब्दादि गुणाधारतयापि भाव पदार्थो मन्तव्यः । न जातु गुणाधिकरणता क्वचिदपि खपुष्पादौ दृष्टा । वेदे तु पदे पदे प्रतिपादितम् । एतस्मादाकाशः संजातः । उत्पत्तिमत्त्वाद् भावभूत इत्यनुमाऽपि । नन्वेवं भावभूतश्चेत् तं पावकः कथं न दहति वृष्टिधारा वा कुतो ना द्रयती त्यत आह **[अस्पृशत्वम्]** न स्पृशति सज्जत इति, अस्पृशः तस्यभाव, तत्त्वं संगरहितत्वम् । अयमाशयः । यथा पार्थिवत्वाविशेषेऽपि घटादौ लोहलेख्यत्वं भवति मण्यादौ नेत्यत्रा वयवसंहननस्वभाव एव तथैवा स्यापि सावयवत्वोत्पत्तिमत्त्वगुणवत्त्वादेः साम्येऽपि तृणादीनां दाह्यता नत्व.काशस्य विलक्षणावयवसंहतत्वात् । किं च कार्य संहार शक्तिः स्वोपादानकारणे नतु कार्येऽतएवानलेन सलिलस्यावनेश्च दाहो भवति नतु वायोस्तदुपादानत्वात् । अतएवाकाशस्य सर्वभूतोपादानतया नान्यभूतसंहार्य्यता महाप्रलये तु भवति प्रकृतिसंहार्य्यतेति युक्ति मुत्पश्यामः । नीलवर्णम् नीलरूपम् विरलावयवोहि नीलः । ननु सर्वस्य नीरूपत्वं प्रतिष्ठापितम् कुतोऽत्र नीलरूपं व्यवस्थाप्यत इति चेत्सत्यम् अन्यै लौकिक प्रमाणैः परीक्ष्यते । अत्र तु धर्ममेघ समाधिना प्रमाण राजेन । अतो नास्ति विरोधः । सूक्ष्मरूपेण सद्भावात् नापामरं निरीक्ष्यते समाधौतुसूक्ष्मदृष्ट्युन्मेषेण निरीक्ष्यते योगिभिः । तदातज्ज्ञानं भ्रमं मत्वा समाधावपि भ्रमो ना पसरतीति विपरीत प्रत्ययो योगिभिर्नाधेय इत्युपदेशाय वस्तुतो विद्यमानमेव सूक्ष्मरूपं तत्र व्यज्यते स्वदृष्टेरति विशदतया यन्निरीक्ष्यते तत्सत्यमेव न भ्रमो मन्तव्य इति । यथा परमाणो र प्रत्यक्षत्वम् प्रतिष्ठापितम् लौकिक दृष्ट्या तत्तथ्यमेव

किन्तु यन्त्र विशेषेण परमाणुरपि निरीक्ष्यते न तावतोभयोर्विरोधः । भिन्न प्रकारेण प्रतिपादनात् । उपादाने सूक्ष्मावस्थया विद्यमान एव गुणः स्वकार्येऽभिव्यज्यत इति शरणैः सकलैरेव सद्वादावलम्बिदार्शनिकै रङ्गीकृततया पृथिव्यामभि व्यक्तं नीलं परम्परया नीलरूपवदुपादानत्वात् घटोपादान कपालोपादान मृद्वत् । अन्यथा प्रकृतेः सर्वोपादानता भज्येतेति विपक्षवाधक स्तर्कः । ननु अन्येऽपि गुणाः कथं न तत्र प्रतिपाद्यन्ते इति नोत्प्रेक्षितव्यम् समाधिनापि तेषां तत्र भानाभावात् । अस्य च भानात् यो यत्र भास्यन्ते स तस्य गुण इति निगलितनीत्या लौकिक प्रमाणै र्ये यत्र भास्यन्ते ते तस्य गुणा इति रीत्या आकाशस्य नीलरूप वत्वं व्यवस्थापितम् इति कानुपपत्तिः को वा विरोधगन्धोपीति विविच्यताम् विवेका नुषक्त चेतोभि र्विमर्शिचद्वरै र्निर्मत्सरैः । असद्वादावलम्बिमतमादाय विप्रतिपत्ता असद्वाद एव तावद् श्रुतिस्मृति युक्त्यासकलप्रमाणप्रतिषिद्ध इति दण्डनिपातेन परिहरणीयः । श्रुति स्मृत्यादयोऽपि सद्वाद प्रदर्शनेन मदीयानुमानेऽनुकूला एव न प्रतिकूलतामाचरन्तीति वेद्यम् [शब्दत्वम्] शब्दो ऽस्त्यस्मन्निति मतुपि गुण वचनेभ्यो मतुपो लुगिष्ट इति लुकि ततोभावे त्वप्रत्यये शब्द इति फलितम् प्रकृति जन्य बोधे प्रकारस्य भावपदार्थत्वात् एते पञ्च गुणा आकाशे सन्तीति केचित्तु विशेषरूपाभाव एव एवञ्चाकाशे कस्यापि विशेषरूपस्य मानाभावे नील वर्णो यमिति व्यवहारो दृष्टश्च लोके अकृष्णोऽपि देवदत्तः पटोवा उज्ज्वलश्वेताभावेऽपि नीलोयमिति व्यवह्रियते । अत एवोपासनाकाण्डे रूपरहितस्यापि परमेश्वरस्य नीलरूपवत्वेनोपासते यथा च नैयायिका तेजोभाव एव तम इति निगदन्तीत्याहुः ॥३२॥

भाषा टीका—अब आकाश के पाँच गुणों का निरूपण करते हैं

१—(अवकाश) पोल, अर्थात् सर्वमूर्त पदार्थों का आश्रय।
२—(अछिद्र) छिद्रशून्य अर्थात् जिस में छेद न हो।
३—(अस्पृशत्व) स्पर्श से रहित याने जो छुवा न जा सके।
४—(नीलवर्णत्व) नीलरूप।

५—(शब्दत्व) ध्वनि अर्थात आवाज
ये पूर्वोक्त अवकाशादि पांच गुण आकाश के जानना।

मू०--सञ्चारः संचालनं स्पर्शनं शोषणं धूम्रवर्णत्व-मिति पञ्चगुणो महावायु ॥३३॥

सं० टी०--[सञ्चारः] चलन : क्रिया, संयोगानुकूलव्यापार इति पंचसु भूतेषु सर्वतः प्रथमं वायावेव गमनक्रिया ऽभिव्यज्यतेऽतः, तस्यैवासाधारणो गुणो मन्तव्यः। नन्वेवंतेजस उर्द्ध गमनं जलस्य निम्नचलन मित्यादि कथं दृश्यते इत्यत आह [संचालनम्] अन्येषु चलन जनिका प्रेरणा संयोगानुकूलव्यापारानुकूलव्यापार इतियावत्। एतदुक्तं भवति स्वतश्चलनं तत्रैव ततसम्बधादेवा ऽन्यत्रापि तदुत्पद्यते ऽत एव मृतशरीरे ऽन्तःप्रेरक वायु विरहान् न चलनादि जायते जीवच् शरीरे तत्सत्वे तद् भवतीति तद्भावाभावानुविधायित्वात् सिद्धं तन्निमित्तकं चलनम्। अतएव चेन्द्रियादि निग्रहाय प्राण एवावरोध्यते प्राणायामेन योगिभिः। तस्मिन्नवरुद्धे ऽवरुद्धान्येव भवन्तीतरेन्द्रियाणीति प्रत्यक्षतरम् बटुतरयोगिनामपि। अधिभूतसृष्टिष्वपि दीयताम् दृष्टिः यद्ययम् प्रवहादिवायुर्न प्रवहेत तदा कुकुमुदकमलिनीपतितारागोलचक्र भ्रमणनिमित्तक निखिलरात्रिंदिवादिव्यवहार स्तत्क्षणं प्रलुप्येतेति स्वयन्निरीक्ष्योत्प्रेक्ष्यताम् वा शिक्ष्यताम् ज्योतिषादिशास्त्रतः। [स्पर्शनं] स्पर्श गुणः। अत्र शीतोष्णादिविशेषरूपेणानवभासात् सामान्ये नाभिहितमतो ऽनुष्णाशीत स्पर्श इतिफलति। एतस्यैव विशेषा यथा शीतादि जलादिभूतेषु। [शोषणम्] अन्येषां जलादीनां तदीय गुणानां वा स्वावयवेषु संहरणंवा प्रसारणंशोषणपदार्थः। अतएव श्री गंगा गतशैत्य पावनत्वादि तत्तटेऽपि कुसुमकाननपरिसरवर्त्तिनामपि बहुलामोद श्चेत्यादि बहुतरमुन्नेयम्। [धुम्रवर्णत्वम्] कृष्णलोहितरूपम् अत्रापि यद्वक्तव्यम् तत् पूर्वोक्तमेव। एते पञ्चगुणा महावायौ सन्ति।

भाषा टीका—अब वायु के पांच गुणों का वर्णन किया जाता है।

१—(संचार) चलना।

५—(संचालन) चलाना

३—(स्पर्शन) स्पर्शन अर्थात् छूना।

४—(शोषण) सुखाना

५—(धूम्रवर्णत्व) धूमे जैसा रूप।

ये उपरोक्त पांच गुण महावायु में रहते हैं। ३३ ॥

मू०— दाहकत्वं पाचकत्वमुष्णत्वं प्रकाशत्वं रक्तवर्णत्वमिति पञ्च गुणं महातेजः ॥३४॥

सं० टी०—दाहकत्वम् स्वकार्यभूतयोर्जल पृथिव्योः संहारकत्वम् अत्र दाहो द्विविधः क्वचित् गुणस्यैव यथोष्णजले केवलशैत्यगुणस्यैव न जलस्य क्वचिच्च स्वीयगुणाधिक्ये गुणिनोऽपि जलस्य तृणादेश्च [पाचकत्वम्] रूपरसान्तरसम्पादकत्वम् शरीरे ऽशिताम्रादे रसान्तर परिवर्तनं जठरानलतेजः सम्बन्धात् घटादौ श्यामरूपस्य नाशे रक्त-स्योत्पत्तिः, आम्रादिफले आमलस्य हरितरूपस्य च नाशः, माधुर्यस्य रक्त पीतादिरूपस्य चोत्पत्ति स्तज्जनक व्यापारः, विलक्षणसंयोगाख्यः पाचकत्वम् तेजोनिष्ठम्। [उष्णत्वं] उष्णगुणः, अतएवा अन्यमपि उष्णा-यति योहि स्वयं धनी स एवान्यं धनयितुमलम् [प्रकाशत्वम्] प्रकाशगुणः तमो विनाशकः [रक्तवर्णत्वम्] रक्तरूपम् भगवती श्रुति रप्याह यद्रोहितम् रूपम् तत्तेजसः। एते पञ्च गुणाः तेजसि सन्ति ॥३४॥

भाषा टीका—अब तेज गुणों का वर्णन करते हैं।

१—(दाहकत्व) जलाना।

२—(पाचकत्व) पकाना।

३—(उष्णत्व) उष्णता अर्थात् गर्मी।

४—(प्रकाशत्व) प्रकाश याने उजाला।

५—(रक्त वर्णत्व) लाल रंग।

इन पूर्वोक्त पांच गुणों से युक्त महा तेज हैं। ३४ ॥

मू०—प्रवाह आप्यायनं द्रवो रसः श्वेतवर्णत्वम् इति पञ्च गुणं सलिलम् ॥३५॥

सं० टी०—[प्रवाहः] प्रवहति नीचैर्गच्छतीति। अतएव नदी वहतीति प्रयोगः किञ्च तृणादीनां स्ववेगेन देशान्तरं प्रापयतीति प्रापणार्थक वहधातोर्घञिरूपम्। [आप्यायनं] वर्धनम् अतएव जलसंयोगात् बीजमुच्छूनं भवति जलेन विक्लेदिता स्तण्डुला ओदना भवन्ति जल सेकादेव तृणगुल्म शाल्यादयो बर्धन्त इत्यादि सार्वजनीनम् द्रवः, आद्यस्यन्दना साधारण कारण गुणो द्रवत्वम् [रस.] मधुर एव स्वाभाविकः पृथिव्याद्युपाधिवशादाम्लादिकम्। [श्वेत वर्णत्वम्] श्वेतरूपमिति सर्वजनीनम् य-च्छुक्ल तद्पामिति श्रुतिरूपदिशति। एते पञ्च गुणा जले सन्ति ॥३५॥

भाषा टीका—[**प्रवाह**] वेग। [**आप्यायन**] बढना या तरङ्गों के द्वारा ऊपर को उमड़ना। [**द्रव**] पिघलना। [**रस**] मीठा स्वाद। **श्वेतवर्णत्व** श्वेतरूप। ये उपरोक्त पांच गुण जल के जानना। ३५।

मू०—**स्थूलता नानाकारता काठिन्यं गन्धः पीतवर्णत्वमिति पंचगुणा महापृथ्वी। इति महासाकार पिण्डस्य पंचतत्त्वंपंचविंशतिगुणाः ॥३६॥**

सं० टी०—[स्थूलता] अधिकगुणासंघातः। नानाकारता। आकारो नाम अवयव सन्निवेशः सच पृथिव्यां नाना यथा घटपटगोमहिषीमातङ्गाद्यनन्तरूपा अवयवसन्निवेशाः सार्वपथीना न शक्या अपह्नोतुम् क्षीण विज्ञानादिभिरिति बोधयितुमुपन्यस्तम्। 'काठिन्यं' निबिडावयव संयोग विशेषो यथोपलादौ "गन्धः" स द्विविधः सुरभि रसुरभिश्चेति 'पीतवर्णत्वम्' पीतरूपम् यद्यपि पृथिव्यां सर्वाणिरूपाणिपूर्वभूतगुणानामुत्तरोत्तरेऽनुवर्त्तनात् तथापि यथा रक्तादयः पूर्वत्रोपलभ्यन्ते नैवं पीतम् इदं त्व त्रैवेत्यत आह पीतवर्णत्वम् इति। एते पंच गुणाः पृथिव्यां सन्ति। एतेषां समुदाय एव चिदचित्संवलितो महासाकारपंचतत्त्वात्मकः पंचविंशतिगुणाविशिष्टः पञ्चानन शिवः श्रुतौ वैश्वानर विराडादि शब्दै र्व्यवह्रियते ॥३६॥

भाषा टीका– अब पृथ्वी के पांच गुणों का वर्णन करते हैं। **[स्थूलता]** मोटापन। **[नानाकारता]** पर्वत, तरु, लता आदि रूप से तथा सम विषम मरुस्थल आदि भेद से पृथ्वी के अनेक आकार देखने में आते हैं। यही नाना आकारता पृथ्वी का दूसरा गुण है।

काठिन्य] कठिनता अर्थात् कड़ापन **[गन्ध]** महक। यहां सुगन्ध और दुर्गन्ध। इन दोनों का गन्धपद से ग्रहण जानना **[पीतवर्णत्व]** पीलावर्ण। यद्यपि पृथ्वी में और भी चित्र विचित्र रंग देखने में आते हैं तब पीला रूप पृथ्वी का विशेष गुण क्यों कहा तथापि जैसे तेज आदि में लाल रंग आदि की प्रतीति होती है वैसे पीला रंग पृथ्वी से अन्यत्र नहीं देखने में आता केवल पृथ्वी में ही अभिव्यक्त होता है। अतः पीले वर्ण को ही पृथ्वी का गुण कहा है। ये पूर्वोक्त पांच गुण महापृथ्वी में रहते हैं।

भाषा टीका—इन पांच महाभूतों का समष्टिरूप महा-साकार पिण्ड होता है और उस समष्टि पिण्ड के आकाश आदि पांच भूत ही पांच तत्त्व रूप पांच अंग हैं। तथा एक भूत में पांच गुण होने से पच्चीसगुण साकार पिण्ड के जानना। ३६ ॥

मूल–स एव शिवः शिवाद् भैरवो भैरवाच् श्रीकण्ठः श्रीकण्ठात् सदाशिवः सदाशिवादीश्वर ईश्वराद्रुद्रो रुद्राद्विष्णु विष्णो ब्रह्मेति महासाकार पिण्डस्य मूर्त्यष्टकम् ॥३७॥

सं० टी०–"स एव" पूर्वोक्त पिण्ड एव शिवस्ततो भैरवोजातः सोऽपि तावद्गुण विशिष्टो न तु न्यून इत्येकस्यैव शिवस्य मूर्त्यष्टक कथनेन व्यज्यते शिवो भैरवः श्री कण्ठः सदाशिव ईश्वरो रुद्रो विष्णु ब्रह्मेत्यष्टौ मूर्त्तयः संजाता एते हि समष्टिभूता देवा अनन्त ब्रह्माण्डान् रचयन्ति यथासमयं प्राणिकर्मानुरूपं रक्षन्ति नियमयन्ति संहरन्ति तारयन्ति च ततः ब्रह्माण्ड प्रतीशास्ते सर्वे मुमुक्षुभिर्बुभुक्षु

भिश्च स्वस्वाभिष्ट सिद्ध्यै पूजनीया इति प्राग्ऽनुजिघृक्षयोपदिशन्त्या-चार्याः ॥३७॥

भाषा टीका—अब साकार आठ देवों के उत्पत्ति क्रम का निरूपण किया जाता है। जो पूर्वोक्त विवृत आठ पिण्ड हैं वहां पच्चीस गुण स्वरूप चित अचित् रूप से महासाकार पिण्ड रूप में प्रकट हुआ और वही साकार पिण्ड पंचानन शिव कहलाता है। उस साकार शिव जी से भैरव प्रकट हुआ। भैरव से श्री कण्ठ श्री कण्ठ से सदाशिव सदाशिव से ईश्वर ईश्वर से रुद्र रुद्र से विष्णु और विष्णु से ब्रह्मा जी पैदा हुये। इस प्रकार महा साकार विष्णु की आठ मूर्तियों का विभाग जानना। आधिदैविक आधिभौतिक आध्यात्मिक इस प्रकार तीन भेदों से त्रिविध सृष्टि प्रधान है। क्यों कि अधिष्ठाता अन्तर्यामी देव के द्वारा ही चराचर सकलविश्व का संचालन होता है और देवोपासना द्वारा ही चार प्रकार के पुरुषार्थ की सिद्धि होती है। इस लिये इस ग्रन्थ में सब से पहले देव सृष्टि का निरूपण किया गया है। ३७ ॥

मू०—तद् ब्रह्मणः सकाशादवलोकनेन नरनारी रूप प्रकृतिपिण्डः समुत्पन्न स्तत्र पंच पंचात्मकं शरीरम् ॥३८॥

संस्कृत टीका—[तस्मात् ब्रह्मणः] परमेष्ठिनः सकाशादवलोकनेन, संकल्पेन स्त्री सम्पुटितः पुरुषः। [प्रकृति पिण्डः] व्यक्ति सृष्टेः कारणभूतो मनुप्रजापतिः शतरूपासहितः संजातः, ततः प्रभृति जरायु-जादिभौतिकसृष्टिर्भवति। तदपि शरीरं पंचभूतात्मकं प्रत्येकभूतस्य पञ्च पञ्च गुणात्मकं तस्मिंस्तस्मिन् शरीर एकैकभूतस्य यानि यानि कार्याणि तानि प्रदर्शयन्ति, अस्थिमांसेत्यादि मनुष्यानधिकृत्य प्रवृत्त मिदं शास्त्रम् अतो मनुष्य शरीरेषु पंचानामपि भूतानां विद्यमानत्वे-ऽपि पृथिव्यंशस्याधिक्येन पार्थिवत्वम् तस्मात् प्रथमम् पृथिवीकार्या-ण्यारभ्याकाशगुणकथनेन समापितम् ॥३८॥

भाषा टीका—इस के उपरान्त देव मनुष्यादि सृष्टि के क्रम से

प्रेरित हुये ब्रह्मा जी के संकल्प द्वारा और उसी परमपितामहब्रह्मा जी से नरनारी रूप प्रकृतिपिण्ड अर्थात् शतरूपा सहित मनुप्रजापति उत्पन्न हुआ। उस के बाद उनसे जरायुज अण्डज स्वेदज आदि समस्त भौतिक पिण्डों की उत्पत्ति हुई। और वही प्रकृति पिण्ड पांच भूतों के पांच पांच गुणों से युक्त होने से पांचभौतिक शरीर कहलाता है और यह भौतिक शरीर भी पंचभूतात्मक है। वहाँ पर शरीरगत पाँच भूतों के गुणों का वर्णन विपरीत क्रमद्वारा किया जायगा अर्थात् पृथ्वीसे लेकर आकाश पर्यन्त इस का आशय यह है कि मनुष्यों का अधिकार करके यह शास्त्र प्रवृत्त हुआ है और मनुष्यों के शरीर में पाँच भूतों के विद्यमान होने पर भी पृथ्वी अंश का आधिक्य है। इसी लिये यह पार्थिव शरीर कहलाता है। अतः इस शरीर में सब से पहले पृथ्वी के गुणों का वर्णन किया जायगा। बाद में जल से ले कर आकाश पर्यन्त के गुणों का वर्णन करेंगे। ३८ ॥

मू०--अस्थि मांसत्वङ्नाड़ीरोमाणीति पंच गुणा भूमिः ॥३९॥

संस्कृत टीका--शरीरेऽस्मिन् भुक्ताभोगचितानाम् अस्थि मांस त्वङ्रोमेति पञ्चानाम् काठिन्यमुपलभ्य काठिन्यगुणविशिष्ट पृथिव्युपादानकत्वं सुनिरूपितम् भवति तथाच यद् यस्य कार्य्यम् तत्-तस्यगुण इति न्यायेन पृथिवी गुणत्व मुक्तम् ॥३९।

भाषा टीका--अब यहाँ से पृथ्वी के पाँच गुणों का वर्णन किया जाता है

[**अस्थि**] हड्डी। [**मांस**] मांस। [**त्वक्**] त्वचा अर्थात् खाल। [**नाड़ी**] नाड़ी। [**रोम**] लोम अर्थात बाल। ये पाँच गुण पृथ्वी के पार्थिव शरीर में रहते हैं। ३९ ॥

मूल--लाला मुत्रं शुक्रं शोणितं स्वेद इति पंचगुणा आपः ॥४०॥

संस्कृत टीका—एवं लाला मूत्र शोणित प्रस्वेदेषुद्रवत्वोपलब्ध्या जलोपादानत्वाज् जलीयगुणत्वमुक्तम् ॥४०॥

भाषा टीका—[**लाला**] लार। [**मूत्र**] पेशाब। [**शुक्र**] वीर्य। [**शोणित**] रुधिर। [**स्वेद**] पसीना। शरीरगत ये पाँच गुण जल के हैं। ४०॥

मूल--**क्षुधा तृषा निद्रा कान्तिरालस्यमिति पञ्च गुणं तेजः ॥४१॥**

संस्कृत टीका—क्षुधातृषा निद्रा कान्त्यालस्येषु च दाहकत्व पाचकत्वोपलब्ध्या तैजसत्वेन तेजोगुणत्वम् अत्र कान्ति लावण्यं शुक्ल कृष्ण साधारणो गुणः। न नु, आलस्यम् निद्राच कथं तेजो गुण इति चेत् शृणु तैजसंहि पित्तं यदा प्रवर्धमानं तत्तन्नाडीरन्ध्रान् विरलतया व्याप्नुते तदा ऽलस्यं जनयति यदा च परिपूर्णतया ऽश्नुते तदा मनसः संचरितुमवकाशाभावात् निद्रां जनयतीति प्रत्यक्षम् ॥४१॥

भाषा टीका—[**क्षुधा**] भूख [**तृषा**] प्यास। [**निद्रा**] नींद [**कान्ति**] प्रभा [**आलस्य**] काम में अरुचि शरीर में ये पाँच गुण तेज के जानना।

यद्यपि आलस्य और निद्रा में तमो गुण प्रधान होने से इन को तेज का गुण नहीं कहना चाहिये ऐसा अचानक सन्देह होता है क्योंकि आग जलने आदि तेज कार्यों में अक्सर चंचलता और तरलता देखने में आती है तथापि यहां सन्देह न करना चाहिये क्यों कि जब शरीर में तेज का कार्य पित्त बढा हुआ नाड़ियों के छिद्रों में विरल रूप से व्याप्त होता है तब वह आलस्य को उत्पन्न करता है इसीलिये श्री योगाचार्य जी ने तमोगुण प्रधान आलस्य को तेज का गुण कहा है। इसी प्रकार जिस की जठराग्नि अच्छी तरह से बढी हुई है वह पुरुष जब पेट को भरने के लिए खूब खाता है उस समय पेट की गर्मी की अधिकता से पित्त ज्यादा मात्रा में बढकर समस्त नाड़ियों के छिद्रों में पूर्ण रूप से व्याप्त होता है तब मन को नाड़ियों में इधर उधर घूमने

का अवकाश न मिलने से निद्रा उत्पन्न होती है इसी लिये श्री नाथ जी ने निद्रा को भी तेज का गुण माना है ॥ ४१ ॥

मू०--धावनं भ्रमणं प्रसारण माकुञ्चनं निरोधन मिति पंचगुणो वायुः ॥४२॥

सं० टी०—तथैव धावन भ्रमण प्रसारणा कुञ्चन निरोधेषु वायु जन्यत्वेन वायु गुणत्वम् । उत्कट कोटिक शीघ्र गमनं धावनम् अनियत दिक् देशगमनम् भ्रमणं कचित् प्लवनमिति पाठः, तस्य मण्डुकगति वदुत्प्लवनमर्थः । प्रसारणम् सर्वदिक्संयोगानुकूलव्यापारः । आकुञ्चनम् स्वाभिमुखसंयोगानुकूलव्यापारः । निरोधनम् नियतदेश संयोगानुकूल व्यापार इत्यर्थः ॥४२॥

भाषा टीका—अब शरीर में वायु के पांच गुणों का वर्णन किया जाता है ।

धावन दौड़ना । **भ्रमण** घूमना या **प्लवन** तैरना । **प्रसारण** फैलाना **आकुञ्चन** खेंचना या समेटना । **निरोध** प्रतिबंध, अर्थात् रोकना । ये उपरोक्त पांच गुण शरीरस्थ वायु के जानना । ४२

रागो द्वेषो भयं लज्जा मोह इति पंच गुण आकाशः। इति पंच विंशति गुणानां भूतानां पिण्डः ॥४३॥

सं० टी०--एवम् राग द्वेष भय लज्जा मोहेषु सूक्ष्मत्व हृदयाकाश संचारित्वयोरुपलब्ध्या हृदयाकाशाश्रितान्तःकरणाश्रितत्वेन चाकाश कार्यत्वम् साक्षात् परम्परयाच निश्चितयाकाशगुणत्वमुक्तम् अन्यत सर्वं सुगमम् पूर्वोक्तपंचविंशतिगुणात्मकभूतानां समुदायो भौतिक शरीरमिदम् ॥४३॥

भाषा टीका—अब शरीर गत आकाश के पांच गुणों का वर्णन करते हैं । **राग** धन पुत्र स्त्री इत्यादि भोग्य विषयों में आसक्ति का नाम राग है । **द्वेष** अप्रीति, वैर अर्थात् आत्म प्रतिकूल पदार्थों में प्रेम का न होना । राग और द्वेष ये दोनों कल्याण के बाधक हैं

अतः ये सब के लिये त्याज्य हैं, इसी भाव को लेकर श्रीनाथ जी ने विवेक मार्तण्ड में कहा है—

रागद्वेषौ यदि स्यातां तपसा किं प्रयोजनम् ।
तावेव यदि न स्यातां तपसा किं प्रयोजनम् ॥

भय डर । **लज्जा** शर्म । **मोह** अज्ञान अर्थात् वस्तु के सच्चे स्वरूप को न जानना । ये उपरोक्त पांच गुण आकाश के जानना !

शंका—ये राग द्वेषादि तो अन्तःकरण के धर्म हैं फिर आकाश के गुण क्यों कहे ?

उत्तर—जैसे शरीरस्थ हड्डी आदि पृथ्वी के कार्य होने से उसी के गुण कहे गये हैं, वैसे ही ये रागादि भी शरीरस्थ हृदयाकाश का आश्रय लेकर संचार करते हैं या हृदयाकाश में रहने वाले अन्तःकरण के आश्रित होकर ये रागादि रहते हैं । तथा हृदयाकाश का भूताकाश से भेद नहीं हैं जैसे मठाकाश का महाकाश से । अतः साक्षात् वा परम्परा से आकाश कार्य्य होने से आकाश के गुण कहे गये हैं । इस प्रकार एक एक भूत के पांच पांच गुणों का शरीर में निरूपण किया है, उन पांच भूतों के पांच २ गुणों से याने भूत समुदाय के पच्चीस गुणों से ही यह प्रकृति पिण्डरूप पंचभौतिक देह उत्पन्न होता है ।

मू०—मनो बुद्धि रहंकार श्चित्तं चैतन्यमित्यन्तः करण पंचकम् ॥४४॥

संस्कृत टीका—स्थूल शरीरं प्रदर्श्य तदभ्यन्तरे प्रविश्य तत्संचालकः सूक्ष्म शरीरापरपर्य्यायः आमोक्षं पर्यवस्थायी लिङ्गात्मा प्रदर्श्यते । सोऽपि पंच पंचात्मकः अतस्तत्र प्रथमं पञ्चवैध्यमाह मन इत्यादि, अत्रेदं बोध्यम् यथा सामूहिकरूपेण एकमेव स्थूलं शरीरं सर्वावयवानुविद्धं विभजने पार्थक्येन पञ्च पञ्चात्मकं प्रदर्शितम् तथैवेदमपि सर्वतोऽनुविद्धम् एकमेव द्रव्यं किन्तु तस्यापि विभजनेऽवयवशः पञ्चविधत्वं तत्रापि पञ्चपञ्चकार्याणि वृत्तिभेदेन विभज्य

पञ्चपञ्चात्मकं सुष्ठु व्यवस्थापयिष्यते ॥४४॥

भा० टी०—अब अन्तःकरण का वर्णन करते हैं यद्यपि अवयवी केवल एकही अन्तःकरण है तथापि अवयवों के द्वारा उसी के मन बुद्धि आदि पांच भेद जानना। अब उन ही मन बुद्धि आदि के पांच पांच गुणों का निरूपण किया जायगा—

मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त, चैतन्य, इस प्रकार से पांच प्रकार का अन्तःकरण है, ये भेद पूर्वोक्त अन्तःकरण की वृत्ति के जानना ।४४

मू०—संकल्पो विकल्पो मूर्च्छा जड़ता मनन मिति पंच गुणं मनः ॥४५॥

सं० टी०—तत्र प्रत्येकमवयवानां वृत्तिभेदेन पञ्चपञ्चगुणानाहुः। **[संकल्प इत्यादि] संकल्प** इदं मे भूयादित्याशा **विकल्पः** स्थाणुर्वा पुरुष इत्याद्याकारक एकधर्मिकविरुद्धकोटिक धर्मद्वयावगाहि ज्ञानं संशयः **[मूर्च्छा]** मोहः, अतद्वति तत्प्रकारकोबोधः। यदवच्छेदेन तत् सम्बन्धाभावः, तदवच्छेदेन तत्सम्बन्धविषयकज्ञानमिति यावत्. यथा शुक्तौ "इदं रजतम्" **[जडता]** अविवेकता **[मननम्]** तर्कः। व्याप्यारोपेण व्यापकारोपः, यदि वह्निर्न स्यात्तर्हि धूमोऽपि न स्यादित्याकारक इति पंचगुणा मनसः ॥४५॥

भा० टी०—अब शरीरगत मन के पांच गुणों का वर्णन किया जाता है।

संकल्प—यह वस्तु मुझे मिल जाय इस प्रकार की आशा का नाम संकल्प है।

विकल्प—सन्देह, अर्थात् यह मनुष्य है या कुछ और है इस प्रकार के संशयात्मक ज्ञान को विकल्प कहते हैं।

मूर्छा—मूढता, अथवा मन की अचेत अवस्था को भी मूर्छा कहते हैं।

जड़ता—मन्दता अर्थात् ग्राहिणी बुद्धि का अभाव।

मननम्— तर्क पूर्वक विचार का नाम मनन है। ये उपरोक्त पांच गुण मन में रहते हैं-। ४५

मूल—विवेको वैराग्यं शान्तिः सन्तोषः क्षमेति पञ्चगुणा बुद्धिः॥४६॥

संस्कृत टीका--**[विवेकः]** निश्चयः। यदवच्छेदेन तत्सम्बन्ध स्तदवच्छेदेन तत्सम्बन्ध ज्ञानम् । **[वैराग्यम्]** प्राप्तेष्वपि भोगेष्वलबुद्धिः, यदाह दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्यव शीकारसंज्ञा । तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्य मिति भगवान् पतञ्जलिः । **[शान्तिः]** विक्षेपाभावः । **[सन्तोषः]** यादृच्छिकोपपन्नेषु कृतार्थता **[क्षमा]** सत्यप्यपराधे प्रसहसनमिति पंच-गुणा बुद्धौ ॥४६॥

भाषा टीका—अब बुद्धि के पांच गुणों का निरूपण करते हैं।

विवेक-वस्तु के स्वरूप का यथार्थ निश्चय विवेक कहलाता है।

वैराग्य-इस लोक और स्वर्गलोक के विषयों से चित्त के उपराम अर्थात् हट जाने को वैराग्य कहते हैं।

शान्ति-चित्त में चाञ्चल्यादि दोषों का न रहना शान्ति कहा जाता है।

सन्तोष-शरीर निर्वाह के लिये जैसी जितनी जो वस्तु मिल जाय उसी से सन्तुष्ट होजाने का नाम सन्तोष है।

क्षमा-दण्ड देने की शक्ति रहते हुए भी दूसरे के अपराध को सहन करने का नाम क्षमा है। ये ऊपर के पांच गुण बुद्धि में रहते हैं।

मूल—अभिमानं मदीयं मम सुखं मम दुःखं ममेद-मिति पंचगुणोऽहङ्कारः।

संस्कृत टीका—**[अभिमानम्]** अहमेव नान्यो मत्सम इति

[मदीयम्] शरीरेन्द्रियाद्याध्यात्मिकेषु सम्बन्धज्ञानम् [मम सुखम्] सुख विषयकरागः [मम दुःखम्] दुःख विषयक द्वेषः [ममेदम्] बाह्यवस्तुषु सम्बन्धज्ञानम् अवस्था भेदात् परस्परं भेदमादाय पंचविधत्वमुपवर्णितम्, अतो न पुनरुक्तता ॥४७॥

भाषा टीका–अब अहंकार के पांच गुणों का वर्णन करते हैं।

अभिमान-मैं ही अमुक कार्य करने में समर्थ हूं, दूसरा नहीं इस प्रकार के भाव का नाम अभिमान है।

मदीय-मेरा अर्थात् शरीर और इन्द्रिय आदि आध्यात्मिक वस्तुओं में 'ये मेरे हैं' इस प्रकार के सम्बन्ध को मदीय कहते हैं।

मम सुख-सुख के साथ सम्बन्ध, अर्थात सुख।

मम दुःख दुःख के साथ सम्बन्ध, अर्थात् मेरा दुःख।

ममेदम्-पुत्र कलत्रादि बाह्य वस्तुओं में 'ये सब मेरे हैं' इस प्रकार के सम्बन्ध को मम इदम् कहते हैं। उपर्युक्त ये पांच गुण अहंकार के हैं।

मूल–मतिः धृतिः स्मृतिः स्त्यागः स्वीकार इति पञ्चगुणं चित्तम् ॥४८॥

सं० टी०–मतिः इच्छा **धृतिः** उत्साहः येन शरीरेन्द्रियाणामवसाद प्राप्तौ–उत्तम्भनम् **स्मृतिः** संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञायाः सएवायमित्यस्य संस्कारेन्द्रियोभयजन्यत्वेन मात्रपदनिवेशबलान्नातिव्याप्तिः **त्यागः**, दानम् स्वीकार साहचर्यादतएव पूर्वोक्त वैराग्येन न पुनरुक्त मुद्भावनीयम् **स्वीकारः**, ग्रहणं दानानुकूलो ग्रहणानुकूलश्च व्यापारः चित्ते वर्तते, एते पञ्च चित्ते तिष्ठन्ति ॥४८॥

भाषा टीका–अब नीचे चित्त के पाँच गुणों का वर्णन करते हैं। **मति** इच्छा। यहां मति पद का बुद्धि अर्थ नहीं है।

क्यों कि बुद्धि के गुणों का तो पहले वर्णन हो चुका है। **धृति** धैर्य। अर्थात् धीरज। **स्मृति** संस्कारमात्र से उत्पन्न होनेवाले ज्ञान का नाम स्मृति है। **त्याग** दान। उत्तम देश कालादि सत्पात्र को देना। विवेक मार्तण्ड में श्रीनाथ जी ने भी दान देने का महत्त्व दिखाया है "न सन्तोषसमं सौख्यं न दानेन समोनिधिः" **स्वीकार** लेना। इस प्रकार ये पांच गुण चित्त के जानना। ४८॥

मूल—विमर्शः शीलनं धैर्यं चिन्तनं निस्पृहत्व-मिति पञ्चगुणं चैतन्यमेवमन्तः करणगुणाः ॥४९॥

संस्कृत टीका—विमर्शः प्रमाणैर्वस्तु परीक्षणम् विचारः **शीलनम्** भूयोऽभ्यासः, **धैर्यम्**-शरीरस्थापकव्यापारो नतु प्रवर्धकत्वम्। अयमाशयः, उत्साहेन शरीरादौ स्फुर्ति भवतियेन स्वकार्यावि प्रवर्तते। धैर्येण तु न प्रवर्तते न निवर्तते स्थितिमात्रं भवत्यनयोर्विशेषः अतो नोत्साहेन पौनरुक्त्यम्। **चिन्तनम्** विषयाभिध्यानम् **निस्पृहत्वम्** उदासीनत्वम इष्टानिष्टोभयज्ञानशून्यता। एते गुणाश्चैतन्यं। एते सर्वे पंचविंशत्यात्मका गुणा अन्तःकरणस्यैव। इति सूक्ष्म शरीरवर्णनम् ॥४९॥

भाषा टीका—विमर्श विचार **शीलन** बारंबार अभ्यास **धैर्य** धीरता। अर्थात् महाविपत्ति आने पर भी विचलित न होना। **चिन्तन** ध्यान **निस्पृहत्व** संसार के भोगों में आसक्त न होना। येपाँच गुण चैतन्य (अन्तः करण) के जानना। इस प्रकार पूर्वोक्त रीति से एक ही अन्तः करण के वृत्तिभेद के द्वारा मन बुद्धि आदि रूप से पाँच विभाग कर प्रत्येक में पाँच पाँच गुणों की निरूपण प्रणाली से २५ गुणों का निरूपण समाप्त हुआ। ४९॥

मूल—सत्वंरजस्तमः कालो जीव, इति कुल पञ्चकम् ॥५०॥

संस्कृत टीका—एषां प्राधान्येन सृष्टेः सञ्चालकतया कारण-त्वम्। अतः कुलपञ्चकशब्देन व्यवह्रियते योग तन्त्रे ॥५०॥

भाषा टीका— सत्व, रज, तम ये तीन गुण तथा काल और जीव ये कुलपञ्चक कहलाते हैं। भाव मन बुद्धि और इन्द्रिय आदि के संचालन में इन को प्रधानता रहती है। इस लिये ये पाँच कुल यानी प्रधान कहे गये हैं। ५० ॥

मूल—दया धर्मः क्रियाभक्तिः श्रद्धेति पंच गुणं सत्त्वम् ॥५१॥

संस्कृत टीका—तत्र प्रत्येकं पञ्च गुणान् विभजते **दया** प्राणिनामनुग्रहः, **धर्मः**- सुख जनकोऽदृष्टविशेषः **क्रिया**- धर्मजनकर्मा अराधनमननादि कर्म **भक्तिः**परमेश्वर तदङ्गदेव तातमंत्रतदुक्तवाक्य तन्नियमितुमर्यादाविषयिणी प्रीतिः **श्रद्धा** पूर्वोक्तविषयकास्तिक्य बुद्धि रेते पञ्च गुणाः सत्वस्य ॥५१॥

भाषाटीका- अब सत्व गुण के कार्य रूप पाँच गुणों का निरूपण करते हैं। **दया** प्राणियों पर कृपा करने का नाम दया है। **धर्म** सुखविशेषको उत्पन्न करने वाला श्रेष्ठ कर्म। **क्रिया** देवताविषक ध्यान और उपासनादि कर्म को क्रिया कहते हैं। **श्रद्धा** इस लोक से अतिरिक्त परलोकआदि भी हैं ऐसी बुद्धि का नाम श्रद्धा है। **भक्ति** ईश्वर में अनन्य भाव से प्रेम होना भक्ति कहलाती है। ५१ ॥

मूल—दानं भोगः श्रृङ्गारो वस्तु ग्रहणं स्वार्थ संग्रहणमिति पंचगुणंरजः ॥५२॥

संस्कृत टीका—**दानम्** फलमुद्दिश्य, देशकालपात्राद्यविचारेण द्रव्यविनियोगः। **भोगः**, सुख दुःखान्यतरसाक्षात्कारः**श्रृङ्गारः**, भोगाय नित्यशरीरपरिमार्जनम् नतु मोक्षाय संस्कारबुद्धया, **वस्तु**-

ग्रहणम् उपयोगमनन्वालोच्य सर्वत्र स्वामित्वसम्पादनम् **स्वार्थसंग्रहणम्** स्वभोग जनकसंचयः, एते गुणा रजसः ॥५२॥

भाषा टीका—अब रजोगुण के कार्यभूत पांच गुणों का वर्णन करते हैं। **दान** भावीफल की आशा से शुभ देश और शुभ समय में सत्पात्र का विचार न करके यथा शक्ति धन अन्न और वस्त्रादि देना। **भोग** सुन्दर रूप रस सुगन्ध और स्त्री आदि विषयों में रमण करने का नाम भोग है। **शृङ्गार** अनेक चित्र विचित्र रङ्ग विरङ्गे और चमकीले वस्त्र भूषणादिकों से शरीर को सजाने का नाम शृङ्गार है। **वस्तुग्रहण** अपने भोग के लिये उपयोगी चीजों का लेना **स्वार्थग्रहण** दूसरे की हानि का ध्यान न करके सिर्फ अपने भोग के लिये ही वस्तु के ग्रहण को स्वार्थ ग्रहण कहते हैं ॥५२॥

मूल–विवादः कलहः शोको वधो वञ्चनमिति पंचगुणं तमः ॥ ५३ ॥

संस्कृत टीका-विवादः-व्यर्थकथनं **कलहः**-अन्यायेन विरोधः **शोकः**, अशक्येपि शक्यबुद्ध्यापरिदेवनम् **वधः**-हिंसा **वञ्चनम्** इष्टविघाताय प्रतारणम् अत इष्टजनकाध्ययनादि सत्कर्मणि बालानां प्रतारणं न तामसम्। एते पञ्चगुणा स्तमसः ॥५३॥

भाषा टीका— अब तमोगुण के कार्यभूत पंच गुणों का निरूपण करते हैं **विवाद** विना प्रयोजन बोलना **कलह** आपस में विरोध। **शोक**—संताप। **वध** मारना **वंचन**-ठगना। ५३ ॥

मूल–कलना कल्पना भ्रान्तिः प्रमादोनर्थ इति पंच गुणः कालः ॥५४॥

संस्कृत टीका–कलना निखिल चराचरवस्तूनामायुः परिगणननिमित्तता। अलएव हिरण्यगर्भस्यापि द्विपरार्धपरिमितमायुरन्येषां

कथैव का **कल्पना** सकल रचना हेतुता। अतएव कश्चित वसन्ते जायते। अपरो हेमन्त इत्यादि नियमः। **भ्रान्तिः,** भ्रमधातोर्ण्यन्तात् क्तिच्। परिवर्तननिमित्तता। यथा बाल्याद् यौवनं ततो वार्धक्यं नवीनता पुराणतेत्यादि परिणामो भवति वस्तूनाम्। भ्रमहेतुता वा यया प्राचीं प्रतीचीं मन्यते। **प्रमादः** अनवधानताजनकव्यापारः। अत्रापि मद्धातोर्ण्यन्ताद्च्। अतएव प्राणिनः समय विशेषे स्वस्वकृत्येऽनवधाना भवन्ति तद्दीयनिमित्तकारणता कालस्येति यावत्। **अनर्थः** अनिष्टजनकव्यापारः। अनेनैव प्रेरितः कदाचिदनिष्टमपि चिन्तयति सम्पादयन्ति च एते गुणाः कालस्य ॥५४॥

भाषा टीका—अब काल के पाँच गुणों का वर्णन करते हैं। **कलना** एक दो इत्यादि संख्या की गणना **कल्पना** अनेक वस्तु रचना की सामर्थ्य। **भ्रान्ति**-किसी वस्तु विषयक विपरीत ज्ञान। **प्रमाद**—असावधानी। **अनर्थ**-अनिष्ट कार्यों में प्रवृत्त होना। ५४

मू०—जाग्रत् स्वप्नः सुषुप्ति स्तुरीया तुर्यातीतमिति पंचगुणोजीवः ॥५५॥

संस्कृत टीका—जाग्रत् स्थूलशरीराभिमानपूर्वक विषयेन्द्रिय सन्निकर्षजन्यज्ञानावस्था **स्वप्नः,** बाह्येन्द्रियव्यापाररहितत्वे सति संस्कारजन्यमानसज्ञानावस्था **सुषुप्तिः,** आत्माविद्यास्वरूपसुखैतत्त्रयातिरिक्त यावद् विषयकज्ञानाभावावस्था। **तुरीया** अविद्यारहितत्वेसति द्वैतभानाभावे च सति मानसवृत्तिः, **तुर्य्यातीतम्** मानसनिखिलवृत्ति विरहपूर्वकस्वरूपमात्र सद्भावः, एते पंचगुणा जीवस्य ॥५५॥

भाषा टीका—अब जीव की जाग्रत् आदि पांच अवस्थाओं का वर्णन करते हैं। **जाग्रत्**-इन्द्रियजन्यज्ञान की अवस्था का नाम जाग्रत् है। **स्वप्न** बाह्य इन्द्रियों के शान्त होने पर वासना द्वारा

मनके अन्दर अनेक वस्तुओं का ज्ञान होना स्वप्नावस्था कहलाती है। **सुषुप्ति**-जिसमें बाह्य इन्द्रिय तथा मन इन दोनों के द्वारा ज्ञान न हो ऐसी गाढ़ निद्रा का नाम सुषुप्ति है। **तुर्या** अपने आत्म स्वरूप विषयक एकाग्र चित्तवृत्ति। अर्थात् जिस समय अविद्या का भी भान न हो तथा द्वैतप्रपंच की भी प्रतीति न होती हो अपितु केवल आत्म विषयक मानसिक वृत्ति का प्रवाह जिस अवस्था में हो उसीको जीव की तुर्यावस्था कहते हैं। **तुर्य्यातीत**-निर्विकल्प समाधि। इस अवस्था में समस्त अन्तः करण की वृत्तियों का निरोध होजाता है।५५

मूल-इच्छा क्रिया माया प्रकृति र्वागिति व्यक्ति पंचकम् ॥५६॥

संस्कृत टीका-तत्रैव सूक्ष्मशरीरे ये प्रधानगुणा यै र्व्यवहारः सम्पद्यते तेषां पृथक् कृत्य व्यज्यते व्यवहारादिना ज्ञाप्यते या सा व्यक्ति रथवा व्यज्यते संभोगविषयो ययेति तत्पञ्चकम् विभज्यते। जीवस्योप भोगसाधनं तत्पञ्चकमिति भावः ॥५६॥

भा० टी०-अब व्यक्ति पंचक का निरूपण किया जाता है। इच्छा, क्रिया, माया, प्रकृति, वाक् इन पांचों को व्यक्ति पञ्चक कहते हैं।५६

मूल-उन्मादो वासना वाञ्छा चिन्ता चेष्टेति पंच गुणेच्छा ॥५७॥

सं० टी०-उन्माद उन्मत्तता इच्छाभंगे सति जायते अत-स्तेन परपुरुषवर्तिनी च्छा ऽनुमीयते, कार्येण कारणानुमानस्य सकल लोकतन्त्रप्रसिद्धत्वम्। वाऽनेनाप्यनर्थमनुभवति **वासना** प्रवृत्तिजनक व्यापारो वास्यते स्थाप्यते शरीरादि कर्तव्यम्प्रति अनयेति व्युत्पत्तेः। **वाञ्छा** धनाभिलाषा तस्या एवावस्था विशेषः, पुरुषस्य चैतन्यमिवि-वत्भेदेऽपि गुणगुणिभावः, **चिन्ता**-इष्टविषयान्वेषणं यद्विषयकेच्छा

तद्विषयक चिन्ता जायत इति **चेष्टा** कायव्यापार एव इच्छायाः ॥५७॥

भाषा टीका-अब इच्छा के कार्यभूत पांच गुणों का निरूपण करते हैं। **उन्माद**-उन्मत्तपन अर्थात पागलपना। **वासना**-पूर्व कर्मों के द्वारा उपार्जित संस्कार अर्थात् जिसके द्वारा स्वकर्तव्य में शरीरादि लगाया जाय उसको वासना कहते हैं। **वांच्छा** धनादि वस्तु विशेष को चाहने का नाम वांच्छा है। **चिंता**-इष्टवस्तु विषयक खोज। अर्थात् यह वस्तु मुझको किस प्रकार प्राप्त होसकती है इस प्रकार मन में ध्यान करना ही चिन्ता कहलाती है **चेष्टा** शरीर के व्यापार को चेष्टा कहते हैं। ५७॥

मूल-स्मरणम् उद्योगः कार्यं निश्चयः स्वकुलाचार इति पंचगुणा क्रिया ॥५८॥

सं० टी०-स्मरणम् स्मृतिजनकमानसव्यापारो ध्यानादि, स्मर्यतेऽनेनेति व्युत्पत्तेः, **उद्योगः**-साधनविषयकव्यापारो यथा घटं चिकीर्षोर्दण्डभ्रामणम् **कार्यं** साक्षाद्घटजनको दण्डादेर्व्यापारः **निश्चय** निश्चित्तिजनकेन्द्रियव्यापारः, यथा घटावलोकनाय नयनोन्मीलनम्। **स्वकुलाचारः**-वंशपरम्परागतमर्यादापालनम्। अध्ययनाध्यापनयजनप्रजापालन कृषि वाणिज्य गो गुरुजन मज्जनादि सेवनादयः। एते क्रियायाः ॥५८॥

भाषा टीका-अब क्रिया के पांच गुणों का निरूपण करते हैं **स्मरण** संसार से उत्पन्न और स्मृति ज्ञान का उत्पादक जो मन का व्यापार है उसी को स्मरण कहते हैं। **उद्योग** कार्य्यविषयक व्यापार **कार्य** घट पटादि को उत्पन्न करने वाले साक्षात् व्यापार को कार्य कहते हैं। **निश्चय** निश्चयात्मक ज्ञान को उत्पन्न करनेवाली इन्द्रियों की क्रिया का नाम निश्चय है। **स्वकुलाचार** अपनी कुल परम्परागत मर्यादा का पालन करना ॥५८॥

मूल-मदो, मात्सर्य्यं, दम्भः, कृत्रिमत्वमसत्यमिति पंचगुणा माया ॥५६॥

संस्कृत टीका-मदः, अभिमानोऽहं धनसम्पन्नः कोऽन्यो हि मत्सम इत्यादि **मात्सर्य्यम्** मत्सरता परोन्नतिमवलोक्य कथमयमुन्नतोभवति केनाप्युपायेन पातनीय इत्थं प्रद्वेषः, **दम्भः** अल्पं विदधाति, वहुलंमन्यता, **कृत्रिमत्वम्** अन्तरन्यद्, वहिरन्यथा प्रकाशनम्, **असत्यम्** मिथ्याभिभाषणमेते गुणा मायायाः ॥५६॥

भाषा टीका-अब माया के कार्य भूत पांच गुणों का वर्णन करते हैं। **मद** अभिमान। अर्थात् मैं धनाढ्य हूँ मेरे समान कौन धनी है मैं शरीर से भी वलिष्ठ और जवान हूं इस प्रकार के अविवेक का नाम मद है। **मात्सर्य्य** दूसरे की उन्नति को न सहना। **दम्भ** कार्य तो वहुत कम करे पर दूसरे के सामने यह कहे कि मैंने अमुक काय वडे अच्छे ढङ्ग से तथा पूर्ण रूप से किया है। इसी प्रकार के व्यवहार का नाम दम्भ है। **कृत्रिमत्व** बनावटीपन **असत्य** झूठ बोलना ॥ ५६ ॥

मू०-आशा तृष्णा स्पृहा काङ्क्षा मिथ्येति पंच गुणा प्रकृतिः ॥६०॥

संस्कृत टीका-आशा भविष्यद्विषयाभिलाषः, **तृष्णा** सर्व विषयाभिलाषः, **स्पृहा** ममैवभूयादित्यभिलाषा **कांक्षा** तिष्ठतु मा व्यनंक्षीरिति सामान्येच्छा **मिथ्या** असंभाव्यस्याभिलाषो यथाहं चक्रवर्ती भूयासम् एते पञ्च प्रकृतेर्गुणाः ॥६०॥

भाषा टीका- अब प्रकृति (अंतः करण स्वभाव) के कार्यभूत पाँच गुणों का वर्णन करते हैं। **आशा** आगामी वस्तु की इच्छा को आशा कहते हैं। **तृष्णा** अपने पास निर्वाह लायक सब वस्तु होते

हुये भी भोग साधनों में जो अधिक अभिलाषा होती है उसी को तृष्णा कहते हैं। **स्पृहा** यह वस्तु मुझे मिलजाय इस प्रकार की इच्छा का नाम स्पृहा है। **कांक्षा** यह वस्तु मेरे पास सदा ही बनी रहे इस प्रकार की सामान्य अभिलाषा का नाम कांक्षा है। **मिथ्या** न होने वाली वस्तु का चाहना या कहना मिथ्या कहलाता है। ६० ॥

मूल—परा पश्यन्ती मध्मा वैखरी मातृकेति पंचगुणा वाक्। इति व्यक्ति पंचविंशति गुणाः ॥६१॥

संस्कृत टीका—परापश्यन्तीत्यादेरयमर्थः। वक्त्रा प्रथमं स्वबुद्धावर्थं निश्चित्य परं बुबोधयिषति तत्रेच्छा मनश्चंचलयति तेन जठरानलस्याभिघातो जायते तेन च वायुरुत्पद्यते स एव वायुः सर्वतः प्रथमं मूलाधारस्थबिन्दुरूप नित्य चेतनरूपं शब्दब्रह्माऽपरपर्याय्यं संयुक्तं तेन तत्र स्थिता परावाक् प्रवर्धमाना उद्र्ध्वमाक्रमति सा यदा नाभिदेशमागच्छति तदा वर्णरूपमाधत्ते सा पश्यन्ती व्यवह्रियते। अत्र मनसः सम्बन्धोऽस्ति, अतः समाधिना संस्कृतमनसा प्रत्यक्षीक्रियते योगिनां सविकल्पज्ञानविषयः पूर्वा तु मनसः सम्बन्धाभावाद् योगिभिरपि सविकल्पयितुं न शक्या किन्तु समाधिना निर्विकल्पज्ञानविषयः। ततो वर्धमाना हृदयदेशमागता पदरूपम् प्रपद्यमाना मध्यमेति व्यवह्रियतेऽनयैवार्थबोधः, इयमेव स्फोट शब्देन वैयाकरणनये प्रसिद्ध्यति। अत्र बुद्धेः सम्बन्धान्निश्चयज्ञानविषयो मानसजपसमये कर्ण पिधाने सति सूक्ष्मरूपेण श्रूयते। ततः कण्ठदेशमागता वाक्यरूपा वैखरी ततो मूर्धानमाहत्य परावृत्य तत्तत्स्थानेषु प्राप्याभिव्यक्ता परश्रवण विषयः। अकारादि वर्णा नासिकासम्बन्धादर्धेन्दुसंयुक्ता मातृकाः। शिक्षादौ मातृका वैखर्योरेकत्वंकृत्वा चतुर्विधोपदेशोऽत्रतु स्थानकृतभेदस्य जागरूकत्वे तत्परित्यागे मानाभावाद् वैखरी मातृका चेति भेदमादाय पंचविधत्वमिति बोध्यम्। तदाह परावाङ् मूलचक्रस्था पश्यन्ती नाभिसंस्थिता। हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया वैखरी कण्ठदेशगा ॥६१॥

भाषा टीका—अब वाक् (वाणी) के पांच गुणों का वर्णन करते हैं। **परा** यह वाणी मूलाधार चक्रमें रहती है और वह निर्विकल्प

समाधि के द्वारा जानी जाती है । वहां मन की गति नहीं है । **पश्यन्ती**-वही पराबाक् नाभि प्रदेश में आकर जब स्थूल वर्ण रूप को धारण करती है तब उसका नाम पश्यन्ती होजाता है। इसके साथ मनका भी सम्बन्ध रहता है । इसी लिये योगी इसको सविकल्प समाधि से जान लेता है। **मध्यमा**-इसके उपरान्त वही वाणी हृदय में और भी स्थूल होती हुई जब आकारादि वर्णसमुदाय पदरूप को धारण करतीहै तब उस का नाम मध्यमा होता है । **वैखरी**-वही वाणी जब मस्तक से लौट कण्ठ और तालु आदि स्थानों में आकर टकराती है तब उससे प्रकट होने वाले शब्द को वैखरी कहते हैं। **मात्रिका**-अकरादि वर्णों में शिव रूप मकार के अनुस्वार होने से अं आं इं ईं इत्यादि बीजमन्त्र रूप जो वर्णमाला है उसीका नाम मात्रिका वाक् है। इस प्रकार व्यक्ति रूप पंच शक्तियों का निरूपण किया गया है और प्रत्येक व्यक्ति में पांच पांच गुणों का निरूपण करने से उन व्यक्तियों के पच्चीस गुणों का भी वर्णन कर दिया। ६१।

मूल-कर्म काम श्चन्द्रः सूर्योऽग्निरिति प्रत्यक्षकरण-पञ्चकम् ॥६२॥

संस्कृत टीका-संसारे जीवानामुपभोगे, उपभोगप्रधानसाधनीभूतपिण्डसम्पादने च विशेषसाधनपदार्थान् पिण्डीकृत्य प्रदशयति कर्मेत्यादि। एते कर्मादयः पंच **प्रत्यक्षकरण पंचकम्** प्रत्यक्षाणि च तानि करणानि तेषां पंचकमित्यर्थः प्रत्यक्षानि, असाधारणानीत्यर्थः साधारणकारणानीश्वरादयोऽपि न प्रत्याख्यायेरन्निति प्रत्यक्ष पदादानेन ध्वनितम्। शुभाशुभ कर्मानुरूप एव कामोभवति। तद्बलेन च्या ऽग्निषोमात्मक पिण्ड ग्रहणम्। ततश्चोपभोग इति क्रमः सकलपरीक्षक प्रत्यक्षचरोऽप्रत्याख्येयः। ननु कर्म वासनाद्वारा शरीरग्रहणहेतु रूपभोग साधनञ्चास्तु सकल सम्मतत्त्वाच्चन्द्रादयः कथं तद्धेतुरिति चेत्, ऋणुरहस्यम्। रसोहि सोमरूपोभोग्यः, अग्निश्च शोषको भोक्ता च

कथ्यते तत्र यदि रसमात्राऽत्यन्तं समेधेत तदा ऽग्नि नाशाज्जठराग्नि-नाशाज्जगद् भ्रंशः, यथा मात्राधिकभोजनाज्जठराग्निमान्द्येन क्रमशःकायो विशीर्णतामुपैति । यथा च जलाधिक्ये भुवनविप्लवः। तथाऽग्नेरेवाधिक्ये सोमविरहादपि न स्थिति जगतः स्यात्, यथा च प्रचण्डांशुनितान्तवृद्धौ सकल वनस्पत्यादीनां विनाशः । अत उभयोः समरसतया समवस्थाने सुचारुतया जगतः स्थितिरिति सकलदार्शनिकदृष्टि परीक्षितः पन्थास्तथ्यमुपदिशति-अग्निषोमात्मकं जगदिति- अत्रायं सूक्ष्मतमो विवेको यत् सोमतोऽग्नेः किञ्चिदाधिक्यं सुस्थितिकरम् । इतीश्वरीयनीति मनुसृत्य, भोजनमात्रादीषदूनमेव भोक्तव्यमिति वृद्धवैद्यानामुपदेशः । सूर्यस्य द्वादश कलाः संसारस्थितिकारिण्य एका स्वकीया तस्या सांसारिककार्येऽनुपयोगात् तां त्यक्त्वोपवर्णिताः क्वचित्तन्त्रे द्वादशैव कलाः सूर्यस्य ॥ एवमेवाग्नि चन्द्रयोरपि ज्ञेयम् कलापदार्थः चित्समाविष्टसत्त्वात्मिका शक्तिरिति तान्त्रिकसंकेतः । एवमग्ने र्दशकलाः संसारस्थापिका एका स्वकीया, उभयोः संमेलने द्वाविंशतिकलाः, उभयोः संक्षिप्त संज्ञाऽग्निर्भोक्ताचेति षोडशकलाश्चन्द्रस्य सोमपदेन भोग्यपदेन च गृह्यन्ते। सोमतोऽग्नेः कलाषट्काधिक्येन प्राधान्यात् जगतः सुस्थितिरतो भूतभौतिकोत्पत्ति स्थित्यादिद्वारा जीवानामुपभोगे ऽसाधारणसाधनमेतत् त्रयमिति सुनिरूपितं भवति । किञ्च सूर्याग्निरूपं पितुः शुक्रम् सोमरूपञ्च मातृरजः, उभयोः संयोगे पिण्डोत्पत्ति रित्यग्रे मूले निरूपयिष्यते । अत्रेदं बोध्यम् अग्निषोमयोः सर्वत्राविविक्ततया समवस्थानेऽपि क्वचित् कस्यचित् प्राधान्यात् भूयसा व्यपदेशन्यायेन तत्तन्नाम्ना निर्देशो नविरुद्ध इति। तदुक्तं च "अग्नि-षोमात्मको देहो बिन्दुर्यदुभयात्मकः" शा०ति० अस्यार्थः अयं देहोऽग्नि षोमात्मकः। कुत इत्यपेक्षायां हेतुमाह, यतः, बिन्दुः पिण्ड हेतुः, उभयात्मकः, अग्निरूपं शुक्रं सोमरूपं रक्तं तदात्मकस्तदुत्पन्न इत्यर्थः। अन्ये त्वाहुः) "कलाषोडशकश्चन्द्रः स्याद् द्वादशकलोरविः" कलादश युतोवह्निः कलाश्चत्रिंशदंशभुक् । सप्तत्रिंशद् भवन्तीह गर्भाधानस्य हेतवे ॥ अग्नि षोमात्मकं तेन गीयते स चराचरमिति। एवं च चन्द्रसूर्याग्नयः पिण्ड-

स्योपादानंकारणं कर्म कामश्चानिमित्तकारणमितिविवेक इतिदिक् ॥६२॥

भा० टी०—इस संसार में जीव को सुख दुःख का उपभोग जिन प्रधान साधनों द्वारा होता है उन साधनों का निरूपण करते हैं। कर्म, काम, चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि ये पांच इस शरीर प्राप्ति के प्रधान कारण हैं और ईश्वर काल आदि साधारण कारण हैं उनका भी ग्रहण जानना अर्थात् शुभ अशुभ कर्मों की अनुकूल वासनाद्वारा शरीर प्राप्ति होती है यह प्रसिद्ध है। अतः विन्दु रूप शरीर का निमित्त कारण कर्म और वासना है। यह संसार में अग्निषोमात्मक कहलाता है। कारण सोमरस भोग्य और अग्निशोषक और भोक्ता है इन दोनों के मेल से संसार की स्थिति है केवल एक के रहने पर नहीं जैसे भोज्य पदार्थ जठराग्नि के रहने पर भी शान्त होजाने से शरीर की स्थिति असम्भव होजाती है उसी प्रकार केवल अग्नि से भी स्थिति नहीं रह सकती। इस लिये दोनों के समीकरण से जगत की स्थिति रहती है। इन में अग्नि का कुछ अधिक अंश रहने से उस की प्रधानता है। दूसरे तेजों में तो सूर्य और अग्नि दोनों ही को एक तत्त्व होने से अग्नि नाम रखा गया है अतः अग्नि षोमात्मक जगत को दूसरे तन्त्र में कहा गया है किन्तु इस ग्रन्थ में स्वरूप भेद होने से सूर्य और अग्नि दो पृथक नामों से कहा गया है सूर्य की बारह कला और अग्नि की दश कला भोक्ता हैं औरसोम की सोलहकलाँ भोग्य हैं इन्ही दोनों के मिलाने से सकल संसार बनता है। यह शरीर माता के रज और पिता के वीर्य से बनता है इन में रज सोम है। वीर्य अग्नि और सूर्यरूप है। अतः इस शरीर का उपादान कारण अग्नि और सूर्य हुये यद्यपि सोम और अग्नि ये दोनों सर्वत्र ही रहते हैं तथापि जिसका अंश जहाँ अधिक है उस का धर्मा पद से व्यवहार होता है। कला शब्द का अर्थ चित् से मिली हुई शक्ति सत्त्व रूप जानना। ६२॥

मू०—शुभमशुभंयशोऽपकीर्तिरदृष्टफलसाधनमिति पंचगुणं कर्म ॥६३॥

संस्कृत टीका—शुभम् शिष्टजनाविगर्हितसौशिल्यादि

अशुभम् निन्दितमौद्धत्यादि **यशः** कीर्तिः, **अपकीर्तिः**, अयशः **अदृष्टफलसाधनम्** अदृष्टं चर्मचक्षुरिन्द्रियजन्यज्ञानाविषयः यत् फलम्, धर्मस्वर्गान्तः करणशुद्ध्यादि तस्य साधनम्, श्रुतिस्मृति प्रतिपादितम्. कर्म, एते कर्मणः ॥६३॥

भाषा टीका–अब कर्म जन्य पाँच गुणों का वर्णन करते हैं **शुभ** स्वर्गादि जनक पुण्य कर्म। **अशुभ** नरकादिहेतुलोकनिन्दित कर्म। **यश** कीर्ति। **अपकीर्ति** लोकनिन्दा। **अदृष्टफलसाधन** धर्म और अधर्म का साधन शास्त्रीय कर्म। ६३ ॥

मूल–रतिः प्रीतिः क्रीडा कामना ऽऽतुरते ति पंचगुणः कामः ॥६४॥

संस्कृत टीका–रतिः स्त्रीविषयानुरागः क्रीडा तु कन्दुकादि बाह्यसाधनापेक्षा। सुखविषयानुरागः प्रीतिः साधनविषयानुरागः कामना। आतुरता, इष्ट प्राप्तौ त्वरा।एतेकामस्य ॥६४॥

भाषा टीका–अब काम के कार्य्यभूत पांच गुणों का निरूपण करते हैं। **रति** स्त्री में जो प्रेम है उसी का नाम रति है। **प्रीति** सुख साधन विषयक प्रेम को प्रीति कहते। हैं**क्रीड़ा** खेलना **कामना** सुख विषयक वासना। **आतुरता** यह चीज मुझे वहुत जल्दी मिल जाय इस प्रकार चित्त की व्याकुलताका नाम आतुरता है ॥६४॥

मूल–उल्लोला, कल्लोलिनी, उच्चलन्ती, उन्मादिनी, तरंगिणी शोषिणी, लम्पटा, प्रवृत्तिः, लहरी, लोला, लेलिहाना प्रसरन्ती, प्रवाहा, सौम्या, प्रसन्नता, प्लवन्ती। एवं चन्द्रस्य षोडश कला सप्तदशी कला निवृत्तिः सा ऽमृतकला॥६५॥

सं० टी०–अत्रत्यस्य रहस्यं परस्तादुपपादितं कार्यभेदात् कलानां भेदः। तथा च चन्द्रस्य षोडशधाकार्य्यकारित्वेन षोडशधा कलाः

संसाररचनाचतुराः, एका निजा सदास्थायिनी महाप्रलयेऽपि न विना शमुपैति सद्वादमते निरन्वयविनाशास्वीकारात् सा सप्तदशी निवृत्तिः। तासां चन्द्रमण्डलस्य सोमरसात्मकतया सोमप्रधानजलानुगत स्वभाव विशेषानुकूलनामान्याह, उल्लोलेत्यादि, उल्लोलयति स्वसम्बन्धेन भोक्तारमग्निं प्रोच्चलयति हुतघृतवद् या सा प्रथमा भोगकालेऽल्पशोऽनेकरूपधारणशीला ऽनलोपरिपच्यमानजलोद्गतोदबिन्दुवत् २ अधिकाऽनलत्वरितसँतापे स्थालीस्थजलोत्सरणवदूर्ध्वगमनशीला ३ कामोल्लासप्रवर्धनेनोन्मादनशीला ४ तरंगवद्विकारकारिणी ५ विकारशोषणशीला यथौषधरसो रुजां जरयति ६ भोगायौत्सुक्यसम्पादिनी वनितावत् ७ प्रवर्त्ततेऽनयेति व्युत्पत्त्या समुत्साह सम्पादन द्वारा सर्वेषां व्यापारे साधनीभूता ८ उच्छलनशीला ९ चंचल शीला १० आश्लेषणव्यापारवती ११ प्रसरणशीला १२ वेगवती १३ सौन्दर्य्यसम्पादिनी १४ प्रसादवती १५ सँचारशीला १६ एता षोडशकलाः। अत्र यन्नामपदस्य योऽर्थस्तदेव कार्यं तस्या इति न सँकोचनीयम्। स्वरूपैकदेशमादायापि नाम करणं यथा पद्मावत्याविशालाचीति नाम। अत एवैतासां कलानां नामान्तरेण निर्देशस्तन्त्रान्तरे पद्यते ॥६५॥

भाषा टीका—अब चन्द्रमा की सत्रह कलाओं का वर्णन करते हैं। कला शब्द का अर्थ पहले कहा जा चुका है। **उल्लोला** तरल अर्थात् चँचल। **कल्लोलिनी** बड़े आकार वाली तरँग **उच्चलन्ती** ऊपर को चलने वाली। **उन्मादिनी** स्त्री पुरुष को कामोन्मत्त करने वाली। **तरङ्गिणी** तरङ्गों के आकार वाली। **शोषिणी** जल और रस को सुखाने वाली। **लम्पटा** पृथ्वी आदि में अबाध रूप से फैलने वाली। **प्रवृत्ति** प्राणियोंके हर्षको उत्पन्न करनेवाली अथवा लोक की प्रवृत्ति को करने वाली। **लहरी** टेढ़ीगति से लहराने वाली। **लोला** चँचल रूप वाली। **लेलिहाना** रसादि को चाटने वाली। **प्रसरन्ती** फैलने वाली। **प्रवाहा** चन्द्रकान्ता आदि मणियों में जल की बून्दों को बहाने वाली **सौम्या** समस्त फल फूल और औ-

षधी वनस्पति आदि में सोमरस बरसाने वाली **पूसन्ना**। सब वस्तुओं को निर्मल करने वाली या स्वयं निर्मल रूप वाली। **प्रवन्ती** उछल कर चलने वाली। इस प्रकार चन्द्रमा की सोलह कला होती हैं और सत्रहवीं निज अमृत कला है।

मूल-तापिनी, ग्रासिका, उग्रा, आकुञ्चनी शोषिणी प्रबोधनी, स्मरा, आकर्षिणी, तुष्टि, वर्द्धिनी, उर्मीरेखा किरणवती, प्रभावतीति द्वादशकला सूर्यस्य त्रयोदशी स्वप्रकाशता निजकला ॥६६॥

सं० टी०—एवं सूर्य्यस्यापि द्वादशकला द्वादशराशिकलाः किञ्च द्वादशविधकार्यकारिण्यः शक्तयस्तापनम्। तमसोग्रसनम्। कुमुदिनीनां संकोचनम्। जलस्यापि शोषणम्। कमलादेः प्रबोधनम्। सर्वेषां स्मृति जननम्। भौमरसाकर्षणम्। सन्तोषदानम्। आयुःपरिगणनम्। किरणविस्तारः। प्रकाशकरञ्चेति तत्तत्कार्य कारिण्यःशक्तयः। सर्वत्रान्वयिनी कला स्वप्रकाशताख्या नित्या त्रयोदशी ॥६६॥

भा० टी०-अब सूर्य की कलाओं का निरूपण करते हैं। **तपिनी**-तपानेवाली। **ग्रासिका**-अन्धकार का नाश करने वाली। **उग्रा**-अपने तेज से कुमुदिनी आदि को संकुचित करने वाली। **आकुञ्चनी**-अपनी तरफ समेटने वाली। **शोषिणी**-जलादि को सुखाने वाली। **प्रबोधिनी**-कमलादि को खिलाने वाली। **स्मरा** स्मरण रूप ज्ञान को उत्पन्न करने वाली। **आकर्षिणी**-भूमिस्थ जलादि को अपनी तरफ खेंचने वाली। **तुष्टि वर्धिनी**-सकल प्राणिओं के संतोष को बढ़ाने वाली। **उर्मीरेखा**-प्राणियों की आयु को मापने वाली। **किरणवती**-किरणों का विस्तार करने वाली। **प्रभावती** प्रकाश करने वाली। ये बारह कला सूर्य की हैं और स्वप्रकाशता नाम की तेरहवीं सूर्य की निज कला है। ६६॥

मूल-दीपिका, रजिका, ज्वालिनी, विस्फुलिगिनी, प्रचण्डा पाचिका, रौद्री, दाह्निका, रागिणी, शिखावती, इत्यग्नेर्दशकला एकादशी कला ज्योति रिति प्रत्यक्ष करण गुण कला समूहः ॥६७॥

सं० टी०—एवमेवाग्नेः संसारोपकारिदशकला स्तासां नामान्याह दीपिकेत्यादि अन्यस्मिन् घटादौ रागोत्पादनत्वेन रजिका. स्वतोरागवत्वेन रागिणीतथैव परितः प्रभाकारित्वेन ज्वालिनी, उद्ध्वप्रभासम्पादनत्वेन शिखावतीति विशेषोबोध्यः । अन्याक्षराथस्तु सुगम एव । एते पंच-भूतात्मसाकारशिवस्य नेत्रत्रयमुइत्युपदेशेन सँसारस्थिवि शिवाधी-नैवेति ध्वनिरितिदिक् । कर्मोपासनादावेदासां महोपयोग इति तत्प्र करणे द्रष्टव्यम् ॥६७॥

भाषा टीका—अब अग्नि की कलाओं का वर्णन करते हैं। **दीपिका** प्रकाशित करने वाली। **रजिका** सुशोभित करने वाली। **ज्वालिनी** अत्यन्त ज्वाला वाली। **विष्फुलिङ्गिनी** जिस में अग्नि की चिनगारियां उछले उसको विष्फुलिङ्गिनी कला कहते हैं **प्रचण्डा** उग्ररूप धारण करने वाली। **पाचिका** पकाने वाली। **रौद्री** रुद्र रूप करने वाली। **दाह्निका** काष्ठादि इन्धन को जलाने वाली। **रागणी** रक्त वर्ण वाली। **शिखावती** ऊर्ध्वगामी लाट को धारण करने वाली। ये अग्नि की दस कला हैं और ग्यारहवीं ज्योतिरूप निज कला है और इस पूर्वोक्त रीति से प्रत्यक्षकरण और उन के पाच पांच गुणों का निरूपण करने से पचीस गुण और कलाओं के समूह का भी वर्णन करदिया। ६७॥

मूल-अथ नाडीनां दशद्वाराणि। इडापिंगला नासाद्वार योर्वहतः सुषुम्णा नाडी तु ब्रह्मदण्डमार्गेण ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्तं वहति सरस्वती मुखद्वारे वहति पूषा-लंबूषा

चक्षुर्द्वारयोर्वहतो गान्धारी हस्ति जिह्विकाच कर्णद्वार योर्वहतः कूहूर्गुदद्वारे वहति शंखिनी लिंगद्वारे वहति एवं दशद्वारेषु वहन्ति ॥६८॥

सं० टीका पिण्डस्थितिर्नाड्यधीना नाडीनामपरिगणितत्त्वेऽपि प्रधाननाड़ीज्ञानं पिण्डशोधने परमोपयोगीत्यतस्ता निरूपयति **अथ नाडीति** नाभेरधः कन्दस्तत एव सर्वनाड्य उत्पद्यन्ते तत्र प्रधाननाड्यो दश तत्रापि सर्वतः प्रधाना सुषुम्णा सा मूलाधारद्वारा मेरुदण्डान्तर्गता सती शिरोदेशे कपालद्वयसन्धिस्थब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं वर्तते तत्रैव सूर्यरश्मिसम्बन्धः सदैव तिष्ठति, उभयोःसम्बन्धात् वैद्युत शक्तिः सम्पद्यते, अत एव मरणसमये यस्य लिङ्गशरीरं सुषुम्णया निःसरति, तस्य ब्रह्मरन्ध्रगमनानन्तरं तदीयवैद्युतसमवन्धात् क्षणेनैव मार्तण्डमण्डलं भित्वा ततः परं वैद्युत लोकेऽभिगमनं भवति। एषोर्चिष मभि संपद्यते 'आदित्यं चन्द्रमसं चन्द्रमसो वैद्युतम्' अन्य मार्गेण निःसरणे तु वैद्युत सम्वन्धाभावेन न मार्त्तण्ड मण्डलं विभिद्य गमनं किन्तु ततोऽध एव चन्द्रमण्डलस्थस्वर्गादौ ततश्च प्रत्यवरोहणम्। न तु ब्रह्मरन्ध्रेण गामिनामिति धूमाद्यर्चिरादि मार्गद्वयं व्यवस्थापितम् श्रुतिस्मृत्योः। द्वे नाड्यौ तत्सम्वद्धवामदक्षिणभागाभ्यां नासिकापर्यन्तं गच्छतः। ते इडा पिंगला च चन्द्रनाडी सूर्यनाडी चेति व्यवह्रियेते। द्वे चक्षुः पर्यन्तं पूषालंबूषे। कर्णपर्यन्तगामिन्यौ गान्धारी हस्तिजिह्विका च मुखपर्यन्तं सरस्वती गुदपर्यन्तं कूहूः, लिङ्गद्वारे शंखिनी ॥६८॥

भाषा टीका—अब नाड़ियों के दश द्वारों तथा नाड़ियों का वर्णन करते हैं लिङ्ग से ऊपर और नाभी से नीचे पक्षी के अंडे के समान समस्त नाड़ियों का उत्पत्ति स्थान मूलकन्द है। उस मूलकन्द से बहत्तर हजार नाड़ियों की उत्पत्ति होती है। फिर यह नाड़ियां नीचे ऊपर और टेढी गति से फैलती है और उन में भी बहत्तर नाड़ियां मुख्य हैं उन में भी प्राणवायु को जिन में संचार होता है ऐसी इड़ा पिङ्गलादि दश नाड़ियाँ ही प्रधान हैं उन में भी सर्व श्रेष्ठ

सुषुम्णा है क्योंकि सुषुम्णा से जिस का प्राण निकलता है उस की ब्रह्मलोक तक गति होती है और अन्त में क्रम मुक्ति द्वारा अमृत रूप मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। जिस पुरुष का दूसरी नाड़ियों द्वारा प्राण निकलता है उसको स्वकर्मानुसार केवल स्वर्गादि लोकों की ही प्राप्ति होती है। इड़ा नाम की चन्द्र नाड़ी और पिङ्गला नाम की सूर्यनाड़ी मूलकन्द से प्रकट होकर क्रम से नासिका के वाम और दक्षिण द्वारों से वहती है, इन दोनों के मध्य में सुषुम्णा नाम की ब्रह्मनाड़ी रहती है। वह भी मूलकन्द से निकल कर मूलाधार चक्रों में होती हुई मेरुदण्ड द्वारा तालु मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र तक वहती है। इसी मूलकन्द से निकल कर उन उन स्थानों में होती हुई सरस्वती नामकी नाड़ी मुखद्वार में बहती है। पूषा और अलम्बूषा नाम की नाड़ी मूलकन्द से निकल कर उन २ स्थानों में होती हुई क्रम से वाम और दक्षिण कर्ण द्वारों में वहती है। एवं गान्धारी और हस्ति जिह्विका नाम की नाड़ियाँ भी मूल कन्द से निकल कर तत्तत् स्थानों में होती हुई क्रमशः वाम और दक्षिण नेत्र द्वारों में वहती है। इसी तरह कुहू नाम की नाडी मूलकन्द से निकल कर गुदा द्वार में बहती है। उसी प्रकार मूलकन्द से निकल कर शंखिनी नाडी लिङ्ग द्वार में रहती है और वह सुमेरु दण्ड मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र तक वहती है। इस पूर्वोक्त रीति से दश नाडियां दश द्वारों में वहती हैं। यहां इति शब्द नाडी वाक्य की समाप्ति का द्योतक है। इन मुख्य दश नाडियों से अतिरिक्त नाड़िया रोम कूपों में वहती हैं। ६८॥

मूल—अथ दशवायवः। हृदये प्राणवायुरुच्छ्वास निःश्वासकारो हकारसकारात्मक श्चास्यैवावस्थाभेदे हठ-योग इति संज्ञा, हकारः कीर्त्तितः सूर्य्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते। सूर्य्याचन्द्रमसोर्योगाद् हठयोगोनिगद्यते' गुदेत्वपान वायू रेचक कुम्भकपूरकश्च नाभौ सामानवायु र्दीपकः पाचकश्च, सर्वाङ्गे व्यानवायुर्ग्रसनवमनजल्प-

कारश्च नागवायुः सर्वाङ्ग व्यापकश्चालकश्च कूर्मवायुः कम्पकश्चतुरुन्मेषकारकश्च कृकल उद्गारकः क्षुत्कारकश्च देवदत्तो मुखविजृम्भकः, धनञ्जयो नादघोषक इति दशवाय्ववलोकनेन पिण्डोत्पत्ति र्नरनारीरूपः ॥६६॥

संस्कृत टीका—दशवायूनां दशस्थानानि तत्तत्कार्याणि च निरूप्यन्ते। दृशेत्यादिना नरनारी रूप इत्यन्तेन। प्राणवायोः, उच्छ्वासः, हकारः, निश्वासः, सकारः तथा च नासिकासम्बन्धादनुस्वारसहितः सन् हंस इति जीव मन्त्रो भवति। किन्त्वयं स्वाभाविकः, अतोनैतेन मोक्ष सिद्धिः किन्तु यदा गुरुणा व्युत्क्रम्य सोऽहमिति परमात्ममंत्रः समुपदिश्यते, तदाध्रुवं मोक्षसिद्धिः, अयमेव मंत्रयोगः, महावाक्यात्मकमहा मंत्रोपदेशः। इयमेव अजपानामगायत्री। तदुक्तं श्रीनाथ पादैः

अजपानामगायत्री योगिनां मोक्षदायिनी ॥

हकारेण वहिर्याति सकारेण विशेत् पुनः हंस हंसेति मन्त्रोयं सर्व र्जीवैश्च जप्यते। गुरुवाक्यात् सुषुम्णायां विपरीतो भवेज्जपः। सोऽहं सोऽहमिति यः स्यान्मन्त्रयोगः स उच्यते अवस्थाभेदेन चास्यैव नामान्तरं हठ योग इति तदुक्तम्। मन्त्रोलयो हठो राजयोगान्ता भूमिकाः क्रमात्। एक एव चतुर्धायं महायोगोऽभिधीयते ॥ **हकार इत्यादि** मूलोक्तपद्यस्यायमर्थः हकारपदवाच्यः सूर्य्यः, उपलक्षणेन तदधिष्ठित पिंगलानाड़ी ग्रहणं तथा ठकारवाच्य श्चन्द्र उपलक्षणतया तदधिष्ठितेड़ानाडीग्रहणं बोध्यम्। उभयोः सुषुम्णायां योगात् पिंगलेडाभ्यां वायुं निष्कृष्य निरन्तर संस्थापनात्, हठयोगः कथ्यते। लययोगोनाम चित्तस्य निर्विषतया विलीनत्वे वायोरपि स्थिरतया लययोगो राजयोगश्च शिवशक्तिसंगमः, मूलाधारे सहस्रारे वा। अत्रायं विवेकः, प्रथमं गुरुपूजनषट्चक्रस्थदेवपूजन ध्यानसंकल्पादि भवति द्वितीये वायु विजयार्थं प्राणायामस्य प्राधान्यम्। तृतीये मनस एव वशीकरणोपाय वैराग्याद्यभ्यस्यते। चतुर्थे च शिवशक्तिसंगमाय कुण्डलिनी प्रबोधनाभ्यास इति विवेकः। प्रातः स्नातोवास्नानाभावेऽपि मनसा अजपयासंकल्पयेत्

संकल्प विधिः। ओमद्यपूर्वेद्युः कृतनिःश्वासोच्छ्वासात्मकं मूलाधार चक्रस्थ सिद्धिसहित गणेशायषट्शतंस्वाधिष्ठानचक्रस्थ सरस्वतीसहितब्रह्मणेषट् सहस्रं मणिपूरचक्रस्थलक्ष्मीसहितविष्णवे षट्सहस्रमनाहतचक्रस्थगौरीसहितशिवाय षट्सहस्रं विशुद्धचक्रस्थ जीवात्मनेसहस्रं कमाज्ञाचक्रस्थविद्यासहितगुरुवेसहस्रं क सहस्रारस्थस्वशक्तिसहितपरमात्मने एकसहस्त्रञ्च समर्पये । अनेन पूर्वकृतं समर्पयेत् । ततोऽद्य प्रातः कालमारभ्य भाविप्रातःकालपर्यन्तं निःश्वासोच्छ्वासात्मक षट्शताधिकैकविंशतिसहस्रसंख्याकमजपागायत्री जपमहं करिष्ये इति ॥ अपानवायुबलेनैव प्राणायामो भवतीति सूचितम् तेन तद्विजदार्थ नाडीशोधनं नेति धोतीत्यादि,उड्डियानादिबन्धः,आसनञ्चेति साधनीय मित्यपि प्रदर्शितम् ॥ अपानवायोः स्थानं गुदः कार्य्यञ्चाह रेचककुम्भकपूरकः कार्य्यकारणयोस्तादात्म्यमादाय मूले समानाधिकरणनिर्देशः । नाभिदेशे समानवायुर्वसति तस्य कार्य्यम् जठराग्निदीपनम्, अत एव भुक्तान्नस्य पाचनम् शरीरस्य सर्वाङ्गेषु व्याननामावायुर्वसति तस्य कार्यम् सकलनाड़ीगत विकारापसरणपूर्वकवर्धनं क्वचिदङ्गे च निश्चलः सन् वर्तते। उदान वायोः स्थानं कण्ठः कार्यञ्चान्नादिग्रसनं वमनं जल्पनं च। नागवायुः सकलाङ्गव्यापकः: कृत्यञ्च चालनं कूर्मवायुःशरीरस्य कम्पनं नेत्रयोरुन्मेष निमेष सम्पादनमेतेन स्थानमपि प्रदर्शितम्, यद्देशे कार्यम्,तद्देशेस्थिति रिति। कृकलस्योद्गारः कार्यम्,क्षुधाकरणञ्च देवदत्तवायोश्च मुखवि-जृम्भणं व्यापारः। धनञ्जयस्य नादघोषणम्, एते दशवायवः ॥

एतेषामवलोकनेन सम्बन्धेन पिण्डस्य शरीरस्योत्पत्तिः-रचना भवतीत्यर्थः; स च पिण्डो नर नारीरूपः, नपुंसकस्याप्युपलक्षणं बोध्यमिति ॥ ६६ ॥

भाषा टीका—अब क्रम से दश गुणों का वर्णन करते हैं। हृदय में प्राण वायु रहता है वह उर्ध्वश्वास और अधोनिःश्वास का संचालन करता है अत वही प्राणवायु हकार सकारात्मक भी है अर्थात् हकार से बाहर निकलता और सकार से भीतर प्रवेश करता है वही हकार सकारात्मक प्राण वायु अनुस्वार सहित होने से हंस मन्त्र भी

कहलाता है यानि जिस समय प्राणवायु बाहर को आता है। उस समय हकार की ध्वनि होती है। अतः उस समय उसी का ध्यान करना चाहिये। जब प्राण वायु भीतर को जाता है। तब सकार की ध्वनि होती है। इस लिये उस समय सकार का ध्यान किया जाता है। इसी हंस मन्त्र के अक्षरों को उलटा देने से "सोऽहम्" बनता है। इसीभाव को लेकर विवेक मार्तण्ड में कहा है

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत् पुनः
हंस सोऽहमिमं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥

उसी "सोऽहम्" मन्त्र में सकार हकार का लोप करने से ॐ मन्त्र भी बनता है। इस मन्त्र के विधि पूर्वक जपने से जीवात्मा परमात्मा की एकता का साक्षात्कार होजाता है। इस मन्त्र को जीव निरन्तर जपता रहता है। इसी का नाम प्राणविद्या और महाविद्या भी है। देखिये विवेक मार्तण्ड में—

कुण्डलिन्यां समुद्भूता गायत्री प्राणधारणी।
प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स योगवित् ॥

अर्थ—मूलाधार में रहने वाली कुण्डलिनी शक्ति में उत्पन्न हुई और जीव की प्राणशक्ति को धारण करने वाली अजपा नाम की गायत्री का नाम ही प्राणविद्या है। क्योंकि प्राणपति के साथ इसका प्रयत्न के बिना ही जप होता रहता है। इसीलिये इसको मत्स्येन्द्रनाथादि योगाचार्य महाविद्या भी कहते हैं। जो योगविद्या विशारद गुरु की बतलाई विधि से इसको जानता है वही माहेश्वरी विद्या के रहस्य को जान सकता है। इसका महत्व श्रीगोरक्षनाथ जी ने स्वयं ही कहा है—

अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः।
अनया सदृशं ज्ञानं न भूतञ्च भविष्यति ॥

इस महाविद्या के सदृश न कोई विद्या है और न कोई मन्त्र तथा जप है। इसके समान कोई ज्ञान भी नहीं है। न हुआ है और न होगा। यह विद्या ही सर्वोत्कृष्ट है। यद्यपि इस हंस मन्त्र का जप जीव को स्वभाव सिद्ध है तथापि वह तब तक फल देने वाला नहीं होता

जब तक विधि पूर्वक उसका ज्ञान तथा सँकल्पादि न किया जाय, कहा भी है—

षट् शतानि दिवा रात्रौ सहस्राण्येक विंशतिः।
एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥
अजपानाम गायत्री योगिनां मोक्ष दायिनी।
अस्याः संकल्प मात्रेण नरः पापैर्विमुच्यते ॥

दिन रात में इक्कीस हजार छः सौ श्वास निकलते हैं अतः यह जीव हमेशा ही इक्कीस हजार छः सौ हंस मन्त्र जपता रहता है इसी को अजपा नाम की गायत्री भी कहते हैं। कारण अन्य मन्त्र वाणी के व्यापार से जपे जाते हैं परन्तु इसका स्वतः ही जप होता रहता है यह गायत्री योगियों को मोक्ष देने वाली है। इस गायत्री के सामान्य सँकल्प मात्र से ही मनुष्य पाप रहित होजाता है। यदि विधि पूर्वक विशेष सँकल्प का अनुष्ठान किया जाय तब तो कहना ही क्या है। इस अजपा गायत्री के संकल्प करने की विधि "गोरक्षोपनिषद्" के अजपा प्रकरण में कही है। देखिये—

षट् शतानि गणेशस्य षट्सहस्रं प्रजापतेः।
षट्सहस्रं गदापाणेः षट्सहस्रं पिनाकिनः ॥
सहस्रमात्मलिङ्गाय सहस्रं गुरुमर्पयेत् ।
परमात्मने सहस्रन्तु संकल्पावधिरेवच ॥

अर्थ—मूलाधार चक्र में चार दल वाला कमल है। उसी में त्रिकोणाकार काम पीठ है, जिसके ध्यान मात्र से सिद्धों को समस्त वस्तुओं की प्राप्ति होती है। वहीं पर अपनी ऋद्धि सिद्धि सहित गणेश जी का निवास है। वहां गणेश जी के लिये छः सौ अजपा रूप श्वासों का अर्पण किया जाता है इसी प्रकार लिङ्ग के मूल में जो स्वाधिष्ठान चक्र है उसमें षड्दल कमल है उसमें हंस वाहन और स्वशक्ति सावित्री सहित ब्रह्मा जी विराजमान हैं। वहां छः हजार अजपारूप श्वास का अर्पण होता है। नाभि में स्थित मणिपूर चक्र दशदल वाला पद्म है और वह अष्ट वलयरूप सर्पाकार नाड़ी से लिपटा हुआ है। वहां

गरुड़ वाहन और स्व शक्ति लक्ष्मी सहित भगवान् विष्णु का निवास है वहाँ भी विष्णु के लिये छः हजार अजपा गायत्री के जपका अर्पण किया जाता है। इसी प्रकार हृदय में अनाहत चक्र है वहां द्वादश दल युक्त ऊपर को मुखवाला कमल है और अष्टदल युक्त नीचे को मुख वाला कमल है वहां वृषभ वाहन और स्वशक्ति भवानी सहित श्री महेश्वर का निवास है। वहां भी महादेव के लिये छः हजार अजपा मन्त्र का अर्पण किया जाता है। एवं कण्ठस्थ विशुद्ध चक्र में सोलह दल वाला पद्म है उसमें जीवका निवास है और उस जीव की प्राण या अज्ञान शक्ति है। वहां स्व शक्ति सहित जीव को एक हजार मन्त्र अर्पण करे। इसके उपरान्त भ्रूकुटियों के मध्य में आज्ञा चक्र है उसमें दो दल वाला कमल हैं, वहाँ ज्ञान शक्ति सहित सदा शिव रहता है। एक हजार मन्त्र गुरुदेव सदा शिव के लिये समर्पित करे। इसी तरह ब्रह्मचक्रस्थ मात्रिका वर्ण सहित जो सहस्र दल पद्म है वहां चित् शक्ति सहित परमात्मा का निवास है। उस सर्वेश्वर के लिये भी एक हजार हंस मन्त्रों को समर्पित करे। अब नीचे संकल्प लिखा जाता है—

"अद्येह पूर्वेद्यु रहोरात्र चरितनासापुटनिःसृतोच्छ्वास निःश्वासात्मक षट्शताधिकैक विंशति सहस्र सख्याकाऽजपागायत्री जपं मूलाधार स्वाधिष्ठान मणिपूराऽनाहत विशुद्धाज्ञाचक्र ब्रह्मरन्ध्र स्थितेभ्यो गणपति ब्रह्म विष्णु रुद्र जीव गुरु परमात्मभ्यः सिद्धि सरस्वती लक्ष्मी गौरी प्राण शक्ति ज्ञानशक्ति चिच्छक्ति समेतेभ्यो यथा सँख्यं षट्शतं षट् सहस्रं षट् सहस्रं षट् सहस्रं सहस्रमेकं सहस्रमेकं सहस्रमेक मजपा गायत्रीजपं प्रत्यकं निवेदयामि, इति निवेद्य पुनरद्य प्रातःकालमारभ्य द्वितीय प्रातःकाज पर्यन्तं नासापुट निःसृतोच्छ्वास निःश्वासात्मकँ षट्शताधिकैक विंशति सँख्याक मजपा गायत्री जप महोरात्रेणाहँ करिष्ये इति यजमानो जप सँकल्पं कृत्वा स्वकृत्यमाचरेत इति।

अथवा चतुर्दल विशिष्ट मूलाधार चक्रस्थाय मूषक वाहनाय सांगोपाङ्ग स हताय स्वशक्ति सिद्धि बुद्धियुताय श्री महागणाधिपतये-ऽजपाजपानां सोऽहमित्येवं रूपाणां षट्शतानि, प्राह्निकं च समर्पयामि नमः प्रीयताम्।

षड्दल विशिष्ट स्वाधिष्ठान चक्रस्थाय हंस वाहनादि साङ्गोपाङ्ग सहिताय स्वशक्ति सावित्री युक्ताय श्री ब्रह्मणेऽजपा जपानां सोऽहमित्येव रूपाणां षट् सहस्राणि, अर्घ्यपाद्यादिकञ्च समर्पयामि नमः प्रीयताम् ।

दशदल विशिष्ट मणिपूर चक्रस्थाय गरुड़वाहनादि साङ्गोपाङ्ग सहिताय स्वशक्ति लक्ष्मीयुक्ताय श्रीमहाविष्णवेऽजपा जपानां सोऽहमित्येवं रूपाणां षट्सहस्राणि पाद्यादिकंच समर्पयामि नमः प्रीयताम् ।

द्वादशदल विशिष्टानाहत चक्रस्थाय वृषभ वाहनादि साङ्गोपाङ्ग सहिताय स्वशक्ति गौरी युक्ताय श्रीमहेश्वरायाऽजपा जपानां सोऽहमित्येव रूपाणां षट् सहस्राणि, अर्घ्यपाद्यादिकं च समर्पयामि नमः प्रीयताम् ।

षोडशदल विशिष्ट विशुद्ध चक्रस्थाय साङ्गोपाङ्ग सहिताय प्राणशक्ति युताय श्री जीवात्मने ऽजपा जपानां सोऽहमित्येवं रूपाणामेक सहस्रं पाद्यादिकं च समर्पयामि नमः प्रीयताम् ।

द्विदल विशिष्टाज्ञाचक्रस्थाय साङ्गोपाङ्ग सहिताय ज्ञानशक्तियुताय सदाशिव स्वरूपाय गुरवेऽजपा जपानां सोऽहमित्येवं रूपाणामेक सहस्रं, पाद्यादिकं च समर्पयामि नमः प्रीयताम् ।

सहस्रदल विशिष्ट ब्रह्मचक्रस्थाय साङ्गोपाङ्ग सहिताय चिच्छक्ति युताय श्री परमात्मने ऽजपा जपानां सोऽहमित्येवं रूपाणामेक सहस्रं, पाद्यादिकं च समर्पयामि नमः प्रीयताम् ।

पुनरद्य प्रातःकालमारभ्य द्वितीय प्रातःकाल पर्यन्तं नासापुट निःसृतोच्छ्वास निःश्वासात्मक षट्शताधिकैक विंशति सहस्रस्याक मजपा गायत्री जप महोरात्रेणाहं करिष्ये, इति यजमानः संकल्पं कृत्वा स्वकृत्यमाचरेत् ।

अथ ध्यानम्—

आधारे लिङ्ग नाभौ प्रकटित हृदये तलुमूले ललाटे।
द्वे पत्रे षोडशारे द्विदश दशदले द्वादशार्धे चतुष्के ॥
वासान्ते वाल मध्ये डफकठ सहिते कण्ठ देशे स्वराणाम् ।
हंसं तत्वार्थ युक्तं सकल दलगतं वर्णरूपं नमामि ॥

भाषा टीका—प्रथम मूलाधार में चतुर्दलयुक्त कमल है। उस की प्रत्येक कर्णिका (पङ्खडी) में व से लेकर सकार पर्यन्त वं शं षं सं बीज रूप ये चार वर्ण विद्यमान हैं। दूसरे लिङ्ग मूलस्थ स्वाधिष्ठान चक्र में षड्दल वाला पद्म है। उसके षड्दलों में क्रम से व से लेकर ल पर्यन्त वँ भँ मँ यँ रँ लँ ये छः मात्रिका बीज वर्ण विराजमान हैं। तीसरे नाभिस्थ मणिपूरचक्र में दशदल वाला पद्म है। उसकी प्रत्येक कणिकाओं में क्रम से डकार से लेकर फ पर्यन्त डँ ढँ णँ तँ थँ दँ धँ नँ पँ फँ ये दश मात्रि का बीज वर्ण सुशोभित है। चौथे हृदयकमलस्थ अनाहत चक्र में बारहदल वाला कमल है। उस की प्रत्येक कर्णिका में यथा क्रम क से लेकर ठ पर्यन्त कँ खँ गँ घं ङँ चँ छँ जँ झँ ञ टँ ठँ ये पूर्वोक्त बारह मात्रि का बीज वर्ण विद्यमान है। पाँचवे कण्ठदेशस्थ विशुद्धचक्र में सोलह दल वाला कमल है। उस की प्रत्येक कर्णिका में यथा क्रम से अँ आँ इँ ईँ उँ ऊँ ऋँ ॠँ लृँ ॡँ एँ ऐँ ओं औं अँ अः ये सोलह स्वररूप मात्रिका बीजवर्ण शोभायमान हैं एवं छठे भ्रूमध्य आज्ञा चक्र में दो दल वाला पद्म है उसके दोनों दलों में क्रम से ह क्षं ये दो मात्रिका बीजवर्ण रहते है। ऐसे ही ब्रह्मरन्ध्र में सहस्रदल पद्म है इस प्रकार सकल चक्रस्थ पद्म दलों में विराजमान वर्णरूप परमेश्वर को प्रणाम करता हूं। पूर्वोक्त मन्त्रयोग ही जब प्राणायाम द्वारा क्रिया रूप में परिणत हो जाता है तब उसे हठ योग कहते हैं। हकार से सूर्यस्वर और ठकार से चन्द्रस्वर का ग्रहण होता है। चन्द्र और सूर्यस्वर का सुषुम्णानाडी में सम्बन्ध होने से हठ योग कहलाता है अर्थात् इडा और पिङ्गला नाडी के द्वारा सुषुम्णा नाडी में प्राण की एकता करता हुआ जो योगी प्राण की गति को अपने वस में करके परब्रह्म का ध्यान करता है उसी ध्यान की परिपक्व अवस्था का नाम हठयोग है।

गुद मण्डल में अपान वायु रहता है। वही अधो मार्गों से मल मूत्रादि को निकालता है। एवं उसी अपान वायु की सामर्थ्य से पूरक कुम्भक और रेचक प्राणायाम भी होता है क्योंकि प्राणवायु का रोकने वाला अपान वायु है। इसी लिये अपान शक्ति से रुका हुआ प्राण-

वायु बाहर से भीतर को पूरित किया जाता है इसी को पूरकनाम का प्राणायाम कहते हैं। तथा अपान से गृहीत ही प्राणवायु जल कुम्भ की तरह स्थिर रहता है। इसी लिये यह कुम्भक प्राणायाम कहा जाता है। इसी तरह अपानवायु से ग्रहण किया हुआ ही प्राणवायु परिमित मात्रा से बाहर निकाला जाता है। अतः यह रेचक प्राणायाम कहलाता है। यदि अपानवायु से प्राणवायु पकड़ा हुआ न हो तो निराश्रय प्राण-वायु से प्राणायाम होना सर्वथा असम्भव है। इसी आशय से श्री गोरक्षनाथ जी ने पूरकादि प्राणायाम अपान वायु का कार्य कहा है।

नाभि में समानवायु रहता है। वही जठराग्नि को उद्दीप्त करता हुआ पाचन करता है। इसी लिये दीपक और पाचक कहलाता है। तथा खाद्य और पेय वस्तुओं के रस का सब नाड़ियों में समान विभाग करने से समान कहा जाता है। समस्त शरीर के अङ्गों में व्याप्त होकर व्यानवायु रहता है और समस्त नाड़ियों में विद्यमान मलिन मज्जादि का शोषण भी वही करता है तथा शरीर में बल बृद्धि को भी बढ़ाता है और किसी अङ्ग में चंचल तथा किसी में स्थिर रूप से रहता है। कण्ठ में उदान नाम का वायु रहता है, वही वायु खाने पीने की वस्तु को कण्ठ से नीचे उतारता है, तथा वमन भाषण और दूसरे शरीर की प्राप्ति के लिये उत्क्रमण अर्थात् इस शरीर से जीव के निकालने में भी वही मुख्य कारण है। नागवायु सकल शरीर में व्यापक होकर रहता है, वह शरीर को मोटा करता है और शरीर का संचालन भी वही करता है एवं डकार के आने में भी वही कारण है। शरीर को कँपाना आँखों की पलकों को खोलना और मीचना कूर्मनाम के वायु का काम है। शरीरगत कृकल वायु के भी दो काम हैं उद्गार (डकार) लाना और भूख लगाना। देवदत्त नामका वायु मुख का विजृम्भण करता है अर्थात् जंभाई का कारण देवदत्त वायु है। समस्त शरीर व्यापी धनंजय वायु अव्यक्त शब्द को उत्पन्न करता है। इस प्रकार उपरोक्त दश वायुओं के सम्बन्ध से नर नारी रूप पिण्ड (शरीर) की उत्पत्ति होती है। इन दश वायुओं में प्राणादि पाँच वायु मुख्य हैं जो शरीर धारणा दि क्रिया को प्रधान रूप से सम्पादन करते हैं। और नागादि पाँच

वायु अप्रधान हैं क्योंकि प्राणादि पाँच वायुओं के बिना इनकी स्थिति नहीं है. तथा शरीर में सब से पहले पाँच प्राणादि कों का ही वृत्तिलाभ होता है, पीछे नागादि भी प्राणादि के सहायक होने से अपने २ व्यापार को करते हैं ॥६९॥

मूल--अथ गर्भोजो पिण्डोत्पत्ति र्भवति नरनारी संयोगे ऋतुकाले रजोविन्दुसंयोगे जीवः ॥ ७० ॥

सं० टीका--"आसीच्छक्ति स्ततो नादो नादाद्बिन्दुरजायत" विन्दुर्नाम शक्तिविशिष्ट चेतनः स एव व्यष्टिरूपो जीवः समष्टिरूपो रुद्र ब्रह्मरमाधिपात्मक उभयोरभिन्नोपादनः "आदिनाथः" इत एवाह विन्दुः शिवात्मको बीजं शक्तिर्नादस्तयोर्मिथः ॥ समवाय इति ख्यातः सर्वागम-विशारदैरिति । तत्सहितशुक्रोपि विन्दुः । माषा न भोक्तव्या इत्यत्र माष-मिश्रिताअपि न भुज्यन्ते यथा । पुरुषस्य शुक्रे जीवो न्तर्हितो पि तत्र भोगो न भवति, अतस्य वृत्तिकत्वात्-वृत्त्य लाभे कारणञ्च तच्छुकसम्वलित शरीरस्य स्वामिना जीवान्तरेणाभिभावितशक्तिकत्वात् ॥ यदा तस्य भोगाय कर्मोद्भवति तदा पृथक् भोगसाधन शरीर निर्माणाय विन्दु पुरुषात् पृथक्कृत्यस्त्रिया गर्भकेन्द्रे (गर्भाशये) रजसा सह संयुनक्ति संयुक्त मेव रजो वीर्य्योभयमेतत्स्थूलशरीरोपादानम् । अत्रेदं बोध्यम्, विन्दौ या शक्तिः सा पंचकर्मेन्द्रिय पञ्चज्ञानेन्द्रिय दशवायु मन बुद्ध्यहङ्कार चित्त चैतन्येति पञ्चविंशतीनां सूक्ष्मावस्था । तत्र वायूनां वृत्तिलाभः सर्वतः प्रथमं बीजनिषेककालादेव भवति । अत एव गर्भे शुक्रो न विपूयते किन्तु वर्धतेऽवयवसन्निवेशश्च सम्पद्यतेऽन्येषां वृत्तिः शरीरे न्द्रियगोलकादि स्थान विशेष प्रादुर्भावानन्तरम् ॥७०॥

भाषा टीका-- ऋतु काल में स्त्री और पुरुष के संगम से निकले हुये रज और विन्दु का स्त्री कीयोनि में मेल होने से जीव के स्थूल शरीर की उत्पत्ति होती है भावार्थ यह है कि विन्दुशब्द का अर्थ शक्ति विशिष्ट चेतन है वही व्यष्टि में जीव और समष्टि में ईश्वर कहलाता है। इन दोनों का मूल कारण परब्रह्म परमेश्वर है। नीचे श्लोक में देखिये।

विन्दुः शिवात्मको बीजं शक्तिर्नादस्तयोर्मिथः
समवाय इति ख्यातः सर्वागमविशारदैः

अर्थ—शिव रूप विन्दु और बीज रूप शक्ति है। इन दोनों का जो परस्पर सम्बन्ध है उसी को शास्त्रवेत्ता नाद कहते हैं। अतः सिद्ध हुआ कि व्यष्टि जीव सहित शुक्र भी विन्दु कहलाता है। हाँ, पुरुष के वीर्य में अन्यजीवात्मा छिपा हुआ है भी, पर उसको उस शरीरमें सुख दुःखादि का व्यापार नहीं हो सकता क्यों कि जिस जीव के कर्म से इस शरीर का निर्माण हुआ है उस शुक्र संयुक्त शरीर के स्वामी की जीवात्मा से शुक्रतिरोहित जीव की शक्ति दबी हुई है किन्तु जब उस शुक्र में छिपि आत्मा के भोगार्थ कर्म का प्रादुर्भाव होता है तब उस जीव भोग के लिये शरीर निर्माण के निमित वह कर्म विन्दु को पुरुष से अलग कर स्त्री के गर्भाशय में सेचन करवाता हुआ उसको रज से मिलादेता है। अतः मिला हुआ रज-वीर्य इस स्थूल शरीर का कारण है। ७० ॥

मू०-प्रथम दिने कललं भवति सप्तरात्रे बुद्बुदाकारं भवति। अर्धमासे गोलाकारं भवति। मासमात्रेण कठिनं मास द्वयेन शिरोभवति। तृतीयमासि हस्तपादादिकं भवति। चतुर्थेमासि चक्षुःकर्णादि नासिका मुखमेढ्रगुदं भवति। पंचमे मासि पृष्ठोदरौ भवतः। षष्ठे मासि नख केशादिकं भवति। सप्तम मासे सर्व चेतन युक्तो भवति। अष्टममासि सर्व लक्षण युक्तो भवति। नवमे मासि सत्यज्ञान युक्तो भवति। दशमे मासि योनि संस्पर्शादज्ञानी बालको भवति ॥७१॥

सं० टी०—तत्र कियत् काले कस्य कस्याङ्गस्यो त्पत्ति रिति

वायु अप्रधान हैं क्योंकि प्राणादि पाँच वायुओं के विना इनकी स्थिति नहीं है. तथा शरीर में सब से पहले पाँच प्राणादि कों का ही वृत्तिलाभ होता है, पीछे नागादि भी प्राणादि के सहायक होने से अपने २ व्यापार को करते हैं ॥६९॥

मूल--अथ गर्भोजो पिण्डोत्पत्ति र्भवति नरनारी संयोगे ऋतुकाले रजोविन्दुसंयोगे जीवः ॥ ७० ॥

सं० टीका–"आसीच्छक्ति स्ततो नादो नादाद्विन्दुरजायत" विन्दुर्नाम शक्ति विशिष्ट चेतनः स एव व्यष्टिरूपो जीवः समष्टिरूपो रुद्र ब्रह्मरमाधिपात्मक उभयोरभिन्नोपादनः "आदिनाथः" इ त एवाह विन्दुः शिवात्मको बीजं शक्तिर्नादस्तयोर्मिथः ॥ समवाय इति ख्यातः सर्वागम-विशारदैरिति । तत्सहितशुक्रोपि विन्दुः । माषा न भोक्तव्या इत्यत्र माष-मिश्रिताअपि न भुज्यन्ते यथा । पुरुषस्य शुक्रे जीवो न्तर्हितो पि तत्र भोगो न भवति, अ तश्च वृत्तिकत्वात-वृत्त्य लाभे कारणञ्च तच्छुक्रसम्ब लित शरीरस्य स्वामिना जीवान्तरेणाभिभावितशक्तिकत्वात् ॥ यदा तस्य भोगाय कर्मोद्भवति तदा पृथक् भोगसाधन शरीर निर्माणाय विन्दुं पुरुषात् पृथक्कृत्यस्त्रिया गर्भकेन्द्रे (गर्भाशये, रजसा सह संयुनक्ति संयुक्त मेव रजो वीर्य्योभयमेतत्स्थूलशरीरोपादानम् । अत्रेदं वोध्यम्, विन्दौ या शक्तिः सा पंचकर्मेन्द्रिय पञ्चज्ञानेन्द्रिय दशवायु मन बुद्ध्यहङ्कार चित्त चैतन्येति पञ्चविंशतीनां सूक्ष्मावस्था । तत्र वायूनां वृत्तिलाभः सर्वतः प्रथमं वीजनिषेककालादेव भवति । अत एव गर्भे शुक्रो न विपूयते किन्तु वर्धतेऽवयवसन्निवेशश्च सम्पद्यतेऽन्येषां वृत्तिः शरीरे न्द्रियगोलकादि स्थान विशेष प्रादुर्भावानन्तरम् ॥७०॥

भाषा टीका– ऋतु काल में स्त्री और पुरुष के संगम से निकले हुये रज और विन्दु का स्त्री कीयोनि में मेल होने से जीव के स्थूल शरीर की उत्पत्ति होती है भावार्थ यह है कि विन्दुशब्द का अर्थ शक्ति विशिष्ट चेतन है वही व्यष्टि में जीव और समष्टि में ईश्वर कहलाता है। इन दोनों का मूल कारण परब्रह्म परमेश्वर है। नीचे श्लोक में देखिये।

विन्दुः शिवात्मको बीजं शक्तिर्नादस्तयोर्मिथः
समवाय इति ख्यातः सर्वागमविशारदैः

अर्थ—शिव रूप विन्दु और बीज रूप शक्ति है। इन दोनों का जो परस्पर सम्बन्ध है उसी को शास्त्रवेत्ता नाद कहते हैं। अतः सिद्ध हुआ कि व्यष्टि जीव सहित शुक्र भी विन्दु कहलाता है। हाँ, पुरुष के वीर्य में अन्यजीवात्मा छिपा हुआ है भी, पर उसको उस शरीरमें सुख दुःखादि का व्यापार नहीं हो सकता क्यों कि जिस जीव के कर्म से इस शरीर का निर्माण हुआ है उस शुक्र संयुक्त शरीर के स्वामी की जीवात्मा से शुक्रतिरोहित जीव की शक्ति दबी हुई है किन्तु जब उस शुक्र में छिपि आत्मा के भोगार्थ कर्म का प्रादुर्भाव होता है तब उस जीव भोग के लिये शरीर निर्माण के निमित वह कर्म विन्दु को पुरुष से अलग कर स्त्री के गर्भाशय में सेचन करवाता हुआ उसको रज से मिलादेता है। अतः मिला हुआ रज-वीर्य इस स्थूल शरीर का कारण है। ७० ॥

मू०-प्रथम दिने कललं भवति सप्तरात्रे वुद्वुदाकारं भवति। अर्धमासे गोलाकारं भवति। मासमात्रेण कठिनं मास द्वयेन शिरोभवति। तृतीयमासि हस्तपादादिकं भवति। चतुर्थेमासि चक्षुःकर्णादि नासिका मुखमेढ्रगुदं भवति। पंचमे मासि पृष्ठोदरौ भवतः। षष्ठे मासि नख केशादिकं भवति। सप्तम मासे सर्व चेतन युक्तो भवति। अष्टममासि सर्व लक्षण युक्तो भवति। नवमे मासि सत्यज्ञान युक्तो भवति। दशमे मासि योनि संस्पर्शादज्ञानी वालको भवति ॥७१॥

सं० टी०—तत्र कियत् काले कस्य कस्याङ्गस्योत्पत्ति रिति

वर्णितम्, मूलेऽक्षरार्थस्तु स्पष्टतरः ॥७१॥

भाषा टीका—अब गर्भ की कितने समय में कैसी अवस्था और किस की उत्पत्ति होती है इन सब का प्रकार नीचे देखिये। पहले दिन उस रज वीर्य की कलिल (कुछ गाढापन) अवस्था होती है। फिर सात रोज में वह मिला हुआ रज वीर्य बुल बुले के आकार को धारण करता है और पन्द्रहदिन में गोलाकार हो जाता है। इस के उपरान्त प्रथममास में गोलाकार अवस्था को प्राप्त हुआ माता पिता का रज वीर्य कठिन अवस्था को प्राप्त होता है फिर दो मास में उस गोलाकार पिण्डमें शिर निकलता है। एवं तीसरे महीने में हाथ पैर आदि अङ्गों का प्रादुर्भाव होता है। चौथे मास में आँख कान नाक, मुख, मूत्रेन्द्रिय और गुदा आदि होते हैं। पांचवें महीने में पीठ और पेट उत्पन्न होता है। छठे महीने में नख, केश और रोमादि पैदा होजाते हैं सातवें महीने में माता पिता के रज वीर्य से उत्पन्न हुई और माता के गर्भाशय में स्थित वह बाल मूर्ति सर्वाङ्ग और चेतन युक्त होजाती है। तथा आठवें मास में वह बालशरीर सर्व लक्षण सम्पन्न होजाता है। नवमे मास में उस गर्भस्थ बालक के अन्दर सत्यज्ञान की वृद्धि होजाती है। तात्पर्य यह है कि उस देश और काल की महिमा से वह बालक त्रिकालदर्शी सिद्ध जैसा ज्ञानी होजाता है। इसी कारण पिछले जन्म के दुःखों का स्मरण करता है ॥ अन्त में उस सर्वेश्वर की शरण में हो प्रार्थना करता है कि हे सर्वान्तरयामिन्? दयामयप्रभो? इस दारुणदुःखमय नरक से मेरा उद्धार करो! फिर दशवें महीने में जब योनिद्वार से बाहर निकलता है तब उस योनिद्वार के स्पर्श से उस जीव का सत्य ज्ञान नष्ट होजाता है और केवल अज्ञानी बाल स्वभाव होकर रोने लगता है।

मू०-शुक्राधिकेषु पुरुषो रक्ताधिका कन्यका समं शुक्ररक्ताभ्यां नपुंसकः परस्परं चिन्ताद्याकुलत्वा दन्धः कुब्जो वामनः पंगुरङ्गहीनश्च भवति। परस्परं

रतिकालेऽङ्ग निःपिडनकरणगुणैः शुक्रो द्विस्त्रिवारं पतति, येन द्वितीयो बालको भवति ॥७२॥

सं० टी०—मातृरजः पितुर्वीर्य्यञ्चास्य शरीरस्योपादानं तत्र यस्याधिक्यं तदनुरूपैव तनुः सम्पद्यतेऽतो रजआधिक्ये कन्या वीर्य्याधिक्ये बालकः, तयोः साम्येनपुंसक मिति युक्ति युक्तमुक्तम् । गर्भाधान कालिकमातृपितृभावनापि निमित्तम् । अतस्तस्या वैगुण्ये शरीराङ्ग-वैकल्यस्य न्याय्यतैव यथा कुलालप्रमादाद् घटेकोटिल्यादि । एतेन पित्रोर्भावनोत्कर्षात् पुत्रस्य सुमेधस्त्वमित्यपि प्रमाणितम् । रतिकाले परस्पराङ्गमर्दन व्यापारविशेषात्मक गुणवशात् किञ्चित् २ शुक्र पतने गर्भाशयस्थवायुना विभज्यमाने मत्यैकाधिकसन्तानोत्पत्तिः ॥७२॥

भाषा टीका-स्त्री के गर्भाशय में पुरुष के वीर्य की अधिकता होने से पुरुष शरीर तथा स्त्री के रज की अधिकता से स्त्री शरीर होता है एवं यदि माता पिता का रज और वीर्य समान हो तो नपुंसक का शरीर उत्पन्न होता है ॥ यदि रति काल में स्त्री पुरुष अथवा दोनों आपस में चिन्तायुक्त हों तो उनकी सन्तान अंधी केबड़ी अत्यन्त छोटी और अंग हीन होती है और रति समय में आपस में अङ्गों के मर्दन द्वारा वीर्य के पतन का अवरोध करने से गर्भाशय में जब रुक रुककर दो तीन बार बिन्दु का पात होता है तब एक से अधिक सन्तान पैदा होती है ॥

मू०—सार्धपलत्रयं शुक्रं विंशति पलं रक्तं द्वादश-पलं मेदः, दशपलं मज्जा, शतपलं मांसं दशपलं पित्तं विंशतिपलं श्लेष्मा, तद्द्वालः स्यात् षष्ठ्याधिक शत त्रयम स्थीन्य स्थिमात्रं सन्धयः सार्धत्रय कोटि रोम-कूपाणि पितृ मातृ वीर्यं भवति वात पित्त श्लेष्मधातु त्रयं दशधातुमयं शरीर मिति गर्भोत्थ पिण्डोत्पत्तिः ॥७३

इति महेश्वरावतार श्रीगोरक्षनाथकृत प्रथमोपदेशः ॥

सं० टी०—गर्भस्थ बाल शरीरे कियत् परिमाणं शुक्रादिक मिति जिज्ञासां दिक् प्रदर्शन न्यायेनोपशमयती त्यतोग्रन्थान्तरविरोधस्य नास्त्यवकाशः। अनन्तरमिमांतनुमधिष्ठाय जीवः स्व स्व कर्मानुकूलं फलं सुख दुःखान्यतरात्मकं भुनक्ति। अयमत्र निर्गलितसारः। अनन्त कालात् कर्म प्रेरितो जीवः। नवं नवं विग्रह मुपाददानः जन्मजरामृत्यु चक्र प्रबन्धारूढः संसरति। यदाहि, अनेक जन्मसञ्चित पुण्य पुञ्जपरिपाक वशात् संसारात्परां शान्तिमुपाशिश्रीषतेतदा तदुपायं पर्य्येषमाणो नित्यनिरवयव चेतनात्मकस्य जीवस्या विद्यां विना बन्धो न भवेदिति। आचार्योपदेशेन युक्त्या च तदवस्थाया च तदुच्छेद निदानञ्च विद्यामिकामैवेति विनिश्चित्य तदुपायो योग मार्ग एव समाश्रयणीयो मुमुक्षुभिः योगे च स्थूल शरीर ज्ञानं परमावश्यकम्, तज्ज्ञानं विना तदनुष्टानायोगात् किञ्चोपासनायां कर्मणि लौकिकेऽपि चिकित्सादि कर्मणि च सर्वत्र शरीर परिज्ञानस्यावश्यकम् तज् ज्ञानञ्च तन्निदान ज्ञानमन्तराऽशक्यमेवाधि भौतिक शरीरस्याधिभूतमुपादानकरणम्। अधिदेवश्च निमित्तं तदुभयं शरीर निदानम् अतस्तदुभयज्ञानमपेक्ष्यते तदुभयोरपि अभिन्न निमित्तोपादानम् "आदिनाथः" सोऽपि शक्ति सहितः एव न तु शक्ति रहितोयमेव विशेषः। अत आदिनाथमारभ्य स्थूलशरीर पर्यन्तोपवर्णनमस्मिन्नुपदेशे। आदिनाथः कूटस्थ एकविधः सकल निदानभूतः। तदुद्दृष्ट्याद्वैतमेव ॥७३॥

इति सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ सर्वतन्त्रस्वतन्त्र पं० श्री द्रव्येश झा कृत गूढार्थ दीपिकायां प्रथमोपदेशः।

भाषा टीका—अब इस शरीर में कितने परिमाण में कौन कौन वस्तुएँ रहती हैं उन वस्तुओं के सामान्य परिमाण का निरूपण करते हैं। इस शरीर में साढ़े तीन पल वीर्य, बीस पल रक्त, बारह पल मेदा, दशपल मज्जा, सौ पल माँस, दशपल पित्त, बीसपल गर्मी और इतना ही वायु रहता है। यहां यद्यपि वायु और उष्मा में विशेषतः गुरुत्व धर्म नहीं है जिसका पलादि से नाप किया जाय तथापि जिस परिमाण या यन्त्र विशेष से उष्मा और वायु का

माप कर सकते हैं इस योगज धर्मादि प्रमाण वा यन्त्र विशेष से मांप की गई वायु को कह सकते हैं कि यह वायु वा उष्मा बीस पल है जैसे थर्मामैटर से माप की गई गर्मी को कहा जाता है कि इस देवदत्त के अट्ठानवे डिग्री ताप है इसी प्रकार योगाचार्य जी ने ऋतम्भरा योगप्रज्ञा से मांप कर बीस पल वायु और उष्मा के परिमाण का प्रतिपादन किया तथा तीन सौ साठ हड्डियां और उतने ही उनके जोड़ में एवं साढ़े तीन करोड़ रोम तथा रोमकूप हैं। यह सब माता पिता के रज वीर्य का ही परिणाम है यह शरीर वात, पित्त, कफ तथा चर्म रुधिर मांस मेदा अस्थि, मज्जा और शुक्र इन दश धातुओं से बना है॥ इस प्रकार से उत्पन्न होने वाले पिण्ड की उत्पत्ति का वर्णन समाप्त हुआ ॥७३॥

इति सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ योगीन्द्र श्री १०८ बोहराधिपति श्री पूर्णनाथ शिष्येण वेदान्ताचार्येण योगि श्री पं० भीष्मनाथेन कृतायां हिन्दी टीकायां प्रथमोपदेशः समाप्तः ॥

अथ पिण्डविचारः कथ्यते

मूल—पिण्डे नव चक्राणि। आधारे ब्रह्मचक्रं त्रिधावर्त्तं भगमण्डलाकारं तत्र मूलकन्द स्तत्र शक्तिं पावकाकारां ध्यायेत् तत्रैव कामरूपपीठं सर्वकामप्रदं भवति ॥१॥

सं०—साकल्येन पिण्डाण्डौ प्रदर्श्य शरीरेऽस्मिन्ननेकेषां सद्भावेऽपि योगेऽत्यावश्यक ज्ञातव्यावयवादीनां स्वरूपाणि तत्र कर्त्तव्य ध्यानादि विशेषांस्तत्फल विशेषांश्च प्रदर्शयितुं द्वितीयोपदेशः प्रस्तूयते। पिण्डेऽस्मिन् स्थूलशरीरे नव चक्राणि सन्ति पृष्ठमध्यसंलग्नो मेरुदण्डस्तदभ्यन्तरे दक्षिणभागे पिंगलाख्या सूर्यनाड़ी। वाम. भागे चेडानाम्नी चन्द्रनाड़ी॥ मध्ये सुषुम्णा नाड़ी॥ इयं तेजोरूपा मूलाधारमारभ्य ब्रह्मरन्ध्रसहस्रार पर्यन्ता॥ तस्य एव तत्तत्स्थानेष्वाकारविशेषः चक्रम् तत्र षट् चक्राणि कचित् वर्णितानि सङ्क्षेपेणोपासनार्थम् वस्तुतः प्राचीन ग्रन्थेषु नवचक्रमयंवपुरित्येव बहुलमुपलभ्यते लिंगादधो गुदादुर्ध्वं मध्ये बिन्दुरूपकुण्डलिनीशक्तेः प्रथमाविर्भावस्थानं मूलाधारः। मूलस्य शरीरकारणस्य बिन्दोराश्रयः॥ वस्तुतः शरीरस्यैवाधारः सा तां विना शरीरस्य स्थितिरेव दुर्लभा किन्तु बालानां बोधाय घटे मृत्तिकेतिवत् मूलस्याधार इति व्युत्पत्तिः प्रदर्श्यते तत्राध्यात्मिकप्राणवायु सहिता चिच्छक्तिः शरीरकारणत्वात् ब्रह्मचक्रम् त्रिधावर्तम् त्रिवलयान्वितम् कचिन् सार्धत्रिवलयान्वितम् इत्युपलभ्यते न तेन विरोधश्च तुच्छसंख्यापूर्त्ति पर्यन्तं त्रिपदेनैव कथ्यते यथाऽमर कोश आदशतः संख्या संख्येय इत्यत्र दशपदेनाऽष्टादश पर्यन्तं गृह्यते (भगमण्डलाकारम्) अधो मुख त्रिकोण यन्त्रम् तत्र त्र्यौपश्लेषिका सप्तमो तथा च तत्समीपे किंचिदुर्ध्वदेशे मूलकन्दः पद्यण्डसरूप एतस्मादेव सर्वानाड्यः प्ररोहन्ते॥ तत्र मूलाधारे वह्निवर्णां शक्तिं ध्यायेत् साधकः। इयमिच्छाशक्ति गौरीरूपा कामेश्वरी तत्र स्थितशिवकामेश्वरसहिता ध्येया न केवलः शिवो न च केवला शक्ति रिति रहस्यम् बहुषु स्थलेषु स्वयमा

चार्यपादैर्व्यवस्थापितम् शक्तिध्याने शिवसाहित्यं शिवध्याने शक्तिसाहित्यमिति प्राधान्यमात्रं विशेषः । तदुक्तम् विद्युद्विलासवपुषः श्रियमाहवन्तीं यान्तीं स्ववासभवनाच्छिवराजधानीम्, सौषुम्णमार्गकमलानि विकाशयन्तीं देवीं भजेद्धृदि परामृतसिक्तगात्राम् एतत् स्थानम् कामपीठम् । शक्तेराविर्भावस्थानम् पीठपदेन व्यवह्रियते कामा च कामश्च तयोरेकशेषे कामौ तयोः पीठम् कामेश्वरी कामेश्वरयोः स्थानमित्यन्वर्थता सूचिता । अत्रोपासकानां सकलकामना सिद्धिर्भवति, इति प्रथमचक्रम् ।

भा० अब पिण्ड (शरीर) के विचार का वर्णन करते हैं । इस पिण्ड में नौ चक्र हैं उन में भी गुदा से दो अंगुल परिमाण ऊपर और लिङ्ग से दो अङ्गुल नीचे चार अङ्गुल परिमाण और चतुर्दलयुक्त मूलाधार है । उसी आधार में तीन बार गोल आकार से चारों ओर लिपटा हुआ त्रिकोण भग मण्डल के सदृश और परब्रह्म की प्राप्ति का हेतु ब्रह्मचक्र है । उसी के समीप कुण्डलाकार मूलकन्द है वहां अग्नि के आकार वाली देदीप्यमान शक्ति का ध्यान करे । वहां ही त्रिकोणात्मक कामरूप पीठ है इस काम पीठ के ध्यान मात्र से सकल इष्ट कामनाओं की सिद्धि होती है इस लिये इस का 'काम पीठ यह नाम सार्थक है ॥ १ ॥

मू०—द्वितीयं स्वाधिष्ठानचक्रं तन्मध्ये पश्चिमाभिमुख लिंगं प्रवालाङ्कुर सदृशं ध्यायेत् तत्रैवोड्डीयान पीठं जगदाकर्षणं भवति ॥२॥

सं० टीका—लिङ्गसमीप देशे सुषुम्णानाड्यां स्वाधिष्ठानं चक्रम् तन्मध्ये, इषद्रक्तवर्णं शिवलिङ्गं चिन्तयेत् अत्रोपासनेनाकर्षणशक्तिः सिद्ध्यति । इति द्वितीय चक्रम् ॥२॥

भा० दूसरा छःदलयुक्त स्वाधिष्ठान चक्र है उस के बीच पीछे की ओर मुख वाला मूंगे के अग्रभाग के सदृश शिव लिङ्ग है वहां रक्तवर्ण उस शिव लिङ्ग का ध्यान करे वहीं पर उड्डीयाण पीठ है वहां ध्यान करने से जगत् के आकर्षण की सामर्थ्य होती है ॥२॥

मू०—तृतीयं नाभिचक्रं पञ्चावर्त्तं सर्पवत् कुण्डलाकारं तन्मध्ये कुण्डलिनी शक्तिं बालार्ककोटिसदृशीं ध्यायेत् सा मध्यमा शक्तिः सर्वसिद्धिप्रदा भवति ॥३॥

सं० टी०—नाभि देश समीपस्थ सुषुम्णायां पञ्चावर्त्त सर्प कुण्डलसदृशीं कुण्डलिनीं कोटिप्रातःकालिकसूर्यप्रभां ध्यायेत् इयं मूलाधारस्थकुण्डलिनीतो भिन्ना तदवस्थाविशेषः। अत स्तत्र त्रिरा वृत्तम् अत्र पंचावृत्तम् इति तृतीयम् ॥३॥

भाषा टीका— तीसरा नाभी चक्र है इसी को मणिपूर चक्र भी कहते है। वह सर्प के सदृश कुण्डलाकार नाड़ी से चारों ओर पाँच बार गोला कार में वेष्टित है उस में प्रातः काल के करोड़ों सूर्यों के सदृश कुण्डलिनी शक्ति का ध्यान करे। इस के ध्यान मात्र से सब सिद्धियों की प्राप्ति होती है और चित्त में सत्त्व गुण का प्रवाह बहने लगता है इसी कुण्डलिनी शक्ति को मध्यमा शक्ति भी कहते है। क्यों कि मूलाधारस्थ सूक्ष्मा कुण्डलिनी शक्ति की ही अवस्था विशेष होने से इस का नाम मध्यमा शक्ति हुआ। ६ ॥

मू०—चतुर्थं हृदयाधारमष्टदलकमलमधोमुखं तन्मध्ये कर्णिकायां लिङ्गाकारं ज्योती रूपां ध्यायेत्। सैव हंसकला सर्वेन्द्रियाणि वश्यानि भवंति ॥४॥

सं० टी०—हृदयसन्निहितसुषुम्णायामनाहत चक्रम् ततो निःसृताऽष्टदलकमलं हृद् शे ऽधोमुखं तदन्तः कर्णिकायां ज्योतीरूपां ध्यायेत् इयं हंसकला श्री शक्तिः। अत्रो पासनेन सर्वेन्द्रियाणि वश्यानि भवंति इति चतुर्थम् ॥४॥

भा०— चौथा हृदय चक्र है उसी को अनाहत चक्र भी कहते हैं वहां अष्टदल वाला अधोमुख कमल हैं उस का जो मुख है उसके मध्य में स्थित कर्णिका में शिव लिङ्ग के आकार वाली ज्योती का ध्यान करे उस ज्योति का नाम ही हंसकला है उस हंस कला रूप ज्योति का ध्यान करने वाले पुरुष की सब इन्द्रियां वश में होजाती हैं। ४ ॥

मू०–पञ्चमं कण्ठ चक्रं चतुरंगुलं तत्र वाम इडा चन्द्रनाड़ी दक्षिणे पिंगला सूर्यनाड़ी तन्मध्ये सुषुम्णां ध्यायेत् सैवानाहतकलाऽनाहतसिद्धिर्भवति ॥५॥

सं० टी०–कण्ठ देशे पञ्चमचक्रम् चतुरङ्गुलपरिमितम् । तत्र वामभागे इडानाम्नी चन्द्रनाड़ी दक्षिणे च पिंगलानाम्नी सूर्य्यनाड़ी मध्ये सुषुम्णा तां ध्यायेत् तत्रभेदेनस्पष्टतयाप्रकाशते, इतः पूर्वंभेदेन स्पष्टता नासीदिति व्यज्यते । इयमनाहतकला अत्रोपासनेन क्वापि जले स्थले पाषाणे वा प्रतिघातो न भवति वा संकल्प शक्तिः सिध्यति ॥५॥

भा०– पांचवां चार अङ्गुलविस्तार वाला कण्ठचक्र है उसमें बांई ओर इड़ा नाम की चन्द्र नाड़ी है और उसी कंठ चक्र के दाहनी ओर पिङ्गला नाम की सूर्यनाड़ी मूलकन्द से प्रकट होकर तत्तत् स्थानों में होती हुई यहाँ आकर निकली है । उन दो नाड़ियों के मध्य में श्वेतवर्ण सुषुम्णा नाम की ब्रह्म नाड़ी का ध्यान करे । उस सुषुम्णा का ही नाम अनाहत कला है इस के ध्यान से अनाहत सिद्धि होती है । अर्थात् जो जो मानसिक संकल्प करता है वह सब सफल होजाते हैं । ५ ॥

मू०–षष्ठं तालुचक्रम् तत्रामृतधाराप्रवाहः घण्टिकालिङ्गमूलरन्ध्रराजदन्तं शंखिनीविवरं दशमद्वारं तत्र शून्यं ध्यायेत्, चित्तलयो भवति ॥६॥

सं० टी०–तालु मूले षष्ठं चक्रं तत्रामृतस्य सहस्रारतः प्रवाहो भवति योहि माँसखण्डस्तन इवमुखोद्घाटने दृश्यते सा घंटिका लिंग सदृशं तस्या मूले छिद्रम् तदेव दशमद्वारं योगतन्त्रे कथ्यते शंखिनी नाड्या विवरं तत्र शून्यस्य ध्यानेन चित्त लीनं भवति दन्तानांराजा इति राजदन्तंतदिवेति राजदन्तम् इवार्थे क मत्र सादृश्यं स्वच्छत्वेन चक्र विशेषणम् ॥६॥

भा०–छटा तालु चक्र है वहां सहस्रदल स्थित चन्द्र मण्डल

सेअमृतबिन्दु निकलता है उस अमृतबिन्दु की धारा का प्रवाह तालु की खास नाडियों में रहता है वहीं पर लिङ्गाकार घण्टिका के मूल से लेकर तालु पर्यन्त राजदन्त नामक बिल है इसी को शंखिनी विवर भी कहते है क्योंकि यहाँ शंखिनी नाडी का सम्बन्ध है यही दशमद्वार का मार्ग है ॥ यहां सून्य अर्थात् निर्गुण का ध्यान करे इस शून्य के ध्यान से चित्त का लय होता है । ६ ॥

मू०–सप्तमं भ्रूचक्रं मध्यममंगुष्ठमात्रं ज्ञाननेत्रं दीपशिखाकारं ध्यायेद् वाचां सिद्धिर्भवति ॥७॥

सं०—सप्तमम् भ्रूचक्रम् । भ्रुवोर्मध्ये वर्तत इति बोधनाय मध्यम मिति विशेषणम् अगुष्ठमात्रम् अंगुष्ठ परिमितम् ज्ञानं नयत्यनेनेति ज्ञान नेत्रम् ज्ञान विकाशस्य केन्द्रम् तत्र दीप शिखाकारं तेजो ध्यायेद नेन वाक् सिद्धिर्भवति ॥७॥

भा०—सातवां दो दल वाला भ्रूचक्र है । इसको आज्ञाचक्र भी कहते हैं । इसी भ्रूचक्र के मध्य में दीप शिखा के आकार वाला अङ्गुष्ठ परिमाण ज्ञान नेत्र है, वहां उसका ध्यान करे । उस ज्ञान नेत्र के ध्यान से वाक्सिद्धि होती है । उस ध्यानी पुरुष की वाणी कभी व्यर्थ नहीं जाती । अर्थात जैसा वचन बोलता है, वह सब सत्य होता है ।

मूल–अष्टमं ब्रह्मरन्ध्रं-निर्वाणचक्रं सूचिका-भ्रभेद्यं, धूमशिखाकारं ध्यायेत् तत्र जालन्धर पीठं मोक्षप्रदं भवति ॥८॥

सं०—अष्टमं निर्वाण नामकं चक्रम् । अत्र ध्यानेन ब्रह्म प्रकाश्यते ऽतो ब्रह्मरन्ध्रमिति द्वितीयं नाम मोक्षश्च भवति । अतः सार्थकं नाम । इदं चक्रं सहस्रारमूले तत्र कियच्छिद्रमिति जिज्ञासायामाह सूचिका भ्रभेद्यं सूचिकाग्रमिवभेद्यं प्रवेश मार्गः, इदं जालन्धर बन्धेनोद्घाट्यते ऽतो जालन्धर पीठं सांकेतिकं वा नाम धूमसदृशं तेजो ध्यायेत् । तत्फलं मोक्षः ॥८॥

भा०—आठवें ब्रह्मरन्ध्र में सूई के अग्र भाग के बराबर धूम की शिखा के आकार वाला निर्वाण चक्र है। वहां उस निर्वाण चक्र का ध्यान करे। उसके ध्यान से मुक्ति होती है। वहीं पर जालन्धर पीठ है ॥८॥

मू०—नवम माकाशचक्रं षोडशदलकमलमूर्ध्वमुखं तन्मध्ये कर्णिकायां त्रिकूटाकारं तदूर्ध्वशक्तिं तां परमशून्यां ध्यायेत् तत्रैव पूर्णगिरि पीठं सर्वेच्छा सिद्धि भवति। इति नवचक्रस्य विचारः ॥९॥

सं० टी०—नवममाकाशनामकंचक्रम्। सहस्रारोपरिभाग ऊर्ध्वमुखं षोडशदलात्मकं कमलं वर्तते तस्य दले (कर्णिकायाम्) त्रिकूटाकारा त्रिकोणाकारा ऊर्ध्वमुखी शक्तिः निराकारतया सच्चिदानन्द रूपेण ध्येया अनेन सत्य संकल्पो भवति। अतएवास्य पूर्णगिरिपीठसंज्ञा संकेतिता। निखिलैः पदार्थैः परिपूर्णं नगोपमम मेयत्वात् उच्छ्रितत्वाच्च स्थानमिदमिति सार्थकं नाम। पूर्वं चक्रे ध्यानेन संसारभयनिवृत्तिर्भवति। द्वितीयेतु सर्वोवशीभूतो भवतीति विशेषः। इति समाप्तः शरीरेऽस्मिन् सारभूत नव चक्राणां विचारः ॥९॥

भा० टीका—नवां आकाश चक्र है वह सहस्र दल कमल के ऊपर मध्य भाग में सोलह दल सहित है और उसका मुख ऊपर को है। उसकी मध्य की डंडी में तीन कोण से ऊँची या त्रिकोणाकार उस षोडशदल कमल से ऊपर परम उत्कृष्ट निराकार शक्ति का ध्यान करे। वहां ध्यान करने से सब इच्छाएँ सिद्ध होती हैं। उसी का नाम पूर्ण गिरि पीठ है। इस पूर्वोक्त रीति से यहां तक नौ चक्रों का विचार समाप्त हुआ ॥९॥

मू०—अथ षोडशाधारः कथ्यते तत्र प्रथमं पादाङ्गुष्ठाधारं तत्राग्रतस्तेजोमयं ध्यायेत्। दृष्टिः स्थिराभवति

सं०—अथ नव चक्र निरूपणानन्तरं योगोपयोगि शरीर निर्मितं

शरीरस्थशक्तीनामाविर्भावार्थं तत्तत् स्थान विशेषां स्तत्र कर्तव्यविशेषा-नानुषंगिक त तत्फलविशेषांश्चोपदिशति । अथ षोडशाधारेत्यादि तत्र प्रथमं स्थानं पादांगुष्ठतलाग्रं तत्र तेजोरूपं ध्यायेत् तत्फलं दृष्टेः स्थैर्यम् ॥१०॥

भाषा टीका—अब क्रम से सोलह आधारों का निरूपण करते हैं उन सोलह आधारों में सब से पहला पादाङ्गुष्ठ आधार है। उसके अग्रभाग में तेजोमय स्वरूप का ध्यान करे॥ उस ध्यान से दृष्टि स्थिर होती है ॥१०॥

मू०—द्वितीयं मूलाधार सूत्रं वाम पार्ष्णिना निःपीडयितव्यम् । तत्राग्नि दीपनं भवति ॥११॥

सं०—द्वितीयं मूलाधारनाडी । तस्या वाम पार्ष्णिना मर्दनेऽग्नि दीपनम् ॥११॥

भा० टी०—दूसरा मूलाधार है उसमें जो सीवन है उसको बायें पैर की एड़ी से दबाकर दृढ़ आसन से बैठे ॥११॥

मू०—तृतीयं गुदाधारं विकाससंकोचनेन निराकुञ्चयेत् । अपानवायुः स्थिरोभवति ॥१२॥

सं० टी०—तृतीयं स्थानं गुदामूलम् तस्य भूयः संकोच विकास करणेऽपान वायोः स्थिरता ॥१२॥

भा० टी० तीसरा गुदाधार है। वहां गुदा के विकाश और संकोच से अपान वायु को ऊपर की ओर खींचे। ऐसा करने से अपानवायु स्थिर होता है और इस क्रिया के करने से कुण्डलिनी को जगाने में भी सहायता मिलती है और गुह्य स्थान के समस्त रोग नष्ट होजाते हैं ॥१२॥

मू०—चतुर्थं मेढ्राधारं लिङ्ग संकोचनेन ब्रह्मग्रन्थि-त्रयं भित्त्वा भ्रमरगुहायां विश्रम्य तत ऊर्ध्वमुखे

बिन्दुस्तम्भनं भवति । एषा वज्रोली प्रसिद्धा ॥१३॥

सं० टी०—चतुर्थं स्थानंलिङ्गम् 'ल' तस्य संकोच करणेन तत्र संयुक्तनाडी त्रयस्य विश्लेषणं भवति । तेन लिङ्ग मध्ये विन्दु (वीर्य्य) गमनमवरुध्यते, तेन आगतमपिपरावर्त्तते भ्रमर गुहायां शिरःपृष्ठेशिखामूला द्धोवीर्य्यस्थाने न ततो बहिर्निः सरति तत ऊर्ध्वमुखे सति विन्दु स्तम्भवनं भवति । एतत्क्रियां विना वस्तुतो वीर्य्यरक्षणं ब्रह्मचर्यं दुर्लभमेवेत्यतो-ऽत्रोक्तम् । विशेषतः सत्क्रियाभिज्ञैरेव शिक्षणीयम् । अस्य सांकेतिकंनाम वज्रोलीति ॥१३॥

भाषा टीका—चौथा लिङ्ग आधार है । वहां लिङ्ग के संकोच द्वारा योनि मुद्रा की सहायता से वीर्य का ऊर्ध्व संचार करता हुआ योगी ब्रह्मा, विष्णु रुद्र इन तीन ग्रन्थियों को भेदन कर मेरुदण्ड के सामने ग्रीवा के उपरि भाग में विद्यमान भ्रमर गुहा में वीर्य की स्थापना करे । तदनन्तर ऊर्ध्वमुख होजाने से वीर्य का स्तम्भन होता है । अर्थात् वीर्य नीचे को नहीं गिरता । यह क्रिया वज्रौली नाम से प्रसिद्ध है जिस योगी की यह क्रिया सिद्ध होजाती है उसका शरीर वज्र जैसा मजबूत और कामदेव के समान सुन्दर होजाता है ॥१३॥

मू०—पञ्चम- मोड्याणाधारयोर्बन्धनान्मलमूत्र संकोचनं भवति ॥१४॥

संस्कृत टीका—पञ्चमं स्थानं नाभेरधः लिङ्गादूर्ध्वमुड्याण नामकं तस्य बन्धनेन मल मूत्रयोः संकोचो (अल्पता) भवति । तदुक्तम् योगिशि०उ० "नाभौ लिंगस्य मध्येतु उड्याणाख्यं च बन्धयेत ॥१४॥

भा० टी०—पञ्चम उड्डियान और मूलाधार के बन्धन से मल मूत्र का क्षय होता है ॥१४॥

मूल—षष्ठे नाभ्याधार ओङ्कारमेकचित्तेनोच्चारिते नादलयो भवति ॥१५॥

संस्कृत टीका-षष्ठं नाभिमूलम् तत्रैकाग्रमनसा प्रणव ध्यानेन नादलयो जायते । नादोनाम मूलाधारस्थबिन्दुरूपपरा

शक्तितः समुद्भूतः प्रकाशात्मसूक्ष्मशब्दः। तदुक्तं यो० शि० ३ मूलाधार गताशक्तिः स्वाधारा विन्दु रूपिणी। तस्यामुत्पद्यते नादः सूक्ष्मबीजादिवांकुरः। तां पश्यन्तीं विदुर्विश्वं यया पश्यन्ति योगिनः। इति तस्य लयः वृत्त्यभावः स्वकारणपरावाग्रूपेण स्थितिः। तत्फलं दूर श्रवणं तदुक्तम् नादेमनो जयं ब्रह्मन् दूरश्रवणकारणम् ॥१४॥

भाषा टीका—छठे नाभि आधार में एकाग्रचित्त से ओंकार का उच्चारण करने पर शब्द का लय होता है ॥१५॥

मू०—सप्तमे हृदयाधारे प्राणं निरोधयेत् कमल विकासो भवति ॥१६॥

सं० टीका—सप्तमं स्थानं हृदयमूलम् तत्र प्राणवायोर्निरोधेन तत्रस्थाष्टदलकमलं विकसितं भवति॥१६॥

भा०—सातवाँ हृदयाधार है। उसमें प्राण का निरोध करे ऐसा करने से हृदय कमल का विकाश होता है ॥१६॥

मू०—अष्टमे कण्ठाधारे कण्ठमूलं चिबुकेन निरोधये, दिडापिंगलयोर्वायुः स्थिरोभवति ॥१७॥

संस्कृत टीका- अष्टम स्थानं कण्ठमूलं तस्य चिबुकेन बन्धनमयमेव जालन्धरः, तदाह कण्ठं संकोचयेत्किंचिद्बन्धो जालन्धरो ह्ययम्। तेनेडापिंगलास्थवायुः स्थिरो भवति तथा च कुम्भक सिद्धिः ॥१७॥

भाषा टीका—आठवें कण्ठ आधार में कण्ठ मूल को ठोडी से निरोध करे। अर्थात् कण्ठ मूल और ठोढ़ी को मिला कर जालन्धर वन्ध करे। इस क्रिया से इड़ा, पिङ्गला नाम की सूर्य और चन्द्र नाड़ी में प्राणवायु स्थिर होता है ॥१७॥

मूल—नवमे घंटिकाधारे जिह्वाग्रं धारयेदमृत कला स्रवति ॥१८॥

संस्कृत टीका—नवमे घण्टिका मूलं तत्र जिह्वाग्रधारणे सहस्रारतः सुधायाः प्रस्रवणं जायते ॥१८॥

भा० टी०—नवाँ घण्टिकाधार है। यहाँ मुख के भीतर तालु में लटकनेवाले काग का नाम घण्टिका है। उस घण्टिकाधार के मूल में जिह्वा के अग्रभाग को लगावे। उस जगह सहस्रदल कमल में स्थित् चन्द्र मण्डल से जो अमृत कला टपकती है उसका पान करे। इसके पान से शरीर रोग रहित होजाता है ॥१८॥

मूल—दशमे ताल्वाधारे ताल्वन्तर्गर्भे लम्बिकां चालनदोहनाभ्यां दीर्घी कृत्वा विपरितेन प्रवेशयेत् काष्ठी भवति ॥१९॥

संस्कृत टीका—दशमं स्थानं घंटिकात ऊर्ध्वं तत्र ताल्वभ्यन्तर स्थित मार्गेण लम्बिकां (जिह्वाम्) चालन दोहन क्रियया दीर्घां विधाय विपरीतरूपेण प्रवेशने खेचरी मुद्रा सम्पद्यते तेन काष्ठ इव निश्चलो भवति। अयमेव जडसमाधिः कथ्यते तदाह कपाल कुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा। भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी। आचार्य्य मते ऽयमत्र विशेषः प्रतीयते लम्बिकाया एव दोहन चालने विधाय विपरीतां लम्बिकां कृत्वा जिह्वाग्रं धारयेत्। तेनामृतपानं खेचरी फलमपि सिध्यति जडसमाधिरपि भवतीति कलनीयं कोविदैर नुभवचुञ्चुभिः ॥१९॥

भाषा टीका—दशवाँ तालु आधार कागमूल से ऊपर है। उसके भीतर छिद्र में चालन और दोहन क्रिया से जिह्वा को एक बिलस्त लम्बी बढ़ा उलटा कर प्रवेश करे! इससे वह योगी काठ की तरह निश्चल होजाता है ॥१९॥

मूल—एकादशमथ जिह्वाधारं तत्र जिह्वाग्रं धारयेत् सर्व रोग नाशो भवति ॥२०॥

संस्कृत टीका--एकादशं जिह्वामूलम् तत्र जिह्वाग्रधारणे सर्व रोगादिविमुक्तिः फलम् ॥२०॥

भाषा टीका--ग्यारहवाँ जिह्वा आधार है। उस जिह्वामूल मे

जिह्वा के अग्रभाग को लगावे ! इसके परिपक्व अभ्यास से सब रोगों का नाश होजाता है ॥२०॥

मूल—द्वादशं भ्रूमध्याधारं तत्र चन्द्रमण्डलं धारयेत्, शीतलतां याति ॥२१॥

सं० टी०—द्वादशं भ्रूमध्यं तत्र चन्द्र मण्डल ध्यानेन शीतलता लाभः ॥२१॥

भाषा टीका--ग्यारहवाँ भ्रूमध्य आधार है। वहाँ निर्मल और सफेद रूप चन्द्रमडण्ल का ध्यान करें। उस श्वेत चन्द्रमण्डल के ध्यान से ध्यान करने वाले का अङ्ग शीतल हो जाता है ॥२१॥

मू०—त्रयोदशं नासाधारं तस्याग्रं लक्षयेत् मनः स्थिरं भवेत् ॥२२॥

संस्कृत टीका—त्रयोदशं नासिकाग्रं तत्रैकाग्रदृष्टौ मनसश्चाञ्चल्य नाशः ॥२२॥

भाषा टीका--ग्यारहवाँ नाँसिकाधार है। उसके अग्रभाग में दृष्टि लगाकर ध्यान करे। इस ध्यान के दृढ़ अभ्यास से मन अपने चंचल स्वभाव को छोड़कर स्थिर हो जाता है ॥२२॥

मूल—चतुर्दशं नासामूलकं कपाटाधारं तत्र दृष्टिं धारयेत् षण्मासाज्ज्योतिः पुञ्जं पश्यति ॥२३॥

संस्कृत टीकाचतुर्दशं नासिका मूलम् तत्र दृष्टि धारणे षण्मासेन जोतिः पुञ्जदर्शनम् ॥२३॥

भाषा टीका—चौदहवाँ नाँसिकामूल कपाटनाम का आधार है। वहाँ दृष्टि लगाकर ध्यान करे। इससे छः महीनो में देदीप्यमान तेज मण्डल को साफ साफ देखने लगता है ॥२३॥

मू०—पञ्चदशं ललाटाधारं तत्र ज्योतिः पुञ्जं लक्षयेत् तेजस्वी भवति ॥२४॥

सं० टी०—पञ्चदशं ललाटमूलं तत्र ज्योतिः पुञ्जध्यानेन तेजस्वी जायते ॥२४॥

भाषा टीका—पन्द्रहवां ललाट आधार है। उसमें ज्योति मण्डल को लक्ष्य बना कर ध्यान करे। उस ध्यान से योगाभ्यासी पुरुष तेजस्वी होजाता है ॥२४॥

मूल—अवशिष्टे षोडशे ब्रह्मरन्ध्र आकाश चक्रं तत्र श्री गुरुचरणाम्बुजयुग्मं सदावलोकयेदाकाशवत्पूर्णो भवति। इति षोडशाधारः ॥२५॥

सं० टी०—षोडशं ब्रह्मरन्ध्रं तत्र श्रीगुरुस्वरूपचरणपंकजो-पाधिविशिष्टं शक्तिसहितादिनाथं सच्चिदानन्दं निरवच्छिन्नं ध्यायेत्। प्रथमं भेदावभासो भवति दृष्टे सति भेदे विलयंगते साधकोऽपि परिपूर्ण रूपो मुक्तो भवति, इतिषोडशाधारः ॥२५॥

भाषा टीका—अवशिष्ट ब्रह्मरन्ध्र में सोलहवाँ आकाशचक्र है उस चक्र में आदिनाथ रूप श्रीपरम गुरु के चरण कमलों का ध्यान करे इस ध्यान से अभ्यासी आकाश की तरह पूर्ण व्यापक होजाता है। इस पूर्वोक्त रीति से सोलह आधारों का व्याख्यान समाप्त हुआ ॥२५॥

मूल—अथ लक्ष्यत्रयन्तत्रतावदन्तर्लक्ष्यंकथ्यते। मूलकंदाद्दण्डलग्नां ब्रह्मनाडीं श्वेत वर्णां ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्तं गतां संस्मरेत् तन्मध्ये कमलतन्तु निभां विद्युत्कोटिप्रभा मूर्ध्वगामिनीं तां मूर्त्ति-म्मनसा ध्यायेत् तत्र सर्व्वसिद्धिधदा भवति ॥२६॥

संस्कृत टीका—राजमार्गेण मनसा स्थिरीकरणोपायोवक्तव्यः, येन सर्व्वमुखतो मनो निरोध्य शक्ति विशेषं सम्पाद्य स्वेष्टं साधयेत् यद्यपि किमप्यालम्बनमादाय मनो निरोधः सुकरः, अतएव पातञ्जल योगसूत्र उपदिष्टम् यथाभिमतध्यानाद्वेति तथाप्युद्भूत शक्तिकं स्थान विशेष

मालम्बनी कृत्य मनो निरोधो झटिति भवति शक्तिविशेषसम्पादनंच भवतीति निरीक्ष्य तत्तत् स्थान विशेषानुपदिशन्तिस्माचार्य्याः। अत एव पातञ्जलेऽप्यालम्बन भेदेन संयमस्य फल भेदान् वर्णयां बभूव। तत्र कृत्स्नालम्बनेभ्यो वरीयसीं सुषुम्णास्थितकुण्डलिनीं शक्तिं पातञ्जलादिष्वनुक्त प्रकारां ध्यातव्यतयोपदिशन्ति। ध्रुवमनेनाल्पायासेनैव निखिलफलमाप्तुं शक्नुयुः सकललोकाः। अहो आचार्य पादानामपारकारुण्यम्, तत्रान्तर्बहिर्मध्य भेदेन ध्येय रूप लक्ष्यस्य त्रैविध्यम् तत्रापि सर्वतः प्रथम मन्तर्लक्षणमाह मूलकंदादिति कन्दोनाम नाभिलिंगान्तराले निखिलनाडीनांप्रभवस्थानम् तदुक्तं गो० प० श्रीगोरक्षनाथे नैव ऊर्ध्वं मेढ्रादधोनाभेः कन्दोयोनिः खगाण्डवत् तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिः। तत आरभ्य सहस्रारपर्यन्तं मेरुदण्डे श्वेतवर्णा ब्रह्मप्रपदनी सुषुम्णा वर्त्तते तन्मध्ये कमल तन्तु सहस्रांश कोमलां विद्युत्पुंज निभां कुण्डलिनीं शक्तिं निखिल जनपावनीं महाकाली महालक्ष्मी महा सरस्वती स्वरूपां मनसा ध्यायेत्। अनेन धर्मार्थ काम मोक्ष चतुर्विध पुरुषार्थ सिद्धिर्जायते ॥२६॥

भा० टी०—अब अन्तर, बहिर, मध्य, भेद से तीन प्रकार के लक्ष्य (ध्येय) का वर्णन किया जाता है। उन में भी सब से पहले अन्तर लक्ष्य का वर्णन करते हैं। लिङ्ग से उपर और नाभि से नीचे पक्षी के अण्डे के समान मूलकन्द है, उससे समस्त नाड़ियों का प्रादुर्भाव होता है। उसी मूलकन्द से उत्पन्न हुई और मूलचक्र से होकर सुमेरु दण्ड में लगी हुई ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त जो श्वेत वर्ण ब्रह्मनाड़ी है उसका ध्यान करे, और उसी सुषुम्णा के मध्य में कमल तन्तु के समान करोड़ों बिजलियों की चमक के सदृश प्रकाश वाली मूलाधार में स्थित शिव लिङ्ग को छोड़ कर ऊपर सहस्र दल में विराजमान शिव राजधानी को जाने वाली उस मूर्ति स्वरूप कुण्डलिनी शक्ति का शुद्ध मन से ध्यान करे। इस ध्यान से प्रसन्न हुई कुण्डलिनी शक्ति सब सिद्धियों को देती है ॥२६॥

मूल—अथवा ललाटोर्ध्वे गोल्ललाट मण्डपे स्फुर-

दा कारं लक्षयेदथवा भ्रमर गुहा मध्य आरक्त भ्रमरा कारं लक्षयेदथवा कर्ण द्वयं तर्जनीभ्यां निरोधयेत् ततः शिरोमध्ये धूंधूंकारं नादं शृणोत्य थवा चक्षुर्मध्ये नील ज्योतीरूपं पुतल्याकारं लक्षयेदित्यन्तर्लक्ष्यम् ॥२५॥

संस्कृत टीकारुचीनां बुद्धीनां वा वैचित्र्यादेकेन सुलभस्या-प्युपायस्यैतरेण दौर्लभ्यता विलोक्यते लोक इत्यालोच्य ध्येय विकल्पमाह अथवेत्यादि अतएव एतेष्वेक एव ध्येयो न तु सर्वे तत्रापि प्रथम त्यागे मानाभावात् तदशक्तेनैव द्वितीयमवलम्बनीयमित्यथवा शब्देन स्पष्टं प्रतीयते। गोल्लाटः कपालमध्य स्थितः भागः। भ्रमरोनाम शिखासूत्रादधोभागे संस्थितं वीर्य स्थानम् इति योगि जन प्रसिद्धम्। अन्यत् सकलं निगदव्याख्यातम् मूलम् ॥२७॥

भाषा टीका—अथवा गोल्लाट नामका जो मस्तक का ऊपर का भाग है उसके चल आकार का ध्यान करे, या मेरुदण्ड के सम्मुख ग्रीवा से ऊपर भ्रमर गुफा में चारों ओर से लाल वर्ण भ्रमर के आकार का ध्यान करे। अथवा दोनों कर्ण छिद्रों को हाथों की तर्जनी अङ्गुलियों से रोके उसके बाद शिर में धूं धूं ऐसा शब्द सुनाई देता है अथवा नेत्रों में नीली ज्योति वाली पुतली के आकार का ध्यान करे। इस तरह उपरोक्त प्रकार से अन्तर्लक्ष्य का वर्णन हुआ ॥२७॥

मू० वहिर्लक्ष्यं कथ्यते नासाग्राद्बहिरंगुलद्वय मारक्तं तेजस्तत्त्वं लक्षयेदथवा दशांगुले कल्लोलवदप्त-त्त्वं लक्षयेदथवा नासाग्राद्वा दशांगुले पीत वर्णं पार्थिवतत्त्वं लक्षयेदथवाकाश मुखं दृष्ट्वाऽवलोकयेत् किरणानाकुलितं पश्यति सर्वं निर्मलीकरणमथवो र्ध्वदृष्ट्यन्तरालं लक्षयेज्ज्योतिर्मुखानि पश्यत्य, थवा तदभ्यन्तरं तत्र तत्रा काशं लक्षयेदाकाश-

सदृशचित्तं मुक्तिप्रदं भवत्य थवा दृष्ट्यन्तस्तप्तका-ञ्चन सन्निभां भूमिं लक्ष्येद् दृष्टिःस्थिराभवति। इत्यनेक विध बहिर्लक्ष्यम् ॥२८॥

सं०—यथा जाग्रत् स्वप्नसु सुप्तयः तिस्त्रोऽवस्थाः तथा ध्याना-न्यपि त्रिविधानि भवन्ति स्थूल सूक्ष्मा सूक्ष्मतमानि जाग्रतः सुषुप्तिः तयोः सन्धिः मध्यमम् तत्र प्रथमम् भ्यर्हितत्वात्। सूक्ष्मतयाभिधाय सूक्ष्मरूप-बहिर्लक्ष्यमभियत्ते मध्यमं तु उभयोः संमिश्रणतया अन्ते उपदेक्ष्यते तत्र नासिकातः वहिरंगुलि परिमित देशे तेजो ध्यायेत अत्राप्यथवा शब्देन वैकाल्पिकत्वमेवोच्यते पूर्ववदेवानुसंधेयम्। अथवा दशाङ्गुलोर्ध्वं जल-तत्त्वम् अथवा दशाङ्गुलि परिमितां पीतां पृथ्वीमथवा आकाशं किय-त्कालम्। अत आह यावत् किरणैर्व्याप्तम्। दृष्टिपथं तावदेत अनेन भूतानि निर्मलानि भवन्वि इतरत् सुगममित्यनेक विधम् ॥२८॥

भा० टी०—अब वहिर्लक्ष्य का निरूपण करते हैं। नाँक के अग्रभाग से दो अङ्गुल आगे लाल वर्ण तेजतत्त्व का ध्यान करे। अथवा नासिका से दश अङ्गुल आगे तरङ्ग युक्त श्वेत वर्ण जलतत्त्व का ध्यान करे। वा नासिका के अग्रभाग से बारह अङ्गुल आगे पीतवर्ण पार्थिव-तत्त्व का ध्यान करे। या आकाश के संमुख देखकर स्थिर दृष्टि से आकाश का ध्यान करे। इस प्रकार ध्यान करने से चित्त एकाग्र और निर्मल होता है अथवा ऊपर को मुंह कर जहाँ तक दृष्टि पहुंच सके उसके मध्य भाग को लक्ष्य बना कर ध्यान करे। उस ध्यान के प्रभाव से उस ध्येय मध्य दिशा में ज्योतिः पुञ्ज को देखता है। या जहां तहां दृष्टि स्थिर हो वहाँ सर्वत्र आकाश का ध्यान करे। इस ध्यान की महिमा से चित्त आकाश की तरह निर्मल और व्यापक होजाता है। ऐसा चित्त ही मुक्ति का साधन होता है या जहां दृष्टि का अन्त हो वहां सुवर्ण सदृश पीतवर्ण भूमि का ध्यान करे। ऐसा करने से दृष्टि स्थिर होती है। इस उपर्युक्त रीति से अनेक प्रकार का बहिर्लक्ष्य होता है ॥२८॥

मू०—अथ मध्यमं लक्ष्यं कथ्यते श्वेत वर्णं वा रक्त वर्णं वा कृष्ण वर्णं वाग्निशिखाकारं वा ज्योती रूपं वा विद्युदाकारं वा सूर्य्यमण्डलाकारं वा ऽर्ध-चन्द्राकारं वा यथेष्टं स्वपिण्डमात्रं स्थान वर्जितं मनसा लक्षयेदित्यनेकविधं मध्यमं लक्ष्यम् ॥२६॥

सं०—अथ मध्यमं लक्ष्यं मध्यमत्वं चास्य शरीरे बहिर्वा नियतस्थानरहितत्वमयमाशयः, बहिर्लक्ष्ये बाह्ये नियतं स्थानं दशांगुलादि परिमितं पूर्वमुक्तम्। अन्तर्लक्ष्ये च शरीराभ्यन्तरे कुण्डल्यादि नियतं स्थान मुक्तम अत्र तुस्थानवर्जितमित्युच्यते तेन नियतस्थानरहितत्व मेव मध्यमत्वं न तु रूपाकाररहितत्वमतएव रूपविशेषानाकार विशेषांश्च दर्शयति श्वेत वर्णेत्यादि प्रधानतस्त्रीण्येव रूपाणि वर्णितानि श्वेत रक्त कृष्णानि छा० श्रुतौ। आकारविशेषानुपदिशति, अग्नि शिखाकारमित्यादि। अनेन लक्ष्यत्रयोपदेशेन सर्वेषां समाहितावस्थां विहाय मूर्त्तिपूजनमावश्यकमिति स्पष्टम् प्रतीयते स्वरूपावस्थानन्तु लक्ष्य मेव नतु साधनम् तथा च साधनावस्थायां साधकः सांसारिकोच्चावचनानाविषयभोगेषु ऽभ्यासक्तं मनो नियतस्थानेष्वनिरुध्य नात्मस्वरूपं द्रागवस्थापयितुं शक्नोति। अतो मनो निरोधाय नियतस्थानमवश्यमपेक्ष्यते। अनियत स्थानावलम्बने हि चित्तं विक्षिप्तं भवति ततश्च कुतो मनो निग्रहःकुतो वा परमेश्वर प्रसादस्तदा चात्मस्वरूपासंपादनाशा सिकताभ्य स्तैलनिःसारणसमैव, अतो निःश्रेयसाभ्युदयार्थिभिः शक्ति विशेष शालिषु मूलो क्तस्थानविशेषेषु मनोनिग्रहोविधेयः।तत्र परमेश्वरार्चन भवस्थादौ चक्रते झटिति परमेश्वर प्राप्तिद्वारे ष्टसिद्धि ध्रुव मिति तत्र स्वान्न निर्मित मन्दिरे स्वस्यैवोपकारः, बाह्य मन्दिर निर्माणे तु समेषामापामरमुपकार इत्यहो करुणापरायणता ऽऽचार्य चरणाना मयमेव सुपन्थाः सनातनः परमेश्वरोपदिष्टो वैदिकश्च सिद्धैरनुमोदितत्वात् अन्ये सर्वेऽवैदिका इति कृतबुद्धयोविदांकुर्वन्तु।

भा०टी०—अब मध्य लक्ष्य का निरूपण करते हैं। वह

ध्येय रूप देह श्वेत वर्ण हो रक्त वर्ण हो या काला वर्ण अथवा अग्नि शिखाकार या ज्योतिरूप या बीजली के आकार वाला या सूर्यमण्डल के आकार वाला अथवा आधे चन्द्रमा के समान हो यथा रुचि स्थान विशेष से रहित पिण्ड मात्र को ध्येय बनाकर मन से ध्यान करे। इस रीति से अनेक प्रकार का मध्यलक्ष्य होता है ॥२६॥

मू०—अथ व्योमपञ्चकं लक्षयेदाकाशं पराकाशं महाकाशं तत्त्वाकाशं सूर्याकाशमितिव्योम पञ्चकम्। बाह्या भ्यन्तरेऽत्यन्त निर्मलं निराकार माकाशं लक्षयेदथवा बाह्याभ्यन्तरे ऽत्यन्तांधकारनिभं पराकाशमवलोकयेद थवाभ्यन्तर अभ्यन्तर कालानल संकाशं महाकाश मवलोकयेदथवा बाह्याभ्यन्तरे सूर्यकोटिनिभं सूर्याकाशमवलोकयेत् स्वयं व्योमपञ्चकावलोकनेन व्योम सदृशो भवति ॥३०॥

सं० टी०—सूक्ष्मधियां मनसस्थैर्यायाकाशं लक्ष्यं कर्तव्यम् तेन चित्तमपि निराकारं भवति तत्फलञ्चतत्सदृश भावः। तत्रैकस्याप्या काशस्योपाधिभेदाद् भेदंविधाय पञ्चविधत्वमुपदिशत्याकाश पराकाश मित्यादि। उपाधि भेदञ्च प्रदर्शयति बाह्याभ्यन्तर इत्यादि॥३०

भा० टी०—आत्मा का स्वरूप व्यापक है। अब उस स्वाभाविक व्यापक आत्मा के स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिये ध्येय रूप पांच आकाशों का ध्यान करना चाहिये। अतः उनका निरूपण करते हैं। आकाश, पराकाश, महाकाश, तत्त्वाकाश, सूर्याकाश ये पाँच आकाश हैं। शरीर के बाहर और भीतर अत्यन्त निर्मल निराकार आकाश का ध्यान करे। अथवा शरीर के बाहर और भीतर अत्यन्त अन्धकारमय पराकाश का ध्यान करे या बाहर या भीतर तवे के सदृश काले महाकाश का ध्यान करे या बाहर और भीतर निज आत्म तत्त्व स्वरूप तत्त्वाकाश का ध्यान करे अथवा बाहर भीतर करोड़ों सूर्यों के सदृश

सूर्याकाश का ध्यान करे। इस रीति से पांच आकाशों का ध्यान करने वाला अभ्यासी आकाश के सदृश व्यापक होजाता है ॥३०॥

मू०—उक्तं च, नव चक्रं कलाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम्। सम्यगेतन्न जानाति सयोगी नाम धारकः ॥३१॥

सं० टी०—अत्रत्य सकल प्रघट्टकार्थं संक्षिप्यैकेनश्लोकेनानुवदति नव चक्र- मित्यादि। मूलाधारमारभ्य ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्तं नव चक्रम् कलापदेन षोडश गृहणम् तेन पादांगुष्ठमारभ्य पूर्वोक्तम् षोडशाधारम् प्रागुक्तं त्रिलक्ष्यमाकाशपञ्चकमेतेषां ज्ञानं परमावश्यकम् योगिना मन्यथा योगि संज्ञैव व्यर्था स्यादित्यनुक्रोशश्चि ॥३१॥

भा० टी०—ब्रह्मचक्र, स्वाधिष्ठान (लिङ्गचक्र) मणिपूर (नाभि चक्र) अनाहत (हृदय) विशुद्ध (कण्ठ) आज्ञा (भ्रू) तालु, निर्वाण, आकाश इन नौ चक्रों को तथा सत्रह कला चन्द्रमा की तेरह कला सूर्य की ग्यारह कला अग्नि की इन इकतालीस कलाओं को एवं पादाङ्गुष्ठ, मूलाधार, गुदाधार, मेढ्र ओड्याण नाभि, हृदय, कण्ठ घण्टिका, तालु, जिह्वा, भ्रूमध्य, नासिका, नासिकामूल, ललाट और ब्रह्मरन्ध्र इन सोलह आधारों को तथा बाहर भीतर और मध्य इन तीन लक्ष्यों को एवं आकाश, पराकाश, महाकाश तत्त्वाकाश, सूर्याकाश इन पाँच आकाशों को जो योगी उपर्युक्त रीति से अच्छी प्रकार नहीं जानता वह केवल नाम मात्र का योगी है ॥३१॥

अथाष्टांग योगःकथ्यते—

मू०—यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि। यमइति उपशमः सर्वेन्द्रियजय आहारनिद्राशीतवातातपजयश्चैवं शनैः शनैः साधयेत ॥३२॥

सं० टी०—अष्टाङ्ग योगस्य प्रथमाङ्गमिन्द्रियाणां स्वविषयेभ्य उपशमः, निवृत्तिः, कर्तव्यः, इति शेषः। तस्य फलमाह सर्वेन्द्रियजय इति ज्ञानेन्द्रियाणि न विषयासंगं विदधति बुभुक्षा पिपासा निद्राशीत वातज बाधा च न भवति। अत्रत्वरा न कार्या ॥३२॥

भा० टी०—अब अष्टाङ्ग योग का वर्णन करते हैं। अङ्गीभूत उस योग के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और ध्यान ये आठ अङ्ग हैं। नीचे सब का यथावसर वर्णन करते हैं। **यम**—अपने अपने विषयों से सब इन्द्रियों को हटा कर शान्ति प्राप्त करने को यम कहते हैं ॥३२॥

मू०—नियमइति मनोवृत्तीनांनियमनमि, त्येकान्तवासोनिःसंगतौदासीन्यं यथाप्राप्तिसन्तुष्टि र्वैरस्यं गुरुचरणावरूढत्वमितिनियम लक्षणम् ॥३३॥

सं० टी०—मनो व्यापारस्य निरोध एव नियमो द्वितीयाङ्गस्यैव कः प्रतिकार इति जिज्ञासायामाहैकान्तवास इति अरण्यनग कन्दरादौ वा योगिमण्डले वासो नतु प्राकृतजनेषु केनापि सहसम्बन्धाभिमानोनकर्तव्यस्तेनरागोनभवेत् सत्यपराधे तत्प्रतीकाराय न कश्चित्प्रयत्नोविधेयस्तेनद्वेषोनभवति (वैरस्यम्) स्वादुभक्षणासक्तिः परिहेया ननु नहिकश्चित् क्षणमपिजातु तिष्ठत्यकर्मकृदिति कथंस्थातव्यमिति सन्देहं छिनत्ति गुर्विति श्रीगुरुचरणसेवैवपरमधर्मः, नास्ति तत्त्वं गुरोः परम् जीवनोपायमाह यथाप्राप्तीति नियम लक्षणम् ॥३३॥

भा० टी०—**नियम** मन की समस्त वृत्तियों का नियन्त्रण करना अर्थात् जिन जिन विषयों की ओर मन जाय उन सब विषयों में दोष देखकर मन को रोकना तथा एकान्तवास त्यागी रहना अर्थात् किसी प्रकार के भोग्य विषय में आसक्त न होना, मित्र और शत्रु में भी राग द्वेष न करना तथा शरीर निर्वाह के लिये जैसा भी भोजन वस्त्र मिल जाय उसी में सन्तुष्ट रहना, मधुरादि रसों में प्रेम न करना और निज गुरु के चरणों में दृढ़ भक्ति होना नियम का लक्षण है। विवेक

मार्तण्ड में यद्यपि दश यम और दश नियम कहे हैं, तथापि उनका क्रम से यम और नियम में ही समावेश होजाता है। फर्क केवल इतना ही है कि इस पुस्तक में सूत्र वाक्यों (संक्षेप) से निरूपण किया है और विवेक मार्तण्ड में विस्तार से अलग अलग वर्णन किया है, देखिये—

'अहिंसा सत्यमस्तेय' ब्रह्मचर्यं क्षमा धृतिः।
दयार्जवं मिताहारः शौचं चैव यमा दश॥
तपः सन्तोष आस्तिक्यं दानमीश्वर पूजनम्।
सिद्धान्त वाक्य श्रवणं ह्री मतिश्च जपो हुतम्॥
नियमा दश संप्रोक्ता योग शास्त्र विशारदैः।

हिंसा न करना, सत्य बोलना, चोरी न करना, ब्रह्मचारी रहना, क्षमा, धीरता, दया, सरल स्वभाव, परिमित भोजन, और पवित्रता ये दश यम कहलाते हैं तथा तप, सन्तोष, आस्तिकता, दान, ईश्वर का पूजन, योग सिद्धान्त के बताने वाले वाक्यों का सुनना, जिस काम के करने से लोक में निन्दा हो उस काम से बचना, सत्यासत्य का विचार ॐ आदि मन्त्रो का जप, और हवन, ये दश नियम योग शास्त्र के ज्ञाता मानते हैं ॥३३॥

आसनमिति स्वस्वरूपे समासन्नता स्वस्तिकासनं पद्मासनं सिद्धासन मेतेषां मध्ये यथेष्ट मेकं विधाय सावधानेन स्थातव्यम्, इत्यासन लक्षणम् ॥३४॥

सं० टी०—अथासनं स्व स्वरूपे चिन्मात्रे चेतसः स्थापन मुख्य मिदमेव तदर्थं स्वस्तिकादीनामेकं किमपि स्वसौकर्य्यानुकूलं गुरुतो विज्ञाय कर्तव्यम्। तत्र सावधानतया स्थातव्यमिति स्वलक्ष्यं विहाय नान्यत्र मनो निर्गमनमर्थः। एतेषां लक्षणानि स्वयमेव दर्शितानि सव्य-माकुञ्चितं चरणं दक्षिणो जंघान्तराले दक्षिणं चाकुञ्चितं वामोरु-जंघान्तरे निक्षिपेत्! तत् स्वस्तिकासनम् तदाह ह०यो०

श्लोकः—जानूर्वोरंतरे सम्यक् कृत्वा पादतले उभे।
ऋजुकायः समासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते॥

वामोरू परिदक्षिणञ्च चरणं संस्थाप्य वामं तथा।
दक्षोरूपरिपश्चिमेन विधिना कृत्वा कराभ्यां दृढम् ॥
अंगुष्ठौ हृदये निधाय चिवुकं नासाग्र मालोकये ।
देतद्व्याधिविनाशकारियमिनां पद्मासनं प्रोच्यते ॥
मेढ्रादुपरि विन्यस्य सव्यं गुल्फं तथोपरि।
गुल्फान्तरं च निक्षिप्य सिद्धासनमिदं भवेत् ॥३४॥

भा० टी०—आसन—सदा स्व स्वरूप चेतन मात्र आत्मा में स्थित हो जाने को आसन कहते हैं। इस असली आसन की सिद्धि के लिये ही व्यावहारिक आसनों की भी जरूरत होती है, वे आसन यद्यपि अनन्त हैं, तथापि उनमें स्वस्तिकासन, पद्मासन' सिद्धासन ये तीनों योगसाधन के लिये अत्यन्त उपकारक हैं। इन में से जिसको जो अच्छा लगे उसी का अभ्यास कर सावधानी पूर्वक उसी आसन से बैठे यह आसन का लक्षण है। जिसको और आसनों की जिज्ञासा हो वह "योग सोपान,, नामक पुस्तक में देखले। पाठकों के ज्ञानलिये उपर्युक्त तीनों आसनों के लगाने की विधि लिखी जाती है, नीचे देखें

स्वस्तिकासन—घुटने और जंघाओं के बीच दोनों पैरों के तलुओं को लगाकर सावधानी से बैठना, बस यही स्वस्तिकासन कहा जाता है।

पद्मासन—बाईं जांघ पर दाहिने पैर को अच्छी प्रकार रक्खे फिर इसी तरह दाहिनी जांघ पर बांए पैर को रक्खें, और कमर के पीछे से हाथों को लाकर दाहिने हाथ से दाहिने और बांए हाथ से बांए पैर के अंगूठे को दृढ़ता से पकड़े, और ठोडी को हृदय में लगा कर नाक के अग्रभाग को देखें, यह समस्त रोगों के नाश करने वाला पद्मासन कहलाता है।

सिद्धासन—गुदा और लिङ्ग का मध्यभाग जो योनिस्थान कहलाता है उससे बांए चरण की एडी को मिलाकर दाहिने पैर को दृढ़ता से लिङ्ग इन्द्रिय के ऊपर रक्खे तथा ठोडी को भली प्रकार हृदय में स्थिर कर अचल दृष्टि से भ्रूकुटि के मध्यभाग को देखे यह मोक्ष

कपाट को खोलने वाला सिद्धासन कहा जाता है। उपर्युक्त इन आसनों को गुरु के द्वारा ही सीखे।

मू०--प्राणायाम इति प्राणस्य स्थिरता। रेचक पूरक कुम्भक संघट करणानि चत्वारि प्राणायाम लक्षणानि ॥३५

सं० टी०—प्राणवायोः स्थैर्य्यकरणं प्राणायाम इति कथ्यते। स च चतुर्विधः। रेचकः, कुक्षिस्थवायोर्बहिर्निःसारणम्। पूरकः बाह्य वायोराकृष्य देहाभ्यन्तरे ऽवस्थापनम्। कुम्भक उभयगति निरोधः संघटकरणम् सर्वेषां मेलनम् केवलकुम्भकम्, षोडशाचतुष्षष्टिद्वात्रिंशन्मात्राभिः पूरकादिभवतीतिग्रन्थान्तरं द्रष्टव्यम् ॥३५॥

भा० टी०—प्राणायाम—अब योग के चौथे अङ्ग प्राणायाम का वर्णन करते हैं, प्राणायाम प्राणों की स्थिरता के लिये करना चाहिये। क्योंकि हर समय इडा पिङ्गला नाम की नाडियों में प्राणों की स्थूल गति होती रहती है। किन्तु प्राण की सूक्ष्म अवस्था बनाने तथा सुषुम्णानाड़ी में संचार करने के लिये रेचक, पूरक, कुम्भक और संघट करण अर्थात् वायुओं को योग क्रिया की सहायता से प्राणायाम के द्वारा परस्पर मिलाना ये चार प्राणायाम के प्रकार हैं। पूरक प्राणायाम द्वारा शरीर में भरे हुए प्राणवायु को धीरे २ बाहर निकालने को रेचक और बाहर के वायु से शान्त चित्त होकर मन्द मन्द गति से उदर पूर्ण करने को 'पूरक' तथा उदर में पूरित वायु को कुम्भक (घड़े) की तरह धारण कर निश्चल रखने को 'कुम्भक' प्राणायाम कहते हैं। तथा योग क्रिया के कौशल द्वारा प्राण और अपान वायु को आपस में मिला देने या अकस्मात् प्राणगति का विच्छेद करने को 'संघटकरण' प्राणायाम कहते हैं। यही चार प्रकार के प्राणायाम का लक्षण है।

प्राणायाम की विधि—योगी सब से पहले समतल भूमि में कुशादि आसन बिछाकर ऊपर वस्त्र बिछाए, उस पर बद्ध पद्मासन या सिद्धासन से बैठकर अपने गुरु, शिव तथा योग के आचार्य श्री मत्स्येन्द्रनाथ आदि को प्रणाम कर भ्रूमध्य में दृष्टि लगा प्राणायाम

प्रारम्भ करे। पहले नासिका के दाहिने छिद्र को अङ्गूठे से बन्द कर नाँक के बाँए छिद्र से धीरे धीरे यथा शक्ति वायु कोभीतरभरे, तदनन्तर दूसरे नासिका पुट को भी उसी हाथ की तर्जनी अङ्गुली से बन्द कर यथा शक्ति प्राण को शरीर में धारण करे। पश्चात् अंगूठे को सहज में हटा कर धीरे धीरे वायु को निकाले। इसी प्रकार सूर्य स्वर में वायु को पूर्ण करके युक्ति युक्त और यथा शक्ति धारण कर चन्द्र-स्वर से रेचन करे, अर्थात् निकाले। इसी क्रम से बार बार अभ्यास करे। अर्थात् एक ओंकार के उच्चारण काल को मात्रा कहते हैं। अतः जितनी देर तक बारह ओंकारों का स्वाभाविक उच्चारण हो तब तक पूरक करे, तथा सोलह ओंकारों के उच्चारण काल तक, कुम्भक और दश ओंकारों के उच्चारण तक रेचक होता है। ये तीनों मिल कर साधारण प्राणायाम होता है। यही जब द्विगुण मात्रा में होता है तब मध्यम प्राणायाम कहलाता है। और त्रिगुण होने से उत्तम प्राणायाम कहा जाता है।

कनिष्ट	प्रा०	पू० १२	कु० १६।	रे० १०	॥
मध्यम	प्रा०	पू०। २४	कु० ३२	रे० २०	॥
उत्तम	प्रा०	पू० ३६।	कु० ४८	रे० ३०	॥

प्रथम प्राणायाम से शरीर में पसीना आता है। मध्यम में कम्पन होता है और जब उत्तम प्राणायाम होता है तब उस अभ्यासी का आसन ऊपर ऊठने लगता है और जिस पुरुष के शरीर में कफादि दोषों की अधिकता हो वह पहले नेती धोती आदि षट्कर्म को करे उस के बाद उस को भी सहज में ही प्राणायाम सिद्ध होजाता है इस के उपरान्त केवल कुम्भक का भी अभ्यास करे। प्राणा याम बहुत उत्तम है। इस से मृत्यु को भी जीत सकता है। इसी लिये ब्रह्मादि देवताओं ने भी यथावत इसका सेवन किया है। इस के बराबर न कोई तप न दान न तीर्थ और न यज्ञ है। किन्तु पापरूप इन्धन के लिये तो यह उद्दीप्त अग्निज्वाला के समान है और अनेक काम क्रोध लोभ मोह अहङ्कार आदि दुष्टग्राह से व्याप्त संसार सागर से पार होने के लिये महा सेतु के समान है। ६५।

मू०—प्रत्याहारमिति चैतन्य तुरङ्गाणां प्रत्याहरणं विकारग्रसन उत्पन्नविकारस्यापि निवृत्ति निर्भातीति प्रत्याहार लक्षणम् ॥३६॥

सं० टी०—चैतन्यस्य, आत्मनस्तुरंगा अश्वा इवे न्द्रियाणि वृ० श्रुतावपि युक्तावै हरयो दश वै शतानि। हरिरत्राश्वः, तेनात्म प्रकरण इन्द्रियाणां ग्रहणमिन्द्रियाणि हयानाहुरिति रूप कोपन्यासात् तेषां स्व-स्व विषयेभ्यः प्रत्याहरणं तत्फलम् विकारग्रसने-विषयावलोचनेऽपि विकाराऽप्राप्ति रपिशब्दादुत्पन्नविकारस्यनिवृत्तिश्चेति ॥३६॥

भा० टी० प्रत्याहार—अब योग के प्रत्याहारनामक पञ्चम अङ्ग का निरूपण किया जाता है। देह रूपी रथ, के स्वामी चैतन्य आत्मा की अश्व (घोड़ा) रूप इन्द्रियों की अपने अपने विषयों में प्रवृत्ति स्वभाव से सिद्ध है। उन इन्द्रियों को विषयों से हटा कर आत्मा में लगाना ही प्रत्याहार कहा जाता है। ३६ ॥

मू०—धारणे ति साबाह्याभ्यन्तर एकमेव निजतत्त्व स्वरूपमेवान्तः करणेन साधयेद् यथा यद्यदुत्पद्यते त-त्तन्निराकारे धारयेत् स्वात्मानं निर्वातदीपमिव संधारये दिति धारणालक्षणम् ॥३७॥

सं० टी०—बाह्याभ्यन्तरे सर्वत्रैकमेवात्म तत्त्वं चित्स्वरूपं शुद्धबुद्धमुक्त स्वभावं वर्तत इति मनसा विचिन्तयेद् योगी मनसो व्यापारः समुज्जृम्भते तत्सर्वं निराकारे लीनं कुर्याद् वातरहित दीप निश्चल प्रकाश सम आत्मा चिन्तनीयो वा तत्समंमनःकुर्यात् ॥३७॥

भा० टी० धारणा—अब योगके छटे अङ्ग धारणा को कहते हैं

शरीर से बाहर और भीतर सब जगह एक ही आत्मा व्यापक रूप से विद्यमान है। ऐसी मानसिक भावना करे और जो जैसा जितना भूत भौतिक प्रपञ्च उत्पन्न होता है उस सब को निजआत्म रूप निराकार में ही धारण करे कि यह सब प्रपञ्च समुद्र के तरङ्ग के सदृश ब्रह्म में ही कल्पित है। तथा उस परब्रह्म से अभिन्न आत्मा का वायु रहित दीप के समान निश्चल चित् प्रकाश रूप से ध्यान करे। यह धारणा का लक्षण है।

इस का विशेष प्रकार निम्न लिखि जानना

१—अधिष्ठातृ देवता ब्रह्म और लंबीज से युक्त हरिताल और सुवर्ण जैसा पीत वर्ण कण्ठ में स्थित चतुष्कोणा कार पृथ्वी तत्व विद्यमान है वहा चित्त सहित प्राणों का विलय कर पांच घड़ी पर्यन्त धारणा करे यह पृथ्वी धारणा है। इस धारणा के प्रभाव से पृथ्वि तत्व को स्वाधीन करने से सब वस्तुओं का स्तम्भन करने की सामर्थ्य होती है अर्थात पृथ्वी उस के संकल्पानुसार होती है। और पृथ्वी तत्व से वह नष्ट नहीं हो सकता।

२—अर्ध चन्द्रकार कुन्द पुष्प के सदृश सफेद तथा अमृत रूप व बीज और अधिष्ठातृ विष्णु देवता सहित कण्ठ में जल तत्व विराजमान है। यहां पांच घड़ी तक चित्त सहित प्राण को विलीन कर धारणा (ध्यान) करे यह अति दारुण काल कूट विष को भी जीर्ण करने वाली वारुणी धारणा है। इस के तत्तत् अभ्यास से जल तत्व बश वर्ती हो संकल्पानुकूल कार्य करता है।

३—प्रवाल (मूंगा) जैसा चमकीला रक्त वर्ण तेजो रूप रं बीज और रुद्र के सहित इन्द्र गोप (तीज) समान तालु में स्थित त्रिकोणा कार अग्नि तत्व है। वहां चित्त सहित प्राण को विलीन करता हुआ तन्मय हो धारणा करे। यह वैश्वानरी (अग्नि) धारणा है। यह अग्नि तत्व का जय करती है। इस के अभ्यास से योगी अग्नि तत्व को वश में करलेता है। अग्नि से उसका दाह नहीं होता

और अग्नि उस के संकल्पानुसार होता है।

४ सूक्ष्म कज्जल पुञ्ज के समान गोल यं वायु बीज और अधिष्ठातृ ईश्वर देवता सहित भ्रू के मध्य में वायु तत्त्व है। उस वायु तत्त्व में चित्त सहित प्राण को विलय कर पाँच घड़ी पर्यन्त तन्मय हो ध्यान करे। यह वायवी (वायुकी) धारणा योगी को आकाश में गमन कराती है।

५ ब्रह्मरन्ध्र में ओम् रूपीनाद तथा अधिष्ठातृ सदा शिव और हँ बीज के सहित अत्यन्त निर्मल नील वर्ण जल के समान वर्त्तुलाकार आकाश तत्त्व है। वहां उस तत्त्व में चित सहित प्राणों को विलीन कर स्वयं भी तन्मय हो पाँच घड़ी पर्यन्त धारणा करे। यह मोक्ष कपाट (द्वार) के खोलने में प्रवीण आकाश धारणा कहलाती है। अर्थात् आकश तत्त्व साधक के स्वाधीन होता है और साधक आकाशवत् पूर्ण व्यापक होजाता है। पूर्वोक्त पाँच धारणाओं के साधन से स्तम्भन द्रावण दाह घुमाना और शोषण करने की अद्भुत सामर्थ्य उत्पन्न होती है अर्थात् पृथ्वी की धारणा से सकल चराचर वस्तुओं को स्तम्भन जल धारणा से सब वस्तुओं को द्रवण (पिघलाना), अग्नि धारणा से दाह, वायु धारणा से घुमाने और आकाश धारणा से शोषण करने की सामर्थ्य होती है। जैसे—

स्तम्भनी द्राविणी चैव दाहिनी भ्रामिणी तथा।
शोषणी च भवत्येषा भूतानां पञ्च धारणा त्रि०मा० ॥३७ गो०प०

मू०—अथ ध्यानमिति कश्चन परमाद्वैतस्य भावःसएवात्मेति यथा यद्यत्स्फुरति तत्तत्त्व रूपमेवेति भावयेत् सर्व भूतेषु समदृष्टिश्च इति ध्यान लक्षणम् ॥३८॥

सं० टी०—अखण्ड सच्चिदानन्दो द्वैत रहितः परमात्मा ऽस्ति स एवा स्माक मात्मा किंच यथा येन प्रकारेण घटत्वादि रूपेण यद्यद् घटादयो भासन्ते तत् सर्वं स्वरूपमेवात्मैव केनाऽपि सह भेदो नास्ति

तमि त्थं भावयेद् भावनां कुर्यात् श्रुतिरप्याह नेह नानास्ति किञ्चन आत्मैवेदं सर्वम्, तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि । इदं सर्वं यदयमात्मा योहि अन्यां देवता मुपास्ते अन्योसावन्योहमस्मीति न स वेद पशुरेव स देवानामित्यादि भेद निन्दा पूर्वकाभेदभावनाया वरीयस्त्वम्, तेन वास्तविकोऽभेदः प्रतिपाद्यते । ननु कल्पितो ऽन्यथा कल्पित बोधकतया वेदस्या प्रामाण्यं प्रसज्ज्येत किञ्च कल्पित विषय ज्ञानस्यायथार्थतया तेन तत्त्व ज्ञानलभ्य मोक्ष प्राप्त्याशैव दुर्लभा स्यात । अतः सिद्ध मद्वैत मेवतत्त्वं सर्व भूतेषु समदृष्टिः, एकैवात्मा सर्वभूतेषु श्रुतिरपि सर्व भूतेषु चात्मनं सर्व भूतानि चात्मनि । इति ध्यानम् ॥३८॥

भा० टी० **ध्यान**—अब ध्यान को वताते है । जिस का नाम रूप से निर्देश न किया जाय ऐसा जो सर्वान्तर्यामी व्यापक अद्वैत ब्रह्म है । उसी की जो सब जगह व्यापक चिद्र रूप सत्ता है वस यही सब का व्यापकरूप आत्मा है । मुझ तथा उस व्यापक आत्मा में औपाधिक सम्वन्ध को छोड़ कर कुछ भी भेद नहीं है । अतः जो जो वस्तु जैसे प्रतीत हो उस को सब जगह आत्मा रूप जानकर यह भावना करे कि यह भी मेरा ही आत्मा है और ब्रह्मा से लेकर चींटी पर्यन्त सब प्राणियों में समदर्शी हो यह ध्यान का लक्षण है । ३८ ॥

मू०—अथ समाधि लक्षणं सर्वतत्त्वानांसमावस्था निरूद्यमत्वमनयासस्थितिमत्त्वमिति समाधि लक्षणम् । इत्यष्टाङ्ग योगलक्षणम् ॥३६॥

इति श्री शिवावतार योगाचार्य्य श्रीगोरक्षनाथ कृतौ सिद्धसिद्धान्त पद्धतौ पिण्ड विचारोनाम द्वितीयोपदेशः ।

सं० टी०—सर्वतत्त्वानां समावस्था नास्ति तत्वभेदस्थितिर्यस्यामवस्थायाम् किंचिदपि व्यापारोनास्तीति

निरुद्यमपदेन ध्वन्यते । अविद्यात्मकतमो नास्तीति स्वाभाविका यस्या ऽनायास स्थितिपदेन ध्वन्यते । अयमेव राजयोगः। अतएवास्याष्टाङ्गान्यपि तदनुकूलानि पूर्वमुक्तानि। अयमाशयो योगानां राजा राजयोगो राजत्वञ्चाङ्गित्वेनान्येसर्वे गुरुचरणसेवादि कर्मयोग प्राणायामादिहठयोग ध्यानाद्युपासनायोगा अङ्गानीति सुष्ठु सर्वम्मवम् विधाय करणां प्राणिनामुपर्या चार्यचरणैः ॥३६॥

इति श्री गोरक्षनाथ कृतायां सिद्धसिद्धान्तप-द्धतौ सर्वतन्त्र स्वतंत्र पं० श्री द्रव्येश झा निर्मितायां गूढार्थ दीपिकायां पिण्डविचारो नाम द्वितीयोपदेशः ।

भा० टी० समाधि—अब योग के समाधिरूप अन्तिम अङ्ग का निरूपण करते हैं। सब पदार्थों में समान अवस्था अर्थात् सबको आत्मरूप से देखने तथा समाधि समय में अन्य व्यापार आदि के अभाव और जिस अवस्था में अनायास ही अखण्ड आत्म स्वरूप में स्थित हो उसी का नाम उन्मनी अवस्था और सहजावस्था है। यही सामान्य समाधि का लक्षण है। भाव यह है कि संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात रूप से समाधि दो प्रकार की होती है। उसीको सविकल्प एवं निर्विकल्प सबीज और निर्बीज समाधि भी कहते हैं। जब तक उस समाधि में ध्याता ध्यान और ध्येयरूप त्रिकुटी का प्रतिभास हो तब तक उसको सम्प्रज्ञात सविकल्प या सबीज समाधि कहते हैं। यह भी धारणा ध्यान की परिपक्व अवस्था होने से सिद्ध होती है तथा जब ध्याता और ध्यान क्रिया का पृथग्भाव न होकर केवल ध्येयाकार वृत्ति हो तब यह निर्विकल्प समाधि होती है। इसी को असम्प्रज्ञात या निर्बीज समाधि भी कहते हैं इसी की परिपक्व अवस्था को शून्य समाधि या जड़ समाधि भी कहते हैं। यह हठयोग की किया और दश मुद्राओं के साधन द्वारा निरन्तर अभ्यास से सिद्ध होती है यह समाधि जब सिद्ध होजाती है तब जाग्रत अवस्था में भी उस योगी की विना

परिश्रम समाधि सी ही लगी रहती है और शरीर में वंशी वीणा आ-दि के अलौकिक शब्दों को सुनने से प्राण और मन भी नाद में विलीन सा ही रहता है और वह समाधि भी नाद के आश्रित होकर रहती है उस समय अनायास समाधि लग जाती है ॥३९॥

इति श्री गोरक्षनाथ कृतौ सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ श्री १०८ पूज्यपाद योगीन्द्र श्री पूर्णनाथ शिष्येण वेदान्ता चार्य्येण योगि श्री भीष्मनाथेन कृतायां सार-दीपिकायां हिन्दी टीकायां पिण्ड विचारो नाम द्वितीयो पदेशः समाप्ति मफाणीत् ।

अथ पिण्ड संवित्तिः कथ्यते ।

मू०-पिण्ड मध्ये चराचरं यो जानाति स योगी पिण्ड संवित्तिर्भवति ॥१॥

सं० टी०-विचारस्य फलम् (कार्यम्) ज्ञानम्, अथ पिण्ड विचारानन्तरं तत्फलभूत पिण्डज्ञानोपदेशस्यावसर प्राप्ततया तदुपदिश्यते।

ननु पिण्ड ज्ञानं प्रत्यक्षत एव सिद्धम्, तदुपदेशो व्यर्थ इति चेन्न. सर्वेषां चर्म चक्षुर्भि मांसादि समुदायतया प्रत्यक्षत्वेऽपिदेहेनिखिल ब्रह्माण्डस्थ पदार्थ मात्र सद्भाव इत्यस्याज्ञातत्वेन तदर्थं तदुपदेशस्य परमावश्यकत्वात् तत्फलं निखिल ब्रह्माण्ड परिचयः। ततश्च दीर्घकालनैरन्तर्य्य सत्कारासेवित भावनया पिण्डाण्डयोः समरसं कृत्वाऽजरामरत्व प्राप्तिरित्यनुपदं वक्ष्यते। अतः प्रसिद्ध फल निरूपणेन प्ररोचयति पिण्डेत्यादि अस्मिन्निति शेषः (पिण्डमध्ये) स्व शरीरे यो योगी (चराचरम्) चराश्च, अचराश्च तेषां समाहारं जानाति स एव (पिण्ड संवित्तिः) पिण्डज्ञानी भवति नान्यः, पिण्डस्य संवित्तिर्यस्येति व्यधि करण बहुव्रीहिः ॥१

भा० टी०- अब शरीर रूप पिण्ड के ज्ञान का निरूपण किया जाता है। इस शरीर पिण्ड में ही जो योगी भूत भौतिक जड चेतन सकल चराचर जगत् को जानता है उस का नाम पिण्ड संवित्ति होता है। अर्थात वह योगी व्यष्टि समष्टि रूप दोनों प्रकार के शरीर पिण्डों का तत्ववेत्ता होता है। सारांश यह है कि सृष्टि दो प्रकार की होती है एक व्यष्टि रूप और दूसरी समष्टि रूप। व्यष्टि में अन्तःकरणाभिमानी अस्मदादि जीव है और समष्टि में बिराट हिरण्यगर्भादि हैं। तथा शरीर रूप पिण्डों का भी दोनों सृष्टिओं में प्रादुर्भाव होता है। फर्क केवल इतना है कि समष्टि शरीर व्यापक अधिक शक्तिशाली तथा चिरस्थायी हैं। और वह शरीराभिमानी सर्वेश्वर सत्यसंकल्प होने से अस्मदादि शरीरों का कारण और नियन्ता है। और व्यष्टि पिण्ड क्षणभंगुर तथा विनश्वर है उस का अभिमानी

जीव भी कर्मपाश में बंधा हुआ बार बार पहले शरीर को छोड़ता हुआ दूसरे शरीर को धारण करता है। अतः दुःख बन्धन से जीवों का उद्धार करने की इच्छा से श्री योगाचार्य व्यष्टि समष्टि रूप पिण्ड के अभेद अभिप्राय से समष्टि पिण्ड गत कार्य को भी व्यष्टि शरीर में ही समझाते हैं। जिस से की उक्तपिण्ड के यथार्थ ज्ञान पूर्वक योग ध्यान द्वारा सार्वभौम ऐश्वर्य को प्राप्त करता हुवा यह जीव परम शान्त और अखण्डानन्द श्री आदि नाथ स्वरूप मोक्षधाम को प्राप्त हो।

मू०—कूर्मः पादतले वसति पातालं पादांगुष्ठे तला-तलमंगुष्ठाग्रे महातलं पादपृष्ठे रसातलं गुल्फे सुतलं जंघायां वितलं जान्वो रतल मूर्वोरेवं सप्तपातालं रुद्र-देवाधिपत्ये तिष्ठति पिण्डमध्ये क्रोधरूपोभावः स एव कालाग्निरुद्रः ॥२॥

सं० टी०—भुवनाधारः कूर्मावतार इति प्रसिद्धम् पुराणेषु। अस्या यं गूढाभि सन्धिः ॥ शक्ति सहितस्य शिवस्यैव सृष्ट्यादा ववस्था वि-शेषः कूर्मइवेति, सादृश्यं चात्रयथा कूर्मादंगानि निःसरन्ति तत्रैव च संकुचन्ति तथा तत एव च सर्वे प्राणिनः नि सरन्ति तत्रैव काले संकुचन्ति च सर्वेषामाधारः। वेदोप्याह (सदाधार पृथिव्यां, द्यामुतेमाम् गीतायां गामा विश्य च भूतानि धारयाम्य हमोजसा अतः सुष्ठूक्तम् कूर्मःपाद तले वसति। ननुपादाधारस्तु पृथिवी दृश्यते कथमाह कूर्म इति चेत् शृणु रहस्यम् यदा ब्रह्माण्ड पिण्डयोरभेदो ज्ञायते य एव ब्रह्माण्डः स एव पिण्ड इति तदा कथं ब्रह्माण्डाधारः कूर्मो मदीय पिण्डाधारो नेति निषेद्धुं शक्यम्, इति हृदय संकोचं विहायोदारचेतसा विवेक्तव्यम् तत्रांगुष्ठान्त्य देशमारभ्योरूपर्यन्तं पातालादि सप्तलोक भावना विधेयेति निष्कर्षः। मूलेयत्र यस्य स्थितिः प्रतिपादिता तत्रैवैव ज्ञेया नतु व्युत् क्रमेणान्यत् स्पष्टम्। अस्य सप्तपातालस्याधिपति देवो रुद्रः स एव पिण्डे क्रोध रूपः समष्टौ कालाग्नि रुद्रः प्रलय कारकः॥२॥

भा० टी०—समस्त पृथ्वी का धारण करने वाला कूर्म निज चरण तल में पाताल पैर में तलातल अङ्गुष्ठ के अग्र भाग में महातलपैर के ऊपर पृष्ट भाग में रसातल गट्टों में सुतल पिण्डलियों में वितल घुटनों में अतल जङ्घाओंमें बसता है। अर्थात्समष्टिका व्यष्टि में अभेद्जानकर ध्यान करे इस प्रकार सात पातालों का अधिपति भगवान रुद्रदेव है और इस देह में जो क्रोध रूपी भाव है वही कालाग्नि रुद्र है। १॥

मू०=भूर्लोकं गुह्य स्थाने भुवर्लोकं लिंग स्थाने स्व र्लोकं नाभि स्थाने। एवं लोक त्रय इन्द्रो देवता पिण्ड मध्ये सर्वेन्द्रिय नियामकः स एवेन्द्रः ॥३॥

सं० टी०—लोक त्रयदृष्टिर्गुह्यलिंगनाभिषु। गुह्य लिङ्गादधो गुदा दुर्द्धवमध्ये समष्टि सृष्टौ लोकत्रयस्याधिपति र्य इन्द्रदेवः स एव शरीरे सकलेन्द्रिय वर्गस्य नियामको ध्येयः। अतएवेन्द्रस्येदमिन्द्रियमित्यन्वर्थ संज्ञा प्रसिद्धा लोके शास्त्रे च ॥३॥

भा० टी०—मूलाधार में पृथ्वी लोक लिङ्गमूल में अंतरिक्ष और नाभि स्थान में स्वर्गलोक है इन तीनों लोकों का इन्द्र देवता है और शरीर में जो सब इन्द्रियों का नियंत्रण करता है वही प्रकाशमान इन्द्र देव है ऐसा ध्यान करे।

मू०—दण्डांकुरे महर्लोको दण्ड कुहरे जनोलोको दण्डनाले तपो लोको मूल कमले सत्यलोक एवं लोक चतुष्टये ब्रह्मादि देवता पिण्ड मध्येऽनेक माना भिमान स्वरूपी तिष्ठति ॥४॥

सं० टीका—दण्डाकुरइति मेरुदण्डस्योत्पत्तिस्थानं दण्डांकुरः, ततः ऊर्ध्वं कुहरो मध्यभागो नालः, तेषु यथाक्रमं महर्जन तपोलोका वसन्ति। (मूल कमले) मूलाधारस्थ कमले सत्य लोकः। एवं चतुष्

लोकेषु ब्रह्मादि देवा अनेके नानाभिमान शालिन स्तिष्ठन्ति समष्टि सृष्टौ व्यष्टि सृष्टौ च मेरुदण्डे तेषामाधिपत्यमिति विवेकः सर्वत्र ॥४॥

भा० टी०—मेरु दण्ड के मूल में प्रजापति दक्ष का महर्लोक मेरु दण्ड के छिद्र में जन लोक तथा सुमेरुदण्ड के सूक्ष्म छिद्र के चारों ओर तप लोक और मूलकमल में सत्य लोक है इन चारों लोकों में ब्रह्मादि अधिपति है और वह ब्रह्म इस देह पिण्ड में अनेक मानाभिमान स्वरूप होकर रहता है। ४ ॥

मू०—विष्णु लोकः कुक्षौ तिष्ठति तत्र विष्णुर्देवता पिण्ड मध्येऽनेक व्यापारको भवति। हृदये रुद्र लोक स्तत्र रुद्रोदेवता पिण्ड मध्य उग्र स्वरूपी तिष्ठति। वक्षस्थल ईश्वर लोक स्तत्रेश्वरो देवता पिण्डमध्ये तृप्ति स्वरूपी तिष्ठति। कण्ठ मध्ये नीलकण्ठ लोकस्तत्र नील कण्ठो देवता पिण्डमध्ये नित्यं तिष्ठति। तालुद्वारे शिवलोक स्तत्र शिवोदेवता पिण्ड मध्येऽनुपम स्वरूपी तिष्ठति। लम्बिका मूले भैरवलोकस्तत्र भैरवोदेवता पिण्डमध्ये सर्वोत्तम स्वरूपी तिष्ठति। ललाट मध्येऽनादि लोक स्तत्रानादि देवता पिण्ड मध्य आनन्द पराहंता स्वरूपो तिष्ठति। शृंगाटे कुल लोक स्तत्र कुलेश्वरो देवता पिण्ड मध्य आनन्द स्वरूपी तिष्ठति शंख मध्ये नलिनी स्थाने ऽकुलेश्वरो देवता पिण्ड मध्ये निरभिमानावस्था तिष्ठति। ब्रह्मरन्ध्रे पर ब्रह्मलोक स्तत्र परब्रह्म देवता पिण्ड मध्ये परिपूर्ण दशा तिष्ठति। उर्ध्वकमले परापर लोक स्त त्रपरमेश्वरो देवता पिण्ड मध्ये परापरभावस्तिष्ठति त्रिकूट स्थाने शक्ति लोक स्तत्र

पराशक्ति देवता पिण्ड मध्येऽस्तित्त्वावस्था सर्वासां सर्व कर्त्तृत्वावस्था तिष्ठति। एवं पिण्ड मध्ये सप्त पाताल सहितैक विंशति ब्रह्माण्ड स्थान विचारः ॥५॥

सं० टी०—ब्रह्माण्डे ये विष्णु लोकादयः सन्ति तेषामस्मिन् पिण्डे क्व क्व निवासं मत्वा चिन्तनीयमिति जिज्ञासायां तत्तल्लोक स्थानान्युपदिश्यते तत्र स्थानं देवता तत्कार्यविशेषश्चेति वस्तु त्रयं सर्वत्र प्रदर्शितं यथा विष्णुलोकस्य कुक्षिः (नाभि प्रदेशः) स्थानम् देवता विष्णुः, नाना विध व्यापारः कार्यम्। एवं सर्वत्र ज्ञेयम्। यद्देव लोकस्य यत स्थानम् सैव तस्य देवता तस्य स्वरूपमेव च कार्यमिति शैलीं नीत्वा ग्रन्थः संलापनीयः। हृद्देशो रुद्र लोकस्य स्थानम् उग्रता (अहङ्कारता) कार्यम्। हृदयादुर्द्ध्वं कण्ठादधो वक्षस्थलेन ग्राह्यम् तच्चे शानलोकस्य स्थानं देव ईश्वरः (ईशानः) अयंरुद्राद्भिन्नः, अतः कार्य्यं विशेषमाह तृप्तिः। शृंगाटोनाम चतुष्पथः कण्ठ देशः, शृंगाटकं भवेद्द्वारि कण्टके च चतुष्पथ इति कोशात्। तत् कुल देवतायाःस्थानम् आनन्द दानमेव कार्य्यम्, शंखनाड़ी भ्रुवोरन्तरे तत्रैवनलिनीदलं तत् कुलदेवस्य स्थानम् तस्य निराभिमानतैव कार्य्यम् ब्रह्मरन्ध्रं सहस्रार मध्ये तत् परब्रह्मणः स्थानम् परिपूर्णता कार्यम्। उर्ध्वं कमलं सहस्रारस्यो र्ध्वं दलम् । तत् परापरदेवताया स्थानम् । परापर प्रकाशनं कार्यम् त्रिकूटं सहस्रारोपरित्रिंशिखात्मकत्रिकोणं तत् परशक्तेः स्थानम्। तस्याः कार्यं शरीरादीनां सत्ता कर्तृत्वादि सम्पादनम्। इत्थं सप्त पातालाः, भूरादि सप्तलोकाः, विष्णवादि सप्तदेवाः, तत्समूहो ब्रह्माण्डस्तस्याध्यात्मम् विकल्पने सत्येकविंशति ब्रह्माण्डस्थानानि तेषां 'विचारः' चिन्तन प्रकारः प्रदर्शित इति शेषः। देवगणे पराशक्तेः परि गणने संख्याधिक्येऽपि तस्या विश्व जननीत्वेन ब्रह्माण्डेऽनन्त भाव्यैक विंशति ब्रह्माण्ड स्थान कथनं सम्यक्तरमिति नीलकण्ठादीनां पाठःक्वचिदधिकोत्र ॥५॥

भा० टी०— पेट में विष्णु लोक है वहां इस देह पिण्ड में रक्षण आदि अनेक व्यापारों में तत्पर भगवान् विष्णु देव विराजमान है। हृदय में रुद्र लोक है वहां महा तेजस्वी उग्रस्वरूप भगवान् श्रीरुद्र

देव विराजमान है। वक्षः स्थल (छाती) में ईश्वर लोक है वहां तृप्ति स्वरूप ईश्वर देव विराजमान है। कण्ठ के बीच में नीलकण्ठ लोक है वहां नित्य ही नीलकण्ठ देव रहता है तालु द्वार में शिव लोक है वहां सर्वेष्ट मङ्गल रूप श्री शिव देव विराज मान है। जिह्वा के मूल में भैरव लोक है वहां सर्वोत्तम भैरव देव विराजमान है। ललाट (मस्तक) के बीच अनादि लोक है वहां उत्कृष्ट आनन्द में ही अपने स्वरूप का अभिमान करने वाला अनादि देव विराज मान है इस देह पिण्ड में भ्रुकुटि से कुछ ऊपर मस्तक में कुल लोक है वहां आनन्द स्वरूप कुलेश्वर देव विराजमान है। शंख नाडी के उपर मध्य नलिनी स्थान में अकुलेश लोक है वहां अभिमान अवस्था से रहित अकुलेश्वर नाम का देव विराज मान है। ब्रह्मरन्ध्र में परब्रह्म लोक है वहां परिपूर्ण अवस्था से युक्त पर ब्रह्मदेवता विराजमान है। सहस्र दल युक्त ऊर्ध्वकमल में परापर लोक है वहां सर्वत्र समरूप से व्यापक सदा प्रकाश मान परमेश्वर देव विराजमान है। सहस्र दल के ऊपर त्रिकूट स्थान में शक्ति लोक है वहां शकल ब्रह्माण्डोंकी सूक्ष्म कर्तृत्व अवस्था वाली और निजा अवस्था के सहित पराशक्ति देवता है। इस शरीर में जहां जिस देवता का स्थान निर्दिष्ट है। उस स्थान का वही देवता स्वामी है वहीं पर उस स्थान और गुण विशिष्ट देव का ध्यान करने से उस देव जैसी सामर्थ्य और उन उन लोकों के साक्षात्कार की शक्ति उत्पन्न होती है। अतः योगाभ्यासी अपने देह में ही पूर्वोक्त विधि से उपर्युक्त देव के साक्षात्कार की योग्यता सम्पादनार्थ ध्यान करे। इस उपरोक्त रीति से इस देह पिण्ड में ही सात पातालों के सहित इक्कीस ब्रह्माण्डों का विचार समाप्त किया। ५ ॥

मू०—सदाचार तत्त्वे ब्राह्मणास्तिष्ठन्ति शौर्ये क्षत्रिया व्यवसाये वैश्याः सेवाभावे शूद्राश्चतुष्षष्ठि कलास्वपि चतुष्षष्ठि वर्णाः ॥६॥

सं० टी०—वर्णाश्रमधर्मानुष्ठानेन विशुद्धसत्वाः संसारानित्यत्वं मर्यालोच्य ततो विरक्ता योग एव परमपुरुषार्थसाधन मिति श्रुति

स्मृति गुरुभ्यः श्रुत्वातच्छ्रद्दधाना स्तदनुकूल युक्त्या चतुर्व्यवस्थाप्य योगम-नुष्ठाय सिद्धा मुक्ताश्च भवन्ति नतु वर्णाश्रम धर्मरहिताः पापाचारपरा योगे तत्साधन मार्गे वा श्रद्दधते प्रत्युत तं द्विषन्ति, अतो वर्णाश्रम धर्मा अवश्यमेवानुष्ठेया इत्युपदिश्यते (सदाचार इत्यादि) तत्रेत्थं व्यवस्था संजाते स्वात्मबोधेतु सर्वेषांवर्णानामाश्रमिणां च ध्रुवोमोक्ष इत्यत्र नास्ति कस्य चिद्वैमत्यम् किन्तु विविदिषूणां कथमारुरुक्षेयमिति सन्दिह्य मार्गद्वय मितिनिश्चितम् । तथाहि येतुपूर्वजन्मार्जित पुण्य पुञ्जवशाज्जन्मत एव विरक्ता योग मार्गेच श्रद्दधाना योगसाधनाभ्यासच् चिकीर्षन्ति ते बाल्यादेव गृहान्निर्गत्य योगिकुले ससाध्य साधनं तत्वं विदित्वा मुक्ताभवन्ति येतु न जन्मतो विरक्ताः श्रद्धालवश्च तैरीश्वरानियोगधिया वर्णाश्रमविहितकर्माण्यनुष्ठेयानि तत्रापि योगाअनुष्ठेयाः सति वैराग्ये विहाय कर्माणि योग एव केवल आश्रयणीय इति क्रामकगतिः । तदाह श्रुतिः यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्, कुर्वन्नेवेह कर्माणीतिच । किन्तु येऽविरक्ताः श्रद्धारहिता वर्णाश्रमधर्ममपि नानुतिष्ठन्ति तेषामधःपाताभ्यागति रिति सिद्धपादैरुपदिश्यते (ब्राह्मणाः) ब्राह्मणजातयः (सदाचार तत्वे) श्रुति स्मृति विहित स्वाश्रमोचित कर्मानुष्ठान पूर्वक योग मार्गे तिष्टन्ति सारिथदित्स्तेषां श्रेयस्करीति ध्वनिः । एवं (क्षत्रियाणाम्) शौर्ये (वैश्यानाम) वाणिज्ये (शूद्राणाम्) सेवा कर्मणि सनातन शास्त्रानुसारेण स्वे स्वे कर्माणि स्थातव्यमिति निष्कर्षः स्व स्व जात्यनुसारकर्म कौशल झटिति भवति तत्र तस्यातिसत्वेति प्रायेणोपलभ्यते सर्वेषाम् । अन्या अपि चतुष्षष्टि जातयश्चतुष्षष्टि कलासु वर्तन्ते । अतः सांसारिक मर्यादा नोच्छिद्यतेत्यानुषङ्गिकोपदेशः ॥६॥

भा० टी०—सदाचार में ब्राह्मण युद्धादि शौर्य में क्षत्रिय वाणिज्यादि व्यवसाय में वैश्य और सेवादि भाव में शूद्र हैं तथा चौंसठ कलाओं में चौंसठ वर्ण तत्पर रहते हैं । अर्थात् गीत वाद्य आदि चौंसठ प्रकार की कलाओं को जानने वाले पुरुष ही चौंसठ प्रकार के वर्णों में गिने जाते हैं । ६ ॥

मूल—अथ सप्त समुद्राः सप्त द्वीपाश्चकथ्यन्ते । मज्जायां जम्बूद्वीपोऽस्थिषु शाक द्वीपः शिरासु सूक्ष्म

द्वीपस्त्वक्षु क्रौंचद्वीपो रोमसु गोमय द्वीपो नखेषु श्वेत द्वीपो मांसे प्लक्षद्वीप एवं सप्त द्वीपा: ॥७॥

भा० टी०—अत्र सर्वत्र दृष्टिः कर्तव्या इत्यर्थोज्ञेयः। यथा बृहदारण्ये प्रारम्भे ऽश्वशरीरे प्रजापति दृष्टिः कर्त्तव्यतया विहिता। तत्रा श्वस्य प्रत्येक मङ्गेषु प्रजापतेः प्रत्येकाङ्गस्य दृष्टि विहिता तेन प्रजापत्युपासना सम्पद्यते तत्फलं प्रजापतिपदप्राप्तिः प्रतिपादिता। एतादृशो पासनानुपदमुपनिषत्सु प्रदर्शितेति विदन्ति वेदान्तिनः। तथैवात्रापि स्वपिण्डस्य प्रत्येक मंगे ब्रह्माण्डस्थ प्रत्येकाङ्ग दृष्टिः कर्त्तव्या। तेन ब्रह्माण्ड पिण्डयोः समरसभावः, अनन्तर मद्वितीय ब्रह्मणा सह समरस भावः तत्फल मजरामरभावो मोक्ष इति विशेषः। अत्र सूक्ष्म द्वीपः कचित् कुश द्वीप संज्ञा, अत्र गोमय नामान्यत्र गोमेधनाम, अत्र श्वेत द्वीपकुत्रचित शाल्मल द्वीप संज्ञा। प्लक्ष द्वीपस्यैव क्वचित् पुष्कर द्वीप इति ॥७॥

भा॰टी॰—अब समष्टि ब्रह्माण्ड में स्थित सात समुद्र और सात द्वीपों का इस व्यष्टि देह में ही वर्णन करते हैं। मज्जा में जम्बूद्वीप, हड्डियों में शाक द्वीप प्रवाहिका नाड़ियों में सूक्ष्म द्वीप त्वचा में क्रौञ्चद्वीप रोमों में गोमय द्वीप नखों में श्वेत द्वीप और मांस में प्लक्ष (पुष्कर) द्वीप है इस प्रकार इस शरीर में सात द्वीपों को जान कर ध्यान करने से इन के साक्षात्कार का सामर्थ्य और इन में स्वच्छन्द गति होती है। ७ ॥

मू॰ मूत्रे क्षारसमुद्रो लालायां क्षीर समुद्रः कफे दधि समुद्रो मेदसि घृत समुद्रो वसायां मधुसमुद्रो रक्त इक्षु समुद्रः शुक्रेऽमृत समुद्र एवं सप्त समुद्राः ॥८॥

सं॰ टी॰-तत्तत्समुद्रदृष्टयोमूत्रादिषु, अत्र मधु समुद्रोऽन्यत्र सुरा समुद्रः प्रतिपादितोऽत्रचामृत समुद्रोऽन्यग्रन्थे स्वादूदक शब्देन न तावता भेदो ज्ञेयः। शब्दभेदेऽप्यर्थैक्यात्। क्षीरवज्जलानि यस्मिन् स क्षीर समुद्रः। तथैव सर्वत्र सादृश्यंज्ञेयमतुत्रैव ॥८॥

भा० टी०-मूत्र में क्षार (खारा) समुद्र लार में क्षीर समुद्र कफ में दधि समुद्र मज्जा में घृत समुद्र चर्बी में मधु समुद्र रक्त में इक्षु समुद्र और शुक्र (वीर्य) में अमृत का समुद्र है। इस रीति से शरीर में सात समुद्रों का वर्णन हुआ। इन का यथोक्तविधि द्वारा ध्यान करने से इन के साक्षात्कार की सामर्थ्य होती है। ८॥

मू०-नव खण्डा नव द्वारेषु वसन्ति। भारतखण्डः कर्पर खण्डः काश्मीर खण्डः श्री खण्ड शंख खण्ड एकपादखण्डो गान्धारखण्डः कैवर्तक खण्डो महामेरु खण्ड एवं नव खण्डाः ॥९॥

सं० टी०-अत्रायं विवेको यावन्तः पदार्था ब्रह्माण्डे वर्तन्ते तावन्त एवास्मिन् पिण्डेऽपि। इयानेव विशेषो यत् पिण्डेऽल्पमात्रा विश्वस्मिन् पूर्णमात्रा। तत्रास्ति कश्चन प्रकारः येन शरीरमिदं विश्वरूपं परिणम्येतेति जिज्ञासवे विश्वोपासनामाह नव खण्डेत्यारभ्य तृतीयो पदेशावधि। उपासकैरेवं चिन्तनीयं यद् विश्वरूपोऽहम् तत्सपरयर्थं स्वाङ्गान्यालम्बनीकृत्य प्रत्येकं मूलोक्तरीत्या वैश्ववस्तुदृष्टिर्विधेया। यथा गुह्य लिङ्ग मुख नासिकाद्वय कर्णद्वय नेत्र द्वयेषु नव द्वारेषु नव खण्डाः सन्ति ते क इति जिज्ञासोपशमनाय नामानि निर्दिश्यन्ते भारतखण्डेत्यादि ॥९॥

भा०टी०-शरीर के नवों द्वारों में नौ खण्ड रहते हैं। उन्हीं का नाम और स्थान निर्देश पूर्वक वर्णन करते हैं। मूलद्वार में भारत खण्ड, उपस्थ (लिङ्गछिद्र) में काश्मीर खण्ड मुख में कर्पर खण्ड श्री खण्ड और शङ्ख खण्ड क्रम से नासिका के दक्षिण खण्ड व वाम खण्ड में एक पादखण्ड (जिसमें १ पाद के आदमी हों) और गान्धार खण्ड क्रमशः वाम और दक्षिण नेत्रों में कैवर्त खण्ड और महा मेरुखण्ड क्रम से वाम और दक्षिण कर्ण छिद्रों में इस प्रकार नौ खण्ड इस शरीर में बसते हैं। ९॥

मू०-मेरु पर्वतो मेरु दण्डे तिष्ठति कैलासो ब्रह्म

कपाटे वसति हिमालयः पृष्ठे मलयो वामकंधरे मन्दरो दक्षिणकंधरे विन्ध्याद्रि दक्षिण कर्णे मैनाको वाम कर्णे श्री पर्वतो ललाट एवमष्ट कुल पर्वता अन्य उपपर्वताः सर्वाङ्गुलिषु वसन्ति ॥१०॥

सं॰ टी॰—एवं मूलोक्त कुलपर्वत दृष्टयो मेरुदण्ड शीर्ष कपाल पृष्ठ वाम स्कन्ध दक्षिण स्कन्ध कर्णद्वय ललाटेषु यथा क्रमं कर्तव्याः। अन्योपपर्वतदृष्टिः सर्वाङ्गुलिषुविधेया ॥१०॥

भा॰ टी॰—अब शरी में आठ कुलपर्वतो का वर्णनकरते हैं। सुमेरु पर्वत शरीर के मेरुदण्ड में कैलाश मस्तक में हिमालय पीठ में मलयाचल बायें कन्धे में मन्दराचल दाहिने कन्धे में विन्ध्याचल दक्षिण कान में और श्री शैल नारक पर्वत ललाट में बसता है। इस प्रकार आठ कुल पर्वतों का वर्णन किया और भी बहुत छोटे बडे पर्वत हाथ पैर की सब अङ्गुलियों में रहते हैं १० ॥

मू॰—पीनसा, यमुना, गंगा, चन्द्रभागा सरस्वती पिपासा शतरुद्रा श्रीरात्रि, नर्मदा॥ एवं नवनद्यो नव नाड़ीषु वसन्ति। अन्या उपनद्यः कुल्योपकुल्या, द्विसप्तति सहस्र नाड़ीषु वसन्ति ॥११॥

सं॰ टी॰—पीनसादि नव नदी दृष्टिः सुषुम्णाति रिक्त पूर्वोक्त पिंगलादि नव नाडीषु विधेया। नद्भिन्नोपनद्यः कुल्योपकुल्याश्च सकल नाडीषु द्रष्टव्याः ॥११॥

भा॰ टी॰—अब पीनसा आदि नदी और उपनदियों का वर्णन करते हैं। पीनसा गंगा यमुना सरस्वती चन्द्र भागा पिपासा (व्यासा) शतरुद्रा (शतलुजा) श्री रात्री और नर्मदा ये नौ नदी नौ नाड़ियों में रहती हैं। अर्थात् गंगा यमुना और सरस्वती ये

तीनों क्रम से इड़ा पिङ्गला और सुषुम्णा में तथा पीनसादि अन्य नदियां अलम्बुषादि नाड़ियों में रहती है और भी बहुत सी छोटी बड़ी बहत्तर हजार नाड़ियों में रहती हैं। ११ ॥

मू०–सप्तविंशति नक्षत्राणि, द्वादशराशयो नव ग्रहाः, पंचदशतिथय एते ऽन्तर्वलये द्विसप्तति सहस्रकोष्ठेषु वसन्ति ॥ अनेक तारा मण्डल मुर्मिपुञ्जे वसति।। त्रयस्त्रिंशत् कोटि देवता बहुरोमकूपेषु वसन्ति। दानव यक्ष राक्षस पिशाच भूत प्रेता अस्थि सन्धिषु वसन्ति। अनेक पीठोपपीठका रोमकूपेषु वसन्ति । अन्ये पर्वता उदर लोमसु वसन्ति। गन्धर्व किंनर किंपुरुषा अप्सरोगणा उदरे वसन्ति। अन्या खेचरी लीला मातरः शक्तय उग्रदेवता वायु वेगे वसन्ति। अनेक मेघा अश्रुपाते वसन्ति। अनन्तसिद्धा मति प्रकाशे वसन्ति। चन्द्रसूर्यौ नेत्र द्वये वसत । अनेक वृक्षलतागुल्मतृणानि जंघारोमकस्थाने वसन्ति । अनेक कृमिकीट पतंगाः पुरीषे वसन्ति ॥१२॥

सं० टी०–अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, अश्लेषा, मघा, पूर्व फल्गुनी, उत्तरफल्गुनी, हस्त चित्रा, स्वाती, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल, पूर्वाखाढ़, उत्तराखाढ़, श्रवण, धनिष्टा, शतभिषा, पूर्वभाद्र, उत्तरभाद्र, रेवती। एतानिसप्तविंशति नक्षत्राणि । सार्धद्वय नक्षत्रस्यैको राशिस्तथा च सकल सकलते द्वादश रशयो, भवंति, एतेषु नक्षत्रेषु दिनमणेर्भ्रमणं सम्वत्सरेण समाप्यतेऽतो द्वादशमासात्मको वर्षो भवति। किन्तु कुमुदस्य परिभ्रमणं दिनैकेनैक नक्षत्रे पूर्यतेऽतः सप्तविंशति दिनेष्वेव राशिभोग पूर्त्तिः । अयमेव चन्द्र

मासः । पूर्वस्तु सौरमासः । राशिनामानि मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुम्भ, मीनेति । सूर्य चन्द्र भौम बुध गुरु शुक्र शनि राहु केतवो नवग्रहाः । तिथयस्तु चन्द्रकला दर्शना दर्शन कृताः प्रतिपदादि पञ्चदश तन्नामानि प्रसिद्धानि । एते देहमध्यस्थ मांसरंध्रेषु द्रष्टव्याः । बुभुक्षा च पिपासा च प्राणस्य मनसः स्मृतौ । शोक मोहौ शरीरस्य जरामृत्युरडूर्मय इत्येतेष्वनेक तारा दृष्टिः सम्पाद्या । रोम कूपेषु सकल देवता द्रष्टव्याः । यत्र दैवी शक्तिराविर्भूता सती देवताभिमान मुत्पादयति स पीठस्त्रिकोणादि यन्त्र प्रभृतिः, तत्समीप-स्थोपपीठकः । तद्दृष्टिरपि रोमकूपेष्वेव । एवमेव पर्वतादिष्वपि ज्ञेयं निगद व्याख्यातमन्यन्मूलम् ॥१२

भा० टी०—अश्विनी भरणी आदि सत्ताईस नक्षत्र, मेष, वृषादि बारह राशि सूर्यचन्द्रादि नवग्रह और प्रतिपदादि पन्द्रह तिथियां ये सब शरीरस्थ माँस पेशियों के बहत्तर हजार कोष्ठों में रहते हैं अनेक तारा मण्डल हड्डियों के रचना विशेष या भूख प्यास रूपी ऊर्मिपुञ्ज में रहते हैं । तेतीस करोड़ देवता समस्त रोम छिद्रों में बसते हैं । दानव यक्ष राक्षस पिशाच भूत और प्रेत शरीर की हड्डियों के जोड़ों में रहते हैं । त्रिकोणादि यन्त्र सहित देवताओं के स्थान विशेष को पीठ कहते है । वे ही अनेक पीठ और उपपीठ अर्थात् बडे छोटे उपासना करने योग्य देवी देव स्थान जो रोम छिद्र हैं । उन में विद्यमान हैं । तथा अन्य पर्वत उदर लोमों में रहते हैं । गन्धर्व किन्नर और अप्सराओं के समूह उदर में रहते हैं अन्य अपनी इच्छा से आकाश में गमन करने वाली उग्र देवता रूप लीला मातृ शक्तियां प्राण वायु वेग और अनेक मेघ नेत्रों के आंसुओं में बसते हैं । अनन्त सिद्ध बुद्धि के प्रकाश में रहते हैं वाम दक्षिण दोनों नेत्रों में क्रम से चन्द्र और सूर्य रहते हैं । अनेक वृक्ष लता गुल्म तथा तृण ये जंघा के रोमों में रहते हैं और बहुत से कीट पतङ्गादि विष्ठा में बसते हैं ।१२॥

मूल–यत्सुखं तत्स्वर्ग, यद्दुःखं तन्नरकं, यत् कर्म तद्बन्धनं यन्निर्विकल्पं तन्मुक्तिः स्वरूप दशायां निद्रादौ स्वात्मजागरः शान्तिर्भवति । एवं सर्वा देहेषु विश्वरूप परमेश्वरः परमात्मा ऽखण्ड स्वभावेन घटे घटे चित्स्वरूपी तिष्ठति। एवं पिण्ड संवित्ति र्भवति २ ॥१३॥

इति महेश्वरावतार श्रीगोरक्षनाथ कृतौ सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ पिण्ड संवित्तिर्नाम तृतीयोपदेशः ।

सं० टी०–सुखे स्वर्गदृष्टिर्दुःखे च नरकदृष्टिः कर्मणि बन्ध दृष्टि निर्विकल्प स्वरूपज्ञाने मोक्षदृष्टिः । निद्रादि सर्वावस्थासु स्व स्वरूपमात्रानुभवे शान्ति दृष्टिश्चोच्यते । पूर्वोक्त प्रकारेण दृढभावनया सर्वत्र स्वात्मचित् स्वरूपः सम्पद्यत इति फल कथनेनोपसमहारि ॥१३॥

इति सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ सर्वतन्त्र कोविद श्रीद्रव्येश झा कृत गूढार्थ दीपिकायां तृतीयोपदेशः समाप्तः ।

भा० टी०– इस शरीर में जो सुख है उसे स्वर्ग और जो दुःख है उसे नरक जानना । जो सकाम कर्म है वही बन्धन है । जो निर्विकल्पता है वही मुक्ति है और वह मुक्ति द्वैतप्रपञ्च की शान्ति से होती है यद्यपि अज्ञानी पुरुषों की दृष्टि से वह शुद्ध मुक्त अवस्था भी निद्रा रूप है तथापि वह वास्तव में अखण्ड आत्म बोध रूप दशा है उस बोध दशा में जागते रहना ही आत्म जागरण कहलाता है इसी को जीवन मुक्ति कहते हैं । इस पूर्वोक्त रीति से सब देहों में माया के बल से अनेक रूप धारी परमात्मा अखण्ड स्वभाव से घट घट में चेतन रूप रहता है । अतः उक्त रीति से व्यष्टि समष्टि रूप पिण्ड को अच्छी प्रकार जानने वाला ही पिण्ड संवित्ति कहलाता

है। यहां पर दूसरा पिण्ड संवित्तिशब्द उपदेश की समाप्ति का द्योतक है। १३ ॥

इति श्रीगोरक्षनाथ कृतौ सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ योगीन्द्र श्री १०८ श्रीपूर्णनाथ शिष्येण योगि पं० श्री भीष्मनाथेन वेदान्ताचार्य्येण कृतायां सारदीपिकायां हिन्दी टीकायां पिण्ड संवित्तिर्नाम तृतीयोपदेशः समाप्ति कृतवान्।

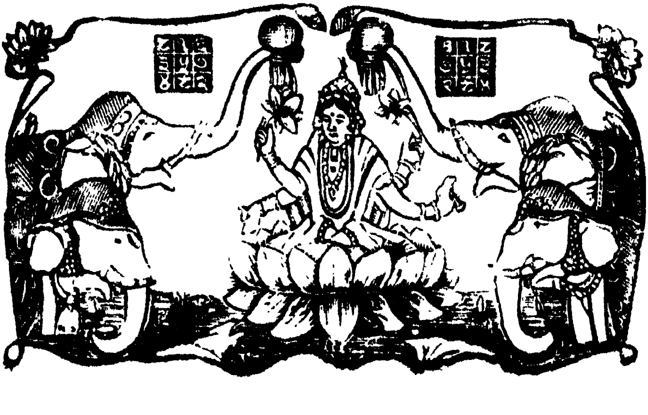

* अथ पिण्डाधारः कथ्यते *

मू०—अस्ति काचिदपरंपरा संवित् स्वरूपा सर्व पिण्डाधारत्वेन नित्य प्रबुद्धा निजाशक्तिः प्रसिद्धा कार्य कारणकर्तॄणा मुत्थान दशांकुरोन्मीलनेन कर्त्तारं करोतीत्यनन्तरा वाधार शक्तिरिति कथ्यते। अत्यन्त निज प्रकाशस्वसंवेद्यानुभवैकगम्यमाना शास्त्रलौकिक साक्षात्कारसाक्षिणी सा परा चिद्रूपिणी शक्तिर्गीयते। सैव शक्तिर्यदा सहजेन स्वस्मिन्नुन्मीलिन्यां निरुत्थान दशायां वर्तते तदा शिवः स एव भवति॥१॥

सं०टी०-जीवस्य शिव शक्तिभ्यां सह भेदाभावएवसमरसः स एव मोक्षो लक्ष्यस्तस्य प्राप्त्युपाययोगः पञ्चमे वक्ष्यमाणस्तत्र प्रथमं शिव शक्त्योरेवकथं समरसभावावस्था भवतीति जिज्ञासोपशमनाय चतुर्थोपदेशः। तत्र पूर्वशक्ति स्वरूपं निरुच्य सामरस्यं निर्वक्ष्यते अस्तीत्यादि। (अपरंपरा)नास्ति परंपराक्रमया: स्वजनकंतज्जनकमिति प्रणाली रहिता कूटस्थेतियावत संवित्स्वरूपा) ज्ञानस्वरूपा (नित्य प्रबुद्धा) विनाश रहित प्रकाशरूपा ऽनेन बुद्धे र्वैलक्षण्यं सूचितम् तदीय प्रकाशस्योत्पत्ति विनाश शालित्वात् परमेश्वरस्य (निजा) स्वकीया (शक्तिः) आद्याभवानी (सर्वपिण्डाधारत्वेन) समस्त जगदाधारत्वेन विद्यते सैव सकल शास्त्रेषु प्रसिद्धा साच (कार्यकरण कर्तॄणां) कार्यं, शरीरं करणमिन्द्रियाणि कर्ता,जीवएतेषां त्रयाणामुत्थान दशायाः, आविर्भावावस्थाया अंकुरं पूर्वरूपंतस्यैवोन्मीलनेन विकाश द्वारा (कर्तारम् , ईश्वर देवादिकं(करोति)सृजतीत्यर्थ इयमेव(अनन्तरा)भेदरहितावाभ्यन्तरंगा(आधार शक्तिः) विश्वधारण शक्ति रपि कथ्यते द्वितीया परमेश्वरस्य या शक्तिः परा शब्देन शास्त्रेषु गीयते सापि (अत्यन्त निज प्रकाशा) स्वतश्च

द्रूपा नतु मतान्तरीयमायावज्जडा निजा शक्तितो वैलक्षण्यमाह (स्वसंवेद्या) स्वेन भास्या निजायान्तु स्वेनापि भास्यभासकभावोनासीत्, अत्र तु स्व भास्यतास्ति, अतएव (स्वानुभवैक गम्यमाना) अनेन स्वीकृत्य स्ववेद्यता मन्यवेद्यता निराकृता। नन्वस्तु वुद्धि तत्त्व मत आह (शास्त्रेत्यादि) शास्त्रलोक सकल विषयक वुद्धि वृत्तेः साक्षिणी (चिद्रूपिणी) नतु जड़रूपा वुद्धिवत्। सा पराशक्तिः कथ्यते (यद्वा सैव सहजेन) स्वभावतः अस्याः प्रेरको नास्ति किन्तु स्वतन्त्रतेति ध्वन्यते (निरुत्थान दशायां) प्रजानां प्रलयावस्थायां (स्वस्मिन्) स्वरूपे (उन्मीलिन्याम) स्वस्यायां स्वस्याविर्भावे स्व स्व रूपमवलम्ब्यैव यदा स्वस्या आविर्भाव इ ते यावत (वर्तते) सम्पद्यते तदा विद्यमाना पराशक्तिरेव शिवो भवति। शेते जगदस्मिन्निति व्युत्पत्ति लभ्यार्थ भावः सम्पद्यते तदानीं नासीत् शिव शक्त्योर्भेद इति हृद्यम् ॥१॥

भा० टी०- जीव का शिव और शक्ति के साथ ज्ञानपूर्वक अभेद होना ही समरस रूप मोक्ष कहा जाता है। वही मोक्ष यहां लक्ष्य है, उस मोक्ष की प्राप्ति मुख्य साधन योग है। उस का पंचम उपदेश में वर्णन किया जायगा। शिव और शक्ति का समरस भाव (अभेद) हो सकता है या नहीं इस सन्देह को दूर करने के लिये इस चौथे उपदेश में पहले शक्ति के स्वरूप का निरूपण कर वाद में शिव शक्ति के समरस भाव का और भूत भौतिक सकल पिण्डों को आधार भूत शक्ति का वर्णन किया जाता है। सर्वश्रेष्ठ ज्ञान स्वरूप बुद्धि आदि क अनित्य प्रकाश से भिन्न नित्यप्रकाश रूप और सकल चराचर जगत की आधार भूत परमेश्वर की निजा शक्ति वेदादि शास्त्र और सिद्धों के सिद्धान्त में प्रसिद्ध है। वह शक्ति शरीरादि कार्य तथा उन के पांच सूक्ष्म कारण और जीव इन की जो अच्छी प्रकार से अभिव्यक्ति अवस्था है उस अवस्था रूप अङ्कुर के प्रकाश से सकल विश्व के कर्ता हिरण्य गर्भादि को भी उत्पन्न करती है इस लिये वह चिद्रूप शक्ति शिव की अत्यन्त अन्तरङ्ग है वही शक्ति भूत भौतिक प्रपञ्च की अपेक्षा आधार कहलाती है इसी से वह सब का उपादान कारण है। वह शक्ति केवल स्वप्रकाश स्वरूप है अतः निज अनुभव से ही जानने योग्य

और लोक तथा शास्त्र सम्बन्धी बुद्धि वृत्ति को देखने वाली जो चिद्रूप शक्ति है वही परमेश्वर आदिनाथ की पराशक्ति कही जाती है वही पराशक्ति जब प्रलय काल में स्वभाव से अपने शुद्ध रूप में विकसित होती है तब शिव रूप भी होजाती है। अर्थात् महाप्रलय में विलीन होकर समस्त जगत् जिस में शयन करता है उस को शिव कहते हैं वास्तव में उस समय शिव से शक्ति का किंचित् मात्र भी भेद नहीं रहता। १ ॥

मू०—अतएव कुलाकुलस्वरूपा सामरस्य निज भूमिका निगद्यते ॥२॥

सं० टी०—(अतएव) अस्मिन् समये शिव शक्त्यो र्भेदाभावादेवे यं पराशक्तिः (कुलाकुल स्वरूपा) सकल स्वरूपा (सामरस्य निज भूमिका) तुल्य रस स्वभावावस्था शिवो वा शक्ति रित्यादि विकल्पा नर्हेति यावत् (निगद्यते) योगिभिः शास्त्रेषु प्रतिपाद्यते। एतत्प्राप्त्यै समरस करण युक्तिरग्रेऽभिधास्यते ॥२॥

भा० टी०—यह अर्थ महाप्रलय अवस्था को लेकर किया गया है। इसी तरह मोक्ष दशा में भी घटता है। नीचे देखिये—

पूर्वोक्त चिद्रूप शक्ति ही मोक्ष दशा में जब अपने स्वभाव से आत्म स्वरूप में अभिव्यक्त (प्रकट) होती है तब मुमुक्षु के लिये वही शक्ति कल्याण रूप होजाती है। इसीलिये वह परा शक्ति कुलाकुल रूप शिव शक्ति की अभेदावस्थारूप समरस की प्राप्ति के लिये उपाय आगे चलकर नाथ जी स्वयं कहेंगे। जो योगी उन उपायों का अच्छी तरह अनुष्ठान करता है वह भी इस समरस अवस्था को प्राप्त कर लेता है ॥२॥

मू०—कुलमिति परा सत्ताऽहंता स्फुरता कला स्वरूपेण सैव पञ्चधा विश्वस्याधारत्वेन तिष्ठति ॥३॥

सं० टी०—पूर्वं परा शक्तेः कुलरूपता प्रदर्शिता तत्प्रकारं विवृणो-

तिकुलेत्यादि परा, सत्ता, अहंता, स्फुरता, कलेति पञ्चधाकुल रूपा शक्तिः सैव निखिलस्याश्रयः ॥३॥

भा० टी०—अब पूर्वोक्त कुलाकुल पद में से कुल पद का व्याख्यान करते हैं। कुल का अर्थ यह है परा सत्ता अहन्ता स्फुरता और कला इन पांच प्रकार के निज स्वरूप भेदों से कुल अवस्था को प्राप्त हुई वह शक्ति समस्त विश्व का आधार होकर रहती है। इसी लिये इस शक्ति को कुल अवस्था कहते हैं। ३ ॥

मू०—अतएव परा परा निराभासा वभासकान् (सूर्य्यादीन्, अवभासयति) प्रकाशस्वरूपा या सा परा॥४॥

सं० टी०—तत्र गूढार्थतया पंचसु प्रत्येकं स्वयमेव व्याख्यायते तत्र क्रम प्राप्तं परा पदार्थमाह अत एवेति यतः सा (निराभासा) अन्यैः सूर्यादिभि र्नभास्यते। सातु (अवभास कान्) लौकिक तेजोरूपान् सूर्य्यादीन् (अवभासयति) प्रकाशयति। अतःपरापरा सर्वतः श्रेष्ठा कथ्यते श्रुतिरप्याह न तत्र सूर्योभाति न चन्द्र, तारकं नेमा विद्युतो भांति कुतोयमग्निः। तमेव भान्तमनु भाति सर्वं तस्यभासा सर्वमिदं विभाति ॥४॥

भा० टी०—अब कुलपदार्थ अवयव भूत सत्ता परा आदि पाँच पदार्थों में से परापद के अर्थ का वर्णन करते हैं जिस कारण वह शक्ति पांच प्रकार से समस्त विश्व का आधार है। इसी से वह शक्ति परापर रूप है अर्थात् सकल वस्तुओं में विद्यमान है और वह शक्ति चेतन प्रकाश स्वरूप है। अतः सूर्यादि जड़ प्रकाश उसको प्रकाशित नहीं कर सकते। किन्तु वही शक्ति सूर्यादि विकाश करने वाली वस्तुओं को भी प्रकाशित करती हैं। अतः जो सत्ता द्वारा सबको प्रकाश करने वाली शक्ति है वही परा कहलाती है।

मू०—अनादि संसिद्धं परमाद्वैत परमेक मेवास्ती ति या ऽङ्गीकारं करोति सा सत्ता ॥५॥

सं० टी०—सत्ताया लक्षणमाह (अनादीति) सजातीयविजा-

तीय स्वगत भेद रहितः स्व प्रकाशोऽस्तीति प्रतीयमानतैव सत्ता । अत्रेदं बोध्यमनादि पदेन ध्वंसाभावः । संसिद्धपदेन स्वप्रकाशः । परमा द्वैतपदेन विजातीयभेदशून्यम्, एकपदेन सजातीयत्वनिरासः । एवेत्य-नेन स्वगतभेदराहित्यं च सूचितमिति ॥५॥

भा०टी०—नाश रहित अनादि स्वरूप और स्वतः प्रकाश स्वभाव तथा परम अद्वैत अखण्ड स्वरूप एकशिव ही सर्वत्र व्यापक है । इस प्रकार अस्तित्व को स्वीकार करने वाली शक्ति सत्ता कहलाती है । ५ ॥

मू०—अनादिनिधनोऽप्रमेयः स्वभावकिरणानन्दोऽहम स्मीत्यहं सूचन शीला या सा पराऽहंता ॥६॥

सं० टी०—परस्या अहंताया लक्षणं प्रदर्श्यते । अनादीति । आदि निधन विधुरः (अप्रमेयेति) परिच्छेद रहितः (स्वभाव किरणेति) स्वप्रकाशः, तादृश "आनन्दरूपोऽहमस्मि" इत्याकारक प्रतीति र्या सा सर्वोत्कृष्टा ऽहंता ॥६॥

भा० टी०—अब अहन्ता रूप कुल अवस्था का वर्णन करते हैं । आदि अन्त से रहित और इन्द्रिय आदि प्रत्यक्ष से अगम्यस्वभाव प्रकाश स्वरूप आनन्द मैं हूँ । अर्थात् मेरे में और कूटस्थ चित् असङ्ग आदिनाथ में कुछ भी भेद नहीं । इस प्रकार शिव शक्ति तथा आत्मा परमात्मा आदि के अभेद की प्रकाशक जो शक्ति है वही शक्ति परमअहन्ता कहलाती है । इसी का नाम पराविद्या भी है । ६ ॥

मू०—स्वानुभवचिच्चमत्कारनिरुत्थानदशां प्रस्फुटी करोति या सा स्फुरता ॥७॥

सं० टी०—स्फुरताया लक्षणं निरुच्यते स्वानुभवचिच्चमत्कार स्वरूपमात्र विषयस्य स्वकार्य चिद्रूपज्ञान विलासस्य या निरुत्थानाव-स्था भेदावभास रहितदशा सा ययाऽनुभूयते सा स्फुरता ॥७॥

भा० टी०—मन वाणी से अगम्य अपने अनुभव से जानने योग्य जो आत्म अनुभव है उस अनुभव के अद्भुत चैतन्य चमत्कार

की निरुत्थान दशा को अर्थात् द्वैत अवभास से रहित मुक्ति अवस्था को जो शक्ति स्पष्ट रीति से अभिव्यक्त करती है उसी को स्फुरत्ता नाम की चौथी कुल अवस्था शक्ति कहते हैं। ७ ॥

मू०—नित्यशुद्धबुद्धस्वरूप स्वयंप्रकाशत्वमाकलयतीति या सा पराकलेत्युच्यते ॥८॥

सं० टी०—कलाया व्युत्पत्ति रुपदिश्यते यथा नित्यशुद्धबुद्ध स्वरूपं निखिल भेद रहितं मुक्तरूपमतः स्वयं प्रकाशत्व मन्यानवभास्य प्रकाशरूपमाकलयते संख्यायते सा परा कला कथ्यते ॥८॥

भा० टी०—आत्मा नित्य शुद्ध व्यापक सदा स्वयं प्रकाशमान और अखण्ड रूप उस आत्मा के स्वाभाविक व्यापक रूप को जो शक्ति बोध रूप से प्रकाशित करे वही अवस्था रूप कुल पराकला कहलाती है ॥८॥

मू०—अकुलमिति जातिवर्णगोत्राद्यखिल निमित्तत्वेनैकमेवास्तीतिप्रसिद्धंतथाचोक्तमुमामहेश्वर सम्वादेनिरुत्तरेऽनन्यत्वादखण्डत्वादद्वयत्वादनन्यत्वान्निर्धर्मत्वादनामत्वादकुलस्यनिरुत्तरमिति ॥९॥

सं० टी०-पूर्वोक्तमकुलपदं व्याख्यायते यतोऽस्यामवस्थायां मनुष्यत्व ब्राह्मणत्वादि जाति शुक्लादि वर्ण कुलादि सकल प्राकृत व्यवहार कारण विरहतयैक तत्त्वस्यैव भानं भवत्यतस्तत्राकुलत्वम् अत्रैव महेश्वर सम्वादस्यापि प्रामाण्यमुपदर्श्यते-(अनन्यत्वात्) प्रतियोगितयाऽनुयोगितया च भेद शून्यत्वादन्य पद व्यवहार एव नास्ति। अतएव (अखण्डत्वात्) अन्यत्र व्यावृत्तये स्वयं पद व्यवहार्यता रूपखण्डाभावात्। (अद्वयत्वात्) विजातीयाभावादत एव (अनन्याश्रयत्वात्) विजातीयनिष्ठाधेयतानिरूपिताधिकरणत्वाभावात् (निर्धर्मत्वात्) विजातीय निष्ठाधारता निरूपिताधेयत्वाभावात्। पूर्वेणाधिकरणताया अनेनाधेयतायाश्च निषेध इति निष्कर्षः। जाति गुणक्रिया सम्बन्धान्यतममादायैव शब्दः प्रयुज्यते लोके ऽत्र कस्यचनाभावान् नास्ति किञ्चि

स्पद व्यवहार्यता तदेवोक्तम् अनामत्वादिति इदमेव सर्वं विश्वद्वैत नि. वर्त्तनम् अकुल पदार्थस्य निरुक्तम् निर्वचनम् ॥६॥

भा० टी०—कुलपदार्थ का वर्णन कर अब अकुलपद के अर्थ का निरूपण करते हैं। अकुल का अर्थ गोत्रादि जाति नील पीतादि वर्ण और कश्यपादि वंश इत्यादि सकल व्यवहार का मुख्य कारण शक्ति है। अतः महा प्रलय में समस्त भूत भौतिक को अपने में संहार कर कूटस्थ असङ्ग शिव से मिली हुई तथा निजा आदि नाम से प्रसिद्ध केवल वह शक्ति ही शेष रहती है यह बात वेदादि शास्त्रों में और सिद्धों के सिद्धान्त में प्रसिद्ध है यही सिद्धान्त उमा महेश्वर के संवाद रूप निरुत्तर ग्रन्थ में भी कहा है। सकल भेद रहित होने से वह शक्ति अखण्ड रूप से व्यापक है। अतः वह अद्वितीय कहलाती है और उसका अन्य कोई आश्रय नहीं है तथा उस में भी उस समय अन्य किसी की आश्रयता का व्यवहार नहीं होता है। वह स्व प्रतिष्ठित और नाम रूप से रहित है अर्थात् जाति गुण क्रिया इन का सम्बन्ध न रहने से उस समय उस में किसी भी शब्द के व्यवहार की योग्यता नहीं रहती! अतः वह अकुल पद से कही जाती है ॥६॥

मू०—एवं कुलाकुल रूपासामरस्य प्रकाश भूमिका स्फुटी करण एकैव मर्थायासा ऽपरंपराशक्तिरेवावशिष्यते अपरंपरं निखिलविश्व प्रपञ्चजालं परतत्त्वं सम्पादयत्ये-कीकरोतीत्यपराशक्तिराज्ञावती प्रसिद्धा ॥१०॥

सं० टी०—तद्दशायां प्राकृत यावद् व्यवहार विलोपेऽपि (अपरं परा शक्ति रव शिष्यते) एकैव सावतिष्ठते। तत्र प्रमाणं कि-मिति शंकांदूरीकरोति कुलाकुलेत्यादि कुलाकुलयोः सामरस्यस्य भूमिका या स्फुटी करण मेकमेवार्थः प्रयोजनं यस्याः सा, एनां विना निजनिर-तिशयानन्दानुभवाभावः प्रसज्येत अर्थात् तद्बलेनैव न कुलं ना कुलम् नोभयमपि चेति विलक्षणस्यानुभवस्यावस्था समुद्घाट्यते किञ्च तत्र समस्त विरञ्चि प्रपञ्च पाशं परतत्त्व रूपमेव सम्पद्यते। या, अपरं कुलं

परमकुलमुभे एकं करोत्यतः सा ऽपरंपरा शक्ति ऽर्व्यवह्रियते। इयमेवा ज्ञावती नाम्ना प्रसिद्धास्ति ॥१०॥

भा० टी०—पूर्वोक्त क्रम से कुलाकुल रूप वह शक्ति समरस रूप अभेद के प्रकाश की भूमी के स्फुट करने में पांच प्रकार के कुल अवस्था भेद से तथा सर्वधर्म रहित अखण्डादि रूप अकुलावस्थाभेद से तत्पर रहती है। अतः स्थिति संहार और मोक्ष के देने में समर्थ मुख्य शक्ति ही है। वही शक्ति अपरंपरा निजा आदि नाम से प्रसिद्ध सकल कार्य प्रपञ्च के आधार रूप से महा प्रलय में अवशिष्ट रहती है। अब अपरंपरा पदार्थ का निरूपण करते हैं। भूत भौतिक स्थावर जंगम सकल विश्व प्रपञ्च को परमेश्वर रूप परम तत्त्व में संपादन करती हुई जो शक्ति एक करदेती है इसी से उस शक्ति का अपरंपरा नाम हुआ और वह सर्वेश्वर परम नाथ की आज्ञावती नाम से भी प्रसिद्ध है ॥१०॥

मू०—अकुलं कुलमाधत्ते कुलञ्चाकुलमिच्छति
जलबुद्बुदवन्न्यायादेकाकारः परः शिवः ॥११॥

सं० टी०——अकुल मद्वैतावस्था सृष्टिकाले ऽकुलं द्वैतत्वमाधत्ते सम्पादयति एवमेव कुलंच प्रलय अकुले करोति। अयमभिसन्धिः, कुलेद्वैतमेवानुभूयते अकुले चाद्वैतमेवातो न केवलं सदा कुलं ना कुलञ्च, किन्तु कार्य दर्शनेन द्वयमपि संघटते। अतः समरसो जातः। अत्रैव दृष्टान्तमाह जल बुद्बुदवत यथा कदाचिद् बुद्बुदमेव मन्यते कदाचिच्चजल मेव यदा च तत्त्वतो जल मेव मन्यमानो बुद्बुदमपि प्रातीतिकं मन्यते तदा उभयोः समरसो जात एतादृश एकाकारः शक्त्य भिन्नः शिवः पायात् रक्षतु नः ॥११॥

भा० टी०—शिव से अभिन्न शक्ति ही महाप्रलय में अकुलावस्था युक्त कहलाती है। क्यों कि उस समय नाम रूप से विस्तृत चराचर समस्त जगतका उपसंहार कर परमतत्त्वशिव में स्वयंमिल जाती है। अतः वह अकुल कहलाती है और जब सृष्टि का समय आता है तब वही निजा शक्ति प्राणियों के कर्मों के साथ मिल कर परा अपरा

सूक्ष्मादि भेद से कुल रूप व्यक्त अवस्था को धारण करती हुई सकल विश्व को रचती है तब वह कुल कहलाती है और फिर प्रलय में अकुलावस्था युक्त हो जाती है। तात्पर्य यह है कि न वह द्वैत रूप कुल है और न अद्वैत रूप अकुल है जैसे जलका स्वकार्य की अपेक्षा से फेन तरंग बुलबुला आदि नाम होता है और जल भी कहलाता है परन्तु तत्त्व की दृष्टि से तो वह केवल जल ही है। इसी प्रकार द्वैत और अद्वैत से रहित सर्वाधिष्ठान पर अद्वैत रूप एक शिव ही सच्चा है। इस यथार्थ अभेद को ही समरस कहते हैं ॥११॥

मू०—अतएवैकाकारोनन्तशक्तिमान् निजानन्दतयावस्थितोऽपिनानाकारत्वेनविलसन् स्वप्रतिष्ठां स्वयमेवभजतीति व्यवहारः। अलुप्तशक्तिमान्नित्यंसर्वाकारतयास्फुरन्पुनःस्वेनैवरूपेण एकएवावशिष्यते ॥१२॥

सं० टी०—अतएवद्वैताद्वैतोभयस्य समरसत्वादेव (एकाकारः) तत्त्वत एक एव (अनन्त शक्तिमान्) तादात्म्य सम्बन्धेन शक्ति विशिष्टः (निजानन्दतया) परिपूर्णाखण्डानन्दरूपेण (अवस्थितोऽपि) विद्यमानः सन्नपि (नानाकारत्वेन) मायिकदृष्ट्याघटपटाद्यनन्त भेदेन (विलसन्) विभ्राजमानः (स्वप्रतिष्ठां) स्वाश्रयतां (स्वयमेव भजति) प्राप्नोति, अयं भावो यथेयं पृथिवी व्यवहारेऽस्मदादि पार्थिव शरीराणामाधारः। तदभि प्रायेण पृथिवी पृथिव्या आश्रय, इतिव्यवहारो नानुपपन्न स्तत्त्वतस्त्वभेदे आधाराधेय भाव विरहान् नार्हस्तद् व्यवहार स्तथैव शिव शक्त्योर्भेदं परिकल्प्य, अभिन्नयापि शक्त्या ऽऽधाराधेय भावोपि व्यवहरणीयः तत्त्वतस्तु सोपि न। एक एव शिवो वा शक्ति-र्वेति सिद्धान्तः। (अलुप्तशक्तिमान्) शक्ति रहितः,कदापि न भवतीति राद्धान्तः शक्तेर्नित्यत्वात् न कर्मधारयान्मत्वर्थीय इति न्यायस्य लाघव मूलकत्वेन कचित्तदनादरस्यापि दर्शनम्, यथा व्याकरण भाष्ये ऽसुब्वतः गीतायामनादि मत्परंब्रह्मेत्यादि बहवःप्रयोगा उपलभ्यन्ते (सर्वाकारतया स्फुरन्) सृष्टिदशायां उच्चावच विश्वरूपेण भासमानः (स्वेनैव रूपेणैक एवावशिष्यते) चिद्रूपतस्तु एक एवावशिष्टो विद्यते ॥१२॥

भा० टी०—अतः पूर्वोक्त अभेद रूप समरस की रीति से सबका अधिष्ठान अद्वितीय ब्रह्म ही व्यापक रूप से सर्वत्र विद्यमान है और वही तादात्म्य सम्बन्ध के द्वारा स्वशक्ति से नित्य सम्बद्ध होकर अनन्त शक्तिमान कहलाता है। इसीलिये वह परमेश्वर देव दानव मनुष्य स्थावर जंगम जड चेतन आदि नाना आकार से व्यवहार दृष्टि द्वारा भासमान होने पर भी वास्तव में वह ब्रह्म स्वयं ही स्व स्वरूप प्रतिष्ठा में सदा स्थित रहता है उस का कोई आश्रय नहीं किन्तु वही सब का आधार है। तात्पर्य यह है कि जैसे शरीर और घटादि का पृथ्वी तथा फेन तरङ्गादि का जल कारण है इसीसे स्वकार्य शरीरघटादि और फेन तरङ्गादि का पृथ्वी तथा जल व्यवहारदृष्टिसे आधार कहलाते हैं। परन्तु तात्विक विचारसे तो कार्य और कारण अभेद होनेसे आश्रय आश्रयी भावभी नहीं है इसी प्रकार भेद दृष्टिसे वह शिवशक्तिका आ-धार भले ही भासमान हो यथार्थ में तो आधार आधेय भाव भी नहीं होसकता। क्यों कि शिव और शक्तिका नित्य तादात्म्य सम्बन्ध है जिस की शक्ति कदापि कम न हो वही परमेश्वर नित्य सर्वशक्तिमान है। अतः जड चेतन स्थावर जङ्गमादि समस्त संसार रूप से भी वह समुद्र के फेन तरंगादि के समान व्यावहारिक प्रपञ्चावस्था से भासमान हो रहा है। फिर अन्त में वही परमेश्वर निज व्यापक चिदखण्ड स्वरूप से एक ही अवशेष रहता है ॥१२॥

मू०—अतएवपरमकारणंपरमेश्वरःपरात्परःशिवः स्व स्वरूपतयासर्वतोमुखःसर्वाकारतयास्फुरितुंशक्तो-तीत्यतः शक्तिमान्, शिवोऽपिशक्तिरहितःशक्तःकर्त्तुं न किञ्चन । स्वशक्त्यासहितःसोऽपिसर्वस्याभासको भवेत् ॥१३॥

सं० टी०—(अतएव) सर्व शक्तिमत्त्वादेव (परम कारणम्) सर्वेषां सूक्ष्म स्थूल पदार्थानां निदान भूतः (परमेश्वरः) आदिनाथः (परात्परः शिवः) अस्मदादितः परः श्रेष्ठो हिरण्यगर्भादिदेव स्वतोऽपि

परःश्रेष्ठः शिवः कल्याणरूपो निखिल दुःखोच्छेद हेतुत्वात् (स्वरूपतया) चैतन्य रूपेण (सर्वतोमुखः) व्यापकः (सर्वाकारतया स्फुरितुं शक्नोति) रुद्र विष्ण्वादि निखिलरूपेणावतरितुमर्हः। अतएव शक्तिसहितो यमिति सिद्धयति शक्ति रहिते विविध रूपत्वस्यस्वप्नेप्यसम्भवात्। यदि शिवः शक्ति रहितो भवेत शक्तिवाचकएकारस्य निःसारणे शवोभवति। तदा (किञ्चन) किञ्चिदपि कार्यम् (कर्त्तुं नशक्तः) विधातुं नक्षमः स एव शक्ति सहितः (सर्वस्य) विश्वस्य (अवभासकः) निर्माता ज्ञापकश्च भवेदितिव्यतिरेकान्वयाभ्यां शक्ति सहितस्यैव निदानत्वेनोपासनीयता ॥१४॥

भा० टी०—सर्व शक्ति सम्पन्न होने से ही वह आदिनाथ परमेश्वर स्थूल सूक्ष्म सकल भूत भौतिक पदार्थों का परम आदि कारण है। इतना ही नहीं किन्तु सर्वजीवों से श्रेष्ठ परहिरण्यगर्भादि से भी परम श्रेष्ठ और कल्याण स्वरूपहै। क्योंकि वह अपने भक्तों के स्मरण मात्र से ही उनके समस्त दुःखों का समूलोच्छेद कर भोग और मोक्ष देता है और वही शिव अपने चैतन्य स्वरूप से सर्वान्तर्यामी व्यापक है। अतः भूत भौतिक जडचेतनादि सब आकार धारण करने में समर्थ है। इसीसे वह शिव शक्तिमान् कहलाता है। इस सन्दर्भ से यही भाव निकलता है कि शक्तियुक्त हो महेश्वर सब काम करने में समर्थ है। अकेला नहीं। शक्ति रहित महेश्वर भी कुछ नहीं कर सकता अतः वह शिव भी निज शक्ति सम्पन्न ही समस्त संसार का साक्षी कहलाता है ॥१३॥

मू०—अतएवानन्तशक्तिमान्परमेश्वरःसविश्वरूपी विश्वमयोभवतीति प्रसिद्धं सिद्धानांपरापरस्वरूपा कुण्डलिनी वर्तते। अतस्ते पिण्डसिद्धाः प्रसिद्धाः साकुण्डलिनीप्रबुद्धाप्रबुद्धाचेति द्विधा। अप्रबुद्धेति तत्रपिण्डचेतनरूपा स्वभावेननानाचिन्ताव्यापारोद्यम प्रपञ्चरूपाकुटिलस्वभावाकुण्डलिनीख्यातासैवयोगिनां

तत्तद्विलसितविकाराणांनिवारणोद्यमस्वरूपाकुण्डलि-न्यूर्ध्वगामिनी प्रसिद्धा भवति ॥१४॥

सं० टी०—परापरशक्तिः समष्टितया प्रधानं तस्यामेव सकल कार्य कारिण्योऽवान्तर शक्तयो वर्तन्ते। (अतएव) परंपराशक्ति मत्वादेव (परमेश्वरोऽनन्तशक्तिमान्) कथ्यते लौकिक वैदिकेषु किञ्च स एव (विश्वरूपी) सकलरूपधारणपटुः (विश्वमयः) संसार रूपोभवतीति प्रख्यातम्। सैव परम्पराशक्तिः कुण्डलिनी भूत्वा योगिनांदेहे वर्तते (अतः, कुण्डलिनी बलादेव (पिण्डसिद्धाः) कायसिद्धाः (प्रसिद्धाः) प्रख्याताः, कायसिद्धिर्नाम स्थूल शरीरस्यास्य सदा स्थितिः कदापिनाशो न भवतीति। एतत्प्रक्रिया समरस प्रकरणे वक्ष्यते। ननु कुण्डलिनी प्राणिमात्रदेहेषु वर्तते तत् कुतो योगिनामित्युक्तमत आह सा कुण्डलिनी प्रबुद्धाऽप्रबुद्धेति भेदेन द्विविधा वर्तते। तत्राप्रबुद्धाया सर्वत्र सद्भावेऽपि कायसिद्धिहेतुभूता या प्रबुद्धा सा तु योगिनामेवेत्यत उक्तं योगिनामिति।

सकल साधारणतया प्रथममप्रबुद्धावस्थतेऽप्रबुद्धेतिनाम्ना व्यवह्रियमाणा (तत्र पिण्डेषु) सकलप्राणिनिकरेषु चेतनरूपा (स्वभावेन) परमार्थतो नानाचिन्ता चिन्तातीताऽप्यौपाधिकचिन्तावती (व्यापारोद्यम) प्रपञ्चरूपा निखिल प्राकृत चेष्टा सम्पादिका ऽतएव (कुटिल स्वभावा) तिर्यग्भूपा मूलाधारस्थलिङ्गात्मक मांसखण्डे सार्ध त्रिवलयात्मिका एषाधोमुखी कुण्डलिनी सर्वत्र ख्याता वर्तते। सैव प्रबुद्धा सती योगिनां विग्रहेषु (तत्तद्विलसित विकाराणाम्) प्राकृत नियमेन निखिलरोगाद्युपद्रवाणां (निवारणोद्यम स्वरूपा) विनाशाय व्यापारवती (ऊर्ध्वगामिनी) मूलाधाराद्‌र्ध्वं ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्तं संचरण शीला कुण्डलिनी भवतीति प्रसिद्धा ॥१४॥

भा० टी० सकल विश्व का प्रकाशक होनेसे ही सर्वशक्तियुक्त वह सर्वेश्वर अनन्त शक्ति सम्पन्न कहा जाता है। और अपने शक्ति बल से ही निजभक्तों पर कृपा करने के लिये अनेक रूप धारण करने में समर्थ है या सर्व विश्व का अधिष्टान भूत आधार होने से विश्व

व्यापी कहलाता है। इस लिये सकल विश्व रूप भी वही है। अर्थात् उस चेतन से जगत् की सत्ता पृथक नहीं है अपितु वही अन्तर्यामी सब जगह संसार रूप होजाता है। यह सिद्धान्त वेदादि शास्त्र और सिद्धों में भी प्रसिद्ध है। ईश्वर स्वशक्ति सम्पन्न है। अतः त्रिकाल दर्शी और सबकार्य करने में समर्थ भले ही रहे कार्यसिद्ध योगी समर्थ क्यों कहलाते हैं उन के पास तो ईश्वर जैसी शक्ति नहीं हैं, जिससे कि वे भी ईश्वर की तरह सत्य संकल्प हों? इस शंका का समाधान यह है कि परापर स्वरूपा शब्द और अर्थ सृष्टि के उत्पादन में समर्थ चित अचित् रूप कुण्डलिनी सिद्धों के भी इस देह पिण्ड में विद्यमान है। यद्यपि वह सर्वत्र व्यापक है तथापि देह में विशेष रूप से उसकी अभिव्यक्ति होती है। अतः इस देह में ही कुण्डलिनी के उत्थान व ध्यानादि से काया में सिद्ध हुये सकल शक्ति सम्पन्न अनेक सिद्ध प्रसिद्ध हैं वह कुण्डलिनी प्रबुद्ध और अप्रबुद्ध भेद से दो प्रकार की है। अब मूलाधार में रहने वाली अप्रबुद्ध कुण्डलिनी के कार्य को बतलाते हैं। यद्यपि इस देह पिण्ड में वर्तमान कुण्डलिनी स्वभाव से चेतन स्वरूप है तथापि जब तक वह जगाई नही जाती तब तक संसारी पुरुषों के लिये नाना प्रकार की शोक मोहादि चिन्ता और व्यापार आदि का संपादन करती हुई सकल जगत प्रपंच रूप से भी वही बन्धन का हेतु होती है। अतः अविवेकियों को जन्म मरण रूप विपरीत फल देने से विपरीत स्वभाव कुण्डलिनी कहलाती है। अथवा जबतक मूलाधर में टेढ़ीगति और अधोमुखी होकर रहती है तब तक वही जन्म मरण रूप फल देती है। और इस शरीर में जगी हुई वही कुण्डलिनी जब अच्छी तरह सहस्रदल तक संचार करती है तब योगियों के समस्त जन्म मरण दुःख रूप फलों के देने वाले कर्म और मनों के विकारों को दूर करने में समर्थ होती है। यह बात सिद्धों में प्रसिद्ध है ॥१४॥

मू०—ऊर्ध्वमिति सर्वतत्त्वान्यपि स्वस्वरूपमेवेत्यूर्ध्वे वर्तते। अत एव सा विमर्शरूपिणी योगिनः स्व स्वरूपमवगच्छन्तीति सुप्रसिद्धा ॥१५॥

सं० टी०—क ऊर्ध्वपदार्थः कथंच तद्गामित्वं कुण्डलिन्या इति विवियते, ऊर्ध्वमिति स्वपरिणामभूतानि सकलान्याकाशादि तत्त्वानि तानिसर्वाणि (स्वस्वरूपमेव) स्वाभिन्नानि स्वकीय विकृति रूपत्वात्। अयमाशयः कारणभूता कुण्डलिनी कार्यरूपाणि च तत्त्वानि कारणं विना कार्यं नावतिष्ठते। अतः कार्यो परिगमन शीलता कारणस्येति कार्यस्य चोर्द्रकावस्थातः पूर्वस्यो- र्ध्वत्वं परिकल्प्य तस्या ऊर्ध्वगामिनीत्युक्तम् तेन सर्वं प्रति निदानता सूचिता भवतीति। अत एव तस्याः सर्वस्वरूपत्वादेव सर्वः सह तादात्म्य वेदनेनविमर्शरूपिणी क्वचिद् व्यवह्रियते। एतद्बलादेवयोगिनः स्वस्वरूपम्। अवगच्छन्ति जानन्तीत्यर्थः ॥१५॥

भा० टी०—यहाँ 'ऊर्ध्व, पदका भाव यह है कि समस्त आका- शादि भूत भौतिक पदार्थ कुण्डलिनी शक्ति से उत्पन्न होते हैं। अतः कार्यो की कारणों से भिन्न सत्ता नहीं, जैसे मिट्टीका कार्य घटादि मिट्टी स्वरूप ही है। इसी तरह सकल प्रपञ्च भी कुण्डलिनी स्वरूप है। इसी से कुण्डलिनी देवी सर्वकार्यों से ऊपर विराजमान है। अतः इसको वि- मर्शरूप विद्या भी कहते हैं। क्योंकि योगियों के शरीर में जागृत हुई यह कुण्डलिनी उनके शुद्ध व्यापक आत्माके स्वरूप का भी भली प्रकार ज्ञान करादेती है यह बात सिद्ध योगियों में प्रसिद्ध है ॥१५॥

मू०—मध्यशक्तिप्रबोधेन, अधःशक्तिनिकुञ्चनात्।
ऊर्ध्वशक्तिनिपातेन प्राप्यते परमं पदम् ॥१६॥

सं० टी०- मध्य शक्ति र्नाभिदेशस्थ कुण्डलिनी, तस्याः प्रबोधे नजागरणेन, अधः शक्तिमूलाधारस्थ कुण्डलिनी, तस्या निकुंचनादुत्था- पनात्। ऊर्ध्वशक्तिः-सहस्रारस्थशिवशक्तिः, तस्यां निपातेन संयोजनेन परमंपदं मोक्षपदं प्राप्यते लभ्यत इत्यर्थः। अथवा मध्यशक्तिः ज्ञान- स्वरूपा कुण्डलिनी तस्याः 'प्रबोधेन' जागरणेन अधः शक्तिनिकुञ्चनात् अधः शक्ते विषयाभिमुखबुद्धि शक्ते र्निकुञ्चनात् संकोचना- दूर्ध्व शक्ति निपातनेन ऊर्ध्व शक्तेः अहमेव सर्वम् नान्यन्मत्तः किञ्चि दिति विमर्श शक्तेः निपातनेन सम्बन्धेन परंपदं, मोक्षपदं

प्राप्यते लब्धमेवाविद्यापिधानापनयनेन लभ्यत इत्युपचारः । ॥१६॥

भा० टी०—मणिपूर चक्र में स्थित मध्य शक्ति कुण्डलिनी के जगाने से तथा मूलाधारस्थ नीचे की शक्ति के आकर्षण से और ऊपर की शक्ति का पात करने से परपद की प्राप्ति होती है। तात्पर्य यह है कि गुदा से दो अंगुल ऊपर और लिङ्ग से दो अंगुल नीचे चार अंगुल चौड़ा चतुर्दल आधार पद्म है। उस आधार कमल के बीच कर्णिका में सुशोभित त्रिकोणाकार योनि है इसी को काम पीठ भी कहते हैं। इसी योनिमण्डल के मध्य पश्चिममुख महाशिव लिङ्ग है। उस शिवलिङ्ग को साढ़ेतीन चक्र से लपेटकर नीचे को मुंह किये हुये बिजली की प्रभा के समान चमकती हुई सुषुम्णा के रास्ते को रोके हुए महाकुण्डलिनी देवी बिराजमान है। उसका अपानवायु के निकुञ्चन तथा ध्यान से उत्थान किया जाता है अर्थात् वह सुषुम्णाद्वार को छोड़ देती है। तथा नाभिचक्र में आठवार लपेट खाए हुए मध्य कुण्डलिनी विराजमान है। इसका उत्थान जालन्धर उड्डियान मूलबन्ध और हठयोग की क्रियाओं से किया जाता है और प्राण शक्ति को अपान के साथ मिला देना ऊर्ध्वशक्ति पात कहलाता है, या जगी हुई कुण्ड-लिनी को सहस्रदल में पहुँचा देना ऊर्ध्वशक्तिपात कहा जाता है। अर्थात् प्राण अपान की एकता पूर्वक तीनों बन्धों के अच्छी प्रकार सिद्ध हो जाने से कुण्डलिनी देवी सुषुम्णा में प्रवेशकर ऊपर को जाते समय अपूर्व भावना को प्रकट करती हुई क्रम से ब्रह्म, विष्णु, और रुद्र ग्रन्थियों को भेदन कर सब चक्र कमलों को विकाशकर देती है। और जब वह ग्रीवा से ऊपर सहस्रदल में पहुँचती है तब प्राण इन्द्रियाँ और मन का व्यापार भी रुक जाता है और शून्य समाधि हो जाती है उस जगह काल की भी गति नहीं है उसी परम पद को मोक्ष कहते हैं।

मू०—एकैवसामध्योर्ध्वाधःप्रभेदेनत्रिधाभिन्ना शक्तिरभिधीयते ॥१७॥

सं० टी०—वस्तुत एकैव सा कुण्डलिनी मध्योर्ध्वाधो देशानां

भेदात् । (त्रिधा) त्रिप्रकारा (भिन्ना) पृथक् (अभिधीयते) कथ्यते ॥१७॥

भा० टी०—यद्यपि वह कुण्डलिनी शक्ति एक ही है तथापि स्थान और सूक्ष्म स्थूल भेद से तीन प्रकार की कहलाती है, अर्थात् मूलाधारस्थ कुण्डलिनी सूक्ष्म अबोध रूप और सबका कारण कही जाती है तथा नाभिस्थ मध्यमा कुण्डलिनी बोधरूप कहलाती है फिर वही शक्ति जब ऊपर को गमन करती है तब बोध जनक कल्याण कारिणी ऊर्ध्व सृष्टि कही जाती है इस प्रकार एक ही शक्ति मध्य ऊर्ध्व और अधोभेद से भिन्न २ कही जाती है। ॥१७॥

मू०-बाह्येन्द्रियव्यापारनानाचिन्तामया सैवाधः शक्तिरित्युच्यते । अतएव योगिनस्तस्या आकुञ्चनेरता यस्या आकुञ्चनं मूलाधारबन्धनात्सिद्धंस्यात् ॥१८॥

सं० टी०—काधः शक्तिरिति स्वयमेव व्याख्यायते । बाह्येति या बाह्येन्द्रिय व्यापारकृत सांसारिक विषयचिन्तनपरा सा एवाधः शक्तिरितिकथ्यते (अतएव) सांसारिकत्वादेव योगिनः (तस्याः) अधः शक्तेः (आकुञ्चने) संकोचने (रताः) तत्परा भवेयुरितिक्रियाक्षेपः कस्मादेशाद्वा कुञ्चनं विधेयमित्युपदिश्यते (अस्याइति) (अस्याः) अधः शक्तेः (आकुञ्चनम्) संकोचनं (मूलाधारात) मूलाधारदेशात इति पूर्ववर्णितम् ॥ ततएव (सिद्धम्) सम्पन्न स्यात् भवेत। अयम्भावो हठ प्रक्रिययापानवायोरधोदेशादूर्ध्व आकर्षणं प्राणवायोश्चाधो नियमनं खेचरी जालन्धर महाबन्धादिद्वारा कर्तव्यम् तेन मध्यशक्तेः कुण्डलिन्याः प्रबोधोभवति ततश्च ससारोच्छित्तिः परमानन्द प्राप्तिश्च करतले तिष्ठति ॥१८॥

भा० टी०—अब अधः शक्ति का निरूपण करते हैं। बाहर की इन्द्रियों के व्यापार से जो अनेक चिन्ताएँ होती है उनका कारण अधः शक्ति कही जाती है। अर्थात् जब तक उसके यथार्थ स्वरूप को न जानकर योगाभ्यास द्वारा उत्थान न किया जाय तब तक वह संसार के बन्धनो में फँसाये रहती है और नीचे गिरा देती है। अतः यथानाम

तथा गुण के अनुसार अधः शक्ति इसका नाम सार्थक हुआ और जब योग क्रिया द्वारा उसका उत्थान किया जाता है तब वही चेतन ब्रह्म स्वरूप वाली मोक्ष देने में समर्थ होजाती है। इसलिये सिद्ध योगिजन उस मूलाधारस्थ शक्ति के आकुञ्चन में तत्पर रहते हैं और इसका आकुञ्चन मूलाधार आदि के बन्धन से सिद्ध होता है। ॥१८॥

मू०—यस्माच्चराचरं जगदिदं चिदचिदात्मकं प्रभवति तदेवमूलाधारं संवित्प्रसरं प्रसिद्धम्।

सं० टी० —(यस्माच्चराचरं जगदिदं) निखिल स्थावरजंगमात्मक संसारोऽयम् (चिदचिदात्मकम्) जड चेतनरूपं यस्माच् शक्ति तत्वात् (भवति) उत्पद्यते तदेव शक्तितत्वं (मूलाधार संवित् प्रसरम्) ज्ञान प्रसारभूमिः (प्रसिद्धम्) सिद्धेषु शास्त्रेषु च ॥१९॥

भा० टी०—अब पूर्वोक्त मूलाधार पद के अर्थ का निरूपण करते हैं। जिससे पहले पहल भूत भौतिक स्थावर जंगम, जड़, चेतन रूप समस्त जगत का प्रादुर्भाव होता है वही परम कारण मूलाधार नाम से कहा जाता है। यह वर्णन व्यष्टि समष्टि के अभेद को लेकर किया है। मूलाधार कामपीठ के ध्यान और उसी के प्रसरण तथा संकोच पूर्वक कुण्डलिनी उत्थान से ज्ञानकी वृद्धि होती है और त्रिकाल दर्शी बन जाता है। तथा जगत की रचना, स्थिति और संहार की सामर्थ्य होती है। यह बात योगशास्त्र में सर्वत्र प्रसिद्ध है ॥१९॥

मू०—सर्वशक्तिप्रसरसंकोचाभ्यां जगत्सृष्टिः संहृतिश्चभवत्येवनसन्देहस्तस्मात्सामूलमित्युच्यते। अतः प्रायेण सर्वेसिद्धा मूलाधाररताभवन्ति ॥२०॥

सं० टी०—(सर्वशक्त्यां) समष्टिरूपायां (मूलशक्तौ) शक्ति संकोचाभ्याम् शक्तिपदेनोपचारात् तदीय व्यापाररूपविकाश उच्यते तथा च विकाश संकोचाभ्यामुन्मेषनिमेषाभ्यामिति यावत् (जगत्सृष्टिः) जगतः संसारस्य सृष्टिरुत्पत्तिः (संहृतिः) प्रलयश्च भवत्येव न सन्देहः कर्तव्यः। तस्मात् सर्वोपादानक्षमत्वात सा शक्ति

मूलमित्युच्यते श्रुति स्मृतिषु (अत:) मूलाधारत्वादेव (सर्वसिद्धा:) सकलयोगिन: (मूलाधाररता:) मूलाधारस्थशक्तिप्रबोधनेतत्परा भवन्ति ॥२०॥

भा० टी०—जिस मूलशक्ति के बल से ईश्वर जगत् की रचना आदि का कर्ता है वही शक्ति योगियों के मूलाधार में है। उस मूलाधार शक्ति के ध्यानादि से जब वह योगी सर्व समर्थ हो जाता है तब उसी मूलाधार शक्ति के विकाश और संकोच से जगत की उत्पत्ति संहारादि कर सकता है। इसमें सन्देह नहीं। अत: जो सब कार्यों के उत्पादन में समर्थ है उसी को मूल शक्ति कहते हैं। इसी से प्राय: सब सिद्ध मूलाधार शक्ति के ध्यान में तत्पर रहते हैं ॥२०॥

मू०—तरंगित स्वभावं जीवात्मानंवृथाभ्रमन्तमपि स्वप्रकाशमध्येस्वस्वरूपतयासदाधारयितुं समर्था यासाकुण्डलिनीमध्याशक्तिर्गीयतेस्थूलसूक्ष्मरूपेणमहा सिद्धानां प्रतीयत इति निश्चयः ॥२१॥

सं० टी०—(तरंगित स्वभावम्) समुद्रतरंगवत् स्वरूप माचार क्विबन्त तरंगधातोःक्त प्रत्ययेतरंगितशब्द स्ततो वहुब्रीहि: (वृथाभ्रमन्तम्) अविद्यावशान्मोमुह्यमानतया शाश्वतिक मोक्षो पायमपास्य नश्वर सांसारिक विषय लिप्सया तत्पथेषु पर्यटन्तम्, अपि शब्दाद्व्याप्रियमाणं जीवात्मानं (स्वप्रकाशमध्ये) स्वकीयवितत प्रकाशाभ्यन्तरे (स्वस्वरूपतया) स्वीयसत्तया सदाधारयितुं याशक्ति: समर्था सा शक्ति:कुण्डलिनीगीयते। अयम्भाव:। यथा समुद्रो व्यापक स्तस्यतरंगास्तदुपरि संचरन्ति तेषामाधार: समुद्रस्यतत्तद्देशस्तथा समुद्रस्था नीया निजाशक्ति र्व्यापिकैका तस्या स्तरंग स्थानीया विकारभूता जीवशक्तय स्तासामाधारभूत निजाशक्ते स्तत्तदेक देशीया: शक्तय: सैव परमात्मजीवापेक्षया मध्याशक्ति: सैव च कुण्डलिनीपदेन प्रख्यायते सापि महासिद्धानां दृष्ट्या मणिपूरे स्थूल रूपा मूलाधारे सूक्ष्मरूपा च प्रतीयत इति निश्चयो योगिनाम् ॥२१॥

भा० टी०—अब मध्य शक्ति कुण्डलिनी के कार्य का वर्णन करते हैं—वह कुण्डलिनी चिद्रूप होने से जीव का असली स्वरूप है। अतः चंचल स्वरूप तथा व्यर्थ ही विषयरूप मृगतृष्णा में भ्रमण करने वाले जीवात्मा को भी निज शुद्ध व्यापक आत्म प्रकाश में सदा स्थापित करने में जो शक्ति समर्थ है वही मध्य कुण्डलिनी नाम से कही जाती है। तात्पर्य यह है कि जब तक मध्य कुण्डलिनी का उत्थान न किया जाय तबतक कर्म पाश में बंधा हुआ यह जीवात्मा जन्म मरण रूप दुःख परम्परा का अनुभव करता है और वही जीवात्मा जब पूर्वजन्म में किये हुये पुण्यकर्म के प्रभाव से ईश्वर की कृपा का पात्र हो सिद्ध गुरु की दया से मध्य कुण्डलिनी को विधि पूर्वक जानकर जगा देता है तब उसका योग सिद्ध होजाता है उस समय वह शक्ति ही उसको सहजानन्द आत्मस्वरूप में भली प्रकार से प्रविष्ठित करदेती है। अतः जगाई हुई मध्य कुण्डलिनी अत्यन्त कल्याण स्वरूप है। वह कुण्डलिनी स्थूल और सूक्ष्म भेद से दो प्रकार की है। इस दो प्रकार की कुण्डलिनी को महा सिद्ध ही भली भाँति जानते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं ॥२१॥

मू०—स्थूलेति निखिलग्राह्याधारविग्राह्यस्वरूपापि पदार्थान्तरे भ्राम्यमाणा चिद्रूपायावर्तते सा कुण्डलिनी साकारास्थूलापुनस्त्वियमेव स्वप्रसारचातुर्य्यतयावर्तमाना योगिनां परमानन्दतया कुण्डलिनी या निश्चय भूता वर्तते सा सूक्ष्मानिराकारा प्रबुद्धा महासिद्धानां मते प्रसिद्धा ॥२२॥

सं० टी०—स्थूल निरूपणमन्तरा सूक्ष्मनिरूपणं न सम्यग् बुद्धिमधिरोहतीत्यतः प्रथमं स्थूला निरूप्यतेस्वतस्तु सा कुण्डलिनी चिद्रूपा वर्तते (यदाऽर्थान्तरे) यस्मिन्काले रूपादि विषये (भ्राम्यमाणा) संचारिणी भवतीति शेषः। तदेत्याक्षेपः (निखिलग्राह्याणाम्) रूपादि विषयाणाम् (आधारः) उपरक्तासती (ग्राह्यस्वरूपापि) रूपाद्या

कारापि भवति । प्रत्येकं मूलाधारे स्थिता सार्ध त्रिवलयान्विता नाडी रूपा सा स्थूला कुण्डलिनी । इदमत्र बोध्यं यदियमपि साधारणलोक दृष्ट्या सूक्ष्मैव सर्वेषाम गोचरत्वात् किन्तु योगिदृष्ट्या केवल चिद्रूपा पेक्षयास्थूला कथ्यत इति । पुनस्तु पूर्वमपि चिद्रूपैवासीत्-साम्प्रतम् विषय सम्बन्धेन विषय स्वरूपापि पुनः (इयमेव) येव विषयस्वरूपा सैवेयं विषय सम्बन्धं विहाय (स्वप्रसारचातुर्य्यतया) स्वस्वरूपमात्र माश्रितया (वर्तमाना निर्णीता विद्यमाना (योगिनां परानन्द तया) परमानन्द रूपेण (निश्चय भूता) निर्णीता या कुण्डलिनी सा (सूक्ष्मा निकारा, आकार रहिताऽतो न स्थूला (प्रवुद्धा) जागरिता (महासिद्धा नां मते प्रसिद्धा, महासिद्धै र्ज्ञायते नतु साधारण सज्जनै रितिभावः २२

भा० टी०–ऊपर स्थूल सूक्ष्म नाममात्रसे बताई हुई दो प्रकार की कुण्डलिनियों में से पहले स्थूल कुण्डलिनी के स्वरूप को दिखाते हैं। यद्यपि मूलाधारस्थ कुण्डलिनी अति सूक्ष्म है तथापि शब्दात्मक स्थूल जगत को तथा पञ्चभूतात्मक अर्थ सृष्टि को उत्पन्न करने से वह भी स्थूल कहलाती है। अतः कार्य रूप से वह सकल प्राणियों के इन्द्रिय गोचर हुई एवं सब भूत भौतिक वस्तुओं का अधिष्ठान भूत आधार भी वही है। क्योंकि कारण के बिना कार्य की स्थिति रहना सर्वथा असम्भव है। जैसे मिट्टी के बिना घट कार्य नहीं रह सकता। इसीलिये वह कुण्डलिनी सब कार्यों में अनुगत रूप से विद्यमान है। वास्तव में वह चेतन स्वरूप वाणी से अगोचर और सर्वदेवों से वन्दनीय कामपीठ है तो भी जगत की रचना में निरन्वर उद्यत रहती है। इसी से स्थूल जगत की सृष्टि रूप वह कुण्डलिनी साकार स्थूल कहलाती है फिर निज विस्तार कौशल से नाभि स्थान में वर्तमान वही चिद्रूपा कुण्डलिनी पूर्वोक्त विषय सम्बन्ध को छोड़कर अपने चैतन्य स्वरूप से जब सब जगह व्यापक भाव से विद्यमान होती है तब वही प्रवुद्ध कुण्डलिनी योगियों को परम आनन्द दायक व्यापक अखण्ड अपने आत्मा का निश्चय कराती है। अतः वह प्रवुद्ध होने से निराकार व्यापक सूक्ष्म रूप से सर्वत्र रहती है। यह योग निपुण महासिद्धों में प्रसिद्ध है ॥२२॥

मू०—सृष्टिः कुण्डलिनी ख्याता द्विधा भागवती तु सा। एकधा स्थूलरूपा च लोकानां प्रत्यगात्मिका। अपरा सर्वगा सूक्ष्मा व्याप्ति व्यापक वर्जिता। तस्या भेदं न जानाति मोहिता प्रत्ययेन तु २३

सं० टी०—(सृष्टिः) सृज्यते ऽनयेति करण साधनम् तथा च संसार कारिणी शक्तिः। (कुण्डलिनी ख्याता) तन्नाम्नी प्रसिद्धा सर्वत्र सा (द्विधाभागवती) द्विप्रकारा तत्र या (लोकानां प्रत्यगात्मिका) प्रत्येकं प्राणिषु मूलाधारे सार्धत्रिवलय रूपेण विद्यमाना सा स्थूलरूपा व्यवह्रियते। या तु (अपरा) अन्या (सर्वगा) सर्वगामिनी समष्टिरूपा सा सूक्ष्मा वस्तुत स्तस्या अतीन्द्रियत्वेन व्याप्ति व्यापकभावाद्यनिश्चयेन (व्याप्ति व्यापक वर्जिता) तद्रहितातदेवाह (तस्याः) सूक्ष्मायाः(भेदं) स्थिति विशेष को ऽपि न जानाति। अज्ञाने, हेतुमाह (प्रत्ययेन) लौकिक विषयविज्ञानेन (मोहिता) आच्छादिता सो शक्तिः ॥२३॥

भा० टी०—समस्त प्राणियों के मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी सबका जीवन निर्वाह करती है। इसी से वह प्रत्येक आत्मा में व्यापक और अति सूक्ष्म है। वही परमेश्वर सम्बन्धी कुण्डलिनी दो प्रकार की कही जाती है। एक स्थूल रूप कहलाती है क्योंकि वह स्थूल जगत् को रचती है अतः स्थूल सृष्टि को रचने से वह सृष्टिकुण्डलिनी नाम से भी प्रसिद्ध है। दूसरी नाभिचक्र में प्रवुद्ध की हुई जब ऊर्ध्वगति वाली होती है तब वही उपाधि सम्बन्ध को छोड़कर अवयव रहित अखण्ड स्वरूप में प्रतिष्ठित होती हुई सर्वत्र व्यापक कहलाती है। वास्तव में तो उस समय वह व्याप्य व्यापक भाव से रहित मन वाणी का भी विषय नहीं होती किन्तु आत्म विमुख विषय लम्पट दुर्बुद्धि पुरुष विपरीत और मिथ्याध्यास से स्त्री पुत्रादि में आसक्त हुये उस कुण्डलिनी के यथार्थ रूप को नहीं जानते। इसी से वे जन्म मरण रूप दुःख परम्परा का अनुभव करते हैं। जो योगी इसके यथार्थ रूप को जानकर नाभिचक्र में प्रवुद्ध कर योगाभ्यास द्वारा ऊपर को संचा-

रित करते हैं। उनके लिये वह मोक्ष का द्वार खोल देती है ॥२३॥

मू०--तस्मात् सूक्ष्मापरा संवित् स्वरूपा मध्या शक्तिः कुण्डलिनी योगिभिर्देहसिद्ध्यर्थं सद्गुरु मुखाज् ज्ञात्वा स्वस्वरूपदशायांप्रबोधनीया ॥२४॥

भा० ०टी--(तस्मात्) पूर्वोक्त कारणात् (संवित स्वरूपा) चिन्मात्र रूपिणी (सूक्ष्मा) विषय रहिता (मध्या शक्तिः) विषय संवलिताथा मूलाधार मणिपूरस्था कुण्डलिनी योगिभिः (स्वस्वरूप दशायां) स्वकीय रूपावस्थायाम् (प्रबोधनीया) उत्थापनीया स्वस्वरूप ज्ञानमन्तरातदुपस्थापनमशक्यमत आह (सद्गुरु मुखात्) शास्त्रज्ञोऽनुष्ठान प्रकारज्ञो ऽनुष्ठान निरतश्च सद्गुरु स्तस्य मुखात् तस्य सदुपदेशतो ज्ञात्वा। ननुतत्प्रबोधनेन किं फल मित्याह देह सिद्ध्यर्थम् प्रबोधे सति मृत्युभयं विहृत्य त्रैलोक्ये यथा कामरूपेण विहरति ततो देहसिद्धिः प्रयोजनम् ॥२४॥

भा० टी०—पूर्वोक्त प्रकार से जगाई हुई सूक्ष्मा शक्ति ही ज्ञान स्वरूप व्यापक कहलाती है और अप्रवुद्ध दशा में परिच्छिन्न नाभि प्रदेश में स्थित होने से वही मध्य कुण्डलिनो शक्ति कही जाती है। काल के ऊपर विजय पाने और मोक्ष के लिये देह सिद्धि के निमित्त गुरुमुख द्वारा जानकर अखण्ड आत्म स्वरूप को अभिव्यक्ति के लिये उस मध्य कुण्डलिनी शक्ति का जगाना योगियों को जरूरी है। क्योंकि उस कुण्डलिनी के न जागने से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। अत एव "ऊर्ध्वशक्ति निपात" का उपदेश किया जाता है ॥२४॥

मू०-अथ ऊर्ध्व शक्ति निपातः कथ्यते सर्वेषां तत्त्वानामुपरिवर्तमानत्वान्निर्नामिपरमंपद मेवमूर्द्ध्वं प्रसिद्धनतस्याःस्व संवेदननानासाक्षात्कार सूचनशीलाया सोर्ध्वशक्तिरभिधीयते। तस्यानिपात नमिति स्वस्वरूपद्विधाभासनिरासः किन्तु स्वस्वरूपा

खण्डत्वेन भवति । ॥२५॥

सं० टी०—(अथ) शक्ति कथनादनन्तरम् । मूलश्लोक ऊर्ध्व शक्ति निपातः कथ्यते मूलश्लोकस्थतत्पदीय तात्पर्य्यं वर्ण्यते। तत्रोर्ध्वत्वं कथमिति संघटयति (सर्वेषाम्) प्रकृत्यादीनाम्- पदार्थानाम् (उपरिवर्तमानत्वात्) कारणतया कार्य्यतः प्रागपि विद्यमानत्वात् (निर्नाम) नामरहितं (परंपदम्) आदिनाथः (एवमूर्ध्व प्रसिद्धम्, ऊर्ध्वपदेन शास्त्रे लोके च व्यह्रियते (तस्य या स्व संवेदन नानासाक्षात्कार शीला) स्व प्रकाशासती निखिल विषयक प्रत्यक्षकारणस्वभावा (अयमाशयः) अन्यस्य स्वरूपस्य च साक्षात् कारिणी चिद्रूपा कूटस्थ चिद्ब्रह्माश्रिता सैवोर्ध्व शक्ति रभिधीयते) ऊर्ध्व शक्तिपदार्थं प्रदर्श्य तस्य निपातन पदार्थो व्याख्यायते । (स्वस्वरूपद्विधाभास निरासः) स्वस्यस्वरूपस्य द्विधाभासो भेद बुद्धिः (अहं त्वत्तोभिन्नो मत्तस्त्वं भिन्नो वेत्याकारिका । तस्य निरासः परित्यागः किन्तु (स्वस्व रूपा) स्वरूपमात्र साक्षिणी (अखण्डत्वेन भवति) एतावानिति परिच्छेद्बोधः खण्ड स्तद्रहितत्वेन रूपेणभवति । अयमाशयः स्वरूपभान भवति किन्तु । अहं त्व मयञ्चेति पुरुषत्रयस्यभानं नास्तीत्ये तादृश बोध सम्पादनमेव निर्नाम पदार्थः: ॥२५॥

भा० टी०—सब पदार्थों से ऊपर वर्तमान और नाम रूपादि सामान्य और विशेष धर्म से रहित अद्वैत रूप परंपद ही ऊर्ध्व संकेत से प्रसिद्ध है । उस पर ब्रह्म के अखण्ड स्वरूप का तथा स्व स्वरूप का नाना प्रकार से अद्भुत चैतन्य के साक्षात्कार कराने में जो शक्ति तत्पर होती है वह भी ऊर्ध्व शक्ति कहलाती है उस शक्ति के निपातन (ऊर्ध्वनिपात) का अभिप्राय यह है कि अज्ञान अवस्था से युक्तजीव अपनेको भिन्न मान रहाहै कि मैं भिन्न सुख दुःखादिका भोक्ता हूँ और कर्म फल के देने वाला सर्वेश्वर मेरे से अलग है । इस प्रकार द्वैतरूप से आत्म-भेदकी प्रतीति होना ही बन्धन का मुख्य कारण । है प्रबुद्ध और व्यापक कुण्डलिनी उस भेदरूप आभासमात्र को भी निराकरण कर अपने से अभिन्न जीवात्म और परमात्मा के व्यापक स्वरूप

का ज्ञान करती हुई आत्मा को भली प्रकार से स्व स्वरूप में अवस्थित कर देती है। अतः उस कुण्डलिनी की कृपा से अखण्ड अपने स्वरूप में व्यापक हो जाता है यही ऊर्ध्व शक्ति निपात का अर्थ है ॥२५॥

मू०--शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेराभ्यन्तरः शिवः। अन्तरंनैवजानीयाच्चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ॥२६॥

सं० टी०--शिवो व्यापक स्तदीयाशक्तिरपि व्यापिकैव तथाच शिवस्य मध्येशक्तिः शक्तेर्वामध्ये शिव इत्युभय व्यवहारः समुचित एव। किञ्चोभयोर्भेदाभावे ऽप्युभय व्यवहारो भवतीति स दृष्टान्त माहोत्तरार्द्धेन यथा पिण्डीभूतस्यचन्द्रस्य विरलावस्थ चन्द्रिकया सह वस्तुतो भेदाभावेऽपि विरलत्व पिण्डत्वोपाधि प्रयुक्तभेदमादायो भय व्यवहार स्तथैवात्रापि संकोच विकाशशालीत्व कूटस्थत्वोपाधिवशाद् वस्तुतो भेदाभावेऽपि भेदमादाय शिव शक्ति व्यवहारः। दृष्टान्तस्य परिच्छिन्नत्वेन वास्तविकमपि विरलत्वं पिण्डत्वञ्च दार्ष्टान्तिके तू भयो र्व्यापकत्वादुपाधी अप्यनिर्वचनीयाविति सूचयितु माह (अन्तरं नैव जानीयात्) नैव भेदं ज्ञातुं शक्नुयादिति प्रकाशत्वेन भेदाभावेऽपि भेदव्यवहारस्योभयत्र साम्यमादाय दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक भावोज्ञेयः ॥२६॥

भा० टी०--कूटस्थ, असङ्गशिव व्यापक रूप से सर्वत्र विद्यमान है। एवं उस असङ्गशिव की सम्पूर्ण विश्व को धारण करने वाली चिद्रूप शक्ति भी व्यापक है। शिव शक्ति में है या शक्ति शिव में है। इसका उत्तर यह है कि जब शिव और शक्ति दोनों ही चिद्रूप और व्यापक हैं तब यही भाव निकलता है कि पर शिव में शक्ति और शक्ति में शिव नित्य सम्बन्ध होकर रहते हैं। जैसे चन्द्रमा की चाँदनी चन्द्रमा से भिन्न नहीं। केवल प्रकाश के पिण्ड समुदाय का नाम चन्द्रमा है और विरल प्रकाश का नाम चाँदनी है। परन्तु पिण्डत्व और विरलत्व धर्म को छोड़कर प्रकाश में कोई अन्तर नहीं है।

इसी प्रकार चिद्रूप शिव और शक्ति में भी भेद नहीं है। केवल कूटस्थ असङ्ग चेतन का नाम शिव है और संकोच विकाश शालिनी चित् का नाम शक्ति है। अतः कूटस्थ पन और संकोच विकाशशाली धर्म को लेकर शिव और शक्ति का व्यावहारिक भेद भले ही रहे परन्तु परमार्थ विचार से शिव शक्ति में कोई भेद नहीं। क्योंकि दोनों चित् और व्यापक होने से नित्य सम्बद्ध हैं ॥२६॥

मू०—अतऊर्ध्वशक्तिनिपातेनयोगिभिःपरमंपदंप्राप्य न इति सिद्धम् ॥२७॥

सं० टी०—(अतः) उभयोरभेदादेव (ऊर्ध्वशक्तिनिपातेन) कुण्डलिन्याः प्रबोधोत्थानद्वारा सहस्रारस्थ परमात्मशक्त्या सहैक्ये सति (योगिभिः) योगाभ्यास शालिभिः। न तु शाब्दिक ज्ञानमात्रेणा त्मानं कृतकृत्यमन्वानै रलसधौरेयैः। परंपदं प्राप्यते मुक्तोभवति, (इति सिद्धम्)। नात्र सन्देहो-विधेय-इति ॥२७॥

भा० टी०—शिव और शक्ति का अभेद होने से ही ऊर्ध्व-शक्ति निपात द्वारा योगाभ्यास की मुद्राओं के अच्छी तरह साधन से कुण्डलिनी के उत्थान पूर्वक महा सिद्ध योगियों को परपद की प्राप्ति होती है॥२७॥

मू०—सत्त्वे सत्त्वे सकल रचना राजते संविदेका।
तत्त्वे तत्त्वे परममहिमा संविदेवावभाति ॥
भावे भावे बहुलतरला लम्पटा संविदेषा।
भासे भासे भजन चतुरा बृंहिता संविदेव ॥२८॥

सं० टी०—चिद्रूपस्य व्यापकत्वप्रदर्शनाय सर्वत्र सद्भावः प्रदर्श्यते श्लोकेनानेन (सत्त्वे सत्त्वे) सकल द्रव्येषु (सकल रचना) समस्तावयव संश्लेष कारिणी (एका संवित्) चिदेव (राजते) शोभते चित्सद्भावमन्तरा द्रव्यावयव संघातस्यासम्भवो भवेदतश्चेतन प्रयुक्तावयव समुदायात्मक द्रव्यस्थितिः। एवं (तत्त्वे तत्त्वे) प्रकृत्यादि निखिल पदार्थेषु

[परम महिमा] महत्त्व विशिष्टा सत्ता (संविदेव) चिदेव (अवभाति)- प्रकाशते चैतन्याधीनैवजड़सत्तेतिभावः (भावे भावे) सकल भावभूत भौतिक पदार्थेषु (बहुल तरला) अति चञ्चला भौतिकपरिणामादिक्रियां चित्मारोप्याधिष्ठानंविनारोपासम्भवात्क्रियापिचेतनाधीनैवेतिभावोऽ- तएव (लम्पटा) अन्यत्रस्थिता (एषा) स्वप्रकाशा (संवित्) भातीतिशेषः किञ्च (भासे भासे) सकल मानसिक व्यापारेषु (बृंहिता) मनोवृत्यनु रक्ता ऽतएव (भजन चतुरा) उपाधि भूतविषय सेवापरा (संविदेव) चिदेव। अतः सर्वाधारो, व्यापिकाचिदेवेतिफलितम् ॥२८॥

भा० टी०—जो शुद्ध चेतन योगियों को प्राप्त करने योग्य है और जिस आदिनाथ स्वरूप परब्रह्म को प्राप्त होकर इस संसार में जन्म मरण रूप दुःख का स्वप्न भी नहीं देखता वह ज्ञानरूप ब्रह्म सब जगह व्यापक है। इसी अभिप्राय को श्री योगाचार्य उपरोक्त पद्य से वर्णन करते हैं। समस्त पृथ्वी आदि भूत भौतिक द्रव्यों के अवयवों की रचना करने वाली आदिनाथ से मिली हुई शक्ति ही सर्वत्र विद्यमान है। क्योंकि चेतन के विना जड़ वस्तु की स्थिति सर्वथा असम्भव है। इससे सिद्ध हुआ कि चेतन ही सबका आधार है। तथा प्रकृति मायादि तत्वों में पर महिमा सहित शक्ति सर्वत्र प्रकाशमान हो रही है। एवं भावरूप स्थिर वस्तुओं में सूर्य प्रभा की तरह व्यापक और सकल कार्यों में अनुगत रूप से यह संवित् शक्ति ही भासमान है और सकल प्राणियों की बुद्धिवृत्ति में निश्चय रूप से बढ़ी हुई भी यह संवित् शक्ति ही है। इसी से वे प्राणी अपने अपने कार्य में तत्पर रहते हैं। या ज्ञान, ध्यानादि में स्थिति कराने वाली भी यही शक्ति है। अतः सर्वत्र व्यापक सर्वाधार महासिद्ध योगियों के ध्यान से ही गम्य चेतन ब्रह्म नाना आकार से प्रकाशमान हो रहा है ॥२८॥

मू०--किमुक्तम्भवतिपरापरविमर्शरूपिणीसंवि- न्नानाशक्तिरूपेणनिखिलपिण्डाधारत्वेनवर्तते

इति सिद्धान्तः॥२६॥

इति महेश्वरावतार श्री गोरक्षनाथ कृतौ सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ पिण्डाधारनामा चतुर्थोपदेशः

सं० टी०—अनेन श्लोकेन (किमुक्तं भवति) कः सारोऽस्येति प्रश्नः। उत्तरयति (परापरविमर्शरूपिणी) समष्टि व्यष्टि भूतानुभवरूपा (सवित) चित (नाना शक्तिरूपेण (निखिल पिण्डाधारत्वेन) सर्वेषामाश्रयत्वया (वर्तते) विद्यव इति सिद्धान्तो निर्विवादः॥२६॥

इति सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ सर्वतन्त्र कोविद श्री पं० द्रव्येश झा कृत गूढार्थ दीपिकायां चतुर्थोपदेशः

भा० टी०—इस उपदेश के आद्योपान्त विचार करने से यही भाव निकलता है कि व्यष्टि, समष्टि, भूत भौतिक, छोटी, बड़ी वस्तुओं का अनुभव रूप चेतन ब्रह्म ही निजा, परा, सूक्ष्मा आदि नाना शक्ति रूपों के द्वारा सकल पिण्डों का आधार है॥२६॥

श्रीगोरक्षनाथकृतौसिद्धसिद्धान्तपद्धतौ श्री१०८ योगीन्द्रवोहराधिपतिश्रीपूर्णनाथशिष्येण योगिश्रीपंडित भीष्मनाथेनवेदान्ताचार्य्येण विरचितायांसारदीपिकाख्य हिन्दीटीकायां पिण्डाधारनामा चतुर्थोपदेशोऽयरंसीत्।

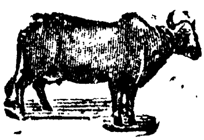

अथ पिण्डपदयोः समरस करणं कथ्यते

मू०--महासिद्ध योगिभिः पूर्वोक्तक्रमेणपर पिण्डादिस्वपिण्डान्तंज्ञात्वापरमपदेसमरसं कुर्यात् ॥१॥

स० टी०--पिण्डोऽव्यष्टि रूपः पदं समष्टि रूपंचतयोः समरस करणं समरसत्वमैक्यमितिभावः । अयमभिसन्धिः । यत्तु व्यापकं तत् समष्टि रूपं कथ्यते । यच्च व्याप्यं तत् व्यष्टि रूप मभिधीयते । अस्यां दशायां न समरसतोभयोर्भिन्नपदव्यवहार्य्यत्वात् । यदातु योगेन पिण्डमिमम् व्यापकरूपं व्याप्यरूपं च विधातुं प्रभुर्भवति तदासमरसत्वमायाति । उभयपद व्यवहार्यत्वेनैक्यात् । स्थूलवपुषोऽयं धर्मोयद् भौतिक स्थूल कुण्ड्यादिनाऽस्यगतिप्रतिबन्धः क्रियते । अतएव सर्वतः प्रतिरुद्धभवनमध्येस्थितमिदंशरीरंन शक्नोति बहिर्निःसारयितुम् । लिङ्गशरीरस्य च धर्मः केनापि स्थूलभौतिकेन न गतिः प्रति हन्यते । अतएव शिलान्तर्गच्छति न वह्न्यादिना दह्यत इत्यादि परन्तु योगाभ्यासाद् यस्य योगिनः कायसिद्धिर्जाता तस्य सर्वतः प्रतिरोधेऽपि स्थूलविग्रहेण सहैव बहिर्निः सरति सः । तेन सिद्धस्य स्थूलसूक्ष्मोभयशरीरस्य समरसोजातो न केवल स्थूलस्य न च केवल सूक्ष्मस्य धर्मोऽपितूभयो धर्मसमावेशादुभयमपि युगपदेव व्यवहर्तुं शक्यम् । तथैव ब्रह्माण्डेनसह पिण्डस्यापि समरसोभवतीति साम्प्रतम् (महासिद्धयोगिभिः) स्वयमनुभवशालिभिर्न तु केवल तर्क कर्कशमानसैस्तार्किकवरैः (पूर्वोक्त क्रमेण) गतोपदेश प्रदर्शित सरण्या (परपिण्डादि स्वपिण्डान्तं ज्ञात्वा) परपिण्डाङ्गानि सूर्य्यादीनि स्वपिण्डे चक्षुरादिषु स्थानेषु स्थितिं विदित्वोभयोरभेददार्ढ्येन (परमपदे) परमात्मनि (समरसं) ऐक्यं (कुर्य्यात्) कर्तव्यम् ॥१॥

भा० टी०--अब व्यष्टि समष्टि के अभेद रूप समरस करणता का निरूपण करते हैं। पूर्वोक्त उपदेशों में वर्णित पद्धति

के द्वारा ब्रह्माण्ड और अस्मदादि शरीर से लेकर परिमित अपने देह पर्यन्त के स्वरूप को भली प्रकार जानकर अखण्ड चेतन शिव शक्ति रूप परमपद में समरस अर्थात एकता करे। जैसे अपने इस देह में स्थित नेत्र हैं वैसी ही अधिदेव में विराट् समष्टि का सूर्य चक्षु है वहां सूर्य व्यष्टि शरीराभिमानी जीव के नेत्र का अधिष्ठाता देवता है। इसी से सूर्य की भी नेत्र में स्थिति है। अतः व्यष्टि गत नेत्र और सूर्य की एकता मानकर ध्यान करें। उसध्यान से नेत्रों में सूर्य जैसी सामर्थ्य आ जाती है। इस प्रकार प्रत्येक प्राण और इन्द्रिय आदिकों के समष्टि सूत्रात्मा तथा अधिदेवों की एकता करता हुआ अन्त में परमपद व्यापक असङ्ग शिव में अभेद करे। ऐसा करने से वह भी व्यापक और असङ्ग शिव हो जाता है ॥१॥

मू० परमपदमिति स्वसंवेद्यमत्यन्तभासा भासकमयम् ॥२॥

सं० टी०—परमपदस्य संक्षेपेण वास्तविक रूपमाह (स्वसंवेद्यम्) स्वानुभवेनैवबुद्ध्यते नत्वन्य सूर्यादि प्रकाशेन प्रकाश्यते। (अत्यन्त भासा) वितत स्वकीय प्रकाशेन (भासकमयम्) प्राचुर्य्येण भासकम्। प्राचुर्य्येमयडत्र। तेन सूच्यते भासकता स्वाभाविको धर्मः सदैवतिष्ठति किन्तूपाधि शरीरादिमध्यपातित्वेन भास्यताऽपिकदाचित्सम्भवतेऽहमस्मि त्यनुभवविषयत्वात्! इदमेवान्यत्रानुमतम् श्रु० मी न तावदयमेकान्तेना विषय इति। स्वयन्तुसर्वेषांप्रकाशकमितरेणाप्रकाश्यमिति फलितम् ॥२

भा० टी०—अब परम पद के अर्थ को स्वयं श्री गोरक्षनाथ जी कहते हैं। अपनी महिमा में प्रतिष्टित और केवल योग समाधि द्वारा आत्मा के अनुभव से ही जानने योग्य तथा स्वतः सिद्ध स्व चेतन प्रकाशसे जो नित्य प्रकाशित है उसी को परमपद कहते हैं। इसी से वह परमपद जड़ प्रकाश रूप सूर्य चन्द्र अग्नि और बिजली आदि का भी प्रकाशक कहा जाता है क्योंकि चेतन प्रकाश की ही सत्ता को लेकर जड़ प्रकाश भी देदीप्यमान हो रहा है। यही परम पद का अर्थ है ॥२॥

मार्गा दृश्यन्ते तेषु कः श्रेयान् इति जिज्ञासामुपशमयति सन्मार्गो योगमार्गः, चेतसो निखिल वृत्ति निरोधो मुख्योयोगः, तत्साधनमैका प्र्यमपि योगः, युज्यते निरुध्यते ऽनेन इति व्युत्परोः, तस्य मार्गाः उपाया यमनियमादय उपासना भक्ति श्रद्धादयः श्रौत स्मार्त कर्माणि च साक्षात्परम्परया वा यथाधिकारं ग्राह्याः । तदितरः, चित्तविक्षेप कारकः पाषण्डमार्गः, वञ्चक इति यावत् नत्रैव आदिनाथोक्त प्रमाणयति-तंत्रेषु तन्त्र श्रुति स्मृत्यादि शास्त्राणि तत्प्रति पाद्येषु (योगमार्गेषु) पूर्वोक्त योगसाधनेषु दीक्षितानां दीक्ष्यमानां कर्मोपासना दितत्पराणाम् ये दूषका निन्दकाःक्वचिद् दीक्षितांश्च दूषका इति पाठः, तस्यापि भावार्थ स्त्वयमेव किन्तु तस्मिन् पाठे दूषका इत्यत्र तुमुन्ण्वुलौ क्रियायामिति सूत्रे ण्वुलि रूपम्-तथा च भाविष्यत्. कालस्य भात्रेन अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोरित्यनेन"कर्तृ कर्मणोरित्यस्य निषेधे' तदिति साधु । तान् दीक्षितान् ये दूषका दूषयन्ति ते पाषण्डिनोभविष्यन्ति इति व्याख्यार्थः, तेहि निन्दकाः पाषण्डिनः सद्मार्ग भ्रष्टा व्यर्थजीवनयापिनः, वञ्चकाः प्रोक्ताः शिष्टैः स्वीकृताः । एवम् तै निन्दिकैः सहवासिनः सहचारिणोऽपि पाषण्डिन एव तस्मात् निन्दक पुरुषैः सह वार्त्तादिकं किमपि न विधेयमिति ॥५॥

भा० टी०—इस परमपद की प्राप्ति के उपदेश में अच्छी तरह से सन्मार्ग को जानने वाला हो गुरु होना चाहिये यहां सन्मार्ग से योग मार्ग का ही ग्रहण होता है। क्यों कि योग समाधि से ही वास्तविक आत्मा के अखण्ड व्यापक और स्वसंवेद्य स्वरूप का भान होता है। योग मार्ग से अन्य मार्गों में आत्मा के असली स्वरूप का साक्षात्कार नहीं होता। अतः आत्मा के अनुभव से वंचित करने वाले सब पाखण्ड मार्ग हैं। इसी को आदिनाथ शिव जी ने कहा है कि योग और उस के उपायभूत मार्ग नियम आदि श्रद्धा ईश्वर भक्ति तथा निष्काम कर्मादि के स्वरूप का बोध कराने वाले तन्त्रो में निपुण जो पुरुष हैं उन की निन्दा करने वाले अविवेकी जन और उन के सहवासी पाखण्डी कहलाते हैं ॥५॥

मू०—यस्मिन्दर्शिते सति तत्क्षणात् स्व संवेद्य साक्षात्कारः समुत्पद्यते ततो गुरुरेवात्र कारणमुच्यते ६

सं० टी०—परमार्थः गुरुः कीदृश इति नियमयति । येन गुरुणा यत्परमात्मतत्त्वं दर्शितम्-तज्ज्ञानकाल एव स्व संवेद्यात्म साक्षात्कारःपरमात्मपदत्वं समुत्पद्यतेसगुरुरयमाशयः योहि स्वयमनुभवी सिद्धस्तस्योपदेशे झटिति परमात्म बोधोभवति सिद्धिश्च त्वरित मुपनमते । ततः पूर्वोक्त हेतोर्गुरुरेवात्र परमात्म तत्त्व निरूपणे । कारणम् परम साधन मुच्यते ॥६॥

भा० टी०—जिस समय सिद्ध गुरु परमपद के उपाय भूत योग मार्ग को दिखलाता हुआ व्यापक आत्मा का बोध कराता है उसी क्षण में सिद्ध गुरु की कृपा से अपने अनुभव से जानने योग्य अखण्ड व्यापक आत्मा को साक्षात्कार और सकल सिद्धियों का प्रादुर्भाव होता है इसी से परमार्थ आत्मतत्त्व के उपदेश और साक्षात्कार कराने में सद्गुरुही परम कारण है तात्पर्य यह है कि तीन प्रकार की शिक्षा होती है औपदेशिक करुणावलोकन और शक्तिपात। प्रथम और द्वितीय शिक्षा हर एक विद्वान् दे सकता है, अन्तिम शिक्षा के देने में सिद्ध और ईश्वर के अतिरिक्त अन्य की शक्ति नहीं है ॥६॥

मू०—तस्माद्गुरुकटाक्षपातात्स्वसंवेद्यतयामहा-सिद्ध योगिभिः स्वकीयंपिण्डंनिरुत्थानानुभवेन सम-रसं क्रियत इतिसिद्धान्तः ॥७॥

सं० टी०—तस्माद् गुरु कटाक्षमात्रबलमाश्रित्य स्वसंवेद्यतयाच स्वानुभवादितर प्रमाणवलान पेक्षणेन महासिद्ध योगिभिः, मनो निग्रह तत्परैः (स्वकीयं पिण्डं) परिच्छिन्नं शरीरमिदं निरुत्थानुभवेन व्यापकपरपिण्डाभेदोपासनया समरसमैक्यम् क्रियते स्वयं व्यापको भवति" यथाकीटंभ्रमरयति भ्रमरी ॥७॥

भा० टी०—अतः गुरु की करुणा दृष्टि मात्र से जानने योग्य

स्वसंवेद्य परमपद है। इसी लिये महासिद्ध योगिजन परिमित अपने देह को परपिण्ड के साथ शुद्ध चैतन्य का निश्चल अभेदानुभव रीति से समरस करते हैं। यह सिद्धों का सिद्धान्त है ॥७॥

मू०--निरुत्थानप्राप्त्युपायः कथ्यते। महासिद्ध योगिनः स्वस्वरूपतयानुसंधानेननिजावेशोभवति निजावेशान्निःपीडितनिरुत्थानदशामहोदयः कश्चिज्जायते ततः सच्चिदानन्दचमत्कारादद्भुताकारप्रकाश प्रबोधोजायते, प्रबोधादखिलमेतद् द्वयाद्वयप्रकटतया चैतन्यभासाभासकंपरात्परपरमपदमेव प्रस्फुटंभवतीति सत्यम् ॥८॥

सं० टी०--यं लब्ध्वा पुनरुत्थानं न भवति येन स उपायः कथ्यते साम्प्रतम् महासिद्ध योगिनः, महासिद्धपदलिप्सोर्योगिनः साधकस्य स्वस्वरूपतया निज पिण्डभावनानुसन्धानेन ममपिण्डो यमहंचेति दृढभावनया निजावेशो भवति पर पिण्डे स्व स्वत्वं प्रविष्टं भवति यथा ऽस्मिन् पिण्डे स्व स्वत्वावेशेनोत्थान चालनादि सर्वाधिकारस्तथैव पर पिण्डेऽपि सर्वाधिकारः सम्पद्यते स चावेशो न क्षणिको ऽपितु स्थायी सर्वकालिकः, तदा तस्माद् निजावेशात स्वस्वत्वावेश बलेन निःपीडित निरुत्थान दशामहोदयः, अत्यन्तनिरुत्थानावस्था महाभाग्यम् कश्चिदनिर्वचनीयो गीयते हर्षसूचककरतलनिनादेन उच्चैरुद्घुष्यते (ततः) निरुत्थानदशातः सच्चिदानन्दचमत्कारात् परमाह्लादास्वादात् (अद्भुताकार प्रकाशः) सर्वातिशायिचित्रूपसहितः प्रबोधो मानसिकवृत्तिरूपः जायते, आविर्भवति तस्मात प्रबोधादखिलं यथा स्यात्तथेति क्रियाविशेषणम एतद्द्वयाद्वयस्य व्यवहारिकद्वैतपारमार्थिकाद्वैतरूपस्य समष्टि व्यष्टि रूप जगतः प्रकटतया स्वाभिन्नत्वेन प्रत्यक्षतया चैतन्यभासास्वप्रकाशेन सर्वेषामितिशेषो भासकं परादपि परमपदं सर्वोत्कृष्ट मिति यावत

तत्त्वं प्रस्फुटं हस्तामलकवत् प्रत्यक्षम् भवतीति सत्यम् मन्तव्यम् नात्र संशय लेशस्याप्यवसरः ॥८॥

भा० टी०—अब योग द्वारा प्राप्त करने योग्य निरुत्थान अर्थात् स्व परपिण्डादि अभेद रूप परमपद की प्राप्ति के उपाय को कहते हैं। उस अभेदरूप परमपद को चाहने वाले महा सिद्ध योगि जन परमगुरु से बताई हुई स्व पर पिण्डादि की अभेद पद्धति से चराचर सहित परमेश्वर को योगध्यान के द्वारा जब अपने स्वरूप से अभिन्न देखते हैं। तब उन का स्वपिण्ड परपिण्डादि अभेद के अनुभव से अत्यन्त अभेद ध्यान द्वारा सर्वेश्वर के शरीर में भी निजावेश होता है। अर्थात् निज देह के सदृश अभिमान होता है कि यह भी मेरा ही शरीर है। एवं व्यष्टि सूक्ष्म शरीर का समष्टि सूक्ष्म के साथ तथा जीव चैतन्य का परमेश्वर के साथ दृढ एकता की भावना से परमात्मा में भी स्वकीय अभिमान होता है। जैसे अपने व्यष्टि शरीर के संचालन में सामर्थ्य होती है उसी तरह समष्टि शरीर के संचालन आदि में भी सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। योगी को दृढ़ निश्चल भावना होजाने पर अखण्ड आत्मा के स्वसंवेद्य अनुभव के चमत्कार से अद्भुत प्रकाश स्वरूप आत्मा का बोध होता है। 'अहं ब्रह्मास्मि। शिवोऽहम्' इत्यादि प्रकार से सर्वत्र व्यापक आत्मा को ही देखता है। उसी निर्बाध अखण्ड पूर्ण आत्मा के बोध से समस्त द्वैताद्वैत रूप जड़ चेतन की हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष प्रतीति होती है। अतः वह आदित्यादि का भी प्रकाशक सर्वाधिष्ठान स्वरूप है। तथा समस्त जगत् कार्य की अपेक्षा पर जो अव्याकृत (माया) उससे भी परे है। वही व्यापक चेतन रूप परमपद प्रत्यक्ष रूप से स्फुट होजाता है। यह सत्य है ॥८॥

मू०—अत एव महा सिद्ध योगिभिःसम्यग्गुरु प्रसादंलब्ध्वावधानबलेनैक्यंभजमानैस्तत्क्षणात् परमं पदमेवानुभूयते ॥ ६ ॥

सं० टी०—अत एव वस्तुत ऐक्यादेव महासिद्धयोगिभिः अस्य अनुभूयते इत्यनेनान्वयः। ओदनं पचतीतिवत् भविष्यद् वृत्त्या साधनावस्थायामपि महा सिद्ध योगि पदेन व्यवहारो नान्याय्यः। सम्यग् गुरु प्रसादं लब्ध्वा गुरु प्रसाद एव योगसिद्धौ मुख्यं कारणमतः प्रथमं तत्संपादनीयम्। तत्पश्चात् विषयान्तरेभ्यो मनो निवर्त्य लक्ष्यं स्थापनरूपमवधानङ्कर्तव्यम्। तदाहावधानबलेनेति तेन, ऐक्यं भजमाने स्वभेदोपासनां कुर्वाणै योगिभिस्तत्क्षणादुपासनाकालमारभ्य सिद्धिपर्यन्तंपरंपदमेवपरमपिण्डाख्यान्यः कश्चिदित्यनुभूयते ज्ञायते ॥ ९ ॥

भा०टी०—अतः पूर्वोक्त रीति से योग साधन द्वारा भविष्य में महासिद्धि को प्राप्त होने वाले योगिजन अच्छी तरह गुरुदेव को प्रणाम और सेवादि से प्रसन्न करें। क्योंकि योग सिद्धि में गुरु की प्रसन्नता ही मुख्य कारण है। इसके उपरान्त गुरु मन्त्रादि पूर्वक योग-विधि को प्राप्त करते हुये योगिजन जब सावधानता पूर्वक ध्यान द्वारा स्वपिण्ड से लेकर परपिण्डादि पर्यन्त एकता की दृढ़ भावना करते हैं तब उसीक्षण अपने से अभिन्न ब्रह्म रूप परमपद का अनुभव होता है कि मैं हूँ सो शिव है ओर शिव है सो मैं हूँ तथा सर्वोपाधि विनिर्मुक्त केवल स्वयं ज्योति स्वरूप अखण्ड व्यापक हूँ ॥९॥

मू०—तदनुभवबलेनस्वकीयंसिद्धंसम्यक् निज पिण्डं ज्ञात्वा तमेव परमपद एकीकृत्यतस्मिन्प्रत्यावृत्या स्वदेहाभ्यन्तरेस्वपिण्डसिद्ध्यर्थे महत्त्वमनुभूयते ॥१०॥

सं० टी०—तेनानुभव बलेन समान वृत्ति प्रवाह बलेन स्वकीयं निज पिण्डं एतच्छरीरस्य सारभूतं तेजो पुञ्जम्, निज पिण्ड पदस्य साङ्केतिकोयमर्थः। स्वयमेवाग्रे व्याख्यास्यते सम्यक् सिद्धं व्यापकं जातमिति ज्ञात्वा परिच्छिन्न शरीरे ऽस्मिन्संकुचितमिदं तेजो पुञ्जम्। उपासना बलात्सर्वतो निःसृतं सद् व्यापकं भवतीति सारांश एतादृशीं सिद्धिं प्राप्याग्रे किं कर्तव्यमित्यत्र प्रकार द्वयं विकल्पतया प्रदर्श्यते तत्र

प्रथम: कल्प:। तमेव निज पिण्डं प्रसूतं स्वकीय तेजो पुञ्जं परमपदे परपिण्ड एकीकृत्य परपिण्डे मेलनेनाभिन्नतामापाद्य कल्पनान्तरमाह। प्रवृत्त्यारूढे वाभ्यन्तरे। परपिण्डे मेलयित्वा पुन: परावर्त्य स्वपिण्डस्याभ्यन्तरे उपसंहृत्य स्वपिण्डसिद्ध्यर्थं एतत्पिण्डस्याजरामरसिद्धौ महत्त्वं परपिण्डात्मकत्वमनुभूयतेस्वकीय पिण्डमवलम्ब्यपरपिण्डा भिन्न स्वरूप महत्त्वं ज्ञायते ॥१०॥

भा०टी०—पूर्वोक्त अभेदानुभव के बल से निज देह पिण्ड को अच्छी तरह सिद्ध हुआ जानकर उसी को परमपद रूप परपिण्ड में एक कर बार बार एकता की आवृति को दृढ़ करे। इसी प्रकार अपने शरीर को भी अवलम्बन बनाकर अपने पिण्ड में ही परपिण्ड की एकता करता हुआ बार बार एकता कीभावनाकरे। इससे वे महासिद्ध योगिजन अजर अमर रूप परममहत्व पद का अनुभव करते हैं। फिर अपने व्यष्टि पिण्ड में ही सार्वभौम ऐश्वर्य और परमानन्द का प्रादुर्भाव होता है ॥१०॥

मू०—निज पिण्डपरीक्षाचस्वस्वरूपकिरणानन्दोन्मेषमात्रं यस्योन्मेषस्य प्रत्याहरणमेव समरसकरणंभवति ॥११॥

सं० टी०— इदानीं निजपिण्डपदस्य स्वसांकेतिकार्थमाह (निज पिण्डमिति) स्वरूप किरणानां स्वात्मन: संकुचितावयवीभूतप्रकाशानां तदभिन्नानन्दाना मुन्मेष मात्रम् सर्वतो विकाश: यस्योन्मेषस्य प्रत्याहरणम् परावर्त्य स्वस्मिन् स्थापनमेव समरसकरणम् जीवात्मपरमात्मभेद भित्ति विलाप्यैक्य करणं भवति ॥११॥

भा० टी०—अब सिद्ध हुये स्वपिण्ड की परीक्षा को कहते हैं। परमनाथ से अभिन्न जीव का सूर्य की किरणों के सदृश प्रकाशमय आनन्द का विस्तृत विकाश होता है। उस आनन्द विकाश को फिर अपने देह पिण्ड में समेट लेना ही समरस करण कहलाता है। तात्पर्य यह है कि जो यह शरीर परिमित साकार लौकिक दृष्टि से प्रतीत हो रहा है। वह वास्तव में उस परमेश्वर की चिद्रूप शक्ति का परिमाण है। इसी से तेज पुंज यह शरीरपरमेश्वर की स्वयं प्रभारूप

है। जैसे सूर्य की किरण प्रभारूप हैं। किन्तु अविद्यादि कर्मपाश के वश से यह शरीर निकृष्टरूप से प्रतीत हो रहा है। जब पूर्वोक्त अभेद की दृढ़ भावना से समरस करण होने पर वास्तविक व्यापक रूप से सर्वत्र स्वशरीर का भान होने लगे तभी समरस करण सिद्ध हुआ जानना चाहिये। इस परीक्षा की कसौटी स्वानुभव ही है ॥११॥

मू०--अतएव स्वकीयं पिण्डं महद्रश्मिपुञ्जं स्वेनैवाकारेणप्रतीयमानंस्वानुसन्धानेनस्वस्मिन्नुररीकृत्य महासिद्धयोगिनःपिण्डसिद्ध्यर्थं तिष्ठन्तीतिप्रसिद्धम्१२

सं० टी०--अतएव किरणपुञ्जस्य प्रत्याहरणार्थत्वादेव स्वकीय पिण्डं महद्रश्मिपुञ्जम्, मदीय पिण्डो विशालतेजः स्वरूपोऽस्ति न तु जडरूपइति ध्यानवलेन यदा स्वेनैवाकारेण तेजोरूपाकारेण प्रतीयमानमनुभूयमानं यावत् स्वानुसन्धानेन स्वकीयानुभवानुकूलं रूपं स्वस्मिन्नुररीकृत्य हठमङ्गीकृत्य महासिद्धयोगिनः पिण्डसिद्ध्यर्थं कायसिद्ध्यर्थं तिष्ठन्ति ध्यानतत्परा निवसन्ति,इति प्रसिद्धं योगिजनेषु !१२

भा० टी०--इसी अभेदरूप समरस करण की रीति से अपने प्राकृतिक स्वभाव से प्रतीयमान पिण्ड को अपने में देदीप्यमान और सिद्ध हुआ जानकर बार बार अनुभव करते हुये अजरामरत्व पद को प्राप्ति करने के लिये महासिद्ध योगी बहुत समय तक स्थित रहते हैं। बाद में स्वयं ही कर्ता धर्ता हो स्वच्छन्द गति से विचरण करते हैं ॥१२॥

मू०--अथ पिण्डसिद्धौ वेषः कथ्यते-
शंख मुद्राधारणं च केशरोमप्रधारण,
ममरीपानममलं तथा मर्दनमुत्तमम् ॥१३॥
एकान्तवासो दीक्षा च संध्याजपसमायया,
ज्ञानं भैरव मूर्त्तेस्तु तत्पूजा च यथा विधि ॥१४॥
शंखध्मातं सिंहनादं कौपीनं पादुके तथा

अंगवस्त्रं बहिर्वस्त्रं कम्बलं छत्रमङ्कनम् ॥१५॥
वेत्रं कमण्डलुं चैव भस्मना च त्रिपुण्ड्रकं
कुर्यादेतान् प्रयत्नेन गुरुवन्दन पूर्वकम् ॥१६॥

सं० टी०—पिण्ड सिद्धिफलाय लिङ्गधारणमपि परम्परा सहकारि, तथाह्यसंगस्यात्मनः कर्मणा सह सम्बन्धं विना फल सम्बन्धः कदापि न सम्भवति कार्य्यकारणयोः सामानाधिकरण्य नियमात् । न जातु हरिद्वारे व्याप्रियमाणः कुलालः काश्यां घटमुत्पादयितु मिष्टे कर्मणा सह सम्बन्धश्च अध्यासात्मकाभिमानादृते नान्यः । अतोऽभिमानरहितत्वेन स्वयं कृतमपि कर्म न फलदानायालम्, अभिमानवशादेव ऋत्विक् पुत्रादि कृतमपि कर्म यजनानजनकादिभ्यः फलं प्रसूत इति । इन्द्रेणाप्यशक्य निवारणायुक्तिः, ईश्वरीयवैदिक धर्मानुयायिनो गेहे गेहे नर्नार्त वत्तल्लिङ्गधारणं हि बलात् तत्तद्धर्माभिमानं प्रवर्द्धयति । अतः काय सिद्धि फलकोपासनातत्परैरभिमानादिद्वारा शक्ति सञ्चालकानि लिङ्गान्यवश्यं धारणीयानीनि तानि प्रदर्श्यंते । तत्र प्रथमं शंखमुद्राधारणं शंखश्च मुद्राचेति द्वन्द्वः तत्र योग्यता बलात गले हस्ते वा शंखधारणं कर्णयो मुद्रा कुण्डल द्वय धारणम्, केशरोमधारणं समस्त शरीरे केश वपनं न कार्यम्,(अमरीपानम्) खेचरी मुद्रया सहस्रदल पद्मतः प्रक्षरित सुधारसस्यास्वादनं विधेयम्, अस्यक्रियागूढममविद्गुरु, मुखादेवावगंतव्या । योगिजनेषु या प्रसिद्धिः सैव कर्तव्या । अनुष्ठानरहस्य शास्त्र रहस्ययोः क्वचित् क्वचित पृथक् पथ पथिकत्वात । गुरुं विना स्वमनीषया कर्म नाचरेत अमरीपानस्य विशेषणम्, अमलम् । तस्यायमाशयः प्रथमेऽन्ते च यन्निःसरति तत् समलं भवति । अतस्तत्परिहेयम् माध्यमिकं च पेयमिति ध्वन्यते एवमेवानुष्ठानमार्गे प्रख्यातम् । तथोत्तम मर्दनं कुण्डलिन्याः सिद्धासनेन मर्दनम् । एकान्तवासः, यत्र चित्तविक्षेपकं वस्तु नास्ति तादृशारण्य पर्वत गुहा गंगादि तटेषु निवासः । दीक्षा च श्रद्धेय गुरुद्वारा मन्त्राद्युपदेशः । सन्ध्या सायं प्रातः स्नात्वा शुद्धासने उपविश्य ॐ आत्मतत्वाय स्वाहा, ओं विद्यातत्वाय स्वाहा, ओं शिवतत्वाय स्वाहा, इति मन्त्रेण त्रिराचम्य प्रणवेनभूमौ सप्तधा जलमुत्क्षिपेत्, ततः प्राणायामंविधाय वामहस्ते जलमादाय दक्षि-

णेनाच्छाद्य 'हं यं रं लं वँ' इति मन्त्रेणाभिमन्त्र्य सप्तवारं पुनः पुनः प्रणवेन शिरसि जलमुत्क्षिपेत्, पुनः पूर्वोक्त मन्त्रेण त्रिराचमनम्। प्रातः काले वक्ष्यमाणतर्पणमपि संध्याङ्गं न तु सायम्। गुरुं तर्पयामि, परमगुरुं तर्पयामि, परात्पर गुरुंतर्पयामिपरमेष्ठि गुरुं तर्पयामि,देवान् तर्पयामि, ऋषीन् तर्पयामि आरवण देवाँस्तर्पयामि भैरवं तर्पयामि, ॐ ह्रीं हंसःमार्तण्डभैरवाय, प्रकाश सहिताय, श्री सूर्यनारायणाय, स्वाहा तर्पयामि, सिद्धौघान् तर्पयामि, स्वेष्टदेवं तर्पयामि, इति संक्षेपसंध्या ततः यथाशक्ति जापः, स्वेष्टदेवताया गायत्री मन्त्रस्य जपः। यम नियमाः पूर्वोक्ताः, ततः स्ववासभवने भैरव मूर्त्तेस्तु ज्ञानं स्मरणं यथाविधि विधिमनतिक्रम्य तत्पूजा, भैरवपूजा शंखाध्मातं शंखध्वनिं सिंहनादं प्रसिद्ध मिदं वाद्यं वादयेत्। कौपीनं पादुकम्, काष्ठपादुकञ्च तथैवाङ्गवस्त्रं धौतवस्त्रादि बहिर्वस्त्रं प्रावरणादि कम्बलं तथातपादिवारकच्छत्रम्। विलक्षणवेत्रं वेणुदण्डं कमण्डलुञ्च धारयेत्, तथैव भस्मना भाले त्रिपुण्ड्रकं कुर्य्यात्, एतद् यत्नतो धारयेत्, सर्वत्र गुरुवन्दनं मुख्यं तन्न हेयम्, इति सावधानता प्रदर्शनायाचकथद् गुरुवन्दनपूर्वकमिति ॥१३॥ ॥१४॥ ॥१५॥ ॥१६॥

भा० टी०—अब उपरोक्त पिण्ड सिद्धि के लिये वेष धारण की रीति को कहते हैं। शङ्ख, कानों में कुण्डल या खेचरी आदि मुद्रा को तथा केश, रोमों को धारण करना अर्थात् जटाधारी या मुण्डित मुण्ड रहना। एवं आदि अन्त को छोड़कर युक्ति युक्त शिवाम्बु का सेवन तथा आसन, प्राणायाम आदि के परिश्रम से उत्पन्न पसीने को अच्छी तरह शरीर में ही मसलकर सुखाना। क्योंकि ऐसा करने से शरीर स्वच्छ और हल्का होता है। योगाभ्यास के उपर्युक्त एकान्त स्थान में जल के आश्रय में निवास करना, और गुरुमन्त्र धारण पूर्वक योग की दीक्षा लेना, एवं निष्कपटभाव से ॐ आदि मन्त्र का जप और योग सन्ध्या यम नियमादि का अच्छी तरह पालन करना। तथा भक्ति पूर्वक भगवान् भैरवदेव की मूर्ति का ध्यानादि करना। क्योंकि भैरवदेव सिद्धों के अधीश्वर हैं और योग के आरम्भ काल में रोट, लंगोट आदि पूजा से प्रसन्न किया हुआ भैरवदेव योग में विघ्न नहीं आने देता। अतः निर्विघ्न कार्य की समाप्ति

के लिये इन्द्रादिदेव भी सिद्ध भैरवदेव की पूजा करते हैं। तथा सायं प्रातः काल नियम से ऊँचेस्वर से शङ्ख बजाना कौपीन, खड़ाऊँ, शीत निवारण के लिये ओढने का वस्त्र कम्बल, छाता, वेत कमण्डलु, मस्तक में त्रिपुण्ड और रुद्राक्षादि का धारण करना। इन उपरोक्त चिन्हों को श्रद्धा पूर्वक श्री गुरुदेव को आदेश (प्रणाम) करताहुवा धारण करे ॥१३॥ १४-१५-१६॥

मू- तेषांपिण्डसिद्धौसत्यांसर्वसिद्धयःसंनिधानाभवन्ति
यस्मिञ्ज्ञाते जगत्सर्वं सिद्धं भवतिलीलया
सिद्धयः स्वयमायान्ति तस्माज्ज्ञेयं परं पदम् ।१८
परं पदं न वेषेण प्राप्यते परमार्थतः।
देह मूलं हि वेषः स्याल्लोकप्रत्ययहेतुकः ॥१६॥

सं० टी०— तेषामित्थमाचरतां पिण्डसिद्धिर्भवति तस्यां सत्यां सर्व सिद्धयः, अणिमादयः सन्निधाना भवन्ति सम्मुखमुपतिष्टन्ते। एतदेव पद्येनद्रढयति, यस्मिन्निति यस्मिन् परमात्म तत्त्वे ज्ञाते सति अभिन्नतामापन्ने सति सर्वं जगत् परमात्माधीनं वस्तु, सिद्धम्, स्वाधीन लीलयैव अनायासेनैव भवति किञ्च (सिद्धयः) अणिमादयः स्वयमायांति उपनमंते तस्मात् परमं पदं परमपिण्डमेवज्ञेयम् साधनीयम् साधनं विहाय केवल लिङ्गधारणेनैवात्मानं कृतकृत्यं मा मन्यतामित्यतः, साधनेन सलिङ्गं समुच्चिचीषया केवललिङ्गं निन्द्यते परंपदं परमार्थतो वस्तुतो वेषेण केवल लिङ्गेन न प्राप्यते हि यतः, देहमूलं देहो मूलं यस्येति देहगतं वेषं चिह्नं लोक प्रत्ययस्यायमेतद्धर्मसाधक इति ज्ञानस्य हेतुकं हेतुरेव हेतुकम्, कारणमिति यावत, अतः साधन सहित लिङ्ग धारणं कुर्य्यादित्येव मुख्यतात्पर्य्यम्॥ १८-१६

भा० टी०—उपरोक्त वेष को गुरु से विधि पूर्वक धारण कर योगानुष्ठान के द्वारा जब उन महात्माओं की पिण्ड सिद्धि होती है। तब अणिमादि सकल सिद्धियों का प्रादुर्भाव होता है। उस समय उन सिद्धियों में आसक्त न होकर केवल आत्म निष्ठा में ही तत्पर रहे। इसी

भाव को आगे के पद्य से श्री योगाचार्य जी कहते हैं। जो असङ्ग ज्योति स्वरूप आत्मा सर्वत्र व्यापक और अपने से अभिन्न है। उसी के यथार्थ स्वरूप को प्रत्यक्ष करना चाहिये। उस निज व्यापक आत्मा के जान लेने पर समस्त भूत भौतिक प्रपञ्च रूप जगत् अनायास जाना जाता है और सिद्धियां स्वयं ही प्राप्त हो जाती हैं तथा अपने में अनुराग कराने के लिये कोशिश करती हैं। इस लिये सिद्धों को चाहिये कि उनमें कदापि आसक्त न हों। केवल आत्म रूप परमपद को ही जानें। पूर्वोक्त वेष मात्र को धारण करने से ही अपने को कृतकृत्य नहीं समझना चाहिये यथार्थ में योग जन्य ज्ञान के विना मोक्ष रूप परमपद की प्राप्ति वेष के धारण मात्र से नहीं होती, किन्तु सांसारिक जनों को भी साधुपन का ज्ञान हो जाय इस लिये देह मूलक बाहर का चिन्ह(वेष) धारण किया जाता है ॥१८॥ ॥१९॥

मू०—लोके निकृष्ट मुत्कृष्टं परिगृह्य पृथक् कृतम् ।
तत्स्वधर्म इति प्रोक्तो योगमार्गेविशेषतः ॥२०॥
योगमार्गात्परो मार्गो नास्ति नास्ति श्रुतौ स्मृतौ ।
शास्त्रेष्वन्येषु सर्वेषु शिवेन कथितः पुरा ॥२२॥

सं० टी०—लोके यद्वस्तु निकृष्ट मैहिकफल जनकं सेवाद्युत्कृष्टमामुष्मिकफलदं दानादि तत् परिगृह्यादाय पुनः पृथक् कृतम्, त्यक्तम्, तत् स एव त्यागः स्वधर्म इति ख्यातः कर्तव्यतयाविहितः, यद्यप्ययं सार्वजनीनस्तथापि योगमार्गेऽयं प्रकारः विशेषत आद्रियते योगमार्गादन्यः (परः) श्रेष्ठो मार्गः पन्थाः श्रुतौ स्मृतौ वा अन्येषु शास्त्रेषु च नास्तीति पुरा शिवेन कथितः ॥२१॥ ॥२२॥

भा० टी०—लोक में प्रत्यक्ष फल देने वाला सेवादि कर्म निकृष्ट तथा स्वर्गादि फल जनक कर्म उत्कृष्ट कहलाता है। यद्यपि अविवेकी जन दोनों प्रकार के कर्मों को प्रथम कामना से करते हैं। तथापि पहले सकाम रूप से उस कर्म को ग्रहण कर जब ईश्वरार्पण बुद्धि विवेक द्वारा वह कर्म करने वाला उस कर्म के फल को छोड़ देता है। तब

परम्परा से चित शुद्धि द्वारा मोक्ष का उप योगी वह कर्म स्व धर्म कहलाता है। परन्तु वहां पर भी धर्म शब्द का व्यवहार गौण है। वास्तव में विशेष रूप से योग मात्र को ही धर्म कहना उचित है। क्यों कि योग के बिना स्थूल दुःखों का नाश और मोक्ष रूप परम-शान्ति नहीं मिलती। अतः योग मार्ग से बढ कर उत्तम आत्मा के कल्याण का मार्ग अन्य कोई नहीं है। यह श्रुति स्मृति और अन्य सब शास्त्रों में शिव जी ने कहा है। "बिना योगेन देवाऽपि न मोक्षं लभते प्रिये!" इत्यादि ॥ २२-२३-२४ ॥

मू०—योगः संहननोपायो ज्ञान संगति युक्तिषु ॥२२॥
लोके निकृष्टं सततं यं वा यं वा प्रकुर्वते।
तं वा तं वा वर्जयन्ति लोका ज्ञान बलेनतु॥२३॥
मनुष्याणां च सर्वेषां प्राक्संस्कारवशादिह॥
शास्त्र युक्ति समाचारः क्रमेण भवति स्फुटम् ॥२४॥

सं० टी०—लोके जनेषु योगः, योग शब्दः संहननोपायज्ञान संगति युक्तिषु संहननं संधातस्तस्योपायः सर्वतो वस्तु संयोजनं, ज्ञानं ज्ञान साधन प्रणिधानादिः, संगतिः, मेलनम्, युक्ति स्तर्क एष्वर्थेषु प्रयुज्यते किन्विति शेषः, लोकाः सततं यं यं निकृष्ट मनित्य फलदं योगं प्रकुर्वते। तं तं पूर्वोक्त सर्वं ज्ञानबलेन वर्जयन्ति, अतो ज्ञान साधनार्थं क एव योगो मुख्य उत्कृष्ट इति तात्पर्यम् नन्वेवं सर्वेषामुत्कृष्टे योगएव कथं न प्रवृत्ति रत आह सर्वेषां मनुष्याणां प्राक् संस्कार वशात् पूर्वजन्मार्जित वासना बलात्(इह)अस्मिन् जन्मनि। शास्त्र युक्तिःशास्त्रीयतर्कः समाचारो व्यवहारः स्फुटं तत्त्वतः प्रकाशमानं क्रमेण भवति। स्व स्व वासनावशात् व्यवहारस्य तत्त्वं प्रतीयते तत्र सद्वासनावतोऽल्पतया मुख्य योगे विरलस्य प्रवृत्तिरिति बोध्यम् ॥१६॥

भा० टी०—दो वस्तुओं को मिलाना उपाय ज्ञान सङ्गति युक्ति इन अर्थोंमें योग शब्द का प्रयोग होता है। लोकमेंनिरन्तर अनित्य फल देने वाली वस्तुओं में जो योग का अर्थ किया जाता है वह अर्थ गौण है।

और ज्ञान साधनार्थक तथा मोक्ष का उपयोगी यह योग शब्द का मुख्य अर्थ है। अत: ज्ञान सम्पन्न विद्वान् उस अनित्य फल दायक गौण अर्थ को छोड़ कर मुख्य अर्थ का ही ग्रहण करते हैं। इसी से उनकी मुख्य रूप से योग में निष्ठा होती है।

प्र०—यदि अद्वैत आत्म निष्ठा ही मुख्य है तब सबकी प्रवृत्ति उसी में क्यों नहीं होती ?

उत्तर—यह संसार भिन्न स्वभाव है। इस में अनेक प्रकार के मनुष्य हैं उन में से कुछ ही पूर्व जन्मोपार्जित पुण्य कर्म के प्रभाव से शास्त्र और युक्तियों में क्रमशः निपुण होते हैं। अत: विशिष्ट बिद्वान् ही योग के यथार्थ अर्थ को जानते हैं। इसी लिये योग में कोई भाग्यवान् ही पुरुष प्रवृत्त होता है ॥१६॥

मू०—एवं पिण्डे संसिद्धे ज्ञान प्राप्त्यर्थं तच्च परमं पदं महासिद्धानां मतं परिज्ञाय च तस्मिन्नहं भावे जीवात्मा च सहज संयम सोपायाद्वैत क्रमेणोपलक्ष्यते ॥२५॥

सं० टी०—एवं पूर्वरीत्या (पिण्डे) स्वशरीरे (संसिद्धे) प्रथमतो ज्ञाते सति पश्चात् महासिद्धानां मतमंगीकृतम् तत परमंपदम् चिच्छक्ति सहिताखण्ड सच्चिदानन्द रूपं शिव तत्वं परिज्ञाय "यस्मिन्" परम तत्त्वेऽहंभावे सति पूर्वं जीवतत्त्वं पश्चाच्च शिव तत्त्वं विज्ञायोभयोरभेदे सतीति रहस्यम्। जीवात्मा च सहजसंयम सोपायाद्वैत तच्चतुष्टय क्रमेणोपलक्ष्यते परमपदेनेति शेष: जीवोहि परस्यैकदेशत्वेन परमात्मन उपलक्षणं य एव सोपाधि ज्ञायते स एवोपाधिपरिच्छेदरहित: सञ्ज्ञायेत तदा व्यापक: सन् परमात्मा सम्पद्यतइति तत्र प्रकार चतुष्टयस्य प्रतिपद व्याख्यान मनुपदमेवाग्रेऽभिधास्यते स्वयमेव ॥२५॥

भा० टी०—पूर्वोक्त योग रीति से अच्छी तरह देह पिण्ड के सिद्ध होजाने पर अखण्ड ज्ञान प्राप्ति के लिये महासिद्धों का अभिप्रेत जो चिद्रूप शक्ति सहित अखण्ड परम शिव तत्त्व है वही परमपद कहाजाता है। उसको अपना आत्मा जान कर उसी असङ्ग शिवतत्त्व

में यह भाव करें कि मैं परम शिव हूँ। मेरे में और शिव में कुछ भी भेद नहीं। यही वास्तव में अभेद रूप समरस कहलाता है। अतः परमशिव से अभिन्न और व्यापक जो जीव का असली स्वरूप है वह सहज संयम सोपाय और अद्वैत क्रम से लक्षित होता है ॥१७॥

मू०—तत्र सहजमिति विश्वातीतं परमेश्वरं विश्वरूपेणावभासमानमितिज्ञात्वैकमेवास्तीति स्वस्वभावेन यज्ज्ञानं तत्सहजं प्रसिद्धम् ॥२६॥

सं० टी०—परमेश्वरम् विश्वातीतम् निर्गुणतया विश्वं संसारमतीतमतिक्रान्तमपि विश्वरूपेण मायासहितत्वात् संसार रूपेणावभासमानं संसारं प्रत्युपादानतया तदात्मकत्वादितीत्थं ज्ञात्वा तादृशं परमेश्वरमिति पूर्वोक्ताहम्भावनया ज्ञात्वैकमेव तत्त्वमस्तीति हेतोःस्वस्वभावेन स्वस्वरूपेणाभिन्नं निखिल वस्त्विति यज् ज्ञानं तत् सहजमिति कथ्यते ॥१८॥

भा० टी०—अब पूर्वोक्त सहज संयमादियों में से सहज ज्ञान का निरूपण करते हैं। यद्यपि सर्वाधार अखण्ड व्यापक स्वयं ज्योति परमेश्वर वास्तव में सकल विश्व से अतीत है तथापि अपनी शक्ति द्वारा नाना जीवादि संसार रूप से भी मूर्ख जनों को वही प्रतीत होरहा है। परन्तु तत्त्वदृष्टि से वह एक ही है। वही मेरा यथार्थ स्वरूप है। अतः मैं असङ्ग और व्यापक हूँ। इस प्रकार जो स्वाभाविक यथार्थ ज्ञान होता है वही सहज ज्ञान कहलाता है ॥१८॥

मू०—संयमइतिसावधानानांप्रस्फुरद्व्यापाराणां निजवर्तिनांसंयमंकृत्वाऽऽत्मनिधीयत इतिसंयमः ॥२७॥

सं० टी०—इदानीं संयमपदार्थो विव्रियते निजवर्त्तिनाम् स्वस्मिन् विद्यमानानां सावधानानां स्वकार्योत्पादन पटूनां न तु दुर्बलानां प्रस्फुरद् व्यापाराणां प्रस्फुरन्ते ये व्यापारा इति कर्मधारयस्तेषां संयमनं निवृत्तिं कृत्वा विधाय, आत्मनि, अखण्ड परमात्मनि धीयते स्थाप्यते येन स एव संयमः ॥१९॥

भा° टी०—अब संयम शब्द का अर्थ बताया जाता है। इन्द्रियां अपने अपने विषयों के ग्रहण करने में तत्पर रहती हैं। क्योंकि इन्द्रियों का विषयों में प्रवृत्त होना स्वाभाविक धर्म है। अतः निरन्तर व्यापार वाली वे इन्द्रियां निज देह में वर्तमान हैं। मन के सहित उन इन्द्रियों को विषयों से रोक कर आत्मा में लगाने को संयम कहते हैं ॥१६॥

मू०—सोपायमिति स्वयमेव प्रकाशमयं स्वेनैव स्वात्मन्येकीकृत्य सदा तत्त्वेन स्थातव्यम् ॥२८॥

सं० टी०—अधुना सोपायमधीयते स्वप्रकाशमयमन्यानपेक्षं प्रकाशरूपं स्वयं केवलचेतनं स्वेनैव चैतन्य रूपेणैव स्वात्मनि स्वस्वरूपेचैवन एकीकृत्याभिन्नं विधाय सदा तत्त्वेना विचलित भावतया स्थातव्यम् स्थितिर्विधेया येन तत्सोपायम्।

भा० टी०—अब सोपाय ज्ञान का वर्णन करते हैं। केवल अपने स्वप्रकाश आत्मा को सर्वत्र व्यापक रूप से एक जानकर सदा उसी में आत्म निष्ठ होकर स्थित रहना ही उचित है। यह स्थिति जिस ज्ञान से होती है वह 'सोपाय ज्ञान निष्ठा' कहलाता है। उसी ज्ञान से अखण्ड आत्मा का भान होता है ॥२०॥

मू०—अद्वैतमित्यकर्तृतयैव योगीनित्यतृप्तो निर्विकल्पः सदा निरुत्थानत्वेन तिष्ठति ॥२६॥

सं० टी०—कल्पना रहितो योगी सदा निरुत्थानत्वेन कदाचिदपि स्वस्वरूपप्रच्युतिरहितः सन् तिष्ठति स एवाद्वैत पदार्थः ॥२१॥

भा° टी०—अब अद्वैत का वर्णन किया जाता है। आत्मा कर्तृत्व भोक्तृत्वादि धर्म शून्य असङ्ग व्यापक और एक है। उस असङ्ग व्यापक अद्वैत आत्म निष्ठा को प्राप्त होकर निज आत्मा में ही नित्य तृप्त हुआ योगी कदापि उस स्थिति से विचलित नहीं होता। यही अद्वैत रूप परम पद कहलाता है ॥२१॥

मू०—सहजंस्वात्मसंवित्तिःसंयमःस्वस्वनिग्रह।
सोपायं स्वस्वविश्रान्ति रद्वैतं परमंपदम् ॥३०॥

सं० टी०—उक्तमेव सहजादिपद व्याख्यानं सारांशानुसन्धाना यान्ते संक्षेपेणाह। सहजमित्यादि स्वस्वरूपस्य वास्तविक विज्ञानं सहजं निखिल शरीरेन्द्रियादि व्यापाराणा मात्मनि स्थापनं संयमः। स्वस्वरूपे स्थितिः सोपायः, साक्षात् परमपद मद्वैतम् ॥२२॥

भा० टी०—जीवात्मा और परमात्मा के अभेद ज्ञान को सहज ज्ञान कहते हैं। विषयों में तत्पर इन्द्रियों के प्रवाह को रोककर आत्मा में लगाने को संयम कहते हैं। योगादि उपाय पूर्वक ब्रह्मज्ञान से होने वाली आत्म निष्ठा को सोपाय कहते हैं। और अन्त में अद्वैत ही परमनिर्भय पद है ॥२२॥

मू०--तज्ज्ञेयं सद्गुरोवक्त्रान्नान्यथा शास्त्र कोटिभिः।
तर्क शब्द विज्ञानान्नाचाराद्वेदपारगात् ॥३१॥
वेदान्त श्रवणान्नैवतत्त्वमस्यादि बोधनात्,
नहंसोच्चारणाज्जीव ब्रह्मणोरैक्य भावनात् ॥३२॥
न ध्यानान्नजपाल्लीनः सर्वज्ञः सिद्धिपारगः।
स्वेच्छो योगी स्वयं कर्त्ता लीलया चाजरामरः ॥३३॥
अवध्योदेवदैत्यानां क्रीडति भैरवो यथा।
इत्येवं निश्चलो योऽसौ क्रमेणाप्नोति लीलया ॥३४॥
असाध्याः सिद्धयः सर्वाः सद्गुरोःकरुणांविना
अतस्तुगुरुः संसेव्यः सत्यमीश्वरभाषितम् ॥ ३५॥

सं० टी०—ननु पूर्वोक्तरीत्या स्वयमनुष्टानेनापि सिद्धिर्भविष्यत्येव किमर्थं गुरुपादसेवनमिति सनातन सम्प्रदायतो विचलित मतीनां शंकां दूषयति तज्ज्ञेयमित्यादि। योहि स्वयं योगानुष्ठानतत्परः स एव सद्गुरुः, तस्यैव वाक्यात् तत्पूर्वोक्ततत्त्वं विज्ञेयंबोद्धव्यम् न चान्यथानान्यत्प्रकारेण

शास्त्रकोटिभिः । योगोपायविज्ञानं तर्कशास्त्रविज्ञानादपि न भवति नचारात् केवल वेद पाठात् ॥२६॥ गुरुरहितेन वेदान्त श्रवणेनैव तत्त्वमस्यादि वाक्यज्ञानातहंसोच्चारणात् जीव ब्रह्मणोरैक्यभावनात् गुरूपदिष्ट योग प्रक्रियारहितात् स्वयमाहितभावनात् ॥३०॥ ध्यानात् स्वकल्पितोपायकध्यानात् जपात् केवल बाह्य जपात् न सिद्धिर्भवतीति सर्वत्र सम्बन्धस्तथा च कीदृशोगुरुः कर्तव्य इत्यत आह लीनः, संसारतोविरक्तोब्रह्मणि लीनः सर्वज्ञःकृतस्थूल सूक्ष्मोभय प्रत्यक्षः(सिद्धिपारगः)अष्टसिद्धिसम्पन्नः स्वच्छो रागद्वेषविधुरः योगीस्वयंकर्ता संसाररचनाकौशलसम्पन्नो भवति सोपिलीलया नत्वायासबाहुल्यम् किञ्चाजरोवार्द्धक्य रहितो ऽमरोमरणविहीनः सन् ॥३१॥ दैवदैत्यानामप्यवध्यो भवति न कोऽपितस्य हनने समर्थो यथा भैरवः क्रीडति सकलैरवध्यः सन् इतरान् पराजित्य विहरति लोके तथैव सोपि साधकोभवति तत इत्येवम् । गुरुपूर्वक पूर्वोक्तसाधनेऽनुरक्तः सन् निश्चलः सन्देह रहितोयः साधको ऽपि क्रमेण क्रमशःलीलयागुरुबलेनाभ्यासं विनैव सिद्धिमवाप्नोति गुरुरहितैस्तु सिद्धयो ऽसाध्या भवन्ति वर्षशतैरपि न सिद्धयन्तीति गुरुदेव पादसेवनं ध्रुवं विधेलिममिति हृद्यम् अस्यैव सत्संप्रदायतां सूचयितुमाह सत्यमीश्वर भाषितम् पूर्वोक्त तत्त्वमेवेश्वरेण भाषितमत स्तदेव सत्यमितरत् सर्वं मनुष्योत्प्रेक्षिततयाऽतथ्यमिति फलति ॥३३॥

भा० टी०—पूर्वोक्त योगादि तत्व को सद्गुरु के मुखारविन्द में सुन कर ही अनुष्ठान करे अन्यथा नहीं क्यों कि गुरु के बिना अनेक शास्त्रों के मन माने अर्थ से आत्मा को नहीं जान सकता । न शुष्कतर्कों से न केवल आचार से न वेद पाठ से न तत्त्वमस्यादि महावाक्य के जानने से न हंस मन्त्र के उच्चारण से न जीव ब्रह्म की अभेद भावना से न ध्यान से और न जप से ही आत्मा को किन्तु विधि पूर्वक गुरु के द्वारा ही आत्मा को सांगो पांग योग विधि को तथा और भी उपरोक्त सारभूत तत्वों को जान सकता है। इस प्रकार दृढ़ निश्चय वाला योगी जब सिद्ध गुरु से यथावत् जानकर योगानुष्ठान में तत्पर होता है तब अनायास ही क्रम से अजरामर रूप परमपद को प्राप्त होता है। फिर वह निज आत्मा में मग्न सकल

सिद्धियों का पारंगम सर्वत्र स्वच्छन्द गति और जरामरणादि विकार रहित सब का कर्ता धर्ता होता हुआ देवदैत्यों से भी अवध्य हो जाता है। तथा भगवान् भैरव देवके सदृश सर्वत्र स्वतन्त्रगति से विचरता है। अवधूत सिद्ध गुरु के उपदेश बिना योग कदापि सिद्ध नहीं हो सकता। अतः गुरु का आश्रय परम आवश्यक है यह शिव जी का वचन सत्य है ॥२३॥

प्रथमेत्वरोगतासिद्धिः सर्वलोक प्रियो भवेत् ।
कांक्षन्ति दर्शनं तस्य स्वात्मारूढस्य नित्यशः॥३६
कृतार्थः स्याद्द्वितीये च कुरुते सर्वभाषणम् ।
तृतीये दिव्य देहस्तु स्याले व्याघ्रैर्न बाध्यते ॥३७॥
चतुर्थे क्षुत्तृषा निद्रा शीतातप विवर्जितः ।
जायते दिव्य योगीशो दूरश्रावी न संशयः ॥३८॥
वाक् सिद्धिः पञ्चमे वर्षे परकाय प्रवेशनम् ।
षष्ठे न छिद्यते शस्त्रैर्वज्रपातै र्न भिद्यते ॥३६॥
वायु वेगी क्षिति त्यागी दूरदर्शी च सप्तमे ।
अणिमादि गुणोपेत स्त्वष्टमेवत्सरे भवेत् ॥४०॥
नवमेवज्रकायः स्यात् खेचरो दिक् चरो भवेत् ।
दशमे पवना द्वेगी यत्रेच्छा तत्र धावति ॥४१॥
सम्यगेकादशे वर्षे सर्वज्ञः सिद्धि भाग् भवेत् ।
द्वादशे शिवतुल्योऽसौकर्त्ता हर्त्ता स्वयं भवेत्॥४२॥
त्रैलोक्ये पूज्यते सिद्धः सत्यं श्री भैरवो यथा ४३

सं० टी०—क्रमेणाप्नोतीत्युक्तं तत्र कः क्रम इति जिज्ञासोपशमनाय सिद्धीनां क्रमः प्रदर्श्यते पूर्वोक्तरीत्या कृतसंयमस्य साधकस्य नित्यशः आत्मरूढस्य सतत मात्मारूढस्य पूर्वप्रतिपादितरीत्या

पिण्डाण्डयोः समरसकरणे परिनिष्ठितस्य प्रथमे वर्षे इति शेषः प्रथम वर्षो ऽप्यरोगतायाः सिद्धिः, रोगरहितो भवति किञ्च सर्वलोकप्रियो भवेत् न कोऽपि तं प्रति द्वेषभावमाधत्ते प्रत्युत यथा स्वात्मनि प्रीतिं विदधति तथैव तस्मिन्नपि सर्वे प्रीतिमावहन्ति, अतस्तस्य दर्शनं सर्वोपि कांक्षति, इदमत्र रहस्यम् सर्वत्रात्मभावनोपासना बलात् सर्वेषां बुद्धावेवं प्रत्यग्यात्मभावः स्वयमेवोदेति, अतः समुचितमेव तं प्रति प्रीतिदर्शनम् इति विदन्ति कोविदाः ३६। द्वितीय वर्षद्वय पर्यन्तं साधने सम्पन्ने सति कृतार्थः परिपूर्णमनोरथः सन् संकल्परहितो भूत्वेति यावत् सर्वभाषया व्यवहार मित्याहारः कुरुते सर्वभाषाविज्ञोभवतीत्यर्थः तृतीयवर्षे परिपूर्णे सति दिव्य देहः सिद्धशरीरो भूत्वा व्यालैः सर्पव्याघ्रैरुपलक्षणमेतत् सकल हिंस्त्रैर्नबाध्यते न हिंस्यते इति। ३७ चतुर्थवत्सरे पूर्णे क्षुधा पिपासा निद्राशीतोष्ण द्वन्द्वबाधारहितो भूत्वा दिव्य योगीशो विशिष्टयोगीन्द्रः सन् दूरश्रावी दूरतएव श्रवणशीलोजायतेऽत्र नास्ति संशयः। ३८ पञ्चमे वर्षे व्यतीते वाक् सिद्धिर्भवति यद्यद् वदति तत्तत् सफलं भवत्येव न जातु वैकल्यं प्रयाति किञ्च परकाय प्रवेशनमपि जायते। विद्यमान शरीरं विहाय मृतकशरीरान्तरे प्रविश्य तेनैव व्यवहारं प्रकरोति यथा परमाचार्य्यः श्री मत्स्येन्द्रनाथो राज शरीरे प्रविष्ट इति गाथा प्रसिद्धा। षष्ठे वर्षे तु शस्त्रैर्न छिद्यते तस्य शरीरम् इति शेषः किञ्च वज्रपातैरपि न बाध्यते ॥३९॥ सप्तमे वर्षे पृथ्वीं विहाय विहायसा वायुवद्वेगशील: सन्द्रुतं गच्छति किञ्च दिव्य चक्षुष्मत्वाद् दूरस्थ वस्तूनामपि द्रष्टा भवति। अष्टमेवत्सरेत्वणिमाद्यैश्वर्य सम्पन्नो जायते ॥४०॥ नवमे वर्षे वज्रवदभेद्यदेहोभवति किञ्च आकाश गामी सर्व दिक् सञ्चरणशीलो जायते। दशमेवायुवद् यत्र गमनेच्छा तत्रैव देशेगच्छत्येकादशेसर्वज्ञः ॥३९॥ द्वादश वर्षे निर्विघ्न समाप्ते ऽसौ योगी शिव तुल्यः सृष्टेः कर्ता हर्ता च स्वयं भवेत्। यद्यप्यनादीश्वर संकल्पवशात् शान्तः सन्निमां सृष्टिं न संहरति न चान्यां प्रकुरुते किन्तु यदीच्छेत् तदा तदपि कर्तुं पारयेदिति योग्यता प्रदर्शनेन शक्तिसद्भावः साध्यते ॥४०॥ स सिद्धः त्रैलोक्ये पूज्यत आद्रियते यथा श्री भैरव एतत् सत्यं मन्तव्यम् ॥४१॥ ॥२४॥

भा० टी० जो गुरुभक्त शिष्य गुरुमन्त्रादि योगदीक्षा से दिक्षित होकर जब योगाभ्यास आरम्भ करता है। तब क्रम से जो योग सामर्थ्य होती है उसी का पूज्य आचार्य नीचे वर्णन करते हैं। योगारम्भ के प्रथम वर्ष में योगाभ्यासी का शरीर रोग रहित और निर्मल हो जाता है। तथा वह सर्वलोक प्रिय होजाता है। क्योंकि वह नित्य अपने आत्मरूप में तत्पर रहता है। अतः उस आत्मरूढ़ सिद्ध के देवता भी दर्शन करना चाहते हैं। दूसरे वर्ष में वह योगाभ्यासी आत्मानन्द में मग्न हुआ मनुष्य जन्म के सफल होने से कृतकृत्य होजाता है और देव पशु, पक्षी आदि से भी बातचीत करने की शक्ति आजाती है। तीसरे वर्ष में उसका शरीर देव तुल्य होजाता है और सर्प व्याघ्र आदि से अवध्य होता है। चौथे वर्ष में वह योगीश्वर भूख, प्यास, नींद, सर्दी और गर्मी आदि से रहित हो दूर के शब्द को भी सुनने लगता है। इसमें सन्देह नहीं। पञ्चम वर्ष में वचन की सिद्धि होती है अर्थात् जो मुख से कह देता है वह सत्य होता है और दूसरे शरीर में प्रवेश होने की शक्ति हो जाती है। छटे वर्ष में तलवार आदि तीक्ष्ण शस्त्रों से भी उसका शरीर नहीं कट सकता और उस समय उसके शरीर पर बिजली या इन्द्र का वज्र भी असर नहीं कर सकता। सप्तम वर्ष में वह योगी पृथ्वी को छोड़कर वायु के सदृश वेगवान होकर ऊपर चलने लगता है और दिव्य दृष्टि से दूर तक की वस्तुओं को भी देखने लगता है। आठवें वर्ष में अणिमादि सकल सिद्धियों से सम्पन्न होजाता है। नवमें वर्ष में वज्र शरीर होजाता है और ऊर्ध्व गति होने से आकाशगामी तथा सब दिशाओं में घूमने का सामर्थ्य आजाती है। दशवें वर्ष में पवन से भी अधिक वेग युक्त होकर आकाश मार्ग से जहाँ इच्छा होती है वहीं शीघ्रगति से चलाजाता है। ग्यारहवें वर्ष में अभ्यास के बढ़जाने से सर्वज्ञ सकल सिद्धियों से युक्त तथा सत्य कर्ता हो जाता है। बारहवें वर्ष में तो शिवजी की तरह स्वयं ही सकल विश्व का कर्त्ता हर्त्ता हो जाता है और भैरव भगवान् की तरह तीनों लोकों में पूजित होता है। यह सत्य है। ३६-३७-३८-३९-४०-४१-४२

मू०- एवं द्वादशवर्षैस्तु सिद्ध योगी महाबलः ।
जायते सद्गुरोः पादप्रभावान्नात्र संशयः ॥४४॥

सं० टी०-एवं पूर्वं क्रमानुष्ठानेन सद्गुरोः पादप्रसादात् सद्गुरु पाद सेवनबलाद् द्वादशवर्षैः महाबलः शिवतुल्यः सिद्धयोगी जायतेऽत्र नास्ति संशयः ॥४४॥

भा० टी०-इस प्रकार सिद्ध अवधूत गुरुदेव के चरणों की कृपा से बारह वर्ष में महा योग बलशाली होजाता है ॥४४॥

मू०-अनुबुभूषतियोनिजविश्रमं,सगुरुपादसरोरुहमाश्रयेत् ।
तदनुसंसरणात्परमंपदं,समरसीकरणंनचदूरतः ॥४५॥

सं० टी०-योमुमुक्षुर्निज विश्रमं स्वकं मोक्ष मनुबुभूषति, अनुभवितु मिच्छति स गुरु पादसरोरुहमाश्रयेदाचार्य चरणेन्दीवरं सेवेत गुरुरेवमूलमत्रे तिव्यज्यते भूयोऽपि तदेवाह तदनुसंसरणादिति गुरुपत्पङ्कजानुगमनात्, नदूरतरत्वरित मेवपरममुत्कृष्टं चरमाव धीति यावत पदंस्थानं समरसीकरणमण्ड पिण्डयोरैक्यं भवतीतिशेषः चकारोनुक्त समुच्चयार्थः ॥४५॥

भा० टी०-अतः जो मुमुक्षु परमशान्ति चाहता है। वह योग तत्त्व के जानने वाले गुरु के चरण कमलों का आश्रय करे। क्योंकि योग विशारद गुरु की बतलाई विधि से जब योगानुष्ठान में तत्पर होगा तभी समरस की प्रणाली से पिण्डसिद्धि और मोक्ष रूप परम पद की प्राप्ति सुलभ होगी ॥४५॥

मू०-गुरुकुलसन्तानंपञ्चधाप्रोक्तम् । आईसन्तानं बिलेश्वरसन्तानंविभूतिसन्तानंनाथसन्तानंयोगीश्वरसन्तानञ्चेत्येषामपिसन्तानानांपृथक्पृथक्वैशिष्ट्यंवर्तते४६

सं० टी०-गुरुकुल सन्तानं योगप्रचाराय आचार्यवंशः वंशोद्विधा विद्यया जन्मनाचेति, अत्र विद्ययैवं वंशःकथितः योगविद्यायाः प्रदाता गुरुः पितृस्थानीयः,ग्रहीता शिष्यःपुत्रस्थानीयोबोध्यः सचवंशः पञ्चधा

पञ्च प्रकारकः प्रोक्तः पारंपर्यात प्रसिद्धः तत्राभ्यर्हितत्वात् प्रथमतः प्र-दर्श्यते आईसन्तानमिति अस्मिन्नेव महासिद्धपुरुषः श्रीमत्तनाथः श्री गोरक्षनाथावताररूपः संजात एतच्चरित्र वैचित्र्य जिज्ञासुभिर्मत्कृतटीका संवलित पंच विंशति सर्गात्मक श्रीमत्तनाथ चरित्र नामकग्रन्थो द्रष्टव्यः तत्पादसञ्चारपरिपूतवर्षाशिष्यसंस्थापितोबोहरस्थानस्थसिंहासनमधिरूढः श्रीपूर्णनाथोयोगीन्द्रःसाम्प्रतंराजते विल्वेश्वरसंतानंद्वितीयंविभूतिसन्तान तृतीयंनाथसन्तानञ्चचतुर्थं योगीश्वरसन्तानंपञ्चमं सर्वेषांस्वरूपतोभेद प्रदर्शनाय सर्वत्र चकारः प्रयुक्तो यथाधवश्च खदिरश्चेति द्वन्द्व वि-ग्रहे न च समासः कुतो न कृतस्तस्य वैकल्पिकत्वात्। ननु द्वादशपथाः सन्ति कथं पञ्चधैवेत्यतआह एतेषामपि सन्तानानां पृथक् पृथक् वैशि-ष्ट्यं वर्त्तते यतकिंचितवैशिष्ट्यमादायैव द्वादशधा, वस्तुत. सर्वेषामत्रा-न्तर्भावेऽपि न क्वापि मन्त्रसिद्धान्तयोः क्षतिः॥४६॥

भा० टी०—अब योग विद्या के प्रचारक सिद्धगुरुओं की वंश परम्परा का वर्णन करते हैं। वह वंश दो प्रकार का होता है। जन्म से विद्या से, जन्म वंश का सम्बन्ध गृहस्थाश्रम में होता है। अवधूत योग सम्प्रदाय में तो केवल विद्याकृत वंशकासम्बन्धजानना। इसीलिये योग सम्प्रदाय में दीक्षित योगी नाद के कहलाते हैं। विन्दु के नहीं। क्योंकि जब मुमुक्षु सिद्धसम्प्रदाय में प्रविष्ट होकर गुरमन्त्रादिदीक्षा से दीक्षित होता है तभी से वह नाद का योगी कहा जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि जो नाद शक्ति सम्पन्न परब्रह्म परापश्यन्ती आदि क्रम से समस्त ऋग्वेदादि सृष्टि और भूतादि अर्थ सृष्टि का कारण है वही परमनाथ तत्त्वतू है। अतः योग समाधि में अपनी नाद शक्ति को अभिव्यक्त कर अपने अखण्ड स्वरूप में प्रतिष्ठित हो। तू भ्रम में न न पड़ तू काल का भी काल है तू व्यापक अखण्ड परब्रह्म है। तू दीन न हो। क्यों कि तू ही परम नाथ है। इत्यादि उपदेश से योग सम्प्रदाय में योगी जन शिष्य के दीन भाव को दूर कर नाथ शब्द से अलंकृत कर देते हैं। वहप्राचीन गुरु वंश प्रणाली पांच प्रकार की है। आई नाम विमलाशक्तिका है। इसी को आई नाथ या दयनाथभी कहते हैं। अतः आई नाथ देवी की शिष्य परम्परा का आई सन्तान नाम है। जो इस

समय आई पन्थ नाम से प्रसिद्ध है। दूसरी विलेश्वर गुरु की वंश प्रणाली है। यद्यपि स्वयं वस्त्र रहित दिगम्बर तपस्वी हैं। तथापि शरणागत दीन दुखी श्रद्धालु अधिकारी जनों को पवित्र उपदेश देने तथा उनके दुखों को दूर करने में जो समर्थ हैं वे विलेश्वर वंशपरम्परा के कहलाते हैं और अपनी इच्छा से आसन प्राणायामादि की धारणा में अत्यन्त समर्थ होते हैं। तीसरी विभूति को धारण करने वाली सिद्धगुरु वंश प्रणाली है। जिन्होंने प्रथम योगधारणादि की अच्छी तरह साधना की है। इसी से वे अणिमादि विभूतियों से सम्पन्न कहलाते हैं। अतः सिद्धगुरु योग सामर्थ्य को चाहने वाले मुमुक्षु शिष्यों को योग चमत्कार दिखा कर उन में श्रद्धा उत्पन्न करते हुये उन को आत्म कल्याण के मार्ग पर लगाते हैं। यही विभूति सन्तान है। चौथी नाथ सन्तान (वंश) का वर्णन करते हैं। सकल प्रपञ्च की अपेक्षा से जो अव्याकृत, और उस से भी परे परम नाथ तत्त्व है वही लक्ष्य भूत है। उस लक्ष्य में ही आत्मा के व्यापक रूप को दिखलाते हुये सिद्ध गुरु योग्य अधिकारियों को समरस रूप अभेद के उपदेश की प्रणाली से परम पद मोक्ष को प्राप्त करादेते हैं। अतः व्यापक परमनाथ के स्वरूप को प्राप्त कराने से वे सिद्ध नाथ वंश में गिने जाते हैं। अब पांचवीं योगीश्वर सन्तान का निरूपण करते हैं। पूर्वोक्त व्यापक असङ्ग नाथ तत्त्व में अपने स्वरूप के लय होनेपर सृष्टि आदि क्रिया के करने में भी योगसामर्थ्य का उपयोग करते हुये जो सिद्ध गुरु अधिकारी जनों को योग्यता के अनुकूल उपदेश देते हैं। वे योगीश्वर सन्तान में गिने जाते हैं। उपरोक्त पांच प्रकार से जो सिद्धगुरु वंश परम्परा का संक्षेप से वर्णन किया है। उस परम्परा में भी बहुत से अवान्तर भेद हैं। वे बारह और अठारह शाखाओं में प्रसिद्ध हैं ॥४६॥

मू०--परमार्थतः सर्वं पाञ्चभौतिकंनजाताः पुरुषाः सम्बोधमात्रैकरूप. शिवस्तदितरत्सर्वमज्ञान मव्यक्तं भवति तत्र शिवस्तुज्ञानम् ॥ ४७

सं० टी० परमार्थतः सर्ववस्तुपाञ्चभौतिकम्, अतःपञ्चधैव साम्ता नमुचितमत्र ग्रन्थे सर्वं पंचप्रकारेणैवव्याख्यातमिति न विस्मरणीयम् मजाताअनुत्पन्नाः पुरुषाः जीवात्मानः सम्बोधमात्रैकरूपः चिन्मा त्र रूपः शिवस्तदितरत् तद्भिन्नं सत्रमज्ञानं जडरूपमव्यक्तम् जडोपादान म्प्रकृति रिति सर्वं पेण पदार्थ वर्णनं सृष्टिरेव वंशास्तस्य कर्त्तागुरु रतः पंचभूत स्थानीयाः पंचगुरवस्तेषां वंशाः सर्गा ॥४७॥

भा० टी०—यथार्थ में संसार की सबवस्तुएं पाँचभूतों से बनी हैं। इसी से इस ग्रन्थ के उत्पत्ति प्रकरण में प्रत्येक वस्तु का पाँच पाँच प्रकार से निरूपण किया है। अतः सिद्ध गुरुओं की वंश प्रणाली को भी आचार्य ने पाँच भागों में विभक्त किया है। यदि पांचभौतिक सकल प्रपंच की उत्पत्ति होती है तो आत्मा उत्पन्न होता है या नहीं ? इस शंका का उत्तर यह है—आत्मा की उत्पत्ति नहीं होती क्यों कि यह आत्मा अखण्ड चेतन ज्योतिः स्वरूप एक और व्यापक शिव है। यहाँ आत्मा की उत्पत्ति का निषेध आत्मा में जन्म मरणादि सकल विकारों के निषेध का भी द्योतक है। आत्मा जन्म मरण वृद्धि ह्रास आदि विकारों से शून्य आकाश की तरह व्यापक असङ्ग चेतन और सर्वान्तर्यामी है। उसी व्यापक आत्मा के रूप के ज्ञान से अमृत रूप परमपद की प्राप्ति होती है। और आत्मा से भिन्न समस्त प्रपञ्च अज्ञान रूप है। क्योंकि अज्ञान अव्यक्तादि नाम से बोधित माया का कार्य होने से यह जगत् भी मिथ्या कहलाता है। केवल शिव ही चेतन विज्ञानमय और सर्वत्र व्यापक है ॥४७॥

मू०—एतेषामपिसन्तानानांकेचित्स्वरूप
पराङ्मुखा वेशमात्रसम्पन्नाः क्रयविक्रयादिकं कुर्वन्ति
सन्तानभेदंप्रत्यन्योन्यमधःकुर्वन्तियोगमार्गं द्वेषयन्ति ४८
रजसाघोर संकल्पाःकामुकाअतिमन्यवः ।
दाम्भिका मानिनः पापा धिक्कुर्वन्तीश्वरप्रियान् ॥ ४९
साधुसंगमसच्छास्त्रपरमानन्दलक्षितान् ।

स्वेच्छाचारविहारैकज्ञानविज्ञानसंयुतान् ॥ ५०

यूयं शिष्टा वयं दुष्टा दुष्टा यूयं वयं तथा ।

एवं वदन्ति चान्योन्यं प्रमोहेननिरन्तरम् ॥५१॥

सं० टी०— एतेषां विद्यमानानां संतानानां वंशानां मध्ये केचिज्ज जनाः स्वरूपपराङ्मुखा आत्मचिन्तनतो विरक्ताः कृयविकृयादिकं सांसारिक व्यवहारं कुर्वन्ति, अन्योऽन्यं परस्परं सन्तान भेदं प्रति भेदबुद्धिं कुर्वन्ति रागद्वेष समाकुला भवन्ति । अत एव योगमार्गं वास्तविक श्रेयः साधनं द्वेषयन्ति निन्दन्ति रजसा रजोगुणबलेन घोर संकल्पाः सांसारिकविषयचिन्तनतत्पराः कामुकाः कामान्धा अतिमन्यवः अत्यन्तक्रोधिनः स्वात्मानमधिकं मन्यमानाः पापाः पापवन्तोः जनाः ईश्वरप्रियान् परमेश्वरभक्तान् । साधुसंगमः साधुसहवासः सच्छास्त्राणि आत्मपरमात्मबोधकानि योगवेदान्तादि शास्त्राणि यो यः परमानन्दस्तेन लक्षितान् संयुतान् परमानन्दानुभवशालिनः स्वेच्छाचारविहारौ चानियत कमनिवासौ एक विज्ञानं आत्मैक्य बोध स्ताभ्यां संयुक्तान् संहितान् सज्जनान् धिक् कुर्वन्ति व्यवहारा नभिज्ञतानपुंस्कादिदोषं प्रदर्श्य निन्दन्ति । कस्यचित् सत्कार करण काले दुष्टत्वेऽपि यूयं शिष्टाः स्वरूपस्य शिष्टत्वेऽ पि वयं दुष्टाः किञ्च मित्रादि साहाय्यकाले यदि यूयं दुष्टास्तथा वयमपि भवामइत्येवं प्रमोहेनाज्ञतया निरन्तर परिवदन्ति ॥ ४८-४९-५०-५१

भा० टी०—उक्त वंश परम्परा में भी बहुत से अपने योगधर्म को छोड़ कर केवल वेष मात्र को धारण किये क्रय विक्रयादि लौकिक व्यापार में तत्पर रहते हैं और इस वेश परम्परा में प्रेमीजनों का तिरस्कार कर जो योग मार्ग से द्वेष करते हैं उन द्वेषी जनों के स्वभाव का निम्न प्रकार से वर्णन किया जाता है । उक्त योग मार्ग के द्वेषी और रजोगुणी जनों के मनोरथ भी अति दारुण होते हैं जिन का पूरा होना भी असंभव है । इसी से वे भोग्यविषय के इच्छुक होते हैं और यदि उनके काम का विघात होजाय तो क्षणभर में अत्यन्त क्रुद्ध

होजाते हैं ऐसे कपट स्वभाव दम्भी अभिमानी और रागद्वेषादि से दूषित अन्तः करण वाले वे पापी सज्जन साधुओं के संग से और योगादि उत्तम शास्त्रों के अभ्यास से परमानन्द रूप मोक्ष पद को ही लक्ष्य करने वाले स्वच्छन्द गति से विचरने वाले और आत्मा के अनुभव से सम्पन्न ईश्वर भक्तों को धिक्कारते हैं कि तुम लोग अपने को शिक्षित एवं सभ्य मानते हो और हम को दुष्ट समझते हो परन्तु ऐसा नहीं है किन्तु तुम ही दुष्ट असभ्य और मूर्ख हो और हम शिक्षित बुद्धिमान् तथा सभ्य हैं। इस प्रकार अज्ञान से आपस में निन्दित वचनों का प्रयोग करते हैं। अतः जगत को राग द्वेष से परिपूर्ण देखकर योगी को आत्म निष्ठ होकर एकान्त में रहना चाहिये ॥५१॥

मू०—पृथ्वीजलं तथा वह्निर्वायुराकाशमेव च
ऐते सन्तानो दयास्तु सम्यगेव प्रकीर्तिताः ५२

सं० टी०—शक्ति सम्वलितशिवस्य स्वीय प्रकृत्युत्पादितानि पंचभूतानि पंचशरीराणि तदधिष्ठातारश्च पुरुषाः पञ्च पुत्रास्ते एव पंचदेवाः गुरुकुल सन्तानपदेनोक्ताः अत्रविशद व्याख्यायन्ते पृथिव्यादि पंचभूतानि संतानोदया सम्यगेव प्रकीर्तिताः सन्तानानां निखिल प्रजानां भौतिकशरीराणामुत्पत्ति स्थानानि कारणानि रूपाणि उदीयन्ते अस्मिन्नित्युदया अधिकरणसाधनश्चायम ॥५२॥

भा० टी०—अब पञ्चभूत सन्तान का वर्णन करते हैं—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश यह पंचभूत सन्तान कहलाता है और ये सब श्री आदिनाथ की शक्ति से उत्पन्न हुए हैं। इनकी उत्पत्ति का वर्णन पहले अच्छी प्रकार से हो चुका है ॥५२॥

मू०—काठिन्यं चार्द्रता तेजो धावनंस्थिरता खलु।
गुणाएतेच पञ्चैव सन्तानानां क्रमात्स्मृताः ॥५३
ब्रह्माविष्णुश्चरुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः।
एताश्चदेवताःप्रोक्तासन्तानानां क्रमेण तु५४

सं० टी०—पृथिव्याः काठिन्यं गुणः ब्रह्मा तदधिष्ठाता देवः, ज-

लस्याद्रता गुणो विष्णुश्चाधिष्ठातृदेव एवं यथा संख्यक्रमेणैकैकभूतस्यै को गुणः देवश्च संतापनोदः। अयमाशयः पराशक्ति सहितः परमात्मा शिव आदिनाथः प्रोच्यते स एवाकाशं समुत्पाद्य तदधितिष्ठन् सदा शिव शब्देन वायुमुत्पाद्य तदभिमानृत्वेन ईश्वर पदेन तेजोधिष्ठाता रुद्रनाम्ना जलाभिमानी विष्णु संज्ञया पृथिव्यन्तर्यामी ब्रह्माभिधया च व्यवह्रियते तथा च भौतिक प्रजाना मेतेपंचदेवाः गुरवः तेषामप्यादिनाथो गुरु रतः सर्गेषां गुरुरादिनाथः सर्वतो गरीयानिति प्रकरण रहस्यम् पंचदेवोपासनायाश्चेदमेव तत्त्वं यत्कार्यरूपेणावस्थाभेदेन च पंचानां परस्परस्वरूपभेदेऽपि कारणरूपेणादिनाथाभिन्नतया ऐक्यमेव॥५४

भा० टी०—अब पांच भूतों के गुण और अधिष्ठाता देवों का वर्णन करते हैं। पृथिवी का कठोरता आदि गुण और ब्रह्मा अधिष्ठातृ देवता है। जल का द्रव (गीलापन) गुण और विष्णु देवता है। अग्नि का उष्ण गुण और रुद्र देवता है। वायु का चलना गुण और ईश्वर देवता है। आकाश का स्थिर (अचल) गुण और सदा शिव अधिष्ठाता है॥५४॥

मू०-स्थूलसूक्ष्मकारणतुर्यं तुर्यातीतमिति पञ्चावस्थाः क्रमेण लक्ष्यन्ते एतेषामपि सर्वेषां विज्ञाता यः स योगी ससिद्धपुरुषः स योगीश्वरेश्वर इति परमरहस्यं प्रकाशितम् ॥५५॥

सं० टी०—यथैव पूर्वं सर्वं पञ्चात्मकं व्याख्यातं तथैवावस्थापि पञ्चधैव प्रतिपाद्यते जाग्रत् स्थूलावस्था। स्वप्नः सूक्ष्मावस्था सुषुप्तिः कारणावस्था। समाधिः तुर्यावस्था। अस्यामपि वृत्ति सद्भावः तस्या विनाशे शुद्धमुक्तावस्था। तुर्यातीतावस्था। एताः क्रमेण पर्यायेण न न युगपत् लक्ष्यन्ते लोकैः स्वयमेवानुभूयंते एतेषां पूर्वोक्त वस्तूनां योज्ञ ऽनुभविष्णुः ससाधनेकाले पश्चात् स योगी योगीश्वरेश्वरः सिद्धपुरुषः सम्मतइ इति परम रहस्यम् प्रकाशित मनेनाचार्यस्य प्रजासु कारुण्यातिशय इति व्यज्यते ॥३६॥५५॥

भा० टी०—जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति ये तीन अवस्थाएं एवं तुर्य (समाधि) और मोक्ष ये पाँच अवस्थाएं लक्षित होती हैं । भाव यह है कि योग की सात भूमिकाएं होती हैं । नित्या नित्य वस्तु के विवेक पूर्वक तीव्र मुमुक्षारूप शुभेच्छा को योग की प्रथम भूमिका कहते हैं । इस के उपरान्त गुरु के पास से गुरुमन्त्रादि योग दीक्षा को ग्रहण कर उपनिषद् और योग शास्त्र के श्रवण और मननात्मक दूसरी विचारणा नाम की भूमिका है । मन में अनेक संकल्प विकल्पों का जो प्रवाह उठता है उसको आसन प्राणायामादि और निदिध्यासन के बल से आत्मा में विजय कर केवल आत्म रूप सूक्ष्म पदार्थ के ग्रहण में तत्पर होना तनुमानसानाम की तीसरी योगभूमिका है । ये तीन साधन भूमिकाएं जाग्रत कहलाती हैं । क्योंकि इन में भेद बुद्धि से प्रतीत होने वाला यह जगत द्वैत रूप से स्फुरित रहता है । पूर्वोक्त तीन भूमिकाओं के अच्छी तरह साधन से जब अन्तः करण अत्यन्त शुद्ध होजाता है । तब वह योगी "अहं ब्रह्मास्मि,, मैं ब्रह्म हूँ इस प्रकार सब जगह दृढ़ अभेदात्म द्रष्टा होजाता है और समस्त प्रपञ्च को स्वप्न तुल्य देखता है । क्यों कि अद्वैत आत्म पदार्थ के स्थिर होजाने से उस योगी को समाधि के अभ्यास से समस्त जगत स्वप्न की तरह मिथ्या प्रतीत होने लगता है । अत: केवल आत्मा को ही दृढ़रूप से बोधन करने वाली और आत्मा से भिन्न समस्त जगत को मिथ्या दर्शाने वाली यह सत्त्वापत्ति नाम की चौथी भूमिका है । इसी को स्वप्नावस्था भी कहते हैं । क्यों कि इस अवस्था में आत्मा से भिन्न सबको स्वप्नवत मिथ्या देखता है । यह योग भूमि उक्त तीन योग भूमिका साधनों के बिना सिद्ध नहीं होती ।

इस चतुर्थ भूमिका को प्राप्त हुआ योगी ब्रह्मवित् कहलाता है । आगे की तीन भूमिकाएं क्रम से जीवन मुक्ति रूप कहलाती हैं । क्योंकि चौथी भूमिका से ही जब सिद्धियों का प्रादुर्भाव होता है । तब उनमें आसक्त न होना ही असंसक्ति नाम की पञ्चम योग भूमिका सिद्ध हो जाती है । इसको सुषुप्ति रूप भी कहते हैं क्योंकि निर्विकल्प योग समाधि की परिपक्व निष्ठा से केवल आत्मानन्द में मग्न हुआ योगी

सांसारिक बाह्य व्यापार से सोया सा रहता है इस योग भूमिका को जब योगी प्राप्त होता है तब उसको ब्रह्म वेत्ताओं में श्रेष्ठ कहते हैं और उस समय वह योगी समाधि से स्वयं ही प्रवुद्ध हो जाता है। जिसमें ब्रह्म से अतिरिक्त दूसरे पदार्थ की भावना न कर केवल योगाभ्यास से चिरकाल तक आत्मानन्द में ही स्थित रहता है। उसको पदार्थभाविनी नाम की छठी भूमिका कहते हैं। इसको गाढ़ सुषुप्ति भी कहते हैं। क्योंकि इस भूमिका में जब योगी पहुँचता है। तब वह अन्य सिद्ध के बोधनमात्र से ही जाग्रत होजाता है। अन्यथा एकाग्र समाधि में शून्याकार हो रहता है। तब वह योगी ब्रह्मविद् वरीयान् कहलाता है। तुर्यगा नामकी सातवीं योग भूमिका है। इसमें प्राप्त हुआ योगी तो दूसरे के व्यापार से भी नहीं जागता। इस भूमिका को प्राप्त हुआ योगी ब्रह्मविद् वरिष्ठ कहलाता है। यानि छठी भूमिका से सातवीं भूमिका में पहुंचने वाला योगी कभी कुछ निमेष उन्मेष आदि व्यापार करता हो या न करता हो विदेह मुक्त कहलाता है। क्योंकि उसको देह का जरा भी भान नहीं रहता। इस लिये सप्तमी योग भूमिका विदेह मुक्ति रूप भी कहलाती है यह सब योग भूमिकाओं की चरम सीमा है और मन वाणी से भी अगोचर है—

ज्ञानभूमि शुभेच्छाख्या प्रथमा परिकीर्तिता।
विचारणाद्वितीयास्यात्तृतीया तनुमानसा॥
सत्वापत्तिश्चतुर्थीस्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका।
पदार्थाभाविनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता॥
भूमिका तृतीयं त्वेतन्नाम जाग्रत मिति स्थितम्।
यावद्भेद बुद्धय दंजगज्जाग्रति दृश्यते
अद्वैते स्थैर्यमायाते द्वैते प्रशम मागते।
पश्यन्ति स्वप्न वल्लोकं चतुर्थी भूमिकामिता॥
पञ्चमी भूमिका मेत्य सुषुप्ति पदनामिकाम्।
षष्ठी गाढ शुषुप्त्याख्यां क्रमात्पतति भूमिकाम्॥
षष्ठयां भूम्यामसौ स्थित्वा सप्तमी भूमिमाप्नुयात्।
किञ्चिदेवेश सम्पन्न स्त्वथवैषम किञ्चन॥

विदेह मुक्तता तूक्ता सप्तमी योग भूमिका ।
अगम्या वचसां शान्ता सासीमा योग भूमिषु ॥

पूर्वोक्त योग भूमिकाओं के साधन से योगी अजरामर व्यापक और स्वयं शिव होजाता है। इसी से मूल ग्रन्थ में कहा है "जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुर्या, तुर्यातीत" इत्यादि । यहां आगे अपि शब्द भी आया है उससे यह भाव निकलता है कि योग की सात भूमिकाएं भी उक्त पाँचों अवस्थाओं के अवान्तर भेद हैं । इनको जो योगी योग के अनुभव से जानता है वही यथार्थ योगी और वही काल को जीतने वाला सिद्ध पुरुष भी है । अधिक क्या कहें जीवन्मुक्त भी वह साक्षात् पर ब्रह्म स्वरूप होने से योगीश्वरों का भी ईश्वर है यह परम रहस्य है ॥५५॥

मू०—अतएव सम्यग् निज विश्रान्तिकारकं महासिद्धयोगिनं सद्गुरुं सेवयित्वा सम्यक् सावधानेन परमंपदं संपाद्य तस्मिन्निज पिण्डे च समरसभावं कृत्वा त्यन्त निरुत्थानेन सर्वानन्दत्वेनिश्चलंस्थातव्यं ततः स्वयमेव महासिद्धो भवतीति सत्यम् ॥५६॥

सं० टी०—समरस भावनाया मोक्षादिसिद्धि प्रदत्वादेव सम्यग् निजविश्रान्तिकारकम् । योहि स्वयमेव संसारचक्रारूढोऽनवरतं बंभ्रम्य मागः स च कथमन्यं विश्रामधामाधिरोहयेत् । अतः योहि समीचीनतया निजस्य स्वस्य विश्रान्तिः मोक्षाख्यविश्रामस्तस्य कारकं साधक ।मतएव महायोगिनं योगिराज तं सद्गुरुं सेवयित्वा व्युत्थान दशायां गुरुसेवनं न तु समाधाविति सूचनाय क्त्वा प्रयोगः (सम्यग्) अशेषतः सावधानेन भ्रमप्रमादरहितः सन् परमं पदं सम्पाद्य परमात्म स्वरूपमवगत्य तस्मिन परमात्मनि निज पिण्डे स्वकीय पिण्डे समरसभावं पूर्वोक्तरूपेणाभेदभावनां कृत्वा विधायात्यन्त निरुत्थानेन सांसारिक विषयोन्मुखता परिहारेण, आत्यन्तिकात्म निष्ठतया सर्वदानन्दत्वे सच्चिदानन्दघने निश्चलं नियतकालावधि पुनरुत्थान वर्जितं यथास्यात् तथा स्थातव्यम्, समुपासितव्यम् वादशाद्वाभ्यासात् स्वयमेव प्रयत्नान्तर निरपेक्ष तयैव महासिद्धो भवतीति सत्यं ना-

रित्र सन्देहावसरः स्वानुभवावसानत्वात् ॥५६॥

भा० टी०—अत एव पूर्वोक्त तुर्यादि आत्म निष्ठा सम्पादन के लिये अच्छी तरह निज आत्म निष्ठारूप परम शान्ति को कराने वाले महासिद्ध योगिराज सद्गुरु की सेवा कर बड़ी सावधानी से परमपद को जानकर व्यापक परमपद में और व्यष्टिनिज पिण्ड में पूर्वोक्त परस्पर धेयावलम्बन की रीति से अभेद रूप समरस कर के अनादिअज्ञान रूप माया से सचेत हुआ वह योगी सर्वानन्द व्यापक अपने आत्मा में अचल भाव से स्थित हो जाय। उस के बाद स्वयं महासिद्ध होजाता है। ऐसा महासिद्ध होजाने पर उसका कर्तव्याकर्तव्य कुछ भी बाकी नहीं रहता ॥५६॥

मू०—न विधिर्नैव वर्णश्च न वर्ज्यावर्ज्य कल्पना।
न भेदो निधनं किंचिन्नाशौचं नोदकक्रिया ॥५७
योगीश्वरेश्वरस्यैवं नित्यतृप्तस्य योगिनः।
चित्स्वात्मसुखविश्रान्तिभावलब्धस्यपुण्यतः ॥५८॥
सम्यक् स्वभाव विज्ञानात् क्रमाभ्यासान्नवासनात्
न वैराग्यान्ननैराश्या न्नाहारात्प्राणधारणात् ॥५९
न मुद्राधारणाद्योगान्मौन कर्मसमाश्रयात्।
न विरक्तौ वृथायासान्नकाय क्लेशधारणात् ६०
न देवार्चनाश्रयाद् भक्तयानाश्रमाणां च पालनात् ॥
न षड्दर्शनकेशादि धारणान्न च मुंडनात्। ६१
न जपान्नतपोध्यानान्नयज्ञतीर्थसेवनात्।
ना नन्तोपाय यत्नेभ्यः प्राप्यते परमंपदम् ॥ ६२

सं० टी०—कुलकमेते श्लोका अतो व्युत्क्रम्य व्याख्येयाः पुण्यत इह जन्मनि पूर्वजन्मनि वा समुपार्जितपुण्यपुञ्ज प्रभावेण सम्यग् यथार्थतः स्वभावस्यात्मस्वरूपस्य विज्ञानात्।

आचार्योपदेश जनित ज्ञान बलात् पश्चात् क्रमाभ्यासात् पूर्वोक्तक्रमेणाभ्यास बलात् चित्स्वात्म सुख विश्रान्तिभाव लब्धस्य परमानन्दैक विश्रामधाम समीयुषः, नित्य तृप्तस्य क्षुत्पिपासादिरहितस्य योगिनः साम्प्रतं योगीश्वरेभ्यस्य कृते सिद्धावस्थायां न विधिः प्रेरणा नैव वर्णाः न च वर्ज्यावर्ज्य कल्पनेदं वर्जनीयमिदं न वर्जनीयमित्यादि, आज्ञा निषेधौ न भवतः। न भेदो न च निधनं मरणं च मरणादि जन्यम् अशौचं नोदक क्रिया तर्पणादि। इदमत्र रहस्यं मोक्षरूपसिद्धिं प्रति गुरुद्वारात्म विज्ञान तदभ्यास एव साक्षात् कारणं नान्यत्। आसन वैराग्यादयस्तु परम्परया तत्त्व ज्ञानोत्पादने साहाय्य सम्पादन द्वारा कारणं न तु साक्षात्। अतएव साक्षात् कारणस्य तत्त्वज्ञानस्य प्रशंसायै, अग्रे निषेधति न चासनात् वैराग्यादिभ्यः परं पदं प्राप्यत इति न त्वासन वैराग्यादीनां सर्वथा वैयर्थ्ये बोधनाय तेषां स्वस्वफलैः सफलत्वादन्यत् सर्वं स्पष्टम्॥६२॥

भा० टी०—पूर्वजन्म में उपार्जित पुण्य कर्म के बल से सिद्ध-गुरु के उपदेश द्वारा आत्मा को अच्छी प्रकार से जानकर क्रम से योगाभ्यास की परिपक्व निष्ठा से चेतन व्यापक आनन्द घन निज आत्मा के सुख रूप विश्रान्ति भाव को प्राप्त होने पर आत्मानन्द में तृप्त हुआ योगी जब परब्रह्म स्वरूप होजाता है तब वह महासिद्ध अवस्था को प्राप्त होने से योगीश्वरों का भी ईश्वर कहलाता है। ऐसे सिद्ध के लिये न शास्त्रीय विधि और न निषेध है, न वर्णाश्रम न वर्ज्यावर्ज्य विचार और न ग्रहण या त्याग की कल्पना है। न भेद है न उसका जरामरण है क्योंकि वह काल का भी काल है। उसके लिये न अशुद्धि और न जलक्रियां ही है। भावार्थ यह है कि मोक्ष रूप परमपद की प्राप्ति के लिये गुरु मुख द्वारा आत्मज्ञान और योगानुष्ठान का अभ्यास ही आत्मा के साक्षात्कार में कारण है। उक्त साधन के बिना न केवल आसन न वैराग्य, न निराशा न प्रत्याहार न प्राणायाम न मुद्राधारण न योग न मौन रहना, न तितिक्षा न देव पूजा न आश्रम सेवा न षड्दर्शन केशादि धारण न मुण्डन न जप तप ध्यान न यज्ञ न तीर्थ सेवन और न अनन्त उपायों से परमपद प्राप्त होता है॥६२॥

मू०—एतानि साधनानि सर्वाणि दैहिकानि परित्य ज्य परमपदेऽदैहिके स्थीयते सिद्धपुरुषैरिति ॥ ६३ ॥

सं० टी०—एतानि पूर्वोक्तानि, आसनवैराग्यादीनि सर्वाणि दैहिकानि स्थूल देहसम्बन्धीनि साधनानि परित्यज्य सिद्धावस्थायां कृतकार्य्ये तया विहाय परस्मै पदे दैहिके परमात्मरूप देहे सिद्ध पुरुषैः स्थीयते सिद्धाः परमात्मस्था भवंतीति यावत् ॥६३॥

भा० टी०—उपरोक्त सब साधन देह सम्बन्धी हैं। अतः इन अनात्म पदार्थों में आसक्त न हो कर आत्म रूप परमपद में ही सिद्ध योगि राज स्थित रहते हैं। अतः परमपद से आत्म निष्ठा में ही ऊपर के साधनों का उपयोग होना उचित है। अन्यथा नहीं ॥६३॥

मू०—तत् कथङ् गुरुदृक् पातनात् प्रायो दृढानां सत्यवादिनांसास्थितिर्जायते ।६४

कथनाच्छक्ति पाताद्वा यद्वापादावलोकनात् ।

प्रसादात्स्वगुरोः सम्यक्प्राप्यते परमंपदम् ॥६५॥

सं० टी०—ननु तत् कथम्प्राप्यते। इति प्रश्न पूर्वकमुत्तरमाह गुरुदृक् पातनादाचार्य्य करुणा कटाक्षोन्मेषात्, किं सर्वेषानेत्याह प्रा यइत्यादिप्रायोदृढानां प्रवलवित्त पंविना स्थिरचित्तानांसत्यवादिनां मिथ्या भिभाषणवहिर्मुखाणां सा स्थितिःपरमात्मनिष्ठा जायते। गुरुकृपैव श्र-द्धादि द्वारात्मनिष्ठतां प्रति मुख्य कारणमितिभावः तत्र प्रकारमाह स्व-गुरोः, जयः जयो भवत्विति कथनादाशीर्वचनादिति भावः शक्तिपाताद्वा अकथयित्वैव किंचिदपि सूक्ष्म व्यापारेण शिष्येषु शक्ति संचारादथवा वलोकनाद् दृष्टि मात्रात् किं वा प्रसादात् मनः सन्तोषात् मानसिक प्रीतिरेव परमं पदं प्राप्यते गुरुणा शिष्य इत्यध्याहारोऽस्यन्तात् प्रयोज्य कर्मणि लट् श्री गोरक्षनाथैरेव वाक्यपदीयकार भर्तृहर्यादिषु शक्तिसंचारः पूर्णादिषु कृपावलोकनं कृतमितिच प्रसिद्धम् ॥६५॥

भा० टी०—जिस आत्म निष्टा में सिद्ध योगी स्थित रहते हैं वह आत्म निष्ठा किसको कैसे प्राप्त होती है इसका उत्तर सुनिये गुरु-

भक्त श्रद्धालु धीर सत्यवादि शिष्यों को वह आत्म निष्ठा पूज्य गुरुदेव की करुणा दृष्टि के पात से सुलभ होजाती है। श्रुति में भी कहा है कि जिसकी महेश आदि देवों के समान पूज्यगुरु में भी भक्ति है। ऐसे गुरु भक्त श्रद्धालु जनों को आत्म निष्ठा आदि पदार्थ प्रकाशित होते हैं। औपदेशिक, शक्तिपात, करुणावलोकन भेद से तीन प्रकार की शिक्षा होती है। औपदेशिक शिक्षा वह कहलाती है जिससे गुरु संसार को स्वप्न तुल्य मिथ्या बतलाता हुआ आत्मा के शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव निरंजन, अखण्ड ज्योतिः स्वरूप में शिष्य को योगादि साधन द्वारा भले प्रकार से स्थित करे। जो आस्तिक श्रद्धालु शिष्य अत्यन्त मन्द बुद्धि है किन्तु गुरु उसको उसी क्षण कृतार्थ करना चाहता है उस समय सिद्धयोगिराज गुरु निज कृपा पात्र शिष्य में अपनी अलौकिक योग शक्ति का पात करता है। तब वह शिष्य भी गुरु जैसा ही समर्थ और त्रिकालदर्शी होजाता है। जैसे योगाचार्य श्री गोरक्षनाथ जी ने अनेक भर्तृहरि आदि शिष्यों को इसी शक्तिपात की शिक्षा से अमर किया है। "जब लग धर्त्री तब लग भर्तृ, जायगी धर्त्री रहेगे भर्तृ।" इत्यादि कहावतें भी प्रसिद्ध हैं। इसी को शक्तिपात शिक्षा कहते हैं। इस शिक्षा को महासिद्ध योगी और ईश्वर के बिना दूसरा नहीं दे सकता। जिस को प्रेम भरी दृष्टि से देख कर कृतार्थ किया जाय जैसे योगाचार्य जी ने विकल अङ्ग पूर्णभक्त को करुणावलोकन मात्र से ही सर्वाङ्ग सजीव और अमर किया था, इस को करुणावलोकन शिक्षा कहते हैं। यह शिक्षा भी सिद्धयोगी और ईश्वर की ही सफल होती है। अतः उपरोक्त तीन शिक्षाएं और आशीर्वाद आदि गुरु प्रसाद से ही मोक्षरूप परमपद की प्राप्ति होती है॥ ६५॥

मू०—अतएव शिवेनोक्तम्।

न गुरोरधिकं न गुरोरधिकं न गुरोरधिकं नगुरोरधिकम्
शिवशासनतःशिवशासनतःशिवशासनतःशिवशासनतः ६६

सं० टी०—शिवशासनतः शिवोपदेशाज् ज्ञायते यद् गुरोरधिक मुत्तमं साधनं न किमप्यस्ति महीतले ऽत्र वीप्सायां द्वित्वेन आवश्यकतां ध्वनयति ॥६६॥

भा० टी०—अत एव शिवजी ने भी कहा है कि मोक्ष के कपाट खोलने में गुरु से बढकर अन्य कोई भी उपाय नहीं। इसी बात को पुष्ट करने के लिये शिवोक्त श्लोक में चार आवृत्ति की हैं। अतः लखचौरासी के धन्दे को आत्म ज्ञान द्वारा समूलोच्छेद कर परम मोक्ष के देने वाले अवधूत सिद्ध गुरुको साक्षात् शिवही समझे ॥६६॥

मू०--वाङ्मात्राद्वाथदृक्पाताद्यःकरोतिच तत्क्षणात्।
प्रस्फुटं शांभवंवेद्यं स्वसंवेद्यं परं पदम् ॥ ६७ ॥

मू०–करुणा खण्डपातेन छित्त्वा पाशाष्टकं शिशोः।
सम्यगानन्द जनकः सद्गुरुःसोभिधीयते ॥६८॥

सं० टी०–किंच[करुणाऽखण्डपातेन]दयारूपाखण्ड दृष्टिपातेन [शिशोः] शिष्यस्य [पाशाष्टकम्] जन्ममृत्यु जरा व्याधि धर्माधर्मद्वेषात्मकं बन्धन जालं[छित्त्वा]दूरीकृत्य[सम्यगानन्द जनकः]परिपूर्णानन्दात्मक निज देहोत्पादकः[यः]सः सद्गुरुः, अभिधीयते,कथ्यते अतोऽन्यः साधारणोगुरुरितियुग्मतया सद्गुरुलक्षणमाह- [वाङ् मात्रात्] आशीर्वचनादेव [अथवा दृक् पातात्] अवलोकन मात्रात् [तत्क्षणात्] तस्मिन्नेव क्षणे [प्रस्फुटम्] स्पष्टम् [वेद्यम् ज्ञातव्यम् [शांभवम्]शिवसम्बन्धि [परम पदम्] वास्तविक तत्त्वम् [स्व संवेद्यम्] शिष्यस्य स्वानुभवावसानं करोति ॥ ६७-६८ ॥

भा० टी०–जो गुरु क्षणमात्र में अपने अनुभव से जानने योग्य परमपद मोक्ष को मधुर उपदेश मात्र से या करुणा दृष्टि पात से अभिव्यक्त करदेता है। तथा उस कृपादृष्टि से शिष्यके जरामरण काम क्रोध लोभ, मोह, अहंकार और अविद्या इन आठ बन्धनों का विनाश कर आत्म ज्ञान के द्वारा अच्छी तरह आनन्द को प्राप्त कराता है वह सद्गुरु कहलाता है ।६७-६८

मू०–निमिषार्धार्धपाताद्वा यद्वा पादावलोकनात्।
स्वात्मानं स्थिरमाधत्ते तस्मै श्री गुरवेनमः॥६९॥

सं० टी०—यस्य निमिषचतुर्थांश पातात् कटाक्ष लेशादपीति यावत् यद्वा [पादावलोकनात्] चरणदर्शनात्,शिष्य इतिशेषः [स्वात्मानं] स्वान्तः करणं [स्थिरं] निश्चलं समाधत्ते कुरुते तस्मै प्रभावशालिने श्री गुरवेनमः प्रह्वीभावोऽस्तु ॥६६॥

भा० टी० शिष्य के द्वारा निज चरण कमल के ध्यान से प्रसन्न हुआ गुरु निमेष के चतुर्थांश दृष्टिपात से शिष्य को निज आत्मानन्द में स्थिर कर देता है। अतः उस परमपद शान्तिदाता श्री गुरुदेव को प्रणाम है ॥६६॥

मू –नानाविकल्पविश्रान्तिकथया कुरुते तुयः।
सद्गुरुः सतु विज्ञेयो नतु मिथ्या विडम्बकः॥
अतएव परमपद प्राप्त्यर्थं स सद्गुरुः सदावन्दनीयः॥७०॥

सं० टी०—किंच यः कथया स्वोपदेशेन (नाना विकल्प विश्रान्तिम्) निखिल सांसारिकविषयकविविधकोटिक विज्ञानविनाशं समस्त संशयोच्छेदमिति यावत् कुरुते विधत्ते स एव सद्गुरु विज्ञेयो न तु मिथ्याविडम्बकः–आपात रमणीय मायिक वस्तूपदर्शनेन वञ्चकः अत एव गुरोः प्रधानत्वादेव (सः) सद्गुरुः (सदावंदनीयः) सर्वदा पूजनीय इति ॥७०॥

भा० टी० आत्म स्वरूप बोधक पवित्र और आध्यात्मिक कथाओं से शिष्य के मन में स्थित नाना संकल्प विकल्प भेद आदि विकार की शान्ति को करने वाला ही सद्गुरु कहलाता है आत्म कल्याण से वंचित करनेवाला मिथ्यावादी धूर्त नहीं। अतः परमपद की प्राप्ति के लिये सद्गुरु सदा वन्दनीय है ॥७०॥

मू०–गुरुरिति गृणातिशं सम्यक् चैतन्यविश्रान्ति मुपदिशति विश्रान्त्या स्वयमेव परात्परं परमपदमेव प्रस्फुटं भवति तत्क्षणात् साक्षात्कारोभवति ॥७१॥

सं० टी०—यो गुरुः (गृणातिशम्)कल्याणमाधत्ते यत्सम्यक् चै

तन्यं परिपूर्णं विज्ञान घनं तस्मिन् विश्रान्ति निष्ठामुपदिशति विश्रान्त्या तन्निष्ठया स्वयमेव साधनान्तर निरपेक्षं सत (परात) अस्मदाद्यपेक्षया हिरण्यगर्भ देवादि परं ततोपि परं समुत्कृष्टं परम पदं शिव तत्त्वं प्रस्फुटं भ्रम संशय रहितं निश्चितं भवतितत्क्षणात्) तत्कालं शिवस्य साक्षात्कारो भवति॥४०॥

भा० टी०—अब गुरु शब्द के अवयवार्थ का वर्णन करते हैं। शिष्य के अन्तः करणस्थ अज्ञान पटल का समूलोच्छेद कर, जो कल्याण का मार्ग बतलावे अर्थात् वास्तविक निज आत्मानन्द चैतन्य विश्रान्ति का जो उपदेश दे वही सद्गुरु है। क्योंकि उस उपदेश से आत्मनिष्ठा रूप शान्ति के द्वारा स्वयं ही सर्वोत्तम मोक्ष रूप परमपद स्फुट होने लगता है और उसीक्षण में साक्षात्कार हो जाता है

मू०—अतएव महासिद्धानां मते प्रोक्तं वाङ्मात्रेण सम्यगवलोकनेनवातत्क्षणान्मुहुर्विश्रान्तियुक्तं करोतीति-यःससद्गुरुर्भवति। नोचेन्निजविश्रान्तिं विना पिण्ड-पदयोःसमरसकरणं न भवतीतिसिद्धान्तस्तस्मान्निज-विश्रान्तिकारकःसद्गुरुरभिधीयतेनान्यः। पुनर्वागादि शास्त्रदृष्ट्यनुमानतर्कमुद्रयाभ्रामको गुरुस्त्याज्यः॥४१॥

सं० टी०—गुरुं विना अकृतार्थत्वादेव (महासिद्धानां मते प्रोक्तम्) सिद्धमते कथितं यत (वाङ् मात्रेण)मन्त्रोपदेशेन, अथवा सम्यग वलोकनेन दृष्ट्या तेनैव तत्क्षणात् (मुहुर्विश्रान्तियुक्तम्) परमात्म तत्त्वराणां सिद्धानां मध्ये विश्रमयुतं करोति विदधाति यः स सद्गुरु भवति नो चेद् यदि शिष्यस्य प्रथमतः परमात्मनिष्ठां न कुर्यात्तदा (निज विश्रान्तिम्, आत्मनिष्ठां विना (पिण्ड पदयोः) आत्म परमात्मनोः (सम रस करणम्) अभेद भावनं न भवतीति निश्चितं सर्वमते। तस्माद्धेतो निजविश्रान्तिकारकः परमात्मनिष्ठा सम्पादकः सद्गुरुरभिधीयते कथ्यते नत्वन्य इति आत्मचर्चा रहित संसार प्रदर्शक केवल शब्दाडम्बर शास्त्रीय विषय निजाऽनुमान मात्र कुशलः (तर्क मुद्रया) युक्तिच्छलेन

भ्रामको भ्रमोत्पादकोगुरुस्त्याज्यो दूरतः परिहर्तव्यः ॥ ७२ ॥

भा० टी०—इसी से महासिद्धों के मत में कहा है कि उपदेश मात्र से या करुणा कटाक्ष से जो गुरु तत्काल शिष्य को बारंबार परम शान्तियुक्त करता है वही सद्गुरु कहलाता है। यदि उपरोक्त लक्षण युक्त गुरु नहीं है तो वह स्वयं भी आत्मनिष्ठ न होने से शिष्य के लिये भी पिण्डपद के समरस करण में सर्वथा असमर्थ है। इसलिये शिष्य को आत्म विश्रान्ति कराने वाला और श्रेष्ठ कल्याण मार्ग का प्रदर्शक ही सद्गुरु कहलाता है दूसरा नहीं। किन्तु शुष्क वागाडम्बर द्वैत शास्त्र दृष्टि अनुमान तथा निष्फल आत्म शून्यवाद से शिष्य को भ्रम में डालने वाला गुरु सर्वथात्याज्य है।७२

मू०—ज्ञानहीनो गुरुस्त्याज्योमिथ्यावादीविडम्बकः।
स्वविश्रान्तिं न जानाति परेषां स करोति किम् ॥७३॥

सं० टी०—ज्ञानहीनः स्वकीयानुभव रहितः केवल लौकिक कृत्यकुशलः (मिथ्यावादी) संसारस्यैव मिथ्यात्वात् तद् वादी मिथ्यावदनशीलः, अत एव (विडम्बकः) विडम्बना कारको गुरुस्त्याज्यः परिहेयः। यतो यः स्व विश्रान्तिं ब्रह्मनिष्ठतां न जानाति नानुभवति स (परेषां) शिष्याणां किं करोति ॥ ७३ ॥

भा० टी०—आत्मज्ञान से वंचित करने वाला मिथ्यावादी और ज्ञानहीन गुरु त्यागने योग्य है क्योंकि जब स्वयं ही आत्मनिष्ठारूप शान्ति को नहीं जानता तो वह दूसरे को कैसे आत्मनिष्ठा में कल्याण का भागी बना सकता है। इसमें दृष्टान्त भी देते हैं ॥७३॥

मू०—शिलया किं परं पारं शिला संघः प्रतार्य्यते।
स्वयं तीर्णो भवेद्योऽसौ परान्निस्तारयत्यलम् ॥७४॥
विकल्पसागराद् घोराच्चिन्ताकल्लोलदुस्तरात्।
प्रपञ्चवासनादुष्टग्रहजालसमाकुलात् ॥ ७५

वासनालहरीवेगान्न स्वं तारयितुं क्षमः ॥७६॥
स्वस्थेनैवोपदेशेन निरुत्थानेन तत्क्षणात् ।

सं० टी०--अत्रैव दृष्टान्तमुच्यते शिलया सुरसरित्प्रवाहेपतितेन पाषाणेन तत्र स्थितः शिलासंघः (परं पारं) अपरं कुलं नावेव किं प्रतार्य्यते, उत्तार्यते नहि वर्षपूगैरपीत्याक्षेपस्तथैव स्वयमसिद्धोगुरु; शिष्यम् भवाम्बुधे स्तारयितुं नालम्; अतो यो हि स्वयं तीर्णो भवेत् स्वानुष्ठानेन परमात्मनिष्ठोऽसौ (परान्) शिष्यान् (अलम्) प्रभूतं तारयति यथा स्वयं क्रिया सहिततरिः स्व क्रिययैव निरुद्ध मपि पाषाणादि तारयतीति न्यायः योहि परमात्मनिष्ठाविहीनःस(चिंताकल्लोलदुस्तरात् चिंतैव कल्लोला बुद्बुदास्तै दुंस्तरात्, दुःखेन तीर्यंत इति तस्मात् प्रपञ्चानां सांसारिक विषयाणां-वासनाः संस्कारास्त एव दुष्टग्राहा स्तेषां जालै, र्विस्तारैः समाकुलात् संकीर्णान्, वासना पुनर्जायमान संस्कार एव लहर्य्या वेगो यस्मिन्,तस्मात् (विकल्प सागरात्) विविध कोटिक संशय रूप समुद्रात् स्वात्मानं तारयितुं नक्षमो नहि समर्थो भवति ॥

भा० टी०—जैसे शिला, शिला के समूह को नदी पार करने में सर्वथा असम्भव है। इसी प्रकार आत्मज्ञान से शून्य गुरु शिष्य के बन्धनों को नहीं छुड़ा सकता। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो आत्मनिष्ठ अवधूत सिद्ध गुरु स्वयं संसार के बन्धन से मुक्त है वही दूसरे को भी बन्धन मुक्त कर सकता है। अन्य नहीं और चिंता रूप तरंगों से घोर दुस्तर तथा जगत् की वासना रूप दुष्ट ग्राह समूह से व्याप्त जो मोह ममता आदि रूप संसार है तथा उस वासना रूप तरंगों के वेग से युक्त संसार से पार कर मोक्षपद को देने वाले तथा सुन्दर उपदेशों से क्षणमात्र में पार करने में जो समर्थ है वही यथार्थ में गुरु है। ऐसा ही समर्थ गुरु शक्तिपात के उपदेश या करुणा कटाक्ष से शिष्य को अवश्य संसार से पारकर परम मोक्ष पद में पहुँचाता है ॥

मू०—तारयत्येव दृक्पातात् कथनाद्वा विलोकनात् ॥
तारिते स्वपदंधत्ते स्वस्वमध्ये स्थिरो भवेत्॥७७

ततः समुच्यते शिष्यो जन्म संसार बन्धनात् ॥
परानन्दमयो भूत्वा निष्कलः शिवतां व्रजेत् ।७८
कुलानां कोटिकोटीनां तारयत्येव तत्क्षणात् ॥
अतस्तुसद्गुरुं साक्षात् त्रिकालमभिवन्दयेत् ७९
सर्वाङ्ग प्रणिपातेन स्तुवन्नित्यं गुरुं व्रजेत् ।
सजनःस्थैर्य्यमाप्नोति स्वस्वरूपमयो भवेत् ॥८०

सं० टी०—यस्तु स्वयं स्थिर आत्मनिष्ठः स स्वस्थैर्य्येण निरुत्थानेन, उपदेशेन निश्चयात्मकोपदेश बलेन कथनात्, वा विलोकनात् कृपाकटाक्षाद्वा तत्क्षणादेव तारयति स सद्गुरुरिति शेषः। तारिते गुरुणो द्धारिते सति शिष्यः (स्व पदं) स्वलक्ष्यं (धत्ते) धारयति किंच (स्वस्वमध्ये) स्वस्वरूपपरमात्मनि (स्थिरो भवेत्) निश्चलोजायेत (ततः) तदा जन्म संसार बन्धनात्, उत्पत्ति मरण प्रबन्ध प्रपञ्चात् स मुच्यते मुक्तो भवति। (परानन्दमयः) ब्रह्मस्वरूपः (निष्कलः) इन्द्रियादि रहितः सन् (शिवतां) शिवस्वरूपं (व्रजेत्) प्राप्नोति। स्वयं तरतीति किंचित्रं (कोटि कोटीनां) अनेक स्वकुलानां शेषे षष्ठी तत्क्षणादेव तारयति। (अतः) पूर्वोक्तहेतोः (नित्यम्) प्रत्यहं (सद्गुरुम्) अभिवन्दयेत् प्रणमेत् "सर्वाङ्ग प्रणिपातेन" दण्डवद् विनिपातेनेति पूर्वान्वयः, यः स्तुवन् प्रशंसन् गुरुं व्रजेत। स जनः स्थैर्य्यं परमात्मनिष्ठा माप्नोति लभते (स्व स्वरूपमयः) साक्षात् शिवस्वरूपो भवेत् ॥७७-७८-७९-८०

भा० टी०—योग विद्या में निपुण सिद्ध गुरु शिष्य का अपनी शक्तिपात या आत्मज्ञान के उपदेश से या करुणा कटाक्ष द्वारा इस दुस्तर असार संसार से अवश्य निस्तार कर देता है। अतः उपरोक्त विधि के द्वारा गुरु शिष्य को जब अज्ञान निद्रा से जगाता है तब वह शिष्य केवल लक्ष्य रूप अद्वैत आत्म निष्ठा धारण में ही तत्पर होता है। पीछे व्यापक असङ्ग परमज्योतिः स्वरूप आत्मा में स्थिर हो जाता है। इसी से गुरु का कृपा पात्र शिष्य योग के द्वारा आत्मज्ञान को प्राप्त हो जन्म मरणरूप संसार बन्धन से सदा के लिये छुट जाता है पश्चात

वह सर्वदोषशून्य असंङ्ग अभेद आत्म दर्शी स्वकीय वास्तविक परमानन्द स्वरूप को प्राप्त होकर व्यापक सर्वाधार केवल असङ्ग शिव रूप मोक्ष को जीवन काल में ही प्राप्त कर लेता है। महासिद्ध गुरु असंख्य कुलों को भी अल्प समय में ही निज योग विद्या के प्रभाव से जन्म मरण रूप संसार चक्र से छुड़ा देता है या जिसकुल में जो साधु होता है वह यदि सद्गुरु की कृपा से योग सिद्धि को प्राप्त करले तो उसके योग विद्या के पुण्य प्रभाव से उस कुल में उत्पन्न होने वाले अनेक जनों का भी उद्धार हो जाता है और वह सद्गुरु की कृपा से मोक्ष रूप परम पद को प्राप्त होता है। इसका तो कहना ही क्या है। इसी लिये साक्षात् शिवरूप, योगविद्या के दाता सद्गुरु को तीनों समय श्रद्धा पूर्वक प्रणाम करे। दण्डवत् प्रणाम के द्वारा भक्ति श्रद्धा से स्तुति करता हुआ नित्य गुरु के पास जाय और वहाँ गुरु के सत्सङ्ग से योग में ज्ञान ध्यान विषयक अपने सन्देह की निवृत्ति करे इस क्रम से जब योगाभ्यास करता है। तब वह योगाभ्यासी शिष्य स्थिरता को प्राप्त होता है। इसके अनन्तर वह अपने को ब्रह्मरूप से सर्वत्र व्यापक और असङ्ग देखता है ॥ ७७-७८-७९-८०॥

मू०—किमत्र बहुनोक्तेन शास्त्र कोटिशतेन च ।
दुर्लभाचित्त विश्रान्तिर्विना गुरुकृपां पराम् ॥८१
चित्तविश्रान्ति लब्धानां योगिनां दृढचेतसाम् ।
स्वस्वमध्ये निमग्नानां निरुत्थानं विशेषतः ॥८२

सं० टी०—अत्र बहुनोक्तेन, अनल्पजल्पनेनकिं शास्त्र कोटिशतेन च केवल स्वबुद्धिसंलापितानेकशास्त्रैः परां श्रेष्ठां गुरुकृपा माचार्यानुकम्पां विना चित्त विश्रान्तिः, मनोवृत्ति निरोधे दुर्लभा बहुलायास साध्या। चित्त विश्रान्तौ फलं प्रदर्शयति चित्तेति चित्त विश्रान्ति लब्धानां मनो व्यापार निरोधं प्राप्तवतामतएव दृढचेतसामुपस्थितेऽपि विषयेऽविचलित चेतसां (स्वस्वमध्ये) स्वकीयात्मस्वरूपे परिनिष्ठितानां योगिनां निरुत्थानं स्वरूपभावनातोऽप्रच्युति विंशेषतो विशेषरूपेण जायते ॥८१-८२॥

भा० टी०—अधिक क्या कहें सिद्ध गुरु की कृपा के विना करोड़ों शास्त्रों के अभ्यास से भी विशेष रूप से चित्त की शान्ति होना दुर्लभ है। अतः सिद्धगुरु की अनुकम्पा से सकल इन्द्रिय समूह के सहित मन को अच्छी तरह जीतने वाले और परम शान्ति को प्राप्त हुये अखण्ड ज्योतिः स्वरूप व्यापक निज आत्मानन्द ही में मग्न योगिराजों का विशेष रूप से अविद्यारूप निद्रा से जागरण होता है। क्योंकि अनादि अज्ञान निद्रा में सोया हुआ यह जीव ईश्वर कृपा होने पर जब गुरु से जगाया जाता है तब वह अपने को जन्म मरण रहित व्यापक असङ्ग और चेतन रूप से देखता है। जैसे पर्वत के ऊँचे शिखर पर चढ़ा हुआ व्यक्ति भूमि में स्थित प्राणियों को अत्यन्त छोटे आकार में देखता है इसी प्रकार वह योगी सकल जगत को अज्ञान निद्रा में धँसा हुआ देखकर विचार करता है कि ये लोग आत्मानन्द से वंचित हुये विपरीत मार्ग का अनुसरण कर रहे हैं, यही तो माया का खेल है। यहां ज्ञानी और अज्ञानी का मार्ग भिन्न होता है। जिस अखण्ड आत्मानन्द को न जानने से सब प्राणियों के लिये वह रात्रि रूप है इसी से उसमें समस्त प्राणी सोये हैं और योगिराज उसमें जागता है। जिस भोग्य विषय रूप तृष्णा रात्रि में मूर्खजन आसक्त रहते हैं। वह सर्वत्र एक अखण्ड ज्योति आत्मा को देखने वाले योगिराज की रात्रि होती है। उसमें वह सदा के लिये सोजाता है यही निरुत्थान पद का भाव है ॥८१-८२

मू०—निमिषात् प्रस्फुटं भाति दुर्लभं परमं पदम् ।
यस्मिन् पिण्डो भवेल्लीनः सहसानात्र संशयः॥८३

सं० टी०—ततश्च निमिषात् झगिति दुर्लभमपि परमंपदं प्रस्फुटं भाति यस्मिन् परमात्मनि पिण्डोऽयं देहः सहसा हठाल्लीनोऽभिन्नो भवति नास्त्यत्र संशयः ॥८३॥

भा० टी०—अतः जब योगी की निरुत्थान (अखण्ड आत्म बोध) दशा सिद्ध हो जाती है तब पल भर में ही दुर्लभ परमपद भी स्फुट रूप से प्रतीत होने लगता है। जिस व्यापक परमपद रूप पिण्ड में व्यष्टि पिण्ड का अभेद रूप समरस होता है अर्थात् व्यष्टि स्थूल

शरीर का समष्टि शरीर के साथ तथा व्यष्टि सूक्ष्म शरीर का समष्टि सूक्ष्म के और व्यष्टि चेतन का समष्टि चेतन के साथ अभेद होता है इसमें सन्देह नहीं। ऐसा होने पर योगी में सर्वेश्वर जैसी सामर्थ्य आ जाती है। अन्त में वह योगी अजर अमर होता हुआ स्वेच्छा से परम नाथ तत्त्व रूप परब्रह्म में लीन हो जाता है ॥८३॥

मू-संवित्क्रियाविकर्णोदयचिद्विलासो विश्रान्तिमेवभजतांस्वयमेव भाति । अस्तेस्ववेगनिचये पदपिण्डमैक्यंसत्यं भवेत्समरसं गुरुवत्सलानाम् ।८४

इति श्रीगोरक्षनाथकृतौ सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ पिण्डपद समरस करणो नाम पञ्चमोपदेशः ।

सं० टी०—(संवित् क्रियायाः, बुद्धिवृत्ते र्विकर्णो विस्तारः तस्योदय उत्पत्ति स्तेन यश्चिद्विलासः केवलात्म प्रकाश स्तस्मिन् विश्रान्ति स्थितिमेव न तु सांसारिक विषयक चिद्विलास विश्रान्तिमित्येव पदेन व्यज्यत, (भजताम्) सेवमानानां शिष्याणां (स्ववेग निचये) स्वीयमानस व्यापारे (अस्ते) निरुद्धेसति (पदपिण्डम्) समष्टिव्यष्टि रूपं स्वयमेव भाति प्रकाशते किञ्चैक्यं समरसं गुरुवत्सलानामाचार्य्य कृपा भाजां सत्यं ध्रुवं भवेदित्याचार्य प्रतिज्ञा ॥८४॥

इति श्रीगोरक्षनाथ कृतौ सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ सर्व्वतन्त्र स्वतन्त्र श्री पं० द्रव्येश झा रचितायां गूढार्थ दीपिकायां टीकायां पञ्चमोपदेशः।

भा० टी०—बुद्धि के व्यापार का जो सांसारिक बाह्य विकाश होता है उसकी शान्ति करने से उसी सत्त्व प्रधान बुद्धि दर्पण में अभिव्यक्त और आत्म विषयक अखण्डाकार वृत्ति में परम निष्ठा रूप शान्ति का आश्रय करने वाले जो गुरु के कृपा पात्र शिष्य हैं उनको स्वयं ही सम्पूर्ण मानसिक वृत्तियों के अस्त होजाने पर जीवात्मा और परमात्मा का अभेद रूप समरस अवश्य होता है। यह सत्य है ॥८४॥

इति सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ पूज्यपाद वोड्राधिपति योगीन्द्र श्री १०८ श्रीपूर्णनाथ शिष्येण वेदान्ताचार्य्येण पण्डित श्रीभीष्मनाथेन कृतायां सारदीपिकायां हिन्दीटीकायां पञ्चमोपदेशः

अथावधूतयोगिलक्षणंकथ्यते

मू०—अथ कोऽवधूत योगिनामेत्यपेक्षायामाह । यः सर्वान्प्रकृतिविकारानवधुनोतीत्यवधूतयोगी, योगोऽस्यातीति योगी धूञ् कम्पने धूञिति धातुः कम्पनार्थे वर्तते कम्पनं चालनं देह दैहिक प्रपंचादिषु विषयेषु संगतं मनः परिगृह्य तेभ्यः प्रत्याहृत्य स्वधाममहिम्निपरिलीनचेताः प्रपञ्चशून्यआदिमध्यान्तनिधनभेदवर्जितः॥१॥

सं० टी०—अथ गुरुं समासाद्य तदुपदर्शित समस्त करणानुष्ठानेन सिद्धिं प्राप्त्यनन्तर मवधूत योगी भवति । तस्य परिचयाय लक्षणं कथ्यत इति प्रकरण सङ्गतिः प्रदर्शिता भवति । कोऽवधूतनामा योगीति कस्यापि जिज्ञासोदये तदुपशमनाय लक्षणं प्रदर्श्यते । अवधूत इति सार्थकमिदं न तु केवलं रूढम्, तत्रैव शाब्दिकरीत्या व्युत्पत्तिः प्रदर्श्यते। अवधूनोति कम्पयति चालयति स्वस्मात् त्यजतीति यावत् किमित्यपेक्षायामाह सर्वानिति तत्र किञ्चित् परित्यागे मानाभावात् किं त्वात्मस्वरूपस्य हातुमशक्यतयाऽनात्मभूतान् प्राकृत सर्व पदार्थां स्तथा च निखिल प्राकृतमलपरिरहितो विशुद्ध एवावधूत पदार्थः, इति निर्गलितः कम्पनेऽपि गतेः सद्भावेन गत्यर्थकत्वात् "गति वुद्धि" इति सूत्रेण कत-रिक्तः, योग: परमात्मना सकल शक्ति मता सह सम्बन्धोऽस्य.स्तीति योगी अवधूतश्चासौ योगीति कर्मधारयः । धूञ् कम्पने इति शाब्दिक प्रक्रियामादाय स्वयमेव तस्यार्थमाह धूञिति धातुः कम्पनार्थे वर्तते कम्पन पदार्थमाह कम्पनं चालनं परित्याग इति यावत् साम्प्रतमवधूत योगीति पदद्वयस्य निर्गलितार्थं संचिन्त्याह देहदैहिक प्रपंचादिषु विषयेषु संसारेषु । अत्र दैहिक पदेन देह सम्बन्धि कलत्रपुत्र धनादयो ग्राह्याः "संगतम्" आसक्तम् (मनः) चित्तं परिगृह्य ध्यानाद्यभ्यासेन वशीकृत्य (तेभ्य. प्रत्याहृत्य) दोषदर्शनादिजन्य वैराग्येण विषयेभ्यो विनिवर्त्य । न नु तस्य क स्थितिः कर्तव्येत्यत आह स्वधाम महिम्नीति सर्व शक्ति सम्पन्न परमात्मनि (विलीन चेताः) विलीनं चेतो यस्येति सः । तथा च चेतसो-

लयः । अतएव (प्रपंचशून्यः) प्राकृत सकल सम्बन्धोज्झितः । तस्मात् (आदिमध्यान्तभेद वर्जितः) समस्त भेद शून्यः अद्वितीय रूप मुख्याव-धूत योगी संजातः किंत्वोदनं पचतीतिवदेतदर्थं साधन दशापन्नोऽप्य वधूत योगीति ध्वन्यत इत्यग्रे स्फुटी भविष्यति ॥१॥

भा० टी०—सद्गुरु के चरणों की कृपा से समरस करण के अनुष्ठान द्वारा जो सिद्ध होजाता है। वह समस्त सांसारिक कर्तव्य बन्धन से विमुक्त होकर अवधूत योगी कहलाता है। इसी लिये समरस करण का प्रकार पंचम उपदेश में निरूपण कर अब इस उपदेश में अवधूत योगियों का लक्षण कहा जाता है। क्योंकि लक्षण से ही वस्तु का निर्णय होता है। अतः अवधूत योगी कौन है। इस आकांक्षा को हटाने के लिये लक्षण कहना भी आवश्यक है। अवधूत पद तथा योगी पद का व्याकरण की रीति से जो अर्थ निकलता है वही उन का लक्षण है। देह और देह सम्बन्धी पुत्र कलत्र मित्र धनादि समस्त सांसारिक पदार्थों में आसक्त मन को हटा लेना अवधूत पद का अर्थ है। क्योंकि व्याकरण में धू शब्द का अर्थ कम्पन है। जैसे घोड़ा अपने देह को हिलाकर समस्त धूलि को झाड़ देता है। वैसे ही आत्मा से अतिरिक्त देह इन्द्रिय आदि सब जड़ वर्ग रूप मल को अलग करने वाला अवधूत कहलाता है। योगी पद का अर्थ है कि मन को परमात्मा में लीन करदेना। इन दोनों पदों के मिलने से यह अर्थ हुआ कि समस्त प्राकृत सम्बन्ध से विमुक्त होकर अखण्ड स्वप्रकाश शिव शक्ति रूप समरस करना आदि मध्य अन्त तथा मृत्यु आदि सकल भेद रहित अपने स्वरूप में स्थित रहने वाला मुख्य अवधूत योगी कहलाता है। तथा जो इस अवस्था की प्राप्ति के लिये साधन कररहा है वह भी अवधूत योगी कहलाता है ॥१॥

मू०-यकारो वायुबीजं स्याद्रकारो वह्नि बीजकम् ।
तयोरभेदओंकारश्चिदाकारः प्रकीर्तितः ॥२॥

सं० टी०—वाच्य वाचक योरतादात्म्य मिति नियमेन तत्तदर्थ वाचको वर्णरूपः पदरूपो वा शब्दस्तदर्थरूप एव कथ्यते, अतएवो

पनिपत्सु ब्रह्मवाचकः प्रणवो ब्रह्मरूप एवेति गीयते। विन्दु पदवाच्यः शिवो बीजपदवाच्या शक्तिरिति तान्त्रिक संकेतः। एवं च पृथिवी तत्त्वस्य या शक्तिः सा पृथिवी बीजम्। तस्या वाचको लकार वर्णः, अतो लँकार पृथिवी बीजम्। एवमेव जलादिभूत चतुष्टयेषु योज्यम, अनया-रीत्या जल बीजं वँ तेजो बीजं रँ मूले वाहुलकादुरादिफ इत्यभावेकार प्रत्ययेरकार पदं साधु। वायु बीजं यँ आकाश बीजं हँ। अत्र श्लोके दिग्दर्शन न्यायेन वायुवह्न्योरेव बीजे कथिते। तथा च तयोरिति पदेनो पलक्षणतया सर्वेषां बीजानां ग्रहणम्। अतः सर्वेषां बीजानां सर्वासां शक्तिनामिति निष्कर्षः (अभेदः) उपादान कारणतया तादात्म्य प्राप्नुवन् (ओंकारः) पंचभूतबीजशक्तियुक्तः प्रणवः (चिदाकारः) परमात्मरूपः (प्रकीर्तितः) कथितः। अवधूतोऽपि कार्य्यरूपं परित्यज्य कारणरूप मापन्न तया तद्रूपोभवतीति व्यज्यते। अतएव अवधूत लक्षण प्रकरणेऽयमु-पन्यस्तः ॥२॥

भा० टी०—संज्ञा और संज्ञी अर्थात् नाम और नाम वाला इन दोनों में अभेद का व्यवहार लोक और शास्त्र में होता है। लोक में जैसे यह कौन है? राम। राम कौन है? यह। इस प्रकार यह और राम में अभेदरूप से ही व्यवहार होता है। वेद मे भी ओंकार को ब्रह्मरूप कहा गया है। क्यों कि वाच्य वाचक का अभेद सम्बन्ध होता है। तान्त्रिकसंकेत से विन्दु का अर्थ शिव और बीज का अर्थ शक्ति है। इस रीति से पृथ्वी बीज का अर्थ पृथ्वी तत्त्व की शक्ति हुआ। और उसी शक्ति का नाम लकार है और विन्दु शिव कहा गया है। अतः पृथ्वी बीज लकार कहलाता है। इस तरह पांचों भूतों के पांच बीजहैं। लँ वँ रँ यँ हँ। इनमें लँ बीज पृथ्वी का वँ जल का रँ वह्नि का यँ वायु का और हँ आकाश का बीज है। यद्यपि इस श्लोक में दो ही बीजों का वर्णन है तथापि प्रकरण वश पांचों बीजों का ग्रहण करना इष्ट है। अर्थात् पांच भूतों का अभेद अपने पांच बीजों से होता है। और उन बीजों का भी अभेद ओंकार से होता है क्यों कि ओंकार ही सकल बीज मन्त्र और शब्दों का उपादान कारण है जैसे पृथ्वी से उत्पन्न घट पटादि और स्थावर जंगम सभी पृथ्वी कहलाते हैं। इसी प्रकार ओंकार से उत्पन्न

सब बीज ओंकार रूप हैं। उस ओंकार से चिद्रूप शक्ति का अभेद है। क्यों कि संज्ञा और संज्ञी का अभेद होता है ॥२॥

मू०—तदेतद्व्यक्तमुच्यते,

क्लेशपाशतरंगाणां, कृन्तनेन विमुण्डनम् ।
सर्वावस्था विनिर्मुक्तः सोवधूतोऽभिधीयते ॥३॥

सं० टी०—(तदेतत्) पूर्वोक्त श्लोके च व्यंग्यतया कथितम्। यत्त देवात्र (व्यक्तम्) स्पष्टतरम् (उच्यते) कथ्यते मयेति शेषः क्लेशपाशेति अविद्यास्मिता रागद्वेषाभिनिवेशाः पंचक्लेशास्त एव पाशबन्धका स्तेषां तरंगाणां व्यापाराणां (कृन्तनेन) उच्छेदनेन (विमुंडनम्) परित्यागं यः करोतीति शेषः (स सर्वावस्था विनिर्मुक्तः) जाग्रत स्वप्न सुषुप्तिभिर्बाल्या दिभिर्वा रहितोऽवधूतोऽभिधीयते ॥ ॥

भा० टी०—पूर्व श्लोक में व्यङ्ग रूप से जो अवधूत योगी का लक्षण किया है वही यहां स्पष्ट रूप से कहा जाता है। जिस के अविद्यादि पांच क्लेश रूप जाल के वेग का उच्छेद कर त्याग दिया है और बाल्य यौवन वार्धक्य तथा जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं के प्रपञ्च से जो मुक्त होगया वह अवधूत कहलाता है ॥३॥

मू०—निजस्मर विभूतिर्यो योगी स्वांगे विभूषितः ।
आधारे यस्य वारूढिः सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥

सं० टी०—पुरस्तादन्तरङ्गमभिधायाधुनावहिरंगलक्षणमन्तरगेण वहिरङ्गस्य सामरस्यञ्चाह। तथा च द्विविधोऽवधूतो मुख्यो गौणश्च तत्रोभय लक्षणलक्षितो मुख्यः। अन्यतर लक्षण सहितो गौण इति व्यज्यते (यो योगी) साधकः (स्वाङ्गे) स्वविग्रहे (निजस्मर विभूत्या) स्वरूप स्मारक भस्मना (विभूषितः) अलंकृतः (आधारे) आचार्य परम्परावलम्बित मार्गे (यस्य) साधकस्य (रूढिः) दृढाध्यवसायः) सोऽवधूतः। वा शब्दपूर्वोक्तान्तरंग लक्षणाभिप्राये चकारार्थ को वा। तेन समुच्चयः ॥४॥

भा० टी०—अविद्यादि पांच क्लेशों का वर्णन मंगल श्लोक

की व्याख्या में हो चुका है। वहां यह भी जान लेना आवश्यक है कि उन पाँचों में एक अविद्या क्षेत्र रूप अर्थात् कारण है और अस्मिता आदि चार कार्य रूप हैं वे कार्य अविद्या में प्रसुप्त तनु विच्छिन्न और उदार इन चार भेदों से विद्यमान रहते हैं। जिस समय सूक्ष्म रूप होकर अविद्या में छिप जाते हैं और उन का बीजपना तत्त्वज्ञान से दग्ध नहीं हुआ है। अतः आगे उत्पन्न होने वाले हैं उस समय वे प्रसुप्त कहलाते हैं। योगियों के अस्मिता आदि क्लेश प्रसुप्त नहीं कहे जाते हैं। क्यों कि उनके क्लेशों में बीजपना नष्ट हो चुका है। साधक योगियों के क्लेश तनु कहे जाते हैं। क्यों कि उन में दोष देख कर वैराग्य भावना से सूक्ष्मता होजाती है जैसे जिस समय में एक स्त्री में राग वर्तमान है उस समय में अन्य स्त्री का राग दवा हुआ है वह विच्छिन्न कहलाता है। वैसे ही दबे हुये क्लेश विच्छिन्न कहलाते हैं। अपने स्वरूप से विद्यमान् काल में उदार कहलाते हैं इन उपर्युक्त क्लेशों को समूलनष्ट करनेवाला और प्रपञ्चावस्था से विमुक्त अवधूत योगी होता है ॥४॥

मू०—लोकमध्ये स्थिरासीनः समस्त कलनोज्झितः।
कौपीनं खर्परोऽदैन्यं सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥५॥

सं० टी०—(लोक मध्ये) संसारे (स्थिरासीनः) स्थिरं निश्चलं यथा स्यात्तथा (आसीनः) रागद्वेष विनिर्मुक्तो मध्यस्थश्चेति यावत् (समस्त कलनाभिः) अयं ब्राह्मणः क्षत्रियो वेत्यादि सांसारिक निखिल गणनाभिः, (उज्झितः) शून्यः (अदैन्यम्) यस्य (कौपीनम्) कटिवस्त्रम् (खर्परम्) हस्ते पात्रम् सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥५॥

भा० टी०—पहले अवधूत योगी का मुख्य लक्षण कहकर अब वहिरंग लक्षण का निरूपण करते हैं। अपने स्वरूप का स्मरण कराने वाले विभूति रूप अलङ्कार से जो सुशोभित तथा निज गुरु के बतलाये हुये आसन पर आरूढ़ है वह अवधूत योगी कहलाता है। जिस ने इस संसार में ही समस्त राग द्वेषादि प्रपञ्च का परित्याग किया है इसीलिये समस्त कल्पनाओं से मुक्त और स्थिर आत्मानन्द में स्थित है तथा जिस के कटिदेश में कौपीन और हाथ में खप्पर है

एवं दीन भाव से भी रहित है वह पक्का अवधूत है ॥५॥

मू०--शं सुखं खं परं ब्रह्म शंखं संघट्टनाद् भवेत् ।
सिद्धा न्तोधारितोयेनसोऽवधूतोऽभिधीयते॥६

सं० टी०—शंख शब्दघटकः शं शब्दः सुखवाचकः खशब्दश्चव्यापक ब्रह्म वाचकः । एवं च ख समभिहारात् लौकिकसुखस्य शमिति समभिहाराच्च जडात्मकाकाशस्य च व्यावृत्तिः परस्पर समभिहार बलेनाखण्डः सच्चिदानन्दो गृह्यते तथा चाखण्ड सच्चिदानन्दरूपः शंखो येन धारितोऽधारिसः "अवधूतः" कथ्यते । अवधूतस्य यानि लिङ्गानि तानि सकलानि सच्चिदानन्द ब्रह्म स्मारकतया ब्रह्म लिङ्गानि कथ्यन्ते । तत्र द्विविधा दृष्टिः। अभेदेन भेदेन च प्रथमा यथादित्यो ब्रह्मेत्यत्राभेद भावनयाऽऽदित्य दर्शनेन ब्रह्म स्मर्यते । अयमपि सच्चिदानन्द एवेति । न चेत्थं प्रतीकोपासना स्यात् तथा च प्रतिकोपालम्बान्नयतीति चेन्नेत्यादि व्यास सूत्रोक्त सिद्धान्तानुसारेण तस्य मोक्षो न स्यादिति वाच्यम् । तस्य तात्पर्यान्तरत्वात् तथाहि यस्यातिरिक्त सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म पदार्थ ज्ञानं नास्ति किन्त्वस्यादित्य पिण्डस्य यादृशस्वरूपन्तदेव ब्रह्मपदार्थो नान्यादृगिति बुद्ध्योपासनं स एव प्रतीकोपालम्बन स्तस्यैवातत्क्रतुत्व हेतुं प्रदर्श्य मोक्षो वारितस्तत्र नतु यस्यातिरिक्त सच्चिदानन्द ब्रह्मपदार्थ विज्ञानं तदभिन्नतयाऽऽदित्यादीनां तस्य प्रतिकोपालम्बनत्वं तस्य च तत्क्रतुत्वेन(ब्रह्मभावनया)मोक्षो ध्रुव एवेति रहस्यं मर्म विदो विदन्ति । तथैवावधूतेन स्वधारित शंख लिङ्ग सुखात्मक व्यापक ब्रह्म बुद्धिराधीयते नैतावता प्रतीकोपालम्बनत्वम्, अपितु ब्रह्मज्ञानित्वमेव । अतस्तेन मोक्षो हस्तयित एव इदमेव रहस्यं सनातन धर्मावलम्बिनां मूर्ति पूजासु न जातु कश्चिद् वटुकोऽपि जानाति यदियमेव प्रतिमा परमेश्वरः । अपितु,अस्ति कश्चिच् शक्तिशाली परमेश्वरः स्वमहिम्निप्रतिष्ठितः । किन्तु प्रतिमापि तस्यैव रूपमेवावगच्छन्ति सर्वे तावता ब्रह्मज्ञानित्वस्य न क्षतिः किन्तु ब्रह्मज्ञतायाद्रढीयस्त्वमेव सम्पद्यतेऽतो ब्रह्मज्ञैरपि प्रतिमा पूजनीयेत्युपदिश्यते। अथवायोहि ब्रह्म पदार्थानभिज्ञस्तस्य त्वरितमतिरिक्त ब्रह्म पदार्थज्ञानस्याशक्यतयाऽन्तः

करणादि शुद्धिफलाय तावत् प्रतिमापूजाविधेयैव शुद्धे मनसि स्वयमेवा तिरिक्तं ब्रह्मज्ञायते यथाऽन्नं ब्रह्मेति क्रमिकविज्ञानादन्ते विशुद्ध ब्रह्म विज्ञानं भृगो र्बभूवेति तैत्तरीयोपनिषदि प्रसिद्धम्। ततश्चावधूतवदेव प्रतिमा पूजनेऽपि न मोक्ष प्रतिबन्धः। अपितु ब्रह्म ज्ञानस्यपरिपूर्णतयैव परिचीयते। एवं च ज्ञान्यज्ञान्युभयोरपि सर्वावस्थासु विदेह कैवल्यात् प्राक् प्रतिमा पूजनीयं त्याद्य भेद्यतर्कार्गलमिमं सनातन सिद्धान्तं मनसि निधायोपदिशन्ति शं सुखेत्यादि ॥ द्वितीय प्रकारो भेदेन दृष्टि रत्र पक्षे मूर्त्तिस्तूपाधिस्तेन तदुपहित ब्रह्म स्माय्यते ॥ ६ ॥

भा० टी०—"शम्" शब्द का अर्थ सुख और ख पद का अर्थ आकाश सदृश व्यापक पर ब्रह्म है। इनदोनोंशब्दों का परस्पर मेल होने से शङ्ख शब्द सिद्ध हुआ। शंख शब्द का अर्थ सुख रूप व्यापक परब्रह्म होता है। यही अद्वैत रूप सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त का पालन करने वाला अवधूत योगी कहलाता है तथा इसी सिद्धान्त के स्मारक शङ्खरूप वाद्य विशेष का धारण करना अवधूत योगियों का बाह्यचिन्हहै ॥६॥

मू०—पादुका पद संवित्ति र्मृगत्वक् स्यादनाहता।
शेली यस्य परासंवित् सोवधूतोऽभिधीयते ॥७॥
मेखला निवृत्तिर्नित्यं स्वस्वरूपं कटासनम्।
निवृत्तिःषड्विकारेभ्यः सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥८
चित्प्रकाश परानन्दौ यस्य वैकुण्डल द्वयम्।
जपमालाच्च विश्रान्तिः सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥९॥
यस्य धैर्य्यमयोदण्डः पराकाशञ्च खपरम्
योगपट्टो निजाशक्तिः सोऽवधूतोऽभिधीयते॥१०॥

सं० टी०—एवं यस्य (पदसंवित्तिः) पद्यत इति पदा सा च संवित्तिस्तत्वज्ञानं सैव प्राप्तव्येत्यर्थः (पादुकाः) या चरणे धार्य्यते। यस्य चाङ्गोपरि (मृगत्वक्) मृगचर्म (अनाहता) अनाहतनादरूपास्यात् किंच (परासंवित्) पराशक्तिज्ञान स्वरूपा च (शेली) गले स्यात् तथा

चान्तरंगविहिरंगयोः सामग्रस्यमेव व्याख्याने फलितं सः अवधूतोऽभिधीयते ॥ ७ ॥ यस्य कटौ (निवृत्तिः) वैराग्यरूपा (मेखला) मौञ्जी नित्यं वर्तते (स्व स्वरूपं) आत्मरूपम् (कटासनम्) कटशय्यास्ति । पूर्वं निवृत्तिरित्युक्तं तत्रावध्यंशेनित्य साकांक्षतया कस्मान्निवृत्तिरित्यपेक्षायामाह (षड्विकारेभ्यः) काम क्रोध लोभ मोह भयेर्ष्याभ्यः सोऽवधूतः ॥८ यस्य "चित्प्रकाश परानन्दौ,, तद्रूपौ "कुण्डलौ,, कर्णयोर्भूषणे भवतः "अक्ष विश्रान्तिः,, इन्द्रियविरामरूपा "जपमाला,, रुद्राक्षमाला,, कण्ठे हस्ते वा वर्तते सः "अवधूतः,, ॥९॥ यस्य (दण्डः) दण्डस्थानीयः धैर्य्यमयः,, प्रचुर धैय मेवार्थं च् चतुर्थाश्रमे यद्दण्डधारणं तदिह धैर्यधारणम् "पराकाशम्,, हृदयाकाश रूपं वा "खपरम्,, तत्पात्रम् 'योगपट्टः, काष्ठनिर्मितो योगिनां विश्राम दायकः । सा "निजाशक्तिः,, स्व शक्तिमेव योग पट्टं मन्यत इति भावः "सोऽवधूतः,, पूर्ववत् ॥१०॥

भा०टी०—उदयभूत परमात्मा के ज्ञानकी बोधक खड़ाऊँओं को जिसने पैरों में धारण किया है तथा देह पर अनहद नाद रूप मृगचर्म ओढ रक्खा है और सर्वोत्कृष्ट ज्ञान की परिचायक शेली (जनेऊ) को जिस ने गले में धारण किया है वह अवधूत कहलाता है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक अन्तरङ्ग साधन का द्योतक प्रत्येक वाह्य चिन्ह है। जिस की नित्य ही काम क्रोध लोभ मोह भय ईर्ष्याइन विकारों को निवृत्ति रूप तगड़ी है तथा स्व स्वरूप आत्मानन्द में निरन्तर मग्न होना ही स्थिर आसन है वह अवधूत है। जिस के कानों में चित प्रकाश और परमानन्द यही दोनों कुण्डल हैं और इन्द्रियोंकाविषयों से उपरत होना ही रुद्राक्ष जपमाला है। ऐसी माला जिस के कण्ठ में या हाथ में हो वह अवधून है। जिस के आत्म संयम में धैर्य रूप ही दण्ड है तथा पराकाश (परमात्मा) रूप खप्पर है और जिस का निजा शक्ति रूप ही योग पट्ट (आशा) है वह अवधूत कहलाता है ॥१०

मू०—भेदा भेदौ स्वयंभित्वांकृत्वास्वा स्वादने रतः।
जारणा तन्मयी भावः सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥ ११ ॥

अचिन्त्येनिजदिग्देशे स्वान्तरं वस्तुगच्छति।

एकदेशान्तरीयो यः सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥१२॥
स्वपिण्डममरी कर्तुमनन्ता ममरीं च यः ।
स्वयमेव पिबेदेतां सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥१३॥
अचिन्त्या वज्रवद्‌गाढा वासनामलसंकुला ।
सा वज्री भक्षितायेन सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥१४॥
आवर्तयति यः सम्यक् स्वस्व मध्ये स्वयं सदा ।
समत्वेन जगद् वेत्ति सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥१५॥

सं० टी०— स्वयं 'भेदा भेदौ ,, द्वैता द्वैतौ "भित्तां कृत्वा;, भक्षयित्वा,. स्वास्वादने,, स्वस्य स्वस्वरूपस्य,, आत्मन आस्वादने निजानन्दानुभव इति यावत् (रतः) संलग्नः । जारणा, रागद्वेषयोर्भेदयो र्वा पाचनं जागरापाठ पक्षे जागरणं तन्मयी भावः--आत्मनिष्ठतारूप जागरणं यस्य सः "अवधूतः,, ॥११॥केवल प्राकृत तीर्थादि दिग्देशाद्य भ्रममाणो नावधूतोऽपि तु यः (एक देशान्तरीयः) लौकिकदृष्ट्यैकदेश मध्य स्थितोऽपि । "अचिंत्ये" चिन्तनातीतेऽपरिमिते 'निजदिग्देशे' वास्तविक स्वकीय व्यापक प्रदेशे (स्वान्तरम्) स्वकीयान्तः करणं (गच्छति) मेलयति सः 'अवधूतः' कथ्यते अयम्भावः स्थूलदेहापेक्षया परिच्छिन्न देशे समासीनोऽपि मनसा सर्वदेशस्थितो यः सोऽवधूतः ॥१२॥ यः 'स्वपिण्डम्' प्राकृतस्वस्थूलशरीरम् 'अमरी कर्तुम्' अनमरममरं कर्तुं मृत्युं विजेतुम् 'अनन्ताम्' अविनश्वर शीलाम् 'अमरीम्' पूर्वोक्तां खेचरीमुद्रया निःसृत सुधाम् स्वयमेव पिबेत् सः 'अवधूतः कथ्यते ॥१३॥ या 'मलसंकुला' सांसारिक विषयरूप मल व्याप्ता । अतएव(अचिन्त्या) वाङ्मनो विषयातीता (वज्रवद्‌गाढा) वज्रवद्‌घनीभूता दुर्भेद्या सा'वज्री'तन्नाम्ना व्यवहरणीया'येन भक्षिता'समूलोत्पाटिता सः'अवधूतः'कथ्यतेयेनवज्रो लीकृता सोऽवधूत इति भावः। १४ (स्वस्व मध्ये) सकलात्मसु (सदा) सततं यो योगी स्वयं) स्वस्वरूपं 'सम्यगावर्तयति' अभेदेन संघटयति। अतएव समत्वेन स्वाभिन्नत्वेन (जगत्) संसारं 'वेत्ति' अनुभवति सः 'अवधूत'; कथ्यते ॥१५॥

भा० टी०—भेद और अभेद इन दोनों की भिक्षा कर अर्थात उन भेदाभेदों को त्यागकर जो स्वयं आत्मानन्द के रसास्वादन में तत्पर है और उन दोनों को ब्रह्मानन्द में लीन होने से जीर्ण करनेवाला अवधूत कहाता है। केवल बाहर घूमने से ही अवधूत नहीं होता किन्तु जो देश कालादि से अपरिमित परमात्मा में ही अपने व्यापक आन्तरिक आत्मा को प्राप्त करने वाला इसीलिये साधारण जनों की दृष्टि से वह एक देश में स्थित प्रतीत होने पर भी वास्तव में ब्रह्म रूप से सर्वत्रव्यापक अखण्ड ज्योतिरूप है वही अवधूत कहाता है। जिसने इस प्राकृतिक स्थूल शरीर को अमर बनाने के लिये खेचरी मुद्रा द्वारा स्वयं ही अनन्त अमरीपान किया है उस को अवधूत कहते हैं। जिसने वासना रूप मलों से भरी हुई अतएव चिन्तातीत और वज्र की तरह दुर्भेद्य वज्रीनाडी को स्वाधीन कर लिया है वह अवधूत कहलाता है। सब की आत्माओं में अपनी तथा अपने में सब की जो अभिन्न रूप से भावना करता है कि मैं ही सर्वत्र व्यापक हूं। इस प्रकार समस्त संसार को निज आत्मरूप से जानने वाला अवधूत कहलाता है ॥१५॥

मू०—स्वात्मानमवगच्छेद्यः स्वात्मन्येवावतिष्ठते ।
अनुत्थानमग्नः सम्यक् सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥१६॥
अनुत्थाधारसंपन्नः परविश्रान्तिपारगः ।
धृतिचिन्मय तत्त्वज्ञः सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥१७॥
अव्यक्तं व्यक्तमाधत्ते व्यक्तं सर्वं ग्रसत्यलम् ।
स सत्यं स्वान्तरे सन्नः सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥१८॥
अवभासात्मकोभासः प्रकाशे सुख संस्थितः ।
लीलया रमते लोके सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥१९॥
क्वचिद् भोगी क्वचित्त्यागी क्वचिन्नग्नः पिशाचवत् ।
क्वचिद्राजा क्वचाचारी सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥२०॥

सं० टी०—'स्वात्मानमवगच्छेत्' स्वस्वरूपं प्रत्यक्षतोजानातित्वा

त्मन्येव स्वस्वरूपमात्रे, अवतिष्ठते सदा रमते । किंनिमेषमात्रं न किन्तु, अनुत्थानमयः अनुथानशीलः(सोऽवधूतः)अत्रात्मज्ञानस्य मुख्यतां तन्निष्ठतायाश्च दुर्लभतां प्रदर्शयति पुनः पुनर्वाद इतिन पुनरुक्तेः शंका कार्या ॥१६॥ अनुत्थेति नोत्तिष्ठतीत्यनुत्थः कूटस्थः स चासावाधारो जगता मधिष्ठानात्मभूतः परमात्मा तत्र सम्पन्नोऽभिन्नतां गतः परविश्रा न्ति पारगः, परविश्रान्तिः सत्संपत्तिः स्तस्या पारगो निःशेषं परिलब्धा (धृतिचिन्मयतत्त्वज्ञः) धृत्या धैर्येण सम्यक्कृतयेति यावत् चिन्मयतत्त्वम् आत्मतत्त्वम् तज्जानाति सः "अवधूतः,, ॥१७॥

(अव्यक्तम्) विलीनं स्व स्वरूपं कचिद् भक्त विशेषे (व्यक्तम्) प्रकटरूपम् (आधत्ते) करोति भक्ताय दर्शनं ददातीति भावो यथाचार्य पादः समये समये प्रादुर्भवति । अथवा "अव्यक्तम्,, सूक्ष्मतत्त्वम् व्य-क्तम्,, प्रकटं करोति तथैव व्यक्तमपि सर्वं ग्रसति वा (अव्यक्तम्) परमे श्वरम् (व्यक्तम्) प्रत्यक्षं करोति निजभक्तिप्रभावाद् व्यक्तं च सर्वजड वर्गं (ग्रसति) परमात्म बुद्ध्याऽऽच्छादयति । अत एव सः (स्वान्तरे) स्वाभ्यन्तरे (सत्वम्) परमात्मानम् (सन्नः) प्राप्तः सोऽवधूतोऽभिधी यते ॥१८॥ (अवभासात्मकः) सकलप्रकाशकः (भासः) प्रकाशो भवती ति शेषः । ननु सतिप्रकाशेऽपि दुःखंस्यादत आह—प्रकाशे सुखं स्थितः सुखेन सम्यक् सम्पन्नः । ननुजडीभूततया मृतकल्पः किम्- अत आह (लीलया) अनायासेन लोके रमते सः "अवधूतः" ॥१९॥

भा० टी०—जो सकल चराचर को आत्म रूप जानकर सदा आत्मनिष्ठ रहता है अर्थात् कभी भी आत्म स्वरूप से विचलित नहीं होता वह अवधूत कहाता है । जिस समय सिद्धपूर्ण ब्रह्मज्ञान निष्ठा को प्राप्त हो जाते हैं उस समय उन सिद्धों के लिये सब बाह्य चिन्ह आत्म रूप से भासने लगते हैं । अतः उनको बाह्य चिन्हों की आवश्यकता नहीं रहती । हां, साधनावस्था में बाह्य चिन्ह धारण करना अनिवार्य है क्योंकि बाह्य चिन्ह आत्म विज्ञान और वैराग्यादि अन्तरङ्ग साधनों के स्मारक हैं और उनमें भी आत्म बुद्धि रहने से वे अवधूत पन के बाधक न होकर साधक बन जाते हैं । इसी अभिप्राय का गीता में भी "ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविरित्यादि" रूपसे स्पष्टवर्णनकिया है ।१६। सकल चराचर जगत

के अधिष्ठान भूत कूटस्थ परमात्मा में धैर्य से जीवात्मा और परमात्मा की एकता सम्पादन करने वाला इसी लिये परमानन्द की अन्तिम सीमा को प्राप्त हुआ और वास्तविक तत्त्व को पहिचानने वाला अवधूत कहलाता है।१७। जो ब्रह्मनिष्ठ अपने स्वरूप को कदाचित किसी प्रिय शिष्य के कल्याणार्थ प्रकट कर देता है और कभी प्रकट शरीर को भी छिपा देता है इस लिये वह अपने शरीर में ही अखण्ड व्यापक ज्योति चित् स्वरूप को प्राप्त हुआ अवधूत कहलाता है या अव्यक्त प्रकृति ही व्यक्त रूप को धारण करती है। अतः प्रकृति का विकार होने से व्यक्त स्वर्गादि सब भोग्य विषयक प्रपञ्च अनित्य क्षण भंगुर और जल बुद्बुद् की तरह विनश्वर है। इसी से समस्त कार्य कारण रूप भूत भौतिक प्रपञ्च से विरक्त और सदा अचल, सत्य आत्मानन्द में तृप्त रहने वाला अवधूत योगी कहलाता है।१८। जो सदैव अखण्डव्यापक आत्म सुख में स्थित रहता है अतः असङ्ग ब्रह्म स्वरूप होने से जगत् के प्रकाशक सूर्य चन्द्रादि का भी प्रकाशक है और मायावी के समान लीला से स्वच्छन्द गति के द्वारा विचरने वाला अवधूत कहलाता है ॥१९॥

मू०-एवं विध नानासंकेत सूचको नित्य प्रकाशेवस्तुनि निज स्वरूपी सर्वेषां सिद्धान्तदर्शनानां स्वस्वरूप दर्शने सम्यक् सद्बोधकोऽवधूत योगीत्यभिधीयते स सद्गुरुर्भवति यतः सर्वं दर्शनानां स्व स्वरूप दर्शने समन्वयं करोति सः "अवधूत योगी स्यात् ॥२०॥

सं० टी०–(नित्य प्रकाशे) स्वरूपानुभवे संजाते (एवं विधेति) एवं विधानां सकलानां संकेतानां सूचकः पूर्वोक्त प्रकारेण नाना मत प्रदर्शकः (निजस्वरूपी) स्व स्वरूपानुभवनिष्ठः (सर्वेषां) आस्तिक नास्तिकानाम् (सिद्धान्त दर्शनानाम्) विभिन्न मत प्रदर्शकशास्त्राणाम् (स्वस्वरूप दर्शने) परमात्मस्वरूप बोधने सम्यक् समीचीनतया बोधकः समन्वयद्वारातत्त्वोपदेशकः(अवधूत योगीति कथ्यते) सएवच सद्गुरुर्भवति (यतः) यस्मात्कारणात (सर्वदर्शनानाम्) सकल शास्त्राणाम् (आत्मदर्शने)

समन्वयं संलापनं करोति सः "अवधूत योगी" स्यान्नतु भेदबोधज रागान्तः कलुषितः ॥२०॥

भा० टी०—जो शुद्ध, बुद्ध, व्यापक, नित्य प्रकाश, ज्योतिःस्वरूप आत्मानन्द में ही मग्न है इसी से परस्पर विरुद्ध मत वाले जनों के सिद्धान्त दर्शन को भी निज अखण्ड व्यापक स्वरूप में ही उक्तरीति से अनेक नाम संकेतों को भी परमार्थ अवस्था में ही घटानेवाला अवधूत योगी कहलाता है और वही योगी अच्छी प्रकार से नित्य अखण्ड आत्मोपदेश में समर्थ होता है। क्योंकि आत्म निष्ठ होने से जब वह जीवन मुक्त संसार मोह बन्धन को तोड़ चुका है तब दूसरे को भी आत्मोपदेश द्वारा पार कर सकता है, इसमें सन्देह नहीं। अतः वास्तविक हितचिन्तक होने से वह अवधूत योगी ही सद्गुरु कहलाने योग्य है क्योंकि वह अभेदात्मदर्शी विरुद्ध सिद्धान्त के प्रतिपादक मतों का भी वास्तविक अभिन्न निज स्वरूप में ही अभेद रूप से समन्वय कर लेता है। अर्थात् आत्मरूप में देखता है। वही यथार्थ में अवधूत है ॥२०॥

मू०—अत्याश्रमी च योगी च ज्ञानीसिद्धश्चसुव्रतः।
ईश्वरश्च तथा स्वामी धन्यः श्री साधुरेव च ॥२१॥
जितेन्द्रियश्च भगवान् स सुधी कोविदो बुधः।
चार्वाकश्चार्हतश्चेति तथा बौद्ध प्रकाशयित् ॥२२॥
तार्किकश्चेति सांख्यश्च तथा मीमांसकोविदुः।
देवतेत्यादि विद्वद्भिः कीर्तितः शास्त्रकोटिभिः ॥२३॥
आत्मेति परमात्मेति जीवात्मेति पुनः स्वयम्।
अस्तितत्त्वं परं साक्षाच्छिवरुद्रादि संज्ञितम् ॥२४॥

सं० टी०—इत आरभ्य व्यवहारै रित्यन्तैः सकल स्वरूपतां प्रदर्श्यावधूतस्य महिमानमातनोति सएवावधूतः (अत्याश्रमी, आश्रमानतीत्य वर्त्तमानः चकारादाश्रमानतीतोऽपि (योगी) योगाभ्यासतत्परः (ज्ञानी), आत्मज्ञः (सिद्धश्च) अणिमादि सिद्धिसम्पन्नः, (सुव्रतः) तपोनिष्ठः, ईश्वरो हिरण्यगर्भादिदेवः। तथा (स्वामी) नायकः श्री साधुः शक्तिसहि-

तोपासकः परोपकार निरतः, धन्यवादार्हः, अवधूते सर्व स्वरूपता घटत इतिभावः।२१।सएव 'जितेन्द्रियः वशीकृतेन्द्रियवर्गः 'भगवान् ऐश्वर्य संपन्नः स सुधीः, शोभनध्यानकर्ताबुधः, लौकिकावगमनवान् (कोविदः) पण्डितः, आत्मज्ञचार्वाकादीनां व्यावहारिकमत भेदेऽपि परमार्थावधूतत्वे कोऽपि भेदोनेति बोधयितुं तदनुवादः। चार्वाकः प्रत्यक्ष मात्र प्रमाण वादी (आर्हतः:) अर्हदुपासको जैनः। बौद्धप्रकाशविद् बौद्धसम्बन्धि प्रकाशवेत्ता बुद्धिवृत्तिरूप क्षणिक विज्ञान वादि सौगतः ॥२२॥ तार्किकः नैयायिकः (सांख्यः) कापिलः (मीमांसकः) कर्मवादी ब्रह्मवादी च ननु कथं सर्वस्वरूपोवधूतः सति भेदेऽत आह एते यमात्मानं विदुः (दैवतेत्यादि विद्वद्भिः) दैवताकालभावादि वादिभिः (शास्त्र कोटिभिः) तत्तद्दर्शनैः 'यः आत्मा कीर्तितस्तत्स्वरूपोऽवधूतोतश्चार्वाकादिरूप इति।२३। (आत्मा) भूतात्मा इत्यप्यवधूत एव (परमात्मा) ब्रह्मेत्यपिसः (जीवात्मा) जीवरूपोऽपि स एव यत्तु (साक्षाच्छिवरुद्रादिसंज्ञितम्) शिवरुद्र शब्देन कथ्यमानम् (परं तत्त्वम्) सर्वथा बाधरहितं वस्तु तत् स्वरूपोयमवधूतः सकल स्वरूपः संजातः कृतं परिगणनेन ॥२४॥

भा० टी०—पूर्वोक्त अवधूत ही चारों आश्रमों से अतीत होने से अत्याश्रमी है। क्योंकि वह ब्रह्मनिष्ठ है इसी से किसी आश्रम विशेष में अभिमान नहीं रखता। समाहित आत्मा होने से योगी ब्रह्मनिष्ठ होने से ज्ञानी अणिमादि सिद्धि युक्त होने से सिद्ध दृढनिश्चयी होने से सुव्रत सर्व सामर्थ्य युक्त होने से ईश्वर जितेन्द्रिय होने से स्वामी और सबका कल्याण साधक होने से वही धन्य है। भूतों की उत्पत्ति प्रलय गति आगति विद्या अविद्या को जानने वाला भगवान् और जितेन्द्रिय होता है वही अच्छा ध्यानी ज्ञानी पण्डित कहा जा सकता है। इन्द्रिय परायण व्यसनी पुरुषों में उक्त लक्षण नहीं घट सकता। अब मतान्तरों में अरुचि दिखाते हैं। देहात्म वादी चारवाक मध्यम परिमाणात्मवादी जैन क्षणिक विज्ञान वादी बौद्ध आरम्भ वादी नैयायिक परिणाम वादी सांख्य और केवल कर्मवादी मीमांसक ये सब अपने अपने मत के अनुसार जिस तत्त्व का उपदेश देते हैं तथा अनेक शास्त्रों और विद्वानों ने भी इस संसार

का कारण देवता स्वभाव काल कर्म आदि को कहा है। भूतात्मा परमात्मा और जीवात्मा इत्यादि नाना रूप से जो वर्णित है वास्तव में वह एक ही तत्त्व है। वही प्रत्यक्ष आत्म रूप चेतन सर्व व्यापक तीनों कालों में अबाध्य शिव रुद्रादि नामों से कहा जाता है। इसीलिये किसी सिद्धान्त से परम अद्वैत सिद्धों के सिद्धान्त का विरोध नहीं। क्यों कि सिद्ध समाहित आत्मा होने से वास्तविक एक ब्रह्म तत्व में निष्ठ रहते हैं। पूर्वोक्त वादी लोग परिणामशाली बुद्ध्यादि के उपासक होने से बुद्धि की कल्पना के आधार पर भले ही चले इससे समाहित आत्मा सिद्धों की कुछ हानि नहीं। २१-२२-२३-२४

मू०—शरीर पद्म कुहरे प्रत्सर्वेषामवस्थितम् ।
तदवश्यं महापाशाच्छेदितव्यं मुमुक्षुभिः ॥ २५ ॥
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च सोऽत्तरः परमः स्वराट् ।
स एवेन्द्रः स च प्राणःसकालाग्निःस चन्द्रमाः ॥२६॥
स एव सूर्यः स शिवः स एव परमः शिवः ।
स एव योग गम्यश्च सांख्य शास्त्रपरायणैः ॥२७॥
स एव कर्म इत्युक्तः कर्ममीमांसकैरपि ।
सर्वत्र सत्परानन्द इत्युक्तो वैदिकैरपि॥ २८ ॥
व्यवहारैरयं भेदस्तस्मादेकस्य नान्यथा ॥ २६ ॥
मुद मोदे तु रादाने जीवात्म परमात्मनोः ।
उभयो रेक संवित्तिर्मुद्रेति परिकीर्तिता ॥३०॥
मोदन्ते देव सङ्घाश्च द्रवन्ते ऽसुरराशयः ।
मुद्रेति कथिता साक्षात् सदा भद्रार्थ दायिनी ॥३१॥
अस्मिन्मार्गे ऽदीक्षिता ये सदासंसाररागिणः ।
तेहि पाषण्डिनः प्रोक्ताः संसार परिपेलवाः ॥३२॥
अवधूत तनुर्योगी निराकार पदे स्थितः ।

सर्वेषां दर्शनानाञ्च स्वस्वरूपं प्रकाश्यते ॥ ३३ ॥

सं० टी०—सर्वेषां प्राणिनां शरीरे यत् पद्मं हृदयाख्यं तस्य कुहरे गुहायाम् (यत्) आत्मतत्वमवस्थितम्, वर्तमानम् । तदात्मतत्त्वम् (महापाशात्) अविद्यादिजालात् (मुमुक्षुभिः) मोक्षार्थिभिर्मनुष्यैरवश्य मेव (छेदितव्यम्) पृथक् कर्तव्यं विज्ञानासिना एयन्त छिद्धेस्तव्यति रूपम् । तदेव मनुष्य जन्म साफल्यं तत्त्वावधूतेन सम्पादितमिति स्तुति ध्वनिः ॥ २५ ॥ एकैवात्मतत्त्व रूपोऽवधूतो व्यवहारेऽनेक नामरूपो पाधिभेदैर्व्यवह्रियत इति वर्णयति ब्रह्मेत्यादिरजउपहितो ब्रह्मा सत्वोप हितो विष्णुस्तमउपहितो रुद्रः स एवोपाधि रहितोऽक्षरः परमः स्वराट् स्वर्गाधिपति पिण्डोपहित इन्द्रः "सूत्रात्मा प्राणः„ प्रलय कालिकः कालाग्निस्तथा चन्द्रः ॥ २६ ॥ स एवावधूतः सूर्यरूपः, कल्याण रूपः, परमः शिवः, सकल जगत् संहारकः किं च योग शास्त्र गम्यः क्लेश कर्म विपाकेत्यादि सूत्र प्रतिपाद्यः,सांख्यशास्त्रोक्तासंगचिद्रूपानेक पुरुषा अपि स एवेति ॥ २७ ॥ स एवावधूतः कर्म योग मीमांसकसम्मत् कर्म रूपः किं च वैदिकैरद्वैत वेदान्तिभिरपि सत्परानन्द शब्देन सर्वत्रोपनि-षत्सु कथितः सोऽपि स एव ॥ २८ ॥ तस्माद् व्यवहारैरेवायं भेदः संजातो न तु परमार्थतया तस्मादेकस्य तत्वस्य (नान्यथा) न भेदो भवितुमर्हति ॥ २९ ॥ मुद्रा शब्दे मुदिति रा इति च पदं तत्र मोदत इति व्युत्पत्या मुद शब्दार्थो जीवात्मा आनन्द भोग कर्तृत्वात्। राति ददातीति व्युत्पत्या रा पदार्थश्च परमात्मा सर्वेषां कर्मफल दातृत्वात् । उभयत्र वाच्यार्थयोर्भेदेऽपि लक्ष्यभूत चैतन्यस्यैक्यमेवेति मुद्रापदार्थमाह मुद इति मुद् धातु र्मोदेर्थे रा धातु र्दानेऽर्थे च वर्तते तदुभयार्थयोर्जीवा त्म परमात्मनोरैक्य संवित्तिरभेदज्ञानं मुद्रेति प्रकीर्तिता तस्मात्कलिङ्क (मुद्रा) कर्णकुण्डलमिति यावत् ॥ ३० ॥ किं च मुद्रा पदस्य वाच्यान्तर माह—मोदन्त इति मुदं राति ददातीत्यर्थे व्युत्पत्तिमङ्गीकृत्योच्यते देवा नां मुदं ददाति, अर्थादेतद् भूषणं दृष्ट्वा देवा मोदन्ते हृष्टा भवन्ति। यथा राजा स्वदत्त चिन्ह धारिणं पुरुषं दृष्ट्वा मोदते । किं च नामैकदेश न्यायेन मुग्धा असुरा द्रवन्ते । एनां दृष्ट्वा पलायन्ते । यथा चोरः राज

चिन्हात। सदा साक्षाद् भद्रार्थ दायिनी कल्याण प्रदा मुद्रा शास्त्रे प्रकीर्तिता कथिता ॥ ३१ ॥ (अस्मिन्मार्गे) योग मार्गे (अदीक्षिताः) अशिक्षिताः (सदा संसार रागिणः) नित्यं भवविषयाभिलाषुकाः 'संसार एव परि पेलवः, अति रमणीयो येषां ते (पाषण्डिनः) धूर्ताः प्रोक्ताः । अथ वाऽस्मिन् मार्गे योगमार्गे दीक्षिताः सन्तः सदा निरन्तरं जीवननिर्वाह काधिक काले संसाररागिणस्तेपीत्यर्थोऽपि वक्तुं शक्यते ॥ ६२ ॥ सांसारिक पुरुषान्दयित्वा परमार्थमभीप्सु योगिनः प्रशंसन्ति यः (निराकार पदे) चिदानन्द घने (स्थितः) रममाणः (अवधूत तनुः) सकल लिंङ्ग रहित विग्रहः (योगी) साधनवान् स सर्वेषां दर्शनानां निखिल सिद्धान्तानाम् (स्व स्वरूपम्) निजात्म स्वरूपं प्रकाशते प्रकाशयतीत्य स्तर्भावितण्यर्थः ॥ ६३ ॥

भा० टी०—सर्व प्राणियों के शरीरस्थ हृदय कमल में विशेष करके आत्म तत्त्व अभिव्यक्त होता है। वही उपाधियुक्त होने से शोक मोहादि पाश से बद्ध हो संसार चक्र में भ्रमण करता है। अतः मुमुक्षु को चाहिये कि अज्ञानरूप उपाधि बन्धन को तोड़कर निज अखण्ड आत्मानन्द में प्रतिष्ठित होजाय बस यही मनुष्य जन्म की सफलता है। वास्तव में आत्म तत्त्व एक ही है किन्तु व्यवहार काल में अनेक वादियों की कल्पना से उसी के अनेक नाम होजाते हैं। इसी अभिप्राय को यहां से लेकर उनतीस श्लोक तक वर्णन करेंगे। वही आत्मतत्त्व ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र परब्रह्म, इन्द्र, प्राण कालाग्नि और चन्द्रमा है। वही सूर्य, शिव तथा योग से जानने योग्य परम शिव और वही सांख्य में प्रतिपादित असङ्ग आत्म तत्व है। उसी परम तत्व को कर्म कहकर मीमांसक जगत् का कारण कहते हैं और उसीको वेदान्ती लोग सच्चिदानन्दनाम से कहते हैं। अतः वास्तव में तो वह एक ही आत्म तत्व है। उसीके ये व्यावहारिक अनेक भेद हैं वास्तविक नहीं। मुद्रा शब्द में दो पद हैं। एक 'मुद्' दूसरा 'रा' इनमें मुद् का अर्थ आनन्द भोक्ता जीवात्मा और रा का अर्थ दाता परमात्मा है। दोनों के मेल से जीवात्मा और परमात्मा का अभेद ज्ञान सिद्ध होता है। अतः इसी लक्ष्य के स्मारक मुद्रा अर्थात् कुण्डल कानों में योगीजन धारण करते हैं। मुद्रा शब्द के दूसरे

अर्थ का वर्णन करते हैं। 'मुद्' अर्थात हर्ष 'रा' का अर्थ है देनेवाला। जैसे राजा अपने बनाये हुये चिन्ह विशेषों से सज्जित सेना को देखकर प्रसन्न होता है वैसे ही देवगण जिसके कानों में मुद्रा देखते हैं उसके ऊपर प्रसन्न होतेहैं और जैसे चोर राज चिन्ह को देखकर भयभीत होता है वैसे ही इस देव चिन्ह मुद्रा को देखकर असुर गण भय मानते हैं। अतः योगियों के लिये मुद्रा धारण करना कल्याणकारी है। जो इस योगमार्ग में दीक्षित या अदीक्षित हैं वे यदि सदा संसार में ही अनुरक्त होकर संसार को ही सर्वोत्तम रमणीय मानलें तो वे आत्म तत्त्व के विरोधी और पाखण्डी कहलाते हैं। जो योगी शरीरस्थ मल विक्षेप आदि दोषों को दूर करने वाला तथा सदा निराकार ज्योतिः पद में ही स्थित रहने वाला है उसीको सब दर्शन आदि शास्त्रों में व्यापक आत्म स्वरूप प्रकाशित होता है। अर्थात् वह केवल ब्रह्म स्वरूप होजाता है ॥२५-२६-२७-२८-२९-३०-३१-३२-३३॥

मू०—सर्वतोभरिताकारं निज बोधेन बृंहितम्।
चरते ब्रह्मविद्यस्तु ब्रह्मचारी स कथ्यते ॥३४॥
गृहिणी पूर्णता नित्या गेहं व्योम सदावलम्।
यस्तया निवसत्यत्र गृहस्थः सोऽभिधीयते ॥३५॥
सदान्तः प्रस्थितो योऽसौ स्व प्रकाशमये वने।
वानप्रस्थः सविज्ञेयो न वने मृगवच्चरन् ॥३६॥
परमात्माऽथ जीवात्मा आत्मन्येव स्फुरत्यलम्।
तस्मिन्न्यस्तः सदा येन संन्यासी सोऽभिधीयते॥३७॥

सं० टी०—अधुना सकलसम्प्रदायावलम्बिनामवधूतपदार्थेऽन्तर्भाव इति प्रदर्शनाय परमार्थत एकमेव परमार्थ तत्त्वं सर्वेषां लक्ष्यमिति बोधनद्वारा ब्रह्मचर्यादि निखिल शब्दानामवधूतपदार्थे समन्वयः प्रस्तूयते तत्र प्रथमं ब्रह्मचारि पदार्थमाह यो ह्यवधूते सम्यग् घटते (सर्वतोभरिताकारम्) सर्वतः परितोभरितः पूर्ण आकारः स्वरूपं यस्य तत् स्वस्वरूपम् परिपूर्णम् बृंहितम्, व्यापकम्, ब्रह्मयदस्ति तत्र विशेषः

(निजबोधेन) स्वकीय ज्ञानद्वारा (चरति) सदा रमते स ब्रह्मचारीकथ्यते सोवधूतः ।३४। एवं गृहस्थ व्युत्पत्तिरपि तत्रैव संघटयते नित्यरूपापूर्णैव (गृहिणी सहचारिणी तया सह–आकाश वाच्यब्रह्मरूपगृहेसदायो निवसति स एव गृहस्थः कथ्यते ।३५। तथैव वानप्रस्थतापि संस्थाप्यते योऽसौ वनमेव वानः प्रज्ञादित्वादण् तस्मिन् प्रकाशमये प्रकाशरूपे प्रकर्षेण स्थितः, निष्ठः, स एव वानप्रस्थः। न तु मृगवद्वनेऽन्धकारात्मके चरन् वानप्रस्थतया समन्वीयते ।३६। संन्यासि पदार्थमाह–परमात्मेति तथा चोपाधि वशाज्जीवात्मपरमात्मेति भेदेन व्यवह्रियमाणोऽपि चेतनः स्वस्वरूपता (आत्मन्येव) स्वरूपमात्रे (स्फुरति) भाति तस्मिन् येन सर्वं जीवभावादिकं न्यस्तं स संन्यासीति व्यवह्रियते ॥३७॥

भा० टी०—अब ब्राह्मणादि द्विज वर्णों में जो ब्रह्मचर्य गार्हस्थ्य आदि का लौकिक अर्थ है उसी को परमार्थतः अवधूत योगी में घटाते हैं। व्यापक ज्योतिःरूप आत्मा के वोध से बढ़ा हुआ अतएव ब्रह्मज्ञान द्वारा स्वस्वरूप की रक्षा करने वाला और ज्योतिः स्वरूप आत्मा में ही रमण करने वाला अवधूत योगी ही वास्तविक ब्रह्मचारी कहा जाता है। जिस सिद्ध योगि राज के निरन्तर साथ रहने वाली आत्म व्यापकता ही पत्नी है और व्यापक ब्रह्म ही जिस का सदा घर रूप बल है उस ब्रह्म घर में अपने से अभिन्न आत्म व्यापकता के साथ निरन्तर रहने वाला अवधूत योगी ही परमार्थ गृहस्थ है। जो जितेन्द्रिय अवधूत योगी आत्म प्रकाश रूपी वन में विचरता है वही परमार्थ वानप्रस्थ है। केवल मृग के सदृश जङ्गल में घूमने वाला वानप्रस्थ नहीं है। सर्वज्ञत्व उपाधि सहित परमेश्वर और अल्पज्ञत्व उपाधि सहित जीव ये दोनों उपाधि रहित अखण्ड ज्योति आत्मा में ही जिसको अभिन्न रूप से प्रतीत होते हैं और उसी ज्योति स्वरूप आत्मा में जो समस्त वाह्य कल्पनाओं का परित्याग करने वाला अवधूत योगी है वही वास्तव में परमार्थ संन्यासी कहलाता है ॥ ३४-३५-३६-३७ ॥

मू०–मायाकर्मकलाजालमनिशं येन दण्डितम्।
अचलो नगवद्भाति त्रिदण्डी सोभिधीयते॥३८॥

एकं नानाविधाकारं चंचलन्तु सदातु यत् ।
तच्चित्तं दण्डितं येन एकदण्डी सकथ्यते ॥३९॥

शुद्धं शान्तं निराकारं परानन्दं सदोदितम् ।
तं शिवं यो विजानाति शुद्ध शैवो भवेत्तु सः ॥ ४० ॥

सन्तापयति दीप्तानि स्वेन्द्रियाणि च यः सदा ।
तापसः स तु विज्ञेयो न च गोभस्म धारकः ॥४१॥

क्रिया जालं पशुं हृत्वा पतित्वं पूर्णतां गतम् ।
यस्तिष्ठेत् पशु भावेन स वै पाशुपतो भवेत् ॥४२॥

सं० टी०—संन्यासे कश्चित् त्रिदण्डी भवति तस्यतात्त्विकमर्थमाह-१ (माया, अविद्या, २-(कर्म) धर्माधर्मौ, ३-(कलाजालम्) प्राणादि लिङ्ग शरीरमेतत् त्रयं येन (दण्डितम्) तत्त्वज्ञानेन निवारितम् (स्वयं च) नगवत् पर्वतवदचलः यो भाति स त्रिदण्डी कथ्यते न तु केवल वंशदण्ड त्रयधारणेन त्रिदण्डित्वमाप्नोति । अतः,मुख्य लक्ष्ये सावधानेन स्थातव्यम् ॥ ३८ ॥ (नानाविधाकारम्) कदाचिद्रागरञ्जितं कदाचिद् द्वेषाकुलितमित्थं नानावृत्ति विलसितम् (चंचलम्) क्षणैकस्मिन् परः सत् संकल्प शीलम् यच्चित्तं तदेकं दण्डितं येन स एकदण्डी कथ्यते ॥ ३९ ॥ (शुद्धं शान्तं) सकल धर्म रहितम् (निराकारम्) अखण्डम् (परानन्दम्) चिदानन्द स्वरूपं सदोदितम्, अस्तमनवर्जितम् एतादृशं शिवं यो जानाति सः शुद्धशैवः ॥ ४० ॥ यः (सदा) सर्वदा (दीप्तानि) विषयाभिमुखानि(इन्द्रियाणि)चक्षुरादीनि (संतापयति) विषयेभ्यो निवर्त्तयति स च तापसो विज्ञेयः,) न तु भस्म मात्रधारकः ४१ (क्रियाजालम्) कर्मपाशात्मकम् (पशुम्) सेवकत्वरूप जीवभावं (हृत्वा) परित्यज्य (पूर्णताम्) व्यापकतारूपम् (पतित्वं) स्वामित्वरूप परमात्म भावम् (गतम्) प्राप्तम् (शिवम्, यः (तिष्ठेत्) उपासते सवै निश्चयेन (पाशुपतः) पशुपति मतानुयायी पशुभावेन स्वस्वामिभावेन भेदरूपेणोपासक इति अत्रोपासनार्थवाचकत्वेन स्था धातुः सकर्मको यथादित्य

मुपतिष्ठते। उपसर्गस्य द्योतकतया वह्निनापि धातु प्रयोगे तदर्थो व्याख्यः ॥४२॥

भा० टी०—माया तथा माया का कार्य्यभूतशुभाशुभ कर्म और नाना कला जालादि प्रपञ्च को त्यंचिन् करने वाला एवं एक आत्मस्वरूप में ही पर्वत के सदृश अचल ऐसा अवधूत योगी ही उक्त तीनों को दण्डित करने से परमार्थ त्रिदण्डी कहलाता है। अनेक विषय वासनाओं में अनुरक्त इसी से सदा चंचल स्वभाव ऐसे चित्त को भी जिस ने योग बल से जीत लिया है। वह अवधूत योगी यथार्थ एक दण्डी है। भाव यह है कि एक मन के जीतने से ही संसार बन्धन से मुक्त हो सकता है अन्यथा नहीं। शुद्ध शान्त निराकार एवं परमानन्द स्वरूप और सदा प्रकाशमान व्यापक ज्योतिः स्वरूप ऐसे शिव को जो जानता है वही अवधूत वास्तविक और शुद्ध शैव कहलाने योग्य है दूसरा नहीं इन्द्रियों की अपने अपने विषयों में प्रवृत्ति स्वाभाविक है उनको अपने अपने विषयों से रोक कर आत्मा में लगाना ही उन इन्द्रियों का तपाना है। अतः आत्म ध्यानी जितेन्द्रिय योगी को ही सच्चा तपस्वी जानो केवल उपले की भस्म रमाने वाला नहीं। सकाम कर्मसमूहरूप पशु को छोड़कर निज आत्मा की व्यापकता को प्राप्त हुआ जो योगिराज पशु भाव से रहता है वह यद्यपि यथार्थ ब्रह्मनिष्ठ है तथापि स्थूल बुद्धि मूर्ख जनों को उस तत्त्व ज्ञानी का व्यापार पशु जैसा दीखता है। ऐसा सिद्धराज ही सच्चा पाशुपत मतावलम्बी कहलाता है॥ ३८-३९-४०-४१-४२॥

मू०—परानन्दमयं लिङ्गं निजपीठे सदाऽचले।
तल्लिङ्गं पूजितं येन स वै कालमुखो भवेत् ॥४३॥
विलयं सर्वतत्त्वानां कृत्वा संधार्यते स्थिरम्।
सर्वदा येन वीरेण लिङ्गधारी भवेत्तु सः ॥४४॥
अन्तकादीनि तत्त्वानि त्यक्त्वा नग्नो दिगम्बरः।
यो निर्वाण पदे लीनः स निर्वाणपरो भवेत् ॥४५॥
स्वस्वरूपात्मकं ज्ञानं समन्त्रं तत् प्रपालितम्।

अनन्यत्वं सदा येन स वै कापालिको भवेत् ॥४६॥

सं० टी०—(परानन्दमयम्) सच्चिदानन्द स्वरूपम् (लिङ्गम्) संसारकारणम् (सदाऽचले) नित्यरूपे (निजपीठे) स्वधाम्नि यद् वर्तमान मिति शेषः तल्लिङ्गं येन पूजितं पुष्पचन्दनादिभिर्ध्यानादिभिश्चोपासितं सवै कालमुखः कालोमुखे यस्येति काल विजेता। इदमेव लिङ्गोपासना रहस्यम् ।महाकालोपासकोऽमरो भवति यथालिङ्गपूजनेनमार्कण्डेय श्चिरजीवितां गतः ॥४३॥ (सर्वतत्त्वानां) सर्वभूतानाम् भूत लौकिक वस्तूनाम् (विलयं कृत्वा) तेषुसम्बन्धाभिमानं विहाय येन वीरेण संसाराभिमानरूपरिपु दमनेनैव वीरतेति ध्वन्यते। स सर्वदा (स्थिरम्) कूटस्थब्रह्मधार्य्यते, उपास्यते। स लिङ्गधारी भवेत्। तत्स्मारकं वाह्यलिङ्ग धारणमिति ध्वनिः ॥४३॥ अन्तकादीनि तत्त्वानि विनश्वर वस्तूनि (त्यक्त्वा) उज्झित्य (नग्नः) संसारात्मकावरणरहितः, अतो दिगम्बरः (दिगेव ब्रह्मैवाम्बरो यस्य सः (यो निर्वाणपरः) ब्रह्मलीनस्तन्निष्ठः स निर्वाणपरो निर्वाणीति भवेत् ॥४४॥ (स्वस्वरूपात्मकम्) आत्मरूपं नित्यम् (ज्ञानम्) ब्रह्म समंत्रम्) गुरुमन्त्रसहितम् येनोपासितमिति शेषः किञ्च (अनन्यत्वम्) आत्मपरमात्मनोरैक्यम् (प्रपालितम् । भेदभ्रदात् वस्करात्द्रक्षितं स वै कापालिकः, मुख्यः कापालिकमतानुयायी ॥४६॥

भा० टी०—जो सदा अचल और परमानन्द रूप होकर निज धाम में स्थित है वह लिङ्ग है। अर्थात् जगत् का कारण रूप है उस की ही पूजा जिस ने की है अर्थात पत्र पुष्पादि द्वारा वाह्य पूजन और ध्यानादि द्वारा मानस पूजन किया है वह काल को जीतनेवाला महाकाल का उपासक कहलाता है। यही लिङ्गोपासना का रहस्य है। वाह्य शिव लिङ्ग उसी की प्रतिकृति अर्थात् फोटो है। सकल चराचर भूतों का लय करके अर्थात् भूत दृष्टि का परित्याग कर जिस अभेदोपासक ने सदा स्थिर परमात्मा को धारण करलिया है वह वास्तविक लिङ्गधारी है। इसी भाव का स्मारक वाह्यलिङ्गधारण है। जन्म मरण आदि सांसारिक पदार्थों को छोड कर जो संसार रूप आवरण से रहित होगया है अत एव वह दिगम्बर और सदा ब्रह्म रूप निर्वाण में स्थित

निर्वाणी कहलाता है। जिस ने गुरुमन्त्र द्वारा अभिन्न निज आत्म रूप ज्ञान की रक्षा की है वह कापालिक होता है ॥ ४३-४४-४५-४६ ॥

मू०–महाव्याप्तिपरंतत्त्वमाधाराधेयवर्जितम् ।
तद्व्रतं धारितं येन स भवेद्धै महाव्रतः ॥४७॥
कुलं सर्वात्मकं पिण्डमकुलं सर्वतोमुखम् ।
तयोरैक्यपदं शक्तिर्यस्तां वेद स शक्तिभाक् ॥४८॥
कौलं सर्वकलाग्रासः सकृतः सततं यया ।
तां शक्तिं यो विजानाति शक्तिज्ञानी स कथ्यते ॥
ज्ञात्वा कुलाकुलं तत्त्वं स क्रमेणक्रमेणतु ।
स्वप्रकाश महाशक्त्या ततः शक्तिपदं लभेत् ॥४९॥

सं० टी०–(आधाराधेय वर्जितम्) सर्वेषामाधारः सन् स्वयं निराधारः (महाव्याप्तिपरम्) अखण्ड तत्त्वमविनाशि बृहद्व्रतं तदुपासनं येन धारित मनुष्ठितं वैनिश्चयेन स महाव्रतो भवेत् ।४७। (पिण्डम्) पिण्डरूपम् कार्यात्मकं (सर्वात्मकं) समष्टि सृष्टिरूपम् प्राकृत प्रकृतिरूपञ्च कुलं भवति । अखण्डचिद्रूपं च सर्वतोमुखं कारण रूपं स्थापित स्वान्तः सकलकार्यमकुलं व्यवह्रियते (तयोः कुलाकुलयो रैक्यपदम भिन्नतारूपा शक्तिः । एकैव शक्तिः सर्वत्र व्याप्तेति भावः । तां समष्टि रूपाम्, शक्तिं यो वेद स शक्तिभाक् शाक्तः कौलं नाम सर्व कलाग्रासः सर्वासां कलानांप्राणादिवस्तूपादान चतुःषष्टि शक्तीनां ग्रासः प्रलयः (सः) लयः (यया) शक्त्या सततं नित्यम्(कृतः) सम्पादितः (तां) शक्तिम् (प्रलयकारिणीं महाकालीं यो विजानाति विशेषेण स्वानुभवेन वेत्ति स शक्तिज्ञानी कथ्यते सक्रमेण यथा क्रमं कुलाकुलं पूर्वोक्तं ज्ञात्वा क्रमेण (स्वप्रकाशमहाशक्त्या) चिद्रूप महाशक्त्या सहैक्यं सम्पादयेत (ततः) साधनानन्तरं शक्तिपदं शाक्त स्थानं लभते ॥४९॥

भा० टी०–अब महाव्रत के मुख्य अर्थ का निरूपण किया जाता है। जो आधार आधेय रहित है अर्थात् सब चराचर का आधार होता हुआ भी स्वयं निराधार है तथा सर्वत्र व्यापक अखण्डतत्त्व है

उस का व्रत जिसने धारण किया है वह महा व्रत कहलाता है। अब शाक्त का अर्थ सुनिये जो दृश्यमान चराचर और अखिल ब्रह्माण्ड तथा उनकी प्रकृति सूक्ष्म समष्टि है वह अचित् कुलपद से व्यवहृत होता है। और जो सर्वव्यापक चिद्रूप वह अकुलपद से व्यवहृत होता है। इन दोनों की उपादान उपादेय एकता ही शक्ति है उस को जो जानता है वह शाक्त है सकल कार्य करने वाली व्यष्टि शक्ति तथा सकल पदार्थों का प्रलय जिस में हो वह कौल है। यह प्रलय जिस शक्ति के द्वारा होता है उस महाकाली शक्ति को जो जानता है जप ध्यानादि द्वारा जिस ने स्वानुभव गोचर किया है वह शक्तिज्ञानी कहलाता है। पूर्वोक्त कुला कुल तत्व को उपर्युक्त क्रम से जानकर फिर उसी क्रम से स्वप्रकाश चिद्रूप महाशक्ति के साथ एकता करे तब शक्तिपद का लाभ होता है यह सर्वोच्चपद है। अतः इसका अनेक श्लोकों से निरूपण किया गया है ॥ ४७-४८-४९॥

मू०—मदोमद्यमतिर्मुद्रा मायामीनं मनः पलम्।
मूर्च्छनं मैथुनं यस्य तेनासौ शाक्त उच्यते ॥५०॥

सं० टी०—पञ्च मकारेण पूजनमिति शाक्तमतम्, तत्र के पंच मकारपदार्थास्तान् दर्शयति (मदः) अभिमानमेव (मद्यम्) सुरानतुबाह्य मद्यम् (मतिः) कामना (मुद्रा) मुदं मनोराज्यरूपमानन्दं राति ददातीत्य र्थिका। न तु शष्कुली (माया) च मीनपदार्थोऽतिचञ्चलत्वान्न तु जलचरः। मन एव पलम्। मांस पद वाच्यम्। अन्नमयत्वात्। न तु पललम्। (मूर्च्छनम्) प्राणापानयोः संगमः कुम्भक इति (मैथुनम्) मैथुन पद वाच्यम्। न तु ग्राम्य धर्मः। क्वचित् कुण्डलिन्याः सहस्रारस्थ परम शिवेन योग एव मैथुनमित्याहु। यस्य पूर्वोक्त पदार्थाः परमात्मनि समर्पणीयाः सन्ति। तेनासौ शाक्त उच्यते। अत्रेदं बोध्यम्। प्राकृत विषयका एते मोक्ष प्रतिबन्धका अतस्तेषां परमशक्तौप्रत्यर्पणं क्रियते। अतस्तेन परित्यक्तो जीवो विशुद्धः सन् स्वरूप भूत मोक्षपदं लभते। ननु ग्राम्य कर्मानुष्ठाने विमुक्तो भवतीति सिद्धान्तः (एतेन) एतदीय रहस्यमजानन्तः पंच मकार पूजनस्य निन्दका रहस्येतर सेवकाश्चोभये निरस्ताः ॥ ५० ॥

भा० टी०—शाक्त मत में पांच मकारों से पूजन करना प्रसिद्ध है। अज्ञ पुरुष उस का निन्दनीय अर्थ जानकर कोई अनुष्ठान न करे अतः उस का रहस्य अर्थ श्री नाथ जी स्वयं निरूपण करते हैं। यहां मद्य का अर्थ अभिमान है! न कि सुरा। मुद्रा का अर्थ कामना (अभिलास) है न कि शष्कुली (पूड़ी) मीन का अर्थ माया है न कि मछली। संकल्प विकल्पात्मक मन ही अन्न रसमय होने से मांसपद का अर्थ है और मैथुन पद का अर्थ मूर्च्छन अर्थात् संसार सम्बन्ध से बुद्धि की अविवेकिता है इन पांचों पदार्थों को जिस ने महा शक्ति में समर्पित किया है वह शाक्त है। भाव यह है कि ये पांच मोक्ष के प्रतिबन्धक हैं। अतः इनका महाशक्ति में समर्पण कर देने से जीव उस से छूट कर मोक्ष को प्राप्त करलेता है। इस रहस्य को न जान कर जो लोग पञ्च मकारों द्वारा पूजन की निन्दा करते हैं। और निन्दित मदिरादि का सेवन करते हैं वे त्याज्य हैं ॥५०॥

मू०—यया भासस्फुरद्रूपं कृतं चैव स्फुटं बलात्।
तां शक्तियोविजानातिशाक्तःसोऽत्राभिधीयते।५१।
यः करोति निरुत्थानं कर्तृ चित् प्रसरेत् सदा।
तद्विश्रान्तिस्तया शक्त्या शाक्तःसोत्राभिधीयते ५२
व्यापकत्वे परं सारं यद्विष्णो राद्य मव्ययम्।
विश्रान्ति दायकं देहे तज्ज्ञात्वा वैष्णवो भवेत् ५३
भास्वत् स्वरूपो यो भेदात् भेद भावोज्झितः खलु।
भाति देहे सदा यस्य सबै भागवतो भवेत्।५४।
यो वेत्ति वैष्णवं भेदैः सर्वासर्वमयं निजम्।
प्रबुद्धं सर्व देहस्थं भेदवादी भवेत्तु सः ॥५५॥
पंचानामक्षया हानिः पंचत्वं रात्रिरुच्यते।
तां रात्रिं यो विजानाति स भवेत् पांचरात्रिकः॥५६॥

सं० टी०—यया शक्त्या हठाद् बलात् भासस्फुरद्रूपं प्रकाश-

संचार क्रिया विशिष्टं जगत् इत्यध्याहारः कृतं सृष्टिं समर्जेतिभावः। अथ च ब्रह्म रूपं प्रकाशितवन् तां यो विजानाति स शाक्त इति ॥५१॥ यः शक्त्या विश्रान्ति तया विगता श्रान्ति यस्यास्तस्याभावो विश्रान्तिता विश्रामेणेति फलितम्। यथा साधर्म्य मित्यादौ समानो धर्मो यस्य तस्य भावः समानधर्म इति फलति। शक्तिं संकोच्येति यावत् (निरुत्थानं) निर्विकल्प समाधिं करोति तस्यां दशायां (कर्तृचित्) स्वतन्त्र चेतन रूपः सन् 'प्रसरेत्' विरहेत (अत्र)संसारे स शाक्तोऽभिधीयते ॥५२॥ (विष्णोः) विष्णु पदवाच्यस्य व्यापकत्वे सति यत (परम्) सर्वतः श्रेष्ठं (सारम्) वस्वभूतम् (आत्मम्) सर्वनिदानम् (अव्ययम) त्रिविध परिणाम शून्यं वस्तु विचारतो निर्गलितं तत्त्वं (देहे) स्वपिण्डे (विश्रान्ति दायकम्) स्थितिकारकम् चैतन्यं ज्ञात्वा वैष्णवो भवेत ॥५३॥ यः(भास्वत् स्वरूपः) चैतन्यरूपः (भेदभावोज्झितः) स्वरूपतोऽभिन्नः (भेदात्) शरीरोपाधि-भेदात (यस्य) जनस्य (देहे) शरीरे (भाति) प्रकाशते तज्ज्ञाता भागवतो भवेत् ॥५४॥ (सर्वासर्वमयम्) समष्टि व्यष्टि रूपम् (निजम्) स्वयम् (प्रबुद्धम्) प्रकाशमानम् (सर्व देहस्थम्)एकमेव शरीरोपहितम् (वैष्णवम्) विष्णुतत्त्वम् (यो भेदैः) नानारूपेण (वेत्ति) जानाति स तु भेदवादी भवेत (पंचानाम्) पंचभूतानां या (अत्यया) समूलतोऽनुच्छिन्ना (हानिः) स्थूल रूपविनाशरितिरोभाव इति यावत्तदेव पञ्चत्वं प्रलयावस्थारात्रिः। तां योविजानाति स पांचरात्रिकः। अयमाशयः पंचानां रात्रिः, इति विग्रहः पंच पदार्थः भूतपंचकं रात्रिपदार्थः प्रलयस्तथा च पंचभूतलयः पंचरात्रि पदार्थः तात्कालिक परमेश्वरोपासकः पांचरात्रिक इति। अथवा पंचैव रात्रयः धर्मप्रधानतया पंचत्वरूपा रात्रिर्लय इति यावत् तद् बोद्धा लय योग ज्ञाता पांचरात्रिको भवेन्न केवल नाम मात्रेण नारदपंचरात्र ग्रन्थप्रमाणवादीति ध्वनिः ॥५६॥

भा० टी०—जिस शक्ति ने अखिल क्रिया कौशल विशिष्ट जगत का आविर्भाव और ब्रह्मानुभव का विकाश किया है उस शक्ति को जो जानता है वह शाक्त है। जो शक्ति को संसार से संकुचित करके निरुत्थान निर्विकल्प समाधि करता है और उस समाहित दशा में

स्वतन्त्र चेतन हो विहार करता है वह शाक्त है। विष्णुपद का अर्थ व्यापक है। अतः जो उस व्यापक अखण्ड अविनाशी तत्व को अपने देह में स्थित अपने स्वरूप से अभिन्न जानता है वह वैष्णव होता है। जो स्व प्रकाश भेद रहित होकर सर्वत्र अभेद रूप से प्रकाशमान है उस का जिस ने निज पिण्ड में अनुभव कर लिया है वही भागवत है। जो व्यष्टि समष्टि व्यापक तथा प्रकाशमय एक ही विष्णु तत्व को नाना रूपों में देखता है वह भेदवादी कहलाता है। पाञ्चरात्रिक पद का अर्थ यह है कि पंच भूतों का जिस में प्रलय होता है। उस का उपासक पाञ्चरात्रिक कहलाता है ॥ ५१-५२-५३-५४-५५-५६

मू॰—येन जीवन्ति जीवा वै मुक्तिं यान्ति तत्क्षणात्।
सजीवो विदितो येन सदा जीवी स कथ्यते ॥५७
यः करोति सदा प्रीतिं प्रसन्ने पुरुषे परे।
शासितानीन्द्रियाण्येव सात्त्विकः सोऽभिधीयते॥५८
सर्वाकारं निराकारं निर्निमित्तं निरञ्जनम्।
सूक्ष्मं हंसं च यो वेत्ति स भवेत् सूक्ष्म सात्त्विकः ५९
सत्यमेकमजं नित्यमनन्तं चाक्षयं ध्रुवम्।
ज्ञात्वा यस्तु वदेद्धीरः सत्यवादी स कथ्यते ॥६०॥
ज्ञानज्ञेयमयाभ्यां तु योगिनः स्व स्वभावतः।
कलंकी सतु विज्ञेयो व्यापकः पुरुषोत्तमः ॥६१॥

सं॰ टी॰—येन चैतन्येन जीवाः संसारावस्थायां जीवन्ति ज्ञाने सति तत्क्षणात् तत्कालमेव मुक्तिं मोक्षं यान्ति प्राप्नुवन्ति स जीवश्चैतन्यरूपो येन विदितः सः(सदा जीवी)सः,'अमरः'कथ्यते॥५७॥(यः) प्रसन्ने आनन्दरूपे (परे) सर्वतः श्रेष्ठे (पुरुषे) पूर्णरूपे (सदा प्रीतिम्) आत्मरूपतयाऽकृत्रिमं प्रेम करोति 'किं च' (इन्द्रियाणि) शासितानि विषयेभ्यो निवर्तितानि स सात्त्विकः कथ्यते ॥५८॥ (सर्वाकारम्) सृष्टिरूपम् (निराकारम्) वस्तुतः सर्वोपाधिरहितम् (निर्निमित्तम्) कारण-

रहितम् निरंजनम्, धर्माधर्मादि रहितम् (सूक्ष्मं हंसम्) हं पदार्थः शक्तिः स पदार्थः शिवस्तथा च शक्ति सहितं शिवम्। अथवा हं पदार्थोजीवः स पदार्थो ब्रह्म तयोरभेदः कर्मधारय समासार्थस्तथा च जीवाभिन्नं परमेश्वरं यो वेत्ति स सूक्ष्म सात्त्विको भवेत् ॥५९॥ (एकम्) द्वैतरहितम् (सत्यम्) त्रैकालाबाधितम् (अजम्) परिणामशून्यम् (अनन्तम्) तिरोधानवर्जितम् (अक्षयम्) क्षयादिह्रास शून्यम् (ध्रुवम्) निष्क्रियं परमात्मानं ज्ञात्वा यस्तु (धीरः) योग्य जिज्ञासुं प्रति वदेत् स सत्यवादी कथ्यते ॥६०॥ (योगिनः) योगिना कृत्यानां कर्तरिवेति कर्तरिषष्ठी विज्ञेय इत्यन्वयः (ज्ञानज्ञेयमयाभ्याम्) ज्ञानम येन मानस वस्तुना ज्ञेयमयेन च प्राकृत वस्तुना च सह सम्बद्ध इति शेषः (स्वस्वभावतः) स्वरूपेण (व्यापकः) सर्वगतः (पुरुषोत्तमः)परमेश्वरो यः स कलंकी कलंक उपाधिरूप चिन्ह यस्यास्तीति विज्ञेयः निरुपाधि प्राप्त्युपायतया साधनीयः ॥६१॥

भा० टी०—जिस चैतन्य के बल से जीव संसारावस्था में जीवित रहता है और उसी को जानकर मोक्ष को प्राप्त करता है उस परमात्मा से अभिन्न चेतनरूप जीव को जिस ने जान लिया वह सदा अमर है। जो परम पुरुष परमात्मा में निरन्तर प्रीति करता है और जिस ने इन्द्रियों का दमन करलिया है वह सात्त्विक कहलाता है। सर्व स्वरूप निराकार निरंजन और सूक्ष्म परमात्मा को जो जानता है वह सूक्ष्म सात्त्विक होता है। एक नित्य कूटस्थ अक्षय सत्य को जानकर जनता में जो उस का उपदेश देता है वह सत्य वादी कहलाता है। मानस और बाह्य दोनों प्रकार के पदार्थों से सम्बद्ध और स्व स्वरूप से व्यापक जो पुरुषोत्तम है वही कलङ्की अर्थात् उपाधि रूप कलङ्क से विशिष्ट सगुण ईश्वर योगियों को निर्गुण पद की प्राप्ति के लिये जानना चाहिये ॥ ५७-५८-५९-६०-६१ ॥

मू०—मुक्तिचारेमति र्या वै व्यापिकास्वप्रकाशिका।
एषाज्ञानवती येन ज्ञातासौ सात्त्विको भवेत्॥६२॥
क्षपणंचित्तवृत्तीनां रागद्वेषविलुण्ठनम्।

कुरुते व्योमवन्नग्नो योऽसौ क्षपणको भवेत् ॥
प्रसरं भासते शक्तिः संकोचं भासते शिवः ।
तयोर्योगस्य कर्ता यः स भवेत्सिद्ध योगिराट् ॥६३॥

सं० टी०—(मुक्ति चारे) मोक्षार्थानुष्ठाने (स्व प्रकाशिका) स्व प्रकाशरूपा (व्यापिका) अखण्डात्मिका या (मतिः) बुद्धिः एषा (ज्ञान-वती) प्रशस्तं ज्ञानं निश्चयो यस्यांसा (येन) जनेन (ज्ञाता) असौ सात्विको भवेत् ॥ ६२ ॥ (चितवृत्तीनाम्) मनोवृत्तीनाम् (क्षपणम्) निरोध क्रियाम् (राग द्वेष- विलुण्ठनम्) रागद्वेषयो निग्रहणम्, यः (कुरुते) करोति तथा (व्योमवन्नग्नः) नभोवन्नग्नःस क्षपणको भवेत् । यद्यपि शिवं विना न शक्तिः, शक्तिविना न शिवस्तिष्ठति, उभयोः स्वाभाविकः सम्बन्धः । तथापि यथा शक्तिः प्रवर्द्धते तथा सृष्टिर्भवति यदा च शिवः स्वान्तर्विलालयति तदा प्रलयः । परन्तु-इदं चक्रं प्राणि कर्मवशाद् बंभ्रमीत्यतो नावधिरस्य कर्मणामानन्त्यात् योऽनुष्ठान बलात् स्वेच्छया, उभयोः सम्बन्धं घटयति स सिद्धराजो योगी सृष्टिप्रलयोभय करणे समर्थो भवेत् । इत्यमुमर्थं दर्शयति शक्तिः (प्रसरम्) सृष्टि प्रसारं प्रकाशते प्रकाशयतीत्यन्तर्भावितण्यर्थः । शिवः (संकोचम्) लयम् (भासते) करोति (तयोर्योगस्य) सम्बन्धस्य (कर्ता) स्वेच्छावशात्संघटयिता स सिद्धयोगिराड् भवेत् । अथ च द्वितीयार्थोऽप्यस्य (शक्तिः) प्राणवायुः (प्रसरम्) प्रश्वासनिःसारणम् (भासते) करोति (शिवः) अपान वायुः संकोचं भासते श्वासमध आकर्षयति (तयोः) प्राणापानयोः (योगस्य) एकत्र मेलनस्य कुम्भकस्येति यावत् कर्ता स सिद्ध योगिराड् भवेत् । ननु शक्ति शिव शब्दाभ्यां कथं प्राणापानयो ग्रहणमिति चेच् शृणु, आधारभूत शिवः, आधेय भूताशक्तिः तत्साहश्येनाग्नि माणवक इवाधार भूतापानस्य शिव शब्देनाधेय भूत प्राणस्य च शक्ति शब्देन ग्रहणं मार्मिक दृष्ट्या संघटतेतराम् ॥ ६३ ॥

भा० टी०—मोक्ष के लिये अनुष्ठान में जो स्व प्रकाशरूप अखण्ड बुद्धि होती है उस को जिस ने प्राप्त करलिया वह सात्विक होता है जो चित्तवृत्तियों के निरोध पूर्वक रागद्वेषादि का नाशकर आकाश

की 'तरह नग्न (निर्मल) रहता है वह क्षपणक कहलाता है। यद्यपि शिवके बिना शक्ति नहीं रहती और शक्तिके बिना शिव नहीं रहता, तथापि जब शक्ति बढती है तब सृष्टि होती है और जब शिव शक्ति को अपने में लीन करलेता है तब प्रलय होता है। जो योगी इन दोनों क्रियाओं में कुशल है वह सिद्धों में योगिराज कहलाता है। इस का दूसरा अर्थ है कि प्राण वायु श्वास को बाहर निकालता है और अपानवायु श्वाश को नीचे खेंचता है इन दोनों के योग को कुम्भक कहते हैं। इस को करने वाला सिद्ध योगिराज होता है॥ ६२-६३॥

मू०–विश्वातीतं यथाविश्वमेकमेव विराजते।
संयोगेन सदा यस्तु सिद्ध योगी भवेत्तु सः॥६४॥
सर्वासां निज वृत्तीनां प्रसृति भजते लयम्।
स भवेत्सिद्धसिद्धान्ते सिद्धयोगीमहाबलः॥६५॥
उदासीनः सदा शान्तः स्वस्थोन्तर्निजभासकः।
महानन्द मयो धीरः स भवेत्सिद्ध योगिराट्॥६६॥
परिपूर्ण प्रसन्नात्मा सर्वासर्वपदोदितः।
विशुद्धो निर्भरानन्दः सभवेत् सिद्ध योगिराट्॥६७॥
गतेन शोकंविभवेन वाञ्छा प्राप्ते न हर्षं न करोति योगी।
आनन्दपूर्णोनिजबोधलीनोनबाध्यतेकालपथेननित्यम्॥६८॥

सं० टी०–(यथाविश्वम्) विश्वमनतिक्रम्य विश्वसहितमिति फलितम्। (विश्वातीतम्) संसारात्परं परब्रह्म (एकमेव) अद्वैतमेव-तत्त्वं सत् (सदासंयोगेन) सम्यग् योगेन निर्विकल्प समाधिद्वारा योयोगी विराजते स सिद्धयोगी भवेत्। तत्त्वमित्यस्य नित्यनपुंसकत्वाद् य इत्यनेनसामानाधिकरण्यान्वयेन क्षतिः ६४ यस्य सर्वासांनिजवृत्तीनाम् समस्तस्वीयमनो व्यापाराणाम् (प्रसृतिः) उद्गमः (लयं लभते) विलयं व्रजति सएव सिद्धसिद्धान्ते--सिद्धमते (महाबलः) सकल रचना समर्थ

सिद्धयोगी कथ्यत इति ॥६५॥ यः (उदासीनः) संसाराद्विरक्तः, अतएव (सदा) सततम् (शान्तः) चित्त विक्षेप रहितः [स्वस्यान्तः] स्वशरीर मध्ये [निज भासकः]स्वस्वरूप प्रकाशकः । अतः [महानन्दमयः] प्रचुरानन्दोऽत्र प्राचुर्य्येऽर्थे मयट् सः [धीरः] ध्यानवान् सिद्धयोगिराड् भवेत् ॥६६॥ [परिपूर्ण प्रसन्नात्मा] अखण्डानन्द रूपः [सर्वा सर्व-पदोदितः] सकल वस्त्वधिष्ठानतयोपहितरूपेण सकलशब्दवाच्योऽथवा असर्वे तिच्छेदस्तथा वस्तुतो जाति गुण क्रिया तीतत्वात् कस्यापि-पदस्य वाच्यतां नाश्रयतीत्यर्थः [विशुद्धः] प्राकृतसम्बन्ध शून्यः, अतः [निर्भरानन्दः] अखण्डानन्दः स सिद्ध योगिराट् ॥६७॥ योगी [गतेन] नष्टेन [विभवेन] धनेन [शोकम्] उपतापम् [वांछितवस्तुप्राप्त्या वाञ्छ त्यत्र कर्मण्यङ् प्राप्त्यत्रच भावक्तो ज्ञेयः । [हर्षम्] प्रसन्नताम् [न करोति] न विदधाति । ननुकिं करोत्यत आह—आनन्द पूर्णोनिज बोधलीनः, आनन्द पूर्णः सर्वशक्तिमान् परमेश्वरश्चासावुस्तस्यनिजः शिवानुरूपः व्यापक रूप इति यावत्] बोधलीनो–बोधो ज्ञानं तस्मिन् लीनः, तत्परः सन् [कालपथेन मृत्युना नबाध्यतेऽमरो भवती त्यर्थः ॥६८॥

भा० टी०—संसार से अतीत होकर संसार में व्यापक परमेश्वर से जो निर्विकल्प समाधि द्वारा अभिन्न हो जाता है वह सिद्ध योगी है समस्त इन्द्रिय वृत्तियों को जो लीन करलेता है सिद्धों के सिद्धान्तमें वह महाशक्ति शाली योगी होता है । जो संसार से विरक्त सदा चित्त विक्षेप से रहित अपने देह में स्व स्वरूप का प्रकाशक और समाहित होता है वह योगिराज कहलाता है । जो अखण्ड शान्तियुक्त और जाति गुण क्रिया रहित होने से शब्द के द्वारा अकथ-नीय विशुद्ध सकल संसार के सम्बन्धों से शून्य और अखण्डानन्द हो जाता है वह सिद्ध योगिराज कहलाता है । जो धनादि के नष्ट होजाने पर दुःख नहीं मानता तथा न धनादि लाभ होने से प्रसन्न ही होता है किन्तु सदा परिपूर्ण परमात्मा के ज्ञान में ही संलग्न रहता है वह मृत्यु से भी वाधित नहीं होता । अर्थात् अमर हो जाता है ॥ ६४-६५-६६-६७-६८ ॥

मू०—एवंतुसर्वसिद्धान्तदर्शनानांपृथक्पृथग्भूताना मपिब्रह्मणिसमन्वयसूचनशीलोपदेशकर्ताऽवधूत एवंकर्ता सद्गुरुःप्रशस्यतएषामुपदेशानां पृथक् पृथक् सूचितानां जायते यत्र विश्रान्तिः साविश्रान्तिश्चविधीयते॥ ६९ ॥

लीनतां च स्वयं याति निरुत्थान चमत्कृतेः।
यतो निरुत्थानमयात् सोऽयं स्यादवधूतराट् ॥७०॥
तस्मात्तं सद्गुरुं साक्षाद् वन्दयेत् पूजयेत्सदा।
सम्यक्सिद्धपदंधत्तेतत्क्षणात्स्वात्मभाषितम्॥७१॥
नवन्दनीयास्ते काष्ठादर्शनभ्रान्ति कारका।
वर्जयेत्तान् गुरून् दूराद् धीरः सिद्धमताश्रयः॥७२॥

सं०टी०—(एवम्) पूर्वोक्त प्रकारेण (पृथग् भूतानामपि) विभिन्न मतप्रकाशकानामपि (सर्वसिद्धान्त दर्शनानाम्) निखिल सिद्धान्त बोध कानां शास्त्राणाम् (ब्रह्मणि) सच्चिदानन्दे (समन्वय सूचन शीलोपदेश-कर्ता) सम्यक् तात्पर्य निश्चय फलक व्याख्यानकारकोऽवधूतः, सद्गुरुः (एवं कर्ता) समन्वय कारकः (प्रशस्यते) स्तूयते तदेव प्राचीनोपदेश मुखेन दृढयति। एषा मित्यादि (यत्र) ब्रह्मणि (एषां विश्रान्तिः) सकल दर्शनानां समन्वयः, जायते वस्तुतः सैव विश्रान्ति र्विधीयते न तु क्षणि क विश्रान्तिः प्रशस्यते ॥ ६९ ॥ (निरुत्थानचमत्कृतेः) निरुत्थानेनपुनर नुद्गमनेन चमत्कृते: सुशोभिते ब्रह्मणि (लीनताम्) लयम् (स्वयं) योगी (याति) प्रयाति (नान्य साहाय्य मपेक्षते यतो यो निरुत्थानमपुनराग-मनम् [आयात्] अगच्छन, अतः सोऽय मवधूतराट्, अवधूत शिरोमणिः स्यादिति निश्चयः।७०। [तस्मात्] उक्त हेतोः [तम्] अवधूतम् [सद्गुरुम्] मोक्ष)प्रदम्, साक्षात प्रत्यहं समक्षम्, सदा यो (वन्दयेत्) प्रणमेत (पूज-येत्) भोजनाच्छादनादिभिरलं कुर्यात स स्वात्मभाषितम् स्वगुरूपदिष्टम् (सम्यक्सिद्धपदम्) सिद्धपदवीम् चारुतया (धत्ते) श्रयते सिद्धो भवतीति यावत् ।।७१।। ये (काष्ठादर्शनभ्रान्ति कारकाः) दिग्दर्शने ब्रह्मदर्शने भ्रमो

त्पादकाः (ते न वन्दनीयाः) न पूजनीयाः किं च सिद्धमताश्रयः सिद्धानुयायी (तान्) प्रागुक्तान् गुरून् दूराद् वर्जयेत् परित्यजेत् ॥७२॥

भा० टी०—पूर्वोक्त प्रकार से विभिन्न मत प्रकाशक सकल सिद्धान्त बोधक वाक्यों का समन्वय सच्चिदानन्द ब्रह्म में करनेवाला सद्गुरु अवधूत प्रशंसनीय है। कहा भी है कि विभिन्न रूपसे प्रतीयमान इन उपदेशों का जिस ब्रह्म में जो समन्वय होता है वही समन्वय प्रशंसनीय कहाता है। बन्ध कोटि में न आना निरुत्थान है। उस चमत्कारशाली परमात्मा में योगी स्वयं लीन होजाता है। उस योगी को संयम योग के अतिरिक्त साधन की अपेक्षा नहीं है। अतः जिस ने उस निरुत्थान पद को प्राप्त करलिया वह अवधूत राज हो जाता है। इस लिये उस अवधूत सद्गुरु कोनित्य प्रणाम करेऔर वस्त्र भोजनादि से उसकी पूजा करे। ऐसा करनेवाला अपने गुरु से बतलाये सिद्ध पद को उसी क्षण प्राप्त करलेता है। जो ब्रह्मदर्शन में भ्रम डालने वाला है वह कदापि वन्दनीय नहीं है। ऐसे गुरु को सिद्धमतावलम्बी धीरजन दूर से त्याग दे ॥ ६९-७०-७१-७२ ॥

मू०—वेदान्ती बहुतर्ककर्कशमतिग्रस्तः परं मायया
भाट्टाः कर्मकलाकुला हतधियो द्वैतेन वैशेषिकाः।
अन्ये भेदरता विवादविकलाः सत्तत्त्वतो वञ्चिता
स्तस्मात्सिद्धमतंस्वभावसमयंधीरःसदासंश्रयेत्॥७३॥

सं० टी०—यो हि वेदान्ती केवल वेदान्त शास्त्र मधीत्य स्वानुभव विहीनोऽपि कर्मोपासनादिकं सदुपायं विहाय केवल शाब्दिक ज्ञान बलेनोन्मत्तः (बहुतर्ककर्कशमतिः) बहवस्त र्काद्वैतखण्डनोपाय युक्तयस्तैः कर्कशा कठिनानिदिध्यासनबहिर्मुखा मतिः बुद्धिर्यस्येति, अतः सः (मायया) परमत खण्डनादिमानसिकानात्म चिन्तन जालेन(परमम्) अत्यन्तम्, ग्रस्तः(भाट्टाः) श्रीकुमारिलभट्टमतानुयायिनः (कर्मकला कुलाः) केवल कर्म कौशल तत्पराः (वैशेषिकाः) नैयायिकाः (द्वैतेन) भेदेन (हत धियः) द्वैतस्थापनाग्रहग्रहेण विनष्ट बुद्धयः (एवमन्येऽपि) क्षपणक नग्न

कादयः (भेदरताः) विवादविकलाः विवाद श्रमेण खिन्नमानसाः (एते) सर्वे (सत्तत्त्वतः) वस्तुभूत सच्चिदानन्दतः (वञ्चिताः) पृथग्भूताः सन्तो न मोक्षायालम् (तस्मात्) पूर्वोक्त हेतोः (धीरः)मुमुक्षुः (सिद्धमतम्) सिद्धैर्मतं स्वीकृतं (स्वभावसमयम्) स्वभावतः समयं सिद्धान्तम्। नतु केनचित् कृतमनादि सिद्धान्तमिति यावत् (संश्रयेत्) सेवेतेति निष्कर्षः। अयमाशयो विक्षिप्त चित्तेन चिदानन्द साक्षात्कारो दुर्लभः। चित्तपाश्च ध्यानादि योगमन्तरा न समूल काषं कषितुमर्हन्तीति सार्वजनीनोऽयं पन्थाः। अतस्तमधिरूढवतामवधूतानां सिद्धान्त एव परान् सकलानति तिशेते। ननु सर्वेषां कर्मोपासनादीनां तु निन्दैव कृता तर्हिकोऽवशिष्टः सिद्धान्तःसिद्धानामिति चेच् शृणु रहस्यम्। समरसकरणमेव मुख्य सिद्धान्तो यस्य प्रक्रिया पूर्वमेवोक्ताचार्य पादैः। अतएव सर्वेषामेकैकानुष्ठान पराणां निन्दा प्रस्तूयते समरसकरणायैव न तु निन्दा तात्पर्येण यथा वेदेऽन्धं तमः प्रविशन्तीत्यादिना प्रत्येकं कर्मोपासनयोर्निन्दोभय समुच्चयः ॥७३॥

भा० टी०—जो वेदान्ती केवल वेदान्त शास्त्र को पढ स्वानुभव रहित कर्मोपासनादि सदुपाय को छोडकर केवल शाब्दिक ज्ञान से ही द्वैत खण्डनादि युक्तियों में तत्पर रहते हैं उन की बुद्धि निदिध्यासनसे से वहिर्मुख होजाती है। अतः वे माया से ही ग्रस्त हैं अर्थात् माया के जाल में ही फंसे रहते हैं। भट्ट मतानुयायी पूर्व मीमांसक केवल कर्मकाण्ड में ही व्याकुल रहते हैं इस लिये उन को ईश्वरोपासना का अवसर ही नहीं मिलता वैशेषिक कणादमतानुयायियों की बुद्धि द्वैत के आग्रह से ही विनष्ट होजाती है ऐसे ही अन्य द्वैतवादी भी द्वैताग्रह से बुद्धि को नष्ट करलेते हैं और सदा परस्पर विवाद में तत्पर रहते हैं। इस लिये अपने धेयतत्व से वंचित ही रहजाते हैं। अतः धीर जन को चाहये कि सिद्धों के सम्मत समरस भाव का ही सेवन करे। अर्थात् सकल दर्शनों का समन्वय कर अद्वैत तत्व में तत्पर होजाय। वाद विवाद में कभी न फंसे एक दर्शन का ही पक्षपाती होकर अपने लक्ष्य को न खो वैठे ॥ ७३ ॥

मू०—सांख्यावैष्णववैदिकाविधिपरा संन्यासिनस्तापसाः।
सौरा वीर पराः प्रपञ्च निरता बौद्धा जिन श्रावकाः ॥
एते कष्टरता बृथा पथगताः सत्तत्त्वतो वञ्चिताः।
तस्मात्सिद्धमतं स्वभावसमयं धीरः सदासंश्रयेत् ॥७४॥
आचार्या बहुदीक्षिता हुतिरता नग्नव्रतास्तापसाः ।
नानातीर्थ निषेवका जपपरा मौनेस्थिता नित्यशः ॥
एते ते खलुदुःखभारनिरताः सत्तत्त्वतो वंचिता
स्तस्मात्सिद्धमतं स्वभावसमयं धीरः सदा संश्रयेत्॥७५

सं० टी०—एवं सांख्य मतावलम्बिनो वैष्णवा वैदिकाश्च एतेऽपि (विधिपराः) प्रवृत्तिपरायणाः, न तु निवृत्ति निष्ठा स्तथैव संन्यासिनोयतयः (तापसाः) वानप्रस्थाः (बौद्धाः)बुद्धमतानु यायिनः (जिनश्रावकाः) जिनस्य तत्प्रोक्तस्य ग्रन्थस्य श्रावकाः श्रोतारस्तदनुयायिन इति भावः। तेऽपि प्रपञ्चनिरताः,, सदा सांसारिक व्यवहारपरायणता मार्गे व्यर्थं भ्रमन्तः। अत एव (कष्टरताः) दुःख बहुलाः सन्तः सत्तत्त्वतो वंचिता इत्यादेः पूर्ववदर्थः ॥७४॥ (बहुदीक्षिताः) बहुभिर्दीक्षिता अनियतमतावलम्बिनोऽश्वत्थ पर्णवन्निराधाराः कमण्डलुवद्दोलायमानाः। बहवो दीक्षिता ये वा शिष्यरुच्यनुसारमनुच्य शिष्य सम्पादकाः (हुतिरताः) हवन व्रताः (तापसाः) व्रतपराः (नग्नव्रताः) दिगम्बराः (नानातीर्थनिषेवकाः) तीर्थाटनपराः (जपपराः) जपशीलाः (मौनेस्थिताः) नित्यशो मौनिनः। एतेऽपि सत्तत्त्वतो वञ्चिता अतो दुःख भार निरता भवन्ति न तु मुक्ता इति ध्वनिः शेषं पूर्ववत् ॥ ७५ ॥

भा० टी०—एवं शांख्य वैष्णव और वैदिक तथा सन्यासी वानप्रस्थ आदि जो प्रवृत्ति मार्ग परायण हैं और जो बौद्ध जैन चारवाक आदि संसार व्यवहार में फँसे रहते हैं वे भी कुमार्ग में भटकते हुये असली तत्त्व से वंचित हो दुःख के भागी होते हैं। इस लिये धीरजन सिद्ध सम्मत समरस करण का ही अवलम्बन करें इसी तरह जो एक गुरु निष्ठ नहीं है अथवा अनेक शिष्य बनाने वाले

आचार्य हवन में तत्पर रहने वाले तथा नग्न व्रत को धारण करने वाले तापस अनेक तीर्थों में घूमने वाले जप परायण और सदा मौनी रहने वाले ये सब भी श्रेष्ठतत्व से वंचित होकर दुःख के भागी होते हैं इस लिये धीर जन का कर्तव्य है कि सिद्ध सम्मत समरस भाव का ही सेवन करे ॥७४—७५॥

मू०—आदौ रेचक पूरकुम्भकविधौनाडी यथाशोधितम् ।
कृत्वाहृत्कमलोदरे तु सहसा चित्तंमहा मूर्च्छितम् ॥
पश्चादक्षर मव्ययं परकुले चोङ्कार दीपांकुरे ।
तस्मात्सिद्धमतं स्वभाव समयंधीरः सदासंश्रयेत् ॥७६॥
चार्वका श्चतुराश्च तर्क निपुणा देहात्मवादे रताः ।
ते सर्वे न तरन्ति दुःसहतरं येते परं सात्विकाः ॥
तेसर्वे प्रभवन्ति ये च यवना पापेरता निर्दयाः ।
तेषामैहिकमल्प मेव हि फलं तत्त्वं न मोक्षं पदम् ॥७७॥

सं० टी०—ये (आदौ) प्रथमं (रेचक पूरक कुम्भक विधौ) प्राणायाम सिद्धये (नाडी यथा शोधितम्) नाडीनां पन्थानस्तेषांयथाशोधितं सम्यक् शोधनं कृत्वा हृदय कमले (ओंकारदीपाङ्कुरे) अर्थप्रकाशत्वादोङ्कार एव दीपः, तस्याङ्कुरेऽकारोकारमकार रूपालम्बेन (अक्षरमव्ययम्) परमेश्वरम् । समाहितेन मनसा) शान्तस्वान्तेन पश्यन्ति । तेषामपि (ननित्यं पदम्) न साक्षान्मोक्षः समरस करणं विना द्वैता निवृत्ते र्न साक्षान्मोक्षः किन्तु सत्यलोक प्राप्तिद्वाराक्रममुक्ति रिति भावः ॥ ७६ ॥ (चार्वाकाः) परम नास्तिकाः, अतः (चतुराः) लोक कर्म कुशलाः (तर्कनिपुणाः) आगमानपेक्षाः (देहात्मवादेरताः) पृथिव्यादि भूत चतुष्टयं देहाकार परिणतं मद शक्तिवत्तत्रत एव समुत्पन्न चैतन्य मात्मेति न तु देहाति रिक्तो नित्य आत्मा । अतो यावज्जीवेत् सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेदिति सिद्धान्तं नानाविधतर्कैः स्थापयन्ति । तेऽपि (दुःसहतरम्) संसारं न तरन्ति न परमधिगच्छन्ति किं च (परम्) तत्त्वम् (न तरन्ति) न प्राप्नुवन्ति किं च ते सात्विका अपि न प्रभवन्ति

किं तु राजसाः । ये च यवना म्लेच्छा हिंसादौ (रताः) तत्पराः अतो निर्दया दया रहिता । (तेषामल्पमेव) ऐहिक फलं भवति न तु तत्त्वं मोक्ष पदम् ॥ ७७ ॥

भा० टी०—जो निरन्तर नाड़ी शोधन तथा रेचक पूरक और कुम्भक में ही लगे रहते हैं और हृदय कमल में मन को रोककर पश्चात् ओंकार रूप दीपक के अवयव अकार उकार मकार को ब्रह्म की मूर्ति मान कर मन से उस ब्रह्म का ध्यान करते हैं उन को भी समरस करण के विना द्वैत की निवृत्ति न होनेसे साक्षातमोक्षपद की प्राप्ति नहीं होती किन्तु सगुण ब्रह्म की प्राप्ति द्वारा मोक्ष होता है इसी का नाम क्रम मुक्ति है । शुष्क लौकिक तर्क में तत्पर और अपने को ही चतुर मानने वाले प्रत्यक्ष प्रमाण वादी चारवाक देह को ही आत्मा मानते हैं वे परलोक में फल देने वाले क्रम से वंचित होकर इस असार संसार से पार नहीं होने पाते और मुहम्मद मतानुयायी लोग भी व निर्दय तथा अनेक पाप कर्मों में संलग्न रहते हैं उन को इसलोक में ही क्षणिक विषय सुख मिलता है मोक्षपद की तो उन्हें स्वप्न में भी आशा नहीं है ॥७६—७७

मू०—श्री हट्टे मस्तकान्ते त्रिपुट पुट विले ब्रह्मरन्ध्रे ललाटे ।
भ्रूनेत्रे नासिकाग्रे श्रवण पथरवे घण्टिका राजदन्ते ॥
कण्ठे हृन्नाभिमध्ये त्रिकमल कुहरे चोड्डियाने च पीठे ।
एवं ये स्थानलग्नाः परमपदमहो नास्तितेषांनिरुत्थम्॥७८॥
गोल्लाटेदीप्तिपुञ्जेप्रलयशिखिनिभेसिद्धजालन्धरेवा
शृङ्गाटे ज्योतिरेकं तडिदिवतरलं ब्रह्मनाड्यन्तराले ॥
भालान्ते विद्युदाभे तदुपरिशिखरे कोटिमार्तण्डचण्डे ।
ये नित्यंभावयन्तेपरमपदमहोनास्तितेषांनिरुत्थम् ॥७६॥
लिङ्गाद्दण्डांकुरान्तमनपवनगमाद्ब्रह्मनाड्यादिभेदम् ।
कृत्वा बिन्दुं नयन्तः परम पदगुहां शंखगर्भोदरोर्ध्वम् ॥

मन्त्रान्तर्नाद घोषं गगन गुणमयं वज्रदण्डी क्रमेण ।
ये कुर्वन्तीहकष्टान् परमपदमहोनास्तितेषांनिरुत्थम्॥८०॥

सं० टी०—श्री हट्ट इति मस्तकान्त इत्यस्य विशेषणं श्रीणां शोभा प्रभाणां "श्रीर्लक्ष्मीभारती शोभा प्रभासुसरल द्रुम इति यादवः। हट्टे विपण इवाकर इति यावत् सहस्रारे निखिल पदार्थाः सन्तीति भावः। (मस्तकान्ते) सहस्रारे यः (त्रिपुट पुटः) त्रिकोणाकार यंत्रस्तस्य बिलेच्छिद्रे ब्रह्मरन्ध्रे ये ध्यानं कुर्वन्तीत्यध्याहार स्तथा ललाटे ततोऽधो भाल पटले भ्रूनेत्रे च लुप्त चकारोऽत्र द्रष्टव्यः (भ्रुवि नेत्रे च) भ्रूश्च नेत्रं चेति समाहार द्वन्द्वस्ततो ङौ रूपम्। तथैव (नासिकाग्र श्रवण पथ रवे) नासिकाग्रे श्रोत्रस्य शब्दे चात्रापि समाहार द्वन्द्वः (घण्टिका राजदन्ते) कण्ठदेशस्थ मांसखण्डे तथा कण्ठे हृन्मध्ये नाभिमध्ये च (त्रिकमल कुहरे) त्रिकोणाकार कमल मध्ये (उड्डियाने) तन्नामक बन्धे पीठे नाभितोऽधः प्रदेशे (एवं ये स्थान लग्नाः) पूर्वोक्तेषु स्थानेषु संलग्नास्तत्रैवाशक्ताः सन्तो यतंते तेषामपि निरुत्थं परमपदं नास्ति, साक्षान्मोक्षो न भवति किन्तु परम्परया हिरण्यगर्भादि द्वारेति भावः ॥ ७८ ॥ गोल्लाट इति-गोल्लाटः स्थानविशेषस्तस्मिन्दीप्ति पुञ्जे प्रकाशसमुदाये (प्रलयशिखिनिभे) प्रलयकालिकाग्निप्रभे(वा सिद्धजालन्धरे) ध्यानस्थाने (शृङ्गाटे)सर्वपरिभागे ब्रह्मनाडीमध्यस्थाने (भालान्ते)मस्तकान्ते (विद्युदाभे) विद्युत्प्रभे तथा (कोटिमार्तण्डचण्डे) कोटिभास्वद्दीप्ते (तदुपरिशिखरे) तदूर्ध्वोच्चस्थाने ये सन्तः(तडिदिवतरलम्) विद्युद्वल्लोलमेकं ज्योतिः प्रकाशम् सततम् (भावयन्ते) भावनांकुर्वन्तेतेषां परमंपद मुच्चस्थानं निरुत्थं मोक्ष वस्तु नास्तीत्यहो आश्चर्यम् ॥७९॥ लिङ्गादारभ्य (दण्डांकुरान्तः) मेरुदण्ड मध्ये (मन पवन गमनात्) अत्र सान्तस्याप्यदन्तत्वात् मनसः पवनस्य च प्राणवायोः गमनवशात् (ब्रह्मनाड्यादि भेदम्) सुषुम्ण नाडिभेदनम् (कृत्वा) विधाय (विन्दुम्) शुक्रम् (शंखगर्भोदरोर्ध्वम्) शंखगर्भ गलमध्य भाग स्तस्योदरान्मध्यदेशादूर्ध्वम् उपरिभागे। (परमपदगुहायाम्) वीर्यस्य मूलस्थानं भ्रमरगुहाशिरसः पृष्ठ भागे वर्तते तत्र (नयन्तः) वहन्तस्तत्र वज्रदण्डी क्रमेण वज्रोली क्रिया प्रकारेणान्तर्मध्ये (गगनगुणमयम्) आकाशध्वनि प्रचुरम्। 'व्याप

कमिति यावत (नादघोषम्) नित्यनाद ध्वनितं ये कुर्वन्ति तेऽपि कष्टङ्कुर्वन्ति तेषामपि नात्यन्तिकसाक्षान्मोक्षस्तत्रैवासक्तत्वादितिपूर्ववज्ज्ञेयम् ॥ ८० ॥

भा० टी०—लक्ष्मी सरस्वती शोभादि सकल पदार्थों के खजाने सहस्रार के ऊपर जो त्रिकोण यंत्र है उसके मध्य ब्रह्मरन्ध्र में जो ध्यान करते हैं और उसके नीचे कपाल भ्रकुटि, नेत्र, नासिका, श्रोत्र, कण्ठ के ऊपर तथा कण्ठ, हृदय नाभि, और उसके नीचे स्वाधिष्ठान आदि स्थानों में जो ध्यान करते हैं वे भी साक्षात निरुत्थान (मोक्ष) नहीं प्राप्त कर सकते । किंतु क्रम मोक्ष को ही प्राप्त होते हैं । दीप्ति पुञ्ज प्रलयकालिक अग्नि के सदृश गोल्लाट में जालन्धर शृङ्गाट ब्रह्म नाड़ी के मध्यस्थान में बिजली की तहर दीप्त मस्तकान्त में तथा करोड़ों सूर्य प्रकाश सदृश शिखर में जो योगि जन चंचल बिजली के आकारवालेज्योतिः पुञ्ज का ध्यान करते हैं उन को भी मोक्ष नहीं मिलता। लिङ्ग से लेकर मेरु दण्ड केबीचमनऔरप्राणवायुकेगमन द्वारा सुषुम्णा नाड़ीकाभेदन कर बिन्दु कोगलेसेऊपरभ्रमरगुहानामकशिरके पीछेभाग में लेजाते हुये बज्रोली क्रिया द्वारा वहाँ स्थापित कर व्यापक नित्य नाद ध्वनि को जो करते हैं उनको भी साक्षात् मोक्ष नहीं मिलता॥—७९-८०॥

मू०--सम्यक् चालन दोहनेन सततं दीर्घी कृतांलम्बिकां
तां तालवन्तर वेशितां च दशम द्वारोदरे सन्धिनीम् ॥
नीत्वा मध्यमसन्धिसंघटघटात् प्राप्तांशिरो देशतः।
पीत्वाषड्विधपानकाष्ठ भजनंवाञ्छन्तिये मोहिताः॥८१॥
गुह्यात्पश्चिमपूर्वमार्गमुभयं रुध्वानिलं मध्यमम् ।
नीत्वा ध्यानसमाधि लक्ष्य करणै र्नामासमा ध्यासजैः ॥
प्राणापान गमागमेन सततं हंसोदरे संघटा ।
एवं येऽपि भजन्ति ते भवजले मज्जन्त्यहो दुःखिताः॥८२॥

सं० टी० --केवल खेचरी मुद्रा करणेनापि न मोक्ष सिद्धि रिति

दर्शयति सम्यगिति सततम्(सम्यक् चालन दोहनेन) चालन दोहन क्रियया (दीर्घीकृताम्) विस्तारिताम् (ताल्वाभ्यन्तरवेशिताम्) तालु मध्ये विपरीत रूपेण प्रवेशिताम्(तत्र दशमद्वारोदरे) भ्रू मध्ये सन्धिनीं सन्धिकारिणीं संयुक्तामिति यावत्(लम्बिकाम्) जिह्वां (नीत्वा) प्रापय्य (मध्यमसन्धि संघट घटात्) मध्यमश्चासौ सन्धिः संगमो नाल्पो नाति दीर्घ इति यावत् तस्य संघटः समुदायस्तस्यघटात् करणात् तत्र भ्रू मध्ये मध्यम रूपेण वारंवारं रसनायाः संगम करणादितिभावः (शिरोदेशतः) सहस्रारतः (प्राप्ताम्) समागतां सुधामिति शेषः (पीत्वा) आस्वाद्य ये जनाः सततम् (षड्विध पानकाष्ठ भजनम्) षड्सास्वादन रूप जड सेवां वाञ्छन्ति तेऽपीति शेषः (मोहिताः) तत्त्व बोधतो वञ्चिताः। तत्त्व ज्ञान साधनमिदं लक्ष्यं मत्वा सततं तदासक्ता न भवन्त्वित्युपदेशायात्र प्रकरणे सर्वेषां निन्दा कृता न तु निन्दा तात्पर्येणेति पूर्वोक्तं न विस्मर्तव्यमिति ॥ ८१ ॥ केवल वायुरोधज समाधितो न मोक्ष इति प्रदर्श्यते गुह्येति (गुह्यात्) मूलाधारात्, आरभ्येति प्रभृत्यर्थक योगे पंचमी(उभयं पश्चिम पूर्व मार्गम्) इडापिंगलोभयपथम् (रुद्ध्वा) अवरोध्य (मध्यमनिलम्) सुषुम्णायां वायुम् (नीत्वा)प्रगमय्य (ध्यानसमाधि लक्ष्यकरणैः) ध्यानं च समाधिश्च तयो लक्ष्ययोः करणैः साधनैः (नानासमाध्यासनैः) भूयोऽभ्यासैः (प्राणापान गमागमेन) प्राणस्यापानस्य चोच्छ्वास निःश्वासयोर्गमागमेन याता यातेन (हंसोदरे) नाडी कुहरे (संघटा) संघर्षः सम्पाद्यत इति शेषः। एवमपि ये भजन्ति तेऽपि दुःखिताः सन्तोभव जले मज्जन्ति विना ज्ञानं समाधिना प्रकृति लयो भवतीति न संसाराद्विमुक्तिरतस्तत्त्व ज्ञानाय सावधानेन स्थातव्यमित्युपदेशः ॥ ८२ ॥

भा० टी०—अब केवल खेचरी से भी साक्षात् मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती इस का निरूपण करते हैं। अच्छीतरह चालन दोहन द्वारा जिह्वा को लम्बी बना कर तालु के भीतर ले जाते हुये तथा दशमद्वार में संयुक्त करते हुये बार बार उस जिह्वा सम्बन्ध से सहस्रार से टपकने वाले अमृत को पीते हुये जो षट् प्रकार के रसास्वाद रूप जड़पान में आसक्त हैं वे भी साक्षात् मोक्ष से वञ्चित हैं मूलाधार से लेकर इड़ा पिङ्गला के मार्ग को रोक कर सुषुम्णा द्वारा वायु को

ऊपर लेजाकर अपने ध्येय के साक्षात्कार के उपाय अनेक प्रकार के अभ्यास से वायु के गतागत द्वारा नाड़ी चक्रों में ही जो सदा आसक्त रहते हैं वे भी समरस करण के विना साक्षात् मोक्ष के भागी न होने से दुःखी ही रहते हैं ॥८१-८२॥

मू०—शक्त्याकुञ्चनमग्नि दीप्ति करणंत्वाधारसंपीडनात्
स्थानात्कुण्डलिनी प्रबोधनमतः कृत्वा ततो मूर्धनि ॥
नीत्वा पूर्णगिरिं निपातनमधः कुर्वन्ति तस्याश्च ये।
खण्डज्ञानरतास्तुते निजपदं तेषां हि दूरं मतम् ॥८३॥
बन्धं भेदञ्च मुद्रां गलविलचिबुकाबद्धमार्गेषुवह्निः ।
चन्द्रार्कौ सामरस्यं शमदम नियमा नादविन्दुंकलान्ते ॥
ये नित्यं मेलयन्ते ह्यनुभव मनसाप्युन्मनीयोगयुक्ता
स्तेलोकान्भ्रामयन्तेनिजसुखविमुखाःकर्मदुखाध्वभाजः८४

सं० टी०—केवलषट्चक्रभेदेन शक्ति संचालन क्रियानुरामोऽपि न श्रेयस्करः किंतु साध्यसिद्धिपर्यन्तमेव साधनं कर्तव्यं यथौदन पर्यन्तमेव पाकस्तण्डुलनिष्पत्ति पर्यन्तमेवावघातश्चान्यथा निष्क्रियाव स्था रूपावधूतत्वं न स्यादित्युपदिश्यते। शक्त्येति-(आधारसंपीडनात्) मूलाधारस्य बन्धनमुद्रयामर्दनात् (शक्त्याः)कुण्डलिन्याः (आकुञ्चनं)सं कोचः तथा (अग्निदीप्तिकरणम्) कुक्षिस्थाग्निं प्रगृह्याधारे संयोजनम् एतत्साधनद्वयबलेन (स्थानात्) स्वस्थानात् (कुण्डलिनी प्रबोधनम्) मूलाधारस्थ शक्ति जागरणं भवति ततः प्रबोधान्मूर्धनि भाल मध्ये (ताम्) कुण्डलिनीम् कृत्वा (ततः) तस्मादप्युपरि (पूर्णगिरिम्) सहस्रा रस्थितपीठ देशं नीत्वा तस्याश्च पुनः (अधः) नीचैः (निपातनम्) प्रपा तनं ये कुर्वन्ति सततं कुण्डलिन्या उत्थानावपातनयोरेवासक्तास्तेऽपि खण्ड ज्ञानरता एकदेश साधन सम्पन्ना अपि, अवधूतत्व सम्पादकनै ष्कर्म्यादि पूर्णसाधन रहिता अतस्तेषां निज पदं स्वस्थानं (दूरम्) अन ल्प विलम्बनेन मोक्षो भवति नैष्कर्म्यादि साधनं यावत्प्रतीक्षते ॥८३॥ सिद्धिपर्यन्तमेव साधनंतत्परं तदपि हेयमन्यथा सङ्गतारूय मोक्षो न

स्यादित्युक्तं पूर्वं तथैवात्रापि बोध्यमियमेव प्रक्रिया सर्वदर्शनेषु समा दृता। यथा तत्त्वज्ञानस्यापि वृत्तिरूपतया वृत्तेश्चाविद्यारूपत्वाद्धू यतैव पर्यवस्यतीति घण्टाघोषः (बन्धम्) जालन्धरादिम् (भेदम्) चक्रभेदम् (मुद्राम्) खेचरी प्रभृतिकृत्वेति शेषः। (गलविलचिबुकाबद्धमार्गेषु) गलस्य कण्ठस्य विलं छिद्रं चिबुकम्-ओष्ठाधो भागस्तयो राबद्धमार्गाः आप्रतिबद्धाः सम्यग् निरुद्धामार्गानाडीरन्ध्रास्तेषु सत्सु (वह्निः) सुषुम्णा नाडी (चन्द्रः) इडानाडी (अर्कः) पिंगलानाडी तेषाम् (सामरस्यम्) सम रस भावमैक्यमिति यावत्। (शमः) अन्तरिन्द्रियनिग्रहः (नियमाः) शौचादयः (नादः) आन्तरिक शब्दः (बिन्दुः) शुक्रम्, एतेषां समुदा यंकलान्तेसाधयित्वा सिद्धैः पश्चादपि-(उन्मनी योग युक्ताः)संसारापसृत्य परमात्मनिष्ठाः सन्तोऽपि-उन्मनी पदार्थः प्रागुक्तः। अपि शब्दस्य भिन्न क्रमतां स्वीकृत्यात्र सम्बन्धः (अनुभवमनसा) साधनज्ञानाशक्त चित्त तया पूर्वोक्त साधनं नित्यं मेलयन्ते ते निजसुख बिमुखाः स्वात्मानन्द वञ्चिता लोका भ्रामयन्ते साधनोपदेशेन वञ्चयन्ते। अत उन्मनीभा वात् पूर्वमेव साधनं विधेयं नतु ततः पश्चादिति 'निष्कर्षः॥ ८४॥

भा० टी०—जब योगी एड़ी से मूलाधार को दबाकर भली प्रकार सिद्धासन लगाकर मूलबन्ध को दृढ़ करता हुआ बैठता है तब मूलाधार के युक्तियुक्त दबाने से अग्नि प्रज्वलित होती है। उस अग्नि प्रज्वलन से तथा अपानवायु को ऊपर की ओर खेंचने से मूलाधार में कुण्डलिनी शक्ति को प्रबोधित करे। उस कुण्डलिनी शक्ति को प्रबुद्ध कर पीछे मूर्ध स्थान में स्थित "पूर्णगिरिपीठ" नामक ब्रह्मस्थान सहस्रदल में पहुँचाकर योगी यथाशक्ति समाधि में स्थित रहते हैं। यह निर्भय मोक्ष स्थान है। यहाँ काल की गति नहीं है। इसी को पूर्णगिरिपीठ भी कहते हैं क्योंकि यहाँ पूर्णब्रह्म रूप निजस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। फिर वेही ध्यानी लोग ध्यान उतारते समय उसी कुण्डलिनी को नीचे निजस्थान पर गिरादेते हैं। अतः वे ध्याना-वस्था से फिर प्रपञ्चावस्था में लौट आते हैं। इस अवस्था को प्राप्त हुये योगिजन यद्यपि उत्तम कोटि में गिने जाते हैं। तथापि ऐसे अभ्यासी महात्मा भी खण्ड ज्ञान में ही रहते हैं क्योंकि यह केवल

ससाधन भूचरी मुद्रा का फल है। अतः जब तक साङ्गोपाङ्ग योग विधि से निज पिण्डपदका समरसकरण न किया जाय तब तक उन खण्डज्ञानियों के लिये अखण्ड ज्योतिःस्वरूप पद दूर माना जाता है। मूलादिबन्ध तथा कुण्डलिनी प्रबोध से षट्चक्र और ब्रह्मा विष्णु रुद्र ग्रन्थियों का भेदन या महावेधकर तथा खेचरी आदि मुद्रा एवं ठोड़ी को वक्षःस्थल में जालन्धर बन्ध द्वारा नियोजित कर गलबिल के प्रतिरोध से समस्त नाड़ी मार्गों के रुक जाने पर प्रज्वलित हुई अग्नि का तथा सूर्य और चन्द्र स्वर के सुषुम्णागत मेलका, एवं शमदमादि नियम पालन पद्धति से नाद और बिन्दु का या शमदमादि नियमों का तथा नाद और बिन्दु का जहाँ शब्दादि समस्त कलाओं का अन्त होता है ऐसे शिवराजधानी स्वरूप सहस्रदल में अर्थात् सर्वचक्रातीत निरञ्जन देव में, उन्मनी योग से युक्त हुये भी जो योगी अनुभव आत्मक मानस ज्ञान से नित्य सम्मेलन करते हैं, वे स्वयं भी कर्मरूप दुःख अन्धकार के भागी होते हुये निज आत्मानन्द सुख से विमुख हैं और लोगों को भी भ्रम में डालते हैं। क्योंकि स्व स्वरूप में प्रतिष्ठित करने वाली सहजावस्था होती है उसी को उन्मनीयोग या समाधिनिष्ठा कहते हैं। उसी को प्राप्त करने के लिये समस्त योग साधनों का अनुष्ठान किया जाता है और जब उन्मनी योग सिद्ध होता है तब फिर आत्मानन्द को छोड़कर उन साधनों में ही आसक्त रहना तो एकप्रकार से स्वयं भी दुःखभार को सहते हुये लोगों को भ्रम में डालना है। इसी भाव का पूज्यपाद श्री योगाचार्य जीने ऊपर के श्लोक में वर्णन किया है ॥८३॥८४॥

मू०-अष्टाङ्गं योगमार्गं कुलपुरुषमतं षण्मुखी चक्रभेदम्।
ऊर्ध्वाधो वायुमध्ये रवि किरणनिभं सर्वतो व्याप्तिसारम्॥
दृष्ट्या ये वीक्षयन्ते तरलजलसमं नीलवर्णं नभो वा।
एवं ये भावयन्तेनिगदितमतयस्तेऽपिहा कष्टभाजः॥८५॥
आदौ धारणशंखधारण मतः कृत्वा महाधारणम्,
सम्पूर्णम्प्रतिधारणं विधिबलाद् दृष्टिस्तथा निर्मला।

अर्धोली बहुलीह वासनमथो घण्टाश्च सन्नौलिका,
ये कुर्वन्ति च कारयन्ति च सदा श्राम्यन्ति खिद्यन्ति ते॥८६॥

सं० टी०—(अष्टाङ्गयोगमार्गम्) पूर्वोक्त यमनियमादि रूपाष्टांगयोगमार्गम् (तथा) कुलपुरुष मतम्) कुलपुरुषः कुलपतिराचार्यस्तेन मतं स्वीकृतम् (षण्मुखीचक्रभेदम्) मूलाधारादि षट् चक्रभेदं कृत्वेति शेषः (ऊर्ध्वाधोवायुमध्ये) उच्छ्वास निःश्वास मध्ये भ्रूमध्य इति यावत् (रविकिरणनिभम्) भास्करप्रभा सदृशम् (सर्वतो व्याप्ति सारम्) परितो देदीप्यमानं तेजोः पुञ्जं ये दृष्ट्या त्राटकादि मुद्रया (वीक्षयन्ते) पश्यन्ति (वा) अथवा (तरल जल समम्) चंचल नीर तुल्यं (नील वर्णम्) ईषत् श्यामलभं नभो वीक्षयन्ते। एवं सततं भावयमाना अपि कष्ट भाज एवेति शेषं पूर्ववत् ॥ ८५ ॥ (विधिबलात) शास्त्राचार्य नियोग बलात् (आदौ(पञ्चभूत धारणेषु प्रथमम् (धारणशंख धारणम्) धारणं शं मंगलं यस्मिस्तस्य खस्याकाशस्य धारणमथवा धारणश्चासौ शंखः "धार्यते जगदनेनेति संसारस्थिति कारकः, शंसुखात्मकः, खो व्यापकस्तस्य परमेश्वरस्य धारणमतः (पश्चान्महाधारणम्) समस्त पंच भूतधारणम्, अव्याकृताकाशधारणं वा (प्रतिधारणम्) विपरीतधारणं प्रत्येकभूत धारणं वा तदङ्गभूतचिन्ह धारणम् (सम्पूर्णम्) सकलं सम्याग्(दृष्टिम्) बुद्धिन् (निर्मलाम्) स्वच्छां तथा (अर्धोली) धोति (बहुली) बस्ति (वासनम्) नेति भस्त्रिकाश्च (अथो) अथ च (घण्टा) त्राटकम् (नौलिका) नौलिः"एकदेशानुमत्याभस्त्रेति,, एवं ये स्वयं षट् कर्माणि कुर्वन्ति। अन्यान् कारयन्ति च ते सदा स्वयं श्राम्यन्ति खिद्यन्ति च पूर्ववत ॥ ८६ ॥

भा० टी०—कुण्डलिनी शक्ति से जिसमें चक्रों का भेदन कहा है और सर्व सम्मति द्वारा शिव शक्ति मतानुयायी से अभिमत एवं यम नियमादि साधन विशिष्ट अष्टाङ्ग योग मार्ग कहा जाता है और ऊर्ध्व ध्येय सहस्रदलयुक्तपद्म तथा ब्रह्मचक्र ललाटादि के मध्य एवं अधो धेय मूलाधारादि और मध्य ध्येय नाभिचक्र आदिकों के बीच में सूर्य की किरणों के समान सर्वतो व्यापक तेजोमय वा

तरल स्वच्छ जल के समान या नील वर्ण आकाश के सदृश वस्तु को उन ध्येय स्थानों में देखकर जो ध्यान करते हैं वे लोग भी परम लक्ष्य पर न पहुँचने से परिमित बुद्धिवाले हैं। दुःख है कि वे पूर्वोक्त रीति से भावना करते हुये भी केवल दुःख भार को ही उठाते हैं। सर्व-प्रथम दूसरे उपदेश में कहे हुये पाँच आकाशों में से आकाशधारणा पराकाशधारणा और महाकाशधारणा को कर सम्पूर्ण तत्त्वों की प्रतिधारणा यानि प्रत्येक धारणा अर्थात तत्त्वाकाश-धारणा को करके योगविधि से ध्येय लक्ष्य में दृष्टि जमाकर निर्मल करते और कराते हैं। एवं नेति, धोति वस्ति, त्राटक नौलि और कपाल भाति (भस्त्रिका) इनको जो सदा करते हैं और कराते हैं वे भी परम लक्ष्य तक न पहुँचने से भ्रान्त हुये दुःख का उपभोग करते हैं ॥८५॥८६॥

मू०—शंखक्षालन मन्तरं रसनया ताल्वोष्ठनासारसम्।
वान्तेरुल्लुठनं कपाटममरी पानं तथा खर्परी ॥
वीर्यद्रावितमात्मजं पुनरहो ग्रासं प्रलेपञ्च वा।
ये कुर्वन्ति जडास्तु ते नहि फलं तेषां तु सिद्धान्तजम्॥८७॥
घण्टाकोहलकालमार्दुलमहाभेरीनिनादंयदा।
सम्यङ्नाद मनाहत ध्वनिमयं शृण्वन्ति चैतादृशम् ॥
पिण्डे सर्वगतं निरन्तरतया ब्रह्माण्डमध्येऽपि वा।
तेषां सिद्धपदं ततः समुचितं नैवं परं लभ्यते ॥ ८८ ॥

सं० टी०—ये सततं कर्मणिरतास्तत्त्वाभिमुखा न भवन्ति तेऽपि जडाः (सिद्धान्तजं फलं) मोक्षस्तेषां न भवति। किं किं कुर्वन्तीति कथ्य ते (अन्तरम्) अभ्यन्तरम् (शंखक्षालनम्) शंख नाड़ी शोधनम्, आन्त रिक कमल शोधनमिति यावत्। वथा ताल्वोष्ठं नासिका रतासां रसं तस्येति शेषः (रसनया) जिह्वया (वान्तेः) वमनस्य करणेनेति शेषः (उल्लु ठनम्)निःसारणम् (कपाटम्) कपाट मुद्रां भ्रू द्वार भेदनम् (अमरीपानम्) शिवजल सुधापानं तथा (खर्परी) खर्पर धारणम् (वीर्य्यद्रावितम्) वी

र्यनिःसृतम् (आत्मजम) स्वकीयम् पुनस्तस्यैव (ग्रासम्) कवलनम् (प्रलेपनम्) वाऽङ्गं मर्दनमित्यादि ये कुर्वन्ति। तेषां सिद्धान्तजं फलं मोक्षो न भवतीति किमु वक्तव्यं शिष्टमण्डलेऽपि समावेशस्तस्य दुर्लभः ॥ ८७ ॥ (यदा) प्राणवायुरोधकाले (घण्टेत्यादि) घण्टा प्रसिद्धं वाद्यं तस्याः कोहलः, कोलाहलस्तस्यैव कालम्, मार्दुलं च यस्य। कलस्य भावः कालो माधुर्यमिति यावन्मृदुलस्य भावो मार्दुलम्, कोमलत्व मिति भावः। सा चासौ महाभेरी निनादो वाद्य विशेष ध्वनिस्तं किं च (अनाहतध्वनिमयम्) महाकाशस्थित प्राकृत नित्य शब्दस्य यो ध्वनिः सोऽनाहतध्वनिस्तन्मयं तत्प्रायं (सम्यग्ध्वनिम्) सुन्दरध्वनिम् (सर्वगतम्) व्यापकम् (निरन्तरतया) अनवरतम् (पिण्डे) शरीर मध्ये वा ब्रह्माण्ड मध्ये ये शृण्वन्ति तेषां (ततः) तेनैव ज्ञानरहितेन साधनेन (सिद्धपदम्) सिद्धानां प्राप्यं समुचितं परं तत्त्वं ब्रह्म नैव लभ्यत इति किन्तु साधनेन ज्ञान प्राप्ति स्ततो मोक्ष इति ब्रूमः ॥ ८८ ॥

भा० टी०—शङ्ख धोने के बाद स्वभाव से तालु, ओष्ठ और नासारस एवं वान्ति का उछाल, कपाल कपाट अमरीपान तथा खर्परी होना, निज विन्दु का द्रावण फिर उसी का ग्रास (पीना) और लेप जो जड़ बुद्धि करते हैं उनको स्वसिद्धान्त वर्णित फल की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। क्योंकि यह कल्याण से गिराने वाला अत्यन्त विपरीत मार्ग है। घन्टा, कोहल, (ढोल) काल, (कांस्यका वाद्य विशेष) डमरू और बड़ी नौवत इनके तथा और भी ऐसे ही अनेक चित्र विचित्र अनहद ध्वनिरूप नाद को सर्वगत रूप से जो स्वपिण्ड में या ब्रह्माण्डमात्र में निरन्तर सुनते हैं, उन अभ्यासियों को यथावत सिद्धि की प्राप्ति होती है। क्योंकि पूर्वोक्त प्रकार से शब्द सुनना योग सिद्ध सूचक शुभ लक्षण है। जब प्राण वायु तीनों ग्रन्थियों का भेदन कर सहस्रदल शिव स्थान में पहुँचने लगता है तब घण्टादि वाद्य विशेषों की यह विशाल ध्वनि उत्पन्न होती है। उस समय योग सिद्धियाँ समीप आजाती हैं परन्तु उन सिद्धियों के आने पर भी अपने को कृतकृत्य न समझे। क्योंकि यह सिद्धिरूप सार्वभौम पद भी माया का कार्य है। अतः इससे भी तृप्त न होना चाहिए क्योंकि इतने से भी

आत्मारूप व्यापक पद की प्राप्ति नहीं होती। हाँ अणिमादि ऐश्वर्य में जब विरक्ति भाव होता है उसके बाद अखण्ड ज्योतिः रूप परम व्यापक आत्मतत्त्व को प्राप्त होजाता है ॥८७,८८॥

मू०—वैराग्यात् तृणशाकपल्वलजलं कन्दं फलंमूलकम्
भुक्त्वा यौवनवासमेव भजते चान्ये च देशान्तरे ॥
बालोन्मत्तपिशाचमूक जडवच्चेष्टाश्च नानाविधाः ।
ये कुर्वन्ति पदं विना मतिबलं भ्रष्टा विमुह्यन्ति च ॥८९॥
कंथादर्शन मद्भुतं बहुविधं भिक्षाटनं नाटकम् ।
भस्मोद्धूलन मंग कर्कश तरं धृत्वा च वर्षं त्वरेत् ॥
क्षेत्रं क्षेत्र मटन्ति दुर्गमतरे स्थित्वाऽथ सर्वेन्द्रियम् ।
नो विंदन्ति परंपदं गुरुमुखाद्गर्वेण कष्टाश्च ते ॥९०॥

सं० टी०—ये (वैराग्यात) संसारात् विरज्य (तृणशाक पल्वलजलम्) तृण विशेषं शाकं वास्तुकादि, पल्वलं, जलाशयस्तस्थ जलं, प्रसिद्धं कंदम् , सुरणादि, फलमाम्रादि, मूलकं प्रसिद्धम् । एतानि भुक्त्वा वन वासरण्यमेव (भजते) सेवतेऽन्यं च ये देशान्तरं जन्मदेशादन्यत्र (बालो न्मत्तपिशाच मूक जडवत) कचिद्बालवत् कुत्रचिदुन्मत्तादिवत् (नानावि- धाः) अनेक प्रकाराः (चेष्टाः) व्यापारान् कुर्वन्ति ते मतिबलम् (ज्ञान शक्तिम् (विना) ऋते भ्रष्टाः स्वसिद्धान्ताद् विचलिताः सन्तो विमुह्यन्ति मुग्धा भवन्ति ॥ ८९ ॥ (अद्भुतम्) विचित्रम् (कन्थादर्शनम्) कन्था रूप वस्त्रम् (बहुविधम्) नाना प्रकारकम् (भिक्षाटनम) याचनम् (नाटक म्) नाटकवद् बहुवेषम् (भस्मोद्धूलनम्) विभूतिपरिलेपनम्-अत एव (अङ्गकर्कशतरम) अतिशयेन कठिनाङ्गम् (धृत्वा) परिधाय कृत्वा च (वर्षम्) निरन्तर बहुवर्षावधि(त्वरेत)विचरति (क्षेत्रं क्षेत्रम्) प्रतिस्थानम् (अटन्ति) अतन्ति (अथदुर्गमतरे) विषमस्थाने (स्थित्वा) आसित्वा सर्वेन्द्रियं निरुध्येति शेषः (गर्वेण) अहङ्कारेण (गुरुमुखात्) आचार्य

चक्रात (परंपदम्) तत्वं (नो विन्दन्ति) न लभन्तेऽतस्ते कष्टाः दुखिता इति ॥ ९० ॥

भा० टी०—बहुत से वैराग्य हो जाने पर पत्ती के शाक से ही निर्वाह करते हैं। एवं पत्तों के जल पात्र से ही जल का ग्रहण करते हैं या तृण, शाक और पत्तों से निकाला हुआ जल, कन्द, फल, और मूल, आदिकों को खाकर वन में ही निवास करते हैं या अन्य देश में रहते हैं। इसी प्रकार जो बालक, उन्मत्त, पिशाच गूंगे और मूर्ख पुरुष के सदृश चेष्टा करनेवाले हैं। अतः विपरीत बुद्धि के कारण योग रूप आनन्द से वंचित हो, वे बनावटी विरक्तिपद का ठाट दिखाते हैं वे आत्मानन्द से भ्रष्ट हुये इस संसार के माया चक्र में ही मोहित हो रहे हैं। अनेक प्रकार के चित्र विचित्र कन्था (चोला) और वसनादिकों को धारण करने वाले एवं अनेक प्रकार से भिक्षा के निमित भ्रमण रूप नाटक में परायण तथा भस्मी और धूल को शरीर में रमाकर देह को अति कठोर बना कितने ही वर्षों तक कठिन नियमों का पालन करते हैं और अन्य कितने ही समस्त इन्द्रियों को जीतकर दुर्गम तीर्थ क्षेत्रों में ही भ्रमण करते हैं, परन्तु वे स्वयं पण्डितमानी होते हुये गर्व से योग तत्व वेत्ता गुरु की शरण में पहुँच कर भी योगद्वारा आत्म रूप परमपद को नहीं जानते। वे भी आत्मानन्द से वंचित यों ही दुःख भार से पीड़ित हैं ॥८९॥९०॥

मू०—वाणीं येच चतुर्विधां स्वरचितां सिद्धैश्चवा निर्मिताम् ।
गायत्रीं चतुराश्च पाठ निरता विद्या विवादे रताः ॥
नो विन्दन्ति तदर्थमात्म सदृशं खिद्यन्ति मोहाच्छलात् ।
दण्डैः कर्तरि शूलचक्र लगुडै र्भाण्डाश्च दुष्टाश्च ते ॥९१॥
एवं शून्यादि शून्यं परम परपदं पञ्चशून्यादि शून्यम् ।
व्योमातीतं ह्यनाद्यं निज कुलमकुलं चाद्भुतं विश्वरूपम् ॥
अव्यक्तं चान्तरालं निरुदयमपरं भासनिर्नाम मैक्यम् ।

वाङ्मात्राद्भासयन्तोबहुविधमनसोऽव्याकुलाभ्रामितास्ते

सं० टी०–(स्वरचिताम्) परमात्मनो निःसृतां श्रुति रूपाम् (सिद्धैः) सिद्ध पुरुषैर्निर्मितां स्मृतिरूपाम् (चतुर्विधाम्) निपातोपसर्ग सुबन्ततिङन्तरूपाम् "चतुर्विधाः शब्दाः,, नामाख्यातोपसर्ग निपाताः इति व्याकरण महाभाष्ये (वाणीम्) मन्त्रात्मक शब्दम् (गायत्रीम्) तत्त इव गायत्रीं पठितुमिति शेषः। (चतुराः) निपुणाः (पाठनिरताश्च) जपतप परा अपि यदि (विद्याविवादेरताः) विद्याविवादेसंलग्नाः (आत्म सदृशम्) स्वानुरूपम्-यथार्थमिति यावत् (तदर्थम्) मन्त्रार्थम् (नोविन्दन्ति) न लभन्ते तदा सिद्धिमप्राप्य खिद्यन्ति। अतो विहाय विवादं मन्त्रार्थ लाभाय यतितव्यमिति भावः, पश्चान्मोहाच्छलाद्वा ते कर्तरि शूल चक्र लगुडैः। ततद्स्त्रैः (दण्डैः) परपीडनैः (भाण्डाः) निर्लज्जा बहुवागिमनः (दुष्टाश्च) परच्छिद्रान्वेषिणश्च लोके कथ्यन्त इति शेषः॥ ९१॥ एवं पूर्व प्रकारेण ये स्वयं (बहुविधमनसः) नाना विषय व्यावृत्त चेतसः (व्याकुलाः) चिन्ताग्रस्ताः सन्तः (वाङ्मात्रात्) वहि र्वचनमात्रेणैवान्यान् (ऐक्यम्) अद्वैतम् (भासयन्तः) लोकान् भ्रमेभु निपातयन्तो वञ्चकाः सन्तीति तात्पर्यम् कीदृशं तत्त्वमित्यस्य विशेषणानि शून्यादीनि (शून्यस्य) संसाराभावस्य (आदि) कारणम् (शून्यम् सर्व धर्मरहितम् (परम परपदम्) सर्वोत्कृष्ट स्थानम् (पञ्च शून्यादि शून्यम्) पञ्च शून्यानां पञ्च भूतावसानानां मध्ये आदि शून्यम्प्रथम शून्यस्वरूपम्। अयमाशयः-एकैक भूतस्य योऽवसानः स शून्यपदेन कथ्यते तथा च पृथिवी जलयो मध्ये एक शून्यमेवं जल तेजसोर्मध्ये द्वितीयं शून्यं तथैव तेजो वायो र्मध्ये तृतीयं शून्यं वाय्वाकाशयो र्मध्ये चतुर्थ माकाशान्तं च पञ्चमम. तथा च पञ्च शून्यानि भवन्ति, तेषु प्रथमाकाशान्तिम ब्रह्म रूपमिति यावत्। अत एव (व्योमातीतम्) आकाशमतिक्रम्य स्थितम् (अनाद्यम्) नास्त्याद्यं कारणं यस्यतत् (निजकुलम्) व्यवहारे (निजम्) स्वयं (कुलम्) सकल वंश प्रवर्तकम् (अकुलम्) वस्तुतः कुलरहितंस्व कारण रहित मिति यावत्, अत एव (अद्भुतम्) आश्चर्य रूपम् (विश्वरूपम्) सर्व स्वरूपं कार्य कारणयोस्तादात्म्यात् (अव्यक्तम्) सूक्ष्मम् (अन्तरालम्) सर्वेषामभ्यन्तरस्थम् (निरुदयम्)

उत्पत्ति रहितम् (परम)उत्कृष्टम् (भासनिर्नामम) भासमानं सन्नाम रहितम् ,नाम्नोऽभाव इत्यर्थाभावेऽव्ययीभावः, अतः "नपुंसकादन्यतरस्यामिति टच् ॥ ६२ ॥

भा० टी०—जो परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी रूप चार प्रकार की वाणी या गद्य पद्यात्मक संस्कृत भाषारूप स्वरचित चतुर्विध वाणी या सिद्धों से निर्माण की हुई वाणी को पढ़ते हैं तथा गायत्री मन्त्र आदि में चतुर, स्तोत्रादि के पाठ में तत्पर और विद्या विवाद में भी तत्पर रहते हैं वे भी आत्मा के सदृश अर्थ को अर्थात सर्वत्र व्यष्टि समष्टि अण्डपिण्ड में भीतर, बाहर ऊपर, नीचे एक ही अखण्ड ज्योतिः स्वरूप आत्मा है इस प्रकार नहीं जानते। क्योंकि वे माया चक्र में फँसकर अज्ञान वश खेद को प्राप्त हो रहे हैं। इतना ही नहीं बल्कि इनमें बहुत से तो पूरे कृपानिधान होते हैं, सुनिये— आत्म बोध से विमुख हो कितनेक तो दण्ड धारी दण्ड का उपयोग करते हैं। बहुत से कुल्हाड़ी, त्रिशूल चक्र लाठी आदि शस्त्रों को ही धारण करते हैं। अतः ऐसे पामर जन एक प्रकार के भाँड और दुष्ट हैं। क्योंकि वे आत्मा की तरफ से एकदम विमुख हुये पशुवृत्ति में ही तत्पर रहते हैं। अब केवल शून्य वादी के मत का खण्डन करते हैं। जैसे पूर्व में खण्डन किया हुआ मत निःसार है वैसे ही इसको भी जानना। समस्त जगत् के विनाश का कारण भी महाशून्य है उससे पर कुछ नहीं है, अपितु वही सबसे पर और परमपद है। तथा क्रम से पञ्च भूतों के मध्यवर्ती विशेष पञ्चशून्य अभाव का कारण भी वही शून्य है। वह शून्य आकाश से भी अतीत और आदि अन्त से रहित है एवं वह अस्मदादियों का कारण और स्वयं कारण रहित है। व्यवधान रहित अव्यक्त अद्भुत विलक्षण और विश्वरूप ऐसा वह शून्य है तथा उदय अस्त से रहित सर्वोत्कृष्ट व्यापक रूप और नामरूपसे रहितएकहै। इस प्रकारकेवलवाणीमात्र से वर्णन करने वाले वे शून्यवादी नाना विक्षेपण से व्याप्त हैं। क्योंकि उस वागाडम्बर से स्वयं उनके मन में भी सन्तोष नहीं है अतः वे भी भ्रान्त ही हैं ॥६१॥६२॥

मू०-आज्ञा सिद्धि करं सदा समुचितं सम्पूर्णभाभासकं
पिण्डे सर्वगतं विधानममलं सिद्धान्त सारं वरम् ॥
भ्रान्तेर्निर्हरणं सुखातिसुखदं कालान्तकं शाश्वतम् ।
तन्नित्यं कलनोज्झितं गुरुमयं ज्ञेयं निरुत्थं पदम् ॥६३॥

सं० टी०—अनात्मेत्यादिना यदखण्ड सच्चिदानन्दाद्वितीयतत्त्वमुपक्रान्तं तस्य कार्य विशेषं सृष्ट्यादि तज्ज्ञानप्रकारं प्रसंगागतं च सर्वं प्रदर्श्य, उपक्रमोपसंहाराभ्यां तात्पर्य विनिर्णयः,, इति न्यायेनास्य ग्रन्थस्य तत्रैव तात्पर्यं सूचयितुं पुनरपि ग्रन्थान्ते तदेवोपसंहरति। आज्ञेत्यादि श्लोकेन (गुरुमयम्) गुरुरूपं स्वार्थे मयट् (निरुत्थंपदम्) यस्य नास्त्युत्थानं तदुत्तमं पदम् (प्राप्यम्) तत्त्वं ज्ञेयं कीदृक् तत्तत्त्वमिति विज्ञापनाय बहुविशेषणै विशिनष्टि (आज्ञासिद्धिकरम्) आज्ञायाः स्वीयोपदेशस्य सिद्धिं साफल्यङ्करोति तच्छीलम्, "कृञोहेतुताच्छील्येति टच्,, सत्यसंकल्पत्वाद्यदेवोपदिशति यं प्रति तत् तथैव भवतीति भाव (सदासमुचितम्) अन्यायोपदेशरहितम्। (सम्पूर्णभाभासकम्) सम्पूर्णानां सकलानां भानां सूर्यादि प्रकाशानां भासकं प्रकाशकम्। तस्य भासा सर्वमिदं विभातीति श्रुतिः (पिण्डे) शरीरे ब्रह्माण्डे च (सर्वगतम्) व्यापकम् (विधानम्) सर्वं कारकम् (अमलम्) रागद्वेषादि मल रहितम्। (सिद्धान्तसारम्) सिद्धान्तेषु सारं दृढं वादिभि रजेयत्वात्। अत एव (वरम्) श्रेष्ठम् (भ्रान्तेः) संसार रूप भ्रमस्य (निर्हरणम्) विनाशकम् (सुखातिसुखदम्) नित्यमोक्षात्मकानन्द दायकम् (कालान्तकम्) सर्वमारकस्यापि कालस्याप्यन्तकम्मारकमजरामरमिति यावत्। अत एव (शाश्वतम्) ध्रुव कूटस्थमिति (कलनोज्झितम्) गणनारहितं संकल्प रहितत्वम् (नित्यम) नित्य रूपं तत् तत्त्वन्तत्र गुरुपद दानेन गुरोः परमात्मनश्चैकमेवलक्षणन्तथा चैतादृश गुरु द्वारा तत्त्वं झटिति सुबोधं ध्रुवं भवतीति ध्वनितम्। अत एव इतः पूर्वं वञ्चक गुरुन् निन्दित्वा कीदृशो गुरुराश्रयणीय इत्याकांक्षा मुपशमितवान् ॥ ६२ ॥

भा० टी०—अब इस शास्त्र के प्रतिपाद्य और सिद्धों के लक्ष्यभूत परमपद का वर्णन करते हैं। सृष्टि के आदि में सदा ही

उचित समय में अपनी शक्ति से अभिन्न वह ब्रह्म जगत विषयक इच्छा और जगत की उत्पत्ति को करता है, पीछे परम्परा से वही जगत के विशेष अवयव विन्यास और देव मनुष्यादि सकल प्राणियों की भी रचना करता है। वास्तव में वह असङ्ग अखण्ड और ज्योतिरूप है किन्तु सूर्य, चन्द्र, अग्नि विद्युत और नक्षत्र आदि सम्पूर्ण भासक वस्तुओंका भीवहप्रकाशक है। क्योंकि चेतन सत्ता केबिना इन उपर्युक्त सूर्य चन्द्रादिकों की स्थिति असम्भव है। यद्यपि वह अखण्ड ज्योति चेतन अण्डपिण्ड में सर्वत्र एकरस और व्यापकरूप से विद्यमान है तथापि इस देह पिण्ड में ही योग पद्धतिद्वारा विशेष ध्यान करने से उस शुद्ध निरञ्जन ज्योतिः स्वरूप परब्रह्म की अभिव्यक्ति होती है। वही यथार्थ में सिद्धों के सिद्धान्त का उत्कृष्टसार है और जिस समय योग ध्यान से उस चेतनपरमार्थ तत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है तब यथार्थ में अविद्यारूप भ्रान्ति और अविद्या के कार्यभूत समस्त दुःख प्रपञ्च की निवृत्ति हो जाती है। वही परब्रह्म निरतिशय सुख कोदेताहै जैसे इसलोक में कोई किसीकोधनी बना देता हैवैसे हीसुखरूप ब्रह्म अन्य को भी अपने जैसा आनन्द स्वरूप सुखी बना सकता है और तो क्या विषय सम्बन्धी क्षण भंगुर सुख भी उस ब्रह्म सुख का ही लेश है। "एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" इत्यादि श्रुतियों में भी कहा है। परन्तु वह उपाधि परिच्छिन्न होने से तुच्छ कहलाता है और वह परमेश्वर ही आदि अन्त से रहित शाश्वत और काल का भी काल है। क्योंकि इस ब्रह्म के भय से ही वायु, सूर्य, चन्द्र, अग्नि, इन्द्र और मृत्यु ये सब स्वय अपने अपने काम में तत्पर रहते हैं वही ब्रह्म नित्य और बाध से रहित है क्यों कि परिच्छिन्न अनित्य वस्तु का देश और काल कृत अन्त होता है। परन्तु व्यापक नित्य चेतन ब्रह्म में उपरोक्त विकार नहीं हैं। अतः वह ब्रह्म नित्य है। इसी से वह समस्त कल्पनाओं से रहित और शुद्ध है। एवं गुरु पद भी वही है। अर्थात् "गु" शब्द से अज्ञान और रु शब्द से उसका विनाश, यानि वही परमेश्वर आचार्य मूर्ति में स्थित होकर उपदेश द्वारा अज्ञान विनाशक कहलाता है। या

वही सर्वेश्वर सर्वोच्च व्यापक और सुखरूप कहलाता है और वह शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि अन्तःकरण और अव्याकृत मायासे भी परे है। वही योगियों का निर्भय और उत्कृष्ट परमपद है ॥६३॥

मू०—आत्मेति परमात्मेति जीवात्मेति विचारणे।
त्रयाणामैक्य संभूति रादेश इति कीर्त्तितः ॥६४॥
आदेश इति सद्वाणीं सर्वद्वन्द्व क्षयापहाम्।
यो योगिनं प्रति वदेत् सयात्यात्मान मैश्वरम् ॥६५॥
आशादहनं भसितं कुण्डलयुगलं विचार सन्तोषः।
कौपीनं स्थिरचित्तं खर्परमाकाश मात्मनो भजनम् ॥६६॥

सं० टी०—ब्रह्मविद्यालाभाय गुरुराश्रितव्य इति पूर्व श्लोके प्रतिपादितन्तत्र केन शिष्टाचारेण गन्तव्यमिति बोधयितुम्प्रथम मादेश पदार्थमाह—आत्मेति आत्मा इति भूतात्मा पिण्ड स्तदुपलक्षकं सकलाधिभौतिक पदार्थस्य (परमात्मा) परमेश्वरः (जीवात्मा) जीवः (एतेषां त्रयाणां विचारणे) विवेके सति (ऐक्य सम्भूतिः) एक तैव भवति स एवादेश इति कीर्त्तितः, कथितः॥ ६४ ॥ अयं भावः–आ० १, दे २, श ३" अत्र पदेऽक्षर त्रयमेलनं तेनाधि भौतिकाध्यात्मिकाधि दैविक पदार्थानामैक्य भाव एव आदेश पदस्य सांकेतिकोऽर्थः प्रसिद्धो योगिनाम्, आदेश इति कथनेन योगी प्रसीदति ततो ब्रह्मविद्यां ददाति द्वितीयेन श्लोकेनाह (आदेश इतिसद्वाणीम्) सतो ब्रह्मणोबोधिकावाणी, आदेश इति अत एव (सर्वद्वन्द्व क्षयापहाम्) सकल द्वैत प्रयुक्त दुःख विनाशिनीं तां वाणीं यो योगिनं प्रति वदेदुच्चारयेत् स ऐश्वरम्। ईश्वर एव ऐश्वर स्तं अथवोपाधि विशिष्टईश्वर स्तस्य भावःसाक्षिणमात्मानमानन्दचिद्घनम् याति- प्राप्नोतिपरमात्म विद्या साधनान्युपदर्शयति (आशादहनम) आशायाः सङ्कल्पस्य दहनं विनाशङ्कुर्यादिति शेषः (भसितं) अंगे भस्म(कुण्डल युगलम) कर्णयोः कुण्डले धारयेत(विचार सन्तोषः) विचारे ब्रह्म विवेकेएवसन्तोषोयस्य न तु धने(कौपीनम्) वस्त्र धारयेत् (स्थिरचित्तम) निश्चलं मनः कुर्यात्। हस्ते (खर्परम्) पात्र

धारयेत् (आकाशम) हृदयाकाशम् (आत्मनः) परमात्मनो भजनं, भज न स्थानं भज्यते यत्र त्यधिकरण साधनम् ॥ ६६ ॥

भा॰ टी०— अब पूज्यपाद योगाचार्य श्री गोरक्षनाथ जी सिद्ध योगियोंमें प्रचलितआदेश शब्द के अभिप्रेत अर्थ का निरूपण करते हैं। सब उपाधियों से रहित नित्य, अनन्त, शुद्ध, बुद्ध,सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा है। एवं शुद्ध सत्वगुण प्रधान माया उपाधि वाला सर्वज्ञ समस्त जगत की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय करने वाला जो ईश्वर है वही यहां परमात्मा पद से लिया जाता है और मलिन सत्वगुण प्रधान अविद्यारूप उपाधिवाला अल्पज्ञ और सुख दुःखादि सहित जीवात्मा है। जीव और ईश्वर की अविद्या एवं मायारूप उपाधि को छोड़कर आत्मा, परमात्मा और जीवात्मा की एक सम्भूति अर्थात् अभेद, आदेश शब्द का अर्थ है। अतः उपरोक्त रीति से एक संभूति पद के द्वारा एक ब्रह्म का ही बोध हुआ। क्योंकि वास्तविक सिद्धान्त में द्वितीय का अभाव है। परन्तु जहाँ बद्धाञ्जलि शिष्य शिर को झुकाकर गुरु के प्रति आदेश आदेश कहता है वहाँ शिष्य का, हे गुरु महाराज ? आप ब्रह्म स्वरूप हो। इस प्रकार स्तुति करने में तात्पर्य है। क्योंकि स्तुति अन्तरप्रणाम के साथही की जातीहै और जो पुरुष जिसको प्रणाम करता है वह उसकी स्तुति भी अवश्य करता है। जैसे रावण ने श्री महेश्वर को प्रणाम कियाथा और उनकी स्तुति भी की थी, परन्तु श्री रामचन्द्र को प्रणाम नहीं किया तो उनकी स्तुति भी नहीं की। यह बात सर्वलोक प्रसिद्ध है। यहाँ आदेश शब्द नमस्कार का वाचक नहीं है यह शंका भी नहीं हो सकती। क्योंकि पूर्वोक्त रीति से नमस्कार पदार्थ को आदेश पदार्थ के अन्तर्भूत होने से अर्थात् आत्मा की एकता का बोधक जो आदेश शब्द है उसी में नमस्कार पदार्थ का भी समावेश होता है और जब शिष्य गुरु के प्रति आदेश आदेश करता है तब गुरु भी शिष्य के प्रति आदेश ही करता है। वहाँ गुरु का अभिप्राय यह है कि हे शिष्य ! तू भी ब्रह्मस्व रूप है। इसरीति से गुरुदेव का उपदेश करने में तात्पर्यहै। जहां दो समान पुरुष परस्पर आदेश आदेश करते हैं किन्तु उनका गुरु शिष्य

भाव नहीं है वहां केवल स्तुतिमात्र करने में तात्पर्य है। तात्पर्य के वश से शाब्दबोध सर्वप्रामाणिक पुरुषों से सम्मत है। जैसे कि "सैन्धव-मानय,, इस वाक्य के सुनने के बाद तात्पर्य वश से कभी अश्व का और कभी नमक का भी बोध होता है। जहां दो बार आदेश आदेश ऐसा उच्चारण किया जाता है वहाँ अत्यन्त आदर अर्थ जानना। अब आदेश शब्द के माहात्म्य का निरूपण करते हैं। आदेश यह सिद्धों को प्रसन्न करने वाली परम आदरणीय शुद्ध वाणी है और उच्चारण मात्र से ही सकल दुःख जाल को समूल नष्ट कर कल्याण को देती है। क्योंकि आदेश शब्द अद्वितीय ब्रह्म का बोधक है। अतः इसके उच्चारण मात्र से सकल विघ्नों का विनाश और कल्याण की प्राप्ति स्वाभाविक है वेदों में भी अद्वितीय ब्रह्म का बोधक आदेश शब्द देखने में आता है। देखियेः—

,,तस्यैष आदेशो यदेतद् विद्युतो विद्यु तदा" इति के० उ०। "उत तमादेशमप्राक्ष्यम्" इत्यादि। छा० उ०। अर्थात् "आदेशो नेति नेति"। बृ० उ०। अन्तर केवल इतना है कि कहीं उस अनुपम ब्रह्म के उपदेश का बोधक आदेश शब्द विधिरूप से देखा जाता है, जैसे ऊपर के छान्दोग्य उपनिषद् वाक्य में और कहीं निषेध रूप से जैसे बृहदा-रण्यक उपनिषद् में। अतः जो प्रेमीजन योगी के प्रति आदेश आदेश इस प्रकार परमपावन शिवरूप आदेश शब्द का प्रयोग करता है वह निज आत्म स्वरूप शिव के लोक को प्राप्त होता है। जिस अवधूत योगी ने सम्पूर्ण लोकों को दास बनाने वाली आशा का दहन करदिया है वही यथार्थ में आत्म निष्ठ है। उस अवधूत योगी का आत्मविचार और आत्म सन्तोष ही मानों भास्वर कुण्डल हैं, या आशा का उच्छेद रूपी भस्म जिसने धारण की है निज चित्त की स्थिरता ही कौपीन और आकाश रूप खप्पर है और निज आत्म स्वरूप का स्मरण ही भजन है॥ ६३ ॥ ६४ ॥ ६५ ॥

मू०—एतच्छास्त्रं महादिव्यं रहस्यं पारमेश्वरम्।
सिद्धान्तं सर्व सारस्य नाना संकेत निर्णयम् ॥६७॥
सिद्धानां प्रकटं सिद्धं सद्यः प्रत्यय कारकम्।

आत्मानन्द करं नित्यं सर्व सन्देह नाशनम् ॥९८॥
न देयं पर शिष्येभ्यो नान्येषां सन्निधौ पठेत् ।
न स्नेहान्नबलाल्लोभान्नमोहान्नानृताच्छलात् ॥९९॥
न मैत्री भावनाद्दानान्न सौन्दर्यान्न चासनात् ।
पुत्रस्यापि न दातव्यं गुरु शिष्य क्रमं विना ॥१००॥

सं० टी०—एतच्छास्त्रं पारमैश्वरं परमेश्वर सम्बन्धि परमेश्वरस्य प्रकाशकम्परमेश्वर रचितत्वात्तो महादिव्यमलौकिकम् (रहस्यम्) गोपनीयम् (सर्वसारस्य) सर्वेषां मध्ये सारः श्रेष्ठ स्तस्य प्रकाशमिति शेषः (नाना संकेत निर्णयम्) अनेक संकेतै निश्चीयमानम् (सिद्धान्तम्) प्रकाशयतीति शेषः ॥ ९७ ॥ एतच्छास्त्रमिति पूर्वेण सम्बन्धः (सिद्धानां प्रकटम्) सिद्ध योगिभिः प्रत्यक्षीकृतम् अतः सिद्धम् (आत्मानन्द करम्) ब्रह्मानन्द जनकम् (सर्व सन्देह नाशनम्) सकल संशयोच्छेदकम्, नित्यमासूर्य चन्द्रं विद्यमानमेतच्छास्त्रमतोऽवश्य मुपादेयमिति ध्वनिः ॥९८॥ गुरुशिष्य क्रमं विना न कस्मैचिद्देयम्, अत्र राग द्वेषौ न शंकनीयौ किन्तु गुरु शिष्य क्रमं विना केवल ग्रन्थं विलोक्य क्रिया करणे ऽनेक बाधा समुपतिष्ठते ततश्च विद्या लाभो दूरे तावद् हानिरेव पुरतः समाढौकतेऽत एवोक्तं न देयं पर शिष्येभ्य इत्यादि । सर्व मन्यत्सुगमम् । ॥९९॥१००॥

भा० टी०—महादिव्य यह योग शास्त्र महेश्वर सम्बन्धी परम गोपनीय रहस्य है । अधिक क्या कहें उत्तमोत्तम सर्वशास्त्रों के सार का भी सिद्धान्त रूप हृदय है । "सिद्धसिद्धान्त पद्धति" इस नाम से ही इसके संकेत का निर्णय हो जाता है । अर्थात सिद्धों के अत्यन्त गोपनीय सिद्धान्त को बतलाने वाला यह ग्रन्थ है । यह निज कार्य में परिणत होने से सिद्धों में प्रत्यक्ष सिद्ध है । किन्तु अन्य जिज्ञासु को भी शीघ्र निश्चय करा देता है । यह महादिव्य योग शास्त्र नित्य अभ्यास करने वालों के सन्देह को दूर करता हुवा आनन्द को बढ़ाता है । जो योग में रुचि नहीं रखते ऐसे शिष्यों को

इनका उपदेश न दे और उनके समीप बैठकर इस शास्त्र का पठन पाठन भी न करे। इसको न स्नेह से, न बल से न लोभ से, न मोह से, न मिथ्या भाषण से और न छल से देना चाहिये। न मित्रपन से न दान से न रूप सौन्दर्य से और आसनादि सत्कार से भी न दे। इतना ही नहीं किन्तु योग्य अधिकारी पुत्र को भी गुरु शिष्य क्रम के बिना न देवे ॥९७॥९८॥९९॥

मू०—सत्यवन्तो दयाचित्ता दृढभक्ताः सदाचलाः।
निस्तरंगा महाशांताः सदा ज्ञान प्रबोधकाः॥१०१॥
भयदैन्यघृणालज्जातृष्णाशोकविवर्जिताः।
आलस्यमदमात्सर्यदम्भमायाच्छलोज्झिताः॥१०२॥
अहंकारमहामोहरागद्वेषपराङ्मुखाः।
क्रोधेच्छाकामुकासूयाभ्रान्तिलोभविवर्जिताः॥१०३॥
निस्पृहा निर्मला धीराः सदाऽद्वैत पदे रताः।
तेभ्यो देयं प्रयत्नेन धूर्त्तानां गोपयेत्सदा॥१०४॥

सं० टी०—इदं शास्त्रं कस्मै देयमित्यधिकारि विशेषं लक्षयति। ये सत्यवादिनो दयालवो दृढ भक्ति विशिष्टाः सततं स्वधर्मं तत्पराः। उद्वेग रहिताः सत्यप्यपराधे शान्ति सहिताः सतत सज्जनेभ्यः परलोक ज्ञान प्रदर्शकाः। भय जुगुप्सा लज्जा तृष्णा शोक रहिताः। आलस्य मद मात्सर्य पाखण्ड माया च्छल रहिताः। अहंकार महामोह (अज्ञान) राग द्वेष वहि र्मुखाः। क्रोध धनेच्छा कामुकता परिच्छिद्रान्वेषण भ्रम लोभ शून्याः। अतः संसाराद्विरक्ताः, मल रहिताः। सततमद्वैत पदे विशुद्ध चिदानन्दे परमात्मन्यनुरागवन्तः, एतेभ्य इदं शास्त्रम्प्रदेयं धूर्त्तेभ्यस्तु सततं गोपनीयमिति ॥१०१॥१०२॥१०३॥१०४॥

भा० टी०—किन्तु निम्न लिखित अधिकारियों को अवश्य देना चाहिये। सत्यवक्ता, दयालु, ईश्वर और गुरु में दृढ़ भक्ति रखने वाला निज धर्म में अचल, चञ्चलता दोष शून्य, महाशान्त, सदा ज्ञान

का उपदेशक और भय, दीनता, घृणा, लज्जा, तृष्णा, शोक, आलस्य, मद, दम्भ, छल मिथ्या इनसे रहित, अहंकार, महामोह राग द्वेष काम क्रोध, इच्छा निद्रा भ्रान्ति इत्यादि दोषों से सर्वथा रहित तथा निष्प्रिय, निर्मल, धीर और जो सदा अद्वैत पद में रत हैं ऐसे उत्तमाधिकारियों को प्रयत्न से इस शास्त्र की शिक्षा दे और धूर्तों से सदा इस शास्त्र को गुप्त रक्खे ॥१०१॥१०२॥१०३॥१०४॥

मू०—निन्दका ये दुराचाराश्चुम्बका गुरु तल्पगाः।
नास्तिका ये शठाः क्रूरा विद्या वादरतास्तथा ॥१०५॥
योगाचार परिभ्रष्टा निद्राकलहयोः प्रियाः।
स्वस्य कार्ये परानिष्ठा गुरुकार्येषु निस्पृहाः ॥१०६॥
एतान् विवर्जये दूरे शिष्यत्वेना गतानपि ॥१०७॥
सच्छास्त्रं सिद्धमार्गञ्चसिद्धसिद्धान्तपद्धति।
न देयं सर्वदा तेभ्यो यदीच्छेच्चिरजीवनम् ॥१०८॥
गोपनीयं प्रयत्नेन तस्करेभ्यो धनं यथा।
तेषां यो बोधयेन्मोहा दपरीक्षित मन्दधीः ॥१०९॥
नहि मुक्तिर्भवेत्तस्य सदा दुःखेन सीदतः।
खेचरी भूचरी चैव शाकिनी च निशाचरी ॥११०॥
एतासामद्भुतं शापः सिद्धानां भैरवस्य च।
मस्तके तस्य पतति तस्माद्यत्नेन रक्षयेत् ॥१११॥

सं० टी०—अनधि कारिणः शिष्या अपि परिहर्तव्याः, तत्र केऽनधिकारिण इत्याह निन्दकेति ये निन्दकाः परनिन्दा तत्पराः, चुम्ब काः कामुकाः, गुरो स्तल्पे शय्यायां दारेषु वा गच्छन्तीति गुरु तल्पगा नास्ति परलोकः श्रुति स्मृतयः प्रमाणं वेति मतिर्येषान्ते नास्तिकाः। योगाचार पदेन यमनियमादयस्तद्रहिता इत्यर्थः, स्वकीय काय्य सम्पादने संलग्नाः किन्तु गुरुकार्य्येषूदासीनाः। एतान् शिष्यत्वं प्राप्तवतोऽपि

दूरतो निःसारयेत् । सिद्धा मार्गा यस्मिन् सिद्धानां वा मार्गा यस्मिन् वासिद्धानां मार्गः सिद्धमार्गः सोऽस्मिन्नस्तीतिमत्वर्थीयोऽच् प्रत्ययः । तत् सच्छास्त्रं सिद्धसिद्धान्तपद्धतिरूपम्(तेषाम्) सम्बन्ध सामान्ये षष्ठी पूर्वोक्त दुर्गुणविशिष्टेभ्यो न देयम्।अन्यथाकरणे दण्डमाह यदीच्छेदिति। प्रदाने सत्यल्प जीननं भवति। अतोयथातस्करेभ्यो धनं गोप्यते तथा तेभ्य इदं गोपनीयं यो हि मोहादज्ञानतः (अपरीक्षितमन्दधीः) दुष्ट शिष्य स्तस्मिदं शास्त्रं ज्ञापयेत(तस्य)गुरोः शिष्यस्य च मुक्ति र्न भवति। किञ्च खेचरी भूचरी शाकिनी निशाचरीणां शापोऽपि तस्य मस्तकेऽद्भुतं यथा स्यात्तथा पतति यदि सिद्धश्चेत् तस्य मस्तके भैरवस्य शापः पतति तस्मात्-यत्नेन रक्षयेत्। बलात्करणे दातु र्ग्रहीतु रुभयो र्हानि रिति १०५॥१०६॥१०७॥१०८॥१०९॥११०॥१११॥

भा० टी०—अब अनधिकारी धूर्तों को बतलाते हैं। निंदक दुराचारी, गुरुतल्पगामी, नास्तिक, शठ,निर्दयी और केवल शुष्कविद्या विवाद में ही रत एवं योगाचार से परिभ्रष्ट निन्दा और कलह चाहने वाले स्वार्थी और गुरुके कार्य की उपेक्षा करनेवाले ऐसे पुरुषों को दूर से ही त्याग दे चाहे शिष्यरूप से भी क्यों न आये हों।यह सिद्ध सिद्धान्त पद्धतिरूप दिव्य शास्त्र सिद्धों का अभीष्ट मार्ग है अर्थात् इस मार्ग पर चलने से योग प्रवीण ज्ञानी अवश्य सिद्ध हो जाता है। यदि चिरकाल तक जीना चाहे तो ऊपर वर्णित अनधिकारियों को इस दिव्य योग सिद्धान्त का कदापि उपदेश न दे। जैसे चोरों से धन की रक्षा की जाती है वैसे ही इस शास्त्र को प्रयत्न पूर्वक धूर्तों से गुप्त रक्खे। किन्तु जो मन्द बुद्धि बिना परीक्षा किये मोह से या लोभ तथा अज्ञान से उपरोक्त अनधिकारी धूर्तों को पढ़ाता है उसकी मुक्ति नहीं हो सकती और सदा ही दुःखी रहेगा। इतना ही नहीं किन्तु भूचरी, खेचरी, शाकिनी और निशाचरी इत्यादि योगिनियों का अद्भुत शाप लगेगा और यदि अनधिकारियों को बतलाने वाले सिद्ध हैं तो उनपर सिद्धराज भैरव देव का शाप होगा । इसलिये इस ग्रन्थ की रक्षा यत्न से करनी चाहिये ॥१०५॥१०६॥१०७॥१०८॥१०९॥११०॥

मू०—गुरुपादाम्बुजस्थाय परीक्ष्य प्रवदेत्सदा ।
कुतोदुःखञ्च भीतिश्चतत्त्वज्ञस्य महात्मनः ॥११२॥
कृपयैव प्रदातव्यं सम्प्रदाय प्रवृत्तये ।
सम्प्रदाय प्रवृत्ति र्हि सर्वेषां संमता यतः ॥११३॥
मायाशंकरनाथायसिद्धसिद्धान्तपद्धतिम् ।
लिखित्वायःपठेद्भक्त्यासयातिपरमांगतिम् ॥११४॥
विदधात्वर्थनिचयंभक्तानुग्रहमूर्त्तिमत् ।
स्मरानन्द भरं चेतो गणपत्यभिधं महः ॥११५॥

महेश्वरावतार श्रीगोरक्षनाथकृतौसिद्धसिद्धान्तपद्धतावववधूत योगिलक्षणोनाम षष्ठोपदेशः समाप्तिमगात। श्री साम्बशिवः प्रीयतामनेन । श्रीनाथपादपद्मेभ्योनमःशुभम्भूयात् ।

सं० टी०—ये गुरु पादपद्म सेवकाः, तान् शरणमाश्रिता निदं शास्त्रं प्रवदेत । एवं कृते भैरवादि शापो न भवति तदेवाह तस्य तत्त्वज्ञस्य योग्या योग्य विवेकवतो महात्मनः कुतोदुःखं भीतिश्च दुःखभययोः कुतः शङ्कावसरः । नन्वस्योपरि भैरव शापो न पततीत्यत्र को हेतु रित्युपपादयति सम्प्रदाय प्रवृत्तये कृपयैव प्रदातव्यं योग सम्प्रदायस्य रक्षार्थं तत्रापि केवल कृपया नतु भय लोभादिना, इदं शास्त्रं योग्य शिष्याय देयम् । अन्यथा सम्प्रदायस्यो च्छेदः स्यात्तच्च सर्वेषा मनिष्टम्, यतः सम्प्रदाय प्रवृत्तिः, सम्प्रदाय रक्षा सर्वेषां देवादीनां सम्मताऽभिप्रेताः, अतोऽभिप्राय विरोधमनाचरत आचार्य्याय श्रीभैरवः कथं शापं प्रदद्यात् । मायाशङ्करनाथाय, मायया शक्त्या सहिताय शङ्कर नाथाय कल्याण प्रदादिनाथ मनुकूलयितुम् (सिद्धसिद्धान्तपद्धतिम्) इदं शास्त्रं लिखित्वा यो भक्त्या प्रीत्या पठेत् स परमांगतिम् मोक्षं याति, प्राप्नोति इदानीं शिष्टाचार परिपालनाय ग्रन्थान्ते मङ्गल मातनुते । विदधा त्विति, स्मरानन्द भरं ज्ञानानन्द परिपूर्णम् (चेतः) मनो यस्य तत (भक्तानुग्रह मूर्त्तिमत्) भक्तानामनुग्रह उपकारस्तस्मै या मूर्त्तिराकार विशेषः

सगुण रूपधारणमिति यावत् सास्ति अस्य तद् गणपत्यभिधम्। गणप ति नामकं महस्तेजः। अर्थं निचयं पुरुषार्थं चतुष्टयं (विद्धातु) करोतु एतच्छास्त्रानुयायिन इति शिवम् ॥११२॥११३॥११४॥११५॥

गुरोः कृपाकटाक्षेण द्रव्येशविदुषा कृता।
गूढार्थ दीपिका प्रीत्यै भूयादाद्यादिनाथयोः ॥ १ ॥
यां गूढान्तरभावतस्करभरां स्वान्तेन नाद्यावधिम्।
गन्तुं कोऽपि न कोविदोऽशकदतः श्री पूर्णनाथाज्ञया ॥
तां गत्वा स्खलतिः क्वचिद्यदि ममा सौ वै पथो दर्शिका।
ह्यन्येषां विदुषां सुलोचन समुन्मेषात्प्रमोदं वहेत् ॥ २ ॥

इति श्री गोरक्षनाथकृतौसिद्धसिद्धान्तपद्धतौ—

मिथिलास्थनैपालराज्यान्तर्गत वसतपुर ग्राम वास्तव्य सर्वतन्त्र स्वतन्त्र श्रीपूर्णनाथसंस्कृतकालेज योगाश्रम प्रधानाध्यापक पं० श्री द्रव्येश झा कृत गूढार्थ दीपिकायां षष्ठोपदेशः

भा० टी०—यदि योग्य अधिकारी मिलजाय तो उसके लिये इस उत्तम योग शास्त्र का उपदेश जरूर करे। यही भाव आगे स्वयं श्री योगाचार्य जी दिखलाते हैं। श्री गुरुदेव के चरणकमलों का आश्रय कर तथा अधिकारी शिष्य की परीक्षा कर सदा उपदेश करे। सत्यज्ञानी महात्मा को दुःख और भय हो ही कैसे सकता है। किन्तु योग्य शिष्य के ऊपर कृपा कर इस ग्रन्थ का उपदेश देना चाहिये। क्योंकि योग सम्प्रदाय का प्रचार सबके लिये सम्मत है। अब इस ग्रन्थ के पाठ के माहात्म्य का संक्षेप से वर्णन करते हैं। जो श्रद्धालु जगदम्बा भवानी सहित श्री आदिनाथ महेश्वर को या लोक कल्याणार्थ लीला शरीर धारी योगाचार्य श्री गोरक्षनाथ जी को प्रणामकर तथा सिद्ध सिद्धान्त पद्धति नामक इस ग्रन्थ को लिखकर श्रद्धा भक्ति से पाठ करता है वह आवागमन से छूटकर उत्तम गति को प्राप्त होता है भक्तों के अनुग्रहार्थमूर्त्तिमान् यथा स्मरणमात्र से ही अमन्द आनन्द से पुलकित चित्त जो गण पति नाम का तेज है वह इस ग्रन्थ में वर्णित अर्थ समूह को सार्थक करे ॥११२॥११३॥११४॥११५॥

जयति सोऽयुग्मनयनो भूमानिःश्वसितवेद भूमानो।
शरदभ्रशरीरोलं गोरक्षो विश्वेशितालम् ॥१॥

इतिश्री गोरक्षनाथकृतौसिद्धसिद्धान्तपद्धतौश्रीमत् पूज्यपादबोहराधिपतिश्री १०८ श्रीपूर्णनाथशिष्यवेदान्ताचार्य्यश्रीपं० योगिभीष्मनाथ कृतायां सारदीपिकाख्यहिन्दीटीकायामवधूतयोगिलक्षणनामाषष्ठोपदेशः।

समाप्तश्चायंग्रन्थः

शुद्धि पत्रम्

अशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्ठम्	पंक्तिः
आशिः षु	आशीः षु	२	१२
स्वीकीय	स्वकीय	३	७
स्वभाविकी	स्वाभाविकी	४	१६
श्रद्धालू	श्रद्धालु	१५	१०
सृष्टी	सृष्टि	२३	६
से तिल	से पूर्व तिल	२७	२३
धम	धर्म	३८	१५
कम	कर्म	३८	२१
पिपासुना	पिपासूनां	४१	२०
प्राग् भाव	प्रागभाव	४८	११-१२
चक्षृणु	चक्षृणु	४६	२६
अत्र त्म	अत्रात्म	४६	१४
चिद्र् पैव	चिद्र् पैव	,,	१५
सृष्ठौ	सृष्टौ	,,	६
शक्त त्मीयत्व	शक्तेरात्मीयत्व	,,	१८
शिव शक्त्यो	शिवशक्त्यो	,,	११
निः श्वसितम्	निः श्वसितं	१३	६
वखरी	वैखरी	४६	१६
नित्यावधूत	नित्यपिण्डावधूत	२८	६
प्रदर्शयेयूः	प्रदर्शयेयुः	५७	७
यतो साऽपि	यतोऽसावपि		
कार्योद्गमनम्	कार्य्योद्गमनम्	,,	२५
सम्बन्धि	सम्बन्धि	७०	२४
उपन्पस्तम्	उपन्यस्तम्	७१	१८
अलवुद्धिः	अलंबुद्धिः	८५	७
स्फुर्तिः	स्फूर्तिः	८७	११
उद्ध्वमाक्रामति	ऊर्ध्वमाक्रमते	६४	१२

अशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्ठम्	पंक्तिः
गुणों	वायुओं	१०५	२५
प्राण पति के	प्राण के	१०६	१८
हंस	हंत्त	१०९	२९
यजमानः	जप संकल्पं	१०८	२५
ज	ल	११०	४
कराठ	कण्ठ	११०	११
वण	वर्ण	११०	१७
पृष्ट	पृष्ठ	११९	९
सून्य	शून्य	१२२	६
निरूपाणानन्तरं	निरूपणानन्तरं	१२३	२६
पाष्णिना	पार्ष्णिना	१२४	११
उड्याण	उड्डीयान	१२५	२०
विरोध	निरोध	१२६	१३
ग्यारहवाँ	बारहवाँ	१२९	७
ग्यारहवाँ	तेरहवाँ	१२९	१४
भूमध्य	भ्रूमध्य	१२९	७
गोल्ललाट	गोल्लाट	१३०	२९
सुसुम्नयः	सुषुम्नयः	१३२	४
प्रथमम् भ्यर्हितत्वात्	प्रथममभ्यर्हितत्वात्	१३२	५
ज्ञान लिये	ज्ञान के लिये	१३९	१५
त्रय इन्द्रो	त्रयमिन्द्रो	१४९	९
वक्ष स्थल	वक्षःस्थल	१५०	११
चतुष्पष्ठि	चतुःषष्टि	१५२	२५-२६
पुण्य	पुण्य	१५७	१९
पदार्थ अवयव	पदार्थ के अवयव	१६४	१६
निर्धामत्वान्	निर्धर्मत्वात्	१६६	२४
ऊर्ध्व सृष्टि	ऊर्ध्व शक्ति	१७६	७
अभद्	अभेद्	१८८	२३
स्थूल	समूल	२०३	४
निरुत्थारेन	निरुत्थानत्वेन	२०६	१९

तर्क शब्द	न तर्क शब्द	२०७	१३
कल्प	संकल्प	२११	२६
स्व प्रकार	स्व प्रकाश	२३६	२०
जिसके	जिसने	२३९	१३

नोट—छठें उपदेश में तृतीय श्लोक की हिन्दी का कुछ अंश चतुर्थ श्लोक में तथा चौथे श्लोक की हिन्दी का कुछ अंश पाँचवें श्लोक में गया है। अतः पाठक उक्त बात में ध्यान दें।

१२४ पृष्ठ में "तत्राग्नि दीपनं भवति" इस खण्ड वाक्य की हिन्दी छूट गई है उसका अर्थ "ऐसा करने से अग्नि दीपन होता है" समझना चाहिये।

SIDDHA - SIDDHĀNTA - PADDHATI
AND
OTHER WORKS OF THE NĀTHA YOGĪS

By
SMT. KALYANI MALLIK, M.A., B.T., Ph.D.,
Author of the History, Philosophical Doctrine and Practice of the Nātha Saṁpradāya &c.

FOREWORD
By
Rao Bahadur P. C. DIVANJI, M.A., LL.M.

POONA ORIENTAL BOOK HOUSE
330A, Sadashiv Peth, POONA.

Price Rs. 10.

First impression 1954

Printed by B. G. Dhawale at the Karnatak Printing Press, Chira Bazar, Bombay 2
and Published by D. K. Gondhalekar, Proprietor, Poona Oriental Book House,
330 A, Sadashiv Peth, Poona 2.

DEDICATED
IN
MEMORY
OF
MY HUSBAND
AND
OUR ONLY SON

FOREWORD

I have great pleasure in drawing the attention of the scholars and philosophers interested in the Yoga system of philosophy to this collection of 10 works of the school of the system known as that of the Nātha Yogīs or Kānphāṭā Yogīs, which the learned Dr. Kalyani Devi Malik has edited on procuring MSS. thereof from far and near with great assiduity and to which she has prefixed a well-thought out and thought-provoking thesis on the historicity and dates of the principal personalities whose names are associated with the origin and development of the cult of the said Yogīs, and added a comprehensive synopsis of the contents of each work, made more interesting and instructive by the supplementation of critical notes.

She has, by doing so, rendered a great service to the cause of Indian culture in its spiritual aspect because the Nātha Yogīs continue in an uncorrupted form the ancient Haṭha-yoga tradition, whose origin goes back to the proto-historic times when there lived the great Siddhas of the Māheśvara sect like the great sage Pāṇini, who have left behind for the benefit of civilised man, wonderful works on such scientific subjects as grammar, linguistics, mathematics, medicine, classical music etc., based on intuitive knowledge acquired by a singular devotion to the humanistic ideals and at great personal sacrifice. Dr. Gopinath Kaviraj had, in the first quarter of this century, published in the Prince of Wales Sarasvati Bhavan Text Series two works of that sect of secondary importance, namely *Gorakṣa-siddhānta-saṁgraha* and *Siddha-siddhānta-saṁgraha*. The former thereout is a 17th century work made out on the basis of extracts drawn from 60-65 works and the latter is a summary of the *Siddha-siddhānta-paddhati* of Nityanāth, who flourished long after Gorakṣanātha whose achievement in the matter of the revival of the Siddhā tradition is comparable with that of Siddha Vasugupta in the matter of that of the Kāśmīr Śaivism and of the great philosopher Śaṁkara in that of the Advaita Vedānta. The former contains some extracts from the

Siddha-siddhānta-paddhati of Gorakṣnāth himself. But the learned editress of this collection has placed before the public the full text of that work based on a copy of a MS. at Jodhpur and added comparative notes based on the copies of two other MSS. obtained from Hardwar and Tanjore. The language of the text is ungrammatical at places. But that is a usual feature of almost all the works of that sect as noted by Dr. Kaviraj in his Preface to the GSS. Such inaccuracies have not escaped the notice of Dr. Kalyani and she has wisely drawn attention to some of them by suggesting emendations thereof in brackets. The authenticity of that work is vouched for not only by the fact of the authors of the said previously-published works having incorporated extracts therefrom in the said works but also by the fact that Aufrecht has in his *Catalogus Catalogorum* mentioned it as one of the 9 works ascribed to Gorakṣanātha. Another of those works is the *Yogamartaṇḍa.* It too forms part of this collection. These two supplement each other because whereas the SSP. besides mentioning the characteristics of an Avadhūtā Yogī who is fit to be a Guru, works out the full details of the Piṇḍa-Brahmāṇḍa equation, which is the very foundation of the Siddhānta of the Siddhas but mentions only the bare outlines of the Aṣṭāṅga-yoga, which is recommended as the *modus operandi* for the actual realisation of that equality and for the attainment of the Siddhis as the fruit of having meticulously gone through that hard discipline, the YM. omits the theory of the equation but supplies the full details of the constituents of the said Yoga. There is a third work in this collection, namely *Amaraugha-prabodha,* purporting to have been composed by the same author. Although I cannot vouch for its authenticity as it is not one of the nine mentioned by Aufrecht and as I do not remember to have seen extracts made from it in any other work, I can recommend its study for the knowledge of the inter-relation between Mantra-yoga, Laya-yoga, Hatha-yoga and Rāja-yoga, the methods to be followed in the practice of each of them and the indispensability of the last to those who are anxious to see concrete results flowing from the practice of any kind of the first three varieties, etc.

Besides the above three there is in this collection a fourth work in Sanskrit named *Yogaviṣaya.* In verse 7 thereof its

author has given his name as "Mīnanātha, son of Umāśaṁkara," while the colophon, probably added by a scribe, mentions it as a work, whose name has the initial letters "Bhaktisaṁ," "composed by Matsyendranātha." The learned editress being of the view that the two were identical individuals has put it down as a work of "Mīnanāth alias Matseyndranāth" but I have my reasons for doubting that identity. I cannot mention them here at length just as I cannot enter into a discussion of the questions as to the connection between the doctrine of the Siddhas and those of the Mahāyāna Buddhists and the Tāntrikas, on which she has expressed her own views, for fear of exceeding the legitimate limit of a Foreword. Apart from that this work is not mentioned by Aufrecht under the name "Mīnanātha." That however is no reason for considering it unauthoritative because there is the above-mentioned internal evidence and the same in verse 5 also. As for its value as an additional source of information regarding the Siddhānta of the Siddhas, it is a short treatise containing 33 couplets purporting to expound the nature of the "Para-tattva" leading to the knowledge of the "Kula" and the "Akula" and towards that end mentions the 6 "Kaula Cakras" which must be pierced in order to reach the "Nirañjana" who is beyond them and the principal veins through which the vital air passes, refers to the mystic letters imprinted in 6 of the vital parts commencing from the Ādhāra and ending with the Ājñā, the 10 Vāyus, the 3 Granthis, the special process by which the Kuṇḍalinī having 8 coils, each of which has a specific name given to it in this treatise only, can be aroused and be made to pierce the 6 Cakras, as indications whereof the lamp of knowledge blazes forth, a sound issuing from the Brahmasthāna is heard and the Śaṁkhiṇī Nāḍī showers nectar from the moon in the forehead, and recommends its utilisation in bathing the "Cidrūpa Īśvara" before offering the mind-flower to Him. As to Him, he further explains that He, of the nature of the self or of pure knowledge can be visualised in the form of an all-pervading body, as the source of the sound "Haṁsa", or in that of any of the three Lingas, the symbols of Śiva, located in the lower, middle and upper parts of the body, and winds up the topic by saying that the said process is effective in eradica-

ting all diseases if the involved movements of Vāta and Pitta are free from 18 faults. It thus contains something new which is not found in the previous works.

All the other 6 works in this collection are in either Hindi or in its source the Eastern Rajasthani. The first of them, which is in prose, purports to be the *Gorakṣa Upaniṣad*, which is however probably a Hindi rendering of the Sanskrit work of that name mentioned in Aufrecht's *Catalogue* and utilised in the GSS. for supporting some parts of the Siddhānta expounded therein. The remaining 5 works are only popular songs showing that physical renunciation was considered essential by the votaries of this sect in the period between 801 to 1500 A.D., to which the language thereof seems to belong.

I regret to have noticed some misprints in the said Sanskrit works. I understand that they have remained uncorrected because Dr. Kalyani was required to entrust the work of proof-correction to another person on account of her illness and am assured that a list of corrections will be inserted before the copies of the book are bound up. Lastly, I should not fail to refer to the enterprise of Sri D. K. Gondhalekar, whose Poona Oriental Book House undertook to publish this work and make its copies available to those interested in the literature of the Nātha Yogīs at his own cost. As much credit is due to him for doing so as to the learned editress who made the collection and prepared its press-copy.

P. C. DIVANJI.

Bombay. Dated 14th August, 1953.

PREFACE

The present book is a collection from some parts of India, of unpublished manuscripts on Nāthism, which probably had little chance of being edited and published. I am now able to place these before erudite scholars who are interested in the subject. I have added an introduction in the hope of elucidating certain facts.

Dr. B. B. Dutt, M.A., Ph.D. of Calcutta University, has been very helpful in going through the manuscripts and their proofs. My special thanks are due to him.

My publishers, The Poona Oriental Book House and its Proprietor, Sree D. K. Gondhalekar, without whose help it would not have been possible for me to see the book in print, have my sincere gratitude. I hereby thank all those who have in any way encouraged or helped me in my work, specially Rao Bahadur P. C. Divanji, who has contributed the Foreword and made out the list of Corrections and Abbreviations and has taken great pains to help me in every possible way.

Any suggestions for improvement will be thankfully received.

KALYANI MALLIK

Calcutta. Dated 13th December, 1953.

CONTENTS

CORRECTIONS AND ABBREVIATIONS

I. CORRECTIONS.

INTRODUCTION

Page	*Line*	*Misprint*	*Correction*
4	8	Hāḍipāas	Hāḍipā as
6	32	Jñaneśvara	Jnāneśvarī
		was born	was written
7	5	muslims	Muslims
,,	7	,,	,,
9	15	author	authors
,,	16	indentical	identical
10	3	*sampradāyāviṣkṛitī*	*sampradāyāviṣkṛti*
17	22	its	their
,,	23	was	were
,,	39	her	in his wife's
22	19	is	in
24	23	सदानन्‍ृदेवता	सदानन्ददेवता
,,	38	द्वैतवाऽद्वतरूप	द्वैतं वाऽद्वैतरूपं
25	17	gura	Guru
,,	38	death, his	death. His
27	32	Buidhism	Buddhism
28	24	serched	searched
,,	39	*Yoga-Martyanda*	*Yogamārtaṇḍa*
30	17	Hata Dipika	Haṭhadīpikā
,,	27	uptill	uptil
36	11	origion	origin
37	12	*blūcakra*	*bhrūcakra*
,,	29	(known as	known as
39	26	*Śriṅgāra*	*Śṛṅgāṭa*
40	23	from Śiva	From Śiva
41	32	स्वप्रसारचातुर्य	स्वप्रसारचातुर्यं
,,	36	he	she
44	5	his mind	one's mind
45	38	*harīsthājīnī*	*Kṣitījayā*
47	5	meaning *avadhūta*	meaning of the term *avadhūtā*

ORIGINAL TEXTS :—

The learned editress has at page 27 of her Introduction noted that the texts as printed are "full of incorrect readings" and that "The language is not strictly grammatical." Her explanation is that "this was apparently done on purpose, as it was easily understood by all. The Sant poets also followed this policy of preaching in the popular language, which was in their case the Hindi." In view of the fact that some of the texts of the Nātha cult edited in the Sarasvati Bhavan Texts Series of Banaras are also similar this explanation is plausible. At the same time it must be admitted that some of the errors and irregularities may have been due to the carelessness or incompetence of the scribes who may have transcribed the previous manuscripts and that some divergences of the print from the press-copy may have remained uncorrected till the end. Whatever the cause or causes, the following corrections are suggested for consideration by the class of learned readers, for whose benefit this edition can be deemed to have been undertaken, in order that the texts may be able to convey to them intelligible notions about the principles of the Nātha cult.

१. सिद्धसिद्धान्तपद्धतिः ॥

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
३	१२	निस्पन्द	निःस्पन्द
४	४	शब्दवत्वमिति	शब्दवत्त्वमिति
,,	२१	क्रान्ति आलस्यमिति	क्रान्तिरालस्यमिति
५	८	निस्पृहत्वमिति	निःस्पृहत्वामिति
७	१	एव[२४]	एवं[२४]
,,	२	(अन्या सर्वा	(अन्याः सर्वा
,,	३	दशावयवः	दश वायवः
,,	४	-उच्छ्वास-	उच्छ्वास-
,,	६	पावकश्च	पाचकश्च
,,	१०-११	धनञ्जयो नाद	धनञ्जयो नादो
,,	,,	घोषक इति	घोषकः । इति

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
,,	,,	दशवायुरवलोकनेन पिण्डोत्पत्तिः नरनारी रूपम् ।।	दशवाय्वलोकनेन पिण्डोत्पत्तिः, नरनारीरूपा ।।
,,	१८	मेढ्र[३३] भवति	मेढ्रं[३३] (च) भवन्ति
	११	दशधातुमयं शरीरंमिति	दशधातुमयं शरीरमिति
१०	१२	भित्वा	भित्त्वा
,,	१५	पञ्चम...संकोचनं	पञ्चम...धारयोर्बन्धना... संकोचनं
११	९–१०	ब्रह्मरन्ध्रपर्यंतं	ब्रह्मरन्ध्रपर्यंतं
,,	२०–२१	अधोवायुतत्वं	अधोवायुतत्त्वं
,,	२१	तेजस्तत्वं	तेजस्तत्त्वं
,,	२२	कल्लोल...तत्वं	कल्लोल...तत्त्वं
,,	२४	पार्थिवतत्वं	पार्थिवतत्त्वं
१२	१२	तत्वाकाशं	तत्त्वाकाशं
,,	१६	निज—लोकयेत्	निजतत्त्वस्वरूपं तत्त्वाकाशमवलोकयेत्
१३	२	शनैःशनै साधयेत्	शनैः शनैः साधयेत्
,,	१३	निजतत्वस्वरूप–	निजतत्त्वस्वरूप–
,,	१९	सर्वतत्वानां	सर्वतत्त्वानां
१४	९	भूर्ल्लोकं	भूर्लोकं
१५	१	शृङ्गारे	(? शृङ्गाटे)
,,	१०	सदाचारतत्वे	सदाचारतत्त्वे
१६	१०	त्रयस्त्रिंशत्–	त्रयस्त्रिंशत्
१८	५	कार्यकारणकतणा–	कार्यकारणकर्तृणा–
,,	९	स्वास्मिन्नुन्मीलिन्यां	स्वस्मिन्नुन्मीलिन्यां
,,	१९	चित्तचमत्कार	चिच्चमत्कार
१९	९	–परम्पराशक्ति	परम्पराशक्ति–
२०	६	सर्व–तत्वान्यपि	सर्वतत्त्वान्यपि
,,	१०	ध्यशक्ति–	मध्यशक्ति–
२१	६	तत्वसारे	तत्त्वसारे
,,	१२	सिद्ध्यथ	सिद्ध्यर्थे
,,	१५	तत्वानामुपरि	तत्त्वानामुपरि
२२	२	सत्वे सत्वे	सत्त्वे सत्त्वे
२३	११	विस्मयां	विस्मयं

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
२५	२	गुरु...पूर्वकम्	गुरु...पूर्वकम् ॥ १६ ॥
२६	२१	स्याद्वितीये	स्यात्, द्वितीये
२७	४	वाध्यते	बाध्यते
,,	१८	सव	सर्वं
,,	१९	सशिवः	सः शिवः
२८	१५	प्रकाशितम् ॥ २२ ॥	प्रकाशितम् ॥ ५२
,,	२१	वर्ज्यावज्यकल्पना	वर्ज्यावर्ज्यकल्पना
२९	४	न विरक्तो	न विरक्तौ
,,	७	षड्ढ्दर्शन–	षड्दर्शन–
३०	२२	तारियतुं	तारयितुं
३२	१५	वारूढिः (ढः)	वा रूढः
,,	१८	संघट्टनाद् भवत्	संघट्टनादवत्
,,	२०	–मृंगत्वच् महाहृतम्	–मृंगत्वच महाव्रतम्
३३	५	षट्ट्रसास्वादने	षड्रसास्वादने
,,	६	जारणा (त) तन्मयीभावः	जारणात्तन्मयीभावः
३४	४	सोऽवधूतु योगी	सोऽवधूतो योगी
,,	१३	यत्सर्वेषांमवस्थितम्	यत्सर्वेषामवस्थितम्
,,	२२	(रादाने)	(? तुरीयानन्दो)
,,	२३	परिकीर्तिताः ॥	परिकीर्तिता ॥
३५	११	यस्तयोर्निवसत्यत्र	यस्तयोर्निवसत्यत्र
,,	२१	शुद्धबुद्धशैवो	शुद्धशैवो
३६	९	तत्प्रतिपालितम्	प्रतिपालितम्
,,	१६	शक्तिं विजानाति	शक्तिं (यो) विजानाति
,,	२१	स्फुटं वलात्	स्फुटं बलात्
३८	१२	न वाध्यते	न बाध्यते
,,	२१	सिद्धपदं धत्त	सिद्धपदं धत्ते
३९	१३	निरतास्ते सत्तत्त्वतो	निरताः सत्तत्त्वतो
,,	१८	तेषां न नित्यं पदम् ।	तेषां न नित्यं पदम् ॥७९॥
,,	१९	तस्मात्सिद्धमतं...संश्रयेत्	(समस्तां पंक्तिमपमृज्यताम्)
,,	२१	ते सर्वे तरन्ति	ते सर्वे न तरन्ति
,,	,,	सात्त्विकाः ॥	सात्त्विका ॥
,,	२३	न मोक्षपदम्	न मोक्षप्रदम्
४०	३	हृन्नाभिमध्ये	हृन्नाभिमध्ये

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
४०	७	विद्युद्दाभं	विद्युदाभं
,,	११	वज्रदण्डीचोलीक्रमेण	वज्रदण्डीक्रमेण
,,	१६	पड्विधपानकाङ्क्षितजनां	षड्विधपानकाङ्क्षितजनां
४१	२२	तत्वं परं	तत्त्वं परं
४२	४	भस्मोद्धलनमङ्गं कर्कशतरं	भस्मोलद्धूनमङ्गकर्कशतरं
,,	९	मोहाद्वलात्	मोहाद्बलात्
४३	६	न मोहान्नानृन्ताच्छलात्	न मोहान्नानृताच्छलात्
४४	१३	विदधात्वत्यर्थनिच (ल) यं	विदधात्वर्थनिचयं
,,	१४	गणप (य) त्यभिधं महः	गणपत्यभिधं महः
,, पा. टि.	३६	(वो).	(यो.)

२. योगविषयः ॥

४५	१	गुरुबान्धवाः ॥ १ ॥	गुरुबान्धवाः ।
,,	२	नमाम्यहम ।	नमाम्यहम् ॥ १ ॥
,,	३	यादृशी	यादृशी (?)
,,	८	आकुलेनादिनाथेन	अकुलेनादिनाथेन
,,	९	बांधतः	बोधितः
४६	२	द्वे पत्र	द्वे पत्रे
,,	६	पञ्चकर्मेन्द्रिययुक्ताः	पञ्चकर्मेन्द्रियैर्युक्ताः
४६	८	पञ्चज्ञानेन्द्रियैयुक्ता	पञ्चज्ञानेन्द्रियैर्युक्ता
,,	१६	मकारे च शिवं	मकारो च शिवः
,,	१८	रसनापीड्यमानास्तु	रसना पीड्यमाना तु
,,	१९	त्रिहठा चैव गोल्हाटं	त्रिहठं चैव कोल्हाटं
,,	२०	—मूर्ध्वनाखं	—मूर्ध्वनासं
४७	२	वज्रगुम्भानि	वज्रगुम्फानि
,,	१५	मथो लिङ्गं	अधो लिङ्गं
,,	१८	पश्चाल्लिङ्गं	पश्चाल्लिङ्गं

३. अमरौघप्रबोधः ॥

४८	६	नमश्चारङ्गिनाथाय	नमश्चौरङ्गिनाथाय
,,	१४	यश्चित्तबृत्ति रहितः	यश्चित्तवृत्तिरहितः
,,	१८	कीटवन्न (द) भि मनो	कीटवन्न हि मनो
४९	२	प्रविष्टो युवतिभगवतद्बिन्दुमूर्ध्वे नयन्ति ॥	प्रविष्टा युवतिभगवशाद्बिन्दु-मूर्ध्वे नयन्ति ॥

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
४९	५	चित्तो समत्त्वमापन्ने	चित्ते समत्वमापन्ने
,,	६	एषाऽमरोली वज्रोली तदामति मतेति च (सहजोली प्रजायते) ॥	एषाऽमरोली वज्रोली सहजोली मतेति च ॥
,,	८	विभ्राणः	बिभ्राणः
,,	२२	चित्तराते	चित्तरागे
५०	२	मयादिभि–	लयादिभि–
,,	३	मृदुमध्याध मात्रश्च	मृदुमध्याधिमात्रश्च
,,	८	मध्यसंत्वो	मध्यसत्त्वो
,,	९	सत्ववानपि	सत्त्ववानपि
,,	१४	भवाम्भार्धि	भवाम्भोधिं
,,	१८	तत्सप्रणवादिकम्	तच्च सप्रणवादिकम्
५१	५	पदं कृत्वा	पदं धृत्वा
५२	३	आफालयेन्महामेरु	आस्फालयेन्महामेरुं
,,	६	मृतावस्स्था	मृतावस्था
,,	१५	ब्रह्मग्रन्थे भवेद् वेधादानन्दा... न्यसम्भवम् ।	ब्रह्मग्रन्थेर्भवेद् वेधादानन्दानुभवः स्वयम् ।
,,	१६	देहेनाहतः	देहेऽनाहतः
,,	२३	भित्वा	भित्त्वा
५३	३	,,	,,
५३	१२	तत्क्षात्र	तत्क्षात्र (? तत्क्षेत्रं)
,,	१४	यद्द्रुवाकृतिः ॥	यद् द्रवाकृतिः ॥
,,	१७	सहस्राण्येकविशंतिः	सहस्राण्येकविंशतिः
,,	२१	क्षुधाकान्तिर्नश्यते	क्षुधाक्लान्तिर्नश्यति
,,	२३	इत्थं...मृत्युजीवितं	इत्थं...मृत्युर्जीवितं
५४	२०	सर्वसत्ववशङ्करम्	सर्वसत्त्ववशङ्करम्
५५	५	वाक्पटुः	वाक्पटुः

४. योगमार्तण्डः ॥

५६	९	षोडशानो शतं	षोडशोनः शतं
,,	१२–१५	६–७ श्लोकौ	एकैव श्लोक इति पठनीयौ
,,	१४	(पश्येन्दू)	(पश्येन्दू–)
,,	१६–१९	८–९ श्लोकौ	एकैव श्लोक इति पठनीयौ
५७	२	योगवित ॥	योगावित् ॥

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
५७	४	(मेढ्रात्प्रातिष्ठितम्)	(मेढ्रात्प्रतिष्ठितम् ॥ १२ अ ॥
,,	५	स्मृतम् ॥ १३ ॥	स्मृतम् ।
,,	६	निगद्यते ।	निगद्यते ॥ १३ ॥
,,	१०	यावत्तत्वं	यावत्तत्त्वं
,,	११	उध्दूर्वमेढ्राद्धो	ऊर्ध्वं मेढ्राद्धो
,,	१३	उदाहृता	उदाहृताः
,,	१४	प्राणवाहिन्यो भवस्तत्र दशस्मृता ॥	प्राणवाहिन्यो भवास्तत्र दश स्मृताः ।
५८	५	नागो गृह्लन्ति पञ्चैताः	नागो गृह्णाति पञ्चैताः (?)।
,,	९	अधश्चोद्धर्वं	अधश्चोर्ध्वं
,,	१९	षट्च्छतान्यहोरात्रं	षट्शतानि अहोरात्रं
५९	६	मुखेन चाध्य (आछाद्य) वतिष्ठति ॥	मुखेन चाध्यव (? चाच्छाद्य) तिष्ठति ॥
,,	१०	यान्ति	याति
,,	१५-१८	४१-४२ श्लोकौ	एकैव श्लोक इति पठनीयौ
,,	१७	(वारंवारमपानमुर्ध्वं) मनिलं	(वारंवारमपानमूर्ध्वं-) मनिलं
६०	६	मूलबन्ध	मूलबन्धो
,,	१५	गे गता	खे गता
६०	१७	खेशरी ॥ ५४ ॥	खेचरी ।
,,	१८	तृषा	तृषा ॥ ५४ ॥
,,	१९	खेचरी ॥ ५५ ॥	खेचरी
,,	२०	सर्वलिद्धैर्नमस्कृता ।	सर्वसिद्धैर्नमस्कृता ॥५५॥
,,	२१	(बिन्दूमूल शरीरं यः	(बिन्दुर्मूलं शरीराणां)
,,	,,	प्रतिष्ठिसम्	प्रतिष्ठितम्
,,	२२	भावयन्ति शरीरा णां (शरीरं यः)	भावयन्ति शरीराणां (?)
६१	२	चारितोऽपि	चलितोऽपि
,,	४	विन्दुः	बिन्दुः
,,	७	,,	,,
,,	८	(विन्दुरिन्दुः-)	बिन्दुरिन्दुः-)
,,	९	रजः विन्दोः	रजो बिन्दोः

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
६१	१०	ताप्यते ह्यमृत्रपदम्	प्राप्यते ह्यमृतं पदम् ।
,,	१६–१९	६६–६७ श्लोकौ	एकैव श्लोक इति पठनीयौ
,,	१६	रसाः (सुचिरं)	रसाः (? हठाद्–)
,,	१८	शनैः रेचयेत्	शनै रेचयेत्
६२	४	(जपेत्)	(जपे–)
,,	१२	ज्योतिरीमिति ॥	ज्योतिरोमिति ॥
,,	२०	यावच्चक्षु भ्रुवोर्मध्ये	यावच्चक्षुर्भ्रुवोर्मध्ये
६३	१	शुद्धीयेत् (द्धमेति)	शुद्धियेत
,,	,,	नाडीचालं	नाडीजालं
,,	४	यदाशक्ति	यथाशक्तिः
,,	११	चेदिल (ड) या प्रवेश्य च	चेदिड्या प्रवेश्य
,,	,,	च तं भूयो–	च तथा भूयो–
,,	१२	बध्वा	बद्ध्वा
,,	१४	मासत्रयादूर्ध्वजः	मासत्रयादूर्ध्वतः
,,	२०	संस्कृताः ।	संस्कृतः
,,	२२	ज्ञातव्यो	ज्ञातव्यौ
,,	२३	द्वादश	द्वादशः
६४	२	उत्तमाः	उत्तमः
६४	६	समुच्चालितम् ॥ ९७ ॥	समुच्चालितम् । × × × × × × ॥ ९७[१] ।
,,	७	उर्ध्वमाकृष्य	ऊर्ध्वमाकृष्य
,,	११	प्राणायामे भवत्येषा	प्राणायामो भवत्येषः
,,	१३	आसने मरुतो	आसनेन रुजं
,,	१५	धारणायां	धारणाया
,,	१८	प्रत्याहारद्विषट्केन	प्रत्याहारद्विषट्केन
,,	१९	धारणा द्वादश	धारणाद्वादशं
,,	२२	तस्माद्द्रष्टुं	तस्माद् द्रष्टुं
६४-६५	२३–२४, १–२	१०६–७ श्लोकौ	एकैव श्लोक इति पठनीयौ

१ अस्य श्लोकस्योत्तरार्धो न विद्यते हस्तलेखे ।

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
६५	४	गंडादिनादं	घंटादिनादं
,,	७	कास	कासः
,,	९	भवेद्वश	भवेद्वशः
,,	१८	–चैव इन्द्रियाणि	–चैवमिन्द्रियाणि
६६	२	यं तु	यत्तु
,,	५	वसत्येपा	वसत्येषो
,,	७	ग्रसमृध्वमूखो	ग्रसत्यूर्ध्वमुखो
,,	८	विज्ञातस्य करणं	विपरीतस्य करणं
,,	९	नाभिरधस्तात्तु ऊर्ध्वं	नाभिरधस्तात्तुरूर्ध्वं
,,	१३	नाकृष्य	आकृष्य
,,	१४	प्राप्ते प्राणि	प्राप्ते प्राणे
,,	१५–१८	१२६–२७ श्लोकौ	एकैव श्लोक इति पठनीयौ
,,	१६	शक्तो परां	शक्तिं परां
,,	१९	शीतल सलीलं	शीतलं सलीलं
,,	२०	मासार्धेन संमोहो	मासार्धेन (वि-) संमोह
,,	२२	उन्मार्गेनात्र	उन्मार्गेणात्र
,,	२४	य प्राणं	यः प्राणं
६७	१–४	१३१–३२ श्लोकौ	एकैव श्लोक इति पठनीयौ
६७	१	बध्वा	बद्ध्वा
,,	२	नासान्तो	नासान्तं
,,	४	नवास्ति	नैवास्ति
,,	५	उर्ध्वजिह्वास्ततो	ऊर्ध्वजिह्वस्ततो
,,	६	मृत्युं जयतु	मृत्युं जयति
,,	७	राजदण्डैर्बिलं	राजदन्तैर्बिलं
,,	९	बध्नंमूर्ध्वफलं	बद्धमूर्ध्वफलं
,,	,,	विष्णुं निवारितम्	मृत्युं निवारितम्
,,	१३	यदूध्वतु	यदोर्ध्वं तु
,,	१५–१८	१३८–३९ श्लोकौ	एकैव श्लोक इति पठनीयौ
	१६	स क्षीराकटुकाथदुग्धसदशा ...धवो ॥	सक्षीराकटुकाथदुग्ध-सदृशो...धवः ॥

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
६७	१७	याधिनां हरणं	व्याधीनां हरणं
,,	२०–२१	योरन्तराले	× × × ×[1]
,,	२२	नित्यं...नमुञ्चति।	नित्यं...न मुञ्चति ॥ १४० अ. ॥
६८	१	भ्रूरादिपञ्चभूतानां	भूरादिपञ्चभूतानां
,,	३-६	१४३–४४ श्लोकौ	एकैव श्लोक इति पठनीयौ
,,	३	यः पृथ्वी हरितालहेमरुधिरातत्वेलकारान्वितम्।	यत्पृथ्वी हरितालहेम-रुचिरं तत्त्वं लकारान्वितम्।
,,	५	प्राणं तत्र विनीय्य	प्राणांस्तत्र विलीय्य
,,	६	येषां	तेषां
,,	,,	क्षितिजयाकुर्यात्ततो	क्षितिजया कुर्यात्ततो
,,	७–१०	१४५–४६ श्लोकौ	एकैव श्लोक इति पठनीयौ
,,	९	विलीय्या	विलीय्य
,,	११–१४	१४७–४८ श्लोकौ	एकैव श्लोक इति पठनीयौ
,,	११	तत्वं	तत्त्वं
६८	१३	प्राणं तच्च विलीन	प्राणांस्तत्र विलीय्य
,,	,,	धारणा ॥ १४८ ॥	धारयेत्।
,,	१४	तेषां—धारणा।	तेषां वह्निमसंशयं तु ज्वलते वैश्वानरी धारणा ॥ १४८ ॥
,,	१५–१८	१४९।२, १५०।१–२, १५१।१	एताः पंक्तय एकैव श्लोकस्य, वायवी धारणायाः ॥
,,	१७	प्राणं तच्च विनीय्य	प्राणांस्तत्र विलीय्य
,,	१८	येषां	तेषां
,,	१९–२२	१५१।२, १५२।१–२, १५३।१	एताः पंक्तय एकैव श्लोकस्य नभो–धारणायाः ॥

---

१ अस्य श्लोकस्य प्रथमा पंक्तिर्न विद्यते हस्तलेखे ॥

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
६८	१९	शुचिशुद्धवा सदृशं	शुचिशुद्धव्योमसदृशं
,,	२०	तन्मध्ये	तन्मध्ये (च)
,,	२१	प्राणं तत्र विलीनपंचघटिका	प्राणांस्तत्र विलीय्य पञ्चघटिका
,,	२३ }	१५३।२-१५४	एकैव श्लोको इति
६९	१ }	श्लोकौ	पठनीयौ
,,	२	मधुरस्सर्वा	मधुराः सर्वा
,,	४	सर्वं द्वित्वा समायुक्तं	सर्वं द्वित्वासमायुक्तं
,,	५	यस्तत्त्वे	यत्तत्त्वे
,,	,,	चेतः तद्ध्यानं	चेतस्तद्ध्यानं
,,	६	सगुण	सगुणं
,,	९	ध्यानयोगेन	ध्यानयोगेन (? ध्यानयोगस्य)
७०	१	लक्षणं नित्यं	लक्षणं नित्यं (लक्षयेन्नित्यं)
,,	२	आत्मनावर्जितं प्राण	आत्मानं विजित-प्राणो
,,	८	भ्रमध्यञ्च	भ्रूमध्यञ्च
,,	१०	कुर्वत्यष्टगुणोदयम्	कुर्वन्त्यष्टगुणोदयम्
,,	११	उपातिष्ठितया	उपाधिस्थतया
७०	१२	उपाधि	उपाधिः
,,	१७	प्रकाशिते ।	प्रकाशिते ।। १७३अ[1]।।
,,	१८-१९	१७४ श्लोको	चतुष्पाद एव न षट्पादः ।
,,	१९-२०	१७४।२-१७५।१	पंक्त्योरन्तराले + + + + + + इति संज्ञा आवश्यकी ।
७०	२१-२२	१७५।२-१७६।१	अनयोरन्तरालेऽपि सा आवश्यकी, १७६।१ पंक्तिर्न १७६ तमस्य श्लोकस्यान्तर्गता ।
७१	३	इन्द्रियाणि ..सः	इन्द्रियाणि...सः (?)

---

१ अस्य श्लोकस्य पूर्वार्धो हस्तलेखे न विद्यते ।।

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
७१	९	योगियुक्तः	योगी युक्तः
,,	१०	,,	,,
,,	२०	योगिलीनः	योगी लीनः
,,	२१–२४	१८७–८८ श्लोकौ	एकैव श्लोक इति पठनीयौ
,,	२३	पठतिच मयः शृणोति	पठति चार्यं यः शृणोति

समाप्ति लेखः - **योगमार्तण्डं समाप्तम् ॥** - **(योगमार्तण्डः समाप्तः ॥)**

५. गोरख उपनिषद् ॥

७४	९	निशक्ति	निजशक्ति
७५	३	वैश्व	वैश्य

६. मत्स्येन्द्रजी का पद ॥

७६	४	वाल्हारे टेक	वाल्हारे॥टेक॥
,,	६	वाल्हारे १	वाल्हारे ॥ १ ॥
,,	७	वाल्हारे २	वाल्हारे ॥ २ ॥
,,	८	वाल्हारे ३	वाल्हारे ॥ ३ ॥
,,	१०	वाल्हारे ४	वाल्हारे ॥ ४ ॥
,,	११	वाल्हारे ५	वाल्हारे ॥ ५ ॥
,,	१६	चकोर १	चकोर ॥ १ ॥
,,	१८	आय २	आय ॥ २ ॥
,,	२०	नाथ । २ ॥	नाथ ॥ ३ ॥

८. चिरपटजी की सबदी ॥

८४	१७	प्रमानंद ।	प्रेमानंद ।
८५	१	गिरिकंद लिवास	गिरिकंदनिवास
,,	७	चौर वाजारी	चौर बाजारी
८६	८	वेस्यां नाडि	बेस्या नारी

९. गोपीचंदजी की सबदी ॥

८८	१०	बारा सैकन्या	बारासै कन्या

१०. जलंदरी पावजी की सबदी ॥

९०	२	जहां प्रम	जहां प्रेम
,,	३	प्रमपद	प्रेमपद

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
९०	१४	सिरोमणि सारं	सिरोमणि सार
,,	१५	बाई अहार षुध्यान संतापै ।	बाई अहारषु ध्यान संतापै

II. ABBREVIATIONS.

The abbreviations used in the foot-notes indicate the places from which the manuscripts had been secured. Thus :—

यो. = योधपूर – आदर्श ग्रन्थः ।
ह. = हरिद्वार ।
तं. = तंजावर ।
का. = काशी.

INTRODUCTION

A Short Account of the Nātha Yogīs

The Nātha Yogīs[1] have played a very important role in the history of mediaeval Indian mysticism. These Yogīs worshipped God as 'Nātha' or the Supreme Master, who according to their faith, transcends not only the finite, but the infinite as well. The worshippers of Nātha were adepts in Yogīc cult, which was supposed to give them supernatural powers. Among them, Sree Guru Matsyendranāth and his most able disciple Sree Gorakhnāth or Gorakṣanāth have been known throughout India for their marvellous performances of miracles. Legends of the superhuman powers of the Nātha gurus (spiritual teachers) abound in Indian Literature – Sanskrit, Hindi, Marathi, Gujrati, Oriya, Nepalese and extensively in Bengali. Matsyendranāth, the foremost of the Nātha gurus was born in Bengal and some scholars mention that Goraksanāth too hailed from Eastern Bengal. Thus the Nātha gurus must have profoundly influenced the religious life of the people of Bengal in the mediaeval period and their cult naturally found expression in Bengali literature.

Besides popular legends and ballads, the contributions to Nātha philosophical texts, both in prose and poetry, by the Nātha gurus themselves are by no means negligible. Luipāda or Mīnanāth, which were other names by which Matsyendranāth was known, was one of the first verse writers in Bengali in the tenth century, and Gorakhnāth was probably the first prose writer in Hindi. Other important works by these two gurus are found in Sanskrit.

The Nātha gurus taught their doctrines to the rich and the poor alike. Kings have given up their thrones to preach the doctrines of the Nātha sect. The renunciation of king Gopīchandra of Bengal, in the eleventh century, created a sensation all over India, which even at this distance of time continues to be echoed in poems and dramas, and in popular ballads sung by minstrels amongst rural folk. King Bhartṛhari of Ujjain in Western India also became a Yogī. Bhartṛhari's renunciation of wealth and enjoyment tc take the vow is associated with the same popular pathos as that of

king Gopīchandra. In Western India songs of Bhartṛhari are as widely sung as those of Gopīchandra in Bengal.

Bhartṛhari was initiated by Jālandhari, who according to the tradition of the Yogīs, was the prince of Hastināpur in Northern India. The same guru Jālandhari is known in Bengal as Hādipā, the menial and the miracle worker in the capital of Maynāmati, who was the mother of Gopīchandra. Later on Hadīpā, became also the guru of king Gopīchandra. Caurangīnāth, another Nātha Yogī, initiated by Matsyendranāth, was the son of king Devapāla of the Pāla Dynasty of Bengal.

That Gorakhnāth and other Nātha Gurus were not mythical persons can be proved from Kabīr's verses. Kabīr was a well-known Sant poet (A Sant is one who has realised the Only Reality), philosopher and preacher of the sixteenth century. He highly praised Sree Gorakhnāth, Bhartṛhari and Gopīchand, " United with the Universal Mind they revel ", said he. Kabīr, Kamāl and Dādu among the Sant poets were known as *Nirgunis* as they worshipped the nirguna or the supreme aspect of God which is beyond the pale of attributes. But they are indebted to the Nātha Yogīs for certain practices of Yoga, e. g., *Śabda Yoga, Shaḍ-chakras* etc., and they have avowed their indebtedness to the Yogīs. The terminology used by both these sects as found in Hindi poetry, is remarkably alike. But the Nātha cult, like many other cults in India, lost its popularity in time, and is now confined to a small esoteric group of worshippers. While it is found that verses by the Sant poets are published by different compilers, we rarely find the verses and books written by the Nātha Yogīs being published. Scholars like Grierson, Levi, Tucci, Grunwedel, Briggs etc. have studied the legendary and partly the historical aspects of the Nātha School but not much of their writings. Shastri, Kaviraj, Bagchi, Sahidullah, Singh and some other scholars have tried to secure MSS. and study the underlying philosophy. The language used in these MSS. is often a mixture of languages, hence difficult to comprehend. Often the authorship of the same book is contested, therefore, it is difficult to ascertain the real author. But numerous books and MSS., exclusively on the Nātha cult, are found in well-known libraries and in possession of some Nātha Yogīs who are loathe to part with

their treasures. In this book are published for the first time a set of collections of MSS. of the Nātha Yogīs secured by me from Northern and Southern India. In my first book on the subject, " The History, Philosophical Doctrine and Practice of the Nātha School (of Yogīs)" written in Bengali and published by the Calcutta University in 1950. I have given some detailed account of these Yogīs and their practices, with their fundamental philosophy.

The Legends

Legends relating to the different *gurus* (preceptors) and their *shiṣyas* (disciples) are often contradictory, except in the case of Sree Matsyendra and Sree Gorakhnāth. That Gorakhnāth learned Yoga from his guru Sree Matsyendranāth, who in turn learnt it from Ādināth or Śiva, is unanimously accepted by the different traditions and ' paramparas ' i. e., the list of the gurus and their disciples. The followers of Gorakhnath are known as *Gorakhnāthīs*, and ' *Kānphāṭās* ' (Kān = ears, phatās = slit) as well, as they wear huge ear-rings by slitting the cartilages about three quarters of an inch of both ears in imitation of Lord Śiva. The kānphāṭā yogīs are found even to the present day in different regions of India and their places of pilgrimage are scattered all over the country.

Of Gorakhnath's disciples King Jālandharnāth of Northern India and Queen Maynāmati of Comilla (East Bengal, now Pakistan) have become famous in the ballads sung in honour of the Queen's only son King Gopīchandra. Gopīchandra's renunciation is a familiar subject on which ballads and dramas have been composed in Bengali, Oriya, Nepalese and Hindi. Gopīchandra was the ruler of Bengal in the eleventh century. His mother Maynāmati was a disciple of Saint Gorakhnāth. Gopīchandra's span of life was short. So Gorakhnāth ordered Maynāmati to compel her only son to become a Yogī and accept as his guru Hāḍipā, a man of low caste and a scavenger. Hāḍipā was none other than Jālandharnāth, the disciple of Gorakhnāth, in disguise. As Maynāmati and Hāḍipā were both adepts at performing miracles, Gopichandra suspected some foul play at first and resented the idea of becoming Hāḍipā's disciple. The two

queens Adunā and Padunā with the help of Gopīchandra himself, put several tests to the queen mother. She was made to walk on fire and on a bridge of hairs. She was drowned in water and given poison to swallow. By uttering the name of her Guru, queen Maynāmati passed all ordeals and convinced him of the great powers of Yoga. To cut a long story short, Rājā Gopīchandra renounced his throne and accepted Hāḍipāas his guru. As a Yogī, Gopīchandra suffered untold misery. The heart-rending tale of his renunciation became a popular theme, and ballad-singers still earn their living by singing '*Gopīchandrer Gān*' (songs of Gopīchandra) in certain parts of Bengal. Gopīchandra is known in a legend of Sind as Pīr Patāo.

Hāḍipā, the performer of miracles, could order the cocoanuts to come down to him, and when he had devoured the kernel and drunk the water, could order the outer skins to return to the trees! The dead revived if he kicked them. Mother Earth brought a chair for him to rest and the son of Yama, the god of death, held an umbrella over him, if he went in the sun. The sun and the moon were his ear-rings, in other words, he was the perfect Yogī who had the control over *Prāna* and *Apāna* or the vital airs. If Hāḍipā was such a great Yogī, what made him clean the streets of Gopīchandra's capital ? Legends show that he had coveted Mahādevi (the wife of Śiva) who in the disguise of a beautiful woman was testing the characters of the Yogīs. It was by her curse that the Yogī worked as a Hāḍi or menial in the state of the beautiful Queen Maynāmati and her son Gopīchandra.

In the same ballad, we find that Gorakhnāth was flying through mid-air by his yogic powers in search of a perfectly innocent child, to whom he could bequeath his gift of *Mahājñāna* or supreme knowledge by which one can be free from fear of death and on finding Maynāmati, initiated her. Sree Gorakhnāth had obtained this knowledge from his guru Matsyendranāth, who in turn had obtained it from Lord Śiva. While Śiva was expounding the theory to his consort Gauri on the sea-shore, Gauri had fallen asleep and Matsyendranāth in the form of a fish in the sea overheard Śiva. When discovered by Śiva he was initiated and named 'Matsyendranāth' i. e., the king of fishes. But at the same time he was cursed by Śiva's consort that he would

for a time being, forget the knowledge thus obtained by deception. In the Bengali story of *Gorakṣa Vijaya* or *Mīnachetan* it is related how the great guru Matsyendranāth has temporarily forgotten this knowledge and has become immersed in love of the queens of Kadali in Assam, who are proficient in magic. There are only women in this state, sixteen hundred of them, all able to bewitch men who happened to come their way. This belief is still held in certain parts of Assam! Gorakhnāth, however, on receipt of this sad news of his guru's downfall goes forth in the disguise of a woman, delivers him and changes the sixteen hundred women of Kadali to bats, where to this day they can be found in a cave. This rather farfetched story was invented in all probability to depict the greater powers of Gorakhnāth over his guru. Gorakh is said to have attained superhuman powers by reason of his perfection in Yogic practices. But at the same time Gorakh delivers his guru by uttering 'Jai Matsyendra' thus showing reverence to the guru though he may have fallen temporarily. This is the subject matter of the legend *Gorakṣa-Vijaya* which means 'the conquest of Gorakh', or *Mīnachetan*, which means 'the awakening of Mīna' (*Mina = Matsya = fish*). The books *Gorakṣa-Vijaya* and *Minachetan* are identical but published from different places. Both the works are in Bengali.

In the *Kaula-jñana-nirṇaya* in Sanskrit, edited by Bagchi, we find that the Lord Śiva had himself appeared on the earth, in the disguise of a fisherman as Matsyendra, to preach the doctrines of the Kaula sect. The Nātha Yogīs were at one time all known as Kaulas, a special branch of the Tāntriks, who were worshippers of the Goddess. Matsyendra initiated Gorakhnāth, though there is no mention of Gorakhnāth in *Kaula-jñana-nirṇaya.*

Guru Gorakhnāth initiated Jālandharnāth. In a drama discovered in Nepāl on Gopīchandra's renunciation, we find Jālandharnāth telling Gopīchandra that he was the king of Jālandhar and had given up his throne and seven hundred queens to become a yogī. Jālandhar later on became Gopīchandra's guru.

Bhartṛhari, the king of Ujjain, became the disciple of Gorakhnāth. In some legends we find the mention of

Bhartṛhari as the brother of Queen Maynāmati, and the uncle of Gopīchandra.

Caurangīnāth, another disciple of Matsyendranāth, belonged to the Pāla Dynasty of Bengal. Caurangīnāth's step mother had his hands and feet cut off and his body thrown into a forest. Here he was discovered by Matsyendranāth, initiated by him and restored to his former self after twelve years of self-discipline by Yoga. This story is narrated in the form of a drama *Pūrnachandra* written in Bengali by the well-known dramatist Late Girish Chandra De. Caurangīnāth is believed to be the son of Devapāl, and queen Maynāmati, the sister of Devapāl. This same Maynāmati encouraged Rāmāi Paṇdit in the worship of *Dharma*, a later form of Buddhism adopted at the time of conflict with the Muslims. Buddhist contacts with the Nātha cult are numerous. In Bengal Hāḍipā, Gorakh and Matsyendra are claimed as Buddhist Saints and they are supposed to be related to the Dharma movement. One of the Yogī castes of Bengal are still known as the *Dharmaghori* Yogī. In Nepal, Matsyendranāth is identified with Avalokiteśvara, the fourth divine Bodhisattva, and his annual festival there is connected with an ancient Buddhist image. In a hymn composed in Bengali in honour of the god *Dharma* who is of a non--Hindu origin, we find the meeting of the Saints Hāḍipā, Kānupā, Gorakhnāth and Caurangī described. Rāmāī Pandit is the chief priest of this *Dharma* worship and the composer of its tenets known as *Sunya-Purāna*.

From Maraṭhi tradition we know that there was an old connection between Gorakhnāth and Jñāneśvar's grandfather Govindpanth. Jñāneśvar was the famous commentator of the Gita, known as *Jñāneśvarī*, and he was initiated into the Nātha cult by his elder brother Nivṛttināth. Jñāneśvar was born in 1290. Bhave in his *Mahārāstra Sāraswat* mentions that the Nātha sect was well-known throughout Mahārāstra in the twelfth century. Bhave also repeats the tradition of Govindpanth's connection with Gorakhnāth and says that Govindpanth's father, who worked under Jaitrapāl of Bira in 1207, had his mind turned to religion by Guru Gorakhnāth. (*Vol. I. p. 30*).

These legends and traditions help us to give the Nātha gurus some definite place in history. The stories of Gorakhnāth, Matsyendranāth and Gopīchand had been current in Bengal and many other parts of India, before the time of conquest of Bengal by the muslims in the thirteenth century. Later on the songs of Mīnanāth (Matsyendra) and Gorakhnāth became popular among the muslims of East Bengal. In the Vaisnava love lyrics of Bengal occasional references are found of Gorakh-Yogī. In Nepāl, it is believed that Avalokiteśvara came to Nepal at the command of Buddha from somewhere outside Nepal. He came in the guise of a Śaivite priest and is identified with Matsyendra. These Yogīs are still found in Nepal, Bihar, Bengal, U. P., Gujrat, Maharastra and Northern Deccan.

The Origin of the Sect

The Nātha Yogīs who were Śaivites (worshippers of Lord Śiva), originated in Northern India as an expression of revival of Hinduism, during the second millennium A. D. After the decline of Buddhism, Śaktaism and Vaisnavism, in which the personal element was predominant, the Nātha Cult flourished side by side with Islam. Union with Śiva was preached by Sankarācharya at an earlier period (788–850 A. D. dates of Śankara), but this impersonal ideal of *Advaitavāda* had died out. The Nātha Yogīs helped in reviving this ideal. To them Śiva was the permanent principle; while the phenomenal world was attributed to Śhakti, the ever active principle.

On the above principle, the Nātha gurus preached their doctrines; but as to the origin of the Nātha Sect we are still uncertain. A mass of legends have grown round the hoary name of Gorakhnāth, who is undoubtedly the greatest of the Nātha Yogīs, but his birthplace and family history are still shrouded in mystery. Indian Yogīs never reveal their past, this is the age old custom. Except in case of kings who have forsaken their thrones to become Yogīs, we can never be certain of their ancestry. Gorakhnāth is known as *Iśvara-Saṇtāna* meaning the son of God. In the *Goraksa-Siddhānta-Saṇgraha,* published by the Sarasvati Bhavana Texts of Benaras and edited by Dr. Gopinath Kaviraj, we find on page 40, the names of the nine Nāthas,

popularly known as *Nava-Nātha*. In this list we find the names of Ādināth (Śiva) as Guru, then Matsyendra, Udaynāth, Daṇḍanāth, Santoshnāth, Kūrmanāth, Bhavanārji and Gorakhnāth, the son of God.

From all other sources we find that Matsyendra is the guru at whose feet Gorakhnath spent twelve years and emerged as a great Yogī and mystic. The name of Matsyendra is very familiar in Bengal, as he was born in Eastern Bengal and preached in Kamarupa, Assam, where he was supposed to be ensnared by the queens of Kadali.

Gorakhnāth, the master Yogī, was known throughout the Northern and Western India in the eleventh century and later, he was held in great reverence in Sikkim, Nepal, Hardwar, Nainital, Gorakhpore, Benaras, in the U. P., the Punjab, Kashmir, Peshawar, Sind, Beluchistan, Cutch, Bombay, Rajputana, Orissa, Assam and Bengal. In the Punjab there is a famous temple in the name of Gorakhnāth, known as Gorakh-Tilla. The liberal Emperor Akbar is said to have been initiated into the secrets of the Yogīs and he presented some villages with an annual income, for the maintenance of this Tilla.

Gorakhnathis (followers of Gorakhnāth) also visit holy shrines of Gorakhnāth, Dharmanāth and others in far off places like Dhinodhar in Cutch, Koteśvar near Karachi in Sind, Hiṇglāj in Beluchistan and Devī Pātān in Nepal. Hiṇglāj is in the keeping of Muslims and considered to be beyond the confines of India. So on their return home from Hiṇglaj, the Yogīs are branded on the upper part of the right fore-arm with the emblem of Śiva-Śhakti (*Yonī-linga*) at Koteśvar. Gorakhnāthis lost hold of Koteśvar to the Atits in the sixteenth century. The monastery at Dhinodhar is one of the most imporant centres in Western India, and in this place Dharmanāth, a disciple of Gorakhnath, carried out his penance for twelve long years. At Devī Pātān, the image of Matsyendra is worshipped. An annual car-festival is still held at Pātān in honour of Matsyendra, who is the guardian deity of Nepal. Matsyendra, though a Śaivite, is worshipped in Nepal as an incarnation of Buddha as Avalokiteśvar, the fourth divine Bodhisattva. But his Śaiva image is also worshipped as

Śaivism was introduced in Nepal through him. Gorakhnāth holds the same respect as Paśupatināth, who is the God of the Nepalese. The ' Gurkhās ' of Nepal are named after Goraksa. Gorakhnāth's name is engraved in Nepalese coins. Gorakhpore in the U. P. is named after the great saint; temples in Gorakhpore and Chunar are dedicated to his name. In Bengal there is a place called *Gorakh–Bāsuli* near Dum--Dum, and also a place called *Tribeni* near the river Hooghly where the Nātha Yogīs assemble and worship Sree Gorakhnāth, uttering the mantra *Śiva–Gorakh.*

The Historicity and date of Matsyendranāth

Some MSS. found in Nepal have been published by Dr. P. Bagchi under the name of *Kaula-jñāna-nirṇaya.* The author of these are Matsyendranāth and Mīnanāth as found in the colophons. Dr. Bagchi has proved them to be indentical, and also shown that the language is not later than that of the eleventh century, and is a form of old Sanskrit. In one place it is mentioned that Matsyendra was an *Avatār* or incarnation of Śiva. It is generally supposed that when a person is considered to be an *Avatār*, he must have belonged to at least a century earlier. This fact, with that of the language, helps us to place Matsyendra sometime in the tenth century. Abhinava Gupta, the great scholar, in his treatise *Tantrāloka* salutes Matsyendra as his Guru and greets him as 'equal to Śiva'. Dr. K. C. Pandey has discussed the time of Abhinava Gupta and placed him in the second half of the tenth century and his writings not later than that of the beginning of the eleventh century. This also helps us to place Matsyendra not later than the tenth century. Abhinava does not mention Gorakhnāth.

In the commentary of *Tantrāloka* we find that Matsyendra was the founder of the fourth branch of a particular Advaita Tāntrik Sect. This sect was founded in Kāmarupa in Assam, where according to other traditions also, Matsyendranāth preached. This mention is made because Abhinava's great guru was also connected with this particular Tāntrik Sect.

Bagchi in his introduction to *Kaula-jñāna-nirṇaya* has shown from a MS. that Matsyendra was born in Bengal and he was the founder of the fourth branch of *Yoginī Kaula* and preached his doctrines in Kāmarupa.

In an old book of the Yogīs by Jñaneśvar written in Marathi, translated in Hindi and published from Hardwar as *Yogī-sampradāyāviskriti*, we find that Matsyendera was thrown in the sea by his parents, because he was born under an inauspicious star and was devoured by a fish. It is then that he overheard Śiva and was initiated by him, the time being the end of the Dvāpara Yuga i. e., the Brazen Age, the third of the four ages of the world comprising 864,000 years. Then he preached in Kāmarupa. Gorakhnāth became his disciple, and in Yudhistir Samvat 1939. (i. e., in the year of Yudhistir, the eldest of the Pandavas) he left his charge to Gorakhnāth and put himself in eternal trance or Samādhi in the Girnar Hills.

In the *Caryā-padas* (i. e., verses on practices composed by Siddhāchāryas) discovered by Shastri and published by him, we find a couplet in Bengali by Mīnanāth, quoted in the commentary. As we have mentioned before, those Caryās do not belong to any period earlier than the tenth century. From this too, we may place Matsyendranath not later than the tenth century, if Matsyendra and Mīnanāth are considered to be the same person.

In the list of the 84 Siddhas who had flourished between the tenth and twelfth centuries, we find the name and picture of Matsyendranāth, who is also known as Mīnanāth Vajrapāda.

The Historicity and date of Gorakhnāth

Gorakhnāth was the disciple of Matsyendranāth and as such he must belong to a period later than the tenth century, which date we have accepted for Matsyendranāth, the guru.

Gorakh's disciple was Gaininath, and his disciple was Nivṛttinath, the elder brother of Jñāneśvar. Nivṛttināth, though older than Jñāneśvar by two years only, had initiated Jñāneśvar in the Nātha cult. Jñāneśver is a well-known saint of Mahārāṣtra, who wrote his commentary on the Gitā, known as Jñāneśvari, in 1290 A. D., as has been proved by scholars. From Jñāneśvar's own writings the fact has been established that he was put in 'Samādhi' or eternal trance, at his own request, only at the age of 21 years in 1296 A. D. This 'Samādhi' can still be seen and is only a few miles off from Poona. Therefore Jñāneśvar's date of birth is 1275 A. D.

If we accept the theory that the time between a guru and his disciple is about a hundred years, considering their longevity which was well-known, we may place Gorakh in the eleventh century on the following grounds:—

Nivṛtti's date of birth	–	1273 A. D.
Jñāneśvar's date of birth	–	1275 A. D.
Gaininath's time	–	C. 1175 A. D.
Gorakhnāth	–	C. 1075 A. D.

If we accept this date for Gorakhnāth, Matsyendranāth can be placed a century earlier, i. e., in the tenth century and then the facts mentioned before as to the composition of Kaula-jñāna and the salutation of Matsyendra by Abhinava in the eleventh century, can all be admitted.

Gopichandra was the king of Bengal, his father was Manikchandra Raja, the brother of Dharmapāla. The Pāla dynasty came to an end in Bengal in the eleventh century. The Yogīs rose to power under the Pālas in Bengal; and Manikchandra's wife Maynāmati was a disciple of Gorakhnāth. So Gorakhnāth must belong to the eleventh century also.

Maynāmati is spoken of as the sister of Bhartṛhari, who abdicated his throne in favour of his brother Vikramāditya (Chandragupta II.) of Ujjain. Vikrama ruled from 1079 to 1126 A. D. Bhartṛhari became a Yogī. One of the sub-sects of Kanphātās is named after him. Bhartṛhari was a disciple of Gorakhnāth, so we can place Gorakh in the eleventh century.

The tradition in Bengal of Maynāmati's supporting Rāmāi Pandit in the worship of *Dharma* gives us the historical data of the eleventh century. The treatise on *Dharma* composed by Rāmāi and known as *Sūnya Purāna* points to a sufficiently archaic language, determined by scholars as of the eleventh century.

Gorakhnāth accepted both Hindus and Mohammedans as his disciples. Baba Ratan Haji was probably a Mohammedan follower of Gorakhnāth and is said to have converted a number of Mohammedans to the Yogī's creed. In Kabul they are known as faqirs of Ratan Haji. *Kafirbodha* was perhaps written by Ratan Haji but was known as the work of Gorakhnāth. Ratan Haji belonged to the eleventh century by tradition, so Gorakhnath may be placed in the same century.

The Historicity of Gopichandra

All over India are found dramas, ballads, famous paintings and at the present time moving pictures depicting the home-leaving of Gopichandra, which is as heart-rending as that of Lord Buddha. In the Cambridge University Library there is a copy of a Bengali drama, written in the Newari language of Nepal, which was composed in the 17th century. The story of the drama is partly similar to the Bengali ballad known as *Govindachandrer Gīt.* Grierson collected and published in 1873 *Manikchandra Rājār Gān,* which relates to the father of Gopichandra, but the story is the same, showing Gopichandra's home-leaving. There is a Hindi version of Gopichandra's song by Laksandāsa. In the Punjab, Ambala District, this drama is still played and the ballad singers of the Rangpore District in Bengal still earn their living by singing this sad song. The famous painter Ravivarma has put this sad home-leaving on canvas. Several copies of books of dramas on the subject of Gopichandra's renunciation are found in Northern and Eastern Bengal, Orissa, the Punjab, Bhagalpore and Benaras, in the languages of these places.

Who was this widely known Gopichandra ? On marrying Maynāmati, Manikchandra got Meharkula in Tripura (in the Chittagong District) as a dowry. His ancestral throne and kingdom was at Vikrampore in the Dacca District Thus he ruled over these two places. Their only son was Gopichandra whose capital was at Paṭṭikānagar in Tripura. A range of hillocks in Tripura is still known by the name of Maynāmati. An inscription has been found here dated 1219 A. D. in which mention of Paṭṭikera is made. Gopīchandra had also taken on lease a part of Northern Bengal, so the people of the Rangpore district knew of his renunciation. Dr. D. C. Sen collected the above facts from different verses on Gopīchandra and he believes that Gopīchandra belonged to the Chandra kings and had no connection with the Pāla kings of Bengal.

Gopīchandra married the two daughters of King Harischandra who probably belonged to Savar in the Dacca district. This Harishchandra belonged to the eleventh century. If we accept the fact that Gopichandra's mother was a disciple

of Gorakhnāth, both Maynāmati and Gopichandra cannot belong to a period much later than the eleventh century.

Gopichandrer Gān has been published by the Calcutta University with two different renderings, one by a Hindu, the other by a Mohammedan. From Dacca, Dr. N, K. Bhattasali published two books under the caption *Gopīchandrer Gīt* and *Maynāmatir Gān.* Sivachandra Sil published *Govindachandrer Gīt,* but Govindachandra is the same as Gopichandra.

These books, however, have all been written at a much later date, in about the 17th and 18th centuries. Gopīchandra can be placed in the 12th century or earlier from the facts of Maynāmati being Gorakh's disciple and Hāḍīpā being the guru of Gopīchandra. We have already discussed the relationships between Gorakh, Maynāmati and Hāḍipā in the legends concerning them. The Pāla dynasty also came to an end in the twelfth century ; Gopichandra and his father were contemporaries of the Pāla kings.

The Historicity of Bhartṛhari, Jālandharnāth Jñanesvar and Gambhirnâth

Bhartṛhari, who was once a king, became a Yogī. In Mahārastra a drama has been written in 1904 A. D. which is known as *Bhartṛhari Nirvēda.* Gray published it in an American Journal. Bhartṛhari is supposed to be the king of Ujjain. But the Maharaja of Alwar who is interested in the story of Bhartṛhari, failed to gather correct information from Ujjain. Moreover, it is said that Bhartṛhari and Vikram were brothers, and Bhartṛhari abdicated in favour of Vikram. Who is this Vikram ? If it is the Vikramāditya, who was defeated by Sālibāhan, in whose name an era was established (1872 = 1951 A. D.) we arrive at an impossible conclusion. We have no intention of placing Gorakhnāth in the first century. If we accept Vikramāditya as Chandragupta II. of Ujjain, who ruled from 1076 to 1126 A. D., we may arrive at a probable conclusion and place Bhartṛhari before the end of the eleventh century. The death of his devoted wife Rani Piṇgalā made him accept the discipleship of Gorakhnāth. This also corresponds to the date we have accepted for Gorakhnāth, i.e., the eleventh century.

Jālandharnāth was also known as Jālandharipā or Hāḍipā. One opinion is that he was the king of Jālandhar, and another is that he was born in Sind. He was by caste a Sudra and learnt Yoga at Uddiyana, the great centre of Buddhist tantrikism and magic. We have already described the great powers of Hāḍipā. Jālandhar was praised in sixteen different books written by his follower Mānsingh, the ruler of Jodhpore. In the literature of the Siddhas, Jālandhar is known as Vichā-rnāth and Gopīchandra, his disciple, as Sṛiṅgāripāva. In the *Siddhānta Vākya* we find some questions and answers between Jālandhar and Gopīchandra in which the ideal of Nātha cult is described. Jālandhar is a disciple of Gorakhnāth and the guru of Gopichandra, so we may place him in the eleventh century.

Jnâneśvar has been dealt with before, and it is sufficient to mention here that he was a Mahārastra saint and his books *Jñāneśvari* and *Yogī-sampradāyaviṣkṛti* have earned the fame he deserves. Jñānesvar belonged to the thirteenth century and we have given our reasons when discussing the date of Gorakhnāth.

We shall now deal with a Yogī of modern times. He is Yogīrāj Sree Gambhīrnāthji who passed away not so long ago in 1917 A. D. He was initiated by a Mohant of Gorakhpore Temple. Gambhīrnāth was a non-Bengali, yet he had about six hundred Bengali disciples. Gambhirnāth was in charge of the Gorakhpore Temple, but he never accepted the Mohant's post, which was offered to him. The character of this saint was spotless, and he was well-known for his charities at Kumbha Melas and elsewhere. In Gorakhpore a small but beautiful temple of white marble with a life-size image of the once handsome Gambhirnāth done in white marble too, has been erected by his Bengali followers. Śantinath and Nivṛitt-ināth, two of his Bengali disciples, still reside in the temple grounds and carry on their studies of religious books. Thus the cult which originated with Matsyendra and Gorakhnāth, is still a living source of inspiration to many.

Matsyendranāth, Minanāth and Luipa— Are they Identical ?

The names of the gurus and their sishyas (i. e. preceptors and their disciples), as found in the different lists, are often confusing. In the history of the 84 Siddhas as found from

Tibetan sources, we find the mention of practically all the important Nātha gurus. Matsyendra is often called Mīnanāth and even Luipā. Luipā belonged to the East and was in the service of king Dharmapāl of the ninth century, and was the author of five books. By another version he was an employee of the king of Uddiyana, which Bagchi has proved to be the same as Swat Valley in the N. W. Frontier of India. But how could Luipā belong to the East and at the same time be employed in the N. W. and compose verses in Bengali? It is well-known that Yogīs in ancient times travelled on foot all over India, which might explain the position. On the other hand, the mystic cult with which his name was associated, was in vogue in distant parts of India. So Luipā's name was associated both with Uddiyana and Bengal. The name Luipā in Tibetan means the intestine of a fish. According to Bengali legends Matsyendra was found in the womb of a fish. Tibetan pictures show that he was fond of eating the entrails of fish and was surrounded by fish. Shastri in a Bengali novel has given a vivid description of Luipā's fondness for the entrails which were supplied by a king of Bengal, who was Luipā's disciple.

Luipā is considered to be the Ādiguru or first guru by the Tibetans; while Matsyendra is looked upon as such by Indians. So, we may conclude that Luipā and Matsyendra both looked upon as Ādigurus and both having some connection with fish, are identical persons.

The word Mīna also means fish, and in the colophons of *Kaula-jñāna-Nirṇaya* we find the name of Minanāth once and at the end, that of Matsyendranāth. Bagchi has concluded from other MSS. that they are identical persons, the one name being a synonym of the other, and they are not related as father and son, as may be supposed from the above colophons.

The river Bramhaputra in Assam is known as 'Lohit' because of its red water. Matsyendra who preached in Kamarupa, may have been known as 'Lohipada' i. e., belonging to Lohit. Luipā was probably the shorter form of 'Lohipada'. In Bengal a small fish-catching contrivance made of cane is known as Lui, which may also account for the name Luipā as the 'catcher of fish with a lui'. In the

Kaula-jñāna-nirṇaya he is also mentioned as Macchaghna, which means the 'killer of fish'.

So Matsyendranāth, Minanāth and Luipā are identical' and known under different names, in different sources.

The Doctrines of Luipā and Matsyendra

We have mentioned above that Luipā and Matsyendra flourished at the same time viz. tenth century A. D. and that they are identical. In the list available from Tibetan sources we find Luipā's name in the very beginning. His name in Sanskrit would be Matsyantrād or Matsyōdara, which is associated with the intestines of a fish. Luipā is described as a Buddhist sage, originally belonging to the fisherman caste. While Luipā is considered to be the first Siddhāchārya (preceptor who has attained perfection). Matsyendra was accepted as the first Nātha Guru.

The Siddhāchāryas wrote the Caryās or verses which Śhastrī discovered in Nepāl and published them as being "thousand years old Bengali verses." Luipā is known to be one of the earliest of these verse-writers. Luipā wrote another book conjointly with Dipankar Srijñāna, from whose date we can fix Luipā's date as the second half of the tenth century, and the date of composition of this book as the beginning of the eleventh century.

Bagchi has published some MSS. with *Kaula-jñāna-nirṇaya* by Matsyendranāth and has proved that these were composed in the eleventh century.

The doctrines preached by Luipā in these old verses and by Matsyendra (Mīnanāth) in the *Akula Vīra Tantra* under the collection named *Kaula-jñāna-nirṇaya*, both relate to the ways of attaining supreme bliss of sahaja samādhi' (i. e., easy fixation of the mind in the Supreme Bliss). It is curious to note that Matsyendra of the Nātha cult has been deified in Nepāl as Avalokiteśvar, and is still honoured as such. We can only repeat therefore that Luipā and Matsyendra were one and the same person.

The doctrine of Luipā as found in the Caryās is as follows:—Luipā says that the mind is solely responsible for creating the illusory world. The world as seen by human beings is

neither existent nor non-existent. It is like the shadow of the moon in the water. When the moon disappears, the shadow is no more: thus when the mind is destroyed by being merged in the Sahaja or Supreme Bliss, the outer world disappears for the Yogī.

Luipā also insists that the elaborate practices of Yoga, which are concerned with *Mudrās* and *Bandhanas* should be abandoned, because in spite of such practices one has to face death as an ordinary man. Therefore, the *Sahaja* or the easy way should be adopted.

The idea of the phenomenal world as an illusion, is not Buddhistic in origin, neither are the *Mudras* and the *Bandhanas* as we shall see later. But Luipā was known as the Ādi (first) Vajrāchārya (the preceptor of Vajrayāna). Vajra-yāna is a later form of Buddhist tantrik worship. The question arises, "Was Matsyendra a Buddhist tantrik or a Saivite tantrik?" To this, we may reply that 'Tantra' is neither Hindu nor Buddhistic in origin. The ancient Agamic tenets are the common source of all tantrik worship, whether Hindu or Buddhist. Tantra consisted of the practices of *Mantras, Mudrās, Bandhanas etc.*, but gradually Sexo-yogic practices found its way into it. Such practices for the attainment of Supreme Bliss was advised by Buddhists of the Vajrayāna school and Luipā is said to be its first exponent.

On the other hand, the Nātha gurus have repeatedly advised their disciples to shun the company of woman, though we do find some *Mudrās* described in the books of the Nātha cult in which the company of woman seems necessary. The names of these *Mudrās* remind one of the cults of 'Sahajayāna' and 'Vajrayāna'.

Dr. Barthwal concludes that it is not to be understood that Gorakhnath totally abandoned Tāntrik practices though he did change its perspective and made it a difficult test for the Yogī who aims to attain *Siddhī*. So these *Mudrās* were practised under trying conditions. Continence was a very important means of attaining siddhi. It is under Gorakhnath's advice that Maynāmati compelled her only son to separate from his two queens. When, by the Goddess' scheme, Gorakh was compelled to marry, he at once became a baby in her arms by his Yogic powers and wanted her to nurse him! In *Gorakh-Vāni* and also in some Bengali ballads we find

Gorakh comparing a woman to a tigress, who sucks human blood ! Again says Gorakh in a Hindi verse, " The tree by the river bank and the man by the side of a woman, verily they cannot expect to last long. The restlessness, the unfettered activity of the mind causes the back bone to wear away, and the body of the man perishes. "

In a book, on Haṭha Yoga full descriptions of *Āsanas* (postures) as practised by Matsyendra and Gorakh are given. To try to hear the *Anāhata Nāda* (the unstruck sound) in the body by practice is another difficult process adopted and advised by the Nātha gurus. The awakening of the *Kundalinī Śhakti* (the Dormant Power) and *Kāya-sādhana* (Practice of the body) which we shall discuss later are not at all easy or ' Sahaja ' ways of sādhanā (practice).

Matsyendra as a fisherman[1] or as Macchaghna, the killer of fish, and Gorakh as a killer of animals[2] could not possibly be Buddhists, whose principle of non-killing (Ahimsā) is well-known. The Nātha Yogīs sacrificed animals in their temples[3]. This too is opposed to Buddhism.

Thus we find that the Sahaja way of the Buddhists and the doctrines of the Nāthas have not much in common, though in *Akula-vīra-tantra* in Bagchi's edition of *Kaula-jñāna nirṇaya*, Matsyendra does advise the following of *Sahaja* which is a state of equilibrium and is the same state of *Sahaja Samādhi* of Tantrik-Buddhism.

The very word *Haṭha* indicates the theory of the Sun and the Moon, the details of which we shall presently discuss. Thus this theory as found in the Nātha cult, can be found in the Buddhist Sahajia cult too. It is because of such general similarities and also the fact that the Vajra-saṭṭa of the Buddhists is also known as Ādināth (the name also for Śiva) that the Nātha gurus are often called Buddhists by mistake. But the Nāthas were actually Śaivites, as we shall presently prove.

(1) As described in his own book *Kaula-jñāna-nirnaya* in Patala XVI.

(2) As found in Kāyā Bodha, a book by Gorakhnath. Vide " Some aspects of the History and Doctrines of the Nāthas" by Gopinath Kaviraj, in Sarasvati Bhavana Studies. Government Sanskrit Library, Benares. Vol. VI. pp 91 ff.

(3) Monograph of the Religious Sects of India D. A. Pai — p. 70 Published by the Bombay Corporation, 1928

The Philosophical Doctrines of the sect and Successive Steps of their Sādhanā

The Nātha Yogīs who call themselves *Śiva-gotra*[1] i. e., originating from Śiva, worship Śiva in his inactive form–yet Śhakti is powerless without Śiva. This philosophy is based on the Advaitavād (monotheism) of the early Śaiva School, but the conception of 'Nātha' was beyond the *Dvaita Advaita* (dual and non-dual state) and also beyond *Sākār* and *Nirākār* i. e., the form and the formless. These conceptions of 'Nātha' and Śhiva-Śhakti are well depicted in the works of Nāthism, both in Sanskrit as well as in Bengali. Śiva is pure consciousness and perfect rest while Śhakti is the aspect of change and evolution.

Beyond the sphere of virtue and vice, of pleasure and pain, is Śiva, representing Eternity in the midst of all changes. Sir John Woodroffe has justly described it as "the changeless principle of all our changing experience."

The Nātha Yogi strives to attain the state where pleasure or pain, virtue or vice, friend or foe does not affect him. To him fragrant sandal paste is of the same value as mud. This state is described as the 'Avadhuta' state, i. e., the liberated state or when one has got rid of all the changes.

सर्वान् प्रकृतिविकारानवधुनोतीत्यावधूतः [1]

Goraksa Siddhanta Saṅgraha. p. 1.

As the yogīs state that the human body is the epitome of the universe, the life process is also divided into the two aspects of the Śiva and Shakti. It is Shakti which leads to change and decay through *Bhog* (enjoyment), which is in the region below the naval. The region of Śiva is above the naval, and is the domain of rest or *Tyāg* (renunciation).

---

(1) शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः
Siddha Siddhanta Samgraha P. 26
Saraswati Bhavan Texts, Banaras.

प्रसरं भासते शक्तिः संकोचं भासते शिवः

Vide Saraswati Bhavana Texts, Banaras.
No 13. Sidha Siddhanta Samgraha p. 36.
No 18. Goraksa Siddhanta Sangraha

The same idea is contained in the Bengali book Goraksa Vijaya p.3 re: Ādya and Anādya.

The Avadhūta is equally unaffected by *Tyag* or *Bhog*. The Nātha Yogīs adopted some mystic procedure in performing certain *Mudrās* (gestures) for spiritual realisation which consisted of *Bhog* and *Tyag* at the same time. These procedures, however, remain obscure to the uninitiated.

The beginnings of the Yoga system can be traced back to ancient times, but the path is not an easy one. It is only through self-discipline that one can rise above the empirical self and be one with Śiva. A course of both physical austerities and mental discipline has to be followed to achieve this state of Bliss and forsake the outer world which binds us in its alluring snares. Mystic syllables such as *OM* help the Yogīs to achieve this state by concentration on the *Mantra* (i. e., the sacred text or syllable). The Yogī forgets the outer world and is in Union with the Unseen. The Nātha Yogīs advocate this practice as is seen from their works. The concentration and constant repetition of the *Mantra* leads one to the state of *Ajapā-jap* which means that one has entered internal life. The mantra is spontaneously repeated all the time. Such a Yogī with the help of Haṭha Yoga gains control over the vital airs, the *Prāna* and *Apāna* and is able to perform miracles. It would be an injustice to say that the Nātha Yogīs Haḍipā, Gorakhnath etc. practised control over the vital airs to gain some occult powers only. Their final aim was higher. It was the attainment of Śivahood, with Haṭha Yoga as the means. The vital airs are often termed as the Sun and the Moon. These terms have been used both in the Buddhist and Bramhinical texts of mysticism. There are other synonyms as found in the Caryāpadas. In Haṭha yoga Caṇdra (Moon) is the nerve on the left of the body and is known as '*Idā*' and Sūrya (Sun) is '*Pingalā*' on the right. They are also known as *Gangā* and *Yamunā* (the name of the two important rivers in India). An individual soul can attain Śivahood by abandoning the left and the right through Yogic practices and bringing them under control. Haḍipa makes the Sun and Moon his earrings i. e., in other words, he has controlled them. The Sun and the Moon are the symbols of day and night, the *Prāna* and *Apāna* or inspiration and expiration are the two important functions of the body, on which depend the notion of time. So when a Yogī controls

them, he subdues time and becomes a *Kālajayī Yogī*. By commingling the Sun and the Moon, so that they can no longer work independently, the Yogi's state of the mind goes beyond the reach of the senses, which is *Samādhi* or the final state of Yoga process.

This *Samādhi* is the final state of bliss, or the *Advaya* or *Yuganaddha* state as found in esoteric Buddhism. The word *Advaya* means a synthesis of all duality in the principle of unity or achievement of the non-dual state. This principle of non-duality was adopted by Luipā and others, who have given repeated warnings not to go either to the left or the right, but to follow the middle path. The middle nerve in the body is the most important nerve and is called the middle path by the Siddhācāryas.

The human body was conceived as a microcosm, in which everything found in the macrocosm has a parallel. In Hindu Tantrik Texts we find similar ideas. Śiva and Shakti reside in the body, in the lowest of the nerve centres lies Śhakti in its dormant state, the Yogī rouses it and makes it follow the middle nerve (the Susumnā) and unite with Śiva in the highest centre (the Sahasrāra), the thousand petalled lotus in the head. Thus Śiva and Śhakti unite in *Samarasa* or *Advaya* state which is the *Yuganaddha* state of the Sahajia Buddhists. The nerves on the left and right in the human body, represents the principles of duality. The Yogi checks the separate functions of duality, and unites them with the middle nerve to function conjointly. This middle nerve or path leads the Yogi to 'truth', while the other two on the left and right lead him to pollution. When the two nerves are controlled, the *anāhta nāda* or spontaneous sound, within the recesses of one's soul can be heard. By the control of the nerves is really meant the *Apānā* wind which has a downward motion and the *Prāna* which has the upward motion should both be arrested by Yogic practice and then made to follow through the middle nerve and held there by a mudrā known as *Kumbhaka*. Thus the mind of the Yogī becomes steady, his breaths are suspended and the senses are controlled, and he achieves his final aim of attaining *Samādhi*.

The siddhas of Ancient India laid special emphasis on *Kāya-sādhana* or culture of the body. The Nātha Siddhas

were no exception to this rule. To make the body free from impurities and thus be free from death, was one of the most important factors of the Nātha school. The final aim of the Nātha Siddhas was *Jīvan-mukti* or attaining liberation in this body, while living. This state of *Jīvan-mukti* meant immortality for the Yogī in a trans-materialised or pure body. With such a body a Yogī can go wherever he likes and act as he pleases. He can help his disciples in distant lands, by flying through air, or by transmitting his spiritual guidance over a distance of thousands of miles. A particular sect of Siddhas in Tibet are well known for such helps to their disciples.

The Raseśvara Siddhas in India, and some preceptors in the West, are known to have used chemicals to make the body immutable. *Rasāyana* or alchemy at one time had gained prominence all over the world. The Nātha Siddhas were known as a band of death-defying Yogīs who traversed the three worlds. In Nātha Cult, the actual use of chemicals is not mentioned, but reference of the Raseśvara Siddha is often found. It is, however, mentioned is the texts that nectar oozing from the Moon in the *Sahasrāra* centre in the head, where Śiva and Shakti unite, is drunk by the Nātha Yogīs to make them immortal. Thus the attainment of *jīvan-mukti* by having an immortal body through the practice of Haṭha Yoga was the final aim of the Nāthas. We find no such idea of a *Jīvan-Mukta* Yogi in Sahajiā Buddhism, neither the idea of the culture of the body to attain the pure body or *Siddha-deha.* In the Caryāpadas the perfection of the body or *Kāyasādhanā* is considered as a means only for realisation of *Sahaja.* This Sahajiā Buddhism had once flourished in Bengal. The Pāla kings of Bengal built *Vihāras* (monasteries) and gave land grants to Buddhists. Paṭṭikēra which had been identified with Gopichandra's capital, had a *Vihāra* known as Kanakstupa. Tantrik Buddhist scholars Tilopā, Nadapā, Advayavajra, the nun Mekhalā, all of whom are mentioned in the list of the 84 siddhas flourished in Bengal under the Pālas. Thus we may conclude that many of the authors of the Caryās, also lived and preached during the Pāla period. The Caryāpadas embody the tenets of Sahajiā Buddhism, which forbid the practice of *Āsana, Mudrās, Vandhanas* as prescribed by Haṭha Yogīs.

The nerve centres called the 'cakras' hold an important place in Haṭha yoga practice. Union of Śiva and Shakti is not

possible, if the yogī is unaware of the '*cakras*'. A yogī, who knows the six cakras and has been able to unite the dormant Shakti with Śiva (the process known as raising the Kundalini Shakti), is known as a *Kaula.* The Kaulas were Śaivas and not Buddhists. Matsyendra calls himself a Kaula in his treatise *Kaula-jñāna-nirṇaya.*

That the Nātha Yogīs were Śaivites can be proved from the sect mark of *Yoni-linga*, the organs of generation symbolising divine procreation, on their right fore-arm, and of '*tripundra*' (three horizontal lines drawn with ashes) on their forehead. The Nātha yogīs visit Śaiva shrines and pierce the cartilages of the ears to wear *Kundalas* (ear-rings) like Śiva. They wear a woollen holy thread from which is hung a *nāda* and *pabitri*, or a horn whistle and a brass ring which represent Śiva and Shakti. The Nātha Yogīs do not necessarily shave their heads and beards like the Buddhists. Neither are they strictly vegetarians; they smoke and use *siddhi* (hemp), which is the favourite intoxicant of Śiva. Matsyendra went to Nepāl dressed as a Śaiva Yogī to preach Śaivism. Above all Matsyendra was known as a fisherman and was associated with fish even as a yogī, while non-injury is a special feature of Buddhism.

The *mantra* of the Nātha yogīs is 'Śiva-Gorakh', and they call themselves descendants of Śiva, and are thus known as belonging to Śiva Gotra to the present day. Gorakh is deified as Śiva, but Matsyendra is deified in Nepal as Avalokitesvar. What can be the reason of this association of the first Nātha guru with Buddhism ? Gorakhnath and some other Nātha gurus have been also identifed with Buddhist Sahajiās, and on the other hand, we find the names of Buddhist siddhas Sringāripāo and Ramanvajra, associated with those of the Nātha gurus, Gopīchandra and Gorakhnāth.

We have proved that the Nātha Yogīs were Śaivites, why then were there these confused identifications ? We may only suggest that the general similarity in practice and in rites and rituals between the Buddhist Sahajiās and the Nātha Yogīs resulted in these confusions. The Bengali writings of Luipā-Minanāth and the fact that Luipā belonged to 'Lohita' country in Kamarupa were also responsible for turning a Kaula yogī into a Sahajiā Buddhist.

We may mention here that while verses in old Bengali by Mīnanāth have been discovered, none has yet been found by Gorakhnāth. Gorakh's *Upadeshas* are commonly found in Hindi and Sanskrit; some scholars even claim Gorakh to be the first Hindi prose writer.

It is not true that the esoteric Buddhist cult, which drifted away from original Buddhism, later on transformed itself into a Śaivite cult or vice versa. The element of yoga as practised by both these schools, together with the rites and rituals were neither Buddhistic nor Brahmanic, they were of a common heritage. The similarities can also be traced in the Jaina Dohās (i. e. couplets) of the tenth century. The uniformity in spirit, as well as in form with the Buddhist Dohās of the same period, is rather striking. Aversions to scholarship and injunctions of religion as preached by the *Pundits* (the learned) are the special features of these Dohās. The motto is that Liberation can only be attained when the mind is fixed on Reality (नाथस्वरूपेणावस्थानम्)[1] and not by outward practices or knowledge of *Shāstras* (scriptures).

The esoteric yogic practices in India have a common background in the idea of the 'dual' and 'non-dual' state. To destroy the dual and the non-dual state and attain Reality or अद्वैतोपरि सदानन्दंदेवता[2] is the aim. It is only when the Yogī transcends the outer mental processes that he can know God as the experienced 'Reality' through his own intuition, which is called *Sahaja*. This idea is found in the Buddhist and Jaina Dohās and in the verses of the Nirgunis, like Kabir and Dadu. 'One-ness' with God is described as *Sahaja Samādhi* (i. e., attainment of the final state through one's intuition) by the Buddhist Sahajiās, and as *Samarasa* (i. e. realisation of the oneness of the universe amidst all its diversities) by the Nātha Yogīs. But the practice of the Nātha Yogis differ from that of the Sahajiā Buddhists, who endeavour to attain the non–dual state through the dual. The Nātha Yogīs aim to attain that which is beyond the dual and the non–dual state, which yogīs call the 'Parampada' (i. e. the Supreme Reality). In describing this state Jālandhar Nath in his Siddhāntavākya says द्वैतवाऽद्वैतरूपं द्वयत उत परं योगिनां शंकरं वा

(1) Goraksa Siddhānta Sangraha P. 10
(2) *Ibid, P. 10*

This state is beyond description as it is beyond the dual and the non-dual conception which are common, and so the yogīs call this state यादृशः एव तादृश एवेति सर्वविलक्षण एवैतादृशो नाथो महासिद्धानां लक्ष्यः i. e., " It is what it is " (vide Goraksa-Siddhānta Sangraha, p. 73.).

Another common background in mediaeval times was the idea of the human body being the epitome of the universe, thus naming the nerves and nerve centres in the body as rivers, mountains etc. The idea was to search for Truth within one's self. If God was to be found in the universe, we may very well look for Him within ourselves. This was the central idea of the preachings in mediaeval times.

The reverence of the preceptor or guru was another striking feature in mediaeval times, though the conception of different schools vary from one another. The Nātha yogī's guru is addressed as नादबिन्दुकलात्मने i. e., he in whom *nāda* and *bindu* have mingled together, such a gura is as great as Śiva. *Nāda* and *Bindu* are the audible and inaudible forms of sound, and as sound is taken as the basis of creation, the guru is considered to be as good as the Creator, and is honoured as such. This is the special feature of the guru in the Nātha cult. In Sahajiā Buddhism the guru is thought of in the form of *Yuganaddha* i. e., in the state of union with his consort (as that of the Buddhist icons).

Gopichandra's renunciation depict the unquestionable authority of the guru over his pupil. The rescue of Matsyendranath from evil company by Gorakhnāth while uttering the guru's name is another example where a guru, though fallen, is yet a guru to his disciple. Such is the high esteem in which a ' guru ' was held by his *sishyas* or disciples.

Not only in the ' guru ' aspect but also in some of their practices, the Sahajiā Buddhists thought of the *Yaganaddha-rupa*. But the Nātha Yogīs were strict celebates and avoided the company of women, examples of which we find in the ballads in Bengal and elsewhere.

The story of the great yogī Matsyendra, being ensnared by the women of Kadali in Assam, only shows that worldly pleasure leads a man to death, his forgetfulness of ' yoga ' shows, we are by nature forgetful of our immortal self. The women

of Kadali represent the snares of everyday life. The story is an allegory, showing man's oblivion of his true immortal state. Gopichandra's renunciation also shows that the Yogī is in search of 'truth' and 'immortality' and as such women are thought of as hindrances on the path of Yoga.

Thus from various aspects the difference between the Sahajiā Buddhists and the Nātha Yogīs is easily discernible, yet Luipā and Matsyendranāth are thought of as identical. Luipā wrote the Dohās of the Sahajiā cult, while Matsyendra called himself a *Kaula*. Rajmohan Nātha suggests that there were two Matsyendras, one was also known as Luipā and wrote the Caryās and *Kaula-jñana-nirṇaya* and advocated *Sahaja*. The other was Matsyendra-Minanāth who was the first guru of the Nātha cult, and adhered strictly to Nātha-Yoga practices.

We would like to point out that in the *Kaula-jñāña-nirṇaya* both the names Minanāth and Matsyendranāth are found in the colophons, and also from different copies of 'Akula-Vira-Tantra' MSS. they have been proved by Dr. P. Bagchi to be identical persons. Probably Rajmohan Nātha has overlookd this fact. It is true that the doctrine ascribed to Luipā is the 'Sahaja' way, as opposed to Matsyendra's difficult practices but Matsyendra has also described the 'Sahaja' state in his *Akula-Vīra-Tantra*. So not only Luipà, but Matsyendra also advocates *Sahaja*. In the vernacular literature of the Nātha Yogīs we very often find mention of *Sahaja*. This 'Sahaja' is the same as the '*Sahaja*' of the Sahajiā Buddhist Dohās. But the '*Sahaja*' of Matsyendra school is the union of Śiva and Shakti, which was known only to *Kaulas* who were Śaivas. So there is no reason to call the Nātha-Yogīs Buddhists.

It is a fact that since the advent of Mahayāna Buddhism in this country, in spite of differences in views, there was an innate harmony of all religious creeds. The Nātha doctrine had many ideas in common with the Sants, the Sufis, the Sahajiā Buddhists and others. In determining the special features of the Philosophical Doctrine of the Nātha Sect and in following the steps of their 'sādhanā' (practice), I have taken help mainly of the authentic texts belonging to the Nātha school of yogīs. The Tantric practices and also the

Upanishads have partly helped me to come to a decision regarding the practice of the Nātha yogīs. These Nātha yogīs were a mystic sect, who kept their doctrines and practices a secret amongst their disciples. So there is no other way but to take the help of their texts and that of the other schools by way of comparison to determine the correct philosophical doctrine and the practices of the Nātha Sect.

Texts Belonging to the Sect and their Importance

The texts belonging to the Nātha Sect are mostly unpublished and are lying scattered, unknown and uncared for, in different places of India. At one time the Nātha gurus travelled from one end of India to the other, so a patient search for MSS. may yield wonderful results, and my humble attempt in this line has not been futile. Of course it is a well-known fact to scholars that it is extremely difficult to find positive documents of mystic sects and also judge the authenticity of the authors. The texts I have so far gathered are from Jodhpore, Hardwar, Benaras, Tanjore and Madras. These texts are full of incorrect readings, yet they are being published with certain notes in the hope that the doctrines may be brought to light. Even if authorship be disputed in some cases, there is no doubt that the texts belonged to the Nātha Sect. The language is not strictly grammatical, but this was apparently done on purpose, as it was easily understood by all. The Sant poets also followed this policy of preaching in the popular language, which was in their case Hindi. In Gorakhnath 's verses a mixed Hindi, partly Rajasthani and partly Hindusthani, is found; this was popular all over Northern India.

Matsyendra's verses were in Old Bengali, as discovered and published by Shāstri. The work is a collection of verses by Sahajiā Buddhists, and Shāstri speaks of Nāthism as another school of Tantric Buidhism. [1]

The language of these verses was unique and was known as " intentional speech ", in which the esoteric doctrines were preached. Scholars have established the dates of these verses as between the tenth and twelfth centuries; the authors'

(1) Introduction to Modern Buddhism and its followers in Orissa—by N. N. Vasu.

names appear in the list of the 84 siddhas. These verse writers were known as Siddhācāryas and were mostly Buddhists, so Shastri published them as " Bauddha Gān and Dohā ", (i. e., the songs and couplets of the Buddhists); Bagchi published some MSS. by Matsyendranath under the caption " Kaula-jñana-nirnaya ".

Gorakhnath's " Siddha-Siddhānta-Paddhati " is now being published with some other texts, belonging to the Nātha Sect. " Siddha-Siddhānta-Paddhati " is mentioned in " Hath-Yoga-Pradipīkā " as being uttered by Sree Gorakhnath and this tradition is still held by the sect. For obvious reasons this has remained a sealed book to the layman, though it was published by the Nāth-Bramhacharyāsram at Hardwar; it was meant only for the members of its own mystic sect and is unavailable. Repeated requests by Dr. Gopinath Kaviraj and Dr. P. Bagchi for a copy of the book have been fruitless. In 1942 my diligent search was rewarded in the form of a transcription of the Ms. A scholar, Sree Giridharilal Vyasji of Benaras, had been to Hardwar, mixed with the yogīs, earned their favour and thus obtained a copy of the book. Sree Vyasji had a vast library and helped me with books whenever I needed them. I am deeply indebted to him also for the transcription of " Siddha-Siddhānta-Paddhati ". Since then I have serched and obtained copies of MSS. of the same Siddha-Siddhānta-Paddhati from Jodhpore and Tanjore. In the Tanjore copy, after the colophon are given four lines in praise of god Rama.

Jodhpore was once a very influential centre of Nāthism. Maharaja Mansingha of Jodhpore had himself written sixteen books on Nāthism and had several others written by his court poets about the middle of the nineteenth century. Dr. Singh gīves the list of as many as twenty-five Hindi works about Gorakhnath and his cult as mentioned by the state library, Jodhpore. The Maharaja made a collection of Gorakhnāth's books and verses, a detailed note of which can be obtained from the Report on Search of Hindi MSS, 1902, Banaras University.

In Tanjore the Ms. is found in Telegu script, a copy of which has been obtained by me, together with another MS. *Yoga-Mārtyanda*, by Sree Gorakhath. The very existence

in South India of MSS. belonging to the Nātha Yogīs of Northern India, proves the influence these yogis exerted throughout India.

My present collection consists of the following: —

1. Siddha Siddhānta Paddhati by Gorakhnāth from Jodhpore.
   Do. Do. Do. by Gorakhnāth from Hardwar.
   Do. Do. Do. by Gorakhnāth from Tanjore.
2. Yoga Visaya by Matsyendra from Madras.
3. Amaraugha Probodha by Gorakhnāth from Madras.
4. Yoga Mārtyanḍa by Gorakhnāth from Tanjore.
5. Gorakh–Upanishad — Jodhpore.
6. Matsyendra-ji-kā pad — Jodhpore.
7. Bhartṛihari-ji-kā Sabdi — Banaras.
8. Chirpat-ji-kā-Sabdi — Banaras.
9. Gopichandra-ji-kā Sabdi — Banaras.
10. Jālandhar-ji-kā Sabdi — Banaras.

In 1951, at Poona, through the help of Principal S. V. Dandekar, I secured a Marathi Drama, partly written in Hindi by B. Varve. In this drama Gorakhnāth is telling Kanifa about Gopichandra the king of Sundarpur, near Bengal. Gopichandra has confined Jalandhar in a well. Kanifa on the other hand tells Gorakh that his guru, Matsyendra, is attracted by the queen Parimala of the ladies' country in Māliyal. Gorakh says, " Well, you go to Bengal in search of your guru and I shall rescue my guru from Māliyāl and come to Sundarpur ". They wish good-bye with the words *Adesh, Adesh* (the usual custom with the Nātha Yogīs).

In this drama we find names of places and of the queen which are unknown in Bengal ; otherwise this drama is not of much value and is comparatively new.

A copy of the MS. of ' Atmabodh ' though obtained from Jodhpore, is not being published in this volume, as it is to be found in Dr. Barthwal's ' Gorakh-Vāni ' in Hindi. A list of another ten books has also been obtained by me, viz.. Abhayamātra, Kafērbodh, Pransaṇkali, Sriṣtipurān, Saptabār, Narvébodh, Soḍastithi,Sikṣadarsan, Brahma jñāna Panchamātra. But most of these have been already published by Dr. Barthwal in his Gorakh-Vani. Kabirbodh has been mistakenly published as a work of Kabirpanth. A pamphlet describing

twentyfive pictures relating to the MS. Siddha-Siddhanta-Paddāhati, which were drawn in the reign of Maharaja Mansingh of Jodhpore in V. S. 1881 (1824 A. D.), has also been obtained by me. I am indebted to Professor P. L. Nag of Jodhpore in helping me to obtain them.

In 1947, 1 found at the Darbhanga Raj's Sanskrit Library two MSS:—

(i) Goraksa Siddha Sābar;

(ii) Atreya Gorakhsa Samvāde Satmopadēsha

but I did not have them copied, as they did not seem to be very old or important.

In the same year Dr. S, K. Belvalkar went to Nepal and very kindly looked up on my behalf the Nepal Durbar Library, and found the following MSS.:—

(i) Siddhānta Sāra Paddhati;

(ii) Siddhānta Sāra Saṁhita;

(iii) Haṭa Dīpikā:

In the library of the Rajaguru Pandit Hemraja, however; Dr. Belvalkar found the following MSS. in Newari characters:—

(i) Gorakh–Satakam .. pp 1–19

(ii) Yoga–Satakam .. pp 1–16

(iii) Gorakh–Satakam (another copy) ., pp 1–14

(iV) Tatwa Sāra by Matsyendra

(V) Jnāna Sāra by Matsyendra

I tried to obtain copies of the last two but have been unable to secure them uptill now. Scholars interested in this subject may do so and study them.

In publishing this volume the idea is to bring out the importance of the MSS. relating to the Nātha Sect, and at the same time to rescue the texts from perishable materials. At this age a better understanding of the rites and rituals of the sect, which once held great sway over India, is: also necessary. The works are mostly known to be of Gorakhnāth, the foremost yogī of mediaeval India and the most powerful of the Nātha Sect.

(1) Nirguna School of Hindi poetry — Barthwal, P. 281

The Siddha-Siddhānta-Paddhati contains a brief exposition of the form of Yoga, which is associated with the name of Gorakhnāth. As such, it is a valuable work, though cryptic in character. Except from Hardwar, as previously mentioned, no further attempt has been made to publish and preserve this original and authentic work.

In publishing this volume I have taken the MS. from Jodhpore as my model, for two reasons—

(i) as it is still unpublished;

(ii) as it contains many more details regarding the names of books of the Nātha Sect, etc. than the copies from Hardwar and Tanjore.

The different versions secured of the same MS. for collation, all bearing the name of Sree Gorakhnāth in the colophons, have been made use of and the variations are mentioned in the footnotes. An abstract of the above MS. was compiled by one Balabhadra at the bidding of Krishnaraja, but the date of compilation is unknown. This abstract known as "Siddha-Siddhānta-Saṇgraha" was published from Banaras under the auspices of the Saraswati Bhawan and ably edited by Dr. Gopinath Kaviraj, over twenty-seven years ago. Since then no further attempt has been made to publish the original. I have also taken the help of this abstract in some places.

The texts are inaccurate in many places. There are unnecessary repetitions, ambiguity of expression and frequent violation of the rules of grammar. But I have not taken much liberty of correcting them, though some corrections are given within brackets. I hope this attitude will be appreciated by the readers and allowances made for such defects.

The Probable Dates of the Texts

The date of composition of Matsyendra's Bengali verses have been established as the tenth century A. D. According to Dr. H. P. Shastri who collected the verses from Nepal, the verses were composed in the ninth century, but authorities differ in this matter and place them between the tenth and twelfth centuries. Matsyendra's 'Kaula-jñāna-nirṇaya' belongs to the eleventh century; it was written in old Sanskrit, and was not strictly grammatical.

The MSS. published in this volume are also written either in the old form of Sanskrit or an old form of Hindi, which is partly Rajasthani and partly Hindusthani.

It is difficult to ascertain the dates of these MSS. as in the colophons the original dates of composition are not given, but only the dates when the scribes have copied them. But the probable dates of the texts will be between the fourteenth and seventeenth centuries, the time when the leaders of the sect had finished preaching their cult and had passed into oblivion. It was only then that their disciples became eager to preserve their teachings in writing.

Of the already published books belonging to the Nātha sect, 'Gorakhbodh' is written in an old form of Hindi and is reported to date from the fourteenth century[1]. Another book 'Haṭha-yoga Pradīpikā' by Svatmarma Muni probably belongs to the fourteenth century but certainly not earlier[2].

In 'Haṭha Yoga Pradīpikā' we find Sree Gorakhnath mentioned as the author of 'Siddha-Siddhānta-Paddhati' so it must have been written earlier. A long list of yogis preceding the author of 'Haṭha-yoga-Pradipika' is also given by him; there we find Matsyendra, Gorakh, Cauraṇgi etc. mentioned.

The copies of the MSS. collected by me belong to a much later date however. The present edition of 'Siddha-Siddhānta-Paddhati' is based on the collation of the following:—

I. (a) **MS. from Jodhpore** Library, Sardar Museum. Complete up to the sixth Upadesha, written in Devnagri, contains about 60 pages of MS. Author-Sree Gorakhnath.

Copies by Balaram Sadhu in V. S. 2002.

Reference of this is given by me as (यो)

(b) **MS. from Tanjore.** This MS. is in fairly good condition, After the colophon are given four lines in praise of god Rama. Burnell's catalogue N0. 9895C,

---

(1) Tessitori, E. R. E., Vol. XII., P.-834

(2) Indian Historical Quarterly, Vol. XVI., 1940 Article on date of Haṭha-yoga-Pradipikā by P. K. Gode.

The left column palm-leaf MS. of 73 leaves, size 9" X 1¼", 5 lines to a page, of Siddha-Siddhānta-Paddhati is one of the three works contained in a single MS. written in the same hand, and in one of them the scribe calls himself "Seetārām". In another MS. copied by the same scribe, the date is given as Saturday, the second phase after the New Moon in the Mithuna month of the year Pramadi. The last Pramadi was 1939 and the MS. must be 4 X 60 = 240 years before that to judge from its appearance i.e., 1699 A. D. In 1699 the Jyestha New Moon fell on a Thursday, so the dwitiya was on a Saturday. Therefore the MS. must also have been written about that time.

The script of the MS. is Telegu; the number of granthas in it are 700, but 550 according to Burnell's catalogue. This has not been printed.

The above information has been supplied by Sr· K. Vasudev Sastri, B. A., the Pandit for Research, T. M. Si Library, Tanjore.

Reference of this is given by me as (तं)

(c) **Copy from Hardwar.** Transcription, character Devnagri, complete in six Upadeshas; Sree Gorakhnāth is mentioned in the colophons as author. In this copy there is an extra sloka on Haṭha Yoga, which is not found in (a) or (b).

Reference given by me as (ह्)

(d) Sihdha-Siddhānta-Saṇgraha by Balabhadra; Edited by G. N. Kaviraj; S. B. S. No. 13, Banaras, 1925.

Reference given by me as (का)

The following short description can be given of the other MSS.;–

II. **Yogavisaya** by Minanātha.

Obtained from Govt. Oriental MSS. Library, Tirupati Madras. MS. No. D. 4367.

Number of granthas — 60

Number of pages — 4

This work describes how salvation may be attained through practice of yoga.

III. **Amaraugha Prabodha.** by Goraksanātha, (from Tirupati) Madras. MS. No. D- 4339.

Number of granthas — 125
Number of pages — 9

This is a short treatise on Laya Yoga, Haṭha yoga, Mantra yoga and Rāja yoga. Its aim is to make a man fit for Rāja yoga, which is held to be the highest kind of yoga.

IV. **Yoga Mārtyanda** by Gorakhnāth is a right column palm-leaf MS. in Telegu Script, consisting of 17 leaves, (size 8–7/8 " x 1¼ "), 6 lines to a page and 250 granthas. Complete. Not printed.

In Burnell's catalogue N0. 9911.

See Descriptive Catalogue of Sansksit MSS. V01. XI, 1931. Editor P. Sastri, B. A. (Oxon.)

The Tanjore Maharaja Serfoji's Saraswati-mahal Library, Tanjore.

V. **Gorakh Upanishad.** About 12 pages of half foolscap size, the copy has been obtained from Jodhpore.

VI. **Matsyendra-ji-ka Pad.** Copy from Jodhpore.

VII – X. **Chirpat, Gopichandra, Jalandhar and Bhartrihari–ji–ka Sabdi** from Banaras in the collection of Sevadas–ki–vani, MS. No. 873.

Date of compilation: 1856 Sakāvda.

Seen at.Nāgri–prachārini Sabhā, Nawabpura, Gorakh Tilla, Banaras.

SUMMARIES OF THE IMPORTANT TEXTS, WITH SOME CRITICAL NOTES.

1. SIDDHA-SIDDHĀNTA-PADDHATI.

This MS. has the name of Sree Gorakhnāth in the colophon of each chapter called *Upadeśa*. The work is written in couplets and there are six *Upadeśas*. Quotations are made from various texts of the Nātha Yogīs, and the following subjects are treated :—

Upadeśa I. — Origin of the body : — पिण्डोत्पत्तिः.
Upadeśa II. — Discussion of the body : — पिण्डविचारः.
Upadeśa III. — Knowledge of the body : — पिण्डसंवित्तिः.
Upadeśa IV. — The foundation of the body : — पिण्डाधारः.
Upadeśa V. — The Union of the body with the Supreme Reality : — पिण्डपद्योः समरसकरणम्.
Upadeśa VI. — The definition of an Avadhuta Yogi : — अवधूतयोगीलक्षणम्.

Summary of Upadeśa I.

The Nātha Yogīs believe that in truth there is no such thing as Creation ; yet for human conception this work deals with it. The Supreme Reality evolves Itself through six stages into a material organism, known as Creation or सृष्टिः. But the Supreme Reality which is called *Anāmā, i.e.*, the Nameless One, has by itself no power of Creation ; it is *Śakti*, the Prime Power, which is at the basis of Creation, working with its five evolutes निजा, परा, अपरा, सूक्ष्मा and कुण्डली. Anāmā is the noumenal aspect, while Śakti is the phenomenal aspect of world activity. Each is powerless to create, without the help of the other. (*This Anāmā*, also known as *Parampada*, remains for ever complete or पूर्ण inspite of creation with its help. *Anāmā* is in other words the Infinite ; so it is like subtracting infinity from infinity, the result being infinity).

Now each of the *six piṅḍas* or bodies through which the *Anāmā* evolves itself, has five factors, and each factor has five qualities. Thus each *Piṅḍa* has twenty-five qualities, known as *Tattvas*.

The six stages through which one has to pass are known as *Parā, Anādi, Ādi, Mahāsākāra, Prakṛti* and *Garbha piṅḍas*.

The physical body, with which we are familiar, represents the last stage, *i.e.*, *Garbha piṅḍa*; the other five *piṅḍas*, being progressively subtler states of the *Garbha piṅḍa*. All these stages are described and the different stages of the embryonic growth in the mother's womb are also given.

The human body also consists of twenty-five qualities, and as such it is known as *Jīva* (1.54). Liberation is sought by *Jīva* only when he knows he is a part and parcel of Śiva. It is then that he seeks the Supreme Reality or the *Parampada* of the Nāthas and is eager for union with Him. So *jīva* must know his own origion and nature. With this idea in view Gorakhanāth described how the six *piṅḍa* are created and *Jīva* formed, and what is Śiva. The Mahāsākāra *piṅḍa* is Śiva, and from Śiva we have Bhairava, Śrīkaṅṭha, Sadāśiva, Īsvara, Rudra, Viṣṇu and Brahmā, known together as the eight incarnate beings or मूर्त्यष्टकम् (1.36).

From the last aspect of Śiva or from Brahmā's *avalokana* we have the union which produces Jīva in the *Garbha piṅḍa*. Thus from Śiva we have Jīva in six stages. (So Jīva can attain liberation from human birth if he so desires, and be in union with Śiva. This is the philosophy of the Nātha Yogīs.)

In this chapter the gross and subtle bodies of man are also described. The five qualities of speech viz., parā, paśyanti, madhyamā, Vaīkharī and mātṛkā, the moon's seventeen *Kalās* (digits), the sun's twelve *Kalās*, the ten nerves and the ten vital airs or *vāyus* in the body are mentioned. These are worth noting.

Notes: In the Hardwar copy an additional couplet on Haṭha Yoga is given (vide foot-note No. 26 on 1.68 of Siddha Siddhānta Paddhati). While nine *Vāyus* (vital airs) are mentioned in the Hardwar copy, the additional name of Udāna Vāyu is found in the Jodhpur copy which has been printed here. That परशिवः is जातः from शक्तिचक्र is found in different forms in the different copies as under :—

शक्तिचक्रक्रमेणोत्थो जातः in Jodhpur and Tanjore copies. (1.14)

शक्तिचक्रक्रमेणोत्थो जातः in Hardwar copy. (1.16)

शक्तिचक्रक्रमेणैव जातः in Banaras copy.

क्तिचक्रक्रमेण तज्जातः is perhaps better.

Summary of Upadeśa II.

The real Yogī must know the inner environments of the body. This chapter, therefore, deals with the nine nerve-centres, sixteen supports or *ādhāras,* the three *laksyas* (points of concentration) and the five *vyomans* (firmaments), which are all located in the body. Concentration on the nerve-centres known as *Cakras,* confers on the Yogī superhuman powers. The various *pīthas, bandhas* and some *mudrās* mentioned in this chapter may suggest some connection with the Buddhist Vajrayāna School, specially the Vajrolī Mudrā (2.13). In the Banaras copy of Siddha Siddhanta Sangraha *Vajrolī* Mudrā is mentioned as Vajrolikā (2.18) and the *blūcakra, nirvāṇacakra* and *ākasācakra* are called *ghantikā, monolaya* and *brahmacakra.*

The *Bhramara Guhā* which is mentioned in connection with the *Vajrolī mudrā* is an important factor, as it is from this place in the lower region that *Samādhi* starts. The Santa poets, Kabir and others, also speak of the *Bhramara Guhā,* but the location is different ; they describe it to be beyond the *Sahasrāra* or *Brahmarandhra* which is in the highest cerebral region.

Additional Note : The six nerve-plexuses (Ṣatcakra) well known in Yogic practices, are *mūlādhāra, svādhiṣṭhāna, maṇipūra, anāhata, viśuddha* and *ājñā,* but the Nātha Yogīs have added to this list, three more, *tālu, nirvāṇa* and *ākāsa.* This Tālucakra is important, as at this place there is the Ghantikāliṅgamukha (the uvula) and the Rājadanta or the tenth door of the Śaṇkhiṇī nerve. Here the Yogī meditates on '*Surya*' (the void) and his mind merges in it. It is again at this point that the nectar flows from the moon and the Yogī turns his tongue backwards (known as Khecarī mudrā (and saves it from falling into the destructive fire, situated in the navel). By this *mudrā* the Yogī attains immortality and Śivahood. The physical body is made up of five factors as has been described before (1.61) viz., Karma (activity), Kāma (desire), Candra (the moon), Sūrya (the sun), Agni (fire). Of these the primary elements are the Sun and the Moon. The Sun and fire are generally held to be the same. The moon represents the quintessence in the form of juice and possesses the *nivṛtti kalā* (digit) which is the digit of nectar (1.64). Hence the attempt to save the nectar from the moon falling into the fire or sun.

The Ākāśa-cakra is called Brahmacakra in the Banaras copy. It is where Śunya is meditated upon while uttering the Haṁsa mantra. There is some difference regarding the number of petals in the lotuses of the cakras. The scheme of the Siddha-Siddhanta-Paddhati is not exactly the same as the usual one in practice. So I think a comparative table will not be out of place.

THE NERVE PLEXUSES

The usual names in Yogic texts.	*Names found in S. S. Paddhati*	*Names found in S.S. Sangraha (Banaras copy.)*
1. Mūlādhāra	Brahmacakra (triangular) (Kāmarupa Pītha)	Brahmacakra (Kāmarupa Pīṭha)
2. Svādhiṣṭhāna	Svādhiṣṭhāna (six petalled) (Uḍḍiyāna Pīṭha)	Svādhiṣṭhāna (four petalled) (Uḍḍiyāna Pīṭha)
3. Maṇipūra	Nābhicakra (Kuṅḍalinī with 5 coils)	Nābhicakra
4. Anāhata	Hṛdayādhāra (eight petalled)	Hṛdayacakra
5. Viśuddha	Kaṅṭhacakra Tālukacra	Kaṅṭhacakra Tālucakra
6. Ājña	Bhrūcakra	Ghaṇṭikā
7. Sahasrāra	Nirvāṇacakra (Jālandhara Pīṭha)	Manōlaya Brahmacakra.
	Ākāśacakra (16 petalled) (Pūrṇagiri Pīṭha)	—

Notes :— It is interesting to note that in the Sangraha the first and the last cakras are both called Brahmacakra. Under the first Brahmacakra which is a three-folded triangular region, there is a *kāṇda* (nerve-root) where Śakti is located. The *Kāmarūpa Pīṭha* is located here. The other pīṭhas are shown in the table above. The usual *ājñā* or Bhrūcakra is not mentioned in this copy ; instead we find 'Ghaṅṭikā.'

Sahasrāra, Nirvāṇa and Manolaya in the above table have more or less the same significance, as it is here that the Yogī attains liberation and his mind is absorbed in the Parampada.

Another point of interest is that the Kuṅḍalinī in the Nābhi-cakra is stated to have five coils instead of the usual eight.

The sixteen *ādhāras* (supports) on which the mind is to be fixed for attainment of different results are described. The three *lakṣyas* or points of concentration and the five *vyomans* (firmaments) lead one to various stages of purity and perfection. The āsanas (postures) and the eight Yogāṅgas (different stages of Yoga) all help the Yogī in attaining Samādhi (*i.e.* fixation of the mind on the Supreme Spirit).

In this Chapter there is a definition of the real Yogī, (2. 61).

नवचक्रं कलाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम् ।
सम्यगेतन्न जानाति स योगी नामधारकः ॥ ३१ ॥

i.e., One must be familiar with the nine cakras, sixteen ādhāras, three lakṣyas and five vyomans properly in order to be a Yogī in the true sense.

Summary of Upadeśa III.

This chapter deals with the knowledge of the body and shows the identity of the microcosm with the macrocosm *i. e.*, whatever exists in the outside world is present also in the human body. Thus the seven nether worlds are located in the portion of the body below the bottom of the spinal column, and the twenty-one in the upper region of the body. The place of Śiva is in the *Tāludvāra* (uvula) (3.5). The *Lambikāmūla, Śṛṅgāra, Trikūṭa* are all described in this chapter. In (2.27) we find 'Gollāṭa' (Hardwar copy) or 'Kollāṭa' in (Jodhpur copy) mentioned. The nine *khaṅḍas* (Bharat, Kashmir etc.) are in the nine avenues. The hills, rivers, planets, devas, siddhas, the sun and the moon (these are the two eyes), clouds (these are the tears), creepers, plants &c. have their counterparts in the human body. What is our happiness is Heaven, our sorrow is Hell, our *Karma* is what binds us to this world, but for which we may attain *Mukti i.e.* liberation. When one's mind does not

register any sense-impression, it is then only that one is united with Śiva. Be such a person awake or asleep, he is always enlightened about himself. Liberation and peace are achieved by such a person *i. e.*, he who has realised the identity of the world with himself. Moreover, the *Paramātmā* is manifest in every human soul. This is how the knowledge of the body is gained.

Note : The nine chakras are also mentioned in the *Yoga-Viṣaya*, which is given later on. In this we find the mention of *gollāṭa* and not *kollāṭa*.

Summary of Upadeśa IV.

The fourth chapter treats of the support of the body which is Śakti. Thus Śakti is called *piṇḍādhāra* and is all pervading. The different aspects of Śakti are described. Śakti is both ***kula*** and ***akula***. *Kula* is the revealed form, and ***akula***, the unrevealed. Thus ***kula*** is the ***kārya*** and the ***akula*** is the ***kāraṇa*** or *nimitta*. When Śakti is unruffled and quiet, it is same as Śiva or ***akula***. In her revealed form Śakti is fivefold, ***parā***, ***bhāsa***, *sattā*, *ahantā* and ***kalā***.

Akula is unique in the sense that it assumes ***kula***, thence descends into *vyavahāra i.e.*, service (4.12). But Śiva without Śakti is incapable of creation (4.13). This couplet is quoted from Vāmakeśvara Tantra, as mentioned in the Jodhpur copy. from Śiva we have Śakti, who manifests herself in various forms and then again Śakti rests in Śiva (4.12).

Additional note : In the *Kaula-jñāna-nirṇaya* by Matsyendranath in Chap. II we find that at the time of destruction the Śakti merges into Śiva, who Himself is then merged into the Kriyāśakti. The two aspects of Śakti, which are *Kriyā* and *Icchā* merge into Jñāna Śakti. In this state it is the ultimate Śiva or परःशिव who alone remains. The world then ceases to exist. We may note here that this is the reverse of Creation, which has been described in our text *Siddha-Siddhanta Paddhati* Upadeśa I.

What is then the ***Parampada*** and who is Śiva? The ***Parampada*** which we have described as ***anāmā*** before has no ***kāraṇa bhāva*** in it, but Śiva who is ***akula*** has the ***kāraṇa***

bhāva underlying in it ; thus it can manifest Itself as ***kula***. This is the difference between *Parampada* (*anāmā*) and *Śiva* (***akula***). There is a quotation from Lalītasvacchanda (4.11) which says that akula and kula are essentially one ; so after manifestation the kula merges into the akula (4.12).

Kula is both static and kinetic, or ***aprabuddha*** and ***prabuddha*** (4.14). As the support of the body Śakti is known as *Kuṇḍalinī* ; she is either asleep in a coil in its ***aprabuddha*** state, or awake in its ***prabuddha*** state. The Yogī who aims at the purity and stability of his body awakens the *Kuṇḍalinī* and as such the Śakti is called *piṇḍasaṃsiddhikāriṇī* (1) in its kinetic aspect or the conscious aspect.

The Primal Śakti is one, but she becomes manifest as minor Śaktis in the different nerve centres. The Śaktis, though really one (4.17), those at the *Mulādhāra, Hṛdaya* and *Sahasrāra* are respectively called the अधः, मध्य and ऊर्ध्व Śaktis or kuṇḍlinīs. The first or adha keeps one attached to the outer world. The second or madhya Śakti is twofold, one being lower or gross and the other higher or subtle. Then the third ūrdhva śakti leads one to the attainment of Parampada (4.16).

Owing to the upward tension, effected by the so-called ***mulādhāra bandha***, the Śakti rises upwards (4.18). The creation and dissolution of the world follow from the expansion (प्रसर) and contraction (संकोच) of this Śakti who is known as the *Mūla* or the Root of the Universe (4.19)

Note : In this chapter there is one important factor which should be noted, namely that the *Madhyakuṇḍalī* is twofold, one being lower and gross, while the other higher and subtle. The word स्वप्रसारचातुर्यतया (4.21) in connection with the gross aspect signifies the 'ukāra' of Tantricism.' That 'ukāra' is the manifestation or उन्मेषभाव of the *Jñāna* of Śiva. As in its gross form it is the support of the world and is *sākāra* it has स्वप्रसारचातुर्य. In her subtle form she is *nirākāra*. The siddhas rouse this to attain salvation. The stability and purity of the body देहसिद्धि is possible only when she is roused.

Such are the different aspects of Śakti, although he is one with Śiva.

शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरः शिवः ।
अन्तरं नैव जानीयाच्चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ॥ २६ ॥ (४.२६)

The difference between Śiva and Śakti is unreal and is due to our ignorance.

Summary of Upadeśa V.

This chapter deals with the manner in which the *piṇḍa* or body may be equilibrated with the Supreme Reality or the *Parampada.* This equilibrium is known as *samarasa*, but one has to know all about the different *piṇḍas* before one can attain this stage. How is this knowledge to be attained? Discussions and reasonings will lead one nowhere; it is only through the Grace of the Guru that knowledge of Self and Parampada is obtained (5.3, 4) and equilibrium attained. The Grace of the Guru, which is something beyond words, enables the aspirant to shake off all the *siddhis* he has attained and realise the निरुत्थान state and obtain union of the body with *Parampada* (5.7). When the self is revealed, there is supreme delight, and there arises a consciousness of pure and eternal joy (5.8). This is the highest state in which the Yogī realises the non-dual state of the Self and the Parampada.

A Yogī who aspires for such a state should wear the *śaṅkha* and *mudrā* and stay in a secluded place, but he should not attach too much importance to the outer symbols.

After the Union the Yogī conquers death and decay, has the knowledge of everything and all *siddhis* come to him automatically (5.33 etc.). But all this is unattainable without the aid of a *Sadguru,* who is held in high esteem by the Nātha Yogīs. There is no one greater than the Guru (5.63). The last verse which is important says that the *Sadguru* can show in an instant the *Parampada* which is otherwise, unattainable by the aspirant (5.66, 80).

Summary of Upadeśa VI.

This chapter gives the distinguishing characteristics of an *Avadhūta* Yogī who alone can be deemed to be a siddha. Such a Yogī is free from all bondages and has complete control over all the senses, the mind and the body.

In order to give the reader an idea of the comparative superiority of an Avadhūta Yogī to the Siddhas of the other

sects the author says that he combines in himself the attainments of the Siddhas of all the sects known by different technical names (VI 34-71). It is an Avadhūta Yogī who initiates a pupil into the doctrine of the Nātha Yogīs. That doctrine combines in itself the good points in the doctrines of all the systems of philosophy and it is such an Avadhūta who is eulogised as a *Sadguru*. (VI. 72).

Additional Note : In the Banaras edition of *Siddha-Siddhanta-Saṅgraha* there is an additional chapter which we do not find in the MSS. of *Siddha-Siddhānta-Paddhati*. This seventh chapter deals with the siddhis which a Yogī can attain but which he should disregard if he wants to attain the parampada.

2. YOGA VIṢAYA.

This is a MS of a work by Matsyendra (Mīnanātha) as gathered from its colophon. The Guru who is held in high esteem is described therein as भावनातीत. He alone can show the right path to his disciple. The disciple must have faith in his Guru, and must have good qualities. When the difference between the Guru and his *Śiṣya* disappears, then the relationship between the two is that of समसिद्धि *i.e.*, equality (I.6).

The author referring to the nerve centres of the body says that a Kaula knows the six centres which are the *ādhāra*, *svādhiṣṭhāna*, *maṇipūra*, *anāhata*, *viśuddhi* and *ājñā* (1.8). The place of Niranjana is beyond the cakras *i.e.*, चक्रातीत (1.10).

The author also describes the main nerves, and having given the locations of अ, उ and म of *omkāra* says that by pronouncing them realisation comes and the three *granthis* of Bramhā, Viṣṇu and Rudra are broken.

N. B. : The most important feature of this MS is the names of the nine *cakras* beyond the *ājñā*, viz. *Trikūṭa*, *trihaṭa*, ***gollāṭa***, ***śikhara***, ***vajra***, ***omkāra ūrdhvanākha*** and ***bhruvormukham*** (1.20). Either by contracting the *ravi* (sun) or by piercing these nine cakras the 'moon' can be seen (1.20-21).

The eight names given to the eight coils of the *Kuṇḍalinī*, are mentioned in 1.22. By awakening the *Kuṇḍalinī*, the nine doors are closed and the *vajra-gumphā siddhi* attained (1.23).

When the sound, *i.e.*, नाद is heard in the *Brahmasthāna*, the *śaṅkhinī* nerve showers nectar ; thereby the six cakras are purified (liberated) and 'knowledge' is manifested. By this 'lamp of knowledge' one can know God, and on knowing Him one should offer to Him the 'flower' which is his mind and thus worship Him. God should be known as the Self, because the formless is manifest everywhere in form. Also a man by breathing 1600 times a day, utters the *haṁsa* mantra, thereby saying "I am He" (1.29). Śiva resides in the space between the eyebrows in the form of *jyoti i.e.* light and the *brahmasthāna* (mentioned above) is free from either heat or cold.

3. AMARAUGHA PROBODHA

This MS. is that of a work by Gorakhnāth. It mentions the names of Ādināth, Mīnanāth and Chauraṅgīnāth as *siddhas*.

The distinctive features of the four yogas, *laya, haṭha, mantra,* and *rāja* are mentioned. The *rājayoga* is divided into two sections — *ośaḍhi* and *ādhyātmaka*. Haṭha is also of two kinds. Perfection and stability of the body or देहसिद्धि cannot be attained without *rājayoga* (1.8). The aghorī who performs various acts, is unable to obtain a perfect body. The mind should be controlled to enable one to control the vital air (1.9).

Note : This couplet is also found in *Haṭhayoga Pradīpikā* (4.14) with a slight variation in the second line, where *sahajoli* is mentioned.

Next is mentioned a book, 'Śri Saṁpuṭa,' in which Śiva tells Pārvatī, his consort, that 'time' is not greater than the 'soul.' Medicines cannot save one ; the great physicians, Caraka and others have all died. *Bindu* and *Nāda* are the two great medicines which are present in every human being ; those who have no Guru and are unaware of these, naturally face death (1.12, 13).

There is only one *Amaraugha* which is known as *Rājayoga* (1.17).

The four kinds of *śiṣyas* and the four yogas are then described. How *Kāyasiddhi* is obtained (1.28), what are the *mahāmudrā* and *mahābandha*, where is kedār, and what is *triveni* (1.35), how the four pīṭhas are penetrated by the vital air (1.39) etc., are all given.

The four conditions while practising yoga *e.g.,*

आरम्भश्च घटश्चैव प्रत्ययश्च तृतीयकः ।
निष्पत्तिः सर्वयोगेषु योगावस्था चतुर्विधा॥

are described in detail (1.45)

Then Śrī Gorakhnāth tells us how one can avoid death and conquer 'time' and be like Śiva. This siddhi is known as Amaraugha-Siddhi and can be attained in ten months (1.64, 65). Then the yogī knows the non-dual state and there is equilibrium of *citta* which is life and *acitta* which is death. Such a yogī is a *jīvanmukta,* and he can do what he pleases.

One should practise the four yogas and find out the results for himself. As no medicinal books can cure a patient, so no theoretical knowledge can make one a yogī ; such is the advice of Śrī Gorakhnāth.

4. YOGA MĀRTAṆḌA

This MS. is by Gorakhnāth, and it begins with salutations to the guru. Then it goes on to define yoga, which is the fruit of *Śruti* and says that yoga should be practised by those who are pious and desire to dispel the agonies of the world.

The six parts of yoga are mentioned, the *āsanas* of which *siddhāsana* and *padmāsana* are the best, are fully described, as they destroy disease and the six *vikāras.* Then the *ādhāras* are mentioned with the different *pīṭhas* (2.10).

Of the 72,000 nerves, 72 are considered important, of which ten are the most important. Of these *śaṅkhiṇī* is the tenth nerve. The yogī should have knowledge of all these *nāḍīs* or nerves (17-19).

Then the *ajapā-gāyatrī* and the eight kinds of *kuṇḍalī* śakti are described (33).

The *mūlabandha, oḍḍyāna, jālandhara, khecarī mudrā, mahāmudrā,* the peculiarities of *omkāra* etc., all find a place in this MS. (47-76).

How *prāṇāyāma* should be performed by the yogī is further described. (77-113).

Then *pratyāhāra, anāhatacakra, viśuḍḍha cakra,* the eight qualities of *amṛta* and the benefit obtained from *amṛta* are given.

The different kinds of *dhāraṇā* for a yogi are *haristhāyinī, vāruṇī, vaiśvānarī, vāyavī* and *nabho* and for the ordinary man

stambhī, nidrā, dāhinī, bhrāminī and *Śoṣaṇā* are the five *dhāraṇās* (143-154).

Dhyāna is *saguṇa* and *nirguṇa*. How to perform these with the help of different *mudrās* is then described. (157-170).

The yogī is without any *upādhi*. By *upādhi* is meant the lack of proper knowledge of things. (173). Then comes *samādhi*, which is the union of the soul and the mind (176).

Note : In this Ms. are found many slokas which are similar to the ślokas found in the *Haṭhayoga Pradīpikā*. Though we find much more detail of the āsanas etc. in the Haṭhayoga Pradīpikā, yet this Yoga-Martaṇḍa by Gorakanāth deals in short with all the important aspects of yoga. Hence we might consider this as an important Ms. belonging to the Nātha Yogīs.

5. GORAKH UPANIṢAD.

This MS. is in mixed Hindusthānī and Rājasthānī.

It explains the meaning of Gorakh Upaniṣad, as this book is well known amongst the siddhas. This book which liberates the devotee, described how *Iśvara* and *Jīva* were the products of the *Mahābhuta* which again was the product of some अनिर्वचनीय पदार्थ *i.e.*, an undefinable object.

This entity is beyond the form and the formless. It is द्वैताद्वैत रहित, सदानन्द स्वरूप and it is the Nātha.

In the Nātha cult the 'god' or *devatā* is beyond even the *advaita*, but it has *icchā*, *jñāna* and *kriyā* śaktis through which the *piṇḍa* and *brahmāṇḍa* are created.

The 'one' manifests itself into nine forms which are Satyanāth, Santoṣanāth, Kūrmanāth, Ādināth, Sarvanāth, Matsyendranātha, his son, and his disciple Śri Gorakhnāth.

Note : The name of Matsyendra's son is omitted and one name of Daṇḍanāth is not mentioned in these lines. Later on we find the name of Daṇḍanāth.

How *Nirrantarnāth* is attainable is explained here thus :— There are two ways — the *kula* and the *akula*. The *kulamārga* is Śaktipatha, while *akulamarga is the Caitanyapatha.*

The Nātha, who is beyond the dvaita and advaita, becomes advaita and then dvaita and then again the nine Nāthas for all practical purposes. The meanings of the names of the nine-Nāthas are given.

Note : In this MS. the names of "Siddha-Siddhanta-Paddhati" and of "Śiṣya-Paddhati" are mentioned as important reference books.

The special qualities of the *guru* and the *śiṣya* are given. The eight parts of yoga, and the meaning *avadhuta* are explained.

6. MATSYENDRAJI KĀ PADA.

The glories of the name Matsyendranāth have been revealed. He is manifest in all holy places so why seek for others? We should only worship Matsyendranāth ; such is the strain of this small pada or song.

There is another song also giving some indications of the name Maççhendranāth.'

7-10. BHARTHARI, CHIRPAT, GOPICHAND AND JĀLANDHARĪ PĀO'S SABDIS.

These are the eulogies of the different yogīs, who had forsaken the worldly pleasures to gain the *Parampada* or the *Nāthasvarūpa.* The language is a mixture of the colloquial and pure Rājasthānī.

॥ श्रीगोरक्षनाथकृत

सिद्धसिद्धान्तपद्धतिः ॥

॥ श्री ॥

॥ श्रीगोरक्षनाथकृत-सिद्धसिद्धान्तपद्धतिः ॥

प्रथमोपदेशः ।

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

आदिनाथं नमस्कृत्य शक्तियुक्तं जगद्गुरुम् ।
वक्ष्ये गोरक्षनाथोऽहं सिद्धसिद्धान्तपद्धतिम् ॥ १ ॥

नास्ति सत्यविचारेऽस्मिन्नुत्पत्तिश्चाण्डपिण्डयोः ।
तथापि लोकवृत्त्यर्थं वक्ष्ये सत्सम्प्रदायतः ॥ २ ॥

सा पिण्डोत्पत्त्यादिः सिद्धमते सम्यक् प्रसिद्धा ।
पिण्डोत्पत्तिः पिण्डविचारः पिण्डसंवित्तिः
पिण्डाधारः पिण्डपदसमरसभावः श्रीनित्यपिण्डावधूतः[1] ॥ ३ ॥

यदा नास्ति स्वयंकर्ता कारणं न कुलाकुलम् ।
अव्यक्तं च[2] परं ब्रह्म अनामा विद्यते तदा ॥ ४ ॥

अनामेति स्वयमनादि सिद्धमेकमेवानादिनिधनं
सिद्धसिद्धान्तप्रसिद्धं तस्येच्छामात्रधर्माधर्मिणी
निजा शक्तिः प्रसिद्धा ॥ ५ ॥

तस्या उन्मुख[3]मात्रेण परा शक्तिरुत्थिता ।
तस्या[4]स्स्पन्दनमात्रेण अपरा शक्तिरुत्थिता ॥ ६ ॥

ततोऽहन्तार्ध[5]मात्रेण सूक्ष्मशक्तिरुत्पन्ना ।
ततो वेदनशीला कुण्डलिनी शक्तिरुद्गता ॥ ७ ॥

१ – श्रीनित्यावधूत (ह.). २ – न (यो. तं.). ३ – उन्मुखत्व (ह.).
४ – तस्य (ह.). ५ – अहन्तार्थ (ह.).

नित्यता निरञ्जनता निस्पन्दता निराभासता ।
निरुत्थानता इति पञ्चगुणा निजा शक्तिः ॥ ८ ॥

अस्तिता अप्रमेयता अभिन्नता अनन्तरता ।
अव्यक्तता इति पञ्चगुणा परा शक्तिः ॥ ९ ॥

स्फुरत्ता स्फुटता स्फारता स्फोटता स्फूर्तिता ।
इति पञ्चगुणा अपरा शक्तिः ॥ १० ॥

निरंशता निरन्तरता निश्चलता निश्चयता ।
निर्विकल्पता इति पञ्चगुणा सूक्ष्मा शक्तिः ॥ ११ ॥

पूर्णता प्रतिबिम्बता प्रबलता प्रोच्चलता ।
प्रत्यङ्मुखता इति पञ्चगुणा कुण्डलिनी शक्तिः ॥ १२ ॥

एवं शक्तितत्वे पञ्च - पञ्च - गुण - योगात्परपिण्डोत्पत्तिः॥१३॥

उक्तञ्च :—

निजा पराऽपरा सूक्ष्मा कुण्डली तासु[6] पञ्चधा ।
शक्तिचक्रक्रमेणोत्थो[7] जातः पिण्डः परः शिवः[8] ॥ १४ ॥

अपरम्परं परमं पदं शून्यं निरञ्जनं परमात्मेति ।
अपरम्परात्स्फुरत्ता - मात्रमुत्पन्नं परमपदात्भावना -
मात्रमुत्पन्नम् शून्यात्स्वसत्तामात्रमुत्पन्नं निरञ्जनात्स्व-
साक्षात्कारमुत्पन्नं[9] परमात्मनः परमात्मोत्पन्नः ॥ १५ ॥

अकलङ्कत्वमनुपमत्वमपारत्वममूर्तत्वमनुदयत्वमिति
पञ्चगुणमपरम्परम् ॥ १६ ॥

निष्कलत्वमणुतरत्वमचलत्वमसंख्यत्वमपारत्वमिति[10]
पञ्चगुणं परमं पदम् ॥ १७ ॥

६—कुण्डलिन्यासु (ह.), कुण्डलीतासु (का). ७—क्रमेणोत्थः (ह.), क्रमेणैव (का.). ८—शिवे (का.). ९—साक्षात्कारमात्रमुत्पन्नं (ह.). १०—आधारत्वं (ह.).

लीलता पूर्णता उन्मनी लोलता मूर्च्छता इति पञ्चगुणं शून्यम् ।। १८ ।।

सत्यत्वं सहजत्वं समरसत्वं सावधानत्वं सर्वगत्वमिति पञ्चगुणं निरञ्जनम् ।। १९ ।।

अक्षय्यत्वमभेद्यत्वमछेद्यत्वमदाह्यत्वमविनाशित्वमितिपञ्चगुणो परमात्मेति अनाद्यपिण्डस्य पञ्चतत्वपञ्चविंशतिगुणाः ।। २० ।।

उक्तञ्च :—

अपरम्परं परमपदं शून्यं निरञ्जनं परमात्मनः
पञ्चभिरेतैः सगुणैरनाद्यपिण्डः समुत्पन्नः ।। २१ ।।

अनाद्यात्परमानन्दः परमानन्दात्प्रबोधः प्रबोधाच्चिदुदयः
चिदुदयात्प्रकाशः प्रकाशात्सोऽहम्भावः ।। २२ ।।

स्पन्दः हर्षः उत्साहः निस्पन्दः नित्यसुखत्वमिति पञ्चगुणः परमानन्दः ।। २३ ।।

उदयः उल्लासः अवभासः विकासः प्रभा इति पञ्चगुणः प्रबोधः ।। २४ ।।

सद्भावः विचारः कर्तृत्वं ज्ञातृत्वं स्वतन्त्रत्वमिति पञ्चगुणः चिदुदयः ।। २५ ।।

निर्विकारत्वं निष्कलत्वं निर्विकल्पत्वं समता विश्रान्तिः इति पञ्चगुणः प्रकाशः ।। २६ ।।

अहन्ता ऽखण्डैश्वर्यं स्वात्मता विश्वानुभवसामर्थ्यं सर्वज्ञत्वमिति पञ्चगुणः सोऽहम्भावः ।। २७ ।।

इति आद्यपिण्डस्य पञ्चतत्वं पञ्चविंशतिगुणाः ।। २८ ।।

उक्तञ्च :—

परमानन्दः प्रबोधः चिदुदयः चित्प्रकाशः ।
सोहम्भाव इत्यन्तः आद्यपिण्डो महातत्त्वैगुणयुक्तः समुत्थितः ।। २९ ।।

११—लोनता (ह.) नीलता, (का.). १२—महातत्वयुक्तः (ह.).

आद्यान्महाकाशः महाकाशान्महावायुः महावायोर्महातेजः ।
महातेजसो महासलिलं महासलिलान्महापृथ्वी ॥ ३० ॥

अवकाशः अच्छिद्रमस्पृशत्वं नीलवर्णत्वं
शब्दवत्वमिति पञ्चगुणो महाकाशः ॥ ३१ ॥

सञ्चारः सञ्चालनं स्पर्शनं शोषणं धूम्रवर्णत्वमिति
पञ्चगुणो महावायुः ॥ ३२ ॥

दाहकत्वं पाचकत्वमुष्णत्वं प्रकाशत्वं रक्तवर्णत्वमिति
पञ्चगुणं महातेजः ॥ ३३ ॥

प्रवाहः आप्यायनं द्रवः रसः श्वेतवर्णत्वमिति
पञ्चगुणं महासलिलं ॥ ३४ ॥

स्थूलता नानाकारता काठिन्यं गंधः पीतवर्णत्वमिति पञ्चगुणा
महापृथ्वी इति महासाकारपिण्डस्य पञ्चतत्त्वं
पञ्चविंशतिगुणाः ॥ ३५ ॥

स एव शिवः शिवाद्भैरवो भैरवात् श्रीकण्ठः श्रीकण्ठा-
त्सदाशिवः सदाशिवादीश्वरः ईश्वराद्रुद्रो रुद्राद्विष्णु-
र्विष्णोर्ब्रह्मा इति महासाकारपिण्डस्य मूर्त्यष्टकम् ॥ ३६ ॥

तत्तद्ब्रह्मणः सकाशादवलोकनेन नरनारीरूपः प्रकृतिपिण्डः
समुत्पन्नस्तच्च पञ्चपञ्चात्मकं शरीरमिति ॥ ३७ ॥

अस्थि - मांस - त्वक् - नाडी - रोमाणि इति पञ्चगुणा भूमिः ॥ ३८ ॥

लाला मूत्रं शुक्रं शोणितं स्वेद इति पञ्चगुणा आपः ॥ ३९ ॥

क्षुधा तृषा निद्रा क्रान्ति आलस्यमिति पञ्चगुणं तेजः ॥ ४० ॥

धावनं प्लवनं प्रसारणमाकुञ्चनं निरोधनमिति पञ्चगुणो वायुः ॥ ४१ ॥

१३–पावकत्वम् (ह. का.). १४–अवनम् (त.), भ्रमणां (ह.).

रागो द्वेषो भयं लज्जा मोह इति पञ्चगुण आकाशः
इति पञ्चविंशतिगुणानां भूतानां प्रकृतिपिण्डः ॥ ४२ ॥

मनोबुद्धिरहङ्कारश्चित्तं चैतन्यमित्यन्तःकरणपञ्चकम् ॥ ४३ ॥

संकल्पः विकल्पः मूर्च्छा जडता मननमिति पञ्चगुणं मनः ॥ ४४ ॥

विवेको वैराग्यं शान्तिः सन्तोषः क्षमा इति पञ्चगुणा बुद्धिः ॥ ४५ ॥

अभिमानं मदीयं मम सुखं मम दुःखं ममेदमितिपञ्चगुणोऽहंकारः ॥४६॥

मतिर्धृतिः स्मृतिस्त्यागः स्वीकारः इति पञ्चगुणं चित्तम् ॥ ४७ ॥

विमर्शः तच्छीलनं[15] धैर्यं चिन्तनं निस्पृहत्वमिति पञ्चगुणं
चैतन्यम् — एवं अन्तःकरणगुणाः ॥ ४८ ॥

सत्वं रजस्तमः कालो जीव इति कुलपञ्चकम् ॥ ४९ ॥

दया धर्मः कृपा[16] भक्तिः श्रद्धेति पञ्चगुणं सत्त्वम् ॥ ५० ॥

दानं भोगः शृङ्गारः वस्तुग्रहणं स्वार्थमिति[17] पञ्चगुणं रजः ॥ ५१ ॥

विवादः शोकः कलहः बंधः वञ्चनमिति पञ्चगुणं तमः ॥ ५२ ॥

कलना कल्पना भ्रान्तिः प्रमादोऽनर्थ इति पञ्चगुणः कालः ॥ ५३ ॥

जाग्रत् स्वप्नः सुषुप्तिस्तुर्यं तूर्यातीतमिति पञ्चावस्थागुणोजीवः ॥ ५४ ॥

इच्छा क्रिया माया प्रकृति र्वाक् इति व्यक्तिशक्तिपञ्चकम् ॥ ५५ ॥

उन्मादो वासना वाञ्छा चिन्ता चेष्टेति पञ्चगुणा इच्छा ॥ ५६ ॥

स्मरणमुद्योगः कार्यं निश्चयः स्वकुलाचार इति पञ्चगुणा क्रिया ॥५७॥

मदो मात्सर्यं दम्भः कृत्रिमत्वं असत्यमिति पञ्चगुणा माया ॥ ५८ ॥

आशा तृष्णा स्पृहाकांक्षा मिथ्या इति पञ्चगुणा प्रकृतिः ॥ ५९ ॥

१५–शीलनम्–(ह. तं.). १६–क्रिया (ह.). १७–स्वार्थसंग्रहणमिति (ह.), स्वार्थादाने (का.).

परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरी मातृक इति पञ्चगुणा वाक्
इति पञ्चगुणा व्यक्तिशक्तिः पञ्चविंशतिगुणा ॥ ६० ॥

कर्म कामश्चन्द्रः सूर्यः अग्निरिति प्रत्यक्षकरणपञ्चकम् ॥ ६१ ॥

शुभमशुभं यशः अपकीर्तिः अदृष्टफलसाधन-
मिति पञ्चगुणं कर्म ॥ ६२ ॥

रतिः प्रीतिः क्रीडा कामना आतुरता इति पञ्चगुणः कामः ॥ ६३ ॥

उल्लोलिनी[18] कल्लोलिनी उच्चलन्ती उन्मादिनी तरंगिणी
शोषिणी अलम्पटा[19] प्रवृत्तिः लहरी लोला लेलिहाना
प्रसरन्ती प्रवाहा सौम्या प्रसन्ना प्लवन्ती एवं चन्द्रस्य
षोडश कलाः सप्तदशी कला निवृत्तिः साऽमृतकला ॥ ६४ ॥

तापिनी ग्रासिका उग्रा आकुंचिनी शोषिणी प्रबोधिनी स्मरा
आकर्षिणी तुष्टिवर्द्धिनी उर्मीरेखा किरणावती[20] प्रभावतीति
द्वादश कलाः सूर्यस्य त्रयोदशी स्वप्रकाशता निजकला ॥ ६५ ॥

दीपिका रांजिका[21] ज्वेलिनी[22] विस्फुलिंगिनी प्रचण्डा पाचिका
रौद्री दाहिका[23] रागिणी शिखावतीति अग्नेर्दश कलाः
एकादशी कला ज्योतिरिति प्रत्यक्षगुणकलासमूहः ॥ ६६ ॥

अथ नाडीनां दश द्वाराणि ॥

इडा पिङ्गला च नासाद्वारयोर्वहतः
सुषुम्ना तालुमार्गेण ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं वहति
सरस्वती मुखद्वारेण वहति पूषाऽलम्बुषा च चक्षुद्वार-
योर्वहतः गान्धारी हस्तिजिह्विका च कर्णद्वारयोर्वहतः
कुहूः गुदद्वारे वहति शंखिनी लिङ्गद्वारे वहति (सा

१८—उल्लोला (ह.). १९—लम्पटा (ह. तं.). २०—किरणवती (ह.), किरणिनी (का.). २१—रंजिका (ह.). २२—ज्वालिनी (ह. तं.), २३—वाहका (तं.), दाहा (का.).

दण्डमार्गेण ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं वहति) एवं[२४] दशद्वारेषु वहन्ति (अन्या सर्वा नाड्यो[२५] रोमकूपेषु वहन्ति) ।। ६७ ।।

अथ दशावयवः ।।

हृदये प्राणवायुः उच्छ्वास - निश्वास—कारको हकार - सकारात्मकश्च[२६] । गुदे त्वपानवायुः रेचकः कुम्भकश्च[२७] । नाभौ समानवायुः दीपकः पावकश्च[२८] । कण्ठे[२९] व्यानवायुः शोषणाप्यायनकारकश्च । तालौ उदानवायुः ग्रसन - वमन - जल्पकारकश्च । नागवायुः सर्वाङ्गव्यापकः मोचकश्[३०]चालकश्च । कूर्मवायुः चक्षुषो[३१]रुन्मेष - कारकश्च । कृकलः उद्गारकश्च क्षुत्कारकश्च । देवदत्तो मुखे विजृम्भकः । धनञ्जयो नाद । घोषक इति दशवायुरवलोकनेन पिण्डोत्पत्तिः नरनारीरूपम् ।। ६८ ।।

अथ गर्भोलिपिंडोत्पत्तिः ।।

नरनारीसंयोगे ऋतुकाले ।। ६९ ।।

रजोबिन्दुसंयोगे सः जीवः
प्रथमदिने कललं[३२] भवति सप्तरात्रे बुद्बुदाकारं भवति ।
अर्द्धमासे गोलाकारं भवति मासमात्रे कठिनं भवति ।
मासद्वयेन शिरो भवति तृतीये मासि हस्तपादादिकं भवति ।
चतुर्थे मासि चक्षुकर्णादि - नासिका - मुखं मेढ्रं[३३] भवति ।
पञ्चमे मासि पृष्ठोदरौ भवतः षष्ठे मासि नखकेशादिकं भवति ।
सप्तमे मासि सर्वचेतनयुक्तो भवति अष्टमे मासि सर्वलक्षण—संयुक्तो भवति नवमे मासि सत्यज्ञान[३४]गर्भसंयुक्तो भवति ।
दशमे मासि योनिसंस्पर्शादज्ञानी बालको भवति ।। ७० ।।

२४-नास्तिवाक्यमिदम् (ह.). २५-नास्ति वाक्यमिदम् (ह.). २६-"अस्यैवावस्थाभेदे हठयोग इति संज्ञा हकारः कीर्तितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते । सूर्याचन्द्रमसोयोगात् हठयोगो निगद्यते" । अधिकोऽयं पाठः (ह.). २७—कुम्भकपूरकश्च (ह.). २८—पाचकश्च (ह.). २९ – सर्वाङ्गे (ह.). ३० – शब्दोऽयं नास्ति (ह.). ३१—कुम्भकश्चक्षु (ह.). ३२—कलनं (यो.), कलिलं (का.). ३३—मेढ्रं गुदं (ह. का.). ३४ – सत्यज्ञानयुक्तः (ह.).

शुक्राधिक्ये पुरुषः रक्ताधिक्ये कन्या समशुक्ररक्ताभ्यां नपुंसकः परस्पर - स्त्री - पुरुष - चिन्ता - व्याकुलत्वादन्धः कुब्जः वामनः पङ्गुरङ्गहीनश्च भवति ॥ ७१ ॥

परस्पररतिकाले अङ्गनिपीडनकरणगुणैः शुक्रं द्वित्रिवारं पतति तेन द्वितीयो बालको भवति ॥ ७२ ॥

सार्द्धपलत्रयं शुक्रं विंशतिपलं रक्तं द्वादशपलं मेदः दशपलं मज्जा शतपलं मांसं विशंतिपलं श्लेष्मा तद्वत् वातं स्यात् षष्ट्यधिक - शत - त्रयमस्थीनि अस्थिमात्रं सन्धयः सार्द्धत्रय - कोटिरोमकूपाणि पितृमातृवीर्यं भवति । वात - पित्त - श्लेष्मधातुत्रयसहितं दशधातुमयं शरीरंमिति गर्भोलिं[३५] पिण्डोत्पत्तिः ॥ ७३ ॥

इति गोरक्षनाथ-कृतौ सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ पिण्डोत्पत्तिर्नाम प्रथमोपदेशः ॥ १ ॥

३५—गर्भापिण्डोपात्तिः (का.).

द्वितीयोपदेशः

अथ पिण्डविचारः कथ्यते ॥

पिण्डे नवचक्राणि ॥ आधारे ब्रह्मचक्रं
त्रिधावर्तं भगमण्डलाकारं तत्र मूलकन्दः तत्र शक्तिं
पावकाकारां[1] ध्यायेत् तत्रैव कामरूपं पीठं सर्वकामप्रदं[2] भवति ॥ १ ॥

द्वितीयं स्वाधिष्ठानचक्रं तन्मध्ये पश्चिमाभिमुखं लिङ्गं प्रवाला-
ङ्कुरसदृशं ध्यायेत् तत्रैवोड्यानपीठं जगदाकर्षणं भवति ॥ २ ॥
तृतीयं नाभिचक्रं पञ्चावर्तं सर्पवत्कुण्डलाकारं तन्मध्ये
कुण्डलिनीं शक्तिं बालार्ककोटिसदृशीं ध्यायेत् सा मध्या
शक्तिः सर्वसिद्धिदा भवति ॥ ३ ॥

चतुर्थं हृदयाधारमष्टदलकमलमधोमुखं तन्मध्ये कर्णिकायां
लिङ्गाकारां ज्योतिर्ध्यायेत् सैव हंसकला सर्वेन्द्रियवश्या[3] भवति ॥ ४ ॥
पञ्चमं कण्ठचक्रं चतुरंगुलं तत्र वामे इडा चन्द्रनाडी दक्षिणे
पिङ्गला सूर्यनाडी तन्मध्ये सुषुम्नां ध्यायेत् सैवानाहतकला
अनाहतसिद्धिर्भवति ॥ ५ ॥

षष्ठं तालुचक्रं तत्रामृतधाराप्रवाहः घंटिकालिङ्गं मूलरन्ध्रं
राजदन्तं शंखिनीविवरं दशमद्वारं तत्र शून्यं ध्यायेत् चित्त-
लयो भवति ॥ ६ ॥

सप्तमं भ्रूचक्रं मध्यमाङ्गुष्ठमात्रं ज्ञाननेत्रं दीपशिखाकारं
ध्यायेत् वाचां सिद्धिर्भवति ॥ ७ ॥

अष्टमं ब्रह्मरन्ध्रनिर्वाणचक्रं सूचिकाग्रवेध्यं धूमशिखाकारं
ध्यायेत् तत्र जालन्धरपीठं मोक्षप्रदं भवति ॥ ८ ॥

---

१ – पावकाकारां (ह. तं.). २ – कामफलप्रदं (ह. तं.). ३ – सर्वेन्द्रियाणि वश्यानि (ह.).

नवममाकाशचक्रं षोडशदलकमलमूर्ध्वमुखं तन्मध्ये कर्णिकायां त्रिकूटाकारां तदूर्ध्वशक्तिं तां परमशून्यां ध्यायेत् तत्रैव पूर्णगिरिपीठं सर्वेच्छासिद्धिर्भवति ॥ ९ ॥

इति नवचक्रस्य विचारः ।

अथ षोडशाधारः कथ्यते ॥

तत्र प्रथमं पादाङ्गुष्ठाधारं तत्राग्रतस्तेजोमयं ध्यायेत् दृष्टिः स्थिरा भवति ॥ १० ॥

द्वितीयं मूलाधारं मूत्रं वामपार्ष्णिना निपीड्य स्थातव्यं तत्राग्नि-दीपनं भवति ॥ ११ ॥

तृतीयं गुदाधारं विकाससंकोचं निराकुञ्चयेत् अपानवायुः स्थिरो भवति ॥ १२ ॥

चतुर्थं मेढ्राधारं लिङ्गसंकोचनेन ब्रह्मग्रंथित्रयं भित्वा भ्रमर-गुहायां विश्रम्य तत ऊर्ध्वमुखे बिन्दुस्तम्भनं भवति । एषा वज्रौली प्रसिद्धा ॥ १३ ॥

पञ्चममोड्याणाधारयो बन्धनान्मलमूत्रसंकोचनं भवति ॥ १४ ॥

षष्ठे नाभ्याधारे ॐकारमेकचित्तेनोच्चारिते नादलँयो भवति ॥ १५ ॥

सप्तमे हृदयाधारे प्राणं निरोधयेत् कमलविकासो भवति ॥ १६ ॥

अष्टमे कण्ठाधारे कण्ठमूलं चिबुकेन निरोधयेत् इडापिंगलयोर्वायुः स्थिरो भवति ॥ १७ ॥

नवमे घण्टिकाधारे जिह्वाग्रं धारयेत् अमृतकला स्रवति ॥ १८ ॥

दशमे ताल्वाधारे ताल्वन्तगर्भे लंबिकां चालनदोहनाभ्यां दीर्घीकृत्वा विपरीतेन प्रवेशयेत् काष्ठी भवति ॥ १९ ॥

एकादशमथ जिह्वाधारं तत्र जिह्वाग्रं धारयेत् सर्वरोगनाशो भवति ॥ २० ॥

---

४ – नादोदयमुपैति (का.).

द्वादशं भ्रूमध्याधारं तत्र चन्द्रमन्डलं ध्यायेत् शीतलतां याति ॥ २१ ॥

त्रयोदशं नासाधारं तस्याग्रं लक्षयेत् मनः स्थिरं भवति ॥ २२ ॥

चतुर्दशे नासामूलं कवाटाधारं तत्र दृष्टिं धारयेत् षण्मासाज्ज्योतिः-पुंजं पश्यति ॥ २३ ॥

पञ्चदशे ललाटाधारं तत्र ज्योतिःपुंजं लक्षयेत् तेजस्वी भवति ॥ २४ ॥

अवशिष्टे ब्रह्मरन्ध्रे आकाशचक्रं तत्र श्रीगुरुचरणाम्बुजयुग्मं सदावलोकयेत् आकाशवत्पूर्णो भवति । इतिषोडशाधारः ॥ २५ ॥

अथ लक्ष्यत्रयं ॥

मूलकन्दाद्दण्डलग्नां ब्रह्मनाडीं श्वेतवर्णां ब्रह्म-रन्ध्रपर्यंतं गतां संस्मरेत् । तन्मध्ये कमलतन्तुनिभां विद्युत्कोटि-प्रभामूर्ध्वगामिनीं तां मूर्तिं मनसा लक्षयेत्[६] तत्र सर्व-सिद्धिदा भवति ॥ २६ ॥

अथवा ललाटोर्ध्वे कोल्लाँटमण्डपे स्फुरत्काराकारं लक्षयेत् । अथवा भ्रमरगुहामध्ये आरक्तभ्रमराकारं लक्षयेदथवा कर्णद्वयं तर्जनीभ्यां निरोधयेत् ततः शिरो-मध्ये धूं धूं कारं नादं श्रृणोति अथवा चक्षुर्मध्ये नीलज्योति-रूपं पुतल्याकारं लक्षयेदित्यन्तर्लक्ष्यम् ॥ २७ ॥

बहिर्लक्ष्यं कथ्यते ॥

नासाग्रात् बहिरंगुलचर्तुष्टये नीलज्योतिः-संकाशं लक्षयेत् । अथवा नासाग्रात् षडंगुल अधोवायु-तत्वं धूम्रवर्णं लक्षयेदथवा अष्टांगुले आरक्तं तेजस्तत्वं लक्षयेत् अथवा दशाङ्गुले कल्लोलवदापस्तत्वं लक्षयेत् । अथवा नासाग्रात् द्वादशाङ्गुले पीतवर्णं पार्थिवतत्वं लक्षयेदथवा आकाशमुखं दृष्ट्वावलोकयेत्

५—धारयेत् (ह.). ६—ध्यायेत् (ह.). ७—गोल्ललाट (ह.). ८—द्वयमारक्तं तेजस्तत्वं (ह. तं.).

किरणानाकुलितं पश्यति एवं निर्मलीकरणम् । अथवोर्ध्व-
दृष्ट्यान्तरालं लक्षयेत् ज्योतिर्मुखानि पश्यति अथवा यत्र
तत्राकाशं लक्षयेदाकाशसदृशं चित्तं मुक्तिप्रदं भवति अथवा
दृष्ट्यान्तस्तप्तकांचनसंनिभां भूमिं लक्षयेत् दृष्टिः स्थिरा
भवति । इत्यनेकविधं बहिर्लक्ष्यम् ।। २८ ।।

अथ मध्यमं लक्ष्यं कथ्यते ।।
श्वेतवर्णं वा रक्तवर्णं वा कृष्णवर्णं
वा अग्निशिखाकारं वा ज्योतिरूपं वा विद्युदाकारं सूर्यमण्डलाकारं
वा अर्द्धचन्द्राकारं वा यथेष्टस्वपिण्डमात्रं
स्थानवर्जितं मनसा लक्षयेत् इत्यनेकविधं मध्यमं लक्ष्यम् ।। २९ ।।

अथ व्योमपञ्चकं लक्षयेत् ।। आकाशं पराकाशं महाकाशं
तत्वाकाशं सूर्याकाशमिति व्योमपञ्चकम् । बाह्याभ्यन्तरेऽत्यन्तं
निर्मलं निराकारमाकाशं लक्षयेत् । अथवा बाह्याभ्यन्तरेऽ-
त्यन्तान्धकारनिभं पराकाशमवलोकयेत् । बाह्याभ्यन्तरे
कालानलसंकाशं महाकाशमवलोकयेत् । बाह्याभ्यन्तरे
निजतत्वस्वरूपं तत्वाकाशवलोकयेत् । अथवा बाह्याभ्यन्तरे
सूर्यकोटिसदृशं सूर्याकाशमवलोकयेत् । एवं व्योम-
पञ्चकावलोकनेन व्योमसदृशो भवति ।। ३० ।।

उक्तञ्च :—

नवचक्रं कलाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम् ।
सम्यगेतन्न जानाति स योगी नामधारकः ।। ३१ ।।

अथ अष्टाङ्ग योगः ।

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहार-
धारणाध्यानसमाधयोऽष्टाङ्गानि । यम इति उपशमः

·किरणा आकुलितं तटं (तं.). १०—तत्र (ह.).

सर्वेन्द्रियजयः आहार - निद्रा - शीत - वातातपजयश्चैवं शनैः शनै साधयेत् ।। ३२ ।।

नियम इति मनोवृत्तीनां नियमनमिति एकान्तवासो निःसंगतौ-दासीन्यं यथा - प्राप्ति - सन्तुष्टिर्वैरस्यं गुरुचरणावरूढत्वमिति नियमलक्षणम् ।। ३३ ।।

आसनमिति स्वस्वरूपे समासन्नता । स्वस्तिकासनं पद्मासनं सिद्धासनमेतेषां मध्ये यथेष्टमेकं विधाय सावधानेन स्थातव्यं इत्यासनलक्षणम् ।। ३४ ।।

प्राणायाम इति प्राणस्य स्थिरता रेचक - पूरक - कुम्भक-संघट्टकरणानि चत्वारि प्राणायाम - लक्षणम् ।। ३५ ।।

प्रत्याहारमिति चैतन्यतरङ्गीणां[11] प्रत्याहरणं यथा नानाविकारग्रमनोत्पन्न-विकारस्यापि निवृत्तिः निर्भातीति प्रत्याहारलक्षणम् ।। ३६ ।।

धारणेति सबाह्याभ्यन्तर एकमेव निजतत्वस्वरूपमेवान्तः-करणेन साधयेत् यथा यद्यदुत्पद्यते तत्तन्निराकारे धारयेत् स्वात्मानं निर्वातदीपमिव धारयेदिति धारणालक्षणम् ।। ३७ ।।

अथ ध्यानमिति ।। अस्ति कञ्चन परमाद्वैतस्य भावः स एव आत्मेति यथा यद्यत्स्फुरति तत्तत्स्वरूपमेवेति भावयेत् सर्वभूतेषु समदृष्टिश्चेति ध्यानलक्षणम् ।। ३८ ।।

अथ समाधिलक्षणम् । सर्वतत्वानां समावस्था निरुद्यमत्वमनायास-स्थितिमत्त्वमिति समाधिलक्षणम् ।। इति अष्टाङ्गयोगलक्षणम् ।।

।। इति श्रीगोरक्षनाथकृतौ सिध्दसिध्दान्तपद्धतौ पिण्डविचारो नाम द्वितीयोपदेशः ।। २ ।।

---

११ – तुरङ्गाणां (ह. का.).

तृतीयोपदेशः

अथ पिण्ड-संवित्तिः कथ्यते ।
पिण्डमध्ये चराचरौ यो जानाति
स योगी पिण्ड-संवित्तिर्भवति ॥ १ ॥

कूर्मः पादतले वसति पातालं पादाङ्गुष्ठे तलातलमङ्गुष्ठाग्रे महातलं पृष्ठे रसातलं गुल्फे सुतलं जङ्घायां वितलं जान्वोः अतलमुर्वोरेवं सप्तपातालं रुद्रदेवताधिपत्ये तिष्ठति पिण्डमध्ये क्रोधरूपी भावः स एव कालाग्निरुद्रः ॥ २ ॥

भूर्लोकं गुह्यस्थाने भुवर्लोकं लिङ्गस्थाने स्वर्लोकं नाभिस्थाने एवं लोकत्रये इन्द्रो देवता पिण्डमध्ये सर्वेन्द्रियनियामकः स एवेन्द्रः ॥ ३ ॥

दण्डाङ्कुरे महर्लोकः दण्डकुहरे जनो लोकः दण्डनाले तपो लोकः मूलकमले सत्यलोकः एवं लोकचतुष्टये ब्रह्मादि-देवता पिण्डमध्ये अनेकमानाभिमानस्वरूपी तिष्ठति ॥ ४ ॥

विष्णुलोकः कुक्षौ तिष्ठति तत्र विष्णुर्देवता पिण्डमध्येऽनेक-व्यापारकारको भवति । हृदये रुद्रलोकः तत्र रुद्रो देवता पिण्डमध्ये उग्रस्वरूपी तिष्ठति । वक्षःस्थले ईश्वरलोकः तत्र ईश्वरो देवता पिण्डमध्ये तृप्तिस्वरूपी तिष्ठति । कण्ठमध्ये नीलकण्ठो लोकस्तत्र नीलकण्ठो देवता पिण्डमध्ये नित्यं तिष्ठति । तालुद्वारे शिवलोकस्तत्र शिवो देवता पिण्डमध्येऽनुपमस्वरूपी तिष्ठति । लम्बिकामूले भैरवलोकस्तत्र भैरवो देवता पिण्डमध्ये सर्वोत्तमस्वरूपी तिष्ठति ॥ ललाट-मध्येऽनादिलोकस्तत्रानादि-देवता पिण्डमध्ये आनन्दपरा-

---

१ – महातलं पादपृष्ठे (ह. नं.).

हन्तास्वरूपी तिष्ठति ॥ शृङ्गारे कुललोकस्तत्र कुलेश्वरो देवता पिण्डमध्ये आनंदस्वरूपी तिष्ठति । शंखमध्ये नलिनीस्थाने अकुलेश्वरो देवता पिण्डमध्ये निरभिमानावस्था तिष्ठति । ब्रह्मरन्ध्रे परब्रह्म - लोकस्तत्र परब्रह्म देवता पिण्डमध्ये परिपूर्णदशा तिष्ठति । ऊर्ध्वकमले परापर - लोकस्तत्र परमेश्वरो देवता पिण्डमध्ये परापरभावस्तिष्ठति । त्रिकूटस्थाने शक्तिलोकस्तत्र पराशक्तिर्देवता सर्वासां सर्व - कर्तृत्वावस्था तिष्ठति । एवं पिण्डमध्ये सप्तपातालसहितैकविंशतिब्रह्माण्डस्थान-विचारः ॥ ५ ॥

सदाचारतत्वे ब्राह्मणाः वसन्ति शौर्ये क्षत्रियाःव्यवसाये वैश्याः सेवाभावे शूद्राश्चतुषष्टिकलास्वपि चतुःषष्टिवर्णाः ॥ ६ ॥

अथसप्त समुद्राः सप्त द्वीपाः कथ्यन्ते ।
मज्जायां जम्बूद्वीपः अस्थिषु[२] शक्तिद्वीपः
शिरासु सूक्ष्मद्वीपः त्वक्षु क्रौञ्चद्वीपः
रोमसु गोमयद्वीपः नखेषु श्वेतद्वीपः मांसे (अस्थिनि) प्लक्षद्वीपः एवं सप्तद्वीपाः ॥ ७ ॥

मूत्रे क्षार-समुद्रः लालायां क्षीर-समुद्रः कफे दधिसमुद्रः मेदसि घृत-समुद्रः वसायां मधु-समुद्रः रक्ते इक्षु-समुद्रः शुक्रेऽमृत – समुद्रः एवं सप्तसमुद्राः ॥ ८ ॥

नवखण्डाः नव द्वारेषु वसन्ति । भारतखण्डः[४] काश्मीरखण्डः करपर[५]खण्डः श्रीखण्डः शंखखण्डः एकपादखण्डः गान्धारखण्डः कैवर्तकखण्डः महामेरुखण्डः एवं नवखण्डाः ॥ ९ ॥

२–नास्ति वाक्यमिदम् (यो. तं). ३–शाकद्वीपः (ह.), शाल्मलिद्वीपः (का.), मस्तिष्के शाकद्वीपः (तं). ४–भाई खण्डा (यो.). ५–खर्वखण्डः (तं.), कर्परखण्डः (ह.).

मेरुपर्वतो मेरुखण्डे वसति कैलासो ब्रह्मकपाटे वसति
हिमालयः पृष्ठे मलयो वामकन्धरे मन्दरो दक्षिणकन्धरे
विन्ध्यो दक्षिणकर्णे मैनाकः वामकर्णे श्री-पर्वतो ललाटे
एवमष्ट कुलपर्वताः अन्ये उपपर्वताः सर्वाङ्गुलिषु वसन्ति ॥ १० ॥

पीनसा गंगा यमुना चन्द्रभागा सरस्वती । पिपासा शतरुद्रा
च श्रीरात्रिश्चैव नर्मदा एवं नव नद्यो नवनाडीसु वसन्ति ॥ ११ ॥

अन्या उपनद्यः कुल्योपकुल्याः द्विसप्तति-सहस्र-नाडीसु वसन्ति ॥ १२ ॥

सप्तविंशति नक्षत्राणि द्वादश राशयः नव ग्रहाः पञ्च-
दश तिथयः एते अन्तर्वलये द्विसप्तति-सहस्र-स्वहस्त-कोष्ठेषु
वसन्ति । अनेकतारामण्डलं ऊर्मिषु वसन्ति । त्रयस्त्रिंशत्-कोटि-
देवता बाहुरोमकूपेषु वसन्ति । अनेकपीठोपपीठकाः रोम-
कूपेषु वसन्ति । देवदानव-यक्ष-राक्षस-पिशाच-भूतप्रेताः
अस्थिसन्धिषु वसन्ति । कुलनागा वक्षसि वसन्ति ।
अन्ये सनकादिमुनिसंघाः कक्षरोमकूपेषु वसन्ति ।
अन्ये पर्वता उदर-लोमसु वसन्ति । गन्धर्व-किन्नर-
किंपुरुषा अप्सरसो गणा उदरे वसन्ति । अन्याः खेचरी-लीला-
मातरः शक्तयः उग्रदेवता वायुवेगे वसन्ति । अनेकमेघाः
अश्रुपाते वसन्ति । अनेकतीर्थानि मर्मस्थाने वसन्ति । अनन्तासिद्धाः
मतिप्रकाशे वसन्ति । चन्द्रसूर्यौ नेत्रद्वये वसतः । अनेक-वृक्षलता-
गुल्मतृणानि जंघारोमककूपस्थाने वसन्ति । अनेककृमिकीटपतङ्गाः
पुरीषे वसन्ति ॥ १३ ॥

यत्सुखं तत्स्वर्गं यद्दुःखं तन्नरकं यत्कर्म तद्बंधनं यन्निर्वि-
कल्पं तन्मुक्तिः स्वस्वरूपदशायां निद्रादौ स्वात्मजागरः
शान्तिर्भवति । एवं सर्वदेहेषु विश्वस्वरूपः परमेश्वरः

६—दण्डे (ह. का.). ७—पीतसा (नं.). ८—वितस्ता (का.).

परमात्मा अखण्डस्वभावेन घटे घटे चित्स्वरूपी तिष्ठति । एवं पिण्डसंवित्तिर्भवति ॥ १४ ॥

॥ इति श्रीगोरक्षनाथकृतौ सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ
पिण्डसंवित्ति र्नाम तृतीयोपदेशः ॥ ३ ॥

चतुर्थोपदेशः

अथपिण्डाधारः कथ्यते ॥

अस्ति काचिदपरम्परा संवित्स्वरूपा
सर्वापिण्डाधारत्वेन नित्यप्रबुद्धा निजा शक्तिः
प्रसिद्धा कार्यकारणकतणामुत्थान-दशांकुरोन्मीलनेन
कर्तारं करोति अतएवाधारशक्तिरिति[1] कथ्यते ।
अत्यन्तं निजप्रकाश – स्वसंवेदानुभवैक्यगम्यमान – शास्त्र
लौकिक – साक्षात्कार – साक्षिणी सा परांचिद्रूपिणी[2]
शक्तिर्गीयते । सैव शक्ति र्यदा सहजेन स्वास्मिन्नुन्मीलिन्यां
निरुत्थानदशायां वर्तते तदा शिवः सैव भवति ॥ १ ॥

अतएव कुलाकुलस्वरूपा सामरस्य – निज – भूमिका निगद्यते ॥ २ ॥

कुलमिति । परासत्ताहन्ता – स्फुरत्ता – कलास्वं[3]-
रूपेण सैव पञ्चधा विश्वस्याधारत्वेन तिष्ठति ॥ ३ ॥

अतएव परापरा निराभासावभासकात्प्रकाश[4]स्वरूपा या सा परा ॥ ४ ॥
अनादि – संसिद्धा परमाद्वैत – परमेकमेवास्तीति या
अङ्गीकारं करोति सा सत्ता ॥ ५ ॥

अनादिनिधनोऽप्रमेय – स्वभावः किरणानन्दोऽस्म्यहमि-
त्यहं – सूचनशीला या सा पराऽहन्ता ॥ ६ ॥

स्वानुभव – चित्तचमत्कार – निरुत्थान – दशां प्रस्फुटी
करोति या सा स्फुरत्ता ॥ ७ ॥

नित्य – शुद्ध – बुद्ध – स्वरूपस्य स्वयं प्रकाशत्वमाकलयतीति
या सा पराकलेति उच्यते ॥ ८ ॥

१–अनन्तराधार (ह.). २–पराचिद्रूपिणी (ह.). ३–पराभासत्वादहन्ता सत्ता स्फुरत्ता कुला (यो.). ४–संवित् (तं.).

अकुलमिति । जातिवर्ण – गोत्राद्यखिल – निमित्तत्वेनैकमेवास्तीति प्रसिद्धं ।

तथा चोक्तमुमामहेश्वरसंवादे :–

निरुत्तरेऽनन्यत्वादखण्डत्वादद्वयत्वादनन्याश्रयत्वाद्
निर्धामत्वादनामत्वादकुलं स्यान्निरुत्तरमिति ॥ ९ ॥

एवं कुलाकुल–सामरस्य–प्रकाश–भूमिका – स्फुटीकरणे एकैव समर्था या साऽपरम्परा शक्तिरेवावशिष्यते । अपरम्परं निखिल– विश्वप्रपञ्चजालं परं तत्त्वं सम्पादयत्येकीकरोत्य- परामपराशक्तिराशावती प्रसिद्धा ॥ १० ॥

उक्तं ललित - स्वच्छन्दे :—

अकुलं कुलमाधत्ते कुलं चाकुलमिच्छति ।
जल - बुद्बुदवद्-न्यायादेकाकारः परः शिवः ॥ ११ ॥

अतएवैकाकार एवानन्त - शक्तिमान् निजानन्दतयावस्थि- तोऽपि नानाकारत्वेन विलसन् स्वप्रतिष्ठां स्वयमेव भजतीति व्यवहारः ।

उक्तं प्रत्यभिज्ञायाम् :—

अलुप्त - शक्तिमान्नित्यं सर्वाकारतया स्फुरन् ।
पुनः स्वेनैव रूपेण एक एवावशिष्यते ॥ १२ ॥

अतएव परमकारणं परमेश्वरः परात्परः शिवः स्वरूपतया सर्वतोमुखः सर्वाकारतया स्फुरितुं शक्नोतीत्यतः शक्तिमान् ।

उक्तं वामकेश्वरतन्त्रे :—

शिवोऽपि शक्तिरहितः शक्तः कर्तुं न किञ्चन ।
स्वशक्त्या सहितः सोऽपि सर्वस्याभासको भवेत् ॥ १३ ॥

अतएवानन्त - शक्तिमान् परमेश्वरः विश्वसंवित्स्वरूपी विश्वमयो भवतीति प्रसिद्धं सिद्धानां च परापर - स्वरूपा कुण्डलिनी

५–अनाशनात् (का.), अनाश्रयात् (तं.). ६–निरन्तरं (का.). ७–अपराशक्ति (ह.).

वर्तते । अतस्ते पिण्डसिद्धाः प्रसिद्धाः । सा कुण्डलिनी प्रबुद्धाऽप्रबुद्धा चेति द्विधा । अप्रबुद्धेति तत्तत्पिण्डे चेतन-रूपा (स्वभावेन नाना-चिन्ता—व्यापारोद्यमप्रपंचरूपा) कुटिल-स्वभावा कुण्डलिनी ख्याता । सैव योगिनां तत्तद्विलसितविकाराणां निवारणोद्यम-स्वरूपा कुण्डलिन्यूर्ध्वगामिनी सुप्रसिद्धा भवति ॥ १४ ॥

ऊर्ध्वामिति । सर्व-तत्वान्यपि स्व-स्वरूपमेवेत्यूर्ध्वे वर्तते अतएव सा विमर्शरूपिणी योगिनः स्व-स्वरूपमवगच्छन्तीति सुप्रसिद्धा ॥ १५ ॥

तथा चोक्तमेवरूलकं :—

मध्यशक्ति-प्रबोधेन अधः-शक्ति-निकुञ्चनात् ।
ऊर्ध्वे-शक्ति-निपातेन प्राप्यते परमं पदम् ॥ १६ ॥

एकैव सा मध्योर्ध्वधः-प्रभेदेन त्रिधा भिन्ना शक्तिरभि-धीयते ॥ १७ ॥

बाह्येन्द्रिय-व्यापार-नाना-चिन्तामया सैवाधः-शक्तिरुच्यते । अतएव ये योगिनः तस्या आकुञ्चनं मूला-धार-बन्धनात् सिद्धं स्यात् । यस्माच्च चराचरं जगदिदं चिदचिदात्मकं प्रभवति । तदेव मूलाधारं संवित्प्रसरं प्रसिद्धम् ॥ १८ ॥

उक्तं शिवानन्दाचार्यैः :—

सर्व-शक्ति-प्रसर-संकोचाभ्यां जगत्सृष्टिः
संहृतिश्च भवत्येव न सन्देहः तस्मात्तां मूलमि-
त्युच्यते । अतः प्रायेण सर्वसिद्धाः मूलाधार-रता भवन्ति ॥ १९ ॥

तरङ्गित-स्वभावं जीवात्मानं वृथा भ्रमन्तमपि स्वप्रकाशमध्ये स्व-स्वरूपतया सर्वदा धारयितुं समर्था या सा मध्याशक्तिः कुण्डलिनी गीयते ।
स्थूल-सूक्ष्म-रूपेण महासिद्धान्तं प्रतीयते इति निश्चयः ॥ २० ॥

८—आकुञ्चने रता यस्याकुञ्चन (ह.).

स्थूलेति निखिल-ग्राह्याधार-ग्राह्यस्वरूपापि पदार्थान्तरैं-भ्राम्यमाणा इव तद्रूपा वर्तते सा कुण्डलिनी साकार-स्थूला पुनस्त्वियमेव स्व-प्रसार-चातुर्यतया वर्तमाना योगिनां परानन्दतया कुण्डलिनी या निश्चयभूता वर्तते सा सूक्ष्मा निराकारा प्रबुद्धा महासिद्धानां मते प्रसिद्धा ॥ २१ ॥

उक्तं तत्वसारे :—

सृष्टिः कुण्डलिनी ख्याता द्विधा भावगता तु सा ।
एकधा स्थूलरूपा च लोकानां प्रत्यया(गा)त्मिका ॥ २२ ॥

अपरा सर्वगा सूक्ष्मा व्याप्तिव्यापक-वर्जिता ।
तस्या भेदं न जानाति मोहितः प्रत्ययेन तु ॥ २३ ॥

तस्मात्सूक्ष्मा परा संवित्स्वरूपा मध्याशक्तिः कुण्डलिनी योगिभिर्देह-सिद्ध्यथ सद्गुरु-मुखाज्ज्ञात्वा स्व-स्वरूप-दशायां प्रबोधनीया ॥ २४ ॥

अथ ऊर्ध्व-शक्तिनिपातः कथ्यते ।

सर्वेषां तत्वानामुपरि-वर्तमानत्वान्निर्नाम परमं पदमेव ऊर्ध्वं प्रसिद्धं तस्याः स्व-संवेदन-नाना-साक्षात्कारसूचनशीला या ऊर्ध्व—शक्तिरभिधीयते । तस्याः निपातनमिति स्व-स्वरूप-द्विधा-भास-निरासः किन्तु स्व-स्वरूपाखण्डत्वेन भवति ॥ २५ ॥

उक्तं च —

शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरः शिवः ।
अन्तरं नैव जानीयाच्चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ॥ २६ ॥

अत ऊर्ध्व-शक्ति-निपातेन महासिद्ध-योगिभिः परमपदं प्राप्यत इति सिद्धम् ॥ २७ ॥

९—चिद्रूपा (ह.). १०—व्याप्य (तं.).

उक्तश्च :—

सत्वे सत्वे सकलरचना राजते संविदेका ।
तत्त्वे तत्त्वे परम - महिमा संविदेवावभाति ।। २८ ।।

भावे भावे बहुल तरला लम्पटा संविदेषा ।
भासे भासे भजन—चतुरा बृंहिता संविदेव ।। २९ ।।

किमुक्तं भवति परापर—विमर्शरूपिणी संविन्नाना—शक्ति—रूपेण निखिल—पिण्डाधारत्वेन वर्तते इति सिद्धान्तः ।। ३० ।।

।। इति श्रीगोरक्षनाथकृतौ सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ
पिण्डाधारो नाम चतुर्थोपदेशः ।। ४ ।।

पञ्चमोपदेशः

अथ पिण्डपदयोः समरसकरणं कथ्यते —

महासिद्धयोगिभिः पूर्वोक्तक्रमेण परपिण्डादिस्वपिण्डान्तं ज्ञात्वा परमपदे समरसं कूर्यात् ॥ १ ॥

परमपदमिति स्वसंवेद्यं अत्यन्ताभासाभासकमयं ॥ २ ॥

उक्तं तत्त्वसंहितायाम् :—

यत्र बुद्धिर्मनो नास्ति तत्त्वविन्नापरा कला ।
ऊहापोहौ न कर्तव्यौ वाचा तत्र करोति किम् ॥
वाग्मिना गुरुणा सम्यक् कथं तत्पदमीयते ।
तस्मादुक्तं शिवेनैव स्वसंवेद्यं परंपदम् ॥ ३ ॥

अतएव नानाविध – विचारचातुर्य – वर्चसा[1] विस्मेयां[2] गत्वा गुरुचरणरतत्वात्[3] निर्णीतत्वात् स्वसंवेद्यमेव परमं पदम् प्रसिद्धमिति सिद्धान्तः ॥४ ॥

गुरुस्त्र सम्यक् सन्मार्गदर्शनशीलो भवति ।
सन्मार्गो योगमार्गस्तदितरः पार्षंडमार्गः ।

तदुक्तमादिनाथेन[4] :—

योगमार्गेषु तंत्रेषु दीक्षितास्तांश्च दूषकाः ।
ते हि पार्षंडिनः प्रोक्ताः तथा तैः सहवासिनः ॥ ५ ॥

यस्मिन् दर्शिते सति तत्क्षणात् स्वसंवेद्यसाक्षात्कारः समुत्पद्यते । ततो गुरुरेवात्र कारणमुच्यते ॥ ६ ॥

तस्माद्गुरुकटाक्षपातात् स्वसंवेद्यतया च महासिद्ध-योगिभिः स्वकीयं पिण्डं निरुत्थानानुभवेन समरसं क्रियते इति सिद्धान्तः ॥ ७ ॥

---

१ – चर्चा (ह.). २ – सारांग (तं.). ३ – कृपातत्वमात्रेण (हं.), गुरुचरणत्वात् निरुपाधिकत्वात् निर्निकेतत्वात् (तं.). ४ – आचार्यस्वामिना (तं.).

तद्यथा—निरुत्थानप्राप्त्युपायः कथ्यते ।
महासिद्धयोगिनः स्वस्वरूपतयानुसन्धानेन निजावेशो भवति
निजावेशान्निपीडित – निरुत्थान – दशा – महोदयः कश्चिज्जायते ।
ततः सच्चिदानन्द – चमत्कारात् अद्भुताकारप्रकाशप्रबोधो जायते ।
प्रबोधादखिलमेतद् द्वयाद्वय – प्रकटतया चैतन्यभासाभासकं परात्परं
पदमेव प्रस्फुटं भवतीति सत्यं ॥ ८ ॥

अत एव महासिद्धयोगिभिः सम्यक् (उक्त) गुरुप्रसादं लब्ध्वाऽ—
वधान – बलेनैक्यं भजमानैस्तत्क्षणात् परमं पदमेवानुभूयते ॥ ९ ॥

तदनुभवबलेन स्वकीयं सिद्धं सम्यक् निजपिण्डं परिज्ञात्वा
तमेव परमपदे एकीकृत्य तस्मिन् प्रत्यावृत्यारूढेवाभ्यन्तरे स्वपिण्ड
सिद्ध्यर्थं महत्त्वमनुभूयते ॥ १० ॥

निजपिण्डमिति स्वरूपकिरणानन्दोन्मेषमात्रं यस्योन्मेषस्य प्रत्या-
हरणमेव समरसकरणं भवति ॥ ११ ॥

अतएव स्वकीयं पिण्डं महारश्मिपुंजं स्वेनैवाकारेण प्रतीयमानं
स्वानुसन्धानेन स्वस्मिन्नुररीकृत्य महासिद्धयोगिनः पिण्डसिद्ध्यर्थं
तिष्ठन्तीति प्रसिद्धम् ॥ १२ ॥

अथ पिण्डसिद्धौ वेषः कथ्यते—

शंखमुद्राधारणञ्च केशरोमप्रधारणम् ।
अमरीपानममलं तथा मर्दनमुत्कटम् ॥ १३ ॥

एकान्तवासो दीक्षा च सन्ध्या जपमार्श्रया ।
ज्ञानभैरवमूर्तेस्तु तत्पूजा च सुरादिभिः ॥ १४ ॥

शंखाध्मातं सिंहनादं कौपीनं पादुका तथा ।
अङ्गवस्त्रं बहिर्वस्त्रं कम्बलं छत्रमद्भुतम् ॥ १५ ॥

५–भूतकरणं (तं.). ६–पिण्डपरीक्षा च स्व (ह.). ७–उत्तमम् (ह.).
८–जपममायया (ह.). ९–यथाविधिः (ह.).

वेत्रं कमंडलुश्चैव भस्मना च त्रिपुण्ड्रकम् ।
कूर्यादेतान् प्रयत्नेन गुरुवन्दनपूर्वकम् ।
तेषां पिण्डसिद्धौ सत्यां सर्वसिद्धयः सन्निधाना भवन्ति ।। १७ ।।

उक्तश्च :—

यस्मिन् ज्ञाते जगत्सर्वं सिद्धं भवति लीलया ।
सिद्धयः स्वयमायान्ति तस्माद् ज्ञेयं परमं पदम् ।। १८ ।।

परं पदं न वेषेण प्राप्यते परमार्थतः ।
देहमूलं हि वेषं स्याल्लोकप्रत्ययहेतुकम् ।। १९ ।।

लोके निकृष्टमुत्कृष्टं परिगृह्य पृथक् कृतम् ।
तत्स्वधर्म इति प्रोक्तो योगमार्गे विशेषतः ।। २० ।।

योगमार्गात्परो मार्गो नास्ति नास्ति श्रुतौ स्मृतौ ।। २१ ।।

शास्त्रेष्वन्येषु सर्वेषु शिवेन कथितः पुरा ।
योगः सन्नहनोपायो ज्ञानसंगतियुक्तिषु ।। २२ ।।

लोके निकृष्टं सततं यं वा यं वा प्रकुर्वतो ।
तं वा तं वा वर्जयन्ति लोकज्ञानबलेन तु ।। २३ ।।

मनुष्याणां च सर्वेषां प्राक्संस्कारवशादिह ।
शास्त्र – युक्ति – समाचारः क्रमेण भवति स्फुटम् ।। २४ ।।

एवं पिण्डे संसिद्धे ज्ञानप्राप्त्यर्थं तच्च परमपदं महासिद्धानां मतं परिज्ञाय तस्मिन्नहंभावे जीवात्मा च सहजसंयम– सोपायाद्वैतक्रमेणोपलक्ष्यते ।। २५ ।।

तत्र सहजमिति ।
विश्वातीतं परमेश्वरं विश्वरूपेणावभासमानमिति
एकमेवास्तीति स्वस्वभावेन यद् ज्ञानं तत्सहजं प्रसिद्धम् ।। २६ ।।

१०–ध्यान (तं.).

संयम इति । सावधानानां प्रस्फुरद्-व्यापाराणां निजवृत्तीनां संयमनं कृत्वा आत्मनि धीयते इति संयमः ॥ २७ ॥

सोपायमिति । स्वयमेव प्रकाशमयं स्वेनैव स्वात्मन्येकीकृत्य सदा तत्त्वेन स्थातव्यम् ॥ २८ ॥

अद्वैतमिति । अकर्तृतयैव योगी नित्यतृप्तो निर्विकल्पः सदा निरुत्थानत्वेन तिष्ठति ॥ २९ ॥

उक्तश्च :—

सहजं स्वात्मसंवित्तिः संयमः स्वात्मनिग्रहः[11] ।
सोपायः स्वस्य विश्रान्तिरद्वैतं परमं पदम् ॥ ३० ॥

तज्ज्ञेयं सद्गुरोर्वक्त्रात् नान्यथा शास्त्रकोटिभिः ।
न तर्कशब्दविज्ञानान्नाचाराद्वेदपाठनात्[12] ॥ ३१ ॥

वेदान्तश्रवणान्नैव तत्त्वमस्यादिबोधनात् ।
न हंसोच्चारणाज्जीवब्रह्मणोरैक्यभावनात् ॥ ३२ ॥

न ध्यानान्न लयाल्लीनः[13] सर्वज्ञः[14] सिद्धिपारगः
स्वेच्छो योगी स्वयंकर्ता लीलया चाजरोऽमरः ॥ ३३ ॥

अवध्यो देवदैत्यानां क्रीडते भैरवो यथा ।
इत्येवं निश्चलो योऽसौ क्रमादाप्नोति लीलया ॥ ३४ ॥

असाध्याः सिद्धयः सर्वाः सत्यमीश्वरभासितम् ।
प्रथमे त्वरोगतासिद्धिः सर्वलोकप्रियो भवेत् ।
कांक्षते दर्शनं तस्य स्वात्मारूढस्य नित्यशः ॥ ३५ ॥

कृतार्थः[15] स्याद्द्वितीये तु कुरुते सर्वभाषया[16] ।
तृतीये दिव्यदेहस्तु व्यालैर्व्याघ्रैर्न बाध्यते ॥ ३६ ॥

---

११ – स्व स्व निग्रहः (ह.). १२ – पारगात् (ह.). १३ – लयाल्लीनात् मौन कर्म समाश्रयात् लीने पिण्डे भवेद् योगी (तं.). १४ – सद्गुरोः करुणां विना (ह.). १५ – कविता (तं.). १६ – भाषणं.

चतुर्थे क्षुत्तृषानिद्राशीततापविवर्जितः ।
जायते दिव्ययोगीशो दूरश्रावी न संशयः ॥ ३७ ॥

वाक्सिद्धिः पञ्चमे वर्षे परकायप्रवेशनम् ।
षष्ठे न छिद्यते शस्त्रैर्वज्रपातैर्न बाध्यते ॥ ३८ ॥

वायुवेगी क्षितित्यागी दूरदर्शी च सप्तमे ।
अणिमादिगुणोपेतस्त्वष्टमे वत्सरे भवेत् ॥ ३९ ॥

नवमे वज्रकायः स्यात् खेचरो दिक्चरो भवेत् ।
दशमे पवनाद्वेगी यत्रेच्छा तत्र धावति ॥ ४० ॥

सम्यगेकादशे वर्षे सर्वज्ञः सिद्धिभाग्भवेत् ।
द्वादशे शिवतुल्योऽसौ कर्ता हर्ता स्वयं भवेत् ॥ ४१ ॥

त्रैलोक्ये पूज्यते सिद्धः सत्यं श्रीभैरवो यथा ।
एवं द्वादशवर्षेषु सिद्धयोगी महाबलः ॥
जायते सद्गुरोः पादप्रभावान्नात्र संशयः ॥ ४२ ॥

गुरुकुलसन्तानश्चेति पञ्चधा प्रोक्तम्
आई–सन्तानं विलेश्वर–सन्तानं विभूति–सन्तानं नाथ–सन्तानं योगीश्वर–सन्तानश्चेति एषामपि सन्तानानां पृथक् पृथक् वैशिष्ट्यं वर्तते ॥ ४३ ॥

परमार्थतः सव पाञ्चभौतिकं । तज्जार्ताः पुरुषाः । (स्वबोध) सम्बोधमात्रैकरूपः सशिवः । तदितरत्सर्वमज्ञानमव्यक्तं भवति तत्र शिवस्तु ज्ञानं ॥ ४४ ॥

एतेषामपि सन्तानानां केचित्स्वरूपपराङ्मुखाः वेशमात्रसम्पन्नाः क्रयविक्रयादिकं कुर्वन्ति सन्तानभेदं प्रत्यन्योऽन्यमधः कुर्वन्ति योगमार्गं द्वेषयन्ति ॥ ४५ ॥

१७ – यत्रेच्छा तत्र धावति (यो.). १८ – न जाताः (ह.).

रजसा घोरसंकल्पाः कामुकाः अतिमन्यवेः[19] ।
दाम्भिकाः मानिनः पापाः धिक्कुर्वन्त्यीश्वरप्रियान् ।। ४६ ।।

साधुसङ्गम – सच्छास्त्र – परमानन्द – लक्षितान् ।
स्वेच्छाचारविहारैक – ज्ञानविज्ञानसंयुतान् ।। ४७ ।।

यूयं दुष्टा वयं शिष्टा भ्रष्टा यूयं वयं तथा ।
इत्येवं परिवदन्ति संप्रमोहे निरन्तरम् ।। ४८ ।।

पृथ्वी जलं तथा वह्निः वायुराकाशमेव च ।
एते सन्तानोदयास्तु सम्यगेव प्रकीर्तिताः ।। ४९ ।।

काठिन्यश्चार्द्रता तेजो धावनं स्थिरता खलु ।
गुणान्येतानि पञ्चैव सन्तानानां क्रमात् स्मृताः ।। ५० ।।

ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः
एताश्च देवताः प्रोक्ताः सन्तानानां क्रमेण तु ।। ५१ ।।

स्थूल – सूक्ष्म – कारणं तूर्यं तूर्यातीतमिति पञ्चावस्थाः क्रमेण लक्ष्यन्ते । एतेषामपि सर्वेषां विज्ञाता यः स योगी स सिद्ध-पुरुषः स योगीश्वरेश्वर इति परमरहस्यं प्रकाशितम् ।। २२ ।।

अतएव सम्यक् निजविश्रान्तिकारकं महायोगिनं सद्गुरुं सेवयित्वा सम्यक् सावधानेन परमं पदं सम्पाद्य तस्मिन् निज-पिण्डे (पिण्डं) समरसभावं कृत्वाऽत्यन्तं निरुत्थानेन सर्वानन्दतत्त्वे निश्चलं स्थातव्यम् । ततः स्वयमेव महासिद्धो भवतीति सत्यम् ।। ५३ ।।

न विधिर्नैव वर्णश्चं[20] न वर्ज्यावर्ज्यकल्पना ।
न भेदो निधनं किञ्चिन्नाशौचं नोदकक्रिया ।। ५४ ।।

योगीश्वरेश्वरस्यैवं नित्यतृप्तस्य योगिनः ।
चित्स्वात्मसुखविश्रान्तिभावलब्धस्य पुण्यतः ।। ५५ ।।

---

१९ – अहिमन्यवः (यो.). २० – निषेधश्च (तं.).

सम्यक् स्वभावविज्ञानात् क्रमाभ्यासान्न चासनात् ।
न वैराग्यान्न नैराश्यान्नाहार – प्राण – धारणात् ॥ ५६ ॥

न मुद्रा–धारणाद्योगान्न मानकर्म–समाश्रयात् ।
न विरक्तौ वृथायासान्न कायक्लेशधारणात् ॥ ५७

न जपान्न तपोध्यानान्न यज्ञात्तीर्थसेवनात् ।
न देवार्चनाश्रयाद्भक्त्या नाश्रमाणाश्च पालनात् ॥ ५८ ॥

न षड्दर्शनकेशादिधारणान्न च मुण्डनात् ।
नानन्तोपाययत्नेभ्यः प्राप्यते परम पदम् ॥ ५९ ॥

एतानि साधनानि सर्वाणि दैहिकानि परित्यज्य परमपदेऽदैहिके स्थीयते सिद्धपुरुषैरिति ॥ ६० ॥

तत्कथं । गुरुदृक्पातनात् प्रायो दृढानां सत्यवादिनां सा स्थितिर्जायते ॥ ६१ ॥

कथनाच्छक्तिपाताद्वा पादावलोकनात् ।
प्रसादात् स्वगुरोः सम्यक् प्राप्यते परमं पदम् ॥ ६२ ॥

अतएव शिवेनोक्तम्—

न गुरोरधिकं न गुरोरधिकं न गुरोरधिकं न गुरोरधिकम् ।
शिवशासनतः शिवशासनतः शिवशासनतः शिवशासनतः ॥६३॥

वाङ्मात्राद्वाथदृक्पातात् यः करोति च तत्क्षणात् ।
प्रस्फुटं शाम्भवं वेद्यं स्वसंवेद्यं परं पदम् ॥ ६४ ॥

करुणाखड्गपातेन छित्वा पाशाष्टकं शि(प)शोः ।
सम्यगानन्दजनकः सद्गुरुः सोऽभिधीयते ॥ ६५ ॥

निमिषार्धार्धपाताद्वा यद्वा पादावलोकनात् ।
स्वात्मानं स्थिरमाधत्ते तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ ६६ ॥

नाना-विकल्प-विश्रान्तिं कथया कुरुते तु यः ।
सद्गुरुः स तु विज्ञेयो न तु मिथ्या-विडम्बकः ॥ ६७ ॥

अतएव परमपदप्राप्त्यर्थं स सद्गुरुः सदा वन्दनीयः
गुरुरिति गृणाति शं[२१] सम्यक् चैतन्यविश्रान्तिमुपदिशति ॥
विश्रान्त्या स्वयमेव परात्परं परमपदमेव प्रस्फुटं भवति
तत्क्षणात्साक्षात्कारो भवति ॥ ६८ ॥

अतएव महासिद्धानां मते प्रोक्तं । वाग्मात्रेण वा दृक्पात-
मात्रेण वा सम्यगवलोकनेन वा तत्क्षणान्मुहुर्विश्रान्तिमत्तां
नयतीति (विश्रान्तियुक्तं करोतीति, ह)
यः स सद्गुरुर्भवति । नो चेन्निजविश्रान्तिं
विना पिण्डपदयोः समरसकरणं न भवतीति सिद्धान्तः ।
तस्मान्निजविश्रान्तिकारकः सद्गुरुरभिधीयते नान्यः ॥
पुनर्वागादि-शास्त्रदृष्ट्यानुमानतस्तर्क-मुद्रया श्रमिको[२२]
गुरुस्त्याज्यः ॥ ६९ ॥

उक्तश्च :—

ज्ञानहीनो गुरुस्त्याज्यः मिथ्यावादी विडम्बकः ।
स्वविश्रान्तिं न जानाति परेषां स करोति किम् ॥ ७० ॥

शिलया किं परं पारं शिलासंघः प्रतार्यते ।
स्वयं तीर्णो भवेद्योऽसौ परान्निस्तारयत्यलम् ॥ ७१ ॥

विकल्पसागराद्घोराच्चिन्ताकल्लोलदुस्तरात् ।
प्रपञ्च-वासना-दुष्ट-(ग्रह) ग्राहजालसमाकुलात् ॥ ७२ ॥

वासना-लहरी-वेगाद्यः स्वं तारियतुं क्षमः[२३] ।
स्वस्थेनैवोपदेशेन निरुत्थानेन तत्क्षणात् ॥ ७३ ॥

२१–गुणातिशय (यो.), गुणातीतः (त.). २२–श्रामको (ह.). २३–नास्वस्थतरितुं क्षयः (त.).

तारयत्येव दृक्पातात् कथनाद्वा विलोकनात् ।
तारिते स्वपदं धत्ते स्वस्वमध्ये स्थिरो भवेत् ॥ ७४ ॥

ततः स मुच्यते शिष्यो जन्मसंसारबन्धनात् ।
परानन्दमयो भूत्वा निष्कलः शिवतां व्रजेत् ॥ ७५ ॥

कुलानां कोटिकोटीनां तारयत्येव तत्क्षणात् ।
अतस्तं सद्गुरुं साक्षात् त्रिकालमभिवन्दयेत् ॥ ७६ ॥

सर्वाङ्गप्रणिपातेन स्तुवन्नित्यं गुरुं भजेत् ।
भर्जनात्[२४]स्थैर्यमाप्नोति स्वस्वरूपमयो भवेत् ॥ ७७ ॥

किमत्र बहुनोक्तेन शास्त्रकोटिशतेन च ।
दुर्लभा चित्तविश्रान्तिर्विना गुरुकृपां पराम् ॥ ७८ ॥

चित्तविश्रान्तिलब्धानां योगिनां दृढचेतसाम् ।
स्वस्वमध्ये निमग्नानां निरुत्थानं विशेषतः ॥ ७९ ॥

निमिषात्प्रस्फुटं भाति दुर्लभं परमं पदम् ।
यस्मिन् पिण्डो भवेल्लीनः सहसा नात्र संशयः ॥ ८० ।

संवित्क्रिया-विकरणोदय-चिद्विलोलै[२५]-
विश्रान्तिमेव भजतां स्वयमेव भाति ।
ग्रस्ते स्ववेगनिचये पदपिण्डमैक्यं,
सत्यं भवेत्समरसं गुरुवत्सलानाम् ॥ ८१ ॥

॥ इति श्रीगोरक्षनाथकृतौ सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ
पिण्डपदयोः समरसकरणं नाम पञ्चमोपदेशः ॥ ५ ॥

२४–सजनः (ह.). २५–सम्यक् स्वभावकिरणोदयचिद्विलास (तं.).

षष्ठोपदेशः

अथ अवधूतयोगिलक्षणं कथ्यते :—

अवधूतयोगी नाम क इत्यपेक्षायामाह ।

यः सर्वान् प्रकृतिविकारान् अवधूनोतीत्यवधूतः । योगोऽस्यास्तीति योगी । धूञ् कम्पने इति धातुः कम्पनार्थे वर्तते । कम्पनं चालनं देह –दैहिक– प्रपंचादिषु विषयेषु संगतं मनः परिगृह्य तेभ्यः प्रत्याहृत्य स्वधाममहिम्नि परिलीन– चेताः प्रपञ्चशून्य आदिमध्यान्तनिधनभेदवर्जितः ॥ १ ॥

यकारो वायुबीजं स्याद्रकारो वह्निबीजकम् ।
तयोरभेदओंकारश्चिदाकारः प्रकीर्तितः ॥ २ ॥

तदेतद् व्यक्तमुच्यते :—

क्लेशपाशतरङ्गाणां कृन्तनेन विमुण्डनम् ।
सर्वावस्थाविनिर्मुक्तः सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥ ३ ॥

निजेस्मरविभूतिर्यो योगी स्वाङ्गे विभूषितः ।
आधारे यस्य वारुढिः (ढः) सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥ ४ ॥

लोकमध्ये स्थिरासीनः समस्त – कलनोज्झितः ।
कौपिनं खर्परोऽदैन्यं सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥ ५ ॥

शं सुखं खं परं ब्रह्म शंखं सघंट्टनाद् भवत् ।
सिद्धान्तं धारितं येन सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥ ६ ॥

पादुका पदसंवित्ति र्मृगेत्वच् महाहतम् ।
वेला यस्य परा संवित्सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥ ७ ॥

मेखला निवृत्तिर्नित्यं स्वस्वरूपं कटासनम्
निवृत्तिः षड्विकारेभ्यः सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥ ८ ॥

१–उकारं (तं.). २–निजस्फार (तं.). ३–त्वक् स्यादनाहता (ह.). ४–शेली (ह.), चेलं (तं.). ५–निरतिः (तं.).

चित्प्रकाश–परानन्दौ यस्य वै कुण्डलद्वयम् ।
जपमालाक्षविश्रान्तिः सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥ ९ ॥

यस्य धैर्यमयो दण्डः पराकाशं च खर्परम् ।
योगपट्टं निजा शक्तिः सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥ १० ॥

भेदाभेदौ स्वयं भिक्षां षट्रसास्वादने रतः
जारणा(त) तन्मयीभावः सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥ ११ ॥

अचिन्त्ये निज–दिग्देशे स्वान्तरं यस्तु गच्छति ।
एकदेशान्तरीयो यः सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥ १२ ॥

स्वपिण्डममरं कर्तुमनन्ताममरीं च यः ।
स्वयमेव पिवेदेतां सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥ १३ ॥

अचिन्त्यं वज्रवद्गाढा वासनामलसंकुला ।
सा वज्री भक्षिता येन सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥ १४ ॥

आवर्त्तयति यः सम्यक् स्वस्वमध्ये स्वयं सदा ।
समत्वेन जगद्वेत्ति सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥ १५ ॥

स्वात्मानमवगच्छेद्यः स्वात्मन्येवावतिष्ठते ।
अनुत्थानमयः सम्यक् सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥ १६ ॥

अनुत्वा(त्था)धारसम्पन्नः परविश्रान्तिपारगः ।
धृतिचिन्मयतत्त्वज्ञः सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥ १७ ॥

अव्यक्तं व्यक्तमाधत्ते व्यक्तं सर्वं ग्रसत्यलम् ।
स्व(स)त्यं स्वान्तरे सन् यः सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥ १८

अवभासात्मको भासः स्वप्रकाशे सुसंस्थितः ।
लीलया रमते लोके सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥ १९ ॥

क्वचिद्भोगी क्वचित्त्यागी क्वचिन्नग्नः पिशाचवत् ।
क्वचिद्राजा क्वचाचारी सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥ २० ॥

६–निर्भ्रांति (यो.) कृत्वा स्वास्वादने (ह.). ७–अविद्या (तं.).

एवं-विध नानासंकेतसूचकनित्यप्रकाशे (वस्तुनि) सुनिज-स्वरूपी सर्वेषां सिद्धान्तदर्शनानां स्वस्वरूपदर्शने सम्यक् सद्धेर्धकोऽवधूतयोगी-त्यभिधीयते स सद्गुरुर्भवति । यतः सर्वदर्शनानां स्वस्वरूपदर्शने समन्वयं करोति सोऽवधूतुयोगी स्यात् ॥

अत्याश्रमी च योगी च ज्ञानी सिद्धश्च सुव्रतः ।
ईश्वरश्च तथा स्वामी धन्यः श्रीसाधुरेव च ॥ २१ ॥

जितेन्द्रियश्च भगवान् स सुधीः कोविदो बुधः ।
चार्वाकश्चार्हतश्चेति तथा बौद्धः प्रकाशवित् ॥ २२ ॥

तार्किकश्चेति सांख्यश्च तथा मीमांसको विदुः ।
देवतेत्यादिविद्वद्भिः कीर्तितः शास्त्रकोटिभिः ॥ २३ ॥

आत्मेति परमात्मेति जीवात्मेति पुनः स्वयम् ।
अस्तितत्त्वं परं साक्षाच्छिव–रुद्रादि–संज्ञितम् ॥ २४ ॥

शरीरपद्मकुहरे यत्सर्वेषामवस्थितम् ॥
तदवश्यं महायासाद्वेदितव्यं[11] मुमुक्षुभिः ॥ २५ ॥

ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च सोऽक्षरः परमः स्वराट् ।
स एव इन्द्रः स प्राणः स कालाग्निः सचेन्द्रकः[12] ॥ २६ ॥

स एव सूर्यः स शिवः स एव परमः शिवः ।
स एव योगगम्यस्तु सांख्यशास्त्रपरायणैः ॥ २७ ॥

स एव कर्म इत्युक्तः सर्वकर्ममीमांसकैरपि ।
सर्वत्र सत्परानन्द इत्युक्तो वैदिकैरपि ॥ २८ ॥

व्यवहारैरयं भेदः तस्मादेकस्य नान्यथा ।
मुद्–मोदे तु रानन्दो (रादाने) जीवात्मपरमात्मनोः ॥ २९ ॥
उभयोरैक्यं संवित्ति मुद्रेति परिकीर्तिताः ॥ ३० ॥

८–सद्बोधकोऽवधूत (ह.). ९–संन्यासी (तं.) १०–शाब्दि कश्चेति (तं.).
११–महापाशात्छेदितव्यं (ह.).१२. शास्ता स विनायकः स कालाग्निः स चन्द्रार्कौ(तं.).

मोदन्ते देवसंघाश्च द्रावन्तेऽसुरराशयः ।
मुद्रेति कथिता साक्षात्सदा भद्रार्थदायिनी ।। ३१ ।।

अस्मिन् मार्गेऽदीक्षिता ये सदा संसाररागिणः ।
ते हि पाषण्डिनः प्रोक्ताः संसारपरिपेलवाः ।। ३२ ।।

अवधूत–तनुर्योगी निराकारपदे स्थितः ।
सर्वेषां दर्शनानां च स्वस्वरूपं प्रकाशते ।। ३३ ।।

तत्र ब्राह्मणेषु ब्रह्मचर्याश्रममाह :—

सर्वतो भरिताकारं निजबोधेन बृंहितम् ।
चरते ब्रह्मविद्यस्तु ब्रह्मचारी स कथ्यते ।। ३४ ।।

गृहिणी पूर्णता नित्या गेहं व्योम सदाचलम्[१३] ।
यस्तयोर्निवसत्यत्र गृहस्थः सोऽभिधीयते ।। ३५ ।।

सदान्तःप्रस्थितो योऽसौ स्वप्रकाशमये वने ।
वानप्रस्थः स विज्ञेयो न वने मृगवच्चरन् ।। ३६ ।।

परमात्माथ जीवात्मा आत्मन्येव स्फुरत्यलम् ।
तस्मिन् न्यस्तः सदा येन संन्यासी सोऽभिधीयते ।। ३७

मायाकर्मकलाजालमनिशं येन दण्डितम् ।
अचलो नगवद्भाति त्रिदण्डी सोऽभिधीयते ।। ३८ ।।

एकं नानाविधाकारमस्थिरं चञ्चलं सदा ।
तच्चित्तं दण्डितं येन एकदण्डी स कथ्यते ।। ३९ ।।

शुद्धं शान्तं निराकारं परानन्दं सदोदितम् ।
तं शिवं यो विजानाति शुद्धबुद्धशैवो भवेत्तु सः ।।४०।।

सन्तापयति दीप्तानि स्वेन्द्रियाणि च यः सदा ।
तापसः स तु विज्ञेयो न च गोभस्मधारकः ।। ४१ ।।

१३–सदावलं (ह.).

क्रियाजालं पशुं हत्वा पतित्वं पूर्णतां गतम् ।
यस्तिष्ठेत्पशुभावेन स वै पाशुपतो भवेत् ॥ ४२ ॥

परानन्दमयं लिङ्गं निजपीठे सदाऽचले ।
तल्लिङ्गं पूजितं येन स वै कालमुखो भवेत् ॥ ४३ ॥

विलयं सर्वतत्त्वानां कृत्वा संधार्यते स्थिरम् ।
सर्वदा येन वीरेण लिङ्गधारी भवेत्तु सः ॥ ४४ ॥

अन्तकादीनि तत्त्वानि त्यक्त्वा नग्नो दिगम्बरः ।
यो निर्वाणपदे लीनः स निर्वाणपरो भवेत् ॥ ४५ ॥

स्वस्वरूपात्मकं ज्ञानं समन्त्रं (समन्तात्) तत्प्रतिपालितम्
अनन्यत्वं सदा येन स वै कापालिको भवेत् ॥ ४६ ॥

महाव्याप्तिपरं तत्त्वमाधाराधेयवर्जितम् ।
तद्व्रतं धारितं येन स भवेद्वै महाव्रतः ॥ ४७ ॥

कुलं सर्वात्मकं पिण्डमकुलं सर्वतोमुखम् ।
तयोरैक्यपदं शक्तिर्यस्तां वेद स शक्तिभाक् ॥ ४८ ॥

कौलं सर्वकलाग्रासः स कृतः सततं यया ।
तां शक्तिं विजानाति शक्तिज्ञानी स कथ्यते ॥ ४९ ॥

ज्ञात्वा कुलाकुलं तत्त्वं स क्रमेण क्रमेण तु ।
स्वप्रकाशमहाशक्त्या ततः शक्तिपदं लभेत् ॥ ५० ॥

मदो मद्यं मतिर्मुद्रा माया मीनं मनः पलम् ।
मूर्च्छनं मैथुनं यस्य तेनाऽसौ शाक्त उच्यते ॥ ५१ ॥

यया भासस्फुरद्रूपं कृतं चैव स्फुटं वलात् ।
तां शक्तिं यो विजानाति शाक्तः सोऽत्राभिधीयते ॥ ५२ ॥

यः करोति निरुत्थानं कर्तृचित्प्रसरेत्सदा ।
तद्विश्रान्तिस्तया शक्त्या शाक्तः सोऽत्राभिधीयते ॥ ५३ ॥

व्यापकत्वे परं सारं यद्विष्णोराद्यमव्ययम् ।
विश्रान्तिदायकं देहे तज्ज्ञात्वा वैष्णवो भवेत् ॥ ५४ ॥

भास्वत्स्वरूपो यो भेदाद् भेदाभेदभवोज्झितः ।
भाति देहे सदा यस्य स वै भागवतो भवेत् ॥ ५५ ॥

यो वेत्ति वैष्णवं भेदं सर्वासर्वमयं निजम् ।
प्रबुद्धं सर्वदेहस्थं भेदवादी भवेत्तु सः ॥ ५६ ॥

पञ्चानामक्षया हानिः (पञ्चानामक्षपातानां) पञ्चत्वं रात्रिरुच्यत ।
तां रात्रिं यो विजानाति स भवेत्पांचरात्रिकः ॥ ५७ ॥

येन जीवन्ति जीवा वै मुक्तिं यान्ति च तत्क्षणात् ।
स जीवो विदितो येन सदाजीवी स कथ्यते ॥ ५८ ॥

यः करोति सदा प्रीतिं प्रसन्ने पुरुषे परे
शासितानीन्द्रियाण्येव सात्त्विकः सोऽभिधीयते ॥ ५९ ॥

सर्वाकारं निराकारं निर्निमित्तं निरञ्जनम् ।
सूक्ष्मं हंसश्च यो वेत्ति स भवेत्सूक्ष्मसात्त्विकः ॥ ६० ॥

सत्यमेकमजं नित्यमनन्तश्चाक्षयं ध्रुवम् ।
ज्ञात्वा यस्तु वदेद्धीरः सत्यवादी स कथ्यते ॥ ६१ ॥

ज्ञानज्ञेयमयाभ्यां तु योगिनः स्वस्वभावतः ।
कलङ्की स तु विज्ञेयो व्यापकः पुरुषोत्तमः ॥ ६२ ॥

मुक्तिचारे मतिर्या वै व्यापिका स्वप्रकाशिका ।
एषा ज्ञानवती यस्य ज्ञाताऽसौ सात्विको भवेत् ॥ ६३ ॥

क्षपणं चित्तवृत्तीनां रागद्वेषविलुण्ठनम् ।
कुरुते व्योमवन्नग्नो योऽसौ क्षपणको भवेत् ॥ ६४ ॥

प्रसरं भासते शक्तिः संकोचं भासते शिवः ।
तयोर्योगस्य कर्ता यः स भवेत् सिद्धयोगिराट् ॥ ६५ ॥

विश्वातीतं यथा विश्वमेकमेव विराजते ।
संयोगेन सदा यस्तु सिद्धयोगी भवेत्तु सः ॥ ६६ ॥

सर्वासां निजवृत्तीनां प्रसृति र्भजते लयम् (तु यः) ।
स भवेत् सिद्धसिद्धान्ते सिद्धयोगी महाबलः ॥ ६७ ॥

उदासीनः सदा शान्तः स्वस्थोऽन्तर्निजभासकः ।
महानन्दमयो धीरः स भवेत् सिद्धयोगिराट् ॥ ६८ ॥

परिपूर्णः प्रसन्नात्मा सर्वासर्वपदोदितः ।
विशुद्धो निर्भरानन्दः स भवेत् सिद्धयोगिराट् ॥ ६९ ॥

परिपूर्णः प्रसन्नात्मा सर्वानन्दकरः सुधीः ।
सर्वानुग्रहधीः सम्यक् स भवेत् सिद्धयोगिराट् ॥ ७० ॥

गते न शोकं विभवे न वांछां प्राप्ते च हर्षं न करोति योगी ।
आनन्दपूर्णो निजबोधलीनो न बाध्यते कालपथेन
नित्यम् ॥ ७१ ॥

एवं सर्वसिद्धान्तदर्शनानां पृथक् पृथक् भूतानामपि ब्रह्मणि समन्वयसूचनशीलोपदेशकर्ताऽवधूत एव सद्गुरुः प्रशस्यते । एषामुपदेशानां पृथक् पृथक् सूचितानां जायते यत्र विश्रान्तिः सा विश्रान्तिरभिधीयते ॥ ७२ ॥

लीनतां च स्वयं याति निरुत्थानचमत्कृतेः ।
[14]यतो निरुत्थानमयात् (मयः) सोऽयं स्यादवधूतराट् ॥ ७३ ॥

तस्मात्तं सद्गुरुं साक्षाद्वन्दयेत् पूजयेत्सदा ।
सम्यक् सिद्धपदं धत्त तत्क्षणात्स्वात्मभासितम् ॥ ७४ ॥

न वन्दनीयास्ते का[15]ष्ठाः दर्शनभ्रान्तिकारकाः ।
वर्जयेत् तान् गुरून् दूरे धीरः सिद्धमताश्रयः ॥ ७५ ॥

१४–अतो (तं.). १५–कष्टाः (तं.).

परपक्षं निरासं करोति :—

वेदान्ती बहुतर्ककर्कशमतिर्ग्रस्तः परं मायया ।
भाट्टाः कर्मफलाकुला हतधियो द्वैतेन वैशेषिकाः ॥
अन्ये भेदरताः विवादविकला स्ते तत्त्वतोवञ्चिताः
(सत्तत्त्वतोवञ्चिताः) ।
तस्मात्सिद्धमतं स्वभावसमयं[16] धीरः सदा संश्रयेत्[17] ॥ ७६ ॥

सांख्या वैष्णवा वैदिका विधिपराः संन्यासिनस्तापसाः ।
सौरा वीरपराः प्रपञ्चनिरता बौद्धा जिनाः श्रावकाः ॥
एते कष्टरता वृथापथगतास्ते सत्तत्त्वतो वञ्चिताः ।
तस्मात्सिद्धमतं स्वभावसमयं धीरः सदा संश्रयेत् ॥ ७७ ॥

आचार्या बहुदीक्षिता हुतिरता नग्नव्रतास्तापसाः ।
नानातीर्थनिषेवका जपपरा मौनस्थिता नित्यशः ॥
एते ते खलु दुःखभारानिरतास्ते सत्तत्त्वतो वञ्चिताः ।
तस्मात्सिद्धमतं स्वभावसमयं धीरः सदा संश्रयेत् ॥ ७८ ॥

आदौ रेचक-पूरक-कुम्भक-विधौ नाडीपथा शोधितम् ।
कृत्वा हृत्कमलोदरे तु सहसा चित्तं महामूर्च्छितम् ॥
पश्चादव्ययमक्षरं परकुले चोंकारदीपाङ्कुरे ।
ये पश्यन्ति समाहितेन मनसा तेषां न नित्यं पदम् ।
तस्मात्सिद्धमतं स्वभावसमयं धीरः सदा संश्रयेत् ॥ ७९ ॥

चार्वाकाश्चतुराश्च तर्कनिपुणा देहात्मवादे रताः ।
ते सर्वे तरन्ति दुःसहतरं ये ते परं सात्विकाः ॥
ते सर्वे प्रभवन्ति ये च यवनाः पापे रता निर्दयाः ।
तेषामैहिकमल्पमेव फलदं तत्त्वं न मोक्षपदम्[19] ॥ ८० ॥

१६–कमयं (तं.). १७–शैवाः पाशुपता महाव्रतधरा कालामुखा जंगमाः ।शाक्ताः कौल कुला कुलार्चनरता – कापालिकाः शाम्भवाः । एते कृत्रिममंत्रतंत्रनिरतास्ते तत्त्वतो वञ्चिताः तस्मात सिद्धमतं (तं.). १८–रजसा (तं.). १९–मोक्षफलम् (तं.).

श्रीहट्टे[२०] मस्तकान्ते त्रिपुटपुटबिले ब्रह्मरन्ध्रे ललाटे।
भ्रूनेत्रे नासिकाग्रे श्रवणपथरवे घण्टिका राजदन्ते ॥
कण्ठे हृन्नाभिमध्ये त्रिकमलकुहरे चोड्डियाणे च मूले[२१]।
एवं ये स्थानलग्नाः परमपदमहो नास्ति तेषां निरुत्थम् ॥ ८१ ॥

कोल्लाटे दीप्तिपुंजे प्रलयशिखिनिभे सिद्धजालन्धरे वा।
शृङ्गाटे ज्योतिरेकं तडिदिव तरलं ब्रह्मनाड्यन्तराले ॥
भालान्ते विद्युदाभं तदुपरि शिखरे कोटिमार्तण्डचण्डे।
ये नित्यं भावयन्ते परमपदमहो नास्ति तेषां निरुत्थम् ॥ ८२ ॥

लिङ्गाद्दण्डांकुरान्तर्मनःपवनगमात् ब्रह्मनाड्यादिभेदम्।
कृत्वा बिन्दुं नयन्तः परमपदगुहां शंखगर्भोदरोर्ध्वम् ॥
तत्रान्तर्नादघोषं गगनगुणमयं वज्रदण्डीचोलीक्रमेण।
ये कुर्वन्तीह कष्टात् परमपदमहो नास्ति तेषां निरुत्थम् ॥ ८३ ॥

सम्यक् चालनदोहनेन सततं दीर्घां कृतां लम्बिकाम्।
तां ताल्वभ्यंतरवेशितां च दशमद्वारेऽपि[२२] चोल्लंघिनीम् ॥
नीत्वा[२३] मध्यम-सन्धि-संघट-घटात्प्राप्तां शिरोदेशतः
पीत्वा षड्विधपानकाष्टितजनां मूर्च्छां[२४] चिरं मोहिताः ॥ ८४ ॥

गुह्यात्पश्चिमपूर्वमार्गमुभयं रुध्वानिलं मध्यमम्।
नीत्वा ध्यानसमाधिलक्षकरणैर्नानासनाभ्यासनैः ॥
प्राणापानसमा[२५]गमेन सततं हंसोदरे संघटा[२६]।
एवं येऽपि भजन्ति ते भवजले मज्जन्त्यहो दुःखितः ॥ ८५ ॥

शक्त्याकुञ्चनमग्निदीप्तिकरणं त्वाधारसंपीडनात्
स्थानात्कुण्डलिनीप्रबोधनमनः (तः) कृत्वा ततो मूर्धनि ॥

२०–शृंगाटे (तं.). २१–पीटे (ह.). २२–द्वारोदरे सन्धिनीम् (ह.). द्वारोदरे शंखिनी (तं.). २३–प्राप्तां (तं.). २४–भजनं वाञ्छन्ति ये मोहिताः (ह.). २५–गमागमेन (ह.). २६–सद्धटात् (तं.).

नीत्वा पूर्णगिरिं निपातनमधः कुर्वन्ति तस्याश्च ये ।
खण्डज्ञानरतास्तु ते निजपदं तेषां हि दूरं पदम् ॥ ८६ ॥

बन्धं भेदं च मुद्रां गल-बिल-चिबुका-बद्धमार्गेषु वन्हिम् ।
चन्द्रार्कौ सामरस्यं शमदम नियमानादबिन्दुं कलान्ते ॥
ये नित्यं मेलयन्ते ह्यनुभवमनसाप्युन्मनीयोगयुक्ताः ।
ते लोकान् भ्रामयन्ती निजमुखविमुखाः कर्मदुःखाघ्वभाजः ॥ ८७ ॥

अष्टाङ्गं योगमार्गं कुलपुरुषमतं षण्मुखीचक्रभेदम् ।
ऊर्ध्वाधो वायुमध्ये रविकिरणनिभं सर्वतो व्याप्तिसारम् ॥
दृष्ट्वा ये वीक्षयन्ते तरलजलसमं नीलवर्णं नभो वा ।
एवं ये भावयन्ते निगदितमतयस्तेऽपि हा कष्टभाजः ॥ ८८ ॥

आदौ धारण शंख धारणमतः कृत्वा महाधारणम् ।
सम्पूर्णं प्रतिधारणं विधिबलात् दृष्टिं तथा निर्मलां ॥
अर्धोली बहुलीह दृष्टिंासनमथो घण्टी वसन्तोलिका ।
ये कुर्वन्ति च कारयन्ति च सदा भ्राम्यन्ति खिद्यन्ति ते ॥ ८९ ॥

शंखक्षालनमन्तरं रसनया ताल्वोष्ठनासारसम् ।
वान्तेरुर्लुटनं कवाटममरीपानं तथा खर्परी ॥
वीर्यद्रावितमात्मजं पुनरहो ग्रासं प्रलेपंश्च वा ।
ये कुर्वंति जडास्तु ते नहि फलं तेषां तु सिद्धान्तजम् ॥ ९० ॥

घण्टाकादल–कालमर्दल–महा–भेरीनिनादं यदा ।
सम्यङ् नादमनाहतध्वनिमयं शृण्वन्ति चैतादृशम् ॥
पिण्डे सर्वगतं निरन्तरतया ब्रह्माण्डमध्येऽपि वा ।
तेषां सिद्धपदं ततः समुचितं तत्वं परं लभ्यते ॥ ९१ ॥

वैराग्यात्तृणशाकपल्लवजलं कन्दं फलं मूलकम् ।
भुक्त्वा ये वनवासमेव भजन्ते चान्ये च देशान्तरम् ॥

२७—मधो (तं.), वासनमथो (ह.). २८—रुलुठनम् (तं.). २९—कपाट (ह.). ३०—ग्रासप्रदं पञ्चधा (तं.).

बालोन्मत्तपिशाचमूकजडवत् चेष्टाश्च नानाविधा ।
ये कुर्वन्ति पदं विना मतिबलाद्भ्रष्टा विमुह्यन्ति ते ॥ ९२ ॥

कथां दर्शनमद्भुतं बहुविधं भिक्षाटनं नाटकम् ।
भस्मोद्धलनमङ्गं कर्कशतरं कृत्वाथ वर्षं चरेत्[३१] ॥
क्षेत्रं क्षेत्रमटन्ति दुर्गमतरं छित्वाथ सर्वेन्द्रियम् ।
नो विन्दन्ति परं पदं गुरुमुखाद्गर्वेण कष्टाश्च ते ॥ ९३ ॥

वाणीं ये च चतुर्विधां स्वरचितां सिद्धैश्च वा निर्मितां ।
गायत्रीचतुराश्च पाठनिरता विद्याविवादे रताः ॥
नो विन्दन्ति तदर्थमात्मसदृशं खिद्यन्ति मोहाद्धलात् ।
दण्डैः कर्तरिशूलचक्रलगुडैर्भण्डाश्च दुष्टाश्चये ॥ ९१ ॥

एवं शून्यादिशून्यं[३२] परमपरपदं पञ्चशून्यादिशून्यम् ।
व्योमातीतं ह्यनाद्यं निजकुलमकुलं चाद्भुतं विश्वरूपम् ॥
अव्यक्तं चान्तरालं निरुद्यमपरं भासनिर्नाममैक्यम् ।
वाङ्मात्राद्भासयन्तो बहुविधमनसो व्याकुला भ्रामितास्ते ॥ ९४ ॥

आज्ञासिद्धिकरं सदा समुचितं सम्पूर्णमाभासकम् ।
पिण्डे सर्वगतं[३३] विधानममलं सिद्धान्तसारं वरम् ॥
भ्रान्तेर्निर्हरणं सुखातिसुखदं कालान्तकं शाश्वतम् ।
तन्नित्यं कलनोद्धृतं[३४] गुरुमयं ज्ञेयं निरुत्थं पदम् ॥ ९५ ॥

आत्मेति परमात्मेति जीवात्मेति विचारणे ।
त्रयाणामैक्यसंभूतिः आदेश इति कीर्तितः ॥ ९६ ॥

आदेश इति सद्वाणीं सर्वद्वन्द्वक्षयापहाम् ।
यो योगिनं प्रतिवदेत् स यात्यात्मानमैश्वरम् ॥ ९७ ॥

आशादहनं भसितं कुण्डलयुगलं विचारसन्तोषः ।
कौपीनं स्थिरचित्तं खर्परमाकाशमात्मनो भजनम् ॥ ९८ ॥

---

३१ – त्वरेत् (ह.). ३२ – शून्यातिशून्यं (तं.). ३३ – मृत्युहरं (तं.). ३४ - कलज्झितं (ह.).

एतच्छास्त्रं महादिव्यं रहस्यं पारमेश्वरम् ।
सिद्धान्तं सर्वसारस्वं नानासंकेतनिर्णयम् ॥ ९९ ॥

सिद्धानां प्रकटं सिद्धं सद्यःप्रत्ययकारकम्[३५] ।
आत्मानंदकरं नित्यं सर्वसंदेहनाशनम् ॥ १०० ॥

न देयं परशिष्येभ्यः नान्येषां सन्निधौ पठेत् ।
न स्नेहान्न बलाल्लोभान्न मोहान्नानृन्ताच्छलात् ॥ १०१ ॥

न मैत्रीभावनाद्दानान्न सौन्दर्यान्न चासनात् ।
पुत्रस्यापि न दातव्यं गुरुशिष्यक्रमं विना ॥ १०२ ॥

सत्यवन्तो दयाचित्ताः दृढभक्ताः सदाचलाः
निस्तरङ्गाः महाशान्ताः सदाज्ञानप्रबोधकाः ॥ १०३ ॥

भयदैन्यघृणालज्जातृष्णाशाशोकवर्जिताः ।
आलस्यमदमात्सर्यदम्भमायाछलोज्झिताः ॥ १०४ ॥

अहङ्कारमहामोहरागद्वेषपराङ्मुखाः
क्रोधेच्छाकामुकासूयाभ्रान्तितालोभवर्जिताः ॥ १०५ ॥

निस्पृहा निर्मला धीराः सदाद्वैतपदे रताः ।
तेभ्यो देयं प्रयत्नेन धूर्तानां गोपयेत् सदा ॥ १०६ ॥

निन्दका ये दुराचाराश्चुम्बकाः गुरुतल्पगाः ।
नास्तिका ये शठाः क्रूरा विद्यावादरतास्तथा ॥ १०७ ॥

योगाचारपरिभ्रष्टाः निद्राकलहयोः प्रियाः ।
स्वस्वकार्ये परानिष्ठाः गुरुकार्येषु निस्पृहाः ॥ १०८ ॥

एतान् विवर्जयेद् दूरे शिष्यत्वेन गतानपि ॥ १०९ ॥

सच्छास्त्रं सिद्धमार्गश्च सिद्धसिद्धान्तपद्धतिम् ।
न देयं सर्वदा तेभ्यो यदीच्छेच्चिरजीवनम् ॥ ११० ॥

---

३५ – कारणम् (तं.).

गोपनीयं प्रयत्नेन तस्करेभ्योधनं यथा ।
तेषां यो बोधयेत् मोहादपरीक्षितं[३६]मन्दधीः ॥ १११ ॥
न हि मुक्तिर्भवेत्तस्य सदा दुःखेन सीदतः ।
खेचरी भूचरी योगी शाकिनी च निशाचरी ॥ ११२ ॥
एतेषामद्भुतं शापः सिद्धानां भैरवस्य च ।
मस्तके तस्य पतति तस्माद्यत्नेन रक्षयेत् ॥ ११३ ॥
गुरुपादाम्बुजस्थाय [३७]परीक्ष्य प्रवदेत्सदा ।
कुतो दुःखं च भीतिश्च तत्त्वज्ञस्य महात्मनः ॥ ११४ ॥
कृपयैव प्रदातव्यं सम्प्रदायप्रवृत्तये ।
सम्प्रदायप्रवृत्तिर्हि सर्वेषां सम्मता यतः ॥ ११५ ॥
मायाशंकरनाथाय नत्वा सिद्धान्तपद्धतिम् ।
लिखित्वा यः पठेद्भक्त्या स याति परमां गतिम् ॥ ११६ ॥
त्रिद्धात्वत्यर्थनिच(ल)यं भक्तानुग्रहमूर्तिमत् ।
स्मरानन्दपरं चेतो गणप(य)त्यभिधं महः ॥ ११७ ॥
॥ इति श्रीगोरक्षनाथकृतौ सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ अवधूत —
योगिलक्षणं नाम षष्ठोपदेशः ॥ ६ ॥

३६ – उपरोक्ष तु (बो). ३७ – यआश्रित्य (यो.).

॥ योगविषयः ॥

गुरुश्च गुरुपुत्रश्च ये चान्ये गुरुबान्धवाः ॥ १ ॥

अन्येषांच क्रमाज्ज्येष्टास्तेषां पादौ नमाम्यहम् ।
यादृशी भावनातीतं तं गुरुं प्रणमाम्यहम् ।
भ्रान्तश्च भ्रमते लोको निर्भ्रान्तः कृतनिश्चयः ॥ २ ॥

तस्य सिध्यन्ति पुरुषा आदिनाथे व्यवस्थिताः ।
कुलजातिसमायुक्तः सुचरित्रगुणान्वितः ॥ ३ ॥

गुरुभक्तियुतो धीमान् स शिष्य इति कथ्यते ।
आकुलेनादिनाथेन केजापूपीनवासिना ॥ ४ ॥

कृपयैव परं तत्त्वं मीननाथोऽपि बोधतः ।
मीननाथोऽपि सच्छिष्यं प्रत्युवाच समाहितः ॥ ५ ॥

त्वं गुरुस्त्वञ्च शिष्यश्च शिष्यस्य च गुरोरपि ।
नानयोरपि भेदोऽत्र समसिद्धिः प्रजायते ॥ ६ ॥

उमाशङ्करपुत्रोऽहं मीननाथो मुनीश्वरः ।
कथयामि परं तत्त्वं कुलाकुलविबोधकम् ॥ ७ ॥

आधारः स्वाधिष्ठानञ्च मणिपूरमनाहतम् ।
विशुद्धिराज्ञा कौलानि षट् चक्राणि शुभानि च ॥ ८ ॥

आधारश्च गुदे तस्थौ स्वाधिष्ठानञ्च लिङ्गके ।
मणिपूरं नाभिगतं हृदये चाप्यनाहतम् ॥ ९ ॥

विशुद्धिः कण्ठदेशे च आज्ञाचक्रं भ्रुवोर्मुखम् ।
चक्रभेदमिति ज्ञात्वा चक्रातीतं निरञ्जनम् ॥ १० ॥

इडा वहति वामे च पिङ्गला वहति दक्षिणे ।
इडापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्ना सुखरूपिणी ॥ ११ ॥

आधारे लिङ्गनाभौ हृदयसरसिजे तालुमूले ललाटे ।
द्वे पत्र षोडशारे द्विदशदशदले द्वादशार्धे चतुष्के
नासान्ते बालमध्ये डफकठसहिते कण्ठदेशे स्वराणाम् ।
हं क्षं तत्त्वार्थयुक्तं सकलदलगतं वर्णरूपं नमामि ॥ १२

प्राणोऽपानः समानश्च उदानो व्यान एव च ।
पञ्चकर्मेन्द्रिययुक्ताः क्रियाशक्तिसमुद्यताः ॥ १३ ॥

नागः कूर्मश्च कृकरो देवदत्तो धनञ्जयः ।
पञ्चज्ञानेन्द्रियैर्युक्ताः बुद्धिशक्तिसमन्विताः ॥ १४ ॥

पावकश्शक्तिमध्यस्थो नाभिचक्रे रविः स्थितः ।
बन्धमुद्रा कृतास्सर्वे नासाग्रे तु सुलोचनम् ॥ १५ ॥

अकारो वन्हिदेशे च उकारो हृदि संस्थितः
मकारश्चः भ्रुवोर्मध्ये वचनाच्च निबोधयेत् ॥ १६ ॥

ब्रह्मग्रन्थिरधष्कारे विष्णुग्रन्थि हृदि स्थितः ।
रुद्रग्रन्थिर्भ्रुवोर्मध्ये विमुच्यन्ते त्रयस्तथा ॥ १७ ॥

अकारो ब्रह्म इत्याहुः उकारो विष्णुरुच्यते ।
मकारे च शिवं साक्षाच्छान्तेश्शान्ततरं परम् ॥ १८ ॥

कण्ठसंकोचनं कृत्वा द्वे नाड्यौ स्तम्भयेद् दृढम् ।
रसनापीड्यमानास्तु षोडश्श्चोर्ध्वगामिनी ॥ १९ ॥

त्रिकूटं त्रिहठाचैव गोल्हाटं शिखरं तथा ।
त्रिशिखं वज्रमोङ्कार मूर्ध्वनाखं भ्रुवोर्मुखम् ॥ २० ॥

आकुञ्चयेद्रविश्चैव पश्चान्नाडी प्रवर्तते ।
भेदे त्रिहठसंघट्टमुभयोश्शशिदर्शनम् ॥ २१ ॥

प्रणवा गुदनाला च नलिनी सर्पिणी तथा ।
वङ्कनालि क्षया शौरी कुण्डली कुण्डलाः स्मृताः ॥ २२ ।

कुण्डलीं (ली) चालयेत् प्राणो (णान्) भेदिते शशिमण्डले ।
सिध्यन्ति वज्रगुम्भानि नव द्वाराणि बन्धयेत् ।। २३ ।।

सुमनः पावनारूढः स गाढं निर्गुणस्तथा ।
ब्रह्मस्थाननिनादेन शंखिन्यामृतवर्षिणी ।। २४ ।।

षट्चक्रमण्डलोद्धारं ज्ञानदीपं प्रकाशयेत् ।
सर्वेषां स्नापनं देहे क्रियते देवतार्चनम् ।। २५ ।।

चन्द्रामृतेन चिद्रूपमीश्वरं स्नाप्य भक्तितः ।
मनःपुष्पं तथा देयमर्चयेत्परमं शिवम् ।। २६ ।।

आत्मरूपं तमालोक्य ज्ञानरूपं निरामयम् ।
दृश्यते देहरूपेण सर्वव्यापी निरञ्जनः ।। २७ ।।

हंस हंस पदे वाक्यं प्राणिनां देहमाश्रितः ।
सम्प्राणापानयोर्ग्रन्थिरूपे...त्यभिधीयते ।। २८ ।।

सहस्रमेकञ्च युतं षट्छतं चैव सर्वदा ।
उच्चारपदतो हंसः सोऽहमित्यभिधीयते ।। २९ ।।

पूर्वभागे मथो लिङ्गं शंखिन्यां चैव पश्चिमम् ।
ज्योतिर्लिङ्गं भ्रुवोर्मध्ये रक्तशुक्लात्मकं शिवम् ।। ३० ।।

पूर्वपश्चिमदिग्भागे वज्रदण्डे व्यवस्थिते ।
द्वौ षष्टिभोगिनी स्थानं पशाल्लिङ्गं प्रकाशयेत् ।। ३१ ।।

शीताशीतं परं स्थानं मेदोमज्जाभिपूरितम् ।
स्रवति ब्रह्मणः स्थानात् सिञ्चते भुवनत्रयम् ।। ३२ ।।

सर्वव्याधिक्रियाकर्म — वातपित्तसमन्वितम् ।
दशाष्टदोषरहितं मीननाथेन कथ्यते ।। ३३ ।।

।। इति मत्स्येन्द्रनाथविरचितं भक्तिसं (?) सम्पूर्णम् ।।

॥ श्री ॥

श्रीमद्गोरक्षनाथविरचितः

"अमरौघप्रबोधः"

ओं नमोऽस्त्वादिनाथाय मीननाथाय वै नमः ।
नमश्चारङ्गिनाथाय सिद्धबुद्धाय धीमते ॥ १ ॥

लयादिप्रतिपन्नानां कलहोत्सुकचेतसाम् ।
गोरक्षकेण कथितः प्रबोध–प्रत्ययात्मकः ॥ २ ॥

लययोगो हठश्चैव मंत्रयोगस्तृतीयकः ।
चतुर्थो राजयोगश्च द्विधाभवविवर्जितः ॥ ३ ॥

यच्चित्तसन्ततलयः स लयः प्रदिष्टः ।
यस्तु प्रभञ्जनविधानरतो हठस्सः ।
यो मंत्रमूर्तिवशगः स तु मन्त्रयोगः ।
यश्चित्तवृत्तिरहितः स तु राजयोगः ॥ ४ ॥

ओषध्योऽध्यात्मकश्चेति राजयोगो द्विधा क्वचित् ।
हठोऽपि द्विविधः क्वापि वायुबिन्दुनिषेवणात् ॥ ५ ॥

षट्कर्मप्रतिपत्तिहेतुकमिदं मंत्रं न तद् दृश्यते ।
भ्रूनासादिषु कीटवन्न (द) भि मनो मग्नं कथञ्चिद्भवेत ॥
आधारे पवनो न याति विविधादभ्यासतो योगिनाम् ।
नित्यानन्दमयात्प्रभावनिलयाच्छ्रीराजयोगादृते ॥ ६ ॥

नित्यं मंत्रयतो लभेन्न नृपतां (तिः) नैवाधिपत्यं तथा ।
दिव्यस्त्रीनवसङ्गमोऽप्यनुदिनं न ध्यायतो लभ्यते ॥
हस्तिन्यास्तुरगः खराच्च करभः शाल्योदनं कोद्रवात् ।
जायन्ते हठतः कथं वद विभो स्वीयं प्रभावं विना ॥ ७ ॥

केचिन्मूत्रं पिबन्ति प्रमलमशनतः केचिदश्नन्ति लालां ।
केचित्काष्ठीं प्रविष्टो युवतिभगवताद्विन्दुमूर्ध्वं नयन्ति ॥
केचित्खादन्ति धातून्निखिलतनुसिरा वायुसञ्चारदक्षाः ।
नैतेषां देहसिद्धिर्विगतनिजमनो राजयोगादृतेऽस्मात् ॥ ८ ॥

चित्तो समत्वमापन्ने वायौ व्रजति मध्यमे
एषाऽमरोली वज्रोलीतदामति मतेति च (सहजोली प्रजायते) ॥ ९ ॥

तथाच श्रीसम्पुटे :—

विश्राणः पवनं हठान्नियमितं ग्रासोऽस्ति मीनोदरे ।
कैवल्यो भगवान्विमुच्य सहसा यावन्नचेतत्यसौ ॥
तं चोक्त्वा गिरिशेन भाषितमिदं कालो न चेतः परं ।
पार्वत्या सह मीननाथमवदन्नित्यं चिरं जीमहि ॥ १० ॥

यदि जीवेदोषधीभिः संसारे निरुपद्रवे ।
आमयास्ता जराग्रस्ता म्रियन्ते भिषजः कथम् ॥ ११ ॥

चरकानुचरणचतुराश्चटुलधियः सुश्रुतश्रवणलोलाः ।
अमनस्कौषधि.... वा ...ज्या कथमखिलंगतं तत्क्षयो भवति ॥ १२ ॥
बिन्दुनादौ महौषध्यौ विद्येते सर्वजन्तुषु ।
तावविज्ञाय सर्वेऽपि म्रियन्ते गुरुवर्जिताः ॥ १३ ॥

चालयेत्संवृतं वायुं भानुमग्निंच धुक्ष्यति ।
ज्वलन्नसौ चलत्यस्माद्बीजश्चलति पार्वति ॥ १४ ॥

यो जानात्यनयोस्सारं सद्गुरोरुपदेशतः ।
कायक्लेशजराव्याधिपापमृत्युभयं कुतः ॥ १५ ॥

निर्याते चित्तराते व्रजति खररुचौ मेरुमार्गं समन्तात् ।
दुद्रन्ने (?) वन्हिभावे स्रवति शशधरे पूरयत्याशुकाये ॥
उद्यत्यानन्दवृन्दे त्यजति तव ममेत्यादि मोहान्धकारे ।
प्रोद्भिन्ने ब्रह्मरन्ध्रे जयति शिव शिवा सङ्गमः कोप्यपूर्वः ॥ १६ ॥

एक एवामरौघो हि राजयोगाभिधानकः ।
मयादिभिस्समायुक्तश्चतुर्थो दीयते कथम् ॥ १७ ॥

मृदुमध्याध मात्रश्च अधिमात्रतरस्तथा ।
चतुर्धा साधको ज्ञेयस्तत्सोपानमिहोच्यते ॥ १८ ॥

मन्दोत्साही मन्दरागी पराधीनो विदूषकः ।
व्याधिस्थो हीनसत्वश्च ग्र (गृ) हवासी मृदुः स्मृतः ॥ १९ ॥

समबुद्धिः समाभ्यासी समकायः समाश्रयः ।
मध्यस्थः सर्वकार्येषु मध्यसत्वोऽभिधीयते ॥ २० ॥

क्षमावीर्यनयैर्युक्तो वयस्थस्सत्ववानपि ।
स्वाधीनश्च खरश्शूरस्सोऽधिमात्रो निगद्यते ॥ २१ ॥

सर्वशास्त्रकृताभ्यासो मनोज्ञो वीर्यशौर्यवान् ।
निर्मोहस्सर्वसम्पन्नो निर्विकारो महाश्रयः ॥ २२ ॥

अधिमात्रतरस्सोऽपि महाकायः प्रवर्तते ।
तरन्ति च भवाम्भोधिं तारयन्ति परानपि ॥ २३ ॥

मृदवे दीयते मंत्रो मध्याय लय उच्यते ।
अधिमात्रे हठं दद्यादमरौघो महेश्वरे ॥ २४ ॥

तत्र मंत्रम्ः—

अह (ओ) मिति एकाक्षरं मंत्रं तत्सप्रणवादिकम् ।
शिवं शम्भुं हृदि ध्यात्वा द्वादशे भिन्नमण्डले ॥ २५ ॥

एकलक्षजपान्मृत्युं नाशयेदतिदारुणम् ।
दशांशं हवनं कृत्वा क्षौद्रक्षीरघृताम्बुजैः ॥ २६ ॥

अथलयः—

कामरूपे शिवं देवं लिङ्गाभं मणिसन्निभम् ।
स्रवन्तं चामृतरसं यो ध्यायेन्निजविग्रहे ॥ २७ ॥

निरन्तरकृताभ्यासात्पण्मासात् सिद्धिभाग्भवेत् ।
वलीपलितनिर्मुक्तो जीवेदब्दशतत्रयम् ॥ २८ ॥

अथ हठः—

पादमूलेन वामेन योनिं सम्पीड्य दक्षिणम् ।
प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां पूरयेन्मुखे ॥ २९ ॥

कण्ठे बन्धं समारोप्याधाराद्वायुमूर्ध्वतः ।
यथा दण्डाहतस्सर्पो दण्डाकारः प्रजायते ॥ ३० ॥

ऋजुभूता तदा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत् ।
तदासौ मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रिता ॥ ३१ ॥

महारोगा महाक्लेशा जीर्यन्ते मरणादयः ।
महामुद्रांच तेनैनां वदन्ति विबुधोत्तमाः ॥ ३२ ॥

महामुद्राकृता येन साधकाय प्रसिध्यति ।
कथ्यतेऽसौ महाबन्धो जरामरणनाशकः ॥ ३३ ॥

पूरांयत्वा मुखे वायुं हृदय चु (ंच) बुक कृतं ।
निभृतं योनिमाकुञ्चेन्मनो मध्ये नियोजयेत् ॥ ३४ ॥

अयं च सर्वनाडीनामूर्ध्वं गतिविशोधनः ।
त्रिवेणीसङ्गमं कृत्वा केदारं प्रापयेन्मनः ॥ ३५ ॥

रूपलावण्यसम्पन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना ।
महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ॥ ३६ ॥

सव्यं प्रसारितं पादं कराभ्यां धारयेद् दृढम् ।
आन्दोलनं ततः कुर्याच्छरीरस्य त्रिमार्गतः ॥ ३७ ॥

पुनरास्फालनं कुर्यां सुस्थिरं कण्ठमुद्रया ।
वायुना गतिमाहृत्य कृत्वा पूरककुम्भकौ ॥ ३८ ॥

समहस्तयुगो भूत्वा समपादयुगस्तथा ।
वेधयेत्क्रमयोगेन चतुष्पीठं तु वायुना ।। ३९ ।।

आफालयेन्महामेरू वायुवज्राग्निकोटिभिः ।
पुटद्वयं समाक्रम्य वायुः स्फुरति सत्वरम् ।। ४० ।।

सोमसूर्याग्निसम्बन्धं जानीयादमृताय वै ।
मृतावस्था समुत्पन्ना ततो मृत्युभयं कुतः ।। ४१ ।।

एतत्त्रयं महागुण्यं जरामृत्युविनाशनम् ।
अष्टधा क्रियते चैतत् यामे यामे दिने दिने ।। ४२ ।।

वह्निवृद्धिकरं चैव अणिमादिगुणप्रदम् ।
पुण्यं सञ्चयसंहारि पापौघभिदुरं सदा ।। ४३ ।।

सम्यग्शिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधने ।
वह्निस्त्रीपथसेवानामादौ वर्जनमाचरेत् ।। ४४ ।।

आरम्भश्च घटश्चैव प्रत्ययश्च तृतीयकः ।
निष्पत्तिः सर्वयोगेषु योगावस्था चतुर्विधा ।। ४५ ।।

ब्रह्मग्रन्थे भवेद् वेधादानन्दा....न्यसम्भवम् ।
विचित्रक्वणको देहेनाहतः श्रूयते ध्वनिः ।। ४६ ।।

दिव्यदेहश्च तेजस्वी दिव्यगन्धस्त्वरोगवान् ।
सम्पूर्णहृदयश्शूर आरम्भे योगिनो भवेत् ।। ४७ ।।

द्वितीयायां घटीकृत्य वायुर्भवति मध्यगः ।
दृढासनो भवेद्योगी ज्ञानादेव समप्रभः ।। ४८ ।।

विष्णुग्रन्थेस्तथा वेधात् परमानन्दसूचकः ।
अतिशून्ये विमर्दश्च भेरीशब्दस्तथा भवेत् ।। ४९ ।।

तृतीयायां ततो भित्वा विपाको (विहायो) मर्दलध्वनिः ।
महाशून्यं तदा जातं सर्वसन्धि(सिद्धि)समाश्रयम् ।। ५० ।।

चित्तानन्दं ततो जित्वा सहजानन्दसम्भवः ।
दोषमृत्यु-जरा-दुःख-क्षुधा-निद्राविवर्जितः ॥ ५१ ॥

रुद्रग्रन्थिं ततो भित्वा सत्वपीठगतोऽनिलः ।
निष्पत्तौ वैणवश्शब्दः क्वणन्वीत (न्निव) क्वणो भवेत् ॥ ५२ ॥

एकीभूतं तदा चित्तं राजयोगाभिधानकम्
सृष्टिसंहारकर्ताऽसौ योगीश्वरसमोभवेत् ॥ ५३ ॥

न नादो न च बिन्दुश्च न चेतो नाप्यचेतनः ।
नाभ्यासदुस्तरं किञ्चित् राजयोगो निगद्यते ॥ ५४ ॥

लीनं यत्र चराचरं लयवशात् तल्लिङ्गमित्युच्यते ।
सा शक्तिर्यदचिन्त्यरूपगहनाल्लोकत्रयोद्भासिनी ॥
तद्ध्यानं यदशेषवस्तुविषयव्यापारहीनं मनः ।
तत्क्षात्र यदसीमकालपटलध्यानासनं हेलया ॥ ५५ ॥

पञ्चभूतात्मको देहः पञ्चमण्डलपूरितः ।
काठिन्यात्पृथिवी ज्ञेया पानीयं यद्द्रुवाकृतिः ॥ ५६ ॥

दीपनं तु भवेत्तेजः स्पर्शो वायोस्तथा भवेत् ।
आकाशे चेतनं सर्वं ज्ञातव्यं योगमिच्छता ॥ ५७ ॥

षट्च्छतान्यधिकान्यत्र सहस्राण्येकविंशतिः ।
अहोरात्रं वहेच्छ्वासो वायुमण्डलरेचनात् ॥ ५८ ॥

तत्पृथ्वीमण्डले क्षीणे बलिरायाति देहिनाम् ।
तोये क्षीणे तृणानीव चिकुराः पाण्डुराः क्रमात् ॥ ५९ ॥

तेजःक्षीणे क्षुधाकान्तिर्नश्यते मारुते श्लथे ।
वेपथुश्च भवेन्नित्यं साहसेनैव जीवति ॥ ६० ॥

इत्थंभूतक्षयान्मृत्युजीवितं भूतधारणात् ।
प...श्चेद्वर्षशते लक्ष्येन्नान्यथा मरणं भवेत् ॥ ६१ ॥

यामाष्टककृताभ्यासात्सर्वान्छ्वासान् ग्रसत्यसौ ।
स षोडशकलोपेतश्शशी तिष्ठति पूरकान् (त्) ।। ६२ ।।

निस्तरङ्गे स्थिरे चित्ते वायुर्भवति मध्यगः ।
रविरूर्ध्वपदं याति विन्दुना याति वश्यताम् ।। ६३ ।।

आनन्दपूरितो योगी जायते शिवसन्निभः ।
तदेश्वरगुणास्सर्वे दृश्यन्ते दशमासतः ।। ६४ ।।

इत्यमरौघसंसिद्धौ गोरक्षेण प्रकाशितः ।
लयाद्युपायकौशल्यप्रबोधप्रत्ययात्मकः ।। ६५ ।।

सर्वचिन्तां परित्यज्य दिनमेकं परीक्ष्यताम् ।
यदि तत्प्रत्ययो नास्ति तदा मे तु मृषा वचः ।। ६६ ।।

रूमो (?) मरीचि खद्योत दीपज्वालेन्दु भास्कराः ।
अमी कला महाविम्बं विश्वविम्बं प्रकाशते ।। ६७ ।।

प्रबोधं यो न जानाति सोऽमरौघं न विन्दति ।
समीभावे समुत्पन्ने चित्ते द्वैतविवर्जिते ।। ६८ ।।

अहं ममेत्यपीत्युक्त्वा सोऽमरौघं विचिन्तयेत् ।
चित्तं जीवितमित्याहुरचित्तं मरणं विदुः ।। ६९ ।।

चित्ताचित्ते समीभूते जीवन्मुक्तिरिहोच्यते ।
यत्र स्वभावसद्भावो भाषितुं नैव शक्यते ।। ७० ।।

न जीवति ततः कोऽपि न च कोऽपि मरिष्यति ।
राजयोगं पदं प्राप्य सर्वसत्ववशङ्करम् ।। ७१ ।।

सर्वं कुर्यान्न कुर्याद्वा यथारुचि विचेष्टितम् ।
नग्नः कोऽपि गुहासु दिव्यवसनः कौपीनवासाः क्वचित् ।
दिव्यस्त्रीसुरतान्वितोऽपि कुहचित्स ब्रह्मचारी क्वचित् ।

भिक्षाहाररतः क्वचित् क्वचिदपि प्राप्नोति भोगास्पदम् ।
सर्वत्राप्रतिबद्धवृत्तिरखिलक्लेशापहा योगिराट् ।। ७२ ।।

श्रीमद्गोरक्षनाथेन सदामरौघवर्तिना ।
लयमंत्रहठाः प्रोक्ताः राजयोगाय केवलम् ।। ७३ ।।

कायेनैव परीक्षेत वाक्पटुः किं करिष्यति ।
चिकित्सापाठमात्रेण रोगिणः किं करिष्यति ।। ७४ ।।

।। इति श्रीमद्गोरक्षनाथविरचितं —
अमरौघप्रबोधं सम्पूर्णम् ।।

॥ अथ योगमार्तण्डग्रन्थः प्रारम्भः ॥

द्विजचोदितशंखस्य (शाखस्य) श्रुतिकल्पतरोः फलं ।
शमनं भवतापस्य योगं सेवत सत्तमाः ॥ १ ॥

आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा ।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि भवन्ति षट् ॥ २ ॥

आसनानि च तावन्ति यावन्तो जीवजन्तवः ।
एतेषां लक्षणं भेदं विजानाति महेश्वरः ॥ ३ ॥

चतुराशीतिलक्षाणामेकमेकमुदाहृतम् ।
ततः शिवेन पीठानां षोडशानो शतं कृतम् ॥ ४ ॥

आसनेभ्यः समस्तेभ्यः द्वयमेव विशिष्यते ।
एकं स्वस्थासनं (सिद्धासनं) प्रोक्तं द्वितीयं कमलासनम् ॥ ५ ॥

योनिस्थानेकमंघ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसेत् ।
मेढ्रे पादमथैकमेव हृदये कृत्वा समं विग्रहं ॥ ६ ॥

स्थाणुः संयमितेंद्रियोऽचलदृशो सश्येद्धु (पश्येद्धु) वोरन्तरम् ।
चैतन् मोक्षकवाटभेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते ॥ ७ ॥

वामोरूपरि दक्षिणं च चरणं विन्यस्य वामं तथा ।
नाम्यो (दक्षो)रूपरि पश्चिमेन घटिता धृत्वा कराभ्यां दृढम् ॥ ८ ॥

अङ्गुष्ठे (ष्ठौ) हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकयेत् ।
एतद् व्याधिविकारहारि यमिनां पद्मासनं प्रोच्यते ॥ ९ ॥

आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम् ।
योनिस्थाने तयोर्मध्ये कामरूपं निगद्यते ॥ १० ॥

आधाराख्ये गुदस्थाने पङ्कजं यच्चतुर्दलम् ।
तन्मध्ये प्रोच्यते योनिः कामाख्या सिद्धवन्दिता ॥ ११ ॥

योनिमध्ये महालिङ्गं पश्चिमाभिमुखं स्थितम् ।
मस्तके मणिमद्भिन्नं (वद्बिम्बं) यो जानाति स योगवित् ॥ १२ ॥

तप्तचामीकराभासं तडिल्लेखेव विस्फुरत् ।
त्रिकोणं तत्पुरं वह्नेः अधो (धो) मेढ़ प्रदेशतः (मेढ्रात्प्रातिष्ठितम्)
स्व शब्देन भवेत्प्राणः स्वाधिष्ठानमिति स्मृतम् ॥ १३ ॥

स्वाधिष्ठानमिदं चक्रं मेढ्रमेव निगद्यते ।
तन्तुना मणिवत्प्रोक्तं (तं) पूर्यते यत्र वायुना ॥
तं नाभिमण्डलं चक्रं प्रोच्यते मणिपूरकम् ॥ १४ ॥

द्वादशारे महाचक्रे पुण्य – पाप – विवर्जिते ।
तावज्जनो भ्रमत्येव यावत्तत्त्वं न विन्दति ॥ १५ ॥

ऊर्ध्वं मेढ्रादधो नाभेः कन्दो योऽस्ति (निः) खगांडवत् ।
तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणि द्विसप्ततिः ॥ १६ ॥

तेषु नाडीसहस्रेषु द्विसप्ततिरुदाहृता ।
प्रधानाः प्राणवाहिन्यो भवस्तत्र दश स्मृता ॥ १७ ॥

इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्ना च तृतीयकम् ।
गान्धारी हस्तजिह्वाच पूषा चैव पयस्विनी ॥ १८ ॥

अलम्बुषा कुहूश्चैव शंखिनी दशमी स्मृताः ।
एवं नाडीमयं चक्रं ज्ञातव्यं योगिभिः सदा ॥ १९ ॥

सततं प्राणवाहिन्यश्चन्द्रसूर्याग्निदेवताः ।
इडा पिङ्गला सुषुम्नेति तिस्रो नाड्य उदीरिताः ॥ २० ॥

इडा वामे स्थिता भागे पिङ्गला दक्षिणे तथा ।
सुषुम्ना मध्यदेशे तु प्राणमार्गास्त्रयः स्मृताः ॥ २१ ॥

प्राणापानसमानश्च उदानो व्यान एव च ।
नागः कूर्मोऽथ कृकरो देवदत्तो धनञ्जयः ॥ २२ ॥

हृदि प्राणो वशी नित्यं अपानो गुदमण्डले।
समानो नाभिदेशे तु उदानः कण्ठमध्यगः ॥ २३ ॥

व्यानो व्याप्य शरीरे तु प्रधाना पञ्च वायवः
प्राणाद्याः पञ्च विख्याताः नागाद्याः पञ्चवायवः ॥ २४ ॥

नागो गृह्णन्ति पञ्चैताः कूर्म उन्मीलने स्थितः।
क्षुधं करोति कृकरो देवदत्तो विजृम्भणे ॥ २५ ॥

वृत्तं धनञ्जयः शब्दे क्षणमात्रं न निश्चयेत्।
एवं नाडीसहस्रेषु वर्तन्ते जीवरूपिणः ॥ २६ ॥

प्राणापानवशाच्छ्वासो अधश्चोर्द्ध्वं प्रधावति।
वामदक्षिणमार्गेण चञ्चलत्वान्न दृश्यते ॥ २७ ॥

आक्षिप्तो भुविपाशेन (भुजदण्डेन) यथा चलति कन्दुकः।
प्राणापानसमुत्क्षिप्तस्तत्त्व ('था) जीवो न विश्रमेत् ॥ २८ ।

रज्जुबंधे यथान्योऽन्यो (श्येनो) गतोऽप्याकृष्यते पुनः।
गुणबन्धस्तथा जीवः प्राणापानेन कृष्यते ॥ २९ ॥

प्राणेनाकृष्यतेऽपानः प्राणोऽपानेन कृष्यते।
उर्ध्वं चाधःस्थितावेतौ यो जानाति स योगवित् ॥ ३० ॥

हंकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः।
हंसो हंसेत्यमुं मंत्रं जीवो जपति सर्वदा ॥ ३१ ॥

षट्च्छतान्यहोरात्रं सहस्राण्येकविंशतिः।
एतत्संख्यान्वितं मंत्रं जीवो जपति सर्वदा ॥ ३२ ॥

अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदाय (यि) का।
अस्य संकल्पमात्रेण नरः पापैः प्रमुच्यते ॥ ३३ ॥

अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः ।
अनया सदृशं पुण्यं न भूतो न भविष्यति ॥ ३४ ॥

कुण्डलिन्या समुत्पन्ना गायत्री प्राणधारिणी ।
प्रणवाद्यास्तथा (प्राणविद्यामहा) विद्या यस्तं वेद स वेदवित् ॥ ३५ ॥

कन्दोर्ध्वं कुण्डली शक्तिः अष्टधा कुण्डलीकृता ।
ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेन चाध्य (आच्छाद्य) वतिष्ठति ॥ ३६ ॥

योगमार्गेण (येनद्वारेण) गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम् ।
मुखेनाभ्युद्यते तत्र प्रसन्ना (मुखेनाच्छाद्य तद् द्वारं प्रसुप्ता)
परमेश्वरी ॥ ३७ ॥

प्रस्फुरद्भुजगाकारा पद्मतन्तुनिभा शुभा ।
प्रसुप्ता वायुना सार्धं प्रबोधं यान्ति साग्निना ॥ ३८ ॥

प्रबुद्धावग्नियोगेन मनसा मरुता सह ।
सूचीव गुणमादाय व्रजत्युर्ध्वं सुषुम्नया ॥ ३९ ॥

उद्घाटयेत् कवाटं तु यथा कुम्भि (ञ्चि) कया हठात् ।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षमार्गं प्रभेदयेत् ॥ ४० ॥

कृत्वा संघटितौ करौ दृढतरं बध्वा तु पद्मासनम् ।
गाढं वक्षसि सन्निधाय चिबुकं ध्यानं ततश्चेतसा ॥ ४१ ॥

पारं वा...समूर्ध्नि (वारं वारमपानमुर्ध्वं) मनिलं प्रोच्चालयन् पूरितम् ।
प्राणं मुञ्चति रोधमेति शनकैः शक्तिप्रबोधान्नरः ॥ ४२ ॥

अङ्गानां मर्दनं कुर्यात्स्वेदवारिनिवारणम् ।
दृढता लघुता चापि तेन गात्रस्य जायते ॥ ४३ ॥

कट्वम्ललवणत्यागी क्षीरभोजनमाचरेत् ।
ब्रह्मचारी मिताहारी योगी योगपरायणः ॥ ४४ ॥

कन्दोर्ध्वं कुण्डली शक्तिरष्टधा कुण्डलीकृता ।
बन्धनाय च मूढानां योगिनां मोक्षदायिका ॥ ४५ ॥

महामुद्रा नभोमुद्रा ओड्याणं च जलन्धरम् ।
मूलबन्धं च यो वेत्ति स योगी सिद्धिभाग् भवेत् ।। ४६ ।।

अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपूरीषयोः ।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ।। ४७ ।।

पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम् ।
अपानमुर्ध्वमाकृष्य मूलबन्ध निगद्यते ।। ४८ ।।

ओड्याणं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः ।
ओड्याणं च तथैव स्यात्तत्र बद्धो विधीयते ।। ४९ ।।

उदरात्पश्चिमे भागे अधो नाभेस्तथा युते ।
ओड्याणाख्यो स्वयं बद्धो मृत्युमातङ्गकेसरी ।। ५० ।।

बध्नाति हि शिराजालं अधो नाभिं नभोजलम् ।
ततो जालन्धरो बन्धः कण्ठदुःखौघनाशनः ।। ५१ ।।

जालन्धरे कृते बद्धे कर्ण (कण्ठ) संकोचलक्षणे ।
पीयूषं न पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ।। ५२ ।।

चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति गे गता ।
कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।। ५३ ।।

भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टि मुद्रा भवति खेशरी ।। ५४ ।।

न रोगो मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा ।
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ।। ५५ ।।

तेनैषा खेचरी मुद्रा सर्वलिद्धैर्नमस्कृता ।
गुदमूल शरीराणां (बिन्दूमूल शरीरं यः) शिरस्तत्र प्रतिष्ठिसम् ।। ५६ ।।

भावयन्ति शरीराणां (शरीरं यः) आपादतलमस्तकः ।
खेचरीं (यां) मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः ।। ५७ ।।

न तस्य क्षरते बिन्दुः कामिन्याश्लेषितस्य च ।
यावद्बिन्दुः स्थितो देही (हे) तावन्मृत्युभयं कुतः ।। ५८ ।।

यावद्बद्धा नभो मुद्रा तावद्बिन्दुर्न गच्छति ।
चरितोऽपि यदा विन्दुः संप्राप्तस्य हुताशनम् ॥ ५९ ॥

व्रजमूर्ध्वं तथा शक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया ।
सततं द्विविधो विन्दुः पाण्डुरो लोहितस्तथा ॥ ६० ॥

पाण्डुरं शुक्लमित्याहुः लोहिताख्यं महारजः
सिन्धूररजसंकाशं रविस्थाने स्थितं रजः ॥ ६१ ॥

शक्तिस्थाने स्थितो विन्दुस्तयोरैक्यं सुदुर्लभम् ।
बिन्दुः शिवो रजश्शक्तिः लम्बे यदारजः (विन्दुरिन्दुः रजो रविः)॥६२॥

यदा रजः विन्दोः सहैकत्वं भवेद्दिव्यं वपुस्तथा ।
सुप्रभया संगमादेव ताप्यते ह्यमुत्रपदम् ।
वायुना शक्तिं चालयेदिन्दु विन्दु रजो रविः ॥ ६३ ॥

शुक्रं चन्द्रेण संयुक्तं रजस्सूर्येण संयुतम् ।
द्वयोस्समरसैकत्वं यो जानाति स योगवित् ॥ ६४ ॥

शोधनं नाडिजालस्य चालनं चन्द्रसूर्ययोः ।
रसना शोषणं चैव महामुद्रां च योऽभ्यसेत् ॥ ६५ ॥

हंस (वक्ष) न्यस्त हनुः प्रपीडयत रसाः (सुचिरं) योनिं च वामांघ्रिणा ।
हस्ताभ्यां हनुं धारयेत् प्रसारितं पादं तथा दक्षिणम् ॥ ६६ ॥

आपूर्य श्वसनेन कुक्षिविवरं बध्वा शनैः रेचयेत् ।
सर्वव्याधिविनाशिनीति महती मुद्रा नृणां प्रोच्यते ॥ ६७ ॥

सूर्याङ्गेण समभ्यस्य चन्द्राङ्गेणाभ्यसेत्पुनः
यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥ ६८ ॥

न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते ॥ ६९ ॥

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्मशूलज्वरव्यथा ।
रोगाः सर्वे क्षयं यान्ति महामुद्रां च योऽभ्यसेत् ॥ ७० ॥

कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरा नृणाम् ।
गोपनीयं प्रयत्नेन न देयं यस्य कस्यचित् ।। ७१ ।।

पद्मासनं समारुह्य समकायशिरोदरः ।
नासाग्रे दृष्टिरेकाकी जीवे (जपेत्) दोङ्कारमव्ययम् ।। ७२ ।।

भूर्भुवः स्वरिमे लोकाश्चन्द्रसूर्याग्निदेवताः ।
त्रयो वर्णा स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ।। ७३ ।।

अकारश्च उकारश्च मकारो बिन्दु—संज्ञकः ।
त्रयो वर्णाः स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ।। ७४ ।।

त्रयः काला स्त्रयो लोकास्त्रयो वेदास्त्रयो स्वराः ।
त्रयो देवा स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ।। ७५ ।।

वचसा यज्जपेद्बीजं वपुषा यत्समभ्यसेत् ।
मनसा यत्स्मरेन्नित्यं तत्परं ज्योतिरीमिति ।। ७६ ।।

शुचिर्वाप्यशुचिर्वापि जपेदोङ्कारमव्ययम् ।
न स लिप्यति पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ।। ७७ ।।

चले वाते चलेत्सर्वं निश्चले निश्चलं तथा ।
योनिस्थानमवाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत् ।। ७८ ।।

यावद्वायुः स्थितो देहे तावज्जीवं न मुञ्चति ।
मरणं तस्य निष्प्राणः ततो वायुं निरोधयेत् ।। ७९ ।।

यावद्बद्धो मरुद्देहे तावच्चित्तं निरामयम् ।
यावच्चक्षु र्भ्रुवोर्मध्ये तावत्कालभयं कुतः ।। ८० ।।

अतः मृ (का) लभयाद्ब्रह्म प्राणायामपरायणः ।
योगिनामुत्तमश्चैव ततो वायुं निरोधयेत् ।। ८१ ।।

षट्त्रिंशदङ्गुलो हंसः प्रयाणं कुरुते बहिः ।
वामदक्षिणभागेन ततः प्राणो निधीयते ।। ८२ ।।

शुद्धीयेत् (द्धमेति) यदा सर्वं नाडिचालं महाजलम् (मलाकुलम्) ।
तथै (दै) व जायते योगी समप्राण निरोधने (प्राणसंग्रहणेक्षमः)
॥ ८३ ॥

बद्धः पद्मासने योगी प्राणं चन्द्रेण पूरयेत् ।
धारयित्वा यदाशक्ति पुनः सूर्येण रेचयेत् ॥ ८४ ॥

अमृतद्रवसंकाशं गोक्षीरधवलोपमम् ।
ध्यात्वा चन्द्रमयं बिम्बं प्राणायामे (मी) सुखो (खी) भवेत् ॥ ८५ ॥

प्राणं सूर्येण चाकृष्य पूरयेदुदरं शनैः ।
कुम्भयित्वा विधानेन पुनश्चन्द्रेण रेचयेत् ॥ ८६ ॥

प्रज्वल–ज्वलन–ज्वाला–पुंजमादित्यमण्डलम् ।
ध्यात्वा नाभिस्थितं योगी प्राणायामे सुखी भवेत् ॥ ८७ ॥

प्राणं चेदिल (ड) यापि प्रवेश्य च तं भूयोन्यया रेचयेत् ।
पीत्वा पिङ्गलया समीरणचयं बध्वा त्यजेद्वामया ॥ ८८ ॥

सूर्याचन्द्रमसोरनेन विधिना बिम्बद्वयं ध्यायतां ।
शुद्धा नाडिगणा भवन्ति यमिनां मासत्रयादूर्ध्वजः ॥ ८९ ॥

यथेष्टं धारणा वायोरनलस्य प्रदीपनम् ।
नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधनात् ॥ ९० ॥

प्राणो देहे स्थितो वायुरपानस्य निबन्धनम् ।
एकस्य श्वसने मात्रमुद्घाटेद्गमने गतिः ॥ ९१ ॥

रेचकः पूरकश्चैव कुम्भकः प्रणवात्मकः ।
प्राणायामो भवेत् त्रेधा मात्रा द्वादश संस्कृताः ॥ ९२ ॥

मात्रा द्वादशसंयुक्ता दिवाकरनिशाकरौ ।
दोषजालं विनिघ्नन्तौ ज्ञातव्यो योगिभिस्सदा ॥ ९३ ॥

अधमो द्वादश प्रोक्तो मध्यमो द्विगुणः स्मृतः ।
उत्तमस्त्रिगुणः प्रोक्तः प्राणायामस्य निर्णयः ॥ ९४ ॥

अधमस्याधमो धर्मः कम्पो भवति मध्यमः ।
उत्तमाःस्थाणुमाप्नोति ततो वायुं निरुन्धयेत् ।। ९५ ।।

बद्धपद्मासनो योगी नमस्कृत्वा गुरुं शिवम् ।
नासाग्रे दृष्टिमादाय प्राणायामं समभ्यसेत् ।। ९६ ।।

द्वाराणां नर(व)कं निरुध्य पवनं जित्वा दृढं धारयेत् ।
नीलाकाशमपानवह्निसहितं शक्त्या समुच्चालितम् ।। ९७ ।।

उर्ध्वमाकृष्य चापानं वायुं प्राणेन योजयेत् ।
अपानेन धत्ते प्राणं सर्वपापैः प्रमुच्यते ।। ९८ ।।

आत्मध्यानयुतं त्वनेन विधिना साभ्यासमूर्ध्वं सुखम् ।
यावत्तिष्ठति तावदेव महता सांख्येन संस्तूयते ।। ९९ ।।

प्राणायामे भवत्येषा पातके घन पावकः ।
भवेद्व्याधिमहासेतुः प्रोच्यते योगिभिस्सदा ।। १०० ।।

आसने मरुतो हन्ति प्राणायामेन पातकम् ।
विकारं मानसं हन्ति प्रत्याहारेण योगवित् ।। १०१ ।।

धारणायां मनोधैर्यं ध्यानादैश्वर्यमद्भुतम् ।
समाधेर्मोक्षमाप्नोति त्यक्त्वा कर्मशुभाशुभम् ।। १०२ ।।

प्राणायामद्विषट्केन प्रत्याहारः स उच्यते ।
प्रत्याहारद्विषट्केण जायते धारणा शुभा ।। १०३ ।।

धारणा द्वादश प्रोक्तं ध्यानं ध्यानविशारदैः ।।
ध्यानद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते ।। १०४ ।।

यस्समाधिः परं ज्योतिः सर्वाङ्गं विश्वतोमुखम् ।
तस्माद्द्रष्टुं क्रिया कार्या यातायातं निपातिते ।। १०५ ।।

संबध्यासनमूलमंघ्रिघटितं कर्णाक्षिनासापुट-
द्वाराण्यङ्गुलिभिर्नियम्य पवनं वक्त्रेण वा पूरितम् ।। १०६ ।।

धृत्वा वक्षसि वह्निवायुसहितं घूर्णिस्थितं धारयेत् ।
एवं याति शिवेन तत्र समता योगी चिरं जीवति ।। १०७ ।।

गगनं पावने प्राप्ते ध्वनिरुत्पद्यतेततो महान् ।
गंडादिनादं गम्भीरं सिद्धिस्तस्य न दूरतः ।। १०८ ।।

प्राणायामेन युक्तेन सर्वपापक्षयो भवेत् ।
अयुक्ताभ्यासयुक्तेन सर्वरोगसमुद्भवः ।। १०९ ।।

हिक्काश्वास्यं तथा कासं शिरःकर्णाक्षिवेदना ।
भवन्त्यविधिना दोषाः पवनस्य व्यतिक्रमात् ।। ११० ।।

यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश शनैः शनैः ।
अन्यथा हन्ति योक्तारं तथा वायुरसेवितः ।। १११ ।।

युक्तं युक्तं त्यजेद्वायुं युक्तं युक्तं च पूरयेत् ।
युक्तं युक्तं च बध्नीयात् एवं सिद्धिं निगच्छति ।। ११२ ।।

चरतां चक्षुरादीनां विषयेषु यथाक्रमम् ।
यत्प्रत्याहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते ।। ११३ ।।

यथा तृतीयकालस्थो रविः संहरते प्रभाः ।
तृतीयाङ्गस्थितो योगी विकारं मानसं तथा ।। ११४ ।।

अङ्गमध्ये यथाङ्गानि कूर्मः संकोचमाचरेत् ।
योगी प्रत्याहरेच्चैव इन्द्रियाणि तथात्मनि ।। ११५ ।।

यं यं श्रृणोति कर्णाभ्यां प्रियं वाप्यथवाऽप्रियम् ।
तं तमात्मेति संपश्यन् प्रत्याहारस्स उच्यते ।। ११६ ।।

सुखमुष्णं समं दुःखं वाचा संस्पृश्यते तु यत् ।
तं तमात्मेति संपश्यन् प्रत्याहारः स उच्यते ।। ११७ ।।

अगन्धमथवा गन्धं यं यं जिघ्रेति नासया ।
तं तमात्मेति संपश्यन् प्रत्याहारः स उच्यते ।। ११८ ।।

चन्द्रामृतमयीं धारां प्रत्याहरति भास्करः ।
तं प्रत्याहरणं यं तु प्रत्याहारः स उच्यते ॥ ११९ ॥

एकांस्त्रि युज्यते त्वाभ्यां आगता सोममण्डलात् ।
तृतीयो यः पुनस्ताभ्यां स भवेच्चाजरामरः ॥ १२० ॥

नाभिमध्ये वसत्येषा भास्करो दहनात्मकः ।
अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमध्ये तु चन्द्रमाः ॥ १२१ ॥

वर्षत्यधोमुखं चन्द्रो ग्रसत्यूर्ध्वमूखो रविः ।
विज्ञातस्य करणं तत्र येन पीयूषमाप्यते ॥ १२२ ॥

ऊर्ध्वं नाभिरधस्तालु ऊर्ध्वं भानुरधश्शशी ।
करणं विपरीताख्यं गुरुवाक्येन लभ्यते ॥ १२३ ॥

त्रिधा बद्धो वृषो यत्र रोरवीति महान् पुनः
अनाहतं च तच्चक्रं योगिनो ह्यतिदुःखभित् ॥ १२४ ॥

अनाहतमतिक्रम्य नाकृष्य मणिपूरकात् ।
प्राप्ते प्राणि तथा पद्मं योगिनाममृतायते ॥ १२५ ॥

ऊर्ध्वं षोडशपद्मपत्रगलितं प्राणादवाप्तं हठात् ।
ऊर्ध्वास्ये रसनां नियम्य विवरे शक्तो परां चिन्तयन् ॥ १२६

उत्कल्लोलकलाजलं सुविमलं जिह्वाकुलं यः पिबेत् ।
निर्दोषस्य मृणालकोमलवपुः योगी चिरं जीवति ॥ १२७ ॥

काकचञ्चुपुटास्येन शीतलं सलिलं पिबेत् ।
मासार्धेन संमोहो सर्वरोगविवर्जितः ॥ १२८ ॥

विशुद्धं परमं चक्रं भूत्वा सोमकलात्मकम् ।
उन्मार्गेनात्र जलं याति वञ्चयित्वा मुखे रवौ ॥ १२९ ॥

प्राणापानविधानेन योगी भवति निर्जरः ।
रसनातालुमूलेन य प्राणं सततं पिबेत् ॥ १३० ॥

बध्वा सोमकलाजलं सुविमलं कर्णस्थलादूर्ध्वतो ।
नासान्तो सुचिरेण याति गमनद्वारं ततः सर्वतः ॥ १३१ ॥

ऊर्ध्वास्ये भ्रुवसन्निवेश नयने सिक्ताङ्गगात्रं पिबेत् ।
एवं यो विजितेन्द्रियमना नवास्ति तस्य क्षयः ॥ १३२ ॥

ऊर्ध्वजिव्हास्ततो भूत्वा सोमपानं करोति यः ।
मासार्धे नात्र सन्देहो मृत्युं जयतु योगवित् ॥ १३३ ॥

सम्पीड्य रसनाग्रेण राजदण्डैर्बिलं महत्
ध्यात्वामृतमयीं देवीं षण्मासेन कविर्भवेत् ॥ १३४ ॥

बध्नंमूर्ध्वफलं येन तेन विष्णुं निवारितम् ।
अजरामरमाप्नोति यथा पञ्चमुखो हरः ॥ १३५ ॥

आसनेन समायुक्तः प्राणायामेन च संयुतः ।
प्रत्याहारेण सम्पन्नो धारणं च समभ्यसेत् ॥ १३६ ॥

सर्वद्वाराणि बध्नाति यदूर्ध्वंतु बिलं धृतम् ।
न मज्जत्यत्यमृतं क्वापि सम्पन्नाः पञ्चधारणाः ॥ १३७ ॥

चुं.........तायद्धि लम्बिकाग्रमनिशं जिह्वा रसस्यन्दिनी ।
स क्षीराकटुकाथदुग्धसदशा मध्वाज्यतुल्योधवो ॥ १३८ ॥

याधिनां हरणं जरान्तकरणं शास्त्रागमो धीरणम् ।
तस्य स्यादमृतत्वमष्टगुणकं सिद्धाङ्गनाकर्षणम् ॥ १३९ ॥

अमृतं पूर्णदेहस्य योगिनो द्वित्रिवत्सरात् ।
ऊर्ध्वं प्रवर्तते तस्य अणिमादिगुणोदयः ॥ १४० ॥

नित्यं सोमकलापूर्णं देही देहं न मुञ्चति ।
आसनेन समायुक्तः प्राणायामेन संयुतः ॥
प्रत्याहरणसम्पन्नः धारणं च समभ्यसेत् ॥ १४१ ॥

भूरादिपंचभूतानां धारणा च पृथक् पृथक् ।
मनसो निश्चलत्वेन धारणा च विधीयते ॥ १४२ ॥

यः पृथ्वी हरितालहेमरुधिरातत्वेलकारान्वितम् ।
संयुक्तं कमलासनेन हि चतुःकोणा हरिस्थायिनी ॥ १४३ ॥

प्राणं तत्र विनीय्य पंच घटिकाचित्तान्वितं धारयेत् ।
येषां स्तंभकरी सदा क्षितिजयाकुर्यात्ततो धारणा ॥ १४४ ॥

अर्धेन्दुप्रतिमं च कुन्दधवलं कर्णे च तत्त्वस्थितं ।
तत्पीयूषवकारबीजसहितं युक्तं सदा विष्णुना ॥ १४५ ॥

प्राणं तत्र विलीय्या पंचघटिकाचित्तान्वितं धारयेत् ।
विषाग्निः सह कालकूट रजिना तद्वारुणी धारणा ॥ १४६ ॥

तालौ संस्थितमिन्द्रगोपसदृशं तत्वं त्रिकोणान्वितम्
तेजो रेफमयं प्रवालरुचिरं रुद्रेण सत्संगतम् ॥ १४७ ॥

प्राणं तत्र विलीन पंच घटिका चित्तान्वितं धारणा ॥ १४८ ॥

तेषां वह्निमसंसलं ज्वलते वैश्वानरी धारणा ।
यद्भिन्नांजनपुंजसन्निभमिदं दृष्ट्वा भ्रुवोरन्तरे ॥ १४९ ॥

तत्त्वं सत्यमयं यकारसहितं यत्रेश्वरो देवता ।
प्राणं तत्र विनीय्य पंचघटिका चित्तान्वितं धारयेत् ॥ १५० ॥

येषां योगमनं (लं) करोति यमिनां सा वायवी धारणा ।
आकाशं शुचिशुद्ध वा सदृशं यद्ब्रह्मरन्ध्रस्थितम् ॥ १५१ ॥

तन्मध्ये सदाशिवेन सहितं युक्तं यकाराक्षरम् ।
प्राणं तत्रविलीनपंचघटिका चित्तान्वितं धारयेत् ॥ १५२ ॥

तेषां मोक्षकवाटभेदनपटुः प्रोक्ता नभोधारणा ।
स्तम्भी निद्रा — चैव दाहिनी भ्रामिणी तथा ॥ १५३ ॥

शोषणा च भवत्येषा भूतानां पञ्चधारणा ॥ १५४ ॥

कर्णानां मधुरस्सर्वा धारणा पञ्च दुर्लभाः ।
विज्ञाताः सततं येन सर्व पापैः प्रमुच्यते ॥ १५५ ॥

सर्व छित्वा समायुक्तं योगिनो हृदि वर्तते ॥
यस्तत्त्वे निश्चलं चेतः तद्ध्यानं च प्रचक्षते ॥ १५६ ॥

द्विधा भवति तद्ध्यानं सगुण निर्गुणं तथा ।
सगुणं वर्णभेदेन निर्गुणं केवलं विदुः ॥ १५७ ॥

अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानिच ।
एकस्य ध्यानयोगेन कलां नार्हन्ति षोडशीं ॥ १५८ ॥

अन्तश्चेता बहिश्चक्षुरधिष्ठाय सुखासनम् ।
समत्वंच शरीरस्य ध्यानमुद्रेति कीर्तिता ॥ १५९ ॥

आधारं प्रथमं चक्रं तप्तकाञ्चनसन्निभम् ।
नासाग्रे दृष्टिमादाय ध्यात्वा मुञ्चति किल्बिषम् ॥ १६० ॥

स्वाधिष्ठानं द्वितीयं च सन्माणिक्यशिखोपमम् ।
नासाग्रे दृष्टिमादाय ध्यात्वा संशोभते जगत् ॥ १६१ ॥

हृदाकाशस्थितं चक्रं प्रचण्डरवितेजनम् ।
नासाग्रे दृष्टिमादाय ध्यात्वा ब्रह्ममयो भवेत् ॥ १६२ ॥

सततं कर्णिकामध्ये विशुद्धं चक्रमुच्यते ।
नासाग्रे दृष्टिमादाय ध्यात्वा दुःखात्प्रमुच्यते ॥ १६३ ॥

स्रवत्पीयूषसम्पूर्णं लम्बिके चन्द्रमण्डलम् ।
नासाग्रे दृष्टिमादाय ध्यात्वा मृत्युं प्रमुञ्चति ॥ १६४ ॥

भ्रुवोर्मध्ये स्थितं देवं स्निग्धमौक्तिकसन्निभम् ।
नासाग्रे दृष्टिमादाय ध्यात्वानन्दमयं भवेत् ॥ १६५ ॥

ध्यानेन लक्षणं नित्यं भ्रूमध्ये परमेश्वरम् ।
आत्मना वर्जितं प्राण योगी योगमवाप्नुयात् ॥ १६६ ॥

निर्गुणञ्च शिवं शान्तं गगने विश्वतोमुखम् ।
भ्रूमध्ये दृष्टिमादाय ध्यात्वा ब्रह्ममयो भवेत् ॥ १६७ ॥

निर्मलं गगनाकारं मरीचिजलसन्निभम् ।
आत्मानं सर्वगं ध्यात्वा योगी योगमवाप्नुयात् ॥ १६८ ॥

गुदं मेढ्रश्च नाभिश्च हृदयं चक्रमूर्ध्वतः ।
घंटिका लम्बिका स्थानं भ्रमध्यश्च नभोबिलम् ॥ १६९ ॥

कथितानि चैवैतानि ध्यानस्थानानि योगिनाम् ।
उपाधितत्त्वयुक्तानि कुर्वन्त्यष्टगुणोदयम् ॥ १७० ॥

उपातिष्ठितया तत्त्वं द्वयमेतमुदाहृतम् ।
उपाधि प्रोच्यते वर्णः तत्त्वमात्माभिधीयते ॥ १७१ ॥

उपाधिरन्यथा ज्ञानं तत्त्व संस्थितिरन्यथा ।
समस्तोपाधि निर्मुक्तं तत्तत्त्वं योगिनो विदुः ॥ १७२ ॥

शब्दादीनां च तन्मात्रं यावत्कर्मादिषु स्थितम् ।
उपाधिवर्णयोगेन दृश्यते स्फटिको मणिः ॥ १७३ ॥

युक्तयः शक्तिभेदेन तत्सदात्म प्रकाशिते ।
विरजं परमाकाशं यद्यदक्षरमव्ययम् ।
स्तौति श्रुतिकृतिरहोरात्रं तत्त्वं तत्त्वविदोविदुः ॥ १७४ ॥

तावद्व्यवस्थितं ध्यानं तत्समाधिपरं तपः ।
धारणं पञ्च नाड्यस्तु ध्यानं षट् चैव नाडिकाः ॥ १७५ ॥

ये द्वादशचक्रेनैव समाधि प्राणसंयमः ।
अम्बुसैन्धवयोस्साम्यं यदा भवति योगतः ।
तथात्ममनसोरैक्यं समाधिः सोऽभिधीयते ॥ १७६ ॥

यथा संक्षीयते प्राणो मानसश्च विलीयते ।
तथा समरसैकत्वं समाधिः सोऽभिधीयते ॥ १७७ ॥

इन्द्रियाणि मनोवृत्तिरपरोक्षेपयाहि सः ।
अद्वयत्वं गते जीवे न मनो इन्द्रियाणि च ॥ १७८ ॥

न गन्धो न रसं रूपं न स्पर्शो न च निस्वनः ।
नात्मानञ्च परं वेद योगयुक्तः समाधिना ॥ १७९ ॥

अभेद्यः सर्वशास्त्राणां अबाध्यः सर्वदेहिनाम् ।
बाध्यते न च कालेन बाध्यते न च कर्मणा ॥ १८० ॥

साध्यते न च केनापि योगियुक्तः समाधिना ।
अग्राह्यो मन्त्रशास्त्राणां योगियुक्तः समाधिना ॥ १८१ ॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ १८२ ॥

निरातङ्कं निरालम्बं निष्प्रपञ्चं निराश्रयम् ।
निरामयं निराकारं तत्त्वं तत्त्वविदो विदुः ॥ १८३ ॥

निर्मलं निश्चलं नित्यं निर्गुणं निष्क्रियं महत् ।
व्योमविज्ञानमानन्दं ब्रह्म ब्रह्मविदो विदुः ॥ १८४ ॥

कातु दृष्टान्त निर्मुक्तमनुबन्धेरगोचरम् ।
व्योमविज्ञानमानन्दं ब्रह्म ब्रह्मविदो विदुः ॥ १८५ ॥

दुग्धे क्षीरं घृते सर्पिर्वह्नौ वह्निरिवार्पितम् ।
अव्ययत्वं व्रजेदेवं योगिलीनः परात्परे ॥ १८६ ॥

भववनजवह्निं मुक्तिसोपानमार्गम् ।
प्रकटितपरमार्थं ग्रन्थगुह्यञ्च गुह्यम् ॥ १८७ ॥

सकृदपि पठतिच मयः श्रृणोति प्रबद्धम् ।
स भवति भुवि भव्यो भाजनं मुक्तिमुक्तयोः ॥ १८८ ॥

॥ इति श्रीगोरक्षनाथविरचिते योगशास्त्रे योगमार्तण्डं समाप्तम् ॥
॥ साम्बसदाशिवार्पणमस्तु ॥

॥ श्रीराम ॥

॥ गोरख उपनिषद् ॥

श्री नाथ परमानन्द् है विश्वगुरु है निरञ्जन है विश्वव्यापक है महासिद्धन के लक्ष्य है तिन प्रति हमारे आदेश होहु ॥ इहाँ आगे अवतरन ॥ एक समै विमला नाम महादेवी किंचितु विस्मय जुक्त भई श्रीमन्महा गोरक्षनाथ तिनसौं पूछतु हैं । ताको विस्मय दूर करिबै मैं तात्पर्य है लोकन को मोक्ष करिवै हेतु कृपालु तासौं महाजोग विद्या प्रगट करिबे को तिनकै ऐसे श्री नाथ स्वमुख सौं उपनिषद् प्रगट करै है । गो कहियै इन्द्रिय तिनकी अन्तर्यामियासों रक्षा करे हैं भव भूतन की, तासों गोरक्षनाथ नाम है । अरु जोग को ज्ञान करावै है या वास्तै उपनिषद् नाम है । यातैं ही गोरक्षोपनिषद् महासिद्धनमें प्रसिद्ध हैं । इहां आगै विमला उवाच ॥ मूलको अर्थ ॥ जासमै महाशून्य था आकाशादि महापंचभूत अरु तिनही पञ्चभूतनमय ईश्वर अरु जीवादि कोई प्रकार न थे तब या सृष्टि कौ करता कौन था । तात्पर्य ए है कि नाना प्रकार की सृष्टि होय वै मै प्रथम कर्ता महाभूत हैं अरु वैही शुद्ध सत्वांशले के ईश्वर भए वैही मलिन सत्व करि जीव भये तौएतौ साक्षात् कर्त्ता न भए तब जिससमै ए न थे तब कोई अनिर्वचनीय पदार्थ था। सो कर्त्ता सो कर्त्ता कौन भयो ऐसे प्रश्न पर । श्री महागोरक्षनाथ उत्तर करै है श्री गोरक्षनाथ उवाच। आदि अनादि महानन्दरूप निराकार साकार वर्जित अचिन्त्य कोई पदार्थ था ताकुं हे देवि मुख्य कर्ता जानियै क्यों कि निराकार करता होय तौ आकार इच्छा धारिबे मैं विरुद्ध आवे है । साकार करता होय तौ साकार को व्यापकता नहीं है यह विरुद्ध आवै हैं । तातैं करता ओही है जो द्वैताद्वैत रहित अनिर्वचनीय नाथ सदानन्द स्वरूप सोही आगे कुं वक्ष्यमाण है ।

इह मार्ग में देवता कोन है यह आशंका वारनै कहै है । अद्वैतो परि म्महानन्द देवता । अद्वैत ऊपर भयो तब द्वैत ऊपर तौ स्वतः भयो ।। इह प्रकार अहं कर्त्ता सिद्ध तूं जान ञ्छह करता अपनी इच्छा शक्ति प्रगट करी । पीछे ज्ञान शक्ति प्रगट करी । पीछे क्रिया शक्ति प्रगट करी । ताकरि पीछे पिण्ड ब्रह्माण्ड प्रगट भए तिनमैं अव्यक्त निर्गुन स्वरूप सों व्यापक भयो । व्यक्त आनंद विग्रह स्वरूप सों विहार करत भयौ पीछे ज्यौही मैं एक स्वरूप सों नव स्वरूप होतु भयौ—तैं सत्यनाथ, अनन्तर सन्तोषनाथ विचित्र विश्व के गुन तिन सों असंग रहत भयौ, यातें संतोषनाथ भयौ । आगे कूर्मनाथ आकाश रूप श्री आदिनाथ । कूर्म शब्द तै पाताल तरैं अधोभूमि ताकौ नाम कूर्मनाथ । बीच के सर्वनाथ पृथ्वीमंडल के नाथ औरप्रकार सप्तनाथ भए । अनन्तर मत्स्येन्द्रनाथ के पुनह पुत्र श्री—जगत की उत्पत्ति कै हेत लाये माया कौ लावण्य तासौं असंग जोगधर्म - द्रष्टा रमण कियौ है आत्मरूप सौं सर्व जीवन में । तत् शिष्य गोरखनाथ । 'गो' कहियै वाक्शब्द ब्रह्म ताकी 'र' कहियै रक्षा करैं, 'क्ष' कहियै क्षय करि रहित अक्षय ब्रह्म ऐसे श्रीगोरक्षनाथ चतुर्थरूप भयो और प्रकार नव स्वरूप भयो तामे एक निरन्तरनाथ कुं किह मार्ग करि पायौ जातु । ताकौ कारन कहतु हैं । दोय मार्ग विश्व मै प्रगट कियो है कुल अरु अकुल । कुल मार्ग शक्ति मार्गः, अकुल मार्ग अखण्डनाथ चैतन्य मार्ग तन्त्र अंस जोग तिनमै किंचित प्रपञ्च की ।। एवं ।। या रीत मै द्वैताद्वैत रहित नाथ स्वरूप तै व्यवहार कै हेतु अद्वैत निर्गुणनाथ भयौ अद्वैत तैं द्वैत रूप आनन्द विग्रहात्म नाथ भयौ तामै ही मो एक तैं मैं विशेष व्यवहार कै हेतु नव स्वरूप भयौ तिन नव स्वरूप कौ निरूपण । श्री कहियै अखण्ड शोभा संजुक्त गुरु कहिये सर्वोपदेष्टा आदि कहियै इन वक्ष्यमाण नव स्वरूप मैं प्रथम नाथ 'ना' करि नाद ब्रह्म को बोध करावे, 'थ' करि थापन किए है त्रय जगत् जिन ऐसो श्री आदिनाथ स्वरूप । अनन्तर मत्स्येन्द्र नाथ । ता पीछे तत् पुत्र तत्

शिष्य उदयनाथ श्री आदिनाथ तैं जोग शास्त्र प्रगट कियौ द्वहै। योग कौ उदय जाकरि महासिद्ध निकरि बहुत भयो आतैं उदयनाथ नाम प्रसिद्ध भयो। अनन्तर दण्डनाथ ताही जोग के उपदेश तें खण्डन कियो है। काल दण्डलोकनि कौं य्यातैं दण्डनाथ भयौ॥

आगै मत्स्यनाथ असत्य माया स्वरूपमय काल ताको खंडन कर महासत्य तैं शोभत भयौ आण निर्गुणातीत ब्रह्मनाथ ताकुं जानैयातैं आदि ब्राह्मण सूक्ष्मवेदी। ब्राह्मण वेद पाठी होतु है ऋग यजु साम इत्यादि कर इनकै सूक्ष्म वेद कहियै। प्रणवकार वेद आतैं सूक्ष्म वेदी खेचरी मुद्रा अन्तरीय खेचरी मुद्रा बाह्यवेषरी कर्ण मुद्रा मुद्राशक्ति की निशक्ति करबी सिद्धसिद्धान्त पद्धति कै लेख प्रमाण। अनन्त मठ मन्दिर शिव शक्ति नाथ अरु ईच्छा शिव तन्तुरियं जज्ञोपवीत शिव तं तु आत्मा तं तु जज्ञ जोग जग्य उपवीत शयाम उर्णिमासूत्र। ब्रह्म पदाचरणं ब्रह्मचर्यं शान्ति संग्रहणं गृहस्थाश्रमं अध्यात्म वासं वानप्रस्थं स सर्वेच्छा विन्यासं संन्यासं आदि ब्राह्मण कहिवे मै चतुर वर्ण कौ गुरु भयौ अरु इहां च्यारों आश्रम कौ समावेस जामैं होय है य्यातै ही अत्याश्रमी आश्रमन कोहु गुरु भयौ। सो विशेष करि शिष्य पद्धति मैं कह्यो ही है। तात्पर्य भेदाभेद रहित अचिन्त्य वासना जुक्त जीव होय ते तौ कुल मार्ग करियौ मैं आवतु हैं अरु समस्त वासना रहित भए है अंतहकरण जिनके, ऐसै जीव जोग भजन मैं आवतु है ऐसो मार्गन मैं अकुल मार्ग है। और शास्त्र वाक जालकर उपदेश करतु है। मैरो संकेत शास्त्र हैं सो शुन्य कहिये नाथ सोही संकेत है इह मार्ग में देवता कोन हैं यह आशंका वारन कहै है ईश्वर संतान। संतान दोय प्रकार कौ नाद रूप विन्दु, विन्दु नाद रूप। शिष्य विन्दु रूप, पुत्र नाथ रूप नाद शक्तिरूप विन्दु नादरूप करि भए। शिष्य सौ प्रथम कहै नवनाथ स्वरूप शक्ति विन्दु रूप पर शिव सोही ईश्वर नाम कर मैरो संतान है। ता करि

विश्व की प्रवृत्ति करतु है। जोग मत अष्टाङ्ग जोग मुख्य कर षडंग जोग अकुल कहनै सो अवधूत जोग जोग मत सौं साधन अष्टाङ्ग जोग। आदि ब्राह्मणा ब्राह्मण क्षत्री वैश्य शूद्रच्यार वर्ण करि पृथ्वी भरी है तिनमें ब्राह्मण वर्ण मुख्य है। ब्राह्मण किसको कहियै ब्रह्मकूं सगुण ब्रह्म द्वारे निर्गुण ब्रह्म करिजानै सो ब्राह्मण ए जोगीश्वर सगुणनाथ गम्य पदार्थ। आनन्द विग्रहात्मनाथ उपदेष्टा उपास्य रूप अत्याश्रमी गुरु अवधूत जोग साधन मुमुक्षु अधिकारी बन्ध मोक्ष रहित कोइक अनिर्वचनीय मोक्ष मोक्ष ऐसो आ ग्रन्थ मै निरूपण है सो जो कोई पढ़े पढ़ावै जाको अनन्त अचिन्त्य फल है।

॥ मत्स्येन्द्रनाथजी का पद ॥

[राग कालिङ्गडा]

भूखड ली लागी थारा नांवनी । म्हानैं भावै भावै
भगवत जीरो नांव म्हारा बाल्हारे । टेक
जाण जैसी रंग भेंटिये कांई भजन भलो भगवंत म्हारा
बाल्हारे १ सबही तीरथ मैं बसै तो कांई मंजन
करैं जन कोइ म्हारा बाल्हारे २ निरमल थाते न्हाई
चल्या काईं एडो पटंतर जोई म्हारा बाल्हा रे ३
काया तीरथ में ज्ञान बडो कांई साधन दरसण होई
म्हारा बाल्हारे ४ भणै रे मच्छै ई एह ड़ो पटतर
कांई भगवत सवा न कोई म्हारा बाल्हारे ५ ॥

[राग घनाक्षरी]

पंषेरू ऊडिसी । आय लीयाँ बीसराम । ज्यौ ज्यों
नर स्वारथ करैं कोई न सवार्यां काम । टेक । जलकूं
चाहैं माछली घण कूं चाहैं मोर सेवग चाहै राम
कूं ज्यौं चितवत चन्द चकोर १ यो स्वारथको
जीवडो स्वारथ छोडि न जाय जब गोविन्द किरपा
करी म्हारौ मनवौ समझ्यौ आय २ जोगी सोई
जाणी रे जगते रहे उदास ततनिरंजण पाइय
यो कहै मछन्दर नाथ । २ ॥

॥ इति ॥

॥ अथ भरथरी जी का सबदी ॥

अहंकारे प्रथमी षीणी । पहौ पेपीणां भूंरा ।
सति सति भाषंतरा जोगी भरथरी । पिंडकावैरी जूंरा ॥ १ ॥

दुपीया रोवत सुषीया हसंत । केला करंत कामणी ।
मूरा जुझंत भूंदू भांजत । सति सति भाषंत राजा भरथरी ॥ २ ॥

दुषी राजा दुषी प्रजा । दुपी ब्रांभण बांणीया ।
सुषी राजा भरथरी । ज्यन गुरुका सबद पिछांडिया ॥ ३ ॥

क्या गरबाती गूजरी । देषिर पाडरिया ।
सोला सै मै मंतीया । मुझ गरहीड तीयां ॥ ४ ॥

बने बृच्छा सुफल फलंते । मुडिबइठंते गइंद ।
ते बृच्छा सजडा गया । मो देषतां नरिंद ॥ ५ ॥

चढैगा स पड़ैगा । न पड़ैगा तत विचारी ।
धनवंत लोग छीजैगा । तेराक्या छीजे भरथरी भिष्यारी ॥ ६ ॥

राजा भर्थरी भरामिनभूला । तलिकरि डिठी ऊपरकरिचूल्हा ।
द्वै द्वै लगडी जुगुति संजारि । राजा भर्थरी जीवै जुगचारि ॥ ७ ॥

अवधू जलविन कवल कवल बिन मधुकर कोईल बोलै
कण्ठ विनां । थल बिन मृग मृग बिन पारधी, ऐक सर
वेधै पांच जनां ॥ ८ ॥

नवद्वारे जडिलै कपाट । दसवै द्वारे सिव धरिबाट ।
दोई लष चन्दा ऐक लषि भान । वेध्या मृगगगन अस्थान ॥ ९ ॥

वेध्या मृग न छाडै पास । भणंत भरथरी गोरष का दास ।
तनि निरास मन मांडै माया । मुंड मुंडाईम भंडसिकाया ॥ १० ॥

मन निरास प्रेम रस भोगी । भणत भरथरी ते नर जोगी ।
पंच षडा अधिक वल्यवंता । मनराइमैं मत गाज ।। ११ ।।

करडी लहर कद्रप की निकसै । तब कूंड जूझै कूंड भाजै ।
वैरागी जोगी राग न करणां । मन मनसा करिबंडी ।। १२ ।।

आगम अगोचर सिद्ध का आसण । आसातृष्णा षंडी ।
आसा षंडी मनसा षंडी । मन पवनां होई उजीरं ।। १३ ।।

सति सति भाषंत राजा भरथरी । तब मन होइबा थीरं ।
राज गयां कूं राज्य झूरै । वैद गयाकूं रोगी ।। १४ ।।

रूप गये कूं कामणी झूरै । विन्द गया कूं जोगी ।
वीज नहीं अंकुर नहीं । रूप नहीं रेष अहंकार ।। १५ ।।

उदय अस्त वतहां कथ्या न जाई । तहाँ भरथरी रहा समाई ।
मरनै का संसा नहीं । नही जीवन की आस ।। १६ ।।

सति सति भाषंत राजा भरथरी । हमारे सहजै लीलविलास ।। १७ ।।

निरघत कंथा बहौ विस्तार । कथौ निरंजन रहौ अकार ।
पूछंत विक्रम बांवन बीरं । कूंण प्रचै रहिबा थीरं ।। १८ ।।

सुन हो विक्रम ब्रह्म गयांन । देही बिबरजित धरौ धियांन ।
उदै अस्त जहा कथ्या न जाई । तहाँ भ्रथरी रह्या समाई ।। १९ ।।

आगै बहनीं पीछैं भांनु । निरति सुरति बृछ तलि ध्यांन ।
कथै निरञ्जन रहै उदास । अजहूँ न छांडै आसा वास ।। २० ।।

माया सत्रनि करसि ग्रब । नहीं धेन जोबन राजा द्रब ।
कनक कांमनी भोग विलास । कहै भरथरी कंध विनास ।। २१ ।।

साधिबा तो ऐक पवन आरंभ साधिबा—

छाडिबा तौ सकल विकारं ।

रहिबा तौ निह सबद की छाया—
सेयबा तौ निरञ्जन निराकारं ॥ २२ ॥

कुलस्य हीनी नगनौपबाला । मृगनैनंरूपी दृष्टो बिकराला ।
पद्मो झलकंत वा कस्य वेणी । कुतौ या गत्याहेलज्या विठ्ठणी ॥ २३ ॥

न गनसि काष्टं न गनसिरिष । न गनसि जीव जलचरा ।
अजहूं काय सिहोनरा । नही प्रसिद्ध जोगेश्वरा ॥ २४ ॥

जोगी चिन्ता विकलपो मम मता समाया ।
कथं जोग जुग तातैं जोगो न पाया ॥ २५ ॥

नहीं जोगु जोगी सरबस भोगी । गुर ग्यांनी हीणं फिरो मुठजोगी ।
धनिस्य पुत्री कुलवन्ती नारी । धनस्य तु पतिव्रता ॥ २६ ॥

धनस्य देसस्य देवी अहूँ उपदेस मूरष जोगी ।
तिण सज्या बनोबासी । ऊपर अम्बर छाया ॥ २७ ॥

भरथरी मन निश्चलं । घोरी घोरिबरखै हो इन्द्र के राया ।
जस्य माता तस्य राता । जस्य पीवंता तस्य मृदंता ॥ २८ ॥

है है रे लोका दुराचारी । वैरागी ह्वै किन जावते ॥ २९ ॥

जस्य माया तस्य जाया । तस्य सूँक्यूं रे विषैमुचन्तेकाया ।
हा हा रे लोका दुराचारी । निज तत ताजि लोहीचित लाया ॥ ३० ॥

कांम कलाली चित चढौ । सुरै विषै सज्या मनमथ मांस
बीरज ब्रह्महत्या । है है रे लोका दुराचारी । कहाँ रही सुच्या ॥ ३१ ॥

असत्री जोनी दीयंत विन्द । कोटि पूजा बिनसते ।
बरत मंजन तप पंडत ज्ञानहीन तपोनास्ति ब्रह्महत्या पदे पदें ॥ ३२ ॥

गोरख बोले सिरषरी । दुबटा है है पंथ ।
ऐक दस कूं बाघनी । ऐक दिसां कूं नाथ ॥ ३३ ॥

चमडी दमडी घमडी तीन बस्त त्यागी ।
सति भाषंत राजा भ्रथरी । तेनां दूरता वैरागी ।। ३४ ।।

नारी चोरी जारी तीन बस्त त्यागी ।
सति सति भाषंत राजा भरथरी । तेनां दूरता वैरागी ।। ३५ ।।

मोह न बांधिबा मन प्रमोधिबा । मिथ्याते ग्यांन विचारं ।
पंच सूं बात करबा ऐक सूं रत बा । ते उतरबा पारं ।। ३६ ।।

छाड्या हस्ती घोड्या गाँव गढ । हरप सोग मनिनांहि ।
तातैं राजा भरथरी । थकित भया पद मांहि ।। ३७ ।।

झूंठा जगका जीवणां । बढै सवाया रोग ।
तातैं निकसा भरथरी । मीठा लागा जोग ।। ३८ ।।

गगन जाइगा मंडल जाइगा । चंद जाइगा सूरा ।
न जाइगा राजा भरथरी । सबद गुरु कै पूरा ।। ३९ ।।

गऐ जु राजा राज करंते । गऐजु प्रजा केलि करंते ।
गऐ जु त्रिया बहुरूप धरंते । गऐ जु ब्रह्मा वेद पठंते ।। ४० ।।

गऐ जु वृच्छा सुफल फलंते । गऐ जू सूवा चहर करंते ।
सति सति भाषंत राजा भरथरी । हम भी जांते जे जोगी न होते ।। ४१ ।।

न ते पुरषा जु भोग भुगंता । न ते नारी जु रूप रमिता ।
न ते वृछा जड़ मूल सहंतां । नते कूवांजुद्र मूत पाणीं होता ।। ४२ ।।

न गत्वा राजा भरथरी गुरुप्रसादैंग्यानं रता ।
सकल गिरिवरं गिरि सुमेरं । ता समतुलि आत्मां डारतैं ।। ४३ ।।

तो भी साधन दुःख ते । तहिरछिपाल निरंजनं ।
समुद्र मध्ये होतासनं ता सम तुलि आत्मां डारते ।
तो भी साधन दुषिते । तहि रछिपाल निरंजनं ।। ४४ ।।

जबलगि धरतरी तबलग भरथरी, जाइगी धरतरी न गत्वा भरथरी
बिरछो छत्री त्रिण सज्या । बाव ढोलंत चमालिचा ।
आंगणे ग्रेहं दीपगचन्द । मो मन राजा निश्चलं ।। ४५ ।।

मोरा नांचूंत कोकिला गावत । भूंरा बजांवत रुद्र बेणी ।
चहूं दिसि तरूनी पवन झकोलत । यू भरथरी ग्यानं लीलं ।। ४६ ।

सिला सिंघासन बाकल बसत्र । गगन छत्र सिर सोहे ।
चहूं दिसा तरूनी पवन झकोलत ग्यान रतन मन मोहे ।। ४७ ।।

देस भवंतां सदा बैरागी । सासत्र वैरागी पंडिता ।
बाल कन्यां विधवै बैरागी । यूं ग्यांन बैरागी राजा भरथरी ।। ४८ ।

ग्यांनी सो जो गहर गम्भीरं । भरया कुम्भजल निश्चल नीरं ।
भनत भरथरी सत सरूप । तत विचारै तौ रेष न रूप ।। ४९ ।।

।। इति श्री भरथरी जी की सबदी सम्पूर्ण ।।

॥ अथ चिरपटजी की सबदी ॥

काया तरवर माकड़ चित । डालै पातै भरमै नित ।
कलपै झलपै दहदिस जाइ । तिस कारणि कोई सिध न भाई ॥ १ ॥

ढील कछोटी मनभंग फिरै । घरि घरि नैंन पसारा करे ।
षाया झरै न बाचा फुरै । ता कारणि मूढ़ झरि झरि मरै ॥ २ ॥

मन चंचल पवनां चंचल । चंचल बाई धारा ।
या घटि मधि तीनूं चंचल । क्यूं राषिब्य झरता पिंडका द्वार ॥ ३ ॥

नाथ कहां वै सकै न नाथ । चेला पंच चलावै साथि ।
मांगै भिष्या भरि भरि षाइ । नाथ कहां वै मरि मरि जाई ॥ ४ ॥

दरसण पहरै नाथ कहावै । मुषि बोलै चतुराई ।
आलै काष्ट जूं घुन लागै । डाल मूल घड़ि षाई ॥ ५ ॥

टीका हामां टमकली । बोलत मधुरी बांनी ।
चरपट कहै सुनिहो नागा अरजन । यास्यौरां की सहनांवी ॥ ६ ॥

रंगाचंगा बहौ दीदारी । जैसे षोटी मूंहर पलमांधारी ।
चरपट कहै सुणै रे लोई । बरतण छै पणि ओग न होई ॥ ७ ॥

ऐक सेत पटा ऐक सील पटा । ऐक टसर कैटी कालंबजटा ।
ऐक पंथ छाडि मन उचट बटा । चरपट कहै ऐ पेट नटा ॥ ८ ॥

राती कंथा रापट रोल । पगां पावडी मुषां तं बोलै ।
षांजे पीजै कीजै भोग । चरपट कहै बिगाड्या जोग ॥ ९ ॥

पहरि मूदड़ी कंकण हाथि । नकटी बूची जोगणि साथि ।
उठत बैठत का झनकार । तजि सक्या न माया जंजार ॥ १० ॥

जंजाल आगै जंजाल पीछे । जंजाल क्युं मांर कै मांडै ।
सो जंजाल तजि फिरि जोगी हूवा । सो जंजाल फिरिमांडै ॥ ११ ॥

षाकर कूकर कीगर हाथि । बोली भोली तरणी साथि ।
दिनकर भिष्या रात्यूं भोग । चरपट कहै बिगोवैं जोग ॥ १२ ॥

गंग बिगंधा मूता षांड । पसवा पड़ि पड़ि तोड़े हाड ।
ज्याहन बंची आंगुलच्यारि । चरपट कहै ते माथै मारि ॥ १३ ॥

जलकी भीत पिवनका थंमा । देवल देष्यर भया अचंमा ।
बाहरि भीतरि गंधम गंधा । काहे मूलोरे पसवा अंधा ॥ १४ ॥

आंषि की टगटगी नाककी डांडी । चांमकी चंद्री यारुग्रसू मांडी ।
मल प्रसेद सुरति जहां सूदा । अहार की कोथली नरक का
कूंडा ॥ १५ ॥

मनका बासा जहां मासकालूचा । सिष्टिकाद्वारजहां केसका कूचा ।
गंधविगंधा जहां चार विचारी । चरपट चाल्यौ मात जुहारी ॥ १६ ॥

चामकी कोथली चामका सूवा । तास की प्रीति करि जगत सबमूवा
देव गंध्रप मानव जेता । उबरचा ऐकको गुरमुखचेता ॥ १७ ॥

फोकट फोकट कथै गयान । कूटै चमड़ी धरै ध्ययान ।
सिध पुरषां सूंकरै उपाधी । चरपट कहै ऐ कलियुगके बादी ॥ १८ ॥

सिध कहै वै भुगतैं भग । ताका काला मुष अर पीला पग ।
कूटै चमड़ी धरै ध्ययान । ताप सुवामैं कहा गियांन ॥ १९ ॥

चरपट कहै सुणीरे अवधू । कामणि संग न कीजै ।
झिंद बिंद नव नाडी सोषै । दिनदिन काया छीजै ॥ २० ॥

जतन करंता जाइ सुजाइ । भग देषि जिन घालै घाव ।
कोटि बरष लूं बाढे आव । सति सति भाषंत श्रीचरपटराव ॥ २१ ॥

चरपट चीरचक्र मनकंथा । चितचमां ॐ करंना ।
जैसी करनी करो रे अवधू । ज्यूं बहोर न होई मरनां ॥ २२ ॥

दिढकरि मनवा थिर करि चित । काया पवन पषालै नित ।
अभए भऐ जूं थिर हवै कंध । उडैंन हंसा लागै बंध ॥ २३ ॥

अवधू मूल दवारै दीजे बंध । बाई षेलै चोटि संघ ।
जुरा पलटै षंडै रोग । बोलै चरपट धनिधनि जोग ॥ २४ ॥

बंध सबंध विषैय करि बंद । तलि करि रवि उपरिकरिचंद ।
राति घ्रांस रस चरपट पीया । पंटैतेलन बूझै दीया ॥ २५ ॥

जोवूं रावल पग सयानां । हंसि किन बांधे टाटी ।
बारा आंगुल पसि गई है । सोला आंगुल फाटी ॥ २६ ॥

पवना कंथा अनले बास । पिमन न कोई आवे पास ।
मन मू मतौ गुझ ग्यान बिद्रूत । चरपट कहै धनिअवधूत ॥ २७ ॥

निरभै निसंक ते ततवेता । मन मानि विवरजित इंद्रीजिता ।
सेत फटिक मणि ग्यान रता । चरपट कहौ ऐ सिध मता ॥ २८ ॥

माधै मूपर मारै निंद । सुपने झरिबा देयन बिंद ।
पड़ै न पिंड न झपै रोग । चरपट बोलै ऐसिध जोग ॥ २९ ॥

भरथर चरपट गोपीचंद । बंध्यौ पूरण प्रमांनंद ।
पीर पांड घृत छाडयौ भोग । गष्यौ आत्म साध्यौ जोग ॥ ३० ॥

तांबा तूंवा दोऊं मूचा । राजा जोगी दोऊं ऊंचा ।
तांबा डूबै तूंबा तिरै । जीवै जोगी राजा मरे ॥ ३१ ॥

ऊजल कंथा विगेड़े बास । कामनि अंग न मेलै पास ।
दिढ़करि रापै पांचूं इंद्री । बोलै चरपट ते जोग्यंद्री ॥ ३२ ॥

कर प्रभिछया वृषतलि बास । कामनि अंग न मेलै पास ।
बन षंडर है मसाणा भूत । चरपट बोलै ते अवधूत ॥ ३३ ॥

रूर्ष वृष गिरकंद लिवास । दोइ जन अंग न मेलै पास
पलटै काया पंड रोग । चरपट बोलै ते धनि जोग ।। ३४ ।।

रष्या चरपट विवरजित कंथा । पुण्यांपुणि विवरजित पंथा ।
स्वादास्वाद विवरजित तुंड । सुख मानाजावत मुंडै मुंड ।। ३५ ।।

मन नहीं मूडे मूड केस । केसा मूंड्या क्या उपदेस ।
मूडै नहीं मन मरदका मान । चरपट बोलै तत्तगयांन ।। ३६ ।।

धींगा धींगी मुस्ता मुस्ती । ब्रहांत चौर बाजारी ।
आपगुर निंदे पर गुर बंदे । लड़बड़ीया लपच्यारी ।। ३७ ।।

झोली पाई पत्र पाया । पाया पंथ का भेव ।
रीता जाऊं भरीया आऊं । कहा करै गुरदेव ।।३८ ।।

सहज सुभाइ भिष्या मांगिबा । संजे मे भजन करणा ।
आसण दिढ करि बैसिबा अवधू । मन मुष भटकिन मरणा ।। ३९ ।।

फोकट आवै फोकट जाइ । फोकट बोलै फोकट षाइ ।
फोकट बैठो करै विवांद । चरपट कहै सब उपाधि ।। ४० ।।

बामै हाथि कमंडल दाहिणे डंड । मोडोचक्र पूजो हो भंड ।
बैठौ तुम आगै रंड । चरपट कहै ऐ सब पाषंड ।। ४१ ।।

भेष लीया सो भेद न पाया । घर छाड्या प्रवजी न माया ।
नाथ विसारि निडर जग जोया । सांग बनाइ सुषीहवै सोया ।।४२ ।।

ना धरि त्रिया नां धरि बरता । ना धरि धावन जोवन मंता ।
ना धरि पुत्र न धीव कवारी । तातै चरपट नीद पियारी ।। ४३ ।।

दिन उठि घर घर दीन्ही फेरी । अंतरि उलटि न आत्मा हेरी ।
पात्र पूरया पेट फूलाया । मांगी भिष्या गटकाषाया ।। ४४ ।।

गटका पाया मगर सचाया । जैसें सहर का कूता ।
जोग जुगति की–षबरि न पाई । कांन फड़ाइ बिगूता ।। ४५ ।।

आई न छोड़ूं लेवान जाऊं । तातै मेरा चरपट नाऊं ।
आई भी छोडी ऐ लेबा भी जाई ऐ । गोरष कहै पूता-
व्याचारि विचारी षाइ ऐ ।। ४६ ।।

मति चलणां सुरबाइकथीर । निसदिनकाया गहर गंभीर ।
जत मत सुनिखरत षिमां बहूत । बंदत चरपट ते अवधूत ।। ४७ ।

हसणां जोगी रगणी सांडि । पुरष कुलछन बेस्यां नाडि ।
कवि लजालू निलजी नारि । चरपट कहैते मांथै मारि ।। ४८ ।।

कांने मुद्रा गलि रुद्राषि । फिरिफिरि मांगै निपजी माषि ।
चरपट कहै सुणौरे सोई । बरतण है पाणी जो गन होई ।। ४९ ।।

कोरा मांगै काचा मांगै । मांगै सूत कपासा ।
चरपट कहै सुणो रे अवधू । बिन राड़ी घरबासा ।। ५० ।।

पगेचमांऊं माथै टोय । गलमैं बागा मन मैं कोय ।
माया देषि पसारा करै । चरपट कहै विन आई मरै ।। ५१ ।।

छत्र कछोटी चाषै पांन । तीरथ जाइ उगा है दान ।
करै बैदगी जिवावै रोगी । चरपट कहै विगूता जोगी ।। ५२ ।।

जटाविट बन अंगे छार । मोटी कंथा कहौ बिसतार ।
बिचत्र बांनी अंगाचंगा । बटबामी त्रै बहुविधिरंगा ।। ५३ ।।

मदै मांसै लावै चित । ग्यांन विवरजित गावै गित ।
यह निस न्याई भोग बिलास । चरपट बोलै कंधविनास ।। ५४ ।।

कथणी बदणी बलि बलिजाव । आंधि सकै तौ बंधौ बाव ।
चरपट कहै पवन की डोरी । भूंकत गधवा ले गया चोरी ।। ५५ ।।

न जानैं ऊंची झष धरम । ऊंचा मंदिर कूड़ी करम ।
चरपट कहै सुनौरे लोका । रतन पदारथ गमायौ फोका ॥ ५६ ॥

ऐकै पथर ऊपरै पाव । दूजा पाथर ऊपर भाव ।
चरपट कहै उनीका भेव । यौ क्यूं पाथर यौ क्यूं देव ॥ ५७ ॥

पूजि पूजि भाठा सब जग घाठा । निजतत्तर ह्या निनार ।
जोति सरूपी संगिही आछै । तिसका करौ विचार ॥ ५८ ॥

पूजिबा तौ आत्मदेव पूजिबा । चढाइवा तौ अनादि पाती ।
चरपट कहै कहूं भटकि न मरना । घटि घटि तीरथ जाती ॥ ५९ ॥

॥ इति चरपटजी की सबदी संपूर्ण ॥

॥ अथ गोपीचंद जी की सबदी ॥

रज तजिले पूता पाट तजिलै । तजिलै हस्ती घोड़ा ।
सति सति भाषत माता मैणावती रे पूता । कलि मैं जीवन
थोड़ा ॥ १ ॥

राजा कै घरि राणी होती माता । हमारै होती माई जी ।
सवषणै भी बारै बैठती माता । यहु ग्यान कहां तैल्याईजी ॥ २ ॥

गुरु हमारै गोरष बोलीए । चरपट है गुरुभाई जी ।
एक सबद हमकूं गुरु गोरषनाथ दीया । सो वो ल्यष्या मैणांवती
माई जी ॥ ३ ॥

सोलासैं राणीमैं बाग सैकन्या । बंगाल देस बड भोगीजी ।
बारा बरस मोनै राज्यकरण द । पिछै होऊंगा जोगीजी ॥ ४ ॥

आजि आजि करंता पूता काल्हि काल्हि करंता ।
काया झरै कलाल की भाठीजी ।
सति सति भाषंत माता मैणावती रे पूता ।
यो तन जलिबलि होइ मसांण की माटीजी ॥ ५ ॥

जोग न होसी रे पूता भोगन होसी । न सीझि सो
जल विंब की काया ।

सति सति भाषत माता मैणावती रे पूता ।
भूमि भूल्यै रे भाया जी ॥ ६ ॥

मरोगे मरिजाहू गेरे । फिरि हो हूगे मासांणकी
छारंगजी ।

कबहूकू परम तत चीन्है जेरे पूता ।
ज्यूं उतरौ संसार भौ पारंजी ॥ ७ ॥

कूंण हमकू भात षुलावैं । कूंण पषाले पाईजी ।
कहां मूं मेरै मैड़ी मंदिर । कहां तू मणावती माईजी ।। ८ ।।

अलष तुमकूं मात षुलावैं । गंग पषालै पाई जी ।
रूषे बिरषे तेरैमेड़ी मंदिर । घरिघरि मैणावती माईजी ।। ९ ।।

माता कै उपदेश तजीला । देस बंगाल जी ।
गोपीचंद गुरु कै सरणै । भेटत भागा काल जी ।। १० ।।

छाड्या राजपाट पाणी छाड्या । छाड्याभोग विलासजी ।
गोपीचंद धीलाघर सबदी । छाडि भया बनबासजी ।। ११ ।।

राणी सकल कन्या सब ही । है है कार भईलाजी ।
रावत रैनि तुरी गज गलबल। राजा गोपीचंद कहां गईलाजी ।।१२।।

जलंधरी याव हाथि दे डीबी । गोपीचंद षंडाया जी ।
मंदर महल पौलि जहां भीतरी । तहां अलेप जगाया जी ।। १३ ।।

माइ बहन करि भिष्या मांगी । पूरया सींगी नांदजी ।
मांमालि साद मिली जब राणी । आइ किया संवादजी ।। १४ ।।

मन राजा मन प्रजा । मन सकलका बंधजी ।
मनकूं चीन्हे पारग्रींमी भया । राजा गोपीचंदजी ।। १५ ।।

ग्रहवे कूं नांही देषिबे कूं लषि । चंदसूर विवरजित पषि ।
जलमैं बिंब द्रपन मैं छाया । ऐसा अचिंत पद गोपीचंद पाया ।। १६ ।।

पाया लो भल पायालो । सरबंथा न सहेती थिति ।
रूप सहेती दीसण लागा । पिंड भई प्रतिति ।। १७ ।।

मन थिरंता पवन थिर । पवन थिरंता बिंद ।
बिंद थिरंता जिंदा थिर । यूं भाषै गोपीचंद ।। १८ ।।

मन चलंता पवन चलै । पवन चलता बिंद ।
बिंद चलंता कंध पड़ै । यूं भाषै गोपीचंद ।। १९ ।।

॥ अथ जलंधरी पाव़जी की सबदी ॥

सुनि मंडल मैं मनका बासा । जहां प्रम जोति प्रकासा ।
आपे पूछै आपै कहै । सत गुरु मिलै तै प्रमपद लहै ॥ १ ॥

ऐक अचंभा ऐसा हूवा । गागर मांहि उसास्या कूव़ा ।
व़ो छीनेज पहूचै नांही । लोक पयासा मरि मरि जांही ॥ २ ॥

आसा पासा दूरि करि । पसरंती निवारि ।
स्पध साधिक सूं संग करि । कै गुरमुष ग्यान विचारि ॥ ३ ॥

धरती आकास पवन अर पांणी । चंदसूरषट दरसण जाणी ।
ॐ कार का जाणै मंत । ऐसा सिधा अलष अनंत ॥ ४ ॥

गोपीचंद कहै स्वामीजी । बस्ती रहूं तौ कद्रंपब्यापै ।
जंगलि जाऊं तौ षुध्या संतापै । आसाणी रहूं तौ व्यापै माया ॥
पंथ चलूं तौ छीजै काया । मीठौ षांड तौ ब्यापै रोग ।
कहौ कासी प्रसांधू जोग ॥ ५ ॥

सांभलि अवधू तत विचार । ऐनिज सकल सिरोमणि सारं ।
संजम अहार कंद्रप नही ब्यापै । व़ाई अहार षुध्यान संतापै ।
सिध आसन नहि लागै माया । नाद पयानैं नहि छीजै काया ।
जिभ्या स्वाद न कीजै भोग । मन पव़नां ले साधौ जोग ॥ ६ ॥

मरदने केसस थामि लै अवधू । पवना थामि लै काया ।
अत्सेजु राम रन थांभि लै । विचार त्याग लै माया ॥ ७ ॥

सत सिध मते पार । न मरै जोगी न ले अवतार ।
सुनि समाव़ै बाव़ै बीनां । अलष पुरष तहां ल्यौ लीना ॥ ८ ॥

जोग न जोग्या भोग न भोग्या । अहला गथा ज मारा ।
गांमे गधा जंगल सूकर । फिरि फिरि ले अवतारा ॥ ९ ॥

इहू संसौ पाई ऐ पैले । अब बोई ऐ ते आगें फलै ।
इह संसार करम की बारी । जबलग सरधा सक्ति संसारी ।। १० ।।

पहेलै कीया स अब भुगतावै । जो अब करै स आगें पावै ।
जैसा दीजै तैसा लीजै । तातै तन धरनी कां कीजै ।। ११ ।।

अजपा जपनां तपबिन तपनां । धुनि गहै धरिबा ध्यानं ।
जोग सहारं पाप प्रहारं । ऐसा अदभुत ग्यान ।। १२ ।।

।। इति जलंधरी पावजी की सबदी ।।

A CRITICAL STUDY OF GORAKSASAMHITA

गोरक्ष-संहिता:

एक समालोचनात्मक अध्ययन

पञ्जाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ़
की पी-एच०डी० (संस्कृत)
उपाधिहेतु प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध

1985

शोध कर्त्ता :
गोकुलचन्द शर्मा
व्याकरण-दर्शनाचार्य
एम० ए० (संस्कृत)
साहित्य-आयुर्वेदरत्न

पञ्जाब विश्वविद्यालय
चण्डीगढ़-14

प्रमाण पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि श्री गोकुल चन्द्र शर्मा द्वारा पंजाब विश्व विद्यालय की पी०एच०डी० संस्कृत उपाधि हेतु प्रस्तुत "गोरक्ष संहिता : एक समालोचनात्मक अध्ययन" नामक शोध प्रबन्ध उनकी अपनी रचना है और मेरे निर्देशन में पूर्ण की गई है । इसे अन्यत्र किसी उपाधि हेतु प्रस्तुत नहीं किया है ।

धनराज शर्मा 3/6/85

दिनांक

जून ,1985

धनराज शर्मा
रीडर संस्कृत विभाग
पंजाब विश्व विद्यालय
चण्डीगढ़ - 14

संकेत सूची - I

अथर्व॰	अथर्ववेद
अ॰हृ॰	अष्टांगहृदयम्
ए॰उ॰	ऐतरेय-उपनिषद्
क॰उ॰	कठोपनिषद्
गो॰ब्रा॰	गोपथ-ब्राह्मण
गो॰प॰	गोरक्ष पद्धति
गो॰सं॰	[redacted] गोरक्षसंहिता
गो॰सं॰यो॰ख॰	गोरक्ष संहिता योग खण्ड
गो॰सि॰सं॰	गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह
घे॰सं॰	घेरण्ड संहिता
च॰सं॰	चरक संहिता
तै॰ब्रा॰	तैत्तिरीय ब्राह्मण
प्र॰उ॰	प्रश्नोपनिषद्
प्र॰द॰	प्रत्यभिज्ञा दर्शन
ब्र॰सू॰	ब्रह्मसूत्र
भा॰पु॰	भागवत पुराण
म॰स्मृ॰	मनुस्मृति
मा॰पु॰	मार्कण्डेय पुराण
या॰स्मृ॰	याज्ञवल्क्य स्मृति

कृ॰ पृ॰ १०५८ देखें

विषय सूची

सहायक ग्रन्थ सूची

अग्निपुराण — सं० आचार्य बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा वाराणसी

अथर्व-वेद शौनक संहिता — सं० विश्वबन्धु, वैदिक शोध संस्थान होशियारपुर, 1961

अष्टांगराजयोग — सं० सत्यदेव, वैदिक शोध संस्थान होशियारपुर,
भाग-1, 2, सन् 1957, भाग-3, सन् 1965

अष्टांगहृदयम् वाग्भट्ट, विद्योतिनिभाष्य सहित, चौखम्बा, वाराणसी,

अष्टाध्यायी पाणिनि — रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत, सम्वत् 2034

अमरौघ शासनम् — सं० मुकुन्द शास्त्री,

आसनप्राणायाममुद्राबन्ध — सं० सत्यानन्द सरस्वती एवं के०के० गोयन्दका,
बिहार योग विश्वविद्यालय, बिहार, 1973

उपनिषदों में योग तत्व

ऋग्वेद संहिता — सं० काशीकर एवं सोनटके, वैदिक शोधमण्डल पूना, 1933-51

ऋग्वेद प्रातिशाख्य शौनक — वर्गद्वय वृत्ति एवं उव्वटकृत टीका सहित,
सं० मंगलदेव शास्त्री, इलाहाबाद, 1931

ऐतरेय ब्राह्मण, — सायणभाष्य सहित, आनन्दाश्रम ग्रन्थावली पूना, 1896

ऐतरेय आरण्यक — सायणभाष्य सहित, आनन्दाश्रम ग्रन्थावली पूना, 1898

ऐतरेयोपनिषद् — उपनिषद् संग्रह, सं० जगदीशलाल शास्त्री, मोतीलाल, बनारसीदास
दिल्ली, 1980

कल्याणकारक हस्तलेख

कठोपनिषद् शांकरभाष्य सहित — गीता प्रेस गोरखपुर, सं० 2001

कबीर दोहावली, — देहाती पुस्तक भण्डार, दिल्ली

कणाद् गौतमीयम् — सं० आचार्य विश्वनाथ

गरुड पुराण प्रेतकल्प — चौखम्बा वाराणसी, सं० 2026

गोपथ ब्राह्मण — सं० जीवानन्द कलकत्ता, 1891

गोरक्षनाथ एण्ड कनफटा योगीज, ब्रीग्ज

गोरक्ष पद्धति सं0 महीधर शर्मा, खेमराज कृष्णदास वैंकटेश्वर प्रेस बम्बई 1898

गोरक्षनाथ डा0 नागेन्द्रनाथ

गोरक्षसिद्धान्त संग्रह, सं0 डा0 जनार्दन शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी,

गोरक्षशतक गोरक्षनाथ

गोरक्ष-संहिता 1. सं0 डा0 चमन लाल गौतम, बरेली
2. डा0 जनार्दन शास्त्री पाण्डेय, वाराणसी, 1976

गोरक्ष चरित, डा0 चमन लाल गौतम, ख्वाजा कुतुब वेद नगर बरेली

घेरण्ड संहिता लक्ष्मी वैंकटेश्वर प्रेस कल्याण बम्बई, सम्वत् 1978

चरक संहिता चरक चक्रपाणि व्याख्यासहित, चौखम्बा वाराणसी,

तेजोबिन्दूपनिषद् उपनिषद्संग्रह से, सं जगदीशलाल, मोतीलालबनारसीदास दिल्ली, 1980

तैत्तिरीय ब्राह्मण सायणभाष्य सहित, आनन्दाश्रम ग्रन्थावली पूना, 1934

तर्कसंग्रह अन्नभट्ट चौखम्बा संस्कृत सीरीज. 1961

तत्वार्थसूत्र उमा स्वामी चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी

तान्त्रिक साधना और साहित्य

जीवन योग की साधना काकाकालेकर

तैत्तिरीय आरण्यक आनन्दाश्रम ग्रन्थावली पूना, 1897

ध्यानबिन्दूपनिषद् संग्रह उपनिषद् संग्रह से

नाथ सम्प्रदाय हजारी प्रसाद द्विवेदी, नैवेद्य प्रकाशन वाराणसी,

नाथ सम्प्रदायेर इतिहास दर्शन ओ साधना प्रणाली, डा० कल्याणी मल्लिक

नादबिन्दूपनिषद् उपनिषद्संग्रह से

निरुक्त यास्क दुर्गवृति सहित, आनन्दाश्रम ग्रन्थावली पूना, 1921-26

न्याय दर्शन विद्योदयभाष्य सहित चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी

पंचदशी विद्यारण्य बुद्धि सेवा आश्रम, रत्नगढ़, सम्वत् 2011

योग दर्शन पतंजलि सं० ब्रह्मलीन मुनि, दालगिया, महिधरपुरा, सूरत, गुजरात, 1958

पारस्कर गृह्य सूत्र हरिहरभाष्य चौखम्बा अमर भारती प्रकाशन, वाराणसी, 1980

प्रत्यभिज्ञा दर्शन

प्रश्नोपनिषद् उपनिषद् संग्रह से

प्राणाग्निहोत्री उपनिषद् उपनिषद् संग्रह से

प्राणायाम यौगिक चिकित्सा एवं अनुसंधान केन्द्र, बापूनगर, जयपुर, 1970

बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन -

ब्रह्म सूत्र शांकरभाष्य सहित, अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, काशी, सं० 1992

भगवद्गीता शांकरभाष्य सहित, गीता प्रेस गोरखपुर, 1957

भागवत-पुराण भावार्थ दीपिका सहित, सं वासुदेव लक्ष्मण, निर्णय सागर बम्बई, 1910

देवीभागवत पुराण सं० रामतेज पाण्डेय, पण्डित पुस्तकालय काशी, 1976

भारतीय दर्शन डा० बलदेव प्रकाश उपाध्याय, चौखम्बा ओरियन्टालिया, वाराणसी, 1976

मण्डल ब्राह्मणोपनिषद् उपनिषद् संग्रह से

महाभाष्य प्रदीपोद्योत व्याख्या सहित, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1954

मनुस्मृति, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1887

माण्डूक्योपनिषद् उपनिषद् संग्रह से

मैत्रायण्योपनिषद् उपनिषद् संग्रह से

यजुर्वेद वाजसनेयी संहिता उव्वट महीधर भाष्य सहित, सं० वासुदेव शर्मा, पाण्डुरंगजावजी, निर्णय सागर प्रेस बम्बई, 1929

याज्ञवल्क्य स्मृति मिताक्षरा व्याख्या सहित, चौखम्बा संस्कृत सीरीज् वाराणसी

योगकुण्डल्युपनिषद् उपनिषद् संग्रह से

योगी सम्प्रदाय आविष्कृति

योग चूडामण्युपनिषद् उपनिषद् संग्रह से

योग तत्वोपनिषद् उपनिषद् संग्रह से

योग प्रदीपिका सं० बलदेवमिश्र, चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी, 1972

योग शिखोपनिषद् उपनिषद् संग्रह से

योग मीमांसा पत्रिका कैवल्य धाम आश्रम लोनावला पूना

योग वासिष्ठ अच्युत ग्रन्थमाला काशी, सं० 2005

योग विज्ञान सं० सत्यानन्द सरस्वती-बिहार योगी विद्यालय, मुंगेर, 1972

योग विज्ञान 2 भाग पीताम्बर आश्रम दतिया

योगविद्या पत्रिका बिहार योग विद्यालय मुंगेर" बिहार

योगसारसंग्रह सं० सनातनदेव, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, सं० 2014

योगाभ्यास क्रम डा० मनोहरलाल लक्ष्मण घारोटे क्रीडा एव युवक कल्याण, बम्बई-1976

योगासन स्वा० कुवलयानन्द, कैवल्यधाम, लोणावला, महाराष्ट्र, 1965

योगशास्त्र

रसरत्नाकर काश्मीरी संस्करण

रसेन्द्रसार संग्रह दीपिका टीका सहित, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी

रसार्णव तन्त्र हस्तलेख

लिंग पुराण लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई, 1846

वायु पुराण आनन्दाश्रम मुद्रणालय पूना, 1905

वाराहोपनिषद् उपनिषद् संग्रह से

वसिष्ठ संहिता सं० दिगम्बर जी कैवल्य धाम लोणावला, पूना

वाक्य पदीय भर्तृहरि सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1977

विश्व ज्योति पत्रिका वैदिक शोध संस्थान होशियारपुर ,

वेदान्तसार सदानन्द, चौखम्बा संस्कृत सीरीज , वाराणसी, 1964

वैशेषिक दर्शन प्रशस्तपादभाष्य सहित, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी

वैदिक योग सूत्र

शक्तिसंगम तन्त्र चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी,

शतपथ ब्राह्मण सं० ए० वेबर, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 1964

शाक्त प्रमोद चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी,

शारदातिलक डा० चमनलाल, ख्वाजा कुतुब, वेदनगर बरेली,

शार्ङ्गधरसंहिता चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी

शाण्डिल्योपनिषद् उपनिषद् संग्रह से

शिव महा पुराण सुरेशचन्द अग्रवाल, गीता बुक डिपो हरिद्वार,

शिव संहिता डा० चमनलाल गौतम, संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब वेद नगर, बरेली, 1975

शिव संहितायाः आलोचनात्मक अध्ययनम् ,

श्वेताश्वतरोपनिषद् सं० तुलसी राम शर्मा, ईस्टर्न बुक लिंकर्ज, दिल्ली, 1976

षट्चक्र निरूपण

सर्वदर्शन संग्रह सं० के० साम्बशिव, त्रिवेन्द्रम्, 1938

सांख्य दर्शन

साहित्य दर्पण लक्ष्मी टीका सहित, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी,

सारस्वत कुण्डलिनी योग डा० जितेन्द्र भारती, लखनऊ

सांख्य तत्व कौमुदी ईश्वर कृष्ण चौखम्बा संस्कृत सीरीज ,वाराणसी

सिद्ध सिद्धान्त संग्रह

सिद्धान्त कौमुदी, बालमनोरमा सहित, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1980

सुवर्ण तन्त्र हस्त

सूरसागर मथुरा संस्करण

हठयोग प्रदीपिका स्वात्माराम ला०श्यामलाल हीरालाल, श्यामकाशी प्रेस मथुरा

हितोपदेश चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी

यो०द०	योग दर्शन
यो०प्र०	योग प्रदीपिका
लि०पु०	लिंग पुराण
वा०प०	वाक्यपदीय
वा०पु०	वायु पुराण
वै०द०	वैशेषिक दर्शन
वै०भू०सा०	वैयाकरणभूषणसार
श०ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण
शि०सं०	शिव संहिता
सां०द०	सांख्य दर्शन
सां०त०कौ०	सांख्यतत्त्व कौमुदी
सि०सि०सं०	सिद्ध सिद्धान्त संग्रह
सि०कौ०	सिद्धान्त कौमुदी
सु०सं०	सुश्रुत संहिता

प्राक्कथन

गुरु गोरक्षनाथ भारत के धार्मिक, दार्शनिक एवं तान्त्रिक जगत् में जहाँ मूर्धन्य रहे हैं, वहीं पर सामाजिक जीवन में भी उनका प्रभाव आज कई शताब्दियों के पश्चात् भी परिलक्षित होता है । उत्तरी भारत के जनजीवन विशेषरूप से हिमाचल के मन्दिरों में देवपूजा पद्धति गोरक्षनाथ द्वारा चलाई गई थी, ऐसा प्रतीत होता है । पूजा में मुद्रागान, ध्वज, त्रिशूल चिमटे आदि के चिह्न एवं देवमन्दिरों में धातुज पात्रों की भेंट तथा मन्दिरों में उनका चिपका देना, ये ऐसे चिह्न हैं जो नाथ सम्प्रदाय के प्रतीकवाद का पूर्ण रूपेण स्मरण करवा देते हैं ।

भारतीय संस्कृति की मन्दाकिनी आदियुग से लेकर वर्तमान युग तक अबाधगति से बह रही है । जब कभी इसकी धारा में अवरोध या बाधा उपस्थित होती है, तब कृष्ण जी की वाणी चरितार्थ होकर उसे दूर कर देती है ।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।

जब कभी भारतीय संस्कृति खतरे में पड़ी, तभी कोई मनीषी उत्पन्न हुआ । इसी परम्परा में शंकराचार्य के पश्चात् भारत भूमि पर एक महान् विभूति अमरकाय वज्रदेह श्री गोरक्षनाथ जी उत्पन्न हुए । उन्होंने अपने जीवन में साधना करके भारत वासियों का ही नहीं अपितु भावी कलियुगी त्रस्त मानव को कई प्रकार के रत्न खोज कर दिए हैं । तभी तो उन्हें संसार की सर्वोत्तम गुरु की पदवी मिली । "सर्वत्र विजयं कांक्षेत्, न कांक्षेत् पुत्र शिष्ययो:" के सिद्धान्तानुसार गोरखनाथ जी विश्व प्राणी का उद्धार चाहते थे । वे किसी से अपनी विद्या को नहीं छिपाना चाहते थे । वे जहाँ

शावर वेद के ज्ञाता थे और संचालक थे,वहाँ उनको पहुँच योग,आसन,प्राणायाम,मुद्रा, नादानुसन्धान,रस सिद्धान्त,आयुर्वेद,अगद तन्त्र,धर्म,संस्कृति,तन्त्रशास्त्र आदि में भी शेष अवतार पतंजलि की भाँति पूर्ण रूपेण देखने को मिलती है ,तभी तो मैं कह सकता हूँ कि -

योगेन चित्तस्य जपेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन,

गोरखनाथं योऽपाकरोत् सः प्रवरं मुनीनांऽञ्जलिरानतोऽस्मि ।।

इन समस्त रत्नविधाओं का रत्नागार "गोरक्षसंहिता है । यह अमूल्य ग्रन्थ संस्कृत में निबद्ध है और दुर्भाग्यवश पूर्ण रूप से अभी तक प्राप्त नहीं होता । इसके जो तीन प्रकरण जो मिले हैं उन पर उपयोगिता के आधार से हिन्दी में कोई भी विश्लेषण नहीं हुआ है,जबकि व्याधि प्रधान वर्तमान के प्राणी को इसकी परं उपयोगिता है । इस आवश्यकता को दृष्टि -गत रखते हुए इस ग्रन्थ का सांगोपांग विवेचन आवश्यक था । इसीलिए मैने अपने शोध-प्रबन्ध का शीर्षक "गोरक्षसंहिता :एक समालोचनात्मक अध्ययन" रखा । इसमें मैंने ग्रन्थकार के उदेश्यों को सर्वसाधारण तक पहुँचानें का प्रयास किया है ।

शोध प्रबन्ध को छः अध्यायों में बाँटा गया है । प्रथम अध्याय में स्थितिकाल,जीवनवृत्त का परिचय देते हुए गोरक्ष द्वारा प्रणीत संस्कृत तथा इतर भाषाओं के ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है । द्वितीय अध्याय में ग्रन्थ में प्रतिपादित योग स्वरूप,सिद्धान्त,अधिकारी,गुरु,योग में देशकाल का महत्त्व आदि विषय, आसनादि, षट्कर्म,मुद्रा तथा समाधि का वर्णन किया है । तृतीय अध्याय में रस,रसावस्था,रससाधन,

रसपातन,रसप्रयोग एवं उसकी सिद्धियों पर विचार प्रकट किए हैं । चतुर्थ अध्याय गोरक्ष-संहिता के तुलनात्मक परिशीलन में गोरक्षसंहिता के साथ पातंजल योग,हठयोग,सांख्य दर्शन बौद्ध दर्शन,अद्वैत वेदान्त,आयुर्वेद तथा अद्वैताद्वैत विलक्षणवाद का विवेचन करते हुए समन्वय स्थापित किया गया है । पंचम अध्याय में दार्शनिक एवं धार्मिक पक्षों को लेते हुए दोनों पक्षों का विशद् विवेचन प्रस्तुत किया है । दार्शनिक पक्ष में शिव,शक्ति,ईश्वर,कार्य-कारणवादएवं शुद्ध विद्या के सिद्धान्तो के विवेचन के पश्चात् माया,कला,राग,काल, नियति,जीव,प्रकृति,बन्ध तथा मोक्ष विषयों को लिया गया है । इसी प्रकार धार्मिक पक्ष में वैष्णव,शैव,शाक्त,बौद्ध धर्मों के विश्लेषण के पश्चात् प्रतीकोपासना,प्रतीकाप्ति,प्रतीकों का अध्यात्मिकस्वरूपादि विषय प्रस्तुत किए गए हैं । षष्ठ अध्याय में परम्परानुसार उपसंहृति प्रस्तुत की गई है। इसमें गोरक्षसंहिता के भारतीय धर्म और दर्शन पर प्रभाव, योगदान तथा समन्वयात्मिका परिणति को रखा गया है ।

मैं अपने शोध प्रबन्ध में इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि"गोरक्ष-संहिता यावत् गौ पद वाच्य अर्थों की रक्षा करने वाली है तथा वर्तमान युग के सर्वतः संत्रस्त मानव की रक्षा इसी ग्रन्थ के अनुशीलन से हो सकती है । यदि सरकार के सहयोग से रस तथा योग प्रकरण का अन्वेषण किया जाए तो वह दिन दूर नहीं जब भारत पुनः सोने की चिड़िया कहलाएगा । वह विश्व के लिए संदेश दे सकेगा कि -

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः ।
नानाहिताग्निः न स्वैरी स्वैरिणी कुतः ।।

जब भारतीयों का निर्दिष्ट चरित्र पुनरावर्तित हो जाएगा तो वह मनु की वाणी में पुनः कह सकेगा –

> एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः
>
> स्वं-स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवः ।।

इस शोध प्रबन्ध को पूर्ण करने में मुझे जिन महानुभावों की पूर्ण प्रेरणा एवं सहायता प्राप्त हुई है उनमें सर्व प्रथम स्थान पंजाब विश्वविद्यालय संस्कृत विभाग के सुविख्यात विद्वान् डा० धनराज शर्मा का है । आपके निर्देशन में मैंने अपना शोध कार्य पूर्ण किया है । आपने मुझे इस शोध कार्य में निर्देशन ही नहीं दिया अपितु मुझे समस्त प्रकार की सहायता एवं सुविधाएँ प्रदान की । डा० महोदय का मैं अपने हृदय से आभार प्रकट करता हूँ । आपके अतिरिक्त दर्शन केसरी तथा सुप्रसिद्ध दार्शनिक एवं पंजाब विश्वविद्यालय के अग्रगण्य एवं मूर्धन्य डा० राममूर्ति शर्मा के प्रति हृदय से कृतज्ञता प्रकट करता हूँ । आपके आशीर्वाद एवं प्रेरणा से मुझे अपने शोधकार्य में पूर्ण सहयोग मिला । पंजाब विश्वविद्यालय के संस्कृत विभागाध्यक्ष डा० रमाकान्त शर्मा एवं डा० जोशी जी के प्रति मैं अपने हृदय से आभार प्रकट करना चाहूँगा क्योंकि इनके सत्परामर्शों से तथा कार्यालीय सुव्यवस्था के फलस्वरूप मुझे अत्यन्त सहयोग मिला ।

डा० मानसिंह वेदाचार्य हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय के सहयोग एवं परामर्श के लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ । वेद शास्त्र के परम प्राचार्य प्रेमसिंह रा०म०विद्यालय सुन्दर नगर का भी आभार प्रदर्शन करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ, जिनके सत्परामर्श एवं सुविधाओं का मैंने पूर्ण लाभ प्राप्त किया है ।

हिमाचल प्रदेश के सुप्रसिद्ध संस्कृत समाजसेवी एवं भारत के राष्ट्र-

पति द्वारा पुरस्कृत विद्वान् गुरु प्रवर प्राचार्य दिवाकर दत्त जी की सत्प्रेरणाओं का फल ही यह कार्य कहा जा सकता है । अतः मैं विनम्र हृदय से उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हूँ । संस्कृत जगत् के लिए नई विभूति डा० सुधाकर शर्मा के सहयोग से यह कार्य सम्पन्न हुआ है । इनका भी मैं हृदय से अभारी हूँ । पूज्य पिता श्री गोविन्दराम शर्मा ब्रह्म लीन एवं माता जानकी देवी का भी मैं धन्यवादी हूँ जिनके शुभाशीर्वाद से मेरा यह शोधकार्य पूर्ण हुआ है ।

डा० सतीशकुमारशर्मा "आंगिरस" साहित्यवेदाचार्य का मैं अत्यन्त अभारी हूँ जिन्होंने अनेक प्रकार के कष्टों को सहते हुए अपने निवास कोटखाई में मेरे शोध प्रबन्ध के शोधन एवं प्रतिलिपिकरण में अपना सहयोग दिया और इसे पुस्तक का रूप दिया है । उन पूर्ववर्ती तथा वर्तमान विद्वानों के प्रति आभार प्रदर्शन करना मेरा पूर्ण कर्तव्य बन जाता है जिनके ग्रन्थों एवं लेखों से प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रणयन में मुझे सहयोग प्राप्त हुआ । श्री मती सत्या शर्मा दर्शनाचार्य का मैं विशेष धन्यवादी हूँ जिनके दृष्टादृष्ट सहयोग से मुझे अपने शोध कार्य को पूर्ण करने में सफलता मिली । अन्त में आर्तजनत्राणक वज्रदेह गुरु गोरक्षनाथ जी के चरणों में नतमस्तक होकर शोध प्रबन्ध को अर्पण करता हूँ ।

गोरक्षं नौमितं देवं योगमार्ग प्रदर्शकम् ।
यत्कृपालवमात्रेण योगसिद्धि प्रजायते ।।
तेषां कृपाकटाक्षेण योगमार्गे प्रवर्तितः ।
आचार्यगोकुलचन्द्रोऽसौ कृतकृत्यो ह्यजायत ।।

----o----

स्थितिकाल :-

भारतवर्ष के महापुरुषों की यह स्वच्छ परम्परा रही है कि वे अपने बारे में कुछ नहीं लिखते, बल्कि इसकी अपेक्षा विषय के बारे में अधिक स्पष्ट और सन्तुलित प्रकाश डालते हैं । इससे भारतीयों की निरहंकारता का स्पष्ट पता चलता है, जो विद्या का भूषण माना गया है, दूषण नहीं । क्योंकि "विद्या ददाति विनयं विनयाद् याति पात्रताम्" (1) कि युक्ति यही कहती है कि विद्या से विनय मिलती है और विनय से पात्रता आती है । पात्रता का अर्थ है कार्य के अनुरूप ही फल मिलना या कारण के अनुरूप ही कार्य पैदा होना इसलिए अध्ययनानन्तर जब भारत का शिष्य स्नातक बनकर गुरुकुल से स्वकुल को प्रत्यावर्तित होता था, तो गुरु उसे इसी पात्रता का अन्तिम उपदेश देता था । जैसे " बेटा अपने माता-पिता की सेवा करना, अपने गुरुओं की सेवा करना, अतिथि को सर्वदेवमय मानना, (2) नित्य प्रति अपने वेद और धर्मशास्त्रों का अध्ययन करना आदि । इसी से तुम अपने जीवन की सार्थकता प्राप्त कर सकोगे । जीवन चतुर्विध पुरुषार्थ प्राप्त करने के लिए मिला है, (3) सांसारिक विषय भोगों का भोगने के लिए नहीं । क्योंकि हम मानव हैं । मानव का तात्पर्य है -

---

1. हितोपदेश, मित्रलाभः-श्लोक -6

2. तै०उ० ।। अनुवाक् , मातृदेवो भव । पितृदेवोभव । आचार्य देवोभव । अतिथि देवोभव ।

3. सा०द०, प्र० परिच्छेद , धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।।

" सोच समझकर काम करना" । सोच-समझकर[4] कौन सा काम किया जाता है ! जिससे "इस जीवन में अभ्युदय[5] और शरीरत्याग के बाद मोक्ष मिल सके । " एका क्रिया द्वयर्थकरी प्रसिद्धा[6] इस न्याय से अथवा आम के आम गुठली के दाम या "आम्राश्च सिक्ता पितरश्च प्रीणिता:" न्याय से जहाँ दोनों वर्तमान और भविष्यत् जन्म लाभान्वित हो वही काम किया जाता है । क्योंकि सब अपना मनोवाञ्छित काम करना ही चाहते हैं । स्व अनुकूल जिस विषय का ज्ञान हो, वही सुख कहलाता है[7]। सुख को ही सब चाहते हैं ।

भारतीय मनीषियों का मन्तव्य विषय का ज्ञान करवाना ही अभीष्ट होता था, न कि प्रसिद्धि । इसी कारण वे अपने स्थिति कालादि के बारे में कुछ भी संकेत नहीं देते थे । दूसरे मानव का चरम लक्ष्य मोक्ष है । ~~मोक्ष है~~ । मोक्ष तब तक नहीं मिल सकता, जब तक निष्काम कर्म न किया जाए । जगत को छोड़ना ही मोक्ष है । नामरूप[8] का अभिधान ही जगत है । अत: उसका छोड़ना तभी हो सकता है । जब वे अपनी कृतियों के साथ अपना नाम न लगाए, कृतित्व न दिखाए । अगर वे महापुरुष अपना कृतित्व अपनी कृतियों में दिखलाते तो उनका नाम लेकर और उनका समय बतलाते हुए वे मोक्ष की कल्पना नहीं कर

---

4. निरुक्त अ0 1, पा0 6 मत्वा कर्माणि सीव्यति ।

5. वैशेषिक सूत्र, अ0 1-2 यतोऽभ्युदय नि:श्रेयस सिद्धि: स: धर्म: ।

6. महाभाष्य प्र0 अ0, पृष्ट 84

7. तर्कसंग्रह , शब्दखण्ड ,स्वानुकूल वेदनीयं सुखम् ।

8. शां0ब्रा0 1.1 नामरूपात्मकं हि जगत् ।

सकते थे ।

अत: गुरु गोरक्षनाथ भी महापुरुषों के अग्रणी माने जाते हैं । उनकी कृतियों में भी भारतीय परम्परा का पूर्ण पालन किया गया है । जिस कारण इनके जीवन काल के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता । पाश्चात्य विद्वानों की यह परम्परा रही है कि वे अपने स्थिति काल के बारे में पहले लिखेंगे कार्य बाद में करेंगे । डा० जनार्दन पाण्डेय[9] के विचारों के अनुसार, उनका इतिहास केवल दो हजार वर्षों का है जबकि हमारा अनादि इतिहास है । जिसमें काल की गणना में कौन फंसेगा । इसलिए नाथ सम्प्रदाय की रीढ़ की हड्डी के समान महान आचार्य गुरु गोरक्षनाथ के सम्बन्ध में कोई निश्चित प्रमाण नहीं है । केवल अनुमान से उनका काल निर्धारण किया गया है । 991 इस्वी में अभिनवगुप्त ने क्रम स्तोत्र का निर्माण किया था[10] । वहाँ गोरक्षनाथ का स्मरण किया गया है । इससे हम यह कह सकते हैं कि इनका स्थिति काल इससे पूर्व कभी भी हो सकता है । इसी प्रकार नेपाल के एक शिलालेख में "अवलोकितेश्वर का वर्णन आया है । 3620 कलियुग बीत जाने पर,[11] नेपाल में श्री मान् अवलोकितेश्वर का दर्शन किया गया । इससे प्रतीत होता है कि 520 ईस्वी में कदली देश में मोहित मच्छेन्द्रनाथ को गोरक्षनाथ ने बोध करवाकर छुड़ाया था ।

---

9. गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह , निवेदन "ञ"

10. हजारी प्रसाद द्विवेदी ,पृ० 97

11. गोरक्षसंहिता, काशी संस्करण का उपोद्धात "ग"

और वहाँ से मत्स्येन्द्रनाथ नेपाल आए । तब उनको सर्वप्रथम लोगों ने देखा। जिस कारण उनका नाम अब लोकितेश्वर पड़ गया । इस प्रकार मत्स्येन्द्रनाथ जिन्हें अवलोकितेश्वर नाम से भी पुकारा जाता है, छठी शताब्दी के आरम्भ में इस दिखाए गए शिलालेख के आधार पर सिद्ध होते हैं । उनके शिष्य गोरक्षनाथ का समय भी इसके समसामयिक या बाद का हो सकता है । डा० नगेन्द्रनाथ उपाध्याय के अनुसार[12] "गोरक्षनाथ से सम्बन्धित जो कथाएँ मिलती हैं, उनमें से गूगा चौहान, राजा रसालू, पूरण भगत आदि से सम्बन्धितत है । जिनका उपयोग विद्वानों ने गुरुगोरक्षनाथ के काल निर्णय में किया है । गूगा का समय 12 वीं शताब्दी के पूर्व बताया गया है । राजा रसालू का समय 8वीं शताब्दी माना गया है । ब्रीग्स ने[13] भर्तृहरि, गोपीचन्द्र, भोज, रानी पिंगला आदि की कथाओं के आधार पर, गोरक्षनाथ का समय 11 वीं शताब्दी माना है । राजपूताने के मेवाड़ बाप्पा से सम्बन्धित गोरक्ष का समय 8वीं शती से 12 वीं शती तक के बीच में माना है। अधिक सम्भावना 11 वीं शताब्दी के प्रारम्भ की है । उनका प्रारम्भ ब्रीग्स ने ग्यारहवीं शती से स्वीकार किया है । साथ ही उन्हें बंगाल के पूर्वभाग से आया हुआ माना है । किन्तु एक दूसरे विद्वान् डा० मोहन सिंह ने सम्भावना व्यक्त की है कि वे ईसा की 14 वीं शताब्दी में विद्यमान् थे ।[14]

---

12. गोरखनाथ ऐण्ड कनफटा योगीज् ब्रिग्स ,पृष्ट

13. वही ,पृष्ट 230

14. डा० नगेन्द्रनाथ , गोरक्षनाथ ,पृष्ट 99

ये पंजाब निवासी थे ।

15

नेपाल के राजनीतिक और धार्मिक इतिहास से उपलब्ध तथ्यों, शैवधर्म और और नाथयोगी सम्प्रदाय के विकास के इतिहास से उपलब्ध तथ्यों, तथा विभिन्न सम्प्रदायों की परम्पराओं के आधार पर प्रो० सिल्वां लेवी, डा० शहीदुल्ला जैसे विद्वानों ने निष्कर्ष निकाला है कि नाथ योगी सम्प्रदाय के संस्थापक ,सातवीं शताब्दी में अवश्य विद्यमान थे । वाक्यपदीयकार भर्तृहरि के आधार पर लोग गोरक्षनाथ को छठी शताब्दी का मानते हैं , हिमाचल के लोकसाहित्य की महासुई बोली में "भर्तृहरि नाम का एक संगीत चलता है । जिसमें भर्तृहरि राजा को गुरुगोरक्षनाथ का चेला माना गया है ।

एक साम्प्रदायिक परम्परा जेसस ग्राइस्ट को भी गोरक्षनाथ का शिष्य स्वीकारती है । उनका कहना है कि क्राइस ने हिमालय में जाकर नाथयोगी से योगशिक्षा ग्रहण की थी। दूसरी नाथ परम्परा में गोरक्षनाथ को सृष्टि से पूर्व विद्यमान बतलाया गया है । उनका प्रवाद है कि जब विष्णु सृष्टि न कर सके तो वे पाताल में गोरक्षनाथ जी के पास पहुंचे और उनसे सृष्टि निर्माण में सहायता की याचना की । गोरक्षनाथ ने विष्णु को एक मुट्ठी विभूति दी, जिसे जल पर छिड़कने का आदेश दिया । विष्णु वैसा करके सृष्टि निर्माण में समर्थ हुआ । तब विष्णु ब्रह्मा और शिव उनके शिष्य बन गए ।[16] इसी प्रकार गोरक्षनाथ को

15· डा० नगेन्द्रनाथ , गोरक्षनाथ, पृष्ट ११

16· गोरखनाथ एण्ड कनफटा योगीज् - ब्रीग्स ,पृष्ट 228

o गुरुगोरखनाथे दिती ली मुदरा, भैरतरी हरि तू वणो ला चेला ।

एक परम्परा के अनुसार बाबा फरीद से भी सम्पर्क बतलाते हैं । फरीद ने 1244 में गिरनार की यात्रा की थी। उनका गिरनार में एक स्मारक भी है ।[17] डा० कल्याणी मल्लिक ने शताब्दी के अनुसार सामग्री का विभाजन करके यह निश्चय करने का प्रयत्न किया है कि गोरक्षनाथ का समय 12 वीं शती के पहले कभी भी माना जा सकता है । पैग साम-जान-ज्वैन के अनुसार शंकर दिग्विजय के परवर्ती काल में मगध राज्य में,श्री हर्ष के ज्येष्ट पुत्र के राज्यत्व काल में बंग देश में माणिकचन्द्र के पिता राज्य करते थे । शंकर का जन्म काल 788 ईस्वी है। गोरक्ष नाथ ने नाथ सम्प्रदाय के दर्शन के साथ-साथ उपनिषद् दर्शन का भी सामञ्जस्य किया है । अत: वे शंकराचार्य से बहुत परवर्ती नहीं माने जा सकते । उनका दूसरा प्रमाण यह है कि आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हिन्दुओं और मुसलमानों में जो संघर्ष हुआ था, जिसमें गोरक्षनाथ के शिष्य रसालू ने विशिष्ट स्थान ग्रहण किया था । रसालू और पूरण गोरक्ष के शिष्य थे ।[18] अत: गोरक्ष का समय आठवीं शताब्दी माना जा सकता है । यद्यपि निश्चित प्रमाण इसमें भी नहीं दिया गया है केवल पारस्परिक तुलना और अनुमानों के आधार पर ही यह निश्चय किया गया है । इतना निश्चित है कि गोरक्षनाथ शंकराचार्य के बाद और रामानुजाचार्य से पूर्व कहीं पर भी अपनी सत्ता रख सकते हैं ।[19]

---

17. गोरखनाथ एण्ड कनफटा योगीज् ब्रिग्स पृ

18. डा० कल्याणी मल्लिक ,नाथ सम्प्रदायेर इतिहास, दर्शन ओ साधना प्रणाली,

19. गोरखनाथ, डा० नगेन्द्रनाथ 97

पाश्चात्य परिपाटी का अनुसरण करते हुए नाथ सम्प्रदाय के महान् आचार्य गोरक्षनाथ के जन्म का निर्धारण अनेकों विद्वानों के अनुमानों ,अटकलों एवं लोकगाथाओं के प्रवादों के आधार पर कोई भी शताब्दी रख दिया जाए, उसमें मुझे न तो सन्तोष है न कोई द्वेष । क्योंकि इन ऐतिहासिक तथ्यों से न तो किसी का व्यक्तित्व अधिक हो सकता है न कम । किसी भी समय कोई महान् व्यक्ति पैदा हो सकता है और नीचातिनीचतम भी। गुरु गोरक्षनाथ के समय में अनेक प्रकार के प्रमाण और कथाएं मिल जाती हैं । जिससे कोई निश्चय कर पाना कठिन हो जाता है । अतः या तो हमे जैनियों के स्याद्वाद को लेकर सभी को प्रमाणिक मानना होगा अथवा नाथ पन्थ के सिद्धान्तों पर पूर्ण विश्वास करके गोरक्षनाथ को अमरकाय और सर्वज्ञान तथा भाषाविद् मानकर इदमित्थं से विराम कर लेना होगा[20] । अपनी भारतीय परम्परा को सुरक्षित रखना होगा । तब चाहे,पौराणिक युग का,चाहे, अथर्व-वेद युग का माने या वर्तमान पूर्व प्रदर्शित शताब्दियों का, उनकी मान्यता पर उससे कोई असर नहीं पड़ता । उनकी भाषाशैली तथा लेखों से यहीप्रतीत होता है कि डिंगल के प्रादुर्भाव के साथ ही उनका भी जन्म हुआ है । या पंचम शती के अन्त में और छटी शताब्दी के आरम्भ में पैदा हुआ,[21] रसायन के बल से काया

---

20. गीता, 16.24 तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य-व्यवस्थितौ ।

21. अतीतकलिवर्षेषु शून्यदन्दरसाग्निषु ।
नेपाले जयति श्री मानार्यावलोकितेश्वरः ।।

को अमर बनाकर, डिंगल के प्रादुर्भाव तक या आजतक भी कोई योगिराज घूम सकते हैं । लोकगाथाओं में गोरक्षनाथ को कलियुगी सिद्ध कहा गया है । योग ग्रन्थों में भी योगियों की आयु उनके हाथ में दर्शायी गई है । जबतक वे चाहें जी सकते हैं । पुण्यकर्मों को निष्काम भाव से करते हुए लोक संग्रह हेतु विचरते रहते हैं । तभी योगीराज कृष्ण गीता में अर्जुन को यह कहते सुने गए हैं कि "मैं अगर कार्य न करूँ तो मेरा अनुसरण लोग करेंगे और मैं संसार को नाश करने वाला माना जाऊँगा[22]। इसलिए गोरक्ष कई शताब्दियों से सम्बन्धित हो सकता है जैसा कि गोरक्ष-संहिता के भूति प्रकरण में प्रतिपादित किया गया है कि तारकमणि के योग से बनी पारे की गोली को मुँहमें रखने से मानव वज्रदेह बन जाता है और ज्ञानयोग से समन्वित नवयुवक जराव्याधि से रहित शिव के समान अमरत्व प्राप्त कर लेते हैं[23]। अतः इस उलझन भरी समस्या का समाधान यही है कि उनके शास्त्रानुकूल उन्हें अमरकाय मान लिया जाए और जो उन्हें जिस समय का भी सिद्ध करना चाहे, उसी समय का सिद्ध कर ले ।

---

22. गीता 3.24 उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्मचेदहम् ।
संकरस्य च कर्तास्यामुपहन्यामिमाः प्रजा ।

23. वेधयेत् सर्वतत्वानि हेमतारकरो भवेत् ।
तदामृतसरोद्भूतां गुटिकां धारयेन्मुखे ।।
जरारुजा विनिर्मुक्तो ह्यमरत्वमवाप्नुयात् ।
वज्रदेहस्तु बलवान् योगराज समन्वितः । 7.144-145

जीवनवृत्त :-

नाथ सम्प्रदाय भारतवर्ष में अति प्राचीन काल से चला आ रहा है। इसके बीज अथर्व-वेद, भागवत-पुराण, शिवपुराण, लिंग-पुराण आदि में उपलब्ध होते हैं। इसीलिए नाथ शब्द की व्युत्पत्ति बतलाते हुए, राजगुह्य का उद्धरण देते हुए "गोरक्षसिद्धान्त-संग्रह में "ना" शब्द का अर्थ अनादि बतलाया है और "थ" का अर्थ तीनों भुवनों की स्थापना कहा गया है[1]। "नाथ" वह तत्व है जो भुवन त्रय में व्याप्त है और अनादि स्वरूप है। शक्तिसंगम तत्व के अनुसार "ना" का तात्पर्य उस पर-बोधक ब्रह्म तत्व से है। यह मोक्ष देने में निपुण माना गया है। "थ" का तात्पर्य है अज्ञान के साम्राज्य को समाप्त करने वाला[2]। इस प्रकार पूर्वोक्त दोनों ग्रन्थों के अनुसार नाथ परमतत्व और मोक्षदायक माना गया है। यही नहीं बल्कि नाथ को तो शिव और शक्ति दोनों तत्वों से ऊपर माना गया है। शक्ति अगर संसार का सृजन करती है तो शिव उसका पालन करता है। काल उसका संहार करता है और गुरु मुक्ति देता है[3]। इस प्रकार नाथ एक सबसे ऊपर की स्थिति वाला तत्व माना गया है। जिसके तीन रूप माने गए हैं - देवता स्वरूप-अद्वैतपरिवर्ती नाथ, ध्येय साकार नाथ।

---

1. गो०सि०स० पृष्ट ।।, नाकारो नादिरूपं थकार स्थाप्यते सदा ।
भुवनत्रयमेवैकं श्री गोरक्ष नमस्तु ते ।।

2. शक्तिसंगम तन्त्र पृष्ट ।। श्री मोक्षदानदक्षत्वात् नाथब्रह्मानुबोधनात् ।
स्थगिताज्ञान विभवात् श्री नाथ इति गीयते ।।

3. गो०सि०सं० पृ० 49 शक्त्या सृज्यते विश्वं शिवेन परिपाल्यते ।
कालेन संह्रियते मुक्तिनाथेन दीयते ।।

जिसको आदि गुरु भी कहा जाता है[4] ।अद्वैत परिवर्ती नाथ दो प्रकार की सृष्टि का उत्पादन करते हैं । नादरूप सृष्टि और बिन्दुरूप सृष्टि । इन्ही दो का विकार समस्त दृश्य जगत् है । शतपथ-ब्राह्मण में कहा गया है कि नामरूपात्मकं जगत" नाद ही नाम है और बिन्दु ही रूप है । इन का संयोग ही जगत् अर्थात् गतिशील पिण्ड ब्रह्माण्ड बन जाता है । जगत् में ऐसी पदवी पाने वाले कर्मठ और जीवनमुक्त,लोककल्याण-सागर करुणावतार यद्यपि अनेकों हुए हैं । जिनके बारे में ग्रन्थों में चौरासी सिद्धों की बात आती है तथा उनकी सूचियाँ भी मिलती हैं । जैसे हठयोग प्रदीपिका की सूची,वर्णरत्नाकर की सूची,साक्यविहार की सूची ,जिनमें सिद्ध और नाथों के बारे में विद्वानों का मतभेद भी पाया जाता है परन्तु डा० द्विवेदी ने इन्हें नाथ सिद्धों की सूची माना है । महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री के कथनानुसार भी कई लोग इन्हें नाथ पन्थ के सिद्धों की सूची मानते हैं । उनका विचार है कि "अवधूत-नाथ सिद्धा: अनर्थान्तर: ।

इन सब सूचियों में गोरक्षनाथ का नाम किसी न किसी रूप में अवश्य लिया गया है । वर्णरत्नाकर सिद्ध सूची में दूसरे स्थान पर तथा साक्य विहार सूची में

---

4. गो०सि०सं० पृष्ठ 5। अस्मिन्मार्गे अद्वैतपरिवर्ती नाथो देवताप्राप्य निराकारो ज्योतिर्नाथो ध्येय: साकारनाथ उपास्योऽथ च गुरु: ।

नवें स्थान पर गोरक्षनाथ का नाम लिया गया है । हठयोग प्रदीपिका में महायोगियों में आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, शावरानन्द, भैरव और चौरंगी मीन के बाद गोरक्ष का ही नाम स्मरण किया गया है । इसके इलावा तन्त्र ग्रन्थों में भी गोरक्ष नाम से इन्हें स्मरण किया गया है पर वर्णमाला रत्नाकर में गोरक्षनाथ के नाम से इन्हें स्मरण किया गया है जबकि महार्णव तन्त्र, यौगि-सम्प्रदाय-विष्कृति, सिद्ध-सिद्धान्तपद्धति अमरौघ प्रबोध तथा योग मार्तण्ड ग्रन्थों में "गोरक्षनाथ" नाम से पुकारा गया है । साक्य विहार की सूची में "गोरक्षपा" संज्ञा दी गई है । इन रूपान्तरों का कारण देशकाल तथा प्रतिपाद्य विषय हो सकता है, क्योंकि भाषा विज्ञान के आधार पर वागयन्त्र में परिणाम देशकाल के अनुसार आता है । तभी तो कबीरदास ने भी कहा है " घाट-घाट में पानी बदले चार कोस में वाणी "[5] । अस्तु कुछ भी हो गोरक्षनाथ एक प्रसिद्ध व्यक्तित्व रहा है । उनके प्रभाव से कोई सम्प्रदाय नहीं बचा । चाहे शैवतन्त्र हो, या शाक्ततन्त्र हो या बौद्धतन्त्र । क्योंकि सभी ने इनका नाम स्मरण किया है । गोरक्ष के गुरु-रूप में मत्स्येन्द्रनाथ का नाम लिया जाता है । जिनका स्थितिकाल दशम शताब्दी का अन्तिम दशक स्वीकार किया गया है[6] ।

---

5. कबीर दोहावली,

6. डा० नगेन्द्रनाथ , गोरक्षनाथ पृष्ट 89

क्योंकि तबतक वे पूर्णरूपेण विख्यात हो चुके थे । जालन्धर पादराजा देवपाल" 809-849" के समकालीन थे । इस प्रकार ये सिद्ध लोग 9वीं या 10वीं शताब्दी के माने गए हैं । हालांकि काया सिद्ध वाले नाथों का कोई समय नहीं होता तभी तो वर्तमान के अनेकों विद्वान गोरक्ष को भर्तृहरि का समकालीन स्वीकार करते हैं । कुछ का कहना है कि गुरुगोरक्षनाथ चारों युगों में अवतरित हुए हैं ।

इतना अधिक उल्लेख मिलने पर भी गुरुगोरक्षनाथ का प्रमाणिक जीवन अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है । इनके जन्म स्थान के बारे में भी अनेक मत हैं । जैसे नेपाल,पंजाब,गोरखपुर,हिंगलाज आदि-आदि । एक कथा नेपाल के जनपदों में प्रसिद्ध है कि पुत्रकांक्षिणी एक नारी को शिव ने विभूति दी । नारी ने अविश्वासकर उसे गोबर के ढेर पर फेंक दिया । बारह वर्ष के बाद पुन: गोरक्षनाथ का आविष्कार महादेव के आगमन पर हुआ । बाद में मत्स्येन्द्रनाथ का शिष्यत्व स्वीकार किया और उनके साथ तीर्थ-यात्रा करते रहे । एक समय वे हिंगलाज पर बैठे थे तभी नीलकण्ठ की यात्रा से वापिस आते मार्ग में उन्हें नाथपन्थानुयायी मिले,[8] जिन्होंने नेपाली राजा महेन्द्रदेव के अत्याचारों की सूचना उन्हें दी ।

7• डा० नगेन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ पृष्ट 89

8•डा० चमनलाल गौतम, गुरुगोरखनाथ चरित्र ,पृष्ट 133

उन्होंने कहा महाराज राजा महोन्द्र देव ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया है और वह हमें भी वही धर्म मनवाने के लिए हमेशा साम,दाम,दण्ड,भेदादि नीतियों से प्रताड़ित कर रहे हैं । अतः आपसे अनुरोध है कि आप हमारी सहायता के लिए नेपाल चलें और उस अत्याचारी से हमें बचाएं। आप जैसे सामर्थ्यवान् योगी ही हमारी रक्षा कर सकते हैं ।

नेपालियों की ऐसी दुखभरी पीड़ा को सुनकर वे नेपाल की ओर चल दिए । वहाँ ललितपाटन नामक ग्राम के समीप भोगवती के तट पर बैठ गए । नेपालियों से कहा कि मैं यहाँ पर तप करने बैठ गया हूँ और जबतक मैं यहाँ रहूँगा तब तक नेपाल राज्य में वर्षा नहीं होगी । आप निश्चिन्त रहिएगा कि मैं बिना कारण अपने आसन को नहीं छोड़ूँगा ।

नाथानुयायी नेपाली अपने-अपने घरों को चले गए और दो वर्षों तक नेपाल में वर्षा न हुई । तब राजा को प्रजा तंग करने लगी कि महाराज कोई उपाय ढूंढो जिससे वर्षा हो । सारी प्रजा त्राहि-त्राहि करने लगी । राजा का खजाना भी खाली हो गया । तब राजा ने लामा ज्योतिषियों को बुलाकर मन्त्रीं सहित विचार किया । ज्योतिषियों ने कहा-"महाराज आपके राज्य में कोई योगी बाधा डाल रहा है, उसे मनाओं तो वर्षा हो जाएगी । राजा ने सारे राज्य में अपने गुप्तचर भेज दिए । उन्हें भोगवती के तटपर गोरखनाथ जी तपस्या करते मिल गए । उनका एक शिष्य उनकी सेवा कर रहा था । दोनों से पूछने पर वे कुछ नहीं बोले । तब वे गुप्तचर राजा के पास पहुँचे और बोले-"महाराज पाटलि शिष्य से सेवित नाथ पन्थ के अग्रणी आचार्य गुरु गोरखनाथ जी व्योमदेह मत्स्येन्द्रनाथ

के शिष्य हैं । वे भागमती के तट पर तपस्या कर रहे हैं । वे बोलते कुछ नहीं ,हां । नेपाली नाथपन्थियों का कथन है किराजा ने जो अत्याचार हम पर करने आरम्भ कर रखे हैं ।उनका प्रतिकार है यह । राजा भय विह्वल हो गया और उसने मन्त्रियों को बुला कर इस विपत्ति को दूर करने का आग्रह किया । उन्होंने नाथपन्थियों पर अत्याचार बन्द करने की घोषणा की । उन्होने इस अवसर पर मत्स्येन्द्रनाथ की सुन्दर झांकी निकाली और नाथ पन्थ की जयघोष करते हुए भागमती के तट पर पहुँचे तभी गोरक्षनाथ ने गुरु की झांकी आते देखकर अपने आसन को छोड़ दिया । उसी समय मेघ उमड़े तथा नेपाल में वर्षा हो गई । इस विषय का श्लोक मृगस्थली में आज भी उत्कीर्ण मिलता है कि "यह वह मृगस्थली है जो नेपाल राज्य के मस्तक की तरह शोभित है । जहां पर श्री गोरक्षनाथ जी ने मेघमाला को अपना आसन बना दिया था " । राजा ने गुरु के चरण पकड़े और प्रतिज्ञा कि मैं अब अपने राज्य में कभी भी नाथपन्थियों को दुःखी नही करुंगा । ना ही धर्म परिवर्तन के लिए कहूंगा । गोरक्षनाथ जी ने राजा को क्षमाकर दिया ।

एक कथानक के अनुसार गोरक्षनाथ बंगाल प्रदेश में अयोनिज उत्पन्न हुए । क्योंकि मत्स्येन्द्रनाथ ने शिव से पार्वती को सुनाई जा रही कथा का पान किया । वे सिद्ध अमर योगी बन गए । उन्होंने सूर्य को प्रसन्न किया तथा उनसे वरदान

---

१. गो० सं०   मृगस्थली स्थली पुण्या भालं नेपाल मण्डले ।
यत्र गोरक्षनाथेन मेघमाला हुतासनी कृता ।। डा० जनार्दन पाण्डेय

प्राप्त कर लिया कि तुम मेरे जिस भी मन्त्र को बनाकर बोलोगे,वही सिद्ध हो जाएगा इस प्रकार मत्स्येन्द्रनाथ ने लोक में शाबर वेद का प्रचार और प्रसार किया ।

एक समय यह महान योगी तीर्थयात्रा करते हुए बंगाल पहुँचे । वहाँ चन्द्रगिरि नामक ग्राम में सर्वोदयाल [10] नामक ब्राह्मण रहता था । वह बड़ा सदाचारी और ईश्वरभक्त था । लौकिक मोक्ष का एक स्वरूप यह भी है कि अपनी वंश परम्परा का विच्छेद हो जाए वही मोक्ष कहलाता है । क्योंकि "पुत्रो ह वै आत्मनामासि" के अनुसार पुत्र आत्मा का द्वितीय संस्करण होता है । इस ब्राह्मण के कर्म मुक्ति के योग्य ही थे ।

उसकी पत्नी का नाम सरस्वती था ।वह साध्वी सुशीला पतिपरायणा थी । स्नेह का केन्द्र सन्तान न होने से वे अत्यन्त दुखी थे । इस पर भी वे यथा सामर्थ्य लोगों की सेवा परोपकार में हमेशा लगे रहते थे ।

एक दिन सौभाग्य से मत्स्येन्द्रनाथ उनके द्वार पर पहुँचे । जब उन्होंने अलख जगाई जिसकी ध्वनि सुनकर सरस्वती भिक्षा देने द्वार पर आई ,वहाँ अत्यद्भुत तेजस्वी योगी को देखा । भिक्षा देकर सरस्वती ने बड़ी याचना भरी दृष्टि से योगी को देखा । योगी ने माता से पूछा -"माई क्या दुःख है आपको, जो आप इस प्रकार याचना भरी दृष्टि से मुझसे कुछ मांगना चाहती हो । सरस्वती ने कहा -"महाराज सब कुछ कुशल है । किन्तु घर सूना है,अपुत्र की गति नहीं होती,इससे हमें भी नरक में जाना पड़ेगा

10.डा0चमनलाल, श्री गोरक्षनाथ चरित्र पृ0 5

11

क्योंकि पुम् नाम नरक का है । उससे जो भी त्राण करे उसे ही पुत्र कहा गया है । क्योंकि योगी अपने प्राण, बल से ब्रह्मरन्ध्र से निकाल कर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं । भोगी गृहस्थी लोग वैसा करने में असमर्थ हैं । अत: उनका औध्र्वदैहिक कर्म पुत्र द्वारा कपाल क्रिया से आरम्भ इसलिए करवाया जाता है कि पुत्र, तेरे को पैदा करने के कारण, वह अपने प्राण इस द्वार से नहीं निकाल सके । अत: तुम इनके औध्र्व दैहिक कर्म करो, जिससे अन्य जन्म में तेरे माता-पिता योगी बनकर, अपने प्राण ब्रह्मरन्ध्र से निकालकर, मुक्त हो सके । तो योगी आप मुझे तेजस्वी लगे, अत: मेरी आत्मा ने आपसे याचना करने हेतु प्रेरणा दी ।

सरस्वती के ऐसे करुणा भरे वचनों को सुनकर लोक-कल्याणी मत्स्येन्द्र -नाथ ने अपनी झोली से विभूति निकाली और अभिमन्त्रित करके माता को दे दी और कहा इसे सायं जल से पी लेना।आपका मनोरथ पूर्ण होगा । आपके घर पुत्र की उत्पत्ति होगी और मैं 12 वर्षों के बाद स्वयं आकर उसे दीक्षा दूंगा । इतना कहकर योगी चले गए ।सरस्वती ने विभूति को सुरक्षित रख दिया । दिन को पड़ोस की कुछ स्त्रियाँ एकत्र हो गईं । उनसे भी सरस्वती ने अपने मनोरथ पूर्ण करने वाली विभूति के बारे में बतलाया । तो सारी स्त्रियाँ कहने लगी बहन इन जोगियों के बहकावे में नहीं आना चाहिए ।अगर वे इतने सिद्ध होते तो दर-दर माँगते न फिरते । ये आपको पागल भी कर सकते हैं । होगा वही जो भाग्य में

---

11. निरुक्त ,अध्याय -3

लिखा है । जोगी भाग्य बदलने वाले कोई नहीं हैं, क्योंकि भाग्यं फलति सर्वत्र न वैराग्यं न च पौरुषंम्" ।

सरस्वती भी दुर्भाग्यवश उनके बहकावे में आ गई और उसने उस भस्म को गोबर के ढेर पर गांव से बाहर फेंक दिया । बारह वर्ष बीत जाने पर एक दिन अचानक अलख की ध्वनि आई । सरस्वती द्वार पर भिक्षा लेकर पहुंची ।उसने देखा कि सूर्यसदृश तेजस्वी जो विभूति देकर गया था बाहर खड़ा है । सरस्वती ने भिक्षा देने के लिए अपना हाथ बढ़ाया । जोगी बोला-" अपना पुत्र नहीं दिखाओगी । क्या अधिक मोह हो गया है ।" सरस्वती कांपने लगी । जोगी फिर बोले,"क्या मेरी विभूति व्यर्थ चली गई या उत्पत्ति के बाद मरण हुआ । बोलो मां क्या बात है । कांपती क्यों हो । तभी सरस्वती ने पूरी कहानी बिना किसी भेद भाव के सुना दी । जोगी बोले,"बताओ आपने कहां विभूति फेंकी । मेरी विभूति व्यर्थ नहीं जा सकती । अवश्य ही उससे किसी बालक की उत्पत्ति हो गई होगी । सरस्वती ने कहा अभी तक हमने कोई ऐसी बात नहीं सुनी । हां आप तो देवराज हैं, तो चलिए" जोगी ने गोबर के गड्ढे पर पहुंचने पर आवाज दी ।" हे हरि नारायण ! हे सूर्यपुत्र! यदि उत्पन्न हो गये हो, तो गड्ढे से बाहर आ जाओ, विलम्ब न करो " ।[12]

पहले कोई उत्तर नहीं मिला । तीसरी बार गड्ढे से

---

12. डा० चमनलाल, गोरखनाथ चरित्र, पृ० 10

आवाज आई कि मैं उत्पन्न हो चुका हूँ । मैं गोबर के नीचे पड़ा हूँ । गोबर हटाने पर एक बारह वर्ष का दिव्य बालक उठा । उसने मत्स्येन्द्र नाथ जी के चरणों पर साष्टांग प्रणाम किया और गुरु ने भी मस्तिष्क पर हाथ फेरा और आशिर्वाद दिया । पुत्र तुम सूर्य के अंशावतार हो । तुम महायशस्वी बनोगे । तुम्हारी उत्पत्ति गोबर के ढेर से हुई है । अतः तुम्हारा नाम गोरक्षनाथ उचित होगा ।सरस्वती बालक को देखकर कहने लगी की भाग्य ही सर्वत्र फलता है ।[13] वैसे तो हाथ में आई हुई वस्तु भी नष्ट हो जाती है । मुझ दुर्भाग्या को देखो कि ऐसे बालक से हाथ धो बैठी । तब मत्स्येन्द्रनाथ ने सरस्वती को समझाया कि यह बालक सूर्य का अंशावतार है । इसे अब मैं साथ ले जाऊँगा । यह तुम्हें नहीं मिल सकता । यद्यपि गुरु गोरक्षनाथ के जन्म स्थल और उत्पत्ति के विषय में कुछ निश्चित रूप से कह पाना कठिन है तथापि लोकप्रवादों और जनश्रुतियों के आधार पर उन्हें कोई बंगाल का,कोई नेपाल का,कोई पश्चिम गिरिनार का,कोई पश्चिमि हिमालय का तो कोई पंजाब का स्वीकार करते हैं ।क्योंकि पके हुए फल सब खाना चाहते हैं । महान् पुरुष को सभी अपना बनाना चाहते हैं । वैसा करने से उनका मान बढ़ता है । दूसरे रहस्यवादी समस्या हमेशा व्यापक बनी रहती है । वह ऋतु तत्व की तरह अणु होती हुई गैस की तरह सर्वत्र व्याप्त हो जाती है ।

"योगी सम्प्रदायाविष्कृति" में उन्हें गोदावरी के तीर पर उत्पन्न बताया गया है ।[14] "गोरक्षसहस्रनामस्तोत्र" में दक्षिण के बड़व देश का स्वीकार किया गया है ।[15]

13.पंच तन्त्र, मित्र प्राप्ति ।3। ,न हि भवति यन्न भाव्यं,भवति च भाव्यं विनापि यत्नेन ।
करतलगतमपि नश्यति यस्य च भवितव्यता नास्ति ।।

14. यो० सं० आ०, पृष्ट 33

15. अस्ति याम्यां दिशि कश्चिद्देशः बड़वसंज्ञकः । तत्राजनि महाबुद्धिर्महामन्त्र प्रसादतः ।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस श्लोक का इशारा योगविभूति के सिद्धान्त की ओर ही बतलाया है।[16] उनका कहना है कि "श्लोक में बड़व शायद गोदावरी तीर के प्रदेश का वाचक ही हो सकता है। ब्रिग्स ने एक परम्परा का उल्लेख किया है जिसे ग्रियर्सन ने भी स्वीकार किया है। जिसमें कहा गया है कि गोरक्षनाथ सतयुग में पंजाब के पेशावर में, त्रेता में गोरखपुर में द्वापर में द्वारिका के आगे हुरमुर में, कलियुग में काठियावाड़ की गोरखमढ़ी में प्रादुर्भूत हुए। नेपाली परम्परा के अनुसार वे पंजाब से नेपाल आए थे। गोरखपुर के महन्त के अनुसार वे पंजाब के झेलम टिला से गोरखपुर आए थे। नासिक के योगी भी उन्हें नेपाल से पंजाब और पंजाब से नासिक आया मानते हैं। टीला का प्राधान्य मानकर ब्रिग्स ने इन्हें पंजाब का ही माना है। ग्रियर्सन ने अनुमान लगाया है कि गोरक्षनाथ सम्भवतः पश्चिमि हिमालय के रहने वाले थे। जिस मत के पक्ष में कुछ एक लौकिक मन्त्र भी पश्चिमि हिमालय में देखे गए हैं। जैसे कि अपने पिता श्री गोविन्द राम जी के द्वारा बचपन में लेखक को एक कालीदीवीको सिखलाई गई थी जिसमें गोरक्षनाथ को भूमिगाज का, या ज्वालामुखी का द्योतित किया गया है। जैसे

"देवगुरु-देवगुरु है नामा, ब्रह्मा विष्णु महेश्वर नामा।
चर दुर्गे सिंह वाहिनि नामा, दुर्गे माता भयपुरचण्डी ।।
चौदह भुवन फिरे नव खण्डी, मीन मेखला हारा कीन्हा।
अष्ट नौ दुर्गे बली में दीना, दुर्गे देवी असल सहारा ।।
सिंहमारदा नो किया संहारा, पाण्डो सिमरो भैभीरात।
सरु आपार हथे कम्बोरा, श्रीमन्त हनुमन्त गए पैताले।

---

16. नाथ सम्प्रदाय, पृ० 85

मारो लंका सहज कर डाले ,बराविन्द जब रावण मारे ।

आवे सहेलो गावें गीता ,चण्डी प्रसादे रामदल जीता ।।

ताम्बुल चण्डी सारे पाते,सप्तरूप से पृथ्वी तारी,अष्ट रूप से पृथ्वी तारी,

ताता लोहा छूडे लोहारा, मैं ना जाणू मर मत जम्मा मार।

पूर्व देश से आई चण्डी, कने कुण्डल हथे त्रिशूला,पग्गे नेवर बाँए चूडा ।

जो चण्डी का सुमिरन करे । नांगा भूखा कभी ना मरे ।

जो देवी सूरजा पुत्री नमस्कार । सदा सौं धरले भवन । पर घाटे सिमरो गोरखनाथ ।

गोरख सिमरो घाटे प्रसिद्ध । जावो रे गुरु दूसरे हाथे । किस मारे किस डंक बजावे ।

डाकिनि-शाकिनी जय-जय करावे । घट-घट गोरख फिरे तांहि । वज्र का कोट लोहे की खाई ।

चौकी काली की आई । दर्व जोगी मया जोगी सर्वजोगी धनेश्वरी ।

वेताली डाकिनि काली कालरात्रि भयंकरी । भूताराडुणी देवी शुद्ध केशी विरूपिणि ।

तृप्तालिका हिंगलाजा परमेश्वरी । अष्ट षष्ट जुगनार्थी विलंपत्री रख दुर्गे शरणागता ।

एक आकू डंकिणि की ली,2,3,4,5,6,7,8,9,10,11,12, बारह वाहन खिले ।

जटी मटी कोल कनैतण सूदणी,सन्यारी,लुहारी,तरखाणी,धोबी छिंबी जात बगानी जात ।

न्हौंदें धोन्दे कैद करे ,टूणा करे ,टामण करे ,छुकू करे चुक करे मेरी भक्ति ,मेरे गुरु मत्स्येन्द्र

को शक्ति ,फुरे मन्त्र महादेव तेरी वाचा फुरे ।

इस चौकी से इस प्रदेश के डाउ या मन्त्र करने वाले समस्त लोगों

के दुःखों का निवारण करते हैं । चाहे किसी को भूत लगा हो ,या डाकिनि या छल-छिद्र ।

इससे बने सम्भालु या भेखल की डाली से झाड़पोंछ करने से सब कुछ दूर हो जाता है ।
यह तो इसका प्रादेशिक महत्व रहा । इसका ऐतिहासिक महत्व यह है कि इसमें गोरखनाथ को पगड़ी, चोटी रखे तथा एक घाट पर तपस्या करते हुए दिखलाया गया है । जहाँ पर वे महाकाली की तपस्या कर रहे हैं । जबकि उन्हें विचलित करने के लिए डाकिनि शाकिनी नाच रही है । गोरखनाथ उन समस्त घाटों में बिना किसी त्रास के घूम रहे हैं । उनके गुरु का दिया हुआ योग रूपी वज्र समान कवच है । प्राणायाम रूपी लौहसार अर्थात् धातुसार भोजन है । जिसके कारण न तो उन्हें भय होता है और ना ही बुभुक्षा पिपासा ही बाधित करती है । आगे जोगी को काली के आशिर्वाद से दिव्य बतलाया गया है । हिंगलाज पर्वत पर रहने वाली काली को जोगियों का धन बतलाया गया है । जिसके बल से वे कालरात्रि रूपी डाकिनि को भी पछाड़ने में समर्थ हो जाते हैं । गुरु मत्स्येन्द्रनाथ की शक्ति उनके साथ है । उनको उस पर पूर्ण भक्ति है वे गुरु काली से भी बलवान् हैं :5 क्योंकि निर्माता, पालिता और संहर्त्ता से उपर जो शक्ति है वे ही गुरु के रूप में हमें मिलती है[17] । उन गुरु के उपर यदि ध्यान इतना केन्द्रित हो जाए तो परात्पर गुरु एवं परं गुरु भी उस शिष्य की खर्च होने वाली शक्ति को पूर्ण करते हैं । तो यह न्याय कि -"सब जगह विजय चाहे किन्तु पुत्र और शिष्य से पराजय चाहे" पूर्ण रूपेण घटित होता है[18] ।

---

17. योग विज्ञान प्र०ख० पृष्ट 15   गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः । गुरु साक्षात्परं - ब्रह्म, तस्मै: श्री गुरवे नमः ।

कबीर वाणी, गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काके लागूँ पाय । बलिहारी गुरु आपने जिन गोविन्द दियो मिलाय ।

मन्त्र महार्णव 1·48 पत्र-2   अभिनेत्रः शिवः साक्षाद्चतुर्बाहुरच्युतः ।
अचतुर्ब्रह्मा श्री गुरुः कथितः प्रिये ।।

18. व्यवहारभानु, पृ० 50, सर्वत्र विजयं काङ्क्षेत् न काङ्क्षेत् पुत्रशिष्ययोः ।

हिमाचल प्रदेश की पुराणी टांकरी लिपि या गिलगिति वैशारदी में शाबर वेद के अनेकों मन्त्र अभी बहुत से ब्राह्मणों की परम्परा में चल रहे हैं । उन्हें यह विश्वास दिया गया है कि अगर तुम इन्हें प्रकाशित करोगे या किसी को बतलाओगे तो इन मन्त्रों का प्रभाव समाप्त हो जाएगा । जिससे वे लोग इन्हें नहीं बतलाते और वे उनके साथ समाप्त होते जा रहे हैं । नाथ सम्प्रदाय का यहाँ के पश्चिम भाग में अधिक प्रचार रहा है और कनफटे साधुओं का, लाटावाली ज्वाला माई में अब भी सिद्ध पीठ बना हुआ है । यहाँपर यह गाथा प्रसिद्ध है कि गुरु गोरक्षनाथ ज्वाला जी के निमन्त्रण पर वहाँ ठहर गए । जब माता उन्हें भोजन देने का आग्रह करने लगी तो गुरु जी ने भोजन लेने से मना कर दिया । क्यों कि ज्वाला जी को बकरे तथा अभक्ष्य वस्तुओं का उपहार दिया जाता था । गुरु ने कहा, "माता आप इन वस्तुओं को स्वीकार करती हैं जो उचित नहीं है । आप माता हो आपको कुमाता नहीं बनना चाहिए[15] । कुपुत्र हो सकते हैं कुमाता कहीं नहीं होती । गोद में लिए हुए शिशु माता की छाती में लात मारते हैं । तो क्या माँ उस अपराध से उन्हें फेंक देती है । आपके इस विपरीत व्यवहार के कारण मैं आपका आतिथ्य स्वीकार नहीं कर सकता"[16] । माता ने कहा," मैं इन वस्तुओं का सेवन नहीं करती । लोग मुझे जो भेंट श्रद्धा से दें । यहाँ के लोग अन्य सात्विक वस्तुओं को छोड़कर इन्हीं वस्तुओं का उपहार मुझे देते हैं । वैसे जो अज की बलि देने का विधान

---

15. शंकराचार्य क्षमापराध स्तोत्र श्लो0 3, कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति ।

16. सूरसागर, छाती पे शिशु करे जो घाता, ताते हेत उत्तारे न माता ।

किया गया है वह बकरा नहीं, अपितु पाँच वर्ष पुराना न उगने योग्य जौ है । लोगों की ना समझी से ऐसा हो रहा है । गोरक्षनाथ लोगों को समझाने के लिए उपाय खोजने लगे और माता से बोले कि मैं भिक्षा ले के अन्न ले आता हूँ, तुम चुल्हा जला के रखो । माता ने चुल्हा जलाया और समीप बैठ गई । गोरक्षनाथ पूर्व के गाँवों की ओर निकल पड़े । वहाँ देवी के दिए वचन के अनुसार एक ग्राम में अपना भिक्षापात्र रख दिया और लोगों से कहा जब यह पात्र भरेगा तभी इसे उठाया जाएगा ।[17] हजारों मन अनाज श्रद्धालु लोगों ने उसमें डाला किन्तु कमण्डलू न भरा । अब जोगी चमत्कारी बन गया और सभी उन्हें आश्चर्य की दृष्टि से देखने लगे । गोरक्ष ने अपने पात्र को अधूरा ही उठाया और पश्चिम के गाँव में चले गए । वहाँ पात्र न रखकर, एक झोपड़ी बनाई और लोगों को कहा कि जो भी आप लोगों को दान देना हो इसमें डाल दिया करो । थोड़े दिनों में वह झोपडी भर गई । तब समस्त दीन हीन जनों से कहा गया कि जिसे अन्न की आवश्यकता हो वे यहाँ से ले जा सकते हैं । जब लोग ले जाने लगे तो झोपड़ी खाली नहीं होती थी । हजारों आदमी उससे जितना अन्न ले जाते थे उसमें उतना ही भर जाता था । बाद में गोरक्षनाथ ने एक खिचड़ी की पतीली बनाई और उससे हजारों लोगों को भोज करवाया । लोग यह यौगिक चमत्कार देखकर गोरक्षनाथ के अनुयायी बन गए उनकी प्रसिद्धि दूर-दूर तक फैल गई । तब वे लोगों से बोले कि योग में कितनी शक्ति है । इन चमत्कारों का मतलब यह नहीं कि आप योग को अपना ही लें ।

---

17. डा० चमन लाल गौतम श्री गोरखनाथ चरित्र, पृ० 110

मुझे ज्वाला जी ने निमन्त्रण दिया है ,परन्तु आप उन्हें अमेध्य वस्तु उपहृत करते हैं । मैं तभी वहाँ भोजन करूँगा अगर आप उन्हें सात्विक भोज्य पदार्थ चढ़ावें । तब भक्तजन बोले," महाराज ब्राह्मण लोग तथा देवी के पुजारी लोग माँस मदिरा का भोग लगाने को कहते हैं । तभी हम ऐसा करते हैं । तब गोरक्षनाथ जी ने भक्तजनों से निवेदन किया कि आप इन जिह्वा लोलुप ब्राह्मणों और पुजारियों के कथन पर मत चलो क्यों कि इन्हें अपनी स्वादों का ख्याल है ।पशुबली हिंसा है ।उससे कभीभी देवी प्रसन्न नहीं होती । देवी तो कहती है कि शास्त्र विधि से मेरी अर्चना करो उसी से मैं प्रसन्न होती हूँ ।[18] शास्त्रों में हिंसा का निषेध तथा पत्र पुष्प फल जल आदि का विधान पूजा में किया गया है ।[19] माँस और मदिरा का नहीं । जो माँस और मदिरा तान्त्रिक ग्रन्थों में प्रयुक्त हुए हैं । उनका तात्पर्य कूट से कुछ और ही है । योग तथा साधना गुरुगम्य मार्ग ही रहे । अगर कोई इन्हें स्वयं विद्वान् बनकर जानना चाहे तो उनका पतन हो जाए । इसलिए उन कूट शब्दों का प्रयोग शास्त्रों में किया गया है । नहीं तो अनधिकारी के पास यह विद्या पहुँच जाएगी और वे उसका दुरुपयोग करेंगे । हंस गायत्री मन्त्र से स को मुझे समर्पित करो अर्थात् अपनत्व समाप्त कर दो ,मद्य का अर्थ वहाँ तालू से टपकने वाला, सन्ध्याकालीन वह अमृत है । इसे योगी खेचरी मुद्रा से पानकर वज्र देह प्राप्त कर सकता है । अतः इस काया रूपी देवी की पूजा, उसके करने के ढंग से ही इनकी सिद्धि होगी ।

---

18. सां०त०कौ० पृष्ट 23 विधिवाक्य मां हिंस्यात् सर्व भूतानि ।

19 गीता , पत्रं पुष्पं फलं तोयं यद् मे भक्त्या प्रयच्छति ।

अतः भले लोगो अभक्ष्य वस्तु का परित्याग तुम नहीं करोगे तो मैं देवी का निमन्त्रण स्वीकार नहीं करूंगा । देवी चुल्हा जलाकर बैठी रहेगी और आप कोप के भागी होंगे । सभी लोगों ने गुरु के कहने से बलि बन्द कर दी ।

कुछ लोगों का कथन है कि तभी से ज्वाला जी गुरु गोरखनाथ को रसोई बनाने की प्रतिक्षा में बैठी है और गोरखनाथ तब भोजन के लिए आएंगेजब सारे लोग ज्वाला जी में बलिदान करना बन्द कर देंगे ।

कुछ अन्यों का कथन है कि गोरखनाथ जी ने लोगों के बलि देना छोड़ देने पर ज्वाला जी का निमन्त्रण स्वीकार किया और वे ज्वाला जी में रहने लगे । उनका प्रभाव देखकर अनेकों लोगों ने उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया और उनमें से अर्जुन नाम का एक अन्तरंग शिष्य हमेशा उनकी सेवा में रहने लगा तथा गुरु की सेवा करने लगा । गुरु जी को आभास होना स्वाभाविक था कि कलयुग में ज्वाला को मांस मदिरा चढ़ाकर अपमानित किया जाएगा और मैं हमेशा नहीं रह सकता । जोगी वह होता है जो दर-दर जोग जगावे एक जगह न रहे । सब लोगों से योग करे । संयोग करे ।[21] इसलिए माता को खास रखने के लिए उन्होंने अपने यौगिक चमत्कार दिखलाए, कुछ दिन वहीं रहे । एक दिन अपने प्रिय शिष्य को खिचड़ी बनाने लगा दिया और कहा मैं जब तक वापिस आऊं तब तक इसकी रक्षा करना । वे चले गए । हट के नहीं लौटे । अधिक समय बीत जाने पर शिष्य

---

20 सि०को० युजिर्योगे ।

21• क० गो० अप्राप्तस्य प्राप्तिः संयोगः ।

ने डिबिया की रक्षा छोड़ दी और वह गुरु की देखभाल में ज्वाला माई के पहाड़ पर चढ़ गया । दशों दिशाओं में गुरु का ध्यान कर नजर दौड़ाने लगा । गुरु की आज्ञा भंग की गई थी । शाप मिला अर्जुन पाषाण बन जाओ । यही कारण है कि गुरु गोरखनाथ के शिष्यों का वर्णन नाथ साहित्य में पर्याप्त रुप में मिलता है । अर्जुन नाथ न बन सका ।किन्तु पत्थर बन गया । आज भी ज्वाला जी में इस गुरु दर्शनाभिलाषी अर्जुननाथ के पाषाणनाथ के रूप में दर्शन किए जा सकते हैं ।गोरख डिब्बिया ज्वाला जी की लटा के पूर्व की ओर आज भी खौल रही है और नाथ पन्थियों को गुरु के सात्विक मार्ग का उपदेश दे रही है ।

गोरख डिब्बिया खिचड़ी बनाती है । यह भोजन अनेकों अनाजों में मिश्रित भाव होता है । नाथ सम्प्रदाय भी अनेकों धर्मों के संमिश्रण की खिचड़ी ही है। शैव शाक्त गाणपत,वैष्णव आदि सम्प्रदायों की खिचड़ी नाथ सम्प्रदाय में पक रही है वहाँ बौद्धों के महायान जैनों के अहिंसावाद तथा कौलों की पुट भी मिलती है । जिससे गोरखनाथ की खिचड़ी यद्यपि अभी तक भी सब लोगों के सिरे नहीं चढ़ी, यही है गोरख डिब्बिया का रहस्य ।

द्वितीयोऽध्याय :- ग्रन्थानुरूप विवरणात्मक परिशीलन

गोरक्षसंहिता में प्रतिपादित योग का स्वरूप

युजिर् योगे धातु से और युज् समाधौ धातु से घञ् प्रत्यय होकर योग शब्द बनता है[1]। जिससे इसका अर्थ जोड़ना हो जाता है या बाह्य विषयों को अपने मन से हटा कर, एक विषय में समाहित करना हो जाता है। तभी तो पतञ्जलि ने योग का लक्षण करते हुए लिखा था कि चित्तवृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं[2]। चित्त की वृत्तियाँ मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध रूप से पाँच प्रकार की मानी गई है। इनमें आरम्भ की तीन अवस्थाएं योग के लिए अनुपयुक्त मानी गई है। अन्तिम दो अवस्थाओं का ही महत्व योग में स्वीकार किया गया हैं।

यह योग हिरण्यगर्भ से आरम्भ होकर पतंजलि को प्राप्त हुआ। पतंजलि ने योग के 195 सूत्र बनाकर, उन्हें विषयानुसार, समाधिपाद, साधनापाद, विभूतिपाद और कैवल्यपाद के नाम से विभक्त कर दिया था। यह ग्रन्थ योग के समस्त अंगों का विवेचन करता है। यद्यपि इसके अतिरिक्त भी अनेकों योग प्रतिपादक ग्रन्थ हो सकते हैं। जिनका प्रभाव गोरक्षनाथ के ऊपर पड़ा होगा परन्तु वर्तमान में सर्वांग परिपूर्ण ग्रन्थ अगर मिलता है तो वह योग दर्शन ही है। इसी ग्रन्थ का सहारा लेकर गोरक्षनाथ ने अपने ग्रन्थों में हठ योग का पूर्ण विवेचन किया है। महर्षि पतंजलि प्रतिपादित योग विद्या के दो भाग हैं। बहिरंग योगविद्या

---

1. सि0कौ0

2. यो0द0 1.2 योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।

और अंतरंग योग विद्या । उन्होंने बहिरंग के पाँच अंग स्वीकार किए हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार।धारणा ध्यान और समाधि ये तीन योग के अंतरंग विभाग माने गए है ।किन्तु निर्बीज समाधि में ये तीनों बहिरंग ही हो जाते हैं । पतंजलि ने जिन्हें बहिरंग कहा है वे ही हठ योग कहलाता है ।

असमाहित चित वाला सांसारिक मानव राजयोग को शीघ्रता से प्राप्त करने में असमर्थ है । राजयोग की प्राप्ति असमाहित प्राणी के लिए हठ्योग के द्वारा ही हो सकती है । जैसे ऊँचे-ऊँचे प्रासाद पर चढ़ने के लिए, अधिरोहिणी कि आवश्यकता होती है । वैसे ही उच्च विद्या प्राप्त करने के लिए तथा राजयोग प्राप्त करने के लिए हठ्योग की आवश्यकता होती है[3]। इस योग से प्राणी समाहित चित्त हो सकता है । इस योग के आदि प्रवक्ता आदिनाथ हुए हैं । उन्होंने असमाहित चित वाले प्राणियों को समाहित करने के लिए इस योग का उपदेश दिया था[4] । आदिनाथ से मच्छेन्द्रनाथ को, मच्छेन्द्र से गोरक्षनाथ को, उनसे अनेकों नाथों को हठ्योग की शिक्षा मिली ।

बाद में इस शब्द को घृणित रूप में ,इस मत केप्रतिपक्षियों ने वर्णित किया । इस शब्द का अर्थ बतलाकर दुराग्रह अनुचित व्यवहार आदि कर दिया

---

3. हठ यो० प्र० ।.। विभ्राजते प्रोन्नतराजयोगमारोढुमिच्छोरधिरोहिणीव ।
4. तदेव ।.।।श्री आदिनाथ नमोऽस्तु तस्मै येनोपदिष्टा हठ्योगविद्या ।

गया । जिससे जनता वास्तविक अर्थ को न जानकर इस मत से घृणा करके इसे त्याग दे तथा अपने रूढ़िगत सम्प्रदाय में ही चले रहे । तभी तो कोशकारों ने इसके अर्थ बतलाते हुए लिखा है कि हठयोग -राजयोग से भिन्नता दिखाने के लिए इसका नाम हठयोग पड़ा, इसका अभ्यास भी कठिन है और इसके अनुपालनकी अनेक रीतियाँ हैं । जैसे एक पैर के बल खड़ा होना, हाथों को ऊपर किए रहना, सिर ऊपर करके धूम्रपान करना आदि (5) । वस्तुतः हठयोग का यह निर्दिष्ट अर्थ कभी नहीं रहा है । हठयोग तो वास्तविक रूप से स्वाभाविक क्रियाओं का विवेचक है। जैसे "ह" का अर्थ सूर्य स्वर है । "ठ" का अर्थ चन्द्र स्वर माना गया है । इन दोनों के योग को हठयोग कहा गया है (6)। इसी प्रकार प्राण और अपान का नाम ह और ठ है । उनके संयोग को ही हठयोग कहा गया है । इस हठयोग से ही राजयोग की प्राप्ति होती है । राजयोग से ही काल की वन्चना अर्थात् आयु बढ़ाई जा सकती है । इससे अमरत्व प्राप्त किया जा सकता है (7)। इसलिए हठयोग की उपेक्षा नहीं की जा सकती क्योंकि "विषादप्यमृतं ग्राह्यं, बालादपि सुभाषितम्," इस मनु के कथन को प्रमाण मानना चाहिए । तभी तो अत्यन्त वृद्ध साँप के विषकोष्ठ में प्रकाश-

---

5. वामन सदाशिवराम आप्टे, कोश पृ0 1163

6. हकारः कीर्तितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते । सूर्यचन्द्रमसोर्योगाद् हठयोगो निगद्यते ।
सिद्ध सिद्धान्त पद्धति ।

7. ह0यो0 प्र0 4.103 सर्वे हठलयोपाया राजयोगस्यसिद्धये । राजयोग समारूढः पुरुषः
कालवंचकः ।

युक्तमणि का प्रादुर्भाव हो जाया करता है । नागे साधु भी विष का सेवन इसी प्रक्रिया से अपने अन्दर अमृत पैदा करने के लिए किया करते हैं । उन्होंने गोरक्षनाथ के कथन को साक्षात् रूप में स्वीकार किया है। कि गोरक्ष द्वारा कथित योग, कालकूट की तरह लगता है।किन्तु जबइसे जान लिया जाता है, तब यह अमृत की तरह बन जाता है[8]। अतः योग को मानव जीवन की सार्थकता के लिए अनिवार्य रूप से जानना होगा । वह योग -भक्तियोग, ज्ञानयोग कर्मयोग, हठयोग और राजयोग आदि रूप से अनेक प्रकार का माना जाता रहा है । कुछ भी हो, इन योगों से प्राप्तव्य अर्थ एक ही है । तभी तो योगशास्त्रकार ने सब चिन्ताओं के परित्याग के उपयोगी साधन को योग माना है[9]। इन साधनों से ही मानव अपने मानवता धर्म की रक्षा कर सकता है[10]।

जीव की दो कोटियाँ सनातनी मत के अनुसार मानी जाती है - कर्मयोनिगत जीव तथा भोगयोनिगत जीव । प्रथमयोनि में मानव ही आता है । दूसरी विधा के अन्तर्गत देवयोनि और दानवयोनि आती है।क्योंकि इन योनियों में गए, जीव आगे नहीं बढ़ सकते।किन्तु अपने कृत कर्मों का ही भोग करते हैं । अन्त में कर्मयोनि मानव जीवन

8· गो०सं०गू०प्र० ।·136 नाथगोरक्षसंप्रोक्तः सरसं कालकूटवत् ।
पूर्वं विज्ञायते सम्यक् अमृतवद् भवेत् ।।

9·योगशास्त्र;सर्वचिन्तापरित्यागो निश्चिन्तो योग उच्यते ।

10· विदुर नीति, योगेन रक्षते धर्मो विद्या योगेन रक्षते ।

में पहुँचकर, ~~क्लेकर~~ के अपने उध्र्वगमन और अधोगमन के योग्य कर्म करते हैं । कुछ भी हो योग में तीनों प्रकार की योनियों में, गए जीवों के उपकार की वार्ताएँ कही गई हैं । शंकर ने पार्वती से कहा था " हे परमेश्वरि ! योगविहीन ज्ञान मोक्षदायक नहीं हो सकता । हे प्रिये ! ज्ञानवान् संसार विरक्त धर्मज्ञ जितेन्द्रिय होने से ही मुक्ति नहीं मिलेगी। अपितु मोक्ष के लिए देवताओं को भी योग साधन करना होगा [11] ।

अत: गोरक्ष द्वारा प्रतिपादित योग 36 तत्वों के ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्ति करने के लिए "गोरक्षसंहिता में कहा है, "योगियों का हितसाधन करने के लिए गोरक्षनाथ जी ने गोरक्षसंहिता को कहा है । इसका बोध होने पर योगी को परम पद की प्राप्ति होती है [12] । जब योगाभ्यास के द्वारा मन विषय भोगों से दूर होकर परमात्मा में लग जाता है, तब योगी काल और मृत्यु को विजय करके जरामरण को भी वश में कर लेता है । यही कर्म मोक्ष की सीढ़ी है और काल की वंचना है [13] । संसार क्लेशमय है उसकी शान्ति के लिए योग का आश्रय लेना अत्यन्त आवश्यक है [14] । वास्तविक रूप से योग ही आत्म साक्षात्कार करवा सकता है । यही विद्या प्रत्यक्ष कारक कही गई है अन्य तो वाक् विजृम्भण है । मानव शरीर शक्ति का

---

11. यो०वि० प्रथम खण्ड पृ० 3 ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा धर्मज्ञोऽपि जितेन्द्रिय: ।
विना योगेन देवोऽपि न मोक्षं लभते प्रिये ॥

12. गो०सं० पृ० श० 3 गोरक्षसंहिता वक्ति योगिनां हितकाम्यया ।ध्रुवं यस्यावबोधेन जायते परमं पदम् ।

13. वही ।·4 एतद्विमुक्तिसोपानं तत्कालस्य वंचनं । यद्व्यावृतं मनोभोगादासक्तं परमात्मनि ।

14. वही ।·5 शमनं भवतापस्य योगं भजन्ति सत्तमा: ।

एक पुंज माना है। वह अनजाने, में उसको न होती जा रही है । शक्ति का निषेध करने के लिए, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि नामक छः तत्वों को अभ्यास माना गया है[15]। इनके साथ जो यम और नियम नामक अष्टांग योग के दो तत्व हैं उन्हें छोड़ दिया गया है । इस संहिता में, योग के अत्यन्त विस्तार को संक्षिप्त में करके वर्णित किया गया है । तभी चौरासी लाख को चौरासी पीठों में सीमित करके, उनमें से भी दो ही आसनों को महत्त्व दिया गया है । जिनका अभ्यास करके मानव मोक्षरूपी फल का भागी बन सकता है[16]। शरीर के प्रत्येक अंग का अपना महत्त्व होता है जिन्हें आयुर्वेद[17] में मर्मस्थल कहकर, उनकी रक्षा का आग्रह किया गया है । वे तेज भासक एवं उद्बोधक स्थल ही तो हैं । योगियों को जब तक इसका ज्ञान नहीं होगा तब तक वे अपने लक्ष्य पर नहीं पहुँच सकते हैं । वे स्थल हैं - मूलाधार, पादांगुष्ठ, गुह्याधार, वज्रगर्भ नाड़ी, उड्डीयान बन्ध, नाभिमण्डल, हृदयाधार, कण्ठाधार, कण्ठमूलाधार, जिह्वामूलाधार, जिह्वाधोमूलाधार, उर्ध्वदन्तामूलाधार, नासिकाधार, नासिकामूलाधार, भ्रूमध्याधार और नेत्राधार । ये सोलह आधार चिन्तन के स्रोत माने गए हैं[18]।

---

15. गो०सं० 1.6 आसनं प्राणं संरोधः प्रत्याहारश्च धारणा । ध्यानं समाधिरेतानि
योगानि वदन्ति षट् ।

16. वही, 1.9 आसनेभ्यो समस्तेभ्यो द्वयमेतदुदाहृतम् । एकं सिद्धासनं प्रोक्तं द्वितीयं कमलासनम्।

17. वही, 1.10 द्वयेतन्मोक्षकपाटभेदजनकं सिद्धसनं प्रोच्यते ।

18. वही, 1.12 षट्चक्रं षोडशाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपंचकम् ।
स्वदेहे यो न जानन्ति कथं सिद्धयन्ति योगिनः ।

द्विलक्ष्य भी मोक्षसाधक है । बाह्य-लक्ष्य नासिकाग्र तथा भौहों का मध्य भाग तथा भीतरी लक्ष्य मूलाधार हृत्कमल आदि माने गए हैं ।

पाँच आकाश का भी विशेष महत्त्व माना गया है । क्यों कि पंचकोश विवेक से ही मोक्ष की सम्भावना की जाती है । पंचकोश में पंचाकाश माने गए हैं । 1•श्वेत-वर्ण ज्योतिरूप आकाश, 2• रक्तवर्ण ज्योतिरूप आकाश, 3•धूम्रवर्ण ज्योतिरूप आकाश और 4•नीलवर्ण ज्योतिरूप आकाश,5• और विद्युतवर्ण ज्योतिरूप आकाश । इनमें प्रथम के भीतर दूसरा, उसमें तीसरा,तीसरे में चौथा तथा चौथे में पाँचवाँ आकाश सूक्ष्मातिसूक्ष्म न्यायेन लीन होता जाता है । अत: आनन्द ही ब्रह्म है" ऐसा श्रुति का जो कथन है वह अन्नमय,प्राणमय मनोमय,विज्ञानमय तथा आनन्दमय कोषों में,विभाजित साधना क्रम भी इस दर्शन में संगृहीत कर लिया गया है । तभी तो गोरक्षनाथ जी का कहना है कि एक स्तम्भ नौ द्वार और पाँच अधिदेवता वाले शरीर को जो नहीं जानते वे योगी सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकते[19] । इसलिए "यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे" जैसा पिण्ड में है वैसा ही ब्रह्माण्ड में है । यह सिद्धान्त गोरक्षनाथ जी दारा विशेष रूप से प्रतिपादित किया गया है । यह सिद्धान्त सम्भवत: शंकराचार्य जी के अद्वैतवाद का प्रत्युत्तर हो सकता है । क्योंकि बौद्धयान की विकृत तान्त्रिक साधना का विरोध,शंकराचार्य ने भी किया था तो गोरक्षनाथ जी के मत की महत्ता कैसे हो सकती थी ? तब इस सरस तथा शरीर प्रधान साधना को महत्त्व देने के लिए और

19• गो०सं० 1•13, एकस्तम्भं नवद्वारं गृह पञ्चाधिदैवतम् ।
स्वदेहे ये जानन्ति कथं सिद्धयन्ति योगिनः ।

शंकराचार्य के शुष्क ज्ञान के प्रति जो लोगों में अश्रद्धा जागृत हो रही थी, उसे अपने मत से दूर करने के लिए शरीर को प्रधान मान लिया गया । नहीं तो शंकराचार्य जी ने शरीर की सत्ता को सम्भावना से भी मना कर दिया था । वे कहा करते थे कि शरीर के सुख को महत्व देने वाले लोगों, यह कुछ नहीं है। क्योंकि " जो वस्तु जन्म से पहले भी नहीं थी और बाद में भी नहीं दिखती ,वह वर्तमान में दीखने मात्र से कैसे प्राप्त हो सकती है[20] । अतः शरीर प्रतिभासिक सत्ता है वास्तविकनहीं ।

जब कोई अपने मत की पुष्टि करना चाहता है, तो उसे अपने से पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों का प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से खण्डन करना पड़ता है। जिससे लोग उसी के मत को माने और उसी की विशेषता को मानने लगे । दूसरे गोरक्षनाथ जी ने पिण्ड की साधना का एक बिल्कुल छोटा सा रास्ता निकाला है। क्योंकि कलियुग का मानव अधिक से अधिक सौ वर्ष तक ही जी सकता है[21] । उन सौ वर्षों में उसका अध्ययन ही पूरा नहीं होता । जबकि विद्या अपना फल व्यवहार काल में देती है । विद्या का वास्तविक फल मुक्ति है[22] । वह तभी मिल सकती है, अगर हम इस छोटी सी जिन्दगी में, अपने पूर्व जन्मार्जित अनेकों कुसंस्कारों को, नष्ट करके अपनी बुद्धि को, उस आत्मा के प्रतिभास योग्य बना ले । वह तभी सम्भव है जब शरीरस्थ ज्योतिपुञ्जों का, ध्यानकर के, पादांगुष्ठ से लेकर आज्ञा चक्र तक के, तेजों

---

20 मा०का० आदि अन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा ।

21• महाभाष्य । अ० यः सर्वथा जिवति सः शतं जिवति ।

22• सा विद्या या विमुक्तये ।

को, अलातचक्र को तरह शरीर में घूमते देखें तथा पंचयोग में बतलाए हुए प्रकाशों को प्रथमत: एक एक करके, देखते हुए अन्त में समरसता स्थापित कर, इन्द्रधनुष को नाईं दर्शन दें । तभी पूर्व संचित दुष्कर्मों का आवरण बुद्धि पटल से नष्ट होगा और उसकी आत्मा को ग्रहण करने की शक्ति मानी जाएगी । गीता में इस ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त करने के लिए अनेकों जन्मों की तपस्या को कारण माना है[23]। तीन मास के अभ्यास से चल चक्र के दर्शन होने लगते हैं और अन्धकार में भी, उस साधक की आंखों से प्रकाश की किरण दीखती है । जिस प्रकार महापुरुषों के पीछे एक समरस प्रकाश को दिखाया जाता है, उसी प्रकार कालचक्र द्रष्टा के आगे भी प्रकाश समरसता स्वयं उससे दीखने लगती है ।

इस प्रकार की स्थिति बाह्य तथा अभ्यन्तर के योग साधनों के अभ्यास से ही प्राप्त की जा सकती है । जब तक पात्रता नहीं होगी तब तक योग समझ नहीं आएगा और ना ही पात्रता के विना वह फलीभूत हो सकता है । अत: आवश्यकता है यह विचारने की कि योग के अधिकारी किन्हें माना जाए ।

23· गीता 6·35 प्रयत्नात् यतमानस्तु योगी संशुद्धि किल्विष: ।

अनेक जन्म संसिद्धिस्ततो याति परां गतिम् ।।

योग के अधिकारी

नीतिशास्त्र में विद्या को विनय का कारण माना है, विनय से पात्रता आती है । जब तक किसी वस्तु के रखने की पात्रता नहीं होगी, तब तक वह वस्तु बेकार हो जाएगी । इसी तरह योग विद्या को प्राप्त करने की पात्रता, अवश्य होनी चाहिए । वह क्या हो सकती है ! शारीरिक शुद्धि मानसिक शुद्धि, नीर क्षीर विवेकता और स्ववीर्य पर पूर्ण नियन्त्रण,[24] । श्रद्धा, गुरु के प्रति भक्ति । मनुष्यों में जो प्राणिमात्र का भला चाहने वाला, मातृवत् पर स्त्रियों को समझने वाला, आलस्य रहित, स्वनियन्त्रिता ही योग की दीक्षा ले सकता है ।[25] काम, क्रोध, मद ,लोभ, मोह, मत्सर अतिभोजन, व्रत, उपवास ,अतिनिद्रा, अतिजागरण ये सब योग के मार्ग में विघ्न हैं ।[26] इस साधन चतुष्टय सम्पन्न को" 1·नित्यानित्य वस्तु विवेकी, 2· फलभोगविरागी, 3·शमदमउपरतितितिक्षासमाधानश्रद्धारूपी षट्सम्पत्ति-युक्त, 4· मुमुक्षु" ही योग का वास्तविक अधिकारी माना गया है । तभी तो प्रशान्त चित्त वाले के लिए, जितेन्द्रिय के लिए, दोषरहित के लिए, गुरु आज्ञा के पालक के लिए और गुणों से युक्त भक्त के लिए ही विद्या के उपदेश की आज्ञा दी है । हठ योग प्रदीपिका में गुरु गोरखनाथ के कथन को उद्धृत किया गया है'कि अग्निताप, स्त्रीसेवन, यात्रागमन योगाभ्यासी को सर्वथा छोड़ देने चाहिए । उत्साही, धैर्यशाली, तत्त्वजिज्ञासु ही इस योग विद्या का अधिकारी हो सकता है । जो युक्त आहार व्यवहार और युक्त चेष्टा वाले हों ।

24· भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं सम्वत्स्यथः । प्रश्नोपनिषद् 1·2

25· मेरुतन्त्र

26· लि०पु० अध्याय 9, वे०सा० पृ० 4

गुरु

संसार के प्रत्येक कार्य में अनुभवी व्यक्ति से मार्ग निर्देशन की आवश्यकता होती है । जो व्यक्ति जिस रास्ते पर चल चुका होता है, उसे उस मार्ग की कठिनाईयों, मोड़ों, उतार-चढ़ाव सबका ज्ञान होता है । योग मार्ग तो है ही खाण्डे की धारा । यहाँ थोड़ी सी भूल भी साधक को छिन्न-भिन्न कर सकती है । इसलिए योग मार्ग में तो गुरु की अत्यन्त अनिवार्यता मानी गई है । वह गुरु एक भी हो सकता है अनेक भी । अवधूत दत्तात्रय के चौबिस गुरु थे । जैसे पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, कबूतर, अजगर, सिन्धु पतंगा, मधुमक्खी, हाथी, भौंरा, हरिण, मछली, पिंगलावेश्या, कुररी, अर्भक, कुमारी, शरकृत, सर्प, मकड़ी और सुपेशकृत[1] । यहाँ पर गुरु का सीधा-सादा अर्थ है जिससे भी जीवनोपयोगी शिक्षा मिल जाए । इस प्रकार के व्यक्ति को गुरु मान लिया गया । दत्तदाता जो परवर्ती साधु ~~समस्त साधु~~ समाज के गुरु माने जाते हैं , उन्हें भी गुरु की आवश्यकता पड़ी, तो अन्य लोगों की तो बात ही क्या !

आदिनाथ, मच्छिन्द्रनाथ, गोरखनाथ आदि योगियों के कुल के महाराष्ट्र में अनेकों सन्त हुए हैं । इनमें हिरोबानाथ एक थे। वे अपनी वाणी में गुरु से "भ्रमरीकीट न्याय द्वारा गुरु की आत्मा को ही अपने हृदय में आया मानते हैं[2] । वे

---

1. श्री मद्भागवत् एक ।।.8.32-34 सन्ति मे गुरवो राजन् बहवो बुद्ध्युपश्रिताः
यतो बुद्धिमुपादायमुक्तोऽटामीह तच्छृणु । पृथ्वीवायुराकाशमापोऽग्निचन्द्रमारविः । कपोताजगरः सिन्धुपतंगो मधुकृत्गजः । मधुहा हरिणो मीनः पिंगलाकुररोऽर्भकः । कुमारी शरकृत्सर्प ऊर्णनाभिः सुपेशकृत् ।

2. काका कालेलकर, जीवनयोग साधना, पृष्ट ११
मृणे सोहिरागुरुनाथ हा, माझ्या हृदयीहसून ।
जानासि उदराव्याकारणे, वचन सांगतो ठसून ।।

अपने को, अपने कथन का कारण न मानकर गुरु को ही कारण मानते हैं । यह नाथ सम्प्रदाय की परम्परा रही है, कि वे गुरु को भगवान् से भी ऊपर का दर्जा देते हैं । तभी तो कबीरदास जी ने कहा है :-

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूँ पाये ।
बलिहारी गुरु आपने जिन गोविन्द दियो मिलाय ।।[3]

कार्यकारण भाव विवेचन करते हुए, न्याय ग्रन्थों में, कार्य से कारण को महान् बतलाया है । इसलिए कबीर की बात सत्य है । गोविन्द के साथ संयोग रूपी कार्य का, कारण गुरु ही है । तभी तो शुष्क वेदान्ती ज्ञानमार्गी शंकराचार्य जैसे विद्वान् भी गुरु की आवश्यकता मानते हुए कहते हैं "कि शान्त महान्त वसन्त की तरह लोक कल्याण में विचरने वाले सन्त संसार रूपी सागर से स्वयं पार लंघते हुए, लोगों को विना कारण के ही तार देते है । ऐसे गुरु "कर्तुं, अकर्तुं अन्यथाकर्तुं" शक्ति सम्पन्न होते हैं"[4]। तभी तो उन्हें ब्रह्मा विष्णु और महेश्वर की त्रिपुटि माना गया है[5]। जब गुरु शिष्य की बुद्धि में नए ज्ञान की उत्पत्ति करता है, तब वह ब्रह्मा। जब शिष्य के अच्छे गुणों का रक्षण करता है, तब विष्णु। जब दुर्गुणों का संहार करता है तब महेश्वर रूप गुरु अवधूत रूप में या परब्रह्म रूप में ही हमारे सामने आते हैं ।

---

3. कबीरदास दोहावली,
4. जीवनयोग, पृ० 109 शान्ता महान्ता निवसन्ति सन्तो वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः ।
तीर्णा स्वयं भीममहार्णवं जनान् अहेतुनान्यापि तारयन्तः ।।
5. यो०वि० पृ० 13 गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरो ।
गुरुः साक्षात्परं ब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः ।।

अवधूत का वर्णन करते हुए कहा है - "जिसके प्रत्येक वचन में वेद रहते हैं, प्रत्येक कदम में समस्त तीर्थ निवास करते हैं । हर नजर में जहाँ मोक्ष रहता हो, वह अवधूत होता है"[6]। जिसके एक हाथ में त्याग रहता है और एक हाथ में भोग रहता है । जो त्याग और भोग दोनों से निर्लिप्त रहता है । वह अवधूत हमारा कल्याण करने वाला हो सकता है"[7]। वह प्रकृति के सारे विकारों को नष्ट कर देने के कारण ही शुद्धस्फटिकप्रभ अवधूत कहलाता है"[8]। यही अवधूत गुरु बनकर संसार के माया लिप्त प्राणी को परम पद के दर्शन करवा सकता है । जहाँ पर जाकर फिर उसका आगमन इस दुःख भरे संसार में नहीं हो सकता[9] ।

इस प्रकार का जीवनपथप्रदर्शक कैसा हो, उस के गुण किस प्रकार के हो, जब हम इसके ऊपर विचार करते हैं। तो इसी निश्चय पर पहुंचते हैं "कि वह गुरु शमदमादि षट् सम्पत्तियुक्त होना चाहिए । ताकि वह सही दिशा शिष्यों को दिखा सके । ज्ञान की शलाका से जो शिष्य की आँखें खोल दे और स्वात्मरूप के साथ परब्रह्म के दर्शन भी करवा दें । ऐसे गुरु कलियुग में, लिंग पुराण के अनुसार हिमालय के सिद्धाश्रम में ही मिल सकते हैं । जो वेदान्त

---

6. गो०सि०सं० वचने वचने वेदास्तीर्थानि च पदे-पदे, दृष्टौ-दृष्टौ कैवल्यं सोऽवधूत श्रियोऽस्तु नः ।

7. वही, एकहस्तेधृतस्त्यागो भोगश्चैककरे स्वयं श्रियोऽस्तुनः ।
अलिप्तस्त्यागभोगाभ्यां सोऽवधूतः श्रियोऽस्तु नः ।।

8. वही , यः सर्वान् प्रकृति विकारान् अवधूनोति इत्यवधूतः ।।

9. गीता अखण्ड मण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरं। तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः ।।
यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद् धामः परमो मम ।।

युक्त हो ,विष्णु भक्त हो ,विमत्सर मन्त्रज्ञ, विश्वासी,गुरुभक्त,पुराणज्ञ आदि लक्षणों से युक्त हो,उन्हें गुरु संज्ञा दी जा सकती है । जो शास्त्रों के अर्थों का चयन करवाता है,[10] आचार को स्थापना करता है,अपने आप भी उस पर चलता है,उस आचार्य को ही, गुरु संज्ञा दी जा सकती है ।[11] गुरु शब्द का गूढ़ार्थ है कि "गु" नाम अन्धकार को कहा जाता है और "रु" का तात्पर्य है उसे नष्ट करना[12] । इसलिए गुरु शिष्य की बुद्धि में,छाए अन्धकार को नष्ट कर उसे ज्ञानार्जन शलाका से उसे भर देते हैं । इसलिए इस संसार में,गुरु ही परब्रह्म है,परागति है, पराविद्या है,परम धन है, परम काम है । इसलिए उस गुरु को जो उस अन्तिम वस्तु का उपदेश देता है, उसे सबसे गुरुतर माना गया है[13] । यह गौरवता किसे प्राप्त हो सकती है, इस बात पर विचार करते हुए योगी याज्ञवल्क्य ने अपनी स्मृति ग्रन्थ में,गुरु का लक्षण करते हुए लिखा है कि " जो व्यक्ति निषेकादि उपनयन पर्यन्त समस्त कर्मों से प्राणी का संस्कार करवा के, स्वयं उसे वेद पढ़ाए वही गुरु बन सकता है । जो केवल सावित्रि दान करके, ब्रह्मचारी को वेद पढ़ाना आरम्भ कर देता है वह आचार्य कहलाता है[14] । पाणिनि व्याकरण के उणादि सूत्र में "कृग्रोरुच्च" से गृ निगरणे धातु से कु" प्रत्यय तथा उत्व होकर गुरु शब्द बनता है । जिसका तात्पर्य है कि

10• द्वयोपनिषद्, आचार्यो वेदसम्पन्नो विष्णुभक्तो विमत्सरः ,मन्त्रज्ञो मन्त्रभक्तश्च सदसमन्त्राश्रय शुचिः । गुरुभक्तिसमायुक्तःपुराणज्ञो विशेषवित् । एवं लक्षण-सम्पन्नो गुरुरित्यभिधीयते ।।

11•आचिनोति हि शास्त्रार्थानाचारस्थापनादपि । स्वयमाचरते यस्तु तस्मादाचार्य उच्यते ।

12•गुशब्दस्त्वन्धकारःस्यात् रुशब्दस्तन्निरोधकः । अन्धकारनिरोधित्वाद्गुरुरित्यभिधीयते ।

13•गुरुरेव परं ब्रह्मः गुरुरेव परागतिः । गुरुरेव परं विद्या गुरुरेव परं धनम् ।
गुरुरेव परं कामः गुरुरेव परायणः । यस्मादुपदेष्टासौ तस्माद्गुरुतरो गुरुः ।

14• या०स्मृ० 34• स गुरुर्यः क्रियाः कृत्वा वेद तस्मै प्रयच्छति ।
उपनीय ददद्वेदमाचार्यः सः उदाहृतः ।।

वह शिष्य को अपने प्रभाव से, अपने अन्दर निगल जाता है और वहाँ से उसे सूरति की आभा से आभासित कर बाहिर निकालता है । यही भावना भारत में फैली है और समस्त सम्प्रदाय गुरु की मान्यता को स्वीकार करने लगे हैं । जैसे सिक्ख धर्म, राधास्वामी सम्प्रदाय आदि ।

कुछ अपवाद, जैसे-बौद्ध धर्म के आदि गुरु बुद्ध भगवान्, गुरु की आवश्यकता नहीं मानते । वे"आत्मदीपो भव" का उपदेश देते हैं । उन्हें सम्यक् सम्बुद्धता स्वयं मिली थी । वे गया के बोधिसत्त्व बटवृक्ष के नीचे सम्बुद्ध हुए थे । बाद के बौद्ध रत्नत्रयी"बुद्धं शरणं गच्छामि,संघं शरणं गच्छामि,धर्मं शरणं गच्छामि" ।को आवश्यक मानते हैं। किन्तु बुद्ध ने गुरु की आवश्यकता नहीं मानी थी। वैसे ही स्त्रियों के लिए पति ही गुरु रूप में वर्णित किए गए हैं ।

कुछ भी हो गुरु का नाथ सम्प्रदाय में तो विशेष महत्त्व है । तभी तो प्रसिद्ध आचार्य गोरक्षनाथ के नाम से पहले गुरु लगाया जाता है । बाद में उन्हें गुरु नाम से ही जाना जाता है । यह रूढ़ी तभी हुई जब गुरु की इतनी महिमा रही है ।

3· गोरक्षप्रणीत ग्रन्थ

क" संस्कृत ग्रन्थ :-

1·गोरक्षगीता, 2·गोरक्षबोध·3·गोरक्षदोक्षा,4·गोरक्षगणेश गोष्ठी, 5·गोरक्षावधूतगोष्ठी, 6·गोरक्षयोग मञ्जरी, 7·गोरक्षशतकम्" ज्ञानशतकम्" ,8· गोरक्षज्ञानगंगा,9·गोरक्षागम, 10·गोरक्षतत्त्व प्रकाश,11· गोरक्षोपनिषद्, 12·गोरक्षशब्दी,13·गोरक्षपद्धति, 14·गोरक्षसंहिता, 15·महार्थमञ्जरी, 16·सिद्धसिद्धान्तपद्धति,17·षट्चक्रचिन्तामणि,18·षट्चक्रबोध,19·त्रिपुर--सुन्दरीपद्धति, 20·योगसिद्धान्तपद्धति,21· विवेक मार्तण्ड,22·अमरौघशासन,23·अमनस्कयोग, 24· अमरौघप्रबोध,25·प्राणशृङ्खला,26·नृपबोध,27·हठसंहिता, 28·हठसंकेत "1" ।

"ख" इतर भाषा ग्रन्थ :-

1·सबदी, 2·पद,3·तिथि,4वार, 5·अभैमात्रायोग,6·संख्यादर्शन,7·प्राणसंकलि,8·आत्मबोध, 9·नरवैबोध,10·काफरबोध,11· अवलिसिलक,12·ग्यान्ति भौरावलि,13· रोमावलि, 14·साषी 15·मछीन्द्रगोरखबोध,16·गोरखगणेश सम्वाद,17·गोरक्षदत्तसंवाद "2" ।

इन ग्रन्थों में डा० जनार्दन पाण्डेय ने यह स्वीकार किया है कि „सिद्धसिद्धान्तपद्धति„ से लेकर„ हठसंकेत„ तक की रचनाएँ गोरक्षनाथ की स्वयं रचित है ।„गोरक्षसंहिता„ से "महार्थमञ्जरी„ तक की रचनाएँ,इस सम्प्रदाय वालों ने गोरक्षसिद्धान्त से या उनके उपदेशों से निचोड़ लेकर लिखी है । कोई रचना सम्पूर्ण रूपेण, कोई पौर्वापर्यरूप से उनकी रचनाओं में आ

1· गोरक्षसंहिता कादिप्रकरण उपोद्‍घात, "ज" डा० जनार्दन पाण्डेय,

2·डा० नगेन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ,पृ० 135

जाती है[3]। इन मूल रचनाओं के निचोड़ में संकेत मिलता है "श्रीमन्महामहेश्वराचार्य श्रीसिद्ध-गोरक्षनाथविरचितम्" ऐसा अमरौघ शासन में तथा "गोरक्षापर्याय श्रीमन्महेश्वरानन्दनाथविरचितम्" ऐसा महार्थमन्जरी में लिखा मिलता है। जिससे गोरक्षनाथ का दूसरा नाम महेश्वरानन्दनाथ भी कहा गया है।

जिससे यह भाव निकलता है कि जिन ग्रन्थों के नाम विषय परक है वे गोरक्षनाथ के स्वयं निर्मित ग्रन्थ है। दूसरे इन ग्रन्थों की भाषाशैली और प्रतिपाद्य के पतिपादन का ढंग भी एक अधिकारी विद्वान् के अनुरूप हुआ है। जो रचनाएं गोरक्ष नाम लेकर लिखी गई है, उनमें भाषागत दोष देखकर और प्रतिपादन की शिथिलता देखकर ऐसा लगता है कि ये रचनाएं गुरुगोरक्षनाथ द्वारा रचित न होकर परवर्ती नाथ सम्प्रदाय के लोगों द्वारा गोरक्षनाथ के नाम से चलाई गई हैं।

विश्व के सबसे बड़े भाषा वैज्ञानिक पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में दो सूत्र बनाकर लोगों का मार्ग प्रशस्त किया है। जैसे "तेन प्रोक्तम् 4·3·101," "कृते ग्रन्थे, 4·3·116" पहले सूत्र में जिसने जो सिद्धान्त कहे हैं, उससे बनने वाला शब्द सिद्ध होगा और दूसरे जिसने उनकी रचना की है वे शब्द सिद्ध होंगे। इन्ही सूत्रों का प्रपंच गोरक्षगीता आदि

3·डा० जनार्दन पाण्डेय, गोरक्षसंहिता कादि प्रकरण, उपोद्घात

4·अ०, 4·3·101,,116

नामों में देखा जा सकता है । जो सिद्धान्त मूल रूपेण गोरक्षनाथ ने कहे हैं । उनका अपने शब्दों में वर्णन करना हो, इन ग्रन्थों के लेखकों का कर्तव्य होता था । वे यह नहीं जानते थे कि इसको हम गोरक्षनाथ का बना भी पाएँगे या नहीं । जो पूर्ण सिद्ध नहीं होते थे वे अपने गुरु का भी अपमान करवा बैठते थे । तभी तो विद्या अपने जाने वाले गुरु से कहती है कि"मेरी रक्षा करो मुझे असूया करने वाले को मत दो ,गुरु की निन्दा करने वाले को मत समर्पित करो, नहीं तो मैं बलवान् नही रहूँगी[5] । स्वल्प ज्ञानी शिष्यों या अनुयायियों ने नहीं सोचा कि सिद्धपुरुष जब अपने जन्मकाल और देश का भी वर्णन नहीं करते । ऐसा करने से उनकी व्यापकता नष्ट हो जातीहै । वे अपने ग्रन्थों से पूर्व अपना नाम क्यों कर लगाते । दूसरे भारतीय धर्म के संरक्षक धर्मशास्त्र का उलंघन करके अपना नाम कैसे लेते[6] । अतः गोरक्षेण प्रोक्तम्" इस विग्रह में"तेन प्रोक्तम् सूत्र से छः प्रत्यय करके गोरक्षिय शब्द बना लेते हैं और पुनः प्रत्यय का लोप करके ग्रन्थों के आदि में दिया हुआ गोरक्ष शब्द शेष बच जाता है ।

गुरु गोरक्षनाथ की संस्कृत रचनाओं की प्रमाणिकता

जहाँ संस्कृत के महा पण्डित जनार्दन पाण्डेय ने संक्षेप में की है वहाँ नाथ सम्प्रदाय के प्रौढ़ लेखक एवं हिन्दी -संस्कृत विश्रुत विद्वान् डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने ग्रन्थ में पूर्ण

5• नि० अध्याय -। विद्या ह वै ब्राह्मणंमाजगाम शेवधिष्टेऽस्मि रक्ष माम् ।

असूयकाय मा प्रादात्तथैव वीर्यवती स्याम् ।।

6• म०स्मृ० आत्मनामगुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च । श्रेयस्कामो न गृह्णीयात्।

ज्येष्ठापत्यकलत्रयोः ।।

विवेचना के साथ की है । डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने अपनी रचना 'गोरखबानी' में चालीस हिन्दी रचनाओं को गोरखनाथ रचित बतलाया है । इनमें से तो चौदह को तो सर्वथा गोरख लिखित स्वीकार किया गया है [7]। वैसे तो गोरक्षनाथ की रचनाओं को गिनाते हुए हिन्दी साहित्यकारों ने लम्बी-लम्बी सूचियाँ प्रकाशित की है किन्तु उनमें दो प्रकार के भावों की पुष्टि होती है । एक तो नाथ सम्प्रदाय के सिदान्त प्रतिपादित करने वाले ग्रन्थों की सूची, दूसरे गोरखनाथ से सम्बन्धित ग्रन्थों की सूची । कुछ विद्वानों ने हिन्दी संस्कृत के ग्रन्थों का भी विभाग नहीं किया । डा० जी० डब्ल्यू० ब्रीग्स् की सूची इस प्रकार की है । नाथ सम्प्रदाय के कौन से ग्रन्थ किसके हैं, कबके हैं, इस बात को प्रमाणित करने के लिए अभी तक कोई लेख नहीं मिलते । वैज्ञानिक पद्धति से सिद्धसिद्धान्तपद्धति का सर्वप्रथम सम्पादन डा० कल्याणी मलिक ने किया [8]। इन्होंने तंजौर हस्तलेख तेलुगु लिपि में प्राप्त किया और उसका समय 1699 निर्धारित किया । इन्होंने अमरौघ प्रबोध और योग मार्तण्ड को भी गोरक्ष की रचना माना है । ब्रीग्स इन्हें नित्यानन्द का स्वीकार करते हैं । वे ही गोरक्ष की रचना भी मानते हैं । गोरक्षसिद्धान्त-संग्रह में इसे नित्यानन्द की ही रचना माना गया है [9]। जब डा० मलिक ने गोरक्षनाथ की ही रचना निसन्देह माना है । डा० ब्रीग्स् तथा द्विवेदी ने अमरौघ प्रबोध का

---

7. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, नाथ सम्प्रदाय, पृ० 100

8. सिद्धसिद्धान्तपद्धति एण्ड अदर वर्क्स ऑव नाथ योगीज् ।

9. डा० नगेन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ, पृ 102

नाम भी नहीं लिया । जबकि डा० मलिक ने ताड़पत्र के आधार पर इसे गोरक्षकृत माना है । इसके साथ योगमार्तण्ड को भी माना है । राजेन्द्रलाल मित्र ने योगसिद्धान्तपद्धति, सिद्धान्त पद्धति और ज्ञानामृत को भी गोरक्षकृत माना है [10]। डा० द्विवेदी की दी हुई 28 ग्रन्थों की सूची में उन्होंने कुछ पर सन्देह व्यक्त किया है । कुछ को गोरक्ष की रचना माना है [11]। इसी प्रकार डा० मलिक ने चतुरशीत्यासन, ज्ञानामृत, योगमहिमा, योग सिद्धान्तपद्धति, गोरक्ष-कल्प, गोरक्षसहस्रनाम और गोरक्षपिष्ठिका, को भी गोरक्षकृत माना है । उन्होंने लगभग 37 ग्रन्थों को गोरक्षकृत माना है । केवल 16-17 रचनाएं ही गोरक्षनाथ की है । इनमें भी सिद्धसिद्धान्तपद्धति, गोरक्षसंहिता, अमरौघशासनम् और महार्थमञ्जरी ही गोरक्षनाथ के सिद्धान्त के महान् ग्रन्थ माने जाते हैं । इनमें से सिद्धसिद्धान्तपद्धति तथा महामंजरी में सांख्ययोग काश्मीरशैवदर्शन तथा तन्त्रदर्शनानुरूप 36 तत्त्वों का वर्णन पूर्णरूपेण किया गया है [12]। साधना की दृष्टि से गोरक्षसंहिता और अमरौघशासनम् महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं । गोरक्ष-संहिता के पहले तो केवल दो सौ श्लोक माने जाते थे और उनमें साधन का स्वरूप शुद्धरूप में वर्णित माना जाता रहा है । अब जब कि इस ग्रन्थ के दो प्रकरण कादिप्रकरण तथा भूति - प्रकरण काशी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हो चुके हैं । इससे इसकी व्यापकता के विषय

---

10. गो०स० यो० पृ० 2 5, संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स आव् द राजा आव बीकानेर,

11. नाथ सम्प्रदाय, पृ० 99-100

12. डा० नगेन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ, पृ 104

प्राचुर्य का ज्ञान मिल जाता है ।

1. ——————— सिद्धसिद्धान्तपद्धति का विषयगत परिचय:-

इस ग्रन्थ में छः उपदेश हैं । प्रथम में पिण्डोत्पत्ति, द्वितीय में पिण्ड विचार, तृतीय में पिण्ड-संवित्ति, चतुर्थ पिण्डाधार, पंचम में पिण्डपदसमरसकरण, षष्ट में अवधूतयोगिलक्षण की विवृति ।

2. महार्थ मञ्जरी:-

यद्यपि इस ग्रन्थ का गोरक्षकृत होना सन्देहास्पद है। क्योंकि इसकी परिमल टीका में "गोरक्षअपर पर्याय कहा गया है । वैसे तो यह गोरक्ष से परवर्ती कोई नाथ लगता है तथापि डा० नगेन्द्रनाथ ने, पूर्ववर्ती डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी एवं व्रजवल्लभ द्विवेदी के मतों का पर्याप्त मन्थन करके इसे सन्देहास्पद स्थिति में गोरक्ष की कृतियों में रखा है[14]। इस ग्रन्थ में लेखक ने सारस्वरूप में कथाओं के माध्यम से आत्मतत्व को परमात्मतत्व से भिन्न स्वीकार किया है ।

3. अमरौघशासनम् :-

इस ग्रन्थ के दो विभाग हैं । प्रथम में सारणा का विशेष वर्णन किया गया है । सारणा शिवतत्व पारे के शोधन की विधि का नाम है । दूसरे में सिद्धसिद्धान्तपद्धति का विषय ही संक्षिप्त रूप से रख दिया गया है । यहाँ पर विपरीतिकरण आदि से ऊर्ध्व शक्ति-निपात, अधशक्ति निकुंचन तथा मध्य शक्ति प्रबोधन से परम सुख की प्राप्ति बतलाई है । इसमें सुलभता

---

14. डा०नगेन्द्रनाथ, गोरखनाथ, पृ० 110

के लिए परासारणा, प्रतिसारणा, शंकसारणा और महासारणा की व्याख्या की गई है । इस साधना में प्रधानरूप से प्राणसाधना नाड़ी साधना, कुंडलीसाधना तथा सिद्धकाया प्राप्ति को महत्त्व दिया गया है ।[15] अन्त में नादोपासना को बतलाकर शब्द ब्रह्म की उपासना क्रम में मेघगर्जन, कांस्यताल, अग्निदाह, दुन्दुभिशब्द, वंशी तथा शंख शब्दों का श्रवण साधक को होता है । इससे अधिक सिद्धियाँ साधक को मिलती हैं । जैसे लोकप्रियता, रोगनाश, कवित्व, दूराकर्णता, भूमिपरित्याग, वज्रत्व कायास्फुरण, सामरस्य आदि ।[16] जब यह अनाहत ध्वनि साधक को दिन-रात सुनाई देती रहे तो उसे परम पद मिलता है ।

दूसरे भाग में मोक्ष स्वरूप पर विचार करते हुए सात मतों का खण्डन करके अपने मत की स्थापना की गई है । "सहज समाधिक्रम से जहाँ मन से मन का समवलोकन किया जाता है । वही मोक्ष है "[17] । इस तरह इसमें जीवनमुक्ति पद को स्वीकारा गया है । कुण्डलिनि को मृणालसूत्र की तरह सूक्ष्म मूलाधार से निर्गत होकर, सूर्यचन्द्र नाड़ियों के साथ षट्चक्र का भेदन करती हुई, दशम द्वार ब्रह्मरन्ध्र की तरफ बढ़ती है । जहाँ पर समरस प्रकाश का दर्शन एवं समरस समाधि की जाती है । यही इस ग्रन्थ का महत्त्वपूर्ण भाग माना जाता है । इस ग्रन्थ में नाथ पन्थ के अमृतसाधन का विवेचन या अमरौघशासनम् नाथपन्थ के सिद्धान्त और साधना का समष्टि स्वरूप है ।

---

15. अमरौघशासनम्, मुकुन्दराम शास्त्री पृष्ट 1-4

16. वही, पृ0 4-5

17. वही, पृ 0 9

18. वही, पृ0 12-13 यत्र सहजसमाधिक्रमेणमनसा मनः समालोक्यते स एव मोक्षः ।

गोरक्ष संहिता :-

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने सभी गोरक्ष ग्रन्थसूचियों की परीक्षा करके बतला -या है कि सभी सूचियों में इसका नाम आता है । उन्होंने पं० प्रसन्न कुमार कविरत्न द्वारा 1897 ई० में प्रकाशित संस्करण का उल्लेख किया है। किन्तु यह पुस्तक लुप्त प्राय: है । डा० नागेन्द्र ने भगवान् त्रिवेदी के पुत्र श्री इन्द्र जी शर्मा द्वारा सन् 1893 में प्रकाशित गोरक्षसंहिता काठियावाड़ान्तर्गत प्रभासपाटण की उपलब्ध सूचना अपने गोरक्षनाथ शोध प्रबन्ध के पृष्ठ 112 में दी है। जबकि इसकी विषय वस्तु का वर्णन करते हुए उन्होंने गोरक्षपद्धति की विषय-वस्तु के साथ तुलना करते हुए पूर्व भाग की एकता घोषित की है ।[19] महीधर सम्पादित गोरक्ष-पद्धति, तथा गोरक्षसंहिता डा० चमनलाल द्वारा मिलान करने से भी वही बात लगती है । इसका वर्णन डा० नागेन्द्रनाथ ने भी किया है किन्तु इस संस्करण की कोई पुष्पिका नहीं है ।[20] गोरक्षपद्धति के प्रकरणान्त में लिखा गया है "इति गोरक्षशास्त्रे मुक्ति सोपान संज्ञके उत्तरशतकम् " महीधर शर्मा ने अपनी टीका में लिखा है "इति महीधरकृतायां गोरक्षसंहिताभाषायाम् "[21] जिससे यह ज्ञात होता है कि तब तक गोरक्षसंहिता के बारे में अनिर्णित ज्ञान ही उपलब्ध था ।

---

19. डा० नागेन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ, पृ० 112

20. पं० महीधर शर्मा, गोरक्षपद्धति पृ० 95

21. वही, पृ० 95

जब डा० जनार्दन पाण्डेय द्वारा सरस्वती भवन ग्रन्थमाला के पुष्प 110 में गोरक्षसंहिता का प्रथम भाग, कादिप्रकरण विक्रम सम्वत् 2023, शकाब्द 1898 तथा 1976 ई० में प्रकाशित हुआ, तब उसकी पुष्पिका में " इति श्रीमहामन्थानविनिर्गते सप्तकोट्यर्बुदे स्वच्छन्दशक्त्याऽवतारिते गोरक्षसंहितायां शक्तसाहस्त्रखण्डान्तर्गते श्री मतोत्तरखण्डे कादिभेदे कुलकौलिपीठे योगिनीगुह्ये अमुकनाम अमुकपटले" से ज्ञात हुआ है कि आज तक उपलब्ध गोरक्षसंहिता दो सौ श्लोकों वाला संग्रह, वास्तविक ग्रन्थ नहीं। अपितु इस ग्रन्थ का परिमाण बहुत विस्तृत है और इसके अनेकों प्रकरण हैं। फिर दूसरे भूति प्रकरण में, एक श्लोक आया है जिसमें कहा गया है कि "यह ग्रन्थ पाँच-खण्डों में विभक्त है जिनके नाम अलग-अलग हैं। इन्हें गुरु मुख से जानना चाहिए।[22] जिससे यह भी कहा जा सकता है कि इस संहिता के तीन प्रकरण कादि, भूति और योग मिल चुके हैं और दो प्रकरण रहे हैं। जिनका अभी ज्ञान नहीं हो पाया है। यह संशय भी इस लिए है कि भूति प्रकरण के इस श्लोक में बतलाए प्रकरणों का विषय वहाँ नही मिलता। अगर विवरण दिया होता तो निश्चित ही कुछ कहा जा सकता था।[23] इतना अवश्य है कि प्रसन्न कुमार संस्करण या बाद में बरेली से डा० चमनलाल गौतम द्वारा सम्पादित संस्करण केवल शुद्ध योग मार्ग का प्रतिपादक होने पर

---

22. गो०सं० भूति प्रकरण 9.133 पंचखण्डनिर्देशास्त्रं नाम संज्ञा पृथक्-पृथक् ।
गुरूपदेशाज्ज्ञानीयात् सत्यं-सत्यं न संशयः ।।

23 डा० जनार्दन पाण्डेय, गो० सं० का० प्र०भू० 2, वर्णित, कानि तानि पंचखण्डानि इति तु न स्पष्टीकृतं क्वापि ।

भी अन्य, वादि तथा श्रुति प्रकरण की अपेक्षा बहुत छोटा है।तो यहाँ मेरा विचार है कि यह भी भारतीय परम्परा का प्रतीक है।क्योंकि योग के बारे में,अनुभूति को ही प्रत्यक्ष प्रमाण माना जा सकता है । प्रमाण का लक्षण करते हुए न्याय मत वालों ने कहा है कि"सम्यक् अनुभव के साधन को प्रमाण कहते हैं[24] । या अनधिगतार्थ को देने का नाम प्रमाण है[25] । उनके भेदों के बारे में यद्यपि पर्याप्त मतभेद है। तो भी प्रत्यक्ष प्रमाण तो चार्वाक से लेकर वेदान्तियों तक समस्त सम्प्रदाय वालों ने स्वीकार किया है । न्याय दर्शन में उसका लक्षण करते हुए कहा है कि "इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से पैदा होने वाला ज्ञान, अव्यपदेश्य हो, अव्यभिचारी हो तथा उससे काम करने की क्षमता आ जाए, तो उसे प्रत्यक्ष कहा जाता है[26] । वह प्रत्यक्ष बाह्य तथा आन्तर भेद से दो प्रकार का हो जाता है । बाह्य प्रत्यक्ष के छः प्रकार बन जाते हैं । जिन्हें तर्क-संग्रह में षड्विध सन्निकर्ष कहा गया है । संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्त समवेत समवाय, समवेत समवाय और विशेषण-विशेष्य भाव[27] । ज्ञान से पैदा होने वाला आन्तरिक प्रत्यक्ष दो प्रकार का है । ज्ञानज प्रत्यक्ष और योगज प्रत्यक्ष[28] ।

---

24. न्याय दर्शन, अ० ।, सम्यगनुभव साधनं प्रमाणम् ।

25. वही, ऋ०भा०भू०, सायण-अनधिगतार्थगन्तृप्रमाणम् ।

26. न्यायदर्शन, अ० । इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारी व्यवसायात्मकं
प्रत्यक्षम् ।

27. तर्क संग्रह, प्र०ख० , षड्विध संयोगः संयुक्तसमवायः, संयुक्त समवेत समवायः ।
समवेतसमवायः विशेषणविशेष्यभावश्च ।

28. वही, ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम् ।

योगज प्रत्यक्ष के लिए योग की साधना, चित्तवृत्ति का निरोध करना आवश्यक है[29]। चित्तवृत्ति के निरोध के लिए शरीर की शुद्धि और इन्द्रियों का विषयों से अवरोध आवश्यक है। अत: नाड़ी शुद्धि, चित्त का उन्मनीभाव, इन्द्रियनिरोध के लिए बाह्ययोग का सहारा अनिवार्य है। हठ योग की प्रक्रियाएं नेती, धोती, आसन तथा आभ्यन्तरिक कुण्डलिनी का सहस्रार स्थित आदिनाथ शिव से, संयोग करवाने के लिए प्राणायाम और त्राटक की आवश्यकता भी आती है। सहज योग में अनेक जन्मों के अनन्तर सिद्धि की बात की जाती है[30]। नाथ सम्प्रदाय का साधक इतनी देर नहीं सह सकता। वह तो इसी जन्म में शिव का प्रत्यक्ष करके जीवन मुक्ति चाहता है।

अत: कुण्डनी शक्ति का जागरण करने के लिए प्राणायाम, धारणा, ध्यान करके शीघ्र ही अपने गन्तव्य की ओर चला जाता है। इस प्रकार योग छोटा रास्ता है, उसका वर्णन भी छोटा ही होगा, दूसरे अनुभव की हुई अध्यात्म सम्बन्धी बात, गूंगे का गुड़ होती है। उसे हम सहज शब्दों में नहीं बान्ध पाते। अत: केवल उसके साधनों का संक्षिप्त वर्णन इसमें आता है और वाक्य पदीय[31] का यह कथन कि "उपाय सिखलाते हुए बालक के लिए शब्द तो केवल पुचकारना मात्र है। स्थूणा अरुन्धती न्याय से गलत मार्ग पर चलाकर

---

29. यो०द०स०पा० 2सूत्र-योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।

30. अनेक जन्म संसिद्धः आस्थिता जनकादयः।

31. वा०प०,ब्र०का० उपायशिक्षमाणानां बालानामुपलालना।
अस्त्यवर्त्मनि स्थित्वा ततःसत्यं समीहते ।।

सत्य की खोज कराना चाहते हैं । शब्द ब्रह्म के जानने के बाद ही परं ब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है[32] । इसलिए यह ध्यान रखकर कि साध्य से साधन बड़ा होता है ,शब्दों मेंयोग का वर्णन किया गया है । वे शब्द संक्षिप्त ही हो सकते थे । अत: गोरक्ष का योग प्रकरण दो सौ श्लोकों का ही बन पाया हो । दूसरे निर्माता का ध्यान योग साधन की बाह्या-भ्यन्तर प्रणालियों पर भी रहा हो और उसने योग की बाह्य साधनाओं का प्रथम शतक में तथा अभ्यन्तरिक प्रणालियों का दूसरे शतक में वर्णन कर दिया हो । भाषागत भेद कुछ भिन्नता की ओर संकेत करता है । इस योग प्रकरण में संस्कृत की उतनी न्यूनता नहीं है जितनी कादि और भूति प्रकरण में नजर आती है । तो विस्तार की भिन्नता का जहाँ विषयगत परिहार मैंने चिन्तन किया है । वहाँ भाषागत भिन्नता में भी यह बात आ सकती है कि गुरु की वाणी संग्रह करने वाले ने अन्य प्रकरणों में तो अपनी भी छाँटकर कुछ लिख दिया है।परन्तु योग प्रकरण विशुद्ध अनुभव का विषय है । अत: वहाँ गुरु का कथन ही प्रामाणिक समझकर, उसे उसी रूप में रखा गया हो'जैसा गुरु से उपदिष्ट हुआ है । अत: उसमें भाषागत भेद भी नहीं आने पाया

अब इन प्रकरणों के/विषयों का जहाँ तक सम्बन्ध है, वह निम्न प्रकारेण समझा जा सकता है ।

---

32. ऋग्वेद प्रातिशाख्य,पृ0 10 द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं चयत् । शब्द ब्रह्मणि निष्पन्न: परं ब्रह्माधिगच्छति ।

कादि प्रकरण के 27 प्रकरण है । दुर्भाग्य से बीच-बीच के पत्र न मिलने के कारण पुस्तक
अधूरी ही रह गई है । केवल मिले हुए पत्रों के आधार पर ही सन्तोष करना पड़ा ।
इससे विच्छेद होने पर विषयगत प्रवाह भी बीच में अवरुद्ध हुआ है । समुपलब्ध काशी संस्करण
के आधार पर कहा जा सकता है कि प्रथम पटल में तन्त्रशास्त्र के उपजीव्य भैरव को नमस्कार
के ब्याज से तन्त्रशास्त्र में उनके महत्व पर विचार किया गया है । दूसरे पटल के 7-17 पत्र
ही मिले हैं । जिससे पता चलता है कि इस पटल में देवी के पीठों और उपजीव्य का सम्पूर्ण
विवेचन था । यहाँ उपलब्ध पत्रों में हिमवत् को आधार मानकर कामरूप पीठ का अपूर्ण वर्णन
है[33]। यद्यपि प्रथम श्लोक में पंजाबी के मिहूवत् शब्द को लिया गया है जिससे हिमालय को
ग्रहण करना उचित ही है। क्योंकि भाषा में व्यत्यय हो जाया करता है[34]। आगे चलकर
हिमवत् शब्द का ही प्रयोग हुआ है[35]। अतः इस पटल में सम्पादक के मतानुसार "ओ०जा०पू०जा०
तान्त्रिक क्रम को ग्रहण किया हुआ भासित होता है[36]।

33•गो०सं० अथातः सम्प्रवक्ष्यामि मिहमन्तं यथास्थितम् । योजनायुतं विस्तीर्णं महाशृंगा-
टकाकृतिम् ।
कामरूपत्वमापन्ना तेन त्वं कामरूपकम् ।

34•अ० सूत्र व्यत्ययो बहुलम् ।

35•गो०सं० का०प० 2-8 रक्षन्ति सततं द्वारं हिमवत्पीठमुत्तमम् ।

36•गो०सं० उपोद्घात "ढ"

तीसरे पटल का प्रारम्भ लुप्त है । उपलब्ध अंश से प्रतीत होता है कि लुप्तांश में भी क्षेत्रों का वर्णन था। क्योंकि प्राप्तांश में कर्दमाल-गोकर्ण, विन्ध्याद्रि, विमलेश्वर, सिन्धुमाल, महासेन मातंग तथा कुब्जा इन आठ उपक्षेत्रों का वर्णन किया गया है । त्रिकूट, त्रिपुर, गोपुर, भद्रकर्ण, किरात, काश्मीर, शैवाल और सिन्धुदेश इन आठ सन्दोहों का वर्णन किया गया है । श्री जयन्ती, कुल्लता, मानव, कांचीपुर, कुरुक्षेत्र, बर्बर और शाम्बर इन उपपीठों का भी वर्णन मिलता है । इसके बाद क्रौंच उत्पत्ति और कामदाह का वर्णन आया है ।[37] हिमालय द्वारा सेवा संरत पार्वती को लेकर अपने घर चले जाने का वर्णन मिलता है ।

चतुर्थ पटल में देवताओं के द्वारा आदिनाथ शिवभगवान् की प्रार्थना करना कि "हे देव दानवों के स्वामिन् जगन्नाथ ! तीनों लोकों की रक्षा के लिए हमारी रक्षा करो और पूर्वकल्प के वृतान्त को स्मरण करके पार्वती के पसीने से उत्पन्न क्रौंच[38] नामक असुर को मारने के लिए उसी के योनिज पुत्र की आवश्यकता है । ऐसी स्तुति सुनकर शिव ने पार्वती का हस्त ग्रहण करके, उनके साथ क्रीड़ा आरम्भ कर दी। शिव प्रसन्न होकर पार्वती से वर मांगने के लिए कहते हैं । पार्वती ने पश्चिमाम्नाय सिद्धों की सन्तान का वर्णन करने के लिए प्रार्थना की । यहाँ से आगे का प्रकरण लुप्त प्रायः है । मातृस्वरूप का वर्णन आगे मिलता है जिसमें

---

37. गो०सं० का० प्र० पृ० ।।-।2 जयदेव जगन्नाथ सुरासुर गुरोहरः ।

38. गो०सं०च०प० श्लोक 2, त्राहि-2 त्रिलोकेश त्रैलोक्य मंगलाय च ।

माहेशी वैष्णवी, वाराही, ऐन्द्री का पूर्ण विवरण मिलता है फिर सातवीं मूर्ति चामुण्डा कानाम और मुख तथा आंखों का वर्णन मिलता है । आगे के तीन पत्र लुप्त हैं । इससे पता चलता है कि प्रारम्भ में दो देवी की मूर्तियों के रूप भी लुप्त हो गए हैं ।

31 पत्र में शव साधन की विधि जिसका प्रारम्भिक भाग लुप्त है । पुनः मातृगण के मध्य में स्थित शिव के स्वरूप का तथा वाम दक्षिण आयुधों का तथा पद्मासन में स्थित शिव का वर्णन एवं पूजा विधान है । पुनः 25 तत्वों से युक्त पूर्ण 32 दान्तों वाले शव को लेकर स्नान करवाएं,चन्दनादि से पूजा करके मण्डल में रखकर भैरव मन्त्र का जाप करें । मन्त्र को कूटस्थ बनाकर ग्रन्थकार ने ख०फ०र० स्वरूप बतलाया है [39] । मन्त्र निर्माण में अनेकों के वर्णों के संयोजन की विधि बतलाई है।जो गुरुगम्य ही हो सकती है । इस मन्त्र का जाप, शव के सम्मुख करें । जब अर्ध रात्रि को शव फुंकार मारे तब दृढ़ चित्त होकर मन्त्र जाप करता हुआ शिव का ध्यान करे । जब,शव अपनी जीभ बाहर निकाले तब छुरी से उसे काट दे और शव गिर जाएगा । उस जीभ को गुरु और शिष्य अपने मुख में धारण करने से आकाश स्थित सभी मातृकाओं के दर्शन कर सकेगा तथा अणिमादि आठों सिद्धियों को प्राप्त कर लेगा । आगे का भाग तीन पत्र लुप्त है

अगले उपलब्ध भाग में चलचक्र का वर्णन किया गया है । चक्र निर्माण में चन्दन कुंकुम धूम नैवेद्य आदि सामग्री का उपयोग करें । वस्त्र पुष्पमाला,उपहार

39•गो०सं०च०प० पृ० 18 खफरेफ महामन्त्रमर्द्धेन्दु कलयान्वितम् ।
कूर्मिताक्षवर्णानि उमाकालेन संयुता ।।

मद्य,मांस,भोज्य,भक्ष्य नैवेद्य वाद्य आदि के द्वारा चक्र में योनियों की पूजन करें।

कुमारियों का पूजन करें,कुमारों का पूजन करें,फिर चक्र को वीरचक्र में परिवर्तित कर एक रात्रि,तीनरात्रि या सप्तरात्रि चक्र का आनन्द लें।[40] वहाँ पर गोदान,भूमिदान,स्वर्णदान ग्राम नगर रत्न दीप आदि का दीनों,ब्राह्मणों,तपस्वियों के लिए दान दें। इस दान का कोटि गुणा ज्यादा फल मिलता है। जिससे मनवांछित सिद्धि प्राप्त होती है। इससे दूसरे जन्म में भी सर्वज्ञता प्राप्त होती है।

[41] पंचम पटल में उपलब्ध प्रारम्भिक तीन श्लोकों में पार्वती का देहस्थ मातृकाओं के तथा वृहन्नया के बारे में प्रश्न किया गया है। 36वां पत्र लुप्त हैं। 37वें पत्र में मातृपदों को व्याख्या की गई है। जिनका प्रथम पद लुप्त है। पुनः 21 अक्षरों वाले आठ पदों की व्याख्या की गई है। मध्यम खण्ड के ये 21 अक्षरों वाले आठ पद हैं। तृतीय खण्ड के 165 वर्ण दिखलाए गए हैं। इसके बाद तृतीय खण्ड के 29 पदों का वर्णन यहाँ मिलता है। उससे आगे का भाग लुप्त है। 38-39 पत्र लुप्त हैं।

40 पत्र की उपलब्ध सामग्री में कूटों का वर्णन किया गया है। जिनमें से आरम्भ के आठ कूटों की सामग्री लुप्त है। नवें कूट को गले में स्थापित किया गया है। फिर सोलहवें कूट तक अवशिष्ट सातकूटों को शिखा पर्यन्त सिर में ही स्थापित किया गया है। इन कूटों का न्यास पांच प्रणवों सहित ही योगी को अभि 62

---

40. गो०सं० प० 4,पृ० 19, एकरात्रं त्रिरात्रं वा सप्तरात्रमथापि वा।
चक्रानन्दं प्रकर्तव्यं यथालाभेन सुन्दरी ।।

41. गो०सं० प० 5, पृ० 20-26

होता है । इनको ऊपर से नीचे,और नीचे से ऊपर बार-बार शरीर में न्यास करने से शरीर प्रकाशमय हो जाता है । जिससे फिर मृत्यु नहीं होती और योगी काल को जीत लेता है । । फिर इस विद्या को गोप्य रखने की सलाह दी गई है और अधिकारी का वर्णन किया गया है। फिर द्वादश पीठों और छः चक्रों का संकेत करके द्वादश पीठों के न्यासानन्तर छः चक्रों के भेदन की विधि बतलाई गई है[42] । यहाँ से आगे 4 पत्र लुप्त है । 45 पत्र में चलचक्र का वर्णन और प्रभाव दर्शाने से पहले, बिन्दु के अनेक आधारों में पहुँचने पर परिणति का वर्णन किया गया है । पुनः भैरवी के प्रश्न पर चला नामक शक्ति को बतलाया गया और वह चक्र के रूप में व्यवस्थित अर्थात् शरीर के भिन्न-2 स्थानों में उस का ध्यान किया जाता है । जैसे पैर,जानु,ऊरु,नाभि,हृदय,कण्ठ देशों में आठ अरों से युक्त, वह शक्ति पहिए की तरह घूमती है तथा सूर्य की तरह उसका प्रकाश नजर आता है । उसमें तीन कर्णिका होती है/प्राण वायु से प्रेरित होकर तीव्रगति से वह शक्ति चक्र के रूप में फिरती है । जो योगी पैर से लेकर शिर तक, इस शक्ति का चक्र के रूप में ध्यान और दर्शन का अभ्यास करता है/वह खेचरत्व की संज्ञा प्राप्तकर समस्त सिद्धियों को प्राप्त कर लेता है । इसके बाद सात पत्र लुप्त हैं । जिनमें पंचम पटल की समाप्ति तथा षष्ठ पटल आरम्भ होता है ।

---

42. गो०सं०प०प० पृ० 24 ,एकैकं भेदयेच्चक्रं पीठद्वादशभिः क्रमात् ।

षष्ठ पटल के समुपलब्ध पत्रों में देवी के चक्रों का वर्णन[43] मिलता है । जिनमें षडंगन्यास देवी के मुखों का वर्णन और वर्णन्यास मिलता है ।

सप्तम पटल में ब्यालिस देवी की मूर्तियों का वर्णन[44] मिलता है । जैसे प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति, चामुण्डा, प्रियदर्शिनी, गुह्यशक्ति, नारायणी, मोहिनी प्रज्ञा, वज्रिणी, कंकटा, कालिका, शिवा, घिर्विरा, वागीशी, भीमा, रामा, महाचण्डी, विनायकी, पूर्णिमा, उल्किणी, कूर्दनी, जयन्ती, दीपिनी, कपालिनी, पावनी, इच्छाशक्ति, अम्बिका, पूतना, क्षीरामा लम्बिका, संहारी, महाकाली, कुसुमा, शुक्रा, तारा, ज्ञानी, क्रिया, गायत्री, सावित्रि, दहनी और फेत्कारी। उसी के साथ मालिनी चक्र विन्यास के क्रम से मालिनीचक्रविन्यास का वर्णन किया गया है ।

अष्टम पटल में[45] तीन मुद्राओं का भेद सहित वर्णन मिलता है । प्रथम त्रिशिखा का स्वरूप, उसको सिद्ध करने का क्रम तथा सिद्ध होने पर फल की प्राप्ति वर्णित है । इसी के प्रसंग में योगरोध सम्पुट ग्रथन विदर्भ इस प्रकार के मन्त्र के छः प्रकार के हो जाने का वर्णन आया है ।

त्रिशिखा के बाद पद्ममुद्रा का वर्णन आता है। जिसमें उसका स्वरूप, साधन क्रम, फलों का वर्णन करके, इसी के प्रसंग में कामराज मन्त्र का साधन और उसका साधन तथा फल भी वर्णित किया गया है । योनिमुद्रा का स्वरूप, साधन फलादि का वर्णन

---

43. गो०सं०प०ळ०, पृ० 27-30

44. वही, पृ० 30-46

46. वही, प०-आठ, पृ० 47-66

खेचरी महातम्य,प्रयोगराज साधनविधि तथा उसके अधिकारियों का वर्णन मिलता है । बाद में वृत्तिराज का विधान करके छः प्रकार के कुल रत्नों कावर्णन किया गया है ।

नवें पटल[46] को जालन्धरनाथ पटल कहना चाहिए,क्योंकि इसमें जालन्धर की उत्पत्ति,उसका मन्त्र,मन्त्र ध्यान पूजा आदि की विधि का विवेचन किया गया है ।

दसवें पटल[47] में परा योनि की समया का प्रस्तार भेद से पद भेद तक का वर्णन करके उसके उद्धार को बतलाया गया है । पुनः समयाचार पालकापालक निर्णय वक्रागोद्धार,वर्ण प्रस्तार क्रम से दूतियों की मुद्राओं काध्यानादि वर्णित है । कालिका का उद्धार तथा दूती मुद्राबन्ध दिखलाया गया है ।

ग्यारहवें पटल[48] में हृदय दूती और शिरोदूती के जात का प्रमाण देकर उद्धार को बतलाया गया है ।

द्वादश पटल[49] में शिखादूती का उद्धार कामना के भेद से होम के समय का भेद,संख्या का भेद,कुलाकुल निर्णय विचार किया गया है ।

तेरहवें पटल[50] में अघोर मन्त्र के,कीलों का वर्णन,उनका उत्कीलन प्रकार,32 अक्षरात्मक स्वछन्द का चक्र और ध्यान,दूती प्रकार,यन्त्र का विधान विस्तार से वर्णित किया गया है ।

46•गो०सं०,प०-9,पृ०66-70

47•वही,प०-10,पृ० 71-91,

48•वही,प०-11,पृ० 92-99

49•वही,प०-12,पृ० 100-118

50•वही,प०-13,119-136

चौदहवें पटल[51] में कवच, नेत्र, मुख, अस्त्र, दूतियों के ~~वर्णन के~~ मन्त्र यन्त्रादि बतलाए गए हैं । गुह्यकाली का स्वरूप, अघोरास्त्र का स्वरूप, निरूपण, षडंग, षट्चक्र षट्योगिनि, षट्अधार, षट्पुर, षट्सिद्धों के षडंगों का निरूपण एवं उसके आठ भेदों का वर्णन किया गया है ।

पन्द्रहवें पटल[52] में ~~द्विज~~ रुद्र भैरव की उत्पत्ति, ब्रह्मा और विष्णु द्वारा शिव स्तुति, लिंग दर्शन, चक्र का सृजन और उसके स्वरूप का निर्माण, लिंग दर्शन के साधन का निरूपण, षट्चक्र निरूपण, लिंगों के आधारों का वर्णन, ध्यान की वैविध्यता से फल की विविधता बारह चक्रों में बारह प्रकार की कुलवागीश्वरी के स्वरूप का द्वादश श्लोकों के निर्णय का वर्णन है ।

सोलहवें पटल[53] में आत्मा, शक्ति, हंस, बिन्दु, पद तथा आकाश इन छः पदार्थों का निर्णय किया गया है । ध्यान और धारणा योग का स्वरूप बतलाकर आज्ञा और मणिपुर चक्र का वर्णन भी किया गया है । नाद के संयोग और वियोग का वर्णन, पिण्ड की सृष्टि और छः सिद्धपुरियों का वर्णन किया गया है ।

सत्रहवें पटल[54] का आरम्भ और अन्त लुप्त है । उपलब्ध भाग में दूतियों, दिव्ययोगिनियों, परमदूतियों और परम देवियों का वर्णन किया गया है ।

अठारहवें पटल की उपलब्धि इस पुस्तक में उपलब्ध नहीं है ।

---

51. गो0सं0, प0-14, 137-160

52. वही, प0-15, पृ0 161-186,

53. वही, प0-16, पृ0 187-220

54. वही, प0-17, पृ0, पृ0221-226

उन्निसवें पटल में राकिनी, लकिनी, काकिनी, शाकिनी, हाकिनी,[55] याकिनी, पुष्पोत्पन्न इन योगिनियों का वर्णन किया गया है ।

बीसवें पटल में अक्षोभ्या, ऋक्षकर्णी आदि चौंसठ योगिनियों का वर्णन[56] किया गया है । इसमें असित भैरव, उसकी सृष्टि, नक्षात्मता और मण्डली का वर्णन है ।

इक्किसवें पटल में मन्त्र के बीजों का निदर्शन, गुरु और शिष्य के लक्षण[57] कुलपिण्ड, कुलालक्ष्य का विवरण, दशवायु का स्वरूप और उनके कार्य, जीव का लक्षण, उसकी स्थिति और निर्गम का प्रकार, श्री मतोत्तर तन्त्र का माहात्म्य, उसको बोधित करने वाले अन्य नामों का वर्णन, कालचक्र का वर्णन, पूषा के उदय का निरूपण और उसके शुभाशुभ का निर्णय करने का वर्णन किया गया है ।

बाइसवें पटल में काल बन्धन, मृत्युंजयत्व प्राप्ति, कालकर्षिणी, मृतोत्थापिनी, मृतसंजीवनी विद्याओं के मन्त्रों का उद्धार, परा अपरा, परापरा विद्याओं का[58] निरूपण, कामेश्वरी तथा त्रिपुरेश्वरी विद्याओं का भी वर्णन किया गया है ।

तेइसवें पटल में विधिपूर्वक षोढान्यास बतलाया गया है ।[59]

---

55. गो०सं०, प०-19, पृ०-227-234,

56. वही, प०-20, पृ० 235-263,

57, वही, प०-21, 264-288,

58. वही, प०-22, पृ० 289-317

59. वही, प०-23, पृ० 319-328

60
चौबिसवें पटल में साधनाक्रम में भूतशुद्धि, गुरुमण्डल, क्रमपूजा प्रकार, चतुषष्टिक्रम वर्णन, वज्रकुब्जी और सिद्धकुब्जी का निरूपण, छोम्मा का निरूपण, दिव्य भाषा ज्ञान प्रकार, छोम्माकमुद्राभेद से संकेत ग्रहण का वर्णन आता है।

61
पच्चीसवें पटल में पचास रुद्रों के स्वरूप का, शक्ति और ध्यानादि का वर्णन मिलता है।

62
छब्बीसवें पटल में 34 द्वीपों का, उनके अधिपतियों का स्वरूप ध्यानादि का वर्णन करके देह में उन पीठों के स्थानों का सामञ्जस्य बतलाकर, गायत्री का निर्णय किया गया है।

63
सत्ताइसवें पटल में चक्राम्नाय वर्णन करते हुए ब्रह्माणी माहेश्वरी कौमारी, वैष्णवी, ऐन्द्री, चामुण्डा, चण्डिका, महालक्ष्मी, यामल नवात्मा, दूती, नित्यक्लिन्ना, एकवीरा, निग्रहा, दुर्गा, इन सोलह चक्रों के स्थान निर्माण प्रकार, पूजाविधान और उनके फल का वर्णन किया गया है। बाद में महन्तारी का स्वरूप, उनके मन्त्र का उद्धार, उसके पूजन की विधि तथा एवं आठविधचर्या, चरु का लक्षण, उसके भक्षण का फल, पवित्र के लगाने का प्रकार और संक्षेप में ग्रन्थ के माहात्म्य का वर्णन किया गया है। कादि प्रकरण का वर्णनीय विषय एतावन्मात्र है।

---

60. गोसं0, प0-24, पृ0329-356,

61. वही, प0-25, पृ0357-374

62. वही, प0-26, पृ0 375-397

63. वही, प0-27, पृ0398-418

गोरक्ष प्रणीत संहिता का उपलब्ध दूसरा प्रकरण है भूति प्रकरण । इस प्रकरण में नौ पटल हैं । जिनका विषय निम्न प्रकारेण वर्णित किया गया है ।

प्रथम पटल[64] में सर्वप्रथम रस कार्य में कैसे सहायक हों, उनकी ~~योग्यता और~~ अयोग्यता का वर्णन है । पुनः रस की महिमा और उसका पाँच-भौतिकत्व दिखलाकर, पारे के आठ गुणों को बतलाया गया है । रस को कैसे संशोधित किया जाएगा और उससे क्या पुण्य मिलेगा । विधिवत् संस्कृत पारे के लाभ और शिवोक्त रस शास्त्र का विस्तार । यह कहा जा सकता है कि रस शास्त्र का प्रयोजन भी, रस महिमा व्याज से बतला दिया है ।

दूसरे पटल[65] में परिभाषाओं को बतलाया गया है तथा इस प्रकरण में धातुओं की गिनती करके बताई गई है । सर्व प्रथम रस के बारे में प्रश्न किया गया है, आठ रसों अभ्रक, वैक्रान्त, विमल रसक, शैल माक्षिक, दरद तथा सस्यक का वर्णन करके आठ उपरसों, गन्धक, तालक, गैरिक, शिलाकांक्षी कासीस, अन्जन और कंकुष्ठ का वर्णन लिया गया है । आठ लोह कान्तज, खुरायन, नानाकार, अश्मज, खज, वैक्रान्तज, शैलज और सम्यकज का वर्णन आता है । माक्षिकामलज, आयस षट्क गरुडोदारपरीक्षा, पंच रत्न रसों के नाम और लक्षण, मणिसंज्ञक, चन्द्रकान्त, सूर्यकान्त, ताराकान्त मणियों का वर्णन, सूतक के बान्धने वाले मृगनाभि, छः नमक, तीन क्षार, पाँच विष, पाँच उपविष, दस तैल, चौदह चर्बियाँ, मूत्र, क्षार, गर्भद्रावक, आम्ल, रक्तगण, शुक्लगण, पितकल्क, कन्द, रसनिर्यात, इनके शोधन से क्या फल मिलेगा और न शोधन से क्या हानि होगी, का वर्णन है ।

---

64. गो०सं०भूति प्रकरण, पृ० 421-430

65. वही, 431-439

66
तृतीय पटल में पारे के अठारह संस्कार और उनकी विधि धातुओं और रत्नों का शोधन4अभ्रक आदि का सत्व पातन,स्वर्णरजतकारक बीज विधान का वर्णन आया है । यही संस्कार अठारह होने परभी विधि आठ की ही बतलाई गई है । आठ संस्कारों के बाद पारा प्रयोग के योग्य हो जाता है । विशेष गुणों की प्राप्ति के लिए ही उसके अन्य संस्कार किए जाते हैं । उपरसों के शोधन के,तीक्ष्ण शोधन,शुल्व शोधन द्राविका और बीज विधान का वर्णन आया है ।

67
चतुर्थ पटल में रस को बन्धन करने की प्रक्रिया बतलाई गई है, प्रारम्भ में उसके चार भेद बतलाए गए है । औषधि के प्रभाव से पारे को द्रुतित अवस्था बन्ध जाती है । वैसे ही अभ्रक आदि के योग से,रस बन्धन,लौहबन्धन,विविध बीज बन्धन हो जाता है । पुनः रक्त स्नेह पातन से,रसोपरस मिश्रण से,लौह संस्कार से,छः प्रकार का लौह संकरता से,रत्नादि के मेल से,रस में उत्पादकता आती है । विभिन्न द्रव्यों से मारण, मूर्च्छन किए हुए रस में,किस प्रकार से पुनः बीजकता की जाती है और उसमें कलवेधी,द्विगुण-वेधी,शतसहस्र अर्बुदस्पर्श वेदी की उत्पत्ति की जाती है तथा कैसे अनुभवी सहायक हों,का वर्णन है ।

68
पंचम पटल में लवणादि योग से अभ्रक ग्रास का रस में प्रयोग विधान विविध औषधियों के संयोग से पारे का बन्धन,सन्मुखचारण,निर्मुख चारण का प्रकार,रस

66.गो0सं0भू0प्र0 पृ0 440-447

67. वही 448-460

68. वही 461-486

-बन्धन में उपयोगी 64 औषधियों के नाम, ग्रास रूप धारण के बाद रस के आठ रूपों का वर्णन, ग्रासों के नाम, गर्भद्रुति, मुखबन्धन, यन्त्रों द्वारा उसके पातन की प्रक्रिया, पिण्डजारण जीर्ण हुए के लक्षण, क्रामण विधि, उपयोगी औषधि, रंजक औषधि संयोग से जाम्बुनद की उत्पत्ति क्रम पूर्वक रस सेवन का फल, रसकामधेनु का विधान, अभ्रक तथा तीक्ष्ण द्रव्यों के संयोग से रस की बलवत्ता का वर्णन किया गया है ।

षष्ठपटल[69] में सूर्यकान्त, चन्द्रकान्तादि मणियों द्वारा रसबन्धन करके उसके जारण-सारण की प्रक्रिया को बतलाया गया है तथा उसके वेध का क्रम दिखलाकर, वेध द्वारा ताम्र से उत्तम स्वर्ण बनाने की बात कही गई है । रक्त अभ्रक और स्वर्ण से पारा बान्ध कर उसके भक्षण से बाल्य और युवावस्था प्राप्त होने का वर्णन है । धातु उपरस के लेपन से ताम्बे से स्वर्ण की उत्पत्ति का वर्णन, गन्धक सेक स्वर्ण निर्माण, सहस्रवेध से जाम्बुनद की उत्पत्ति गन्धक शोधक 10 औषधियों का वर्णन है । वर्तमान में अगर इस प्रकरण का अन्वेषण किया जाए तो भारत जैसे देश की सारी समस्याएँ हल हो जाएँगी ।

सप्तम पटल[70] में अचिन्त्य शक्ति गुण रस पाक वीर्य प्रभाव युक्त औषधियों का विशेष रूप से रस को बान्धने वाली औषधियों का वर्णन करने के बहाने से दो भेद किए गए हैं । औषधि और महौषधि, फिर दिव्य औषधि और रसौषधि भेद दिखलाए गए हैं । तृण, गुल्म, लता, वल्ली, वृक्ष, सर्पिणि रूप से छः प्रकार के भेद दिखलाए गए हैं ।

---

69. गो०सं०भू०प्र०, पृ० 487-535

70. वही 536-562

पुनः दिव्य औषधियों के 64 भेद बतलाकर उनके नाम और लक्षण तथा कर्म बतलाए है । यहाँ यह वैशिष्ट्य है कि और जगह सोमलता एक ही प्रकार की है जबकि यहाँ दो प्रकार के उसके भेद बतलाए गए है । लतारूपी सोम तथा वृक्षरूपी सोम । दोनों में गुणकर्म समान होने पर भी लता रूपी सोम अधिक उपयोगी है । वह भी दो प्रकार की लता मिलती है । विषरहित और विषसहित । विषवाली अधिक गुण वाली होती है । इस प्रकार सोम लता आदि औषधियों का वर्णन किया गया है । पुनः इनकी उत्पत्ति कौन से देश में होती है, उन्हें कैसे ग्रहण किया जाता है । इसका भी वर्णन किया गया है । । एवमेव अम्लवेतस का भी वर्णन उत्पत्ति और प्रभाव सहित किया गया है । रसगुटिका और खेचरीगति, स्वर्णनिर्माण, लक्षकोटीवेध आदि का वर्णन किया गया है । एक मात्र अम्ल वेतस से असाध्य रोगों का इलाज कैसे किया जाता है, रसायन के सेवन समय में क्या पथ्य और क्या अपथ्य होगा इसका भी वर्णन किया गया है । अन्त के लगभग चार पत्र नष्ट होने से 6। श्लोक उपलब्ध नहीं है । 71

अष्टम पटल में अयस्कान्त मणि की उत्पत्ति, उसका लक्षण और स्वरूप का वर्णन, उसका वीर्य रसबन्धन प्रकार विस्तार से वर्णन किया गया है । कान्ताय संयोग से निर्मित योग रसायन के उपभोग से जरा-मृत्यु-कुष्ठ-वल्ली-पलित आदि का नाश विधान वर्णन करके उन-उन के रोगों में अनुपानों का पृथक्-2 विधान करके दिखलाया गया है । रस विषयक समस्त संस्कार, और कर्म, गुरु परम्परा से ही करना चाहिए । इस पटल के बीच में मूल मात्रिका

71। गो०सं०भू०प्र०, पृ० 563-57।

के लगभग छब्बीस पत्र नष्ट हो जाने के कारण अनेक रहस्यों का उद्घाटन नहीं हो सका इन विनष्ट पत्रों में, ही अष्टम पत्र की समाप्ति और नवम पटल का आरम्भ होता है ।

नवम पटल में[72] जो सामग्री अवशिष्ट रूप में बची है, उसमें शास्त्रोक्त विधि से औषधियों का नियोजन रस मन्त्रोद्धार और उसकी फलश्रुति का वर्णन किया गया है । इस प्रकार से गोरक्षसंहिता का परमोपयोगी विभूति प्रकरण समाप्त होता है ।

काशी संस्करण के इन दो प्रकरणों का वर्णन करने से प्रतीत होता है कि ये दोनों प्रकरण प्रेयविद्या की पराकाष्ठा का प्रतिपादन करते हैं । किन्तु जिस योग प्रकरण का सम्पादन प्रसन्न कुमार जी ने "गोरक्षसंहिता के नाम से किया है और जिसमें योग की गम्भीर विद्या को "गागर में सागर" की युक्ति से दो सौ श्लोकों में लोक कल्याण हेतु संकुचित करके रखा गया है । चाहे यह काम किसी अन्य के द्वारा ही गोरक्ष के नाम से किया गया हो । काशी संस्करण की विषय विस्तार व्यापकता तथा भाषा की शिथिलता जहाँ पाठकों के सामने आती है । वहाँ इस प्रकरण में वैसा नहीं बल्कि समुचित रूप से विषयानुसार भाषा का भी प्रयोग हुआ है । दो शतकों में इसका विषय प्रतिपादन सही है ।

---

72. गो०सं०भू०प्र० ,पृ०

73
प्रथम शतक में प्रारम्भ के चार श्लोकों में विषय प्रयोजन,सम्बन्ध और अधिकारी का वर्णन किया गया है । एक श्लोक में योगाभ्यास का फल,एक में षडंग के नाम,पांच में आसनों का वर्णन,12 में षट्चक्रों का निरूपण,में दश नाड़ियों का स्थान सहित वर्णन,14 में दस प्राणों वायुओं का वर्णन,10 में शक्ति चालन,26 में महामुद्रा आदि का वर्णन,7 में प्रणवाभ्यास,प्राणायाम प्रशंसा, 4 में प्राणायाम प्रकार, 8 में नाड़ी शोधन का प्रकार वर्णित किया गया है ।

दूसरे शतक में 1-10 श्लोकों तक प्राणायाम का वर्णन,11-12 तक फलश्रुति 13-14 में अष्टांग योग में प्राणायामों की संख्या,15-16 में समाधि का स्वरूप,17-18 में योगसिद्धि के चिह्न-19-21 तक प्राणायाम से रोगनाश,22-31 तक प्रत्याहार का वर्णन 32-34 तक विपरीतकरिणी मुद्रा,35-37 तक अनाहत चक्र-38-39 तक काकी मुद्रा,40-41 तक विशुद्ध चक्र,42 में सूर्यमुखवचन, 43-51 चन्द्रामृतपान का फल तथा रसास्वादनानुभव, 52-60 तक धारणा वर्णन,61-77 तक ध्यान वर्णन और फलश्रुति,78-79 में कुण्डलिनी, शिवमिलन का वर्णन,80 में ध्यान योग की श्रेष्ठता,81-82 समाधि वर्णन 83-84 में ध्यान और समाधि विषयक वर्णन-95-100 तक के श्लोकों में सायुज्य प्राप्ति तथा योग शास्त्र की श्रेष्ठता का वर्णन किया गया है ।

---

73. गो0सं0,सं0 डा0 चमनलाल गौतम.पृ0 9-79

गोरक्षसंहिता का योग में स्थान और महत्व

डा० हजारी प्रसाद ने गोरक्ष विरचित पुस्तकों के विवेचन करते हुए "गोरक्षसंहिता" को गोरक्ष की निसन्देह कृति माना है किन्तु उनके जमाने में गोरक्षसंहिता का केवल एक प्रकरण, जो नेपाल पुस्तकालय से उपलब्ध करके "श्री प्रसन्न कुमार चटर्जी" ने बंगला अनुवाद के साथ छापा था। काशी संस्करण के आने पर गोरक्षसंहिता के व्यापक विषय की ओर ध्यान जाना आवश्यक है। मैंने अपने विवेक से चटर्जी संस्करण को इस पुस्तक का एक भाग स्वीकार किया है। कादि मत में जहाँ कौलमत के साधन की प्रक्रिया, स्थान, पीठ, उपपीठादिकों का वर्णन किया गया है और शाक्त दर्शन के परिप्रेक्ष्य में कुछ आत्मा शक्ति, हंस बिन्दु पद और आकाशात्मक षट् पदार्थों का विषद् विवेचन है। पिण्ड और ब्रह्माण्ड की एकता, जो नाथ मत की मुख्य दार्शनिक पक्ष है, उसकी विवेचना के लिए जीव का स्वरूप गति और प्रकार का वर्णन किया गया है[1]। पुनः गायत्री का स्वरूप वर्णन जीव का षट् चक्रों में कैसे गमन होता है, का वर्णन भी उपलब्ध होता है। दूसरे शृति प्रकरण में यद्यपि योग सम्बन्धि साक्षात् वर्णन भले ही न मिलता हो किन्तु परम्परा से

---

1. गो०सं० कादि प्र॰ 21, पृ० 136, त्वं च शक्तिरहं जीवः प्राणिनाम् प्राणसंज्ञकः ।
अग्निवायुमयो जीवकुलपिण्डे व्यवस्थितः ।।

योग का ही यह अध्याय भी स्वीकार करना चाहिए।क्योंकि जीव का प्रतिभास पांच-भौतिक पिण्ड में ही होता है।उस पिण्ड में स्थित जीव की मुक्ति के लिए जहाँ अन्य नाथ योगियों ने षडंग योग या अष्टांग योग का उपदेश दिया है वहाँ गोरक्षनाथ ने जीव की एकाग्रता तथा स्थिरता के लिए अष्टसिद्धियों के अतिरिक्त एक विभूति सिद्धि का उपदेश भी दिया है । यहसिद्धि अन्य सिद्धियों से व्यतिरिक्त है । इस गोरक्षसंहिता का विभूति प्रकरण रसायन शास्त्र का विज्ञान है । इसमें पारद के योगों से,योगी के शरीर को ही अजरामर नहीं बनाया जा सकता अपितु अधिभौतिक ,आधिदैविक,आध्यात्मिक आदि दुःखों से बचने के लिए तथा ज्ञानेषणा,मानेषणा पुत्रेषणा आदि इच्छाओं की पूर्ति हेतु भी पारद का भक्षण अनिवार्य है । यही नहीं वित्तेषणा की पूर्ति और मृत्युभय को दूर करने के लिए भी पारद रसायन का भक्षण आवश्यक रूप से करना चाहिए । इसके साथ ही अजरता अमरता बिन्दु के ऊपर आधारित है[2] । बिन्दु का संरक्षण पारद गुटिका के मुख में रखने मात्र से ही जाता है[3] । तभी तो पारद की उपयोगिता बताते हुए कहा गया है कि एकमात्र रसराज शरीर को अजर-अमर बना देता है ।[4]

तृतीय प्रकरण या चटर्जी सम्पादित गोरक्षसंहिता योग का ही

---

2. मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात् ।

3. गो०सं०वि०प्र० 7.133 मुखस्था वारयेत् शुक्रम् ।

4. उपोद्घात , एको यं रसराजः शरीरमजरामरं कुरुते ।

प्रतिपादन करती है ।यदि इसका परिणाह पूर्व प्रकरणों की तरह विस्तृत नहीं है केवल दो शतकों में योग का सांगोपांग वर्णन किया गया है । जबकि प्रथमशतक गोरक्षपद्धति का गोरक्ष शतक नाम से भी अविकल रूप में आता है । जिसमें योग के षडंगों का वर्णन किया गया है । आसन-प्राणरोध,प्रत्याहार धारणा और ध्यान-समाधि का वर्णन किया गया है । यद्यपि आसनों की संख्या चौरासी लाख योनियों के जीवों के आधार पर है यह अपने प्रकार की उपवेशन शयन आदि क्रियाओं को आधार मान कर अनन्त है।तो भी योग शास्त्रियों ने एक लाख योनि को समाकृति में विभाजित कर उनके आधार पर एक आसन की कल्पना की है। तब वे चौरासी मुख्य रूप से बन जाते हैं । उनका नाम निर्देश ही यहाँ दिया गया है । वास्तविक रूप से सिद्धासन और कमलासन जिसे पद्मासन भी कहते हैं, का ही पूर्ण विवेचन किया गया है । इन आसनों में तीन घण्टों से अधिक सुखपूर्वक रहने से सिद्धि मिल जाती है[5]। देहस्थ षोडश आधार षट्चक्र त्रिलक्ष्य,व्योमपंचक,एकस्तम्भ,नवद्वार और पंचदैवत को जानना योगी के लिए अनिवार्य है[6]। आधारचक्र चतुर्दलयुक्त व,श,ष,स वर्णमाला पृथ्वीतत्वयुक्त, पीतरंगयुक्त वर्गाकार,ऐरावत, बीज शोभित,ब्रह्मादेवता,हंसवाहन,डाकिनि शक्ति कामाख्य

5.योोद० सुखं स्थिरमासनम् ।

6.गो०शतक,13-14, एकस्तम्भं नवद्वारं गृहं पंचाधिदैवतम् ।
स्वदेहे ये जानन्ति कथं सिद्ध्यन्ति योगिनः ।।

पीठ पर स्थित का वर्णन किया गया है ।

स्वाधिष्ठान षड्दलयुक्त,व,भ,म,य,र,ल वर्ण शोभित जलतत्व श्वेत वर्ण,अर्धचन्द्राकार,वं बीजमकर वाहन,विष्णुदेवता,गरुडवाहन,राकिनि शक्तियुक्त का वर्णन किया गया है ।

मणिपुर दशदलयुक्त ड,ढ,ण,त,थ,द,ध,न,प,फ, तेज तत्वयुक्त, रक्तवर्ण,त्रिभुजाकार,रं बीजयुक्त,मेषवाहन,रुद्र देवता,वृषभ वाहन, लाकिनि शक्ति से युक्त का वर्णन किया गया है ।

अनाहत चक्र द्वादश दलयुक्त हृदयस्थल में क,ख,ग,घ,ङ,च,छ,ज,झ, ञ,ट,ठ वायु तत्व युक्त,स्पर्शगुणयुक्त,धूम्रवर्णयुक्त,षट्कोणाकृति,यं बीजयुक्त,कृष्णमृगवाहन, ईशदेवता काकिनिशक्ति युक्त का वर्णन मिलता है ।

विशुद्ध चक्र कण्ठ के पास सोलह दलों से युक्त अ,आ,इ,ई,उ,ऊ,ऋ, ॠ,लृ,ॡ,ए,ऐ,ओ,औ,अं,अः आकाशतत्वयुक्त,शब्दगुणात्मक,श्वेतवर्णयुक्तवृताकार,हं बीजयुक्त, हस्ती वाहनयुक्त ~~हस्तीवाहनयुक्त~~ सदाशिवदेवता,शाकिनिशक्ति युक्त का वर्णन किया गया है ।

आज्ञा चक्र भ्रुवों के बीच में द्विदलात्मक है । ह,क्ष, अक्षरयुक्त मन तत्व,ॐ बीजाक्षरयुक्त मनतत्व,शंभुदेवता,हाकिनि शक्ति का वर्णन किया गया है ।

सहस्रार ब्रह्मरन्ध्र का अन्तिम स्थान है । इन चक्रों का

वर्णन करके इडा,पिंगला,सुषुम्ना,गांधारी,हस्तिजिह्वा,पूषा,यशस्विनी,अलम्बुषा,कूहू और शंखिनी नाम की दस नाड़ियों का वर्णन किया गया है । इन की स्थिति देह में कहाँ है इसका वर्णन भी किया गया है । उनकी क्रियाएँ भी वर्णित हैं । इसके बाद अजपा गायत्री का स्वरूप महत्व आदि वर्णित है । पुनः प्राणवायु के द्वारा उत्तेजित करके ,कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करने का विधान दर्शाते हुए,शक्तिचालन मुद्रा के स्वरूप का तथा उसको अभ्यास करने वालों के नियमों का वर्णन किया गया है । उससे आगे महामुद्रा,खेचरीमुद्रा,उड्डीयान-बन्ध,जालन्धरबन्ध,महाबन्धादि की क्रियाओं की व्याख्या की गई है । पूर्व शतक के अन्त में प्रणवाभ्यास,प्राणायाम प्रकार,नाड़ीशोधन प्राणायाम विधि का वर्णन है ।

द्वितीय शतक में प्राणायाम के भेदों के पूरक,रेचक और कुम्भक का वर्णन किया गया है । इन प्राणायामों की मात्रा,अवधि स्थान और क्रिया का वर्णन किया गया है । प्राणायामों के परवर्ती साधनांगों के परस्पर विकासोन्मुख सम्बन्धों एवं परिणामों का निर्देश कर समाधि का स्वरूप बतलाया गया है । जिस प्रसंग में कुण्डलिनी का उल्लेख भी हुआ है । प्राणवायु के सहस्रसार में पहुँचने पर मेघगर्जन आदि अनेकों वाद्यों का श्रवण होता है । जिससे योग सिद्धि की सूचना मिलती है । उसके बाद हठयोगात्मक प्रत्याहार का वर्णन किया गया है । इसके बाद पाँच प्रकार की धारणा का वर्णन है ।

इस प्रकार गोरक्षसंहिता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय योग है और उसकी सहायता से प्राप्त ज्ञान को प्राप्त करके "तत्वमसि" महावाक्य से पिण्ड ब्रह्माण्ड की एकता का प्रतिभास करना ही मुख्य अभिप्रेय लगता है । यह सहज योग की अपेक्षा मानव को हठ योग से मिल सकता है । यदि हठ योग में भी मानव को सफलता न मिले तो पारद और औषधियों के सेवन से अपने पिण्ड रूपी साधन को अजरामर बनाकर पुरूषार्थ चतुष्टय को प्राप्त करके जीवन को सफल बनाया जा सकता है । गोरक्षसंहिता में नाथपन्थियों का अद्वैतवाद अक्षुण्ण रहा है । जैसा वे शिव और शक्ति को एक दूसरे से अभिन्न मानते हैं । शैवों के अर्धनारीश्वर की तरह ही वे भी स्वीकार करते हैं[7] इनके मत में वैदिक ऋत् और सत्य की तरह सूर्य और आत्मा की भान्ति शिव और शक्ति ही विश्व के समस्त प्रपंच में परिव्याप्त है किन्तु नाथ इनसे ऊपर और संयोग करवाने वाला माना गया है[8] अतः गोरक्ष संहिता के उपलब्ध संस्करणों से पता चलता है कि यह पुस्तक योग साहित्य में एक अपना अनूठा स्थान रखती है और विशेष रूप से विदेहमुक्ति की ओर इसका अधिक झुकाव दीखता है ।

---

7. सि०सि०सं० पृ० 26-27 शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः ।
अनन्तरं नैव पश्यामि चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ।।

8. वही, पृ० 36 प्रसरं भासते शक्तिः संकोचं भासते शिवः ।
तयो संयोगकर्त्ता यः संभवेद्योगीश्वरात् ।।

संस्करण :-

"क" गोरक्षसंहिता गोरक्षनाथ का एक अमूल्य ग्रन्थ है । इसकी उपयोगिता इसके भूतिप्रकरण और योग प्रकरण से लग जाती है । इतना होने परभी यह भारतवासियों का दुर्भाग्य ही समझना चाहिए कि इस पुस्तक का प्रथमतः तो ज्ञान ही नहीं था जब कुछ विद्वानों ने अपने परिश्रम से नाथ सम्प्रदाय के जीवातु इस ग्रन्थ का अन्वेषण किया तो सर्वप्रथम एकत्रिंशतात्मक श्लोकयुक्त ग्रन्थ का ही पता चल सका था जो कि नेपाल दरबार के पुस्तकालय से हस्तलिखित कापी प्राप्त करके प्रसन्न कुमार जी ने 1897 ईस्वी में बंगला अनुवाद के सहित छापी थी । जिसकी प्रति बाद में ढूंढे नहीं मिलती । जैसा कि हजारी प्रसाद द्विवेदी जी "नाथ सम्प्रदाय- नामक पुस्तक में प्रतिपादित करते हैं । किन्तु बाद में विद्वानों की खोज से इसका मूल रूप हिन्दी टीका के साथ डा० चमनलाल ने लोगों की योग जिज्ञासा को पूरा करने के लिए इसे बरेली से छपवाया है । जो अब उपलब्ध है । जैसे ही डा० जनार्दन पाण्डेय ने काशी से इस का संस्करण छापा और उस पुस्तक के दो खण्डों को हमारे सामने लाया, वैसे ही हमारी आँखें खुली और हम गोरक्षसंहिता के बारे में कुछ अधिक जानने के लिए बाध्य हो गए । जहाँ तक प्रसन्नकुमार जी के संस्करण से हमें इस पुस्तक के योग सम्बन्धि ज्ञान का ही पता चलता है, वहीं काशी संस्करण से इसके तान्त्रिक कादि प्रकरण का तथा आयुर्वेदिक भूति प्रकरण का जहाँ पता लगा वहीं यह भी ज्ञात हो गया कि यह पुस्तक इतनी लघुकाय नहीं है जितना विद्वत्

समाज समक्ष पाया था । यह तो पंचप्रकरणात्मक एक लक्ष श्लोक सम्पन्न महाग्रन्थ है । अभी भी यह ग्रन्थ विद्वानों के लिए रहस्य बना रहेगा । क्योंकि पाँच प्रकरण का संकेत मिलने पर भी वे प्रकरण कौन-कौन हैं इस बात का प्रमाण उपलब्ध पुस्तक में नहीं है । जबकि अन्तत्यन्त खोज के बाद भी कादि प्रकरण, विभूति प्रकरण तथा पूर्व उपलब्ध योग प्रकरण ही मिलते हैं ।

इन दो संस्करणों के अतिरिक्त डा0नागेन्द्रनाथ ने अपने शोध ग्रन्थ "गोरक्षनाथ" में अनेकों विद्वानों के उद्धरणों के आधार पर काशी संस्करण के अतिरिक्त, 1897, प्रसन्नकुमार कविरत्न संस्करण तथा डा0 बागची के द्वारा प्रदर्शित उदाहरण कौलावलि निर्णय की भूमिका में जो अकुलवीर तन्त्र में भी वैसे के वैसे ही मिलते दर्शाए गए हैं । परन्तु इसके अलावा लेखक ने अपने पास प्रभास पाटल पुस्तकालय से भगवान् त्रिवेदी के पुत्र श्री इन्द्र जी शर्मा द्वारा शकाब्द 1816, विक्रमाब्द 1950, सन् 1893 का काशी संस्करण भी मिला है । यह प्रसन्नकुमार के संस्करणवत् ही है । अतः कहा जा सकता है कि वर्तमान तक इस पुस्तक के योग प्रतिपादक शतक द्वय के तीन संस्करण निकले हैं । सन् 1893, इन्द्र जी संस्करण, 1897 का बंगला अनुवाद सहित, -प्रसन्नकुमार संस्करण हिन्दी अनुवाद सहित बरेली संस्करण कादि प्रकरण का 1976 काशी संस्करण, विभूति प्रकरण 1977 का काशी संस्करण । इसके अतिरिक्त अभी तक इस पुस्तक के कोई अन्य संस्करण दृष्टिपथ में नही आए हैं । भविष्य में यदि विद्वान लोग अन्वेषण जारी रखेंगे तो ही

सकता है कि इस अमूल्य ग्रन्थरत्न का अवशिष्ट भाग भी यदि काल के कराल गाल में न पहुँचे हों तो उपलब्ध हो जाए । वास्तव में जहाँ तक लेखक का चिन्तन है, वहाँ तक इस ग्रन्थ के अवशिष्ट भाग आदि औरहादि ही हो सकते हैं । क्योंकि आदि कादि हादि ये तीन तान्त्रिक चिन्तन प्रसिद्ध ही हैं । इन तीनों को अनन्तकाल तक वज्रदेह प्राप्त करके जानना चाहिए, और इसी जीवन में जानना चाहिए, इस उद्देश्य से विभूति प्रकरण का निर्माण हुआ होगा दृश्यते अनेन इति दर्शनम् व्युत्पत्ति के अनुसार, योग दर्शन ही वास्तविक दर्शन है।अन्य केवल उसके सहायक हैं । अत: नाथ मत में केवल दर्शन को देखने के लिए योग की आवश्यकता है । इससे शुद्ध निर्मल बुद्धि पटल में चिति स्वरूप आत्मा का आभास हो सके, अत: योग प्रकरण को भी उस में रख दिया गया होगा ।

यह केवल कल्पना है वास्तविकता तो भविष्य के गर्भ में है । सम्भवत: कोई योगी विद्वान् इसको भरपाई करके कृतार्थ कर देगा ।

आलोचनात्मक ग्रन्थ :-

गोरक्ष के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले संस्कृत में जहाँ अनेकों ग्रन्थ हैं वहीं लोक साहित्य भी यत्र-तत्र-सर्वत्र भारत में उपलब्ध होता हैं । संस्कृत में लगभग स्वयं गोरक्ष प्रणीत 30 की संख्या में ग्रन्थ मिलते हैं । लौकिक भाषाओं में भी डा० पीताम्बर के कथनानुसार "गोरखबानी की भूमिका में अनेकों ग्रन्थ माने गए हैं । हिन्दी-डा० बड़थ्वाल

के साथ-2 ,डा0 कल्याण मलिक का "नाथ सम्प्रदायेर इतिहास",डा0 हजारी प्रसाद का "नाथ सम्प्रदाय" डा0 नागेन्द्रनाथ का "गोरक्षनाथ" डा0 जनार्दन पाण्डेय की कादि तथा विभूति प्रकरण की भूमिका,किसी अज्ञात व्यक्ति का संस्कृत में लिखा "गोरक्षसिदान्तसंग्रह" डा0 मोहनसिंह का "गोरक्षनाथ एण्ड मिडिएबल हिन्दु मिस्टिसिजम्" डा0 ब्रीग्स का "गोरखनाथ एण्ड कनफटा योगीज्" आदि ग्रन्थ गोरक्षनाथ सिद्धान्तों की आलोचना करते हुए देखे गए हैं । जिनमें गोरक्षनाथ के द्वारा 36 तत्वों का, जहाँ विशेष वर्णन हुआ है,वहाँ केवल दर्शन का भी विशेष वर्णन किया गया है । शिव शक्ति के संयोगोपरि नाथ के स्थान का भी प्रतिपादन किया गया है । जिससे नाथों के चिन्तन की भूमिका का विशेष परिचय प्राप्त किया जा सकता है ।

अथ तृतीयोऽध्याय : रसप्रकरणम्

रसनिरूपित :-

गोरक्षनाथ वर्तमान युग में एक सिद्ध महात्मा और अमर योगी कहे गए है। इनकी प्रसिद्धि जहाँ हठ योग के कारण लोगों में हुई, वहीं ये रस सिद्धि के कारण भी ये संसार के लोगों को प्रभावित कर, अपने को अमरत्व प्रदान कर गए। वास्तव में जीवन्नरो - भद्रशतानि पश्येत्" इस युक्ति के अनुसार मानव का शरीर सैकड़ों कल्याणों का आगार है। उसके स्थिर रहने पर ही कर्म करके मानव सबका कल्याणकर सकता है। तभी तो "शरीरमाद्यं-खलुधर्म साधनम्" इस वाक्य में उसका मूलाधारत्व सिद्ध किया गया है। जैसे पिण्ड की आन्तरिक स्थिति को जानने के लिए अथवा शिव शक्ति के संयोग के लिए या पिण्ड ब्रह्माण्ड की एकता को स्थापित करने के लिए, कुण्डलिनी के स्थान, मूलाधार को श्रेष्ठता और अनिवार्यता आवश्यक है। छिन्ने मूले न पत्रं न शाखा" के सिद्धान्त के अनुसार उसके विना योग के मार्ग का सेतु ही ढह जाएगा। अत: वेद में संकेतित "रसं वै प्राप्य रसो वै भवति स:" कि जीव, जब रस को प्राप्त कर लेगा तब वह भी समरस बनकर अमरत्व को प्राप्तकर सकेगा" के सिद्धान्त को विस्तार दिया। अपनी संहिता में गोरक्षनाथ ने उस सिद्धान्त को पुष्टि करने के लिए एक अलग विभूति प्रकरण की स्थापना की। उन्होंने लौकिक भाषा के दोहों में कहा कि -

निहचल धरि बैसिवा पवन निरोधिबा कब न होईगा रोगी।
वरस दिन में तीनि बार काया पलटिबा नाग बंग वनास्पति जोगी।

क्रिया न स्वाति वेद न रोगी रसायणी अर जाविषाय।
बूढ़ा न जोगी सूरा न पीहि पाछै धाव बतनो न माने श्री गोरक्षनाथ।।(1)

1• शबदी, 92 =210

इस कथन को सिद्ध करने के लिए विभूति प्रकरण का निर्माण किया है ।

यद्यपि रसतन्त्र का प्रादुर्भाव ब्राह्मणकाल से ही हो चुका था । क्योंकि "ऐसा कोई ज्ञान संसार में नही है । जो वेद में नही पाया गया हो । तो भी रसायन विद्या को व्यवस्थित रूप में, बौद्धाचार्य नागार्जुन ने ही स्थापित किया । रस तन्त्र के ग्रन्थों के लेखक, भैरव नित्यनाथ, मन्थान भैरव, काकचण्डीश्वर आदिकों में, नागार्जुन प्रसिद्ध रहे हैं । इनका ग्रन्थ "रसरत्नाकर" जिसे लोग "रसेन्द्रमंगल भी कहते हैं मिलता है और यह केमिस्ट्री के इतिहास का प्रथम ग्रन्थ माना जाता है । ईस्वी शताब्दी के नवें शतक में "अमोघ राज्य काल में लिखे गए "कल्याणकारक संहिता" के रचिता उग्रादित्य आचार्य ने चौबिसवाँ परिच्छेद रसरसायनपरक लिखा है । नागार्जुन बौद्धाचार्य थे तथा गोरक्षनाथ के गुरु मत्स्येन्द्रनाथ भी कुछ ऐतिहासिकों के अनुसार प्रथमतः बौद्ध थे और नाथ सिद्ध बने । किन्तु गोरक्षनाथ की परम्परा बिल्कुल भिन्न है । इसमें कापालिकादि भेद, जिनका वर्णन बारहवीं शताब्दी के ग्रन्थ रसार्णव में मिलता है, इसी में लीन हो जाते हैं ।

वास्तविकरूप से रसायन का विषय आयुर्वेद का है, तो भी तान्त्रिकों विशेष रूप से नाथ सम्प्रदाय के सिद्धों द्वारा इसका प्रचार और प्रसार किया गया है ।

2·वा०प० न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दो--- ।

क्योंकि हठयोग से जब दीर्घ जीवन प्राप्त नहीं हो सका तब उन्होंने रसायन विद्या से लम्बे जीवन की प्रक्रिया को प्राप्त किया । "रसरत्न समुच्चय" वाग्भट्ट ने 13वीं शताब्दी में बनाया था । उन्होंने उसमें रस को मुक्ति देने वाला माना (3) । इसीलिए गोरक्षनाथ ने भी रसतन्त्र को काया परिवर्तन का कारण एवं दारिद्र्य नाश का हेतु माना था । इनकी संहिता का यही प्रकरण अन्य संहिताओं से विशिष्ट है । जिन अणिमा, महिमा, लघिमा, आदि आठ प्रकार की सिद्धियों में भूति की सिद्धि सामान्या मानी गई है और सब सिद्धियों की नियन्त्रक स्वीकार की गई है । जो भग [redacted], ऐश्वर्य, ज्ञान गुण, धर्म, वैराग्य आदि का नाम है । इसे भूति प्रकरण में रसविज्ञान 1-19, रसतन्त्र 1-112, 116, 119, रसचक्र 1-118, रसोपनिषद् 1-115 भूतितन्त्र 2-101, 3 भूतिशास्त्र, 2-4, 3 आदि शब्दों से कहा गया हैं । यह अकेला [redacted] रसराज शरीर को अजर-अमर बना देता है । वह रस है क्या चीज ! जिससे शरीर की आवश्यकतानुसार अमरता हो जाती है । इस विषय का चिन्तन करते हुए नाथसिद्धों ने बतलाया है कि "जैसे माता पिता के शोणित शुक्र से शरीर का प्रकृति चेतनात्मक संयोगज शरीर का निर्माण होता है, वैसे ही शिवपार्वती के शुक्र शोणित से पारा और अभ्रक रूप के सम्पर्क से शरीर की अमरता सम्भव है । वास्तविक रूप से आयुर्वेद के मर्मज्ञ इस बात को

---

3. गो०सं० ,एको यं रसराजः शरीरमजरामरं कुरुते ।।

जानते हैं कि देह का स्थिरिकरण पारद के ऊपर निर्भर करता है । जैसे समस्त चेतन आत्माओं का लय परमात्मा में होता हैं उसी प्रकार सारे द्रव्यों का लय पारे में हो जाता है, सारा काष्ठ औषधियों का लय नाग, नागका वंग में, वंग का ताम्र में, ताम्बे का रौप्य में, रौप्य का सुवर्णमें और सुवर्ण का पारद में लय हो जाता है । सारा जगत चर अचर रूप से दो प्रकार का है । जरायुज-अण्डज, उद्भिज और स्वेदज योनियां प्रथम श्रेणी में तथा उद्भिज की वे श्रेणियां जो अर्धचेतन मानी गई हैं और लतागुल्मादि के रूप में संसार की सृष्टि में व्याप्त है वे आती है । इन चराचर या योनिज, अयोनिज समस्त सृष्टियों की परिणति पारद में होती है । जैसे चर वस्तु से हम लें तो उससे या उनमें सर्वप्रथम खाए हुए का परिणाम रस होगा । इससे रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेदा, मेदा से स्नायु, स्नायु से हड्डी, हड्डी से मज्जा, मज्जा से शुक्र पैदा होता है[4] । पुनः "आत्मा वै पुत्र नामासि के आधार पर शुक्र से अपने आप ही पुत्र के रूप में जन्म लेता है और वहाँ पर भी शुक्र बदलता नहीं । अतः चर वस्तुओं की अन्तिम परिणति शुक्र में होती है वैसे ही स्थिर वस्तुओं परिणति भी शुक्र में होती है । जो घी और तेल अन्तिम परिणति के रूप में माने गए हैं वे भी बाह्य रूप में जब भी शरीर रूपी यन्त्र के अन्दर डाले जाते हैं तो पकते हुए अन्त में शुक्र रूप में परिणत हो जाते हैं । अन्त गता सो मता, न्याय से सृष्टि के अन्दर समग्र चीजे शुक्र का विपरिणाम माना

4-गर्भोपनिषत् ,1- परस्परं सौम्यगुणत्वात्षड्विधोरसो, रसाच्छोणितं, शोणितान्मांसं मांसान्मेदं, मेदसः स्नावा, स्नाम्नोऽस्थिन्यः, अस्थिभ्यो मज्जा, मज्जः शुक्रम् ।

जा सकता है । सब कुछ नष्ट हो जाने पर शुक्र ही शेष रह जाता । तभी मीमांसा का शेष शेषी य. भी अपनी सफलता का डंका बजाता है ।

जब पिण्ड ब्रह्माण्ड की एकता स्थापित करने की प्रक्रिया की बारी आती है तब शुक्र की रक्षा कर कुण्डलिनी के बल पर कर के प्राणों के घोड़े पर आत्मारूपी सवार को बिठाकर, सांकरीगली ब्रह्मरन्ध्र से "कार्यं वा साधयेयम्, देहं वा पातयेयम्" की शिव प्रतिज्ञा को सार्थक करते हुए ब्रह्माण्ड में अपने को समा देता है तथा पुनरावर्तन से अपकाश प्राप्त कर शेषमात्र रह जाता है । वहाँ भी तादात्म्य से जीव शुक्र का गमन माना जाता है । अतः शैव मतानुसार पशु के पाश का विनाश होते ही पति की स्वरूपता, शिवत्व प्राप्ति या मोक्ष माना गया है । उस शिवता में जो तेजस्विता या उर्जा समष्टिरूप से है उसके पास जाता है, उसे पारद या रस कहते हैं ।

यद्यपि साहित्यकार श्रृंगार, हास्य, करुणरौद्रादि नौ को रस कहते हैं । दार्शनिक और ज्योतिष वाले मधुर आम्ल कटु कषाय तिक्त और लवण नामक छः को ही रस मानते हैं । आयुर्वेद वाले सप्त धातुओं में खाए हुए के प्रथम परिणाम को रस मानते हैं । तो रसो वै सः के आधार पर पारद को ही रस कहना चाहिए । यह रस पाँच प्रकार का कहलाता है -रस, रसेन्द्र, सूत, पारद और मिश्रक[5] ।

विभूति प्रकरण के प्रारम्भ में रस की उत्पत्ति बतलाते हुए, शिव, लिंग, भागवत, पुराण प्रसिद्ध तारकासुर बद्धेच्छु देवताओं द्वारा प्रार्थित शिव पार्वती से संलिप्त हो हिमाचल की गुफा में जब अनेक दिनों तक तल्लीन हो गए, तभी अग्निदेव ने उन्हें लोक कल्याण के लिए

---

5. विभूति प्रकरण, 1.1.10 रसो रसेन्द्रः सूतश्च पारदो मिश्रकस्तथा ।

उत्थापित करने हेतु, देवताओं ने नियुक्त किया । शिव उठे बिन्दुपात हुआ । अग्नि को शिव का कोपभाजन बनकर शिव बिन्दु धारण करना पड़ा । दहन जलने लगा, गंगा में विसर्जन किया बहता हुआ शिव बिन्दु सागर में पहुँचा, बड़वानल रूप बना । लहरों से किनारे आकर कुमार का रूप धारण किया । कृतिकाएँ आई । कुमार षडानन बनकर सब का दूध पीने लगा । जब यह गंगा में बह रहा था तो पाँच कूपों में रुका, वहाँ इसका अंश रह गया । जो पारद के रूप में परिवर्तित होकर लोगों को मुक्ति देने वाला बन गया । इसीलिए रस के पाँच नाम या भेद माने जाते हैं । उनकी निरुक्ति भिन्न-भिन्न मानी जाती है । जैसे - समस्त धातुओं का निचोड़ होने से इसे रस कहा जाता है । जरा और मृत्यु का विनाश करने के लिए इसे निचोड़ा जाता है । इसलिए भी इसे रस कहते हैं 6 "रोगों से दुखी लोगों को यह मुक्ति देता है" 7 इस रस को संसार के समस्त रसों का ईश्वर माना गया है। तभी तो पाशुपत दर्शनों अर्थात् नाकुलीश, पाशुपत, शैव प्रत्यभिज्ञा और रसेश्वर को सबसे विलक्षण और प्रधान माना गया है । इसके कारण अन्त में रखा गया है । स्थूणा अरुन्धती न्याय से या गोपुच्छन्याय से भारतीय दर्शनों की परम्परा रही है कि वे स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाते हुए वेदान्त की तरह अन्त में सबसे सूक्ष्म दर्शन को रखते हैं । पाशुपत दर्शनों में भी वेदान्त स्थान

---

6. वि०प्र०भूमिका, रसनात्सर्वधातूनां रस इत्यभिधीयते । यद्वा जरामृत्यु विनाशाय रस्यतेऽसौ रसः स्मृतः ।

7. वही, रोगपंकादिमग्नानां पारदानाच्च पारदः ।

में प्रत्यभिज्ञा दर्शन माना गया है । रसेश्वर रस उसकी अपेक्षा अन्त में रखा गया है ।जिससे यह प्रतीत होता है कि माधवाचार्य जी भी रसेश्वर को इन सब दर्शनों का गुरु मानते थे ।

रस का नाम पारद भी आया है । रस को पारद इसलिए कहा गया है कि रोग कीचड़ में फँसे लोगों को यह धातु पार निकाल देती है[7]। संसार में दल-दल में फँसे लोगों को पार लंघाने वाला अर्थात् मोक्ष देने वाला होने के कारण पारद कहलाता है ।[8] इसके भव का वीर्य होने के प्रमाण में रसार्णव तन्त्र में लिखा है कि-पार्वती देवी, मोक्ष तत्व को देने वाले इस रस को पारद कहा गया है । यह मेरे अंग-अंग तथा प्रत्यंगों से पैदा हुआ है । सुप्तावस्था में रहने पर यह मेरे समान ही है । यह मेरे शरीर का रस है तब ही इसका नाम रस भी पड़ा[9]। यह चार प्रकार का माना गया है । सफेद,लाल,पीत तथा काला[10]। जिनको क्रमशः ब्राह्मण क्षत्रिय,वैश्य और शूद्र संज्ञा भी दी गई है ।

इस पारद को रसेन्द्र भी कहा गया है । क्योंकि यह सब रसो का राजा माना गया है[11]। सूत की संज्ञा इसलिए दी गई है कि पारद देह को वज्र सदृश बना देता है ।[12] जिसे जगत् का सबसे बड़ा भय मृत्यु भी नही सता सकती । यह मिश्रक नाम से इसलिए पुकारा

7.विभूति प्रकरण भूमिका, रोगपंकादिमग्नानां पारदानाच्च पारदः ।

8.सर्व दर्शन संग्रह,पृ0 376 संसारस्य परं पारं दत्तेऽसौ पारदः स्मृतः ।

9.सा0द0सं0 376, पारदो गदितो यस्मात्परार्थं साधकोत्तमैः । सुप्तो यं मत्समो देवी ।
मम प्रत्यंगसम्भवः । मम देवरसो यस्माद्रसस्तेनायमुच्यते ।

10.रसार्णव तन्त्र,अत्र भेदेन विज्ञेयं शिववीर्यं चतुर्विधम् । श्वेतं रक्तं तथा पीतं कृष्णं तत्तुभवेत् ।

11.विभूति प्रकरण,रसानामधिराजत्वात् रसेन्द्र इति कीर्तितः ।

12.वही,भूमिका, "ख" देह लोहमयीं सृष्टिं सूतेऽतः सूत उच्यते ।

जाता है क्योंकि सार धातुओं का तेज मिलकर इसमें रकता है[13]। अतः इसके सेवन से देवता निर्जर बने, अमर कहलाए। रसेन्द्र का सेवन कर नागलोक दीर्घजीवी बने। उन देव और नागों ने पारद के रहने से उन कूपों को मिट्टी से दबा दिया। जिस कारण अब वह पारद बड़ी कठिनाई से मिल सकता है। रस का विविध प्रकार का वर्णन ऋग्वेद, अथर्ववेद, पुराण तन्त्र शास्त्र, योगशास्त्र और आयुर्वेद में मिलता है। जैसे रसेन्द्रसार में इसका वर्णन करते हुए कहा है कि-पारे की थोडी मात्रा देने से अरुचि का कोई प्रसंग ही नहीं आता। थोडी सी मात्रा असाध्य रोगों को भी दूर कर देती है[14]। साध्य रोगों में कष्टादि मूल और आसवादि प्रयोग किया जाता है किन्तु असाध्य रोगों में नहीं। केवल पारद को ही असाध्य रोगों में देने से लाभ होता है। नहीं तो मृत्यु हो जाएगी। क्योंकि चरककार नेकअसाध्य रोगों में औषधि का निषेध किया है।[15] जबकि सुश्रुतकार ने अरिष्ट लक्षण उत्पन्न होते ही मृत्यु को अवश्यम्भावी कहा है। केवल जप तप एवं रसायन ही उससे बचने का उपाय है।[16] अगस्त्य का कथन है कि "रसायन तप जप एवं योगाभ्यास से सिद्ध महात्मा काल मृत्यु को भी जीत लेते हैं। इसके नामों की संख्या रसेन्द्रकार ने सात बतलाई है - रसेन्द्रः पारदः सूतः सूतराजश्च

13· सर्वधातुगतं तेजो मिश्रितं यत्र तिष्ठति। तस्मात्सः मिश्रकः प्रोक्तः।

14·रसेन्द्रसंग्रह, प्रथम अ0।, अल्पमात्रोपयोगित्वादरुचे प्रसंगतः। क्षिप्रमारोग्यदायित्वादौषधे-भ्योऽधिकोरसः। साध्येषु भेषजं सर्वमिरितं तत्ववेदिना। असाध्येष्वपि दातव्यो रसो तः श्रेष्ठ उच्यते।

15·चरकसूत्र, साधनं न तु असाध्यानां व्याधिनां उपदिश्यते।

16·सु0सं0, अ0 18· स[illegible] ध्रुवं तु अरिष्टे मरणं ब्राह्मणैस्ततकिलामलैः। रसायन तपो जप्य तत्परैः वा निवार्यते।

सूतक शिव तेजो रसः सप्तनामान्यव रसस्य तु । ऐतानि रसनामानि तथाऽन्यानि यथा शिवे" । "अ01-7,8 ।। अर्थात् शिव के जितने नाम हैं वे सारे पारद के माने गए हैं । यह 24-25 सौ फुट गहरा खोदने पर इटली जर्मनी,चीन,जापान इत्यादि देशों में अधिक रूप से पाया जाता है । यह शिंगरफ आदि के रूप में भी मिलता है । इसका मिश्रण कई अपद्रव्यों में मिलता है । जहाँ इसे रासायनिक क्रियाओं के द्वारा उर्ध्वपातन,तिर्यन्,अधोपातन आदि यन्त्रों की सहायता से अलग किया जाता है तथा खानों से उपलब्ध पारद का इन यन्त्रों द्वारा शोधन क्रिया जाता है। इसका घनत्व 13.6 होता है और यह साधारण तापमान में बना रहता है । बर्फ के बीच में जम जाता है । आग के संयोग से उड़ जाता है । चान्दी सोना लोहा आदि धातुओं के साथ संयोग से यह उन पर पुत जाता है । पारद का संयोग जब गन्धक अर्थात् पार्वती रूपी पृथिवी के रज से होता है तो पीसने पर उसकी कज्जली बनती है । पारद जितना गन्धक के बीच में लीन होता है उतना अन्य किसी चीज में उसका लय नहीं होता । इसलिए इन दोनों को शिव वीर्य और पार्वती का रज कहा गया है ।

रस की अवस्थाएँ :-

अथर्ववेद के आधार पर बने आयुर्वेद साहित्य को तीन भागों में विभक्त किया जाता है । आत्रेय सम्प्रदाय, धन्वन्तरी सम्प्रदाय और सिद्ध या रसवैद्य सम्प्रदाय

स्वर्ण लौहादि धातु घटित योगों का रोगापनय के लिए तथा देह स्थिरता हेतु नाथ सम्प्रदाय वालों ने ही प्रयोग किया । इसका मतलब यह नहीं कि स्वर्ण लौह माणिक्य मुक्ता, प्रवालादि का अन्य मतावलम्बी अपने ग्रन्थों में प्रयोग नहीं करते, अपितु परिपाटी बद्ध रूप से नाथ सम्प्रदाय वालों ने ही रस सम्प्रदाय को अपनाया । वैसे तो दो हजार वर्ष पूर्व बौद्धकाल से ही रस की परिपाटी प्रारम्भ हो चुकी थी । आयुर्वेद के चरक, सुश्रुत, काश्यप संहिताओं में पारद का बाह्य और आन्तरिक प्रयोग दीखता है । बौद्धों ने आर्यावर्त से बाहर उपजने वाले पारे को वहाँ जाकर उसके उपयोग को समझा तथा उपयोग किया । उन्हीं के जमाने में यह परिपाटी सबसे प्रसिद्ध हो गई । जैसा कि- उत्तमो रसवैद्यस्तु मध्यमोमूलकादिभिः । अधमःशस्त्रदाहाभ्याम् -" आदि श्लोक में सर्जरी और काष्ठादि मूलक उपचार से रस उपचार को उत्तम माना है । ~~यही कारण है कि~~ यही कारण है कि आचार्य शार्ङ्गधर को भी रस की उपयोगिता बतलाते हुए कहना पड़ा कि "आसव धातु और रस जितने पुराने होते जाएँगे, उतने ही उपयोगी माने जाएँगे[1] । अतः रस एक समय बन जायगा तो काष्ठौषधियों की तरह एक वर्ष में प्रभाव हीन नहीं होंगे अपितु इसका प्रभाव बढ़ता जाता है । अतःएव रस वैद्यों ने बाद में अनेकों ग्रन्थों

---

1. शार्ङ्गधर पद्धति, पुराणा स्युः गुणैर्युक्ता आसवाधातवो रसाः ।

की रचना की । जैसे -तन्त्र संहिता, सिद्धान्तसंग्रह आदि रुद्रयामल तन्त्र, नागार्जुन तन्त्र, अगस्त्य संहिता, गोरक्षसंहिता, ब्रह्मसिद्धान्त, कपिलसिद्धान्त, रसार्णव, रसरत्नप्रदीप, रसरत्न-समुच्चय और रसेन्द्रसार संग्रह आदि ।

पारद को ही रस कहते हैं । वह दो प्रकार का माना जाता है । शुद्ध और अशुद्ध ।। शुद्ध पारद की मुख्य तीन अवस्थाएं मानी गई हैं -मूर्छित, मृत तथा बद्ध ।

1. जब पारद कई वर्णों का हो उसमें घनत्व और चंचलता तरलता न हो, तो उसे मूर्छित कहते हैं ।[2]

2. आर्द्र होना, घनत्व चमक, गुरुत्व, चंचलता आदि जिस पारे में न दीखें, वह मृत है ।[3]

3. जो क्षय रहित, थोड़ा द्रवित होने वाला, तेजोमय, स्वच्छन्दचारी, संस्कार में विकसित होने वाला हो वह बद्ध कहलाता है ।[4]

इन अवस्थाओं से युक्त पारद लोगों की व्याधियाँ हरता है । जैसे सोमदेव ने रसेश्वर सिद्धान्त में कहा है कि पारद और पवन मूर्छित होने पर रोगों का हरण करते हैं । स्वयं मृत होने पर जिलाते हैं और बद्ध होने पर आकाश में चलने की शक्ति देते हैं ।[5]

---

2. नानावर्णो भवेत्सूतो विहायघनचापलम् । लक्षणं दृश्यते यस्य मूर्छितं तं वदन्ति हि ।

3. आर्द्रत्वं घनत्वं च तेजो गौरव चापलम् यस्यैतानि न दृश्यन्ते तं विद्यान्मृतसूतकम् ।

4. सर्वदर्शनसंग्रह पृ0 38, अक्षतश्च लघुद्रावी तेजस्वी निर्मलो गुरुः ।
स्फोटनं पुनरावृत्तौ बद्धसूतस्य लक्षणम् ।

5. वही, पृ0 380, मूर्छितो हरति, व्याधीन्मृतो जीवयतिस्वयंम् ।
बद्धः खेचरतां कुर्याद्रसोवायुश्च भैरवि ।

नवीं शताब्दी के उग्रादित्याचार्य ने "कल्याणकारक" ग्रन्थ में शुद्ध पारे के सेवन का फल वर्णित करते हुए लिखा है कि - अमृत के मूलरूप पारद को मूर्छित कर भक्षण करने से वीर्य रोगहीन हो जाता है । इससे अत्यधिक बल प्राप्त होता है[6] । नित्यनाथ सिद्ध ने भी "रसरत्नाकर" ग्रन्थ में पारद की महिमा करते हुए कहा है कि पारद की मालिश, झुर्रियों और सफेद बालों को समाप्त करने वाली मानी गई है । उसको एक वर्ष तक मालिश करने से दिव्यदेह की प्राप्ति होती है और वह हजार वर्ष तक जी सकता है[7] ।

रसशोधन प्रकार :-

जिस प्रकार नमक और मीठा आदि रस जल में मिल जाते हैं और आंख से देखने में नही आते । उसी प्रकार से समस्त द्रव्यों के साथ विलिन होने की शक्ति रखने वाले पारद में भी दोष रहते हैं । जो पारद मानव को शुद्ध करके देवता बना सकता है वही सदोष होकर उसका विनाश भी कर सकता है । अतःएव गोरक्षसंहिता के विभूति प्रकरण में दोषों के परिहार का यत्र-तत्र संकेत मिलता है । यद्यपि संकलित रूप में उनका वर्णन वहाँ नही मिलता तो भी संकेत अनेकत्र दिए गए है ।

6·कल्याणकारक, 24-47 तं संमूर्छितमेव वामृतमलं संभक्ष्य मंक्षायम् ।
वीर्य रोग विहीनतामतिवलं प्राप्नोति मर्त्यः स्वयंम् ।

7·रसरत्नाकर, 5-5, अनेनादेवर्त सम्यग्वलिपलितनाशनम् ।
वत्राद दिव्यदेहः स्याज्जीवेत् वर्षसहस्रकम् ।।

ये दोष रस में क्यों पैदा हुए । इसके बारे में एक पौराणिक आख्यान है जो "रसरत्न-समुच्चय" में और "रसराजपद्धति में इस प्रकार वर्णित है – कि रस के प्रभाव से मनुष्य देवता तुल्य बली हुए एवं प्रभाव वाले बन गए । तब इन्द्र ने रुद्र की प्रार्थना की, और अपनी चिन्ता उनसे बतलाई । तब रुद्रनेपारद को सदोष बना दिया । जो उनको दूर कर पारद को शुद्ध करना जान पाएगा, वह उसके प्रभाव का पूर्ण लाभ प्राप्त करके देव तुल्य बन जाएगा । अतः ज्वाला मुखियों के समीप में मिला हुआ रस तो दोष रहित होता है किन्तु अन्यत्र भूगर्भ से मिला हुआ पारद प्रायः दोष युक्त ही होता है । ये दोष निम्न प्रकार से वर्णित हैं :–

1• विष वह्नि तथा मल ये तीन दोष हैं ।

2• मल वह्नि, भूमि उन्मत, और शैल ये पांच दोष हैं ।

3• मल वह्नि, विष, शैल, चपल, वंग और नाग ये सात दोष हैं ।

4• नाग, वंग, अग्नि–चापल्य, असह्य, विष, गिरि और मल ये आठ दोष हैं ।

5• विष वह्नि और मल ये तीन स्वाभाविक दोष हैं । भूमिजा, गिरिजा, जलजा, नागजा, वंगजा, ये औपाधिक दोष हैं । इन औपाधिक दोषों को कुछ एक रसप्रतिपादक ग्रन्थों में सप्त कन्चुक नामों से भी पुकारा गया है । जैसा कि रसेन्द्रसार ग्रन्थ में पर्पटी, पाटली[8]

8• विषं वह्निर्मलं चेति त्रय इत्येके । मलं वह्निः भूः उन्मतः शैलश्चेति पंच इत्यन्ये । मलविषाग्निगिरिजचपलवंगनागेति सप्तेत्यपरे । नागोवंगोऽग्निश्चापल्यमसह्यश्च विषं गिरि मलं चाष्टौ । विषं वह्निर्मलं चेति त्रयो नैसर्गिका दोषा । भूमिजा गिरिजाजलजानागजा वंगजा एते सप्तौपाधिकाः दोषाः । भूति प्रकरण भूमिका "घ" ।

भेदी,द्रावी,मलकरी तथा अन्धकरी तथा । अन्धकरी तथा ध्वांक्षी विज्ञेया: सप्तकन्चुका: ।

रूप में वर्णन आता है ये औपाधिक दोष रस में स्वभावत: तीन धातुओं पर वायु का प्रभाव पड़ने से उत्पन्न हो जाते हैं । परन्तु उक्त द्रव्य में पारद का मर्दन करने से ये दोष दूर हो जाते हैं ।[9]

अगर इनका निहरण न किया जाए, तो नाग दोष से शरीर में व्रण हो जाते हैं । वंग दोष से कुष्ठ मल से जाड्य, वह्नि से दाहकता,चपलता से वीर्य स्खलन,विष से मरण गिरि से मूर्च्छा औ सह्याग्नि से फोड़े हो जाते हैं । इसीलिए संहिता में कहा गया है कि " वैद्य को रस की शुद्धि करके ही उसका प्रयोग करना चाहिए ,क्योंकि शुद्ध रस ही अमृतमय होता है और दोषयुक्त साक्षात् विष ही होता है ।[10]"

पारद शोधन भी दो प्रकार का होता है -सामान्य और विशेष । रस-तन्त्रों में संस्कार विधियाँ अनेक रूपों में वर्णित हैं । संस्कार नाम विशेष गुणों के आधान का है। रस में विशेष गुणों के आधान से पूर्व वैद्यों का जातकर्मादि द्वारा स्वकीय षोडश संस्कारों से विशेष गुणाधान होना आवश्यक है । उसके लिए गुरु का ज्ञान,रसशाला,पात्र,यन्त्र रसौषधियाँ

---

9. रसेन्द्रसार 1-27, षोडशांशैर्भिषक् चूर्णैरेकत्र मर्दयेद्रसम् ।
एवं संशोधित: सूत: सप्तकन्चुकवर्जित: ।।

10. तस्माद्रसस्य संशुद्धिं विदध्याद्भिषजाम्बर: ।
शुद्धोऽयममृतं साक्षाद्दोषयुक्तो रसो विषम् ।।

अघोर मन्त्र की संख्या और साधन का ज्ञान अपेक्षित है । तभी रसकर्म में सफलता मिल सकती है । वे रस संस्कार ये हैं :-

"स्वेदन, मर्दन, मूर्छना, उत्थापन, पातन, दीपन, निरोधन, नियामन, चारण, संद्रवन, जारण, पुनःपातन ग्रासकरण, रन्जन, सारण, क्रामन, वेधन और शरीरांगोपयोगिता । ये 18 हैं[11] । यद्यपि गोरक्ष के गिने हुए इन संस्कारों का अन्य बहुत से ग्रन्थकारों ने समर्थन किया है तो भी अधिकतर रस विद्वानों का आठ संस्कारों पर ही अधिक आग्रह देखने को मिलता है । जैसे रसपद्धति, रस-रत्नसमुच्चय, धन्वन्तरी संहिता, रसराजसुन्दर, वाग्भट्ट रसेन्द्रादि ग्रन्थों में देखने को मिलता है ।[12]

1. स्वेदन :-

शिग्रु को नीम्बू आदि के रस में मर्दन कर उर्ध्व पातन यन्त्र से पारद को प्राप्त करो, वह पसीने की तरह, शिग्रु से निकलने के कारण किशोरे में आ जाता है । यह स्वेदन संस्कारजन्य पारद होगा । इससे पारे के दोष शिथिल हो जाते हैं ।

2. मर्दन :-

रसग्रन्थों में निर्दिष्ट औषधियों के या खारे के सारे आम्लों के अथवा कांजिक के साथ पारद का पीसना ही मर्दन कहलाता है । इससे बाह्य दोषों का नाश होता है ।

---

11. गो०सं०भूति प्र० 3.4-6

12. रसेन्द्रसार, 1.54 इत्यष्टौ सूतसंस्काराः कर्तव्याः प्रथमं बुधैः ।
दीपनन्चेति संस्काराः सूतस्याष्टौ प्रकीर्तिताः ।।

3. मूर्च्छन :-

मर्दन में प्रयुक्त औषधियों के साथ पारद का एकीकरण होना ही मूर्छन कहा जाता है । इससे पारद के मल,वह्नि,विष दोनों का नाश होता है ।

4. उत्थापन :-

मूर्च्छित रस का पुनः अपने स्वरूप में लाना उत्थापन कहलाता है । इससे मूर्च्छित अवस्था के दोष नष्ट हो जाते हैं ।

5. पातन :-

ग्रन्थकारों के अनुसार मिलाई हुई औषधियों सहित मर्दन किए हुए पारद को उर्ध्व अधः तथा तिर्यक् यन्त्रों से अलग करना पातन कहलाता है ।

6. रोधन :-

सिन्धा नमक से युक्त जल में पारे को तीन दिनों तक रखना निरोधन या रोधन कहलाता है इससे मिलाई हुई औषधियों तथा धातुओं का तेज पारद में संगृहीत किया जाता है ।

7. नियमन :-

दुबारा उर्ध्वपातन यन्त्र से स्वेदन करने का नाम नियमन है । इससे पारे की चंचलता चली जाती है ।

8. दीपन :-

खनिज पदार्थों या कन्दमूलादि वन औषधियों के साथ पारद को घड़े में रखकर बतलाई गई औषधों के रस को डालकर तीन दिन तक रखना दीपन कहलाता है । इससे पारा ग्रहण के योग्य बन जाता है ।

रस प्रयोग से होने वाली सिद्धियाँ

जब से प्राणिमात्र का जन्म हुआ है तब से ही मोक्ष के लिए अर्थात् दुख से छूटने के लिए उसके प्रयत्न जारी हो गए थे । तभी पुरुषार्थ चतुष्टय में मोक्ष को अन्तिम स्थान मिला है । "धर्मार्थकाममोक्षेषु " कहकर इन्होंको शास्त्रों में गिना जाता रहा है[13] । अतः पुरुषार्थ त्रय को प्राप्त करने के लिए कर्म प्रधान योनि मानव शरीर का चिरस्थायित्व अपेक्षित है । वह मोक्ष भी जीवन मुक्ति और विदेह मुक्ति के रूप में शास्त्रों में गिना गया है । गोरक्ष संहिता के विभूति पाद में अनेकत्र पारद सहयोग से इन मुक्तियों को सुलभ बताया गया है । 5•176,6•167 195,247,292,337,471,480,481,7•144,145,149,152,222,143 तथा 8•45,90 । इन पद्यों के पढ़ने से पता चलता है कि पारद के सेवन से ,स्पर्श,दर्शन,शोधन, आदि से मानव दोनों प्रकार की मुक्तियों का पात्र बन जाता है । तभी तो पारद को समस्त सिद्धियों का मूल कहा गया है ।

पारद के सेवन से कार्तिकेय जैसा सिद्ध बन जाता है[14] । एक वर्ष सेवन से दूसरा शंकर जैसा बन जाता है[15] । आठों सिद्धियों से सम्पन्न हो जाता है । उससे बनी गुटिका मुख में धारण करने से वज्रकाय ज्ञानी दिव्यशरीर धारी अमर बन जाता है[16] । गुटिका मुख में धारण करने से आकाशगति,अणिमादि योग के गुण आ जाते हैं[17] । रसायन के

13• साहित्य दर्पण, परिच्छेद १,

14• विभूति पाद,6•222,14,5•177,86,7•224

15,7•144,152,144

16•, 5•253

सहयोग से पारद से ऐसा अन्जन भी बनता है जिसके आंखों में लगते ही दिव्य दृश्यों का देखना आरम्भ हो जाता है।[18] आम के आम गुठली के दाम" इस न्याय से एक ही यत्न से दो कार्य सिद्ध करना, तान्त्रिकों के यहाँ प्रसिद्ध है।[19] तो भी गोरक्ष संहिता में भी रस सेवन से यह बात सिद्धकर दी है कि "एक हाथ में मुक्ति तो दूसरे हाथ में भुक्ति रस सेवन से ही रह सकती है।[20] जो पारद सेवन करता है वह एक ओर अपने शरीर को अमर बना देता है। इसी के साथ उसके मल-मूत्र में भी इतनी पवित्रता तथा गुण आ जाते हैं कि लोहे से भी उसका स्पर्शमात्र होने से वह सुवर्ण बन जाता है।[21] इन्हीं गुणों को दृष्टि में रखते हुए डा० जनार्दन पाण्डेय ने भी कहा है कि "जो मूर्च्छित होकर लोगों के समस्त रोगों को हर लेता है बद्ध होकर जो लोगों को आकाशीय गति देता है, समस्त देवता मुनिगण जिसे नमस्कार करते हैं। वह संसार को जय देने वाला पारद सदा ही जय देता रहे।[22] गोरक्षनाथ ने अपनी संहिता में विभूतिपाद नामक प्रकरण में इसका विशद विवेचन किया है। अतः उसका पटलों के अनुसार संक्षिप्त विवेचन देना उचित होगा।

---

18. 8·195, 198

19. महाभाष्य-। आम्रावपि सिक्ताः पितरोऽपि तृप्ताः।

20. 6·482, 8·65, 93

21. 5·262 तं सूतं भक्षयेत् यो हि सोऽमरत्वमाप्नुयात्। तस्य मूत्रपुरीषेषु शुल्वं भवतिकाञ्चनम्।
"सुवर्ण तन्त्र"

22. विभूति प्रकरण उपोद्घात, हरति सकलरोगान् मूर्च्छितो यो नराणां वितरति किल बद्धः खेचरत्वं जवेन सकलसुरमुनीन्द्रैर्वन्दितं शम्भुबीजं, स जयति भव सिन्धो पारदः पारदोऽयम्।

गोरक्षसंहिता के कादि प्रकरण की पुष्पिका से पता चलता है कि यह शतसाहस्री अर्थात् एक लाख श्लोकों का संग्रह मात्र है । जिसके दो प्रकरण कादि तथा विभूति डा० जनार्दन पाण्डेय ने वाराणसी से 1977 ईस्वी में प्रकाशित किए । इससे पहले गोरक्षसंहिता नाम से प्रसन्न कुमार चटर्जी द्वारा सम्पादित योग प्रकरण से सम्बन्धित संग्रह को ही माना जाता है । सम्भवतः एक लाख श्लोक पूरा करने के लिए अनेकों प्रकरण इससे अभी तक लुप्त हैं । उपलब्ध प्रकरणों में विभूति पाद के नौ पटल हैं । प्रथम पटल में यह वर्णन मिलता है कि– रस कर्म के लिए कैसे सहायक चाहिए रस की महिमा उसके आठ गुण, उसके संस्कार से क्या फल मिलता है, संस्कृत रस का उपयोग, शिवोक्त रस शास्त्र का विस्तार तथा प्रयोजन वर्णित किया गया है । रस शास्त्र शिव से पैदा हुआ और उसे उमा देवी ने सुना तथा इस प्रकार से परम्परा चलाई –

1•उमा – रसमहोदधि	1200 श्लोक
2•उमा –रसोपनिषद्	9000
3•गुह –रसतन्त्रम्	6000
4•वीरभद्र–रसतन्त्रम्	1000
5•शुक्र –रसावलोकन	6000
6•बृहस्पति–रसचक्रम्	8000
7•चन्द्र –रसौकुश	10000
8•विनायक–रसोदय	8000

द्वितीय पटल – इसे परिभाषा पटल कहा जा सकता है, क्योंकि यहाँ रस, उपरस, रसलोह, छः प्रकार के लोह, गरुड़, उदकूगार, पाँच रत्न, मणिनाम का रस मपित्रय, सूत बन्धक पदार्थों के नाम स्पष्ट रूप से दिए गए है । लक्षण और परीक्षा स्पष्ट करके दी गई है । इसके विना रस का प्रयोग निष्फल बताया गया है ।

तृतीय पटल :– इस पटल में रस के अठारह संस्कार गिनाए गए हैं उनकी विधि का भी वर्णन किया गया है । धातु और रत्नों की शुद्धि बतलाई गई है । अभ्रक से पारद पातन विधि स्वर्णरजतकारक बीज विधान भी दिखाया गया है । 18 संस्कार गिनने पर भी शोधन के आठ प्रकार ही दर्शाए गए है । इनके कर देने पर ही रस प्रयोग योग्य माना गया है । अन्य दस संस्कार रस की विशेष गुणवत्ता के लिए ही किए जाते हैं ।

चतुर्थ पटल :– इसमें रस बन्धन की प्रक्रिया दिखलाई है । मूल रूप में दिकलदादि चार भेद माने गए है । तब औषध प्रभाव से द्रुतित, अभ्रादि योग से रसबन्धन, सर्व लौहबन्धन, विविधबीजबन्धन बतलाए हैं । पुनः रक्त स्नेह के मिलाने से रसोपरस योग से, रसलोह संकरता से रस में उत्पादकता बतलाई गई है । इससे आगे माक्षिक आदि से मारे हुए सोने की विशिष्टता, विभिन्न द्रव्यों से मृत किए हुए नाग, वंग, ताम्र, रजत हेम लौह के बीजों का वर्णन करके समतया कलवेधी द्विगुणित से द्विगुणवेधी, शतसहस्र लक्षकरोड़ अरब से स्पर्शवेधी रस पैदा होता है का वर्णन किया गया है । अनेक प्रकार से रस निकालने का विधान रसशाला के काम में क्रिया कुशल शास्त्रज्ञों की नियुक्ति का विधान वर्णित है ।

पंचम पटल :- इस पटल में विविध लवणों के सहयोग से अभ्रक ग्रास का रस में विधान, विविध धातु और औषधियों के योग से रसबन्धन, संमुखचारणा, विमुखचारणा, चौसठ प्रकार की रसबन्धन योग्य वनौषधियों का नाम, ग्रास के बाद आठ प्रकार का रसस्वरूप, ग्रासमान, गर्भद्रुति, मुखबन्ध यन्त्रों से पातन क्रिया, जारण, उसका लक्षण, क्रामण क्रिया, उसके उपयोगी औषध, रंजक औषधियों के संयोग से जाम्बुनद की उत्पत्ति, रस सेवन का फल, कामधेनुरस विधान, पृथक्-पृथक् चारण से श्रेष्ठता, अभ्रक के चारण से श्रेष्ठता का वर्णन किया गया है ।

षष्ठ पटल :- यह पटल व्यवहारिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है । क्यों कि यहाँ सूर्यकान्तादि मणियों से रसबन्धन करने के पश्चात्, रस का रंजन, जारण, सारण, प्रक्रियाओं के द्वारा वेधकर्म का वर्णन मिलता है । जिससे तार ताम्र नागों का कोटिवेध करने पर उत्तम स्वर्णबन जाता है । रक्तमहाहेम के द्वारा रसबन्ध करके लाखवेधी रस का भक्षण करने से ताकत और दीर्घायु मिलती है । धातु उपरस और पारद की पिष्टि को लोहे की बारीक पत्तियों पर लेपन से स्वर्णोत्पत्ति, गन्धकशोधक दश औषध तथा उत्तम मध्यम अधम साधनों से किस प्रकार त्रिविध स्वर्ण की प्राप्ति हो सकती है, इस पटल में वर्णित है । वर्तमान युग के लिए यह रामबाण सिद्ध हो सकता है ।

सप्तम पटल :- पूर्व पटलों में रसबन्धक अचिन्त्य गुण, रस, पाक वीर्य प्रभाव युक्त औषधों के दो भेद किए गए हैं :- औषधि और महौषधि । फिर भी वे दो प्रकार की बन जाती है । दिव्य औषधि और रसौषधि । उनके तृण, गुल्म, लता, वल्ली, वृक्ष और सर्पिणि ये छः प्रकार माने गए हैं । पुनः चौसठ दिव्य औषधियों के नाम, लक्षण और कर्म का वर्णन आया है ।

यहाँ अन्य ग्रन्थों से एक विशेषता देखने को मिलती है । सोम दो प्रकार का है । क्षुप तथा लता रूप । दोनों का समान महत्व है । लता का विशेष महत्व है । वह भी सविष और निर्विष रूप से दो प्रकार की है । सविषा अधिक गुण वाली होती है । इनकी उत्पत्ति किस देश में तथा उसका ग्रहण किस दशा में किया जाता है । अम्लवेतस की उत्पत्ति स्वरूप लक्षण, गुण कर्म का विस्तार से वर्णन करके स्वर्णादि में निर्माण में वेधादि क्रम बतलाया गया है । एक मात्र अम्लवेतस की उत्पत्ति स्वरूप लक्षण, गुण तथा क्रम का वर्णन करते हुए यह भी बताया गया है कि इससे असाध्य रोगों का इलाज हो सकता है । रसायन भक्षण समय में भक्ष्याभक्ष्य, पथ्यापथ्य की भी वर्णन मिलता है । अन्त में कुछ श्लोक यहाँ नष्ट हैं ।

अष्टम पटल :- इस पटल में अयस्कान्त मणि की उत्पत्ति, उसका लक्षण, स्वरूप, वीर्य, रसबन्ध प्रकार, विस्तार से वर्णन किया गया है । अयस्कान्त अभ्रक के संयोग से निर्मित रसायन के सेवन से जरामृत्यु, कुष्ठ बलि श्वेत केशादि का नाश हो जाता है । जैसा रोग हो, उसके अनुसार एकमात्र रसायन का पृथक्-पृथक् अनुपात से सेवन करने की विधि वर्णित की गई है । रस विषय का समस्त काम गुरु परम्परा के अनुसार करना चाहिए । इस बात का विशेष निर्देश इस पटल में मिलता है ।

इस पटल के भी लगभग 26 पत्रों का नाश हो जाने के कारण, अनेकों रहस्यों का पता नहीं चल सका ।

नवम पटल :- इसमें शास्त्रोक्त विधान से औषधियों के नियोजन की विधि, रसमन्त्रोद्धार और उसकी फलस्तुति का वर्णन किया गया है । इस प्रकार से विभूति प्रकरण से विभूति के अन्दर महान् योगी ने, रस का सम्पूर्ण वर्णन करके संसार का कल्याण किया है ।

वर्तमान समय में यदि आयुर्वेद के ज्ञाताओं को इन विधियों की खोज के लिए प्रोत्साहित किया जाए तो अवश्य ही देश का महान् कल्याण होगा ।

निष्कर्ष :- यह निष्कर्ष निकलता है कि प्राणापान का योग, पिण्ड ब्रह्माण्ड योग, जीव ब्रह्म का योग कुण्डलिनी और ब्रह्मरन्ध्रगत शिव का योग मोक्षदायी माना गया है । वैसे ही पारद और गन्धक का अन्यान्य औषधियों, रसों, उपरसों के सहयोग से जो योग होता है वह भी जीवन मुक्ति का साधन बनता है । इस प्रकार इन पारद गन्धक के योगों को बतलाने वाले देवों में शिव, उमा, गुह, वीरभद्र, शुक्र, बृहस्पति, चन्द्र, विनायक, नान्दी, भैरव, ब्रह्मा, और विष्णु रसाचार्य हुए हैं । ऋषियों में अगस्त्य, कपिल, व्याडी, दत्तात्रेय, मतमाण्डव्य आदि हुए हैं । मानवों में लंकेश, गोरक्ष, नागार्जुन आदि बहुत से सिद्ध हुए हैं । जिनका संक्षिप्त इतिहास इस प्रकार से कहा जा सकता है ।

रस ही पारद है । जिसके अभिन्न निमित्तो ~~उपादान व निमित्त~~ कारण शिव हैं । उन्हें ही अराध्य देव मानकर भारत के रसाचार्य नाथों ने नाथ सम्प्रदाय की स्थापना की । उन्हें परात्पर नाथ की संज्ञा देकर शरीर रूपी व्यष्टि ब्रह्माण्ड में ब्रह्मरन्ध्र अर्थात् करोटी गुहा में स्थित केश के सौवें हिस्से के बराबर छिद्र में बतलाया है। बाद में इस सम्प्रदाय के सभी नाथों के साथ नाथ लगा दिया गया । जैसे गोरक्षनाथ, बालकनाथ, जालन्धरनाथ आदि । इस सम्प्रदाय में गुप्त साधनाएँ और सिद्धियाँ प्राप्त की जा सकती हैं । इस कारण इस सम्प्रदाय का नाम सिद्ध सम्प्रदाय भी कहा गया है । शिव ने "रसार्णव"

में सारे रस विषयक ज्ञानों को समझाया है । जायसी के द्वारा लिखि गई "द्रव्य परीक्षा" भी इसी सम्प्रदाय के अन्दर आती है । अस्तु संक्षिप्त परिचय निम्न रूप से है ।

	ग्रन्थनाम	प्रणेता का नाम
1.	रसार्णव	शिव
2.	रसेन्द्रसंहिता	शिव
3.	दत्तात्रेयसंहिता	दत्तात्रेय
4.	दत्तात्रेय-तन्त्रम्	दत्तात्रेय
5.	गोरक्ष-संहिता	गोरक्षनाथ
6.	अगस्त्य-संहिता	अगस्त्य
7.	काकचण्डीश्वर-तन्त्रम्	काकचण्डीश्वर
8.	हरीश्वर-तन्त्रम्	काकचण्डीश्वर
9.	रसरत्नाकर	नागार्जुन
10.	कक्षपुटम्	नागार्जुन
11.	रसहृदयम्	गोविन्दभगवत्पाद
12.	रसेन्द्रमंगलम्	नागार्जुन
13.	रसपद्धति	बिन्दु
14.	रसरत्नाकर	सिद्धनित्यनाथ
15.	रसार्णव	भैरवानन्द
16.	आनन्दकन्दम्	मन्थानभैरव
17.	रससार	गोविन्दाचार्य
18.	रुद्रयामल	भैरव

19.	रसरत्नसमुच्चय	वाग्भट्ट
20	रसेन्द्रचिन्तामणि	रामचन्द्र
21	रसेन्द्रचिन्तामणि	ढुण्ढुकनाथ
22.	स्वछन्दतन्त्र	भैरव
23.	कपिलसिद्धान्त	कपिल
24.	ब्रह्मसिद्धान्त	ब्रह्मा
25.	लंकेशसिद्धान्त	रावण
26.	चन्द्रसेनसिद्धान्त	चन्द्रसेन
27.	रससुधाकर	यशोधर
28.	रसकामधेनु	चूडामणि
29.	रसयोगसार	हरिप्रसन्न
30.	रसधातुप्रकाश	मुले
31.	रसेन्द्रसारसंग्रह	गोपालकृष्णभट्ट
32.	पारदसंहिता	निरंजनप्रसाद
33.	रसतरंगिणी	सदानन्द
34.	रसामृतम्	यादवजी
35.	धरणीधरसंहिता	धरणीधर
36. टो	टोडरानन्द	राजाटोडरमल
37.	रसशास्त्रप्रवेशिका	कृष्णगोपाल
38.	रसतत्व विवेचन	कृष्णगोपाल

इनके अतिरिक्त आयुर्वेद के चरक सुश्रुत भावप्रकाश योगरत्नाकर, शार्गंधर संहिताओं में भी रस प्रकरण दिए हुए हैं। अतः सरपद्धति अन्य विद्याओं की तरह वेद से निकल -ने पर भी नाथ सम्प्रदाय में ही क्रमबद्धरूप से विकसित हुई।

चतुर्थो ध्याय : गोरक्षसंहिता का तुलनात्मक परिशीलन

1. गोरक्षसंहिता और पातंजल योग दर्शन :-

चौरासी लाख योनियों में मानव योनि सबसे अधिक सतोगुणी होने के कारण मोक्ष के नजदीक है। मानव के शरीर की बनावट ब्रह्माण्ड की बनावट के समीप या तुल्य है। इसके जानने से सब कुछ जाना जा सकता है[1] अर्थात् ब्रह्माण्ड का ज्ञान हो जाता है। ज्ञान का अर्थ होता है "इन्द्रियों द्वारा अर्थ का प्रत्यक्षीकरण। जीव का उदेश्य पिण्ड से विस्तृत होकर ब्रह्माण्ड में, घटाकाश से बृहदाकाश में, उपाधि तोड़कर बावड़ी में डाले गए लोटे के जल की तरह तदाकार हो जाना ही है[2]। जिसका ज्ञान करवाने के लिए भारतीय समस्त आस्तिक दर्शन प्रवृत हुए हैं। जिनमें वे पूर्ण विवेचन करते हुए पिण्ड के तत्वों का विवेचन करके विभाजन पूर्वक ब्रह्माण्ड के साथ तदाकार करने का पूर्ण यत्न करते हैं। किन्तु 90 % ज्ञान आखों से होता है। अतः चक्षुग्राह्य ज्ञान में ही प्रत्यक्ष की रुढी माने जाने लगी है। तब ही तो आम साधारण जनता आख से देखे गए ज्ञान को ही प्रत्यक्ष कहती है। प्रत्यक्ष की व्युत्पत्ति भी यही है जो आखों के प्रति हो[3]। हम शब्द प्रमाणकों को वही मानना पड़ता है जो शब्द कहे[4]। अतः सब दर्शनों ने प्रत्यक्ष को अधिक महत्व दिया। इसलिए दर्शनों में भी

---

1. इदं ज्ञातेन सर्वं विज्ञातं भवति।

2. कबीर, जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है बाहर भीतर पानी, फटा कुम्भजल जल ही समाना यही तत्व कहानी।

3. अक्षणो प्रति

4. महाभाष्य, शब्द प्रमाणका वयं यच्छब्द आह तदेव प्रमाणयामः।

जो बाह्य तथा अभ्यन्तर का पूर्ण रूपेण प्रत्यक्ष करवाए वही दर्शन है । दृश्यते इति दर्शनम्" की भाव प्रधान ~~शब्द की~~ व्युत्पत्ति में ठीक उतरता है । वह है योग दर्शन । क्योंकि यही एक ऐसा दर्शन है जिसके द्वारा अनेक साधनों से साधक को पिण्ड का बोध करवा कर, ब्रह्माण्ड के बोध सहित ~~करवाकर~~ स्वचैतन्य स्वरूप जीव का भी बोध कराया जाता है । अतः गोरक्ष-संहिता" और योग दर्शन का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है ! जानना आवश्यक है ।

योग के प्रवर्तक हिरण्यगर्भ है । जिसका संकेत ऋग्वेद में मिलता है ।[5] हिरण्यगर्भ वे थे जिन्होंने वेद के प्रादुर्भाव से पूर्व ही योग विद्या को जानकर इसका विस्तार किया था । इसके बाद श्वेताश्वर, कठोपनिषद् में इस योग विद्या का वर्णन आया है । बाद की बहुत सी उपनिषदों ने तो योग को ही वर्ण्य विषय बनाया है । पतंजलि ने योग सूत्र में इस विद्या को 195 सूत्रों में गागर में सागर की युक्ति के अनुसार बान्धा है, जिसके ऊपर व्यास भाष्य, विज्ञानभिक्षु की वार्तिक वाचस्पतिमिश्र की तत्व वैशारदी, भोजदेव की वृति आदि अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं ।

योग सूत्र को, चार पादों में गुण कर्मानुसार विभक्त किया गया है । जैसे समाधिपाद, साधनापाद, विभूतिपाद और कैवल्यपाद । पतंजलि ने चित्तवृति के निरोध को

---

5. ऋग्वेद 10.121, श्रीमद्भागवत, 5. 19-3 ।

योग संज्ञा दी है[6]। व्यास भाष्य में समाधि को योग कहा है[7]। चित्त को भाष्यकार ने पाँच प्रकार का बतलाया है। क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। रज, तम और सत्व गुण त्रिपुटी चित्त में जब एकांश रजाधिक्य होता है, तो प्रथम, द्वितीयांश की अधिकता में द्वितीय अवस्था, तृतीय में तृतीयावस्था। किन्तु जब बाह्य विषयों से हटकर आन्तरोन्मुखी चित एकाकार वृति धारण करता है तब एकाग्र[8]। यह एकाग्रता भी जब लीन हो जाती है और चित संस्कारों की रहितता या उन्मनीभाव को प्राप्तकर लेता है तब निरुद्ध कहलाता है। सभी प्रकार के निरोध योग नहीं माने जा सकते। प्यार के समय में क्रोध की वृति का निरोध होता है, वह योग नहीं। तभी तो भाष्यकार ने सहजावस्था को योग कहा है। यह सहजावस्था या समाधि दो प्रकार की है सम्प्रज्ञात, असंप्रज्ञात। पहली में चित्त की सम्पूर्ण वृतियाँ लीन नहीं होती। जबकि दूसरी में सारी लीन होती हैं।

योगी को सम्प्रज्ञात समाधि के लिए तीन अवलम्बनों को धारण करना पड़ता है। ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्य। ग्राह्य विषय भी दो प्रकार का होता है। सूक्ष्म और

6• यो०द० 1•2 योगश्चित्तवृत्ति निरोधः।

7• वही, पृष्ट योगः समाधिः।

8• ब्रह्मसूत्र 4•1•6•10 यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात्।

असूक्ष्म । ग्रहण करणरूपी इन्द्रियों को कहा जाता है । ग्रहीता अस्मिता को कहते हैं । जो बुद्धि और आत्मा का "जपाकुसुम न्याय से एकीकरण है । "गोपुच्छ न्याय" से स्थूल से सूक्ष्म की ओर आसानी से साधक जा सकता है । अतः पंचभूतोपासना" जिन्हें कर्मकाण्ड में पंचदेवता, गणपति, वरुण ज्योति या सूर्य, षोडश मातृका और ॐकार कहा जाता है की उपासना की जाती है । फिर तन्मात्राएं ली जाती हैं फिर इन्द्रियाँ अर्थात् ग्रहणरूपी इन्द्रियों को बारी आती है। अन्त में अस्मिता की साधना दिखाई गई है । इस तरह सम्प्रज्ञात समाधि भी चार प्रकार की हो जातीहै । सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार और निर्विचार । असम्प्रज्ञात समाधि दो प्रकार की होती आनन्दानुगत तथा सास्मितानुगत[9] ।

सिन्धु में जैसे सतत् तरंगे उठती रहती है वैसे ही चित में भी अनेकों जन्मों के संस्कारों के कारण, असंख्य वृत्तियाँ उठती रहती है । जिन्हें पाँच रूपों में स्थूल रूप से बाँटा गया है । प्रमाण, विपर्य, विकल्प, निद्रा, स्मृति । ये पाँचों राग द्वेष और मोह से सनी होती हैं । अतः क्लेश देने वाली हैं । इन्हें मुमुक्षुओं को रोकना ही पड़ता है । रोकने के साधन है अभ्यास और वैराग्य । यह सम्प्रज्ञात समाधि तक चलती है । जबकि असम्प्रज्ञात समाधि में ये निःशेष हो जाती हैं । उनकी समाप्ति का उपाय अभ्यास वैराग्य ही है, क्योंकि गीताकार ने भी यही कहा है । दृष्टानुश्रविक विषय के त्याग का नाम वैराग्य है । जिसे यतमान संज्ञा, व्यतिरेक संज्ञा, एकेन्द्रिय संज्ञा और वशीकार संज्ञा के नाम से कहा गया है । अगर इन्हें एक शब्द से कहना हो तो इनका नाम अपर वैराग्य अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधि के लिए उपयोगी माना गया है । जब पुरुष अपने को प्रकृति भिन्न और

---

9. यो०द० 1.17

त्रिविध भोगों से वितृष्ण हो जाता है तब वैराग्य कहलाता है । पर वैराग्य से असम्प्रज्ञात समाधि में पुरुष अपनी केवलता का अनुभव करता है । जो कैवल्य नाम से प्रख्यात है । सूत्रकार के मत में दूसरा उपाय ईश्वर प्रणिधान भी कैवल्य प्राप्ति का उपाय दिया गया है । साधारण मनुष्यों में पाँच प्रकार के क्लेश-अविद्या, अस्मिता, रागद्वेष, और अभिनिवेश, दो प्रकार के कर्म-धर्म और अधर्म, तथा तीन प्रकार के विपाक-जन्म, आयु और भोग होते हैं। जो ईश्वर में नहीं होते । वह सर्वज्ञ है। जिस कारण अन्य पुरुषों से विशिष्ट माना गया है । उसका वाचक ओंकार है । उसके जाप और वाच्य ईश्वर की चिन्ता से योगी का चित एकाग्र हो जाता है तथा आत्म साक्षात्कार की प्राप्ति भी हो जाती है ।

जब योगी योगारूढ़ होता है तब उसके सामने पथभ्रष्ट करने के लिए या योग परीक्षा हेतु नौ अन्तराय तथा पाँच उपान्तराय उपस्थित होते हैं । जिनका परिचय निम्न है-। अन्तराय- व्याधि, शिथिलता, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्ति, अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थित्व । उपान्तराय - दुःख, दौर्मनस्य, अंगमेजयत्व, श्वास और प्रश्वास । इन विघ्नों से चित विक्षिप्त हो जाता है । तब ईश्वर प्रणिधान से इनकी शान्ति करें और योगमें लग जाएं । चित शोधन के और भी उपाय शास्त्रकार ने बताए हैं । जैसे अभिमत वस्तु का ध्यान[10] । यह धनाजाट की भ्रम के समान है । इस पाद में समाधि का विशेष वर्णन होने से इसका नाम समाधिपाद रखा गया है ।

---

10. यो०द० 1.39 यथाभिमतध्यानाद्वा ।

दूसरे पाद का नाम "साधनापाद" या क्रिया योग है । क्रिया योग का तात्पर्य योग क्षेत्र में तपस्या स्वाध्याय और ईश्वर का प्राणिधान होता है ,क्योंकि गौण अंगों के समूह के द्वारा उत्पन्न प्रक्रिया को, क्रिया कहा गया है ,[11] इस पाद के दो कार्य है- समाधि भावना और क्लेशों का न्यूनीकरण । समाधि प्रथम पाद विवेचन में जान ली गई है । क्लेश पांच हैं- अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश । इन सबका कारण अविद्या ही है । जिसे त्रिगुणात्मिका, अनिर्वचनीय संज्ञा दी गई है । अतस्मिन् में तत् ज्ञान ही अविद्या है । जिसे शब्दों में वैसे ही नहीं बान्धा जा सकता,जैसे दीपक से अन्धकार नहीं देखा जा सकता ।[12] वैसी यह आदि परमेश की शक्ति अविद्या त्रिगुणात्मिका है ।[13] इस प्रकार की अविद्या से ये चार क्लेश पैदा होते हैं । ये चारों प्रसुप्त,क्षीण,विछिन्न या उदार अवस्थाओं में से किसी एक ही अवस्था में एक समय रह सकते हैं । जैसे बाल्यावस्था में राग सुप्त रहता है,क्रोधावस्था में विछिन्न रहता है,राग विरोधी भावों के समय क्षीण रहता है और उपयुक्त अवस्था में प्रबुद्ध अथवा उदार होकर सामने आ जाता है । क्रिया योग की सहायता से साधक इन्हें क्षीण करता है और क्रमशः आगे बढ़कर,प्रसंख्यान अर्थात् ध्यान रूपी अग्नि में भस्मकर देता है ।

---

11. वैयाकरणभूषणसार,गुणभूतैरवयवैःसमूह क्रमः जन्मनाम् । बुद्ध्या: प्रकल्पिताः भेदाः क्रिया इत्यभिधीयते ।

12. वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली, अज्ञानं ज्ञातमिच्छेयो माननेनात्यन्तभूदधिः । स तु नूनं तमः पश्यद्दीपेनोत्तम तेजसा ।

13. शंकराचार्य, अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका या ।

जब इस उद्देश्य में साधक सफल हो ता है तब प्रथम कार्य अर्थात् समाधि भावना सहज ही सिद्ध हो जाती है, क्योंकि जितने भी कर्माशय और विपाक हैं, वे सारे क्लेश मूलक हैं उनके नष्ट हो जाने पर उनका नाश भी छिन्ने मूले न पत्रं न शाखा" न्यास से स्वयमेव ही हो जाता है ।

योग विषय चार भागों में विभक्त होता है । हेय, हेयहेतु, हान और हानोपाय । अविद्याजनितदुःख तथा दुखजनक पदार्थ हेय हैं । अविद्या जीव का संयोग सांसारिक पदार्थों से करवाती है । अतः अविद्या ही हेय है । तथा विद्या ही हेयहेतु है । विवेक ज्ञान से ही आत्मा और अनात्मा का पृथकीकरण किया जा सकता है तभी अविद्या नष्ट होगी । अविद्या का नाश ही आत्यन्तिक दुःख की निवृति है । यही हेयहान है । यही योग का चरम लक्ष्य है या कैवल्य है ।

जब तक विवेकख्याति नहीं हो जाए तबतक योगांगों से चित्तशुद्धि योगी करता रहे । ये अंग आठ हैं ।[14] यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार धारणा, ध्यान और समाधि । प्रथम पाँच बाह्य साधन माने गए हैं और अन्त के तीन आन्तरिक साधन कहे गएहैं ।[15]

यम:- अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह हैं ।[16] नियम- शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान और ये पाँच हैं ।[17]

स्थिरता और सुख देने वाले साधन को आसन कहा गया है । इनकी संख्या सूत्रकार ने नहीं बतलाई है ।[18]

---

14. योग्द० 2.28

15. वही, 2.29

16. वही, 2.30

17. वही, 2.32

18. वही, 2.46

श्वास प्रश्वास की गति को आसन में बैठकर रोकना प्राणायाम कहलाता है । जो पूरक, कुम्भक, रेचक, और प्राणों के स्थिरीकरण को देने वाला तुर्य भेद से चार प्रकार का हो जाता है[19] इनसे ज्ञान के आवरण का नाश हो जाता है । इससे धारणा की योग्यता आ जाती है ।

5• इन्द्रियाँ जब अपने -अपने विषयों को लेकर न रहे और चित्तानुरूप हो जाए तो "प्रत्याहार" कहलाती है । इससे इन्द्रियाँ योगी के वश में रहती हैं । इन पाँच अंगों का वर्णन करके पाद समाप्त हो जाता है ।

तृतीय पाद का नाम विभूति पाद है । जिसमें अवशिष्ट तीन अंगों का वर्णन किया गया है, द्वितीय पाद में वर्णित बाह्य अंग हैं, क्योंकि कार्य सिद्धि से इनका बाहरी सम्बन्ध है । धारणा और ध्यान एवं समाधि साक्षात् रूप में कार्य सिद्धि के हेतु अतः अन्तरंग माने गए हैं । इन तीनों का एक नाम संयम है, क्योंकि जब आभ्यन्तरिक तीनों साधन एक ही विषय को आश्रय करके रहते हैं तभी योगांग बनते हैं, ऐसे नहीं । ऐसा नहीं होता कि एक को धारणा, दूसरे का ध्यान, तीसरे की समाधि को योग की संज्ञा दी जाए ।

1• अनेक विषयों से हटाकर एक विषय पर चित को लगाना धारणा है । जैसे अपने इष्ट का नाभि, हृदय नासिकाग्र आदि में चित को बान्धना ही धारणा है[20]

2•धारणा के देश में ही ध्येय विषय की एकतानता स्थिर करना ध्यान कहलाता है ।[21]

3•ध्यानावस्था में जब योगी इतना तल्लीन हो जाए कि अपने को भूल सा जाए, केवल जिस वस्तु का ध्यान कर रहा है वही उसके सामने रहे अंहता नष्ट हो जाए तब उसका नाम समाधि हो जाता है[22] । प्रथमपाद में जिस समाधि का वर्णन किया गया था । वह इससे भिन्न है। वह साध्य है । यहाँ की समाधि साधन है । वह फल है तो यह उपाय है । सम्प्रज्ञात समाधि में पाँच बहि-

---

19•यो०द० 2•49

20•वही, 3•1

21•वही, 3•2

22•वही, 3•3

रंग और तीन अन्तरंग साधन माने जा सकते हैं । असंप्रज्ञात में तो आठों ही बहिरंग साधन हैं । व्युत्थान अवस्था में अनुभूत विषय अपने संस्कार दे जाते हैं । ये स्मृति का कारण बनते हैं । व्युत्थान की तरह समाधि में भी संस्कार रहते हैं । संप्रज्ञात समाधि में चितवृतियों के निरोध हो जाने पर भी एक निरोधिभूत संस्कार पैदा होता है । तभी तो संस्कार व्युत्थानज और निरोधज नाम को धारण कर सकते हैं । इनका द्वन्द्व जारी रहता है । जो प्रबल होता है एक दूसरे के ऊपर हावी हो जाया करता है । दीर्घ साधना के बाद योगी के निरोधज संस्कार प्रबल हो पाते हैं । वे व्युत्थानज संस्कारों को दबा पाते हैं । इसी का नाम निरोध परिणाम कहा गया है[23] । इस अवस्था में नाना प्रकार की विभूतियाँ योगी को प्राप्त होती हैं । स्वर्गीय देवता यहाँ पर योगी को लुभाते हैं । कच्चे योगी भटक सकते हैं परन्तु सच्चे योगी इन प्रलोभनों से भटकते नहीं । वे नाना विभूतियों देखकर विस्मृत नही होते है । वे चँचल नही होते, प्रलुब्ध भी नहीं होते । यहाँ तीसरा अध्याय समाप्त हो जाता है ।

चतुर्थपाद का नाम "कैवल्यपाद " है । इसमें पाँच प्रकार की सिद्धियाँ बतलाई गई हैं । 1· पूर्व जन्म संचित संस्कार उत्पन्न सिद्धियाँ । 2· रसायनोत्पन्न सिद्धियां 3·यन्त्रोत्पादित सिद्धियाँ । 4· तपस्योत्पन्न सिद्धियाँ । समाधिज सिद्धियाँ । इनमें चार प्रकार की सिद्धियाँ तो कैवल्य में बाधक ही मानी गई हैं । उन्हें अवास्तविक या दिखावा मात्र कहा गया है । वास्तविक सिद्धि तो कैवल्य ही है । समाधि से सारे अनागत कर्म दग्धबीज

23·यो०द० 3·9

होकर निर्वीर्य बन जाते हैं । प्रारब्ध कर्म बच जाते हैं । योगी उनका भोग करने के लिए अनेक शरीर धारण करके उनका शीघ्र भोग कर लेते हैं । ऐसा कर्म करने से आत्मा का जो बुद्धि से पार्थक्य है उसमें योगी और दृढ़ विश्वासी बन जाता है । तब उसकी आत्मा स्वतः ही विवेक की ओर उन्मुख होकर कैवल्य की ओर अग्रसर होता है । तब वह समग्र अभिलाषाओं यहाँ तक कि विवेक ख्याति से भी विरत हो जाता है । तब उसे धर्ममेध समाधि प्राप्त होती है । यही विवेक ख्याति या प्रख्यान का परमफल माना गया है । उस समय निरवच्छिन्न तत्व-साक्षात्कार रूपी धर्ममेघ की धारासार वर्षा होती है और योगी समस्त क्लेशों और कर्मों से निवृत हो जाता है । उस समय भुक्ति मुक्ति आदि त्रिगुणात्मिका प्रकृति के कर्म समाप्त हो जाते हैं और आत्मा अपने केवल स्वरूप में आ जाता है । पुरुष के प्रति करणीय कर्म सिद्ध हो जाने पर प्रकृति भी कृत्य हो जाती है । अनादि काल से चला हुआ लिंग शरीर भी जो प्रकृति का विपरिणाम है वह भी समाप्त हो जाता है । उसके अपने वे निर्माता तत्व अपने-अपने उपादान कारणों में लीन हो जाते हैं । यही योग का अन्तिम प्रतिपाद्य हैं ।

योग के व्यवहारिक स्वरूप का वर्णन पातंजल योग दर्शन में हुआ है । उसके अनुसार बौद्धों जैनों,वेदान्तियों ने उसे जहाँ अपनाया,वहाँ पर उसके कुछ अंगों को ही महत्व देकर उसकी उपासना ही आरम्भ कर दी जैसे जैनियों ने प्रथम अंग यम के प्रथम अवयव अहिंसा का ही इतना विश्लेषण आरम्भ कर दिया कि जिसके कारण अध्ययन के कारण लोगों को नफरत आनी शुरु हो गई -क्योंकि अति सर्वत्र वर्जयेत् का सिद्धान्त अच्छाई और बुराई दोनों तरफ घटता है । बौद्धों के द्वारा योग के माध्यम से भोग की तृप्ती रूपी मार्ग से जनसाधारण त्रस्त था । क्योंकि प्रच्छन्नता वंचना होती है । जिससे लोग डरते हैं । अतः गोरक्षनाथ ने लोगों के दिलों को जीतने के लिए योग के दो अंगों को छोड़ ही दिया । केवल षडंग योग को ही माना । यम नियम को आपामार तक के लिए सामान्य नियम होने के कारण अपने ग्रन्थों में उन्हें स्थान नहीं दिया ।

उन्होंने पतंजलि के वर्णित आसन के बाद के अंगों का ही उपयोग स्वीकार किया । प्राणायाम के रेचक,पूरक,कुम्भक और संघट्टीकरण या केवल भेद माने गए है । इनका सम्बन्ध नाड़ी शोधन से किया जाता है । नाड़ी शुद्ध होने पर पवन को गगन में प्रेरित करने की प्रक्रिया की जाए तो घंटा आदि वाद्यों का श्रवण होता है तथा सिद्धियों की सम्भावना रहती है[22] । अतः प्राणायाम नादानुसन्धान के साथ संलिप्त है । पुनः प्राणायाम से ही प्रत्याहार की सिद्धि और धारणा के अभ्यास का प्रक्रम बनता है । गोरक्ष संहिता में प्राणायाम को अधिक महत्व दिया गया है तभी तो प्राणायाम के उपयोगी जालन्धर,उड्डीयान मूल बन्ध,महामुद्रा,नभोमुद्रा को महत्व दिया और उनकी

22-गो०सं० 2-18-20

उपयोगिता तथा महत्व को बतलाया है[23]। किन्तु प्राणायाम साध्य है और ये साधन प्रणव उपासना तथा अजपा गायत्री का जाप भी प्राणायाम के अन्तर्भूत है । प्रणव की व्याख्या भी यहाँ पर विस्तृत रूप में की गई है । यह वेद ही है । शिवशक्ति साधन है आदिनाथ है और इसे अनाहत खण्ड कहा गया है । इसका श्रवण ही नादानुसन्धान और अन्तःकरण में सत्ता ही आत्मानुभूति कहा गया है । यह नाद ब्रह्म है, इसका अनुसन्धान ही ब्रह्म का अनुसन्धान है इसके द्वारा अनेक रोगों का नाश होता है[24]।

प्रत्याहार की, तृतीय अंग को सूचना तृतीय पहर के सूर्य से की गई है । ज्ञानेन्द्रियों को अपने विषयों से घोड़े की लगाम या सूर्य की किरणों की तरह खींच लेना कछवे के अंगों की तरह खींचकर अपने में समेट लेना ही प्रत्याहार है । अन्त में विपरीत करणी द्वारा चन्द्रमा के रसपान में एकतान हो जाना ही प्रत्याहार कहा गया है[25] इनसे योगी मानस विकारों को दूर करता है । धारणा में योगी स्व स्वरूप का अन्तरिन्द्रियों द्वारा अनुभव करता है । जो कुछ उत्पन्न होता है । उसे निराकार में धारण, निर्वातदीप की तरह आत्मज्योति का धारण हृदय में पंचभूतों का पृथक्-पृथक् रूप में अलग-अलग चक्रों में, बीजाक्षरों सहित अनुभव करना उनके स्वरूपों का चिन्तन अपने देह में करना ही धारणा कहलाती है[26]। ये चक्र गोरक्षनाथ के अनुसार इस तरह माने गए हैं -आधार "4 दल" स्वाधिष्ठान "6 दल" नाभिचक्र 10 दल, हृदय चक्र 12 दल, कण्ठस्थविशुद्ध चक्र 16 दल भ्रूमध्य आज्ञाचक्र 2 दल इसके अतिरिक्त ब्रह्मरन्ध्र महापथ में स्थित सहस्रदलचक्र[27] इस तरह ये सात चक्र जहाँ माने गए हैं । वहाँ दूसरी जगह सिद्ध सिद्धान्त पद्धति में नौ चक्र, ब्रह्मचक्र और तालुचक्र की गणना के साथ स्वीकार किए गए हैं । तभी तो म०म० गोपीनाथ जी ने विराट् पुराण

---

23. गो०सं० 1.56
24. गो०सं० 2.19-20
25. गो०सं० 2.23-31
26. वही 2.56-60
27. वही, 1.15-16

के एक हस्तलेख के आधार पर चक्रों की संख्या 25 से अधिक स्वीकार की है । वे कहते हैं कि ललितासहस्रनाम के भास्करराय भाष्यानुसार चक्र संख्या 32 से अधिक है । यही कारण है कि गोरक्षनाथ के ग्रन्थों में चक्रों की संख्या में विभिन्नता आ गई है ।

प्रत्यहार धारणा चक्र वर्णन आदि का उपयोग कुंडलिनीयोग या लययोग के लिए होता है । कुण्डलिनी साधन भूतलय और भूतजय दोनों हैं । यह मूलाधार से सहस्रार तक की जो यात्रा करती है उस आध्यात्मिक यात्रा में अनेकों विश्राम स्थल या अवरोधक स्थल चक्र नामों से प्रसिद्ध है|यह कुण्डलिनी भी तीन प्रकार की बतलाई गई है । उर्ध्व,मध्य और अधः । कहा जाता है कि मध्य कुण्डलिनी के प्रबोधन से,अधः शक्ति के संकोच से तथा उर्ध्व शक्ति के निपात से परमपद की प्राप्ति होती है । वास्तविकता से यह एक ही शक्ति है । स्थानभेद से यह तीन प्रकार की मान ली जाती है । इसके बारे में विवेचना की गई है कि कन्द के ऊपर आठ कुण्डलों को धारण करने वाली यह कुण्डलिनी शक्ति निरामय ब्रह्म द्वार को जाने वाले रास्ते के रन्ध्र को आच्छादित कर सुखपूर्वक सोई रहती है । इसे वह्नि योग से या मानस और महत के सहकार से जागृत किया जाता है । तब उठकर यह सुई के आकार को प्राप्त करके पद्म तन्तु की तरह सुषुम्ना के मार्ग से जागृत होती है ।

इसके अनन्तर ध्यान का वर्णन मिलता है । ध्यान परमाद्वैत भाव है । जिन-जिन तत्वों या पदार्थों का स्फुरण होता है,उनका अपने स्वरूप के अनुसार आत्मा

28• अमरौघशासनम् पृ० ।

29•गो०सं०, यो०मा० 31-40

भावना करतो है । इस तरह ध्यान में सभी भूतों में समदृष्टि हो जाती है । [30] ध्यान के दो भेद सगुण और निर्गुण बतलाए गए हैं । गोरक्षसंहिता में चक्र स्थानों को ध्यान के योग्य बतलाया गया है । साथ हो उसके स्थूल और सूक्ष्म भेद भी बतलाए गए हैं । सूक्ष्म ध्यान में तेजो ध्यान या ज्योति ध्यान को अधिक महत्व दिया गया है । मत्स्येन्द्र पद्धति में इन्हें सकल और निष्फल नाम से कहा गया है [31] ।

तदुपरान्त षडंग योग में समाधि का वर्णन किया गया है । पूर्व वर्णित समाधि से गोरक्षसंहिता में एक विशेषता आई है कि जीवात्मा और परमात्मा का ऐक्यहो सभी प्रकार के द्वन्द्वों का ऐक्य है । इस अवस्था में रूपरस गन्ध स्पर्श और शब्द की स्थिति नहीं रहती । अपने पराए की कोई बात नहो होती [32] । इस प्रकार से गोरक्षमत में षडंग योग की स्थिति बतलाई गई है । जो पातंजल योग के अनुकूल है तथा साधना के अनुसार उनमें भी कुछ विस्तार किया गया है ।

योग मार्ग में यद्यपि वाचस्पति मिश्र के अनुसार "योग एव योग-स्योपाध्याय:" कहा गया है । तो भी मार्गारोहण के लिए, या सुखपूर्वक साधना की यात्रा के लिए गुरु की परमावश्यकता मानी गई है । उन्हीं के आशीर्वाद से परमपद में समरसीकरण हो सकता है । जो नाथों का चरमलक्ष्य अर्थात् परममुक्ति नाथ स्वरूपेण मानी गई है । गुरुचरणों में रत रहने से स्वसंविद्य परमपद की सिद्धि संभव हो सकती है । इसी साधन से योगियों को

---

30. सि०सि०प० 2.38

31. गो०सं० 2.65-75, यो०मा० 156-59

32. गो०सं० 2.15-16, 85-88, यो०मा० 176-178

पिण्ड निरुत्थान का अनुभव होता है । तदनन्तर समरसी करण की सिद्धि होती है[33]। यह गुरु कौन हो सकता है जो प्रकृति के सभी विकारों को अवधूनन करने वाला सिद्ध हो, या अवधूत योगी हो ,वही गुरु बन सकता है । वह अपनी करुणा के खड्ग पात से साधक पशु के आठों पाशों को छेदित कर देता है । यह 36 लक्षणों से सम्पन्न होना चाहिए । शिष्य भी 32 लक्षणों से युक्त होना चाहिए । शिष्य के लिए आठ परीक्षाएँ स्वीकार की गई हैं[34]। यह गोरक्षनाथ का गुरुशिष्यवाद या अधिकार भेदवाद कहा जा सकता है ।

इस तरह जहाँ षडंग योग से गोरक्ष अपने नाथ स्वरूप की परम-प्राप्ति के साधन को पुष्टि करते हैं,वहाँ दूसरी तरफ पिण्ड ब्रह्माण्ड बाद की पुष्टि भी करते हैं । यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे" यह युक्ति जहाँ तान्त्रिकों को प्रिय है वहाँ नाथों को भी उतनी ही प्रिय है । पिण्डसंविति से ही ब्रह्माण्ड ज्ञान हो सकता है । ब्रह्माण्ड में जो कुछ है उसका संक्षिप्त रूप पिण्ड है । इसमें देवता,परमतत्व,पाताल, ब्रह्माण्ड,कलाएँ, वर्ण,उपवर्ण,द्वीप,समुद्र,खण्ड पर्वत,उपपर्वत,नदियाँ,उपनदियाँ,कुल्म,उपकुल्म,नक्षत्र,राशियाँ, नवग्रह,तिथियाँ,तारामण्डल,दानव,यक्ष,राक्षस,पिशाच,भूत-प्रेत,कुलनाग,सनकादिमुनि, मातृशक्तियाँ उग्रदेवता,मेघ तीर्थ,अनन्त सिद्ध,चन्द्र,सूर्य,वृक्ष,लता,गुल्म,तृण,कृमि,कीट,पतंग,सुख,दुःख,मुक्ति,

---

33.डा०नाथ उपाध्याय, नाथ और सन्त साहित्य तुलनात्मक अध्ययन,

34.गो०सि०सं०पृ० 31-32,45,46,56-57

शान्ति आदि सभी निवास करते हैं[35]। इन सब वर्णनों का समावेश गोरक्षनाथ ने एक ही वाक्य में करके बतलाया है" इस प्रकार सभी शरीरों में विश्व स्वरूप परमेश्वर चित्स्वरूपी परमात्मा अखण्ड स्वभाव से घट-घट में स्थित रहता है। इस प्रकार पिण्ड संविति होती है।[36] इसके साथ ही षट्चक्र साधन, नाड़ी साधन और नादानुसंधान सम्बन्धित है। इनका वर्णन पिण्ड वर्णन है। इसे व्यष्टि और समष्टि शब्दों में वेदान्त में कहा गया है। योग साधना के जितने भी प्रकार हैं। उन सबका मूलाधार पिण्ड ब्रह्माण्ड ज्ञान ही है। दूसरी ओर यह गोरक्षनाथ के अन्य विचारों का भी मुख्याधार है। इसी के आधार पर नाथ जी ने बाह्याचारों का खण्डन किया तथा तथा अन्त साधना का मण्डन किया। सहज साधना एवं सहज सिद्धि के साथ ही समदृष्टि ग्रहण, अहिंसा प्रचार के लिए भी यही सिद्धान्त उत्तरदायी है। संक्षेप में गोरक्ष सिद्धान्त के तीन बिन्दु हैं -हठयोग "प्राणायाम" गुरुवाद और पिण्डब्रह्माण्डवाद।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि पातंजल योग दर्शन और गोरक्ष-संहिता-योग जनकजन्यभाव से एक ही हैं। इनका पारस्परिक अन्तर जो देखने में आता है वह तो केवल साधना के क्रम भेद से आता है। स्वस्वरूप ज्ञान ही योग की दोनों जगह

---

35. डा० नागेन्द्र, गोरक्षनाथ, पृ० 135

36. सि०सि०प० 3.1

अन्तिम परिणति बतलाई गई है । जैसा कि अनेक मतावलम्बियों के मतों का निराकरण करके अन्त में मोक्ष का स्वरूप गोरक्षनाथ ने अमरौघ शासन में "यत्र सहज समाधिक्रमेण मनसा मनः समालोक्यते सः एव मोक्षः"[35] कहा है । वहाँ "पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यम्"[36] यह लक्षण योग दर्शन में उसका किया गया है । जिनमें मन के उन्मनी होने की अवस्था अर्थात् संस्कार रहित स्वस्वरूप स्थिति को ही मोक्ष या अन्तिम स्थिति कहा गया है ।

---

35. अमरौघशासनम् पृ० 9

36. योग दर्शन समाधिपाद, 4.34

गोरक्षसंहिता और हठयोग

सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ ब्रह्म ने ऋग्वेद,यजुर्वेद,सामवेद,और अथर्व वेद का ज्ञान सृष्टि के आदि में अग्नि,वायु, आदित्य, और अंगिरा इन ऋषियों के पवित्रतम हृदयों में पैदा किया गया था । अखिल ब्रह्माण्ड के अधिनायक ब्रह्म ने इन चारों मानवमात्र के कल्याणार्थ समस्त जीवन से सम्बन्धित ज्ञानकाण्ड,कर्मकाण्ड,उपासनाकाण्ड और विज्ञानकाण्ड को बिन्दु में सिन्धु की तरह भर दिया ।

यह सत्य विद्या मानव हित में परा अपरा भेद से दो प्रकार की है । तो भी दोनों का प्रतिपाद्य जीव ब्रह्म की एकता ही है । तभी तो श्रुति ने स्वयमेव उन विद्वानों की भर्त्सना की है जो वेद शास्त्र के प्रधान तत्व जीवात्मा तथा ब्रह्म को नहीं जानते हुए भी अपने को पण्डित मानते हैं ।[37] उन्हें मुक्तिरूपी फल का प्रतिषेध बतलाया गया है । ब्रह्मनिष्ठ चेतन की उपासना करने वाले को ही मुक्ति मिलती है ।

इस प्रकार वेदों का मुख्य तात्पर्य चेतन तत्व को प्रत्यक्ष करना ही है । यह तात्पर्य कैसे सिद्ध हो सकता है । जब हम इस परिप्रेक्ष्य में चिन्तन करते हैं । इससे वेद के समस्त उपासना आदि साधन योग में जाकर अन्तर्भूत हो जाया करते हैं । इसलिए योग ही आत्मा और ब्रह्म की एकता के लिए प्रत्यक्षीकरण में सर्वोत्कृष्ट उपाय है ।

योग चित्तवृत्ति के निरोध को कहा गया है ।[38] चित्तवृत्तियाँ,क्षिप्त,मूढ विक्षिप्त,एकाग्र और निरुद्ध भेद से व्यास ने पाँच प्रकार की मानी है । इनमें एकाग्र

37·ऋग्वेद,1·164·29

38·यो०द० 1·2

और निरुद्ध अवस्था ही योग को बनाती है । क्योंकि इन्हीं में सत्वगुण की एकतानता रहती है । प्रथम तीनों चित की अवस्थाएँ योग के अनुपयोगी हैं । इस योग का वर्णन ऋग्वेद 5.81.1 तथा यजुर्वेद 11.3 में मिलता है । यह योग महर्षि पतंजलि ने बहिरंग तथा अन्तरंग भेद से दो प्रकार का माना है । यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार ये पाँच बहिरंग योग होते हैं । धारणा, ध्यान और समाधि ये संयम रूपी योग के अन्तरंग माने गए हैं । निर्बीज समाधि में ये तीन बहिरंग हो जाते हैं ।

पतंजलि के राजयोग में हठयोग बहिरंग रूप में आता है । विद्याओं की राजा, राजयोग विद्या को असमाहित चित प्राप्त नहीं कर सकता । चित को समाहित करने के लिए हठयोग की उपयोगिता होती है । जैसे ऊँचे महल में चढ़ने के लिए अधिरोहिणी की आवश्यकता मानी गई है । जो योगी अनेक जन्म कृत सुकृतों के कारण समाहित चित होते हैं । उन्हें हठयोग की अनिवार्यता नहीं है । जो योगी अभी राजयोग के प्रासाद पर नहीं चढ़े हैं, उन्हें इसकी आवश्यकता है ।

हठयोग का अर्थ है "ह" सूर्यस्वर पिंगला नाड़ी या प्राणवायु । "ठ" का अर्थ है चन्द्रस्वर इड़ा नाडी अपान वायु । प्राण और अपान की एकता को हठ योग कहते हैं । गोरक्षनाथ ने इसका लक्षण । हकारः कीर्तितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते । सूर्यश्चन्द्रमसोर्योगाद् हठयोगो निगद्यते ।[39] इस हठयोग को कार्य रूप में लाने वाले आदि

---

39. सि०सि०प०

आचार्य आदिनाथ जी हैं । उन्होंने राजयोग पर चलने के इच्छुक असमाहित चित वाले इच्छुकों के लिए तथा उनका उपकार करने के लिए इस हठ्योग का उपदेश दिया था । श्री आदिनाथ के सम्प्रदाय में श्री मत्स्येन्द्रनाथ ,श्री गोरक्षनाथ,श्री आनन्द भैरव आदि अनेक अनुभवी आचार्य हुए हैं । अतः गोरक्षसंहिता का योग प्रकरण तो हठ्योग का ही मानना चाहिए तभी तो वहाँ साधक से कहा गया है कि "जो छः चक्रों,सोलह आधारों, दो लक्ष्यों और पाँच आकाशों को अपने शरीर रूपी विश्व में नहीं जानता, उसे सिद्धि कैसे मिल सकती है ।[40]

1.चक्रों के नाम हैं :- मूलाधार,स्वाधिष्ठान,मणिपूर,अनाहत,विशुद्ध और आज्ञा ।

2. सोलह आधार :- 1.पादांगुष्ठ,2.मूलाधार,3.गुह्याधार,4. वज्रगर्भ नाडी,उड्डीयानबन्धाधार, 6. नाभिमण्डलाधार, 7.हृदयाधार, 8. कण्ठाधार, 9.कण्ठमूलाधार,10.जिह्वामूलाधार 11. जिह्वाधोभागाधार, 12.ऊर्ध्वदन्तमूलाधार, 13. नासिकाग्राधार, 14.नासिकामूलाधार, 15.भ्रूमध्याधार, 16. नेत्राधार ।

3. बाह्यलक्ष्य और आन्तरिकलक्ष्य

4. पाँच आकाश:- 1. श्वेतवर्ण ज्योतिरूप, 2. रक्तवर्ण ज्योति रूप, 3. धूम्रवर्ण ज्योतिरूप

---

40. गो०सं० योग प्रकरण, 1.12
गो०प० 1.13

4· नीलवर्ण ज्योतिरूप 5· विद्युतवर्ण ज्योतिरूप । इनमें पहले के भीतर, दूसरा, दूसरे में तीसरा आदि क्रम से पाँचों की स्थिति मानी गई है ।

इसके पश्चात् शरीर जो आत्मा की आभास स्थली है । उसका एकमात्र खम्बा मन, नौ दरवाजे, दो नेत्र, दो नासिकाएँ, दो कर्णविवर, एकमुख, एकउपस्थ, और एक गुदा" पाँच देवता जो पाँच महाभूतों के स्वामी माने जाते हैं । जैसे पृथिवी का ब्रह्मा, जल, विष्णु, तेज-रुद्र, वायु ईश्वर आकाश सदाशिव इनको जो नहीं जानता वह योगी सफल कैसे हो सकेगा[41] । इस प्रकार से शरीर विज्ञान को बतलाकर, प्राणायाम के द्वारा मन रूपी स्तम्भ को स्थिर करने के उपाय बतलाए गए हैं ।

भूति प्रकरण में भी वीर्यरूपी बिन्दु के स्थैर्य का अनेकत्र उपदेश दिया गया है । जिससे यही सिद्ध होता है कि "गोरक्ष संहिता" हठयोग का प्रमुख ग्रन्थ है । तभी तो हठयोग प्रदीपिका के कर्ता स्वामी स्वात्माराम जी ने अपने ग्रन्थ में कहा है कि श्री मत्स्येन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ, जालन्धरनाथ आदि महापुरुषों की कृपा से यह हठ विद्या मुझे मिलती है[42] ।

41· गो०सं० यो०प्र० 1·13

42· हठयोगदीपिका, 1·4

गोरक्षसंहिता और सांख्य दर्शन

"गोरक्षसंहिता" के वर्तमान में उपलब्ध तीनों प्रकरणों के अवलोकन से यद्यपि यह आभासित होता है कि गोरक्षसंहिता का दर्शन सांख्य शास्त्र के तत्वों पर आधारित हैं । वे शुद्धयोग मार्ग के ही प्रवक्ता हैं । जो कादि प्रकरण तथा विभूति प्रकरण सर्वज्ञ मुनि ने उपदिष्ट किए हैं वे उसी मार्ग के उपकार हेतु माने गए हैं । इनके दर्शन के असली दर्शन सिद्धसिद्धान्त पद्धति में होते है । वहाँ इन्होंने 36 तत्वों को अपना आधार बनाया है । जिनमें पिण्ड ब्रह्माण्ड की रचना होती है और विश्व का प्रसरण होता है । इन दोनों की समतत्वता और समपदार्थता, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा डा० कल्याणी मलिक आदि विद्वानों ने अपने शोध प्रबन्धों में दिखलाई है ।

गोरक्षनाथ के तत्व विवेचन के अनुसार प्रलयावस्था में शिव कार्यकारण के चक्र संचालन से विमुख, कुल अकुल भेद से परे अव्यक्त रूप में रहते हैं[43] । इस अवस्था का नाम "स्वयं" कहा गया है । इस स्वयं में जब सिसृक्षा उत्पन्न होती है तब उसका नाम शिव हो जाता है । जो निर्गुण से सगुण की यात्रा मानी गई है । यह सृजनेच्छा ही शक्ति कहलाई जाती है । इसके उत्पन्न होते ही वेदान्त के रयि और प्राण की तरह शिव और शक्ति, शब्द और अर्थ की तरह संपृक्त होने पर भी दो तत्वों के रूप में प्रतिभासित हो जाते हैं[44] । ~~दो तत्वों के रूप में प्रतिभासित हो जाते हैं~~ । पुनः ये दोनों पाँच रूपों में विकसित होते हैं । जैसे ---

---

43-सि०सि०प० कार्यकारणकतृत्वं यदा नास्ति कुलाकुलम् ।
अव्यक्तं परं तत्वं स्वयं नाम तदा भवेत् ।।

44-रघुवंश 1-1 वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थ प्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ।।

शिव	शक्ति
1•अपर	निजा "स्फुरित होने की पूर्ववर्तिनी, स्फुरित होने को उपक्रान्त
2• परम	परा "स्फुरणोन्मुख "
3•शून्य	अपरा "स्पन्दित होती है ।
4•निरंजन	सूक्ष्मा अंहिता "में पन का पृथक्त्व/भाव
5•परमात्मा	कुण्डली "अपनी पृथकतामें पूर्ण सचेत
इस अवस्था में शिव विश्व प्रपंच की उत्पत्ति पालन और संहार में समर्थ होता है ।	इसी शक्ति की सहायता से शिव, इस विश्व की उत्पत्ति पालन और संहार में समर्थ होता है ।[45]

यह कुण्डली वेदान्त की जड़ शक्ति माया से भिन्न चेतन से उत्पन्न चेतना शक्ति से ही मानी गई है । इसके लिए चिच्छक्ति, चिच्छीला, चिद्रूपिणी, अनन्तरूपा, अनन्त शक्ति, आदि शब्द गोरक्ष साहित्य में प्रयुक्त हुए हैं । जगत् इसी का परिणाम है । इसके पाँच गुण -पूर्णता, प्रतिबिम्बता, प्रबलता, प्रोच्चलता, प्रत्यंगमुखता अन्य दर्शनों की शक्तियों की तरह ही बतलाए गए है । इसके बाद तीन परवर्ती विकास दिखाए गए हैं । सदाशिव-अहं प्रधान, ईश्वर इदं प्रधान, शुद्धविद्या- उभय विद्या प्रधान ।[47] शिव क्रमशः कथित पाँच अवस्थाओं से होते हुए जीव रूपता की ओर गति करता है । वह क्रमशः सूक्ष्म से स्थूल तथा, स्थूल से स्थूलतर होता जाता है । इस प्रकार से गोरक्ष के तत्व विज्ञान में सृष्टिप्रक्रिया में विकास होता है और 36 तत्व उत्पन्न होते हैं । कथित 5 तत्व और 6 माया ।

45•डा० नागेन्द्रनाथ गोरक्षनाथ, 9 परि सि०सि० प०प०2 उप। श्लोक 14-15

46• सि०सि० प० 1•7 पूर्णता प्रतिबिम्बता प्रबलता, प्रोच्चलता, प्रत्यङ्मुखता ।
इति पंचगुण कुण्डलिनी शक्तिः ।।

47• नाथ संप्रदाय, पृ० 105

7–11 पंचकंचुक,12 पुरुष,13 प्रकृति,14 महत् 15 अहंकार,16–20 पंचतन्मात्राएँ,21–31 एकादश इन्द्रिय,32–36 पंचमहाभूत ।[48]

वास्तव में यह तत्व मीमांसा सिद्धसिद्धान्त संग्रह में की गई है । जहाँ कहा गया है कि "ब्रह्माण्ड के बीच में जो कुछ प्रक्रिया चलती है वह पिण्ड के बीच में भी तद्वत् ही है । अतः सारे विकास को पिण्डोत्पत्ति के अनुसार विभाजित किया गया है ।[49] जैसे 1·परपिण्ड तत्व 1–2,2·आद्य पिण्ड तत्व 3–5,3·साकार पिण्ड तत्व 6–13,4 प्रकृत पिण्ड तत्व 14–20,5अवलोकन पिण्ड तत्व 21–31, 6·गर्भ पिण्ड 32–36 । गर्भपिण्ड विकास प्रक्रिया का छोर माना गया है ।

इससे पिण्ड ब्रह्माण्ड की तुल्यता सिद्ध होने पर भी त्रिगुण काल और प्राण शक्ति के न्यूनत्व एवं बहुत्व के आधार पर ही दोनों में भेद हो जाता है तथा परं शिव की स्वयं अवस्था ही अन्तिम परिणति है । इसको जो प्राप्तकर लेता है वही नाथ बन जाता है । जैसे सांख्य शास्त्र में निर्लिप्त पुरुष कर्माकर्म से विमुख होकर जब प्रकृति के दर्शन कर लेता है । और प्रकृति असूर्यं पश्या राजदारा की तरह फिर उसके दर्शन नहीं करती और तब वह पुरुष मुक्त हो जाता है । इसी प्रकार नाथ सम्प्रदाय में भी सत् और असत् से ऊपर उठी हुई आत्मा ही नाथ बन जाती है । उसमें यह सामर्थ्य होता है कि वह अपने से शिष्यों को

48·नाथ सम्प्रदाय,पृ0 109

49,सि0सि0सं0 ,पृ018 ब्रह्माण्डवर्ति यत्किंचित् पिण्डेप्यस्ति सर्वथा· ।

षड्विध ऐश्वर्य से सम्पन्न कर देता है तथा उनकी कुण्डलिनी का उत्थापन कर सकता है। वह शक्तिपात् तीन रूपों में किया जा सकता है। दर्शन से, स्पर्श से तथा भाषण से।[50] इस प्रकार के नाथत्व को प्राप्त करना ही नाथ सम्प्रदाय का चरम लक्ष्य है।

इन सब बातों को देखते हुए कहा जा सकता है कि सांख्य के साथ नाथ सम्प्रदाय का निकटसम्बन्ध है।

बौद्ध लोग संसार की समस्त वस्तुओं को क्षणिक मानते हैं, स्व लक्षण मानते हैं। ,दुःखमय स्वीकार करते हैं और अन्त में शून्य में परिणति मानते हैं।[51] जो असत् है वही ईश्वर है। इसलिए नाथ सम्प्रदाय के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। नाथों के मत में सत्-असत् से परे और भिन्न ही नाथ रूपी ईश्वर को स्वीकार किया गया है। हाँ तान्त्रिक साधना क्रम में तथा रससिद्धि में नाथों की बौद्धों के साथ कुछ समानता मानी जा सकती है।

गोरक्षसंहिता का भूति प्रकरण ,बौद्धाचार्य नागार्जुन की, रासायनिक प्रक्रिया, अवश्यमेव ऋणी है। उन्होंने उनके नुस्खों का अनुसरण करके धातुओं उपधातुओं का जारण मारण और परिवर्तन करने के तरीकों को अपनाया है। आध्यात्मिक पक्ष दोनों

---

50. सारस्वत कुण्डलि नी महायोग, पृ0 42 दर्शनात्स्पर्शनाच्चैव भाषणाद् सद्गुरोरपि।
शक्तिपातस्त्रिभिः रूपैः क्रियते शक्ति देशिकैः।

51. सर्वदर्शन संग्रह, सर्वं क्षणिकं-2 स्वलक्षणं-2, दुःखं-2, शून्यम् शून्यम्।

मतों का सर्वथा भिन्न है । उसमें किसी प्रकार की समानता नहीं हो सकती ।

नाथमत वेदान्त मत से भी भिन्न है, क्योंकि वेदान्तियों ने ब्रह्म से उत्पन्न माया शक्ति को जड़ माना है । जबकि " न सतो विद्यते भावो नाभाव: विद्यते सत: " का सिद्धान्त अटूट है । अत: चेतन ब्रह्म से अचेतन माया पैदा नही हो सकती । इसलिए नाथों ने नाथ से उत्पन्न शक्ति को चेतन माना है और उपनिषदों में बतलाए सदसद् मार्ग को अपनाया ।[52] तभी गोरक्षनाथ ने कहा " बस्ती न शून्यं-शून्यं, न बस्ती अगम-अगोचर ऐसा । गगन शिखर मंह बालक बोलेहु ताका नाम धरहुंगे कैसा ।। गोरख शब्द ।

इसीलिए अद्वैत वेदान्त का खण्डन भी किया गया है कि प्राप्ति पूर्वक ही निषेध होता है । जब शंकराचार्य जी ने ब्रह्म को अद्वैत मान लिया तो उसी से द्वैत सिद्ध हो जाता है ।[53] द्वैताद्वैत से विलक्षण नाथ तत्व को कोई नहीं जानते । यदि ब्रह्म सर्वगत स्थिर तत्व है तो माया को द्वैत और अद्वैत सिद्ध करने के लिए, क्यों कल्पित किया गया ।[54] इस प्रकार के खण्डन करके नाथ के सामने आद्य शंकराचार्य जी को पराजय दिखाई गई है । जिससे वेदान्त के साथ नाथ मार्ग के सम्बन्ध का विच्छेद माना गया है ।

---

52. ऋग्वेद, नासदीय सूक्त, नासदासीन्नो सदससीत् ।

53. गो०सि०सं० , पृ०, 16

54. गो०सि०सं०, पृ० 11, अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे । समं तत्वं न विन्दन्ति द्वैताद्वैतविलक्षणम् । यदिसर्वगतो देव: स्थिर: पूर्णो निरन्तर: । अहो माया महामोहो द्वैताद्वैत विकल्पना ।

गोरक्षसंहिता आयुर्वेद के साथ बहुत मेल खाती है । गोरक्षसंहिता विभूति प्रकरण जिसे रस विज्ञान, रसतन्त्र, रसचक्र, रसोपनिषद्, भूतितन्त्र, और भूतिशास्त्र आदि नामों से पुकारा गया है, इसमें रसायन विद्या का आमूल वर्णन शास्त्रोक्त विधि से किया गया है । वैसे तो ब्राह्मण काल में ही रसायन का प्रचलन माना गया है, परन्तु व्यवस्थित रूप में बौद्ध सिद्ध नागार्जुन ने अपने ग्रन्थ "रसरत्नाकर" में इस विद्या का विशद् वर्णन किया है । उसके बाद शालीनाथ की नाथ मंजरी" मन्थान भैरव के "रसरत्नम्" और गोरक्षनाथ के भूति प्रकरण आदि में इस विद्या का पूर्ण विकसित रूप मिलता है । इस प्रकरण से काय की सिद्धि, धन की प्राप्ति और बाह्य आभ्यन्तरिक योग साधन करने की शक्ति ईश्वर की भक्ति, नाथत्व की प्राप्ति आदि अनेक लाभ साधक को दर्शाए हैं । जो साधक गीता के कथनानुसार "अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिः" के लम्बे चक्र से छुटकारा पाना चाहता है और एक जन्म में परापर प्राप्ति मुक्ति को प्राप्त करना चाहता है । वह पारद या औषध का सेवन करे और शरीर को अजर अमर बनाकर साधना द्वारा नाथत्व प्राप्ति करके सदेह मोक्ष प्राप्त कर ले ।

आयुर्वेद भी रोगों से मुक्ति देकर शरीर को कर्म योग्य बना देता है । जिससे प्राणी अपने जीवन में पूर्ण रूप से सुकर्म करके प्राप्तव्य स्थान को प्राप्त कर सके । स्थूल शरीर के स्वस्थ होने पर उसकी परिधि में रहने वाला मन भी स्वस्थ होगा ।

मन के स्वस्थ होने पर उसका चिन्तन भी स्वस्थ होगा । तभी तो स्वास्थ्य के नाश को घातक बतलाया गया है । जो आयुर्वेद के प्रयोजन हैं वही भूति प्रकरण के भी माने गए हैं । जिससे कोई भी कह सकता है कि गोरक्षसंहिता और आयुर्वेद आपस में पूरक ग्रन्थ या शास्त्र माने गए हैं ।

इस तरह वर्तमान के बहुत से विद्वान नाथ साहित्य पर शैव तन्त्र का, शाक्ततन्त्रों का तथा बौद्ध तन्त्रों का भी वादिप्रकरण पर प्रभाव मानते हैं । डा० जनार्दन पाण्डेय ने इसे केवल कल्पना ही स्वीकार किया है, क्योंकि नाथ लोग स्वयं भी तान्त्रिक हुए हैं । मत्स्येन्द्र नाथ ने कौल मार्ग कामरूदेश में चलाया था[55] । तभी तो वशीकरण आदि मन्त्रों में भी कहा गया है कि "कामरु देश कामाख्या देवी, उत्थे बसे मच्छेन्दर योगी" आदि-आदि । यद्यपि नाथ पन्थ का मुख्य मार्ग शुद्ध योग ही है, परन्तु उसे प्राप्त करने के लिए बाह्य साधना तन्त्र को भी उसी का अंगमान लिया गया है[56] । इसलिए गोरक्षसंहिता का कुछ सम्बन्ध आयुर्वेद से है न कि तन्त्र ग्रन्थों से । आयुर्वेद का वर्णन भी सर्वज्ञ नाथ स्वकुशल बुद्धि से कर सकते थे । भूति प्रकरण में शास्त्र की प्रमाणिकता को अधिक महत्त्व दिया गया है । जिससे उस पर आयुर्वेद का प्रभाव अधिक झलकता है[57]।

---

55. गो०सि०सं० भूमिका "ट"

56. गो०सि०सं० पृ० 14

57. भूति प्रकरण 4.139.142, 3.97

अतः गोरक्षसंहिता शैवदर्शनों में से रसेश्वर दर्शन के साथ विषयगत दृष्टि से कुछ साम्यता रखती है, अन्य मतों से नहीं । तन्त्रों की साम्यता भी विषयगत दृष्टि से हो सकती है । इसे प्रभाव की दृष्टि से नहीं माना जा सकता । इसलिए निष्कर्ष यही निकलता है कि गोरक्ष-संहिता त्रिफला या त्रिपुटी होने पर भी लक्ष्य की दृष्टि से पातंजल योग से ही साम्यता रखती है । उसी का विकसित रूप या भाष्य रूप से यह संहिता बनी है । इसका भूति प्रकरण रसेश्वर दर्शन का ही परिमार्जित रूप माना जा सकता है । कादि प्रकरण में तीनों तन्त्रों का संमिश्रीकरण रूप में सामने आया है। किन्तु मुख्य उद्देश्य नाथत्व की प्राप्ति ही है जिसे मोक्ष कहा गया है ।

पंचमोऽध्याय : गोरक्षसंहिता का दार्शनिक पक्ष "पूर्वार्ध"

शिव विषयक सिद्धान्त :-

शैवमत अथवा महेश्वर मत पर्याप्त प्राचीन है । इसे प्रमाणित करने की आवश्याकता नहीं है । इस बात को जानने के लिए,डा० फर्कुहर,डा० भण्डारकर डा० यदुवंशी आदि के ग्रन्थ को देखा जा सकता है । डा० भण्डारकर के अनुसार माहेश्वर नाम शैवों के लिए अति प्राचीन है[1] । वैदिक रुद्र देवता उपनिषद् गृह्य सूत्र और पतंजलि काल तक रुद्र ही रहा । महाभारतकाल में तथा तद् उत्तरवर्ती समय में वह सौम्य बनकर कल्याणकारी शिव बन गया । तभी तो पुराणोत्तर काल में शैव मत में विभिन्न सम्प्रदायों की उत्पत्ति हुई । सोने के पिघलने की जैसे ही जानकारी हुई थी कि अनेकों गहने बनने लगे । वैसे ही रुद्र शिव बने कि उनके नाम पर भी दो मुख्य भेद -पाशुपत शैव और आगमिक शैव बन गए । जो कि इस तरह अपने में अन्य मतों को समेटते रहे हैं । पाशुपत शैव में पाशुपत लाकुलीश,कापालिकनाथ, गोरखनाथ और रसेश्वर आते हैं[2] । आगमिक शैव में शैवसिद्धान्ती तमिल शैव काश्मीरी शैव और वीर शैवों की गणना की गई है । यद्यपि यहाँ पर गोरक्षनाथ को पाशुपत शैवों में गिना गया है और उन्हें शिव का अवतार स्वीकार करने वाला माना गया है तथा आगमिक शैव अवतार नहीं मानते । डा० फर्कुहर ने यह विभाजन दिया है ।

1.भण्डारकर,पृ० 146-169,पृ० वैष्णविज्म शैविज्म०,

2.डा० नागेन्द्रनाथ, गोरखनाथ, पृ० 68

गोरक्षनाथ की कृतियों तथा उनके व्यक्तित्व के आधार पर यह स्वीकार नहीं किया जा सकता । वे तो इन दोनों सम्प्रदायों को जोड़ने वाले सेतु ही माने गए है । तभी तो परवर्ती काल में इन्हें शिव का अवतार माना गया है ।

शिव के द्वादश ज्योतिर्लिंगों के नामों के साथ नाथ शब्द जुड़ा हुआ है। जैसे केदारनाथ, विश्वनाथ, वैजनाथ,पशुपतिनाथ, आदि-आदि इससे नाथ पन्थियों ने 6 वीं शताब्दी के पश्चात् जब बौद्धों ने समस्त हिन्दुओं के सम्प्रदायों को निगल लिया था । तब रक्त में बसी श्वेत भावना को उजागर करने के लिए नाथ सम्प्रदाय को नया जामा पहनाया था । जहाँ पर नाद बिन्दु की उपासना के महत्व को दर्शाने के लिए अपने नाम का ही नाथ रख दिया । अर्धनारीश्वर शिव और शक्ति कुण्डलिनी और ब्रह्मरन्ध्र के वासी शिव।जब कैलाश अर्थात् शून्य आकाश में एक हो जाते हैं तब पतित व की संज्ञा को प्राप्त करके महान् बन जाते हैं । जिसे नाथों ने द्वैताद्वैत विवर्जित परमोच्च नाथ स्थान माना है । इस तरह शैवों के तीनों तत्वों -पति,पशु और पाश को नाथों ने स्वीकार किया है । उनमें कुछ नई उद्भावना देकर योग के साथ जोड़कर,शक्तिपात का नया तरीका बौद्धों की नई साधना को लेकर, इस मत को सर्व व्यापक बनाया । तभी तो डा० हजारी

3.ऐन आउट लाइन आफ द रेलिजस लिटरेचर ऑफ इण्डिया,पृ0 190-91।

प्रसाद द्विवेदी जी ने शंकराचार्य के शुष्क अद्वैतवाद के पश्चात् नाथ आन्दोलन को भारत का सबसे शक्तिशाली आन्दोलन माना है । जो कुरितियाँ समाज में घर कर गई थी उन्हें नाथों ने ही दूर किया । समाज ने बाद के भक्ति आन्दोलनों के सामने नाथ मत को भी हठ्योग कहकर उसे कठिन समझा और भुला दिया, क्योंकि हिन्दु जाति बहुदेववाद को मानने के कारण एक देव की निष्ठा को अधिक देर अपने मस्तिष्क में नही रख सकती है । वैसे नाथ मत को में कोई ऐसी दुराग्रहपूर्ण तथा निरर्थक बात नहीं है कि इस मत को भुला या छोड़ दिया जाए । इस मत में भूत दया, उत्थान, आत्मकल्याण तथा एक जन्म में मोक्ष-प्राप्ति की बात यद्यपि बहुत लुभाने वाली है, तोभी लोगों ने इस मत को भुला दिया । इसे "क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेवरूपं रमणीयतायाः", के सिद्धान्त के अनुसार मानव जगत को ही चाहता है तथा उसमें क्षण-क्षण में नवीनता के रस को चाहता है । यही इन्द्रियों का स्वाद पाश है जो मोक्ष के द्वार को हमेशा रुद्ध किए बैठे रहता है ।

जहाँ तक शिव विषयक सिद्धान्त की बात "गोरक्षसंहिता" के विषय में आती है वहाँ तो सारी संहिता शिव और पार्वती के मुख से कहलाई गई है । कादि प्रकरण तथा भूति प्रकरण में पार्वती प्रश्न करती है तो भैरव रूपी शिव उनका उत्तर देते हैं । दूसरे कौल मार्ग की उत्पत्ति भी शिव से ही मानी गई है । अकुल नाम शिव का है जो सबसे प्रथम सृष्टि में हुए वे अव्यक्त हैं, भाषा से रहित है, उसमें कोई ऐच्छिक तरंगे नहीं है । कुल भी उनका कोई नहीं है, सूक्ष्म अवलम्बन रहित, संसार में व्याप्त

होने पर भी निरंजन है । वह शिव अव्यक्तावस्था से जब व्यक्तावस्था प्राप्त करते हैं तब उनकी देह से इच्छाशक्ति पैदा होती है जो परा शक्ति मानी गई है, जिसका कभी भी नाश नहीं होता । उसी से श्रेष्ठ पचास कुल नायिकाएँ भी पैदा होती है[4] तभी कौल मार्ग में कुल का अकुल के साथ सम्बन्ध जोड़ना मोक्ष माना गया है । क्योंकि कुल नाम शक्ति या कुण्डलिनी का है । अकुल नाम शिव का माना गया है । उन को एक स्थान पर युक्त करना कौल ज्ञान कहलाया जाता है[5]। यह मार्ग उभयविध माना गया है -प्रवृत्तिरूप और निवृत्तिरूप।दूसरी तरफ जहाँ भोग होता है वहाँ मोक्ष नहीं मिलता । जहाँ मोक्ष की विद्या है वहाँ भोग नही मिलता । नाथमत वालों के लिए दोनों हाथों में से एक हाथ में भोग रहता है दूसरे में मोक्ष रहता है।इसलिए नाथमार्ग संसार के प्रत्येक व्यक्ति के कल्याण में प्रवृत होता है।

शक्ति विश्व का सृजन करती है शिव उसका पालन करता है ,काल संहार करता है और मुक्ति नाथ द्वारा दी जाती है[6] शिव के बीच में शक्ति रहती है और शक्ति में शिव रहते हैं । जिस प्रकार चन्द्रमा और उसकी चान्दनी में अभेद रहता है उसी प्रकार शिव शक्ति भी अभिन्न है ।[7]व्यापकता में शिव शक्ति भासित होती है और संकोच में शिव । उन दोनों का संयोग करने वाला योगी माना जाता है[8]। इस प्रकार योगी या नाथ गुरु,जीव रूपी पशु के पाशों को छेद कर सकता है । अतः योग से युक्त ज्ञान ही मोक्ष कहलाता है । पिण्ड सिद्धि ही मोक्ष का परम साधन है ।जीवन मुक्ति सहित सिद्ध देह से नाथ स्वरूप में अवस्थान ही परम समरसीकरण या मोक्ष है । जिसे

4.गो०सं०का०पृ० 12.103-105

5.सौभाग्य भास्करे,

6.गो०सि०सं०,पृ० 49 शक्त्या तु सृज्यते विश्वं शिवेन परिपाल्यते । कालेन संह्रियते मुक्ति नाथेन दीयते ।

7.गो०सं० का०पृ०,भूमिका "ज"

8. वही

जिसे प्राप्त करने के तीन उपाय वर्तमान उपलब्ध गोरक्षसंहिता में दिए हुए हैं । तन्त्र द्वारा, रसपान द्वारा, और योग द्वारा । कादि प्रकरण में तन्त्र के द्वारा मोक्ष साधन या पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति बतलाई गई है । भूति प्रकरण में रस के सेवन से, जिसमें शिव का रस पारद और पार्वती का रस गन्धक है उनके सेवन से मोक्ष या अमर देह मिल सकती है । अतः गोरक्षसंहिता शिव और शक्तिवाद का पूर्ण उपदेश देती है । और इन दोनों तत्वों की सूक्ष्म व्याख्या भी करती है । शिव यदि आकाश है तो पृथिवी पार्वती । इन दोनों के पारस्परिक संमिश्रण से ही संसार की उत्पत्ति और पालन हो सकता है । तभी वेद का मन्त्र ऋत् और सत्य भी सार्थक बनता है[1] ।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने नाथ सम्प्रदाय नामक अपने ग्रन्थ में "शाक्त उपादान" नामक प्रकरण अलग से रखा । उनकी दृष्टि में योगियों के यहाँ शाक्त उपादान पूरी मात्रा में माना जाता है । प्रायः सभी पीठों में शक्ति की उपासना की जाती है और उसमें मन्त्र, बीज, तन्त्र, कवच, न्यास, और मुद्राओं का उसी तरह प्रयोग होता है जैसे तान्त्रिक साधना में । हिंगलाजा परमेश्वरी तथा ज्वालामुखी योगियों की प्रमुख उपास्य शक्तियाँ हैं । सारी यौगिक प्रक्रिया, आसन, प्राणायाम आदि शक्ति संग्रह के लिए किए जाते हैं । अतः गोरक्षनाथ

---

१. ऋतं च सत्यन्च तपसाध्यजायत ~~ऋग्वेद~~ यजुर्वेद ।

की संहिता शक्ति के ग्रह का एक आगार है । यही कारण है कि कादि प्रकरण में शक्ति के पीठों, उपपीठों का अलग से वर्णन किया गया है।[10] यही नहीं देवी के अपर भेद किएगएहैं । ये पर और अपर रूप है । परा देवी के रक्त, श्वेत और कृष्ण ये तीन नेत्र भी गिनाए हैं।[11]

पुनः द्वितीय पटल में ही उच्छूना नदी के प्रसंग में देवी की कला प्राप्ति बतलाई है। जिससे वह कामरूपिणी बनकर समस्त संसार को जीत लेती है । चन्द्रमा से समागम होने पर नव नाथों को जन्म देती है, का प्रसंग आया है । फिर तेरह पुत्र, तेरह पुत्रियों का वर्णन भी किया गया है ।[12] पुनः नीलोत्पलदलश्यामाबिम्बोष्ठी की संज्ञा देकर चारुहासिनी, एकवक्त्रा, त्रिनेत्रा, द्विभुजा आदि विशेषण देवी के लिए दिए गए हैं।[13] फिर उसको सहयोगिनी योगिनियों का भी वर्णन किया गया है । कामरूप पीठ के वर्णन प्रसंग में ही पुत्र पुत्रियों का भी वर्णन किया गया है । अनन्तर शिव की प्रार्थना की गई है । यहाँ शिव को त्रिलोचन कहा गया है । जगन्नाथ सुरासुरगुरु आदि विशेषणों से सम्बोधित किया गया है।[14] फिर वीरचक्र की पूजा का विधान, शिव की साधना, देहस्थमातृका स्थान वर्णन, मातृका के पदों की कल्पना तथा "ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डाये विच्चे" इस नवार्ण से अनेकार्ण

---

10. का०प्र० पृ० 7, हिमवत्पीठमुत्तमम् । का०प्र०पृ० 10

11. का०प्र० पृ० 7, रक्ता श्वेता तथा कृष्णा त्रिनेत्रा च शिवा परा ।

12. वही, पृ० 9,

13. वही, पृ० 10

14. का०प्र० च० प० पृ० 15

बनाने का विधान आया है । क्योंकि रज,सत् और तम आत्मक,महासरस्वती,महालक्ष्मी महाकाली एकरूपता चामुण्डा में प्राप्त करती है । चामुण्डा का अर्थ है - च अमुं -डा -दा-दाने अर्थात् जो इन तीनों को शक्ति देती है या संगृहीत करती है । मातृस्थान, कूटन्यास, षड्विधन्यासस्वाभाविकन्यास,चक्रभेद,चक्रभेद वर्णन,देवी-कवच, मालिनिचक्र, कालचक्र,मुद्रासाधन, जालन्धरबन्ध,अघोर-वर्णन,लिंगदर्शन-साधन,षोडषाधार वर्णन,दिव्ययोगिनी वर्णन,परा अपरा,परापरा विद्या का वर्णन, कामेश्वरी विद्या का वर्णन,कुब्जिका वर्णन गायत्री निर्णय, आदि से पता चलता है कि "गोरक्षसंहिता" त्रिपुटी विद्या है । योग शाक्त तन्त्र एवं शैव तन्त्र इन तीनों का मिश्रण या त्रिफला बना है । इसलिए इस संहिता के एक प्रकरण में जहाँ यह ज्ञान होता है,वहीं भूतितन्त्र से आयुर्वेद भी इसका जीवातु बन जाता है । इस तरह यह संहिता, दार्शनिक दृष्टि से शैव और शाक्तों का सामंजस्य स्थापित करने वाली मानी जा सकती है । तभी तो पंचवक्त्रा गायत्री और पंचवक्त्र शिव एक हो सकते हैं । दोनों के एकीकरण से अल्ला उपासक मुस्लिम और शिवोपासक हिन्दु एक हो सकते हैं । वाममार्गी और दक्षिणमार्गी भी दोनों समझने के बाद ही मध्यमार्गी सुषुम्णारूपी राजमार्ग पर चलकर अपने कर्मों का भर्जन कर सकेंगे और निष्काम योगी की कोटी में बैठ सकेंगे । जहाँ पहुँचकर नाथ पद मिल सकेगा ।

ईश्वर विचार विमर्श :-

ईश ऐश्वर्ये धातु से वरच् प्रत्यय करने पर ईश्वर शब्द बनता है दर्शनशास्त्र का विषय है पिण्ड-ब्रह्माण्ड, जीव, ईश्वर इनका पृथक्करण, एकीकरण आदि है। भूतिर्विभूतिरैश्वार्यः " इस प्रकार से कोश में भूति को ऐश्वर्य का पर्यायवाची कहा है। ऐश्वर्य नाम ईश्वर के भाव का है। षड्विध ऐश्वर्य से सम्पन्न जीवों की उत्पत्ति, विनाश, आवागमन, विद्या, अविद्या को जानने वाला ही ईश्वर होता है। षड्विध ऐश्वर्य का नाम ही संस्कृत में भग है।[15] "भगं यस्य अस्ति स भगवान्" अर्थात् ये छः जिसमें सम्पूर्णरूपसेरहते हैं, उसे भगवान् भी कहा जाता है। जीव और भगवान् का पारस्परिक सम्बन्ध बहुत घनिष्ट है। जैसे आग और उसके स्फुलिंगों का सम्बन्ध होता है, कूल औरक्यारी के जल का सम्बन्ध होता है, ये जीवात्मा पाश रूपी कर्म बन्धन में बन्धकर अपना भिन्न अस्तित्व प्राप्तकर लेती है और उसके अनुसार अपने आप कर्म करना आरम्भ कर देती है। वे संसार के क्लेश कर्म को प्राप्त करती रहती है। कर्मविपाक रूपी क्लेश से निर्लिप्त व्यापक क्षेत्र सम्पन्न समभावापन्न ईश्वर माना गया है। जो देहादि अनात्म वस्तु, आत्मा मान लेते हैं[16] वही अभिमान आत्मा का बन्धनरूप

15· गीता पर मधुसूदनी भाष्य अध्याय-7· ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः । ज्ञान वैराग्योश्चैव षण्णां भग इति इंगना ।

16· सर्वोपनिषद्सार, अनात्मनो देहादीनात्मत्वेनाभिमन्यते सो भिमानः आत्मनो बन्धस्त- निवृत्तिमोक्षः ॥

होता है । ईश्वर इस बन्धन से विमुक्त माना जाता है, तभी तो अमनस्क योग तन्त्र में कहा है कि भाव और अभाव से विनिर्मुक्त नाश और उत्पति से विवर्जित सो संकल्पों से परे ही ब्रह्म या ईश्वर की स्थिति है ।[17] वह स्थिति नाथ रूप में अवस्थित होने पर ही हो सकती है । इसीलिए तो कलियुग में नवनारायणों ने, नौ नाथों का शिवाज्ञा या आदिनाथाज्ञा से अयोनिज अवतार लिए , क्योंकि कलियुग के कदाचार से जीवात्माएं कदर्थित होकर नरक जा रही थी । उनका उद्धार करने के लिए 1. कविनारायण- मत्स्येन्द्रनाथ, 2. हरिनारायण- गोरखनाथ, 3. अन्तरिक्ष नारायण- जालन्धरनाथ, 4. प्रबुद्ध नारायण- कानीफानाथ, 5. द्रुमिल नारायण- भर्तृहरिनाथ, करभाजन नारायण- गहिनीनाथ, 7. चमस नारायण- रेवणनाथ 8. आविर्होत्री नारायण- नागनाथ और 9. पिप्पलायन नारायण -चर्पटीनाथ के रूप में अवतरित होकर लोगों के कल्याणार्थ मार्ग द्रष्टा बने । जिनको भविष्यत् पुराण में गिनाया गया है ।[18] ऐसा इन नारायणों ने क्यों किया ? क्योंकि गंगा नदी पाप का, चन्द्रमा ताप का कल्पतरु दीनता का हरण करते हैं । महात्मा अकेले ही पाप-ताप-दैन्य तीनों का हरण करने वाले माने गए हैं ।[19] अतः कलिमानव के तापहारी नाथ बने तथा उनका मंगल आज करते

---

17. अमनस्क, 1-12 भावाभावविनिर्मुक्तं नाशोत्पत्ति विवर्जितम् । सर्वसंकल्पनातीतं परं ब्रह्म तदुच्यते ।

18. भविष्य पुराण , कवि हरिरन्तरिक्षः प्रबुद्धः पिप्पलायनः । आविर्होत्रोऽथ द्रुमिलः चमसः करभाजनः ।।

19. नवनाथ चरित्र, पृ0 1, गंगापापं शशीतापं दैन्यं कल्पतरुस्तथा ।। पापं तापं च दैन्यं च घ्नन्ति सन्तो महायशाः ।

जा रहे हैं । नाथों के बारे में युक्ति है कि ये सब लोगों को अभय दान देते हैं । लोग भी इन्हें अभयदान देते हैं । ऐसा आगम ग्रन्थों में सुना जाता है ।[20]

इस प्रकार से प्राणिमात्र को दया करने वाले नाथ "आत्मवत्सर्वभूतेषु" की भावना रखकर "आत्मनः प्रतिकूलानि परेषान्नाचरेत्" के व्यवहार को करते हैं । जिससे यह अनुमिति की जा सकती है कि नाथ मत,सर्व अभ्युदय को महत्त्व देते हैं तथा इनके ग्रन्थों में जीव की स्वतन्त्रता तथा उसके लिए भोग और मोक्ष दोनों की प्राप्ति भी अभीष्ट हैं । ऐसा नहीं कि वे संसार रूपी भोग की लताड़ना करके मोक्ष को ही अधिमान देते हों । वे देह मुक्ति के द्वारा ही विदेह मुक्ति नाथों को अभीष्ट है । इसलिए नाथों के ईश्वर परमनाथ और ब्रह्म परात्पर नाथ माने गए है । जिनका संहिता में आभास होता है । वहाँ दो ही पदार्थ अभिलक्षित होते हैं- योग और भोग । योग से मुक्ति और भोग से बन्धन जीवों को ही भोगेषणा बन्धकर पाश का काम करती हैं और उन्हें पशु बना देती है । योगी आरम्भ में परिश्रम करके मुक्ति पा लेता है जहाँ कोई संस्कार फिर नहीं रहते । यह संस्कार हीनता या उन्मनी अवस्था ही ईश्वरत्व का कारण है ।

20.राजेश दीक्षित, नवनाथ चरित्र,पृ० ।, अभयं सर्वभूतेभ्यो यो ददाति दयापरः ।

अभयं तस्य भूतानि ददतीत्यनुशुश्रुमः ।

कार्यकारणवाद का सिद्धान्त

भारतीय दर्शन शास्त्रों में न्याय वैशेषिक का प्रथम स्थान माना गया है । तभी तो पाणिनि और कणाद को समस्त शास्त्रों का उपकारक स्वीकार किया गया है ।[21] ऐसा क्यों ? जब हम इस बात पर विचार करते हैं तो पाणिनि शास्त्र तो स्वरूप का ज्ञापक होने से उपकारक हो सकता है अर्थात् जब तक भाषा का स्वरूप समझ में नहीं आया, तब तक भाषागत विषय समझ में नहीं आ सकता । उस तरह से कणाद का वैशेषिक दर्शन कैसे सर्व शास्त्रों का उपकारक माना गया । इसका सम्यग् उत्तर कार्यकारणवाद ही हो सकता है । संसार में "कारणमनुदिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते" का सिद्धान्त अटूट है । जो भी कुछ होगा उसका कोई कारण माना जाएगा । तभी तो कहा गया है कि अगर संसार का कोई कारण नहीं तो कुम्हार के बिना घड़ा, चित्रकार से बिना चित्र बनने लगेंगे[22] । इसी से अनुमान किया जा सकता है कि संसार की दृश्यमान सृष्टि का कुछ न कुछ कारण है जहाँ वह प्रत्यक्ष दीख सके वहाँ प्रत्यक्ष से उसे जान लें । जहाँ प्रत्यक्ष से कारण के दर्शन न हो सके वहाँ अनुमान या आगम से उसे जाना जा सकता है । जिससे समवायी और असमवायी तथा निमित कारणों का सिद्धान्त विछिन्न न हो ।

गोरक्षसंहिता कार अपने तीनों प्रकरणों में इसकी सूचना देते हैं ।

---

21. पाणिनीयं कणादञ्च सर्वशास्त्रोपकारकम् ।

22. उदयनाचार्य, न्याय कुसुमाञ्जलि, 4.1

जगतो यदि न कर्ता कुलालेन विना घटः ।

चित्रकारेण विना चित्रं स्वयमेव भवेत्तदा ।।

कादि प्रकरण में तान्त्रिक साधना करके चक्रों में प्रकाश के दर्शन तथा चलचक्र में संयुक्त दर्शन एवं देवी के पीठों में देवी के दर्शन करना तथा भूति प्रकरण में रस से अपने शरीर को अमर बनाकर अमरत्व की बात कही गई है । "रसं वै प्राप्य रसो वै भवति सः" के सिद्धान्त के अनुसार रस शोधन तथा उसके सेवन को उसका कारण माना गया है । उसी प्रकार योग प्रकरण में भी बाह्य साधन को आन्तरिक धारणा ध्यान समाधि का कारण माना गया है । उसे प्राप्त करने के लिए एकतान कार्य एवं ध्यान को मोक्ष का कारण माना गया है ।

अतः भास होता है कि गोरक्षनाथ जी का साहित्य भी इससे छूट नहीं सका । वे भी अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए सतत अभ्यास को जहाँ कारण स्वीकार करते हैं वहाँ गुरु को मोक्ष का द्वार स्वीकार करते हैं । अतः कार्यकारण का सिद्धान्त गोरक्षसंहिता में यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से वर्णित नहीं है तो भी योग को मुक्ति का सोपान बताया गया तथा काल की वंचना कहा गया है ।[23] योग को कल्पवृक्ष का फल बतलाते हुए संसार का तापनाशक -वत लाकर उसके सेवन की सलाह दी गई है ।[24] फिर कार्यकारण का प्रत्यक्ष दर्शन आत्मा और

---

23. गो०सं० 1.5 एतद्विमुक्ति सोपानमेतत्कालस्य वञ्चनम् ।

24. वही, 1.6 द्विजसेवितशाखस्य श्रुतिकल्पतरोः फलम् ।

शमनं भव तापस्य योगं भजत सत्तमाः ।।

परमात्मा के एकत्व प्रतिपादन के उदाहरण में देखने को मिलता है । जैसे दूध में दूध, घी में घी, आग में आग मिलकर लीन हो जाते हैं । वैसे ही जीवात्मा परमात्मा में लीन हो जाता है ।[25] क्योंकि द्रव्य नित्य है और उसमें उत्पन्न कार्य अनित्य है । घड़ा टूट कर फिर मिट्टी हो जाता है । वैसे ही जीव भी अपने कारण ईश्वर में लीन हो जाता है । इसके बाद वह तत्व बन जाता है । जैसा कि कहा गया है" जल में कुम्भ कुम्भ में जल है, बाहर भीतर पानी । फटा कुम्भ जल जल ही समाना यही तत्व कहानी" इसी प्रकार से कादि प्रकरण के 21 पटल में गुरु की अनिवार्यता बतलाते हुए कहा गया है । कि गुरु को ढूंढे, उन्ही की कृपा से सबकुछ मिल सकता है ।" इसमें भी कारण गुरु को बनाया गया है ।[26]

कहने का तात्पर्य यह है कि कार्यकारणवाद को गोरक्षनाथ ने पूरी तरह से पालन किया है और अपने देश के "छिन्ने मूले न पत्रं न शाखा" के मूल सिद्धान्त की रक्षा की है । करते भी क्यों नहीं, नाथ जब धर्म जाति गुण, और आचार नियमों की रक्षा के लिए पैदा होते हैं । ।

---

25. गो०सं०या०ख० 1.97, दुग्धे क्षीरं घृते सर्पिरग्नौ वह्निरिवार्पितः ।
तन्मयत्वं व्रजत्येवं योगी लीनः परे पदे ।।

26. वही 21.18 गुरुप्रसादाल्लभ्येत नान्यथा तु कदाचन ।

शुद्ध विद्या :-

मानव अपने में पूर्ण है । उसमें न्यूनता और महत्ता का कारण, यदि कोई माना जा सकता है तो केवल विद्या को ही । परा और अपरा भेद से विद्या दो प्रकार की है । वहाँ परा की प्रधानता होने से पहले गिनती करने पर भी समझाने के लिए अपरा को ही लिया गया है[27]। ऋग्वेदयजुर्वेद,सामवेद,अथर्ववेद,शिक्षा,कल्प व्याकरण,निरुक्त,छन्द और ज्योतिष अपरा विद्या कहलाती है । परा उस विद्या का नाम है,जिससे अक्षर ब्रह्म जाना जाए क्योंकि उस अक्षर ब्रह्म से संसार वैसे ही पैदा होता है । इसके पश्चात् वह उसमें ही लीन हो जाता है ।जैसे मकड़ी से उसका जाला तैयार भी होता है और उसमें लीन भी हो जाया करता है[28]। इसलिए उस ब्रह्म को बतलाने वाली विद्या को अवश्य ही उस प्राणी ने जानना है । तभी उसकी मानवता "मत्वा कर्माणि" निर्वचन पर ठीक उतर सकती है । वैसे तो जीव चौरासी लाख योनियों में से किसी न किसी योनि में गया हुआ ही रहता है । परन्तु मानवेतर योनियाँ, भोगकारी होने से वहाँ कोई उद्धार कर्म नहीं कर सकती । स्व उद्धार हो या पर उद्धार वह तो मानव योनि में आकर ही जीव कर सकता है । यह योनि कर्म योनि मानी गई

---

27. मु०उ० 1.4 कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति । तस्मै स होवाच । द्वे विद्ये विदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्म विदो वदन्ति परा चैवापरा च ।

28. वही 1.5.29, 1.7

है । इसीलिए मानव के मस्तिष्क का विकास ह्रास उसके अपने हाथ में है । तभी तो महाभाष्य के पस्पशाह्निक में ज्ञान पूर्वक अप् शब्द के प्रयोग में अधर्म बतलाया है । इस तरह से अविद्या की उपासना करने वाले को अन्धेरे में व्याप्त घोर नरक में प्रवेश करना पड़ता है और उससे भी अधिक अन्धकारमय नरक में विना गुरु के जो विद्या की उपासना करता है उसे जाने को कहा गया है[30] । इसलिए ऋषि ने सलाह दी है कि विद्या और अविद्या के अध्ययन से मृत्यु को जीतकर अर्थात् प्राणायामादि विधि सीखकर विद्या अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान रूपी योग से मोक्ष को प्राप्त कर सकोगे[31] । इसी तरह असम्भूति और सम्भूति अर्थात् अविनाशी ब्रह्म ज्ञान तथा विनाशी जगत ज्ञान का प्रवाद भी वहाँ आया है । जिससे प्रतीत होता है कि स्वकीय ज्ञान से ही जब ब्रह्माण्ड ज्ञान अभीप्सित है तो सांख्य कारिका में बतलाए गए अतिदूर, अतिसामीप्य, इन्द्रियघात आदि में से जीव अपने को अतिसमीपता के कारण से नहीं देख पाता[32] । दूसरे करण के द्वारा ही दर्शन कर्म हो सकता है । पाणिनि ने तभी तो "करण को साधकतमम्" कहा है[33] आत्मा करणों से परे स्वतन्त्र कर्ता माना गया है[34] । गीता में

30• ईशावास्योपनिषद् 9• अन्धः तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ।

31 वही, 11, विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ।

32• सा० का० 7

33• अष्टाध्यायी, 1•4•42

34• वही, 1•4•54 स्वतन्त्रः कर्ता

कहा है कि शरीर से श्रेष्ठ और आगे इन्द्रियाँ है उनसे आगे मन अन्तरिन्द्रिय माना गया है ,तब बुद्धि का स्थान आता है और आत्मा तो बुद्धि से भी परे है [35] इसलिए उसका तो दर्शन नहीं होगा अपितु विद्या के द्वारा, मनन निदिध्यासन और बोध ही किया जाएगा । जिसके लिए गोरक्षसंहिता, के कादि प्रकरण में मालिनी विद्या तथा चलचक्र ज्ञान दिया गया है । जिस चलचक्र में पाद अंगुष्ठ से लेकर ब्रह्मरन्ध्र तक के षोडश तेजों को एक करके आखों को नाक की नोक रूपी बाह्य आधार में स्थित करने के षाण्मासिक अभ्यास की आज्ञा दी गई है । जिससे शरीर के अन्दर का तेज भूमि बनकर अलातचक्र की तरह घूमने लगेगा । जो शरीर में "रफ्लेक्शन" वर्चस्व को पैदा करेगा । तब आभ्यन्तरिक लक्ष्य को भेदन करने में साधक सफल होगा ।[36] क्योंकि चला नामक शक्ति का है, जब वह चक्र भेद में लग जाए ।[37] वे चक्र आठ-आठ अरों वाले पैर, जानु, उरु, नाभि, हृदय और कण्ठ में माने गए है । जो वज्रलेप जैसे दृढ़ हैं क्योंकि उन चक्रों की कर्णिकाओं में अत्यन्त बन्धन दिया गया है । वहाँ जब

---

35. गीता 2.42

36. गो०सं० का०प्र०पृ० 25, चलचक्रविभागेन लक्ष्यभेदमुदाहृतम् ।

37. वही, चलाशक्ति इति ख्याता चक्रभेदे व्यवस्थिता ।

सरस्वती रूपी विद्या या सुषुम्णा से होती हुई कुण्डलिनी पहुँचेगी, तब यदि उसका ध्यान किया जाए तो प्राण वायु से प्रेरित होकर वहाँ का तेज तपेगा और शरीर के बाहर का तेज भी चलचक्र घूमने लगेगा । जब वह तेज स्वयं को आभासित होगा तो छः मास में ही अणिमादि सिद्धियाँ मिल जाएंगी और चक्र भेद भी हो जाएगा । तब अर्ध चन्द्र की कला से युक्त ब्रह्म रन्ध्र में बैठे शिव में बिन्दु स्वरूप में उसमें ध्यान लगावें ।[38] इससे नाभि कण्ठकूपादि कूपों को छोड़कर वह महाविद्या अपने पति बिन्दु रूप से मिलकर मोक्ष प्राप्ति कराए । उसी की प्राप्ति पर जीव हंस बन सकेगा और सहस्रार रूपी मानसरोवर में विचरण करके "समाधि लगाकर" आहार ग्रहण के लिए मणिपुर रूपी क्षीरसागर में आ जाएगा ।[39] इस ब्रह्मरन्ध्रगत बिन्दुरूपी शिव को संहिता में अनेक विशेषण दिए गए हैं । जैसे शून्याच्छून्यतर, निरामय, परम व्योम, अनाख्य, निराभास, प्रपंचरहित, मरणव्ययवर्जित, रूपारूपविवर्जित, परानन्द, परात्पर सर्वगत आदि ।

इस तरह जहाँ कादि प्रकरण में शुद्ध विद्या का उपदेश मिलता है, वहाँ योग

---

38. गो०सं का०प्र०, अर्धेन्दुकलयाभिन्नं रन्ध्रस्थं विन्ययेत् प्रिये ।, पृ० 23

39. वही, का०प्र०, पृ० । आपादस्थलमूर्ध्निस्थं कन्दनाल समासृतौ । हंसयपं निराभासं भैरवं तं नमाम्यहम् ।

प्रकरण तो है ही ,क्योंकि योग ही वास्तविकरूप से शुद्ध विद्या है जिससे अमृत तत्व मिलता है । ज्ञान प्रत्यक्ष होता है, अविद्या रूपी कुण्डलिनी का विद्या रूपी शिव से मेल होता है नाद रूपी सृष्टि बिन्दु सृष्टि रूपी शिव में लीन हो जाता है । उस योग को ही शुद्ध विद्या कहा जाता है । विद् ज्ञाने धातु से यत् प्रत्यय करके बना विद्या शब्द प्रत्यक्ष ज्ञान में ही प्रयुक्त हो सकता है। तभी तो वेद और वेदान्त को उपनिषद्‌कार ने अविद्या की संज्ञा दी है । जिससे अक्षर ब्रह्म जाना जाए उसे विद्या कहा है । वह अक्षर ब्रह्म का ज्ञान योग से ही हो सकता है । जिसका" गोरक्षसंहिता में विषद् वर्णन है ।

पिण्ड में कुण्डलिनी जिसे कहा गया है,शिव के साथ जिसे शक्ति नाम दिया गया है,वही वेदान्तियों के शब्दों में माया कहलाती है । जहाँ पर वेदान्ती इस व्यापक ब्रह्म शक्ति को जड़ात्मक मानते हैं तथा ब्रह्मा की इच्छा रूप भी स्वीकार करते हैं,वहाँ गोरक्षनाथ इसे शिव की इच्छा "एकोऽहं बहुस्याम" स्वरूप तो स्वीकार करते हैं । वेदान्तियों से इनकी महाशक्ति में यही अन्तर आता है कि ये शिव से उत्पन्न शक्ति को भी चेतन स्वीकार करते है,क्योंकि चेतन से अचेतन पैदा नहीं हो सकता । [39] इसलिए चेतन शिव की माया रूपी शक्ति

39•गीता नसतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।

सां०का० ९,असदकरणादुपादानग्रहणात् ।

चेतन ही होगी। यह संसार का उत्पादन, रक्षण तथा भक्षण करती है । इसके ज्ञान को मुक्ति और भुक्ति को देने वाला कहा गया है[40] । यह माया तत्व अनिर्वचनीय है । इसके स्वरूप का वचनों में बान्धना मुश्किल है । इसे उपनिषद् में प्रकृति कहा गया है और शिव को मायी की संज्ञा दी गई है । उस मायी के शरीर के अंग स्वरूप सारे संसार को माना गया है[41] । उसे समझने के लिए विद्या की उपासना गिनाए हुए पीठों में करनी पड़ती है । अभ्यास होने पर पीठों ~~प्रक्षेत्रों~~ के समूह रूपी शरीर में नाद द्वारा उसका ज्ञान करना पड़ता है, निराचार योग से ध्याना पड़ता है । निराचार योग शक्ति योग का नाम है । उसको तब तक ध्याने का आग्रह है, जब तक वह ब्रह्म बिल अर्थात् गल की घंटी के छिद्र में प्रवेश न कर ले[42] । इससे जीव पशुपाश से विनिर्मुक्त होकर निरामय पद में चला जाता है ।

उसे यह प्राप्त करने की शक्ति कला प्राप्त करने पर मिलती है । ज्ञान देने वाली शक्ति के स्वरूप को गोरक्षनाथ ने मकड़ी के जाले जैसा बतलाया है, मध्य में मकड़ी की तरह छिपकर वह सारे जाल को अमृत जैसी किरणों से व्याप्त कर देती है । यही विरजा योगियों की आराध्य देवी है । ब्रह्म नाड़ी ब्रह्म ज्ञान प्रदायिनी है । चित्त शक्ति उस का अंश मात्र है । वह पूर्ण कहलाती है । कला, विकला, सकला, कलाकला

---

40. न मया कस्यचित्ख्यातं दिव्यज्ञानं महोदयम् ।
योगिनी गुह्य सद्भावं भुक्तिमुक्ति फलप्रदम् ।।

41. मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
तस्यावयव भूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ।।

42. का० पु० 10.95-96

का वह उद्गम स्रोत है । अतः वह पूर्ण है । वह विराट् रूपवती है, परन्तु उसकी प्राप्ति दिव्य चक्षु वालों को ही होती है । "दिव्यं ददामि ते चक्षुः" इसीलिए कहा गया है । पुनः "पश्यामि देवास्तव देव देहे" का बोध होता है । भीतर ही सब देवों के दर्शन होने लगते हैं । इसके बाद ब्रह्म ज्ञान होता है जिसमें समत्व की भावना आती है । ब्रह्मज्ञानी तो वही हो सकता है जो "श्री खण्डे न च विष्ठायां भेद पश्यति यो नरः" [43] । इतना कहकर गोरक्षनाथ समस्त समस्तकामनाओं को देने वाली, ज्ञान करवाने वाली अभीष्ट सिद्धि देने वाली, चार शरीरों से युक्त" सच्चिदानन्द तथा समष्टि रूप" चार शक्तियों से घिरी हुई, चार भुजा वाली माहेश्वरी विरजा को नमस्कार करते हुए, उसके ज्ञान से शरीर में सप्त पुरियों के ज्ञान की बात कहते हैं । मूलाधार-अयोध्या, मणिपुर-मथुरा, अनाहतचक्र-माया, विशुद्ध चक्र-काशी, आज्ञा चक्र-कांची, उसके पार अवन्तिका है । उससे भी ऊपर द्वारावती है । वहाँ पर भी विरजा का स्थान है । कपालों के बीच का जो प्रवेश द्वार है, वहाँ से समस्त द्वार दीखते हैं, इसीलिए उसका नाम द्वारावती कहा गया है । [44] उसी के ऊपर ब्रह्मरन्ध्र में स्थित अर्धचन्द्रकलायुक्त परात्पर शिव रहता है, जिसका ज्ञान विरजा में स्नान करने के पश्चात् ही हो सकता है । उस शिव के पूजन में कला के पूजन का विधान है । शिव की

---

43. सारस्वत कुण्डलिनी महायोग, पृ० 129

44. वही, पृ० 130

भावनाकरके "आग्नेय कोण में हृदय, ईशान में शिर, नैर्ऋत में शिखा, वायव में कवच की पूजा करें इसके बाद दिशाओं में अस्त्रों को फैलाकर भुवों के बीच में उनका पूजन करें । इसके बाद शशिनी, अंगदा, इष्टा, मरीचि, और ज्वालिनी को मध्य में पूजा करें । पुनः निवृति, प्रतिष्ठा विद्या और शान्तिकरी इनको पश्चिम में, तमा, मोहाशया, अनिष्टा, व्याधि, मृत्यु, क्षुधा, और तृषा रूपी कला को दक्षिण में, सिद्धि, रिद्धि, द्युति, लक्ष्मी, मेधा, कान्ता, स्वधा, प्रभा को पूर्व में, रजोरक्षा, रति, पाल्या, कामा, संजीवनी, क्रिया, बुद्धि, कार्या, धात्री, भ्रामिणी, मोहिनी और जरा को उत्तर दिशा में पूजा करें । इसके बाद "ॐ शिखानाथाय विद्महे स्वच्छन्दाय च धीमहि । तन्नो वीर प्रचोदयात्" इस गायत्री मन्त्र से अर्घ्य देने का विधान किया गया है ।[45] इसी तरह पिण्डिनी, पदिनी, रूपीणी, अमूर्ति, शान्ता, कौलिनी, अकुला, खण्डिनी, रति, अकुला, अर्थदाता, शुभगा, वेदनामा, करालिनी, मध्यमा, और सोलहवीं अन्तिमी कही गई है । जो चन्द्रमा और पुरुष में रहती है।[46]

---

45. गो०सं०का०पु० 12.54.60

46. वही, 12.107-112

राग

सुख के भोग करने पर पुनः सुख को भोगने की जो इच्छा होती है,उसका नाम राग होता है।[47] वह समाधि में अन्तराय स्वरूप माना गया है । मनुस्मृति में काम त्याग को प्रशस्त नहीं माना है । वेद विद्या कामना से पढ़ी जाती है,इसी से कर्म योग बनता है।संकल्प काम से पैदा होता है और संकल्प से ही व्रत,नियम धर्मादि किए जाते हैं । अकामता से कोई कर्म होते नहीं देखा गया[48] । गोरक्षसंहिता में भी जहाँ लोक समृद्धियों की प्राप्ति की जा सकती है,वहाँ जीवन मुक्ति तथा विदेह मुक्ति के भी साधन उसमें दिखाए गए हैं । "स्वानुकूल वेदनीयम् सुखम्" इस अन्नभट्ट के लक्षणानुसार लोग उसी में प्रवृत होते हैं । जिसमें सुख हो । मोक्ष में भी दुःखत्रय विघात करके,आत्यन्तिक सुख की इच्छा दर्शाने पर ही लोगों में प्रवृति उत्पन्न होगी । अतः संहिता में राग का जहाँ वर्णन कहीं उपलब्ध नहीं है तो भी कुण्डलिनी का जहाँ उत्थापन होगा और उसमें राग की उत्पत्ति होगी तभी जाकर वह अपने स्वामी से मिल सकेगी । अगर कुण्डलिनी शिव से और शिष्य का गुरु से राग न हो तो कैसे संयोग होगा ? संयोग के बिना मोक्ष प्राप्ति सम्भव नहीं ।

दूसरे सामवेद के राग भी संहिता के प्रकरणों में नाद के साथ-साथ देखने को मिलते हैं । आत्माराम ने अपने ग्रन्थ हठयोग प्रदीपिका में कहा है कि "तत्व के बोध से शून्य व्यक्तियों,मूढ़ों को भी जो ज्ञान करवाने वाली विद्या

---

47. पतंजलि, यो०द०,2.7 सुखानुशयीरागः ।

48. मनुस्मृति 2.2-4

है, उस नाद उपासना के शुरु में सागर, मेघ, भेरी झांझ जैसा वह नाद सुनाई देता है।[49]

मध्य में शंख, घंटा, ढोल, वेणु, आदि की ध्वनि सुनाई देती है तभी तो संहिता के आदि प्रकरण में अघोर विद्या तथा शुद्ध विद्या के कवचदूती, नेत्रदूती, मुखदूती, अस्त्रदूती आदि के वर्णन समय में अनेक बार बिन्दुनाद काउल्लेख किया गया है, जिनके संयोग से पूर्वावस्था में अनेक रागों का श्रवण होता है। इन ध्वनियों के साथ-साथ चिण-चिण, चिंचिण, चिखाकी, छद्म तन्त्र निर्घोष शंखघोष, कांस्यताल मेघगर्जन, चिट्-चिट् और दुन्दुभि शब्द भी सुनाई देता है।[50]

काल :-

न्याय वैशेषिक ग्रन्थों में सृष्टि का वर्णन करने से पूर्व, उसके असाधारणकारण पदार्थों का वर्णन किया है। वैशेषिक दर्शन में पदार्थ दो प्रकार के भाव और अभाव रूप माने गए है। वहाँ भाव छ प्रकार से द्रव्य गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और सामान्य भेद से बाँटा गया है। जबकि अभाव-प्रागभाव प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव से चार प्रकार का हो जाता है। इसका लक्षण करते हुए कहा गया है -अभिधेयत्वं प्रमेयत्वं वा पदार्थत्वम्"[51]। जो अभिधा शब्द का विषय हो या प्रमाज्ञान का विषय हो उसे पदार्थ कहा गया है। पदार्थ का पहला भेद द्रव्य है, द्रव्य पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल दिशा, आत्मा और मन के रूप में नौ प्रकार का बन जाता है। द्रव्य गणना के क्रम में

---

49. हठयोगदीपिका, 4.65

50. का0पु0 16.28-30

51. तर्कसंग्रह, पदार्थलक्षण टीका

पाँच महाभूतों के ऊपर काल का स्थान आता है । कलयति-पंचभूतानि स्वात्मनि लयति यः सः कालः । जो पाँचों महाभूतों को भी निगल जाता है,वही काल है । गोरक्षनाथ भी उस काल से भयभीत हैं क्योंकि यही सृष्टि का भक्षक है तभी तो पुराणों में इसे "कालो जगद् भक्षकः" कहा गया है । उसी को गोरक्ष भी अघोर कहते हैं जो शिव का दक्षिण का मुख माना जाता है । काल,विष्णु,शिव और शक्ति को अघोर कहा गया है ।[52] इसके बाद उस अघोर को षट् पदार्थ युक्त कहकर नौ द्रव्यों में प्रधान घोषित किया है ।[53] पुनः काल का लय विष्णु में,विष्णु का शिव में करके शिव को सर्वभक्षक अग्नि माना है ।[54] फिर वही शिवा शक्ति बनकर माया रूपी काल को लीन कर लेती है ।[55] तब उसका नाम गौरी हो जाती है । वह काले काल का भक्षण करके गौरी बन जाती है । फिर वह व्यापकता को प्राप्त करके ऋत् बनकर तुर्यपद अर्थात् सत् रज तम को लाँघ कर साम्यावस्था को प्राप्त करके उन्मनी अवस्था धारण कर लेती है ।[56] यही अमृत तत्व है तथा वेद मन्त्र " ऋतं च सत्यं च तपसा-

---

52.का०पु० 12.19 अघोरं अकालमित्युक्तं अघोरं विष्णुरुच्यते ।
अघोरोऽहं महेशानि अघोरा त्वं वरानने ।।

53. वही, 13.116, षट् पदार्थयुत देवो नवकेन प्रसिद्ध्यति ।

54. वही, 13.117, स एव कालो विज्ञेय सर्वभक्षी हुताशनः ।

55. वही, 13.118

56. वही 13.119

अध्यजायत" के रहस्य को बतलाती है । ऋत सूक्ष्म नित्य तत्व है । जबकि सत् दृश्यादृश्य व्यापक महान् तत्व होता है । इसलिए सत्य का आश्रय माना गया है । ऋत् भी वही माया रूपी गौरी काल का कवल करने वाली काली अघोर रूपी सत्य शिव की आश्रया है । वह शिव निर्वाण पद है[57]। वह निर्वाण पद काल से परे है,वहाँ पर न तो जरावस्था आती है । यहाँ महा पापों से होने वाले दुःख से भी निवृति मिल जाती है[58]। यह"सुप्रीम पावर" अर्थात् सबसे बड़ी शक्ति है । यह परात्पर नाथ है ।

57-का0पु0 ।13-12। आश्रयं देवदेवस्य अघोरस्य महात्पे ।

निर्वाणं तु पदं दिव्यं स शिव परिकीर्तितः ।।

58- वही, ।3-122। न कवलवशं गच्छेन्न जरा न च दुःखितः ।

नियति :-

सृष्टि में दो तत्व मुख्य रूप से माने गए है -चेतन और जड़ । जिन्हें पौजिटिव और नैगेटिव भी कहते हैं । जहाँ तक भी दृश्यमान् सृष्टि का सम्बन्ध है वह नियति पर आधारित है । यह उपनिषदों की रयि कहलाती है। रयि में ही अनेकों विकार उत्पन्न होते हैं । वही घटती बढ़ती है । प्राण तो चेतन तत्व होने के कारण एकरूप रहता है । उसके सम्पर्क से ही रयि में संकोच विकास होता है । जिस प्रकार चुम्बक के संयोग से लोहे में गति हो जाया करती है । इसके विकार और ह्रास विकास भी निश्चित सीमा तक ही हो सकते हैं । इसी कारण इसे नियति या प्रकृति कहा गया है । वर्तमान युग में जहाँ इस प्रकृति के सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप को जानने की कोशिश की जा रही है वहाँ उसके संचालक को विस्मृत किया जा रहा है । आधुनिक विज्ञान की दौड़ में तीन तत्वों पृथिवी जल तथा तेज की उर्जाओं का विश्लेषण किया जा रहा है । ये ही प्रत्यक्ष दृश्यमान द्रव्य हैं । इनसे ऊपर वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा आदि को वे इन्हीं का विकार मानते हैं जबकि हमारे संस्कृत ग्रन्थों में इन सब की सत्ता भिन्न स्वीकार की गई है और नियति को अजा माना गया है लाल, काली और सफेद माना गया है[1]। उसकी सत्ता ब्रह्म इच्छा से स्वीकारी गई है । जब एकोऽहं बहु स्याम्" की भावना हुई तब से प्रकृति का जन्म हो गया और असीम शक्ति सम्पन्न नियति ने अपने नियन्ता को नियन्त्रित कर दिया । जिस करण व्यापक ब्रह्म भी नियन्त्रित होकर सीमा में बन्ध गया । इसे वेदान्ती लोग माया कहते हैं । सांख्य वाले प्रकृति कहते हैं , अन्य लोग इसे

---

1. श्वे०उ० । अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम् ।

नियति या स्वभाव की संज्ञा देते हैं जबकि शैव सम्प्रदाय से प्रभावित नाथ सम्प्रदाय वाले इसे शक्ति शब्द से भी पुकारते हैं । शक्ति और शक्तिवान् का अकाट्य सम्बन्ध है और सांख्य वालों की तरह वह इनके मत से जड़ा भी नहीं है । चेतन ब्रह्म से उपजी शक्ति भी चेतन ही होगी तभी तो सांख्य[2] वालों की सत्कार्यवाद भी सुरक्षित रहेगा[3] । तभी तो अर्धनारीश्वर का शैव सिद्धान्त शैवों ने भी स्वीकार किया है । जैसे जल वीची भिन्नाभिन्न है वैसे ही ही शक्ति और शक्तिमान् भी भिन्नाभिन्न ही है ।

यह ब्रह्माण्ड के भेद से भिन्न होती है । यह अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों में यह नियति कुण्डलिनी रूपों में अपना काम करती है । शरीर रूपी पिण्ड में कुण्डलिनी और बृहत्-ब्रह्माण्ड में शिव की शक्ति प्रलय काल में 36 तत्वों को निःशेष भाव से आत्मसात् करके परम शिव में तत्वरूपा होकर अवस्थान करती है । तभी तो वामकेश्वर तन्त्र में इस शक्ति को "कवलीकृतानि शेषतत्वग्रामस्वरूपिणी" कहा है[4] ।

इस शक्ति के पांच भेद हो जाते है- निजा-परा, अपरा, सूक्ष्मा, और कुण्डलिनी ।

---

2 - सि0सि0सं0 1-6 चिच्छीला कुण्डलिन्यतः ।

3 - गीता, न सतोविद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
सा0का0 9 असत्करणादुपादानग्रहणात् ।

4 सि0सि0सं0 1-13 निजापरापरा सूक्ष्मा कुण्डली तासु पंचधा ।

जोव :-

जिस प्रकार सेशक्ति पंचधा विभक्त होती है और नियति से कुण्डलिनो तक को यात्रा करती है उसो प्रकार से शिव भी अपर,परम,शून्य निरंजन परमात्मा रूप में परिणत हो जाता है[5]। इस प्रकार निखिलानन्द सन्दोह शिव पांच अवस्थाओं से गुजरते हुए प्रथम तत्व परमात्मा या सगुण शिव के रूप में आकर प्रकट हो जाया करता है,फिर कुण्डली शक्ति सृष्टि क्रम को आगे चलाती है और सूक्ष्म से स्थूल की ओर बढ़ती है । तब तीनों तत्वों की उत्पत्ति होती है,जो ये हैं सदाशिव, ईश्वर और शुद्ध विद्या।उभय प्रधान शुद्ध विद्या, सदाशिव अहं प्रधान और ईश्वर इदं प्रधान है । सृष्टि व्यापार को अग्रेसर करने के लिए अंहता कि प्राप्ति पांच अवस्थाओं के भीतर होती है । इन अवस्थाओं का नाम आनन्द है । ये इस प्रकार नाथ सम्प्रदाय में गिने गए है-परमानन्द,प्रबोधानन्द,चिदुदयानन्द, प्रकाशानन्द और सोऽहमानन्द । इन्हीं आनन्दों के भीतर से गुजरते हुए शिव क्रमशः जीव रूप की संज्ञा को प्राप्त करता है । जिसका गोरक्षसंहिता में वर्णन आया है ।अकुल से कुल तक पहुंचने का वर्णन द्वादश पटल के अन्दर पूर्ण रूप से किया गया है । वहाँ पर जहाँ अव्यक्त से

5-सि०सि०सं० 1-14-15 ततोऽस्मितापूर्वमर्चिमात्रं स्यादपरं परम् । तत्स्वसंवेदनाभासमुत्पन्नं परं पदम् । स्वेच्छामात्रं ततः शून्यं सत्तामात्रं निरंजनम् । तस्मात्ततः स्व साक्षादभूः परमात्मपदं मतम् ।

व्यक्त तक की मात्रा का वर्णन किया गया है वही पचास कुलनायिकाएँ कुल पिण्ड में व्यवस्थित बतलाई गई हैं । जिनके नाम प्रथम सोलह पीठों के ऊपर पिण्डिनी, पद्मिनी, रूपिणी, अमूर्ति, शान्ता, कौलिनी, अकुला, खण्डिनी, रति, अकुला, अर्थदाता, शुभगा, वेदा, करालिनी, मध्यमा और अन्त्यचारी सोलवी कुलनायिका मानी गई हैं । ब्रह्म रन्ध्र के बीच में गुरु परम्परा क्रम से उसकी पूजा करने से सांसारिक भोगों की प्राप्ति और मुक्ति का संदेश दिया गया है । पुनः बिन्दु शक्ति और नाद रूपी त्रिमात्राओं का अ, उ म को कुल माना गया है उसे पाँच प्रकार का मानकर फिर सदाशिव, ईश्वर, विष्णु ब्रह्मादि रूप से जीव संज्ञा को प्राप्त करने का वर्णन किया गया है । जिससे गोरक्षनाथ जीव को शून्य में व्याप्त तेज की तरह शरीर में व्याप्त चित्तिरूपता को कहते हैं।[6] जो अग्नि स्वभाव युक्त है । यही क्रम सिद्ध सिद्धान्त संग्रह में कहा है कि परपिण्ड से आद्यपिण्ड, उससे साकार पिण्ड और, उससे महासाकार पिण्ड, उससे प्राकृत पिण्ड और अन्त में गर्भपिण्ड उत्पन्न होता है यही गर्भपिण्ड जीव संज्ञा से लोक में व्यवहृत होता है उससे ही भोग और मोक्ष मिलता है । इसे ही परम अद्वैत का भाव कहा गया है ।[7] इस तरह विकास की भिन्न अवस्थाओं को सत्य नहीं समझना चाहिए । यह सभी प्रक्रिया सत्य है । जितने आधार या नाड़ियाँ मनुष्य में है उतने ही ब्रह्माण्ड में तथा उतने ही एक परमाणु में भी है । अन्तर केवल सत्व, रज, तम, काल और जीव के आधिक्य

---

6. 12.135, शून्य व्यापीव तेजस्थं जीवं तु वह्नि संयुतम् ।

7. गो०सि०सं० , 13 पृ० अस्ति कश्चित्परमा द्वैतस्य भावः । सः एवात्मा मन्तव्यः ।।

न्यूनत्ववश विकसित, अर्धविकसित और अविकसित का है । तभी गोरक्ष सिद्धान्त में यह स्वीकार किया गया है कि जो कुछ पिण्ड में है, वह सभी ब्रह्माण्ड में भी तदवत् मिलता है [8]। इसलिए पिण्ड ब्रह्माण्ड का संक्षिप्त संस्करण है । मनुष्य शरीर को ही पिण्ड का प्रतिनिधि माना गया है । अतः उसमें कहाँ-कहाँ, कौन-कौन लोक स्थानादि माने गए है यह बतलाया गया है [9]।

इसलिए मानव को अपने ज्ञान से ही ब्रह्माण्ड का ज्ञान हो जाया करता है । जैसा कि योग वासिष्ठ में रामचन्द्र जी के ब्रह्माण्ड दर्शन की इच्छा व्यक्त करने पर वसिष्ठ जी अपनी ब्रह्माण्ड यात्रा का वर्णन करते हुए, एक माई के मिलने, रोने और दहाड़ने के प्रसंग, उसके दुःख दूर करने की इच्छा व्यक्त करने पर, स्त्री द्वारा समक्ष स्थित शिला को घर बतलाना तथा योग दृष्टि से उसमें छिद्र देखना, पुनः समस्त लोगों की यात्रा के बाद ब्रह्मलोक पहुँचना वहाँ पर दूसरे वसिष्ठ को देखना, ब्रह्म द्वारा उस सृष्टि से बाहर जाने की आज्ञा देना और रोने वाली स्त्री को अपनी वासना बतलाना, मृत्यु रूपी स्त्री से शादी की बात कहने से राम को अपने को जानने का आदेश देना तथा ब्रह्माण्ड को

---

8. सि०सि०सं० 3.2 ब्रह्माण्डवर्ति यत् किन्चित् तत्पिण्डेऽप्यस्ति सर्वथा ।।

9. का०पु० 12.1834 आधारे तुस्थितो ब्रह्मा नाभौ विष्णुर्व्यवस्थितः ।
रुद्रं च हृदि मध्ये तु ईश्वरं कंठ कूपके ।।

को बाह्य रूप से न समझकर, आन्तरिक रूप से समझने का आदेश दिया था । आन्तरिक रूप से इसे देखने की शक्ति अपने शरीर के मूलाधार में कुण्डलिनी के रूप में सब शरीरों [redacted] में विद्यमान है।[10] उसका उत्थापन करने पर जब वह षट्चक्रों का भेदन करके वामन अवतार के तीसरे कदम में ब्रह्माण्ड के फट जाने की कहानी के आधार पर जब ब्रह्मरन्ध्र रूपी द्वार से वह बाहर निकलने के योग्य बन जाएगी और प्राणों को अपने साथ वहाँ से ले जाएगी, तब उस जीव का लय बृहद् ब्रह्माण्डगत हिरण्यगर्भ की ज्योति के साथ एक हो जाएगा ।[11] आत्मा का अभिमान बन्ध है उस अहंकार की निवृत्ति ही मोक्ष है । जब सारे संकल्प विकल्प समाप्त हो जाते हैं तब ब्रह्म की स्थिति हो जाती है । जब द्वैताद्वैत विवर्जित [redacted] निश्चल पद मिल जाए तो वहीं नाथ-रूपता मानी गई है वही मोक्ष है । तभी तो नाथ को मोक्ष देने में चतुर, नाथरूपता ज्ञान देने वाले । स्थगित ज्ञान से जानने वाले को नाथ कहा गया है ।[12]

---

10. का०पु० 16.318 कन्दात् संजायते सृष्टिः कन्दं वै साप्तलौकिकम् ।

11. वही, 16.328 ऊर्ध्वाधो नीयते जीवो कोषाकारकृतिर्यथा ।

12. शक्तिसंगम तन्त्र, श्रीमोक्षदानदक्षत्वात् नाथब्रह्मानुबोधनात् ।
स्थगिताज्ञान विभवात् श्री नाथ इति गीयते ।।

पञ्चमोऽध्याय : गोरक्षसंहिता में धर्म और दर्शन "उत्तरार्ध

वैष्णव धर्म स्वरूप :-

वैदिक युग के वरुण तथा इन्द्र देवता धीरे-धीरे क्रूर और निर्बल होते गए । बाद में इनका स्थान विष्णु ने ले लिया । तब विष्णु ही प्रधान देवता बन गए । उन्हीं को षड्विध ऐश्वर्य सम्पन्न भगवान् की संज्ञा दी जाने लगी । ग्रीक राजा एण्टियालकिदाय का राजदूत हिलोयोडोर भागवत धर्म का अनुयायी था । वेस नगर के शिलालेख से ज्ञात होता है कि 200 ईस्वी पूर्व हिलोयोडोर ने वासुदेव की प्रतिष्ठा में विष्णुध्वजस्तम्भ बनवाया था । जिस पर एक लेख में "परमभगवतो हिलोयोडोरः" आज भी देखा जा सकता है । इससे पूर्व घुसुण्डी के शिलालेख से ज्ञात होता है कि वासुदेव की पूजा होती थी । नाताघाट के शिलालेख इसी के पोषक हैं । महा वैयाकरण पाणिनि ने ईसा के 600 वर्ष पूर्व अपने 4.3.95 सूत्र में वासुदेव पूजन की सूचना दी है । दक्षिण भारत के आलवार समुदाय जिनका समय विशुद्धानन्द भारती के अनुसार ईसा से 700 से 900 के मध्य पूर्व माना जाता है , विष्णु भक्त थे । वासुदेव कृष्णपरक नहीं समझ लेना चाहिए । तैत्तिरीय आरण्यक के दसवें प्रपाठक में लिखा है कि "नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि तन्नो विष्णु प्रचोदयात् " । यहाँ वासुदेव शब्द विष्णु परक आया है ,जबकि महाभारत में वासुदेव वसुदेव के पुत्र कृष्ण के लिए ग्रहण किया गया है ।

ऋग्वेद से लेकर महाभारत तक कृष्ण नाम के कितने महापुरुषों का उल्लेख आया है । ऋग्वेद 1.116.13 में विश्वकाय के पिता कृष्ण नाम के हैं । कौषीतकी-

ब्राह्मण 30•9 में कृष्ण अंगिरस का नाम मिलता है । ऐतरेय आरण्यक 3•2•6 में कृष्ण हरित का नाम आया है । छान्दोग्य उपनिषद् 3•17•4 में देवकी पुत्र कृष्ण को हम घोर अंगिरस के यहाँ अध्ययन करते पाते हैं । महाभारत में श्री कृष्ण का उल्लेख एक आचारवान् सर्वप्रिय सत्यवादी अद्वितीय योद्धा और राजनीतिज्ञ के रूप में आया है । हरिवंश पुराण और श्रीमद्भागवत पुराण के दसवें स्कन्ध में गोप गोपी जन प्रिय विशेषण से विभूषित कृष्ण का स्मरण किया जाता है ।

अस्तु जब-जब भूमण्डल पर धर्म की हानि हुई और अधर्म का उत्थान हुआ, तब-तब विष्णु को किसी न किसी योनि में अवतार लेना पड़ा और अधर्म का नाश करना पड़ा । इस तरह विष्णु दस बड़े चौदह छोटे अवतारों में अवतरित हुए, जिनमें से राम और कृष्ण मुख्य अवतार माने जाते हैं । इन अवतारों की उपासना से भक्ति से भक्त को नवधा भक्ति मिलती है और सामीप्य, सायुज्य, सालोक्य आदि मुक्ति प्राप्त होती है । जिसका विशेष वर्णन आलवार सन्तों ने अपने दिव्य-प्रबन्ध" नामक ग्रन्थ के पदों द्वारा किया है । जिसके विशेष प्रचारक नाथ मुनि रहे हैं । इन पदों में ज्ञान, प्रेम, सौन्दर्य, समता और आनन्द की भावना का विशेष पुट मिलता है । जिससे ये अध्यात्म ज्ञान के खजाने माने गए हैं । तिरुवाय, मोड़ी, तमिल प्रबन्ध जिसका अर्थ है सन्तों के दिव्य मुखों से निकली हुई

1•गीता, यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।

दिव्यवाणी में भी वैष्णव धर्म का सुचारु रूपेण उपदेश दिया है ।

सनातन धर्म के मूलाधार प्रस्थानत्रयी "गीता-उपनिषद् तथा ब्रह्मसूत्र" के व्याख्याता आद्य शंकराचार्य ने दृश्य वर्ग को माया प्रपंच जब सिद्ध कर दिया और विशुद्ध चिन्मात्र, सच्चिदानन्द घन को जानना ही ज्ञान सिद्ध कर दिया तथा भक्ति को इस ज्ञान का प्रधान प्रतिपादक माना । उनके मत से अपने शुद्ध स्वरूप का स्मरण करना ही भक्ति है ।

शांकर अद्वैतवाद भारत की विचारधारा क्षेत्र में तो सर्वोपरि रहा ही है । पाश्चात्य अणु-परमाणुवाद भी उसी तरफ जा रहे हैं । भारतीय दर्शन का परिपक्व फल शांकर मत ही है । अहं ब्रह्मास्मि" "तत्वमसि" आदि वाक्यों में शांकर वेदान्त का रस निचोड़कर रख दिया है तो भी इन वाक्यों की विस्तृत व्याख्या करके जगत् और जीव को नाम रूपात्मक मिथ्याप्रतीति कराने वाली माया या अविद्या की असत्ता उससे निर्लिप्त ब्रह्म की सत्ता ही इसका विशेष प्रतिपाद्य रहा है ।

इस मत में जीव ब्रह्म के एक हो जाने से सगुण ईश्वर भक्ति अथवा अवतारवाद की धारणा के लिए कोई गुंजाइश नहीं है । इसलिए भागवत धर्मानुयायी वैष्णवों ने इसके विरुद्ध बीड़ा उठाया और सगुण ब्रह्म की उपासना के लिए यमुनाचार्य जी ने प्रचार आरम्भ किया । ये नाथ मुनि के पौत्र थे । इनके शिष्य रामानुज हुए । जिन्होंने प्रस्थान

त्रयी की व्याख्या करके विशिष्टाद्वैत की स्थापना की । इसमें विष्णु और लक्ष्मी के युगल रूप की उपासना आधिक्येन की जाती है । इस सम्प्रदाय के दीक्षित लोगों के ललाट कण्ठ,बाहु,नाभि,पार्श्व,कर्णमूल,शिरोमध्य,पीठ आदि बारह स्थानों पर शंखचक्र के चिह्न लगाए जाते है । "ओम् नमो नारायणाय" मन्त्र की दीक्षा दी जाती है जिसके पाठ से विष्णु लोक की प्राप्ति होती है । ये लोग बिल्ली के बच्चों की तरह अपना जीवन विष्णु के आगे समर्पित कर देते हैं और विष्णु से अपेक्षा रखते हैं कि हमें अच्छे मार्ग पर ले जाते हुए "नमो नारायण" जाप करने की सद्बुद्धि देंगे । जिससे भक्तों को वैकुण्ठ धाम की प्राप्ति या सायुज्य मुक्ति मिल जाए ।

रामानन्द आचार्य भी इस परम्परा के थे किन्तु उन्हें पूर्ववर्ती वैष्णवों के भोजन नियमों से घृणा थी । वे दृष्टि पात से भोजन आदि के दूषित होने को दुराग्रह मानते थे । उनकी श्रद्धा तुलसी शालग्राम में अधिक रही है । जबकि विष्णु के सभी अवतार इनके उपास्य देव रहे हैं । इन्होंने भारत की एकता को मध्य युग में बहुत सहयोग दिया । तभी तो ऊँच-नीच का विचार किए बिना इन्होंने कबीर,रैदास,पीपा,धन्ना,सेनादि भिन्न जाति के लोगों को अपना शिष्य बनाया ।

वैष्णव धर्म के इस स्वरूप से तुष्टि न मानकर,माधवाचार्य जी ने द्वैत मत की स्थापना की थी । ये सन्यास मार्ग को अच्छा न समझकर त्याग के मार्ग को

उचित माना है । इन्होंने द्विविधा तत्त्वयुक्त द्वैतमत को अनुमति दी । ये विष्णु को जगत् का नियन्ता मानते हैं ।

एको नारायणो ह्यासीत् न ब्रह्मा न च शंकरः ।

आनन्द एक एवाग्रे आसीन्नारायणः प्रभुः ॥

अर्थात् आरम्भ में एकमात्र अद्वितीय स्वरूप भगवान नारायण विद्यमान थे , न ब्रह्मा थे न शंकर थे । नारायण सर्वगुण सम्पन्न, स्वतन्त्र और आनन्द स्वरूप हैं । उन्हीं से ब्रह्मादि सब देव पैदा हुए हैं ।

इनके मत में भी भक्ति ही मुक्ति का साधन है । ध्यान के बिना ईश्वर का साक्षात्कार नहीं हो सकता । भक्ति की दस विधियाँ हैं – सत्यभाषण, हितवाचन, सत्पात्र में दान, प्रिय भाषण, स्वाध्याय , गिरे हुए का उद्धार, शरणागत की रक्षा, दरिद्र का दुख निवारण, भगवत् दासत्व की इच्छा और गुरु तथा शास्त्रों में विश्वास ।

इसके अतिरिक्त निम्बार्क का द्वैताद्वैत वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैत, चैतन्य का अचिन्त्य द्वैत, हितहरिवंश को राधावल्लभी सम्प्रदाय, स्वामी नारायण जी का नारायणी सम्प्रदाय, प्राणीनाथ जी का परिणामी सम्प्रदाय, सतानी सम्प्रदाय आदि दक्षिण भारत में अनेक वैष्णव सम्प्रदाय वैष्णव धर्म के अनुयायी माने गए हैं । इस प्रकार से भक्ति का जन्म द्रविण प्रदेश में आलवार सन्तों द्वारा हुआ, कर्नाटक में बढ़ी हुई, महाराष्ट्र में अनेक दिनों तक स्थिर रही और गुजरात में क्षीण हुई ।

---

1. पद्म पुराण उत्तर खण्ड, 50-5।

शैव धर्म :-

जिस प्रकार वैष्णव सम्प्रदाय दक्षिण के आलवार सन्तों ने अग्रेसर किया और उसकी अनेकों शाखाएं तैयार कर दी,वैसे ही शैव मत भीदक्षिण के आलवार सन्तों द्वारा ही प्रसिद्ध हुआ,जिनकी संख्या चौसठ मानी गई है । । इसमें माणिक वाचक सम्बन्ध,वागीश और सुन्दर अधिक प्रसिद्ध माने गए हैं । आलवारों की अमर वाणियाँ आध्यात्मिक साहित्य के दो महान् ग्रन्थों में सुरक्षित है । एक का नाम "देवरन" अर्थात् भगवत् प्रेम के हार और दूसरे का नाम "निरुवाचकम्" अर्थात् पवित्र,ईश्वर लोला तथा परिय पुराण नामक ग्रन्थों में इनके पवित्र चरित्रों का वर्णन है ।

शैवों के मुख्य पाँच भेद हैं । क" सामान्य शैव भस्म धारण करते हैं,अप्रतिष्ठित शिवलिंग की पूजा करते हैं,शिव भक्तों से मातृभाव रखते हैं,शिव परक व्यापार करते हैं, शिव की कथा सुनते हैं तथा शिव ध्यानादि अष्ट भक्ति करते हैं । "ख" मिश्र शैव उन्हें कहते हैं,जो पीठस्थ लिंग की पूजा करते है। साथ में शिव पँचायतन के लिए विष्णु,उमा,गणपति, और सूर्य की भी पूजा और स्थापना किया करते हैं । ये आद्य शंकराचार्य के अनुयायी स्मार्त शैव होते हैं । "ग" वीर शैव -वीर शैवों की मान्यता है कि अखिल जगत्,कर्ता,भर्ता,हर्ता, और ब्रह्म रूप शिव हैं । जगत् के अभिन्ननिमितोपादान कारण शिव ही है । इनके उपास्य शिवगण-वीरभद्र,नन्दी,भृंगी,वृषभ और स्कन्ध हैं । ये अपने को इनके कुल में पैदा हुआ मानते

हैं । वीर शैव समस्त जगत् को शिवमय मानते हैं । इनकी विशेषता इस बात पर है कि -

पर ब्रह्म इदं लिंगं पशुपाशविमोचनम् ।

यो धारयति सद्भक्त्या स पाशुपत उच्यते ।।

जो लिंग हमें गुरु से मिला है और धारणकर रखा है परब्रह्म ही है, इसी के धारण से हम पशुओं के पाश से छूटेंगे । जो भक्त इसे सद्भाव से धारण करेगा, वही पाशुपत सम्प्रदाय का कहलाएगा । ऐसा सोचकर वे लो ग जन्म से मृत्यु पर्यन्त अपने शरीर पर लिंग धारण करते हैं । इसके बिना एक क्षण भी नहीं रह सकते । मद्रास प्रान्त में विशेष रूप से हैदराबादप्रान्त में इनकी प्रधानता है । यह सम्प्रदाय सृष्टि के आदि काल से चला हुआ है । इसमें सभी प्रकार के वेदान्ती विचारों का समावेश है । शिवाद्वैत, शक्तिविशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, भेदाभेदविशेषाद्वैत आदि कई प्रकार के विचार इसमें समाहित हैं ।

इनके पाँच मुख्य स्थान या मठ माने जाते हैं । इन स्थानों पर पाँच शैवाचार्य रहते हैं। जो उन स्थानों के शिवज्योतिर्लिंगों से निकले माने गए हैं । कोलनुपाल अवन्तिका, श्रीकेदार, श्री शैल और काशी ।

इनको आठ वर्ष में शिव दीक्षा दी जाती है । ये वर्णाश्रम को पूर्ण रूपेण मानते हैं । इनके मत के अनुसार कर्म से ही ज्ञान होता है जिससे मुक्ति होती है तीनों सन्धानों में गुरु से उपलब्ध लिंग की पूजा की जाती है । पशु हिंसा रहित यज्ञ इनके यहाँ होते हैं । मन्त्र भस्म, रुद्राक्ष और शैवों की तरह ही धारण करते हैं । रावण भी इसी मत को मानता था ।

इस मत वालों की संख्या भारत में लगभग पचास लाख से ऊपर है ।

"घ" वसव" पक्षी लिंगायत सुधारवादी पक्ष मानने वाले हैं । इस मत का आधार वसवेश्वर पुराण है । इस मत में लिंग धारण की प्रथा स्थिर है परन्तु वर्ण व्यवस्था का खण्डन किया गया है । वेदों,ब्राह्मणों के महत्व का खण्डन करके शिव के अतिरिक्त देवी देवताओं का भी खण्डन किया गया है । जन्मान्तर व्यवस्था,तीर्थयात्रा,प्रायश्चित्,अन्त्येष्टि,शौचाशौच प्रक्रिया आदि को सर्वथा भ्रमात्मक और अनौचित्य पूर्ण माना है । विधवा विवाह,सगोत्र विवाह उचित माने गए हैं । इसलिए और शैवों से इस मत की भिन्नता सिद्ध होती है ।

"ङ" कापालिक" कापालिक शैव तान्त्रिक हैं । इस मत के साधु मनुष्य की खोपड़ी का कपाल रखते हैं तथा मद्यमांसादि पंच मकारों का लौकिक अर्थ में प्रयोग करते हैं तथा भैरव और काली की पूजा करते हैं । श्मशान में रहते हैं । गृहस्थों के यहाँ इस मत का प्रचार नहीं है ।

"च" प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदाय" यह शैव सम्प्रदाय उत्तरी भारत में विशेष रूप से काश्मीर में प्रसिद्ध है । इसके अनुसार सृष्टिमात्र शिव हैं । अद्वैत ज्ञान के साथ मुक्तियोग इनकी विशेषता है । केवल इस ज्ञान की आवश्यकता है कि जीव और ईश्वर एक है । यही ज्ञान मुक्ति है । दोनों में भेद ज्ञान भ्रम है ।

---

1. हिन्दुत्व, पृ0 697-98

यह ज्ञान शंकराचार्य के अद्वैतवाद का पोषक है और शिव सूत्रों पर आधारित है ।

"छ" शिवाद्वैत – यह सम्प्रदाय भक्ति प्रधान माना जाता है । इस मत में शिव को परब्रह्म की संज्ञा दी गई है । शिव की उपासना करने से ही मुक्ति मिल सकती है । निष्काम कर्म से पाप नाश, उसके बाद चित्त की शुद्धि होती है । जिसमें बोध सम्भव होता है । इसलिए कर्म ही बोध का कारण है । कर्म और ज्ञान के फल का नाम मुक्ति है । इस मत के प्रवर्तक श्री कण्ठ ने ब्रह्म को सगुण और सविशेष माना है । सर्व शक्तिमान् शिव सर्वज्ञ हैं । वे ब्रह्म हैं और जीवों को उनके कर्मों के अनुसार भोग प्रदान करते हैं । आत्मा या जीव अज्ञान रूपी वासनाओं से बद्ध है । जीव के बन्धन कट जाने पर वह पर ब्रह्म के समान ऐश्वर्य और आनन्द का अनुभव करता है । यही मुक्ति है । इस तरह यह मत द्वैतवादी कर्मभक्ति प्रधान है ।

वैसे सभी शैवों ने पशु, पाश और पति रूप से तीन तत्वों को माना है । पाशों के नाश से ही मुक्ति स्वीकार की है ।

शाक्त धर्म :-

निगम और आगम की व्याख्या करते हुए तन्त्र मन्त्रों में कहा गया है कि "निगम" वह शास्त्र है जिन्हें देवी ने शिव को उपदिष्ट किया है । "आगम" शिव ने देवी को उपदिष्ट किया था । शिव द्वारा प्रणीत तन्त्र शास्त्र तीन भागों में विभक्त है । आगम, यामल, मुख्य-तन्त्र, । प्रथम आगम तन्त्र में सृष्टि प्रलय देवपूजा, कार्यसाधन, पुरश्चरण षट्कर्मसाधन और चार प्रकार के ध्यान योग का वर्णन मिलता है । जिसमें सृष्टि, ज्योतिष, नित्यकर्म, क्रमसूत्र, वर्णभेद, और युगधर्म का वर्णन हो उसे यामल कहते हैं । जिसमें सृष्टि, लय, मन्त्र निर्माण, देवताओं के संस्थान, यन्त्रनिर्णय, तीर्थ आश्रम, धर्म कल्प, ज्योतिष व्रत कथा, शौचाशौच, स्त्रीपुरुष लक्षण, राजधर्म, दान, युगधर्म, व्यवहारिक और आध्यात्मिक विषयों का वर्णन किया गया हो उन्हें मुख्य तन्त्र कहते हैं । इस शास्त्र के सिद्धान्त अत्यन्त गुप्त रखे जाते हैं । इसके मन्त्र विशेष रूप से एकाक्षरी बना दिए जाते हैं । जैसे ऐं-ह्रीं-क्लीं- आदि । पन्चमकारोपासना, चक्रपूजा इसकी पूजा में विशेष विधान है । अथर्ववेद में वर्णित मारण, उच्चाटन, वशीकरण आदि अभिचारों को शिव ने किल दिया था । देवी की प्रार्थना पर कलियुग के लिए पुनः तान्त्रिक ग्रन्थों का निर्माण किया है । इससे यह भी आभासित होता है कि तन्त्रशास्त्र सार्वदेशिक और सार्वकालिक है ।

बहुतों का विचार है कि तान्त्रिक धर्म वैदिक कर्मकाण्ड

का विकसित तथा कर्मोपयोगी एवं समयोपयोगी रूप है । कर्मकाण्ड के सोमरस के स्थान पर मद्य का प्रयोग यहाँ होता है । सामवेद के कथनानुसार ईश्वर को अकेला रहना अच्छा नहीं लगा । इससे उसने दूसरे संगी की इच्छा की । बस यही इच्छा उसका दूसरा संगी स्त्री रूप में परिणत हो गया । "एक एव द्विधा जातः" इन्ही दो के संयोग से सृष्टि उत्पन्न हुई । "ब्रह्मवैवर्तपुराण" में इसे प्रकृति माया, महामाया या शक्ति नाम से पुकारा है । ब्रह्म प्रकृति का स्वभाव एक ही माना गया है । दोनों अनन्त और अनन्तगुणों से युक्त होने पर भी निर्गुण हैं । यही प्रकृति या शक्ति अनेक रूपों में परिणत हो जाती है- जैसे सावित्री, लक्ष्मी, और दुर्गा । ये प्रधान रूप हैं। वैसे तो समस्त स्त्री रूप ही उनके ही भेद हैं । मातृ रूप में वही परिणत है । जिस सम्प्रदाय में इस प्रकार के स्त्री तत्व की उपासना का विधान है, उसे ही शाक्तधर्म कहते हैं ।

समस्त शाक्त एक ही प्रकार की शक्ति की उपासना नहीं करते । कोई काली, कोई तारा, कोई सिंहवाहिनी, कोई जगद्धातृ आदि स्वरूपों को अपना उपास्य मानते हैं । इनमें से दस महाविद्याएँ सभी की उपास्य देवियाँ हैं । महाकाली, उग्रतारा, षोडशी, भुवनेश्वरी, छिन्नमस्ता, भैरवी, धूमावती, बगलामुखी, मातंगी और कमला ये दस विद्याएं हैं ।

महाभारत युद्ध के बाद बौद्धकाल तक अर्थात् दो हजार वर्षों से भी अधिक समय तक भारत में तन्त्र मन्त्र का प्राबल्य रहा है । ऐसा बहुत से विद्वान् मानते हैं । ऋग्वेद के वाक्सूक्त 6·6। में महाशक्ति सरस्वती की स्तुति की गई है । जहाँ देवी ब्रह्म का आधार बनकर दृश्यादृश्य सृष्टि को अपना ही स्वरूप बतलाती है । अथर्व वेद के 4 काण्ड के सूक्त में भी भगवती महाशक्ति कहती है कि "मैं समस्त देवताओं के साथ हूँ,सब में व्याप्त हूँ । केनोपनिषद् में बहुशोभना हैमवती,वाक्य से महाशक्ति का प्रकट ब्रह्म का निर्देश है ।

श्रीमद्भागवत् के स्कन्द 3 अध्याय 4 में शिव और दक्ष के वैर की कथा आई है । जिस में सती देवी के प्रसंग से इस धर्म का पता चलता है । शिव को शाप देते समय भृगु दीक्षा का उल्लेख किया है,वह भी तान्त्रिक वाम मार्ग पर घटता है । ग्यारहवें स्कन्ध में केशव पूजा करने की विधी का वर्णन मिलता है । बृहद् हारित संहिता में भी तान्त्रिक विधि का वर्णन मिलता है । व्यास संहिता में गुह्यमन्त्र के जाप के विधान से इसको दीक्षा दी गई है । इस तरह धर्म शास्त्रों में तन्त्रशास्त्र की महता स्वीकार की गई है । ब्रह्मपुराण,महाभारत,तथा रामायण में भी इस विद्या का उल्लेख है । बौद्ध लोग तारा और हयग्रीव की पूजा तान्त्रिक विधि से करते है ।

इस धर्म का ध्येय परमात्मा के साथ जीवात्मा की अभेद सिद्धि है । तान्त्रिकों का कथन है कि उपासक अपने इष्ट देवता के साथ अभेद स्थापित करे ।

इसलिए शाक्त धर्म अद्वैतवाद का साधनमार्ग है । इनकी हर एक साधना में अद्वैतवाद अनुस्यूत है । सच्चा उपासक यही कहता है कि " अहं देवी न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवाहं न शोकभाक् "

सच्चिदानन्द रूपोऽहं नित्यमुक्तस्वभाववान् [2]।

अर्थात् मैं देवी हूँ,मैं ही ब्रह्म हूँ,मैं ही सच्चिदानन्द स्वरूप हूँ ।

इस मत में तीन भाव और सात आचार बतलाए गए हैं । तीन भाव हैं -पशुभाव,वीरभाव और दिव्यभाव । कुलार्णव में वेदाचार,वैष्णवाचार,शैवाचार, दक्षिणाचार,वामाचार,सिद्धाचार और कौलाचार सात आचार बतलाए गए हैं । इनके अतिरिक्त कई तन्त्रों में अघोराचार और योगाचार भी स्वीकार किए गए हैं । भाव मानसिक अवस्था है तथा आचार बाह्याचरण । इनमें सर्वश्रेष्ठ कौलाचार माना गया है । इसमें साधक आत्म,स्थान,मन्त्र,द्रव्य,और देवता शुद्धि करके पंचसंस्कारों के आध्यात्मिक पक्षों का सेवन करते हुए अपने स्वरूप ज्ञान का बोध करके देवता के साथ तादात्म्य स्थापित किया जाता है ।

---

2. आर्य संस्कृति के मूलाधार,पृ० 307

बौद्ध धर्म :-

संसार के समस्त धर्मों में बौद्ध धर्म ही दुःख के स्वरूप को बतलाने वाला है। दुःख के कारण का ज्ञान हो जाने पर उसका नाश स्वतः एव हो जाता है। इस धर्म की चट्टान चार आर्य सत्यों पर आधारित है-दुःख, दुःख हेतु, दुःख का निरोध तथा दुःख निरोध का उपाय। क्रोध रहित कामना रहित होकर पवित्र जीवन का निर्वाह करने से मनुष्य को दुःख नहीं हो सकता अर्थात् दुःख ही सब कुछ दृश्यमान है। तभी तो सर्वदर्शनकार ने बौद्ध धर्म को चार सूत्रों में बांटा है -सर्वं क्षणिकम्-2, स्वलक्षणं-2, शून्यं-2, दुःखम्। इसलिए दुःखवाद ही बौद्ध धर्म का जीवातु है। कपिल का सांख्य दुःख को ही अपने विवेचनीय विषय का मूल मानते हैं। ये दोनों निरीश्वरवादी हैं।

बुद्ध ने बतलाया है कि जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त ~~समग्र जीवन~~ सारा जीवन दुःखमय है। यहाँ चाहे जितना भी प्रयास किया जाए, तो भी दुःख से निवृत्ति नहीं पाई जा सकती। चाहें सांसारिक दुःखों की ~~चाहे~~ सारी सामग्री जुटा दी जाए तो भी समस्त पदार्थों के क्षणिक होने के कारण दुःख पैदा होता है। आशाओं की पूर्ति भी दुःख का ही कारण है क्योंकि एक इच्छा की पूर्ति पर दूसरी इच्छा पैदा हो जाती है इसलिए तृष्णा का सर्वतोभावेन त्याग करने से ही दुःख का नाश हो सकता है। यही तृष्णानाश निर्वाण कहलाता है। अन्त में दुःखनाश के आठ उपाय हैं। जिन्हें अष्टांगिक मार्ग के नाम से जाना

जाता है । ये अष्टांग मार्ग निम्न हैं – सम्यक् दृष्टि,सम्यमक् संकल्प,सम्यक् वाक्य,सम्यक् कर्मान्त,सम्यक् जिविका,सम्यक् व्यायाम,सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि ।

इनका विषय विवेचन उनके अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है जिन से मानव को सुखी जीवन प्राप्त हो सकता है । बुद्ध ने स्वयं कोई पुस्तक नहीं लिखी । उनके उपदेश मौखिक ही होते थे । इनके मरणोपरान्त पाली भाषा में उनके उपदेशों को संगृहीत किया गया । जिनका नाम पिटक है । ये पिटक तीन हैं –सुत, अभिधम्म और विनय । इन पिटको में बौद्ध धर्म के नियमों तथा समस्त कर्तव्य कर्मों का उपदेश मिलता है ।

यह धर्म भारत में थोड़े समय ही टिक सका । भारत के बाहर लंका,तिब्बत,चीन,जापान आदि देशों में अभी भी इसका प्रभाव दृष्टिगोचर होता है । कुछ देशों में तो यह राज धर्म माना जाता है ।

प्रतीकोपासना :-

नाथ सम्प्रदाय द्वैताद्वैत भिन्न प्रतीकोपासना से पूर्ण सम्प्रदाय है । इस सम्प्रदाय में प्रधान रूप से दो ही तत्व स्वीकार किए जाते हैं –योग और भोग । विशुद्ध योग मार्गी नाथ आरम्भ में कुछ कष्ट उठाकर योगमार्ग में प्रवृत हो जाते हैं और अपने शरीर को ब्रह्माण्ड का प्रतीक मानकर इसमें समस्त ब्रह्माण्डीय रचना के दर्शन को महत्व देते हैं ।

"यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे के प्रतीक का अपने योग मार्ग का प्रधान सूत्र मानकर कुण्डलिनी शक्ति को प्रकृति स्वीकार करके उसके द्वारा इस ब्रह्माण्ड में अनेकों रूपों की रचना सिद्धि आदि प्राप्त करके ब्रह्म रन्ध्र में स्थित उस शक्ति स्वरूप शिव को जो बृहत् ब्रह्माण्ड से हिरण्यगर्भ द्वारा प्रसारित शक्ति को लेता है उसे आदि नाथ का प्रतीक मानकर प्रथम तो बाह्य उपासना में लग जाता है और वहाँ पर घण्टी दुन्दुभि वीणा, वेणु, शंख आदि को बजाता है और उससे उत्पन्न शब्दों को अपने शरीर रूपी ब्रह्माण्ड में रखता है । इनके प्रतीक जब शरीर में दीखने लग जाते हैं तो नाथ योगी अपने को समाधि के नजदीक समझता है । उसी अवस्था में योग साधना के प्रतीक मुद्रा, विभूति, नाद और आदेश पालन रूपी बाह्य प्रतीकों को साधनानुरूप धारण करता है । तभी तो गोरखनाथ जी ने अपने शब्दों में कहा है -

बस्ती शून्यं शून्यं न बस्ती अगम अगोचर ऐसा ।
गगन शिखर महं बालक बोलेहुं ताका नाम धरहुगे कैसा ।।

जिस प्रकार शून्य आकाश में आत्मा का भास होता है और नहीं भी । वैसे ही आत्मतत्व भी है । उसकी उपासना इन्द्रियों, अन्तःकरण एवं स्वप्नादि अवस्थाओं में अपने अनेक रूपों के माध्यम से करनी पड़ती है । इसे प्रकाम्या अवस्था में प्राप्त अनेक शरीरों की भ्रान्ति किया जाता है । इसलिए योग मार्ग के अनुयायी नाथों ने प्रतीक के माध्यमों से "स्थूणानिखनन्याय से आत्मा की प्रतीति करवाई है । शरीर के माध्यम

से ब्रह्माण्ड का ज्ञान करवाया है । चित्त शक्ति को आत्मा माना है और उसका परमात्मा के साथ अनोखा सम्बन्ध जोड़ा है । यह सब कुछ प्रतीकात्मक है । यही नहीं इस सम्प्रदाय में गुरु को सबसे अधिक महत्त्व दिया है । है भी ठीक क्योंकि शिष्य के दुर्गुणों का नाश करने के कारण वह शिव, अच्छे गुणों का निर्माण करने के कारण वह ब्रह्मा, सद्भावों की पालना के कारण वह विष्णु होता है । यह गुरुत्व पद सर्वोपरि है और अवधूत को ही यह पद मिल सकता है । उस नाथ रूपता या गुरुरूपता को प्राप्त करना ही मुक्ति है । वह प्रतीकोपासना के द्वारा ही मिल सकती है ।

<u>गोरक्षनाथ मत में प्रतीकाप्ति :-</u>

गोरक्षनाथ की रचनाओं से उनके मत का स्पष्ट रूपेण ज्ञान हो जाता है कि वे किस प्रकार से स्वरूप को प्राप्त करते हैं । सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति में पिण्ड ब्रह्माण्ड की समरूपता प्रतिपादित करते हुए, छत्तीस तत्वों का विवेचन किया गया है । उनसे बने अवलोकन पिण्ड को उत्पत्ति से पहले परपिण्ड, आद्यपिण्ड, साकार-पिण्ड और प्राकृत पिण्ड का विवेचन किया गया है । जो सूक्ष्म नाथ से स्थूल तक एकरूपता जोड़ते हैं । स्वयं अवस्था से कुलाकुल दो तत्व पैदा होते हैं । तब वह शिव सगुण कहलाता है । यह अर्धनारीश्वर के रूप में स्थित कहलाता है । उनका भेद नहीं हो सकता । इसीलिए कहा गया है कि शिव के अन्दर शक्ति है और शक्ति में शिव विद्यमान् है । दोनों में अन्तर नहीं किया जा सकता जिस प्रकार चन्द्रमा और चान्दनी में अन्तर नहीं है । जब वह विस्तृत होती

है तो शक्ति बन जाती है जब संकोच होता है तो शिव । उनका संयोग करवाने वाला ही योगी राजनाथ होता है । यह शक्ति चेतन है जड़ नहीं । जो केवल परमात्मा है । जीव कैवल्य को प्रतीकोपासना के माध्यम से यदि योग मार्ग पर चले तो प्राप्त कर सकता है । योग में सर्वप्रथम शरीर साधन किया जाता है । तब आभ्यन्तरिक धारणा ध्यान समाधि का अभ्यास करके कैवल्य में लीन होता है ।

प्रतीकों का आध्यात्मिक स्वरूप :-

जिस प्रकार सनातन धर्मी लोग भगवान् की मूर्ति बनाकर पूजा करते हैं और निराकार को साकार बनाकर अपना विश्वास उसमें दृढ़ करते हैं वैसे ही सनातन धर्म के प्रहरी नाथ लोग भी ईश्वर को जड़ मूर्ति नहीं मानते अपितु चेतन ब्रह्म चेतन काया रूपी मूर्ति की पूजा करो, उसे समझो, क्योंकि वही ब्रह्म का प्रतीक है । उसमें रहने वाली कुण्डलिनी चेतन प्रकृति और विरजा उसके साथ ही जागृत होने वाली हिरण्य गर्भ रूपी ज्ञानगार है । बृहद् विश्व में विख्यात अयोध्या, मथुरा, माया, काशी, काँची, अवन्तिका और द्वारावती को योगी लोग अपने देह में ही देखते हैं[2] । जैसे मूलाधार अयोध्या, मणिपूर

---

1. कादि प्रकरण भूमिका "ज"

2. सारस्वत कुण्डली महायोग, 13 अयोध्यां मथुरां मायां काशी काँचीमवन्तिकाम् ।
राजद्वारावती चैव देहे पश्यति योगवित् ।।

मथुरा, अनहत चक्र माया पुरी, काशी कण्ठ में आज्ञा चक्र में काँची और उससे ऊपर सहस्रसार में अवन्तिकापुरी है। उससे भी ऊपर ब्रह्मरन्ध्र में द्वारावती नगरी है[3] जहाँ विरजा ज्ञान नदी बहती है और हिरण्यगर्भ से उसी मार्ग द्वारा ज्ञान देह में जाता है। वह ब्रह्म रन्ध्र से प्रवाहित होने वाली "विरजा शीतोष्ण समभागा सा" मानी जाती है। तभी तो उसका सन्तुलन बनाने एवं समशीतोष्ण रखने हेतु हिन्दु जनोंने गोरक्षपुर गो खुर " प्रमाण चोटी रखने का विधान बतलाया है।

यही नहीं कौलमार्ग में निर्दिष्ट पंचमकार भी प्रतीक है उनका अर्थ गुरुगम्य माना जाता है। तभी तो मद्य के पान का तात्पर्य है कि योगी षट्चक्र भेदन करके ब्रह्मरन्ध्र सहस्रसार में पहुँचता है तब उसे सोमचक्र से सफेद रंग का मधुर अमृत बहता है उसी के पान को साधक सुरा पान कहते हैं। उसके पान से साधक को अमृत काया या वज्रदेह मिलती है[4]

---

3. सारस्वत कुण्डली महायोग पृ० 130, मूलाधारेऽयोध्या च मथुरा मणिपुरके। मायावती हृदयाकाशे कण्ठे काशी च विद्यते। आज्ञाचक्रे भवेत् काँची ततोऽप्यूर्ध्व-मवन्तिका। यत्र द्वारावतीप्रोक्ता तत्र सा विरजा स्थिता।

4. भैरव यामल, ब्रह्मस्थानसरोजपात्रलसिता ब्रह्माण्डतृप्तिप्रदा।
या शुभ्रा सुकला सुधा विकसिता सा पान योग्या सुरा ।।

आगमसार, सोमधारा क्षरेद् या तु ब्रह्मरन्ध्रात् वरानने।
पीत्वा नन्दमयीं तां य स एव मद्यसाधकः ।।

पंचमकार का दूसरा तत्व "मांस" है जो साधक वाक्य संयम द्वारा आत्मसंयमी होकर आशा तृष्णा काम, क्रोध, लोभ, मोह, आदि पशुओं को, ज्ञान रूपी तलवार से काटकर बलि देता है और स्वकृत कर्मों को ब्रह्म के अर्पण करता है । वही "मांस" भक्षक साधक है [5] ।

पंचमकार का तीसरा तत्व मत्स्य है । जो साधक मन सहित सब इन्द्रियों को वश में कर लेता है और गंगा यमुना रूपी इडापिंगला नदियों में चलने वाली दो श्वास प्रश्वास रूपी मछलियों को प्राणायाम द्वारा खा जाता है । वह "मत्स्य" साधक माना जाता है [6] ।

पंचमकार का चतुर्थ तत्व है "मुद्रा" सार महापद्म के बीच मुद्रिता कर्णिका के अन्दर "द्विदल पदम मध्य में" जो विशुद्ध पारे के समान आत्मा है, जिसका तेज सहस्र सूर्य चन्द्रों के बराबर है, जब वह महाकुण्डलिनी से युक्त होता है, उस स्थिति का ज्ञान योग बल से साधक करता है, उसे मुद्रा कहते हैं [7] ।

पंचमकारों में पंचम तत्व "मैथुन" है। सहस्रसार के ऊपर वाले बिन्दु "लिंग" रूपी परमात्मा के साथ जो साधक योग द्वारा कुण्डलिनी जीवात्मा को मिलाता है । वही मैथुन तत्व का उपासक है । योगी लोग अहर्निश इस प्रक्रिया में लगे रहते हैं [8] ।

---

5. भैरवयामल , कामक्रोधसुलोभमोहपशुकांश्छित्वा विवेकासिना ।
मांसं निर्विषयं परमात्म सुखदं भुंजति तेषां बुधा: ।।
पुण्यापुण्यौभयं हत्वा ज्ञानखड्गेन योगवित् ।
परे लयं नयेच्चितं स मांसाशी विवेद्यते ।।

6. वही, मनुसादीन्द्रियगणं संयम्यात्मनि योजयेत् । स मीनाशी भवेद्देवी इतरे प्राणघातका: ।
गंगायमुनयोर्मध्ये मत्स्यौ द्वौ चरतः सदा । तौ मत्स्यौ भक्षेत् यस्तु [illegible] स भवेत्
मत्स्यसाधक: ।

7. वही, सहस्रसारे महापद्म कर्णिका चरेत् आत्मा तत्रैव देविशी केवलं पारदोत्तम: सूर्यकोटिप्रतीकाश: चन्द्रकाटि सुशीतल: । अतीवकमनीयश्चमहाकुण्डलिनीयुत: । यस्य ज्ञानोदयस्तत्र मुद्रा साधक उच्यते ।।

8. वही, सहस्रसारोपरिविन्दौकुण्डलीमिलनाच्छिवे । मैथुनं परं दिव्यं यतीनां परिकीर्तितम् ।।

इन्हीं पंचमकारों से साधना करने पर निम्न सिद्धियाँ मिलती है ।[9]

1.मद्यपान से अणिमादि अष्टसिद्धियाँ मिलती हैं ।

2.मांस भक्षण से नारायण स्वरूपता ।

3.मत्स्यभक्षण से कालिका या देवी का प्रत्यक्ष दर्शन ।

4.मुद्रा सेवन से विष्णु सदृशता ।

5.मैथुन द्वारा महायोगी सदाशिवता को प्राप्त कर लेता है ।

इस प्रकार से प्रतीकों द्वारा निर्दिष्ट नाथ मार्ग,आम,साधारण लोगों में बदनाम हो गया । लोगों में इस धर्म के प्रति धारणा ही ऐसी बन गई कि ये हठयोगी व्यभिचार करते हैं । इनके यहाँ बलि दी जाती है । इससे नाथयोगियों का लोगों से सम्बन्ध विच्छेद होने लगा । नाथ सम्प्रदाय अनेकों सम्प्रदायों को जोड़कर बना है । जैसे शैव मत,शाक्त,बौद्ध ,वैष्णव आदि । गोरक्ष सिद्धान्त में शंकराचार्य के मत को पराभव की कहानी आई है । वहाँ कापालिक ने शंकराचार्य को हराया । यह लेखक अपने को कापालिक भी नहीं मानता । वह अपने को सब कुछ स्वीकार करता है । वह अवधूत अर्थात् जिसने सब कुछ छोड़ दिया है और अब स्वच्छ निर्मल सा बन गया है ऐसा अपने को कहता है । शाबर तन्त्र में परिगणित 12 आचार्यों में आदि नाथ गिने गए हैं । तन्त्रों के उपदेष्टा

9.महानिर्वाण पटल, ।।

भी नाथ ही माने गए हैं ।[10] शाक्त मत के अनुसार चार मुख्य आचार हैं । वैदिक, वैष्णव, शैव, और शाक्त । इनमें शाक्त आचार भी चार प्रकार का माना गया है । वामाचार, दक्षिणाचार, सिद्धान्ताचार, और कौलाचार । सभी आचारों में शाक्त आचार को उत्तम माना गया है । शाक्ताचारों में कौल आचार सबसे उत्तम है । कौलाचार में भी वीरचक्र और पंचमकारों की उपासना मुख्य मानी गई है । जिनकी प्रतीकात्मकता हमने बतला दी ।

अतः नाथ सम्प्रदाय गुरु गोरक्षनाथ की वह खिचड़ी है जिसमें समस्त पक्वान पड़े हों जो उसमें लेना चाहे वह उससे ले सकता है । इस सम्प्रदाय में द्वैताद्वैत विभाग विवर्जित साकार, निराकार, वियुक्त पिण्ड ब्रह्माण्ड व्यवस्था सम्पन्न धर्म का उपदेश दिया गया है । नाथ पन्थी अपने गुरु को नमस्कार भी प्रतीकों अर्थात् मुद्रा प्रदर्शित करते हुए करते हैं । जिनका प्रभाव हमारे समस्त कर्मकाण्ड पर आज भी मिलता है, क्योंकि जप के आदि और अन्त में मुद्रा प्रदर्शित करनी पड़ती है । गायत्री जापके आरम्भ में सुमुखं सम्पुटं चैव.." आदि 24 मुद्राएँ । यही नहीं अपने हिन्दु धर्मशास्त्र का वास्तविक अनुसरण नाथ सम्प्रदाय में ही देखा गया है । जो अपने गुरुओं के चरणों को "सव्येन सव्यं अपसव्येन अपसव्यं स्पृशेत्" का उपदेश दिया है वह यहाँ पर "अलख" शब्द के साथ प्रणाम करते समय देखा गया है ।

---

10. नित्यातन्त्र, कादितन्त्रा भवेद्रूपा सा शक्तिः सर्व सिद्धये ।
तत्रं यदुक्तं भुवने नवनाथैरकल्पयन् ॥

योग साधना में देशकाल का महत्व :-

भारत देश का जब विश्लेषण किया जाता है ,तो "भा" प्रकाश, "रत" तल्लीन इसका अर्थ होता है । जो देश हमेशा प्रकाश रूपी ज्ञान में तल्लीन रहे या बुद्धि में लगा रहे । यह समस्त विश्व के प्राणियों का मार्ग द्रष्टा रहा है । पिछले कुछ सौ वर्षों से पश्चिम के लोगों की जिज्ञासा रही है कि योग क्या है वहाँ पर बृहत्त्रयी जैसे भारत की महान् ज्ञान निधि के अन्तर्गत गीता जैसी सार्वभौम पुस्तक भी उसका सम्पूर्ण उत्तर एक वाक्य में नहीं देपाई । उसे भी लिखना पड़ा "योग कर्मसु कौशलं " कर्म की कुशलता ही योग है ।"किम् कर्मः किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिता," कर्म और अकर्म क्या है यहाँ कवि लोग भी मोहित हो जाते हैं । मनु जैसे विद्वान् को भी धर्म का कर्म बतलाते हुए कहना पड़ा था कि वेद,स्मृति,सदाचार, और अपने को अच्छा लगने वाला कर्म ही धर्म है ।पूर्वोक्त तीनों वेद स्मृति और सदाचार में से जो अपने को अच्छा लगे । गीता का दूसरा वाक्य "समत्वं योग उच्यते" अर्थात् सुख दुःख रागद्वेष,लोभ वैर इत्यादि परस्पर विरोधी द्वन्द्वों में समदृष्टि रखना ही योग है । यहाँ योग की महिमा बतलाई गई है किन्तु याज्ञवल्क्य ने योग की सम्यक् कल्पना हमें दी है "कि सब धर्मों का सार यही है,सबसे श्रेष्ठ धर्म यही है कि मनुष्य योग की साधना साधकर आत्मा का साक्षात्कार करें । पुरूषार्थ चतुष्टय में

---

1. म०स्मृ० 2.12 वेदःस्मृति सदाचारः स्वस्य च प्रियात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ।।

2. या०स्मृ० अयं तु परमो धर्मः यद् योगेन आत्मदर्शनम् ।

उत्तरोतर क्रम से महत्व माना गया है । अन्त में मोक्ष ही सर्व प्रधान है । उस मोक्ष को प्राप्त करने के लिए प्रत्येक उपासक का प्रयत्न होता है । यह प्रयत्न कौशल भी तभी सफल होता है अगर देशकालानुकूल इसका प्रयोग किया जाए । अतः योग के लिए कौन सा देश अनुकूल या प्रतिकूल है इस विषय में जब विचार किया जाता है तो कह सकते हैं कि सीधी समतल भूमि चाहिए । गोमय से उसका लेप होना चाहिए । यह एकान्त और नगर से दूर होनी चाहिए । सम्भव हो तो नदी के किनारे जहाँ जल की सुव्यवस्था हो और हमेशा जल प्रवाहित होता रहता हो, ताकि उसकी अजस्र ध्वनि साधक के कानों में प्रविष्ट होकर अहनद्नाद के साथ एकरूप होकर पिण्ड की व्यष्टि आत्मा ब्रह्माण्ड के समष्टि आत्मा से एकरूपता स्थापित कर सके । या फिर पहाड़ की चोटी होनी चाहिए । जहाँ वायु की सनसनी सर्वदा फैली रहे । इधर उधर का वातावरण शुद्ध होना चाहिए । तुलसी वन, पिप्पल का पेड़, चीड़ दयार का जंगल और भी उपयोगी हो सकता है । क्योंकि नाड़ी शुद्धि के लिए औषधी संपृक्त वायु का सेवन उतना ही उपयोगी होता है जितना स्वर्ण गौ का पंचगव्य । ब्राह्मण के लिए जैसे श्वेत गाय, क्षत्रिय के लिये लाल, वैश्य के लिए श्याम और शूद्र के लिए चितकबरी गाय का पंचगव्य उपयोगी है । इससे अतिशीघ्र नाड़ी शुद्ध होकर मन स्थिर हो

जाता है,प्राणायाम लग जाता है,समाधि लग जाती है । यह सम्भावना एकान्त स्थान में हो सकती है । अतः गुफा देश मन्दिर,कुटिया आदि स्थलों में योगी आसनस्थ होकर अपनी दृष्टि आज्ञा चक्र में स्थिर करके वहाँ बिन्दु का दर्शन करके स्थिर करें । यदि वह चंचल हो तो पादांगुष्ठ से लेकर सिर पर्यन्त अलातचक्र की तरह एक प्रकाशमय चलचक्र दर्शन करें । पुनः बिन्दु में स्थिर हो जाए,जिससे अहनद की नाद को मेघगर्जन की ध्वनि सुनाई देगी । पुनः वह अनेकों रूपों को धारण करती हुई दुन्दुभि,वीणा, वेणु,भेरी,शंख आदि के रूप में सुनाई देती है । यह तभी तक सुनेगी जब तक कुम्भक प्राणायाम लगा रहेगा । यदि नगर के समीप जनसम्मर्द में इन निर्दिष्ट नादों और बिन्दु आदि का अभ्यास करना हो तो रात्रि के समय ही हो सकता है । वर्तमान में रात्रि का समय भी शून्यता युक्त नहीं है ।

दूसरे जब कोई योगी सांसारिक बन्धन छोड़कर योग में लग जाता है तब उसके पाप नष्ट हो जाते हैं । उसकी स्थिति अध्यात्म रूप में ऊँची होने लगती है । तब ग्राम देवता,स्थानदेवता,भूतपिशाच,यक्ष,राक्षस, आदि बाधा डालते हैं । संसार का नियम है कि सब कोई अपने से ज्यादा उत्कर्ष किसी का नहीं देखना चाहते । दूसरे योग का समय भी निश्चित है । वास्तव में अहोरात्र की अष्ट प्रहरात्मक छोटी सन्धियाँ है,चार सन्ध्याएँ मुख्य सन्धियाँ हैं । जब दो वस्तुएँ संयुक्त होती है उसे योग कहते हैं । उस समय ही किया गया

उपाय भी सफल होता है । हमने यह सिद्धान्त स्वीकार किया है कि "यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे" तो जब ब्रह्माण्ड में ही ओस पड़ रही हो, उससे पृथ्वी में अमृत तत्व पैदा करके उर्वरकता बढ़ाई जा सकती है । उसी समय प्रत्येक पिण्ड में भी सहस्रार रूपी अनन्त आकाश से अमृत रूपी वर्षा गिरता है । जिसका पान करने से शरीर योग के योग्य बन जाता है । यह यद्यपि दो सन्ध्याओं प्रातः सायं में बरसता है, तो भी अधिक महत्व प्रातः सन्ध्या का माना गया है। क्योंकि व्यापक प्रकाश को देने वाला ब्रह्म मुहूर्त कहलाने वाला यह समय समस्त जगत् का उद्बोधक होता है । यह ठीक है कि "या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी" तो भी इसका तात्पर्य अन्यत्र ही फलीभूत होता है । यहाँ तो वास्तविक रूप से ब्राह्म मुहूर्त ही सम्पूर्ण योग का विकास करने के लिए उचित समय है । अभ्यस्त होने पर सारा समय ही उसके अभ्यास के लिए उचित है ।

<u>यम और नियमः-</u>

योगी के लिए मोक्ष ही सर्वोत्तम गन्तव्य स्थान माना गया है । ऐश्वर्य आदि सिद्धियाँ तो योगी के प्रत्यवाय ही मानी जाती है । वहाँ पर भी ज्ञान ही मोक्ष का कारण माना जाता है । जैसा श्रुति में प्रतिपादित है कि "ऋते ज्ञानान्मुक्तिः" पर ज्ञान का कारण मोक्ष माना जाता है । तभी तो कहा है कि ममत्व दुःख का और

निर्ममत्व ही अत्यन्त निर्वृति का मूल है । निर्ममत्व से वैराग्य,वैराग्य से योग,योग से ज्ञान ज्ञान से मुक्ति प्राप्त होती है[3] । अतः योग की अनिवार्यता का इस कथन से पूर्ण विवेचन हो जाता है । महर्षि पतंजलि ने योग दर्शन में उसकी प्राप्ति की विवेचना की है । वे कहते हैं कि योग प्राप्ति के लिए तीन तरह के साधन हैं । चित वृत्तियों के निरोध को योग की संज्ञा दी गई है[4] । वह निरोध,अभ्यास और वैराग्य से हो सकता है ।[5] वह अभ्यास किस चीज का होना चाहिए । इस जिज्ञासा का उत्तर देते हुए,सूत्रकार कहते हैं कि "ईश्वर के प्रति अपनी बुद्धि के अर्पण का अभ्यास[6] तथा तप स्वाध्याय व ईश्वर प्रणिधान क्रिया योग का भी अभ्यास करना होगा । वैराग्य के लिए अष्टांगों का अभ्यास भी अत्यावश्यक है । वे अष्टांग है -यम,नियम,आसन,प्राणायाम,प्रत्याहार,धारणा,ध्यान और समाधि है[7] । इन अष्टांग के अभ्यासों से चित के उपर संस्कारों के आवरण का जो पर्दा है वह नष्ट हो जाता है । अतः इन क्रिया योगों को साधक को अवश्यमेव करना पड़ता है ।

उन आठ में यमो की संख्या पाँच है । जैसे अहिंसा,सत्य,अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह ।

अहिंसा :-

सर्व प्रकार से सर्वकाल में[8] किसी प्राणी का चित में भी द्रोहन करना अहिंसा है[9] ।

3-यो0वि0 पृ0 176,निर्ममत्वं विरागाय वैराग्याद्योगसंगतिः । योगात्संजायते ज्ञानं ज्ञानान्मुक्तिः प्रजायते ।
4-यो0द0 1·2
5- वही, 1·12
6- ईश्वरप्रणिधानाद्वा 1·23
7-यो0द0 2·29
8-वही,2·30
9-वही 2·30 पर व्यासभाष्य,सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहोऽहिंसा ।

हिंसि प्राप क्रियोगे धातु से अच् प्रत्यय करके नञ् समास में यह शब्द बनता है । जीवन योग को साधना में तभी तो हिंसा को व्याख्या करते हुए काकाकालेलकर ने कहा है "समाज में जो अत्याचार शोषण और धोखेबाजी चलती है वह सब हिंसा का ही प्रकार है ।[10] इन प्रकारों से अपने को बचना अहिंसा की उपासना है ।

2. सत्य :- सत्सु तायते युक्ति के अनुसार जो सज्जन पुरुषों में फैल जाए तथा दुष्ट पुरुषों में छिद जाए अर्थानुकूल वाणी और मन का व्यवहार ही सत्य है । जैसा देखा, सुना अनुमान किया हो वैसा ही दूसरों के प्रति कथन करना ~~और मन में धारण करना~~ और मन में धारण करना ही सत्य है । वही ईश्वर है ।[11]

3. अस्तेय :- शास्त्रों में जिन चीजों का निषेध किया गया है उन्हें लेना चोरी या स्तेय कहा जाता है । उसका निःषेध ही अस्तेय है । या अस्पृहा को ही अस्तेय कहते हैं ।

4. ब्रह्मचर्य :- अपनी इन्द्रियों का संयम रखना ही ब्रह्मचर्य है ।[12] वह आठ प्रकार से करना

---

10. जीवन योग की साधना, पृ0 208

11. व्यासभाष्य, 2.30

12. वही, 2.30 गुप्तेन्द्रियस्य उपस्थस्य संयमः ।

पड़ता है । दर्शन, स्पर्शन, स्मरण, क्रीडन कीर्तन, एकान्तवास, गुह्यभाषण और क्रिया निवृति रूप ।

अपरिग्रह :- विषयों का प्राप्त करना परिग्रह कहलाता है । जब विषय प्राप्त हो जाते है तो उनकी रक्षा की चिन्ता, उनके नाश से चित्त में क्षोभ होता है, उसी क्षोभ से हिंसा की उत्पत्ति हो जाती है । इस प्रकार विचार कर जो विषयों को स्वीकार कर न करने का विचार है उसे अपरिग्रह कहते हैं ।

नाथ मार्ग का परमपद नाथ है । गोरक्ष सिद्धान्त ने तभी कहा है "नाथस्वरूपेणावस्थानम्" इति । नाथ के बारे में पहले ही बतला दिया है कि प्रसार और संकोच के आदि और अन्त को ही साम्यावस्था रूपी नाथ कहते हैं । यही साम्यावस्था मानी जाती है और यही समाधि की स्थिति है । इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए, गुरु कृपा से दिव्य देह की आवश्यकता है । परिपक्व देह या सिद्ध देह की प्राप्ति के लिए योग ही एक मात्र उपाय माना गया है वह भी हठयोग । इस योग में प्राणायाम की प्रधानता है । मन्त्र, लय, राजयोगों में भी प्राणायाम और हठयोग सहायक होता है । वह एक अधिभूत तत्व है । इसलिए प्राणायाम या हठयोग आधिभौतिक साधन माना गया है । एक ध्यान योगी शरीर और स्वास्थ्य की दृष्टि से क्षीण हो सकता है, वह अपनी इच्छा से मर नहीं सकता परन्तु सिद्धकाय योगी ऐसा नहीं होगा । वह अपनी इच्छा से प्राण त्यागेगा या अनन्तकाल

तक उसी शरीर में रहकर कार्य करता रहेगा । समस्त अन्य योगों को करने के लिए ऐसे स्वस्थ शरीर की आवश्यकता होती है । उसी में स्वस्थ मन रहेगा । हठयोग प्रदीपिका में कहा है कि राजयोग में आरूढ़ होने के लिए हठयोग का अभ्यास करना चाहिए ।[11]

योगाभ्यास से पूर्व नाथ आचार्यों के मत में संयम की आवश्यकता है, तभी तो हठयोग प्रदीपिका में और घेरण्डसंहिता में योग पूर्वक साधक के लिए आचार संहिता का वर्णन किया गया है । पथ्य बतलाते हुए कहा है कि "स्निग्ध, मधुरादि आहार से दो भाग पेट भरें, एक भाग जल लें, एक भाग वायु के लिए रिक्त रहने दें ।[12] अपथ्य बतलाते हुए कि कड़ुवे खट्टे, तीक्ष्ण, गुड़ तथा लवणादि उष्ण पदार्थ हरिपत्ती कांजी, तिल सरसों का तेल, सुरा, मछली, बकरे आदि का मांस, दधि चक्र कुलथ, बेर, खली, ~~~~, हींग, लहसुन पलाण्डु गाजर, शलगम, मादक द्रव्यादि का सेवन योगाभ्यासी के लिए निषिद्ध है ।[13] अधिक भोजन, परिश्रम, भाषण, जनसंग, चचंलता एवं प्रातः शीतल जल स्नान रात्रि में भोजन तथा उपवासादि बाधक हैं जिन्हें नियमाग्रह, उत्साह और ये छः रोग नाशक हैं ।[14]

गोरक्षनाथ का षडंग योग है, क्योंकि सभी योगों में यम, और नियम समान रूप से उपयोगी होने के कारण उन्हें गोरक्ष अपने हठयोग में ग्रहण नहीं करते । यहाँ पर आसन स्थैर्य के बाद प्राणायाम के अभ्यास का विधान किया गया है ।

11. हठयोग प्रदीपिका, 1.1

12. वही, 1.58 स्निग्धमधुराहारश्चचतुर्थांशविवर्जितः । भुज्यते शिवसम्प्रीत्यै मिताहारः स उच्यते ।

13. वही, 1.59

14. वही, 1.15

प्राणायाम का नाड़ी शोधन से विशेष सम्बन्ध है । सिद्धसिद्धान्त पद्धति में प्राणायाम को प्राणों की स्थिरता बतलाया गया है । रेचक, (कुम्भक) पूरक, और संघटीकरण ये चार भेद माने गए हैं ।[15] यहाँ बताया गया है कि प्राणायाम के अभ्यास से वायु को आकाश में प्रेरित किया जाए, तो घंटा आदि ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं और सिद्धि प्राप्ति की अधिक सम्भावना होती है ।[16] इस प्रकार प्राणायाम के अभ्यास से नादानुसंधान भी सिद्ध होता है । तब आसन प्राणायाम के पूर्वाभ्यास से सम्पन्न होकर धारणा के अभ्यास का विधान किया गया है ।[17] गोरक्षसंहिता योगबीज आदि ग्रन्थों में प्राणायाम के साथ, मुद्रा, बन्ध, वेध आदि का भी वर्णन किया गया है, परन्तु अध्ययन से प्रतीत होता है कि प्राणायाम की तुलना में इनको अधिक महत्व नहीं दिया गया है । प्राणायाम के साथ ओंकार भी सम्बन्धित है । ओंकार तथा अजपा जप दोनों ही प्राणायाम के अन्तर्गत है । ओंकार की विस्तृत व्याख्या गोरक्ष ग्रन्थों में उपलब्ध है । गोरक्ष ओंकार को वेद सार नहीं वेद ही स्वीकार करते हैं । दूसरे शब्दों में इसे ही शिव शक्ति का साधन भी कहा गया है । ओंकार ही आदि नाथ की संज्ञा धारण करता है । वह अनाहत और अखण्ड है । इसका अन्वेषण ही नादानुसन्धान है । अन्तः

---

15. सि०सि०प० 2.35

16. गो०सं०यो०ख० 2.18.20 योगमार्तण्ड 108

17. गो०सं० यो०ख० 2.21, 52

करण में उन्हीं की सत्ता को ब्रह्म की सत्ता माना गया है । उसे नाद ब्रह्म कहते हैं ।[18] जिसको जानने से परब्रह्म का ज्ञान हो जाता है ।[19]

इस प्राणायाम के लक्षण करते हुए पतंजलि ने कहा है कि इच्छानुसार श्वास लेने और छोड़ने की प्रक्रिया पर अधिकार करने का नाम ही प्राणायाम है ।[20] प्राणायाम एक पूर्ण वैज्ञानिक विद्या है । नासिका द्वारा अन्दर ली जाने वाली साँस को प्रश्वास संज्ञा दी गई है । श्वास जीवन दाता प्राण का बाह्य स्थूल रूप है । इसी के सूक्ष्म रूप को प्राण कहते हैं । स्थूल प्राण पर नियन्त्रण होने से सूक्ष्म पर भी नियन्त्रण हो जाता है । सूक्ष्म के नियन्त्रित हो जाने पर मन नियन्त्रित हो जाता है । अगर मन को गाड़ी का इन्जन माना जाए तो प्राण को उसका संचालक मानना उचित है, तभी तो योगी प्राणायाम करते ही अपने समस्त अवयवों या इन्द्रिय के काम को रोक लेते हैं । जिससे प्राणों के आयमन को प्राणायाम कहा गया है ।[21] गीता के अन्दर तभी तो कहा है कि प्राण में अपान का और अपान में प्राण का प्रवेश करें पुनः दोनों की गति रोक लें, इसी क्रिया को प्राणायाम कहते हैं । प्राणायाम प्रत्येक योगी के लिए अनिवार्य कर्म है । इसके बिना कोई भी योगी अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता । गुरु की कृपा से जब शिष्य में शक्ति पात किया जाता है तब उसे

---

18. नाथ और सन्तसाहित्य, पृ० 283-288

19. ब्रा०प० ब्र०ख० शब्द ब्रह्मणि निष्णातः परब्रह्माधिगच्छति ।

20. यो०द० 2.48 श्वास प्रश्वासयोर्गति विच्छेदः प्राणायामः ।

21. गीता 4.29 अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथा परे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायाम परायणाः ।।

भ्रूमध्य में स्थित बिन्दु रूपी शिव के साथ कुण्डलिनी रूपी शक्ति का मेल करके अपने जीवन को अजर-अमर बनाकरके "नाथ" स्वरूप की ओर कदम बढ़ाना होता है । यह तभी हो सकता है जब बिन्दु स्थिर हो जाए, चलचक्र से छूटकर बिन्दु पर एकतान हो जाए । बिन्दु में स्थिरता तभी आ सकती है जब वह प्राणायाम के द्वारा अपने प्राणों को वश में करके स्थिर कर लें, नहीं तो प्राण मन इन्द्रिय और बिन्दु चौकड़ी को चंचल ही रहेगी ।[22] जब तक प्राण वायु की स्थिरता नहीं हुई तब तक स्थाणुत्व नहीं आ सकता । अतः प्राणवायु का निरोध करें । वायु के शरीर में रहने तक शरीर रहता है । जब प्राण वायु शरीर से निकल जाता है-तब ही मरण होता है । जब तक प्राण की सत्ता बनी रहती है और बिन्दु पर दृष्टि लगी रहती है तब तक काल का भय सता नहीं सकता । इसलिए कालभय से ब्रह्मा प्राणायाम परायण रहता है, योगी और मुनि लोग वायु के निरोध में संलग्न रहते हैं ।[23] इसी से उन्हें दीर्घ जीवन प्राप्त हो सकता है । जीवन वर्षों, मासों दिनों या घंटों में नहीं बांटा जा सकता अपितु पूर्व जन्म कृत शुभाशुभ कर्मों के आधार पर, जीवों को श्वासों की गिनती में दिया जा सकता है । जैसा कि योगाचार्यों और शास्त्रों का मत है कि हंस गायत्री, एक अहोरात्र में 21600 बार अनायास जीव द्वारा जपी जाती है । जिसका अनुभव

22. गो०सं०य०ख० 1.89 चले वाते चलो बिन्दुर्निश्चले निश्चलो भवेत् ।

योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरुंधयेत् ।।

23. गो०सं०य०ख० 1.90-93

करके साधक ब्रह्म मुहूर्त में अपने शरीरस्थ देवताओं को निवेदन करता है ,जिससे जीव स्वयं पुण्य पाप कर्म का भागी नहीं बनता तथा निष्काम भाव से षष्ठ देव स्वरूप बन जाता है। गणपति को 600 मूलाधार में, विष्णु को 6000 नाभि चक्र या मणिपूरक में, अनाहत चक्र में ब्रह्मा के लिए 6000, विशुद्ध चक्र में शिव के लिए 6000, आज्ञा चक्र में गुरु के लिए 1000 सहस्रसार में 1000 परं गुरु के लिए व्यष्टि तथा समष्टि को मिलाने वाले ब्रह्म रन्ध्र में 1000 नाथ के लिए उसका समर्पण करने से, नाद का अनुसन्धान भी होता है साथ ही देह में स्थित हंस जीव का भी हर क्षण ज्ञान होता रहता है। जो सतत् अभ्यास "तत्वमसि" महावाक्य के आधारपर प्रथम साधना में तो द्वैतभाव को प्रतिपादित करते हुए, स्वस्वरूपता में अवस्थान करवाता है और अन्त में अहं ब्रह्मा अस्मि" महावाक्य की अनुभूति में परिणत हो जाता है। इसके बाद समष्टि रूप में "सर्वं खल्विदं ब्रह्म:" महावाक्य की अनुभूति कराके, सच्चिदानन्द स्वरूपता में परिणत होकर परं मोक्ष पद को इसी देह में प्राप्त कर लेता। तभी तो गायत्री को योगी के लिए मोक्ष दायिनी माना है[25]। सर्व पापों की नाशक कहा है। इस जैसा विद्या

24· हंसोपनिषत्, षट् संख्यया अहोरात्रयारेकविंशतिसहस्रगाणि षट्शतान्यधिकानि भवन्ति।

25·गो०सं०यो०ख० 1·43 अजपानाम गायत्री योगिनां मोक्षदायिनी।

अस्या: संकल्प मात्रेण सर्वपापै: प्रमुच्यते ।।

जप,ज्ञान न अभी तक पैदा हुआ है न होगा । यही वेदों का सार है । कुण्डलिनी से उत्पन्न हुई यह गायत्री,प्राणधारिणी,प्राणविद्या और महाविद्या है । इस हंस को महाविद्या को जपने से वर्णस्वरूप ब्रह्म की उपासना है । ब्रह्म और जीव की एकता का नाम ही हंस गायत्री है[26] । इसका अभ्यासी साधक अपने चक्रों को एक पंक्ति में खड़ाकर देता है और ब्रह्मरन्ध्र को इतना मुलायम कर देता है कि कुण्डलिनी शक्ति के जागृत होने पर उससे उत्पन्न सवार जीव अपनी सुषुम्ना नाड़ी मार्ग से प्रयाण करता हुआ ब्रह्म मेलक द्वार को भेदित कर ब्रह्म में लीन हो जाता है । जैसा ध्यान बिन्दूपनिषत् में लिखा है कि इस कुण्डलिनी के मार्ग द्वारा प्रयाण करता हुआ साधक निरामय ब्रह्म पद की प्राप्ति हो जाता है[27] । भारतीय सनातन धर्म में गृहस्थादि धर्मावलम्बियों के लिए योग मार्ग का पालन कठिन बतलाया गया है । अतः उसके लिए षोडष संस्कारों का वर्णन गृह्यसूत्रों में आता है । जो गर्भाधान,पुंसवन,सीमन्तोनयन, जातकर्म,नालछेदन, मेधाजनन, नामकरण,निष्क्रमण,अन्नप्राशन,चूड़ाकर्म, कर्णवेध,उपनयन, वेदारम्भ, समावर्तन,विवाह तथा अन्त्येष्टि के नाम से जाने जाते हैं क्योंकि लिंग शरीर में अंगुष्ठमात्र पुरुषात्मा को 17 तत्वों का पुञ्ज माना गया है । जो अपने कर्मों के अनुसार एक देह से

---

26. ब्रह्मोपनिषद्, हंसात्मिका वर्ण ब्रह्मकाल प्रचोदिता । परमात्मा पुमानिति ब्रह्मसम्पत्ति कारिणी पाशुपत् ।

27. ध्यानबिन्दूपनिषत् येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम् ।

दूसरी देह में जाता है । यहीं पर पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ कर्मेन्द्रियाँ और पाँच प्राणों के संस्कार मानस संस्कारों सहित, उस बुद्धि पटल में जले हुए कागज में संलिप्त गूढ़ी स्याही के अक्षरों की तरह तल्लीन रहते हैं । और जन्म लेने तथा वहाँ पर सुखदुःखात्मक स्थिति पैदा करने के लिए बीज बन जाते हैं ।

योग मार्ग में बिन्दु वीर्य रक्षण मोक्ष का एक मात्र ऐसा बीज है जो निर्बीज मोक्ष को पैदा करता है । जिस गृहस्थी ने पुत्रोत्पादन करके उस अमोघ शरीर शक्ति को क्षीण कर दिया, वह मोक्ष को उस जन्म में कैसे प्राप्त कर सकता है । वीर्य रक्षा विना कुण्डलिनी अपने सिर पर बैठे जीव को ब्रह्मरन्ध्र से बाहर नहीं भेज सकती । जब ब्रह्मरन्ध्र से वह नहीं जाएगा तो परब्रह्म या समष्टि में उसका लय नहीं हो सकता । अतः अन्त्येष्टि के समय पुत्र के द्वारा पिता की कपाल छेदन क्रिया के द्वारा, उसे मानव कर्तव्य पर चलने की शिक्षा दी गई है कि तू ब्रह्मचारी बनकर चौरासी लाख योनि भोगने के बाद मिले हुए मानव शरीर का उपयोग मोक्ष के लिए कर, नहीं तो तेरा मानव देह इस पिता की

---

28. वे०सा० पृ० 34, सूक्ष्मशरीराणि सप्तदश अवयवानि लिंग शरीराणि ।

तरह ही नष्ट हो जाएगा । मोक्षमार्ग यही है कि तू कपाल में केश के सौवें हिस्से के बराबर छिद्र से अपने को निकाल कर समष्टि में लीन हो जा । जहाँ से निर्गमन करने पर फिर जन्म मरण में नहीं आना पड़ता[29] । दूसरी ओर भावना से मातापिता के और्ध्व दैहिक कर्म करनेव को प्रेरण दी है कि अरे पुत्र तेरे को पैदा करके इन दोनों ने अपने जीवन के इस श्रेष्ठ मार्ग को भी त्याग दिया और तुझे महत्व दिया । इसलिए तेरे को उत्पन्न करने की जैसी इनकी भावना थी, वैसे ही तू भी इनके तीनों शरीरों स्थूल, सूक्ष्म और कारण के निमित्त मलीन मध्य और उत्तम मीमांसोक्त षोडशी करके स्वर्ग के योग्य बना दे, क्योंकि भावना ही क्रिया रूप में परिणत होती है[30] । हम देखते हैं कि अनेकों सिद्ध इस पर्वत खण्ड के स्थान-स्थान पर देवत्व की संज्ञाओं को प्राप्त करके प्रतिष्ठित हुए और लोगों द्वारा पूजे जा रहे हैं । इसलिए तू भी अपनी माता पिता की प्रतिष्ठा को बढ़ा । पितृ देवो भव की भावना को पूरा कर ।

अतः पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति के लिए प्राणायाम मानव को अनिवार्य रूप से करना पड़ता है, क्योंकि कोई भी संकल्प करने से पहले कर्म कर्ता को नाड़ी शुद्धि के संकल्प की सलाह दी जाती है । "प्राणानायम्य संकल्पं कुर्यात्" ।

अब प्रश्न यह आता है कि उस प्राणायाम को किस विधि से किया

---

29. यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम: परमो मम । "गीता"

30. वै०भू०सा० । भावो भावना सैवचोत्पादना सैव क्रिया ।

जा सकता है । तब उसका समाधान गोरक्षसंहिता में किया है कि पहले गुरु जी को [31]
प्रणाम करके परं शिव को प्रणाम करे । इसके बाद भ्रूमध्य में दृष्टि लगाकर अपान वायु को ऊपर खींचकर प्राण के साथ मिला लें । इस प्रकार कुण्डलिनी को उठाने से सभी पापों से छुटकारा मिल जाता है । यह कर्म बद्ध पद्मासन लगाकर साधक को करना चाहिए । उस आसन का स्वरूप ग्रन्थकार ने बतलाया है कि बाँए पाँव को दक्षिण जाँघ पर और दक्षिण पाँव को बाँई जाँघ पर रखकर, बाँए हाथ से बाँए पाँव के अंगूठे को और दाहिने हाथ से दाहिने पाव के अंगूठे को पीठ पीछे से पकड़ कर ठोड़ी को छाती में लगा के नासिका के अग्र भाग पर दोनों आंखों को जमा के देखता रहे । वहाँ बिन्दु के दर्शन से सारी व्याधियाँ नष्ट हो जाती है [32] । इस प्राणायाम को तीन प्रकार का बतलाया गया है -पूरक, कुम्भक और रेचक । इस का स्वरूप प्रणवात्मक माना गया है, क्योंकि प्रणव जप का प्रतीक है [33] । कुछ का मत यह है कि सम्पूर्ण प्रणव का पूरक प्राणायाम करते हुए, 12 बार उच्चारण करें, कुम्भक में 16 बार, रेचक में दस बार उच्चरण करें । कुछ का सम्पूर्ण प्रणव को उच्चारण न करने का सुझाव है और उनके मतानुसार, पूरक में अकार का, कुम्भक में उकार का, रेचक में मकार का 12, 16, 10 बार उच्चारण करने का विधान मिलता है [34] । इस पर भी साधक को यह ज्ञान नहीं होता

---

31. कबीर, गुरु गोविन्द दोनों खड़े काके लागूं पाय । बलिहारी गुरु आपने जिन गोविन्द दियो मिलाय ।

32. गो०सं०यो०ख० 1.11, एवं योग कु० उ० 1.5, ऊर्ध्वोपरि चेद्धत्ते उभे पाद तले यथा ।
पद्मासनं भवेदेतत्सर्व प्राणाशनम् ।।

33. वही, 2.2

34. वही, 2.4

कि इसे कौन सी नाड़ी से आरम्भ करें तो उसका उत्तर देते हुए गोरक्षनाथ जी ने कहा है कि बद्ध पद्मासन योगी प्राण को चन्द्र नाड़ी से खींचे तथा सूर्य नाड़ी से फेंक दे।[35] पुनः सूर्य नाड़ी से पूरक और चन्द्र नाड़ी से रेचन करे।[36] इस विधि में हम जिस स्वर से इसे प्रारम्भ करते हैं उसी स्वर के देवता का नाभि चक्र में ध्यान करना अनिवार्य है जैसे प्रथम बार चन्द्र नाड़ी से श्वास खींचेअतः उसके समय नाभि चक्र में षोडश कला पूर्ण चन्द्रमा का ध्यान किया जाएगा। जब सूर्य नाड़ी से प्राणायाम विलोम रूप से किया जा रहा है तो उस समय नाभि चक्र में सूर्य का ध्यान करके सिद्धि मिलती है।

इस प्रकार से यह द्वादश मात्रात्मक प्राणायाम अधम प्रकार का माना गया है। इन अधम में दर्शाई गई मात्राओं को दूना करके प्राणायाम किया जाता है। तब वह मध्यम कहलाएगा। जब उन मात्राओं को त्रिगुणित करके अभ्यास द्वारा प्राणायाम समय में धारण किया जाएगा, तब उत्तम प्राणायाम माना जाएगा।[37] प्रथम प्रकार के प्राणायाम सिद्ध हो जाने पर साधक के शरीर में पसीना आएगा, मध्यम की सिद्धि पर शरीर में कम्पन होगा, उत्तम की सिद्धि पर साधक आसन छोड़ देगा।[38] जब साधक को पसीना आए तो पसीने की मालिश शरीर में करे। ऐसा करने से शरीर के छिद्र बन्द हो

---

35. गो०सं०या०खं० 1.95

36. त्रिशिखब्राह्मणोपनिषद्, हस्तेन दक्षिणेनैव पीडयेन्नासिकापुटम्।
शनैः शनैरथ वहिः प्रक्षिपेत्पिंगलानिलम्॥

37. गो०सं०या०खं० 2.5

38. वही, 2.6

जाएंगे और मन की चंचलता स्थिर हो जाएगी । तभी तो सहस्रो मार्ग से प्रयाण करने वाला मन जब घटाकाश में बन्द हो जाएगा तो उसे अपने बल से हिलाएगा । वही मध्यम स्थिति का कम्प है । इस स्थिति को प्राप्त होने पर योगी को अधीर नहीं होना चाहिए । कम्पावस्था में योगी देह एक केले के पत्ते की तरह अस्थिर होकर काबू से बाहर हो जाती है । जब उस पर अधिकार हो जाएगा । तब देवत्व की अवस्था भूमि त्याग योगी को मिल सकती है ।

यह तभी सम्भव है अगर योगी मनोन्मनी अवस्था को प्राप्त करले। मन की उन्मनता सुषुम्ना मार्ग में जाने पर ही होगी । यही मार्ग त्रिवेणी संगम कहलाता है । इडा गंगा की प्रतीक है, पिंगला यमुना की और सुषुम्ना सरस्वती की प्रतीक कही गई है । इस त्रिवेणी का संयोग भ्रूमध्य में होता है और वहाँ से यह त्रिवेणी महासमुद्र गंगासागर रूपी सहस्रसार तक जाती है । इसमें जो स्नान अर्थात् अनुभव करके पहुँचता है, उसे महाफल मिलता है । इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए अनेकों प्राणायाम निर्दिष्ट हैं । जिनमें कुम्भक प्राणायाम का विशेष महत्व है । यह प्राणायाम सूर्यभेदी, उज्जयी सीत्कारी, शीतली, भस्त्रिका भ्रामरी, मूर्च्छा प्लाविनि नाम से आठ प्रकार का माना गया है । सूर्यभेदी:- यह प्राणायाम पद्मासन या सिद्धासन में बैठकर, जालन्धर, उड्डीयान और मूलबन्ध सहित दाहिने हाथ

39• योगविज्ञान, पृ० 103, इडा भोगवती गंगा पिंगला यमुना नदी ।
इडा पिंगलयोर्मध्येसुषुम्ना च सरस्वती ।।

40• [redacted] वही 2•44 त्रिवेणी योगः सा प्रोक्ता तत्र स्नानं महाफलम् ।

41• हठयोग प्रदीपिका 2•44 गंगा जमना सरस्वती तीनों मिले प्रयाग ।
छाला पडे समुद्र की पाप कटे हरिद्वार ।।

को कनिष्ठिका और अनामिका से बांई नाथून बन्द करके दक्षिण नाथून से या सूर्य नाड़ी से, प्राणायाम आरम्भ करना । इससे कपाल शुद्धि, वातनाश, कृमिनाश आदि होते हैं ।

2. उज्जायी :-

इसमें मुखबन्द करके दोनों नथुनों से शनैः-शनैः धीमे शब्द को करती हुई वायु कण्ठ से हृदय तक भरी जाती है । इससे कफ दोष शमन, उदराग्नि की वृद्धि, नाड़ीगत दोषों का नाश, जलोदर शमन होता है ।[42]

3. सीत्कारी :-

जिह्वा को नली जैसी गोलकर दोनों होठों में लगाकर, तालूस्पर्श सहित सीत्कार शब्द करते हुए कुम्भक करना । इसका मुख्य लाभ सौन्दर्य प्राप्ति है ।[43]

4. शीतली :-

दोनों ओंठों के मध्य में जिह्वा को गोलाकार करके यथा शक्ति वायु को उदर में भर के शीतली प्राणायाम कहलाता है । इसका विशेष लाभ विष न लगना है ।

5. भस्त्रिका :-

इस प्राणायाम में पद्मासनस्थ साधक मुख और एक नासा छिद्र को बन्द करके उदरस्थ वायु को बाहर निकालता है जो हृदय कण्ठ और तालु से स्पर्श कर रही होती है । पुनः उसी ताल लय से भरता है और दूसरी नथून से छोड़ता है ।[44] जैसे लोहार की भस्त्रिका

---

42. हठयोग प्रदीपिका, 2.51-53

43 वही, 2.54

44. वही, 2.55-67

लोहा गर्म करने के लिए श्वास प्रश्वासों का तांता लगाती है । जब तक शरीर में स्वेद न आ न जाए । इसका मुख्य फल त्रिदोष शमन और कुण्डलिनी उद्बोधन है ।

6• भ्रामरी :-

एक नथूना बन्दकरके दूसरे से ऐसे वायु का आकर्षण करें की भ्रमर की ध्वनि की तरह आवाज आवें । यथा शक्ति कुम्भक करके दूसरी नथून से ऐसे रेचन करें कि भ्रमरी की तरह श्वास निकालने की ध्वनि आवें । इसका मुख्य फल मन की एकाग्रता है ।[45]

7•मूर्छा :-

पूरक करके जालन्धर बन्ध लगाके दृष्टि को भ्रूमध्य स्थापित करें । यथा शक्ति कुम्भक में रहने के बाद रेचन कर दें । इससे सुख लाभ होता है ,क्योंकि मन इस प्राणायाम से मूर्छित हो जाता है[46]

8•प्लाविनी प्राणायाम :-

दोनों नथुनों से उदरस्थ वायु का रेचन करें,पुनः दोनों से पेट को वायु से गले तक भर लें । पद्मासन लगाकर इसका अभ्यास पूरा होने पर साधक अगाध जल में यथेच्छ तैर सकता है ।[47]

इस प्रकार प्राणायाम के कुम्भक के आठ भेद अनेकों सिद्धियों को देने वाले माने गए है । इन भेदों के अतिरिक्त प्राणायाम के कुछ और भेद देखनें को आए हैं ।

45• हठयोग प्रदीपिका 2•68

46•वही,, 2•69

47•वही,, 2•70

जैसे कपालभाती, तालयुक्त, कुण्डलिनी जाग्रत, सुखसाध्य, चलते फिरते का प्राणायाम, शवासन में प्राणायाम, केवल कुम्भक, सूर्य चक्र पर ध्यान लगाने वाला प्राणायाम आदि । कुछ भी हो ये सारे प्रपंच कुम्भक प्राणायाम पर ही निर्भर करते हैं । उस कुम्भक के दो भेद माने गए हैं । केवल और सहित ।

केवल प्राणायाम :-

रेचक और पूरक विधियों को त्याग कर केवल उदरस्थ वायु को धारण करने के अभ्यास को केवल प्राणायाम कहा जाता है [49] । इस केवल कुम्भक प्राणायाम के सिद्ध हो जाने पर तीनों लोकों में उस योगी के लिए कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है । उसमें अत्यन्त शक्तिपात के कारण अतुलित बलधामता आ जाती है । यथेष्ट वायु निरोध से कुण्डलिनी जागरण हो जाता है । सुषुम्ना का मार्ग बाधा रहित बन जाता है, कुण्डलिनी ब्रह्मरन्ध्र में स्थित हो जाती है । तब चित भी वहीं स्थिर होकर राजयोग में लग जाता है । प्रत्याहार आदि उत्तम साधन स्वयं मिल जाते हैं । वह योगी हंस संज्ञा को सार्थक बना देता है, क्योंकि हंस मानसरोवर में रमण करता है, तो क्षीर सागर में जाकर भोजन के लिए मोती खाता है [50] । उसी तरह से योगी सहस्रसार रूपी मानस में रमण करके भोजन प्राप्ति के लिए उदर रूपी समुद्र में उतर जाता है । अतः जीवन मुक्ति के लिए केवल

---

49. हठयोग प्रदीपिका, 2.72 रेचकं पूरकं मुक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम् ।

50 वही, न रमते मरालस्य मानसं मानसं बिना ।।

प्राणायाम का अभ्यास अत्यावश्यक है ।

सहित प्राणायाम :-

केवल प्राणायाम से भिन्न माना गया है अर्थात् पूर्ववर्णित प्राणायाम जो पूरक और रेचक के साथ किया जाने वाला कुम्भक सहित कहलाता है । इस प्राणायाम की उपयोगिता केवल प्राणायाम की योग्यता देना है । जब केवल प्राणायाम लग जाएं तब सहित की कोई आवश्यकता नहीं रहती ।

षट्कर्म :-

चितवृति निरोध स्वरूप योग, जो अन्त में समाधि में परिणत होता है उस समाधि को प्राप्त करने के लिए सिद्ध योगियों ने पात्रता आवश्यक मानी है । पात्रता के लिए षट्कर्मों की आवश्यकता पर बल दिया है । नाथ सम्प्रदाय में धौति, वस्ति, नेति, त्राटक, नौलिक और कपाल भाति नाम से इन्हें गिना गया है । इनके नित्य करने से साधक की देह शुद्ध हो जाती है ।

धौति कर्म में चार अंगुल चौडी, पन्द्रह हाथ लम्बी रेशम वस्त्र की पट्टी का प्रयोग किया जाता है । पट्टी को जल या दूध में भिगो कर किसी योग्य गुरु की देख रेख में प्रथम दिन एक हाथ, दूसरे दिन दो, इस क्रम से सुमुहूर्त में चान्द्रायण व्रत की तरह, निगलने को बढ़ाना चाहिए । जब एक हाथ शेष रह जाए वहीं तक उसे बढाते जाना चाहिए । इसे

---

51. हठ्योग प्रदीपिका, 2.22-23 धौतिर्बस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नौलिकस्तथा ।
कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि प्रचक्षते ।।
कर्मषट्कमिदं गोप्यं घटशोधनकारकम् ।।

निगलकर नौलिक्रिया से पेट घुमाकर धैर्य पूर्वक बाहर निकाल देना चाहिए । इस कर्म में एकाग्रता और धैर्य अत्यावश्यक माने गए है । इस कर्म से साधक को कफोत्पन्न रोगों से सर्वथा छुट्टी मिल जाती है और कास प्लीहा आदि रोग भी नष्ट हो जाते हैं ।[52]

2. वस्ति कर्म :- किसी पीतल की या पतले बाँस की नली लेकर कार्य किया जा सकता है । नली की लम्बाई लगभग आठ अंगुल मोटाई कनिष्ठिका से कुछ ज्यादा ताकि उसका छिद्र कनीष्ठिका के बराबर रह जाए। उस नली को तैल से तर करके और गुदा पर भी तैल लगाकरके लगभग चार अंगुल गुदा में प्रविष्ट कर लें । पुनः नौली कर्म द्वारा उत्कटु जल में बैठकर जल को उदर में घुमाना चाहिए । घूम जाने पर गुदा द्वार से उस पानी को बाहर फैंक देना चाहिए । इससे शरीरस्थ सप्तधातुओं में स्थिरता आती है तथा प्लीहा, गुल्म, जलोदर, वातपितादि व्याधियाँ शान्त हो जाती है ।[53]

3. नेतिकर्म :- लगभग एक हाथ सूत के दोरक को मोम आदि से तरल करके, नाक के एक छिद्र से प्रविष्ट करके शनैः-2 जब गले में पहुँच जाए तो मुँह से उस कोने को निकालकर धीरे से आगे पीछे चलाए । इसके बाद थोड़ा सा नमक जल में मिलाकर नाक से उस कोसे जल को पीकर मुँह से निकालें । इससे कपाल शुद्ध हो जाता है और दिव्य दृष्टि मिलती है। मस्तिष्क का जितना चाहो उतना काम करने पर भी थकावट नहीं होती और न ही कोई उर्ध्व जत्रु रोग होता है ।[54]

---

52. हठयोग प्रदीपिका, 2.24-25

53. वही, 2.26-28

54. वही, 2.29-30

4. त्राटक कर्म :- एकाग्रचित होकर साधक प्रथमतः हरे या नीले बिन्दु को अपने से कुछ दूरी पर स्थिर दृष्टि से एकतान देखता रहे । जब तक आँखों में आँसू न आ जाएँ । इसके बाद अपने हाथों से बन्द करके नेत्रों को धीरे से मल दें । इस कर्म के सिद्ध हो जाने पर साधक के नेत्रों के रोग नष्ट हो जाते हैं । तन्द्रा आलस्य आदि रिपु समाप्त हो जाते हैं । इससे लक्ष्य में अपने इष्ट देव के दर्शन भी हो जाते हैं । दृष्टि में इतनी ताकत आ जाती है । कि स्वामी रामतीर्थ ने रेल से उतार देने पर इसीके द्वारा रेल को ही रोक दिया था । जंगलों में पड़े अजगर भी अपनी त्राटकीय दृष्टि से जिसे देख लेते हैं वह हिल नहीं सकता और बड़े आराम से उसे खा जाते हैं । अतः इस क्रिया को दुष्टों से सोने की पेटी की तरह बचाना चाहिए ।[55]

5. नौलिकर्म :- कन्धों को झुकाकर अपने हाथों को जंघाओं पर रखो । दोनों पैरों को एक हाथ के परिणाह से रखें । पुनः रेचक से वायु निकालकर उड्डीयानबन्ध लगा लें । अब पेट की नसों को उठाकर वाम से दक्षिण और दक्षिण से वाम की ओर खींच मारकर पेट को घुमावें । इस कर्म से वात दोषों का नाश, चित्त प्रसन्नता, उदराग्निवृद्धि आदि लाभ मिलते हैं ।[56]

---

55. हठयोग प्रदीपिका 2.31-32

56. वही 2.33-34

कपालभाति कर्म :-

लुहार की धौंकनी की तरह साधक एक नथूने से साँस ले, दूसरी से छोड़े, पुनः उससे लेकर दूसरी से छोड़ता जाए । इससे कफ विकार दूर होता है और मस्तिष्क शान्त और शीतल रहता है ।[57]

यह षट्कर्म समस्त साधकों के लिए उपयोगी नहीं है, क्योंकि इनमें हानि का भय रहता है तथा इनके साधनें के लिएसमय भी अधिक लगता है । ये कर्म केवल बाह्य शरीर के उपकरणों को शुद्ध करते हैं । शरीर त्रिस्थूणा माना गया है । वात पित कफ इन तीन तत्वों रज तम सत के स्थानापन्नों के द्वारा बना भवन है । इनकी तुल्यता जिस साधक से ही अपनी नाड़ीशुद्धि कर सकता है । उसे इन प्रपंचों में अपना समय बर्बाद नहीं करना चाहिए । जिनके शरीरों में इन तीनों की असमता है । उन साधकों को अवश्य ही षट्कर्म में जाना पड़ता है । कुछ भी हो साधक का लक्ष्य तो दोषों को मारकर अपने शरीर को योग योग्य बनाना होता है । वह चाहे षट्कर्मों से बने अथवा प्राणायाम से ।

मुद्रा :-

योग साधना में तन्त्रशास्त्र भी अत्यधिक सहायक होते हैं । इसीलिए कलियुगी सिद्ध गोरक्षनाथ जी भी अपने "गोरक्षसंहिता" नामक ग्रन्थ के योगखण्ड के अन्तर्गत मुद्राओं को योगी के लिए मोक्ष देने वाला बतलाते हैं । उनके मत में महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयान

---

57. हठयोगप्रदीपिका 2.25

जालन्धर और मूलबन्ध नामक पाँच विद्याएँ मानी गई है[58]। जब की बहुत्र ग्रन्थों में अन्त के तीनों को अलग बन्ध विधा में माना है।

मुद्रा शब्द मुद् मोदे धातु से या रा आदाने धातु से बना है, क्योंकि "मुदं राति-ददाति इति मुद्रा निर्वचन बनता है। इसका अर्थ होता है खुश होकर उस कर्म में रमण करना। तभी तो इन मुद्राओं के प्रदर्शन से मन्त्र देवता प्रसन्न हो जाते हैं[59]। इसीलिए इन मुद्राओं को पूजा, जप, ध्यान, काम्यकर्म, स्नान, आवाहन, शंख प्रतिष्ठा, रक्षा नैवेद्य निवेदन और उस स्थान में जहाँ विशेष देवता का विशेष कला से कोई काम हो रहा हो दिखलाना अत्यावश्यक है। वे अपने-अपने देवता को [redacted] अपनी-अपनी रूचि के अनुसार प्रिय है[60]। उनमें से षडंग मुद्रा तो सभी देवता के लिए समान है। बाकि विष्णु को 2। मुद्रा शिव को दस मुद्रा, सूर्य को एक, गणेश को सात, दुर्गा को आठ, त्रिपुरा को दस, गायत्री को चौबिस मुद्राएँ मन्त्रमहार्णव देवताओं को प्रसन्न करने वाली कहा गया है। शारदा तिलक में इन मुद्राओं से सब देवताओं के प्रसन्न होने की बात कही गई है[61]। अतः सब कर्मों में मुद्रा के सेवन द्वारा देवताओं को प्रसन्न किया जाता है।

---

58. गो०सं०या०ख० ।•56 महामुद्रां नभोमुद्रां उड्डीयानं जलन्धरम् ।
मूलबन्धञ्च यो वेति स योगी मुक्तिभोजनः ।।

59. मन्त्रमहार्णव पृ० 23, याभिर्विरचिताभिश्च मोदन्ते मन्त्रदेवताः ।

60 वही, पृ० 23, 1-3

61. शारदातिलक ।3•106 याभिर्विरचिताभिस्तु मोदन्ते सर्वदेवताः ।

इसीलिए घेरण्ड, शिव तथा दत्तात्रेय आदि संहिताओं में इन मुद्राओं का विशेष वर्णन है तथा योग्य गुरु से उन्हें सीखने का निर्देश दिया गया है । घेरण्ड में 25 मुद्रांए गिनाई हैं । जैसे महामुद्रा, नभोमुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, विपरीतकरणी, योनि, वज्रोली, शक्तिचालनी ताड़गी, मांडवी, शाम्भवी, अधोधारणा, अभ्यासोधारणा, वैश्वानरीधारणा, वायवीधारणा, नभोधारणाअश्विनि, पाशिनि काकी मातंगी, भुजंगिनि, मूलबन्ध, उड्डीयानबन्ध तथा जालन्धर-बन्ध ।

शिवसंहिता में इनकी संख्या दस बतलाई गई है-महामुद्रा, महाबन्ध, महाभेद, विपरीतकरणी, वज्रोली, शक्तिचालनी, खेचरी, मूलबन्ध, उड्डीयानबन्ध और जालन्धर-बन्ध[62]। इन्ही दस को हठ्योगदीपिका में भी माना है[63]।

इनके इलावा योगविज्ञान में योनि, शाम्भवी, भूचरी, चाचरी, ज्ञानमुद्रा, तथा षड्मुखी आदि का भी वर्णन किया गया है । इन सब का आधार कुण्डलिनी शक्ति है । उसके जागरण के लिए मन की एकाग्रता अपेक्षित होती है । उस एकाग्रता के लिए मुद्रांए अत्यन्त उपयोगी मानी गई है । अतः "गोरक्षसंहिता" में सभी मुद्रओं का संक्षिप्त वर्णन दिया जा रहा है ।

1. महामुद्रा :-

इसमें बांए पैर की एड़ी को सीवनी के ऊपर रख दें । दाहिने

---

62. शिवसंहिता, 4.24.24

63. हठ्योग प्रदीपिका 3.6-7

पाँव को लम्बा पसार करके दोनों हाथों से उसे पकड़ लें । तब अपने सिर को जानु पर लगा लें । इसके बाद उड्डीयान बन्ध लगाकर नवद्वारों को बन्द करके,पूरक प्राणायाम करके,जालन्धर बन्ध लगाकर,धीरे-धीरे रेचन करें । इसके बाद दूसरी एड़ी से एसा ही कार्य करें । इस तरह से महामुद्रा नामक कर्म होता है । जिससे अनेक रोग नष्ट होते हैं,आयु बढ़ती है,मनवांछित फल भी मिलता है । ये फल तभी मिलेगा जब साधक इस प्रक्रिया में कुम्भक की साधना करे ।[63]

2•नभोमुद्रा :-

इस मुद्रा का नाम खेचरी मुद्रा भी है । जीभ को उलट कर कपाल कुहर में प्रविष्ट कराके भ्रूमध्य में दृष्टि स्थिर करें । जब यह कपाल कुहर में ठीक रूप से प्रविष्ट हो जाएगी तो नमकीन मिर्च खट्टा मीठा आदि का स्वाद आने लगेगा । अगर जीभ तालु के शिवलिंग में स्पर्श न कर सके तो किसी साधन से जीभ के निचले हिस्से को काट लें और प्रातःकाल जिह्वा का दोहन करके उसे खींचकर लम्बा कर लें । इसी प्रक्रिया से पिण्ड सहस्रार से बहने वाला अमृत लेकर साधक को रस सिद्ध होकर वज्र देह की प्राप्ति होगी । सहस्रार के बिन्दु की प्राप्ति से सात धातुओं का अन्तिम तत्व वीर्य या सात सूक्ष्म यन्त्रों से मथन होने के बाद अन्तिम धातु सूक्ष्मातिसूक्ष्म वीर्य भी शरीर से स्त्री आदि के आलिंगन पर स्खलित नहीं होगा ।[64]

63•गो०सं०यो०ख० 1•57-61,हठयोगप्रदीपिका 3•10-18,शाण्डिल्योपनिषद् ।

64•गो०सं०यो०ख० 1•62-68

3.उड्डीयानबन्ध :-

इस बन्ध में कुण्डलिनी के बीच में रहने वाला प्राण रूपी पक्षी उड़ता हुआ सुषुम्ना नाड़ी से ब्रह्मरन्ध्र की तरफ उड़ता जाता है । अत: इसका नाम अन्वर्थक है । यह नाभि के नीचे खींचकर पेट को पीठ तरफ बढ़ाकर किया जाता है ।[65] रेचक करके नाभि स्थान के नीचे और ऊपर के भाग को ऐसे खींचे ताकि वे ~~जिससे~~ पीठ के साथ जाकर मिल जाए ।

4.जालन्धरबन्ध :-

कण्ठ को संकुचित करके वायु को रोकना ही जालन्धरबन्ध कहलाता है । इससे चन्द्रामृत गिरकर नाभि में प्रज्वलित होने वाली अग्नि में पड़ने से बच जाता है । इसमें अपनी ठोडी को संकुचित करके छाती को उपरले हिस्से पर लगाना चाहिए और कुम्भक करके आज्ञा चक्र में दृष्टिपात रखना चाहिए । योग तत्व उपनिषद् में इसका वर्णन करते हुए कहा है कि "कण्ठ को सिकोड़कर दृढ़ता पूर्वक छाती पर रखने से यह बन्ध बनता है । जो कि मृत्युरूपी हाथी के लिए शेर के समान है ।[66]

5.मूलबन्ध :-

अपने पैर की एड़ी कीसीवनी भाग पर रखकर, मूलाधार को वायु के द्वारा ऊपर खींचकर प्राण और अपान को इकट्ठा कर लें । गुह्य द्वार को सिकोड़ लें । यही मूलबन्ध कहलाता है । योग तत्वोपनिषद् में इसका नाम योनिबन्ध रखा है ।

65.यो०सं० यो०खं० 1.76-77, योगतत्वोपनिषद्, हठयोग प्रदीपिका 3.55.60

66. वही, 1.78-79

शिवसंहिता में भी इसका वर्णन इसी रूप में आया है । इसमें प्राण और अपान की एकता को बतलाया गया है ।[67]

शरीर में इन प्रक्रियाओं को करने से कुण्डलिनी रूपी देवी प्राणदेवताओं शिवरूप ब्रह्मतत्व सभी प्रसन्न हो जाते हैं । इसीलिए इनका सब कर्मों में करना अनिवार्य रूप में दर्शाया गया है ।

धारणा :-

षडंग योग में धारणा का चौथा स्थान है । यह उसी को सिद्ध हो सकती है, जिसने आसन प्राणायाम और प्रत्याहार को सिद्ध कर लिया हो । तभी तो गोरक्षनाथ ने कहा है कि "आसन से युक्त, प्राणायाम सहित प्रत्याहार सम्पन्न धारणा का अभ्यास करना चाहिए ।[68] हृदय में पृथिवी जल तेज वायु आकाश को पृथक्पृथक् धारणा करनी चाहिए । यमादि के द्वारा चंचल मन की धारणा ही संसार सागर से पार लगाने वाली है ।[69] इस प्रकार चित की निश्चलता ही धारणा है । योग तत्वोपनिषद् में कहा है कि "जिसका चित वायु के साथ सुषुम्ना में प्रवेश कर जाता है । उसे पंचभूतों की धारणा हो जाती है । जैसे "भूमिरूपो नलो वायुराकाशश्चेति पंचक: । येषु पंचसु देवानां धारणा पंचधोच्यते" अर्थात् उस योगी को भूमि जल, अग्नि, वायु और आकाश के सब देवताओं को

---

67. गो०सं० 1.80-91, शि०सं० 4.64-65

68. वही, यो०खं० 2.52

69. "मनसो धारणं युक्तस्य च यमादिभि: ।
(त्रिशिखब्राह्मण) चित्तस्य निश्चलोभावो धारणा धारणं विदु: ।

धारणाहो जाती है । यहाँ देवता से,प्रकाशमान महाभूत ही ग्रहण करना चाहिए । धारणा को पतंजलि ने अन्तरंग साधना माना है और एक देश में नाभिचक्र हृत्पुण्डरीक,नासिकाग्र आदि में चित को स्थिर करना ही धारणा कहा है।[70] इसके होने से ही ध्यान लगता है ।

पृथिवी की धारणा :-

साधक जब अपने मूलाधार में चतुष्कोणात्मक स्वर्णाभ पीत-वर्ण सम्पन्न पीठ में "लं" बीज का अनुभव करके हृदय में पाँच घड़ी तक अनुभव करे तो इस प्रकरण की यह धारणा स्तम्भन करी मानी गई है । इसकी सिद्धि से पृथिवी तत्व जीता जाता है।[71]

जल की धारणा :-

अर्धचन्द्राकार कुन्द के पुष्प की तरह शुभ्र वर्ण वाले अमृत तत्व रूप"वं" बीज युक्त,विष्णु अधिष्ठाता सम्पन्न,जल तत्व का ध्यान करते हुए,उसी में मन और प्राण को लीन करते हुए ~~उसी में मन और प्राण को~~ पाँच घड़ी में जल धारणा सिद्ध होती है । यह स्वाधिष्ठान पीठ षट् कोणात्मक पर सिद्ध की जाती है । इसके सिद्ध हो जाने पर कालकूट जैसे विष भी हजम हो जाते हैं ।[72]

70.यो०द० 3.1 देशबन्धश्चितस्य धारणा ।

71.गो०सं०यो०खं० 2.54, योगतत्वोपनिषद् ।

72. वही, 2.55, वही

अग्नि की धारणा :-

इन्द्रगोप के समान लाल वर्ण त्रिकोणाकार प्रवाल जैसे रुचिर तेज स्वरूप "रं" बीज युक्त, रुद्र अधिष्ठात्री देव सम्पन्न दशकोणात्मक मणिपूर नाभि पीठ में अग्नि तत्व के बीच अपने को मन प्राण सहित पाँच घड़ी तक लीन करने से अग्नि की धारणा होती है। इसका अभ्यासी अग्नि तत्व जेता होता है।[73]

वायु की धारणा :-

सूरमे के रंग की तरह गोलाकर "यं" बीज युक्त वायु तत्व का ईश्वर अधिष्ठात् देव सहित भौंहों के बीच में ध्यान करना मन प्राण सहित स्वयं को भी वायु तत्व में लीन कर लें। यह ध्यान अनाहत जो द्वादश दल सम्पन्न है, पर होगा। पाँच घड़ी तक इसमें रहने से यह सिद्ध हो जाएगा और साधक आकाश गमन का पात्र बन जाएगा।[74]

आकाश की धारणा :-

स्वच्छ जल के समान वर्ण, वर्तुलाकार "हं" बीज युक्त आकाश तत्व को उसके अधिष्ठात् देव सदाशिव के सहित विशुद्ध पीठ जिसके षोडश दल हैं। उस पर चिन्तन करें और मन प्राण सहित अपने को दो घण्टे तक उसमें लीन रखें। तब आकाश की धारणा सिद्ध होती है। इसके सिद्ध होने पर मोक्ष के द्वार खुल जाते हैं और साधक मुक्त हो जाता है।[75]

---

73. गो०सं०यो०खं० 2.56, योग तत्वोपनिषद्

74 वही, 2.57, वही

75. वही, 2.58, वही

इन धारणाओं के क्रमशः स्तम्भिनी, द्राविणी, दाहिनी, भ्रामिणी, शोषिणी नाम रखे गए हैं। कर्म वचन, मन द्वारा इन पाँचों दुर्लभ धारणाओं का अभ्यास अति दुर्लभ है। अगर किसी ने कर लिया तो वह सदा के लिए सभी प्रकार के दुःखों से छूट गया।[76]

ध्यान :-

अन्तःकरण के वशीकार हेतु तीन साधन शास्त्रों में निर्दिष्ट हैं। धारणा ध्यान और समाधि। धारणा के वर्णन कर देने पर ध्यान की बारी आई तो प्रश्न उसके स्वरूप का होता है, क्योंकि "लक्षणप्रमाणाभ्यां हि वस्तु सिद्धि"। इस न्याय के अनुसार हर उक्त वस्तु का लक्षण होना चाहिए। पतंजलि ने अपने योग दर्शन के विभूति पाद में धारणा के बाद ही ध्यान का लक्षण किया है। जैसे धारणा के विषय को समस्त ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा जाना ही जाना चाहिए। इसे ध्यान कहते हैं। ताकि बीच में कोई बाधक ज्ञान न पैदा हो जाए।[77] इसी का वर्णन गोरक्षनाथ ने इस प्रकरण में किया है कि ध्यै धातु सर्वचिन्तनवाचक है जो अपने चित्त में आत्म तत्व का सर्वतोभावेन चिन्तन करता है वही ध्यान कहलाता है।[78] यह ध्यान दो प्रकार का माना गया है। सगुण और निर्गुण। कुछ लोग कलायुक्त शबल ब्रह्म का ध्यान करते हैं। कुछ कलारहित निर्गुण ब्रह्म का ध्यान करते हैं। लोक में जो शास्त्र मुख्य रूप

76• गो०सं०यो०खं० 2•59–60

77• 3•2 तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।

78• गो०सं०यो०खं० 2•6•–62

से प्रचलित हैं । उनमें आकार युक्त और आकार रहित परमात्मा का ही ध्यान कहा जाता है । तभी योगउपनिषद में इनका भेद बतलाते हुए, ~~फल भेद बतलाते हुए~~ फल भेद की बात कही गई है । जो सगुण उपासक है, वह अष्ट सिद्धि प्राप्त करता है और निर्गुण उपासक समाधि लाभ को प्राप्त करता है । जिससे हम कह सकते हैं कि सगुण की उपासना ऐह लौकिक सुख साधनों की दाता है जबकि निर्गुण उपासना पारलौकिक सुखसाधनों का आगार है । इन दोनों को धर्म या अदृष्ट कहा जाता है ।[79] इस धर्म के धारण से ही मानव अपने स्वरूप में रक्षित रह सकता है या आगे बढ़ सकता है ।[80] इसलिए देहली दीपक न्याय से ध्यान, जहाँ धारणा का सहयोगी है । वहाँ समाधि का भी पूर्व रूप माना गया है । अतः एव ग्रन्थकार ने इसे दोनों के बीच में रखा है। इसी से कैवल्य या मोक्ष मिलता है ।

समाधि :-

ध्यान ही जब अर्थमात्र में भासित होने लगे और योगी अपनी सत्ता को भूल जाए तब समाधि नाम को पा लेता है अर्थात् ध्याता, ध्यान और ध्येय इन भेदों सहित जो ज्ञान होता है वह ध्यान होता है । इन तीनों के भिन्न ज्ञान रहित एकतानता ज्ञान का नाम समाधि है ।[81] सम्यक् ध्यायते यत्र ध्येयं" वह समाधि है ।

---

79. वै०द० 1.2 यतोऽभ्युदय निःश्रेयसप्राप्तिः सः धर्मः ।

80 धर्मो रक्षति रक्षितः ।

81. 3.3 तदेवार्थमात्रनिर्भास स्वरूप शून्यमिव समाधिः ।

गोरक्षनाथ ने उपाधि और तत्व इन दो शब्दों पर विचार करके कहा है कि उपाधि नाम का वर्ण है और तत्व नाम आत्मा का ।[82] उपाधि विपरीत बोध कराती है,जबकि बुद्धि से यथार्थ ज्ञान होता है,उसी से आत्मा का ज्ञान होता है । सभी उपाधियाँ नाशवान् है,किन्तु सतत अभ्यास से ही यह नाश सम्भव है । आत्मा नित्य है,वह इन्ही उपाधियों के कारण अपने को बन्धित समझता है । तभी तो आत्मा एकत्व और उपाधियों का अनेकत्व सिद्ध होता है । जैसे एक ही मानव अनेक वस्त्रों को धारण करता है, अवस्थाओं को अनुभव करता है,। वहाँ जैसे उस व्यक्ति में एकवचनता तथा वस्त्रों और उपाधियों में बहुवचनता देखी गई है ।[83]

इसके अतिरिक्त संहिता में इनका दूसरा स्वरूप भी बताया गया है कि प्राणायाम के द्वारा प्राणवायु को पाँच घड़ी तक अवरोध करना धारणा कहलाती है । साठ घड़ी तक चित को एक विषय पर एकाग्र रखनें का नाम ध्यान है तथा 12 दिनों तक प्राणों का निरन्तर संयम रखना ही समाधि कहलाती है ।[84] जैसे नमक जल में लीन हो जाता है,वैसे ही आत्मा और मन एक हो जावे,स्थिर हुआ प्राण वायु आत्मा

82.गो०सं० यो०ख० 2.81

83.गीता ,वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरो पराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णानि अन्यानि संयाति नवानि देही।।

84.गो०सं०यो०ख० 2.84

में लीन हो जावे आत्मा परमात्मा में एकरूपता आ जाए,वही समय समाधि का माना गया है [85]। समाधि में गया हुआ जीव,पाँच भौतिक विषयों को अपने में लीन कर लेता है और इनका कोई आभास उसे नहीं होता । वह उस समय की समरसता को प्राप्तकर लेता है , उसके सारे भेद समाप्त हो जाते हैं और वह एक रूप होकर तत्व में परिणत हो जाता है । जो ज्ञान मार्गी सन्तों ने इस तरह वर्णित किया है -

जल में कुम्भ कुम्भ में जल है बाहर भीतर पानी ।
फटा कुम्भ जल जल ही समाना यही तत्व कहानी ।।

समाधि के मुख्य दो भेद है । सविकल्प और निर्विकल्प । जिस योगी ने योग के द्वारा चितवृत्तियों से [redacted] प्राप्त संस्कारों को नष्ट करके ग्रहिता,ग्रहण और ग्राह्य इन तीनों को एकता कर ली हो उसी की समाधि लग सकती है । जब इस समाधि अवस्था में ज्ञाता,ज्ञान ज्ञेय रूप त्रिपुटी मान सहित अद्वितीय वृत विषयक अन्त:करण विषयक वृति हो तब सविकल्पक कहलाती है । यह भी दो प्रकार की होती है । शब्दानुविद्ध और शब्दाननुविद्ध । " अहं ब्रह्मास्मि" प्रथम का उदाहरण है "अहमस्मि" अर्थात् केवल अपना भान होना दूसरे का उदाहरण है ।

निर्विकल्पक समाधि में त्रिपुटी रूपी उपाधि सहित ~~केवल ज्ञान मात्र~~ केवल ज्ञान मात्र अखण्ड ब्रह्माकार अन्त:करण की वृति को निर्विकल्पक कहते हैं । यह गूंगे के गुड़ की तरह होता है,जिसका वर्णन न किया जा सके ।

85•गो०सं०प०ख० 2•86 रसं वै प्राप्य रसो वै भवति स ।

।•सविकल्पक चार प्रकार की है ।

वितर्कानुगत• विचारानुगत, आनन्दानुगत, और अस्मितानुगत । यह वितर्कानुगत दो प्रकार की है सवितर्क और निर्वितर्क । विचारानुगत भी दो प्रकार की है । सविचार और निर्विचार । निर्विकल्प समाधि दो प्रकार की है । अद्वैत भावना रूप निर्विकल्प समाधि तथा अद्वैत अवस्थान रूप निर्विकल्प समाधि ।

इस प्रकार योगी इन समाधियों का अभ्यास करके अपने ईश्वर के साथ या आत्मा को परमात्मा के साथ वैसे जोड़ देता है । जैसे दूध में घृत सम्मिलित रहता है या घटाकाश महाकाश में लीन होता है । किन्तु कलियुगी साधक को ब्रह्मचर्य के बिना इस कार्य में सफलता नहीं मिल सकती । यदि कोई साधक करता भी है तो तितिक्षा की न्यूनता के कारण बीच में ही छोड़ जाता है, या मर जाता है । जैसे ही मूलाधार से कुण्डलिनी शक्ति उठेगी और मणिपूरक में पहुँचेगी तो साधक का लक्ष्य यदि नासिकाग्र है तो प्राण वहाँ से चलने शुरू हो जाएँगे और गन्धमादन पर्वत के ऊपर बैठे साधक की तरह समस्त सुगन्धों को ~~सब~~ प्राप्त करेगा और जड़ समाधि में लीन हो जाएगा । यदि जीभ के अग्रभाग में अपने प्राणों का संचार करता है तो समस्त रसों का आनन्द लेकर जड़ समाधि में जाएगा । यदि ब्रह्मरन्ध्र के बीच में शून्य परात्परब्रह्म का ध्यान करके अपनी धारणा बनाता है । प्राण वहीं सहस्रार में लीन रहेंगे और जड़ समाधि लग जाएगी और जड़ समाधि में पड़े मनुष्य को आधुनिक चिकित्सक मृत घोषित कर देगा । वह आभूत संप्लव तक व्योम देह बनकर घूमता रहेगा और मोक्ष से वंचित रहेगा । कलियुग के लिए भक्तियोग का उपदेश दिया गया है । वह योग आज्ञा चक्र में ध्यान और धारणा बनाने से बनता है, क्योंकि

उससे अधिक शारीरिक प्रक्रिया ठीक चली रहती है और इन्द्रियाँ एवं मन शान्त रहते हैं । साथ में उपासक तथा उपास्य का भेद बना रहता है । जिससे शरीर रूपी घटाकाश भिन्न रहेगा और महाकाश के लय का भाव न होने से संचित कर्म विह्वल न होकर, अधिक बाधा नहीं देते और साधक सहज राजमार्ग से अपने लक्ष्य की ओर बढ़ सकता है । दूसरी धारणाओं में विस्फोट का भय रहता है तथा शंकराचार्य और ज्ञानदेव की भाँति अकाल मृत्यु हो सकती है ।

षष्ठ अध्याय : उपसंहार

भारतीय धर्म-दर्शन पर गोरक्ष संहिता का प्रभाव :-

भारतीय धर्म वास्तविक रूप से वैदिक सनातन धर्म है । अनेक रूपता देखने को मिलती है । वह इतना सहिष्णु है कि कोई भी उसे अपने मन्तव्य की ओर मोड़ सकता है । तो भी "सनातन धर्म" शब्द से रूढ़ात्मक अर्थ जो निकलता है वह प्रतीकात्मक मार्गानुयायियों के धर्म पर ही घटता है ।

गोरक्षसंहिता के वर्तमान में उपलब्ध संस्करण में जो खण्ड हैं, उनमें उपासना,योग और आयुर्वेद का ही प्राबल्य है । इन सबसे पुरुषार्थ चतुष्टय की उपलब्धि प्राप्य है । जिन्हें कोई भी धर्मावलम्बी नहीं ठुकराता । सब इन्हें चाहते हैं । उन्हें किसी भी तरह से प्राप्त किया जाए । इससे यह प्रतीत होता है कि संहिता का सर्वतोभावेन प्रभाव रहा है । धर्म कर्म करने के लिए निरोग शरीर को कौन नहीं प्राप्त करना चाहता । सभी चाहते हैं कि मैं सैकड़ो वर्ष जीऊँ और अन्त में मोक्ष प्राप्त करूँ यही धर्म परिभाषा भी कहती है । तभी तो भारत के प्रत्येक धर्म में उपासना को अधिक महत्व दिया गया है । चाहे नास्तिक हो या आस्तिक हो सभी सुख चाहते हैं । यहाँ तक कि श्रुति भी "जीवेम:शरद: शतम्" कहकर"कुर्वन्नेह कर्माणि जिजीविषा च्छतं समा" के आधार पर स्वस्थ शरीर की याचना करते हुए सबके लिए"स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवा आदि स्वस्ति वाचन से अपने लिए सुख और कल्याण चाहते हैं । नाथ पन्थियों ने बौद्धों के

द्वारा विकृत मार्ग को सुधारकर, लोगों के दिमागों में श्रद्धा पैदा की । उन्होंने मुद्रा धान्धरी, सुमिरनी, आधारी, कन्था, सोटा, भस्म, त्रिपुण्ड आदि अपनाए तथा संसार के दुःखी लोगों को झाड़पोंछ कर औषधियों से विभूति द्वारा सहायता की । घर-घर जाकर अलख जगाई और भारतीयों को उनके धर्म और स्वरूप को समझने का आदेश दिया जिसका समाज पर इतना प्रभाव पड़ा कि उत्तरी भारत में ही नहीं अपितु समस्त भारत वर्ष में इनके लिए स्थान बनने लगे । गोरक्ष के नाम से गोरखपुर" नाम का नगर प्रसिद्ध है तथा इनकी याद में यहाँ मन्दिर है । नेपाल में भी पशुपतिनाथ से विष्णुमती नदी पार करके ऊपर पहाड़ पर चढ़कर गुह्येश्वरी देवी के ऊपर गोरखनाथ जी का मठ बना हुआ है । जहाँ नेपाल नरेश ने त्रिशूल अर्पण किया था । त्रिशूल के नीचे आज भी नेपाली में यह विवरण देखने को मिलता है -

नित्यानन्द निमग्न निस्पृह महायोगीश चूडामणि ।
इवैव विसन्द प्रभु स्वयं अङ्कुरा चाहिन्नथ्यो तापनी ।।
भक्ति ले प्रभु को परिशरण मा प्रीत्यर्थ होस दिन-दिन ।
भन्ने खातिर यो त्रिशूल प्रभु मां मैले गरें ।।

मार्गo 3 गते सम्वत्-1981

कामाख्या पीठ के कदली वन में मत्स्येन्द्रनाथ जालन्धर नाथ गर्गादि पर्वत पर गहनीनाथ, माप गांव में रेवणनाथ, ज्वालामुखी में गोरखनाथ ने निवास किया और मठ स्थापित किए । सौराष्ट्र में गोरखमढ़ी गोरखनाथ का प्रसिद्ध स्थान है । वहाँ गिरनार पर्वत पर उनकी पादुकाएँ पूजी जाती है । पेशावर के निकट

"गोरक्षक्षेत्र" कोल्हापुर दक्षिण के बतीस शिराले नामक एक गांव में गोरक्षनाथ के अनेक चिह्न मिलते हैं । हरियाणा के रोहतक में भी नाथ पन्थियों के प्रसिद्ध क्षेत्र हैं ।

हिमाचल प्रदेश के प्रत्येक गांव में कोई न कोई देव मन्दिर विद्यमान हैं । जहाँ उनकी पूजा पद्धति में मुद्राएँ गाई जाती है तथा नाथ पन्थियों की तरह संकेत सहित प्रणाम किए जाते हैं । जिससे हिमाचल प्रदेश के धार्मिक परिवेश में नाथ पन्थियों का प्रभाव अभी तक भी पूर्णरूपेण परिलक्षित होता है ।

दर्शन क्षेत्र में भी गोरक्षसंहिता का पूर्ण प्रभाव दीखता है, क्योंकि गोरक्षसंहिता ने योग को अधिक महत्त्व दिया है । वास्तव में प्रथमान्त व्युत्पत्ति "दृश्यते-इति दर्शनम्" से योग ही दर्शन क्षेत्र में ठीक बैठता है । वह दर्शन जीव ब्रह्म के हैं । वह न तो वैशेषिक के पदार्थज्ञान से, न न्याय के प्रमाणवाद से, न सांख्य के प्रकृति विश्लेषण से न मीमांसा के बाह्योन्मुखी कर्मवाद से और न ही वेदान्त के शुष्क ज्ञानवाद से हो सकते हैं । यह तो केवल योग मार्ग से ही प्राप्त हो सकते हैं । गोरक्ष ने जिस स्वाभाविक ज्ञान मार्ग का उपदेश दिया है तथा उसे करने में असमर्थ शरीर को औषधियों से योग्य बनाने का जो सन्देश दिया है उसका प्रभाव आज भी हमारे दार्शनिक ग्रन्थों, योग प्रक्रिया ग्रन्थों और आयुर्वेद के ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से झलकता है ।

अतः भारत के धर्म और दर्शन पर नाथ सम्प्रदाय की

"गोरक्षसंहिता" का इतना ही प्रभाव नहीं अपितु "कलौ कालो विनायकौ" की भावना भी इसी पुस्तक के कादि प्रकरण की देन है । जिसमें कादि मत को सबसे अधिक महत्व दिया गया है ।

दार्शनिक क्षेत्र में इस संहिता ने अत्यन्त योगदान दिया है । हठ योग जिसे लोग घृणा की दृष्टि से देखते हैं । उस घृणा को हटाकर स्वाभाविक श्वास प्रश्वास की क्रियाओं का विवेचन किया गया है । वर्तमान में उपयोगी और चमत्कारों से पूर्ण कुण्डलिनी योग को सरल रीति से बतलाकर दर्शन क्षेत्र में महत्वपूर्ण योग दान दिया है । इन बातों को दृष्टि में रखते हुए । इस संहिता के हिन्दी अनुवाद की व्यवस्था होनी चाहिए, ताकि आम साधारण जनता भी लाभ उठा सके । इस संहिता का सर्वतोमुखी दर्शन आयुर्वेद के रस प्रकरण का है जिसकी उपयोगिता मानव मात्र के उत्थान में की जा सकती है , क्योंकि स्वर्ण निर्माण विधि यदि सरकार द्वारा कुछ खर्च करके अन्वेषित करवा दी जाए तो अवश्य ही दरिद्र नारायण भारत से पलायन कर जाएगा ।

इस तरह यह पुस्तक मानव समाज के लिए एक वरदान है । दुर्भाग्य से इस के अवशिष्ट प्रकरण नहीं मिल पा रहें हैं । मैंने नेपाल में राजदरबार पुस्तकालय की पुस्तकें जहाँ पुरातत्व विभाग में सुरक्षित रखी गई है, जाकर पूर्ण रूपेण खोज की परन्तु वहाँ भी इस पुस्तक के अवशिष्ट भाग का कोई अंश नहीं मिला । गोरखपुर में भी कोई अता-पता नहीं लग सका । हमारे हिमाचल प्रदेश में भी पहाड़ी टाकरी में लिखे कुछ ~~कई~~ परिवारों

के पास है जिनमें से कुछतो उनको पूजा भी करते हैं उन्हें पढ़ नहीं सकते । वे उन्हें किसी को नहीं दिखाते । अगर धर्म और अज्ञानता के दुराग्रह को दूर करके लुप्त हो रही विद्या-ओं को बचाने के उदेश्य से लोग सहयोग दें तो हो सकता है कि कहीं देश के सौभाग्य से और भी कोई इस संहिता का उपयोगी प्रकरण मिल जाए । यहाँ को लोक भाषा में गोरक्ष के अनेकों मन्त्र उद्धृत मिलते हैं । उनका कोई आधार अवश्य होना चाहिए ।

दूसरे श्री खण्ड महादेव को यात्रा प्रसंग में गोरक्षनाथ जी इस प्रदेश के अनेकों स्थानों से सम्बधित रहे हैं । जैसे ठियोग धर्मपुर के राजस्वी देवता कालुनाग उसके शिष्य रहें और उन्होंने भ्राणा नामक स्थान में गुरु से एक देवदारु वृक्ष के नोचे दोक्षा ली थी । इसी तरह भ्रापु वेद जो तन्त्र की एक प्रसिद्ध विधा बताई जाती है,आज भी इस गाँव के यातुओं के पास वंश परम्परा से उपलब्ध है । जिसके कुछ उदाहरण निम्न है -

1.गो की नौपी बाक का पात इस पात को ठाके गुरु गोरखनाथ,मेरी भक्ति गुरु की शक्ति फोरमन्त्र ईश्वर को वाचा ।

2.अमरसिद्धा ध्याने ध्याओ प्रभात सैंरू श्री गोरखनाथ राऊ गोरख सैरें होकर सिद्ध काया निर्मल पत्रे रिद्ध सोला कला सुबरन माला इस पिण्डे का तू रखवाला का ते दर्शनि तेरा नाम,आप तारे प्रततातारे ज्ञानखण्डजन कालसंधारे,तहाँ आवे जहाँ-जहाँ डंक बजावे,खेचरी भूचरी,, अखाडे,आवे दुःख पड़ा सृष्टे जावे,विघ्नविनाशन गोरखराय,आपुवाला,आपुवोला

वशंदरनाथि वन्शन्दर रुवा माखी हो के हृदये बैठी ध्यान धरे तुम गोरख देवो नए दुलारे लाऊं सद्धारे आंगन जाली दोरत लगी पर्वत स्वामी क्योर । स्वामी मै तेरी माई,कैसी तुम खेचरी आई,खेचरी भूचरी सारथ जापु,ब्रह्म मुखे आपु,विजे क्या गोरख वीर दुहे अमृत घोवे खीर अमृत के धानुषी को हवि लड़ा तापे घट जोगी जोग बखाणों घठ-घठ जोगी कहाँ कहाँ के आपे आले माटे रखूं पाणी चुपियाँ मुपियाँ चरखा कातूं, लोहे का कोठा धाणी चापो आस पास सब दब जाए,मांझे जोगी बैठा रहे,गोरख बैठा मतराय का पूत,काढ़े छूरा डाकिनि का किया भस्म भूत चार रापी चार वाणी चन्द्र सूरज पोप पाणी पन्थे भीतर धरती आणी मेरी भक्ति गुरु की शक्ति फोर मन्त्र ईश्वर को वाचा ।

इस तरह के इस भ्राणु शावर वेद के अनेकों मन्त्र हैं जिनमें गुरु ~~जिनमें गुरु~~ गोरक्षनाथ जी को दुहाई दी गई है और उनकी शक्ति इतनी प्रबल मानी गई है कि यातु लोग आज सैकड़ों दुःखियों के दुःख दूर कर रहे हैं । इस वेद की समस्त उपलब्ध सामग्री को मैं अलग से सम्पादित करूंगा यदि नाथ की आज्ञा से गुरु गोरक्षनाथ की कृपा रही ।

इस प्रकार से समस्त भारत के लोगों में जितने भी क्रिया कलाप हैं उन पर गोरक्षशीलता का प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष प्रभाव लक्षित होता है । मैं इसी दृढ़ विश्वास के साथ अपने शोध को पूर्ण करने जा रहा हूं कि नाथ सम्प्रदाय के प्राण स्वरूप गुरु गोरक्षनाथ की गौरवमयी पदवी को लोग मेरे इस प्रयास से समझें । वे खोए हुए गौरव को प्राप्तकर संसार में पुनः भारत को प्रकाशित करें । यदि ऐसा निश्चय कर साधक चले तो उसे गुरुजी की तरह दिव्य सिद्धि प्राप्त ~~प्राप्त~~ होगी । उनके विषय में लिखा है -

न तस्य योगी न जरा न मृत्युः । प्राप्तस्य योगाग्निमयः शरीरम् ।।"

—o—

नमो आदिनाथाय ॥

ईश्वर उवाच ॥

चन्द्रसूर्यस्तथा वह्नि शरीरे दश नाडिकाः ।
पञ्चस्थावायव पञ्च मनोबिन्दुस्तथैव च ॥१ ॥

षट्चक्रं मेरुदण्डञ्च ओड्डियानं तथैव च ।
जालंधरं कामरूपं पूर्णगिरि श्रीहस्तकः ॥२ ॥

प्रकीर्तिः क्षेत्रपुरुषो ब्रह्माविष्णुशिवस्तथा ।
नदानद्यः समुद्राश्च भुवनानि चतुर्दशः ॥३ ॥

ब्रह्माण्डे ये गुणाः संति ते तिष्ठंति कलेवरे ।

तेषां संक्षेपतः साध्यं प्रवदन्ति शुविस्मृते ॥४ ॥

२अ)

मेरुशृङ्गे स्थिते चन्द्रो द्विरष्टा कलया युतः ।
अहर्निशं तुषाराभं शुधां वर्षत्यधो मुखं ॥५ ॥

शुधांशुर्द्धि विषश्रावी पीयूष बिंदुमेव च ।
तरलस्तु शुधाज्ञेया घनोबिंदुरुदाहृतः ॥६ ॥

एकबिंदु सदा ब्रह्मा उत्पत्तिस्थितितारकः ।
बिंदुवर्गस्य साध्येन देहसिद्धिः प्रजायते ॥७ ॥

जवाकुसुमसंकाशोवस्थिदेशे सुसोभने ।
मध्यमामूलसंव्याप्य सूर्यन् तिष्ठति देहिनां ॥८ ॥

२ब्)

कलाद्वादशभिः सूर्यो वह्निर्दशकला युतः ।
सर्वेषां देहिनां तिष्थेत् अन्नादिः पावकः सदा ॥९ ॥

तुषारं वर्षते चन्द्रो रविः सुध्यति सर्वदा ।
तत्संयोगे स्थितः प्राणः वियोगात्मरणं भवेत् ॥१० ॥

ऊर्द्धं यातिरवे रस्मिरधचंद्रामृतं सदा ।
अभ्यासात् कामरूपेन योगं योग विदोविदुः ॥११ ॥

अयं योगसमुद्रं च वसन्तः परिकीर्तितः ।
अरोगी च भवे देवी प्राणापानैक योगतः ॥१२ ॥

प्राणश्चन्द्र मयोज्ञायोपानः सूर्यमयं तथा ।

३अ)

अनयोः संगमं सध्यं रजोबीजस्य साधनं ॥१३ ॥

ओड्डीयानं दृढं बन्धं कृत्वा रेचकपूरकौ ।
समानापानयोर्योगः प्राणापानेकयोगतः ॥१४ ॥

कामरूपे त्रिर्योगः प्राणापाने समानकौ ।
नाभिशक्तिः द्वयोर्मध्ये ओड्डियानं तदुच्यते ॥१५ ॥

वह्नौ जालंधरो ज्ञेयः कामरूपश्च गर्भके ।
पूर्णगिरिः हृदिर्मध्ये श्रीहद्वं तालुकोपरि ॥१६ ॥

आकुंच्य गुडमूलन्तु चिबुकं हृदयोपरि ।

३ब्)

नवद्वाराणि संयम्य कुक्षिमापूर्य वायुना ॥१८ ॥

चारणं सर्वे नाडीनां देहवह्निः प्रदीपनं ।
वंह्नेः प्रदीपनान्नित्यं अन्नादेः पाचनं भवेत् ॥१९ ॥

अन्नादेः पाचनान्नित्यं रसवृद्धिः प्रजायते ।
स्वभावाद्बीज एवासौ बिंदुर्विभर्तिनान्यधा ॥१९ ॥

अधिकं सर्वगात्रेषु भवन्ति चाष्टधावतः ।
वायुरेव परो देहे मूलसारः प्रकीर्तितः ॥२० ॥

वायोः प्रसाधना देव आयुर्वृद्धि दिने दिने ।

हृदिः प्राणो गुडपानः समानो नाभिसंस्थितः ॥२१॥

४अ)

उदानः कण्ठदेशे च व्यानः सर्व शरीरगः।
स्थानवायुञ्च संक्षिप्य वस्थिदेशे पुनः पुनः ॥२२॥

उद्घाते ये चक्र नालं सुषुम्णाया सुगोपितं।
ब्रह्मग्रन्थिं ततोतित्वा वायुर्विशति मध्यमां ॥२३॥

स्वाधि चक्र लिंगमूले ततो वायुर्विशत्यपि।
मणिपूरं नाभिदेशे ततो विध्यात्सदा गतिः ॥२४॥

हृदिमध्ये विष्णुग्रंथिं भित्वा कण्ठगुणाकरं।

४ब)

तालुमूलं सुधाचक्रे भित्वारुद्रालयं व्रजेत् ॥२५॥

चक्रं चक्र यदाभित्वा वायुर्याति पुरे पुरे।
वायुना सहयोगेण बिन्दु तत्रैव गच्छति ॥२६॥

यावनस्थां व्रजे वायु बिन्दुस्थानेन गच्छति।
शंखिनी नालसंप्राप्य चास्थि शून्यं विभर्तिसः ॥२७॥

ततः क्षीरमयो देहः पिण्डसिद्धो भवेद्धुवं।
एवं मभ्यासयोगेण नरो ब्रह्मनि यः स्थितः ॥२८॥

तस्य पापं क्षयं याति जन्मकोटि शतार्जितं।
मासे मासेश्वमेधश्च यज्ञस्य च फलं भवेत् ॥२९॥

५अ)

वर्षणराज सूर्यस्य फलं तस्य न संशयः।
दह्यते सर्वपापानि कोटिजन्मार्जितानि च ॥३०॥

ईहैवाभ्यास योगेण तृणानि वह्निना जपा।
तपांसि योनि कथ्यंते यज्ञदानव्रतानि च ॥३१॥

कोटि कोटि गुणैस्तानि भवत्यभ्यास योगतः।
नन्दन्ति पितरः सर्वे पुत्रो योगानुसारिणी ॥३२॥

भुञ्जस्ते च सुखं सर्वं सर्वदुःखविवर्जिताम् ।

देव्युवाच ॥

उपायं ध्यान योगस्य ब्रुहि मे शशि सेषर ।

५ब्)

यल्लब्ध्वा योगिनः सर्वे मुच्यते जन्म बंधनात् ॥३३ ॥

ईश्वरोवाच ॥

नाभिमध्ये स्थितो ब्रह्मा हृदि मध्ये तु माधवः ।
शिरसि शङ्करो ज्ञेया त्रिस्थानं मुक्तिदं स्मृतं ॥३४ ॥

नाभि मध्ये परं ज्योतिः प्रदीपं तद्दशाङ्गुलं ।
ज्योतिपुञ्ज च चक्रवत् हृदिमध्ये च तिष्ठति ॥३५ ॥

शुद्धस्फटिकसंकाशं चंद्रकोटि समप्रभं ।

ध्यायेत् मूर्द्धिन शिवज्योति घृतपिण्डसिवोद्धृतं ॥३६ ॥

६अ)

अचञ्चलं मनं कृत्वा त्रयाणां ज्योतिषां शनैः ।
मेलकं वायुबिंदूभ्यां कर्तव्यं मनसा बुधैः ॥३७ ॥

कामरूपे चक्रनाले मध्यमां मध्यगोचरे ।
तथाचक्रेषु सर्वेषु प्रत्यं ज्योतिः प्रदृश्यते ॥३८ ॥

यस्मिन्नभ्यासतो वायुर्मनो बिंदुस्तथैव च ।
ज्योतिषि त्रीणि तत्रैव तेषु चात्मा प्रतिष्ठति ॥३९ ॥

नाभिमध्येषु सर्वेषु ज्योतिषां दीप्यते यथा ।
तत्रैव चास्थि शून्ये तु कालचारः पलायते ॥४० ॥

६ब)

एवं ध्यानं सदा बुद्ध्या कुर्यात् ज्योतिर्मयं बुद्धः ।
ज्योटिषां वायु बिंदुर्नामेलकं मुक्तिदायकं ॥४१ ॥

एवं ध्यानस्थिरं यस्य न वाक्यं लभ्यते मनः।
वायुर्बिन्दु मनश्चात्मा तस्य सर्वस्थिरं भवेत् ॥४२॥

चले बिन्दौ चले चित्ते चले वायौ च सर्वदा।
चलते चलमानोसौ मृत्युमभ्येति शाश्वत ॥४३॥

७अ)

तस्मादेवञ्चला भूत्वा * * * * * * * *?।
* * * * * * * * *? यं ब्रह्म समो
भवेत् ॥४४॥

कथितं ध्यान योगस्य समुद्देशे च विस्मृते।
ध्यानातीतं परं ब्रह्म सर्वशास्त्रेषु गोपितं ॥४५॥

ब्रह्माविष्णुशिवादीनां एकोसौ जनकाविभुः।
आधारो भुवनानाञ्च देहस्था देहवर्जिताः ॥४६॥

७ब्)

एकोव्यापीशसं * *? निर्गुणः प्रकृते परः।

जन्म वृद्ध्यादि रहित आत्मासर्वगतान्ययः ॥४७ ॥

निरालंबे मनः कृत्वा कुर्याच्छुन्ये मनस्थिरं ।
अनित्य खण्डयेत् सर्वं यत्किञ्चित् मनसार्जितं ॥४८ ॥

खण्डयेत् सततं देवि विनष्टं पञ्चभौतिकं ।
करणानि मनश्चैव यदा ब्रह्मणि नीयते ॥४९ ॥

तदा ब्रह्मपदं प्राप्य योगी मुक्ति पदं व्रजेत् ।
अनिमादि गुणास्तस्य * * * * * * * *? ॥५० ॥

८अ)

देव्युवाच ॥

इन्द्रियाना * * * * * * * * * * *

*? ।

* * * * * * *? स्य शिष्यैश्चक्षुद्रबुद्धिभिः

॥५१ ॥

ईश्वरोवाच ॥

ब्रह्माण्ड * * *? ब्रह्म परं ज्योतिर्मयं शुभं ।
तदूर्द्ध्वञ्च परं विष्णोः हृदये च गुणान्वितं ॥५२ ॥

तदूर्द्ध्वञ्चैव रुद्राणां दृश्यते नात्रसंशयः ।
तदूर्द्ध्वञ्च महाशून्यं यत्र ब्रह्म यथाश्रमं ॥५३ ॥

तत्रैव च मनो नीत्वा महाशून्यमयोपरि ।
कालस्य रक्षयं ज्ञात्वा स्वयं ब्रह्म समो भवेत् ॥५४ ॥

८ब्)

अत एव शिवादीनां निद्राव्याजेन पार्वती ।
प्रत्यद्दे ज्ञानचिन्तायां न किञ्चिदन्यथा भवेत् ॥५५ ॥

एवं शक्रादयो देवाः सिद्धाश्च वरवर्णिन ।
सिद्धाः सिद्धं प्रकुर्वन्ति ते यान्ति परमा गतिः ॥५६ ॥

मानुषाश्चास्मि काये च गन्धर्वोरग किन्नरा ।

एवं योगसमासाध्य गच्छन्तिं परमां गति ॥५७ ॥

९अ)

हिंसार्थे च व्रजेत् कालं स्तेन नास्तिक वादिना ।
असत्यर्नोचता क्रूराः द्विजवेदविनिंदकाः ॥५८ ॥

असेवागुरुपादे च सर्वधर्म विवर्जिता ।
आलसौ पीडिता ये च कामक्रोधप्रपीडिता ॥५९ ॥

तथाभ्यास विहीनाश्च योगतः परिहीयते ।
तेन मुक्ति पदं याति धर्मे नानेन पार्वतै ॥६० ॥

९ब्)

* * * * * * * * * * * *
*? सोभने ।
केचित् ध्यानं युगंसंति विज्ञानञ्च परः परं ॥६१ ॥

धर्मकर्मादिके ये च विज्ञानमुपदेशतः ।
साध्यः चानु क्रमं कृत्वा ते यान्ति परमां गतिं ॥६२ ॥

यश्चेनं शृणुयान् नित्यं कथा सर्व यथा स्मृतां ।

सर्वपापक्षयं तस्य ब्रह्मणसदनं भजेत् ॥६३ ॥

स्वकृच्छ्रवणमात्रेण ब्रह्महत्यां व्यपोहतिः ।

१०अ)

दिनेकनाश्वमेधानां यज्ञानाञ्च फलं लभेत् ॥६४ ॥

यः पठेत् पाठयेद् वापि सर्वयज्ञफलं लभेत् ।

अतः पुण्यतरं शास्त्रं नोचात्र विद्यते क्वचित् ॥६५ ॥

मूलसारेति इति गोरक्षजोगशास्त्रसमाप्तं ॥ ॥

गोरक्षनाथ प्रणीतः गोरक्ष शतकम्

(हिन्दी अनुवाद सहित)

अनुवादक : डॉ. मोतीलाल खड्डर शास्त्री (मास्टरजी)

प्रकाशक : श्री पीताम्बरा पीठ, दतिया (म.प्र.)

शिव अवतार श्री गुरू गोरखनाथ

ॐ

ॐ श्री परमगुरूवे गोरक्षनाथाय नमः

गोरक्षनाथ प्रणीतः
गोरक्षशतकम्

☆

(हिन्दी अनुवाद सहित)

卐 अनुवादक 卐

मोतीलाल खड्डुर शास्त्री (मास्टरजी)

:: प्रकाशक ::

श्री पीताम्बरापीठ, दतिया - ४७५६६१ (म.प्र.)

ॐ

प्रकाशक : श्री पीताम्बरा पीठ
दतिया (म.प्र.)

संस्करण : प्रथम संस्करण (१००० प्रतियां)
२८ सितम्बर सन् २०११
शारदीय नवरात्र संवत् : २०६८

मूल्य : पच्चीस रूपये मात्र (२५/-)

मुद्रक : शिवशक्ति प्रेस प्रा. लि.
बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन,
ग्रेट नाग रोड, नागपुर-९

जगज्जननी भगवती पीताम्बरा माता

पीताम्बरां विघ्नहरां प्रणम्य,

गोरक्षनाथं सिद्धेशमीडे।

ययोः कृपातो ग्रथितो सुलेखः

ताभ्यां सश्रृद्धोऽयं समर्पयेऽहम्

योगैक गम्यां निहितात्मविद्यां

ज्ञातुं न शक्तः सहसा वुधोऽपि

तथापि मन्देन कृतः प्रयासः

सतां सदाशंसनमातनोतु।।

- अनुवादकः

प्रकाशकीय

राष्ट्रगुरु श्री पीताम्बरा-पीठाधीश्वर पूज्यपाद श्री स्वामीजी महाराज के शुभाशीर्वाद एवं जगज्जननी भगवती पीताम्बरामाता, की असीम अनुकम्पा से श्री गोरक्षनाथ प्रणीत **'गोरक्ष शतकम्'** हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित कर पीताम्बरापीठ अत्यधिक आनन्द का अनुभव कर रही है।

प्रस्तुत ग्रन्थ गोरक्ष शतकम् के सौ श्लोकों में हठयोग के गंभीर विषयों को श्री गोरखनाथ ने सरल तथा सहजरूप में अभिव्यक्त किया है वैसा ही सुन्दर अनुवाद पूज्यपाद श्री स्वामीजी महाराज के कृपा पात्र एवं पीठ के अनन्य सेवक डॉ. श्री मोतीलाल खड्डर शास्त्री (मास्टरजी) द्वारा किया गया है, जो हृदयहारी है।

आशा है इस ग्रन्थ के प्रकाशन से न केवल विद्वान पाठकों को संतोष होगा अपितु योग साधकों का भी पथ प्रदर्शन होगा।

श्रीमती रेणु शर्मा
मंत्री
श्री पीताम्बरा पीठ
दतिया (म.प्र.)

शारदीय नवरात्र
२८ सितम्बर २०११

- अनुक्रमणिका -

विषयानुक्रमणिका

ॐ

ॐ श्री परमगुरूवे गोरक्षनाथाय नमः

गो र क्ष श त क म्

ॐ श्री गुरुवे नमः

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु

◆

गुरुर्देवो महेश्वरा

◆

गुरुर्साक्षात् परब्रह्म

◆

तस्मै श्री गुरुवे नमः

अनन्त श्री विभूषित राष्ट्रगुरु पीताम्बरा पीठाधीश्वर
परमपूज्य श्री स्वामीजी महाराज, दतिया (म.प्र.)

卐 समर्पणम् 卐

शतशः स्वगुरूं नत्वा तथा पीताम्बराम् जनिम्।
यत्कृपातोऽभवत्पूर्णोऽनुवादः शतकस्य च।।
वन्दे स्वगुरूपीठं वै मोतीलालोऽह मानतः।
सकृदप्यनुशीलेन सिद्धिर्भवति सर्वदा।।

अनुवादकः

◆ उपक्रम एवं शुभाशंसनम् ◆

"गोरक्षनाथप्रणीतः गोरक्षशतकम्" नामक ग्रन्थ केवल संस्कृत में ही उपलब्ध है। इसका अक्षरशः अनुवाद तो नहीं, किन्तु प्रत्येक श्लोक का पद्यार्थ, भावार्थ हमारे डॉ. मोतीलाल खड्डर शास्त्री 'मास्टरजी' ने लिखा है जो विज्ञ सुधी पाठक जनों के लिए बड़ा ही रोचक है। मोतीलाल मास्टरजी शाक्त तन्त्र साधना जैसे तन्त्र के रहस्यात्मक ग्रन्थों के प्रणेता हैं। इस गोरक्ष शतकम् में मुख्य रूप से कुण्डलिनी प्रकरण के सभी चक्रों का वर्णन, अष्टाङ्ग योग का विशद प्रतिपादन किया है। भगवान् विश्वनाथ से मैं प्रार्थना करता हूँ कि माँ जगज्जननी भगवती पीताम्बरा जगदम्बा के पावन चरणों में पूर्ण रूप से समर्पित हमारे मास्टरजी द्वारा लिखित इस गोरक्ष शतकम् को पढ़कर विज्ञ सुधी पाठक जन बहुत लाभान्वित होंगे। उनकी गति, मति, रति, धर्ममय होगी।

- आचार्य भागवतानन्द सरस्वती

!! श्रीमत् रामानुजाय नमः !!

श्रीमद्भगवत् गीता साप्ताहिक अखण्ड पाठ एवं प्रवचन के अधिष्ठाता

卐 शुभाशीर्वाद 卐

संस्कृत भाषा हमारी संस्कृति की महान धरोहर है। हमारे जितने भी मनीषी हुंये है उन्होंने मानव समुदाय के कल्याण हेतु बड़ा सुन्दरं तरीका बताया है। वर्तमान समय में उस (तरीके) तत्व को समझाने वाला नहीं है।

सभी कुछ जानकारी के लिये संस्कृत भाषा में उद्धृत श्री गोरक्षनाथ प्रणीत गोरक्ष शतकम् के १०० श्लोकों के विचारों को लेखक डॉ. मोतीलाल खड्डुर शास्त्री (मास्टरजी) ने हिन्दी भाषा में व्यक्त किया है। महर्षि गोरक्षनाथ के विचार और लेखक ने अपने विचार जो उन्होंने हिन्दी भाषा में व्यक्त किये है, जन समुदाय के लिये उपयोगी तंथा कर्मकल्याण में सहायक सिद्ध होंगे।

मैं लेखक मास्टरजी को आशीर्वाद देता हूँ कि इसी प्रकार से अन्य मुनीषियों की कृतियों को आम समाज में लावें। वर्तमान समय में इसके महती की आवश्यकता है। अस्तु लेखक के दीर्घायु होने की भी मैं सहृदय कामना करता हूँ।

स्वामी देवनायकाचार्य (समदर्शी)
कम्पिल (फर्रूखाबांद) उ.प्र.

दिनांक १९ फरवरी २०११

★ शुभम् भवतु ★

आचार्य 'प्रणव' वानप्रस्थी, डॉ. इच्छाराम द्विवेदी
अध्यक्ष, पुराणेतिहास विभाग,
श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठम्, नई दिल्ली

पीताम्बराचरणपङ्कज चञ्चरीकः
लेभे मुदं "प्रणव" संज्ञक एष लब्ध्वा ।
गोरक्षनाथ रचितम् शतकम् पवित्रम्
यत्सानुवाद मतिसुन्दरम द्वितीयम् ।।
मोतीलाल विबुधामृत बोधयुक्तम्
भाषानुवादमखिलम् बहुशः पठित्वा ।
आशंसते मम मनः शुभमस्तुनित्यम्
गोरक्षनाथ कृपया विबुधस्य तस्य ।।
पीताम्बरा पद परागपवित्र देहो
यो मन्त्र-तन्त्र-निगमागम-पूतचित्तः ।
मोतीलाल "शुचि" नामधरो महात्मा
योगीश्वरोऽस्तु भुवि साधनचक्रवर्ती ।।

निखिल ब्रह्माण्ड वैभवविस्तारिणी चराचर जगत्पालनी सकल-पापक्षयकारिणी, भवसागर सन्तारिणी, शत्रुस्तम्भनकारिणी, हरिद्रासरोवर विहारिणी मातृ श्री पीताम्बरा जगदम्बा के चरणारविन्दयुगल में नित्यनिवास से परिवृतान्तःकरण, अनन्त श्री विभूषित, योगीसम्राट पूज्य चरण सद्गुरुदेव राष्ट्रगुरु श्री के अमोघ आशीर्वाद से आप्लावित साधक श्रेष्ठ श्रीयुत डॉ. मोतीलाल खड्डर शास्त्री (मास्टरजी) द्वारा अनुवादित श्री गोरक्षशतकम् को देखकर अत्यन्त उल्लास हुआ। जैसा महायोगी श्री गोरक्षनाथजी का योगशतक अद्वितीय है वैसाही सुन्दर अनुवाद भी आचार्यवर्य ने किया है। एतदर्थ मैं उनको सहृदय से साधुवाद देता हूँ।

"गोरक्षशतकम्" सिद्धयोगी की वाणी है। इसके द्वारा योगमार्ग के अनेक अनसुलझे प्रश्नों का उत्तर श्री गोरखनाथजी ने दिया है। गोरक्षशतकम् एक सुस्पष्ट तथा निर्भ्रान्त रचना है। इस रचना ने केवल भारतीय मनीषियों को अपनी ओर आकृष्ट किया है अपितु फर्गुहर तथा ब्रिग्स जैसे पाश्चात्य अन्वेषकों को भी चमत्कृत किया है। मथुरानाथ शुक्ल और शंकर पण्डित की टीकायें इस **"गोरक्षशतकम्"** पर प्रसिद्ध है।

एक छोटी सी रचना में कैसे ज्ञान सिन्धु भरा जा सकता है इसका सुन्दर उदाहरण है यह **गोरक्षशतकम्**। अनुवादक ने भी बड़े ही सारगर्भित किन्तु सरल शब्दों में इसका राष्ट्रभाषानुवाद किया है जिससे कि यह और भी बोधगम्य हो गया है।

सिद्धासन और पद्मासन की व्याख्या करते हुये श्री गोरक्षनाथजी ने कहा है-

आसनेभ्यः समस्तेभ्यः द्वयमेव विशिष्यते।
एकम् सिद्धासनम् प्रोक्तम् द्वितीयम् कमलासनम्॥

दोनों आसनों की संरचना पर उनका विवरण अद्वितीय है-

योनिस्थानकमंघ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसेत्।
मेढ्रे पादमथैकमेव नियतं कृत्वा समं विग्रहम्॥
स्थाणुः संयमितेन्द्रियोऽचलदृशा पश्यन् भ्रुवोरन्तरम्।
एतन्मोक्षकवाटभेद जनकं सिद्धासनं प्रोच्यते॥

वामोरूपरि दक्षिणं हि चरणं संस्थाप्य वामं तथा।
दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना धत्वा कराभ्यां दृढम्॥
अंगुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकयेत्।
एतद् व्याधिविकारहारि यमिनां पद्मासनं प्रोच्यते॥

गोरक्षनाथजी ने अत्यन्त दक्षता से भारतीय योगविद्या का उपदेश किया है। श्रीमद् भागवत महापुराण में शुकदेवजी कहते है-

प्राणायामैः दहेद् दोषान् धारणाभिश्च किल्बिषान्॥

गोरक्षशतकं का कथन तुलनीय है -

आसनेन रुजां हन्ति प्राणायामेन पातकम्।
विकारं मानसं योगी प्रत्याहारेण सर्वदा॥

धारणा तत्त्व का जैसा सुन्दर विवेचन गोरक्षशतकम् में है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। योग वस्तुतः इस जगत्प्रपञ्च का तत्त्वज्ञान है।

निरातंकं निरालम्बं निष्प्रपंचं निराश्रयम्।
निरामयं निराकारं तत्त्वं तत्त्वविदो विदुः।।

जगत प्रपञ्च में रहते हुये भी गुरुकृपा से प्राप्त योग मार्ग का आश्रय लेकर पञ्चतत्व प्रपञ्च का निरास करते हुये योगी सर्वत्र परमेश्वरान्वीक्षा का स्वभाव विकसित कर लेता है।

न गंधं न रसं रूपं न स्पर्शं न च निःस्वनम्।
आत्मानं न परं वेत्ति योगी युक्तः समाधिना।।

ऐसी सिद्धावस्था में पहुँचते ही योगी जीवन्मुक्त हो जाता है-

खाद्यते न च कालेन बाध्यते न च कर्मणा।
साध्यते न च केनापि योगी युक्तः समाधिना।।

यही अद्वैत की चरम अनुभूति है-

दुग्धे क्षीरं घृते सर्पिरग्नौ वह्नि रिवार्पितः।
अद्वयत्वं व्रजेन्नित्यं योगवित् परमे पदे।।

योगशतक की भाषा चाहे वह मूल संस्कृत हो या मांस्टरजी के द्वारा किया गया भाषानुवाद दोनों ही हृदयहारी है। ऐसे लघुकाय ग्रन्थों की आज मांनव समाज को बड़ी आवश्यकता है। आज के युग में जब योग **"योगा"** बन गया है, योग के कतिपय आसनों का प्रदर्शन करके केवल और केवल धन कमाया जा रहा है, शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य का उपदेश मात्र इसलिये किया जा सकता है कि भोग की क्षमता बढ़ाई जा सके तब ऐसे समय में जीव और ब्रह्म की एकात्मता को सिद्ध करनेवाले, योग के परम प्रतिपाद्य अद्वैत सिद्धि को देनेवाले गोरक्षशतकम् जैसे ग्रन्थों की महनीय आवश्यकता है।

मैं एक बार पुनः आचार्य श्री मोतीलालजी खड्डर शास्त्री (मास्टरजी) को प्रणाम करता हूँ और उन्हें इस ग्रन्थ के अनुवाद के लिए बधाई देता हूँ। यह ग्रन्थ पाठकों और साधकों का पथ प्रदर्शक बने, यही मेरी शुभकामना है।

गणेशचतुर्थी
१ सितम्बर २०११ ई.
नई दिल्ली

भगवत्च्चरणाश्रित
'प्रणव' वानप्रस्थी
(प्रो. इच्छाराम द्विवेदी)

प्रस्तुति

गोरखनाथ (गोरक्षनाथ) भारत के एक बहुत महान योगी थे, इतने महान कि उन्हें शिव-रूप ही माना जाता था। ऐसा मानना हमारे देश में आदर और सम्मान देने का एक तरीका है। उनके गुरु मत्स्येन्द्रनाथ थे। उनकी प्रतिष्ठा और उनका अवदान ऐसा था कि उनके नाम से योगियों का एक एक सम्प्रदाय-नाथ-सम्प्रदाय-चल पड़ा जिसकी परम्परा आज भी मौजूद है। उनकी एक साधना पद्धति है जो उनकी गुरु-परम्परा में निहित है। साधना, पुस्तकों को देखकर होती भी नहीं, क्योंकि पुस्तकें प्रायः सांकेतिक होती हैं और उनमें विशेषतः सिद्धांन्तों का प्रतिपादन होता है। दूसरी बात यह कि साधना में दीक्षा की आवश्यकता होती है और उस परम्परा की विधियों को भी सीखना होता है। फिर भी पुस्तके सहायक होती है। एक तो उनसे उनके सिद्धान्त, लक्ष्य और साधन तथा दृष्टिकोन का पता चलता है, दूसरे उनके अवदान की जानकारी के साथ अन्य साधना-पद्धतियें के साथ तुलना में भी सहायता मिलती है।

गोरखनाथ की रचनाओं से नाथ सम्प्रदाय की योग-साधना पद्धति को स्थायित्व मिला और वह सुरक्षित भी रहा। गोरखनाथ की संस्कृत रचनाओं में गोरक्षशतक, योगबीज, विवेकमार्तण्ड और सिद्धसिद्धान्त-पद्धति प्रधान है। उन्होंने योग के तत्व को जनमानस तक पहुँचाने तथा लोककल्याण के लिये उस समय की लोकभाषा में भी लिखा था जो गोरखवाणी के नाम से प्रसिद्ध है। नाथ सम्प्रदाय को ही सिद्धामृतमार्ग या सिद्धमत कहा जाता है।

गोरक्षशतक निर्विवाद रूप से गोरखनाथ की रचना है। इसे सभी इस विषय के विद्वान मानते है इस सन्दर्भ में डॉ. जे. एन. फर्कुहर और ब्रिग्स का बड़ा योगदान है। ब्रिग्स की पुस्तक 'गोरखनाथ एण्ड दि कनफट्टा योगीज्' बहुत प्रसिद्ध है। उनके प्रमाण से पता चलता है कि गोरखनाथ की एक पुस्तक गोरक्षपद्धति है जो गोरखकल्प का रूप है उसमें दो सौ श्लोक है। उसका पहला शतक - गोरक्षशतक है जिसका नामान्तर गोरक्षज्ञान, ज्ञानप्रकाशक शतक तथा ज्ञानशतक भी है। दूसरे शतक का नाम योग- शास्त्र है गोरक्षशतक पर शंकर पण्डित और मथुरानाथ शुक्ल की दो टीकाएँ भी उपलब्धं है, किन्तु वे मुझे अभी देखने को नहीं मिली है। महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज की स्पष्ट मान्यता

है कि गोरक्षपद्धति और गोरक्षशतक गोरखनाथ द्वारा प्रतिपादित योग का प्रामाणिक ग्रन्थ है।

गोरक्षशतक की जो पाण्डुलिपियाँ विभिन्न ग्रन्थागारों में उपलब्ध हैं वे सभी छपी भी नहीं है। मुझे दो छपी प्रतियाँ देखने को मिली हैं। एक स्वामी कुवलयानन्द जी द्वारा सम्पादित लोनावाला से छपी है और दूसरी श्री रामलाल श्रीवास्तव द्वारा सम्पादित गोरखमन्दिर गोरखपुर से छपी है। स्वामी कुवलयानन्द जी योग के अन्वेषक प्रकृति के व्यक्ति थे, जिन्होंने योग से सम्बन्धित कई पुस्तके प्रकाशित की और हठयोग के मूलग्रन्थ भी प्रकाशित किए। उनके द्वारा स्थापित संस्था लोनावाला में आज भी काम कर रही है। स्वामी कुवलयानन्द जी का गोरक्षशतक का संस्करण संमीक्षात्मक है जिसमें पाठ-भेदों का उल्लेख किया गया है। पाठ भेदों का उल्लेख करना महत्वपूर्ण है। पुरानी पुस्तकों में पाठ-भेद हो जाना अस्वाभाविक नहीं है, किन्तु ये पाठ-भेद अर्थ-भेद उत्पन्न नहीं करते। श्री रामलाल श्रीवास्तव गोरखनाथ के साहित्य के अधीत व्यक्ति है और गोरखनाथ पर उनकी पुस्तक भी है। वे गोरखनाथ मन्दिर से प्रकाशित होनेवाली योगवाणी पत्रिका के सम्पादक भी है। उनका गोरक्ष शतक का संस्करण समीक्षात्मक तो नहीं है किन्तु किसी एक पाण्डुलिपि का हू-ब-हू रूप है और शुद्ध भी है। संभव है, गोरखनाथ मन्दिर की परम्परा में यह प्रति उपलब्ध रही हो। गोरखपीठाधीश्वर स्वामी अवेधनाथजी महाराज की दृष्टि में यह संस्करण प्रामाणिक है, क्योंकि उन्होंने अपनी भूमिका में इसी का आधार लिया है और इसके मूल से पर्याप्त उद्धरण दिए है।

दोनों संस्करणों में श्लोकों की संख्या एक सौ एक है, किन्तु मुख्य भेद यह है कि पचास से अधिक श्लोक एक दूसरे से भिन्न हैं अर्थात् एक दूसरे में नहीं हैं। गोरखनाथ मन्दिर वाले संस्करण में अजपाजप का बहुत अच्छा प्रतिपादन है, किन्तु लोनावाला संस्करण में यह बिल्कुल नहीं है। लोनावाला संस्करण में पंचमहाभूत धारणा का सुन्दर प्रतिपादन है जो गोरखनाथ मन्दिर वाले संस्करणों में नहीं है। ऐसे ही कुछ और अन्तर है। वैसे दोनों संस्करणों में गोरखनाथ की योग पद्धति से असम्बन्ध कुछ नहीं हैं। सभी विषय सम्बन्ध है, किन्तु विषयगत और प्रतिपादनगत थोड़े अन्तर के कारण एक दूसरे में एक अभाव की प्रतीति अवश्य होती है।

गोरक्षशतकम् का प्रस्तुत संस्करण जिसका हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है, वह लोनावाला-संस्करण के आधार पर है, इसका सम्बन्ध गोरखनाथ मन्दिर वाले संस्करण से नहीं हैं इसका हिन्दी अनुवाद किया है- डॉ. मोतीलाल खड्डर शास्त्री (मास्टरजी) ने, जो पीताम्बरापीठ, दतिया से जुड़े हैं यह अनुवाद मूल से यथासंभव सम्बद्ध है इसलिये मूल पाठ को समझने के लिये बहुत अच्छा और बहुत उपयोगी हैं यह टीका या व्याख्या नहीं है, इसमें बहुत विस्तार की आवश्यकता होती है। पहली अपेक्षा होती है मूल से परिचित होने की जिसके लिये मूल से सम्बद्ध अनुवाद अपेक्षित है और विस्तार का द्वार तो कई माध्यमों से खुला रहता है।

गोरक्षशतकम् में योग और तंत्र के साधनों का सामञ्जस्य है। इसमें तंत्र के कतिपय योगपरक साधन समाहित है अजपाजप और कुण्डलिनी योग वस्तुतः तंत्र की ओर से आये साधन हैं तंत्र और योग में आरम्भ से सामीप्य है जहां भेद करना कठिन होता है जो साधना की पुष्टि की दृष्टि से उत्तम संकेत है। गोरखनाथ का योग जो हठ योग के रूप में भी विकसित हुआ, तंत्रयोग के आधार पर हुआ, यह असंदिग्ध है।

गोरक्षशतक में योग के छः अंग माने गये हैं जो आसन से आरम्भ होकर समाधि तक हैं। इसका कारण संभवतः यह है कि विधि रूप में क्रियात्मकता यहीं से आरम्भ होती है। इसका यह अर्थ नहीं कि गोरखनाथ पंतजलि के यम-नियम से अपरिचित है या उसकी मान्यता नहीं देते। सिद्धसिद्धान्त पद्धति में उन्होंने कहा है -

यम इति उपरामः सर्वेन्द्रियजयः नियम इति मनोवृत्तीनां नियमनम्-

सभी इन्द्रियों का अपने विषयों से हट जाना यम है तथा मन की सभी वृत्तियों का नियमन होना यम है। यम-नियम की उनकी यह परिभाषा बहुत सारगर्भित है, उसके आचारत्मक रूप की अपेक्षा यह अधिक योगपरक है। इसका सीधा सम्बन्ध उसके तात्पर्य से है। इसी तरह उन्होंने वहीं पर आसन से लेकर समाधि तक को तात्पर्यार्थ रूप में परिभाषित किया है।

गोरखनाथ ने यह कहकर कि योग वेद-रूप कल्पतरू का फल है, इसका सेवन करें, इससे सभी भवताप (दुःख) दूर हो जाते हैं। योग की गरिमा इंगित की हैं।

द्विजसेवित शाखस्य श्रुतिकल्पतरोः फलम्।
शमनं भवतापस्य योगं भजति सज्जनः॥ गो.श.३

गोरखनाथ योग में सिद्धि के निमित्त ज्ञातव्य तथ्यों को जानने के लिये जोर देते हैं। उसके योग में साधना के सारे उपादान शरीर में ही है। शरीर एक घर है जिसमें साधना के सारे उपादान (सामग्रियाँ) मौजूद है। जो उपादानों के साथ इस घर को नहीं जानता वह सिद्धि की आशा कैसे कर सकता है ?

षट्चक्रं षोडशधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चक्रम्।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्धयन्ति योगिनः॥ गो.श.३
एकस्तम्भं नवद्वारं गृहं पञ्चाधि दैवतम्।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्धयन्ति योगिनः॥

(गोर.शत., गोरख-मन्दिर संस्करण, श्लो. : १३-१४)

योगी अपनी देह में स्थित षट्चक्र, सोलह आधार, त्रिलक्ष्य (तीन लक्ष्य), पंचव्योम (पाँच आकाश) को नहीं जानते हैं वे कैसे योगसिद्ध हो सकते है ? अपनी ही देह में शरीर रूपी घर को जो एक स्तम्भ, नौ द्वार, पाँच तत्त्व और उनके पाँच अधिदैवत से युक्त या निर्मित है, नहीं जानते हैं, वे योगी कैसे योगसिद्ध हो सकते हैं ?

गोरखनाथ की दृष्टि में आभ्यन्तरिक देह-विज्ञान को जानना जरूरी है। यदि इसका ज्ञान तथा उन सभी अंगों की क्रियाओं का ज्ञान नहीं है तो योग की विभिन्न प्रकार की साधनाओं में से किसी एक में भी सफलता प्राप्त करने की आशा दुराशा नहीं है।

इस गोरक्षशतक में योग के छः अंगों पर प्रकाश डालकर उनकी साधना का संकेत तो किया ही गया है, इसके अतिरिक्त कुण्डलिनी, षट्चक्र-साधन पंचभूत-धारणा और ध्यानस्थान का परिणाम सहित प्रतिपादन किया गया है। साथ ही, उपाधि और तत्त्व का भेद भी स्पष्ट किया गया है। इन विषयों को मूल पाठ में देखना चाहिए। यहाँ उन्हें स्पष्ट करने पर बहुत विस्तार हो जायेगा।

इस योग में अजपाजप का बहुत महत्व है जिसका निर्देश गोरखनाथ-मन्दिर वाले संस्करण में किया गया है। उस संस्करण में महामुद्रा, खेचरी मुद्रा, शक्तिचालिनी मुद्रा, महाबन्ध और उड्डियान बन्ध इनका फल सहित सुन्दर वर्णन है। शिव और शक्ति के प्रतीक-रूप बिन्दु और रज की शरीर में यौगिक अवस्थिति का भी योग-पद्धति से विश्लेषण किया गया है। कहा है-

बिन्दु शिवो रज शक्तिश्चन्द्रो विन्दूरजो रविः।
उभयो सङ्गमादेव प्राप्यते परम् पदम्।।
वायुना शक्तिचारेण प्रेरित तु महारजः।
याति विन्दोः सहैकत्वं भवेद् दिव्यवपुस्तदा।।
शुक्र चन्द्रेण संयुक्तं रजः सूर्येण संयुतम्।
तयोः समरसैकत्वं यो जानाति स योगविद्।।

(गोर.शत., गोरखनाथ-मन्दिर सं., श्लो. : ७४-७६)

• बिन्दु (वीर्य) शिव है और रज शक्ति है। बिन्दु चन्द्रमा है और रज सूर्य है। (चन्द्र-स्थान में पाण्डुर वर्ण का बिन्दु (शुक्र) रहता है और सूर्य स्थान (नाभि) में सिन्दूर वर्ण का रज रहता है) इन दोनों के संगम से (योगी को) परम पद की प्राप्ति होती है।

• वायु के द्वारा शक्ति के चालन से जब महा रज ऊपर उठकर बिन्दु के साथ मिलकर एक हो जाता है, तब शरीर दिव्य हो जाता है।

• शुक्र चन्द्रमा से संयुक्त है और रज सूर्य से संयुक्त है। जो इन दोनों का सामरस्य-ऐक्य जानता है, वह योगवित् है।

साधना कुण्डलिनी की हो या चन्द्रमा-सूर्य से सम्बन्धित बिन्दु-रज की, शिव-शक्ति का सामरस्य ही लक्ष्य है। गोरख की योग पद्धति में तन्त्रयोग का अद्‌भुत सामञ्जस्य है। ऐसा हठयोग में भी है।

गोरक्षशतक में गोरख की योग-पद्धति के सिद्धान्त और प्रक्रिया का दिग्दर्शन हो जाता है। जिससे उसके विस्तार का द्वार खुल जाता है। यह गोरख की परम्परा में मान्य पुस्तक है। इन कारणों से इसे पढ़ा जाना चाहिए। मास्टर जी द्वारा हिन्दी अनुवाद उपलब्ध करा देने से उसमें सुविधा होगी।

गोरख के योग का प्रयोजन है, अपने शरीर के भीतर के साधक (सहायक) उपादानों को जानना, दु:ख से मुक्त होना, आनन्दमय रहना ब्रह्ममय होना और अन्ततः अद्वैत में प्रतिष्ठित होना। उन्होंने इस शतक के समापन में कहा है-

भवभयवने: वह्निर्मुक्तिसोपानमार्गतः।
अद्वयत्वं वजेन्नित्यं योगवित्परमे पदे॥

(गोरख शतक: १०१)

(यह योग) संसार भय के जंगल के लिये अग्नि है और मुक्ति के लिए सोपान-मार्ग है जिससे योगी अद्वयत्व (अद्वैत) में पहुँचकर परम पद में निवास करता है।

डॉ. मारूतिनन्दन पाठक
पूर्व अध्यक्ष एवं आचार्य
संस्कृत विभाग
मगध विश्वविद्यालय, बोधगया

◆◆◆

ॐ

गोरक्षशतकम्

ॐ श्रीपरमगुरवे गोरक्षनाथाय नमः ।

ॐ गोरक्षशतकं वक्ष्ये भवपाशविमुक्तये ।
आत्मबोधकरं पुंसां विवेकद्वारकुंचिकाम् ।। १ ।।

गोरक्षशतकम् कहता हूँ। यह शतक संसार के बन्धन से मुक्त करानेवाला है। यह आत्मा के बोध को उत्पन्न करानेवाला तथा मनुष्यों के विवेक के द्वार को खोलने के लिए एक कुंजिका (चाबी) है।। १ ।।

एतद्विमुक्तिसोपानमेतत्कालस्य वंचनम् ।
यद्व्यावृत्तं मनो मोहादासक्तं परमात्मनि ।। २ ।।

यह गोरक्षशतकम् मुक्ति प्राप्ति का सोपान (साधन) है। इससे काल (मृत्यु) का वंचन (उल्लंघन) होता है (मृत्यु पर विजय प्राप्त होती है, शरीर योगाभ्यास द्वारा स्वस्थ्य एवं परिपक्व हो जाता है और उसमें क्षीणता नहीं आती)। (इस शतक में वर्णित अभ्यास के द्वारा) मन मोह से मुक्त होकर परमात्मा में लग जाता है।। २ ।।

द्विजसेवितशाखस्य श्रुतिकल्पतरोः फलम् ।
शमनं भवतापस्य योगं भजति संज्जनः ।। ३ ।।

वेद कल्पतरु है। वेदरूपी कल्पतरू की शाखाओं का पण्डित जन सेवन (अनुशीलन) करते हैं जिसका फल यह योग है। सत्पुरूष इसका सेवन (साधन) करते है जिससे संसार का ताप (आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक) शमित (शान्त) हो जाता है।। ३ ।।

आसनं प्राणसंयामः प्रत्याहारोऽथ धारणा ।
ध्यानं समाधिरेतानि योगांगानि भवन्ति षट् ।। ४ ।।

आसन, प्राणायम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि-योग के ये छह: अंग है। (गोरखनाथ के सिद्धसिद्धान्त पद्धति में यम-नियम सहित आठ अंगों की चर्चा की है, किन्तु यहाँ सीधे प्रक्रियागत क्रियात्मक साधना से सम्बन्ध होने के कारण छ: अंग माना है।)।। ४।।

आसनानि तु तावन्ति यावत्यो जीवजातयः।
एतेषामखिलान्भेदान्विजानाति महेश्वरः।। ५।।

जितने प्रकार के जीव (प्राणी) हैं उतने ही प्रकार के आसन हैं। उनके सभी भेद शिव जानते है।। ५।।

चतुराशीतिलक्षाणामेकमेकमुदाहृतम्।
ततः शिवेन पीठानां षोडशोनं शतं कृतम्।। ६।।

महेश्वर (शिव) ने चौरासी लाख आसनों में से प्रत्येक का वर्णन किया है। उनमें से चौरासी आसनों को उन्होंने मुख्य बताया है।। ६।।

आसनेभ्यः समस्तेभ्यो द्वयमेव विशिष्टते।
एकं सिद्धासनं प्रोक्तं द्वितीयं कमलासनम्।। ७।।

उन सभी आसनों में केवल दो आसन प्रधान कहे गये है- एक सिद्धासन और दूसरा पद्मासन।। ७।।

योनिस्थानकमंघ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसे न्मेढ्रे
पादमथैकमेव नियतं कृत्वा समं विग्रहम्।
स्थाणुः संयमितेन्द्रियोऽचलदृशा पश्यन्भ्रुवोरंतर मे
तन्मोक्षकवाटभेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते।। ८।।

गुदा और मेढ्र (लिंग) के मध्य में योनिस्थान है जिसे कुण्डलिनी-स्थान भी कहा जाता है। साधन के इस योनिस्थान को (बांए) पाव की एडी से दबाकर (दाए) पांव की एड़ी को मेढ्र पर लगाए और शरीर को बिल्कुल सीधा रखे। सभी इंन्द्रियों को वश में रखते हुए भ्रू-मध्य में अचल दृष्टि से देखता रहे तथा स्वयं भी स्थिर एवं अचल रहे। यही मोक्ष के द्वार को खोलनेवाला सिद्धासन कहा गया है।। ८।।

वामोरूपरि दक्षिणं हि चरणं संस्थांप्य वामं तथा
दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढम्।

अंगुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासग्रमालोकये-
देतद्व्याधिविकारहारि यमिनां पद्मासनं प्राच्यते ।। ९ ।।

वाम जंघा (जंघा के मूल में) दाहिना पांव (चरण) स्थापित करे तथा उसी प्रकार दाहिनी जंघा पर वायां पांव स्थापित करें और दोनों हाथों को पीछे से ले जाकर दाहिने हाथ से बाएं पांव के अंगूठे और बाएं हाथ से दाहिने पांव के अंगूठे को दृढ़ता से पकड़कर एवं चिबुक को हृदय से लगाकर नासिका के अग्रभाग को (दोनों नेत्रों से) देखें। इसे समस्त व्याधियों और (शारीरिक एवं मानसिक) विकारों को नष्ट करनेवाला पद्मासन कहा गया है ।। ९ ।।

आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम् ।
योनिस्थानम् द्वयोर्मध्ये कामरूपम् निगद्यते ।। १० ।।

आधार (मुलाधार) चक्र पहला है, दूसरा चक्र स्वाधिष्ठान है। दोनों के मध्य में स्थित योनिस्थान को कामरूप कहा जाता है ।। १० ।।

आधाराख्ये गुदस्थाने पंकजं यच्चतुर्दलम् ।
तन्मध्ये प्रोच्यते योनिः कामाख्या सिद्धवंदिता ।। ११ ।।

मुलाधार चक्र जो गुदास्थान में है और जो चार (कमल) दलों से युक्त है. उसके मध्य में (त्रिकोणाकार) योनि है। यह (योनि) सिद्धों द्वारा कामाक्षा (कामाक्षा पीठ) कहा गया है ।। ११ ।।

योनिमध्ये महालिंगं पश्चिमाभिमुखं स्थितम् ।
मस्तके मणिवद्भिन्नम् यो जानाति स योगवित् ।। १२ ।।

उस (कामाक्षा) योनि के मध्य में पश्चिमाभिमुख महालिंग स्थित है। उस महालिंग के मस्तक में मणि के सदृश (प्रदीप्त) बिम्ब को जो जानता है वही योगवेत्ता है ।। १२ ।।

तप्तचामीकराभासं तडिल्लेखेव विस्फुरत् ।
चतुरस्रं पुरं वन्हेरधोमेढ्रात्प्रतिष्ठितम् ।। १३ ।।

मेढ्र से नीचे (मूलाधार पद्म की कर्णिका में) तपे हुये सोने के वर्ण की आभा और विद्युल्लेखा के सदृश ज्योतिर्मय चतुरस्त्राकार अग्निमय (वह योनिस्थान) है। (पाठान्तर त्रिकोणाकार भी है) ।। १३ ।।

स्वशब्देन भवेत्प्राणः स्वाधिष्ठानं तदाश्रयः।
स्वाधिष्ठानाख्यया तस्मान्मेढ्रवाभिधीयते ।। १४ ।।

'स्व' शब्द प्राण का उद्‌गम है। (स्व शब्द से प्राण का बोध होता है।) स्वाधिष्ठान ही प्राण का आश्रम या स्थान है। अतः स्वाधिष्ठान पद ही मेढ्र कहा जाता है ।। १४ ।।

तंतुना मणिवत्प्रोतो यत्र कंदः सुषुम्णया।
तन्नाभिमंडलं चक्रं प्रोच्यते मणिपूरकम् ।। १५ ।।

सूत्र में पिरोए मणि के समान सुषुम्ना नाड़ी का केन्द्र है। यह नाभिमण्डल में स्थित (कन्द) मणिपूरक चक्र कहा जाता है ।। १५ ।।

ऊर्ध्व मेढ्रादधो नाभेः कन्दयोनिः खगांडवत् ।
तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणि द्विसप्ततिः ।। १६ ।।

मेढ्र से ऊपर और नाभि से नीचे पक्षी के अण्डे के सदृश्य कन्द-योनि है। यहां से (इस कन्दयोनि से) बहत्तर हजार नाड़ियां उत्पन्न होती है ।। १६ ।।

तेषु नाडिसहस्रेषु द्विसप्ततिरुदाहृताः।
प्राधान्यात्प्राणवाहिन्यो भूयस्तत्र दश स्मृताः ।। १७ ।।

इन सहस्रों नाड़ियसों में बहत्तर हजार नाड़ियां मुख्य है और उन (बहत्तर हजार नाड़ियों) में भी दस प्राणवाहिनी नाड़ियां ही प्रधान है ।। १७ ।।

इडा च पिंगला चैव सुषुम्णा च तृतीयका।
गांधारी हस्तिजिह्वा च पूषा चैव यशस्विनी ।। १८ ।।
अलंबुषा कुहूश्चैव शंखिनी दशमी स्मृता।
एतन्नाडिमयं चक्रं ज्ञातव्यं योगिभिः सदा ।। १९ ।।

(पहली) इडा, (दूसरी) पिंगला और तीसरी सुषुम्ना नाड़ी है। (इनके अतिरिक्त) गांधारी, हस्तिजिह्वा, षूषां, यशस्विनी, अलम्बुषा, कुहू और शंखिनी ये दस नाड़ियां (प्रधान) है। योगियों को इन नाड़ियों से युक्त चक्र को सदा जानना चाहिये ।। १८-१९ ।।

इडा वामे स्थिता भागे पिंगला दक्षिणे तथा।
सुषुम्णा मध्यदेशे तु गान्धारी वामचक्षुषि ।। २० ।।

दक्षिणे हस्तिजिह्वा च पूषा कर्णे च दक्षिणे।
यशस्विनी वामकर्णे चानने वाप्यलंबुषा ।। २१ ।।

कूहूश्च लिंगदेशे तु मूलस्थाने च शंखिनी।
एवं द्वारमुपाश्रित्य तिष्ठन्ति दश नाडिकाः ।। २२ ।।

सततं प्राणवाहिन्यः सोमसूर्याग्निदेवताः।
इडापिंगलासुषुम्णा च तिस्रो नाड्य उदाहृताः ।। २३ ।।

(नासिका के) वाम भाग में इडा औरं दक्षिण भाग में पिंगला नाड़ी है (इन दोनों के) मध्य में सुषम्ना है। गांधारी वाम नेत्र में और दक्षिण (दाहिने) नेत्र में हस्तिजिह्वा है। पूषा दाहिने कान में और यशस्विनी बाएं कान में है। मुख में अलम्बुषा है और लिंगदेश में कुहू हैं। शंखिनी मूलस्थान (मूलाधार) में है। इस प्रकार ये दस नाड़ियां (प्राणवायु के) द्वार में स्थित है। इडा, पिंगला और सुषम्ना प्राण के मार्ग में स्थित है और निरन्तर (शरीर में) प्राण का संचार करती रहती है। इनके देवता (इडा के) चन्द्रमा, (पिंगला के) सूर्य और (सुषम्ना के) अग्नि है ।। २०-२३ ।।

प्राणापानौ समानश्च ह्युदानो व्यान एव च।
नागः कूर्मश्च कृकरो देवदत्तो धनंजयः ।। २४ ।।
नागाद्याः पंच विख्याताः प्राणाद्याः पंच वायवः।
एते नाडिसहस्रेषु वर्तन्ते जीवरूपिणः ।। २५ ।।

प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान (ये पांच) तथा नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनंजय (ये पांच) ऐसे कुल दस वायु है जो हजारों नाड़ियों में जीव रूप में रहते है ।। २४-२५ ।।

प्राणापानवशो जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं च धावती।
वामदक्षिणमार्गेण चंचलत्वान्न दृश्यते ।। २६ ।।

जीव, प्राण और अपान के वश में होकर वाम और दक्षिण मार्ग से (इडा और पिंगला के द्वारा) नीचे से ऊपर एवं ऊपर से नीचे की ओर दौड़ता (चढ़ता-उतरता) रहता है जो चंचलता के कारण दिखाई नहीं पड़ता है ।। २६ ।।

आक्षिप्तो भुवि दण्डेन यथोच्चलति कंदुकः।
प्राणापानसमाक्षिप्तस्तथा जीवोऽनुकृष्यते।। २७।।
रज्जुबद्धो यथा श्येनो गतोऽप्याकृष्यते पुनः।
गुणबद्धस्तथा जीवः प्राणापानेन कृष्यते।। २८।।
अपानः कर्षति प्राणं प्राणोऽपान च कर्षति।
ऊर्ध्वाधः संस्थितावेतौ यो जानाति स योगवित्।। २९।।

जिस प्रकार दण्ड के द्वारा आक्षिप्त (उछालने या ताड़ित) होने से गेंद पृथ्वी पर उछलती रहती है उसी प्रकार प्राण और अपान के द्वारा आक्षिप्त (आकृष्ट) होकर जीव (जीवात्मा) (क्षण भर भी) स्थिर नहीं रह पाता। जिस प्रकार डोरी से बंधा बाज पक्षी (डोरी ढील देने पर) ऊपर उड़ने लगता है। डोरी खिंचने पर नीचे आ जाता है उसी प्रकार (सत्व, रज, तम) गुणों (वासना और अविद्या) में बंधा हुआ जीव प्राण और अपान के द्वारा ऊपर नीचे खिंचता रहता है। अपान प्राण को खिंचता है और प्राण अपान को खिंचता है इस तरह ऊपर-नीचे खिंचते प्राण-अपान को जो संयोजित करना जानता है वहीं योगवेत्ता है।। २७-२९।।

कंदोर्ध्वे कुंडलीशक्तिरष्टधा कुंडलीकृता।
ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनावृत्य तिष्ठति।। ३०।।

कन्द (मेढ्र के ऊपर और नाभि के नीचे जो कन्द है, वह सभी नाड़ियों का उत्पत्ति-स्थान है।) के ऊपर कुण्डलिनी शक्ति आठ प्रकार की होकर कुण्डलित रूप में ब्रह्मरन्ध्र को अपने मुख से आच्छादित करके (रोककर) स्थित है।। ३०।।

प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मारुता हतां।
प्रजीवगुणमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्णया।। ३१।।

वह (कुण्डलिनी) वह्नियोग से जागृत होकर मन और प्राण (वायु) के द्वारा आहत होकर अथवा उनके साथ डोर में बंधी सुई के समान सुषुम्ना-पथ में ऊपर उठती है।। ३१।।

महामुद्रां नभोमुद्रामुड्डियानं जलंधरम्।
मूलबंधं च यो वेत्तिः स योगी सिद्धिभाजनम्।। ३२।।

जो योगी महामुद्रा, नभोमुद्रा (खेचरी मुद्रा), उड्डीयान बंध, जालन्धर बन्ध और मूलबंध जानता (अभ्यारा में निष्णात) है वही योगी सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त करने का अधिकारी होता है।। ३२।।

वक्षोन्यस्तहनुर्निपीड्य सुचिरं योनिं च वामांघ्रिणा
हस्ताभ्यामवधारितं प्रसरितं पादं तथा दक्षिणम्।
आपूर्य श्वसनेन कुक्षियुगलं बंद्ध्वा शनैः रेच येदेषा।
पातकनाशिनी सुमहती मुद्रा नृणां प्रोच्यते।। ३३।।

वक्ष (हृदय) में ठोढी को लगाकर साधक बाएं पांव (की एड़ी) से योनिस्थान को देर तक दबाकर रखे तथा दोनों हाथों से फैले हुए दाहिने पांव को पकड़े और दोनों कुक्षियों को पूरक द्वारा वायु से भरे, फिर (कुम्भक द्वारा रोककर और रेचक द्वारा) धीरे-धीरे बाहर निकाल दें। यह मनुष्यों की सभी पातकनाशिनी (व्याधिविनाशिनी) महामुद्रा कही जाती है।। ३३।।

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी।। ३४।।

जिह्वा (जीभ का अग्रभाग) को उलटा लौटाकर कपाल-कुहर में प्रविष्ट कराया जाता है और दृष्टि दोनों भौहों के बीच में स्थिर की जाती है। यही खेचरी मुद्रा है।। ३४।।

ऊर्ध्व मेढ्रादधो नाभेरूड्डियांन प्रचक्षते।
उड्डियानजयो बंधो मृत्युमातंगकेसरी।। ३५।।

मेढ्र से ऊपर और नाभि से नीचे भाग को उड्डियान बन्ध कहा जाता है। (उड्डियान बन्ध में इस भाग को पीछे (अन्दर) की ओर खिंचना होता है।) उड्डियान बन्ध सिद्ध होने पर यह मृत्युरूपी हाथी के लिये सिंह के समान है।। ३५।।

जालंधरे कृते बंधे कंठसंकोचलक्षणे।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति।। ३६।।

जालन्धर बन्ध में कण्ठ का संकोचन करता होता है। (संकुचित कण्ठ में ठुड्डी को लगा दिया जाता है) जालन्धर बन्ध से (बिन्दु-स्थित चन्द्रमा से निस्पन्दित होने वाला) अमृत (मणिपुर में स्थित) अग्नि में नहीं गिरता (गिरकर भस्म नहीं होता) और वायु भी प्रकुपित नहीं होती ।। ३६ ।।

पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुंचयेद्गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबंधो निगद्यते ।। ३७ ।।

पांव की एड़ी से योनिस्थान को ठीक से दबाकर गुदा को सिकोड़ना चाहिये और अपान वायु को ऊपर की ओर खिंचना चाहिये (तथा प्राणवायु से मिलाना चाहिये। यही मूलबन्ध है) इसे मूलबन्ध कहा जाता है ।। ३७ ।।

यतः कालभयात् ब्रह्मा प्राणायामपरायणः ।
योगिनो सुनयश्चैव ततः प्राणं निबंधयेत् ।। ३८ ।।

काल (मृत्यु) के भय से ब्रह्मयोगी और मुनिगण प्राणायाम का अभ्यास करते रहते है। इसलिये (सभी को) प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये ।। ३८ ।।

चले वाते चलं सर्वं निश्चले निश्चलं भवेत् ।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निबंधयेत् ।। ३९ ।।

जब तक (शरीर में) वायु (प्राण) चंचल है तब तक सब कुछ चंचल रहता है, उसके निश्चल (स्थिर) होने पर अन्य सभी स्थिर हो जाते है। इससे योगी स्थाणुत्व (निश्चलता, स्थिरता) प्राप्त करता है, इसलिये प्राणायाम करना चाहिये ।। ३९ ।।

षट्त्रिंशदंगुलं हंसः प्रयाणं कुरुते बहिः ।
वामदक्षिणमार्गेण ततः प्राणोऽभिधीयते ।। ४० ।।

(प्राण-रूप वायु) हंस वाम और दक्षिण नासा-रन्ध्रों से छत्तीस अंगुल (की दूरी तक) बाहर निकलता है, इसलिये (वायु को) प्राण कहा जाता है ।। ४० ।।

बद्धपद्मासनो योगी नमस्कृत्य गुरुं शिवम् ।
नासाग्रदृष्टिरेकाकी प्राणायामं समभ्यसेत् ।। ४१ ।।

बद्धपद्मासन में बैठकर शिव-रूप गुरु को नमस्कार कर नासिका के

अग्रभाग पर दृष्टि रखते हुये एकाकी (एकान्त में अकेला) योगी को प्राणायामं का अभ्यास करना चाहिये ।। ४१ ।।

प्राणो देहस्थितो वायुरायांमस्तन्निबन्धनम् ।
एकश्वासमयी मात्रा तद्योगो गगनायते ।। ४२ ।।

शरीर में स्थित प्राणवायु तथा अपान वायु का निरोध पूर्वक मिलना और एक श्वास हो जाना- यह योग ऊर्ध्वगामी एवं उत्कृष्ट है। (प्राण और अपान का मिलना एक श्रेष्ठ योग है ।। ४२ ।।

बद्धपद्मासनो योगी प्राणं चंद्रेण पूरयेत् ।
धारयित्वा यथाशक्ति भूयः सूर्येण रेचयेत् ।। ४३ ।।

योगी को बद्धपद्मासन में बैठकर चन्द्रनाड़ी (वाम नासिकारन्ध्र) से प्राणवायु को भीतर खिंचकर कुम्भक करना चाहिये और उसके बाद सूर्य नाड़ी (दक्षिण नासिकारन्ध्र) से उसे बाहर निकालना (रेचक करना) चाहिये ।। ४३ ।।

अमृतोदधिसंकाशं क्षीरोदधवलप्रभम् ।
ध्यात्वा चंद्रमयं बिम्बं प्राणायामे सुखी भवेत् ।। ४४ ।।

अमृत के समुद्र की आभा सदृश और दुग्ध-समुद्र की धवल प्रभा-सदृश चन्द्र-बिम्ब का ध्यान कर प्राणायाम करने से साधक सुखी होता है ।। ४४ ।।

प्राणं सूर्येण चाकृष्य पूरयेदुदरं शनैः ।
कुंभयित्वा विधानेन भूयश्चन्द्रेण रेचयेत् ।। ४५ ।।

सूर्यनाड़ी (दक्षिण नासिका-छिद्र) से प्राणवायु धीरे-धीरे खींचकर उदर को भरना चाहिये, फिर विधिपूर्वक कुम्भक करना चाहिये। पुनः चन्द्रनाड़ी (वाम नासिका-छिद्र) से (धीरे-धीरे रेचक करना चाहिये) ।। ४५ ।।

प्रज्ज्वलज्ज्वलन ज्वाला पुञ्जमादित्यमण्डलम् ।
ध्यात्वा नाभिस्थितं योगी प्राणायामे सुखी भवेत् ।। ४६ ।।

नाभि में स्थित अत्यन्त प्रज्ज्वलित अग्नि की ज्वाला के पुञ्ज से युक्त सूर्यमण्डल का ध्यान कर प्राणायाम करने से योगी सुखी होता है ।। ४६ ।।

रेचकः पूरकश्चैव कुम्भकः प्रणवात्मकः ।
प्राणायामो भवेत्त्रेधा मात्राद्वादशसंयुतः ।। ४७ ।।

प्रणव के साथ रेचक, पूरक और कुम्भक तीन प्रकार से प्राणायाम होता है। इसमें बारह मात्रा का अनुपात होना चाहिये ।। ४७ ।।

द्वादशाधमके मात्रा मध्यमे द्विगुणास्ततः।
उत्तमे त्रिगुणा मात्राः प्राणायामस्य निर्णयः ।। ४८ ।।

बारह मात्रा के अनुपातवाला प्राणायाम अधम (निम्न) होता है, इसके द्विगुण (चौबीस मात्रा के अनुपातवाला) मध्यम और उसके त्रिगुण (छत्तीस मात्रा के अनुपातवाला) उत्तम होता है ।। ४८ ।।

अधमे च घनो घर्मः कम्पो भवति मध्यमे।
उत्तमे त्रिगुणा मात्राः प्राणायामस्य निर्णयः ।। ४९ ।।

अधम प्राणायाम में अतिशय स्वेद (पसीना) होता है, मध्यम में शरीर में कम्पन होता है और उत्तम में बद्धपद्मासन में ही (कुछ ऊपर) उठ जाता है ।।४९ ।।

अंगानां मर्दनं शस्तं श्रमसंजातवारिणा।
कट्वम्ललवणत्यागी क्षीरभोजनमाचरेत् ।। ५० ।।

प्राणायाम के श्रम से उत्पन्न स्वेद (पसीने) को (शरीर के) अंगों में मलना प्रशस्त (लाभदायक) है। (प्राणायाम-साधना काल में) कटु, अम्ल तथा लवण पदार्थ का त्याग करना चाहिये और दुग्ध पदार्थ का भोजन करना चाहिये ।।५० ।।

मन्दम् मन्दम् पिबेद्वायु मन्दम् मन्दम् वियोजयेत्।
नाधिकं स्तम्भयेद्वायुं न च शीघ्रं विमोचयेत् ।। ५१ ।।

धीरे-धीरे वायु-पान करना चाहिये और धीरे-धीरे ही उसे ग्रहण करना चाहिये। अधिक (ज्यादा देर तक) स्तम्भन (कुम्भक) नहीं करना चाहिये तथा शीघ्रता से रेचन भी नहीं करना चाहिये ।। ५१ ।।

ऊर्ध्वमाकृष्य चापानं वात प्राणे नियोजयेत्।
मूर्धानं नीयते शक्त्या सर्वपापैः प्रमुच्यते ।। ५२ ।।

अपान वायु को ऊपर खींचकर प्राण में नियोजित करना चाहिये। (इसकी) शक्ति से (चेतना की) ऊर्ध्वगामिता होती है और सभी पापों से मुक्ति मिलती है ।। ५२ ।।

प्राणायामो भवत्येवं पातकेन्धनपावकः ।
एनोम्बुधिमहासेतुः प्रोच्यते योगिभिः सदा ।। ५३ ।।

इस प्रकार प्राणायाम पातकरूपी इंधन के लिये अग्नि है यह पापों को जला डालता है। यह पापों के समुद्र के लिये महासेतु है। योगीजन सदा ऐसा कहते है ।। ५३ ।।

आसनेन रुजो हन्ति प्राणायामेन पातकम् ।
विकारं मानसं योगी प्रत्याहारेण सर्वदा ।। ५४ ।।

योगी आसन से रोग नष्ट करता है, प्राणायाम से पातक नष्ट करता है और प्रत्याहार से मानसिक विकार नष्ट करता है ।। ५४ ।।

चन्द्रामृतमयी धारां प्रत्याहरति भास्करः ।
तत्प्रत्याहरणं तस्य प्रत्याहारः स उच्यते ।। ५५ ।।

चन्द्रमा की अमृतधारा को सूर्य रोक देता है अर्थात् सुखा देता है या नष्ट कर देता है। जो इस अवरोध को रोक दे उसे प्रत्याहार कहा जाता है ।। ५५ ।।

एका स्त्री भुज्यते द्वाभ्यामागता सोममंडलात् ।
तृतीयो यो भवेत्ताभ्यां स भवत्यजरामरः ।। ५६ ।।

सोममण्डल से आयी हुई एक स्त्री (चन्द्रामृतमयी धारा) दो के द्वारा युक्त होती है। उन दोनों से भिन्न तीसरे के होने से वह (योगी) अजर-अमर हो जाता है। (यह इस योग की एक प्रक्रिया है जो सुधा और नाड़ियों से सम्बन्धित है जिसे साधकों को उस सम्प्रदाय के योगियों से जानना चाहिये) ।। ५६ ।।

नाभिदेशे भवत्येको भास्करो दहनात्मकः ।
अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमूले च चन्द्रमाः ।। ५७ ।।

नाभि-स्थान में दहन (जलाकर भस्मसात) करनेवाला सूर्य स्थित है और तालुमूल (तालु मध्य) में अमृतात्मा (अमृत निस्पन्दित करते हुये) चन्द्रमा स्थित है ।। ५७ ।।

वर्षत्यधोमुखश्चन्द्रो ग्रसत्यूर्ध्वमुखो रविः ।
ज्ञातव्यं करणं तत्र येन पीयूषमाप्यते ।। ५८ ।।

(तालुमूल में) अधोमुख चन्द्रमा अमृत बरसाता है और (नाभि देश में) ऊर्ध्वमुख सूर्य उसे ग्रस (सोख) लेता है। योगी को वह (विधि) जाननी चाहिये जिससे अमृत प्राप्त हो ।। ५८ ।।

ऊर्ध्वनाभिरधस्तालु ऊर्ध्वभानुरधः शशी।
करणं विपरीताख्यं गुरुवक्त्रेण लभ्यते ।। ५९ ।।

नाभि ऊर्ध्व (ऊपर) और तालु अधः (नीचे) तथा सूर्य ऊपर और चन्द्रमा नीचे हो जाये, यह विपरीत करने की क्रिया (किसी योगी) गुरु के मुख से जाननी चाहिये ।। ५९ ।।

त्रिधा बद्धो वृषो यत्र रौरवीति महारवनम्।
अनाहतं च तच्चक्रं हृदये योगिनो विदुः ।। ६० ।।

वृषभ (सांड़े) तीन तरफ से बंधा हुआ है और घोर गर्जना कर रहा है। हृदय में यह अनाहत चक्र है जिसे योगी लोग जानते है ।। ६० ।।

अनाहतमतिक्रम्य चाक्रम्य मणिपूरकम्।
प्राप्ते प्राणे महापद्मं योगित्वममृतायते ।। ६१ ।।

मणिपुर और अनाहत के अतिक्रमण होने पर प्राण की अवस्थिति महापद्म में होती है। (अनाहत में पहुचने पर ही) योगित्व (योगी कहलाने लायक) की संज्ञा होती है जो अमृतमय है ।। ६१ ।।

विशब्दः संस्मृतो हंसो निर्मलः शुद्ध उच्यते।
अतः कण्ठे विशुद्धाख्यं चक्रं चक्रविदो विदुः ।। ६२ ।।

विशद्ध (निरश्वब्दता) हंस का द्योतक और निर्मलता को शुद्धि कहा जाता है। इसलिये कण्ठ में विशुद्धि चक्र है। (इसे शुद्धि का चक्र भी कहा जाता है जहां सब कुछ शुद्ध और संतुलित हो जाता है) इसे (इस तथ्य को) चक्रों के ज्ञाता जानते है ।। ६२ ।।

विशुद्धे परमे चक्रे धृत्वा सोमकलाजलम्।
मासेन न क्षयं याति वंचयित्वा मुखं रवेः ।। ६३ ।।

(विशुद्धि चक्र के जागृत होने पर) परम विशुद्धि चक्र में चन्द्रमा की कलाओं का जल (अमृत) धारण करने पर महीने भर उसका क्षय नहीं होता

और वह (अमृत) सूर्य के मुख में जाने से बच जाता है ।। ६३ ।।

संपीड्य रसनाग्रेण राजदंतबिलं महत् ।
ध्यात्वाऽमृतमयी देवीं षण्मासेन कविर्भवेत् ।। ६४ ।।

जिह्वा के अग्रभाग से राजदन्त के छिद्र को दबाकर और उस अमृतमयी देवी का ध्यान कर (जो योगी उस अमृत को धारण करता है वह) छः महीने में कवि हो जाता है ।। ६४ ।।

अमृतापूर्णदेहस्य योगिनो द्वित्रिवत्सरात् ।
ऊर्ध्वं प्रवर्तते रेतोप्यणिमादिगुणोदयः ।। ६५ ।।

योगी दो-तीन वर्षों तक देह को अमृतपूर्ण बनाये रखे तो उसका रेतस् ऊर्ध्वगामी हो जाता है और उस देह में अणिमादि सिद्धियों का उदय होने लगता है ।। ६५ ।।

इन्धनानि यथा वह्निस्तैलैर्वर्तिं च दीपकः ।
तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुंचति ।। ६६ ।।

जिस प्रकार इंधन होने पर अग्नि जलती रहती है, तेल से पूर्णवर्तिका होने पर दीपक जलता रहता है। उसी प्रकार सोमकला (अमृत) पूर्ण देह को देही (आत्मा) त्याग नहीं करती। (उस अमृतपूर्ण देह में वह बनी रहती है)।। ६६ ।।

आसनेन समायुक्तः प्राणायामेन संयुतः ।
प्रत्याहारेण संयुक्तो धारणाश्च समभ्यसेत् ।। ६७ ।।

आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार से संयुक्त (इन तीनों के पूर्ण अभ्यास सिद्ध) होने पर धारणा का अभ्यास करना चाहिये ।। ६७ ।।

हृदये पंचभूतानां धारणाश्च पृथक् पृथक् ।
मनसो निश्चलत्वेन धारणा च विधीयते ।। ६८ ।।

हृदय में पंचभूतों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) की धारणा पृथक-पृथक् करनी चाहिये। मन की निश्चलता से धारणा होती है। (एकाग्रता को ही धारणा कहा जाता है।)।। ६८ ।।

या पृथ्वी हरितालदेशरुचिरा पीता लकरान्विता
संयुक्ता कमलासनेन हि चतुष्कोणा हृदि स्थायिनी।
प्राणं तत्र विनीय पंचघटिकाश्चित्तान्वितं धारये-
देषा स्तम्भकरी सदा क्षितिजयं कुर्याद्भुवो धारणा।। ६९।।

जिसे पृथ्वी (तत्त्व या महाभूत) कहते है वह (मूलाधार) में कमलासन (चार दलों वाले कमल) पर हरिताल की तरह पीली आभा से युक्त पीले रंग के चतुष्कोण के मध्य पीताभलंकार (लं बीज से युक्त) है वहां पाचं घटिका तक प्राण और चित्त को स्थिर करके उसकी धारणा करनी चाहिये। यह स्तम्भकारी है और इसके द्वारा पृथ्वी (तत्त्व या भूत) पर जय प्राप्त करनी चाहिये। यही पृथ्वी धारणा है।। ६९।।

अर्धेन्दुप्रतिमं च कुंदधवलं कंठेबुतत्त्वं स्थितं
यत्पीयूषवकार बीज सहितं युक्तं सदा विष्णुना।
प्राणं तत्र विनीय पंचघटिकाश्चित्तान्वितं धारये-
देषा दुर्वहकालकूटजरणा स्याद्वारिणी धारणा।। ७०।।

(स्वाधिष्ठान चक्र में) जहां अर्ध चन्द्रमा है उसके कण्ठ (ऊपरी भाग में) कुन्द-पुष्प के समान धवल जल तत्त्व स्थित है और वहां विष्णु के साथ अमृत-स्वरूप वकार बीज है। वहां पर पांच घटिका तक प्राण और चित्त को स्थित कर धारणा करनी चाहिये। यह दुर्वह (महाकठिन) कालकूट (हलाहल विष) को भी क्षीण करनेवाला है। यह वारिणी (जल महाभूत की) धारणा है।। ७०।।

यत्तालस्थितमिंद्रगोपसदृशं तत्त्वं त्रिकोणोज्ज्वलं
तेजोरेफमयं प्रवालरुचिरं रुद्रेण यत्संगतम्।
प्राणं तत्र विनीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वितं धारये-
देषा वह्निजयं सदा विदधते वैश्वानरी धारणा।। ७१।।

(मणिपुर चक्र में) जल से भरे बादलों के रंग वाले कमलों के मध्य रक्तिम त्रिकोण में रक्त वर्ण का रकार (रं बीज) है जिस पर रक्त वर्णी रूद्र हैं वहां पर पांच घटिका तक प्राण और चित्त स्थिर कर धारणा करने से अग्नि-जय होती है। यह वैश्वानरी (अग्नि-भूत की) धारणा है ।। ७१।।

यद्भिन्नांजनपुंजसान्निभमिदं तत्त्वं भ्रुवोरन्तरे
वृत्तं वायुमयं यकारसहितं यत्रेश्वरो देवता।
प्राणं तत्र विनीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वितं धारये-
देषा खे गमनं करोति यमिनां स्याद्वायवी धारणा ।। ७२ ।।

(अनाहत चक्र में) जहां भिन्नाञ्जनपुंजसान्निभ (धूम वर्ण का) वायु तत्त्व का यकार (यं बीज) है। और उसके देवता ईश्वर है, वहां पांच घटिका, तक प्राण और चित्त को स्थिर कर धारणा करनी चाहिये जिससे योगी आकाश गमन में समर्थ होता है। यह वायवी (वायु भूत की) धारणा है ।। ७२ ।।

आकाशं सुविशुद्धवारिसदृशं यद्ब्रह्मरन्ध्रे स्थितं,
तत्राद्येन सदाशिवेन सहितं शांतं हकाराक्षरम्।
प्राणं तत्र विनीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वयं धारये-
देषा मोक्षकवाटपाटनपटुः प्रोक्ता नभोधारणा ।। ७३ ।।

(विशुध्दि चक्र में) जहां विशुद्ध जल के सदृश (उज्ज्वल) आकाश-तत्त्व स्वरूप, हकार (हं बीज) शान्त सदाशिव के साथ स्थित है, वहां पांच घटिका तक प्राण और चित्त को स्थिर कर धारणा करनी चाहिये। यह धारणा मोक्ष के कपाट को खोलने वाली है। इसे नभोधारणा (आकाश-भूत की धारणा) कहते है ।। ७३ ।।

स्तम्भनी द्रावणी चैव दहनी भ्रामणी तथा।
शोषणी च भवन्त्येव भूतानां पंचधारणाः ।। ७४ ।।

स्तम्भनी, द्राविणी, दहनी, भ्रामणी और शोषणी ये (पंच) भूतों की पांच धारणाएं है ।। ७४ ।।

कर्मणा मनसा वाचा धारणाः पंच दुर्लभाः।
विधाय सततं योगी सर्वपापैः प्रमुच्यते ।। ७५ ।।

कर्म, मन और वाणी से (अभ्यास करने योग्य) ये पांच धारणाएं दुर्लभ है। इनका सतत् अभ्यास करने से योगी सभी पापों से मुक्त हो जाता है ।।७५ ।।

सर्व चिंतासमावर्ति योगिनो हृदि वर्तते।
यत्तत्वे निश्चितं चेतस्ततु ध्यानं प्रचक्षते ।। ७६ ।।

योगियों के हृदय में सभी चिन्तनो में जो एक धातु निर्मल चिन्तन है। उसमें निश्चित (एकतान रूप में) चित्त लग जाये उसे ध्यान कहते है ।। ७६ ।।

द्विधा भवति तद्ध्यानं सगुणं निर्गुणं तथा।
सगुणं वर्णभेदेन निर्गुणं केवलं विदुः ।। ७७ ।।

वह ध्यान दो प्रकार का है। एक सगुण और दुसरा निर्गुण। सगुणं में वर्णभेद (रूपात्मक भेद) होता है, किन्तु निर्गुण में केवल (रूपाभाव-आकार-राहित्य) होता है ।। ७७ ।।

आधारं प्रथमं चक्रं तप्तकांचनसन्निभम्।
नासाग्रे दृष्टिमादाय ध्यात्वा मुंचति किल्बिषम् ।। ७८ ।।

तप्त स्वर्ण के समान (पीले रंग का) आधार (मूलाधार) प्रथम चक्र है। नासाग्र दृष्टि रखकर उसका ध्यान करने से किल्विष (दोष, रोग) नष्ट हो जाता है ।। ७८ ।।

स्वाधिष्ठानं द्वितीयं तु सन्माणिक्यसुशोभनम्।
नासाग्रे दृष्टिमादाय ध्यात्वा मुंचति पातकम् ।। ७९ ।।

माणिक्य-वर्ण (सिन्दूरी रंग का) स्वाधिष्ठान द्वितीय चक्र है। नासाग्र-दृष्टि रखकर उसका ध्यान करने से पातक नष्ट हो जाता है ।। ७९ ।।

तरुणादित्यसंकाशं चक्रं च मणिपूरकम्।
नासाग्रे दृष्टिमादाय ध्यात्वा संक्षोभजेज्जगत् ।। ८० ।।

तरुण सूर्य के सदृश वर्ग (रक्त वर्ण का) मणिपूरक (तृतीय) चक्र है। नासाग्र दृष्टि रखकर उसका ध्यान करने से (योगी जगत् को संक्षोभित करने में समर्थ होता है।)।। ८० ।।

(श्लोक संख्या ८१ लुप्त है).

विद्युत्प्रभावं हृत्पद्मे प्राणायामविभेदनैः।
नासाग्रे दृष्टिमादाय ध्यात्वा ब्रह्ममयो भवेत् ।। ८२ ।।

प्राणायाम के द्वारा भेदन कर विद्युत की आभा (रक्तोज्ज्वल अनाहतं) हृदयपदम् में नासाग्र दृष्टि रखकर ध्यान करने से (योगी) ब्रह्ममय हो जाता है।। ८२।।

संततं घटिकामध्ये विशुद्धं चामृतोद्भवम्।
नासाग्रे दृष्टिमादाय ध्यात्वा ब्रह्ममयो भवेत्।। ८३।।

घण्टिका के मध्य (उपजिह्वा के मध्य दीपक प्रभा वाले) विशुद्धि चक्र जहां निरन्तर अमृत का उद्भव होता रहता है, नासाग्र दृष्टि रखकर उस पर ध्यान करने से (योगी) ब्रह्ममय होता है।। ८३।।

भ्रुवोर्मध्ये स्थितं देवं स्निग्धमौक्तिकसन्निभम्।
नासाग्रे दृष्टिमादाय ध्यात्वाऽऽनंदमयो भवेत्।। ८४।।

दोनों भौंहों के मध्य (आज्ञा चक्र में) में माणिक्य-प्रज्ञा के सदृश (इतराख्य लिंग के साथ) देदीप्यमान देव (परमेश्वर) स्थित है। नासाग्र दृष्टि रखकर वहां ध्यान करने से (योगी) आनन्दमय हो जाता है।। ८४।।

निर्गुणं च शिवं शांतं गगने विश्वतोमुखम्।
नासाग्रे दृष्टिमादाय ध्यात्वा दुःखाद्विमुच्यते।। ८५।।

गगन-रूप (सहस्त्रार) में विश्वोन्मुख निर्गुण परम शान्त शिव है। नासाग्र-दृष्टि रखकर वहां ध्यान करने से सभी दुःखों से मुक्ति मिल जाती है।। ८५।।

गुदं मेढ्रं च नाभिं च हृत्पद्मं च तदूर्ध्वतः।
घंटिकां लंपिकास्थानं भ्रूमध्ये परेश्वरम्।। ८६।।
निर्मलं गगनाकारं मरीचिजलसन्निभम्।
आत्मानं सर्वगं ध्यात्वा योगी योगमवाप्नुयात्।। ८७।।

गुदा, मेढ्र, नाभि, हृदयपद्म तथा उसके ऊपर घण्टिका और लम्पिका स्थान (तालु स्थान) में भ्रूमध्य में परमेश्वर तथा अतिशय प्रकाश से भास्वर गगनस्वरूप निर्मल-सर्वव्यापी आत्मा (परम आत्मा) का ध्यान करने से योगी को योग (समाधि) की प्राप्ति होती है।। ८६-८७।।

कथितानि यथैतानि ध्यानस्थानानि योगिनाम्।
उपाधितत्त्वयुक्तानि कुर्वन्त्यष्टगुणोदयम्।। ८८।।

योगियों के लिये ये ध्यान-स्थान कहे गये है ये आठ गुणों के उदय को उपाधि और तत्त्व से युक्त कर देते है।। ८८।।

उपाधिश्च तथा तत्त्वं द्वयमेवमुदाहृतम् ।
उपाधिः प्रोच्यते वर्णस्तत्त्वमात्माभिधीयते ।। ८९ ।।

उपाधि और तत्त्व ये दोनों पृथक हैं। वर्ण (आकार) को उपाधि कहा जाता है तथा तत्त्व को आत्मा कहते हैं ।। ८९ ।।

उपाधिरन्यथाज्ञानं तत्त्वं संस्थिमयन्यथा ।
समस्तोपाधिविध्वंसि सदाभ्यासेन योगिनाम् ।। ९० ।।

उपाधि अन्यथाज्ञान (मिथ्याज्ञान) है, किन्तु तत्व वास्तविक ज्ञान है। योगी निरन्तर अभ्यास से सभी उपाधियों का विध्वंस (नष्ट) करते है ।। ९० ।।

आत्मवर्णेन भेदेन दृश्यते स्फाटिको मणिः ।
मुक्तो यः शक्तिभेदेन सोऽयमात्मा प्रशस्यते ।। ९१ ।।

स्फटिक मणि पर आत्मवर्ण (जिस वर्ण का प्रतिबिम्ब पड़ता है) उसी वर्ण (उसी रंग) का यह दिखता है। (आत्मा के साथ भी ऐसा ही होता है।) वर्ण (रंग संस्कार आदि उपाधियों) के शक्ति-भेद से जो मुक्त है, वही आत्मा प्रशस्त है ।। ९१ ।।

निरातंकं निरालंबं निष्प्रपंचं निराश्रयम् ।
निरामयं निराकारं तत्त्वं तत्त्वविदो विदुः ।। ९२ ।।

निरातंक (निर्भय), निरालम्ब (आलम्बन रहित), निष्प्रपंच (प्रपंच से भिन्न), निराश्रय (आश्रय रहित), निरामय (रोग रहित), निराकार (किसी भी प्रकार के आकार से रहित) स्वरूप वाला तत्व (आत्मा) है। तत्वविद् ऐसा जानते है ।। ९२ ।।

शब्दाद्याः पंच या मात्रा यावत्कर्णादिषु स्मृताः ।
तावदेव स्मृतं ध्यानं तत्समाधिरतः परम् ।। ९३ ।।

शब्द आदि (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध) कर्ण आदि इन्द्रियों के विषय है। यहां तक स्मृति ध्यान है। इसके उपरान्त समाधि है ।। ९३ ।।

यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च विलीयते ।
तदा समरसैकत्वं समाधिरभिधीयते ।। ९४ ।।

जब प्राण क्षीण हो जाते है, मन विलीन हो जाता है। तब समरसत्व (एकरसत्व) हो जाता है, वही समाधि है।। ९४।।

(श्लोक संख्या ९५ लुप्त है)

धारणाः पंचनाड्यस्तु ध्यानं च षष्टिनाडिकाः।
दिनद्वादशकेनैव समाधिः प्राणसंयमः।। ९६।।

धारणा पांच नाड़ी (दण्ड-चौबीस मिनट का एक दण्ड या एक नाड़ी होती है)। और साठ नाड़ी तक ध्यान होता है। बारह दिनों तक समाधि होती है। यही तक प्राण-संयम होता है।। ९६।।

न गंधं न रसं रूपं न स्पर्शं न च निःस्वनम्।
आत्मानं न परं वेत्ति योगी युक्तः समाधिना।। ९७।।

जब योगी के समक्ष (उसके चित्त में) न गन्ध रहती है, न रस रहता है न रूप रहता है, न स्पर्श रहता है, न शब्द रहता है। और वह आत्मा से भिन्न कुछ भी नहीं जानता (देखता) तो यह समाधि है। (ऐसा होना समाधि में ही संभव है। और ऐसा योगी मुक्त योगी है।)।। ९७।।

खाद्यते न च कालेन बाध्यते न च कर्मणा।
साध्यते न च केनापि योगी युक्तः समाधिना।। ९८।।

समाधि से युक्त ऐसा योगी काल (मृत्यु) के द्वारा कवलित नहीं होता कर्म से बाधित नहीं होता, और किसी के द्वारा साधित भी नहीं होता।। ९८।।

निर्मलं निश्चलं नित्यं निष्क्रिय निर्गुणं महत्।
व्योमविज्ञानमानंदं ब्रह्म ब्रह्मविदो विदुः।। ९९।।

ब्रह्म निर्मल, निश्चल, नित्य, निष्क्रिय, महत् व्योम-रूप, विज्ञान-रूप आनन्द-रूप है। ब्रह्मविद् यह जानते है।। ९९।।

दुग्धे क्षीरं घृते सर्पिरग्नौ वह्निरिवार्पितः।
अद्वयत्वं व्रजेन्नित्यं योगवित्परमे पदे।। १००।।

जिस प्रकार दुग्ध में क्षीर, घृत में सर्पिस (घृत) और अग्नि में वह्नि

अर्पित किया जाता है। (युग्म के दोनों शब्द एक ही अर्थ के द्योतक है) उसी प्रकार योगविद् परम पद में अद्वयभाव से नित्य निवास करते है ।। १०० ।।

भवभयवने वह्निर्मुक्तिसोपानमार्गतः ।
अद्वयत्वं व्रजेन्नित्यं योगवित्परमे पदे ।। १०१ ।।

संसार के भय के जंगल में अग्नि के समान, मुक्ति के सोपान-मार्ग से परम पद में अवस्थित होकर योगविद् नित्य (निरन्तर) अद्वय रूप में रहते हैं ।। १०१ ।।

।। इति श्री गोरक्षनाथप्रणीतः गोरक्षशतकम् समाप्तम् ।।

●●●

श्री पीताम्बरा पीठ

ह्लीं

दतिया(म.प्र.)

PRINTED AT : SHIV SHAKTI PRESS,NAGPUR

SARASWATĪBHAVANA-GRANTHAMĀLĀ

(Vol. 110)

General Editor
DR. BHĀGĪRATHA PRASĀDA TRIPĀTHĪ, 'VĀGĪŚA ŚĀSTRĪ'
Director, Research Institute,
Varanaseya Sanskrit Vishvavidyalaya,
Varanasi.

GORAKṢA SIDDHĀNTA SAṂGRAHAḤ

Edited by
JANĀRDANA ŚĀSTRĪ PAṆḌEYA

VARANASI

1973

Published by
Director, Research Institute
Varanaseya Sanskrit Vishvavidyalaya
Varanasi–2

Available at—
Publication Section
Varanaseya Sanskrit Vishvavidyalaya,
Varanasi–2

First Edition—500 Copies

Price Rs 10 50

Printed by :
Sri Ghana Shyama Upadhyaya
Manager
Varanaseya Sanskrit Vishvavidyalaya Press
Varanasi–2

सरस्वतीभवन-ग्रन्थमाला

(११०)

प्रधानसम्पादकः

डॉ० भागीरथप्रसादत्रिपाठी 'वागीशः शास्त्री'

गवेषणालयसञ्चालकः

वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालये

गोरक्षसिद्धान्तसंग्रहः

(परिवर्धितं सशोधितं च संस्करणम्)

सम्पादकः

श्रीजनार्दनशास्त्री पाण्डेयः

वाराणस्याम्

२०३० तमे वैक्रमाब्दे १८९५ तमे शकाब्दे १९७३ तमे खिस्ताब्दे

प्रकाशकः—
सञ्चालकः
गवेषणालयस्य
वाराणसेय-संस्कृत-विश्वविद्यालये

प्राप्तिस्थानम्—
प्रकाशनविभाग,
वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालयः
वाराणसी-२

प्रथमं संस्करणम् : ५०० प्रतिरूपाणि
मूल्यम्—१०.५० रूप्यकाणि

मुद्रकः
श्रीघनश्याम उपाध्यायः
प्रबन्धकः
वाराणसेय-संस्कृत-विश्वविद्यालयीयमुद्रणालयस्य

प्रास्ताविकम्

रोगजरामृत्युभयाकुलो जिजीविषुर्मानवो नीरुक्त्वस्यामरत्वस्य च समासादनाय चिराद् दृश्यते प्रयतमानो भूमण्डले। रोगविखण्डनाय जरापसारणाय च ऋग्वेदोपवेद आयुर्वेदः प्रवर्तते सुपुरातनकालाद् भारते वर्षे। रुक्प्रतिक्रियात्मका नानाविधा आविष्कृता औषधयः, साम्प्रतं चाप्याविष्क्रियन्ते चिकित्सकैराविष्कारकैः। यद्यपि मृत्युजयार्थमपि बहुविधा यत्ना आस्थिताश्चिकित्साक्षेत्रे, सम्प्रत्यपि विधीयन्ते, तथापि न क्वापि भावितं साफल्यं तज्ज्ञैः। 'जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः' इति पातञ्जलयोगसूत्राद् जन्मजसिद्धिरोषधिजसिद्धिर्मन्त्रजसिद्धिस्तपोजसिद्धिः समाधिजसिद्धिश्चेति पञ्च सिद्धयो ज्ञायन्ते। तत्रामरत्वप्रतिपादनाय सिद्धिपरायणैः सिद्धसम्प्रदायानुयायिभिर्गोरक्षनाथादिभिरायुर्वेदे रसायनतन्त्रं पारदशक्तिप्रकाशकमाविष्कृतम्, अनादिकालतः प्रवर्तमाने योगमार्गे चाविर्भावितः पुरातनपरम्परातः किञ्चिद्विलक्षणो हठयोगः। तत्र गोरक्षनाथेन योगमार्गः सुव्यवस्थापित इति तद्ग्रन्थानां परिशीलनेन बुध्यते। तद्रचिताः प्रायशोऽष्टाविंशतिसंख्याका ग्रन्था संस्कृतभाषामया अन्ये च चत्वारिंशत्संख्याका हिन्दीभाषामयाः प्रथिताः।

गोरक्षनाथः

यद्यपि विभिन्नैः प्रमाणैर्गोरक्षनाथो दशमशताब्दीक एकादशशताब्दीको वा सिद्ध्यतीति लब्धवर्णानां मतम्, तथापि गोरक्षसिद्धान्तसंग्रहकारानुसारेण ब्रह्माण्डपुराणे ललितापुरवर्णने ललिताखण्डेऽपि गोरक्षनाथस्योल्लेखो विद्यते—

सिद्धैर्दिव्यर्षयश्चैव पवनाभ्यासिनोऽपरे।
गोरक्षप्रमुखाश्चान्ये योगिनो योगतत्पराः ॥ इति।

श्रीकृष्णकृतगोरक्षनाथस्तोत्रे गोरक्षस्तुतिस्तत्रास्तीति तन्मतम् (३८ पृ०)।

सिद्धमतपरम्परा

(सिद्धो नाथोऽवधूतश्चेत्यनर्थान्तरम्)

पद्मपुराणान्तर्गतकपिलगीतायां नवनाथानामुल्लेखः 'दत्तात्रेयादिसिद्धानां नवनाथास्तथैव

व' इति । शाबरतन्त्रानुसारेण द्वादश सिद्धाः सन्ति । ते चेमे—

१. आदिनाथः, २. अनादिः, ३. कालः, ४. अतिकालक, ५. कराल, ६. विकरालः, ७. महाकाल, ८. कालभैरवनाथ, ९. बटुक, १०. भूतनाथः, ११. वीरनाथः, १२. श्रीकण्ठश्चेति ।

शिष्यपरम्पराया द्वादश शिष्याः प्रसिद्धा । ते चेमे—

१. नागार्जुनः, २. जडभरतः, ३. हरिश्चन्द्र., ४. सत्यनाथः, ५. भीमनाथः, ६. गोरक्षनाथः, ७. चर्पटः, ८. अवद्यः, ९. वैराग्य, १०. कन्थाधारी, ११ जलन्धर, १२. मलयार्जुनश्चेति (द्र० १४, १५ पृ०) ।

सिद्धपरम्परायां तु नव सिद्धा. प्रथन्ते—१. श्रीगुरुरादिनाथ., २. मत्स्येन्द्रनाथः, ३. उदयनाथ, ४. दण्डनाथ, ५ सत्यनाथः, ६. संतोषनाथ., ७. कूर्मनाथः, ८. भवनार्जिः, ९. गोरक्षनाथश्चेति ।

सिद्धा एव नाथरूपत्वेन प्रसिद्धा । अस्य ग्रन्थकारस्यानुसारेण मण्डनमिश्रः (सुरेश्वराचार्यः) शङ्कराचार्यश्चोभावेव सिद्धोपदेशेन गृहीतावधूतावस्थौ जातौ (१४ पृ०) । कापालिकास्तान्त्रिकाः शाक्ताश्चास्यैव सम्प्रदायस्य शाखारूपाः ।

समन्वयकर्ताऽवधूत एव गुरुः

सिद्धसंप्रदाये यद्यपि सर्वेषा शास्त्राणा निन्दा कृता, तथापि हठयोगप्रदीपिकानुसारेण तत्र गुरुवाक्येन ज्ञान, मुक्तिः, स्थिति, सिद्धिरित्यादयो लभ्यन्त इति गुरुमहिमाऽङ्गीकृत एव (१२,३१ पृ०) । तस्मिन् मार्गे सर्वश्रेयोमूलभूतो गुरुरेव । स चावधूत एव, नान्यः । त्यागभोगाभ्यामलिप्तोऽप्यवधूतस्त्यागभोगप्रदः । स चाखिवर्णाश्रमी सर्वाधिकारिणा गुरूणामपि गुरुः प्रोक्त । पक्षपातविनिर्मुक्तः स एव ब्रह्म सपद्यते । अवधूतस्य व्यवहारस्त्वनियत एव । स क्वचिद् भोगी, क्वचित् त्यागी, क्वचित् पिशाचवद् नग्नः, क्वचिद् राजा, क्वचिच्चाचारी इत्येतादृशलक्षणलक्षितोऽवधूतो विधीयते । एव च सर्वसाधनशिरोमणियोगमूर्तिभूतोऽवधूत एव परमपुरुषार्थविचक्षणो भवति (८ पृ०) ।

योगस्तु कस्यापि सापेक्षो नास्ति । उत्तरावस्थाऽवधूत एवेति तान्त्रिकाणामयमेव सिद्धान्तः षट्शाम्भवरहस्ये दृश्यते (१४ पृ०) । अवधूतमार्गो दिव्यः । वेदान्ततात्पर्यलक्ष्य चावधूत एवास्ति (१४ पृ०) । यः सर्वदर्शनाना स्वरूपदर्शनेन समन्वयं करोति सोऽवधूतः, स योगी स्यात् । प्रारब्धकर्मनिर्मूलकरणमवधूतानामेव कर्म (१२ पृ०) । यः

सर्वान् प्रकृतिविकारान् अवधुनोति सोऽवधूत (१ पृ०)। तस्य व्युत्पत्तिरित्थ दृश्यते—

अनन्तानन्दब्रह्मज्ञः अकार तस्य लक्षणम् ।
वासना वर्जिता येन वक्तव्य च निरामयम् ।।
वर्तमानेषु वर्तेत वकार तस्य लक्षणम् ।
धूलिधूसरगात्राणि धूतचित्तनिरामयम् ।।
ध्यानधारणनिर्मुक्त धूकार तस्य लक्षणम् ।
तत्त्वचिन्ता येन धूता चिन्ता चेष्टाविवर्जिता ।।
तमहङ्कारनिर्मुक्तं तकार तस्य लक्षणम् । (२८ पृ०)

भक्तिपूर्वकमेतादृशगुरुप्रणामेन परमपदावाप्तिर्जायते (५ पृ०)। देहाभिमान एव पक्षपात.। गुणातीतत्वेन पक्षपातरहितस्यात्याश्रमिण एव मुक्तिप्रदगुरुत्व नान्यस्य कस्यापि। कुलाचारविहीनस्तु गुरुरेको हि दुर्लभः—

वर्णाश्रमाभिमानेन वर्तते श्रुतिकिङ्करः ।
अभिमानविहीनस्तु वर्तते श्रुतिमूर्द्धनि ।।

शीर्षण्यं रत्नम्—योगः

इह खलु संसारे योगो भोगश्चेति द्वौ पदार्थौ स्त । एतद् द्वय विना किमपि न स्यात्, सर्वस्याप्येतयोरन्तर्भूतत्वात् । तयोर्मध्ये योगे लग्ना महासिद्धा., भोगे तु संसारिणः। योगस्य फलं मुक्तिः, भोगस्य तु बन्ध इति। यद्यपि भोगाद् बन्धस्तथापि नानाविलासैर्विषयानन्दमनुभवति मानव आदौ। योगिना तु प्रथमतो मनाग् श्रमो भवेत्। 'क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्' इति। पश्चात् तु महानन्द इति सन्मार्गो योगमार्ग.।

'वेदस्य त्वभ्यासेऽप्यवधूतानां दोष एव स्यात्। वेदस्य पूर्वभागस्तु वर्णिनामेव, वेदान्तभागस्तु भिक्षूणामेव, योगमार्गोऽस्त्यवधूतानाम्। वेदान्ततात्पर्यं लक्ष्य चावधूत एवास्तीति ग्रन्थकृन्मतम्।

सर्वेषा वेदादिशास्त्राणामैदम्पर्यं योग एवास्ति। योगशास्त्रं तु सूक्ष्मम्। समुद्रे इतरवस्तु सुलभम्, रत्न तु श्रमेण लभ्यते। एवमेव वेदादिशास्त्रे व्यवहारादि सुलभम्, योगस्तु भूरिश्रमेण लभ्यते। यथा रत्नखनौ रत्नमेव लभ्यते, तथा योगशास्त्रे योग एव लभ्यते, नान्यदस्ति किञ्चिदसारं वस्तु। स च योगो गुरुकृपयाऽल्पश्रमेणैव प्राप्यः, सर्वं परित्यज्य सेवनीयः। योग एव पर साधनम्। श्रुतौ स्मृतौ च योगमार्गात् परो मार्गो नास्ति। यथोपायेन दारु मथित्वाऽग्निर्दृश्यते, तथा शरीरस्थ आत्मा योगेनैव साक्षात्क्रियते।

योगिन श्रेष्ठाः। तेषाममृत स्थान ब्रह्मणः परम पदमस्ति। प्राणायामपरायणा न निवर्तन्ते। ते पर स्थान लभन्ते। एव सर्वनमस्कार्यमेतन्मतम्। क्षेत्रज्ञपरमात्मनो संयोगो योगः। मन्त्रयोगादीनि त्वेतस्यैव योगस्याङ्गानि। वेदादिज्ञान योगज्ञानादवाप्नोति योगी (६ पृ०)। ध्यानयोगस्य परो महिमा त्वित्थं दृश्यते—

अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च।
एकस्य ध्यानयोगस्य कला नार्हन्ति षोडशीम् ॥ इति।

क्रियायुक्तस्य सिद्धिः

शास्त्रपाठमात्रेण क्रियाशून्यस्य सिद्धिर्न सपद्यते। प्रथमे प्रकारे वायुनिरोध। चले वाते चित्तं भवति चलम्, निश्चले वाते तु चित्तमपि जायते निश्चलम्। द्वितीये प्रकारे तु—मनसः स्थैर्ये वायुनिरोधः (प्राणायाम)। तत स्थिरबिन्दुतेति। हठयोगप्रदीपिकातो योगिनामनेका अवस्था ज्ञायन्ते। तत्रारम्भावस्था—घटावस्था, परिचयावस्था, निष्ठावस्थेत्यादयः।

सिद्ध्युत्तरं महानन्दः

नाथसंप्रदायस्य मुख्यमाकर्षण सिद्ध्युत्तरमहानन्दोऽस्ति। योगाद्यनुष्ठाने कष्टानुभव· स्वाभाविक·। कष्टोत्तरं त्वखण्डैकनाथरूपो ब्रह्मविष्णवाद्यधीश्वरो नानारूपो महानानन्दो भवत्येव। ब्रह्मादयः सर्वे तस्य पूजा कुर्वन्ति। योगारूढो नानाभोगान् भुनक्ति, न तु तैर्लिप्यते (१२ पृ०)।

'गोरक्षसिद्धान्तसंग्रहः' इति प्रस्तुते ग्रन्थे सिद्धान्तशब्दो नास्ति राद्धान्तवाचकः। स तु सिद्धमतस्य तात्पर्यमेव सिद्धान्त, न तु वादिप्रतिवादिभिर्निर्णीतोऽर्थ· सिद्धान्त.। सिद्धस्यैव तात्पर्यं सिद्धान्तः। सिद्धस्यैव सिद्धान्तो न त्वन्यस्यात एव शङ्करेण सिद्धान्तबिन्दुः कृतः (१४ पृ०)।

योगिनां मुख्यचिह्नानि

१. मुद्रा, २. नाद·, ३. विभूतिः, ४. आदेशधारणं चेति मुख्यानि चिह्नानि योगिनाम्। १. मुद्राधारणं कर्णयोः क्षुरिकां विना न संभवतीति क्षुरिकोपनिषदि क्षुरिकाप्रशंसा विद्यते (७ पृ०)। एतादृशाः सिद्धा लोके 'कनफटा'-रूपेण प्रसिद्धाः। २. अनाहतशृङ्गीति नादः। ३. त्रिपुण्ड्रधारणाय कालाग्निरुद्रोपनिषदि प्रशंसा। ४. सर्वद्वन्द्वक्षयावहा सद्वाणी—आदेशः।

परमाद्वैतस्य भाव एव—आत्मा

अस्ति कश्चित् परमाद्वैतस्य भावः । स एवात्मा मन्तव्यः (१२ पृ०)

परमात्मा

अथ परमात्मा नाम यथाक्षरमुपासनीयः । न जायते, म्रियते,··· निष्कलो निर-ञ्जनो निरभिमान ······निराकाङ्क्ष ··· । निष्क्रियस्तस्य संस्कारो नास्ति ।

नादब्रह्म

नाथसंप्रदाये यद्यपि वेदाना सर्वेषा च शास्त्राणामुपेक्षापरकाण्येव वचनानि (पृ० ४, ६, १०, ११, १२–१३, १८, १६, २०, २३, २४), तथापि 'प्रणववेद इत्यभ्युपगम्य तद्द्वारा तत्प्रवर्तकनादब्रह्मेत्यवलम्ब्य नादब्रह्मणो यन्मूलं तत् तत्त्वमिति विश्रान्तिमता मने का वा श्रुति साधिका न भवतीति प्रसिद्धतरमेत्र सर्वत्र' इत्यादिना नादब्रह्ममहिमाऽङ्गीकृतः ।

योगिनां परमः पुरुषार्थः—मुक्तिः

परमपुरुषार्थस्तु मुक्तिरभ्युपेया । सा चादिदेवपदेन नाथस्वरूपेणावस्थानम् । तत्स्वरूपं तु गोरक्षोपनिषदि—'अद्वैतोपरि सदानन्ददेवता' इति बोध्यम् । आत्मनो बन्धोऽभिमानो ज्ञेयः । तन्निवृत्तिस्तु मोक्षः । सर्वसंकल्पनातीतत्वेन पर ब्रह्म भवति । द्वैताद्वैतविवर्जितं पदं निश्चलं दृश्यते, तदेव सत्यमित्यभ्युपगन्तव्यम् ।

सत्यां शास्त्रनिन्दायां कथमिह शास्त्रप्रमाणानि

ग्रन्थकारो ग्रन्थेऽस्मिन् पदे पदे वेदशास्त्रादिप्रमाणान्युपस्थापयन्नपि वेदशास्त्राणि निन्दत्येव । स तत्कारणमित्थं प्रकटयति—'एतद्ग्रन्थे बहुशास्त्राणा प्रामाण्यं दीयते । तत् त्वस्मदीयार्थं वा एतन्मार्गस्य शिष्याणा श्रद्धार्थं दीयत इति नास्ति । अस्मिन्नर्थे तु योगशास्त्रस्यैव प्रामाण्यमेतच्छास्त्रज्ञानेन पूर्णम्, परन्तु वादिना हिताय भोः ग्रन्थान्तरेऽपि भवदीयनानामतान्तरेऽपि चायमेव मार्गः श्रेष्ठः सर्वस्य लक्ष्यभूतोऽवधूत एवेति हेतुर्न तु सिद्धान्तार्थः । अस्माकं त्वन्यप्रमाण उपेक्षेति ज्ञेयम्' इति (४९ पृ०) ।

इतोऽग्रे ग्रन्थकारो वेदादिवचनप्रामाण्यमनुद्धृत्यैव गद्येन गोरक्षसिद्धान्तान् निरूपयति ।

ग्रन्थस्य भाषा

ग्रन्थस्यास्य संस्कृतभाषा श्लथा विद्यते । भर्तृहरिनाम्ना प्रमाणरूपेण स्मृता केचन श्लोका न तदीयेषु ग्रन्थेषु लभ्यन्त इति ग्रन्थकारोऽधिका सामग्री कर्णपरम्परयाऽवगता-मुपस्थापति । 'सहस्राणामपि पुरुषाणा कष्ट भवेत्' (१२ पृ०), 'शक्तेर्वृत्तान्तं दृष्टम्' (१३ पृ०), 'नान्यदस्ति किञ्चिदसारम्' १६ पृ०), 'तत् तु अस्मदीयार्थं वा' (४९ पृ०) इत्यादिषु भाषादोषा दृश्यन्ते ।

प्रस्तुतं संस्करणम्

प्रसिद्धस्य सिद्धस्य श्रीगोरक्षनाथस्य सिद्धान्तानामेकत्र सग्रहो जिज्ञासूनां महते कल्याणाय जायेतेति धिया सिद्धसप्रदायानुयायिना केनचित् सस्कृतज्ञेन 'गोरक्षसिद्धान्त-सग्रहः' गद्येन प्रणीत । स पञ्चत्रिंशत्युत्तरैकोनविंशतितमे ख्रीस्ताब्दे सरस्वतीभवनग्रन्थ-मालाया अष्टादशपुष्परूपेण प्रख्यातवैदुष्यैर्महामहोपाध्यायैर्गोपीनाथकविराजमहोदयैर्ग्रन्थगुण-गरिम्णा यथोपलब्धोऽपूर्ण एव सपादितो विदुषा पुरस्तादुपस्थापनाय । स चेदानी मुद्रणातीतो नोपलभ्यते जिज्ञासुभिरिति सरस्वतीभवनपण्डितप्रवरेण श्रीजनार्दनपाण्डेयेन संपादितपूर्व-सस्करणतो मनागधिकमश गवेषयित्वा तत्रागतवचनोद्धरणादिसंकेतान् परिश्रमेण योजयित्वा सूच्यादिभिश्च भूषयित्वा द्वितीयं सस्करणमिद सपाद्यमान विदुषा मोदकरं स्यादिति मन्यते ।

माघपूर्णिमायां
२०२९
(१७-२-७३)

भागीरथप्रसादत्रिपाठी 'वागीश: शास्त्री'
संचालकः
अनुसन्धानसंस्थानस्य

किञ्चिन्निवेदनम्

अथैतस्य गोरक्षसिद्धान्तसङ्ग्रहस्य द्वितीयं संस्करणमुपस्थापयतो मे भृशं मोमुदीति चेतः। मन्ये ग्रन्थस्यास्य नाम "नाथसिद्धान्तसंग्रहः" इति क्रियेत चेत् समीचीनं स्यात्। यतो ह्यत्र प्रतिपादिता सिद्धान्ता गोरक्षनाथतः पूर्वस्मिन्नपि सिद्धमते प्रचलिता आसन्। गोरक्षनाथोऽस्य सम्प्रदायस्य कश्चिन्महापुरुषोऽभवत्, न तु प्रवर्तकः, अस्य प्रवर्तकस्तु भगवान् आदिनाथः साक्षाच्छिव एव।

यद्यपि घटेसमुद्रन्यायेन लघुकलेवरेऽप्यस्मिन् ग्रन्थे ग्रन्थकृता बहु विवेचितम्, तथापि भारतीयविचारसरणिं तिरस्कृत्य पाश्चात्यपद्धतिप्रभावपिहितचक्षुषामाधुनिकविदुषामेतद्-विषयकविवेचनेषु बहुत्र विप्रतिपत्तिं दृष्टवता मयाऽपि कश्चित् स्वकीयोऽभिप्रायोऽत्रोपस्था-प्यते। तत्र तथ्यातथ्यनिर्णयस्तु नीरक्षीरविवेचकानां विद्वद्राजहंसानां वशवर्तीति मन्ये।

नाथशब्दस्य निरुक्तिः

याच्ञोपतापैश्वर्यात्मकेऽर्थत्रये नाथति इति, आशीरर्थे च नाथते इति विग्रहेण नाथृ धातोर्नाथशब्दो निष्पद्यते। तत्र प्रथमोऽर्थो नाथस्य याचक इति। परस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकं स्वस्वत्वोत्पत्त्यनुकूलो व्यापारो याचनार्थः, एवं च महेश्वरस्यापि सतो भक्तानुग्रहार्थं स्वशक्ति-बलेन विविधविग्रहवतो भक्तभवनेषु भिक्षुकपरिपाटीमूरीकृत्य पर्यटतोऽस्य स्फुटमेव याचकत्वम्। यद्वा स्वीकारानुकूलो व्यापारो याचना। यथा— अविनीतं विनयं याचते" इति। एवं स्वशिष्यात् योगविज्ञानादिविविधोपायसाद्गुण्यादेशं स्वीकारयतीति स्फुटं तस्य नाथत्वम्। द्वितीयोऽर्थ उपतापक इति। अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः शुक्लमशुक्लं शुक्लाशुक्लं चेति त्रिविधं कर्म, एतद्विपाकश्च जात्यायुर्भोगरूपः, तत्तद्दुःखसुखाद्यनुभवजन्यो वासनाराशिः, एते च संसारबन्धास्तेषामयमुपतापकः स्वेन संबन्धविच्छेदको नाथः। तृतीयो-ऽर्थं ईश्वर इति। अणिमाद्यष्टविधैश्वर्यसम्पन्नो नाथ इति। चतुर्थश्चार्थं आशीर्वादक इति। आदेश इति प्रार्थयमानान् श्रद्धालुजनान् स्वकीयेनाशीर्वचसा स्वस्वाभीष्टप्रदानेन च सन्तोष-यतीति नाथः।

नाथमतस्य प्रत्नत्वम्

इदं च मतं कियतः कालात् प्रचलतीति प्रश्नस्य विशुद्धभारतीयपद्धत्या यद्युत्तरं दीयेत तर्हीदमेवायाति यदनादिकालादेवेदं मतं भारते प्रवर्तते। यतो ह्यस्य प्रवर्तक आदिनाथः शिवः स्वयमनादिरनन्तश्च। अथ चास्माकं सार्वभौमानामुपास्यदेवानां जगन्नाथ-बदरीनाथ

केदारनाथ-विश्वनाथ-सोमनाथादिनाथान्ताभिधानमेतस्य साक्षि यदस्य नाथसम्प्रदायस्यास्माकं संस्कृत्या जीवनेन च सहात्यन्त घनिष्ठः सम्बन्धोऽतिपुरातनकालात् प्रवर्तते। मत्स्येन्द्रनाथ-गोरक्षनाथादि-सिद्धमहापुरुषाणामवतरण तु काले-काले साधनापरिपाट्या युगानुरूपं नूतन-दिशो दर्शनाय भवति, तेभ्यः प्रागपीद सिद्धमतमत्र प्रवृत्तमासीदित्यत्र नास्ति सदेहलेशोऽपि।

विद्वासः प्रतापिनो वा पुरुषा जगति सर्वेषु देशेषु बभूवु सन्ति भविष्यन्ति च, किन्तु भारतस्यैवेद गौरव यदिदं सिद्धानामपि जन्मभूः, न त्वन्य. कश्चिद् देशोऽनेन गौरवेणा-लङ्क्रियते। इदमेव कारण यद् भारतवर्षे सिद्धेभ्यो यादृशं महत्त्व दीयते तादृशं नान्यस्मै कस्मैचिदपि। सकलशास्त्रपारङ्गत कश्चिद्वयसा वृद्धोऽपि विद्वान् कस्यचिदल्पवयस्कस्याक्षर-ज्ञानशून्यस्य सिद्धपुरुषस्य चरणयोर्दण्डवत्पतित्वा प्रणमति। विद्वत्त्व सिद्धिश्च द्वे पृथग् वस्तुनी विद्येते। स्वकीयपरिश्रमानुरूप कोऽपि जनो विद्वान् भवितु शक्नोति किन्तु सिद्धो न सर्वो भवति, "अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परा गतिम्" इति गीतावाक्यस्येदमेव तात्पर्य यदनेकजन्मना साधनाया. फलस्वरूपमेव जनः सिद्धो भवति, सिद्ध सन् परा गतिं (मोक्ष-मिति यत्त्वत्) लभते। सिद्धस्य कृते नेदमावश्यक यत् स ग्रन्थवित् शास्त्रज्ञो वा भवतु, यतो हि स्वीयोत्कृष्टसाधनावशात् स तामवस्था प्राप्नोति यल्लोकेभ्यस्तस्य प्रत्येकं वचनमेव शास्त्रं प्रत्येकमाचरण च सदाचारो भवति। यदि च सिद्धो भूत्वा शास्त्रज्ञोऽपि भवेच्चेत् स्वर्णे सुगन्धः स्यात्। प्राक्तनाना वशिष्ठव्यासादीना का कथाधुनिकेऽपि भारतीयेतिहासे गुरुनानक-कबीरदासादयोऽनेके महापुरुषा अभवन् ये शास्त्राणा पण्डिता नासन् किन्तु तेषा सिद्धत्वे तु न कस्यचिद् विवादः। तैर्यदुक्त तदेव लोकेभ्य. शास्त्र सजात यच्चाचरितं तदेव सदाचारः संजात। एवमेव महावीर-शङ्कराचार्य-गोरक्षनाथादयो महापुरुषा सिद्धा अप्यासन् विद्वासश्चेति तेषा चरितैस्तत्प्रणीतशास्त्रैश्च स्फुटमवलोकयितु शक्यते।

नव नाथाः

भारतीयसाधनापद्धतौ गुरोः सर्वाधिकं महत्त्वमिति न तिरोहित कस्यापि। अत्रापि गोरक्षसिद्धान्तसङ्ग्रहे प्रारम्भ एव गुरोर्महिमा प्रदर्शित। तमेव गुरु साधको नवात्मतया कल्प-येदिति स्पष्टो निर्देश, यथा गोरक्षसहितायां चतुर्विंशे पटले।

गुरुं नवात्मकं भद्रे नवभावैर्विभावयेत्। (गो० स० २४।१३)

तथा च—

भृगु–लाकुल–संवर्त–महाकाल–पिनाकिनः।
खड्गीश च भुजङ्गाख्यं बालीशमर्घिणा युतम्॥
अर्धेन्दुबिन्दुसंयुक्तं कलया चोर्ध्वदीपितम्।
एतन्नवात्मकं देवि गुरु·····················॥

(गो० सं० २४।१७-१८)

एतत्प्रतीकरूपा एव नव नाथा इति सिद्धसम्प्रदाये प्रसिद्धिः। सामान्योऽपि भारतीयः चतुरशीति सिद्धाः, द्विपञ्चाशद्वीरा., चतुःषष्टिर्योगिन्यः, नव नाथा इति रूढ्या परम्परा-

प्रचलितया परिचितो भवति । तत्र के ते नव नाथा इत्यत्र ग्रन्थकृता परस्पर नैकमत्य दृश्यते । महार्णवतन्त्रे नवनाथाना पृथक् दिक्षु न्यासविधानं कृतं तदनुसारं च नव नाथा इमे—

१. गोरक्षनाथ २. जालन्धरनाथ., ३. नागार्जुन, ४. सहस्रार्जुन, ५. दत्तात्रेयः, ६. देवदत्तः, ७. जड़भरतः, ८. आदिनाथः, ९. मत्स्येन्द्रनाथश्च ।

योगिसम्प्रदायाविष्कृतिग्रन्थे नवनारायणा एव नवनाथरूपेणावतीर्णाः, येन च नारायणेन यो नाथावतारो धृतः स इत्थम्—

१.	कविनारायणः	—	मत्स्येन्द्रनाथः
२.	करभाजननारायणः	—	गहिनीनाथ·
३.	अन्तरिक्षनारायण	—	ज्वालेन्द्र(जालन्धर)नाथ
४.	प्रबुद्धनारायण	—	करणिपानाथ
५.	आविर्होत्रनारायणः	—	नागनाथः
६.	पिप्पलायननारायण	—	चर्पटनाथ
७.	चमसनारायणः	—	रेवानाथ.
८.	हरिनारायण	—	भर्तृनाथ
९.	द्रुमिलनारायणः	—	गोपीचन्द्रनाथ इति ।

सुधाकरचन्द्रिकाया निर्दिष्टा नामावलिस्त्वित्थम्—

१. एकनाथः, २. आदिनाथः, ३. मत्स्येन्द्रनाथ., ४. उदयनाथ., ५. दण्डनाथ, ६. सत्यनाथ, ७. सन्तोषनाथ, ८. कूर्मनाथः, ९. जालन्धरनाथः ।

उपर्युक्तोभयोरपि ग्रन्थयोर्गोरक्षनाथस्य नाम न विद्यते, योगिसम्प्रदायाविष्कृतौ तु नवनाथोत्पत्त्यनन्तर महादेवेन गोरक्षनाथ उत्पादित इति स्पष्टमेवोक्तम् । प्रकृतग्रन्थे (गोरक्षसिद्धान्तसग्रहे) तु नामावलिरित्थम्—

१. आदिनाथ·, २. मत्स्येन्द्रनाथः, ३. उदयनाथः, ४. दण्डनाथ, ५. सत्यनाथ., ६. सन्तोषनाथ, ७. कूर्मनाथ·, ८. भवनार्जि, ९. गोरक्षनाथ. ।

परन्तु नाथपरम्परानुयायिनो नवनाथरूपेषु यासां मूलदेवताना ध्यानं कुर्वन्ति ता इत्थम्—

१.	आदिनाथ.	—	महादेवः
२.	उदयनाथः	—	पार्वती
३.	सत्यनाथ	—	ब्रह्मा
४.	सन्तोषनाथ.	—	विष्णुः
५.	अचलनाथः	—	पतञ्जलिः
६.	कन्थड़िनाथः	—	गणेशः
७.	चौरङ्गिनाथ·	—	चन्द्र (पूर्णकलः)
८.	मत्स्येन्द्रनाथः	—	मत्स्यावतारः
९.	गोरक्षनाथः	—	सदाशिवः

[महादेवः—शिव सदाशिवश्च पृथक् तत्त्वद्वयमिति संप्रदायसिद्धम् ।]

स्थितिकालविषये किञ्चित्

पाश्चात्त्यशिक्षाप्रभावितेषु आधुनिकभारतीयग्रन्थकर्तृष्वपि नूतनोऽयं व्याधि. संक्रान्तो यत् कस्यापि पूर्ववर्तिन कवेर्महापुरुषस्य वा चर्चायां "स कदा प्रादुरभवत् कदा च तिरोभूत" इति विचारणायामेव तेषा ज्ञानस्याधिकोऽश व्यतीयते, तत्र च यानि प्रमाणानि दीयन्ते तानि केवलं कल्पनामाधृत्यैव । आङ्ग्लशासनस्यायं दुष्प्रभावोऽस्मद् देशे । यतो हि तेषामाङ्ग्लाना केवल द्विसहस्रवर्षात्मकः खीष्टानन्तरवर्ती इतिहासो वर्तते । फलत अनयैव स्वीयया तुलया ते समग्रस्य विश्वस्य सभ्यतां संस्कृतिञ्च तोलयितुं वाञ्छन्ति । अस्माकं भारतस्य तु स्थितिरतो नितरा भिन्नैव । सृष्टेरादिकालादारभ्याद्यावधिकोऽस्माक प्रामाणिक· स्वीयेतिहासः स्वीया च संस्कृतिः । भारतीयैर्विद्वद्भिः कालाय किमपि महत्त्व न दीयते । एते जीवनस्योपयोगिता स्वीकुर्वन्ति न तु जीवन्याः । बहवो महर्षयो महापुरुषा कवय. शास्त्रप्रणेतारश्चाभवन्, ते वाञ्छेयुश्चेत् स्वप्रणीतग्रन्थेषु स्वकीयं परिचय स्थितिकाल वाऽनायासेन दद्यु, किन्तु तैर्न स्वीकृतं तस्य किमप्युपयोगित्वम्, तेषा मतेन महत्त्वमासीद् ग्रन्थेषु प्रतिपादिताना सिद्धान्तानाम् । केवल तत्रैव तै स्वविद्वत्त्व प्रकटितम् ।

अस्तु, नाथपरम्पराया प्रादुर्भूताः सिद्धा अपि नैतदपवादभूता, पाश्चात्त्यैराधुनिकभारतीयैश्च विद्वद्भिर्मत्स्येन्द्रनाथगोरक्षनाथादीनां स्थितिकाल खीष्टाष्टमशतकाद् द्वादशशतक यावद् मध्यवर्तीतैर्मन्यते, वैयक्तिकरूपेण मम तु मतमस्मान्नितरा भिन्नमेव। मन्ये नैतेषा कोऽपि कालः स्थिरीकर्तुं शक्यते, अत्र च हेतु·—

एकत्र तु वयं भारतीयशास्त्राणां प्रामाण्यमुद्घोषयामोऽपरत्र तेषु यल्लिखितं तत्र न विश्वसिम । यथाऽमुकस्य रसस्य रसायनस्य वा सेवनेन अथवा योगसाधनायास्तन्त्रसाधनाया वाऽमुकप्रक्रियया मानवः शतायुः सहस्रायुरजरोऽमरो वा भवतीत्यादि । अतीव हास्यास्पदेयं स्थितिरस्माक यदि वयं स्वीकुर्महे यन्नाथमार्गीयसिद्धान्ते जीवन्मुक्तिरेव कैवल्यं न तु विदेहमुक्ति, मन्यामहे च षडङ्गयोगेन सह नेति-धौतीत्यादिषट्कर्मद्वारा कायशोधन कृत्वा रसादि-पारदादिप्रक्रियाभिश्चैते देहं तामवस्था प्रापयन्ति यत् स जरा व्याधि मृत्यु वा जयेत्, तदा एतत्स्वीकरणे काऽस्माकं विप्रतिपत्तिर्यद् गोरक्षनाथादयो महासिद्धाः शत-सहस्रायुषोऽमरा वा भवितुं शक्नुवन्ति, इति ।

एतत्तु समीचीन यत्, नाथमार्गस्थाः सर्वे सिद्धास्तामवस्था न प्राप्नुवते किन्तु विशिष्टसाधनापराणा महापुरुषाणां विषये तु वक्तु शक्यत एव ।

अत्रेदमपि विशेषेण विचारणीय भवति यद् गोरक्षनाथो मत्स्येन्द्रनाथो जालन्धरोऽन्यो वा सिद्धो दिवसैकस्य कृतेऽपि क्वापि प्रकटित कुत्रापि विहृतवांश्चेत्तत्र तस्य किमपि स्मारकं चिह्नमवश्यं वर्तते । स्वजीवनकाले ये सिद्धा इयती प्रसिद्धिमुपगता, यत् समग्रेऽपि भारते शत-

शस्तेषा साधनास्थलानि, विहारभूमयः, चमत्कारक्षितयश्च दृश्यन्ते किन्तु तैः कुत्रापि जीवनस्येहलीला समापितेति सूचकं समाधिस्थलं न क्वचिद् दृश्यते न च श्रूयते । यै समग्रमपि भारतं परिक्रान्तं कोटिशो येषामनुयायिन आसन् ते तूष्णीं क्वचिद्देहं जहुरिति प्रत्याययितुं नास्मच्चेनः प्रभवति । अतो बलाद्बाध्या वयमेतद्विश्वसितुं यत् ते जितमृत्यवः कस्मिन्नपि काले कस्मिन्नपि देशे केनापि रूपेण प्रकटितुं समर्था भवन्तीति नात्र सन्देहः कर्तव्यो न चाश्चर्यमिति ।

तन्त्रशास्त्रेण सम्बन्धः

इदानीन्तनैर्ग्रन्थकृद्भिः कैश्चिन्नाथसिद्धेषु शैवतन्त्राणामपरैश्च शाक्ततन्त्राणामन्यैश्च बौद्धतान्त्रिकाणा प्रभावोऽस्तीति प्रकटितम्, किन्तु कल्पनैव तेषामेषा । नाथमार्गीयाः सिद्धास्तन्त्रस्याप्युपासका अभवन् इति तु तथ्यम् । अनयोर्मार्गयोः कस्तावत्सम्बन्ध इति विचारणायां गोरक्षसिद्धान्तसंग्रहकृता दत्तमुत्तरम् (द्रष्टव्यं १४ पृष्ठे) तस्यायमभिप्रायो यत् 'नाथमार्गो यद्यपि विशुद्धयोगसाधनापरस्तथापि कौलकापालिकादयोऽपि मार्गा नाथेनैव प्रकटिता" इति । अयमत्राशयः—अन्तरङ्गसाधनापरो योगमार्गः, बहिरङ्गसाधनापरश्च तन्त्रमार्गः । बहिरङ्गसाधना विना नान्तरङ्गसाधना सिद्ध्यति । अत केनापि साधकेन प्रथम बहिरङ्गसाधनायाः कोऽपि प्रकारोऽवश्य स्वीकर्तव्य इति कृत्वा भगवता आदिनाथेन शैवाना शाक्ताना च तन्त्राणा प्रवर्तनं विहितम् । एषु साधक स्वयोग्यतानुरूप शक्त्यनुरूपं प्रवृत्त्यनुरूप वा कमपि मार्गमुपचिनोति, तेन च मार्गेण बहिरङ्गसाधना समापयन् सोऽन्तरङ्गसाधनाभिमुखो भवति । नास्ति किमपि बन्धनं तस्मै यत् सोऽमुकसाधनामेवाङ्गीकुर्यादिति । मत्स्येन्द्रनाथो योगिनीकौलाख्यस्य सम्प्रदायस्य प्रवर्तक एवासीदिति प्रसिद्धिः, किन्तु भगवता गोरक्षनाथेन गोरक्षसंहिताया प्रतिपादितः सिद्धान्तस्तस्माद् भिन्न एवास्ति । एव जालन्धरनाथादीनामन्येषामपि पन्थान. सन्ति, परन्तूद्देश्यं सर्वेषामेकमेव, बहिरङ्गसाधना कुर्वन्तस्ते तां स्थितिं प्राप्नुवन्ति यदन्तरङ्गसाधनायामनायासेन प्रवृत्ता भवेयुः । एतत्तु साधकस्य योग्यता साधनां चापेक्षते यत् स कियता श्रमेण कालेन वा तामवस्था प्राप्नोतु । उच्चैःकोटिकाः साधका एव बहिरङ्गसाधनां निस्तीर्य योगभूमिं प्राप्नुवन्ति, न्यूनकोटिकास्तु कौला कापालिका अन्ये वा भूत्वैव तिष्ठन्ति ।

दार्शनिकं स्वरूपम्

अयं च नाथमार्गो विशुद्धयोगसाधनापर इति निर्विवादम, पाशुपतैः सहास्य न कोऽपि सम्बन्धः प्रतीयते किन्तु रसेश्वरैः सह वर्तते इति बहूना नाथसिद्धानां रसविषयकैरतीवमान्यतांगतैः प्रसिद्धग्रन्थैः प्रतीयते । यथा सिद्धनागार्जुनस्य "नागार्जुनतन्त्रम्", नित्यनाथस्य "रसरत्नाकर.", चालिनाथस्य "रसमञ्जरी", मन्थानभैरवस्य "रसरत्नम्", स्वयं गोरक्षनाथस्य "गोरक्षसंहिताया भूतिप्रकरणम्", अन्ये च भूयासो ग्रन्था दृश्यन्ते, चर्पटनाथस्य रससिद्धत्वं विश्रुतमेव । एतन्मार्गीया सिद्धाः आगमनिर्दिष्टामेव योगसाधनां विदधति, योगसाधनैवास्य

मतस्यादिर्मध्योऽन्तश्च । इयं चैतेषा साधना पातञ्जलयोगस्यैव विकसितं रूपमुच्येत चेन्मन्ये न कापि विप्रतिपत्तिः। अस्मिंश्च पथि ऊर्ध्वरेतस्त्वं सर्वातिशायि।

वामश्च मार्ग ईश्वरं वदति, अतस्तत्रेश्वरः सदिति मन्यते, बौद्धाश्चानीश्वरवादिनोऽतस्तत्रेश्वरः शून्यमसद्वा, किन्तु नाथास्तं सदसद्भ्यां व्यतिरिक्तं मन्यन्ते। उपनिषदां "नासदासीन्नो सदासीत्" इति सिद्धान्तः पूर्णतया तैरङ्गीकृतः। गोरक्षनाथस्योक्तिः श्रूयते—

बस्ती न शुन्यं शुन्यं न बस्ती अगम अगोचर ऐसा।
गगनशिखर महं बालक बोलैहुं ता का नाम धरहुगे कैसा॥ गोरख-शबद॥

एभिर्मन्यते परमात्मा केवलोऽस्ति (न सत् न चासत्)। अनेन परमात्मना जीवस्य य कोऽपि सम्बन्धो भवेत्, तस्य तेन सम्मिलनमेव योग कैवल्यं मोक्षो वा। अस्य च कैवल्यस्य अस्मिन्नेव जन्मनि अनेनैव देहेनानुभूतिर्भवेदित्येतेषा चरमं लक्ष्यभूतम्। अस्य लक्ष्यस्य प्राप्त्यै कायसाधनं प्रथम सोपानम्। एते सिद्धा कायं शत्रुवन्न क्लेशयन्ति, न च विषयेष्वासक्ताः सन्तस्तमखलीनं मुञ्चन्ति, प्रत्युत देहं परमात्मन आवासं मत्वा तदनुरूपा साधनां कुर्वन्ति, अनेनैव देहेन कैवल्यमनुभवन्ति, जन्ममरणजीवनान्यधिकुर्वन्ति, जराव्याधिकालादीन् निर्जित्य तिष्ठन्ति, कायशोधनरूपस्योद्देश्यस्य पूर्त्तये योगाङ्गैर्यमनियमादिभिः सहैते षट्कर्माणि (नेति-धौति-वस्ति-नौलि-कपालभाति-त्राटकाख्यानि) अपि कुर्वन्ति। विशुद्धहठयोगस्य राजयोगस्य च क्रियाकलापमस्मिन् मार्गेऽनुशिष्ट वर्त्तते।

योगसाधनाया प्रतीकरूपेणैवैते मुद्रा विभूति नादमादेश च बाह्यस्वरूपेऽपि धारयन्ति। गुरोरेवात्र सर्वाधिक महत्त्व वर्तते। नाथस्वरूपेणावस्थानमेव मुक्तिः।

एवमस्य नाथमतस्य बाह्यमाभ्यन्तर च स्वरूपं बहुधा महत्त्वपूर्णं विवेचनार्हं च किन्तु विस्तरभयान्नात्राधिकं विविच्यते, अत परं नाथसाहित्ये केषाञ्चिद् ग्रन्थाना नामान्युट्टङ्कितानि तेभ्यः पूर्णतयाऽस्य स्वरूपावगतिर्जिज्ञासुभिः कर्त्तव्येति निवेद्यते।

नाथसाहित्यम

यद्यपि भारतीयवाङ्मयस्य विपुलोंऽशो नाथसाहित्येऽन्तर्भवति, यतो हि पातञ्जलं योगदर्शनमस्याधारभूतमेव, हठयोगस्य प्रक्रिया अप्यङ्गभूता., रसशास्त्रेण प्रत्यक्ष एव सम्बन्ध, कुलागमादिकमप्यनेन सपृक्तमिति कृत्वा सर्वमेतद्विषयकं साहित्यं नाथसाहित्यमेवेति वक्तु शक्यते तथापि प्राचीना अर्वाचीनाश्च केचन ग्रन्था. सन्ति येषामध्ययनेनास्य मतस्याध्यात्मिकी व्यावहारिकी साम्प्रदायिकी, ऐतिहासिकी च स्थितिर्ज्ञातु शक्यते, तेषु केषाचिन्नामावलिरत्र दीयते—

अमनस्कयोग.
अमरौघशासनम्
अवधूतगीता
आदिनाथसंहिता

कौलज्ञाननिर्णयः
कौलावलीतन्त्रम्
कौलावलीनिर्णयः
कौलोपनिषत्

क्षुरिकोपनिषत्
खेचरीसंहिता
गरीबनाथसंहिता
गोरक्षकल्पम्
गोरक्षकवचम्
गोरक्षकौमुदी
गोरक्षगीता
गोरक्षनाथस्तोत्रम्
गोरक्षपद्धति·
गोरक्षमञ्जरी
गोरक्षशतकम्
गोरक्षसंहिता *
गोरक्षसिद्धान्तसंग्रहः
गोरक्षोपनिषत्
गोरखबानी (- सबद)
घेरण्डसंहिता
चतुरशीतिसिद्धानामितिहासः (मार्नसिंहकृतः)
जालन्धरसंहिता
धोरंगनाथकथा
नवनाथकथा
नाथचरितम्
नाथतीर्थावलिः
नाथपुराणम्
नाथसूत्रम्
निरञ्जनपुराणम्
पृथ्वीनाथसंहिता
बाधूलनाथसूत्रम्
भर्तृहरिसंहिता
मत्स्येन्द्रसंहिता
महार्थमञ्जरी
महेशसंहिता
मेघमाला
योगबीजम्
योगमञ्जरी
योगशास्त्रम्
योगिनरहरिनाथप्रभृतिभिः संपादिता योगप्रचारिणी सभा काशीतः प्रकाशिताः प्रायः पञ्चाशद् ग्रन्था
योगिवंशावली
योगिसम्प्रदायाविष्कृति.
वर्णरत्नाकरः
विवेकमार्तण्ड
शिवसंहिता
सिद्धकोशः
सिद्धसिद्धान्तपद्धतिः—गोरक्षनाथकृता
सिद्धसिद्धान्तपद्धतिः—नित्यनाथकृता
सिद्धसिद्धान्तसंग्रहः
सुधाकरचन्द्रिका
हठयोगप्रदीपिका
हठयोगरत्नावली
हठसंकेतः—गोरक्षनाथकृतः

---

* अस्य ग्रन्थस्य पुष्पिका (COLOPHON) एवं वर्तते—

"इति श्रीमहामन्थानविनिर्गते सप्तकोट्यर्बुदे स्वच्छन्दशक्त्यावतारिते गोरक्षसंहितायां शतसाहस्रखण्डान्तर्गते श्रीमतोत्तरखण्डे कादिभेदे कुलकौलिनीमते नवकोट्यवतारभेदे श्रीकण्ठनाथावतारे विद्यापीठे योगिनीगुह्ये .... नाम .... पटलः।"

एतेन प्रतीयते कियद्वैशद्यमस्य ग्रन्थस्य भवेत् कियांश्च विषयोऽत्र प्रतिपादितः स्यादिति। एतदन्तर्गतस्य कादिप्रकरणस्य कश्चित्खण्डितोऽशो मयाधिगत आसीत् कश्चिच्च त्रुटितोऽशः सरस्वतीभवनग्रन्थालये विद्यते, उभयोर्मिलित्वापि ग्रन्थस्तु पूर्णो नाभवत्, किन्तु प्रायः षट्सहस्रमिताः श्लोका उपलब्धाः, अतीव दुर्लभस्यास्य तादृशस्यैव प्रकाशनं कल्याणाय

इदानीन्तनैरपि लेखकैरत्रविषये बहुविवेचितम्, तत्र विशेषेण द्रष्टव्यम्—

नाथ सम्प्रदाय	—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
नाथसिद्धों की बानियाँ	—,, ,,
नाथसप्रदायेर इतिहास, दर्शन ओ साधना	—डा० कल्याणी मलिक
सिद्धसिद्धान्तपद्धति एण्ड अदर वर्क्स आफ नाथयोगीज	—डा० कल्याणी मलिक
कौलज्ञाननिर्णय भूमिका	—डा० प्रबोधचन्द्र बागची
नाथ और सन्तसाहित्य का तुलनात्मक अध्ययन	—डा० नगेन्द्रनाथ उपाध्याय
गोरखनाथ और उनका युग	—डा० रांगेयराघव
गोरखबानी	—डा० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल
नाथयोग	—प्रो० अक्षयकुमार बनर्जी
गोरखनाथ एण्ड कनफटा योगीज	—डा० ब्रिग्स

एतदतिरिक्त म० म० डा० गोपीनाथ कविराज महोदयै, योगिराज श्रीनरहरिनाथ-राहुल साकृत्यायन-शिवकुमार 'मानव' प्रभृतिभि· भूयसा ग्रन्थाना भूमिकासु, लेखरूपेण विविधपत्रिकासु च पर्याप्त साहित्यं प्रकाशित विद्यते।

गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह:, प्रस्तुतसंस्करणञ्च

लघुकलेवरोऽप्यय ग्रन्थः स्वस्मिन् जनाना कियदुपकरोतीति तु स्वसवेद्यमेव वर्तते। भगवता गोरक्षनाथेनान्यैर्वा सिद्धैर्महापुरुषैर्विद्वद्भिश्च प्रणीता यावन्तो ग्रन्था दृश्यन्ते ते सर्वे प्राय· साधनोपयोगिविधिपरा एव। यतोहि व्यावहारिकतत्थ्यानामपि तेषु तदुपयोगार्हाणा मेव सकलन वर्वर्ति, नाथमार्गीयदार्शनिकविचाराणा लौकिके सामाजिके वा जीवने कियानु-पयोगो भवितु शक्नोतीतिप्रतिपादकास्तु ग्रन्था प्रायोऽङ्गुलिगणनीया एव। एतद्दृष्ट्याऽस्य महनीयं महत्त्वं वर्तते। अत्र प्रतिपादिता विषयास्तु विषयसूचीतोऽवगन्तव्या', विशेषेण गुरोर्महत्त्वम्, नाथलक्षणम्, मुक्तेर्नाथस्वरूपेणावस्थितिः, योगप्रशंसा, योगिना चिह्नानि तेषा-माध्यात्मिक रहस्यम्, वेदाना तन्मूलकशास्त्राणा च प्रवृत्तिनिमित्तत्वम्, ज्ञानोपासनयोर्योग-साधनत्वनिरास', द्वैताद्वैतयोर्व्यर्थता, अद्वैतपराजयः, नाथस्य तन्त्रप्रवर्तकत्वम्, ज्ञानिनो मरणोत्तरगतिः सर्वदर्शनाना स्वरूपदर्शने समन्वयः, मुद्राणामवस्थाना च भेदा·, नाथ-सिद्धान्तस्य स्वरूप तन्महत्त्वञ्च, नाथपरम्परा, नाथाम्नायवर्णनम् शिष्यस्य १२ गुरोश्च

संस्कृतविश्वविद्यालयीयप्रकाशनविभागतः क्रियते। सम्प्रति भूतिप्रकरणमप्युपलब्धम्, [योगप्रकरणं च १८६९ खीष्टे श्रीप्रसन्नकुमारवन्द्योपाध्यायेन वंगानुवादेन सह प्रकाशितमासीत्, तदपीदानीं दुर्लभमेव] अतः अस्य प्रकरणद्वयस्य मुद्रणं चात्र समाप्तप्रायमेवाचिरात् पाठकानां दृष्टिपथमुपयास्यतीति निवेद्यते।

३६ लक्षणानि, सिद्धानामाचारविधि, देवाना भगवत्तानिरासो नाथस्य सर्वोपरिवर्तित्वम्, योगस्यात्मधर्मत्वनिरूपणं चेति विशेषेण द्रष्टव्या वर्तन्ते। एतत्प्रसङ्गेनावान्तरविषयाणामपि प्रचुरतयात्र संनिवेशोऽस्ति।

अस्य च ग्रन्थस्य प्रणेता नाम्ना अज्ञातोऽपि नातिप्राचीन इति तदीयोद्धृतप्रमाण-ग्रन्थसूचीतः प्रतीयते। किन्तु विपश्चिद्वरेणानेन यया रीत्या स्वकीयो विषय· प्रतिपादित यावन्ति च प्रमाणानि स्वमतपोषकाणि ग्रन्थान्तरेभ्य उद्धृतानि तैरस्य बहुश्रुतत्वं प्रौढ पाण्डित्यं च स्फुटं परिलक्ष्यते।

अस्य ग्रन्थस्यैकामपूर्णां मातृकामुपलभ्यातीवमहत्त्वपूर्णेति मत्वा श्रद्धेय म०, म० गोपीनाथकविराजमहाभागैः सम्पाद्य सरस्वतीभवनग्रन्थमालाया प्रकाशितमेकं सस्करणम्, तदपि बहुवर्षेभ्यो दुष्प्रापमेव। ममैकेन मित्रेण पुस्तकान्तरभ्रान्त्या स्वीयैकामातृका मह्यमुप-दर्शिता, पूर्वस स्करणापेक्षया तस्याः पाठो मया बहुत्रशुद्धोऽधिकश्च व्यलोकि, अतो यथामति संशोध्य शुद्धमुचित च पाठ मूले संस्थाप्य तदितरपाठश्च टिप्पण्या दत्त। मूलग्रन्थे येषा ग्रन्थानमुद्धरणानि सन्ति तानि प्रकाशितेभ्योऽप्रकाशितेभ्यश्च सम्यङ्मेलयित्वा तेषामङ्क संख्यापि यथोपलब्धा दत्ता। एव यथामति यथासभवं च कृतेऽपि संशोधने व्यस्ततावशात् मानवस्वभावसुलभचपलतया च यास्त्रुटय· स्युस्ता ममानवधानमिति क्षन्तव्याः संशोध्या-श्चेति भूयोभूय. प्रार्थये कृपाघनान् विदुषः—

सरस्वतीभवनम्
मकरसंक्रान्तिः सं० २०२९

विद्वच्चरणचञ्चरीकः
जनार्दनशास्त्री पाण्डेयः

Prefatory Note

The following pages, which embody the doctrines of Gorakṣanātha and the Nātha sect in general and represent an ancient collection of essays by members of the same sect, are presented to the public for the first time, I believe, in the hope of removing a long-felt want. The study of Nāthism—so it is called by Mahāmahopādhyāya Haraprasad Śāstri who had occasions to write upon the subjects more than once—has been suffering for a long time from paucity of adequate literary data Besides the Haṭhayoga Pradīpikā, Goraksa Śataka, Goraksapaddhati, Gheraṇḍa Saṁhitā, and more, very little is known of the Sanskrit Literature of the Nāthas. The contributions of Wilson, Aksayakumāra Datta, Farquhar and others have all been consequently more or less incomplete. The publication of the present work, therefore, must be considered as a welcome addition to our Library, specially in view of the fact that it comprises many short tracts attributed to the venerable sages themselves, e.g. Gorakṣanātha, Matsyendranātha, Jalandharanātha, Bhartrihari etc.

The greatest defect in the Sanskrit writings of the sect is the frequent violation of the rules of grammar, metrics etc. Unnecessary repetition, ambiguity of expression and incoherent presentation are also to be noticed. But all these defects, and others not mentioned here and arising from insufficient Mss materials, are insignificant in comparison with the high importance of the work, from the historical as well as religious and philosophical points of view.

The book is full of inaccuracies. But it has been allowed to come out in its unvarnished form, for the editor has no right to step beyond his limits and introduce corrections or alterations in the

language of the original author It is hoped, however, that the readers will appreciate this attitude and make allowance for these defects

Further details regarding the work and the sect will be found in the General Introduction which will follow and in my 'Studies in Nāthism' (to appear shortly).

Sanskrit College }
Benares }

Gopinath Kaviraj

विषय-सूची

|| ॐ श्रीगणेशाय नमः ||

|| ॐ भगवते आदिनाथाय नमः ||

|| श्रीगोरक्षनाथो विजयतेतराम् ||

|| गोरक्षसिद्धान्तसङ्ग्रहः ||

निर्गुणं वामभागे च सव्यभागेऽद्भुता निजा ||
मध्यभागे स्वयं पूर्णस्तस्मै नाथाय ते नमः || १ ||

मुक्ता लुण्ठति पादाग्रे नखाग्रे जीवजातयः ||
मुक्तामुक्तगतेर्मुक्तः सर्वत्र रमते स्थिरः || २ ||

वामभागे स्थितः शम्भुः सव्ये विष्णुस्तथैव च ||
मध्ये नाथः परं ज्योतिस्तज्ज्योतिर्मे तमोहरम् || ३ ||

अस्मिन्मार्गे सर्वश्रेयोमूलभूतो गुरुरेव, स चावधूत एव नान्यः, स कोऽवधूत इत्यपेक्षायामाह—

वचने वचने वेदास्तीर्थानि च पदे पदे ।
दृष्टौ दृष्टौ च कैवल्यं सोऽवधूतः श्रियेऽस्तु नः ||

एकहस्ते धृतस्त्यागो भोगश्चैककरे स्वयम् ।
अलिप्तस्त्यागभोगाभ्यां सोऽवधूतः श्रियेऽस्तु नः ||

सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ—

यः सर्वान् प्रकृतिविकारान् अवधुनोतीत्यवधूतः । (सि० ६।१)
प्रसरं भासयेच्छक्तिः सङ्कोचं भासयेच्छिवः ।
तयोर्योगस्य कर्ता यः स भवेत्सिद्धयोगिराट् || इति || (सि० ६।६३)

अवधूतगीतायाम्—

आब्रह्मस्तम्बपर्य्यन्तं सम्पूर्णं परमात्मनि ।
भिन्नाभिन्नं न पश्यामि तस्याऽहं पञ्चमाश्रमी || इति ||

सूतसंहितायाम्—

अतिवर्णाश्रमी प्रोक्तो गुरुः सर्वाधिकारिणाम् ।
न कस्यापि भवेच्छिष्यो यथाऽहं पुरुषोत्तमः ||
(सू० सं० मुक्ति खं० ५।१४)

'यथाऽहं पुरुषोत्तमः' इति विष्णुं प्रति शिववचनम्।

अतिवर्णाश्रमी साक्षाद् गुरूणां गुरुरुच्यते।
तत्समो नाधिकश्चास्मिल्लोकेऽस्त्येव न संशयः ॥ इति ॥
(सू० सं० मु० खं० ५।१५)

ब्रह्मबिन्दूपनिषदि—

पक्षपातविनिर्मुक्तं ब्रह्म सम्पद्यते तदा।
स्वरेण [1]साधयेद्योगमस्वरं भावयेत्परम् ॥
अस्वरेण हि भावेन भावो नाऽभाव इष्यते।
तदेव निष्कलं ब्रह्म निर्विकल्पं निरञ्जनम्।
तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा ब्रह्म सम्पद्यते ध्रुवम् ॥
(२।६-८, ई० अ० पृ० १२७)

तत्राऽऽशङ्कते—पक्षपातः क इति ? देहाभिमान एव सः। सोऽपि क इति ? अहं ब्राह्मणोऽहं क्षत्रियोऽहं वैश्योऽहं शूद्रोऽहं पुनरन्त्यजोऽहं ब्रह्मचार्य्यहं गृहस्थोऽहं वानप्रस्थोऽहं संन्यास्यहमुत्तमोऽहं मध्यमोऽहमधम इत्यादि सङ्कल्प एव सः। तं सङ्कल्पं विहाय सर्वव्यापकं परमनाथ याथातथ्येन पश्यत्यथ मुक्तो भवति तादृश एव स्यादिति। तथा च वर्णाश्रमादिव्यवहारमतीत्य नाथं साक्षात्कुर्वतो मुक्तिरिति।

यदि कोऽपि वदेद्वर्णाश्रमाचारव्यवहारं त्यक्तवतः परमयोगिनो मुक्तिर्भवतु नाम, वर्णाश्रमाचारवतः सा कथं न भवेत् ? "कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः" इत्यादीनि कानिचिच्छास्त्रवाक्यान्यवलम्ब्य वदन्ति चामुको गृहस्थो मुक्तो मुक्तश्चामुको भिक्षुरिति ? तत्रोच्यते—गुणानतीत्यैव मुक्तो भवति[2] न तु गुणाभिमानीति सर्वसम्मतः सिद्धान्तो भवत्येव। वर्णव्यवहारे तु न सम्भवति गुणातीतत्वम्। कथम् ? वर्णमात्रस्यापि गुणनिर्मितत्वादिति। उक्तञ्च गीतायाम्—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्त्तारमपि मां विद्ध्यकर्त्तारमव्ययम् ॥ (गी ४।१३)

तथा च कथं गुणसत्त्वे मुक्तिरिति ? तत्र वादी वदति—वर्णाभिमानिनः किं न त्यजन्ति गुणानिति ? सत्यम्; यदि गुणांस्त्यजेयुस्तर्हि कथं वर्णसद्भावः ? गुणमूलकत्वादेव वर्णत्वस्य। तथा चाश्रमित्वं स्यात् ? तदा वादी वदति-भवद्भिस्त्वाश्रमिणोऽपि गुणातीतत्वाभावान्मुक्तिर्नेत्युच्यते। सा च भवद्वचनक्रमेण त्वायास्यति। तत्र किमुत्तरमिति ? उच्यते; नैवमाश्रमिण। मुक्तिरायाता। कथम् ? आश्रमाणामपि गुणलेशत्वात्[3]। प्रथमतो वर्णव्यवहारेण गुणभजनम्। गुणवृत्तिषु च सत्त्वगुणवृत्तय

१. स्न्धयेत्—मु० पा०। २. भवेत्.-पा०.
३. गुणमूलकत्वात्—पू० सं०

उत्तमा, रजस्तमोवृत्तयस्ततो निकृष्टा, इति कृत्वा गुणेष्वप्युत्तमादित्वं स्यात्, परन्तु गुणवृत्तित्व तु सर्वसाधारणमतो नास्ति गुणवृत्तीनां मुक्तिसाधकत्वम्। तत्र दृष्टान्त --

यथा द्वे स्त्रियौ रूपवत्यौ भवतस्तयोर्द्वयोरपि संयोगे न भवेद्गर्भोत्पत्तिः ? किन्तु तद्धर्मभिन्नत्वेन पुरुषेणैव सा भवेत्, किञ्च सौन्दर्यतारतम्येनैकस्या अपरा अधिका न्यूना वा भवतु नाम, परन्तु भोक्ता तु तयोर्द्वयोरपि पुरुष एव, नास्ति तयोरन्योन्यं भोक्तृभोग्यत्वम्। तथा नास्ति वर्णानां साक्षान्मुक्तिविषयेऽन्योयं गुरुशिष्यत्वम्। किञ्चाश्रमिणोऽपि प्रथमतो वर्णाभिमानेन गुणभाज एवेति चोत्तरत्रापि प्रारब्धमभिमत्य भोगभाजो भवन्ति। तेन च प्रारब्धकर्मणां भोगोऽवश्य इति कृत्वा कर्म्मणां सत्यत्वं तावद् दर्शयति—यतो गुणलेश एतेषामपि न निवृत्तो यतो मुक्तत्वपुरुषार्थविहीनास्तेऽपि नपुसकप्रायाः सन्तो न मुक्तिस्त्रियमर्हन्ति[1]।

यद्यपि नपुंसकाः पुरुषवेषिणो वर्त्तन्ते, तथापि पुरुषत्वेन सन्ततिसम्पादका न भवन्ति, एवं वेषमात्रेणाश्रमिणोऽपि सम्मानपूजाद्यर्हन्तु नाम गुरुत्वम्। अतो गुणातीतत्वेनात्याश्रमिण एव मुक्तिप्रदगुरुत्वं नान्यस्य कस्यापीति बहुधा शास्त्रे निरूपितम्।

कैवल्योपनिषदि—

विविक्तदेशे सुखमासनस्थः शुचिः समग्रीवशिरः शरीरः।
अत्याश्रमस्थः सकलेन्द्रियाणि निरुध्य भक्त्या स्वगुरुं प्रणम्य॥
(कै० उ० १।५, ई० अ० पृ० १२८)

तेजोबिन्दूपनिषदि—

लोभं मोहं भयं दर्पं कामं क्रोधं च किल्विषम्।
शीतोष्णे क्षुत्पिपासे[2] च सङ्कल्पं सविकल्पकम्॥
न ब्रह्मकुलदर्पं[3] च न मुक्तं[4] ग्रन्थसञ्चयम्।
न भयं सुखदुःखं च तथा मानापमानयोः॥
एतद्भावविनिर्मुक्तं तद्ग्राह्यं ब्रह्म तत्परम्॥ इति॥
(ते० उ० १२-१४; ई० अ० पृ० २२३)

अमनस्के—

कुलाचारविहीनस्तु गुरुरेको हि दुर्लभः। (अम० २।१७)

इति वर्णाश्रमित्वमुक्तम्। नास्ति वर्णाश्रमाचारे सर्वारम्भपरित्याग इति। पुनः एवं चावधूत एव सन्मार्गदर्शनशीलो भवति। स एव गुरुर्मुमुक्षुभिः कर्तव्यः।

---

१. मुक्तिश्रियम्,—पू० सं०। २. शीतोष्णं क्षुत्पिपासं च—मु० पा०।
३. दर्पं—मु० पा०। ४. मुक्तिग्रन्थि—मु० पा०।

सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ—

फलितानेकपुण्यानां मुमुक्षूणां हितावहम् ।
साधनं साधनश्रेष्ठमाह योगमतः परम् ॥

सन्मार्गश्च योगमार्गस्तदितरस्तु पाखण्डमार्गस्तदुक्तमादिनाथेन—

योगमार्गेषु निष्णाता दीक्षिता ये तु[१] दूषकाः ।
ते हि पाखण्डिनः प्रोक्तास्तथा तैः सह वासिनः ॥

योगमार्गात्परो मार्गो नास्ति नास्ति श्रुतौ स्मृतौ ।
शास्त्रग्रन्थेषु[२] सर्वेषु शिवेन कथितं पुरा ॥

विवेकमार्तण्डे—

योगशास्त्रं पठेन्नित्यं किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
यत्स्वयं चादिनाथस्य निर्गतं वदनाम्बुजात् ॥[३]

खेचरीसहितायाम्[४]—

उत्सृज्य सर्वशास्त्राणि जपहोमादि कर्म च ।
धर्माधर्मविनिर्मुक्तो योगी योग समभ्यसेत् ॥

वर्णाश्रमाभिमानेन वर्त्तते श्रुतिकिङ्करः ।
अभिमानविहीनस्तु वर्तते श्रुतिमूर्द्धनि ॥

न वेदो वेद इत्याहुर्वेदावेदो निगद्यते ।
परात्मा विद्यते येन स वेदो वेद उच्यते ॥

वर्णधर्मे च सन्ध्या विहिता, तत्प्रतिरूपकमाह—

न सन्ध्या सन्धिरित्याहुः सन्ध्या सन्धिर्निगद्यते ।
सुषुम्णासन्धिग प्राणः सा सन्ध्या सन्धिरुच्यते ॥

ध्यानबिन्दूपनिषदि—

यदि शैलसमं पाप विस्तीर्णं योजनान्बहून् ।
भिद्यते ध्यानयोगेन नान्यो भेदः कदाचन ॥
(१, ई० अ० पृ० २४५)

विवेकमार्तण्डे—

द्विजसेवितशाखस्य श्रुतिकल्पतरोः फलम् ।
शमनं भवतापस्य योगं भजत सत्तमाः ॥ (वि० ६।१)

---

१. त्तांश्च—पा० । २. शास्त्रेष्वन्येषु—मु० पा० ।
३. मुद्रितेषु नोपलभ्यते । ४. नास्ति—पू० सं० ।

मुण्डकोपनिषद्यङ्गिरसं प्रति शौनकवचनं प्रश्नरूपम्—

"कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति ? इति। तस्मै स होवाच- द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति। परा चैवापरा च। तत्रापरा— ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो [1]ब्रह्मवेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमितिहासपुराणं न्यायो मीमांसा धर्मशास्त्राणीति परा यया तदक्षरमधिगम्यत इति।" (१।३-५; ई० अ० पृ० १४)

यदक्षरं यया प्राप्यत इत्युक्तं सा योगविद्यैव। कथम् ? श्रुतिस्मृतिपुराणादिसर्वविद्यानामपरविद्यायामेवोक्तत्वाद्योगविद्यायाश्चानुक्तत्वात् पृथक्त्वमर्थात् सिद्धम्। तदुक्तमात्मोपनिषदि—

"अथ परमात्मा नाम [2]यथाक्षरमुपासनीय। स च प्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधियोगानुमानाध्यात्मचिन्तकवटकणिका वा श्यामाकतन्दुलो वा वालाग्रशतसाहस्र[3]कल्पनादिभिः स लभ्यते, नोपलभ्यते, न जायते, न म्रियते, न शुष्यते, न दह्यते, न कम्पते, निर्गुणः, साक्षीभूतः शुद्धो निरवयवात्मा केवलः सूक्ष्मो निष्कलो [4]निरञ्जनो [5]निरभिमानः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धवर्जितो निर्विकल्पो निराकाङ्क्षः सर्वव्यापी सोऽचिन्त्योऽवर्ण्यश्च, पुनात्यशुद्धान्यपूतानि। निष्क्रियस्तस्य संस्कारो नास्ति (संस्कारो नास्तीत्येष परमात्मेति)[6]।" (१, ई० अ० पृ० ४५१)

सा चामृतबिन्दूपनिषदि स्पष्टमाह—

शास्त्राण्यधीत्य मेधावी अभ्यस्य च पुनः पुनः।
परमं ब्रह्मविद्याया उक्त्वा नान्यमथोत्सृजेत्॥

ॐकारं रथमारुह्य विष्णुं कृत्वा तु सारथिम्।
ब्रह्मलोकपदान्वेषी रुद्राराधनतत्परः॥

यावद्रथेन गन्तव्यं तावद्रथपथि स्थितः।
स्थित्वा रथं यथास्थानं रथमुत्सृज्य गच्छति॥

मात्रालिङ्गपदं त्यक्त्वा शब्दव्यञ्जनवर्जितम्।
अस्वरेण मकारेण पदं सूक्ष्मं च गच्छति॥

शब्दादिविषयाः पञ्च मनश्चैवातिचञ्चलम्।
चिन्तयेदात्मनो रश्मीन् प्रत्याहारः स उच्यते॥

प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामोऽथ धारणा।
तर्कश्चैव समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते॥ इत्यादि यावत्समाप्ति।

---

१. अथर्ववेदः—मु० पा०। २. यथाक्षर—मु० पा०।
३. विकल्पनाभिः—मु० पा०। ४. निर्ममो—मु० पा०।
५. निर्विकारः—मु० पा०। ६. () नास्ति—मु०।

मनुस्मृतौ—

क्षरन्ति सर्वा वैदिक्यो जुहोति-यजति-क्रियाः।
अक्षरं दुष्करं ज्ञेयं ब्रह्म चैव प्रजापतिः॥ (म० २।८४)

उत्तरगीतायाम्—

यथाऽमृतेन[1] तृप्तस्य पयसा किं प्रयोजनम्।
एवं तत्त्वपदे प्राप्ते वेदे नास्ति प्रयोजनम्॥ (१।२२)
पुराणं भारतं वेदा धर्मशास्त्राण्यनेकशः।
पुत्रदारादिसंसारो योगमार्गस्य विघ्नकृत्॥ (३।२)
मुहूर्तमपि योगस्थो नासाग्रे मनसा अपि।
सर्वं तरति पापं च तस्य जन्मशतोद्भवम्॥ (२।१०)
अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च।
एकस्य ध्यानयोगस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥

वायुपुराणे—

ऋचो यजूंषि सामानि वेदोपनिषदस्तथा।
योगज्ञानादवाप्नोति ब्राह्मणोऽध्यात्मचिन्तकः॥

मार्कण्डेयपुराणे—

एतत्ते कथितं ज्ञानं योगं चेम निबोध मे।
यं प्राप्य ब्राह्मणो[2] योगी शाश्वताऽन्यतां[3] व्रजेत्॥

एवं बहुधा शास्त्रेषु योगस्य प्रशंसा विदितैव, तस्या दिङ्मात्रमिद दर्शितम्। तस्य योगस्य लक्षणं तु विवेकमार्तण्ड उक्तम्—

योगं चात्र प्रवक्ष्यामि योगं चाष्टाङ्गसंयुतम्।
संयोगं योगमित्याहुः क्षेत्रज्ञपरमात्मनोः॥

एतस्यैव योगस्य मन्त्रयोगादीन्यङ्गानीति ज्ञेयम्।

सन्मार्गत्वेन योगस्तु सेव्यो हित्वाऽन्यसाधनम्।
मुमुक्षुभिर्यतस्तेषां पदप्राप्तिः परा भवेत्॥
योगिनो वीतसङ्कल्पा निर्द्वन्द्वा पुण्यदर्शनाः।
योगरत्नकरण्डास्ते जयन्त्यविधिगोचराः॥

तद्वतामेव परमपदप्राप्तिरिति तेषां स्वरूपं प्रशंसां चाह कैवल्योपनिषदि—

विविक्तदेशे च सुखासनस्थः शुचिः समग्रीवशिरः शरीरः।
अत्याश्रमस्थः सकलेन्द्रियाणि निरुध्य भक्त्या स्वगुरुं प्रणम्य॥

---

१. घृतेन—मु० पा०। २. ब्रह्मणो—मु० पा०
३. मान्यता—पू० सं०।

हृत्पुण्डरीकं विरजं विशुद्धं विचिन्त्य मध्ये विशदं विशोकम् ।
अनन्तमव्यक्तमचिन्त्यरूपं शिवं प्रशान्तममृतं ब्रह्मयोनिम् ॥
तमादिमध्यान्तविहीनमेकं [2]विभुं चिदानन्दमरूपमद्भुतम् ।
उमासहायं परमेश्वरं [3]विभुं त्रिलोचन नीलकण्ठं प्रशान्तम् ॥
ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं समस्तसाक्षिं तमसः परस्तात् ।
स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट् ।
स एव विष्णुः सः प्राणः स आत्मा परमेश्वरः ॥
स एव सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यं सनातनम् ।
ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये ॥
(कै० १।५-९, ई० अ० पृ० १२८)

गीतायां च—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ (गी० ६।४६)

महार्णवे—

योगी ब्रह्मा योगिनो विष्णुरूपं योगी देवो देवदेवो महेशः ।
योगी मोक्षः पूर्णतत्त्वस्वरूपो योगी ध्यानं सृष्टिकर्ता च हर्ता ॥

इत्यादि वचनं सन्दर्भेण योगिनामेव परमश्रेयः ।

तेषां [4]मुख्यचिह्नं किमित्यपेक्षायां मुद्रा-नाद-विभूति-आदेशधारणं मुख्यमिति तत्प्रशंसामाह सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ—

मुद्मोदे तु रादाने जीवात्मपरमात्मनोः ।
उभयोरैक्यसंभूति[5]र्मुद्रेति परिकीर्तिता ॥
मोदन्ते देवसङ्घाश्च द्रवन्ते सुरराशयः ।
मुद्रेति कथिता साक्षात्सदा भद्रार्थदायिनी ॥ (सि० ६।३०-३१)

तद्धारणं कर्णयोर्विना क्षुरिकां न सम्भवतीति क्षुरिकाप्रशंसामाह क्षुरिकोपनिषदि—

क्षुरिकां सम्प्रवक्ष्यामि धारणां योगसिद्धये ।
[6]सम्प्राप्य न पुनर्जन्म योगयुक्तस्य जायते ॥ इत्यादि ।
(क्षु० १; ई० अ० पृ० २१२)

वृहदारण्ये—अथात आदेशो नेति नेतीति ।
छान्दोग्ये च—उत तमादेशमित्यादि ।

---

१. अचिन्त्य—मु० पा० । २. कवि—मु० पा० ।
३. प्रभुं—मु० पा० । ४. अमुष्य—पू० सं० ।
५. सवित्ति—मु० पा० । ६. यां प्राप्य—मु० पा० ।

तेषामन्योऽन्यमन्यत्रापि च यो वाग्व्यवहारस्तमाह—

[सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ—

आत्मेति परमात्मेति जीवात्मेति विचारणे ।
त्रयाणामैक्यसम्भूतिरादेश इति कीर्तितः ॥
आदेश इति सद्वाणीं सर्वद्वन्द्वक्षयावहाम् ।
यो योगिनं प्रतिवदेत्सवेत्त्यात्मानमीश्वरम् ॥ इति ।

(सि० ६।९४-९५)

नादधारणमाह गोरक्षोपनिषदि—अनाहतशृङ्गीति ।][1]

तेषां भस्मोद्धूलनमपि तत्त्रिपुण्ड्रमपि च तैर्धार्यमिति तद्धारणप्रकारप्रशंसे प्राह कालाग्निरुद्रोपनिषदि—

"कालाग्निरुद्रं भगवन्तं सनत्कुमारः पप्रच्छाधीहि भगवंस्त्रिपुण्ड्रं सविधि सतत्त्वं किं द्रव्यमित्यादि प्रश्ने तं होवाच भगवान्—यद्द्रव्यं तदाग्नेयं भस्मसद्यदिदं ब्राह्मणैः परिगृह्य "अग्निरिति भस्म" इत्यभिमन्त्र्य" इत्यादि "प्रकुर्वीत व्रतमेव तच्छाम्भवं समाचरेन्मुमुक्षुर्न भवाय यथा सनत्कुमार" इत्यन्तं "समस्तपातकोपपातकेभ्यः पूतो भवति, तेन सर्वे देवा ध्याता भवन्ति, स सर्वैर्वेदैर्ज्ञातो भवति, स सर्वतीर्थेषु स्नातो भवति, देहं त्यक्त्वा शिवसायुज्यतामेति, न स पुनरावर्त्तते, न स पुनरावर्त्तते, इत्याह कालाग्निरुद्र इति ।"[2] (का० १, ई० अ० पृ० २००)

तेषामनियत एव व्यवहार इत्याह सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ—

क्वचिद्भोगी क्वचित्त्यागी क्वचिन्नग्नः पिशाचवत् ।
क्वचिद्राजा क्वचाचारी सोऽवधूतो विधीयते ॥ (सि० ६।२०)

एवं सर्वमयः सर्वेभ्यो विलक्षणः पृथगिति बहुधा सिद्धसिद्धान्तपद्धत्यादियोगग्रन्थेषु प्रपञ्चितम् । तद्विशेषं जिज्ञासुभिर्द्रष्टव्यं विस्तरभयान्नात्र लिख्यते । एवञ्च सर्वसाधनशिरोमणियोगमूर्तिभूता अवधूता एव परमपुरुषार्थविचक्षणाः सर्वशिरोमणयो जयन्ति ।

सन्मार्गसाधका वर्णाश्रमाचारानपेक्षकाः ।
योगिनो ह्यवधूता ये ते संक्षेपान्निरूपिताः ॥
परमः पुरुषार्थस्तु मुक्तिरुक्ता ह्यतस्तु सा ।
निरूप्यतेऽवधूतानां योगसाधनजं फलम् ॥

परमपुरुषार्थस्तु मुक्तिरित्युक्तम् । सा च नाथस्वरूपेणावस्थानम् । तत्स्वरूपं तु गोरक्षोपनिषदि—"अद्वैतोपरि सदानन्ददेवता ।"

---

१. [ ] अयमंशो नास्ति पूर्व संस्करणे ।

२. मध्ये मध्ये विच्छिद्य गृहीतः पाठः; ब्र०—ई० अ० पृ० २०० ।

ब्रह्मोपनिषदि—

"स्वयममनस्कमश्रोत्रपाणिपादं ज्योतिर्विदितं तत्र लोका न लोकाः, वेदा न वेदाः, देवा न देवाः, यज्ञा न यज्ञाः, माता न माता, पिता न पिता, स्नुषा न स्नुषा, चाण्डालो न चाण्डालः, पौल्कसो न पौल्कसः, श्रमणो न श्रमणः, पशवो न पशवः, तापसो न तापस इत्येकमेव परमिति ।" (ई. अ. पृ. १५१)

ब्रह्मविन्दौ च—"नैव चिन्त्यं न चाचिन्त्यमचिन्त्यं चिन्त्यमेव च ।" इत्यादि । (२।६; ई अ. पृ. १२७)

सर्वोपनिषत्सारे—

"कथं बन्धः कथं मोक्षः" इत्यादिप्रश्ने "अनात्मनो देहादीनात्मत्वेनाभिमन्यते सोऽभिमानः, आत्मनो बन्धस्तन्निवृत्तिर्मोक्षः" (१।१; ई. अ. पृ २१५) इत्यनेन स्वरूपेणावस्थानमिति सिद्धम् । अमनस्के—

भावाभावविनिर्मुक्तं नाशोत्पत्तिविवर्जितम् ।
सर्वसङ्कल्पनातीतं परं ब्रह्म[1] तदुच्यते ॥ (अम० १।१२)

अवधूतगीताया च—

अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे ।
समं तत्त्वं न विन्दन्ति द्वैताद्वैतविलक्षणम्[2] ॥ (१।३६)
यदि सर्वगतो देवः स्थिरः पूर्णो निरन्तरः ।
अहो माया महामोहो द्वैताद्वैतविकल्पना ॥ (१।६१)

श्रीनित्यनाथकृतसिद्धसिद्धान्तपद्धतौ—

न ब्रह्मा विष्णुरुद्रौ न सुरपतिसुरा नैव पृथ्वी न चापो
नैवाग्निर्नापि वायुर्न च गगनतलं नो दिशो नैव कालः । (१।२)
नो वेदा नैव यज्ञा न च रविशशिनौ नो विधिर्नैव कल्पाः ।
स्वं ज्योतिः सत्यमेकं जयति तव पदं सच्चिदानन्दमूर्ते ॥ (१।३)

सा मूर्तिः का वा ? तथाह श्रीनित्यनाथकृतसिद्धसिद्धान्तपद्धतौ—

आदिनाथं महासिद्धं शक्तियुक्तं जगद्गुरुम् ।
तं वन्दे नित्यतो वक्ष्ये सिद्धान्तं स्वानुभावतः ॥

पुनरत्रैव प्रवृत्तौ आदिदेवमेतत्पदेनावस्थानं मुक्तिरिति ।

नाथस्य लक्षणं तु राजगुह्ये—

नाकारो नादरूपं च थकारः स्थाप्यते सदा ।
भुवनत्रयमेवैकः श्रीगोरक्ष नमोऽस्तु ते ॥

---

१. परब्रह्म—पू० स०; परं तत्त्व—मूलमातृकायां ।

२. °विवर्जितम्—मु० पा० ।

शक्तिसङ्गमतन्त्रे—

श्रीमोक्षदानदक्षत्वान्नाथ [द] ब्रह्मानुबोधनात् ।
स्थगिताज्ञानविभवाच्छ्रीनाथ इति गीयते ॥

इत्यादीनि वाक्यानि[१] प्रमाणानि । तस्य निदर्शनं शास्त्राणि सूर्यस्य दीपा इव कथं करिष्यन्ति । तत्तु पदं तादृग्योगिनामेवापरोक्षमिति सिद्धान्तः । अन्ये तु मतवादिनस्तत्पदमनालम्बमाना स्वाभिप्रायानुसारि तत्पदं विधाय विवादभाराक्रान्तमतयः क्लिश्यन्ति न तु शाम्यन्तीत्याह सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ—

वेदान्ती बहुतर्ककर्कशमतिर्ग्रस्तः परं मायया ।
भाट्टाः कर्मफलाकुला हतधियो द्वैतेन वैशेषिकाः ।
अन्ये भेदरता विवादविकलास्ते तत्त्वतो वञ्चिताः
तस्मात्सिद्धमतं स्वभावसमय धीरः परं संश्रयेत् ॥ (सि० ६।७३)

अस्यार्थः—वेदान्तो वेदोत्तरभागशास्त्रवादी अद्वैतवस्तुन्यध्यारोपापवादाभ्यां द्वैतकल्पनां कुर्वन् बहुभिस्तर्कैः कर्कशा कठोरा मतिर्यस्य सोऽत एव परं केवलं ग्रस्तो यतो निर्मायिकं वस्तु वदन् मायादूषणं च तत्र ददाति । पुनः भाट्टाः मीमांसका अनीश्वरवादमारोपयन्तः कर्मफलेष्वेवाकुलिताः सन्तो गतधियो भवन्ति । तथा द्वैतेन द्वैतवादेन वैशेषिका अपि गतधिय एव । तदन्येऽपि ये भेदवादरतास्तेऽपि विवादविकला एव भवन्ति । यत एते तत्त्वतो वञ्चिता भवन्ति न तु तत्त्वमालम्बन्ते इत्यर्थः । तस्मान्महासिद्धानां स्वाभाविकं सहजावस्थामयं मतं धीरः पुमान् संश्रयेत् । तदेव श्रेयस्करमिति मान्यम् ।

साङ्ख्या वैष्णववैदिका विधिपराः संन्यासिनस्तापसाः
सौराश्चीरपराः[२] प्रपञ्चनिरता बौद्धा जिनाः श्रावकाः ।
एते कष्टरता वृथापथगतास्ते तत्त्वतो वञ्चिताः
तस्मात्सिद्धमत स्वभावसमयं धीरः परं संश्रयेत् ॥ (सि० ६।७४)

अस्यार्थः—साङ्ख्याः प्रकृतिकारणवादिनः कपिलमतानुयायिन इति यावत्, वैष्णवाः पाञ्चरात्राः, वैदिका वेदानुवर्तिनस्ते च विधिपरा वाक्यकोविदा इत्यर्थः । स्पष्टमन्यत् ।

आचार्या बहुदीक्षिता हुतिरता नग्नव्रतास्तापसाः
नानातीर्थनिषेवका जिनपरा मौने स्थिता नित्यशः ।
एते ते खलु दुःखभारनिरतास्ते तत्त्वतो वञ्चिताः
तस्मात्सिद्धमतं स्वभावसमयं धीरः परं संश्रयेत् ॥ (सि०६।७५)

---

१. पुराणवाक्यानि—पू० स० । २. वीरवरा—मु. पा. ।

अस्यार्थः—आचार्या मन्त्रव्याख्यातारो बहुदीक्षिता अग्निहोत्रादिकर्त्तारः, त एवाहुतिपरा न तु तत्त्वपरा, अजिनपरा वल्कलवाससस्ते तीर्थनिषेवका यद्वा जपपराः, शेषं स्पष्टम्। इत्यादि। हठप्रदीपिकायां च—

केचिदागमजालेन केचिन्निगमसंकुलाः[१]।
केचित्तर्केण मुह्यन्ति नैव जानन्ति शाङ्करीम्[२] ॥ (४।४०)

अस्यार्थः—केचिद्वैखानसाद्यागमोक्ततत्त्वभ्रमास्तत्र तत्त्वाभिमानिनो देहात्मवादिनश्चार्वाकसधर्माणस्ते मनुष्यास्तप्तचक्राद्यङ्किता जीवन्तोऽपि मृतकमिव शरीरं सत्कर्मानर्हं कुर्वाणा देवनिन्दका इति। केचिच्च ऋग्यजुरादिवेदासक्ताः कर्मज्ञानरताः कर्मणैवायुः पूर्णं कुर्वन्ति, अथ च तत्त्ववञ्चिताः साधनेऽशक्तास्ते हि कातर्य्येण प्रारब्धशरणा भूत्वा शरीरसुखार्थमहं ब्रह्मेति वदन्तस्तिष्ठन्ति, तदेवात्मानं चेद्विजानीयादित्यादावुक्तम्। एवं निगमसङ्कुला इति। केचिच्चातर्क्यैश्वर्ये परमपदे वस्तुनि शुष्कतर्कानाश्रित्य पण्डितम्मन्या भवन्तीति कृत्वा शाङ्करीं न जानन्तीति।

सा शाङ्करी स्तूयते हठप्रदीपिकायाम्[३]—

वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव।
मा पुनः शाङ्करी मुद्रा प्राप्ता कुलवधूरिव ॥

ऋग्यजुरादयो वेदा धर्मार्थकाममोक्षोपदेष्टारो [४]ब्रह्मचर्यगृहस्थवानप्रस्थभिक्षुकाश्रमोपदेष्टारश्च भवन्ति। ते च मुख्ये वस्तुनि गौणत्वमापादयन्त्यमुख्ये च मुख्यत्वमतो यत्र तादृशा अधिकारिणो बहवो लग्नास्ते चोत्तमपुरुषैरसेवनीया द्रव्यस्पृहः प्रवृत्तावेवासक्ता भवन्ति। शास्त्राणि च वैशेषिकादीनि। तैर्भ्रममूलकैः[५] कदापि विश्रान्तिर्नास्ति। पुराणानि च नरानात्मसाधनेष्वशक्तत्वं प्राय आपादयन्ति। यतो बालकानामिव रुचिरतरासु कथासु लोकानां चित्तवृत्तिं गमयन्ति। तेऽपि सर्वे सामान्यगणिका इव भवन्ति। तद्यथा—गणिकागृहे शृङ्गारप्रधाना एव वार्ता मुख्याः स्युरैश्वरी वार्त्ता तु गौणी, ताश्च गणिका बह्वयो बहूनां धूर्तानां लम्पटानामुपरि चासक्ता भवन्त्यः सत्यवादिनामकामिनां प्रियेश्वरकथानामुपरि नासक्तिं कुर्वन्ति, इति।

किञ्च इह खलु संसारे योगो भोगश्च द्वौ पदार्थौ स्तः। एतद्द्वयं विना किमपि न स्यात्, सर्वस्याप्येतयोरन्तर्भूतत्वादिति। तयोर्मध्ये योगे लग्ना महासिद्धाः, भोगे तु सर्वे संसारिणः। योगस्य फलं मुक्तिर्भोगस्य तु बन्ध इति। यद्यपि भोगाद्बन्धस्तथापि नानाविलासैर्विषयानन्दं विलुण्ठयति। यदि दुःखमपि भवेत्तर्हि भवतु

१ °सङकुलैः—मु० पा०। २ तारक—मु० पा०,
३. नास्ति—पू० स०। ४. ब्रह्मचारि—पू० स०।
५. भ्रमम०—पू० सं०।

नामेति। योगिनां तु पुनः प्रथमतः किञ्चिच्छ्रमो भवेत् "क्लेशोऽधिकतरस्तेषाम-व्यक्तासक्तचेतसाम्" इत्याद्युक्तत्वादिति, पश्चात्तु महानानन्द। तत्र बहवः कथयन्ति-किञ्चिदिति कथ; योगे तु क्लेशोऽधिकतर इत्युक्तम। तदुपरि मया तु कथ्यते—भो पुरुषा. ! गुरुहीनानां तेषा कष्ट भवेत्; यदा तादृशः पूर्वोक्तः पूर्णो गुरुर्लभ्येत तदा महदपि कष्टं स्वल्प भवेत्। तत्र दृष्टान्तः यथा महाभारयुक्ता या शिला भवेत् तस्या उत्थापने सहस्राणामपि पुरुषाणां कष्टं भवेत्, सा च बुद्धिमता पुरुषेण कृत-काष्ठादियत्नेनाप्रयासेनैवोत्थाप्यते, तथा गुरुमय्या कुञ्जिकया स्वल्पेनापि कष्टेन सहजसिद्धिर्भवति, यदि च महत्कष्टमपि भवेत् तदा कष्टोत्तरे तु महानानन्दो भव-त्येव, यस्त्वखण्डैकनाथरूपो भवति। ब्रह्मविष्णवाद्यधीश्वरो भवति। नानारूपो भवति। ब्रह्मादयः सर्वे तस्य पूजां कुर्वन्ति, योगारूढो नानाभोगान् भुनक्ति, न तु तैर्लिप्यते, योगं विना भोगी रोग्येव स्यात्, भोग्यपि योगी संसारीव दृश्यते, न तु संसारीव बन्धनं प्राप्नोति।

ननु केचिच्छास्त्रिणः कर्माद्युपासनं साधनं कथयन्ति, तदा मया कथ्यते—तेषां कथनं मया न निवार्यते, तदेव कुर्वन्तु नाम, परन्तु तत्करणे फलं किमिति। कथं कर्मणामवधिर्मीमांसकास्ते तु पठनपाठनोत्तरं पठनपाठनदोषनिवृत्त्यर्थमिष्ट-स्मरणं कुर्वन्ति। यस्य शास्त्रस्य पठने पाठने चापि दोषस्तस्य सेवनेन किं भविष्यति इति। पुनः य स्वामिनं भजेत् स स्वतन्त्रो भवेत्, यश्च प्रसन्नः स्वयमेव यदिच्छति तद्ददाति मन्त्रिभ्यः। अन्यस्य तु पुरुषस्य न कस्याप्यपेक्षां करोति, अयं देहः कर्म-रचितः, कर्माणि च सर्वाणि त्रिगुणाना सन्ति, गुणाश्च मायायाः। एवञ्च यदि अनेन प्राणिना प्रारब्धं कर्माभिमतं तदा मायाऽभिमता, तदभिमाने च तत्रैव समये ब्रह्म-तत्त्वात् पृथग्भूतः। ततश्च पूर्वं पश्चादपि गुणलेशो विद्यत एव, स च बाधक एव, तस्मात्प्रारब्धकर्मनिर्मूलकरणमवधूतानामेव कर्म।

वेदान्ती चित्तशुद्ध्यर्थं कर्माभिमत्य तदनन्तरं ज्ञानं साधनमित्युपदिशति, अतः सोऽपि सापेक्ष एव। मीमांसको मन्त्रीव राजसापेक्षः, परन्तु सापेक्षता तूभयोरेवास्ति, कस्याप्यपेक्षामकुर्वन् योग आवश्यकः सर्वेषां कर्तव्यो यः सर्वदा स्वतन्त्रोऽस्ति।

मीमांसको द्वैतमभिमन्यते, वेदान्ती त्वद्वैतमभिमन्यते, तदुपरि च वदामः—एतदुभयमपि प्रकृतिविकारः। प्रकृतिविकारश्च सदा चञ्चलो नास्ति कदापि स्थिरः। ब्रह्म तु सर्वदा स्थिरमेवास्ति। तत्र द्वैतवादिनो निश्चलं नास्तीति वदन्ति, तथैवाद्वैतमभिमन्यतां निश्चलं नास्तीति कथम्?

यदि ब्रह्माद्वैतमस्ति तर्हि द्वैतं कुत आगतम्? तदा मायाकल्पितमिति ते वदेयुस्तर्हि तान्वदतो वयमवाचोऽक्रियांश्च कुर्मः[१], तत्किमिति चेदुच्यते-अद्वैतं तु

१. कर्म—पू० सं०।

निष्क्रियादि त्याग्यस्ति। यतः कस्यापि वस्तुनो भोगोऽपि युष्माभिर्न कर्तव्य इत्याद्यनेकविधिभिरद्वैतखण्डन करिष्यामः। महासिद्धैरुक्तम्-यद् द्वैताद्वैतविवर्जितं पदं निश्चलं दृश्यते तदेव सत्यमित्यभ्युपगमिष्यामः, तत्त उग्रभैरवनामककापालिकरूपतः श्रीभैरवेण शङ्कराचार्योपरि कृतम्।

कथम्? चतुर्भिः शिष्यैः संयुक्त· शङ्कराचार्यो नदीतीरे स्थितः। तस्मिन्स्थले कापालिकः समुपागत्योक्तवान्—भो त्वं तु संन्यासी, मित्रारिपक्षे तुल्यः, सुखदुःखादिद्वन्द्वपदार्थरहितोऽस्यस्माकं चायमभिप्रायो वर्त्तते-यत् तव शिर उच्छिद्य[१] पश्चात् श्रीभैरवार्पण करिष्यामि तदा मम प्रतिज्ञा पूर्णा भविष्यति, अतो भवान् शिरो ददातु-इति। तदा शङ्कराचार्येणालोचितं नैवं करिष्यते तदा त्वद्वैतहानिः शत्रुमित्रपक्षे तुल्यत्वं न स्यात्, कृते च पराजयो भवेत्। एतद्द्वयविचारेऽपि पराजय एवेति मत्वा न किमपि तेनोक्तम्। शैथिल्यं जातम्। तदा [२]पद्मपादाचार्येण नृसिंहस्मरणं कृतम्। उग्रभैरवोपरि नृसिंहेण प्रहारः कृतो यस्तु महासिद्धः तच्छरीरं त्यक्त्वा तादृशमेव च शरीरं गृहीत्वा सम्मुखे संस्थितो भूत्वा प्रसन्नवदनो मेघगम्भीरया गिरोवाच—भो अद्वैतपराजयोऽद्वैतपराजय इति। शत्रुमित्रपक्षे [तुल्यत्व यदवदस्तत्कुत्र गतमद्वैतमेवाद्वैत] [३]यदवदस्तत्कुत्र गतम्। मदीयं तु यथा मल्लो नियुद्धे स्वयमेव निपत्यान्यस्य पातनं करोति तथा स्वशरीर त्यक्त्वा परसिद्धान्तहानिः कृतैवेति चरितं पुनः साम्प्रत त्वदीयहानिरतः परमपि क्रियते। उत्तिष्ठोत्तिष्ठ युद्धं कुर्व[४] इत्याह, तदा प्रारब्धकर्माचरणं वर्त्तते न्यासिनां मते यतः क्रियाकरणमिति सिद्धान्तो नास्तीति कृत्वा युद्धेऽशक्तो जातः। कापालिकोपदेशेनाक्रियैव स्वसिद्धान्तेऽद्वैतस्थितिवत्स्थितः। तदा कापालिकेन योगमाया निर्मिता, तया च चतुःशिष्यसंयुक्तस्याचार्यस्य मस्तकं छिन्नम्, पश्चाच्च सञ्जीवितः कृतस्तर्हि विरागो जातः। पश्चिमायां दिशि गतः शक्तिस्मरणं कृतवान्।

पूर्ववार्त्ता। शङ्कराचार्यस्योत्पत्तिर्दक्षिणस्यां दिशि। तत्र तु कर्मसेवनमेव कृतं विष्णूपासनादि। यदा चित्तशान्तिर्न जाता तदा पृथ्वीपरिक्रमा[५]करणार्थं प्रयाणं कृतम्। पूर्वस्यां दिशि चागत्य तत्र वैद्यनाथाख्यस्थलं गत्वा पूजां चकार। तदेश्वरेण नाङ्गीकृता पूजा। किमर्थं त्वया विष्णुभक्तिः कृता। अहं तु साक्षादीश्वरः स तु त्वया विस्मृत इति। तदा शङ्करेणापराधक्षान्त्येऽपराधक्षमापननामक स्तोत्रं कृतम्, पुनरपि शिवभक्ति विशेषेण कृता, तथापि चित्तशान्तिर्न जाता। पश्चाच्च पश्चिमां दिशं गतस्तत्र शक्तिरहितो जातः, शक्तेर्वृत्तान्तं दृष्टम्। तदा शक्त्योक्तं शिव एव

---

१. उच्छिन्न-पा०। २. पद्माचार्येण-पा०।
३. [ ] नास्ति पू० सं०। ४. कुर्वि°-पू० स०।
५. °प्रदक्षिण° पू० सं०।

सर्वं करिष्यतीति। तेन भयाकुलो जातः। सौन्दर्यलहरीनामकं स्तोत्रं कृत्वा शाक्तो जातस्तथापि पूर्णा शान्तिर्न जाता। तत उत्तरां दिशं गतः। सा तु महासिद्धसमुदायेन सर्वाऽपि दिग्व्याप्ता। यत्र यत्र गतस्तत्र तत्र सर्वैरुपहासः कृतस्तत्र श्रीतारानाथेनोक्तम्–तीर्थाटनमेव करिष्यते किमप्यात्मसाधनमपि करिष्यते ? तदा शङ्करेणोक्तम्–भवद्भिर्यत्कथ्यते तन्मया करिष्यते[1]। तदा महासिद्धेन योगोपदेशः कृतस्तेन सर्वाबाधानिवृत्तात्मा च प्रसन्नो जातस्तदा वज्रसूचिकोपनिषत् कृता। सा तु सर्वाऽपि नाथमार्गानुसारिण्येव। तत्र श्रीसिद्धसिद्धान्तपद्धतिप्रमाणं दत्तं "वेदान्ती बहुतर्ककर्कशमतिः" इत्यादि "तस्मात्सिद्धमतं स्वभावसमयं धीरः परं संश्रयेत्" इत्यन्तानि पद्यानीति, यथा मण्डनमिश्रः सुरेश्वराचार्यो जातस्तथाऽयमपि सिद्धो भूत्वा सिद्धान्तबिन्दुप्रभृतिग्रन्थांश्चकार

सिद्धान्तस्तु सिद्धस्य तात्पर्यार्थ एव सिद्धान्तो न तु वादि-प्रतिवादिभिर्निर्णीतोऽर्थः सिद्धान्तः। तन्मध्ये न चैकं तदन्यद्द्वितीयं कुतः स्यात्तत्तु द्वैताद्वैतविलक्षणत्वेनैव सिद्धान्तो जातः। न्यासिनां त्वद्वैतमेव सिद्धान्तो भवतीत्येषा रीतिर्ज्ञेया।

अन्यैः सिद्धान्तः कथ्यते। तेषां मुख्ये सिद्धान्तशब्दप्रवृत्तिर्महासिद्धानां मुखादागतोऽन्यमुखे सिद्धान्तः केवलं रूढित एव। सिद्धानां मते रूढिर्यौगिकं च द्वयमपि वर्तते। तर्हि सिद्धान्तः सिद्धस्यैव तात्पर्यम्। एतत्कारणात् सिद्धस्यैव सिद्धान्तो न त्वन्यस्यात एव शङ्करेण सिद्धान्तबिन्दुः कृतः।

प्रथम तु दक्षिणदेशे कर्मसेवने विष्णूपासना कृता, पश्चात्पूर्वदेशे शिवदर्शने संन्यासो गृहीतः, पश्चिमे च शक्तिदर्शने शाक्तो जातस्तन्त्रविषयकं प्रपञ्चसारादि ग्रन्थं कृतवान्, पश्चादुत्तरदेशे सिद्धोपदेशेनावधूतावस्था गृहीता। तेन सर्वं श्रेयो जातम् इति।

ननु कापालिकप्रसङ्गकथनातेदेषां कापालिकमतमिति कैश्चिज्ज्ञायते, इति; तत्त नास्त्येवास्माकं मतं त्ववधूतमेव। परन्तु कापालिकमपि मतं नाथेनैव प्रकटीकृतमेतन्मार्गस्य प्रकटकर्त्ता नाथ एव। तदुक्तं शाबरतन्त्रे—

आदिनाथो ह्यनादिश्च कालश्चैवातिकालकः।
करालो विकरालश्च महाकालश्च सप्तमः॥

कालभैरवनाथश्च बटुकस्तदनन्तरम्।
भूतनाथो वीरनाथः श्रीकण्ठो द्वादशो मतः॥

---

१. क्रियते–पू० स०।

एते[1] कापालिकाः प्रोक्ता वीरतुम्बीमहाफलैः ।
शिष्याणां सूर्यसङ्ख्या च तानिहो वच्मि संश्रृणु ॥

नागार्जुनो जडभरतो हरिश्चन्द्रस्तृतीयकः ।
सत्यनाथो भीमनाथो गोरक्षश्चर्पटस्तथा ॥

अवद्यश्चैव वैराग्यः कन्थाधारी जलन्धरः ।
मार्गप्रवर्तका ह्येते तद्वच्च मलयार्जुन ॥

पुनः शैवं शाक्तोऽपि मार्गस्तन्त्रानुसारी । तस्याप्युपदेष्टा नाथ एव । नाथेनैव रचितानि तन्त्राणि । तदुक्तं षोडशनित्यातन्त्रे—

कादिसञ्ज्ञा भवद्रूपा[2] सा शक्तिः सर्वसिद्धये ।
तन्त्रं मदुक्तं भुवने नवनाथैरकल्पयत् ॥

तया तैर्भुवने तन्त्रं कल्पे कल्पे विजृम्भितम् ।
अवसाने तु कल्पानां सा तैः सार्द्धं व्रजेच्च माम् ॥

नामपर्यायतो व्याप्तं कालावाप्तमिदं द्वयम् ।
प्रसिद्धं बाह्यतो यच्च त्रीणि नामानि साधके ॥

नमस्ते नाथ भगवन् शिवाय गुरुरूपिणे ।
विद्यावतारसंसिद्ध्यै स्वीकृतानेकविग्रह ॥

नवाय नवरूपाय परमार्थैकरूपिणे ।
सर्वाज्ञानतमोभेदभानवे चिद्घनाय ते ॥

स्वतन्त्राय दयाशक्तिविग्रहाय रसात्मने ।
परतन्त्राय शाक्तानां भव्याय भव्यरूपिणे ॥

पुनः योगस्तु कस्यापि सापेक्षो नास्ति, परन्तु तान्त्रिकाणामयमेव सिद्धान्तो वर्त्तते यत्रोत्तरावस्थाऽवधूत एव । तदुक्तं षट्शाम्भवरहस्ये—

अथान्यत्सम्प्रवक्ष्यामि सम्प्रदायस्वरूपकम् ।
आदितो वैदिकः प्रोक्तस्ततो हि वैष्णवः परः ॥

ततो गाणपतः प्रोक्तः क्रमेण हि मया तव ।
गाणपत्यं च द्विविधं ततः सौरं प्रकीर्तितम् ॥

सौराच्छ्रेष्ठं शैवशास्त्रं शैवाच्छाक्तं महेश्वरि ।
शाक्ताद्वामं महादेवि श्रेष्ठं ते परिकीर्त्तितम् ॥

---

१. एके--प० स० ।   २. भवेद्रूपा-प० सं० ।

वामात्तु दक्षिणं श्रेष्ठं दक्षिणाद्वीर एव तु।
अथ वीराच्चावधूतः कौलः पूर्वं प्रकीर्तितः॥
अवधूताद्दिव्यमार्गो दिव्याच्छ्रेष्ठो न विद्यते॥ इति।
(पट० १।१४०-१४४)

तान्त्रिकानुष्ठानस्य फलमपि योग एव। योगिनां पूर्वावस्थायामपि योगित्वमुत्तरावस्थायामपि योगित्वमेव न त्ववस्थाभेदाद् गौणमुख्यभावौ। तन्त्रादि यस्य-कस्यापि सापेक्षं, परन्तु तान्त्रिकाणां पूर्वावस्था तन्त्रानुष्ठानं बहिरङ्गमुपासनं, योगिनान्त्वन्तरङ्गमुपासनम्। इयं रीतिस्तान्त्रिकाणाम्–तान्त्रिकः प्रथमतो बहिरङ्गपूजनं स्थूलशक्तेः करोति, पश्चादवधूतपदे प्राप्तेऽन्तरङ्गपूजनं सूक्ष्मशक्तेः कुण्डलिन्याः करोति। अतः कारणात्तान्त्रिकाणामपि तात्पर्यमवधूतपद एव।

कापालिको मार्गः किमर्थं प्रकटीकृतः? इत्यपेक्ष्ययाह–विष्णोश्चतुर्विंशतिसङ्ख्याका अवतारा जातास्ते च कार्यान्ते मदोन्मत्ता जाता। कथम्? यथाऽन्ते तिर्यग्योनयो जन्तवः क्रीडाः कुर्वन्ति तथा वराहो नृसिंहश्चेत्यादयो भूदारण-वन्य-भयदानादिकरणे प्रवृत्ताः। पुरग्रामादिताडनं केषाञ्चित समुद्रपातोऽपि। तत्रापि कृष्णेन व्यभिचारिभावो विशेषेण धृतः। परशुरामेणैकक्षत्रियदोषेणानेकेषां क्षत्रियाणां नाशः कृत इत्यादि विरुद्धाचारोपरि नाथेन कोपं कृत्वा चतुर्विंशत्यवतारोपरि चतुर्विंशति कापालिकरूपाणि धृतानि। धृत्वा च चतुर्विंशत्यवतारैः सह समरं कृतम्। तत्र सर्वेषामवताराणां कपालानि छिन्नानि कृतानि। स्वकरैस्तानि धृतानि। तेन कापालिका जाताः। पुनस्ते सर्वे कपालच्छेदान्मदहीना जातास्तदा वरं दत्वा कपालानि तच्छरीरे धृतानि तेन जीविता बभूवुरिति।

कानिचिच्छास्त्राणि मोक्षरक्षकाणि कानिचिच्च व्यवहाररक्षकाणि। तत्र मोक्षरक्षकाणि श्रुति-स्मृत्यादीनि। मुमुक्षवः पुरुषाः कोटीनां मध्ये द्वित्रा एव भवन्ति, व्यवहारिणस्तु कोटिकोटिरेवातः कारणाद्व्यवहारार्थं विधिवाक्यशास्त्राणि बहूनि सन्ति, कथम्? व्यवहारिणां बाहुल्यात्, योगशास्त्रं तु सूक्ष्मम्। कथम्? मुमुक्षुपुरुषाणामल्पत्वात्, वेदादिशास्त्राणामपि योगो वर्त्तत एव, सर्वेषां च तात्पर्यं योग एवास्ति, परन्त्वेतद्रीत्या यथा समुद्रे रत्नानि शङ्खाः, पाषाणखण्डानि, जलं जलजन्तवश्चेत्याद्यनेकवस्तूनि सन्ति, तथा वेदादिशास्त्रेष्वपि योगादीनि सन्ति, समुद्रे चेतरवस्तु सुलभं, रत्नं तु श्रमेण लभ्यते। एवं वेदादिशास्त्रे व्यवहारादि सुलभं, योगस्तु भूरिश्रमेण लभ्यते। योगशास्त्रे तु योग एव लभ्यते, नान्यदस्ति किञ्चिदसारं, यथा रत्नखनौ रत्नमेवेति।

स च योगो गुरुकृपयाऽल्पश्रमेणैव प्राप्तो भवेदतोऽन्यत्सर्वं परित्यज्य योग एव सेवनीयः, इति। षट्शाम्भवरहस्ये—

पृथ्वी कर्त्री महादेवी नाथाः शास्त्रस्य बन्धकाः ।
ब्रह्मतत्त्वविदित्याद्याः शरभाद्यास्तु रक्षकाः ॥ (१-१५६)

ननु श्लोके तु पृथ्वी कर्त्रीत्युक्तं भवद्भिस्तु नाथः कर्त्तेत्युच्यते, तत्कथमिति चेत् ? उच्यते; 'नाथाः शास्त्रस्य बन्धकाः' इत्यनेन शास्त्रप्रबन्धकत्वं तूक्तमेव, पुनः कर्तृत्वं तु पृथिव्या अपि नाथरूपत्वेनैव, चतुरशीतिसिद्धगणनायामादिकुमारीनामकस्य सिद्धत्वेनोक्तत्वात् । सिद्धाश्च नाथरूपत्वेन प्रसिद्धा एवेति । तथैव यत्साधनं कर्त्तव्यं यत्तेनैव साधनेन सिद्धिर्भवेदित्येवं तु योग एव परं साधनमित्याशयेनोक्तम्—

योगमार्गात्परो मार्गो नास्ति नास्ति श्रुतौ स्मृतौ—इति ।

तद्वन्तश्च श्रेष्ठा उक्ता इति सर्वत्र लभ्यते । एवञ्च योगिनः श्रेष्ठास्तेषां श्रेष्ठ्यं गम्यत्वेनाप्याह पद्मपुराणे—

मर्यादां स्थापयामास यथास्थानं यथागुणम् ।
वर्णानामाश्रमाणां च धर्माधर्मभृतां वर ॥
लोकांश्च सर्ववर्णानां सम्यक् धर्मानुपालिनाम् ।
प्राजापत्यं ब्राह्मणानां स्मृतं स्थानं तु पार्थिव ॥
स्थानमैन्द्रं क्षत्रियाणां यतीनामूर्ध्वरेतसाम् ।
स्मृतं तेषां तु यत्स्थानं तदेव गुरुवासिनाम् ॥
सप्तर्षीणां च यत्स्थानं स्मृतं तद्वै वनौकसाम् ।
प्राजापत्यं गृहस्थानां न्यासिनां ब्राह्मसंज्ञितम् ॥
योगिनाममृतं स्थानं ब्रह्मणः परमं पदम् ।
एकान्तिनः सदोद्युक्ता व्यापिनो[1] योगिनो हि ये ॥
तेषां तत्परमं स्थानं यन्न[2] पश्यन्ति सूरयः ।
गत्वा गत्वा[3] निवर्तन्ते चन्द्रादित्यादयो ग्रहाः ॥
अद्यापि नो निवर्त्तन्ते प्राणायामपरायणाः ।

(सृष्टिखण्डे ३।१५३-१६१)

गीतायाञ्च—

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥ इति

(गी० ८।२८)

एवं सर्वनमस्कार्यमेतन्मतमिति ।

तत्र यूयं केऽपि वदेत–भवन्मते श्रुतिः साधिका नास्तीति तेषामज्ञात्वा मत-रहस्यमेवं वदतां युष्माकं तात्पर्यमस्माभिर्विदितप्रायमेवेति । तदेवमस्ति । एवं प्रतोध-

१. ध्यायिनो–मु० पा० । २. यत्तत्–मु० पा० ।
३. गता गता–मु० पा० ।

माना अपि कदाचिच्छ्रुत्याश्रयत्वमङ्गीकुर्वन्तु नामैते, किन्त्वेतत्साक्षादनिर्वचनीयं तत्सत्यस्वरूपं तत्त्वं सर्वस्य विदितमेवेति तस्यैव प्रवृत्तिशास्त्राश्रयत्वं केन प्रकारेणाङ्गीक्रियते। यदस्माकमत्र श्रुत्याश्रयाङ्गीकरणं राज्ञामिव मन्त्र्याश्रयाङ्गीकरणं भवति। तथोक्तं महाभारते मोक्षधर्मे—

ऋचो यजूंषि सामानि शरीराणि व्यपाश्रिताः।
जिह्वाग्रेषु प्रवर्त्तन्ते यत्नसाध्याविनाशिनः॥

न चैवमिष्यते ब्रह्म शरीराश्रयसम्भवम्।
न यत्नसाध्यं तद् ब्रह्म नादिमध्यं न चान्तवित्॥

ऋचामादिस्तथा साम्नां यजुषामादिरुच्यते।
अन्तश्चादिमतां दृष्टो न त्वादिर्ब्रह्मणः स्मृतः॥

अनादित्वादनन्तत्वात्तदनन्तमथाव्ययम्।
अव्ययत्वाच्च निर्दुःखं द्वन्द्वाभावस्ततः परम्॥

अन्यच्च—अग्निर्यथाह्युपायेन मथित्वा दारु दृश्यते।
तथैवात्मा शरीरस्थो योगेनैवात्र दृश्यते॥

पुनः—आदिज्ञानी भवेद् ब्रह्मा युगादिज्ञानियोगिनः॥

गीतायाम्—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥ (गी० २।४२-४४)

येन च परमवेदप्रणवस्याश्रयोऽङ्गीकृतो वा तेन स्थूलवेदस्याश्रयो नाङ्गीकर्तव्यः।

उत्तरगीतायाम्—

चतुर्वेदविदो विप्राः सूक्ष्मब्रह्म विदन्ति न।
वेदभारभराक्रान्तास्ते वै ब्राह्मणगर्दभाः[१]॥

एतदेवाभिप्रेत्य कावषेयगीतायाम्—दुर्वासा कश्चिन्मुनिर्बहुविधशास्त्रपुस्तकभारैः सह महादेवं नमस्कर्त्तुमागत्य तत्सभायां नारदेन केनचिन्मुनिना भारवाही गर्दभसाम्यमापादितः, कोपात् पुस्तकानि लवणार्णवे परित्यज्य महादेवेनात्मविद्यायां प्रवर्त्तित इति।

१. ते विप्राः पुरुषाधमाः—पू० सं०।

गृहे गृहे पुस्तकभारभाराः पुरे पुरे पण्डितयूथयूथाः ।
वने वने तापसवृन्दवृन्दा न ब्रह्मवेत्ता न च कर्मकर्त्ता ॥

एवं बहवः प्रस्तावाः सन्तीत्येकमुत्तरम् ॥ १ ॥

पुनः भवद्भिस्तु श्रुतयः पुनः पुनरुच्यन्ते, तत्किमिति ? वेदास्तु कर्मनिरूपकास्तदधिकारिणामेवौचित्यं दर्शयन्ति । एते योगिनस्तु संसारत्यागिनो निष्कर्माणः । किञ्च, वेदेषु मुख्यत्वेनाग्निहोत्रादियज्ञकर्माणि दृश्यन्ते, तानि चाग्निसाध्यानि, एते तु नाग्नेः स्पर्शमपि कुर्वन्ति । अग्नेरेव गृहपतित्वमाह—'अग्ने गृहपते' इत्यादि श्रुतिः । यत एतेषां किमाचरणमुपधार्य्यैतान् निरूपयन्ति । बाहुल्येन वेदविदांश्चैते किं प्रयोजनमङ्गीकृत्याङ्गीकुर्युर्वाचोविग्लापनं[1] हितत्' इत्यादि श्रुतिवाक्यैरेव "एवं विमृश्य सुधियो विरमन्ति शब्दाद्" इत्यादिपुराणवाक्यैरेव च तदनङ्गीकरणं दर्शितम् ।

किञ्च "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन" इति श्रुतेः ॥

बहुशास्त्रकथाकन्थारोमन्थेन वृथैव किम् ।
अन्वेष्टव्यं प्रयत्नेन तत्वज्ञैर्ज्योतिरान्तरम् ॥ इति ।

उत्तरगीतायाम्[2]—

अधीत्य[3] चतुरो वेदान् धर्मशास्त्राण्यनेकशः ।
ब्रह्मतत्त्वं[4] न जानाति दर्वी पाकरसं यथा ॥ इत्यादि ।
(उ० २।४१)

किञ्चैतेषां सत्यस्वरूपभूतानां महिमान निरूपयन्तो वेदा मुह्यन्तीव च । अवृत्तिविषयत्वात् । तथा च कर्मकाण्डे मुख्यमपि ज्ञानं[5] न मुख्यत्वेन दर्शयन्ति । दर्शिते च तस्मिन् कर्ममोह एव स्यात् । एव ज्ञानकाण्डे च योगतन्महिम्नि दर्शिते ज्ञानं मोहः स्यात् । तथा च वेदेषु तन्महिमा नोपलभ्यते—इत्येतदेवाभिप्रेत्योद्योगपर्वणि सनत्सुजातीये प्रोक्तम्—

आभाति शुक्लमिव लोहितमिवाथो कृष्णमायांजनं काद्रवं वा ।[6]
न पृथिव्यां तिष्ठति नान्तरिक्षे नैतत्समुद्रे सलिलं बिभर्त्ति ॥
न तारकासु न च विद्युताश्रितं न चाभ्रेषु दृश्यते रूपमस्य ।
न चापि वायौ न देवतासु नैतच्चन्द्रे दृश्यते नोत सूर्ये ॥
नैवर्क्षु तन्न[7] यजुष्षु नाप्यथर्वसु न दृश्यते वै विमलेषु सामसु ।
रथन्तरे बार्हद्रथे वापि राजन् महाव्रते नैव दृश्येद्ध्रुवं[8] तत् ॥

---

१. विप्लावनं—पू० सं०
२. नास्ति—पू० सं० ।
३. आलोच्य—मु० पा० ।
४. यौ वै ब्रह्म—मु० पा० ।
५. नाज्ञ—पू० स०
६. कृष्णमायसमर्कवर्णम्—इति मातृका पाठः ।
७. नैतद्य०—मु० पा० ।
८. महाव्रतस्यात्मनि—पा०. ।

अपारणीयं[1] तमसः परस्तात् तदन्तकोऽप्येति[2] विनाशकाले ।
अणीयरूपं क्षुरधारया समं[3] महच्चरूपं तद्वै[4] पर्वतेभ्य ॥
(स० ३।२०–२३)

[5]सा प्रतिष्ठा तदमृतं लोकास्तद्ब्रह्म तद्यशः ।
भूतानि जज्ञिरे तस्मात्प्रलयं यान्ति तत्र हि ॥ (स० ४।२३)

अनामयं तन्महदुद्यतं यशो वाचोविकारं कवयो वदन्ति ।
तस्मिञ्जगत्सर्वमिदं प्रतिष्ठितं ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥

ननु तद्विदुरित्यनेन योगोपसर्जन ज्ञानमेवोक्तमिति चेन्नैतस्यैव शास्त्रस्याग्निमेऽध्याये—

यत्तच्छुक्लं महज्ज्योतिर्दीप्यमानं महद्यशः ।
तद्वै देवा उपासन्ते तस्मात्सूर्यो विराजते ॥
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ (स० ४।१)

इत्यादि सविस्तरमुक्तमतो ग्रन्थभारवहनं वृथैव । किन्तु तदन्तर्गतं स्वोपयुक्तं सारमात्रं गुरुवाक्याद् गृहीत्वा योगेन कृतकृत्यो भवेदिति—

आत्मनस्तत्त्वमज्ञात्वा मूढः शास्त्रेषु मुह्यति ।
[6]गोपः कक्षागते छागे कूपे पश्यति दुर्मति ॥
वदन्तो वाऽऽत्मनोभावं [7]वदन्त्युपनिषद्गिरः ।
रहस्युपदिशन्त्यन्ये स्वयं नानुभवन्ति ते ॥
विहाय योगशास्त्राणि नाना गुरुमतानि च ।
अहङ्कारावृताः केचिज्ज्ञात्वा शास्त्रसमुच्चयम् ॥
उपदेशं न जानन्ति न च ग्रन्थशतैरपि ॥

इति द्वितीयमुत्तरम् ॥ २ ॥

पुनः तदेव मुख्यतयोच्यते—श्रुतिस्त्वस्मिन्नपि मते साधिकैवास्ति, परन्त्वेतन्मतस्य बोधो युष्माकं नास्ति । तेन यूयं शङ्कर-वैष्णवप्रवर्त्तितमार्गानुसारितत्त्वमालम्ब्य वदथ श्रुतिः साधिका नास्तीति । तत्सत्यम्, शङ्कररामानुजादिश्रुतयश्चात्र साधिका मा भवन्तु नाम, श्रुतयस्तु भविष्यन्त्येव साधिका इति ।

---

१. °अवारणीयं°–मु० पा० ।
२. °तोऽभ्येति–मु० पा० ।
३. च तथाप्यणीय–मु० पा० ।
४. स्वरूपं त्वयि–मु० पा० ।
५. तत्–मु० पा० ।
६. गोपकक्षागतच्छाये–पू० सं० ।
७. वदन्तोप°–पू० सं० ।

अयम्भावः—वेदस्तु शाखाभेदैरनेकधा विस्तृतः। तत्र पञ्चाशदुपनिषदां निबन्धः कृत[1]स्ततोऽप्यधिका उपलभ्यन्ते। परन्तु न तेन निबन्धेन प्रायो निर्णयव्यवहारः। तत्रापि शङ्करेण दशैवाभिमता उपनिषद ईश-केनेत्यादयः प्रसिद्धाः। रामानुजप्रभृतिभिस्तु दशस्वपि शङ्कराभिमतादन्योऽर्थ इति स्पष्टमुदीर्यते। एवमन्येऽपि स्वाभिप्रायानुसारि वेदस्य तात्पर्यं वर्णयिष्यन्ति। एतावता[2] तत्तात्पर्यं तेषामेव न तु वेदस्येति। यथा विरोचनः प्रजापतिनाऽनुशिष्टोऽपि स्वचित्तदोषेण देह आत्मत्वबुद्धिं दृढीकृत्यासुरान् सर्वाननुशशासेति छान्दोग्ये स्पष्टाख्यायिकाऽस्ति। यतो योगिनां स्थूलवेदे प्रयोजनमेव नास्ति। सर्ववेदमूलभूत ॐकार एव प्रयोजनं तात्पर्यञ्च। तत्र सर्ववेदानां[3] लयोदयौ भवतः, यतः ॐकारप्रतिपादिकाः सर्वाः श्रुतयोऽत्र साधिकाः। तथाहि—

"वेदस्य सारतरः प्रणवः भूरित्येव ऋग्वेदादजायत, भुव इति यजुर्वेदात्, स्वरिति सामवेदात्तानि शुक्राण्यभ्यतपत्तेभ्यस्त्रयो वर्णा अजायन्ताकार उकारो मकार इति। तानेकधा समभरत्तदेतदोमिति" बह्वृचब्राह्मणे। अस्य च प्रणवस्य ॐ इत्येतदक्षरमिदं सर्वमिति सर्वात्म्यश्रुतौ तन्मात्राणां चाकारोकारमकाराणां क्रमात् स्थूलकारणप्रपञ्चवाचकयोरभेदात् पूर्वस्योत्तरोत्तरत्र प्रविलापने गुरुयुक्त्या क्रियमाणे स्थूलस्य जगतो वेदस्य वा सूक्ष्मे लवणोदकन्यायेन प्रविलयो भवति। तथा सूक्ष्मस्य कारणे कारणस्य तुरीयेऽर्द्धमात्रावाच्ये मात्राख्ये "शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते" इति श्रुतेर्गलिताखिलद्वैतभावे वाङ्मनसातीते प्रविलयो भवति। अतः प्रणववेद इत्यभ्युपगम्य तद्द्वारा तत्प्रवर्तकनादब्रह्मेत्यवलम्ब्य नादब्रह्मणो यन्मूलं तत्तत्त्वमिति विश्रान्तिमतां मते का वा श्रुतिः साधिका न भवतीति प्रसिद्धतरमेव सर्वत्र।

प्रणवप्रशंसा च [4]शिखोपनिषदि—

"प्रणवः सर्वान्प्राणान् [5]प्रणामयति वै तस्मात्प्रणवश्चतुर्द्धा[6]ऽवस्थित इति वेददेवयोनिः सर्ववाच्यवस्तु प्रणवात्मकम्। देवाश्चेति सन्धत्तां[7] सर्वेभ्यो दुःसहेभ्यः[8] सन्वारयति। तारणात्तानि सर्वाणीति। [अथर्वशिखोप० १-२, ई० अ० पृ० १५८]

ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरः शिव एव च।
पञ्चधा पञ्चदैवत्यः प्रणवः परिपठ्यते॥

तत्राधिकं क्षणमेकमास्थाय क्रतुशतस्यापि फलमवाप्नोति। कृत्स्नमोङ्कारगतं च सर्वज्ञानेनेति। माण्डूक्योपनिषदि—

---

१. निबन्धाः कृता—पू० सं०।
२. तावता—मु० पा०।
३. सर्वदेवानां—पू० सं०।
४. शिवोप°—पू० सं०।
५. परमात्मनि प्रणाययति—मु० पा०।
६. चतुर्था°—मु० पा०
७ वेददेवयोनिर्ध्येयाश्चेति संधत्तां—पू० सं०।
८. दुःखभयेभ्यः—मु० पा०

ॐकाराच्छन्दसो[१] ज्ञात्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ।
युञ्जीत प्रणवे चेतः प्रणवो ब्रह्म निर्भयम् ॥
प्रणवे नित्ययुक्तस्य न भयं विद्यते क्वचिद् ।
प्रणवो ह्यपरं ब्रह्म प्रणवश्च परः[२] स्मृतः ॥
अपूर्वोऽनन्तरोऽवाह्योऽनपरः प्रणवोऽव्ययः ।
सर्वस्य प्रणवो ह्यादिर्मध्यमन्तस्तथैव च ॥
एवं हि प्रणवं ज्ञात्वा फलते[३] तदनन्तरम् ।
प्रणवं हीश्वरं विद्यात्सर्वस्य हृदये स्थितम् ॥
सर्वव्यापिनमोङ्कारं मत्वा धीरो न शोचति ।
अमात्रोऽनन्तमात्रश्च द्वैतस्योपशमः शिव ॥
ॐ कारो विदितो येन समुनिर्नेतरो जनः ॥ इति ।

(मा० आगम० २४-२८)

बृहदारण्यके—स यथार्द्रैधाग्नेरभ्याहितस्येत्यादि ।

(४।५।११, ई० अ० पृ० १०८)

छान्दोग्ये—एतदक्षरमुद्गीथेत्यादि । (१।४।१, ई० अ० पृ० ३३)

एतदेवाभिप्रेत्य महाभारते सनत्सुजातीयवचनम्—

यतो न वेदा मनसा सहैव मैनं[४] प्रविशन्ति ततोऽथ मौनम् ।
यत्रोत्थितो वेदशब्दस्तथायं स तन्मयत्वेन विभाति राजन् ॥

(स० २।२)

भागवते चाप्येकादशस्कन्धे—

स एष जीवो विवरप्रसूतिः प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्टः ।
मनोमयं सूक्ष्ममुपेत्य रूपं मात्रास्वरो वर्ण इति स्थविष्ठः ॥

(भा० ११।१२।१७)

शब्दब्रह्म सुदुर्बोध प्राणेन्द्रियमनोमयम् ।
अनन्तपारं गम्भीरं दुर्विगाह्यं समुद्रवत् ॥
मयोपबृंहितं भूम्ना ब्रह्मणाऽनन्तशक्तिना ।
भूतेषु घोषरूपेण विसेषूर्णेव लक्ष्यते ॥
यथोर्णनाभिर्हृदयादूर्णामुद्वमते मुखात् ।
आकाशाद्घोषवान्प्राणो मनसा स्पर्शरूपिणा ॥

---

१. ओङ्कार पादशो–मु० पा० ।
२. चापरः—पू० स० ।
३. व्यश्नुते–मु० पा०
४. सहैनमनु–मु० पा० ।

छन्दोमयोऽमृतमयः सहस्रपदवीं प्रभुः।
ॐ काराद्व्यञ्जितस्पर्शस्वरोष्मान्तस्थभूषिताम् ॥
(भा० ११।२१।३६-३९)

इत्यादि, अन्यच्च—

वेदः प्रणव एवाग्रे धर्मोऽहं वृषरूपधृक्।
उपासते तपोनिष्ठा हंसं मां मुक्तकिल्विषाः ॥
त्रेतायुगे महाभाग प्राणान्मे हृदयात्त्रयी।
विद्या प्रादुरभूत्तस्या अहमासं त्रिवृन्मखः ॥
विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा मुखबाहूरुपादजाः ॥ इत्यादि।
(भा० ११।१७।११-१३)

गीतायाञ्च—

ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ (गी० ८।१३)

एवमन्यत्रापि बहुधा प्रपञ्चितम्, तदत्र विस्तरभयान्न लिख्यते। इति तृतीयमुत्तरम् ॥ ३ ॥

पुनः वेदार्थस्य बोधस्तु केषाञ्चिन्नास्त्येव। केवलमभिमानमेव पुरस्कृत्य ये वदन्ति तान् प्रति चतुर्थमिदमुत्तरम्—यद्भवद्भिर्वेदो वेद इति पुनः पुनरुच्यते। तस्य वेदस्य त्वभ्यासेऽप्यवधूतानां दोष एव स्यात्। कथमिति चेदुच्यते-वेदस्य पूर्वभागस्तु वर्णानामेव, वेदान्तभागस्तु भिक्षूणामेव, योगभागोऽस्त्यवधूतानाम्। वेदस्य पूर्वभागे ज्ञानं वाच्यार्थेन न दर्शितम्। किन्तु तात्पर्ये तदस्तीति भवद्भिरेवोच्यते। एवञ्च वेदस्य पूर्वभागे यथा ज्ञानं तात्पर्येऽस्ति तथा वेदान्तभागे योगस्तात्पर्यार्थोऽस्ति। यद्यपि बहुधा वाच्यार्थेनापि दर्शितो योगस्तथापि मुख्योत्तरं तु मुख्यतात्पर्यं एवास्ति। यतो वेदान्ततात्पर्यं लक्ष्यं चावधूत एवास्ति। "सर्वे वेदास्तत्पदमामनन्ति" इत्यादि श्रुतयो "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो" इत्यादि स्मृतयश्च।

रूपे इमे सदसती तव वेद सृष्टेर्बीजाङ्कुराविव न चान्यदरूपकस्य।
युक्ताः समक्षमुभयत्र विचिन्वते त्वां योगेन वह्निमिव दारुषु नान्यतः स्यात् ॥

इत्यादिपुराणवाक्यानि चात्र साधकानि। एतदेवाभिप्रेत्य महाभारते सनत्सुजात आह—

न वेदानां वेदिता कश्चिदस्ति कश्चित्त्वेतान् बुध्यते वापि राजन्।
यो वेद वेदान्न स वेद वेद्यं सत्ये स्थितो यस्तु स वेद वेद्यम् ॥
न वेदानां वेदिता कश्चिदस्ति वेद्येन वेदं न विदुर्न वेद्यम्।
यो वेद वेदं सच वेद वेद्यं यो वेद वेद्यं न स वेद सत्यम् ॥
यो वेद वेदान् सच वेद वेद्य न तं विदुर्वेदविदो न वेदाः[1]।
तथापि वेदेन विदन्ति वेदं ये ब्राह्मणा वेदविदो वदन्ति ॥

---

१. विप्राः—पा०।

धामांशभागस्य तथाहि वेदा यथा च शाखा हि महीरुहस्य ।
संवेदने चैव यथामनन्ति तस्मिन् हि सत्ये परमात्मनोऽर्थे ॥
(स० २।४१-४४)

धृतराष्ट्र उवाच—

आख्यानपञ्चमैर्वेदैर्भूयिष्ठं कथ्यते जनः ।
तथा चान्ये चतुर्वेदास्त्रिवेदाश्च तथा परे ॥
द्विवेदाश्चैकवेदाश्च अनृचश्च तथा परे ।
तेषां तु कतरः स स्याद्यमहं वेद वै द्विजम् ॥
(स० २।३५-३६)

सनत्सुजात उवाच—

एकस्य वेदस्याज्ञानाद्वेदास्ते बहवः कृताः ।
सत्यस्यैकस्य राजेन्द्र सत्ये कश्चिदवस्थितः ॥ (२।३७)
एवं वेदमविज्ञाय प्राज्ञोऽहमिति मन्यते ।
दानमध्ययनं यज्ञो लोभादेतत्प्रवर्तते ॥
सत्यात्प्रच्यवमानानां सङ्कल्पश्च तथा भवेत्[1] ।
ततो यज्ञः प्रतीयेत सत्यस्यैवावधारणात्[2] ॥ (२।३८)

धृतराष्ट्र उवाच—

ऋचो यजूंषि यो वेद[3] सामवेदं च वेद यः ।
पापानि कुर्वन् पापेन लिप्यते किं न लिप्यते ॥ [स० २।३]

सनत्सुजात उवाच—

नैनं सामान्यृचो वापि न यजूंष्यविचक्षणम् ।
त्रायन्ते कर्मणः पापान्न ते मिथ्या ब्रवीम्यहम् ॥
न छन्दांसि वृजिनात्तारयन्ति मायाविनं मायया वर्त्तमानम् ।
नीडं शकुन्ता इव जातपक्षाश्छन्दांस्येनं प्रजहत्यन्तकाले[4] ॥
(स० २।४५)

एवञ्च स्थूलवेदतात्पर्यैर्युष्माभिः सूक्ष्मवेदतात्पर्याणामस्माकं मतमविज्ञाय योऽनुयोगस्तत्प्रतिवाक्यमिदं चतुर्थमुत्तरम् ॥ ४ ॥

योगबीजे—

बद्धा येन विमुच्यन्ते नाथमार्गमतः परम् ।
तमहं कथयिष्यामि तव प्रीत्या सुरेश्वरि ॥ (यो० बी० ७)
अनेकशतसङ्ख्याकैस्तर्कव्याकरणादिभिः ।
पतिताः शास्त्रजालेषु प्रज्ञया ते विमोहिताः ॥

---

१. संकल्पा वितथाभवन्–मु० पा० ।
२. कर्म प्रतायेत सत्यस्य नवधा–मु० पा०
३. यजूंष्यधीते यः–मु० पा० ।
४. पादव्यत्यासः–मु० पु० ।

नानामार्गैस्तु दुष्प्राप्यं कैवल्यं परमं पदम् ।
सिद्धमार्गेण लभ्येत नान्यथा शिवभाषितम् ॥
अनिर्वाच्यपदं वक्तुं न शक्यं तैः सुरैरपि ।
स्वात्मप्रकाशरूपं तत् किं शास्त्रेण प्रकाश्यते ॥
(यो० बी० ७–१०)

विशुद्ध एव परमात्मा जीवाभिध इत्युक्त्वा जीवस्य दोषाः कामक्रोधभयचिन्तेत्यादयश्चोक्ताः ।

तस्माद्दोषविनाशार्थमुपायं कथयामि ते ।
ज्ञानं केचिद्वदन्त्यत्र केवलं तन्न सिद्धये ॥
योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवतीश्वरि ॥
(यो० बी० १८, १९)

अज्ञानात्संसारो ज्ञानेन मुच्यते । तत्र योगस्य किं कार्यमिति देव्या पृष्ट ईश्वर उवाच—(योगबीजे)

असौ दोषैर्विमुक्तः किं कामक्रोधभयादिभिः ।
सर्वदोषैर्वृतो जीवः कथं ज्ञानेन मुच्यते ॥ २२ ॥
ज्ञाननिष्ठो विरक्तो हि धर्मज्ञो विजितेन्द्रियः ।
विना योगेन देवोऽपि न मोक्षं लभते प्रिये ॥ ३३ ॥
अपक्काः परिपक्काश्च द्विविधा देहिनः स्मृताः ।
अपक्का योगहीनास्तु पक्का योगेन देहिनः ॥ ३४ ॥
तस्माज्ज्ञान च वैराग्यं जपः स्यात्केवलं श्रमः ॥ ४१ ॥
शरीरेण जिताः सर्वे शरीरं योगिभिर्जितम् ॥
तत्कथं कुरुते तेषां सुखदुःखादिजं फलम् ॥ ४९ ॥
देवैरपि न लभ्येत योगदेहो महाबलः ॥
छेदबन्धैर्विमुक्तोऽसौ नाना शक्तिधरः परः ॥ ५१ ॥
यथाऽऽकाशस्तथा देह आकाशादपि निर्मलः ॥
सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरो देहः स्थूलात्स्थूलो जडाज्जडः ॥ ५३ ॥
इच्छारूपो हि योगीन्द्रः स्वतन्त्रस्त्वजरामरः ॥
क्रीडति त्रिषु लोकेषु लीलया यत्र कुत्रचित् ॥ ५४ ॥
अचिन्त्यशक्तिमान् योगी नानारूपाणि धारयन् ॥
संहरेच्च पुनस्तानि स्वेच्छया विजितेन्द्रियः ॥ ५५ ॥
पुरैव मृत एवासौ मृतस्य मरणं कुतः ।
मरणं यत्र सर्वेषां तत्रासौ सखि जीवति ॥ ५७ ॥
कर्त्तव्यं नैव तस्यास्ति कृतेनासौ न लिप्यते ।
जीवन्मुक्तः सदा स्वस्थः सर्वदोषविवर्जितः ।

विरक्ता ज्ञानिनश्चान्ते देहेन विजिताः सदा ॥
ते कथं योगिभिस्तुल्या मांसपिण्डाः कुदेहिनः ॥ ६० ॥

देव्युवाच—

ज्ञानिनस्तु मृता ये वै तेषां भवति कीदृशी ।
गतिः कथय देवेश कारुण्यामृतवारिधे ॥ ६१ ॥

ईश्वर उवाच—

देहान्ते ज्ञानिनः पुण्यात्पापान्न फलमाप्यते ।
यादृशं तु भवेत्तत्र मुक्तो ज्ञानी पुनर्भवेत् ॥ ६२ ॥
पुण्यात्पुण्येन लभते सिद्धेन सह सङ्गतिम् ।
ततः सिद्धस्य कृपया योगी भवति नान्यथा ॥ ६३ ॥
ततो नश्यति संसारो नान्यथा शिवभाषितम् ॥ ६४ ॥
महाविष्णुमहेशानां प्रलयेष्वपि योगिनाम् ॥
नास्ति पातो लयस्थानां महातत्त्वे विवर्त्तिनाम् ॥ ६५ ॥

वेदान्ततर्कोक्तिभिरागमैश्च नानाविधैः शास्त्रकदम्बकैश्च ॥
ध्यानादिभिः सत्करणैर्न गम्यं चिन्तामणिं त्वेकगुरुं विहाय ॥ ६ ॥ (योगबीजे)

सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ—शिवाद् भैरवः, भैरवाच्छ्रीकण्ठः, श्रीकण्ठात् सदाशिवः, सदाशिवादीश्वरः, ईश्वराद्रुद्रः, रुद्राद्विष्णुः, विष्णोर्ब्रह्मा, इति। महासाकारपिण्डस्य[१] मूर्त्यष्टकम् । (सि० १।३७)

आचारे ब्राह्मणा वसन्ति, शौर्ये क्षत्रियाः, व्यवसाये वैश्याः, सेवाभावे शूद्राः। अनन्तसिद्धा मतिप्रकाशे। अस्ति कश्चित्परमाद्वैतस्य भावः। स एवात्मेति।

शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः ।
अन्तरं नैव जानीयाच्चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ॥ (सि० ४।२६)
तज्ज्ञेयं सद्गुरोर्वक्त्रान्नान्यथा शास्त्रकोटिभिः ।
न तर्कशब्दविज्ञानात् नाचाराद्वेदपावनात्[२] ॥
वेदान्तश्रवणान्नैव तत्त्वमस्यादिबोधनात् ।
देवार्चनाश्रयाद् भक्त्या नाश्रमाणां च पालनात्[३] ॥
स्वस्थो[४] योगी स्वयं कर्ता लीलया चाजरामरः ।
अवध्यो देवदैत्यानां क्रीडते भैरवो यथा ॥
(सि० ५।३१-३४)

न गुरोरधिकं न गुरोरधिकं शिवशासनतः शिवशासनतः ॥ (सि० ५।६६)

१. °साकारस्य–पू० स० । २. °पारगात्–मु० पा० ।
३. "न हंसोच्चारणाज्जीवब्रह्मणोरैक्यभावनात्" इति मु० पा० ।
४. स्वेच्छो–मु० पा० ।

करुणाखड्गपातेन छित्वा पाशाष्टकं शिशोः ।
सम्यगानन्दजनकः सद्गुरु सोऽभिधीयते ॥ (सि० ५।६८)

पुनर्वागादिना शास्त्रद्रष्टाऽनुमानात्तर्कमुद्रया भ्रामको गुरुस्त्याज्यः ।

स्वविश्रान्तिं न जानाति परेषां स करोति किम् ।
शिलया किं परं पारं शिलाजालं प्रताय्यर्ते ॥
स्वयं तीर्णो भवेद्योऽसौ परान्निस्तारयत्यलम् । (सि० ५।७३-७४)

सर्वदर्शनानां स्वरूपदर्शनेन समन्वयं करोति–सोऽवधूतः स योगी स्यात् ।

अत्याश्रमी च योगी च ज्ञानी सिद्धश्च सुव्रतः ।
ईश्वरश्च तथा स्वामी धन्यः श्रीसाधुरेव च ॥
जितेन्द्रियश्च भगवान् स सुधीः कोविदो बुधः ।
सर्वेषां दर्शनानां च स्वरूपं स पकाशयेत् ॥
(सि० ६।२०-२२)

सर्वतो भरिताकारं निबद्धं येन[1] वृंहितम् ।
चरते ब्रह्म तद्यस्तु ब्रह्मचारी स कथ्यते ॥
गृहिणीपूर्णता नित्यं गेहं व्योम सदाऽचलम् ।
यस्तया निवसत्यत्र गृहस्थः सोऽभिधीयते ॥
सदाऽन्तःप्रस्थितो योऽसौ स्वप्रकाशमये वने ।
वानप्रस्थः स विज्ञेयो न वने मृगवच्चरन् ॥
परमात्मा च जीवात्मा चात्मन्येव स्फुरत्यलम् ।
तस्मिन्न्यस्तः सदा येन संन्यासी सोऽभिधीयते ॥
(सि० ६।३३-३७)

न वन्दनीयास्तत्काष्ठा[2] दर्शनभ्रान्तिकारकाः ।
वर्जयेत्तान् गुरून् दूराद्धीरः सिद्धमताश्रयः ॥
(सि० ६।७२)

पद्मपुराणे कपिलगीतायाम्—

दत्तात्रेयादि सिद्धानां नवनाथास्तथैव च ।
शङ्करं गुरुरूपेण बोधितश्चात्मतत्त्वभिः (?) ॥
ऋग्वेदोऽथ यजुर्वेदो सामवेदो ह्यथर्वणः ।
सूक्ष्मवेदो हि अध्यक्षः पञ्च वेदाः प्रकीर्तिताः ॥

ईश्वर उवाच—

ॐकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।
तस्मिन्मध्ये स्थितं तत्त्वं प्रदर्शयति सद्गुरुः ॥

---

१. निजबोधेन–मु० पा० । २. °स्ते काष्ठा–मु० पा० ।

ॐ मित्येवं परं ब्रह्म सर्वतत्त्वानुदर्शनम् ।
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं सर्वानुग्रहकारकम् ॥
तारकं च भवेद् ब्रह्मा दण्डकं विष्णुरुच्यते ।
कुण्डल्यां हि तथा रुद्रो अर्द्धचन्द्रः स ईश्वरः ॥
बिन्दुः सदाशिवः साक्षात्प्रणवे पञ्चदेवताः ।
निरञ्जनस्तदतीत उत्पत्तिस्थितिकारणम् ॥
दुर्लभो विषयत्यागी दुर्लभं तत्त्वदर्शनम् ।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना ॥
विचारदर्पणं[१] यस्य अवलोकनमीक्षितम् ।
दृश्यते तत्स्वरूपं च तत्रैकं पृच्छ किं नहि ॥
हृदयं दर्पणं यस्य मनस्तत्र विलोकयेत् ।
दृश्यते प्रतिबिम्बेन आत्मरूपं सुनिश्चितम् ॥

धूतगीतायाम्—

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं सम्पूर्ण[२]परमात्मनि ।
भिन्नाभिन्नं न पश्यामि तस्याऽहं पञ्चमाश्रमः ॥
आशापाशविनिर्मुक्तमादिमध्यान्तनिर्मलम् ।
अनन्तानन्दब्रह्मज्ञः[३] अकारं तस्य लक्षणम् ॥ (८।६)
वासना वर्जिता येन वक्तव्यं च निरामयम् ।
वर्तमानेषु वर्त्तेत वकारं तस्य लक्षणम् ॥
धूलिधूसरगात्राणि धूतचित्तनिरामयम् ।
ध्यानधारणनिर्मुक्तं धूकार तस्य लक्षणम् ॥ (८।७)
तत्त्वचिन्ता येन धूता चिन्ता चेष्टाविवर्जिता ।
तमहंकारनिर्मुक्तं तकारं तस्य लक्षणम् ॥ (८।६-०)
शिवं न जानामि कथं वदामि शिवं च जानामि कथं वदामि ।
अहं शिवश्चेत् परमार्थरूपं स्वच्छस्वभावं[४] गगनोपमं च ॥
(१।२७)
वेदा न लोका न सुरा न यज्ञा वर्णाश्रमौ नैव कुलं न जातिः ।
न धूममार्गो न च दीप्तिमार्गो ब्रह्मैव रूपं परमार्थतत्त्वम् ॥
(१।३४)
व्याप्यव्यापकनिर्मुक्तं त्वमेकः सकलं यदि ।
प्रत्यक्षं चापरोक्षं च आत्मानं मन्यसे कथम् ॥ (१।३५)

---

१. विचारो–पू० सं० । २. सम्पूर्ण–पू० सं० ।
३. आनन्दे वर्त्तते नित्यं–मु० पा० । ४. परमार्थतत्त्वं च समस्वरूपं–मु.पा. ।

आदिमध्यान्तमुक्तोऽहं न बद्धोऽहं कदाचन।
स्वभावनिर्मलः शुद्ध इति मे निश्चला मतिः ॥ (१।४४)
न बद्धो नैव मुक्तोऽहं न चाहं ब्रह्मणः पथक्।
न कर्त्ता नैव भोक्ताऽहं व्याप्यव्यापकवर्जितः ॥ (१।५०)
न जातोऽहं मृतो वापि न मे कर्म शुभाशुभम्।
शुद्धोऽहं निर्गुणं ब्रह्म बन्धमुक्ती[1] कथं मम ॥ (१।५९)
यदि सर्वंगतो देवः स्थिरः पूर्ण इति स्मृतः[2]।
अन्तरं न हि पश्यामि सबाह्याभ्यतरः कथम् ॥ (१।६०)
भावगम्यं निराकारं साकारं दृष्टिगोचरम्।
भावाभावविनिर्मुक्तमन्तरालं तदुच्यते ॥ (२।१८)
साकारं च निराकारं नेति नेतीति सर्वथा।
भेदाभेदविनिर्मुक्तं वर्त्तते केवलं शिवः ॥
दिवानक्तं न ते चित्त उदयास्तमयौ नहि।
विदेहस्य शरीरित्वं कल्पयन्ति कथं बुधाः ॥

न ते च माता न पिता न बन्धुर्न ते च पत्नी न सुहृन्न पुत्रः।
न पक्षपातो न विपक्षपातः कथं हि सत्ताऽसि रजो हि चेतः ॥

धर्मार्थकाममोक्ष च द्विपदादि चराचरम्।
मन्यते योगिनः सर्वं मरीचिजलसन्निभम् ॥

विन्दति विन्दति नहि नहि मन्त्रश्छन्दो लक्षणमिह नहि तन्त्रः।
समरसमग्नो भावितपूतः प्रलपितमेतत्कथमवधूतः[3] ॥ (५।३२)
अद्वैतरूपमखिलं हि कथं वदामि नित्यं ह्यसत्यमखिलं हि कथं वदामि।
सत्यं ह्यसत्यमखिलं हि कथं वदामि ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥ (३।५)
ब्रह्मादयः सुरगणाः कथमत्र सन्ति स्वर्गादयो वसतयः कथमत्र सन्ति।
यद्येकरूपममलं परमार्थतत्त्वं ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥ (३।२४)
मायाप्रपञ्चरचना न च मे विकारः कौटिल्यदम्भरचना न च मे विकारः।
सत्यानृतेतिरचना न च मे विकारो ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥ (३।२७)
न शून्यरूपं न विशून्यरूपं न शुद्धरूपं न विशुद्धरूपम्।
रूपं विरूपं न भवामि किञ्चित् स्वरूपरूपं परमार्थसत्त्वम् ॥ (३।४५)
नावाहनं नैव विसर्जनं च पत्राणि पुष्पाणि कथं भवन्ति।
ध्यानानि मन्त्राश्च कथं भवन्ति समासमं सर्वं[4] शिवार्चनं च ॥ (४।१)

---

१. बन्धमुक्तौ—प० सं०। २. पूर्णो निरन्तरः—मु० पा०।
३. प्रलयति तत्त्वं परमवधूतः—मु० पा०। ४. चैव—मु० पा०।

नाहं न च पण्डितोऽहं मौनं च वार्ता[१] न च मे कदाचित् ।
वितर्कं च कथं वदामि स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ (४।२०)
नैव सदोदितोऽहं तमश्च तेजो न च मे विभाति ।
कं कर्म कथं करोमि[२] स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ (४।२२)
तत्त्वमसिप्रभृतिश्रुतिभिः प्रतिपादितमात्मनि तत्त्वमसि ।
गविवर्जितसर्वसमं किमु रोदिषि मानस[३] सर्वसमम् ॥ (५।२)
ल्पितभागविभाग इति नहि रागविराग[४]विचार इति ।
गविवर्जितसर्वसमं किमु रोदिषि मानस[३] सर्वसमम् ॥ (५।४)
विवेकमबोध इति अविकल्पविकल्पविबोध इति ।
चैकनिरन्तरबोध इति किमु रोदिषि मानस[३] सर्वसमम् ॥ (५।१०)
श्रुतयः प्रविदन्ति यतो वियदादिरिदं मृगतोयसमम् ।
चैकनिरन्तरसर्वसमं किमु रोदिषि मानव[३] सर्वसमम् ॥ (५।३१)
क्तिविभक्तिविहीनपरमणुकायविकाय[६]विहीनपरम् ।
चैकनिरन्तरसर्वशिवं[७] यजनं च कथं स्तवनं[८] च कथम् ॥ (६।२)
त्रिविभेदनिराकरणमुदितानुदितस्य निराकरणम् ।
चैकनिरन्तरसर्वशिवं रविचन्द्रमसौ ज्वलनश्च कथम् ॥ (६।४)
न च आश्रमवर्णविहीनपरो न तु कारणकर्तृविहीनपरः ।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं गुणदोषविचारवचांसि कथम् ॥

पिकायाम्—

क्रियायुक्तस्य सिद्धिः स्यादक्रियस्य कथं भवेत् ।
न शास्त्रपाठमात्रेण योगसिद्धिः प्रजायते ॥
वर्जयेद्दुर्जनप्रीतिं वह्निस्त्रीपथिसेवनम् ।
प्रातः स्नानोपचारादि कायक्लेशादिकं तथा ॥
चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं तथा ।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत् ॥
ब्रह्मादयोऽपि त्रिदशा पवनाभ्यासतत्पराः ।
तेन सिद्धिं गतास्ते च तस्मात्पवनमभ्यसेत् ॥

---

१. विमोचं—मु० पा० ।
२. वदामि—मु० पा० ।
३. मानव सर्वसमः—मूलमातृकायाम् ।
४. कारणकार्य०—मु० पा० ।
५. अवि०—मु० पा० ।
६. ननु कार्य विकार्य०—मु०पा० ।
७. शिवः—पू० सं० ।
८. तपनं—मु० पा० ।
९. चन्द्रमसोज्ज्वलन—पू० स० ।

पक्षपाता तया समपक्षपातया (बहुव्रीहिसमास.) भवत्रा, अनुरागपूर्वकम् । * सक्तम्—अनासक्तम्, अव्यसनितया अर्थात् बिना किसी आसक्ति के, निस्सङ्ग भाव से । सञ्ज् + क्त कर्त्तरि = सक्त:, न सक्तः असक्त: (नञ् तत्पुरुष) तत् यथा स्यात्तथा असक्तम् (क्रियाविशेषण) । आराधयत. अस्य—सेवमानस्य दुर्योधनस्य । आ + राध् + लट् लकार—शतृ प्रत्यय, षष्ठी एकवचन । अर्थात् सेवन करते हुए उस दुर्योधन का । त्रिगणः–त्रिवर्ग. । त्रयाणा, धर्मार्थकामाना गणः (षष्ठी तत्पु०) इति त्रिगणः । धर्म, अर्थ एव काम-इन तीनो को त्रिवर्ग कहते है । नाटक से इन्ही तीनो की सिद्धि बताई गई है–'त्रिवर्गसाधन नाट्यम् ।' त्रिवर्ग मे 'मोक्ष' को भी सयुक्त कर देने पर 'पुरुषार्थचतुष्टय' संज्ञा बनती है । त्रिवर्गो धर्मकामार्थैश्चतुर्वर्गः समोक्षकैः इत्यमरः । गुणानुरागात्—गुणवदाश्रयलोभात् । गुणो मे अनुराग होने के कारण अथवा (दुर्योधन के) गुणानुरोधवश । गुणेषु अनुराग· (अनु + रञ्ज् + घञ् भावे) इति गुणानुराग (सुप्सुपा), तस्मात् । 'हेतौ पञ्चमी' इस नियम से हेतु (कारण) के अर्थ में पञ्चमी विभक्ति हुई है किन्तु 'विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्' नियम से वह वैकल्पिक ही है । सूत्रका अर्थ यह है कि—'स्त्रीलिङ्ग से भिन्न लिङ्ग वाले गुणवाचक शब्दो मे हेत्वर्थक पञ्चमी विभक्ति विकल्प से ही होती है ।' सख्यम्—मैत्रीभावम् । मित्रता को । सख्युर्भाव· सख्यम् (सखि + य प्रत्यय—'सख्युर्यः' सूत्र से) । ईयिवान् इव—प्राप्तवान् इव । प्राप्त किये हुये से । इण् गतौ + लिट्-क्वसु: सु विभक्ति । परस्परम्—अन्योऽन्यम् । एक दूसरे को । परम्-परम् इति परस्परम् । 'कर्म का व्यतिहार अर्थात् क्रिया की अदलाबदली सूचित करने के लिये प्राय· सर्वनाम शब्द का द्वित्व हो जाता है और प्रायः उनमे समास भी कर दिया जाता है' ऐसा वार्तिककार आचार्य कात्यायन का मत है- 'कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वे वाच्ये समासवच्च बहुलम्' । परन्तु आचार्य भट्टोजि दीक्षित अन्य तथा पर शब्दो मे समासवद्भाव मानते ही नही 'अन्यपरयोः न समासवत्' । इस प्रकार कर्मव्यतिहार के कारण सर्वनाम 'पर' को द्वित्व तो हुआ 'परस्परम्' किन्तु समास नही हुआ (अन्यथा 'परपरम्' रूप बनता) अब, जब 'परम्-परम्' के बीच समास नही हुआ तो पूर्वपदस्थ (पहले पर मे स्थित) सुप् को सु हो गया, वार्तिक है—असमासवद्भावे पूर्वपदस्थस्य सुपः सुर्वक्तव्यः । इस प्रकार—पर + सु + परम् = परस्परम् । न बाधते—विरोध नही करता है (बाध् धातु, लट्लकार प्रथमपुरुष, एकवचन) ।

प्रस्तुत श्लोक मे 'ईयिवान् इव' आदि शब्दो द्वारा एक सम्भावना व्यक्त की गई, है अतएव यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है—'सम्भावनमथोत्प्रेक्षा' ।

दिव्यगन्धो दिव्यचक्षुस्तेजस्वी[1] स्यादरोगवान् ।
सम्पूर्णहृदये शून्ये[2] आरम्भो योगवान् भवेत् ॥ (७१।१)

अथ घटावस्था—

द्वितीयायां घटीकृत्य वायुर्भवति मध्यमः[3] ।
दृढासनो भवेद्योगी ज्ञानी देवसमस्तथा ॥ ७२
विष्णुग्रन्थिर्यदा भिन्नः परमानन्दसूचकः ।
अतिशून्यविभेदश्च[4] भेरीशब्दस्तथा भवेत् ॥ ७३ ॥

अथ परिचयावस्था—

तृतीयायां ततो भित्त्वा विमायो[5]मर्द्दलध्वनिः ।
महाशून्यं तथा[6]याति सर्वसिद्धिसमाश्रयम् ॥ ७४ ॥
चित्तानन्दं ततो जित्वा सहजानन्दसम्भवः ।
दोषदुःखक्षुधानिद्राजरामृत्युविवर्ज्जितः[7] ॥ ७५ ॥

अथ निष्ठावस्था—

रुद्रग्रन्थिं ततो भित्वा सर्वपीठगतो[8]ऽनिलः ।
निष्पन्नो वैष्णवः शब्दः क्वणद्वीणाक्वणो भवेत् ॥ ७६ ॥
अस्तु वा माऽस्तु वा मुक्तिरत्रैवाऽखण्डितं महत् ।
लयामृतमिदं सौख्यं राजयोगादवाप्यते ॥ ७८ ॥
राजयोगपदं प्राप्तं सुखोपायं[9] सुचेतसाम् ।
सद्यः प्रत्ययसंधायी जायते नादजो लयः ॥ ८० ॥
नादानुसन्धानसमाधिभाजां योगीश्वराणां हृदये प्ररूढम् ।
आनन्दमेकं वचसामवाच्यं जानाति तं श्रीगुरुनाथ एव ॥
नादकोटिसहस्राणि बिन्दुकोटिशतानि च ।
सर्वे तत्र लयं यान्ति यत्र देवो निरञ्जनः ॥
योगिनां ज्ञानविदुषामन्येषां च महात्मनाम् ।
प्राप्तं तं कालपुरुषं सुविज्ञाप्यं विचक्षणैः ॥
यावन्नैव प्रविशति मरुद्विज्वरो मध्यमार्गे
यावद्बिन्दुर्न भवति दृढः प्राणवत्सुप्रबद्धः ।

---

१. दिव्यदेहश्च तेजस्वी दिव्यगन्ध —मु० पा० ।
२. हृदयः शून्य—मु० पा० ।
३. मध्यगः—मु० पा० ।
४. अतिशून्ये विमर्दश्च—मु० पा०,
५ तु विज्ञेयो विहायो—मु० पा० ।
६. तदा—मु० पा० ।
७. दोषदुःखजराव्याधिक्षुधानिद्रा—मु० पा० ।
८. शर्वपीठ°—मु० पा० ।
९. °पायोल्प—मु० पा० ।

यावद्व्योम्नः सहजसदृशं जायते नैव तत्त्वम्
तावत्सर्वं वदति यदिदं दम्भमिथ्याप्रलापः ॥

हठप्रदीपिकायां दशमोपदेशे[१]—

आदिनाथोदितं सर्वमष्टैश्वर्यप्रदायकम् ।
वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्लभं महतामपि ॥
पीड्यते न तु रोगेण न च लिप्येत कर्म्मणा ।
बाध्यते न च कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥

ऊर्ध्वं षोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठा—
दूर्ध्वास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्तिं परां चिन्तयेत् ।
उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामृतं यः पिबेत्
निर्दोषः स मृणालकोमलवपुर्योगी परं जीवति ॥
यत्पाताले विशति सुषिरं मेरुमूले तदस्ति
तस्मिंस्तत्त्वं प्रविशति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम् ।
चन्द्रात्सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां
तं बध्नीयात् सुकरणमथो नान्यथा कायसिद्धिः ॥

बद्धं मूलबिलं येन तेन विघ्नो विदारितः ।
अजरामरतां याति यथा पञ्चमुखो हरः ॥
तत्रास्ति कारणं दिव्यं सूर्यस्य मुखबन्धनम् ।
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ॥
येन सञ्चालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम् ।
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ॥

ज्ञानं कुतो मनसि जीवति देवि यावत्,
प्राणेऽपि जीवति मनो नृपते न तावत् ।
प्राणो मनोद्वयमिदं विलयं प्रयाति,
मोक्षं स गच्छति नरो न कथञ्चिदन्यः ॥

इन्द्रियाणां मनो नाथो मनोनाथश्च मारुतः ।
मारुतस्य लयो नाथः स लयो नादमाश्रितः ॥
अन्तर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जितः ।
एषा सा शाम्भवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥
शक्तिमध्ये मनः कृत्वा शक्तिं मनसि मध्यतः ।
मनसा मन आलोक्य धारयेत्परमं पदम् ॥
अन्तःशून्यो बहिःशून्यः शून्यकुम्भ इवाम्बरे ।
अन्तःपूर्णो बहिःपूर्णः पूर्ण कुम्भ इवाम्भसि ॥

---

१. हठप्रदीपिकायाश्चत्वार एवोपदेशा उपलभ्यन्ते ।

सङ्कल्पमात्रकलनैव जगत्समग्रं सङ्कल्पमात्रकलना हि मनोविलासः।
[1]सङ्कल्पमात्रकलनैव कृतिस्तु नित्या सङ्कल्पनिश्चयमवाप्नुहि चात्मशान्तिम्[2]॥ (४।५८)

ज्ञेयं सर्वमतीतं च ज्ञानं च मन उच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं मनश्चैव[3] नान्यः पन्था द्वितीयकः॥ (४।६०)

श्री आदिनाथेन सपादकोटिलयप्रकाराः कथिता जयन्ति[4]।
नादानुसन्धायकमेव नान्यं मन्यामहे धन्यतमं लयानाम्॥ (४।६६)

मनःस्थैर्ये स्थिरो वायुस्ततो बिन्दुः स्थिरो भवेत्।
बिन्दुस्थैर्योदयात्सत्यं पिण्डस्थैर्यं प्रजायते॥
न्यासतः सुप्रसन्नात्मा निर्द्वन्द्वो विजितेन्द्रियः।
कुरुते युक्तकर्माणि नित्यनैमित्तिकानि च॥
योगेन पद्मात्मानं गुहायां प्राप्यते च सा।
तारकं जपते नित्यं जितासुः कामवर्जितः॥
युक्तासने समारुह्य समकायशिरोधरः।
नासाग्रदृष्टिरेकाकी जपेदोङ्कारमक्षरम्॥
भूर्भुवःस्वरिमे लोकाश्चन्द्रसूर्याग्निदेवताः।
यस्य मात्रासु तिष्ठन्ति तत्परज्ज्योतिरोमिति॥
अकारश्च उकारश्च मकारो बिन्दुसंज्ञकः।
त्रिधा मात्रा स्थिता यत्र तत्परज्योतिरोमिति॥
त्रयः कालास्त्रयो वेदास्त्रयो देवास्त्रयोऽग्नयः।
त्रयो लोकाः स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति॥
इच्छा क्रिया तथा ज्ञानं ब्राह्मी रौद्री च वैष्णवी।
त्रिधा शक्तिः स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति॥
वचसा च जपेद्विद्वांश्चक्षुषा च समभ्यसेत्।
मनसा संस्मरेन्नित्यं तत्परं ज्योतिरोमिति॥
शुचिर्वाप्यशुचिर्वापि यो जयेत्प्रभवं सदा।
न स लिप्यति योगेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥
शरीरं नो त्यजेदेवं कालः कस्यापि कुत्रचित्।
अन्तःशरीररक्षार्थं यत्नः कार्यस्तु योगिना॥
ततो लक्ष्यमनोऽभ्यासमहंभावविवर्जितम्।
सर्वाङ्गकल्पनाहीनं कथं कालो जयेत तम्॥

१. सङ्कल्पमात्रमतिमुत्सृज निर्विकल्पमाश्रित्य–मु० पा०। २. °शान्तिः–पू० सं०।
३. समं नष्ट–मु० पा०। ४. न सन्ति–पू० सं०।

स एव काले स शिवः स सर्वो नापि किञ्चन ।
कः केन हन्यते तत्र म्रियते वापि कश्चन ॥
ततो व्यतीते समये कालस्य भ्रान्तिरूपितम् ।
योगी सुप्तोत्थित इव बोधं याति निबोधतः ॥

एवं सिद्धो भवेद्योगी वञ्चयित्वा विधानतः ।
कालं कलितसंसारं पौरुषेणाद्भुतेन च ॥
तत्रापि भवने योगी विहरत्येक एव सः ।
पश्यन्संसारवैचित्र्यं स्वेच्छया निरहङ्कृतिः ॥

द्वाराणां नवकं निरुद्ध्य मरुतं पीत्वा दृढं धारितम्
नीत्वाऽऽकाशमपानवह्निसहितं शक्त्या समुच्चालितम् ।
आत्मध्यानयुतस्त्वनेन विधिना विन्यस्य मूर्ध्नि ध्रुवम्[1]
यावत्तिष्ठति तावदेव मरुतां सङ्घेन संस्तूयते[2] ॥
(वि० मा० ६।१००)

दृष्टिः स्थिरा यस्य विनापि दृश्यं वायुः स्थिरो यस्य विना प्रयत्नम् ।
चित्तं स्थिरं यस्य विनावलम्बं स एव योगी स गुरुः स सेव्यः ॥

गोरक्षोपनिषदि—

आदौ देवो महानन्दात्रिर्ममे देवता स्वयम् ।
तस्मादिच्छा सुसम्पन्ना इच्छा ज्ञानं ततः क्रिया ॥
ततो व्यधां वरारोहे पिण्डब्रह्माण्डबुद्बुदम् ।
अव्यक्ताव्यक्तभावेन विचरामि जगत्त्रये ॥

एवं श्रीगुरुः आदिनाथः, मत्स्येन्द्रनाथः, तत्पुत्र उदयनाथः, दण्डनाथः, सत्यनाथः, सन्तोषनाथः, कूर्मनाथः, भवनार्जिः, तस्य श्रीगोरक्षनाथः, ईश्वरसन्तान आदिर्ब्राह्मणः सूक्ष्मवेदी, अद्वैतोपरि सदानन्द देवता, अनाहतशृङ्गी, खेचरीमुद्रा ।

विवेकमार्तण्डे—

अन्तर्निश्चलितात्मदीपकलिकास्वाधारबन्धादिभि[1]-
र्यो योगी युगकल्पकालकलनातत्त्वं च यो गीयते ।
ज्ञानामोदमहोदधिः समभवद्यत्रादिनाथः स्वयं
व्यक्ताव्यक्तगुणाधिकं तमनिशं श्रीमीननाथं भजे ॥

---

१. प्रणामविधिनावष्टभ्य मूर्ध्ना भ्रुव—मु० पा० ।

२. तावदायनगत श्रेयः फल विन्दति—मु० पा० ।

१. बेधादिभिः—पू० स० ।

अजपानाम गायत्री योगिनां मोक्षदायिनी ।
अस्याः सङ्कल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥
अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः ।
अनया सदृशं ज्ञानं न भूतो न भविष्यति ॥ (६।३५-३७)
अनया सदृशं तीर्थमनया सदृशः क्रतुः ।
अनया सदृशं पुण्यं न भूतं न भविष्यति ॥
अनया सदृशं स्वर्ग्यमनया सदृशं तपः ।
अनया सदृशं वेद्यं न भूतं न भविष्यति ॥
एतत्कालभयाद् ब्रह्मा प्राणायामपरायणः ।
योगिनो मुनयः सर्वे ततो वायुं नियन्त्रयेत् ॥
यत्सर्वं द्वन्द्वयोरैक्यं जीवात्मपरमात्मनो· ।
समस्तनष्टसङ्कल्पः समाधिः सोऽभिधीयते ॥
अवेद्यः सर्वशास्त्राणामभेद्य सर्वदेहिनाम् ।
अग्राह्यो मन्त्रयन्त्राणां योगी युक्त· समाधिना ॥
हेतुदृष्टान्तनिर्मुक्तं मनोबुद्ध्याद्यगोचरम् ।
व्योमविज्ञानमानन्दं तत्त्व तत्त्वविदो विदुः ॥
यथा घृते घृत क्षिप्तं घृतमेव हि जायते ।
क्षीरे क्षीरं तथा योगी तत्त्वमेव हि जायते ॥
यावद्बिन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्युभय कुतः ।
यावद्बद्धा नभोमुद्रा तावद्बिन्दुर्न गच्छति ॥ (६।६१)
बिन्दुः शिवो रजः शक्तिर्बिन्दुरिन्दू रजो रविः ।
उभयोः सङ्गमादेव प्राप्यते परमं पदम् ॥ (६।६५)

या पृथ्वी हरितालहेमरुचिरा तत्त्वं लकारान्वितम्
संयुक्ता कमलासनेन हि चतुष्कोणा हृदि स्थायिनी ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकं चित्तान्वितं धारयेत्
एषा स्तम्भकरी सदा क्षितिजयं कुर्याद् भुवो धारणा ॥ (वि० ६।१४६)

अर्द्धेन्दुप्रतिमं च कुन्दधवलं कण्ठेऽम्बुतत्त्वं स्थितम्
यत्पीयूषवकारबीजसहितं युक्त सदा विष्णुना ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकं चित्तान्वितं धारयेत्
एषा दुःसहकालकूटजरणा स्याद्वारुणी धारणा ॥ १४७ ॥

यत्तालुस्थित इन्द्रगोपसदृशं तत्त्वं त्रिकोणं ज्वलत्-
तेजो रेफयुतं प्रवालरुचिरं रुद्रेण यत्सङ्गतम् ।

प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकं चित्तान्वितं धारयेत्
एषा वह्निजयं सदा विदधती वैश्वानरी धारणा ॥ १४८ ॥

यद्भिन्नाञ्जनसन्निभं मिदं वृत्तं भ्रुवोरन्तरे
तत्त्व वायुमयं यकारसहितं तत्रेश्वरो देवता ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकं चित्तान्वितं धारयेत्
एषा खे गमनं करोति यमिनां स्याद्वायवी धारणा ॥ १४९ ॥

आकाशं सुविशुद्धवारिसदृश यद्ब्रह्मरन्ध्रे स्थितम्
यन्नाथेन सदाशिवेन सहितं शान्तं हकाराक्षरम् ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकं चित्तान्वितं धारयेत्
एषा मोक्षकपाटपाटनपटुः प्रोक्ता नभोधारणा ॥ १५० ॥

स्नातं तेन सहस्रतीर्थसलिले दत्तं द्विजेभ्यो धनम्
यज्ञानां च हुतं सहस्रमयुतं देवाश्च सम्पूजिताः ।
सत्यं तेन सुतर्पिताश्च पितरः स्वर्गं च नीता पुनर्-
यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि प्राप्नोति धैर्यं मनः ॥

राजगुह्ये श्रीकृष्णकृतगोरक्षनाथस्तोत्रे—

गकारो गुणसंयुक्तो रकारो रूपलक्षणः ।
क्षकारेणाक्षयं ब्रह्म श्रीगोरक्ष नमोऽस्तुते ॥
ब्रह्मणां च परं ब्रह्म रुद्रादीनां शिरोमणे ।
त्रैलोक्यं निर्मितं येन श्रीगोरक्ष नमोस्तु ते ॥
सर्वगुणो गुणाभावो निर्गुणश्च गुणस्थितः ।
साकारो वा निराकारः श्रीगोरक्ष नमोस्तु ते ॥
स्वः पूजयन्ति देवास्तं मर्त्यलोके च मानवाः ।
पाताले नागलोकाश्च श्रीगोरक्ष नमोस्तु ते ॥
एकाकी वर्त्तते नित्यं भवपाशविवर्जितः ।
परं ब्रह्माक्षयं ज्योतिः श्रीगोरक्ष नमोस्तु ते ॥
श्री गोरक्षस्येदं स्तोत्रं स्वयं कृष्णेन निर्मितम् ।
भक्तिभावविनिर्मुक्तो दासोऽहमिति भावयेत् ॥
आकाशं मन्दिरं यस्य नानारत्नोपशोभितम् ।
हस्तमध्ये स्थितं शम्भोरभय वरदायकम् ॥
नमन्ति ब्रह्मा विष्णुश्च सुरा नृमुनयस्तथा ।
ज्ञानसाराखिलाः सिद्धाः श्रीगोरक्ष नमोस्तु ते ॥
श्री नाथं तु महात्मानं न जानाति स्वयं हरिः ।
किञ्चित्किञ्चिद्विजानाति महादेवनमस्कृतम् ॥

श्रीनाथश्चाक्षयो देवो देवानामप्यगोचरः ।
तत्पादौ चिन्तयेद्योगी अक्षयो योगनिश्चलः ॥

कल्पद्रुमतन्त्रे श्रीगोरक्षकवचे—

योगीश्वरं चादिकाथं सर्वव्याप्यं महेश्वरम् ॥

कल्पद्रुमतन्त्रे श्रीगोरक्षसहस्रनामस्तोत्रे

शुद्धस्फटिकसङ्काशं जटाजूटं त्रिलोचनम् ।
निरञ्जनं निराकारं निर्विकल्पं निरामयम् ॥
त्रिमूर्तिं च त्रिलोकीशं विधिविष्णुमहेश्वरम् ।
विश्वरूपं सदाकारं गोरक्षं नाथदैवतम् ॥
विद्यापतिर्मन्त्रनाथो ध्याननाथो निरञ्जनः ।
नित्यनाथो भूतपतिर्नित्यानन्दो महीपतिः ॥
सर्वाराध्यः पूर्णनाथो द्युतिनाथो द्युतिप्रियः ।
सृष्टिनाथः स्थितिनाथो हारनाथो महागुरुः ॥
रमणो रामभद्रश्च रामनाथो जनार्दनः ।
घटस्थापनकार्य्याणि मुक्तिकार्य्ये विशेषतः ॥
विना गोरक्षमन्त्रेण न कर्तव्य कदाचन ।
आगमोक्तानि कर्माणि वैदिकानि तथैव च ।
विना गोरक्षमन्त्रेण न सिध्यन्ति कदाचन[1] ॥

सारसङ्ग्रहे ब्रह्माण्डपुराणे ललितापुरवर्णने ललिताखण्डे—

तस्य चोत्तरकोणे तु वायुलोको महाद्युतिः ।
तत्र वायुशरीराश्च सदादानमहोदयाः ॥
सिद्धदिव्यर्षयश्चैव पवनाभ्यासिनोऽपरे ।
गोरक्षप्रमुखाश्चान्ये योगिनो योगतत्पराः ॥

द्वात्रिंशत्तमेऽध्याये—

नाथान्तरमितिप्रोक्तं हस्तविंशति चोन्नतम् ।
चतुर्नल्वप्रविस्तारं प्राग्वत्सोपानमण्डितम् ॥
तत्र नाथा महादेव्या योगशास्त्रप्रवर्तकाः ।
सर्वेषां मन्त्रगुरवः सर्वविद्या महातपाः ॥
चत्वारो योगनाथास्तु लोकानामिह गुप्तये ।
तुष्टाः कामेशदेवेन तेषां नामानि मे शृणु[2] ॥

---

१. साधयेत्तथा–पू० सं० ।   २. मच्छृणु– पू० सं० ।

[1]मित्रीशोड्डीशषष्ठीशचर्य्याख्या कुम्भसम्भवाः ।
तैः सृष्टा बहवो लोका रक्षार्थं पादुकात्मकाः ॥
... ... दिव्यौघा तेषां नामानि मे शृणु ।
[2]मित्राद्या मानवौघाश्च सिद्धौघाः सुरतापसाः ॥
प्रायः[3] सालोक्यसारूप्यसायुज्यादिकसिद्धयः ।
महान्तो गुरवस्तांस्तु सेवन्ते[4] चतुरो गुरून् ॥
(उ० भा० उप० पा० ३७।२६-३१)

स्कन्दपुराणे काशीखण्डे—

मम भक्तिं प्रकुर्वाणा ये विश्वेशं द्विषन्ति वै ।
विद्विषो मम ते ज्ञेयाः पिशाचपदगामिनः ॥
अध्यासतेऽन्धतामिस्रं मृतास्तेऽन्यत्र सन्ततम् ।
शिवनिन्दापरा ये च ये पाशुपतनिन्दकाः ॥
विद्विषो मम ते ज्ञेयाः पतन्तो नरकेऽशुचौ ।
अष्टाविंशतिकोटीषु नरकेषु क्रमेण हि ॥
कल्पं कल्पं वसेयुस्ते ये विश्वेश्वरनिन्दकाः ।
विश्वेशानुग्रहं प्राप्य मुनेऽहमपि मुक्तिदः ॥
मद्भक्तैस्तद्विशेषेण सेव्यो विश्वेश्वरोऽनिशम् ।
इयं वाराणसी ज्ञेया पशुपातरथस्थली[5] ॥

तन्त्रमहार्णवे—

रक्तनेत्रं हीनछाया रक्तं गात्रं तपस्विनः ।
मूर्तिः प्रसन्नवदना स्वल्पवाणी च कथ्यते ॥
चतुरशीतिसिद्धानां पूर्वादीनां दिशां न्यसेत् ।
एकविंशतिसङ्ख्याकं स्थानं नाम्नां च कथ्यते ॥
नवनाथा दिशो [6]ह्यष्टावेको मध्ये व्यवस्थितः ।
नवनाथस्थितिश्चैव सिद्ध्यागमेन कारयेत् ॥
गोरक्षनाथो वसेत्पूर्वे जगन्नाथवने स्थितः ।
कोशत्रये वसेन्नित्यमेको नाथः स उच्यते ॥
जालन्धरो वसेन्नित्यमुत्तरापथमाश्रितः ।
ज्वालामुखी पञ्चक्रोशवनमुत्तरमाश्रितः ॥

---

१. मित्री च शोदिशश्चैव चर्याख्यः कुम्भ०—पू० सं०
२. दिव्यविद्यामानवौघ—पू०सं० ।
३. प्राप्तः ।
४. संवैतांस्—पू० सं० ।
५. पाशुपत°—पू० सं० ।
६. दिशाद्यष्टा°—पू० सं० ।

नागार्जुनो महानाथो ज्वालायेशानसंश्रितः(१)।
सप्तक्रोशे वने चैव तपस्यति महातपः॥
सहस्रार्जुनो दक्षिणे च गोदावरीवने स्थितः।
दशक्रोशप्रमाणेन तपस्यति महातपः॥
दत्तात्रेयो महानाथ पश्चिमायां वसेद्दिशि।
सरस्वतीपश्चिमे च नवक्रोशं समाश्रितः॥
देवदत्तो वसेन्नित्यमग्निकोणं समाश्रितः।
पञ्चक्रोशसमाने तु वायव्यां भरतो जड़ः॥
सप्तक्रोशप्रमाणेन आदिनाथो वसेद्भुवि।
कुरुक्षेत्रे मध्यदेशे क्रोशत्रयवने स्थितः॥
नैर्ऋते तु दिशां भागे मत्स्येन्द्रस्त्वेव[१] वारिधेः।
नाथस्थानानि वक्ष्यामि महागोप्यं न कथ्यते॥

षोडशनित्यातन्त्रे—

कादिसंज्ञा भवेद्रूपा सा शक्तिः सर्वसिद्धये।
तया तैर्भुवने तन्त्रं कल्पे कल्पे विजृम्भते॥
अवसाने तु कल्पानां सा तैः सार्द्धं व्रजेत्समाम्।
नामपर्यायतोऽवाप्तं कालावाप्तमितिद्वयम्।
प्रसिद्धं बाह्यतो यच्च त्रीणि नामानि साधके॥
नमस्ते नाथ भगवन् शिवाय गुरुरूपिणे।
विद्यावतारसंसिद्ध्यै स्वीकृताऽनेकविग्रह॥
नवाय नवरूपाय परमार्थैकरूपिणे।
सर्वाज्ञानतमोभेदभानवे चिद्घनाय ते॥
स्वतन्त्राय दयाशक्तिविग्रहाय रसात्मने।
परतन्त्राय शक्तानां भव्याय भव्यरूपिणे॥

रुद्रयामले रससाधनप्रकरणे—

शिवरात्रिदिने प्राप्ते आरभ्यं कार्यसाधकैः।
चतुःषष्टिप्रमाणेन कोष्ठं कृत्वा तु भैरवम्॥
पार्श्वयोर्मूर्तिमालाञ्च मध्ये मूर्तिञ्च विन्यसेत्।
तस्याग्रे जुहुयात्पश्चाद्धेमसिद्धिः प्रजायते॥
रक्तोपवीतवासस्तु दद्याद्वै द्विजपुङ्गवम्।
कोष्ठसङ्ख्या तदर्द्धार्द्धयोगिनीर्यत्र पूजयेत्॥
शृङ्गीनादेन ते सर्वे मनसाह्लादकारिणा।

१. मत्स्येन्दरस्तु--पू० सं०।

रक्तो नस्वहकः[१] श्रेष्ठः स्कन्धाग्रे शृङ्गमाश्रितः ॥
मुखं कमलया युक्तं नेत्रे कमलभूषणम् ।
पृष्ठे च कमलाकारं हंसगत्या विराजितम् ॥
रक्तवासोत्तरीयेन वरमन्त्रं पुरो न्यसेत् ।
रक्तचन्दनसंघृष्टमपूपस्योपरि न्यसेत् ।
स्वादयेत्पञ्चदिवसं[२] पश्चात्पुण्ये समर्पयेत् ।
रसायनी महाविद्या सिद्धिर्भवति निश्चितम् ॥

तारासूक्तौ—

प्रणवो निर्गुणः प्रोक्तः सर्वाद्यो वेदगोचरः ।
वेदमाता तु गायत्री तदाद्यः प्रणवः स्मृतः ॥

कुलार्णवतन्त्रे द्वादशोल्लासे—

श्रीनाथचरणाम्भोजं यस्यां दिशि विराजते ।
तस्यै दिशे नमस्कुर्याद् भक्त्या प्रतिदिनं प्रिये ॥
न पादुकापरो मन्त्रो न देवः श्रीगुरोः परः ।
नास्ति शाक्तात्परो मार्गो[३] न पुण्यं कुलपूजनात् ॥ (१२।११-१२)

वायुपुराणे शिवस्तोत्रे—

[४]अप्रमेयाय गोप्त्रे च निर्गुणाय गुणाय च ।
वादप्रियाय सभ्याय मुद्रामणिधराय च ॥ वायु० २४।१४९ ।
देशकाल उपायेन द्रव्यं श्रद्धासमन्वितम् ।
पात्रे प्रदीयते यत्तत्सकलं धर्मलक्षणम् ॥
श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
सम्यक् सङ्कल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम् ॥
इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्म्मणाम् ।
अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥
चत्वारो वेदधर्मज्ञाः पर्षत्त्रैविद्यमेव वा ।
सा ब्रूते यं स धर्मः स्यादेको वाऽध्यात्मवित्तमः ॥

षट्शाम्भवरहस्ये—

पृथ्वी कर्त्री महादेवी नाथाः शास्त्रस्य बन्धकाः ।
ब्रह्मतत्त्वविदित्याद्याः शरभाद्यास्तु रक्षकाः ॥

---

१. नम्वहकः—पू० सं० । २. सप्तदिवसं—पू० सं० ।
३. नहि शाक्तात्परा दीक्षा—मु० पा० ।
४. अप्रमेयाय दीप्ताय दीप्तये निर्गुणाय च ।
नम प्रियाय वामाय मुद्रामणिधराय च ॥ —मु० पा० ।

नाथान्तो वा महेशानि[1] त्रितयं त्रितयं त्रिषु ।
ईशाख्यस्तु महेशानि केरलान्तर्गतो[2] भवेत् ॥

सूतसंहिताया यज्ञवैभवखण्डे द्वितीयेऽध्याये—

विष्ण्वादीनां तु देवानां ध्यानं चाधममिष्यते ।
अतो मोक्षार्थिभिः प्राज्ञैः शिव एकः शिवङ्करः ॥
ध्येयः सर्वं परित्यज्य शिवादन्यत्तु दैवतम् ।
अस्मिन्नर्थे श्रुतिः साध्वी समाप्ता वेदवित्तमाः ॥
अपक्वचित्तैर्मोक्षार्थं देवाविष्ण्वादयोऽपि च ।
ध्येयाः पक्वैः शिवो ध्येयः साक्षात्संसारमोचकः ॥
रुद्रं विश्वाधिकं विष्णुं ब्रह्माणं चान्यमेव च ।
समं चिन्तयतः साक्षात्संसारः[3] परिवर्त्तते ॥
महापापवतां पुंसां पूर्वजन्मसु सुव्रताः ।
विष्णुः सर्वाधिको भाति न साक्षात्परमेश्वरः[4] ॥
विष्णुः सर्वाधिको नान्य इति चिन्तयतां नृणाम् ।
नास्ति संसारविच्छित्तिः कल्पकोटिशतैरपि ॥
तेषां नैव च मोक्षाशा कल्पकोटिशतैरपि ।
ब्रह्मादिदेवतानां च विश्वाधिक्यं वदन्ति ये ।
अधोमुखोर्ध्वपादास्ते यास्यन्ति नरकार्णवम् ॥

(सू० सं० य० वै० खं० २।५३-६१)

आदिनाथसंहितायाम्—

कौलिकान्कुलमार्गं च कुलद्रव्यं कुलाङ्गनाः ।
ये द्विषन्ति जुगुप्सन्ते ये निन्दन्ति हसन्ति ये ॥
येऽसूयन्ते च शङ्कन्ते मिथ्येति प्रवदन्ति ये ।
ते शाकिनीमुखे यान्ति सदारसुतबान्धवाः ॥
पिबन्ति शोणितं तस्य चामुण्डा मांसमुत्त्वचः ।
अस्थिनी चर्वयन्त्यस्य योगिनीभैरवीगणाः ॥

---

१. वामदेशानि–पु० सं० ।
२. केरलान्तरतो–प० सं० । ३. संसारे–मु० पा० ।
४. अतः परं "विष्णुः सर्वाधिको भाति नारकी स न संशयः । इति पु० सं० अधिकः पाठः ।

का प्रयोग है यहाँ] । क्षेमम्—अव्ययम्, कल्याण को, मङ्गल को । वितन्वति-आवहति (सति), वितरित करते रहने पर । आचार्य मल्लिनाथ लिखते है— 'क्षेमङ्करे सति' अर्थात् कल्याणसाधक बने रहने पर (वि + तन् + शतृ, सप्तमी एकवचन) । अदेव-मातृका·—अवृष्ट्यम्बुजीविनः, वर्षाजल के भरोसे न रहने वाले । इन्द्र को वर्षा का देवता माना जाता है यदि प्राकृतिक वर्षा न हो तो कृषिकार्य का होना सर्वथा असम्भव हो जाता है । अतएव 'वर्षा का देवता' (इन्द्र या पर्जन्य) ही किसानो के लिए 'माता' के समान है । क्योकि माँ ममतामयी होती है, शिशु को भूखा मरता नही देख सकती । इस प्रकार वर्षा-देव ही जिनकी माँ हो उन किसानो को 'देवमातृक' कहा जायेगा और जो वृष्टिदेवता के भरोसे न रहकर स्वय खेतीबारी कर ले, राज-कीय सेचनसाधनो से वे 'अदेवमातृक' है । अमरकोष ऐसे प्रदेश को 'नदीमातृक' की सज्ञा देता है-'देशो नद्यम्बुवृष्ट्यम्बुसम्पन्नव्रीहिपालित. । स्यान्नदीमातृको देवमातृ-कश्च यथाक्रमम् ।' यद्यपि देवमातृक प्रदेश नदीमातृक प्रदेशो से कही अधिक सुख-सम्पन्न होते है फिर भी सुयोधन ने अपने साम्राज्य मे सिचाई आदि का इतना सुखद प्रबन्ध किया है कि कुरुप्रदेश मे कोई कष्ट नही है । यह भी उसकी लोकप्रियता का परिचायक है । देव. वृष्टिरूप माता येषा ते देवमातृकाः (बहुव्रीहिसमास. समासान्त कप् प्रत्ययः) न देवमातृकाः इति अदेवमातृकाः (नञ् तत्पु०) । कुरव — कुरूणा निवासा· कुरवो जनपदविशेषा., सुयोधन द्वारा प्रशासित कुरुजाङ्गल-प्रदेश (कुरु + अण् + जनपदे लुप्) । अकृष्टपच्या इव— अयत्नपरिणताः इव कर्ष-णादि (जुताई) के बिना ही पकी हुई, (सस्यसम्पद का विशेषण) खेत की जुताई आदि करके जो फसल पकाई जाय, प्राप्त की जाय उसे 'कृष्टपच्या' कहते हैं—कृष्टेन (कृष् + क्त कर्मणि + टा) कर्षणेन पच्यन्ते इति कृष्टपच्या (कृष्ट + पच् + क्यप् कर्मकर्त्तरि—'राजसूयसूर्यमृषोद्यरुच्यकुप्यकृष्टपच्याव्यथा' सूत्र से निपात-नात् क्यप् प्रत्यय का प्रयोग । न कृष्टपच्या इति अकृष्टपच्याः (नञ् तत्पु०) । इव का प्रयोग उत्प्रेक्षा के अर्थ मे हुआ है । कृषीवलैः—कर्षकै इत्यर्थ. अर्थात् कृषकगणो द्वारा । जिनके पास खेतीबारी हो वे कृषीवल है—कृषि· अस्ति एषाम् इति कृषीवलाः (कृषि + वलच् प्रत्यय मत्वर्थीय), तैः कृषीवलैः (अनुक्ते कर्त्तरि तृतीया) मत्वर्थीय वलच् प्रत्यय यहाँ 'रज कृष्यासुतिपरिषदो वलच्' सूत्र से हुआ है । तात्पर्य है—रजस् कृषि, आसुति और परिषद्—इन शब्दो से मत्वर्थ मे वलच् प्रत्यय होता है । वस्तुत. इस नियम से भी रूप बनना चाहिये था—'कृषिवलैः' परन्तु कृषि का ह्रस्व इकार दीर्घ हो गया है 'वले' सूत्र से, जिसका अर्थ है—वलच् प्रत्यय परे रहने पर पूर्ववर्ती स्वर दीर्घ हो जाता है । कृषीवल का अर्थ है किसान—'क्षेत्राजीवः

कर्षकश्च कृषकश्च कृषीवल:' इत्यमर: । सुखेन लभ्या —बिना किसी आयास या क्लेश के प्राप्त होने योग्य । सुखेन अक्लेशेन लभ्या. (लभ् + यत् कर्मणि) लब्धुं शक्या. । 'प्रकृत्यादिभ्य' उपसख्यानम्' इस नियम से 'सुखेन' मे तृतीया विभक्ति । सस्यसम्पद.– सम्पन्नानि सस्यानि, अर्थात् कृषिसमृद्धियो को । सस्याना (सस् + क्यप्) सम्पद' इति सस्यसम्पदस्ता' (षष्ठी तत्पु०) ! 'वृक्षादीनां फलं सस्यम्' इत्यमर' । दधत धारयन्त:, धारण करने हुए (धा+लट्+शतृ प्रथमा बहुव०) चकासति—सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते अर्थात् शोभित हो रहे है (चकास्+लट लकार, प्रथमपुरुष बहुवचन) ।

ननु एव जनपदानुवर्तिन: कथमर्थलाभ इत्यत आह —

उदारकीर्तेरुदयं दयावतः
प्रशान्तबाधं दिशतोऽभिरक्षया ।
स्वयं प्रदुग्धेऽस्य गुणैरुपस्नुता
वसूपमानस्य वसूनि मेदिनी ॥१८॥

उदारेति । उदारकीर्तेर्महायशस । 'उदारो दातृमहतो:' इत्यमर: दयावत: परदु खप्रहाणेच्छो' अतएव प्रशान्तबाध प्रशमितोपद्रव यथा स्यात्तथेति क्रियाविशेषणम् उदयविशेषणम् वा । 'वा दान्तशान्त'—इत्यादिना शमिधातोर्ण्यन्तान्निष्ठान्तो निपात' । अभिरक्षया सर्वतस्त्राणेनोदय वृद्धि दिशत: सम्पादयतो वसूपमानस्य कुबेरोपमस्य । 'वसुर्मयूखाग्निधनाधिपेषु' इति विश्व:। अस्य दुर्योधनस्य गुणैर्दयादाक्षिण्यादिभिरुपस्नुता द्राविता मेदिनो वसूनि धनानि । 'वसु तोये धने मणौ' इति वैजयन्ती। स्वय प्रदुग्धे अक्लेशेन दुह्यत इत्यर्थ. । दुहे कर्मकर्तरि लट् । 'न दुहस्नुनमा यक्चिणौ' इति यक्प्रतिषेध: यथा केनचिद्विदग्धेन नवप्रसूता रक्षिता च गौ. स्वय प्रदुग्धे तद्वदिति भाव' । अलकारस्तु–'विशेषणमात्रसाम्यादप्रस्तुतस्य गम्यत्वे समासोक्ति.' इनि सर्वस्वकार' । अत्र प्रतीयमानया गवा सह प्रकृताङ्गया भेदलक्षणातिशयोक्तिवशाद्दोह्यत्वेनोक्तिरिति सङ्क्षेप: ।।१८।।

श्लोकान्वय–उदारकीर्ते प्रशान्तबाधम् अभिरक्षया उदय दिशत' वसूपमानस्य अस्य गुणै: उपस्नुता मेदिनी वसूनि स्वय प्रदुग्धे ।

अनुवाद—महायशस्वी दयावान् निर्विघ्न प्रजासरक्षण द्वारा वृद्धि प्राप्त करने वाले, कुबेर के समान इस सुयोधन के गुणो से द्रवीभूत पृथ्वी स्वयमेव सम्पदाओ को प्रस्तुत कर रही है ।

बहिः सूत्रं त्यजेद्विद्वान् योगमुत्तममास्थितः ।
ब्रह्मभावमिदं सूत्रं धारयेद्यः सचेतनः ॥

धारणात्तस्य सूत्रस्य नोच्छिष्टो नाशुचिर्भवेत् ।
सूत्रमन्तर्गतं येषां ज्ञानयज्ञोपवीतिनाम् ॥

ते वै सूत्रविदो लोके ते च यज्ञोपवीतिनः ।
ज्ञानमेव परं तेषां पवित्रं ज्ञानमुत्तमम् ॥

अग्नेरिव शिखा नान्या यस्य ज्ञानमयी शिखा ।
स शिखीत्युच्यते विद्वान्नेतरे केशधारिणः ॥

कर्मण्यधिकृता ये तु वैदिके ब्राह्मणादयः ।
तै संधार्यमिदं सूत्रं क्रियाङ्गं तद्धि वै स्मृतम् ॥

शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतं च तन्मयम् ।
ब्राह्मण्यं सकलं तस्य इति ब्रह्मविदो विदुः ॥

इदं यज्ञोपवीतं तु परमं यत्परायणम् ।
विद्वान् यज्ञोपवीती स्यात्स यज्ञः स च सर्ववित् ॥ इति ॥

(ई० अ०, पृ० १५१)

परमहंसोपनिषदि—

परमात्मात्मनोरेकत्वाज्ञानेन तयोर्भेद एक एव[1] विभग्नो या सा संध्या सर्वान् वा कामान्परित्यज्याद्वैते परमस्थितिः ।

ज्ञानदण्डो धृतो येन एकदण्डी स उच्यते ।
काष्ठदण्डो धृतो येन सर्वाशी ज्ञानवर्जितः ॥
× × ×
स याति नरकान्घोरान्महारौरवमेव च ॥ इति ॥

(ई० अ० पृ० १५०)

शास्त्रोक्तविषयाभ्यासमजानन्तः केवलं शास्त्रपाठमात्रेणैवाभिमानिनस्तान्प्रति वाक्यमेतदित्याह—द्वादशवर्षो भूत्वा विद्याभ्यासमर्हति, ततश्च यावद्द्वादशवर्षं शब्दबोधार्थं व्याकरणशास्त्रमध्येतव्यं ततश्च यावत् द्वादशवर्षमर्थबोधार्थं न्यायशास्त्रमध्येतव्यं ततश्च यावत् द्वादशवर्षं वेदोऽध्येतव्यस्ततश्च षट्सु वर्षेषु वेदान्ताभ्यासः कर्तव्यः, एवं षट्सु वर्षेषु शास्त्रीयरीतिर्ज्ञातव्या । पुनरभ्यासश्च कर्तव्यः, एवमायुषोऽर्द्धं तु गतप्रायमेव । ततः पुनरिन्द्रियाणां शैथिल्येऽरिष्टे च सत्यभ्यासासक्तत्वं भवेत् । अतः प्रथमतः साक्षरतामात्रं पाण्डित्यमोपाद्य मनुष्यैर्योगाभ्यासः कर्तुमुचित इति ।

---

१. भेद एव—मु० पा० ।

ये त्वाचारबाहुल्यं दधतोऽपि वेश्या उपगम्य तत्सङ्गं कुर्वन्ति तान् प्रत्यस्माकमिदं कथनं बाह्यविषयिकामुज्ज्वलतां प्रदर्श्य मानसी मलिनता धार्यते। ततस्त्विदं श्रेयो यत् वेश्यासङ्गोऽपि न कर्तव्यो, [1]बह्माचारस्यापि प्रयोजनं नास्ति गौणोऽयमित्याचारं ज्ञात्वा तस्य त्यागोऽपि न कार्यः, यथायोग्यत्वेन विवेकपूर्वकं सेवनं चास्यकर्तव्यमिति।

भवेयं मनुष्यो यदैकस्तु राजा यदा जन्तुरेको भवेयं मृगेन्द्रः।
यदा शास्त्रमेकं तदा योगमेव यदा देव एकस्तदा नाथ एव॥

अस्मिन् मार्गे अद्वैतोपरिवर्त्ती नाथो देवता, प्राप्या निराकारज्योतिर्नाथो ध्येयः, साकारनाथ उपास्योऽथ च आदिगुरुः, साधनं योगः।

अत्याश्रमी योगी गुरुः, मुमुक्षुः साधकः अवधूतगुरोर्मुख्यं चिह्नं नादो मुद्रा भस्मशैली ऊर्णायज्ञोपवीतमित्यादि। शक्तिर्जगत्कर्त्री। शिवः पालकः। कालः संहारकः। नाथो मुक्तिदायकः। प्रणवो वेदः। नादः सन्तानं। नव नाथाः। बिन्दुः सन्तानमीश्वरः। मनः शरीरं। जीवो अनुभवः। चत्वारो गुरवः - मत्स्येन्द्र ईश्वरश्चतुरङ्गी गोरक्ष इति स्वरूपाः। अपक्षवास्तविकपक्षमङ्गीकृत्येतरकल्पितपरपक्षपाखण्डखण्डनमित्यादिविषयः परमहंस इति परमहंसं वदन्ति। तत्किम्, उत्कृष्टहंसोऽस्ति यतो निकृष्टहंसत्वं तु परमात्मा। उत्कृष्टहंसत्वं तु परमहंसस्य कुत आगत यदा ब्रह्मस्वरूपत्वं प्राप्तः। ब्रह्मस्वरूपत्वं च कुतः प्राप्तो यदि मायागुणरचितप्रारब्धकर्माणि मन्यते, एवं चायं तु निकृष्टहंस एव जीवोऽस्ति, ततश्चैतस्य हंसत्वं मरालत्वं कुतः किन्तु काकत्वमेव। यदि काकत्वं तर्ह्ययमेकाक्षो जातः। एकाक्षः को य एकेनैव चक्षुषा पश्यति। यद्ययं वर्णे तदा मायामेव मायादृशाऽपश्यत्[2] यदा चाश्रमी जातस्तदाद्वैतदृशैव पश्यन् वर्त्तते। इयमप्येकैव दृष्टिस्तया पश्यति। यतो महासिद्धैर्निश्चयः कृतोऽयं काकतुल्यो यदेवमेकाक्षः कर्त्तव्य।

सत्यं प्रपञ्चं कुर्वन्तो ब्रह्मणश्छादनं तथा।
केचिद्रजोदृशः प्राप्ता विषयासक्तमानसाः॥
मिथ्यामिथ्येति कुर्वन्तः केचिन्मायाविमोहिताः।
लयं सर्वस्य कुर्वन्त आगता विश्वनाशकाः॥
देदीप्यमानस्तत्त्वस्य कर्ता साक्षात्स्वयं शिवः।
संरक्षन्तो विश्वमेव धीराः सिद्धमताश्रयाः॥
तत्त्वं रक्षन्ति चाद्वैते द्वैते रक्षन्ति संसृतिम्।
एकीभावे ततो भिन्नं द्वैताद्वैतविवर्जितम्॥
मिथ्या वदन्ति यतयः सत्यं चापि विरागिणः।
सिद्धानामेव सिद्धान्तः सत्यमिथ्याविवर्जितः॥

---

१. बद्वाचार°—पू० सं०। २. पश्येत्—पू० सं०।

म्रियते चेत्कथं सत्यं वर्तते चेत्कथं वृथा ।
मृतिजीवनहीनं यत्कथं सत्यं कथं वृथा ॥
एककाले भवेत्सत्यमेककाले तथा वृथा ।
कालभेदाद् वृथा सत्यं नसत्यं न वृथा पृथक् ॥

मनोवागतीतो मनोवाङ्मयश्च नाथः १ । नाथः २ । शक्तिः ३ । कर्ता ४ । अकर्ता ५ । एतत्पञ्चकमिति, क्रमेणैतत्पञ्चकं स्तौति—

अवाच्यमुच्येत कथं पदं तदचिन्त्यमप्यस्ति कथं विचन्तयेत् ।
अतो यदस्त्येव तदस्ति तस्मै नमोऽस्तु कस्मै वत नाथतेजसे ॥
अकर्तृतत्कर्तृ च तत्परं पद वदन्ति योगामृततृप्तचेतसः ।
अकर्तृता कर्तृतया निरूप्यते न वास्तवी वस्तुनि तद्द्वयी कुतः ॥
अवाच्यरूपा सदसद्विलक्षणा विचक्षणा सा कृतलक्षणापि सा ।
नमामि तां शक्तिमकर्तृतामयीं स्वतः करोत्येव च कर्तृतामयीम् ॥
निजेच्छया काण्डसमुद्भवाप्ययाऽनुमानया दर्शितकर्तृतं शिवम् ।
नमाम्यभित्तावपि चित्रितं जगद्विचित्रमेतत्त्वनपेक्ष चेतरम् ॥
ममेदमस्याहमहं मदक्रियः[१] सदैव कर्त्रेत्यभिसंधिपूरितम् ।
करोत्यकर्त्तारमुदारलीलया य उच्यते नाथ इति श्रियेऽस्तु नः ॥
प्रसङ्गजं कर्त्तृपदं विहाय यः फणीव निर्मोकमना पदास्थितम् ।
नमाम्यकर्त्तारमकर्तृतामय यदस्तिसोऽस्मीत्यगुणः स्वयं स्थितः ॥

यस्य साक्षादनुभवः शास्त्रज्ञानेन तस्य किम् ।
चेष्टा स्वभावजा स्त्रीणां कविभिर्वर्ण्यते श्रमैः ॥
जातमात्रं पिबेद्वत्सो बालको वाप्यपाठितः ।
यथा मातुःस्तनं पक्षी न तथा पाठितोऽपि सन् ॥
पिबन्तोऽप्यमृतं नित्यममरा नामरा इह ।
सिद्धावधूता अमरा गृह्णन्तो विषया विषम् ॥
ज्ञानेन छिद्यमानं तु कर्माङ्कुरमुपाददे ।
तदेव योगच्छिन्नं तु यान्ति निर्मूलतां द्रुतम् ॥
संचितं क्रियमाणञ्च कर्म नश्यति तन्मते ।
प्रारब्धं न पुनस्तत्र प्रमाणं श्रुतिरुच्यते ॥
भूतकालोद्भवं कर्म भाट्टाः[२] सत्यं प्रकुर्वते ।
कालत्रितयजं कर्म त्यजत्यत्याश्रमी द्रुतम् ॥
पत्रं पुष्पं फलं शाखा छिद्यतेऽपि पुनः पुनः ।
न यावच्छिद्यते मूलं तावद्वृक्षः प्ररोहति ॥

१. महाक्रिय –पा० । २. भट्टा·–पू० सं० ।

पुन पुनर्भृतो वारा सूक्ष्मछिद्रेण संयुतः।
कलशो रिक्ततां याति विफलः श्रम एव सः ॥
यान्तु गङ्गां गयां यान्तु नमन्त्वश्ममयान् सुरान्।
कायालये विभात्येको जगदात्मा स विस्मृतः ॥

संन्यासिनो विजानन्तु कथयन्तु च पण्डिताः।
अवधूताः क्रियासिद्धास्तत्स्वरूपा निरञ्जनाः ॥
योगदेहं सृजत्येतं कालभीत्या त्ववत्ययम्।
हन्ति वैषयिकं देहं तन्नाथः को हरीश्वरः ॥

सृजत्यब्जो हरिः पाति हरः संहरते जगत्।
तेभ्योऽन्यो मुक्तिदस्तत्र संकेतः सिद्धयोगिनाम् ॥
चतुर्भिः पथिभिर्यान्ति चत्वारो ज्योतिरालये।
योगिनो वैदिका लोकास्तान्त्रिका व्यवहारिणः॥

योगिनो योगयज्ञेन केवलं ज्योतिरुत्तमम्।
इष्ट्वा यानीष्टमार्गेण द्रुतं तत्खेचरा इव ॥
स्ववर्णाश्रमधर्मेण वैदिका समुपास्य तत्।
निवृत्तिपरमा यान्ति तद्भूमाविव मानुषाः ॥

तान्त्रिकाः शुद्धविपणिं विषयान्परिहाय तत्।
दुर्गमेन पथा यान्ति जरा इव जने जनाः ॥
संसारिणस्तु संसारप्रलये प्राप्नुवन्ति तत्।
कृतयात्रमिवाधीशं सर्वे लोका निरर्गलाः ॥

न कुर्याद् बुद्धिमान् प्रीतिं वृथा वस्तुनि फल्गुनि।
मृगतृष्णामयं मायाजालं कि मन्यते यतः ॥
मोक्षशास्त्रकृतो नैव दृष्टा मुनिजना नृपाः।
नीतिशास्त्रकृतः कान्ताः शृङ्गारग्रन्थकारिकाः ॥
मूले मोक्षस्यावधूतो नीतिमूलं नराधिपः।
कान्ता शृङ्गारमूलं यद्वाचारम्भणमस्ति नः ॥

एवं ते त्रयोऽपि क्रियायामेव प्रसन्ना क्रियायुक्तेति कथनेनापि प्रसन्नाः, परन्तु न तु क्रियारहितकथनेत प्रसन्नास्त्रयेण त्रयोऽपि पुरुषाः स्वसङ्गवर्ज्जितास्तद्यथा अवधूत इति, विनानुभवेन शास्त्रारम्भकाः पुरुषा इति, राजनीतिकर्तव्यताहीना भृत्या इति, स्त्रीजन इति, पुरुषार्थहीनाः पुरुषा इति, तान्स्त्रीस्त्रयो हसन्ति, कथं एकेन केनापि पुरुषेण मन्दकामेन कस्यापि वैद्यस्य गृहे गत्वा तं प्रति स्वचेष्टोक्ता, तदा वैद्येनोक्तं यत्नं करिष्यामि इति। तस्य वैद्यस्य वधूः पार्श्ववर्तिनी सहासा जाता तस्या

अभिप्रायोऽयम्–अयं मम भर्त्ता वैद्यः स्वयमपि नपुंसकोऽन्यस्य कामोदययत्नं कथं करिष्यतीति, स्वयमसमर्थोऽन्यसामर्थ्योपायं करिष्यतीति प्रतारणमात्रमिति ।

ब्रह्माभूतो मुनिर्व्यासो मिथ्यामायोपदेशतः ॥
कृतानेकपुराणोऽभूत्तस्यै माये नमोस्तु ते ॥
वशिष्ठादिमुनिव्रातस्त्यागस्यैवोपदेशकृत् ॥
स्वयमङ्गीकृतस्त्रीकस्तस्मै भोगाय ते नमः ॥
दासाः प्रेमातुरा भक्तिं पुरुषार्थं वदन्त्यहो ॥
सशरीरे गते चित्ते भक्तिः प्रेम्णा समं गताः ॥
योगः स्मार्तो वैष्णवश्च धर्मा भूपास्त्रयस्त्विमे ॥
कर्मारिभ्यस्त्रिधाऽवन्ति स्वात्मदेशं त सुस्थितम् ॥
वैष्णवो नृपतिर्धर्मः सत्यं प्रारब्धमात्मगम् ॥
कर्मद्विषः समाश्रित्य पाति स्वं देशमात्मना ॥
स्मार्त्तस्तु नृपतिर्धर्मः सत्यं प्रारब्धमात्मगम् ॥
कर्मारिभ्यो बलिं दत्त्वा पाति स्वं देशमात्मना ॥
योगधर्मो नृपः सर्वान् जित्वा कर्मद्विषो[1] बली ॥
मनश्च किंकरं कृत्वा पाति स्वं देशमात्मना ॥

एतद्ग्रन्थे बहुशास्त्राणां प्रामाण्यं दीयते तत्तु अस्मदीयार्थं वा एतन्मार्गस्य शिष्याणां श्रद्धार्थं दीयत इति नास्ति । अस्मिन्नर्थे तु योगशास्त्रस्यैव प्रामाण्यमेतच्छास्त्रज्ञानेन पूर्णम्, परन्तु वादिनां हिताय भो अन्यग्रन्थान्तरेऽपि भवदीय नानामतान्तरेऽपि चायमेव मार्गः श्रेष्ठः सर्वस्य लक्ष्योऽवधूत एवेति हेतुर्न तु सिद्धान्तार्थः । अस्माकं त्वन्यप्रमाण उपेक्षेति ज्ञेयम् ।

अवधूतशिष्यं विनेतरसंप्रदायकशिष्या मुग्धा वर्त्तन्ते । अवधूतसंप्रदायस्येयं रीतिः—षट्त्रिंशल्लक्षणसंपन्नो गुरुर्द्वात्रिंशल्लक्षणसंपन्नः शिष्यस्ततश्चतुर्लक्षणन्यूनः । गुरुशिष्यलक्षणं च अधिकतत्त्वो गुरुर्न्यूनतत्त्वः शिष्यः । एतादृङ्न्यूनत्वं तु योग्यं न तु मूर्खशिष्योऽधिकलक्षणहीनो मोक्षभाग्भवेत् । पुराणे शौचक्रियादिकरणपर्यन्तक्रिया उपदिशतीति तन्महासिद्धा हसन्ति । अहो बुद्धिमन्तः शिष्यास्तान् गुरून् एतादृक्क्रिया अपि कथयन्ति । शिष्यस्य बुद्धेः परावधिरिति । एतादृशशिष्यकरणे गुरूणां दोषः प्रवर्त्तते । अत एव महासिद्धा बहून् दीक्षितान्न कुर्वन्ति । कथं ? बहवो विवेकिनो न भवन्ति । यतः स्त्रियां भ्रष्टायां पत्युर्लज्जा, तथा शिष्ये भ्रष्टे गुरूणां लज्जा निन्दा पातकं च प्रवर्तते । अत एव बहुदीक्षिता आचार्या गुरवः

१. धर्मद्विषो–पू० स० ।

स्त्याज्याः, महासिद्ध एव गुरुः कर्त्तव्यः, महासिद्धैरपि चतुर्लक्षणं न्यूनः शिष्यः कर्त्तव्यो बहवश्च शिष्या वर्ज्जनीयाः, इति सिद्धान्त·।

अथ पुरुषस्य द्वात्रिंशल्लक्षणानि लिख्यन्ते–प्रथमतो ज्ञानपरीक्षा—निरालम्बः १, निर्भ्रमः २, निवासी ३, निःशब्दः ४। विवेकपरीक्षा–निर्मोहः ५, निर्बन्धः ६, नि शङ्कः ७, निर्विषः ८। विचारपरीक्षा—सर्वांगी ९, सावधान· १०, सन् ११, सारग्राही १२। निरालम्बपरीक्षा–नि प्रपञ्च १३, निस्तरङ्ग १४, निर्द्वन्द्वः १५, निर्लेपः १६। संतोषपरीक्षा-अयाचकः १७, अवाञ्छकः १८, अमानः १९, अस्थिर· २०। शीलपरीक्षा–शुचिः २१, संयमी २२, शान्तः २३, श्रोता २४। सहजपरीक्षा–सुहृत् २५, शीतलः २६, सुखद· २७, स्वभावः २८। अष्टमे शून्यपरीक्षा–लयः २९, लक्ष्यं ३०, ध्यानं ३१, समाधि ३२। इति द्वात्रिंशल्लक्षणानि पुरुषस्य[1] समाप्तानि। [2][पुनरपि पुरुषस्य चत्वारि लक्षणान्येतानि, किमपि वस्तु नास्तीत्यनवरतबोधः ३३, एतानि लक्षणानि तदितराण्यलक्षणानि तेषामुभयेषामेकीकरणं ३४, एतद्द्वयोरैक्य यत्तत्तत्त्वमिति ३५, अत परमप्यस्तीत्यनुभव· ३६]।

अद्वैतोपरिवर्तिनाथ उदितो यत्र ध्वनिः सन्ततो
नाथो बिन्दुरुतापि शक्तिरुदिता सा चार्द्धमायात्मिका।
ऊरुद्रो हरिरो विधिर्मिति स मे ध्येयोऽस्तु नित्यं महा-
नोंकारोखिलशब्दबीजमबुधैरज्ञातरूपो मुदे॥

अयमोंकारो महासिद्धानां ध्येयस्तस्य स्वरूपम्—उकारोऽत्र रुद्रस्वरूपमर्द्धमात्रा शक्तिस्वरूपं बिन्दुर्नाथस्वरूपमर्द्धमात्राया जातोऽकारो विष्णुस्वरूपं बिन्दोर्जातो मकारो ब्रह्मस्वरूपं ध्वनिर्निराकारनाथस्वरूपं व्यापकं ध्वनिर्वर्णश्चोभयमपि मिलितं पूर्णं यद्द्वैताद्वैतविलक्षणं साकारनिराकारातीतमद्वैतोपरिवर्त्ति महानाथस्वरूपमिति। किंचात्रौंकारे उकारबिन्द्वर्द्धमात्रयोर्योगादेव। बिन्दुयोगान्मकारोऽर्द्धमात्रायोगादकार इति। तथा चौकारे नाथशिवशक्तिरूपप्राबल्यं विष्णुब्रह्मस्वरूपयोरप्राबल्यमत एवात्रैतद्देवतात्रयध्यानं महासिद्धैर्मुख्यत्वेन क्रियते, पुनर्ध्वनिर्निराकारनाथरूपं ध्वनिवर्णश्चोभयात्मकः पूर्णनाथस्तु सांप्रतमस्ति तथाऽप्येवेति ब्रह्मविष्णुध्यानतो नाथशिवशक्तीनां ध्यानमुत्तममुक्तं, तत्रापि नाथध्यानं बलिष्ठम्। उकारो यद्योंकारः स्यात्तदा मात्राशक्त्येव। उकारोपि यद्योंकारःस्यात्तर्हि बिन्दुशक्त्यैव, बिन्दुश्च यद्यपि वर्णस्तथापि तत्र स्वरस्याधिक्यम्, स्वरश्च वर्णापेक्षया बलवानेव। कथं? तत्र ध्वनिभागस्याधिक्यात्, ध्वनिश्च नाथरूपमेवातो नाथध्यानं बलिष्ठमित्युक्तम्। तदुक्तं योगशास्त्रे—

---

१. शिष्यस्येत्यर्थं।
२. [ ] अयमंशो नास्ति पूर्वं सस्करणे।
३. गुरोरित्यर्थ.।

टिप्पणी—न तेन—न (तो) सुयोधन द्वारा । क्वचित्—कुत्रापि, कहीं भी । सज्य धनु.—प्रत्यञ्चा या डोरी चढा हुआ धनुष् । ज्या का तात्पर्य है धनुष् की डोरी—'ज्यया मौर्व्या सह इति सज्यम्' (बहुव्रीहिः) तृतीयान्त शब्द के साथ तुल्ययोग होने पर 'सह' का बहुव्रीहि-समास होता है । सूत्र है—'तेन सहेति तुल्ययोगे ।' इस नियम से 'सज्यम्' मे बहुव्रीहि समास हुआ । समस्तपद मे 'सह' के स्थान पर 'स' आदेश हो गया है–'वोपसर्जनस्य' नियम से । 'मौर्वी ज्या शिञ्जिनी गुण.' इत्यमरः । सज्य 'धनुः' का विशेषण है–'धनुश्चापौ धन्वशरासनकोदण्डकार्मुकम्' इत्यमर. । उद्यतम्—ऊर्ध्वीकृतम् उत्तोलितम् अर्थात् उठाया गया । उद् + यम् + क्त कर्मणि । न वा—अथवा न ही । आननम्—वदनम्, मुख को । 'वक्त्रास्ये वदन तुण्डमानन लपन मुखम्' इत्यमर. । कोपविजिह्मम्—कोपेन कुटिलम् अर्थात् क्रोधवश विकृत । जिह्म का अर्थ है कुटिल (जिह्मस्तु कुटिल मन्दे–इतिकोशः) कोपेन (कुप् घञ्भावे + टा) विजिह्मम् (विशेषेण जिह्म = विजिह्मम् प्रादितत्पुरुष) इति कोपविजिह्मम् (तृतीया तत्पु०) । कृतम्—किया गया । गुणानुरागेण — दयादाक्षिण्यादिप्रेम्णा । सुयोधन के गुणो के प्रति अनुरागभाव होने के कारण । गुणेषु अनुराग. इति गुणानुराग तेन, हेतौ तृतीया (सप्तमी तत्पु०) । माला के पक्ष मे गुणानुराग का तात्पर्य होगा–गुण अर्थात् सूत्र मे अनुषङ्ग (प्रवेश) होने के कारण अथवा सौरभ्यगुण के अनुराग (लोभ) वश । नराधिपै:—भूपालैः राजाओं द्वारा । अस्य शासनम्--सुयोधनस्य आज्ञा । शासन (शास्+ल्युट् भावे) का अर्थ है आज्ञा, नियोग । सुयोधन की आज्ञा । माल्यमिव-मालेव माला की भाँति । माला एव माल्यम् (माला+ष्यञ् स्वार्थे) जैसे चातुर्वर्ण्य शब्द 'चतुर्वर्ण' के ही अर्थ मे ष्यञ् प्रत्यय से निष्पन्न होता है, ठीक वैसे ही 'माल्यम्' मे भी ष्यञ प्रत्यय स्वार्थ मे है–'चातुर्वर्ण्यादित्वात् स्वार्थे ष्यञ्' । शिरोभिरुह्यते-शीर्षै धार्यते । अर्थात् सिर-माथे लगाई जाती है (वह + लट् = त कर्मणि) ।

'माल्यम् इव' अश मे 'इव' साधर्म्य (साम्य) प्रस्तुत करता है—माल्य तथा शासन के बीच । अतएव प्रस्तुत पद्य मे उपमालङ्कार मान्य है—'साधर्म्यं उपमाभेदे ।'

सम्प्रति अस्य धार्मिकत्वमाह —

स यौवराज्ये नवयौवनोद्धत

निधाय दुःशासनमिद्धशासनः ।

जातः। कथं ? एकैकगुणलक्षणहीनो ह्रासक्रमेण संभूतं सन्तानमेवेति मन्यते[१]। पथमतो गौणमुख्यप्रक्रिया कथिता। तत्र काचिदुत्पत्तिक्रमतो मुख्या गौणी वा ज्ञेया, काचिच्च फलवृक्षरीत्या मुख्या गौणी वेति ज्ञेयम्।

एकदा श्रीमहासिद्धविचारनाथेन भर्तृहरिनृपेण व्याकरणशास्त्रोपरि लक्ष-संख्याकाः कारिकाः कृता। नागेशेन ताः श्रुताः, तदा प्रसन्नो भूत्वा ब्रह्माण्डे विहरन् समागतो यस्तत्र स्थितो महावधूत आगत्य चादेशादि[२]व्यवहारकरणानन्तरं तेनोक्तम्—हे स्वामिन्नहं तुष्टोस्मि यतः कांचिद्याचनां कुरु, तदा महासिद्धेनोक्तं तव मिलने सुखं जातमन्यत्तु नास्त्यपेक्ष्यं कृतकृत्य एवास्मि, पुनः पुनस्तेन शेषेणोक्तं याचनीयमेवेति। तदा भर्तृहरिणोक्तं किं याचे यदैश्वर्येच्छा भवेत्तत् महाराज्यं त्यक्त्वावधूतो जातः। पुनर्मोक्षस्य यदि वाञ्छा भवेत्, सा तु अवधूतभावे सिद्ध्यत्येव संशयो नास्तीति। तदा शेषोऽसन्तुष्टो भूत्वा ममापमानः कृतो यतः शापं ददामि, भवदीयकारिकाः प्रसिद्धा न भविष्यन्तीति। तदावधूतेनाप्युक्त त्वदीयकृतव्याकरण-शास्त्रं कलौ वृत्त्यर्थं भविष्यति पुनर्यत्र कुत्रापि स्थले ससंशयं भविष्यति तदा मम-कारिकां विना निर्णयो न भविष्यतीति। एवं परस्परं शापो जातस्तेनाधुनिकसमये व्याकरणादिसाधनशास्त्रं परमार्थे न्यूनं भवति चातुर्यादि प्रकारं प्रायशो भवतीति।

आचार आचार इति वदन्ति। य आचारोऽत्याचारः सन् कथं निर्वहति ? भोजने यद्धृतं तत्तु चर्मपात्रेणैवायाति, गमने यत्पादत्राणं तदपि चर्मजमेव स्पृश्यते, शयने स्त्रीसंगो भवति तस्य कथैव का। प्रातःकाले यद्यपि शुद्ध्यर्थं स्नानं क्रियते तथापि चतुर्षु प्रहरेषु करादिकस्य मुखादिस्पर्शनं स्वभावत एव सर्वदा जायते। किं च सूर्यादिग्रहणे मृत्तिकापात्राणि जलं चाशुचित्वेन त्यज्यते न तु धान्यघृतादिकं वस्तु। तदा एवं ज्ञायते जलाशये जलं बहु लभ्यते कुलालानां गृहेषु मृत्पात्राणि चाल्प-व्ययेन लभ्यन्ते, तेन तदशुचित्वं कथं न क्रियते। घृतधान्यादिनिवारणे तु बहुद्रव्य-व्ययो भवेदित्याद्यनेकप्रकारकं किं किं लिख्यते। तस्मादाचारवस्तु कल्पितमेव तद् बुद्धिमन्तो जना न किंचिदपि वस्तु जानन्ति। विचार एव मुख्य इति सिद्धान्तः। तत्र चैवं न ज्ञेयमत्र सिद्धान्त आचारो नास्तीति। कथं ? आचारोऽस्माकं मते वर्त्तते, स च विचारपूर्वक इति। अन्य आचारं कुर्वन्ति तादृशस्तु क्रियत एव। नास्ति, यथायोग्यस्तु क्रियते च स चापि गौणं मत्वा क्रियते मुख्यस्तु तत्त्वविचार इति कृत्वायमपि व्यवहारः सर्वथा त्याज्यो नास्तीति।

आचारविधिः—

प्रातरुत्थाय गुरुस्मरणं कृत्वा अकालं स्मृत्वा शौचादिक्रियां दन्तधावनं स्नानं च कृत्वा नाथालये गत्वा पूजा कर्त्तव्या, पूजानन्तरं भोजनं कर्तव्य, सायंकाले च

१. मन्ये—पू० सं०। २. च देशादि—पू० स०।

(युवराज + ष्यञ् कर्मणि), तस्मिन् । युवराज शब्द ब्राह्मणादि गण मे पठित है, अत ष्यञ् प्रत्यय यहाँ 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्य कर्मणि च' सूत्र से प्रयुक्त हुआ है। निधाय—नियुज्य, नियुक्त करके (नि + धा ल्यप्) । पुरोधसा—पुरोहित द्वारा। धार्मिक कार्यों मे अग्रेसर अथवा पुरोगामी जो हो वही पुरोधा या पुरोहित है—पुर धत्ते धीयते वा इति पुरोधा. (पुरस् + धा + असि कर्त्तरि कर्मणि वा) तेन पुरोधसा । 'पुरोधास्तु पुरोहित ' इत्यमरः (अनुक्ते कर्त्तरि तृतीया) । अनुमत - अनुज्ञात , अर्थात् अनुमोदित होकर, समर्थित होकर (अनु + मन् क्त कर्मणि) । अखिन्नः—अनलस , आलस्य अथवा श्रान्ति-विहीन होकर, अर्थात् सोत्साह । न खिन्नः (खिद् + क्त कर्त्तरि) इति अखिन्नः (नञ् तत्पु०) । मखेषु--क्रतुषु, यज्ञो मे । अमरकाषे—'यज्ञ सवोऽध्वरो याग सप्ततन्तुर्मख क्रतु.' । हव्यन--हविषा, पुरोडाशादि हवन सामग्री द्वारा । जिसका अग्नि मे हवन (दान) किया जाय वही हव्य है--हूयते भक्ष्यत्वेन दीयते इति हव्यम (हु + यत् कर्मणि), तेन । करणे तृतीया । हिरण्यरेतसम् —अनलम् । अग्निदेव को । हिरण्य अथवा स्वर्ण ही जिसका रेतस् हो वह । हिरण्य रेतो यस्य स. हिरण्यरेता , (बहु०) तम् अग्निम् । 'हिरण्यरेता हुतभुग्दहनो हव्यवाहन ' इत्यमर । धिनोति—प्रीणयति । प्रसन्न करता है (धिवि = धिन्व + लट् प्रथमपुरुष एकवचन)

धकार,शकार एव हकार की आवृत्तिवश अनुप्रास अलङ्कार द्रष्टव्य है । 'वर्णसाम्यमनुप्रासः' आदि लक्षण ।

स चेत् तादृश. उद्योगी तर्हि अस्माभिर्निरुद्योगैर्भाव्यमितिराशङ्क्य उद्योगाशा दर्शयति :—

प्रलीनभूपालमपि स्थिरायति,
प्रशासदावारिधि मण्डलं भुवः ।
स चिन्तयत्येव भियस्त्वदेष्यती-
रहो दुरन्ता बलवद्विरोधिता ।।२३।।

प्रलीनेति । स दुर्योधनः प्रलीनभूपालम् नि.सपत्नमित्यर्थ । स्थिरायति चिरस्थायीत्यर्थ. । भुवो मण्डलम् आवारिधेभ्य आवारिधि 'आङ् मर्यादाभिविध्यो इत्यव्ययोभाव । प्रशासदाशासयन्नपि । 'अभ्यस्तादय षट्' इत्यभ्यस्तसंज्ञा । 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति नुमागमप्रतिषेध । त्वत्त एष्यतीरागमिष्यतीः । धातूनामनेकार्थत्वादुक्तार्थसिद्धि. । अथवाङ्पूर्व. पाठ । 'एत्येधत्यूठ्सु' इति वृद्धि. । 'लृट. सद्वा' इति शतृप्रत्ययः । 'उगितश्च' इति ङीप् । 'आच्छीनद्योर्नुम्' इति विकल्पान्नुमभाव·

येन च प्रणवयोगेन स्वरूपानुभवः प्रकटितः सोऽप्रकटः कृतः। अध्यारोपापवादादि-प्रकारेण यद्मायिकवस्तु तत्र मिथ्याकल्पना बहुविधानेन कृता, मिथ्यैवाश्वो मिथ्यैवाश्ववारो मिथ्यैव धावनमिति किं प्रलप्यते। पङ्के हस्तनिमज्जनकरणानन्तरं पुनः प्रक्षाल्यते ततस्तु प्रथमं तत्र हस्तनिमज्जनमेव किमर्थमिति योगिनां सिद्धान्तो विस्मृत एव। एकदेवस्तुतावन्यदेवनिन्दा एकनिन्दायां चान्यदेवस्तुतिरित्यनया रीत्या धर्मोऽपि प्रवर्त्तित। स चान्योन्यविरुद्धस्तेन सर्वे जीवा भ्रमन्तः सन्तो बन्धकारका भवन्ति। तदुक्तं नाथसूत्रे—ब्राह्मणे वेदाः प्रवृत्ताः, न्यासिनि तीर्थानि प्रवृत्तानि न कोऽपि निर्वाणभावं प्राप्त इति। कथं सूक्ष्मप्राप्त्यर्थं तु एकाक्षरः प्रणवः सूक्ष्मवेद एव कृतः। पुन. सूक्ष्मैवाक्षरद्वयात्मिका गायत्री कृता। पुन' साकारः सन्नपि साकारत्वाभिमानराहित्येन निराकारतुल्यमेव सूक्ष्मं[1] नाथरूपं कृतवान्। तेनोपदेशः सूक्ष्म एव योगाभ्यासयोगः कृतः। तदुद्धारकः सूक्ष्म एवावधूतः कृतः। अथ मायाशबलस्थूलब्रह्मप्राप्त्यर्थमेकाक्षराद्वेदादनेकाक्षराः स्थूला वेदाः[2] कृता.। अक्षरद्वयात्मिकागायत्र्याश्चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री कृता। योगात् स्मृतिपुराणादीन्यनेकशास्त्राणि कृतानि, तदुद्धारका ब्राह्मणाः परमहंसादय इतर संसारिणोऽपि कृताः।

नाथसूत्रे—

एकवारं वचनं लुप्यते तेन युगे युगे लुप्यत इतिहेतोर्गुरुवचनं कदापि काले न लोपनीयं कर्तव्यमेव, ये पुरुषा अभ्यासहीना अभिमानेन सभायां यस्य कस्यापि देवस्य धर्मस्य वा पक्षं गृह्णन्ति। स पक्षः स्वार्थे त्यज्यते, तादृशः कथ मोक्षभाग्भवेत्। तादृशाश्च सद्गुरुभिरपि कथमङ्गीकरिष्यन्ते तेषामिष्टदेवोऽपि चाप्रसन्नो भवेत्, केनचित्कथ्यतेऽहं स्मार्तोऽहं वैष्णवोऽहं यः कश्चिद्। यदा मया कथ्यते त्वं स्मार्तोऽसि तर्हि स्मृत्युक्ताचरणं सर्वमपि त्वयि वर्तते ? तदा स कथयति सर्वाचरणं तु नास्ति, यदा मया कथ्यते स्मार्तोऽहमिति कथनमेवाचरणं तु नास्ति यतस्तद्धर्मानाचरणेन प्रत्यवायो न स्यात् पुनः मिथ्यादोषश्च न स्यात् तदा स कथयति अहं स्मार्तो नास्मि। यदा पुनर्मया कथ्यते स्मार्त्तकुलोत्पन्नः स्मार्तधर्मा न भवेत्तर्हि धर्मविरुद्धत्वमापतेदिति। तदा स कथयति यत्प्रारब्धं तत्तादृशोऽहम्। यदा मया कथ्यते प्रारब्धे श्रद्धास्थैर्यमागृह्णाति। कथं ? प्राणिनां यत्प्रारब्धं तथैव भवेत्, परन्तु प्रथमकथने तत्र धैर्यं नायाति, कस्यापि प्रारब्धं कूपे पतनं भविष्यतीतिरूपं, स चाज्ञतया पततु नाम परन्तु यदा ज्ञायते तदा तु तस्य निवृत्तेरिवोपायं करिष्यतीति। तेन हेतुना त्वदुक्तं यादृक् प्रारब्धं तादृशोऽहमस्मीति यत्तन्न भवत्येव। तदा स पुनः कथयति-यद्गुरुराज्ञापयति तत्करोमीति, यदा मया कथ्यते गुरुरुत्तमाधिकारी त्वं तु मन्दाधिकारी, गुरुवाक्ये तव विश्वासः स्यादिति तदा तेन नोक्तमितिरीत्या बहुधालापे किमपि चिह्नं वर्णरूपमाश्रमरूपं वा स्त्रीरूपं पुंरूपं वा नयतेऽव्यक्तलिङ्गत्वमत्या-

---

१. 'सूक्ष्म' इति नास्ति—पू० स०। २. स्थूलवेदा—पू० सं०।

श्रमित्वमेव स्थीयते, यतः किमर्थमसत्ये वस्तुनि कल्पना क्रियते महासत्यस्वरूपमेकमवधूतत्वमेव गृह्णीयादिति। पुनरपि सर्वाचरणं[1] नास्ति तदा स्मार्तोऽहमिति कथं कथ्यते, तदा स कथयति कश्चन स्मार्तो धर्मो मयि वर्त्तते, तदा मया कथ्यते कश्चन स्मार्त्तो धर्मस्तर्हि कश्चनान्यः कस्य धर्मस्तदा स कथयति—कश्चन मनोनुकूल एव धर्मस्तदा मया कथ्यते तव मनोनुकूलो भवतु नाम धर्मः परन्तु कस्यापि तु धर्म एव स भविष्यति, तथा च धर्मसकरोसीति। तदा स कथयति नाहं स्मार्त्तः। तदा मया कथ्यते स्मार्तकुलोत्पन्नत्वेन च यदि स्मार्तो न भविष्यति तर्हि समस्तमेव धर्मं भ्रष्टं भविष्यतीति, स कथयति तात्पर्यमिदमिदं कर्म ईदृशं वर्त्तते यत्तद्वत्रमिति, तदा-तत्करणं विना किं भवेत्। केवलज्ञानेन कथं सिद्धिः। ज्ञानमपि कर्मैव वर्त्तते अन्तःकरणस्य धर्मत्वात्तत्रापि करणं वर्त्तते एवेति।

द्वैतवादिनः कथयन्ति—अस्माभिः किं प्रेरकं प्रति कथ्यते द्वैतमिति नास्तीति, सत्यद्वैत एव परन्तु द्वैतं शरीरं, यतः शरीर-शरीरिभावेन सोऽपि द्वैत एवास्ति, इति कथ्यते। अद्वैतवादिनश्च किं कथयन्ति-अद्वैतमेवास्ति यच्छरीरं द्वैतं दृश्यते तत्तु मिथ्यैवेति। महासिद्धाः कथयन्ति-चैतन्य जडञ्च शरीरादि उभयमपि मिलित्वा एकमेव पूर्णं वस्तु, यतः परमाद्वैतं यत्किमपि नाथतेजस्तच्चक्रवर्त्ति सर्वोपरि वर्तते। केचित्कथयन्ति-ज्ञानिनो ज्ञानं निरपेक्षमेव कर्मणोऽपेक्षां पूर्वकालेऽपि न करोति तत्तु नास्त्येव। भवदीयमतानि सर्वाण्यपि शास्त्राण्यूर्द्ध्वबाहुतयैवमेव वदन्ति-कर्मणा चित्तशुद्धिः स्यादनन्तरं तत्त्यागस्त्यागाच्च ज्ञानप्राप्तिर्ज्ञानान्मुक्तिरियं घण्टाघोषवद्विद्यत इति।

गृहकर्म समासक्तमहं ब्रह्मेति वादिनम्।
कर्म-ब्रह्मोभयभ्रष्टं तं त्यज्येदन्त्यजं यथा इति॥

तदा कर्मनिरपेक्षं ज्ञानं कथं जातम्। सहस्रावधिस्थले त्वेवमेव कथितम् यदेकेन शाङ्करभाष्ये एकस्मिन् स्थले लिखनेन कथमप्रमाणं भविष्यतीति। वेदा गृहस्थधर्मं वर्णयन्ति तस्य रीतिर्मया कथ्यते। गार्हस्थ्यं विना स्त्रियं तु प्रवर्त्तत एव नहि, स्त्रीमूलकत्वादेव गार्हस्थ्यस्येति। पुनः कथ्यते मासे मासे रात्रित्रयमार्तवं तत्र सन्तानार्थमृतुदानं देयमन्यच्च सुखाय विषयसंभोगो न सेव्य इत्यपि तेषामुपदेश इति। यद्येवं तर्हि प्रथमं गृहे वासकरणं तत्राहारादिसेवनं तेन च शरीरे पुष्टिस्तत्क्रमेण शरीरे कामोद्रेकाभवनं नास्ति कदाचित्स्वशरीरं वशे क्रियते। तथापि तावत् स्त्रियाश्चित्तं तु विनाकामोपभोगं क्षणमपि न तुष्टं भवेत्। कथं तासां काम एवेष्टस्ततश्च तस्याः पोषणं विना तच्चित्ते व्यभिचार एव वसति। तेन पापेन सर्वं नष्टमेव भवेत्, लोके चोपहासो भवेत्। अतः कारणात् महासिद्धा गार्हस्थ्यं न कुर्वन्ति। सिद्धानामिष्टो नाथः, सोपि स्त्रियं नाङ्गीचकार। सर्वे ब्रह्मविष्णुरुद्रादयो देवाः शेषादयो नागा

१. सर्ववर्ण—पू० सं०।

मन्वादयो नरा अन्ये च पशुपक्षिणो यावज्जीवं सर्वे स्त्रीजिताः,एको नाथ एव मायाजेता। तदुक्तं महासिद्धश्रीविचारनाथेन भर्तृहरिणा—

शंभुस्वयम्भुहरयो हरिणेक्षणानां येनाक्रियन्त सततं गृहकर्मदासाः ॥
वाचामगोरचरित्रपवित्रिताय तस्मै नमो भगवते मकरध्वजाय ॥
(शृङ्गार शतक १)

अतः कारणाद् यदा गार्हस्थ्यं कृतं तदा स्त्रीपोषणमवश्यमेव कर्तव्यं यदा च विरागेच्छा तदात्ववधूतेनैव भाव्यमिति। परमहंसास्तु काम निषेधयन्ति स निषेधो न भवत्येव कथम् ?

तदुक्तं श्री मीननाथेन—

हरकोपानलेनैव भस्मीभूतः कृतः स्मरः।
अर्धगौरीशरीरो हि तेन तस्मै नमोस्तु ते ॥

अतो महासिद्धा विपयरीत्या तु त्यागमेव कुर्वन्ति। पुनः प्रकृतिरपि ब्रह्मैव वर्त्तते शिवशक्त्योरस्माकं मते ऐक्यमेव वर्त्तते। तदुक्तं—सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ—

शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः ॥
अन्तरं नैव जानीयाच्चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ॥ (सि० ४।२६)
प्रसरं भाषयेच्छक्तिः संकोचं भासयेच्छिवः ॥
तयोर्योगस्य कर्त्ता यः स भवत्सिद्धयोगिराट् ॥ (सि० ६।६३)

एवं त ऐक्यं ज्ञात्वा काममपि भजन्त्येव। अत एवोक्तम्—

'क्वचिद्भोगी क्वचित्यागी' इत्यादि। त्यागिनामपेक्षया त्याग एव एतादृश एतैः क्रियते, यादृशस्त्यागिनामपि न भवेत्। कथं ? कर्मराहित्योपरि तु त्यागो नास्ति तदैतैः प्रारब्धमपि त्यज्यते। शून्ये लग्नैः प्रारब्धमपि त्यज्यते। यदा च भोगं कुर्वन्ति तदा संसारिणोऽपि यादृशं न कुर्वन्ति तादृशमेते कुर्वन्ति। कथं प्रकृतिलग्नाः एतदुभयं मिलित्वा पूर्णे लग्ना अतस्तेषां रीतिर्विलक्षणैव। भोगिभिस्तु भोग एवैकः क्रियते तेषां त्यागो न भवति।[१] [भोगिनां त्वेको भोग एव भवति न तु ते त्यागे समर्थाः।] पुनस्त्यागिनो ये भवन्ति तैः प्रथममेव त्यागः कृतोऽत एव त्यागिन इति येषां नाम तैः पुनर्भोगः कथं क्रियेत। करणे च सर्वमेव नष्टं स्यादिति। अथ चावधूतास्त्यागिनामपि लोके त्यागस्याधिक्यं दृष्टिगोचरं कृत्वा पुनः स्वेच्छया भोगमपि कदाचित्कुर्वन्ति तथापि तेषां भोगो बाधको न भवेत्। भोगिनो भोगमेव कुर्वन्त्येवं त्यागिनस्त्यागमेवेत्यवधूतानां तु त्यागभोगयोर्द्वयोरपि पदार्थयोः सामर्थ्यम्। त्यागं कया रीत्या कुर्वन्ति ? युगपर्यन्तमप्याहारादिकं न गृह्णन्त्येवं त्यागिनां न भवति।

---

१ [ ] नास्ति—पू० स०।

कथं ? ते देहेन विजिता एते तु देहाधीना सन्ति यत इति दिक्। अनया रीत्या-परमार्थस्तु प्रथममेव नष्टः। कथं ? यदा स्त्री गृहीता, पश्चादयं लोको नष्टः। कदा ? यदा स्त्रीग्रहणेन गार्हस्थं जातम् , तत्र च गृहस्थरीत्या प्रवृत्तो न। एवं च द्वावपि लोकौ नष्टौ, भोगोऽपि नास्ति मुक्तिरपि नास्ति। चञ्चलेन मनसा सर्वमपि नष्टीकृतम्। कथ गार्हस्थ्य त्यक्त्वा श्रमान्तरं गृह्णाति। तत्रापि पुनः श्रमेण कातरो भूत्वा दुःखेन सीदन्सन् प्रारब्धाङ्गीकारात् यद्यद्यथा प्रारब्धं तत्तत्सर्वमपि कर्म करोति, तदा कर्मणः साकुरत्वादेव कदापि काले मुक्तिभाग् न भवत्येव। यथा ग्रामे गर्द्दभा वने वा शूकरास्तथा विषयवशो वारं वारं जन्मादि गृह्णाति। पुनश्चञ्चलेन मनसा युक्तो हस्ती ग्रामाद्वनं गच्छति, किंचित् सुखं मे भविष्यतीति, वनात् शृगालो ग्राममागच्छति मृतकास्थ्यादिभक्षणार्थमिति निर्देशः इति। यथा राजस्त्रीगणोऽनेको स्वयन्तु राजा एक एव, स तासां समस्तानां कामवृत्तिं पूर्णां कथं कुर्यात्। स्वचित्तप्रसादेनैव यथेच्छं क्रीड़ति नाम यतस्तासां तु महत्तरं दुःखमेव स्यात् तेन दुःखजनितापध्यानेन राज्ञोऽकल्याणमेव भवेत्। अत एवोक्तं राज्यान्ते नरक इति। तथैवैतादृश एवाचार्य एक एव शिष्यास्तु बहवः कृतास्तेपु कस्य कस्य पापं संहरेत्। पापहरणासमर्थो बहूनां शिष्याणां पापेनाचार्योऽपि दुर्गतिमेव प्राप्नुयात्। तदुक्त सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ आचार्या बहुदीक्षिता इत्यादि, ते तत्त्वतो वञ्चिता इत्यन्तम्। यदा तत्त्वतो वञ्चितास्तदा मुख्य ··· ·· नरकभाज एवेत्यर्थादागतम्। अतो हेतोर्बहुशिष्यकरण सिद्धानां मते वर्जितम्।

षट् पदार्थाः यत्र भवन्ति स भगवान्। के ते षट् पदार्थाः ? अमी—समग्रैश्वर्यं १ धर्म २ यशः ३ श्रीः ४ ज्ञानं ५ वैराग्यम् ६, इत्येषां मध्य एकोपि रुद्रविष्णवादिना भगवत्पदवाच्येषु न। प्रथमं तु समग्रमैश्वर्यं योगरूपं तदेव नास्ति, कथं ? सर्वं कामवशा स्त्रीसंगिनो यान् लोकाः योगिनो कथयन्ति तेषां स्त्रीसंग एतत्तु हास्यमेव। पुनः धर्मं यत्र यत्र स्थले छलः क्रियते तदा धर्मभाव· कथं ? छलस्तु नारदस्य वानरमुखकरणादिना विष्णोः प्रसिद्धमेवेति। पुनः यशस्तदपि कथं रावणवधे लोककल्याणे यशो जातं तथैव स्त्रीहरणेऽपयशोऽपि जातम्। कथ ? रावणस्य पामरस्य वधेन किं तस्य बालिवानरेण बन्धनं कृतं, सहस्रबाहुनार्जुनेन च बन्धनं कृतं, पुनः रामस्तु भगवानिति कथ्यते, जगत्कर्त्ता च कथ्यते, तस्य स्त्रीहरणमेतत्तु महदयशः। पुनः श्रीः यस्य परमार्थे मुक्तिर्नास्ति ऐहिके च यशो नास्ति तस्य श्रीः कथम्। पुनः ज्ञानं यदा ज्ञानस्वरूपास्ते तदा अज्ञानकार्ये संसारकार्ये किमर्थं प्रवृत्तास्ततो ज्ञानं कथम्। पुनः वैराग्यं तत्तु सर्वथैवैतत् कल्पितेष्वीश्वरेषु नैव नैवेति। कथं ? पुराणे एतेषां लौकिकया त्वेवमायास्यति तत्तु वक्तुमशक्यं दास्यां वेश्यायामासक्ता इत्यादि किं किं लिख्यते। तदा वैराग्यं कुत्र ? अतः कारणात् षडेव पदार्था नाथेष्वत एव तिष्ठन्ति। समग्रैश्वर्यं तु योगः, स तु सहजसिद्ध एव। पुनः धर्मोऽपि स

एव यो मुक्तिरूपः, एतद्व्यतिरिक्तस्मृत्यादिशास्त्राणि यं धर्मं वर्णयन्ति स त्वधर्म एव। पुनः यशोऽपि यो मुक्तरूपस्तस्यैव बन्धनरूपस्य कथं यशः। पुनः श्रीः शोभापि तस्यैव यो मुक्तो बन्धरूपस्य छविः कथं भवेत् यो लौकिकसुखदुःखे मग्नः। ज्ञानं तस्यैव ज्ञानं पुनः वैराग्यं तस्यैव वैराग्यमेवं च सर्वेषामाधारो नाथ एवातः कारणान्महासिद्धानां तात्पर्यं नाथपरमेवेति। कोऽपि कथयति–किं नाथ एव मुक्तिरूप एते ईश्वरा मुक्ता न सन्ति ? तत्तु प्रथममेवोक्तं ये स्त्रीसंयुक्ताः संसारकार्ये चासक्तास्ते कथं मुक्तरूपा इत्यत एवाग्रे एतेषां मुक्तिबन्धरूपत्वं कथयिष्यते। भगवच्छब्द-निर्णयोऽपि करिष्यते।

अस्माकं मते शक्तिः सृष्टिं करोति, शिवः पालनं करोति, कालः संहरति, नाथो मुक्तिं ददाति। ब्रह्मविष्ण्वोस्तु शिवशक्तिकालानामवान्तरभेदेन कर्तृत्वादि-शक्तिर्न तु स्वसत्तया। यदा शिवादयः संसारप्रवर्त्तका जातास्तदा बन्धरूपा एव भूताः। कथं ? जीवरूपेण बन्ध ईश्वररूपेणापि बन्धनं ददाति[1] भेदोऽतएव जीवात्मा परमात्मेति, परन्तु शुद्ध आत्मा नास्ति, स तु शुद्ध आत्मा नाथ एव। एते संसारमज्ञानं प्रवर्त्तयन्ति। नाथस्त्वज्ञानं निवर्त्तयति। नाथरूपेण सृष्टि-करण उपेक्षा। आचार्याणां तु खण्डेषु पाण्डित्यं वर्त्तते पूर्णो धर्मो नास्ति। संसार-प्रवृत्तिकरणरूपं वस्तु चैकं पूर्णो धर्मो न तु मोक्षधर्मो यथा राज्ञामेकं स्वार्थसम्पादकत्वमेव पूर्णं नत्वन्ये धर्माः। धर्माश्च ते के इति ? यज्ञो वैराग्यं तपस्तीर्थं व्रतं त्यागो ज्ञानं योग इत्यादयः, शौर्यमौदार्यं पुण्यं यशोभिलाषः शस्त्रधारणमित्यादयः। ब्रह्मचर्य्यं गृहीतं पुनर्गार्हस्थ्यं करोति पुनर्गार्हस्थ्यं किंचित्संसेव्य त्यागं करोत्यत एतदन्तरे यद्धर्मरहितत्वेन कालो जातस्तत्र धर्मो न्यून एव जायते तथाह्युपदिशति।

द्वैतवादिनः क्रियावद्ब्रह्मेति[2] कथयन्ति, अद्वैतवादिनो निष्क्रियं तदिति कथयन्ति तत्तु द्वयमपि निरन्तरं न भवति चाक्षरं न भवति [3][निश्चलं न भवति]। कथं सर्वदा क्रियैव न भवति सर्वदा ह्यक्रियैव च न भवति, यूयं वयं चापि गृहेषु प्रातःकालादौ स्नानभोजनादिक्रियां कुर्मो मध्याह्नादावक्रियावसरे स्वस्वचित्तेऽक्रियतयैव स्थीयते, पुन. कार्यावसरे क्रियाकरणमेव भवेत्। तथैवेश्वरोऽपि। क्रियाक्रिये द्वेऽपि शक्ती तत्स्थ एव। निरन्तरं निश्चलमक्षरं भवति न तु एकदिशा ब्रह्म पूर्णं भवति। तदुक्त-मवधूतगीतायाम्—

"अखण्डं यत्स्वाज्ञानेन खण्डयतीति। तदुक्तम् "अखण्डं खण्ड्यते कथम् ?" (अ० गी० १।१२)

अतो द्वैतवादिनां कैलासवैकुण्ठादिस्थानमद्वैतवादिनां मायाशबलं ब्रह्म च बन्धमुक्तिरहितपरमसिद्धान्तवादिनां योगिनां नित्यपिण्डावधूतानां तु

---

१. दत्तम्–पू०सं०। २. क्रिया ब्रह्मेति–पू० स०।

३. [ ] नास्ति–पू० स०।

स्थानं, बन्धमननानन्तर मुक्तिभवनादिति। योगिनां तु निर्गुणस्थानमथ निर्गुणसगुणातीतमद्वैतोपरिवर्ति यत्सर्वोपरिवर्त्त्येव स्थानं परमहंसाः कथयन्ति। अस्मदीयं निर्गुणस्थानं तत्त कथनमात्रमेव। कथं ? एते तु निर्गुणब्रह्मणि अमायिकब्रह्मणि[1]मायाया गुणानां च स्थापनं कुर्वन्ति पुनर्नानाप्रकारेण सृष्टिक्रियादि तत्रारोपयन्ति, अनेकस्तोत्रैः स्तुवन्ति च। तथा च तत्कथं निर्गुणममायिकं च जातम्? माहात्म्यार्थं स्वप्रशंसार्थं च कथने निर्गुणं ब्रह्म लक्ष्यं कथयन्ति नत्वाचरणे तद् दृश्यते। पुनः कथने निर्गुणं ब्रह्म इष्ट तथापि पूर्णता न भवति, यथा योगिनामिष्टे वर्त्तते तया रीत्या। कथं ? प्रथमं तु ब्रह्मशब्दस्य व्युत्पत्तिकरणमव स्थगितम्। ब्रह्म तु व्यापकं तन्निर्गुणं ब्रह्म सर्वव्यापकं न भवति कथं चैतन्यरूपेणैतद् व्यापकं कथ्यते तदा पञ्चभूतेषु व्यापकम्। पुनः निर्गुणं तु शक्तिरहितमेव। तदा व्यापकधर्म एव कथं कथ्यते। एतद्रीत्या निर्गुणमेव ब्रह्मेव द्वयमपि परात्परं ब्रह्म न भवति, तस्मात् परमहंसापेक्षयाप्यवधूता उत्तमाः। कथं ? परात्परः पूर्णो नाथो लक्ष्य इति।

अद्वैतोपरिवर्तिनिराकारसाकारातीतनाथात् निराकारज्योतिर्नाथो जातस्ततः साकारनाथो जातस्तदिच्छया सदाशिवो भैरवो जातस्ततश्च शक्तिर्भैरवी च जाता, तस्माद्विष्णुर्जातस्तस्माद् ब्रह्मा जातस्तेन सर्वा सृष्टिरुत्पन्ना। नाथाद् द्विप्रकारा सृष्टिर्जाता–नादरूपा बिन्दुरूपा च। नादरूपा शिष्यक्रमेण बिन्दुरूपा च पुत्रक्रमेण। नादान्नवनाथा जाताः, बिन्दुतः सदाशिवो भैरवो जातः। पुनः शब्दसृष्टिप्रकारमाह–एका सूक्ष्मरूपिणी द्वितीया स्थूलरूपिणी। सूक्ष्मरूपिणी प्रणवो महागायत्री योगशास्त्रमिति। स्थूलरूपिणी ब्रह्मगायत्री वेदत्रयीति। पुनः योगशास्त्रतस्तन्त्रशास्त्रं जातम्। वेदात्स्मृत्यादिशास्त्रं जातम्। पुनः नवनाथानां पश्चाद् द्वादशसिद्धाश्चतुरशीतिश्च, द्वादशपन्थानोऽनन्तसिद्धाश्च जाताः। सदाशिवभैरवाद्विष्णुर्ब्रह्मासूर्य्यश्चन्द्रइन्द्रादिदेवता जाताः। पुनः योगात् शेषयोगसांख्ययोगादयोऽनेकयोगा अनेकभेदैर्जातास्तेन यागेन ज्योतिषन्यायादिकं शास्त्रं श्रुतितः स्मृतिशास्त्रव्याकरणपुराणानेकेतिहासा जाता एवं विग्रहसृष्टिर्निवृत्तिप्रवृत्तिरूपिणी जाता। पुनः नादसृष्टिरपि सूक्ष्मस्थूलरूपिणी प्रकारद्वयात्मिका जाता।

मङ्गलश्लोकानां व्याख्या—

निर्गुणमिति। निर्गुणं ब्रह्म तद् यस्य सर्वोपरिवर्तिनाथस्य वामभागे एकव्यवहारे। वामभागेन कोऽर्थः ? यथेतरं शास्त्रं कथयति। कश्चित् पुरुष ऊर्द्ध्वगतिर्ब्रह्मपदं प्राप्तः तदा कथ्यते निर्गुणस्य सर्वव्यापकस्यैकरूपस्य ऊर्ध्वमध इति।

भागकल्पना कुत्र कस्यां वा दिशि कुतो वा वाग्रचना। तथा च कल्पनां विना व्यवहारो न सिद्धयेत्। तया रीत्या निर्गुणं वामभागे इति। तस्य साक्षात्स्वरूपस्य एकभाग एकव्यवहारे निर्गुणम्। पुनः सव्यभागे अद्भुता निजा च इच्छाशक्तिः

१. अमायि ब्र०–पू० सं०

सर्वसाकारब्रह्मकारणीभूता सव्यभागे एकभागे एकव्यवहार इत्यर्थः। सगुणब्रह्ममूलभूता सा यस्येति। पुनः मध्यभागे सर्वस्याधारो वा सर्वशिरोमणिर्यत्र निर्गुणसगुणमुभयमपि चैक्यं प्राप्नोति सत्यमसत्यं जडं चैतन्यं च सर्वमपि भावजात यत्र साम्यं प्राप्नोति द्वैताद्वैतभेदो यत्र दूरीभवति। यदैताहशः सर्वोपरिवर्त्ती वाङ्मनोगोचरो वाङ्मनोमयश्च द्वैताद्वैतविवर्जितः। पुनः याद्दश एव तादृश एवेति सर्वविलक्षण एवैतादृशो नाथो महासिद्धानां लक्ष्यः पूर्णः स मम श्रियेऽस्तु कल्याणं करोतु। मोक्षमार्गे दक्षभागतो वामभाग उत्तमोऽस्ति तस्माद्वामभागे निर्गुणमुक्तम्। पुनः जीवाः निर्गुणास्तत्त्वरूपा अद्वैतरूपा मुक्तास्ते चरणाग्रे रमन्ते, एतद्द्वये तु व्यावहारिकं दर्शितम्। तत्तु कल्पनामात्रमेवेति, वास्तविकं तु बन्धमुक्तिरहितम् इति। तत्त्वानुभाविकास्ते मुक्ता नाथस्य सर्वपिण्डे रमन्ति इति किं नाथरूपा एव न त्वन्ये। अग्रे उक्तं वामभागे स्थितः शंभुर्यो निर्गुणस्य ब्रह्मणोंऽशरूपः साकारतया संसारकल्याणार्थं जातः स शिवो वामभागे। पुनः मध्यभागे स्वयं पूर्णो निर्गुणसगुणातीतः सर्वशिरोमणिर्नाथस्तस्य यः साकाररूपो नाथो मध्यमभागे स नाथो ज्योतीरूपो मम हृदयान्धकारनिवर्तनं करोतु।

विश्वस्योत्पत्तिं करोति स्वस्याप्युत्पत्तिं कथयति। एवं ब्रह्मण इच्छया पुरुषो जातः स नर इति। तेन तपस्तप्तं, नरशरीराज्जलानि नारा इति जातास्तत्र तेन शयनं कृतं तेन नारायण इति संज्ञको जातः। पुनरस्यैवावान्तररूपाणि रामकृष्णादीनि जातानि तेषामपि रामनवमी जन्माष्टमी इत्यादि जन्मकर्मोत्सवा इति मन्यन्ते तथा च य उत्पत्तिवान् स नाशवान् पुनयत्र लोके गतास्ते पुनरायान्ति। कथं ? जयविजयौ शापादसुरौ जातौ तर्हि तेषां स्थानं निर्भयं कथम् ? अथ च विश्वस्योत्पत्तिकारणमेवोक्तं तनैवं ज्ञायतेऽन्यदेवापेक्षया संसारापेक्षया च सर्वोत्तमः शिव एव, परन्तु स्वस्मात्तु निकृष्ट एवेति कृत्वा मङ्गल तु नाथात्मकमेव कृतम्। आदिनाथो गोरक्षनाथश्चांशांशिभावेन वा स्वयमेक एव, परन्तु व्यवहारार्थमङ्गाङ्गिभावेन सेव्यसेवकभावेन नाथात्मकमेव मङ्गलं कृतम्। तेनैव सूचितं सर्वस्मादुत्तमः शिवः शिवादुत्तमो नाथ इति। योगे देवानामथ च संसारे सर्वोत्तमो नाथ इति संकेतरीत्या। नाथस्योत्पत्तिरेव योगशास्त्रे न[१] कथिता, यतो जन्मकर्मापि न गीयतेऽत एव सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ—श्रीगोरक्षनाथेन विश्वस्य कर्तृत्वं शिवस्य लिखितं नाथस्य तु न लिखितम्। कथं ? विश्वकरणे सगुणत्वमायाति, सोपाधीश्वरत्वं चायाति, नाथस्तु निर्गुण एव निरुपाधिरूप एव, तस्य प्राकृतिककार्यकरणेन किं माहात्म्यं किं वा श्रीरिति। यदि पुनः शिव एव मुख्यो देवो भवेत्तर्हि मङ्गलं शिवात्मकं किमर्थं न कृतम्, एवंरीत्या कथनं महासिद्धानां सिद्धान्तो वर्त्तते न तु स्थूलरीत्या। प्रवृत्तिरीत्या कथन

---

१. योगशास्त्रेण—पृ० सं०।

रीतिः। कथमेते तु निर्गुणा ऐश्वर्यं बहुधा गुप्तं कुर्वन्ति, अन्ये त्वैश्वर्यं प्रकटीकुर्वन्ति। अहो अहो विपरीता वार्त्ता तस्याः श्रवणेऽपि ज्ञानेऽपि चाप्रियं भवति। अस्मिन्मते श्रुतिर्न साधिका वेति वार्ता। श्रुतिश्चास्माकं मते साधिका न भवेत्, भवेदपि चेत्तर्हि-मेरुः कम्पते पृथ्वी चलति? आकाशात्सर्वं जायते तत्तु पृथिव्या एव सर्वं जायते पितुः पुत्रो जायते स पिता पुत्राज्जायते चैवं सर्वमपि कार्यं विपरीतरीत्या भवेत्। यत एवं न वक्तव्यं यन्महासिद्धानां तात्पर्यं तदेव श्रुतिर्वक्तुमिच्छतीत्यूद्ध्र्वबाहुर्ध्वनिं चिकीर्षति, परन्तु नानाकर्मनिरूपणात्तत्त्वस्याप्यन्यथा कथनात् सूक्ष्मात्स्थूलरूपनिरूपणात्पातकिनी जाता भाराक्रान्ता च जाता तेन तत्तात्पर्यं वक्तुं न शक्यते। यदि किंचिद् वक्तुं शक्यते तन्महासिद्धानां तात्पर्यमेव वदेत्। या श्रुतिः प्रणवानुसारिणी सा त्वस्माकं मतानुसारिण्येव, या च प्रणवविरोधिनी श्रुतिः कर्मज्ञानप्रतिपादिका साम्माकं मतानुयायिनी मा भवतु नाम, किन्तु सूक्ष्मस्थूलस्य निरूपणम्। प्रथमत उक्तं श्रुतिरस्माक मते साधिका न साधिकेति द्वयमपि न स्यादिति। कथं? तदाह—न साधिका भवेत्तत्त्वेवमस्माकं तु प्रयोजनमेव नास्ति, कथम्? वयन्तु महावेदयोगमाश्रितास्तेन च न कस्याप्यपेक्षां कुर्मः, परन्तु येषां मते स्थूलवेदाः परमपदार्था इति मन्यन्ते ते च यदि साधका न भवेयुस्तदास्माकं मते दूषणारोपणं कुर्वन्ति, यथा स्त्रीजनो मुनीन् प्रति कथयति भो मुने भवान् सकाम[1] इति। एवं कथयन्मुनीनां तु सकामत्वं दूपणमेव परन्तु तस्य त्विष्टमेवेति कृत्वा मनसा तु मुनिस्तुष्यत्येव परंत तदभिप्रायेण यो बाह्यवृत्त्याऽतुष्ट एव भवेत्। कथं? यस्य यदि सङ्गः क्रियते तदा तु तस्योपयुक्तवार्त्ताकरणं विना यो भूषणोऽपि दूपणमारोपयति। यतो हेतोर्न साधिकेत्युक्तं तद्वर्जनं चैतद्रीत्येति। पुनः साधकत्वे को वा दोष इति चेत्, कथ्यते-साधिकेति तु ये कथयन्ति ते पुराणस्मृतिकिंकरा वयं तु स्थूलवेदानां पितृकारणस्य महावेदस्यानुसारिणो योगसिद्धान्तिनस्ते कथं तदाश्रित्य भवेमेति रीत्या साधकत्वमपिवर्जितम्। तत्र कथ्यते तृतीया वार्त्तैव क्रियते तदा कथ्यते पूर्वमप्युक्तमेव वयं तु महावेदयोगानुसारिण इति। अथ च श्रुतिर्यद्वदति तदस्माकं महासिद्धानां यन्मतं तदेव वदति, सकलाया अपि श्रुतेस्तात्पर्यं प्रणवयोगपरमेव तथा च याः श्रुतयः प्रणवानुसारिण्यस्ताः तु योगमेव वदन्ति ये च ये च श्रुत्यनुकूलास्ते ते प्रथममेव प्रयुक्ता इति। पुनः ब्रह्म वेदस्यैकोनविंशतिरुपनिषदो माण्डूक्यक्षुरिकाकैवल्यप्रभृतयः, छान्दोग्यबृहदारण्यमैत्रायण्यादयोऽन्यवेदस्यापि योगपरा एवैतास्तु सर्वाः प्रत्यक्षतः। पुनः, वेदवेदान्तादिः सर्वः परोक्षवादो यतो हेतोस्तात्पर्ये तात्पर्या रक्षति, प्रत्यक्षतः। कथं? तस्य तन्मर्यादा नास्ति यतो हेतोः कर्मोपासनां ज्ञानं च वर्णयति परन्तु क्रमतः सर्वस्य तात्पर्यं योग एवेति।

---

१. अकाम—पू० स०।

कैश्चित्कथ्यते ब्रह्मा विश्वं सृजति विष्णुः पालयति रुद्रः संहरति स त्वनुक्रमो नास्ति, योगस्य त्वनुक्रमो यो वर्त्तते स प्रथममुक्त एव, यदि चैतेषामेवानुक्रमो रक्षितस्तदा त्वयमपि चानुक्रमो व्यतिक्रम एव यदा भवेत्तदा कं वानुक्रमं करिष्यामि। कथं ? 'अन्नं ब्रह्मा रसो विष्णुर्भोक्ता देवो महेश्वरः' इत्यादौ। तेषां मध्ये भोक्ता तु रुद्र एवोक्त स एव बलिष्ठ एतौ तु भोज्यमिति। तथैव रुद्रः संहरतीत्यत्र महाप्राबल्येन नैर्गुण्येन नित्यमुक्तस्वरूपेण च तद्दोषाद्धारको न भवति तदन्यौ तु गुणपर्यवसानौ गुणावधीयत एतत्कार्यकरणं तद्बाधकमेव भवति।

बद्धास्तास्त्वग्रे वक्ष्यन्ते इति। सर्वे सम्प्रदायाः कथयन्ति सहस्रशो ग्रन्था जाता इति, तान्प्रति मया कथ्यते—यदि ममोपदेशो मन्यतां तर्हि सर्वे ग्रन्थाः कूपे निपात्यताम्। कथं? आधुनिकसमये स्वयमपि मुक्ता न भवन्ति तेह्यन्येषां मोक्षोपदेशे कथं समर्था भवेयुर्यतश्चातुर्यार्थमभिमानार्थं च जीविकार्थं च यस्य कस्याप्यभिलाषार्थं यत् शास्त्रं करोति तत्परमार्थिक[1]पुरुषाणामग्रे कथं शोभनीयं भवेत्, तदुक्तं श्रीगोरक्षनाथेन—शिलया किं परपारमित्यादि। अतः कारणादाधुनिका अयुक्तपुरुषास्तैः कृतानि सहस्रशः शास्त्राणि तानि त्याज्यानि, एतच्छास्त्रस्याभिमानो भवद्भिर्नरक्षणीय इति।

शङ्करसम्प्रदाये विद्यारण्यस्त्यागी जातः पश्चाद्वेदभाष्यं कृतं तदनन्तरं काशीं गत्वा कस्यापि पण्डितस्याग्रे स्वकृतभाष्यवार्त्ता कृता, तदा तेन स निन्दितः। कथं त्यागी भूत्वा पुनरपि व्यवहार उद्युक्तः ? तदा पुनः परमहंसेनोक्तम्—मदीयः श्रमस्त्ववलोकनीय इति। यदा पण्डितेन दृष्ट्वाऽशुद्धिबाहुल्यमित्युक्तं तदा परमहंसो विरागो जातः। पुनः कदाचिद्वनभ्रमणे कस्यचित् प्रेतस्य कृपया व्यास[2]मिलनं जातम्। तेन भाष्य कमण्डलौ धृत्वाऽशुद्धिर्दूरीकृता, इति वार्त्ता प्रसिद्धा। पुनः कौमुदीकारो भट्टोजिदीक्षितः, सोऽपि प्रेतत्वं गतः, पुनः वैष्णवसंप्रदाये ताताचार्येणाप्पय्यदीक्षितोपरि कोऽपि अभिचारः संचारितः, सतु तेन शिवभक्तेन शिवस्मरणे कृते तस्यैव मरणाय जातः। एवं यदा, तदा मया कथ्यते यादृशानि प्रेतरूपै प्रेतप्रसादाभिलाषिभिः पुरुषैः कृतानि शास्त्राणि मोक्षाय कथं भवेयुरित्यतः कारणात् महासिद्धानां मते विद्याभ्यासेन कोपि ग्रन्थं न करोति किंतु योगाभ्यासेन सिद्धो भूत्वा सिद्धत्वेन च शास्त्रं करोति, स स्वयमपि मुक्तोऽन्येषामपि मुक्तिं ददातीति सिद्धान्त इति। ग्रन्थस्य प्रकरणबन्धनमादिरन्तोऽपि च न क्रियते। कथम् ? इयमप्याशैव भवति नियमश्च भवति ज्ञाने तु क्षणस्यापि नास्ति तर्हि एतावत् सङ्कल्पः क्रियेत तस्याप्यहंकारविलसितत्वात्तद्रूपमपि कर्मैव लग्नं भवेत्। पुनः क्षणेन मरणे सत्यन्यत्कार्यं, तावन्मात्रस्तु बन्धो जात एव यस्माद्यत

---

१. धर्मार्थि–पू० सं०। २. 'व्यास' इति नास्ति–पू० स०।

आरम्भः कृतः स एवादिर्यन्नकृतं तत्रैव समाप्तिः । स्वतन्त्राणां पुरुषाणां क्षणमात्रमपि बन्धनं प्रियं न भवेत् । पुनः संस्कृतो वर्त्तते । सोऽप्यघटितपदार्थस्तु नास्ति सर्वव्यापकोऽपि नास्ति । कथं ? स्वभावकर्मापि नास्ति । तदा शिष्यते तदायाति । पुनः यश्च शब्दः सोऽघटितोऽस्ति, विनापि शिक्षां यत आयाति ंभेद् व्यापको नास्ति यत्परात्परमघटितस्वरूपं तथैव तदंश एष शब्द एवादिघटितो दृश्यते स एव ग्राह्य इति । अतः कारणादेव श्रीनाथेन शब्दमयी गिरेतिकृत्वा सर्वाभिरपि गिराभि सर्वाणि शास्त्राणि कृतानि, सा च संस्कृतप्राकृतनागरमागधीभाषाभिरथ च यवन-भाषापर्यन्ताभिरपि यत एतेन व्यवहारे तु सर्वज्ञत्वं सूचितं सिद्धान्ते शब्द एव मुख्य इति सूचितम् । योऽघटितपदार्थो विशेषव्यापक· स एव न तु संस्कृतो वा अन्योऽपि यः कश्चित् एकः साकेतिकभाषाशब्दः स एव सिद्धान्त इति न किन्तु शब्द एव सिद्धान्त इति, शब्दे ब्रह्मणि शुद्धत्वाशुद्धत्वेन स्वाऽव्यक्तलिङ्गोपर्येव तात्पर्यमिति यतस्तत्प्रकारेण सर्वमेकपदादेव चिन्तनोयम् । यदा देवश्चिन्तनीयः तदा तेषां शास्त्रपठनेनापि किं, तदुक्तं भर्तृहरिणा—

तार्किका घटपटेति रटेयुः शाब्दिकाः खफछठेति पठेयुः ॥
मादृशां तु सततं स्मरणीयौ चन्द्रचूडचरणौ रमणीयौ ॥ इति ।

पुनः अवधूतेषु [1]कैश्चिद्दोषारोपणं क्रियते निश्चितं तथा कुर्वन्तु नाम, ततो नावधूतानां मनोविकारस्तदुक्तं भर्तृहरिणा—

चाण्डाल·[2] किमयं द्विजातिरथवा शूद्रोऽथवा[3] तापस· ।
किं वा तत्त्वनिवेश[4] पेशलमतिर्योगीश्वर· कोऽपि किम् ॥

इत्युत्पन्नविकल्पजल्पमुखरैः संभाष्यमाणा जनै—
र्नो क्रुद्धाः पथि नैव तुष्टमनसो गच्छन्ति ते[5] योगिनः ॥ (वैराग्य श. ५५)

गालिप्रदानेऽपि नावधूतानां क्रोधादिरिति भर्तृहरिणोक्तमेव—

ददतु ददतु गालीर्गालिमन्तो भवन्तो
वयमिह तदभावाद्गालिदानेऽप्यशक्ताः ।
जगति विदितमेतद्दीयते विद्यमानं
न हि शशकविषाणं दीयते यद्वदान्यैः ।

पुनः क्रोधो न क्रियते, इदमपि नास्ति । कथं ? अक्रोधस्तु परमहंसानां धर्मः पुनः क्रोधकरणमिति गृहस्थानां धर्मः । अस्माकं तु द्वयमपि धर्म एवेत्यत एव ।

---

१. किंचिद्—पू० सं० ।
२. चण्डाल —प० स० ।
३. किं—मु. पा. ।
४. विवेक—मु० पा० ।
५. यान्ति स्वयं—मु० पा० ।

एकदा भर्तृहरिः स्वेच्छया सिद्धस्वरूपः कापोतीमाश्रित्य पण्यवीथिकायां कणानादाय चर्वन्नृपतिना विक्रमार्केण दृष्टः स ज्येष्ठो भ्रातैव तदापि सिद्धरूपस्तेनाज्ञातो यत उक्तम्—अहो अस्यापि जननी यथैतादृशः पुरुषो जनितो यश्च स्वोदरभरणेऽप्यसमर्थ इति। तच्छ्रुत्वा किमुक्तं सिद्धेन—अहो तस्यापि जननीं धिक् यः समर्थोऽपि परोपकारकरणेऽसमर्थ इति। यदा चैवं विवेकवचनं श्रुत्वा राजा महान् विचक्षणः स्वकीयं जेष्ठभ्रातरं परमं पुरुषं ज्ञात्वा स्वतः शीघ्रमेवावतीर्य्य तच्चरणे पतितस्तदा श्रीभर्तृहरिणोपदेशो दत्तस्तदनन्तरं परोपकारकरणे नृपतिः प्रवृत्तस्तेन च महाप्रतापवान् जातः। ततः कथ्यते महासिद्धा अकामिनोऽप्यक्रोधिनो जिताहंकारास्ते वचनसहनं कथं न कुर्वन्ति, परन्तु परमहंसरीत्येमेतु परमहंसा न सन्ति गृहस्था अपि न सन्ति, यथा काक उल्लूक इति। तयोरेकस्तु दिन एव पश्यति तदन्यो रात्रावेव पश्यतीमे तु योगिनो यौगिकपरमहंसा मराला दृष्टिद्वयेनापि पश्यन्तो मुक्तिमुक्ताफलं गृह्णन्ति शिवशक्त्योर्द्वयमपि चैकीकृत्य चरन्ति तेऽवधूतयोगिनो भवन्ति इति सिद्धान्तेन सर्वदा रमन्ते*। गृहस्थः क्रोध एवासक्तः परमहंसश्चाक्रोध एवासक्तो यत एतयोरेकैकस्मिल्लोकेऽवज्ञा भवेत्। गृहस्थस्य क्रोधादिकरणे परो लोको न सिध्येत्। परमहंसस्याक्रोधादिसेवनेनेहलोके सुखं न स्यात्। एते तु परमहंसाधिकाः क्रोधालोकदृष्टिगोचरा इतिकृत्यालौकिकसेवनादयं लोकोऽपि रक्षतेऽक्रोधादिना परलोकोऽपि साध्यते। परमावस्थायां भेदाभेदपरे द्वैताद्वैतपरे न कोऽप्ययं लोको न कोपि परो लोकोऽयं तु तेषां परमसिद्धान्त इति। वैदिकः स्मार्तस्तु कुमारीकन्या यस्योपरि चित्तमासज्येत तमेव वृणोति। अवधूतः परमहंसः शैवः शाक्तो वा यः कश्चित् स कथं इष्टो मुख्यतया न मतो यदि मुख्यतया मतो भवेत्तदा परिणीतः स्यात्। यदा ये तूपरिलिखितास्तेषां वेष आश्रितो भवेत्। पुनः अन्यस्येष्टोऽन्यस्य पतिर्न भवेत्, तदा स भ्रष्ट एव स्यात्। यथा पुरुषः कोऽपि यवनो भवेत्तदा केन वार्यते। पतञ्जलिना शास्त्राणि त्रीणि कृतानि—योगसूत्रं, व्याकरणभाष्यं, वैदि[द्य]कशास्त्रमिति[१]। तेन तच्छिष्याः प्रशंसां कुर्वन्ति अस्माकं गुरुणा शास्त्रत्रयेण त्रयाणां दोषा जिताः, योगेन मनसो मालिन्यम्, व्याकरणेन वाङ्मालिन्यमशुद्धता, वैदि[द्य]केन शरीरमालिन्यमनामयतेति। यदावधूतशिष्याः कथयन्ति शास्त्रत्रयेण त्रयाणां दोषा जिताः एतत्त्रयस्य प्रयासः कृतस्तर्ह्येकेन योगेनैव ते दोषा जिताः स्युस्तत्रैव किमर्थं न कृतः। कथं? योगेन मनोमालिन्यं दूरीभवति तत्तु तेनैवोक्तं, पुनः व्याकरणेन यदुक्तं तद्योगेन किं न भवति? यादृशं यद्योगे न स्यात्तादृशं त्वन्येन न भवत्येव। कथं? शब्दब्रह्मास्य योगिन इष्टमेव हि भवति, योगिनः सिद्धवाचो भवन्ति, यद्वदन्ति तदेव भवति। वैयाकरणो न कोऽपि दृष्टः सिद्धवागिति। पुनः वैदि[द्य]केन शरीररोगनिवर्त्तनं भवति तद्योगेन कथं न भवेत्। योगिनस्तु शरीरममृतं कुर्वन्ति,

* एतावदेव पूर्वसंस्करणे मुद्रितम्।

१. चरकाख्यमायुर्वेदशास्त्रमित्यर्थः।

असंख्ययुगकालपर्यन्तं शरीरं रक्षन्ति च, यदि शरीरं नीरोगं भवेत्तदा कथं तावत्तिष्ठति। एतादृग्वैदि[द्य]कं न किमपि दृष्टं येनैकयुगमपि शरीरं रक्ष्यते। तथा चावधूतशिष्य एव भवतु, तेनैकेन योगेनैव सर्वसिद्धिर्भवति। पुनः पुनर्योगः प्रशंस्यते, तत्तु प्रशंसनमनया रीत्या। कथं? योगपदार्थस्त्वात्मधर्मः कथं स्वदेहे न भवेत्। स्वतन्त्र एव, मुख्य एव, पुरुषार्थ एव च। कया? आसनप्राणायामध्यानधारणासमाधय एतेषां मध्ये इन्द्रियदमनं सहिष्णुता सत्यमिति सर्वेऽपि चागतास्ते सर्वे स्वत एव भवन्ति। अत आत्मधर्म एव स महाश्रेष्ठः। अन्यत्तु यज्ञादिकर्म द्रव्येण साध्यते। पुनः बहुपुरुषैर्मिलितैः साध्यते। पुनरन्यत्तीर्थाटनं व्रतं त्यागस्तपो विरागो ज्ञानमिति यद्यप्यात्मधर्म एव तथापि सुकरत्वात् संसारिभिरपि जनैः क्रियते, यतो बह्वो दृष्टिगोचराः। तीर्थयात्रिणो व्रतकारकास्त्यागिनश्च तस्मादेतेऽपि संबन्धधर्मतुल्या एव दृश्यन्ते, न त्वात्मधर्मस्तत्र दृश्यताम्। पाणिनीयव्याकरणाश्रितानां जनानां पण्डितानामग्रेऽपि दृष्टं किमप्येकं प्रमाणं नियतं नास्ति। वैष्णवा यया रीत्या व्याख्यां कुर्वन्ति तां तु स्मार्ताः कथयन्तीयं व्याकरणरीत्या शुद्धा नास्तीति। यद्वैकशास्त्रावलम्बिनां बहुधैकधर्मिणां पुरुषाणां मध्येऽपि चैवं भवेत्तर्हि मया तु सिद्धव्याकरणशैवव्याकरणावलम्बिनां तेषां धर्मतो भिन्नधर्मिणा तत्तत्कथनमेव किं गण्यते, तेषां भेदं दृष्ट्वा दृश्यते चेति। अर्जुनमिश्रकृतभारतटीकायाम्—

यान्युज्जहार माहेशाद्व्यासो व्याकरणार्णवात्।
तानि किं पदरत्नानि मान्ति पाणिनिगोष्पदे॥

भर्तृहरिर्वाक्यपदीये—

शास्त्रेषु प्रक्रियाभेदैरविद्यैवोपवर्ण्यते।
समारम्भस्तु भावानामनादि ब्रह्म शाश्वतम्[१]॥ (वा० २।२३३)

नीत्युपाये यथा राज्ञां धर्माः शौर्यं तेजो बुद्धिर्भाग्यं स्वातन्त्र्यशक्तिरिति, एभ्यो यादृशी राज्यकार्येषु सिद्धिर्भवति, यज्ञाश्च भवन्ति, तथा मन्त्रिबुद्धितः सेनासंपत्तिः शत्रूणां द्रव्यसमाधानमित्यादेः संबन्धधर्मान्न भवति। एवं शृङ्गारेऽपि तारुण्येन, पराक्रमेण, रूपेण च यादृशं सुखं स्त्रीजनानां प्रीतिश्च भवति तादृगनेकभूषणेन द्रव्येण हर्म्यादिसामग्रीविशेषेणानेकगुणैरैश्वर्येण बुद्धिकुलीनतावेषरचनारागरचनादिभिश्चेत्यादिसंबन्धधर्मेण न भवति। यद्यपि सर्वेऽपि संबन्धधर्मा मिलिता अपि कार्यकरा भवन्ति इति विशेषः। एवं च योग एव श्रेष्ठ आत्मधर्मस्तद्वन्तं मुक्तिरङ्गीकरोति। यथा पूर्वोक्तशौर्यादिः श्रेष्ठ आत्मधर्मस्तद्वन्तं राजानं पृथ्वी अङ्गीकरोति, यथैव च पूर्वोक्ततारुण्यादिः श्रेष्ठ आत्मधर्मस्तद्वन्तं स्त्रीजनः शृङ्गारेऽङ्गीकरोति।

केचिन्नारायणात्सर्वोत्पत्तिं कथयन्ति। सा च तदधिकारिणामुपासकानामेवार्थे न तु मुख्यतया। तदुक्तं शिर उपनिषदि—

१. अनागमविकल्पा तु स्वयं विद्योपवर्त्तते—मु० पा०।

"अक्षरात्संजायते कालः कालाद्व्यापक उच्यते । व्यापको हि भगवान् रुद्रो भोगायमानो यदा शेते रुद्रस्तदा संहार्य्यते प्रजाः । उछ्वसिते तमो भवति तमस आपो अप्स्वङ्गुल्या मथिते मथितं शिशिरे शिशिरं मथ्यमानं फेनो भवति फेनादण्डं भवति । अण्डाद् ब्रह्मा भवति ब्रह्मणो वायुर्वायोरोंकार ॐकारात्सावित्री सावित्र्या गायत्री गायत्र्या लोका भवन्ति ।" (अथर्वशिर उ० ६, ई० अ० उ० पृ० १५७)

अत्र तु विष्णोर्नामगणनापि नास्ति । कथं ? स तु रुद्रस्यांशावतारगणनेऽपि तदवान्तरत्वेनोक्त इति । विशेषरीतिस्तु शिवरहस्ये सविस्तरं लिखिता—

सर्ववेदानां सर्वसंसारिणामपि च गुरुर्नाथ एव सर्वशास्त्रप्रसिद्धोऽत एव तन्त्रोक्तेऽपि गुरुकवचे गुरुमण्डल निरूपणे मुख्यतया नाथस्यैव गुरुत्वमुक्तं श्रीनाथादि गुरुत्रयमित्यादिना ।

श्रीनाथादिगुरुत्रयं गणपतिं पीठत्रयं भैरवं
सिद्धेभ्यो बटुकत्रयं पदयुगं इतिक्रमं शोभनम् ।
वीरेशाष्टचतुष्टषष्टिनवकं वीरावलीपञ्चकं
श्रीमन्मालिनिमन्त्रराजसहितं वन्दे गुरोर्मण्डलम् ॥

महेशसंहितायाम्—

सत्यं केचित्प्रशंसन्ति तपः शौचमथापरे ।
क्षमां केचित्प्रशंसन्ति तथैव शममार्ज्जवम् ॥
केचिद्दानं प्रशंसन्ति पितृकर्म तथापरे ।
केचित्कर्म प्रशंसन्ति केचिद्वैराग्यमुत्तमम् ॥
केचिद्गृहस्थकर्माणि प्रशंसन्ति विचक्षणाः ।
अग्निहोत्रादिकं कर्म तथा केचित्परं विदुः ॥
एवमन्ये तु संचिन्त्य यथामति यथाश्रुतम् ।
निरीश्वरमिदं प्राहुश्चेश्वरं च जगत्पते ॥
वदन्ति त्रिविधा भेदैः सद्युक्त्या स्थितिकारकाः ।
एते चान्ये च मुनयः संज्ञाभेदात्पृथग्विधाः ॥
शास्त्रेषु कथिता ह्येते लोकव्यामोहकारकाः ।
एतद्विवादशीलानामलं वक्तुं न शक्यते ॥
भ्रमन्त्यस्मिन् जनाः सर्वे मुक्तमार्गवहिष्कृताः ।
आलोक्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः ॥
इदमेकं सुनिष्पन्नं योगशास्त्रामृतं परम् ।
यस्मिञ्ज्ञाते सर्वमिदं ज्ञातं भवति निश्चितम् ॥
अस्मिन्परिश्रमः कार्यः किमन्यच्छास्त्रभाषितम् ।
योगशास्त्रमिदं गोप्यमस्माभिः परिभावितम् ॥

आचारस्य संस्कृतशब्दस्य प्रबन्धकरणस्य शुद्धशब्दस्य चेत्यादिं सर्वपदार्थानां निषेधकरणेनैवं वादिभिः कदाचिदपि न ज्ञायतां यदेतेषां मते त्वाचारो नास्ति, संस्कृतं शास्त्रं च नास्ति, प्रबन्धो वा नास्ति, शुद्धशब्दस्योच्चारणं नास्ति, इति। किंत्वस्माकं मते त्वाचार ईदृशो वर्त्तते यस्तु प्राणान्तेऽपि न त्यज्यत आचारः। अन्येषां तु मत एवमपि कथ्यते शरीरार्थं कदापि काले ह्यधर्ममपि ग्राह्यम् किमर्थं? यदिशरीरमरोगं भवति तदापुनरपि तेन धर्मं संपाद्य तमधर्मं निवर्त्त्य पुनर्धर्मं करिष्यते येन सर्वश्रेयो भविष्यतीति। अस्माकं तु मते यदा कष्टे विपत्तौ वा शरीरार्थमधर्मं गृह्णाति तदायं कीदृशो धर्मो यः कष्टे त्यजते धर्मस्तु स एव यः प्राणान्तेऽपि न त्यक्तो भवेदिति हेतोर्योगिनो योग एव सर्वदा तिष्ठन्ति क्षणमपि न योगं त्यजन्ति। अत्र योगेन योगाभ्यासो ग्राह्य इति। तत्कर्मैव कर्माचारं यन्न त्यज्यते।

ननु वेदेऽपि लिखितं यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति, अहरहः सन्ध्यामुपासीतेत्यादि। पुनः संस्कृतशब्दरीतिस्त्वन्यैव। संस्कृतरीतिं रचयन्ति पुन. प्रबन्ध इति। प्रबन्धस्तु य एतादृशो यद्वाक्यं मेरुश्चलति तथापि तन्न चलति वाक्यम्। पुनः शुद्धमिति शुद्धमेतादृशं यच्छुद्धाशुद्धैकीकरणं तन्मोक्षरूपम्। शुद्धमेव स्यात्तच्च कदापि काले नाशुद्धं भवेदित्येतद्रीत्या ह्याचारादयः पदार्था एतैर्योगिभिरेतादृशाः क्रियन्ते यादृशा अन्यैः कर्त्तु न शक्यन्ते परं स्वयं सिद्धान्तो नास्तीति। आचारो ह्यनाचार इति संस्कृतमिति। प्रबन्धो प्रबन्ध इति। शुद्धमशुद्धमिति। द्वन्द्वमिलनेनैव सर्वं सिध्यति न त्वेकेनेति। एकेन तु ब्रह्मादयोऽपि किमपि कर्त्तुं न शक्नुवन्ति तच्च कदापि काले न भवत्येवेति। एतेन वारंवारमस्माभिरेवं प्रदर्श्यते। अव्यक्तलिङ्ग एव अघटितपदार्थ एव अत्याश्रम एव निश्चलो भवति नत्वितरकलितपदार्थो निश्चलः क्षणमपि दृश्यते। यद्वारंवारं कथनेनाव्यक्तलिङ्गस्यात्याश्रमस्येदंकरणं श्रोतारस्त्वैश्वर्येण मत्ता भूता एकदा लिखनेन जानन्त्यपरेषां मत एते यदा न भवन्त्येवेति तन्नास्ति सर्वस्मादप्येतेऽधिका भवन्ति निषेधकरणे न तु अव्यक्तलिङ्गे तात्पर्यमिति सिद्धं क्रियत इति। प्रथममुक्तेन योगेन योगाभ्यास उक्त इति। तदा कोऽपि जानीयात् योगाभ्यासो योगश्चेति कियदर्थद्वयमायातीति तत्र कथ्यते—योगस्तु जीवात्मपरमात्मनोरैक्यमेव योगाभ्यासस्तु तस्य योगस्य प्राप्त्यर्थं मानसप्राणायामाद्यभ्यासकरणमिति। पुनः प्रथमं यावज्जीवमग्निहोत्रीत्युक्तं तत्त्वन्यशास्त्रस्यापि रीतिरुक्ता नत्वेतदग्निहोत्रादि कर्म योगाभ्यासरूपं कर्मचैकमिति ज्ञेयं तत्तु निष्कर्म इदं तु महोत्तममिति। अत एव श्रीगोरक्षनाथेनोक्तं गोरक्षोपनिषदि—आदिब्राह्मण इति। को वा ब्राह्मण इति। ब्रह्म जानाति स ब्राह्मण इति। वैष्णवा ब्राह्मणाश्च रामकृष्णादयोऽपीतरं ब्रह्म। एवं जीवात्मापि चानुक्रमानुक्रमतो जीवो ब्रह्मेति कथनं भवतीति। एतया रीत्या अंशांशब्रह्म भजन्तस्ते मायाशबलं ब्रह्म पर्यायनारायणे समन्वयं व्रजन्ति। पुनः वैदिकाः परमहंसाश्च ये ते मायाशबलब्रह्म भजंतो निर्गुणब्रह्मणि समन्वयं व्रजन्तीत्येवं भवतु मा भवतु परन्त्वेवं

ते कथयन्ति। महासिद्धास्तु निर्गुणं भजन्तो निर्गुणातीते पूर्णे नाथे समन्वयं व्रजन्ति। अथो त्रयमप्येतत्केन मार्गेण व्रजन्ति, तत्राह—वैष्णवा. पुराणपाञ्चरात्राद्यनुसारिणस्तदुक्तोपासनेन कर्मणा। वैदिकाश्च परमहंसाः स्थूलवेदानुसारिणो यज्ञादिकर्मकरणानन्तरत्यागज्ञानेन। महासिद्धाः सूक्ष्मवेदानुसारिणो योगकर्मणेति। एवं च यदा वैष्णवास्तु पुराणपाञ्चरात्रादीनां वेदमूलकत्वात् वैदिकब्राह्मणान्तर्भूता अतस्तेषां कथने किं प्रयोजनमथ च वैदिका ब्राह्मणाः परमहंसास्ते स्थूलवेदानुसारिणो मायाशबलं ब्रह्मोपास्य निर्गुणं ब्रह्म जानन्ति यतो हेतोर्ब्रह्म जानन्तीति ब्राह्मणा इति। पुनः महासिद्धाः सूक्ष्मवेदानुसारिणो निर्गुणब्रह्मभजनेन पूर्णं ब्रह्म जानन्ति यत एते आदिब्राह्मणा इति। ब्राह्मणा ब्राह्मणा वेदिका वैदिकाः कथ्यन्ते। यदेते किंतु ब्राह्मणा वैदिका न वर्त्तन्ते एते तु महाब्राह्मणा महावैदिकाः। अथ चैवं रीत्यास्माभिः कथ्यते तद्यथार्थमेव ज्ञेयं नत्वेते ज्ञातिब्राह्मणा ब्रह्म जानन्ति यतो ब्राह्मणा इति। एकदण्डिनः परमहंसास्त्रिदण्डिनश्च परमहंसाः क्रियावद्ब्रह्मेति दृष्ट्वा एकयैव दृष्ट्या पश्यति। एकदण्डिनो निष्क्रियं ब्रह्मेत्येकयैव दृष्ट्या पश्यन्ति। यदा एकयैव दृष्ट्या। एकयैव व्यवस्थयात बहुबारमुक्तं चञ्चलत्वमेव तिष्ठति नतु निश्चलत्वं याति तदा मोक्ष भाक्त्वं न भवेत्तेषां च बन्धनमेव वर्त्तेत तदा गर्भो नरकश्च कथम्[१] ··· ··· ।

१. पुर्वमुद्रितात्संस्करणादेतावन्ति पत्राण्यधिकान्युपलभ्यापि ग्रन्थोऽयमपूर्ण एव प्रतिभाति।

ॐ

उद्धृतग्रन्थानुक्रमणी

ख

उद्धृतनामानुक्रमणी

॥ लक्ष्मीवेङ्कटेश्वराय नमः ॥

अथ

गोरक्षपद्धतिः ।

राजधानी-टीहरी जिला—गढवालनिवासि-
पण्डितमहीधरशर्मकृतभाषानुवादसहिता.

सा च

शास्त्रिभिः शोधयित्वा

श्रीकृष्णदासात्मज—गंगाविष्णुना
स्वकीये "लक्ष्मीवेंकटेश्वर" मुद्रणागारे
मुद्रयित्वा प्रकाशिता ।

संवत् १९५५, शके १८२०.

कल्याण—मुंबई.

गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास,
"लक्ष्मीवेङ्कटेश्वर" छापाखाना, कल्याण-मुंबई.

Gangavishnu Shrikrishnadass
LAXMI-VENKATESHWAR PRESS,
KALYAN-BOMBAY.

प्रस्तावना.

समस्त साधनाओंका मूल योग है. तप, जप, संन्यास उपनिषत् ज्ञानआदि मोक्षहेतु अनेक हैं किंच सर्वोत्कृष्ट योगही है इसीके प्रभावसे शिव सर्वसामर्थ्य, ब्रह्मा कर्त्ता, विष्णु पालक है. इसके मुख्य-कर्त्ता शिवजीने पार्वतीजीसे कहा ब्रह्माजीके सेवन करनेपर योगियाज्ञवल्क्यस्मृति बनी है. विष्णु (श्रीकृष्णजी) ने गीता, एवं भागवतके ग्यारहवें स्कंधमें कहाहै. इसके मुख्यआचार्य्य आदिनाथ (शिवजी) हैं. इन्हींसे नाथसंप्रदाय प्रवृत्त भया. एक समय आदिनाथ किसी द्वीपमें पार्वतीको योग सुनारहेथे वह एक मछलीने सुनकरही दिव्यज्ञान तथा दिव्यदेह पाया यही मत्स्येंद्रनाथ भये और मत्स्येंद्रनाथ शाबरनाथ (जिन्होंने साबरग्रंथ देशभाषामें बनाये हैं) आनंदभैरवनाथ, चौरंगी आदियोंसे योग पाय यथेच्छ विचरतेथे कि, एक स्थानमें हातपाँव कटेहुये चोरको देखा. उक्त महात्माओंके कृपावलोकनसे उसके हातपाँव उगआये तथा ज्ञानभी होगया मत्स्येंद्रनाथके कृपासे योग पायकर चौरंगिया नाम योगी सिद्ध विख्यात भया और मीननाथ, गोरक्षनाथ, विरूपाक्ष, बिलेशय, मंथानभैरव, सिद्धबुद्ध, कंथडी, कोरंटक, सुरानंद, सिद्धपाद, चर्पटी, कानेरी, पूज्यपाद, नित्यानंद, निरंजन, कपाली, बिंदुनाथ, काकचंडीश्वर, अल्लाम, प्रभुदेव, घोडाचोली, टिंटिणी, भानुकी, नारदेव, खंड, कापालिक, तारानाथ इत्यादि योगसिद्धि पायकर योगाचार्य हुए हैं. योगहीके प्रभावसे महासिद्ध अखंडऐश्वर्यवान् होकर मृत्युको जीत ब्रह्मानंदमें मग्न रह ब्रह्मांडमें विचरतेहैं. इनमेंसे मुख्य मत्स्येंद्रनाथ गोरक्षनाथ योगविद्याके आचार्य भये. गोरक्षनाथने मुमुक्षुजनोंके उपकारार्थ राजयोग, हठयोग आदि बहुविस्तार एवं बहुसाधनासाध्य जानकर, "यह गोरक्षपद्धति" नामा ग्रंथ २०० श्लोकमें सर्वसमुच्चय सारभूत प्रकट किया सर्वसाधारणके सुबोधार्थ महीधरशर्मा राजधानी टीहरी जिला गढवालनिवासीने इसका भाषानुवाद करके प्रकाशित किया.

इस ग्रंथके प्रथम मंगलाचरणसे (५) श्लोकमें विषयप्रयोजन संबंध अधिकारी कहेहैं. (१) में योगाभ्यासका फल, (१) में षडंगके नाम, (५) में आसन, (१२) में षट्चक्रनिरूपण, (८)

में दशनाडी स्थानोंसहित, (१४) में दशवायु, (१०) में शक्तिचालन, (२६) में महामुद्राआदि, (७) में प्रणवाभ्यास, प्राणायामप्रशंसा, (४) में प्राणायामका प्रकार, (८) में नाडीशोधन, इतने विषय पूर्वशतकमें. तथा (२१) में प्राणायामका विस्तार, (३०) में प्रत्याहारविधि, (९) में धारणा, (२४) में ध्यान, (१३) में समाधि, (४) में मुक्तिसोपान, योगशास्त्राभ्यासका फल इतने विषय उत्तरशतकमें कहे हैं. ऐसी यह गोरक्षपद्धति योगमार्ग जाननेवालोंको अतिउत्तम तथा सुगम है. योगमार्गका प्रयोजन सभी शास्त्रोंमें पडताहै. विशेषतः संध्या, पूजनआदि द्विजन्माओंके नित्यकर्मभी विना इसके सिद्ध नहीं होते जैसे संध्यामें प्रथम "बद्धपद्मासनो मौनी प्राणायामत्रयं चरेत्" तथा पूजनमें "स्नातः शुचिः प्राङ्मुखोपविश्य प्राणानायम्य" इत्यादि सर्वत्र विधिवचन है. यदि योग न जाने तो प्राणायाम पद्मासनआदि कहांसे जाने. इनके न जाननेसे समस्त संध्यावंदनादिसाधन निरर्थक हैं. इस समयमें बहुधा लोक नाकपर हाथ लगानेको प्राणायाम समझते हैं. पद्मासनादियोंका तो नामभी नहीं है. तब कहांसे सिद्धि होवे इसी हेतु नास्तिकलोग असिद्ध तथा पोप (ठग) आदि निंद्यशब्दोंसे अपने मुखविवरोंको दूषित करते हैं यदि योगाभ्यास करें तो सिद्धि प्रत्यक्ष होकर अपना उद्धार हो तथा दूषकोंके उन विवरोंमें मिट्टी पडे. और योगग्रंथ बहुत तथा कठिन हैं. ये २ शतक थोडेहीमें ज्ञान देते हैं इस हेतु मैंने भाषाटीका की है कि सभी सज्जन इसे देख थोडाही गुरूपदिष्ट होकर सर्वार्थसाधनयोगमार्गकी महिमा जानजायँगे. पाठकोंके सुबोधार्थ मैंने अनेक प्रसिद्ध योगग्रंथोंसे इसे बढाकर गोरक्षपद्धति करदिया. और यह ग्रंथ "लक्ष्मीवेङ्कटेश्वर" छापेखानेके अधिकारी-गंगाविष्णु श्रीकृष्णदासजीको सर्व हक्कसहित देदियाहै जो यह उन्होंने आपके छापाखानेमें छापकर प्रसिद्ध किया है.

मही-

श्रीगणेशाय नमः ।

अथ

भाषानुवादसहिता

गोरक्षपद्धतिः ।

श्रीआदिनाथं स्वगुरुं हरिं मुनिं
गोरक्षशास्त्रस्य प्रणम्य योगिनम् ।
भाषाविवृत्तिं कुरुते महीधरो
योगे सुबोधः खलु जायते यया ॥ १ ॥

श्री आदिनाथ (शिवजी) तथा निजगुरु, हरिमुनि योगीको प्रणाम करके महीधरनामा गोरक्षयोगशास्त्र जो योगींद्रगोरक्षनाथने दो शतकमें शिष्योपकारार्थ बनाया है. उसकी भाषाटीका करता है. जिससे योगमार्गमें सभीको सुगमतासे बोध होता है. योगपदका अर्थ मेल है जैसे 'ह' का अर्थ सूर्य्य 'ठ' का चंद्रमा है इनके योग (मेल) को हठयोग कहतेहैं. इसीको राजयोगभी कहतेहैं, प्राण, अपानवायु जिनकी सूर्यचंद्रमा संज्ञा है, इनका ऐक्य करनेवाला जो प्राणायाम उसे हठयोग कहतेहैं ॥ १ ॥

श्रीगुरुं परमानन्दं वन्दे स्वानन्दविग्रहम् ।
यस्य सान्निध्यमात्रेण चिदानन्दायते तनुः ॥ २ ॥

शिष्यको आत्माके तत्त्वबोधनिमित्त गुरुस्वरूप धारणकर परमगुरु श्रीपरमात्माको सहस्रदलकमलमें भावनापूर्वक प्रथम ग्रंथारंभमें विघ्नविघातार्थ प्रणाम करतेहैं, कि जीवब्रह्मकी ऐक्यता योगशास्त्रका प्रयोजन है. सद्गुरुके समीप भक्तिपूर्वक रहनेसे शिष्यका पांचभौतिक शरीरभी आनंदमय होजाताहै. आनंदही परब्रह्मका रूप है जैसे श्रुतिभी कहतीहै कि "आनन्दो ब्रह्मणो रूपम्" यदि ऐसा न हो तो उसकी पहछानभी नहीं होसके क्यों कि "न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा" इत्यादि गीता । एवं वेदांतग्रंथोंमें लिखाहै कि उसका रूप तथा जन्म, मरण, मध्य और रंग चिह्न मूर्त्तिआदि कुछ नहीं है. केवल आनंदमय स्वयंप्रकाशमान है. तथा निर्विकल्प आनंदमय होजानेकोही मुक्ति कहतेहैं. ऐसे परमआनंदस्वरूप परब्रह्मको (जिसका शरीरभी आनंदही है) वंदना करके ग्रंथारंभ करते हैं जिसके सांनिध्य (सम्मुख) होनेसे, अर्थात् (केवलानुभवानंद) वह आनंदात्मा परमात्मा केवल मनके मनन अनुभव विचार करनेसे अपनेही बीच पाया जाता है. न कि इतस्ततः तीर्थयात्रादि फिरनेसे, यह अनुभव केवल योगहीसे साध्य है. यह ज्ञानकी प्रथम भूमिका है. नाडीशोधन, वायुशोधन, ध्यान, धारणा आदि विना एवं गुरुकृपा विना नहीं मिलता. विना ज्ञानके मुक्ति नहीं मिलती श्रुतिभी कहतीहै कि "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः" मुक्तिपदार्थ वही आनंदमय होजाताहै. योगसे ज्ञान पायके जीवपरमात्माका एकभाव होनेमें वह आनंदस्वरूप पर-

ब्रह्म साक्षात्कार होताहै इस ज्ञानगम्यके प्रत्यक्षमात्र होनेहीसे परमचिदानंदमय आपही योगी होजाताहै. जैसे ज्ञानकी सात भूमिका हैं. ज्ञानभूमि १ विचारणा २ तनुमानसा ३ सत्त्वापत्ति ४ संसक्तिनामिका ५ पदार्थाभाविनी ६ तुर्यगा ७ ये सात हैं. विवेक वैराग्य हैं प्रथम जिसमें ऐसी तीव्र मुमुक्षारूप पहिली. श्रवणमननरूपा दूसरी. मनमें अनेक अर्थ संकल्प विकल्प उत्पन्न तथा नाश होतेहैं. इन सभीको छोडके, सत् एकार्थमें वृत्ति होनी. तनुमानसा तीसरी. ये तीन साधनभूमियें हैं इनसे जब अंतःकरण शुद्ध हो तब "अहं ब्रह्मास्मि" मैं ब्रह्म हूं ऐसा योगी कहताहै. समस्त साधन पूजनजपादिकमें "अहं ब्रह्मास्मीति चिरं भावयेत्" लिखाहै, यह भावनाविना उक्त तीन भूमिका साधे होतेही नहीं हैं इसलिये विना मार्गके कुछभी साधन नहीं होता है चौथी, सत्त्वापत्ति ज्ञानभूमि यही फलभूमि है इसमें जब योगी प्राप्त होवे तब ब्रह्मवित् कहाता है. इसी सत्त्वापत्तिभूमिमें समीपही वहीं जो सिद्धि उसमें आसक्त न होना, इसे असंसक्तिनाम पांचवीं ज्ञानभूमि कहतेहैं. इसमें जब योगी प्राप्त होवे तो उसे ब्रह्मविद्वर कहतेहैं. जिसमें परब्रह्मसे व्यतिरिक्त अर्थको भावना न करे वह पदार्थाभाविनी छठी ज्ञानभूमि है इसमें जब योगी प्राप्त होता है तो वह दूसरेके बोधन करनेसे मात्र प्रबुद्ध होता है. नहीं तो एकाग्रशून्याकारही रहता है उसे ब्रह्मविद्वरीयान् कहते हैं. तुर्यगा नाम सातवीं भूमि है इसमें योगी प्राप्त होनेसे ब्रह्मविद्वरिष्ठ कहते हैं. इतने साधनाओंसे स्वात्माराम,

चिदानंद, परमानंद, चिन्मय आदियोगी आपही होजाता है. कालरहित होता है. "अन्तर्निश्चलितात्मदीपकलिकास्वाधारबन्धादिभिर्यो योगी युगकल्पकालकलनात्तत्त्वं च जेगीयते । ज्ञानामोदमहोदधिः समभवद्यत्रादिनाथः स्वयं व्यक्ताव्यक्तगुणाधिकं तमनिशं श्रीमीननाथं भजे" जो मीननाथयोगीश्वर मूलाधारबंध, उड्डीयानबंध, जालंधरबंध आदि योगाभ्याससे हृदयकमलमें निश्चलदीपककी ज्योतिसरीखी परमात्माकी कला साक्षात्कार करके श्वास, पल, घटी, प्रहर, दिन, मास, ऋतु, अयन, वर्ष, युग, मन्वंतर, कल्प आदि निरंतर पुनः पुनः फिरनेवाला है स्वरूप जिसका ऐसे कालको तथा जलादि २५ तत्त्वोंको पहचानके योगाभ्याससे जीतता है तथा ज्ञानानंदरूपी समुद्र होकर गुप्तप्रकट अर्थात् सगुण निर्गुण होनेकी सामर्थ्य रखनेवाला आदिनाथ शिवस्वरूपकी भावना नित्य करनेके अभ्याससे; आपही साक्षात् शिव हो गया है. ऐसे योगीश्वर श्रीमीननाथको दिनरात नमस्काररूप सेवन करताहूं ॥ २ ॥

नमस्कृत्य गुरुं भक्त्या गोरक्षो ज्ञानमुत्तमम् ।
अभीष्टं योगिनां ब्रूते परमानन्दकारकम् ॥ ३ ॥

योगी गोरक्षनाथ भक्तिपूर्वक गुरुको प्रणाम करके पूर्वजन्मके योगसेवनसे इस जन्ममें पूर्णयोगमार्गका बोध देनेवाला योगशास्त्र कहते हैं. जिससे योगियोंको अभीष्ट (मनोवांछित) मिल-

ता है तथा परमयोगानंद यद्वा ब्रह्मानंद होता है. कर्म और भक्तिसे जब चित्त शुद्ध होवे तब योगशास्त्रमें अधिकारी होताहै ॥ ३ ॥

गोरक्षसंहितां वक्ति योगिनां हितकाम्यया ।
ध्रुवं यस्यावबोधेन जायते परमं पदम् ॥ ४ ॥

योगिजनोंके हितके लिये योगींद्र गोरक्षनाथ गोरक्षसंहिता नाम योगशास्त्र कहता है,जिसका बोध होनेसे योगीको (परमपद) जीवन्मुक्ति होती है यद्वा वह मिलता है जिसमें पहुँचकर पुनरावृत्ति फिर लौट आना नहीं होता ॥ ४ ॥

एतद्विमुक्तिसोपानमेतत्कालस्य वञ्चनम् ।
यद्व्यावृत्तं मनो भोगादासक्तं परमात्मनि ॥ ५ ॥

जब योगाभ्याससे मन विषयभोगोंसे हटजानेपर परमात्मा (ईश्वर) में आसक्त हो जावे तब योगी काल तथा मृत्युको जीतकर जरा (बुढापा) मृत्यु (मरण) को जीतता है मुक्तिका सोपान (सीढी) यही कर्म है, और कालकी वंचनाभी यही है ५

द्विजसेवितशाखस्य श्रुतिकल्पतरोः फलम् ॥
शमनं भवतापस्य योगं भजत सत्तमाः ॥ ६ ॥

सज्जनको संबोधन करके, गोरक्षनाथ कहते हैं कि हे सत्तम श्रेष्ठजनो ! वेदरूपी कल्पवृक्षके फल इस योगशास्त्रका सेवन करो जिसके शाखा (टहनियां) योगिरूपी द्विज (पक्षी) अथवा मुनिजनोंसे सेवित हैं और संसारके तीन प्रकारके ताप (क्लेशों) को शमन करताहैं ॥ ६ ॥

आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा ।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि वदन्ति षट् ॥ ७ ॥

प्रथम आसन सिद्ध करके क्रमशः प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधिका अभ्यास करना ये योगके छः अंग हैं इनके पृथक् विस्तार आगे कहेंगे. यमनियमसंपन्न योगीको क्रमपूर्वक अभ्यासकरके समाधिका लाभ होता है जिससे निर्विकल्प समाधिसे राजयोग सिद्ध होता है. तव चिदानंदस्वरूप आपही होके योगानंदको प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

अथासनानि ।

आसनानि च तावन्ति यावन्तो जीवजन्तवः ।
एतेषामखिलान् भेदान् विजानाति महेश्वरः ॥ ८ ॥

आसनोंका विस्तार कहते हैं कि जितने जीवमात्र अर्थात् चौराशी लक्ष योनि हैं उतनेही आसनभी उन्हींके शरीरचेष्टानुसार हैं इनके प्रत्येक भेदोंके जाननेहारे केवल शिवजी मात्र हैं और कोई नहीं जानता ॥ ८ ॥

चतुराशीतिलक्षाणामेकैकं समुदाहृतम् ।
ततः शिवेन पीठानां षोडशोनं शतं कृतम् ॥ ९ ॥

चौराशी लक्ष आसनोंके भेद मनुष्योंसे न जाने जायंगे इस प्रकार जानकर करुणामय शिवजीने सर्वसाधारणके उपकारहेतु चौराशी (८४) मात्र आसन योगशास्त्रमें प्रगट किये. यही सबमें सार हैं ॥ ९ ॥

आसनेभ्यः समस्तेभ्यो द्वयमेतदुदाहृतम् ।
एकं सिद्धासनं प्रोक्तं द्वितीयं कमलासनम् ॥ १० ॥

इन ८४ आसनोंमेंभी बहुतविस्तार होनेसे योगधारण करनेवालोंके उपकारहेतु दोही आसन मुख्य कहेहैं. इससे इस ग्रंथमें सुगमताके लिये सर्वसंमत एक सिद्धासन दूसरा पद्मासन सविस्तार कहा जाताहै ॥ १० ॥

योनिस्थानकमंघ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसे-
न्मेढ्रे पादमथैकमेव हृदये कृत्वा हनुं सुस्थिरम् ।
स्थाणुः संयमितेन्द्रियो चलदृशा पश्येद्भ्रुवोरन्तरं
ह्येतन्मोक्षकपाटभेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते ॥११॥

सर्वोत्कृष्ट दो आसनोंमेंसे प्रथम सिद्धासनकी विधि कहतेहैं कि, गुदा और लिंगके बीचमें योनि (कुंडलिनीका) स्थान है इसको वामपादकी एडीसे दृढ पीडन (दबाव) करे दाहिने पैरकी एडी लिंगके ऊपर लगाकर दबावे दोनों पैरोंकी एडियां नीचे ऊपर बराबर होजाती हैं तथा दोनों पैरोंके अंगुष्ठ जंघा और गुल्फोंके बीच नीचे छिपजाते हैं इनके दबावसे योनिस्थानके तले ऊपरके दो इंद्रिय गुदा, उपस्थ रुकजातेहैं. तदनंतर हृदयके चार अंगुल ऊपर चिबुक (ठोडी) स्थिर करे और समस्तइंद्रियोंसे हटाकर एकाग्र चित्त करे तथा दोनों नेत्रोंसे अचलदृष्टि कर भृकुटि (भ्रूमध्य) देखतारहे यह मोक्षरूपी द्वार (दरवाजे) के कपाट (किंवाड) को खोलकर मोक्षमार्ग दि-

खाताहै. यद्वा जो कुंडलिनीसे रुकाहुआ सुषुम्णाद्वार उसे खोलकर मोक्षमार्ग (सुषुम्णा) के द्वारा मोक्षस्थान सहस्रदलकमकर्णिकांतर्गत परमात्मामें पहुँचानेका यत्न करता है यह सिद्धासन है ॥ ११ ॥

वामोरूपरि दक्षिणं च चरणं संस्थाप्य वामं तथा
दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढम् ।
अंगुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकये-
देतद्व्याधिविकारनाशनकरं पद्मासनं प्रोच्यते ॥१२॥

बाये ऊरु (जानुमूल) में दाहिना पैर उत्तान करके तथा दक्षिण ऊरु (जानुमूल) में वामपाद वैसेही स्थापन करके दाहिने हाथको पीठपीछे घुमायके दाहिने पैरके अँगूठेको ग्रहण करे तथा बाये हाथको पीठपीछे घुमायके दाहिने हाथ ऊपरसे लेजायकर बांये पैरके अंगुष्ठको ग्रहण करे. तब चिबुक (ढोडी)को छातीसे लगाय, दोनों नेत्रोंसे नासिकाका अग्रभाग निरंतर देखतारहे. यह योगियोंके समस्तरोगविकार नाश करनेवाला बद्धपद्मासन है ॥ १२ ॥

'प्रकारांतरसेभी पद्मासन कहाहै इसलिये मैं ग्रंथांतरमतसे मत्स्येंद्रनाथके मतकाभी लिखताहूं'—

"उत्तानौ चरणौ कृत्वा ऊरुसंस्थौ प्रयत्नतः ।
ऊरुमध्ये तथोत्तानौ पाणी कृत्वा ततो दृशौ ॥ १ ॥
नासाग्रे विन्यसेद्राजदन्तमूले तु जिह्वया ।
उत्तम्भ्य चिबुकं वक्षस्युत्थाप्य पवनं शनैः ॥ २ ॥

इदं पद्मासनं प्रोक्तं सर्वव्याधिविनाशनम् ।
दुर्लभं येन केनापि धीमता लभ्यते बुधैः ॥३॥ "

ऊरु (जानुमूल) में पूर्वोक्तप्रकारसे चरण (जैसे दक्षिण ऊरुमें वाम, वाममें दक्षिणचरण, उत्तान अर्थात्, पैरोंके पीठ जानुपर लगी रहें.) स्थापन करके दोनों हाथ सीधे एडियोंके ऊपर नीचे वाम ऊपर दक्षिणहस्त रखके दृष्टि नासिकाके अग्रभागपर निश्चल रक्खे तदनंतर राजदंत (डाढों) के मूल दक्षिण वाम दोनों में जिह्वा कर ऊर्ध्वस्तंभन करे (यह जिह्वाबंध गुरुमुखसे जानना चाहिये जिह्वाबंध मूलबंधका विस्तार ५७ । ५८ श्लोकमें कहेंगे) तथा चिबुक (ढोडी) को चार अंगुल अंतर छोडकर छातीसे लगाय मंद मंद वायुको उठावे. यह मूलबंध है. (यहभी गुरुमुखबोध्य हैं) यह पद्मासन मत्स्येन्द्रनाथके मतका है. संपूर्णरोगोंको नष्ट करताहैं. जो संसारमें भाग्यहीन हैं. उनको दुर्लभ है. बुद्धिमान् एवं पुण्यवान् पुरुषोंको गुरुकृपासे मिलताहै । १ । २ । ३ ।

अथ षट्चक्रनिरूपणम् ।

षट्चक्रं षोडशाधारं द्विलक्ष्यं व्योमपञ्चकम् ।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्ध्यन्ति योगिनः १३॥

विषमवासनासे मन चंचल रहताहै रोकेसे रुकता नहीं विना मन रोके योगसिद्धि नहीं होती. मन रोकनेके लिये कुछ निमित्त (अवलंबन) अवश्य होना चाहिये. इस हेतु छः चक्र, सोलह आधार, दो लक्ष्य, पांच आकाश, ये चार प्रकार भेद (सर्व उन-

तीस) कहते हैं, कि मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा ये छः चक्र हैं इनका विस्तार आगे कहेंगे आधार सोलह हैं इनके विशेषविस्तार अतिगुह्य होनेसे श्रीगोरक्षनाथने यहां प्रगट नहीं कहे और इनके प्रकटताविना सर्वसाधारणको बोध होना असंभव है इसलिये जैसा गुरुकृपासे जाना. यहां ग्रंथान्तरीयमतसे प्रकट करता हूं.प्रथम आधार पादांगुष्ठ है इसपर एकाग्रदृष्टि करके ज्योति चैतन्य करे इससे दृष्टि स्थिर होतीहै १। दूसरा आधार मूलाधार. इसे पावोंकी एडीसे अचेतन करना इससे अग्नि दीप्त होतीहै २। तीसरा गुह्याधार. इसके संकोचविकाशके अभ्यास करनेसे अपना वायु फिरके वज्रगर्भनाडीमें प्रवेश कर बिंदुचक्रमें जाताहै इससे शुक्रस्तंभन एवं (वज्रोली) रेत योनिमें पात न करके पुनः आकोचनक्रमसे वज्रनाडीद्वारा बिंदुस्थानमें प्राप्त करनेकी सामर्थ्य होती है ३।४। पंचम उड्डीयानबंध आधार है. पश्चिमतान आसन बांधके गुदाको संकोचन करे इससे मल मूत्र कृमिका नाश होताहै ५। छठा नाभिमंडलाधार. जिसमें चैतन्य ज्योतिःस्वरूपका ध्यान करनेसे एवं प्रणवके जपसे नाद उत्पन्न होता है ६। सातवां हृदयाधार. इसमें प्राणवायुको रोध करनेसे हृदयकमल विकासित होता है ७। आठवां कंठाधार. इसमें ढोडी हृदयपर दृढ लगायके ध्यान करे तो इडा पिंगलामें वहताहुआ वायु स्थिर होता है ८। नवम क्षुद्रघंटीकाधार. कंठमूल है इसमें जो दो लिंगाकार ऊपरसे लटकती हैं उनतक जिह्वा पहुंचावे तो ब्रह्मरंध्रमें चंद्रमंडलसे वहताहुआ अमृतरस मिलता है ९। दशम

जिह्वामूलाधार. इसमें खेचरीमुद्राके प्रकारसे जिह्वाग्रसे मथन करे तो खेचरीसिद्धि होती है १०। ग्यारहवां जिह्वाका अधोभागाधार. जिसमें जिह्वाग्रसे मथन करके दिव्यकविताशक्ति होतीहै ११। बारहवां ऊर्ध्वदंत मूलाधार. जिसमें जिह्वाग्रस्थापनके अभ्याससे रोगशांति होती है १२। तेरहवां नासिकाग्राधार. जिसमें दृष्टि स्थिर करनेसे मन स्थिर होता है १३। चौदहवां नासिकामूलाधार. जिसमें दृष्टि स्थिर करनेसे छः महीनेके निरंतर अभ्यासकरके ज्योति प्रत्यक्ष होती है १४। पंद्रहवां भ्रूमध्याधार. जिसमें दृष्टि अचलदृष्टिके अभ्यास करके सूर्यकिरणोंके समान ज्योति प्रकाश होती है इसी अभ्यासके दृढ होनेपर सूर्य्याकाशमें मनका लय होता है १५। सोलहवां नेत्राधार. जिनके मूलमें अंगुलिसे मीचनेमें वर्तुलाकार बिंदुसमान इंद्रधनुषके समान रंगकी ज्योति है इस ज्योतिके देखनेका अभ्यासकरके ज्योति प्रत्यक्ष होतीहै १६ ये सोलह आधार हैं. अथवा मूलाधार १ स्वाधिष्ठान २ मणिपूर ३ अनाहत ४ विशुद्ध५ आज्ञाचक्र ६ बिंदु ७ अर्द्धेंदु ८ रोधिनी ९ नाद १० नादांत ११ शक्ति १२ व्यापिका १३ समनी १४ रोधिनी१५ध्रुवमंडल १६ ये सोलह (१६) आधार हैं ब्रह्म तथा अपनेमें अभेद समझकर भावना करनेसे सिद्धि होती है अब दो लक्ष्य कहते हैं ये दो प्रकार बाह्य आभ्यंतरीय हैं देखनेके उपयोगी नासिका तथा भ्रूमध्य इत्यादि बाह्यलक्ष्य हैं मूलाधारचक्र, हृदयकमल इत्यादि आभ्यंतरलक्ष्य हैं. अथ पांच आकाश इस प्रकार

हैं कि प्रथम श्वेतवर्ण ज्योतिरूप आकाश है इसके भीतर रक्तवर्ण ज्योतिरूप प्रकाश है इसके भीतर धूम्रवर्ण ज्योतिरूप महाकाश है इसके भीतर नीलवर्ण ज्योतिस्वरूप तत्त्वाकाश है इसके भीतर विद्युत् (बिजुली) के वर्णका ज्योतिस्वरूप सूर्याकाश है ये पांच आकाश हैं इतने ६ चक्र १६ आधार ३ लक्ष्य ५ आकाश शरीरमें हैं इन्हें जो योगी नहीं पहचानता उसको योगसिद्धि नहीं होती ॥ १३ ॥

एकस्तम्भं नवद्वारं गृहं पञ्चाधिदैवतम् ।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्ध्यन्ति योगिनः ॥१४॥

शरीरस्तंभरूपी गृह है इसमें सकलवासनाओंका आश्रय मन है यही खंभारूप होकर समस्तशरीरको थामे रहताहै जिसके मुख १ नेत्र २ नासिका २ कर्ण २ गुह्य १ लिंग १ ये ९ द्वार हैं तथा पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश पंचतत्त्वोंके ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव अधिदेवता हैं ऐसे शरीररूपी गृहको जो योगाभ्यासी नहीं जानता वह योगसिद्धि कैसे पासकताहै ॥ १४ ॥

चतुर्दलं स्यादाधारं स्वाधिष्ठानं च षड्दलम् ।
नाभौ दशदलं पद्मं सूर्यसंख्यादलं हृदि ॥ १५ ॥
कण्ठे स्यात् षोडशदलं भ्रूमध्ये द्विदलं तथा ।
सहस्रदलमाख्यातं ब्रह्मरन्ध्रे महापथे ॥ १६ ॥

षट्चक्रोंके पृथक् वर्णन है कि प्रथम मूलाधारचक्र गुदद्वारमें

पीले वर्णका अधोमुख कमल है जिसके ४ दलोंमें व, श, ष, स; बीज शोभित हैं आठों दिशामें आठ शूलोंसे वेष्टित पीतवर्ण मध्य कर्णिकामें चतुष्कोण भूमंडलके भीतर, हाथीके ऊपर आरूढ जिसके पार्श्व (बगल) में (लं) बीज है और चार हाथ चार मुखका ब्रह्मा कोटिसूर्य्यसमान प्रकाशमान एवं डाकिनीशक्तिसे युक्त है वहीं देदीप्यमान त्रिकोणाकार कामाख्य पीठ है तिसके मध्य-में पश्चिममुख स्वयंभू लिंग है उसके बीचमें बिजुली समान च-मकवाली साढे तीन फेरे (वृत्त) से वेष्टित होकर, सुषुम्णाके द्वा-रको रोकके सोया हुआ सर्प जैसी कुण्डलिनी महाशक्ति है जैसे पृथ्वीका आधार शेष तैसेही शरीरका आधार यह है विना इसके जागे और उपाय योगके व्यर्थ हैं. इसलिये प्रथम इसका बोधन करना मुख्य है १ । दूसरा स्वाधिष्ठानचक्र. लिंगमूलमें रक्तवर्ण ऊर्ध्वमुख षड्दल ब, भ, म, य, र, ल इन ६ वर्णोंसे शोभित कमल है शुक्रवर्ण कर्णिकामें अर्द्धचंद्राकार जलमंडल है इसके बीचमें (वं) बीज है जिसके पार्श्व (बगल) में श्रीवत्सकौस्तुभ पीतांबर वनमालाओंसे शोभित चतुर्भुज विष्णु शाकिनशिक्ति-सहित हैं २।तीसरा मणिपूरचक्र. नाभिमूलमें नीलवर्ण ऊर्ध्वमुख दशदल कमल ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ इन १० व-र्णोंसे शोभित है मध्यकर्णिकामें स्वस्तिकाकार तेजोमंडल है. इसके मध्यमें सूर्यके समान तेजधारी मेषवाहन (रं) बीज चतुर्भु-ज है इसके पार्श्वमें रक्तवर्ण विभूतिभूषित, नीलवर्ण, चतुर्भुज लाकिनीशक्तिसहित महारुद्र हैं ३। चौथा अनाहतचक्र. हृदयमें

द्वादशदलकमल ऊर्ध्वमुख क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ ट, ठ इन १२ बीजोंसे शोभित है उसके कर्णिकामें धूम्रवर्ण, षट्कोण वायुमंडलके मध्यमें धूम्रवर्ण, चतुर्बाहु, कृष्णमृगवाहन (यं) बीज है. इसके पार्श्वमें अभयमुद्रा धारण करके काकिनीशक्तिसहित ईश्वर हैं कर्णिकाके त्रिकोणमें सुवर्णवर्ण बाणालिंग है यह पूर्णागिरि पीठ कहाता है ४। पांचवां विशुद्धचक्र. कंठस्थानमें रक्तवर्ण, ऊर्ध्वमुख, षोडशदलकमल अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः इन १६ वर्णोंसे शोभित है स्फटिकवर्णकर्णिकामें वर्तुलाकार आकाशमंडल जिसमें निष्कलंक पूर्णचंद्रमा है इसके मध्यमें श्वेतहाथी वाहन, पाश, अभय, वर, अंकुश, धारण करता आकाश बीज (हं) इसके पार्श्वमें शाकिनीशक्तिसहित सदाशिव हैं यह जालंधरपीठ कहाता है ५। छठा आज्ञाचक्र. भ्रूमध्यमें श्वेतवर्ण ऊर्ध्वमुख द्विदल ह, क्ष, इन २ बीजोंसे शोभित कमल है इसके कर्णिकामें हाकिनीशक्तिसहित शिव है कर्णिकाके त्रिकोणमें, इतरलिंग नामा शिवलिंग है यही मनका स्थान है उड्डीयानभी इसीको कहते हैं ६। इसके ऊपर सहस्रदलकमल ब्रह्मरंध्रमें श्वेतवर्ण पूर्णचंद्रसमान मुख परमानंदस्वरूप ह, ळ, क्ष इन ३ वर्णोंसे शोभित है त्रिकोणकर्णिकामें पूर्णचंद्रमंडल जिसके मध्यमें बिजुलीके समान चमकीला परमानंदरूप देदीप्यमान ज्योति है इसमें चिदानंदस्वरूप परमशिव विराजमान हैं इनके पार्श्वमें सहस्रसूर्यके समान तेजधारी प्रबोधस्वरूप अर्धचंद्राकार निर्वाणकला

विराजमान है. इसके बीचमें कोटिसूर्यसमान तेजधारी रोमसमान सूक्ष्म निर्वाणशक्ति विराजमान है इनके मध्यमें मन तथा वचनसे अगम्य केवल योगसे गम्य चिदानंदस्वरूपसे पर क्या अतिपर परम शिवपद है जिसको परब्रह्मपद कहते हैं विराजमान हैं जिसके निमेषोन्मेष अर्थात् पलक खोलने मीचनेमें सृष्टि उत्पन्न और नष्ट होती है ॥ १५ ॥ १६ ॥

आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम् ।
योनिस्थानं द्वयोर्मध्ये कामरूपं निगद्यते ॥ १७ ॥

पहिला मूलाधार स्वाधिष्ठान इन दो चक्रोंके बीचमें योनिस्थान है यही कामरूप पीठ है. अर्थात् मूलाधारके कर्णिकामें कामरूप पीठ है ॥ १७ ॥

आधाराख्ये गुदस्थाने पङ्कजं च चतुर्दलम् ।
तन्मध्ये प्रोच्यते योनिः कामाख्या सिद्धवन्दिता१८॥

मूलाधार (गुदा) में जो चतुर्दलकमल विख्यात है उसके मध्यमें त्रिकोणाकार योनि है जिसकी वंदना समस्त सिद्धजन करते हैं पंचाशत् वर्णसे बनी हुई कामाख्या पीठ कहाती है॥ १८॥

योनिमध्ये महालिङ्गं पश्चिमाभिमुखस्थितम् ।
मस्तके मणिवद्बिम्बं यो जानाति स योगवित्॥१९॥

पूर्वोक्त त्रिकोणाकारयोनिमें सुषुम्णाद्वारके संमुख स्वयंभू नाम करके जो महालिंग है उसके शिरमें मणिके समान देदीप्यमान बिंब है यही कुंडलिनी जीवाधार शरीराधार मोक्षद्वार है इसे जो सम्यक् प्रकारसे जानता है उसे योगवित् कहते हैं॥ १९॥

तप्तचामीकराभासं तडिल्लेखेव विस्फुरत् ।
त्रिकोणं तत्पुरं वह्नेरधो मेढ्रात्प्रतिष्ठितम् ॥ २० ॥

मेढ्र (लिंगस्थान) से नीचे मूलाधारकर्णिकामें रहता तपे हुए सुवर्णके समान वर्ण, एवं बिजुलीके समान चमकदमकवाला जो त्रिकोण है वही कालाग्निका स्थान है ॥ २० ॥

यत्समाधौ परं ज्योतिरनन्तं विश्वतोमुखम् ।
तस्मिन् दृष्टे महायोगे यातायातान्न विन्दते ॥ २१ ॥

इसी त्रिकोणविषय समाधिमें अनंत विश्व (संसार) में व्याप्त होनेहारी परमज्योति प्रकट होती है वही कालाग्निका रूप है जब योगी ध्यान, धारणा, समाधिकरके उक्त ज्योतिको देखने लगता है तो उसको जन्ममरण नहीं होते अर्थात् अजरामर हो जाता है ॥ २१ ॥

स्वशब्देन भवेत्प्राणः स्वाधिष्ठानं तदाश्रयः ।
स्वाधिष्ठानाश्रयादस्मान्मेढ्रमेवाभिधीयते ॥ २२ ॥

स्वशब्द प्राण (हंस) का बोधक है इसका आश्रय स्वाधिष्ठान (लिंगमूल) है प्राणका अधिष्ठान होनेसे इसेही मेढ्र कहा जाता है ॥२२॥

तन्तुना मणिवत्प्रोतो यत्र कन्दः सुषुम्णया ।
तन्नाभिमण्डलं चक्रं प्रोच्यते मणिपूरकम् ॥ २३ ॥

नाभिमें एक कंद है. जिससे सर्वांगव्यापिनी सिरा (नसें) निकली हैं जैसे १० नसें ऊपरको हैं जो शब्द, रस, गंध, श्वास, जृंभा, क्षुधा, तृषा, डकार, नेत्रदृष्टि, धारणा (मगजशक्ति)

इन दश कामोंको अपने २ स्थानोंमें दीपन करती हैं तथा १० नसें नीचेको हैं वात, मूत्र, मल, शुक्र, अन्न, पान, रसको नीचे पहुँचाना इनका काम है और चार जिनकी तिर्छी गति है. दो दाहिने बगल दो बायें बगल होकर अगणित सूक्ष्मशाखा बनके सर्वांगमें जालेके नाईं रोमरोम प्रति पूरित हैं उन्हींके मुखोंसे प्रस्वेद देहके बाहर रोमोंमें होके आता है. तथा उन्हींके मार्गोंसे लेप, मर्दनादि पदार्थ भीतर प्रवेश करते हैं. इस प्रकारका नाभिकंद जैसे सूत्रमें मणि पिरोया रहता है ऐसेही सुषुम्णानाडीमें पिरोया है इसे नाभिमंडलस्थ मणिपूरचक्र कहते हैं ॥ २३ ॥

द्वादशारे महाचक्रे पुण्यपापविवर्जिते ।
तावज्जीवो भ्रमत्येव यावत्तत्त्वं न विन्दति ॥ २४ ॥

हृदयमें द्वादशदल अनाहत चक्र है जिसमें तत्त्वातीत (सत्त्वरजस्तमोगुणरहित) जीव है गुणातीत होनेसे पुण्यपापसेभी रहित है परंतु जब तत्त्वकी पहिचान योगाभ्याससे हो जावे तब ये गुण जीवमें आते हैं विना तत्त्वज्ञान जीव संसृतिमें भ्रमणही करता रहता है ॥ २४ ॥

अथ दशनाडीवर्णनम् ।

ऊर्ध्वं मेढ्रादधो नाभेः कन्दो योनिः खगाण्डवत् ।
तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिः ॥ २५ ॥

लिंगमूलसे ऊपर नाभिके कुछ नीचे कंदके सदृश समस्त नाडियोंका मूल (उत्पत्तिस्थान) पक्षिके अंडेके समान आकार-

वाला है इससे बहत्तर (७२) हजार नाडी ऊपर नीचे तिर्छी होकर सर्वांग व्याप्त है ॥ २५ ॥

तेषु नाडीसहस्रेषु द्विसप्ततिरुदाहृताः ।
प्रधानाः प्राणवाहिन्यो भूयस्तासु दश स्मृताः॥२६॥

उक्त ७२ हजार नाडियोंमें मुख्य बहत्तरही हैं इनमेंभी प्राणवाहिनी (वायु चलानेहारी) प्रधान दशही नाडी हैं॥२६॥

इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्णा च तृतीयका ।
गान्धारी हस्तिजिह्वा च पूषा चैव यशस्विनी ॥२७॥
अलम्बुषा कुहूश्चैव शङ्खिनी दशमी स्मृता ।
एतन्नाडीमयं चक्रं ज्ञातव्यं योगिभिः सदा ॥ २८ ॥

इडा १ पिंगला २ सुषुम्णा ३ गांधारी ४ हस्तिजिह्वा ५ पूषा ६ यशस्विनी ७ अलंबुषा ८ कुहू ९ शंखिनी १० ये उक्त मुख्यनाडियोंके नाम हैं. यह नाडीमय चक्र योगाभ्यासीको अवश्य जानने योग्य है तदनंतर इन नाडियोंमें चलनेवाले वायुको जानना तब प्राणायामसे नाडीशोधन होता है॥२७॥२८॥

इडा वामे स्थिता भागे पिङ्गला दक्षिणे स्थिता ।
सुषुम्णा मध्यदेशे तु गान्धारी वामचक्षुषि ॥ २९ ॥
दक्षिणे हस्तिजिह्वा च पूषा कर्णे च दक्षिणे ।
यशस्विनी वामकर्णे ह्यानने चाप्यलम्बुषा ॥ ३० ॥

नासिकाके वामभागमें इडा, दक्षिणभागमें पिंगला नाडी वहती है इनके मध्यमें सुषुम्णा नाडी रहती है इन तीनोंकी जड

मूलाधारचक्रकी कर्णिकाका त्रिकोण है. जिसके वामकोणसे इडा, दक्षिणकोणसे पिंगला और पश्चिमकोणसे सुषुम्णा नाडी उत्पन्न हुई है ये तीनों नाडी उक्तचक्रको अंकमाल किये हैं अपने २ ओरके नासिका छिद्रसे वहती है मध्य सुषुम्णा मूलाधारसे ब्रह्मरंध्रपर्यंत है अन्य नाडी उक्तचक्रके कंदसे उत्पन्न होकर प्रत्येक रंध्रमें है जैसे वामनेत्रमें गांधारी, दक्षिण नेत्रमें हस्तिजिह्वा, दक्षिणकर्णमें पूषा, वामकर्णमें यशस्विनी, मुखमें अलंबुषा हैं ॥ २९ ॥ ३० ॥

कुहूश्च लिङ्गदेशे तु मूलस्थाने च शङ्खिनी ।
एवं द्वारं समाश्रित्य तिष्ठन्ति दश नाडयः ॥ ३१ ॥

लिंगदेशमें कुहू, मूलस्थानमें शंखिनी ये दो उस कंदसे अधोमुख होकर नीचेको गई है और ऊर्ध्वमुख होकर ऊपरको हैं इस प्रकार ये दश नाडी प्राणवायुके एक एक मार्गमें आश्रय करके स्थित हैं ॥ ३१ ॥

इडापिङ्गलासुषुम्णाः प्राणमार्गे समाश्रिताः ।
सततं प्राणवाहिन्यः सोमसूर्याग्निदेवताः ॥ ३२ ॥

चंद्रमा, सूर्य और अग्नि हैं देवता जिनके ऐसी इडा, पिंगला, सुषुम्णा ये तीन नाडी प्राणवायुके मार्ग हैं ॥ ३२ ॥

अथ दश वायवः ।

प्राणोपानः समानश्चोदानव्यानौ च वायवः ।
नागः कूर्मोऽथ कृकलो देवदत्तो धनंजयः ॥ ३३ ॥

प्राण १ अपान २ समान ३ उदान ४ व्यान ५ नाग ६ कूर्म ७ कृकल ८ देवदत्त ९ धनंजय १० ये दश वायु शरीरमें हैं ॥ ३३ ॥

हृदि प्राणो वसेन्नित्यमपानो गुदमण्डले ।
समानो नाभिदेशे तु उदानः कण्ठमध्यतः ॥ ३४ ॥
व्यानो व्यापी शरीरेषु प्रधानाः पञ्च वायवः ।
प्राणाद्याः पञ्च विख्याता नागाद्याः पञ्च वायवः॥३५॥

प्राणवायु हृदयमें रहकर श्वास बाहर भीतर निकलता तथा अन्नपानादिकोंका परिपाक करता है १ अपानवायु मूलाधारमें मलमूत्र बाहर निकालनेका काम करता है २ समानवायु नाभिमें रसको शुष्क अर्थात् यथास्थान रखनेका काम करता है ३ उदानवायु कंठमें रहकर शरीरकी वृद्धि करता है ४ व्यानवायु सर्वशरीरमें लेना, छोडनाआदि अंगधर्म कराता है ५ वायु तो १० हैं परंतु इनमें प्रधान ये पांचहीं हैं शिवयोगशास्त्रके मतसे मुख, नासिका, हृदय, नाभिमें कुंडलिनीके चारों ओर तथा पादांगुष्ठमें सर्वदा प्राणवायु रहता है १ गुह्य, लिंग, ऊरु, जानु, उदर, पेडू, कटि, नाभि इनमें अपानवायु रहता है २ कर्ण, नेत्र, कंठ, नाक, मुख, कपोल, मणिबंधमें व्यानवायु रहता है ३ सर्वसंधि तथा हाथ पैरोंमें उदानवायु रहता है ४ उदराग्निके कलाको लेकर सर्वांगमें समानवायु रहता है ५ इस कारणसे प्राणादि पांच वायु प्रधान हैं नागादि पांच वायुका कर्म जो चर्म एवं हड्डीमें रहकर जो करते हैं आगे कहते हैं॥ ३४ ॥ ३५॥

उद्गारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने स्मृतः ।
कृकरः क्षुतकृज्ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे ॥ ३६ ॥

उद्गार (डकार) निकालना नागवायुका कर्म है नेत्रोंके पलक लगाना खोलना कूर्मवायुका तथा छींक करना कृकरवायुका, जृंभा देवदत्तवायुका कर्म है ॥ ३६ ॥

न जहाति मृतं चापि सर्वव्यापि धनंजयः ।
एते सर्वासु नाडीषु भ्रमन्ते जीवरूपिणः ॥ ३७ ॥

और धनंजयवायु सर्वशरीरमें व्याप्त रहता है मृतशरीरमेंभी रहता है अर्थात् मरेमेंभी चार घटीपर्यंत यह शरीरहीमें रहता है इस प्रकार ये दश वायु आपही जीवके अभ्याससे कल्पित होकर सुखदुःखका संबंध जीवको कराते हैं मैं सुखी हूं उत मैं दुःखी हूं इत्यादि व्यवहारमय जीवकी उपाधि लिंगशरीरमें होनेसे आपही जीवरूप होकर समस्त नाडियोंमें फिरता रहता है यद्यपि अविद्यावच्छिन्न चैतन्य जीवही है तो इसका घूमना फिरना असंभव है तथापि जैसे चंद्रमा तो कंपायमान नहीं है परंतु उसका प्रतिबिंब जलमें जिस समय हो उस समय उस जलको हिलाया जाय तो चंद्रबिंब हिलता दीख पडता है ऐसेही व्यवहारसे दश वायुओंका घूमना तथा इनहीकी उपाधि जीवचैतन्यमें आरोपित करते हैं ॥ ३७ ॥

आक्षिप्तो भुजदण्डेन यथोच्छलति कन्दुकः ।
प्राणापानसमाक्षिप्तस्तथा जीवो न तिष्ठति ॥ ३८ ॥

जैसे कंदुक (गेंद) हाथसे भूमिपर ताडनकरके स्वतः उछलता है, तैसेही प्राणवायुके स्थान (हृदय) में अपानवायु तथा अपानवायुके स्थान (गुदा) में प्राणवायुके प्राप्त होनेमें अपानवायु जीवको आकर्षण करके एकत्र स्थित नहीं रहने देता जैसे गेंद खेलनेवालेके वशमें गेंद रहता है ऐसेही अविद्या (माया)-के वशमें जीव रहता है ॥ ३८ ॥

प्राणापानवशो जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं च धावति ।
वामदक्षिणमार्गेण चञ्चलत्वान्न दृश्यते ॥ ३९ ॥

जीवकारणसे जीवात्मा प्राणअपानवायुके आधीन है उसी कारणसे इडा और पिंगला नाडीके द्वारा गिरके नीचे मूलाधार-पर्यंत ऊपर मुख नासिकाछिद्रपर्यंत फिरताही रहता है इसके अतिचंचल होनेसे इतना कठिन है कि प्राणापानवायुके साधनविना वायु नहीं जीता जाता इसके जीते विना हृदयकमलमें ध्यान नहीं होता ॥ ३९ ॥

रज्जुबद्धो यथा श्येनो गतोऽप्याकृष्यते पुनः ।
गुणबद्धस्तथा जीवः प्राणापानेन कृष्यते ॥ ४० ॥

जैसे बाजपक्षीके पैरमें डोरी बांधके हिलाके छोड देनेपर उडजाता एवं खींचनेपर फिर हाथमें आ जाता है ऐसेही मायाके अंश सत्त्वरजतमोगुणके वासनासे बँधा हुआ जीव बुद्धिकी लीन हुएमें उपाधिरहित शुद्धब्रह्म हो गया हो तौभी प्राणापानवायुकरके फिर खींचा जाता है जाग्रत्अवस्थामें फिर प्रबुद्ध हुएकी वृत्ति विषयमें पुनः जीवभावको प्राप्त किया जाता है॥ ४०॥

अपानः कर्षति प्राणं प्राणोपानं च कर्षति ।
ऊर्ध्वाधः संस्थितावेतौ संयोजयति योगवित् ॥ ४१ ॥

ऊपरसे आज्ञाचक्रगत प्राणवायु नीचे मूलाधारस्थित अपानवायुको तथा मूलाधारगत अपानवायु आज्ञाचक्रस्थ प्राणवायुको परस्पर अपने २ ओर आकर्षण करते हैं योगाभ्यासी पुरुष प्राणायामसे इनहींको जोडकर योग (जोडना) कहते हैं इसी योग जोडनेको हठयोग कहते हैं जो सूर्यचंद्रमा ऐक्य कहाते हैं॥ ४१॥

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः ।
हंसहंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥ ४२ ॥
षट् शतानि त्वहोरात्रे सहस्राण्येकविंशतिः ।
एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥ ४३ ॥

प्राणवायु सारूप्यको प्राप्त हो रहा चिदाभास जीव हकारकरके स्वाधिष्ठानचक्रसे उत्पन्न होता है और सकारकरके मूलाधारादि चक्रमें प्रवेश करता है एवंप्रकार ' हंस ' मंत्र (अजपागायत्री) का जप जीव नित्य करताही रहता है अर्थात् श्वास बाहर निकलनेमें हकार भीतर प्रवेश होनेमें सकार उच्चारण होता है सूर्य्योदयसे पुनः सूर्यास्तपर्यंत ६० घटीमें इस मंत्रकी जपसंख्या२१६०० होती है इतना जप जीव स्वतः करता है ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदायिनी ।
अस्याः संकल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ४४ ॥

अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः ।
अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति ॥ ४५ ॥

यह योगियोंको मोक्ष देनेवाली अजपा नाम गायत्री है इसके संकल्पमात्रसे योगी समस्तपापोंसे छूट जाता है संकल्पकी विधि यह है कि सूर्योदयसे पहिलेही शयनसे उठकर शुद्धवस्त्र पहन हाथ, पैर, मुख प्रक्षालन कर शुद्धआसनमें बैठ आचमन करके संकल्पकल्पना इस प्रकार करना कि अद्येह पूर्वेद्युरहोरात्रचरितनासापुटनिःसृतोच्छ्वासनिःश्वासात्मकषट्शताधिकैकविंशतिसहस्रसंख्याकाजपागायत्रीजपं मूलाधारस्वाधिष्ठानमणिपूरानाहतविशुद्धाज्ञाचक्रब्रह्मरन्ध्रस्थितेभ्यो गणपतिब्रह्मविष्णुरुद्रजीवगुरुपरमात्मभ्यः सिद्धिसरस्वतीलक्ष्मीगौरीप्राणशक्तिज्ञानशक्तिचिच्छक्तिसमेतेभ्यो यथासंख्यं षट्शतं, षट्सहस्रं, षट्सहस्रं, सहस्रमेकं, सहस्रमेकं, सहस्रमेकम् अजपागायत्रीजपं प्रत्येकं निवेदयामि इति निवेद्य । पुनरद्य प्रातःकालमारभ्य द्वितीयप्रातःकालपर्यन्तं नासापुटनिःसृतोच्छ्वासनिःश्वासात्मकं षट्शताधिकैकविंशतिसहस्रसंख्याकमजपागायत्रीजपमहोरात्रेणाहं करिष्ये इति जायमानजपसंकल्पं कृत्वा स्वकृत्यमाचरेत् इस अजपाके समान जीवब्रह्मका अभेद कहनेवाला और कोई मंत्र नहीं है यह अल्पश्रममें उत्तम फल देनेवाला है इसके समान और जप नहीं. क्योंकि प्रातःकाल संकल्पमात्र करना है उपरांत खाते पीते चलते उठते बैठते सोते सर्वदा सब अवस्थाओंमें उक्त जप आपसे होताही रहता है और अद्वैतानुभव करानेवाला उसके

समान अन्य कोई ज्ञानशास्त्र पहिलेभी नहीं था और पीछे होनेवालाभी नहीं है ॥ ४४ ॥ ४५ ॥

कुण्डलिन्यां समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी ।
प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स वेदवित् ॥ ४६ ॥

कुंडलिनी महाशक्तिसे उत्पन्न हो रही. तथा प्राणवायुको धारण करनेवाली यही अजपा गायत्री है. जीवात्माकी शक्ति प्राणविद्यास्वरूपभी यही है इसी कारण महाविद्याभी इसको कहते हैं इसे जो योगी पहिचान सके वही योगशास्त्राभ्यासका तात्पर्य जानता है ॥ ४६ ॥

अथ शक्तिचालनम् ।

कन्दोर्ध्वे कुण्डली शक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः ।
ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनाच्छाद्य तिष्ठति ॥ ४७ ॥

अब कुंडलिनीके भेद खोलने निमित्त एवं उसकी अधिकता प्रकट करनेके लिये कुंडलिनीका और प्रकारभी स्थान कहते हैं कि समस्त ७२००० नाडियोंका उत्पत्तिस्थान पूर्वोक्त कंद है इसके ऊपर मणिपूरचक्र कर्णिकामें आठ वृतकरके वेष्टित हो रही कुंडलिनीशक्ति ब्रह्मरंध्रद्वारके मुखको रोकके सर्वदा रहती है ॥ ४७ ॥

येन द्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मद्वारमनामयम् ।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥ ४८ ॥
प्रबुद्धा बुद्धियोगेन मनसा मरुता सह ।
सूचीवं गुणमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्णया ॥ ४९ ॥

जिस मार्ग (सुषुम्णा) करके जन्ममरणके दुःख हरण करनेवाला अखंड ब्रह्मानंदपंद मिलता है उस मार्गको रोकके सोई हुई कुंडलिनी प्राणवायुके धौंकने (उत्तेजन करने) से कालाग्निके ज्योतिके संबंधसे प्रबुद्ध (जाग्रत) होकर मन एवं प्राणवायुके सहित होके सुषुम्णानामा मध्यनाडीसे ऊपरको जाती है जैसे सूची (सुई) अपनेपर पिरोये तागेसहित होनेसे वस्त्रके अनेक सूत्रोंके मध्यमें प्राप्त होती है. तैसे आपही सृष्टि उत्पन्न करके षट्चक्र तथा उनके देवताप्रभृति सकलप्रपंचको उल्लंघन करके ऊपर सहस्रदलकमलके सन्मुख होकर जाती है ॥ ४८ ॥ ४९ ॥

प्रसुप्तभुजगाकारा पद्मतन्तुनिभा शुभा ।
प्रबुद्धा वह्नियोगेन व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्णया ॥ ५० ॥

सोते सर्पके समान कुंडलिनी अपानवायुसे धमित (धौंकी गयी) जो मूलाधारमें रहनेवाली कालाग्निज्योतिके संबंधसे प्रबोध पायके अतिवेग (जोर) से चलते हुए सर्पके समान कुटिलगति होकर कमलनालके तंतु (सूत्र) समान सूक्ष्म ज्योतिर्मयस्वरूप होकर सुषुम्णामार्गसे ऊपरको जाती है ॥ ५० ॥

उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुञ्चिकया हठात् ।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं प्रभेदयेत् ॥ ५१ ॥

जैसे कूंची (चावी) से ताला खुलकर कपाट (कवाड) खुल जाते हैं तैसेही कुंडलिनीकरके मोक्षद्वार सुषुम्णाके मुखको

योगी अभ्याससे खोले जिससे कि कुंडलिनीके प्रबोधविना कुंडलिनीका द्वार खुलता नहीं ॥ ५१ ॥

कृत्वा सम्पुटितौ करौ दृढतरं बध्वा तु पद्मासनम् ।
गाढं वक्षसि सन्निधाय चिबुकं ध्यानं च तच्चेतसि ॥
वारंवारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोच्चारयेत्पूरितम् ।
मुञ्चन्प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्तिप्रभावादतः ॥५२॥

दोनों हाथ संपुटित करके (अंजली बांधके) दोनों कूर्पर (बाहुमध्यभाग) हृदयमें दृढ स्थापन करके पद्मासन करे चिबुक (ठोडी) हृदयमें दृढतर लगायके अर्थात् जालंधरबंध करके ज्योतिःस्वरूपका ध्यान करे केवल कुंभकप्राणायाम अधोद्वार रोकके करे प्राणायामसे कुंभितवायुको अपानवायुसे एकत्व करके यथाशक्ति कुंभक करे पुनः रेचकप्राणायाम (जिसमें वायु अतिमंद २ निकला) करे इस प्रकारसे कुंडलिनीका बोध होता है तथा योगीको अपरिमित ज्ञान मिलता है. कुंडलिनीको प्रबोध करनेवाली शक्ति चालनमुद्रा यही होती है परंतु प्राणायामके अभ्याससे प्राणापानवायुको वशवर्ती करके इस मुद्राका बहुत कालपर्यंत अभ्यास करना होता है ॥ ५२ ॥

अङ्गानां मर्दनं कृत्वा श्रमसञ्जातवारिणा ।
कट्वम्ललवणत्यागी क्षीरभोजनमाचरेत् ॥ ५३ ॥
ब्रह्मचारी मिताहारी त्यागी योगपरायणः ।
अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्र कार्य्या विचारणा ॥५४॥

शक्तिचालनमुद्राके अभ्यासके नियम कहते हैं कि प्राणायामादिकर्मसे जो अंगोमें स्वेद (पसीना) आता है उससे अंगमर्दन करे लवण और खट्टा ये दो रस न खावे केवल दुग्धान्न खाया करे भोजनभी एक प्रमाणसे करे ब्रह्मचर्य रक्खे कामक्रोधसे रहित रहे त्यागवान् होवे योगाभ्यासका मात्र अभ्यास रक्खे इस प्रकार नियममें रहकर योगाभ्याससे शक्तिचालनमुद्राका अभ्यास करे एकवर्ष ऊपर जब इच्छा करे तभी कुंडलिनीके अभ्युत्थानकी सामर्थ्य होतीहै इसमें सिद्धि होती है वा नहीं ऐसा संदेह न करना अभ्याससे अवश्यमेव सिद्धि होती है॥५३॥५४॥

सुस्निग्धो मधुराहारी चतुर्थांशविवर्जितः ।
भुञ्जते स्वरसं प्रीत्यै मिताहारी स उच्यते ॥ ५५ ॥

मिताहारके लक्षण कहते हैं स्निग्ध (सचिक्कण) मीठा भोजन करे अम्ल (खट्टा) और लवणवर्जित करे दो भाग अन्न एक भाग जल खावे चौथा भाग उदरमें वायुसंचारके लिये छोड देवे. देवताको निवेदन करके दुग्धान्न भोजन करे इस प्रकार विधि करनेहारा योगी मिताहारी कहाता है ॥ ५५ ॥

कन्दोर्ध्वे कुण्डली शक्तिः शुभमोक्षप्रदायिनी ।
बन्धनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स वेदवित् ॥ ५६॥

कंदके ऊपर मणिपुरचक्रके कर्णिकामें ८ फेरे वेष्टित होकर कुंडलाकार कुंडलिनी शक्ति है. यह मूर्खजनोंको वारंवार जन्ममरणरूप बंधन देती है और योगाभ्यास जाननेवालेको श-

क्तिचालनका अभ्यास जन्ममरणरूप बंधन छुटायके मोक्ष देती है ॥ ५६ ॥

अथ शक्तिचालनविधौ ग्रन्थान्तरे विशेषः ।

गङ्गायमुनयोर्मध्ये बालरंडा तपस्विनी ।
बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ १ ॥

शक्तिचालनमें ग्रंथांतरमतसे कुछ विशेष कहते हैं कि, गंगा-यमुनाके बीच तपस्विनी बालरंडा बलात्कारकरके कुंडलिनीको ग्रहण करे तो विष्णुके परमपद (ब्रह्मांड) में प्राप्त करती है ॥ १ ॥

इडा भगवती गङ्गा पिङ्गला यमुना नदी ।
इडापिङ्गलयोर्मध्ये बालरण्डा च कुण्डली ॥ २ ॥

इडा भगवती वामश्वासा नाडी ऐश्वर्य्यादिसंपन्न गंगा, दक्षिणश्वासा पिंगलानाम्नी यमुना है इनके मध्यनाडी सुषुम्णा बालरंडा है ॥ २ ॥

ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरङ्गुलम् ।
श्वेतं तु मृदुलं प्रोक्तं वेष्टितं वरलक्षणम् ॥ ३ ॥

मूलस्थानसे वितस्तिमात्र ऊपर नाभि एवं मेढ्रके मध्यमें नवांगुल विस्तार, चार अंगुल आयाम, पक्षीके अंडाकार, श्वे-तरंग कोमल वस्त्रवेष्टित जैसा कंद है ॥ ३ ॥

सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढम् ।
गुल्फदेशसमीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत् ॥ ४ ॥

वज्रासनकरके हाथोंसे पैरोंकी एडी पकड कंदस्थानमें दृढ लगाय पीडन करे ॥ ४ ॥

वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुण्डलीम् ।
कुर्यादनन्तरं भस्त्रां कुण्डलीमाशु बोधयेत् ॥ ५ ॥

योगी वज्रासनमें बैठ कुंडलीको शक्तिचालनमुद्रासे चलायमान करे तब भस्त्रा नाम कुंभक कर कुंडलिनीशक्तिको शीघ्र प्रबोधित करे ॥ ५ ॥

भानोराकुञ्चनं कुर्यात्कुण्डलीं चालयेत्ततः ।
मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ॥ ६ ॥

नाभिस्थान (सूर्य) को आकुंचन कर कुंडलीको चलावे इसका अभ्यास सिद्ध हो जाय तो मृत्युके मुखमें पड गया हो तौभी उसकी मृत्यु न होवे ॥ ६ ॥

मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयं चालनादसौ ।
ऊर्ध्वमाकृष्यते किञ्चित्सुषुम्णायां समुद्गता ॥ ७ ॥

चार घडीपर्यंत निर्भय होकर शक्तिचालन करे तो कुंडलिनी कछुक सुषुम्णामें ऊपरको उठती है ॥ ७ ॥

तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्णाया मुखं ध्रुवम् ।
जहाति तस्मात्प्राणोयं सुषुम्णां व्रजति स्वतः ॥ ८ ॥

इससे कुंडलिनी (जो सुषुम्णा रोक बैठी है) सुषुम्णाके द्वारको छोड देती है तब प्राणवायु आपही सुषुम्णामें प्रवेश करता है ॥ ८ ॥

तस्मात्सञ्चालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुन्धतीम् ।
तस्याः सञ्चालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ॥ ९ ॥

इससे नित्यप्रति सुषुम्णाद्वारमें सोती कुंडलिनीको चलावे तो योगी सर्व रोगोंसे छूट जावे ॥ ९ ॥

येन सञ्चालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम् ।
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ॥ १० ॥

जिस योगीने शक्तिचालन किया वह अणिमादि सिद्धियोंका पात्र होता है और विशेष माहात्म्य क्या कहा जाय वह काल (मृत्यु) को सहजही जीत लेता है ॥ १० ॥

कुण्डलीं चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद्विशेषतः ।
एवमभ्यस्यतो नित्यं यमिनो यमभीः कुतः ॥ ११ ॥

जो यमी नित्य कुंडली चलायके भस्त्राकुंभकका अभ्यास विशेषकरके करता है तो उसको यमका भय नहीं होता ॥ ११ ॥

इयं तु मध्यमा नाडी दृढाभ्यासेन योगिनाम् ।
आसनप्राणसंयाममुद्राभिः सरला भवेत् ॥ १२ ॥

योगियोंको दृढाभ्याससे आसन प्राणायाम महामुद्रादि करके मध्यनाडी (सुषुम्णा) सरल हो जाती है ॥ १२ ॥

अथ महामुद्रा ।

महामुद्रां नभोमुद्रां उड्डीयानं जलंधरम् ।
मूलबन्धश्च यो वेत्ति स योगी मुक्तिभाजनः ॥ ५७ ॥

महामुद्रा १ खेचरीमुद्रा २ उड्डीयानबंध ३ जालंधर ४ मूलबंध ५ इनको करके शक्तिचालन करे तौ योगी मुक्तिभाजन होता है शक्ति चली वा नहीं इसके जाननेका प्रमाण यह है कि

जैसे शरीरमें पिपीलिका (चींटी) चलनेमें उसकी गतिसे ज्ञात होता है कि कुछ जीव चलता है ऐसेही सुषुम्णामें वायु जब चलने लगता है तो शक्ति चलायमान हो गयी जानना शक्तिचालनमुद्राके पीछेभी उक्त ५ मुद्रा करनी योग्य हैं ॥ ५७ ॥

वक्षोन्यस्तहनुः प्रपीडच सुचिरं योनिं च वामांघ्रिणा
हस्ताभ्यामनुधारयेत् प्रसारितं पादं तथा दक्षिणम् ।
आपूर्य्य श्वसनेन कुक्षियुगलं बद्ध्वा शनै रेचये-
देषा व्याधिविनाशिनी सुमहती मुद्रा नृणां कथ्यते ५८

महामुद्राकी विधि कहते हैं कि हृदयमें चिबुक जोरसे धारण करके वामपादकी एडीसे योनिस्थानको अत्यंत दृढ करके अचेते दहिना पाद लंबा करके दोनों हाथोंसे पादमध्यभाग पकडके दृढ रोके तब पेटमें पूरक विधिसे वायु भरे कुछ काल यथाशक्ति कुंभक करके मंद मंद वायुको रेचन करे. यह योगिजनको समस्त रोगनाशक महामुद्रा कही है ॥ ५८ ॥

चन्द्राङ्गेन समभ्यस्य सूर्याङ्गेनाभ्यसेत्पुनः ।
यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥५९॥

इस महामुद्राके अभ्यासमें प्रथम वामांगसे अभ्यास करके पीछे दाहिने अंगसे करे तैसेही प्राणायामभी करता रहे जब दोनों ओरके अभ्याससे प्राणायामकी मात्रा बराबर हो जाय तब मुद्रा छोडनी तबतक उक्त अभ्यास करता रहना ॥ ५९ ॥

नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेपि नीरसाः ।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते ॥ ६० ॥

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ।
रोगास्तस्य क्षयं यान्ति महामुद्रां च योऽभ्यसेत्॥६१॥
कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम् ।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥ ६२ ॥

जब महामुद्राका अभ्यास दृढ हो जाय तो, पथ्यापथ्यविचार कुछ नहीं रहता. मिष्ट, लवण, तिक्तआदियोंका स्वाद कुछ नहीं रहता. जो (घृत, सहद बराबर मिलायके कृत्रिमविष होता है) संयोगविरुद्धवस्तु वा घोरविषभी खावे तो अमृतके समान पचि जाता है तथा उदावर्त, गुल्म, अजीर्ण, क्षय, कुष्ठ आदि रोग समस्त शांत हो जाते हैं. इसके अभ्यासीको महासिद्धि देनेहारी यह महामुद्रा कही है इसे बडे यत्नसे गुप्त रखना प्रकाश करनेसे सामर्थ्यहीन होती है इस हेतु अनधिकारी, अयोग्य पुरुष, शठ, दांभिकआदि जैसे कैसेको न देना ॥ ६० ॥ ६१ ॥ ६२ ॥

' इसका विस्तार ग्रंथांतरसे पाठकोंके सुबोधार्थ लिखते हैं— '

पादमूलेन वामेन योनिं संपीड्य दक्षिणम् ।
प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां धारयेद्दृढम् ॥ १ ॥

वामपादकी एडीसे गुदा और शिश्नके मध्यमें योनिस्थानको रोकके दाहिना पैर लंबा पृथ्वीमें फैलाय जैसे एडी भूमिमें रहे और अंगुली ऊंची दंडकेसे नाईं रहे. तब हाथोंके अंगुष्ठ और तर्जनीसे दक्षिणपादांगुष्ठ पकडके धारण करे ॥ १ ॥

कण्ठे बन्धं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः ।
यथा दण्डाहतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते ॥ २ ॥

तदनंतर कंठमें जालंधरबंध करके वायुको ऊपर सुषुम्णामें धारण करे इससे मूलबंधभी हो जाता है जहां योनिस्थानको पीडन और जिह्वाबंध करके मूलबंध हो जाता है ॥ २ ॥

ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत् ।
तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया ॥ ३ ॥

जैसे सर्प दंडके प्रहारसे दंडाकार हो जाता है ऐसेही कुंडलिनी शक्तिभी कुटिलताको छोडकर इस मुद्रासे सरल हो जाती है और कुंडलिनीके बोधसे सुषुम्णामें वायुका प्रवेश होता है तब दोनोंको प्राणके वियोगसे इडा पिंगला हैं आश्रय जिसके ऐसी मरणावस्था होती है ॥ ३ ॥

ततः शनैः शनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः ।
महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः ॥ ४ ॥
इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता ।
महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयन्ते मरणादयः ॥ ५ ॥

तदनंतर शनैः शनैः रेचन करे वेगसे करनेमें बलहानि होती है इससे महामुद्राआदि नाथादि महासिद्धोंने दिखाई है इसके अभ्याससे महाक्लेश, अविद्या, राग, द्वेषादिक, शोकमोहादिदोष क्षीण होतेहैं तथा जरामरणभी नहीं होते इससे ज्ञानिजन इसे महामुद्रा कहते हैं ॥ ४ ॥ ५ ॥

चन्द्राङ्गे तु समभ्यस्य सूर्याङ्गे पुनरभ्यसेत् ।
यावत्तुल्यं भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥ ६ ॥

इसका क्रम कहते हैं कि (चंद्रांग) वामभागमे अभ्यास कर सूर्य्यांग (दक्षिणभाग) में अभ्यास करे और वामांगाभ्यासके पीछे जबलौं वामांगमें कुंभककी संख्या समान हो तबलौं अभ्यास करे जब संख्या समान हो तब महामुद्रा विसर्जन करे इसमें यह क्रम है कि वामपादकी एडीको योनिस्थानमें लगाय दाहिना पाद लंबा फैलाय अंगुष्ठको हाथके अंगुष्ठ तर्जनीसे पकडके अभ्यास करे यह वामांगाभ्यास है इससे पूरित जो वायु सो वामांगमें स्थित रहता है फिर दक्षिणपादको समेट तिसकी एडी योनिमें लगाय वामपाद लंबा फैलाय अंगुष्ठको हाथके अंगुष्ठ तर्जनीसे पकडके अभ्यास करे इसे दक्षिणांगाभ्यास कहते हैं इससे पूरित वायु दक्षिणांगहीमें रहता है ॥ ६ ॥

नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वोपि नीरसाः ।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते ॥ ७ ॥

गुण कहते हैं कि महामुद्राके अभ्यासको पथ्यापथ्यविचार नहीं है कटु, अम्लादि समस्त रसादिक जो खाय वही पच जावे नीरस, बासी, पर्युषित सब पचे. तथा दुर्जर घोर विष आदिभी अमृतके नाई पच जावे ॥ ७ ॥

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ।
तस्य दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योभ्यसेत् ॥८॥

जो पुरुष महामुद्राका अभ्यास करे उसे क्षयरोग, कुष्ठ, गुल्मरोग, अजीर्ण, ज्वर, प्रमेह, उदररोगआदि कभी न होवें ॥ ८ ॥

कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम् ।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥ ९ ॥

और उस अभ्यासीको अणिमादि महासिद्धि देनेहारी यह महामुद्रा कही है इसे गुप्त रखना अर्थात् अनधिकारीको न देना ॥ ९ ॥

अथ खेचरीमुद्रा।

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥ ६३ ॥

खेचरीमुद्राकी विधि कहते हैं कि,जिह्वाको उलटी फिरायके कंठमूलमें जो छिद्र (लिगूलिग्या) याने क्षुद्रघंटिका है उसमें प्रवेश कराना तदनंतर भ्रूमध्यमें निश्चल दृष्टि स्थिर करना इसे खेचरीमुद्रा कहते हैं ॥ ६३ ॥

न रोगान्मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा ।
न मूर्च्छा तु भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥६४॥

जो योगी गुरूपदिष्ट मार्गकरके छेदन, दोहन, कर्षण (ये कर्म आगे कहेंगे.) प्रकारसे खेचरीमुद्राको बहुतकालपर्यंत अभ्यास करता है उसके रोग, निद्रा, क्षुधा, तृषा, मूर्छा और मरणतुल्य कष्ट दूर होतेहैं ॥ ६४ ॥

पीड्यते न च शोकेन न च लिप्येत कर्मणा ।
बाध्यते न स केनापि यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥६५॥

जो योगी खेचरीमुद्रा जानके उत अभ्यास करके सिद्धि

करता है वह शोकसे पीडित नहीं होता. कर्मके फलमें बंधन नहीं पाता और काल मृत्यु आदियोंसेभी बाधा नहीं पाता ॥६५॥

चित्तं चलति नो यस्माज्जिह्वा चरति खेचरी ।
तेनेयं खेचरी सिद्धा सर्वसिद्धैर्नमस्कृता ॥ ६६ ॥

जिस कारण तहां परब्रह्मविषये एकाग्र होकर मन बुद्धि चित्तशून्यविषे फिरता है तथा जिह्वाभी कंठमूल छिद्राकाशमें रहके ब्रह्मरंध्रांतर्गत चंद्रकलामृतका पान करती है इस हेतुसे मनबुद्धिके विषयबंधन निवारण करनेहारी खेचरी मुद्रा समस्त सिद्धजनोंसे अत्यंत पूजित (नमस्य) है ॥ ६६ ॥

बिन्दुमूलं शरीराणां शिरास्तत्र प्रतिष्ठिताः ।
भावयन्ति शरीराणामापादतलमस्तकम् ॥ ६७ ॥

शरीरका मूल (कारण) बिंदु है इससे शरीरकी रक्षा है. पादसे शिरपर्यंत समस्त नाडीजाल बिंदुसे सेचन हो रहा है इसी हेतु उक्तनाडी सजीव स्वकर्मसामर्थ्य रहती हैं अर्थात् समस्त नाडी बिंदुके आधारमें हैं ॥ ६७ ॥

खेचर्य्या मुद्रया येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः ।
न तस्य क्षरते बिन्दुः कामिन्यालिङ्गितस्य च॥६८॥

जिस योगीने कंठनालके छिद्रलंबिकाके ऊपर आकाशविषें खेचरीमुद्रासे रोक लिया तो चंद्रामृत रुकनेसे उस योगीको कामिनी (स्त्री) आलिंगन करे तौभी उसका मन चलायमान नहीं होता तथा बिंदु नहीं गिरता है॥ ६८ ॥

यावद्बिन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्योर्भयं कुतः ।
यावद्बद्धा नभोमुद्रा तावद्बिन्दुर्न गच्छति ॥ ६९ ॥

जबलौं देहमें विंदु स्थिर है. तावत् मृत्युकी भय नहीं होती बिंदुका स्थान व्योमचक्र है इससे कालकी गति नहीं है. जबलौं खेचरीमुद्रा दृढ है तबलौं बिंदु व्योमचक्रसे नहीं गिरता. इसके स्वस्थानस्थ रहनेमें कालका वश नहीं चलता ॥ ६९ ॥

चलितोपि यदा बिन्दुः संप्राप्तश्च हुताशनम् ।
व्रजत्यूर्ध्वं हृते शक्त्या निरुद्धो योनिमुद्रया ॥ ७० ॥

कदाचित् एकाग्र न होनेसे विंदु उत्तरके नाभिस्थान सूर्य्यमंडलमें पहुँच गया तो योनिमुद्राकरके कुंडलिनीशक्तिको ऊपर उठायके उसके आघातसे उक्त विंदु पुनः ऊपर लौटके अपनेही स्थानमें प्राप्त होकर स्थिर रहता है ॥ ७० ॥

स पुनर्द्विविधो बिन्दुः पाण्डुरो लोहितस्तथा ।
पाण्डुरः शुक्रमित्याहुर्लोहिताख्यो महारजः ॥ ७१ ॥

उक्त विंदु दो प्रकारका होता है एक तो पांडुरवर्ण जिसे शुक्र कहते हैं दूसरा (लोहित) रक्तवर्ण इसे महारज कहते हैं ॥ ७१ ॥

सिन्दूरद्रवसंकाशं नाभिस्थाने स्थितं रजः ।
शशिस्थाने स्थितो बिन्दुस्तयोरैक्यं सुदुर्लभम् ७२॥

तैल मिलायके सिंदूर (हिंगुल) का द्रव (रस) के समान रज सूर्यस्थान नाभिमंडलमें रहता है तथा विंदु (वीर्य) चंद्रमाके स्थान कंठदेश षोडशारचक्रमें स्थिर रहता है इन दोनोंका ऐक्य अत्यंत दुर्लभ है ॥ ७२ ॥

बिन्दुः शिवो रजः शक्तिश्चन्द्रो बिन्दू रजो रविः ।
अनयोः सङ्गमादेव प्राप्यते परमं पदम् ॥ ७३ ॥

बिंदु शिव रज शक्ति है, इनके एक होनेमें योगसिद्धि होकर परमपद मिलता है चंद्रमा सूर्यका (प्राणवायु अपानवायुका जीवात्मा परमात्माका) ऐक्य करना यही हठयोगपदका अर्थ है ॥ ७३ ॥

वायुना शक्तिचारेण प्रेरितं तु यदा रजः ।
याति बिन्दोः सहैकत्वं भवेद्दिव्यं वपुस्ततः ॥ ७४ ॥

शक्तिचालनविधिसे वायुकरके जब रज बिंदुके साथ ऐक्यको प्राप्त होता है तब शरीर दिव्य हो जाता है अर्थात् उसे अग्नि जलाती नहीं शस्त्रसे कटता नहीं ॥ ७४ ॥

शुक्रं चन्द्रेण संयुक्तं रजः सूर्य्येण संयुतम् ।
तयोः समरसैकत्वं यो जानाति स योगवित् ॥ ७५ ॥

शुक्र बिंदुरूप हो चंद्रमासे मिला और रज रक्तरूप होकर सूर्य्यसे मिला इनके समरसैकत्व (चंद्रसूर्य्यस्वरूप बिंदुरजके समरसत्वभाव) को जो योगी जानता है वह योगवित् कहाता है चंद्रमा एवं सूर्यको योगको योग कहाते हैं ॥ ७५ ॥

शोधनं नाडिजालस्य चालनं चन्द्रसूर्य्ययोः ।
रसानां शोषणं चैव महामुद्राभिधीयते ॥ ७६ ॥

नाडीजालके शोधनसे; इनमें रहनेवाले वात-पित्त-कफादि रोगोंका हरण होता है. चंद्रसूर्यके चालनसे इनके एकत्र होनेमें खाया अन्न, पिया जल इनका शोषण होता है ऐसा महामुद्राका

फल है अर्थात् इस मुद्राकरके नाडीजालका शोधन चंद्रसूर्यका चालन रसोंका शोषण होता है ॥ ७६ ॥

ग्रन्थान्तरे खेचरीमुद्राविधिः ।

छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेण वर्द्धयेत्तावत् ।
यावद्भ्रूमध्यं तु स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः ॥ १ ॥

जिह्वा खेचरीयोग्य करनेकी विधि ग्रंथांतरसे कहते हैं कि छेदन-चालन-दोहनकर्मसे जिह्वा बढती है, छेदन आगे कहेंगे, चालन यह है कि अंगुष्ठ और तर्जनीसे जिह्वाको हिलाते रहना, दोहन दोनों हाथोंके अंगुष्ठ तर्जनीसे जैसे गौके थनको दुहे ऐसे खींचखींचके जिह्वाको लंबी करे जबतक बाहर निकलकर भ्रुकुटीको स्पर्श न करे तबतक यह विधि करता रहे ॥ १ ॥

स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ।
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ २ ॥

छेदन कहते हैं कि थूहरके पत्रके समान अति तीक्ष्ण, सचिक्कण निर्मल शस्त्रसे जिह्वाके नीचेकी नसको रोममात्र छेदन करे ॥२॥

ततः सैन्धवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत् ।
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३ ॥

तिसके पीछे सेंधा नमक और हरडका चूर्ण छेदित स्थानपर मले, परंतु योगीको लवणनिषेध है इसलिये लवणके स्थान खदिर (कत्था) से कार्य्य करना योग्य है ऐसे सायंप्रातः सात दिन करके फिर पूर्वोक्त विधिसे रोममात्र काटे पुनः उक्त औषधी लगाता रहे ॥ ३ ॥

एवं क्रमेण षण्मासं नित्यं युक्तः समाचरेत् ।
षण्मासाद्रसनामूलशिराबन्धः प्रणश्यति ॥ ४ ॥

ऐसे छः महीनेपर्यंत नित्य युक्तिसे करे तो जिह्वामूलकी नाडी जो जिह्वाको कपालकुहरमें पहुंचानेसे रोकती है वह सुखपूर्वक कट जाती है ॥ ४ ॥

कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत् ।
सा भवेत् खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ॥ ५ ॥

जिह्वाको तिर्छी करके तीनों नाडियोंका मार्ग जो कपालछिद्र उसमें योजित करे यह खेचरीमुद्रा है इसीको व्योमचक्रभी कहते हैं ॥ ५ ॥

रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति ।
विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ॥ ६ ॥

तालुके ऊपर छिद्रमें जिह्वाप्रवेश करके एक घडीमात्र खेचरी मुद्रा स्थिर रहे तो योगीको सर्प विच्छूआदियोंका विष न लगे और बुढापा, रोग, मृत्युको जीते वलीपलित (जो बुढापेमें चर्म ढीला होकर सलवटें पडती हैं) न होवें ॥ ६ ॥

ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः ।
मासार्द्धेन न संदेहो मृत्युं जयति योगवित् ॥ ७ ॥

तालुके ऊपर छिद्रके सन्मुख जिह्वा लगाय स्थिरकरके भ्रूमध्यगत चंद्रमासे निकले अमृतका पान जो योगी करे वह १ पक्ष (१५) दिनमें मृत्युको निःसंदेह जीत लेता है यह निश्चय है ॥ ७ ॥

नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरे यस्य योगिनः ।
तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ॥ ८ ॥

और जिस योगीका शरीर नित्य उक्त चंद्रामृतकरके पूर्ण हो जाय तो तक्षकनागभी उसे डसे तौभी विष न लगे. दुःख न होवे ॥ ८ ॥

इन्धनानि यथा वह्निस्तैलवर्तिं च दीपकः ।
तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुञ्चति ॥ ९ ॥

जैसे अग्नि काष्ठको एवं दीपक तेलसहित बत्तीको नहीं छोडता तैसेही चंद्रामृतपूरित देहको जीव कदापि नहीं छोडता॥९॥

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् ।
कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकाः ॥ १० ॥

आचार्य कहते हैं कि जो योगी नित्य गोमांस भक्षण एवं अमरवारुणी पान करे तो उसे हम उत्तमकुलमें उत्पन्न समझते हैं अन्यथा कुयोगी, कुलनाशक हैं सत्कुलमें उत्पन्न हुएभी तो उनका जन्म व्यर्थ है ॥ १० ॥

गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ।
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ॥ ११ ॥

इस गोमांसशब्दका अर्थ कहते हैं कि गोशब्दकरके यहां जिह्वाका बोधक है जिह्वाको कपालछिद्रमें प्रवेश करनेको गोमांस भक्षण कहते हैं. यह महापातकोंका नाश करता है॥११॥

जिह्वाप्रवेशसंभूतवह्निनोत्पादितः खलु ।
चन्द्रात्स्रवति यः सारः सा स्यादमरवारुणी ॥१२॥

अमरवारुणीका अर्थ है कि तालुके ऊपर छिद्रमें जिह्वाक प्रवेश उष्मा (गर्मी) से भ्रुकुटिके भीतर वामभागस्थित चंद्रामृत द्रवित होकर जिह्वाग्रमें प्राप्त होता है इसे अमरवारुणीपान कहते हैं ॥ १२ ॥

चुम्बन्ती यदि लम्बिकाग्रमनिशं जिह्वा सरस्यन्दिनी
सक्षारा कटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा ।
व्याधीनां हरणं जरान्तकरणं शस्त्रागमोद्गीरणं
तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धाङ्गनाकर्षणम् ॥ १३ ॥

जब पूर्वोक्तकर्मोंसे जिह्वा बढायके उक्त विधिसे चंद्रामृत पान करने लगती है तो मुखमें लवणसहित मरिचादि, चिंचाफलादि, दूध, मधु, घृतके आदि स्वाद आपसे ज्ञात होते हैं तब योगीके रोग तथा वृद्धावस्थाका नाश होता है शस्त्र (जो अपनेको काटने आया) का निवारण होता है आठों सिद्धि मिलती हैं देवभाव मिलता है सिद्धांगनाओंके आकर्षणकी सामर्थ्य होती है ॥ १३ ॥

मूर्ध्नः षोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठा-
दूर्ध्वास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्तिं परां चिन्तयन् ।
उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामयं यः पिबे-
न्निर्व्याधिः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जीवति १४

जिह्वाको कपालछिद्रमें लगाय मुख विपरीतकरणीके तरह ऊंचा कर कुंडलिनीके ध्यानसहित प्राणायामसे भ्रुकुटीमध्य

द्विदलकमलके नीचे कंठस्थ षोडशदलकमलमें हृदययोगसे प्राप्त जो निर्मलधारामय तरंगसहित चंद्रामृतरस है इसे जो योगी पान करे उसको ज्वरादिरोग न होते तथा कमलके गाभेकासा कोमल शरीर होकर बहुतकालपर्यंत जीवे ॥ १४ ॥

यत्प्रालेयं प्रहितसुषिरं मेरुमूर्धान्तरस्थं
तस्मिन्तत्त्वं प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम् ।
चन्द्रात्सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां
तद्बध्नीयात्सुकरणमथो नान्यथा कार्यसिद्धिः ॥ १५॥

मेरुपर्वतसदृश सबसे ऊंची सुषुम्णाके उपरीभागमें स्थित चंद्रामृतरूप जल जिसमें स्थित है ऐसे छिद्रमें सत्त्वगुणात्मा बुद्धि करके आत्मतत्त्व है और गंगा, यमुना, सरस्वती, नर्मदासंज्ञक इडा, पिंगला, सुषुम्णा, गांधारी आदि नाडियोंका उक्तविवरमें मुख है इनके द्वारा चन्द्रमंडलागत अमृत व्यर्थ चले जानेसे शरीर जरामृत्युको प्राप्त होता है इसलिये प्रथम कह आये हैं कि सुकरण नाम खेचरीमुद्रा करके चंद्रामृत व्यर्थ स्रवित नहीं होनेसे मृत्यु नहीं होती. इस मुद्राके विना देहकी सिद्धि, लावण्य, बल, वज्रसमान दृढ शरीर नहीं होते ॥ १५ ॥

सुषिरं ज्ञानजनकं पञ्चस्रोतःसमन्वितम् ।
तिष्ठते खेचरीमुद्रा तस्मिन् शून्ये निरञ्जने ॥ १६ ॥

इडा १ पिंगला २ सुषुम्णा ३ गांधारी ४ हस्तिजिह्वा ५ इनका प्रवाह ऊपरको है सो इनके प्रवाहसंयुक्त आत्माको सा-

क्षात् प्रकट रहनेवाला विवर है सो अविद्या एवं अविद्याके कार्य्य शोक, मोहादि दूर होते हैं जिसमें ऐसे विवरमें खेचरी मुद्रा स्थित होती है ॥ १६ ॥

एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी ।
एको देवो निरालम्ब एकावस्था मनोन्मनी ॥ १७ ॥

समस्त बीजोंमें मुख्य सृष्टिरूप एक प्रमाण वह है समस्तदेवताओंमें भगवान् मुख्य है तैसेही समस्त मुद्राओंमें खेचरी मुख्य है ॥ १७ ॥

उड्यानं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगम् ।
उड्डीयानं तदेव स्यान्मृत्युमातङ्गकेसरी ॥ ७७ ॥

जिस कारण उड्डियानबंधसे रुका प्राणवायु कहींभी विश्राम न करके उडके जैसा सुषुम्णामें गति करता है उसी कारण तहां मृत्युरूपी गजके ऊपर सिंह जैसा यही बंध कहाता है ॥७७॥

उदरात्पश्चिमे भागे अधो नाभेर्निगद्यते ।
उड्डियानो ह्ययं बन्धस्तत्र बन्धो निगद्यते ॥ ७८ ॥

उड्डीयानबंधका स्थान कहते हैं कि उदरसे पश्चिम और नाभिसे नीचे इस बंधका स्थान योगी कहते हैं इसलिये यह बंध उसी स्थानमें करना योग्य है ॥ ७८ ॥

ग्रन्थान्तरे ।

उदरे पश्चिमं स्थानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत् ।
उड्डीयानो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी ॥ १ ॥

नाभीका ऊपरला तथा नीचला भाग उदरमें लग जांय ऐसे पेटके पीछे खींचे इसे उड्डीयानबंध कहते हैं मृत्युरूपी गजको निवृत्त करनेके लिये सिंहसमान है ॥ १ ॥

उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा।
अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोपि तरुणायते ॥ २ ॥

हितोपदेशकर्त्ता गुरुकरके सहजस्वभाव कहा गया ऐसे इस बंधको निरंतर अभ्यास करे तो वृद्धभी तरुण हो जावे ॥ २ ॥

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि स्थानं कुर्यात्प्रयत्नतः।
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥ ३ ॥

नाभीऊर्ध्वाध भागोंको खींचकर पीठमें लगावे. ऐसे इस बंधको छः महीनेपर्यंत निरंतर अभ्यास करे तो निस्संदेह मृत्युको जीते ॥ ३ ॥

सर्वेषामेव बन्धानामुत्तमो ह्युड्डियानकः।
उड्डियाने दृढे बन्धे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ॥४॥

संपूर्ण बंधोंमें उड्डीयानबंध उत्तम है यह दृढ हो जाय तो स्वभावसिद्ध मुक्ति होती है. इसके करनेसे पक्षियोंकेसी गतिकरके सुषुम्णाद्वारा प्राण मस्तिष्कमें ले जानेसे समाधिमें मोक्ष होता है यही स्वाभाविकी मुक्ति है ॥ ४ ॥

बध्नाति हि शिरोचालं नाधो याति नभोजलम्।
ततो जालंधरो बन्धो कण्ठदुःखौघनाशनः ॥ ७९ ॥

जालंधरबंध कहते हैं कि यह बंध कंठस्थानमें होता है अनेक रोगोंको हरता है शरीरस्थ नाडीजालका बंधन करता है व्योम-

चक्रस्थ चंद्रकलामृतको कपालकुहरसे नीचे नहीं गिरने देता इस कारण वह जालंधरबंध कहा है ॥ ७९ ॥

जालंधरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे ।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ॥ ८० ॥

कंठका संकोचन करके प्राणवायुकी गतिको रोकना जालंधर बंध है इससे चंद्रकलामृत गिरके सूर्यरूप अग्निमें नहीं पडता एवं वायु कदाचित् विरुद्ध नहीं होता ॥ ८० ॥

ग्रन्थान्तरे ।

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ।
बन्धो जालंधराख्योयं जरामृत्युविनाशकः ॥ १ ॥

ग्रंथांतरसे जालंधरबंध कहते हैं कि कंठ नीचे नवाय हृदयके चार अंगुल अंतर ढोडी लगाय दृढ स्थापन करे यह जालंधरबंध वृद्धावस्था तथा मृत्युनाशक है ॥ १ ॥

कण्ठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यो स्तंभयेद्दृढम् ।
मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबन्धनम् ॥ २ ॥

दृढ संकोचनमात्र करके इडा पिंगला दोनहूं नाडी स्तंभित होती हैं कंठस्थानमें जो विशुद्धनामा चक्र है वह अंगुष्ठादि ब्रह्मरंध्रांत षोडश आधारोंका मध्यम चक्र है इन १६ आधारोंका वर्णन पूर्व १३ श्लोकके टीकामें कर आये हैं ॥ २ ॥

मूलस्थानं समाकुञ्च्य उड्डीयानं तु कारयेत् ।
इडां च पिङ्गलां बद्ध्वा वाहयेत्पश्चिमे पथि ॥ ३ ॥

नाभिको पश्चिमतानरूप उड्डीयानबंध करे और कंठ नमाय जालंधरबंधसे इडा पिंगला नाडीनको स्तंभन करे तदनंतर पश्चिममार्ग सुषुम्णामें प्राणवायुको प्राप्त करे ॥ ३ ॥

अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनो लयम् ।
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ॥ ४ ॥

इस विधिसे वायुकी गति बंद होकर प्राणवायु स्थिर होकर ब्रह्मरंध्रमें स्थित रहता है. इसे प्राणलय कहते हैं इससे मृत्यु, जरा, रोग, देहकी त्रिवली, श्वेतरोगता, मूर्छा आलस्यादिक, नहीं होते हैं ॥ ४ ॥

बन्धत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितम् ।
सर्वेषां हठतन्त्राणां साधनं योगिनो विदुः ॥ ५ ॥

मूलबंध १ उड्डीयानबंध २ जालंधरबंध ३ ये श्रेष्ठ हैं मत्स्येंद्रादि महासिद्ध वसिष्ठादिमुनि इन्हें सेवन करते हैं हठके उपायोंके सिद्धिको प्रगट करते हैं इससे गोरक्षादि सिद्ध इन्हें जानते हैं ॥ ५ ॥

यत्किंचित्स्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपिणः ।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डो जरायुतः ॥ ६ ॥

तालुके मूलमें स्थित दिव्यरूप चंद्रमासे कछुक[अमृत स्रवित होता है उसे नाभिस्थित अग्निरूप सूर्य ग्रास कर लेता है तब देहको वृद्धावस्था होती है ॥ ६ ॥

तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवञ्चनम् ।
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ॥ ७ ॥

इस प्रकरणमें उक्तसूर्यके मुखवंचना अर्थात् जिससे उक्त अमृत सूर्यके मुखमें न पडे यह युक्ति कही है तथा विपरीतकरणी मुद्राभी (जो आगे कहेंगे) इसके उपयोगी है ये सर्व गुरुमुखसे जाने जाते हैं विना गुरु कोटीसंख्याक शास्त्रके अर्थमेंभी न जाने जाते ॥ ७ ॥

पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धो विधीयते ॥ ८१ ॥

अपानवायु ऊपर खींचके प्राणवायुसे योजित करना, पादकी एडीसे गुदा, एवं लिंगके मध्य योनिस्थानको दृढ अचेतके गुदद्वारको दृढ संकुचित करना जिससे अपानवायु बाहर न निकसे इस प्रकार मूलबंध होता है ॥ ८१ ॥

अपानप्राणयोरैक्यात् क्षयो मूत्रपुरीषयोः ।
युवा भवति वृद्धोपि सततं मूलबन्धनात् ॥ ८२ ॥

अपान और प्राणवायुका ऐक्य कर जो निरंतर मूलबंधका अभ्यास करता है उसके मल मूत्र क्षय होते हैं. और बूढाभी जवान हो जाता है ॥ ८२ ॥

'गोरक्षसंहितामें दशमुद्राओंमेंसे महामुद्रा १ खेचरी २ उड्डीयान ३ जालंधरबंध ४ मूलबंध ५ मुख्य कही हैं अन्य महाबंध १ महावेध २ विपरीतकरणीमुद्रा ३ वज्रोली ४ शक्तिचालन ५ ये पांच इसी शतकमें साधारणप्रकार पूर्वही कह आये हैं तथापि विशेष प्रकटताके लिये मैं उन्हें ग्रंथांतरमतसेभी लिखता हूं'—

तत्र प्रथमं महाबन्धः ।

पार्ष्णिवामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ।
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ॥ १ ॥

वामपादकी एडीसे योनिस्थानको रोधके दक्षिणपाद उसके ऊपर स्थापन करे अर्थात् मूलबंधकरके ॥ १ ॥

पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चिबुकं दृढम् ।
निष्पीड्य वायुमाकुञ्च्य मनोमध्ये नियोजयेत् ॥ २ ॥

तब जालंधरबंधकरके वायुको पूरकर मनको मध्यनाडी सुषुम्णामें प्रवृत्त करे ॥ २ ॥

धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः ।
सव्याङ्गे तु समभ्यस्य दक्षाङ्गे पुनरभ्यसेत् ॥ ३ ॥

यथाशक्ति कुंभक करके मंद २ रेचन करे ऐसेही वामांगमें अभ्यास करे दोनों अंगोंके अभ्यासकी संख्या समान करे ॥ ३ ॥

अयं तु सर्वनाडीनामूर्ध्वं गतिनिरोधकः ।
अयं खलु महाबन्धो महासिद्धिप्रदायकः ॥ ४ ॥

यह समस्त नाडियोंकी ऊपरकी गतिरोधक महासिद्धिदायक महाबंध है ॥ ४ ॥

कालपाशमहाबन्धविमोचनविचक्षणः ।
त्रिवेणीसंगमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः ॥ ५ ॥

मृत्युपाशको काटनेवाला है, इडा, पिंगला, सुषुम्णा तीनोंके सगम (त्रिवेणी) धारणकर मनको (केदार) भ्रुकुटी शिवस्थानमें प्राप्त करे ॥ ५ ॥

रूपलावण्यसंपन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना ।
महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ॥ ६ ॥

जैसे कांति, गुण, शोभायुक्त स्त्री पुरुष विना व्यर्थ है ऐसेही महावेधविना महामुद्रा और महाबंध निष्फल हैं इसलिये अब महावेध कहते हैं ॥ ६ ॥

अथ महावेधः ।

महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः ।
वायूनां गतिमावृत्य निवृतं कण्ठमुद्रया ॥ १ ॥

एकाग्रबुद्धि करके योगि महावेध इस प्रकार करे कि, नासापुटसे पूरक करके जालंधर बंधकर वायुकी ऊर्ध्वगतिको रोक कुंभक करे ॥ १ ॥

समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ संताडयेच्छनैः ।
पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः ॥ २ ॥

दोनहूं हाथोंके हथेलीसमान पृथ्वीमें धरके पादकी एडी योनिस्थानमें दृढ लगाय हाथोंके सहारे पृथ्वीसे कुछेक शरीर उठावे (परंतु जैसे मूलबंध मुद्रा न खुले) फिर मंद मंद पृथ्वीके अपने शरीरासन स्फिचको ताडन करे इससे वायु इडा-पिंगलाको उल्लंघन कर सुषुम्णामें प्राप्त होता है इस मुद्रामें स्वानुभवसे तथा हरिगुरूपदिष्ट मार्गसे कहता हूं कि शरीर पृथ्वीसे उठायकर पृथ्वीमें ताडन करनेमें उक्त मुद्रा दृढ नहीं रह सकती यदि बलसे रक्खाभी तो मूलबंध बिगड जाता है इससे सुगम तो पद्मासन-

से यह कार्य्य सुखपूर्वक होता है औरभी सुभीता यह है कि हा-
थोंके जोरसे शरीर उठानेमें मूलबंध सुगमताहीसे होता है ॥२॥

सोमसूर्याग्निसंबन्धो जायते चामृताय वै ।
मृतावस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेचयेत् ॥ ३ ॥

इस विधिसे सूर्यचंद्रमा अध्यात्मका इडा पिंगला सुषुम्णा-
का संयोग मोक्षके हेतु हैं ऐसे होनेमें मरा हुआ जैसा मृतावस्था
होती है तब नासिकापुटमें मंद २ रेचन करे ॥ ३ ॥

महावेधोयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः ।
वलीपलितवेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः ॥ ४ ॥

इस महावेधके अभ्यास करनेसे अणिमादि अष्टसिद्धि मि-
लती हैं (वली) बुढापेमें मुखपर सलवटें पडनी (पलित) बाल
श्वेत होने (कंप) बुढापेमें शरीर कांपना ये उक्त अभ्यासीको
नहीं होते ॥ ४ ॥

एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम् ।
वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम् ॥ ५ ॥

ये महामुद्रा, महाबंध, महावेध, गोप्य हैं बुढापे तथा मृत्युको
दूर करते हैं जाठराग्निको बढाते हैं अष्टसिद्धि देती हैं ॥ ५ ॥

अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने ।
पुण्यं संभारसंधायि पापौघभिदुरं सदा ।
सम्यक्छिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनम् ॥ ६ ॥

आठों प्रहरमें ८ ही वार इनका अभ्यास करे ये पु-
ण्यको बढाते हैं पापसमूहको वज्रके समान सूंकते हैं शि-

क्षावान् पुरुषको इस प्रकार दिन २ प्रहर २ में थोडा २ करके अभ्यास करना योग्य है ॥ ६ ॥

अथ विपरीतकरणमुद्रा ।

ऊर्ध्वं नाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी ।
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ॥ १ ॥

अब विपरीतकरणी मुद्रा कहते हैं कि, ऊपरको नाभि नीचे तालुकरके नाभिस्थ सूर्य ऊपरको भ्रुकुटिस्थ चंद्रमा नीचेको हो जाता है इससे चंद्रामृत सूर्य्यरूप अग्निमें नहीं पडने पाता यह विपरीतकरणीमुद्रा है यहां ग्रंथकर्त्ताने उदाहरण कुछेक लिख-कर लिखा गुरुलक्ष्यपर निर्भर छोड दिया । इसलिये मैं (भाषा-कार) अपने अनुभव एवं हरिगुरूपदिष्टमार्गसे लिखता हूं कि, दोनहूं पैरोंसे पद्मासन बांधकर दोनहूं हाथ और शिर (चोटी) पृथ्वी लगाय,उक्त पद्मासनको ऊपर अंतरिक्षमें खडा करे अभ्यास हुएमें कभी तो उस पद्मासनको खोल पांव आकाशमें लंबे करे कभी फेर वैसेहीमें पद्मासन करे हाथ और शिरके सहारे उलटा खडा रहे तब यह मुद्रा होगी अभ्याससे सुगम हो जाती है॥ १ ॥

नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्द्धिनी ।
आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य च ॥ २ ॥

जो इस मुद्राका नित्य अभ्यास करता है उसकी जठराग्नि बढती है. उस साधकको आहार बहुत (यथेच्छ) करना चाहिये ॥ २ ॥

अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात् ।
अधःशिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ॥ ३ ॥

इस मुद्राका अभ्यासी यदि भोजन अल्प करे तो जाठराग्नि प्रज्वलित होकर देहको फूकती है. अब क्रिया है कि पहिले दिन शिर पृथ्वीमें रखकर पैर ऊपरको क्षणमात्र करे ॥ ३ ॥

क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने ।
वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते ।
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित् ॥ ४ ॥

फिर प्रतिदिन एक एक क्षण बढायके अभ्याससे साधे तो सिद्धि भयेमें वली पलित छः महीनेसे दूर हो जाते हैं जो प्रतिदिन एक२ प्रहरपर्यंत इसको करता है वह कालमृत्युको जीतता है४॥

अथ वज्रोली ।

स्वेच्छया वर्तमानोपि योगोक्तैर्नियमैर्विना ।
वज्रोलीं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम् ॥१॥

अब वज्रोली मुद्रा कहते हैं कि जो योगोक्त नियम नहीं जानता हुआभी अपनी इच्छासे वज्रोलीको जाने वह अणिमा सिद्धि पाता है ॥ १ ॥

तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित् ।
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी ॥ २ ॥

इस मुद्रामें हरकिसीको दो वस्तु दुर्लभ हैं विशेषतः ये २ अवश्य चाहिये. वज्रोल्यर्थ संगमोत्तर दुग्धपान, एवं वशवर्तिनी स्त्री २ उपयोगी हैं ॥ २ ॥

मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुञ्चनमभ्यसेत् ।
पुरुषोऽप्यथवा नारी वज्रोलीं सिद्धिमाप्नुयात् ॥ ३ ॥

संगमकरके मंद मंद क्षरितवीर्यको इंद्रियसंकोचनकरके ऊपर खेंचनेके अभ्यास सिद्ध हुएमें वज्रोलीमुद्राकी सिद्धि प्राप्त होती है ॥ ३ ॥

यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकन्दरे ।
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसंचारकारणात् ॥ ४ ॥

इसकी पूर्वांगक्रिया कहे हैं कि चांदी वा कांचकी १४ अंगुल खोखरी शलाका सच्छिद्र करे जो १२ अंगुल सरल २अंगुल तिरछी रहे उसे लिंगछिद्रमें प्रतिदिन२।२ अंगुल प्रवेश कर एक किनारेसे फूंककर वायु प्रवेश करते २ बारह दिनमें २४ अंगुल प्रवेश करे इससे इंद्रियमार्ग शुद्ध होता है तब इस मार्गसे जलके आकर्षणका अभ्यास करे अभ्यास सिद्ध हुएमें वीर्यका आकर्षण करे तो सिद्धि होती है. जिसको खेचरी एवं प्राणजय सिद्ध हों उसको वज्रोली सिद्धि होती है ॥ ४ ॥

नारीभगे पतद्बिन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत् ।
चलितं च निजं बिन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ॥ ५ ॥

स्त्रीसंयोगमें जब बिंदु (वीर्य) शरीरसे चलायमान होतेभी उसे उक्ताभ्याससे ऊपरको खींच लेवे अथवा जब भगमें गिर पडे तब स्त्रीके रजसहित बिंदुको आकर्षण कर ऊपरको चढायकर स्थापन करे ॥ ५ ॥

एवं संरक्षयेद्बिन्दुं मृत्युं जयति योगवित् ।
मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात् ॥ ६ ॥

याप्रकार जो बिंदुकी रक्षा करता है सो योगी मृत्युको जीतता है बिंदुके पतनसे मृत्यु उसकी रक्षासे अमरत्व होते हैं उसलिये इस विधिसे बिंदुको स्थापन करे ॥ ६ ॥

सुगन्धो योगिनो देहे जायते बिन्दुधारणात् ।
यावद्बिन्दुः स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुतः ॥ ७ ॥

उक्त अभ्यासीके शरीरमें बिंदुधारणसे सुगंधि प्रकट होती है और जबलौं देहमें बिंदु स्थित है तबलौं कालभय नहीं होता ॥ ७ ॥

चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम् ।
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥ ८ ॥

वीर्य चित्तके आधीन है. चित्तके चलायमान होनेसे वीर्य चलायमान और स्थिरतासे स्थिर होता है एवं शुक्रके आधीन जीवित है. इससे स्थिरतासे जीवित स्थिर और चलायमान होनेसे मरण होता है, इसलिये शुक्र और मनकी रक्षा करनी मुख्य है ८

ऋतुमत्या रजोप्येवं बीजं बिन्दुं च रक्षयेत् ।
मेढ्रेणाकर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्यासयोगवित् ॥ ९ ॥

ऐसेही रजोवती स्त्रीके रजको बिंदुसहित आकर्षणके ऊपरको खींचके स्थापन करे ऐसे वज्रोलीका अभ्यास करनेवाला योगवेत्ता होता है ॥ ९ ॥

'एक प्रकारके भेद वज्रोलीके सहजोली, अमरोलीभी हैं अतः प्रथम सहजोली कहते हैं'—

सहजोलिश्चामरोलिर्वज्रोल्या भेद एकतः।
जले सुभस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसंभवम्॥ १॥

जो वज्रोलीके फल वही सहजोली, अमरोलीकेभी हैं इसलिये येभी उसीके भेद हैं. गोवरके (कंडे) गोपट्टे जलायके भस्म जलमें मिलावे॥ १॥

वज्रोलीमैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसोः स्वाङ्गलेपनम्।
आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणात्॥ २॥

वज्रोली अर्थ मैथुन करके क्षणमात्र सुखसे बैठके व्यवाय व्यापार छोडके उक्त भस्म जलमें मिलाय स्त्रीपुरुष अपने २ सर्वांग लेपन करे॥ २॥

सहजोलिरियं प्रोक्ता श्रद्धेया योगिभिः सदा।
अयं शुभकरो योगो भोगयुक्तोपि मुक्तिदः॥ ३॥

यह मत्स्येंद्रादि योगीश्वरोंने सहजोली कही है यह योग शुभकारक है. अन्यत्र साधनाओंमें जहां भोग तहां मोक्ष नहीं जहां मोक्ष तहां भोग नहीं इस मुद्राके अभ्यासमें भोगसहित मोक्षभी है॥ ३॥

अयं योगः पुण्यवतां धीराणां तत्त्वदर्शिनाम्।
निर्मत्सराणां सिद्ध्येत नतु मत्सरशालिनाम्॥ ४॥

जो योगी पुण्यवान्, धैर्यवान्, तत्त्वदर्शी और निर्मत्सरी है उनको सिद्ध होता है जो मत्सरी (अन्यशुभद्वेषी) है उनको सफल नहीं होता॥ ४॥

'अब दूसरा भेद व अमरोली कहते हैं'—

पित्तोल्बणत्वात्प्रथमाम्बुधारां
विहाय निःसारतयान्त्यधाराम् ।
निषेव्यते शीतलमध्यधारा
कापालिके खण्डमतेऽमरोली ॥ १ ॥

शिवांबुके प्रथमधारा पित्तके उष्णतासे तथा अंत्यधारा निःसारतासे त्यागकर निर्विकार मध्यधाराको ग्रहण कर सेवन करते हैं यह योगाभिमत कापालिकी क्रिया है इसे अमरोली कहते हैं यद्वा (कापालिक) कनफटे जोगियोंका (जिसे खंडमत कहते हैं) यह कर्म विशेषतः इष्ट है ॥ १ ॥

अमरीयं पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन् दिने दिने ।
वज्रोलीमभ्यसेत्सम्यगमरोलीति कथ्यते ॥ २ ॥

जो पुरुष अमरवारुणी (जो खेचरी प्रकरणमें कही है) का पान करते हैं एवं नासभी अमरवारुणीका लेते हैं तथा प्रतिदिन वज्रोलीका अभ्यास करें सोही कापालिकी अमरोली कही है२॥

अभ्यासान्निःसृता चान्द्री विभूत्या सह मिश्रयेत् ।
धारयेदुत्तमाङ्गेषु दिव्यदृष्टिः प्रजायते ॥ ३ ॥

अमरोलीके अभ्याससे निःसृत चंद्रसुधाको पूर्वोक्त भस्ममें मिलायके उत्तमअंग—मस्तक, नेत्र, स्कंध, हृदय, भुजादिमें धारण करे तो भूत, भविष्य, वर्त्तमान देखनेयोग्य दिव्यदृष्टि हो जाती है ॥ ३ ॥

अथ स्त्रीणां वज्रोली ।

पुंसो बिन्दुं समाकुञ्च्य सम्यगभ्यासपाटवात् ।
यदि नारी रजो रक्षेद्वज्रोल्या सापि योगिनी ॥ १ ॥

अब स्त्रियोंको वज्रोलीसाधन कहते हैं कि, जो स्त्री अभ्यासकी चतुराईसे पुरुषके बिंदुको खींचके अपने रजकी वज्रोलीमुद्रा करके रक्षा करे वहभी योगिनी कहाती है ॥ १ ॥

तस्याः किंचिद्रजो नाशं न गच्छति न संशयः ।
तस्याः शरीरे नादश्च बिन्दुता मे न गच्छति ॥ २ ॥

उसके रजका नाश (पतन) निस्संदेह अल्पभी नहीं होता तथा शरीरमें नादभी उत्पन्न होता है चंद्ररूप बिंदु सूर्यरूप रजके बाहर संयोगसे सृष्टि (गर्भ) होती है जब अभ्याससे भीतरही योग होय तो योगसिद्धि होती है परमपद मिलता है इनके संयोगमें समस्त देवता स्थित रहते हैं ॥ २ ॥

स बिन्दुस्तद्रजश्चैव एकीभूय स्वदेहगौ ।
वज्रोल्यभ्यासयोगेन सर्वसिद्धिं प्रयच्छतः ॥ ३ ॥

रज, बिंदु वज्रोलीके अभ्याससे देहमें प्राप्त होनेपर सर्व सिद्धि देते हैं ॥ ३ ॥

रक्षेदाकुञ्चनादूर्ध्वं मा रजः सा हि योगिनी ।
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद्ध्रुवम् ॥ ४ ॥

जो स्त्री भगको आकुंचन करते करते रजको ऊपर शरीरमें चढाय रक्षा करे वह योगिनी होती है भूत, भविष्य, वर्तमान जाने अंतरिक्षमें बीच रहनेहारी वैमानिकगति मिलती है ॥ ४ ॥

देहसिद्धिं च लभते वज्रोल्यभ्यासयोगतः ।
अयं पुण्यकरो योगो भोगे भुक्तेपि मुक्तिदः ॥ ५ ॥

वज्रोलीके अभ्यासयोगसे (देहसिद्धि) रूप, लावण्य, बल वज्रसंहननभाव मिलते हैं. यह योग पुण्य देनेवाला तथा विषयभोग भोगनेमेंभी मुक्ति देता है ॥ ५ ॥

'इनमें दशम शक्तिचालनमुद्रा प्रथम अजपा गायत्रीके उपरांत कह आये हैं. अब इन १० का माहात्म्य कहते हैं'—

इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शम्भुना ।
एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी ॥ १ ॥

ये दश १० मुद्रा आदिनाथ शिवने कही हैं इनमें एक एक मुद्रा योगीको अणिमादि देनेवारी हैं ॥ १ ॥

उपदेशं हि मुद्राणां यो दत्ते सांप्रदायिकम् ।
स एव श्रीगुरुस्वामी साक्षादीश्वर एव सः ॥ २ ॥

जो योगियोंको (सांप्रदायिक) गुरुपरंपराप्राप्त इन मुद्राओंका उपदेश देवे वही सर्व गुरुनते श्रेष्ठ, स्वामी, साक्षात् ईश्वर है ॥ २ ॥

तस्य वाक्यपरो भूत्वा मुद्राभ्यासे समाहितः ।
अणिमादिगुणैः सार्द्धं लभते कालवञ्चनम् ॥ ३ ॥

इनके उपदेशकर्त्ता गुरुके आसन, कुंभक, आहार, विहार, चेष्टादि वाक्योंमें आदरपूर्वक ग्रहण कर तत्पर रहे तो अणिमादि सिद्धियोंको जीतकर कालमृत्युको जीते ॥ ३ ॥

अथ प्रणवाभ्यासः।

पद्मासनं समारुह्य समकायशिरोधरः।
नासाग्रदृष्टिरेकान्ते जपेदोङ्कारमव्ययम् ॥ ८३ ॥

अब प्रणवके अभ्यासकी विधि कहते हैं कि एकांत स्थलमें बैठकर दृढ पद्मासन बांधके शरीर कंठ शिर सम (सरल) करके नासाग्रदृष्टि निरंतर करके प्रणव जप करे ॥ ८३ ॥

भूर्भुवःस्वरिमे लोकाः सोमसूर्य्याग्निदेवताः।
यस्य मात्रासु तिष्ठन्ति तत्परं ज्योतिरोमिति ॥८४॥

जिस प्रणवके अकार उकार मकार तीन वर्णमें भूः १ भुवः २ स्वः ३ ये लोक चंद्रमा १ सूर्य २ अग्नि ३ देवता रहते हैं वह प्रणव परमकारणरूप ज्योतिर्मय चैतन्य ॐकारस्वरूप है ॥ ८४ ॥

त्रयः कालास्त्रयो वेदास्त्रयो लोकास्त्रयः स्वराः।
त्रयो देवाः स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति॥८५॥

जिस प्रणवमें भूत, वर्तमान, भविष्य ३ काल ऋक्, यजुः, साम तीनहूं वेद. स्वर्ग, मृत्यु, पाताल ३ लोक. उदात्त, अनुदात्त स्वरित ३ स्वर. ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर तीन देवता रहते हैं. वह प्रणव (ॐकार) स्वरूप परंब्रह्म ज्योतिस्वरूप है ॥ ८५ ॥

क्रिया इच्छा तथा ज्ञानं ब्राह्मी रौद्री च वैष्णवी।
त्रिधा शक्तिः स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति॥८६॥

जिस प्रणवके अ, उ, म, तीन मात्रा ॐक्रिया, इच्छा,

ज्ञान, शक्ति भेदोंकरके ब्रह्माणी, रुद्राणी, वैष्णवी ये शक्ति रहती हैं सो प्रणव ओंकारस्वरूप परब्रह्मज्योति है ॥ ८६ ॥

अकारश्च उकारश्च मकारो बिन्दुसंज्ञकः ।
त्रिधा मात्रा स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति॥८७॥

त्रिलोकात्मा अकार उकार और बिंदुस्वरूप मकार तीनहूं मात्रा रहती हैं जिसमें ऐसा ब्रह्मज्योतिस्वरूप प्रणव है ॥८७ ॥

वचसा तज्जपेद्वीजं वपुषा तत्समभ्यसेत् ।
मनसा तत्स्मरेन्नित्यं तत्परं ज्योतिरोमिति ॥ ८८ ॥

इस प्रणवको सकल जगत्कारण भूतभावना करके वचनसे जप करना शरीरसे सिद्धासनादिसे सगुणब्रह्मकी भावना करके प्रणवार्थ समझ अभ्यास करना तथा मनसे परंब्रह्मस्वरूप प्रकाश चैतन्य समझके सर्वदा स्मरण करना ॥ ८८ ॥

शुचिर्वाप्यशुचिर्वापि योजयेत्प्रणवं सदा ।
न स लिप्यति पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ ८९ ॥

जो योगी बाह्याभ्यंतर शौचयुक्त वा बाह्यशौचमात्र यद्वा जैसे तैसे होकर प्रणवका अर्थ समझ अभ्याससे जप करता है उसको शारीरकपाप स्पर्श नहीं करते. जैसे कमलदल जलमें रहता है परंतु जल उसके पत्रको स्पर्श नहीं कर सकता ऐसेही उक्त विधिका प्रणवाभ्यासीभी निर्लेप रहता है ॥ ८९ ॥

अथ प्राणायामप्रकारः ।

चले वाते चलो बिन्दुर्निश्चले निश्चलो भवेत् ।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरुन्धयेत्॥९०॥

प्राणवायुके निश्वासोच्छ्वास होते रहतेमें बिंदुभी चलायमान होता है जो प्राणवायु स्थिर होगा तो बिंदु स्थिर हो जाता है जब प्राणायामसे प्राणवायु स्थिर हो गया तो योगी चिरकाल योगाभ्याससे समर्थ होता है दीर्घजीवी तथा ईश (शिव) भावको प्राप्त हो जाता है. इसलिये योगीको वायुनिरोध करना मुख्य है॥९०॥

यावद्वायुः स्थितो देहे तावज्जीवं न मुञ्चति ।
मरणं तस्य निष्क्रान्तिस्ततो वायुं निरोधयेत् ॥९१॥

जबलौं शरीरमें वायु स्थिर रहता है तबलौं जीव शरीरको नहीं छोडता जब प्राणवायु शरीरसे निकल जाता है तो उसी अवस्थाको मरण कहते हैं जीवन मरण प्राणवायुके आधीन है इसलिये प्राणवायुका रोधन अवश्य विधिसे करना चाहिये ॥९१॥

यावद्बद्धो मरुद्देहे यावच्चित्तं निरामयम् ।
यावद्दृष्टिर्भ्रुवोर्मध्ये तावत्कालभयं कुतः ॥ ९२ ॥

जबतक प्राणवायु कुंभकसे देहमें स्थिर है तथा जबतक चित्त विषयवासना त्याग अन्तःकरण ईश्वराकार निर्विकार है और जबतक भ्रूमध्यमें दृष्टि निश्चल है तबतक कालकी भय नहीं होती है ॥ ९२ ॥

अतः कालभयाद्ब्रह्मा प्राणायामपरायणः ।
योगिनो मुनयश्चैव ततो वायुं निरोधयेत ॥ ९३ ॥

जिस कारण जीवनमरण प्राणवायुके आधीन है इसी हेतु ब्रह्मा एवं सनकादिक सिद्ध, दत्तात्रेयादि मुनि, प्राणायामके सा-

धनमें तत्पर हैं अन्य योगियोंकोभी इस अभ्याससे कालकी भ-
य नहीं होती इस हेतु प्राणायाम साधन करना योग्य है ॥१३॥

षट्त्रिंशदंगुलो हंसः प्रयाणं कुरुते बहिः ।
वामे दक्षिणमार्गेण ततः प्राणोऽभिधीयते ॥ १४ ॥

प्राणवायु अपानवायुरूप हंस इडापिंगलाके मार्गसे छत्तीस अंगुल बाहर निकलता है इस हेतु 'बहिः प्रयाणं कुरुते प्राणः' उक्तवायु प्राण कहाता है प्राणापानवायुरूप हंस है और नहीं१४

शुद्धिमेति यदा सर्वनाडीचक्रं मलाकुलम् ।
तदैव जायते योगी प्राणसंग्रहणे क्षमः ॥ १५ ॥

जब शरीरके मलसे व्याप्त नाडीजाल, नाडीशोधन प्राणायामके प्रभावसे शोधके शुद्ध निर्मल होता है तब योगाभ्यासोपयोगी प्राणवायुको थामनेकी सामर्थ्य योगीको होती है अन्यथा नहीं ॥ १५ ॥

अथ नाडीशोधनप्राणायामविधिः ।

बद्धपद्मासनो योगी प्राणं चन्द्रेण पूरयेत् ।
धारयित्वा यथाशक्ति भूयः सूर्य्येण रेचयेत् ॥ १६ ॥

नाडीशोधन करनेवाले प्राणायामकी विधि कहते हैं कि एकांतमें स्थूल और कोमल आसनमें बैठकर पद्मासन बांधे तब चन्द्र-नाडी (इडा) से १२ संख्या प्रणव जप करते मन्दमन्द पूरक तथा १६ संख्यासे दोनहूं ओर थामके कुंभकमें चन्द्रमण्डलका ध्यान करना और १० संख्यासे सूर्यनाडी (पिंगला) से मन्द मन्द रेचन करे यह चन्द्रांग (वामांग) प्राणायाम है ॥१६॥

अमृतदधिसंकाशं गोक्षीरधवलोपमम् ।
ध्यात्वा चन्द्रमसो बिम्बं प्राणायामी सुखी भवेत्॥९७॥

चन्द्रांगप्राणायाममें दधि, दुग्ध, समान अतिशुक्लवर्ण अमृतस्वरूप चन्द्रमाका कंठ तथा नाभिमें ध्यान करनेसे आनन्दका अनुभव होकर सुख मिलता है ॥ ९७ ॥

दक्षिणे श्वासमाकृष्य पूरयेदुदरं शनैः ।
कुम्भयित्वा विधानेन पुनश्चन्द्रेण रेचयेत् ॥ ९८ ॥

सूर्यनाडी (पिंगलामार्ग) से प्राणवायु १२ संख्यासे प्रणवजपसहित पूरकके १६ संख्यासे कुंभकमें आदित्यमंडलका ध्यान करना और १० संख्यासे प्रणवजप करके चंद्रनाडी (इडामार्ग) से मंद २ रेचन करना यह दक्षिणांग (सूर्यांग) प्राणायाम है ॥ ९८ ॥

प्रज्वलज्ज्वलनज्वालापुञ्जमादित्यमण्डलम् ।
ध्यात्वा नाभिस्थितं योगी प्राणायामी सुखी भवेत्९९

सूर्य्यांग प्राणायाममें कुंभकविषये जाज्वल्यमान अग्निज्वालासमुदायसमान अग्निमय सूर्य्यमंडलको अपने नाभिकमलमें ध्यानकरके जो योगी प्राणायाम करे तो आनंद पाता है ॥९९॥

प्राणांश्चेदिडयापि चेत्परिमितं भूयोन्यया रेचयेत्
पीत्वा पिङ्गलया समीरणमथो बद्धा त्यजेद्वामया ।
सूर्य्याचन्द्रमसोरनेन विधिना बिम्बद्वयं ध्यायतां
शुद्धा नाडिगणा भवन्ति यमिनां मासत्रयादूर्ध्वतः ॥

उक्त ४ श्लोकका अर्थ सूक्ष्मसे पुनः कहते हैं कि यदि प्राणवायुको वामनासापुटसे १२ प्रणव जपसे पूरक १६ जपसे चंद्रमंडल ध्यानसहित कुंभक और १० जपसे रेचन सूर्यनाडीसे करना यह एक प्राणायाम हुवा पुनः दक्षिण नाडीसे १२ जपि पूरक १६ से सूर्यमंडल ध्यानसहित कुंभक और १० से रेचन करना दूसरा प्राणायाम हुवा पुनः वामसे पूरक दक्षिणसे रेचक करके तीसरा प्राणायाम हुवा इसी प्रकार चंद्रांग पूरकके कुंभकमें चंद्रबिंब प्राणवायुस्वरूपका और सूर्य्यांग पूरकके कुंभकमें सूर्य्यबिंब अपानवायुस्वरूपका ध्यान करनेवाले योगीके समस्त नाडीजाल तीन महीने उपरांत शुद्ध (निर्मल) होते हैं यह नाडीशोधनका उत्तम प्रकार कहा है जो संयमसे रहके धौती १ नेति २ नौली ३ वस्ती ४ त्राटक ५ भस्त्रा ६ षट्कर्ममें परिश्रम न करे तौभी इनही प्राणायामोंके अभ्याससे उनका उक्तकृत्य संपादित हो जाता है जैसे कहाभी है कि "प्राणायामैरेव सर्वे प्रशुष्यन्ति मला इति । आचार्य्याणां तु केषांचिदन्यत्कर्म न संमतम् ॥" अर्थात् प्राणायामहीसे नाडीमल शुद्ध हो जाता है इसलिये याज्ञवल्क्यादियोंके अन्य धौत्यादि षट्कर्म संमत नहींहै ॥ १०० ॥

ग्रन्थान्तरे ।

प्रातर्मध्यंदिनं सायमर्द्धरात्रे च कुम्भकान् ।
शनैरशीतिपर्यन्तं चतुर्वारं समभ्यसेत् ॥ १ ॥

अरुणोदयसे सूर्योदयपर्यंत ३ घटी प्रातःकाल दिनके पांच विभाग कर मध्यभाग मध्याह्न, सूर्यास्तसे ३ घटी आगे पीछे सायं संध्याकाल और अर्द्धरात्रिमें २ मुहूर्त्त निशीथ काल होता है इन चारोंमें प्रत्येकमें ८० । ८० प्राणायाम करना अर्द्धरात्रिमें न कर सके, तीनों कालमें अवश्य अभ्यास करना. चारों समयके ३२० और ३ समयके २४० प्राणायाम होते हैं॥ १॥

कनीयसि भवेत् स्वेदः कम्पो भवति मध्यमे ।
उत्तमे स्थानमाप्नोति ततो वायुं निबन्धयेत् ॥ २ ॥

जिसमें प्रस्वेद आवे वह कनिष्ठ, जिसमें कंप हो वह मध्यम है, जिसमें वायु ब्रह्मरंध्रमें प्राप्त हो सो उत्तम कहाता है इससे योगी निरंतर वायुका अभ्यास करे और कुछ कम ४२ विपल कुंभक रहे सो कनिष्ठ, ८४ से मध्यम, १२५ में उत्तम प्राणायाम काल कहते हैं जब प्राणायाम स्थिर हो जाय तब प्राण ब्रह्मरंध्रको प्राप्त होता है तहां २५ विपला स्थिर रहे तब प्रत्याहार २५ पलापर्यंत रहे तो धारणा तथा ६ घटी रहे तो ध्यान और बारह दिन रहे तो समाधि होती है ॥ २ ॥

जलेन श्रमजातेन गात्रमर्दनमाचरेत् ।
दृढता लघुता चैव तेन गात्रस्य जायते ॥ ३ ॥

प्राणायामश्रमसे जो पसीना आवे उसे सर्वांगमें खूब मले इससे गात्र लघु और दृढ होते हैं अर्थात् जडताका अभाव होता है ॥ ३ ॥

अभ्यासकाले प्रथमे शस्तं क्षीराज्यभोजनम् ।
ततोऽभ्यासे दृढीभूते न तादृङ्नियमग्रहः ॥ ४ ॥

अभ्यासकालमें दूध, घृत भोजन करे जब केवल कुंभकाभ्यास दृढ हो जाय तब उक्तनियमका कुछ आग्रह नहीं ॥४॥

यदा तु नाडीशुद्धिः स्यात्तथा चिह्नानि बाह्यतः ।
कायस्य कृशता कान्तिस्तदा जायेत निश्चितम् ॥५॥

जब नाडीशुद्धि हो जाती है तो बाहर चिह्न देहकी कृशता, कांतिवर्द्धनआदि निश्चय देखनेमें आते हैं बहुतकालसम कुंभक धारण करनेसे जाठराग्निप्रदीप्ति, नादकी प्रकटता और निरोगिता होती है ये सर्व नाडीशुद्धिके गुण हैं ॥ ५ ॥

यथेष्टं धारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम् ।
नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधने ॥ १०१॥

इति गोरक्षशास्त्रे प्रथमशतकम् ॥ १ ॥

नाडिशोधन हुयेमें अपने समझेयोग्य मंत्र-जप-कालपर्यंत प्राणवायुके धारणसामर्थ्य होती है उदराग्नि प्रदीप्त स्पष्टतर नादका श्रवण और नैरुज्यता होती है ॥ १०१ ॥

इति महीधरकृतायां गोरक्षयोगशास्त्रभाषायां ससंग्रहायां योगाङ्गपूर्वाभ्यासविधिः ॥ १ ॥

अथ

गोरक्षपद्धतिः ।

द्वितीयं शतकम् ।

'जो पूर्व १०० श्लोकके टीकामें लिखा गया है कि धौती-आदि ६ कर्मका कार्य प्राणायामसे हो जाता है इन्हे न करे परंतु किसी २ आचार्योंका यहभी मत है कि'—

मेदः श्लेष्माधिकः पूर्वं षट्कर्माणि समाचरेत् ।
अन्यस्तु नाचरेत्तानि दोषाणां समभावतः ॥

जिसका मेद और श्लेष्मा अधिक हों उसको प्राणायामसाधनमें अत्यंत कष्टसेभी अभ्यास दृढ नहीं होता इसलिये उनको प्रथम षट्कर्म करके तब प्राणायामका अभ्यास करना योग्य है इसलिये षट्कर्मविधि कहते हैं.

तत्रादौ धौतिः ।

चतुरङ्गुलविस्तारं हस्तपञ्चदशायतम् ।
गुरूपदिष्टमार्गेण सिक्तं वस्त्रं शनैर्ग्रसेत् ॥ १ ॥

चार अंगुल चौडी, पंद्रह हाथ लंबी, बारीक वस्त्र (पगडी) की पट्टी थोडे गरमजलमें भिगोय मुखसे पहिले दिन एक हाथ, दूसरे दिन दो हाथ, तीसरे दिन तीन एवं क्रमसे १५ दिनमें पूरी गुरूपदिष्टमार्गसे निगल जावे ॥ १ ॥

पुनः प्रत्याहरेच्चैतदुदितं धौतिकर्म तत् ।
कासश्वासप्लीहकुष्ठं कफरोगांश्च विंशतिः ।
धौतिकर्मप्रभावेण प्रयान्त्येव न संशयः ॥ २ ॥

उक्त वस्त्र पिछला किनारा मुखमें दांतोंसे दाब ओठोंसे लगाय नौलीकर्म करे इससे छातीमें लगा वस्त्र उदर (अंतडि) में पहुँच साफ करता है तब थोडा २ बाहर निकाल डाले यह धौतिकर्म है कास, श्वास, प्लीहा, कुष्ठादि, विषरोग, वीस प्रकारके कफरोग इस धौतिकर्मके प्रभावसे निरसंदेह नाश हो जाते हैं॥ २॥

अथ बस्तिः ।

नाभिदघ्ने जले पायौ न्यस्तनालोत्कटासनः ।
आधाराकुञ्चनं कुर्यात्क्षालनं बस्तिकर्म तत् ॥ १ ॥

अब बस्तिकर्म कहते हैं कि नाभिमात्र जलमें उत्कटासन बैठकर छः अंगुल लंबी और अंगुल प्रवेशयोग्य छिद्रवाली बांसकी नली चार अंगुल गुदामें प्रवेशकर गुदा आकुंचन करके पेटमें जल चढाय नौलीकर्म करके बाहर छोड देवे यह बस्तिकर्म है. धौती बस्ति विना भोजन किये करने न चाहिये तथा इनके उपरांत शीघ्र भोजन करना योग्य है ॥ १ ॥

गुल्मप्लीहोदरं चापि वातपित्तकफोद्भवाः ।
बस्तिकर्मप्रभावेण क्षीयन्ते सकलामयाः ॥ २ ॥

बस्तिकर्मसे गुल्म, प्लीह, जलोदर, वात, पित्त, कफसे उत्पन्न सर्वरोग नाश होते हैं ॥ २ ॥

धात्विन्द्रियान्तःकरणप्रसादं
दद्याच्च कान्तिं दहनप्रदीप्तिम् ।
अशेषदोषोपचयं निहन्या-
दभ्यस्यमानं जलबस्तिकर्म ॥ ३ ॥

जलमें बस्तिकर्मके अभ्यासमे शरीरके सप्त धातु रस १ रुधिर २ मांस ३ मेद ४ अस्थि ५ मज्जा ६ शुक्र ७ तथा पांच ज्ञानेंद्रिय पांच कर्मेंद्रिय और अंतःकरण मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, ताप, विक्षेप, शोकादि, मोह, गौरव, आवरण, दीनता, राजसतामसका धर्म सभी निवृत्त होते हैं. प्रसन्नता कांति, बढती है. जठराग्नि दीप्त होती है.वातादि समस्त दोषोंको दूरकर नीरोगिता होती है ॥ ३ ॥

अथ नेतिः ।

सूत्रं वितस्ति सुस्निग्धं नासानाले प्रवेशयेत् ।
मुखान्निर्गमयेच्चैषा नेतिः सिद्धैर्निगद्यते ॥ १ ॥

अब नेतिकर्म कहते हैं कि एक बालिस्त मुलायम, एवं ग्रंथिरहित सूत्रका एक किनारा नासिकाके एक पुटमें प्रवेश कर दूसरे पुटको बंदकर पूरक करे जब कुछ सूत्र ऊपर चढे तब मुखश्वास छोडकर सूत्र बाहर निकाले तब एक नारा मुखके बाहर दूसरा नासिकाके बाहर दोनहूंको हाथोंसे पकड शनैः शनैः चलाता रहे इसे नेतिकर्म सिद्धजन कहते हैं ॥ १ ॥

कपोलशोधिनी चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनी ।
जत्रूर्ध्वजातरोगौघं नेतिराशु निहन्ति च ॥ २ ॥

यह क्रिया कपोल तथा नासिकादियोंके मल दूर कर सूक्ष्मपदार्थदर्शी दिव्यदृष्टि देती है और जत्रू (कंठमूल) स्थानसे ऊपरके समस्त रोगसमूहको शीघ्र शांत करती है ॥ २ ॥

अथ त्राटकम् ।

निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः ।
अश्रुसंपातपर्यन्तमाचार्य्यैस्त्राटकं स्मृतम् ॥ १ ॥

अब त्राटक कहते हैं कि एकाग्र दृष्टिसे कुछ सूक्ष्म वस्तुको जबलौं नेत्रोंमें पानी न आवे निरंतर देखता रहे. नेत्रोंमें जल आनेपर छोड देवे इसे मत्स्येंद्रादि त्राटक कहते हैं. मैं (भाषाकार) समझता हूं कि सूक्ष्म वस्तुके स्थानमें प्रथम नासाग्र अभ्यास होनेपर भ्रूमध्य देखे तो औरभी अच्छे गुण शीघ्र होंगे ॥ १ ॥

मोचनं नेत्ररोगाणां तन्द्रादीनां कपाटकम् ।
यत्नतस्त्राटकं गोप्यं यथा हाटकपेटकम् ॥ २ ॥

यह त्राटककर्म नेत्ररोगनाशक, बल बढानेवाला, आलस्यनिद्रादियोंका कपाट (केवाड) है तंद्रा और तमोगुणी चित्तवृत्तिके क्रोधादिकोंको दूर करता है जैसे सुवर्णकी पिटारीको यत्नसे रखते हैं ऐसेही इस कर्मकोभी गोप्य रक्खे ॥ २ ॥

अथ नौलिः ।

अमन्दावर्तवेगेन तुन्दं सव्यापसव्यतः ।
नतांसो भ्रामयेदेषा नौलिः सिद्धैः प्रचक्ष्यते ॥ १ ॥

अब नौलिकर्म कहते हैं कि दोनहूं कंधा नीचे नवाय उदरको दक्षिणवामभागकरके जलके भ्रमर (भौंरे) के नाई घुमावे इसे सिद्धलोग नौलि कहते हैं. अनुभवसिद्ध यहभी है कि दक्षिणवामभागसे घुमायके अभ्यास हुयेमें नीचे ऊपरकोभी चरखीके समान उदरानलको घुमाना चाहिये ॥ १ ॥

मन्दाग्निसंदीपनपाचनादिसंधापिकानन्दकरी सदैव ।
अशेषदोषामयशोषिणी च हठक्रियामौलिरियं हि नौलिः२

यह क्रिया मंदाग्निको बढाय भोजन किये अन्नादिकोंको शीघ्र परिपाक करनेवाली, समस्त वातादिरोगोंको सुखानेवाली, आनंदको देनेवाली, धौत्यादि सर्व कर्मोंमें (श्रेष्ठ) मुकुट है धौति, बस्ति, इन दो क्रियाओंमें नौलि कहनी होती है इस लिये यहां नौलिकी विधि कही है ॥ २ ॥

अथ कपालभातिः ।

भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससंभ्रमौ ।
कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषणी ॥ १ ॥

अब कपालभातिकर्म कहे कि लुहारकी धौंकनी (खाल)-के नाईं शीघ्र शीघ्र रेचन जो रेचकपूरक करे इसे कपालभाति कहते हैं इससे वीस प्रकारके कफरोग दूर होते हैं ॥ १ ॥

षट्कर्मनिर्गतस्थौल्यकफदोषमलादिकः ।
प्राणायामं ततः कुर्यादनायासेन सिद्ध्यति ॥ २ ॥

उक्त षट्कर्मोंकरके स्थूलभाव कफदोष मलपित्तादि दूर हो जाते हैं तब प्राणायाम करे तो विनाश्रमही योगसिद्धि होती है ॥ २ ॥

उदरगतपदार्थमुद्वमन्ति पवनमपानमुदीर्य्य कण्ठ-
नाले । क्रमपरिचयवश्यनाडिचक्रा गजकरि-
णीति निगद्यते हठज्ञैः ॥ ३ ॥

अब गजकरणीमुद्राभी प्रसंगसे कहते हैं कि, अपानवायुको कंठनालमें चढाय उदरगत भुक्तपीतअन्न जलादियोंको निकाले इस अभ्याससेभी नाडिचक्र अपने आधीन (वशीभूत) होता है इसे हठज्ञ योगी गजकरणी कहते हैं ॥ ३ ॥

अथ उत्तरार्द्धग्रन्थः ।

' पूर्वोक्त प्रकारोंसे नाडिशोधन हुयेमें यम, नियम, आसन साधके षट्चक्र षोडशाधारका कर्म जानकर नाडिजाल नाडिगत वायु ज्ञात हुयेमें चन्द्रतारानुकूल शुभदिन शुभ मुहूर्तमें लग्ननवांशादि शुभ साधके एकांतस्थलमें श्रीगुरु गोरक्ष; गणेशका पूजन मंगलपाठ स्वस्त्ययन कराय योगाभ्यासोपदेशक श्रीगुरुको आराधनसे संतुष्ट कर उन्हीके आज्ञासे योगाभ्यासको आरंभ करना इसमें प्रथम प्राणायामका विस्तार कहते हैं '—

प्राणो देहे स्थितो वायुरपानस्य निरोधनात् ।
एकश्वसनमात्रेणोद्घाटयेद्गगने गतिम् ॥ १ ॥

प्राणवायु जो देहमें स्थित है और मूलाधारस्थित अपानवायुको ऊपर उठाय रोधकर एकही श्वासमें कुंडलीकरके रुका हुआ सुषुम्णाद्वारको खोलके सुषुम्णानाडिके चिदाकाशमें ऊर्ध्वगति कराता है सो प्राणायाम सुगम होता है ॥ १ ॥

रेचकः पूरकश्चैव कुम्भकः प्रणवात्मकः ।
प्राणायामो भवेत्त्रेधा मात्राद्वादशसंयुतः ॥ २ ॥

रेचक, पूरक, कुंभकके भेदकरके प्राणायाम तीन प्रकारका होता है. बाहरके वायुको अभ्यंतर प्रवेश करना पूरक. वायुको भीतरही रोकना कुंभक. रुद्धवायुको बाहर निकालना रेचक होता है प्रणवका स्मरण करनेवाला प्राणायाम है ब्राह्मणको प्रणवका क्षत्रिय वैश्यको एकाक्षर मंत्रजपका अधिकार है पूरकमें अकारका स्मरणपूर्वक १२ प्रणव जपके चंद्रनाडीसे पूरक उकारके स्मरणपूर्वक चन्द्रमण्डलका ध्यान सहित १६ प्रणवजपसे कुंभक और मकारके ध्यानपूर्वक १० प्रणवजपसे रेचक करना. यह एक प्राणायाम होता है ॥ २ ॥

मात्राद्वादशसंयुक्तौ दिवाकरनिशाकरौ ।
दोषजालमपघ्नन्तौ ज्ञातव्यौ योगिभिः सदा ॥ ३ ॥

प्राणायामके अभ्यास करते २ यदि संयम पूरा न पहुँचे तो नाडी मलिन हो जाती है इसलिये पुनः नाडीशोधन प्राणायाम कहते हैं कि चंद्रांग, सूर्य्यांग, प्राणायाम, प्राणापानवायुसंयुक्त १२ प्रणवमात्राकरके पूरक चंद्रमंडल-सूर्य्यमंडलध्यानयुक्त १६ मात्राकरके कुंभक और १० मात्रासे रेचक करके चंद्रसूर्य नाडी मलको नाश करते हैं ऐसा योगियोंने जानना ॥ ३ ॥

पूरके द्वादशी कुर्यात्कुम्भके षोडशी भवेत् ।
रेचके दश ॐकाराः प्राणायामः स उच्यते ॥ ४ ॥
प्रथमे द्वादशी मात्रा मध्यमे द्विगुणा मता ।
उत्तमे त्रिगुणा प्रोक्ता प्राणायामस्य निर्णयः ॥ ५ ॥

पूरकमें १२, कुंभकमें १६, रेचकमें १०, मात्रा प्रणवकी यह प्राणायामप्रकार कनिष्ठ है. इससे द्विगुण अर्थात् पू० २४, कुं० ३२, रे० २०, यह मध्यम और पू० ३६, कुं० ४८, रे० ३० यह उत्तम प्राणायाम है ॥ ४ ॥ ५ ॥

अधमे चोद्यते घर्मः कम्पो भवति मध्यमे ।
उत्तिष्ठत्युत्तमे योगी ततो वायुं निरोधयेत् ॥ ६ ॥

कनिष्ठप्राणायाममें प्रस्वेद (पसीना) होती है. मध्यममें कंप होता है. उत्तममें योनिका आधार उठता है. इसलिये प्राणायामका अभ्यास करना मुख्य है ॥ ६ ॥

बद्धपद्मासनो योगी नमस्कृत्य गुरुं शिवम् ।
भ्रूमध्ये दृष्टिरेकाकी प्राणायामं समभ्यसेत् ॥ ७ ॥
ऊर्ध्वमाकृष्य चापानवायुं प्राणे नियोजयेत् ।
ऊर्ध्वमानीयते शक्त्या सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ८ ॥

प्राणायामकी विधि कहते हैं कि एकांतस्थलमें मोटे दलवाला कोमलकंबलादि आसनमें पद्मासन बांधके बैठकर श्रीगुरु एवं शिवको प्रणाम करे अमृत स्रवित हो रहा, ऐसे चंद्रबिंबका ध्यान भ्रूमध्यकरके दोनहूं दृष्टि भ्रूमध्यमें स्थापन करे तदनंतर ब्राह्मण प्रणवका क्षत्रिय वैश्य ओम् इति एकाक्षरमंत्रका पूर्वोक्त मात्राके प्रकारसे पूरक, कुंभक, रेचक, प्राणायाम, चंद्रांग, सूर्यांग, प्रकारकरके निरंतर करता रहे मूलाधार संकोचनपूर्वक अपानवायुको ऊपर खींचके प्राणवायुसे ऐक्य करे तब अपानवायुमिलित प्राणवायुको शक्तिचालनमुद्रासे उठाई-

गई कुंडलिनीको सुषुम्णामार्गसे ऊपरको चढावे इतने विधि करनेसे योगी समस्तपापोंसे निर्मुक्त हो जाता है ॥ ७ ॥ ८ ॥

द्वाराणां नवकं निरुद्ध्य मरुतं पीत्वा दृढं धारितं
नीत्वाकाशमपानवह्निसहितं शक्त्या समुच्चालितम् ।
आत्मस्थानयुतस्त्वनेन विधिवद्विन्यस्य मूर्ध्नि ध्रुवं
यावत्तिष्ठति तावदेव महतां संघेन संस्तूयते ॥ ९ ॥

केवल कुंभकप्राणायामका प्रकार कहते हैं कि षण्मुखीकरके पूरकवायुसे उदर पूर्ण करके ऊपरके ७ नीचेके २ इन नव द्वारोंको रोकके मूलाधारगत कालाग्नि अपानवायुसहित शक्तिचालनप्रकारसे प्रबुद्ध हो रही कुंडलिनीको ऊपरको उठाय आज्ञाचक्रसे ऊपर उक्तवायुसे पूर्ण करके स्थिर करे सहस्रकमलमें रहते परमात्माका ध्यानसे ज्योतिः प्रत्यक्ष करके यावत्कालसम योगी निश्चल होकर परमात्माका ध्यान करता है, यही काल योगीका मोक्षसम है. आत्मध्यानतत्पर योगीश्वर सिद्ध इस योगीकी धन्यवादपूर्वक स्तुति करते हैं यही परम फल योगका है ॥ ९ ॥

प्राणायामो भवत्येवं पातकेन्धनपावकः ।
भवोदधिमहासेतुः प्रोच्यते योगिभिः सदा ॥ १० ॥

इस प्रकारका नित्य निरंतर अभ्याससे प्राणायाम करना अनेक पातकरूपी काष्ठको भस्म करनेवाला अग्नि होता है. संसाररूपी समुद्रसे तारनेवाला महासेतु (बडा पूल) योगिजनोंकरके यही प्राणायाम कहा जाता है ॥ १० ॥

आसनेन रुजो हन्ति प्राणायामेन पातकम् ।
विकारं मानसं योगी प्रत्याहारेण मुञ्चति ॥ ११ ॥

पश्चिमतानआदि आसनोंसे शरीरके अशेष रोग नाश होते हैं प्राणायामसे समस्त पातक और प्रत्याहारसे मानसिक अनेक विकार नष्ट होते हैं ॥ ११ ॥

धारणाभिमतो धैर्य्यं ध्यानाच्चैतन्यमद्भुतम् ।
समाधौ मोक्षमाप्नोति त्यक्त्वा कर्म शुभाशुभम् ॥ १२ ॥

धारणासे मनमें धैर्य्य बढने उत्तर उत्तम ज्ञान मिलता है ध्यानसे अद्भुत चैतन्य सर्वशारीरक ज्ञान मिलता है समाधिसे अभिमान त्याग होकर जिसमें पुण्य-पाप लिप्त नहीं होते ऐसा कैवल्य मोक्ष मिलता है ॥ १२ ॥

प्राणायामद्विषट्केन प्रत्याहारः प्रकीर्तितः ।
प्रत्याहारद्विषट्केन ज्ञायते धारणा शुभा ॥ १३ ॥
धारणा द्वादश प्रोक्ता ध्यानाद्ध्यानविशारदैः ।
ध्यानद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते ॥ १४ ॥

बारह प्राणायाम करके प्रत्याहारके फल देनेवाला प्रत्याहार (१२) प्रत्याहार (१४४ प्राणायाम) का धारणाका फल देनेवारी धारणा (१२) धारणा (१७२८ प्राणायाम) का प्राणायामरूप ध्यान (१२) ध्यान (२०७३६ प्राणायाम) का प्राणायामरूप समाधि होती है ॥ १३ ॥ १४ ॥

यत्समाधौ परं ज्योतिरनन्तं विश्वतोमुखम् ।
तस्मिन् दृष्टे क्रिया कर्म यातायातं न विद्यते ॥१५॥

समाधिका स्वरूप कहते हैं. मूलाधारचक्र चतुर्दल कमल कर्णिकामें सुषुम्णाद्वारके संमुख स्वयंभूलिंगके शिरमें देदीप्यमान बिंब है बिंदुस्वरूप कुंडलिनीका है यह दीप्यमान बिंब समाधिमें अंत न मिलनेवाला, समस्त जगत् व्याप्त करनेवाला उत्तम ज्योति कालाग्निस्वरूप प्रगट होता है इसके दर्शन, समाधिद्वारा मिलनेसे जन्ममरण नहीं होते कर्ममें लिप्त नहीं होता कैवल्यका अनुभव हो जाता है ॥ १५ ॥

संबद्धासनमेढ्रमङ्घ्रियुगलं कर्णाक्षिनासापुटा-
द्वाराण्यङ्गुलिभिर्नियम्य पवनं वक्त्रेण संपूरितम् ।
ध्यात्वा वक्षसि वह्न्यपानसहितं मूर्ध्नि स्थितं धारये-
देवं याति विशेषतत्त्वसमतां योगीश्वरस्तन्मयः ॥ १६ ॥

समाधिकी प्रक्रिया दिखाते हैं प्रथम सिद्धासन बांधके दोनहूं हाथोंके अंगुष्ठोंसे दोनहूं कर्णछिद्र, तर्जनियोंसे नेत्र, मध्यमाओंसे नासिका और अनामिका २ कनिष्ठिका २ से मुख रोकके अधिमुखद्वारसे पूरित करके मूलाधारमें रहनेवाला अग्नि तथा अपानवायुसहित प्राणवायुको हृदयकमलमें धारण कर ऊपरको चढाय सहस्रदल कमलमें धारण करना इस प्रकार समाधिके अभ्यास करनेवाला योगी अपानवायुसंमिलित प्राणवायुमय होकर सर्वद्रष्टा साक्षिभूत अंतरात्माके तुल्यताको प्राप्त होता है ॥ १६ ॥

गगनं पवने प्राप्ते ध्वनिरुत्पद्यते महान् ।
घण्टादीनां प्रवाद्यानां तदा सिद्धिरदूरतः ॥ १७ ॥

उक्त प्रकारसे प्राणवायु जब (गगन) सहस्रदल कमलमें प्राप्त हो जाय तो घंटा नगारे आदि वाद्योंके ध्वनि प्रकट होती है इस चिह्नके मिलनेपर योगसिद्धि समीप है जानना ॥ १७ ॥

प्राणायामेन युक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत् ।
अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगस्य संभवः ॥ १८ ॥

यथायोग्य निरंतराभ्यस्त प्राणायामसे सब रोग क्षय होता है ऐसेही अविधि विच्छिन्नाभ्यासादि प्राणायामसे अनेक रोग उत्पन्न होते हैं ॥ १८ ॥

हिक्का कासस्तथा श्वासः शिरःकर्णाक्षिवेदनाः ।
भवन्ति विविधा रोगा पवनस्य व्यतिक्रमात् ॥१९॥

अयुक्त प्राणायामाभ्याससे वायु विरुद्ध होकर हिचकी, कास, श्वास, शिरःपीडा, कर्णशूल, नेत्रव्यथाआदि रोग उत्पन्न करता है ॥ १९ ॥

यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैः शनैः ।
अन्यथा हन्ति योक्तारं तथा वायुरसेवितः ॥ २० ॥

जैसे सिंह, व्याघ्र, गज इत्यादि दुष्ट जंतु मंदमंदकरके उनके अनुकूल क्रमक्रमसे करके पालकके वशमें रहते हैं तथापि किसी समय थोडाभी उनमें विरोध होनेमें अपनेही पालकको मार डालते हैं तैसेही पवनभी युक्तअभ्याससे वशवर्ती होता है अयुक्तअभ्याससे रोगादिकोंकरके अभ्यासीको अनिष्ट हो जाता है ॥ २० ॥

युक्तं युक्तं त्यजेद्वायुं युक्तं युक्तं च पूरयेत्।
युक्तं युक्तं च बध्नीयादेवं सिद्धिरदूरतः॥ २१॥

वायु शनैः शनैः रेचन करना जैसे नासाछिद्रके सामने रुईका फोहा रक्खा हुआ न उडे ऐसेही शनैः शनैः पूरकभी करना युक्त युक्त पूरक करना जिससे चित्तोद्वेग श्वासोत्कटता न होवे थोडेसे क्रम सहनयोग्य बढावना उचित है इससे सिद्धि नजदीक मिलती है॥ २१॥

अथ ग्रन्थान्तरे प्राणायामभेदाः।

प्राणायामस्त्रिधा प्रोक्तो रेचपूरककुम्भकैः।
सहितः केवलश्चेति कुम्भको द्विविधो मतः॥ १॥

ग्रंथांतरसे प्राणायामके भेद कहते हैं कि (प्राण) शरीरांतर्गत वायुके रोधको प्राणायाम कहते हैं इसके रेचक, पूरक कुंभक ३ भेद हैं भीतरसे वायु बाहर छोडना रेचक, बाहरसे वायु उदरमें पूर्ण करना पूरक और पूरितवायुको घटवत् धारण करना कुंभक कहाता है कुंभकके भी केवल एवंसहित दो भेद हैं वे केवल योगियोंके संमत हैं और सहितभी दो प्रकारका है एक रेचकपूर्वक दूसरा कुंभकपूर्वक पहिला रेचकप्राणायामसे दूसरा पूरकप्राणायामसे भिन्न नहीं है इनके पूरे भेद प्राणायाम प्रकरणसे जानने॥ १॥

यावत्केवलसिद्धिः स्यात्सहितं तावदभ्यसेत्।
रेचकं पूरकं मुक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम्॥ २॥

जबलौं केवल कुंभककी सिद्धि हो तबलौं सहितकुंभक सू-

ध्यांग प्राणायामसे करके सुषुम्णानके भेदनके पीछे उसके भीतर घंटकासा शब्द हो तब केवल कुंभक सिद्ध होता है तदनंतर १०। १० बढायके ८० पर्यंत करे सामर्थ्य हो तो अधिक करे रेचक तथा पूरककोभी छोडके वायुधारण करना उसे केवल कुंभक कहते हैं ॥ २ ॥

प्राणायामोयमित्युक्तः स वै केवलकुम्भकः ।
कुम्भके केवले सिद्धे रेचपूरकवर्जिते ॥ ३ ॥

प्राणायाम जो कहा शुद्ध तो केवल कुंभकही है. अन्य प्रकार नाडीशोधनार्थ हैं रेचकपूरकरहित केवल कुंभकके सिद्ध हो जानेमें ॥ ३ ॥

न तस्य दुर्लभं किंचित्त्रिषु लोकेषु विद्यते ।
शक्तः केवलकुम्भेन यथेष्टं वायुधारणात् ॥ ४ ॥

योगीको तीनहूं लोकमें कुछभी दुर्लभ नहींहै जब केवल कुंभकके सामर्थ्य होनेसे यथेच्छ (असंख्य) वायु धारण करे॥ ४॥

राजयोगपदं चापि लभते नात्र संशयः ।
कुम्भकात्कुण्डलीबोधः कुण्डलीबोधतो भवेत् ॥५॥

इस विधिसे निस्संदेह राजयोगपद प्राप्त होता है कुंभकके अभ्याससे आधारशक्ति (कुंडलिनी) बोध होता है इससे निद्रा आलस्यादि मिटते हैं ॥ ५ ॥

अनर्गला सुषुम्णा च हठसिद्धिश्च जायते ।
हठं विना राजयोगो राजयोगं विना हठः ।
न सिद्ध्यति ततो युग्ममानिष्पत्तेः समभ्यसेत् ॥ ६॥

और सुषुम्णाके कफादि मल दूर होते हैं तब हठसिद्धि (मोक्ष) होता है. हठयोग विना राजयोग सिद्धि राजयोग विना हठयोगसिद्धि नहीं होती इसलिये दोनहूंका अभ्यास करना ॥ ६ ॥

कुम्भकप्राणरोधान्ते कुर्य्याच्चित्तं निराश्रयम् ।
एवमभ्यासयोगेन राजयोगपदं व्रजेत् ॥ ७ ॥

कुंभकसे प्राण संरोधके अंत्यमें चित्तको आश्रयरहित करे इस प्रकारके अभ्यासयोगकरके राजयोगपदको प्राप्त होता है॥ ७॥

वपुःकृशत्वं वदने प्रसन्नता ।
नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले ॥
आरोग्यता बिन्दुजयोग्निदीपनं ।
नाडीविशुद्धिर्हठयोगलक्षणम् ॥ ८ ॥

हठयोगसिद्धि जब होती है तो देहमें कृशता, मुखमें प्रसन्नता, नादकी प्रकटता, नेत्रोंकी निर्मलता, नीरोगिता, धातुका जय, उदरमें जठराग्निकी वृद्धि, नाडियोंकी शुद्धि ये लक्षण होते हैं॥८॥

चरतां चक्षुरादीनां विषयेषु यथाक्रमम् ।
यत्प्रत्याहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते ॥ २२ ॥

अब प्रत्याहार कहते हैं रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द ये पांच विषय हैं इनमें चक्षु, जिह्वा, घ्राण, त्वक्, कर्ण, इन पांच ज्ञानेंद्रियोंके कर्म होते हैं अर्थात् उक्त ज्ञानेंद्रियोंके उक्त विषय क्रमसे हैं आसन, प्राणायाम सिद्धि करके जिस इंद्रियका जो विषय है उसे दूसरेके समीप भावना कर क्रमशः शनैः शनैः त्याग

करना अर्थात् इंद्रियसे उसके विषयका अनुभवकरके फेर इंद्रियोंको विषयसे अलग करना प्रत्याहार कहाता है ॥ २२ ॥

यथा तृतीयकालस्थो रविः प्रत्याहरेत्प्रभाम् ।
तृतीयाङ्गस्थितो योगी विकारं मानसं तथा ॥२३॥

दिनके प्रातः, मध्याह्न, सायं ये तीन भागसे तीन काल होते हैं. जैसे (तीसरे) सायंकालमें सूर्य्य अपनी (प्रभा) कांतिको क्रमशः हरण करता है ऐसेही योगीभी तीसरे अंग (आसन १ प्राणायाम २ प्रत्याहार ३) प्रत्याहारमें मानसविकार (विषय) में मनके अभिनिवेशको हरण करना अर्थात् विषयसंबंधसे चित्तको छुटाना ॥ २३ ॥

अङ्गमध्ये यथाङ्गानि कूर्मः संकोचयेद्ध्रुवम् ।
योगी प्रत्याहरेदेवमिन्द्रियाणि तथात्मनि ॥ २४ ॥

जैसे कूर्म (कछुवा) अपने शिर पैर आदि अंगोंको संकोचन कर अपनेही भीतर छिपाय देता है.अंग तो उसीमें रहते हैं परंतु न हुयेके तुल्य हो जाते हैं ऐसेही योगीनेभी इंद्रियोंको विषयोंसे विमुख कर आत्मामें उनकी वृत्तियोंको थाम लेना अर्थात् इंद्रियोंको उनके विषयोंमें आसक्त न होने देना विषयोंसे तृप्त जैसा मानकर इंद्रियोंको अपने भीतर अंतरात्मामें आसक्त करना ॥ २४ ॥

यं यं शृणोति कर्णाभ्यामप्रियं प्रियमेव वा ।
तं तमात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् ॥ २५ ॥

अगन्धमथवा गन्धं यं यं जिघ्रति नासिका ।
तं तमात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् ॥ २६ ॥
अमेध्यमथवा मेध्यं यं यं पश्यति चक्षुषा ।
तं तमात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् ॥ २७ ॥
अस्पृश्यमथवा स्पृश्यं यं यं स्पृशति चर्मणा ।
तं तमात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् ॥ २८ ॥
लवण्यमलवण्यं वा यं यं रसति जिह्वया ।
तं तमात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् ॥ २९ ॥

कर्णसे मधुर वा कठोर जैसे शब्दोंको सुनता है ऐसे मनभी कर्णद्वारा शब्दमें आसक्त होता है योगीजन उक्त शब्दोंकोभी यहभी आत्माही है, समझ वह मनमें निश्चय कर मनको उक्त शब्द विषसे प्रत्याग्रहण करे अर्थात् शब्दको विषय मानके जो मनमें ससंभ्रम शब्द सुननेका भ्रम होता है उस भ्रमसे मनको उसे मिथ्या (विनाशी) जानकर मनको उससे हटावे जैसे (रज्जु) रस्सीमें सर्पका एवं स्थाणु वृक्ष प्रस्तरादिकोंमें मनुष्य भूतादि भ्रांति होती है तैसेही अखंडानंदस्वरूप आत्मचैतन्यमें संसार यद्वा देह है कहकर बुद्धि भ्रांतिकरके कल्पना करती है वस्तुतः आत्मतत्त्वातिरिक्त कुछभी नहीं है इस कारण संपूर्ण जगत् आत्मस्वरूप है ऐसेही शब्दादि उक्त विषयोंकोभी आत्माही है भावनापूर्वक निश्चय करके बाहर भीतर अद्वैतानंदस्वरूप आत्मासे अन्य कोई नहीं है ऐसी धारणा स्थिर करके शब्दादि विषयोंको चलायमान हुएमेंभी उन्हें आत्मा माने विषय न माने

नासिकासे सुगंध वा दुर्गंध जो सूंघता है उसे आत्माही है निश्चय करके नासिकाकी वृत्ति जो गंधद्वारा मनको लुभाय भ्रममें डालती है उसे हटावे नेत्रेंद्रियसे जो जो पवित्र वा अपवित्र पदार्थ देखता है उन्हेंभी आत्माही है निश्चयकर रूपविषयसे मिथ्याभ्रम छोडके नेत्रेंद्रियवृत्तिको उक्त विषयसे हटावे त्वगिंद्रियसे मृदु वा कठोर तप्त वा शीत आदि जिस२ पदार्थको स्पर्श करता है उसे-भी आत्माही है भावना निश्चयकर त्वगिंद्रि प्रवृत्ति जो स्पर्शसुखमें मनको लुभाती है उसको हटावे जिह्वासे सलोना, अलोना, मिष्ट, क-टुक आदि जिन२रसोंको चखता है उन्हें आत्माही समझकर जि-ह्वाकी वृत्तिको हटावे इस प्रकार योगी प्रत्याहारके अभ्यास क-रके पंचेंद्रियवृत्तियोंको अपने २ विषयोंसे हटाय आत्मतत्त्वमें स्थिर करना जब प्रत्याहार सिद्ध हो जाता है तो योगी कानोंसे सुने मधुरशब्दके तुल्य मानता है कोईभी इसके चित्तको अपनी ओर नहीं ले जाय सकते. ऐसेही नेत्रोंसे देवता वा पिशाच, मनुष्य वा कुत्ता, ब्राह्मण वा चांडाल, गौ वा गदहा इत्यादि सभीको तुल्य देखता है. नासिकासे कस्तूरी आदि सुगंधी वा पुरीषादि दुर्गंधियोंसे तुल्य सुख मानता है त्वचासे अग्नि वा जल षोडशीस्त्री कुच वा कृपाण (आरे) की धारा आदिकोंके स्पर्शसे तुल्य सुख मानता है और जिह्वासे मीठा वा कडुवा, तप्त वा शीत, तीक्ष्ण (मिर्च) वा दूध, मिट्टी, रेत, गोबर वा हलुवा, पूडीआदिकोंको तुल्य स्वादिष्ठ मानता है ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥

चन्द्रामृतमयीं धारां प्रत्याहरति भास्करः ।

यत्प्रत्याहरणं तस्याः प्रत्याहारः स उच्यते ॥ ३० ॥

प्रत्याहारकी विधि कहनेउपरांत केवल हठयोगहीसेभी प्रत्याहारकी विधि कहते हैं कि, षोडशदल कमलकर्णिकास्थित चंद्रबिंबसे जो अमृतधारा गिरती है उसे नाभिकमलस्थित सूर्य्य ग्रासकर लेता है.तो उक्त धाराको विपरीतकरिणीमुद्रा करके सूर्यसे हटाय अपने मुखमें पारे. इसे प्रत्याहार कहते हैं ॥ ३० ॥

एका स्त्री भुज्यते द्वाभ्यामागता चन्द्रमण्डलात् ।
तृतीयो यः पुनस्ताभ्यां स भवेदजरामरः ॥ ३१॥

एका स्त्री पदसे कंठस्थानगत चंद्रमासे निकसी अमृतधाराका बोधन है (द्वाभ्यां) पदसे सूर्य्यचंद्रमाका बोध है तृतीयपदसे आप (योगी) है उक्त अमृतधारा कंठ एवं नाभिगत चंद्रसूर्य्यसे भोग करती है इसको तीसरा (आप) स्वयं विपरीतकरणीमुद्रा करके उक्त चंद्रसूर्यसे बचायकर भोग करे तो अजरामर होता है ॥ ३१ ॥

नाभिदेशे वसत्येको भास्करो दहनात्मकः ।
अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमूले च चन्द्रमाः॥३२॥

अग्निमय एक सूर्य्य नाभिमें निवास करता है अमृतात्मक चंद्रमा विशुद्धचक्रमें रहता है ॥ ३२ ॥

वर्षत्यधोमुखश्चन्द्रो ग्रसत्यूर्ध्वमुखो रविः ।
ज्ञातव्या करणी तत्र यया पीयूषमाप्यते ॥ ३३ ॥

विशुद्धचक्रमें रहकर अधोमुख चंद्रमा अमृतधारा वर्षाता है उस धाराको नाभिस्थित ऊर्ध्वमुख सूर्य्य पी लेता है योगीकरके

उक्त सूर्य्यको वंचनकर उक्त अमृतधाराको अपने मुखमें प्राप्त किया जाता है इसे विपरीतकरणी जानना ॥ ३३ ॥

ऊर्ध्वं नाभिरधस्तालुरूर्ध्वं भानुरधः शशी ।
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ॥ ३४ ॥

जो नाभिगत सूर्य्यको ऊपर (तालु) विशुद्धगत चंद्रमाको नीचे करे यह विपरीतकरणी गुरुमुखहीसे जानी जाती है॥ ३४॥

लिखनेसे नहीं किंतु सुबोध योगियोंको इतना औरभी स्मरण कराते हैं कि यह मुद्रा प्राणायाम योग एवं खेचरीमुद्रासाधनके उपरांत इन्हींसे सुगम हो जाती है ॥

त्रिधा बद्धो वृषो यत्र रोरवीति महास्वनः ।
अनाहतं च तच्चक्रं हृदये योगिनो विदुः ॥ ३५ ॥

तीन फेरा रस्सियोंसे बँधा वृषभ जैसे पराधीन होकर शब्द करता है ऐसेही अनाहतचक्रमें सत्त्व-रज-तमोगुणस्वरूप मायाविषै प्रतिबिंबित हो रहा जीव परा-पश्यंति-मध्यमाविषै प्रतिबिंबित हो रहा जीव परा-पश्यंति-मध्यमाके क्रमसे हृदयमध्यमें नाद-सहित होकर निरंतर शब्द करता है अनाहतचक्रको हृदयमें योगिजन जानते हैं ॥ ३५ ॥

अनाहतमतिक्रम्य चाक्रम्य मणिपूरकम् ।
प्राप्ते प्राणे महापद्मं योगी स्वममृतायते ॥ ३६ ॥

खेचरीमुद्राकरके अमृतपानको सूचित करते हैं कि प्राणापानवायुको एकत्व कर मणिपूर अनाहतचक्रोंको उल्लंघन करके

महापद्म (ब्रह्मस्थान) को प्राप्त करके योगीका अमृतमय शरीर उक्तामृतपानसे हो जाता है ॥ ३६ ॥

ऊर्ध्वं षोडशपत्रपद्मगलितं प्रायादवाप्तं हठा-
दूर्ध्वास्यो रसनां निधाय विधिवच्छक्तिं परां चिन्तयेत्।
तत्कल्लोलकलाजलं सुविमलं जिह्वाकुलं यः पिबे-
न्निर्दोषः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जीवति ॥३७॥

उक्त प्रकारकरके ब्रह्मस्थानपर्यंत प्राणवायुको पूर्णकर जो योगी शिरमें रहते सहस्रदल कमलसे विशुद्धचक्रमें गिरती वेला प्राणवायुको ऊपर चढाय नासिका ऊर्ध्वविवरमें प्राप्त करे ऊर्ध्व विवरमें जिह्वा प्रवेश कर अपना मुखभी ऊपरको करके सहस्रदलकमलमें प्राणवायुसहित प्राप्त हुई कुंडलिनीका ध्यान करता कुंडलिनीका सहस्रदलमें प्रवेश होतेही जो अमृताकार तरंग निकलता है उसका लेशभूत अतिनिर्मल जिह्वाके मथनसे निकले हुए अमृतको पान करे वह योगी अतिसुकुमार शरीर पायके समस्त रोगदुःखोंसे रहित होकर बहुतकालपर्यंत जीवित रहता है ॥ ३७ ॥

काकचंचुवदास्येन शीतलं सलिलं पिबेत् ।
प्राणापानविधानेन योगी भवति निर्जरः ॥ ३८ ॥

अपानवायुको उठाय अपानवायुके साथ ऐक्य करनेवाले प्रकारसे काक (कौवे) कासा चोंच मुखकर शीतल सलिल (बाह्यवायु) को जो योगी पूरक (पूर्ण) करता है वह वृद्धावस्थासे रहित होता है अर्थात् सर्वदा युवाही रहता है ॥ ३८ ॥

रसना तालुमूलेन यः प्राणमनिलं पिबेत् ।
अब्दार्द्धेन भवेत्तस्य सर्वरोगस्य संक्षयः ॥ ३९ ॥

जिह्वाके सहायकरके तालुमूलसे जो विवर (छिद्र) हैं इसकरके जो योगी प्राणवायुको पूर्ण (पूरित) करता है उसके छः महीनेके अभ्याससे समस्त रोगोंका नाश होता है ॥ ३९ ॥

विशुद्धे पञ्चमे चक्रे ध्यात्वासौ सकलामृतम् ।
उन्मार्गेण हृतं याति वञ्चयित्वा मुखं रवेः ॥ ४० ॥

पांचवां विशुद्धचक्र (जो कंठमें रहता है) में चंद्रकलामृतका ध्यानकरके क्रमसे ऊपरको हरण करता हुआ सूर्यके मुखके वंचनकर योगीके मुखमें उक्त चंद्रकलामृत पडता है इस प्रकार जिह्वाद्वारा उदरमें प्राप्त होकर योगीके जरा रोगादियोंको हर लेता है ॥ ४० ॥

विशब्देन स्मृतो हंसो नैर्मल्यं शुद्धिरुच्यते ।
अतः कण्ठे विशुद्धाख्यं चक्रं चक्रविदो विदुः ॥ ४१ ॥

'वि' शब्द हंसका और 'शुद्ध' शब्द निर्मलका बोधक है कंठमें अत्यंत निर्मल विशुद्धनामा चक्र है यह सर्वोत्कृष्ट है चक्रोंके तत्त्व जाननेवाले योगी जानते हैं ॥ ४१ ॥

अमृतं कन्दरे कृत्वा नासान्तसुषिरे क्रमात् ।
स्वयमुच्चालितं याति वर्जयित्वा मुखं रवेः ॥ ४२ ॥

विशुद्धचक्रस्थ चंद्रकलामृतको अपानवायुसहित प्राणवायुको ऊपर चलायके लंबिका ऊर्ध्वविवरमें प्रवेश (पूर्ण) कर

क्रमसे नासिकाके ऊपर विवरमें पहुंचानेसे नाभिसूर्य्यके मुख (जो अमृतको भस्म करता है) को वंचन (छलन) करके उ-क्कामृत उदरमें अन्नके समान पहुँचता है ॥ ४२ ॥

बद्धं सोमकलाजलं सुविमलं कण्ठस्थलादूर्ध्वतो
नासान्ते सुषिरे नयेच्च गगनद्वारान्ततः सर्वतः ।
ऊर्ध्वास्यो भुवि सन्निपत्य नितरामुत्तानपादः पिबे-
देवं यः कुरुते जितेन्द्रियगणो नैवास्ति तस्य क्षयः४३

कंठसे ऊपर निर्मल चंद्रकलामृतको पूर्वोक्त विधिसे रोकके नासा ऊर्ध्वविवरमें पूरित करे तब सर्वद्वारोंको रोकके (गगन) आज्ञाचक्रमें प्राणापानवायुसहित पूरण करके ऊर्ध्वमुख होकर भूमिमें उत्तान लेटकर पैरोंकोभी उत्तान करके जितेंद्रिय होकर उक्कामृतपान करना जो योगी निरंतर इस विधिको करता है उसका क्षय (मृत्यु) नहीं होती ॥ ४३ ॥

ऊर्ध्वं जिह्वां स्थिरीकृत्य सोमपानं करोति यः ।
मासार्द्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगवित् ॥ ४४ ॥

जिह्वाको ऊपर लंबी करके ऊपर स्थिर करके जो योगी अमृतपान करता है उस अभ्यासीको एकही पक्ष (१५ दिन) में मृत्यु जीतनेकी सामर्थ्य होती है इसमें संदेह नहीं ॥ ४४ ॥

बद्धं मूलबिलं येन तेन विघ्नो विदारितः ।
अजरामरमाप्नोति यथा पञ्चमुखो हरः ॥ ४५ ॥

जिस योगीने (मूलबंध) मूलद्वार रोका उसने जरामरणादि विघ्नका नाश कर लिया, इस हेतु जरामरणयुक्त देहमें आ-

त्मभावको छोडकर जरामरणरहित शुद्ध आत्मभावको प्राप्त होता है जैसे पंचवक्त्र सदाशिव देहाहंकार जरामरणादिरहित विराजमान है ऐसेही उक्त अभ्यासीभी होता है ॥ ४५ ॥

संपीड्य रसनाग्रेण राजदन्तबिलं महत् ।
ध्यात्वामृतमयीं देवीं षण्मासेन कविर्भवेत् ॥ ४६ ॥

जो जिह्वाग्रसे राजदंतके बिल (रंध्र) को अचेतन (पीडन) कर अमृतमयी वागीश्वरी देवीके ध्यानका अभ्यास करता है तो अभ्यास सिद्ध होनेपर छः महीनेमें विचित्र कवितासामर्थ्य कवि हो जाता है ॥ ४६ ॥

सर्वाधाराणि बध्नाति तदूर्ध्वं धारितं महत् ।
न मुञ्चत्यमृतं कोपि स पन्थाः पञ्च धारणाः ॥४७ ॥

जिह्वाग्रसे पीडनकर राजदंतके छिद्रको रोकनेसे समस्त नाडियोंके मुख रुक जाते हैं. ऊपरके रुकनेसे अमृतधारा गिरके अन्यत्र नहीं गिर सकती पंच धारणाके अभ्यासी योगीकोभी जैसे इसीमें चंद्रमासे निस्सरित अमृतका हरण प्रत्याहार कहा है तैसेही अमृतको लंबिकाके ऊर्ध्वविवरमें धारणा करना यह धारणा होती है ॥ ४७ ॥

चुम्बन्ती यदि लम्बिकाग्रमनिशं जिह्वा रसस्यन्दिनी।
सक्षारं कटुकाम्लदुग्धसदृशं मध्वाज्यतुल्यं तथा ॥
व्याधीनां हरणं जरान्तकरणं शास्त्राङ्गमोद्गीरणम् ।
तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धाङ्गनाकर्षणम्॥४८

जिह्वाको लंबिकाके निरंतर चुंबनाभ्यास करनेवाले योगीको कभी लवण, कभी चरपरा, कभी खट्टा, कभी दूधसा, कभी सहतकासा, कभी घीकासा स्वाद जिह्वामें अनुभव होते हैं ये लक्षण जब अभ्यास सिद्ध हुएमें होने लगते हैं तब योगीके व्याधि (रोग) नाश होते हैं, वृद्धावस्थाका निवारण होता है, शास्त्रके व्याख्यान करनेका सामर्थ्य विनापढेभी होता है, अमृतमय शरीर होकर अष्ट सिद्धि मिलती हैं स्मरणमात्रसे सिद्ध गंधर्व, नागादिकन्याओंके आकर्षण करनेका सामर्थ्य होता है ॥ ४८ ॥

अमृतापूर्णदेहस्य योगिनो द्वित्रिवत्सरात् ।
ऊर्ध्वं प्रवर्तते रेतोप्यणिमादिगुणोदयः ॥ ४९ ॥

उक्त प्रत्याहारका फल कहते हैं कि उक्त प्रकारसे अमृतसे परिपूर्ण जब देह योगीका हो जाता है तो २ । ३ वर्ष अभ्याससे वीर्य (रेत) ऊपरको चढ जाता है ऊर्ध्वरेता होकर कदाचित्भी वीर्य्य स्खलित नहीं होता एवं अणिमादि सिद्धि उदय होती हैं ॥ ४९ ॥

इन्धनानि यथा वह्निस्तैलवर्तिं च दीपकः ।
तथा सोमकलापूर्णदेहं देही न मुञ्चति ॥ ५० ॥

जैसे अग्नि शुष्ककाष्ठ एवं दीपक तैलवर्तिको समग्र भस्म किये विना नहीं छोडता तैसेही जीवात्माभी चंद्रकलामृतसे पूर्ण हुए योगीके शरीरको कदापि नहीं छोडता ॥ ५० ॥

नित्यं सोमकलापूर्णशरीरं यस्य योगिनः ।
तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ॥ ५१ ॥

जिस योगीका शरीर नित्य सोमकलामृतसे पूर्ण रहता है उसे तक्षकनागभी डसे (काटे) तोभी शरीरमें विष नहीं फैलता ॥ ५१ ॥

इति प्रत्याहारप्रकरणम् ।

'अब ९ श्लोकोंसे धारणाका विस्तार कहते हैं'—

आसनेन समायुक्तः प्राणायामेन संयुतः ।
प्रत्याहारेण संपन्नो धारणां च समभ्यसेत् ॥ ५२ ॥

आसनका साधन प्राणायामका साधन प्रत्याहारका अभ्यास स्थिर करके इंद्रियवृत्तियोंको रोकनेके सामर्थ्य हुएमें धारणका अभ्यास करना ॥ ५२ ॥

हृदये पञ्चभूतानां धारणा च पृथक् पृथक् ।
मनसो निश्चलत्वेन धारणा साभिधीयते ॥ ५३ ॥

हृदयमें मन एवं प्राणवायुको निश्चल करके पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाशसंज्ञक पंच भूतोंको पृथक् पृथक् संधार करना धारणा कहाती है ॥ ५३ ॥

या पृथ्वी हरितालहेमरुचिरा पीता लकारान्विता
संयुक्ता कमलासनेन हि चतुष्कोणा हृदि स्थायिनी ।
प्राणांस्तत्र विलीय पञ्चघटिकं चिन्तान्वितान्धारये-
देषा स्तम्भकरी सदा क्षितिजयं कुर्याद्भुवो धारणा ५४

पहिले पृथ्वीधारणा कहते हैं कि जो पृथ्वी हरिताल यद्वा सुवर्णसमान रमणीयवर्ण अधिष्ठातृदेवता ब्रह्मासहित चतुष्कोणा-

कार मध्यमें (लं) बीजयुक्त है इस (लं) पृथ्वीतत्त्वको हृदयमें ध्यान करके भावना करना उक्त भूमंडलमें आपभी लीन होना चित्तसहित प्राणको लीन करके पांच (५) घटीपर्यंत स्तंभन करनेवाली धारणा होती है इस धारणाके सर्वदा अभ्यास करनेसे पृथ्वीतत्त्व अपने वशवर्त्ती होता है ॥ ५४ ॥

अर्द्धेन्दुप्रतिमं च कुन्दधवलं कण्ठेम्बुतत्त्वं स्थितं
यत्पीयूषवकारबीजसहितं युक्तं सदा विष्णुना ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्च घटिका चित्तान्वितं धारये-
देषा दुःसहकालकूटदहनी स्याद्वारुणी धारणा ॥५५॥

वारुणी (जल) धारणा कहते हैं कि अर्धचंद्राकार कुंदपुष्पसमान श्वेतवर्ण अमृतरूप (वं) बीजमध्यसहित अधिष्ठातृदेवता विष्णुसहित जलतत्त्वको विशुद्धचक्रमें ध्यान करना उक्त जलतत्त्वमें आपभी लीन होकर चित्तसहित प्राणको लीन कराय पांच घटीपर्यंत धारणा करना यह जलस्तंभन करनेवाली वारुणीधारणा है इसके सर्वदा अभ्यास करनेसे कालकूट विषकाभी भस्म हो जाता है विषका असर शरीरमें नहीं होता ॥ ५५ ॥

यत्तालुस्थितमिन्द्रगोपसदृशं तत्त्वं त्रिकोणानलं
तेजो रेफयुतं प्रवालरुचिरं रुद्रेण सत्सङ्गतम् ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकं चित्तान्वितं धारये-
देषा वह्निजयं सदा वितनुते वैश्वानरी धारणा ॥५६॥

आग्नेयी धारणा कहते हैं कि इंद्रगोप (वीरबहूटी कीडे) के

सदृश रक्तवर्ण त्रिकोणाकार प्रवाल (मूंगा) समान रमणीय तेजोरूप (रं)बीजमध्य शोभित अधिष्ठातृदेवता रुद्रसहित आग्नेयतत्त्वको तालुस्थानमें भावनाकरके उक्त अग्नितत्त्वमें आपभी लीन होकर चित्तसहित प्राणको लीन कराय पांच घटीपर्यंत तन्मय होना वैश्वानरी धारणा होती है इसके सर्वदा सेवन करनेसे योगी अग्निको जीतनेवाला होता है अग्नि उसको दाह नहीं करता ५६

यद्भिन्नाञ्जनपुञ्जसन्निभमिदं स्यूतं भ्रुवोरन्तरे
तत्त्वं वायुमयं यकारसहितं तत्रेश्वरो देवता ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकं चित्तान्वितं धारये-
देषा खे गमनं करोति यमिनः स्याद्वायवी धारणा ५७

वायवी धारणा कहते हैं कि वर्तुलाकार कज्जलके पुंजसमान अतिनीलवर्ण (यं) बीजसहित अधिष्ठातृदेवता ईश्वरसहित वायुतत्त्वको भ्रूमध्यमें ध्यानकर उक्त वायुतत्त्वमें आपभी लीन हो या चित्तसहित प्राणको लीन कर पांच घटीपर्यंत स्थिर रखना यह वायुतत्त्वकी धारणा है इस धारणाके नित्य अभ्यास करनेसे आकाशमें गति होती है ॥ ५७ ॥

आकाशं सुविशुद्धवारिसदृशं यद्ब्रह्मरन्ध्रस्थितं
तन्नादेन सदाशिवेन सहितं तत्त्वं हकारान्वितम् ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकं चित्तान्वितं धारये-
देषा मोक्षकपाटपाटनपटुः प्रोक्ता नभोधारणा ॥ ५८ ॥

नभोधारणा कहते हैं कि वर्तुलाकार निर्मलजलसमान वर्ण (हं) बीजसहित अधिष्ठातृदेवता सदाशिवसहित आकाशतत्त्व-

को ब्रह्मरंध्रमें ध्यान करना इस तत्वमें आपभी लीन हो चित्त-सहित प्राणको लीन कर पांच घटीपर्यंत स्थिर रखना यह नभो-धारणा मोक्षरूपी द्वारके खोलनेमें चतुर है इसके नित्य अभ्यास करनेसे मोक्षद्वार खुल जाता है ॥५८॥

स्तम्भिनी द्राविणी चैव दहनी भ्रामिणी तथा।
शोषिणी च भवत्येषा भूतानां पञ्च धारणाः॥ ५९॥

पृथ्वीधारणाके अभ्यास दृढ हुएमें जलपवनादि स्तंभनसामर्थ्य होती है वारुणीधारणाके अभ्यास दृढ हुएमें समस्तद्रव्यमात्र-को द्रव (जल)समान करनेकी सामर्थ्य होती है एवं आग्नेयी-से विना अग्निही वस्तुमात्रको जलानेकी सामर्थ्य होती है वायु-धारणासे वस्तुमात्र किंवा समस्त जगत्को घुमानेकी सामर्थ्य होती है नभोधारणासे सर्व शोषण सामर्थ्य होती है ये पंच धार-णाओंकी साधारण क्रियायें हैं ॥ ५९॥

कर्मणा मनसा वाचा धारणाः पञ्च दुर्लभाः।
विज्ञाय सततं योगी सर्वदुःखैः प्रमुच्यते॥ ६०॥

कर्म (अनुष्ठान) से मनके चिंतनसे वचन शास्त्राज्ञाके प्रमाण माननेसे निरूपण कर पांचों धारणाओंको स्थिराभ्यास करता है वह समस्त दुःखोंसे मुक्त होता है ॥ ६०॥

इति धारणाः।

स्मृत्येव सर्वचिन्तायां धातुरेकः प्रपद्यते।
यच्चित्ते निर्मला चिन्ता तद्धि ध्यानं प्रचक्षते॥ ६१॥

'स्मृ' यह धातु चिंतासामान्यवाचक है सो चित्तमें योगशास्त्रोक्तप्रकारसे निर्मलांतरकरके आत्मतत्वका स्मरण करना ध्यान कहाता है ॥ ६१ ॥

द्विविधं भवति ध्यानं सकलं निष्कलं तथा ।
सकलं चर्य्याभेदेन निष्कलं निर्गुणं भवेत् ॥ ६२ ॥

यह ध्यान सगुण, निर्गुण भेदसे दो प्रकार है जैसे श्यामवर्ण चतुर्बाहु वनमालामुकुटकुंडलपीतांबरधारी विष्णुका ध्यान करना सगुणध्यान है ॥ ६२ ॥

अन्तश्चेतो बहिश्चक्षुरधः स्थाप्य सुखासनः ।
कुण्डलिन्या समायुक्तं ध्यात्वा मुच्येत किल्बिषात्६३

एकांत पवित्रस्थानमें बैठके पद्मासन वा स्वस्तिकासन बांध शरीर सरल बनाय आधारादिचक्रोंमें अंतःकरण (मन) लगाय नासाग्रदृष्टि देकर निश्चल एकाग्र होकर कुंडलिनीसहित ध्येयवस्तुका ध्यान करना इससे योगी समस्तपापोंसे निर्मुक्त होता है यह ध्यानमुद्रा है ॥ ६३ ॥

आधारं प्रथमं चक्रं स्वर्णाभं च चतुर्दलम् ।
कुण्डलिन्या समायुक्तं ध्यात्वा मुच्येत किल्बिषैः ६४

योगिजनोंके ध्यान करनेयोग्य वनस्थान है इनमें प्रथम मूलाधारचक्र सुवर्णवर्ण चतुर्दल कमल है इसके कर्णिकामें स्वयंभूलिंगके शिरमें बिंबाकार साढे तीन वृत्तवेष्टित हो रही कुंडलिनीसहित इस चक्रके ध्यान करनेसे समस्त पापोंसे निर्मुक्त होता है ॥ ६४ ॥

स्वाधिष्ठाने च षट्पत्रे सन्माणिक्यसमप्रभे ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा योगी सुखी भवेत्॥६५॥

द्वितीय स्वाधिष्ठानचक्र रक्तवर्ण षट्दलकमलकर्णिकामें सगुण वा निर्गुण ज्योतिःस्वरूप आत्माको नासाग्रदृष्टि करके ध्यान करनेसे योगी आनंदावस्थाको प्राप्त होता है ॥ ६५ ॥

तरुणादित्यसंकाशे चक्रे च मणिपूरके ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा संक्षोभयेज्जगत् ॥ ६६ ॥

तृतीय मणिपूरचक्र उदय होते सूर्य्यमंडलसमान रक्तवर्ण कमलकर्णिकामें सगुण वा निर्गुण ज्योतीरूप आत्माको नासाग्रदृष्टिकरके ध्यान करनेसे योगी समस्त जगत्क्षोभ करनेकी सामर्थ्य पाता है ॥ ६६ ॥

हृदाकाशे स्थितं शम्भुं प्रचण्डरवितेजसम् ।
नासाग्रे दृष्टिमाधाय ध्यात्वा ब्रह्ममयो भवेत् ॥ ६७ ॥

चतुर्थ हृदयरूप आकाश अनाहतचक्रकर्णिकामें रहते प्रचंड तेजवान् सूर्य्यसमान तेजस्वी बाणलिंग (शिव) का ध्यान नासाग्रदृष्टि देकर करनेसे योगी ब्रह्ममय होता है ॥ ६७ ॥

विद्युत्प्रभे च हृत्पद्मे प्राणायामविभेदतः ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा ब्रह्ममयो भवेत् ॥ ६८ ॥

ऐसेही विद्युत् (विजुरी) समान प्रभायुक्त हृदयकमल कर्णिकामें उक्त प्रकारसे नासाग्रदृष्टि देकर सगुण वा निर्गुण ज्योतिःस्वरूप आत्माके ध्यान करनेसे योगी ब्रह्ममय (जीवन्मुक्त) होता है ॥ ६८ ॥

सततं घण्टिकामध्ये विशुद्धे दीपकप्रभे ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा ब्रह्ममयो भवेत् ॥ ६९ ॥

कंठस्थानमें दीपज्योतिसमान कांतिमान् विशुद्धचक्रमें नासाग्रदृष्टिकरके सगुण निर्गुण वा ज्योतिःस्वरूप आत्माके ध्यान करनेसे योगी अमर (मरणरहित) होता है ॥ ६९ ॥

भ्रुवोरन्तर्गतं देवं सन्माणिक्यशिखोपमम् ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वानन्दमयो भवेत् ॥ ७० ॥

भ्रूमध्ये आज्ञाचक्रमें माणिकशिखा (चूनीकी सूक्ष्म चमक) समान रक्तवर्ण आत्माको नासाग्रदृष्टि देकर ध्यान करनेसे योगी समस्त दुःखरहित आनंदमय होता है ॥ ७० ॥

ध्यायन्नीलनिभं नित्यं भ्रूमध्ये परमेश्वरम् ।
आत्मानं विजितप्राणो योगी योगमवाप्नुयात् ॥७१॥

आज्ञाचक्रमें नीलवर्ण शिवपरमात्माका ध्यान प्राणायाम प्रकार करके करनेसे योगी जीवात्मा परमात्माके ऐक्यको पाता है ॥ ७१ ॥

निर्गुणं च शिवं शान्तं गगने विश्वतोमुखम् ।
नासाग्रदृष्टिरेकाकी ध्यात्वा ब्रह्ममयो भवेत् ॥ ७२ ॥

आज्ञाचक्रमें निर्गुणरूप, शांत, विश्वव्यापक, शिवके नासाग्रदृष्टि देकर ध्यान करनेसे जीवभावको देनेवाले गुणधर्मसे रहित होता है अर्थात् जीवभावका स्मरणमात्रभी नहीं रहता ॥ ७२ ॥

आकाशे यत्र शब्दः स्यात्तदाज्ञाचक्रमुच्यते ।
तत्रात्मानं शिवं ध्यात्वा योगी मुक्तिमवाप्नुयात्॥७३॥

जिस तत्त्वमें नाद प्रकट होता है ऐसा आकाशतत्त्वस्थान मनका स्थान है सोही भ्रूमध्यमें आज्ञाचक्र कहाता है इसमें रहते सदाशिवरूप आत्माके ध्यान करनेसे योगी कैवल्य मुक्ति पाता है ॥ ७३ ॥

निर्मलं गगनाकारं मरीचिजलसन्निभम् ।
आत्मानं सर्वगं ध्यात्वा योगी मुक्तिमवाप्नुयात्॥७४॥

आज्ञाचक्र ऊपर शून्यस्थानमें करनेयोग्य ध्यान कहते हैं कि, स्वरूपको आच्छादित करनेवाला, मलिनसंबंधसे रहित, आकाशसमान, एकाकार, सर्वव्यापक, प्रकाशमान तेज स्वरूपके ध्यान करनेसे योगी मुक्तिको प्राप्त होता है ॥ ७४ ॥

गुदं मेढ्रंच नाभिश्च हृत्पद्मं च तदूर्ध्वतः ।
घण्टिका लम्बिकास्थानं भ्रूमध्ये च नभोबिलम्॥७५॥

ध्यानमुक्त नव(९) स्थानोंको पुनः स्मरण करते हैं कि, गुदा (मूलाधार) १ मेढ्र (स्वाधिष्ठान) २ नाभि (मणिपूर) ३ हृत्पद्म (अनाहत) ४ तदूर्ध्व (विशुद्ध) ५ घंटिकाका मूल ६ लंबिकाका स्थान ७ आज्ञाचक्र ८ इसके ऊपरका शून्यस्थान ९ ये नव ध्यानयोग्य स्थान हैं ॥ ७५ ॥

कथितानि नवैतानि ध्यानस्थानानि योगिभिः ।
उपाधितत्त्वमुक्तानि कुर्वन्त्यष्टगुणोदयम् ॥ ७६ ॥

योगियोंने उक्त नव (९) स्थान ध्यानोपयोगी कहे हैं इन्हें उपाधि अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश पांच तत्वों-

करके सहित करनेसे अणिमादि अष्टसिद्धियोंका उदय होता है ॥ ७६ ॥

एषु ब्रह्मात्मकं तेजः शिवज्योतिरनुत्तमम्।
ध्यात्वा ज्ञात्वा विमुक्तः स्यादिति गोरक्षभाषितम् ७७

उक्त नव (९) स्थानोंमें सर्वोत्कृष्ट शिव अनाहत आज्ञाचक्रोंमें उक्त प्रकारसे साकार सगुणस्वरूपको अथवा निराकार निर्गुणब्रह्मको भावना करके उक्त स्थानोंमें ध्यान करनेसे योगी संसारसे मुक्त होकर पुनर्जन्ममरणरूप संतापसे छूटता है यह श्रीगोरक्षनाथ प्रतिज्ञा करके कहते हैं इसमें संशय न मानना ॥ ७७ ॥

नाभौ संयम्य चित्तं पवनगतिमधो रोधयत्संप्रयत्ना-
दाकुञ्च्यापानमूलं हुतवहसदृशं तन्तुवत्सूक्ष्मरूपम्।
तद्‌बद्ध्वा हृत्सरोजे तदनु दलणके तालके ब्रह्मरन्ध्रे
भित्त्वा ते यान्ति शून्यं प्रविशति गगने यत्र देवो महेशः॥

चित्त (अंतःकरण) को मणिपूरचक्रमें स्थिर करके अपानद्वारको बडे प्रयत्नसे संकोच विकाश कर अपानवायुको अधोगतिको रोकके ऊपरको उठाय मन एवं प्राणवायुसे ऐक्य करे सूत्रके समान सूक्ष्म अग्निसमान देदीप्यमान ज्योतिःस्वरूपको उक्त ऐक्यविषये चिंतन करनेसे उक्त ज्योति नाभि चक्रको वेधनकर हृदयकमलमें पहुँचता है पुनः अभ्यास सिद्ध हो तो हृदयकमलको वेधकर ब्रह्मरन्ध्रमें पहुँचता है इसी विधिसे योगियोंके शरीरत्यागसमयमें वही ज्योतिःस्वरूप ब्रह्मरन्ध्रको

भेदनकर परमशिव शून्याकार चिदाकाशमें प्रवेश कर परब्रह्ममें लीन हो जाता है ॥ ७८ ॥

नाभौ शुभ्रारविन्दं तदुपरि विमलं मण्डलं चण्डरश्मेः
संसारस्यैकरूपां त्रिभुवनजननीं धर्मदात्रीं नराणाम् ।
तस्मिन्मध्ये त्रिमार्गे त्रितयतनुधरां छिन्नमस्तां प्रशस्तां
तां वन्दे ज्ञानरूपां मरणभयहरां योगिनीज्ञानमुद्राम् ॥

मणिपूरचक्रमें शुक्लवर्ण कमल चिंतनपूर्वक उसके मध्यमें निर्मल सूर्य्यमंडलका ध्यान करना इस मंडलके मध्यमें सत्त्व रज तम त्रिगुणरूप उपाधिभेदसे तीन प्रकारको प्राप्त हो रहा सुषुम्णानाडीके द्वारमें संसारके कारणरूपा त्रैलोक्यके उत्पन्न करनेहारी जन्ममरणोपाधिग्रस्त मनुष्योंको उपासनामार्गसे मोक्षरूप परमधर्म देनेहारी त्रिगुणरूप हो रही ज्ञानस्वरूपिणी जिसकी स्तुति ब्रह्मादिदेवता सनकादि सिद्ध करते हैं तथा योगमात्रसे गम्या, ज्ञानमात्र उपाधिसे हो रही छिन्नमस्ता नाडीस्वरूप भासमान हो रही कुंडलिनीको स्तुति (अभिवादन) करता हूं इस प्रकार योगी छिन्नमस्ता महाविद्यारूप कुंडलिनीकी वंदना करे ॥ ७९ ॥

अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च ।
एकस्य ध्यानयोगस्य तुलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥८०॥

सहस्रों अश्वमेध सैकडों वाजपेय यज्ञोंका फलभी केवल सात्त्विक एक ध्यानावस्थाका सोलहवें अंश (भाग) के समान नहीं है अर्थात् यज्ञादि साधनाओंमेंभी श्रेष्ठ ध्यानयोग है ॥८०॥

इति ध्यानप्रकरणम् ।

उपाधिश्च तथा तत्त्वं द्वयमेतदुदाहृतम् ।
उपाधिः प्रोच्यते वर्णस्तत्त्वमात्माभिधीयते ॥ ८१ ॥

अब १५ श्लोकमें समाधिविधि कहते हैं. आत्माके प्रकाश होनेवालेको उपाधि तथा आत्मचैतन्यको तत्त्व कहते हैं उपाधि और तत्व ये दोनों मुख विचार्य्य हैं उपाधि प्रणवरूप वर्ण ॐ म् हैं तत्व आत्मा कहाता है ॥ ८१ ॥

उपाधेरन्यथा ज्ञानतत्त्वसंस्थितिरन्यथा ।
समस्तोपाधिविध्वंसी सदाभ्यासेन जायते ॥ ८२ ॥

उपाधिसे यथार्थ वैषयिक अन्यही हैं अर्थात् विपरीत बोधक है जैसे स्फटिक तो स्वच्छ श्वेतमात्र है परंतु लाल, पीला, नीला आदि रंग उपाधि संबंधसे उसी रंगकासा समान होता है तैसेही शरीरमें निर्विकार शुद्ध आत्मा विपयवासनाओंके संसर्गसे "अहं सुखी" "अहं दुःखी" इत्यादि भासमान होता है जब अपनी निर्मलबुद्धिसे उपाधि पृथक् माने तब आत्मस्वरूपका यथार्थज्ञान होता है जैसे रक्तादिरंगमें स्फटिकभी वैसा होता है परंतु बुद्धिसे जो न कि स्फटिक तो शुक्लही है परंतु रक्तादि रंगोपाधिविकारसे मिथ्या रंग देखा जाता है तैसेही इंद्रियधर्मोंसे आत्माभी जीवात्मा यथार्थज्ञानसे अद्वैतानंदस्वरूप है सुखदुःखका इसमें संबंध नहीं है ऐसा ज्ञान योगाभ्याससे होता है. तब योगी उपाधिजाल विनाश करनेमें समर्थ होता है ॥ ८२ ॥

शब्दादीनां च तन्मात्रं यावत्कर्णादिषु स्थितम् ।
तावदेवं स्मृतं ध्यानं समाधिः स्यादतः परम् ॥८३॥

ध्यान एवं समाधिका अवस्थाभेद प्रकट कहते हैं कि ध्यानावस्थामें स्थिर रहते योगीके कर्णादि इंद्रियोंविषे शब्दादि विषयोंका सूक्ष्मभाग जबलौं उपलभ्यमान होता है. तभीलौं ध्यानावस्था कहाती है जब आत्मामें पंचेंद्रियवृत्ति लीन हो जांय तब आत्मामें अर्थमात्रका भान रहनेवाली अवस्था समाधि कहाती है ॥८३॥

धारणा पञ्चनाडीभिर्ध्यानं च षष्टिनाडिभिः।
दिनद्वादशकेन स्यात्समाधिः प्राणसंयमात् ॥ ८४ ॥

ध्यानधारणा समाधिका प्रमाण कहते हैं कि प्राणवायुके व्यापार रोकनेमें पांच घटीपर्यंत धारणा कहाती है ऐसेही ६० घटीसे ध्यान और बारह (१२) अहोरात्रपर्यंत प्राणवायुके व्यापार निरंतर रोकनेसे समाधि कहाती है ॥ ८४ ॥

यत्सर्वं द्वन्द्वयोरैक्यं जीवात्मपरमात्मनोः।
समस्तनष्टसंकल्पः समाधिः साभिधीयते ॥ ८५ ॥

दृष्टांतसहित समाधिका स्वरूप कहते हैं कि भूंख प्यास, शीत उष्ण, सुख दुःख इत्यादि द्वंद्व कहाते हैं इनसे पीडा न होने तथा इनसे अपनेको उद्वेग न होनेका ऐक्य है इस अवस्थाको पायके जीवात्मा परमात्माका कारणमात्ररूपसे ऐक्य जानना समस्त मानसीतरंगोंसे रहित समाधि होती है ॥ ८५ ॥

अम्बुसैन्धवयोरैक्यं यथा भवति योगतः।
तथात्ममनसोरैक्यं समाधिः सोभिधीयते ॥ ८६ ॥

जीवात्मापरमात्माका तथा आत्मा और मनका ऐक्य न हुएमें सिद्धि नहीं होती अतएव दृष्टांतसहित कहते हैं कि जैसे जलमें सेंधानोन (सैंधव) देनेसे दोनोंका ऐक्य दीखता है तैसेही मन बाह्यविषयोंसे विमुख अंतर्मुख होकर आत्माकारवृत्ति होनेसे आत्मा और मनका ऐक्य होता है ऐसे जीवात्मापरमात्माके ऐक्यको समाधि कहते हैं ॥ ८६ ॥

यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते ।
यदा समरसत्वं च समाधिः सोभिधीयते ॥ ८७ ॥

मन एवं प्राणको एकत्र करके स्थिर होकर आत्माके भावना करनेवाले योगीका जब प्राणवायु आत्माहीमें लीन होता है तब अंतःकरणभी लीन होता है जल तथा सैंधवकीसी जीवात्मापरमात्माकी ऐक्यता (अभिन्नस्वरूपता) होती है इसीको समाधि कहते हैं ॥ ८७ ॥

न गन्धं न रसं रूपं न च स्पर्शं न निःस्वनम् ।
नात्मानं न परस्वं च योगी युक्तः समाधिना ॥ ८८ ॥

योगीके समाधिमें रहनेकी अवस्था कहते हैं कि जो योगी समाधिमें एकत्वको प्राप्त हो जाता है तो सर्व इंद्रियगण मनमें लीनताको प्राप्त होकर गंध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द इन पांच विषयोंको नहीं जानता कोई वस्तुमात्र अपना वा पराया कुछ नहीं जानता जीवात्मा तथा परमात्माको अलग नहीं मानता एकही समझता है इसप्रकार ध्यानमें एकाग्र होनेसे और किसी प्रकार ज्ञान नहीं होता ॥ ८८ ॥

अभेद्यः सर्वशास्त्राणामवध्यः सर्वदेहिनाम् ।
अग्राह्यो मन्त्रयन्त्राणां योगी मुक्तः समाधिना ॥८९॥

जब योगी उक्त विधिसे समाधियुक्त हो जाता है तो समस्त शस्त्रोंसे अभेद्य (न कटने योग्य) होता है देही (मनुष्य) सिंह गज, व्याघ्रआदियोंसे अवध्य नहीं मार जाता मंत्र यंत्र मारणमोहनादि प्रयोग (जादू) भी उसपर नहीं चलता ॥ ८९ ॥

बाध्यते न स कालेन लिप्यते न स कर्मणा ।
साध्यते न च केनापि योगी युक्तः समाधिना॥९०॥

जब योगी समाधिमें स्थिर हो जाता है तो उसको जरा (बुढापा) एवं मरण (मृत्यु) पीडन नहीं कर सकते अर्थात् अजरामर हो जाता है उसपर कालका वश नहीं चलता पापपुण्य हैं हेतु जिसके ऐसे कर्मबंधनोंसे लिप्त नहीं होता और कोई उसे विषयवासनामें नहीं लगाय सकता किसीके साधनमें यह नहीं आता ॥ ९० ॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ ९१ ॥

मिताहारयुक्त व्यवहारमें रहकर जो योगी समस्तकर्मोंमें युक्त रहता है और निद्रा जागरणभी युक्त रखता है अर्थात् कोई कामभी अयुक्त (अति) नहीं करता पूर्वोक्त क्रियाओंमें सावधान रहता है उसका योग दुःखनाशक कहाता है ॥ ९१ ॥

निराद्यन्तं निरालम्बं निष्प्रपञ्चं निरामयम् ।
निराश्रयं निराकारं तत्त्वं जानाति योगवित् ॥९२ ॥

जब योगी उक्त विधिसे समाधिमें स्थिर हो जाता है तब परमतत्व जिसका आद्यंत (जन्ममरण) नहीं किसीके आलंबन (निमित्तमें) नहीं मायाआदि किसीके आश्रयमें नहीं द्वैतकल्पनामें नहीं है जन्ममरणादि दुःखमें नहीं ऐसे जीवात्मा परमात्माके ऐक्य हो रहे आत्मस्वरूप तत्वको जानता है ॥ ९२ ॥

निर्मलं निश्चलं नित्यं निष्क्रियं निर्गुणं महत् ।
व्योमविज्ञानमानन्दब्रह्म ब्रह्मविदो विदुः ॥ ९३ ॥

निर्मल (कर्मके फल वासनारूप मलसे रहित) निश्चल (चेष्टारहित) नित्य (परिणामरहित) निष्क्रिय (सर्वव्यापारशून्य) निर्गुण (सत्वादिगुणरहित) महत् (जिसका परिमाण नहीं किया जाता ऐसे) व्योम (चिदाकाशस्वरूप) विज्ञान (बोधस्वरूप) आनंद ब्रह्म (अद्वैतानंदस्वरूप) ब्रह्मको ब्रह्मवित् (योगी) जानते हैं ॥ ९३ ॥

हेतुदृष्टान्तनिर्मुक्तं मनोबुद्ध्योरगोचरम् ।
व्योम विज्ञानमानन्दं तत्त्वं तत्त्वविदो विदुः ॥ ९४ ॥

साक्षात्कारताके लिये हेतु एवं दृष्टांतसे रहित तथा मन एवं बुद्धिकरके अगम्य चिदाकाशस्वरूप, बोधस्वरूप अद्वैतानंदस्वरूप तत्त्व (ब्रह्म) को ब्रह्मज्ञानी योगी जानते हैं ॥ ९४ ॥

निरातङ्के निरालम्बे निराधारे निरामये ।
योगी योगविधानेन परे ब्रह्मणि लीयते ॥ ९५ ॥

योगाभ्यासी पुरुष षडंगयोगको पूर्वोक्तविधिसे अभ्यास क-

रके जन्ममरणादि दुःखके स्पर्श न होनेवाले अवलंबनरहित एवं जिसको कोई आधार नहीं अनिर्वचनीय रोगादिरहित परब्रह्ममें लीन होता है अर्थात् सायुज्यपदको प्राप्त होता है॥९५॥

यथा घृते घृतं क्षिप्तं घृतमेव हि जायते ।
क्षीरे क्षीरं यथा योगी तत्त्वमेव हि जायते ॥ ९६ ॥

जैसे घृतमें घृत मिलायके घृत तथा दुग्धमें दुग्ध मिलायके दुग्धही होता है तैसेही तत्वस्वरूप परब्रह्ममें योगाभ्यास करके लीन होता हुआ योगीभी परब्रह्मस्वरूप सायुज्यको प्राप्त होता है तात्पर्य यह कि जीव और परब्रह्मका सांसारिकदशामें उपाधिकरके भेद हुएमेंभी उपाधि नष्ट होकर दोनों चिद्रूप होकर ऐक्यताको प्राप्त होता है ॥ ९६ ॥

दुग्धे क्षीरं घृते सर्पिरग्नौ वह्निरिवार्पितः ।
तन्मयत्वं व्रजत्येवं योगी लीनः परे पदे ॥ ९७ ॥

जैसे दुग्धमें दुग्ध घृतमें घृत दीपमें दीप मिलायके उन दोनोंका ऐक्य हो जाता है तैसेही योगीके आत्मा परब्रह्ममें लीन होकर परब्रह्ममय हो जाता है आत्मा परमात्मा एकही है परंच उपाधिभेदसे पृथक् मानते हैं जब अभ्याससे उपाधिरहित होता है तब उनकी ऐक्यता आपही प्रकट होती है ॥ ९७ ॥

भवभयहरं नृणां मुक्तिसोपानसंज्ञकम् ।
गुह्याद्गुह्यतरं गुह्यं गोरक्षेण प्रकाशितम् ॥ ९८ ॥

योगाभ्यास करनेवालोंके जन्ममरणादि भय हरनेवाला मुक्तिद्वारमें जानेके लिये सोपान (सीढी) संज्ञक एवं धर्म, अर्थ,

काम देनेवाला गुप्तसेभी अतिगुप्त यह योगशास्त्र श्रीगोरक्षनाथने योगियोंपर कृपा करके संसारमें प्रकट किया ॥ ९८ ॥

गोरक्षसंहितामेतां योगभूतां जनः पठेत् ।
सर्वपापविनिर्मुक्तो योगसिद्धिं लभेद् ध्रुवम् ॥ ९९ ॥

पूर्वोक्तप्रकारसे यहांपर्यंत मुक्तिसोपान अन्वयार्थ संज्ञक गोरक्षसंहिता योगशास्त्रको जो मनुष्य भक्तिपूर्वक पढता है वह समस्त पातकोंसे निर्मुक्त होकर निश्चय योगसिद्धिको प्राप्त होता है ॥ ९९ ॥

योगशास्त्रं पठेन्नित्यं किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
यत्स्वयं चादिनाथस्य निर्गतं वदनाम्बुजात् ॥१००॥

जो जन योगशास्त्रको नित्य पढते हैं उन्हें और विस्तारशास्त्रोंसे क्या करना है योगशास्त्रका उक्त फल यथोक्त प्रत्यक्ष मिलता है क्योंकि यह शास्त्र आदिनाथ (शिवजी)ने स्वयं हृदयकमलमें अनुभूत होकर मुखकमलसे प्रकट किया इसके अनुभवसिद्ध होनेसे अतिप्रामाणिक है ॥ १०० ॥

स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिलं दत्ता द्विजेभ्यो धरा
यज्ञानां च हुतं सहस्रमयुतं देवाश्च संपूजिताः ।
स्वाद्वन्नेन सुतर्पिताश्च पितरः स्वर्गं च नीताः पुनः
यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि प्राप्नोति धैर्य्यं मनः १०१

इति श्रीगोरक्षयोगशास्त्रे मुक्तिसोपानसंज्ञके
उत्तरशतकं संपूर्णम् ॥ २ ॥

साक्षात् मोक्षके प्रतिपादन करनेवाले योगशास्त्रको जो पढते हैं वे कृतकृत्य हो जाते हैं जिसका मन ब्रह्मज्ञानविचारमें ब्रह्म-ध्यानविषय क्षणमात्रभी धैर्य्यसे स्थिर होता है उसने गंगा, प्रयाग, पुष्करादि समस्त तीर्थोंके जलोंमें स्नान कर लिया समस्त पृथ्वी-का दान सत्पात्र ब्राह्मणको दे दिया सहस्र किंवा अयुत अश्व-मेध वाजपेयादि महायज्ञ कर लिये ब्रह्मा, विष्णु, महेशादि स-मस्त देवता विधिपूर्वक पूजित कर लिये स्वादिष्ठअन्नसे पितर तृप्त करके स्वर्गभी पठाये दिये अर्थात् तीर्थस्नान, उक्त वस्तुओंसे जो जो फल मिलते हैं वे समस्त आत्मचिंतनरूप योगाभ्याससे तत्क्षणमात्र हो जाते हैं ॥ १०१ ॥

इति महीधरकृतायां गोरक्षसंहिताभाषायां माही-
धर्य्यामुत्तरशतकं परिपूर्णम् ॥ २ ॥

श्रीनाथीकृपया मया विरचिता भाषा स्वबुद्ध्याल्पया
सर्वेषामुपकारिणी बुधजनाः शब्दार्थसंधायिनः ।
भाषा इत्यवहेलनं कुरुत नो योगो हि न ज्ञायते
शब्दार्थैर्विविधैर्यतो हठयुगादीन् वीक्ष्य विस्तारिता ॥१॥

भाषाकारकी प्रस्तावना है कि मैंने श्रीनाथ (आदिनाथ) महादेवस्वरूप श्रीगुरु यद्वा श्रीनाथ (लक्ष्मीपति विष्णु) की कृपासे सर्वसाधारणके उपकारार्थ अपनी अल्पबुद्धिसे इस योग-शास्त्र गोरक्षसंहिताकी भाषाटीका की है इसे देख न्यायव्याक-रणादि जाननेवाले बुधजन ' भाषा है ' ऐसा कहकर अवहे-लन (अनादर) न करे यतः यह निश्चय है कि योगमार्गका बोध

अनेक प्रकारके शब्दार्थ एवं शास्त्रार्थ तर्कवितर्कादि करनेसे नहीं होता यह केवल गुरुलभ्य है कोई पंडित चाहे कि अपने पांडित्यके बलसे श्लोकार्थ करे तो यह प्रयोजन कदापि नहीं होता प्रथम गुरुलक्ष्य करके स्वानुभवसिद्ध करनेहीसे इसका ज्ञान होता है इसलिये गुरुप्रसादोत्तर हठप्रदीपादि ग्रंथ देखके यह ग्रंथ बढा दिया तथा भावार्थभी यथामति प्रकट कर दिया ॥ १ ॥

वसुवेदाङ्कभू (१९४८) संज्ञे वत्सरे मासि बाहुले ।
महीधरेतिनाम्नेयं टीहर्य्यां निर्मिता शुभा ॥ २ ॥

वैक्रमीसंवत् १९४८ के कार्तिकमासमें महीधरशर्म्मा सुंदर यह भाषा राजधानी टीहरीमें रची ॥ २ ॥

हरिशर्ममुनियोगी गुरुलब्धकृपोदयः ।
शोधनं पुस्तकस्यास्याकरोन्मत्यनुसारतः ॥ ३ ॥

निजगुरुकृपासे पाया है उदय (योगचन्द्रिका प्रादुर्भाव) जिसने ऐसे हरिशर्मा योगीने इस पुस्तकका स्वबुद्ध्यनुसार संशोधन किया ॥ ३ ॥

इति गोरक्षपद्धतिः समाप्ता.

पुस्तक मिलनेका ठिकाना–
गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास,
"लक्ष्मीवेंकटेश्वर" छापाखाना,
कल्याण–मुंबई.

वेदान्तग्रन्थाः ।

नाम	की.रु.आ.	ट.म.रु.आ.
११ शारीरक (शाङ्करभाष्य) रत्नप्रभा-टीका व्यासाधिकरणमाला और भक्तिसूत्र सभाष्य अक्षर बडा....	१०—०	१—०
१२ पंचदशी पं० मिहिरचंदकृत अत्युत्तम भाषाटीका सहित ...	४—०	०—८
१३ ब्रह्मसूत्र शारीरक भाषाटीका........	१॥—०	०—३
१४ गीता चिद्घनानन्दस्वामिकृत गूढार्थदीपिका मूल अन्वय पदच्छेदसहित भा. टी.	७—०	१—०
१५ गीताश्लोकार्थदीपिका. अतिउत्तम टिप्पणीसहित तैयार है गीता वाक्यार्थबोधिनी और गीता अमृततरंगिणीसेही अच्छी बनी है.......	१—४	०—३
१६ गाती आनन्दगिरिकृतभाषाटिकासह	३-०	०—६
१७ गीता भाषाटीका अन्वय दोहासहित	१—४	०—३
१८ गीतारामानुजभाष्य	२—०	०—४
१९ गीता भाषाटीका	०—१४	०—२
१० पञ्चदशी सटीक........................	२—८	०—४
२१ प्रश्नोत्तररत्नमाला	०—२	०—॥
२२ प्रश्नोत्तरी भाषाटीका	०—२	०—॥
२३ अध्यात्मप्रदीपिका	०—४	०—॥
२४ निर्वाणाष्टकं सटीकम्...............	०—२	०—२

नाम.	की.रु.आ.	ट.म.रु.आ.
२५ सिद्धान्तचन्द्रिका सटीक वेदान्त	०—८	०—१
२६ प्रश्नोत्तरप्रकाश........................	०—४	०—॥
२७ हरिमीडेस्तोत्र सटीक...............	०—१४	०—२
२८ द्वादशमहावाक्यविवरण............	०—४	०—॥
२९ त्रोटकसटीक	०—१०	०—१
३० गोविंदनामगीता	०—८	०—१
३१ हठयोगप्रदीपिका भाषाटीका....	१—८	०—४
३२ शिवस्वरोदय भाषाटीका	०—१०	०—२
३३ शिवसंहिता योगशास्त्र भाषाटीका	१—०	०—२
३४ वेदान्तरामायण भाषाटीका	१—८	०—४
३५ अष्टावक्रगीता भाषाटीका ...	१—०	०—॥
३६ श्रीरामगीता भाषाटीका पदप्रकाशिका अनुवादसमुच्चय और विषमपदी सहित	०—८	०—१
३७ अपरोक्षानुभूति संस्कृतटीका भाषाटीका सहित	०—१०	०—१
३८ वेदान्तग्रन्थपञ्चक वाक्यप्रदीपः वाक्यसुधारसः हस्तामलकः नीर्वाणपञ्चकं मनीषापञ्चकं इमे सटीकाः	०—८	०—१
३९ वेदस्तुति भाषाटीका	०—८	०—१
४० रामगीता मूल	०—२	०—॥
४१ श्रीमद्भगवद्गीता पञ्चरत्न अक्षरमोटा गुटका रेशमी अतिउत्तम ७ पंक्ती	१—८	०—४

नाम. 12573	की.रु.आ.	ट.म.रु.आ.
४२ तथा ८ पंक्तीवाला	१—४	०—३
४३ पञ्चरत्न अक्षरवडा खुला पाना संची छोटी	१—८	०—३
४४ पञ्चरत्न अक्षरवडा लम्बी संची खुली	१—०	०—३
४५ गीता श्रीधरीटीकासहित	१—०	०—३
४६ गीता बडे अक्षरकी १६ पेजी गु.	१—०	०—२
४७ गीता बडे अक्षरकी खुली	०—१२	०—२
४८ गीता गुटका विष्णुसहस्रनामसहित	०—८	०—१
४९ " पञ्चरत्न और एकादशरत्न	०—१२	०—२
५० " पञ्चरत्न द्वादशरत्न	०—१०	०—१॥
५१ " पञ्चरत्न नवरत्न पाकिट बुक	०—७	०—१
५२ पञ्चरत्न बुकफेसन सप्तरत्न	०—१२	०—२
५३ पंचरत्न भाषाटीका सहित बडा	२—०	०—४
५४ पंचरत्न गीता गुटका भा० टी०	१—०	०—२
५५ केवल गीता भा० टी० पाकेटबुक	०—८	०—१
५६ विज्ञानगीता कविकेशवदासकृत	०—८	०—१
५७ पाण्डवगीता भाषाटीका.........	०—३	०—॥
५८ पाण्डवगीता मूल मध्यम..........	०—१॥	०—॥
५९ कपिलगीता भाषाटीका	०—६	०—१
६० जीवन्मुक्त गीता भा० टी० ...	०—१	०—॥
६१ गीता गुटका पाकिट बुक...........	०—५	०—१
६२ शिवगीता भाषाटीकासहित.......	०—१२	०—२

नाम.	की.रु.आ.	ट.म.रु.आ.
६३ गणेशगीता भाषाटीकासहित ...	०—६	०—१
६४ आत्मबोध,तत्त्वबोध, वेदस्तुतिभाषा	०—४	०—॥
६५ आत्मबोध भाषाटीका	०—४	०—॥
६६ तत्त्वबोध भाषाटीका	०—२॥	०—॥
६७ भक्तिमीमांसा शाण्डिल्यऋषिप्रणीताआचार्यस्वप्नेश्वरविरचितेन भाष्येण संयुता	०—८	०—१
६८ नारदगीता	०—१	०—॥
६९ वेदांतसार संस्कृतमूल और संस्कृतटीका तथा भाषाटीकासहित	०—१२	०—२
७० अभिलाखसागर वेदांत	२—०	०—४
७१ गोरखनाथपद्धति भाषाटीका (योगसाधन विधि)	०—१२	०—१
७२ मुक्तिकोपनिषद् भा० टी० ...	०—५	०—१
७३ कैवल्योपनिषद् भा० टी० ...	०—१	०—॥
७४ पातंजलि (योगदर्शन) भा० टी०	१—०	०—२
७५ सांख्यदर्शन अत्युत्तम भा० टी०	१—४	०—२

अद्वैतसुधा—संस्कृत सुगम अपूर्व आजतक कहांभी न छपा वेदांतग्रंथ मुमुक्षुलोगोंको अत्यादरणीय है की० १२ आ०

पुस्तक मिलनेका ठिकाना—

गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास,

"लक्ष्मीवेंकटेश्वर" छापाखाना,

कल्याण—मुंबई.

T.No. 1095

Gorakṣa Śatakam. (Xerox copy)

गोरक्षशतकम्

Copied. R.7874, 7879.
of G.O.M.L.
Madras.

T.1095-a

36/

R. 7874-7879
1408.

R 7874—7879.

(1)

from R. No. 2831 (P). t.

गोरक्षशतकम्. Foll. 191-6-197 b.

29-4-47
30-4-47

Foll. 191. b.

अधुना सिद्धशाजैनगोरक्षेण प्रकाशितम् ।
योगशास्त्रमल्पैस्तु दिनैः सिद्धिसूचकम् ॥
गुरुवक्त्रप्रसादेन स्वानुभूतं मयाहितम् ।
सम्यग्वक्ष्यामि संसिद्धै वि॰कानां चित्तात्मनः ॥
सुधीर्भवाच्युतरतिर्विषयाऽन्योन्यमज्जति ।
पाति नाशिक्षितः पाकं ॰ाति नो यान्यशिक्षितः ॥
स्वकर्मणैव पुरुषो याति स्वर्गं च दुर्गतिम् ।
ऊर्ध्वं प्रकारकारस्तु यात्यधः कूपकारकः ॥
तस्मात्प्रयत्नपवादौ कर्तव्यो भवमुक्तये ।
गुरुं बहुगुणं भक्त्या कायवाङ्मनसा भजेत् ।
दृष्टिर्मनो मरुद्यस्य कृपाकम्पाद्धि मरोचनम् ॥
विना नित्यं स्थिराणि स्युराश्रयेत्तं गुरुं सदा ।
चित्तवस्तुहृत्को जागच्छ्रुतिमद्वचनस्य च ॥
नास्ति मेति नचोदेति यस्यासौ मुक्त एव हि ।
प्रवेशो निर्गमे वा मे दक्षिणे चोर्ध्वमप्यधः ॥
न यस्य वायुर्व्रजति स मुक्तो नात्र संशयः ।
हेतुद्वयं च चित्तस्य वास (192a) ना च समीरणः ॥
तयोर्विनष्ट एकस्मिन् तस्मै द्वावपि नश्यतः ।

तयोरादौ समीरस्य जयं च कुरुसम्मतः॥
यथा त्वं पुरुषो मुक्तो भवेन्मुक्तो जनादिभिः।
मरुज्जयस्य तस्योक्तं साधनत्रयमुत्तमम्।
मिताहारश्चासनञ्च शक्तिचालस्तृतीयकः॥
एतेषां लक्षणं सम्यग्वक्ष्येहं मार्गं क्रमेण तु।
सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांशविवर्जितः॥
भुज्यते शिवसंप्रीत्यै मिताहारस्स उच्यते।
आसनं द्विविधं प्रोक्तं पद्मं वज्रासनं तथा॥
ऊर्वोरुपरि चेद्धस्ते उभे पादतले तथा।
पद्मासनं भवेत्सम्यक्सर्वपापप्रणाशनम्॥
वामाङ्घ्रिमूलकन्दाधः अन्यं तदुपरि क्षिपेत्।
समग्रीवशिरःकायः वज्रासनमितीरितम्॥
शक्तिचालमिदानीं तु प्रवक्ष्यामि समासतः।
कुण्डल्येव भवेच्छक्तिस्तस्याः संचालनक्रमः॥
स्वस्थानादाभ्रुवोर्मध्यं शक्तिचालनमुच्यते॥
(192.b.) तत्साधने द्वयं मुख्यं सरस्वत्याश्चालनम्॥
प्राणरोधमथाभ्यासादृज्वी कुण्डलिनी भवेत्।
तयोरादौ सरस्वत्याश्चालनं कथयामि ते॥
अरुन्धत्येव कथिता पुराविद्भिः सरस्वती।
यस्यास्संचालनेनैव स्वयं चलति कुण्डली।

इडायां वहति प्राणे बद्ध्वा पद्मासनं दृढम्।
द्वादशाङ्गुलदैर्घ्यं चाम्बरं चतुरङ्गुलम्॥
विस्तार्य तेन तन्नाडीं वेष्टयित्वा ततस्सुधीः।
अङ्गुष्ठतर्जनीभ्यां तु हस्ताभ्यां धारयेद्दृढम्॥
स्वशक्त्या चालयेद्वामे दक्षिणेन पुनः पुनः।
मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयाच्चालयेत्सुधीः॥
ऊर्ध्वमाकर्षयेत्किञ्चित्सुषुम्नां कुण्डलीगताम्।
तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्नाया मुखं व्रजेत्॥
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः।
अन्ते तु ताणं कुर्याच्च कण्ठसंकोचने कृते॥
सरस्वत्याश्चालनेन वक्षसश्चोर्ध्वगो (193-a) मरुत्।
सूर्येण पूरयेद्वायुं सरस्वत्याश्च चालने।
कण्ठसंकोचनं कृत्वा वक्षस्याद्दूर्ध्वगो मरुत्।
तस्मात्संचालयेन्नित्यं शब्दगर्भां सरस्वतीम्॥
यस्यास्संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते।
गुल्मं जलोदरः प्लीहा ये चान्ये तुन्दमध्यगाः॥
सर्वे ते शक्तिचालेन रोगा नश्यन्ति निश्चयम्।
प्राणरोधमथेदानीं प्रवक्ष्यामि समासतः॥
प्राणश्च देहजो वायुरायामः कुम्भकः स्मृतः।
स एव द्विविधः प्रोक्तः सहितः केवलस्तथा॥

यावत्केवलसिद्धिः स्यात्तावत्सहितमभ्यसेत्।
सूर्योज्जायी शीतली च भस्त्री चैव चतुर्थिका।
भेदैरेवं समं कुम्भो यस्स्यात्सहितकुम्भकः॥
अथ वा लक्षणं सम्यक्वक्ष्यामि समासतः॥
पवित्रे निर्जने देशे मशकादिविवर्जिते।
धनुः प्रमाणपर्यन्ते शीताग्निजलवर्जिते॥
पवित्रे नात्युच्च (193b) नीचे ह्यासने शुभदे सुखे।
बद्ध्वा पद्मासनं कृत्वा सरस्वत्याश्च चालनम्॥
दक्षनाड्या समाकृष्य बहिष्ठं पवनं शनैः।
यथेष्टं धारयेद्वायुं रेचयेदिडया ततः॥
कपालशोधने वापि रेचयेत्पवनं सुधीः।
चतुष्कं वातदोषं च कृमिदोषं निहन्ति च॥
पुनः पुनरिदं कार्यं सूर्यभेदमुदाहृतम्।
मुखं संयम्य नाडीभ्यामाकृष्य पवनं शनैः।
यथा लगति कण्ठात्तु हृदयावधि सस्वनम्।
पूर्ववत्कुम्भयेत्प्राणं रेचयेदिडया ततः।
शीर्षोदितानलहरं गलश्लेष्महरं परम्। देहानलविवर्धनम्॥
नाडीजलोदराधातुगतदोषविनाशनम्।
गच्छतस्तिष्ठतः कार्यमुज्जाय्याख्यं तु कुम्भकम्।
जिह्वया वायुमाकृष्य पूर्ववत्कुम्भकादनु॥

शनैस्तु घ्राणरन्ध्राभ्यां रेचयेदनिलं सुधीः।
गुल्मप्लीहादिका दोषाः क्षयं ~~[illegible]~~ पित्तं ज्वरं (194a)
विषाणि शीतली नाम कुम्भकोऽयं निहन्ति च।
ततः पद्मासनं बद्ध्वा समग्रीवोदरः सुधीः॥
मुखं संयम्य यत्नेन प्राणं घ्राणेन रेचयेत्।
यथा लगति कण्ठात्तु कपाले सस्वनं ततः॥
वेगेन पूरयेत्किंचित् हृत्पद्मावधि मारुतम्।
पुनर्विरेचयेत्तद्वत्पूरयेच्च पुनः पुनः॥
यथैव लोहकाराणां भस्त्रा वेगेन चाल्यते।
तथैव स्वशरीरस्थं चालयेत्पवनं सुधीः॥
यदा श्रमो भवेद्देहे तदा सूर्येण पूरयेत्।
यथोदरं भवेत्पूर्णं पवनेन तथा लघु।
धारयेन्नासिकामध्यं तर्जनीभ्यां विना दृढं।
कुम्भकं पूर्ववत्कृत्वा रेचयेदिडयानिलम्॥
कण्ठोत्थितानलहरं शरीराग्निविवर्धनम्।
कुण्डलीबोधकं वक्त्रं पापघ्नं शुभदं सुखम्।
ब्रह्मनाडीमुखान्तस्थकफाद्यर्गलनाशनम्॥
गुणत्रय (194b) समुद्भूतग्रन्थित्रयविभेदकम्।
विशेषेणैव कर्तव्यं भस्त्राख्यं कुम्भकं त्विदं।
बन्धत्रयमथेदानीं प्रवक्ष्यामि समासतः॥

नित्यं कृते न तेनासौ वायोर्जयमवाप्नुयात्।
चतुर्णामपि भेदानां कुंभके समुपस्थिते।
बन्धत्रयमिदं कार्यं वक्ष्यमाणं मया हि तत्।
प्रथमो मूलबन्धस्तु द्वितीयोड्डीयनाभिधः॥
जालन्धरस्तृतीयस्तु लक्षणं कथयाम्यतः।
अधोगतमपानं वै ऊर्ध्वगं कुरुते बलात्॥
आकुंचनेन तं प्राहुर्मूलबन्धोऽयमुच्यते।
अपाने चोर्ध्वगे जाते संप्राप्ते वह्निमण्डले॥
ततोऽनिलशिखा दीर्घा वर्धते वायुनाहता।
ततो यातौ वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम्॥
तेनात्यन्तप्रदीप्तेन ज्वलनो देहजस्तथा।
तेन कुण्डलिनी सुप्ता सन्तप्ता संप्रबुध्यते॥
दण्डाहतभुजंगी (195.a) वा निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत्।
बिलं प्रविष्टा तो यत्र ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत्॥
तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्तव्यो योगिभिस्सदा॥
कुंभकान्ते रेचकादौ कर्तव्योड्डीयणाभिधः॥
बन्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते ततः॥
तस्मादुड्डीयणाख्योयं योगिभिस्समुदाहृतः॥

पश्चिमतानमुदरे धारयेद्धृदये गले।
शनैश्शनैर्यदा प्राणस्तुन्दसन्धिं न गच्छति॥
तुन्ददोषं विनिर्धूय कर्तव्यं सततं शनैः।
पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालाजराभिधः॥
कर्णसंकोचरूपोऽसौ वायुमार्गनिरोधकः।
अतस्त्वाकुञ्चनेनासौ कर्णसंकोचने कृते॥
मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिकः॥
अथेदानीं प्रवक्ष्यामि समाधिक्र (195.b) ममुत्तमम्।
मृत्युघ्नं सुखदोपायं ब्रह्मानन्दकरं सदा॥
पूर्वोक्तेन क्रमेणैव सम्यगासनमास्थितः॥
चालनं च सरस्वत्याः कृत्वा प्राणान्निरोधयेत्॥
प्रथमे दिवसे कार्यं कुम्भकानां चतुष्टयम्।
प्रत्येकं दशसंख्याकं द्वितीये पंचभिस्तथा॥
विंशत्यकं तृतीये हि पंचवृद्ध्या दिने दिने।
कर्तव्यं कुंभको नित्यं बन्धत्रयसमन्वितः॥
दिवा सुप्तिर्निशायां च जागरादतिमैथुनात्।
बहुसंक्रमणं नित्यं रोधान्मूत्रपुरीषयोः॥
विषमासनदोषाच्च प्रयासप्राणचिन्तनात्।

...शाते:।
...नियमानि च॥
...न्ते षोडशीम्।
...सुषुम्ना प्रकरणम्॥
...स्थानं· सूतगीता भाष्ये।

...भ्रुवोर्मध्ये स्थिता तस्य बिन्दोर्मध्ये ... रूपेण वर्तते।
हृदये स्थूलरूपेण विशेषाद् ज्ञानात्मा वर्तते।
बिन्दु हृदययोर्मध्ये देशस्तु स्थूलसूक्ष्मोभय साधारणेन मध्य-
रूपेण वर्तते इत्यर्थः॥
शिवे कर्मार्ताण्डे—
प्राणापानौ जीवोऽस्य ... श्चोर्ध्वं प्रधावति

सुषुम्नैव परं स्थानं सुषुम्न व...
अनेक यज्ञदानानि भतानि...
सुषुम्नाध्यानलेशस्य कला नाहि...
इत्युपासनासारसंग्र...
ब्रह्मस्थानं शक्तिस्थानं जीव...

॥ गोरक्षशतकम् २ ॥

.. GorakShashatakam 2 ..

sanskritdocuments.org

May 3, 2017

.. GorakShashatakam 2 ..

॥ गोरक्षशतकम् २ ॥

Sanskrit Document Information

Text title : gorakShashatakam 2

File name : gorakShashatakam2.itx

Category : shataka

Location : doc_yoga

Language : Sanskrit

Subject : philosophy/hinduism/religion

Proofread by : DPD

Description-comments : From Briggs 1938 http://yogaclassics.org/

Latest update : April 5, 2013

Send corrections to : Sanskrit@cheerful.com

Site access : http://sanskritdocuments.org

May 3, 2017

sanskritdocuments.org

॥ गोरक्षशतकम् २ ॥

श्रीगुरुं परमानन्दं वन्दे स्वानन्दविग्रहम् ।
यस्य सन्निध्यमात्रेण चिदानन्दायते तनुः ॥ १॥

अन्तर्निश्चलितात्मदीपकलिकास्वाधारबन्धादिभिः
यो योगी युगकल्पकालकलनात् त्वं जजेगीयते ।
ज्ञानामोदमहोदधिः समभवद्यत्रादिनाथः स्वयं
व्यक्ताव्यक्तगुणाधिकं तमनिशं श्रीमीननाथं भजे ॥ २॥

नमस्कृत्य गुरुं भक्त्या गोरक्षो ज्ञानमुत्तमम् ।
अभीष्टं योगिनां ब्रूते परमानन्दकारकम् ॥ ३॥

गोरक्षः शतकं वक्ति योगिनां हितकाम्यया ।
ध्रुवं यस्यावबोधेन जायते परमं पदम् ॥ ४॥

एतद्विमुक्तिसोपानमेतत् कालस्य वञ्चनम् ।
यद्व्यावृत्तं मनो मोहाद् आसक्तं परमात्मनि ॥ ५॥

द्विजसेवितशाखस्य श्रुतिकल्पतरोः फलम् ।
शमनं भवतापस्य योगं भजति सज्जनः ॥ ६॥

आसनं प्राणसंयामः प्रत्याहारोऽथ धारणा ।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि भवन्ति षट् ॥ ७॥

आसनानि तु तावन्ति यावत्यो जीवजातयः ।
एतेषामखिलान्भेदान्विजानाति महेश्वरः ॥ ८॥

चतुराशीतिलक्षाणां एकमेकमुदाहृतम् ।
ततः शिवेन पीठानां षोडेशानं शतं कृतम् ॥ ९॥

आसनेभ्यः समस्तेभ्यो द्वयमेव विशिष्यते ।
एकं सिद्धासनं प्रोक्तं द्वितीयं कमलासनम् ॥ १०॥

योनिस्थानकमङ्घ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसे
न्मेढ्रे पादमथैकमेव नियतं कृत्वा समं विग्रहम् ।
स्थाणुः संयमितेन्द्रियोऽचलदृशा पश्यन् भ्रुवोरन्तरम्
एतन् मोक्षकवाटभेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते ॥ ११॥

वामोरूपरि दक्षिणं हि चरणं संस्थाप्य वामं तथा
दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढम् ।
अङ्गुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकये
देतद्व्याधिविकारहारि यमिनां पद्मासनं प्रोच्यते ॥ १२॥

षट्चक्रं षोडशाधारं त्रिलक्षं व्योमपञ्चकम् ।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिध्यन्ति योगिनः ॥ १३॥

एकस्तम्भं नवद्वारं गृहं पञ्चाधिदैवतम् ।
स्वदेहं ये न जानन्ति कथं सिध्यन्ति योगिनः ॥ १४॥

चतुर्दलं स्यादाधारः स्वाधिष्ठानं च षट्दलम् ।
नाभौ दशदलं पद्मं सूर्यसङ्ख्यदलं हृदि ॥ १५॥

कण्ठे स्यात् षोडशदलं भ्रूमध्ये द्विदलं तथा ।
सहस्रदलमाख्यातं ब्रह्मरन्ध्रे महापथे ॥ १६॥

आधारः प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम् ।
योनिस्थानं द्वयोर्मध्ये कामरूपं निगद्यते ॥ १७॥

आधाराख्यं गुदस्थानं पङ्कजं च चतुर्दलम् ।
तन्मध्ये प्रोच्यते योनिः कामाक्षा सिद्धवन्दिता ॥ १८॥

योनिमध्ये महालिङ्गं पश्चिमाभिमुखं स्थितम् ।
मस्तके मणिवद्बिम्बं यो जानाति स योगवित् ॥ १९॥

तप्तचामीकराभासं तडिल्लेखेव विस्फुरत् ।
त्रिकोणं तत्पुरं वह्नेरधोमेढ्रात् प्रतिष्ठितम् ॥ २०॥

यत्समाधौ परं ज्योतिरनन्तं विश्वतोमुखम् ।
तस्मिन् दृष्टे महायोगे यातायातं न विद्यते ॥ २१॥

स्वशब्देन भवेत् प्राणः स्वाधिष्ठानं तदाश्रयः ।
स्वाधिष्ठानात् पदादस्मान्मेढ्रमेवाभिधीयते ॥ २२॥

तन्तुना मणिवत् प्रोतो यत्र कन्दः सुषुम्णया ।
तन्नाभिमण्डलं चक्रं प्रोच्यते मणिपूरकम् ॥ २३॥

द्वादशारे महाचक्रे पुण्यपापविवर्जिते ।

तावज् जीवो भ्रमत्येव यावत् तत्त्वं न विन्दति ॥ २४॥

ऊर्ध्वं मेढ्राद् अधो नाभेः कन्दयोनिः खगाण्डवत् ।
तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिः ॥ २५॥

तेषु नाडिसहस्रेषु द्विसप्ततिरुदाहृताः ।
प्रधानं प्राणवाहिन्यो भूयस्तत्र दश स्मृताः ॥ २६॥

इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्णा च तृतीयका ।
गान्धारी हस्तिजिह्वा च पूषा चैव यशस्विनी ॥ २७॥

अलम्बुषा कुहूश् चैव शङ्खिनी दशमी स्मृता ।
एतन् नाडिमयं चक्रं ज्ञातव्यं योगिभिः सदा ॥ २८॥

इडा वामे स्थिता भागे पिङ्गला दक्षिणे तथा ।
सुषुम्णा मध्यदेशे तु गान्धारी वामचक्षुषि ॥ २९॥

दक्षिणे हस्तिजिह्वा च पूषा कर्णे च दक्षिणे ।
यशस्विनी वामकर्णे चासने वाप्यलम्बुषा ॥ ३०॥

कुहूश्च लिङ्गदेशे तु मूलस्थाने च शङ्खिनी ।
एवं द्वारमुपाश्रित्य तिष्ठन्ति दशनाडिकाः ॥ ३१॥

इडापिङ्गलासुषुम्णा च तिस्रो नाड्युदाहृताः ।
सततं प्राणवाहिन्यः सोमसूर्याग्निदेवताः ॥ ३२॥

प्राणोऽपानः समानश् चोदानो व्यानौ च वायवः ।
नागः कूर्मोऽथ कृकरो देवदत्तो धनञ्जयः ॥ ३३॥

हृदि प्राणो वसेन् नित्यं अपानो गुदमण्डले ।
समानो नाभिदेशे स्यादुदानः कण्ठमध्यगः ॥ ३४॥

उद्गारे नागाख्यातः कूर्म उन्मीलने स्मृतः ।
कृकरः क्षुतकृज्ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे ॥ ३५॥

न जहाति मृतं चापि सर्वव्यापि धनञ्जयः ।
एते सर्वासु नाडीषु भ्रमन्ते जीवरूपिणः ॥ ३६॥

आक्षिप्तो भुजदण्डेन यथोच्चलति कन्दुकः ।
प्राणापानसमाक्षिप्तस्तथा जीवो न तिष्ठति ॥ ३८॥

प्राणापानवशो जीवो ह्यधश् चोर्ध्वं च धावति ।
वामदक्षिणमार्गेण चञ्चलत्वान् न दृश्यते ॥ ३९॥

रज्जुबद्धो यथा श्येनो गतोऽप्याकृष्यते ।
गुणबद्धस्तथा जीवः प्राणापानेन कृष्यते ॥ ४०॥

अपानः कर्षति प्राणः प्राणोऽपानं च कर्षति ।
ऊर्ध्वाधः संस्थितावेतौ संयोजयति योगवित् ॥ ४१॥

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः ।
हंसहंसेत्यमुम मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥ ४२॥

षट्शतानित्वहोरात्रे सहस्राण्येकविंशतिः ।
एतत्सङ्ख्यान्वितं मन्त्र जीवो जपति सर्वदा ॥ ४३॥

अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदायिनी ।
अस्याः सङ्कल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ४४॥

अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः ।
अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति ॥ ४५॥

कुन्दलिन्याः समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी ।
प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स योगवित् ॥ ४६॥

कन्दोर्ध्वं कुण्डली शक्तिरष्टधा कुण्डलाकृति ।
ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनाच्छाद्य तिष्ठति ॥ ४७॥

येन द्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानमनामयम् ।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥ ४८॥

प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मारुता हता ।
सूचीवद् गुणमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्णया ॥ ४९॥

प्रस्फुरद्भुजगाकारा पद्मतन्तुनिभा शुभा ।
प्रबुद्धा वह्नियोगेन व्रजति ऊर्ध्वं सुषुम्णया ॥ ५०॥

उद्घटयेत्कपातं तु यथा कुञ्चिकया हठात् ।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं प्रभेदयेत् ॥ ५१॥

कृत्वा सम्पुटितौ करौ दृढतरं बद्ध्वातु पद्मासनं
गाढं वक्षसि सन्निधाय चिबुकं ध्यात्वा तत्प्रेक्षितम् ।
वारं वारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोच्चारयेत्पूरितं
मुञ्चन्प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्तिप्रबोधान्नरः ॥ ५२॥

अङ्गानां मर्दनं कुर्याच्छ्रमजातेन वारिणा ।
कट्वाम्ललवणत्यागी क्षीरभोजनमाचरेत् ॥ ५३॥

ब्रह्मचारी मिताहारी त्यागी योगपरायणः ।
अब्दादुर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्र कार्या विचारणा ॥ ५४॥

सुस्निग्धं मधुराहारं चतुर्थांशविवर्जितम् ।
भुज्यते सुरसम्प्रीत्यै मिताहारः स उच्यते ॥ ५५॥

कन्दोर्ध्वं कुण्डली शक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः ।
बन्धनाय च मूढानां योगिनां मोक्षदा स्मृता ॥ ५६॥

महामुद्रां नमोमुद्रामुड्डियानं जलन्धरम् ।
मूलबन्धं च यो वेत्ति स योगी सिद्धिभाजनम् ॥ ५७॥

शोधनं नाडिजालस्य चालनं चन्द्रसूर्ययोः ।
रसानां शोषणं चैव महामुद्राभिधीयते ॥ ५८॥

वक्षोन्यस्तहनुर्निपीड्य सुचिरं योनिं च वामाङ्घ्रिणा
हस्ताभ्यामवधारितं प्रसरितं पादं तथा दक्षिणम् ।
आपूर्य श्वसनेन कुक्षियुगलं बद्ध्वा शनै रेचयेद्
एषा पातकनाशिनी सुमहती मुद्रा नृणां प्रोच्यते ॥ ५९॥

चन्द्राङ्गेन समभ्यस्य सूर्याङ्गेनाभ्यसेत् पुनः ।
यावत् तुल्या भवेत्सङ्ख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥ ६०॥

न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ।
अपि मुक्तं विषं घोरं पीयूषमपि जीर्यते ॥ ६१॥

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ।
रोगास्तस्य क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ॥ ६२॥

कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरा नृणाम् ।

गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥ ६३॥

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥ ६४॥

न रोगो मरणं तन्द्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा ।
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥ ६५॥

पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा ।
बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥ ६६॥

चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता ।
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता ॥ ६७॥

बिन्दुमूलं शरीरं तु शिरास्तत्र प्रतिष्ठिताः ।
भावयन्ति शरीरं या आपादतलमस्तकम् ॥ ६८॥

खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः ।
न तस्य क्षरते बिन्दुः कामिन्यालिङ्गितस्य च ॥ ६९॥

यावद्बिन्दुः स्थितो देहे तावत्कालभयं कुतः ।
यावद्बद्धा नभोमुद्रा तावद्बिन्दुर्न गच्छति ॥ ७०॥

चलितोऽपि यदा बिन्दुः सम्प्राप्तश्च हुताशनम् ।
व्रजत्यूर्ध्वं हृतः शक्त्या निरुद्धो योनिमुद्रया ॥ ७१॥

स पुनर्द्विविधो बिन्दुः पण्डुरो लोहितस्तथा ।
पाण्डुरं शुक्रमित्याहुर्लोहितं तु महाराजः ॥ ७२॥

सिन्दूरद्रवसङ्काशं रविस्थाने स्थितं रजः ।
शशिस्थाने स्थितो बिन्दुस्तयोरैक्यं सुदुर्लभम् ॥ ७३॥

बिन्दुः शिवो रजः शक्तिर्बिन्दुमिन्दू रजो रविः ।
उभयोः सङ्गमादेव प्राप्यते परमं पदम् ॥ ७४॥

वायुना शक्तिचारेण प्रेरितं तु महारजः ।
बिन्दुनैति सहैकत्वं भवेद्दिव्यं वपुस्तदा ॥ ७५॥

शुक्रं चन्द्रेण संयुक्तं रजः सूर्येण संयुतम् ।
तयोः समरसैकत्वं योजानाति स योगवित् ॥ ७६॥

उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः ।
उड्डीयानं तदेव स्यात्तव बन्धोऽभिधीयते ॥ ७७॥

उदरात्पश्चिमे भागे ह्यधो नाभेर्निगद्यते ।
उड्डीयानस्य बन्धोऽयं तत्र बन्धो विधीयते ॥ ७८॥

बध्नाति हि सिराजालमधोगामि शिरोजलम् ।
ततो जालन्धरो बन्धः कण्ठदुःखौघनाशनः ॥ ७९॥

जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे ।
पीयूषं न पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ॥ ८०॥

पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽभिधीयते ॥ ८१॥

अपानप्राणयोरैक्यात् क्षयान्मूत्रपुरीषयोः ।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥ ८२॥

पद्मासनं समारुह्य समकायशिरोधरः ।
नासाग्रदृष्टिरेकान्ते जपेदोङ्कारमव्ययम् ॥ ८३॥

भूर्भुवः स्वरिमे लोकाः सोमसूर्याग्निदेवताः ।
यस्या मात्रासु तिष्ठन्ति तत्परं ज्योतिरोमिति ॥ ८४॥

त्रयःकालास्त्रयो वेदास्त्रयो लोकास्त्रयः स्वेराः ।
त्रयोदेवाः स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ॥ ८५॥

क्रिया चेच्छा तथा ज्ञानाब्राह्मीरौद्रीश्च वैष्णवी ।
त्रिधाशक्तिः स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ॥ ८६॥

आकाराश्च तथोकारोमकारो बिन्दुसंज्ञकः ।
तिस्रोमात्राः स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ॥ ८७॥

वचसा तज्ञयेद्बीजं वपुषा तत्समभ्यसेत् ।
मनसा तत्स्मरेन्नित्यं तत्परं ज्योतिरोमिति ॥ ८८॥

शुचिर्वाप्यशुचिर्वापि यो जपेत्प्रणवं सदा ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ ८९॥

चले वाते चलो बिन्दुर्निश्चले निश्चलो भवेत् ।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत् ॥ ९०॥

यावद्वायुः स्थितो देहे तावज्जीवनमुच्यते ।
मरणं तस्य निष्क्रान्तिस्ततो वायुं निरोधयेत् ॥ ९१॥

यावद्बद्धो मरुद्देहे यावच्चित्तं निराकुलम् ।
यावद्दृष्टिर्भ्रुवोर्मध्ये तावत्कालभयं कुतः ॥ ९२॥

अतः कालभयाद् ब्रह्मा प्राणायामपरायणः ।
योगिनो मुनयश्चैव ततो वायुं निरोधयेत् ॥ ९३॥

षट्त्रिंशदङ्गुलोहंसः प्रयाणं कुरुते बहिः ।
वामदक्षिणमार्गेण ततः प्राणोऽभिधीयते ॥ ९४॥

शुद्धिमेति यदा सर्वं नाडीचक्रं मलाकुलम् ।
तदैव जायते योगी प्राणसंग्रहणे क्षमः ॥ ९५॥

बद्धपद्मासनो योगी प्राणं चन्द्रेण पूरयेत् ।
धारयित्वा यथाशक्ति भूयः सूर्येण रेचयेत् ॥ ९६॥

अमृतं दधिसङ्काशं गोक्षीररजतोपमम् ।
ध्यात्वा चन्द्रमसो बिम्बं प्राणायामी सुखी भवेत् ॥ ९७॥

दक्षिणो श्वासमाकृष्य पूरयेदुदरं शनैः ।
कुम्भयित्वा विधानेन पुरश्चन्द्रेण रेचयेत् ॥ ९८॥

प्रज्वलज्ज्वलनज्वालापुञ्जमादित्यमण्डलम् ।
ध्यात्वा नाभिस्थितं योगी प्राणायामे सुखी भवेत् ॥ ९९॥

प्राणं चोदिडया पिबेन्परिमितं भूयोऽन्यया रेचयेत्
पीत्वा पिङ्गलया समीरणमथो बद्ध्वा त्यजेद्वामया ।
सूर्यचन्द्रमसोरनेन विधिना बिम्बद्वयं ध्यायतः
शुद्धा नाडिगणा भवन्ति यमिनो मासत्रयादूर्ध्वतः ॥ १००॥

यथेष्टं धारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम् ।
नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधनात् ॥ १०१॥

॥ इति श्री गोरक्षनाथप्रणीतः गोरक्षशतकं सम्पूर्णम् ॥

http://yogaclassics.org/ Briggs 1938

Proofread by DPD

.. GorakShashatakam 2 ..
was typeset using XƎLaTeX 0.99996
on May 3, 2017

Please send corrections to *sanskrit@cheerful.com*

॥ गोरक्षशतकम् १ ॥

.. GorakShashatakam 1 ..

sanskritdocuments.org

August 2, 2016

.. GorakShashatakam 1 ..

॥ गोरक्षशतकम् १ ॥

Document Information

Text title : gorakShashatakam 1
File name : gorakShashatakam1.itx
Category : shataka
Location : doc_yoga
Language : Sanskrit
Subject : philosophy/hinduism/religion
Proofread by : DPD
Description-comments : From Kuvalayananda Shukla
Latest update : March 29, 2013
Send corrections to : Sanskrit@cheerful.com
Site access : http://sanskritdocuments.org

August 2, 2016

sanskritdocuments.org

॥ गोरक्षशतकम् १ ॥

ॐ परमगुरवे गोरक्षनाथाय नमः ।

ॐ गोरक्षशतकं वक्ष्ये भवपाशविमुक्तये ।
आत्मबोधकरं पुंसां विवेकद्वारकुञ्चिकाम् ॥ १॥

एतद्विमुक्तिसोपानमेतत्कालस्य वञ्चनम् ।
यद्व्यावृत्तं मनो मोहादासक्तं परमात्मनि ॥ २॥

द्विजसेवितशाखस्य श्रुतिकल्पतरोः फलम् ।
शमनं भवतापस्य योगं भजति सज्जनः ॥ ३॥

आसनं प्राणसंयामः प्रत्याहारोऽथ धारणा ।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि भवन्ति षट् ॥ ४॥

आसनानि तु तावन्ति यावत्यो जीवजातयः ।
एतेषामखिलान्भेदान्विजानाति महेश्वरः ॥ ५॥

चतुराशीतिलक्षाणां एकमेकमुदाहृतम् ।
ततः शिवेन पीठानां षोडेशानं शतं कृतम् ॥ ६॥

आसनेभ्यः समस्तेभ्यो द्वयमेव विशिष्यते ।
एकं सिद्धासनं प्रोक्तं द्वितीयं कमलासनम् ॥ ७॥

योनिस्थानकमंघ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसे-
न्मेढ्रे पादमथैकमेव नियतं कृत्वा समं विग्रहम् ।
स्थाणुः संयमितेन्द्रियोऽचलदृशा पश्यन्भ्रुवोरन्तरं
एतन्मोक्षकवाटभेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते ॥ ८॥

वामोरूपरि दक्षिणं हि चरणं संस्थाप्य वामं तथा
दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढम् ।
अङ्गुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकये-
देतद्व्याधिविकारहारि यमिनां पद्मासनं प्रोच्यते ॥ ९॥

आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम् ।
योनिस्थानं द्वयोर्मध्ये कामरूपं निगद्यते ॥ १०॥

आधाराख्ये गुदस्थाने पङ्कजं यच्चतुर्दलम् ।
तन्मध्ये प्रोच्यते योनिः कामाख्या सिद्धवन्दिता ॥ ११॥

योनिमध्ये महालिङ्गं पश्चिमाभिमुखं स्थितम् ।
मस्तके मणिवद्भिन्नं यो जानाति स योगवित् ॥ १२॥

तप्तचामीकराभासं तडिल्लेखेव विस्फुरत् ।
चतुरस्रं पुरं वह्नेरधोमेढ्रात्प्रतिष्ठितम् ॥ १३॥

स्वशब्देन भवेत्प्राणः स्वाधिष्ठानं तदाश्रयः ।
स्वाधिष्ठानाख्यया तस्मान्मेढ्रवाभिधीयते ॥ १४॥

तन्तुना मणिवत्प्रोतो यत्र कन्दः सुषुम्णया ।
तन्नाभिमण्डलं चक्रं प्रोच्यते मणिपूरकम् ॥ १५॥

ऊर्ध्वं मेढ्रादधो नाभेः कन्दयोनिः स्वगाण्डवत् ।
तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणि द्विसप्ततिः ॥ १६॥

तेषु नाडिसहस्रेषु द्विसप्ततिरुदाहृताः ।
प्राधान्यात्प्राणवाहिन्यो भूयस्तत्र दश स्मृताः ॥ १७॥

इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्णा च तृतीयका ।
गान्धारी हस्तिजिह्वा च पूषा चैव यशस्विनी ॥ १८॥

अलम्बुषा कुहूश्चैव शङ्खिनी दशमी स्मृता ।
एतन्नाडिमयं चक्रं ज्ञातव्यं योगिभिः सदा ॥ १९॥

इडा वामे स्थिता भागे पिङ्गला दक्षिणे तथा ।
सुषुम्णा मध्यदेशे तु गान्धारी वामचक्षुषि ॥ २०॥

दक्षिणे हस्तिजिह्वा च पूषा कर्णे च दक्षिणे ।
यशस्विनी वामकर्णे चासने वाप्यलम्बुषा ॥ २१॥

कूहुश्च लिङ्गदेशे तु मूलस्थाने च शङ्खिनी ।
एवं द्वारमुपाश्रित्य तिष्ठन्ति दश नाडिकाः ॥ २२॥

सततं प्राणवाहिन्यः सोमसूर्याग्निदेवताः ।
इडापिङ्गलासुषुम्णा च तिस्रो नाड्य उदाहृताः ॥ २३॥

प्राणापानौ समानश्च ह्युदानो व्यान एव च ।
नागः कूर्मश्च कृकरो देवदत्तो धनञ्जयः ॥ २४॥

नागाद्याः पञ्च विख्याताः प्राणाद्याः पञ्च वायवः ।
एते नाडिसहस्रेषु वर्तन्ते जीवरूपिणः ॥ २५॥

प्राणापानवशो जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं च धावति ।
वामदक्षिणमार्गेण चञ्चलत्वान्न दृश्यते ॥ २६॥

आक्षिप्तो भुवि दण्डेन यथोच्चलति कन्दुकः ।
प्राणापानसमाक्षिप्तस्तथा जीवोऽनुकृष्यते ॥ २७॥

रज्जुबद्धो यथा श्येनो गतोऽप्याकृष्यते ।

गुणबद्धस्तथा जीवः प्राणापानेन कृष्यते ॥ २८॥

अपानः कर्षति प्राणः प्राणोऽपानं च कर्षति ।
ऊर्ध्वाधः संस्थितावेतौ यो जानाति स योगवित् ॥ २९॥

कन्दोर्ध्वे कुण्डलीशक्तिरष्टधा कुण्डलीकृता ।
ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनावृत्य तिष्ठति ॥ ३०॥

प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मारुता हता ।
प्रजीवगुणमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्णया ॥ ३१॥

महामुद्रां नमोमुद्रामुड्डियानं जलन्धरम् ।
मूलबन्धं च यो वेत्ति स योगी सिद्धिभाजनम् ॥ ३२॥

वक्षोन्यस्तहनुर्निपीड्य सुचिरं योनिं च वामांघ्रिणा
हस्ताभ्यामवधारितं प्रसरितं पादं तथा दक्षिणम् ।
आपूर्य श्वसनेन कुक्षियुगलं बद्ध्वा शनै रेचयेद्
एषा पातकनाशिनी सुमहती मुद्रा नृणां प्रोच्यते ॥ ३३॥

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥ ३४॥

ऊर्ध्वं मेढ्रादधो नाभेरुड्डियानं प्रचक्षते ।
उड्डियानजयो बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी ॥ ३५॥

जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसङ्कोचलक्षणे ।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ॥ ३६॥

पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धो निगद्यते ॥ ३७॥

यतः कालभयात् ब्रह्मा प्राणायामपरायणः ।
योगिनो मुनयश्चैव ततः प्राणं निबन्धयेत् ॥ ३८॥

चले वाते चलं सर्वं निश्चले निश्चलं भवेत् ।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निबन्धयेत् ॥ ३९॥

षट्त्रिंशदङ्गुलं हंसः प्रयाणं कुरुते बहिः ।
वामदक्षिणमार्गेण ततः प्राणोऽभिधीयते ॥ ४०॥

बद्धपद्मासनो योगी नमस्कृत्य गुरुं शिवम् ।
नासाग्रदृष्टिरेकाकी प्राणायामं समभ्यसेत् ॥ ४१॥

प्राणो देहस्थितो वायुरायामस्तन्निबन्धनम् ।
एकश्वासमयी मात्रा तद्योगो गगनायते ॥ ४२॥

बद्धपद्मासनो योगी प्राणं चन्द्रेण पूरयेत् ।
धारयित्वा यथाशक्ति भूयः सूर्येण रेचयेत् ॥ ४३॥

अमृतोदधिसङ्काशं क्षीरोदधवलप्रभम् ।
ध्यात्वा चन्द्रमयं बिम्बं प्राणायामे सुखी भवेत् ॥ ४४॥

प्राणं सूर्येण चाकृष्य पूरयेदुदरं शनैः ।
कुम्भयित्वा विधानेन भूयश्चन्द्रेण रेचयेत् ॥ ४५॥

प्रज्वलज्ज्वलन ज्वाला पुञ्जमादित्यमण्डलम् ।
ध्यात्वा नाभिस्थितं योगी प्राणायामे सुखी भवेत् ॥ ४६॥

रेचकः पूरकश्चैव कुम्भकः प्रणवात्मकः ।
प्राणायामो भवेत्त्रेधा मात्रा द्वादशसंयुतः ॥ ४७॥

द्वादशाधमके मात्रा मध्यमे द्विगुणास्ततः ।
उत्तमे त्रिगुणा मात्राः प्राणायामस्य निर्णयः ॥ ४८॥

अधमे च घनो घर्मः कम्पो भवति मध्यमे ।
उत्तिष्ठत्युत्तमे योगी बद्धपद्मासनो मुहुः ॥ ४९॥

अङ्गानां मर्दनं शस्तं श्रमसंजातवारिणा ।
कट्वम्ललवणत्यागी क्षीरभोजनमाचरेत् ॥ ५०॥

मन्दं मन्दं पिबेद्वायुं मन्दं मन्दं वियोजयेत् ।
नाधिकं स्तम्भयेद्वायुं न च शीघ्रं विमोचयेत् ॥ ५१॥

ऊर्ध्वमाकृष्य चापानं वातं प्राणे नियोजयेत् ।
मूर्धानं नीयते शक्त्या सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ५२॥

प्राणायामो भवत्येवं पातकेन्धनपातकः ।
एनोम्बुधिमहासेतुः प्रोच्यते योगिभिः सदा ॥ ५३॥

आसनेन रुजो हन्ति प्राणायामेन पातकम् ।
विकारं मानसं योगी प्रत्याहारेण सर्वदा ॥ ५४॥

चन्द्रामृतमयीं धारां प्रत्याहारति भास्करः ।
तत्प्रत्याहरणं तस्य प्रत्याहारः स उच्यते ॥ ५५॥

एका स्त्री भुज्यते द्वाभ्यामागता सोममण्डलात् ।
तृतीयो यो भवेत्ताभ्यां स भवत्यजरामरः ॥ ५६॥

नाभिदेशे भवत्येको भास्करो दहनात्मकः ।
अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमूले च चन्द्रमाः ॥ ५७॥

वर्षत्यधोमुखश्चन्द्रो ग्रसत्यूर्ध्वमुखो रविः ।
ज्ञातव्यं करणं तत्र येन पीयूषमाप्यते ॥ ५८॥

ऊर्ध्वनाभिरधस्तालु ऊर्ध्वभानुरधः शशी ।
करणं विपरीताख्यं गुरुवक्त्रेण लभ्यते ॥ ५९॥

त्रिधा बद्धो वृषो यत्र रौरवीति महास्वनम् ।
अनाहतं च तच् चक्रं हृदये योगिनो विदुः ॥ ६०॥

अनाहतमतिक्रम्य चाक्रम्य मणिपूरकम् ।
प्राप्ते प्राणं महापद्मं योगित्वममृतायते ॥ ६१॥

विशब्दः संस्मृतो हंसो निर्मलः शुद्ध उच्यते ।
अतः कण्ठे विशुद्धाख्ये चक्रं चक्रविदो विदुः ॥ ६२॥

विशुद्धे परमे चक्रे धृत्वा सोमकलाजलम् ।
मासेन न क्षयं याति वञ्चयित्वा मुखं रवेः ॥ ६३॥

सम्पीड्य रसनाग्रेण राजदन्तबिलं महत् ।
ध्यात्वामृतमयीं देवीं षण्मासेन कविर्भवेत् ॥ ६४॥

अमृतापूर्णदेहस्य योगिनो द्वित्रिवत्सरात् ।
ऊर्ध्वं प्रवर्तते रेतोऽप्यणिमादिगुणोदयः ॥ ६५॥

इन्धनानि यथा वह्निस्तैलवर्ति च दीपकः ।
तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुञ्चति ॥ ६६॥

आसनेन समायुक्तः प्राणायामेन संयुतः ।
प्रत्याहारेण संयुक्तो धारणां च समभ्यसेत् ॥ ६७॥

हृदये पञ्चभूतानां धारणाश्च पृथक् पृथक् ।
मनसो निश्चलत्वेन धारणा च विधीयते ॥ ६८॥

या पृथ्वी हरितालदेशरुचिरा पीता लकारान्विता
संयुक्ता कमलासनेन हि चतुष्कोणा हृदि स्थायिनी ।
प्राणं तत्र विनीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वितं धारयेद्
एषा स्तम्भकरी सदा क्षितिजयं कुर्याद्ध्रुवो धारणा ॥ ६९॥

अर्धेन्दुप्रतिमं च कुन्दधवलं कण्ठेऽम्बुतत्त्वं स्थितं
यत्पीयूषवकारबीजसहितं युक्तं सदा विष्णुना ।
प्राणं तत्र विनीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वितं धारयेद्
एषा दुर्वहकालकूटजरणा स्याद्वारिणी धारणा ॥ ७०॥

यत्तालस्थितमिन्द्रगोपसदृशं तत्त्वं त्रिकोणोज्ज्वलं

तेजोरेफमयं प्रवालरुचिरं रुद्रेण यत्सङ्गतम् ।
प्राणं तत्र विनीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वितं धारये
एषा वह्निजयं सदा विदधते वैश्वानरी धारणा ॥ ७१॥

यद्भिन्नाञ्जनपुञ्जसान्निभमिदं तत्त्वं भ्रुवोरन्तरे
वृत्तं वायुमयं यकारसहितं यत्रेश्वरो देवता ।
प्राणं तत्र विनीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वितं धारयेद्
एषा खे गमनं करोति यमिनां स्याद्वायवी धारणा ॥ ७२॥

आकाशं सुविशुद्धवारिसदृशं यद्ब्रह्मरन्ध्रे स्थितं
तत्राद्येन सदाशिवेन सहितं शान्तं हकाराक्षरम् ।
प्राणं तत्र विनीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वितं धारयेद्
एषा मोक्षकवाटपाटनपटुः प्रोक्ता नभोधारणा ॥ ७३॥

स्तम्भनी द्रावणी चैव दहनी भ्रामणी तथा ।
शोषणी च भवन्त्येवं भूतानां पञ्चधारणाः ॥ ७४॥

कर्मणा मनसा वाचा धारणाः पञ्च दुर्लभाः ।
विधाय सततं योगी सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ७५॥

सर्वं चिन्तासमावर्ति योगिनो हृदि वर्तते ।
यत्तत्त्वे निश्चितं चेतस्तत्तु ध्यानं प्रचक्षते ॥ ७६॥

द्विधा भवति तद्ध्यानं सगुणं निर्गुणं तथा ।
सगुणं वर्णभेदेन निर्गुणं केवलं विदुः ॥ ७७॥

आधारं प्रथमं चक्रं तप्तकाञ्चनसन्निभम् ।
नासाग्रे दृष्टिमादाय ध्यात्वा मुञ्चति किल्बिषम् ॥ ७८॥

स्वाधिष्ठानं द्वितीयं तु सन्माणिक्यसुशोभनम् ।
नासाग्रे दृष्टिमादाय ध्यात्वा मुञ्चति पातकम् ॥ ७९॥

तरुणादित्यसंकाशं चक्रं च मणिपूरकम् ।
नासाग्रे दृष्टिमादाय ध्यात्वा संक्षोभयेज्जगत् ॥ ८०॥

[verse missing]
विद्युत्प्रभावं हृत्पद्मे प्राणायामविभेदनैः ।
नासाग्रे दृष्टिमादाय ध्यात्वा ब्रह्ममयो भवेत् ॥ ८२॥

सन्ततं घण्टिकामध्ये विशुद्धं चामृतोद्भवम् ।
नासाग्रे दृष्टिमादाय ध्यात्वा ब्रह्ममयो भवेत् ॥ ८३॥

भ्रुवोर्मध्ये स्थितं देवं स्निग्धमौक्तिकसन्निभम् ।
नासाग्रे दृष्टिमादाय ध्यात्वाऽनन्दमयो भवेत् ॥ ८४॥

निर्गुणं च शिवं शान्तं गगने विश्वतोमुखम् ।
नासाग्रे दृष्टिमादाय ध्यात्वा दुःखाद्विमुच्यते ॥ ८५॥

गुदं मेढ्रं च नाभिं च हृत्पद्मे च तदूर्ध्वतः ।
घण्टिकां लम्पिकास्थानं भ्रूमध्ये परमेश्वरम् ॥ ८६ ॥

निर्मलं गगनाकारं मरीचिजलसन्निभम् ।
आत्मानं सर्वगं ध्यात्वा योगी योगमवाप्नुयात् ॥ ८७॥

कथितानि यथैतानि ध्यानस्थानानि योगिनाम् ।
उपाधितत्त्वयुक्तानि कुर्वन्त्यष्टगुणोदयम् ॥ ८८॥

उपाधिश्च तथा तत्त्वं द्वयमेवमुदाहृतम् ।
उपाधिः प्रोच्यते वर्णस्तत्त्वमात्माभिधीयते ॥ ८९॥

उपाधिरन्यथाज्ञानं तत्त्वं संस्थितमन्यथा ।
समस्तोपाधिविध्वंसि सदाभ्यासेन योगिनाम् ॥ ९०॥

आत्मवर्णेन भेदेन दृश्यते स्फाटिको मणिः ।
मुक्तो यः शक्तिभेदेन सोऽयमात्मा प्रशस्यते ॥ ९१॥

निरातङ्कं निरालम्बं निष्प्रपञ्चं निराश्रयम् ।
निरामयं निराकारं तत्त्वं तत्त्वविदो विदुः ॥ ९२॥

शब्दाद्याः पञ्च या मात्रा यावत् कर्णादिषु स्मृताः ।
तावदेव स्मृतं ध्यानं तत्समाधिरतः परम् ॥ ९३॥

यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च विलीयते ।
तदा समरसैकत्वं समाधिरभिधीयते ॥ ९४॥

[verse missing]
धारणाः पञ्चनाड्यस्तु ध्यानं च षष्ठिनाडिकाः ।
दिनद्वादशकेनैव समाधिः प्राणसंयमः ॥ ९६॥

न गन्धं न रसं रूपं न स्पर्शं न च निःस्वनम् ।
आत्मानं न परं वेत्ति योगी युक्तः समाधिना ॥ ९७॥

खाद्यते न च कालेन बाध्यते न च कर्मणा ।
साध्यते न च केनापि योगी युक्तः समाधिना ॥ ९८॥

निर्मलं निश्चलं नित्यं निष्क्रियं निर्गुणं महत् ।
व्योमविज्ञानमानन्दं ब्रह्म ब्रह्मविदो विदुः ॥ ९९॥

दुग्धे क्षीरं धृते सर्पिरग्नौ वह्निरिवार्पितः ।

अद्वयत्वं व्रजेन्नित्यं योगवित्परमे पदे ॥ १००॥

भवभयवने वह्निर्मुक्तिसोपानमार्गतः ।
अद्वयत्वं व्रजेन्नित्यं योगवित्परमे पदे ॥ १०१॥

॥ इति श्री गोरक्षनाथप्रणीतः गोरक्षशतकं समाप्तम् ॥

http://yogaclassics.org/ Swami Kuvalayananda and S. A.Shuklas

Proofread by DPD

.. GorakShashatakam 1 ..
was typeset on August 2, 2016

॥ ॐ ॥

गोरक्षसिद्धान्तसंग्रहः

(भाषाटीका सहित.)

प्रकाशक—

श्रीमत्पूज्यपादवोहराधिपतियोगीन्द्र

श्री १०८ श्रीमहन्तपूर्णनाथ जी

(कैसरेहिन्द) गोल्डमेडलिस्ट

प्रोविन्शियल दरबारी

टीकाकार—

सर्वतन्त्रस्वतन्त्रव्याकरणवेदान्ताचार्य

श्री पं० द्रव्येश झा शास्त्री

टीका संशोधक

श्री पं० ज्ञानिराम शास्त्री

प्रथमावृत्ति ०००

सन् १९३८ ई०

मूल्य २)

ॐ

गोरक्षसिद्धान्तसंग्रहः

(भाषाटीका सहित)

प्रकाशक—

श्रीमत्पूज्यपादवोहराधिपतियोगीन्द्र

श्री १०८ श्रीमहन्तपूर्णनाथ जी

(कैसरेहिन्द) गोल्डमेडलिस्ट

ऑफिशियल दरबारी

टीकाकार—

सर्वतन्त्रस्वतन्त्रव्याकरणवेदान्ताचार्य

श्री पं० द्रव्येश झा शास्त्री

टीका संशोधक

श्री पं० ज्ञानिराम शास्त्री

प्रथमावृत्ति 1000 | सन् १९१८ ई० | मूल्य [illegible])

ॐ

भूमिका

नमोगुरुभ्योगुरुपादुकाभ्यो नमः शिवेभ्यः शिवपादुकाभ्यः।
गोरक्षमत्स्येन्द्रजलन्धरेभ्योनमोनमस्तच्छ्रुतपादुकाभ्यः॥

इहचेदवेदीदथसत्यमस्ति। नचेदिहावेदीन्महतीविनष्टिः।

सजातोयेन जातेन यातिवंशः समुन्नतिम्।
परिवर्तिनि संसारे मृतः कोवानजायते॥

सकललोकतन्त्र प्रसिद्ध दोलक्ष्य समस्त प्राणियों के लिए निश्चित हैं प्रथम स्वदेश जाति की उन्नति करना दूसरा परमात्मज्ञान द्वारा नित्य मोक्ष धाम को प्राप्त करना। जो इन दोनों को पूर्ण करता है वह तो मनुष्य जन्म को पूर्ण सफल बनाता है इन में एक लक्ष्य को सिद्ध करने वाले का भी जन्म अंशतः सफल ही कहाता है किन्तु जो दोनों से वञ्चित है उस का जन्म तो नहीं के ही बराबर माना जाता है। इसलिए दोनों लक्ष्यों का मार्ग दिखाने वाली इस पुस्तक का प्रकाश होना साधु और सज्जन पुरुषों के लिए नाथ जी का ही अवतार

होना माननीय है। अत जनता के लाभ के लिए इसका प्रकाशन परमावश्यक है—

यह ग्रन्थ अनेक श्रुति स्मृति तन्त्र पुराण आदिओं से संगृहीत है। इसका संग्रह किसने किया इस विषय का कोई निश्चय नहीं है। यह हस्तलिखित पुस्तक महामहोपाध्याय श्रीमान् गोपीनाथ कविराज जी एम० ए० प्रिन्सिपल क्वीन्स कालेज काशी के पास मे है। उन्होंने उस बृहत् संगृहीत पुस्तक से संक्षेप करके सन् १६२५ ई० मे इसका प्रकाश सरस्वती भवन द्वारा करा दिया है। इसमे प्रधान रूप से अत्याश्रमियों का निरूपण किया गया है, जो कि अवधूत योगी कहाते हैं। चतुर्थाश्रम जो सन्यास है वह साधनावस्था है, उसमे तत्त्वज्ञान के सम्पादक यम नियम प्राणायाम उपासना आदि कर्मों का अनुष्ठान करना ही मुख्य धर्म है जबकि उस साधन को पूर्ण होने से योगी सिद्ध हो जाता है तब उस अनुष्ठान की भी आवश्यकता नहीं रहती है। जैसे जब तक चावल रोटी असिद्ध रहते हैं तब तक अग्नि आदि का व्यापार करना आवश्यक रहता है। जब सिद्ध हो जाते हैं फिर उन व्यापारों की कोई आवश्यकता नहीं रहती है। उसी सिद्धावस्था

को प्राप्त किए हुए योगी अत्याश्रमी अवधूत कहाते हैं। अब उनकी आश्रम में गणना नहीं रहती। आश्रम से अतीत हो जाते हैं उन में सर्वकर्त्तव्यता का निषेध ही वैदिक सिद्धान्त है।

इस अवस्था के निरूपण करने का प्रकार निषेधात्मक है। जैसे सर्वातीत ब्रह्म के उपदेश का प्रकार नेति नेति निषेधरूप है। इसलिए परमार्थरूप से अन्य धर्मों का निषेध अवधूत के लिए किया जाता है न कि व्यावहारिक जनों के लिए। वास्तविक में तो साधनावस्था तक अवधूत योगियों के लिए भी संन्यास आश्रम में कहे हुये यमनियमादि धर्मों का पालन करना ही कहा गया है और यही विशेष सिद्धान्त योगियो के मत में है कि विना सिद्धि किये साधन का त्याग नहीं करना। केवल शाब्दिक अहंब्रह्मास्मि जान कर उतने ही से तुष्ट होकर कृतकृत्य अपने को नहीं मानना। और जो लोग व्यावहारिक हैं उनके लिए श्रुतिस्मृति प्रतिपादित समस्त सनातन धर्म का आचरण करना ही कहा गया है। देवतावाद, मूर्तिपूजा, वर्णाश्रम, इत्यादि सब धर्मों का उल्लेख करके प्रमाणित किया गया है। इसमें तो इतने जोरों से प्रतिपादन किया गया है कि सना-तन धर्म के प्रत्येक सिद्धान्त प्रत्यक्ष सिद्ध हैं योगी लोग इत्या-

मलक की तरह दिखा सकते हैं। और सब दर्शनों से ... सिद्धान्त सर्वोच्च है। किन्तु किसी दर्शन का खण्डन न किया गया है कि अमुक मत ठीक नहीं प्रत्युत उसको दिखाकर प्रमाणित करके उससे भी आगे बढ़कर अपने सि... की सप्रमाण उच्चता दिखाई गई है। उसको अपना अंग लिया है। यह चमत्कार अनुभवी दार्शनिक पुरुषों के ... पर बड़ा प्रभाव डालता है। इसीसे प्रभावित होकर सर्व . दायवलम्बी सज्जनों का हित इस ग्रन्थ से देख कर योगिराज कविराज जी ने इसको प्रकाशित कर दिया है ।

इस योगाश्रम महाविद्यालय के जन्मदाता महन्त श्रीपूर्णनाथ जी महाराज हैं। आप वास्तविक में एक अद्भुत महापुरुष हैं जो पक्षपात छोड़ कर आपकी कृति का अन्वालोचन करेंगे उनका अन्तःकरण ही स्वयं इनके अद्भुत महत्व को स्वीका किए बिना नहीं रहेगा ? आप जब से इस गद्दी पर विराजमा हुए हैं तब से यह स्थान चारों तरफ से चमक उठा। प्रधा स्थान बोहर में है वहां अन्नक्षेत्र (जो कोई आवे सबको भोज देना) यद्यपि स्थान के निर्माण समय से ही है परन्तु यहा से उसका बहुत नियत ठोस प्रबन्ध कर दिया है । जिस

उसमें आगे किसी प्रकार से संकट आने की आशंका नहीं रही। बीकानेर पेड़ी ग्राम में गोशाला की भी वृद्धि कर दी है। बोहर और रोहतक में कितने विशाल भवन किले के समान बनवा दिए हैं। चमत्कार यह है कि इतने काम करते हुए भी आर्थिक उन्नति अर्थात् कईएक लाखों की स्थायी सम्पत्ति करदी है। आपके गुरु महन्त श्री चेतनाथ जी महाराजा बड़े धुरन्धर संस्कृत के विद्वान् थे उनकी इस सम्प्रदाय में संस्कृत विद्या की जागृति के लिए बड़ी अभिलाषा थी। और इसके लिए उद्योग भी करते थे। वर्त्तमान महन्त जो उस समय मे विद्याध्ययन करते थे। इनके हृदय पर संस्कृत विद्या और धर्म के रस ने प्रगाढ़ रूप धारण कर लिया था। मैं अनुभव और परीक्षा करके सच्चे दिल से लिखता हूं कि जिस प्रकार संस्कृत विद्या का अनुराग इनमें देखा। वैसा न मैं अपने में अथवा किसी अन्य में देखता हूं। इसका परिणाम यह हुआ कि गद्दी पर बैठते ही आपने बोहर में पाठशाला खोल दी और नाथों के पढ़ने का अत्यन्त सराहनीय प्रबन्ध कर दिया। फिर पीछे विचार हुआ कि यहां विद्यालय रहने पर जनता जितना लाभ उठाती है

मलक की तरह दिखा सकते हैं। और सब दर्शनों से इस सिद्धान्त सर्वोच्च है। किन्तु किसी दर्शन का खण्डन किया गया है कि अमुक मत ठीक नहीं प्रत्युत उसको दिखाकर प्रमाणित करके उससे भी आगे बढ़कर अपने सिद्धान्त की सप्रमाण उच्चता दिखाई गई है। उसको अपना अंग बना लिया है। यह चमत्कार अनुभवी दार्शनिक पुरुषों के हृदय पर बड़ा प्रभाव डालता है। इसीसे प्रभावित होकर सर्व सम्प्रदायवलम्बी सज्जनों का हित इस ग्रन्थ से देख कर योगिराज कविराज जी ने इसको प्रकाशित कर दिया है।

इस योगाश्रम महाविद्यालय के जन्मदाता महन्त श्रीपूर्णनाथ जी महाराज हैं। आप वास्तविक में एक अद्भुत महापुरुष हैं जो पक्षपात छोड़ कर आपकी कृति का अन्वालोचन करेंगे उनका अन्तःकरण ही स्वयं इनके अद्भुत महत्व को स्वीकार किए बिना नहीं रहेगा? आप जब से इस गद्दी पर विराजमान हुए हैं तब से यह स्थान चारों तरफ से चमक उठा। प्रधान स्थान बोहर में है यहां अन्नक्षेत्र (जो कोई आवे सबको भोजन देना) यद्यपि स्थान के निर्माण समय से ही है परन्तु पहले से उसका बहुत नियत ठोस प्रबन्ध कर दिया है। जिसने

उसमें आगे किसी प्रकार से संकट आने की आशंका नहीं रही। बीकानेर पेडी ग्राम में गोशाला की भी वृद्धि कर दी है। बोहर और रोहतक में कितने विशाल भवन किले के समान बनवा दिए हैं। चमत्कार यह है कि इतने काम करते हुए भी आर्थिक उन्नति अर्थात् कईएक लाखों की स्थायी सम्पत्ति करदी है। आपके गुरु महन्त श्री चेतनाथ जी महाराजा बड़े धुरन्धर संस्कृत के विद्वान् थे उनकी इस सम्प्रदाय में संस्कृत विद्या की जागृति के लिए बड़ी अभिलाषा थी। और इसके लिए उद्योग भी करते थे। वर्त्तमान महन्त जो उस समय में विद्याध्ययन करते थे। इनके हृदय पर संस्कृत विद्या और धर्म के रस ने प्रगाढ़ रूप धारण कर लिया था। मैं अनुभव और परीक्षा करके सच्चे दिल से लिखता हूं कि जिस प्रकार संस्कृत विद्या का अनुराग इनमें देखा। वैसा न मैं अपने में अथवा किसी अन्य में देखता हूं। इसका परिणाम यह हुआ कि गद्दी पर बैठते ही आपने बोहर में पाठशाला खोल दी और नाथों के पढ़ने का अत्यन्त सराहनीय प्रबन्ध कर दिया। फिर पीछे विचार हुआ कि यहां विद्यालय रहने पर जनता जितना लाभ उठाती है

इससे कहीं अधिक लाभ तीर्थक्षेत्र में रहने से उठा सकेगी। और हमारे बारहों पंथ के नाथ तथा इतर साधु और गृहस्थी सब लाभ उठायेंगे इसलिए हरद्वार में यहां जमीन खरीद करके सवालाख के करीब लागत लगाकर इस विशाल भवन योगाश्रम का निर्माण करवाया। और इसकी स्थायिता के लिए एक लाख की जमींदारी (यहां से ५ माइल पर इब्राहीमपुर) खरीद कर के इसके नाम से अर्पण कर दी जो विद्यालय आज महा-विद्यालय रूप में परिणत है २० वर्ष के अन्दर हजारों छात्र पढ़कर इससे निकले हैं और सैकड़ों शास्त्री और आचार्य होकर अनेक स्थानों में अध्यापन और धर्मप्रचार कार्य कर रहे हैं। आश्चर्य यह है कि निज भुजबल से इस महाविद्यालय का जन्म और पालन दोनों ही अकेले कर रहे हैं न कि किसी की सहा-यता से हां इसके कार्य्यक्रम से संतुष्ट होकर गवर्नमेन्ट सौ रुपये मासिक सहायता देती है। साथ २ प्रधान बोहर स्थान में भी आर्थिक कोष उन्नत कर दिया है। और सम्राट् से भी सत्कार प्राप्त किया जो कि कैसरे हिन्द पद से विभूषित हैं। इसी से सज्जन पुरुष जान सकते हैं कि इस भारत माता ने ऐसे सुपुत्र एक महन्त जी को उत्पन्न करके जनता का कितना महोपकार

किया है। संस्कृत माता और उसके सेवक छात्र तथा विद्वान् लोग तो आजन्म इसके ऋणी रहेंगे। जो कि इस घोर विपत्ति में संस्कृत की इतनी बड़ी सेवा कर रहे हैं साधु समाज का भी मुख उज्ज्वलित कर दिया है नाथ सम्प्रदाय के लिए तो कहना ही क्या है। इस अमर वाणी अमृत से मूर्छित को सचेत कर दिया है यह कहना अत्युक्त नहीं होगा। इस विद्यालय में प्राचीन पुस्तक का प्रकाश करना और अन्वेषण करना यह विभाग रक्खा है जिससे साधु तथा जनता का उपकार हो। इसलिए इस पुस्तक से सर्वसाधारण लाभ उठा सके अतः इसकी हिन्दी भाषा करके प्रकाश किया जाय। और इस कुम्भ महोत्सव पर अनेक स्थानों से आए हुए सज्जन साधु महात्माओं की सेवा में उपस्थित (अर्पण) किया जाय ऐसा विचार करके अपने पास से सब व्यय भार उठा कर इसका प्रकाश महन्त जी ने करवाया। इन शुभ कर्मों के लिये महाराज जी का सहस्रशः धन्यवाद भी थोड़ा ही है परमेश्वर से प्रार्थना है कि महाराज जी की यह कीर्ति आसूर्य चन्द्रमा संसार में विद्यमान रहे। किन्तु अल्प समय करीब एक महीना में ही इस समुद्र रूप मन्थरत्न को निकालना पड़ा इसलिए पाठक महानुभावों

से प्रार्थना है कि सज्जन पुरुष हंस की तरह गुण मात्र पर ध्यान देंगें। जिनका अभ्यास है कि नित्यप्रति दूसरे के दोषों को ही चुनना उनके प्रति दोषोद्घाटन करने के लिए ही मेरी प्रार्थना है क्यों कि उनकी गालियां ही मेरे सिद्धान्त को ईश्वर-वादत्व सिद्ध करेंगी। अन्त में उनका भी उपकार भार मेरे ऊपर है जिन्होंने इस कार्य में बड़ी सहायता की है इसलिए पं० श्री ज्ञानीराम शास्त्री को भी धन्यवाद देता हूं। वैद्यराज श्री श्रेयोनाथ जी को भी धन्यवाद है जिनके प्रोत्साहन से यह शुभ कार्य अल्प दिनों में सफल हुआ है। इति शिवम्।

श्री मदादिनाथपदपद्मेषु ग्रन्थकुसुमं समर्प्यते।

इति विबुध विधेयस्य झोपाह्व द्रव्येशस्य ॥

श्री

गोरक्षसिद्धान्तसंग्रहः

मंगलम्

ओं जालन्धरनाथाय नमः ।

निर्गुणं वामभागे च सव्यभागेऽद्भुता निजा ।
मध्यभागे स्वयं पूर्णस्तस्मै नाथाय ते नमः ॥ १ ॥

अलि कुला कुल गण्डक मंडलम् ।
अरुण बिन्दु सुमंडित भालकम् ॥
निखिल सिद्धिकरं गिरिजा सुतम् ।
बहु नमामि शिवाय गजाननम् ॥ १ ॥

भा० टी०—हे स्वात्मानन्द परिपूर्ण सर्वशक्तिमान् नाथ जी आपके वाम भाग में निर्गुण, और अद्भुत आपकी शक्ति दक्षिण भाग में है, अर्थात् निर्गुण और शक्ति दोनों आप में स्थित हैं। आप इन दोनों पर शासन करते हुए इनके मध्य भाग में विराजमान हैं, ऐसे आपको मैं सादर प्रणाम करता हूँ ॥१॥

मुक्ताः स्तुवन्ति पादाग्रे नखाग्रे जीव जातयः।
मुक्तामुक्तगतेर्मुक्तः सर्वत्र रमते स्थिरः ॥२॥

भा० टी०—आपके चरणों के अग्रभाग में स्थित होकर मुक्त और नखों के अग्र भाग में प्राणी समूह (अर्थात् समस्त संसार के प्राणि) आपकी स्तुति करते हैं। आप मुक्त और अमुक्त गति से स्वतन्त्र होकर कूटस्थ गति से सब जगह रमण करते हैं ॥ २ ॥

वामभागे स्थितः शम्भुः सव्ये विष्णु स्तथैव च।
मध्ये नाथः परं ज्योति स्तज्ज्योतिर्मेत्तमो हरम् ॥३॥

भा० टी०—वह नाथ स्वरूप परम ज्योति, मेरे हृदय में फैले हुए अन्धकार को नष्ट करे, जिसके वाम भाग में शम्भु, और दक्षिण भाग में विष्णु विराजमान है ॥ ३ ॥

अस्मिन् मार्गे सर्वश्रेयोमूलभूतो गुरुरेव।
सचाऽवधूत एव नान्यः। स कोऽवधूत इत्यपेक्षायामाह

भा० टी०—इस मार्ग में समस्त कल्याणों का मूल गुरु ही है, और वह गुरु भी अवधूत ही होना चाहिये, अन्य नहीं। वह अवधूत कौन है इसका उत्तर नीचे के श्लोकों से मिलता है—

नोट—यहाँ पर इस प्रथम श्लोक का अर्थ संक्षेप से लिखा गया है, जो पाठक महानुभाव इसका विस्तृत अर्थ देखना चाहें वह ग्रन्थ के अन्त में देखें।

वचने वचने वेदा स्तीर्थानि च पदे पदे ।
दृष्टौ दृष्टौ च कैवल्यं सोऽवधूतः श्रियेस्तु नः ॥४॥
एकहस्ते धृतस्त्यागो भोगश्चैककरे स्वयम् ।
अलिप्तस्त्यागभोगाभ्यां सोऽवधूतः श्रियेस्तु नः ॥५॥

भा० टी०—जिसका प्रत्येक वचन वेद है, अर्थात् ज्ञान से भरा हुआ है। जिसका प्रत्येक चरण तीर्थ है, अर्थात् जिसमें दूसरों को तारने की शक्ति है, और जिसकी दया दृष्टि में कैवल्य है। अर्थात् जिनकी दया दृष्टि पड़ते ही शिष्य के सब दुःख दूर हो जाते हैं। वह अवधूत हमको कल्याण का मार्ग दिखाए। जिसके एक हाथ में त्याग और एक हाथ में भोग है, अर्थात् जिसकी दया दृष्टि से सब कुछ प्राप्त होता है परन्तु आप दोनों से निर्लेप हैं, वह अवधूत हमें कल्याण का रास्ता दिखावे ॥ ४, ५ ॥

उक्तंहिसिद्धसिद्धान्तपद्धतौ—
सर्वान् प्रकृतिविकारानवधुनोतीत्यवधूतः ।

भा०—जो समस्त प्रकृति विकारों से भिन्न है वह अवधूत है। ऐसा सिद्धसिद्धान्तपद्धति में कहा है।

प्रसरं भासयेच्छक्तिः संकोचं भासयेच्छिवः ।
तयोर्योगस्य कर्ता यः स भवेद् सिद्धयोगिराट् ॥६॥

यह सृष्टि संकोच और विकास का खेल है। शक्ति के कारण यह सृष्टि फैलती है और शिव इसको सकुचित अर्थात् अपने में लीन कर लेता है, तात्पर्य यह है कि—जब शक्ति प्रबल होती है तब बहिर्मुख होकर संसार को रचती है। और शिव, प्रबल हो कर शक्ति को जब अपने में लीन कर लेता है। तब प्रलय होता है। इस संकोच-विकास अर्थात् सृष्टि और प्रलय रूप योगका जो कर्ता है वही सिद्धयोगिराजों में उत्तम है ॥ ६ ॥

अवधूतगीतायामुक्तम्—

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं सम्पूर्णं परमात्मनि ।
भिन्नाऽभिन्नं न पश्यामि तस्याहं पंचमाश्रमी ॥ ७ ॥

ब्रह्मा से लेकर जड़वर्गपर्यन्त सृष्टि को उस सर्वाधार प्रभु से न मैं भिन्न देखता हूं न अभिन्न, मैं उसी का रूप हूं और वर्णाश्रम से अतीत हूं ॥ ७ ॥

सूतसंहितायाम्—

अति वर्णाश्रमी प्रोक्तो गुरुःसर्वाधिकारिणाम् ।
न कस्यापि भवेच्छिष्यो यथाऽहं पुरुषोत्तमः ॥ ८ ॥

यथाह पुरुषोत्तम इति विष्णुं प्रति शिववचनम्,

अतिवर्णाश्रमी साक्षाद् गुरूणां गुरुरुच्यते ।
न तत्समो नाधिकश्चास्मिल्लोकेऽस्त्येव न संशयः ॥९॥

सूत संहिता में वर्णन किया है कि सब वर्णों और आश्रमों से जो अतीत है वही सब वर्णों और आश्रमों का गुरु है। यह

किसी का शिष्य नहीं है। जैसा कि मैं पुरुषोत्तम किसी का शिष्य नहीं हूँ। यह वचन शिवजी महाराज ने विष्णु जी से कहा है। ८ ॥

जो वर्णाश्रम के अभिमान से मुक्त हो गया है। यह गुरुओं का भी गुरु है, उसके बराबर या उससे बढ़ कर संसार में कोई नहीं है। इस में किसी को सन्देह न करना चाहिये। ६ ॥

• उक्तं ब्रह्मबिन्दूपनिषदि—

पक्षपातविनिर्मुक्तं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ।
स्वरेण साधयेद् योगमस्वरं भावयेत् परम् ॥
अस्वरेण हि भावेन भावो नाऽऽभाव इष्यते ।
तदेवनिष्कलं ब्रह्म निर्विकल्पं निरंजनम् ॥
तद् ब्रह्माऽहमिति ज्ञात्वा ब्रह्म सम्पद्यते ध्रुवम् ।

योगी, स्वर से योग को सिद्ध करे। यहां योग पद का अर्थ समाधि है, और स्वर पद के अनेक अर्थ हैं, नाक से जो श्वास बाहर निकलता है और भीतर जाता है वह स्वर कहलाता है जैसे कि 'शिव स्वरोदय, में कहा है, उसके द्वारा अर्थात् रेचक पूरक द्वारा कुम्भक रूप समाधि को सिद्ध करे। अथवा स्वर इस पद का 'नादलय' अर्थ भी हो सकता है। परन्तु उसकी प्रक्रिया कठिन है अतः उसका यहां लिखना उपयुक्त नहीं। अथवा स्वर से ओंकारादि निज २ गुरुओं के प्रसाद मंत्रों से। यहां पर स्वर पद साधन है इस से सिद्ध होता है कि सिद्ध

करने योग्य शुद्ध सच्चिदानन्द इस स्वरपद से अभिन्न है उसी की भावना करे। इस में किसी को सन्देह हो कि स्वर से रहित हो जाने पर शून्य हो जायेगा, इस सन्देह को हटाने के लिये कहते हैं-वह अभाव शून्य नहीं है किन्तु भाव रूप है उसका किस प्रकार ध्यान करे सो कहते हैं वह ब्रह्म सब प्रकार के भेद धर्म अधर्म संकल्प विकल्प इत्यादि संसार के व्यवहार से रहित है, वही मैं हूं। इस प्रकार अभेद भावना करे, ऐसी दृढ़ भावना हो जाने पर योगी अवश्य सच्चिदानन्द रूप हो जाता है।

तत्राऽऽशङ्कते—पक्षपात क इति, देहाभिमान एव सः। सोपि क इति। ब्राह्मणोऽहं क्षत्रियोऽहं वैश्योऽहं शूद्रोऽहं पुनरन्त्यजोऽहं ब्रह्मचारी अहं गृहस्थोऽहं वानप्रस्थोऽहं संन्यास्यहमुत्तमोऽहं मध्यमोऽहमधम इत्यादि। संकल्प एव सः। तं संकल्पं विहाय सर्वव्यापकं परमनाथं याथातथ्येन पश्यत्यथ मुक्तो भवति तादृश एव स्यादिति। तथा च वर्णाश्रमादिव्यवहारमतीत्य नाथं साक्षात्कुर्वतो मुक्तिरिति।

यहां कोई शंका करता है कि पक्षपात से क्या तात्पर्य है? देहाभिमान ही पक्षपात है। देहाभिमान क्या है? मैं ब्राह्मण हूं, मैं क्षत्रिय हूं मैं वैश्य हूं शूद्र हूं अंत्यज हूं ब्रह्मचारी गृहस्थ वान-

प्रस्थ या संन्यासी हूँ, अथवा मैं उत्तम मध्यम और अधम हूं, यही देहाभिमान और संकल्प है इस संकल्प को छोड़ कर सर्वव्यापक परमनाथ के दर्शन जब यथार्थ रूप से कर लेता है तब वह वैसा ही होजाता है। तात्पर्य यह है किवर्णाश्रम के व्यवहार से अतीत होने पर श्री नाथजी के साक्षात् कार से मुक्ति प्राप्त होती है।

यदि कोपि वदेद् वर्णाश्रमाचार व्यवहारं त्यक्तवतः परम योगिनो मुक्तिर्भवतु नाम। वर्णाश्रमाचारवतः सा कथं न भवेत्? "कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादय" इत्यादीनि कानिचिच्छास्त्रवाक्यान्यवलम्ब्य वदन्ति चा-मुको गृहस्थो मुक्तश्चामुको भिक्षुरिति। तत्रोच्यते—गुणा-नतीत्यैव मुक्तो भवेन्न तु गुणाभिमानीति सम्मतः सिद्धान्तो भवत्येव। वर्णव्यवहारे तु न सम्भवति गुणातीतत्वम् कथं? वर्णमात्रस्यापि गुणनिर्मितत्वादिति। उक्तंच गीतायाम्—"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण कर्म विभागशः। तस्य कर्तारमपि मां विध्यकर्तारमव्ययम्" तथा च गुण सत्वे न मुक्तिरिति।

तत्र वादी वदति—वर्णाभिमानिनः किं न त्यजन्ति गुणानिति, यदि गुणां स्त्यजेयुस्तर्हि कथं वर्णसद्भावः, गुणमूलकत्वादेव वर्णत्वस्य। तथा चाऽऽश्रमिरं स्यात्। तदा

वादी वदति भवद्भिस्त्वाश्रमिणोपि गुणातीतत्वाभावान्मु-क्तिर्नेत्युच्यते साच भवद्वचनक्रमेणाप्यायास्याति तत्र किमुत्तरामिति।

उच्यते—नैवमाश्रमिणो मुक्तिरायाता, कथम्?

आश्रमाणामपि गुणमूलकत्वात्।

प्रथमतो वर्णव्यवहारेण गुणभजनम्॥

गुणवृत्तिषु च सत्वगुणवृत्तयः उत्तमाः,

रजस्तमो वृत्तयस्ततोनिकृष्टा इति कृत्वा गुणेष्वयुत्त-मादित्वंस्यात्। परन्तु गुणवृत्तित्वं तु सर्वसाधारणम्। अतो नास्ति गुणवृत्तीनां मुक्तिसाधकत्वम्। तत्र दृष्टान्तो यथा—द्वे स्त्रियौ रूपवत्यौ भवतस्तयोर्द्वयोरपि संयोगे न भवेद् गर्भोत्पत्तिः। किन्तु तद्धर्मभिन्नत्वेन पुरुषेणैव सा भवेत्।

किंच सौन्दर्यतारतम्येनैकस्या अपरा अधिका न्यूना वा भवतु नाम, परन्तु भोक्ता तु तयोरपि पुरुष एव। नास्ति तयो रन्योन्यं भोक्तृभोग्यत्वम्। तथा नास्ति वर्णानां साक्षान्मुक्तिविषयेऽन्योन्यंगुरुशिष्यत्वम् किंच, आश्रमिणोपि प्रथमतो वर्णाभिमानेन गुणभाज एव। ते चोत्तरत्रापि प्रारब्धमभिमत्य भोगभाजो भवन्ति, तेन

च प्रारब्ध कर्मणां भोगोऽवश्य इतिकृत्वा कर्मणां सत्यत्वं तावद् दर्शयति, यतो गुणलेश एतेषामपि न निवृत्तो यतो मुक्तत्वपुरुषार्थविहीनास्तेपि नपुंसकप्रायाःसन्तो न मुक्तिश्रियमर्हन्ति । यद्यपि नपुंसकाः पुरुषवेषिणो वर्तन्ते तथापि पुरुषत्वेन सन्ततिसम्पादका न भवन्ति । एवं वेष मात्रेणाश्रमिणोपि सम्मानपूजाद्यर्हन्तु नाम गुरुत्वम् । अतोगुणातीतत्वेन अत्याश्रमिण एव मुक्तिप्रदगुरुत्वम् । नाऽन्यस्य कस्यापीति बहुधा शास्त्रे निरूपितम्

भा० टी—यहां कोई शंका करता है कि वर्णाश्रमों के आचार और व्यवहार को त्यागने वाले परमयोगी को यदि आप मुक्ति का अधिकारी मानते हैं तो यह ठीक है, परन्तु वर्णाश्रमों के आचार का परित्याग किये बिना मुक्ति नहीं होती, यह कैसे हो सकता है। 'जनकादि कर्म से ही सिद्धि को प्राप्त हुए, इत्यादि शास्त्र वाक्यों का आश्रय लेकर बहुत से कहते हैं, कि यह गृहस्थ मुक्त हो गया, वह संन्यासी मुक्त होगया, इसका उत्तर यह है कि-गुणातीत होकर ही मुक्त होता है । गुणाभिमानी मुक्त का अधिकारी नहीं है ! यह सर्व सम्मत सिद्धान्त है ही, और वर्ण व्यवहार में गुणातीत होना सम्भव ही नहीं क्यों कि वर्णों का तो निर्माण गुणों के आधार पर हुआ है ।

जैसा कि गीता में कहा है–मैंने गुण कर्म के विभाग से चारों वर्ण उत्पन्न किये हैं। मैं यद्यपि विकार रहित अकर्ता हूं तथापि चारों वर्णों का निर्माता तू मुझे ही समझ।

इसलिए गुणों के रहते हुए मुक्ति कहाँ ?

वादी फिर शङ्का करता है कि वर्णाभिमानी क्या गुणों को नही छोड़ते ? यदि वे गुणों को छोड दें तो उस २ वर्ण वाले कहला ही कैसे सकते हैं। क्योंकि वर्ण-व्यवहार का मूल कारण ही गुण है इसी प्रकार आश्रमवादी भी, गुणातीत न होने के कारण मुक्ति भागी नहीं हो सकते।

यहां फिर वादी कहता है कि आप तो आश्रम वालों को भी गुणातीत न होने के कारण मुक्ति का अधिकारी नहीं मानते, परन्तु आपने वर्णों को गुण मूलक बताया है आश्रमों को नहीं। इस लिए आपके ही वचन से आश्रम वाले भी मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। इसका क्या उत्तर है ? सुनिये आश्रम वालों का भी मुक्त होना हमारे वचन से सिद्ध नहीं होता क्योंकि आश्रम भी गुणों के आधार पर ही निर्मित हुए हैं। पहले तो वर्णों के अभिमान में गुणों का सेवन होता है। बाद में वर्ण व्यवहार से आश्रम का अभिमान होने पर गुण सम्बन्ध नहीं छूटता। कोई कहे कि रजोगुण तमोगुण निकृष्ट हैं इस लिए ये बन्धन श्रेणी में माने जाय किन्तु सत्वगुण को तो सभी उत्तम मानते हैं उसको आप क्यों बन्धन कोटि में गिनते

हैं। इसका उत्तर यह है कि गुणों की वृत्तियों में भी सत्वगुण की वृत्तियां उत्तम हैं, रजोगुण और तमोगुण की वृत्तियां निकृष्ट हैं। इस प्रकार गुणों की वृत्तियों में उत्तम, मध्यम और अधमपना है। यद्यपि सत्वगुण उत्तम है परन्तु गुण वृत्तिपना उस में भी है इसलिए गुणों की वृत्तियां मुक्ति का प्राप्त स्वरूप नहीं हैं। इस बारे में एक दृष्टान्त दिया जाता है। जैसे दो स्त्रियाँ चाहे कितनी भी रूपवती हों पर उनके संयोग से गर्भोत्पत्ति नहीं हो सकती। वह तो उनसे भिन्न धर्म वाले पुरुष से ही हो सकता है। सौन्दर्य की न्यूनता या अधिकता से उनमें कोई कम या ज्यादा हो, पर भोक्ता उनका पुरुष ही है। उनका आपस में भोक्तृ भोग्य सम्बन्ध नहीं हो सकता, इसी से वर्णाभिमानियों का मुक्ति विषय में आपस में गुरु शिष्य सम्बन्ध नहीं है। आश्रम वालों में भी वर्ण का अभिमान होता है। इसलिए वे भी गुणों की ही सेवा करने वाले हैं, अगले जन्म में भी प्रारब्ध कर्म का फल उन्हें भोगना पड़ेगा, क्योंकि किये हुए कर्मों का भोग आवश्यक है इस प्रकार वे कर्मों को सत्य मानते हैं। इसलिए आश्रमवालों में गुण लेश रहने के कारण मुक्ति योग्य पुरुषार्थ से रहित वे नपुंसकों की तरह मुक्तिरूप सौभाग्य को प्राप्त करने योग्य नहीं हैं। नपुंसक यद्यपि पुरुष वेष में पुरुष जैसा प्रतीत होता है, पर सन्तान तो उत्पन्न नहीं कर सकता, इसी तरह वेष के कारण आश्रम वालों का भी

सम्मान पूजा योग्य गुरुत्व चाहे हो तथापि गुणातीत होने के कारण मुक्ति देने वाला गुरु तो वर्णाश्रमातीत अवधूत ही हो सकता है, और कोई नहीं इसका शास्त्रों में बहुत कथन किया गया है।

उक्तं च कैवल्योपनिषदि—

मू०—विविक्तदेशे च सुखासनस्थः शुचिः समग्रीव शिरः शरीरः। अत्याश्रमस्थः सकलेन्द्रियाणि निरुध्य भक्त्या स्वगुरुं प्रणम्य।

भा० टी० जैसा कि कैवल्योपनिषद् में कहा है—

भक्ति पूर्वक गुरु को प्रणाम कर एकान्त स्थान में सुखासन लगाकर गर्दन और शिर और समस्त शरीर को ठीक सीधा करके आश्रम के अभिमान को छोड़ सब इन्द्रियों को रोक कर पवित्र मन से अवधूत ध्यान करे।

तेजोबिन्दूपनिषदि—

मू० लोभं मोहं भयंदर्पं कामं क्रोधं च किल्बिषम्।
शीतोष्णे क्षुत्पिपासे च किल्बिषम्।
न ब्रह्मकुलदर्पं च न मुक्तिग्रन्थिसंचयम्।
न भयं सुखदुःखं च तथा मानाऽपमानयोः॥
एतद्भावविनिर्मुक्तं तद्ग्राह्यं ब्रह्म तत्परम्।

भा० टी०—तेजोपनिषद् में भी कहा है—

लोभ मोह भय दर्प काम क्रोध पाप शीत गर्मी भूख प्यास संकल्प विकल्प सब को त्यागदे। ब्राह्मण कुल का अभिमान

तथा मुक्ति का ग्रन्थि संचय अर्थात् काम क्रोधादि का समूह, भय और मानापमान इन से उत्पन्न सुख दुःख जिसने छोड़ दिया वह ब्रह्म स्वरूप होजाता है, क्योंकि ब्रह्म भी इन सब भावों से रहित है।

अमनस्केऽपि लिखितम्—

मू० कुलाचारविहीनस्तु गुरुरेको हि दुर्लभः।

वर्णाश्रमिष्वमुक्तं नास्ति वर्णाश्रमाचारे सर्वारम्भ परित्याग इति।

पुनरेवं चावधूत एव सन्मार्गदर्शनशीलो भवति, स एव गुरुर्मुमुक्षुभिः कर्तव्यः।

फलितानेकपुण्यानां मुमुक्षूणां हितावहम्॥

साधनं साधनश्रेष्ठमाह योगमतः परम्॥

भा०—अमनस्क नामक ग्रंथ में लिखा है कि वह गुरु अति दुर्लभ है, जिसको कुलाचार का अभिमान नहो, गुरु सर्वारम्भ परित्यागी होना चाहियें, वर्णाश्रमियों में यह बात नहीं हो सकती, इसलिए अवधूत ही सच्चा मार्ग दिखा सकता है,

मुक्ति के चाहने वालों को यही गुरु बनाना चाहिये।

पूर्वजन्मार्जितपुण्य के प्रभाव से मुक्ति की इच्छा करने वाले सब साधनों में श्रेष्ठ परमसाधन योग है।

सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ

सन्मार्गश्च योगमार्गस्तदितरस्तु पापण्डमार्गः।

तदुक्तमादिनाथेन—

'योगमार्गेषु तंत्रेषु दीक्षिता स्तांस्तु दूषकाः।
ते हि पापण्डिनः प्रोक्ता स्तथा तैः सहवासिनः॥
योगमार्गात्परो मार्गो नास्ति नास्ति श्रुतौस्मृतौ।
शास्त्रेष्वन्येषु सर्वेषु शिवेन कथितं पुरा॥

भा०—सिद्धसिद्धान्तपद्धति में कहा है कि योगमार्ग ही सच्चा मार्ग है बाकी सब पाखण्ड मार्ग है। यही आदिनाथ जी ने भी कहा है कि योगामार्ग में दीक्षित अर्थात् योग मार्गावलम्बियों की जो निन्दा करते हैं। वे सब दूषक और पाखण्डी हैं, और जो उनके साथ रहते हैं, वे भी पाखण्डी हैं। योगमार्ग से उत्तम मार्ग श्रुति स्मृति तथा अन्य शास्त्रों में नहीं है, ऐसा शिव जी ने कहा है।

विवेक मार्त्तण्डे—

योगशास्त्रं पठेन्नित्यं किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
यत्स्वयं चादि नाथस्य निर्गतं वदनाम्बुजात् ॥

भा०—विवेक मार्तण्ड में भी कहा है—

योगशास्त्र को नित्य पढ़े अन्य वृथा विस्तृत शास्त्रों से क्या लाभ, क्योंकि शास्त्र स्वयं आदिनाथ जी के मुखकमल से निकला है।

ध्यान बिन्दूपनिषदि—

यदि शैलसमं पापं विस्तीर्णं योजनाद्वह, ।
भिद्यतेध्यानयोगेन नान्यो भेदः कदाचन ॥
वर्णाश्रमाभिमानेन वर्तते श्रुतिकिङ्करः।
अभिमानविहीनस्तु वर्तते श्रुतिमूर्धनि ॥
उत्सृज्यसर्वशास्त्राणि जपहोमादि कर्म च।
धर्माधर्म विनिर्मुक्तो योगी योगं समभ्यसेत् ॥
न वेदो वेद इत्याहुर्वेदा वेदो निगद्यते।
परात्मा विद्यते येन स वेदो वेद उच्यते ॥
वर्णधर्मं च सन्ध्या विहिता तस्मान्निरूपकमाह—

जाता है, अंगिरस ने शौनक से कहा–ब्रह्मवादी लोग कहते हैं कि दो विद्याएं जाननी चाहिए परा और अपरा, जिन से ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद अथर्ववेद शिक्षा कल्प निरुक्त छंद ज्योतिष इतिहास पुराण न्याय मीमांसा धर्म शास्त्र यह सब अपरा विद्या है। और परा विद्या वह है जिस से उस अविनाशी ब्रह्म का ज्ञान होता है।

यहां जिस से अक्षर ब्रह्म का ज्ञान हो वह परा विद्या ऐसा कहा गया है सो यह योगविद्या ही है, क्योंकि श्रुति स्मृति पुराणादि सब विद्याएं तो अपरा विद्या में गिनाई गई हैं। परन्तु योगविद्या नहीं गिनाई गई है, इस लिये इन पूर्वोक्त विद्याओं से अलग योग विद्या का परा विद्या होना साफ २ जाहिर होता है।

मू० तदुक्तमात्मोपनिषदि—

अथ परमात्मा नाम यथाक्षरमुपासनीयः।

सच प्राणायामप्रत्याहारसमाधियोगाऽनुमानाध्यात्मचिन्तकं वटकणिकं श्यामाकतंडुलवालाग्रशतसहस्रकल्पनादिभिर्न लभ्यते न जायते न म्रियते न शुष्यते न दह्यते न कम्पते निर्गुणः साक्षीभूतः। शुद्धो निरवयवात्मा केवलः सूक्ष्मो निष्कलो निरंजनो निरभिमानः शब्द स्पर्श

रूप रस गन्ध वर्जितो निर्विकल्पो निराकांक्षः सर्वव्यापी सोऽचिन्त्योऽवर्ण्यश्च पुनात्यशुद्धान्यपूतानि निष्क्रियः संस्कारो नास्ति संस्कारो नास्तीत्येप परमात्मेति।

भा० टी०—आत्मोपनिषद् में भी कहा है-परमात्मा की अक्षरों के अनुसार उपासना करनी चाहिये, उस परमात्मा को प्रत्याहार समाधि योग और अनुमान यथा सम्भव इन सबकी सहायता से आत्मचिन्तन करने वाला धन्य के बीज जैसा साँवक के बीज जैसा बाल की नोंक के सौवें हिस्से जैसा इत्यादि कल्पनाओं से नहीं जाना जा सकता, वह न उत्पन्न होता है। न मरता न सूखता न जलता और न काँपता है। वह निर्गुण साक्षीभूत है, वह शुद्ध निरवयव केवल सूक्ष्म कलारहित अव्यक्त निरभिमान शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध इत्यादिकों से रहित निर्विकल्प निराकांक्ष सर्व व्यापक अचिन्त्य और वर्णनातीत है।

पतित पावन क्रियाओं तथा संस्कारों से रहित जो है सो परमात्मा है।

मू०—तं च अमृतनादोपनिषदि स्पष्टमाह—

शास्त्राण्यधीत्य मेधावी अभ्यस्य च पुनः पुनः।
परमं ब्रह्म विज्ञाय उल्कावत्तान्यथोत्सृजेत्॥

ब्रह्मपद को ढूंढने वाला रुद्र के ध्यान में संलग्न साधक ओंकाररूपी रथ पर चढ़ कर और विष्णु को सारथी बना जहां तक रथ से जाना चाहिये वहां तक रथ से जाय फिर ठीक स्थान पर रथ को खड़ा कर और उसे छोड़ आगे जाता है।

ओंकार में अ-उ-म् ये तीन मात्रा हैं इनके अध्यक्ष भी विराट् १ हिरण्यगर्भ २ और माया सहित ईश्वर ये तीन हैं, इन तीनों की भावना छोड़ कर केवल ब्रह्म रूप से भावना करे उस भावना का फल अकारादि स्वर और ककारादि व्यञ्जनों से रहित विशुद्ध ब्रह्म पद प्राप्त होना है।

शब्दादि पांच विषय और अतिचंचल मन इनको रोक कर आत्मा के प्रकाश का ध्यान करे इसको प्रत्याहार कहते हैं।

प्रत्याहार ध्यान प्राणायाम और धारणा तर्क तथा समाधि यह षडंग योग कहा जाता है। इस प्रकार समाप्ति तक योग का वर्णन है।

उक्तं च मनुस्मृतौ—

मू०—क्षरन्तिसर्वावैदिक्योजुहोतियजतिक्रियाः।

अक्षरं दुष्करं ज्ञेयं ब्रह्म चैव प्रजापतिः॥

भा०टी०—इत्यादि जितनी वैदिक क्रियाएं हैं वे सब नष्ट होने वाली हैं, अतः इन से उस प्रजापति अक्षर का ज्ञान होना

असम्भव है किन्तु प्रजाओं का अधिष्ठान परब्रह्मस्वरूप ओंकार ही ब्रह्म की प्राप्ति का मुख्य साधन है।

उत्तरगीतायाम्—

यथा घृतेन तृप्तस्य पयसा किं प्रयोजनम्।
एवं तत्पदे प्राप्ते वेदे नास्ति प्रयोजनम्॥
पुराणं भारतं वेदा धर्मशास्त्राण्यनेकशः।
पुत्रदारादिसंसारो योगमार्गस्य विघ्नकृत्॥
मुहूर्तमपि योगस्थो नासाग्रे मनसा अपि।
सर्वं तरति पापं च तस्य जन्म शतार्जितम्॥
अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च।
एकस्य ध्यानयोगस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥

ऋचो यजूंषि सामानि वेदोपनिषदस्तथा ।
योगज्ञानादवाप्नोति ब्राह्मणोऽध्यात्मचिन्तकः ॥

भा० टी०—वायु पुराण में कहा है—
ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद और उपनिषद् इन सबको आत्मचिन्तक ब्रह्मज्ञानी योगज्ञान से प्राप्त कर लेता है।

मू०—मार्कण्डेय पुराणेऽप्युक्तम्—
एतत्ते कथितं ज्ञानं योगं चेमं निबोध मे ।
यं प्राप्य ब्राह्मणो योगी शाश्वतीं मान्यतां व्रजेत् ॥
एवं बहुधा शास्त्रेषु योगस्य प्रशंसा विदितैव ।
तस्या दिङ्मात्रमिदं दर्शितम् ।

भा० टी०—मार्कण्डेय पुराण में कहा है—
यह ज्ञान आप से कहा-अब तू मुझ से योग को समझ जिस को प्राप्त कर के योगी अनन्त प्रतिष्ठा को प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार शास्त्रों में योग की प्रशंसा सब जगह विदित है, यहां तो केवल दिग्दर्शन मात्र किया गया है।

मू०—तस्य योगस्य लक्षणं तु विवेकमार्तण्ड उक्तम्—

योगं चात्र प्रवक्ष्यामि योगं चाऽष्टांगसंयुतम् ।
संयोगं योगमित्याहुः क्षेत्रज्ञपरमात्मनोः ॥
एतस्यैव योगादीन्यङ्गानीति ज्ञेयम् ।
सन्मार्गत्वेन योगस्तु सेव्यो हित्वान्यसाधनम् ।
मुमुक्षुभिर्यतस्तेषां पदप्राप्तिः परा भवेत् ॥
योगिनो वीतसंकल्पा निर्द्वन्द्वाः पुण्यदर्शनाः ।
योगरत्नकरण्डास्ते जघन्यविधिगोचराः ॥

भा० टी०—उस योग का लक्षण विवेक मार्तण्ड में कहा है—

अब योग का वर्णन किया जाता है । योग आठ अंगों से युक्त है । जीवात्मा परमात्मा के संयोग (एक हो जाने को) योग कहते हैं । इस अभेद के योगइत्यादि बहुत से अंग हैं । ऐसा जानना, और साधनों को छोड़ कर मुमुक्षु लोगों को योग का ही सेवन करना चाहिये, यही सर्वोत्तम श्रेष्ठ मार्ग है ।

वे योगी सर्वश्रेष्ठ हैं जो संकल्प विकल्प काम क्रोधादि तथा शीतोष्ण सुख दुःखादि रूप द्वन्द्वों से रहित हैं जिन के ऊपर वेद विधि का अनुशासन नहीं है । योगरूपी रत्नों की खान हैं तथा जिन के दर्शन मात्र से मनुष्य पवित्र हो जाता है ।

भू० तद्भक्तामेव परमपदप्राप्तिरिति तेषां स्वरूपं प्रशंसां चाह कैवल्योपनिषदि—

विविक्तदेशे च सुखासनस्थः शुचिःसमग्रीवशिरः शरीरः। अत्याश्रमस्थः सकलेन्द्रियाणि निरुध्य भक्त्या स्वगुरुं प्रणम्य ॥

हृत्पुण्डरीकं विरजं विशुद्धंविचिंत्य मध्येविशदं विशोकम्, अनन्तमव्यक्तमचिंत्य रूपं शिवं प्रशान्तममृतंब्रह्मयोनिम् ॥

तमादिमध्यान्तविहीनमेकंविभुंचिदानन्दमरूप मद्भुतम्। उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं नीलकंठं प्रशान्तम्।

ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं समस्तसाक्षिं तमसः परस्तात् ॥ स ब्रह्मा स शिवः सोऽक्षरः परमः स्वराट्, स एव विष्णुः स प्राणः स आत्मा परमेश्वरः। स एव सर्वं यद्भूतं यच्चभव्यंसनातनंज्ञात्वातंमृत्युमत्येति नान्यः पंथा विमुक्तये ॥

सब रूप सब से विलक्षण और पृथक् होता है। इस प्रकार जहां तहां सिद्धसिद्धान्तपद्धति आदि योगग्रन्थों में वर्णन किया गया है। अधिक जानने वालों को वहीं देखना चाहिए विस्तार होजाने के भय से यहां अधिक नहीं लिखा जाता। इस प्रकार मुक्ति के सब साधनों में सर्वोत्तम योग की मूर्ति अवधूत ही परम पुरुषार्थ में निपुण होते हैं वेही सब के शिरोमणि हैं, उनकी जय होती है।

मोक्ष मार्ग के साधक वर्णाश्रम परिपाटी की परवाह न करने वाले अवधूत योगियों का संक्षेप से वर्णन किया गया है।

मू०—परमः पुरुषार्थस्तु मुक्तिरुक्ता ह्यतस्तु सा। निरूप्यतेऽवधूतानां योगसाधनजं फलम् ॥ परमपुरुषार्थस्तु मुक्तिरित्युक्तम्। सा च नाथस्वरूपेणाऽवस्थानम्।

तत्स्वरूपन्तु गोरक्षोपनिषदि अद्वैतोपरि सदानन्ददेवता ब्रह्मोपनिषदि—स्वयममनस्कमश्रोत्रपाणिपादं ज्योतिर्विदं तत्र लोका न लोका वेदा न वेदा देवा न देवा यज्ञा न यज्ञा माता न माता पिता न पिता स्नुषा न स्नुषा चाण्डालो न चाण्डालः पौल्कसो न पौल्कसः श्रमणो न श्रमणः, पशवो न पशवः तापसो न तापस इत्येकमेव परमिति।

ब्रह्म विन्दौ च—

नैवाचिन्त्यं नचाऽचिन्त्य मचिन्त्यंचिन्त्यमेव च इत्यादि ।

सर्वोपनिषत्सारे—

कथं बन्धः कथं मोक्ष, इत्यादि प्रश्ने अनात्मनो देहादीना रमत्वेनाभिमन्यते सोभिमानआत्मनोबन्धस्तन्निवृत्ति मोक्ष इत्य नेन स्वरूपेणाऽवस्थान मिति सिद्धम् ।

भा० टी० पहले कहा जा चुका है कि परम पुरुषार्थ तो मुक्ति है अतः यही अवधूतों के योग साधन से उत्पन्न होने वाला फल है, उस का निरूपण किया जाता है, यह मुक्ति क्या है ? नाथ रूप से स्थिति का ही मुक्ति कहते हैं । जैसा कि गोरक्षोपनिषद् में कहा है—

अद्वैत के ऊपर सदानन्द देवता है । ब्रह्मोपनिषद् मे भी जो बिना कारण के स्वयं है तथा मन श्रोत्र हाथ पैर इन से रहित प्रकाश स्वरूप है वहां लोक लोक नहीं, वहां वेद वेद नहीं देव देव नहीं, यज्ञ यज्ञ नहीं, माता माता नहीं, पिता पिता नहीं, पुत्र वधू पुत्र वधू नहीं, चांडाल चांडाल नहीं, अन्त्यज अन्त्यज नहीं, भिक्षु भिक्षु नहीं, पशु पशु नहीं, तापस तापस नहीं केवल एक पररूप ही होता है ।

ब्रह्मविन्दूपनिषद् में भी कहा है—

कि यह न सोचने योग्य न विचारने योग्य है विचार योग्य न

होते हुए भी विचार योग्य है, इत्यादि ।

सर्वोपनिषत् सार में कैसे बन्ध और कैसे मोक्ष होता है इत्यादि प्रश्न करके देहादि अनात्मवस्तुओं में आत्मापने का अभिमान ही बन्ध है, और उसकी निवृत्ति ही मोक्ष है । इससे यह सिद्ध हुआ कि आत्मा की अपने रूपस्थिति ही मोक्ष है ।

उक्तंचाऽमनस्के—

भावाभावविनिर्मुक्तं नाशोत्पत्तिविवर्जितम् ।
सर्वसंकल्पनातीतं परब्रह्म तदुच्यते ॥

अवधूतगीतायां च—

अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे ।
समं तत्त्वंनविन्दन्ति द्वैताऽद्वैतविलक्षणम् ॥
यदि सर्वगतो देवः स्थिरः पूर्णो निरन्तरः ।
अहो माया महामोहो द्वैताद्वैतविकल्पना ॥

श्रीनित्यनाथकृतसिद्धसिद्धान्तपद्धतौ—

न ब्रह्मा विष्णुरुद्रौ, न सुरपतिसुरा नैव पृथ्वी न चापो ।
नैवाग्निर्नापि वायु र्नैव गगनतलं नोदिशो नैव कालः ॥
नो वेदा नैव यज्ञा न च रविशशिनौ नो विधि र्नैव कल्पाः ।
स्वज्योतिः सत्यमेकं जयति तवपदं सच्चिदानन्दमूर्ते ॥

तत्पदेनाऽवस्थानं मुक्तिरिति ।

भा० टी०—अमनस्क में जो भावअभाव से विलक्षण नाश और उत्पत्ति से रहित सब कल्पनाओं से परे है वही परब्रह्म कहा जाता है।

अवधूतगीता में भी कहा है, कि कोई अद्वैत की और कोई द्वैतकी इच्छा करते हैं परन्तु वे सब द्वैताद्वैत विलक्षण समतत्व को नही प्राप्त कर सकते। जबकी परब्रह्म बिना भेद के स्थिर पूर्ण और सर्व व्यापक है तब बड़ा आश्चर्य है कि माया मोह के वशीभूत होकर लोग उस में भी द्वैताद्वैत कल्पना करते हैं। श्री नित्यनाथ कृत सिद्धसिद्धान्त पद्धति में कहा गया है कि हे सच्चिदान्द स्वयं प्रकाश भगवान्? आपके आद्वितीय स्वरूप की जय हो। जहां न ब्रह्मा न विष्णु न रुद्र न इन्द्र और न देव गण हैं। न पृथिवी है न जल है न अग्नि न वायु न आकाश न दिशाएं न काल है, न वेद हैं न यज्ञ अव्यक्त सच्चिदानन्द नाथ रूप में न चन्द्र न सूर्य न विधि और न कल्प हैं ऐसे उस परमात्मा में लीन हो जाना ही मुक्ति है।

मू०नाथस्य लक्षणं राजगुह्ये—

नाकारोऽनादिरूपं थकारः स्थाप्यते सदा।

भुवनत्रयमेवैकः श्री गोरक्ष नमोस्तु ते॥

शक्तिसंगमतंत्रे—

श्री मोक्षदानदक्षत्वान्नाथब्रह्मानुबोधनात् ।
स्थगिताऽज्ञानविभवात् श्रीनाथ इति गीयते ॥
श्रीनाथकृत सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ—
आदिनाथ महासिद्ध शक्तियुक्तं जगद्गुरुम् ।
तं वन्दे नित्यतो वक्ष्ये सिद्धान्तं स्वानुभावतः ॥
इत्यादीनि पुराण वाक्यानि प्रमाणानि ।

तस्य निदर्शनं शास्त्राणि सूर्यसदीपा इव कथं करिष्यन्ति, तत्तु पदं तादृग्योगिनामेवापरोक्षमिति सिद्धान्तः।

अन्येतु मतवादिन स्तत्पदमनालभ्यमानाःस्वाभिप्रायऽनुसारि तत्पदं विधाय विवादभाराक्रान्त मतयः क्लिश्यन्ति नतु शाम्यन्तीत्याह सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ—

भा० टी०—नाथ का लक्षण राजगुह्य नामक पुस्तक में लिखा है ना शब्द का अर्थ है अनादि रूप, 'थ का है । अर्थ स्थित होना । तीनों लोकों के एक कारण अनादि रूपसे स्थित हैं गोरक्षनाथ जी मैं आप को नमस्कार करता हूं।

शक्ति संगम तंत्र में भी कहा है—आनन्द रूप मोक्ष के देने में उदार होने से तथा सर्वाध्यक्ष ब्रह्म का अनुभव होने से और अज्ञान का नाशक होने से सद्गुरु नाथ जी कहे जाते हैं ।

श्रीनाथकृत सिद्धसिद्धान्त पद्धति में—उस प्रसिद्ध महा सिद्ध अव्ययशक्ति सहित जगद्गुरु श्री आदिनाथ को नमस्कार करके अपने अनुभव से सिद्धान्तों का वर्णन करता हूं। इत्यादि पुराण वाक्य प्रमाण हैं।

सूर्य को जैसे अनेक दीपक भी प्रकाशित नहीं कर सकते वैसे ही शास्त्र उसका प्रकाशित नही कर सकते। वह तो महा सिद्ध योगियों को ही प्रत्यक्ष अनुभव से सिद्ध है, यह सिद्धान्त हैं।

अन्य सबमत वादी लोग तो उस परम पद को न जानते हुए अपने अभिप्राय के अनुसार उस पदको समझते और बताते हुए दुःख उठाते हैं शान्ति को प्राप्त नहीं होते। इसी बात का वर्णन सिद्ध सिद्धान्त पद्धति में किया गया है। आगे देखो।

मू०—वेदान्ती वहुतर्क कर्कशमतिर्ग्रस्तः परं मायया।
भाट्टाः कर्मफलाकुला हतधियो द्वैतेन वैशेषिकाः॥
अन्ये भेदरता विवाद विकलास्ते तत्वतो वंचिताः।
तस्मात् सिद्धमतं स्वभाव समयं धीरः पर संश्रयेत्॥

अस्यार्थः—वेदान्तवित् उत्तर भाग शास्त्रवादी अद्वैते वस्तुनि अध्यारोपाऽपवादाभ्यां द्वैत कल्पनां कुर्वन् बहुभि-स्तर्कैः कर्कशा कठोरा मतिर्यस्य स अत एव परमं केवलं

मायया ग्रस्तो यतो निर्मायिकं वस्तु वदन् मायादूषणं च तत्र ददाति। पुन र्भाट्टा मीमांसका अनीश्वरवादमारोपयन्तः कर्मफलेष्वेवाकुलिताः सन्तोगतधियो भवन्ति। तथा द्वैतेन द्वैतवादेन वैशेषिका अपि गतधिय एव, तदन्योपिये भेदवादरतास्तेऽपि विवाद विकला एव भवन्ति यत एते तत्वतो वंचिता भवन्ति नतु तत्त्वमालम्बन्ते, इत्यर्थः। तस्मान्महासिद्धानां स्वाभाविकं सहजावस्थामयं मतं धीरः पुमान् संश्रयेत् तदेव श्रेयस्करमितिमान्यम्।

भा०—वेदान्ती अर्थात् उत्तर मीमांसा वादी अद्वैतवस्तु अर्थात् शुद्ध ब्रह्म में अध्यारोप और अपवादों से द्वैत कल्पना करते हुए तर्कों से कठोर मति वाले केवल परम तत्त्व को माया रहित होते हुए भी माया से दूषित करते हैं।

भट्ट मतवादी पूर्व मीमांसक लोग अनीश्वर वाद से शास्त्रों को कलंकित करते हुए कर्मफल में ही व्याकुल होकर बुद्धिहीन हो जाते हैं। वैशेषिक शास्त्रवादी भी अद्वैत में द्वैत की कल्पना करते हुए बुद्धि को तिलांजलि दे बैठते हैं। और अन्य मतवादी 'भेदवाद के झगड़ों में पड़े रहने के कारण तत्व से वंचित रहते हैं। तत्व को नहीं जानते, इसलिये बुद्धिमान

जिज्ञासु को महासिद्धों के स्वभाविक असली मत का ही ग्रहण करना चाहिये वही कल्याणकारक है यह निश्चित है ।

मू० सांख्या वैष्णव वैदिका विधिपराः संन्यासिनस्तापसाः ।
सौरा वीरपराः प्रपंचनिरता बौद्धाजिनाः श्रावकाः ।
एते कष्टरता वृथापथगतास्ते तत्त्वतो वंचिताः ।
तस्मात् सिद्धमतं स्वभावसमयं धीरः परं संश्रयेत् ॥

अस्यार्थः सांख्याः प्रकृतिकारणवादिनः कपिल मतानुयायिन इति यावत्, वैष्णवाः पाञ्चरात्राः । वैदिका वेदानुवर्तिनस्ते च विधिपरा वाक्यकोविदा इत्यर्थः । स्पष्टमन्यत् ।

पुनः—आचार्या बहुदीक्षिता हुतिरता नग्न व्रता स्तापसाः। नाना तीर्थनिसेवका जिन परा मौनेस्थिता नित्यशः॥
एते ते खलु दुःखभार निरतास्ते तत्त्वतो वंचिताः ।
तस्मात् सिद्धमतं स्वभाव समयं धीरः परंसंश्रयेत् ॥

अस्यार्थः—आचार्यामंत्रव्याख्यातारो बहुदीक्षिता अग्निहोत्रादिकर्तारः त एवाऽऽहुतिपरा न तुतत्त्व परा आजिनपरा वल्कलवाससस्ते तीर्थनिषेवका यद्वा जपपराः । शेषं स्पष्टम् ।

भा०—प्रकृति को जगत् का कारण मानने वाले सांख्य वादी कपिल मतानुयायी वैष्णव पांचरात्र मत वाले नाना वाक्य विशारद वैदिक संन्यासी तापस और पूजक सूर्योपासक और प्रपंच रचना में लगे हुए बौद्ध जिन और श्रावक ये सब असत् मार्ग पर चलते हुए व्यर्थ ही कष्ट को उठाते हुए सत्य तत्त्व से वंचित रहते हैं, इस लिये सिद्ध मत को ही अपनाना चाहिये।

मंत्रों की व्याख्या करने वाले बहुत से दीक्षित आचार्य आहुति देने में ही लगे रहते हैं, उन्हें तत्वज्ञान नहीं हो सकता बहुत से नग्न व्रतधारी तापस नाना तीर्थों के उपासक मृग चर्म और वल्कलधारी मौनी ये सब दुःखभार से पीड़ित होने के कारण तत्त्व से वंचित रहते हैं। अतः सिद्ध मत ही श्रेष्ठ और मंगलदायक है।

मू०—हठयोग प्रदीपिकायां चोक्तम्—

केचिदागमजालेन केचिन्निगम संकुलाः।
केचित्तर्केण मुह्यन्ति नैवजानन्ति शाङ्करीम् ॥

केचिद्वैखानसाद्यागमोक्ततत्त्वभ्रमास्तत्र-तत्त्वाभिमानिनो देहात्मवादिनश्चार्वाकसधर्माणस्ते मनुष्यास्तप्तचक्राद्यङ्किता जीवन्तोऽपि मृतकमिव शरीरं सत्कर्मानर्हं कुर्वाणा देवनिन्दका इति।

केचिच्च, ऋग्यजुरादिवेदाऽऽसक्ताः कर्मज्ञानरताः कर्मणैवायुःपूर्णंकुर्वन्ति ।

अथचतत्ववंचिताःसाधनेऽशक्तास्ते हिकातर्य्येणप्रारब्धशरणाभूत्वाशरीरसुखार्थमहंब्रह्मेतिवदन्तस्तिष्ठन्ति ।

'तेदवात्मानंचद्विजानीयात्, इत्यादावुक्तम् । एवंनिगमसंकुला इति ।

केचिचाऽतर्कैश्वर्येपरमेवस्तुनिशुष्कतर्कानाश्रित्यपांडितंमन्यामवन्तीतिकृत्वाशाङ्करींनजानन्तीति ।

'भा० टी०—हठयोग प्रदीपिका में भी कहा है—कुछ आगम और कुछ निगमों के जाल में फसे हुए हैं कुछ लोग तर्क के भ्रम में पड़े रहते हैं वे शङ्कर कथित योग विद्या को नहीं जानते ।

कुछ लोग वैखानसों की पुस्तकों में कहे हुए तत्त्वाभासों से भ्रम में पड़े हुए व्यर्थ बातों को तत्त्व समझने वाले चार्वाकों के समान देह को ही आत्मा मानने वाले तप्त चक्रादिकों से चिन्हित होकर जीते हुए ही शरीर को मुर्दे के समान और सत्कर्मों के अयोग्य बनाने वाले सब देवनिन्दक हैं ।

कुछ ऋग् यजु आदि वेदों में फसे हुए कर्म करने में ही समस्त आयु को नष्ट कर देते हैं। उनमें कुछ ऐसे भी हैं जो

साधन में अशक्त होने से शरीर सुख के लिये प्रारब्ध की शरण लेते हुए अहं ब्रह्मास्मि इस प्रकार कहते रहते हैं, यही बात "आत्मानं चेद्विजानीयात्" इत्यादि वाक्यों में कही गई है। इस प्रकार निगम को न समझ कर दुःख उठाते हैं। और कुछ लोग तर्क सामग्री से रहित होने से परब्रह्म में शुष्क तर्कों का सहारा लेकर अपने को बुद्धिमान समझते हुए शाङ्करी विद्या से वंचित रहते हैं।

मू०—सा शाङ्करी स्तूयते

वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव।

सा पुनःशाङ्करीमुद्रा गुप्ताकुलवधूरिव॥

ऋग् यजुरादयो वेदा धर्मार्थकाममोक्षोपदेष्टारो ब्रह्मचारि गृहस्थवानप्रस्थभिक्षुकाश्रमोपदेष्टारश्च भवन्ति।

तेचमुख्येवस्तुनि गौणत्वमापादयन्त्यमुख्ये च मुख्यत्वमतोयत्रतादृशाअधिकारिणो बहवोलग्नास्ते चोत्तमपुरुषैरमेवेनीयाद्रव्यस्पृहः प्रवृत्तावेवाऽऽसक्ताभवन्ति।

शास्त्राणिचवैशेषिकादीनितैः श्रममूलकैः कदापिविश्रान्तिर्नास्ति। पुराणानिच नराणामात्मसाधनेषु, अशक्तत्वंप्राय आपादयन्ति यतोबालकानामिव रुचितरासुकथासुलोका नांचित्तवृत्तिंगमयन्ति। तेसर्वेपिसामान्यगणिकाइव-

भवन्ति । तद् यथा गणिकागृहे श्रृङ्गारप्रधानाएववार्तामुख्याः स्युः, ऐश्वरीवार्तातुगौणी । ताश्चगणिका बह्वयोबहूनांधूर्तानां लम्पटानामुपरिचाऽऽसक्ताभवन्त्यः सत्यवादिनामकामिनां प्रियेश्वरकथानामुपरिनासक्तिंकुर्वन्तीति ।

भा०—अब उस शाङ्करी विद्या की स्तुति की जाती है। वेद शास्त्र पुराण ये सब सामान्य गणिकाओं (वेश्याओं) के समान हैं परन्तु शाङ्करी विद्या कुलवधू के समान है। ऋग् यजु आदि वेद, धर्म अर्थ काम तथा ब्रह्मचारी गृहस्थ वानप्रस्थ और भिक्षुक इन आश्रमों का उपदेश करते हैं वे सब मुख्य वस्तु में गौणत्व और गौण वस्तु में मुख्यत्व स्थापित करते हैं इस लिये जहां ऐसे धनाभिलाषी अधिकारी प्रवृत्ति में आसक्त होकर लगे रहते हैं, वे उत्तम पुरुषों से असेवनीय हैं।

वैशेषिकादि शास्त्र भी भ्रममूलक हैं, उनसे विश्राम नहीं मिलता, पुराण तो बालकों के समान अतिरुचिकर कथाओं में लोगों की प्रवृत्ति को बढ़ाते हुए मनुष्यों को आत्म साधन में प्रायः असमर्थ ही बना देते हैं वे सब सामान्य गणिकाओं के समान हैं।

जैसे गणिकाओं के घर में श्रृङ्गार प्रधान ही बातें मुख्य होती हैं, ईश्वर सम्बन्धी बातें गौण होती हैं क्योंकि वे गणि-

कायें धूर्त कपट पुरुषों पर ही आसक्त होती हैं परन्तु ईश्वर भक्त सत्यवादी पुरुषों पर नहीं, इसी प्रकार ये सब सकाम पुरुषों के ही योग्य हैं, निष्कामों को इनसे कुछ प्रयोजन नहीं।

मू०—किंचइहखलुसंसारेयोगोभोगश्चद्वौपदार्थौस्तः, एतद्द्वयंविना किमपि न स्यात्, सर्वस्याप्येतयोरन्तर्भूतत्वादिति।

तयोर्मध्येयोगेलग्नामहासिद्धा भोगेतु सर्वे संसारिणः, योगस्यफलं मुक्तिर्भोगस्यतु बन्धइति यद्यपि भोगाद्बन्धस्तथापिनानाविलासैर्विषयानन्दं विलुण्ठयति, यदि दुःखमपिभवेत्तर्हिभवतुनामेति। योगिनान्तु पुनःप्रथमतः किंचिच्छ्रमोभवेत्। क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसामित्याद्युक्तत्वात्पश्चात्तु महानानन्दस्तत्र बहवः कथयन्ति किंचिदिति कथं योगेतुक्लेशोऽधिकतर इत्युक्तम्।

भा० टी०—इस संसार में योग और भोग दो पदार्थ हैं, इन दोनों के बिना कुछ नहीं होसकता, क्योंकि इन दोनों में ही सब का अन्तर्भाव हैं। इन में से योग में महासिद्ध और भोग में सब संसारी संलग्न रहते हैं। योग का फल है मुक्ति और भोग का बन्ध तथापि अनेक प्रकार के विलासों से

विषयानन्द मनुष्यों को अपनी ओर खैंच ही लेता है भले ही उन को आगे चलकर दुःख ही क्यों न हो। परन्तु अव्यक्त में चित्त लगाने वालों को अधिक क्लेश होता है इत्यादि कथन के अनुसार पहले तो योगियों को कुछ दुःख होता है। परन्तु पीछे महान् आनन्द होता है।

यहां नाथ शङ्का करता है कि पहले कुछ दुःख होता है ऐसा क्यों ? ऊपर के वचन में तो अधिक क्लेश होता है ऐसा कहा आप हैं।

मू० — तदुपरिमयाकथ्यतेभोपुरुषा ? गुरुहीनानांतेषांकष्ट भवेत्,यदाताद्दशः पूर्वोक्तः पूर्णोगुरुर्लभ्येत तदामहदपि कष्ट मतिस्वल्पंभवेत्।

तत्रद्दष्टान्तः–यथामहा भारयुक्ताशिलायाभवेत्तस्याउत्थापने सहस्राणामपि पुरुषाणां कष्टंभवेत्, साचबुद्धिमतापुरुषेण कृत काष्ठादियत्नेनाऽश्रमेणैवोत्थाप्यतेतथागुरुमार्गक्रियया स्वल्पेनापि कष्टेन महतीसिद्धिर्भवति यदिचमहत्कष्टमपिभवे त्तदाकष्टोत्तरस्तुमहानानन्दोभवत्येव। यस्तत्रखंडकनाथरूपोभ वतिब्रह्मनिष्पन्नाधपीश्वरो भवतिनानारूपो भवति। ब्रह्मादयः सर्वेतस्यपूजांकुर्वन्ति। योगारूढोनानाभोगान्भुनक्ति नतु-

तैर्लिप्यते । योगंविनाभोगोरोगएवस्यात् । भोग्यपियोगीसं सारीवदृश्यतेनतुसंसारीवबन्धनंप्राप्नोति ।

इसका उत्तर यह है कि हे पुरुषो ? जो गुरुहीन होते हैं उन्हें अवश्य ही बड़ा भारी कष्ट होता है । यदि पूर्वोक्त प्रकार का गुरु मिल जाय तो यह महान कष्ट कुछ भी नहीं रहता । जैसे बहुत भारी शिला को यदि बिना ढालू और बिना गोल लकड़ियों की सहायता से उठाया जाय तो सहस्रों पुरुषों को भी बड़ा भारी कष्ट होगा और वही शिला किसी बुद्धिमान् पुरुष की बताई विधि के अनुसार ढालू आदि की सहायता से सहज में ही उठाई जा सकती है, इसी प्रकार गुरुदेव की बताई युक्ती से थोड़े से ही कष्ट के द्वारा बड़ी भारी सिद्धि प्राप्त हो जाती है । और यदि महान कष्ट होना भी मान लिया जाय तो भी कष्ट के बाद तो अवश्य ही बड़ा भारी आनन्द प्राप्त होजाता है जो गुरु की कृपा से अखण्ड एकनाथ पदवी को प्राप्त हो जाता है वह तो ब्रह्मा विष्णु आदि देवों का भी अधीश्वर हो जाता है, और नाना रूपों से वर्तमान रहता है । ब्रह्मा आदि सब देवता उसकी पूजा करते हैं ।

योगारूढ़ योगी अनेक प्रकार के भोगों को भोगता हुआ

भी उनसे लिप्त नहीं होता। योग के बिना जो भोगभोगता है वह रोगी हो जाता है। जो योगपूर्वक भोग करता है वह यद्यपि संसारीसा दिखाई देता है पर संसारी के समान बन्धन में नहीं पडता।

मू०—ननु केचिच्छास्त्रिणः कर्माद्युपासनं साधनं कथयन्ति तदा मया कथ्यतां तेषां कथनं मया न निवार्यते तदेव कुर्वन्तु नाम परन्तु तत्करणे फलं किमिति। कथं कर्मणामवधिर्मीमांसकास्तु पठनपाठनान्तरं पठनपाठनदोषनिवृत्त्यर्थमिष्टस्मरणं कुर्वन्ति। यस्य शास्त्रस्य पठने पाठने चापि दोषस्तस्य सेवनेन किं भविष्यतीति पुनर्यः स्वामिनं भजेत् स स्वतन्त्रो भवेत् यश्च प्रसन्नः स्वयमेव यदिच्छति तद्ददाति मन्त्रिभ्यः। अन्यस्य तु पुरुषस्य न कस्याप्यपेक्षां करोति। अयं देहः कर्मरचितः कर्माणि च सर्वाणि त्रिगुणानां सन्ति। गुणाश्च मायाया एवं च यदि अनेन प्राणिना प्रारब्धं कर्माभिमतं तदा मायाभिमता, तदभिमाने च तत्र च समये महत्तत्त्वात्पृथग्भूतः। ततश्च पूर्वं पश्चादपि गुणलेशो विद्यत एव स च बाधक एव।

तस्मात्प्रारब्धकर्मनिर्मूलकरणमवधूतानामेव कर्म। येदा-

र्नलिप्यते । योगंविनाभोगीरोग्येवस्यात् । भोग्यपियोगीसंसारीवदृश्यतेनतुसंसारीनरन्धनंप्राप्नोति ।

इसका उत्तर यह है कि हे पुरुष ? जो गुरुहीन होते हैं उन्हें अवश्य ही बडा भारी कष्ट होता है । यदि पूर्वोक्त प्रकार का गुरु मिल जाय तो वह महान कष्ट कुछ भी नहीं रहता। जैसे बहुत भारी शिला को यदि बिना डाल्हू और बिना गोल लकड़ियों की सहायता से उठाया जाय तो सहस्रों पुरुषों को भी बड़ा भारी कष्ट होगा और वही शिला किसी बुद्धिमान् पुरुष की बताई विधि के अनुसार डाल्हू आदि की सहायता से सहज में ही उठाई जा सकती है, इसी प्रकार गुरुदेव की बताई युक्तियों से थोडे से ही कष्ट से बड़ी भारी सिद्धि प्राप्त हो जाती है । और यदि महान् कष्ट होना भी मान लिया जाय तो भी कष्ट के बाद तो अवश्य ही बड़ा भारी आनन्द प्राप्त होजाता है जो गुरु की कृपा से अखण्ड एकनाथ पदवी को प्राप्त हो जाता है वह तो ब्रह्मा विष्णु आदि देवों का भी अधीश्वर हो जाता है और नाना रूपों से वर्तमान रहता है । ब्रह्मा आदि सब देवता उसकी पूजा करते हैं ।

योगारूढ योगी अनेक प्रकार के भोगों को भोगता हुआ

भी उनसे लिप्त नहीं होता। योग के बिना जो भोगभोगता है वह रोगी हो जाता है। जो योगपूर्वक भोग करता है वह यद्यपि संसारी सा दिखाई देता है पर संसार के समान बन्धन में नहीं पडता।

मू०—ननु केचिच्छास्त्रिणः कर्माद्युपासनं साधनं कथयन्ति तदा मया कथ्यते तेषां कथनं मया न निवार्यते तदेव कुर्वन्तु नाम परन्तु तत्करणे फलं किमिति। कथं कर्मणामवधिर्मीमांसकास्तु पठनपाठनात्तरं पठनपाठनदोषान्निवृत्य यथामिष्टस्मरणं कुर्वन्ति। यस्य शास्त्रस्य पठने पाठने चापि दोषस्तस्य सेवनेन किं भविष्यतीति पुनर्यस्य स्वामिनं भजेत् स स्वतन्त्रो भवेत् यश्च प्रसन्नः स्वयमेव यदिच्छति तद् ददाति मन्त्रिभ्यः। अन्यस्य तु पुरुषस्य न कस्याप्यपेक्षां करोति। अयं देहः कर्मरचितः कर्माणि च सर्वाणि त्रिगुणानां सन्ति। गुणाश्च मायायाः एवं च यदि अत्र नने प्राणिना प्रारब्धं कर्माभिमतं तदा मायाभिमता, तदभिमाने च तत्रैव समये ब्रह्मतत्त्वात् पृथग्भूतः। ततश्च पूर्वं पश्चादपि गुणलेशो विद्यत एव स च बाधक एव।

तस्मात् प्रारब्धकर्मनिर्मूलकरणमवधूतानामेव कर्म। यदा-

र्नीचित्तशुद्धयर्थं कर्माभिमत्य तदनन्तरं ज्ञानं साधनमित्युपादिश
ति। यतःसोपि सापेक्षएव। मीमांसकोमंत्रीविराजमापेक्षो
वेदान्तीराजवन्मंत्रिसापेक्षः, परन्तु सापेक्षतोभयोरेवास्ति।
कस्याप्यपेक्षामकुर्वन् योग आवश्यकः सर्वेषांकर्तव्यो यःस
सर्वदास्वतन्त्रोऽस्ति। मीमांसको द्वैतमभिमन्यतेवेदान्तीत्व
द्वैतमभिमन्यते। तदुपरिवयंवदामः। एतदुभयमपि प्रकृति
विकारः प्रकृतिविकारश्चसर्वदाचंचलोनास्तिकदापि स्थिरः।
यद्वातु सर्वदास्थिरमेवास्ति।

तत्रद्वैतवादिनोनिश्चलंनास्तीतिवदन्ति। तथैवाऽद्वैतमभिन्यतां
निश्चलं नास्तीतिकथं। यदिब्रह्माद्वैतमस्ति तर्हि द्वैतं कुत
आगतं तदा मायाकल्पितमितिवदेयुस्तर्हिगान्वदन्तोवयमवा
चोऽक्रियाँश्च कर्म तत् किमितिचेदुच्यते। अद्वैतंतुनिष्क्रिया-
दित्याग्यस्ति। यतः कस्यापिवस्तुनोभोगोपि युष्माभिर्नकर्त-
व्य इत्याद्यनेकविधिभिरद्वैत खण्डनं करिष्यामः। महासिद्ध
रुक्तं यद्द्वैताऽद्वैताविवर्जितंपदं निश्चलंदृश्यते तदेवमत्यामि-
त्यभ्युपगमिष्यामः।

के लिये स्वतन्त्रता में करने योग्य है। मीमांसक द्वैत को मानता है परन्तु वेदान्ती अद्वैत को। इस पर हम कहते हैं, ये दोनों ही प्रकृति के विकार हैं प्रकृति के विकार सदा चञ्चल होते हैं कभी स्थिर नहीं होते। परन्तु ब्रह्म सदा स्थिर है। यहां द्वैत वादी निश्चल नहीं है यह कहते हैं। इसी तरह अद्वैत मानने वालों के मत में निश्चल नहीं है। यह कैसे कहा जा सकता है, यदि ब्रह्म अद्वैत है तो द्वैत कहां से आया यदि ये कहें कि द्वैत माया कल्पित है तो हम उन के वाणी और कर्म से रहित कहते हुए कहेंगे कि तुम कर्म किसे कहते हो ? क्योंकि अद्वैत तो निष्क्रियादि त्यागी है, इस लिये तुम्हें किसी वस्तु का भी भोग नहीं करना चाहिये, इस प्रकार अनेक प्रकार से अद्वैत का खंडन करेंगे। महा सिद्धों ने कहा है कि द्वैत अद्वैत से विवर्जित जो निश्चल पद शास्त्रों में दिखाई देता है, वही सत्य है यह स्वीकार करेंगे।

मू०—तत्तु उग्रभैरवनामैककापालिकरूपतः श्री भैरवेण शङ्कराचार्याद्युपरिकृतम् । कथं, चतुर्भिः शिष्यैः संयुक्तः शङ्कराचार्यो नदीतीरे स्थितस्तस्मिन्स्थले कापालिकः समुपागत्योक्तवान् । भो ! त्वं तु संन्यासी भिक्षारि

पक्षेतुल्यः सुखदुःखादिद्वन्द्वपदार्थरहितोऽसि । अस्माकं चायमभिप्रायो वर्तते तवशिरउच्छिद्यपश्चात् श्रीभैरवार्पणं करिष्यामि तदाममप्रतिज्ञा पुर्णा भविष्यति । यतोभवान् शिरोददात्विति। तदा शंकराचार्येणालोचतं नैवंकरिष्यते तदात्वद्वैत हानिः शत्रु मित्र पक्षे तुल्यत्वं न स्यात्, कृते च पराजयो भवेदेतद्द्वयविचारेऽपि पराजयएवेतिमत्वा न किमपितेनोक्तं शैथि ल्यंजातं तदा पद्मपादाचार्येण नृसिंह स्मरणं कृत मुग्र भैरवोपरि नृसिंहेण प्रहारः कृतो यस्तु महा सिद्धस्तच्छरीरं त्यक्त्वा द्वश्यमेव च शरीरं गृहीत्वा सम्मुखे मास्थितो भूत्वा प्रसन्न वदनो मेधगम्भीर गिरयोवाच—भो ? अद्वैतपराजय इति । शत्रुमित्रपक्षे यद्वदस्तत्कुत्रगतम्, मदीयंतु यथा मल्लो नियुद्धेस्वयमेवानिपत्याऽन्यस्यपातनं करोति तथा स्वशरीरं त्यक्त्वा परसिद्धान्तहानिः कृतैवेति चारितम्. पुनः साम्प्रातं त्वदीय हानिः, अतः परमपि क्रियते उत्तिष्ठोत्तिष्ठ युद्धं कुर्वित्याह । तदा प्रारब्धकर्माचरणं वर्तते न्यासिनांमते यतः क्रियाकरणमिति सिद्धान्तो नास्ती तिकृत्वायुद्धेऽशक्तो जातः। कापालिकोपदेशेनाक्रियैवस्वासि द्धान्तेऽद्वैतस्थितिवत् स्थितः, तदा कापालिकेन योगमाया

निर्मिता तया चचतुःशिष्यसंयुक्तस्याऽऽचार्यस्य मस्तकं छिन्नं पश्चाच्च स संजीवितः कृतस्तर्हि विरागोजातः। पश्चिमायां दिशिगतः शक्तिस्मरणं कृतवान् पूर्ववार्ता। शङ्कराचार्यस्योत्पत्तिर्दाक्षिणस्यां दिशि। तत्रतु कर्म मेवनमेवकृतंविष्णुपासनादि। यदा चित्तशान्तिर्नजाता तदा पृथिवीप्रदक्षिणकरणार्थं प्रयाणंकृतम्। पूर्वस्यां च दिशायामागत्य तत्र तु वैद्यनाथाख्यस्थलंगत्वा पूजांचकार, तदेश्वरेणनाङ्गीकृतापूजा। किमर्थंत्वयाविष्णुभक्तिरेव कृता अहंतु साक्षादीश्वरः सतु विस्मृतइति। तदा शङ्करेणाऽपराधक्षमानामकंस्तोत्रंकृतं, पुनरपिशिवभक्तिर्विशेषेण कृता तथापिचित्तशान्तिर्नजाता। पश्चाच्च पश्चिमां दिशंगतस्तत्र शक्तिराहितोजातः। शक्तेर्वृत्तान्तोदयः।

तदा च शक्त्योक्तं शिवएव सर्वंकरिष्यतीति। तेनभयाकुलोजातः सौन्दर्यलहरीनामकं स्तोत्रंकृत्वा शाक्तोजातस्तथापि पूर्णशान्तिर्नजाता। ततउत्तरांदिशंगतः। सातुमहासिद्ध समुदायेनसर्वापिदिग्व्याप्ता। यत्र गतस्तत्रसर्वैरुपहासः कृतः। तत्र श्रीतारानाथेनोक्तं तीर्थाटनमेवकरिष्यतेवा किम

ष्यात्मसाधनमपिकरिष्यतेतदाशङ्करेणोक्तं भवाद्भिर्यत्कथ्यते तन्मयाक्रियते। तदा महासिद्धेन योगोपदेशः कृतः। तेन सर्वबाधानिवृत्तात्मा च प्रसन्नो जातस्तदा वज्रसूचिकोपानिपत् कृता। सातुसर्वापिनाथमार्गानुसारिण्येव। तत्रश्रीसिद्धासिद्धान्तपद्धतिप्रमाणंदत्तम्—

'वेदान्ती बहुतर्ककर्कशमतिरित्यादि तस्मात् सिद्धमतं स्वभावसमयंधीरः परं संश्रयेदित्यन्तादीनि पद्यानि इति।

भा०—उसी द्वैता द्वैत वर्जित निश्चल पद का उग्र भैरव नामक एक कापालिक के रूप में श्री भैरव ने श्री शंकराचार्य के ऊपर प्रश्न किया था उसका नीचे वर्णन करते हैं

चार शिष्यों के साथ एक समय शंकराचार्य एक नदी के तीर पर बैठे थे वहां एक कापालिक ने आ कर कहा कि हे शंकराचार्य ? आप तो संन्यासी हो शत्रु मित्र पक्ष में एक समान और सुख दुःखादि द्वन्द्व पदार्थों से रहित हो। हमारा अभिप्राय यह है कि तुम्हारा सिर काट कर श्री भैरव की भेंट करें तब मेरी प्रतिज्ञा पूर्ण हो। इसलिये आप अपना शिर दे दें। तब शङ्कराचार्य ने सोचा यदि कापालिक का वचन नहीं किया गया तो अद्वैत सिद्धान्त की हानि होगी और शत्रु मित्र पक्ष में समानता न होगी।

और यदि इन का यत्न किया गया तो पराजय होगी ये दोनों बातें विचार कर उन्होंने पराजय को ही अच्छा समझ कर कुछ न कहा इस मौनता से शंकराचार्य के मत में शिथिलता आगई। तब पद्मपादाचार्य ने नृसिंह का स्मरण किया नृसिंह ने प्रगट हो उस भैरव के ऊपर प्रहार किया परन्तु वह महासिद्ध था उस शरीर को छोड़ कर दूसरे दिव्य शरीर को धारण कर प्रसन्न मुख हो सामने आकर मेघ के समान गम्भीर वाणी से कहा हे शङ्कराचार्य ? अद्वैत का पराजय होगया, तुम अपने आपको शत्रु मित्र पक्ष में समान कहते थे यह बात कहां गई, मैंने तो जैसे पहलवान नियुद्धनाम के दाव में अपने को गिरा कर दूसरे को गिराता है उसी प्रकार अपने शरीर के मूल्य पर तुम्हारे सिद्धान्त की हानि की है। इस लिये मेरा कार्य उचित है। तुम्हारी हानि तो मैं आगे भी करूंगा, अतः उठो और युद्ध करो। तब शंकराचार्य ने यह मान कर कि प्रारब्ध कर्मों का आवरण हम पर है वास्तव में क्रिया करना सन्यासियों का सिद्धान्त नहीं है युद्ध में असमर्थता प्रकट की। अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार कापालिक के कहने पर भी क्रिया न करना हमारा सिद्धान्त है। यह जब उसने स्थिर किया तब कापालिक ने योग माया उत्पन्न की, उसने चारों शिष्यों के सहित

आचार्य का मस्तक काट लिया, और फिर उसको जीवित कर दिया। तब शङ्कराचार्य को वैराग्य उत्पन्न हो गया, फिर पश्चिम दिशा में जाकर शक्ति का स्मरण किया, (यह पहली बात है) शंकराचार्य की उत्पत्ति दक्षिण में हुई थी वहां उन्होंने विष्णु पूजा आदि कर्म ही किये, परन्तु जब उससे चित्त को शान्ति न मिली तब पृथिवी प्रदक्षिणा के लिये यात्रा की और पूर्व दिशा में आकर वहां वैद्यनाथ नामक स्थान पर पूजा की वह पूजा ईश्वर ने स्वीकृत नहीं की। उन्हों ने कहा कि तुमने विष्णु की भक्ति की है, मैं जो साक्षात् ईश्वर हूँ तुमने मुझे क्यों भुला दिया तब शंकर ने अपराध क्षमापन नामक स्तोत्र बनाया और फिर विशेष रूप से शिव भक्ति की परन्तु फिर भी चित्त में शान्ति नहीं हुई, फिर पश्चिम दिशा में गया, वहां शक्ति रहित हो गया। फिर शक्ति का वृत्तान्त देखा तब शक्ति ने कहा कि शिव ही सब कुछ करेगा, फिर शक्ति से भयभीत होकर सौन्दर्य लहरी नामक स्तोत्र रचा और शाक्त बन गया। तब भी पूर्ण शान्ति नहीं हुई। फिर उत्तर दिशा को गया। वहां जाकर देखा तो वह दिशा महासिद्धों से भरपूर थी जहां गया वहीं सिद्धों ने उसका उपहास किया। वहां श्री तारानाथ ने कहा–तीर्थाटन ही करते रहोगे, या कुछ आत्मा साधन भी करोगे। तब शंकर ने कहा कि जो आप कहेंगे

वही करूंगा । तब महासिद्ध ने योग का उपदेश किया, उस उपदेश से शंकर का आत्मा सब बाधाओं से निवृत्त और प्रसन्न हो गया । तब उन्हों ने वज्र सूचिकोपनिषद् का निर्माण किया, वह उपनिषद् सर्वथा नाथमत के अनुसार है, वहां उन्होंने 'वेदान्ती बहुतर्क कर्कशमतिः' इत्यादि सिद्ध सिद्धान्त पद्धति का प्रमाण दिया ।

मू०—यथामंडन मिश्रः सुरेश्वराचार्यो जातस्तथाऽयमपि सिद्धोभूत्वा सिद्धान्तविन्दुप्रभृतिग्रन्थांरचकार । सिद्धान्तस्तु सिद्धस्य तात्पर्यार्थएव नतुवादिप्रतिवादिभिर्निर्णीतोऽर्थः सिद्धान्तः । एतन्मध्ये—'नचैकंतदन्यदाद्वितीयं कुतःस्यात्, तत्तद्वैताद्वैत विलक्षणत्वेनैवसिद्धान्तो जातः । न्यासिनान्त्वद्वैतमेवभवतीत्यपारीतिर्ज्ञेया । अन्यैःसिद्धान्तः कथ्यते । तेषां मुख्येसिद्धान्तशब्दप्रवृत्तिर्महासिद्धानांमुदागतोऽन्यमुखे सिद्धान्तःकेवलं रूढित एव । सिद्धानां मते रूढियौगिकं द्वयमपि वर्तते । तर्हि सिद्धान्तःसिद्धस्यैव तात्पर्यम् । एतत्कारणात् सिद्धस्यैव सिद्धान्तोनत्वन्यस्य । अतएव शंकरेण सिद्धान्तविन्दुः कृतः । प्रथमं तु दक्षिणदेशे कर्मसेवने विष्णू

पासना कृता पश्चात्पूर्वदेशे शिवदर्शने संन्यासो गृहीतः। पश्चिमे च शक्तिदर्शने शाक्तो जातः। तत्र तद्विषयकं प्रपंच सारादि ग्रन्थंकृतवान्।

पश्चादुत्तर देशे सिद्धोपदेशेनाऽवधूताऽवस्थागृहीता। तेनसर्वश्रेयो जातमिति।

भा०—जैसे मण्डन मिश्र ने सुरेश्वराचार्य होकर बहुत से ग्रंथ बनाए उसी तरह इन्होंने भी सिद्ध होकर सिद्धान्त बिन्दुइत्यादि ग्रंथों का निर्माण किया। वहां सिद्धान्त शब्द सिद्धों के तात्पर्य का बोधक है न कि वादी प्रतिवादी द्वारा निर्णीत अर्थ का उस सिद्धान्त बिन्दु में लिखा है कि एक नहीं है तो उसके अतिरिक्त दूसरा कहां से हो सकता है यह सिद्धान्त तो द्वैताद्वैत से विलक्षण ढंग का माना गया है। और सन्यासियों के मत में तो अद्वैत ही सिद्धान्त है। यह रीति जाननी चाहिये।

उन योगियों के मत से मुख्य विषय में जो उन्हें आनन्द से प्राप्त हुआ है सिद्धान्त शब्द की प्रवृत्ति होती है, अन्य लोगों के मत में तो सिद्धान्त की प्रवृत्ति सार्थक नहीं। किन्तु रूढ़ि से है। और सिद्धों के मत में सिद्धान्त रूढ़ि और यौगिक

दोनों प्रकार का है । इसलिए ये सिद्धि के तात्पर्य को ही सिद्धान्त कहते हैं। अन्य किसी के तात्पर्य को नहीं, इसी से शङ्कराचार्य ने सिद्धान्त बिन्दु की रचना की है, पहले दक्षिण में उन्होंने कर्मों का सेवन और विष्णु की उपासना की फिर पूर्व देश में शिव जी का दर्शन करके सन्यास ग्रहण किया, पश्चिम में शक्ति का दर्शन करके शाक्त हुए, वहां उन्होंने शाक्त सिद्धान्त क प्रपञ्चसार नामक ग्रन्थ बनाया, फिर उत्तराखण्ड में सिद्धों के उपदेश से अवधूता-चर्या प्राप्त की। उसी से उनको समस्त कल्याणों की प्राप्ति हुई।

मू०—ननुकापालिकप्रसंगकथनादेतेपां कापालिक मतमिति केश्चिज्ज्ञायतइति, तत्तुनास्त्येव, अस्माकं मतन्त्व वधूतमेव। परन्तु कापालिकमपि मतं नाथेनैव प्रकटीकृतम्। एतन्मार्गस्य प्रकटकर्ता नाथएव।

तदुक्तंशाबरतन्त्रे—

आदिनाथो ह्यनादिश्चकालश्चैवातिकालकः ।
करालो विकरालश्च महाकालश्च सप्तमः ॥
काल भैरवनाथश्च बटुकस्तदनन्तरम् ।

भूतनाथोवीर नाथः श्रीकंठो द्वादशोमतः ॥
एते कापालिकाः प्रोक्ता वीरतुम्बीमहाफलैः ।
गुरूणां सूर्यसंख्याचतानिहवच्मिसंश्रृणु ॥
नागार्जुनो जड़भरतो हरिश्चन्द्रस्तृतीयकः ।
सत्यनाथो भीमनाथो गोरक्षश्चपर्टस्तथा ॥
अवद्यश्चैव वैराग्यः कन्थाधारी जलन्धरः ।
मार्गप्रवर्तका ह्येतेतद्वच्चमलयार्जुनः ॥

भा०—यहां यह शंका होसकती है कि यहां कापालिकों का बहुत कथन किया गया है, इससे जान पड़ता है कि योगियों का कापालिक मत है, परन्तु ऐसा कदापि नहीं हो सकता। हमारा मत तो अवधूत ही है। हां कापालिक मत को प्रकट नाथ जी ने ही किया है। जैसा कि शावर तंत्र में वर्णन किया है आदिनाथ तथा अनादिनाथ, काल, अतिकालक, कराल, विकराल, और सातवां महाकाल, काल भैरव, नाथ, और इसके बाद वटुक, भूतनाथ, वीरनाथ, और बारहवां श्रीकंठ, ये वीर तुम्बी महाफलों करके कापालिक कहे गये हैं। गुरुओं की संख्या भी बारह ही है। उन्हें भी कहता हूं सुनो नागार्जुन, जड़भरत, तीसरा हरिश्चन्द्र, सत्यनाथ, भीमनाथ, गोरक्ष

और चर्पट, अवद्य, वैराग्य, कंथा धारी, जलंधर मलयार्जुन ये सब मार्गप्रवर्तक हैं।

मू०—पुनः शैवः शाक्तोपि मार्गस्तन्त्राऽनुसारी। तस्याप्युपदेष्टानाथ एव। नाथैर्नवराचितानि तंत्राणि। तदुक्तं षोडशनित्या तन्त्रे—

कादि मंत्रभेवद् रूपा सा शक्तिः सर्वसिद्धये।
तंत्रं मदुक्तं भुवने नवनाथैरकल्पयत्॥
तया तै भुवनेतंत्र कल्पेकल्पे विजृम्भते।
अवसानेतु कल्पानां सा तैः सार्धं व्रजेच्च माम्॥
नामपर्यायतो व्यासं कालायाससमिति द्वयम्।
प्रसिद्धं यावतो यच्च श्रीणिनामानिसाधके॥
नमस्ते नाथ भगवन् शिवाय गुरु रूपिणे।
विद्याऽवतार संसिद्ध्य स्वीकृताऽनेकविग्रह ?॥
नवाय नवरूपाय परमार्थैकरूपिणे।
सर्वज्ञान तमोभेदभानवे चिद्घनायते॥
स्वतंत्राय दयाशक्तिविग्रहाय रसात्मने।
परतंत्रायसक्तानां भव्याय भव्यरूपिणे॥

पुनःयोगस्तु कस्यापि सापेक्षोनास्ति। परन्तु तांत्रिकाणामयमेव सिद्धान्तो वर्तते यत्रोत्तरावस्थाऽवधूतएव।

भा० टी०—शैव और, शाक्त मार्ग भी तंत्रानुसारी हैं। उन मार्गों का उपदेश करने वाला भी नाथ ही है। तंत्र ग्रन्थ भी नाथ जी ने ही रचे हैं। जैसा कि षोडश नित्या तन्त्र में कहा है। कादि संज्ञा रूपा शक्ती है। वही शक्ति सब सिद्धियों की प्राप्ति के लिये होती है मेरे कहे हुए तन्त्र को नवनाथों द्वारा उस शक्ति ने प्रकाशित किया उसी शक्ति से नवनाथों द्वारा प्रत्येक कल्प में तंत्र प्रकाशित होता है। और कल्पान्त में वह शक्ति उन्हीं के साथ मुझे प्राप्त होती है। समानार्थ नामों से व्याप्त और काल से प्राप्त, दो ये और बाहर से प्रसिद्ध ये तीन नाम साधक में हैं। हे भगवन् नाथ आप शिव रूप हैं और गुरु रूप हैं।

आपको नमस्कार है, विद्या के प्रकाश की सिद्धि के लिये आपने नाना प्रकार के रूपों को धारण किया है। आप नव हैं नवरूप हैं परन्तु वास्तव में आपका रूप एक ही है। समस्त अज्ञान रूपी अन्धकार को नष्ट करने वाले चिद् रूप आपके लिये नमस्कार है।

आप स्वतंत्र दयाशक्ति रूप और रसात्मा हैं। आप अपने भक्तों के आधीन हैं, और परममनोहररूप धारी हैं योगतो किसी की अपेक्षा नहीं रखता। तान्त्रिकों का यह सिद्धान्त है

मू०—कापालिको मार्गः किमर्थंप्रकटीकृत इत्यपेक्षायामाह। विष्णोश्चतुर्विंशति संख्यका अवतारास्तेचकार्यान्तेमदोन्मत्ताजाताः। कथम्? यथाऽन्ये तिर्यग् योनयो जन्तवः क्रीड़ाः कुर्वन्ति तथा वराहो नृसिंहश्चेत्यादयो भूदारणजन्यभय दानादिकरणे प्रवृत्ताः। पुरग्रामा दिताड़नं केषांचित् समुद्रपातोऽपि। तत्रापि कृष्णेन व्यभिचारिभावो विशेषेणधृतः। परशुरामेणैकक्षत्रिय दोषेऽनेकेषां क्षत्रियाणां नाशः कृतः, इत्यादि विरुद्धाचारोपरिनाथेन कोपं कृत्वा चतुर्विंशत्यवतारोपरि चतुर्विंशति कापालिकरूपाणिधृत्वा चतुर्विंशत्यवतारैः सह समरं कृतम्। तत्र सर्वेषामवताराणां कपालानिछिन्नानि कृतानि, स्वकरैस्तानि धृतानि तेन कापालिका जाताः। पुनस्तेसर्वे कपालच्छेदान्मदशीना जाताः, तदा वरं दत्त्वा कपालानि तच्छरीरे धृतानि तेनजीविताबभूवुरीति।

भा०—अब आगे कापालिक मार्ग क्यों प्रकट किया इसका उत्तर देते हैं—विष्णु के चौबीस अवतार हुए वे अपने २ कार्य के अन्त में मदोन्मत्त हो गए। कैसे? जैसे अन्य जीव जन्तु क्रीडा करते हैं वैसे ही वराह नृसिंह आदि ने पृथिवी

फाड़ना, जंगली जीवों को भयभीत करना, इत्यादि कार्यों में संलग्न हो गए। नगर और ग्रामों को पीड़ित करते थे, बहुतों को समुद्र में भी गिरा देते थे। कृष्ण ने तो बहुत ही व्यभिचार फैलाया, तथा परशुराम ने एक क्षत्रिय के दोष से सभी क्षत्रियों को नष्ट करना आरम्भ कर दिया, इन विरुद्ध आचरणों से श्रीनाथ जी ने क्रुद्ध होकर २४ अवतारों पर चौबीस कापालिक रूप धारण करके उनके साथ युद्ध किया और उनके सिर काट कर हाथ में लिये इसीलिए कापालिक कहाए। फिर वे सब सिर कट जाने से मदहीन होगए तब फिर उन्हीं के कपाल उनके ऊपर धर कर उन्हें जीवित कर दिया।

मू०—कानिचिच्छास्त्राणिमोक्षरक्षकाणि कानिचिद्व्यवहाररक्षकाणि। तत्रमोक्षरक्षकाणियोगशास्त्राणिव्यवहाररक्षकाणिश्रुतिस्मृत्यादीनि। मुमुक्षवः पुरुषाः कोटीनांमध्येद्वित्राएवभवन्ति, व्यवहारिणस्तुकोटिकोटिरेव। अतः कारणाद्व्यवहारार्थविधिवाक्यशास्त्राणि बहूनिसन्ति। कथं? व्यवहारिणांबाहुल्यात्। योगशास्त्रंतुस्वल्पम्। कथं? मुमुक्षुपुरुषाणामल्पत्वात्। वेदादिशास्त्राणामपि योगोवर्ततएव। सर्वेषां च तात्पर्ययोगएवास्ति परन्त्वेतद्रीत्या,

१. यहां पर शिरच्छेदनमें तात्पर्य नहीं किन्तु हास्य रस है।

यथा समुद्रे रत्नानिशंखाः पाषाणखण्डानिजलंजलजन्तव-श्चेत्याद्यनेक वस्तूनि सन्ति । तथा वेदादिशास्त्रेष्वपियोगा-दीनिसन्ति । समुद्रेचेतरवस्तुसुलभंरत्नन्तु श्रमेणलभ्यते । एवंवेदादिशास्त्रेष्वनहारादि सुलभम् , योगस्तुभूरिश्रमेण लभ्यते । योगशास्त्रेतुयोग एव लभ्यते नान्यदस्ति किञ्चि-दसारं यथारत्नखनौरत्नमवेति । सच योगोगुरुकृपयाल्पश्र-मेणवप्राप्तोभवेत् । अतोऽन्यत्सर्वंपरित्यज्ययोगएवसेवनीय इति ।

भा०—कुछ शास्त्रमात्र रक्षक और कुछ व्यवहार रक्षक हैं, उनमें योग शास्त्र मात्र रक्षक हैं, और श्रुतिस्मृति आदि व्यवहार रक्षक हैं। मुमुक्षु पुरुष करोडों में दो तीन ही होते हैं परन्तु व्यवहार रक्षक सभी होते हैं अतः व्यवहार रक्षा के लिये विधि वाक्य शास्त्र बहुत से हैं, क्योंकि संसार में व्यवहारी लोग ही अधिक हैं। योग शास्त्र अत्यन्त सूक्ष्म है, क्योंकि मुमुक्षु पुरुष तो होते ही बहुत थोड़े हैं। वेदादि शास्त्रों में भी योग है अवश्य, क्योंकि अन्त में सब का तात्पर्य योग में ही है। परन्तु रीति में भेद है, जैसे समुद्र में रत्न शंख पत्थरों के टुकडे जल और जल जन्तु इत्यादि बहुत सी वस्तुएं होती हैं। इसी

प्रकार वेदादि शास्त्रों में भी योग आदि सभी वस्तुएं हैं, समुद्र में और चीजें सुगमता से मिल जाती हैं, परन्तु रत्न कठिनता से मिलते हैं, ऐसे ही वेदादि शास्त्रों में भी व्यवहार आदि सुगमता से प्राप्त हो जाते हैं, परन्तु योग बड़े परिश्रम से प्राप्त होता है, योग शास्त्र में तो रत्नों की खान में रत्नों के समान योग ही योग है, अन्य असार वस्तुएं नहीं हैं। वह योग गुरु की कृपा हो जाय तो थोड़े ही परिश्रम से प्राप्त हो जाता है। इसलिये सब कुछ छोड़ कर योग का ही सेवन करना चाहिये।

मू०—पृथ्वीकर्त्रीमहादेवी नाथाः शास्त्रस्यबंधका।
ब्रह्मतत्त्वविदित्याद्याः शरभाद्यास्तुरचकाः॥

ननुश्लोकेतुपृथ्वीकर्त्रीत्युक्तंभवद्भिस्तुनाथः कर्तेत्युच्यतेतत्कथमितिचेदुच्यते। नाथाः शास्त्रस्यबंधकाइत्यनेन शास्त्रप्रबन्धकत्वंतूक्तमेव, पुनः कर्तृत्वंतुपृथिव्या अपि नाथ स्वरूपत्वेनैव, चतुरशीतिसिद्धगणनायामादिकुमारीनामकसिद्धत्वेनोक्तत्वात्। सिद्धाश्चरूपत्वेनाऽप्रसिद्धाएवेतितथैव यत्साधनं कर्तव्यं यत्नेनैव साधनेनसिद्धिर्भवेदित्येवंतुयोगएवपरंसाधनमित्याशयेनोक्तं—

योगमार्गात्परोमार्गोनास्तिनास्तिश्रुतौस्मृताविति।

तदपन्तश्च श्रेष्ठा उक्ता इति सर्वत्रलभ्यते । एवं चर्योगिनः श्रेष्ठास्तेषांश्रैष्ठ्यंगम्यत्वेनाप्याह पद्मपुराणे

मर्यादांस्थापयामास यथास्थानं यथागुणं ।
वर्णानामाश्रमाणांच धर्माधर्मभृतांवर ॥
लोकाश्च सर्ववर्णानांसम्यग्धर्मानुपालिनाम् ।
प्राजापत्यंब्राह्मणानांस्मृतंस्थानंतुपार्थिव ॥
स्थानमैन्द्रंक्षत्रियाणांयतीनामूर्ध्वरेतसाम् ।
स्मृतंतेषान्तुयत्स्थानंतदेवगुरुवासिनाम् ॥
सप्तर्षीणाञ्चयत्स्थानं स्मृतंतद्वैवनौकसाम् ।
प्राजापत्यंगृहस्थानांन्यासिनां ब्रह्मसंज्ञितम् ॥
योगिनाममृतंस्थानं ब्रह्मणः परमंपदम् ।
एकान्तिनः सदोद्युक्ताध्यापिनोयोगिनोहिये ॥
तेषांतत्परमस्थानं यत्रपश्यन्तिसूरयः ।
गत्वागत्वानिवर्तन्तेचन्द्रादित्यादयो ग्रहाः ॥
अद्यापिननिवर्तन्तेप्राणायाम परायणाः ।

गीतायांच—

वेदेषुयज्ञेषुतपस्सुचैवदानेषुयत्पुण्यफलंप्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगीपरंस्थानमुपैतिचाद्यम् ॥

भा०—महादेवी पृथिवी कर्त्री है, नाथ शास्त्रके निर्मापक हैं। मच्छन्दरगोविन्द और शम्भ आदि सिद्ध रक्षक हैं। यहां शंका होती है कि श्लोक में पृथिवी को कर्त्री बतलाया है आप लोग नाथ को कर्ता कहते हैं यह कैसे हो सकता है उत्तर नाथ शास्त्र के बन्धक हैं, इस से नाथों को शास्त्र का प्रबन्धक तो कहाही है। पृथिवी का कर्तृत्व भी नाथ रूप से ही है। क्योंकि चौरासी सिद्धों की गणना में आदि कुमारी नाम से पृथिवी को भी एक सिद्ध कहा गया है। सिद्ध तो असली रूप में अप्रसिद्ध ही है उसी प्रकार जो साधन करना हो यत्न से ही उसकी सिद्धि होती है, इससे यह सिद्ध होगया कि योग ही सब से बढ़कर साधन है। इसी अभिप्राय से कहा गया है कि योग के समान साधन श्रुति स्मृति में नहीं है। उस योग के धारण करने वाले श्रेष्ठ हैं यह सब जगह देखा जाता है, इस प्रकार योगी श्रेष्ठ हैं, उनकी श्रेष्ठता गम्य रूप से भी कही गई है। जैसा कि पद्म पुराण में कहा है, हे धर्माधर्मधारियों में श्रेष्ठ? स्थान और गुणके अनुसार वर्णों और आश्रमों की मर्यादा को स्थापित किया, धर्म के पालन करने वाले वर्णाश्रमों का स्थान

लोक है, और हे राजन् ? ब्राह्मणों का स्थान प्राजापत्य है। क्षत्रियों का स्थान ऐन्द्र है, और ऊर्ध्वरेता संन्यासियों का जो स्थान कहा गया है वही गुरु की सेवा करने वालों का स्थान बताया है, जो सप्तऋषियों का स्थान कहा है वही वनवासियों का है, गृहस्थियों का प्राजापत्यस्थान है और संन्यासियों का ब्रह्मनामक स्थान है। जो ब्रह्म का अमृत पद है वह योगियों का स्थान है। सदा उद्योगी और एकान्तवासी जो योगी हैं उनका वह स्थान है जिसको ब्रह्मज्ञानी लोग ही देखते हैं। चन्द्र सूर्य आदि ग्रह नष्ट हो होकर वार २ उत्पन्न होते हैं परन्तु प्राणायाम में तत्पर योगी लाग फिर नहीं लौटते। गीता में भी कहा है वेदों यज्ञों तपों और दानों में जा पुण्यफल कहा है उस पुण्य फल को तत्त्व वेत्ता योगी पार कर जाता है उस फल से भी आगे बढ़ जाता है। और मुख्य स्थान को प्राप्त हो जाता है।

मू०—एवंसर्वनमस्कार्थमेतन्मतमिति।

तत्रयूयंकेऽपियदेतभयन्मतेश्रुतिः साधिकानास्तीतितेपामज्ञा-त्वामतरहस्यमेवंवदतांयुष्माकंतात्पर्यमस्माभिर्विदितप्रायमेवेति। तदेवमस्ति। एवंप्रलोचमाना अपिकदाचिच्छ्रुत्याश्रयत्वमङ्गीकुर्वे-न्तुनामैते। तन्नकरिष्यते। किन्त्वेतत्साक्षादनिर्वचनीयंतत् सत्य-स्वरूपंतत्त्वंयस्याऽऽश्रयत्वंसर्वस्यविदितमेवोतत स्यैव प्रवृत्तिशाखा-

अयत्वंकेन प्रकारेणाङ्गीक्रियते । यदस्माकमत्रश्रुत्याश्रयाणाङ्गीक-रणंराज्ञामिवमंत्र्याश्रयणाङ्गीकरणंभवति । तथाचोक्तंमहाभारते मोक्षधर्मे—

ऋचोयजूंषिसामानिशरीराण्यपाश्रिताः ।
जिह्वाग्रेषु प्रवर्तन्तेयत्नसाध्याविनाशिनः ॥
नचैवमिष्यतेब्रह्मशरीराश्रयसंभवम् ।
नयत्नसाध्यंतद्ब्रह्मनादिमध्यंनचान्तवित् ॥
ऋचामादिस्तथा साम्नांयजुषामादिरुच्यते ।
अन्तश्चादिमतांदृष्टोनत्वादिर्ब्रह्मणः स्मृतः ॥
अनादित्वादनन्त्वात्तदनन्तमथाऽव्ययम् ।
अव्ययत्त्वाचनिर्दुःखं द्वन्द्वाभावस्ततः परम् ॥
अन्यच, अग्निर्यथाह्युपायेनमथित्वादारुदृश्यते ।
तथैवात्माशरीरस्थोयोगेनैवात्रदृश्यते ॥

पुनः—

आदिज्ञानीभवेद्ब्रह्मायुगादिज्ञानियोगिनः ।

गीतायाम्—

यामिमां पुष्पितांवाचंप्रवदन्त्यविपश्चितः ।

वेदवादरताः पार्थ ? नान्यदस्तीतिवादिनः ॥
कामात्मानः स्वर्गपराजन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलांभोगैश्वर्यगतिंप्रति ॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानांतयाऽपहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिकाबुद्धिः समाधौननिधीयते ॥

येनचपरमवेदप्रणवस्याश्रयोऽङ्गीकृतोवातेनस्थूलवेदस्याऽऽश्रयोनाङ्गीकर्तव्य ।

चतुर्वेदविदोविप्राः सूक्ष्मब्रह्मविदन्तिन ।
वेदभारभराक्रान्तास्तेविप्राः पुरुषाधमाः ॥

एतदेवाभिप्रत्येकावेषयगीतायाम्—

दुर्वासा कश्चिन्मुनिर्बहुविधशास्त्रपुस्तकभारैः सहमहादेवनमस्कर्तुमागत्यतत्सभायां नारदेनकेनचिन्मुनिनाभारवाहिगर्दभसाम्यमापादित, कोपात्पुस्तकानिलवणार्णवेपरित्यज्यमहादेवेनाऽऽत्मविद्यायाप्रवर्तितइति ।

गृहेगृहेपुस्तकभारभाराः पुरेपुरेपंडितयूथयूथाः ।
वनेवनेतापसवृन्दवृन्दानब्रह्मवेत्तानचकर्मकर्ता ॥

एवचबहव प्रस्तावा सन्तीति, एकमुत्तरम् ।

भा०—इसलिये यह मत सबके नमस्कार करने योग्य है। उस विषय में तुम में से कोई यह कह सकता है, कि आपके मत को सिद्ध करने वाला श्रुति का प्रमाण नहीं मिल सकता। उन योगियों के तात्पर्य को न जानकर आपलोग जो यह कहते हैं, आपके तात्पर्य को भी हम जानते ही हैं, वह ऐसे हैं कि इस प्रकार बार २ उकसाए जाने पर भी हम श्रुति का यह प्रमाण देकर यह स्वीकृत कर लेंगे कि हमारा आश्रय भी वेद है, परन्तु हम ऐसा नहीं करेंगे, क्योंकि साक्षात् अनिर्वचनीय जो सत्य तत्त्व है और सर्व प्रसिद्ध सबका आश्रय है, वह प्रवृत्ति शास्त्र के सहारे है यह माना ही कैसे जा सकता है। क्योंकि यह स्वीकार करना कि हमारा आश्रय भी वेद है, ऐसी ही बात है जैसे यह कहना कि मंत्री राजा के सहारे है। जैसा कि महाभारत में मोक्ष धर्म में कहा है—

ऋग् यजु साम ये शरीरों के सहारे रहने वाले हैं बड़ा यत्न करने पर कंठस्थ रहते हैं और नाशवान् हैं। परन्तु ब्रह्म शरीर के आश्रय रहने वाला नहीं है। वह न यत्न साध्य है, न आदि मध्य और अन्त युक्त है, ऋग्वेद यजुर्वेद और सामवेद का आदि मध्य और अन्त है, परन्तु ब्रह्म का आदि और अन्त न होने से वह अनन्त और अव्यय कहा गया है

अनन्त होने से दुःखरहित और द्वन्द्वातीत कहा गया है। और भी देखिये जैसे उपाय पूर्वक लकड़ी के मथने से उसमें अग्नि दीख पडती है, इसी प्रकार योग से शरीर में आत्मा प्रकट हो जाता है, और देखिये—ब्रह्मा सृष्टि के आरम्भ से उसका ज्ञान रखता है, परन्तु योगी लोगों को कल्प कल्पान्तरों का ज्ञान होता है। गीतामें भी कहा है—जो वेद वाद में लगे हुए और कुछ नहीं है ऐसा कहने वाले कामनाओं से ग्रस्त भोग ऐश्वर्य तथा जन्म कर्म फल देने वाली क्रियाओं से जटिल (पेचीदी) चिकनी चुपडी बातें करते हैं ऐसे लोगों द्वारा जिन का मन हरण हो चुका है जो भोग और ऐश्वर्य के लालची हैं उनकी बुद्धि समाधि में निश्चयात्मक नहीं हो सकती। जिसने परमवेद ओंकार का आश्रय लिया है वह कैसे स्थूल वेद का आश्रय कर सकता है। चारों वेदों के ज्ञाता जो ब्राह्मण सूक्ष्म ब्रह्म को नहीं जानते वे वेद के भारी बोझ से व्यर्थ ही अपनी बुद्धि को खपाते और वे ब्राह्मणों में अयोग्य है। यही समझ कर कावेषय गीता में कहा है कि—दुर्वासा नाम का कोई मुनि नाना प्रकार के पुस्तकों के बोझ को उठाकर महादेव को नमस्कार करने आया तो नारद मुनि ने उसको गधे की उपमा दी तब उसने क्रोध में आकर उन सब पुस्तकों का खार समुद्र में फैंक दिया और

महादेव ने उसको आत्मविद्या में लगाया। घर २ में पुस्तकों के बोझ हैं। नगर २ में पंडितों के झुंड हैं जंगल २ में तपस्वियों की टोली हैं परन्तु न तो उनमें कोई ब्रह्म वेत्ता है और न कर्म कर्ता है। इस प्रकार बहुत से प्रस्ताव हैं उनमें यह पहला एक उत्तर है।

मू०—पुनर्भवद्भिस्तु श्रुतयः पुनः पुनरुच्यन्ते, तत् किमिति। वेदास्तुकर्मनिरूपकास्तदधिकारिणामेवौचित्यंदर्शयन्ति। एतेयोगिनस्तुसंसारत्यागीनो निष्कर्माणः। किंचवेदेप्रमुख्यत्वेनाग्निहोत्रादि यज्ञकर्म्माणि दृश्यन्तेतानिचाग्निसाध्यानि। एतेतुनाग्नेः स्पर्शमपि कुर्वन्ति। ['अग्नेरेवगृहपतित्वमिहाग्नेगृहंते'] इत्यादि श्रुतेः। यतएतेषांकिमाचरणमुपधार्यैतान्निरूपयन्ति। बाहुल्येनवेदविदा श्चैते किंप्रयोजनमङ्गीकृत्याऽङ्गीकुर्युर्वाचोविग्लापनंहितदित्यादिश्रुति वाक्यैरेव। एवं विस्मृश्यसुधियोविरमन्ति। शब्दादित्यादिपुराण वाक्यैरेवचतदनङ्गीकरणंदर्शितम्। किंच ['नाऽयमात्माप्रवचनेन लभ्योनमेधयानबहुनाश्रुतिनेतिश्रुतेः]। बहुशास्त्रकथाकन्थारोमन्थेन वृथैवकिम्। [अन्वेष्टव्यः प्रयत्नेनतत्त्वज्ञैर्ज्योतिरान्तरमिति]।

अधीत्यचतुरोवेदान् धर्मशास्त्राण्यनेकशः।
ब्रह्मतत्त्वंनजानन्ति दर्वीपाकरसंयथा ॥

अनन्त होने से दु:खरहित और द्वन्द्वातीत कहा गया है। और भी देखिये जैसे उपाय पूर्वक लकड़ी के मथने से उसमें अग्नि दीख पड़ती है, इसी प्रकार योग से शरीर में आत्मा प्रकट हो जाता है, और देखिये—ब्रह्मा सृष्टि के आरम्भ से उसका ज्ञान रखता है, परन्तु योगी लोगों को कल्प कल्पान्तरों का ज्ञान होता है। गीतामें भी कहा है—जो वेद वाद में लगे हुए और कुछ नहीं है ऐसा कहने वाले कामनाओं से ग्रस्त भोग ऐश्वर्य तथा जन्म कर्म फल देने वाली क्रियाओं से जटिल (पेचीदी) चिकनी चुपड़ी बातें करते हैं ऐसे लोगों द्वारा जिन का मन हरण हो चुका है जो भोग और ऐश्वर्य के लालची हैं उनकी बुद्धि समाधि में निश्चयात्मक नहीं हो सकती। जिसने परमवेद ओंकार का आश्रय लिया है वह कैसे स्थूल वेद का आश्रय कर सकता है। चारों वेदों के ज्ञाता जो ब्राह्मण सूक्ष्म ब्रह्म को नहीं जानते वे वेद के भारी बोझ से व्यर्थ ही अपनी बुद्धि को दबातें और वे ब्राह्मणों में अयोग्य है। यही समझ कर कावेषय गीता में कहा है कि—दुर्वासा नाम का कोई मुनि नाना प्रकार के पुस्तकों के बोझ को उठाकर महादेव को नमस्कार करने आया तो नारद मुनि ने उसको गधे की उपमा दी तब उसने क्रोध में आकर उन सब पुस्तकों का भार समुद्र में फैंक दिया और

महादेव ने उसको आत्मविद्या में लगाया। घर २ में पुस्तकों के बोझ हैं। नगर २ में पंडितों के झुंड हैं जंगल २ में तपस्वियों की टोली हैं परन्तु न तो उनमें कोई ब्रह्म वेत्ता है और न कर्म कर्ता है। इस प्रकार बहुत से प्रस्ताव हैं उनमें यह पहला एक उत्तर है।

मू०—पुनर्भवद्भिस्तु श्रुतयः पुनः पुनरुच्यन्ते, तत् किमिति। वेदास्तुकर्मनिरूपकास्तदधिकारिणामेवौचित्यंदर्शयन्ति। एतेयोगिनस्तुसंसारत्यागीनो निष्कर्माणः। किंचवेदेषुमुख्यत्वेनाग्निहोत्रादि यज्ञकर्म्माणि दृश्यन्तेतानिचाग्निसाध्यानि। एतेतुनाग्नेः स्पर्शमपि कुर्वन्ति। ['अग्नेरेवगृहपतित्वमिहाग्नेगृहंते'] इत्यादि श्रुतेः। यतएतेषांकिमाचरणमुपधार्यैतान्निरूपयन्ति। वाहुल्येनवेदविदा श्चैते किंप्रयोजनमङ्गीकृत्याऽङ्गीकुर्युर्वाचोविग्लावनंहितदित्यादिश्रुति वाक्यैरेव। एवं विमृश्यसुधियोविरमन्ति। शब्दादित्यादिपुराण वाक्यैरेवचतदनङ्गीकरणंदर्शितम्। किंच ['नाऽयमात्माप्रवचनेन लभ्योनमेधयानवहुनाश्रुतिनेतिश्रुतेः]। बहुशास्त्रकथाकन्थारोमन्थे न वृथैवकिम्। [अन्वेष्टव्यः प्रयत्नेनतत्त्वज्ञैर्ज्योतिरान्तरमिति]।

अधीत्यचतुरोवेदान् धर्मशास्त्राण्यनेकशः।
ब्रह्मतत्त्वंनजानन्ति दर्वीपाकरसंयथा॥

इत्यादि। किंच, एतेषासत्यस्वरूपभूताना महिमानं निरूपयन्तो वेदामुह्यन्तीवचाऽऽवृत्तिविषयत्वात्। तथाचकर्मकाण्डेमुख्यमपि ज्ञाननमुख्यत्वेनदर्शयन्ति, दर्शितेचतस्मिन् कर्ममोहएव स्यात्। एवंज्ञानकाण्डेचयोगतन्महिम्निदर्शितेज्ञानमोह स्यादिति। तथा च वेदेषु तन्महिमानोपलभ्यतइत्येतदेवाभिप्रेत्योगोगपर्वणिमनत्सुजातीयउक्तम्—आभातिशुक्लमिव लोहितमिवाथोकृष्णमायसमर्कवर्णम्। नपृथिव्यांतिष्ठतिनान्तरीक्षेनैतत्समुद्रेसलिलंबिभर्ति। नतारकासुनचविद्युताश्रितनचाऽभ्रेषुदृश्यते रूपमस्य। नचापि वायौ नचदेवतासुनैतच्चन्द्रे दृश्यते नोतसूर्ये। नैवर्क्षुतत्नयजुःषुनाप्यथर्वसुनदृश्यतेवैविमलेषुसामसु। रथन्तरेवार्हद्रथेवापिराजन्? महाव्रतेनैवदृश्यतेध्रुवतत्। अपारणीयतमसः परस्तात्तदन्तकोप्येतिविनाशकाले अणीयरूपक्षुरधारयामममहच्चरूपतद्वैपर्वतेभ्यः।

सा प्रतिष्ठातदमृतंलोकास्तद्ब्रह्मतद्यशः।
भूतानिजज्ञिरेतस्मात्प्रलयंयान्तितत्रहि॥
अनामयतन्महदुद्यतयशोवाचोविकारंकवयोवदन्ति।
तस्मिन्जगत्सर्वमिदप्रतिष्ठितंयेतद्विदुरमृतास्तेभवन्ति।

ननुतद्विदुरित्यनेनयोगोपमर्दनेनज्ञानमेवोगमितिचेन्न एतस्यैव शास्त्रस्यामिमेऽध्याये।

यत्तच्छुक्लंमहज्ज्योतिर्दीप्यमानंमहद्यशः ।
तद्वैदेवाउपासन्तेतस्मात्सूर्योविराजते ॥
योगिनस्तंप्रपश्यन्तिभगवन्तंसनातनमित्यादि ।

सविस्तरमुक्तम्। अतोग्रन्थभारवहनंवृथैवकिन्तु तदन्तर्गतसो
पयुक्तंसारमात्रंगुरुवाक्याद्गृहीत्वायोगेनकृतकृत्यो भवेदिति ।

आत्मनस्तत्त्वमज्ञात्वामूढः शास्त्रेषुमुह्यति: ।
गोपकक्षागतच्छागेकूपेपश्यतिदुर्मतिः ॥
विदन्तोनात्मनोभावंवदन्तोपनिषद्गिरः ।
रहस्युपदिशन्त्यन्येस्वयंनानुभवन्तिते ॥
विहाययोगशास्त्राणिनानागुरुमतानिच ।
अहंकाराद्धताकेचिज्ज्ञात्वाशास्त्रसमुच्चयम् ॥
उपदेशंनजानन्तिनचग्रन्थशतैरपि ॥

इति द्वितीयउत्तरम् ।

प्र०—फिर आप तो बार २ वेद ही पुकारते हैं, यह क्या बात है वेद तो कर्म का निरूपण करते हैं, इसलिये कर्माधिकारियों के लिए ही उचित है ये योगी लोग तो कर्म रहित संसार त्यागी हैं। दूसरे वेद में मुख्य रूप से अग्नि-होत्रादि कर्मों का विधान है वे सब अग्नि साध्य हैं। ये लोग

योगियों को ही उसका अधिकारी कहा गया है। इस लिए किताबों का बोझ ढोना वृथा है। किन्तु उस में से अपने लिये उपयुक्त सारभूत गुरु के वचन से ग्रहण करके योग से कृतकृत्य हो जाय। आत्मा के तत्त्व को न जान कर मूढ ही शास्त्रों की भूल भुलैया में घूमता फिरता है। जैसे किसी का बकरा उसी के मकान में जा बैठा पर वह मूर्ख उसे कूप में ढूढता है। उसी तरह बहुत से लोग आत्मा के अस्तित्व को न जानते हुए उपनिषदों के वचनों को बोलते हुए दूसरों को रहस्य का उपदेश करते हैं, पर स्वयं अनुभव नहीं करते।

योग शास्त्र और गुरु वाक्यों को छोड़कर अहंकार में फंसे हुए शास्त्रों के ढेर को भी जान कर सैंकड़ों ग्रन्थों से भी उपदेश को नहीं जानते। यह दूसरा उत्तर है।

मू०—पुनस्तदेवमुख्यंतयोच्यते—

श्रुतिस्त्वस्मिन्नपिमते साधिकैवास्ति, परन्त्वेतन्मतस्य बोधो युष्माकंनास्ति। तेनयूयंशंकरवैष्णवप्रवर्तितमार्गानुसारितत्त्वमालम्ब्यवदथ—श्रुतिःसाधिकानास्तीति, तत्सत्यं शंकररामानुजादिश्रुतयश्चात्र साधिकामाभवन्तुनाम श्रुतयस्तुभविष्यन्त्येवसाधिका इत्ययं भावः। वेदस्तुशाखाभेदैरनेकधाविस्तृतः। तत्रपञ्चा-

दुपनिषदो निबन्धाः कृताः, ततोप्यधिकाउपलभ्यन्ते । न निबन्धेनप्रायो निर्णयव्यवहारः । तत्रापिशङ्करेण दर्शिताऽभिमताउपनिषदईशकेनेत्यादयः प्रसिद्धाः । रामानुजप्रभृतिभिस्तुदशस्वपिशङ्कराभिमतादन्योर्थ इतिस्पष्टमुदीर्यते । एवमन्येऽपि स्वाभिप्रायानुसारिवेदस्यतात्पर्यंवर्णयिष्यन्ते । तावतातत्तात्पर्यं तेषामेव, न तुवेदस्येति । यथाविरोचनः प्रजापतिनाऽनुशिष्टोऽपि स्वचित्तदोषेणदेहआत्मत्वबुद्धिंदृढीकृत्याऽसुरान्सर्वाननुशशासेतिछान्दोग्येस्पष्टमाख्यायिकास्ति । यतोयोगिनांस्थूलवेदे प्रयोजनमेवनास्ति, सर्ववेद मूलभूत ओंकारएवप्रयोजनंतात्पर्यं च । तत्र सर्ववेदानांलयोदयौभवतोयतओंकारप्रतिपादिकाः सर्वाःश्रुतयोऽत्र साधिकाः तथाहिवेदस्यसारतरः प्रणवः । भूरित्येवर्ग्वेदादजायतभुवइतियजुर्वेदात् स्वरितिसामवेदात् , तानिशुक्राण्यभ्यतपत् तेभ्यस्त्रयोवर्णाअजायन्तअकारउकारोमकारइति । ता अनेकधासमभरत्तदेतदोमिति ।

भा० टी०—पुनः मुख्य उत्तर इस प्रकार दिया जाता है । हमारे मत को श्रुति सिद्ध करती है, परन्तु तुमको इस मत का ज्ञान ही नहीं है । इसी से तुम शंकर और वैष्णवों के चलाए हुए मार्ग के अनुयायी बन कर कहते हो कि श्रुति तुम्हारे मत

को सिद्ध नहीं करती। यह सत्य है कि शंकर और रामानुज के मत की आधार भूत श्रुतियां हमारे मत की बाधक न हों परन्तु श्रुतियां साधक अवश्य हैं। वेद तो नाना शाखाओं के भेद में बहुत विस्तृत है। वहां पचास उपनिषदों के निबन्ध किए गए हैं। और उन से भी अधिक मिलते हैं। निबन्ध से निर्णय नहीं होता उन में से भी शंकर ने ईश, केन, आदि दश ही प्रसिद्ध उपनिषद् मानी हैं। रामानुजादि ने उन दशों में शंकर के किए अर्थ से भिन्न अर्थ का स्पष्ट प्रति पादन किया है। इसी प्रकार और लोग भी अपने, अभिप्राय के अनुसार वेद का तात्पर्य वर्णन करेंगे। उनका यह तात्पर्य उन्हीं का समझा जायगा न कि वेद का, जैसे प्रजा पति ने विरोचन को उपदेश दिया तो भी वह अपने चित्त के दोष से देह में ही आत्म बुद्धि का निश्चय करके देह ही आत्मा है ऐसा असुरों को बताया। यह आख्यायिका छान्दोग्य उपनिषद् में स्पष्ट है। इस लिए योगियों का स्थूल वेद से कुछ भी प्रयोजन नहीं है उनका प्रयोजन और तात्पर्य तो केवल ओंकार में ही है। वहीं से सब वेदों की उत्पत्ति और लय होता है। इस लिये ओंकार के प्रतिपादन करने वाली सब श्रुतियां यहां साधक हैं। क्योंकि ओंकार ही वेद का सार है, ऋग्वेद से भूः यजुः

से भुवः और साम वेद से स्वः प्रजापति के निचोड़ने से उत्पन्न हुए और उन से अकार उकार और मकार ये तीन वर्ण और इन तीनों से ओंकार बना ।

मू०—बहृचब्राह्मणे–अस्यचप्रणवस्यओमित्येतदक्षरमिदंसर्व मिति माण्ड्यांत्स्यश्रुतौतन्मात्राणांचाकारोकारमकाराणां क्रमात्स्थूल कारणप्रपंचवाचकयोरभेदात्पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरत्रप्रविलापनेगुरुयु- क्त्याक्रियमाणे स्थूलस्यजगतो वेदस्यवामृद्भेलवणोदकन्यायेन- प्रविलयो भवति तथा मूदमस्यकारणेकारणस्यतुर्येऽर्धमात्रावाच्ये मात्राख्ये शिवमद्वैतं चतुर्थमन्यन्ते, इतिश्रुतेर्गलिताखिलद्वैतभावे वाङ्मनसाऽतीतेप्रविलयोभवति। अतःप्रणव एववेद इत्यभ्युपगम्य तद्द्वारा तत्प्रवर्तक नादब्रह्मोत्यवलम्ब्यनादब्रह्मणोयन्मूलंतत्त्व मिति विश्रान्तिमतांमते का वाश्रुतिः साधिकाम भवतीति प्रसि- द्धिरमेव सर्वत्र ।

भा०—ऋग् वेद के ब्राह्मण भाग में इस प्रणव का महत्व प्रतिपादन किया गया है कि यह सब दृश्य जगत् अक्षर स्वरूप ओम् है सर्वाः श्रुनि में उसकी अकार उकार और मकार इन मात्राओं का स्थूल कारण और प्रपंच वाचक के साथ अभेद होने से पूर्व २ का आगे २ में गुरु की युक्ति के अनुसार

प्रविलय किये जाने पर स्थूल जगत् और वेद का सूक्ष्म में पानी में नमक के समान प्रविलय हो जाता है अर्थात् मिल जाता है।

तथा सूक्ष्म का कारण और कारण का अर्धमात्रा के वाच्य तुरीय में अद्वैत शिव चतुर्थ को मानता है। इस श्रुति के अनुसार वाणी और मन से परे समस्त द्वैत से रहित ब्रह्म में विलय होता है।

इस लिये प्रणव ही वेद है यह मान कर उस के द्वारा उस का प्रवर्त्तक नाद ही ब्रह्म है यह मान कर नाद ब्रह्म का,जो मूल है वह तत्त्व है इस प्रकार मानने वालों के मत में कौनसी श्रुति साधक नहीं है? अपितु सब ही हैं यह सब जगह प्रसिद्ध है।

मू०—प्रणवप्रशंसा शिवोपनिषदि—

प्रणवः सर्वान् प्राणानुप्राणामयति चैतरमात् प्रणवश्चतुर्धा वस्थित इति वेददेवयोनिर्ध्येयश्चेति सन्धत्तासर्वेभ्यो दुःसहेभ्यः सन्तारयति तारणात्तानि सर्वाणीति।

ब्रह्माविष्णुश्चरुद्रश्च ईश्वरः शिवएव च।
पंचधापंच दैवत्यः प्रणवः परिपठ्यते ॥

तस्माधिंकक्षणमेकमाध्यायक्रतुशतस्यापिफलमवाप्नोतिकृत्स्नमों कारगतंच सर्वध्यानेनेति। माण्डूक्योपनिषदि च—

ओंकारंच्छन्दसांज्ञात्वान किंचिदपि चिन्तयेत् ।
युञ्जीत प्रणवे चेतःप्रणवोब्रह्म निर्भयम् ॥
प्रणवे नित्ययुक्तस्यनभय विद्यतेक्वचित् ।
प्रणवोह्यपरंब्रह्मप्रणवश्चापरः स्मृतः ॥
अपूर्वोऽनन्तरोबाह्योनपरः प्रणवोऽव्ययः ।
सर्वस्यप्रणवोह्यादिर्मध्यमन्तस्तथैवच ॥
एवंहिप्रणवंज्ञात्वाविशतेतदनन्तरम् ।
प्रणवंहीश्वरंविद्यात्सर्वस्य हृदयेस्थितम् ॥
सर्वव्यापिनमोंकारंमत्वाधीरोनशोचति ।
अमात्रोऽनन्तमात्रश्चद्वैतस्योपशमः शिवः ॥
ओंकारोविदितोयेनसमुनिर्नेतरोजनइति ।

[हृदारण्यके सयथार्द्रेन्धानाग्नेरभ्याहितात्पृथग्धूमाविनिश्चरन्त्ये
वंवा, इत्यादि, छान्दोग्य ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमित्यादि । एतदेवा
भिप्रेत्यमहाभारतेसनत्सुजातीयवचनम्—

यतो न वेदा मनसासहैव मौनं प्रविशन्तिततोऽथ मौनम्
यत्राश्रितो वेद शब्दस्तथाऽयं सतन्मयत्वेन विभाति राजन् ॥

भागवतेचाप्येकादशस्कन्धे—

स एष जीवो विवरप्रसूतिः प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्टः।
मनोमयं सूक्ष्ममुपेत्य रूपं मात्रा स्वरो वर्ण इति स्थविष्ठः॥

शब्दब्रह्म सुदुर्बोधं प्राणेन्द्रियमनोमयम्।
अनन्तपारं गम्भीरं दुर्विगाह्यं समुद्रवत्॥
मयोपबृंहितं भूम्ना ब्रह्मणाऽनन्तशक्तिना।
भूतेषु घोषरूपेण बिसेषूर्णेव लक्ष्यते॥
यथोर्णनाभिर्हृदयादूर्णामुद्वमते मुखात्।
आकाशाद्घोषवान् प्राणो मनसा स्पर्शरूपिणा॥
छन्दोमयोऽमृतमयः सहस्रपदवीं प्रभुः।
ओंकाराद्व्यञ्जितस्पर्शस्वरोष्मान्तस्थभूषिताम्॥

इत्यादि। अन्यत्र—(वेदः प्रणव एवाग्रे धर्मोऽहं वृषरूपधृक्। उपासते तपोनिष्ठा हंसं मां मुक्तकिल्बिषाः॥) (त्रेतामुखे महाभाग प्राणान्मे हृदयात्त्रयी। विद्या प्रादुरभूत्तस्या अहमासं त्रिवृन्मखः॥) (विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा मुखबाहूरुपादजा इत्यादि।) गीतायां च (ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्। यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्)॥ एवमन्यत्रापि बहुधा प्रपञ्चितम् तदत्र विस्तरभियान्नाभिहितम् इति शब्दब्रह्मनिरूपणम्।

भा० टी०—शिवोपनिषद् में प्रणवकी प्रशंसा की गई है। कि प्रणव ही सब प्राणों को अनुप्राणित करता है इस लिये प्रणव चार प्रकार से स्थित है। वेद देव योनि और ध्येय इस प्रकार धारण करने वाला है। वह उन सबको दुःसह दुःखों से तार देता है। ब्रह्मा विष्णु रुद्र ईश्वर और शिव इस प्रकार से पांच देवताओं वाला प्रणव पांच प्रकार से कहा जाता है। एक क्षण मात्र भी उसका ध्यान करने से सो यज्ञों का समस्त फल प्राप्त कर लेता है। मांडूक्योउपनिषद् में भी ओंकार से वेदों को जान कर कुछ भी न सोचे। प्रणव में ही मन को लगावे प्रणव ही निर्भय ब्रह्म है जो नित्य प्रणव में लगा रहता है उसको कुछ भी भय नहीं है प्रणव ही अपर और पर ब्रह्म है प्रणव अपूर्व अनन्तर और बाह्य है।

अव्यय प्रणव से बढ़ कर कुछ भी नहीं है, प्रणव सब का आदि मध्य और अन्त है। इसप्रकार प्रणवको जान कर जिज्ञासु फलता फूलता है। प्रणव ही सब के हृदय में स्थित ईश्वर है, सर्वव्यापी ओंकार को जान कर धैर्यवान् पुरुष शोक नहीं करता प्रणव मात्रा रहित और अनन्त मात्राओं वाला है द्वैत का नाशक और कल्याण कारक है ओंकार को जिसने जान लिया वही मुनि है। अन्य नहीं बृहदारण्यक में भी वर्णन है-जैसे गीले इन्धन वाले अग्नि से अलग २ धूमनिकलता है उसी प्रकार

ओंकार रूप ब्रह्म से सब वेद निकलते हैं। छान्दोग्य में भी कहा है कि ओम् यह अक्षर साम वेद स्वरूप है।

इसी अभिप्राय से महाभारत में सनत्सुजात का वचन है। कि जहां वेद मन के साथ ही मौन धारण कर लेते हैं हे राजन्, जहां जाकर यह वेद शब्द, तन्मय रूप से शोभायमान होता है।

भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के बारहवें अध्याय में उद्धव के प्रति श्री भगवान् का वचन है कि समस्त संसार का धारण करने वाला यह परमात्मा ही उपाधि वश से सूक्ष्म और स्थूल उभय रूप वेद स्वरूप होता है। उस परमात्मा का विकाश लिङ्ग गुदा के मध्य मूलाधार १ लिङ्ग मूल में स्वाधिष्ठान २ नाभि प्रदेश में मणिपूर ३ हृदय देश में अनाहत ४ कंठ देश में विशुद्ध ५ भ्रू मध्य में आज्ञा ६ इन छः चक्रों में होता है। उन में पहले नाद सहित परा नाम प्राणवायु के साथ मूलाधार रूप गुहा में प्रविष्ट होता है, वह किसी मन इन्द्रिय का विषय नहीं है, इस लिये उसका नाम 'परा' है फिर नाभि देश में आने पर सूक्ष्म मनोमय रूप पश्यन्ती और हृदय देश में मध्यमा को प्राप्त होता है, इतने तक सूक्ष्म वेद कहलाता है। फिर कण्ठ से ऊपर मुख देश में वैखरी रूप को प्राप्त होता है, वहां ह्रस्व दीर्घप्लुत इन तीन मात्राओं उदात्त अनुदात्त स्वरित इन तीन स्वरों तथा

ककारादि वर्ण (अक्षरों) के रूप को धारण करता है, यही वैखरी नाद सब के श्रवण गोचर होता है। वही स्थूल वेद हैं। साधारण मत से अकार से लेकर क्ष तक उनंचास अक्षर हैं, श्रो लकार मानने वालों के मत में पचास वर्ण माने जाते हैं। व्याकरण शिक्षा में तो ६२ माने जाते हैं।

उसी ११ वें स्कन्ध के २१ वें अध्याय के ३६ वें श्लोक में वर्णित है कि समस्त वेद परमात्मा को ही बताता है। वहां पर संदेह हुआ कि यदि ऐसा है तो वेदज्ञ जैमिनी आदि ऋषि लोग क्यों नहीं बताते उस पर भगवान् ने उत्तर दिया है कि वेद रूप शब्द ब्रह्म अत्यन्त कठिन है, सिवाय मेरे इस के वास्तविक रूप और अर्थ को और कोई नहीं समझ सकता यही मूलाधार में प्राणमय परा नाम वाला है, नाभि में पश्यन्ती नामक मनोमय सूक्ष्म रूप होता है, और मध्यमा नामक इन्द्रिय मय होता है। इसका अन्त और पार नहीं है। अर्थ से दुर्ज्ञेय है। अगाध समुद्र की तरह इस में बुद्धि का प्रवेश होना कठिन है। व्यापक-विकार रहित-अपरिगणित शक्ति सम्पन्न मेरे से ही सारा चराचर जगत् अधिष्ठित है। जैसे कमल की डंडी में सूक्ष्म तार होते हैं उसी प्रकार समस्त प्राणियों में से सूक्ष्म रूप मुझ को ही नाद रूप से विद्वान् लोग पहचानते हैं। अब तीन श्लोकों से वैखरी वाक्के उत्पत्ति प्रकार

को दृष्टान्त द्वारा कहते हैं—जैसे मकड़ी हृदय से मुख के द्वारा तार निकालती है वैसे ही हृदयाकाश स्थित सूक्ष्म ओंकार रूप ध्वनि से उपाधि रहित होने पर भी प्राण उपाधि सहित हिरण्यगर्भ रूप वेद रूपी भगवान् वर्णों के संकल्प करने वाले मन द्वारा अकारादि स्वर ककारादि स्पर्श, श ष स ह ऊष्मा यर लव अन्तस्थ इत्यादि अनेक रूप धारण करने वाली वृहती रूप वैखरी वाक की उत्पत्ति करता है। आगे के श्लोक से इसका सम्बन्ध है—प्रणव रूप वेद है और युग के आदि में सर्वश्रेष्ठ धर्म रूप भी मैं ही हूँ। उसी को अहंभाव से धर्मात्मा लोग उपासना करते हैं।

त्रेता युग में मेरे हृदयस्थ प्राण से त्रयी वेद विद्या प्रकट हुई। उस में यज्ञ रूप में ही था। मुख-बाहु-उरु—पाद से उत्पन्न ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र सब उसकी उपासना करते हैं इत्यादि।

*गीता में भी कहा है—कि ओम् इस एकाक्षर ब्रह्म का उच्चारण करता हुआ और उस ओम् का वाचक जो मैं हूं मेरा स्मरण करता हुआ जो देह को त्यागता है वह परम गति को प्राप्त होता है। इस प्रकार अन्यत्र भी विस्तार के साथ प्रणव की महिमा वर्णन की गई है। वह विस्तार के भय से नहीं लिखी गई है। यह तीसरा उत्तर है।

मू०—पुनः वेदार्थस्यबोधस्तुकेषांचिन्नास्तिएव, केवलमभिमानमेवतिरस्कृत्यैवेवदन्तितान्प्रतिचतुर्थमिदमुत्तरम्— यद्भवद्भिर्वेदोवेदइतिपुनः पुनरुच्यते । तस्यवेदस्यत्वभ्यासेऽप्यवधूतानांदोषएवस्यात् । कथमितिचेदुच्यतेवेदस्यपूर्वभागस्तुवर्णानामेव, वेदान्तभागस्तुभिक्षुकाणामेव । उभयविलक्षणोयोगभागस्तु अवधूतानाम् । वेदस्यपूर्वभागे ज्ञानं वाच्यार्थेननदर्शितम् । किन्तु तात्पर्येतदस्तीतिभवद्भिरेवोच्यते । एवंवेदस्यपूर्वभागेज्ञानंयथातात्पर्येऽस्तितथावेदान्तभागेयोगस्तात्पर्यार्थोऽस्ति । यद्यपिबहुधावाच्यार्थेनापिदर्शितोयोगस्तथापिमुख्यमुत्तरन्तुमुख्यतात्पर्यएवास्ति, यतोवेदवेदान्ततात्पर्यं लक्ष्यश्चावधूतएवास्ति ।

सर्वेवेदायत्पदमामनन्तीत्यादिश्रुतयो ।
वेदैश्चसर्वैरहमेववेद्यइत्यादिस्मृतयो ॥

रूपेद्वमेसदसतीतत्रवेदसृष्टेर्बीजांकुराः विव नचान्यदरूपकस्य ।
युक्ताः समवमुभयत्रविचिन्वतेत्वांयोगेन वह्निमिवदारुषुनान्यतः स्यात् ॥

इत्यादिपुराणवाक्यानिचात्रसाधकानि । एतदेवाभिप्रेत्यमहाभारतेसनत्सुजातआह—

नवेदानांवेदिताकश्चिदस्तिकश्चित्वेतान्बुध्यतेवापिराजन् ।
योवेद, वेदान्नसवेदवेद्यंसत्येस्थितोयस्तुसवेद, वेद्यम् ॥
नवेदानांवेदिताकश्चिदस्तिवेद्येनवेदंनविदुर्नवेद्यम् ।
योवेदवेदंसचवेदवेद्यंयोवेदवेद्यंनसवेदसत्यम् ॥

योवेदवेदान्सचवेदवेद्यंनतंविदुर्वेदविदोनवेदाः ।
तथापिवेदेनविदन्तिवेदं येब्राह्मणावेदविदोभवन्ति ॥
धामांशभागस्यतथाहिवेदायथाचशाखाहिमहीरुहस्य ।
संवेदनेचैवयथामनन्ति तस्मिन्हिसत्येपरमात्मनोर्थे ॥

धृतराष्ट्र उवाच—

आख्यानंपंचमैर्वेदैर्भूयिष्ठंकथ्यतेजनः ।
तथाचान्येचतुर्वेदास्त्रिवेदाश्चतथापरे ॥
तेषान्तुकतरः सस्याद् यमहंवेदवैद्विजम् ।

सनत्सुजात उवाच—

एकस्यवेदस्याऽज्ञानाद्वेदास्तेवहवः कृताः ।
सत्यस्यैकस्यराजेन्द्र! सत्येकश्चिदवस्थितः ॥
एवंवेदमविज्ञायप्राज्ञोऽहमितिमन्यते ।

दानमध्ययनंयज्ञो लोभादेतत्प्रवर्तते ॥
सत्यात्प्रच्यवमानानां संकल्पश्चतथाभवेत् ।
ततोयज्ञः प्रतायेतसत्यस्यैवाऽवधारणात् ॥

धृतराष्ट्र उवाच—

ऋचोयजूंषियोवेद सामवेदंचवेदयः ।
पापानिकुर्वन् पापेन लिप्यतेकिंनलिप्यते ॥

सनत्सुजात उवाच—

नैनंसामान्यृचोवापि नयजूंष्यविचक्षणम् ।
त्रायन्तेकर्मणः पापान्नतेमिथ्याब्रवीम्यहम् ॥
नछन्दांसिवृजिनात्तारयन्तिमायाविनंमाययावर्तमानम् ।
नीडंशकुन्ताइवजातपक्षाश्छन्दांस्येनंप्रजहत्यन्तकाले ॥

एवंचस्थूलवेदतात्पर्यैर्युष्माभिः सूक्ष्मवेदतात्पर्याणामस्माकंम-
समर्पिताययोऽनुयोगस्तत्प्रतिवाक्यमिदंचतुर्थम ।

भा—बहुतों को वेद के अर्थ का ज्ञान तो है नहीं, केवल अभिमान के वशीभूत होकर बातें करते हैं उनके लिये यह चौथा उत्तर है कि आप लोग वारंवार वेद वेद ऐसा कहते हैं, अवधूतों को तो वेद के अभ्यास से दोष लगता है क्योंकि उन

वेद का पूर्वभाग तो वर्णों का है और उत्तर भाग त्रिगुणों का अवधूतों का योग भाग तो दोनों से विलक्षण है। वेद के पूर्व भाग में ज्ञान वाच्यार्थ रूप से वर्णित नहीं है। किन्तु लक्ष्यार्थ रूप से है यह आप लोग ही कहते हैं। इस प्रकार वेद के पूर्व भाग में जैसे ज्ञान तात्पर्यार्थ द्वारा है वैसे ही उत्तर भाग में योग भी तात्पर्यार्थ द्वारा वर्णित है, यद्यपि अधिकतर वाच्यार्थ से भी योग दिखलाया है तथापि मुख्य उत्तर तो तात्पर्य से ही है। क्योंकि वेद वेदान्त का रहस्य तात्पर्य अवधूत पद में ही है। रूप रहित तुम्हारी सृष्टि के दो रूप बीजांकुर की तरह स्थूल सूक्ष्म हैं उन ही को साधारण लोग जानते हैं इसमें निज वास्तविक स्वरूप को नहीं, असली रूप को तो योगी जन ही योग द्वारा प्रत्यक्ष करते हैं। जैसे मथने से काष्ठ में अग्नि पैदा करते हैं। अन्य उपाय से नहीं। इत्यादि पुराणवाक्य और श्रुति स्मृतियां इसमें साधक हैं। इसी अभिप्राय से महाभारत में सनत्सुजात ने कहा है—वेदों के जानने वाला कोई नहीं है। कोई विरला ही इनको जानता है, जो वेदों को जानता है वह वेद्यब्रह्म को नहीं जानता, ब्रह्म को वह जानता है जो सत्य में स्थित है। वेदों को कोई नहीं जानता, जो वेद से जानने योग्य को जानता है वह वास्तविक वेद्य को जानता ही नहीं, जो वेद

को जानता है वह वेद्य को नहीं जानता, और जो वेद से वेद्य को जानता है वह सत्य को नहीं जानता। जो वेदों का ज्ञाता है वेद के जानने वाले और वेद उस को नहीं जानते। तो भी जो वेद जानने वाले ब्राह्मण होते हैं। वे वेद से ही वेद को अर्थात् ब्रह्म को जानते हैं। जैसे शाखा वृक्ष का एक अवयव माना जाता है और उस से उस वृक्ष का बोध होता है, इसी तरह तेजः स्वरूप परमात्मा का एक अवयव वेद हैं, वे वेद उस परमात्मा के यथार्थ ज्ञान कराने के लिये एक देश को कहते हैं।

धृतराष्ट्र सनत्सुजात से पूछता है कि वेद और पांचवां आख्यान इनके जानने वाला मनुष्य अधिक आदर के योग्य है ऐसा कहा जाता है, बहुत से चार वेदों के ज्ञाता हैं और बहुत से सबों के जानने वाले हैं इन में से वह कौन है जिसको मैं असली ब्राह्मण समझूं। तब सनत्सुजात ने कहा— वेद वास्तव में एक ही है, अज्ञान से लोगों ने अनेक वेद बना लिये जैसे हे राजेन्द्र वास्तविक सत्य को न जानकर लोग अनेक प्रकार के मनमाने अर्थ कर लेते हैं, उस सत्य में कोई २ ठहरता है। इस प्रकार वेद को न जानकर साधारण बुद्धिवाला पुरुष अपने को बड़ा बुद्धिमान् समझता है। दान अध्ययन और यज्ञ ये लोभ से ही प्रवृत्त होते हैं। सत्य से जो पतित हो जाते हैं

उनके नाना प्रकार के संकल्प होते हैं। फिर उस सत्य का ही निश्चय करके लोग यज्ञादि करते हैं।

धृतराष्ट्र ने कहा—जो ऋक् यजु और साम को जानता हुआ पाप करता है वह उस पाप से लिप्त होता है या नहीं? तब सनत्सुजात नें कहा कि उस मूर्ख का जो तीनों वेदों का ज्ञाता होता हुआ भी पाप करता है ऋक् साम यजु कोई भी नहीं बचा सकते। यह मैं तुम से सत्य कहता हूँ। माया में वर्तमान मायावी पुरुष का वेद पाप से नहीं बचा सकते जैसे पक्षी समय पर घोंसले में से उड़ जाते हैं अर्थात् उसको छोड़ देते हैं। उसी प्रकार उस मायावी पुरुष को अन्त काल में वेद छोड़ देते हैं। इस प्रकार स्थूल वेद में तात्पर्य रखने वाले तुम लोगों ने सूक्ष्म वेद को मानने वाले हम लोगों के तात्पर्य को न जानकर हम पर जो आक्षेप किया है उस का यह चौथा उत्तर है।

सू०—योगबीजे—

नानामार्गैस्तुदुष्प्राप्यंकैवल्यंपरमंपदम्।
सिद्धमार्गेणलभ्येतनान्यथाशिवभाषितम्॥
पद्माघेनविमुच्यन्ते नाथमार्गमतः परम्।
तमहंकथयिष्यामि तवप्रीत्यासुरेश्वरि ?॥

अनेकशतसंख्याभिस्तर्कव्याकरणादिभिः ।

पतिताःशास्त्रजालेषु प्रज्ञयातेविमोहिताः ॥

अनिर्वाच्यपदंवक्तुं नशक्यते सुरैरपि ।

स्वात्मप्रकाशरूपं तत् किंशास्त्रेणप्रकाश्यते ॥

विशुद्धएव परमात्माजीवाभिधइत्युक्त्वाजीवस्यदोषाः काम

ोधौभयंचिन्तेत्यादिचोक्त्वा—

तस्माद्दोषविनाशार्थमुपायंकथयामिते ।

ज्ञानंकेचिद्वदन्त्यत्र केवलंतन्नसिद्धये ॥

योगहीनंकथंज्ञानंमोक्षदंभवतीश्वरि ?

अज्ञानादेवसंसारोज्ञानादेवविमुच्यते ॥

तत्र योगस्य किं कार्यमिति देव्याप्रष्टईश्वरउवाच—

अग्नादोषैर्विमुक्तः किंकामक्रोधभयादिभिः ।

सर्वदोषवृतोजीवः कथंज्ञानेनमुच्यते ॥

ध्याननिष्ठोविरक्तोवा धर्मज्ञोविजतेन्द्रियः ।

विना योगेनदेवोऽपि नमोक्षंलभतेप्रिये ॥

अपक्वाः परिपक्वाश्चद्विविधादेहिनः स्मृताः ।

अपक्वायोगहीनास्तु पक्वायोगेनदेहिनः ॥

तस्माद्ज्ञानंचवैराग्यं जपःस्यात्केवलःश्रमः ।
शरीरेणजिता. सर्वेशरीरंयोगिभिर्जितम् ॥
तत्कथंकुरुतेतेषां सुखदुःखादिजं फलम् ।
देवैरपिनलभ्येत योगदेहोमहाबलः ॥
छेदबन्धैर्विमुक्तोऽसौ नानाशक्तिधरः परः ।
यथाकाशस्तथादेह आकाशादपि निर्मलः ॥
सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरोदेहः स्थूलात्स्थूलोजडाज्जडः ।
इच्छारूपोहियोगीन्द्रः स्वतन्त्रस्त्वजरामरः ॥
क्रीडति त्रिषुलोकेषु लीलयायत्रकुत्रचित् ।
अचिन्त्यशक्तिमान् योगीनानारूपाणिधारयन् ॥
संहरेच्चपुनस्तानि स्वेच्छयाविजितेन्द्रियः ।
पुरैवमृतएवाऽसौ मृतस्यमरणंकुतः ॥
मरणंयत्रसर्वेषां तत्राऽसौसाखि ? जीवति ।
कर्तव्यंनैवतस्याऽस्ति कृतेनाऽसौनलिप्यते ॥
जीवन्मुक्तः सदास्वथः सर्वदोषविवर्जितः ।
विरक्ताज्ञानिनश्चान्ते देहेनाविजिताः सदा ॥

तेकथंयोगिभिस्तुल्या मांसपिण्डाःकुदेहिनः ।

देव्युवाच—

ज्ञानिनस्तुमृताये वै तेषांभवतिकीदृशी ।

गतिः कथयदेवेश ? करुणामृतवारिधे ?

ईश्वर उवाच—

देहान्तेज्ञानिनः पुण्यात्पापान्नफलमाप्यते ।

यादृशंतुभवेत्तत्र मुक्तोज्ञानीपुनर्भवेत् ॥

पुण्यात्पुण्येनलभते सिद्धेनसहसंगतिः ।

ततःसिद्धस्यकृपया योगीभवतिनान्यथा ॥

ततोनश्यति संसारो नान्यथाशिवभाषितम् ॥

महाविष्णुमहेशानां प्रलयेष्वपियोगिनाम् ॥

नास्तिपातोलयस्थानां महातत्त्वविवर्तिनाम् ॥

वेदान्ततर्कोक्तिभिरागमैश्चनानाविधैःशास्त्रकदम्बकैश्च ।

ध्यानादिभिःसत्करणैर्नगम्यंचिन्तामणिस्त्वेकगुरुंवि[illegible]ग ॥

भा०—योग बीज में कहा है कैवल्य परम पद जो कि नाना मार्गों से प्राप्त नहीं किया जा सकता, सिद्ध मार्ग से प्राप्त किया जा सकता है। यह शिव जी का कथन है। जो कदापि

अन्यथा नहीं हो सकता। हे सुरेश्वरि जिससे बद्ध मुक्त हो जाते हैं वह नाथ मार्ग तेरी प्रसन्नता के लिये कहता हूं। सहस्रों तर्क और व्याकरणादि ग्रंथों के जालों में पड़े हुए अपनी बुद्धि के अभिमान में चूर रहते हैं। जो अनिर्वाच्य पद है उसे तो देवता भी नहीं कह सकते जो स्वात्म प्रकाश वस्तु है वह शास्त्रों से कैसे प्रकाशित किया जा सकता है। विशुद्ध परमात्मा ही जीव नाम से कहा जाता है ऐसा और जीव के दोष काम क्रोध भय तथा चिन्ता इत्यादि कह कर अब मैं जिस उपाय से उसके दोषों का नाश हो सकता है वह कहता हूं। इन दोषों के नाश का उपाय बहुत से लोग ज्ञान को बताते हैं। परन्तु हे सुन्दरि? योगहीन ज्ञान कैसे मोक्ष दे सकता है संसार का कारण अज्ञान है। और ज्ञान से वह नष्ट हो जाता है। फिर उसको नष्ट करने के लिये योग का क्या प्रयोजन है इस प्रकार देवी के प्रश्न करने पर शिव जी ने कहा—क्या यह जीव काम क्रोधादि दोषों से मुक्त है? यह तो इनसे घिरा हुआ है, अतः कैसे ज्ञान से मुक्त हो सकता है। कोई कैसा हो ज्ञाननिष्ठ धर्मात्मा और जितेन्द्रिय अथवा देवता भी क्यों न हो हे प्रिये योग के बिना मोक्ष को प्राप्त नही हो सकता। अपक्व और परिपक्व दो प्रकार के मनुष्य हैं उनमे योगहीन अपरिपक्व और योगयुक्त परिपक्व हैं इसलिये ज्ञान वैराग्य और

जप केवल परिश्रम है समस्त संसार शरीर के वश में है और योगियों ने शरीर को जीत लिया है। वह शरीर योगियों को सुख दुःख का फल कैसे दे सकता है। महा बलवान योगयुक्त देह को देवता भी नहीं प्राप्त कर सकते। योगियों का देह छेद और बन्ध आदि से मुक्त है और नाना प्रकार की शक्तियों को धारण करने वाला है। उनका देह आकाश की तरह निर्मल है, वह सूक्ष्म से सूक्ष्म स्थूल से स्थूल और भारी से भारी होता है। योगीन्द्र इच्छा रूप स्वतंत्र अजर और अमर होते हैं। योगी की शक्ति अचिन्त्य होती है। वह नाना रूपों को धारण करता हुआ अपनी लीला से जहां चाहे वहीं क्रीड़ा करता है जितेन्द्रि वह योगी उन रूपों को जब चाहे विलीन कर सकता है। पुत्र मित्र स्त्री आदि सब प्राकृत पदार्थ के अभिमान को छोड़ कर योग साधन में लगा हुआ सिद्ध पुरुष संसार के व्यवहार से पहले ही मरा हुआ है अतः मृतका मरण कैसे होसकता है, जिस प्रलय काल में सब प्राणि अभिमान रहित हो जाने से मृत कहलाते हैं, उस समय में सिद्ध पुरुष सरूप ज्ञान युक्त होने से जीवित कहलाता है। उसका कोई कर्त्तव्य नहीं वह कभी कर्मों से लिप्त नहीं होता वह जीवन्मुक्त स्वस्थ होता है। स्वतंत्र और सब दोषों से मुक्त होता है विरक्त और ज्ञानी सब देह के आधीन होते हैं वे कुत्सित देह वाले योगियों के तुल्य कैसे हो

सकते हैं। फिर देवीने कहा हे करुणासिन्धु हे देवेश ज्ञानी लोगों की मरने पर क्या गति होती है कृपया यह बताइये तब शिवजी ने कहा—देहान्त के बाद ज्ञानी को पुण्य और पाप का फल नहीं मिलता, वहां वह किसी भी जन्म को प्राप्त हो फिर भी ज्ञानी ही होता है। पुण्य से उस को सिद्ध की गति प्राप्त होती है। फिर सिद्ध की कृपा से वह योगी होता है। अन्यथा नहीं फिर उसे मुक्ति प्राप्त हो जाती है। यह शिव का वचन सर्वथा सत्य है। ब्रह्मा विष्णु और महेश पदवी का प्राप्त हुए लय में स्थित और महातत्त्व में वर्तमान योगियों का प्रलय काल में भी पात नहीं होता जो योगियों को प्राप्त होता है वह वेदान्त तर्कोक्तियों वेदों नाना प्रकार के शास्त्र समूहों और ध्यानादि उपायों से नहीं प्राप्त होता, वह केवल चिन्तामणि सदृश गुरु की कृपा से ही प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि विना गुरु के स्वयं शास्त्रपठन और ध्यानादि साधन नहीं करना चाहिये नहीं तो भटसट हो जाने का डर है।

मू०—सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ—

शिवाद्भैरवः, भैरवाच्छ्रीकंठः श्रीकंठात्सदाशिवः सदाशिवा-दीश्वरः, ईश्वराद्रुद्रः, रुद्राद्विष्णुर्विष्णोर्ब्रह्मा इतिमहासाकारस्य-मूर्त्यष्टकम्। आचारेब्राह्मणा वसन्ति शौर्येक्षत्रियाः, व्यवसाये वै-

न्याः सेवाभावे शूद्राः ।

अनन्तसिद्धागमप्रकाशे । अस्मिन्कश्चित्परमाऽद्वैतस्वभावः ।

गण्यात्मेति ।

शिवस्याऽभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः ।
अन्तरं नैव जानीयाच्चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ॥
तज्ज्ञानं सद्गुरोर्वक्त्राज्ज्ञायान्यथा शास्त्रकोटिभिः ।
न तर्कशब्दविज्ञानाच्छ्रवणाद् वेदपाठनात् ॥
वेदान्तश्रवणाच्चैव तत्त्वमस्यादिबोधनात् ॥
ईश्वरार्पणनाथपादभक्त्या नाथमार्गानुपालनात् ॥
मत्स्ययोगीन्द्रकर्ता लीलयाऽजराऽमरः ।
अरण्यांदेवदन्यानां भ्रांतैर्भवतो यथा ॥

न गुरोरधिकं न गुरोरधिकं शिवशासनतः शिवशासनतः ।
न गुरोरधिकं न गुरोरधिकं शिवशासनतः शिवशासनतः ॥

कल्पाम्लकपायेन छिन्नपाशाष्टकं शिवः ।
गम्भीरानन्दजनकः सद्गुरुः सोऽभिधीयते ॥

पुनर्योगादिनानाप्रकरणानुमानसमुद्रपारगामको गुरु-
रन्यतमः ।

स्वविश्रान्तिनजानाति परेषां स करोतिकिम् ।

भा०—सिद्धसिद्धान्त पद्धति में वर्णन किया गया है—शिव से भैरव भैरव से श्री कंठ श्री कंठ से सदा शिव सदा शिव से ईश्वर ईश्वर से रुद्र रुद्र से विष्णु विष्णु से ब्रह्मा ये महासाकार की आठ मूर्तियां है। आचार में ब्राह्मण शौर्य में क्षत्रिय व्यवसाय में वैश्य और सेवा भाव में शूद्र रहते हैं। अनन्त सिद्धज्ञान के प्रकाश में रहते हैं। परम अद्वैत का जो भाव है वही आत्मा है। शिव के अन्दर शक्ति और शक्ति के भीतर शिव चन्द्र और चांदनी के समान इन मे कोई भेद नहीं है। यह तत्व सद्गुरु के वाक्य से ही जाना जाता है, अन्यथा करोड़ों शास्त्रों से भी नहीं। यह तत्त्व न ज्ञान तर्क न शब्द के ज्ञान न बार २ वेद पढ़ने न वेदान्त सुनने और न तत्त्वमसि ज्ञान से न देवार्चन से न भक्ति और न आश्रमों के पालन से प्राप्त होता है। किन्तु स्वयं अपने स्वरूप में स्थित योगी स्वयं ही अपने भाग्य का विधाता होता है, और अपनी लीला से वह अजर और अमर होता है, देव और दैत्य सब से अवध्य होता है। वह भैरव के समान खेलता है शिव जी का यह शासन है कि गुरु से बढ़कर संसार में अधिक कुछ भी नहीं है। जो अपनी दया के लेश से शिष्य को अर्थात् प्राणि की आठों पाशों को

काटकर उसे आनन्दित करता है वह सद्गुरु कहा जाता है। वह गुरुत्याज्य है जो नाना प्रकार के वचनों शास्त्रों के अनुमानों और तर्कों के झमेलों से शिष्य को भ्रम में डाल देता है। जिसका मन स्वयं विश्रान्त नहीं है वह दूसरों का क्या उपकार कर सकता है। क्या कहो शिलाओं से शिलाएं नदी के पार उतारी जा सकती हैं। जो स्वयं पार हो चुका है वही दूसरों को पार उतारने में समर्थ हो सकता है।

मू०—सर्वदर्शनानांस्वरूपदर्शनेनसमन्वयं करोति सोऽवधूत-योगीस्यात्।

शिलयाकिंपरंपारं शिलासंघः प्रतार्यते।
स्वयंतीर्णोभवेद्यस्तु परान्निस्तारयत्यलम्॥
अत्याश्रमीचयोगीच ज्ञानीसिद्धश्च सुव्रतः।
ईश्वरश्चतथास्वामी धन्यः श्रीसाधुरेवच॥
जितेन्द्रियश्चभगवान् ससुधीः कोविदोबुधः।
सर्वेषांदर्शनानां च स्वरूपंचप्रकाशयेत्॥
सर्वतोभरिताकारं निर्द्वंद्वंयेनसंहितम्।
चरतेब्रह्मणियस्तु ब्रह्मचारीसकथ्यते॥

भा०—स्व सरूप के अनुभव से जो सब दर्शनों की एकता कर लेता है वही वास्तव में अवधूत है। जो आश्रमों को पा

कर चुका है और जो योगी ज्ञानी सिद्ध समर्थ व्रतधारी इन्द्रियों का स्वामी परकार्य साधक षड्विध ऐश्वर्य सम्पन्न है वही सुधी और वही सब दर्शनों के प्रकाशित करने का अधिकारी है। जो सर्वव्यापक संसार के रचयिता महान् ब्रह्म में विचरण करता है, वह ब्रह्मचारी कहाता है।

मू० गृहिणीपूर्णतानित्यं गेहंव्योमसदाचलम् ।
यस्तयानिवसत्यत्र गृहस्थः सोऽभिधीयते ॥
सदान्तः संस्थितोयोऽसौ स्वप्रकाशमयेवने ।
वानप्रस्थः सविज्ञेयो नवनेमृगवच्चरन् ॥
परमात्माचजीवात्मा चात्मन्येवस्फुरत्यलम् ।
तस्मिन्न्यस्तः सदायेन संन्यासीसोऽभिधीयते ॥
नवन्दनीयास्ते काष्ठा दर्शनभ्रान्तिकारकाः ।
वर्जयेत्तान्गुरून्दूराद् धीरः सिद्धमताश्रयः ॥

भा०—जो पूर्णतारूपी स्त्री के साथ और आकाश के समान सदा अचल ब्रह्मरूप घर में वास करता है वह वास्तविक गृहस्थ है।

जो स्वप्रकाश ज्ञानरूप वन में सदा रहता है वही असली वानप्रस्थ जानना चाहिये, न कि मृग की तरह जड़रूप जंगल में

विचरने वाला। सर्वज्ञतादिगुण विशिष्ट परमात्मा और राग द्वेषादिगुणयुक्त जीव जिस सच्चिदानन्द परमात्मा में प्रकाशित होते हैं, अर्थात् उसकी सत्ता से इनकी सत्ता है। उस ब्रह्म में जिसने सब कुछ छोड़ दिया वह संन्यासी है। जो नाना दर्शनों के जालों में लोगों को भरमाते रहते हैं उन पुरुषों की तो दिशाएं भी निन्दनीय हैं अर्थात् उधर भूल से भी गमन न करे अतः सिद्धमत का आश्रय करने वाले को उचित है कि ऐसे गुरुओं को त्याग दे।

मू०—पद्मपुराणेकपिलगीतायाम्—

दत्तात्रेयादिसिद्धानांनवनाथास्तथैवच।
शङ्करोगुरुरूपेणबोधितश्चात्मतत्त्वाभिः॥

ऋगवेदोऽथयजुर्वेदः सामवेदोह्यथर्वणः।
सूक्ष्मवेदोहिअध्यक्षः पंचवेदाः प्रकीर्तिताः॥

ईश्वरउवाच—

ओंकारंविन्दुसंयुक्तं नित्यंध्यायन्तियोगिनः।
तस्मिन्मध्येस्थितंतत्वं प्रदर्शयतिसद्गुरुः॥

ओमित्येवंपरंब्रह्म सर्वतत्वानुदर्शनम्।

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं सर्वानुग्रहकारकम् ॥
तारकंचभवेद्ब्रह्मा दण्डकंविष्णुरुच्यते ।
कुण्डल्यांहितथारुद्रोऽर्धचन्द्रः स ईश्वरः ॥
बिन्दुः सदाशिवः साक्षात् प्रणवेपंचदेवता ।
निरञ्जनस्तदतीत उत्पत्तिस्थितिकारणम् ॥
दुर्लभोविषयत्यागीदुर्लभंतत्वदर्शनम् ।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना ॥
विचारोदर्पणंयस्य अवलोकनमीक्षितम् ।
दृश्यतेतत्स्वरूपंच तत्रकंपृच्छ्किंनहि ॥
हृदयंदर्पणंयस्य मनस्तत्रविलोकयेत् ।
दृश्यतेप्रतिबिम्बेनआत्मरूपंसुनिश्चितम् ॥

भा०—पद्म पुराण में कपिल गीता में वर्णन किया है—दत्तात्रेयादि सिद्धों के नवनाथ और शिवजी ये सब आत्म तत्व के लिये गुरु रूप से माने जाते हैं। ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद अथर्ववेद तथा इन सबका अव्यक्त सूक्ष्मवेद ये पांचवेद कहे गए हैं। ईश्वर ने कहा— योगी लोग सदा बिन्दु संयुक्त ओंकार का ध्यान करते हैं। उस ओंकार में स्थित तत्व को

सद्गुरु प्रकाशित करता है। ओम् यह सम्पूर्ण तत्त्वों का दिखाने वाला ब्रह्म है। ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यन्त सब जीवों पर दया करने वाला यही है। ओंकार में जो तारा है वह ब्रह्मा है दण्डक विष्णु है कुण्डली में रुद्र और अर्ध चन्द्र ईश्वर और बिन्दु सदा शिव है, इस प्रकार ओंकार में साक्षात् पाच देवता विराजमान हैं। उत्पत्ति स्थिति का कारण जो निरंजन है वह उससे परे है। विषयों का त्याग। तत्त्व दर्शन और स्वाभाविक अवस्था गुरु की कृपा के बिना दुर्लभ है। विचार जिस का दर्पण और यथार्थानुभव जिसकी दृष्टि है वहां वास्तविक स्वरूप दिखाई देता है वहां अपने आत्मा से पूछो कि क्या नहीं दीखता। हृदय जिसका दर्पण है अर्थात् योग से निर्मल होगया है वहां मन को देखे वहां निश्चय ही प्रतिबिम्ब से आत्मरूप दिखाई देता है।

मू०—अवधूतगीतायाम्—

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं सम्पूर्णंपरमात्मनि ।
भिन्नाभिंन्नंनपश्यामि तस्याहंपंचमाश्रमी ॥
आशापाशविनिर्मुक्तमादिमध्यान्तनिर्मलम् ।
अनन्तानन्दब्रह्मज्ञमकारंतस्यलक्षणम् ॥

वासनावर्जितायेन वक्तव्यं चनिरामयम् ।
वर्तमानेषुवर्तेतवकारंतस्यलक्षणम् ॥
धूलिधूसरगात्राणि धूतचितं निरामयम् ।
ध्यानधारणनिर्मुक्तं धूकारं तस्यलक्षणम् ॥
तत्वचिन्तायेनधृता चिन्ताचेष्टाविवर्जिता ।
तमहंकारनिर्मुक्तं तकारं तस्यलक्षणम् ॥
शिवंनजानामिकथंवदामिशिवंचजानामिकथंवदामि ।
अहंशिवश्चेत्परमार्थरूपं स्वच्छस्वभावंगगनोपमंच ॥
वेदानलोकानसुरान यज्ञावर्णाश्रमोनोन कुलंनजातिः ।
नधूममार्गोनचदीप्तिमार्गो ह्यैवरूपंपरमार्थतत्वम् ॥
व्याप्यव्यापकनिर्मुक्तं त्वमेकः सकलंयदि ।
प्रत्यक्षंचपरोक्षंच आत्मानंमन्यसेकथम् ॥
आदिमध्यान्तमुक्तोऽहं नबद्धोऽहंकदाचन ।
स्वभावनिर्मल शुद्ध इतिमेनिश्चलामतिः ॥
नबद्धोनैवमुक्तोऽहं नचाहंब्रह्मणः पृथक् ।
नकर्तानैवभोक्ताहं व्याप्यव्यापकवर्जित ॥

नजातोऽहंमृतोवापि नमेकर्मशुभाशुभम् ।
शुद्धोऽहंनिर्गुणंब्रह्म बन्धमुक्तौकथंमम ।
यदिसर्वंगतोदेवः स्थिरः पूर्णइति शिव ।
भावगम्यंनिराकारं साकारंदृष्टिगोचरम् ।
भावाभावविनिर्मुक्तं मन्तरालंतदुच्यते ॥
साकारंचनिराकारं नेतिनेतीति सर्वथा ।
भेदाभेदविनिर्मुक्तं वर्ततेकेवलंशिव ॥
दिवानक्तंनतेचित्त उदयास्तमयौनहि ।
विदेहस्यशरीरित्वं कल्पयान्तिकथंवुधाः ॥
नतेचमातानपितानबन्धुर्नतेचपत्नीनसुहृन्नपुत्रः ।
नपक्षपातोनविपक्षपातः कथंहिसन्तापिरजोहिचेत. ॥
धर्मार्थकाममोक्षंच द्विपदादिचराचरम् ।
मन्यन्तेयोगिनः सर्वंमरीचिजलसन्निभम् ॥
विन्दतिविन्दतिनहिनहिमंत्रश्छन्दोलक्षणमिहनहितंत्रः ।
समरसमग्नोभावितपूतः प्रलयितमेतत्कथमवधूतः ॥
अद्वैतरूपमखिलंहिकथंवदामि-

नित्यंह्यनित्यमखिलंहिकथंवदामि ।
सत्यंह्यसत्यमखिलंचकथंवदामि-
ज्ञानामृतंसमरसंगगनोपमोऽहम् ॥
ब्रह्मादयः सुरगणाः कथमत्रसन्ति-
स्वर्गादयोवमतयः कथमत्रमन्ति ।
यद्येकरूपममलंपरमार्थतत्वं-
ज्ञानामृतंसमरसंगगनोपमोऽहम् ॥
मायाप्रपंचरचनानचमेविकारः
कौटिल्यदम्भरचनानचमेविकारः ।
सत्यानृतेतिरचनानचमेविकारः
ज्ञानामृतं समरसंगगनोपमोहम् ॥
नशून्यरूपनविशून्यरूपं-
नशुद्धरूपंनविशुद्धरूपम् ।
रूपंविरूपंनभवामिकिंचित्-
स्वरूपरूपंपरमार्थतत्त्वम् ॥
नावाहनंनैवविसर्जनंच ।

पत्राणिपुष्पाणिकथंभवन्ति।
ध्यानानिमंत्राश्चकथंभवन्ति-
समंसमेसर्वेशिवार्चनंच॥

मूर्खोऽपिनाहंनचपंडितोहं मौनंचवार्तानचमेकदाचित्।
वितर्कतर्कंचकथंवदामि स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम्॥
अस्तंगतोनैवसदोदितोऽहं तमश्चतेजोनचमेविभाति।
संध्यादिकंकर्मकथंकरोमि स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम्॥
इह तत्वमसिप्रभृतिश्रुतिभिः प्रहितमात्मनि तत्त्वमसि।
त्वमुपाधिविवर्जितसर्वसमं किमुरोदिपिमानससर्वसमम्॥
नहिकल्पितभागविभागइति नहिरागविरागविचारइति।
पदसंधिविवर्जितसर्वसमः किमुरोदिपिमानस सर्वसमः॥
अविवेकविवेकमबोधइति अविकल्पविकल्पविबोधइति।
यदिचैकनिरन्तरबोधइति किमुरोदिपिमानससर्वसमः॥
बहुधाश्रुतयः प्रवदन्तियतो, वियदादिरयंमृगतोयसमः।
यदिचैकनिरन्तरसर्वसमः किमुरोदिपिमानससर्व्वसमः॥
सविभक्तिविभक्तिविहीनपरमणुकायविकायविहीनपरम्।

यदिचैकनिरन्तरसर्वशिवः यजनंचकथंतनंचकथम् ॥
दिनरात्रिविभेदनिराकरणमुदितानुदितस्यनिराकरणम् ।
यदिचैकनिरन्तरसर्वशिवं रविचन्द्रमसोज्वलनंचकथम् ॥
तवआश्रमवर्णविहीनपरो नतुकारणकर्तृविहीनपरः ।
यदिचैकनिरन्तरसर्वशिवं गुणदोषविचारवचांसिकथम् ॥

भा० टी०—अवधूत गीता में कहा है—

ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त समस्त जगत् को मैं अपने आत्मा में भिन्ना भिन्न विलक्षण रूप से देखता हूँ अर्थात् अहं भाव से अलग नहीं है इस लिए भेद नहीं कहा जाता देखा जाता है इस लिये अभेद भी नहीं होसकता विरोध होने स दोनों नहीं हो सकते इस लिये विलक्षण कहा गया है। मैं उस का द्रष्टा पञ्चमाश्रमी हूँ। आशा के पाशों से विमुक्त आदि मध्य और अन्त में निर्मल अनन्त आनन्द स्वरूप ब्रह्म के ज्ञाता का लक्षण अकार है।

जिसने वासनाओं को जीत लिया है और जिस की वाणी दोष रहित है, जो वर्तमान के अनुसार कार्य करता है यह धकार का लक्षण है। जिसका शरीर धूलि से लिपटा रहता है जिसने चित्त को विषयों से हटा कर पाप रहित कर लिया है जो ध्यान और धारणा में लगा रहता है यह धूकार का लक्षण

है। अर्थात् अर्थ है तत्व की चिन्तावस्था को जिस ने पार कर लिया है चिन्ता चेष्टा और अहंकार से जो मुक्त है यह तकार का अर्थ है।

मैं शिव को नहीं जानता यह कैसे कहूं और जानता हूं यह भी कैसे कहूं। मैं यदि परमार्थ रूप से स्वच्छ स्वभाव आकाश के समान व्यापक शिव हूं तो मेरे लिए न वेद न लोक न देव न यज्ञ न वर्णाश्रम न कुल और न जाति है। न स्वर्ग ले जाने वाला धूम मार्ग न सत्य लोक ले जाने वाला प्रकाश मान अर्चिरादि मार्ग है, मैं तो परमार्थ तत्त्व रूप केवल ब्रह्म हूं। व्याप्य व्यापक भाव से रहित यदि तू सब कुछ केवल एक प्रत्यक्ष है तो फिर अपने आपको परोक्ष क्यों समझता है। मैं आदि मध्य और अन्त से रहित हूं, मैं कभी बद्ध नहीं हूं। मैं स्वभाव से निर्मल और शुद्ध हूं यह मेरा अटल निश्चय है।

जब मैं बद्ध नहीं हूं तो मैं मुक्त कैसे कहा जासकता हूं क्योंकि बँधा हुआ ही बंध से छूट कर मुक्त होता है। मैं ब्रह्म से पृथक नहीं हूं। न मैं कर्ता और न भोक्ता हूं मैं तो व्याप्य व्यापक भाव से भी रहित हूँ। न मैं पैदा हुआ न कभी मरा न ही मेरा कोई शुभाशुभ कर्म है। मैं तो शुद्ध निर्गुण ब्रह्म हूं बंध और मोक्ष मेरे हो ही कैसे सकते हैं, जब कि देव अर्थात् ब्रह्म

सर्व व्यापक स्थिर और पूर्ण है। जो भाव गम्य है वह निरा-कार है और जो दृष्टि गोचर है। वह साकार है और जो भावा भाव से रहित है वह अन्तराल कहलाता है न वह साकार है न निराकार वह तो सर्वथा भेदा भेद से रहित केवल शिव उस चिद्रूप का न उदय है न अस्त न दिन न रात उस देह रहित के शरीर की कल्पना पंडित कैसे कर लेते है।

धर्मार्थ काम मोक्ष और मनुष्यादि चराचर जगत् को योगी लोग मृग तृष्णा में जल के समान जानते हैं। मंत्र छन्द और तंत्र ये सब अवधूत का लक्षण नहीं प्राप्त कर सकते अर्थात् नहीं बता सकते। वह समरस में मग्न है वह भावना भावित और पवित्र होता है ऐसा लक्षण भी प्रलापमात्र है वह अद्वैत पूर्ण है वह कैसे कहूं वह नित्य या अनित्य है यह भी कैसे कहूं वह सम्पूर्ण सत्य या असत्य है यह कैसे कहूं क्योंकि वह तो सर्व व्यापक मेरा रूप है। ब्रह्मा आदि देवता तथा स्वर्गादि वस्तियाँ यहां कहां हैं जब कि मैं एक रूप निर्मल परमार्थ तत्त्व ज्ञानामृत आकाश के समान एक रस हूं। माया को प्रपंच रचना मेरा विकार नहीं है कुटिलता और पाखण्ड भी मेरा विकार नहीं है। सच और झूठ की रचना मेरा विकार नहीं है क्योंकि मैं तो एक रस आकाश के समान व्यापक हूं। न मैं शून्य रूप न भाव रूप न शुद्ध रूप और न मैं अशुद्ध रूप

हूं न मैं रूप रहित और न रूपवान् हूं, मैं तो परमार्थ तत्व वास्तविक निज रूप हूं। मेरा आवाहन और विसर्जन नहीं हो सकता पत्र और पुष्पों की तो बात ही क्या है ध्यान और मंत्र भी कैसे हो सकता है। सर्वत्र समरूप सर्वजगत ही शिव पूजा है मैं मूर्ख नहीं मैं पण्डित नहीं मेरे अन्दर चुप रहना और वार्तालाप भी सम्भव नहीं है? संशय और को भी मैं नहीं कह सकता ? मैं दुःख शून्य निज स्वरूप में मग्न रहने वाला हूं। मैं कभी अस्त नहीं होता सदा उदित ही रहता हूं, मुझ में अन्धकार का लेश नहीं है मैं तो सदा तेज सरूप प्रकाश मान हूं। मैं सन्ध्या आदि कर्म कैसे करूं मैं तो अपने रूप में मग्न और आनन्द रूप हूं। 'तत्वमसि' आदि श्रुतियों में जो वर्णन किया गया है वह आत्मा तू है तू सब उपाधियों से रहित समान रूप से व्यापक है अतः हे आत्मा तू क्यों दुःखी हो रहा है। तुझ में कल्पित भाग और विभाग नहीं है तुझ में राग विराग का विचार भी नहीं है तू तो पर और सन्धि से रहित समान रूप से सर्व व्यापक है अतः क्यों दुःखी होता है। तू अविवेक का विवेक और अज्ञेय है विकल्प रहित और विकल्प का कारण तथा ज्ञान स्वरूप है यदि तू एक निरन्तर और बोध रूप है तो क्यों तू मन के दुःखों को अपने में आरोपित करके दुःखी होता है। प्रायः श्रुतियां

कहती है कि यह जगत् मृग तृष्णा के समान है और तू एक निरन्तर और सर्व व्यापक है, तो क्यों दुःखी हो रहा है। तू विभाग और अविभागपन से रहित है अणु रूप निराकार और सब से परे है और यदि तू एक निरन्तर और सदा शिव रूप है तो यत्न करना और स्तुति ये कैसे हो सकते हैं। दिन और रात का तुझ में अभाव है, उदय और अस्त भी तेरे में नहीं हैं यदि तू एक निरन्तर और शिवरूप है तो तुझ में सूर्य और चन्द्रमा का प्रकाश क्या अर्थ रखता है। तेरा रूप आश्रम और वर्ण से विहीन और सब से परे है, तू जगत् का कारण और कर्ता तथा सब से परे वर्तमान है, यदि तू एक निरन्तर और सर्वदा कल्याण रूप है तो तुझ में गुण दोष के वचन कैसे घट सकते हैं।

मू० हठयोगप्रदीपिकायाम्—

क्रियायुक्तस्यसिद्धिः स्यादक्रियस्य कथंभवेत् ।
नशास्त्रपाठमात्रेण योगासिद्धिः प्रजायते ॥
वर्जयेद्दुर्जनप्रीतिं वह्निस्त्रीपथिसेवनम् ।
प्रातःस्नानोपचारादि कायक्लेशादिकंतथा ॥
चलेवातेचलंचित्तं निश्चलेनिश्चलंतथा ।

योगिस्थाणुत्वमाप्नोति ततोवायुंनिरोधयेत् ॥

ब्रह्मादयोपित्रिदशाः पवनाभ्यासतत्पराः ।
तेनसिद्धिंगतास्ते च तस्मात्पवनमभ्यसेत् ॥

यावद्देहेमरुद्बद्धस्तावच्चित्तनिरामयम् ।
यावद्दृष्टिर्भ्रुवोर्मध्येतावत्कालभयंकुतः ॥

कलांपरांमुखीकृत्य त्रिपथेपरिवर्तयेत् ।
साभवेत्खेचरीमुद्रा व्योमचक्रंतदुच्यते ॥

एकंसृष्टिमयंबीजमेकामुद्राचखेचरी ।
एकोदेवोनिरालम्ब एकावस्थामनोन्मनी ॥

सुचिरंज्ञानजनकं पञ्चस्रोतः समन्वितम् ।
तिष्ठतिखेचरीमुद्रा तस्मिन्शून्येनिरञ्जने ॥

अयंयोगःपुण्यवतां धन्यानांतत्त्वशालिनाम् ।
निर्मत्सराणांसिद्ध्येतनतुमत्सरशालिनाम् ॥

राजयोगस्यमाहात्म्यं कोवाजानातितत्त्ववित् ।
ज्ञानान्मुक्तिःस्थितिःसिद्धा गुरुवाक्येनलभ्यते ॥

अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनोयोगीयदावर्तते ।
दृष्ट्यानिश्चलतारयाबहिरसौपश्यन्नपश्यन्नपि ।

मुद्रेयंखलुशाम्भवीभवतिसायुष्मत्प्रसादाद्गुरो ?

शून्याशून्यविवर्जितंस्फुरतियत्तत्त्वंपदंशाम्भवम् ॥

अर्धोद्घाटितलोचनःस्थिरमनानासाग्रदत्तेक्षण

चन्द्रार्कावपिलीनतामुपनयन्निस्पन्दभावान्तरे ।

ज्योतिरूपमशेष बाह्यरहितंदेदीप्यमानंपरं

तत्त्वंतत्पदमेतिवस्तुपरमंवाच्यंकिमत्राधिकम् ।

चित्तंचरतिखेयस्माज्जिह्वाचरतिखेगता ।

तेनैषखेचरीनाम मुद्रासिद्धैर्नमस्कृता ॥

सूर्याचन्द्रमसोर्मध्ये निरालम्बेऽन्तिलेपुनः ।

संस्थिताव्योमचक्रेया सामुद्रानामखेचरी ॥

निरालम्बमनःकृत्वा नकिंचिदपिचिन्तयेत् ।

सबाह्याऽभ्यन्तरे व्योम्नि घटवत्तिष्ठतिध्रुवम् ॥

भा०—हठयोगप्रदीपिका में भी लिखा है—जो योगी क्रिया से युक्त है उसको सिद्धि प्राप्त होती है, क्रिया रहित को नहीं। केवल शास्त्र के पाठमात्र से तो सिद्धि हो ही नहीं सकती।

दुर्जन की प्रीति, अग्नि, स्त्री और बाट चलना छोड़दे, और शरीर को कष्ट पहुंचाने वाले प्रातः स्नानादि भी छोड़ दे।

जब वायु चल होता है तो मन भी चञ्चल होजाता है, जिस समय वायु निश्चल रहता है तो मन भी शान्त होजाता है। योगी निश्चल भाव को प्राप्त हो जाता है इसीलिये वायु को रोके। ब्रह्मा आदि देवता भी प्राणायाम के अभ्यास में तत्पर रहते हैं इसी से वे सिद्धि को प्राप्त हुए हैं अतः प्राणायाम का अभ्यास करे। जब तक शरीर में वायु बंधा हुआ है अर्थात् निश्चल है तभी तक मन निर्विकार रहता है। जब तक योगी अपने ललाट में दृष्टि जमाए रहता है तब तक काल का भय होही कैसे सकता है। जिह्वा को पराङ्मुखी करके अर्थात् पश्चिम को लौटा कर तीनों नाड़ियों का मार्ग जो कपाल का छिद्र है उसमें लगा दे वही खेचरी मुद्रा होती है और उस को ही व्योमचक्र कहते हैं। सुषुप्तिमयबीज एक है, खेचरीमुद्रा भी एक है निरालम्ब एक ही देव है और मनोन्मनी अवस्था भी एक ही है अर्थात् सुषुप्तिमयबीज सब बीजों में खेचरी मुद्रा सब मुद्राओं में निरालम्ब देव सब देवों में और मनोन्मनी अवस्था सब अवस्थाओं में उत्तम है।

यह योग ईर्षा और अभिमान् शून्य भाग्यवान् और तत्वज्ञानियों को सिद्ध होता है। अभिमानी और ईर्ष्यालुओं को नहीं। राजयोग के माहात्म्य को कोई तत्वज्ञानी ही जानता है। ज्ञान से मुक्त अवस्था में स्थिति सिद्ध हो जाती है और वह

ज्ञान गुरुवाक्य से प्राप्त होता है। भीतर अनाहत चक्रादि में जो दृश्यमान ईश्वर की मूर्ति आदि है उसमें जिसका चित्त और पवन विलीन हो गये हैं, ऐसी अवस्था में जब योगी वर्तमान होता है और जब स्थिरताराकी दृष्टि से बाहर देखता हुआ भी नहीं देखता यह शाम्भवी मुद्रा गुरु की कृपा से प्राप्त होती है इस अवस्था में शून्य और अशून्य से विलक्षण तत्व प्रकाशित होता है। जब योगी की आँखें आधी खुली रहती हैं मन स्थिर हो जाता है, दृष्टि भी नासाग्र पर स्थिर हो जाती है और जब चन्द्र सूर्य को स्पन्द रहित भाव में लीन कर देता है तब उसे अशेष बाह्य से विहीन प्रकाशमान परमतत्व प्राप्त होता है। इस विषय में और अधिक क्या कहूँ। चित्त आकाश में विचरता है और खेचरी मुद्रा उसे वहां प्राप्त होकर वशीभूत करती है अतः खेचरी मुद्रा सब सिद्धों से पूजी गई है। सूर्य और चन्द्र के मध्य निरालम्ब वायु में और व्योम चक्र में स्थित होने के कारण इस मुद्रा को खेचरी मुद्रा कहते हैं। मन को अवलम्बन रहित करले और कुछ भी न सोचे वह भीतरी और बाहरी आकाश में अवश्य घट के समान स्थित होता है।

मू०—अथारम्भावस्था।

ब्रह्मग्रन्थिर्भवेद्भिन्न आनन्दः शून्यसम्भवः।

विचित्रक्वणकोदेहेऽनाहतः श्रूयतेध्वनिः ॥
दिव्यगन्धोदिव्यचक्षुस्तेजस्वीस्यादरोगवान् ।
सम्पूर्णहृदयः शून्य आरम्भोयोगवान्भवेत् ॥

भा०—आरम्भावस्था में ब्रह्मग्रन्थि खुल जाती है फिर शून्य में उत्पन्न हुई विचित्र अनाहत ध्वनि सुनाई देती है जिस योगी को अलौकिक गन्ध और दृष्टि प्राप्त होजाती है। वह तेजस्वी रोग रहित और सम्पूर्ण हृदय वाला होजाता है तब समझले कि योग का आरम्भ होगया।

मू०—अथघटावस्था—

द्वितीयायांघटीकृत्य वायुर्भवतिमध्यगः ।
दृढासनोभवेद्योगी ज्ञानीदेवसमस्तथा ॥
विष्णुग्रन्थिर्यदाभिन्नः परमानन्दसूचकः ।
अतिशून्यविमर्दश्च भेरीशब्दस्तथाभवेत् ॥

भा०—जब दूसरी अवस्था में घटित हो जाता है तब, उसके मध्य में वायु बहने लगता है तब योगी का आसन दृढ़ होजाता है और देवों के समान ज्ञानी हो जाता है जब विष्णु ग्रन्थि खुलजाती है अति शून्य का भेद हो जाता है तब परमानन्द सूचक भेरी का शब्द होने लगता है।

मू०—अथ परिचयावस्था—

तृतीयायांततोभित्त्वा विहायोमर्दलध्वनिः ।
महाशून्यंतथायाति सर्वसिद्धिसमाश्रयम् ॥
चित्तानन्दंततोजित्वा सहजानन्दसम्भवः ।
दोषदुःखक्षुधानिद्रा जरामृत्युविवर्जितः ॥
रुद्रग्रन्थिततोभित्वा सर्वपीठगतोऽनिलः ।

भा०—जब तीसरी अवस्था में पहुंचता है तब आकाश में डमरू की ध्वनि सुनाई देती है और सब सिद्धियों के आश्रय भूत महाशून्य को प्राप्त होता है। तब चित्तानन्द को जीतकर स्वाभाविक आनन्द को प्राप्त होता है तब योगी सब प्रकार के दोष क्षुधा निद्रा बुढापा और मृत्यु को भी जीत लेता है। तब वायु रुद्र ग्रन्थी को तोड कर सब चक्र स्थानों में पहुंच जाता है।

मू०—अथनिष्पत्त्यवस्था—

निष्पत्तौवैणवः शब्दः क्वणद्वीणा क्वणोभवेत् ।
अस्तुवामास्तुवामुक्तिरत्रैवाखण्डितं महत् ॥
लयामृतमिदं सौख्यं राजयोगादवाप्यते ।
राजयोगपदं प्राप्तं सुखोपायं सुचेतसाम् ॥

नादानुसंधानसमाधिभाजां योगीश्वराणांहृदयेप्ररूढम् ।
आनन्दमेकंवचसामवाच्यं जानातितं श्रीगुरुनाथएव ॥

नादकोटिसहस्राणि विन्दुकोटिशतानि च ।
सर्वेतत्रलयं यान्ति यत्रदेवोनिरञ्जनः ॥
योगिनांज्ञानविदुषामन्येषांच महात्मनाम् ।
ग्रासं तं कालपुरुषं सुविज्ञाप्यं विचक्षणैः ॥
यावन्नैवप्रविशति मरुद् विज्वरोमध्यमार्गे ।
यावद्विन्दुर्नभवतिदृढः प्राणवत्सुप्रबुद्धः ॥
यावद्व्योम्नः सहजसदृशं जायतेनैवतत्त्वम् ।
तावत्सर्वं वदतियदिदं दम्भमिथ्याप्रलापः ॥

भा०—निद्रावस्था में बांसुरीका सा शब्द और बजती हुई सितार जैसा शब्द होता है, अब मुक्ति हो या न हो यहां पर हो महत् अखण्डित आनन्दस्वरूप होजाता है । यह सुखप्रद लयरूपी अमृत राजयोग से प्राप्त होता है राजयोग पद की प्राप्ति बुद्धि मानों के लिए सुख का उपाय है। नादानुसंधान समाधि को प्राप्त होने वाले योगीश्वरों के हृदय में जो आनन्द उत्पन्न होता है वह वाणी से वर्णन नहीं किया जा सकता उसको तो केवल श्रीगुरु

गोरक्षनाथ जी ही जानते हैं। सहस्रों नाद कोटियां और सैंकड़ों बिन्दु कोटियां ये सब निरंजन देव में लय को प्राप्त होती हैं। योगियों तथा अन्य ज्ञानी महात्माओं को जो काल पुरुष प्राप्त होना है वही बुद्धिमानों को जानना चाहिए। जब तब वायु सुख पूर्वक मध्यमार्ग में प्रविष्ट नहीं होता और जब तक प्राण के समान ध्यान पूर्वक बिन्दुः दृढ़ नहीं होता और जब तक आकाश के समान स्वाभाविक तत्त्व नहीं प्राप्त होता तब तक जो कुछ कहा जाता है वह दम्भ और मिथ्या प्रलाप है।

मू०—हठ प्रदीपिकायाम्—दशमोपदेशे—

आदिनाथोदितं सर्वमष्टैश्वर्य प्रदायकम्।
यल्लभंसर्वसिद्धानां दुर्लभंमहतामपि॥
पीड्यतेनतुरोगेण नचलिप्येतकर्मणा।
बाध्यते नचकालेन योमुद्रांवेत्तिखेचरीम्॥

ऊर्ध्वंषोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तंहठात्।
ऊर्ध्वास्योरसनांनियम्यविवरे शक्तिंपरांचिन्तयेत्॥
उत्कल्लोलकलाजलंच विमलंधारामृतंयः पिबेत्।
निर्दोषः समृणालकोमलवपुर्योगीपरंजीवति॥

यत्प्रालेयंप्रहितसुषिरं मेरुमूर्धान्तरस्थं।

तस्मिंस्तत्त्वप्रवदतिसुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम् ॥
चन्द्रात्सारः स्रवतिवपुषस्तेन मृत्युर्नराणाम् ।
तंवध्नीयात्सुकरणमथो नान्यथाकायसिद्धिः ॥
बद्धं मूलबिलंयेन तेनविघ्नोविदारितः ।
अजरामरतांयाति यथा पंचमुखोहरः ॥
तत्रास्तिकरणं दिव्यं सूर्यस्यमुखवंचनम् ।
गुरूपदेशतोज्ञेयं नतुशास्त्रार्थकोटिभिः ॥
येनसंचालिताशक्तिः सयोगीसिद्धिभाजनम् ।
किमत्रबहुनोक्तेन कालंजयतिलीलया ॥

ज्ञानंकुतोमनसिसम्भवतीहतावत्
प्राणोपिजीवतिमनोम्रियतेनयावत् ।
प्राणोमनोद्वयमिदंविलयंनयेद्योमोक्षं
सगच्छतिनरोनकथंचिदन्यः ॥

इन्द्रियाणां मनोनाथो मनोनाथश्चमारुतः ।
मारुतस्यलयोनाथः सलयोनादमाश्रितः ॥
अन्तर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता ।

एषासाशाम्भवीमुद्राः सर्वतन्त्रेषुगोपिता ॥

शक्तिमध्येमनः कृत्वा शक्तिंमनसिमध्यतः ।

मनसामनआलोक्य धारयेत्परमं पदम् ॥

अन्तः शून्यो बहिः शून्यः शून्यकुम्भइवाऽम्बरे ।

अन्तः पूर्णो बहिः पूर्णः पूर्णकुम्भइवाम्भसि ॥

संकल्पमात्रकलनैव जगत् समग्रं,

संकल्पमात्रकलनोहिमनो विलासः ।

संकल्पमात्रकलनैवकृतिस्तुतिस्या,

संकल्पनिश्चयमवाप्नुहिचात्मशान्तिः ॥

ध्येयं सर्वमतीतंच ज्ञानं च मन उच्यते ।

ज्ञानं ध्येयं मनश्चैव नान्यः पंथाद्वितीयकः ॥

श्रीआदिनाथेन सपादकोटिर्लयप्रकाराः कथिताजयन्ति ।

नादानुसन्धायकमेवनान्यं मन्यामहे धन्यतमं लयानाम् ॥

मनः स्थैर्येस्थिरोवायुस्ततोबिन्दुः स्थिरोभवेत् ।

बिन्दुस्थैर्यादियात्मत्वं पिण्डस्थैर्यं प्रजायते ॥

ध्यामलः सुप्रसन्नात्मा निर्द्वन्द्वोविजितेन्द्रियः ।

कुरुते युक्तकर्माणि नित्यनैमित्तिकानिच ॥
योगेनपद्मात्मानं गुहायां प्राप्यचेतसा ।
तारकंजपतेनित्यं जितायुः कामवर्जितः ॥
युक्तासनेनसमारुह्य समकायशिरोधरः ।
नासाग्रदृष्टिरेकाकी जपेदोंकारमक्षरम् ॥

तदुक्तंश्रीगोरक्षपद्धतौ

भूर्भुवः स्वरिमेलोकाश्चन्द्रसूर्याग्निदेवताः ।
यस्यमात्रासुतिष्ठन्ति तत्परं ज्योतिरोमिति ॥
त्रयः कालास्त्रयो वेदास्त्रयो देवास्त्रयोऽग्नयः ।
त्रयो लोकाः स्थितायत्र तत्परंज्योतिरोमिति ॥
इच्छा क्रियातथाज्ञानं ब्राह्मीरौद्रीच वैष्णवी ।
त्रिधाशक्तिः स्थिता यत्र तत्परंज्योतिरोमिति ॥
वचसा वजपेद्बीजंवपुषाचसमभ्यसेत् ।
मनसासंस्मरेन्नित्यं तत्परंज्योतिरोमिति ॥
शुचिर्वाप्यशुचिर्वापि योजयेत्प्रणवंसदा ।
नसलिप्यतेपापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥

शरीरंनोत्यजेदेव कालःकस्यापिकुत्रचित् ।
अन्तः शरीररक्षार्थं यत्नः कार्यस्तुयोगिना ॥
ततोलक्ष्यमनोऽभ्यासमहं भावविवर्जितम् ।
सर्वाङ्गकल्पनाहीनं कथंकालोजयेत्तुतम् ॥
स एवकालः स शिवः स सर्वोनापिकिश्चनः ।
कः केनहन्यतेतत्र म्रियते वापिकश्चन ॥
ततोव्यतीतिसमये कालस्य भ्रान्तिरूपतः ।
योगीसुप्तोत्थित इव बोधयाति निरोधतः ॥
एवंसिद्धोभवेद् योगी वञ्चयित्वाविधानतः ।
कालकलित संसारं पौरुषणाद्भुतेन च ॥
तत्रापिभुवनेयोगी विरहत्येक एव सः ।
पश्यन् संसार वैचित्र्यं स्वेच्छयानिरहंकृतिः ॥
द्वाराणा नवकंनिरुध्यमरुतपीत्वा दृढंधारितम् ।
नीत्वाकाशमपानवह्नि सहितं शक्त्यासमुज्ज्वालितम् ।
आत्मध्यानयुतस्त्वनेनविधिना विन्यस्यमूर्ध्निध्रुवम् ।
यावत्तिष्ठतितावदेवमहतां संघेन संस्तूयते ॥
दृष्टिःस्थिरा यस्यविनापिदृश्यंवायुःस्थिरोयस्यविनाप्रयत्नं

चित्तंस्थिरंयस्यविनाऽवलम्बं स एवयोगी सगुरुः स सेव्यः ॥

गोरक्षोपनिषदि— आदौदेवोमहानन्दो निर्ममेदेवतास्वयम् ।

तस्मादिच्छा सुसम्पन्नाइच्छाज्ञानंततःक्रिया ॥

ततोव्यथांवरारोहेपिण्डब्रह्माण्डबुद्बुदम् ।

अव्यक्तव्यक्तभावेन विचरामिजगत्त्रयम् ॥

भा—हठप्रदीपिका के दशवें उपदेश में कहा है—आदि नाथ जी का बतलाया हुआ योगमार्ग अष्टसिद्धियों के देने वाला है यह मार्ग सिद्ध महापुरुष के लिए भी दुर्लभ है इस लिये सब के लिये उत्तम है। जो खेचरीमुद्रा को जानता है वह रोग से पीड़ित कर्मों से लिप्त और काल से भी अवध्य होता है। सोलहपत्तों वाले कंठस्थित पद्म में चन्द्रमण्डल से गिरते हुए फेन के समान श्वेत चन्द्रकिरण के समान स्वच्छ अमृत जल का ब्रह्मरन्ध्र में जिह्वा का प्रवेश करके खेचरी मुद्रा के द्वारा पान करे उस योगी का शरीर मृणाल के समान कोमल और निर्दोष हो जाता है। और वह चिरकाल तक जीवित रहता है। मेरु पर्वत के समान सब से ऊंची सुषुम्णा के ऊपर भाग में जो सुराख है। उस में सोमकला जल रहता है उसी को शुद्ध हृदय विद्वान् आत्म तत्व अर्थात् परमात्मा का अभिव्यक्ति स्थान

और जीवों की जीवन शक्ति कहते हैं। उसी के समीप नीचे इड़ा पिङ्गला आदि नाड़ियों का मुख है, उस में देह का सार भार अमृत विन्दु चन्द्रमण्डल अर्थात् मस्तक के बीच ऊपर भाग में स्थित दिमाक से टपकता रहता है। इस कारण मनुष्यों की मृत्यु होती है। अतः उसको रोकने वाली खेचरी मुद्रा को बांधे और तरह से शरीर की सिद्धि नहीं होसकती।

जिसने इस मूल बिल को पाथलिया है उसने विघ्नों को नष्ट कर दिया और वह देवाधि देव के समान अजर अमर हो जाता है। यहां मूल बिल में नाभि स्थित जठराग्नि रूप सूर्य के मुख को वचित करने वाली खेचरी मुद्रा है जो गुरु के उपदेश से जानी जाती है करोड़ों शास्त्रों से नहीं। जिसने शक्ति को सचालित किया है वह योगी सिद्धि को प्राप्त कर सकता है अधिक क्या कहें यह सुगमता से काल को जीत सकता है।

मन और प्राण का स्वाभाविक व्यापार जब तक नहीं रुकता तब तक ज्ञान कैसे उत्पन्न हो सकता है। प्राण और मन को जो विलीन करदे वह मुक्ति प्राप्त कर सकता है और कोई नहीं इन्द्रियों का स्वामी मन है और मन का स्वामी प्राण है प्राण का स्वामी लय है और वह नाद में आश्रित है।

भीतर की ओर लक्ष्य हो और निर्निमेष दृष्टि बाहर की तरफ हो यह सब तंत्रों में गुप्त रखने योग्य शाम्भवी मुद्रा है। शक्ति के बीच मन को और मन के बीच शक्ति को करके मन से मन को देख कर परम पद को सिद्ध करे। भीतर और बाहर से शून्य आकाश में स्थित शून्य घट के समान भीतर से पूर्ण और बाहर से पूर्ण जल में भरे हुए घड़े के समान योगी की अवस्था होती है। यह समस्त जगत् संकल्प मात्र और मन का खेल है, यह नित्य की कृति भी संकल्प मात्र ही है, इस लिये हे योगी तू एक आत्मा में तन के संकल्प का निश्चय कर यही आत्म शान्ति है। सम्पूर्ण भूत ज्ञेय और ज्ञान मन ही कहलाते हैं और दूसरा कोई मार्ग नहीं है, श्री आदिनाथ जी ने मन का लय करने की सवा करोड़ रीतियां कही हैं। परन्तु हम तो नादानुसंधान को ही लय का सर्वोत्तम साधन कहते हैं, अन्य किसी को नहीं, मन के स्थिर होने से वायु स्थिर होता है, वायु के स्थिर होने से बिन्दु स्थिर होता है बिन्दु की स्थिरता से यह शरीर सत्र मुच स्थिर हो जाता है। मन से सब संकल्पों को छोड़ कर जितेन्द्रिय होकर योगी सब नित्य नैमित्तक कर्मों को योग पूर्वक करता है। योग से हृदय गुहा में आत्मपद को प्राप्त कर के

निष्कामभाव से आयु को जीत कर तारक का नित्य जप करता है। युक्तासन से बैठ कर सिर गर्दन और काया को एक सीध में करके एकाकी नाक के अग्रभाग में दृष्टि टिका कर एकाग्र मन से ओंकार को जपे। जिस ओंकार की मात्राओं में भूर्भुवः स्वः ये तीनों लोक सूर्यचन्द्र और अग्नि ये तीन, इनके देवता स्थित हैं, ओंकार वह सर्वोत्तम प्रकाश है। ओंकार वह परम प्रकाश है जिस में तीनों काल तीनों वेद तीनों अग्नि और तीनों लोक स्थित हैं। इच्छा क्रिया और ज्ञान ये तीन प्रकार की ब्राह्मी रौद्री और वैष्णवी शक्तियां जिस में तीन प्रकार से स्थित हैं वह परम ज्योति ओंकार है।

ज्ञानवान् योगी वाणी से ऊपर परम ज्योति ओंकार को जपे, नेत्र से उसका अभ्यास करे और मन से उसका स्मरण करे पवित्र या अपवित्र किसी अवस्था में भी जगत् के सर्व कारण ओंकार में मन लगाने वाला योगी पाप से लिप्त नहीं होता। काल किसी के भी शरीर को कहीं भी नहीं छोड़ता इस लिये योगी को नित्य शरीर रक्षार्थ यत्न करना चाहिये। जो मन को लक्ष्य पर एकाग्र किये हुए अहंकार से रहित और सर्वथा कल्पनाओं से शून्य है उसको काल कैसे जीत सकता है जब वही काल वही शिव और वही सब कुछ है तब फिर कौन किस को करता है और कौन मरता है। तब समय के बीतने पर काल की भ्रान्ति से गुरु के उपदेश द्वारा सोकर उठे हुये के

समान ज्ञान को प्राप्त होता है। इस प्रकार संसार को नष्ट करने वाले काल को अपने अद्भुत पौरुष और गुरु के उपदेश द्वारा ाल को ठग कर सिद्ध होजाता है। वहां अपने भवन में संसार ी विचित्रता को देखता हुआ अहंकार रहित होकर स्वेच्छा ३ विहार करता है। नवों इन्द्रिय द्वारों को रोक कर कुम्भक करके प्राणों को निश्चलता के साथ मस्तिष्क के आकाश में ऐसी रीति से कि वह न नीचे को गिरे और न उस में उष्णता आवे पहुंचाकर परा शक्ति की उमंग से परिपूर्ण और पर-मात्मा के ध्यान में मग्न होकर जितनी देर बैठता है उतनी देर देवता लोग भी उसकी स्तुति करते हैं। जिसकी दृष्टि विना दृश्य के वायु बिना प्रयत्न के और चित्त बिना अवलम्ब के स्थिर है वही योगी है वही गुरु है और वही सेवा के योग्य है।

गोरक्षोपनिषद् में कहा है कि आदि में महानन्द देव ने स्वयं देवता को उत्पन्न किया, उससे इच्छा उत्पन्न हुई उससे ज्ञान और ज्ञान से क्रिया क्रिया से कष्ट और है बराबोहै ? उससे बुलबुले के समान स्थूल शरीर और ब्रह्माण्ड पैदा हुआ, और अतः मैं गोरक्षनाथ व्यक्ताव्यक्त भाव से तीनों लोकों में भ्रमण करता हूं

मू०—एवं श्रीगुरुरादिनाथः। मत्स्येन्द्रनाथः। उदयनाथः।

यत्पीयूषवकारबीज सहितं युक्तंसदाविष्णुना ।।
प्राणंतत्रविलीय पंचघटिकंचित्तान्वितंधारयेत् ।
एषादुःसहकालकूट जरणा स्याद्वारुणीधारणा ।।
यत्तालुस्थितमिन्द्रगोपसदृशं तत्त्वंत्रिकोणंज्वलत् ।
तेजोरेफयुतं प्रवालरुचिरं रुद्रेणयत्संगतम् ।।
प्राणं तत्रविलीयपंचघटिकं चित्तान्वितंधारयेत् ।
एषावह्निजयं सदाविदधतीवैश्वानरीधारणा ।।
यद्भिन्नाञ्जनसंनिभंशुभमिदंवृत्तं भ्रुवोरन्तरे ।
तत्त्वं वायुमयंयकारसहितं तत्रेश्वरोदेवता ।।
प्राणंतत्रविलीयपंचघटिकं चित्तान्वितं धारयेत् ।
एषाखेगमिनं करोतियमिनां स्याद्वायवीधारणा ।।
आकाशंसुविशुद्धवारिसदृशं यद्ब्रह्मरन्ध्रेस्थितम् ।
यन्नाथेनसदाशिवेनसहितं शान्तंहकाराक्षरम् ।।
प्राणंतत्रविलीयपंचघटिकं चित्तान्वितंधारयेत् ।
एषामोक्षकपाटपाटनपटुः प्रोक्तानभोधारणा ।।
स्नानंतेनसमस्ततीर्थसलिलेदत्तं द्विजेभ्योधनम् ।

यज्ञानांचकृतं सहस्रमयुतं देवाश्चसंपूजिताः ॥
सत्यंतेनसुतर्पिताश्चपितरः स्वर्गंचनीताः पुनः ।
यस्यब्रह्मविचारणेक्षणमपि प्राप्नोतिधैर्यंमनः ॥

भा०—इस प्रकार सब से प्रथम श्री गुरु आदिनाथ १ श्री मत्स्येन्द्रनाथ २ उदयनाथ ३ दण्डनाथ ४ सत्यनाथ ५ सन्तोषनाथ ६ कूर्मनाथ ७ भवनार्जिनाथ ८ सूक्ष्मवेदी अद्वैत के ऊपर सदानन्द देवता समस्त सिद्ध मण्डलाधिपति सर्वादि ब्रह्मवेत्ता शिवावतार श्री गोरक्षनाथ जी ९। अनाहत शृङ्गी खेचरी मुद्रा अर्थात् नादलय होने पर जो अनहद नाद सुनाई देता है वही इनकी शृङ्गी और खेचरी मुद्रा ही मुद्रा है विवेक मार्तण्ड में कहा है—जो योगी देह के भीतर निश्चलदीप शिखा के समान तेज रूप कुण्डलिनी द्वारा मूलाधारादिषट् चक्र भेदन करने से युग कल्पादि रूप ,काल की गणना को जीतकर अमर रूप से गाया जाता है और जिस मत्स्येन्द्रनाथ में आनन्द सागर आदिनाथ महेश्वर ही ज्ञान रूप से प्रकट हुए (अर्थात् आदिनाथ जी के शिष्य होने से उनका समस्त ज्ञान भण्डार उनमें आगया उस स्थूल सूक्ष्म गुण रहित श्री मत्स्येन्द्रनाथ जी को बार २ प्रणाम करता हूँ। अजपा नाम की गायत्री योगियों को मोक्ष प्रदान करने वाली है, इसके संकल्पमात्र से ही सब पापों से

मुक्त होजाता है। इसके समान विद्या इसके समान जप और इस के सदृश ज्ञान न हुआ है न होगा। इसके समान सुखदायक इसके समान तप और इसके समान जानने योग्य वस्तु न हुई न होगी। इसी कारण काल के भय से ब्रह्मा और सब योगी तथा मुनि लोग प्राणायाम के अभ्यास में संलग्न रहते हैं इसलिये प्राणायाम करे, जिस में सब संकल्पों को नष्ट करके सब काम क्रोध लोभ मोहादि द्वन्द्वों की पहुंच से बाहर होकर अपने आत्मा को परमात्मा में लीन कर देता है वह समाधि कही जाती है। समाधि से युक्त योगी शास्त्रों से नहीं जाना जाता कोई प्राणी उसका भेद नहीं जान सकता और किसी प्रकार के मन्त्र तन्त्रों का उसके ऊपर कोई असर नहीं होता। हेतुओं और दृष्टान्तों से रहित, मन और बुद्धि की पहुंच से परे वह अनन्त ज्ञानरूप जो आनन्द है उस तत्त्व को तत्त्व वेत्ता ही जानते हैं, जिस प्रकार घी में डाला हुआ घी और दूध में डाला हुआ दूध पहले घी और दूध में मिल जाता है और कुछ भी भेद मालूम नहीं होता, इसी प्रकार योगी भी ब्रह्मरूप ही होजाता है। जब बिन्दु देह में स्थित है तब मृत्यु का भय हो ही नहीं सकता, और जब तक खेचरी मुद्रा बांध रक्खी है, तब तक बिन्दु नहीं जासकता। बिन्दु शिव है और रज शक्ति है, बिन्दु

चन्द्रमा है और रज सूर्य दोनों के संगम से ही परम पद प्राप्त होता है। जो पृथिवी हड़ताल और सुवर्ण के समान पीली अधिष्ठातृ देवता ब्रह्मा के सहित चतुष्कोणाकार और मध्य में (लं) बीज से युक्त है इस पृथ्वी तत्त्व का हृदय में ध्यान कर के उक्त भूमंडल में चित्त सहित प्राण को लीन करके पांच घडी तक स्तम्भ करने की धारणा करे इस धारणा के अभ्यास से पृथिवी तत्त्व अपने वश में हो जाता है। अर्धचन्द्राकार कुन्द पुष्प के समान श्वेत वर्ण अमृत रूप मध्य में 'वं' बीज से युक्त अधिष्ठातृदेवता विष्णु सहित जल तत्त्व का विशुद्ध चक्र में ध्यान करे और उक्त जल तत्व में स्वयलीन हो तथा प्राण को लीन करके पांच घडी तक धारणा करे यह जल स्तम्भन करने वाली धारणा है इसके सर्वदा अभ्यास करने से महाभयंकर काल कूट विष का भी शरीर पर असर नहीं होता वह भी शरीर में ही भस्म होजाता है। इन्द्रगोप कीट के समान लालवर्ण त्रिकोणाकार मूंगे के समान रमणीय मध्य में 'रं' बीज से शोभित अधिष्ठातृ देवता रुद्र सहित अग्नि तत्व की तालु में भावना करे उक्त अग्नि तत्व में स्वयं और चित्त सहित प्राण को लीन करे और पांच घड़ी तक तन्मय हो, यह वैश्वानरी धारणा है इसके सेवन करने से योगी अग्नि को जीत लेता है अग्नि उसका दाह नहीं कर सकती। गोलाकार कज्जल के ढेर के

समान अतिनील वर्ण मध्य में 'यं' बीज युक्त अधिष्ठातृ देवता ईश्वर सहित वायु तत्व का भ्रू मध्य में ध्यान करे उसी वायु तत्व में स्वयं लीन होकर प्राण सहित चित्त को लीन करे और पांच घड़ी पर्यन्त स्थिर रहे यह वायु तत्व की धारणा है इस धारणा के नित्य अभ्यास करने से योगी आकाश में उड़ने लगता है। गोलाकार निर्मल जल के समान वर्णवाले मध्य में हं बीज और अधिष्ठातृ देवता शिव सहित आकाश तत्व का ब्रह्म रंध्र में ध्यान करे फिर स्वयं उनमें लीन हो और चित्त सहित प्राणको उसमें लीन करे यह नभो धारणा मोक्ष द्वार के खोलने में समर्थ है नित्य इसका अभ्यास करने से मोक्ष का द्वार खुल जाता है। वह हजारों तीर्थों में स्नान कर चुका ब्राह्मणों को दान दे चुका हजारों यज्ञ भी उसने कर लिये, समस्त देवताओं को पूज लिया, और पितरों को तृप्त कर चुका तथा स्वर्ग में भेज दिया जिसका मन क्षणभर भी ब्रह्म विचार में स्थिर होगया है।

मू० राजगुह्ये श्रीकृष्ण कृत गोरक्ष नाथ स्तोत्रम्—

गकारोगुणसंयुक्तो रकारोरूपलक्षणः।
क्षकारेणाक्षयंब्रह्म श्री गोरक्षनमोस्तुते ॥
नाकारोऽनादिरूपःथकारस्थाप्यतेसदा,

भुवनत्रयमेवैकश्श्रीगोरक्षनमोस्तुते ॥

ब्रह्मणांचपरंब्रह्म रुद्रादीनांशिरोमणे ? ।
त्रैलोक्यंनिर्मितंयेन श्रीगोरक्षनमोस्तुते ॥

सर्वगुणोगुणाभावो निर्गुणश्चगुणास्थितः ।
साकारोवानिराकारः श्रीगोरक्षनमोस्तुते ॥

संपूजयन्तिदेवास्तं मर्त्यलोकेचमानवाः ।
पातालेनागलोकाश्च श्रीगोरक्षनमोस्तुते ॥

एकाकीवर्ततेनित्यं भवपाशविवर्जितः ।
परंब्रह्माऽक्षयंज्योतिः श्रीगोरक्षनमोस्तुते ॥

नमन्तिब्रह्माविष्णुश्च सुरान्मुनयस्तथा ।
ज्ञानसाराऽखिलाः सिद्धाः श्रीगोरक्षनमोस्तुते ॥

श्रीगोरक्षस्यइदंस्तोत्रं स्वयंकृष्णेननिर्मितम् ।
भक्तिभावविनिर्मुक्तो दासोऽहमितिभावयेत् ॥

आकाशंमन्दिरंयस्य नानारत्नोपशोभितम् ।
हस्तमध्येस्थितंशम्भोरभयंवरदायकम् ॥

श्रीनाथंतुमहात्मानं नजानातिस्वयंहरिः ।
किंचित्किंचित्विजानाति महादेवोनमस्कृतम् ॥

श्रीनाथश्चाऽव्ययोदेवो देवानामप्यगोचरः ।
तत्पादौ चिन्तयेद्योगी श्चनयोयोगनिश्चलः ॥

कल्पद्रुमतन्त्रे श्रीगोरक्षसहस्रनामस्तोत्रे—

शुद्धस्फटिकसंकाशं जटाजूटं त्रिलोचनम् ।
निरंजनं निराकारं निर्विकल्पं निरामयम् ॥
त्रिमूर्तिं च त्रिलोकीशं विधिविष्णुमहेश्वरम् ।
विश्वरूपं महाकारं गोरक्षनाथदैवतम् ॥

इत्यादि तथा च—

विद्यापतिर्मन्त्रनाथो ध्याननाथो निरंजनः
नित्यनाथो भूतपतिर्नित्यानन्दो महीपतिः ॥
सर्वाराध्यः पूर्णनाथो यतिनाथो यतिप्रियः ।
सृष्टिनाथः स्थितिनाथो हारनाथो महागुरुः ॥
रमणो राममद्रश्च रामनाथो जनार्दनः ।
पदस्थापनकार्याणि मुक्तिकार्यं विशेषतः ॥
विनागोरक्षमंत्रेण न कर्तव्यं कदाचन ।
आगमोक्तानि कर्माणि वैदिकानि तथैव च ॥

विनागोरक्षमंत्रेण नासिद्ध्यन्तिसाधयेत्तथा ।

श्रीकृष्णकृत श्रीगोरक्षनाथस्तोत्र—

भा० टी०—गकार गुण संयुक्त है रकार रूप का चिह्न है और क्षकार से अक्षय ब्रह्म लक्षित होता है ऐसे श्रीगोरक्षनाथ जी मैं आप को नमस्कार करता हूं । आप ब्रह्माओं के ब्रह्मा और रुद्रों के शिरोमणि हो, त्रैलोक्य की रचना करने वाले हे गोरक्ष नाथ ? मैं आपको प्रणाम करता हूं ।

आप सर्वगुण युक्त और गुणातीत हैं और निर्गुण होते हुए भी गुणों में स्थित हैं आप साकार और निराकार हैं मैं आपको नमस्कार करता हूँ । स्वर्ग में देव मर्त्यलोक में मनुष्य और पाताल में नाग आपकी पूजा करते हैं ऐसे सर्वपूज्य आपको प्रणाम करता हूं । आप संसार बन्धन से रहित होकर एकाकी वर्तमान हैं और अक्षय ज्योति रूप परब्रह्म हैं हे श्रीगोरक्ष नाथ ऐसे आपको मैं प्रणाम करता हूं । यह गोरक्षनाथजी का स्तोत्र श्रीकृष्ण ने बनाया है भक्ति भाव से युक्त होकर मैं गोरक्षनाथजी का दास हूं ऐसी भावना करे । जिसका मन्दिर नाना रत्नों से शोभायमान आकाश महादेव के हाथ में स्थित है । ब्रह्मा विष्णु आदि देवता मुनि मनुष्य और महा सिद्ध ज्ञानी आपको नमस्कार करते हैं ऐसे मैं आपको नमस्कार करता हूं । महात्मा श्रीनाथ को स्वयं विष्णु भी नहीं जान सकते उस सर्व नमस्कृत

नाथ को महादेव कुछ २ जानते हैं। श्रीनाथदेवों से भी अप्राप्य हैं और अव्यय देव हैं अक्षय योगी सदा योग में निश्चल होकर उसके चरणों का ध्यान करे।

कल्पद्रुम में श्री गोरक्ष सहस्र नाम स्तोत्र है। शुद्ध स्फटिक के समान शुभ्र जटाजूट धारी त्रिलोचन निरंजन निराकार निर्विकल्प निरामय त्रिमूर्ति त्रिलोकेश ब्रह्मा विष्णु महेश्वर रूप विश्वरूप सदाकार, नाथ देवगोरक्ष, विद्यापति मंत्रनाथ ध्यान नाथ निरंजन, नित्यनाथ भूतपति नित्यानन्द मही पति सर्वाराध्य पूर्णनाथ श्रुतिनाथ श्रुतिप्रिय सृष्टिनाथ, स्थितिनाथ हारनाथ महागुरु रमण रामभद्र रामनाथ जनार्दन, घट स्थापन के कार्य और विशेष रूप से मुक्ति के कार्यगोरक्ष मंत्रके बिना कभी नहीं करने चाहियें, शास्त्रों और वेदों में कहे हुए कोई भी कर्म गोरक्ष मंत्र के बिना सिद्धनहीं होते इस लिये साधक को उचित है कि उन्हें गोरक्ष मंत्र से ही सिद्ध करे।

मू०—सारसंग्रहेब्रह्माण्डपुराणेललितापुरवर्णनेललिताखण्डे—

तस्यचोत्तरकोणेतु वायुलोकोमहाद्युतिः।
तत्रवायुशरीराश्च सदानन्दमहोदयाः॥

सिद्धादिव्यपर्ययश्चैव पवनाऽभ्यासिनोपरे ।
गोरक्षप्रमुखाश्चान्ये योगिनोयोगतत्पराः ॥

द्वात्रिंशत्तमेऽध्याये—

नाथान्तरामिति प्रोक्तं हस्त विंशतिचोन्नतम् ।
चतुर्नल्वप्रविस्तारं प्राग्वत् सोपान मण्डितम् ॥
तत्र नाथामहादिव्या योगशास्त्र प्रवर्तकाः ।
सर्वेषां मंत्रगुरवः सर्वविद्या महार्णवाः ॥
चत्वारो युगनाथास्तु लोकानामभिगुप्तये ।
तुष्टाः कामेशदेवेन तेषांनामानि मच्छृणु ॥
मित्रीशोड्डीश षष्ठीश चर्याख्याःकुम्भसंभव ? ।
तैः सृष्टा बहवोलोका रक्षार्थं पादुकात्मकाः ॥
दिव्यौघा गुरवः प्रोक्ता स्तेषां नामानि मच्छृणु ।
मित्राद्यामानवौघाश्च सिद्धौघास्सुरतापसाः ॥
प्रायः सालोक्यसारुप्य सायुज्यादिकसिद्धयः ।
महान्तोगुरवस्तांस्तु सेवेतचतुरोगुरून् ॥

स्कन्दपुराणे काशीखण्डे—

मम भक्तिप्रकुर्वाणा ये विश्वेशं द्विषन्ति वै ।
विद्विषो मम ते ज्ञेयाः पिशाचपदगामिनः ॥
अध्यासतेऽन्धतामिस्रं मृतास्तेऽन्यत्र सन्ततम् ।
शिवनिन्दापरा ये च ये च पाशुपतनिन्दकाः ॥
विद्विषो मम ते ज्ञेयाः पतन्ति नरकेऽशुचौ ।
अष्टाविंशन्तिकोटीषु नरकेषु क्रमेण हि ॥
कल्पे कल्पे वसेयुस्ते ये विश्वेश्वरनिन्दकाः ।
विश्वेशाऽनुग्रहं प्राप्य मुनेऽहमपि मुक्तिदः ॥
मद्भक्तैस्तद्विशेषेण सेव्यो विश्वेश्वरोऽनिशम् ।
इयं वाराणसी ज्ञेया पाशुपतस्थस्थली ॥

भा०—सारसंग्रह ब्रह्माण्डपुराण के ललितापुर वर्णन ललिताखण्ड में लिखा है—उसके उत्तरकोण में प्रकाशमान वायुलोक है यहाँ सदा ब्रह्मानन्दशील महोदय लोग वायु शरीरधारी सिद्ध और दिव्य मुनि रहते हैं बहुत से प्राणायामी हैं और बहुत से योग में तत्पर श्रीगोरक्षनाथादि योगी हैं। बारहवें अध्याय में लिखा है कि यहां बीस हाथ ऊंचा चारसौ हाथ विस्तार वाला और सीढ़ियों से युक्त लोक है यहां महादिव्य योग शास्त्र

क प्रवर्तक सबके मंत्र गुरु सब विद्याओं और तपस्याओं से
युक्तमहासिद्धनाथ रहते हैं।

यहां चार युगनाथ हैं जिनकी स्थिति संसार रक्षा के लिये
कामविजेता देवाधिदेव स्वयं महादेव करते हैं। उनके नाम
सुगो, मित्रीश, उड्डीश, षष्ठीशचर्या और है कुम्भ सम्भव। उन्होंने
बहुत से लोकों की रचना की है, वे उनकी रक्षा के वास्ते
पादुका रूप में रहते हैं। उनमें जो देव लोक में मन्त्र आदि
के प्रचारक हैं उनके नाम मित्र आदि अन्यत्र कहे गये हैं वे
दिव्यौघ कहलाते हैं जो सिद्धों में प्रचार करते हैं वे सिद्धौघ
और मनुष्यों में प्रचार करने वाले मनुष्यौघ कहे जाते हैं ये सब
तपोनिष्ठ देव हैं। ये सब सालोक्य, सारूप्य और सायुज्य
आदि सिद्धियों के दाता और महागुरु हैं इन तीनों और अपने
मन्त्रदाता गुरु की सेवा सबको करनी चाहिये। स्कन्दपुराण
काशीखण्ड में लिखा है कि मेरी भक्ति करते हुए जो विश्वेश
महेश्वर शिव जी से द्वेष करते हैं वे द्वेषी समझने चाहियें।
वे मरकर पिशाच बनते हैं, वे अगले जन्म में सदा के लिये
घोर अन्धकार वाले नरक में रहते हैं। जो शिव की और पाशु
पत मत की निन्दा करते हैं वे भी मेरे द्वेषी हैं, वे अपवित्र
नरक में पड़ते हैं, वे २८ करोड़ वर्ष तक अपवित्र
नरक में ही पड़े रहेंगे। विश्वेश्वर के निन्दक हरएक कल्प

में नरक में ही वास करेंगे क्योंकि हे मुने ! मैं विष्णु स्वयं विश्वेश्वर के अनुग्रह से ही मुक्ति का दाता हूं। मेरे भक्तों को सदा विश्वेश्वर की सेवा करनी चाहिये। यह वाराणसी नगरी पशुपति के रथ की स्थली है अर्थात् पशुपति यहां सर्वदा विहार करते हैं।

मू० तन्त्रमहार्णवे—

रक्तं नेत्रं हीनच्छाया रक्तंगात्रं तपस्विनः।
मूर्तिः प्रसन्नवदना स्वल्पवाणी च कथ्यते॥
चतुरशीतिसिद्धानां पूर्वादीनांदिशांन्यसेत्।
एक विंशति संख्याकं स्थानंनाम्ना च कथ्यते॥
नवनाथादिशाघष्टावेकोमध्ये व्यवस्थितः।
नवनाथस्थितिञ्चैव सिद्धचागमेनकारयेत्॥
गोरक्षनाथोवसेत् पूर्वे जगन्नाथवनेस्थितः।
क्रोशत्रये वसेन्नित्यमेकनाथः सउच्यते॥
जलन्धरोवसेन्नित्य मुत्तरापथमाश्रितः॥
ज्वालामुखीपंचक्रोशं वनमुत्तरमाश्रितः।
नागार्जुनोमहानाथो ज्वालयेशानसंश्रितः।

नित्य रहे वह एक नाथ कहाता है। जालन्धरनाथ सदा उत्तर पथ में बसता है ज्वालामुखी उत्तर की तरफ पंचकोशी वन में रहता है, महा तपसी महानाथ नागार्जुन ज्वालामुखी से ईशानदिशा में सात कोश के वन में तपता है, सहस्रार्जुन गोदावरी के दक्षिण दशकोश विस्तृत वन में तप करता है। महानाथ दत्तात्रेय पश्चिम दिशा में सरस्वती के पश्चिम तीर पर नौकोश के वन में तपस्या करता है. देवदत्त अग्निकोण में पांच कोश के वन में रहता है। जड़ भरत वायव्यकोण में सात कोश के वन में रहता है। पृथिवी के मध्य देश कुरुक्षेत्र में तीन तीन कोश के वन में श्री आदिनाथ जी निवास करते है और समुद्र से नैऋतकोण में मत्स्येन्द्रनाथ रहते हैं ये महासिद्ध उपास्य नाथों के स्थान हैं यह गुप्त बात किसी को बतानी नहीं चाहिये।

मू०—षोडशनित्यातन्त्रे—

कादिसंज्ञाभवेद्रूपा सा शक्तिः सर्वसिद्धये ।
तयातैर्भुवनेतन्त्रं कल्पेकल्पेविजृम्भते ॥
अवसानेतु कल्पानां सार्धैः साधंव्रजेद्यमाम् ।
नामपर्य्यायितोऽवाप्तं बालावामामितिद्वयम् ॥
प्रसिद्धंवाह्यतोयच्च त्रीणिनामानिसाधके ।
नमस्तेनाथभगवन् शिवायगुरु रूपिणे ॥

मू०—रुद्रयामले रससाधन प्रकरणे—

शिवरात्रिदिने प्राप्ते आरम्भं कार्यसाधकैः।
चतुः षष्ठीप्रमाणेनकोष्ठं कृत्वातुभैरवम् ॥
पार्श्वयोर्मूर्तिमालां च मध्येमूर्तिंचाविन्यसेत् ।
तस्याग्रेजुहुयात्सर्वेहेमसिद्धिप्रजायते ॥
रक्तोपवीत वामस्तुदद्याद्द्विजपुंगवम् ।
कोष्ठसंख्यातदर्धार्धयोगिनींतत्रपूजयेत् ॥
श्रृंगीनादेन ते सर्वे मनसाऽऽह्लाद कारिणा ।
रक्तोर्णवहकरश्रेष्ठः स्कंधाग्रेश्रृङ्गमाश्रितः ॥
मुखंकमलयायुक्तं नेत्रेकमल भूषणम् ।
पृष्ठे च कमलाकारं हंसगत्या विराजितम् ॥
रक्तवासोत्तरीयेन चरमंत्रंपुरोन्यसेत् ।
रक्तचन्दनसंघृष्टमपूपस्योपरिन्यसेत् ॥
स्वादयेत् सप्तदिवसं पश्चात्पुण्येसमर्पयेत् ।
रसायिनी महाविद्यासिद्धिर्भवतिनिश्चितम् ॥

तारासूक्तौ—

प्रणवो निर्गुणः प्रोक्तः सर्वाद्योवेदगोचरः ।

मूर्ति के कंधे पर लाल ऊन का वस्त्र रक्खे। कमल नेत्र प्रसन्न मुख पीठ में कमल के चिन्ह से युक्त और हंस गति से सुशाभित तथा लाल वस्त्रधारी भैरव की मूर्ति का ध्यान करे। और उसका बीज मंत्र जपे। फिर रोट के ऊपर लाल चन्दन सहित फूल रख कर भोग लगावे सात दिन के बाद विसर्जन करके मूर्ति को पवित्र स्थान में स्थापित करे तब अवश्य रसायनी महाविद्या की सिद्धि हो जाती है। नारा सूक्ष्म में प्रणव का सब का आदि कहा है और वेदों से जाना जाता है गायत्री वेदों की माता है वेदों में प्रणव ही मुख्य कहा गया है। कुलार्णव तंत्र के बारहवें उल्लास में कहा है कि हे प्रिय जिस दिशा में श्री नाथ जी के चरण विराजमान हैं उस दिशा को प्रति दिन भक्ति पूर्वक प्रणाम करे। गुरुपादुकाओं से बढ़ कर कोई मंत्र नहीं है। गुरु से बढ कर कोई देव नहीं है शाक्त मार्ग से उत्तम कोई मार्ग नहीं है और कुल पूजन से बढ़ कर कोई पुण्य नहीं है।

मू०—वायु पुराणे शिवस्तोत्रे—

अप्रमेयायगोप्त्रेच निर्गुणाय गुणाय च।
वादप्रियाय सभ्याय मुद्रामणिधरायच ॥
देशकाल उपायेन द्रव्यंश्रद्धासमान्वितम्।

अस्मिन्नर्थेश्रुतिः साध्वी समासावेदवित्तमाः ॥
अपक्वचित्तैर्मोक्षार्थं देवाविष्ण्वादयोपिच ।
ध्येयाः पक्वैः शिवोध्येयः साक्षात्संसारमोचकः ॥
रुद्रंविश्वाधिकांविष्णुं ब्रह्माणंचान्यमेव च ।
समंचिन्तयतःसाक्षात्संसारः परिवर्तते ॥
महापापवतांपुंसां पूर्वजन्मसुसुव्रत ? ।
विष्णुः सर्वाधिकोभाति नमाक्षात्परमेश्वरः ॥
विष्णु सर्वाधिकोभाति नारकीमनसंशयः ।
विष्णुः सर्वाधिकोनान्य इतिचिन्तयतांनृणाम् ॥
नास्तिसंसार विच्छित्ति कल्पकोटिशतैरपि ।
तेषांनैवचमोक्षाशाकल्पकोटि शतैरपि ॥
ब्रह्मादिदेवतानांच विश्वाधिक्यंवदन्तिये ।
अधोमुखोर्ध्वपादास्ते यास्यन्तिनरकार्णवम् ॥

भा० टी०—वायु पुराणस्थ शिव स्तोत्र में वर्णन है कि—अप्रमेय अर्थात् पक्षपात रहित परोपकारी सांसारिक आसक्ति रहित-औदार्य गुण युक्त सत्य सनातन सिद्धान्तोपलब्धी सभ्य और धार्मिक वेषधारी सत्पात्र को देश काल उपाय के अनुकूल जो धन श्रद्धा के साथ दिया जाय यह धर्म का लक्षण है।

ही ध्यान करना चाहिये जो सब से अधिक शिवको ब्रह्मा विष्णु आदि अन्य देवताओं के समान मानता है वह संसार सागर से पार नहीं होता। जिसने पूर्व जन्म में पाप किया उस पुरुष को विष्णु ही सब से अधिक प्रतीत होता है न कि साक्षात् परमेश्वर शिवजी। जिस को विष्णु सर्वाधिक प्रतीत होता है वह शिव का अनादर करता है इस लिये वह नरक में पड़ता है। सब से बड़ा विष्णु है शिव नहीं ऐसा समझने वाले पुरुषों का करोड़ों कल्पों तक भी संसार से छुटकारा नहीं होता।

उनको कदापि मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। शिवजी से ब्रह्मादि देवों को बड़े कहने वाले पुरुष नीचे मुख और ऊपर पैर किए हुए नरक में पड़ते हैं।

मू०—आदिनाथ संहितायाम्—

कौलिकान् कुलमार्गं च कुलद्रव्यं कुलाङ्गनाः।
ये द्विषन्ति जुगुप्सन्ते ये निन्दन्ति हसन्ति ये
येऽसूयन्ते च शंकन्ते मिथ्येतिप्रवदन्तिये॥
ते शाकिनीमुखेयान्ति सदारसुतबांधवाः।
पिबन्ति शोणितं तेषां चामुंडामांससुखचः।

अस्थीनि चर्वयन्त्यस्य योगिन्यो भैरवीगणाः ॥

पद्मपुराणे सृष्टिखंडे—

धारयित्वा तु रुद्राक्षं म्रियते यः क्षितौ नरः ।
स याति यत्परं रम्यं सर्वदेवैः प्रपूजितः ॥
शैवो वा वैष्णवश्चान्यो गाणपत्योऽथ सौरकः ।

पातालखंडे—

अहं च ललिता देवी राधिका या च गीयते ।
अहं च वासुदेवाख्यो नित्यकामकलात्मकः ॥
सत्य योषित्स्वरूपोहं योषिच्चाहं सनातनी ।
अहं च ललितादेवी पुंरूपा कृष्णविग्रहा ॥

ब्रह्मवैवर्ते—

महाविष्णो रहंकारो बभूव सहसेति च ।
सर्वं भल्लोमकूपेषु विद्यते चाहमीश्वरः ॥
संहार भैरवो भूत्वा तं जग्राह सलीलया ।
स्थिते मूर्ध्नो विशेषेण प्रसादं च चकार सः ॥
सर्वात्मानं ध्यायमानं स्तुतं भीतं कृपानिधिम् ।
तच्छरीरं सुसम्पन्न पुनरेव चकार सः

शिवपुराणे—

क्च भेरीकलापश्च क्वचश्रृङ्गीरवः शुभः ।

क्वाऽऽनकमयः शब्दो गल्लनादः क्वचापिहि ॥

शक्तिसंगमतंत्रे अष्टमपटले—

कदाचिदाद्या ललिता पुंरूपाकृष्णविग्रहा ॥

लोक संमोहनार्थाय स्वरूपं विभ्रतीपरा ।

कदाचिदाद्या श्रीकाली सैवतारास्ति पार्वती ।

कदाचिदाद्या श्रीतारा पुंरूपारामविग्रहा ॥

राशक्तिरिति विख्याता म शिवः परिकीर्तितः ।

शिव शक्त्यात्मकं ब्रह्म रामरामेति गीयते ॥

योगासन समारूढं जटामंडल मंडितम् ।

विभूति भूषितं देवं त्रिनेत्रं चन्द्रशेखरम् ॥

तेजः पुंजनिभां देवि ! सीतांतेजः स्वरूपिणीम् ।

गौरीरूपां परां सीतां महासाम्राज्यनायिकाम् ॥

भा०—आदिनाथ संहिता में कहा है–कौलिक अर्थात् शाक्त कुलमार्ग कुल द्रव्य और कुलाङ्गना अर्थात् कुलीन स्त्री, इन शक्ति सम्बन्धी समस्त वस्तुओं की जो निन्दा करते हैं हंसते

है द्वेष घृणा असूया और शंका करते हैं तथा यह मिथ्या है ऐसा जो कहते हैं वे स्त्री पुत्र और बन्धुओं सहित शाकिनी के मुख में पड़ते हैं। चामुण्डा देवी योगिनी और भैरव के गण उनके रूधिर को पाते हैं मांस को खाते हैं और हड्डियों को चबा जाते हैं। पद्म पुराण के सृष्टि खण्ड में कहा है जो रुद्राक्ष धारण करके पृथिवी पर प्राणत्यागता है वह सर्वोत्तम रूप को प्राप्त होता है और सब देवों का पूज्य हो जाता है वह शैव वैष्णव गाणपत्य वा सौर कोई भी क्यों न हो। पातालखण्ड में कहा है मैं ललिता देवी हूं मैं ही राधा कहलाती हूं और मैं ही कामकला रूप होकर वासुदेव कहलाती हूं। समस्त स्त्रियों में पतिव्रता और सदा रहने वाली मैं ही हूं। पुरुष रूप धारण करने वाली कृष्ण स्वरूप भी मैं ही हूं। ब्रह्मवैवर्त में कहा है—

महा विष्णु से सहसा अहंकार (अर्थात् विराट्) उत्पन्न हुआ उस विराट् रूप मेरे रोम कूपों में समस्त प्राणी विद्यमान हैं, मैं ईश्वर हूं, फिर संहार भैरव रूप होकर क्रीडा से सबका संहार कर लेता हूं। समस्त प्राणियों को मुंड रूप होकर मुझ में विद्यमान हो जाने पर मैं प्रसन्न हो जाता हूं, उस मैंने सर्व स्वरूप, देवों से ध्यायमान, प्रशंसित दयासागर प्रसन्न रूप यह शरीर बनाया।

शिवपुराण में वर्णित है—वह मेरा भेरी इत्यादि वाद्यमा समुदाय और शृंगी का शब्द कहां है तथादुन्दुभि का शब्द औ गल्लनाद कहां है। शक्तिसंगमतंत्र के आठवें पटल में कहा है—

किसी समय आद्यासुन्दरी ललिता देवी ने लोगों के मोह के लिये अत्यन्त सुन्दर पुरुष रूप कृष्ण शरीर धारण किया। कभी आद्या श्री कालीरूप पार्वती कभी रामावतार और तारारूप धारण करती हैं। 'रा' का अर्थ शक्ति और 'म' का अर्थ शि कहा जाता है अतः शक्ति सहित शिव रूप ब्रह्म ही राम कहलाता है, योगासन में आरूढ़ जटाजूट भस्म विभूषित त्रिनेत्र चंद्रशेखर अर्थात् शिव और तेजः पुञ्ज के समान तेज रूपिणी गौरी रूप साम्राज्य देने वाली सीता का ध्यान करना चाहिये।

मू० बृहदारण्ये— द्वेवाव ब्रह्मणो रूपेमूर्त्तं चैवामूर्त्तं च मर्त्यंचामृतंच स्थितं च यच्चसच्चत्यञ्च ॥ तदेतन्मूर्त्तं यदन्यद्वायोश्चान्तरिक्षाच्च तन्मर्त्यमेतत् स्थितमेतत् सत्तस्यैतस्यमूर्तस्यैतस्यमर्त्यस्यैतस्य स्थितस्यैतस्य सत एषरसोयएषतपति सतोह्येषरसः ॥ अथामूर्तंवायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतमेतद् यदेतत्त्य त्तस्यैतस्यामूर्तस्यैतस्यामृतस्यैतस्य यत एतस्य त्यस्यैषरसो य एषएतस्मिन् मण्डलेपुरुषस्त्यस्यह्येषरस इत्यधिदैवतम् ॥ अथाध्यात्ममिदमेवमूर्तंयदन्यत् प्राणाच्च यश्चायमन्तरात्मन्नाकाश एतन्मर्त्यमेतत् स्थितमेतत्

सत्यस्यैतस्य मूर्त्तस्यैतस्य मर्त्यस्यैतस्यस्थितस्यैतस्य सतएषरसो
ह्येतु. सतोह्येषरसः ॥ अथामूर्त्तप्राणश्च यश्चायमन्तरा-
त्मन्नाकाश एतदमृतमेतद् यदेतत्त्यं तस्यैतस्यामूर्तस्यैतस्या-
मृतस्यैतस्य यतएतस्य त्यस्यैषरसोयोऽयं दक्षिणेक्षन् पुरुष-
स्तस्यह्येषरसः ॥ तस्यहैतस्य पुरुषस्यरूपं यथामहारजनं वासो
यथापाण्ड्वाविकं यथेन्द्रगोपो यथाग्न्यर्चिर्यथापुण्डरीकं यथास-
कृद्विद्युतंसकृद्विद्युतेवहवा अस्य श्रीर्भवति य एवं वेदाथात
आदेशो नेति नेतिनह्येतस्मादितिनेत्यन्यत् परमस्त्यथ नामधेयं
सत्यस्य सत्यमिति प्राणावैसत्यं तेषामेषसत्यम ॥

यः पठित्वापिनज्ञातं ब्रह्मतेनाविका इव ।
नयन्तिपारं येत्वन्यान् स्वयमवीचिसंस्थिताः ॥
शक्त्यातुसृज्यतेविश्वं शिवेनपरिपाल्यते ।
कालेनचसंह्रियते मुक्तिर्नाथेनदीयते ॥

भा०—ब्रह्म के दो रूप हैं एक मूर्त जिसका अवयव घनीभूत
दूसरा अमूर्त जिसका कोई अवयव नहीं है । मर्त्य मरनेवाला
और अमर्त्य न मरने वाला, स्थित अर्थात् परिमाण वाला
और (व्यापक अपरिछिन्न) सत् (जिसका असा-
धारण रूप यत् (व्यापक अपरिछिन्न) सत् (जिसका असा-
धारणधर्म गोरवमनुष्यादि घटपटादि प्रत्यक्ष से निर्णय किया

जा सके) त्यत् (जो प्रत्यक्ष करने योग्य न हो) इन में मूर्त, मर्त्य, स्थित, सत्, ये चार नाम पृथिवी जल तेज इन तीन भूतों के हैं। दूसरी कोटि में अमूर्त, अमृत, यत् और त्यत् ये चार नाम आकाश वायु इन दो भूतों के हैं इस तरह कल्पना से पांचों भूतों को ब्रह्म का रूप मान कर नेति नेति से इन्हीं का निषेध करके ब्रह्म का निर्णय किया जाता है इसी विधि निषेध को अध्यारोप और अपवाद कहते हैं वेदान्त में कल्पना से पहले रूप मान लिया जाता है पीछे उसका निषेध कर दिया जाता है इसका फल यह है कि पाञ्च भूतों की सत्ता सब जगह से हटा देने पर अद्वितीय ब्रह्मसिद्ध होजाता है। इन तीन स्थूल भूतों का सार यह सूर्य मंडल है, उस में जो सूक्ष्म लिंग शरीर है सो आकाश और वायु इन दो भूतों का सार है यह विचार देवशरीर के सम्बन्ध में है, अब आगे अध्यात्म वर्णन किया किया जाता है—इसी प्रकार शरीर के भीतर प्राण और आकाश इन दोनों को छोड कर, तीन अर्थात् पृथिवी जल और तेज मूर्त, मर्त्य, स्थित, और सत् कहलाते हैं, इनका सार नेत्र है, प्राण और हृदयाकाश ये दो अमूर्तादि कहे जाते हैं, इनका सार नेत्र में अभिमान करने वाला लिंग शरीर है, वासना इसी लिंग शरीर का धर्म है, यद्यपि वे लिंग शरीर अगणित हैं तथापि दृष्टान्त के द्वारा कुछ दिखाया जाता है। उस सूक्ष्म शरीर का

यह रूप वासनामय है उसकी उपमा केसर से रंगे हुए वस्त्र से दी जाती है यह भूसले रंग की ऊन के समान भूसला है, वीर बहूटी (अर्थात् तीजनामकजन्तु के समान लाल सफेद कमल के समान शुभ्र, चमकती हुई बिजली के समान चमकता हुआ, अथवा यह बिजली की तरह एक दम उसकी चमक फैल जाती है जो इस रहस्य को जानता है उसको श्री प्राप्त होती है।

आगे यह ब्रह्म का उपदेश है—यह पूर्वोक्त समस्त दृश्यमान स्थूल सूक्ष्म जगत् ब्रह्म नहीं है, 'नेतिनेति, इस निषेध रूप उपदेश से दूसरा ब्रह्म जानने का उपाय नहीं है। अब ब्रह्म का खास नाम बताया जाता है, वह यह है— "सत्यस्य सत्यम्" इसका अर्थ यह है कि प्राण आदि भी महा प्रलय तक विद्यमान रहने से व्यवहार में सत्य कहलाते हैं, किन्तु तीनों कालों में अबाध्य रूप वास्तविक सत्य तो ब्रह्म ही है, अतः परम सत्य इसका खास नाम है।

जिन्होंने शास्त्र पढ़कर भी ब्रह्म को नहीं जाना वे नाविकों की तरह हैं जो दूसरों को पार उतारते हैं और स्वयं तरङ्गों में ही रहते हैं। शक्ति से विश्व की उत्पत्ति होती है शिव उसका पालन करता है, काल उसका संहार करता है, और नाथ अन्त में मुक्ति देता है।

मू०—ब्रह्मण्यप्राप्तेसति ब्रह्मतन्तुधारणमयुक्तम् ।
केचित्सूत्रधारकाः केवलजात्यभिमानिनः पुरुषाः ॥

अथचकाष्ठदंडधारका आश्रमिणो दण्डिनस्तेषां खंडन करणे उपनिषत्सम्मतिमाह ब्रह्मोपनिषदि—

यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत् सहजं पुरस्तात् ।
आयुष्यमग्र्यंप्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं वलमस्तु तेजः ।
सशिखंवपनंकृत्वा वहिः सूत्रंत्यजेद्बुधः ।
यदक्षरंपरंब्रह्म तत्सूत्रमभिधारयेत् ॥
सूचनात्सूत्रमित्याहुः सूत्रंनामपरंपदम् ।
तत्सूत्रंविदितंयेन सविप्रोवेदपारगः ॥
येनसर्वमिदंप्रोतं सूत्रेमणिगणाइव ।
तत्सूत्रंधारयेद्योगी योगवित्तत्त्वदर्शिवान् ॥
नहि सूत्रंत्यजेद्विद्वान् योगमुत्तममास्थितः ।
ब्रह्मभावमिदंसूत्रं धारयेद्यः सचेतनः ॥
धारणात्तस्यसूत्रस्य नोच्छिष्टोनाऽशुचिर्भवेत् ।
सूत्रमन्तर्गतंयेषां ज्ञानयज्ञोपवीतिनाम् ॥

येषांसूत्रविदोलोके तेचयज्ञोपवीतिनः ।
ज्ञानमेवपरंतेषां पवित्रंज्ञानमुत्तमम् ॥
अग्नेरिवशिखानान्या यस्यज्ञानमयीशिखा ।
सशिखीत्युच्यतेविद्वान् नेतरेकेशधारिणः ॥
कर्मण्यधिकृतायेतु वैदिकेब्राह्मणादयः ।
तैः सन्धार्यमिदंसूत्रं क्रियाङ्गंतद्धिवैस्मृतम् ॥
ब्राह्मण्यंसकलंतस्य इतिब्रह्मविदोविदुः ॥
इदंयज्ञोपवीतंतु परमंयत्परायणम् ।
विद्वान् यज्ञोपवीतिस्यात् सयज्ञः सचसर्ववित् ॥

परमहंसोपनिषदि—

परमात्मनोरेकत्वज्ञानेनतयो र्भेदएवएव विभग्नो या सा
सन्ध्या सर्वान्याकामान् परित्यज्याद्वैतेपरमस्थितिः ॥
ज्ञानदण्डोधृतोयेन एकदंडीसउच्यते ।
काष्ठदंडोधृतोयेन सर्वाशीज्ञानवर्जितः ॥
सयातिनरकान्घोरान् महारौरवमेवच ।
नाग्नोक्तादिपसाम्याम मज्ञानन्तः केवलं शास्त्र पाठ

मात्रेणैवाभिमानिनस्तान् प्रतिवाक्यमेतत् इत्याह—

द्वादशवर्षो भूत्वाविद्याभ्यासमर्हति ॥

ततश्च यावद्द्वादशवर्षंशब्दबोधार्थं व्याकरणशास्त्रमध्येतव्यं ततश्चयावद्द्वादशवर्षंमर्थबोधार्थं न्यायशास्त्रमध्येतव्यं ततश्चयावद्द्वादशवर्षं वेदोऽध्येतव्यस्ततश्च षट्सुवर्षेषु वेदान्ताभ्यासः कर्तव्य एवषट्सुवर्षेषु शास्त्रीयरीतिर्ज्ञातव्या । पुनरभ्यासश्चकर्तव्य एव-मायुषोऽर्धन्तु गतप्रायमेव । ततः पुनरिन्द्रियाणां शैथिल्येऽरिष्टेच-सत्यभ्यासासक्तत्वं भवेत् ततः प्रथमत. साक्षरतामात्रं पाण्डित्य-मापाद्यमनुष्यैर्योगाभ्यासः कर्तुमुचितइति ।

भा०—ब्रह्मज्ञान के प्राप्त होने पर ब्रह्मतन्तु धारण करना अनावश्यक है, बहुत से सूत्र धारण करने वाले केवल जात्य-भिमानी ही होते हैं । और काष्ठ का धारण करने वाले जो आश्रमी दण्डी हैं, उन के खंडन करने में उपनिषद् की सम्मति लिखी जाती है— यज्ञोपवीत परम पवित्र है यह आदि सृष्टि में प्रजापति के साथ उत्पन्न हुआ, यह आयु के बढ़ाने वाला पूज्य पवित्र और शुभ्र है इसको धारण कर यह बल और तेज के देनेवाला है। शिखा सहित हजामत करवा कर बुद्धिमान् जिज्ञासु बाहरी

सूत्र को त्याग दे और जो अक्षर पर ब्रह्म है उस सूत्र को धारण करे। सूचित करने से सूत्र कहाता है सूत्र ही परम पद है। उस सूत्र को जो जानता है वह वेद का पार द्रष्टा ज्ञानी है। जिसमें यह समस्त जगत् धागे में मणियों की तरह पिरोया हुआ है, तत्त्व दर्शी योगी उस सूत्र को धारण करे। विद्वान् योगी योग साधन करता हुआ बाहरी सूत्र को त्यागदे, समस्त जगत् का ब्रह्मरूप समझना यह जो सूत्र है इसे ज्ञान पूर्वक धारण करे, इस सूत्र के धारण करने से कभी झूठा या अपवित्र नहीं होता जो ज्ञान का यज्ञोपवीत धारण करते हैं और जिनके भीतर ही सूत्र है वे ही वास्तव में सूत्र के ज्ञाता हैं, और वे ही यज्ञोपवीती हैं। अग्नि की ज्वालाओं के समान प्रकाशमान ज्ञान मयी शिखा का जो धारण करता है वही विद्वान् वास्तव में शिखाधारी हैं साधारण केशों को धारण करने वाले शिखाधारी नहीं कहे जा सकते। जो ब्राह्मण आदि वैदिक कर्मों में अधिकृत हैं उन को यह यज्ञोपवीत धारण करना चाहिये, क्योंकि यह यज्ञोपवीत क्रिया का अङ्ग है। ज्ञानमयी जिस की शिखा और ज्ञानमय ही जिसका यज्ञोपवीत है वह वास्तव में ब्राह्मणत्व का अधिकारी है वैसा वेदज्ञाता कहते हैं। यह यज्ञोपवीत परमोत्कृष्ट स्थान है,

इस यज्ञोपवीत को जो विद्वान् धारण करता है वही यज्ञ और वही सर्वज्ञ है। परमहंसोपनिषद् में जीवात्मा परमात्मा के एकत्व ज्ञान से जो उन का भेद दूर हो जाता है वही वास्तविक सन्ध्या है, जो इस स्थिति को प्राप्त होगया हो वह सब कामनाओं को त्याग दे। ज्ञान दण्ड को जिसने धारण कर लिया वही एक दण्डी है। जो संयम रहित सर्वभक्षी अज्ञानी काष्ठ दण्ड को धारण करता है, वह घोर महारौरव नरक में गिरता है। जो शास्त्रों में वर्णित तत् तत् विषयों के अभ्यास को न जानते हुए केवल पठन मात्र से ही अभिमान में चूर रहते हैं उनके प्रति यह कथन है—बारह वर्ष का होने पर विद्याभ्यास के योग्य होता है फिर बारह वर्ष तक शब्द बोध के लिये व्याकरण फिर अर्थबोध के लिये न्याय, फिर बारह वर्षतक वेद फिर छः वर्षों में वेदान्त का अभ्यास करना चाहिये, फिर छः वर्षों में शास्त्र की रीति का ज्ञान होता है इस प्रकार आयु का आधा भाग तो चला ही गया, फिर इन्द्रियों की शिथिलता और रोगों के उत्पन्न हो जाने के कारण अभ्यास की शक्ति नहीं रहती इसलिये पहले ही पदपदार्थ का ज्ञान प्राप्त करके मनुष्यों को योगाभ्यास करना चाहिये।

मू०—येत्लाचार बाहुल्यं दधतोपि वेश्याउपगम्य तत्संगंकुर्व-

वैन्ति, तान् प्रत्यस्माकमिदंकथनम, बाह्यविषयिकामुज्ज्वलतांप्र-
दर्श्य मानसीमलिनताधार्यते । ततस्त्विदंश्रेयो यद् वेश्या संगोपि न
कर्तव्यः, यद्वा चारस्यापि प्रयोजनं नास्ति गौणोऽयमित्याचारं ज्ञा-
त्वाऽस्यत्यागोपी न कार्यः, यथायोग्यत्वेन विवेकपूर्वकं सेवनं चास्य
कर्तव्यमिति ।

भवेयं मनुष्यो यदैकस्तु राजा यदाजन्तुरेको भवेयं मृगेन्द्रः ।
यदाशास्त्रमेकं तदायोगमेव यदादेव एकस्तदानाथएव ॥

अस्मिन्मार्गेऽद्वैतोपरिवर्तीनाथोदेवता प्राप्योनिराकार
ज्योतिर्नाथोध्येयः साकारनाथउपास्योऽथचआदिगुरुः ।
साधनंयोगः । अत्याश्रमीयोगीगुरुः । मुमुक्षुः साधकः ।
अवधूतगुरोर्मुख्य चिह्नंनादोमुद्राभस्मशैली ऊर्णायज्ञोपवीत-
मित्यादि, शक्तिर्जगत्कर्त्री, शिवः पालकः । कालः संहा-
रकः । नाथोमुक्तिदायकः । प्रणवोवेदः । नादः मन्तानम् ।
नवनाथाः । बिन्दुः सन्तानमीश्वरः । मनः शरीरं जीवोऽनु-
भवः । चत्वारोगुरवः । मत्स्येन्द्रईश्वरथतुरंगी गोरक्षइतिस्व-
रूपाः । अपक्षं वास्तविकपक्षमङ्गीकृत्येतरकल्पित परपक्षपा-
षण्ड खण्डनमित्यादि विषयः ।

भा०—जो बहुत आचार विचार धारण करते हुए वेश्या गमन करते हैं उनको हम यह कहते हैं कि उन्होंने बाहरी उज्ज्वलता दिखाकर मानसिक मलिनता धारण की है, उससे अच्छा यही है कि वेश्या संग भी न करे। बहुत अधिक आचार के बन्धनों में जकड़े रहना भी अनावश्यक है, इसको गौण समझ कर इसका त्याग भी नहीं करना चाहिये। किन्तु विवेक पूर्वक यथा योग्य इसका सेवन अवश्य करना चाहिये। यदि मैं मनुष्य होऊँ तो राजा बनूं यदि पशु योनि में जाऊँ तो सिंह बनूं यदि मुझे शास्त्र हो तो योग का हो और यदि देव पूजा करूँ तो केवल एकनाथ की। इस मार्ग में अद्वैत से भी ऊपर वर्तमान नाथ ही देवता है, प्राप्त करने योग्य उसी निराकार ज्योतिस्वरूप नाथ का ध्यान करना चाहिये, और आदिगुरु साकारनाथ की उपासना करनी चाहिये। इस मार्ग में साधन योग है आश्रमों के अभिमान से अतीत योगी गुरु है, मुक्ति का इच्छुक साधक है। अवधूत गुरु का मुख्य चिह्न नाद, मुद्रा, भस्म, शेली, और ऊन का जनेऊ इत्यादि है। शक्ति जगत् की कर्त्री शिवपालक काल संहारक नवनाथ मुक्तिदायक, ओंकारवेद, और नाद सन्तान है। और ईश्वर बिन्दु सन्तान है। मन शरीर जीव और

अनुभव, ये चार गुरु हैं जिनका स्वरूप मत्स्येन्द्र ईश्वर चतुरङ्गी और गोरक्ष हैं। किसी विशेष पक्षपात को न धारण करके अन्य कल्पित पाषण्डयुक्त पर पक्षों का खण्डन करना यह विषय है।

मू०—परमहंसइति परमहंसंवदन्ति=तत्‌किम्, उत्कृष्टहंसोऽस्ति यतोनिकृष्टहंसस्तुपरमात्मा। उत्कृष्टहंसत्वन्तुपरमहंसस्य-पुनश्चागतं यदाब्रह्मरूपत्वंप्राप्तः। ब्रह्मरूपत्वंचकुतः प्राप्नोयदिमाया, गुणरचित प्रारब्धकर्माभिमन्यते। एवंचायं तु निकृष्ट हंस-रूपजीवोऽस्ति, ततश्चतस्य हंसत्वंमरालत्वं कुतः। किन्तुकाकत्वमेव यदिकाकत्वं तर्हिकाकोजातः।

एकाक्षःकोऽयमेकेनैवचक्षुषापश्यतियथायं वर्णोतद्मायामेव-मायादृशा पश्येन्। यथाचाश्रमीजातस्तथा हठेनदृशैवपश्यन् वर्तते। ऽयमप्येकैवदृष्टिस्तयापश्यति। यतोमहासिद्धैर्निश्चयः कृतोऽयंपाकतुल्योऽयदेवपाकात्कर्तव्यः।

मत्स्यंप्रपंचंकुर्वन्तो ब्रह्मणश्चादनंतथा।
केचिद्दूरजादृशा ग्रासाविपर्यामवर्तमानगा॥
मिथ्यामिथ्येतिकुर्वन्तः केचनमायाविमोहिताः,
स्वयं सर्वसंहर्न्त भागताविघ्ननाशकाः॥

देदीप्यमानस्तत्रास्य कर्तासाक्षात्स्वयंशिवः ।
संरक्षन्तोविश्वमेव धीरा सिद्धमताश्रयाः ॥
तत्त्वंवदन्तिचाद्वैते द्वैतेवदान्तिसंसृतिम् ।
एकीभावेततोभिन्नं द्वैताद्वैतविवर्जितम् ॥
मिथ्यावदन्तियतय सत्यंचापिविरागिणः ।
सिद्धानामेषासिद्धान्तः सत्यमिथ्याविवर्जितः ॥
म्रियतेचेत्कंथ सत्यं वर्ततेचेत्कथं वृथा ।
मृतिजीवनहीनंयत् कथंसत्यंकथं वृथा ॥
एककाले भवेत् सत्य मेककालेतथावृथा ।
कालभेदाद्वृथा सत्यं न सत्यं न वृथा पृथक् ॥

भा०—परमहंस को परमहंस इस प्रकार जो कहा जाता है सो क्या यह उत्कृष्ट हंस है परमात्मा निकृष्ट हंस है, परम हंस का श्रेष्ठ हंसपना तो तभी होसकता है जब कि यह ब्रह्म रूप को प्राप्त होजाय, जब तक उसे माया गुणरचित प्रारब्ध कर्म का अभिमान है तब तक यह परब्रह्म होही कैसे सकता है, अतः यह जीवरूप निकृष्ट हंस ही रहा, इसको हंसपना और मरालपना कैसे प्राप्त हो सकता है, इसे तो कौवापन प्राप्त है, काकपक्षाक्षी होता ही है जो एक ही आंख से देखे यह

एकाकी है जब यह वर्णों में रहता है तब तो माया को ही माया की दृष्टि से देखना है। जब आश्रमी हुआ तो अद्वैत दृष्टि से ही देखता है यही एक दृष्टि है जिस से वह सब को अद्वैत भाव से देखता है, इस लिये सिद्धों ने निश्चय किया है कि इस काक की तरह एक आंख से देखने वाले को परमात्मा के दर्शन में प्रकाश समझना चाहिये। कुछ लोग ऐसे हैं जो ब्रह्म को प्रपञ्च और ब्रह्म को भोजन बनाते हुए रजोगुणी विषयों में ही मन को लगाते रहते हैं। कुछ लोग माया से मोहित होकर समस्त जगत् को मिथ्या मिथ्या कहते हुये अपने को संसार का नेता समझते चले आरहे हैं।

देदीप्यमानशिव ही तत्त्व का कर्ता है सिद्ध मत के अनुयायी योगी लोग संसार की रक्षा करते हैं अद्वैत में तत्त्व की और द्वैत में संसार की तथा एकी भाव में द्वैताद्वैत से रहित तत्त्व की रक्षा करते हैं। यति लोग मिथ्या कहते हैं विषयी लोग सत्य कहते हैं परन्तु सिद्धों का सिद्धान्त यह है कि यह सत्य और असत्य से विवर्जित है। यदि मनुष्य मरता है तो यह सत्य कैसे कहा जा सकता है, अगर यह वर्तमान है तो वृथा कैसे हो सकता [illegible] जो जीवन मरण से रहित है वह कैसे सत्य और कैसे वृथा होसकता है। एक ही वस्तु एक समय में सत्य और एक समय में वृथा हो सकती है काल भेद से एक ही वस्तु सत्य और असत्य है सत्य और असत्य क्रमश २ नहीं हैं।

मू०—मनोवागगनीतोमनोवाङ्मयश्चनाथः ओम् १ नाथः २ शक्तिः ३ कर्ता ४ अकर्ता ५ एतत्पंचकमिति । क्रमेणैतत्पंचकं स्तौति—

अवाच्यमुच्येतकथं पदंतदचिन्त्यमप्यस्ति कथंविचिन्तयेत् ।
अतोयदस्त्येवतदस्ति तस्मैनमोस्तुकस्मैचतनाथतेजसे ॥
अकर्तृतत्कर्तृचतत्परंपदं प्रयान्ति योगामृततृप्तचेतसः
अकर्तृताकर्तृतया निरूप्यते नवास्तवीवस्तुनितद्द्वयीकृत ॥
अवाच्यरूपासदसद्विलक्षणा विचक्षणामाकृतलक्षणापिमा।
नमामितांशक्तिमकर्तृतामयीं स्वतस्करोत्येवचकर्तृतामयीम्॥
निजेच्छयाकाण्डसमुद्भवाप्ययानुमानयादर्शितकर्तृतांशिवम्
नमाम्यभिन्नावपि चित्रितं जगद् विचित्रमेतत्त्वनपेक्ष्यचेतसम्
ममेदमस्याहमहं मदक्रियः सदैव कर्तेत्यभिसन्धिपूरितम् ।
करोत्यकर्तारमुदारलीलया य उच्यतेनाथइतिश्रियेस्तुनः ॥
प्रसंगजंकर्तृपदंविहाययत् फणीवनिर्मोकमनायदास्थितम् ।
नमाम्यकर्तारमकर्तृतामयं यदस्तिमोऽस्मीत्यगुण स्वयंस्थितः

यस्यसाक्षादनुभव शास्त्रज्ञानेन तस्यकिम् ।
चेष्टास्वभावजास्त्रीणां कविभिर्वर्ण्यते श्रमैः ।

जातमात्रः पिबेद्दुग्धं बालकोवाप्यपाठित ॥
यथामातुः स्तनंपक्षी न तथापाठितोपिसन ।
पिबन्तोऽप्यमृतं नित्यममरानामराइह ॥
सिद्धाऽग्रभूताऽमरा गृह्णन्तोविषयानविषम् ।
ध्यानेनछिद्यमानंतु कर्माकुरमुपाददे ॥
तदेनयोगछिन्नंतु यातिनिर्मलतांद्रुतम् ।
सचितंक्रियमाणं च कर्मनश्यतितन्मते ॥
प्रारब्धंन पुनस्तत्र प्रमाणं श्रुतिरुच्यते ।
भूतकालोद्भवंकर्म भट्टाः सत्यं प्रकुर्वते ॥
कालजितयजंकर्म त्यजत्यत्याश्रमीद्रुतम् ।
पत्रं पुष्पं फलंशाखा छिद्यतेपि पुनः पुन ॥
नयावच्छिद्यतेमूलं तावद्वृक्षः प्ररोहति ।
पुनः पुनर्भूतोनारा मूलमछिद्रय संयुत ।
यत्नशोरिक्ततांयाति विफल श्रमएवम ॥
यातुगंगांगयांयातु नमन्तरगममयान गुरान ।
शापालयंविभात्यंक्तं जगदात्मामायिस्मृन ॥

संन्यासिनोऽपि जानन्तु कथयन्तु च पंडिताः ।
अवधूताः क्रियासिद्धास्तत्त्वरूपानिरञ्जनाः ॥
योगदंडं कुरुत्येवं कालमंतरनपत्ययम् ।
हन्ति दंशपिपंदंडं तस्मात्स्वर्गेश्वर ॥
सृजत्यब्जो हरिः पाति हरः संहरते जगत् ।
तस्याऽप्यमुक्तिदस्तत्र गतेन सिद्धयोगिनाम् ॥
चतुर्भिः पथिभिर्यान्ति चत्वारो ज्योतिरालयं ।
योगिनोऽविदिशा लोकाभ्याश्रिराव्यनदाश्रिताः ॥
योगिनो योगयत्नेन केवलं ज्योतिरुत्तमम् ॥
इष्टायान्तीष्टमार्गेण दृतंतत्त्वचगादन ।
स्ववर्णाश्रमधर्मेण वैदिकाः समुपास्यतत् ।
निवृत्तिं परमां यान्ति तद्भूमात्रिरमानुपाः ॥
तान्त्रिकाः शुद्धचिपाणि विषयान् परिहायतत् ।
दुर्गमेन पथा यान्ति जाराश्रनज्जनजनाः ॥
संसारिणस्तु संसारप्रलये प्राप्नुवन्तितत् ।
कृतयानमिवाधारं सर्वलोका निरर्गलाः ॥

नेर्युर्यद्बुद्धिमान्प्रीतिं वृथावस्तुनिफल्गुनि ।
मृगतृष्णामयं माया जालंकिमन्यतेयत ॥
मोक्षशास्त्रकृतैनैर दृष्टामुनिजनानृपा ।
नीतिशास्त्रकृतस्कान्ता श्रृङ्गारग्रन्थकारिका ॥
मूलंमोक्षस्यावधूतो नीतिमूलंनराधिप ।
कान्ताश्रृङ्गारमूलंयद् वाचारम्भणमास्तिन, ॥

भा० टी०—मनवाणी स परे होते हुए भी मनोवाक्मय
ाजी के ये पांच रूप हैं–ओम्–नाथ–शक्ति–कर्ता–अकर्ता इन
ा स्तुति की जाती है।

उस पद को अवाच्य कैसे कहा जा सकता है, और अचि
ाभी कैसे कहा जा सकता है जब कि योगी उसका चिन्तन
ता है। इस लिये वह जो कुछ है मैं उसनाथ तेज को
ार करता हूं। वह परम पद अकर्ता और कर्ता दोनों ही
ार का है।

योगामृत से तृप्त चित्त वाले उसका ध्यान करते हैं उस
स्पृश्य और अस्पृश्य वास्तव में दोनों ही नहीं हैं, क्योंकि
क वस्तु में दो बातें कैसे हो सकती हैं। जो सत्
सत् से विलक्षण लिङ्ग रहित और लिङ्ग वाली है

समझने वाले सिद्ध पुरुष अमर हैं। ज्ञान से कटा हुआ कर्म फिर अंकुरित हो जाता है परन्तु योग से छिन्न हो जाने पर उस में अंकुर उत्पन्न नहीं होता, वेदान्तियों के मत से सञ्चित और क्रियमाण कर्म नष्ट हो जाता है पर प्रारब्ध नहीं इस में वे स्वयं श्रुति का प्रमाण देते हैं भट्ट मत के अनुयायी मीमांसक लोग पहले के किये हुए कर्म सत्य कहते हैं, परन्तु अत्याश्रमी अवधूत उसको भी छोड देता है। वृक्ष की शाखा और पत्र पुष्प फलादिकों को कितनी वार काटो वह फिर उग आता है परन्तु जब मूल कट जाता है फिर वह नहीं उगता। जिस घड़े में सूक्ष्म छिद्र है उस में चाहे जितनी वार जल भरो वह खाली हो जाता है। और भरने वाले का श्रम व्यर्थ होता है। गङ्गा में स्नान करते हैं गया में जाते हैं और पत्थर की बनी हुई मूर्तियों की पूजा करते हैं परन्तु इस शरीर रूपी घर में जो जगदात्मा प्रकाशमान है उसे याद नहीं करते। संन्यासी भलेही जानते हों और पंडित उसे बेशक कहते हों परन्तु क्रिया सिद्ध अवधूत उसके विकार रहित रूप में तद्रूप होकर विराजमान रहते हैं। इस पाप देह को महेश्वर नाथ उत्पन्न करता है, काल के वश में पचाता और विषय रूप देह को नष्ट करता है। ब्रह्मा जगत् की उत्पत्ति विष्णु जगत् की रक्षा और हर जगत् का संहार करता है। इन तीनों से अन्य नाथ मुक्ति देता है यह

योगियों का संकेत है। योगी वैदिक तान्त्रिक और व्यावहारिक ये चारों ही चार मार्गों से उस ज्योति रूप धाम में पहुंचते हैं।

योगी लोग योग यज्ञ से उस उत्तम ज्योति को पूज कर पक्षियों के समान शीघ्र ही उस के पास पहुंच जाते हैं। तान्त्रिक लोग विषयों को धारण करके जैसे जार लोग जनता से परिपूर्ण मार्ग को छोड़ कर चलते हैं उसी तरह इस शुद्ध विपथि में दुर्गम पथ से जाते हैं। परन्तु संसारी लोग संसार के प्रलय में उसे प्राप्त होते हैं जैसे ग्राम लोग बड़ी यात्रा करके कष्टों से राजा तक पहुंचते हैं। बुद्धिमान् को व्यर्थ सार हीन वस्तुओं में प्रीति नहीं करनी चाहिये क्यों कि वह इस माया जाल को मृग तृष्णा के समान ही समझता है। मुनिजन और राजा लोग मोक्ष शास्त्र को नहीं बना सकते और शृंगार रस में मग्न रहने वाली स्त्रियां नीति शास्त्र को नहीं बना सकती, अपितु मोक्ष शास्त्र का मूल अवधूत ही है नीति का मूल राजा और शृंगार का मूल स्त्री है बाकी सब व्यर्थ बकवास है

मू०—एवंतेत्रयोऽपि क्रियायामेव प्रसन्ना क्रिया युक्तेति कथने नापि प्रसन्ना परन्तु ननु क्रिया रहित कथनेन प्रसन्नास्त्रयेण त्रयोऽपि पुरुषा: स्वसंग वर्जितास्सद् यथा—अवधूत इति विना-

तुभवेन शास्त्रारम्भकाः पुरुपा इति 'राजनीतिः । कर्तव्यता हीना भृत्या इति । स्त्रीजन इति । पुरुपा अर्थहीना पुरुपा इति । तांस्त्रीन् त्रयोहसन्ति । कथम् ? एकः कोऽपिपुरुपो मन्दकामः कस्याऽपिवैद्यस्य गृहेगत्वा तं प्रतिस्वचेष्टोक्ता तदावैद्येनोक्तं यत्नं करिष्यामीति तस्य वैद्यवधूः पार्श्ववर्तिनी सहसा जाता । तस्या अभिप्रायोऽयम् । अयंममभर्ता वैद्यःस्वयंमपि नपुंसकोऽन्यस्य कामोदय यत्नं कथंकरिष्यतीति स्वयमसमर्थो ऽन्यस्यार्थे पाकं करिष्यतीति प्रतारणाभावमिति ॥

ब्रह्मभूतोमुनि र्व्यासो मिथ्यामायोपदेशत ।
कृतानेकपुराणोऽभूत्तस्यैमायै नमोस्तुते ॥
वशिष्ठादिमुनिव्रातस्त्यागस्यैवोपदेशकृत् ।
स्वयमङ्गीकृतस्त्रीकस्तस्मै भोगायते नमः ॥
दासाः प्रेमातुराभक्ति पुरुपार्थं वदन्त्यहो ।
सशरीरगते चित्ते भक्तिः प्रेम्णासमंगता ॥
योगः स्मार्तो वैष्णवश्च धर्मभूपास्त्रयास्त्विमे ।
कर्मारिभ्यस्त्रिधाऽवन्ति स्वात्मदेशंतु सुस्थितम् ॥
वैष्णवो नृपतिधर्मो नित्यांमत्वा च संस्मृतिम् ।

कर्मद्विपः समाश्रित्य यातिस्वंदेशमात्मना ॥
स्मार्तस्तु नृपतिधर्मं सत्यंप्रारब्धमात्मगम् ।
कर्मारिभ्योनार्लिंदत्त्वा याति स्वंदेशमात्मना ॥
योगधर्मोनृपस्सर्वान् जित्वाधर्मद्विपोवली ।
मनश्च किंकरं कृत्वा यातिस्वंदेशमात्मना ॥

एतद्ग्रन्थेबहुशास्त्राणां प्रामाण्यं दीयते । तत्तु अस्मदीयार्थं वा एतन्मार्गस्य शिष्याणां श्रद्धार्थंदीयतइतिनास्ति । अस्मिन्नर्थेतु योगशास्त्रस्यैवप्रामाण्यमेतच्छास्त्रज्ञानेन पूर्णम् । परन्तुवादिनाहितायभो अन्यग्रन्थान्तरेऽपिभवदीयनानामतान्तरेऽपि चायमेवमार्गश्रेष्ठ । सर्वस्य लक्ष्योऽवधूत एवेतिहेतुर्नतु सिद्धान्तार्थं । अस्मात्त्वन्यप्रमाण उपेक्षेति ज्ञेयम् ।

भा०—इस प्रकार अनुभव के विना शास्त्र रचना करनेवाले साधारणजन, राजनीति चलाने वाले राजा लोग, और शृङ्गार शास्त्र बनाने वाले, ये तीनों व्यावहारिक काम में ही खुश रहते हैं व्यवहार करना चाहिये बहुत अच्छा है ऐसे कहने से भी बहुत प्रसन्न होते हैं करने पर तो कहना ही क्या है। किन्तु व्यवहार अनित्य है इसका त्याग ही अच्छा है ऐसा कहने से तो खुश नहीं होते हैं। इसलिए

इन तीनों का सम्बन्ध अवधूत योगी छोड़ देते हैं। स्वयं जिसने अनुभव नहीं किया किन्तु उस विषय का शास्त्र बनाता है। जिन्होंने राजनीति अर्थात् कानून शास्त्र को बनाया किन्तु उसके संचालक कर्मचारी नही हैं। स्त्री और जो धनहीन पुरुष हैं इन तीनों को तीनों हंसते हैं। कैसे हंसते हैं इस पर एक दृष्टान्त दिया जाता है किसी एक धातुक्षीण रोगी ने किसी वैद्य के घर पर आकर वैद्य से अपना रोग कहा, तब वैद्य जी ने कहा, कि अवश्य मैं इसका उपाय करूंगा, यह सुन कर उसके समीप बैठी हुई वैद्य की स्त्री हंसने लगी, उसका अभिप्राय यह था कि मेरा पति वैद्य स्वयं नपुंसक हैं तब दूसरे के लिए कैसे कामोद्दीपन का उपाय करेंगे। जो स्वयं अपने लिये रसोई नहीं कर सकता वह कहे कि दूसरे के लिए रसोई करूंगा यह केवल ठगना है। यहां कोई माया की बड़ी विचित्र घटना को देख कर उस माया को नमस्कार करता है, जो माया सत्ता से रहित होते हुए भी परमेश्वर को अपने व्यवहार में शामिल कर लेती है; और हे माया देखो ! तुमने ब्रह्मस्वरूप समाहितात्मा श्री व्यास जी को भी अपना उपदेश देकर अपने बनाए संसार के व्यवहार को दिखाने वाले पुराणों की रचना करवाई इसलिए तुमको

प्रणाम करता हूँ। और भी देखिये जिन वशिष्ठादि ऋषियों ने लोगों में त्याग का उपदेश दिया परन्तु अपने आप स्त्री आदि सांसारिक भोगों का संग्रह किया, अतः हे माये तुम्हारे भोग को नमस्कार है। उपासक लोग दास भाव से प्रेम में विह्वल होकर भक्ति को ही मोक्षादि पुरुषार्थ का साधन कहते हैं। परन्तु भक्ति तो शरीर में रहने वाले चित्त का धर्म है इसलिए वे प्रेम के जाल में पड़कर अपने स्वरूप बोध से वञ्चित रह जाते हैं। योग १ स्मार्त २ और वैष्णव ३ ये तीनों धर्मराजा के समान हैं, और कर्मरूपी शत्रुओं से अपनी रक्षा करते हैं किन्तु आत्मा तो वास्तव में सदा अपने स्वरूप में ही रहता है उसका नाश कहां इसलिए उसकी रक्षा की चिन्ता करना यह भी माया का ही धर्म है। अब आगे योग-स्मार्त और वैष्णव इन तीनों का क्रम से व्याख्यान करते हैं—जो वैष्णव राजधर्म है उसके अनुयायी संसार को सत्य मान कर कर्म रहित पुरुषों को भी विष्णु की शरण में पहुंचा देते हैं। दूसरे जो धर्मशास्त्र राजधर्मावलम्बी हैं वे प्रारब्ध को सत्य मान कर अपने पापों को नष्ट करने वाले देवताओं को बलि देकर अभीष्ट लोक को चले जाते हैं। तीसरे बली योग धर्मावलम्बी पुरुष सब धर्म द्वेषियों को जीत कर और मन को

जीत कर अर्थात् मन को अपना दास बना अपने अभीष्ट लोकों को प्राप्त होते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त जितने साधन हैं, यह सब माया का खेल है अतः जब तक माया वश में नहीं होती तब तक मुक्त नहीं कहा सकता।

इस ग्रन्थ में अनेक शास्त्रों का प्रमाण दिया जाता है। वह हमारे लिये अथवा इस मार्ग में रहने वाले शिष्यों की श्रद्धा के लिये दिया जाता है ऐसा नहीं समझना। क्योंकि इस विषय में योग शास्त्र को ही सर्वोत्तम प्रमाण माना जाता है, यह शास्त्र समस्त ज्ञान का भंडार है किन्तु वादियों के कल्याण के लिये कहा जाता है कि अन्य ग्रन्थों में और अन्य मतों में भी योगमार्ग ही श्रेष्ठ है। और सबका अन्तिम लक्ष्य अवधूत ही है यह युक्ति बताई जाती है न कि अपना सिद्धान्त क्योंकि हमको अन्य प्रमाणों की ज़रूरत नहीं।

मू०—अवधूतशिष्यंविनेतरसाम्प्रदायिकशिष्या मुग्धावर्तन्ते अवधूत सम्प्रदायस्यइयं रीतिः, षट्त्रिंशल्लक्षणसम्पन्नोगुरुर्द्वात्रिंश-लक्षण सम्पन्नः शिष्यस्ततश्चतुर्लक्षणन्यूनः। गुरुशिष्यलक्षणञ्च—अधिक तत्त्वोगुरुर्न्यूनतत्त्वः शिष्यः। एतादृङ्न्यूनत्वंतुयोग्यंनतु मूर्खशिष्योधिकलक्षणहीनो मोक्षभाग्भवेत्। पुराणे शौचक्रियादि करणपर्यन्तक्रिया उपदिशतीतितन्महासिद्धा हसन्ति। अहोबुद्धि·

मन्तः शिष्यास्तान् गुरून् एतादृक्क्रिया अपि कथयन्ति । शिष्यस्यबुद्धेः पराऽवधिरिति । एतादृश शिष्यकरणेगुरूणां दोषः प्रवर्तते । अतएवमहासिद्धावहून्दीक्षितान् न कुर्वन्ति । कथं ? बहवोविवेकिनोनभवन्ति । यथास्त्रियां भ्रष्टायां पत्युर्लज्जा तथाशिष्ये भ्रष्टे गुरूणांलज्जानिन्दापातकं च प्रवर्तते । अतएवबहुदीक्षिता आचार्या गुरवस्त्याज्याः, महासिद्धएवगुरुःकर्तव्यः । महासिद्धैरपि चतुर्लक्षणन्यूनश्शिष्यः कर्तव्योबहवश्च शिष्यावर्जनीयाः इति सिद्धान्तः ।

भा०—अवधूतों के शिष्यों की अपेक्षा इतर सम्प्रदायों के शिष्य निकृष्ट होते हैं । अब आगे अवधूत सम्प्रदाय की मर्यादा बताई जाती है—

छत्तीस लक्षणों से युक्त गुरु होते हैं और बत्तीस लक्षणों वाले शिष्य, फरक इतना है कि चार लक्षण कम होने से शिष्य कहलाता है, गुरु और शिष्य का लक्षण ही ऐसा है कि जो अधिक सत्य लक्षणवाला है वह गुरु और कम लक्षण वाला शिष्य होता है शिष्य में इतनी ही न्यूनता उचित है बिल्कुल मूर्ख होना ठीक नहीं । गुरु की अपेक्षा न्यून लक्षण वाला शिष्य मोक्ष का भागी हो सकता है । पुराणों में शौच आदि

बाह्यक्रियाओं का उपदेश दिया गया है, उसको महासिद्ध कहते हैं। परन्तु आश्चर्य की बात है कि बुद्धिमान् शिष्य उन गुरुओं को ऐसे कर्मों का उपदेश देते हैं, इससे तो शिष्य की ही बुद्धि बड़ी हुई। ऐसे बकवादी शिष्य बनाने में गुरुओं को दोष लगता है। इसी लिये महासिद्ध बहुत शिष्य नहीं बनाते क्योंकि उनमें सभी विवेकी नही होते जैसे स्त्रियों के भ्रष्ट हो जाने से पति लज्जित होता है ऐसे ही शिष्यों के भ्रष्ट होजाने से गुरु को लज्जा आती है तथा निन्दा और पाप भी होता है। अतः बहुत शिष्य बनाकर उनके सुधार में ध्यान न देने वाले गुरुओं को भी छोड़ देना चाहिए। महासिद्ध को ही गुरु बनाना चाहिये। महासिद्धों को भी चाहिये कि चार लक्षणों से हीन चेला बनावें बहुत शिष्य न बनावें यही सिद्धान्त है।

अथ शिष्यस्य द्वात्रिंशल्लक्षणानि लिख्यन्तेप्रथमतोज्ञानपरीक्षा निरालम्बः १ निर्भ्रमः २ निराशी ३ निःशब्दः ४। विवेक-परीक्षा—निर्मोहः ५ निर्बन्धः ६ निरांकः ७ निर्विषयः ८ सर्वांगी ९ सावधानः १० सन् ११ सारग्राही १२ निरालम्ब परीक्षा—निष्प्रपंचः १३ निस्तरंगः १४ निर्द्वन्द्वः १५ निर्लेपः १६। सन्तोषपरीक्षा—अयाचकः १७ अवांच्छकः १८ अमानः १९

अस्थिरः २० शीलपरीक्षा—शुचिः २१ संयमी २२ शान्तः २३ श्रोता २४। महज परीक्षा—सुहृत् २५ शीतलः २६ सुखदः २७ स्वभावः २८ अष्टमे शून्यपरीक्षा - लयः २९ लक्ष्यम् ३० ध्यानम् ३१ समाधिः ३२ इति द्वात्रिंशल्लक्षणानि शिष्यस्य समाप्तानि ॥

भा०—अब शिष्यों के बत्तीस लक्षण जो कि शिष्यों के लिये आवश्यक हैं नीचे लिखे जाते हैं, इन बत्तीसों में से आठ वस्तुओं की परीक्षा होती है। उन आठों में एक एक में चार २ विषय हैं इसलिये मिलाने पर आठ चौके बत्तीस होते हैं। उन नामों का अक्षरार्थ करने से ही उनके सब लक्षण होजाते हैं, उन में पहले ज्ञान की परीक्षा है—निरालम्ब, सहायता शून्य अर्थात् जो देशकाल महनारा शरीर आदि आश्रय न करके केवल गुरु के उपदेश द्वारा अदृश्य षट् चक्रादि को जानने वाला। यह पहली परीक्षा है। दूसरा निर्भ्रम २ अर्थात् भ्रम-रहित। निवासी ३ जिसमें ज्ञान स्थिर रहे। निःशब्द ४ संज्ञा-रहित केवल अर्थ के जाननेवाला। अब अविवेक परीक्षा में चार बताए जाते हैं—सर्वाङ्गी १ हृदय के प्रत्येक अवयव सहित अर्थात् हृदय के चारों तरफ ध्यान रखने वाला।

सावधान ? लक्ष्य पर डटने वाला। सत् ३ सत्स्वरूप अर्थात् कुतर्की न हो। सारग्राही ४ उपयुक्त विषय ग्रहण करने वाला। अब संतोष में चार दिखाये जाते हैं—अयाचक १ सिवाय तत्वज्ञान के किसी से किसी चीज की याचना न करने वाला। अवांछक ? जिनके मन में सांसारिक वस्तुओं की वासना न हो। अमान ३ जो धन विद्या बल आदि के घमड से शून्य हो। अस्थिर ४ किसी स्थान में आसक्ति न करने वाला। अब शील की परीक्षा में चार दिखाये जाते हैं—शुचि १ स्नानादि द्वारा बाह्य शुद्धि और पवित्र अन्नादि के भोजन से अन्तःशुद्धि तथा पवित्र मन वाला। संयमी २ सांसारिक विषयों से जिसने इन्द्रियों को हटा लिया है। शान्त ३ सब अवस्थाओं में धीर रहने वाला। श्रोता ४ अध्यात्मविद्या में प्रेम रखने वाला। अब सहज परीक्षा का वर्णन किया जाता है—सुहृत् १ सब सज्जनों से प्रेम रखने वाला और दुर्जनों से उदासीन रहने वाला। शीतल २ अपराध करने पर भी द्रोह बुद्धि न रखने वाला। सुखद ३ सज्जनों को सुख देने वाला। स्वभाव ४ जिसका आचरण किसी के विरुद्ध न हो। अब शून्य अर्थात् विरक्तता की परीक्षा में भी चार कहे जाते हैं—लय १ किसी में मन की वृत्ति न रखना। लक्ष्य २ अपने ध्येय का निश्चय।

ध्यान है उस लक्ष्य के स्वरूप में चित्त को लगाना। समाधि है जिसमें मैं ध्यान करता हूँ इस प्रकार ध्याता और ध्येय आदि भेद भाव के छूटने से निश्चल दीप शिखा की तरह केवल ध्येय का ही भान हो। ये सब मिलाने से शिष्यों के ३२ लक्षण होते हैं सो समाप्त हो चुके।

मू० अद्वैतोपरिवर्तिनाथ उदितोयत्रध्वनिस्सन्ततो।
नादोविन्दुस्तथापि शक्तिरुदितामाचार्द्धमात्रात्मिका ॥
उ रुद्रोहरिरोविधिर्मितिसमध्येयोऽस्तुनित्यंमहान्।
ओङ्कारोऽखिलशब्दबीजमबुधरज्ञातरूपोमुदे ॥

अथमोङ्कारो महासिद्धानां ध्येयः, तस्यस्वरूपम् —
उकारोऽत्ररुद्रस्वरूपमर्धमात्राशक्तिस्वरूपं विन्दुर्नाथस्वरूपमर्धमात्रयाजातोऽकारोविष्णुस्वरूपंविन्दोर्जातोमकारोब्रह्मस्वरूपं ध्वनिर्निराकारनाथस्वरूपं व्यापकंध्वनिर्वर्णथोभयमपिमिलितं पूर्णं यद्द्वैताद्वैतविलक्षणं साकारनिराकारातीतमद्वैतोपरिवर्ति महानाथस्वरूपमिति। किंचात्रोङ्कार उकारविन्द्वर्धमात्रयोर्योगादेव। विन्दुयोगान्मकारोऽर्धमात्रायोगादकार इति। तथा चोङ्कारे नाथशिवशक्तिरूपप्राबल्यंविष्णु

ब्रह्मरूपयोरप्राबल्यम् अतएवात्रैतद्देवतात्रय ध्यानंमहासिद्धै मुख्यत्वेन क्रियते पुनर्ध्वनिर्निराकारनाथरूपंध्वनिर्वर्णश्चो भयात्मकः पूर्णनाथस्तुसाम्प्रतमस्तितथास्त्येवेति ब्रह्म विष्णु ध्यान तोनाथशिवशक्तिनांध्यान मुत्तममुक्तम् ,तत्रापि नाथ ध्यानं बलिष्ठम् उकारो यथोकारः स्यात्तदामात्र शक्त्यैव उकारोपि यथोङ्कारः स्यात हिं बिन्दु शक्त्यैवबिन्दुर्यथापिवर्ण-स्तथापि तत्र स्वरस्याधिक्यंस्वरश्च वर्णापेक्षयाबलवानेव ।

कथं ? तत्रध्वनिभागस्याधिक्यात् ध्वनिश्च नाथरूपमेव, यतोनाथध्यानं बलिष्ठमित्युक्तम् । तदुक्तं योगशास्त्रे—

ब्रह्मग्रन्थिंततोभित्त्वा विष्णुग्रन्थिंभिनत्त्यसौ
विष्णुग्रन्थिं ततोभित्त्वा रुद्रग्रन्थिंभिनत्त्यसौ ॥
रुद्रग्रन्थिंततोभित्त्वा छित्त्वामोहमयींलताम् ।
उद्घाटयत्ययंवायु ब्रह्मद्वारंसुगोपितम् ॥

इत्यादि—

भा० टी०—अद्वैत के ऊपर नाथ है अर्थात् कार्य रूप दृश्य मान स्थूल जगत् और इसका कारण सूक्ष्म रूप प्रकृति और इसकी समष्टि ये कार्य कारण के अभेद होने से अद्वैतपद मे

लिये जाते हैं। उसके ऊपर अर्थात् एक व्यापक और एक व्याप्य वस्तु है वहां आपस में ऊपर कहने का व्यवहार हो सकता है जैसे आकाश के ऊपर पृथिवी और पृथिवी के ऊपर आकाश ऐसे ही यहां अखण्ड नाथ जी परिच्छिन्न संसार के ऊपर हो सकते हैं और नाथ के ऊपर संसार भी कहा जा सकता है। नाथजी स्वयं अखण्ड चिद्रूप हैं और उनकी शक्ति भी चिद्रूपा है जिस में ध्वनि अर्थात् स्फोट रूप शब्द ब्रह्म नाद अर्थात् संसार के उपादान कारण शक्ति का सम्बन्ध, बिन्दु रूप संसार को बनाने वाली आदि प्रकृति ये नाना सृष्टि करने वाली शक्तियां प्रकट होती हैं वह शक्ति ओंकार को अर्धमात्रा रूप अर्थात् ऊपर की अर्धमात्रा उस शक्ति का लक्षक है, अकार विष्णु का उकार रुद्र का मकार ब्रह्मा का वाचक है इन सब का समुदाय अधिष्ठान रूप अखण्ड सच्चिदानन्द समस्त शब्दों का कारण साधारण पुरुषों से अज्ञात ओंकार परमानन्द के लिये मेरा ध्येय हो ऐसी धारणा करनी चाहियें। यह ओंकार महासिद्धों का ध्येय है। उसका स्वरूप इस प्रकार है उस में जो उकार है वह रुद्र रूप है।

अर्धमात्रा शक्ति रूप है बिन्दुनाथ रूप है आधी मात्रासेउत्पन्न

अकार विष्णु रूप है और बिन्दु से उत्पन्न मकार ब्रह्मा है इन में ध्वनि निराकार नाथ रूप और वर्णरूप भी है वह सबका समुदाय परिपूर्ण कहाता है जो कि द्वैत अद्वैत से विलक्षण साकार निराकार दोनों से अतीत है इस लिये अद्वैत के ऊपर वर्तमान श्री महानाथ स्वरूप है। ओंकार जो है वह उकार बिन्दु और अर्धमात्रा इनके योग से ही होता है। अनुस्वाररूप बिन्दु से मकार होता है इसी लक्ष्य को लेकर व्याकरण में स्वर के परे होने पर अनुस्वार को मकार कर दिया जाता है और लय दशा में मकार का अनुस्वार कर दिया जाता है अर्धमात्रा के सम्बन्ध से अकार होता है। इस से स्पष्ट होरहा है कि ओंकार में बिन्दुरूप श्रीनाथ जी, अर्धमात्रा श्रीशक्ति, और उकार, तेज स्वरूप रुद्रये प्रधान हैं, अकाररूप श्री विष्णुजी और मकार रूप श्री ब्रह्माजी अप्रधान हैं परन्तु प्रणव पंचदेवात्मक ही है महासिद्ध लोग तो इस में प्रधान रूप से पूर्वोक्त नाथ-शक्ति-और रुद्र इन तीनो देवों का ही ध्यान करते हैं।

ध्वनिरूप निराकार और वर्ण इन दोनों का समुदाय परिपूर्ण स्वरूप आदिनाथ जी प्रलय में जैसे विकार रहित रहते हैं वैसे ही सृष्टि समय में भी अविकृत रूप से रुद्र स्वरूप हैं इसी लिये ब्रह्मा और विष्णु के ध्यान से नाथ, शिव, और 'शक्ति इन

तीनों का ध्यान बड़ा कहा गया है। इन तीनों में भी नाथ का ध्यान विशिष्ट है। उकार जब माया शक्ति का सम्बन्ध करता है तब ओंकार रूप हो जाता है। और जब बिन्दु रूप से सम्बन्ध करता है तो ओंकार रूप हो जाता है। बिन्दु भी यद्यपि वर्ण है तथापि उस में स्वर का भाग अधिक है, स्वर वर्ण से बलवान् है इस लिये स्वर के बिना वर्ण का उच्चारण नहीं होता। क्यों कि ? उस में ध्वनि भाग अधिक है और ध्वनि नाथ रूप है इस लिये नाथ का ध्यान बलवान् कहा गया है।

यही योगशास्त्र में भी कहा है—

पहिले ब्रह्म गांठ अर्थात् स्वाधिष्ठान चक्र का भेदन करे फिर विष्णुग्रन्थि अर्थात् मणिपूर चक्र को भेदन करे, उसके बाद रुद्रग्रन्थि जो हृदय में अनहत चक्र है इसके बाद कण्ठदेशस्थ विशुद्ध चक्र में अविद्या जीव शक्ति की ग्रन्थि का भेदन करके रोके हुए प्राणवायु द्वारा आज्ञा चक्र रूप ब्रह्म द्वार में ज्ञान शक्ति के द्वार को खोल कर उसको प्राप्त कर लेता है।

मू०—योगसम्प्रदायं विनासर्वमतेविपरीतावार्ता वर्तते, कथं ? नाथांशोनादोनादांशः प्राणः शक्त्यंशो बिन्दुर्बिन्दोरंशः शरीरम्, एवच योग सम्प्रदाये शिष्योधिको यो नादांशोज्ञायते-ऽन्यमते पुत्रोऽधिकः कथ्यते। सचाधिकः कथं भवेत्। कथं वपुर्वि-

न्दुतो जातम् । पुनः पुनः नादांशः प्राण उक्तो बिन्द्वंशः शरीरमुक्तम् तत्रापि प्राणाच्छरीरमुत्तिष्ठति शरीरस्याधारः प्राणोभवति । तथाच नादस्यात्मजश्शिष्यएवाधिक इति । अन्यच्च कथ्यते—

जनिता चोपनेता च यस्तुविद्यां प्रयच्छति ।
अन्नदाता भयत्राता पंचैते पितरः स्मृताः ॥

राजपत्नीगुरोः पत्नी मित्र पत्नी तथैव च ।
पत्नीमातास्वमाता च पंचैतामातरः स्मृताः ॥

इत्येतत्कथने प्राधान्यंपित्रोरेवायातितत्समीचीनं न भवति । इयंरीतिः सांसारिकी नतु पारमार्थिकी वार्ता अतः कारणाद्गुरुरेवमुख्योनादात्मजः शिष्य एवमुख्य इति सिद्धान्तः किं च धर्मोर्थःकामोमोक्ष इति ब्रह्मचर्यंगार्हस्थ्यंवानप्रस्थःसन्यासइतिः शृंगारोहास्यकरुणोरौद्रोवीभत्सोभयानकोद्भुतंशान्त इति । पृथ्वीआपस्तेजोवायुराकाश इति ब्रह्मा विष्णुरुद्रादिश्च । एतत्प्रक्रियायाअनुक्रमोनास्ति किन्तुव्यतिक्रमो वर्तते । किन्त्वनुक्रमस्त्वेवं रीत्या मोक्षोधर्मोऽर्थः कामः सन्यासोवानप्रस्थोगार्हस्थ्यंब्रह्मचर्यम् । शान्तःकरुणोऽद्भुतं वीरोरौद्रोहास्यंभयानकोवीभत्सः शृंगारः । आकाशाद्वायुर्वायोस्तेजस्तेजसो जलं जलात् पृथिवी । पुनः शिवाद्भैरवो भैरवाच्छ्री कंठः श्रीकं-

ठात् सदाशिवः सदाशिवात् ईश्वरः ईश्वराद् रुद्रोरुद्राद्विष्णुर्विष्णो-र्ब्रह्मा। इतीयं योगसंप्रदायरीतिः, साएवतांत्रिकी। परन्तु शिव भैरव श्रीकंठेति देवत्रयक्रमःसूत्रे न गृहीतः पञ्चैवदेवता सदाशिवादयोः गृहीतास्तत्रापि पौराणिकेवैदिके देवतात्रयमेव गृहीतम्, तत्क-थ्यते—ब्रह्माविष्णू, रुद्र इति पुराण प्रक्रिया ब्रह्माविष्णु,-रुद्र ईश्वरः सदा शिव एषा तांत्रिकी प्रक्रिया ॥

अवधूतैः कथ्यतेएषाप्रक्रियाकुत आगता सर्वायोगादेवागता, यतः सर्वस्यकारणं योगएव प्रवर्तते यतोऽवधूताद्भिक्षुकोजातो-भिक्षुकाद् ब्रह्मचारी ब्रह्मचारिणो गृहस्थोजातः। कथं ? एकैकगुण लक्षण हीनो ह्रासक्रमेण सम्भूतं सन्तानमेवेति मन्ये। प्रथमतो गौणमुख्य प्रक्रियाकथिता, तत्रकाचिद् उत्पत्तिक्रमतो मुख्यागौणी-या ज्ञेया, काचिच्च फलवृद्धरीत्यामुख्यागौणीवेतिज्ञेया। एकदा महासिद्धश्रीगोरक्षनाथशिष्येणसिद्ध विचारनाथेन भर्तृहरि नृपेण व्याकरणशास्त्रोपरिलक्षसंख्याःकारिकाःकृताः, नागेशेनताः श्रुताः। तदाप्रसन्नो भूत्वा ब्रह्माण्डेविहरन् समागतो यत्तत्र स्थितोमहाव-धूत आगत्यचादेशादिव्यहारकरणानन्तरं तेनोक्तमहो स्वामिन्न हंतुष्टोस्मि यतः कांचित्याचनांकुरु। तदामहासिद्धेनोक्तंतव मिलने सुसंजातमन्यत्तु नास्त्यपेक्ष्यंकृतकृत्य एवास्मि। पुनः पुनस्तेनशेपे-

णोक्त याचनीयमेवेति । तदा भर्तृहरिणोक्तं किं याचेयद्यैश्वर्ये च्छा भवेत्तत्तुमहाराज्यंत्यक्त्वाऽवधूतोजातः पुनर्मोक्षस्ययदि-वांछाभवेत् सातु अवधूतभावे सिद्धत्येवसंशयो नास्तीति । तदा शेपोऽसन्तुष्टोभूत्वाममापमानःकृतोऽत. शापंददामि, भवदीयका-रिका. प्रसिद्धानभविष्यन्तीति । तदाऽवधूतेनाप्युक्तं त्वदीयकृत व्याकरणशास्त्रकलौन्यूनत्वयर्थं भविष्यति, पुनर्यत्रकुत्रापिस्थलेसंशयो भविष्यतितदाममकारिका विनानिर्णयोन भविष्यतीति । एव परस्पर शापोजातः, तेनाऽऽधुनिकसमयेव्याकरणादिसाधनशास्त्रं परमार्थेन्यूनं भवतिचातुर्यादिप्रकारः प्रायशोभवतीति ।

भा० योग सम्प्रदाय को छोड कर अन्य सब मतों में विप-रीत बातें प्रचलित हो रही हैं। कैसे ? नाथ जी का अशनाद है जिस का अंश इस शरीर में प्राण रूप है उसके ऊपर नाथ जी शासन करते हैं अत प्राण शिष्य और नाथ जी उस के आचार्य है। शक्ति का अशविन्दु है, विन्दु का अंश शरीर है यह उत्पन्न होने से पुत्र कहलाता है। इस योग सम्पदाय में प्राण वायु का विशेष महत्व है, अन्य मतों में पुत्र रूप शरीर अधिक माना जाता है इसी लिये वे शरीर का ही संस्कार प्रधान रूप से करते हैं। प्राण का अधिक महत्व कैसे है सो दिखाते हैं—शरीर

बिन्दु से होता है प्राणनाद का अंश है यह बार बार कहा जा चुका है, प्राण से ही शरीर बढ़ता है और आना जाना बैठना खड़ा होना इत्यादि व्यवहार भी शरीर से ही होता है। शरीर का आधार भी प्राण है, इस लिये शिष्य रूप नादांश प्राण ही अधिक है। इसी विषय में और भी कहा जाता है—जन्म दाता १ यज्ञोपवीत संस्कार कर के गायत्री मन्त्र देने वाला २ शास्त्र पढ़ाने वाला अन्न देने वाला ४ भय से रक्षा करने वाला ५ ये पांच पिता कहे जाते हैं राजा की स्त्री गुरु की स्त्री मित्र की पत्नी अपनी स्त्री की माता और अपनी माता ये पांच माताएं होती हैं। इस कथन से माता और पिता ही प्रधान होते हैं यह ठीक नहीं है क्योंकि यह मर्यादा सांसारिक व्यवहार में है, परमार्थ में नहीं, इस लिए परमार्थ में पिता की अपेक्षा गुरु ही मुख्य है इसी तरह पुत्र की अपेक्षा शिष्य मुख्य है यह सिद्धान्त है।

लोक में धर्म अर्थ काम मोक्ष, इस प्रकार व्यवहार होता है, इस से प्रतीत होता है कि धर्म प्रधान होने से पहले कहा गया है और मोक्ष अप्रधान होने से पीछे कहा है। इसी तरह ब्रह्मचर्य-गार्हस्थ्य वानप्रस्थ सन्यास, तथा शृंगार हास्य-करुणरौद्र बीभत्स भयानक अद्भुत शान्त, इन दोनों दलों में

ब्रह्मचर्य और शृंगार को प्रधान माना जाता है। इसी तरह पृथ्वी जल तेज वायु आकाश तथा ब्रह्मा विष्णु रुद्र इन में पृथिवीऔर ब्रह्मा को प्रधान माना जाता है किन्तु यह सब क्रम उलटा है, वास्तव में तो उन पूर्वोक्तों में मोक्ष संन्यास-शान्त आकाश रुद्र ये ही प्रधान हैं इसलिये ऊपर का क्रम उलटा होना चाहिये अर्थात् मोक्ष धर्म अर्थ काम संन्यास वानप्रस्थ ब्रह्मचर्य गार्हस्थ्य, शान्त करुण अद्भुत वीर रौद्र हास्य भयानक बीभत्स शृङ्गार, आकाश वायु तेज जल पृथिवी इस क्रम से। इसी लिये योग सम्प्रदाय की यह रीति है कि शिव से भैरव प्रकट हुआ, भैरव से श्री कंठ श्रीकण्ठ से सदाशिव सदाशिव से ईश्वर ईश्वर से रुद्र रुद्र से विष्णु विष्णु से ब्रह्मा, यही रीति तंत्र की भी है। परन्तु सूत्र ग्रन्थ अर्थात् संहिता में शिव भैरव और श्री कंठ इनतीन देवों का क्रम नहीं कहा है, किन्तु सदा शिव १ ईश्वर २ रुद्र ३ विष्णु ४ ब्रह्मा ५ इन्ही पांच देवों का क्रम कहा है, इस में भी पौराणिक और वैदिक ग्रन्थों से रुद्र १ विष्णु ब्रह्मा ३ इन तीन ही देवों का क्रम संक्षेप से बताया गया है। ब्रह्मा १ विष्णु २ रुद्र ३ यह पुराणों का क्रम है, और ब्रह्मा विष्णु रुद्र ईश्वर सदा शिव यह तंत्रों का क्रम है। इस पर अवधूत कहते हैं—कि यह क्रम कहां से आया? यह सब योग से ही आया अत. सब का कारण योग ही है। इसी लिये अवधूत से

भिक्षुक हुआ भिक्षुक से ब्रह्मचारी, ब्रह्मचारी से गृहस्थ। कैसे? एक एक गुण लक्षण हीन होकर ह्रास के क्रम से जो हुआ है उसको सन्तान ही मानता हू। पहले गौण और मुख्य क्रम कहा गया है, उनमें से किसी का उत्पत्ति क्रम से मुख्य या गौण जानना चाहिये। अथवा जैसे कोई उद्देश्य रूप होने से फल को मुख्य और साधन रूप होने से वृक्ष को गौण कहते हैं। कोई कोई वृक्ष को कारण रूप होने से मुख्य और फल को कार्य रूप होने से गौण कहते हैं। यहां पर अपने २ अभिप्राय के अनुसार दोनों ही ठीक हैं, बहुत से तो गार्हस्थ्यादि को कारण होने से मुख्य और अवधूत को साध्यरूप होने से गौण कहते हैं, ज्ञानीलोग तो साधन होने से गार्हस्थ्यादि को गौण फल होने से अवधूत को ही मुख्य कहते हैं। एक समय महा सिद्ध श्रीगोरक्षनाथशिष्य विचारनाथ श्री भर्तृहरि राजा ने व्याकरण महाभाष्य के ऊपर एक लाख कारिकाएं बनाई इस समाचार को पतञ्जलि भगवान् सुनकर बड़े खुश हुए और ब्रह्माण्ड में विचरते हुए वहा आये जहा अवधूत श्री भर्तृहरि जी बैठे थे। वहां आकर सनातन रीति से नमस्कारादि व्यवहार करने के बाद कहा कि हे स्वामिन् आपके कार्य से मैं बड़ा प्रसन्न हू अतः आप मुझ से कोई वर मागो। तब महासिद्ध ने कहा कि आपके मिलने से ही मैं नितान्त प्रसन्न हू इस से

अधिक कुछ नहीं चाहिये, मैं तो आपके दर्शनों से कृत कृत्य होगया। फिर पतञ्जलि ने कहा कि अवश्य कुछ न कुछ मांगना ही होगा। तब भर्तृहरि ने कहा मैं क्या मागूं यदि मैं ऐश्वर्य चाहूं यह भी अनुचित है क्योंकि मैं साम्राज्य पद को छोड़कर अवधूत होगया हूं, अगर मोक्ष की इच्छा करूं तो भी ठीक नहीं क्योंकि वह तो अवधूत होजाने से हो ही गया है। उसमें कुछ सन्देह नहीं है। अतः मुझे किसी वस्तु के मांगने की आवश्यकता नहीं है। भर्तृहरि के इस प्रकार के कथन से पतञ्जलि जी अपना अपमान समझकर असन्तुष्ट होगये और शापदिया कि तुम्हारी कारिकाएं लोक में प्रसिद्ध नहीं होंगी उस पर अवधूत भर्तृहरि ने भी कहा कि आपके व्याकरण शास्त्र को कलियुग में लोग जीविका के लिये पढेंगे न कि धर्मबुद्धि से और जहां कहीं उसमें सन्देह होगा तो मेरी कारिकाओं को छोड़कर अन्य प्रकार से उस का निश्चय नहीं होगा। इसप्रकार एक ने दूसरे को शाप दे दिया। इस लिये आजकल व्याकरणादि शास्त्र को परमार्थ सिद्धि में न लगा कर अधिकतर लौकिक चतुरता में ही उसका उपयोग समझते हैं।

'मू०— आचार आचार इतिवदन्ति, य आचारोऽस्याचारःसन्कथंनिर्वहन्ति भोजनेयद्घृतंतत्तुचर्मपात्रेणैवा-

याति । गमनेयत्पादत्राणं तदपिचर्मजमेव, स्पृश्यते शयने स्त्रीसंगोभवतितस्यकथैवका । प्रातःकाले यथाविशुध्यर्थंस्नानं क्रियतेतथापिचतुर्षुप्रहरेषुकरादिकस्यगुह्यादिस्पर्शनं स्वभावतएव सर्वदाजायते । किंचसूर्यादिग्रहणे मृत्तिकापात्राणि जलंचाऽशुचित्वेन, त्यज्यन्तेनतुधान्यघृतादिकंवस्तु ।

तदाएवंज्ञायते जलाशयेजलं बहुलभ्यतेकुलालानांगृहेषु मृत्पात्राणिचाल्पव्ययेन लभ्यन्ते, तेनतदशुचित्वं कथं न क्रियते ? घृतधान्यादिनिवारणेतु बहुद्रव्यव्ययोभवेदित्याद्यनेकप्रकारकंकिंकिंलिख्यते । तस्मादाचारवस्तुकल्पितमेव-तद्बुद्धिमन्तोजना न किंचिदपिवस्तुजानन्ति विचारएवमुख्य इतिसिद्धान्तः। तत्रचैवंनज्ञेयमत्रसिद्धान्त आचारोनास्तीति। कथं ? आचारोऽस्माकंमतेनर्तते, सच विचारपूर्वकइति । अन्यथाचारंकुर्वन्ति तादृशस्तुक्रियते एवनास्ति, यथायोग्यस्तुक्रियतेसचापिगौणंमत्वाक्रियते, मुख्यस्तुतस्यविचारइति कृत्वाऽयमपिव्यवहारः सर्वथात्याज्योनास्तीति ।

भा०— लोग आचार आचार इस प्रकार चिल्लाते हैं परन्तु यह आचार अनाचार है ऐसा कहते हैं जो जल में जो घी है

यह भी चाम के पात्र अर्थात् कुप्पों, में ही आता है, चलने के समय जो जूता पहना जाता है वह भी चमड़े का ही है। और सोने के समय जो स्त्री का संग होता है उसका तो कहना ही क्या है, प्रातः काल यद्यपि शुद्धि के लिये स्नान किया जाता है तो भी दिनभर में अशुद्ध अगों का हाथ से स्पर्श होता ही रहता है। और सूर्यग्रहण आदि पर्व के समय मिट्टी के वर्तन घड़े वगैर अशुद्ध समझकर फेंक दिये जाते हैं परन्तु अन्न और घृतादि वस्तुओं को कोई नहीं त्यागता, इससे यह सिद्ध होता है कि तालाव आदि में जल बहुत मिलजाता है और कुम्हार के घर से मिट्टी के वर्तन भी थोडे मूल्य में मिल जाते हैं। इसलिये उनको अपवित्र समझ कर त्याग देते हैं परन्तु घृत धान्यादि के त्यागने से बहुत हानि होती है अतः उनको पवित्र मानलेते हैं इत्यादि अनेक प्रकार है कथा क्या लिखें इस लिये आचार भी कल्पित है इस कारण बुद्धिमान् अर्थात् तत्व वेत्ता लोग, व्यर्थ वस्तु को महत्व नहीं देते उनके मन में विचार ही मुख्य है यही सिद्धान्त है। यहां यह न समझ लेना कि इस सिद्धान्त में आचार नहीं है, हमारे मतमें आचार है किन्तु विचार पूर्वक है अन्धपरम्परा नहीं है। अन्य लोग जैसा आचार करते हैं वैसा हम नहीं करते। हां गौण मानकर

हम भी यथायोग्य कर लेते हैं किन्तु मुख्य तो तत्व विचार ही है ऐसा समझ कर हम आचार व्यवहार को भी बिल्कुल त्याज्य नहीं मानते ।

मू०—आचारविधिः । प्रातरुत्थाय गुरुस्मरणं कृत्वा कालं स्मृत्वा शौचादि क्रिया दन्तधावनं स्नानं च कृत्वा नाथालये गत्वा पूजा कर्तव्या, पूजानन्तरं भोजनं कर्तव्यं सायंकाले च हस्तादिकं प्रक्षाल्य सायंकालोचित रीत्या पूजा कर्तव्या शौचं चैकादशवारंमृत्तिका जलेन हस्त प्रक्षालनं स्नानं चैक कुम्भजलेन वा एष आचार इतरस्त्वत्याचारोनिषेध एव, किमर्थं वृथाकार्यें गौणकार्यें समय नयनं क्रियते तेन च मुख्यकार्याऽनवसरो भवेत्, खेदं च प्राणहरणं भवेत् । प्राणरक्षां विना मनःस्थिरं न भवेत् मनःस्थैर्यं विना कदापिकाले मोक्षो न भवेत् । अतःकारणाद् महासिद्धा योग एव तिष्ठन्ति नत्ववास्तविके भ्रमन्तीति ।

भा०—अब आचार बताया जाता है—प्रातःकाल उठ कर गुरु का स्मरण और समय का विचार करके शौचादि क्रिया करे फिर दंतधावन और स्नान करके शिव मन्दिर में

जाकर पूजन करे उसके बाद भोजन करना चाहिये । सायंकाल हाथ पैर धो कर तत्काल की विधि के अनुसार पूजन करे। दिशा मैदान के बाद ग्यारह बार मिट्टी और जल से हाथ धोवे फिर एक कलश जल से स्नान करे बस यही आचार है, अधिक जो अत्याचार है अतः निषिद्ध है क्योंकि गौण कार्य में व्यर्थ समय बिताने से मुख्य कार्य के लिये समय नहीं मिलेगा, और दुःख से जीवन बीतेगा। प्राणरक्षा के बिना मन स्थिर नहीं होगा, और मन की स्थिरता के बिना मोक्ष कदापि नहीं हो सकता। इस लिये महासिद्ध लोग योग में ही डटे रहते हैं असत्य के भ्रमजाल में नहीं पड़ते।

मू०—यदा प्रारब्धं कर्म मन्यत एव तदा शङ्करस्य मण्डनमिश्रेणजाते विवादे शङ्करेण यत्नः किमर्थः कृतः । प्रारब्धकर्मणा किमपि भविष्यति तत्तुविनापि यत्नेन भविष्यतीति (पुन र्न भविष्यति तदापि किम् ? येतु प्रारब्धभोगोऽवश्य इति सिद्धान्तिनस्तेषां न भयनेनापि कियत्प्रारब्धं तत्तत्सिद्धान्तः श्रद्धयैव निश्चिततयाग्रहणीयः । किमर्थंयत्ने प्रयासः। परन्तुयत्रस्थले प्रारब्धस्याऽङ्गीकाराद्भूतएव परा-

जयो भवेत्तदा योगशक्तिमेवगृहीत्वा राज्ञःशरीरे जीवप्रवेश-करणादिकृतामित्यादि बहुधाप्रसिद्धमेव, यतो योगाश्रयेणैव विजयो जातः। पुनः न्यासिनांमतेश्रृङ्गारोवार्जितः, इयत्तत् सत्यंकथंजातं शरीरमन्यस्य परन्तु जीवस्तु स्वयमेव ततोऽपि योगिनां सिद्धान्तएव निश्चलो भवतीति।

भा०—यदि प्रारब्ध कर्म ही माना जाय तो शङ्कराचार्य को मण्डनमिश्र के साथ विवाद में उद्योग क्यों करना पड़ा। बिना उद्योग के प्रारब्ध कर्म से ही सब कुछ हो जाना। नहीं होता तब भी क्या? जो कोई प्रारब्ध का भोग आवश्यक है ऐसा सिद्धान्त मानते हैं उनके मत में होने से हो क्या, जो जो प्रारब्ध है वह वह होता है यह सिद्धान्त अवश्य श्रद्धापूर्वक ग्रहण करने लायक है। इसमें उद्योग की क्या आवश्यकता है परन्तु जहां पराजय भी होता है वह भी प्रारब्ध वश से ही हुआ है। तब तो योग शक्ति का आश्रय लेकर राजा के शरीर में प्रवेश करना इत्यादि प्रसिद्ध कार्यों में योगबल से अर्थात् उद्योग से ही विजय हुई है यह कहना सार्थक नहीं होगा। अतः प्रारब्ध के चक्र में पड़कर योग साधन को न छोड़े।

संन्यासियों के मत में शृङ्गार वर्जित है यह ठीक है, तो शृङ्गार परिचय के लिये शङ्कर ने शरीरान्तरका ग्रहण क्यों किया। यदि कोई कहे कि शृङ्गार का परिचय तो दूसरे शरीर से किया था न कि संन्यासी शरीर से इसका उत्तर है—कि आत्मा तो दोनों शरीरों में एक ही है, इससे भी योगियों का ही सिद्धान्त स्पष्ट हो रहा है जो सिद्ध सिद्धान्त पद्धति में वर्णित है।

मू०—क्वचिद्भोगी क्वचित्यागी इत्यादि।

श्रीनाथ सूत्रे—आचारे ब्रह्म विचारे योगीति।

ब्राह्मण आगत्याचारं प्रवर्तितवान्।

योगी चागत्य विचारं प्रवर्तितवान्। यावद् ब्राह्मण आचाराद् विचारं प्राप्तस्तावद् योगी ब्रह्म प्राप्त इति। अन्ये सांप्रदायिका आचार्या अधिकारिभेदेन सर्वस्यापि समाधानं कुर्वन्ति तत्तु महासिद्धानांमतेसर्वथाबाधकमेव कथंअधिकारिभेदेनसर्वस्यधर्म इति कथमन्त्यजानामपि तु तेषां धर्म एवेति। तथा चाऽनर्थ एव स्यात्, यतो धर्मस्तुमुमुक्षुपुरुषाणामेव, अन्येषां तु सर्वेषामधर्म एव। मुमुक्षवश्चयोगाधिकारिण एव। योगभोगौ द्वौ पदार्थौ, तत्र मुक्तये योगाधिकारी

अन्येवणाश्रमिवैष्णवबौद्धा इत्यादयः सर्वे व्यवहारिण एवेति। कुत्रचित्स्थले केपिजनाः स्थितास्तेषु केनचित्पापस्य वार्ता उक्ता सा वार्ता द्वितीयेनाभिनन्दिता तदातत्पापमुक्तं कृतं तु प्रथमेनैव परन्त्वभिनन्दकत्वात् फलभागी तु द्वितीयो जात एव किंकिं वा नेति। तश्चितरशास्त्रेपि 'उपदेष्टानुमन्ता च साक्षात्कर्ताभिनन्दिता चत्वारः फलभागिन' इति लिखितमेव। तथाचैक उपदेष्टाप्यपरः कर्ता एवं रीत्याचाधिकारि भेदेन समाधानमसमीचीनामिति प्रतिभाति॥

भा०—श्रीनाथ सूत्र में भी कहा है—आचार और ब्रह्मविचार दोनों से योगी है। ब्राह्मण ने आकर आचार और योगी ने आकर विचार को प्रचलित किया ब्राह्मण ने जब तक आचार से विचार को प्राप्त किया तब तक योगी ने ब्रह्म को प्राप्त कर लिया। अन्य मन्त्र देने वाले आचार्य अधिकारी भेद से सबका समाधान करते हैं यह महासिद्धों के मत सर्वथा बाधक है, कैसे? यदि अधिकारी भेद से कहो कि सबका धर्म है यह कैसे होगा। क्योंकि अन्त्यज के लिए नहीं माना जाता है। यदि उसका भी यह धर्म है ऐसा कहो तो अनर्थ ही हो जायगा, अतः मुमुक्षु का ही धर्म है औरों के लिए अधर्म है मुमुक्षु तो योग के अधिकारी

होते हैं। योग और भोग दो पदार्थ हैं, उनमें मुक्ति के चाहने वाले योगाधिकारी हैं और सब व्यवहारी हैं। किसी जगह दो आदमी बैठे थे उनमें किसी ने पाप की बात कही दूसरे ने उसका अनुमोदन किया, यद्यपि वह पाप पहले ने किया है किन्तु अनुमोदन करने से दूसरा भी उसका फलभागी हो ही जाता है। शास्त्र में भी ऐसा ही कहा है—उपदेश देनेवाला, अनुमोदन करने वाला, खुद करने वाला, और प्रशंसा करने वाला ये चारों ही शुभाशुभ फल के भागी होते हैं, यह लिखा ही है। तब एक तो उपदेश देने वाला और दूसरा करनेवाला है इस रीति से अधिकारी भेद करके समाधान करना ठीक नहीं मालूम पड़ता।

मू०—कृतयुगे केवलं प्रणवगायत्रीयोगानुसारिसाधनेन जीवो मुक्तिप्राप्तः, पश्चादन्य युगे सर्वेऽपि यद्येतद्धर्मं वहेयुस्तदामुक्ता एव स्युस्तर्हि कथं संसार प्रवृत्तिर्भवेदिति नाथेच्छया ब्रह्मणा वेदादिशास्त्राणि प्रकटितानि। तेन स्वस्वरूपात्पराङ्वृत्तिः कृता येन च प्रणवयोगेन स्वरूपानुभवः प्रकटितः सोऽप्रकटः कृतः। अध्यारोपापवादादिप्रकारेण यद्मायिकं वस्तु तन्निमित्ताकल्पना बहुविधानेन कृता मिथ्यैवारम्भो मिथ्यैवाध्यारो

मतात्पर्यमिदं कर्म ईदृशंवर्तते यत्तद्वज्र मिति। तदात्तत्करणं विना किंभवेत्। केवलज्ञानेनकथं सिद्धिः। ज्ञानमपिकर्म वर्तते। अन्तः करणस्यधर्मत्वात् तत्रापिकरणं वर्ततएवेति

भा० टी०—नाथ सूत्र में लिखा है—ब्राह्मण में वेद प्रवृत्त हुए और सन्यासी तीर्थों, में निर्वाण पद को कोई नहीं प्राप्त कर सका। कैसे ? सूक्ष्म ब्रह्म की प्राप्ति के लिये एकाक्षर ओंकार सूक्ष्म वेद ही प्रकट किया, सूक्ष्म ही अक्षर द्वायरूप गायत्री की गई। साकार होता हुआ भी आकार का अभिमान न होने से निराकार के तुल्य नाथ रूप प्रकट हुआ। उस नाथ के द्वारा सूक्ष्म योगाभ्यास रूप योग का उपदेश हुआ उसका धारण करने वाला सूक्ष्म अवधूत ही माना गया, उसके बाद माया सहित स्थूल ब्रह्म की प्राप्ति के लिये एकाक्षर ओंकार रूप सूक्ष्म वेद से अनेकाक्षर स्थूल वेद प्रकट किया। अक्षर द्वय गायत्री से चौबीस अक्षरों की स्थूल गायत्री की योग से स्मृति पुराण आदि अनेक शास्त्र रचे गये, इन सबका धारण करने वाले ब्राह्मण परम हंस और अन्य लोगों की रचना हुई।

नाथ सूत्र में कहा है कि गुरु के वचन का एक बार उल्लंघन

होने से उसका युग युग में उल्लंघन होता जाता है इस कारण गुरु के वचन को किसी काल में नहीं भूलना चाहिये। स्वय अनुष्ठान न करने वाला पुरुष सभा में जाकर किसी देव अथवा किसी धर्म का पक्ष लेता है और स्वार्थ सिद्ध हो जाने पर छोड देता है वह किस तरह मोक्षका भागी बन सकता है कदापि नहीं ऐसे शिष्य को सद्गुरु भी किस प्रकार अङ्गीकार कर सकता है यदि करे भी तो उसका इष्ट देव भी अप्रसन्न हो जाता है। कोई कहता है मैं स्मार्त हूँ, वैष्णव हूँ जो कुछ भी हूँ, जब जब मैं कहता हूं स्मार्त्त कि तुम हो तब उसका यह तात्पर्य हुआ कि स्मृतियों में कहा हुआ सारा आचार तुम में है। तब वह उत्तर देता है कि सब आचार तो मुझ में नहीं है इस पर मेरा कहना है कि मैं स्मार्त्त हूँ यह तेरा कथन मात्र रहा न कि आचरण, केवल कथन से पाप नहीं हट सकता इसी लिये उस धर्माचरण से पाप नहीं होता है यह कहा है न कि कथन से और मिथ्या दोष भी लगेगा। तब वह हार कर कहता है कि मैं स्मार्त्त नहीं उस पर मैं कहता हूं कि स्मार्त्त कुल में उत्पन्न होकर स्मार्त्त धर्मी न हो तो धर्म में विरोध आजायेगा, इस पर वह उत्तर है। कि जैसा प्रारब्ध है वैसा ही मैं हूँ। यदि मैं कहूँ कि प्रारब्ध में ही श्रद्धा को स्थिर करे कैसे-जैसा प्राणियों का प्रारब्ध है वैसा

होता ही है किन्तु कहने से धर्म नहीं होता किसी का प्रारब्ध है कि यह कूपमें गिरेगा वह अनजान में चाहे कूप में गिर पड़े किन्तु जब जान लेता है तो अवश्य उसके रोकने का उपाय करेगा। आखिर होता है वही जैसा कहा है कि जैसा प्रारब्ध है वैसा है। फिर वह कहता है कि जो कुछ गुरु की आज्ञा होती है वही मैं करता हूं। फिर मैं कहता हूं कि गुरु जी तो उत्तमाधिकारी हैं तुम तो मन्दाधिकारी हो। तुम को गुरु वाक्य में विश्वास रखना चाहिये, इस पर उसने कुछ नहीं कहा इत्यादि नाना प्रकार से बहुत बात चीत करने पर भी वर्ण आश्रम–स्त्री और पुरुष का कोई भी चिन्ह स्थिर नहीं होता है अतः अव्यक्त लिङ्ग होने से अत्याश्रमी ही कहलाता है इस लिये असत्य वस्तु की कल्पना क्यों की जाय, महा सत्य स्वरूप अवधूत पने का ही ग्रहण करना चाहिये। जब स्वय वर्ण नहीं है तो स्मार्त्त हो यह भी क्यों कहा जाय तब यह कहता है कि कोई एक आध स्मार्त धर्मता मुझ में है हो उस पर मेरा कथन है कि एक स्मार्त्त धर्म है तो दूसरा किस का धर्म है। उस पर उत्तर देता है कि जो मेरे मन के अनुकूल है, इस पर मैं कहता हूं कि जो तेरे मन के अनुकूल है वह अधर्म नहीं किन्तु वह भी किसी का धर्म ही होगा, तब तो तुम में धर्म की खिचड़ी हुई। तब लाचार होकर कहना पड़ता है कि मैं स्मार्त नहीं हूं फिर मैं कहता हूँ कि यदि स्मार्त कुल में उत्पन्न होने पर

भी स्मार्त धर्म न रहा तो धर्म से भ्रष्ट हो गया। उस के कहने का तात्पर्य यह है कि कर्म वज्र के समान अभेद्य है, वह बिना भोग के नष्ट नहीं होता योगादि के उद्योग बिना नहीं हट सकता, केवल ज्ञान से भी सिद्धि कैसे मिल सकती है। वह भी नां अन्तकरण का धर्म होने से कर्म रूप ही है, अतः कर्मानुष्ठान से ही सिद्धियां होती हैं।

मू०—द्वैतवादिनः कथयन्ति—अस्माभिः किं प्रेरकंप्रतिकथ्यते द्वैतमिति नास्तीति। सत्यद्वैतएव परन्तुद्वैतं शरीरंयतः शरीर शरिरी भावेन सोपि द्वैतएवास्तीति कथ्यते। अद्वैत वादिनश्च किंकथयन्ति? अद्वैतमेवास्ति, यच्छरीरंद्वैतंदृश्यते तत्तुमिथ्यैवेति। महासिद्धाः कथयन्ति—चैतन्यंजडंच शरीरादि उभयमपि मिलित्वाएकमेवपूर्णंवस्तु यतःपरमाद्वैतं यत्तु किमपिनाथतेजस्तच्चक्रवर्ति सर्वोपरिवर्तते। केचित्कथयन्ति ज्ञानिनोज्ञानं निरपेक्षमेव कर्मणोऽपेक्षां पूर्वकालेपि न करोतितत्तुनास्त्येव। भवदीयमतानि सर्वाण्यपि शास्त्राण्यूर्ध्ववाहुतयैवंवदन्ति कर्मणाचित्तशुद्धिः स्यादनन्तरं तस्यागस्त्यागाच्चज्ञानप्राप्तिर्ज्ञानान्मुक्तिरियं वार्ताघण्टाघोषपद्घियते इति।

चकार। सर्वेब्रह्मविष्णुरुद्रादयोदेवाः शेषादयोनागामन्वादयोनरा अन्येचपशुपक्षिणोयावज्जीवं सर्वेस्त्रीजिता, एकोनाथ एवमायाजेता। तदुक्तं महासिद्ध श्रीविचारनाथेनभर्तृहरिणा

शम्भु स्वयम्भुहरयो हरिणेक्षणानां,
येनाऽक्रियन्तसततंगृहकर्मदासाः।
वाचामगोचर चरित्रविचित्रिताय
तस्मैनमो भगवते मकरध्वजाय ॥

अतः कारणाद् यदागार्हस्थ्यं कृतं तदास्त्रीपोषणमवश्यमेवकर्तव्यं यदाचविरागोन्स्यात्तदा त्यक्त्वधृतेनव भाव्यमिति।

भा०—येदगृहस्थ धर्मका वर्णन करते हैं, उसकी रीति में कहना है—स्त्री के बिना गृहस्थ धर्म चल ही नहीं सकता क्योंकि गार्हस्थ्य का मूल ही स्त्री है। और भी कहते हैं। हर महीने तीन रात ऋतु धर्म होता है, फिर शुद्ध दिनों में सन्तान के लिये ऋतुदान किया जाता है सुख के लिये कदापि विषय भोग नहीं करना चाहिये यह भी वेदों का उपदेश है, यदि ऐसा है तो पहले घर में निवास करना फिर उसमें भोजनादि करना, उससे शरीर का पुष्ट होना, उसके

बाद अवश्य कामोद्दीपन होता है तब यह शरीर कैसे अपने वश में रह सकता है। उसमें भी स्त्रियों का चित्त तो काम के भोगे बिना क्षणभर भी शान्त नहीं हो सकता। सो कैसे? स्त्रियों को तो काम ही इष्ट होता है उसकी पूर्ति न होने पर उनका चित्त व्यभिचार की तरफ दौडता है उस पाप से सारा कुल नष्ट होजाता है और लोक में हंसी होती है। इसलिये महासिद्ध लोग गार्हस्थ्य नहीं करते। सिद्धों का इष्ट देव नाथ है उन्होंने भी स्त्री का ग्रहण नहीं किया है। ब्रह्मा विष्णु रुद्र आदि समस्त देवता शेष आदि नाग मनु आदि मनुष्य और पशु पक्षी इत्यादि समस्त प्राणी अपने जीवनकाल में स्त्री के वश में रहे हैं, सिर्फ एक नाथ जी ने ही माया को जीता है। इसी पर महासिद्ध श्रीविचारनाथ भर्तृहरि ने भी कहा है— जिसने शिव ब्रह्मा और विष्णु सरीखे देवों को भी स्त्रियों का दास बनादिया अकथनीय अद्भुत चरित्रवाले उस काम देव को नमस्कार है इसलिये जब गृहस्थ को धारण किया है तो स्त्री का पालन पोषण अवश्य करना चाहिये, यदि वैराग्य की इच्छा है तो अवधूत होजाना चाहिये।

मू०— परमहंसास्तु कामंनिषेधयन्ति स निषेधो न भवत्येवम्। कथम्? तदुक्तं श्रीमीननाथेन—

चकार। सर्वेब्रह्मविष्णुरुद्रादयोदेवाः शेषादयोनागामन्वादयोनरा अन्येचपशुपक्षियोयावज्जीवं मर्वेस्त्रीजिता, एकोनाथ एवमायाजेता। तदुक्तं महासिद्ध श्रीविचारनाथेनभर्तृहरिणा

शम्भु स्वयम्भुहरयो हरिणेक्षणानां,
येनाऽक्रियन्तसततंगृहकर्मदासाः।
वाचामगोचरचरित्रविचित्रिताय
तस्मैनमो भगवते मकरध्वजाय॥

अतः कारणाद् यदागार्हस्थ्यं कृतं तदाग्न्युपगमनवश्यमेवकर्त्तव्यं यदाचविरागेच्छातदा स्वयंधृतेनत्र भाव्यमिति।

भा०—वेद गृहस्थ धर्म का वर्णन करते हैं, उनकी रीति में कहता हूँ—स्त्री के बिना गृहस्थ धर्म चल ही नहीं सकता क्यों कि गार्हस्थ्य का मूल ही स्त्री है। और भी कहते हैं। हर महीने तीन रात ऋतु धर्म होता है, फिर शुद्ध दिनों में सन्तान के लिये अनुदान दिया जाता है सुख के लिये कदापि विषय भोग नहीं करना चाहिये यह भी वेदों का उपदेश है, यदि ऐसा है तो पहले घर में निवास करना फिर उसमें भोजनादि करना, उससे शरीर का पुष्ट होना, उसके

बाद अवश्य कामोद्दीपन होता है तब यह शरीर कैसे अपने वश में रह सकता है। उसमें भी स्त्रियों का चित्त तो काम के भोगे बिना क्षणभर भी शान्त नहीं हो सकता। सो कैसे? स्त्रियों को तो काम ही इष्ट होता है उसकी पूर्ति न होने पर उनका चित्त व्यभिचार की तरफ दौडता है उस पाप से सारा कुल नष्ट होजाता है और लोक में हंसी होती है। इसलिये महासिद्ध लोग गार्हस्थ्य नही करते। सिद्धों का इष्ट देव नाथ है उन्होंने भी स्त्री का ग्रहण नहीं किया है। ब्रह्मा विष्णु रुद्र आदि समस्त देवता शेष आदि नाग मनु आदि मनुष्य और पशु पक्षी इत्यादि समस्त प्राणी अपने जीवनकाल में स्त्री के वश में रहे हैं, सिर्फ एक नाथ जी ने ही माया को जीता है। इसी पर महासिद्ध श्रीविचारनाथ भर्तृहरि ने भी कहा है— जिसने शिव ब्रह्मा और विष्णु सरीखे देवों को भी स्त्रियों का दास बनादिया अकथनीय अद्भुत चरित्रवाले उस काम देव को नमस्कार है इसलिये जब गृहस्थ को धारण किया है तो स्त्री का पालन पोषण अवश्य करना चाहिये, यदि वैराग्य की इच्छा है तो अवधूत होजाना चाहिये।

मू०— परमहंसास्तु कामंनिषेधयन्ति स निषेधो न भवत्येवम्। कथम्? तदुक्तं श्रीमीननाथेन—

हरकोपानलेनैव भस्मीभूतः कृतः स्मरः ।
अर्धगौरी शरीरोहि तेन तस्मैनमोस्तुते ॥

अतोमहासिद्धा विपयरीत्या तु त्यागमेव कुर्वन्ति । पुनः प्रकृतिरपि मत्सैवनर्तते' शिवशक्त्योरस्माकंमतेऐक्यमेववर्तते तदुक्तं—

शिवस्याभ्यन्तरेशक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः ।
अन्तरंनैवजानीयाच्चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ॥
प्रसरंभासयेच्छक्तिः संकोचंभासयेच्छिवः ।
तयोर्योगस्यकर्तायःसभवेत्सिद्धयोगिराट् ॥

एवंत ऐक्यंज्ञात्वा काममपि भजन्त्येव। अतएवोक्तं—

क्वचिद् भोगी क्वचित्त्यागीत्यादि ।
त्यागिनामपेक्षया त्यागएवएतादृशः ॥

एतैःक्रियतेयादृशस्त्यागिनामपिन भवेत् । कथम् ? कर्मराहित्योपरितुत्यागोनास्तितदेवं प्रारब्धमपित्यज्यते । शून्ये लग्नैः प्रारब्धमपित्यज्यते । यदाचभोगंकुर्वन्ति—

तदा संसारिणोपि यादृशंनकुर्वन्ति तादृशमेतेकुर्वन्ति कथम् ? संसारिणः प्रकृतिलग्नाएवयोगिनस्तुप्रकृतिब्रह्मो-भये पूर्णलग्ना अतस्तेषांरीतिर्विलक्षणैव । भोगिभिः सुभोग-एवैकःक्रियतेतेषां त्यागो न भवति । भोगिनान्त्वेको भोग एव भवति नतुते त्यागे समर्थाः । पुनस्त्यागिनोयेभवन्ति तैःप्रथममेव त्याग कृतः । त्यागिनइति एषांनामतः पुनर्भोगः कथंक्रियतेकरणेचसर्वमेवनष्टंस्यादिति । अथचाऽवधूतास्त्या-गिनामपिलोके त्यागस्याधिक्यं दृष्टिगोचरं कृत्वापुनः स्वे-च्छया भोगमपिकदाचित्कुर्वन्ति तथापि तेषांभोगोबाधको नभवेत् । भोगिनोभोगमेवकुर्वन्त्येवं त्यागिनस्त्यागमेवेत्यव-धूतानान्तुत्यागभोगयोर्द्वयोरपिपदार्थयो सामर्थ्यम् । त्यागं कयारीत्या कुर्वन्ति ? युगपर्यन्तमप्याहारादिकंनगृह्णन्त्येवं त्यागिनां,नभवति । कथम् ? ते देहेनविजिताएतेतुदेहा-धीनाः सन्तियत इतिदिक् ।

भा०—परमहंस लोग तो काम का निषेध करते हैं परन्तु इस तरह केवल कथन से निषेध नहीं होता। कैसे ? इस पर श्रीमीननाथ जी ने कहा है—कि शिव जी की क्रोधाग्नि से

कामदेव भस्म हो गया, तथापि स्वयं अर्धगौरी शरीर हैं अर्थात् पार्वती हर समय उनके वाम भाग में विराजमान है। ऐसे शिव जी को नमस्कार है। इस लिए महासिद्ध विषय के वर्णन द्वारा भी त्याग ही कहते हैं। फिर प्रकृति भी तो ब्रह्म ही है क्योंकि मेरे मत में शिव और शक्ति का अभेद ही है। इसी विषय में कहा है कि शिव के भीतर शक्ति और शक्ति के भीतर शिव है अर्थात् दोनों आपस में मिले हुए हैं एक के बिना दूसरा नहीं रह सकता। चांद और चांदनी की तरह उनका भेद नहीं जाना जा सकता इन श्लोकों की हिन्दी पहले ही हो चुकी है। इस प्रकार अभेद जान कर महासिद्ध काम का उपभोग भी कर सकते हैं इसी लिये कहा है—कहीं भोगी और कहीं त्यागी इत्यादि। त्याग भी जैसा महासिद्ध करते हैं वैसा त्यागी कहलाने वाले अन्य लोग नहीं कर सकते। कैसे, अन्य लोग संचित और—करिष्यमाण कर्मों के त्याग से अधिक नहीं कर सकते, महासिद्ध तो प्रारब्ध का भी परित्याग कर देते हैं। शून्य में लीन होने से प्रारब्ध भी छूट जाता है। जब भोग करते हैं तो ऐसा करते हैं जिसको संसारी लोग कर ही नहीं सकते। कैसे अन्य लोग तो प्रकृति में फंसे रहते हैं, और ये तो दोनों को मिलाकर पूर्ण में ही लीन रहते

हैं, इसलिये इनकी रीति निराली है। भोगी लोग सुन्दर २ भोग ही भोगते हैं उनका त्याग नहीं कर सकते। भोगियों को तो भोग ही मुख्य है वे उसके त्याग में समर्थ नहीं हैं, जो त्यागी होते हैं वे तो पहले ही त्याग कर देते हैं। जिनका नाम त्यागी है वे भोग कैसे कर सकते हैं यदि वे भोगी हो जायँ तो अपने स्वरूप से भ्रष्ट हो जायँगे। अवधूत लोक में त्यागियों के त्याग की अधिकता को देखकर कभी अपनी इच्छा से भोग भी कर लेते हैं, तो भी उनका भोग उनके स्वरूप का बाधक नहीं होता है। भोगी भोग ही करते हैं और त्यागी त्याग ही। अवधूत को सामर्थ्य तो त्याग और भोग दोनों में ही है। त्याग किस रीति से करते हैं? देखो युग पर्यन्त भी भोजनादि कुछ नहीं करते हैं, त्यागी लोग ऐसा नहीं करते कैसे अन्य लोग तो देह से जिते हुए हैं और इन्होंने तो देह को अपने अधीन कर रक्खा है।

मू०—अनयारीत्यापरमार्थस्तु प्रथममेवनष्टः। कथम्? यदा स्त्रीगृहीता। पश्चादयंलोकोनष्टः। कदा? यदास्त्रीग्रहणेनगार्हस्थ्यंजातंतत्र च गृहस्थरीत्या प्रवृत्तोन। एवं च द्वावपिलोकौनष्टौ भोगोपिनास्ति मुक्तिरपिनास्ति चंचलेन मनसा सर्वमपिनष्टीकृतम्। कथम्? गार्हस्थ्यंत्यक्त्वा आश्रमान्तरंगृह्णातितत्रापि पुनः श्रमेण-

कातरोभूत्वादुःखेनसीदन् प्रारब्धस्याङ्गीकाराद् यद् यद्यथा प्रारब्धं-तत्तत् सर्वमपिकर्म करोति। तदा कर्मणःसाङ्कुरत्वादेवकदापि-काले मुक्तिभाग्नभवत्येव, यथा ग्रामेगर्दभा वनेवाशूकरास्तथाविष-यवशा वारंवारंजन्मादिगृह्णन्ति। पुनश्चंचलेनमनसामुक्तोहस्तीग्रामा-द्वनंगच्छति किंचित्सुखमेव भविष्यतीति वनाच्छृगालो ग्राम मागच्छतिमृतकाऽस्थ्यादि भक्षणार्थमितिनिर्देश इति। यथाराजा, राजस्त्रीगणाश्चनेके भवन्ति, स्वयंतु एकएवसतेषांसमस्तानांकाम तृप्तिपूर्णांकथंकुर्यात्? स्वचित्त प्रसादेनैवयथेच्छं क्रीडतिनाम। यतस्तेषां तु महत्तरंदुःखमेवस्यात्। तेनदुःखजनिताऽपध्यानेनरा-ज्ञोऽकल्याणमेवभवेत्। अतएवोक्तं राज्यान्तेनरकइति। तथैवै-तादृशएवाचार्यएकएव, शिष्यास्तुबहवःकृताः, तेषुकस्यकस्यपापं हरेत्। पापहरणाऽसमर्थोबहूनां शिष्याणां पापेनाचार्योऽपिदुर्गति मेव प्राप्नुयात्। तदुक्तं सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ श्रीगोरक्षनाथेनव्याचार्य-पदुदीरिता इत्यादि।

तेतस्यतोर्वचिता इत्यन्तम्।

यदागस्यतो वंचितास्तदा मुख्यनरकभाजएवेत्यर्थादागतम्।
यतोहेतोर्बहुशिष्यकरणंसिद्धानांमतेवर्जितम्॥

भा०—इस रीति से परमार्थ तो पहले ही नष्ट हो चुका, कैसे? जब स्त्री का ग्रहण कर लिया जाता है तो यह लोक बिगड़ जाता है। जब स्त्री का ग्रहण करके गृहस्थी बना, और उस में गृहस्थ रीति से नहीं चलेगा तो दोनों ही लोक नष्ट होजाते हैं, भोग भी नही हुआ, और मुक्ति भी नहीं हुई मन चचल होने से सब भ्रष्ट होजाता है। कैसे गार्हस्थ्य छोड़ कर दूसरे आश्रम का ग्रहण किया, वहां भी श्रम से थक कर दु:खी होते हुए प्रारब्ध को स्वीकार किया, फिर जैसा प्रारब्ध होता वह वैसा काम करता है। जब कर्म के चक्र में पडने से कदापि मुक्ति नही होती। जैसे गांव मे गधे वन में सूअर विषयासक्त रहते हैं वैसे ही विषयासक्त होकर बार बार जन्म और मरण के चक्र में घूमते रहते हैं। मन की चंचलता से ही बंधन से छूटा हुआ हाथी मुझे सुख होगा इस लिये ग्राम से वन को जाता है, और गीदड़ मुर्दे की हड्डी खाने के लिये वन से गांव को आता है। जैसे राजा एक है और उसकी स्त्रियां अनेक हैं, अकेला वह राजा उन अनेक स्त्रियों की कामचेष्टा को कैसे पूर्ण कर सकता है, हां अपना चित्त खुश करने के लिये यथेच्छ क्रीडा करता है। किन्तु उन स्त्रियों को तो महा कष्ट होता है। उस दुःखजनित अपराध से राजा का अमंगल ही होगा। इस

कातरोभूत्वादुःखेनसीदन् प्रारब्धस्याङ्गीकाराद् यद् यद्यथा प्रारब्धं-तत्तत् सर्वमपिकर्म करोति। तदाकर्मणःसाङ्कुरत्वादेवकदापि-काले मुक्तिभाग्नभवत्येव, यथा ग्रामेगर्दभा वनेवाशूकरास्तथाविषयवशा वारंवारंजन्मादिगृह्णान्ति। पुनश्चंचलेनमनसामुक्तोहस्तीग्रामाद्वनंगच्छति किंचित्सुखमेव भविष्यतीति वनाच्छृगालो ग्राममागच्छतिमृतकाऽस्थ्यादि भक्षणार्थमितिनिर्देश इति। यथाराजा-राजस्त्रीगणाअनेके भवन्ति, स्वयंतु एकएवसतेषांसमस्तानांकामवृत्तिपूर्णांकथंकुर्यात्? स्वचित्त प्रसादेनैवयथेच्छं क्रीडतिनाम। यतस्तेषां तु महत्तरंदुःखमेवस्यात्। तेनदुःखजनिताऽपध्यानेनराज्ञोऽकल्याणमेवभवेत्। अतएवोक्तं राज्यान्तेनरकइति। तथैवैताटशएवाचार्यएकएव, शिष्यास्तुबहवःकृताः, तेषुकस्यकस्यपापंहरेत्। पापहरणाऽसमर्थोबहूनां शिष्याणां पापेनाचार्योऽपिदुर्गतिमेव प्राप्नुयात्। तदुक्तं सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ श्रीगोरक्षनाथेनआचार्याबहुदीक्षिता इत्यादि।

तेतत्त्वततोवंचिता इत्यन्तम्।

यदातत्त्वतो वंचितास्तदा मुख्यनरकभाजएवेत्यर्थादागतः यतोहेतोर्बहुशिष्यकरणंसिद्धानांमतेवर्जितम्॥

भा०—इस रीति से परमार्थ तो पहले ही नष्ट हो चुका, कैसे? जब स्त्री का ग्रहण कर लिया जाता है तो यह लोक बिगड़ जाता है। जब स्त्री का ग्रहण करके गृहस्थी बना, और उस में गृहस्थ रीति से नहीं चलेगा तो दोनों ही लोक नष्ट होजाते हैं, भोग भी नहीं हुआ, और मुक्ति भी नहीं हुई मन चचल होने से सब भ्रष्ट होजाता है। कैसे गार्हस्थ्य छोड़ कर दूसरे आश्रम का ग्रहण किया, वहां भी श्रम से थक कर दुःखी होते हुए प्रारब्ध को स्वीकार किया, फिर जैसा प्रारब्ध होता वह वैसा प्राप्त करता है। जब कर्म के चक्र में पडने से कदापि मुक्ति नही होती। जैसे गांव मे गधे वन में सूअर विषयासक्त रहते हैं वैसे ही विषयासक्त होकर बार बार जन्म और मरण के चक्र में घूमते रहते हैं। मन की चंचलता से ही बंधन से छूटा हुआ हाथी मुझे सुख होगा इस लिये ग्राम से वन को जाता है, और गीदड़ मुर्दे की हड्डी खाने के लिये वन से गाव को आता है। जैसे राजा एक है और उसकी स्त्रियां अनेक हैं, अकेला वह राजा उन अनेक स्त्रियों की कामचेष्टा को कैसे पूर्ण कर सकता है, हां अपना चित्त खुश करने के लिये यथेच्छ क्रीडा करता है। किन्तु उन स्त्रियों को तो महा कष्ट होता है। उस दुःखजनित अपराध से राजा का अमंगल ही होगा। इस

लिए ठीक कहा है कि राज्य के अन्त में नरक में वास होता है। वैसे ही आचार्य भी अकेला ही है और शिष्य बहुत कर लिए हैं उन में किस किस के पाप को हटायेगा। उन शिष्यों के पाप न हटाने पर उसी पाप से गुरु भी दुर्गति को प्राप्त होता है। सिद्ध सिद्धान्तपद्धति में कहा भी है नाथ जो ने जो आचार्य बहुत से चेले बनाते हैं वह ठीक नहीं, और वे तत्त्व से वंचित रहते हैं इत्यादि। जब तत्त्व से वंचित रहते हैं तो अवश्य घोर नरक के भागी बनते हैं यह अर्थात् से सिद्ध होता है।

इसलिए बहुत शिष्य बनाना सिद्धों के मत में वर्जित है।

मू०— षट्पदार्थायत्रभवन्ति स भगवान्। के ते षट् पदार्थाइमी— समग्रैश्वर्यम् १ धर्मः २ यशः ३ श्रीः ४ ज्ञानम् ५ वैराग्यम् ६ इत्येषांमध्ये एकोऽपिरुद्रविष्णवादिना भगवत्पदवाच्येपुन। प्रथममंतु समग्रैश्वर्यं योगरूपं तदेवनास्ति कथम्? सर्वेकामवशाः स्त्रीसङ्गिनो यान् योगिनोलोकाः कथयन्ति तेषांस्त्री संगः, एतत्तुहास्यमेव। पुनर्धर्मः—यत्र यत्र स्थले छलः क्रियतेतदाधर्मभावः कथम्? छलस्तुनारदस्य वानरमुखकरणादिनाविष्णोः प्रसिद्ध

एवेति। पुनर्यशः—तदपिकथम्? रावणवधे लोककल्याणे
यशोजातं तथैवस्त्रीहरणेऽप यशोपिजातं कथं रावणस्य
पामरस्यवधेनकिं, तस्यवालिवानरेण बन्धनं कृतं सहस्र
बाहुनार्जुनेन च बन्धनं कृतं पुनारामस्तु भगवानिति कथ्यते।
जगत्कर्ताचकथ्यते। तस्यस्त्रीहरणमेतत्तुमहदपयशः। पुनः
श्रीः—यस्यपरमार्थे मुक्तिर्नास्ति ऐहिके च यशोनास्ति तस्य
श्रीः कथम्। पुनर्ज्ञानम्—यदाज्ञानस्वरूपास्ते तदाऽज्ञानकार्ये
संसारकार्ये किमर्थं प्रवृत्तास्ततो ज्ञानं कथम्। पुनर्वैराग्यम्—
तत्तु सर्वथैवैतत्काल्पितेष्वीश्वरेपुनैवनैवेति। कथं पुराणेएतेषां
लौकिकया त्वेवमायास्यति तत्तुवक्तुमशक्यम्। दास्यां वेश्या
यांमासक्ता इत्यादि किंकिंलिख्यते। तदावैराग्यंकुत्र? अतः
कारणात् षडेवपदार्थानाथे तत एव तिष्ठन्ति। समग्रैश्वर्यन्तु
योगः, सतुसहजसिद्धएवपुनः। धर्मोऽपि स एव योमुक्ति
रूपः, एतद्व्यतिरिक्तः स्मृत्यादि शास्त्राणि धर्मं वर्णयन्ति
सत्त्वधर्मएव, पुनर्यशोऽपि यस्यैव योमुक्तरूपस्तस्यैव बन्धरू-
पस्य कथमयशः पुनः श्रीः शोभापि यस्यैव स मुक्तो बंध

लिए ठीक कहा है कि राज्य के अन्त में नरक में घास होता है। वैसे ही आचार्य भी अकेला ही है और शिष्य बहुत कर लिए हैं उन में किस किस के पाप को हटायेगा। उन शिष्यों के पाप न हटाने पर उसी पाप से गुरु भी दुर्गति को प्राप्त होता है। सिद्ध सिद्धान्त पद्धति में कहा भी है नाथ जो ने जो आचार्य बहुत से चेले बनाते हैं वह ठीक नहीं, और वे तत्त्व से वंचित रहते हैं इत्यादि। जब तत्त्व से वंचित रहते हैं तो अवश्य घोर नरक के भागी बनते हैं यह अर्थात् से सिद्ध होता है।

इसलिए बहुत शिष्य बनाना सिद्धों के मत में वर्जित है।

मू०— षट्पदार्थायत्रभवन्ति स भगवान् । के ते षट् पदार्थाअमी— समग्रैश्वर्यम् १ धर्मः २ यशः ३ श्रीः ४ ज्ञानम् ५ वैराग्यम् ६ इत्येषांमध्ये एकोऽविरुद्धविष्ण्वादिना भगवत्पदवाच्येषुन । प्रथमंतु समग्रैश्वर्यं योगरूपं तदेवनास्ति कथम् ? सर्वेकामवशाः स्त्रीसङ्गिनो यान् योगिनोलोकाः कथयन्ति तेषांस्त्री संगः, एतत्तुहास्यमेव। पुनर्धर्मः—यत्र यत्र स्थले छलः क्रियतेतदाधर्मभावः कथम् ? छलस्तुनारदस्य वानरमुखकरणादिनाविष्णोः प्रसिद्ध

एवेति। पुनर्यशः—तदपिकथम्? रावणवधे लोककल्याणे यशोजातं तथैवस्त्रीहरणेऽप यशोपिजातं कथं रावणस्य पामरस्यवधेनकिं, तस्यवालिवानरेण वन्धनं कृतं सहस्र वाहुनार्जुनेन च वन्धनं कृतं पुनारामस्तु भगवानिति कथ्यते। जगत्कर्ताचकथ्यते। तस्यस्त्रीहरणमेतन्महदपयशः। पुनः श्रीः—यस्यपरमार्थे मुक्तिर्नास्ति ऐहिके च यशोनास्ति तस्य श्रीः कथम्। पुनर्ज्ञानम्—यदाज्ञानस्वरूपास्ते तदाऽज्ञानकार्ये संसारकार्ये किमर्थं प्रवृत्तास्ततो ज्ञानं कथम्। पुनर्वैराग्यम्—तत्तु सर्वथैवतत्काल्पतेष्वीश्वरेपुनैवनैवेति। कथं पुराणेएतेषां लौकिकया त्वेवमायास्यति तत्तुवक्तुमशक्यम्। दास्यां वेश्यायांमासक्ता इत्यादि किंकिंलिख्यते। तदावैराग्यंकुत्र? अतः कारणात् षडेवपदार्थानाथे तत एव तिष्ठन्ति। समग्रैश्वर्यन्तु योगः, सतुसहजसिद्धएवपुनः। धर्मोऽपि स एव योमुक्ति रूपः, एतद्व्यतिरिक्तः स्मृत्यादि शास्त्राणि धर्मं वर्णयन्ति सत्वधर्मएव, पुनर्यशोऽपि यस्यैव योमुक्तरूपस्तस्यैव वन्धरूपस्य कथमयशः पुनः श्रीः शोभापि यस्यैव स मुक्तो वंध

रूपस्यशुचिः कथं भवेत् ? यो लौकिकसुखदुःखेमग्नइति ज्ञानं. तस्यैवज्ञानं पुनर्वैराग्यं तस्यैववैराग्यमेवच सर्वेषामाधारोनाथ एव, अतः कारणात्महासिद्धानां तात्पर्यंनाथपरमेवेति । कोपिकथयति-किंनाथ एवमुक्तिरूपएते ईश्वरामुक्तानमन्ति तत्तु प्रथममेवोक्तं येस्त्रीसंयुक्ताः संसारकार्येचासक्तास्ते कथं मुक्तिरूपाइत्यत एवाग्रेएतेषां मुक्तिबंधरूपत्वं कथयिष्यते भगवच्छब्दनिर्णयोऽपिकरिष्यते । अस्माकं मतेशक्तिः सृष्टिंकरोति शिवः पालनंकरोति कालः संहरति-नाथोमुक्तिंददाति । ब्रह्माविष्णुस्तुशिवशक्तिकालानामेवाऽन्तरभेदेन कर्तृत्वादिशक्तिर्नतुस्वसत्तया यदा शिवादयः संसारप्रवर्तका जातास्तदा बन्धरूपाएवभूताः । कथम् ? जीवरूपेणबन्धनम् , ईश्वररूपेणापि बन्धनं दत्तमिति भेदोऽत-एवजीवात्मापरमात्मेति। परन्तुशुद्धात्मानास्ति। सतुशुद्धात्मा नाथ एव एतेसंसारमज्ञानं प्रवर्तयन्ति । नाथस्त्वज्ञानं निवर्तयति । नाथरूपेणसृष्टिकरण उपेक्षा । आचार्याणान्तुखण्डखण्डेषुपाण्डित्यं वर्तते पूर्णो धर्मोनास्ति संसार प्रवृत्तिकारण

रूपंवस्तुचैकं पूर्णोधर्मो ननुमोत्तधर्मो यथाराज्ञामेकं स्वार्थं सम्पादकत्वमेवपूर्णं नत्वन्येधर्माः । धर्माश्चतेक इति यज्ञो वैराग्यं तपस्तीर्थं व्रतंत्यागोज्ञानं योगइत्यादयः । शौर्यमौदार्यं पुण्यंयशोऽभिलाषः शास्त्रधारणमित्यादयः । ब्रह्मचर्यं गृहीतं पुनर्गार्हस्थ्यं करोति पुनर्गार्हस्थ्यं किंचित्संसेव्य त्यागं करोत्यतएतदन्तरे यद्धर्मरहितत्वेन कालोजातस्तत्रधर्मो न्यूनएवजायते तथाह्युपदिशति ॥

भा०—छहों पदार्थ जिसमें पाए जाएं वह भगवान् कहलाता है। वे छः पदार्थ कौन से हैं सुनिये? समग्र ऐश्वर्य १ धर्म २ यश ३ श्री ४ ज्ञान ५ और वैराग्य ६। इनमें से एक भी पदार्थ रुद्र विष्णु आदि भगवत् पद से पुकारे जाने वालों में नहीं हैं। पहले तो योग रूप जो समग्र ऐश्वर्य है वही नहीं है, क्योंकि ये सब काम के वश हैं और स्त्री के साथी हैं, जिनको लोग योगी कहते हैं उनके साथ स्त्री है यह हंसी की बात है। धर्म भी उनमें नहीं है क्योंकि जहां छल है वहां धर्म कहां? विष्णु ने नारद को वानर मुख बना कर उसके साथ छल किया यह प्रसिद्ध है। अब आया यश वह भी नहीं, रावण के मारने से लोगों का कल्याण हुआ इससे

यश हुआ तो पर साथ में स्त्रीहरणजनित अपयश भी तो हुआ। जिस रावण को वाली नामक वानर ने तथा सहस्रार्जुन ने बांध लिया उस कायर रावण को मारने से कैसे यश हुआ। राम तो भगवान् तथा जगत् के कर्ता कहे जाते हैं, ऐसे महापुरुष की स्त्री का हरण होना तो और भी महा अपयश है। अब श्री को भी देखिये-जिसको परमार्थ में मुक्ति नहीं है और इस लोक में यश नहीं है उसके पास श्री कैसे कही जा सकती है। अब ज्ञान के विषय में दृष्टि डालिये-यदि ज्ञानस्वरूप थे हैं तो अज्ञान के कार्य संसार व्यवहार में क्यों फसे। अब रहा वैराग्य—यह तो इन कल्पित ईश्वरों में है ही नहीं। कैसेपुराणों में इनका लौकिक व्यवहार बताया गया है। वह अकथनीय है, दासी तथा वेश्याओं में आसक्त थे। इत्यादि क्या क्या लिखा जाय। इस हालत में वैराग्य कहां। अतः उपर्युक्त छहों पदार्थ नाथ ही में है। समग्रैश्वर्य योग है सो तो उनको स्वभाव से ही सिद्ध है। धर्म मुक्ति रूप है। उससे भिन्न जिसको स्मृत्यादि शास्त्र धर्म कहते हैं, सो इनके लिए अधर्म ही है यश भी उन्ही का है जिनका मुक्त रूप है, बन्धन रूप का कैसे यश कहा जा सकता है। श्री भी उसी की है जिसका रूप मुक्त है उस बन्ध रूप की छवि कैसी जो लौकिक

सुख दुःख में डूबा हुआ है। और उन्हीं का ज्ञान वास्तविक ज्ञान है वैराग्य वास्तविक वैराग्य है। सबका आधार नाथ ही है, इसलिए महासिद्धों का तात्पर्य नाथ ही में है। कोई कहता है-क्या नाथ ही मुक्तरूप है ये ईश्वर मुक्त नहीं हैं। यह तो पहले ही कहा जा चुका है, जो स्त्रीयुक्त हैं और संसार में फसे हैं ये कैसे मुक्त कहलायेंगे, इसीलिए आगे मोक्ष और बन्धन बताया जायगा। भगवत् शब्द का भी निर्णय भी किया जायगा हमारे मत में शक्ति सृष्टि करती है, शिव पालन करता है, काल संहार करता है और नाथ मुक्ति देता है ब्रह्मा विष्णु तो शिव शक्ति और काल इनके अवान्तर भेद से कर्तृत्वादि शक्ति वाले हैं, न कि अपनी सत्ता से, जब शिवादि संसार के प्रवर्तक बनते हैं तब बन्ध रूप ही हो जाते हैं। कैसे जैसे जीव भाव बन्ध कोटि में गिना जाता है वैसे ही ईश्वर भाव भी बन्धन श्रेणी में माना जाता है इसीलिये जीवात्मा और परमात्मा ये दो भेद हैं। परन्तु ये शुद्ध आत्मा नहीं है, वह शुद्ध आत्मा तो नाथ ही है। ये संसार रूप अज्ञान को बढ़ाते हैं। नाथ तो अज्ञान को हटाता है, नाथ रूप से सृष्टि करने में उपेक्षा है अर्थात् नाथ रूप से सृष्टि की रचना नहीं होती। आचार्यों का पाण्डित्य तो खण्ड खण्ड में है पूर्ण

मेव व्यापकम् । पुनः निर्गुणन्तु शक्तिरहित मेव तदाव्यापकधर्मएव तत्रकथं कथ्यते । एतद्रीत्या निर्गुणपे चब्रह्मैवद्वयमपि परात्परं ब्रह्म न भवाति तस्मात् परम हंसाये स्यापि अवधूता उत्तमाः कथम् ? परात्परपूर्णोनाथो लक्ष्य इति ॥

भा० टी०—द्वैतवादी लोग क्रिया को ब्रह्म कहते हैं । अद्वैत वादी तो ब्रह्म निष्क्रिय है ऐसा कहते हैं ये दोनों ही ठीक नहीं क्यों कि ब्रह्म सदासक्रिय और कूटस्थ नहीं है । कैसे जैसे हम लोगों में सदा क्रिया नहीं रहती और सदा अक्रिया भी नहीं होती, तुम और हम प्रातःकालादि के समय स्नान भोजनादि क्रिया करते हैं फिर मध्याह्नादि समय में स्वस्थ चित्त होकर सब क्रिया छोड़ कूटस्थ हो जाते हैं, फिर कार्य का समय आने पर क्रिया करने लगते हैं ऐसे ही ईश्वर भी क्रिया और अक्रिया ये दोनों ब्रह्म की शक्ति हैं । इन दोनों में रहता हुआ पूर्ण निरन्तर-निश्चल-अविनाशी-सर्वात्मक और परिपूर्ण कहलाता है । न कि एक तरफ से मान लेने पर 'अर्थात् सक्रिया या अक्रिया एक कोटि से परिपूर्ण पूर्ण नहीं कहा जाता । अव- धूत गीता में कहा है—जो अपने अज्ञान से अखण्ड को खंडित

करता है इत्यादि। अखंडखण्ड में भी वर्णित है—अखंड और खंड ये दोनों कैसे हो सकते हैं, अतः द्वैतवादियों के कैलास और वैकुण्ठादि स्थान हैं, अद्वैतवादियों के लिये माया शबल ब्रह्मस्थान है। योगियों के लिये बन्धन का मनन करने के बाद मुक्ति होने से निर्गुण स्थान है। बन्ध और मुक्ति दोनों से रहित जो परम सिद्धान्त है उस के अनुयायी अवधूत योगियों का जो स्थान है वह तो निर्गुण और सगुण दोनोंसे अतीत और अद्वैत के ऊपर वर्तमान है।

परम हंस लोग कहते हैं कि हमारा स्थान निर्गुण है यह उनका कथन मात्र है न कि उनके व्यवहार से सिद्ध होता है कैसे? वे तो माया और गुण दोनों से रहित ब्रह्म में माया और गुणों की स्थापना करते हैं फिर नाना प्रकार से संसार की क्रिया आदिकों का उस में आरोप करते हैं और अनेक स्तोत्रों से उस की स्तुति करते हैं। तब कैसे वह निर्गुण और माया रहित हुआ। माहात्म्य वा प्रशंसा के लिये कहे जाने पर लक्ष्य रूप से निर्गुण ब्रह्म कहा गया न कि आचरण में देखा जाता है फिर कहने पर निर्गुण ब्रह्म भले ही इष्ट हो तब भी वह पूर्ण नहीं हो सका किन्तु एक देशी ही रहा। जैसे योगियों का इष्ट है उस रीति से नहीं हो सका। कैसे पहले ब्रह्म शब्द का अन्वर्थ ही टूट गया ब्रह्म पद का अर्थ व्यापक है।

सो द्वैतवादी की रीति से एक देश से निर्गुण ब्रह्म सर्व व्यापक नहीं हो सका कैसे चैतन्य रूप जीव द्वारा यह व्यापक कहा जाता है तब सो पंच भूतों में व्यापकता नहीं रहीं आत्म रूप ही व्यापक रहा, निर्गुण तो शक्ति रहित ही है तब व्यापक धर्म कैसे कहा जाय इस रीति से निर्गुण हो ब्रह्म परात्पर उभय रूप ब्रह्म नहीं हुआ । इस लिये परमहंस की अपेक्षा भी अवधूत ही उत्तम हैं, कैसे उनका पर से भी पर पूर्ण नाथ ही लक्ष्य है ।

मू०—अद्वैतोपरिवर्तिनिराकारसाकाराऽतीतनाथात् निराका-रज्योतिर्नाथोजातस्ततः साकारनाथोजातः तदिच्छया सदा शिवोभैरवोजातस्ततश्चशक्तिर्भैरवी च जाता तस्माद्विष्णुर्जातस्त-स्माद्ब्रह्माजातस्तेन सर्वसृष्टिरुत्पन्ना । नाथाद्द्विप्रकारासृष्टिर्जाता नादरूपा विन्दुरूपा च नादरूपाशिष्यक्रमेणविन्दुरूपा च पुत्र-क्रमेण । नादाश्चनाथाजाता विन्दुतः सदाशिवो भैरवोजातः । पुनः शब्दसृष्टि प्रकारमाह—एकासूक्ष्मरूपिणी द्वितीया स्थूल-रूपिणी सूक्ष्मरूपिणी प्रणवो महागायत्री योगशास्त्रमिति । स्थूलरू-पिणी महागायत्रीवेदत्रयीति । पुनर्योगशास्त्रतस्तंत्रशास्त्रं जातंवेदात् स्मृत्यादिशास्त्रंजातम् पुनः नवनाथानां पश्चाद्द्वादशासिद्धाश्चतु

रशीतिश्च द्वादशपन्थानोऽनन्तसिद्धाश्चजाताः । सदाशिव भैर-
वाद्विष्णुर्ब्रह्मा सूर्यश्चन्द्र इन्द्रादिदेवताजाताः । पुनर्योगात्
शेषयोगसांख्ययोगादयोऽनेकयोगा अनेकभेदैर्जातास्तेन योगेनज्यो
तिषन्यायादिकं शास्त्रं श्रुतितः स्मृतिशास्त्रव्याकरणपुराणोपपुरा-
णानेकेतिहासाजाताः । एवं विग्रहसृष्टिनिवृत्तिप्रवृत्तिरूपिणी-
जाता । पुनः नादसृष्टिरपि सूक्ष्मस्थूलरूपिणीप्रकारद्वयात्मिका-
जाता ।

भा०—अद्वैत के ऊपर विराजमान निराकार और साकार इन दोनों से परे जो नाथ है उससे निराकार ज्योतिस्वरूप नाथ प्रकट हुआ फिर उससे साकार नाथ जी उत्पन्न हुए, उनकी इच्छा से सदा शिव भैरव हुए, उनसे भैरवी शक्ति, शक्ति से विष्णु विष्णु से ब्रह्मा ब्रह्मा से सारी सृष्टि हुई नाथ जी से दो प्रकार की सृष्टि हुई नाद रूप और बिन्दुरूप, नादरूप शिष्य क्रम से और बिन्दुरूप पुत्र क्रम से । नाद से नवनाथ हुए, और बिन्दु से सदा शिव भैरव हुआ। अब आगे शब्द सृष्टि के क्रम को कहते हैं पहली सूक्ष्म रूप दूसरी स्थूल रूप। प्रणव महागायत्री और योगशास्त्र यह सूक्ष्म शब्द सृष्टि है। ब्रह्म गायत्री और तीन वेद यह स्थूल शब्द सृष्टि है। फिर योगशास्त्र से तंत्र शास्त्र हुआ, और वेद से

वामभागे। सव्ये विष्णुस्तथैवच। याऽद्भुता निजाइच्छा शक्तिस्तस्या अंशेन जातः। साकारः स विष्णुः संसारप्रवृत्त्यर्थं यस्य सव्यभागे। पुनः मध्यभागेसंपूर्णो निर्गुणसगुणातीतसर्वशिरोमणिर्नाथस्तस्य यः साकाररूपो नाथो मध्यभागे स नाथो ज्योतिरूपोममहृद्यान्धकारनिवर्तन करोतु

भा०—यहां से आगे मंगलाचरण के श्लोकों का व्याख्यान किया जायगा, निर्गुण अर्थात् ब्रह्म सर्वोपरिवर्तिनाथ के वाम भाग में अर्थात् एक व्यवहार में है, यहां वाम भाग से क्या लिया जाता है सो कहते हैं—जैसे किसी के प्रति शास्त्र का कथन है कि कोई पुरुष ऊर्ध्वगति ब्रह्म पद को प्राप्त होगया। तब कहते हैं कि सर्व व्यापक एक रूप निर्गुण ब्रह्म का भी ऊपर और नीचे यह व्यवहार अवयव की कल्पना किए बिना नहीं हो सकता, अन्यथा किस देश में वा किस दिशा में और कहां से वाक्य रचना की जायगी क्योंकि निर्गुण में कोई देश दिशा आदि तो हैं ही नहीं इस लिए कल्पना के बिना कुछ व्यवहार नहीं हो सकता है, इसी रीति के अनुसार निर्गुण वाम भागे यह कहा गया है। उस साक्षात् स्वरूप के एक व्यवहार में निगुण, और दूसरे व्यवहार में अपनी अद्भुत इच्छा शक्ति है, वही शक्ति सगुण ब्रह्म का मूल कारण है।

मध्य भागे, इस का अर्थ सब का आधार है या सर्व शिरोमणि वह नाथ है, या जिसमें निर्गुण सगुण दोनों एक हो जाते हैं। सत्य असत्य जड चैतन्य सब भाव जिस में समता को प्राप्त कर लेते हैं, और जिस से द्वताद्वैत का भाव दूर हो जाता है।

जो इस प्रकार सब से ऊपर रहने वाला वाक् मन से परे और वाङ् मनोमय द्वैत और अद्वैत दोनों से रहित, जैसा ही है वैसा ही है इस तरह सब से विलक्षण उसे कह सकते हैं वह परिपूर्ण रूप नाथ ही सिद्धों का लक्ष्य है वह मेरा कल्याण करे। मोक्ष मार्ग में दक्षिण भाग से वाम भाग श्रेष्ठ है इसी लिये वाम भाग में निर्गुण कहा है। जीव सगुण और द्वैत रूप हैं इस लिए बद्ध कहलाते हैं वे उस नाथ के नखों के अग्रभाग में रमण करते हैं और जो निर्गुण तत्त्वभूत अद्वैत रूप मुक्त हैं वे चरणों के अग्र भाग में रमण करते हैं अर्थात् बद्ध की अपेक्षा मुक्त का साक्षात् सम्बन्ध है। ये दोनों व्यवहार मात्रसे दिखाये गये हैं सो भी कल्पनामात्र हैं वास्तवमें तो बन्ध और मुक्ति दोनों से रहित है। जो तत्त्व का अनुभव करने वाले मुक्त हैं वे तो नाथ जी के समस्त शरीर में रमण करते हैं, इस में संदेह ही क्या है, क्योंकि वे नाथ रूप ही हैं भिन्न रूप नहीं हैं। आगे कहा है कि वाम भागमें शम्भु स्थित हैं। इस का तात्पर्य यह है कि जो

निर्गुण ब्रह्म का अंश शिव है वह संसार के कल्याण के लिए साकाररूप से उत्पन्न होकर वामभाग में स्थित है विष्णु दक्षिण भाग में स्थित है इस का अभिप्राय यह है कि नाथ जी की जो अद्भुत स्वकीय इच्छा शक्ति है उसके अंश से उत्पन्न होने वाले संसार की प्रवृत्ति के लिए साकार विष्णु नाथ जी के दक्षिण भाग में हैं मध्य में स्वयं पूर्ण तथा निर्गुण सगुण से अतीत सर्व शिरोमणि नाथ हैं उनका जो साकार रूप नाथ है वह ज्योतिस्वरूप नाथ जी मेरे हृदय से अज्ञान रूप अन्धकार को दूर करे ।

मू०—विश्वोत्पत्तिंकरोति स्वस्याप्युत्पत्तिंकथयति । एवं ब्रह्मणा इच्छयापुरुषोजातः, स नरइतितेनतपस्ततं, तेन शरीराज्जजातानि नाराइतिमातास्तत्रतेनशयनं कृतंतेन नारायणइति संज्ञकोजातः । पुनस्तस्यैवावान्तर रूपाणि रामकृष्णादीनि जातानि तेषामपि रामनवमी जन्माष्टमीत्यादि जन्मकर्मोत्सवाइति मन्यन्ते । तथाच उत्पत्तिमान् सनाशवान् पुनर्यत्रलोके गतास्ते पुनरायान्ति । कथम् ? जयविजयौशापादसुरौजातौ । तर्हितेषांस्थानं निर्भयंकथम् अथच—विश्वोत्पत्ति कारणमेवोक्तं तेनैवंज्ञायते । अन्यदेवापेक्षया संसाराऽपेक्षयाच सर्वोत्तम शिवएव परन्तुस्वस्मात्तुनिकृष्टएवेतिकृत्वा

मंगलंतुनाथात्मकमेव कृतम् । आदिनाथो गोरक्षनाथश्चांशांशि भावेन वास्तवमेक एव परन्तुव्यवहारार्थमङ्गाङ्गिभावेन सेव्यसेवकभावेन नाथात्मकमेव मंगलं कृतं तेनैवसूचितं सर्वस्मादुत्तमः शिवः शिवा-दुत्तमोनाथ इति योगे देवानामथच संसारे सर्वोत्तमोनाथ इति संकेतो रीत्या । नाथस्योत्पत्तिरेव योगशास्त्रेण न कथिता, यतोजन्मकर्माणि न गीयते अतएव सिद्धसिद्धान्त पद्धतौ—श्रीगोरक्षनाथेन विश्वस्य-कर्तृत्वं शिवस्य लिखितं नाथस्य तु न लिखितम् । कथं विश्वकरणे सगुणत्वमायाति सोपाधीश्वरत्वं चायाति, नाथस्तु निर्गुण एव निरुपाधिरूप एव तस्य प्राकृतिक कार्यकरणेन किं माहात्म्यं किं वा श्रीरिति । यदि पुनः शिव एव मुख्योदेवोभवेत्तर्हि मंगलं शिवात्मकं किमर्थं न कृतम्, एवं रीत्या कथनं महासिद्धानां सिद्धान्तोवर्तते नतु स्थूलरीत्या प्रवृत्तिरीत्या कथनरीतिः । कथमेते तु निर्गुणा ऐश्वर्यं बहुधागुप्तं कुर्वन्ति । अन्येतु ऐश्वर्यं प्रकटी कुर्वन्ति । अहो—विपरीता वार्ता तस्याः श्रवणेपि ज्ञानेऽपि चाऽप्रियं भवति । अस्मिन् मते श्रुतिर्न साधिका साधिका वेति वार्ता । श्रुतिश्चास्माकं मते साधिका न भवेत्, भवेदपि चेत्तर्हिमेरुः कम्पते

पृथिवी भवति । आकाशात् सर्वं जायते तत्तु पृथिव्या एव सर्वं जायते पितुः पुत्रो जायते स पितापि पुत्राज्जायते एवं सर्वमपि कार्यं विपरीत रीत्या भवेत् । यत एव न वक्तव्यं यन्महासिद्धानां तात्पर्यं तदेव श्रुतिर्वक्तुमिच्छतीत्यूर्ध्वंबाहुर्ध्वनिं विकीर्यति । परन्तु नाना धर्मनिरूपणात्तस्यान्यथा कथनात्सूक्ष्मात् स्थूलरूपनिरूपणात् पातकिनी जाता, भाराक्रान्ता च जाता, तेनतत्तात्पर्यं वक्तुं न शक्यते । यदि किञ्चित् वक्तुं शक्यते तन्महासिद्धानां तात्पर्यमेववदेत् । या श्रुतिः प्रणवानुसारिणी तास्माकं मतानुसारिण्येव, या च प्रणव विरोधिनी श्रुतिः धर्मज्ञान प्रतिपादिका साऽस्माकं मतानुयायिनीमा भवतुनाम किन्तु तुच्छमस्य निरूपणम् । प्रथमतउक्तं श्रुतिरस्माकं मतं साधिकान साधिके निष्ठुरमपि स्यादिति । कथं तदाह नसाधिकाभवेत् । तदेवम् । अस्माकं तु मयोमतमेवनास्ति । कथम् ? यतस्तु महावेद योगमाश्रितास्तेन च न कस्याप्यपेक्षां कुर्म , परन्तु एषामते स्थूलवेदाः परम पदार्था इति मन्यन्ते यदि च तदुक्तसाधका न भवेयुस्तदाऽस्माक मतं दूषणारोपणं कुर्वन्ति तदिदमेव यथावीमतो श्रुतिं प्रतिवचयति-भोमुने ! भवान्न मन्यामहे इति । एवं कथनेमुनिनांतु मत्रामस्यं दूषणेव,

परन्तुतस्यत्विष्टमेवेति कृत्वा मनसातु मुनिस्तुष्यत्येवपरन्तुतदभिप्रायेण-बाह्यवृत्त्यापि तुष्टएव भवेत्। कथम् ? यदि संग क्रियते तदातुलत्यभ्रंशो-ऽतोऽज्ञतयाभूषणेऽपि दूषणमारोपयति। यतोहेतोर्न साधिकेत्युक्तंतद्-वर्जनं चैतद्रीत्येति । पुनः साधवस्त्वेकोवादोऽपइति चेत्कथ्यते—साधकेति तु येकथयन्ति ते पुराणस्मृति किंकरा, वयन्तु स्थूलवेदानां पितृकारण महावेदस्तस्यानुसारिणोयोगसिद्धान्तिनस्ते कथं तदाश्रिता भवेमेतिरीत्या साधकत्वमपि वर्जितम् । पूर्वमप्युक्तमेव, वयन्तु महा-वेदयोगानुसारिणइति। अथ च श्रुतिर्यद् वदति तदस्माकं महासिद्धानां मतं तदेव वदति सकलाया अपिश्रुतेस्तात्पर्यं प्रणवयोगपरमेव । तथाच याश्रुतयः प्रणवानुसारिण्यस्तास्तु योगमेववदन्ति। ये च श्रुत्य-नुकूलास्ते प्रथममेव प्रयुक्ता इति । पुनः, ब्रह्मवेदस्य एकोनविंशति रुपनिषदोमण्डूक माण्डूक्य क्षुरिकाकैवल्य प्रभृतयः । छान्दोग्य बृहदारण्य मैत्रायण्यादयोऽन्यवेदस्यापियोगपरा एवैतास्तुसर्वाः प्रत्य-क्षतः । पुनः, वेदवेदान्तादिसर्वपरोक्षवादो यतोहेतोस्तात्पर्येतात्पर्यं रक्षति प्रत्यक्षतः कथं तस्यतन्मर्यादानास्ति, यतोहेतो कर्मोपासनां ज्ञानंच वर्णयति परन्तु कर्मतः सर्वस्य तात्पर्यंयोग एवेति ।

भा०—हिरण्यगर्भ ब्रह्मा संसार की उत्पत्ति करता हुआ अपनी भी उत्पत्ति सिद्ध कर रहा है। पहले ब्रह्मा की इच्छा से पुरुष उत्पन्न हुआ वह नर है, उसने तप किया, उस तप से उस के शरीर में जल उत्पन्न हुआ, उन जलों का नाम नार हुआ क्योंकि नर से उत्पन्न होने वाले को नार कहा जाता है। उन जलों पर उस नर ने शयन किया इससे उस विष्णु का नाम नारायण यह प्रसिद्ध हुआ, फिर इसी के अवान्तर रूप राम कृष्णादि अवतार हुए उन्हीं की यादगार में रामनवमी जन्माष्टमी आदि उत्सव मनाए जाते हैं। जो जो उत्पत्ति वाले हैं, उनका नाश भी होता है और जो नश्वर लोकों में गये हैं या जाते हैं वे वहां से लौटते भी अवश्य हैं। कैसे? सुनो—वैकुंठ में जय और विजय नाम के दो द्वारपाल थे वे शाप से असुर हो गए थे, तब उनके स्थान को निर्भय कैसे कहा जा सकता है इससे सिद्ध होता है कि जो संसार की उत्पत्ति का कारण हैं वे भी उत्पत्ति नाश वाले हैं और देवताओं की तथा संसार की अपेक्षा सर्वोत्तम शिव ही है, परन्तु नाथ रूप की अपेक्षा तो निकृष्ट ही हैं इसी लिये नाथ जी का स्मरण रूप मंगल किया गया है श्री आदिनाथ जी और श्रीगोरक्षनाथ जी इन दोनों में अंशांशि भाव का सम्बन्ध होने से अथवा स्वयं एक होने पर

भी व्यवहार के लिये अङ्गांगिभाव को प्राप्त होने से नमस्कार्य नमस्कारक भाव मान लिया गया है, इसी लिये ग्रन्थ के आदि में श्रीनाथ जी का प्राणमरूप से मंगल किया गया है उसी से सूचित होता है कि सब से उत्तम शिव है, और शिव से उत्तम नाथ है, अतः योग देव और संसार सब से श्रेष्ठ नाथ है। नाथ जी की उत्पत्ति योगशास्त्र में वर्णित नहीं है। इस से सिद्ध हुआ कि नाथ जी का जन्म और कर्म नहीं है। सिद्धसिद्धान्त पद्धति में श्रीगोरक्षनाथ जी ने संसार का कर्ता शिव जी को लिखा है, न कि नाथ जी को, क्योंकि संसार-रचना में सगुणता और सोपाधिक ईश्वरपना आता है, नाथ तो निर्गुण और निरूपाधिक हैं संसार सम्बन्धि कार्य करने से उनका क्या माहात्म्य होगा और क्या विभूति बढ़ेगी। यदि शिव ही मुख्य देव होते तो शिव का ही मंगल क्यों न किया गया, सूक्ष्म आशय से कथन करना महासिद्धों का सिद्धान्त है, स्थूल और प्रवृत्ति रीति से कथन की शैली नहीं है कैसे? महसिद्ध लोग अपनी बड़ाई नहीं चाहते इस लिये अपनी सिद्धि को गुप्त रखते हैं। और अन्य लोग अपने माहात्म्य के लिये ऐश्वर्य दिखाते हैं, देखो कैसी उलटी बात है जिसको सुनकर और जानकर

अप्रिय सा प्रतीत होता है । इस सिद्धमत में श्रुति साधक है भी और नहीं भी ये दोनों ही बातें हैं सूक्ष्मनाथ तत्व के कथन करने में श्रुति की सामर्थ्य न होने से वह हमारे मत में साधक नहीं है, अगर श्रुति असाध्य साधन करे तो मेरु पर्वत भी कांपने लगे और पृथिवी हिलने लगे । ब्रह्म से ही सब उत्पन्न होते हैं यह न हो कर पृथिवी से ही जायगा । पिता से पुत्र उत्पन्न होता है किन्तु पुत्र से भी पिता होने लगेगा इस प्रकार सब काम उलटे हो जायेंगे, ऐसा कहने पर भी कोई दोष नहीं इस लिये ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि जो महासिद्धों का तात्पर्य है श्रुति उसी का कथन हाथ उठा कर करना चाहती है, परन्तु श्रुति नाना कर्मों का निरूपण करने से लक्ष्य रूप के विपरीत जा रही है, और स्थूल कर्म के निरूपण से नाथ मार्गानुकूल नहीं है, तथा मुमुक्षु पुरुष के लिये भारभूत है, नाथ तत्व के निरूपण में श्रुति असमर्थ है। जिस परमार्थ तत्व का निरूपण श्रुति करती है वह महासिद्धों का तात्पर्य ही है । जो प्रणव (ओंकार) का अनुसरण करने वाली श्रुति है वह मेरे ही मत का अनुगमन कर रही है, और जो प्रणव के विरुद्ध होकर कर्म और ज्ञान को बताने वाली है वह हमारे मतानु पायी न हों किन्तु सूक्ष्म तत्व निरूपण करने वाली श्रुति तो

हमारे अनुकूल ही है, पहले कह चुके हैं कि हमारे मत में श्रुति साधक है और नहीं भी, यह दोनों ही बातें हैं कैसे इसका उत्तर यह है कि श्रुति साधक नहीं कहलाती हमें उस श्रुति से कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि हम महावेद रूप योग के आश्रित हैं अतः अन्य किसी की अपेक्षा नही रखते। जो स्थूल वेद को ही परम पदार्थ मानते हैं उनके स्थूल वेद यदि हमारे मत के साधक न हों, इस पर जो लोग हमारे ऊपर दोषारोपण करते हैं वह तो हमें इष्ट ही हैं, जैसे कोई स्त्री निष्काम मुनि को कहती है कि हे मुनि जी आप सकाम हैं, ऐसा यद्यपि मुनि के लिये दोष है परन्तु उस स्त्री को तो इष्ट है। ऐसा मान कर वह मुनि भीतर से तो प्रसन्न ही होता है परन्तु बाहर से असन्तुष्ट प्रतीत होता है, कैसे! जब वह स्त्री का संग करता है तब तो उसको सकामत्व कहना उचित है, परन्तु विना संग के ही सकामत्व कहना भूषण में दोषारोपण करना है। इसी कारण से कहा है कि श्रुति साधक नहीं है। और साधक मानने में क्या दोष है उसको भी कहते हैं—जो कोई श्रुति को साधक कहते हैं वे श्रुतिस्मृति और पुराणों के दास हैं, हम लोग जो स्थूल वेदों का कारण पितारूप महावेद ओंकार है उसके अनुयायी हैं, इसलिये योग सिद्धान्तवादी ओंकार के

अप्रिय सा प्रतीत होता है । इस सिद्धमत में श्रुति साधक है भी और नहीं भी ये दोनों ही बातें हैं सूक्ष्मनाथ तत्व के कथन करने में श्रुति की सामर्थ्य न होने से वह हमारे मत में साधक नहीं है, अगर श्रुति असाध्य साधन करे तो मेरु पर्वत भी कांपने लगे और पृथिवी हिलने लगे । ब्रह्म से ही सब उत्पन्न होते हैं यह न हो कर पृथिवी से हो जायगा । पिता से पुत्र उत्पन्न होता है किन्तु पुत्र से भी पिता होने लगेगा इस प्रकार सब काम उलटे हो जायेंगे, ऐसा कहने पर भी कोई दोष नहीं इस लिये ऐसा नही कहना चाहिये क्योंकि जो महासिद्धों का तात्पर्य है श्रुति उसी का कथन हाथ उठा कर करना चाहती है, परन्तु श्रुति नाना कर्मों का निरूपण करने से लक्ष्य रूप के विपरीत जा रही है, और स्थूल कर्म के निरूपण से नाथ मार्गानुकूल नहीं है, तथा मुमुक्षु पुरुष के लिये भारभूत है, नाथ तत्व के निरूपण में श्रुति असमर्थ हां जिस परमार्थ तत्व का निरूपण श्रुति करती है यह महासिद्धों का तात्पर्य ही है। जो प्रणव (ओंकार) का अनुसरण करने वाली श्रुति है वह मेरे ही मत का अनुगमन कर रही है, और जो प्रणव के विरुद्ध होकर कर्म और ज्ञान को बताने वाली है वह हमारे मतानु- यायी न हो किन्तु सूक्ष्म तत्व निरूपण करने वाली श्रुति तो

हमारे अनुकूल ही है, पहले कह चुके हैं कि हमारे मत में श्रुति बाधक है और नहीं भी, यह दोनों ही बातें हैं कैसे इसका उत्तर यह है कि श्रुति साधक नहीं कहलाती हमें उस श्रुति से कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि हम महावेद रूप योग के आश्रित हैं अतः अन्य किसी की अपेक्षा नहीं रखते। जो स्थूल वेद को ही परम पदार्थ मानते हैं उनके स्थूल वेद यदि हमारे मत के साधक न हों, इस पर जो लोग हमारे ऊपर दोषारोपण करते हैं वह तो हमें इष्ट ही हैं, जैसे कोई स्त्री निष्काम मुनि को कहती है कि हे मुनि जी आप सकाम है, ऐसा यद्यपि मुनि के लिये दोष है परन्तु उस स्त्री को तो इष्ट है। ऐसा मान कर वह मुनि भीतर से तो प्रसन्न ही होता है परन्तु बाहर से असन्तुष्ट प्रतीत होता है, कैसे। जब वह स्त्री का संग करता है तब तो उसको सकामत्व कहना उचित है, परन्तु बिना संग के ही सकामत्व कहना भूषण में दोषारोपण करना है। इसी कारण से कहा है कि श्रुति साधक नहीं है। और साधक मानने में क्या दोष है उसको भी कहते हैं—जो कोई श्रुति को साधक कहते हैं वे श्रुतिस्मृति और पुराणों के दास हैं, हम लोग जो स्थूल वेदों का कारण पितारूप महावेद ओंकार है उसके अनुयायी हैं, इसलिये योग सिद्धान्तवादी ओंकार के

पुनरूप स्थूल वेद के आश्रित कैसे हो सकते हैं। इस रीति से श्रुति साधक नहीं मानी गई है । यह पहले कहा जा चुका है कि हम लोग महावेद रूप योग के आश्रित हैं। य स्तय में पूछा जाय तो जिस बात को श्रुति कहती है उसी को हमारा मन भी कह रहा है कि समस्त श्रुतियों का तात्पर्य प्रणव योग में ही है उसी प्रकार जो श्रुतियां प्रणवानुसारी हैं वे तो योग का ही कथन करती हैं, और जो कर्म प्रतिपादक स्थूल वेद के अनुयायी हैं उनका खण्डन तो पहले ही हो चुका महाबोधक वेद के मुण्डक माण्डूक्य क्षुरिका और कैवल्य आदि उन्नीस उपनिषद् और अन्य वेद के छान्दोग्य बृहदारण्य मैत्रायणी आदि उपनिषद् ये पूर्वोक्त सारे ही प्रत्यक्ष रूप से योग का ही निरूपण करते हैं, अन्य कर्मों को बताने वाले वेद वेदान्त आदि परोक्षरूप से अर्थात् परम्परा रूप से योग के प्रतिपादक हैं वेदों में यह मर्यादा नहीं है कि योग का ही निरूपण करते हैं, अपितु कर्म उपासना और ज्ञान सबका ही निरूपण करते हैं परन्तु सबका तात्पर्य तो योग में ही है।

मू०—केश्चित् कथ्यते—ब्रह्मा विश्वं सृजति विष्णुः पालयति रुद्रः संहरति, तत्पत्र्यनुक्रमोनास्ति। योगस्यत्वनुक्रमो योऽवर्तते सप्रथममुक्तएव। यदि वैतेषामेवानुक्रमोरक्षितव्यस्तदात्वयमपि

चानुक्रमोऽव्यतिक्रमएवयदाभवेत् तदा कंवानुक्रमं करिष्यामि ।
कथम् ?—

अन्नं ब्रह्मारसो विष्णुर्भोक्ता देवोमहेश्वर,

इत्यादौ । तेषां मध्येभोक्तातुरुद्रएवोक्त स एवबलिष्ट एतौतुभोज्यमिति। तथैव रुद्रः संहरतीत्यत्र महाप्राबल्येन नैर्गुण्येन नित्यमुक्तस्वरूपेण च तद्दोषधारकोनभवति तदन्यौतु गुणपर्यव-सानौ गुणावधीयत एतत्कार्यकरणं तद्बाधकमेव भवतीति पुनरस्य विचारस्य वार्ता वद्धास्तास्त्वग्रे वदयन्तइति ।

भा०—कोई कहता है कि ब्रह्मा संसार को पैदा करता है विष्णु उसकी रक्षा करता है और रुद्र संहार करता है, परन्तु वह अनुक्रम नही है। योग का जो अनुक्रम है वह पहले कहा जा चुका है, यदि लोक प्रसिद्ध अनुक्रम की ही रचा की जाय तो यह अनुक्रम उल्टा हो जायगा तब किस अनुक्रम का आश्रय किया जायगा, अतः योग का ही अनुक्रम ठीक है, कैसे? अन्न ब्रह्मा और रस विष्णु है, इन का भोक्ता महेश्वर है, इन सब में भोक्ता तो रुद्र ही कहा गया है यही बलिष्ठ है विष्णु और ब्रह्मा तो भोज्य हैं, रुद्र संहार करता है यदि इस पर कोई दोष की शंका करे तो वह ठीक नही है। क्योंकि वह

अथल निर्गुण और नित्यमुक्तस्वरूप है इसलिये उस दोषका आधार यह नहीं हो सकता, ब्रह्मा और विष्णु ये दोनों तो गुणों के अन्तर्गत हैं अतः गुणों के आधार हैं, इसलिये शरीर इन्द्रियादि उन में बाधक हैं यह बात इस समयस्थगित की जाती है आगे इसका विस्तार से व्याख्यान होगा।

मू०—सर्वे सम्प्रदायाः कथयन्ति—सहस्रशोग्रन्थाजाता इति तान्प्रतिमयाकथ्यते— यदि भमोपदेशो भन्यतांतर्हि सर्वे-ग्रन्थाः कूपे निपात्यन्ताम् । कथमाधुनिकसमये स्वयमपि मुक्ताग भवन्तितेह्यन्येषांमोक्षोपदेशेकथं समर्था भवेयुर्यत आश्रयार्थं मभिमानार्थं च जीविकार्थं व्यसनार्थं च यस्यकस्याप्यभिलापार्थं यत्शास्त्रंकरोति तद्धर्मार्थिपुरुषाणामग्रे कथं शोभनीयं भवेत् । तदुक्तं श्रीगोरक्षनाथेन।

शिलयाकिं परं पारं शिलासङ्घः प्रतार्य्यते ।
स्वयन्तीर्णोभवेद्यस्तु परान्स्तारयत्यलम् ॥

अतः कारणादाधुनिका अमुक्तपुरुषास्तैः कृतानि सहस्रशः शास्त्राणि सानित्याज्यानि । एतच्छास्त्रस्याभिमानो भवद्भिर्न रक्ष-णीयइति ।

भा०—सब संप्रदाय वाले कहते हैं कि हजारों ग्रन्थ बन चुके हैं उन सब के प्रति मेरा कथन है कि यदि मेरा उपदेश मानो तो मैं कहूंगा कि सारे ग्रन्थों को कूप में फैंक दो क्यों? इस आधुनिक समय में स्वयं भी मुक्त नहीं होते हैं तो दूसरों के लिये मोक्ष का उपदेश देने में कैसे समर्थ हो सकेंगे, क्योंकि लोगों को चकित करने के लिये अभिमान जीविका और व्यसन आदि किसी प्रकार की अभिलाषा के लिये जिस शास्त्र की रचना की जाती है वह शास्त्र धर्मार्थी पुरुषों के सामने किस प्रकार प्रशंसनीय हो सकता है, इसी आशय को लेकर श्रीगोरक्षनाथ जी ने कहा है— कि जो स्वयं पत्थर की तरह अज्ञानी है वह कैसे दूसरे को तारेगा! अतः 'आधुनिक अमुक्त पुरुषों के बनाये हुए हजारों शास्त्र हैं वे सब त्याज्य हैं, अन्यथा मायावियों के जाल से वास्तविक शास्त्र के गौरव की रक्षा नहीं कर सकोगे।

मू०—शंकरसम्प्रदाये विद्यारण्यस्त्यागीजातः पश्चाद् वेद भाष्यंकृतंतदनन्तरं काशींगत्वा कस्यापि पंडितस्याग्रे स्वकृतभाष्यवार्ताकृता। तदा तेन सनिन्दितः। कथं त्यागी भूत्वापुनरपिव्यवहार उद्युक्तः? तदापुनः परमहंसेनोक्तम्

मदीयः श्रमस्त्ववलोकनीयइति। तदा पंडितेन दृष्ट्वा अशुद्धि बाहुल्यमित्युक्तं तदा परमहंसो विरागो जातः। पुनः कदा चिद् वन भ्रमणेकस्यचित् प्रेतस्य कृपया संमेलनं जातम्। तेन माष्यं कमण्डलौ धृत्वाऽशुद्धिर्दूरीकृतेतिवार्ताबहुप्रसिद्धा।

पुनः कौमुदीकारो भट्टोजीदीक्षितः सोऽपि प्रेतत्वं गतः। पुनः वैष्णव संप्रदाये ताताचार्येणाप्पयदीक्षितस्योपारिकोप्यभि चारः संचारितः स तु तेन शिवभक्तेन शिवस्मरणे कृते तस्यैव मरणाय जातः।

एवं यदा तदा मया कथ्यते यादृशानि प्रेत रूपैः प्रेत प्रसादाभिलाषिभिः पुरुषैः कृतानिशास्त्राणिमोक्षायकथंभव- न्त्यतःकारणात् महासिद्धानांमते विद्याभ्यासेनकोऽपिग्रन्थंन करोति किन्तु योगाभ्यासेनसिद्धोभूत्वा सिद्धत्वेन शास्त्रं- करोति। स स्वयमपि मुक्तोऽन्येषामपि मुक्तिं ददातीति सिद्धान्तः। ग्रन्थस्य प्रकरणबन्धनादिरतोऽपिचनक्रियते कथमिषमप्याशैव भवति नियम्यश्च भवति ज्ञानन्तु क्षण- स्यापिनास्ति। तर्हिएतावत्संकल्पः क्रियते। तस्यापि अहंकार

विलासितत्वात्तद्रूपमपिकर्मैवलग्नं भवेत् पुनः क्षणेनमरणे सत्यन्यत् कार्यम्। तावन्मात्रस्तु बन्धो जात एव यस्माद्यत आरम्भः कृतः सएवादिमान् न कृतः तत्रैवसमाप्तिः। स्वतंत्राणां पुरुषाणां क्षणमात्रमपि बन्धनं प्रियं नभवेत्। पुनः संस्कृतो वर्तते सोप्यघटित पदार्थस्तुनास्ति सर्वव्यापकोऽपि नास्ति, कथम्?

स्वभावकर्मापिनास्ति यदाशिष्यते तदाऽऽयाति। पुनर्यश्चशब्दः सोऽघटितोऽस्ति विनापि शिक्षां यत आयाति समन्दव्यापकोनास्ति यत्परात्परमघटितस्वरूपं तथैवतदंश एष शब्द एवाघटितो दृश्यते स एवग्राह्यइति। अतः कारणादेवश्रीनाथेन शब्दमयीगिरेतिकृत्वा सर्वाभिरपि गिराभिः सर्वाणि शास्त्राणि कृतानि। साचसंस्कृतप्राकृतनागरमागधीभाषाभिरथच यवनभाषापर्यन्ताभिरपि यत एतेनव्यवहारे तु सर्वज्ञत्वं सूचितं सिद्धान्ते शब्दएवमुख्यइति। योऽघटितपदार्थो विशेषव्यापकः सएव नतुसंस्कृतोवाऽन्योऽपि यः कश्चित् एकसांकेतिक भाषाशब्दः सएवसिद्धान्त इति।

नकिन्तुशब्दएव सिद्धान्तइति शब्देब्रह्मणि शुद्धत्वाऽशुद्ध-त्वेनस्वाऽव्यक्त लिङ्गोपर्येव तात्पर्यमिति यतस्तत् प्रकारेण सर्वमेकम् । यदादेवः चिन्तनीयस्तदा तेषांशास्त्रपठनेऽपि किम् ? तदुक्तं भर्तृहरिणा—

तार्किका घटपटेतिरटेयुः शाब्दिकाः खफछठेति पठेयुः ।
मादृशान्तुसततं स्मरणीयौ, चन्द्रचूड़चरणौ रमणीयौ ॥

पुनरवधूतेषुकिंचिद् दोषारोपणं क्रियते निश्चितं तथा कुर्वन्तुनाम ततोऽवधूतानां नमनोविकारः । तदुक्तं भर्तृहरिणाश्रीगोरक्षनाथशिष्येण—

चाण्डालः किमयंद्विजातिरथवा शूद्रोऽथवा तापसः ।
किंवातत्त्वनिवेशपेशलमतिर्योगीश्वरः कोपि किम् ?
इत्युत्पन्नविकल्पजल्पमुखरैः संभाष्यमाणा जनैः ।
नोक्रुद्धाः पथिनैव तुष्टमनसो गच्छन्ति ते योगिनः ॥
गालिप्रदानेऽपि नावधूतानां क्रोधादिरिति ।

भर्तृहरिणोक्तमेव—

ददतु ददतु गालिंगालिमन्तोभवन्तः ।

वयमपितदभावाद् गालिदानेऽप्यशक्ताः ॥
जगति विदितमेतद् दीयते विद्यमानम् ।
नहि शशकविषाणं कोऽपि कस्मै ददाति ॥

पुनः क्रोधो न क्रियते इदमपि नास्ति कथम् ? अक्रोधस्तुपरमहंसानां धर्म पुनः क्रोधकरणमिति गृहस्थानां धर्मः। अस्माकं तुद्वयमपि धर्मएवेत्यत एवैकदा भर्तृहरि स्वेच्छयासिद्धस्वरूपः कापोतीमाश्रित्यपण्यवीथिकायां कणानादाय चर्वयन् नृपतिना विक्रमार्केण दृष्ट । स ज्येष्ठोभ्रातैव तथापि सिद्धरूपस्तेनाज्ञातो यतउक्तम्— अहोअस्यापि जननी ययै तादृशः पुरुषोजनितो यश्च स्वोदरभरणेप्यसमर्थ इति । तच्छ्रुत्वा किमुक्तं सिद्धेन ? अहो तस्यापि जननी धिक् यः समर्थोपि परोपकारकरणेऽसमर्थ इति । यदाचैवं विवेकवचनं श्रुत्वाराजा महान् विचक्षणः स्वकीयं ज्येष्ठभ्रातरं परम पुरुषं ज्ञात्वाऽश्वतः शीघ्रमेवावतीर्य तच्चरणेपतितस्तदाश्रीभर्तृहरिणोपदेशो दत्तस्तदनन्तरं परोपकार करणेऽसमर्थो-नृपतिः प्रवृत्तस्तेनच महाप्रतापवान् जातस्ततः कथ्यते—

महासिद्धा अकामिनोऽक्रोधिनो जिताहंकारास्ते वचन सहनं कथंनकुर्वन्ति परन्तुपरमहंसरीत्येमेतु परमहंसा नसन्ति गृहस्थाऽपिनसन्ति यथा काकोलूकमिति । तयोरेकस्तु दिनएव पश्यति, तदन्यो रात्रावेवपश्यति । इमेतु योगिनो यौगिकपरमहंसा मरालादप्यधिकयेनापि पश्यन्तो मुक्तिमुक्ताफलं गृह्णन्ति । शिवशक्त्योर्द्वयमपि चैकीकृत्य चरन्ति· तेऽवधूतयोगिनो भवन्तीति सिद्धान्तेन सर्वदारमन्ते ॥ इति शिवम् ।

भा०—शंकराचार्य के सम्प्रदाय में विद्यारण्य स्वामी त्यागी हुए, फिर उन्होंने वेद का भाष्य बनाया उसके बाद काशी जाकर किसी पंडित के आगे उस वेद भाष्य की चर्चा की, उस पंडित ने उनकी निन्दा की और कहा कि त्यागी होकर व्यवहार में क्यों फसगये, तब परम हंस ने कहा मेरा परिश्रम तो देखो अर्थात् मेरे बनाये वेद भाष्य का अवलोकन तो कीजिये फिर पंडित ने उसे देखा और बहुत अशुद्ध बताया तब परम हंस विरक्त होगया । फिर कभी बनमें घूमते हुए उसकी किसी प्रेत से भेंट होगई उस प्रेत ने उस भाष्य को कमण्डलु में रख

कर उस की अशुद्धियां दूर करदी। यह बात बहुत प्रसिद्ध है। व्याकरण कौमुदी के कर्ता भट्टोजिदीक्षित भी प्रेत होगये थे। फिर वैष्णव संप्रदाय के ताताचार्य ने अप्पयदीक्षित के ऊपर मारणोच्चाटनादिकर्म किया, तब शिव भक्त अप्पयदीक्षित ने शिव का स्मरण किया और शिवजी की कृपा से ताताचार्य की ही मृत्यु हुई। जब इस प्रकार की बातें हैं तो मैं कहता हूं कि प्रेत के प्रसाद के इच्छुक प्रेत स्वरूप पुरुषों के बनाए हुए शास्त्र कैसे मुक्ति दायक हो सकते हैं। इसकारण महासिद्धों के मतभेद में विद्याभ्यास के द्वारा कोई भी किसी ग्रन्थ को नहीं बनाता, हां योगाभ्यास से सिद्ध होकर सिद्धि के बल से सिद्ध पुरुष शास्त्र बनाता है, वह स्वयं भी मुक्त है और अन्यों को भी मुक्ति देता है, यह सिद्धान्त है, योगियों के बनाए ग्रन्थ प्रकरण आदि के बन्धन से मुक्त होते हैं, क्योंकि नियम के अन्दर रहना और आशा करना यह नाथ के स्वरूप से बहिर्भूत है, एक क्षण का भी पता नहीं कि क्या होगा इतना बड़ा संकल्प करना कि अब से प्रारम्भ कर के इतने दिनों के भीतर पूरा करेंगे। उस सबको अहंकार का खेल होने से वह भी कर्म ही का रूप है। फिर क्षण भर में मृत्यु होजाने पर वह सब काम उलट

जाता है। अर्थात् कुछ का कुछ हो जाता है उतना भी तो ग्रन्थ हुआ हो, इसी तरह जहां से जो आरम्भ किया गया उसका वही आदि हुआ और आगे जहां करना बन्ध हुआ वहीं समाप्ति होगई। किसी प्रकरण बंधनादि की आवश्यकता नहीं रखनी चाहिये क्यों कि स्वतन्त्र पुरुष को क्षण मात्र भी बन्धन अच्छा नहीं लगता है। संस्कृत यद्यपि पद पदार्थ से परिपूर्ण है। तथापि सब लोगों में व्यापक नहीं है इसी लिये यह जन्म सिद्ध भाषा नहीं है अपितु गुरु से सीखी जाती है। तब संस्कृत शब्दों का ज्ञान होता है। जो शब्द संस्कृत से भिन्न हैं अर्थात् व्याकरण के नियंत्रण से बाहर हैं, वे विना शिक्षा.के ही आजाते हैं अर्थात् मातृ भाषा होने से अनायास ही बोले जा सकते हैं। और वह असंस्कृत शब्द मन्दव्यापक नहीं है अर्थात् सर्वत्र जनता में उसका व्यवहार है जो सब से बड़ा संस्कृत शब्द है उसका भी स्वरूप व्यापक नहीं है। वैसे ही उसका अंश भाषा शब्द भी अव्यापक देखा जाता है इस लिये सब भाषाओं का ज्ञान आवश्यक है। इसी कारण श्री नाथ जी ने शब्दमय वाणी मान कर सब भाषाओं में शास्त्र बनाए, यह रचना संस्कृत प्राकृत नागर और मागध भाषाओं में की गई है, यहां तक कहें उन्होंने तो यवन भाषा में भी शास्त्ररचना की है इस से नाथ जी की व्यावहारिक सर्वज्ञता स्पष्ट प्रतीत होती है

सिद्धान्त में तो शब्द ही मुख्य है। जो अपूर्ण और विशेषव्यापक है यह संस्कृत हो या एक देश की सांकेतिक भाषा हो ऐसा कोई नियत सिद्धान्त नहीं किन्तु शब्द ही ब्रह्म रूप है यह सिद्धान्त है क्यों कि शब्द रूप ब्रह्म में शुद्धाशुद्ध कुछ नहीं है अव्यक्त नाथ तत्व में तात्पर्य है और यह तो सब प्रकार से एक है। जब इष्ट देव की ही चिन्ता करनी है तो शास्त्र पढ़ने से क्या प्रयोजन है। यही श्री भर्तृ हरि ने कहा है-नैयायिक लोग घट पट शब्दों को रटते रहते हैं वैयाकरण ख फ छ ठ थ पढते है परन्तु हमारे जैसे विरक्तों को तो सदा श्री शिवजी के सुन्दर चरणा विन्दों का ही स्मरण करना चाहिये। कुछ वादि लोग अवधूतों पर दोषारोपण करते हैं, सो बेशक करें उनसे अवधूतों के मन में कुछ खेद नहीं होता। श्री भर्तृहरि ने भी कहा है जिस समय योगी लोग अपने मार्ग मे चलते हैं उस समय उनको देख कर अन्य लोग नाना प्रकार के तर्क उठाते है कोई कहता है यह चाण्डाल है और कहते हैं कि यह तो ब्राह्मण है। बहुतसे कहते हैं कि यह शूद्र है वा तपस्वी है अथवा तत्व ज्ञानी योगी है परन्तुऐसे कथनों से योगी न तो क्रुद्ध होता है न खुश ही होता है। गाली देने पर भी अवधूतों को क्रोध आदि नहीं होता यह भी नाथ जी के शिष्य भर्तृहरि ने ही कहा है—

आप लोग बेशक गाली दें क्यों कि आप गाली वाले हैं, हमतो आप को गाली नहीं दे सकते क्यों कि हमारे पास गाली है ही नहीं संसार में यह बात प्रसिद्ध है कि जिस के पास जो चीज होती है वह उसी का दान करता है अन्य वस्तु का नहीं जैसे कैसा भी दाता क्यों न हो वह खरगोश के सींग का दान नहीं कर सकता इसका तात्पर्य यह है कि जो दोष वाला है वही दूसरों पर दोषारोपण करता है। अतः तुम सदोष हो और हम निर्दोष। क्रोध नहीं करना चाहिये हमारे मत में यह भी निश्चित नहीं है क्यों? क्रोध न करना यह परम हंसों का धर्म है और क्रोध करना यह गृहस्थियों का धर्म है हमारे तो दोनों ही धर्म हैं। एक समय सिद्ध भर्तृहरि जी अपनी इच्छा से कपोत वृत्ति को धारण कर के बाजार की गलियों में अन्न के दाने चुन २ कर खा रहे थे। तब राजा विक्रमादित्य ने उन को देखा यद्यपि भर्तृहरि जी उनका ज्येष्ठ भाई था तो भी उस सिद्ध रूप में वे उसको न पहचान सके और कहा अहो इसकी भी माता है जिसने ऐसे पुरुष को पैदा किया है जो अपनी उदर पूर्ति करने में भी समर्थ नहीं यह सुन कर सिद्ध ने कहा कि बड़ा आश्चर्य है। जो पुरुष समर्थ होता हुआ भी परोपकार नहीं करता उसकी माता को धिक्कार है। बुद्धिमान् विक्रमादित्य

सिद्ध के ऐसे विवेक पूर्ण वचन सुन कर, यह मेरा ही जेष्ठ भाई परम पूज्य है ऐसा जान और शीघ्र घोड़े से उतर उनके चरणों में गिर पड़ा। तब श्री भर्तृ जी ने उसको उपदेश दिया उस के बाद विक्रमादित्य ऐसा परोपकारी हुआ कि उसका प्रताप सर्वत्र फैल गया इसी से कहते हैं कि महासिद्ध काम क्रोध और अहंकार इनको जीत लेते हैं अतः वे दूसरों के वचन को सहन कैसे नहीं करेंगे। परन्तु यह नियम परमहंसों की रीति के अनुसार है, सिद्ध तो न परम हंस है और न गृहस्थ, जैसे कौआ और उल्लू इन दोनों में एक दिन में ही देखता है दूसरा रात में। परन्तु ये योगी तो यौगिक परमहंस हैं दोनों दृष्टियों अर्थात् ज्ञान और योग से देखते हुए मुक्तिरूप मोती का ग्रहण करते हैं। जो शिव और शक्ति दोनों को एक करके उपासना करते हैं वे अवधूत योगी होते हैं वे सदा इसी सिद्धान्त में रमण करते हैं।

इति योगाश्रम श्री पूर्णनाथ संस्कृत कौलेज प्रधानाध्यापक मिथिलान्तर्गतवसन्तपुरवास्तव्य श्रीपं० द्रव्येशझाकृतभाषा टीका समाप्ता।

इति शिवम्

समाप्तोऽयंग्रन्थः

सूचना

यदि कोई महानुभाव स्वकीय ग्रन्थ में नाथ सम्प्रदाय के विषय में किसी प्रकार का भी लेख उल्लेखन करना चाहते हों तो "योगाश्रम महाविद्यालय मायापुर हरिद्वार के मैनेजर अथवा अखिल भारतवर्षीय अवधूत योगिमहासभा के प्रधान मन्त्री दलीचा बारह पंथ हरिद्वार से पूछ कर लिखना उनका प्रधान कर्त्तव्य होगा।

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥ अथ गोरक्षशत लिख्यते ॥ श्रीगुरुं परमानंदं
वंदे आनंदविग्रहं यस्य सान्निध्यमात्रेण चिदानंदायते तनुः १ अंत-
र्निश्चलतात्म दीपकलिकास्वाधारवंधादिभिः यो योगी युगकल्पकाल
कलनात्तत्वं च योगीयते ज्ञानामोद महोदधिः समभवं यत्रादिनाथः स्वयं
व्यक्ताव्यक्तगुणाधिकं तमनिशं श्रीमीननाथं भजे २ नमस्कृत्य गुरुं
भक्त्या गोरक्षो ज्ञानमुत्तमं अभीष्टं योगिनां ब्रूते परमानंदकारकं ३
एतद्विमुक्तिसोपानमेतत्कालस्य वंचणं यद्व्यावृत्तं मनो भोगादाश
क्तं परमात्मनि ४ श्रीगोरक्षशतं वक्ति योगिनां हितकाम्यया ध्रुवं यस्या
वबोधेन जायते परमं पदं ५ द्विजसेवितशाखस्य श्रुतिकल्पतरोः फ
लं समनं भवतापस्य योगं भजत सत्तमाः ६ आसनं प्राणसंरोध

प्रत्याहाराश्च धारणाः ध्यानं समाधिरेतानि योगांगानि वदंति षट्
आसनानि च तावंति यावंतो जीवजंतवः एतेषामखिलान् भेदान्
विजानाति महेश्वरः ८ चतुरशीति लक्षाणि एकैकं समुदाहृतं ततः शि
वेन पीठानां षोडशोनं शतं कृतं ९ आसनेभ्यः समस्तेभ्यो द्वयमेतदुदा
हृतं एकं सिद्धासनं प्रोक्तं द्वितीयं कमलासनं १० योनिःस्थानिकमं
घ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसेत् मेढ्रे पादमथैकमेव नियतं कृत्वा
समं विग्रहं स्थाणुः संयमितेंद्रियो चलदृशा पश्यन् भ्रुवोरंतरं चैतत् मो
क्षकपाटभेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते ११ वामोरूपरि दक्षिणं च च
रणं संस्थाप्य वामं ततो दक्षोरूपरि तस्य बंधविधौ पृष्ठे कराभ्यां दृढं
अंगुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकयेदेतत् व्याधिविनाश
नं च यमिनो पद्मासनं प्रोच्यते १२ षट्चक्रं षोडशाधारं त्रिलोकं व्योम

२ पंचकं स्वदेहे येन जानंत्ति कथं सिद्ध्यंति योगिनः १३ चतुर्द्दलं स्यादाधारे
स्वाधिष्ठानं तु षट्दलं नाभौ दशदलं पद्मं सूर्यसंख्यादलं हृदि १४ एकं
स्तंभं नवद्वारं त्रिशून्यं पंचदैवतं स्वदेहे येन जानंत्ति कथं सिध्यंति यो
गिनः १५ कंठे स्यात् षोडशादलं भ्रूमध्ये द्विदलं तथा सहस्रदलमाख्या
तं ब्रह्मरंध्रे महापथि १६ आधाराख्ये गुदस्थाने पंकजं च चतुर्द्दलं तन्म
ध्ये प्रोच्यते योनिः कामाख्या सिद्धिवंदिता १७ आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधि
ष्ठानं द्वितीयकं योनिस्थानं द्वयोर्मध्ये कामरूपं निगद्यते १८ योनिमध्ये
महालिंगं पश्चिमाभिमुखं स्थितं मस्तके मणिवद्बिंबं यो जानाति स यो
गवित् २० तप्तचामीकराभासं तडिल्लेखेव विस्फुरत् त्रिकोणं तत्पुरं म
ध्येन्हेरधोमेढ्रात्प्रतिष्ठितं २१ यत्समाधौ परं ज्योतिरनंतं विश्वतोमुखं
व तस्मिन् दृष्टे महायोगे यातायातौ न विद्यते २२ स्वशब्देन भवेत्प्राणः स्वा
धिष्ठानं तदाश्रयं स्वाधिष्ठानाश्रयादस्मान्मेढ्रमेवाभिधीयते २३

तंतुनामणिवत्प्रोतो यत्र: कंद: सुषुम्णया तन्नाभिकमलं चक्रं प्रोच्यते म
णिपूर- कं २६ द्वादशेव महाचक्रे पुण्यपापविवर्जिते तावज्जीवो भ्रमत्ये
व यावत्तत्त्वं न विंदते २५ ऊर्द्ध्वं मेढ्राद्धो नाभे: कंदयोनिषडांगवत् तत्र
नाड्य: समुत्पन्ना: सहस्राणि द्विसप्तति: २८ तेषु नाडीसहस्रेषु द्विसप्तति
रुदाहृता: प्राधान्या प्राणवाहिन्यो भूयस्तासु दशस्मृता २९ इडा च पिं
गला चैव सुषुम्णा च तृतीयका गांधारी हस्तजिह्वा च पूषा चैव यशस्वि
नी २० अलंविका कुहूश्चैव शंखिनी दशमी स्मृता: एतन्नाडीमयं च
क्रं ज्ञातव्यं योगिभि: सदा २९ इडा वामे स्थिता भागे दक्षिणे पिंगला स्थि
ता सुषुम्णा मध्यदेशे तु गांधारी वाम चक्षुषि ३० दक्षिणे हस्तजि
ह्वा च पूषा कर्णे च दक्षिणे यशस्विनी वामकर्णे आनने चाप्यलंविका
३१ कुहूश्च मूलदेशे तु लिंगस्थाने च शंखिनी एवं द्वारं समाश्रित्य ति
ष्ठंति दश नाडय: ३२ इडा पिंगला सुषुम्णा प्राणमार्गे समाश्रिता: सततं

३ प्राणवाहिन्यः सोमसूर्याग्निदेवताः ३२ प्राणोपानसमानश्चोदानव्यानौ च
वायवः नागकूर्मश्च कृकलो देवदत्तो धनंजयः ३३ हृदि प्राणो वसेन्नित्य
मपानो गुदमंडले समानो नाभिदेशे तु उदानः कंठमध्यगः ३४ व्यानो व्या
पी शरीरेषु प्रधानाः पंचवायवः प्राणाद्याः पंचविख्याताः नागाद्याः पंचदे
वताः ३५ उद्गारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने स्मृतः कृकलः क्षुत्कृतो
ज्ञेयो देवदत्तो विजृंभणे ३६ न जहाति मृतं चापि सर्वव्यापी धनंजयः ए
ते नाडीषु सर्वासु भ्रमंते जीवरूपिणः ३७ आक्षिप्तो भुजदंडेन यथो
च्छलति कंदुकः प्राणापानसमाक्षिप्तस्तथा जीवो न तिष्ठति ३८ प्राणापानव
शो जीवो अधश्चोर्ध्वं च धावति वामदक्षिण मार्गेण चंचलत्वान्न दृश्य
ते ३९ रज्जुबद्धो यथा श्येनो गतो प्याकर्षते पुनः गुणबद्धस्तथा जीवः प्रा
णापानेन कृष्यते ४० अपानः कर्षति प्राणं प्राणो पानं च कर्षति ऊर्ध्वाधः
संस्थितावेतौ यो जानाति स योगवित ४१ हकारेण बहिर्याति सकारेण
विशेत्पुनः हंसहंसेत्यमुं मंत्रं जीवो जपति सर्वदा ४४ षट्शतानि दिवारा

त्रो सहस्राण्येकविंशतिः एतत्संख्यान्वितं मंत्रं जीवो जपति सर्वदा ४२
अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदायिनी अस्याः संकल्पमात्रेण स
र्वपापैः प्रमुच्यते ४३ अनया सदृशी विद्या त्वनया सदृशो जपः अनया
सदृशं ज्ञानं न भूतो न भविष्यति ४४ कुंडलिन्या समुद्भूता गायत्री प्रा
णधारिणी प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स योगवित् ४५ कंदोर्द्ध्वे कुंड
ली शक्तिरष्टधा कुंडलाकृतिः ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनाच्छाद्य तिष्ठति ४६
येन द्वारेण गंतव्यं ब्रह्मद्वारमनामयं मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्व
री ४७ प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मरुता सह सूचीवद्गुणमादाय व्र
जत्यूर्द्ध्वं सुषुम्णया ४८ प्रस्फुरद्भुजगाकारा पद्मतंतुनिभा शुभा प्रबु
द्धा वह्नियोगेन व्रजत्यूर्द्ध्वं सुषुम्णया ४९ उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुंचि
कया हठात् कुंडलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं प्रभेदयेत् ५० कृत्वा संपु
टितौ करौ दृढतरं बध्वा तु पद्मासनं वक्षसि संनिधाय चिबुकं ध्या
नं च तत्त्वेप्सितं वारंवारमपानमूर्द्ध्वमनलं प्रोच्चारयेत्पूरितं मुंचन्प्रा

४ णमुपैतिबोधमतुलंशक्तिःप्रभावाद्घृतः५१ अंगानांमर्दनेकृत्वाश्रमजाते
स्ववारिणाकट्वम्ललवणत्यागीक्षीरभोजनमाचरेत्५२ ब्रह्मचारीमि
ताहारीयोगीयोगपरायणःअब्दादूर्ध्वंभवेत्सिद्धोनात्रकार्याविचारणा५३
सुस्निग्धंमधुराहारंचतुर्थांशविवर्जितंभुज्यतेशिवसंप्रीत्यैमिताहा
रीसउच्यते५४ कंदोर्ध्वंकुंडलीशक्तिरष्टधाकुंडलाकृतिःबंधनायचमू
ढानांयोगिनांमोक्षदासदा५५ महामुद्रानभोमुद्राउड्डियानंजलंधरंमूल
बंधंचयोवेत्तिसयोगीमुक्तिभाजनं५६ वामभागेनसंपीड्ययोनिमाकुंच्य
गुदंअपानमूर्ध्वमाकृष्यमूलबंधोविधीयते५७ अपानप्राणयोरैक्यं
पि ५ क्षयोमूत्रपुरीषयोःयुवाभवतिवृद्धोऽपिसततंमूलबंधनात्५८ उदरात्प
श्चिमेभागेअधोनाभेनिगद्यतेउड्डियानंकुरुतेयस्मादविश्रांतंमहाखगः
५९ उड्डीयानंतदेवस्यान्मृत्युमातंगकेशरीउड्डियानंह्यसौबंधस्तत्रबंधो
विधीयते६० बध्नातिहिशिरोजालंनाधोयातिनभोजलंततोजालंधरो
बंधःकंठदुःखौघनाशनः६१ जालंधरेकृतेबंधेकंठसंकोचलक्षणेन

पीड्यते न च शोकेन न च लिप्यति कर्मणा ४१ बध्यते न स केनापि यो मुद्रां वेत्ति खेच रीं २
पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ४२ कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा
विपरीतगाः भ्रुवोरंतर्गता दृष्टिः मुद्रा भवति खेचरी ४३ न रोगं मरणं तस्य
न निद्रा न क्षुधा तृषा न च मूर्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीं ४४ चित्तं च
रति खे यस्मा जिह्वा चरति खेगता ४५ तेनेयं खेचरी मुद्रा सर्वसिद्धैर्नमस्कृता
बिंदुमूलशरीराणि शिरा यत्र प्रतिष्ठिताः ४६ भावयंति शरीराणि आपाद
तलमस्तके खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लंबिकोर्द्धतः ४७ न तस्य क्षरते बिंदुः का
मिन्यालिंगितस्य च यावद्बिंदुः स्थितो देहे तावन्मृत्युभयं कुतः यावद्बद्धा
नभोमुद्रा तावद्बिंदुर्न गच्छति ४८ चलितोपि यदा बिंदुः संप्राप्तश्च हुताश
नं व्रजत्यूर्द्धं हृतः शक्त्या निरुद्धो योनिमुद्रया ४९ स पुनः द्विविधो बिंदुः
पांडुरो लोहितस्तथा पांडुरं शुक्रमित्याहुर्लोहिताख्यो महारजः ५०
सिंदूरद्रवसंकाशं रविस्थाने स्थितो रजः शशिस्थाने स्थितो बिंदुस्तयो
रैक्यं सुदुर्लभं ५१ बिंदुः शिवः रजो शक्ति बिंदुरिंदू रजो रविः उभयोः संग

५ मादेवप्राप्यते परमं पदं ७१ वायुना शक्तिचारेण प्रेरितो च यदा रजः यदि विंदो
सहैकत्वं भवेद्दिव्यं वपुस्तदा ७२ शुक्लं चंद्रेण संयुक्तं रजः सूर्येण संगतः तयोः स
मरसैकत्वं यो जानाति स योगवित् ७३ शोधनं नाडिजालस्य चालनं सोमसूर्ये
योः रसानां शोषणं चैव महामुद्राविधीयते ७४ वक्षोन्यस्तहनुः प्रपीड्य सुचि
रं योनिं च वामांघ्रिणा हस्ताभ्यामनुधारयन् प्रसरितं पादं तथा दक्षिणं आपूर्य
श्वसने कुक्षियुगलं वध्वा शनै रेचयेदेषा व्याधिविनाशिनी सुमहती मुद्रा
नृणां कथ्यते ७५ चंद्रांगेन समभ्यस्य सूर्यांगेनाभ्यसेत्पुनः यावत्तुल्या भवे
त्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ७६ न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेपि नीरसाः अ
पि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते ७७ क्षयकुष्ठगुदावर्तीगुल्माजीर्णपुरो
गमाः तस्य रोगाः क्षयं याति मुद्रामेतां तु योभ्यसेत् ७८ कथितेयं महामुद्रा
महासिद्धकरी नृणां गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ७९ पद्मा
सनं समारुह्य समो कायशिरोधरः नासाग्रदृष्टिरेकांते जपेदोंकारमव्य
यं ८० भूर्भुवस्स्वरिमे लोकाः सोमसूर्याग्निदेवताः यस्य मात्रासु तिष्ठंति तत्पर

का

ज्योतिरोमिति ॥८१॥ त्रयः कालास्त्रयो वेदास्त्रयो लोकास्त्रयः स्वराः त्रयो देवाः स्थि
ता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ॥८२॥ क्रियाइच्छा तथा ज्ञाना ब्राह्मी रौद्री च वैष्णवी ।
त्रिधा शक्तिः स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ॥८३॥ अकारश्च उकारश्च मकारो
बिंदुसंज्ञिकं त्रिधामात्रा स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ॥८४॥ वचसा तज्जपे
द्वीजं वपुषा तत्समभ्यसेत् मनसा तत्स्मरेन्नित्यं तत्परं ज्योतिरोमिति ॥८५॥ शु
चिर्वाप्यशुचिर्वापि यो जपेत्प्रणवं सदा न स लिप्यति पापेन पद्मपत्रमिवां
भसा ॥८६॥ चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलो भवेत् योगी स्थाणुत्वमाप्नोति त
तो वायुं निरोधयेत् ॥८७॥ यावद्वायुः स्थितो देहे तावज्जीवं न मुंचति मरणं तस्य नि
ःष्क्रांति ततो वायुं निरोधयेत् ॥८८॥ यावद्बद्धो मरुद्देहे तावच्चित्तं निरामयं याव
द्दृष्टिर्भ्रुवोर्मध्ये तावन्मृत्युभयं कुतः ॥८९॥ अल्पकालभयाद्ब्रह्मा प्राणायामप
रायणः योगिनो मुनयश्चैव ततः प्राणं निरुधयेत् ॥९०॥ षड्विंशदंगुलो हंसः प्र
याणं कुरुते वहिः वामदक्षिणमार्गेण ततः प्राणं विधीयते ॥९१॥ शुद्धिमेति स
दा सर्वं नाडीचक्रं मलाकुलं तदैव जायते योगी प्राणसंरोधने क्षमः ॥९२॥ बद्ध

ध्या

६ पद्मासनो योगी प्राणं चंद्रेण पूरयेत् धारयित्वा यथाशक्त्या भूयः सूर्येण रेचयेत्
५३ अमृतं दधिसंकाशं गोक्षीरधवलोपमं ध्यात्वा चंद्रमसो बिंबं प्राणायामे सु
खी भवेत् ५४ दक्षिणे श्वासमाकृष्य पूरयेदुदरं हृदि शनैः कुंभयित्वा विधा
नेन पुनश्चंद्रेण रेचयेत् ५५ प्रज्वलज्ज्वलनज्वालापुंजमादित्यमंडलं ध्या
त्वा नाभिस्थितो योगी प्राणायामे सुखी भवेत् ५६ प्राणं चेदिडया पिबेन्नियमि
तं भूयोन्यया रेचयेत् पीत्वा पिंगलया समीरणमथो बद्ध्वा त्यजेद्वामया सूर्या
चंद्रमसोरनेन विधिना बिंबद्वयं ध्यायतां शुद्धा नाडिगणा भवंति यमिनो
मासत्रयादूर्ध्वतः ५७ यथेष्टं धारणं वायोरनलस्य प्रदीपनं नादाभिव्य
क्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधनात् ५८ प्राणो देहस्थितो वायुरपानस्य निरो
धनात् एकाश्वासमयी मात्रा मुद्घते गगने गतौ ५९ रेचकः पूरकश्चैव कुं
भकः प्राणायामकः प्राणायामो भवेत्त्रेधा मात्राद्वादशसंयुतः ६० मात्राद्वा
दशसंयुक्तौ निशाकरदिवाकरौ दोषजालस्य हंतारौ ज्ञातव्यौ योगिभिः
सदा ६१ पूरकं द्वादशं कुर्यात् कुंभकं षोडशं भवेत् रेचकं दश चौंकारः

प्राणायामः स उच्यते २ अधमे द्वादश मात्रा मध्यमे द्विगुणा मता उत्तमे
त्रिगुणा प्रोक्तो प्राणायामस्य लक्षणं ३ अधमे च घनो धर्मः कंपो भवति मध्य
मे उत्तमे स्थानमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत् ४ बद्धपद्मासनो योगी नमस्कृ
त्य गुरुं शिवं नासाग्रदृष्टिरेकाकी प्राणायामं समभ्यसेत् ५ ऊर्द्धमाकृष्य चा
पानं वायुं प्राणे नियोजयेत् ऊर्द्धमानीयते शक्त्या सर्वपापैः प्रमुच्यते ६ द्वा ६
राणं नवकं निरुद्ध्य मरुतं पीत्वा दृढं धारितं नीत्वाकाशमपानवह्निसहि
तं शक्त्या समुच्चालितं आत्मध्यानयुतस्त्वनेन विधिना विन्यस्य मूर्द्ध्नि स्थि
रं यावत्तिष्ठति तावदेव सहिता बंधेनु संसूयते ७ प्राणायामो भवत्येषः पात
कं धनपावकः भवोदधिमहासेतुः प्रोच्यते योगिभिः सदा ८ आसनेन रु
जो हंति प्राणायामेन पातकं विकारं मानसं योगी प्रत्याहारेण मुंचति ९ धा
रणाभिर्मनो धैर्यं ध्यानाच्चैतन्यमद्भुतं समाधौ मोक्षमाप्नोति त्यक्त्वा कर्म
शुभाशुभं १० प्राणायामद्विषट्केन प्रत्याहारः प्रकीर्तितः प्रत्याहारद्विषट्केन
जायते धारणा शुभा ११ धारणा द्वादश प्रोक्तं ध्यानं ध्यानविशारदैः ध्यानद्वा

६ दशके नैव समाधिरभिधीयते १२ यत्समाधौ परं ज्योतिरनंतं विश्वतो मुखम्
तस्मिन् दृष्टे क्रियाकर्म यातायातं न विद्यते १३ संबद्धासनमेढ्रमं[illegible]घ्रियु
ग्मं कर्णाक्षिनासापुटद्वारं त्वंगुलिभिर्नियम्य पवनं वक्त्रेण संपूरितं
धृत्वा वक्षस्य वाह्यपान सहितं मूर्ध्नि स्थितं धारयेदेवं याति विशेषतत्
त्वसमतां योगीश्वरस्तन्मयः १४ गगने पवनं प्राप्ते ध्वनिरुत्पद्यते महान्
घंटादीनां प्रवाद्यानां तदा सिद्धिरदूरतः १५ प्राणायामेन युक्तेन सर्वरोग
क्षयो भवेत् अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगस्य संभवः १६ हिक्का कासस्त
था श्वासः शिरःकर्णाक्षिवेदना भवंति विविधा रोगाः पवनस्य व्यतिक्रमात् १७
यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेत् वश्यः शनैः शनैः अन्यथा हंति योक्तारं तथा वायु
र्विशेषितः १८ युक्तं युक्तं त्यजेद्वायुं युक्तं युक्तं च पूरयेत् युक्तं युक्तं च बध्नीया
देवं सिद्धिमवाप्नुयात् १९ चरतां चक्षुरादीनां विषयेषु यथाक्रमं तत्प्रत्या
हरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते २० यथा तृतीयकाले स्थो[illegible] रविः प्रतिहरे
[illegible] प्रभां तृतीयांगस्थितो योगी विकारं मानसं यथा २१ अंगमध्ये

तं

यथांगानि कूर्मः संकोचयेत्एवं योगी प्रतिहरत्येषमिंद्रियाणि तथात्मनि २२
यंयं शृणोति कर्णाभ्यां मनित्यं नित्यमेव च तंतमात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति यो
गवित् २३ अगंधमथवा गंधं यंयं [illegible] जिघ्रति नासिका तंतमात्मेति वि
ज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् २४ अमेध्यमथवा मेध्यं यंयं पश्यति चाक्षुषा तं
तमात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् २५ अस्पृश्यमथवा स्पृश्यं यंयं स्पृ
शति चर्मणा तंतमात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् २६ अलोणमथवा
लोणं यंयं स्पृशति जिह्वया तंतमात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् २७
चंद्रामृतमयीं धारां प्रत्याहरति भास्करः यत्प्रत्याहरणं तस्याः प्रत्याहारः स
उच्यते २८ एका स्त्री भुंजते द्वाभ्यां मागता चंद्रमंडले तृतीया यस्तं तत्ता
भ्यां सभवेदजरामरः २९ नाभिदेशे वसत्येको भास्करो दहनात्मकः अमृ
तात्मा स्थितो नित्यं तालुमूले च चंद्रमा ३० वर्षत्यधोमुखश्चंद्रो ग्रसत्यूर्द्ध
मुखो रविः ज्ञातव्यं करणं तत्र येन पीयूषमाप्यते ३१ ऊर्द्धं नाभिरधस्तालु
रूर्द्धं भानुरधः शशी करणी विपरीताख्यं गुरुवाक्येन लभ्यते ३२ त्रिधाबद्धो

८ स्त्यो यत्र रौरवीति महाध्वनः अनाहतं च तत्र चक्रं हृदये योगिनो विदुः ३३
अनाहतमतिक्रम्य चाक्रम्य मणिपूरकं प्राप्ते प्राणे महत्पद्मं योगित्वममृता
यते ३४ ऊर्ध्वं षोडशपद्मपत्रगलितं प्राणाद्‌वाप्तं हठात् ऊर्ध्वास्यो रसनां वि
धाय विधिवच्छक्तिं परां चिंतयेत् तत्कल्लोलकलाजलं च विमलं जिह्वा
कुलं यः पिबेन्निर्दोषः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरंजीवति ३५ का
कचंचुवदास्येन शीतलं सलिलं पिबेत् प्राणापानविधानेन योगी भवति
निर्जरः ३६ रसनातालुमूलेन यः प्राणमनिलं पिबेत् अब्दार्द्धेन भवे
त्तस्य सर्वरोगस्य संक्षयः ३७ विशुद्धे परमे चक्रे धृत्वा सोमकलामलं उन्मा
गेण हतं याति वंचयित्वा मुखं रविः ३८ चित्रशब्देन स्मृतो हंसो नैर्मल्यं शुद्धि
रुच्यते अतः कंठविशुद्धाख्यं चक्रं चक्रविदो विदुः ३९ अमृतं कंदरे कृत्वा
नाशांतमुखरेक्रमात् स्वयमस्खलितं याति वर्जयित्वा मुखं रवेः ४० वर्ध्ध
सोमकलाजलं सुविमलं कंठव्यपलादूर्ध्वंतो नासांते मुखरं नयेद्ध्वा गगने
द्वारं ततः सर्वतः ऊर्ध्वास्यो भुवि संनियत्य नितरामुत्तानपादः पिबेदेवं यः कु

रुतेयतेंद्रियजनो नैवाप्तितस्यक्षयः ४१ ऊर्द्ध्वं जिह्वां स्थिरां कृत्वा सोमपानं करो
तियः मासार्द्धेन न संदेहो मृत्युं जयति योगवित् ४२ वद्धं मूलविलं येन तेन विघ्नो
विदारितः अजरामरमाप्नोति यथा पंचमुखो हरः ४३ संपीड्य पदयोनाग्रेण राज
दंतविलं महत् ध्यात्वा मृतमयीं देवीं षण्मासेन कविर्भवेत् ४४ सर्वद्वाराणि व
ध्नाति तत् ऊर्द्ध्वं धारितं महत् न मुंचत्यमृतं कापि स यथा पंचधारणा ४५
चुंवंती यदि लंविकाग्रमनिशं जिह्वा रसस्वादिनी सक्षारकटुकाम्ल दु
ग्धसदृशी त्यत्काग्नता चान्यथा व्याधीनां हरणं जरांतकरणं शास्त्रागमोद्धी
रणं तस्य स्याद मरत्वमष्टगुणितं सिद्धांगनाकर्षणं ४५ अमृता पूर्णदेह
स्य योगिनो द्वित्रिवत्सरात् ऊर्द्ध्वं प्रवर्त्तते रेतो ह्यणिमादि गुणोदयः ४७ इं
धनानि यथा वन्हिस्तैलवर्त्ती च दीपकः तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न
मुंचति ४८ नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य योगिनः तक्षकेनापि दष्टस्य वि
षं तस्य न पीडयेत् ५० आसनेन समायुक्तः प्राणायामेन संयुतः प्रत्याहार
ण संपन्नधार णा च समभ्यसेत् ५० हृदये पंचभूतानां धारणा च पृथ

२ कूपयकं मनसोनिश्चलत्वेन धारणासाभिधीयते ५१ ॐलं नमः यापृथ्वीह
रितालहेमरुचिरातत्वंलकारान्विता संयुक्ता कमलासनेनहि चतुःकोणाहृ
द्व्यापिनी प्राणंतत्रविलीनपंचघटिकंचित्तांतरं धारयेदेषास्तंभकरी
सदाक्षितिजयं कुर्याद्भुवो धारणा ५२ ॐवं नमः अर्द्धेंदुप्रतिमंचकुंदध
वलंकंठेंबुतत्वास्थितं तत्पीयूषवकारबीजसहितं युक्तंसदाविष्णुनाप्राणं
तत्रविलीयपंचघटिकंचित्तान्वितंधारयेदेषादुःसहकालकूटजरणा स्या
त्वारुणीधारणा ५३ ॐरंनमः यत्तालुस्थितमिंद्रगोपसदृशं तत्त्रिको
णानलं तेजोरेफयुतं प्रवालरुचिरं रुद्रेणयत्संगतं प्राणंतत्रविलीयपंचघटि
कंचित्तान्वितंधारयेदेषावन्हिजयंसदाविदधते वैश्वानरी धारणा ५४ ॐ
यंनमः यद्भिन्नांजनपुंजसन्निभमिदं वृत्तंभ्रुवोरंतरे तत्त्वंवायुमयंयकार
सहितंतत्रेश्वरोदेवता प्राणंतत्रविलीयपंचघटिकंचित्तान्वितंधारयेदेषा
खेगमनंकरोतियमिनां स्याद्वायवीधारणा ५५ ॐहंनमः आकाशंशुचि
शुद्धवारिसदृशंयद्ब्रह्मरंध्रेस्थितंतन्नादेनसदाशिवेनसहितंतत्त्वंहकारा

न्वितं प्राणं तत्र विलीय पंच घटिकं चित्तान्वितं धारयेदेषा मोक्षकपाटपाटनप
टुः प्रोक्ता नभोधारणा ५७ स्तंभिनी द्राविणी चैव दहनी भ्रामणी तथा शोष
णी च भवत्येषां भूतानां पंच धारणा ५८ कर्मणा मनसा वाचा धारणा पंच दु
र्लभा विज्ञाय सततं योगी सर्वपापैः प्रमुच्यते ५९ विस्मृत्यैः सर्वचिंतायां धातु
रेकोपि विद्यते यत्र चित्ते निर्मला चिंता ध्यानं तद्धि प्रचक्षते ६० द्विविधं भवति
ध्यानं सकलं निष्कलं तथा सकलं वर्णभेदेन निष्कलं निर्मलं भवेत् ६१ अं
तःस्थितो वहिश्चाद्गुरधःस्थाप्य सुखासनं समत्वं च शरीरं च ध्यानमुद्रेति
कथ्यते ६२ आधारं प्रथमं चक्रं सुवर्णाभं चतुर्दलं कुंडलिन्या समायुक्तं ध्या
त्वा मुच्येत किल्बिषैः ६३ स्वाधिष्ठाने च षट्पत्रे सन्माणिक्य समप्रभे नासा
ग्रदृष्टिरेकाकी ध्यात्वा योगी सुखी भवेत् ६४ तरुणादित्यसंकाशे चक्रे च म
णिपूरके नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा संक्षोभयेज्जगत् ६५ हृदाकाशस्थि
तं शंभुं प्रचंडरवितेजसं नासाग्रदृष्टिरादाय ध्यात्वा ब्रह्मसमो भवेत् ६६ पवि
त्रं भवेहृत्पद्मे प्राणायामैर्विभेदतः नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा ब्रह्ममयो भवे

१० नुः ६६ सततं घटिकामध्ये विमुक्ते दीपकप्रभे नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा दुःखवि-
मुंचति ६७ श्रवत्पीयूषसंपूर्णे लंबिला चंद्रमंडले नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्या-
त्वा मृत्युं प्रमुंचति ६८ भ्रुवोरंतर्गतं देवं सन्माणिक्यशिखोपमं नासाग्रदृष्टि-
रात्मानं ध्यात्वानंदमयो भवेत् ६९ ध्यायेन्नीलनिभं नित्यं भ्रूमध्ये परमे-
श्वरं आत्मानं विजितप्राणो योगी योगमवाप्नुयात् ७० निर्गुणं च शिवं शां-
तं गगने विश्वतोमुखं नासाग्रदृष्टिरेकाकी ध्यात्वा ब्रह्मसमो भवेत् ७१ आ-
काशे यत्र शब्दः स्यात् तदाज्ञाचक्रमुच्यते तत्रात्मानं शिवं ध्यात्वा योगी मृत्यु-
मवाप्नुयात् ७२ गुदं मेढ्रं च नाभिं च हृत्पद्मं चंद्रमूर्द्धनः घंटिकां लंबिकास्था-
नं भ्रूमध्ये च नभोबिले ७३ कथितानि नवैतानि ध्यानस्थानानि योगिभिः
उपाधिं सकलं तीत्वा कुर्वंत्यष्टगुणोदयं ७४ एतद्ब्रह्मात्मकं तेजः शिवज्यो-
तिरनुत्तमं ध्यात्वा ज्ञात्वा विमुक्तः स्यादिति गोरक्षभाषितं ७५ अश्वमेध-
सहस्राणि वाजपेयशतानि च एकस्य ध्यानयोगस्य कलां नार्हंति षोडशीं
७६ उपाधिश्च तथा तत्त्वं संस्थितं चान्यथा भवेत् समस्तोपाधिविध्वंसी

सदभ्यासेनजायते७७शब्दादीनांचतन्मात्रंयावत्कर्णादिषुस्थितंतावदे
वस्मृतंध्यानंसमाधिःस्यादतःपरं७८धारणापंचनाडीभिःध्यानंचषष्ठि
नाडिकैःदिनद्वादशकेनस्यात्समाधिःसाभिधीयते७९यत्सर्वंद्वंद्वयोरैक्यं
जीवात्मपरमात्मनोःसमस्तनष्टसंकल्पःसमाधिःसाभिधीयते८०अं
बुसैंधवयोरैक्यंयथाभवतियोगतःतथात्ममनसोरैक्यंसमाधिःसाभि
धीयते८१यदासंक्षीयतेप्राणोवासनाचविलीयतेतदासमरसत्वंचस
माधिःसाविधीयते८२नगंधंनरसंरूपंनस्पर्शंननिश्वसनेनचात्मानं
परंवेत्ति योगीमुक्तिसमाधिना८३खाद्यतेनसकालेनवाध्यतेनस
कर्मणासाध्यतेनसकेनापियोगीमुक्तःसमाधिना८४अभेद्यःसर्वशस्त्रा
णांअवध्यःसर्वदेहिनांअग्राह्योयंत्रमंत्राणांयोगीमुक्तःसमाधिना८५
युक्ताहारविहारस्ययुक्तचेष्टस्यकर्मसुयुक्तःस्वप्नाववोधस्ययोगोभवति
दुःखहा८६निराद्यंतंनिरालंबंनिःप्रपंचंनिराश्रयंनिराकारंतत्वंनिराम
यंतत्वविदोविदुः८७निर्गुणंनिश्चलंनित्यंनिःक्रियंनिर्गुणंमहत्व्योमवि
ज्ञानमानंदंब्रह्मब्रह्मविदोविदुः८८निरातंकेनिराधारेनिरालंबेनिराम

२१ ये योगी योगविधानेन परं ब्रह्मणि लीयते ॥९४॥ हेतुदृष्टांतनिर्मुक्तं मनोबुद्धि
रगोचरं विज्ञानब्योमममानंदं तत्त्वं तत्त्वविदो विदुः ॥९५॥ यथा घृतं घृते क्षिप्तं
घृतमेव हि जायते क्षीरे क्षीरं तथा योगी तत्त्वमेव हि जायते ॥ दुग्धे क्षीरं
घृते सर्प्पि रग्नौ वन्हि रिवार्पितः तन्मयत्वं ब्रजेन्त्येव योगी लीनः परे पदे ॥९६॥
भवभयं हरतेन्नृणां मुक्तिसोपानसंज्ञिकं गुह्याद्गुह्यतरं गुह्यं गोरक्षेन प्र
काशितं ॥९७॥ इति गोरक्षशतकं योगशास्त्रं जनः पठेत् सर्वपापैर्विनिर्मुक्तो यो
गसिद्धिं लभेत्परां योगशास्त्रं पठेन्नित्यं किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः यत्स्वयं चादि
नाथस्य निर्गतं वदनांबुजात् ॥९८॥ स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिलैः दत्ता च
पृथ्वी द्विजे यज्ञानां च हुतं सहस्रमयुतं देवाश्च संपूजिताः सत्यं ते
न सुतर्प्पिताश्च पितरः स्वर्गे नीता पुनः येषां ब्रह्मविचारणे क्षणमपि प्रा
प्नोति धैर्यं मनः ॥९९॥ इति श्रीगोरक्षनाथेन विरचितं गोरक्षशतकं शुभं
भूयात् ॥ इडया पिब षोडशभिः पवनं ग्रणं बंकुरु षष्ठि चतुष्टयमंतरगं
त्यज पिंगलया शनकैः शनकैः दशभिर्दशभिर्दशभिः धौघिकेः

५

हठयोग प्रदीपिका

[सरल टीका एवं व्याख्या सहित]

टीकाकार :

डा० चमनलाल गौतम

पूर्व सम्पादक:—"युग-संस्कृति", "जीवन यज्ञ"

रचयिता:—तंत्र महाविज्ञान, देववाद का वैज्ञानिक स्वरूप, पशुबलि हिन्दू धर्म पर कलंक है, समाज सेवा के रचनात्मक कार्यक्रम, ज्ञान-विज्ञान का आदि स्रोत-वेद ।

प्रकाशक :

संस्कृति संस्थान

ख्वाजा कुतुब, वेदनगर बरेली-२४३००१

प्रकाशक :

डा० चमनलाल गौतम
संस्कृति संस्थान
ख्वाजा कुतुब, (वे[illegible]
बरेली. (उ. प्र.)

सम्पादक :

डा० चमनलाल गौतम

प्रथम संस्करण
१९७४

मुद्रक :

देवदत्त मिश्र
यमुना प्रिंटिंग प्रेस,
आर्यसमाज रोड, मथुरा.

मूल्य :

चार रुपये मात्र ।

भूमिका

प्रस्तुत 'हठयोग प्रदीपिका' नामक ग्रन्थ भगवान् श्री आदिनाथ द्वारा उपदेशित हठयोग विद्या का लिपिबद्ध संग्रह है, जो कि हठयोग विद्या रूप अथाह समुद्र में डुबकी मारकर अमूल्य निधि को निकाल लाने के समान है। इस ग्रन्थ के द्वारा न जाने कब से योग-जिज्ञासु पुरुष उपकृत होते आये हैं और वर्तमान काल में भी उपकृत हो रहे हैं। इसीलिए इसकी प्रसिद्धि आज भी उतनी ही है, जितनी कि प्राचीन काल में रही है।

श्री आदिनाथ भगवान् शिव का ही एक नाम है, जो कि योगी-समाज में ही नहीं, जन-साधारण में भी अपरचित नहीं है। उन्हीं आदिनाथ नामधारी शिव ने सांसारिक जीवों को मद-मोह से निकाल कर उनका कल्याण करने के उद्देश्य से जगज्जननी भगवती पार्वतीजी के प्रति इस उपदेश को कहा था।

हठयोग विद्या, वह विद्या है जिसका सेवन करके अनेकानेक महायोगी पुरुष संसार-सागर से सहज ही पार हो गए। पुराणों का वर्णनानुसार सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा ने भी ब्रह्मपद की प्राप्ति के लिए इसी विद्या का आश्रय लिया था और ब्रह्मा ही नहीं, विष्णु, शिव, नारद, याज्ञवल्क्य, वसिष्ठ आदि अनेक देवता, ऋषि-महर्षि आदि सभी इसका आश्रय लेकर अपने ऐश्वर्य की वृद्धि करते रहे हैं। इसीलिए बड़े-बड़े योगाचार्यों और ज्ञानी पुरुषों ने इसकी प्रामाणिकता स्वीकार की है और वे इसके उपदेशानुसार आचरण में प्रवृत्त होते रहे हैं।

यह भी मान्यता है कि हठयोग विद्या को सर्व प्रथम मत्स्येन्द्रनाथ और गोरक्षनाथ ने भगवान् आदिनाथ के श्रीमुख

से श्रवण किया था और इस श्रवण किये हुए योग का परम्परागत पालन होता रहा तथा समय-समय पर सार रूप में जिज्ञासुओं के समक्ष आता रहा। अधिक कठिन और निरर्थक अंशों का त्याग होते-होते अन्त में इसने 'हठयोग प्रदीपिका' का रूप ग्रहण किया और तब गोरक्षनाथजी की कृपा से उन्हीं के अनुसार इसका सारभूत एवं उत्कृष्ट रूप जिज्ञासुजनों के हितार्थ प्रकट हुआ।

'हठयोग प्रदीपिका' नामक इस ग्रन्थ के चार विभाग कर प्रथम उपदेश से चतुर्थ उपदेश पर्यन्त चार उपदेशों में प्रस्तुत मनुष्यों के लिए इसका समझना सुगम नहीं था और अब तक इसके अनुवाद या टीकाएं भी कुछ ऐसी भाषा में थी, जो कि आज-कल की हिन्दी से कुछ पृथक्-सी प्रतीत होती है। उसे पढ़कर कभी-कभी तो पाठक को एक उलझन-सी अनुभव में आती है, और वह यथार्थ निष्कर्ष से बंचित ही रह जाता है।

हमने इसी कठिनाई का अनुभव करके, इसकी टीका वर्तमान सरल सुवोध हिन्दी में करके पाठकों के समक्ष प्रस्तुत की है और साथ ही सहज ही समझ में आसके, इस उद्देश्य से प्रत्येक श्लोक की विस्तृत व्याख्या भी संयुक्त करदी है। इस व्याख्या में श्रुतियों, उपनिषदों, शास्त्रों एवं अन्यान्य ग्रन्थों का मनन करके, जहाँ आवश्यक समझा, उनके उद्धरण भी दे दिये हैं, जिससे कि विषय वस्तु को अत्यन्त सुगमता से समझा जा सके। व्याख्या के इस कार्य में हमें कविराज श्री दाऊदयाल गुप्त से जो अमूल्य सहयोग मिला है उसके लिए वे बधाई के पात्र हैं।

हमें आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि हमारा यह प्रयास योग-जिज्ञासुओं और साधारण पाठकों के लिए भी अत्यन्त उपयोगी एवं कल्याणकारी सिद्ध होगा।

—डा० चमनलाल गौतम

विषय सूची

प्रथम उपदेश

द्वितीय उपदेश

तृतीय उपदेश

चतुर्थ उपदेश

★

हठयोग प्रदीपिका

प्रथम उपदेश

★

आरंभिक वन्दनादि

श्री आदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै येनोपदिष्टा हठयोगविद्या
विभ्राजते प्रोन्नतराजयोगमारोढुमिच्छोरधिरोहिणीव ।।१

टीका:—हठयोग विद्या का उपदेश करने वाले भगवान् श्री आदिनाथ को नमस्कार करके ग्रन्थ का आरम्भ करते हैं। वह विद्या मुमुक्ष को ऊपर चढ़ाकर राजयोग में युक्त कर देती है, इसलिए नसनी के समान है ।।१।।

व्याख्या:—आदिनाथ शिवजी का ही एक नाम है अथवा जो सबसे पूर्व हैं, उनसे पहले का कोई नहीं, इसलिए उनका नाम आदिनाथ हुआ। कुछ विद्वान् श्री आदिनाथ का अर्थ श्री (लक्ष्मी) सहित विष्णु करते हैं। वैसे शास्त्रों के अनुसार शिव और विष्णु में कोई भेद नहीं है। विष्णु पुराण (१।२।६६) के अनुसार—

सृष्टि स्थित्यन्तकरणीं ब्रह्मविष्णु शिवाभिधाम् ।
स संज्ञां यान्ति भगवानेक एव जनार्दनः ।।

अर्थात्—वह एक ही भगवान् सृष्टि का उत्पादन, पालन और संहार करते हैं। ब्रह्मा, विष्णु और शिव उन्हीं के नाम हैं।

'एकमेवाद्वितीयम्' (छान्दोग्य ६।२।१) अर्थात् 'वह एक ही है, दो नहीं' से भी भगवान् का एक होना ही सिद्ध है। शिव पुराण में भी 'एक एवतदा रुद्रो न द्वितीयोऽस्ति कश्चनः' अर्थात् 'तब (सृष्टि के आदि में) अकेला रुद्र ही था, कोई और नहीं था' कहकर उक्त मत की पुष्टि की ग ई।

'अधिरोहिणी' का अर्थ नसैनी या सीढ़ी है। यह हठयोग विद्या साधक को परिश्रम के बिना ही राजयोग रूपी पीठ पर चढ़ा देती है। इसलिए ऐसी विद्या को प्रकट करने वाले भगवान् आदिनाथ को नमस्कार करना भी श्रेयस्कर है।

श्रीगुरु नमस्कार

प्रणम्य श्रीगुरु नाथं स्वात्मारामेण योगिना।
केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते ।। २ ।।

टीकाः—उन श्री गुरु नाथ को प्रणाम हैं, जिन्होंने राजयोग प्राप्त कराने के लिए मुझ स्वात्माराम योगी को हठ-विद्या का उपदेश किया है ।। २ ।।

व्याख्याः—ग्रन्थकार ग्रन्थारम्भ में मंगल की अपेक्षा से गुरुदेव को नमस्कार करते हैं। क्योंकि गुरुदेव के उपदेश के बिना किसी भी प्रयोजन की सिद्धि सम्भव नहीं होती। यदि गुरु कृपा हो तो साधक के लिए मोक्ष दुर्लभ नहीं। इसीलिए गुरु को नाथ अर्थात् स्वामी कहा है। योगवासिष्ठ में कहा है—

गुरूपदेशशास्त्रार्थै विना चात्मा न बुध्यते।
एतत्संयोग सत्तैव स्वात्मज्ञान प्रकाशिनी ।।
—योग वासिष्ठ ६।४१।१६

अर्थात्—गुरु के उपदेश और शास्त्र के अध्ययन बिना आत्मज्ञान नहीं होता। अधिकारी जिज्ञासु, शास्त्राध्ययन और

सद्गुरु इन तीनों का संयोग होने पर ही आत्मज्ञान का प्रकाश होता है।

यदि गुरु की कृपा न हो तो बहुत से पढ़े हुए मन्त्र निष्फल रहते हैं, इसीलिए किसी भी मन्त्र की दीक्षा गुरुमुख से लेनी चाहिए। इसी की पुष्टि निम्न कथन से होती है।

अनेक कोटि मन्त्राणि चित्त व्याकुल कारणम्।
मंत्रं गुरोः कृपा प्राप्तमेकं स्यात् सर्वसिद्धिदम्॥

अर्थात्—करोड़ों मन्त्र हैं, परन्तु वे चित्त की व्याकुलता के ही कारण होते हैं (अर्थात् चित्त की व्याकुलता ही उत्पन्न करते हैं। यदि गुरु की कृपा से एक मन्त्र भी प्राप्त हो जाय तो वह सर्वसिद्धि प्रदान करने वाला होता है।

इस प्रकार गुरु द्वारा सीखी हुई विद्या का ही सफल होना सिद्ध है। साधक को गुरु का उपदेश प्राप्त करके, उसी के अनुसार साधना करनी चाहिए। इस श्लोक गुरु को प्रणाम करने का उद्देश्य भी यही है।

भ्रांत्या बहुमतध्वांते राजयोगमजानताम्।
हठप्रदीपिकां धत्ते स्वात्मारामः कृपाकरः॥ ३॥

टीकाः—अनेक मतों के गहन अन्धकार की भ्रान्ति से उबारने के लिए अपनी आत्मा में रमण करने वाले (स्वात्माराम) योगी कृपापूर्वक इस हठयोग प्रदीपिका को प्रकट करते हैं॥३॥

व्याख्याः—लोक में अनेक मतमतान्तर प्रचलित है। कोई एक अपने मत को श्रेष्ठ कहता है तो कोई दूसरा अपने मत को उत्कृष्ट बतलाता है। इस प्रकार सभी मत वाले अपने अपने मत की प्रशंसा करते हैं, इस कारण चंचल चित्त वाले अज्ञानी पुरुष उनके आकर्षण में पड़ कर कभी कहीं जाते हैं तो

कभी कहीं। वे यह निश्चय नहीं कर पाते कि यथार्थ कर्त्तव्य क्या है ?

उन भ्रान्ति में पड़े हुए मनुष्यों वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति हो सके, इस उद्देश्य से कृपालु योगी ग्रन्थकार ने उन पर कृपा के रूप में इस हठयोग प्रदीपिका नामक ग्रन्थ की रचना की है और यही तात्पर्य उन्होंने इस श्लोक में स्पष्ट रूप से प्रकट कर दिया है।

हठविद्यां हि मत्स्येंद्रगोरक्षाद्या विजानते ।
स्वात्मारामोऽथवा योगी जानीते तत्प्रसादतः ॥ ४ ॥

टीका:—महायोगी मत्स्येन्द्रनाथ और गोरक्षनाथ आदि ही इस हठ विद्या को जानते हैं अथवा उनकी कृपा से स्वात्माराम योगी भी इसे जानता है ॥४॥

व्याख्या:—ग्रन्थकार ने अपने ग्रन्थ का श्रेय स्वयं को न देकर मत्स्येन्द्रनाथ आदि महान् योगी पुरुषों को ही दिया है। उसका अभिप्राय है उक्त महानात्माओं की प्रसन्नता प्राप्त करने पर ही उसे इस हठयोग विद्या की प्राप्ति हो सकी है। श्लोक में 'हि' शब्द इस अर्थ का बोधक है कि मत्स्येन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ आदि योगिजन इस विद्या को विशेष रूप से जानते थे और उन विशेषज्ञों से प्राप्त विद्या में भी विशेषता होनी चाहिये।

प्राचीन ऋषि-मुनि संसार का कल्याण करना अपना कर्त्तव्य समझते थे। इसीलिए अज्ञानी पुरुषों को ज्ञान देकर उन्हें मोक्ष के मार्ग में प्रवृत्त किया करते। इसी उद्देश्य से ग्रन्थकार ने भी इस ग्रन्थ की रचना करना उचित समझा।

श्रीआदिनाथमत्स्येंद्रशाबरानंदभैरवाः ।
चौरंगीमीनगोरक्षविरूपाक्षबिलेशयाः ॥ ५ ॥

मंथानो भैरवो योगी सिद्धिर्बुद्धश्च कंथडिः ।
कोरंटकः सुरानंदः सिद्धिपादश्च चर्पटिः ॥ ६ ॥
कानेरी पूज्यपादश्च नित्यनाथो निरंजनः ।
कपाली बिंदुनाथश्च काकचंडीश्वराह्वयः ॥ ७ ॥
अल्लामः प्रभुदेवश्च घोडा चोली च टिंटिणिः ।
भानुकी नारदेवश्च खंडः कापालिकस्तथा ॥ ८ ॥
इत्यादयो महासिद्धा हठयोगप्रभावतः ।
खंडयित्वा कालदंडं ब्रह्मांडे विचरंति ते ॥ ९ ॥

टीकाः—श्री आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, शाबरनाथ और आनन्द भैरव तथा चौरङ्गी, मीननाथ, गोरक्षनाथ, विरूपाक्ष, विलेशयनाथ आदि सिद्ध हुए। मंथान, भैरव, सिद्ध, बुद्ध, कन्थद्रि, कोरंटक सुरानन्द, सिद्धपाद, चर्पटि, कानेरी, पूज्यपाद, नित्यनाथ, निरंजन, कपाली, बिन्दुनाथ, काक-चण्डीश्वर, अल्लाम, प्रभुदेव, घोड़ा चोली, टिंटिणी, भानुकी नारदेव, खण्ड कापालिक इत्यादि हठयोग के प्रभाव से ही महासिद्ध हो गए। यह सभी काल-दण्ड का खण्डन करके अर्थात् मृत्यु को जीतकर ब्रह्माण्ड में विचरण करते हैं ॥५—९॥

व्याख्याः—श्री आदिनाथ के उपदेशानुसार अनेकानेक सिद्ध हुए हैं, जिन्होंने हठयोग के द्वारा ऐश्वर्य प्राप्त किया है। आदिनाथ उन सब में प्रथम हैं, जिनके द्वारा नाथ सम्प्रदाय चलाया गया। यहाँ इन नामों के वर्णन करने का उद्देश्य जिज्ञासु की प्रवृत्ति के लिये ही है, जिससे कि उनकी उत्कर्ष-गाथा का स्मरण होते ही उसकी भी आकर्षण-वृद्धि हो सके।

मत्स्येन्द्रनाथ का एक उपाख्यान सुना जाता है। वह इस

प्रकार है कि एक समय भगवान् आदिनाथ शिवजी किसी एकांत सरोवर के तट पर विराजमान थे। वहां पार्वतीजी ने उनसे योग-ज्ञान की जिज्ञासा की। आदिनाथ शिव उन्हें हठयोग का उपदेश करने लगे, जिसे पार्वतीजी मन लगाकर सुनने लगीं।

उस सरोवर के जल में एक मत्स्य रहता था। वह भी उस योगोपदेश को मन लगा कर सुन रहा था। कृपालु आदिनाथ जी को उसका वह श्रवण ज्ञात हो गया और उन्होंने कृपा पूर्वक उसके निकट जाकर सरोवर से जल लिया और उस मत्स्य के ऊपर सींचने लगे। भगवान् आदिनाथजी के इस अनुग्रह को प्राप्त करके मत्स्य कृतकृत्य हो गया और उसे तुरन्त ही सिद्धि की प्राप्ति हो गई। वही मत्स्येन्द्रसिद्ध मत्स्येन्द्रनाथ हो गए।

चौरंगी की कथा इस प्रकार बताई जाती है कि एक बार वन में स्थित हुए चोरंगी (हाथ-पाँव-विहीन) पर उनकी दृष्टि गई। उनके देखने मात्र से चौरंगी के हाथ-पाँव लग गए। चौरंगी समझ गया कि इन्हीं मत्स्येन्द्रनाथ की कृपा से मैं हाथ-पाँवों से युक्त हो गया और तब वह उनके चरणों में गिर कर अनुग्रह की याचना करने लगा। मत्स्येन्द्रनाथ को भी दया आ गई और उन्होंने उसे हठ विद्या का उपदेश किया। आगे चल कर वही चौरंगी सिद्ध के नाम से प्रसिद्ध हो गया।

मत्स्येन्द्रनाथ आदिनाथजी के शिष्य थे। उनके अनेक शिष्य हुए। गोरक्षनाथ भी उन्हीं के शिष्य बताये जाते हैं। गोरक्षनाथ के नाम का कथन भी भर्तृहरि और गोपीचन्द्र की अन्तर्कथा की ओर संकेत करता है। गोरक्षनाथ ने राजा भर्तृहरि को योग का उपदेश किया था और भर्तृहरि ने अपने भानजे (बहिन के पुत्र) राजा गोपीचन्द्र को योग की ओर प्रवृत्त किया, जिससे वह भी राज-पाट का त्याग करके गोरक्षनाथ की शरण में गए।

इस प्रकार यह सभी सिद्ध हठयोग के प्रवर्त्तक भी हुए हैं। उन्होंने काल के दण्ड को काट डाला अर्थात् शरीर और प्राण को पृथक् करने वाले मृत्यु को विजय करके वे ब्रह्माण्ड में विचरण करते हैं। इसका आशय यह है कि उन्हें सभी लोकों में इच्छानुसार जाने-आने की सामर्थ्य प्राप्त होगई।

अशेषतापतप्तानां समाश्रयमठो हठः।
अशेषयोगयुक्तानामाधारकमठो हठः ॥ १० ॥

टीकाः—अशेष ताप से तप्त हुए पुरुषों का समाश्रय मठ रूप हठयोग और अशेष योगियों का आधार कमठरूप हठयोग है ॥१०॥

व्याख्याः—हठयोग और कमठयोग के भेद से हठयोग के दो प्रकार माने गए हैं। इनमें सभी तापों का नाशक मठयोग और योगों का साधक कमठयोग है। अशेष ताप के कथन का संकेत त्रिताप की ओर है और ताप तीन प्रकार का है—(१) आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। इन तापों के कारण तप्त हुए मनुष्यों के लिए हठयोग मठस्वरूप होता है। मठ का अर्थ है घर, इससे हठयोग को उनके लिए आश्रय देने वाला समझना चाहिए। इसीलिए 'अशेषतापतप्तानां' कह कर ग्रन्थकार ने उन मनुष्यों की ओर संकेत किया है, जिनके त्रितापों में से कोई एक भी शेष रह गया है। इन तापों में भी आध्यात्मिक ताप शारीरिक और मानसिक के भेद से दो प्रकार का माना गया है। शारीरिक ताप का तात्पर्य है रोगादि और मानसिक ताप का अभिप्राय है मन का अशान्त रहना। इनका शमन योग के आश्रय से ही संभव है।

योगों से सम्पन्न पुरुष का आश्रय ईश्वर है और ईश्वर का एक अवतार कमठ अर्थात् कच्छप रूप में भी हुआ है। इस-

लिए जो साधक योग-सम्पन्न होकर भगवान् के विभिन्न स्वरूपों का ध्यान करता है, उसे अवश्य ही काम्यफल की प्राप्ति होती है। कमठ अर्थात् कच्छप को जगत् का आधार माना गया है, क्योंकि समुद्र मन्थन के समय भगवान् ने कच्छप रूप धारण करके समुद्र में धसकते हुए श्रीमद्भागवत में इसका वर्णन इस प्रकार किया है—

विलोक्य विघ्नेशविधिं तदेश्वरो
दुरन्तवीर्योऽवितथाभिसन्धिः ।
कृत्वा वपुः काच्छपमद्भुतं महत्
प्रविश्य तोयं गिरिमुज्जहार ॥

—भागवत ८।७।८

अर्थात्—विघ्नेश्वर द्वारा किये हुए विघ्न को समझ कर अनन्त शक्ति और सत्य संकल्प वाले भगवान् कच्छप अवतार धारण कर जल में प्रविष्ट हुए और उस पर्वत को बाहर ले आये।

उक्त श्लोक से अगले श्लोक में 'दधार पृष्ठेन स लक्ष-योजन' कह कर भागवतकार ने 'भगवान् कच्छप द्वारा एक लाख योजन को पीठ वना कर उस मंदराचल पर्वत कर लेना कहा है। इस प्रकार यह अन्तर्कथा कच्छप को पर्वतादि स्वरूप वाले जगत् का आधार मान कर योगयुक्त पुरुष उन्हीं भगवान् के ध्यान में तल्लीन रहता है। इसी को कमठरूप हठयोग समझना चाहिए।

हठविद्या परं गोप्या योगिना सिद्धिमिच्छता ।
भवेद्वीर्यवती गुप्ता निर्वीर्या तु प्रकाशिता ॥ ११ ॥

टीका:—सिद्धि की आकांक्षा वाले साधक को हठ विद्या

परम गोपनीय है, क्योंकि गुप्त रहने से ही यह वीर्यवती रहती है और प्रकट होने पर निर्वीर्य हो जाती है ॥११॥

व्याख्या:—अन्य विद्याएं चाहे प्रकट रहें अथवा गुप्त, परन्तु हठयोग विद्या को परम गुप्त रखने योग्य माना गया है। सिद्धियों की इच्छा वाले के लिए तो अवश्य ही इसे गुप्त रखना चाहिए, तभी वह वीर्यवती अर्थात् प्रभावशालिनी रह सकती है और वीर्यवती रहने से ही सिद्धि मिल सकती है।

सिद्धियाँ आठ प्रकार की होती है—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व, वाशित्व। इनसे शरीर को क्रमशः अणुवत् सूक्ष्म, बृहदाकार, भारी, हलका कर लेना और दूरस्थ पदार्थों को स्पर्श करना, कामनायें पूर्ण कर लेना, आन्तरिक चक्रों पर प्रभुत्व रखना और सभी को अपने वश में कर लेना आदि सामर्थ्यों की प्राप्ति हो सकती है।

योगदर्शन के विभूतिपाद में लगभग तीस सिद्धियों का वर्णन मिलता है। इनमें से किसी के द्वारा हाथी का बल प्राप्त होता है, किसी से भूख-प्यास पर विजय और किसी से आकाश में उड़ने की शक्ति प्राप्त होती है। किसी से दिव्य श्रवण, दिव्य दृष्टि और किसी से लोकों नक्षत्रों आदि का ज्ञान प्राप्त होता है। इस प्रकार की सिद्धियाँ योग के द्वारा प्राप्त हो सकती हैं। परन्तु, उन सिद्धियों को प्राप्त कराने वाली विद्या यदि प्रकट हो जाती है तो उसमें शक्ति का ह्रास हो जाता है और वह जो प्रभाव उत्पन्न कर सकती थी, उसे करने में समर्थ नहीं रहती।

योग्य देश एवं कुटी-निर्माण

सुराज्ये धार्मिके देशे सुभिक्षे निरुपद्रवे ।
धनुः प्रमाणपर्यंतं शिलाग्निजलवर्जिते ॥
कांते मठिकामध्ये स्थातव्यं हठयोगिना ॥ १२ ॥

टीका:—ऐसा धार्मिक देश हो, जिसमें कोई उपद्रव न हो, सुभिक्ष रहता हो, उसके चारों ओर धनुष प्रमाण पर्यन्त शिला, अग्नि और जल न हो। श्रेष्ठ राज्य में स्थित ऐसे स्थान में मठिका बनवाकर हठयोगी को योगाभ्यास करना चाहिए ॥१२॥

व्याख्या—धार्मिक देश और श्रेष्ठ राज्य में रहने का कथन इस अभिप्राय को व्यक्त करता है कि योगी के वही देश अर्थात् स्थान उपयुक्त हो सकता है जहाँ अधर्म या अपवित्रता का लेश भी न हो। क्योंकि योगाभ्यास के लिए वातावरण की पवित्रता अत्यन्त आवश्यक है, यदि वातावरण में पवित्रता न होगी तो मनमें अधर्म रहेगा, जिससे एकग्रता सम्भव नहीं होगी, जिससे साधना भी फलवती नहीं हो सकती।

सुराज्य का अभिप्राय ऐसे राज्य से है, जिसका राजा प्रजापालक, साधु सन्तों, योगाभ्यासियों का रक्षक और धार्मिक एवं न्यायशील हो। अधार्मिक, अन्यायी या क्रूर राजा हो तो उस राज्य में दमन, कलह, अत्याचार आदि का आधिक्य रहेगा और उस अवस्था में यह सम्भव नहीं कि योगी की कुटिया का वातावरण भी क्षुब्ध न हो पाये। इसीलिए योगसाधक को श्रेष्ठ राज्य में रहने का निर्देश है।

उस राज्य और स्थान का निरुपद्रव रहना इसीलिए आवश्यक है कि उपद्रव ग्रस्त क्षेत्र में भय, शंका और आतंक

का साम्राज्य छाया रहता है, योगाभ्यास में विघ्न स्वरूप सिद्ध होता है। अत: साधक को अपनी साधना के लिए निरुपद्रव प्रदेश चुनना चाहिए।

'सुभिक्षे' का अर्थ है सुकाल रहना। जिस राज्य में अन्न बहुत उत्पन्न होता हो, अनावृष्टि आदि के कारण कभी अकाल न पड़ता हो, जिससे कि योगी को शरीर-रक्षार्थ आहार की प्राप्ति में बाधा उपस्थित न हो सके।

अथवा 'सुभिक्ष' का आशय श्रेष्ठ भिक्षा से भी है और जिस राज्य में श्रेष्ठ भिक्षा मिल सकती हो, वही साधक को भोजनादि की अनुकूल सुविधा हो सकती है। इसलिए जिस राज्य में सुभिक्ष हो, वहीं रहकर साधना करना श्रेयस्कर हो सकता है।

'धनुप प्रमाण' का आशयहै चार हाथ परिमाण, जहाँ आसन के चारों ओर चार-चार हाथ तक शिला, जल और अग्नि न हो इस कथन का अभिप्राय यह है कि बैठने के स्थान के चारों ओर भी इतनी स्वच्छता हो कि कोई वस्तु पड़ी न रहे। शिला अर्थात् पत्थर होने से, उठने पर ठोकर लगने का भय हो सकता है, और जल, अग्नि भी हानिकारक सिद्ध हो सकते हैं क्योंकि उनसे सर्दी, गर्मी से होने वाले विकारों की सभावना हो सकती है। इस प्रकार विकार हीन वातावरण से युक्त स्थान चुनना चाहिए।

'मठिकामध्ये स्थातव्यं' अर्थात् 'मठिका बन वाले इसमें 'मठिका' का अर्थ छोटी कुटिया से है, मठ से नहीं। क्योंकि मठ तो बड़ा होता है और योगी साधक को बहुत बड़ा स्थान हितकर नहीं होता। मठिका भी इसलिए बनवाने का निर्देश है कि शीत, धूप, वर्षा आदि से बचाव हो सके।

इस प्रकार योगी को श्रेष्ठ राज्य, सुन्दर स्थान, छोटी कुटी बना कर सुभिक्ष युक्त एवं निरुपद्रव स्थान में रहकर अभ्यास करना चाहिए, इसी में उसका कल्याण है ।

अल्पद्वारमरंध्रगर्तविवरं नात्युच्चनीचायतं
सम्यग्गोमयसांद्र लिप्तममलं निःशेषजंतूज्झितम् ।
बाह्ये मंडपवेदिकूपरुचिरं प्राकारसंवेष्टितं
प्रोक्तंयोगमठस्यलक्षणमिदं सिद्धैर्हठाभ्यासिभिः ॥१३॥

टीका—उस कुटी का द्वार छोटा हो, छिद्र और गढ़ों से रहित हो, उसमें बिल भी न हों, उसका स्थान ऊंचा-नीचा न हो, गोबर से चिकना लिपा हुआ हो, जीव-जन्तुओं से वर्जित हो, कुटी के बाहर के स्थान में एक मण्डप बना हो, जिसमें वेदो और सुन्दर कूप हो तथा प्राकार अर्थात् भित्ती से घिरा हो। योग कुटी के यह लक्षण हठयोग के अभ्यासी सिद्धों ने बताये हैं ॥१३॥

व्याख्या—कुटी का द्वार छोटा रखना चाहिए। यह इसलिये कोई विशालकाय पशु आदि का उसमें प्रवेश न हो सके। उसमें छेद अर्थात् खिड़की या झरोखे भी न हों अन्यथा शीतकाल में ठंडी हवा, ग्रीष्म काल में उष्ण वायु अर्थात् लू और वर्षा ऋतु में बर्षा की बूंदों का कुटी के भीतर प्रवेश होने से साधक को कष्ट हो सकता है और अभ्यास में विघ्न पड़ सकता है।

कुटी में गढ़े हों, या ऊंचा-नीचा स्थान हो तो साधक को बैठने में असुबिधा होगी, जिससे अभ्यास में चित्त का लगना भी कठिन हो जायगा। ऊंचे-नीचे स्थान का अभिप्राय यह भी है कि स्थान अधिक ऊंचाई पर होगा तो चढ़ने में और अधिक

निचाई पर होगा उतरने में कष्ट होगा। परन्तु कुछ अनुभवी साधक ऊँचे-नीचे स्थान के होने में कोई दोष नहीं मानते। उनका मत है कि ऊँचे - नीचे स्थानों में साधारण मनुष्य परिश्रम के कारण कम ही पहुँच पाते हैं, इससे एकान्त बना रहता है और भीड़-भाड़ तो कभी हो ही नहीं पाती।

कुटी को गोबर से चिकनी लीपनी चाहिए। गोबर में कृमि नाशक शक्ति है, इसलिए डाँस, मच्छर आदि बहुत कम हो पाते हैं और इसी अभिप्राय से ग्रन्थकार ने भी 'निःशेषजन्तूज्झितम्' कहकर जीव-जन्तु रहित' रखने का उपदेश दिया है।

बाह्य प्रदेश में मण्डप और वेदी बनाने के निर्देश से यज्ञ की ओर संकेत मिलता है। इसका आशय यह है कि साधक को किसी विधि-विधान के अनुसार यज्ञ या होम की अपेक्षा हो तो वह सरलता से कर सके और कूप तो अत्यन्त आवश्यक है ही। क्योंकि जल की महिमा अन्न से भी अधिक है, इसके बिना शरीरधारी को प्राण-धारण में भी बहुत कठिनाई होती है। यदि कुटी में ही ताजा जल मिल सके तो उससे बहुत सुविधा रहती है।

प्राकार अर्थात् परकोटा खींचना भी कम आवश्यक नहीं है। इससे हिंस्र पशुओं और क्रूर अधर्मी मनुष्यों का भय नहीं रहता। इसलिए कुटी के चारों ओर दीवार खिचवाना अनावश्यक नहीं मान सकते।

एवंविधे मठे स्थित्वा सर्वचिंताविवर्जितः।
गुरूपदिष्टमार्गेण योगमेव समभ्यसेत् ॥ १४ ॥

टीका—इस विधि से मठ बनाकर और सभी प्रकार की चिन्ताओं का त्याग करके साधक गुरु द्वारा उपदिष्ट विधि से योग का ही अभ्यास करे ॥१४॥

व्याख्या—उपर्युक्त प्रकार से मठ बनाने के पश्चात् सबसे पहला कार्य है सब प्रकार की चिन्ताओं का परित्याग करना, क्योंकि यदि किसी प्रकार की थोड़ी सी भी चिन्ता या कामना शेष रहेगी तो योगाभ्यास में चित्त नहीं लगेगा और जब चित्त न लगेगा तो ध्यान भी नहीं बन सकता। इसीलिए नारदपरिव्राजकोपनिषत् में कहा गया है 'रागद्वेष वियुक्तात्मा समलोष्टाश्मकांचनः' अर्थात् 'राग-द्वेष को मनमें न आने दे और स्वर्ण, पाषाण, मृत्तिका को एक समान समझे।

गुरु द्वारा उपदिष्ट मार्ग पर चलता हुआ योगाभ्यास करे। क्योंकि गुरु ही योग विधियों को ठीक प्रकार से बता सकता है। अभिप्राय यह कि गुरु के बिना योगविद्या का ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। योग के साधन मे अभ्यास की आवश्यकता होती है और अभ्यास बिना अनुभव के सिद्ध नहीं हो सकता। इसीलिए जिज्ञासु को गुरु की शरण में जाकर शिक्षा प्राप्त करने का उपदेश है। जो साधक वैसा नहीं करते वे अनेक प्रकार की हानि उठाते हुए प्रायः असफल ही रहते हैं।

योग के अभ्यास में प्राणजय किया जाता है, क्योंकि जिसने वायु पर विजय प्राप्त करली, उसने मानों सर्वस्व ही प्राप्त कर लिया। 'अल्पकाल भयाद् ब्रह्मा प्राणायाम परा-भवेत्' (यो. चू. उ.) अर्थात् 'काम के भय से ब्रह्मा भी प्राणा-याम परायण रहते हैं।' इसीलिए यह कहना अयुक्त नहीं कि योग का ही अभ्यास करे। क्योंकि अभ्यास का माहात्म्य अत्य-धिक है—

अभ्यासेन परिस्पन्दे प्राणानां क्षयमागते।
मनः प्रशममायाति निर्बाणमवशिष्यते ॥

—योग वासिष्ठ ५।७८।४६

अर्थात्—अभ्यास के द्वारा प्राणों की गति रुक जाने पर मन शान्त हो जाता है और तब केवल निर्वाण ही शेष रहता है।

इस प्रकार उपर्युक्त प्रकार से कुटी निर्माण करके गुरु द्वारा बतायी विधि के अनुसार योग के अभ्यास में ही तत्पर रहना चाहिए। यही इस ग्रन्थ की शिक्षा है।

अत्याहारः प्रयासश्च प्रजल्पो नियमग्रहः ।
जनसङ्गश्च लौल्यं च षड्भिर्योगो विनश्यति ॥१५

टीका—अति भोजन, प्रयत्न, अधिक बोलना, नियमों का ग्रहण, मनुष्यों का संग और चंचलता, यह छः बाधाएं योग को नष्ट करने वाली हैं ॥१५॥

व्याख्या—अधिक भोजन करना निषिद्ध माना गया है, क्योंकि उससे आलस्य की वृद्धि होती है और जठरानल दीप्त न हुई तो उसका परिपाक भी ठीक प्रकार से नहीं हो पाता। इसीलिए योगशास्त्रों में मिताहार या अल्पाहार का प्रशस्त माना गया है। 'ब्रह्मचारी मिताहारी योगी योगपरायणः (यो. चू. उ.) अर्थात् योगी को ब्रह्मचारी, मिताहारी और योगा परायण रहना चाहिए।'

'प्रयास' अर्थ है प्रयत्न। जिस कार्य में अधिक प्रयत्न करना पड़े उसका त्याग करना ही श्रेयस्कर है। क्योंकि योगाचार्यों ने योगाभ्यास से भिन्न परिश्रम करना प्रशस्त नहीं माना है और यह ठीक भी। जब वह सभी चिन्ताओं और कामनाओं का ही परित्याग कर चुका तब उसके लिए योग-भिन्न परिश्रम की ही अपेक्षा क्यों रहनी चाहिए? इसी अभिप्राय से ग्रन्थकार ने प्रयास का वर्जन किया है।

प्रजल्प का अर्थ है बकवाद। अधिक बोलना प्रजल्प ही है। उससे द्वेष, ईर्ष्या, क्रोध, अहंभाव आदि की वृद्धि होती है, क्योंकि वाद-विवाद में किसी से अपनी निन्दा के वचन सुनने से उक्त भावों की सम्भावना स्वाभाविक है और इसीलिए योग-शास्त्रों में साधक को जनसग विवर्जित रहने का उपदेश दिया गया है और यहाँ भी 'जनसंगश्च लौल्यं च' कहकर मनुष्यों का संग न रखने का तो निर्देश है ही, साथ ही मन की चंचलता को भी नष्ट करने का निर्देश निहित है।

'नियमग्रहः' का निषेध करके ग्रन्थकार ने योगी के नियमों के प्रतिबन्ध से मुक्त कर दिया है। उनके अनुसार योगाभ्यासी को किसी प्रकार का नियम पालन करने को आवश्यकता नहीं है। प्रातःकाल ठंडे जल से स्नान, रात्रि में ही आहार अथवा फल का आहार करने आदि का भी उसके लिए कोई नियम नहीं है। क्योंकि योग मार्ग में तो प्राणवायु का निरोध ही सर्वोपरि क्रिया है। योगी का तो वही यम, नियम आदि सभी कुछ है। इसीलिए हठयोग के अनेक विद्वानों ने योग के आठ अगों के स्थान पर छः अंग ही माने है, जिनमें यम, नियमों को छोड़ दिया है।

इस प्रकार योग-साधक को इन अत्याहार आदि छः कर्मों को प्रति बन्धक मानकर योग को नष्ट करने वाला माना है। क्योंकि इनसे कामादि विकारों की उत्पत्ति या वृद्धि होनी है। ग्रन्थकार का अभिप्राय भी इनके त्याग का उपदेश करते हुए इनको दोष-दर्शन करना ही है। इसलिए साधक का कर्त्तव्य है कि वह छओं कर्मों का सर्वथा त्याग करने में ही कल्याण समझे।

उत्साहात्साहसाद्धैर्यात्तत्त्वज्ञानाच्च निश्चयात् ॥
जनसंगपरित्यागात्षड्भिर्योगः प्रसिद्ध्यति ॥१६

टीका—उत्साह, साहस, धैर्य, तत्वज्ञान, निश्चय और जनसंग का परित्याग, इन छः के द्वारा योग की सिद्धि होती है ॥१६॥

व्याख्या—उद्यम रूप उत्साह के बिना प्रवृत्ति नहीं हो सकती, इसलिए जिज्ञासु के चित्त में योग के लिए उत्साह होना आवश्यक है और जब उत्साह होजाय तब कौन-सा साधन साध्य है और कौन-सा असाध्य ? इस पर विचार करके योग की प्रवृति रूपी साहस के साथ धैर्य की अपेक्षा होती है। क्योंकि साधक में धैर्य होगा तभी वह कठिन योग-साधन में लगा रह सकता है। योग की सिद्धि कोई ऐसी वस्तु तो है नहीं जो विचार करते ही सिद्ध हो जाय, उसमें तो दीर्घकालीन अभ्यास करना होता है और वही साधक सफल होता है जो धैर्यपूर्वक उसमें लगा रहे. अन्यथा धैर्य के नष्ट होते हो चित्त के न लगने से साधना ही समाप्त हो जाती है।

धैर्य का अर्थ खेद का अभाव भी है जो साधक खेद रहित रूप से सभी विघ्न-बाधाओं को पार करता हुआ दृढ़तापूर्वक लगा रहे, वह धैर्य ही साधक को सिद्ध बना देता है। इसलिये सिद्धि को आकांक्षा वाले साधक को धैर्यपूर्वक अभ्यास में लगे रहना चाहिए।

तत्व ज्ञान क्या है ? विषय मृग तृष्णा के जल के समान मिथ्या है, आत्मा-परमात्मा में कोई भेद नही है, जो जीव है वही ब्रह्म है और ब्रह्म ही सत्य है यही ज्ञान रूप तत्व ज्ञान है। जब ऐसा ज्ञान हो जाता है, तभी साधक अपने मोक्ष के हेतु योगाभ्यास में लगा रह सकता है। ईशावास्योपनिषत् में कहा है—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं ७ स ह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ।।

अर्थात्—जो मनुष्य विद्यारूप ज्ञान तत्व और अविद्यारूप कर्म तत्व को साथ-साथ ही जान लेता है, वह कर्मों के अनुष्ठान से मृत्यु को पार कर ज्ञान के अनुष्ठान से अमृतत्व का उपभोग करता है।

निश्चय का अर्थ है विश्वास। शास्त्र और गुरु के वाक्यों में श्रद्धा और विश्वास का होने से ही अभ्यास की सिद्धि हो सकती है। जिस कार्य में अविश्वास या अश्रद्धा हो तो उसकी सफलता का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। इसलिए यदि विश्वास रूप निश्चय हो तभी योगाभ्यास में प्रवृत्त होना चाहिए।

योगी को जन-संग का परित्याग अत्यावश्यक है। पहले भी कह चुके है। इसीलिए योगाभ्यासी को एकांकी रहना श्रेयस्कार बताया गया है।

इस प्रकार उक्त छओं के द्वारा योग की सिद्धि शीघ्र हो सकती है।

यम-नियम वर्णन

"अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं क्षमा धृतिः।
दयार्जवं मिताहारः शौचं चैव यमा दश ।।१७।।
तपः सन्तोष आस्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम्।
सिद्धान्तवाक्यश्रवणं ह्रीमती च तपो हुतम्।
नियमा दश संप्रोक्ता योगशास्त्रविशारदै" ।।१८।।

टीका—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, क्षमा, धृति, दया, आर्जव, मिताहार और शौच यह दश यम हैं तथा

तप, सन्तोष, आस्तिकता, दान, ईश्वर का पूजन, सिद्धान्त वाक्य श्रवण, लज्जा, बुद्धि, जप और होम यह दश नियम हैं ।१७—१८।।

व्याख्या—अनेक विद्वानों के मत में यह दोनों श्लोक प्रक्षिप्त हैं, परन्तु साधक के लिए यम-नियमों का होना अनपेक्षित न होने से इनकी व्यावहारिकता अमान्य नहीं है। बहुत से सिद्ध योग के आठ अंग मानते हैं, उनमें यम, नियम दोनों अंगों का प्रारम्भ में ही उल्लेख है, परन्तु जो षडांग योग को मानते हैं, वह यम, नियम को योग के अंगों में नहीं गिनते।

महर्षि पतंजलि ने यम, नियमों का वर्णन इस प्रकार किया है—'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्या परिग्रहा यमाः' और जाति देशकालसमयानवाच्छिन्नाः सार्वभौमामहाव्रतम्' (यो. द. २।३०-३१) अर्थात 'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह यह पाँच यम' एवं 'जाति, देश, काल, समय में आवद्ध न होकर (इन यमों का पालन करना) महाव्रत है।

'शौचसन्तोष तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानिनियमाः (यो. द. २।३२) अर्थात् 'शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय' और ईश्वर की शरण लेना यह नियम हैं।' इस प्रकार महर्षि पतंजलि ने योग-दर्शन में बहुत-से सूत्र यम-नियमों को समझाने के लिए लिखे हैं अतएव यम-नियमों की आवश्यकता को अमान्य नहीं कर सकते।

हठस्य प्रथमाङ्गत्वादासनं पूर्वमुच्यते ।
कुर्यात्तदासनं स्थैर्यमारोग्यं चांगलाघवम् ।।१९।।

टीका—आसन हठयोग का प्रथम अंग है, इसलिए पहले आसन को ही कहते हैं, आसन करने से साधक को स्थैर्य, आरोग्य और अंगलाघवत्व की प्राप्ति होती है ।।१९।।

व्याख्या—योग के जो अंग बताये हैं उनमें आसन, प्राणायाम, मुद्रा, नादानु सन्धान, प्रत्याहार आदि अंगों में आसन प्रथम अंग है। इसीलिए ग्रन्थकार ने उसका सबसे पहले वर्णन किया है। आसन शरीर और मन की चंचलता को नष्ट करने वाला होता है। इसी से उसे स्थिरता रखने वाला कहा है।

आसन का साधन करने से साधक निरोग रहता है। कोई रोग हो तो नष्ट हो जाता है। योग-साधन में साधक का रोग-रहित रहना ही मन की स्थिरता में सहायक है। उसी से लाघवादि विभिन्न सिद्धियों की उपलब्धि हो सकती है। अंगों की लाघवता से तमोगुण का विकार भी नष्ट हो जाता है।

इस प्रकार आसन के द्वारा चित्त विक्षेप कारक त्रिगुणात्मक विकारों का शमन होकर योगाभ्यास में दृढ़ता प्राप्त होती है तथा भूख-प्यास, रोग आदि की भी निवृत्ति होती है। ग्रन्थकार ने इसे योगाभ्यास था प्रारम्भिक अंग मानकर सर्व प्रथम इसका वर्णन किया है।

आसनादि कथन

वसिष्ठाद्यैश्च मुनिभिर्मत्स्येन्द्राद्यैश्च योगिभिः।
अङ्गीकृतान्यासनानि कथ्यन्ते कानिचिन्मया ॥२०

टीका—वसिष्ठ आदि मुनियों और मत्स्येन्द्र आदि योगियों ने जिन आसनों को अंगीकार किया है, उनमें से कुछ प्रमुख आसनों का वर्णन किया जाता है ॥२०॥

व्याख्या—मुनियों का अर्थ है मनन करने वाले। मुनियों में वसिष्ठ आदि श्रेष्ठ हुए हैं और योगियों में श्रेष्ठ हुए हैं

मत्स्यनाथ आदि, जिनके नाम पहले कह चुके हैं। उन मुनियों और योगियों ने असंख्य आसनों का वर्णन किया है। भगवान् आदिनाथ शिव ने तो चौरासी लाख आसन कहे थे। परन्तु उनमें से चौरासी आसनों का ही प्रमुख रूप से चयन किया गया।

तत्पश्चात् विद्वानों ने देखा कि उन चौरासी आसनों में भी अनेक आसन कठिन और कष्ट साध्य हैं, साधारण साधक उन्हें बहुत प्रयत्न पूर्वक भी करने में समर्थ नहीं हो सकता तो उन्होंने उनमें से भी जो अधिक प्रमुख, सरल और सुसाध्य प्रतीत हुए, उनका चयन किया और जिज्ञासुओं के लाभार्थ प्रकट कर दिया। यहाँ उन्हीं आसनों पर ग्रन्थकार ने प्रकाश डाला है।

मुनियों और योगियों कहकर योगवेत्ताओं की दो श्रेणियाँ यहाँ प्रमुख रूप से बताई हैं। इसका आशय यह समझना चाहिए कि मुनियों का मनन अर्थात् अध्ययन अधिक था और योगियों को अभ्यास की अधिकता थी। फिर भी यह नहीं कह सकते कि वसिष्ठादि में कुछ न्यूनता थी या मत्स्येन्द्रादि में कुछ विशेषता। अनेक विद्वानों का मत तो यह है कि वसिष्ठादि मुनि योगाभ्यास में तो सिद्ध थे ही, उनकी मनन क्षमता भी बहुत बढ़ी चढ़ी थी, जिसे विशेषता ही कह सकते हैं।

स्वस्तिक आसन

जानूर्वोरंतरे सम्यक्कृत्वा पादतले उभे।

ऋजुकायः समासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते ॥२१॥

टीका:—जानु और जंघाओं के मध्य मध्य में सम्यक् प्रकार से पाँवों के तलुए लगाकर समान अवस्था में बैठे, वह स्वस्तिक आसन कहलाता है ॥२१॥

व्याख्याः— पाँवों की एड़ियों को घुटनों और जंघाओं के मध्य लगाकर बैठने से स्वस्तिकासन होता है। शाण्डिल्योपनिषत् में भी इस आसन का यथावत् वर्णन किया है, इसलिए इसका पुनर्कथन अनावश्यक है।

गोमुख आसन

सव्ये दक्षिणगुल्फं तु पृष्ठपार्श्वे नियोजयेत् ।
दक्षिणेऽपि तथा सव्यं गोमुखं गोमुखाकृति ।।२२

टीकाः— कटि के बाँयी ओर दाँया गुल्फ (रखना) और दाँये भाग में बांए रखने को लगाकर आसन करने से जो गोमुख के समान आकृति हो जाती है, उसे गोमुखासन कहते हैं ।।२२।।

व्याख्या— यह स्पष्ट रूप में इस प्रकार है कि पीठ के दाँयी ओर दाँया गुल्फ और बाँयी ओर बाँया गुल्फ जोड़कर गोमुख के समान बैठना ही गोमुख आसन है। गोमुखासन का सीधा-साधा अर्थ है गौ के मुख के समान आकार बनाकर बैठना।

यद्यपि यह आसन बहुत साधारण है, परन्तु किसी सद्गुरु के निर्देशन बिना इसका सिद्ध होना कठिन ही है। इसका अभ्यास बार-बार करने से ही इसमें सफलता मिल सकती है।

यह आसन स्नायुओं की निर्बलता, गड़बड़ी, वातरोगादि को दूर करने में बहुत उपयोगी माना जाता है।

वीरासन

एकं पादं तथैकस्मिन्विन्यसेदुरुणि स्थितम् ।
इतरस्मिंस्तथा चोरुं वीरासनमितीरितम् ।।२३।।

टीकाः—अब वीरासन का वर्णन करते हैं कि एक पाँव

बाँयी जाँघ पर और दूसरा पाँव दांयी जाँघ पर रखकर बैठने से वीरासन होता है ।। २३ ।।

व्याख्या:— वीरासन का अर्थ है वीरों के समान बैठना। यह आसन बहुत साधारण होता हुआ भी किसी जानकार से न जान लिया जाय जब तक ठीक प्रकार से नहीं बन पाता।

कूर्मासन

गुदं निरुद्ध्य गुल्फाभ्यां व्युत्क्रमेण समाहितः ।
कूर्मासनं भवेदेतदिति योगविदो विदुः ।। २४ ।।

टीका—दोनों टखनों से गुह्य प्रदेश को विपरीत क्रम से रोककर समाहित रूप से बैठने पर योगवेत्ताओं के कथनानुसार कूर्मासन होता है ।। २४ ।।

व्याख्या:— टखनों को एक-दूसरे के विपरीत क्रम से गुदा पर लगाने से यह आसन बनता है। इसमें साधक को कछुए जैसी आकृति बनानी होती है। जो कि शरीर ग्रीव और सिर को सीधा रहने से हो पाती है।

कुक्कुटासन

पद्मासनं तु संस्थाप्यां जानूर्वोरंतरे करौ ।
निवेश्य भूमौ संस्थाप्य व्योमस्थं कुक्कुटासनम् ।।२५।।

टीका:—पद्मासन लगाकर जंघाओं के मध्यभाग में दोनों हाथों को लगा कर तथा उन हाथों को पृथिवी में टिकाकर आकाश में स्थित रहने से कुक्कटासन होता है ।। २५ ।।

व्याख्या:—इसे लगाने के लिए प्रथम पद्मासन लगा कर बैठना चाहिए। साधक अपने हाथों का जोर धरती पर डालता हुआ जंघाओं की दरारों में लगाकर हथेलियों को भूमि पर टिका

कर शरीर को कमल की आकृति में भूमि से ऊँचा उठावे। इस आसन की सिद्धि मुर्गे का आकार बना कर बैठने से हो जाती है।

यह आसन अन्य आसनों की अपेक्षा अधिक हितकर है। इसे बालक भी घर पर रह कर आसानी से लगा सकते हैं। इसके अभ्यास से पहिले पद्मासन का अभ्यास कर लिया जाय तो यह और भी सरल हो जाता है।

उत्तान कूर्मासन

कुक्कुटासनबंधस्थो दोर्भ्यां संबध्य कंधराम् ।
भवेत्कूर्मवदुत्तान एतदुत्तानकूर्मकम् ॥ २६ ॥

टीका—उक्त कुक्कुटासन का बन्धन लगा कर ग्रीवा को दोनों भुजाओं से बाँध ले और कछुए के समान सीधा हो जाय तो यह उत्तान कूर्मासन हो जाता है ॥ २६ ॥

व्याख्या—अपने पाँवों का बन्धन कुक्कुटासन के समान लगा कर अपने कन्धों को हाथों से पकड़ले और तब अपने को कछुए के समान पृथिवी पर फैलावे। इस प्रकार उत्तान कूर्मासन हो जाता है। इस आसन के अभ्यास से शरीर में लचीला पन आ जाता है। बालक भी इसे सरलता से कर सकते हैं।

धनुरासन

पादांगुष्ठौ तु पाणिभ्यां गृहीत्वा श्रवणावधि ।
धनुराकर्षणं कुर्याद्धनुरासनमुच्यते ॥ २७ ॥

टीका—दोनों पाँवों के अगूठों को हाथों से ग्रहण करके धनुष के समान कान तक खींचे, वह धनुरासन कहलाता है ॥२७॥

व्याख्या—धनुरासन का अभिप्राय है धनुष जैसा आकार बना लेना। इस आसन से भी शरीर लचीला होता है और अस्थियां दृढ़ हो जाती हैं। यह मस्तिष्क को नवीन स्फूर्ति देने वाला होने के कारण शारीरिक और मानसिक बल की वृद्धि करता है।

मत्स्येन्द्रासन

वामोरुमूलार्पितदक्षपादं
जानोर्बहिर्वेष्टितवामपादम् ॥
प्रगृह्य तिष्ठेत्परिवर्तितांगः
श्रीमत्स्यनाथोदितमासनं स्यात् ॥ २८ ॥

टीका—वामोरु मूल में दक्षिण पाँव को रख कर वाम पांव को जानु से बाहर ले जाकर हाथ से लपेट कर पकड़ले और फिर वाम भाग की ओर से पृष्ठ भाग की ओर मुख कर जिस स्थिति में टिके उसे मत्स्येन्द्रासन कहते हैं। यह मत्स्यनाथ ने कहा है ।।२८।

व्याख्या—योगासनों में यह आसन बहुत कठिन है। मत्स्येन्द्रनाथ पहले मत्स्य थे, फिर आदिनाथ शिव की कृपा से ही योगी बने थे। इसीलिए उन्होंने अपने पूर्व स्वाभावानुसार इस आसन की कल्पना की थी।

घेरण्ड संहिता में इस आसन का वर्णन निम्न प्रकार से हुआ है—

उदरं पश्चिमाभासं कृत्वा तिष्ठति यत्नतः।
निम्नांगवामपादं हि दक्षजानुपरिन्यसेत् ॥
तत्रयाम्यं कूर्परं च याम्ये करे च वक्त्रकम्।
ध्रुवोर्मध्येगतां दृष्टिं पीठं मात्स्येन्द्र मुच्यते ॥

अर्थात्—उदर को पीठ के समान सरल और स्वाभाविक रख कर तथा बाँए पाँव को झुका कर दाँयी जाँघ पर रखे। उस पर दाँयी कुहनी रख ले दृष्टि को भौंहों के मध्य में स्थिर करे। यह मत्सयेन्द्रासन कहा जाता है।

मत्स्येंद्रपीठं जठरप्रदीप्ति
प्रचंडरुग्मंडलखंडनास्त्रम् ।
अभ्यासतः कुंडलिनीप्रबोधं
चंद्रस्थिरत्वं च ददाति पुंसाम् ॥ २६ ॥

टीका—मत्स्येन्द्र पीठ कीं आकृति वाला यह आसन जठराग्नि प्रदीप्त करता और प्रचण्ड रोगों के खण्डनार्थ अस्त्र के समान होता है। इसके अभ्यास से कुण्डलिनी शक्ति की जागरण होता है और यह पुरुषों को चन्द्रमा की स्थिरता प्रदान करता है ॥२९॥

व्याख्या—यह आसन मन्दाग्नि और उससे उत्पन्न रोगों को नष्ट करने वाला है। इससे चन्द्रमा द्वारा स्रवते हुए रस की स्थिरता होती है। परन्तु अधिक प्रयत्न से ही सिद्ध किया जा सकता है।

पश्चिमतान आसन

प्रसार्य पादौ भुवि दंडरूपौ दोर्भ्यां पदाग्रद्वितयं गृहीत्वा।
जानूपरिन्यस्तललाटदेशो वसेदिदं पश्चिमतानमाहुः ॥३०॥

टीका—दोनों पांवों को दण्ड के समान धरती पर पसार कर दोनों पाँवों के अग्रभागों को दोनों हो हाथों से ग्रहण करके जानुओं पर ललाट देश को स्थापित करे। इस प्रकार की स्थिति को पश्चिमतान आसन कहते हैं ॥३०॥

व्याख्या—यह आसन सरल और श्रेष्ठ है, इसका अभ्यास साधारण पुरुष भी कर सकते हैं। अन्य ग्रन्थ में इसका वर्णन इस प्रकार मिलता है—

विस्तीर्य पादयुगलं परस्परमसंयुतम् ।
स्वहस्ताभ्यां दृढं धृत्वा जानूपरि शिरोन्यसेत् ।।
देहावसादनाशन पश्चिमोत्तान संज्ञकम् ।
य एतदासनं श्रेष्ठं प्रत्यहं साधयेत् सुधीः ।।

अर्थात्—दोनों पाँवों को पृथक्-पृथक् फैला कर उनके अंगूठों को हाथों द्वारा दृढ़तापूर्वक पकड़ ले और फिर शिर पर जानुओं को रखले। यह शरीर का आलस्य नष्ट करने वाला पश्चिमोत्तान संज्ञक है। बुद्धिमान् पुरुष को इस श्रेष्ठ आसन का साधन करना चाहिए।

इति पश्चिमतानमासनाग्र्यं पवनं
पश्चिमवाहिनं करोति ।
उदयं जठरानलस्य कुर्यादुदरे
कार्श्यमरोगतां च पुंसाम् ।।३१।।

टीका—यह सब आसनों में प्रमुख पश्चिमतान आसन प्राणवायु को पश्चिमवाहिनी कर देता है और जठराग्नि को प्रकट कर उदरस्थ कृशता और आरोग्यता को करता है ।।३१।।

व्याख्या—यह आसन प्रमुख माना गया है। इससे दुबला-पतलापन दूर होकर जठराग्नि प्रदीप्त होती है। 'येनशीघ्रं मरुत्सिद्धिर्भवेद दुःखौघहारिणी' अर्थात् उसके द्वारा दुःख रोगादि नष्ट करने वाले प्राणवायु की सिद्धि होती है।

इस प्रकार यह आसन स्वास्थ्य की दृष्टि से भी हितकर होने के कारण साधकों को अवश्य करना चाहिए।

मायूरासन

धरामवष्टभ्य करद्वयेन तत्कूर्परस्थापितनाभिपार्श्वः ।
उच्चासनो दंडवदुत्थितः स्यान्मायूरमेतत्प्रवदंति पीठम् ।३२

टीका—दोनों हाथों से पृथिवी का सहारा लेकर और मणि बन्धों के ऊपर नाभि के पार्श्वद्वय के भागों को स्थापित करे। इस प्रकार यह दण्ड के समान उच्च आसन होता है, इसे मायूरासन कहते हैं ।। ३२ ।।

व्याख्या--यह मोर की आकृति जैसा बनाया जाता है। जिस प्रकार मोर अपने पतले पाँवों पर शरीर का पूर्ण भार संभालता है, उसी प्रकार साधक को अपने शरीर का भार अपने पाँवों के तलुओं पर डालना होता है।

इस ग्रन्थ के वर्णन में घेरण्ड संहिता के वर्णन से स्वल्प हेर-फेर है, फिर भी उसमें अधिक स्पष्टता व्यक्त होती है। उन्होंने कहा है—

धरामवष्टभ्य करयोस्तलाभ्यां तत्कूर्परे स्थापित नाभिपार्श्वम् ।
उच्चासनो दण्डवदुत्थित:खे मायूरमेतं प्रवदन्ति पीठम् ।।

अर्थात्—हाथों की हथेलियों को पृथिवी में टिकाकर और दोनों कुहनियों को दोनों पार्श्वों को योजित करे तथा दोनों पाँवों को डंडे के समान पीछे की ओर खड़ा करे तो यह मयूरासन होगा।

हरति सकलरोगानाशु गुल्मोदरादी-
नभिभवति च दोषानासनं श्रीमयूरम् ।
बहु कदशनभुक्तं भस्म कुर्यादशेषं
जनयति जठराग्निं जारयेत्कालकूटम् ।। ३३ ।।

टीका—यह आसन गुल्म, उदरोगादि सभी रोगों को नष्ट करता है तथा दोषों को भी दूर कर देता है। अधिक खाये को हुए अन्न को भस्म करने और जठराग्नि प्रदीप्त करने में कालकूट के समान है॥ ३३॥

व्याख्या—इस आसन के करने से उदर के सब रोग जैसे, उदर शूल जलोदर प्लीहा आदि एवं वात पित्त, कफ आदि के विकृत होने से उत्पन्न दोषादि सब दूर हो जाते है। अधिक भोजन कर लेने से अजीर्ण आदि की प्राप्ति हो सकती है। परन्तु इस आसन के करने से वह अन्न शीघ्र ही भस्म हो जाता है। इस प्रकार यह आसन उदर ठीक रखने के लिए भी करना चाहिए।

शवासन

उत्तानं शववद्भूमौ शयनं तच्छवासम्॥
शवासनं श्रांतिहरं चित्तविश्रांतिकारकम्॥ ३४॥

टीका—पाठ को शव के समान धरती पर लगाकर सीधा सोजाय, यह शवासन है। इससे श्रम का शमन होता और चित्त को विश्राम मिलता है॥ ३४॥

व्याख्या—इसका आकार उस प्रकार का होता है, जिस प्रकार कि कोई मुर्दा सो रहा हो। इस आसन के अभ्यास से सब प्रकार का परिश्रम दूर हो जाता है और चित्त की चचलता भी नष्ट हो जाती है।

चतुरशीत्यासनानि शिवेन कथितानि च।
तेभ्यश्चतुष्कमादाय सारभूतं ब्रवीम्यहम्॥३५

टीका—शिवजी ने चौरासी आसनों का कथन किया है उनमें चार आसन सारभूत हैं, उन्हें कहता हूँ॥ ३५॥

व्याख्या—शिवजीने चौरासी लाख आसन कहे थे, उनमें से चौरासी को उपयोगी पाया और फिर उन चौरासी में भी जब अधिक उपयोगिता और सरलता खोजी गई तो उनमें से चार आसन ऐसे पाये गये, जो उन सब में सारभूत थे। घेरण्ड संहिता में कहा है—

आसनानि समस्तानि भावन्तो जीव जन्तवः।
चतुरशीति लक्षाणि शिवेनाभिहितानि च ॥

अर्थात्—संसार में जितने जीव-जन्तु हैं। उतने ही आसन है। इस प्रकार शिवजी ने चौरासी लाख आसन बताये हैं।

उन चौरासी लाख में से 'षोडशोनंशतं कृतम्' (घ. सं.) अर्थात् 'चौरासी श्रेष्ठ हैं।' उनमें से भी ग्रन्थकार ने निम्न चार सारभूत कहा है—

सर्वश्रेष्ठ चार आसन

सिद्धं पद्मं तथा सिंहं भद्रं चेति चतुष्टयम् ।
श्रेष्ठंतत्रापि च सुखे तिष्ठेन्सिद्धासने सदा ॥३६॥

टीका—यह चार आसन अत्यन्त श्रेष्ठ हैं – सिद्धासन, पद्मासन, सिंहासन और भद्रासन। इनमें भी जो सिद्धासन है उसमें योगी सुखपूर्वक बैठ सकता है ॥ ३६ ॥

व्याख्या—उक्त चौरासी आसनों में जो चार आसन कहें, उनमें भी सिद्धासन को और भी श्रेष्ठ माना है और साथ ही यह भी संकेत किया है कि इसमें योगी सुखपूर्वक स्थित हो सकता है। अब उस आसन का स्वरूप वर्णन करते हैं।

सिद्धासन

योनिस्थानकमंघ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसे-
न्मेढ्रे पादमथैकमेव हृदये कृत्वा हनुं सुस्थिरम्।
स्थाणुः संयमितेंद्रियोऽचलदृशा पश्येद्भ्रुवोरंतरं
ह्येतन्मोक्षकपाटभेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते ॥३७॥

टीका—योनि स्थान से बाँए पांव की एड़ी को मिलावे और दाँये पाँव को लिंगेन्द्रिय के ऊपर से दृढ़ता से रखे तथा हृदय के निकट ठोड़ी का ठीक पर से रखे। ऐसा निश्चल योगी अपनी एक रस दृष्टि से भौंहों के मध्य में देखे। यह अभ्यास मोक्ष-मार्ग में लगे हुए कपाट को खोलने वाला सिद्धासन कहलाता है ॥ ३७ ॥

व्याख्या—यह आसन बहुत सरल और कष्ट-रहित है। इसका वर्णन अन्यत्र इस प्रकार मिलता है—

योनिसंपीडच्ययत्नेन पादमूलेन साधकः।
मेढ्रोपरि पादमूलं विन्यसेद् योग वित्सदा ॥
ऊर्ध्वं निरीक्ष्य भ्रू मध्यं निश्चलोनियतेन्द्रियः।
विशेद्वक्रकायऽश्च रहस्युद्वेगवर्जितः।
एतत सिद्धासन प्रोक्तं सिद्धानांच शुभ प्रदम् ॥

अर्थात्—प्रयत्न पूर्वक योनि स्थान का एक एड़ी से संपीडन करे और दूसरी एड़ी को मेढ़ पर रख ले। तथा भौहों के मध्य में दृष्टि को स्थिर करे। इस प्रकार उद्वेग-रहित, सरल सीधा रहकर स्थित हो, यह सिद्धों को शुभदायक सिद्धासन है।

मेढ्रादुपरि विन्यस्य सव्यं गुल्फं तथोपरि।
गुल्फांतरं च निक्षिप्य सिद्धासनमिदं भवेत् ॥३८॥

टीका—मेढ़ के ऊपरी भाग में बाँई एड़ी को रखे और बाँए पाँव के ऊपर दाँये टखने को रखकर बैठे तो यह सिद्धासन है ॥ ३८ ॥

व्याख्या—यह सिद्धासन मत्स्येन्द्रनाथ के मत से भिन्न मत का है। ग्रन्थकार ने यहाँ इसका भी वर्णन करना उचित समझा है। आसन-वर्णन के इन प्रकारों में समानता है, परन्तु साधकों को इनका समन्वय करके, जिस स्थिति में सुविधा हो, उसी स्थिति में बैठना चाहिए।

एतत्सिद्धासनं प्राहुरन्ये वज्रासनं विदुः।
मुक्तासनं वदन्त्येके प्राहुर्गुप्तासनं परे ॥ ३९ ॥

टीका—इस सिद्धासन को ही कोई विद्वान् वज्रासन भी कहते हैं। किसी के मत में यह मुक्तासन है और किसी के कथनानुसार गुप्तासन भी है ॥ ३९ ॥

व्याख्या—यहाँ इस एक आसन के ही चार नाम कहे हैं—सिद्धासन, वज्रासन, मुक्तासन और गुप्तासन। परन्तु अन्य विद्वानों ने इन चारों को पृथक्-पृथक् माना है। घेरण्ड संहिता में इनका भेद इस प्रकार बताया है—

जंघाभ्यां वज्रवत् कृत्वा गुदपार्श्वे पदावुभौ।
वज्रासनं भवेदेतत् योगिनां सिद्धिदायकम् ॥
पायुमूले वामगुल्फं दक्षगुल्फं तथोपरि।
शिरोग्रीवासमं कार्यं मुक्तासनं तु सिद्धिदम् ॥
जानुनोरन्तरे पादौ कृत्वा पादौ च गोपयेत्।
पादोपरि च संस्थाप्य गुदं गुप्तासनं विदुः ॥

अर्थात्—दोनों जाँघों को वज्रवत् कठोर करके दोनों पाँवों को गुदा के दोनों ओर लगावे तो योगियों को सिद्धि देने

वाला वज्रासन होता है। गुदमूल में बाँयी एड़ी लगाकर उस पर दाँयी एड़ी रखले और शिर तथा ग्रीवा को समान भाव से रखकर शरीर को सीधा रखकर बैठे। यह सिद्धिप्रद मुक्तासन है। दोनों घुटनों के मध्य में दोनों पांवों को गुप्त भाव से रख कर गुह्य प्रदेश को पांवों में ही रख लें, यह गुप्तासन कहलाता है।

इस प्रकार अन्यत्र यह चारों आसन पृथक् पृथक् बताये गये हैं।

सिद्धासन-प्रशंसा

यमेष्विव मिताहारमहिंसां नियमेष्विव।
मुख्यं सर्वासनेष्वेकं सिद्धाः सिद्धासनं विदुः ॥४०॥
चतुरशीतिपीठेषु सिद्धमेव सदाभ्यसेत्।
द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधनम् ॥४१॥
आत्मध्यायी मिताहारी यावद्द्वादशवत्सरम्।
सदा सिद्धासनाभ्यासाद्योगी निष्पत्तिमाप्नुयात् ॥४२॥

टीका—जैसे यमों में मिताहार और नियमों में अहिंसा मुख्य है, वैसे ही सब आसनों में सिद्धासन को ही विद्वान् सिद्धों ने प्रमुख बताया है। इसलिए चौरासी आसनों में मुख्य सिद्धासन का सदा अभ्यास करना चाहिए, क्योंकि इसके द्वारा बहत्तर हजार नाड़ियों का मलशोधन होता है। आत्मा का ध्यान और मिताहार करता हुआ साधक यदि बारह वर्ष पर्यन्त सिद्धासन का अभ्यास करता है तो योग सिद्धि प्राप्त हो जाती है ॥४०—४२॥

व्याख्या—दश यमों में मिताहार और दश नियमों में अहिंसा को अधिक श्रेष्ठ माना गया है, उसी प्रकार सब आसनों में सिद्धासन की श्रेष्ठता स्वीकार की गई है। शरीर में बहत्तर

हजार नाड़ियाँ हैं, उनका इस आसन के द्वारा शोधन होता है। सिद्धासन के अभ्यास-काल में साधक को मिताहारी रहना चाहिए और आसन में सुखपूर्वक बैठकर आत्मा के ध्यान में लीन हो जाना चाहिए श्लोक में 'आत्माध्यायी' कहकर इसी को पष्ट किया है और शिक्षा दी है कि आत्मा का ध्यान योग-साधन का प्रमुख लक्ष्य है। इस प्रकार आत्मा से भिन्न किसी अन्य के ध्यान का पूर्णतया निषेध सिद्ध होता है।

किमन्यैर्बहुभि पीठैः सद्धे सिद्धासने सति ।
प्राणानिले सावधाने बद्धे केवलकुंभके ॥४३॥
उत्पद्यते निरासायात्स्वयमेवोन्मनो कला ।
तथैकस्मिन्नेव दृढे सिद्धे सिद्धासने सति ।
बंधत्रयमनायासात्स्वयमेवोपजायते ॥४४॥
नासनं सिद्धसदृशं न कुंभः केवलोपमः ॥
न खेचरीसमा मुद्रा न सादसदृशो लय ॥४५॥

टीका—जब सिद्धासन ही सिद्ध हो जाता है, तब अन्य अनेक आसनों के करने का क्या प्रयोजन है ? इसमें प्राणवायु को सावधानी से संयत कर केवल कुम्भक सिद्ध करना चाहिए। इसके प्रभाव से चन्द्रकला सदृश्य उन्मनी कला परिश्रम के बिना हो सिद्ध हो जाती है तथा सिद्धासन के सिद्ध होते ही तीनों बन्ध स्वयं सिद्ध हो जाते हैं सिद्धासन के समान कोई आसन, केवल कुम्भक के समान कोई कुम्भक, खेचरी मुद्रा के समान कोई मुद्रा और नाद के समान कोई लय नहीं है॥४३—४५॥

व्याख्या—योगाभ्यासी यदि सिद्धासन को सिद्ध करले तो फिर उसे किसी अन्य आसन को सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं रहती। इस आसन के साथ केवल कुम्भक करना अत्यन्त

प्रभावकारी होता है। इसके सिद्ध होने पर उन्मनी कला की अनायाससिद्धि हो जाती है तथा मूलबन्ध, उड्डीयान बन्ध और जालन्धर बन्ध यह तीनों बन्ध स्वयं सिद्ध होते है। बन्ध-सिद्धि में जो पार्ष्णि-मार्ग से लिंग को दबाकर गुदा का संकोच करने आदि का विधान है, उसके करने की आवश्यकता नहीं रहती। इसीलिए इस आसन को लगावे तथा दाँये पाश्व में बाँया रखना इसके समान नहीं माना है।

बन्धत्रय की विशेषता प्रकट करते हुए योगचूडामण्युपनिषत् में कहा है—

महामुद्रा नभोमुद्रा ओड्ड्याणं च जलन्धरम्।
मूलबन्धं च यो वेत्ति स योगी मुक्ति भाजनम्॥

अर्थात्—जो योगी महामुद्रा, नभोमुद्रा, ओड्डियाण बन्ध, जलन्धर बन्ध और मूलबन्ध को जानता है वह मुक्ति का पात्र होता है।

पद्मासन कथन

वामोरूपरि दक्षिणं च चरणं संस्थाप्य वामं तथा।
दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढम्॥
अंगुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकये-
देतद्व्याधिविनाशकारि यमिनां पद्मासनं प्रोच्यते॥४६

टीका—बाँयी जंघा पर सीधे दाँये पाँव को ठीक प्रकार सीधा रखकर तथा वैसे ही बांये पांव को जांघ के ऊपर भले प्रकार रखे और पृष्ठ भाग को विधि से दोनों पांवों के अँगूठों को हाथों से पकड़ ले और फिर ठोड़ी को हृदय पर रखकर दृष्टि को नासिक के अग्र भाग पर स्थिर करे। यह रोगों को नाश करने वाला पद्मासन कहलाता है॥४६॥

व्याख्या—इसकी स्थिति इस प्रकार है कि पीठ पर दांया हाथ ले जाकर बांयी जंघा पर स्थिति दांये पांव के अंगूठे को पकड़े और वैसे ही बांये हाथ को पीठ की ओर से ले जाकर बांये पांव के अंगूठे को पकड़ना चाहिए। और ठोड़ी को हृदय के निकट चार अंगुल की दूरी पर रखकर नाक के अग्र भाग पर दृष्टि जमाले। यह आसन ग्रन्थकार ने अपने मतानुसार कहा है। अगले श्लोक में मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा वर्णित पद्मासन को कहेंगे।

उत्तानौ चरणौ कृत्वा ऊरुसस्थौ प्रयत्नतः।
ऊरुमध्ये तथोत्तानौ पाणी कृत्वा ततो दृशौ ॥४७॥
नासाग्रे विन्यसेद्राजदंतमूले तु जिह्वया।
उत्तांभ्य चिबुकं वक्षस्युत्थाप्य पवनं शनैः ॥४८॥
इदं पद्मासनं प्रोक्तं सर्वव्याधिविनाशनम्।
दुर्लभं येन केनापि धीमता लभ्यते भुवि ॥४९॥

टीका—सीधे फैलाये हुए पांवों को जंघाओं पर प्रयत्न-पूर्वक स्थापित करके और जंघाओं के मध्य में हाथों को सीधे रखकर, उपर्युक्त के समान दृष्टि को अपने नासाग्र में स्थिर रूप से लगावे और दाढ़ को जड़ को जिह्वा के द्वारा ऊपर स्तम्भित करे तथा ठोड़ी को हृदय पर रख ले। फिर वायु को धीरे-धीरे उठावे। यह सभी रोगों को नष्ट करने वाला पद्मासन कहलाता है। यद्यपि यह दुर्लभ है तो भी बुद्धिमान् योगी किसी प्रकार प्राप्त कर सकता है ॥४७—४९॥

व्याख्या—मत्स्येन्द्रनाथ ने पद्मासन की जो विधि बताई है, वह उनका अनुभव सिद्ध होने के कारण अव्यवहारिक

नहीं हो सकती। इसलिए साधक को पद्मासन की विभिन्न विधियों का अध्ययन करके उनमें जो सरल प्रतीत हो उसका प्रयोग करना चाहिए। योगकुण्डल्युपनिषत् में इसका वर्णन इस प्रकार हुआ है—

ऊर्वोरुपरि चेद्धत्ते उभे पादतले यथा।
पद्मासनं भवेदेतत्सर्वपाप प्रणाशनम् ॥

अर्थात्—दोनों जाँघों पर एक-दूसरे के पैर के तलुओं को सीधे रखने से पद्मासन होता है, जो सब पापों को नष्ट करने वाला है।

यह है पद्मासन का सीधा और सरल वर्णन। श्लोक में वायु के उत्थापन की जो बात कही है, उसी क्रिया से मूलबन्ध की सिद्धि होती है। इससे यह मान्यता होती है कि मूलबन्ध की सिद्धि भी इससे स्वतः हो जाती है।

इस आसन के अभ्यास से सभी रोग नष्ट हो जाते हैं। यह दुर्लभ होते हुए भी प्रयत्नपूर्वक सिद्ध कर लिया जाय तो सरल और सुखद हो जाता है। परन्तु इसकी यथार्थ रूप से सिद्धि तो गुरु की कृपा से ही हो सकती है। उनके निकट बैठकर उन्हीं के निर्देशन में इसका अभ्यास करना श्रेयस्कर है।

कृत्वासंपुटितौ करौ दृढतरं बद्ध्वा तु पद्मासनं
गाढं वक्षसि सन्निधाय चिबुकं ध्यायंश्च तच्चेतसि।
वारंवारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोत्सारयन्पूरितं
न्यंचन्प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्तिप्रभावान्नरः ॥५०॥

टीका—दोनों हाथों को सम्पुटित कर दृढ़ रीति से पद्मासन बाँधे और ठोड़ी को दृढ़तापूर्वक हृदय के समीप करके चित्त में बारम्बार आत्मा का ध्यान करे और अपान वायु को ऊपर खींचता हुआ पूरक द्वारा खींचे हुए प्राण वायु को नीचे

करे। इससे मनुष्य शक्ति के प्रबुद्ध होने पर अतुल ज्ञान को प्राप्त होता है ।।५०।।

व्याख्या:—पद्मासन के साथ की अन्य क्रिया और फल का भी इस श्लोक में संकेत मिलता है। इसके अनुसार पद्मासन को दृढ़ता से बाँधकर ठोड़ी को हृदय के समीप करे और हृदय में आत्मा का ध्यान करता हुआ अपान को ऊपर की ओर खींचे और प्राण को नीचे की ओर ले जाय तो इससे प्राण-अपान का मेलन होता है। इस मेलन की सिद्धि होने पर कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत् हो जाती है, जो सर्वोत्तम ज्ञान को प्राप्ति कराने वाली है।

परन्तु उक्त क्रिया कोई सरल कार्य नहीं है, इसका ज्ञान गुरु के उपदेश से कर लेना आवश्यक है। योगाभ्यास से पूर्व उसकी जानकारी न करके केवल अभ्यास में लग जाना उचित नहीं है। क्योंकि क्रिया में भूल होने से किसी भी प्रकार की हानि हो सकती है।

पद्मासने स्थितो योगी नाडीद्वारेण पूरितम् ।
मारुतं धारयेद्यस्तु स मुक्तो नात्र संशयः ।।५१।।

टीका:—पद्मासन में स्थित हुआ योगी नाड़ी द्वार से पूरित किये गये वायु को स्थिर करे वह निःसन्देह मुक्त हो है ।। ५१ ।।

व्याख्या—पूरक से मध्य में किये गये वायु को सुषुम्ना मार्ग के द्वारा शिर पर्यन्त पहुँचा कर स्थिर करने वाला योगी मुक्त हो जाता है। यह कुण्डलिनी-जागरण और उसके पश्चात् षट्चक्र-भेदन आदि की क्रिया का संकेत है, जिससे कि वायु के साथ कुण्डलिनी शक्ति सहस्रार में जा पहुँचती है। अवश्य उसके द्वारा मोक्ष प्राप्ति हो जाती है और फिर योगाभ्यासी पुरुष के लिए कुछ भी करना शेष नहीं रहता। योगचूडामण्युपनिषत् में इसके विषय में कहा है—

प्रबुद्धावह्निययोगेन मनसा मरुता सह ।
सूचीवदगात्रमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्नया ॥
उद्घाटयेत्कवाटं तु यथा कुंचिकया गृहम् ।
कुन्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं प्रभेदयेत् ॥

अर्थात्—अग्नियोग से जाग्रत हुई कुण्डलिनी मन-प्राण के सहित सुषुम्ना मार्ग से सुई के समान ऊपर की ओर चढ़ती है। जैसे कुंजी के द्वारा घर के किवाड़ खोले जाते हैं, वैसे ही योगी का कुन्डलिनी के द्वारा मोक्ष द्वार खोल लेना चाहिए।

सिंहासन कथन

गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्यः पार्श्वयोः क्षिपेत् ।
दक्षिणे सव्यगुल्फं तु दक्षगुल्फं तु सव्यके ॥५२॥
हस्तौ तु जान्वोः संस्थाप्य स्वांगुलीः सम्प्रसार्य च ।
व्यात्तवक्त्रो निरीक्षेत नासाग्रं सुसमाहितः ॥५३॥
सिंहासनं भवेदेतत्पूजितं योगिपुङ्गवैः ।
बन्धत्रितयसंधानं कुरुते चासनोत्तमम् ॥५४॥

टीका—अन्डकोशों के नीचे सीवना नाड़ी के दोनों पार्श्वों में टखनों को लगावे तथा दांये पार्श्व में बांया टखना और बांये पार्श्व में दांया टखना लगाना चाहिए। जानुओं के ऊपर हाथों के तलुवे ठीक प्रकार से लगावे और हाथों की अंगुलियों को फैलाकर मुख को भी फैलाले और नासाग्र में दृष्टि लगा ले योगियों में श्रेष्ठ साधक द्वारा पूजित यह सिंहासन तीनों बंधों का संधान करने वाला और उत्तम माना गया है ॥५२–५४॥

व्याख्या—सिंहासन से भी तीनों बन्धों की सिद्धि हो सकती है। इसमें वृषणों के नीचे जो सींवन है उसके दोनों ओर

टखनों को व्युत्क्रम से लगाया जाता है। इसके विषय में त्रिशिख-ब्राह्मणोपनिषत् में इस प्रकार कहा है—

सीवनी गुल्फ देशेभ्यो निपीड्य व्युत्क्रमेण तु।
प्रसार्य जानुनोर्हस्तावासनं सिंहरूपकम् ॥

अर्थात्—दोनों एड़ियों से सींवन को विपरीत विधि से दबा कर दोनों घुटनों और हाथों को फैला कर स्थित हो तो यह सिंहरूपी आसन (सिंहासन) होता है।

ध्यान की स्थिरता के लिए, इस आसन के साथ, नासिका के अग्रभाग में दृष्टि लगाने का निर्देश है। इसका आशय यह है कि साधक को नासिकाग्र में दृष्टि योजित कर अपने इष्टदेव अथवा आत्मा का ध्यान करना चाहिए। यह आसन भी श्रेष्ठ आसन माना गया है।

भद्रासन कथन

गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत्।
सव्यगुल्फं तथा सव्ये दक्षगुल्फं तु दक्षिणे ॥५५॥
पार्श्वपादौ च पाणिभ्यां दृढं बद्ध्वा सुनिश्चलम्।
भद्रासनं भवेदेतत्सर्वव्याधि विनाशनम् ॥ ५६ ॥

टीका—अण्डकोषों के नीचे सीवनी नाड़ी के दोनों पार्श्व भागों में टखनों को इस प्रकार रखें कि बाँया टखना बाँये पार्श्व में और दाँया टखना दांये पार्श्व में लगाले। फिर सींवनी पार्श्वों में गयेहुए पाँवोंको हाथोंसे बाँधकर दृढ़ और स्थिर करेतो यह सभी व्याधियों को नष्ट करने वाला भद्रासन हो जायगा ॥५५—५६॥

व्याख्या—इस आसन का वर्णन त्रिशिख ब्राह्मणोपनिषत् में इस प्रकार मिलता है।

गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्युभयपार्श्वयोः ।
निवेश्य भूमौ हस्ताभ्यां बद्ध्वा भद्रासनं भवेत् ॥

अर्थात्—सींवन के दोनों ओर दोनों एड़ियों को रखकर हाथ-पांवों को बांध कर बैठ जाय तो भद्रासन होता है ।

इस आसन का माहात्म्य कहते हुए इसे सभी रोगों का नाशक माना गया है। यथार्थ में योगाभ्यास के द्वारा अनेकों रोग नष्ट हो जाते हैं, यह सभी की मान्यता और अनुभव-सिद्ध भी है ! योगी को इसे अभ्यास से सिद्ध कर लेना चाहिए ।

गोरक्षासनमित्याहुरिदं वै सिद्धयोगिनः ।
एवमासनबंधेषु योगींद्रो विगतश्रमः ॥ ५७ ॥
अभ्यसेन्नाडिकाशुद्धिं मुद्रादिपवनक्रियाम् ।
आसनं कुंभकं चित्रं मुद्राख्यं करणं तथा ॥ ५८ ॥

टीका—सिद्ध योगी पुरुष इसी आसन को गोरक्षासन भी कहते हैं । इस आसन को बांधने से श्रम नष्ट हो जाता है । नाड़ी-शुद्धि की इच्छा वाला साधक मुद्रा आदि के द्वारा वायु का अभ्यास करे। आसन, विभिन्न कुम्भक, मुद्रा नामक करण का भी साधन करे ॥ ५७—५८ ॥

व्याख्या—गोरक्षनाथ इसी का अभ्यास अधिकतर किया करते थे, इसलिए इसका नाम गोरक्षासन भी हुआ। इस आसन के द्वारा अभ्यास-काल में किये जाने वाले परिश्रम से थकान नहीं होती। उस योगी को उक्त आसन के साथ यह और करना चाहिए कि इडा नाड़ी के द्वारा बिना रुके प्राणवायु का पान करे और मुद्रादि को करता हुआ प्राणायाम का विधि पूर्वक साधन करे। इससे साधक को योगाभ्यास में शीघ्र सफलता मिल सकती है।

श्लोक में ग्रन्थकार ने यह भी परामर्श दिया है कि साधक

को इस आसन के साथ अनेक प्रकार के कुम्भक प्राणायामों और मुद्राओं का भी अभ्यास करना चाहिए, क्योंकि साधक के लिए योग के यह सभी अंग आवश्यक और हितकर होते हैं।

अथ नादानुसंधानमभ्यासानुक्रमो हठे।
ब्रह्मचारी मिताहारी त्यागी योगपरायणः ॥
अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्रकार्या विचारणा ॥५६॥

टीका—उक्त प्रकार अभ्यास करने पर नाद का अनुसंधान करे। ब्रह्मचारी, मिताहारी, त्यागी और योग में लगा रहने वाला पुरुष एक वर्ष अभ्यास करने पर सिद्ध हो जाता है। इसमें कुछ विचार की बात नहीं है ॥ ५६ ॥

व्याख्या—आसन, प्राणायाम और मुद्रा आदि का अभ्यास कर लेने पर नाद के चिन्तन का अभ्यास करे। आशय यह है कि कानों को दबाने पर ताड़ना के बिना ही जो अनाहत ध्वनि होती प्रतीत होती है, उसका चिन्तन करना चाहिए। इस प्रकार नाद का अनुसन्धान करता हुआ साधक ब्रह्मचर्य से रहे और मिताहार करे। उसे योग में परायण रहकर त्यागशील होना चाहिए। ऐसा करने से एक वर्ष के पश्चात् ही सिद्धि हो जाती है।

नादविन्दूपनिषत् में योगी के लिए यह आवश्यक कर्त्तव्य बताये गये हैं—

सिद्धासनस्थितो योगी मुद्रां सन्धाय वैष्णवीम्।
शृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमन्तर्गतं सदा ॥
अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्यमावृणुते ध्वनिम्।
पक्षाद्विपक्षमखिलं जित्वा तुर्यपदं व्रजेत् ॥

अर्थात्—योगी को सिद्धासन से बैठना चाहिए, वैष्णवी

मुद्रा धारण करनी चाहिए और दांये कान में सदा अनाहत ध्वनि को सुनना चाहिए। इस नाद का किया जाने वाला यह अभ्यास बाह्य ध्वनियों को ढक लेता है, जिससे कि साधक तुर्यपद को जीतने में सफल हो जाता है।

इस प्रकार नादानुसन्धान के अभ्यास का अत्यन्त महत्व है। एक वर्ष में ही इसकी पूर्णतया सिद्धि हो जाती है। इस बात में कुछ विचार न करने का आशय यह है कि ऐसा विचार मन में न लावे कि ऐसा होगा अथवा नहीं होगा। क्योंकि जो कार्य निश्चात्मक रूप से होने वाला है, उसमें विचार करने का अर्थ उपदेश के प्रति अविश्वास का होना माना जायगा और अविश्वास हो तो कभी किसी कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती।

सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांशविवर्जितः।
भुज्यते शिवसंप्रीत्यै मिताहारः स उच्यते ॥६०॥

टीका—ठीक प्रकार से चिकना और मधुर आहार चौथाई पेट खाली रखते हुए शिव की प्रीति के लिए करे, यह मिताहार कहलाता है॥ ६० ॥

व्याख्या—'शिवसप्रीत्यै' कहकर ग्रन्थकार ने शिव अर्थात् आत्मा की प्रीति के लिए भोजन करने का उपदेश किया है इसका अभिप्राय यह है कि साधक जीवन-यापन अथवा प्राण-यात्रा चल सके, इसके लिए ही भोजन करे। सुस्वादु या अस्वादु भोजन के प्रिय या अप्रिय होने की ओर ध्यान न दे। तीन चौथाई आहार ग्रहण करे और चौथाई पेट खाली रखे।

कुछ ग्रन्थकारों ने मिताहार का लक्षण यह बताया है कि पेट का आधा भाग अन्न से पूर्ण करे और चौथाई भाग जल

से। इस प्रकार पौन भाग भरना उचित है। चौथाई भाग प्राणवायु के ठीक प्रकार संचारार्थ खाली रखे।

कट्वम्लतीक्ष्णलवणोष्णहरीतशाकसौ-
वीरतैलतिलसर्षपमद्यमत्स्याकू ॥
अाजादिमांसदधितक्रकुलत्थ कोलपि-
ण्याकहिंगुलशुनाद्यमपथ्यमाहु ॥६१॥

टीका—कटु, अम्ल, तीक्ष्ण, लवण, उष्ण, हरे शाक, काँजी, तैल, तिल, सरसों, मदिरा, मत्स्य, बकरी आदि का माँस, दही, मट्ठा, कुलथि, बेर, खल, हींग आदि पदार्थ योगियों के लिए अपथ्य होते हैं ॥६१॥

व्याख्या—कटु पदार्थों में करेला आदि, अम्ल में इमली आदि, तीक्ष्ण में मिर्च आदि चटपटे मसाले, लवण में नमकीन उष्ण में गुड़ आदि, शाक, सौवीर (काँजी), तैल, तिल आदि, मदिरा में मद्य, विजया, अहिफेन आदि मत्स्य और अजा आदि का मांस, दधि, चक्र, कुलथी, बेर, पिण्याक अर्थात् खल, हींग लशुन, प्याज आदि यह सभी उत्तेजक द्रव्य माने जाते हैं। इसी लिए इन्हें अपथ्य कहा गया है। योगाभ्यासियों का कर्त्तव्य है कि उक्त द्रव्यों का त्याग कर दें।

भोजनमहितं विद्यात्पुनरस्योष्णीकृतं रूक्षम् ।
अतिलवणमम्लयुक्तं कदशनशाकोत्कटं वर्ज्यम् ॥६२॥
वह्निस्त्रीपथिसेवानामादौ वर्जनमाचरेत् ॥६३॥

टीका—अग्नि पर दुबारा गर्म किया गया अन्न, रूखे या अत्यन्त लवण और अम्ल युक्त पदार्थ एवं कुत्सित अन्न के आहार का निषेध है। अभ्यास काल में अग्नि और स्त्री के मार्ग का सेवन आदि नहीं करना चाहिए ॥६२—६३॥

व्याख्या—ठंडे अन्न दाल, चावल आदि को अग्नि के संयोग से पुनः उष्ण करके खाना ठीक नहीं। रूक्ष भोजन अर्थात् घृतादि से रहित रूखा भोजन भी अहित कर है। लवण और अम्ल का अधिक सेवन अनुचित है अर्थात् अधिक नमकीन और अधिक खट्टे द्रव्यों का सेवन भी अलाभकर है। कुछ विद्वानों ने लवण-युक्त आहार का सर्वथा निषेध किया है। परन्तु श्लोक में 'अतिलवणमम्लयुक्त' कहकर यह स्पष्ट किया है कि अधिक लवण या अधिक अम्ल द्रव्यका सेवन न करे.इसका अभिप्राय हुआ कि किंचित् लवण या किंचत अम्ल का प्रयोग किया जा सकता है।

इसी प्रकार कुत्सित अन्न के त्याग का भी उपदेश है। कुत्सित अन्न का अभिप्राय खराब, सड़े, गले, बासी अन्न से है। योगाभ्यासी को इस प्रकार का अन्न सेवन नहीं करना चाहिए।

अग्नि और स्त्री के मार्ग का सेवन न करने का आशय यह है कि साधक अग्नि के सेवन से तथा स्त्री के संसर्ग से बचे। परन्तु ऐसा आचरण अभ्यास काल में ही करने का उपदेश है, श्लोक से ऐसा ही प्रतीत होता है। इस विषय में गोरक्षनाथ का कहना है—

वर्जयेद् दुर्जनं प्रान्तं वह्निस्त्रीपथि सेवनम्।
प्रातः स्नानोपवासादि कायक्लेशविधिं तथा॥

अर्थात्—दुर्जन के संग रहना, अग्नि और स्त्री का सेवन, प्रातःकाल में स्नान एवं उपवास आदि तथा जिस विधि से काया को क्लेश हो उसे त्याग दे।

इस प्रकार योगाभ्यास-काल में वही आचरण रखे जिससे कि शरीर स्वस्थ रहे, मनमें शान्ति और स्वच्छता बनी रहे। यदि ऐसा न होगा तो साधन में चित्त का लगना सम्भव नहीं है।

योगियों को पथ्याहार

गोधूमशालियवषाष्टिकशोभनान्नं-
क्षोराज्यखण्डनवनीतसितामधूनि ।
शुंठोपटोलकफलादिकपंचशाकं-
मुद्गादि दिव्यमुदकंच यमोंद्रपथ्यम् ।।६४।।

टीका—गेहूँ, शालि और जौ यह छः दिन में परिपाक प्राप्त होते हैं। शोभन अन्न में दुग्ध, घृत, खाँड, मक्खन, मिश्री, मधु, सोंठ, परवल फल आदि पाँच प्रकार के शाक, मूंग आदि तथा दिव्य जल, यह पदार्थ योगीन्द्रों के लिए पथ्य है ।। ६४ ।।

व्याख्या—उक्त पदार्थों का सेवन ही योगी के लिए हितकर है। विशेष कर दूध, घी, मक्खन, मिश्री आदि मधुर और स्निग्ध पदार्थ हैं, यह मिताहार के अन्तर्गत भी सेवनीय है। दिव्य जल का अभिप्राय शुद्ध जल से है, जो कि मैल-रहित एवं स्वच्छ होना चाहिए।

पुष्टं सुमधुरं स्निग्धं गव्यं धातुप्रपोषणम् ।
मनोभिलषितं योग्यं योगी भोजनमाचरेत् ।।६५।।

टीका—पुष्ट, सुमधुर, स्निग्ध, गव्य (दुग्धादि युक्त) धातुओं का पोषण करने वाले और मन को अच्छा लगने वाले और अपने योग्य का आहार ही योगी को करना चाहिए ।।६५।।

व्याख्या—भोजन ऐसा हो जो धातुओं को पुष्ट करे और मन को अच्छा लगे। यदि मन को अच्छा न लगेगा तो उदर पोषण के योग्य आहार करना भी कठिन हो जायगा। गव्य अर्थात् गाय के दूध-घृत आदि से निर्मित पदार्थों का सेवन ही उपयुक्त है।

युवा वृद्धोऽतिवृद्धो वा व्याधितो दुर्बलोऽपि वा ।
अभ्यासात्सिद्धिमाप्नोति सर्वयोगेष्वतंद्रितः ॥६६॥

टीका:—साधक युवा, वृद्ध, अतिवृद्ध, रोगी या दुर्बल (कैसा भी) हो, योग के सभी अगों का निरालस्य रूप से अभ्यास करने पर सिद्धि को प्राप्त होता है ॥६६॥

व्याख्या—योगाभ्यास में साधक की आयु का कोई विचार नहीं होता अर्थात् युवा, वृद्ध, अतिवृद्ध किसी भी अवस्था का हो, रोगी हो या बल-हीन हो, साधन में तत्पर रह सकता है और साधन में तत्पर रहने वाले को सिद्धि प्राप्त होना अनिवार्य है। परन्तु आवश्यक यह है कि साधक आलस्य को छोड़कर अभ्यास में लगा रहे तो उसके रोगादि नष्ट होकर आरोग्य और सिद्धि दोनों का ही लाभ होता है ।

क्रियायुक्तस्य सिद्धिः स्यादक्रियस्य कथं भवेत् ।
न शास्त्रपाठमात्रेण योगसिद्धिः प्रजायते ॥६७

टीका:—क्रिया में लगे रहने वाले पुरुष को ही सिद्धि होती है, क्रियाहीन को सिद्धि कैसे हो सकती है केवल शास्त्र पढ़ने मात्र से भी योग सिद्धि नहीं हो सकती ॥६७॥

व्याख्या—यदि कोई समझे कि शास्त्रों के अध्ययन मात्र से सिद्धि प्राप्त हो जाय, तो यह कभी नहीं हो सकता। कर्मवान् पुरुष ही सिद्धि को प्राप्त होता है। 'क्रिया युक्तस्य सिद्धिः' कहकर ग्रन्थकार ने कर्मयोग की ओर संकेत किया है। वेदों का भी यही मन्तव्य हैकि 'यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन स धीना योगमिन्वति'अर्थात् 'योग के बिना विद्वान् का भी कोई यज्ञादि कर्म सिद्ध नहीं होता, वह योग चित्तवृत्तियों का निरोध करना है।'

इस प्रकार चित्त वृत्तियों के निरोध रूपी कर्म से ही योग-सिद्धि सम्भव है, केवल शास्त्र-पठनादि से नहीं।

न वेषधारणं सिद्धेः कारणं न च तत्कथा ।
क्रियैव कारणं सिद्धेः सत्यमेतन्न संशयः ॥६८

टीका—न किसी प्रकार का वेश धारण करने से ही सिद्धि हो सकती है और न उसकी कथा सुनने से ही। सिद्धि का कारण क्रिया है, यह सत्य है, इसमें कोई संशय नहीं ॥६८॥

व्याख्या—गेरुए वस्त्रों का धारण करने, सिर मुँडा लेने या किसी सम्प्रदाय के चिन्ह धारण करके वैसा वेश वना लेने से अथवा योग विषयक चर्चा या योग-विधि सुन लेने मात्र से ही योग की सिद्धि हो सकती है। उसके लिए तो योग की क्रियाओं का करना ही अपेक्षित है। तभी सिद्धि हो सकती है।

पीठानि कुम्भकाश्चित्रा दिव्यानि करणानि च ।
सर्वाण्यपि हठाभ्यासे राजयोगफलावधि ॥६९॥

टीका—विभिन्न प्रकार के आसन, और दिव्य करण यह सब हठयोग के अभ्यास में राजयोग का फल होने तक करना चाहिए ॥ ६९ ॥

व्याख्या—जब तक राजयोग की सिद्धि न हो जाय, तब तक आसन, प्राणायाम, मुद्रा आदि का अभ्यास करना आवश्यक है। आशय यह है कि राजयोग की सिद्धि होने पर आसनादि के अभ्यास का कम किया जा सकता है।

॥ हठयोग प्रदीपिका का प्रथम उपदेश समाप्त ॥

द्वितीय उपदेश

प्राणायाम वर्णन

अथासने दृढे योगी वशी हितमिताशनः ।
गरूपदिष्टमार्गेण प्राणायामान्समभ्यसेत् ॥ १ ॥

टीका—आसनों की दृढ़ता होने पर हितकर मिताहार करता हुआ योगी गुरु द्वारा बताये हुए मार्ग से प्राणायामों का अभ्यास करे ॥१॥

व्याख्या—श्लोक में अथ शब्द पश्चात् का वाचक है, इससे समझना चाहिए कि आसनों का अभ्यास दृढ़ हो जाय तब प्राणायाम के अभ्यास का प्रारम्भ करे। प्राणायाम के अभ्यास काल में भी पूर्वोक्त विधि से अल्पाहार करता हुआ जीवन-करे। परन्तु इसमें भी गुरु के उपदेश की आवश्यकता रहती है। क्योंकि प्राणायामों के विविध प्रकारों में से उसी का अभ्यास करना चाहिए जो अपनी शारीरिक अवस्था के अनुकूल पड़ता हो, और इसका ज्ञान तभी हो सकता है, जब गुरु से इस विषय में पूण रूप से जानकारी प्राप्त न करली जाय।

चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत् ।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायु निरोधयेत् ॥२॥

टीका—प्राणवायु के चलायमान होने पर चित्त भी चंचल हो जाता है, और प्राणवायु स्थिर हो तो चित्त भी निश्चल होता है। यदि वायु और चित्त दोनों ही निश्चल रहें

तो स्थाणुत्व की प्राप्ति होती है। इसलिए वायु का निरोध करना चाहिए ॥ २ ॥

व्याख्या—शास्त्रों में मन की चंचलता पर विजय प्राप्त करने का स्थान-स्थान पर उपदेश दिया है, और मन की चंचलता रोकने के लिए आवश्यकता है प्राण को स्थिर करने की अनेक विद्वानों ने प्राण और मन में कोई भेद नहीं माना है। वृहदारण्यक उपनिषत् में कहा गया है कि 'जब हृदयस्थ कामनाएं नष्ट हो जाती हैं, तव यह मरणधर्मा मनुष्य हो अमृत हो जाता है और उसे इसी शरीर में ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है।' इस प्रकार कामनाओं के नष्ट करने के लिए मन और प्राण का निरोध आवश्यक है।

यावद्वायुः स्थितो देहे तावज्जीवनमुच्यते ।
मरणं तस्यनिष्क्रांतिस्ततो वायुं निरोधयेत् ॥३॥

टीका—शरीर में जब तक प्राणवायु है तभी तक जीवन कहलाता है और जब शरीर से प्राणवायु निकल जाता है, तव उसे मरण कहते हैं, इसलिए वायु का निरोध करना चाहिए ॥३॥

व्याख्या—शरीर में प्राण रहने तक जीवन और प्राण निकल जाने पर मृत्यु मानी जाती है। इस श्लोक में प्राण-निरोध कहने का अभिप्राय प्राणायाम द्वारा वायु को संयमित करना है। इससे सिद्ध होता है कि प्राणायाम के अभ्यास से आयु-बृद्धि होती है।

मलशोधन की महत्ता कथन

मलाकुलासु नाडीषु मारुतो नैव मध्यगः ।
कथं स्यादुन्मनीभावः कार्यसिद्धिः कथं भवेत् ॥ ४ ॥

टीका—जब तक नाड़ियाँ मल से भरी हुई हैं, तब तक प्राणवायु मध्यगामी नहीं होता और वैसा न होने पर उन्मनी भाव नहीं हो सकता तो कार्यसिद्धि ही कैसे हो सकती है ? ॥४॥

व्याख्या—नाडियों की शुद्धि हठयोग में अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि नाड़ियों के शुद्ध होने पर ही प्राणवायु मध्यगामी हो सकता है और तभी कार्यसिद्धि हो सकती है। योगचूपामण्युपनिषत् के अनुसार—

यथेष्ट धारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम्।
नादभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाऽिशोधनात् ॥

अर्थात्—वायु का यथेष्ट धारण करना, जठराग्नि का प्रदीप्त होना, नाद की अभिव्यक्ति और आरोग्य, यह सब नाड़ीशोधन से प्राप्त होते हैं।

शुद्धिमेति यदा सर्वं नाडीचक्रं मलाकुलम् ।
तदैव जायते योगी प्राणसंग्रहणे क्षमः ॥ ५ ॥

टीका—जब मल से पूर्ण सम्पूर्ण नाड़ी चक्र शुद्धि को प्राप्त होता है, तभी योगी प्राण-संग्रहण में सक्षम होता है ॥५॥

व्याख्या—सभी नाड़ियों का मल दूर होकर शोधन हो जाने पर ही प्राणवायु का निरोध हो सकता है। इसलिए योगी को मल-शुद्धि के लिए प्राणायाम का अभ्यास सदा करते रहना चाहिए।

प्राणायामं ततः कुर्यान्नित्यं सात्त्विकया धिया ।
यथा सुषुम्नानाडीस्था मलाः शुद्धिं प्रयांति च ॥६॥

टीका—इसलिए सात्विक बुद्धि से नित्य प्रति प्राणायाम करे, जिससे कि सुषुम्ना नाड़ी में स्थित मल की शुद्धि हो सके ॥ ६ ॥

व्याख्या—प्राणायाम के साथ सात्विक बुद्धि अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि राजसी और तामसी बुद्धि रखने से मन की चंचलता दूर नहीं हो सकती। क्योंकि रजोगुण के धर्म हैं विक्षेप, आलस्य आदि और तमोगुण के धर्म हैं क्रोध, विषाद, ईर्ष्यादि। इसलिए रजोगुण-तमोगुण के बुद्धि में विद्यमान रहते हुए किसी प्रकार की सफलता सम्भव नहीं है।

बद्धपद्मासनो योगी प्राणं चंद्रेण पूरयेत्।
धारयित्वा यथाशक्तिः भूयः सूर्येणरेचयेत् ॥ ७ ॥

टीका—बद्ध पद्मासन लगाकर बैठा हुआ योगी चन्द्र-नाड़ी से प्राणवायु को पूर्ण करे और फिर उसे अपनी शक्ति के अनुसार धारण करता हुआ सूर्यनाड़ी से निकाल दे ॥७॥

व्याख्या—चन्द्रनाड़ी का अर्थ इडा नाड़ी है, जो वाम नासापुट में होती है और सूर्य नाड़ी पिंगला को कहते हैं, इसका निवास दक्षिण नासापुट में होता है। प्राणायाम की क्रिया में वाम नासापुट के द्वारा प्राणवायु बाहर खींचते हैं, इसे पूरक कहते हैं। उस खींचे हुए वायु को रोकना कुम्भक और दक्षिण नासापुट द्वारा उसे निकाल देना रेचक है। इस प्रकार तीनों प्रकार के प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए।

श्लोक में बद्ध पद्मासन का वर्णन हुआ है, यह आसन पद्मासन होने पर ही सिद्ध होता है। त्रिशिखब्राह्मणोपनिषत् में इसका लक्षण बताते हुए कहा है—

पद्मासनं सुसंथाप्य तदंगुष्ठद्वयं पुनः।
व्युत्क्रमेणैव हस्ताभ्यां बद्धपद्मासनं भवेत् ॥

अर्थात्—पद्मासन लगा कर ठीक प्रकार बैठे और दांये हाथ से बांये पाँव के अँगूठे को तथा बांये हाथ से दांये पांव के अँगूठे को पकड़ना बद्ध पद्मासन कहा जाता है।

प्राणं सूर्येण चाकृष्य पूरयेदुदरं शनैः ।
विधिवत्स्तंभकं कृत्वा पुनश्चंद्रेण रेचयेत् ॥८॥

टीका—सूर्य नाड़ी से प्राण को खींच कर धीरे-धीरे उदर को पूरित करे विधिवत् कुम्भक करता हुआ चन्द्रनाड़ी से रेचक करे ॥८॥

व्याख्या—यह व्युत्क्रम है। पहले वाम नासापुट से वायु खींच कर दक्षिण से रेचन करना बताया गया और यहाँ दक्षिण नासापुट से वायु खींचकर वाम नासापुट से निकालना कहा गया है। यह क्रम नाड़ी-शोधन में उपयोगी होता है।

येन त्यजेत्तेन पीत्वा धारयेदतिरोधतः ।
रेचयेच्च ततोऽन्येन शनैरेव न वेगतः ॥ ९ ॥

टीका—जिस नाड़ी से प्राणवायु को निकाले, उसी से पुनः पान करके धारण करे और फिर दूसरी से निकाल दे। यह कार्य शीघ्रता से न करके धीरे-धीरे करना चाहिए ॥९॥

व्याख्या—नियम यह है कि सूर्य नाड़ी से रेचन करे तो उसी से खींच कर चन्द्रनाड़ी से निकाल दे और फिर चन्द्रनाड़ी से खींच कर सूर्य नाड़ी से रेचन करे। इस प्रकार विपरीत क्रम से बार-बार अभ्यास करना चाहिए।

अभ्यास-काल में वायु-पान रेचन करते समय शीघ्रता से कार्य न ले, वरन् धीरे-धीरे ही करे। वेग से करने में हानि हो सकती है।

प्राणायाम का अवान्तर फल कथन

प्राणं चेदिडया पिबेन्नियमितं भूयोऽन्यया रेचये-
त्पीत्वा पिंगलया समीरणमथो बद्ध्वा त्यजेद्वामया ।

सूर्या चंद्रमसोरनेन विधिनाभ्यासं सदा तन्वतां
शुद्धा नाडिगणा भवंति यमिनां मासत्रयादूर्ध्वतः ॥१०

टीका—यदि प्राणवायु का इडा नाड़ी से पान करे तो नियमित हुए उस वायु को पिङ्गला नाड़ी से निकाले। यदि पिंगला से प्राणवायु का पान करे तो कुम्भक के पश्चात् उसे इड़ा नाड़ी से निकाल दे। इस प्रकार चन्द्रनाड़ी से पूरक करे तो चन्द्रनाड़ी से निकाले। इस भाँति अभ्यास करने से तीन महीने में ही नाड़ी-शोधन हो जाता है ॥१०॥

व्याख्या—नाड़ी शोधन के लिए सीधे और उलटे क्रम से निरन्तर अभ्यास करना चाहिए। क्योंकि तीन महीने के अभ्यास से नाड़ियों का मल शुद्ध हो जाता है।

एवं पुनः पुनः कार्यं व्युत्क्रमानुक्रमेण तु।
सम्पूर्णकुम्भवद्देहं कुम्भयेन्मातरिश्वना ॥
पूरणान्नाडयः सर्वाः पूर्यन्ते मातरिश्वना।
एवं कृते सति ब्रह्मंश्चरन्ति दश वायवः ॥

—त्रिशिख ब्राह्मण ९७-९८

अर्थात्—इस प्रकार बारम्बार क्रम और विपरीत क्रम से अभ्यास करता हुआ शरीर के भीतर वायु को भरे और कुम्भ के समान रोके। इससे सब नाड़ियां वायु से भर जाती हैं और उनमें दशों वायु भले प्रकार चलने लगती हैं।

प्रातर्मध्यंदिने सायमर्धरात्रे च कुंभकान्।
शनैरशीतिपर्यंतं चतुर्वारं समभ्यसेत् ॥११॥

टीका—प्रातःकाल, मध्याह्नकाल और सायंकाल और आधी रात के समय अस्सी-अस्सी कुम्भकों को करता हुआ धीरे-धीरे अभ्यास करे ॥११॥

व्याख्या—इस श्लोक में प्राणायाम के अभ्यास का निश्चित समय और उसकी अवधि पर प्रकाश डाला गया है। अरुणोदय से तीन घड़ी दिन चढ़ने पर्यन्त प्रातःकाल में मध्याह्न अर्थात् दिन के मध्यकाल में अर्थात् सूर्योदय से सूर्यास्त तक के मध्य समय में और फिर सूर्यास्त के समय से तीन घड़ी पश्चात् तक तथा रात्रि के मध्य में, इस प्रकार चार बार करे। प्रत्येक तीन घड़ी की अवधि में अस्सी बार प्राणायाम की त्रिपुटी (पूरक, कुम्भक, रेचक) करनी चाहिए इस प्रकार चारों बार में तीन सौ बीस प्राणायाम हो जाते हैं।

कनीयसि भवेत्स्वेदः कंपो भवति मध्यमे।
उत्तमे स्थानमाप्नोति ततो वायुं निबंधयेत् ॥१२॥

टीका—कनिष्ठ प्राणायाम में स्वेद, मध्यक में कम्प और उत्तम में उत्तम स्थान की प्राप्ति होती है, इसलिए योगी को वायु का निरोध करना चाहिए ॥ १२ ॥

व्याख्या—कनिष्ठ का आशय निम्न श्रेणी के प्राणायाम से है, उसमें साधक को पसीना आता है। मध्यम श्रेणी के प्राणायाम में योगी कांपने लगता है और उत्तम श्रेणी के प्राणायाम श्रेष्ठ स्थान मिलता है। वह श्रेष्ठ स्थान ब्रह्मरन्ध्र है, जिसे विद्वानों ने मोक्ष-स्थान कहा है।

परन्तु ब्रह्मरन्ध्र में प्राणवायु का पहुँचना कोई साधारण कार्य नहीं है। मेलन के अभ्यास द्वारा जाग्रत् हुई कुण्डलिनी जब षट्चक्रों का वेधन करती हुई ब्रह्म रन्ध्र में पहुँचने का मार्ग खोल देती है तभी प्राणवायु की भी ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँच हो सकती है, और यह कार्य अत्यन्त कठिन और परिश्रम साध्य है। साधारण अभ्यास से इसका सिद्ध होना सम्भव नहीं है।

किसी-किसी विद्वान् ने 'उत्तम स्थानमाप्नोति' का अर्थ आसन से उठना कहा है, जिसका आशय है पृथिवी से उठकर आकाश अर्थात् ऊपर की ओर चढ़ना। इससे भी टीका के अर्थ में सामंजस्य स्थापित होता है, क्योंकि उत्तम स्थान की प्राप्ति और ऊपर उठने में कोई भेद नहीं है। ऊपर उठने को उन्नति कह सकते हैं और यही पद श्रेष्ठ स्थान के लिए भी प्रयुक्त हो सकता है।

ब्रह्मरन्ध्र तुर्यातीत का स्थान माना गया है, इसीलिए उसको उत्तम स्थान कहा है। जैसे—

तुर्यातीतं परंब्रह्म ब्रह्मरन्ध्रे तु लक्षयेत्।
जाग्रद्वृत्ति समारभ्य यावद् ब्रह्मबिलान्तरम्॥
तत्रात्माऽयं तुरीयः स्यात् तुर्यान्ते विष्णुरुच्यते।

—त्रिशिखब्राह्मण १५०-१५१

अर्थात्—तुर्यातीत का स्थान ब्रह्मरन्ध्र में परब्रह्म की ओर होता है। जाग्रत् वृत्ति से लगाकर ब्रह्मरन्ध्र तक तुरीय के आत्मा का निवास है, उसके पश्चात् वह विष्णु कहलाता है।

इस प्रकार योगी को अभ्यास में तत्पर रहना चाहिए और निकृष्ट श्रेणी में ही सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए। जैसे-जैसे अभ्यास बढ़ता है, वैसे-वैसे ही उत्तम अवस्था तक पहुँचने में सफल हो जाता है।

जलेन श्रमजातेन गात्रमर्दनमाचरेत्।
दृढ़ता लघुता चैव तेन गात्रस्य जायते॥१३॥

टीका—प्राणायाम के श्रमसे जो जल जो उत्पन्न हो उसे शरीर पर ही मल ले तो शरीर में दृढ़ता और लघुता उत्पन्न हो जायगी॥१३॥

व्याख्या—प्राणायाम के अभ्यास काल में जो परिश्रम होता है, उससे पसीना आने लगता है। वह पसीना साधारण नहीं, वरन् दिव्य होता है, जिससे कि शरीर में पुष्टि और बल की वृद्धि के साथ-साथ दृढ़ता उत्पन्न हो जाती है तथा लघुता अर्थात् हलकापन अनुभव होने लगता है।

अभ्यासकाले प्रथमे शस्तं क्षीराज्यभोजनम्।
ततोऽभ्यासे दृढ़ीभूते न तादृङ्नियमग्रहः ॥ १४ ॥

टीका—अभ्यास काल में प्रथम दूध-घी का भोजन करे, परन्तु अभ्यास दृढ़ हो जाने पर वैसा कोई नियम नहीं है ॥१४॥

व्याख्या—किसी भी प्रकार का साधन प्रारम्भ करने से पूर्व उसके अनुकूल नियमों का पालन भी आवश्यक होता है। यहाँ दूध-घी युक्त भोजन का विधान बताकर यह मत व्यक्त किया है कि दूध-घी जैसा मधुर और पौष्टिक भोजन करना चाहिए। मिताहार में भी दूध-घी के सेवन का उपदेश है, इसलिए साधक को इसी प्रकार का भोजन प्रारम्भ में करना चाहिए। अभ्यास के दृढ़ होने पर उन नियमों में ढील बरत सकते हैं।

यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैः शनैः।
तथैव सेवितो वायुरन्यथा हंति साधकम् ॥१५॥

टीका—जैसे सिंह, हाथी, व्याघ्र धीरे-धीरे वश में हो जाते हैं, वैसे ही प्राणवायु भी शनैः शनैः वश में होता है, अन्यथा साधक को ही नष्ट कर देता है ॥१५॥

व्याख्या—प्राणवायु को वश में करने का अभ्यास धीरे-धीरे ही करना चाहिए। वेग से करने पर साधक के लिए हानिकारक भी हो सकता है। सिंह, हाथी आदि को भी धीरे-धीरे

वशीभूत किया जाता है और यदि उसमें शीघ्रता की जाती है तो वे वश में करने वाले को ही मार डालते। प्राणवायु के विषय में भी यही समझना चाहिए। क्योंकि कुपित हुआ वायु प्राण का भी हरण कर सकता है।

युक्तायुक्त प्राणायाम का फल वर्णन

प्राणायामादियुक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत्।
आयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगसमुद्भवः ॥१६॥

टीका—युक्त प्राणायाम से सभी रोग नष्ट होते हैं और अयुक्त प्राणायाय से सभी रोग उत्पन्न हो सकते हैं ॥१६॥

व्याख्या—विधि के अनुसार किया हुआ कार्य युक्त होता है और युक्त कार्य से ही मनुष्य को सफलता प्राप्त होती है। वैसे ही युक्त प्राणायाम शरीर में पहले से विद्यमान रोगों का क्षय कर देता है और फिर किसी नवीन रोग को उत्पन्न नहीं होने देता। परन्तु विधि-विहीन अर्थात् स्वेच्छाचारिता पूर्वक किया जाने वाला प्राणायाम हानिकारक सिद्ध हो सकता है। उससे अनेक रोग उत्पन्न हो सकत हैं।

इस प्रकार योगाभ्यास में प्राणायाम में ही नहीं, सभी प्रक्रियाओं में योगशास्त्रों में वर्णित विधियों को ठीक प्रकार से पालन करना चाहिए। वह शास्त्र-विधि भी केवल अध्ययन मात्र से नहीं आ सकती, वरन् अनुभवी सद्गुरु के उपदेश से ही प्राप्त की जा सकती है। इसलिए सिद्धि की आकांक्षा वाले साधक को सद्गुरु की शरण लेनी चाहिए।

हिक्का श्वासश्च कासश्च शिरःकर्णाक्षिवेदनाः।
भवंति विविधा रोगाः पवनस्य प्रकोपतः ॥ १७ ॥

युक्तं युक्तं त्यजेद्वायुं युक्तं युक्तं च पूरयेत् ।
युक्तं युक्तं च बध्नीयादेवं सिद्धिमवाप्नुयात् ॥१८॥

टीका—वायु के प्रकोप से हिक्का, श्वास, कास, शिरोवेदना एवं अन्यान्य रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिए युक्त युक्त रूप से ही वायु का रेचन और पूरण करे। युक्त-युक्त बन्ध आदि करने से सिद्धि प्राप्त होती है ॥१७—१८॥

व्याख्या—विधि-विहीन प्राणायाम के कारण यदि वायु कुपित हो जाता है तो उससे श्वास-खाँसी, हिचकी, सिर दर्द, कानों का दर्द आदि अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिये पूरक, कुम्भक और रेचक इन तीनों को ही विधिपूर्वक करना चाहिए। क्योंकि विधि सहित करने से वायु कुपित नहीं होता, जिससे अभ्यास में सफलता मिलना स्वाभाविक होता है।

यदा तु नाडीशुद्धिः स्यात्तथा चिह्नानि वाह्यतः ।
कायस्य कृशता कांतिस्तदा जायेत निश्चितम् ॥१९॥
यथेष्टधारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम् ।
नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधनात् ॥२०॥

टीका—जब नाड़ी-शोधन हो जाता है तब वाहर-भीतर जो चिन्ह दिखाई देते हैं, उनमें शरीर की कृशता और कान्ति अवश्य ही होते हैं। वायु के यथेष्ट धारण से जठराग्नि प्रदीप्त होती तथा नाद की अभिव्यक्ति होती और नाड़ी-शुद्धि के कारण आरोग्यता उत्पन्न होती है ॥१९—२०॥

व्याख्या—नाड़ी शुद्ध होने पर उसके चिन्ह शरीर के बाहर और भीतर दोनों स्थानों पर प्रतीत होने लगते हैं। शरीर की स्थूलता (मोटापन) मिटकर कृशता अर्थात् पतलापन हो

जाता है। मुख पर तेज दिखाई देने लगता है, सौंदर्य निखर आता है और देह में पुष्टि आ जाती है।

वायु का ठीक प्रकार से धारण उदर विकारों को भी नष्ट कर देता है। मन्दाग्नि मिटकर अग्नि का दीपन होता है, जिससे आहार के पाचन की शक्ति बढ़ जाती है। कान में अनाहत नाद स्पष्ट सुनाई देने लगता है और किसी प्रकार का कोई रोग हो तो वह भी मिट जाता है।

इस प्रकार नाड़ी-शोधन के बहुत कुछ लाभ हैं। उसके बिना प्राणवायु की स्थिरता सम्भव नहीं होती तो फिर सिद्धि की प्राप्ति तो हो ही कैसे सकती है ?

मेदः श्लेष्माधिकः पूर्वं षट्कर्माणि समाचरेत् ।
अन्यस्तु नाचरेत्तानि दोषाणां समभावतः ॥ २१ ॥
धौतिर्बस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा ।
कपालभातिश्चैतानि षट् कर्माणि प्रचक्षते ॥ २२ ॥
कर्मषट्कमिदं गोप्यं घटशोधनकारम् ।
विचित्रगुणसंधायि पूज्यते योगिपुंगवैः ॥ २३ ॥

टीका—जिसके शरीर में मेद और श्लेष्मा की अधिकता हो, उसे पहले छः कर्म करने चाहिए। परन्तु यदि मेद और श्लेष्म की अधिकता न हो तो उन छः कर्मों को न करे। वे छः कर्म यह कहे हैं—(१) धौति, (२) वस्ति, (३) नेति, (४) त्राटक, (५) नौलिक और (६) कपालभाति। यह छओं कर्म गोपनीय तथा शरीर को शद्ध करने वाले हैं। विचित्र गुणों का सन्धान करने वाले होने से यह योगिपुंगवों द्वारा पूजित हैं ॥२१—२३॥

व्याख्या—स्थूल शरीर वाले पुरुष को उपर्युक्त छः कर्म करने चाहिए। इन कर्मों से शरीर की शुद्धि होती है। यदि

श्लेष्मा अर्थात् नाक, मुख से कफ जाना या जुकाम अथवा कफ की अधिकता हो उसके लिए भी यह कर्म लाभदायक सिद्ध होते हैं। परन्तु जिन्हें स्थूलता या कफ-विकार की अधिकता न हो, उनके लिए यह षट्कर्म अनावश्यक हैं।

इस प्रकार षट्कर्म शरीर के कफ और मेद को दूर करने में सहायक हैं। नीचे इनके विषय में पृथक-पृथक् रूप से प्रकाश डालेंगे।

धौति कर्म

चतुरंगुल विस्तारं हस्तपंचदशायतम् ।
गुरूपदिष्टमार्गेण सिक्तं वस्त्रं शनैर्ग्रसेत् ॥
पुनः प्रत्याहरेच्चैतदुदितं धौति कर्म तत् ॥ २४ ॥

टीका—चार अंगुल विस्तृत और पन्द्रह हाथ आयात के वस्त्र को जल से सींचकर गुरु द्वारा बताये हुए मार्ग से धीरे-धीरे ग्रसे और फिर उसका धीरे-धीरे ही प्रत्याहरण करे, यह धौति कर्म होता है ॥२४॥

व्याख्या—धौति कर्म षट्कर्मों में प्रथम कर्म है। इसके लिए चार अंगुल चौड़ा, पन्द्रह हाथ लम्बा महीन वस्त्र लेकर गर्म जल में भिगोवे और फिर गुरु द्वारा निर्दिष्ट विधि से उस वस्त्र को धीरे-धीरे निगले। उसके एक छोर को अपनी दाढ़ों में ठीक प्रकार से दाब ले। वह वस्त्र उदर में जाकर टिक जाय तब वहाँ ठीक प्रकार से चलाकर बाहर निकाल दे। यह धौति कर्म है।

कासश्वासप्लीहकुष्ठं कफरोगाश्च विंशतिः ।
धौतिकर्मप्रभावेन प्रयांत्येव न संशयः ॥ २५ ॥

टीका—इस धौति कर्म के प्रभाव से खाँसी, श्वास, प्लीहा, कुष्ठ और बीस प्रकार के कफ रोग अवश्य दूर हो जाते है, इसमें संशय नहीं है ॥२५॥

व्याख्या—यह कर्म कफ के विकारों को दूर करने में अत्यन्त उपयोगी है। खाँसी, जुकाम, श्वास आदि रोगों में हितकर तथा प्लीहा अर्थात तिल्ली और कुष्ठ रोग एवं अन्यान्य चर्म-विकार भी दूर हो जाते हैं।

वस्ति कर्म

नाभिदघ्नजले पायौ न्यस्तनालोत्कटासनः ।
आधाराकुञ्चनं कुर्य्यात्क्षालनं वस्तिकर्म तत् ॥ २६ ॥

टीका—नदी आदि के नाभि प्रमाण जल में स्थित होकर गुह्य प्रदेश में कनिष्ठिका अंगुली के प्रवेश योग्य छिद्र वाली बाँस की नली को प्रविष्ट करे और उत्कटासन लगाकर बैठे। इस प्रकार बैठे हुए साधक को आधार का आकुंचन करना चाहिए। यह वस्ति कर्म है ॥२६॥

व्याख्या—वस्ति कर्म षट् कर्मों में दूसरा है। बाँस को छः अंगुल लम्बी वह बाँस की नली गुदमार्ग में चार अंगुल भीतर प्रविष्ट करे और दो अंगुल बाहर रहने दे। उत्कटासन लगाकर बैठे। इस आसन का वर्णन आसनों वाले प्रकरण में लिख चुके हैं। इस प्रकार बैठा हुआ साधक, वंशनाल में जैसे ही जल प्रविष्ट हो, वैसे ही आकुंचन करे अर्थात् खींचे और नौली कर्म द्वारा उदर में चलाकर निकाले। इस प्रकार उदर का क्षालन करना अर्थात् धोना ही वस्ति कर्म है।

धौति और वास्ति दोनों ही कर्म भोजन से पहले ही करने चाहिए तथा इन कर्मों को करने के तुरन्त बाद भोजन कर

लेना चाहिए। इससे काया रोग-रहित रहती है, परन्तु इस कर्म को ठीक प्रकार से करना चाहिए। जो लोग गुदा में नाल प्रविष्ट किये बिना ही वास्ति कर्म कर लेते हैं, उनके वैसा करने से उदर प्रक्षालन का पूरा जल बाहर नहीं निकल पाता, जिससे अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

गुल्मप्लीहोदरं चापि वातपित्तकफोद्भवाः।
बस्तिकर्मप्रभावेन क्षीयंते सकलामयाः ॥ २७ ॥
धात्विंद्रियांतःकरणप्रसादं दद्याच्च कांतिं वहनप्रदीप्तिम्।
अशेषदोषोपचयं निहन्यादभ्यस्यमानं जलवस्तिकर्म ॥२८

टीका--वस्ति कर्म के प्रभाव से गुल्म, प्लीहोदर एवं वात, पित्त, कफ से उत्पन्न सभी रोग क्षीण हो जाते हैं। यह वस्ति कर्म करने से धातु, इन्द्रिय, करण को हर्ष की प्राप्ति होती है तथा शरीर में कान्ति और उदर में अग्नि प्रदीप्त है। अशेष दोषों का अपचय भी इसके द्वारा नष्ट हो जाता है। यह जल-वस्ति कर्म है ॥२७॥२८॥

व्याख्या—वस्ति कर्म के द्वारा उदर के सम्पूर्ण रोग दूर किये जा सकते हैं। वात, पित्त, कफ के रोग भी इससे नष्ट हो जाते हैं, चाहे वे एक दोष के कुपित होने से हुए हों, चाहे दो दोषों के कोप से या त्रिदोषज ही क्यों न हों।

धातु-हर्ष का अर्थ है धातुओं का पुष्ट अथवा परिपक्व होना। धातु में रस, रक्त, मांस, मेद शुक्र यह पाँच आते हैं। इन्द्रियाँ दश हैं, पाँच कर्मेन्द्रिय और पाँच ज्ञानेन्द्रिय, इनमें वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ यह पाँच कर्मेन्द्रिय कहलाती हैं तथा श्रोत, त्वक्, जिह्वा, घ्राण और चक्षु यह पाँच ज्ञानेन्द्रिय हैं। 'करण' कहने से अभिप्राय मन बुद्धि, रूप अहङ्कार रूप

अन्तःकरण का है। इनको प्रसन्न करना अर्थात् सुपुष्ट करना ही कान्ति वर्द्धक तथा जठराग्नि प्रदीपक है, यही जलवास्ति कर्म होता है।

नेति कर्म

सूत्रं वितस्तिसुस्निग्धं नासानाले प्रवेशयेत् ।
मुखान्निर्गमयेच्चैषा नेतिः सिद्धैर्निगद्यते ॥२६॥
कपालशोधिनी चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनी ।
जत्रूर्ध्वजातरोगौघं नेतिराशु लिहंति च ॥३०॥

टीका—एक विलाँद (वालिश्त) परिमाण का सूत्र लेकर उसे भली प्रकार स्निग्ध अर्थात् चिकना करले और उसे नासिका की नली में प्रविष्ट करके मुख के द्वारा निकाल दे। इसे सिद्ध पुरुष नेति कहते हैं। यह क्रिया कपाल का शोधन करने वालो, दिव्य दृष्टि देने वाली तथा स्कन्ध-सन्धि के ऊपर के भाग के सब रोगों को शीघ्र दूर करने वालो है ॥२६॥३०॥

व्याख्या—सूत्र का एक विलाँद का टुकड़ा लेकर उसे चिकना करले और नाक द्वारा घुमा कर मुख द्वारा निकाल दे। कुछ लोगों के विचार में सूत्र का एक बिलाँद भर होना कोई आवश्यक नहीं है, जितना सूत्र इस कर्म के लिए अपेक्षित हो, उतना ही लेना चाहिए। इस क्रिया से कन्धे की सन्धि के ऊपरी भागों के सब रोग मिट जाते हैं। इससे कपाल का शोधन भी होता है।

त्राटक कर्म

निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्य समाहितः ।
अश्रुसंपातपर्यन्तमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम् ॥३१॥

मोचनं नेत्ररोगाणां तंद्रादीनां कपाटकम् ।

यत्नतस्त्राटकं गोप्यं यथा हाटकपेटकम् ॥३२॥

टीका—समाहित चित्त वाला पुरुष निश्चल दृष्टि से सूक्ष्म पदार्थ को अश्रुपात होने तक देखता रहे। इसे योगाचार्यों ने त्राटक कर्म माना है। यह नेत्र के रोगों का शमन करने वाला और तन्द्रा आदि के लिए कपाट रूप है। यह स्वर्ण की पेटी को गुप्त रखने के समान ही यत्नपूर्वक गोपनीय है ॥३१—३२॥

व्याख्या—'समाहित' का अर्थ है समान रूप होना और यहाँ इसका अभिप्राय है चित्त की एकाग्रता रहना, श्लोक में एकाग्र चित्त रखता हुआ साधक किसी सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थ को अथवा शून्य को लक्ष्य बनाकर उस पर दृढ़ता से दृष्टि जमा कर तब तक देखता रहे जब तक कि नेत्रों से आँसू न निकलने लगें। इस प्रकार का अभ्यास करने वाले साधक के सभी रोग नष्ट हो जाते हैं और तन्द्रा आदि तो इस प्रकार दूर हो जाती है जैसे कि कपाट खुलने पर अन्धकार दूर हो जाता है।

यह क्रिया इतनी अमूल्य है कि इसे स्वर्ण की पेटी के समान गोपनीय रखना चाहिए। कुछ विद्वानों के अनुसार इससे साधक को सम्मोहन-शक्ति भी प्राप्त होती है।

नौलि कर्म

अमंदावर्तवेगेन तुंदं सव्यापसव्यतः ।

नतांसो भ्रामयेदेषा नौलिः सिद्धैः प्रचक्षते ॥३३॥

मंदाग्निसंदीपनपाचनादिसंधापिकानंदकरी सदैव ।

अशेषदोषामय शोषणी च हठक्रिया मौलिरियंच नौलिः॥३४

टीका—अमन्द आवर्त के वेग से अपने उदर को दाँये-बाँये भागों में भ्रमावे, इसे विद्वजन नौलिकर्म कहते हैं। यह

मन्दाग्नि का दीपन, पाचनादि करने वाला आनन्दकारी कर्म है। इससे अशेष वातादि दोषों और रोगों का नाश होता है। यह हठयोग की श्रेष्ठ नौलि क्रिया है ॥३३—३४॥

व्याख्या—कन्धे नवाये हुए साधक अत्यन्त उदार वेग वाला होकर आवर्त्त अर्थात् जल की भ्रान्ति के समान वेग से अपने उदर को दाँयी-बाँयी ओर घुमावे तो नौलि कर्म होता है। इसे सतत अभ्यास द्वारा सिद्ध करना चाहिए। इस कर्म से मन्दाग्नि दूर होकर अन्न आदि का ठीक प्रकार पाचन होता है। बात के प्रकोप से होने वाले रोग और दोष इसके द्वारा समूल रूप शोषण को प्राप्त होते हैं। अभिप्राय यह है कि इससे सभी वातादि विकारों का समूल नाश होता है।

कपालभाति कर्म

भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससम्भ्रमौ।
कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषणी ॥३५॥

टीका—लोहकार की भस्त्रा के सम्भ्रम से रेचकपूरक प्राणायाम करना कफदोष का शोषण करने वाला कपालभाति कर्म प्रसिद्ध है ॥३५॥

व्याख्या—यह कपालभाति कर्म षट्कर्मों में छठा है। जैसे लोहार की धोंकनी चलती है, वैसे ही एक बार में अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक प्राणायाम करे। इससे कफ दोष का नाश होता है।

षट्कर्मनिर्गतस्थौल्यकफदोषमलादिकः।
प्राणायामं ततः कुर्यादनायासेन सिद्ध्यति ॥३६॥

टीका—धौति आदि षट्कर्मों से स्थूलता एवं बीस प्रकार

के कफ दोषों से मुक्त हुआ पुरुष षट्कर्मों को करने के पश्चात् प्राणायाम करे तो अनायास ही सिद्धि हो जाती है ॥३६॥

व्याख्या—षटकर्मों के करते रहने से स्थूलता और कफ के कोप से उत्पन्न सभी दोष नष्ट हो जाते हैं और जब इस प्रकार आरोग्य की प्राप्ति हो जाय तब षट्कर्म करके प्राणायाम करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि षटकर्म करने पर प्राणायाम करे तो बिना परिश्रम ही प्राणायाम की सिद्धि हो जाती है और षट्कर्म किये बिना ही प्राणायाम किया जाय तो उसकी सिद्धि में अधिक परिश्रम करना होता है। इसलिए षट्कर्म करने के पश्चात् ही प्राणायाम करना ठीक है।

प्राणायामैरेव सर्वे प्रशुष्यंति मला इति।
आचार्याणां तु केषांचिदन्यत्कर्म न संमतम् ॥३७॥

टीका—प्राणायाम के द्वारा ही सब मल शुष्क हो जाते हैं ऐसा मत कुछ आचार्यों का है ॥३७॥

व्याख्या—कुछ आचार्यों के मत में उक्त छः कर्म आवश्यक नहीं हैं। उनके अनुसार केवल प्राणायाम करने से ही सम्पूर्ण मलों की निवृत्ति हो सकती है। इस मत के अनुसार षट्कर्मों का अनुपयोग सिद्ध होता है।

गजकरणी कथन

उदरगतपदार्थमुद्वमंति पवनमपानमुदीर्य कंठनाले।
क्रमपरिचयवश्यनाडिचक्रा गजकरणीति निगद्यते हठज्ञैः॥३८

टीका—अपान वायु को ऊपर कण्ठनाल में पहुँचा कर उदर में गये हुए पदार्थ का उद्वमन करते हैं, उसके क्रमपूर्वक अभ्यास से नाड़ी-समूह का वशीभूत होना, हठयोग के विज्ञ आचार्यों के मत में गजकरणी कहलाता है ॥३८॥

व्याख्या—शंखिनी नाड़ी का मार्ग कण्ठ पर्यन्त है, उसी से अपान वायु ऊपर उठकर कण्ठ नाल में पहुँचता है और यह क्रिया उदरस्थ पदार्थ का उद्वमन करने में सहायक होती है। इसके क्रम से अभ्यास करने से शरीर का नाड़ीजाल वशीभूत हो जाता है।

ब्रह्मादयोऽपि त्रिदशाः पवनाभ्यासतत्पराः।
अभूवन्नंतकभयात्तस्मात्पवनमभ्यसेत् ॥ ३९ ॥
यावद्बद्धो मरुद्देहे यावच्चित्तं निराकुलम्।
यावद्दृष्टिर्भ्रुवोर्मध्ये तावत्कालभयं कुतः ॥४०॥

टीका—ब्रह्मा आदि देवगण भी मरण-भय से वायु के अभ्यास में लगे रहते हैं, इसलिए प्राणायाम के अभ्यास में तत्पर रहना चाहिए। क्योंकि जब तक शरीर में प्राणवायु रुका हुआ है और विक्षेप रहित है और जब तक अन्तःकरण की वृत्ति भौंहों के मध्य में है, तब तक काल का भय कहाँ? ॥३९—४०॥

व्याख्या—मृत्यु का होना इतना अवश्यंभावी है कि उसके भय से बचने के लिए ब्रह्मादि त्रिदेव या अन्यान्य देवता भी प्राणायाम के अभ्यास में तत्पर रहे आते हैं। इस प्रकार का कथन इसका संकेत करता है कि मृत्यु से बचने के लिए प्राणायाम अभ्यास का आवश्यक है, क्योंकि प्राणाभ्यासी मृत्यु को भी जीतने में समर्थ होता है।

शरीर में जब तक प्राण है तब तक मृत्यु कैसी? उसका भय भी-कैसा? और प्राणायाम के अभ्यास की सिद्धि होने पर शरीर से प्राण के पृथक् होने का भी भय नहीं रह सकता। अभिप्राय यह है कि दीर्घजीवी होने के लिए प्राणायाण का अभ्यास आवश्यक है।

सुषुम्ना में सुखपूर्वक वायु प्रवेश कथन

विधिवत्प्राणसंयामैर्नाडीचक्रे विशोधिते ।
सुषुम्नावदनं भित्त्वा सुखाद्विशति मारुतः ॥४१॥
मारुते मध्यसंचारे मनःस्थैर्यं प्रजायते ।
यो मनःसुस्थिरीभावः सैवावस्था मनोन्मनी ॥४२॥

टीका—विधिपूर्वक प्राणायाम के संयम से नाड़ी चक्र का शोधन होने पर प्राणवायु सुषुम्ना के मुख को भेद कर उसमें सुखपूर्वक प्रविष्ट होता है। जब प्राणवायु सुषुम्ना के मध्य चलता है तब मन में स्थैर्य उत्पन्न होता है और मन सुस्थिर होना हो मन की उन्मनी अवस्था होती है ॥४१—४२॥

व्याख्या—विधिपूर्वक प्राणायाम करने पर ही नाड़ियों का शोधन हो सकता है और नाड़ी-शोधन हो जाने पर ही वायु का सुषुम्ना के मुख में प्रवेश करना सम्भव है। इसलिए साधक को विधिवत् प्राणायाम के द्वारा नाड़ी-शोधन का प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि सुषुम्ना में वायु के चलने पर मन की चंचलता नष्ट हो जाती है।

मन के दृढ़ एवं स्थिर हो जाने पर ही उन्मनी अवस्था होती है। क्योंकि मन के स्थैर्य से खेचरी मुद्रा सिद्ध हो सकती है और खेचरी से उन्मनी अवस्था। शाण्डिल्योपनिषत् में कहा गया है—

तारं ज्योतिषि संयोज्य किंचिदुन्नमय भ्रुवौ ।
पूर्वाभ्यासस्य मार्गोऽयमुन्मनीकारकः क्षणात् ॥
तस्मात् खेचरीमुद्रामभ्यसेत् । ततोन्मनी भवति ॥

अर्थात्—नेत्र की पुतली को ज्योति से संयुक्त करके जो साधक दोनों भौंहों को किंचित ऊँचा रखता है, यह पूर्वाभ्यास

का मार्ग है, इससे क्षण भर में ही उन्मनी दशा हो जाती है। इसलिए खेचरी मुद्रा का अभ्यास करे, उससे उन्मनी अवस्था होती है।

तत्सिद्धये विधानज्ञाश्चित्रान्कुर्वन्ति कुंभकान्।

विचित्र कुंभकाभ्यासाद्विचित्रां सिद्धिमाप्नुयात् ॥४३॥

टीका—कुम्भक की विधि के जानने वाले विद्वान् उस (उन्मनी अवस्था) की सिद्धि के लिए अनेक प्रकार के प्राणायामों को किया करते हैं। क्योंकि उन्हीं से अद्‌भुत सिद्धि प्राप्त होती है ॥४३॥

व्याख्या—योग विद्या के विद्वान् उन्मनी दशा की उपलब्धि के उद्‌देश्य से अनेक प्रकार के प्राणायामों को करते रहते हैं, क्योंकि प्राणायामों के द्वारा ही सब प्रकार की सिद्धि सम्भव है। योगशास्त्रों में प्राणायाम के माहात्म्य की बहुत प्रशंसा की है। त्रिशिख ब्राह्मणोपनिषत् के अनुसार—

योगसिद्धो भवेद्योगी वायुजिग्गिजितेन्द्रियः।
अल्पाशी स्वल्पनिद्रश्च तेजस्वी बलवान्भवेत्॥
अपमृत्युमपक्रम्य दीर्घमायुरवाप्नुयात्।

अर्थात्—वायु को जीतने वाला योगी जितेन्द्रिय, मिताहारी, अल्प निद्रा, तेजस्वी, बलवान् और योग विद्या में सिद्ध हो जाता है। उसे अकाल मृत्यु का भय मिटकर दीर्घ आयुष्य की प्राप्ति होती है।

इसी प्रकार और भी अनेक सिद्धियों का वर्णन हुआ है, जो प्राणायाम के अभ्यास से ही प्राप्त हो सकती हैं।

कुंभक के भेद

सूर्यभेदनमुज्जायी सीत्कारी शीतली तथा।

भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा प्लाविनीत्यष्टकुंभकाः ॥४४

टीका—कुम्भक आठ प्रकार के होते हैं—(१) सूर्यभेदन, (२) उज्जायी, (३) सीत्कारी, (४) शीतली, (५) भस्त्रिका, (६) भ्रामरी, (७) मूर्च्छा, और (८) प्लाविनी ॥४४॥

व्याख्या—ग्रन्थकार ने कुम्भक के उक्त आठ भेद बताये हैं। परन्तु कुछ शास्त्रों में चार भेद ही माने हैं। उन्होंने आठ भेदों का चार भेदों में अन्तर्भाव कर दिया प्रतीत होता है। और किन्हीं विद्वानों ने सहित और केवल के भेद से दो प्रकार का कुम्भक बताकर सहित कुम्भक के चार भेद कहे हैं योगकुण्डल्युपनिषत् में कहा है—

सूर्योज्जायी शीतली च भस्त्री चैव चतुर्थिका।
भेदैरेव समं कुम्भो यः स्यात्सहित कुम्भकः ॥

अर्थात्:—सूर्यभेदी, उज्जायी, शीतली और भस्त्रिका इन चार प्रकार के प्राणायामों के साथ सहित कुम्भक किया जाता है।

पूरकांते तु कर्तव्यो बंधो जालंधराभिधः।
कुंभकांते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डियानकः ॥४५॥

टीका—पूरक प्राणायाम के अन्त में जलन्धर नामक बन्ध किया जाता है तथा कुम्भक के अन्त होने पर और रेचक के पहिले उड्डियान बन्ध करना चाहिए ॥४५॥

व्याख्या—हठयोग की सिद्धि में तीन बन्ध भी प्रमुख हैं—जलन्धर बन्ध, मूलबन्ध और उड्यान बन्ध। इस श्लोक में दो वन्धों का संकेत है जलन्धर वन्ध और उड्डियान बन्ध का। जलन्धर बन्ध कण्ठ का आकुंचन करके ठोड़ी को हृदय में लगाकर प्राणवायु का बन्धन करने से होता है और उड्यान की सिद्धि प्रयत्नपूर्वक नाभि का पीठ से आकर्षण करने से होती है।

अधस्तात्कुंचनेनाशु कंठसंकोचने कृते ।
मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः ॥४६॥

टीकाः—कण्ठ का संकोच करने तथा नीचे के प्रदेश से आकुंचन होने पर मध्य में पश्चिम तान से प्राणवायु ब्रह्म नाड़ी में पहुँच जाता है ॥४६॥

व्याख्या—कण्ठ के संकोचादि के द्वारा जालन्धर बन्ध करके और नीचे के प्रदेश के आकुंचन से मूलबन्ध होने पर पीठ से नाभिदेश में प्राण के आकर्षण रूप उड्डियान बन्ध होता है, जिससे प्राण ब्रह्म नाड़ी में जा पहुँचता है। इससे यह जानने योग्य तथ्य है कि जिह्वा बन्ध के भले प्रकार जानकर करने के पश्चात् ही जालन्धर बन्ध के द्वारा प्राणायाम की सिद्धि होती है। आशय यह है कि वायु के उत्तेजन से ही धातुओं का हर्ष, कृशता और मुख पर प्रसन्नता आदि सभी लक्षण होते हैं, जिससे कि मूलबंध और उड्डियान बन्ध निरर्थक होता है। परन्तु यदि जिह्वाबन्ध का ज्ञान न हुआ हो तो उक्त प्रकार से प्राणायाम का किया जाना और तीनों बन्धों की विधि का ज्ञान गुरु से लेना चाहिए।

यह भी ज्ञातव्य है कि ठीक प्रकार से ज्ञात न किया हुआ मूलबन्ध अनेक रोगों को उत्पन्न कर सकता है। मूलबन्ध के ठीक प्रकार न होने के लक्षण यह हैं कि मलावरोध, मन्दाग्नि, धातुओं का क्षय, नाद की मन्दता और मल का बकरी के मल के समान होना आदि से समझना चाहिए कि यह विकार मूल-बन्ध ठीक हो जाय तो इससे विपरीत लक्षण होते हैं अर्थात् धातुओं का ठीक प्रकार से पोषण, नाद का ठीक प्रकार उदय और अग्नि का दीपनादि होते हैं।

अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्राणं कंठादधो नयेत् ।
योगी जराविमुक्तः सन्षोडशाब्दवयो भवेत् ।।४७।।

टीका—अपान वायु को ऊपर उठाकर प्राणवायु को कण्ठ से नीचे ले जाय । इससे योगी वृद्धावस्था से विमुक्त और सोलह वर्ष की अवस्था वाला हो जाता है ।।४७।।

व्याख्या—अपान को ऊर्ध्व और प्राण को अधः करने से प्राणायाम का मेलन होता है,जो कि कुण्डलिनी जागरण में बहुत उपयोगी है । साधक के लिए यह ज्ञातव्य है कि जालन्धर बन्ध और मूलबन्ध के सिद्ध होने पर नाभि देश में जो उड्डियान बन्ध होता है, उसकी सिद्धि स्वतः हो जाती है । इस उड्डियान बन्ध को आकर्षण बन्ध भी कहते हैं ।

सूर्यभेदन कुंभक

आसने सुखदे योगी बद्ध्वा चैवासनं ततः ।
दक्षनाड्या समाकृष्य बहिःस्थं पवनं शनैः ।।४८।।

टीका—सुखद आसन पर बैठ कर योगी आसन को बाँधे और दाँयी नाड़ी (पिंगला) से शरीर के बाहर विद्यमान वायु को धीरे-धीरे खींचता हुआ प्राणायाम को करे ।।४८।।

व्याख्या—यहाँ सूर्य भेदन प्राणायाम के विषय में कहा है । इसकी क्रिया इस प्रकार है कि प्रातःकाल उठकर शौच आदि से निवृत्त होकर तथा गुरुदेव और इष्टदेव को प्रणाम पूर्वक दन्त धावन और भस्म धारण करके श्रेष्ठ कुटी मृदु आसन बिछाकर बैठे आसनों का अभ्यास करे तथा कुम्भक से पहले विपरीत करणी मुद्रा को करे । फिर जालन्धर बन्ध की सिद्धि के लिए कुम्भक से पहिले आचमन करके प्राणायाम का अभ्यास

करना चाहिए। इस प्रकार पहले दिन दश प्राणयाम, दूसरे दिन पन्द्रह और तीसरे दिन बीस, इस प्रकार अस्सी प्राणायाम पर पहुँच जाय।

पहले चन्द्र-सूर्य का क्रम और विपरीत क्रम से अभ्यास करे। फिर चित्त को स्थिर रखकर बन्ध करता हुआ सूर्यभेदन का अभ्यास करे। तत्पश्चात् उज्जायी, सीत्कारी, शीतली और भस्त्रिका का क्रमशः अभ्यास करना चाहिए। इसके अनन्तर अन्य प्राणायाम करे, चाहे न करे।

मुद्राओं का अभ्यास और पद्मासन लगाकर नाद का अनुसन्धान करे और अभ्यास से उठने पर गर्म जल से स्नान करना चाहिए। मध्याह्न में भी अभ्यास करने के पश्चात् कुछ समय विश्राम और फिर भोजन करे। अन्य योगियों को भी पथ्याहार दे अपथ्य रूप आहार कभी न दे।

भोजन के अन्त में लोंग, इलायची या कर्पूर का सेवन करे। परन्तु बिना चूने का पान ही योगियों के लिए हितकर होता है। कुछ विद्वान इन द्रव्यों का निषेध करते हुए कहते हैं कि भोजन के पश्चात् तो मोक्ष विषयक शास्त्रों का अध्ययन करना ही उचित मानते हैं।

दिन की तीन घड़ी शेष रहने पर इसी प्रकार पुनः अभ्यास करना चाहिए। तदनन्तर सायंकालीन संध्या करे और आधी रात के समय पहिल के अनुसार अभ्यास करे। परन्तु यह ज्ञातव्य है कि सायंकाल और अर्द्धरात्रि के समय विपरीत करणी मुद्रा का अभ्यास करना वर्जित है। क्योंकि भोजन के पश्चात् विपरीत करणी श्रेष्ठ नहीं मानी गई है।

आकेशादानखाग्राच्च निरोधावधि कुंभयेत्।
ततः शनैः सव्यनाड्या रेचयेत्पवनं शनैः ॥४६॥

टीका—नखाग्र से केश पर्यन्त जब तक निरोध हो तब तक कुम्भक करे और फिर वाम नाड़ी (इड़ा) से धीरे-धीरे वायु का रेचन करे ॥ ४९ ॥

व्याख्या—इसमें आशय यह है कि जितनी देर प्राणवायु को रोका जा सके, उतनी देर रोककर कुम्भक करे और वाम नासा पुट से उसे निकाल दे। परन्तु निकालने की क्रिया शनैः शनैः करनी चाहिए क्योंकि वेग से प्राणवायु के निकालने से शक्ति का क्षय होता है।

परन्तु पूरक करना अथवा वायु का बाहर से खींचना वेग से किया जाय तो उनमें कोई हानि नहीं होती। कुम्भक में यथा शक्ति वायु का धारण करना चाहिए। जब वायु को रोकने में असमर्थ हो जाय तब उसका रेचन करे। क्योंकि शक्ति से बाहर किया जाने वाला वायु-निरोध शरीर के लिए हानि भी पहुँचा सकता है।

कपालशोधनं वातदोषघ्नं कृमिदोषहृत् ।
पुनःपुनरिदं कार्यं सूर्यभेदनमुत्तमम् ॥ ५० ॥

टीका—यह उत्तम सूर्य भेदन कपाल का शोधन, वात दोष का नाश और कृमि दोष का हरण करने वाला है, इसलिए इसे बार-बार करना चाहिए ॥५०॥

व्याख्या—सूर्यभेदन कुम्भक से मस्तक का शोधन होता है, जो कि योग की सिद्धि में अत्यावश्यक कर्म है। योगकुण्डल्युपनिषत् में कहा है—

कपालशोधने वाऽपि रेचयेत्पवनं शनैः।
चतुष्कं वातदोषं तु कृमिदोषं निहन्ति च ॥
पुनः पुनरिदं कार्यं सूर्य भेद मुदाहृतम्।

अर्थात्—कपालशोधन की क्रिया में वायु को धीरे-धीरे बाहर निकाले, इससे चारों प्रकार के बात दोष और कृमिदोष नष्ट हो जाते हैं। इस सूर्यभेद कही जाने वाली क्रिया को बार-बार करे।

उज्जायी कुंभक

मुखं संयम्य नाडीभ्यामाकृष्य पवनं शनैः ।
यथा लगति कंठात्तु हृदयावधि सस्वनम् ॥५१॥
पूर्ववत्कुंभयेत्प्राणं रेचयेदिडया ततः ।
श्लेष्मदोषहरं कंठे देहानलविवर्धनम् ॥५२॥
नाडीजलोदराधातुगतदोषविनाशनम् ।
गच्छता तिष्ठता कार्यमुज्जाय्याख्यं तु कुंभकम् ॥५३॥

टीका—मुख को वन्द करके दोनों नासापुटों से वायु को धीरे-धीरे खींचे, जिससे कि वह शब्द करती हुई कण्ठ से हृदय पर्यन्त परिपूर्ण हो जाय। फिर पूर्ववत् कुम्भक करके वाम नासिका से रेचन करे। इससे कण्ठ में होने वाले कफ के दोष नष्ट होते और जठराग्नि प्रदीप्त होती है। नाड़ी-सम्बन्धी जलोदर और धातु सम्बन्धी रोग भी नष्ट हो जाते हैं इस उज्जायी कुम्भक को चलते, फिरते, स्थिर रहते सदा करना चाहिए ॥५१—५३॥

व्याख्या—उज्जायी कुम्भक से अनेक रोग नष्ट होते हैं। कफज विकारों के शमन करने अथवा उत्पन्न न होने देने में यह अत्यन्त प्रभावशाली है। घेरण्ड संहिता में भी कहा है—

नासाभ्यां वायुमाकृष्य वायुं वक्त्रेण धारयेत् ।
हृद्गलाभ्यां समाकृष्य मुखमध्ये च धारयेत् ॥

मुखं प्रक्षाल्य सम्बन्धं कुर्याज्जालन्धरं ततः ।
अशक्ति कुम्भकं कृत्वा धारयेद विरोधतः ॥
उज्जायी कुम्भकं कृत्वा सर्वकार्याणि साधयेत् ।
न भवेत् कफ रोगं च क्रूरवायुरजीर्णकम् ॥
आमवातं क्षयं कासं ज्वर प्लीहा न विद्यते ।
जरामृत्यु विनाशाय चोज्जायीसाधयेन्नरः ॥

अर्थात्– दोनों नासापुटों से बाह्य वायु को खींचे और भीतर के वायु को हृदय, कण्ठ से खींचकर कुम्भक द्वारा धारण करे। मुख का प्रक्षालन कर जालन्धर बन्ध करके निर्विघ्न रूप से यथा शक्ति वायु-धारण करे। यह उज्जायी कुम्भक करने से सभी कार्यों का साधन हो जाता है और कफ के रोग, दुष्ट वायु, अजीर्ण, आमवात, क्षय, कास, ज्वर, प्लीहा उत्पन्न नहीं होते (अथवा उत्पन्न हों तो नष्ट हो जाते हैं। इसलिए इस जरा-मरण नाशक उज्जायी का सदा साधन करना चाहिए।

सीत्कारी कुंभक

सीत्कां कुर्यात्तथा वक्त्रे घ्राणेनैव विजृंभिकाम् ।
एवमभ्यासयोगेन कामदेवो द्वितीयकः ॥ ५४ ॥
योगिनी चक्रसामान्य सृष्टिसंहारकारकः ।
न क्षुधा न तृषा निद्रा नैवालस्यं प्रजायते ॥५५॥
भवेत्सत्त्वं च देहस्य सर्वोपद्रववर्जितः ।
अनेन विधिना सत्यं योगींद्रो भूमिमंडले ॥५६॥

टीका—सीत्का अर्थात् सीत्कारी भी उसी प्रकार किया जाता है कि घ्राण से ही वायु का रेचन करे। इसके अभ्यास से दूसरा कामदेव ही हो जाता है। योगिनियों से सेवन करने

योग्य और सृष्टि-संहार का करने वाला होता हुआ साधक क्षुधा, तृषा, निद्रा और आलस्य से अभिभूत नहीं होता। इससे शरीर का बल बढ़कर सभी उपद्रव नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार करने वाला साधक भूमण्डल में योगियों का इन्द्र हो जाता है ॥५४—५६॥

व्याख्या—इस क्रिया में वायु का रेचन नासिका पुटों द्वारा ही करना चाहिए, मुख से न करे। अभ्यास सिद्ध होने पर भी वायु का मुख के द्वारा निकालना बल को क्षीण करने वाला होता है। 'घ्राणेनैव विजृम्भिका' का अर्थ यही है कि घ्राण अर्थात् नासिका से, विजृम्भण अर्थात् रेचन करे।

शीतली कुंभक

जिह्वया वायुमाकृष्य पूर्ववत्कुंभसाधनम् ।
शनकैर्घ्राणरंध्राभ्यां रेचयेत्पवनं सुधीः ॥५७॥
गुमप्लीहादिकान्रोगाञ्ज्वरं पित्तं क्षुधा तृषाम् ।
विषाणि शीतली नाम कुंभिकेयं निहंति हि ॥५८॥

टीका—जिह्वा के द्वारा वायु खींच कर विद्वान् साधक पूर्वोक्त प्रकार से कुम्भक का साधन करे और नासिका रन्ध्रों से धीरे-धीरे वायु को निकाल दे। इस शीतली कुम्भक से गुल्म, प्लीहा आदि रोग, ज्वर, पित्त, क्षुधा, तृषा और विष नष्ट हो जाते हैं ॥५७—५८॥

व्याख्या—काकी मुद्रा के समान मुख के होठों को करके उनके द्वारा वायु का आकर्षण करता हुआ नाक से रेचन करने की विधि कही है। घेरण्ड संहिता में इस प्रकार कहा है—

जिह्वयावायुमाकृष्य उदरे पूरयेच्छनैः ।
क्षणं च कुम्भकं कृत्वा नासाभ्यां रेचयेत् पुनः ॥

सर्वदा साधयेदयोगी शीतली कुम्भकं शुभम् ।
अजीर्णं कफपित्तं च नैव देहे प्रजायते ॥

अर्थात्—जिह्वा के द्वारा वायु खींच कर उदर में भरे और कुछ देर कुम्भक करके दोनों नासापुटों द्वारा निकाल दे। इस शुभ शीतली कुम्भक को सदा करने से शरीर में अजीर्ण और कफ पित्त के विकार उत्पन्न नहीं होते।

भस्त्रिका कुंभक

ऊर्वोरुपरि संस्थाप्य शुभे पादतले उभे ।
पद्मासनं भवेदेतत्सर्वपापप्रणाशनम् ॥ ५९ ॥
सम्यक्पद्मासनं बद्ध्वा समग्रीवोदरं सुधीः ।
मुखं संयम्य यत्नेन प्राणं घ्राणेन रेचयेत् ॥ ६० ॥
यथा लगति हृत्कंठे कपालावधि सस्वनम् ।
वेगेन पूरयेच्चापिहृत्पद्मावधि मारुतम् ॥ ६१ ॥
पुनर्विरेचयेत्तद्वत्पूरयेच्च पुनः पुनः ।
यथैव लोकारेण भस्त्रा वेगेन चाल्यते ॥ ६२ ॥

टीका—दोनों पाँवों के तलुओं को दोनों जंघाओं के ऊपर स्थापित करके बैठे तो यह सभी पापों का नाश करने वाला पद्मासन होता है। भले प्रकार पद्मासन बाँध कर ग्रीवा और उदर को समान रखे तथा मुख का संयम करके नासिका के एक रन्ध्र से प्राण का रेचन करे। जैसे शब्द करता हुआ प्राण हृदय, कण्ठ और कपाल पर्यन्त लगे और फिर वेग पूर्वक हृदय कमल तक वायु को पूरित करे। तत्पश्चात् वायु का रेचक बार-बार वैसे ही करे, जैसे लोहार धौंकनी को चलाता है ॥५९—६२॥

व्याख्या—पद्मासन लगाकर बैठने के पश्चात् भस्त्रिका कुम्भक होता है। क्योंकि पद्मासन सभी पापों को नष्ट करने वाला है। इसीलिए ग्रन्थकार ने 'सम्यक् पद्मासनं बद्ध्वा' कह-कर पद्मासन को ठीक प्रकार से लगाने का उपदेश किया।

तथैव स्वशरीरस्थं चालयेत्पवनं धिया।
यदा श्रमो भवेद्देहे तदा सूर्येण पूरयेत् ॥ ६३ ॥
यथोदरं भवेत्पूर्णमनिलेन तथा लघु।
धारयेन्नासिकां मध्यतर्जनीभ्यां विना दृढम् ॥६४॥
विधिवत्कुंभकं कृत्वा रेचयेदिडयानिलम्।
वातपित्तश्लेष्महरं शरीराग्निविवर्धनम् ॥ ६५ ॥
कुंडलीबोधकं क्षिप्रं पवनं सुखदं हितम्।
ब्रह्मनाडीमुखे संस्थकफाद्यर्गलनाशनम् ॥ ६६ ॥
सम्यग्गात्रसमुद्भूतं ग्रंथित्रयविभेदम्।
विशेषेणैव कर्तव्यं भस्त्राख्यं कुंभकं त्विदम् ॥६७॥

टीका—वैसे ही बुद्धिमान साधक अपने शरीर में विद्य-मान वायु का चालन करे और जब श्रम जान पड़े तब सूर्यनाड़ी (पिंगला) से पूरक करे। मध्यमा और तर्जनी के अतिरिक्त अन्य तीनों अंगुलियों से नासिका को मध्य से दृढ़ता पूर्वक पकड़ कर कुम्भक करे और बाँयी नासिका से रेचक करे। यह प्रयोग वात, पित्त, कफ का नाशक और जठराग्नि का वर्धन करने तथा कुण्डलिनी को जगाने वाला है। यह सुखदायक और हितकारक तथा ब्रह्मनाड़ी के मुख पर विद्यमान कफादि को नष्ट करता है। जो गात्र नाड़ो के मध्य में समुद्भूत तीन ग्रन्थियों का भेदन

करने वाला होने से भस्त्रा संज्ञक यह कुम्भक विशेष रूप से करना चाहिए ॥६३—६७।'

व्याख्या—जिस प्रकार वायु से उदर पूर्ण हो सके, उसी प्रकार अर्थात् यथाशक्ति सूर्यनाड़ी द्वारा पूर्ण करना चाहिए। पूरक के पश्चात् अंगूठा, अनामिका और कनिष्ठिका तीनों के द्वारा नासा पुट को दृढ़तापूर्वक रोकता हुआ कुम्भक करे उसमें मध्यमा और तर्जनी को न लगावे। फिर इड़ा नाड़ी से रेच करना चाहिए।

वाम नासापुट को दाँये हाथ की अनामिका और कनिष्ठिका से रोककर दाँये नासापुट से धौंकनी के समान वेग पूर्वक रेचक, पूरक करे और जब श्रम का अनुभव हो तब उसी नासापुट से पूरक करके अंगूठे के द्वारा दाँये नासापुट का अवरोध कर यथाशक्ति कुम्भक करे और फिर बाँये नासापुट से रेचन करे। तदन्तर दाँये नासापुट को अगुष्ठ से रोके और वामपुट से धौंकनी के समान जल्दी-जल्दी रेचक-पूरक करे। जब उससे श्रम हो तब नासापुट से पूरक करके अनामिका और कनिष्ठिका से वामनासा को रोककर, शक्तिभर कुम्भक कर दाँयी नासा रेचन करे।

इस प्रकार की विधि से भस्त्रा कुम्भक होता है। इसकी अन्यान्य विधियाँ भी कही जाती हैं। उन सबका कथन अभीष्ट नहीं। घेरण्ड संहिता में कहा है—

भस्त्रैव लौहकाराणां यथाक्रमेण सम्भ्रमेत्।
ततो वायुं च नासाभ्यामुभाभ्यां चालयेच्छनैः॥
एवं विंशतिवारं च कृत्वा कुर्याच्च कुम्भकम्।
तदन्ते चालयेद्वायुं पूर्वोक्तं च यथाविधि॥
त्रिवारं साधयेदेन भस्त्रिका कुम्भकं सुधीः।
न च रोगं न च क्लेशमारोग्यं च दिने दिने॥

अर्थात्--लोहार की धौंकनी से वायु भरने के समान नासिका द्वारा वायु को उदर में भरकर धीरे-धीरे चलावे। इस प्रकार बीस बार कुम्भक करता हुआ वायु का धारण करे। फिर धौंकनी से वायु बाहर निकलने के ही समान नाक से वायु को निकाले, विद्वानों ने इसी को भस्त्रिका कुम्भक कहा है। इसी प्रकार तीन बार करे तो किसी प्रकार का रोग और क्लेश नहीं होता तथा दिनों दिन आरोग्य की वृद्धि होती है।

भ्रामरी कुंभक

वेगाद्घोषं पूरकं भृङ्गनादं
भृङ्गीनादं रेचकं मंदमंदम्।
योगींद्राणामेवसभ्यासयोगा-
च्चित्ते जाता काचिदानंदलीला ॥६८॥

टीका—वेगपूर्वक भौंरे के समान मन्द-मन्द शब्द निकले, उस प्रकार से कुम्भक प्राणायाम करे अथवा शब्दमय प्राणायाम को मन्द-मन्द करे। इस भ्रामरी कुम्भक के अभ्यास से योगियों के चित्त को आनन्द की प्राप्ति होती है ॥६८॥

व्याख्या—इसके अभ्यास से योगी के मनमें अत्यन्त आनन्द की क्रीडा का अनुभव होने लगता है। इसके विषय में घेरण्ड संहिता में विस्तृत विवेचन मिलता है। यथा—

अर्धरात्रिगते योगी जन्तूनांशब्दवर्जिते।
कर्णौपिधाय हस्ताभ्यां कुर्यात् पूरक कुम्भकम् ॥
शृणुयाद् दक्षिणे कर्णे नादमन्तर्गतं शुभम्।
प्रथमं झिंझिनादं च वंशीनादं ततः परम् ॥

मेघझर्झरभ्रमरी घण्टा कास्यं ततः परम् ।
तुरीभेरी मृदंगानि निनादानक दुंदुभिः ॥
एवं नानाविधं नादं जायते नित्यमभ्यसात् ।
अनाहतस्य शब्दस्य तस्य शब्दस्य योध्वनिः ॥
ध्वनेरन्तर्गतज्योतिर्ज्योतिरन्तर्गतं मनः ।
तन्मनोविलयंयाति तद्विष्णोः परमं पदम् ।
एव च भ्रामरी सिद्धिः समाधि सिद्धिमाप्नुयात् ॥

अर्थात्—आधी रात व्यतीत होने पर जब जीव-जन्तुओं का शब्द सुनाई न दे, तब योगी हाथों के द्वारा कानों को बन्द करके पूरक और कुम्भक करे। इससे दाँये कान में अनेक प्रकार के शब्द सुनाई देते हैं। प्रथम झींगुर के बोलने का शब्द, फिर वंशीनाद, फिर मेघ, झर्झर, घण्टा, काँसे के पात्र तुरही, भेरी, मृदंग, दुन्दुभि आदि के शब्द सुनने में आते हैं। हृदयस्थ शब्द की प्रतिध्वनि के मध्य साधक ज्योति को देखने लगता है। यह ज्योति ही ब्रह्म है, इसमें मनका लय होने पर विष्णु का परम-पद उपलब्ध हो जाता है। इस प्रकार भ्रामरी मुद्रा के सिद्ध होने पर समाधि की सिद्धि होती है।

मूर्च्छा कुंभक

पूरकांते गाढतरं बद्ध्वा जालंधरं शनैः ।
रेचयेन्मूर्च्छनाख्येयं मनोमूर्च्छा सुखप्रदा ॥ ६९ ॥

टीका—पूरक प्राणायाम के अन्त में जलन्धर बन्ध को दृढ़ रूप से बाँधकर प्राणवायु का धीरे-धीरे रेचन करे मूर्च्छना संज्ञक कुंभिका सुखदायिनी तथा मनोमूर्च्छा के करने वाली है ॥६९॥

व्याख्या—यह कुम्भक मनको आनन्द में ऐसा लीन कर देती है कि साधक को बाह्य विषयों की संज्ञा ही नहीं रहती। आशय यह है कि साधक की ऐसी अवस्था हो जाती है कि देखने वाले को ऐसा प्रतीत हो कि उसे मूर्च्छा आगई है। इसमें भौंहों के मध्य मनको लय करने का निर्देश मिलता है। यथा—

मुखेन कुम्भकं कृत्वा मनश्च भ्रुवोरन्तरम्।
सन्त्यज्य विषयान् सर्वान् मनोमूर्च्छासुखप्रदम्।
आत्मनि मनसो योगादानन्दो जायते ध्रुवम्॥

अर्थात्—मुख के द्वारा वायु खींचकर कुम्भक करता हुआ साधक विषयों से मनको हटाकर भौंहों के मध्य में विद्यमान आज्ञाचक्र में लगावे और आज्ञाचक्र में विराजमान आत्मा में लय करदे। इसे आनन्द लाभ कराने वाला सुखदायी मूर्च्छा कुम्भक कहते हैं।

प्लावनी कुंभक

अन्तः प्रवर्तितोदारमारुतापूरितोदरः।
पयस्यगाधेऽपि सुखात्प्लवते पद्मपत्रवत्॥७०॥

टीका:—शरीर के मध्य में प्रवृत्त उदार वायु से परिपूर्ण उदर वाला साधक अगाध जल में भी कमलपत्र के समान सुखपूर्वक तैरता है॥७०॥

व्याख्या—यह प्लाविनी संज्ञक कुम्भक है, जिसे सिद्ध कर लेने पर योगी को अथाह जल से परिपूर्ण जलाशय में भी तैरने या उसे पार करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है।

प्राणायाम के भेद कथन

प्राणायाम स्त्रिधा प्रोक्तो रेचपूरककुम्भकैः।
सहितः केवलश्चेति कुंभको द्विविधो मतः॥७१॥

यावत्केवल सिद्धिः स्यात्सहितं तावदभ्यसेत् ।
रेचकं पूरकं मुक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम् ।।७२।।

टीका--प्राणायाम तीन प्रकार का होता है—रेचक, पूरक और कुम्भक। कुम्भक प्राणायाम के दो भेद हैं सहित और केवल। जब तक केवल कुम्भक की सिद्धि हो तब तक सहित कुम्भक का अभ्यास करे। रेचक और पूरक के अतिरिक्त सुखपूर्वक वायु धारण करने को केवल कुम्भक कहते हैं ।।७१७२।।

व्याख्या—रेचक अर्थात् भरी ईहु वायुको निकालना,पूरक अर्थात् बाहर से वायु खींचकर शरीर में भरना और कुम्भक अर्थात् भरी हुई वायु को शरीर में रोके रखना। इस प्रकार प्राणायाम के यह तीन भेद अथवा तीन अंग हैं। प्रारम्भ में तो इन तीनों के द्वारा ही अभ्यास करना होता है।

सहित और केवल के भेद से दो प्रकार के कुम्भक माने गये हैं। योगकुण्डल्युपनिषत् में कहा है—

प्राणरोधमथेदानीं प्रवक्ष्यामि समासतः
प्राणश्च देहगो वायुदायामः कुम्भकः स्मृतः ।।
स एव द्विविधः प्रोक्तः सहितः केवलस्तथा ।
यावत् केवल सिद्धिस्यात् तावत् सहितमभ्यसेत् ।।

अर्थात्—प्राणनिरोध के विषय में कहते हैं कि शरीर में चलने वाले प्राण को वायु कहते हैं और जब वह वायु स्थिर हो जाता है तब कुम्भक कहलाता है। यह कुम्भक दो प्रकार का कहा है—सहित और केवल। जब तक केवल की सिद्धि न हो, तब तक सहित कुम्भक करते हुए अभ्यास करना चाहिए।

प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुंभकः ।
कुंभके केवले सिद्धे रेचपूरकवर्जिते ।।७३।।

न तस्य दुर्लभं किञ्चित्त्रिषु लोकेश विद्यते ।
शक्तः केवलकुंभेन यथेष्टं वायुधारणात् ॥७४॥
राजयोगपदं चापि लभते नात्र संशयः ।
कुँभकात्कुंडलीबोधः कुंडलीबोधतो भवेत् ॥७५॥
अनर्गला सुषुम्ना च हठसिद्धिश्च जायते ।
हठं बिना राजयोगं राजयोगं बिना हठः ॥
न सिध्यति ततो युग्ममानिष्पत्तः समभ्यसेत् ॥७६

टीका—इस प्रकार कहे हुए केवल कुम्भक के सिद्ध होने पर रैचक, पूरक प्राणायाम का वर्जन हो सकता है और तब उस योगी के लिए संसार में कोई पदार्थ दुर्लभ नहीं रहता। जो अपनी इच्छा के अनुसार वायु धारण कर सकता है वही केवल कुम्भक में समर्थ होता है ! उसके द्वारा राजयोग पद को प्राप्ति हो जाती है, इसमें संशय नहीं। उस कुम्भक की सिद्धि से कुण्डली जाग्रत् होती है और कुण्डली के जागरण से सुषुम्ना अनर्गल होती है तथा हठयोग की सिद्धि हो जाती है। हठयोग के बिना राजयोग और राजयोग के बिना हठयोग सिद्ध नहीं होता। इसलिये दोनों की ही सिद्धि का अभ्यास करना चाहिए ॥ ७३—७६ ॥

व्याख्या—सहित कुम्भक में पूरक और रेचक करना भी आवश्यक होता है। क्योंकि पूरक-रेचक के सहित होने से हो उसे सहित कुम्भक कहते हैं। परन्तु जब केवल कुम्भक का अभ्यास सिद्ध हो जाता है तब पूरक-रेचक नहीं करना होता और इस प्रकार की सिद्धि होने पर उसे तीनों लोकों की सभी वस्तुएँ, सभी ऐश्वर्य सुलभ हो जाते हैं अर्थात् इच्छा करते ही स्वतः प्राप्त हो जाते है।

इसी के द्वारा राजयोग की उपलब्धि होती है और इसी से मोक्ष मिल सकती है। क्योंकि इसके सिद्ध होने पर ही कुण्डलिनी को जाग्रत् करने की सामर्थ्य उत्पन्न होती है। जब कुण्डलिनी जागती है तब सुषुम्ना कफ आदि के बन्धन से मुक्त होकर, कुण्डलिनी को प्रविष्ट होने का मार्ग दे देती है। इससे हठयोग की भी सिद्धि हो जाती है।

राजयोग और हठयोग का परस्पर अटूट सम्बन्ध है। एक के बिना दूसरे की सिद्धि असम्भव है। इसीलिए साधक को दोनों के अभ्यास करने का उपदेश दिया गया है।

कुंभकप्राणरोधांते कुर्याच्चित्तं निराश्रयम्।
एवमभ्यासयोगेन राजयोगपदं व्रजेत् ॥७७॥

टीका—कुम्भक से प्राण को रोकने के अन्त में चित्त को निराश्रय करे। इस प्रकार अभ्यास करने से राजयोगपद की प्राप्ति होती है।

व्याख्या—कुम्भक के द्वारा प्राण का निरोध करने पर समाधि अवस्था हो सकती है। उस अवस्था होने पर ही ब्रह्माकार स्थिति होती है, उसमें निराश्रय अर्थात् अनासक्त रूप से चित्त का लय कर देना चाहिए। इस प्रकार के अभ्यास से ही राजयोगपद मिल सकता है।

वपुःकृशत्वं वदने प्रसन्नता
नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले।
अरोगता बिंदुजयोऽग्निदीपनं
नाडीविशुद्धिर्हठयोगलक्षणम् ॥ ७८ ॥

टीका—शरीर में कृशता, मुख पर प्रसन्नता, नाद का प्राकट्य, नेत्रों में स्वच्छता, रोग का अभाव, बिन्दु का जय, अग्नि का दीपन और नाड़ी-शुद्धि, यह हठयोग के लक्षण हैं ॥ ७८ ॥

व्याख्या—ग्रन्थकार का मत है कि हठयोग की सिद्धि हो जाने पर उक्त उपलब्धियाँ अनायास ही हो जाती हैं, उनके लिए साधक को कोई प्रयत्न नहीं करना होता।

हठयोग प्रदीपिका का द्वितीय उपदेश समाप्त

तृतीय उपदेश

कुंडली बोध

सशैलवनधात्रीणां यथाधारोऽहिनायकः ।
सर्वेषां योगतंत्राणां तथाधारो हि कुंडली ।।१।।

टीका—जैसे पर्वतों और वनों से युक्त इस पृथिवी को अहिनायक धारण करते हैं, वैसे ही सम्पूर्ण योगतन्त्रों का धारण कुण्डली ही करती है।

व्याख्या—श्लोक में बताया गया है कि कुण्डलिनी शक्ति सब प्रकार के योगों की आश्रय स्वरूपा है। जिस प्रकार सर्पों के अधिनायक अर्थात् शेष इस सम्पूर्ण पृथिवी को अपने फण पर धारण किये हुए, उसी प्रकार सब प्रकार के योगों को कुण्डलिनी धारण करती है। आशय यह है कि सब प्रकार के योगों की सिद्धि में कुण्डलिनी ही एक मात्र कारण है, उसके जागरण बिना योग के सभी उपाय निष्फल रहते हैं।

श्लोक में 'धात्रीणाम्' कहकर पृथिवी के विषय में बहु-वचन का प्रयोग हुआ है, उसका आशय यह है कि देश-भेद से पृथिवी को अनेक कहा है। कुछ विद्वानों के मत में शेष भगवान् त्रिलोकी का धारण करते हैं और तीन लोकों को तीन पृथिवी हुई, इसीलिए बहुवचन प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है।

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली ।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यंते ग्रन्थयोऽपि च ।।२।।

सुषुम्ना के पर्याय कथन

प्राणस्य शून्यपदवी तथा राजपथायते ।

तदा चित्तं निरालंबं तदा कालस्य वंचनम् ॥३॥

टीका—गुरु के प्रसाद से जब सोती हुई कुण्डली जाग्रत् होती है, तब वह सभी कमलों और ग्रन्थियों का भेदन कर देती है । वैसे ही प्राण की शून्य पदवी जब राजपथ जैसी हो जाती है, तब चित्त निरालम्ब हो जाता और काल का भी वंचन होता है ॥२—३॥

व्याख्या—सुप्त कुण्डलिनी को जाग्रत् करने के लिए गुरु की प्रसन्नता आवश्यक है, क्योंकि गुरु प्रसन्न होकर ही उपाय बताते हैं और जब उनकी कृपा से साधक उसमें सफलता प्राप्त कर लेता है, तभी कुण्डलिनी शक्ति षट्चक्रों और सब ग्रन्थियाँ को वेधकर सहस्रार पद्म में पहुँच सकती है । उसी के लिए शून्य पदवी से कही सुषुम्ना राजपथ के समान होकर प्राण को सुख-पूर्वक गमन करने के लिए मार्ग देती है । उस अवस्था में चित्त सब विषयों से विमुख हो जाता है और तभी काल का बन्धन भी नष्ट हो जाता है, अर्थात् मृत्यु का भय भी नहीं रहता ।

सुषुम्ना शून्यपदवी ब्रह्मरंध्रं महापथः ।

श्मशानं शांभवी मध्यमार्गश्चेत्येकवाचकाः ॥४॥

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम् ।

ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ॥५॥

टीका—सुषुम्ना, शून्यपदवी, ब्रह्मरन्ध्र, महापथ, श्मशान, शाम्भवी और मध्य मार्ग एक अर्थ के वाचक हैं । इस-लिए सब प्रकार प्रयत्न करके ब्रह्मद्वार पर सोती हुई उस

ईश्वरी को जाग्रत् करने के लिए मुद्राओं का अभ्यास करना चाहिए ॥४—५॥

व्याख्या—सुषुम्ना, शून्य पदवी आदि जो नाम इस श्लोक में दिये हैं, उन सबका एक ही अर्थ है—सुषुम्ना नाड़ी। यह नाड़ी ही ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय है। परन्तु उसी सुषुम्ना के द्वार को रोककर कुण्डलिनी शक्ति सोती रहती है। उसे जगाने के लिए महामुद्रा आदि का अभ्यास करना चाहिए।

महामुद्रा महाबंधो महावेधश्च खेचरी।
उड्यानं मूलबंधश्च बंधो जालंधराभिधः ॥६॥
करणी विपरीताख्या वाज्रोली शक्तिचालनम्।
इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशम् ॥७॥
आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकम्।
वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्लभं मरुतामपि ॥८॥

टीका—महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी उड्यान बन्ध, मूलबन्ध, जालन्धर बन्ध, विपरीतकरणी, वज्रोली, शक्तिचालन, यह दश मुद्राएँ जरा-मरण को नष्ट करने वाली हैं। यह मुद्राएं आदिनाथ द्वारा कहे हुए आठ दिव्य ऐश्वर्यों को प्रदान करती हैं जा कि सभी सिद्धों को प्रिय और देवताओं को भी दुर्लभ है ॥६—८॥

व्याख्या—ग्रन्थकार ने यहाँ दश मुद्राओं का वर्णन किया है। इन्हें करने वाला साधक मृत्यु को भी जीत लेने में समर्थ होता है। इनके द्वारा आठ दिव्य ऐश्वर्य अर्थात् अष्ट सिद्धियों की प्राप्ति होती है। वे अष्ट सिद्धियाँ हैं—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्रकाम्य, ईशता और वशिता। इनके विषय में पहले भी विवेचन किया जा

चुका है। यह आठों सिद्धियाँ मुद्राओं का अभ्यास करने वालों को सुलभ हैं।

गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरंडकम् ।
कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा ॥९॥

टीका—यह सभी मुद्राएं रत्नों की पिटारी के समान गुप्त रखने योग्य हैं इन्हें उसी प्रकार नहीं कहना चाहिए जिस प्रकार कि कुल-स्त्री का समागम नहीं बताया जाता ॥९॥

व्याख्या—इन मुद्राओं को अनधिकारी पुरुष को कभी न बतावे। इसी अभिप्राय से प्रयत्न पूर्वक गोपनीय कहा है। साधक का कर्त्तव्य है कि इनका अभ्यास एकान्त में ही करे।

महामुद्रा कथन

पादमूलेन वामेन योनिं संपीड्य दक्षिणम् ।
प्रसारितं पदं कृत्वा धराभ्यां धारयेद्दृढम् ॥१०॥
कंठे बंधं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः ।
यथा दंडहतः सर्पो दंडाकारः प्रजायते ॥११
ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत् ।
तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया ॥१२॥

टीका—बाँए पाँव के तलुए से योनि स्थान को पीड़ित करके दाँए पाँव को फैलावे और भूमि पर रखकर दृढ़ता से पकड़े। फिर कण्ठ प्रदेश में बन्ध करके वायु को ऊर्ध्व देश में धारण करे, इससे जैसे कुण्डली लगाकर बैठा हुआ सर्प दंडे से मारे हुए के समान दण्ड के आकार का हो जाता है, वैसे ही कुण्डलिनी शक्ति सहसा सरल हो जाती है और तब दोनों पुटों

के आश्रय से प्राण के वियुक्त होने के कारण मरणाअवस्था जैसी हो जाती है ।।१०—१२।।

व्याख्या—यहाँ महामुद्रा का वर्णन हुआ है। इसमें वाम पादमूल से योनि स्थान को दबाने और दाँए पाँव को फैलाकर हाथों की तर्जनी अंगुलियों के द्वारा उसे दृढ़तापूर्वक पकड़ लेना चाहिए। तदनन्तर कण्ठ में जालन्धर बन्ध करके मूलबन्ध करे। कुछ विद्वानों के मत में योनि के दबाने और जिह्वा का बन्धन करने से ही मूलबन्ध चरितार्थ हो जाता है इसलिए मूलबन्ध पृथक् से करने की आवश्यकता नहीं है।

उक्त विधि के अभ्यास से डडे से मारी हुई सर्पिणी के समान कुण्डलिनी शक्ति जागकर सीधी हो जाती है और प्राण-वायु का सुषुम्ना में प्रवेश हो जाने से इडा पिंगला दोनों नाड़ियों से उसका वियोग हो जाता है। इसीलिए उस अवस्था को मरणावस्था की समानता दी गई है।

ततः शनैःशनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः ।
महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः ।।१३।।
इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता ।
महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयंते मरणादयः ।।
महामुद्रां च तेनैव वदंति विबुधोत्तमाः ।।१४।।

टीका—उससे वायु का रेचन धीरे-धीरे करे, वेग से न करे। श्रेष्ठ विद्वान् इसे महामुद्रा कहते हैं। इस महामुद्रा का प्रदर्शन महान् सिद्धों ने किया है, इससे महाक्लेशादि और मरणादि दोषों का भी नाश हो जाता है। इसलिए श्रेष्ठ विद्वान् पुरुष इसे महा मुद्रा कहते हैं ।।१३—१४।।

व्याख्या—उपर्युक्त अवस्था होने पर वायु का रेचन वेगपूर्वक न करके धीरे-धीरे ही करे। क्योंकि वेग से रेचन करने पर शरीर को हानि पहुँचती है और शक्ति भी घटती है। यह महामुद्रा मरणादि दुःखों और पंच महाक्लेशों को भी नष्ट कर सकती है। अविद्या, स्मितता, राग, द्वेष और अभिनिवेश यह पंच महाक्लेश कहलाते हैं। इन्हें नष्ट करने वाली होने से ही इसका नाम महामुद्रा हुआ।

महामुद्रा के अभ्यास का वर्णन

चन्द्रांगे तु समभ्यस्य सूर्यांगे पुनरभ्यसेत्।
यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥१५॥

टीका—चन्द्रांग से ठीक प्रकार अभ्यास करके सूर्यांग से अभ्यास करे। जब तक दोनों की संख्या समान हो तब तक ठीक प्रकार से अभ्यास करे और फिर मुद्रा का विसर्जन करदे ॥१५॥

व्याख्या—चन्द्रनाड़ी अर्थात् इड़ा से उपलक्षित अङ्ग को ही चन्द्राङ्ग कहते हैं और और सूर्याङ्ग का अर्थ है पिंगला से उपलक्षित अङ्ग। इसका आशय है कि पहले वाम नासिका से अभ्यास करे और फिर दक्षिण नासिका से। जब तक कुम्भक प्राणायाम का अभ्यास समान संख्या में न हो जाय तब तक भले प्रकार अभ्यास करता रहे और समान संख्या होने पर महामुद्रा को विसर्जित करे।

जैसा वर्णन इस ग्रन्थ में हुआ है, वैसा ही अन्य अनेक ग्रन्थों में मिलता है। ग्रहयामल में तो इसको यथावत् ही कह दिया है। घेरण्ड संहिता में इस प्रकार कहा है—

पायुमूलं वामगुल्फे संपीड्य दृढ़ यत्नतः।
याम्यपादं प्रसार्याथ करेधृत पदांगुलः ॥

कंठं संकोचनं कृत्वा भ्रुवोर्मध्ये निरीक्षयेत् ।
महामुद्राभिधामुद्रा कथ्यते चैव सूरिभिः ॥

अर्थात्—गुह्य प्रदेश को बाँयी एड़ी से दृढ़तापूर्वक दबावे और दाँये पाँव को फैला कर उसकी अँगुलियों को हाथ से पकड़ ले तथा कण्ठ को सकोड़ कर भौंहों के मध्य में दृष्टि लगावे, विद्वानों ने इसे महामुद्रा कहा है।

न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमपि जीर्यति ॥१६॥

टीका—इसका अभ्यास करने वाले योगी को पथ्यअपथ्य कुछ नहीं होता। इससे भक्षण किये हुए नीरस रस जीर्ण हो जाते हैं और विष के समान घोर अन्न भी अमृत के समान पच जाता है ॥१६॥

व्याख्या—महामुद्रा के अभ्यास से सभी रसों का परिपाक ठीक प्रकार से होता है और विष के समान न पचने योग्य अन्न भी पच जाता है। 'जारणं तु कषायाय पातकानां विनाशरम्' कहकर अन्य ग्रन्थकार ने इस मुद्रा को सभी कषाओं को भस्म करने और सभी पापों को दूर करने वाली स्वीकार किया है।

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ।
तस्य दोषाः क्षयं यांति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ॥१७॥
कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरा नृणाम् ।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥१८॥

टीका—इसके अभ्यास से क्षय, कुष्ठ, उदावर्त, गुल्म, अजीर्ण और उनके दोष नष्ट हो जाते हैं। यह वर्णन की गई

महामुद्रा मनुष्यों को महासिद्धि प्रदान करने वाली है। इसे प्रयत्नपूर्वक गोपनीय रखे, किसी को भी न दे ॥१७—१८॥

व्याख्या—इस मुद्रा के सिद्ध होने पर क्षयादि रोगों का सर्वथा शमन हो जाता है। इसके द्वारा साधक को परमसिद्धि और दिव्य ऐश्वर्यों की प्राप्ति होती है। यह गुप्त रखने के योग्य हैं।

महाबन्ध कथन

पार्ष्णि वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ।
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ॥१९॥
पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चुबकं दृढ़म् ।
निष्पीड्य वायुमाकुंच्य मनोमध्ये नियोजयेत् ॥२०॥
धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः ।
सव्यांगे तु समभ्यस्य दक्षांगे पुनरभ्यसेत् ॥२१॥
मतमत्र तु केषांचित्कंठबंधं विवर्जयेत् ।
राजदंतस्थजिह्वाया बन्धः शस्तो भवेदिति ॥२२॥
अयं तु सर्वनाडीनामूर्ध्वं गतिनिरोधकः ।
अयं खलु महाबंधो महासिद्धिप्रदायकः ॥२३॥

टीका—बाँए पाँव की एड़ी को योनि स्थान में लगावे और बाँयी जंघा पर दाँया पाँव रखकर बैठे तथा वायु को पूरित करके ठोड़ी को हृदय स्थान में दृढ़ता से लगावे और योनि को संकुचित करके मनको नाड़ी के मध्य प्रविष्ट करे। फिर वायु को यथाशक्ति धारण करके धीरे-धीरे रेचन करे। इस प्रकार बाँए अंग में समान रूप से अभ्यास करके दांये अंग में करना

चाहिए अन्य विद्वान् का यह मत है कि जालंधर बन्ध में कंठ के संकोच को न करे, क्योंकि राजदन्त पर स्थित जिह्वा का वन्ध ही प्रशस्त होता है। यह सब नाड़ियों की ऊर्ध्व गति का निरोधक है, यह महाबन्ध अवश्य ही महासिद्धि का देने वाला है ॥१९ - २३॥

व्याख्या— बाँयी एड़ी को योनि स्थान में लगाकर बाँयी जाँघ पर दाँया पाँव रखने आदि की जो विधि बताई है, उसके अनुसार आसन बाँधकर वायु को भरकर ठोड़ी पर लगाने से जो जालन्धर बन्ध होता है उसे करके योनि-सकोच करता हुआ मूलवन्ध करे, परन्तु इस मूलवन्ध की सिद्धि जिह्वा के बन्धन से ही हो जाती है, इसलिए इसे करना अनावश्यक है।

कुम्भक करने के पश्चात् धीरे-धीरे रेचक करे। प्रथम वाम अग में और फिर दक्षिण अंग में करे। इस प्रकार वामांग और दक्षिणांग के अभ्यास की संख्या बराबर हो जाय तब अभ्यास करना चाहिए।

कुछ विद्वानों के मत में कण्ठ के संकोच का अनुपयोग है, क्योंकि राजदन्त अर्थात् दाढ़ के ऊपर स्थित जिह्वा का बन्ध ही कण्ठ सकोच की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ होता है। दाढ़ों में अवस्थित जिह्वा का बन्ध सुषुम्ना से भिन्न बहत्तर हजार नाड़ियों में प्राणवायु के ऊर्ध्व गमन का प्रतिबन्धक है। इसका अर्थ हुआ कि जिससे नाड़ी-जाल का बन्धन होता हो, वह जालन्धर बन्ध कहलाता है।

कालपाशमहाबंधविमोचन विचक्षणः।
त्रिवेणीसङ्गमं धत्तो केदारं प्रापयेन्मनः ॥२४॥

टीका—यह महावन्ध काल के पाश को छुड़ाने में अद्भुत है तथा त्रिवेणी-संगम को और मन को केदार की प्राप्ति कराने वाला है ॥२४॥

व्याख्या—जालन्धर बन्ध, उड्यान बन्ध और मूलबन्ध इन तीनों के सम्मिलित होने से महाबन्ध होता है, इसीलिए इसे त्रिवेणी संगम प्राप्त कराने वाला कहा है केदारं प्रापयेन्मनः कहने से यह अभिप्राय है कि इसके सिद्ध होने पर केदार अर्थात् शिव में मन का लय हो जाता है।

रूपलावण्यसंपन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना।
महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ॥२५॥

टीका—जैसे पुरुष के बिना रूप-लावण्य से सम्पन्न स्त्री निष्फल है, वैसे ही महावेध के बिना महामुद्रा और महाबन्ध भी निष्फल हैं ॥२५॥

व्याख्या—इस श्लोक में महामुद्रा और महाबन्ध की निकृष्टता और महावेध की उत्कृष्टता का कथन हुआ है। ग्रन्थकार के अनुसार महावेध के बिना उक्त दोनों व्यर्थ ही हैं। इसलिए महावेध की सिद्धि का अभ्यास करना चाहिए।

महावेध वर्णन

महाबंधस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः।
वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कंठमुद्रया ॥२६॥
समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ सताडयेच्छनैः।
पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः ॥२७॥
सोमसूर्याग्निसंबंधो जायते चामृताय वै।
मृतावस्था समुत्पन्नाततो वायुं विरेचयेत् ॥२८॥
महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः।
वलीपलितवेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः ॥२९॥

टीका—महाबन्ध में स्थित योगी बुद्धि को एकाग्र करके पूरक करे और कण्ठ मुद्रा से वायु की गति रोककर प्राणायाम करे। अपने स्फिचों को पृथिवी पर लगे हाथों से थामकर योनि स्थान में लगी हुई एड़ी वाले बाँए पाँव के सहित कुछ ऊपर की ओर उठाकर धीरे-धीरे ताड़न करे। इससे प्राणवायु इडा और पिंगला को छोड़कर सुषुम्ना में चलने लगता है। तब चन्द्र, सूर्य, अग्नि सम्बन्धी क्रमशः, इडा, पिंगला को और सुषुम्ना से अमृतत्व को प्राप्ति होती है। फिर मरणावस्था के उत्पन्न होने पर वायु का रेचन करे। यह महावेध अभ्यास से महान् सिद्धि का देने वाला होता है। इससे वली, पलित, कम्पनादि दूर होते हैं। श्रेष्ठ साधक सदा इसका अभ्यास करते रहते हैं ॥२६--२६॥

व्याख्या—महाबन्ध के पश्चात् महावेध की स्थिति होती है। कण्ठ मुद्रा का अर्थ जालन्धर बन्ध है, उसके द्वारा, वायुओं के ऊर्ध्वगमन, अधोगमन को रोककर कुम्भक करना चाहिए।

महावेध में वाम एड़ी को योनिस्थान में लगाकर चूतड़ों को हाथों के आश्रय से वाम पाद के सहित कुछ उठाकर धीरे-धीरे ताड़न करने से वायु इडा-पिंगला, का त्याग कर सुषुम्ना में पहुँच जाता है और तब इडा, सुषुम्ना तीनों का वायु एक हो जाता है और इडा-पिंगला में प्राण का संचार न होने से साधक की मृत्यु जैसी अवस्था हो जाती है। क्योंकि इड़ा, पिंगला में प्राणवायु का संचार रहने को ही जीवन मानते हैं। जब ऐसी अवस्था उत्पन्न हो जाय तब वायु का विरेचन करना चाहिए। अभ्यास करने से यह महावेध सिद्ध होकर महान् सिद्धियों का देने वाला होता है। इससे जरावस्था के सभी चिह्न बालों का सफेद होना, चर्म का संकुचित होना और शरीर का काँपना आदि नष्ट होते हैं। योग तत्त्वोपनिषत् में महावेध का लक्षण इस प्रकार बताया है—

वायुना गतिमावृत्य विभृतं कण्ठमुद्रया ।
पुटद्वय समाक्रम्य वायुः स्फुरति सत्वरम् ।
अयमेव महावेधः सिद्धैरभ्यस्यतेऽनिशम् ।।

अर्थात् – वायु की गति का निरोध करके दोनों नासारन्ध्रों का संकुचन करने से वायु शीघ्र भर जाती है। इस महावेध का सिद्ध पुरुष सदा अभ्यास किया करते है।

एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम् ।
वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम् ।।३०।।
अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने ।
पुण्यसंभारसंधायि पापौघभिदुरं सदा ।
सम्यक्शिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनम् ।।३१।।

टीका—उक्त तीनों मुद्राएं परम गुह्य एव जरामरण को नष्ट करने वाली, अग्नि प्रदीप्त करने वाली और अणिमादि सिद्धियों के देने वाली है। यह मुद्राएं प्रहर-प्रहर दिन-दिन में आठ प्रकार से करनो चाहिए। इनके द्वारा पुण्यों की उत्पत्ति और पापों का शमन होता है। भले प्रकार शिक्षा प्राप्त करके इन्हें करना चाहिए ।।३०—३१।।

व्याख्या—उपर्युक्त तीनों मुद्राओं से जरा-मृत्यु पर जय प्राप्त होकर, अग्नि दीप्त होती और अष्ट सिद्धियों की प्राप्ति होती है। इनसे पुण्य का लाभ और पापों का नाश होता है। परन्तु इनका अभ्यास आरम्भ करने से पूर्व गुरु से शिक्षा ग्रहण करना चाहिए, अन्यथा हानि हो सकती है।

खेचरी मुद्रा

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरंतर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ।।३२।।

छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेण वर्धयेत्तावत् ।
सा यावद्भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धि ।।३३

टीका— कपाल-कुहर में विपरीत हुई जिह्वा के प्रविष्ट होने और भौंहों के मध्य में दृष्टि रहने पर खेचरी मुद्रा होती है। छेदन, चालन और दोहन कलाओं की क्रमपूर्वक तब तक वृद्धि करे, जब तक कि भौंहों के मध्य का स्पर्श हो जाय। जब कला का भौहों में स्पर्श हो जाता है। तब खेचरी मुद्रा की सिद्धि होती है ।।३२– ३३।।

व्याख्या—जिह्वा को ऊपर की ओर उलटी करके कपाल के मध्य वाले छिद्र में प्रविष्ट करे और भौंहों के मध्य में दृष्टि को स्थिर करे. इससे खेचरी होती है। छेदनादि कर्म करता हुआ जिह्वा को तब तक बढावे, जब तक कि वह भौंहों के मध्य स्थान को स्पर्श करने लगे।

जिह्वा मूल की नाड़ी का शस्त्र से छेदन किया जाता है, इसकी विधि अगले श्लोक में कहेंगे। हाथ के अंगुष्ठ और तर्जनी अंगुली से जिह्वा को पकड़कर बाँए-दाँए हिलाना चालन कहलाता है और गोदोहन के समान जिह्वा दोहन करना इन क्रियाओं से जिह्वा बढ़ जाती है वह भौंहों के मध्य भाग को स्पर्श करती हुई और भी ऊपर पहुँच सकती है।

स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ।
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ।।३४।।
ततः सैंधवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत् ।
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ।।३५।।

एवं क्रमेण षण्मासं नित्यं युक्तः समाचरेत् ।
षण्मासाद्रसनामूलशिलाबंधः प्रणश्यति ॥३६॥

टीका—सेंहुड़ के पत्ते के समान तीक्ष्ण धार वाले, चिकने और स्वच्छ शस्त्र को लेकर उससे जिह्वामूल की नाड़ो का रोममात्र छेदन करे तथा पिसे हुए सैंधे नमक और हरड़ के मिश्रित चूर्ण से जिह्वामूल का ठीक प्रकार घर्षण करे। सात दिन ऐसा करने के अनन्तर पुनः रोम मात्र छेद दे। इस प्रकार के क्रम से नित्य प्रति करने से छः मास में जिह्वामूल का शिरा बन्ध नष्ट हो जाता है ॥३४—३६॥

व्याख्या—इन श्लोकों में खेचरी-सिद्धि के साधनों का वर्णन किया गया है। स्नुही अर्थात् सेंहुड़ के पत्तों में अत्यन्त तीक्ष्ण धार होती है, वैसे ही तीक्ष्ण शस्त्र से जिह्वा के मूल में एक रोम के बराबर छेद कर देना चाहिए। ऐसा करने से वहाँ घाव हो जाता है, उस पर सेंधे नमक और हरण का चूर्ण मलना चाहिए। चूर्ण मलने का यह कार्य नित्य प्रति प्रातः-सायं किया जाता है। जब सात दिन व्यतीत हो जाँय तब पुनः एक रोम के बराबर छेद कर दे और नमक तथा हरड़ के चूर्ण को मलने का क्रम यथावत् जारी रखे।

कुछ विद्वानों के विचार में नमक के स्थान पर कत्था और हरड़ का चूर्ण व्यवहार करना उचित है, क्योंकि योगाभ्यासी पुरुष के लिए नमक का सेवन वर्जित है। सात दिन के पश्चात् जो छेद किया जाय, वह पहले छेद से रोममात्र अधिक करना चाहिए, जिससे कि कुछ बड़ा छेद बन जाय।

इस प्रकार नित्य प्रति चूर्ण-मर्दन और प्रति सप्ताह छेदन करते रहने से छः मास में जिह्वा मूल का शिरा बन्धन कट

जाता है। यह शिरा बन्धन कपाल कुहर को रोके रहता है, इसके कटने पर जिह्वा उसमें प्रवेश कर सकती है, इसीलिए उस शिरा वन्धन को काटना आवश्यक होता है।

कलां पराँङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत्।
सा भवेत्खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ॥३७॥
रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति।
विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ॥३८॥

टीका—इस प्रकार छेदनादि के उपाय द्वारा जिह्वा की वृद्धि हो जाने पर इसे उलटी पीछे की ओर लौटा कर तीनों नाड़ियों के मार्ग में करे। वह खेचरी मुद्रा होती है, उसी को व्योमचक्र कहते हैं। जो जिह्वा को तालु-रन्ध्र द्वारा ऊपर पहुँचा कर वहाँ आधे क्षण भी टिकाले तो वह योगी विषमता रूप रोग, बुढ़ापा, मृत्यु आदि से मुक्त हो जाता है ॥३७—३८॥

व्याख्या—कपाल-रन्ध्र इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्ना तीनों नाड़ियों का मिलन मार्ग होने से त्रिपथ कहा जाता है। ऊपर की ओर लौटा कर जीभ को इसमें प्रविष्ट करके टिकाया जाता है। इससे सभी रोग, धातुओं की विषमता, जरावस्था मृत्यु आदि का भी क्षय हो जाता है। यह खेचरी मुद्रा व्योम चक्र भी कहलाती है।

न रोगो मरणं तंद्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा।
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥३९॥
पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा।
बाध्यते न सकालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥४०॥

टीका—खेचरी मुद्रा के जानने वाले योगी को रोग, मृत्यु, तन्द्रा, निद्रा, क्षुधा, तृषा और मूर्च्छा नहीं होती। खेचरी का ज्ञाता रोग से पीड़ित नहीं होता, कर्म से लिप्त नहीं होता और काल से बाधित नहीं होता ॥३६—४०॥

व्याख्या—जो विद्वान् खेचरी मुद्रा को जानता है, उसे भूख-प्यास, रोग, निद्रा, तन्द्रा आदि नहीं होते। वह मृत्यु को भी जीतने में समर्थ होता है। जो कर्म करता है उसका फल उसे नहीं भोगना होता, क्योंकि यह तो निष्काम कर्म करता है सकाम नहीं और निष्काम कर्म कर्त्ता को कभी अपने फलरूपी बन्धन में नहीं बाँधते। इसीलिए उसे काल अर्थात् मृत्युरूपी बाधा भी नहीं होती। आशय यह कि उसकी इच्छित मृत्यु होती है। जब चाहे तब शरीर को छोड़े और जब तक जीवित रहना चाहे तब तक रहे।

चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता।
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता ॥४१॥

टीका—जिस मुद्रा के द्वारा चित्त भौंहों के मध्य आकाश में विचरण करता है और जिह्वा भी वहीं जाकर विचरती है उसी को सिद्ध पुरुषों ने खेचरी नाम दिया है ॥४१॥

व्याख्या—इस मुद्रा के अभ्यास में चित्त और जिह्वा दोनों ही भौंहों के मध्यरूपी आकाश में विचरते हैं। इसीलिए सिद्ध योगेश्वरों ने इसे खेचरी कहा है।

खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लंबिकोर्ध्वतः।
न तस्य क्षरते बिंदुः कामिन्याः श्लेषितस्य च ॥४२॥
चलितोऽपि यदा बिन्दुः संप्राप्तो योनिमंडलम्।
व्रजत्यूर्ध्वं हृतः शक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया ॥४३॥

ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः।
मासार्धेन न संदेहो मृत्युं जयति योगवित् ॥४४॥

टीका—खेचरी मुद्रा के द्वारा जिसने तालु के ऊपर का विवर ढक लिया, उसे यदि कामिनी का स्पर्श भी प्राप्त हो जाय तो उसका बिन्दु क्षरित नहीं होता और यदि बिन्दु चलायमान भी हो जाय तो योनि मण्डल में पहुँच कर भी वह वज्रोली के बन्धन से खिचा हुआ ऊपर चला जाता है। तालु-विवर में उन्मुखी जिह्वा वाला योगी सोमपान करता हुआ एक पक्ष में ही मृत्यु को जीत लेता है ॥४२—४४॥

व्याख्या—खेचरी के अभ्यास द्वारा जिसकी जीभ तालु के रन्ध्र में पहुँच कर टिक जाती है तो बिन्दु का क्षरण नहीं होता। यदि बिन्दु अपने स्थान से डिग भी जाय यो योनिमण्डल में पहुँच कर भी योनिमुद्रा के प्रभाव से वहाँ से खिंच कर अपने स्थान में ही जा पहुँचता है।

'सोमपानं करोति' का अभिप्राय ऊर्ध्व विवर से गिरते हुए चन्द्रामृत का पान करने से है। जब जिह्वा वहाँ पहुँच जाती है, तब उस अमृत का पान करती हुई साधक को अमृतत्व की प्राप्ति करा देती है।

नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य योगिनः।
तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ॥४५॥
इन्धनानि यथा वह्निस्तैलवर्त्तिं च दीपकः।
तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुंचति ॥४६॥

टीका—जिस योगी का देह सदा चन्द्रकला के अमृत से परिपूर्ण रहता है, उसके देह में तक्षक काट ले तो भी विष नहीं

फैलता। जैसे अग्नि ईंधन को और दीपक तेल बत्ती को नहीं छोड़ता वैसे ही शरीरधारी भी सोमकला से सम्पन्न शरीर को नहीं छोड़ता ॥४५—४६॥

व्याख्या—ऊर्ध्व विवर से स्रवित होते हुए चन्द्रामृत के शरीर में परिपूर्ण रहने पर तक्षक नाग का विष भी व्यर्थ हो जाता है अर्थात् भयङ्कर सर्प भी काट ले तो उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यदि शरीर में चन्द्रमा से झरता हुआ अमृत भरा हो तो शरीर से प्राण कभी पृथक् नहीं हो सकता जैसे कि अग्नि से ईंधन पृथक् नहीं हो सकता अर्थात् अग्नि भी तभी बुझता है जबकि ईंधन को पूरी तरह भस्म कर डाले और तैल-बत्ती का दीपक से सदा सम्बन्ध रहने का आशय यह है कि जब तक तैल-बत्ती है, तभी तक दीपक प्रकाश देता है, जब तैल-बत्ती का अभाव हो जाता है तब प्रकाश नहीं रहता, यहाँ दीपक का तात्पर्य प्रकाश से ही है। सारांश यह है कि जिह्वा से कपाल कुहुर में क्षरित होने वाले अमृत का पान करने वाला योगी मृत्यु को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि उस पर किसी रोग, विष या अवस्था आदि का प्रभाव नहीं पड़ता।

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम्।
कुलीनं तमहं मन्ये चेतरे कुलघातकाः ॥४७॥
गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि।
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशम् ॥४८॥
जिह्वाप्रवेशसंभूतवह्निनोत्पादितः खलु।
चन्द्रात्स्रवति यः सारः स स्यादमरवारुणी ॥४९॥

टीक—जो योगी नित्य प्रति गोमांस का भक्षण करता और वारुणी (मदिरा) पीता है, वही कुलीन है, और सब तो

कुलघातक ही होते हैं। गोशब्द से जो जिह्वा कही जाती है और तालुविवर में जिह्वा का जो प्रवेश है, वही भक्षण कहलाता है। यह गोमांस भक्षण महापाप को नष्ट कर देता है। तालु के ऊपर वाले विवर में जिह्वा के प्रवेश से संभूत हुई अग्नि से उत्पन्न होकर जो सार झरता है वही अमरवारुणी है ।।४७—४६।।

व्याख्या—योगी के लिए परम सिद्धि का कारण गोमांस-भक्षण और वारुणी-पान है। 'गो' शब्द का अर्थ जिह्वा है और भक्षण का अभिप्राय ऊर्ध्व विवर में जिह्वा का प्रवेश है। इस प्रकार यही गोम स भक्षण है, इसे महापापों का भी नाश करने वाला समझना चाहिए।

तालु के उसी ऊर्ध्व विवर में जब जिह्वा प्रविष्ट होकर दोहन करती है तब वहाँ ऊष्मा उत्पन्न हो जाती है और उस ऊष्मा के प्रभाव से चन्द्रमा में सार रूप अमृत उत्पन्न होकर स्रवित होने लगता है अर्थात् भौंहों के मध्य वामभाग में अवस्थित चन्द्रमा से बिन्दु रूप सार या अमृत झरने लगता, वही अमर वारुणी अर्थात् दिव्य मदिरा है उसके पान करने वाले को इसलिए कृतार्थ और कुलीन कहा है कि वह योगाभ्यास द्वारा उस श्रेष्ठ सिद्धि को प्राप्त करने में सफल हो जाता है और जो सिद्धि की प्राप्ति में सफल है, उसके कृतार्थ होने में सन्देह ही क्या है ?

चुम्बंती यदि लंबिकाग्रमनिशं जिह्वारसस्यंदिनी
साक्षारा कटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा ।
व्याधीनां हरणं जरांतकरणं शस्त्रागमोदीरणं
तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धांगनाकर्षणम् ।।५०।।

टीका—यदि रस को स्रवित करने वाली क्षार, कटु, अम्ल, दूध, मधु और घृत के समान अनेक रस वाली जिह्वा तालु के ऊपर वाले छिद्र का बार-बार स्पर्श करे तो उससे साधक की सभी व्याधियों का हरण, वृद्धावस्था का अन्त और सन्मुख से आते हुए शस्त्र का निवारण होता है तथा अमृतत्व, अष्ट सिद्धियाँ और सिद्धांगनाओं का आकर्षण होता है ।५०॥

व्याख्या—जिह्वा सभी रसों का ग्रहण करती है। उसके लिए कटु, तिक्त, अम्ल, मधुर आदि कोई भी रस क्यों न हो, अग्राह्य नहीं है। वह जिह्वा तालु के छिद्र में प्रविष्ट होकर बार-बार चन्द्रकलामृत का स्पर्श करने लगे तो उस साधक को रोग, जरा, शस्त्र, मृत्यु आदि का कोई भय नहीं रहता तथा सिद्धों (देवताओं) की नारियाँ उसके प्रति आकर्षित होती हैं और वह अष्ट सिद्धियों को उपलब्ध करके स्वयं सिद्ध हो जाता है।

मूर्ध्नःषोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठा-
दूर्ध्वास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्ति परा चिंतयन् ।
उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामयं यः पिबे-
न्निर्व्याधिः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जीवति ॥५१

टीका—जिह्वा को कपालरन्ध्र में ले जाकर और ऊर्ध्व मुख करके परम शक्ति कुण्डलिनी का ध्यान करता हुआ जो योगी प्राणवायु के साधन और हठयोग के द्वारा प्राप्त षोडश दल वाले कमल में मस्तक से धारा रूप में गिरते हुए ऊर्ध्व तरंग वाले चन्द्रकलामृत का पान करता है, वह रोग-रहित एवं मृणाल जैसी कोमल देह वाला होता हुआ चिरकाल तक जीवित रहता है ॥५१॥

व्याख्या—जिह्वा को कपालरन्ध्र में ले जाकर चन्द्रामृत पीने वाला योगी चिरजीवी होता है। उसकी अकाल मृत्यु नहीं होती। उसका शरीर कठोर हो तो भी कमल दण्ड के समान कोमल हो जाती है।

यत्प्रालेयं प्रहितसुषिरं मेरुमूर्धांतरस्थं
तस्मिंस्तत्त्वं प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम्।
चंद्रात्सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां
तद्बध्नीयात्सुकरणमथो नान्यथा कार्यसिद्धिः ॥५२

टीका—जिसमें यह आलेय स्थित है, उस छिद्र में रज-तम से अतिरस्कृत बुद्धि वाले मनुष्य आत्म तत्व का होना मानते हैं। वहीं चन्द्र-सूर्य नाड़ियाँ मुख है तथा चन्द्रमा से देह के सार के स्रवित होने से मनुष्यों की मृत्यु होती है। इसलिए खेचरी मुद्रा करे, अन्यथा शरीर का पोषण नहीं हो सकता ॥५२॥

व्याख्या—प्रालेय अर्थात् जल कपाल कुहर में रहता है। जिन मनुष्यों की बुद्धि रजोगुण और तमोगुण का उल्लंघन किये रहती है यानी केवल सतोगुणी रहती है, उनके मत में आत्मतत्व भी वहीं है तथा वहीं इड़ा और पिंगला नाड़ियों का मुख भी है।

चन्द्रमा से वह जल स्रवित होता है तब उदरस्थ अग्नि रूपी सूर्य उसका ग्रास करता रहता है, इसी से मनुष्यों की आयु क्षीण होती जाती है। ग्रन्थकार का कथन है कि चन्द्रमा से स्रवित होते हुए उस अमृत का जिह्वा के द्वारा स्वयं ग्रास करले तो मृत्यु पर विजय प्राप्त की जा सकती है। इसलिए इसमें प्रयत्नशील होना चाहिए।

सुषिरं ज्ञानजनकं पंचस्रोतः समन्वितम्।
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिञ्शून्ये निरंजने ॥५३॥

एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी ।
एको देवो निरालंब एकावस्था मनोन्मनी ॥५४॥

टीका – नाड़ियों के पंच स्रोत से युक्त छिद्र ज्ञान का उत्पन्न करने वाला है। उस शून्य रूप निरजन के लिए खचरी मुद्रा में स्थिति होती है। एक सृष्टिमय बीज है, एक खेचरी मुद्रा है, एक ही निरालम्ब है और एक ही उन्मनी अवस्था है ॥५३–५४॥

व्याख्या – इडा आदि नाड़ियों के पंच स्रोत अर्थात् पच प्रवाह से युक्त सुषिर से ज्ञान उत्पन्न होकर शून्य रूप निरंजन में खेचरी की स्थिरता होती है अर्थात् खेचरी मुद्रा के प्रभाव से जब मन उस सुषिर (छिद्र) में प्रविष्ट होता है, तब आत्मज्ञान होता है।

सृष्टिमय बीज प्रणय है, वह एक ही है। यह ससार उसी प्रणव को महिमा को व्यक्त किये हुए स्थित है। 'ओमित्येदक्षर मिद ए सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एवं, यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव' (माण्डूक्योपनिषत्) अर्थात् 'अविनाशी ब्रह्म ओकारमय है. उसकी महिमा को प्रत्यक्ष लक्षित कराने वाला यह सम्पूर्ण विश्व है। भूत, भविष्य, वर्तमान रूप त्रिकालमय यह ससार ओंकार ही है और त्रिकाल से भी अतीत जो अन्य तत्व है, वह भी ओंकार ही है।

'एका मुद्रा च खेचरी' कहकर ग्रन्थकार ने सभी मुद्राओं में खेचरी की सर्वोत्कृष्टता सिद्ध की है। इसका आशय यह समझना चाहिए कि खेचरी सभी मुद्राओं में प्रमुख मुद्रा है और सर्व प्राप्ति की आकांक्षा वाले साधक को इसकी सिद्धि प्रयत्न पूर्वक करनी चाहिए। श्लोक में 'एक' पद का प्रयोग प्रमुखता प्रदर्शित करने के रूप में हुआ है।

ओड्डीयान बन्ध वर्णन

बद्धो येन सुषम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः ।
तस्मादुड्डीयानाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ॥५५॥
उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रांतं महाखगाः ।
उड्डीयानं तदेव स्यात्तत्र बंधोऽभिधीयते ॥५६॥

टीका—जिससे बंधा हुआ प्राण सुषुम्ना में उड़ जाय, उस बन्ध को उड्डीयान कहते हैं। देहाकाश में गतिशील महाखग रूप प्राण जिस बन्ध से सुषुम्ना में उड़ता (गति करता) है, उसे उड्डीयान कहते हैं ॥५५—५६॥

व्याख्या—जिस बन्ध से बँधा हुआ प्राण उड़कर सुषुम्ना में जा पहुँचे, उसे उड्डीयान बन्ध कहते हैं, क्योंकि वह प्राण को उड़ाकर सुषुम्ना में पहुँचाने का कारण होता है 'उड्डीनं कुरुते' अर्थात् 'उड़ान करता है' इसीलिए इसे उड्डियान कहा जाता है। नीचे उस बन्ध का लक्षण कहेंगे।

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत् ।
उड्डीयानो ह्यसौ बंधो मृत्युमातंगकेसरी ॥५७॥
उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा ।
अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते ॥५८॥

टीका—उदर में नाभि के ऊपर पश्चिम तान करे तो यह मृत्यु रूपी हाथी के लिए सिंह के समान उड्डियान बन्ध होता है। गुरु ने इस बन्ध को सदैव सहज बताया है, इसका निरन्तर अभ्यास करने वाला वृद्ध भी तरुण हो जाता है ॥५७—५८॥

व्याख्या– उदर में स्थित टूंडी में, नाभि के ऊपर के निचले भाग को इस प्रकार ताने, जिससे कि वे दोनों भाग पीठ में लग जाँय। गुरुजन इसे स्वाभाविक बताते हैं क्योंकि प्राण स्वभाव से ही बाहर जाता है, परन्तु इसका निरन्तर अभ्यास कर लिया जाय तो यह पूर्णरूप से वश में हो जाता है। उस साधक में इतनी शक्ति, इतनी स्फूर्ति आ जाती है कि वह अपनी वृद्धावस्था को भूलकर तरुण होने का अनुभव करने लगता है।

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः।
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥५९॥
सर्वेषामेव बन्धानामुत्तमो ह्युड्डियानकः।
उड्डियाने दृढ़े बंधे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ॥६०॥

टीका—नाभि के ऊपर निचले भाग में ठीक प्रकार से तान करे। इस प्रकार छः मास तक निरन्तर अभ्यास करने से साधक मृत्यु को जीत लेता है, इसमें संशय नहीं है। सभी बन्धों में उड्डियान वन्ध श्रेष्ठ है, क्योंकि इसके सिद्ध हो जाने से स्वाभाविक मृत्यु होती है ॥५९—६०॥

व्याख्या—उड्डियान बन्ध में नाभि के ऊपर निचले स्थान में यत्नपूर्वक तान अर्थात आकर्षण किया जाता है। यह सभी बन्धों में उत्तम माना जाता है। इससे मृत्यु पर विजय प्राप्त होती है और रोग, दुःख आदि भी नष्ट हो जाते हैं।

इस बन्ध में प्राण पक्षी जैसी गति से उड़ान भरता हुआ सुषुम्ना द्वार से मस्तक में जा पहुँचता है और जब मन भी समाधि में लीन होता है, तब उसका मुक्त होना मानते हैं। यही विदेह मुक्ति कहलाती है, इसी से उन्मनी अवस्था की प्राप्ति होती है। इसी को योगनिद्रा कहते हैं। 'ततोन्मनी

संज्ञक बन्ध है। यह बन्ध नाड़ियों के समूह को तथा कपालकुहर रूप नभ के जल को बाँधता है, इसलिए जालन्धर बन्ध कहलाता है यह कठ के रोग दुःखों का नाश करते वाला है लक्षण जिसका कण्ठ का संकोच है, उस जालन्धर बन्ध के करने से अमृत अग्नि में नहीं पड़ता और न वायु का ही प्रकोप होता है। यह बन्ध हढ़तापूर्वक कण्ट का संकोच करने से दोनों नाड़ियों का स्तम्भन करने वाला है। इसे सोलह आधारों का बन्धन कर्ता मध्य चक्र जानना चाहिए ॥७०—७३॥

व्याख्या—इस बन्ध को जरामृत्यु का नाशक इसलिए माना है कि ब्रह्मरन्ध्र से जो चन्द्रामृत स्रवित होकर उदरस्थ अग्नि में भस्म होता रहता है, उसके अभाव में जीवन का नष्ट होना अवश्यं भावी है। यह बन्ध उस अमृत को अग्नि में गिरने से रोकता है। योगकुण्डल्युपनिषत् में कहा है—

पूरकान्ते तु कर्त्तव्यो बन्धो जालन्धरा भिधः।
कण्ठ संकोच रूपोऽसौ वायुमार्ग निरोधकः॥
अधस्तात्कुंचने नाशु कण्ठ संकोचने कृते।
मध्ये पश्चिमतागेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः॥

अर्थात्—पूरक के अन्त में जालन्धर बन्ध करना चाहिए। इसमें कण्ठ के संकोच द्वारा वायु का निरोध किया जाता है। अधोभाग में मलबन्ध द्वारा गुदा का आकुंचन करे और ऊपर से जालन्धर बन्ध द्वारा कंठ का सकोच तथा मध्य में उड्डयान बन्धद्वारा प्राणको खींचे तो प्राण ब्रह्मनाड़ी अर्थात् सुषुम्ना में चढ़ने लगता है।

इस प्रकार कण्ठ का संकोच करने इड़ा और पिंगला दोनों नाड़ियों का स्तभन स्वतः हो जाता है। कण्ठ में सोलह दल का विशुद्ध चक्र है, वहाँ वायु को रोक कर बन्धन करने वाला होने से इस बन्ध को मध्य चक्र कहा है।

मूलस्थानं समाकुंच्य उडिड्यानं तु कारयेत् ।
इडां च पिंगलां बद्ध्वा वाहयेत्पश्चिमे पथि ॥७४॥
अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनालयम् ।
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ॥७५॥
बन्धत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितम् ।
सर्वेषां हठतंत्राणां साधनं योगिनो विदुः ॥७६॥

टीका—मूल स्थान का भले प्रकार संकोच करके उड्डियान बन्ध करे, जिससे इडा, पिंगला का स्तंभन होकर प्राण को पश्चिम मार्ग में ले जाय। इस विधान से ही प्राण का लय हो जाता है, तब रोग, जरा, मृत्यु आदि नहीं होते। यह तीन बन्ध श्रेष्ठ हैं, महासिद्धों द्वारा इनका सेवन किया जाता है। हठयोग के सब साधनों में इसकी उपयोगिता को योगी पुरुष जानते हैं ॥७४—७६॥

व्याख्या—आधार स्थान को ठीक प्रकार से संकुचित करके नाभि से पश्चिमतान रूप बन्ध (उडिडयान) को करना चाहिए तथा कण्ठ के संकोच से इडा-पिङ्गला का बन्धन करे, जो कि जालन्धर बन्ध से होता है। तदनन्तर प्राण के सुषुम्ना में प्रविष्ठ होने का प्रयत्न करे। ऐसा करने से प्राण का लय अर्थात् स्थैर्य हो जाता है। आशय यह है कि उसका बाह्य गमन रुक कर ब्रह्मरन्ध्र में ही स्थिति हो जाती है। इस प्रकार की उपलब्धि होने पर साधक को किसी रोग, बुढ़ापा, मृत्यु आदि का भय नहीं रहता।

इस प्रकार उपर्युक्त उड्डियान बन्ध, मूलबन्ध और जालन्धर बन्ध तीनों ही श्रेष्ठ हैं। बड़े बड़े योगीश्वर, परम

सिद्धि आदि ने इनको करके ही इच्छित सिद्धि और मोक्ष को प्राप्त किया। इसलिए योगाभ्यासियों को प्रयत्न पूर्वक इनका अभ्यास करना चाहिए।

यत्किंचित्स्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपिणः।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिंडो जरायुतः ॥७७॥
तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवंचनम्।
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ॥७८॥

टीका—दिव्य तालुमूल में स्थित चन्द्रमा से जिस अमृत का स्राव होता है, उसे नाभि में स्थित अग्नि सम्पूर्ण रूप से ग्रस लेता है। उसे रोकने के लिये सूर्य-मुख का वंचन करने वाले दिव्य करण को गुरु के उपदेश से जानना चाहिए, क्योंकि उसके बिना करोड़ों शास्त्रों का अर्थ जानना भी व्यर्थ है ॥७७—७८॥

व्याख्या—पहले भी बता चुके हैं कि तालुमूल में चन्द्रमा का निवास माना गया है, वह अमृत की वर्षा किया करता है। परन्तु नाभि में सूर्य संज्ञक जिस अग्नि का निवास है, वह उस अमृत का ग्रास कर लेता है। परन्तु उसके ग्रसन को रोकने के लिये सूर्य के मुख को बन्द करना आवश्यक है। यदि उसका मुख रुक जाता है तो धातुओं और रसों का ह्रास भी रुक जाता है और आयु का क्षय नहीं होता। उसे रोकने का उपाय योगोश्वर सिद्ध पुरुषों को ज्ञात रहता है, उन्हें गुरु रूप में वरण करके उनसे वह उपाय सीखना चाहिए। यदि गुरु से उसे नहीं सीखते तो करोड़ों शास्त्र पढ़ कर भी नहीं सीख सकते। क्योंकि शास्त्रों में विधि-विधान तो लिखा होता है, परन्तु उसमें अनेक बातें ऐसी होती हैं जिनका स्पष्टीकरण अनुभवी सद्गुरु ही करने में समर्थ होता है, इसलिए गुरु से दीक्षा ग्रहण करना आवश्यक है।

विपरीतकरणी मुद्रा

ऊर्ध्वं नाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी ।
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ॥७९॥
नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविर्बधिनी ।
आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य च ॥८०॥

टीका—जिस योगी के ऊर्ध्व भाग में नाभि और अधोभाग में तालु हो जाय, इस ऊर्ध्व भाग में सूर्य और अधोभाग में चन्द्रमा को कर देने वाली क्रिया विपरीतकरणी मुद्रा कहलाती है, इसे गुरु के वाक्यों द्वारा प्राप्त करते है। नित्यप्रति अभ्यास में लगे रहने वाले योगी के लिए यह मुद्रा जठराग्नि बढ़ाने वाली है तथा इसके द्वारा साधक इच्छानुसार अधिक भोजन कर सकता है ॥७९–८०॥

व्याख्या—इस मुद्रा के द्वारा तालु में अवस्थित चन्द्रमा नीचे और नाभि में अवस्थित सूर्य ऊपर हो जाता है। इसमें शिर नीचे और पाँव ऊपर करके स्थित होना होता है। इससे जठराग्नि इतनी बढ़ जाती है कि जितना भी खाया जाय सरलता से पच जाता है। परन्तु अल्पाहार नहीं करना चाहिए, अन्यथा हानि हो सकती है। क्योंकि—

अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात् ।
अधः शिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ॥८१॥
क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने ।
वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते ॥
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित् ॥८२॥

भवति' ततोयोगनिद्रा भवति (शां० उ०) अर्थात् उससे उन्मनी दशा प्राप्त होती है और उससे योगनिद्रा होती है।

मूलबंध वर्णन

पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुंचयेद्गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽभिधीयते ॥६१॥
अधोगतिमपानं वा ऊर्ध्वगं कुरुते बलात् ।
आंकुचनेन तं प्राहुर्मूलबन्ध हि योगिनः ॥६२॥

टीका—एड़ी से योनि स्थान को दबाकर गुदा का संकोच करे और अपान वायु का ऊपर की ओर आकर्षित करे, इसे मूलबन्ध कहते हैं। जो अधोगति वाले अपान वायु को बलपूर्वक ऊर्ध्वगामी करता है, उसे योगीजन मूलबन्ध कहते हैं ॥६१—६२॥

व्याख्या—योनि स्थान का अभिप्राय है गुदा और लिंग के मध्य भाग से। उस स्थान को एड़ी से भले प्रकार पीड़ित करके गुदा को सकोड़े और अपान वायु का ऊपर की ओर आकर्षण करे। यह क्रिया कुण्डलिनी जागरण में अत्यन्त सहायक होती है। इसके विषय में कहा है—

अधोगतिमपानं वै ऊर्ध्वगं कुरुते बलात् ।
आकुंचनेन त प्राहुर्मूलबन्धोऽयमुच्यते ॥
अपाने चोर्ध्वगे याते सम्प्राप्ते वह्नि मण्डले ।
ततोऽनलशिखा दीर्घा वर्धते वायुना हता ॥

अर्थात्—अधोगति वाले अपान को शक्तिपूर्वक गुदा के आकुंचन द्वारा ऊपर ले जाने से मूलबन्ध होता है। अपान ऊपर जाकर वह्निमण्डल से मिलता है तो वायु के प्रभाव से अग्नि की अत्यधिक तीव्रता होती है। इत्यादि से कुण्डलिनी जागरण की विधि कही है, जिसका वर्णन आगे किया जायगा।

गुदं पाष्ण्र्या तु संपीड्य वायुमाकुंचयेद्बलात् ।
वारं वारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ।।६३।।

टीका—एड़ी से गुदा का भले प्रकार संपीडन करके बल पूर्वक वायु को बार-बार इस प्रकार आकर्षित करे कि जिससे वह सुषुम्ना के ऊपरी भाग में जा पहुँचे ।।६३।।

व्याख्या--मूलबन्ध की यह रीति योगबीज में कही हुई है। यद्यपि इसमें ऊपर की विधि से समानता है, फिर भी शाब्दिक विशेषता के कारण इसका उल्लेख यहाँ हुआ है।

प्राणापानौ नादबिंदू मूलबंधेन चैकताम् ।
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः ।।६४
अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः ।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबंधनात् ।।६५
अपाने ऊर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्निमंडलम् ।
तदाऽनलशिखा दीर्घा जायते वायुनाऽऽहता ।।६६

टीका—अधोगति वाले प्राण और अपान, अनाहत नाद और बिन्दु मूलबन्ध के द्वारा ऐक्य को प्राप्त होकर योग की सिद्धि को प्राप्त कराते हैं, इसमें संशय नहीं है। अपान और प्राण का ऐक्य और संचित मल-मूत्र का क्षय होने से वृद्ध भी युवा होता है। अपान के ऊर्ध्वगामी होकर अग्नि मण्डल में पहुँचने पर वायु से ताड़ित होने के कारण अग्नि शिखा दीर्घ हो जाती है ।।६४—६६।।

व्याख्या—नीचे की ओर गतिशील प्राणापान, नाद और बिन्दु यह सब एकता को प्राप्त हो जाते हैं, जिससे कि

योग की परम सिद्धि होती है। उससे बुढ़ापा दूर होकर युवावस्था आ जाती है अर्थात् वली, पलित, झुर्री आदि मिटकर शरीर सुन्दर हो जाता है।

मूलबन्ध के करने से नीचे की गति वाला अपान वायु ऊपर चढ़ता हुआ अग्निमण्डल में पहुँच जाता है अर्थात् नाभि के नीचे के भाग में विद्यमान त्रिकोण जठराग्नि में प्रविष्ट होता है, तब अपान से ताड़ित जठराग्नि की शिखा बढ़ जाती है।

ततो यातो वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम् ।
तेनात्यंतप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा ॥६७॥
तेन कुंडलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते ।
दंडाहता भुजङ्गीव निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ॥६८

टीका—तब अग्नि और अपान दोनों अग्नि की दीर्घ हुई शिखा से गर्म होकर ऊपर की ओर गति वाले प्राण में जा पहुँचते हैं। उससे शरीरस्थ जठराग्नि अत्यन्त प्रदीप्त हो जाती है। तब उससे भले प्रकार सन्तप्त होकर सुप्त कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत् होकर डंडे से पिटी हुई सर्पिणी के समान सीधी हो जाती है ॥६७—६८॥

व्याख्या—कुण्डलिनी-जागरण के लिए तीनों बन्ध किये जाते हैं। जालन्धर बन्ध द्वारा वायु को रोकने के लिए कण्ठ का संकोच किया जाता है, मूलबन्ध द्वारा गुदा का आकुंचन अधोभाग में होता है और मध्य में उड्डियान बन्ध से प्राण को खींचा जाता है। इस प्रकार सब ओर रोका जाने पर प्राण सुषुम्ना में दौड़ता है। अपान ऊपर चढ़कर अग्नि से मिलता और वह अग्नि प्राण स्थान में आकर प्राणवायु से मिलकर

सोती हुई कुण्डलिनी को ताड़ित करता है, तब वह कुण्डलिनी जागकर सीधी हो जाती और सुषुम्ना के मुख में प्रवेश करती है।

विलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यन्तरं ब्रजेत् ।
तस्मान्नित्यं मूलबंधः कर्तव्यो योगिभिः सदा ।।६९

टीका—फिर वह कुण्डलिनी सर्पिणी के बिल में प्रविष्ट होने के समान ब्रह्मनाड़ी में प्रविष्ट होती है। इसलिए योगियों को नित्यप्रति मूलबन्ध करना चाहिए ।।६९।।

व्याख्या—इस श्लोक में मूलबन्ध करने का अभिप्राय स्पष्ट किया है कि कुण्डलिनी को जगाकर सुषुम्ना में प्रविष्ट कराने के लिए मूलबन्ध किया जाना आवश्यक है। इसीलिए योगाभ्यासी पुरुषों को मूलबन्ध का निरन्तर अभ्यास करना चाहिए।

जालन्धर बन्ध

कंठमाकुंच्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ।
बंधो जालंधराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः ।।७०।।
बध्नाति हि शिराजालमधोगामि नभो जलम् ।।
ततो जालन्धरो बंधः कंठदुःखौघनाशनः ।।७१
जालंधरे कृते बंधे कंठसंकोचलक्षणे ।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ।।७२
कंठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तंभयेद्दृढम् ।
मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबन्धनम् ।।७३

टीका—कण्ठ का संकोच करके हृदय पर ठोड़ी को दृढ़ता से लगावे, यह जरामृत्यु का नाश करने वाला जालन्धर

जा सकता है। पुरुष को अपने ही नहीं, स्त्री के भी रज की रक्षा करनी चाहिए। क्योंकि रज या वीर्य ही मनुष्य का जीवन है, यदि वही शरीर से निकल गया तो चाहे मृत्यु न भी हुई हो, तो भी मृत्यु के ही समान है।

इसमें यह भी समझ लेना चाहिए कि यदि पतन से पूर्व बिन्दु का क्षरण न रोका जा सके तो पतित हुए बिन्दु का आकर्षण किया जा सकता है। परन्तु इसका सिद्धि अभ्यास से ही सम्भव है। पतित हुए बिन्दु को उसके आश्रय स्थान मस्तक में पुनर्स्थापित करना चाहिए।

बिन्दु चित्त के अधीन है। यदि चित्त में कामवासना का आधिक्य है, उत्तेजना बढ़ गई है तो हो सकता है कि बिन्दु का पतन हो जाय। इसीलिए स्त्री के विषय में चिन्तन का भी योगाभ्यासी के लिए निषेध किया जाता है। क्योंकि चित्त के चंचल होने पर बिन्दु भी चलायमान हो जाता है और चित्त स्थिर है तो शुक्र के पतन का अवसर ही नहीं आ सकता।

'शुक्रायत्तं च जीवितम्' कहकर ग्रन्थकार ने प्रकट किया है कि शुक्र है तो जीवन है और शुक्र नहीं तो जीवन भी नहीं। इसीलिए आवश्यक है कि शुक्र की रक्षा की जाय। क्योंकि शुक्र के रक्षित न रहने पर शरीर दुर्बल, रोग-ग्रस्त, और शक्ति-हीन हो जाता है और धीरे-धीरे वह मनुष्य मृत्यु मुख में पहुँच जाता है।

सहजोलिश्चामरोलिर्वज्रोल्या भेद एकतः।
जले सुभस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसंभवम् ॥९२॥
वज्रोलीमैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुन्सोः स्वांगलेपनम्।
आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणात् ॥९३॥

सहजोलिरियं प्रोक्ता श्रद्धेया योगिभिः सदा ।
अयं शुभकरो योगो भोगयुक्तोऽपि मुक्तिदः ।।९४।।
अयं योगः पुण्यवतां धीराणाँ तत्त्वदर्शिनाम्
निर्मत्सराणां सिध्येत न तु मत्सरशालिनाम् ।।९५।।

टीका—सहजोली और अमरोली यह दोनों मुद्राएँ वज्रोली के ही भेद है। जलाये हुए कण्डों की सुन्दर भस्म का जल में डाल दे और मैथुनानन्तर उत्साह रहित होकर सुखपूवक बैठेहुए स्त्री-पुरुष उस भस्म को अपने अगों पर लेपन करे। यह सहजोली कही जाने वाली क्रिया योगियों द्वारा सदैव श्रद्धा के योग्य है तथा यह शुभकारी योग भोग और मोक्ष दोनों देने वाला है। यह योग पुण्यवान, धीर, तत्वदर्शी और द्वेषरहित पुरुषों को सिद्ध होता है, द्वेषयुक्तों को सिद्ध नहीं होता ।।९४-९५।।

व्याख्या—वज्रोली मुद्रा के समान ही सहजोली और अमरोली मुद्राएं भी हैं। कुछ विद्वान् इन्हें भिन्न मानते हैं और कुछ किंचित् विशेषता के साथ एक ही समझते है इसीलिए कुछ संहिताओं में सहजोली और अमरोली का वर्णन नहीं किया है।

सहजोली के साधक स्त्री-पुरुष संसर्ग के अनन्तर कण्डों की भस्म को जल में मिलाकर अपने सर्वांग अर्थात् शिर, ललाट, नेत्र, हृदय, भुजा, उदर, नाभि आदि पर लेप करें। वज्रोली के साथ इस भस्म लेपन को ही सहजोली कहा गया है।

अमरोली मुद्रा

पित्तोल्वणत्वात्प्रथमांबुधारां विहाय निःसारतयांत्यधारा। निषेव्यते शीतलमध्यधारा कापालिके खंडमतेऽमरोली ।।९६।।

अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन्दिनेदिने ।
वज्रोलीमभ्यसेत्सम्यगमरोलीति कथ्यते ।।९७।।
अभ्यासान्निःसृतां चांद्री विभूत्या सह मिश्रयेत् ।
धारयेदुत्तमांगेषु दिव्यदृष्टिः प्रजायते ।।९८।।

टीका - अधिक पित्त वाली बिन्दु-धारा को तथा सार-अंश-रहित अन्त्य धारा को कुछ-कुछ छोड़कर शीतल मध्य धारा का सेवन किया जाता, उसे कापालिक मत में अमरोली मुद्रा कहते हैं। जो साधक नासिका द्वारा अमरी का नित्य पान करता हुआ वज्रोली का अभ्यास करता है उसे अमरोली कहते हैं। उस अभ्यास से निःसृत चन्द्रामृत को भस्म में मिलाकर उत्तम अंगों में धारण करे तो उसको दिव्य दृष्टि हो जाती है ।।९६—९८।।

व्याख्या - प्रथम बिन्दु धारा में पित्त की अधिकता कही है और दूसरी अन्त्यधारा में सारांश का अभाव बताया है। इन दोनों धाराओं का शनैः शनैः त्याग करना चाहिए अर्थात् पित्तादि दोषों से युक्त और निःसार धारा को छोड़कर शीतल, शान्तिप्रद धारा का सेवन करना चाहिए। अभिप्राय यह है कि बिन्दुरूप धारा का सेवन (क्षरण) लाभकर नहीं है। शिवांबुरूप अमरी का नासिका द्वारा पान करता हुआ मैथुन द्वारा वज्रोली का अभ्यास करे, परन्तु बिन्दु-पातन करे।

'शीतल मध्य धारा' का अभिप्राय चन्द्रामृत से है, उसे गोबर की भस्म में मिलाकर श्रेष्ठ अंगों में मलना चाहिये, निकृष्ट अंगों में मलने का निषेध समझे। उत्तमांगों में शिर, कपाल, नेत्र, कन्धे, कण्ठ, हृदय और भुजा आदि माने जाते हैं। 'दिव्य दृष्टिः प्रजायते' का अर्थ है नेत्रों की दृष्टि तीव्र हो जाना,

उसे दूरदर्शन-शक्ति भी कह सकते हैं। इस प्रकार यह मुद्रा खण्ड कापालिक मत में अमरोली कहलाती है।

नारी की वज्रोली के साधन कथन

पुन्सो बिन्दुं समाकुंच्य सम्यगभ्यासपाटवात् ।
यदि नारी रजो रक्षेद्वज्रोल्या सापि योगिनी ।।९९
तस्याःकिंचिद्रजो नाशं न गच्छति न संशयः ।
तस्या शरीरेनादश्च बिंदुतामेव गच्छति ।।१००

टीका – सम्यक् अभ्यास के कौशल से जो नारी पुरुष के बिन्दु का आकर्षण करके वज्रोली मुद्राके द्वारा अपने रज की रक्षा करती है तो उसे भी योगिनी समझना चाहिए। उस नारी का रज किंचित् भी नाश को प्राप्त नहीं होता, इसमें सशय नहीं है। उसके शरीर में नाद भी बिन्दु रूप हो जाता है ।।९९--१००।।

व्याख्या— इसमें स्त्री के वज्रोली-साधन का वर्णन हुआ है इस साधन के करने से स्त्री का रज भी अपने स्थान से च्युत नहीं होता और मूलाधार से उठा हुआ नाद हृदय के ऊपर पहुँच कर बिन्दुरूप हो जाता है। स्त्री-पुरुष के रज-वीर्य का शरीर से बाह्य संयोग होने से सन्तानोत्पत्ति होती है, परन्तु दोनों का आन्तरिक योग होने पर ही योगी कहा जाता है। उन दोनों में बिन्दु चन्द्रमय और रज सूर्यमय है, इनका योग होने से परम-पद की प्राप्ति हो जाती है।

स बिंदुस्तद्रजश्चैव एकीभूय स्वदेहगौ ।
वज्रोल्यभ्यासयोगेन सर्वसिद्धि प्रयच्छतः ।।१०१।।
रक्षेदाकुंचनादूर्ध्वं या रजः सा हि योगिनी ।
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद् ध्रुवम् ।।१०२।।

टीका—यदि इसका अभ्यास करने वाला साधक यदि अल्प आहार करता है तो प्रदीप्त जठराग्नि उसके शरीर को उसी समय भस्म कर देती है। प्रथम दिन के अभ्यास में क्षण भर के लिए नीचे शिर और ऊपर पांव करने चाहिए। फिर दिनों दिन अभ्यास को एक-एक क्षण करके बढ़ावे तो छः महीने में वली, पलित अदृश्य हो जाते हैं। यदि एक प्रहर नित्य अभ्यास करे तो काल को भी जीत सकता है ॥८१—८२॥

व्याख्या—अल्प भोजन करने से इस मुद्रा के अभ्यासी साधक की जठराग्नि उसके शरीर को नष्ट कर डालती है। इसलिए यथेच्छ भोजन कर सके तो ही इस मुद्रा का अभ्यास करे।

इसमें नीचे शिर और ऊपर पाँव करके एक-एक क्षण नित्य बढ़ाते हुए अभ्यास करना चाहिए। इससे केशों का श्वेत होना, झड़ना आदि नष्ट होता है तथा तीन घण्टे नित्य अभ्यास करने से मृत्यु पर भी विजय प्राप्त हो सकती है।

इस सब से यह भी प्रकट होता है कि योग की महिमा प्रारब्ध कर्म से भी बढ़कर है, क्योंकि योग के द्वारा प्रारब्ध के फल को भी नष्ट किया जा सकता है। इसलिए साधक को योगाभ्यास में प्रयत्नशील रहना ही श्रेयस्कर है।

वज्रोली मुद्रा

स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना।
वज्रोलिं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम् ॥८३
तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित्।
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी ॥८४॥

मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुंचनमभ्यसेत् ।
पुरुषोऽप्यथवा नारी वज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात् ॥८५॥
यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकंदरे ।
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसंचारकारणात् ॥८६॥

टीका—जो योगी वज्रोली मुद्रा का ज्ञाता है, वह योग-शास्त्र के नियमों का पालन न करके स्वेच्छा पूर्वक व्यवहार करे तो सिद्धिभाजन होता है। वज्रोली के साधक के लिए जो दो दुर्लभ वस्तुएं हैं, उन्हें मैं बताता हूँ। उनमें एक तो दूध है और दूसरी वश में रहने वाली स्त्री है। पुरुष हो या नारी बिन्दु को झरने से रोकने या आकुंचन करने का धीरे-धीरे अभ्यास करे तो वज्रोली मुद्रा सिद्ध हो सकती है। शीशे की बनी हुई नली से धीरे-धीरे उपस्थ के छिद्र में वायु के संचारार्थ प्रयत्नपूर्वक इस प्रकार फूत्कार करे. जिस प्रकार कि अग्नि को प्रज्वलित करने के लिए फूंक मारते हैं ॥८३—८६॥

व्याख्या—वज्रोली मुद्रा का ज्ञाता पुरुष शास्त्र के नियमों की उपेक्षा करके भी किसी प्रकार वज्रोली मुद्रा का साधन करता है, उसे भी सिद्धि प्राप्त हो सकती है। इसका अभ्यास करने वाले के लिए दूध और स्त्री दुलभ वस्तु हैं। अर्थात् साधक को इनसे बचना चाहिए। कुछ लोगों का मत है कि अभ्यास काल में दुग्ध पान उचित है, परन्तु कुछ विद्वान् इसे ठीक नहीं मानते और यह कहते है कि स्त्री-संसर्ग के पश्चात निर्बलता को प्राप्त हुई इन्द्रियों की प्रबलता के लिए तो दुग्ध-पान हितकर है, परन्तु वज्रोली के साधक के लिए अयोग्य है।

वज्रोली मुद्रा की सिद्धि किस प्रकार हो ? इस पर कहते हैं कि पुरुष या स्त्री कोई भी हो बिन्दु को झरने से रोकने के

लिए उसके ऊपर आकुंचन का अभ्यास करना चाहिए। योग-तत्वोपनिषत् में कहा है—

वज्रोलीमभ्यसेद्यस्तु स योगी सिद्धि भाजनम्।
लभ्यते यदि तस्यैव योगसिद्धिः करे स्थिता।
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद् ध्रुवम्॥

अर्थात्—जो वज्रोली का अभ्यास करे वह सिद्धि का पात्र होता है। यदि वज्रोली की सिद्धि प्राप्त करले तो योग की सिद्धि उसके हाथ में ही समझो। वह भूत, भविष्य का भी ज्ञाता हो जाता है और उसे आकाश-गमन की सामर्थ्य प्राप्त हो जाती है।

शीशे की चौदह अंगुल लम्बी और उपस्थ के छिद्र में प्रविष्ट होने योग्य मोटी सलाई बनवाकर उसे उपस्थ में प्रवेश करने का अभ्यास करे। प्रथम दिन केवल एक अंगुल घुसावे, फिर क्रमशः एक-एक अंगुल नित्य बढ़ाता हुआ बारह अंगुल तक ले जाय। बस बारह अंगुल सलाई के प्रवेश से ही उपस्थ का मार्ग शुद्ध हो जायगा।

तदनन्तर चौदह अंगुल लम्बी एक सलाई और बनवाये जो कि टेढी और ऊपर की ओर मुख वाली हो। उसे भी क्रमशः बारह अंगुल ही प्रविष्ट करे, उस टेढे और ऊध्वमुख वाले भाग को बाहर रखे। फिर स्वर्णकार की धौंकनी के नल के समान नलका लेकर उसके अगले भाग को उपस्थ में प्रविष्ट टेढ़ी और ऊर्ध्वमुख की सलाई के मध्य में घुसाकर फूत्कार करने से उपस्थ-मार्ग का शोधन हो जाता है।

इसके पश्चात् जल के आकर्षण का अभ्यास करे और जब वह सिद्ध होजाय तब बिन्दु के ऊर्ध्व आकर्षण का अभ्यास करना चाहिए। बस, इसकी सिद्धि होने पर ही वज्रोली मुद्रा सिद्ध हो जाती है।

नारीभगे पतद्बिंदुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत् ।
चलितं च निजं बिंदुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ॥८७॥
एवं संरक्षयेद्बिंदुं मृत्युं जयति योगवित् ।
मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात् ॥८८॥
सुगन्धो योगिनो देहे जायते बिन्दुधारणात् ।
यावद्बिंदुः स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुतः ॥८९॥
चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम् ।
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥९०॥
ऋतुमत्या रजोऽप्येवं बीजं बिन्दुं च रक्षयेत् ।
मेढ्रेणाकर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्यासयोगवित् ॥९१॥

टीका—योनि में पतित होते हुए बिन्दु का अभ्यास करता हुआ ऊर्ध्व आकर्षण करे। यदि बिन्दु चलित हो जाय तो भी उसका ऊपर को आकर्षण करके रक्षा करनी चाहिए। इस प्रकार जो योगविद् बिन्दु की रक्षा सम्यक् प्रकार करता है, वह मृत्यु को भी जीत लेता है। क्योंकि बिन्दु के पतन से मृत्यु और बिन्दु की रक्षा से ही जीवन है। मनुष्यों का शुक्र चित्त के आश्रित है और जीवन शुक्र के आश्रित है, इसलिए शुक्र और मन दोनों की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए। ऋतुमती स्त्री के रज की और अपने बिन्दु की भी उक्त प्रकार के अभ्यास से रक्षा करे। योगवेत्ता पुरुष मेढ़ द्वारा रज और बिन्दु के ऊपर की ओर आकर्षण से रक्षा कर सकता है ॥८७—९१॥

व्याख्या—पतित हुआ बिन्दु भी उक्त मुद्रा के अभ्यास के द्वारा आकर्षित करके अपने पूर्व स्थान पर स्थापित किया

देहसिद्धिं च लभते वज्रोल्यभ्यासयोगतः ।
अयं पुण्यकरो योगो भोगे भुक्तेऽपि मुक्तिदः ॥१०३॥

टीका—वज्रोली के अभ्यास से वह बिन्दु और रज दोनों एक होकर अपने शरीर में ही स्थित हो जाँय तो सभी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। जो स्त्री योनि-संकोच द्वारा ऊर्ध्व ले जाकर रज की रक्षा करे वह योगिनी है। उसे भूत, भविष्यत् का ज्ञान हो जाता तथा निश्चय ही खेचरी सिद्ध हो जाती है। वज्रोली के अभ्यास से अवश्य ही देह सिद्धि होती है। यह पुण्योत्पादक योग भोगों के भोगने पर भी मुक्तिदायक होता है ॥१०१—१०३॥

व्याख्या—उक्त प्रकार से अभ्यास सिद्ध करने वाली स्त्री को त्रिकाल का ज्ञान होता है। रूप-लावण्य की प्राप्ति होकर शरीर में दिव्यता का समावेश होता है। अथवा जो सिद्धियाँ सिद्ध पुरुष को प्राप्त होनी कही हैं, सभी वज्रोली की साधिका योगिनी को प्राप्त हो जाती हैं—

कुण्डलिनी के पर्याय कथन

कुटिलांगी कुंडलिनी भुजङ्गी शक्तिरीश्वरी ।
कुंडल्यरुंधती चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः ॥१०४॥

टीका—कुटिलांगी, कुण्डलिनी, भुजगी, शक्ति, ईश्वरी, कुण्डली, अरुन्धती यह सब पर्यायवाचक हैं ॥१०४॥

व्याख्या—यहाँ कुण्डलिनी शक्ति के सात पर्यायवाचक नामों का वर्णन किया है, जिससे जिज्ञासु को यह समझने में कठिनाई न हो कि यह सभी नाम कुण्डलिनी के ही हैं। क्योंकि स्थलभेद से ग्रन्थों में कुण्डलिनी के अर्थ में उक्त में से कोई भी नाम मिल सकता है।

उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुंचिकया हठात् ।
कुंडलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ॥१०५॥
येन मार्गेण गंतव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम् ।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥१०६॥
कंदोर्ध्वं कुण्डली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम् ।
बंधनाय च मूढ़ानां यस्तां वेत्ति स योगवित् ॥१०७॥

टीका—जिस प्रकार कुंजी के द्वारा हठपूर्वक किवाड़ खोले जाते हैं, उसी प्रकार योगी कुण्डलिनी के द्वारा मोक्ष के द्वार को खोलते हैं। जिस मार्ग से निरामय ब्रह्मस्थान को जाते हैं, उसी द्वार के मुख को ढककर वह परमेश्वरी सोती है। कन्द ऊर्ध्व भाग में सोती हुई कुण्डलिनी योगियों के लिए मोक्ष के निमित्त होती है, परन्तु मूढ़ों के लिए बन्धन-प्रद हो जाती है, जोउसे जानता है वही योग का जानने वाला है ॥१०५—१०७॥

व्याख्या—कुण्डलिनी शक्ति मोक्ष के द्वार को खोल सकती है ; परन्तु वह निरामय ब्रह्मपद को जाने वाले मार्ग को ढककर सोती रहती है। वह मूर्खों या अज्ञानियों के लिए बन्धन में डालने वाली है, जब कि योगाभ्यासियों को उससे मोक्ष प्राप्त हो सकती। इसलिए अभ्यास से पूर्व इसके विषय में पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना और इसके रहस्य को भले प्रकार समझ लेना चाहिए।

कुण्डलिन्यां समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी।
प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स वेदवित् ॥
—योगचूडामन्युपनिषत्

अर्थात्—प्राणधारिणी गायत्री कुण्डलिनी से ही उत्पन्न होती है। यही प्राणविद्या और महाविद्या है, जो इस विद्या को जानते हैं वही वेद के जानने वाले हैं।

कुंडली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्तिता।
सा शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशयः ॥१०८॥
गङ्गायमुनयोर्मध्ये बालरंडां तपस्विनीम्।
बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम् ॥१०९॥
इडा भगवती गङ्गा पिंगला यमुना नदी।
इडापिंगलयोर्मध्ये बालरंडा च कुण्डली ॥११०॥

टीका—कुण्डलिनी का आकार कुटिल, सर्प के समान कहा जाता है, जो इस शक्ति का चालन करता है, वह मुक्त है, इसमें संशय नहीं है। गंगा, यमुना के मध्य में तपस्विनी बालरंडा है, उसे बलपूर्वक ग्रहण करना ही परमपद है। इडा भगवती गंगा और पिंगला यमुना नदी है तथा इडा-पिंगला के मध्य में जो कुण्डली है, वही बालरण्डा है ॥१०८—११०॥

व्याख्या—कुण्डलिनी का आकार सर्पिणी जैसा होता है वह साढ़े तीन कुण्डल मारे हुए रहती है। इस शक्ति को चालन करने वाला साधक अवश्य मुक्त हो जाता है। गंगा, यमुना कहकर यहाँ इडा और पिंगला नाड़ियों का माहात्म्य वर्णन किया है। अर्थात् इडा नाड़ी गंगा के समान और पिंगला नाड़ी यमुना के समान पवित्र हैं। इनके मध्य में तपस्विनी बालरण्डा के नाम से स्वयं कुण्डलिनी शक्ति विद्यमान रहती है। यहाँ बालरण्डा का अर्थ कुछ न खाने वाली कहा है, इसका तात्पर्य हुआ प्रसुप्ता, उस सोती हुई कुण्डलिनी को हठयोग के द्वारा जगाकर परमपद प्राप्य करने का उपदेश है।

शक्तिचालन मुद्रा

पुच्छे प्रगृह्य भुजगीं सुप्तामुद्बोधयेच्च ताम् ।
निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात् ॥१११॥

अवस्थिता चैव फणावती सा
प्रातश्च सायं प्रहरार्धमात्रम् ।
प्रपूर्य सूर्यात्परिधानयुक्त्या प्रगृह्य
नित्यं परिचालनीया ॥११२॥

ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरंगुलम् ।
मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टितांबरलक्षणम् ॥११३॥

सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेदृढम् ।
गुल्फदेशसमीपे च कंदं तत्र प्रपीडयेत् ॥११४॥

वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुंडलीम् ।
कुर्यादनंतरं भस्त्रां कुण्डलीमाशु बोधयेत् ॥११५॥

टीका - सोती हुई भुजंगी की पूंछ को पकड़कर प्रबोधन करने से वह शक्ति निद्रा छोड़कर ऊपर उठकर स्थित हो जाती है। वह फणावती प्रातःकाल, सायकाल में आधे प्रहर तक सूर्य से परित परिधान से ग्रहण करके नित्य चलानी चाहिए। मूल स्थान से बिलाँद भर ऊपर चार अंगुल विस्तार वाले कोमल, श्वेत और वेष्टित किये वस्त्र के समान कहा जाता है। वज्रासन में स्थित होकर दोनों पाँवों को एड़ियों के पास से हाथों द्वारा दृढ़ता से धारण कर उस कन्द का प्रपीडन करे। वज्रासन में स्थित हुआ योगी कुण्डली का चालन करता हुआ भस्त्रा कुम्भक के द्वारा कुंडली को जाग्रत् करे ॥१११--११५॥

व्याख्या—पूंछ पकड़ कर कुण्डलिनी को जगाने का अभिप्राय यह है कि प्राणनिरोध के अभ्यास से वायु द्वारा ताड़ित होने पर कुण्डलिनी जाग्रत् हो जाती है, उस अभ्यास को सिद्ध करना चाहिए। इसका चालन करने के लिए प्रातः, सायं दोनों समय डेढ़-डेढ़ घंटे नित्य प्रति अभ्यास करना चाहिए।

मूल स्थान से बिलांद भर ऊपर यानी नाभि स्थान और उपस्थ के मध्य में कन्द स्थान कहलाता है। गोरक्षसहिता में इसका वर्णन इस प्रकार मिलता है कि नाभि के नीचे कन्द की जो योनि है, वह पक्षी के अण्डे समान के समान है, जिसमें से बहत्तर नाड़ियाँ उत्पन्न होकर शरीर के सभी अगों में गई हैं। वह कन्दस्थान कोमल और उज्वल वस्त्र के समान एक बिलांद भर लम्बा और चार अगुल चौड़ा होता है।

वज्रासन करके एड़ियों से ऊपर पाँवों को पकड़ कर नाभि के नीचे के भाग में कन्द को पीड़ित करे। इस प्रकार करता हुआ साधक शक्तिचालन मुद्रा के साथ भस्त्रा कुम्भक के द्वारा कुंडलिनी को जाग्रत् करना चाहिए। परन्तु इससे यह प्रकट होता है कि भस्त्रा कुम्भक के साथ वज्रासन ही करे. अन्य आसन न करे।

भानोराकुंचनं कुर्यात्कुंडलीं चालयेत्ततः।
मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ॥११६॥
मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयं चालनादसौ।
ऊर्ध्वमाकृष्यते किंचित्सुषुम्नायां समुद्गता ॥११७॥
तेन कुंडलिनी तस्याः सुषुम्नायां मुखं ध्रुवम्।
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः ॥११८॥

टीका—सूर्य का आकुंचन करने से कुंडली का चालन होता है। इस क्रिया को करने वाले योगी को मृत्यु के मुख में जाने पर भी मृत्यु का भय कहाँ है? इसका चालन निर्भय रूप से दो घड़ी पर्यन्त करे तो सुषुम्ना गई हुई यह शक्ति ऊपर खिचती है। वैसा होने पर वह कुंडलिनी सुषुम्ना के मुख में चली जाती है, इसलिए प्राण भी स्वतः सुषुम्ना में चला जाता है ।।११६—११८।।

व्याख्या—नाभिदेश के आकुंचन से वहाँ स्थित सूर्य (अग्नि) का आकुंचन हो जाता है और सूर्य का आकुंचन होने पर ही शक्ति का चालन होता है। इस प्रकार का चालन दो मुहूर्त्त तक करने से ही कुण्डलिनी सुषुम्ना में जाकर ऊपर की ओर खिचती है उसके द्वारा सुषुम्ना का मुख छोड़कर ऊपर जाने के कारण प्राण के लिए सुषुम्ना का मुख खुला मिलता है, इसलिए वह भी बाधा-रहित रूप से उसमें घुसकर ऊपर की ओर चढ़ता है। 'कुण्डलीं चालयन्प्राणान्भेद यन्शशिमण्डलम्' (ब्र. वि उ.) के अनुसार कुण्डली और प्राण का चालन करके चन्द्रमण्डल का भेदन करे। योगकुण्डल्युपनिषत् में कहा है—

अधस्तात्कुंचनेनाशु कण्ठ संकोचने कृते।
मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः ।।

अर्थात्—अधोभाग में गुदा का आकुंचन, ऊर्ध्वभाग में कण्ठ का सकोचन और मध्य में पश्चिमतान से प्राण का आकर्षण करे तो (सब ओर से रोका हुआ) प्राण ब्रह्मनाडी अर्थात् सुषुम्ना में प्रविष्ट हो जाता है।

तस्मात्संचालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुंधतीम् ।
तस्याः संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ।।११९।।

येन संचालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम् ।
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ॥१२०॥

टीका—इसलिए नित्यप्रति के अभ्यास द्वारा सुखपूर्वक सोती हुई अरुन्धती का चालन करे, उसके चालन करने मात्र से ही योगी सब रोगों से मुक्त हो जाता है। जिसने शक्ति का चालन कर लिया वह योगी सिद्धि का पात्र हो गया। बहुत क्या कहें? वह लीलापूर्वक काल को भी जीत लेता है। ।११९–१२०।।

व्याख्या—व्याख्या सोती हुई कुण्डलिनी को जगाकर चालन करने वाला साधक सभी रोगों से रहित एवं पूर्ण स्वस्थ हो जाता है, मृत्यु भी उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकती। सभी विघ्न बाधाओं और व्याधियों को वह क्रीडा के समान उल्लंघन करने में समर्थ होता है। इस प्रकार शक्ति के चालन में कुशल योगी मृत्यु का भी विजेता हो जाता है।

ब्रह्मचर्यरतस्यैव नित्यं हितमिताशिनः ।
मंडलाद्दृश्यते सिद्धिः कुंडल्याभ्यासयोगिनः ॥१२१॥
कुंडलीं चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद्विशेषतः ।
एवमभ्यसतो नित्यं यमिनो यमभीः कुतः ॥१२२॥

टीका—जो साधक ब्रह्मचर्य परायण रहता हुआ नित्य मिताहार करता है, उस कुण्डलिनी के अभ्यासी योगी को एक मण्डल में ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है। जो योगी कुण्डली का चालन करता हुआ भस्त्रा कुम्भक ही विशेष रूप से करता है, उस अभ्यास परायण यमी को यम का भय भी कहाँ? ॥१२१—१२२॥

व्याख्या— ब्रह्मचर्य-परायण अर्थात् इन्द्रिय संयम सदैव तत्पर योगी ही कुण्ड़लिनी के जागरण का अभ्यास कर सकता है। यदि अभ्याम करने के दिनों में ब्रह्मचर्य-रहित हो जाय तो तो बिन्दु का क्षय होने के कारण उसका शरीर रोगी होकर शनैः शनैः काल कलवित हो सकता है और सिद्धि तो उसे हो ही नहीं सकती।

'मन्डल' पद काल का वाचक है, चालीस दिन के परिमाण को मण्डल कहते हैं। विधि पूर्वक कुन्डलिनी-चालन का अभ्यास करने वाला योगी एक मन्डल के समय में ही सिद्धि का दर्शन कर लेते है अर्थात उन्हें सिद्धि मिल जाती है। परन्तु इसके लिए उन्हें भस्त्रा कुम्भक विशेष रूप से करना चाहिए।

यमी का अर्थ है 'यम' का पालन करने वाला। योगी को यम-नियमों का पालन आवश्यक होता है और इसीलिए वह यम-नियम-परायण रहता है. अतः 'यमी' शब्द का प्रयोग साधक के अर्थ में हुआ है। इससे यह प्रकट किया गया कि साधक मृत्यु से भी नहीं डरता। उसको साधना में कितने ही विघ्न क्यों न आकर उपस्थित हो जाँय, वह धैर्य और साहस पूर्वक उनका उल्लंघन कर जाता है। परन्तु जो यमों का पालन नहीं करता, उसे जन्म-मरण के भय में पड़ना होता है।

द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोभने।
कुतः प्रक्षालनोपायः कुंडल्यभ्यसनादृते ॥१२३॥
इयं तु मध्यमा नाडी दृढ़ाभ्यासेन योगिनाम्।
आसनप्राणसंयाममुद्राभिः सरया भवेत् ॥१२४॥

टीका—कुन्डलिनी के अभ्यास विना बहत्तर हजार नाड़ियों मल-शोधनार्थ उनके प्रक्षालन का अन्य उपाय ही क्या

है ? यह मध्य नाड़ी योगियों के दृढ़ अभ्यास द्वारा आसन, प्राणायाम और मुद्रा से सरल होती है ॥१२३—१२४॥

व्याख्या—शरीर में बहत्तर हजार नाड़ियाँ हैं, सामान्य दशा में वे सभी मल से भरी रहती हैं। परन्तु कुन्डलिनी चालन का अभ्यास करने से वे नाड़ियाँ स्वयं धुल-धुल कर शुद्ध हो जाती हैं। इसलिए श्लोक में कुन्डलिनी चालन के अभ्यास का कर्त्तव्य रूप से संकेत है।

मध्य नाड़ी का अर्थ सुषुम्ना है, क्योंकि यही नाड़ी इडा और पिंगला के मध्य में रहती है। इसे सरल अर्थात् उपयोगी बनाने के लिए आसन, प्राणायाम, मुद्रा आदि साधनों की आवश्यकता होती है, क्योंकि उन्हीं साधनों के सिद्ध होने पर शक्ति प्रबुद्ध होकर सुषुम्ना में प्रविष्ट होती है।

अभ्याये तु विनिद्राणां मनो धृत्वा समाधिना।
रुद्राणी वा यद्रा मुद्रा भद्राँ सिद्धिं प्रयच्छति ॥१२

टीका—अभ्यास काल में अनिद्रित रह कर जो साधक मन को समाधि में लीन कर लेते हैं, उन्हें रुद्राणी आदि मुद्राएं कल्याणमयी होकर सिद्धि के देने वाली होती हैं ॥१२५॥

व्याख्या—अभ्यास के समय साधक को आलस्य और निद्रा का परित्याग करना चाहिए, क्योंकि उनके होने पर समाधि में मन का लय नहीं होता, वरन् वह तो निद्रा-रहित अवस्था में ही हो सकता है। चित की एकाग्रता अनिद्रित अवस्था में ही बनती है और उसी को समाधि कहते हैं।

रुद्राणी मुद्रा का अभिप्राय शाम्भवी मुद्रा से है। 'लक्ष्येऽन्तर्वाह्ययां दृष्टौ निमेषोन्मेषवर्जितायां च इयं शाम्भवी मुद्रा

भवति' (मण्डलब्राह्मणोपनिषत्) अर्थात् 'लक्ष्य के भीतर और बाहर की दृष्टि जब निर्मिमेष रूप से स्थिर हो जाती है, तब यह शाम्भवी मुद्रा होती है।' और इस मुद्रा का फल उसी उपनिषत् में तज्ज्ञानेन संसार निवृत्तिः, तत्पूजनं मोक्षफलदम्' कह कर उसके ज्ञान से संसार की निवृत्ति और पूजन से मोक्ष की प्राप्ति बताया है ।

राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा ।
राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापि न शोभते ॥१२६॥

टीका—राजयोग के बिना पृथिवी, निशा और मुद्रा विलक्षण हों तो भी शोभित नहीं होती ॥१२६॥

व्याख्या—इसमें राजयोग के बिना आसनादि अङ्गों की निष्फलता कही गई है। चित्तवृत्ति को अन्य विषयों से रोक कर आत्मा में निर्विकल्प रूप से योजित करना ही राजयोग है। जब तक साधक इस प्रकार की उपलब्धि में असमर्थ रहता है, तब तक पृथिवी अर्थात आसन, निशा अर्थात् कुम्भक, विचित्र मुद्रा अर्थात महामुद्रा आदि सभी निरर्थक हैं।

कुछ विद्वानों ने पृथिवी का अर्थ स्थिरता भी किया है, क्योंकि पृथिवी स्थिर रहती है और वैसी स्थिरता राजयोग अर्थात् चित्त वृत्ति के निरोध से ही हो सकती है। निशा का अर्थ कुम्भक इसलिये किया है कि जैसे रात्रि में राज पुरुषों का आवागमन नहीं रहता वैसे ही कुम्भक में प्राण का संचार रुका रहता है। परन्तु यह प्राणावरोध तब तक निष्फल है जब तक कि चित्त वृत्ति को आत्म-विषयक विचार में लीन न कर लिया जाय। यही बात महामुद्रा आदि पर भी लागू होती है कि वे कितनी भी महत्वपूर्ण क्यों न हो, चित्तवृत्ति असयमित है तो उसका महत्व किसी उपयोग का नहीं।

मारुतस्य विधिं सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत् ।
इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा ॥१२७॥
इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शंभुना ।
एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी ॥१२८॥

टीका—वायु-धारण की सम्पूर्ण विधि का अभ्यास मन लगा कर करे, उससे भिन्न किसी भी कार्य में मनीषी पुरुष को मनोवृत्ति नहीं लगानी चाहिए। आदिनाथ शिवजी ने यह दश मुद्रा बताई हैं। उनमें से कोई एक मुद्रा भी यमी (योगी) के लिए महासिद्धि के देने वाली हो सकती है ॥१२७—१२८॥

व्याख्या—प्राणायाम आदि की सभी विधियों को चंचल मन से न करे, वरन् मन को स्थिर करके उसी में लगा दे, तभी सफलता मिल सकती है। योगाभ्यासी पुरुष का कर्त्तव्य है कि वह मनो को किसी अन्य विषय की ओर न जाने दे। ऊपर जो दश मुद्राएं कही हैं वह आदि नाथ रूप शिवजी द्वारा वर्णित हैं। उनमें से कोई-सी भी मुद्रा अभ्यास से सिद्धिप्रद हो सकती है।

सद्गुरु प्रशंसा

उपदेशं हि मुद्राणां यो दत्ते सांप्रदायिकम् ।
स एव श्री गुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः ॥१२९॥
तस्य वाक्यपरो भूत्वा मुद्राभ्यासे समाहितः ।
आणिमादिगुणैः सार्धं लभते कालवंचनम् ॥१३०॥

टीका—मुद्राओं के उपदेश को जो साम्प्रदायिक रूप से देता है, वही श्री गुरुदेव स्वामी और साक्षात् ईश्वर है। उसके

वाक्यों में तत्पर होकर जो साधक मुद्रा के अभ्यास में सावधान होने पर अणिमादि सिद्धियों को प्राप्ति और काल के वंचन की उपलब्धि प्राप्त कर सकते हैं ।।१२९—१३०।।

व्याख्या—सम्प्रदाय का अर्थ यहाँ नाथ सम्प्रदाय है जो कि श्री आदि नाथजी से ही प्रारब्ध हुआ था। उस सम्प्रदाय के उपदेश को जो सद्गुरु प्रदान करे, वह निश्चय ही साक्षात् रूप से परमेश्वर है। अर्थात् सम्प्रदाय के अनुसार योग का उपदेश करने वाले गुरु के वचन में जिज्ञासु को श्रद्धा और विश्वास रखते हुये, उन्हीं के अनुसार चलना चाहिए। गुरु के वचनों में इस प्रकार परायण जिज्ञासु समाहित चित्त से योगाभ्यास में तत्पर हो जाय तो उसे अणिमादि अष्ट सिद्धियाँ तो प्राप्त होती ही है, साथ ही वह मृत्यु के उल्लघन में भी समर्थ होता है।

।। हठयोग प्रदीपिका का तृतीयोपदेश समाप्त ।।

चतुर्थ उपदेश

समाधि वर्णन

नमः शिवाय गुरवे नादबिंदुकलात्मने ।
निरंजनपदं याति नित्यं यत्र परायणः ॥१॥
अथेदानीं प्रवक्ष्यामि समाधिक्रममुत्तमम् ।
मृत्युघ्नं च सुखोपायं ब्रह्मानन्दकरं परम् ॥२॥

टीका—शिवरूप गुरु को नमस्कार है, जो कि नाद, बिन्दु कलारूप हैं। उनके नित्य परायण रहने से निरंजन पद को प्राप्त होता है। इस अवसर पर मैं समाधि के श्रेष्ठ क्रम को कहता हूँ, जो कि सुख का उपाय रूप मृत्यु का नाशक और परम ब्रह्मानन्द का कर्त्ता है ॥१—२॥

व्याख्या—गुरु अपनी प्रसन्नता और उपदेश के द्वारा सभी विघ्नों का हरण करने में समर्थ है। इसीलिए विघ्नों की आशंका करता हुआ ग्रन्थकार चतुर्थ उपदेश प्रारम्भ करने से पूर्व गुरु को ईश्वर रूप मानकर उनको नमस्कार करता है।

गुरु को नाद, बिन्दु, कला रूप से विद्यमान कहा है। काँसी के घण्टा के समान शब्द नाद, अनुस्वार के पश्चात् होने वाली ध्वनि बिन्दु और नाद का एक देश कला कहलाता है। यह तीनों ही शिवरूप माने गये हैं। इसलिए शिवरूप गुरु में परायण साधक नादानुसंधान में परायण रहता हुआ मायोपाधि रूप निरंजन शुद्ध ब्रह्मपद को प्राप्त हो जाता है।

द्वितीय श्लोक में समाधि के वर्णन की प्रतिज्ञा निहित है। यह समाधि क्रम आदिनाथ द्वारा वर्णित, समाधि के सभी भेदों में श्रेष्ठ है। इससे मृत्यु का निवारण होना व्यक्त किया है, जिसका अभिप्राय है कि शरीर त्यागने की इच्छा होने पर ही मृत्यु हो सकती है। अथवा उत्पत्ति और मन-वासना का नाश होने पर जीवन्मुक्तिरूप सुख की प्राप्ति हो सकती है। इस प्रकार 'मृत्युघ्न' कहना सार्थक है।

ब्रह्मानन्दकरं परम्' का आशय है कि प्रारब्ध कर्म का क्षय होने पर जब जीवात्मा-परमात्मा के अभेद का ज्ञान होने पर आत्यन्तिक ब्रह्मानन्द की प्राप्ति रूप मोक्ष हो जाता है, यही ब्राह्मनन्द है। श्रुतियों में भी यही कहा है कि आत्मज्ञान होने पर ज्ञानी जीवित रहता हुआ भी हर्ष-शोक से मुक्त रहता है। इस प्रकार निर्विकार रूप में अवस्थिति रूप जीवन्मुक्ति की अवस्था प्राप्त हो जाती है।

प्राप्त हुए भोगों के अनन्तर अन्तःकरण के गुणों की अधिकता होने पर औपाधिक रूप की अत्यन्त निवृत्ति हो जाती है। तब प्रति प्रसव से आत्यन्तिक रूप में अवस्थान सिद्ध होता है। तथा व्युत्थान का निरोध और समाधि का संस्कार मन में लीन हो जाते है, मन अस्मिता में लय को प्राप्त हो जाता है। अस्मिता महान् में लय होता और महान् का लय प्रधान में होता है। इस प्रकार अपने-अपने कारण में सभी कार्य लय को प्राप्त हो जाते हैं।

सम्प्रज्ञात समाधि में ज्ञात हुए आत्म तत्व का यथाथ निश्चय हाता है और अतात्विक अन्यथा भाव अधिकारिता का अप्रयोजक रहता है। मनुष्य को जो अन्तःकरण रूप उपाधि से मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय या वैश्य आदि हूँ, ऐसा व्यवहार

होता है, वह तात्विक नहीं है। इस प्रकार निज स्वरूप अवस्थिति के समान अन्तःकरण की सब वृत्तियों के निरोध से निज स्वरूपमें विद्यमानता की समाप्ति नहीं रह सकती इसका आशय यह है कि जीवन्मुक्ति की अवस्था होने पर साधक की स्थिति ब्रह्मरूप में रहती है और ग्रन्थकार के अनुसार यही परम गुरु ब्रह्मानन्द को उत्पन्न करने वाली अवस्था है जो शिवरूप की कृपा से ही प्राप्त हो सकती है।

शास्त्र का वचन है कि—

यथा घटश्च कलशः कुम्भश्चैकार्थ वाचकाः।
तथा मन्त्रो देवता च गुरुश्चैकार्थ वाचकाः॥

अर्थात्—जैसे घट, कलश और कुम्भ एक ही अर्थ के वाचक है, वैसे ही मन्त्र, देवता और गुरु भी एक ही तत्व के नाम हैं।

राजयोगः समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी।
अमरत्वं लयस्तत्त्वं शून्याशून्यं परं पदम्॥३॥
अमनस्कं तथाद्वैतं निरालंबं निरन्जनम्।
जीवन्मुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचकाः॥४॥

टीका—राजयोग, समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, लय, तत्व, शून्याशून्य परमपद, अमनस्क, अद्वैत, निरालंब, निरंजन, जीवन्मुक्ति, सहजा और तुर्या—यह सब एक के ही वाचक हैं॥३—४॥

व्याख्या—उपर्युक्त सभी नाम एक समाधि के ही हैं। आगे इन पर पूर्ण प्रकाश डाला जाता है—

सलिले सैन्धवं यद्वत्साम्यं भजति योगतः।
तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते॥५॥

यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते ।
तदा समरसत्वं च समाधिरभिधीयते ।।६।।
तत्समं च द्वयोरैक्यं जीवात्मपरमात्मनोः ।
प्रनष्टसर्वसङ्कल्पः समाधिः सोऽभिधीयते ।।७।।

टीका—जैसे जल और सैंधव मिलकर एक हो जाते हैं, वैसे ही आत्मा और मन का ऐक्य समाधि कहलाता है, जब प्राण समान रूप से क्षीण होता और मन भी लीन हो जाता है तब वह समरसता समाधि कही जाती है। उसी के समान जीवात्मा और परमात्मा दोनों का ऐक्य होने पर सभी सकल्प नष्ट हो जाते हैं मन समाधि अवस्था कही जाती है ।।५—७।।

व्याख्या—जल में नमक डाल दें तो नमक घुलकर जल रूप हो जाता है और तब नमक का पृथक् अस्तित्व दिखाई नहीं देता, वैसे ही मनका आत्मा में लय हो जाने पर समाधि की अवस्था हो जाती है।

आत्मा में धारण किये मन का आत्मा से तादात्म्य होने पर आत्मा और मन का वह ऐक्य भी समाधि है। उसी प्रकार जीवात्मा-परमात्मा की तादात्म्यता में समाधि होती है। अन्न-पूर्णोपनिषत् में भी यही कहा है—

समाधिः सविदुत्पत्तिः परजीवैकतां प्रति ।
नित्यः सर्वगतो ह्यात्मा कूटस्थो दोषवर्जितः ।।
यदा सर्वाणि भूतानि समाधिस्थो न पश्यति ।
एकीभूतः परेणासौ तदा भवति केवलः ।।

अर्थात्—जीवात्मा और परमात्मा की एकता का ज्ञान होना ही समाधि है, क्योंकि आत्मा नित्य, सर्व व्यापी, कूटस्थ और निर्दोष है। समाधि में रहकर जब सर्वभूतों को नहीं

देखता, वरन् परमात्मा के साथ एक रस हो जाता है, तब वह केवल परब्रह्म ही हो जाता है।

इसका अभिप्राय यही हैकि जीव-ब्रह्म की एकता का भाव ही समाधि है।

राजयोग प्रशंसा

राजयोगस्य माहात्म्यं को वा जानाति तत्त्वतः ।
ज्ञानं मुक्तिः स्थितिः सिद्धिर्गुरुवाक्येन लभ्यते ।।८।।
दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम् ।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना ।।९।।
विविधैरासनैः कुंभैर्विचित्रैः करणैरपि ।
प्रबुद्धायां महाशक्तौ प्राणः शून्ये प्रलीयते ।।१०।।

टीका—राजयोग के माहात्म्य को तत्त्वरूप से कौन जानता है ? ज्ञान, मोक्ष, स्थिति और सिद्धि की प्राप्ति गुरु के उपदेश से ही होती है। जब तक सद्गुरु की कृपा न हो, तब तक विषयों का त्याग दुर्लभ है, तत्त्वज्ञान दुर्लभ है और सहज अवस्था भी दुर्लभ ही है। विविध प्रकार के आसन, विचित्र प्रकार के कुम्भक और करण आदि के द्वारा महाशक्ति के प्रबुद्ध होने पर प्राण शून्य में लीन हो जाता है ।।८—१०।।

व्याख्या—राजयोग की प्रशंसा करते हुए ही ग्रन्थकार ने 'को वा जानाति तत्त्वतः' कहा है। इसका आशय यह है कि राजयोग के माहात्म्य को कोई भी नहीं जानता, केवल गुरु ही जान सकते है क्योंकि आत्मज्ञान, विदेह मुक्ति, स्थिति अर्थात् निर्विकार रूप में अवस्थित रूप जीवन्मुक्ति और अणिमादि अष्ट सिद्धियाँ गुरु के उपदेश से ही प्राप्त हो सकती हैं।

इन्द्रियों के विषय अत्यन्त प्रबल होते हैं, उनकी निवृत्ति किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है, परन्तु गुरु की कृपा हो तो उनके उपदेश से विषयों से विरक्ति हो सकती है। 'तत्त्व-दर्शन' का आशय है आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव, यह तो बहुत ही कठिन है, परन्तु सद्गुरु की कृपा से वह भी सुलभ हो जाता है।

सहजावस्था की प्राप्ति भी कोई सरल कार्य नहीं है। सहजावस्था का अर्थ है तुरीयावस्था। यदि सद्गुरु को प्रसन्न कर लिया जाय तो कोई कारण नहीं कि साधक को इस अवस्था की उपलब्धि न होजाय।

विविध प्रकार के आसन, प्राणायाम, मुद्रा आदि का अभ्यास गुरु की कृपा से ही सिद्ध होता है और उसके फल स्वरूप कुण्डलिनी जाग्रत् हो जाती है। उसके जागने पर ही प्राणवायु का शून्य में लय होना सम्भव है। शून्य का तात्पर्य ब्रह्मरन्ध से है और प्राण का ब्रह्मरन्ध्र में लीन होना सद्गुरु की कृपा से सुगम हो जाता है।

उत्पन्नशक्तिबोधस्य त्यक्तनिःशेषकर्मणः।
योगिनः सहजावस्था स्वयमेव प्रजायते ॥११॥
सुषुम्नावाहिनि प्राणे शून्ये विशति मानसे।
तदा सर्वाणि कर्माणि निर्मूलयति योगवित् ॥१२॥

टीका—शक्ति-बोधकी उत्पत्ति और सर्व कर्मों का त्याग होने पर योगी को सहजावस्था की प्राप्ति स्वयं ही हो जाती है। जब प्राण सुषुम्ना में प्रवाहित होता और मन शून्य में चला जाता है, तब योग का ज्ञाता साधक अपने सब कर्मों को निर्मूल कर लेता है ॥११—१२॥

व्याख्या—सब कर्मों का त्याग और कुण्डलिनी का जागरण सहजावस्था की प्राप्ति में सहायक होता है। साधक जब आसन लगाकर बैठता है तब शरीर के व्यापार का त्याग हो जाता है और उस व्यापार की विद्यमानता प्राण और इन्द्रियों में रही आती है। प्रत्याहारादि से मन का व्यापार भी छूट जाता है, परन्तु बुद्धि का व्यापार बना रहता है, जिसका अभाव श्रेष्ठ वैराग्य से ही हो सकता है। फिर भी कुछ रह जाता है तो समाधि के अभ्यास की प्रबलता उसे निर्मूल कर देती है और तब जिस निर्विकार स्वरूप में स्थिति होती है, वही सहजावस्था होती है।

जब कुण्डलिनी के सुषुम्ना में प्रविष्ट होने पर प्राणवायु भी सुषुम्ना में प्रवाहित होने लगता है, तब मन का प्रवेश देश, काल और वस्तु के परिच्छेद आदि से शून्य ब्रह्म में होता है, जिससे योग का जानने वाला साधक चित्त का निरोध करता हुआ अपने सभी कर्मों को समूल नष्ट कर डालता है। यही इसका आशय है।

अमराय नमस्तुभ्यं सोऽपि कालस्त्वया जितः।
पतितं वदने यस्य जगदेतच्चराचरम् ॥१३॥
चित्ते समत्वमापन्ने वायौ व्रजति मध्यमे।
तदामरोली वज्रोली सहजोली प्रजायते ॥१४॥

टीका—उस अमर को नमस्कार हैं, जिसने उस काल को भी जीत लिया है, जिसके मुख में यह चराचर जगत् पड़ा हुआ है। जब चित्त समत्व को प्राप्त हो जाता है और वायु सुषुम्ना में पहुँच जाता है, तब अमरोली, वज्रोली, सहजोली मुद्राएं सिद्ध होती हैं ॥१३—१४॥

व्याख्या—योगी पुरुष सिद्धि प्राप्त कर लेता है, तब अमर हो जाता है, वह दुःख के घोर कारण रूप काल को भी जीत लेता है। चराचर रूप यह सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् उसी काल के मुख में पड़ा हुआ है, परन्तु योगी पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं है।

टीका—अमरोली, वज्रोली, सहजोली आदि मुद्राओं की सिद्धि समाधि के सिद्ध होने पर स्वयं ही सिद्ध हो जाती हैं। अन्तःकरण रूप चित्त ध्येय वस्तु के आकार प्रवाह को प्राप्त हो जाता है और प्राणवायु सुषुम्ना में घुसता है, तब चित्त की समता होने पर इन मुद्राओं की भले प्रकार सिद्धि हो जाती है।

ज्ञानं कुतो मनसि संभवतीह तावत्प्राणोऽपि
जीवति मनो म्रियते न यावत्।
प्राणो मनो द्वयमिदं विलयं नयेद्यो
मोक्षं स गच्छति नरो न कथंचिदन्यः ॥१५॥

टीका—जब तक प्राण जीवित रहता है, तब तक मन भी नहीं मरता, फिर ज्ञान ही कहाँ से होगा। जो पुरुष प्राण और मन दोनों का लय कर देता है, वही मोक्ष को प्राप्त होता है, कोई अन्य पुरुष नहीं हो सकता ॥१५॥

व्याख्या—हठयोग के अभ्यास के बिना ज्ञान और मोक्ष की सिद्धि सम्भव नहीं है और हठ का अभ्यास तभी बन सकता है जब मनको वश में कर लिया जाय। परन्तु मन का वश होना तब तक असम्भव है, जब तक कि प्राण के साथ इन्द्रियाँ भी जीवित रहती हैं। इडा और पिंगला में जब तक प्राण बहता है तब तक उसका जीवित रहना मानते हैं, क्योंकि इडा, पिंगला को छोड़कर जब वह सुषुम्ना में प्रविष्ट हो जाता है तब मनुष्य की अवस्था मृतक जैसी हो जाती है।

इन्द्रियाँ जब तक अपने-अपने विषयों के ग्रहण में समर्थ रहती हैं, तब तक उनका जीवित रहना समझना चाहिए। उन विषयों की उत्पत्ति मन से होती है और जब तक मन उन विषयों को उत्पन्न करता रहता है, तब तक मनका जीवन रहता है। इस प्रकार इन्द्रिय और मन का अपने-अपने कार्य से निवृत्त हो जाना ही उनका मरण है।

इस प्रकार प्राण, मन और इन्द्रियों के चेष्टाशील रहने से आत्मसाक्षात्कार रूप अनुभव का ज्ञान कदापि सम्भव नहीं। क्योंकि प्राण, मन और इन्द्रियों की वृत्ति ज्ञान में अवरोध स्वरूप होती हैं। इसलिए प्राण और मन का विशेष रूप से लय करने वाला योगी आत्यन्तिक स्वरूप में स्थिति रूप मोक्ष को प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है। 'सत्व पुरुषयो शुद्धि साम्ये कैवल्यमिति' (यो. द.) अर्थात् 'चित्त और पुरुष की समान शुद्धि होने पर कैवल्य होता है।'

प्राण का लय क्या है? व्यापार-रहित प्राण की ब्रह्म-रन्ध्र में स्थिति ही प्राण का लय माना गया है। यथा—

प्राण शक्तौ निरुद्धायां मनो राम विलीयते।
द्रव्यच्छायानुतद्द्रव्यं प्राणरूपं हि मानसम्॥
—योगवसिष्ठ ५।१३।८३

अर्थात्—हे राम! प्राणशक्ति का निरोध होने पर मन का लय हो जाता है। जैसे पदार्थों की छाया ही पदार्थ होता है, वैसे ही प्राण की छाया मन है।

इससे सिद्ध हुआ कि प्राण और मनमें अभेद है क्योंकि 'प्राणवृत्तौ विलीनायाँ मनोवृत्ति विलीयते' (बोधसार) अर्थात् 'प्राणवृत्ति के विलीन होने से मनोवृत्ति भी विलीन हो जाती है।' और प्राण का विलय होने का अर्थ उसकी वृत्ति का ब्रह्म-

रन्ध्र रूप शून्य में लय हो जाना ही है। यदि मन का लय नहीं होता तो प्राण का लय भी नहीं हो सकता, उस स्थिति में योगी हजारों उपायों के द्वारा भी मोक्ष को प्राप्त नहीं हो सकता। यह मत सभी शास्त्रों का है।

अध्यात्म योग की प्राप्ति के लिए मन से हर्ष-शोक का त्याय करना आवश्यक है। उनके त्याग से श्रद्धा, भक्ति की उत्पत्ति के साथ योग के अष्टाङ्गों में प्रविष्ट हो सकती हैं। उस प्रवृत्ति की दृढ़ता होने पर साधक को आत्मदर्शन की अभूतपूर्व अनुभूति होती है, उस समय मन-सहित पंचज्ञानेन्द्रियों के विषयों से रहित होने पर साधक अप्रमत्त होकर आत्मतत्त्व के रूप में ब्रह्मतत्त्व'के दर्शन करता है,वही उसको परमपद की प्राप्ति मानी जाती है। इसीलिए ब्रह्मोपनिषत् का उपदेश है कि—

आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढ़वत्॥

अर्थात्—आत्मा को नीचे की अरणि और प्रणव को ऊपर की अरणि बनाकर ध्यान रूप मन्थन के अभ्यास द्वारा इस अप्रकट आत्मा का साक्षात्कार करना चाहिए।

और उस आत्म साक्षात्कार से ही मनुष्य संसार के सर्व बन्धनों से मुक्त हो सकता है। अनेक स्थानों पर आत्मा की उपासना ओंकार रूप से करने का उपदेश मिलता है। क्योंकि जो ओंकार है वही ब्रह्म है—

यस्मिन् स लीयते शब्दस्तत्परंब्रह्म गीयते।
सोऽमृतत्वाय कल्पते सोऽमृतत्वाय कल्पते॥

अर्थात्—जिसमें वह 'ओंकार' शब्द लीन होता है, वही पर-ब्रह्म कहा जाता है और वही अमृतत्व माना गया है,यह सत्य है।

इस प्रकार प्राण और मनके विलय से मोक्ष की प्राप्ति कही है, वह सन्देहास्पद नहीं मानी जा सकती। मोक्ष क्या है?

इसका समाधान कुछ विद्वान् इतना ही करते हैं कि चित्त वृत्ति का निर्विकार हो जाना ही मोक्ष है ? क्योंकि शरीर में आत्म-भाव ही विकार है और वही विकार जीव के लिए बन्धन स्वरूप है। 'देहत्रयमसद्विद्धि कालत्रयमसत्सदा' (तेजोबिन्दु) अर्थात् 'सूक्ष्म, स्थूल और लिंग इन तीनों शरीरों को असत् समझना चाहिए, तीनों काल भी सदा असत् ही हैं' इसलिए साधक आत्मा को देह से भिन्न समझता हुआ आत्मा और परमात्मा में अभेद-दर्शन करे। तेजोबिन्दूपनिषत् के ही अनुसार-

ब्रह्मैवास्मीति सद्वृत्या निरालम्बतया स्थितिः।
ध्यान शब्देन विख्यातः परमानन्द दायकः॥

अर्थात्— मैं ब्रह्म हूँ' ऐसी निराश्रय श्रेष्ठ वृत्ति में स्थित होना ही ध्यान शब्द से विख्यात परम आनन्द के देने वाली अवस्था है।

इन सबसे सिद्ध होता है कि प्राण और मनके लय होने पर 'अहं ब्रह्मास्मि' रूप जो आलम्ब-रहित श्रेष्ठ वृत्ति होती है, वह परमानन्द प्राप्त कराने वाली और सुख-दुःख से निवृत्त कराने वाली जीवन्मुक्ति रूपी मोक्ष है।

जीवन्मुक्ति का लक्षण

ज्ञात्वा सुषुम्नासद्भेदं कृत्वा वायुं च मध्यगम्।
स्थित्वा सदैव सुस्थाने ब्रह्मरंध्रे निरोधयेत् ॥१६॥

टीका—श्रेष्ठ स्थान में रहकर और सुषुम्ना नाड़ी के भेदन की विधि जानकर साधक प्राणवायु का सुषुम्ना में सचार करे ॥१६॥

व्याख्या—इस श्लोक में प्राण के लय की विधि बताई गई है। साधक किसी श्रेष्ठ स्थान में जाकर योगाभ्यास करे। श्रेष्ठ स्थान के विषय में पहले बता चुके हैं कि उत्तम राज्य हो

और धार्मिक स्थान हो, वहाँ एकान्त में बैठकर साधना करनी चाहिए और गुरु के उपदेश से सुषुन्ना नाड़ी के भेदन की विधि जानकर प्राणवायु को उसमें प्रविष्ट करना चाहिए। वह प्राण सुषुम्ना-मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र में जा पहुँचता है, वहाँ उसका निरोध करे।

इस प्रकार प्राण का ब्रह्मरन्ध्र में लीन होना ही मन का लीन हो जाना है और मनके लीन होने से कोई विकार शेष नहीं रहता, निर्वाण ही शेष रहता है। यही साधक की श्रेष्ठ स्थिति है।

प्राणलय से कालजय कथन

सूर्याचंद्रमसौ धत्तः कालं रात्रिदिवात्मकम् ।
भोक्त्री सुषुम्ना कालस्य गुह्यमेतदुदाहृतम् ॥१७॥

टीका—सूर्य, चन्द्रमा रात्रि-दिवसात्मक काल के धारण करने वाले हैं और उस कालको भोगने वाली सुषुम्ना है, यह गुह्य रहस्य प्रकट किया गया हैं ॥१७॥

व्याख्या—प्राण का लय हो जाने पर ही योगी काल को जीतने में समर्थ होता है। सूर्य और चन्द्रमा दिन-रात्रि स्वरूप काल को उत्पन्न करते हैं और सुषुम्ना नाड़ी उस दिन-रात्रि रूपी काल को भक्षण करती है। आशय यह है कि ढाई घड़ी अर्थात् एक घण्टा सूर्य स्वर और एक घण्टा चन्द्र स्वर के प्रवाहित रहता है। सूर्य स्वर के प्रवाह वाला समय दिन और चन्द्र स्वर के प्रवाह वाला समय रात्रि होता है। इस प्रकार दिन रात्रि रूप काल दो घण्टे में ही पूरा हो जाता है और इसके अनुसार चौबीस घण्टे में योगियों के बारह दिन-रात्रि व्यतीत हो जाते हैं।

जब सुषुम्ना-मार्ग से प्राणवायु ब्रह्मरन्ध्र में जा पहुँचता तब उसके लिए दिन-रात्रि रूप काल का अभाव हो जाता है, इसी लिए सुषुम्ना को काल का भक्षण करने वाली कहा है। ब्रह्मरन्ध्र में प्राणवायु जितने समय तक स्थित रहता है, उतने ही समय के लिए योगी की आयु वृद्धि हो जाती है और इस प्रकार दीर्घकाल तक इसका अभ्यास सिद्धि कर लेने वाला योगी अपना मरण-काल निकट जानकर, यदि जीवन की इच्छा करता है तो प्राण-वायु को सुषुम्ना-मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र में ले जाकर निरुद्ध करता है तब उसकी मृत्यु नहीं होती। इससे यह भी सिद्ध हुआ कि योगी की स्वेच्छा मृत्यु होती है।

द्वासप्ततिसहस्राणि नाडीद्वाराणि पंजरे।
सुषुम्ना शांभवी शक्तिः शेषास्त्वेव निरर्थकाः ॥१८॥

टीका—मनुष्य शरीर में बहत्तर हजार नाड़ियों के द्वार हैं, उनमें सुषुम्ना नाड़ी शाम्भवी शक्ति है और शेष सब नाड़ियाँ निरर्थक हैं ॥१८॥

व्याख्या—'पंजर' का अर्थ है अस्थि-नाड़ी से बंधा हुआ शरीर। मनुष्य शरीर में बहत्तर हजार नाड़ियाँ होती हैं, परन्तु वे शरीर में अन्न-रस वहन करने का ही कार्य करती हैं, जो कि देहासक्त व्यक्तियों के लिए तो उपयोगी होती हैं, परन्तु योगी के लिए उनका महत्व शरीर-यात्रा चलाने भरके लिए है, उसे उनसे मोह नहीं रहता। क्योंकि वह शरीर-परक न होकर आत्मा-परक होता है।

उन बहत्तर हजार नाड़ियों में एक सुषुम्ना नाड़ी ही ऐसी है, जो साधक के लिए विशेष रूप से उपकार करने वाली सिद्ध होती है। उसी को मध्य नाड़ी भी कहते हैं। विद्वानों ने उसे

शाम्भवी शक्ति भी कहा है, क्योंकि वही नाड़ी साधक को शिव की प्राप्ति कराने में सहायक होती है।

वायुः परिचितो यस्मादग्निना सह कुंडलीम् ।
बोधयित्वा सुषुम्नायां प्रवेशेदनिरोधतः ॥१९॥
सुषुम्नावाहिनि प्राणे सिद्धयत्येव मनोन्मनी ।
अन्यथा त्वितराभ्यासाः प्रयासायैव योगिनाम् ॥२०॥

टीका—परिचित हुआ वायु जठराग्नि के साथ कुण्डली को बोधित करके अविरोध रूप सुषुम्ना में प्रविष्ट होता है। जब प्राणवायु सुषुम्ना में प्रवाहित होता है, तब मनोन्मनी अवस्था सिद्ध हो जाती है। योगियों के इससे अन्य अभ्यास के जितने भी प्रयास हैं, वे सब व्यर्थ होते हैं ॥१९—२०॥

व्याख्या—परिचित का अर्थ है अभ्यस्त और अभ्यास किया हुआ वायु ही जठराग्नि के साथ मिल कर कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत करने में समर्थ होता है। अधोगतिमपान वं ऊर्ध्वगं कुरुते बलात्' इत्यादि (यो. कु. उ.) से अपान वायु ऊपर जाकर अग्नि मण्डल से मिलता है तब अग्नि की तीव्रता बहुत बढ़ जाती है, उस ताप से सन्तप्त हुई कुण्डलिनी जाग्रत् होती है और सुषुम्ना के मुख में घुस जाती है।

जब कुण्डलिनी शक्ति सुषुम्ना प्रविष्ट हो जाती है, तब सुषुम्ना का मुख खुला रहता है, जिससे प्राण के मार्ग में भी कोई रुकावट नहीं रहती और वह भी उसमें घुस कर ब्रह्मरन्ध्र में जा पहुँचता है, तो मनोन्मनी अवस्था हो जाती है। इसलिए योगियों के लिए इसी का अभ्यास करना चाहिए, क्योंकि अन्य किसी प्रकार के अभ्यास से मनोन्मनी अवस्था नहीं हो सकती, इसलिए वैसे प्रयास निष्फल ही समझने चाहिए।

पवनो बध्यते येन मनस्तेनैव बध्यते ।
मनश्च बध्यते येन पवनस्तेन बध्यते ॥२१॥
हेतुद्वयं तु चित्तस्य वासना च समीरणः ।
तयोर्विनष्ट एकस्मिंस्तौ द्वावपि विनश्यतः ॥२२॥
मनो यत्र विलीयेत पवनस्तत्र लीयते ।
पवनो लीयते यत्र मनस्तत्र विलीयते ॥२३॥

टीका—जिस अभ्यास से योगी वायु का बन्धन करता है, उसी से मन का बन्धन कर लेता है। इस प्रकार जिससे मन का बन्धन होता है, उसी से वायु का बन्धन हो जाता है। चित्त की प्रवृत्ति में दो हेतु होते हैं वासना और वायु। इनमें से एक का नाश होने पर दूसरे का भी नाश हो जाता है। जहाँ मन विलीन होता है, वहीं वायु विलीन होता है और जहाँ वायु लीन होता है, वहाँ मन भी लीन हो जाता है ॥२१--२३॥

व्याख्या—प्राणवायु के अभ्यास से योगी जब मन को वश में कर लेता है, तब उसकी चंचलता नष्ट हो जाती है। मन का धर्म है चिन्तन और मन के लय से चिन्तन का त्याग होकर निश्चिन्तता का उदय होता है। मन क्या है ? इस विषय में विद्वानों का मत है कि प्राण का स्पन्दन ही मन है, परन्तु प्राण के स्पन्दन-रहित होने पर मन की रक्षा होती है। इस प्रकार प्राण ही मन की रक्षा करता है क्योंकि सुषुम्ना में चढ़ता हुआ प्राण जब ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच कर लीन हो जाता है तब उसके साथ मन का भी लय हो जाता है। इससे समझा जा सकता है कि जिससे प्राण का बन्धन है उसी से मन का भी है और जिससे मन का बन्धन है, उसी से प्राण का बन्धन होता है।

चित्त की प्रवृत्ति दो कारणों से होती है, एक तो वासना से और दूसरे वायु से। इन दोनों में से एक नष्ट हो जाय तो वे दोनों ही नष्ट हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि वासना के नष्ट होने पर वायु और चित्त नष्ट होते हैं और वायु के क्षीण होने पर चित्त और वासना का नाश हो जाता है। इसका सीधा साधा अर्थ है कि चित्त से वासना का विकार दूर होते ही चित्त शान्त हो जाता है और चित्त के शान्त होने पर ही तत्त्वज्ञान की उपलब्धि हो सकती है।

कुछ विद्वानों के विचार में तत्वज्ञान होने पर ही चित्त के संयम से वासना का शमन हो सकता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि चित्त की प्रवृत्ति, वासना और प्राणवायु इन तीनों का बधन आवश्यक है, इसके बिना आत्मज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति सम्भव नहीं है। इसलिए इन तीनों के बन्धन का अभ्यास योगी के लिए कर्त्तव्य है।

जहाँ मन का लय हो, वहीं वायु का लय होगा और जहाँ वायु का विलय हो, वहीं मन का विलय होता है। अर्थात् प्राणवायु के साथ संयुक्त हुआ मन भी ब्रह्मरन्ध्र में ही जाकर लय को प्राप्त होता है। 'वायुं-बिन्दुं तथा चक्रं चित्तं चैव समभ्यसेत्' इत्यादि (यो. कु. उ.) अर्थात् 'प्राणवायु, बिन्दु, चक्र और चित्त का उचित रूप से अभ्यास करके योगिजन ऐक्यरूपता की समाधि तक पहुँच जाते हैं।'

इस प्रकार साधक को प्राणवायु पर विजय प्राप्त करने का अभ्यास करना चाहिए। उसी से मन पर भी विजय प्राप्त हो सकती है और मन-प्राण का जीता जाना ही तत्वज्ञान की उपलब्धि है।

दुग्धांबुवत्संमिलितावुभौ तौ तुल्यक्रियौ मानसमारुतौ हि।
यतोमरुत्तत्र मनःप्रवृत्तिर्यतो मनस्तत्र मरुत्प्रवृत्तिः ॥२४
तत्रैकनाशादपरस्य नाश एकप्रवृत्तेर परप्रवृत्तिः।
अध्वतयोश्चचेंद्रियवर्गवृत्ति प्रध्वस्तयोर्मोक्षपदस्यसिद्धि॥२५
रसस्य मनसश्चैव चंचलत्वं स्वभावतः।
रसो बद्धो मनो बद्धं किं न सिद्धयति भूतले ॥२६॥

टीका—दुग्ध और जल के समान संयुक्त मन और वायु तुल्य क्रिय हैं। जहाँ वायु की प्रवृत्ति है, वहाँ मन की प्रवृत्ति है और जहाँ मन की प्रवृत्ति है, वहीं वायु की प्रवृत्ति है वहाँ एक के नाश से दूसरे का नाश होता है, एक की प्रवृत्ति से दूसरे की प्रवृत्ति होती है। जब तक सब इन्द्रियों का अपने-अपने विषय में प्रवृत्त होना नहीं रुकता, तब तक मोक्षपद की सिद्धि भी सम्भव नहीं है। रस और मन स्वभावतः ही चपल होते हैं, रस और मन बद्ध हो जाँय तो भूतल पर क्या सिद्ध नहीं हो सकता ? ॥२४—२६॥

व्याख्या—जैसे दूध और जल मिलकर एक हो जाते हैं, उनके रूप और क्रिया में कोई अन्तर नहीं रहता, वैसे ही मन और प्राणवायु के संयोग को समान समझना चाहिए। तुल्यक्रिय का अर्थ है दोनों की प्रवृत्ति का एक समान होना। जिस स्थान में मन की प्रवृत्ति होती है, उसी स्थान में प्राण की प्रवृत्ति होती है। मुण्डकोपनिषत् में कहा है—

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो
यस्मिन् प्राणः पंचधा संविवेश।

प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां
यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ।।

अर्थात्—जिस शरीर में पाँच रूपों वाला प्राण स्थित है, शरीरधारियों का मन उसी प्राण से व्याप्त है। यह सूक्ष्म आत्मा मन के द्वारा जाना जाता है और उस मन के शुद्ध होने पर आत्मा सब प्रकार से सशक्त हो जाता है।

इस प्रकार मुण्डक में भी मन को प्राण से व्याप्त कहकर उनकी समानता ही प्रकट की गई है। एक-दूसरे का इतना तादात्म्य होने से यह कहना उचित ही है कि इनमें से एक के नाश से दूसरे का नाश हो जाता है और एक व्यापार नहीं करता तो दूसरा भी नहीं करता। सभी इन्द्रियाँ तभी तक अपने-अपने व्यापार में प्रवृत्त रहती हैं, जब तक कि मन या प्राण उन्हें उसके लिए प्रेरित करता। यह नहीं हो सकता कि मन किसी इन्द्रिय को उसके विषय में प्रेरण करे और प्राण का सहयोग न मिले तो वह इन्द्रिय अपने व्यापार में प्रवृत्त हो जाय।

रस अर्थात् पारद की चंचलता सभी पर विदित है, जैसे वह किंचित् उष्णता पाकर ही अपने स्थान से चलायमान होकर अन्यत्र बढ़ता है, वैसे ही मन भी स्वभाव से ही चचल है, वह कभी कहीं और कभी कहीं उड़ान भरता है। इसीलिए साधक को उस मन के निरोध का कर्त्तव्य रूप से उपदेश दिया जाता है और ज्ञानी साधक तो सदा यही विश्वास रखता है—

लब्धात्मा जिह्वया तुच्छो लोलया लोलसत्तया।
स्वल्पस्पन्दो द्रव्य निष्ठो रसो नाहमचेतनः ।।
—संन्यासोपनिषत्

अर्थात्—चंचल मन और मन से संयुक्त जिह्वा से, द्रव्य से उत्पन्न तुच्छ स्पन्दन मैं नहीं हूँ।

मूर्च्छितो हरते व्याधीन्मृतो जीवयति स्वयम् ।
बद्धः खेचरतां धत्ते रसो वायुश्च पार्वति ॥२७॥

टीका—आदिनाथ कहते हैं कि हे पार्वति ! मूर्च्छित रस और प्राण रोगों का हरण करता है और मारा हुआ रस एवं ब्रह्मरन्ध्र में लय को प्राप्त हुआ प्राण मनुष्य को जीवन देता और खेचरत्व प्राप्त कराता है ॥२७॥

व्याख्या—जैसे वनौषधियों के योग से घोटकर पारद की चपलता नष्ट कर दी जाती है, तब उसकी मूर्च्छित संज्ञा होती है, वैसे ही कुम्भक के पश्चात् रेचक से निवृत्ति को प्राप्त हुआ प्राणवायु भी मूर्च्छित कहलाता है। इस प्रकार मूर्च्छित अवस्था को प्राप्त हुआ पारद और प्राण सभी रोगों को दूर करने में समर्थ होता है।

पारद को भस्म कर लिया जाय तो वह मारा हुआ कहा जाता है और प्राणवायु का भी निरोध करके उसे सुषुम्ना मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचा दिया जाय तो वह भी मृत कहलाता है, क्योंकि इडा-पिंगला से विलग होकर सुषुम्ना में प्रवेश करते ही मनुष्य की अवस्था मरे हुए के समान हो जाती है, इसलिए यह प्राण की मृतावस्था मानी गई है। इस प्रकार मरा हुआ पारद और प्राण दोनों ही मनुष्य को दीर्घजीवन प्राप्त कराने में समर्थ होते हैं।

'बद्धः खेचरतां धत्ते' का अभिप्राय यह है कि क्रिया-विशेष से बद्ध किया हुआ पारा गर्मी प्राप्त होते ही आकाश की ओर गति करता है और भौंहों के मध्य विशेष रूप से धारण किया हुआ प्राणवायु भी साधक को आकाशगति प्राप्त कराता

है। इस प्रकार बद्ध प्राण प्रभाव से योगी आकाश में पक्षियों के समान उड़ने में समर्थ होता है।

मनःस्थैर्ये स्थिरो वायुस्ततो बिंदुः स्थरो भवेत् ।
बिंदुस्थैर्यात्सदा सत्त्वं पिंडस्थैर्यं प्रजायते ॥२८॥
इन्द्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुतः ।
मारुतस्य लयो नाथः स लयो नादमाश्रितः ॥२९॥
सोऽयमेवास्तु मोक्षाख्यो मास्तु वापु मतांतरे ।
मनः प्राणलये कश्चिदानन्ददः संप्रवर्तते ॥३०॥

टीका—मन के स्थिर होने पर प्राण भी स्थिर हो जाता है और प्राण की स्थिरता से विन्दु स्थिर होता है। बिन्दु की स्थिरता से सदा सत्व रहता है और उससे शरीर में स्थिरता उत्पन्न होती है। इन्द्रियों का स्वामी मन है, मन का स्वामी प्राण है, प्राण का स्वामी लय है और लय नाद के आश्रित है। यही मोक्ष कहलाता है, मतान्तर से ऐसा नहीं भी है। मन और प्रण का लय होने पर अनिर्वचनीय आनन्द प्रकट होता है ॥२८—३०॥

व्याख्या—मन के स्थिर होने पर ही प्राण स्थिर होता है, क्योंकि मन चंचल होगा तो प्राण भी चंचल रहेगा। मन की स्थिरता से स्थिर हुआ प्राण वीर्य को चलित नहीं होने देगा और वीर्य को चलित नहीं होता, शरीर में विद्यमान रहता है तो शरीर की शक्ति बनी रहती है शक्ति है तो शरीर में स्थिरता रहना स्वाभाविक है।

श्रोत्रादि पंच इन्द्रियों का स्वामी मन ही है क्योंकि मन की प्रेरणा से ही इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त होती हैं। उस मन का स्वामी प्राण है, क्योंकि प्राण के सहयोग के बिना

मन की प्रवृत्ति भी निष्फल होती है। परन्तु प्राण का स्वामी है मन का लय हो जाना, जो कि नाद का आश्रित होता है। क्योंकि नाद ही ब्रह्म है, यथा 'नादो ज्योतिर्मयः शिवः' (नाद बिन्दु) अर्थात् 'नाद ही ज्योतिर्मान शिव है।' इसीलिए मन का नाद में लय होना मोक्षरूप कहा गया है।

परन्तु, उक्त मत से भिन्न मत के कुछेक विद्वान् चित्त के लय होने को मोक्ष रूप नहीं मानते। उनके अनुसार चित्त का लय तो सुषुप्ति में भी हो जाता है। उनका यह मत प्रस्तुत प्रसंग में उपयुक्त नहीं है, क्योंकि मन और प्राण के लय होने पर जो अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होता है, उससे जीवन्मुक्ति की अवस्था रूप उपलब्धि का सुख अवश्य मिलता है। इसीलिए ग्रन्थकार ने चित्त का प्राण के साथ नाद में लय हो जाना मोक्ष स्वरूप कहा है।

प्रनष्टश्वासनिश्वासः प्रध्वस्तविषयग्रहः।
निश्चेष्टो निर्विकारश्च लयो जयति योगिनाम् ॥३१॥
उच्छिन्नसर्वसंकल्पो निःशेषाशेषचेष्टितः।
स्वावगम्यो लयः कोऽपि जायते वागगोचरः ॥३२॥

टीका—श्वास-निश्वास-रहित, विषय के ग्रहण से उन्मुख चेष्टा-रहित और विकार-रहित योगियों का लय होता है। सर्व संकल्पों को उच्छिन्नता, अशेष चेष्टाओं से निवृत्ति, वाणी से न कहा जाने योग्य लय योगियों का होता है ॥३१—३२॥

व्याख्या—बाह्य वायु का भीतर पहुँचना श्वास और भीतर के वायु का बाहर निकलना निःश्वास होता है। जिसमें इनका और इन्द्रियों के द्वारा विषयों के ग्रहण का अभाव हो जाय, तथा चेष्टा और विकार भी नष्ट हो जाय, इसे लय का होना समझना चाहिए। अभिप्राय यह है कि

ध्येय वस्तु के आकार में अन्तःकरण की वृत्ति का हो जाना ही लय है।

लय के अन्य लक्षण में मन के कार्य रूप संकल्पों का नष्ट होना, चेष्टित अर्थात् अंग-संचालन व्यापार का निवृत्त हो जाना आदि का समावेश है। लय को वाणी से नहीं कहा जा सकता, वरन् स्वयं ही अनुभव के द्वारा जाना जा सकता है, ऐसे लय की उपलब्धि सर्वश्रेष्ठ मानी गई है।

यत्र दृष्टिर्लयस्तत्र भूतेंद्रियसनातनी।
सा शक्तिर्जीवभूतानां द्वे अलक्ष्ये लयं गते ॥३३॥
लयो लय इति प्राहुः कीदृशं लयलक्षणम्।
अपुनर्वासनोत्थानाल्लयो विषयविस्मृतिः ॥३४॥

टीका—जहाँ दृष्टि का लय होता है, वहाँ सनातन भूत और इन्द्रिय नहीं रहते। जीवों की शक्ति रूप विद्या, अविद्या दोनों ही अलक्ष्य में लय होती हैं। इस प्रकार लय कहा जाता है, परन्तु लय का लक्षण क्या है? विषय की विस्मृति और वासनाओं का पुनः न उठना ही लय है ॥३३—३४॥

व्याख्या—ब्रह्मरूप अन्तःकरण वृत्ति में मन का लय होता है। जिसमें पृथिवी आदि पंच महाभूत और इन्द्रियाँ हों, वह अविद्या और जीवों की शक्ति रूप विद्या इन दोनों का लय अलक्ष्य ब्रह्म में ही होता है।

विद्या और अविद्या का फल विपरीत है। केनोपनिषत् में यम ने नचिकेता से कहा कि—

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता।
विद्या भीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त: ॥

अर्थात्—विद्या आवक्षों के फल भिन्न होते हैं। हे केता ! तुम्हें अनेकों भोग अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सके, इससे मैं समझता हूँ कि तुम विद्या को ही कामना करते हो।

इस प्रकार भिन्न फल वाली विद्या और अविद्या दोनों का ही पूर्ण रूप से त्याग करके ब्रह्म में चित्त का रम जाना लय है, वही श्रेष्ठ स्थिति है।

फिर भी कुछ लोग लय के विषय में पूछ सकते हैं कि उसका लक्षण क्या होता है ? इसका समाधान ग्रन्थकार इस प्रकार करते हैं कि शब्दादि सभी विषयों को और साथ ही ध्येय विषय को भी विस्मृति हो जाय वही लय का लक्षण है। क्योंकि लय का अर्थ है आत्मसात् हो जाना और वासनाओं का पुनः उत्थान न करना आत्मसात् का प्रत्यक्ष लक्षण है। 'यदातमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न च सच्छिव एव केवलः' (श्वेताश्वर) अर्थात् 'जब अज्ञान का अन्धकार दूर हो जाता है तब दिन, रात्रि, सत्, असत् का बोध नहीं रहता, उस समय केवल एक शिव ही शेष रहता है।' यही अवस्था 'लय' समझनी चाहिए।

शाम्भवी मुद्रा वर्णन

वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव ।
एकैव शांभवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव ॥३५॥
अंतर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता ।
एषा सा शांभवी मुद्रा वेदशास्त्रेषु गोपिता ॥३६॥

टीका—वेद, शास्त्र और पुराण सभी सामान्य गणिका के समान और शांभवी मुद्रा ही कुल वधु के समान गोपनीय है। अन्तर्लक्ष्य और बहिर्लक्ष्य में निमेष और उन्मेष न हो, ऐसी यह शाम्भवी मुद्रा वेदशास्त्र में छिपी रहती है ॥३५-३६॥

व्याख्या—शाम्भवी मुद्रा का वर्णन आरम्भ करते हुए प्रथम उसका महत्व प्रकट किया है कि यह मुद्रा परम गोपनीय है। कुलवधु के समान कहने से, यहाँ कुलवधु अर्थात् सद्गृहस्थ की पत्नी की गरिमा स्वीकार की है और वेदादि के सर्व सुलभ होने के कारण उसे गणिका के समान बताकर शाम्भवी मुद्रा की श्रेष्ठता ही व्यक्त की है।

शरीर में जो मूलाधारादि षट्चक्र हैं, उनमें से जो अभीष्ट हो, उस चक्र में लक्ष्य बनाकर अन्तःकरण की वृत्ति और विषयों वाली दृष्टि जो निमेष-उन्मेष से रहित हो ऐसी यह मुद्रा ऋग्वेदादि और योग-दर्शनादि में छिपी है। इससे शंभु की प्रत्यक्षता प्राप्त होती है, इसलिए इसका नाम शाम्भवी मुद्रा हुआ।

अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी यदा वर्तते ।
दृष्टचा निश्चलतारया बहिरधः पश्यन्नपश्यन्नपि ॥
मुद्रेयं खलु शांभवी भवति सा लब्धा प्रसादाद्गुरोः ।
शून्याशून्यविलक्षणं स्फुरति तत्तत्त्वं परं शांभवम् ॥३७

टीका—जब योगी अपने चित्त और वायु को अन्तर्लक्ष्य में लय करके निश्चल तारे वाले दृष्टि से शरीर के बाहर देखता हुआ भी नहीं देखता, यह शाम्भवी मुद्रा गुरु के प्रसाद से प्राप्त होती है। इससे शून्य-अशून्य से भी विलक्षण शाम्भव रूप परम तत्व का स्फुरण होता है ॥३७॥

व्याख्या—इस श्लोक में शाम्भवी मुद्रा का स्वरूप बताया है। तत्त्वमसि आदि महावाक्यों से जीवात्मा-परमात्मा के अभेद रूप लक्ष्य में मन और प्राण का लय होने पर निश्चल दृष्टि खुली रह कर भी बाहर के विषयों को देख नहीं पाता। क्योंकि मन का लय होने पर इन्द्रियाँ अपने विषयों को ग्रहण नहीं कर

सकतीं। इस प्रकार ब्रह्म में लय को प्राप्त हुए मन और प्राण जब इस अवस्था में पहुँच जाते हैं, तब शाम्भवी मुद्रा होती है।

शांभव्याश्च खेचर्या अवस्थाधामभेदतः।
भवेच्चित्तलयानंदः शून्ये चित्सुखरूपिणि ॥३८॥

टीका—शाम्भवी और खेचरी मुद्राओं के द्वारा अवस्था और धाम के भेद से शून्य चित्त सुख स्वरूप चित्त के लय का आनन्द होता है ॥१८॥

व्याख्या—शाम्भवी और खेचरी दोनों ही मुद्रायें समान फल प्रदान करने वाली मानी गई हैं। इनमें से किस मुद्रा का अभ्यास किया जाय? यह साधक की अवस्था और देश काल को देख कर निश्चय करना चाहिए। अथवा इन दोनों मुद्राओं में देश-भेद यह है कि शाम्भवी मुद्रा में वाह्य दृष्टि होने से बहिः स्थिति और खेचरी मुद्रा में भौंहों के मध्य में दृष्टि रहने से वहीं स्थिति होती है। परन्तु इन दोनों से ही चिदानन्द रूप आत्मा में चित्त का जो लय होता है, उस परमानन्द की उपलब्धि होती है।

उन्मनी मुद्रा

तारे ज्योतिष संयोज्य किंचिदुन्नमयेद्भ्रुवौ।
पूर्वयोगं मनो युंजन्नुन्मनीकारकः क्षणात् ॥३९॥
केचिदागमजालेन केचिन्निगमसंकुलैः।
केचित्तर्केण मुह्यंति नैव जानंति तारकम् ॥४०॥

टीका—तारों को ज्योति में युक्त करके भौंहों को कुछ ऊपर की ओर करे और पूर्वोक्त योग में मन को लगा दे तो क्षण

भर में उन्मनीकारक अवस्था होती है। किसी आगम के जाल से और किसी निगम के फलों से जो मोहित रहते हैं, वे तारक को नहीं जान सकते ॥३९--४०॥

व्याख्या--नेत्रों के तारों को नासिका के अग्रभाग में स्थिर करके प्रकाशमान ज्योति में योजित करे और भृकुटियाँ कुछ ऊपर की ओर उठाकर पूर्वोक्त अन्तर्लक्ष्य और वहिर्दृष्टि रूप योग में मन को लगा देना चाहिए। इससे उन्मनी अवस्था हो जाती है। यह उन्मनी अवस्था साधक को तारने वाली है, परन्तु आगम अर्थात् शास्त्रों और निगम अर्थात् वेदों में विभिन्न प्रकार की उपासनाओं और यज्ञों का वर्णन होने से उनमें विश्वास रखने वाले लोग योग का अभ्यास नहीं करते, वे संसार सागर से तारने वाली इस उन्मनी अवस्था को नहीं जान पाते।

अर्धोन्मीलितलोचनः स्थिरमना नासाग्रदत्तेक्षण-
श्चंद्रार्कावपि लीनतामुपनयन्निष्पंदभावेन यः।
ज्योतीरूपमशेषबीजमखिलं देदीप्यमानं परं।
तत्त्वं तत्पदमेति वस्तु परमं वाच्यं किमत्राधिकम् ॥४१॥

टीका--अर्द्ध उन्मीलित नयन, स्थिर मन, और नासिका के अग्रभाग में दृष्टि वाला योगी चन्द्र-सूर्य को लीन करता हुआ, निस्पंद भावसे अत्यन्त दैदीप्यमान, ज्योति स्वरूप, अशेष, अखिल विश्व के बीज रूप परम तत्व के पद को जाता है। इस विषय में अधिक क्या कहा जाय ? ॥४१॥

व्याख्या--उन्मनी अवस्था में योगी के नेत्र आधे खुले, आधे बन्द रहते हैं। उस समय वह स्थिर चित्त से नासिका के अग्रभाग में दृष्टि रखता है। उसका मन इस प्रकार लय को

प्राप्त हो जाता है कि उसे अपने शरीर की भी सुधि नहीं रहती।

नासिका के अग्रभाग में जो स्वच्छ आकाश है, उसमें ज्ञान और दृष्टि दोनों सम्यक् प्रकार से लग जाँय तो प्राणों का स्पन्दन भी रुका हुआ प्रतीत होता है और प्राण के संचार के उस अवरोध में कारण होती है शरीर मन और इन्द्रियों की निश्चलता। ऐसी स्थिति में अवस्थित हुआ योगी तत्वस्वरूप परम पद को प्राप्त होता है।

उस परम पद का वर्णन करना बहुत कठिन है, अधिक तो क्या अल्प कथन भी नहीं हो पाता। योगतत्वोपनिषत् में कहा है—

अनिर्वाच्य पदं वक्तुं न शक्यं तै सुरैरपि।
स्वात्मप्रकाश रूपं तत्कि शास्त्रेण प्रकाशते॥

अर्थात्—उस अनिर्वाच्य पद का वर्णन देवता भी नहीं कर सकते, तब शास्त्र ही उस स्वात्म प्रकाश रूप का वर्णन कैसे कर सकते हैं?

दिवा न पूजयेल्लिगं रात्रौ चैव न पूजयेत्।
सर्वदा पूजयेल्लिगं दिवारात्रिनिरोधतः॥४२॥

टीका—दिन में लिंग का पूजन न करे, रात्रि में भी नहीं करना चाहिए। दिन-रात्रि के निरोध को करता हुआ सर्व काल में लिंग-पूजन कर सकते हैं॥४२॥

व्याख्या—उन्मनी अवस्था में काल का कोई नियम नहीं रहता। दिन का अर्थ सूर्य और रात्रि का अर्थ चन्द्रमा, इन दोनों का संचार होने के समय लिंग-पूजन का निषेध है। तात्पर्य यह है कि पिंगला और इडा के स्वर-संचार काल में पूजन नहीं करना चाहिए। इसका कारण यह है कि सूर्य-चन्द्र स्वर के संचार काल

में चित्त की स्थिरता नहीं रह पाती, क्योंकि उस समय प्राणवायु चलायमान रहता है, इसलिए चित्त भी चलायमान रहेगा।

दिन-रात्रि को छोड़कर अन्य सभी कालों में पूजन करने का निर्देश है। क्योंकि सूर्य-चन्द्र का निरोध होने पर प्राण सुषुम्ना में चला जाता है, तब मन की भी स्थिरता हो जाती है। इस श्लोक में पूजन शब्द का प्रयोग ध्यान के लिए है, क्योंकि योगी के लिए बाह्य पूजन अपेक्षित नहीं उसके लिए तो ध्यान ही पूजन है। इसलिए लिंग अर्थात् आत्मा के ध्यान का ही निर्देश समझना चाहिए।

खेचरी मुद्रा का स्थैर्य कथन

सव्यदक्षिणनाडिस्थो मध्ये चरति मारुतः।
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन्स्थाने न संशयः॥४३॥
इडापिंगलयोर्मध्ये शून्यं चैवानिलं ग्रसेत्।
तिष्टते खेचरी मुद्रा तत्र सत्यं पुनः पुनः॥४४॥
सूर्याचन्द्रमसोर्मध्ये निरालंबांतरं पुनः।
संस्थिता व्योमचक्रे या सा मुद्रा नाम खेचरो॥४५॥

टीका—बाँयी-दाँयी नड़ियों में स्थित प्राणवायु जहाँ जाता है, वहीं खेचरी मुद्रा स्थित होती है, इसमें संशय नहीं। इडा और पिङ्गला के मध्य का शून्य प्राणवायु का ग्रास करले, उसी शून्य में खेचरी मुद्रा होती है, यह कथन बार-बार सत्य ही है। सूर्य और चन्द्र के मध्य जो निराश्रय अन्तर है, उस व्योम चक्र में ठीक प्रकार स्थित होने से उस मुद्रा का नाम खेचरी है॥४३—४५॥

व्याख्या—बाँयी नाड़ी इडा है, इसे चन्द्र नाड़ी भी कहते है और दाँयी नाड़ी पिंगला है, जो कि सूर्य नाड़ी भी कहलाती है। उनमें स्थित प्राणवायु निकलकर जहाँ पहुँचता है, वहीं खेचरी मुद्रा का होना कहा है। इडा-पिंगला के मध्य में शून्य अर्थात् आकाश माना जाता है, उसमें प्राण का स्थिर होना ही प्राण का ग्रास कहलाता है। उसी शून्य रूप आकाश में खेचरी का स्थित होना निश्चित है। इडा-पिंगला के मध्य में जो आश्रय-रहित अन्तर है, वहाँ आकाशों का समुदाय रूप चक्र विद्यमान रहता है, क्योंकि भौंहों के मध्य में सभी आकाश मिलते हैं। उसी आकाश में ठीक प्रकार से स्थित होना ही खेचरी मुद्रा है। 'एवं सहजानन्दे यदा मनोलीयते तदा शाम्भवा भवति, तामेव खेचरीमाहुः (मण्डलब्राह्मणोपनिषत्) अर्थात् 'जब मन ऐसे सहजानन्द में लीन हो जाता है तब जीव को शान्ति मिलती है, यह शाम्भवो है जिसे खेचरो कहते हैं।'

सोमद्यत्रोदिता धारा साक्षात्सा शिववल्लभा ।
पूरयेदतुलां दिव्यां सुषुम्नां पश्चिमे मुखे ॥४६॥
पुरस्ताच्चैव पूर्येत निश्चिता खेचरी भवेत् ।
अभ्यस्ता खेचरी मुद्राप्युन्मनी संप्रजायते ॥४७॥

टीका—जिससे चन्द्रमा से अमृत की धारा प्रकट होती है, वह खेचरी मुद्रा साक्षात् शिव-वल्लभा है। अतुल और दिव्य सुषुम्ना को पश्चिम मुख में जिह्वा से पूण करना चाहिए और यदि पूर्व मुख में भी पूर्ण करे तो निश्चय ही खेचरी मुद्रा होती है। इस प्रकार अभ्यास से सिद्ध हुई इस मुद्रा से उन्मनी अवस्था उत्पन्न हो जाती है ॥४६—४७॥

व्याख्या—खेचरी मुद्रा शिवजी को अत्यन्त प्रिय है उसमें चन्द्रामृत की धारा उत्पन्न हो जाती है। इसलिए इसका अभ्यास साधक को दीर्घजीवी बनाता है।

सुषुम्ना नाड़ी के दो मुख होते हैं—पश्चिम और पूर्व। इन दोनों मुखों को प्राण से पूरित करे। इसका ठीक प्रकार से अभ्यास करने पर उन्मनी अवस्था होती है। परन्तु, सुषुम्ना के केवल पश्चिम मुख को ही पूरित करने और पूर्व मुख का पूरित न करने से जो खेचरी मुद्रा होती है, वह मूढ़ अवस्था को उत्पन्न करने वाली है।

भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं मनस्तत्र विलीयते ।
ज्ञातव्यं तत्पद तुर्यं तत्र कालो न विद्यते ।।४८।।
अभ्यत्सेत्खेचरीं तावद्यावत्स्याद्योगनिद्रितः ।
संप्राप्तयोगनिद्रस्य कालो नास्ति कदाचन ।।४६।।
निरालंबं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिंतयेत् ।
स बाह्याभ्यंतरे व्योम्नि घटवत्तिष्ठति ध्रुवम् ।।५०।।

टीका—भौंहों के मध्य में शिव का स्थान है, वहाँ मन का विलय होता है। उस पद को काल की विद्यमानता से रहित तुर्य पद जानना चाहिए। खेचरी का तब तक अभ्यास करे, जब तक योगी योग निद्रित हो और जब योग निद्रा की प्राप्ति हो जाती है, तब उसकी मृत्यु कभी नहीं होती। जो योगी मन को आश्रय-रहित करके कुछ भी चिन्ता नहीं करता, वह बाह्याभ्यन्तर के आकाश में घट के समान टिक जाता है, यह निश्चय है ।।४८—५०।।

व्याख्या—दोनों भृकुटियों के बीच में शिव रूप आत्मा का स्थान माना गया है। वहाँ पहुँची हुई मन की वृत्ति शिवाकार हो जाती है। वह पद जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति के पश्चात् का अर्थात् चौथा तुरीय पद है, जहाँ काल तो रह ही नहीं सकता।

योग निद्रा में सभी वृत्तियों का निरोध होता है, यह अवस्था बहुत समय के अभ्यास से सिद्ध होती है। इसको प्राप्ति के लिए खेचरी का अभ्यास करना उचित है। इसके द्वारा मृत्यु भी विजित हो जाती है। इसलिए खेचरी का अभ्यास करता हुआ योगी मन को आश्रय-रहित करदे अर्थात् संयमित करे और अन्य किसी प्रकार का चिन्तन न करे। तब जैसे खाली घट बाहर-भीतर आकाश से पूर्ण होता है, वैसे ही खेचरी मुद्रा होने पर आलंबन छोड़े हुए योगी ब्रह्म में स्थित होता है।

बाह्यवायुर्यथा लीनस्तथा मध्ये न संशयः।
स्वस्थाने स्थिरतामेति पवनो मनसा सह ॥५१॥
एवमभ्यसमानस्य वायुमार्गे दिवनिशम्।
अभ्यासाज्जीर्यते वायुर्मनस्तत्रैव लीयते ॥५२॥
अमृतैः प्लावयेद्देहमापादतलमस्तकम्।
सिद्ध्यत्येव महाकायो महाबलपराक्रमः ॥५३॥

टीका—जैसे बाह्य वायु लीन होता है, वैसे मध्य का भी लीन हो जाता है, इसमें संशय नहीं तथा मन के सहित प्राणवायु अपने स्थान में स्थिरता को प्राप्त होता है। इस प्रकार से वायु मार्ग में दिन-रात्रि अभ्यास करते हुए, जिसमें वायु लीन होता है। उसी में मन का भी लय हो जाता है। तलुओं से मस्तक पर्यन्त शरीर को चन्द्रामृत से सिंचित कर ले तो उस

योगी को महाबल, पराक्रम और महान् काया की सिद्धि होती है वही उसका अमृत से स्नान करना है ॥५१—५३॥

व्याख्या—खेचरी मुद्रा के अभ्यास काल में बाह्य वायु तो लीन होता ही है, क्योंकि उसका भीतर प्रवृत्त होना असम्भव है। इसी प्रकार शरीर के मध्य का वायु इसलिए लीन होता है कि उसकी बाह्य प्रवृत्ति नहीं हो सकती। परन्तु मन के सहित वह वायु अपनी स्थिरता के स्थान ब्रह्मरन्ध्र में जाकर स्थैर्य को प्राप्त होता है। प्राणवायु के मार्ग सुषुम्ना में सदा अभ्यास करने से वह वायु जीर्ण हो जाता है। उसका जीर्ण ही लय होना है। प्राणवायु लीन होता है, वहीं मन भी लीन हो जाता है। ऐसा होने पर ही चंद्रमा से स्रवित होते हुए अमृत से समचे शरीर का पोषण होता है, जिससे बल-पराक्रम बढ़ता और साधक दीर्घजीवी होजाता है।

शक्तिमध्ये मनः कृत्वा शक्तिं मानसमध्यगाम् ।
मनसा मन आलोक्य धारयेत्परमं पदम् ॥५४॥
खमध्ये कुरु चात्मानमात्ममध्ये च खं कुरु ।
सर्वं च खमयं कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥५५॥

टीका - मन को शक्ति के मध्य में और शक्ति को मन के मध्य में करके तथा मन से मन को देख परमपद का धारण करे। ब्रह्म के मध्य आत्मा को और आत्मा के मध्य ब्रह्म को करके, सत को ब्रह्ममय करता हुआ किंचित् भी चिन्ता न करे। ॥५४—५५॥

व्याख्या—मन को कुण्डलिनी शक्ति में लगा कर उस शक्ति का मन में योजित करे। अर्थात् मन और शक्ति का ऐक्य करके मनन पूर्वक मन का अवलोकन करे, यह देखे कि मन

किधर जा रहा है ? यदि भटकता है तो उसे वश में करके परम पद की धारणा करे।

'ख मध्ये कुरु चात्मानं' से 'आकाश के समान व्यापक ब्रह्म में आत्मा को योजित करने का निर्देश है। अथवा आत्मा में ब्रह्म को संयुक्त करता हुआ सम्पूर्ण चराचर जगत् को ब्रह्ममय माने और ब्रह्म का ही चिन्तन करे, किसी अन्य का चिन्तन न करे। योगकुण्डल्युपनिषत् का भी ऐसा ही मत है—

अपर सन्त्यजेत्सर्वं यदिच्छेदात्मनो हितम्।
शक्तिमध्ये मनःकृत्वा मनः शक्तेश्च मध्यगम्॥
मनसा मन आलोक्य मत्त्यजेत्परमं पदम्।
मन एव हि बिन्दुश्च उत्पत्ति स्थिति कारणम्॥

अर्थात्—यदि अपने हित की इच्छा हो तो अन्य सब मिथ्या विषयों को त्याग दे और शक्ति में प्रवेश करके उसी में स्थित हो जाय। मन के द्वारा मन को देखकर और समझ कर उसका त्याग करना ही परमपद है। क्योंकि उत्पत्ति और स्थिति का प्रधान बिन्दु मन ही है।

अन्तः शून्यो बहिःशून्यः शून्यः कुम्भ इवांबरे।
अन्तःपूर्णो बहिपूर्णः पूर्णः कुम्भ इवार्णवे॥५६॥
बाह्यचिंता न कर्तव्या तथैवांतरचिंतनम्।
सर्वचिंतां परिज्यज्य न किंचिदपि चिंतयेत्॥५७॥

टीका—भीतर भी शून्यहो,बाहर भी शून्य जैसेकि जल से रहित घटबाहर भीतर से शून्य होता हैपरन्तु समुद्र में डूबा हुआ घट जैसे बाहर भीतर जल से परिपूर्ण रहता है, वैसेही समाधि में योगी बाहर-भीतर दोनों ही ओर ब्रह्म से पूर्ण होता है। उसे बाहर की चिन्ता नहीं करनी चाहिए और न आन्तरिक मन से

कल्पित पदार्थों का ही चिन्तन करे। सभी प्रकार की चिन्ताओं को छोड़कर, कुछ भी चिन्तन न करे ॥५६—५७॥

व्याख्या—इन श्लोकों में समाधि में अवस्थित योगी के अपने स्वरूप में स्थित होने का वर्णन करते हैं कि ब्रह्म से भिन्न वृत्ति के न होने से अन्य की प्रतीति न हो और अन्य के न देखने से बाहर से भी, आकाश में स्थित घट के बाहर-भीतर जल से शून्य होने के समान योगी भी शून्य हो। इसी प्रकार समुद्र में डूबा हुआ कलश जैसे बाहर और भीतर सर्वत्र जल से परिपूर्ण रहता है, वैसे ही हृदय में ब्रह्माकार वृत्ति से और बाहर ब्रह्म से भिन्न वृत्ति के अभाव से योगी को पूर्ण रहना चाहिए। इस कथन का अभिप्राय यही है कि योगी अपने भीतर तो ब्रह्ममय रहे ही, बाहर भी सर्वत्र ब्रह्ममय ही देखे और ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी न देखे न सुने।

उसे बाह्य विषयों या पदार्थों का चिन्तन छोड़ देना चाहिए। जब आत्मज्ञान हो जाता है औपचारिक बाह्य पदार्थों की आवश्यकता नहीं रहती। माला, चन्दन, धूप, दीप आदि सब पूजन सामग्री भी उसके लिए निरर्थक रहती है। इसीलिए बाह्य पदार्थों का चिन्तन न करे और अन्तःकरण में मन से उत्पन्न विषयों या पदार्थों का चिन्तन भी छोड़ दे तथा सभी प्रकार के चिन्तनों को छोड़कर एक मात्र आत्मा का अर्थात् ब्रह्म का ही चिन्तन करे। ब्रह्म विद्योपनिषत् में कहा है—

तिलेषु च यथा तैलं पुष्पे गन्ध इवास्थितः।
पुरुषस्य शरीरेऽस्मिन् स बाह्याभ्यन्तरे स्थितः॥

अर्थात्—जैसे तिलों में तैल और पुष्पों में गन्ध रहता है। वैसे ही पुरुष के शरीर में बाहर-भीतर वही ब्रह्म विद्यमान रहता है।

इस प्रकार श्लोक में साधक के लिए सर्वत्र ब्रह्ममय मानने और ब्रह्ममय देखने का उपदेश निहित है।

संकल्पमात्रकलनैव जगत्समग्रं

सङ्कल्पमात्रकलनैव मनोविलासः ॥

संकल्पमात्रमतिमुत्सृज निर्विकल्प-

माश्रित्य निश्चयमवाप्नुहि राम शान्तिम् ॥५८॥

टीका—यह सम्पूर्ण जगत् संकल्प मात्र की कल्पना रूप है और यह मन का विलास भी संकल्प की कल्पना मात्र ही है। इसलिए हे राम ! संकल्प मात्र में जो मति है उसे त्याग कर और निर्विकल्प के आश्रित होकर निश्चय ही शान्ति को प्राप्त होओ ।।५८।।

व्याख्या—इस श्लोक में महर्षि वसिष्ठ द्वारा श्रीराम को दिया हुआ उपदेश है कि यह सम्पूर्ण दृश्यमान विश्व प्रपंच मन का विलास मात्र है और इसकी उत्पत्ति संकल्प की कल्पना से ही हुई है। अथवा यह जगत् मानसिक व्यापार रूप संकल्प की रचना है और आशा उत्पन्न करने वाले भवन, वाटिका, ऐश्वर्यादि के रूप में जो विषयों की कल्पना का विलास है, वह भी संकल्प से ही उत्पन्न होता है। इसलिए बाह्याभ्यन्तर असत्य प्रपंच में सत्यत्व बुद्धि का त्याग ही श्रेयस्कर होता है। मैत्रेय्युपनिषत् में भी कहा है—

चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत् ।
यच्चित्तस्तन्मयो भाति गुह्यमेतत्सनातनम् ॥

अर्थात्—चित्त ही संसार है, इसलिए प्रयत्न पूर्वक उसका शोधन करे। 'जैसा जिसका चित्त, वैसी उसकी गति' यह एक सनातन और गुह्य सिद्धान्त है।

कर्पूरमनले यद्वत्सैंधवं सलिले यथा ।
तथा संधीयमानं च मनस्तत्त्वे विलीयते ॥५९॥
ज्ञेयं सर्वं प्रतीत च ज्ञानं च मन उच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं समं नष्टं नान्यः पंथा द्वितीयकः ॥६०॥

टीका—जैसे कर्पूर अग्नि में सैंधव जल में लीन होता है, वैसे ही तत्व मे संयुक्त हुआ मन भी विलीन हो जाता है। ज्ञेय और ज्ञान मन ही कहलाता है, क्योंकि ज्ञेय और ज्ञान के मन-सहित नष्ट हो जाने पर, दूसरा कोई मार्ग ही नहीं रहता ॥५६—६०॥

व्याख्या—कर्पूर को अग्नि में डाल दें तो वह अग्नि रूप ही हो जाता है, और नमक को जल मिला दें तो नमक भी आपा खोकर जल रूप हो जाता है। वैसे ही मन भी आत्मा में संयुक्त होने पर आत्माकार हो जाता है। ज्ञान के योग्य और ज्ञान यह मन की कल्पना मात्र हैं, इसलिए इन्हें भी मन ही कहते हैं। क्योंकि मन नहीं तो ज्ञय और ज्ञान का भी अस्तित्व नहीं रहता। इसीलिए ज्ञेय और ज्ञान के टिके रहने का कोई अन्य मार्ग नहीं हो सकता।

मनोदृश्यमिदं सर्वं यत्किंचित्सचराचरम् ।
मनसो ह्युन्मनीभावाद्द्वैतं नैवोपलभ्यते ॥६१॥
ज्ञेयवस्तुपरित्यागाद्विलयं याति मानसम् ।
मनसो विलये जाते कैवल्यमवशिष्यते ॥६२॥
एवं नानाविधोपायाः सम्यक्स्वानुभवान्विताः ॥
समाधिमार्गाः कथिताः पूर्वाचार्यैर्महात्मभिः ॥६३॥

टीका—यह दृश्यमान सम्पूर्ण चराचर जगत् मन से ही उत्पन्न है। मन के उक्त उन्मनी भाव में होने पर द्वैत की प्रतीति नहीं रहती। ज्ञेय वस्तु के परित्याग से मन विलय को प्राप्त होता है और जब मन का विलय जाता है, तब कैवल्य ही शेष रहता है। इस प्रकार समाधि-मार्ग के अनेक विधि के उपाय हैं, जो भली भाँति से अपने अनुभव में आने पर पूर्व आचार्यों और महात्माओं ने कहे हैं ॥६१—६३॥

व्याख्या—यह स्थावर जंगम जीवों के सहित जो विश्व प्रपंच दिखाई देता है, वह सब मन की कल्पना से ही उत्पन्न हुआ है और जब मन उस प्रपंच और उसके विषयों से हट जाता है, तब उन्मनी अवस्था होती है और उस समय एक मात्र अद्वैत ब्रह्म ही शेष रह जाता है अर्थात् जीवात्मा-परमात्मा का ऐक्य स्पष्ट हो जाता है। इसीलिए कहा है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै: निर्विषयं स्मृतम् ॥
—शाट्यायनीयोपनिषद् १

अर्थात्—मन ही मनुष्यों के बन्धन मोक्ष का कारण है। जो मन विषयों में आसक्त होगा वह बन्धन का और जो विषयों से पराङ्मुख होगा वह मोक्ष का कारण होगा।

समाधि में मन विलय को प्राप्त हो जाता है जिसके बहुत-से उपाय हैं। अनेक ऋषि, मुनि, महात्माओं ने इन विधियों को अपने-अपने अनुभव के आधार पर कहा है।

सुषुम्नायै कुण्डलिन्यै सुधायै चन्द्रजन्मने।
मनोन्मन्यै नमस्तुभ्यं महाशक्त्यै चिदात्मने ॥६४॥
अशक्यतत्त्वबोधानां मूढानामपि संमतम्।
प्रोक्तं गोरक्षनाथेन नादोपासनमुच्यते ॥६५॥

श्रीं आदिनाथेन सपादकोटिलयंप्रकाराः कथिता जयंति ।
नादानुसंधानमेकमेव मन्यामहे मुख्यतमं लयानाम् ।।६६

टीका—सुषुम्ना नाड़ी, कुण्डलिनी और चन्द्रमा से उत्पन्न होने वाले अमृत तथा मनोन्मनी अवस्था को नमस्कार है, जो चिद्रूप महाशक्ति है। जिसका तत्वबोध अशक्य मूढ़ों के लिए भी सम्मत है, उस नाद की उपासना गोरक्षनाथ ने कही है। श्री आदिनाथ ने लय के सवा करोड़ उपाय बताये है, उन सब में मैं तो एक मात्र नादानुसन्धान को ही मुख्यतम मानता हूँ ।।६४—६६।।

व्याख्या—षट्चक्र भेदन में सुम्षुना का प्रमुख कार्य रहता है, क्योंकि कुण्डलिनी शक्ति उसी में प्रविष्ट होकर चक्रों का भेदन करती हुई ब्रह्मरन्ध्र को प्राप्त होती है। वहीं चन्द्रामृत का स्राव होता है तथा मनोन्मनी अवस्था की भी प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार षट्चक्र भेदन और शिवशक्ति के मिलन में प्रमुख साधन रूप सुषुम्ना आदि के प्रति श्रद्धा-भाव रहने पर ही साधक को लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है। चित्शक्ति चेतन आत्मा रूप है, इसलिए चेतन के सम्पादक सुषुम्ना आदि को और चित्शक्ति को भी साधक नस्मकार करता है। श्लोक में 'नमस्तुभ्यं' कहने का सम्बन्ध सभी से बनता है।

मूढ़ पुरुषों के लिए तत्वज्ञान की प्राप्ति अत्यन्त कठिन होती है, परन्तु गोरक्षनाथ द्वारा कहा हुआ नादानुसंधान का यह उपाय उनके लिए भी हितकर है। आदिनाथ जी ने चित्त के लय की सवा करोड़ विधियाँ कही हैं, परन्तु उन सब में अनाहत ध्वनि का सेवन ही सर्वश्रेष्ठ है।

मुक्तासने स्थितो योगी मुद्रां संधाय शांभवीम् ।
शृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमंतःस्थमेकधीः ॥६७॥
श्रवणपुटनयनयुगलघ्राणमुखानां निरोधनं कार्यम् ।
शुद्धसुषुम्नासरणौ स्फुटममलः श्रूयते नादः ॥ ६८ ॥
आरंभश्च घटश्चैव तथा परिचयोऽपि च ।
निष्पत्तिः सर्वयोगेषु स्यादवस्थाचतुष्टयम् ॥६९॥

टीका—मुक्तासन में स्थित हुआ योगी शाम्भवी मुद्रा का सन्धान करके एकाग्र बुद्धि के द्वारा दक्षिण कर्ण में नाद का श्रवण करे। कान, नेत्र और नासिका के दोनों छिद्र तथा मुख का निरोध करे, इससे मल-रहित सुषुम्ना-मार्ग से स्फुट, अमल नाद सुनाई देता है। चार अवस्थाएं आरम्भ, घट, परिचय और चित्तवृत्ति के निरोध रूप योगों में होती है ॥६७—६९॥

व्याख्या—यहाँ शाम्भवी मुद्रा के द्वारा नादानुसन्धान वर्णन हुआ है। मुक्तासन लगाकर बैठा हुआ योगी आन्तरिक्ष लक्ष्य और वाह्य दृष्टि आदि के रूप में वताई गई शाम्भवी मुद्रा को करता हुआ दाँये कान में नाद का श्रवण करे। नाद-बिन्दूपनिषत् में कहा है—

अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्यमावृणुते ध्वनिम् ।
पक्षाद्विपक्षमखिलं जित्वा तुर्यपदं व्रजेत् ॥

अर्थात्—इस प्रकार किया गया नाद का अभ्यास बाहर की ध्वनियों को ढक लेता और अकार, मकार रूप दोनों पक्षों को जीतकर प्रणव पर विजय प्राप्त करने से तुर्यपद की प्राप्ति होजाती है।

नाद के अनुसन्धान-कार्य में कान, नेत्र, घ्राण, और मुख को रोककर इन्द्रियों का निरोध करे, इससे सुषुम्ना मार्ग में

प्रत्यक्ष और स्पष्ट नाद सुनाई देता है। उस नाद को आरम्भ अवस्था, घटावस्था, परिचयावस्था और निष्पत्ति अवस्था के भेद से चार अवस्थाएँ होती हैं उन पर पृथक्-पृथक् प्रकाश डाला जाता है—

नाद की आरम्भावस्था

ब्रह्मग्रन्थेर्भेदभेवो ह्यानंदः शून्यसंभवः ।
विचित्रः क्वणको देहेऽनाहतः श्रूयते ध्वनिः ॥७०॥
दिव्यदेहश्च तेजस्वी दिव्यगंधस्त्वरोगवान् ।
संपूर्णहृदयः शून्य आरम्भो योगवान्भवेत् ॥७१॥

टीका—ब्रह्म ग्रन्थि के भेदन से आनन्द का शून्य में उत्पादन होता है और शरीर में अद्भुत क्वणक् अनाहत ध्वनि सुनाई देती है। तब दिव्य देह होकर उसमें दिव्य गन्ध और आरोग्य होता है तथा शून्य रूप सम्पूर्ण हृदय योययुक्त हो जाता है ॥७०—७१॥

व्याख्या—नाद की चार अवस्थाओं प्रथम आरम्भावस्था का वर्णन इस प्रकार है कि प्राणायाम के अभ्यास से ब्रह्मग्रन्थि का भेदन होता है तब आनन्द को उत्पन्न करने वाला क्वणक् रूप अनाहत नाद उत्पन्न हो जाता है, उससे योगी का शरीर दिव्य गन्ध से परिपूर्ण, रोगरहित एवं दिव्य हो जाता है।

नाद की घटावस्था

द्वितीयायां घटीकृत्य वायुर्भवति मध्यगः ।
दृढासनो भवेद्योगी ज्ञानी देवसमस्तदा ॥७२॥
विष्णुग्रन्थेस्ततो भेदात्परमानंदसूचकः ।
अतिशून्ये विमर्दश्च भेरीशब्दस्तथा भवेत् ॥७३॥

टीका—दूसरी अवस्था में प्राणवायु मध्य नाड़ी में प्रवेश करता है तब दृढ़ आसन लगाकर बैठा हुआ वह योगी देवता के समान हो जाता है। फिर विष्णुग्रन्थि का भेदन होने पर परमानन्द का सूचन करने वाले अति शून्य में विमर्द और भेरी का शब्द सुनाई देता है ॥७२—७३॥

व्याख्या--नाद की दूसरी अवस्था घटावस्था है, जिसमें प्राण अपने साथ अपान, नाद और बिन्दु को मिलाकर कण्ठदेश में स्थित मध्य चक्र में जा पहुँचता है। उससे योगी रूप-लावण्य युक्त एवं निरोग रहता हुआ सम्पूर्ण रूप से देवताओं के समान हो जाता है। फिर कण्ठ में विद्यमान विष्णुग्रंथि का प्राणायाम के अभ्यास से भेदन कर लेने पर परमानन्द प्राप्ति के सूचक विमर्द नामक वाद्य विशेष अथवा भेरी का शब्द अतिशून्य रूप कण्ठदेश में सुनाई देने लगता है। वह शब्द अत्यन्त आनन्द युक्त होता है, जिसमें योगी नितान्त रूप से रम जाता है।

नाद की परिचयावस्था

तृतीयायां तु विज्ञेयो विहायोमर्दलध्वनिः।
महाशून्यं तदा याति सर्वसिद्धिसमाश्रयम् ॥७४॥
चित्तानंदं तदा जित्वा सहजानंदसंभवः।
दोषदुःखजराव्याधिक्षुधानिद्राविवर्जितः ॥ ७५ ॥
रुद्रग्रन्थिं यदा भित्त्वा शर्वपीठगतोऽनिलः ॥७६॥

टीक—तीसरी अवस्था में मर्दल की ध्वनि को जाने और महाशून्य में वायु का संयम करे तो सर्वसिद्धि प्राप्त होती हैं। चित्त के आनन्द को जीतने पर सहज आनन्द होता है, तब वह दुःख, जरा, रोग, क्षुधा निद्रा आदि दोषों से रहित हो

जाता है तथा रुद्रग्रन्थि का जब भेदन होता है, तब वायु शर्व-पीठ को प्राप्त होता है ।।७४—७६।।

व्याख्या—परिचयावस्था में मर्दल संज्ञक वाद्य विशेष की ध्वनि सुनाई देती है। उस समय भौंहों के मध्य आकाश स्वरूप एवं अणिमादि सिद्धियों के आश्रय स्थान महाशून्य में प्राणवायु जा पहुँचता है। इससे साधक अणिमादि आठों सिद्धियाँ और सम्पूर्ण ऐश्वर्य प्राप्त हो जाते हैं तथा आज्ञाचक्र में विद्यमान रुद्रग्रन्थि का भेदन करता हुआ प्राण रुद्र के धाम रूप भौंहों के मध्य में स्थित हो जाता है।

नाद की निष्पत्ति अवस्था

निष्पत्तौ वैणवः शब्दः क्वणद्वीणाक्वणो भवेत् ।
एकीभूतं तदा चित्तं राजयोगाभिधानकम् ।
सृष्टिसंहारकर्तासौ योगीश्वरसमो भवेत् ।।७७।।

टीका—नाद की चौथी अवस्था निष्पत्ति अवस्था है। उसमें प्राण ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचता है तब वेणु का शब्द करती हुई तथा क्वणत् रूप में वीणा का शब्द होता है। उस समय चित्त एकाग्रता होने पर राजयोग सिद्ध हो जाता है और योगी सृष्टि-सहार करने में भी समर्थ ईश्वर के समान हो जाता है ।।७७।।

व्याख्या—चतुर्थ अवस्था निष्पन्ति में जब प्राण ब्रह्म-रन्ध्र को प्राप्त हो जाता है, तब साधक को वंशी और वीणा के शब्द सुनाई देने लगते है और चित्त में एकाग्रता हो जाने से राजयोग की प्राप्ति होती है, क्योंकि चित्त की एकग्रता ही राजयोग है। ऐसा साधक ईश्वर के समान शक्तिवान् और ऐश्वर्यवान् और सब प्रकार समर्थ हो जाता है।

अस्तु वा मास्तु वा मुक्तिरत्रैवाखंडितं सुखम् ।
लयोद्भवमिदं सौख्यं राजयोगादवाप्यते ॥ ७८ ॥
राजयोगमजानंतः केवलं हठकर्मिणः ।
एतानभ्यासिनो मन्ये प्रयासफलवर्जितान् ॥७९॥

टीका— और कुछ हो या न हो अर्थात् मुक्ति हो या न हो, नाद के अनुसन्धान में अखण्ड सुख है और लय से उत्पन्न हुआ यह सुख राजयोग से ही प्राप्त होता है। राजयोग को न जानकर केवल हठयोग की क्रिया में ही लगे रहने वाले अभ्यासी के परिश्रम को मैं निष्फल समझता हूँ ॥७८—७९॥

व्याख्या—पहले भी इस पर प्रकाश डाल चुके हैं कि किसी भी अवस्था में नादानुसन्धान करने में जो अखण्ड सुख होता है, उसकी प्राप्ति राजयोग से ही है और राजयोग के बिना हठयोग का प्रयास व्यर्थ रहता है।

उन्मन्यवाप्तये शीघ्रं भ्रूध्यानं मम संमतम् ।
राजयोगपदं प्राप्तुं सुखोपायोऽल्पचेतसाम् ॥
सद्यः प्रत्ययसंधायी जायते नादजो लयः ॥८० ॥

टीका –उन्मनी अवस्था और राजयोग के पद की शीघ्र प्राप्ति के लिए भौंहों के मध्य में ध्यान ही मेरे मत में अल्प बुद्धि वालों के लिए सुखोपाय है तथा नाद से उत्पन्न चित्त का लय शीघ्र ही प्रत्यय का सन्धान करने वाला होता है ॥८०॥

व्याख्या— भौंहों के मध्य में ध्यान करने से नाद उत्पन्न होकर चित्त का लय हो जाता है, जिससे राजयोग का पद और उन्मनी अवस्था की प्राप्ति शीघ्र हो जाती है। अल्प बुद्धि वाले साधकों के लिए यह उपाय अत्यन्त ही सरल है।

नादानुसंधानसमाधिभाजां
योगीश्वराणां हृदि वर्धमानम् ॥
आनंदमेकं वचसामगम्यं
जानाति तं श्रीगुरुनाथ एकः ॥ ८१ ॥

कर्णौ पिधाय हस्ताभ्यां यं शृणोति ध्वनिं मुनिः ।
तत्रचित्तं स्थिरीकुर्याद्यावत्स्थिरपदं व्रजेत् ॥ ८२ ॥

टीका—नाद के अनुसन्धान से जो समाधि होती है, उसके कर्ता योगीश्वरों के हृदय में बढ़ता हुआ एक आनन्द होता है, जो कि वाणी से अगम्य है । उसे एक मात्र श्री गुरुनाथ ही जानते हैं । हाथों से कानों को ढककर जो मुनि ध्वनि का श्रवण करता है, वह वहाँ चित्त को स्थिर करके, स्थिरपद को प्राप्त हो जाता है ॥८१--८२॥

व्याख्या—अनाहत ध्वनि रूप नाद के अनुसन्धान से चित्त की एकाग्रता रूप समाधि के करने वाले योगीश्वरों को जिस आनन्द की प्राप्ति होती है, वह श्रीगुरु ही जान सकते हैं और उनकी कृपा से साधक भी उसे जान सकता है । वह ध्वनि अंगूठों के द्वारा कानों को ढककर दाँये कान में सुनी जाती है । उससे चित्त एकाग्र हो जाता और योगी स्थिर अविनाशी पद को प्राप्त कर लेता है ।

विक्षेपजय से सुख प्राप्ति कथन

अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्यमावृणुते ध्वनिम् ।
पक्षाद्विक्षेपमखिलं जित्वा योगी सुखी भवेत् ॥८३॥

टीका—अभ्यास किया हुआ यह नाद बाह्य शब्द का आवरण करता है, जिससे योगी पक्षभर में सब विक्षेपों को जीतकर सुखी हो जाता है ॥८३॥

व्याख्या—अभ्यास से सिद्ध हुए इस नाद के द्वारा बाहरी शब्द भीतर नहीं जा पाता, इससे सभी विक्षेप नष्ट हो जाते हैं।

श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो महान् ।
ततोऽभ्यासे वर्धमाने श्रूयते सूक्ष्मसूक्ष्मकः ॥ ८४ ॥

नाना नाद्र वर्णन

आदौ जलधिजीमूतभेरीझर्झरसंभवाः ।
मध्ये मर्दलशंखोत्था घंटाकाहलजास्तथा ॥ ८५ ॥
अंते तु किंकिणीवंशवीणाभ्रमरनिःस्वनाः ।
इति नानाविधा नादा श्रूयंते देहमध्यगा ॥८६॥

टीका—प्रथम अभ्यास में साधक को अनेक प्रकार के शब्द सुनाई देते हैं और फिर अभ्यास बढ़ते जाने पर सूक्ष्म से सूक्ष्म शब्द सुनने में आ जाते हैं। प्रारम्भ में समुद्र, फिर मेघ, फिर भेरी, झर्झरी के और मध्य में मर्दल, शख तथा घण्टा के शब्द सुने जाते हैं। अन्त में किकणी, वंशी, वीणा और भौंरों के गुंजन आदि अनेक प्रकार के नाद शरीर में सुनाई देते हैं ॥८४—८६॥

व्याख्या—नादानुसन्धान का अभ्यास करने वाले साधक को पहले अनेक प्रकार के शब्दों के श्रवण का अनुभव होता है और फिर सूक्ष्मातिसूक्ष्म शब्द सुनने की क्षमता आ जाती है। इसी प्रकार समुद्र, मेघ, भेरी आदि के श्रवण का अभ्यास बढ़ने पर अन्त में वंशी, वीणा, भ्रमर-गुंजनादि सुनाई देने लगते हैं।

महति श्रूयमाणेऽपि मेघभेर्यादिके ध्वनौ ।
तत्र सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नादमेव परामृशेत् ॥८७॥
घनमुत्सृज्य वा सूक्ष्मे सूक्ष्ममुत्सृज्य वा घने ।
रममाणमपि क्षिप्तं मनो नान्यत्र चालयेत् ॥८८॥
यत्र कुत्रापि वा नादे लगति प्रथमं मनः ।
तत्रैव सुस्थिरीभूय तेन सार्धं विलीयते ॥८९॥
मकरंदं पिबन्भृंगो गंधं नापेक्षते यथा ।
नादासक्तं तथा चित्तं विषयान्न हि कांक्षते ॥९०॥

टीका—मेघ, भेरी आदि जैसी महती ध्वनि सुनने पर भी वहाँ सूक्ष्म से सूक्ष्म भी नाद का चिन्तन करना चाहिए। महाननाद को छोड़ कर सूक्ष्म नाद में और सूक्ष्मनाद को छोड़ कर महान् नाद में रमण करते हुए चित्त को अन्यत्र न जाने दे। जिस किसी भी नाद में पहले मन लगे, वहाँ ही स्थिर करने से उसका लय हो जाता है। जैसे मकरन्द का पान करता हुआ भौंरा पुष्प की गन्ध से अनपेक्ष रहता है, वैसे ही नादासक्त चित्त भी विषयों की आकांक्षा नहीं करता ॥८७—९०॥

व्याख्या—जब मेघ-गर्जनादि जैसी महान् ध्वनि सुनाई देने लगे, तब सूक्ष्मातिसूक्ष्म ध्वनि के सुनने का अभ्यास करे और जब वह भी दृढ़ हो जाय तब सूक्ष्मनाद को छोड़कर महान् नाद के और महान् नाद को छोड़ कर सूक्ष्मनाद के श्रवण का अभ्यास करे। इस प्रकार विभिन्न नादों को सुनते-सुनते जिस नाद में मन लगे, उसी में चित्त को लगा ले और फिर किसी अन्य नाद में चित्त न लगावे तो चित्त का लय उसी नाद में हो

जाता है और फिर वह अन्यत्र किसी विषय की ओर आकर्षित नहीं होता।

मनोमत्तगजेन्द्रस्य विषयोद्यानचारिणः ।
नियन्त्रणे समर्थोऽयं निनादनिशितांकुशः ॥९१॥

मन का चापल्य नाश

बद्धं तु नादबंधेन मनः संत्यक्तचापलम् ।
प्रयाति सुतरां स्थैर्यं छिन्नपक्षः खगो यथा ॥९२॥
सर्वचिंतां परित्यज्य सावधानेन चेतसा ।
नाद एवानुसंधेयो योगसाम्राज्यमिच्छता ॥९३॥

टीका—विषय रूपी उद्यान में मदोन्मत्त गजेन्द्र के समान विचरण करते हुए मन को वश करने में नाद रूप तीक्ष्ण अंकुश ही समर्थ हो सकता है। नाद के बन्धन में बँधा हुआ मन अपनी चपलता का भले प्रकार से त्याग करके पर कटे पक्षी के समान अत्यन्त निश्चलता को प्राप्त हो जाता है। सब चिन्ताओं को छोड़ कर सावधान चित्त से जो योगी योग साम्राज्य की इच्छा करता है उसे नाद का अनुसन्धान करना चाहिए ॥९१—९३॥

व्याख्या—शब्दादि विषयों के महान उद्यान में मद से उन्मत्त हुआ जो मन हाथी के समान स्वच्छन्द विचरण करता है, उसका वश में आना बहुत कठिन है। परन्तु नादरूपी अंकुश द्वारा उसे वश में किया जा सकता है। फिप वह मन विषयों की ओर न दौड़ कर स्थिर हो जाता है। इसलिए योग रूपी साम्राज्य की आकांक्षा करने वाले साधक को नाद के अनुसंधान में तत्पर होना चाहिए।

नादोंतरंगसारंगबंधने वागुरायते ।
अन्तरंगकुरंगस्य वधे व्याधायतेऽपि च ॥९४॥

अन्तरंगस्य यमिनो वाजिनः परिघायते ।
नादोपास्तिरतो नित्यमवधार्या हि योगिना ॥९५॥

बद्धं विमुक्तचांचल्यं नादगंधकजारणात् ।
मनः पादमाप्नोति निरालंबाख्यखेऽटनम् ॥९६॥

टीका—मन रूप अन्तरङ्ग मृग के वन्धन में नाद वागुरा के समान है तथा नाद ही अन्तरङ्ग मृग के वध में व्याध के समान होता है। यमी का जो अन्तरङ्ग मन रूप अश्व हैं, उसके परिघ में अवरोधक नाद ही है। इसलिए योगियों को नाद की ही नित्य वृद्धि करनी चाहिए। नाद रूप गन्धक के जारण से बँधा हुआ मन रूप पारद अपनी विमुक्त चपलता को छोड़ देता है, और निरालम्ब पद को प्राप्त होकर आकाश गमन में समर्थ होता है ॥९४—९६॥

व्याख्या—यहाँ मन को मृग की और नाद को जाल की उपमा दी गई है। जैसे मृग के वन्धन में जाल का उपयोग है, वैसे ही मन के बन्धन में नाद का उपयोग व्यक्त किया गया है। जैसे व्याध मृग को मार सकता है, वैसे ही नाद मन को मारने अथवा उसे निश्चल करने में समर्थ होता है।

यमी का अर्थ है 'यमों' का पालन करने वाला साधक। उसके भीतर जो मन है, वह अश्व के समान तथा नाद परिघ के समान है। इस प्रकार नाद की समर्थता व्यक्त की गई और योगाभ्यासी को नाद की सिद्धि का उपदेश दिया गया है।

क्योंकि वागुरा अर्थात् जाल रूप नाद ही मन रूप मृग की चंचलता दूर करने में अवरोधक सिद्ध हो सकता है।

गन्धक-जारण के संयोग से चंचलता हरण होने से पारद गुटिका रूप हो जाता है, वैसे ही नाद के सयोग से मन विषयाकार परिणाम रूप चचलता से हटकर स्थैर्य रूप ब्रह्माकार वृत्ति के प्रवाह को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार नाद कीसिद्धि होने पर मन चांचल्य को त्याग कर निरालम्ब संज्ञक आकाश रूप अपरिच्छिन्न ब्रह्मपद में गमन करता है। कुछ विद्वानोंके मत में श्लोक में साधक को धरती से उठ कर आश्रय-रहित आकाश में गमन करने की सामर्थ्य-प्राप्ति का फल-कथन हुआ है। परन्तु कुछ भी अर्थ करें, उपलब्धि यही है कि नाद में बंधा हुआ मन ब्रह्माकार वृत्ति को प्राप्त होता है।

नादश्रवणतः क्षिप्रमंतरङ्गभुजङ्गमः ।
विस्मृत्य सर्वमेकाग्रः कुत्रचिन्न हि धावति ॥९७॥
काष्ठे प्रवर्तितो वह्निः काष्ठेन सह शाम्यति ।
नादे प्रवर्तितं चित्तं नादेन सह लीयते ॥९८॥
घंटादिनादसक्तस्तब्धांतः करणहरिणस्य ।
प्रहरणमपि सुकरं शरसंधानप्रवीणश्चेत् ॥९९॥

टीका—नाद के श्रवण से अन्तरग भुजंग शीघ्र ही सब कुछ भूलकर एकाग्र हो जाता और फिर कहीं नहीं दौड़ता। जैसे काष्ठ में प्रवृत्त हुई अग्नि काष्ठ के सहित ही शमन होती है, वैसे ही नाद में प्रवृत्त हुआ चित्त नाद के सहित लीन होता है। घण्टा आदि के शब्द में आसक्त और स्तब्ध हुए अन्तःकरण रूपी हरिण पर प्रहार करना तभी श्रेष्ठ है,जबकि शर-सन्धान करने में प्रवीणता हो ॥९७—९९॥

व्याख्या—यहाँ मन को सर्प की उपमा देते हुए कहा है कि मन एकाग्र होने पर, विषयों की ओर नहीं दौड़ता। परन्तु वह एकाग्रता नाद में प्रवृत्त होने पर ही हो सकती है। इसलिए साधक को नादानुसन्धान में प्रवृत्त होना चाहिए। इस प्रकार ग्रन्थकार ने यहाँ समाधि के एक रूप का वर्णन किया है। 'वितर्क विचारानन्दा स्मितानुरूपागमात् सम्प्रज्ञातः' (योग दर्शन १।१७) अर्थात् 'वितक, विचार, और आनन्द अस्मिता के सम्बन्ध से संप्रज्ञात योग होता है।' यह जो चार भेद कहे हैं उनमें विचारानुगत भेद को इस प्रकार से समझे कि स्थूल पादार्थों का साक्षात् करने के पश्चात् सूक्ष्म पदार्थों और सूक्ष्म तन्मात्राओं के भावनात्मक विचार के माध्यम से समाधि होती है।

काष्ठ में लगी हुई अग्नि की ज्वालाएं काष्ठ को भस्म करके स्वयं शान्त होती हैं, वैसे ही नाद में युक्त हुआ चित्त नाद में संयुक्त होकर नाद के साथ ही लय को प्राप्त होता है। नाद में आसक्त मनको तभी छेड़ना चाहिए, जब कि प्राणवायु रूप बाण का सन्धान करना जानता हो। आशय यह है कि अन्तःकरण रूपी मृग के नाद में आसक्त और निश्चल होने में भी हित देखे और उसे प्राण में तभी योजित करे, जबकि प्राणवायु का सुषुम्ना में प्रविष्ट करने में प्रवीणता प्राप्त करले। इस प्रकार मन-प्राण को ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचा देना ही अन्तःकरण रूपी मृग पर शर-सन्धान करना है।

व्यापक आत्मा का परम पद वर्णन

अनाहतस्य शब्दस्य ध्वनिर्य उपलभ्लते।
ध्वनेरन्तर्गतं ज्ञेयं ज्ञेयस्यांतर्गतं मनः।
मनस्तत्र लयं याति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥१००॥

टीका—अनाहत शब्द की जिस ध्वनि की प्रतीति होती है, उसी के अन्तर्गत ज्ञेय है और ज्ञेय के अन्तगत मन है। वह जहाँ लय को प्राप्त होता है, वह विष्णु का परम पद है ॥१००॥

व्याख्या—ज्ञेय रूप प्रकाशमान चैतन्य बिना ताड़न के उत्पन्न होने वाली शब्द-ध्वनि में रहता है और ज्ञेय में अन्तःकरण रूपी मन का निवास है अर्थात् मन का लय ज्ञेय में होता है और वह ज्ञेय ही सर्व वृत्तियों से शून्य होकर संस्कार मात्र शेष रहने वाल विष्णु का परमपद है।

विष्णु का अर्थ है व्यापक। यहाँ जो परम पद बताया, उसे व्यापक आत्मा का ही परम स्थान समझना चाहिए। इस प्रकार नाद में ज्ञेय रूप चैतन्य आत्मा और ज्ञेय में मन का विलय कहने का अभिप्राय यही है मन का लय आत्मा में ही होता है।

तावदाकाशसङ्कल्पो यावच्छब्दः प्रवर्तते।
निःशब्द तत्परं ब्रह्म परमात्मेति गीयते ॥१०१॥
यत्किंचिन्नादरूपेण श्रूयते शक्तिरेव सा।
यस्तत्त्वांतो निराकारः स एव परमेश्वरः ॥१०२॥

टीका—आकाश को तब तक कल्पना होती है, जब तक कि शब्दों का प्रवर्तन होता है तथा शब्द से ही निःशब्द परब्रह्म परमात्मा का मान होता है। नाद रूप से जहाँ जो कुछ सुना जाता है, वह सब शक्ति ही है। जिसमें तत्वों का अन्त होता है, वही निराकार परमेश्वर है ॥१०१—१०२॥

अर्थात्—अनाहत ध्वनि स्वरूप शब्द जब तक श्रवण में आते हैं, तब तक आकाश की कल्पना की जाती है, क्योंकि शब्द

स्वयं ही आकाश स्वरूप है। जब मन के सहित शब्द लय को प्राप्त होता है, तब शब्द-रहित परब्रह्म को ही 'परमात्मा' शब्द से पुकारते हैं। अभिप्राय यह है कि सभी वृत्तियाँ जब विलय को प्राप्त हो जाती है, तब जो स्वरूप से विद्यमान रहे उसी को परमात्मा समझना चाहिए।

नादरूप से अनाहत ध्वनि के रूप में जो कुछ भी सुनाई देता है, वह शक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अर्थात् नाद शक्ति है और जहाँ तत्व लय होते हैं, वह निराकार अर्थात् रूप-रहित ब्रह्म है। क्योंकि सभी तत्वों का लय परब्रह्म परमेश्वर में ही होता है।

सर्वे हठलयोपाया राजयोगस्य सिद्धये।
राजयोगसमारूढ़ः पुरुषः कालवंचकः ॥१०३॥
तत्त्वं बीजं हठः क्षेत्रमौदासीन्य जलं त्रिभिः।
उन्मनी कल्पलतिका सद्य एव प्रवर्तते ॥१०४॥

टीका—हठ और लय के सभी उपाय राजयोग से सिद्ध हो सकते हैं और जो पुरुष राजयोग पर समारूढ़ हो जाता है, वह काल की वचना करने में समर्थ होता है। तत्व बीज है और हठ क्षेत्र है तथा उदासीनता जल है, इन तीनों से उन्मनी कल्पलता शीघ्र उत्पन्न होकर प्रवृत्त होती है ॥१०३—१०४॥

व्याख्या—यहाँ तत्व का अर्थ चित्त है, उसी को बीज कहा गया है। क्योंकि उन्मनी अस्वथा रूपी अंकुर के आकार द्वारा चित्त ही परिणाम को प्राप्त हो सकता है। हठ की क्रिया है प्राण-अपान ऐक्य होना, उसी हठयोग को क्षेत्र की संज्ञा दी गई है, क्योंकि क्षेत्र के समान जो प्राणायाम होता है, उसी में उन्मनी अवस्था रूपी कल्पना की उत्पत्ति होती है। विषयों से

उदासीनता रूपी परम वैराग्य को जल के समान माना है, क्योंकि उन्मनी रूपी कल्पलता की उत्पत्ति और वृद्धि उदासीनता अर्थात् वैराग्य रूपी जल से हो हो सकती है। इस प्रकार वैराग्य रूपी जल का हेतु चित्त का विशेष संस्कार साधक की तन्मयता रूप समाधि का ही स्वरूप समझना चाहिए। अभिप्राय यह है कि क्रमशः चित्त, हठ और उदासीनता रूपी बीज, क्षेत्र (खेत) और जल इन तीनों के द्वारा असंप्रज्ञात समाधि रूपी उन्मनी कल्पलता की उत्पत्ति शीघ्र हो जाती है। 'विरामप्रत्ययाभ्यास-पूर्वः संस्कार शेषोऽन्यः' (योग दर्शन १।१८) अर्थात्—'जिसकी पूर्व अवस्था विराम प्रत्यय है और जिसमें चित्त की स्थिति संस्कार मात्र में शेष रह जाती है वह असंप्रज्ञात समाधि है।'

परन्तु पूर्व श्लोक में ग्रन्थकार का यह कथन भी अल्प महत्व का नहीं है कि हठ और लय के सभी उपायों की सिद्धि राजयोग से ही सम्भव है, क्योंकि राजयोग का साधक मृत्यु को भी जीत लेता है।

सदा नादानुसंधानात्क्षीयन्ते पापसंचयाः।
निरन्जने विलीयेते निश्चितं चित्तमारुतौ ॥१०५॥

टीका—नाद के अनुसन्धान से सदा संचित पापों का क्षय होता है और चित्त तथा वायु दोनों अवश्य ही लय को प्राप्त होते हैं ॥१०५॥

व्याख्या—जो योगी नाद के अनुसन्धान में लगा रहता है उसके सब प्रकार के पाप निर्मूल होकर चित्त और प्राणवायु दोनों ही ब्रह्मरन्ध्र में विलीन हो जाते हैं। इस कथन से नाद की महिमा और उत्कृष्टता व्यक्त होती है।

उन्मनी अवस्था में चेष्टा रहितता

शंखदुन्दुभिनाद च न शृणोति कदाचन ।
काष्ठवज्जायते देह उन्मन्यावस्थया ध्रुवम् ॥१०६॥

टीका—वह योगी शंख, दुन्दुभी के नाद को कभी नहीं सुनता तथा उन्मनी अवस्था के कारण शरीर काष्ठ के समान हो जाता है, यह निश्चय है ॥१०६॥

व्याख्या—नाद के अनुसन्धान में लगा हुआ योगी जब उन्मनी अवस्था को प्राप्त हो जाता है तब वह काष्ठ के साथ चेष्टा-रहित हो जाता है, क्योंकि उस अवस्था में मन और प्राण का लय होने पर किसी प्रकार की चेष्टा या संज्ञा नहीं रहती और न उसे शंख, दुंदुभी आदि किसी प्रकार का भी शब्द सुनाई नहीं देता। यहाँ शख, दुंदुभी आदि का तात्पर्य शब्द मात्र से है, इसलिए किसी प्रकार का भी शब्द न सुनाई देना समझना चाहिए।

सर्वावस्थाविनिर्मुक्तः सर्वचिंताविवर्जितः ।
मृतवत्तिष्ठते योगी स मुक्तो नात्र संशयः ॥१०७॥

टीका—उस समय वह सभी अवस्थाओं से मुक्त और सभी चिन्ताओं से रहित हो जाता है तथा मृतक के समान अवस्थित रहता हुआ मुक्त ही हो जाता है, इसमें संशय नहीं है ॥१०७॥

व्याख्या—व्युत्थानावस्था पाँच मानी जाती हैं—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा और मरण, साधक उन सभी अवस्थाओं से छुटकारा प्राप्त कर लेता है, तथा उसे किसी भी प्रकार की

चिन्ता न रहने से सभी वृत्तियों के निरोध रूप योग में स्थिति हो जाती है। तब वह मृतक के समान निश्चेष्ट होकर जीवन्मुक्त हो जाता है। 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' (योगदर्शन १।३) अर्थात् 'उस समय द्रष्टा (आत्मा) की अपने स्वरूप में ही अवस्थिति हो जाती है।

खाद्यते न च कालेन बाध्यते न कर्मणा।
साध्यते न स केनापि योगी मुक्तः समाधिना ॥१०८॥

टीका—उसको काल भी नहीं खा सकता, उसे कर्म की भी बाधा नहीं होती। समाधि में अवस्थित वह योगी किसी प्रकार भी साध्य नहीं होता ॥१०८॥

व्याख्या— मृत्यु भी समाधि में युक्त हुए योगी का भक्षण नहीं कर सकती। उसे किसी प्रकार का शुभ-अशुभ कर्म बाधा नहीं पहुँचा सकता और न उस योगी को पुरुष यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र, आयुध आदि किसी उपाय से साध्य कर सकता है अर्थात् दबा नहीं सकता। इस प्रकार समाधिस्थ योगी सभी क्लेशों से मुक्त हो जाता है।

न गंधं न रसं रूपं न च स्पर्शं न निःस्वनम्।
नात्मानं न परं वेत्ति योगी युक्तः समाधिना ॥१०९॥

टीका—उस समाधि में युक्त योगी के लिए गंध, रस, रूप स्पर्श, नाद तथा अपने-पराये का ज्ञान भी नहीं रहता ॥१०९॥

व्याख्या— गन्ध दो प्रकार की है—सुगन्ध और दुर्गन्ध। रस छः प्रकार का है—मधुर, अम्ल, कटु, तिक्त, कषाय और लवण। रूप के सात प्रकार हैं—शुक्ल, पीत, नील हरित, लोहित कपिश और चित्र। स्पर्श के तीन भेद हैं—शीत, उष्ण

और अनुष्णाशीत और शब्द के शंख, दुन्दुभी, वीणा, मेघ, समुद्र आदि बाह्य शब्द और नाद रूप आन्तरिक शब्द, इनमें से किसी का भी ज्ञान समाधि में स्थित पुरुष को नहीं रहता। यही नहीं, उस समय वह अपने पराये को भी नहीं जानता।

चित्तं न सुप्तं नो जाग्रत्स्मृतिविस्मृतिवर्जितम् ।
न चास्तमेति नोदेति यस्यासौ मुक्त एव सः ॥११०॥

टीका—जिसका चित्त न सोता है, न जागता और न उसमें स्मति या विस्मृति ही रहती है तथा उसमें वृति का भाव-अभाव ही हो, वह योगी निश्चय ही मुक्त है ॥११०॥

व्याख्या—चित्त के सोने का अभिप्राय आच्छादक तमोगुण का अभाव होना है, क्योंकि त्रिगुणात्मक अन्त.करण में जब सत्व, रज की न्यूनता और तमोगुण को अधिकता होती है, तब अन्तःकरण का परिणामरूप विकार न होने से सुप्तावस्था होती है तथा इन्द्रियों के द्वारा बिषयों का ग्रहण होता है वह जाग्रत अवस्था है। योगी के चित्त पर इन दोनों में से किसी भी अवस्था का प्रभाव नहीं रहता, इसीलिए उसका सुप्त और जाग्रत अवस्थाओं से रहित होना कहा है।

सम्पूर्ण वृत्तियों का अभाव अथवा उद्‌बोध का भाव से स्मृति-राहित्य और स्मृति के जनक संस्कार का अभाव विस्मृति-राहित्य होता है। यह दोनों भी समाधि में स्थित योगी के चित्त में नहीं होते तथा शेष रहे संस्कारों के कारण न उसके चित्त का नाश होता है और न वृत्तियों की उत्पत्ति के अभाव से चित्त का उदय ही होता है, और ऐसा होने से वह योगी मुक्त ही माना जाता है।

न विजानाति शीतोष्णं न दुःखं न सुखं तथा ।
न मानं तापमानं च योगी युक्तः समाधिना ॥१११॥

टीका—समाधि में स्थित योगी शीत, उष्ण, दुःख, सुख, मान, अपमान को भी नहीं जानता ॥१११॥

व्याख्या—समाधि की अवस्था में अवस्थित हुए योगी को शीतादि का मान नहीं होता। वह किसी प्रकार के दुःख से दुःखी और सुख से सुखी नहीं होता। उसे इसकी भी चिन्ता नहीं होती कि कोई उसका सम्मान करता है अथवा अपमान। उसकी ऐसी विकार रहित स्थिति होती है ।

स्वस्थो जाग्रदवस्थायां सुप्तवद्योऽवतिष्ठते ।
निःश्वासोच्छ्वासहीनश्च निश्चितं मुक्त एव सः॥११२॥

टीका—जो योगी स्वस्थ अवस्था में और जाग्रत अवस्था में भी सुप्त के समान अवस्थित रहता हुआ श्वास-उच्छवास से भी रहित हो जाता है, वह निश्चित रूप से मुक्त ही है।॥११२॥

व्याख्या—स्वस्थ अवस्था में इन्द्रियों और अन्तःकरण में प्रसन्नता रहती है तथा जाग्रत अवस्थामें जो इन्द्रियोंका व्यापार होता है, उस सबको त्याग देने के कारण वह योगी सोते हुए के समान हो जाता है और तब न तो वह श्वास लेता और न श्वास छोड़ता है। इस प्रकार निश्चल रूप से स्थित हुआ योगी मुक्त ही है। योगचूडामण्युपनिषत् में भी कहा है—

समाधौ परमंज्योतिरनन्तं विश्वतोमुखम् ।
तस्मिन्दृष्टे क्रियाकर्म यातायातो न विद्यते ॥

अर्थात्—समाधि होने पर जो परमज्योति, अनन्त और विश्वतोमुख का भाव होता है, उससे योगी क्रिया, कर्म और आवागमन से छूट जाता है।

योगी की सर्वथा अवध्यता वर्णन

अवध्यः सर्वशस्त्राणामशक्यः सर्वदेहिनाम् ।
अग्राह्यो मंत्रयंत्राणां योगी युक्तः समाधिना ॥११३॥

टीका—समाधि में युक्त योगी सब प्रकार के शस्त्रों से अवध्य तथा सभी शरीर धारियों के सामर्थ्य से बाहर होता है। वह किसी मन्त्र और यन्त्र से भी ग्रहण करने के योग्य नहीं होता ॥११३॥

व्याख्या—समाधि में अवस्थित हुए योगी को कोई भी मनुष्य किसी भी प्रकार के शस्त्र से नहीं मार सकता और न उसे कोई शरीर धारी अपने वश में ही कर सकता है। वह वह यन्त्र, मन्त्र, मारण, उच्चाटन, वशीकरण आदि के द्वारा भी प्रभावित नहीं किया जा सकता। अभिप्राय यह है कि उसके लिए कोई विघ्न बाधा स्वरूप नहीं हो सकता।

यावन्नैव प्रविशति चरन्मारुतो मध्यमार्गे
यावद्बिंदुर्न भवति दृढप्राणवातप्रबंधात् ।
यावद्ध्याने सहजसदृशं जायते नैव तत्त्वं ॥
तावज्ज्ञानं वदति तदिदं दंभमिथ्याप्रलापः ॥११४॥

टीका—जब तक मध्य मार्ग से चढ़ता हुआ प्राणवायु ब्रह्मरन्ध्र में स्थिर नहीं होता, जब तक प्राणवायु के दृढ़ बन्धन से बिन्दु स्थिर नहीं होता और जब तक ध्यान में सहज रूप से तत्त्वरूपता प्राप्त नहीं होती तब तक ज्ञान के दम्भ का प्रलाप मिथ्या ही है ।।११४।।

व्याख्या—मध्य मार्ग अर्थात् सुषुम्ना नाड़ी में प्रविष्ट हुआ प्राणावायु जब ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच कर स्थिर होता है, तभी साधक का बिन्दु भी स्थिरता को प्राप्त हो जाता है। क्योंकि सुषुम्ना में न पहुँचा हुआ प्राणवायु असिद्ध होता है। बिन्दु की स्थिरता भी कुम्भक के दृढ़ करने से ही सिद्ध हो सकती है। इसे पहले बता चुके हैं और अब पुनः बताते हैं कि मन की स्थिरता से वायु स्थिर होता है, वायु की स्थिरता से बिन्दु की स्थिरता होती है और इनको अस्थिरता हो तो योगसिद्धि सम्भव नहीं।

इससे समझना चाहिए कि प्राण और बिन्दु के स्थिर होने पर ही ध्यान में एक रूपता हो सकती है और वह एक रूपता ही तत्व रूपता अर्थात् जीवात्मा-परमात्मा के ऐक्य में सिद्धि प्राप्त करा सकती है। महर्षि पतंजलि का कथन है—'पुरुषार्थ शून्यानां गुणानां प्रति प्रसवः कैवल्यं स्वरूप प्रतिष्ठा वा चिति-शक्तेरिति' (यो. द. ४।३४) अर्थात् 'पुरुषार्थ से शून्य हुए गुणों का अपने कारण में लय हो जाना अथवा चितिशक्ति का अपने रूप में अवस्थित हो जाना कैवल्य है।'

श्लोक में 'यावद्ध्याने सहज सदृशं जायते नैव तत्वं' इत्यादि कह कर ध्यान के अनन्तर सहज रूप से तत्व अर्थात् आत्मा की प्राप्ति नहीं हो जाती' तब तक ज्ञान हुआ कहना दम्भ और मिथ्या प्रलाप मात्र माना है और यह ठीक भी है, क्योंकि मनको विषयों से खींच चैतन्य में स्थिर करना ध्यान और ध्यान को भी भूल जाना समाधि है। यथा 'सर्वशरीरेषु चैतन्यैकतानता ध्यानम् ध्यान विस्मृतिः समाधिः' (मण्डलब्राह्मणोपनिषत् १)।

इस प्रकार ध्यान को भी भूल जाने से आत्मतत्व का दर्शन हो सकता है। जब तक वैसी स्थिति न हो तब तक ज्ञान का दम्भ करना व्यर्थ का प्रलाप ही है।

॥ हठयोग प्रदीपिका का चतुर्थ उपदेश समाप्त ॥

॥ हठयोग प्रदीपिका सम्पूर्ण ॥

T. P. H. Oriental Series No. 15

हठयोगप्रदीपिका

HAṬHA-YOGA-PRADĪPIKĀ

स्वात्मारामयोगीन्द्रविरचिता

ब्रह्मानन्दकृतज्योत्स्नाभिधया टीकया समलंकृता

PART II

THEOSOPHICAL PUBLISHING HOUSE
ADYAR, MADRAS, INDIA
1933

श्रीः

हठयोगप्रदीपिका

सटीका ।

प्रथमोपदेशः ।

श्रीगणेशाय नमः ।

गुरुं नत्वा शिवं साक्षाद्ब्रह्मानन्देन तन्यते ।
हठप्रदीपिकाज्योत्स्ना योगमार्गप्रकाशिका ॥ १ ॥
इदानींतनानां सुबोधार्थमस्याः
सु विज्ञाय गोरक्षसिद्धान्तहार्दम् ।
मया मेरुशास्त्रिप्रमुख्याभियोगा-
त्स्फुटं कथ्यतेऽत्यन्तगूढोऽपि भावः ॥ २ ॥

श्रीआदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै
येनोपदिष्टा हठयोगविद्या ।
विभ्राजते प्रोन्नतराजयोग-
मारोढुमिच्छोरधिरोहिणीव ॥ १ ॥

मुमुक्षुजनहितार्थं राजयोगद्वारा कैवल्यफलां हठप्रदीपिकां विधित्सुः परमकारुणिकः स्वात्मारामयोगीन्द्रस्तत्प्रत्यूहनिवृत्तये हठयोगप्रवर्तकश्रीमदादिनाथनमस्कारलक्षणं मङ्गलं तावदाचरति— श्रीआदिनाथायेत्यादिना । तस्मै श्रीआदिनाथाय नमोऽस्त्वित्यन्वयः । आदिश्चासौ नाथश्च आदिनाथः, सर्वेश्वरः शिव इत्यर्थः । श्रीमान् आदिनाथः तस्मै श्रीआदिनाथाय । श्रीशब्द आदिर्यस्य स श्रीआदिः, श्रीआदिश्चासौ नाथश्च श्रीआदिनाथः, तस्मै श्रीआदिनाथाय, श्रीनाथाय विष्णव इति वाऽर्थः । श्रीआदिनाथायेत्यत्र यणभावस्तु ‘ अपि माषं मषं कुर्याच्छन्दोभङ्गं त्यजेद्गिराम् ’ इति च्छन्दोविदां संप्रदायादुच्चारणसौष्ठवाच्चेति बोध्यम् । वस्तुतस्तु, असंहितपाठस्वीकारापेक्षया श्रीआदिनाथायेति पाठस्वीकारेऽप्रवृत्तनित्यविध्युद्देश्यतावच्छेदकानाक्रान्तत्वेन परिनिष्ठितत्वसंभवात् , संप्रत्युदाहृतदृष्टान्तद्वयस्यापीदृग्विषयवैषम्यात् , नित्यसाहित्यभङ्गजनितदोषस्य शाब्दिकाननुमतत्वाच्चासंमृष्टविधेयांशतारूपदोषस्य साहित्यकारैरुक्तत्वेऽपि क्वचित्तैरपि स्वीकृतत्वेन शाब्दिकाचार्यैरेकाजित्यादौ

कर्मधारयस्वीकारेण सर्वथाऽनादृतत्वाच्च लाघवातिशय इति सुधियो विभावयन्तु । नमः प्रह्वीभावोऽस्तु । प्रार्थनायां लोट् । तस्मै कस्मै इत्यपेक्षायामाह—येनेति । येन आदिनाथेन उपदिष्टा गिरिजायै हठयोगविद्या हश्च ठश्च हठौ सूर्यचन्द्रौ, तयोर्योगो हठयोगः । एतेन हठशब्दवाच्ययोः सूर्यचन्द्राख्ययोः प्राणापानयोरैक्यलक्षणः प्राणायामो हठयोग इति हठयोगस्य लक्षणं सिद्धम् । तथा चोक्तं गोरक्षनाथेन सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ—"हकारः कीर्तितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते । सूर्याचन्द्रमसोर्योगाद्धठयोगो निगद्यते ॥" इति । तत्प्रतिपादिका विद्या हठयोगविद्या, हठयोगशास्त्रमिति यावत् । गिरिजायै आदिनाथकृतो हठविद्योपदेशो महाकालयोगशास्त्रादौ प्रसिद्धः । प्रकर्षेण उन्नतः प्रोन्नतः । मन्त्रयोगहठयोगादीनामधरभूमीनामुत्तरभूमित्वाद्राजयोगस्य प्रोन्नतत्वम् । राजयोगश्च सर्ववृत्तिनिरोधलक्षणोऽसंप्रज्ञातयोगः । तमिच्छोर्मुमुक्षोरधिरोहिणीव, अधिरुह्यतेऽनयेत्यधिरोहिणी, निःश्रेणीव विभ्राजते विशेषेण भ्राजते शोभते । यथा प्रोन्नतसौधमारोढुमिच्छोरधिरोहिण्यनायासेन सौधप्रापिका भवति, एवं हठदीपिकाऽपि प्रोन्नतराजयोगमारोढुमिच्छोरनायासेन राजयोगप्रापिका भवतीति । उपमालंकारः । इन्द्रवज्राख्यं वृत्तम् ॥ १ ॥

प्रणम्य श्रीगुरुं नाथं स्वात्मारामेण योगिना ।
केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते ॥ २ ॥

एवं परमगुरुनमस्कारलक्षणं मङ्गलं कृत्वा विघ्नबाहुल्ये मङ्गलबाहुल्यस्याप्यपेक्षितत्वात्स्वगुरुनमस्कारात्मकं मङ्गलमाचरन्नस्य ग्रन्थस्य विषयप्रयोजनादीन्प्रदर्शयति— प्रणम्येति । श्रीमन्तं गुरुं श्रीगुरुं नाथं श्रीगुरुनाथम् , स्वगुरुमिति यावत् । प्रणम्य प्रकर्षेण भक्तिपूर्वकं नत्वा स्वात्मारामेण योगिना योगोऽस्यास्तीति तेन । केवलं राजयोगाय केवलं राजयोगार्थं हठविद्योपदिश्यत इत्यन्वयः । हठविद्याया राजयोग एव मुख्यं फलं न सिद्धय इति केवलपदस्याभिप्रायः । सिद्धयस्त्वानुषङ्गिक्यः । एतेन राजयोगफलसहितो हठयोगोऽस्य ग्रन्थस्य विषयः । राजयोगद्वारा कैवल्यं चास्य फलम् । तत्कामश्चाधिकारी । ग्रन्थविषययोः प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः संबन्धः । ग्रन्थस्य कैवल्यस्य च प्रयोज्यप्रयोजकभावः संबन्धः । ग्रन्थाभिधेयस्य सफलयोगस्य कैवल्यस्य च साध्यसाधनभावः संबन्ध इत्युक्तम् ॥ २ ॥

भ्रान्त्या बहुमतध्वान्ते राजयोगमजानताम् ।
हठप्रदीपिकां धत्ते स्वात्मारामः कृपाकरः ॥ ३ ॥

ननु मन्त्रयोगसगुणध्याननिर्गुणध्यानमुद्रादिभिरेव राजयोगसिद्धौ किं हठविद्योपदेशेनेत्याशङ्क्य व्युत्थितचित्तानां

मन्त्रयोगादिभिः राजयोगासिद्धेर्हठयोगादेव राजयोगसिद्धिं वदन् ग्रन्थं प्रतिजानीते—भ्रान्त्येति । मन्त्रयोगादिबहुमतरूपे ध्वान्ते गाढान्धकारे या भ्रान्तिर्भ्रमस्तया । तैस्तैरुपायै राजयोगार्थं प्रवृत्तस्य तत्र तत्र तदलाभात् । वक्ष्यति च— 'राजयोगं विना-' इत्यादिना । तथा राजयोगमजानतां न जानन्तीत्यजानन्तः तेषामजानतां पुंसाम्, राजयोगज्ञानमिति शेषः । करोतीति करः कृपायाः करः कृपाकरः कृपाया आकर इति वा तादृशः । अनेन हठप्रदीपिकाकरणे अज्ञानुकम्पैव हेतुरित्युक्तम् । स्वात्मन्यारमत इति स्वात्मारामः । हठस्य हठयोगस्य प्रदीपिकेव प्रकाशकत्वात् हठप्रदीपिका ताम् । अथ वा हठ एव प्रदीपिका राजयोगप्रकाशकत्वात्, तां धत्ते विधत्ते, करोतीति यावत् । स्वात्माराम इत्यनेन ज्ञानस्य सप्तमभूमिकां प्राप्तो ब्रह्मविद्वरिष्ठ इत्युक्तम् । तथा च श्रुतिः—'आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः' इति । सप्त भूमयश्चोक्ता योगवासिष्ठे—"ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता । विचारणा द्वितीया स्यात्तृतीया तनुमानसा ॥ सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका । परार्थाभाविनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता ॥" इति । अस्यार्थः—शुभेच्छा इत्याख्या यस्याः सा शुभेच्छाख्या । विवेकवैराग्ययुता शमादिपूर्विका तीव्र-

मुमुक्षा प्रथमा ज्ञानस्य भूमिः भूमिका उदाहृता कथिता, योगिभिरिति शेषः । १ । विचारणा श्रवणमननात्मिका द्वितीया ज्ञानभूमिः स्यात् । २ । अनेकार्थग्राहकं मनो यदाऽनेकार्थान्परित्यज्य सदेकार्थवृत्तिप्रवाहवद्भवति तदा तनु मानसं यस्यां सा तनुमानसा निदिध्यासनरूपा तृतीया ज्ञानभूमिः स्यादिति शेषः । ३ । इमास्तिस्रः साधन-भूमिकाः । आसु भूमिषु साधक इत्युच्यते । तिसृ-भिर्भूमिकाभिः शुद्धसत्त्वेऽन्तःकरणेऽहं ब्रह्मास्मीत्याकारिकाऽप-रोक्षवृत्तिरूपा सत्त्वापत्तिनामिका चतुर्थी ज्ञानभूमिः स्यात् । चतुर्थीयं फलभूमिः । अस्यां योगी ब्रह्मविदित्युच्यते । इयं संप्रज्ञातयोगभूमिका । ४ । वक्ष्यमाणास्तिस्रोऽसंप्रज्ञात-योगभूमयः । सत्त्वापत्तेरनन्तरा सत्त्वापत्तिसंज्ञिकायां भूमा-वुपस्थितासु सिद्धिषु असंसक्तस्यासंसक्तिनामिका पञ्चमी ज्ञानभूमिः स्यात् । अस्यां योगी स्वयमेव व्युत्तिष्ठते । एतां भूमिं प्राप्तो ब्रह्मविद्वर इत्युच्यते । ५ । परब्रह्मातिरि-क्तमर्थं न भावयति यस्यां सा परार्थाभाविनी षष्ठी ज्ञानभूमिः स्यात् । अस्यां योगी परप्रबोधित एव व्युत्थितो भवति । एतां प्राप्तो ब्रह्मविद्वरीयानित्युच्यते । ६ । तुर्यगा नाम सप्तमी भूमिः स्मृता । अस्यां योगी स्वतः परतो वा न व्युत्थानं प्राप्नोति । एतां प्राप्तो ब्रह्मविद्वरिष्ठ इत्युच्यते । ७ ।

तत्र प्रमाणभूता श्रुतिरत्रैवोक्ता। पूर्वमयमेव जीवन्मुक्त इत्युच्यते, स एवात्र स्वात्मारामपदेनोक्त इत्यलं बहूक्तेन ॥ ३ ॥

हठविद्यां हि मत्स्येन्द्रगोरक्षाद्या विजानते।
स्वात्मारामोऽथ वा योगी जानीते तत्प्रसादतः ॥४॥

महत्सेवितत्वाद्धठविद्यां प्रशंसन्स्वस्यापि महत्सकाशाद्धठविद्यालाभाद्गौरवं द्योतयति—हठविद्यां हीति। हीति प्रसिद्धम्। मत्स्येन्द्रश्च गोरक्षश्च तौ आद्यौ येषां ते मत्स्येन्द्रगोरक्षाद्याः। आद्यशब्देन जालंधरनाथभर्तृहरिगोपीचन्दप्रभृतयो ग्राह्याः। ते हठविद्यां हठयोगविद्यां विजानते विशेषेण साधनलक्षणभेदफलैर्जानन्तीत्यर्थः। स्वात्मारामः स्वात्मारामनामा। अथ वा शब्दसमुच्चये। योगी योगवान् तत्प्रसादतः गोरक्षप्रसादाज्जानीत इत्यन्वयः। परममहता ब्रह्मणाऽपीयं विद्या सेवितेत्यत्र योगियाज्ञवल्क्यस्मृतिः—'हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः' इति। वक्तृत्वं च मानसव्यापारपूर्वकं भवतीति मानसो व्यापारोऽर्थादागतः। तथा च श्रुतिः---'यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति' इति। भगवतेयं विद्या भागवतानुद्धवादीन्प्रत्युक्ता। शिवस्तु योगी प्रसिद्ध एव। एवं च सर्वोत्तमैर्ब्रह्मविष्णुशिवैः सेवितेयं विद्या। न च ब्रह्मसूत्रकृता व्यासेन योगी निराकृत इति

शङ्कनीयम् । प्रकृतिस्वातन्त्र्यविद्भिर्भेदांशमात्रस्य निराकरणात् । न तु भावनाविशेषरूपयोगस्य । भावनायाश्च सर्वसंमतत्वात्तां विना सुखस्याप्यसंभवात् । तथोक्तं भगवद्गीतासु—' नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना । न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ ' इति । नारायणतीर्थैरप्युक्तम्— " स्वातन्त्र्यसत्यत्वमुखं प्रधाने सत्यं च चिद्भेदगतं च वाक्यैः । व्यासो निराचष्ट न भावनाख्यं योगं स्वयं निर्मितब्रह्मसूत्रैः ॥ " इति । ' अपि चात्मप्रदं योगं व्याकरोन्मतिमान्स्वयम् । भाषादिषु ततस्तत्र आचार्यप्रमुखैर्मतः ॥ मतो योगो भगवता गीतायामधिकोऽन्यतः । कृतः शुकादिभिस्तस्मादत्र सन्तोऽतिसादराः ॥ ' इति । ' वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् । अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥ ' इति भगवदुक्तेः । किं बहुना ? ' जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ' इति वदता भगवता योगजिज्ञासोरप्यौत्कृष्ट्यं वर्णितं किमुत योगिनः । नारदादिभक्तश्रेष्ठैर्याज्ञवल्क्यादिज्ञानिमुख्यैश्चास्याः सेवनाद्भक्तज्ञानिनामप्यविरुद्धेत्युपरम्यते ॥ ४ ॥

श्रीआदिनाथमत्स्येन्द्रशाबरानन्दभैरवाः ।

हठयोगे प्रवृत्तिं जनयितुं हठविद्यया प्राप्तैश्वर्यान्सिद्धानाह— श्रीआदिनाथेत्यादिना । आदिनाथः शिवः सर्वेषां नाथानां प्रथमो नाथः । ततो नाथसंप्रदायः प्रवृत्त इति नाथसंप्रदायिनो वदन्ति । मत्स्येन्द्राख्यश्च आदिनाथशिष्यः । अत्रैवं किंवदन्ती— कदाचिदादिनाथः कस्मिंश्चिद् द्वीपे स्थितः तत्र विजनमिति मत्वा गिरिजायै योगमुपदिष्टवान् । तीरसमीपनीरस्थः कश्चन मत्स्यः तं योगोपदेशं श्रुत्वा एकाग्रचित्तो निश्चलकायोऽवतस्थे । तं तादृशं दृष्ट्वाऽनेन योगः श्रुत इति तं मत्वा कृपालुरादिनाथो जलेन प्रोक्षितवान् । स च प्रोक्षणमात्राद्दिव्यकायो मत्स्येन्द्रः सिद्धोऽभूत् । तमेव मत्स्येन्द्रनाथ इति वदन्ति । शाबरनामा कश्चित्सिद्धः, आनन्दभैरवनामाऽन्यः । एतेषामितरेतरद्वन्द्वः । छिन्नहस्तपादं पुमांसं हिन्दुस्थानभाषायां चौरङ्गीति वदन्ति । कदाचिदादिनाथाल्लब्धयोगस्य भुवं पर्यटतो मत्स्येन्द्रनाथस्य कृपावलोकनमात्रात्कुत्रचिदरण्ये स्थितश्चौरङ्गचङ्कुरितहस्तपादो बभूव । स च तत्कृपया संजातहस्तपादोऽहमिति मत्वा तत्पादयोः प्रणिपत्य ममानुग्रहं कुर्विति प्रार्थितवान् । मत्स्येन्द्रोऽपि तमनुगृहीतवान् । तस्यानुग्रहाच्चौरङ्गीति प्रसिद्धः सिद्धः सोऽभूत् । मीनो मीननाथः, गोरक्षो गोरक्ष-नाथः, विरूपाक्षनामा, बिलेशयनामा च । चौरङ्गीप्रभृतीनां द्वन्द्वसमासः ॥ ५ ॥

मन्थानो भैरवो योगी सिद्धिर्बुद्धश्च कन्थडिः ।
कोरण्टकः सुरानन्दः सिद्धपादश्च चर्पटिः ॥ ६ ॥

मन्थानः, भैरवः, योगीति मन्थानप्रभृतीनां सर्वेषां विशेषणम् ॥ ६ ॥

कानेरी पूज्यपादश्च नित्यनाथो निरञ्जनः ।
कपाली बिन्दुनाथश्च काकचण्डीश्वराह्वयः ॥ ७ ॥

काकचण्डीश्वर इत्याह्वयो नाम यस्य स तथा । अन्ये स्पष्टाः ॥ ७ ॥

अल्लमप्रभुदेवश्च घोडाचोली च टिण्टिणिः ।
भानुकी नारदेवश्च खण्डः कापालिकस्तथा ॥ ८ ॥

तथाशब्दः समुच्चये ॥ ८ ॥

इत्यादयो महासिद्धा हठयोगप्रभावतः ।
खण्डयित्वा कालदण्डं ब्रह्माण्डे विचरन्ति ते ॥ ९ ॥

इति पूर्वोक्ता आदयो येषां ते तथा । आदिशब्देन तारानाथादयो ग्राह्याः । महान्तश्च ते सिद्धाश्च अप्रतिहतैश्वर्या इत्यर्थः । हठयोगस्य प्रभावात्सामर्थ्यादिति हठयोगप्रभावतः । पञ्चम्यास्तसिल् । कालो मृत्युः तस्य दण्डनं

मृत्युं जित्वेत्यर्थः । ब्रह्माण्डमध्ये विचरन्ति विशेषेणाव्याहतगत्या चरन्तीत्यर्थः । तदुक्तं भागवते—'योगेश्वराणां गतिमाहुरन्तर्बहिस्त्रिलोक्याः पवनान्तरात्मनाम्' इति ॥ ९ ॥

अशेषतापतप्तानां समाश्रयमठो हठः ।
अशेषयोगयुक्तानामाधारकमठो हठः ॥ १० ॥

हठस्याशेषतापनाशकत्वमशेषयोगसाधकत्वं च मठकमठरूपकेणाह—अशेषेति । अशेषाः आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकभेदेन त्रिविधाः । तत्राध्यात्मिकं द्विविधं शारीरं मानसं च । तत्र शारीरं दुःखं व्याधिजम् । मानसं दुःखं कामादिजम् । आधिभौतिकं व्याघ्रसर्पादिजनितम् । आधिदैविकं ग्रहादिजनितम् । ते च ते तापाश्च तैस्तप्तानां संतप्तानां पुंसां हठो हठयोगः सम्यगाश्रीयत इति समाश्रयः आश्रयः आश्रयभूतो मठः मठ एव । तथा हठः अशेषयोगयुक्तानाम्, अशेषयोगयुक्ताः मन्त्रयोगकर्मयोगादियुक्तास्तेषामाधारभूतः कमठः । एवं त्रिविधतापतप्तानां पुंसामाश्रयो हठः । यथा च विश्वाधारः कमठः एवं निखिलयोगिनामाधारो हठ इत्यर्थः ॥ १० ॥

हठविद्या परं गोप्या योगिना सिद्धिमिच्छता ।
भवेद्वीर्यवती गुप्ता निर्वीर्या तु प्रकाशिता ॥ ११ ॥

अथाखिलविद्यापेक्षया हठविद्याया अतिगोप्यत्वमाह—हठविद्येति। सिद्धिमणिमाद्यैश्वर्यमिच्छता, यद्वा सिद्धिं कैवल्यसिद्धिमिच्छता वाञ्छता योगिना हठयोगविद्या परमत्यन्तं गोप्या गोपनीया गोपनार्हाऽस्तीति। तत्र हेतुमाह—यतो गुप्ता हठविद्या वीर्यवत्यप्रतिहतैश्वर्यजननसमर्था स्यात्। कैवल्यजननसमर्था कैवल्यसिद्धिजननसमर्था वा स्यात्। अथ योगाधिकारी। 'जिताक्षाय शान्ताय सक्ताय मुक्तौ विहीनाय दोषैरसक्ताय मुक्तौ। अहीनाय दोषेतरैरुक्तकर्त्रे प्रदेयो न देयो हठश्चेतरस्मै'। याज्ञवल्क्यः—'विध्युक्तकर्मसंयुक्तः कामसंकल्पवर्जितः। यमैश्च नियमैर्युक्तः सर्वसङ्गविवर्जितः'। 'कृतविद्यो जितक्रोधः सत्यधर्मपरायणः। गुरुशुश्रूषणरतः पितृमातृपरायणः। स्वाश्रमस्थः सदाचारो विद्वद्भिश्च सुशिक्षितः' इति। 'शिश्नोदररतायैव न देयं वेषधारिणे' इति कुत्रचित्। अत्र योगचिन्तामणिकाराः—यद्यपि 'ब्राह्मणक्षत्रियविशां स्त्रीशूद्राणां च पावनम्। शान्तये कर्मणामन्यद्योगान्नास्ति विमुक्तये ॥' इत्यादिपुराणवाक्येषु प्राणिमात्रस्य योगेऽधिकार उपलभ्यते, तथाऽपि मोक्षरूपकं फलं योगविरक्तस्यैव भवति। अतस्तस्यैव योगाधिकार उचितः। तथा च वायुसंहितायाम्—'दृष्टे तथाऽऽनुश्रविके विरक्तं विषये मनः। यस्य तस्याधि-

कारोऽस्मिन्योगे नान्यस्य कस्यचित्' । सुरेश्वराचार्याः— 'इहामुत्र विरक्तस्य संसारं प्रजिहासतः । जिज्ञासोरेव कस्यापि योगेऽस्मिन्नधिकारिता' इत्याहुः । वृद्धैरप्युक्तम्— 'नैतद्देयं दुर्विनीताय जातु ज्ञानं गुप्तं तद्धि सम्यक्फलाय । अस्थाने हि स्थाप्यमानैव वाचां देवी कोपान्निर्दहेन्नो चिराय ॥' इति ॥ ११ ॥

सुराज्ये धार्मिके देशे सुभिक्षे निरुपद्रवे ।
धनुःप्रमाणपर्यन्तं शिलाग्निजलवर्जिते ।
एकान्ते मठिकामध्ये स्थातव्यं हठयोगिना ॥ १२ ॥

अथ हठाभ्यासयोग्यं देशमाह सार्धेन—सुराज्य इति । राज्ञः कर्म भावो वा राज्यं तच्छोभनं यस्मिन्स सुराज्यस्तस्मिन्सुराज्ये । 'यथा राजा तथा प्रजाः' इति महदुक्तेः राज्ञः शोभनत्वात्प्रजानामपि शोभनत्वं सूचितम् । धार्मिके धर्मवति । अनेन हठाभ्यासिनोऽनुकूलाहारादिलाभः सूचितः । सुभिक्ष इत्यनेनानायासेन तल्लाभः सूचितः । निरुपद्रवे चौरव्याघ्राद्युपद्रवरहिते । एतेन देशस्य दीर्घकालवासयोग्यता सूचिता । धनुषः प्रमाणं धनुःप्रमाणं चतुर्हस्तमात्रं तत्पर्यन्तं शिलाग्निजलवर्जिते शिला प्रस्तरः अग्निर्वह्निः जलं तोयं तैर्वर्जिते रहिते । यत्रासनं ततश्चतुर्हस्तमात्रे शिलाग्निजलानि

न स्युरित्यर्थः। तेन शीतोष्णादिविकाराभावः सूचितः। एकान्ते विजने। अनेन जनसमागमाभावात्कलहाद्यभावः सूचितः। जनसंमर्दे तु कलहादिकं स्यादेव। तदुक्तं भागवते—'वासे बहूनां कलहो भवेद्वार्ता द्वयोरपि' इति। तादृशे मठिकामध्ये। अल्पो मठो मठिका। अल्पीयसि कन्। तस्या मध्ये हठयोगिना हठाभ्यासी योगी हठयोगी तेन। शाकपार्थिवादिवत्समासः। स्थातव्यं स्थातुं योग्यम्। मठिकामध्य इत्यनेन शीतातपादिजनितक्लेशाभावः सूचितः। अत्र 'युक्ताहारविहारेण हठयोगस्य सिद्धये' इत्यर्धं केनचित्क्षिप्तत्वान्न व्याख्यातम्, मूलश्लोकानामेव व्याख्यानात्। एवमग्रेऽपि ये मया न व्याख्याताः श्लोका हठप्रदीपिकाया-मुपलभ्येरंस्ते सर्वे क्षिप्ता इति बोद्धव्यम् ॥ १२ ॥

अल्पद्वारमरन्ध्रगर्तविवरं नात्युच्चनीचायतं
सम्यग्गोमयसान्द्रलिप्तममलं निःशेषजन्तूज्झितम्।
बाह्ये मण्डपवेदिकूपरुचिरं प्राकारसंवेष्टितं
प्रोक्तं योगमठस्य लक्षणमिदं सिद्धैर्हठाभ्यासिभिः॥

अथ मठलक्षणमाह—अल्पद्वारमिति। अल्पं द्वारं यस्मि-स्तत्तादृशम्। रन्ध्रो गवाक्षादिः गर्तो निम्नप्रदेशः विवरो मूषकादिबिलं ते न सन्ति यस्मिंस्तत्तादृशम्। अत्युच्चं

च तन्नीचं चात्युच्चनीचं तच्च तदायतं चात्युच्चनीचायतम् । 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' इत्यत्र बहुलग्रहणाद्विशेषणानां कर्मधारयः । ननूच्चनीचायतशब्दानां भिन्नार्थकानां कथं कर्मधारयः 'तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः' इति तल्लक्षणादिति चेन्न । मठे तेषां सामानाधिकरण्यासंभवात् । न चात्युच्चनीचायतं नात्युच्चनीचायतं नशब्देन समासान्नलोपाभावः, नेति पृथक्पदं वा । अत्युच्चे आरोहणे श्रमः स्यादतिनीचेऽवरोहणे श्रमो भवेत् । अत्यायते दूरं दृष्टिर्गच्छेत्तन्निराकरणार्थमुक्तं नात्युच्चनीचायतमिति । सम्यक्समीचीनतया गोमयेन गोपुरीषेण सान्द्रं यथा भवति तथा लिप्तम् । अमलं निर्मलं निःशेषा निखिला ये जन्तवो मशकमत्कुणाद्यास्तैरुज्झितं त्यक्तं रहितम् । बाह्ये मठाद्बहिःप्रदेशे मण्डपः शालाविशेषः, वेदिः परिष्कृता भूमिः, कूपो जलाशयविशेषः, तैः रुचिरं रमणीयम् । प्राकारेण वरणेन सम्यग्वेष्टितं परितो भित्तियुक्तमित्यर्थः । हठाभ्यासिभिः हठयोगाभ्यसनशीलैः सिद्धैः । इदं पूर्वोक्तमल्पद्वारादिकं योगमठस्य लक्षणं स्वरूपं प्रोक्तं कथितम् । नन्दिकेश्वरपुराणे त्वेवं मठलक्षणमुक्तम्—'मन्दिरं रम्यविन्यासं मनोज्ञं गन्धवासितम् । धूपामोदादिसुरभि कुसुमोत्करमण्डितम् ॥ मुनितीर्थनदीवृक्षपद्मिनीशैलशोभितम् । चित्रकर्मनिबद्धं च चित्रभेदविचित्रितम् ॥

कुर्याद्योगगृहं धीमान्सुरम्यं शुभवर्त्मना। दृष्ट्वा चित्रगताञ्शान्तान्मुनीन्याति मनः शमम् ॥ सिद्धान्दृष्ट्वा चित्रगतान्मतिरभ्युद्यमे भवेत्। मध्ये योगगृहस्याथ लिखेत्संसारमण्डलम् ॥ श्मशानं च महाघोरं नरकांश्च लिखेत्क्वचित्। तान्दृष्ट्वा भीषणाकारान्संसारे सारवर्जिते ॥ अनवसादो भवति योगी सिद्ध्यभिलाषुकः। पश्यंश्च व्याधिताञ्जन्तून्नतान्मत्तांश्चलद्व्रणाम्" ॥ १३ ॥

एवंविधे मठे स्थित्वा सर्वचिन्ताविवर्जितः।
गुरूपदिष्टमार्गेण योगमेव सदाऽभ्यसेत् ॥ १४ ॥

मठलक्षणमुक्त्वा मठे यत्कर्तव्यं तदाह—एवंविध इति। एवं पूर्वोक्ता विधा प्रकारो यस्य स तथा पूर्वोक्तलक्षण इत्यर्थः। तस्मिन् स्थित्वा स्थितिं कृत्वा सर्वा याश्चिन्तास्ताभिर्विशेषेण वर्जितो रहितोऽशेषचिन्तारहितः। गुरुणोपदिष्टो यो मार्गः हठाभ्यासप्रकाररूपस्तेन सदा नित्यं योगमेवाभ्यसेत्। एवशब्देनाभ्यासान्तरस्य योगे विघ्नकरत्वं सूचितम्। तदुक्तं योगभीजे—"मरुज्जयो यस्य सिद्धस्तं सेवेत गुरुं सदा। गुरुवक्त्रप्रसादेन कुर्यात्प्राणजयं बुधः"। राजयोगे—"वेदान्ततर्कोक्तिभिरागमैश्च नानाविधैः शास्त्रकदम्बकैश्च। ध्यानादिभिः सत्करणैर्न गम्यश्चिन्तामणिर्ह्येकगुरुं

विहाय" । स्कन्दपुराणे—"आचार्याद्योगसर्वस्वमवाप्य स्थिरधीः स्वयम् । यथोक्तं लभते तेन प्राप्नोत्यपि च निर्वृतिम्" ॥ सुरेश्वराचार्यः—"गुरुप्रसादाल्लभते योगमष्टाङ्गसंयुतम् । शिवप्रसादाल्लभते योगसिद्धिं च शाश्वतीम्" ॥ श्रुतिश्च—"यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥" इति, 'आचार्यवान्पुरुषो वेद' इति च ॥ १४ ॥

अत्याहारः प्रयासश्च प्रजल्पो नियमग्रहः ।
जनसङ्गश्च लौल्यं च षड्भिर्योगो विनश्यति ॥१५॥

अथ योगाभ्यासप्रतिबन्धकानाह—अत्याहार इति । अतिशयित आहारोऽत्याहारः, क्षुधापेक्षयाऽधिकभोजनम् । प्रयासः श्रमजननानुकूलो व्यापारः । प्रकृष्टो जल्पः प्रजल्पो बहुभाषणम् । शीतोदकेन प्रातःस्नाननक्तभोजनफलाहारादिरूपनियमस्य ग्रहणं नियमग्रहः । जनानां सङ्गो जनसङ्गः । कामादिजनकत्वात् । लोलस्य भावः लौल्यं चाञ्चल्यम् । षड्भिरत्याहारादिभिरभ्यासप्रतिबन्धात् योगो विनश्यति विशेषेण नश्यति ॥ १५ ॥

उत्साहात्साहसाद्धैर्यात्तत्त्वज्ञानाच्च निश्चयात् ।
जनसङ्गपरित्यागात्षड्भिर्योगः प्रसिध्यति ॥ १६ ॥

अथ योगसिद्धिकरानाह—उत्साहादिति। विषयप्रवणं चित्तं निरोत्स्याम्येवेत्युद्यम उत्साहः। साध्यत्वासाध्यत्वे अपरिभाव्य सहसा प्रवृत्तिः साहसम्। यावज्जीवनं सेत्स्यत्येवेत्यखेदो धैर्यम्। विषया मृगतृष्णाजलवदसन्तः ब्रह्मैव सत्यमिति वास्तविकं ज्ञानं तत्त्वज्ञानम्, योगानां वास्तविकं ज्ञानं वा। शास्त्रगुरुवाक्येषु विश्वासो निश्चयः श्रद्धेति यावत्। जनानां योगाभ्यासप्रतिकूलानां यः सङ्गस्तस्य परित्यागात्। षड्भिरेभिर्योगः प्रकर्षेणाविलम्बेन सिध्यतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

[अथ यमनियमाः—

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं क्षमा धृतिः।
दयाऽऽर्जवं मिताहारः शौचं चैव यमा दश ॥
तपः संतोष आस्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम्।
सिद्धान्तवाक्यश्रवणं ह्रीमती च तपो हुतम्।
नियमा दश संप्रोक्ता योगशास्त्रविशारदैः ॥]
हठस्य प्रथमाङ्गत्वादासनं पूर्वमुच्यते।
कुर्यात्तदासनं स्थैर्यमारोग्यं चाङ्गलाघवम् ॥ १७ ॥

आदावासनकथने संगतिं सामान्यतस्तत्फलं चाह—हठस्येति। हठस्य "आसनं कुम्भकं चित्रं मुद्राख्यं करणं तथा। अथ नादानुसंधानम्" इति वक्ष्यमाणानि चत्वार्यङ्गानि।

प्रत्याहारादिसमाध्यन्तानां नादानुसंधानेऽन्तर्भावः । तन्मध्ये आसनस्य प्रथमाङ्गत्वात्पूर्वमासनमुच्यत इति संबन्धः । तदासनं स्थैर्यं देहस्य मनसश्चाञ्चल्यरूपरजोधर्मनाशकत्वेन स्थिरतां कुर्यात् । 'आसनेन रजो हन्ति' इति वाक्यात् । आरोग्यं चित्तविक्षेपकरोगाभावः । रोगस्य चित्तविक्षेपकत्वमुक्तं पातञ्जलसूत्रे—'व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः' इति । अङ्गानां लाघवं लघुत्वम् । गौरवरूपतमोधर्मनाशकत्वमप्येतेनोक्तम् । चकारात्क्षुद्वृद्ध्यादिकमपि बोध्यम् ॥ १७ ॥

वसिष्ठाद्यैश्च मुनिभिर्मत्स्येन्द्राद्यैश्च योगिभिः ।
अङ्गीकृतान्यासनानि कथ्यन्ते कानिचिन्मया ॥१८॥

वसिष्ठादिसंमतासनमध्ये श्रेष्ठानि मयोच्यन्त इत्याह—वसिष्ठाद्यैरिति । वसिष्ठ आद्यो येषां याज्ञवल्क्यादीनां तैर्मुनिभिर्मननशीलैः । चकारान्मन्त्रादिपरैः । मत्स्येन्द्र आद्यो येषां जालंधरनाथादीनां तैः । योगिभिः हठाभ्यासिभिः । चकारान्मुद्रादिपरैः । अङ्गीकृतानि चतुरशीत्यासनानि तन्मध्ये कानिचित् श्रेष्ठानि मया कथ्यन्ते । यद्यप्युभयोरपि मननहठाभ्यासौ स्तस्तथाऽपि वसिष्ठादीनां मननं मुख्यं मत्स्येन्द्रादीनां हठाभ्यासो मुख्य इति पृथग्ग्रहणम् ॥ १८ ॥

जानूर्वोरन्तरे सम्यक् कृत्वा पादतले उभे ।
ऋजुकायः समासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते ॥ १९ ॥

तत्र सुकरत्वात्प्रथमं स्वस्तिकासनमाह—जानूर्वोरिति । जानु च ऊरुश्च । अत्र जानुशब्देन जानुसंनिहितो जङ्घाप्रदेशो ग्राह्यः । जङ्घोर्वोरिति पाठस्तु साधीयान् । तयोरन्तरे मध्ये उभे पादयोस्तले तलप्रदेशौ कृत्वा ऋजुकायः समकायः यत्र समासीनो भवेत्तदासनं स्वस्तिकं स्वस्तिकाख्यं प्रचक्षते वदन्ति, योगिन इति शेषः । श्रीधरेणोक्तम्—"ऊरुजङ्घान्तराधाय प्रपदे जानुमध्यगे । योगिनो यदवस्थानं स्वस्तिकं तद्विदुर्बुधाः" ॥ १९ ॥

सव्ये दक्षिणगुल्फं तु पृष्ठपार्श्वे नियोजयेत् ।
दक्षिणेऽपि तथा सव्यं गोमुखं गोमुखाकृति ॥२०॥

गोमुखासनमाह—सव्य इति । सव्ये वामे पृष्ठस्य पार्श्वे संप्रदायात्कटेरधोभागे दक्षिणं गुल्फं नितरां योजयेत् । गोमुखस्याकृतिर्यस्य तत्तादृशं गोमुखसंज्ञकमासनं भवेत् ॥२०॥

एकं पादं तथैकस्मिन्विन्यसेदूरुणि स्थितम् ।
इतरस्मिंस्तथा चोरुं वीरासनमितीरितम् ॥ २१ ॥

वीरासनमाह—एकमिति । एकं दक्षिणं पादम् । तथा पादपूरणे । एकस्मिन्वामोरुणि स्थितं विन्यसेत् । इतर-

स्मिन्वामे पादे ऊरुं दक्षिणं विन्यसेत् । तद्वीरासनमितीरितं कथितम् ॥ २१ ॥

गुदं निरुध्य गुल्फाभ्यां व्युत्क्रमेण समाहितः ।
कूर्मासनं भवेदेतदिति योगविदो विदुः ॥ २२ ॥

कूर्मासनमाह—गुदमिति । गुल्फाभ्यां गुदं निरुध्य नियम्य व्युत्क्रमेण यत्र सम्यगाहितः स्थितो भवेत् , एतत्कूर्मासनं भवेत् , इति योगविदो विदुरित्यन्वयः ॥ २२ ॥

पद्मासनं तु संस्थाप्य जानूर्वोरन्तरे करौ ।
निवेश्य भूमौ संस्थाप्य व्योमस्थं कुक्कुटासनम् ॥

कुक्कुटासनमाह—पद्मासनं त्विति । पद्मासनं तु ऊर्वोरुपरि उत्तानचरणस्थापनरूपं सम्यक् स्थापयित्वा । जानुपदेन जानुसंनिहितो जङ्घाप्रदेशः । तच्च ऊरुश्च जानूरू, तयोरन्तरे मध्ये करौ निवेश्य भूमौ संस्थाप्य । करावित्यत्रापि संबध्यते । व्योमस्थं खस्थं पद्मासनसदृशं यत्तत्कुक्कुटासनम् ॥ २३ ॥

कुक्कुटासनबन्धस्थो दोर्भ्यां संबध्य कंधराम् ।
भवेत्कूर्मवदुत्तान एतदुत्तानकूर्मकम् ॥ २४ ॥

उत्तानकूर्मासनमाह—कुक्कुटासनेति । कुक्कुटासनस्य यो बन्धः पूर्वश्लोकोक्तस्तस्मिन् स्थितः दोर्भ्यां बाहुभ्यां कंधरां

ग्रीवां संबध्य कूर्मवदुत्तानो यस्मिन्भवेदेतदासनमुत्तानकूर्मकं नाम ॥ २४ ॥

पादाङ्गुष्ठौ तु पाणिभ्यां गृहीत्वा श्रवणावधि ।
धनुराकर्षणं कुर्याद्धनुरासनमुच्यते ॥ २५ ॥

धनुरासनमाह—पादाङ्गुष्ठौ त्विति । पाणिभ्यां पादयोरङ्गुष्ठौ गृहीत्वा श्रवणावधि कर्णपर्यन्तं धनुष आकर्षणं यथा भवति तथा कुर्यात् । गृहीताङ्गुष्ठमेकं पाणिं प्रसारितं कृत्वा गृहीताङ्गुष्ठमितरं पाणिं कर्णपर्यन्तमाकुञ्चितं कुर्यादित्यर्थः । एतद्धनुरासनमुच्यते ॥ २५ ॥

वामोरुमूलार्पितदक्षपादं जानोर्बहिर्वेष्टितवामपादम् ।
प्रगृह्य तिष्ठेत्परिवर्तिताङ्गः श्रीमत्स्यनाथोदितमासनं स्यात् ॥

मत्स्येन्द्रासनमाह—वामोरुमूलेऽर्पितः स्थापितो यो दक्षपादः तं संप्रदायात्पृष्ठतोगतवामपाणिना गुल्फस्योपरिभागे परिगृह्य । जानोर्दक्षिणपादजानोर्बहिःप्रदेशे वेष्टितो यो वामपादस्तं वामपादजानोर्बहिर्वेष्टितदक्षिणपाणिनाऽङ्गुष्ठे प्रगृह्य । परिवर्तिताङ्गः वामभागेन पृष्ठतो मुखं यथा स्यादेवं परिवर्तितं परावर्तितमङ्गं येन स तथा तादृशो यत्र तिष्ठेत् स्थितिं कुर्यात्तदासनं मत्स्येन्द्रनाथेनोदितं कथितं स्यात् । तदुदि-

तत्वात्तन्नामकमेव वदन्ति । एवं दक्षोरुमूलार्पितवामपादं पृष्ठतोगतदक्षिणपाणिना प्रगृह्य वामजानोर्बहिर्वेष्टितदक्षपादं दक्षिणपादजानोर्बहिर्वेष्टितवामपाणिना प्रगृह्य दक्षभागेन पृष्ठतो मुखं यथा स्यादेवं परिवर्तिताङ्गश्चाभ्यसेत् ॥ २६ ॥

मत्स्येन्द्रपीठं जठरप्रदीप्तिं
प्रचण्डरुग्मण्डलखण्डनास्त्रम् ।
अभ्यासतः कुण्डलिनीप्रबोधं
चन्द्रस्थिरत्वं च ददाति पुंसाम् ॥ २७ ॥

मत्स्येन्द्रासनस्य फलमाह—मत्स्येन्द्रेति । प्रचण्डं दुःसहं रुजां रोगाणां मण्डलं समूहः तस्य खण्डने च्छेदनेऽस्त्रमस्त्रमिव तादृशं मत्स्येन्द्रपीठं मत्स्येन्द्रासनम् अभ्यासतः प्रत्यहमावर्तनरूपादभ्यासात् पुंसां जठरस्य जठराग्नेः प्रकृष्टां दीप्तिं वृद्धिं ददाति । तथा कुण्डलिन्या आधारशक्तेः प्रबोधं निद्राभावं तथा चन्द्रस्य तालुन उपरिभागे स्थितस्य नित्यं क्षरतः स्थिरत्वं क्षरणाभावं च ददातीत्यर्थः ॥ २७ ॥

प्रसार्य पादौ भुवि दण्डरूपौ
दोर्भ्यां पदाग्रद्वितयं गृहीत्वा ।
जानूपरि न्यस्तललाटदेशो
वसेदिदं पश्चिमतानमाहुः ॥ २८ ॥

पश्चिमतानासनमाह— प्रसार्येति । भुवि भूमौ दण्डस्य रूपमिव रूपं ययोस्तौ दण्डाकारौ श्लिष्टगुल्फौ प्रसार्य प्रसारितौ कृत्वा । दोर्भ्यामाकुञ्चिततर्जनीभ्यां भुजाभ्यां पदोः पदयोश्चाग्रेऽग्रभागौ तयोर्द्वितयं द्वयमङ्गुष्ठप्रदेशयुग्मं बलादाकर्षणपूर्वकं यथा जान्वधोभागस्य भूमेरुत्थानं न स्यात्तथा गृहीत्वा जानोरुपरि न्यस्तो ललाटदेशो येन तादृशो यत्र वसेत् इदं पश्चिमताननामकमासनमाहुः ॥ २८ ॥

इति पश्चिमतानमासनाग्र्यं
पवनं पश्चिमवाहिनं करोति ।
उदयं जठरानलस्य कुर्या-
दुदरे कार्श्यमरोगतां च पुंसाम् ॥ २९ ॥

अथ तत्फलम्—इतीति । इति पूर्वोक्तमासनेष्वग्र्यं मुख्यं पश्चिमतानं पवनं प्राणं पश्चिमवाहिनं पश्चिमेन पश्चिममार्गेण सुषुम्णामार्गेण वहतीति पश्चिमवाही तं तादृशं करोति । जठरानलस्य जठरे योऽनलोऽग्निस्तस्योदयं वृद्धिं कुर्यात् । उदरे मध्यप्रदेशे कार्श्यं कृशत्वं कुर्यात् । अरोगतामारोग्यं चकारान्नाडीवलनादिसाम्यं कुर्यात् ॥ २९ ॥

धरामवष्टभ्य करद्वयेन

उच्चासनो दण्डवदुत्थितः स्या-
न्मयूरमेतत्प्रवदन्ति पीठम् ॥ ३० ॥

अथ मयूरासनमाह—धरामिति । करद्वयेन करयोर्द्वयं युग्मं तेन धरां भूमिमवष्टभ्यावलम्ब्य, प्रसारिताङ्गुली भूमिसंलग्नतलौ संनिहितौ करौ कृत्वेत्यर्थः । तस्य करद्वयस्य कूर्परयोर्भुजमध्यसंधिभागयोः स्थापिते धृते नाभेः पार्श्वे पार्श्वभागौ येन स उच्चासन उच्चमुन्नतमासनं यस्यैतादृशः खे शून्ये दण्डवद्दण्डेन तुल्यमुत्थित ऊर्ध्वं स्थितो यत्र भवति तन्मायूरं मयूरस्येदं तत्संबन्धित्वात्तन्नामकं प्रवदन्ति । योगिन इति शेषः ॥ ३० ॥

हरति सकलरोगानाशु गुल्मोदरादी-
नभिभवति च दोषानासनं श्रीमयूरम् ।
बहु कदशनभुक्तं भस्म कुर्यादशेषं
जनयति जठराग्निं जारयेत्कालकूटम् ॥ ३१ ॥

मयूरासनगुणानाह—हरतीति । गुल्मो रोगविशेषः उदरं जलोदरं ते आदी येषां प्लीहादीनां ते तथा तान्सकलरोगान् सकला ये रोगास्तानाशु झटिति हरति नाशयति । श्रीमयूरमासनमिति सर्वत्र संबध्यते । दोषान्वातपित्तकफानालस्यदांश्चाभिभवति तिरस्करोति । बह्वतिशयितं कदशनं कदन्नं

यद्भुक्तं तदशेषं समस्तं भस्म कुर्यात्पाचयेदित्यर्थः । जठराग्निं जठरानलं जनयति प्रादुर्भावयति । कालकूटं विषम् । कालकूटशब्दः कालकूटवदपकारकान्नपरः । तं जारयेज्जीर्णं कुर्यात्पाचयेदित्यर्थः ॥ ३१ ॥

उत्तानं शववद्भूमौ शयनं तच्छवासनम् ।
शवासनं श्रान्तिहरं चित्तविश्रान्तिकारकम् ॥ ३२ ॥

शवासनमाहार्धेन—उत्तानमिति । शवेन मृतशरीरेण तुल्यं शववदुत्तानं भूमिसंलग्नं पृष्ठं यथा स्यात्तथा शयनं निद्रायामिव संनिवेशो यत्तच्छवासनं शवाख्यमासनम् । शवासनप्रयोजनमाह—उत्तरार्धेन । शवासनं श्रान्तिहरं श्रान्तिं हठाभ्यासश्रमं हरतीति श्रान्तिहरं चित्तस्य विश्रान्तिर्विश्रामस्तस्याः कारकम् ॥

चतुरशीत्यासनानि शिवेन कथितानि च ।
तेभ्यश्चतुष्कमादाय सारभूतं ब्रवीम्यहम् ॥ ३३ ॥

वक्ष्यमाणासनचतुष्टयस्य श्रेष्ठत्वं वदन्नाह—चतुरशीतीति । शिवेनेश्वरेण चतुरधिकाशीतिसंख्याकान्यासनानि कथितानि, चकाराच्चतुरशीतिलक्षाणि च । तदुक्तं गोरक्षनाथेन—"आसनानि च तावन्ति यावन्त्यो जीवजातयः । एतेषामखिलान्भेदान्विजानाति महेश्वरः ॥ चतुरशीतिलक्षाणि एकैकं समुदाहृतम् । ततः शिवेन पीठानां षोडशोनं शतं कृतम्" इति ॥

तेभ्यः शिवोक्तं चतुरशीतिलक्षासनानां मध्ये प्रशस्तानि यानि चतुरशीत्यासनानि तेभ्य आदाय गृहीत्वा सारभूतं श्रेष्ठभूतं चतुष्कमहं ब्रवीमीत्यन्वयः ॥ ३३ ॥

सिद्धं पद्मं तथा सिंहं भद्रं चेति चतुष्टयम् ।
श्रेष्ठं तत्रापि च सुखे तिष्ठेत्सिद्धासने सदा ॥ ३४ ॥

तदेव चतुष्कं नाम्ना निर्दिशति—सिद्धमिति । सिद्धं सिद्धासनम् । पद्मं पद्मासनम् । सिंहं सिंहासनम् । भद्रं भद्रासनम् । इति चतुष्टयं श्रेष्ठमतिशयेन प्रशस्यम्, तत्रापि चतुष्टये सुखे सुखकरे सिद्धासने सदा तिष्ठेत् । एतेन सिद्धासनं चतुष्टयेऽप्युत्कृष्टमिति सूचितम् ॥ ३४ ॥

तत्र सिद्धासनम्—

योनिस्थानकमङ्घ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसे-
न्मेढ्रे पादमथैकमेव हृदये कृत्वा हनुं सुस्थिरम् ।
स्थाणुः संयमितेन्द्रियोऽचलदृशा पश्येद् भ्रुवोरन्तरं
ह्येतन्मोक्षकपाटभेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते ॥३५॥

आसनचतुष्टयेऽप्युत्कृष्टत्वात्प्रथमं सिद्धासनमाह—योनिस्थानकमिति । योनिस्थानमेव योनिस्थानकम् । स्वार्थे कप्रत्ययः । गुदोपस्थयोर्मध्यमप्रदेशे पदं योनिस्थानं तत् ।

अङ्घ्रिर्वामश्चरणस्तस्य मूलेन पार्ष्णिभागेन घटितं संलग्नं कृत्वा। स्थानान्तरम् एकं पादं दक्षिणं पादं मेढ्रेन्द्रियस्योपरिभागे दृढं यथा स्यात्तथा विन्यसेत् हृदये हृदयसमीपे हनुं चिबुकं सुस्थिरं सम्यक् स्थिरं कृत्वा हनुहृदययोश्चतुरङ्गुलमन्तरं यथा भवति तथा कृत्वेति रहस्यम्। संयमितानि विषयेभ्यः परावृत्तानीन्द्रियाणि येन स तथा। अचला या दृक् दृष्टिस्तया भ्रुवोरन्तरं मध्यं पश्येत्। हि प्रसिद्धं मोक्षस्य यत्कपाटं प्रतिबन्धकं तस्य भेदं नाशं जनयतीति तादृशं सिद्धानां योगिनाम्। आस्तेऽत्रास्यतेऽनेनेति वा आसनं सिद्धासननामकमिदं भवेदित्यर्थः॥ ३५॥

मतान्तरे तु—

मेढ्रादुपरि विन्यस्य सव्यं गुल्फं तथोपरि।
गुल्फान्तरं च निक्षिप्य सिद्धासनमिदं भवेत्॥ ३६॥

मत्स्येन्द्रसंमतं सिद्धासनमुक्त्वाऽन्यसंमतं वक्तुमाह—मतान्तरे त्विति। तदेव दर्शयति—मेढ्रादिति। मेढ्रादुपस्थादुपर्यूर्ध्वभागे सव्यं वामगुल्फं विन्यस्य तथा सव्यवदुपरि मुख्यपादस्योपरि न तु सव्यगुल्फस्य। गुल्फान्तरं दक्षिणगुल्फं च निक्षिप्य वसेदिति शेषः। इदं सिद्धासनं मतान्तराभिमतमित्यभेद इत्यर्थः॥ ३६॥

एतत्सिद्धासनं प्राहुरन्ये वज्रासनं विदुः ।
मुक्तासनं वदन्त्येके प्राहुर्गुप्तासनं परे ॥ ३७ ॥

तत्र प्रथमं महासिद्धसंमतमिति स्पष्टीकर्तुमस्यैव मत-भेदान्नामभेदानाह—एतदिति । एतत्पूर्वोक्तं सिद्धासनं सिद्धासननामकं प्राहुः । केचिदित्यध्याहारः । अन्ये वज्रासनं वज्रासनसंज्ञकं विदुः जानन्ति । एके मुक्तासनं मुक्तासनाभिधं वदन्ति । परे गुप्तासनं गुप्तासनाख्यं प्राहुः । अत्रासनाभिज्ञाः । यत्र वामपादपार्ष्णिं योनिस्थाने नियोज्य दक्षिणपाद-पार्ष्णिर्मेढ्रादुपरि स्थाप्यते तत्सिद्धासनम् । यत्र वामपादपार्ष्णिं योनिस्थाने नियोज्य दक्षिणपादपार्ष्णिर्मेढ्रादुपरि स्थाप्यते तद्वज्रासनम् । यत्र तु दक्षिणसव्यपार्ष्णिद्वयमुपर्यधोभागेन संयोज्य योनिस्थानेन संयोज्यते तन्मुक्तासनम् । यत्र च पूर्ववत्संयुक्तं पार्ष्णिद्वयं मेढ्रादुपरि निधीयते तद्गुप्ता-सनमिति ॥ ३७ ॥

यमेष्विव मिताहारमहिंसां नियमेष्विव ।
मुख्यं सर्वासनेष्वेकं सिद्धाः सिद्धासनं विदुः ॥ ३८ ॥

अथ सप्तभिः श्लोकैः सिद्धासनं प्रशंसति—यमेष्वि-त्यादिभिः । यमेषु मिताहारमिव । मिताहारो वक्ष्यमाणः ‘सुस्निग्धमधुराहारः’ इत्यादिना । नियमेषु अहिंसामिव ।

सर्वाणि यान्यासनानि तेषु सिद्धाः एकं सिद्धासनं मुख्यं विदुरिति संबन्धः ॥ ३८ ॥

चतुरशीतिपीठेषु सिद्धमेव सदाऽभ्यसेत् ।
द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधनम् ॥ ३९ ॥

चतुरशीतीति । चतुरधिकाशीतिसंख्याकानि यानि पीठानि तेषु सिद्धमेव सिद्धासनमेव सदा सर्वदाऽभ्यसेत् । सिद्धासनस्य सदाऽभ्यासे हेतुगर्भं विशेषणं द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधनं शोधकम् ॥ ३९ ॥

आत्मध्यायी मिताहारी यावद्द्वादशवत्सरम् ।
सदा सिद्धासनाभ्यासाद्योगी निष्पत्तिमाप्नुयात् ॥४०॥

आत्मध्यायीति । आत्मानं ध्यायतीत्यात्मध्यायी मिताहारोऽस्यास्तीति मिताहारी यावन्तो द्वादश वत्सराः यावद्द्वादशवत्सरम् । 'यावदवधारणे' इत्यव्ययीभावः समासः । द्वादशवत्सरपर्यन्तमित्यर्थः । सदा सर्वदा सिद्धासनस्याभ्यासाद्योगी योगाभ्यासी निष्पत्तिं योगसिद्धिमाप्नुयात्प्राप्नुयात् । योगान्तराभ्यासमन्तरेण सिद्धासनाभ्यासमात्रेण सिद्धिं प्राप्नुयादित्यर्थः ॥ ४० ॥

किमन्यैर्बहुभिः पीठैः सिद्धे सिद्धासने सति ।
प्राणानिले सावधाने बद्धे केवलकुम्भके ॥ ४१ ॥

किमन्यैरिति । सिद्धासने सिद्धे सत्यन्यैर्बहुभिः पीठैरासनैः किम् ? न किमपीत्यर्थः । सावधाने प्राणानिले प्राणवायौ केवलकुम्भके बद्धे सति ॥ ४१ ॥

उत्पद्यते निरायासात्स्वयमेवोन्मनी कला ।
तथैकस्मिन्नेव दृढे बद्धे सिद्धासने सति ।
बन्धत्रयमनायासात्स्वयमेवोपजायते ॥ ४२ ॥

उन्मनी उन्मन्यवस्था । सा कलेवाह्लादकत्वाच्चन्द्रलेखेव निरायासादनायासात्स्वयमेवोत्पद्यत उदेति । तथेति । तथोक्तप्रकारेणैकस्मिन्नेव सिद्धासने दृढे बद्धे सति बन्धत्रयं मूलबन्धोड्डीयानबन्धजालंधरबन्धरूपम् अनासायात् 'पार्ष्णिमार्गेण संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम्' इत्यादिवक्ष्यमाणमूलबन्धादिष्वायासस्तं विनैव स्वयमेवोपजायते स्वत एवोत्पद्यत इत्यर्थः ॥ ४२ ॥

नासनं सिद्धसदृशं न कुम्भः केवलोपमः ।
न खेचरीसमा मुद्रा न नादसदृशो लयः ॥ ४३ ॥

नासनमिति । सिद्धेन सिद्धासनेन सदृशमासनं नास्तीति शेषः । केवलेन केवलकुम्भकेनोपमीयत इति केवलोपमः कुम्भः कुम्भको नास्ति । खेचरीमुद्रासमा मुद्रा नास्ति । नादसदृशो लयो लयहेतुर्नास्ति ॥ ४३ ॥

अथ पद्मासनम्—

वामोरूपरि दक्षिणं च चरणं संस्थाप्य वामं तथा
दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढम् ।
अङ्गुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकये-
देतद्व्याधिविनाशकारि यमिनां पद्मासनं प्रोच्यते ॥

अथासनं वक्तुमुपक्रमते—अथेति । पद्मासनमाह—वामोरूपरीति । वामो य ऊरुस्तस्योपरि दक्षिणम् । चकारः पादपूरणे । संस्थाप्य सम्यगुत्तानं स्थापयित्वा वामं सव्यं चरणं तथा दक्षिणचरणवद्दक्षो दक्षिणो य ऊरुस्तस्योपरि संस्थाप्य पश्चिमेन भागेन पृष्ठभागेनेति । विधिर्विधानं करयोरित्यर्थात् । तेन कराभ्यां हस्ताभ्यां दृढं यथा स्यात्तथा पादाङ्गुष्ठौ धृत्वा गृहीत्वा । दक्षिणं करं पृष्ठतः कृत्वा । वामोरुस्थितदक्षिणचरणाङ्गुष्ठं गृहीत्वा वामकरं पृष्ठतः कृत्वा । दक्षिणोरुस्थितवामचरणाङ्गुष्ठं गृहीत्वेत्यर्थः । हृदये हृदयसमीपे । सामीपिकाधारे सप्तमी । चिबुकं हनुं निधायोरसश्चतुरङ्गुलान्तरे चिबुकं निधायेति रहस्यम् । नासाग्रं नासिकाग्रमालोकयेत्पश्येद्यत्रैतद्यमिनां योगिनां व्याधेर्विनाशं करोतीति व्याधिविनाशकारि पद्मासनमेतन्नामकं प्रोच्यते । सिद्धैरिति शेषः ॥ ४४ ॥

मतान्तरे—

उत्तानौ चरणौ कृत्वा ऊरुसंस्थौ प्रयत्नतः ।
ऊरुमध्ये तथोत्तानौ पाणी कृत्वा ततो दृशौ ॥ ४५ ॥

मत्स्येन्द्रनाथाभिमतं पद्मासनमाह—उत्तानाविति । उत्तानौ ऊरुसंलग्नपृष्ठभागौ चरणौ पादौ प्रयत्नतः प्रकृष्टाद्यत्नादूरुसंस्थावूर्वोः सम्यक् तिष्ठत इत्यूरुसंस्थौ तादृशौ कृत्वा । ऊर्वोर्मध्ये ऊरुमध्ये । तथा चार्थे । पाणी करावुत्तानौ कृत्वा । ऊरुसंस्थोत्तानपादोभयपार्ष्णिसंलग्नपृष्ठं सव्यं पाणिमुत्तानं कृत्वा तदुपरि दक्षिणं पाणिं चोत्तानं कृत्वेत्यर्थः । ततस्तदनन्तरं दृशौ दृष्टी ॥ ४५ ॥

नासाग्रे विन्यसेद्राजदन्तमूले तु जिह्वया ।
उत्तम्भ्य चिबुकं वक्षस्युत्थाप्य पवनं शनैः ॥ ४६ ॥

नासाग्रे नासिकाग्रे विन्यसेद्विशेषेण निश्चलतया न्यसेदित्यर्थः । राजदन्तानां दंष्ट्राणां सव्यदक्षिणभागे स्थितानां मूले उभे मूलस्थाने जिह्वया उत्तम्भ्य ऊर्ध्वं स्तम्भयित्वा । गुरुमुखादवगन्तव्योऽयं जिह्वाबन्धः । चिबुकं वक्षसि निधायेति शेषः । शनैर्मन्दं मन्दं पवनं वायुमुत्थाप्य । अनेन मूलबन्धः प्रोक्तः । मूलबन्धोऽपि गुरुमुखादेवावगन्तव्यः । वस्तुतस्तु जिह्वाबन्धेनैवायं चरितार्थ इति हठरहस्यविदः ॥४६॥

इदं पद्मासनं प्रोक्तं सर्वव्याधिविनाशनम् ।
दुर्लभं येन केनापि धीमता लभ्यते भुवि ॥ ४७ ॥

एवं यत्रास्यते तदिदं पद्मासनं पद्मासनाभिधानं प्रोक्तम् । आसनज्ञैरिति शेषः । कीदृशम् ? सर्वेषां व्याधीनां विशेषेण नाशनं येनकेनापि भाग्यहीनेन दुर्लभम् । धीमता भुवि भूमौ लभ्यते प्राप्यते ॥ ४७ ॥

कृत्वा संपुटितौ करौ दृढतरं बद्ध्वा तु पद्मासनं
गाढं वक्षसि संनिधाय चिबुकं ध्यायंश्च तच्चेतसि ।
वारं वारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोत्सारयन्पूरितं
न्यञ्चन्प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्तिप्रभावान्नरः ॥४८॥

एतच्च महायोगिसंमतमिति स्पष्टयितुमन्यदपि पद्मासने कृत्यविशेषमाह—कृत्वेति । संपुटितौ संपुटीकृतौ करावुत्सङ्गस्थाविति शेषः । दृढतरमतिशयेन दृढं सुस्थिरं पद्मासनं बद्ध्वा कृत्वेत्यर्थः । चिबुकं हनुं गाढं दृढं यथा स्यात्तथा वक्षसि वक्षःसमीपे संनिधाय संनिहितं कृत्वा चतुरङ्गुलान्तरेणेति योगिसंप्रदायाज्ज्ञेयम् । जालंधरबन्धं कृत्वेत्यर्थः । तत्स्वस्वेष्टदेवतारूपं ब्रह्म वा, 'ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः' इति भगवदुक्तेः । चेतसि चित्ते ध्यायन् चिन्तयन् । अपानमनिलमपानवायुमूर्ध्वं प्रोत्सारयन्मूलबन्धं

कृत्वा सुषुम्णामार्गेण प्राणमूर्ध्वं नयन् पूरितं पूरकेण अन्तर्धारितं प्राणं न्यञ्चन्नीचैरधोऽञ्चन् गमयन् । अन्तर्भावितण्यर्थोऽञ्चतिः । प्राणापानयोरैक्यं कृत्वेत्यर्थः । नरः पुमानतुलं बोधं निरुपमज्ञानं शक्तिप्रभावाच्छक्तिराधारशक्तिः कुण्डलिनी तस्याः प्रभावात्सामर्थ्यादुपैति प्राप्नोति । प्राणापानयोरैक्ये कुण्डलिनीबोधो भवति । कुण्डलिनीबोधे सुषुम्णामार्गेण प्राणो ब्रह्मरन्ध्रं गच्छति । तत्र गते चित्तस्थैर्यं भवति । चित्तस्थैर्ये संयमादात्मसाक्षात्कारो भवतीत्यर्थः ॥ ४८ ॥

पद्मासने स्थितो योगी नाडीद्वारेण पूरितम् ।
मारुतं धारयेद्यस्तु स मुक्तो नात्र संशयः ॥ ४९ ॥

पद्मासन इति । पद्मासने स्थितो यो योगी योगाभ्यासी पूरितं पूरकेणान्तर्नीतं मारुतं वायुम्, सुषुम्णामार्गेण मूर्धानं नीत्वेति शेषः । धारयेत्स्थिरीकुर्यात्स मुक्तः, अत्र संशयो नास्तीत्यन्वयः ॥ ४९ ॥

अथ सिंहासनम्—

गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् ।
दक्षिणे सव्यगुल्फं तु दक्षगुल्फं तु सव्यके ॥ ५० ॥

सिंहासनमाह—गुल्फौ चेति । वृषणस्याधः अधोभागे सीवन्याः पार्श्वयोः सीवन्या उभयभागयोः क्षिपेत्प्रेरयेत्, स्था-

पयेदिति यावत् । गुल्फस्थापनप्रकारमेवाह—दक्षिण इति । सीवन्या दक्षिणे भागे सव्यगुल्फं स्थापयेत् । सव्यके सीवन्याः सव्यभागे दक्षिणगुल्फं स्थापयेत् ॥ ५० ॥

हस्तौ तु जान्वोः संस्थाप्य स्वाङ्गुलीः संप्रसार्य च ।
व्यात्तवक्त्रो निरीक्षेत नासाग्रं सुसमाहितः ॥ ५१ ॥

हस्ताविति । जान्वोरुपरि हस्तौ तु संस्थाप्य सम्यग् जानुसंलग्नतलौ यथा स्यातां तथा स्थापयित्वा । स्वाङ्गुलीः हस्ताङ्गुलीः संप्रसार्य सम्यक् प्रसार्य व्यात्तवक्त्रः संप्रसारितलल्जिह्वमुखः सुसमाहितः एकाग्रचित्तः नासाग्रं नासिकाग्रं यस्मिन्निरीक्षेत ॥ ५१ ॥

सिंहासनं भवेदेतत्पूजितं योगिपुंगवैः ।
बन्धत्रितयसंधानं कुरुते चासनोत्तमम् ॥ ५२ ॥

एतत्सिंहासनं भवेत् । कीदृशम्? योगिपुंगवैः योगिश्रेष्ठैः पूजितं प्रस्तुतमासनेषूत्तमं सिंहासनं बन्धानां मूलबन्धादीनां त्रितयं तस्य संधानं संनिधानं कुरुते ॥ ५२ ॥

अथ भद्रासनम्—

गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् ।
सव्यगुल्फं तथा सव्ये दक्षगुल्फं तु दक्षिणे ॥ ५३ ॥

भद्रासनमाह—

गुल्फाविति । वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः सीवन्या उभयतः गुल्फौ पादग्रन्थी क्षिपेत् । क्षेपणप्रकारमेवाह—सव्यगुल्फमिति । सव्ये सीवन्याः पार्श्वे सव्यगुल्फं क्षिपेत् । तथा पादपूरणे । दक्षगुल्फं तु दक्षिणे सीवन्याः पार्श्वे क्षिपेत् ॥ ५३ ॥

पार्श्वपादौ च पाणिभ्यां दृढं बद्ध्वा सुनिश्चलम् ।
भद्रासनं भवेदेतत्सर्वव्याधिविनाशनम् ॥ ५४ ॥

पार्श्वपादौ च पार्श्वसमीपगतौ पादौ पाणिभ्यां भुजाभ्यां दृढं बद्ध्वा । परस्परसंलग्नाङ्गुलिभ्यामुदरसंलग्नतलाभ्यां पाणिभ्यां बद्ध्वेत्यर्थः । एतद्भद्रासनं भवेत् । कीदृशम्? सर्वेषां व्याधीनां विशेषेण नाशनम् ॥ ५४ ॥

गोरक्षासनमित्याहुरिदं वै सिद्धयोगिनः ।
एवमासनबन्धेषु योगीन्द्रो विगतश्रमः ॥ ५५ ॥

गोरक्षेति । सिद्धाश्च ते योगिनश्च सिद्धयोगिनः इदं भद्रासनं गोरक्षासनमित्याहुः । गोरक्षेण प्रायशोऽभ्यस्तत्वाद्गोरक्षासनमिति वदन्ति । आसनान्युक्तानि । तेषु यत्कर्तव्यं तदाह—एवमिति । एवमुक्तेष्वासनबन्धेषु बन्धनप्रकारेषु विगतः

श्रमो यस्य स विगतश्रम आसनानां बन्धेषु श्रमरहितः। योगिनामिन्द्रो योगीन्द्रः ॥ ५५ ॥

अभ्यसेन्नाडिकाशुद्धिं मुद्रादिपवनक्रियाम्।
आसनं कुम्भकं चित्रं मुद्राख्यं करणं तथा ॥ ५६ ॥

नाडिकानां नाडीनां शुद्धिम्। 'प्राणं चेदिडया पिबेन्नियमितम्' इति वक्ष्यमाणरूपा मुद्रा आदिर्यस्याः सूर्यभेदादेस्तादृशीम्। पवनस्य प्राणवायोः क्रियां प्राणायामरूपां चाभ्यसेत्। अथ हठाभ्यसनक्रममाह—आसनमिति। आसनमुक्तलक्षणं चित्रं नानाविधं कुम्भकम् 'सूर्यभेदनमुज्जायी' इत्यादि वक्ष्यमाणम्। मुद्रा इत्याख्या यस्य तन्मुद्राख्यम्। महामुद्रादिरूपं करणं हठसिद्धौ प्रकृष्टोपकारकम्। तथा चार्थे ॥ ५६ ॥

अथ नादानुसंधानमभ्यासानुक्रमो हठे।
ब्रह्मचारी मिताहारी त्यागी योगपरायणः।
अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्र कार्या विचारणा ॥ ५७ ॥

अथैतत्त्रयानुष्ठानानन्तरं नादस्यानाहतध्वनेरनुसंधानमनुचिन्तनं हठे हठयोगेऽभ्यासोऽभ्यसनं तस्यानुक्रमः पौर्वापर्यक्रमः। हठसिद्धेरवधिमाह—ब्रह्मचारीति। ब्रह्मचर्यवान् मिताहारो वक्ष्यमाणः सोऽस्यास्तीति मिताहारी त्यागी

दानशीलो विषयपरित्यागी वा योगपरायणः योगाभ्यसनपरः । अब्दाद्वर्षादूर्ध्वं सिद्धः सिद्धहठो भवेत् । अत्रोक्तेऽर्थे विचारणा स्यान्न वेति संशयप्रयुक्ता न कार्या । एतन्निश्चितमेवेत्यर्थः ॥ ५७ ॥

सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांशविवर्जितः ।
भुज्यते शिवसंप्रीत्यै मिताहारः स उच्यते ॥ ५८ ॥

पूर्वश्लोके मिताहारीत्युक्तं तत्र योगिनां कीदृशो मिताहार इत्यपेक्षायामाह—सुस्निग्धेति । सुस्निग्धोऽतिस्निग्धः स चासौ मधुरश्च तादृश आहारश्चतुर्थांशविवर्जितश्चतुर्थभागरहितः । तदुक्तमभियुक्तैः—"द्वौ भागौ पूरयेदन्नैस्तोयेनैकं प्रपूरयेत् । वायोः संचरणार्थाय चतुर्थमवशेषयेत् ॥" इति । शिवो जीवः ईश्वरो वा, 'भोक्ता देवो महेश्वरः' इति वचनात् । तस्य संप्रीत्यै सम्यक्प्रीत्यर्थं यो भुज्यते स मिताहार इत्युच्यते ॥ ५८ ॥

कट्वम्लतीक्ष्णलवणोष्णहरीतशाक-
सौवीरतैलतिलसर्षपमद्यमत्स्यान् ।
आजादिमांसदधितक्रकुलत्थकोल-
पिण्याकहिङ्गुलशुनाद्यमपथ्यमाहुः ॥ ५९ ॥

अथ योगिनामपथ्यमाह द्वाभ्याम्—कट्विति। कटु कारवेल्ल इत्यादि, अम्लं चिञ्चाफलादि, तीक्ष्णं मरीचादि, लवणं प्रसिद्धम्, उष्णं गुडादि, हरीतशाकं पत्रशाकम्, सौवीरं काञ्जिकम्, तैलं तिलसर्षपादिस्नेहः, तिलाः प्रसिद्धाः, सर्षपाः सिद्धार्थाः, मद्यं सुरा, मत्स्यो झषः। एषामितरेतरद्वन्द्वः। एतानपथ्यानाहुः। अजस्येदमाजं तदादिर्यस्य सौकरादेस्तदाजादि तच्च तन्मांसं चाजादिमांसम्, दधि दुग्धपरिणामविशेषः, तक्रं गृहीतसारं दधि, कुलत्थो द्विदलविशेषः, कोलं कोल्याः फलं बदरम्। 'कर्कन्धूर्बदरी कोलिः' इत्यमरः। पिण्याकं तिलपिण्डम्, हिङ्गु रामठम्, लशुनम्। एषामितरेतरद्वन्द्वः। एतान्याद्यानि यस्य तत्तथा। आद्यशब्देन पलाण्डुगृञ्जनमादकद्रव्यमाषान्नादिकं ग्राह्यम्। अपथ्यमहितम्। योगिनामिति शेषः। आहुर्योगिन इत्यध्याहारः॥ ५९ ॥

भोजनमहितं विद्यात्पुनरस्योष्णीकृतं रूक्षम्।
अतिलवणमम्लयुक्तं कदशनशाकोत्कटं वर्ज्यम्॥ ६०॥

भोजनमिति। पश्चादग्निसंयोगेनोष्णीकृतं यद्भोजनं सूपौदनरोटिकादि रूक्षं घृतादिहीनम् अतिशयितं लवणं यस्मिंस्तदतिलवणं यद्वा लवणमतिक्रान्तमतिलवणं चाकूवा इति लोके प्रसिद्धं शाकं यवक्षारादिकं च। लवणस्य सर्वथा वर्जनी-

यत्वादुत्तरपक्षः साधुः । तथा च दत्तात्रेयः—"अथ वर्ज्यानि वक्ष्यामि योगविघ्नकराणि च । लवणं सर्षपं चाम्लमुग्रं तीक्ष्णं च रूक्षकम् । अतीव भोजनं त्याज्यमतिनिद्राऽतिभाषणम् ॥" इति ॥ स्कन्दपुराणेऽपि—"त्यजेत्कट्वम्ललवणं क्षीरभोजी सदा भवेत्" इति । अम्लयुक्तमम्लद्रव्येण युक्तमपि त्याज्यं किमुत साक्षादम्लम् । अत्र तृतीयपादम् 'पललं वा तिलपिण्डम्' इति केचित्पठन्ति । तस्यायमर्थः—पललं मांसं तिलपिण्डं पिण्याकं कदशनं कदन्नं यावनालकोद्रवादि शाकं विहितेतरशाकमात्रम् उत्कटं विदाहि मिरचीति लोके प्रसिद्धम् । मिरचा इति हिन्दुस्थानभाषायाम् । कदशनादीनां समाहारद्वन्द्वः । अतिलवणादिकं वर्ज्यं वर्जनार्हम् । दुष्टमिति पाठे दुष्टं पूतिपर्युषितादि । अहितमिति योजनीयम् ॥ ६० ॥

वह्निस्त्रीपथिसेवानामादौ वर्जनमाचरेत् ।

तथा हि गोरक्षवचनम्—

वर्जयेद् दुर्जनप्रान्तं वह्निस्त्रीपथिसेवनम् ।
प्रातःस्नानोपवासादि कायक्लेशविधिं तथा ॥ ६१ ॥

एवं योगिनां सदा वर्ज्यान्युक्त्वाऽभ्यासकाले वर्ज्यान्याहार्धेन—वह्नीति । वह्निश्च स्त्री च पन्थाश्च तेषां सेवा वह्निसेवनस्त्रीसङ्गतीर्थयात्रागमनादिरूपास्तासां वर्जनमादावभ्यास-

काल आचरेत्। सिद्धेऽभ्यासे तु कदाचित्। शीते वह्निसेवनं गृहस्थस्य ऋतौ स्वभार्यागमनं तीर्थयात्रादौ मार्गगमनं च न निषिद्धमित्यादिपदेन सूच्यते। तत्र प्रमाणं गोरक्षवचनमवतारयति—तथा हीति। तत्पठति—वर्जयेदिति। दुर्जनप्रान्तं दुर्जनसमीपवासम्। 'दुर्जनप्रीतिम्' इति क्वचित्पाठः। वह्निस्त्रीपथिसेवनं व्याख्यातम्, प्रातःस्नानमुपवासश्चादिर्यस्य फलाहारादेः तच्च तयोः समाहारद्वन्द्वः। प्रथमाभ्यासिनः प्रातःस्नाने शीतविकारोत्पत्तेः, उपवासादिना पित्ताद्युत्पत्तेः। कायक्लेशविधिं कायक्लेशकरं विधिं क्रियां बहुसूर्यनमस्कारादिरूपां बहुभारोद्वहनादिरूपां च। तथा समुच्चये। अत्र प्रतिपदं वर्जयेदिति क्रियासंबन्धः॥ ६१॥

गोधूमशालियवषाष्टिकशोभनान्नं
क्षीराज्यखण्डनवनीतसितामधूनि।
शुण्ठीपटोलकफलादिकपञ्चशाकं
मुद्गादिदिव्यमुदकं च यमीन्द्रपथ्यम्॥ ६२॥

अथ योगिपथ्यमाह—गोधूमेत्यादिना। गोधूमाश्च शालयश्च यवाश्च षाष्टिकाः षष्ट्या दिनैर्ये पच्यन्ते तन्दुलविशेषास्ते शोभनमन्नं पवित्रान्नं श्यामाकनीवारादि तच्चैतेषां समाहारद्वन्द्वः। क्षीरं दुग्धमाज्यं घृतं खण्डः शर्करा नवनीतं मथितदधिसारः सिता तीव्रपदी खण्डशर्करेति लोके प्रसिद्धा,

मिसरीति हिन्दुस्थानभाषायाम्। मधु क्षौद्रम्, एषामितरेतरद्वन्द्वः। शुण्ठी प्रसिद्धा पटोलकफलं परवर इति भाषायां प्रसिद्धं शाकं तदादिर्यस्य कोशातक्यादेस्तत्पटोलकफलादिकम्। 'शेषाद्विभाषा' इति कप्रत्ययः। पञ्चानां शाकानां समाहारः पञ्चशाकम्। तदुक्तं वैद्यके—"सर्वशाकमचाक्षुष्यं चाक्षुष्यं शाकपञ्चकम्। जीवन्तीवास्तुमूल्याक्षी मेघनादपुनर्नवा॥" इति। मुद्गा द्विदलविशेषा आदिर्यस्य तन्मुद्गादि। आदिपदेन आढकी ग्राह्या। दिव्यं निर्दोषमुदकं जलम्। यम एषामस्तीति यमिनः तेष्विन्द्रो देवश्रेष्ठो यो योगीन्द्रस्तस्य पथ्यं हितम्॥ ६२॥

पुष्टं सुमधुरं स्निग्धं गव्यं धातुप्रपोषणम्।
मनोभिलषितं योग्यं योगी भोजनमाचरेत्॥ ६३॥

अथ योगिनो भोजननियममाह—पुष्टमिति। पुष्टं देहपुष्टिकरमोदनादि सुमधुरं शर्करादिसहितं स्निग्धं सघृतं गव्यं गोदुग्धघृतादियुक्तं गव्यालाभे माहिषं दुग्धादि ग्राह्यम्। धातुप्रपोषणं लड्डुकापूपादि। मनोभिलषितं पुष्टादिषु यन्मनोरुचिकरं तदेव योगिना भोक्तव्यम्। मनोभिलषितमपि किमविहितं भोक्तव्यं नेत्याह—योग्यमिति। विहितमेवेत्यर्थः। योगी भोजनं पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टमाचरेत्कुर्यादित्यर्थः। न तु सक्तुभर्जितान्नादिना निर्वाहं कुर्यादिति भावः॥ ६३॥

युवा वृद्धोऽतिवृद्धो वा व्याधितो दुर्बलोऽपि वा ।
अभ्यासात्सिद्धिमाप्नोति सर्वयोगेष्वतन्द्रितः ॥६४॥

योगाभ्यासिनो वयोविशेषारोग्याद्यपेक्षा नास्तीत्याह—युवेति । युवा तरुणः वृद्धो वृद्धावस्थां प्राप्तः अतिवृद्धोऽतिवार्द्धकं गतो वा । अभ्यासादासनकुम्भकादीनामभ्यसनात्सिद्धिं समाधितत्फलरूपामाप्नोति । अभ्यासप्रकारमेव वदन्विशिनष्टि—सर्वयोगेष्विति । सर्वेषु योगेषु योगाङ्गेष्वतन्द्रितोऽनलसः । योगाङ्गाभ्यासात्सिद्धिमाप्नोतीत्यर्थः । जीवनसाधने कृषिवाणिज्यादौ जीवनशब्दप्रयोगवत्साक्षात्परम्परया वा योगसाधनेषु योगाङ्गेषु योगशब्दप्रयोगः ॥ ६४ ॥

क्रियायुक्तस्य सिद्धिः स्यादक्रियस्य कथं भवेत् ।
न शास्त्रपाठमात्रेण योगसिद्धिः प्रजायते ॥ ६५ ॥

अभ्यासादेव सिद्धिर्भवतीति द्रढयन्नाह द्वाभ्याम्—क्रियायुक्तस्येति । क्रिया योगाङ्गानुष्ठानरूपा तया युक्तस्य सिद्धिर्योगसिद्धिः स्यात् । अक्रियस्य योगाङ्गानुष्ठानरहितस्य कथं भवेन्न कथमपीत्यर्थः । ननु योगशास्त्राध्ययनेन योगसिद्धिः स्यान्नेत्याह—नेति । शास्त्रस्य योगशास्त्रस्य पाठमात्रेण केवलेन पाठेन योगस्य सिद्धिर्न प्रजायते नैव जायत इत्यर्थः ॥ ६५ ॥

न वेषधारणं सिद्धेः कारणं न च तत्कथा ।
क्रियैव कारणं सिद्धेः सत्यमेतन्न संशयः ॥ ६६ ॥

नेति । वेषस्य काषायवस्त्रादेः धारणं सिद्धेर्योगसिद्धेः कारणं न । तस्य योगस्य कथा वा कारणं न । किं तर्हि सिद्धेः कारणमित्यत आह—क्रियैवेति ॥ ६६ ॥

पीठानि कुम्भकाश्चित्रा दिव्यानि करणानि च ।
सर्वाण्यपि हठाभ्यासे राजयोगफलावधि ॥ ६७ ॥

योगाङ्गानुष्ठानस्यावधिमाह—पीठानीति । पीठान्यासनानि चित्रा अनेकविधाः कुम्भकाः सूर्यभेदादयः दिव्यान्युत्कृष्टानि करणानि महामुद्रादीनि । हठसिद्धौ प्रकृष्टोपकारकत्वं करणत्वम् । हठाभ्यासे सर्वाणि पीठकुम्भककरणानि राजयोगफलावधि राजयोग एव फलं तदवधि तत्पर्यन्तं कर्तव्यानीति शेषः ॥ ६७ ॥

इति श्रीसहजानन्दसंतानचिन्तामणिस्वात्मारामयोगीन्द्रविरचितायां हठप्रदीपिकायामासनविधिकथनं नाम प्रथमोपदेशः ।

इति श्रीहठप्रदीपिकायां ज्योत्स्नाभिधायां ब्रह्मानन्दकृतायां प्रथमोपदेशः ।

द्वितीयोपदेशः ।

अथासने दृढे योगी वशी हितमिताशनः ।
गुरूपदिष्टमार्गेण प्राणायामान्समभ्यसेत् ॥ १ ॥

अथासनोपदेशानन्तरं प्राणायामान्वक्तुमुपक्रमते—अथेति । अथेति मङ्गलार्थः । आसने दृढे सति वशी जिताक्षः हितं पथ्यं च तन्मितं च पूर्वोपदेशोक्तलक्षणं तत्तादृशमशनं यस्य स हितमिताशनः गुरुणोपदिष्टो यो मार्गः प्राणायामाभ्यासप्रकारस्तेन प्राणायामान् वक्ष्यमाणान्सम्यगुत्साहसाहसधैर्यादिभिरभ्यसेत् । दृढे स्थिरे कुक्कुटादिविवर्जिते सिद्धासनादाविति वा योजना ॥ १ ॥

चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत् ।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत् ॥ २ ॥

'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते' इति महदुक्तेः प्रयोजनाभावे प्रवृत्त्यभावात्प्राणायामप्रयोजनमाह—चले वात इति । वाते चले सति चित्तं चलं भवेत्, निश्चले वाते

निश्चलं भवेत्, चित्तमित्यत्रापि संबध्यते। वाते चित्ते च निश्चले योगी स्थाणुत्वं स्थिरदीर्घजीवित्वमिति यावत्। ईशत्वं वाऽऽप्नोति। ततस्तस्माद्वायुं प्राणं निरोधयेत्कुम्भयेत् ॥ २ ॥

यावद्वायुः स्थितो देहे तावज्जीवनमुच्यते।
मरणं तस्य निष्क्रान्तिस्ततो वायुं निरोधयेत् ॥ ३ ॥

यावदिति। देहे शरीरे यावत्कालं वायुः प्राणः स्थितः तावत्कालपर्यन्तं जीवनमुच्यते लोकैः, देहप्राणसंयोगस्यैव जीवनपदार्थत्वात्। तस्य प्राणस्य निष्क्रान्तिर्देहाद्वियोगो मरणमुच्यते। ततस्तस्माद्वायुं निरोधयेत् ॥ ३ ॥

मलाकुलासु नाडीषु मारुतो नैव मध्यगः।
कथं स्यादुन्मनीभावः कार्यसिद्धिः कथं भवेत् ॥ ४ ॥

मलशुद्धेर्हठसिद्धिजनकत्वं व्यतिरेकेणाह—मलाकुलास्विति। नाडीषु मलैराकुलासु व्याप्तासु सतीषु मारुतः प्राणो मध्यगः सुषुम्णामार्गवाही नैव स्यात्। अपि तु शुद्धमलास्वेव मध्यगो भवतीत्यर्थः। उन्मनीभाव उन्मन्या भावो भवनं कथं स्यान्न कथमपीत्यर्थः। कार्यस्य कैवल्यरूपस्य सिद्धिर्निष्पत्तिः कथं भवेन्न कथंचिदपीत्यर्थः ॥ ४ ॥

शुद्धिमेति यदा सर्वं नाडीचक्रं मलाकुलम्।
तदैव जायते योगी प्राणसंग्रहणे क्षमः ॥ ५ ॥

अन्वयेनापि मलशुद्धेर्हठसिद्धिहेतुत्वमाह —शुद्धिमेतीति । यदा यस्मिन्काले मलैराकुलं व्याप्तं सर्वं समस्तं नाडीनां चक्रं समूहः शुद्धिं मलराहित्यमेति प्राप्नोति तदैव तस्मिन्नेव काले योगी योगाभ्यासी प्राणस्य संग्रहणे क्षमः समर्थो जायते ॥ ५ ॥

प्राणायामं ततः कुर्यान्नित्यं सात्त्विकया धिया ।
यथा सुषुम्णानाडीस्था मलाः शुद्धिं प्रयान्ति च ॥ ६ ॥

मलशुद्धिः कथं भवतीत्याकाङ्क्षायां तच्छोधकं प्राणायाममाह—प्राणायाममिति । यतो मलशुद्धिं विना प्राणसंग्रहणे क्षमो न भवति ततस्तस्मादीश्वरप्रणिधानोत्साहसाहसादिप्रयत्नाभिभूतविक्षेपालस्यादिराजसतामसधर्मया सात्त्विकया प्रकाशप्रसादशीलया धिया बुद्ध्या नित्यं प्राणायामं कुर्यात् । यथा येन प्रकारेण सुषुम्णानाड्यां स्थिता मलाः शुद्धिमपगमं प्रयान्ति नश्यन्तीत्यर्थः ॥ ६ ॥

बद्धपद्मासनो योगी प्राणं चन्द्रेण पूरयेत् ।
धारयित्वा यथाशक्ति भूयः सूर्येण रेचयेत् ॥ ७ ॥

मलशोधकप्राणायामप्रकारमाह द्वाभ्याम्—बद्धपद्मासन इति । बद्धं पद्मासनं येन तादृशो योगी प्राणं प्राणवायुं चन्द्रेण चन्द्रनाड्येडया पूरयेत् । शक्तिमनतिक्रम्य यथाशक्ति

धारयित्वा कुम्भयित्वा। भूयः पुनः सूर्येण सूर्यनाड्या पिङ्गलया रेचयेत्। बाह्यवायोः प्रयत्नविशेषादुपादानं पूरकः। जालंधरादिबन्धपूर्वकं प्राणनिरोधः कुम्भकः। कुम्भितस्य वायोः प्रयत्नविशेषाद्गमनं रेचकः। प्राणायामाङ्गरेचकपूरकयोरेवेमे लक्षणे इति। 'भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससंभ्रमौ' इति गौणरेचकपूरकयोर्नाव्याप्तिः, तयोर्लक्ष्यत्वाभावात् ॥ ७ ॥

प्राणं सूर्येण चाकृष्य पूरयेदुदरं शनैः।
विधिवत्कुम्भकं कृत्वा पुनश्चन्द्रेण रेचयेत् ॥ ८ ॥

प्राणमिति। सूर्येण सूर्यनाड्या पिङ्गलया प्राणमाकृष्य गृहीत्वा शनैर्मन्दमन्दमुदरं जठरं पूरयेत्। विधिवद्बन्धपूर्वकं कुम्भकं कृत्वा पुनर्भूयश्चन्द्रेणेडया रेचयेत् ॥ ८ ॥

येन त्यजेत्तेन पीत्वा धारयेदतिरोधतः।
रेचयेच्च ततोऽन्येन शनैरेव न वेगतः ॥ ९ ॥

उक्ते प्राणायामे विशेषमाह—येनेति। येन चन्द्रेण सूर्येण वा त्यजेद्रेचयेत्तेन पीत्वा तेनैव पूरयित्वा। अतिरोधतोऽतिशयितेन रोधेन स्वेदकम्पादिजननपर्यन्तेन। सार्वविभक्तिकस्तसिल्। येन पूरकस्ततोऽन्येन शनै रेचयेन्न तु वेगतः। वेगाद्रेचने बलहानिः स्यात्। येन पूरकः कृतस्तेन रेचको न

कर्तव्यः । येन रेचकः कृतस्तेनैव पूरकः कर्तव्य इति भावः ॥ ९ ॥

प्राणं चेदिडया पिबेन्नियमितं भूयोऽन्यया रेचये-
त्पीत्वा पिङ्गलया समीरणमथो बद्ध्वा त्यजेद्वामया ।
सूर्याचन्द्रमसोरनेन विधिनाऽभ्यासं सदा तन्वतां
शुद्धा नाडिगणा भवन्ति यमिनां मासत्रयादूर्ध्वतः ॥१०॥

बद्धपद्मासन इत्याद्युक्तमर्थं पिण्डीकृत्यानुवदन् प्राणायामस्यावान्तरफलमाह—प्राणमिति । चेदिडया वामनाड्या प्राणं पिबेत्पूरयेत्तर्हि नियमितं कुम्भितं प्राणं भूयः पुनरन्यया पिङ्गलया रेचयेत् । पिङ्गलया दक्षनाड्या समीरणं वायुं पीत्वा पूरणानन्तरं बद्ध्वा कुम्भयित्वा वामयेडया त्यजेद्रेचयेत् । सूर्यश्च चन्द्रमाश्च सूर्याचन्द्रमसौ तयोः । 'देवताद्वन्द्वे च' इत्यानङ् । अनेनोक्तेन विधिना प्रकारेण सदा नित्यमभ्यासं चन्द्रेणापूर्य कुम्भयित्वा सूर्येण रेचयेत्सूर्येणापूर्य कुम्भयित्वा चन्द्रेण रेचयेदित्याकारकं तन्वतां विस्तारयतां यमिनां यमवतां नाडीगणा नाडीसमूहा मासत्रयादूर्ध्वतो मासानां त्रयं तस्मादुपरि शुद्धा मलरहिता भवन्ति ॥ १० ॥

प्रातर्मध्यंदिने सायमर्धरात्रे च कुम्भकान् ।
शनैरशीतिपर्यन्तं चतुर्वारं समभ्यसेत् ॥ ११ ॥

अथ प्राणायामाभ्यासकालं तदवधिं चाह—प्रातरिति । प्रातररुणोदयमारभ्य सूर्योदयाद्धटिकात्रयपर्यन्ते प्रातःकाले मध्यंदिने मध्याह्ने पञ्चधा विभक्तस्य दिनस्य मध्यभागे सायंसंध्या त्रिनाडीप्रमितार्कास्तादधस्तादूर्ध्वं चेत्युक्तलक्षणे संध्याकाले रात्रेरर्धमर्धरात्रं तस्मिन्नर्धरात्रे रात्रेर्मध्ये मुहूर्तद्वये च शनैरशीतिपर्यन्तमशीतिसंख्यावधि चतुर्वारं वारचतुष्टयम् । 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' इति द्वितीया । चतुर्षु कालेष्वेकैकस्मिन्कालेऽशीतिप्राणायामाः कार्याः । अर्धरात्रे कर्तुमशक्तश्चेत्त्रिसंध्यं कर्तव्या इति संप्रदायः । चतुर्वारं कृताश्चेद्दिने दिने (३२०) विंशत्यधिकशतत्रयपरिमिताः प्राणायामा भवन्ति । वारत्रयं कृताश्चेत् (२४०) चत्वारिंशदधिकशतद्वयपरिमिता भवन्ति ॥ ११ ॥

कनीयसि भवेत्स्वेदः कम्पो भवति मध्यमे ।
उत्तमे स्थानमाप्नोति ततो वायुं निबन्धयेत् ॥ १२ ॥

कनिष्ठमध्यमोत्तमानां प्राणायामानां क्रमेण व्यापकविशेषमाह—कनीयसीति । कनीयसि कनिष्ठे प्राणायामे स्वेदः प्रस्वेदो भवेद्भवति । स्वेदानुमेयः कनिष्ठः । मध्यमे प्राणायामे कम्पो भवति । कम्पानुमेयो मध्यमः । उत्तमे प्राणायामे स्थानं ब्रह्मरन्ध्रमाप्नोति । स्थानप्राप्त्यनुमेय उत्तमः ।

ततस्तस्माद्वायुं प्राणं निबन्धयेन्नितरां बन्धयेत् । कनिष्ठादीनां लक्षणमुक्तं लिङ्गपुराणे—" प्राणायामस्य मानं तु मात्राद्वादशकं स्मृतम् । नीचो द्वादशमात्रस्तु सकृदुद्धात ईरितः ॥ मध्यमस्तु द्विरुद्धातश्चतुर्विंशतिमात्रकः । मुख्यस्तु यस्त्रिरुद्धातः षट्त्रिंशन्मात्र उच्यते ॥ प्रस्वेदकम्पनोत्थानजनकश्च यथाक्रमम् । आनन्दो जायते चात्र निद्रा घूमस्तथैव च ॥ रोमाञ्चो ध्वनिसंविज्ञिरङ्गमोटनकम्पनम् । भ्रवणस्वेदजल्पाद्यं संविन्मूर्च्छा जयेद्यदा । तदोत्तम इति प्रोक्तः प्राणायामः सुशोभनः ॥ " इति । घूमश्चित्तान्दोलनम् । गोरक्षोऽपि—" अधमे द्वादश प्रोक्ता मध्यमे द्विगुणाः स्मृताः । उत्तमे त्रिगुणा मात्राः प्राणायामे द्विजोत्तमैः " । उद्धातलक्षणं तु—" प्राणेनोत्सार्यमाणेन अपानः पीड्यते यदा । गत्वा चोर्ध्वं निवर्तेत एतदुद्धातलक्षणम् ' । मात्रामाह याज्ञवल्क्यः—" अङ्गुष्ठाङ्गुलिमोक्षं त्रिस्त्रिर्जानुपरिमार्जनम् । तालत्रयमपि प्राज्ञा मात्रासंज्ञां प्रचक्षते " । स्कन्दपुराणे—" एकश्वाससमयी मात्रा प्राणायामो निगद्यते " । एतद्व्याख्यातं योगचिन्तामणौ—' निद्रावशं गतस्य पुंसो यावता कालेनैकः श्वासो गच्छत्यागच्छति च तावत्कालः प्राणायामस्य मात्रेत्युच्यते ' इति । अर्धश्वासाधिकद्वादशश्वासावच्छिन्नः कालः प्राणायामकालः । षड्भिः श्वासैरेकं पलं भवति । एवं च सार्धश्वासपलद्वयात्मकः

कालः प्राणायामकालः सिद्धः । सार्धद्वादशमात्रामितः प्राणायामो यः स एवोत्तमः प्राणायाम इत्युच्यते । न च पूर्वोदाहृतलिङ्गपुराणगोरक्षवाक्यविरोधः, तत्र द्वादशमात्रकस्य प्राणायामस्याधमत्वोक्तेरिति शङ्कनीयम् । "जानुं प्रदक्षिणीकुर्यान्न द्रुतं न विलम्बितम् । प्रदद्याच्छोटिकां यावत्तावन्मात्रेति गीयते" इति स्कन्दपुराणात् । "अङ्गुष्ठाङ्गुलिमोक्षं च जानोश्च परिमार्जनम् । प्रदद्याच्छोटिकां यावत्तावन्मात्रेति गीयते ॥" इति च स्कन्दपुराणात् । अङ्गुष्ठो मात्रा संख्यायते तदेति दत्तात्रेयवचनाच्च । लिङ्गपुराणगोरक्षादिवाक्येष्वेकच्छोटिकावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वेन विवक्षितत्वात् । याज्ञवल्क्यादिवाक्येषु च्छोटिकात्रयावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वेन विवक्षणात् त्रिगुणस्याधमस्योत्तमत्वं तत्राप्युक्तमित्यविरोधः । सर्वेषु योगसाधनेषु प्राणायामो मुख्यस्तत्सिद्धौ प्रत्याहारादीनां सिद्धेः, तदसिद्धौ प्रत्याहाराद्यसिद्धेश्च । वस्तुतस्तु प्राणायाम एव प्रत्याहारादिशब्दैर्निगद्यते । तथा चोक्तं योगचिन्तामणौ—'प्राणायाम एवाभ्यासक्रमेण वर्धमानः प्रत्याहारध्यानधारणासमाधिशब्दैरुच्यते' इति । तदुक्तं स्कन्दपुराणे — "प्राणायामद्विषट्केन प्रत्याहार उदाहृतः । प्रत्याहारद्विषट्केन धारणा परिकीर्तिता ॥ भवेदीश्वरसंगत्यै ध्यानं द्वादशधारणम् । ध्यानद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते ॥

यत्समाधौ परं ज्योतिरनन्तं स्वप्रकाशकम् । तस्मिन्दृष्टे क्रियाकाण्डयातायातं निवर्तते ॥" इति, तथा "धारणा पञ्चनाडीभिर्ध्यानं स्यात्षष्टिनाडिकम् । दिनद्वादशकेन स्यात्समाधिः प्राणसंयमात् ॥" इति च । गोरक्षादिभिरप्येवमेवोक्तम् । अत्रैवं व्यवस्था । किंचिदूनद्विचत्वारिंशद्विपलात्मकः कनिष्ठप्राणायामकालः । अयमेवैकच्छोटिकावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वविवक्षया द्वादशमात्रकः कालः । किंचिदूनचतुरशीतिविपलात्मको मध्यमप्राणायामकालः । अयमेकच्छोटिकावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वविवक्षया चतुर्विंशतिमात्रकः । पञ्चविंशत्युत्तरशतविपलात्मक उत्तमः प्राणायामकालः । अयमेकच्छोटिकावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वविवक्षया षट्त्रिंशन्मात्रकः कालः । छोटिकात्रयावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वविवक्षया तु द्वादशमात्रक एव । बन्धपूर्वकं पञ्चविंशत्युत्तरशतविपलपर्यन्तं यदा प्राणायामस्थैर्यं भवति, तदा प्राणो ब्रह्मरन्ध्रं गच्छति । ब्रह्मरन्ध्रं गतः प्राणो यदा पञ्चविंशतिपलपर्यन्तं तिष्ठति तदा प्रत्याहारः । यदा पञ्चघटिकापर्यन्तं तिष्ठति तदा धारणा । यदा षष्टिघटिकापर्यन्तं तिष्ठति तदा ध्यानम् । यदा द्वादशदिनपर्यन्तं तिष्ठति तदा समाधिर्भवतीति सर्वं रमणीयम् ॥१२॥

जलेन श्रमजातेन गात्रमर्दनमाचरेत् ।
दृढता लघुता चैव तेन गात्रस्य जायते ॥ १३ ॥

प्राणायामानभ्यसतः स्वेदे जाते विशेषमाह—जलेनेति। श्रमात्प्राणायामाभ्यासश्रमाज्जातं तेन जलेन प्रस्वेदेन गात्रस्य शरीरस्य मर्दनं तैलाभ्यङ्गवदाचरेत्कुर्यात्। तेन मर्दनेन गात्रस्य दृढता दार्ढ्यं लघुता जाड्याभावो जायते प्रादुर्भवति ॥ १३ ॥

अभ्यासकाले प्रथमे शस्तं क्षीराज्यभोजनम्।
ततोऽभ्यासे दृढीभूते न तादृङ् नियमग्रहः ॥ १४ ॥

अथ प्रथमोत्तराभ्यासयोः क्षीरादिनियमानाह—अभ्यासकाल इति। क्षीरं दुग्धमाज्यं घृतं तद्युक्तं भोजनं क्षीराज्यभोजनम्। शाकपार्थिवादिवत्समासः। केवले कुम्भके सिद्धेऽभ्यासो दृढो भवति। स्पष्टमन्यत् ॥ १४ ॥

यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैः शनैः।
तथैव सेवितो वायुरन्यथा हन्ति साधकम् ॥ १५ ॥

सिंहादिवच्छनैरेव प्राणं वशयेन्न सहसेत्याह—यथेति। यथा येन प्रकारेण सिंहो मृगेन्द्रो गजो वनहस्ती व्याघ्रः शार्दूलः शनैः शनैरेव वश्यः स्वाधीनो भवेन्न सहसा यथैव तेनैव प्रकारेण सेवितोऽभ्यस्तो वायुः प्राणो वश्यो भवेत्। अन्यथा सहसा गृह्यमाणः साधकमभ्यासिनं हन्ति सिंहादिवत् ॥ १५ ॥

यत्समाधौ परं ज्योतिरनन्तं स्वप्रकाशकम् । तस्मिन्दृष्टे क्रियाकाण्डयातायातं निवर्तते ॥" इति, तथा "धारणा पञ्चनाडीभिर्ध्यानं स्यात्षष्टिनाडिकम् । दिनद्वादशकेन स्यात्समाधिः प्राणसंयमात् ॥" इति च । गोरक्षादिभिरप्येवमेवोक्तम् । अत्रैवं व्यवस्था । किंचिदूनद्विचत्वारिंशद्विपलात्मकः कनिष्ठप्राणायामकालः । अयमेवैकच्छोटिकावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वविवक्षया द्वादशमात्रकः कालः । किंचिदूनचतुरशीतिविपलात्मको मध्यमप्राणायामकालः । अयमेकच्छोटिकावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वविवक्षया चतुर्विंशतिमात्रकः । पञ्चविंशत्युत्तरशतविपलात्मक उत्तमः प्राणायामकालः । अयमेकच्छोटिकावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वविवक्षया षट्त्रिंशन्मात्रकः कालः । छोटिकात्रयावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वविवक्षया तु द्वादशमात्रक एव । बन्धपूर्वकं पञ्चविंशत्युत्तरशतविपलपर्यन्तं यदा प्राणायामस्थैर्यं भवति, तदा प्राणो ब्रह्मरन्ध्रं गच्छति । ब्रह्मरन्ध्रं गतः प्राणो यदा पञ्चविंशतिपलपर्यन्तं तिष्ठति तदा प्रत्याहारः । यदा पञ्चघटिकापर्यन्तं तिष्ठति तदा धारणा । यदा षष्टिघटिकापर्यन्तं तिष्ठति तदा ध्यानम् । यदा द्वादशदिनपर्यन्तं तिष्ठति तदा समाधिर्भवतीति सर्वं रमणीयम् ॥१२॥

जलेन श्रमजातेन गात्रमर्दनमाचरेत् ।
दृढता लघुता चैव तेन गात्रस्य जायते ॥ १३ ॥

प्राणायामानभ्यसतः स्वेदे जाते विशेषमाह—जलेनेति। श्रमात्प्राणायामाभ्यासश्रमाज्जातं तेन जलेन प्रस्वेदेन गात्रस्य शरीरस्य मर्दनं तैलाभ्यङ्गवदाचरेत्कुर्यात्। तेन मर्दनेन गात्रस्य दृढता दार्ढ्यं लघुता जाड्याभावो जायते प्रादुर्भवति ॥ १३ ॥

अभ्यासकाले प्रथमे शस्तं क्षीराज्यभोजनम्।
ततोऽभ्यासे दृढीभूते न तादृङ् नियमग्रहः॥ १४ ॥

अथ प्रथमोत्तराभ्यासयोः क्षीरादिनियमानाह—अभ्यासकाल इति। क्षीरं दुग्धमाज्यं घृतं तद्युक्तं भोजनं क्षीराज्यभोजनम्। शाकपार्थिवादिवत्समासः। केवले कुम्भके सिद्धेऽभ्यासो दृढो भवति। स्पष्टमन्यत् ॥ १४ ॥

यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैः शनैः।
तथैव सेवितो वायुरन्यथा हन्ति साधकम् ॥ १५ ॥

सिंहादिवच्छनैरेव प्राणं वशयेन्न सहसेत्याह—यथेति। यथा येन प्रकारेण सिंहो मृगेन्द्रो गजो वनहस्ती व्याघ्रः शार्दूलः शनैः शनैरेव वश्यः स्वाधीनो भवेन्न सहसा यथैव तेनैव प्रकारेण सेवितोऽभ्यस्तो वायुः प्राणो वश्यो भवेत्। अन्यथा सहसा गृह्यमाणः साधकमभ्यासिनं हन्ति सिंहादिवत् ॥ १५ ॥

प्राणायामेन युक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत् ।
अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगसमुद्भवः ॥ १६ ॥

युक्तायुक्तयोः फलमाह—प्राणायामेनेति । आहारादियुक्तिपूर्वको जालंधरादिबन्धयुक्तिविशिष्टः प्राणायामो युक्त इत्युच्यते । तेन सर्वरोगक्षयः सर्वेषां रोगाणां क्षयो नाशो भवेत् । अयुक्त उक्तयुक्तिरहितो योऽभ्यासस्तद्युक्तेन प्राणायामेन सर्वरोगसमुद्भवः सर्वेषां रोगाणां सम्यगुद्भव उत्पत्तिर्भवेत् ॥ १६ ॥

हिक्का श्वासश्च कासश्च शिरःकर्णाक्षिवेदनाः ।
भवन्ति विविधा रोगाः पवनस्य प्रकोपतः ॥ १७ ॥

अयुक्तेन प्राणायामेन के रोगा भवन्तीत्यपेक्षायामाह—हिक्केति । हिक्काश्वासकासा रोगविशेषाः । शिरश्च कर्णौ चाक्षिणी च शिरःकर्णाक्षि शिरःकर्णाक्षिणि वेदनाः शिरःकर्णाक्षिवेदनाः । विविधा नानाविधा रोगा ज्वरादयः । पवनस्य वायोः प्रकोपतो भवन्ति ॥ १७ ॥

युक्तं युक्तं त्यजेद्वायुं युक्तं युक्तं च पूरयेत् ।
युक्तं युक्तं च बध्नीयादेवं सिद्धिमवाप्नुयात् ॥१८॥

यतः पवनस्य प्रकोपतो विविधा रोगा भवन्त्यतः । युक्तं युक्तमिति । वायुं प्राणं युक्तं युक्तं त्यजेत् । रेचनकाले

शनैः शनैरेव रेचयेन्न वेगत इत्यर्थः । युक्तं युक्तं च न चाल्पं नाधिकं च पूरयेत् । युक्तं युक्तं च जालंधरबन्धादियुक्तं बध्नीयात्कुम्भयेत् । एवमभ्यसेच्चेत्सिद्धिं हठसिद्धिमवाप्नुयात् ॥ १८ ॥

यदा तु नाडीशुद्धिः स्यात्तथा चिह्नानि बाह्यतः ।
कायस्य कृशता कान्तिस्तदा जायेत निश्चितम् ॥

युक्तं प्राणायाममभ्यसतो जायमानाया नाडीशुद्धेर्लक्षणमाह द्वाभ्याम्—यदा त्विति । यदा तु यस्मिन्काले तु नाडीनां शुद्धिर्मलराहित्यं स्यात्तदा बाह्यतो बाह्यानि । सार्वविभक्तिकस्तसिः । चिह्नानि लक्षणानि तथाशब्देनान्तराण्यपि चिह्नानि भवन्तीत्यर्थः । तान्येवाह—कायस्येति । कायस्य देहस्य कृशता कार्श्यं कान्तिः सुरुचिर्निश्चितं जायेत ॥ १९ ॥

यथेष्टं धारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम् ।
नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधनात् ॥२०॥

वायोः प्राणस्य यथेष्टं बहुवारं धारणं कुम्भकेषु । अनलस्य जठराग्नेः प्रदीपनं प्रकृष्टा दीप्तिर्नादस्य ध्वनेरभिव्यक्तिः प्राकट्यमारोग्यमारोगता नाडिशोधनान्नाडीनां शोधनान्मलराहित्याज्जायते ॥ २० ॥

मेदःश्लेष्माधिकः पूर्वं षट् कर्माणि समाचरेत् ।
अन्यस्तु नाचरेत्तानि दोषाणां समभावतः ॥ २१ ॥

मेदआद्याधिक्ये उपायान्तरमाह—मेदःश्लेष्माधिक इति। मेदश्च श्लेष्मा च मेदःश्लेष्माणौ तावधिकौ यस्य स तादृशः पुरुषः। पूर्वं प्राणायामाभ्यासात्प्राङ् न तु प्राणायामाभ्यास-काले षट् कर्माणि वक्ष्यमाणानि समाचरेत्सम्यगाचरेत्। अन्यस्तु मेदःश्लेष्माधिक्यरहितस्तु तानि षट् कर्माणि नाचरेत्। तत्र हेतुमाह—दोषाणां वातपित्तकफानां समस्य भावः समभावः समत्वं तस्माद्दोषाणां समत्वादित्यर्थः ॥ २१ ॥

धौतिर्वस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा।
कपालभातिश्चैतानि षट् कर्माणि प्रचक्षते ॥ २२ ॥

षट्कर्माण्युपदिशति—धौतिरिति। स्पष्टम् ॥ २२ ॥

कर्मषट्कमिदं गोप्यं घटशोधनकारकम्।
विचित्रगुणसंधायि पूज्यते योगिपुंगवैः ॥ २३ ॥

इदं रहस्यमित्याह—कर्मषट्कमिति। घटस्य शरीरस्य शोधनं मलापनयनं करोतीति घटशोधनकारकमिदमुद्दिष्टं कर्मणां षट्कं धौत्यादिकं गोप्यं गोपनीयम्। यतः। विचित्रगुण-संधायीति। विचित्रं विलक्षणं गुणं षट्कर्मरूपं संधातुं कर्तुं शीलमस्येति विचित्रगुणसंधायि योगिपुंगवैर्योगिश्रेष्ठैः पूज्यते सत्क्रियते। गोपनाभावे तु षट्कर्मकमन्यैरपि विहितं स्यादिति योगिनः पूज्यत्वाभावः प्रसज्येतेति भावः। एतेनेदमेव कर्म-

षट्कस्य मुख्यं फलमिति सूचितम्, मेदःश्लेष्मादिनाशस्य प्राणायामैरपि संभवात्। तदुक्तम्—'षट्कर्मयोगमाप्नोति पवनाभ्यासतत्परः' इति, पूर्वोत्तरग्रन्थस्याप्येवमेव स्वारस्याच्च ॥२३॥

तत्र धौतिः—

चतुरङ्गुलविस्तारं हस्तपञ्चदशायतम् ।
गुरूपदिष्टमार्गेण सिक्तं वस्त्रं शनैर्ग्रसेत् ।
पुनः प्रत्याहरेच्चैतदुदितं धौतिकर्म तत् ॥ २४ ॥

धौतिकर्माह—चतुरङ्गुलेति । चतुर्णामङ्गुलानां समाहारश्चतुरङ्गुलं विस्तारो यस्य तादृशं हस्तानां पञ्चदशैरायतं दीर्घं सिक्तं जलार्द्रं किंचिदुष्णं वस्त्रं पटं तच्च सूक्ष्मं नूतनोष्णीषादेः खण्डं ग्राह्यम् । गुरुणोपदिष्टो यो मार्गो वस्त्रग्रसनप्रकारस्तेन शनैर्मन्दं मन्दं किंचित्किंचिद् ग्रसेत् । द्वितीये दिने हस्तद्वयं तृतीये दिने हस्तत्रयम् । एवं दिनवृद्धया हस्तमात्रमधिकं ग्रसेत् । तस्य प्रान्तं राजदन्तमध्ये हठे संलग्नं कृत्वा नौलिकर्मणोदरस्थवस्त्रं सम्यक् चालयित्वा । पुनः शनैः प्रत्याहरेच्च तद्वस्त्रमुद्गिरेन्निष्कासयेच्च । तद्धौतिकर्मोदितं कथितं सिद्धैः ॥ २४ ॥

कासश्वासप्लीहकुष्ठं कफरोगाश्च विंशतिः ।
धौतिकर्मप्रभावेण प्रयान्त्येव न संशयः ॥ २५ ॥

धौतिकर्मणः फलमाह—कासश्वासेति । कासश्च श्वासश्च प्लीहश्च कुष्ठं च । समाहारद्वन्द्वः । कासादयो रोगविशेषाः विंशतिसंख्याकाः कफरोगाश्च धौतिकर्मणः प्रभावेण गच्छन्त्येव न संशयः, निश्चितमेतदित्यर्थः ॥ २५ ॥

नाभिदघ्नजले पायौ न्यस्तनालोत्कटासनः ।
आधाराकुञ्चनं कुर्यात्क्षालनं वस्तिकर्म तत् ॥ २६ ॥

अथ वस्तिकर्माह—नाभिदघ्नेति । नाभिपरिमाणं नाभिदघ्नम् । परिमाणे दघ्नच् प्रत्ययः । तस्मिन्नाभिदघ्ने नाभिपरिमाणे जले नद्यादितोये पायुर्गुदं तस्मिन्न्यस्तो नालो वंशनालो येन कनिष्ठिकाप्रवेशयोग्यरन्ध्रयुक्तं षडङ्गुलदीर्घं वंशनालं गृहीत्वा चतुरङ्गुलं पायौ प्रवेशयेत् । अङ्गुलिद्वयमितं बहिः स्थापयेत् । उत्कटमासनं यस्य स उत्कटासनः । पार्ष्णिद्वये स्फिचौ विन्यस्य पादाङ्गुलिभिः स्थितिरुत्कटासनम् । आधारस्याकुञ्चनं यथा जलमन्तः प्रविशेत्तथा संकोचनं कुर्यात् । अन्तः प्रविष्टं जलं नौलिककर्मणा चालयित्वा त्यजेत् । क्षालनं वस्तिकर्मोच्यते । धौतिवस्तिकर्मद्वयं भोजनात्प्रागेव कर्तव्यम् । तदनन्तरं भोजने विलम्बोऽपि न कार्यः । केचित्तु पूर्वं मूलाधारेण वायोराकर्षणमभ्यस्य जले स्थित्वा पायौ नालप्रवेशनमन्तरेणैव वस्तिकर्माभ्यसन्ति । तथा करणे सर्वं जलं

बहिर्नायाति । अतो नानारोगधातुक्षयादिसंभवाच्च तथा वस्तिकर्म नैव विधेयम् । किमन्यथा स्वात्मारामः पायौ न्यस्तनाल इति ब्रूयात् ॥ २६ ॥

गुल्मप्लीहोदरं चापि वातपित्तकफोद्भवाः ।
वस्तिकर्मप्रभावेण क्षीयन्ते सकलामयाः ॥ २७ ॥

वस्तिकर्मगुणानाह द्वाभ्याम्—गुल्मप्लीहोदरमिति । गुल्मश्च प्लीहश्च रोगविशेषावुदरं जलोदरं च तेषां समाहारद्वन्द्वः । वातश्च पित्तं च कफश्च तेभ्य उद्भवा एकैकस्माद्द्वाभ्यां सर्वेभ्यो वा जाताः सकलाः सर्व आमया रोगा वस्तिकर्मणः प्रभावः सामर्थ्यं तेन क्षीयन्ते नश्यन्ति ॥ २७ ॥

धात्विन्द्रियान्तःकरणप्रसादं
दद्याच्च कान्तिं दहनप्रदीप्तिम् ।
अशेषदोषोपचयं निहन्या-
दभ्यस्यमानं जलवस्तिकर्म ॥ २८ ॥

धात्विति । अभ्यस्यमानमनुष्ठीयमानं जले वस्तिकर्म जलवस्तिकर्म कर्तृ दद्यादनुष्ठातुरिति शेषः । धातवः 'रसासृङ्मांसमेदोस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः' इत्युक्ताः, इन्द्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि च, अन्तःकरणानि मनोबुद्धि-

चित्ताहंकाररूपाणि, तेषां परितापविक्षेपशोकमोहगौरवावरण-दैन्यादिराजसतामसधर्मविनिवर्तनेन सुखप्रकाशलाघवादिसात्त्विक-धर्माविर्भावः प्रसादस्तं कान्तिं द्युतिं दहनस्य जठराग्नेः प्रदीप्तिं प्रकृष्टां दीप्तिं च । तथा । अशेषाः समस्ता ये दोषा वातपित्तकफास्तेषामुपचयम् । एतदपचयस्याप्युपलक्षणम् । उपचयापचयौ निहन्यान्नितरां हन्यात् । दोषसाम्यरूपमारोग्यं कुर्यादित्यर्थः ॥ २८ ॥

अथ नेतिः—

सूत्रं वितस्ति सुस्निग्धं नासानाले प्रवेशयेत् ।
मुखान्निर्गमयेच्चैषा नेतिः सिद्धैर्निगद्यते ॥ २९ ॥

अथ नेतिकर्माह—सूत्रमिति । वितस्ति वितस्तिमितं वितस्तिरित्युपलक्षणमधिकस्यापि । यावता सूत्रेण सम्यङ् नेतिकर्म भवेत्तावद् ग्राह्यम् । सुस्निग्धं सुष्ठु स्निग्धं ग्रन्थ्यादि-रहितं सूत्रम् । तच्च नवधा दशधा पञ्चदशधा वा गुणितं सुदृढं ग्राह्यम् । नासा नासिका सैव नालः सच्छिद्रत्वा-त्तस्मिन्प्रवेशयेत् । मुखान्निर्गमयेन्निष्कासयेत् । तत्प्रकारस्त्वेवम्—सूत्रप्रान्तं नासानाले प्रवेश्येतरनासापुटमङ्गुल्या निरुध्य पूरकं कुर्यात् । पुनश्च मुखेन रेचयेत् । पुनः पुनरेवं कुर्वतो मुखे सूत्रप्रान्तमायाति । तत्सूत्रप्रान्तं नासाबहिःस्थसूत्रप्रान्तं च

गृहीत्वा शनैश्चालयेदिति । चकारादेकस्मिन्नासानाले प्रवेश्येतरस्मिन्निर्गमयेदित्युक्तम् । तत्प्रकारस्त्वेकस्मिन्नासानाले सूत्रप्रान्तं प्रवेश्येतरनासापुटमङ्गुल्या निरुध्य पूरकं कुर्यात्पश्चादितरनासानालेन रेचयेत् । पुनः पुनरेवं कुर्वत इतरनासानाले सूत्रप्रान्तमायाति । तस्य पूर्ववच्चालनं कुर्यादिति । अयं प्रकारस्तु बहुवारं कुर्वतः कदाचिद्भवति । एषोक्ता सिद्धैरणिमादिगुणसंपन्नैः । तदुक्तम्—" अवाप्ताष्टगुणैश्वर्याः सिद्धाः सद्भिर्निरूपिताः " इति । नेतिर्निगद्यते नेतिरिति कथ्यते ॥ २९ ॥

कपालशोधिनी चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनी ।
जत्रूर्ध्वजातरोगौघं नेतिराशु निहन्ति च ॥ ३० ॥

नेतिगुणानाह—कपालशोधिनीति । कपालं शोधयति शुद्धं मलरहितं करोतीति कपालशोधिनी । चकारान्नासानालादीनामपि । एवशब्दोऽवधारणे । दिव्यां सूक्ष्मपदार्थग्राहिणीं दृष्टिं प्रकर्षेण ददातीति दिव्यदृष्टिप्रदायिनी नेतिक्रिया । जत्रुणोः स्कन्धसंध्योरूर्ध्वमुपरिभागे जातो जत्रूर्ध्वजातः, स चासौ रोगाणामोघश्च तमाशु झटिति निहन्ति—चकारः पादपूरणे । 'स्कन्धो भुजशिरोंऽसोऽस्त्री संधी तस्यैव जत्रुणी' इत्यमरः ॥ ३० ॥

चित्ताहंकाररूपाणि, तेषां परितापविक्षेपशोकमोहगौरवावरण-दैन्यादिराजसतामसधर्मविनिवर्तनेन सुखप्रकाशलाघवादिसात्त्विक-धर्माविर्भावः प्रसादस्तं कान्तिं द्युतिं दहनस्य जठराग्नेः प्रदीप्तिं प्रकृष्टां दीप्तिं च । तथा । अशेषाः समस्ता ये दोषा वातपित्तकफास्तेषामुपचयम् । एतदपचयस्याप्युपलक्षणम् । उपचयापचयौ निहन्यान्नितरां हन्यात् । दोषसाम्यरूपमारोग्यं कुर्यादित्यर्थः ॥ २८ ॥

अथ नेतिः—

सूत्रं वितस्ति सुस्निग्धं नासानाले प्रवेशयेत् ।
मुखान्निर्गमयेच्चैषा नेतिः सिद्धैर्निगद्यते ॥ २९ ॥

अथ नेतिकर्माह—सूत्रमिति । वितस्ति वितस्तिमितं वितस्तिरित्युपलक्षणमधिकस्यापि । यावता सूत्रेण सम्यङ् नेतिकर्म भवेत्तावद् ग्राह्यम् । सुस्निग्धं सुष्ठु स्निग्धं ग्रन्थ्यादि-रहितं सूत्रम् । तच्च नवधा दशधा पञ्चदशधा वा गुणितं सुदृढं ग्राह्यम् । नासा नासिका सैव नालः सच्छिद्रत्वा-त्तस्मिन्प्रवेशयेत् । मुखान्निर्गमयेन्निष्कासयेत् । तत्प्रकारस्त्वेवम्—सूत्रप्रान्तं नासानाले प्रवेश्येतरनासापुटमङ्गुल्या निरुध्य पूरकं कुर्यात् । पुनश्च मुखेन रेचयेत् । पुनः पुनरेवं कुर्वतो मुखे सूत्रप्रान्तमायाति । तत्सूत्रप्रान्तं नासाबहिःस्थसूत्रप्रान्तं च

गृहीत्वा शनैश्चालयेदिति । चकारादेकस्मिन्नासानाले प्रवेश्येतरस्मिन्निर्गमयेदित्युक्तम् । तत्प्रकारस्त्वेकस्मिन्नासानाले सूत्रप्रान्तं प्रवेश्येतरनासापुटमङ्गुल्या निरुध्य पूरकं कुर्यात्पश्चादितरनासानालेन रेचयेत् । पुनः पुनरेवं कुर्वत इतरनासानाले सूत्रप्रान्तमायाति । तस्य पूर्ववच्चालनं कुर्यादिति । अयं प्रकारस्तु बहुवारं कुर्वतः कदाचिद्भवति । एषोक्ता सिद्धैरणिमादिगुणसंपन्नैः । तदुक्तम्—"अवाप्ताष्टगुणैश्वर्याः सिद्धाः सद्भिर्निरूपिताः" इति । नेतिर्निगद्यते नेतिरिति कथ्यते ॥ २९ ॥

कपालशोधिनी चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनी ।
जत्रूर्ध्वजातरोगौघं नेतिराशु निहन्ति च ॥ ३० ॥

नेतिगुणानाह—कपालशोधिनीति । कपालं शोधयति शुद्धं मलरहितं करोतीति कपालशोधिनी । चकारान्नासानालादीनामपि । एवशब्दोऽवधारणे । दिव्यां सूक्ष्मपदार्थग्राहिणीं दृष्टिं प्रकर्षेण ददातीति दिव्यदृष्टिप्रदायिनी नेतिक्रिया । जत्रुणोः स्कन्धसंध्योरूर्ध्वमुपरिभागे जातो जत्रूर्ध्वजातः, स चासौ रोगाणामोघश्च तमाशु झटिति निहन्ति—चकारः पादपूरणे । 'स्कन्धो भुजशिरोऽसोऽस्त्री संधी तस्यैव जत्रुणी' इत्यमरः ॥ ३० ॥

अथ त्राटकम्—

निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः ।
अश्रुसंपातपर्यन्तमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम् ॥ ३१ ॥

त्राटकमाह—निरीक्षेदिति । समाहितः एकाग्रचित्तः निश्चला चासौ दृक् च दृष्टिस्तया सूक्ष्मं च तल्लक्ष्यं च सूक्ष्मलक्ष्यमश्रूणां सम्यक् पातः पतनं तत्पर्यन्तम् । अनेन निरीक्षणस्यावधिरुक्तः । निरीक्षेत्पश्येत् । आचार्यैर्मत्स्येन्द्रादिभिरिदं त्राटकं त्राटककर्म स्मृतं कथितम् ॥ ३१ ॥

मोचनं नेत्ररोगाणां तन्द्रादीनां कपाटकम् ।
यत्नतस्त्राटकं गोप्यं यथा हाटकपेटकम् ॥ ३२ ॥

त्राटकगुणानाह—मोचनमिति । नेत्रस्य रोगा नेत्ररोगास्तेषां मोचनं नाशकम्, तन्द्रा आदिर्येषामालस्यादीनां तेषां कपाटकं कपाटवदन्तर्धायकमभिभावकमित्यर्थः । तन्द्रा तामसश्चित्तवृत्तिविशेषः । त्राटकं त्राटकाख्यं कर्म यत्नतः प्रयत्नतः प्रयत्नाद्गोप्यं गोपनीयम् । गोपने दृष्टान्तमाह—यथेति । हाटकस्य सुवर्णस्य पेटकं पेटी इति लोके प्रसिद्धं यथा येन प्रकारेण गोप्यते तद्वत् ॥ ३२ ॥

अथ नौलिः—

अमन्दावर्तवेगेन तुन्दं सव्यापसव्यतः ।
नतांसो भ्रामयेदेषा नौलिः सिद्धैः प्रचक्ष्यते ॥३३॥

नौलिकर्माह—अमन्देति । नतौ नम्रीभूतावंसौ स्कन्धौ यस्य स नतांसः पुमानमन्दोऽतिशयितो य आवर्तस्तस्येव जलभ्रमस्येव वेगो जवस्तेन तुन्दमुदरम् । 'पिचण्डकुक्षी जठरोदरं तुन्दं स्तनौ कुचौ' इत्यमरः । सव्यं चापसव्यं च सव्यापसव्ये दक्षिणवामभागौ तयोः सव्यापसव्यतः । सप्तम्यर्थे तसिः । भ्रामयेद् भ्रमन्तं प्रेरयेत् । सिद्धैरेषा नौलिः प्रचक्ष्यते कथ्यते ॥ ३३ ॥

मन्दाग्निसंदीपनपाचनादि-
संधापिकाऽऽनन्दकरी सदैव ।
अशेषदोषामयशोषणी च
हठक्रियामौलिरियं च नौलिः ॥ ३४ ॥

नौलिगुणानाह—मन्दाग्नीति । मन्दश्चासावग्निर्जठराग्निस्तस्य संदीपनं सम्यग् दीपनं च पाचनं च भुक्तान्नपरिपाकश्च मन्दाग्निसंदीपनपाचने ते आदिनी यस्य तन्मन्दाग्निसंदीपनपाचनादि तस्य संधापिका विधात्री । आदिशब्देन मलशुद्ध्यादि । सदैव सर्वदैवानन्दकरी सुखकरी । अशेषाः

समस्ताश्च ते दोषाश्च वातादय आमयाश्च रोगास्तेषां शोषणी शोषणकर्त्री हठस्य क्रियाणां धौत्यादीनां मौलिर्मौलिरिवोत्तमा धौतिवस्त्योर्नौलिसापेक्षत्वात् । इयमुक्ता नौलिः ॥ ३४ ॥

भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससंभ्रमौ ।
कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषणी ॥ ३५ ॥

कपालभातिं तद्गुणं चाह—भस्त्रावदिति । लोहकारस्य भस्त्राऽग्नेर्धमनसाधनीभूतं चर्म तद्वत्संभ्रमेण सह वर्तमानौ ससंभ्रमावमन्दौ यौ रेचपूरौ रेचकपूरकौ कपालभातिरिति विख्याता । कीदृशी ? कफदोषविशोषणी । कफस्य दोषा विंशतिभेदभिन्नाः । तदुक्तं निदाने—'कफरोगाश्च विंशतिः' इति । तेषां विशोषणी विनाशिनी ॥ ३५ ॥

षट्कर्मनिर्गतस्थौल्यकफदोषमलादिकः ।
प्राणायामं ततः कुर्यादनायासेन सिध्यति ॥ ३६ ॥

षट्कर्मणां प्राणायामत्वोपकारकत्वमाह—षट्कर्मेति । षट्कर्मभिर्धौतिप्रभृतिभिर्निर्गताः । स्थौल्यं स्थूलस्य भावः स्थूलत्वम् । कफदोषा विंशतिसंख्याकाः, मलादयश्च यस्य स तथा । 'शेषाद्विभाषा' इति कप्रत्ययः । आदिशब्देन पित्तादयः । प्राणायामं कुर्यात् । ततस्तस्मात्षट्कर्मपूर्वकात्प्राणा-

ादनायासेनाश्रमेण सिध्यति योग इति शेषः । षट्कर्मा-
णे तु प्राणायामे श्रमाधिक्यं स्यादिति भावः ॥ ३६ ॥

प्राणायामैरेव सर्वे प्रशुष्यन्ति मला इति ।
आचार्याणां तु केषांचिदन्यत्कर्म न संमतम् ॥३७॥

मतभेदेन षट्कर्मणामनुपयोगमाह—प्राणायामैरिति । प्रा-
ामैरेव । एवशब्दः षट्कर्मव्यवच्छेदार्थः । सर्वे मलाः
ष्यन्ति । मला इत्युपलक्षणं स्थौल्यकफपित्तादीनाम् । इति
ः केषांचिदाचार्याणां याज्ञवल्क्यादीनामन्यत्कर्म षट्कर्म
संमतं नाभिमतम् । आचार्यलक्षणमुक्तं वायुपुराणे—
आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयेदपि । स्वयमाचरते
ादाचार्यस्तेन चोच्यते ॥" इति ॥ ३७ ॥

उदरगतपदार्थमुद्वमन्ति
पवनमपानमुदीर्य कण्ठनाले ।
क्रमपरिचयवश्यनाडिचक्रा
गजकरणीति निगद्यते हठज्ञैः ॥ ३८ ॥

गजकरणीमाह—उदरगतमिति । अपानं पवनमपानवायुं
ठनाले कण्ठो नाल इव कण्ठनालस्तस्मिन्नुदीर्योत्क्षिप्योदरे
प्राप्तः स चासौ पदार्थश्च भुक्तपीतान्नजलादिस्तं
ोद्वमन्त्युद्गिरन्ति यया योगिन इत्यध्याहारः । क्रमेण

यः परिचयोऽभ्यासस्तेनावश्यं स्वाधीनं नाडीनां चक्रं यस्यां सा तथा । सा क्रिया हठज्ञैर्हठयोगाद्यभिज्ञैर्गजकरणीति निगद्यते कथ्यते । 'क्रमपरिचयवश्यनाडिमार्गा' इति क्वचित्पाठः । तस्यायमर्थः—क्रमपरिचयेन वश्यो नाड्याः शङ्खिन्या मार्गः कण्ठपर्यन्तो यस्यां सा तथा ॥ ३८ ॥

ब्रह्मादयोऽपि त्रिदशाः पवनाभ्यासतत्पराः ।
अभूवन्नन्तकभयात्तस्मात्पवनमभ्यसेत् ॥ ३९ ॥

प्राणायामोऽवश्यमभ्यसनीयः सर्वोत्तमैरभ्यस्तत्वान्महाफलत्वाच्चेति सूचयन्नाह चतुर्भिः—ब्रह्मादय इति । ब्रह्मा आदिर्येषां ते ब्रह्मादयस्तेऽपि किमुतान्य इत्यर्थः । त्रिदशा देवाः अन्तयतीत्यन्तकः कालस्तस्माद्भयमन्तकभयं तस्मात्पवनस्य प्राणवायोरभ्यासो रेचकपूरककुम्भकभेदभिन्नप्राणायामानुष्ठानरूपस्तस्मिंस्तत्परा अवहिता अभूवन्नासन् । तस्मात्पवनमभ्यसेत्प्राणमभ्यसेत् ॥ ३९ ॥

यावद्बद्धो मरुद्देहे यावच्चित्तं निराकुलम् ।
यावद् दृष्टिर्भ्रुवोर्मध्ये तावत्कालभयं कुतः ॥ ४० ॥

यावदिति । यावद्यावत्कालपर्यन्तं मरुत्प्राणानिलो देहे शरीरे बद्धः श्वासोच्छ्वासक्रियाशून्यः । यावच्चित्तमन्तःकरणं निराकुलमविक्षिप्तं समाहितम् । यावद्भ्रुवोर्मध्ये दृष्टिरन्तः-

करणवृत्तिः । दृशिरत्र ज्ञानसामान्यार्थः । तावत्कालपर्यन्तं कलयतीति कालोऽन्तकस्तस्माद्भयं कुतः न कुतोऽपीत्यर्थः । तथा च वक्ष्यति—"खाद्यते न च कालेन बाध्यते न च कर्मणा । साध्यते न स केनापि योगी युक्तः समाधिना ॥" इति । स्वाधीनो भवतीत्यर्थः ॥ ४० ॥

विधिवत्प्राणसंयामैर्नाडीचक्रे विशोधिते ।
सुषुम्णावदनं भित्त्वा सुखाद्विशति मारुतः ॥ ४१ ॥

विधिवदिति । विधिवत्प्राणसंयामैरासनजालंधरबन्धादिविधियुक्तप्राणायामैर्नाडीचक्रे नाडीनां चक्रं समूहस्तस्मिन्विशोधिते निर्मले सति मारुतो वायुः सुषुम्णा इडापिङ्गलयोर्मध्यस्था नाडी तस्या वदनं मुखं भित्त्वा सुखादनायासाद्विशति सुषुम्णान्तरिति शेषः ॥ ४१ ॥

मारुते मध्यसंचारे मनःस्थैर्यं प्रजायते ।
यो मनःसुस्थिरीभावः सैवावस्था मनोन्मनी ॥४२॥

मारुत इति । मध्ये सुषुम्णामध्ये संचारः सम्यक् चरणं गमनं मूर्धपर्यन्तं यस्य स मध्यसंचारस्तस्मिन्सति मनसः स्थैर्यं ध्येयाकारवृत्तिप्रवाहो जायते प्रादुर्भवति । यो मनसः सुस्थिरीभावः सुष्ठु स्थिरीभवनं सैव मनोन्मन्यवस्था । मनोन्मनीशब्द

उन्मनीपर्यायः । तथाऽग्रे वक्ष्यति—'राजयोगः समाधिश्च' इत्यादिना ॥ ४२ ॥

तत्सिद्धये विधानज्ञाश्चित्रान्कुर्वन्ति कुम्भकान् ।
विचित्रकुम्भकाभ्यासाद्विचित्रां सिद्धिमाप्नुयात् ॥

विचित्रेषु कुम्भकेषु प्रवृत्तिं जनयितुं तेषां मुख्यफलमवान्तरफलं चाह— तत्सिद्धय इति । विधानं कुम्भकानुष्ठानप्रकारस्तज्जानन्तीति विधानज्ञास्तत्सिद्धय उन्मन्यवस्थासिद्धये चित्रान्सूर्यभेदनादिभेदेन नानाविधान्कुम्भकान्कुर्वन्ति विचित्राश्च ते कुम्भकाश्च विचित्रकुम्भकास्तेषामभ्यासादनुष्ठानाद्विचित्रामणिमादिभेदेन नानाविधां विलक्षणां वा जन्मौषधिमन्त्रतपोजाताम् । तदुक्तं भागवते—"जन्मौषधितपोमन्त्रैर्यावतीरिह सिद्धयः । योगेनाप्नोति ताः सर्वा नान्यैर्योगगतिं व्रजेत् ॥" इति । आप्नुयात्प्रत्याहारादिपरम्परयेति भावः ॥ ४३ ॥

अथ कुम्भकभेदाः—

सूर्यभेदनमुज्जायी सीत्कारी शीतली तथा ।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा प्लाविनीत्यष्ट कुम्भकाः ॥

अथाष्ट कुम्भकान्नामभिर्निर्दिशति — सूर्यभेदनमिति । स्पष्टम् ॥ ४४ ॥

पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालंधराभिधः ।
कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डियानकः ॥ ४५ ॥

अथ हठसिद्धावनन्यसिद्धां पारमहंसीं सर्वकुम्भकसाधारणयुक्तिमाह त्रिभिः—पूरकान्त इति । जालंधर इत्यभिधा नाम यस्य स जालंधराभिधो बन्धो बध्नाति प्राणवायुमिति बन्धः कण्ठाकुञ्चनपूर्वकं चिबुकस्य हृदि स्थापनं जालंधरबन्धः पूरकान्ते पूरकस्यान्ते पूरकानन्तरं झटिति कर्तव्यः । तुशब्दात्कुम्भकादावुड्डियानकस्तु कुम्भकान्ते कुम्भकस्यान्ते किंचित्कुम्भकशेषे रेचकस्यादौ रेचकादौ रेचकात्पूर्वं कर्तव्यः । प्रयत्नविशेषेण नाभिप्रदेशस्य पृष्ठत आकर्षणमुड्डियानबन्धः ॥ ४५ ॥

अधस्तात्कुञ्चनेनाशु कण्ठसंकोचने कृते ।
मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः ॥ ४६ ॥

अधस्तादिति । कण्ठस्य संकोचनं कण्ठसंकोचनं तस्मिन्कृते सति जालंधरबन्धे कृते सतीत्यर्थः । आश्वव्यवहितोत्तरमेवाधस्तादधःप्रदेशादाकुञ्चनेनाधाराकुञ्चनेन मूलबन्धेनेत्यर्थः । मध्ये नाभिप्रदेशे पश्चिमतः पृष्ठतस्तानंताननमाकर्षणं तेनोड्डियानबन्धेनेत्यर्थः । उक्तरीत्या कृतेन बन्धत्रयेण प्राणो वायुर्ब्रह्मनाडीं सुषुम्णां गच्छतीति ब्रह्मनाडिगः सुषुम्णानाडिगामी स्यादित्यर्थः । अत्रेदं रहस्यम् । यदि श्रीगुरुमुखाज्जिह्वाबन्धः

सम्यक्परिज्ञातस्तर्हि जिह्वाबन्धपूर्वकेण जालंधरबन्धेनैव प्राणायामः सिध्यति। वायुप्रकोपेनैवमधातुवपुःकृशत्वं ? वदने प्रसन्नतेत्यादीनि सर्वाणि लक्षणानि जायन्त इति मूलबन्धोड्डियानबन्धौ नोपयुक्तौ। तयोर्जिह्वाबन्धपूर्वकेण जालंधरबन्धेनान्यथा सिद्धत्वात्। जिह्वाबन्धो न विदितश्चेत् 'अधस्तात्कुञ्चनेन' इति श्लोकोक्तरीत्या प्राणायामाः कर्तव्याः। त्रयोऽपि बन्धा गुरुमुखाज्ज्ञातव्याः। मूलबन्धस्तु सम्यगज्ञातो नानारोगोत्पादकः। तथा हि—यदि मूलबन्धे कृते धातुक्षयो विष्टम्भोऽग्निमान्द्यं नादमान्द्यं गुटिकासमूहाकारमजस्येव पुरीषं स्यात्तदा मूलबन्धः सम्यङ् न ज्ञात इति बोध्यम्। यदि तु धातुपुष्टिः सम्यङ् मलशुद्धिरग्निदीप्तिः सम्यङ् नादाभिव्यक्तिश्च स्यात्तदा ज्ञेयं मूलबन्धः सम्यग्जात इति ॥ ४६ ॥

अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्राणं कण्ठादधो नयेत्।
योगी जराविमुक्तः सन्षोडशाब्दवया भवेत् ॥ ४७॥

अपानमिति। अपानमपानवायुमूर्ध्वमुत्थाप्याधाराकुञ्चनेन प्राणं प्राणवायुं कण्ठादधः अधोभागे नयेत्प्रापयेद्यः स योगी योगोऽस्यास्ति अभ्यस्यत्वेनेति योगी योगाभ्यासी जरया वार्धकेन विमुक्तो विशेषेण मुक्तः सन्। षोडशानामब्दानां समाहारः षोडशाब्दं षोडशाब्दं वयो यस्य स तादृशो भवेत्।

यद्यपि 'पूरकान्ते तु कर्तव्यः' इत्यादिना त्रयाणां श्लोकानामेक एवार्थः पर्यवस्यति तथाऽपि 'पूरकान्ते तु कर्तव्यः' इत्यनेन बन्धानां काल उक्तः। अधस्तात्कुञ्चनेनेत्यनेन बन्धानां स्वरूपमुक्तम्। अपानमूर्ध्वमुत्थाप्येत्यनेन बन्धानां फलमुक्तमिति विशेषः। जालंधरबन्धे मूलबन्धे च कृते नाभेरधोभाग आकर्षणाख्यो बन्ध उड्डियानबन्धो भवत्येवेत्यस्मिञ्श्लोके नोक्तः। तथा चोक्तं ज्ञानेश्वरेण गीताषष्ठाध्यायव्याख्यायाम्—'मूलबन्धे जालंधरबन्धे च कृते नाभेरधोभाग आकर्षणाख्यो बन्धः स्वयमेव भवति' इति॥ ४७॥

आसने सुखदे योगी बद्ध्वा चैवासनं ततः।
दक्षनाड्या समाकृष्य बहिःस्थं पवनं शनैः॥ ४८॥

"योगाभ्यासक्रमं वक्ष्ये योगिनां योगसिद्धये। उषःकाले समुत्थाय प्रातःकालेऽथ वा बुधः॥ १॥ गुरुं संस्मृत्य शिरसि हृदये स्वेष्टदेवताम्। शौचं कृत्वा दन्तशुद्धिं विदध्याद्भस्मधारणम्॥ २॥ शुचौ देशे मठे रम्ये प्रतिष्ठाप्यासनं मृदु। तत्रोपविश्य संस्मृत्य मनसा गुरुमीश्वरम्॥ ३॥ देशकालौ च संकीर्त्य संकल्प्य विधिपूर्वकम्। अद्येत्यादि श्रीपरमेश्वरप्रसादपूर्वकं समाधितत्फलसिद्ध्यर्थमासनपूर्वकान्प्राणायामादीन्

मणिभ्राजत्फणासहस्रविधृतविश्वंभरामण्डलायानन्ताय नागराजाय नमः। ततोऽभ्यसेदासनानि श्रमे जाते शवासनम्। अन्ते समभ्यसेत्तत्तु श्रमाभावे तु नाभ्यसेत् ॥ ५ ॥ करणीं विपरीताख्यां कुम्भकात्पूर्वमभ्यसेत्। जालंधरप्रसादार्थं कुम्भकात्पूर्वयोगतः ॥ ६ ॥ विधायाचमनं कृत्वा कर्माङ्गं प्राणसंयमम्। योगीन्द्रादीन्नमस्कृत्य कौर्माच्च शिववाक्यतः ॥ ७ ॥" कूर्मपुराणे शिववाक्यम्—"नमस्कृत्याथ योगीन्द्रान्सशिष्यांश्च विनायकम्। गुरुं चैवाथ मां योगी युञ्जीत सुसमाहितः ॥ ८ ॥ बद्ध्वाभ्यासे सिद्धपीठं कुम्भकाबन्धपूर्वकम्। प्रथमे दश कर्तव्याः पञ्चवृद्ध्या दिने दिने ॥ ९ ॥ कार्या अशीतिपर्यन्तं कुम्भकाः सुसमाहितैः। योगीन्द्रः प्रथमं कुर्यादभ्यासं चन्द्रसूर्ययोः ॥ १० ॥ अनुलोमविलोमाख्यमेतं प्राहुर्मनीषिणः। सूर्यभेदनमभ्यस्य बन्धपूर्वकमेकधीः ॥ ११ ॥ उज्जायिनं ततः कुर्यात्सीत्कारीं शीतलीं ततः। भस्त्रिकां च समभ्यस्य कुर्यादन्यान्न वा परान् ॥ १२ ॥ मुद्राः समभ्यसेद्बुद्ध्वा गुरुवक्त्राद्यथाक्रमम्। ततः पद्मासनं बद्ध्वा कुर्यान्नादानुचिन्तनम् ॥ १३ ॥ अभ्यासं सकलं कुर्यादीश्वरार्पणमादृतः। अभ्यासादुत्थितः स्नानं कुर्यादुष्णेन वारिणा ॥ १४ ॥ स्नात्वा समापयेन्नित्यं कर्म संक्षेपतः सुधीः। मध्याह्नेऽपि तथाऽभ्यस्य किंचिद्विश्रम्य भोजनम् ॥ १५ ॥ कुर्वीत योगिना

पथ्यमपथ्यं न कदाचन । एलां वापि लवङ्गं वा भोजनान्न च भक्षयेत् ॥ १६ ॥ केचित्कर्पूरमिच्छन्ति ताम्बूलं शोभनं तथा । चूर्णेन रहितं शस्तं पवनाभ्यासयोगिनाम् ॥ १७ ॥ इति चिन्तामणेर्वाक्यं स्वारस्यं भजते न हि । केचित्पदेन यस्मात्तु तयोः शीतोष्णहेतुना ॥ १८ ॥ भोजनानन्तरं कुर्यान्मोक्षशास्त्रावलोकनम् । पुराणश्रवणं वाऽपि नामसंकीर्तनं विभोः ॥१९॥ सायंसंध्याविधिं कृत्वा योगं पूर्ववदभ्यसेत् । यदा त्रिघटिकाशेषो दिवसोऽभ्यासमाचरेत् ॥ २० ॥ अभ्यासानन्तरं कार्या सायंसंध्या सदा बुधैः । अर्धरात्रे हठाभ्यासं विदध्यात्पूर्ववद्यमी ॥ २१ ॥ विपरीतां तु करणीं सायंकालार्धरात्रयोः । नाभ्यसेद्भोजनादूर्ध्वं यतः सा न प्रशस्यते " ॥ २२ ॥ अथोद्देशानुक्रमणं कुम्भकान्विवक्षुस्तत्र प्रथमोदितं सूर्यभेदनं तद्गुणांश्चाह त्रिभिः—आसन इति । सुखं ददातीति सुखदं तस्मिन्सुखदे । " शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः । नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ " इत्युक्तलक्षणे विविक्तदेशे सुखासनस्थः शुचिः 'समग्रीवशिरःशरीरः' इति श्रुतेश्च चैलाजिनकुशोत्तर आसने । आस्तेऽस्मिन्नित्यासनम्, आस्यतेऽनेनेति वा तस्मिन् योगी योगाभ्यासी । आसनं स्वस्तिकवीरसिद्धपद्माद्यन्यतमं मुख्यत्वात्सिद्धासनमेव वा बद्ध्वैव बन्धनेन संपाद्यैव कृत्वैवेत्यर्थः । तत आसनबन्धानन्तरं दक्षा

दक्षिणभागस्था या नाडी पिङ्गला तया बहिःस्थं देहाद्बहिर्वर्तमानं पवनं वायुं शनैर्मन्दं मन्दमाकृष्य पिङ्गलया मन्दं मन्दं पूरकं कृत्वेत्यर्थः ॥ ४८ ॥

आ केशादा नखाग्राच्च निरोधावधि कुम्भयेत् ।
ततः शनैः सव्यनाड्या रेचयेत्पवनं शनैः ॥ ४९ ॥

आ केशादिति । केशाना मर्यादीकृत्याकेशं तस्मान्नखाग्राना मर्यादीकृत्येत्यानखाग्रं तस्माच्च निरोधस्य वायोरवरोधस्यावधिर्मर्यादा यस्मिन्कर्मणि तत्तथा कुम्भयेत् । केशपर्यन्तं नखाग्रपर्यन्तं च वायोर्निरोधो यथा भवेत्तथाऽतिप्रयत्नेन कुम्भकं कुर्यादित्यर्थः । ननु "हठान्निरुद्धः प्राणोऽयं रोमकूपेषु निःसरेत् । देहं विदारयत्येष कुष्ठादि जनयत्यपि । ततः प्रत्यापितव्योऽसौ क्रमेणारण्यहस्तिवत् । वन्यो गजो गजारिर्वा क्रमेण मृदुतामियात् । करोति शास्तृनिर्देशान्न च तं परिलङ्घयेत् । तथा प्राणो हृदिस्थोऽयं योगिनां क्रमयोगतः । गृहीतः सेव्यमानस्तु विस्रम्भमुपगच्छति ॥" इति वाक्यविरुद्धमिति प्रयत्नेन कुम्भकं कुर्यादिति कथमुक्तमिति चेन्न । 'हठान्निरुद्धः प्राणोऽयम्' इति वाक्यस्य बलादचिरेण प्राणजयं करिष्यामीति बुद्ध्याऽऽरम्भः । एवं च बह्वभ्यासासक्तपरत्वात्क्रमेणारण्यहस्तिवदिति दृष्टान्तस्वारस्याच्च । अत

एव सूर्याचन्द्रमसोरभ्यासे धारयित्वा यथाशक्ति निधारयेदिति निरोधत इति चोक्तं संगच्छते । तस्मात्कुम्भकस्त्वतिप्रयत्नपूर्वकं कर्तव्यः । यथा यथाऽतियत्नेन कुम्भकः क्रियते तथा तथा तस्मिन्गुणाधिक्यं भवेत् । यथा यथा च शिथिलः कुम्भकः स्यात्तथा तथा गुणाल्पत्वं स्यात् । अत्र योगिनामनुभवोऽपि मानम् । पूरकस्तु शनैः शनैः कार्यः, वेगाद्वा कर्तव्यः, वेगादपि कृते पूरके दोषाभावात् । रेचकस्तु शनैः शनैरेव कर्तव्यः । वेगात्कृते रेचके बलहानिप्रसङ्गात् । ततः शनैः शनैरेव रेचयेन्न तु वेगतः । इत्याद्यनेकधा ग्रन्थकारोक्तेश्च । ततो निरोधावधिकुम्भकानन्तरं शनैः शनैर्मन्दं मन्दं सव्ये वामभागे स्थिता नाडी सव्यनाडी तया सव्यनाड्या इडया पवनं वायुं रेचयेद्बहिर्निःसारयेत् । पुनः शनैरित्युक्तिस्तु शनैरेव रेचयेदित्यवधारणार्था । तदुक्तम्—" विस्मये च विषादे च दैन्ये चैवावधारणे । तथा प्रसादने हर्षे वाक्यमेकं द्विरुच्यते ॥ " इति ॥४९॥

कपालशोधनं वातदोषघ्नं कृमिदोषहृत् ।
पुनः पुनरिदं कार्यं सूर्यभेदनमुत्तमम् ॥ ५० ॥

कपालशोधनमिति । कपालस्य मस्तकस्य शोधनं शुद्धिकरं वातजा दोषा वातदोषा अशीतिप्रकारास्तान्हन्तीति वातदोषघ्नं कृमीणामुदरे जातानां दोषो विकारस्तं हरतीति कृमिदोषहृत् ।

पुनः पुनर्भूयो भूयः कार्यम् । सूर्येणापूर्य कुम्भयित्वा चन्द्रेण रेचनमिति रीत्येदमुत्तममुत्कृष्टं सूर्यभेदनं सूर्यभेदनाख्यमुक्तं योगिभिरिति शेषः ॥ ५० ॥

अथोज्जायी—

मुखं संयम्य नाडीभ्यामाकृष्य पवनं शनैः ।
यथा लगति कण्ठात्तु हृदयावधि सस्वनम् ।
पूर्ववत्कुम्भयेत्प्राणं रेचयेदिडया ततः ॥ ५१ ॥

उज्जायिनमाह सार्धेन—मुखमिति । मुखमास्यं संयतं कृत्वा मुद्रयित्वेत्यर्थः । कण्ठात्तु कण्ठादारभ्य हृदयावधि हृदयमवधिर्यस्मिन्कर्मणि तत्तथा स्वनेन सहितं यथास्यात्तथा । उभे क्रियाविशेषणे । लगति श्लिष्यति पवन इत्यर्थात् । तथा तेन प्रकारेण नाडीभ्यामिडापिङ्गलाभ्यां पवनं वायुं शनैर्मन्दमाकृष्याकृष्टं कृत्वा पूरयित्वेत्यर्थः । प्राणं पूर्ववत्पूर्वेण सूर्यभेदनेन तुल्यं पूर्ववत् । 'आ केशादा नखाग्राच्च निरोधावधि कुम्भयेत्' इत्युक्तरीत्या कुम्भयेद्रोधयेत् । ततः कुम्भकानन्तरमिडया वामनाड्या रेचयेत्त्यजेत् ॥ ५१ ॥

श्लेष्मदोषहरं कण्ठे देहानलविवर्धनम् ।
नाडीजलोदराधातुगतदोषविनाशनम् ।
गच्छता तिष्ठता कार्यमुज्जाय्याख्यं तु कुम्भकम् ॥

उज्जायिगुणानाह सार्धश्लोकेन—श्लेष्मदोषहरमिति । कण्ठे कण्ठप्रदेशे श्लेष्मणो दोषाः श्लेष्मदोषाः कासादयस्तान् हरतीति श्लेष्मदोषहरस्तं देहानलस्य देहे मध्यगतानलस्य जाठरस्य विवर्धनं विशेषेण वर्धनं दीपनमित्यर्थः । नाडीति । नाडी सिरा जलं पीतमुदकमुदरं तुन्दमा समन्ताद्देहे वर्तमाना धातव आधातवः । एषामितरेतरद्वन्द्वः । तेषु गतः प्राप्तो यो दोषो विकारस्तं विशेषेण नाशयतीति नाडीजलोदराधातुगतदोषविनाशनम् । गच्छता गमनं कुर्वता तिष्ठता स्थितेन वाऽपि पुंसा उज्जाय्याख्यमुज्जायीत्याख्या यस्य तत् । तु इत्यनेनास्य वैशिष्ट्यं द्योतयति । कार्यं कर्तव्यम् । उज्जापीति क्वचित्पाठः । गच्छता तिष्ठता तु बन्धरहितः कर्तव्यः । कुम्भकशब्दस्त्रिलिङ्गः । पुंलिङ्गपाठे तु विशेषणेष्वपि पुंलिङ्गः पाठः कार्यः ॥ ५२ ॥

अथ सीत्कारी—

सीत्कां कुर्यात्तथा वक्त्रे घ्राणेनैव विजृम्भिकाम् ।
एवमभ्यासयोगेन कामदेवो द्वितीयकः ॥ ५३ ॥

सीत्कारीकुम्भकमाह—सीत्कामिति । वक्त्रे मुखे सीत्कां सीदेव सीत्का सीदिति शब्दः सीत्कारस्तां कुर्यात् । ओष्ठयोरन्तरे संलग्नया जिह्वया सीत्कारपूर्वकं मुखेन पूरकं

कुर्यादित्यर्थः । घ्राणेनैव नासिकयैवेत्यनेनोभाभ्यां नासापुटाभ्यां रेचकः कार्य इत्युक्तम् । एवशब्देन वक्रस्य व्यवच्छेदः । वक्त्रेण वायोर्निःसारणं त्वभ्यासानन्तरमपि न कार्यम्, बलहानिकरत्वात् । विजृम्भिकां रेचकं कुर्यादित्यत्रापि संबध्यते । कुम्भकस्त्वनुक्तोऽपि सीत्कार्याः कुम्भकत्वादेवावगन्तव्यः । अथ सीत्कार्याः प्रशंसा— एवमुक्तप्रकारेणाभ्यासः पौनःपुन्येनानुष्ठानं स एव योगः योगसाधनत्वात्तेन द्वितीय एव द्वितीयकः कामदेवः कंदर्पः । रूपलावण्यातिशयेन कामदेवसादृश्यात् ॥ ५३ ॥

योगिनीचक्रसामान्यः सृष्टिसंहारकारकः ।
न क्षुधा न तृषा निद्रा नैवालस्यं प्रजायते ॥ ५४ ॥

योगिनीनां चक्रं योगिनीचक्रं योगिनीसमूहः । तस्य सामान्यः संसेव्यः । सृष्टिः प्रपञ्चोत्पत्तिः संहारस्तल्लयः तयोः कारकः कर्ता । क्षुधा भोक्तुमिच्छा न । तृषा जलपानेच्छा न । निद्रा सुषुप्तिर्न । आलस्यं कायचित्तगौरवात्प्रवृत्त्यभावः । कायगौरवं कफादिना चित्तगौरवं तमोगुणेन । नैव प्रजायते नैव प्रादुर्भवति । एवमभ्यासयोगेनेति प्रजायत इति च प्रतिवाक्यं संबध्यते ॥ ५४ ॥

भवेत्सत्त्वं च देहस्य सर्वोपद्रववर्जितः ।
अनेन विधिना सत्यं योगीन्द्रो भूमिमण्डले ॥५५॥

भवेदिति । देहस्य शरीरस्य सत्त्वं बलं च भवेत् । अनेनोक्तेन विधिनाऽभ्यासविधिना योगीन्द्रो योगिनामिन्द्र इव योगीन्द्रो भूमिमण्डले सर्वैरुपद्रवैर्वर्जितः सर्वोपद्रववर्जितो भवेत्सत्यम्, 'सर्वं वाक्यं सावधारणम्' इति न्यायात् । यदुक्तं फलं तत्सत्यमेवेत्यर्थः ॥ ५५ ॥

अथ शीतली—

जिह्वया वायुमाकृष्य पूर्ववत्कुम्भसाधनम् ।
शनकैर्घ्राणरन्ध्राभ्यां रेचयेत्पवनं सुधीः ॥ ५६ ॥

शीतलीकुम्भकमाह—जिह्वयेति । जिह्वयोष्ठयोर्बहिर्निर्गतया विहंगमाधरचञ्चुसदृशया वायुमाकृष्य शनैः पूरकं कृत्वेत्यर्थः । पूर्ववत्सूर्यभेदनवत्कुम्भस्य कुम्भकस्य साधनं विधानं कृत्वेत्यध्याहारः । सुधीः शोभना धीर्यस्य सः घ्राणस्य रन्ध्रे ताभ्यां नासापुटविवराभ्यां शनकैः शनैरेव । 'अव्ययसर्वनाम्नाम्—' इत्यकच् । पवनं वायुं रेचयेत् ॥ ५६ ॥

गुल्मप्लीहादिकान्रोगाञ्ज्वरं पित्तं क्षुधां तृषाम् ।
विषाणि शीतलीनाम कुम्भिकेयं निहन्ति हि ॥५७॥

शीतलीगुणानाह—गुल्मश्च प्लीहश्च गुल्मप्लीहौ रोगविशेषावादी येषां ते गुल्मप्लीहादिकास्तान् रोगानामयान् ज्वरं

ज्वराख्यं रोगं पित्तं पित्तविकारं क्षुधां भोक्तुमिच्छां तृषां जलपानेच्छां विषाणि सर्पादिविषजनितविकारान्। शीतली नामेति प्रसिद्धार्थकमव्ययम्। इयमुक्ता कुम्भिका निहन्ति नितरां हन्ति। कुम्भशब्दः स्त्रीलिङ्गोऽपि। तथा च श्रीहर्षः—'उदस्य कुम्भीरथ शातकुम्भजाः' इति ॥ ५७ ॥

अथ भस्त्रिका—

ऊर्वोरुपरि संस्थाप्य शुभे पादतले उभे।
पद्मासनं भवेदेतत्सर्वपापप्रणाशनम् ॥ ५८ ॥

भस्त्राकुम्भकस्य पद्मासनपूर्वकमेवानुष्ठानात्तदादौ पद्मासनमाह—ऊर्वोरिति। उपर्युत्ताने शुभे शुद्धे उभे द्वे पादयोस्तले अधःप्रदेशौ ऊर्वोः संस्थाप्य सम्यक् स्थापयित्वा वसेत्। एतत्पद्मासनं भवेत्। कीदृशम्? सर्वेषां पापानां प्रकर्षेण नाशनम्। अत्रोपरीत्यव्ययमुत्तानवाचकम्। तथा च कारकेषु मनोरमायाम् 'उपर्युपरिबुद्धीनाम्' इत्यत्रोपरिबुद्धीनामित्यस्योत्तानबुद्धीनामिति व्याख्यानं कृतम् ॥ ५८ ॥

सम्यक्पद्मासनं बद्ध्वा समग्रीवोदरं सुधीः।
मुखं संयम्य यत्नेन प्राणं घ्राणेन रेचयेत् ॥ ५९ ॥

भस्त्रिकाकुम्भकमाह—सम्यगिति। ग्रीवा च उदरं च ग्रीवोदरम्। प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः। समं ग्रीवोदरं यस्य स

समग्रीवोदरः सुस्थिता धीर्यस्य स सुधीः पद्मासनं सम्यक् स्थिरं बद्ध्वा मुखं संयम्य संयतं कृत्वा यत्नेन प्रयत्नेन घ्राणेन घ्राणस्यैकतरेण रन्ध्रेण प्राणं शरीरान्तः स्थितं वायुं रेचयेत् ॥ ५९ ॥

यथा लगति हृत्कण्ठे कपालावधि सस्वनम् ।
वेगेन पूरयेच्चापि हृत्पद्मावधि मारुतम् ॥ ६० ॥

रेचकप्रकारमाह—यथेति । हृच्च कण्ठश्च हृत्कण्ठं तस्मिन् हृत्कण्ठे । समाहारद्वन्द्वः । कपालावधि कपालपर्यन्तं स्वनेन सहितं सस्वनं यथा स्यात्तथा येन प्रकारेण लगति प्राण इति शेषः । तथा रेचयेत् । हृत्पद्ममवधिर्यस्मिन् कर्मणि तत् हृत्पद्मावधि वेगेन तरसा मारुतं वायुं पूरयेत् । चापीति पादपूरणार्थम् ॥ ६० ॥

पुनर्विरेचयेत्तद्वत्पूरयेच्च पुनः पुनः ।
यथैव लोहकारेण भस्त्रा वेगेन चाल्यते ॥ ६१ ॥

पुनरिति । तद्वत्पूर्ववत्पुनर्विरेचयेत्पुनः पुनः पूरयेच्चेत्यन्वयः । उक्तेऽर्थे दृष्टान्तमाह—यथैवेति । लोहकारेण लोहविकाराणां कर्त्रा भस्त्राऽग्नेर्धमनसाधनीभूतं चर्म यथैव येन प्रकारेण वेगेन चाल्यते ॥ ६१ ॥

तथैव स्वशरीरस्थं चालयेत्पवनं धिया ।
यदा श्रमो भवेद्देहे तदा सूर्येण पूरयेत् ॥ ६२ ॥
यथोदरं भवेत्पूर्णमनिलेन तथा लघु ।

तथैव तेनैव प्रकारेण स्वशरीरस्थं स्वशरीरे स्थितं पवनं प्राणं धिया बुद्ध्या चालयेत् । रेचकपूरकयोर्निरन्तरावर्तनेन चालनस्यावधिमाह—यदा श्रम इति । यदा यस्मिन्काले देहे शरीरे श्रमो रेचकपूरकयोर्निरन्तरावर्तनेनायासो भवेत्तदा तस्मिन्काले । यथा येन प्रकारेण पवनेन वायुना लघु क्षिप्रमेवोदरं पूर्णं भवेत्तथा तेन प्रकारेण सूर्यनाड्या पूरयेत् । ‘ लघु क्षिप्रमरं द्रुतम् ’ इत्यमरः ॥ ६२ ॥

धारयेन्नासिकां मध्यातर्जनीभ्यां विना दृढम् ॥६३॥

पूरकानन्तरं यत्कर्तव्यं तदाह—धारयेदिति । मध्यातर्जनीभ्यां मध्यमातर्जनीभ्यां विनाऽङ्गुष्ठानामिकाकनिष्ठिकाभिर्नासिकां दृढं धारयेत् । अङ्गुष्ठेन दक्षिणनासापुटं निरुध्यानामिकाकनिष्ठिकाभ्यां वामनासापुटं निरुध्य नासिकां दृढं गृह्णीयादित्यर्थः ॥ ६३ ॥

विधिवत्कुम्भकं कृत्वा रेचयेदिडयाऽनिलम् ।
वातपित्तश्लेष्महरं शरीराग्निविवर्धनम् ॥ ६४ ॥

विधिवदिति। बन्धपूर्वकं कुम्भकं कृत्वेडया चन्द्र-नाड्याऽनिलं वायुं रेचयेत्। भस्त्राकुम्भकस्येयं परिपाटी। वामनासिकापुटं दक्षिणभुजानामिकाकनिष्ठिकाभ्यां निरुध्य दक्षिणनासिकापुटेन भस्त्रावद्वेगेन रेचकपूरकाः कार्याः। श्रमे जाते तेनैव नासापुटेन पूरकं कृत्वाऽङ्गुष्ठेन दक्षिणं नासापुटं निरुध्य यथाशक्ति कुम्भकं धारयेत्। पश्चादिडया रेचयेत्। पुनर्दक्षिणनासापुटमङ्गुष्ठेन निरुध्य वामनासिकापुटेन भस्त्रा-वज्झटिति रेचकपूरकाः कर्तव्याः। श्रमे जाते तेनैव नासिकापुटेन पूरकं कृत्वाऽनामिकाकनिष्ठिकाभ्यां वामनासिका-पुटं निरुध्य यथाशक्ति कुम्भकं कृत्वा पिङ्गलया रेचयेदित्येका रीतिः। वामनासिकापुटमनामिकाकनिष्ठिकाभ्यां दक्षिण-नासिकापुटेन पूरकं कृत्वा झटित्यङ्गुष्ठेन निरुध्य वामनासा-पुटेन रेचयेत्। एवं शतधा कृत्वा श्रमे जाते तेनैव पूरयेत्। बन्धपूर्वकं कृत्वेडया रेचयेत्। पुनर्दक्षिणनासापुटमङ्गुष्ठेन निरुध्य वामनासापुटेन पूरकं कृत्वा झटिति वामनासिका-पुटमनामिकाकनिष्ठिकाभ्यां निरुध्य पिङ्गलया रेचयेद्भस्त्रावत्। पुनः पुनरेवं कृत्वा रेचकपूरकावृत्तिश्रमे जाते वामनासापुटेन पूरकं कृत्वाऽनामिकाकनिष्ठिकाभ्यां धृत्वा कुम्भकं कृत्वा पिङ्गलया रेचयेदिति द्वितीया रीतिः। भस्त्रिकागुणानाह—वातपित्तेति। वातश्च पित्तं च श्लेष्मा च वातपित्तश्लेष्माणस्तान्

हरतीति तादृशं शरीरे देहे योऽग्निर्जठरानलस्तस्य विशेषेण वर्धनं दीपनम् ॥ ६४ ॥

कुण्डलीबोधकं क्षिप्रं पवनं सुखदं हितम् ।
ब्रह्मनाडीमुखेसंस्थकफाद्यर्गलनाशनम् ॥ ६५ ॥

क्षिप्रं शीघ्रं कुण्डल्याः सुप्ताया बोधकं बोधकर्तृ पुनातीति पवनं पवित्रकारकं सुखं ददातीति सुखदं हितं त्रिदोषहरत्वात्सर्वेषां हितं सर्वदा च हितं सर्वेषां कुम्भकानां सर्वदा हितत्वेऽपि सूर्यभेदनोज्जायिनावुष्णौ प्रायेण शीते हितौ । सीत्कारीशीतल्यौ शीतले प्रायेणोष्णे हिते । भस्त्राकुम्भकः समशीतोष्णः सर्वदा हितः सर्वेषां कुम्भकानां सर्वरोगहरत्वेऽपि सूर्यभेदनं प्रायेण वातहरम् । उज्जायी प्रायेण श्लेष्महरः । सीत्कारीशीतल्यौ प्रायेण पित्तहरे । भस्त्राख्यः कुम्भकः त्रिदोषहर इति बोध्यम् । ब्रह्मनाडी सुषुम्णा ब्रह्मप्रापकत्वात् । तथा च श्रुतिः—“ शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभि निःसृतैका । तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ” । तस्य मुखेऽग्रभागे संस्थः सम्यक् स्थितो यः कफादिरूपोऽर्गलः प्राणगतिप्रतिबन्धकस्तस्य नाशनं नाशकर्तृ ॥ ६५ ॥

सम्यग्गात्रसमद्भूतग्रन्थित्रयविभेदकम् ।
विशेषेणैव कर्तव्यं भस्त्राख्यं कुम्भकं त्विदम् ॥६६॥

सम्यग्दृढीभूतं गात्रं गात्रमध्ये सुषुम्णायामेव सम्यगुद्भूतं समुद्भूतं जातं यद्ग्रन्थीनां त्रयं ग्रन्थित्रयं ब्रह्मग्रन्थिविष्णुग्रन्थिरुद्रग्रन्थिरूपं तस्य विशेषेण भेदजनकम्। अत एव इदं भस्त्रा इत्याख्या यस्येति भस्त्राख्यं कुम्भकं तु विशेषेणैव कर्तव्यम्, अवश्यकर्तव्यमित्यर्थः। सूर्यभेदनादयस्तु यथासंभवं कर्तव्याः ॥ ६६ ॥

अथ भ्रामरी—

वेगाद्घोषं पूरकं भृङ्गनादं
भृङ्गीनादं रेचकं मन्दमन्दम्।
योगीन्द्राणामेवमभ्यासयोगा-
च्चित्ते जाता काचिदानन्दलीला ॥ ६७ ॥

भ्रामरीकुम्भकमाह—वेगादिति। वेगात्तरसा घोषं सशब्दं यथा स्यात्तथा भृङ्गस्य भ्रमरस्य नाद इव नादो यस्मिन्कर्मणि तत्तथा पूरकं कृत्वा। भृङ्ग्यो भ्रमर्यस्तासां नाद इव नादो यस्मिंस्तत्तथा मन्दं मन्दं रेचकं कुर्यात्। पूरकानन्तरं कुम्भकस्तु भ्रामर्याः कुम्भकत्वादेव सिद्धो विशेषाच्च नोक्तः। पूरकरेचकयोस्तु विशेषोऽस्तीति तावेवोक्तौ। एवमुक्तरीत्याऽभ्यसनमभ्यासस्तस्य योगो युक्तिस्तस्माद्योगीन्द्राणां चित्ते काचिदनिर्वाच्या आनन्दे लीला क्रीडा आनन्दलीला जातोत्पन्ना भवति ॥ ६७ ॥

अथ मूर्च्छा—

पूरकान्ते गाढतरं बद्ध्वा जालंधरं शनैः ।
रेचयेन्मूर्च्छनाख्येयं मनोमूर्च्छा सुखप्रदा ॥ ६८ ॥

मूर्च्छाकुम्भकमाह—पूरकान्त इति । पूरकस्यान्तेऽवसानेऽतिशयेन गाढतरं जालंधराख्यं बन्धं बद्ध्वा शनैर्मन्दं मन्दं रेचयेत् । इयं कुम्भिका मूर्च्छनाख्या मूर्च्छना इत्याख्या यस्या इति मूर्च्छनाख्या । कीदृशी ? मनो मूर्च्छयतीति मनोमूर्च्छा । एतेन मूर्च्छनाया विग्रहदर्शनपूर्वकं फलमुक्तम् । पुनः कीदृशी ? सुखप्रदा सुखं प्रददातीति सुखप्रदा ॥ ६८ ॥

अथ प्लाविनी—

अन्तःप्रवर्तितोदारमारुतापूरितोदरः ।
पयस्यगाधेऽपि सुखात्प्लवते पद्मपत्रवत् ॥ ६९ ॥

प्लाविनीकुम्भकमाह—अन्तरिति । अन्तः शरीरान्तः प्रवर्तितः पूरित उदारोऽतिशयितो यो मारुतः समीरस्तेना समन्तात्पूरितमुदरं येन स पुमानगाधेऽप्यतलस्पर्शेऽपि पयसि जले पद्मपत्रवत्पद्मपत्रेण तुल्यं सुखादनायासात् प्लवते तरति गच्छति ॥ ६९ ॥

प्राणायामस्त्रिधा प्रोक्तो रेचपूरककुम्भकैः ।
सहितः केवलश्चेति कुम्भको द्विविधो मतः ॥ ७० ॥

अथ प्राणायामभेदानाह—प्राणायाम इति। प्राणस्य शरीरान्तःसंचारिवायोरायमनं निरोधनमायामः प्राणायामः। प्राणायामलक्षणमुक्तं गोरक्षनाथेन—'प्राणः स्वदेहजो वायुरायामस्तन्निरोधनम्' इति। रेचकश्च पूरकश्च कुम्भकश्च तैर्भेदैस्त्रिधा त्रिप्रकारकः रेचकप्राणायामः पूरकप्राणायामः कुम्भकप्राणायामश्चेति। रेचकलक्षणमाह याज्ञवल्क्यः—'बहिर्यद्रेचनं वायोरुदराद्रेचकः स्मृतः' इति। रेचकप्राणायामलक्षणम्—'निष्क्रम्य नासाविवरादशेषं प्राणं बहिः शून्यमिवानिलेन। निरुध्य संतिष्ठति रुद्धवायुः स रेचको नाम महानिरोधः'। पूरकलक्षणम्—'बाह्यादापूरणं वायोरुदरे पूरको हि सः'। पूरकप्राणायामलक्षणम्—'बाह्ये स्थितं प्राणपुटेन वायुमाकृष्य तेनैव शनैः समन्तात्। नाडीश्च सर्वाः परिपूरयेद्यः स पूरको नाम महानिरोधः'। कुम्भकलक्षणम्—'संपूर्य कुम्भवद्वायोर्धारणं कुम्भको भवेत्'। अयं कुम्भकस्तु पूरकप्राणायामादभिन्नः। भिन्नस्तु—'न रेचको नैव च पूरकोऽत्र नासापुटे संस्थितमेव वायुम्। सुनिश्चलं धारयते क्रमेण कुम्भाख्यमेतत्प्रवदन्ति तज्ज्ञाः'। अथ प्रकारान्तरेण प्राणायामं विभजते—सहित इति। कुम्भको द्विविधः सहितः केवलश्चेति। मतोऽभिमतो योगिनामिति शेषः। तत्र सहितो द्विविधः—रेचकपूर्वकः कुम्भकपूर्वकश्च। तदुक्तम्—'आरे-

च्यापूर्य वा कुर्यात्स वै सहितकुम्भकः'। तत्र रेचकपूर्वको रेचकप्राणायामादभिन्नः। पूरकपूर्वकः कुम्भकः पूरकप्राणायामादभिन्नः। केवलकुम्भकः कुम्भकप्राणायामादभिन्नः। प्रागुक्ताः सूर्यभेदनादयः पूरकपूर्वकस्य कुम्भकस्य भेदा ज्ञातव्याः ॥७०॥

यावत्केवलसिद्धिः स्यात्सहितं तावदभ्यसेत्।
रेचकं पूरकं मुक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम् ॥ ७१ ॥

सहितकुम्भकाभ्यासस्यावधिमाह—यावदिति। केवलस्य केवलकुम्भकस्य सिद्धिः केवलसिद्धिर्यावत्पर्यन्तं स्यात्तावत्पर्यन्तं सहितकुम्भकं सूर्यभेदादिकमभ्यसेदनुतिष्ठेत्। सुषुम्णाभेदानन्तरं यदा सुषुम्णान्तर्घटशब्दा भवन्ति तदा केवलकुम्भकः सिध्यति। तदनन्तरं सहितकुम्भका दश विंशतिर्वा कार्याः। अशीतिसंख्यापूर्तिः केवलकुम्भकैरेव कर्तव्या। सति सामर्थ्ये केवलकुम्भका अशीतेरधिकाः कार्याः। केवलकुम्भकस्य लक्षणमाह—रेचकमिति। रेचकं पूरकं मुक्त्वा त्यक्त्वा सुखमनायासं यथा स्यात्तथा वायोर्धारणं वायुधारणं यत् ॥ ७१ ॥

प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुम्भकः।
कुम्भके केवले सिद्धे रेचपूरकवर्जिते ॥ ७२ ॥

स वा इति। मिश्रितः केवलकुम्भकः प्राणायाम इत्ययमुक्तः। केवलं प्रशंसन्ति—केवल इति। रेचो रेचकः रेचश्च

पूरकश्च रेचपूरकौ ताभ्यां वर्जिते रहिते केवले कुम्भके सिद्धे सति ॥ ७२ ॥

न तस्य दुर्लभं किंचित्त्रिषु लोकेषु विद्यते ।
शक्तः केवलकुम्भेन यथेष्टं वायुधारणात् ॥ ७३ ॥

नेति । तस्य योगिनस्त्रिषु लोकेषु दुर्लभं दुष्प्रापं किंचित्किमपि यथेष्टं यथेच्छं वायोर्धारणं वाऽपि न विद्यते तस्य सर्वं सुलभमित्यर्थः । शक्त इति । केवलकुम्भकेन कुम्भकाभ्यासेन शक्तः समर्थो यथेष्टं यथेच्छं वायोर्धारणं तस्माद्वायुधारणात् ॥ ७३ ॥

राजयोगपदं चापि लभते नात्र संशयः ।
कुम्भकात्कुण्डलीबोधः कुण्डलीबोधतो भवेत् ॥ ७४ ॥

राजयोगपदं राजयोगात्मकं पदं लभते । अत्र संशयो न । निश्चितमेतदित्यर्थः । कुम्भकाभ्यासस्य परम्परया कैवल्यहेतुत्वमाह—कुम्भकादिति । कुम्भकात्कुम्भकाभ्यासात्कुण्डल्याधारशक्तिस्तस्या बोधो निद्राभङ्गो भवेत् । कुण्डल्या बोधः कुण्डलीबोधस्तस्मात्कुण्डलीबोधतः ॥ ७४ ॥

अनर्गला सुषुम्णा च हठसिद्धिश्च जायते ।
हठं विना राजयोगो राजयोगं विना हठः ।
न सिध्यति ततो युग्ममा निष्पत्तेः समभ्यसेत् ॥ ७५ ॥

सुषुम्णा मध्यनाड्यनर्गला कफाद्यर्गलरहिता भवेत् । हठस्य हठाभ्यासस्य सिद्धिः प्रत्याहारादिपरम्परया कैवल्यरूपा सिद्धिर्जायते । हठयोगराजयोगसाधनयोः परस्परोपकार्योपकारकत्वमाह—हठं विनेति । हठं हठयोगं विना राजयोगो न सिध्यति राजयोगं विना हठो न सिध्यति ततोऽन्यतरस्य सिद्धिर्नास्ति । तस्मान्निष्पत्तिं राजयोगसिद्धिमा मर्यादीकृत्य या निष्पत्तिस्तस्या राजयोगसिद्धिपर्यन्तं युग्मं हठयोगराजयोगद्वयमभ्यसेदनुतिष्ठेत् । हठातिरिक्ते साक्षात्परम्परया वा राजयोगसाधनेऽत्र राजयोगशब्दः, जीवनसाधने लाङ्गले जीवनशब्दप्रयोगवत् । राजयोगसाधनं चतुर्थोपदेशे वक्ष्यमाणमुन्मनीशांभवीमुद्रादिरूपमपरोक्षानुभूतावुक्तं पञ्चदशाङ्गरूपं दशाङ्गरूपं च, वाक्यसुधायामुक्तं दृश्यानुविद्धादिरूपं च ॥ ७५ ॥

कुम्भकप्राणरोधान्ते कुर्याच्चित्तं निराश्रयम् ।
एवमभ्यासयोगेन राजयोगपदं व्रजेत् ॥ ७६ ॥

हठाभ्यासाद्राजयोगप्राप्तिप्रकारमाह—कुम्भकेति । कुम्भकेन प्राणस्य यो रोधस्तस्यान्ते मध्ये चित्तमन्तःकरणं निराश्रयं कुर्यात् । संप्रज्ञातसमाधौ जातायां ब्रह्माकारस्थितेः परं वैराग्येण विलयं कुर्यादित्यर्थः । एवमुक्तरीत्याऽभ्यासस्य योगो युक्तिस्तेन ।

'योगः संनहनोपायध्यानसंगतियुक्तिषु' इति कोशः । राजयोगपदं राजयोगात्मकं पदं व्रजेत्प्राप्नुयात् ॥ ७६ ॥

वपुःकृशत्वं वदने प्रसन्नता
नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले ।
अरोगता बिन्दुजयोऽग्निदीपनं
नाडीविशुद्धिर्हठसिद्धिलक्षणम् ॥ ७७ ॥

हठसिद्धिज्ञापकमाह—वपुःकृशत्वमिति । वपुषो देहस्य कृशत्वं कार्श्यं वदने मुखे प्रसन्नता प्रसादो नादस्य ध्वनेः स्फुटत्वं प्राकट्यं नयने नेत्रे सुष्ठु निर्मले अरोगस्य भावोऽरोगता आरोग्यं बिन्दोर्धातोर्जयः क्षयाभावरूपः अग्नेरुदर्यस्य दीपनं दीप्तिर्नाडीनां विशेषेण शुद्धिर्मलापगमः एतद्धठस्य हठाभ्याससिद्धेर्भाविन्या लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणम् ॥ ७७ ॥

इति हठप्रदीपिकायां द्वितीयोपदेशः ॥ २ ॥

इति श्रीहठप्रदीपिकाव्याख्यायां ज्योत्स्नाभिधायां
ब्रह्मानन्दकृतायां द्वितीयोपदेशः ॥ २ ॥

P.V.S.

तृतीयोपदेशः ।

सशैलवनधात्रीणां यथाऽऽधारोऽहिनायकः ।
सर्वेषां योगतन्त्राणां तथाऽऽधारो हि कुण्डली ॥ १ ॥

अथ कुण्डल्याः सर्वयोगाश्रयत्वमाह—सशैलेति । शैलश्च वनानि च शैलवनानि तैः सह वर्तमानाः सशैलवनास्ताश्च ता धात्र्यश्च भूमयस्तासाम् । धात्र्या एकत्वेऽपि देशभेदाद्भेदमादाय बहुवचनम् । अहीनां सर्पाणां नायको नेताऽहिनायकः शेषो यथा यद्वदाधार आश्रयस्तथा तद्वत् सर्वेषां योगस्य तन्त्राणि योगतन्त्राणि योगोपायास्तेषां कुण्डल्याधारशक्तिराश्रयः । कुण्डलीबोधं विना सर्वयोगोपायानां वैयर्थ्यादिति भावः ॥ १ ॥

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली ।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च ॥२॥

कुण्डलीबोधस्य फलमाह द्वाभ्याम्—सुप्तेति । सुप्ता कुण्डली गुरोः प्रसादेन यदा जागर्ति बुध्यते तदा सर्वाणि

पद्मानि षट्चक्राणि भिद्यन्ते भिन्नानि भवन्ति । ग्रन्थयोऽपि च ब्रह्मग्रन्थिविष्णुग्रन्थिरुद्रग्रन्थयो भिद्यन्ते भेदं प्राप्नुवन्तीत्यन्वयः ॥ २ ॥

प्राणस्य शून्यपदवी तदा राजपथायते ।
तदा चित्तं निरालम्बं तदा कालस्य वञ्चनम् ॥ ३ ॥

प्राणस्येति । तदा शून्यपदवी सुषुम्णा प्राणस्य वायो राज्ञां पन्था राजपथं राजपथमिवाचरति राजपथायते राजमार्गायते । सुखेन गमनसंभवात् । तदा चित्तमालम्बनमाश्रयस्तस्मान्निर्गतं निरालम्बं निर्विषयं भवति । तदा कालस्य मृत्योर्वञ्चनं प्रतारणं भवति ॥ ३ ॥

सुषुम्णा शून्यपदवी ब्रह्मरन्ध्रं महापथः ।
श्मशानं शांभवी मध्यमार्गश्चेत्येकवाचकाः ॥ ४ ॥

सुषुम्णापर्यायानाह—सुषुम्णेति । इत्युक्ताः शब्दा एकस्य एकार्थस्य वाचकाः एकवाचकाः । पर्याया इत्यर्थः । स्पष्टः श्लोकार्थः ॥ ४ ॥

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम् ।
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ॥ ५ ॥

तस्मादिति । यस्मात्कुण्डलीबोधेनैव षट्चक्रभेदादिकं भवति तस्मात्सर्वप्रयत्नेन सर्वेण प्रयत्नेन ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणं तस्य

द्वारं प्राप्त्युपायः सुषुम्णा तस्या मुखेऽग्रभागे मुखेन सुषुम्णाद्वारं पिधाय सुप्तामीश्वरीं कुण्डलीं प्रबोधयितुं प्रकर्षेण बोधयितुं मुद्राणां महामुद्रादीनामभ्यासमावृत्तिं समाचरेत्सम्यगाचरेत् ॥५॥

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी ।
उड्यानं मूलबन्धश्च बन्धो जालंधराभिधः ॥ ६ ॥
करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम् ।

मुद्रा उद्दिशति—महामुद्रेत्यादिना सार्धेन । सार्धार्थः स्पष्टः ॥ ६ ॥

इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशकम् ॥ ७ ॥

मुद्राफलमाह सार्धद्वाभ्याम्—इदमिति । इदमुक्तं मुद्राणां दशकं जरा च मरणं च जरामरणे तयोर्नाशनं निवारकम् ॥७॥

आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकम् ।
वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्लभं मरुतामपि ॥ ८ ॥

आदिनाथेन शंभुनोदितं कथितम् । दिवि भवं दिव्यमुत्तमम् अष्टौ च तान्यैश्वर्याणि चाष्टैश्वर्याणि अणिममहिमगरिमलघिमप्राप्तिप्राकाम्येशतावशिताख्यानि । तत्राणिमा संकल्पमात्रेण प्रकृत्यपगमे परमाणुवद्देहस्य सूक्ष्मता । १ । महिमा प्रकृत्यापूरेणाकाशादिवन्महद्भावः । २ । गरिमा

लघुतरस्यापि तूलादेः पर्वतादिवद्गुरुभावः । ३ । लघिमा गुरुतरस्यापि पर्वतादेस्तूलादिवल्लघुभावः । ४ । प्राप्तिः सर्वभावसांनिध्यम् । यथा भूमिस्थ एवाङ्गुल्यग्रेण स्पृशति चन्द्रमसम् । ५ । प्राकाम्यमिच्छानभिघातः । यथा उदक इव भूमौ निमज्जत्युन्मज्जति च । ६ । ईशता भूतभौतिकानां प्रभवाप्ययसंस्थानविशेषसामर्थ्यम् । ७ । वशित्वं भूतभौतिकानां स्वाधीनकरणम् । ८ । तेषां प्रदायकं प्रकर्षेण ददातीति तथा तं सर्वे च ते सिद्धाश्च कपिलादयस्तेषां वल्लभं प्रियं मरुतां देवानामपि दुर्लभं दुष्प्रापं किमुतान्येषामित्यर्थः ॥ ८ ॥

गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरण्डकम् ।
कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा ॥ ९ ॥

गोपनीयमिति । प्रयत्नेन प्रकृष्टेन यत्नेन गोपनीयम् । गोपनीयत्वे दृष्टान्तमाह—यथेति । रत्नानां हीरकादीनां करण्डकं रत्नकरण्डकं यथा येन प्रकारेण गोप्यते तद्वत् । कस्यापि जनमात्रस्य यद्वा कस्यापि ब्रह्मणोऽपि नैव वाच्यं किमुतान्यस्य । तत्र दृष्टान्तः—कुलस्त्रियाः सुरतं कुलस्त्रीसुरतं संगमनं यथा यद्वत् ॥

अथ महामुद्रा—

पादमूलेन वामेन योनिं संपीड्य दक्षिणम् ।
प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां धारयेद् दृढम् ॥१०॥

मुद्रादिषु प्रथमोद्दिष्टत्वेन महामुद्रां तावदाह—पादमूलेनेति। वामेन सव्येन पादस्य मूलं पादमूलं पार्ष्णिस्तेन पादमूलेन वामपादपार्ष्णिनेत्यर्थः। योनिं योनिस्थानं गुदमेढ्रयोर्मध्यभागं संपीड्याकुञ्चितवामपादपार्ष्णिना योनिस्थानं दृढं संयोज्येत्यर्थः। दक्षिणं सव्येतरं पदं चरणं प्रसारितं भूमिसंलग्नपार्ष्णिकमूर्ध्वाङ्गुलिकं दण्डवत्कृत्वा कराभ्यां संप्रदायाकुञ्चितकरतर्जनीभ्यां दृढं गाढं धारयेदङ्गुष्ठप्रदेशे गृह्णीयात् ॥ १० ॥

कण्ठे बन्धं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः।
यथा दण्डहतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते ॥ ११ ॥

कण्ठे कण्ठदेशे बन्धनं सम्यगारोप्य कृत्वा। जालंधरबन्धं कृत्वेत्यर्थः। वायुं पवनमूर्ध्वत उपरि सुषुम्णायां धारयेत्। अनेन मूलबन्धः सूचितः। स तु योनिसंपीडनेन जिह्वाबन्धनेन चरितार्थ इति सांप्रदायिकाः। यथा दण्डेन हतस्ताडितो दण्डहतः सर्पः कुण्डली दण्डाकारः दण्डस्याकार इवाकारो यस्य स तादृशः। कुण्डलाकारं त्यक्त्वा सरल इत्यर्थः। प्रकर्षेण जायते भवति ॥ ११ ॥

ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत्।
तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया ॥ १२ ॥

तथा कुण्डल्याधारशक्तिः सहसा शीघ्रमेव ऋज्वी संपद्यते तथाभूता ऋज्वीभूता सरला भवेत् । तदा सेति । द्वे पुटे इडापिङ्गले आश्रयो यस्याः सा मरणावस्था जायते । कुण्डलीबोधे सति सुषुम्णायां प्रविष्टे प्राणे द्वयोः प्राणवियोगात् ॥ १२ ॥

ततः शनैः शनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः ।
इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता ॥ १३ ॥

ततस्तदनन्तरं शनैः शनैरेव रेचयेत् । वायुमिति संबध्यते । वेगतस्तु वेगान्न रेचयेत् । वेगतो रेचने बलहानिप्रसङ्गात् । खल्विति वाक्यालंकारे । इयं महामुद्रा महासिद्धैरादिनाथादिभिः प्रदर्शिता प्रकर्षेण दर्शिता ॥ १३ ॥

महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयन्ते मरणादयः ।
महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः ॥ १४ ॥

महामुद्राया अन्वर्थत्वमाह—महान्तश्च ते क्लेशाश्च महाक्लेशा अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च त आदयो येषां ते तत्कार्याणां शोकमोहादीनां ते दोषाः क्षीयन्ते । मरणमादिर्येषां जरादीनां तेऽपि च क्षीयन्ते नश्यन्ति । यतस्तेनैव हेतुना विशिष्टा बुधा विबुधास्तेषूत्तमा विबुधोत्तमा महामुद्रां वदन्ति । महाक्लेशान्मरणादींश्च दोषान्मुद्रयति शमयतीति महामुद्रेति व्युत्पत्तेरित्यर्थः ॥ १४ ॥

चन्द्राङ्गे तु समभ्यस्य सूर्याङ्गे पुनरभ्यसेत् ।
यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥१५॥

महामुद्राभ्यासक्रममाह—चन्द्राङ्ग इति । चन्द्रेण चन्द्रनाड्योपलक्षितमङ्गं चन्द्राङ्गं तस्मिन् चन्द्राङ्गे वामाङ्गे । तुशब्दः पादपूरणे । सम्यगभ्यस्य सूर्येण पिङ्गलयोपलक्षितमङ्गं सूर्याङ्गं तस्मिन् सूर्याङ्गे दक्षाङ्गे पुनर्वामाङ्गाभ्यासानन्तरं यावद्यावत्कालपर्यन्तं तुल्या वामाङ्गे कुम्भकाभ्याससंख्यासमा संख्या भवेत्तावदभ्यसेत् । ततः संख्यासाम्यानन्तरं मुद्रां महामुद्रां विसर्जयेत् । अत्रायं क्रमः—आकुञ्चितवामपादपार्ष्णिं योनिस्थाने संयोज्य प्रसारितदक्षिणपादाङ्गुष्ठमाकुञ्चिततर्जनीभ्यां गृहीत्वाऽभ्यासो वामाङ्गेऽभ्यासः । अस्मिन्नभ्यासे पूरितो वायुर्वामाङ्गे तिष्ठति । आकुञ्चितदक्षपादपार्ष्णिं योनिस्थाने संयोज्य प्रसारितवामपादाङ्गुष्ठमाकुञ्चिततर्जनीभ्यां गृहीत्वाऽभ्यासो दक्षाङ्गेऽभ्यासः । अस्मिन्नभ्यासे पूरितो वायुर्दक्षाङ्गे तिष्ठति ॥ १५ ॥

न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यति ॥ १६ ॥

महामुद्रागुणानाह त्रिभिः—न हीति । हि यस्मान्महामुद्राभ्यासिन इत्यध्याहारः । पथ्यमपथ्यं वा न । पथ्यापथ्य-

विचारो नास्तीत्यर्थः। तस्मात्सर्वे भुक्ता रसाः कट्वम्लादयो जीर्यन्त इति विभक्तिविपरिणामेनान्वयः। नीरसा निर्गतो रसो येभ्यस्ते यातयामाः पदार्था जीर्यन्ते। घोरमिति दुर्धरं भुक्तमन्नं विषं क्ष्वेडमपि पीयूषमिवामृतमिव जीर्यति जीर्णं भवति। किमुतान्यदिति भावः॥ १६॥

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः।
तस्य दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत्॥

यः पुमान् महामुद्रामभ्यसेत्तस्य क्षयो राजरोगः कुष्ठगुदावर्तगुल्मा रोगविशेषाः। अजीर्णं भुक्तान्नापरिपाकस्तानि पुरोगमान्यग्रेसराणि येषां महोदरज्वरादीनां तथा तादृशा दोषा दोषजनिता रोगाः क्षयं नाशं यान्ति प्राप्नुवन्ति॥ १७॥

कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम्।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित्॥ १८॥

महामुद्रामुपसंहरन् तस्या गोप्यत्वमाह—कथितेति। इयमेषा महामुद्रा कथितोक्ता। मयेति शेषः। कीदृशी? नृणामभ्यसतां नराणां महत्यश्च ताः सिद्धयश्चाणिमाद्यास्तासां करी कर्त्रीयम्। प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नस्तेन प्रयत्नेन गोपनीया गोपनार्हा यस्य कस्यचिद्यस्य कस्याप्यनधिकारिणः। संबन्धसामान्ये षष्ठी। न देया दातुं योग्या न भवतीत्यर्थः॥ १८॥

अथ महाबन्धः—

पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ।
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ॥ १९ ॥

महाबन्धमाह—पार्ष्णिमिति । वामस्य सव्यस्य पादस्य चरणस्य पार्ष्णिं गुल्फयोरधोभागम् । 'तद्ग्रन्थी गुल्फौ पुमान् पार्ष्णिस्तयोरधः' इत्यमरः । योनिस्थाने गुदमेढ्रयोरन्तराले नियोजयेन्नितरां योजयेत् । वामः सव्यो य ऊरुस्तस्योपरि दक्षिणं चरणं पादं संस्थाप्य सम्यक् स्थापयित्वा । तथाशब्दः पादपूरणे ॥ १९ ॥

पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चुबुकं दृढम् ।
निष्पीड्य वायुमाकुञ्च्य मनोमध्ये नियोजयेत् ॥२०॥

पूरयित्वेति । ततस्तदनन्तरं वायुं पूरयित्वा हृदये चुबुकं दृढं निष्पीड्य गाढं संस्थाप्य । एतेन जालंधरबन्धः प्रोक्तः । योनिं गुदमेढ्रयोरन्तरालमाकुञ्च्य । अनेन मूलबन्धः सूचितः । स तु जिह्वाबन्धेन गतार्थत्वान्न कर्तव्यः । मनः स्वान्तं मध्ये मध्यनाड्यां नियोजयेत्प्रवर्तयेत् ॥ २० ॥

धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः ।
सव्याङ्गे तु समभ्यस्य दक्षाङ्गे पुनरभ्यसेत् ॥ २१ ॥

धारयित्वेति । शक्तिमनतिक्रम्य यथाशक्ति धारयित्वा कुम्भयित्वा शनैर्मन्दं मन्दमनिलं वायुं रेचयेत् । सव्याङ्गे वामाङ्गे समभ्यस्य सम्यगावर्त्य दक्षाङ्गे दक्षिणाङ्गे पुनर्यावत्तुल्या-मेव संख्यां तावदभ्यसेत् ॥ २१ ॥

मतमत्र तु केषांचित्कण्ठबन्धं विवर्जयेत् ।
राजदन्तस्थजिह्वायां बन्धः शस्तो भवेदिति ॥ २२ ॥

अथ जालंधरबन्धे कण्ठसंकोचस्यानुपयोगमाह—मतमिति । केषांचित्त्वाचार्याणामिदं मतम् । किं तदित्याह—अत्र जालं-धरबन्धे कण्ठस्य बन्धनं बन्धः । संकोचस्तं विवर्जयेद्विशेषेण वर्जयेत् । कुतः ? यतो दन्तानां राजानो दन्तराजाः राजदन्ताः, राजदन्तेषु तिष्ठन्तीति राजदन्तस्था राजदन्तस्था चासौ जिह्वा च तस्यां राजदन्तस्थजिह्वायां बन्धस्तदुपरिभागस्य संबन्धः शस्तः । कण्ठाकुञ्चनापेक्षया प्रशस्तो भवेदिति हेतोः ॥ २२ ॥

अयं तु सर्वनाडीनामूर्ध्वगतिनिरोधकः ।
अयं खलु महाबन्धो महासिद्धिप्रदायकः ॥ २३ ॥

अयं त्विति । अयं तु राजदन्तस्थजिह्वायां बन्धस्तु सर्वाश्च ता नाड्यश्च सर्वनाड्यो द्वासप्ततिसहस्रसंख्याकास्तासां सुषु-म्णातिरिक्तानामूर्ध्वमुपरि वायोर्गतिरूर्ध्वगतिस्तस्या निरोधकः प्रतिबन्धकः । एतेन ‘ बध्नाति हि सिराजालम् ’ इति जालंधरोक्तं

फलमनेनैव सिद्धमिति सूचितम् । महाबन्धस्य फलमाह—अयं खल्विति । अयमुक्तः खलु प्रसिद्धः महासिद्धीः प्रकर्षेण ददातीति तथा ॥ २३ ॥

कालपाशमहाबन्धविमोचनविचक्षणः ।
त्रिवेणीसंगमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः ॥ २४ ॥

कालस्य मृत्योः पाशो वागुरा तेन यो महाबन्धो बन्धनं तस्य विशेषेण मोचने मोक्षणे विचक्षणः प्रवीणः । तिसृणां नदीनां वेणी समुदायः स एव संगमः प्रयागस्तं धत्ते विधत्ते । केदारं भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं केदारशब्दवाच्यम् । तं मनः स्वान्तं प्रापयेत् । 'गतिबुद्धि—' इत्यादिना अणौ कर्तुर्मनसो णौ कर्मत्वम् ॥ २४ ॥

रूपलावण्यसंपन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना ।
महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ॥ २५ ॥

महावेधं वक्तुमादौ तस्योत्कर्षं तावदाह—रूपेति । रूपं सौन्दर्यं चक्षुःप्रियो गुणो,लावण्यं कान्तिविशेषः । तदुक्तम्—
'मुक्ताफलेषु च्छायायास्तरलत्वमिवान्तरम् । प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते ॥' इति । ताभ्यां संपन्ना विशिष्टा स्त्री युवती पुरुषं भर्तारं विना यथा यादृशी निष्फला तथा महामुद्रा च महाबन्धश्च तौ वेधेन महावेधेन, विनाऽपि

"प्रत्ययपूर्वोत्तरपदयोर्लोपो वक्तव्यः" इति भाष्यकारोक्तेर्म-हच्छब्दस्य लोपः। वर्जितौ रहितौ निष्फलौ व्यर्थावित्यर्थः ॥ २५ ॥

अथ महावेधः—

महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः।
वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कण्ठमुद्रया ॥ २६ ॥

महावेधमाह—महाबन्धेति। महाबन्धे महाबन्धमुद्रायां स्थितो महाबन्धस्थितः, एका एकाग्रा धीर्यस्य स एकाग्रधीर्योगी योगाभ्यासी पूरकं नासापुटाभ्यां वायोर्ग्रहणं कृत्वा कण्ठे मुद्रा कण्ठमुद्रा तया जालंधरमुद्रया वायूनां प्राणादीनां गतिमूर्ध्वाधोगमनादिरूपां निभृतं निश्चलं यथा भवति तथाऽऽवृत्य निरुध्य कुम्भकं कृत्वेत्यर्थः ॥ २६ ॥

समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ संताडयेच्छनैः।
पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः ॥ २७ ॥

समहस्तेति। भूमौ भुवि हस्तयोर्युगं हस्तयुगं समं हस्तयुगं यस्य स समहस्तयुगः भूमिसंलग्नतलौ सरलौ हस्तौ यस्य तादृशः सन्नित्यर्थः। स्फिचौ कटिप्रोथौ। 'स्त्रियां स्फिचौ कटिप्रोथौ' इत्यमरः। भूमिसंलग्नतलयोर्हस्तयोरवलम्बनेन

योनिस्थानसंलग्नपार्ष्णिना वामपादेन सह भूमेः किंचिदुत्थापितौ शनैर्मन्दं संताडयेत्सम्यक्ताडयेत्। भूमावेव पुटयोर्द्वयमिडापिङ्गलयोर्युग्ममतिक्रम्योल्लङ्घ्य मध्ये सुषुम्णामध्ये गच्छतीति मध्यगो वायुः स्फुरति ॥ २७ ॥

सोमसूर्याग्निसंबन्धो जायते चामृताय वै।
मृतावस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेचयेत् ॥ २८ ॥

सोमश्च सूर्यश्चाग्निश्च सोमसूर्याग्नयः सोमसूर्याग्निशब्दैस्तदधिष्ठिता नाड्य इडापिङ्गलासुषुम्णा ग्राह्यास्तेषां संबन्धः। तद्वायुसंबन्धात्तेषां संबन्धः, अमृताय मोक्षाय जायते। वै इति निश्चयेऽव्ययम्। मृतस्य प्राणवियुक्तस्यावस्था मृतावस्था समुत्पन्ना भवति। इडापिङ्गलयोः प्राणसंचाराभावात्। ततस्तदनन्तरं वायुं विरेचयेन्नासिकापुटाभ्यां शनैस्त्यजेत् ॥ २८ ॥

महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः।
वलीपलितवेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः ॥ २९ ॥

महावेध इति। अयं महावेधोऽभ्यासात्पुनः पुनरावर्तनान्महासिद्धयोऽणिमाद्यास्तासां प्रदायकः प्रकर्षेण समर्पकः। वली जरया चर्मसंकोचः पलितं जरसा केशेषु शौक्ल्यं वेपः

कम्पस्तान्हन्तीति वलीपलितवेपघ्नः । अत एव साधकेष्वभ्यासिषूत्तमाः साधकोत्तमास्तैः सेव्यतेऽभ्यस्यत इत्यर्थः ॥२९॥

एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम् ।
वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम् ॥ ३० ॥

महामुद्रादीनां तिसृणामतिगोप्यत्वमाह—एतदिति । एतत्त्रयं महामुद्रादित्रयं महागुह्यमतिरहस्यम् । अत्र हेतुगर्भाणि विशेषणानि—हि यस्माज्जरा वार्द्धकं मृत्युश्चरमः प्राणदेहवियोगः तयोर्विशेषेण नाशनं वह्नेर्जाठरस्य वृद्धिर्दीप्तिस्तस्याः करं कर्तृ अणिमा आदिर्येषां तेऽणिमादयस्ते च ते गुणाश्च तान्प्रकर्षेण ददातीत्यणिमादिगुणप्रदम् । चकार आरोग्यबिन्दुजयादिसमुच्चयार्थः । एवशब्दोऽवधारणार्थः ॥ ३० ॥

अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने ।
पुण्यसंभारसंधायि पापौघभिदुरं सदा ।
सम्यक्शिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनम् ॥ ३१ ॥

अथैतत्त्रयस्य पृथक्साधनविशेषमाह—अष्टधेति । दिने दिने प्रतिदिनम् । यामे यामे प्रहरे प्रहरे । पौनःपुन्ये द्विर्वचनम् । अष्टभिः प्रकारैरष्टधा क्रियते । चशब्दोऽवधारणे । एतत्त्रयमित्यत्रापि संबध्यते । कीदृशम् ? पुण्यानां संभारः समूहस्तस्य

संधायि विधायि। पुनः कीदृशम्? पापानामोघः पूरः समूह इति यावत्। तस्य भिदुरं कुलिशमिव नाशनं सदा सर्वदा यदाऽभ्यस्तं तदैव पापनाशनम्। सम्यक् सांप्रदायिकी शिक्षा गुरूपदेशो विद्यते येषां ते तथा। एवं दिने दिने यामे यामेऽष्टधेत्युक्त-रीत्या पूर्वसाधनं स्वल्पस्वल्पमेव कार्यम् ॥ ३१ ॥

अथ खेचरी—

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥ ३२ ॥

खेचरीं विवक्षुरादौ तत्स्वरूपमाह—कपालेति। कपाले मूर्ध्नि कुहरं सुषिरं तस्मिन्कपालकुहरे विपरीतं प्रतीपं गच्छतीति विपरीतगा पराङ्मुखीभूता जिह्वा रसना स्यात्। भ्रुवोरन्तर्गता भ्रुवोर्मध्ये प्रविष्टा दृष्टिर्दर्शनं स्यात्। सा खेचरीमुद्रा भवति। कपालकुहरे जिह्वाप्रवेशपूर्वकं भ्रुवोरन्तर्दर्शनं खेचरीति लक्षणं सिद्धम् ॥ ३२ ॥

छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेणाथ वर्धयेत्तावत्।
सा यावद् भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः ॥

खेचरीसिद्धेर्लक्षणमाह—छेदनेति। छेदनमनुपदमेव वक्ष्य-माणम्। चालनं हस्तयोरङ्गुष्ठतर्जनीभ्यां रसनां गृहीत्वा

सव्यापसव्यतः परिवर्तनम् । दोहः करयोरङ्गुष्ठतर्जनीभ्यां गोदोहनवत्तद्दोहनम् । तैः कलां जिह्वां तावद्वर्धयेद्दीर्घां कुर्यात् । तावत् । कियत् ? यावत्सा कला भ्रूमध्यं बहिर्भ्रुवोर्मध्यं स्पृशति । यदा तदा खेचर्याः सिद्धिः खेचरीसिद्धिर्भवति ॥२३॥

स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ।
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३४ ॥

तत्साधनमाह—स्नुहीति । स्नुही गुडा तस्याः पत्रं दलं स्नुहीपत्रेण सदृशं स्नुहीपत्रनिभं सुतीक्ष्णमतितीक्ष्णं स्निग्धं च तन्निर्मलं च स्निग्धनिर्मलं शस्त्रं छेदनसाधनं समादाय सम्यगादाय गृहीत्वा ततः शस्त्रग्रहणानन्तरं तेन शस्त्रेण रोमप्रमाणं रोममात्रं समुच्छिनेत्सम्यगुच्छिनेच्छिन्द्यात् । रसना-मूलसिरामिति कर्माध्याहारः । 'मिश्रेयाऽप्यथ सीहुण्डो वज्रः स्नुक् स्त्री स्नुही गुडा' इत्यमरः ॥ ३४ ॥

ततः सैन्धवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत् ।
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३५ ॥

ततश्छेदनानन्तरं चूर्णिताभ्यां चूर्णीकृताभ्यां सैन्धवं सिन्धु-देशोद्भवं लवणं पथ्यं हरीतकी ताभ्यां प्रघर्षयेत्प्रकर्षेण घर्षये-च्छिन्नं सिराप्रदेशम् । सप्तदिनपर्यन्तं छेदनं सैन्धवपथ्याभ्यां घर्षणं च सायंप्रातर्विधेयम् । योगाभ्यासिनो लवणनिषे-

धात्वदिरपथ्याचूर्णं गृह्णन्ति । मूले सैन्धवोक्तिस्तु हठाभ्यासात्पूर्वं खेचरीसाधनाभिप्रायेण । सप्तानां दिनानां समाहारः सप्तदिनं तस्मिन् प्राप्ते गते सति अष्टमे दिन इत्यर्थात् । ये प्राप्त्यर्थास्ते गत्यर्थाः । पूर्वं छेदनापेक्षयाऽधिकं रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३५ ॥

एवं क्रमेण षण्मासं नित्यं युक्तः समाचरेत् ।
षण्मासाद्रसनामूलसिराबन्धः प्रणश्यति ॥ ३६ ॥

एवमिति । एवं क्रमेण पूर्वं रोममात्रच्छेदनं सप्तदिनपर्यन्तं तावदेव सायंप्रातश्छेदनं घर्षणं च । अष्टमे दिनेऽधिकं छेदनमित्युक्तक्रमेण षण्मासं षण्मासपर्यन्तं नित्यं युक्तः सन् समाचरेत्सम्यगाचरेत् । छेदनघर्षणे इति कर्माध्याहारः । षण्मासादनन्तरं रसना जिह्वा तस्या मूलमधोभागो रसनामूलं तत्र या सिरा कपालकुहररसनासंयोगप्रतिबन्धकीभूता नाडी तया बन्धो बन्धनं प्रणश्यति प्रकर्षेण नश्यति ॥ ३६ ॥

कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत् ।
सा भवेत्खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ॥ ३७ ॥

छेदनादिना जिह्वावृद्धौ यत्कर्तव्यं तदाह—कलामिति । कलां जिह्वां पराङ् मुखमास्यं यस्याः सा तथा तां पराङ्मुखीं

प्रत्यङ्मुखीं कृत्वा तिसृणां नाडीनां पन्थाः त्रिपथस्तस्मिन् त्रिपथे कपालकुहरे परियोजयेत्संयोजयेत् । सा त्रिपथे परियोजनरूपा खेचरी मुद्रा तद्व्योमचक्रमित्युच्यते व्योम-चक्रशब्देनोच्यते ॥ ३७ ॥

रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति ।
विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ॥ ३८ ॥

अथ खेचरीगुणाः—रसनामिति । ऊर्ध्वं तालूपरि विवरं गच्छतीति तां तादृशीं रसनां जिह्वां कृत्वा क्षणार्धं क्षणस्य मुहूर्तस्य अर्धं क्षणार्धं घटिकामात्रमपि खेचरी मुद्रा तिष्ठति चेत्तर्हि योगी विषैः सर्पवृश्चिकादिविषैर्विमुच्यते विशेषेण मुच्यते । व्याधिर्धातुवैषम्यं मृत्युश्चरमः प्राणदेहवियोगो जरा वृद्धावस्था ता आदयो येषां वल्यादीनां तैश्च विमुच्यते । 'उत्सवे च प्रकोष्ठे च मुहूर्ते नियमे तथा । क्षणशब्दो व्यवस्थायां समयेऽपि निगद्यते ॥' इति नानार्थः ॥ ३८ ॥

न रोगो मरणं तन्द्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा ।
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥

न रोग इति । यः खेचरीं मुद्रां वेत्ति तस्य रोगो न मरणं न तन्द्रा तामसान्तःकरणवृत्तिविशेषः न निद्रा न

क्षुधा न तृषा पिपासा न मूर्च्छा चित्तस्य तमसाऽभिभूतावस्थाविशेषश्च न भवेत् ॥ ३९ ॥

पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा ।
बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥

पीड्यत इति । यः खेचरीं मुद्रां वेत्ति स रोगेण ज्वरादिना न योज्यते ॥ ४० ॥

चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता ।
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता ॥ ४१ ॥

चित्तमिति । यस्माद्धेतोश्चित्तमन्तःकरणं खे भ्रुवोरन्तरवकाशे चरति जिह्वा खे तत्रैव गता सती चरति । तेन हेतुना एषा कथिता मुद्रा खेचरी नाम खेचरीति प्रसिद्धा । नामेति प्रसिद्धावव्ययम् । सिद्धैः कपिलादिभिर्निरूपिता । खे भ्रुवोरन्तर्व्योम्नि चरति गच्छति चित्तं जिह्वा च यस्यां सा खेचरीत्यवयवशः सा व्युत्पादिता । उक्तेषु त्रिषु श्लोकेषु व्याध्यादीनां पुनरुक्तिस्तु तेषां श्लोकानां संगृहीतत्वान्न दोषाय ॥ ४१ ॥

खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः ।
न तस्य क्षरते बिन्दुः कामिन्याऽऽश्लेषितस्य च ॥

खेचर्येति । येन योगिना खेचर्या मुद्रया लम्बिकाया ऊर्ध्वमिति लम्बिकोर्ध्वतः । 'सार्वविभक्तिकस्तसिः' । लम्बिका तालु तस्या ऊर्ध्वत उपरिभागे स्थितं विवरं छिद्रं मुद्रितं पिहितम् । कामिन्या युवत्याऽऽश्लेषितस्यालिङ्गितस्यापि । चशब्दोऽप्यर्थे । तस्य बिन्दुर्वीर्यं न क्षरते न स्खलति ॥ ४२ ॥

चलितोऽपि यदा बिन्दुः संप्राप्तो योनिमण्डलम् ।
व्रजत्यूर्ध्वं हृतः शक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया ॥४३॥

चलित इति । चलितोऽपि स्खलितोऽपि बिन्दुर्यदा यस्मिन् काले योनिमण्डलं योनिस्थानं संप्राप्तः संगतस्तदैव योनिमुद्रया मेढ्राकुञ्चनरूपया । एतेन वज्रोली मुद्रा सूचिता । निबद्धो नितरां बद्धः शक्त्याऽऽकर्षणशक्त्या हृतः प्रकृष्ट ऊर्ध्वं व्रजति । सुषुम्णामार्गेण बिन्दुस्थानं गच्छति ॥ ४३ ॥

ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः ।
मासार्धेन न संदेहो मृत्युं जयति योगवित् ॥ ४४ ॥

ऊर्ध्वजिह्व इति । ऊर्ध्वा लम्बिकोर्ध्वविवरोन्मुखा जिह्वा यस्य स ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो निश्चलो भूत्वा । सोमस्य लम्बिकोर्ध्व-विवरगलितचन्द्रामृतस्य पानं सोमपानं यः पुमान् करोति । योगं वेत्तीति योगवित् स मासस्यार्धं मासार्धं तेन मासार्धेन

पक्षेण मृत्युं मरणं जयति अभिभवति। न संदेहः, निश्चितमेतदित्यर्थः ॥ ४४ ॥

नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य योगिनः।
तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ॥ ४५ ॥

नित्यमिति। यस्य योगिनः शरीरं नित्यं प्रतिदिनं सोमकलापूर्णं चन्द्रकलामृतपूर्णं तस्य तक्षकेण सर्पविशेषेणापि दष्टस्य दंशितस्य योगिनः शरीरे विषं गरलं तज्जन्यं दुःखं न सर्पति न प्रसरति ॥ ४५ ॥

इन्धनानि यथा वह्निस्तैलवर्त्तिं च दीपकः।
तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुञ्चति ॥ ४६ ॥

यथा वह्निः इन्धनानि काष्ठादीनि न मुञ्चति दीपको दीपः तैलवर्त्तिं च तैलयुक्तां वर्त्तिं न मुञ्चति। तथा सोमकलापूर्णं चन्द्रकलामृतापूर्णं देहं शरीरं देही जीवो न मुञ्चति न त्यजति ॥ ४६ ॥

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम्।
कुलीनं तमहं मन्य इतरे कुलघातकाः ॥ ४७ ॥

गोमांसमिति। गोमांसं पारिभाषिकं वक्ष्यमाणं यो भक्षयेन्नित्यं प्रतिदिनममरवारुणीमपि वक्ष्यमाणां पिबेत्तं योगिनम्। अहमिति ग्रन्थकारोक्तिः। कुले जातः कुलीनः तं

सत्कुलोत्पन्नं मन्ये । तदुक्तं ब्रह्मवैवर्ते—'कृतार्थौ पितरौ तेन धन्यो देशः कुलं च तत् । जायते योगवान् यत्र दत्तमक्षय्यतां व्रजेत् ॥ दृष्टः संभाषितः स्पृष्टः पुंप्रकृत्योर्विवेकवान् । भवकोटिशतापातं पुनाति वृजिनं नृणाम्' । ब्रह्माण्डपुराणे—'गृहस्थानां सहस्रेण वानप्रस्थशतेन च । ब्रह्मचारिसहस्रेण योगाभ्यासी विशिष्यते' । राजयोगे वामदेवं प्रति शिववाक्यम्—'राजयोगस्य माहात्म्यं को विजानाति तत्त्वतः । तज्ज्ञानी वसते यत्र स देशः पुण्यभाजनम् ॥ दर्शनादर्चनादस्य त्रिसप्तकुलसंयुताः । अज्ञा मुक्तिपदं यान्ति किं पुनस्तत्परायणाः ॥ अन्तर्योगं बहिर्योगं यो जानाति विशेषतः । त्वया मयाऽप्यसौ बन्धः शेषैर्वन्द्यस्तु किं पुनः ॥' इति । कूर्मपुराणे—'एककालं द्विकालं वा त्रिकालं नित्यमेव वा । ये युञ्जते महायोगं विज्ञेयास्ते महेश्वराः ॥' इति । इतरे वक्ष्यमाणगोमांसभक्षणामरवारुणीपानरहिता अयोगिनस्ते कुलघातकाः कुलनाशकाः, सत्कुले जातस्य जन्मनो वैयर्थ्यात् ॥ ४७ ॥

गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ।
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ॥ ४८ ॥

गोमांसशब्दार्थमाह—गोशब्देनेति । गोशब्देन गोइत्याकारकेण शब्देन गोपदेनेत्यर्थः । जिह्वा रसनोदिता कथिता ।

तालुनीति सामीपिकाधारे सप्तमी। तालुसमीपोर्ध्वविवरे तस्या जिह्वायाः प्रवेशो गोमांसभक्षणं गोमांसभक्षणशब्दवाच्यं तत्तु तादृशं गोमांसभक्षणं तु महापातकानां स्वर्णस्तेयादीनां नाशनम् ॥ ४८ ॥

जिह्वाप्रवेशसंभूतवह्निनोत्पादितः खलु।
चन्द्रात्स्रवति यः सारः सा स्यादमरवारुणी ॥ ४९ ॥

अमरवारुणीशब्दार्थमाह—जिह्वेति। जिह्वायाः प्रवेशो लम्बिकोर्ध्वविवरे प्रवेशनं तस्मात्संभूतो यो वह्निरूष्मा तेनोत्पादितो निष्पादितः। अत्र वह्निशब्देनौष्ण्यमुपलक्ष्यते। यः सारः चन्द्राद् भ्रुवोरन्तर्वामभागस्थात्सोमात्स्रवति गलति सा अमरवारुणी स्यादमरवारुणीपदवाच्या भवेत् ॥ ४९ ॥

चुम्बन्ती यदि लम्बिकाग्रमनिशं जिह्वारसस्यन्दिनी
सक्षारा कटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा।
व्याधीनां हरणं जरान्तकरणं शस्त्रागमोदीरणं
तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धाङ्गनाकर्षणम् ॥५०॥

चुम्बन्तीति। यदि चेल्लम्बिकाग्रं लम्बिकोर्ध्वविवरं चुम्बन्ती स्पृशन्ती। अनिशं निरन्तरम्। अत एव रसस्य सोमकलामृतस्य स्यन्दः स्यन्दनं प्रस्रवणमस्यामस्तीति रसस्यन्दिनी यस्य जिह्वा। क्षारेण लवणरसेन सहिता सक्षारा कटुकं मरिचादि

अम्लं चिञ्चाफलादि दुग्धं पयस्तैः सदृशी समाना। मधु क्षौद्रमाज्यं घृतं ताभ्यां तुल्या समा। तथाशब्दः समुच्चये। एतैर्विशेषणै रसस्यानेकरसत्वान्मधुरत्वात्स्निग्धत्वाच्च जिह्वाया अपि रसस्यन्दने तथात्वमुक्तम्। तर्हि तस्य व्याधीनां रोगाणां हरणमपगमो जराया वृद्धावस्थाया अन्तकरणं नाशनं शस्त्राणामायुधानामागमः स्वाभिमुखागमनं तस्योदीरणं निवारणम्। अष्टौ गुणा अणिमादयस्ते अस्य संजाता इत्यष्टगुणितममरत्वममरभावः सिद्धानामङ्गनाः सिद्धाङ्गनाः सिद्धाश्च ता अङ्गनाश्चेति वा तासामाकर्षणमाकर्षणशक्तिः स्यात् ॥ ५० ॥

मूर्ध्नः षोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठा-
दूर्ध्वास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्तिं परां चिन्तयन्।
उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामयं यः पिबे-
न्निर्व्याधिः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जीवति॥

मूर्ध्न इति। रसनां जिह्वां विवरे कपालकुहरे नियम्य संयोज्य। उर्ध्वमुत्तानमास्यं यस्य सः। ऊर्ध्वास्य इत्यनेन विपरीतकरणी सूचिता। परां शक्तिं कुण्डलिनीं चिन्तयन् ध्यायन्सन् प्राणात्साधनभूतात्। षोडश पत्राणि दलानि यस्य तत् षोडशपत्रं तच्च तत्पद्मं कण्ठस्थाने वर्तमानं तस्मिन् गलितं हठाद्धठयोगादवाप्तं प्राप्तं विमलं निर्मलं धारामयं

धारारूपमुत्कल्लोलमुत्तरङ्गं च तत्कलाजलं सोमकलारसं यः पुमान् पिबेत् धयेत्स योगी निर्गता व्याधयो ज्वरादयो यस्मात्स निर्व्याधिः सन् यद्वा निर्गता विविधा आधिर्मानसी व्यथा यस्मात्स तादृशः सन् मृणालं बिसमिव कोमलं मृदु वपुः शरीरं यस्य स मृणालकोमलवपुश्च सन् चिरं दीर्घकालं जीवति प्राणान्धारयति । हठाद्धठयोगात् । प्राणात्साधनभूता-द्वाप्तमिति वा योजना । प्राणैरिति क्वचित्पाठः ॥ ५१ ॥

यत्प्रालेयप्रहितसुषिरं मेरुमूर्धान्तरस्थं
तस्मिंस्तत्त्वं प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम् ।
चन्द्रात्सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां
तद्बध्नीयात्सुकरणमतो नान्यथा कायसिद्धिः ॥५२॥

यत्प्रालेयेति । मेरुवत्सर्वोन्नता सुषुम्णा मेरुस्तस्य मूर्धो-परिभागस्तस्यान्तरे मध्ये तिष्ठतीति मेरुमूर्धान्तरस्थं यत्प्रालेयं सोमकलाजलं प्रहितं निहितं यस्मिंस्तत्तथा तच्च तत्सुषिरं विवरम् , तस्मिन्विवरे सुधीः शोभना रजस्तमोभ्यामनभिभूतसत्त्वा धीर्बुद्धिर्यस्य सः । तत्त्वमात्मतत्त्वं प्रवदति प्रकर्षेण वदति । 'तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः' इति श्रुतेः । आत्मनो विभुत्वे खेचरीमुद्रायां तत्राभिव्यक्तिस्तस्मिंस्तत्त्व-मित्युक्तम् । निम्नगानां गङ्गायमुनासरस्वतीनर्मदादिशब्दवाच्या-

नामिडापिङ्गलासुषुम्णागांधारीप्रभृतीनां तत्तस्मिन्विवरे तत्समीपे मुखमग्रमस्ति चन्द्रात्सोमाद्वपुषः शरीरस्य सारः स्रवति क्षरति तेन चन्द्रसारक्षरणेन नराणां मनुष्याणां मृत्युर्मरणं भवति । अतो हेतोस्तत्पूर्वोदितं सुकरणं शोभनं करणं खेचरीमुद्राख्यं बध्नीयात् । सुकरणे बद्धे चन्द्रसारस्रवणाभावान्मृत्युर्न स्यादिति भावः । अन्यथा सुकरणबन्धनाभावे कायस्य देहस्य सिद्धी रूपलावण्यबलवज्रसंहननरूपा न स्यात् ॥ ५२ ॥

सुषिरं ज्ञानजनकं पञ्चस्रोतःसमन्वितम् ।
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिञ्शून्ये निरञ्जने ॥ ५३ ॥

सुषिरमिति । पञ्च यानि स्रोतांसीडादीनां प्रवाहास्तैः समन्वितं सम्यगनुगतम् । सप्तस्रोतःसमन्वितमिति क्वचित्पाठः । ज्ञानजनकमलौकिकबोधितात्मसाक्षात्कारजनकं यत्सुषिरं विवरं तस्मिन्सुषिरेऽञ्जनमविद्या तत्कार्यं शोकमोहादि च निर्गतं यस्मात्त-न्निरञ्जनं तस्मिन्निरञ्जने शून्ये सुषिरावकाशे खेचरी मुद्रा तिष्ठते स्थिरीभवति । 'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च' इत्यात्मनेपदम् ॥५३॥

एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी ।
एको देवो निरालम्ब एकाऽवस्था मनोन्मनी ॥५४॥

एकमिति । सृष्टिमयं सृष्टिरूपं प्रणवाख्यं बीजमेकं मुख्यम् । तदुक्तं माण्डूक्योपनिषदि—'ओमित्येतदक्षरमिदं

सर्वम्' इति। खेचरी मुद्रा एका मुख्या। निरालम्ब आलम्बनशून्य एको मुख्यो देवः, आलम्बनपरित्यागेनात्मनः स्वरूपावस्थानात्। उन्मन्यवस्थैका मुख्या। 'एके मुख्यान्यकेवलाः' इत्यमरः। बीजादिषु प्रणवादिवन्मुद्रासु खेचरी मुख्येत्यर्थः ॥ ५४ ॥

अथोड्डीयानबन्धः—

बद्धो येन सुषुम्णायां प्राणस्तूड्डीयते यतः।
तस्मादुड्डीयनाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ॥५५॥

उड्डीयानबन्धं विवक्षुस्तावदुड्डीयानशब्दार्थमाह—बद्ध इति। यतो यस्माद्धेतोर्येन बन्धेन बद्धो निरुद्धः प्राणः सुषुम्णायां मध्यनाड्यामुड्डीयते सुषुम्णां विहायसा गच्छति तस्मात्कारणादयं बन्धो योगिभिर्मत्स्येन्द्रादिभिरुड्डीयनमाख्याऽभिधा यस्य स उड्डीयनाख्यः समुदाहृतः सम्यग्व्युत्पत्त्योदाहृतः कथितः। सुषुम्णायामुड्डीयतेऽनेन बद्धः प्राण इत्युड्डीयनम्। उत्पूर्वात् 'डीङ् विहायसा गतौ' इत्यस्मात्करणे ल्युट् ॥ ५५ ॥

उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः।
उड्डीयानं तदेव स्यात्तत्र बन्धोऽभिधीयते ॥ ५६ ॥

उड्डीनमिति। महांश्चासौ खगश्च महाखगः प्राणः। सर्वदा देहावकाशे गतिमत्त्वात्। यस्माद्बन्धादविश्रान्तं यथा स्यात्तथोड्डीनं विहंगमगतिं कुरुते। सुषुम्णायामित्यध्याहार्यम्। तदेव बन्धविशेषमुड्डीयाननामकं स्यात्। तत्र तस्मिन्विषये बन्धोऽभिधीयते बन्धस्वरूपं कथ्यते मयेति शेषः ॥ ५६ ॥

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत्।
उड्डीयानो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी ॥ ५७ ॥

उड्डीयानबन्धमाह—उदर इति। उदरे तुन्दे नाभेरूर्ध्वं चकारादधः उपरिभागेऽधोभागे च पश्चिमं तानं पश्चिममाकर्षणं नाभेरूर्ध्वाधोभागौ यथा पृष्ठसंलग्नौ स्यातां तथा तानंताननं नामाकर्षणं कारयेत्कुर्यात्। णिजर्थोऽविवक्षितः। असौ नाभेरूर्ध्वाधोभागयोस्ताननरूप उड्डीयान उड्डीयानाख्यो बन्धः। कीदृशः? मृत्युरेव मातङ्गो गजस्तस्य केसरी सिंहः सिंह इव निवर्तकः ॥ ५७ ॥

उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा।
अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते ॥ ५८ ॥

उड्डीयानं त्विति। गुरुर्हितोपदेष्टा तेन गुरुणा उड्डीयानं

सर्वदा सर्वस्यैव जायमानत्वात् । यस्तु यः पुरुषस्तु सततं निरन्तरमभ्यसेत् । उड्डीयानमित्यत्रापि संबध्यते । स तु वृद्धोऽपि स्थविरोऽपि तरुणायते तरुण इवाचरति तरुणायते ॥

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः ।
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥ ५९ ॥

नाभेरिति । नाभेरूर्ध्वमुपरिभागेऽधश्चाप्यधोभागेऽपि प्रयत्नतः प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नस्तस्मात्प्रयत्नतः । यत्नविशेषात्तानं पश्चिमतानं कुर्यात् । पूर्वार्धेनोड्डीयानस्वरूपमुक्तम् । अथ तत्प्रशंसा । षण्मासं षण्मासपर्यन्तम् । उड्डीयानमित्यध्याहारः । अभ्यसेत्पुनः पुनरनुतिष्ठेत् । स मृत्युं जयत्येव संशयो न । अत्र संदेहो नास्तीत्यर्थः ॥ ५९ ॥

सर्वेषामेव बन्धानामुत्तमो ह्युड्डियानकः ।
उड्डियाने दृढे बन्धे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ॥६०॥

सर्वेषामिति । सर्वेषां बन्धानां मध्ये उड्डियानकः उड्डियानबन्ध एव । स्वार्थे कप्रत्ययः । उत्तमः उत्कृष्टः हि यस्मादुड्डियाने बन्धे दृढे सति स्वाभाविकी स्वभावसिद्धैव मुक्तिर्भवेत् । उड्डियानबन्धे कृते विहंगमगत्या सुषुम्णायां प्राणस्य मूर्ध्नि गमनात् ‘ समाधौ मोक्षमाप्नोति ’ इति वाक्यात्सहजैव मुक्तिः स्यादिति भावः ॥ ६० ॥

अथ मूलबन्धः—

पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद् गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽभिधीयते ॥ ६१ ॥

मूलबन्धमाह—पार्ष्णिभागेनेति । पार्ष्णेर्भागो गुल्फयोरधः-प्रदेशस्तेन योनिं योनिस्थानं गुदमेढ्रयोर्मध्यभागं संपीड्य सम्यक् पीडयित्वा गुदं पायुमाकुञ्चयेत् । अपानमधोगतिं वायुमूर्ध्वमुपर्याकृष्याकृष्टं कृत्वा मूलबन्धोऽभिधीयते कथ्यते । पार्ष्णिभागेन योनिस्थानसंपीडनपूर्वकं गुदस्याकुञ्चनं मूलबन्ध इत्युच्यत इत्यर्थः ॥ ६१ ॥

अधोगतिमपानं वा ऊर्ध्वगं कुरुते बलात् ।
आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धं हि योगिनः ॥ ६२ ॥

अधोगतिमिति । यः अधोगतिमधोऽर्वाग्गतिर्यस्य स तथा तमपानमपानवायुमाकुञ्चनेन मूलाधारस्य संकोचनेन बलाद्धठादूर्ध्वं गच्छतीत्यूर्ध्वगस्तमूर्ध्वगं सुषुम्णायामूर्ध्वगमनशीलं कुरुते । वै इति निश्चयेऽव्ययम् । योगिनो योगाभ्यासिनस्तं मूलबन्धं मूलस्य मूलस्थानस्य बन्धनं मूलबन्धस्तं मूलबन्धमित्यन्वर्थं प्राहुः । अनेन मूलबन्धशब्दार्थ उक्तः । पूर्वश्लोकेन तु तस्य बन्धनप्रकार

गुदं पार्ष्ण्या तु संपीड्य वायुमाकुञ्चयेद्बलात् ।
वारं वारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ॥ ६३ ॥

अथ योगबीजोक्तरीत्या मूलबन्धमाह—गुदमिति । पार्ष्ण्यो-र्गुल्फयोरधोभागेन गुदं वायुं संपीड्य सम्यक् पीडयित्वा संयोज्येत्यर्थः । तुशब्दः पूर्वस्मादस्य विशेषत्वद्योतकः । यथा येन प्रकारेण समीरणो वायुरूर्ध्वं सुषुम्णाया उपरिभागे याति गच्छति तथा तेन प्रकारेण बलाद्धठाद्वारं वारं पुनःपुनर्वायुम-पानमाकुञ्चयेद्गुदस्याकुञ्चनेनाकर्षयेत् । अयं मूलबन्ध इति वाक्याध्याहारः ॥ ६३ ॥

प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम् ।
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः ॥६४॥

अथ मूलबन्धगुणानाह—प्राणापानाविति । प्राणश्चापानश्च प्राणापानावूर्ध्वाधोगती वायू । नादोऽनाहतध्वनिः बिन्दुरनु-स्वारस्तौ मूलबन्धेनैकतां गत्वैकीभूय योगस्य संसिद्धिः सम्यक् सिद्धिस्तां योगसिद्धिं यच्छतो ददतः । अभ्यासिन इति शेषः । अत्रास्मिन्नर्थे संशयो न, संदेहो नास्तीत्यर्थः । अयं भावः—मूलबन्धे कृतेऽपानः प्राणेन सहैकीभूय सुषुम्णायां प्रविशति । ततो नादाभिव्यक्तिर्भवति । ततो नादेन सह

प्राणापानौ हृदयोपरि गत्वा नादस्य बिन्दुना सहैक्यं बिन्दुनाऽऽधाय मूर्ध्नि गच्छतः । ततो योगसिद्धिः ॥ ६४ ॥

अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः ।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥ ६५ ॥

अपानप्राणयोरिति । सततं मूलबन्धनान्मूलबन्धमुद्राकरणादपानप्राणयोरैक्यं भवति । मूत्रपुरीषयोः संचितयोः क्षयः पतनं भवति । वृद्धोऽपि स्थविरोऽपि युवा तरुणो भवति ॥ ६५ ॥

अपान ऊर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्निमण्डलम् ।
तदाऽनलशिखा दीर्घा जायते वायुनाऽऽहता ॥६६॥

अपान इति । मूलबन्धनादपाने अधोगमनशीले वायौ ऊर्ध्वगे ऊर्ध्वं गच्छतीत्यूर्ध्वगस्तस्मिंस्तादृशे सति वह्निमण्डलं वह्नेर्मण्डलं त्रिकोणं नाभेरधोभागेऽस्ति । तदुक्तं याज्ञवल्क्येन— 'देहमध्ये शिखिस्थानं तप्तजाम्बूनदप्रभम् । त्रिकोणं तु मनुष्याणां चतुरस्रं चतुष्पदाम् ॥ मण्डलं तु पतङ्गानां सत्यमेतद्ब्रवीमि ते । तन्मध्ये तु शिखा तन्वी सदा तिष्ठति पावके ॥' इति । तदा तस्मिन् काले वायुना अपानेनाहता संगता सत्यनलशिखा जठराग्निशिखा दीर्घा आयता जायते ।

ततो यातो वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम् ।
तेनात्यन्तप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा ॥ ६७ ॥

तत इति । ततस्तदनन्तरं वह्निश्चापानश्च वह्न्यपानौ । उष्णं स्वरूपं यस्य स तथा तमनलं शिखादैर्घ्यादुष्णस्वरूपं प्राणमूर्ध्वगतिमनिलं यातो गच्छतः । ततोऽनलशिखादैर्घ्या-दुष्णस्वरूपकादिति वा योजना । तेन प्राणसंगमनेन देहे जातो देहजो ज्वलनोऽग्निरत्यन्तमधिकं दीप्तो भवति । तथेति पादपूरणे । अपानस्योर्ध्वगमने दीप्त एव ज्वलनः प्राण-संगत्याऽत्यन्तं प्रदीप्तो भवतीत्यर्थः ॥ ६७ ॥

तेन कुण्डलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते ।
दण्डाहता भुजंगीव निःश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ॥ ६८ ॥

तेनेति । तेन ज्वलनस्यात्यन्तं प्रदीपनेन संतप्ता सम्यक् तप्ता सती सुप्ता निद्रिता कुण्डलिनी शक्तिः संप्रबुध्यते सम्यक् प्रबुद्धा भवति । दण्डेनाहता दण्डाहता चासौ भुजंगीव सर्पिणीव निःश्वस्य निःश्वासं कृत्वा ऋजुतां सरलतां व्रजेद्गच्छेत् ॥ ६८ ॥

बिलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत् ।
तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्तव्यो योगिभिः सदा ॥

बिलं प्रविष्टेति । ततः ऋजुताप्राप्त्यनन्तरं बिलं विवरं प्रविष्टा भुजंगीव ब्रह्मनाडी सुषुम्णा तस्या अन्तरं मध्यं

गच्छेत्तस्माद्धेतोर्योगिभिर्योगाभ्यासिभिर्मूलबन्धो नित्यं प्रतिदिनं सदा सर्वस्मिन्काले कर्तव्यः कर्तुं योग्यः ॥ ६९ ॥

अथ जालंधरबन्धः—

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चुबुकं दृढम् ।
बन्धो जालंधराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः ॥ ७० ॥

जालंधरबन्धमाह—कण्ठमिति । कण्ठे गले बिलमाकुञ्च्य हृदये वक्षःसमीपे चतुरङ्गुलान्तरितप्रदेशे चुबुकं हनुं दृढं स्थिरं स्थापयेत् स्थितं कुर्यात् । अयं कण्ठाकुञ्चनपूर्वकं चतुरङ्गुलान्तरितहृदयसमीपेऽधोनमनयत्नपूर्वकं चुबुकस्थापनरूपो जालंधर इत्याख्या यत इति जालंधराख्यो जालंधरनामा बन्धः । कीदृशः ? जरा वृद्धावस्था मृत्युर्मरणं तयोर्विनाशको विशेषेण नाशयतीति विनाशको विनाशकर्ता ॥ ७० ॥

बध्नाति हि सिराजालमधोगामि नभोजलम् ।
ततो जालंधरो बन्धः कण्ठदुःखौघनाशनः ॥ ७१ ॥

जालंधरपदस्यार्थमाह—बध्नातीति । हि यस्मात्सिराणां नाडीनां जालं समुदायं बध्नाति । अधो गन्तुं शीलमस्येत्यधोगामी नभसः कपालकुहरस्य जलममृतं च बध्नाति प्रतिबध्नाति । ततस्तस्माज्जालंधरो जालंधरनामकोऽन्वर्थो बन्धः जालं दशाजालं जलानां समूहो जालं धरतीति जालंधरः । कीदृशः ?

कण्ठे गलप्रदेशे यो दुःखौघो विकारजातो दुःखसमूहस्तस्य नाशनो नाशकर्ता ॥ ७१ ॥

जालंधरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे ।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ॥ ७२ ॥

जालंधरगुणानाह—जालंधर इति । कण्ठस्य गलबिलस्य संकोचनं संकोच आकुञ्चनं तदेव लक्षणं स्वरूपं यस्य स कण्ठसंकोचलक्षणः तस्मिन् तादृशे जालंधरे जालंधरसंज्ञके बन्धे कृते सति पीयूषममृतमग्नौ जाठरेऽनले न पतति न सरति । वायुश्च प्राणश्च न कुप्यति नाड्यन्तरे वायोर्गमनं प्रकोपस्तं न करोतीत्यर्थः ॥ ७२ ॥

कण्ठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तम्भयेद् दृढम् ।
मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबन्धनम् ॥ ७३ ॥

कण्ठसंकोचनेनेति । दृढं गाढं कण्ठसंकोचनेनैव कण्ठसंकोचनमात्रेण द्वे नाड्यौ इडापिङ्गले स्तम्भयेदयं जालंधर इति कर्तृपदाध्याहारः । इदं कण्ठस्थाने स्थितं विशुद्ध्याख्यं चक्रं मध्यचक्रं मध्यमं चक्रं ज्ञेयम् । कीदृशम् ? षोडशाधारबन्धनं षोडशसंख्याका ये आधारा अङ्गुष्ठाधारादिब्रह्मरन्ध्रान्तास्तेषां बंन्धनं बन्धनकारकम् । ‘ अङ्गुष्ठगुल्फजानूरुसीवनीलिङ्गनाभयः । हृद् ग्रीवा कण्ठदेशश्च लम्बिका नासिका तथा ॥

भ्रूमध्यं च ललाटं च मूर्धा च ब्रह्मरन्ध्रकम् । एते हि षोडशाधाराः कथिता योगिपुंगवैः ' ॥ तेष्वाधारेषु धारणायाः फलविशेषस्तु गोरक्षसिद्धान्तादवगन्तव्यः ॥ ७३ ॥

मूलस्थानं समाकुञ्च्य उड्डियानं तु कारयेत् ।
इडां च पिङ्गलां बद्ध्वा वाहयेत्पश्चिमे पथि ॥७४॥

उक्तस्य बन्धत्रयस्योपयोगमाह—मूलस्थानमिति । मूलस्थानमाधारभूतमाधारस्थानं समाकुञ्च्य सम्यगाकुञ्च्य उड्डियानं नाभेः पश्चिमतानरूपं बन्धं कारयेत्कुर्यात् । णिजर्थोऽविवक्षितः । इडां पिङ्गलां गङ्गां यमुनां च बद्ध्वा । जालंधरबन्धेनेत्यर्थः, 'कण्ठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तम्भयेत्' इत्युक्तेः । पश्चिमे पथि सुषुम्णामार्गे वाहयेद्गमयेत्प्राणमितिशेषः ॥ ७४ ॥

अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनो लयम् ।
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ॥ ७५ ॥

अनेनेति । अनेनैवोक्तेनैव विधानेन पवनः प्राणो लयं स्थैर्यं प्रयाति । गत्यभावपूर्वकं रन्ध्रे स्थितिः प्राणस्य लयः । ततः प्राणस्य लयान्मृत्युर्जरारोगादिकम् । तथा चार्थे । न जायते नोद्भवति । आदिपदेन वलीपलिततन्द्रालस्यादिकं ग्राह्यम् ॥ ७५ ॥

बन्धत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितम् ।
सर्वेषां हठतन्त्राणां साधनं योगिनो विदुः ॥ ७६ ॥

बन्धत्रयमिति । इदं पूर्वोक्तं बन्धत्रयं श्रेष्ठं षोडशाधार-बन्धेऽतिप्रशस्तं महासिद्धैर्मत्स्येन्द्रादिभिश्चकाराद्वसिष्ठादिमुनिभिः सेवितं सर्वेषां हठतन्त्राणां हठोपायानां साधनं सिद्धिजनकं योगिनो गोरक्षाद्या विदुर्जानन्ति ॥ ७६ ॥

यत्किंचित्स्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपिणः ।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डो जरायुतः ॥ ७७ ॥

विपरीतकरणीं विवक्षुस्तदुपोद्घातत्वेन पिण्डस्य जराकरणं तावदाह—यत्किंचिदिति । दिव्यमुत्कृष्टं सुधामयं रूपं यस्य स तथा तस्माद्दिव्यरूपिणश्चन्द्रात्सोमात्तालुमूलस्थाद्यत्किंचिद्यत्कि-मप्यमृतं पीयूषं स्रवते पतति सत्सर्वं सर्वं तत्पीयूषं सूर्यो नाभिस्थोऽनलात्मकः ग्रसते ग्रासीकरोति। तदुक्तं गोरक्षनाथेन—'नाभिदेशे स्थितो नित्यं भास्करो दहनात्मकः । अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमूले च चन्द्रमाः ॥ वर्षत्यधोमुखश्चन्द्रो ग्रसत्यूर्ध्वमुखो रविः । करणं तच्च कर्तव्यं येन पीयूषमाप्यते ॥' इति । तेन सूर्यकर्तृकामृतग्रसनेन पिण्डो देहो जरायुतः जरसा युक्तो भवति ॥ ७७ ॥

तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवञ्चनम् ।
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ॥ ७८ ॥

तत्रेति । तत्र तद्विषये सूर्यस्य नाभिस्थानलस्य मुखं वञ्च्यतेऽनेनेति तादृशं दिव्यमुत्तमं करणं वक्ष्यमाणमुद्राख्यमस्ति । तद्गुरूपदेशतः गुरूपदेशाज्ज्ञेयं ज्ञातुं शक्यम् । शास्त्रार्थानां कोटिभिः न तु नैव ज्ञातुं शक्यम् ॥ ७८ ॥

ऊर्ध्वनाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी ।
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ॥ ७९ ॥

विपरीतकरणीमाह—ऊर्ध्वनाभेरिति । ऊर्ध्वमुपरिभागे नाभिर्यस्य स ऊर्ध्वनाभिस्तस्योर्ध्वनाभेरधः अधोभागे तालु तालुस्थानं यस्य सोऽधस्तालुस्तस्याधस्तालोर्योगिन ऊर्ध्वमुपरिभागे भानुर्दहनात्मकः सूर्यो भवति । अधः अधोभागे शश्यमृतात्मा चन्द्रो भवति । प्रथमान्तपाठे तु यदा ऊर्ध्वनाभिरधस्तालुर्योगी भवति तदोर्ध्वं भानुरधः शशी भवति । यदातदापदयोरध्याहारेणान्वयः । इयं विपरीताख्या विपरीतनामिका करणी ऊर्ध्वाधःस्थितयोश्चन्द्रसूर्ययोरधऊर्ध्वकरणेनान्वर्था गुरुवाक्येन गुरोर्वाक्येनैव लभ्यते प्राप्यते नान्यथा ॥

नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्धिनी ।
आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य च ॥८०॥

नित्यमिति । नित्यं प्रतिदिनमभ्यासोऽभ्यसनं तस्मिन् युक्तस्यावहितस्य जठराग्निरुदराग्निस्तस्य विवर्धिनी विशेषेण वर्धिनीति विपरीतकरणीविशेषणम् । तस्य साधकस्य विपरीतकरण्यभ्यासिन आहारो भोजनं बहुलो यथेच्छः संपाद्यः संपादनीयः । च पादपूरणे ॥ ८० ॥

अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात् ।
अधःशिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ॥ ८१ ॥

अल्पाहार इति । यद्यल्पाहारः अल्पो भोक्तुमिष्टान्नस्याहारो भोजनं यस्य तादृशो भवेत्स्यात्तदाऽग्निर्जठरानलो देहं क्षणमात्राद्दहेत् । शीघ्रं दहेदित्यर्थः । ऊर्ध्वाधःस्थितयोश्चन्द्रसूर्ययोरधऊर्ध्वकरणक्रियामाह—अधःशिरा इति । अधः अधोभागे भूमौ शिरो यस्य सोऽधःशिराः कराभ्यां कटिप्रदेशमवलम्ब्य बाहुमूलादारभ्य कूर्परपर्यन्ताभ्यां बाहुभ्यां स्कन्धाभ्यां गलपृष्ठभागशिरःपृष्ठभागाभ्यां च भूमिमवष्टभ्याधःशिरा भवेत् । ऊर्ध्वमुपर्यन्तरिक्षे पादौ यस्य स ऊर्ध्वपादः प्रथमदिने आरम्भदिने क्षणं क्षणमात्रं स्यात् ॥ ८१ ॥

क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने ।
वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते ।

दिने दिने प्रतिदिनं क्षणात्किंचिदधिकं द्विक्षणं त्रिक्षणं एकदिनवृद्ध्याऽभ्यसेदभ्यासं कुर्यात्। विपरीतकरणीगुणानाह—वलितमिति। वलितं चर्मसंकोचः पलितं केशेषु शौक्ल्यं च, षण्णां मासानां समाहारः षण्मासं तस्मादूर्ध्वमुपरि नैव दृश्यते नैवावलोक्यते। साधकस्य देह इति वाक्याध्याहारः। यस्तु साधको याममात्रं प्रहरमात्रं नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित्कालं मृत्युं जयतीति कालजिन्मृत्युजेता भवेत्। एतेन योगस्य प्रारब्धकर्मप्रतिबन्धकत्वमपि सूचितम्। तदुक्तं विष्णुधर्मे—'स्वदेहारम्भकस्यापि कर्मणः संक्षयावहः। यो योगः पृथिवीपाल शृणु तस्यापि लक्षणम्॥' इति। विद्यारण्यैरपि जीवन्मुक्तावुक्तम्—'यथा प्रारब्धकर्म तत्त्वज्ञानात्प्रबलं तथा तस्मादपि कर्मणो योगाभ्यासः प्रबलः। अत एव योगिनामुद्दालकवीतहव्यादीनां स्वेच्छया देहत्याग उपपद्यते' इति। भागवतेऽप्युक्तम्—'देहं जह्यात्समाधिना' इति॥ ८२॥

अथ वज्रोली—

स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना।
वज्रोलीं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम्॥

वज्रोल्यां प्रवृत्तिं जनयितुमादौ तत्फलमाह—स्वेच्छयेति। योऽभ्यासी वज्रोलीं वज्रोलीमुद्रां विजानाति विशेषेण

स्वानुभवेन जानाति स योगी योगे योगशास्त्रे उक्ता योगोक्तास्तैर्योगोक्तैर्नियमैर्ब्रह्मचर्यादिभिर्विना ऋते स्वेच्छया निजेच्छया वर्तमानोऽपि व्यवहरन्नपि सिद्धिभाजनं सिद्धीनामणिमादीनां भाजनं पात्रं भवति ॥ ८३ ॥

तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित् ।
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी ॥ ८४ ॥

तत्साधनोपयोगि वस्तुद्वयमाह—तत्रेति । तत्र वज्रोल्यभ्यासे वस्तुनोर्द्वयं वक्ष्ये कथयिष्ये । कीदृशं वस्तुद्वयम्? यस्य कस्यचित् यस्य कस्यापि धनहीनस्य दुर्लभं दुःखेन लब्धुं शक्यं दुःखेनापि लब्धुमशक्यमिति वा, 'दुः स्यात्कष्टनिषेधयोः' इति कोशात् । किं तद्वस्तुद्वयमित्यपेक्षायामाह—क्षीरमिति । एकं वस्तु क्षीरं पानार्थं मेहनानन्तरमिन्द्रियनैर्बल्यात्तद्बलार्थं क्षीरपानं युक्तम् । केचित्तु अभ्यासकाले आकर्षणार्थमित्याहुः । तस्यान्तर्गतस्य घनीभावे निर्गमनासंभवात्तदयुक्तम् । द्वितीयं तु वस्तु वशवर्तिनी स्वाधीना नारी वनिता ॥ ८४ ॥

मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुञ्चनमभ्यसेत् ।
पुरुषोऽप्यथ वा नारी वज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात् ॥

वज्रोलीमुद्राप्रकारमाह—मेहनेनेति । मेहनेन स्त्रीसङ्गानन्तरं बिन्दोः क्षरणेन साधनभूतेन पुरुषः पुमानथ वा नार्यपि

योषिदपि शनैर्मन्दं सम्यक् यत्नपूर्वकमूर्ध्वाकुञ्चनमूर्ध्वमुपर्याकुञ्चनं मेढ्राकुञ्चनेन बिन्दोरुपर्याकर्षणमभ्यसेद्वज्रोलीमुद्रासिद्धिमाम्नयात्सिद्धिं गच्छेत् ॥ ८५ ॥

यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकंदरे ।
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसंचारकारणात् ॥ ८६ ॥

अथ वज्रोल्याः पूर्वाङ्गप्रक्रियामाह—यत्नत इति । शस्तः प्रशस्तो यो नालस्तेन शस्तनालेन सीसकादिनिर्मितेन नालेन शनैः शनैर्मन्दं मन्दं यथाऽग्नेर्धमनार्थं फूत्कारः क्रियते तादृशं फूत्कारं वज्रकंदरे मेढ्रविवरे वायोः संचारः सम्यग्वज्रकंदरे चरणं गमनं तत्कारणात्तद्धेतोः प्रकुर्वीत प्रकर्षेण पुनः पुनः कुर्वीत । अथ वज्रोलीसाधनप्रक्रिया—सीसकनिर्मितां स्निग्धां मेढ्रप्रवेशयोग्यां चतुर्दशाङ्गुलमात्रां शलाकां कारयित्वा तस्या मेढ्रे प्रवेशनमभ्यसेत् । प्रथमदिने एकाङ्गुलमात्रां प्रवेशयेत् । द्वितीयदिने द्व्यङ्गुलमात्रां तृतीयदिने त्र्यङ्गुलमात्राम् । एवं क्रमेण वृद्धौ द्वादशाङ्गुलमात्रप्रवेशे मेढ्रमार्गः शुद्धो भवति । पुनस्तादृशीं चतुर्दशाङ्गुलमात्रां द्व्यङ्गुलमात्रवक्रामूर्ध्वमुखां कारयित्वा तां द्वादशाङ्गुलमात्रां प्रवेशयेत् । वक्रमूर्ध्वमुखं द्व्यङ्गुलमात्रं बहिः स्थापयेत् । ततः सुवर्णकारस्य अग्निधमनसाधनीभूतनालसदृशं नालं गृहीत्वा तदग्रं मेढ्र-

प्रवेशितद्वादशाङ्गुलस्य नालस्य वक्रोर्ध्वमुखद्व्यङ्गुलमध्ये प्रवेश्य फूत्कारं कुर्यात् । तेन सम्यक् मार्गशुद्धिर्भवति । ततो जलस्य मेढ्रेणाकर्षणमभ्यसेत् । जलाकर्षणे सिद्धे पूर्वोक्तश्लोकरीत्या बिन्दोरूर्ध्वाकर्षणमभ्यसेत् । बिन्द्वाकर्षणे सिद्धे वज्रोलीमुद्रासिद्धिः । इयं जितप्राणस्यैव सिध्यति नान्यस्य । खेचरीमुद्राप्राणजयोभयसिद्धौ तु सम्यग् भवति ॥ ८६ ॥

नारीभगे पतद्बिन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत् ।
चलितं च निजं बिन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ॥ ८७ ॥

एवं वज्रोल्यभ्यासे सिद्धे तदुत्तरं साधनमाह—नारीभग इति । नारीभगे स्त्रीयोनौ पततीति पतन् पतंश्चासौ बिन्दुश्च पतद्बिन्दुस्तं पतद्बिन्दुं रतिकाले पतन्तं बिन्दुमभ्यासेन वज्रोलीमुद्राभ्यासेनोर्ध्वमुपर्याहरेदाकर्षयेत् । पतनात्पूर्वमेव । यदि पतनात्पूर्वं बिन्दोराकर्षणं न स्यात्तर्हि पतितमाकर्षयेदित्याह—चलितं चेति । चलितं नारीभगे पतितं निजं स्वकीयं बिन्दुं चकारात्तद्रजः ऊर्ध्वमुपर्याकृष्याहृत्य रक्षयेत् स्थापयेत् ॥ ८७ ॥

एवं संरक्षयेद्बिन्दुं मृत्युं जयति योगवित् ।
मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात् ॥ ८८ ॥

वज्रोलीगुणानाह—एवमिति । एवमुक्तरीत्या बिन्दुं यः संरक्षयेत् सम्यग् रक्षयेत् स योगविद्योगाभिज्ञो मृत्युं

जयत्यभिभवति । यतो बिन्दोः शुक्रस्य पातेन पतनेन मरणं भवति । बिन्दोर्धारणं बिन्दुधारणं तस्माद्बिन्दुधारणाज्जीवनं भवति । तस्माद्बिन्दुं संरक्षयेदित्यर्थः ॥ ८८ ॥

सुगन्धो योगिनो देहे जायते बिन्दुधारणात् ।
यावद्बिन्दुः स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुतः ॥ ८९ ॥

सुगन्ध इति । योगिनो वज्रोल्यभ्यासिनो देहे बिन्दोः शुक्रस्य धारणं बिन्दुधारणं तस्मात्सुगन्धः शोभनो गन्धो जायते प्रादुर्भवति । देहे यावद्बिन्दुः स्थिरस्तावत्कालभयं मृत्युभयं कुतः । न कुतोऽपीत्यर्थः ॥ ८९ ॥

चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम् ।
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥ ९० ॥

चित्तायत्तमिति । हि यस्मान्नृणां शुक्रं वीर्यं चित्तायत्तं चित्ते चले चलत्वाच्चित्ते स्थिरे स्थिरत्वाच्चित्ताधीनम् । जीवितं जीवनं शुक्रायत्तं शुक्रे स्थिरे जीवनाच्छुक्रे नष्टे मरणाच्छुक्राधीनम् । तस्माच्छुक्रं बिन्दुं मनश्च मानसं च प्रकृष्टाद्यत्नादिति प्रयत्नतः रक्षणीयमेव । अवश्यं रक्षणीयमित्यर्थः । एवशब्दो भिन्नक्रमः ॥ ९० ॥

ऋतुमत्या रजोऽप्येवं बीजं बिन्दुं च रक्षयेत् ।

ऋतुमत्या इति । एवं पूर्वोक्तेनाभ्यासेन ऋतुर्विद्यते यस्याः सा ऋतुमती तस्या ऋतुमत्या ऋतुस्नातायाः स्त्रियो रेतः निजं स्वकीयं बिन्दुं च रक्षयेत् । पूर्वोक्ताभ्यासं दर्शयति—मेढ्रेणेति । अभ्यासो वज्रोल्यभ्यासः स एव योगो योगसाधनत्वात्तं वेत्तीत्यभ्यासयोगवित् मेढ्रेण गुह्येन्द्रियेण सम्यग्यत्नपूर्वकमूर्ध्वमुपर्याकर्षयेत् । रजो बिन्दुं चेति कर्माध्याहारः । अयं श्लोकः क्षिप्तः ॥ ९१ ॥

अथ सहजोली—

सहजोलिश्चामरोलिर्वज्रोल्या भेद एकतः ।
जलेषु भस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसंभवम् ॥ ९२ ॥

सहजोल्यमरोल्यौ विवक्षुस्तयोर्वज्रोलीविशेषत्वमाह—सहजोलिश्चेति । वज्रोल्या भेदो विशेषः सहजोलिरमरोलिश्च । तत्र हेतुः एकतः एकत्वादेकफलत्वादित्यर्थः । एकशब्दाद्भावप्रधानात्पञ्चम्यास्तसिः । सहजोलिमाह—जलेष्विति । गोः पुरीषाणि गोमयानि दग्धानि च तानि गोमयानि च दग्धगोमयानि तेषु संभव उत्पत्तिर्यस्य तद्दग्धगोमयसंभवं शोभनं भस्म विभूतिः तत् जले तोये निक्षिप्य तोयमिश्रं कृत्वोत्तर उत्तरश्लोकेनान्वेति ॥ ९२॥

वज्रोलीमैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसोः स्वङ्गलेपनम् ।
आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणात् ॥९३॥

वज्रोलीति । वज्रोलीमुद्रार्थं मैथुनं तस्मादूर्ध्वमनन्तरं सुखेनैवानन्देनैवासीनयोरुपविष्टयोः क्षणाद्रत्युत्सवान्मुक्तस्त्यक्तो व्यापारो रतिक्रिया याभ्यां तौ मुक्तव्यापारौ तयोर्मुक्तव्यापारयोः स्त्री च पुमांश्च स्त्रीपुंसौ तयोः स्त्रीपुंसोः स्वङ्गलेपनं शोभनान्यङ्गानि स्वङ्गानि मूर्धललाटनेत्रहृदयस्कन्धभुजादीनि तेषु लेपनम् ॥ ९३ ॥

सहजोलिरियं प्रोक्ता श्रद्धेया योगिभिः सदा ।
अयं शुभकरो योगो भोगयुक्तोऽपि मुक्तिदः ॥९४॥

सहजोलिरिति । इयमुक्ता क्रिया सहजोलिरिति प्रोक्ता कथिता योगिभिर्मत्स्येन्द्रादिभिः । कीदृशी ? सदा श्रद्धेया सर्वदा श्रद्धातुं योग्या । अयं सहजोल्याख्यो योग उपायः शुभकरः शुभं श्रेयः करोतीति शुभकरः, 'योगः संनहनोपायध्यानसंगतियुक्तिषु' इत्यभिधानात् । कीदृशो योगः ? भोगेन युक्तोऽपि मुक्तिदो मोक्षदः ॥ ९४ ॥

अयं योगः पुण्यवतां धीराणां तत्त्वदर्शिनाम् ।
निर्मत्सराणां सिध्येत न तु मत्सरशालिनाम् ॥९५॥

अयं योग इति। अयमुक्तो योगः पुण्यं विद्यते येषां ते पुण्यवन्तः सुकृतिनस्तेषां पुण्यवतां धीराणां धैर्यवतां तत्त्वं वास्तविकं पश्यन्तीति तत्त्वदर्शिनस्तेषां तत्त्वदर्शिनां मत्सरान्निष्क्रान्ता निर्मत्सरास्तेषां निर्मत्सराणामन्यगुणद्वेषरहितानाम्। 'मत्सरोऽन्यगुणद्वेषः' इत्यमरः। तादृशानां पुंसां सिध्येत सिद्धिं गच्छेत्। मत्सरशालिनां मत्सरवतां तु न सिध्येत्॥९५॥

अथामरोली—

पित्तोल्बणत्वात्प्रथमाम्बुधारां
विहाय निःसारतयाऽन्त्यधाराम्।
निषेव्यते शीतलमध्यधारा
कापालिके खण्डमतेऽमरोली॥ ९६॥

अमरोलीमाह—पित्तोल्बणत्वादिति। पित्तेनोल्बणोत्कटा पित्तोल्बणा तस्या भावः पित्तोल्बणत्वं तस्मात्। यथा प्रथमा पूर्वा याऽम्बुनः शिवाम्बुनो धारा तां विहाय शिवाम्बुनिर्गमनसमये किंचित्पूर्वां धारां त्यक्त्वा। निर्गतः सारो यस्याः सा निःसारा तस्या भावो निःसारता तया निःसारतया निःसारत्वेनान्त्यधारा अन्त्या चरमा या धारा तां विहाय किंचिदन्त्यां धारां त्यक्त्वा। शीतला पित्तादिदोषसारत्वरहिता या मध्यधारा मध्यमा धारा सा निषेव्यते नितरां सेव्यते।

खण्डो योगविशेषो मतोऽभिमतो यस्य स खण्डमतस्तस्मिन् खण्डमते कापालिकस्यायं कापालिकस्तस्मिन् कापालिके खण्डकापालिकसंप्रदाय इत्यर्थः । अमरोली प्रसिद्धेति शेषः ॥

अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन्दिने दिने ।
वज्रोलीमभ्यसेत्सम्यक्साऽमरोलीति कथ्यते ॥ ९७ ॥

अमरीमिति । अमरीं शिवाम्बु यः पुमान् नित्यं पिबेत् । नस्यं कुर्वन् श्वासेनामर्या घ्राणान्तर्ग्रहणं कुर्वन् सन् दिने दिने प्रतिदिनं वज्रोलीम् 'मेहनेन शनैः' इति श्लोकेनोक्तां सम्यगभ्यसेत्साऽमरोलीति कथ्यते । कापालिकैरिति शेषः । अमरी पीताऽमरी । नस्यपूर्विका वज्रोल्यमरोलीशब्देनोच्यत इत्यर्थः ॥

अभ्यासान्निःसृतां चान्द्रीं विभूत्या सह मिश्रयेत् ।
धारयेदुत्तमाङ्गेषु दिव्यदृष्टिः प्रजायते ॥ ९८ ॥

अभ्यासादिति । अभ्यासादमरोल्यभ्यासान्निःसृतां निर्गतां चान्द्रीं चन्द्रस्येयं चान्द्री तां चान्द्रीं सुधां विभूत्या भस्मना सह साकं मिश्रयेत्संयोजयेत् । उत्तमाङ्गेषु शिरःकपालनेत्रस्कन्धकण्ठहृदयभुजादिषु धारयेत् । भस्ममिश्रितां चान्द्रीमिति शेषः । दिव्या अतीतानागतवर्तमानव्यवहितविप्रकृष्टपदार्थदर्शनयोग्या दृष्टिर्यस्य स दिव्यदृष्टिर्दिव्यदृक् प्रजायते प्रकर्षेण जायते । अमरीसेवनप्रकारविशेषाः शिवाम्बुकल्पादवगन्तव्याः ॥

पुंसो बिन्दुं समाकुञ्च्य सम्यगभ्यासपाटवात् ।
यदि नारी रजो रक्षेद्वज्रोल्या साऽपि योगिनी ॥

पुंसो वज्रोलीसाधनमुक्त्वा नार्यास्तदाह—पुंसो बिन्दुमिति। सम्यगभ्यासस्य सम्यगभ्यसनस्य पाटवं पटुत्वं तस्मात्पुंसः पुरुषस्य बिन्दुं वीर्यं समाकुञ्च्य सम्यगाकृष्य नारी स्त्री यदि रजो वज्रोल्या वज्रोलीमुद्रया रक्षेत्, सापि नारी योगिनी प्रशस्तयोगवती ज्ञेया। पुंसो बिन्दुसमायुक्तमिति पाठे तु एतद्रजसो विशेषणम् ॥ ९९ ॥

तस्याः किंचिद्रजो नाशं न गच्छति न संशयः ।
तस्याः शरीरे नादश्च बिन्दुतामेव गच्छति ॥१००॥

नारीकृताया वज्रोल्याः फलमाह—तस्या इति। तस्या वज्रोल्यभ्यसनशीलाया नार्या रजः किंचित् किमपि स्वल्पमपि नाशं न गच्छति नष्टं न भवति पतनं न प्राप्नोतीत्यर्थः। अत्र संशयो न संदेहो न। तस्या नार्याः शरीरे नादश्च बिन्दुतामेव गच्छति मूलाधारादुत्थितो नादो हृदयोपरि बिन्दुभावं गच्छति। बिन्दुना सहैकीभवतीत्यर्थः। अमृत-सिद्धौ—'बीजं च पौरुषं प्रोक्तं रजश्च स्त्रीसमुद्भवम्। अनयोर्बाह्ययोगेन सृष्टिः संजायते नृणाम् ॥ यदाऽभ्यन्तरयोगः स्यात्तदा योगीति गीयते। बिन्दुश्चन्द्रमयः प्रोक्तो रजः

सूर्यमयं तथा ॥ अनयोः संगमादेव जायते परमं पदम् । स्वर्गदो मोक्षदो बिन्दुर्धर्मदोऽधर्मदस्तथा । तन्मध्ये देवताः सर्वास्तिष्ठन्ते सूक्ष्मरूपतः ॥' इति ॥ १०० ॥

स बिन्दुस्तद्रजश्चैव एकीभूय स्वदेहगौ ।
वज्रोल्यभ्यासयोगेन सर्वसिद्धिं प्रयच्छतः ॥१०१॥

बिन्दुरिति । स पुंसो बिन्दुस्तद्रजो नार्या रजश्चैव वज्रोलीमुद्राया अभ्यासो वज्रोल्यभ्यासः स एव योगस्तेनैकीभूय मिलित्वा स्वदेहगौ स्वदेहे गतौ सर्वसिद्धिं प्रयच्छतः दत्तः ॥ १०१ ॥

रक्षेदाकुञ्चनादूर्ध्वं या रजः सा हि योगिनी ।
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद् ध्रुवम् ॥१०२॥

रक्षेदिति । या नार्याकुञ्चनाद्योनिसंकोचनादूर्ध्वमुपरि स्थाने नीत्वा रजो रक्षेत् । हीति प्रसिद्धं योगशास्त्रे । सा योगिन्यतीतानागतं भूतं भविष्यं च वस्तु वेत्ति जानाति ध्रुवमिति निश्चितं खेऽन्तरिक्षे चरतीति खेचर्यन्तरिक्षचरी भवेत् ॥१०२॥

देहसिद्धिं च लभते वज्रोल्यभ्यासयोगतः ।
अयं पुण्यकरो योगो भोगे भुक्तेऽपि मुक्तिदः ॥१०३॥

देहसिद्धिमिति । वज्रोल्या अभ्यासस्य योगो युक्तिस्तस्माद्देहस्य सिद्धिं रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वरूपां लभते ।

अयं योगो वज्रोल्यभ्यासयोगः पुण्यकरोऽदृष्टविशेषजनकः । कीदृशो योगः ? भुज्यत इति भोगो विषयस्तस्मिन् भुक्तेऽपि मुक्तिदो मोक्षदः ॥ १०३ ॥

अथ शक्तिचालनम्—

कुटिलाङ्गी कुण्डलिनी भुजंगी शक्तिरीश्वरी ।
कुण्डल्यरुन्धती चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः ॥१०४॥

शक्तिचालनं विवक्षुस्तदुपोद्धाततया कुण्डलीपर्यायान् तया मोक्षद्वारविभेदनादिकं चाह सप्तभिः—कुटिलाङ्गीति । कुटिलाङ्गी १ कुण्डलिनी २ भुजंगी ३ शक्तिः ४ ईश्वरी ५ कुण्डली ६ अरुन्धती ७ चैते सप्त शब्दाः पर्यायवाचका एकार्थवाचकाः ॥ १०४ ॥

उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुञ्चिकया हठात् ।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ॥१०५॥

उद्घाटयेदिति । यथा येन प्रकारेण पुमान् कुञ्चिकया कपाटार्गलोत्सारणसाधनीभूतया हठाद्बलात्कपाटमररमुद्घाटयेदुत्सारयेत् । हठादिति देहलीदीपन्यायेनोभयत्र संबध्यते । तथा तेन प्रकारेण योगी हठाद्धठाभ्यासात्कुण्डलिन्या शक्त्या मोक्षद्वारं मोक्षस्य द्वारं प्रापकं सुषुम्णामार्गं विभेदयेद्विशेषेण भेदयेत्, 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' इति श्रुतेः ॥ १०५ ॥

येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम् ।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥ १०६ ॥

येनेति । आमयो रोगजन्यं दुःखं दुःखमात्रोपलक्षणं तस्मान्निर्गतं निरामयं दुःखमात्ररहितं ब्रह्मस्थानं ब्रह्माविर्भावजनकं स्थानं ब्रह्मस्थानं ब्रह्मरन्ध्रम्, 'तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः' इति श्रुतेः । येन मार्गेण सुषुम्णामार्गेण गन्तव्यं गमनार्हमस्ति तद्द्वारं तस्य मार्गस्य द्वारं प्रवेशमार्गं मुखेनास्येनाच्छाद्य रुद्ध्वा परमेश्वरी कुण्डलिनी प्रसुप्ता निद्रिताऽस्ति ॥ १०६ ॥

कंदोर्ध्वे कुण्डली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम् ।
बन्धनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित् ॥१०७॥

कंदोर्ध्व इति । कुण्डली शक्तिः कंदोर्ध्वे कंदस्योपरिभागे योगिनां मोक्षाय सुप्ता, मूढानां बन्धनाय सुप्ता । योगिनस्तां चालयित्वा मुक्ता भवन्ति, मूढास्तदज्ञानाद्बद्धास्तिष्ठन्तीति भावः । तां कुण्डलिनीं यो वेत्ति स योगवित् । सर्वेषां योगतन्त्राणां कुण्डल्याश्रयत्वादित्यर्थः ॥ १०७ ॥

कुण्डली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्तिता ।
सा शक्तिश्चालिता येन स युक्तो नात्र संशयः ॥१०८॥

कुण्डलीति । कुण्डली शक्तिः सर्पवद्भुजंगवत्कुटिल आकारः स्वरूपं यस्याः सा कुटिलाकारा परिकीर्तिता कथिता योगिभिः । सा कुण्डली शक्तिर्येन पुंसा चालिता मूलाधारादूर्ध्वं नीता स मुक्तोऽज्ञानबन्धान्निवृत्तः । अत्रास्मिन्नर्थे संशयो न संदेहो नास्तीत्यर्थः, 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' इति श्रुतेः ॥ १०८ ॥

गङ्गायमुनयोर्मध्ये बालरण्डां तपस्विनीम् ।
बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम् ॥१०९॥

गङ्गायमुनयोरिति । गङ्गायमुनयोराधाराधेयभावेन तयोर्भावनाद्गङ्गायमुनयोरभेदेन भावनाद्वा गङ्गायमुने इडापिङ्गले तयोर्मध्ये सुषुम्णामार्गे तपस्विनीं निरशनस्थितेः, बालरण्डां बालरण्डाशब्दवाच्यां कुण्डलीं बलात्कारेण हठेन गृह्णीयात् । तत्तस्या गङ्गायमुनयोर्मध्ये ग्रहणं विष्णोर्हरेर्व्यापकस्यात्मनो वा परमं पदं परमपदप्रापकम् ॥ १०९ ॥

इडा भगवती गङ्गा पिङ्गला यमुना नदी ।
इडापिङ्गलयोर्मध्ये बालरण्डा च कुण्डली ॥ ११० ॥

गङ्गायमुनादिपदार्थमाह—इडेति । इडा वामनिःश्वासा नाडी भगवत्यैश्वर्यादिसंपन्ना गङ्गा गङ्गापदवाच्या, पिङ्गला दक्षिणनिःश्वासा यमुना यमुनाशब्दवाच्या नदी । इडापिङ्गलयोर्मध्ये

मध्यगता या कुण्डली सा बालरण्डा बालरण्डाशब्द-वाच्या ॥ ११० ॥

पुच्छे प्रगृह्य भुजगीं सुप्तामुद्बोधयेच्च ताम् ।
निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात् ॥१११॥

शक्तिचालनमाह—पुच्छ इति । सुप्तां निद्रितां भुजगीं तां कुण्डलिनीं पुच्छे प्रगृह्योद्बोधयेत्प्रबोधयेत्सा शक्तिः कुण्डली निद्रां विहाय हठादूर्ध्वं तिष्ठत इत्यन्वयः । एतद्रहस्यं तु गुरुमुखादवगन्तव्यम् ॥ १११ ॥

अवस्थिता चैव फणावती सा
प्रातश्च सायं प्रहरार्धमात्रम् ।
प्रपूर्य सूर्यात्परिधानयुक्त्या
प्रगृह्य नित्यं परिचालनीया ॥ ११२ ॥

अवस्थितेति । अवस्थिताऽवाक् स्थिता मूलाधारस्थिता फणावती भुजंगी सा कुण्डली सूर्यादापूर्य सूर्यात्पूरणं कृत्वा परिधाने युक्तिस्तया परिधानयुक्त्या प्रगृह्य गृहीत्वा । सायं सूर्यास्तसमये प्रातः सूर्योदयवेलायां नित्यमहरहः प्रहरस्य यामस्यार्धं प्रहरार्धं प्रहरार्धमेव प्रहरार्धमात्रं मुहूर्तद्वयमात्रं परिचालनीया परितश्चालयितुं योग्या । परिधानयुक्तिर्देशिका-द्बोध्या ॥ ११२ ॥

ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरङ्गुलम् ।
मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टिताम्बरलक्षणम् ॥ ११३ ॥

कंदसंपीडनेन शक्तिचालनं विवक्षुरादौ कंदस्य स्थानं स्वरूपं चाह—ऊर्ध्वमिति । मूलस्थानाद्वितस्तिमात्रं वितस्तिप्रमाणमूर्ध्वमुपरि नाभिमेढ्रयोर्मध्ये । एतेन कंदस्य स्थानमुक्तम् । तथा चोक्तं गोरक्षशतके—'ऊर्ध्वं मेढ्रादधो नाभेः कंदयोनिः खगाण्डवत् । तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिः ॥' इति । याज्ञवल्क्यः—'गुदात्तु द्व्यङ्गुलादूर्ध्वं मेढ्रात्तु द्व्यङ्गुलादधः । देहमध्यं तनोर्मध्यं मनुजानामितीरितम् ॥ कंदस्थानं मनुष्याणां देहमध्यान्नवाङ्गुलम् । चतुरङ्गुलविस्तारमायामं च तथाविधम् ॥ अण्डाकृतिवदाकारभूषितं च त्वगादिभिः । चतुष्पदां तिरश्चां च द्विजानां तुन्दमध्यगम् ॥' इति । गुदाद् द्व्यङ्गुलोपर्येकाङ्गुलं मध्यं तस्मान्नवाङ्गुलं कंदस्थानं मिलित्वा द्वादशाङ्गुलप्रमाणं वितस्तिमात्रं जातम् । चतुर्णामङ्गुलीनां समाहारश्चतुरङ्गुलं चतुरङ्गुलप्रमाणं विस्तारम् । विस्तारो दैर्घ्यस्याप्युपलक्षणम् । चतुरङ्गुलं दीर्घं च मृदुलं कोमलं धवलं शुभ्रं वेष्टितं वेष्टनाकारीकृतं यदम्बरं वस्त्रं तस्य लक्षणं स्वरूपमिव लक्षणं स्वरूपं यस्य तादृशं प्रोक्तं कथितम् । कंदस्वरूपं योगिभिरिति शेषः ॥ ११३ ॥

सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद् दृढम् ।
गुल्फदेशसमीपे च कंदं तत्र प्रपीडयेत् ॥ ११४ ॥

सतीति । वज्रासने कृते सति कराभ्यां हस्ताभ्यां गुल्फौ पादग्रन्थी तयोर्देशौ प्रदेशौ तयोः समीपे गुल्फाभ्यां किंचिदुपरि । 'तद्ग्रन्थी घुटिके गुल्फौ' इत्यमरः । पादौ चरणौ दृढं गाढं धारयेत् गृह्णीयात् । चकाराद्धृताभ्यां पादाभ्यां तत्र कंदस्थाने कंदं प्रपीडयेत्प्रकर्षेण पीडयेत् । गुल्फादूर्ध्वं कराभ्यां पादौ गृहीत्वा नाभेरधोभागे कंदं पीडयेदित्यर्थः ॥ ११४ ॥

वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुण्डलीम् ।
कुर्यादनन्तरं भस्त्रां कुण्डलीमाशु बोधयेत् ॥ ११५ ॥

वज्रासन इति । वज्रासने स्थितो योगी कुण्डलीं चालयित्वा शक्तिचालनमुद्रां कृत्वेत्यर्थः । अनन्तरं शक्तिचालनानन्तरं भस्त्रां भस्त्राख्यं कुम्भकं कुर्यात् । एवंरीत्या कुण्डलीं शक्तिमाशु शीघ्रं बोधयेत्प्रबुद्धां कुर्यात् । वज्रासने शक्तिचालनस्य पूर्वं विधानेऽपि पुनर्वज्रासनोपपादनं शक्तिचालनानन्तरं भस्त्रायां वज्रासनमेव कर्तव्यमिति नियमार्थम् ॥ ११५ ॥

भानोराकुञ्चनं कुर्यात्कुण्डलीं चालयेत्ततः ।
मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ॥ ११६ ॥

भानोरिति । भानोर्नाभिदेशस्थस्य सूर्यस्याकुञ्चनं कुर्यात् । नाभेराकुञ्चनेनैवास्याकुञ्चनं भवति । ततो भानोराकुञ्चनात्कुण्डलीं शक्तिं चालयेत् । मृत्योर्वक्त्रं मुखं गतस्यापि प्राप्तास्यापि तस्य पुंसो मृत्युभयं कालभयं कुतः । न कुतोऽपीत्यर्थः ॥ ११६ ॥

मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयं चालनादसौ ।
ऊर्ध्वमाकृष्यते किंचित्सुषुम्णायां समुद्गता ॥११७॥

मुहूर्तद्वयमिति । मुहूर्तयोर्द्वयं युग्मं घटिकाचतुष्टयात्मकं तत्पर्यन्तं तदवधि निर्भयं निःशङ्कं चालनादसौ शक्तिः सुषुम्णायां समुद्गता सती किंचिदूर्ध्वमाकृष्यते आकृष्टा भवति ॥ ११७ ॥

तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्णाया मुखं ध्रुवम् ।
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्णां व्रजति स्वतः ॥११८॥

तेनेति । तेनोर्ध्वमाकर्षणेन कुण्डलिनी तस्याः प्रसिद्धायाः सुषुम्णाया मुखं प्रवेशमार्गं ध्रुवं निश्चितं जहाति त्यजति । तस्मान्मार्गत्यागादयं प्राणवायुः स्वतः स्वयमेव सुषुम्णां व्रजति गच्छति । सुषुम्णामुखात्प्रागेव कुण्डलिन्या निर्गतत्वादिति भावः ॥ ११८ ॥

तस्मात्संचालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुन्धतीम् ।
तस्याः संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ॥११९॥

तस्मादिति । यस्माच्छक्तिचालनेन प्राणः सुषुम्णां व्रजति तस्मात्सुखेन सुप्ता सुखसुप्ता तां सुखसुप्तामरुन्धतीं शक्तिं नित्यं प्रतिदिनं संचालयेत्सम्यक् चालयेत् । तस्याः शक्तेः संचालनेनैव संचालनमात्रेण योगी रोगैः कासश्वासजरादिभिः प्रमुच्यते प्रकर्षेण मुक्तो भवति ॥ ११९ ॥

येन संचालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम् ।
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ॥ १२० ॥

येनेति । येन योगिना शक्तिः कुण्डली संचालिता स योगी सिद्धीनामणिमादीनां भाजनं पात्रं भवति । अत्रास्मिन्नर्थे बहुनोक्तेन बहुप्रशंसनेन किम् ? न किमपीत्यर्थः । कालं मृत्युं लीलया क्रीडयाऽनायासेनैव जयत्यभिभवतीत्यर्थः ॥ १२० ॥

ब्रह्मचर्यरतस्यैव नित्यं हितमिताशिनः ।
मण्डलाद् दृश्यते सिद्धिः कुण्डल्यभ्यासयोगिनः ॥

ब्रह्मचर्येति । ब्रह्मचर्यं श्रोत्रादिभिः सहोपस्थसंयमस्तस्मिन् रतस्य तत्परस्य नित्यं सर्वदा हितं पथ्यं मितं चतुर्थांशवर्जितमश्नातीति तस्य कुण्डल्यभ्यासः शक्तिचालनाभ्यासः स एव योगः सोऽस्यास्तीति स तथा, तस्य मण्डलाच्चत्वारिंशद्दिनात्मकादनन्तरं सिद्धिः प्राणायामसिद्धिर्दृश्यते । 'नासादक्षिणमार्गवाहिपवनात्प्राणोऽतिदीर्घीकृतश्चन्द्राभः परिपूरितामृत-

तनुः प्राग्घण्टिकायास्ततः। छित्त्वा कालविशालवह्निवशगं भ्रूरन्ध्रनाडीगतं तत्कायं कुरुते पुनर्नवतरं छिन्नं ध्रुवं स्कन्धवत्' ॥ १२१ ॥

कुण्डलीं चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद्विशेषतः।
एवमभ्यसतो नित्यं यमिनो यमभीः कुतः ॥ १२२ ॥

कुण्डलीमिति। कुण्डलीं चालयित्वा शक्तिचालनं कृत्वा। अथानन्तरमेव भस्त्रां भस्त्राख्यं कुम्भकं कुर्यात्। नित्यं प्रतिदिनम्। एवमुक्तप्रकारेणाभ्यसतो यमिनो योगिनो यमभीर्यमाद्भयं कुतः ? न कुतोऽपीत्यर्थः। योगिनो देहत्यागस्य स्वाधीनत्वादिति तात्पर्यम् ॥ १२२ ॥

द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधने।
कुतः प्रक्षालनोपायः कुण्डल्यभ्यसनादृते ॥ १२३ ॥

द्वासप्ततीति। द्वाभ्यामधिका सप्ततिः द्वासप्ततिसंख्याकानि सहस्राणि द्वासप्ततिसहस्राणि तेषां तत्संख्याकानां नाडीनां मलशोधने कर्तव्ये सति कुण्डल्यभ्यसनाच्छक्तिचालनाभ्यासादृते विना कुतः प्रक्षालनोपायः ? न कुतोऽपि। शक्तिचालनाभ्यासेनैव सर्वासां नाडीनां मलशोधनं भवतीत्यभिप्रायः ॥ १२३ ॥

इयं तु मध्यमा नाडी दृढाभ्यासेन योगिनाम् ।
आसनप्राणसंयाममुद्राभिः सरला भवेत् ॥ १२४ ॥

इयं त्विति । इयं मध्यमा नाडी सुषुम्णा योगिनां दृढाभ्यासेनासनं स्वस्तिकादि प्राणसंयामः प्राणायामः मुद्रा महामुद्रादिका तैः सरला ऋज्वी भवेत् ॥ १२४ ॥

अभ्यासे तु विनिद्राणां मनो धृत्वा समाधिना ।
रुद्राणी वा यदा मुद्रा भद्रां सिद्धिं प्रयच्छति ॥१२५॥

अभ्यास इति । समाधिनेतरवृत्तिनिरोधरूपेणैकाग्र्येण मनो धृत्वाऽन्तःकरणं धारणानिष्ठं कृत्वाऽभ्यासे मनःस्थितौ यत्ने विगता निद्रा येषां ते तथा तेषाम् । निद्रापदमालस्योपलक्षणम् । अनलसानामित्यर्थः । रुद्राणी शांभवी मुद्रा वा अथ वा पराऽन्या उन्मन्यादिका भद्रा शुभां सिद्धिं योगसिद्धिं प्रयच्छति ददाति । एतेन हठयोगोपकारको राजयोगः प्रोक्तः ॥ १२५ ॥

राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा ।
राजयोगं विना मुद्रा विचित्राऽपि न शोभते ॥१२६॥

राजयोगं विना आसनादीनां वैयर्थ्यमौपचारिकश्लेषेणाह— राजयोगमिति । वृत्त्यन्तरनिरोधपूर्वकात्मगोचरधारावाहिकनिर्वि-

कल्पकवृत्ती राजयोगः। हठं विना राजयोग इत्यत्र सूचितस्तत्साधनाभ्यासो वा तं विना तमृते। पृथ्वीशब्देन स्थैर्यगुणः राजयोगादासनं लक्ष्यते। राजयोगं विना परमपुरुषार्थफलासिद्धेरिति हेतुरग्रेऽपि योजनीयः। राजयोगं विना निशेव निशा कुम्भको न राजते निशायां प्रायेण राजजनसंचाराभावात्। निशाशब्देन प्राणसंचाराभावलक्षणः कुम्भको लक्ष्यते। राजयोगं विना मुद्रा महामुद्रादिरूपा विचित्राऽपि विविधाऽपि विलक्षणाऽपि वा न राजते न शोभते। पक्षान्तरे। राज्ञो नृपस्य योगो राजयोगो राजसंबन्धस्तं विना पृथ्वी भूमिर्न राजते, शास्तारं विना भूमौ नानोपद्रवसंभवात्। राजा चन्द्रः, 'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा, इति श्रुतेः। तस्य योगं संबन्धं विना निशा रात्रिर्न राजते। राजयोगं विना नृपसंबन्धं विना मुद्रा राजभिः पत्रेषु क्रियमाणश्चिह्नविशेषः। विचित्राऽपि। पृथ्वीपक्षे रत्नादिजनकत्वेन विलक्षणाऽपि, निशापक्षे ग्रहनक्षत्रादिभिर्विचित्राऽपि, मुद्रापक्षे रेखाभिर्विचित्राऽपि न राजते ॥ १२६ ॥

मारुतस्य विधिं सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत्।
इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा ॥ १२७ ॥

मारुतस्येति। मारुतस्य वायोः सर्वं विधिं कुम्भकमुद्राविधानं मनोयुक्तं मनसा युक्तं समभ्यसेत्सम्यगभ्यसेत्। मनीषिणा बुद्धिमता पुंसा इतरत्र मारुतस्य विधेरन्यस्मिन्विषये मनोवृत्तिर्मनसो वृत्तिः प्रवृत्तिर्न कर्तव्या न कार्या॥ १२७॥

इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शंभुना।
एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी॥१२८॥

मुद्रा उपसंहरति—इतीति। आदिनाथेन सर्वेश्वरेण शंभुना शं सुखं भवत्यस्मादिति शंभुस्तेन। इत्युक्तरीत्या दश दशसंख्याका मुद्राः प्रोक्ताः कथिताः। तासु मुद्रासु मध्ये एकैकाऽपि प्रत्येकमपि या काचन मुद्रा यमिनां यमवतां योगिनां महासिद्धिप्रदायिन्यणिमादिप्रदात्री वा॥ १२८॥

उपदेशं हि मुद्राणां यो दत्ते सांप्रदायिकम्।
स एव श्रीगुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः॥१२९॥

मुद्रोपदेष्टारं गुरुं प्रशंसति—उपदेशमिति। यः पुमान्मुद्राणां महामुद्रादीनां संप्रदायाद्योगिनां गुरुपरम्परारूपादागतं सांप्रदायिकमुपदेशं दत्ते ददाति, स एव स पुमानेव श्रीगुरुः श्रीमान् गुरुः सर्वगुरुभ्यः श्रेष्ठ इत्यर्थः। स्वामी प्रभुः स एव साक्षात्प्रत्यक्ष ईश्वर एव सः। ईश्वराभिन्न एव

तस्य वाक्यपरो भूत्वा मुद्राभ्यासे समाहितः ।
अणिमादिगुणैः सार्धं लभते कालवञ्चनम् ॥१३०॥

तस्येति । तस्य मुद्राणामुपदेष्टुर्गुरोर्वाक्यपरो वाक्यमासनकुम्भकाद्यनुष्ठानविषयकं युक्ताहारविहारचेष्टादिविषयकं च तस्मिन् परस्तत्परः तत्परश्चादरवान् । आदरश्च विहिततपःकरणम् । भूत्वा संभूय मुद्राणां महामुद्रादीनामभ्यासः पौनःपुन्येनावर्तनं तस्मिन् मुद्राभ्यासे समाहितः सावधानः पुरुषोऽणिमादिगुणैरणिमादिसिद्धिभिः सार्धं साकं कालस्य मृत्योर्वञ्चनं प्रतारणं लभते प्राप्नोति ॥ १३० ॥

इति श्रीस्वात्मारामयोगीन्द्रविरचितायां हठप्रदीपिकायां मुद्राविधानं नाम तृतीयोपदेशः ॥ ३ ॥

इति श्रीहठप्रदीपिकाव्याख्यायां ब्रह्मानन्दकृतायां ज्योत्स्नाभिधायां मुद्राकथनं नाम तृतीयोपदेशः ॥ ३ ॥

P.V.S

चतुर्थोपदेशः।

नमः शिवाय गुरवे नादबिन्दुकलात्मने।
निरञ्जनपदं याति नित्यं यत्र परायणः॥ १ ॥

प्रथमद्वितीयतृतीयोपदेशोक्तानामासनकुम्भकमुद्राणां फलभूतं राजयोगं विवक्षुः स्वात्मारामः श्रेयांसि बहुविघ्नानीति तत्र विघ्नबाहुल्यस्य संभवात्तन्निवृत्तये शिवाभिन्नगुरुनमस्कारात्मकं मङ्गलमाचरति—नम इति। शिवाय सुखरूपायेश्वराभिन्नाय वा। तदुक्तम्—'नमस्ते नाथ भगवञ्शिवाय गुरुरूपिणे' इति। गुरवे देशिकाय, यद्वा गुरवे सर्वान्तर्यामितया निखिलोपदेष्ट्रे शिवायेश्वराय। तथा च पातञ्जलसूत्रम्—'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' इति। नमः प्रह्वीभावोऽस्तु। कीदृशाय शिवाय? गुरवे नादबिन्दुकलात्मने। कांस्यघण्टानिर्ह्रादवदनुरणनं नादः। बिन्दुरनुस्वारोत्तरभावी ध्वनिः। कला नादैकदेशः ता आत्मा स्वरूपं यस्य स तथा तस्मै। नादबिन्दुकलात्मना वर्तमानायेत्यर्थः। तत्र नादबिन्दुकलात्मनि शिवे गुरौ नित्यं प्रतिदिनं परायणोऽवहितः पुमान्।

एतेन नादानुसंधानपरायण इत्युक्तम् । पूर्वपादेन गुरुशिवयोरभेदश्च सूचितः । अञ्जनं मायोपाधिस्तद्रहितं निरञ्जनं शुद्धं पद्यते गम्यते योगिभिरिति पदं ब्रह्म याति प्राप्नोति । तथा च वक्ष्यति—नादानुसंधानसमाधिभाजमित्यादिना ॥ १ ॥

अथेदानीं प्रवक्ष्यामि समाधिक्रममुत्तमम् ।
मृत्युघ्नं च सुखोपायं ब्रह्मानन्दकरं परम् ॥ २ ॥

समाधिक्रमं प्रतिजानीते—अथेति । अथासनकुम्भकमुद्राकथनानन्तरमिदानीमस्मिन्नवसरे समाधिक्रमं प्रत्याहारादिरूपं प्रवक्ष्यामि प्रकर्षेण विविच्य वक्ष्यामीत्यन्वयः । कीदृशं समाधिक्रमम् ? उत्तमं श्रीआदिनाथोक्तसंपादनकोटिसमाधिप्रकारेषूत्कृष्टम् । पुनः कीदृशम् ? मृत्युं कालं हन्ति निवारयतीति मृत्युघ्नं स्वेच्छया देहत्यागजनकं तत्त्वज्ञानोदयमनोनाशवासनाक्षयैः सुखस्य जीवन्मुक्तिसुखस्योपायं प्राप्तिसाधनम् । पुनः कीदृशम् ? परं ब्रह्मानन्दकरं प्रारब्धकर्मक्षये सति जीवब्रह्मणोरभेदेनात्यन्तिकब्रह्मानन्दप्राप्तिरूपविदेहमुक्तिकरम् । तत्र निरोधः समाधिना चित्तस्य ससंस्काराशेषवृत्तिनिरोधे शान्तघोरमूढावस्थानिवृत्तौ ‘ जीवन्नेवेह विद्वान् हर्षशोकाभ्यां विमुच्यते ’ इत्यादिश्रुत्युक्तनिर्विकारस्वरूपावस्थितिरूपा जीवन्मुक्तिर्भवति । परममुक्तिस्तु प्राप्तभोगान्तेऽन्तःकरणगुणानां प्रतिप्रसवेनौपाधिक-

रूपात्यन्तिकनिवृत्तावात्यन्तिकं स्वरूपावस्थानं प्रतिप्रसवसिद्धम् । व्युत्थाननिरोधसमाधिसंस्कारा मनसि लीयन्ते । मनोऽस्मितायामस्मिता महति महान् प्रधान इति चित्तगुणानां प्रतिप्रसवः प्रतिसर्गः स्वकारणे लयः । ननु जीवन्मुक्तस्य व्युत्थाने ब्राह्मणोऽहं मनुष्योऽहमित्यादिव्यवहारदर्शनाच्चित्तादिभिरौपाधिकभावजननादम्लेन दुग्धस्येव स्वरूपच्युतिः स्यादिति चेन्न । संप्रज्ञातसमाधावनुभूतात्मसंस्कारस्य तात्त्विकत्वनिश्चयात् । अतात्त्विकान्यथाभावस्याविकारित्वाप्रयोजकत्वात् । अम्लेन दुग्धस्य दधिभावस्तु तात्त्विक इति दृष्टान्तवैषम्याच्च । पुरुषस्य त्वन्तःकरणोपाधिकोऽहं ब्राह्मण इत्यादिव्यवहारः स्फटिकस्य जपाकुसुमसंनिधानोपाधिरूपक एव न तात्त्विकः । जपाकुसुमापगमे स्फटिकस्य स्वस्वरूपस्थितिवदन्तःकरणस्य सकलवृत्तिनिरोधे स्वरूपावस्थितिरच्युतैव पुरुषस्य ॥ २ ॥

राजयोगसमाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी ।
अमरत्वं लयस्तत्त्वं शून्याशून्यं परं पदम् ॥ ३ ॥
अमनस्कं तथाऽद्वैतं निरालम्बं निरञ्जनम् ।
जीवन्मुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचकाः ॥ ४ ॥

समाधिपर्यायान्विशेषेणाह—राजयोग इत्यादिना श्लोकद्वयेन । स्पष्टम् ॥ ३, ४ ॥

सलिले सैन्धवं यद्वत्साम्यं भजति योगतः ।
तथाऽऽत्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते ॥ ५ ॥
यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते ।
तदा समरसत्वं च समाधिरभिधीयते ॥ ६ ॥
तत्समं च द्वयोरैक्यं जीवात्मपरमात्मनोः ।
प्रणष्टसर्वसंकल्पः समाधिः सोऽभिधीयते ॥ ७ ॥

त्रिभिः समाधिमाह—सलिल इति । यद्वद्यथा सैन्धवं सिन्धुदेशोद्भवं लवणं सलिले जले योगतः संयोगात्साम्यं सलिलसाम्यं सलिलैक्यं भजति प्राप्नोति, तथा तद्वदात्मा च मनश्चात्ममनसी तयोरात्ममनसोरैक्यमेकाकारता । आत्मनि धारितं मन आत्माकारं सदात्मसाम्यं भजति तादृशमात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते समाधिशब्देनोच्यत इत्यर्थः ॥ ५—७ ॥

राजयोगस्य माहात्म्यं को वा जानाति तत्त्वतः ।
ज्ञानं मुक्तिः स्थितिः सिद्धिर्गुरुवाक्येन लभ्यते ॥

अथ राजयोगप्रशंसा—राजयोगस्येति । राजयोगस्यानन्तरमेवोक्तस्य माहात्म्यं प्रभावं तत्त्वतो वस्तुतः को वा जानाति ? न कोऽपि जानातीत्यर्थः । तत्त्वतो वक्तुमशक्यत्वेऽप्येकदेशेन राजयोगप्रभावमाह—ज्ञानं स्वस्वरूपापरो-

क्षानुभवो मुक्तिर्विदेहमुक्तिः स्थितिर्निर्विकारस्वरूपावस्थितिरूपा जीवन्मुक्तिः सिद्धिरणिमादिर्गुरुवाक्येन गुरुवचसा लभ्यते। राजयोगादिति शेषः ॥ ८ ॥

दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम्।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना ॥ ९ ॥

दुर्लभ इति। विशेषेण सिण्वन्त्यवबध्नन्ति प्रमातारं स्वसङ्गेनेति विषया ऐहिका दारादय आमुष्मिकाः सुधादयस्तेषां त्यागो भोगेच्छाभावो दुर्लभः। तत्त्वदर्शनमात्मापरोक्षानुभवः दुर्लभं सहजावस्था तुर्यावस्था सद्गुरोः 'दृष्टिः स्थिरा यस्य विनैव दृश्यम्' इति वक्ष्यमाणलक्षणस्य करुणां दयां विनेति सर्वत्र संबध्यते। दुर्लभा लब्धुमशक्या। 'दुः स्यात्कष्टनिषेधयोः' इति कोशः। गुरुकृपया तु सर्वं सुलभमिति भावः ॥ ९ ॥

विविधैरासनैः कुम्भैर्विचित्रैः करणैरपि।
प्रबुद्धायां महाशक्तौ प्राणः शून्ये प्रलीयते ॥ १० ॥

विविधैरिति। विविधैरनेकविधैरासनैर्मत्स्येन्द्रादिपीठैर्विचित्रैर्नानाविधैः कुम्भकैः। विचित्रैरिति काकाक्षिगोलकन्यायेनोभयत्र संबध्यते। विचित्रैरनेकप्रकारकैः करणैर्हठसिद्धौ प्रकृष्टोपकारकैर्महामुद्रादिभिर्महाशक्तौ कुण्डलिन्यां प्रबुद्धायां गत-

निद्रायां सत्यां प्राणो वायुः शून्ये ब्रह्मरन्ध्रे प्रलीयते प्रलयं प्राप्नोति । व्यापाराभावः प्राणस्य प्रलयः ॥ १० ॥

उत्पन्नशक्तिबोधस्य त्यक्तनिःशेषकर्मणः ।
योगिनः सहजावस्था स्वयमेव प्रजायते ॥ ११ ॥

उत्पन्नेति । उत्पन्नो जातः शक्तिबोधः कुण्डलीबोधो यस्य तस्य त्यक्तानि परिहृतानि निःशेषाणि समग्राणि कर्माणि येन तस्य योगिनः । आसनेन कायिकव्यापारे त्यक्ते प्राणेन्द्रियेषु व्यापारस्तिष्ठति । प्रत्याहारधारणाध्यानसंप्रज्ञातसमाधिभिर्मानसिकव्यापारे त्यक्ते बुद्धौ व्यापारस्तिष्ठति । 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इति श्रुतेरपरिणामी शुद्धपुरुषः सत्त्वगुणात्मिका परिणामिनी बुद्धिरिति ॥ ११ ॥

सुषुम्णावाहिनि प्राणे शून्ये विशति मानसे ।
तदा सर्वाणि कर्माणि निर्मूलयति योगवित् ॥१२॥

परवैराग्येण दीर्घकालसंप्रज्ञाताभ्यासेनैव वा बुद्धिव्यापारे परित्यक्ते निर्विकारस्वरूपावस्थितिर्भवति । सैव सहजावस्था तुर्यावस्था जीवन्मुक्तिः स्वयमेव प्रयत्नान्तरं विनैव प्रजायते प्रादुर्भवति, 'येन त्यजसि तत्त्यज' इति 'निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत्' इति च श्रुतेः । सुषुम्णेति । प्राणे वायौ सुषुम्णावाहिनि मध्यनाडीप्रवाहिनि सति मानसेऽन्तःकरणे शून्ये देशकालवस्तु-

परिच्छेदहीने ब्रह्मणि विशति सति तदा तस्मिन् काले योगविच्चित्तवृत्तिनिरोधज्ञः सर्वाणि कर्माणि समारब्धानि निर्मूलानि करोति निर्मूलयति। निर्मूलशब्दात् 'तत्करोति' इति णिच्॥ १२॥

अमराय नमस्तुभ्यं सोऽपि कालस्त्वया जितः।
पतितं वदने यस्य जगदेतच्चराचरम्॥ १३॥

समाध्यभ्यासेन प्रारब्धकर्मणोऽप्यभिभवाज्जितकालं योगिनं नमस्करोति—अमरायेति। न म्रियत इत्यमरः तस्मा अमराय चिरंजीविने तुभ्यं योगिने नमः। सोऽपि दुर्वारोऽपि कालो मृत्युस्त्वया योगिना जितोऽभिभूतः। इदं वाक्यं नमस्करणे हेतुः। स कः? यस्य कालस्य वदने मुखे एतद् दृश्यमानं चराचरं स्थावरजङ्गमं जगत्संसारः पतितः। सोऽपि जगद्भक्षकोऽपीत्यर्थः॥ १३॥

चित्ते समत्वमापन्ने वायौ व्रजति मध्यमे।
तदाऽमरोली वज्रोली सहजोली प्रजायते॥ १४॥

पूर्वोक्तममरोल्यादिकं समाधिसिद्धावेव सिध्यतीति समाधिनिरूपणानन्तरं समाधिसिद्धौ तत्सिद्धिरित्याह—चित्त इति। चित्तेऽन्तःकरणे समत्वं ध्येयाकारवृत्तिप्रवाहत्वम् आपन्ने प्राप्ते सति वायौ प्राणे मध्यमे सुषुम्णायां व्रजति सतीति चित्तसमत्वे

हेतुः । तदा तस्मिन् काले अमरोली वज्रोली सहजोली च पूर्वोक्ताः प्रजायन्ते । नाजितप्राणस्य न चाजितचित्तस्य सिध्यन्तीति भावः ॥ १४ ॥

ज्ञानं कुतो मनसि संभवतीह ताव-
त्प्राणोऽपि जीवति मनो म्रियते न यावत् ।
प्राणो मनो द्वयमिदं विलयं नयेद्यो
मोक्षं स गच्छति नरो न कथंचिदन्यः ॥ १५ ॥

हठाभ्यासं विना ज्ञानं मोक्षश्च सिध्यतीत्याह— ज्ञानमिति । यावत्प्राणो जीवति । अपि शब्दादिन्द्रियाणि जीवन्ति न तु म्रियन्ते । यावन्मनो न म्रियते किं तु जीवत्येव । इडापिङ्गलाभ्यां वहनं प्राणस्य जीवनं स्वस्वविषयग्रहणमिन्द्रियाणां जीवनं नानाविषयाकारवृत्त्युत्पादनं मनसो जीवनं तत्तद्भावतत्तन्मरणमत्र विवक्षितम् । ननु स्वरूपतस्तेषां नाशस्तावन्मनस्यन्तःकरणे ज्ञानमात्मापरोक्षानुभवः कुतः संभवति न । कर्ताऽपि प्राणेन्द्रियमनोवृत्तीनां ज्ञानप्रतिबन्धकत्वादिति भावः । प्राणो मनः इदं द्वयं यो योगी विलयं नाशं नयेत्स मोक्षमात्यन्तिकस्वरूपावस्थानलक्षणं गच्छति प्राप्नोति । ब्रह्मरन्ध्रे निर्व्यापारस्थितिः प्राणस्य लयः, ध्येयाकारावेशात् । विषयान्तरेणापारेण मनसो लयोऽन्यः । अलीनप्राणोऽलीन-

मनाश्च कथंचिदुपायशतेनापि न मोक्षं प्राप्नोतीत्यर्थः । तदुक्तं योगबीजे—' नानाविधैर्विचारैस्तु न साध्यं जायते मनः । तस्मात्तस्य जयः प्रायः प्राणस्य जय एव हि ॥ ' इति, नानामार्गैः सुखदुःखप्रायं कैवल्यं परमं पदं सिद्धमार्गेण लभ्येत नान्यथा शिवभाषितमिति च । सिद्धमार्गो योगमार्गः । एतेन योगं विना ज्ञानं मोक्षश्च न सिध्यतीति सिद्धम् । श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणादिषु चेदं प्रसिद्धम् । तथा हि—' अथ तद्दर्शनाभ्युपायो योगः ' इति । तद्दर्शनमात्मदर्शनम् । ' अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ' इति । ' श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवेहि ' इति । ' यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह । बुद्धिश्च न विचेष्टेत तामाहुः परमां गतिम् । तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् । अप्रमत्तस्तदा भवति ' इति । ' यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दयोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत् । अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ' । ' ब्रह्मणे त्वा महस ओमित्यात्मानं युञ्जीत ' इति । ' त्रिरुन्नतः स्थाप्य समशरीरः हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य । ब्रह्माहृयेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांऽसि सर्वाणि भयावहानि ' इति । ' ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम् ' इत्याद्याः श्रुतयः । यतिधर्मप्रकरणे मनुः—' भूतभाव्यानवेक्षेत योगेन परमात्मनः । देहद्वयं विहायाशु मुक्तो भवति बन्धनात् ' । याज्ञ-

वल्क्यस्मृतौ—'इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम् । अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्'। महर्षिमातङ्गः—'अग्निष्टोमादिकान्सर्वान्विहाय द्विजसत्तमः। योगाभ्यासरतः शान्तः परं ब्रह्माधिगच्छति'। 'ब्राह्मणक्षत्रियविशां स्त्रीशूद्राणां च पावनम् । शान्तये कर्मणामन्यद्योगान्नास्ति विमुक्तये'। दक्षस्मृतौ व्यतिरेकमुखेणोक्तम्—'स्वसंवेद्यं हि तद्ब्रह्म कुमारी स्त्रीसुखं यथा । अयोगी नैव जानाति जात्यन्धो हि यथा घटम्' इत्याद्याः स्मृतयः । महाभारते योगमार्गे व्यासः—'अपि वर्णावकृष्टस्तु नारी वा धर्मकाङ्क्षिणी । तावप्येतेन मार्गेण गच्छेतां परमां गतिम् ॥ यदि वा सर्वधर्मज्ञो यदि वाऽप्यकृती पुमान् । यदि वा धार्मिकः श्रेष्ठो यदि वा पापकृत्तमः ॥ यदि वा पुरुषव्याघ्रो यदि वा क्लैब्यधारकः । नरः सेव्य महादुःखं जरामरणसागरम् । अपि जिज्ञासमानोऽपि शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥' इति । भगवद्गीतायाम्—'युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी नियतमानसः । शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति । यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानम्' इत्यादि च । आदित्यपुराणे—'योगात्संजायते ज्ञानं योगो मय्येकचित्तता'। स्कान्दपुराणे—'आत्मज्ञानेन मुक्तिः स्यात्तच्च योगादृते न हि । स च योगश्चिरं कालमभ्यासादेव सिध्यति'। कूर्मपुराणे शिववाक्यम्—'अतः परं प्रवक्ष्यामि

योगं परमदुर्लभम् । येनात्मानं प्रपश्यन्ति भानुमन्तमिवेश्वरम् ॥ योगाग्निर्दहति क्षिप्रमशेषं पापपञ्जरम् । प्रसन्नं जायते ज्ञानं ज्ञानान्निर्वाणमृच्छति' । गरुडपुराणे—'तथा यतेत मतिमान्यथा स्यान्निर्वृत्तिः परा । योगेन लभ्यते सा तु न चान्येन तु केनचित् ॥ भवतापेन तप्तानां योगो हि परमौषधम् । परावरप्रसक्ता धीर्यस्य निर्वेदसंभवा ॥ स च योगाग्निना दग्धसमस्तक्लेशसंचयः । निर्वाणं परमं नित्यं प्राप्नोत्येव न संशयः ॥ संप्राप्तयोगसिद्धिस्तु पूर्णो यस्त्वात्मदर्शनात् । न किंचिद् दृश्यते कार्यं तेनैव सकलं कृतम् ॥ आत्मारामः सदा पूर्णः सुखमात्यन्तिकं गतः । अतस्तस्यापि निर्वेदः परानन्दमयस्य च ॥ तपसा भावितात्मानो योगिनः संयतेन्द्रियाः । प्रतरन्ति महात्मानो योगेनैव महार्णवम्' ॥ विष्णुधर्मेषु—'यच्छ्रेयः सर्वभूतानां स्त्रीणामप्युपकारकम् । अपि कीटपतङ्गानां तन्नः श्रेयः परं वद ॥ इत्युक्तः कपिलः पूर्वं देवैर्देवर्षिभिस्तथा । योग एव परं श्रेयस्तेषामित्युक्तवान् पुरा' ॥ वासिष्ठे—'दुःसहा राम संसारविषवेगविषूचिका । योगगारुडमन्त्रेण पावनेनोपशाम्यति' ॥ ननु तत्त्वमस्यादिवाक्यैरप्यपरोक्षप्रमाणं भवतीति किमर्थमतिश्रमसाध्ये योगे प्रयासः कार्यः । न च वाक्यजन्यज्ञानस्यापरोक्षत्वे प्रमाणासंभव

अपरोक्षविषयकत्वात् चाक्षुषघटादिप्रत्यक्षवदित्यनुमानस्य प्रमाणत्वात् । न च विषयगतापरोक्षत्वस्य नीरूपत्वाद्धेत्वसिद्धिरिति वाच्यम् । अज्ञानविषयचित्त्वतत्तादात्म्यापन्नत्वान्यतररूपस्य तस्य सुनिरूपत्वात् । यथा हि घटादौ चक्षुःसंनिकर्षेणान्तःकरणवृत्तिदशायां तदधिष्ठानचैतन्यज्ञाननिवृत्तौ तच्चैतन्यस्याज्ञानविषयता तद्धटस्याज्ञानविषयचैतन्यतादात्म्यापन्नत्वं चापरोक्षत्वम्, तथा तत्त्वमस्यादिवाक्येन शुद्धचैतन्याकारान्तःकरणवृत्त्युत्थापने सति तदज्ञानस्य निवृत्तत्वेनैव तत्त्वस्याज्ञानविषयत्वाच्चैतन्यस्यापरोक्षत्वमिति न हेत्वसिद्धिः । न चाप्रयोजकत्वं ज्ञानगम्यत्वापरोक्षत्वं प्रत्यक्षपरोक्षविषयकत्वेन प्रयोजकत्वात् । न त्विन्द्रियजन्यत्वं मनस इन्द्रियत्वाभावेन सुखादिपरत्वे व्यभिचारात् । अथ वाऽभिव्यक्तचैतन्याभिन्नतयाऽऽभासमानत्वं विषयस्यापरोक्षत्वम् । अभिव्यक्तत्वं च निवृत्तावरणकत्वं परोक्षवृत्तिस्थले वाऽऽवरणनिवृत्त्यभावान्नातिव्याप्तिः । सर्पादिभ्रमजनकदोषवतस्तु नायं सर्पः किं तु रज्जुरिति वाक्येन जायमाना वृत्तिस्तु नावरणं निवर्तयतीति तत्र परोक्ष एव विषयः । वेदान्तवाक्यजन्यं च ज्ञानमावरणनिवर्तकत्वादपरोक्षमेव । तन्मननादेः पूर्वमुत्पन्नम्, ज्ञाननिवर्तकप्रमाणासंभावनादिदोषसामान्याभावविशिष्टस्यैव तस्याज्ञाननिवर्तकत्वात् । किं च 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं

पृच्छामि ' इति श्रुतिप्रतिपन्नमुपनिषन्मात्रगम्यत्वं योगगम्यत्वेनोपपन्नं स्यात् । तस्मात्तत्त्वमस्यादिवाक्यादेवापरोक्षमिति चेन्न । अनुमानस्याप्रयोजकत्वात् । न च प्रत्यक्षं प्रति निरुक्ताक्षसामान्यं प्रतीन्द्रियत्वेन कारणतया तज्जन्यत्वस्यैव प्रयोजकत्वान्नित्यानित्यसाधारणप्रत्यक्षत्वे तु न किंचित्प्रयोजकत्वमिति तन्मते तु प्रत्यक्षविशेषे इन्द्रियं कारणं तद्विशेषे च शब्दविशेष इत्येवं कार्यकारणभावद्वयं स्यात् । न च मनसोऽनिन्द्रियत्वं मनस इन्द्रियत्वे बाधकाभावादिन्द्रियाणां मनो नाथ इति मनुष्यमिवोद्दिश्य मनुष्याणामयं राजेत्यादिवदिन्द्रियेष्वेव किंचिदुत्कर्षं ब्रवीति । न तु तस्याप्यनिन्द्रियत्वं तत्त्वं च षट्स्वखण्डोपाधिविशेष एव । अत एव ' कर्मेन्द्रियं तु पाय्वादि मनोनेत्रादि धीन्द्रियम् ' इति ' प्रत्यक्षं स्यादैन्द्रियकमप्रत्यक्षमतीन्द्रियम् ' इति च शक्तिप्रमाणभूतकोशेऽपीन्द्रियाप्रमाणकज्ञानस्याप्रत्यक्षत्वं वदन् मनस इन्द्रियत्वज्ञापकत्वं संगच्छते । ' इन्द्रियाणि दशैकं च ' इति गीतावचनं मनस इन्द्रियत्वे प्रमाणम् । किं च तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यं ज्ञानं शाब्दम्, शब्दजन्यत्वाद्यजेतेत्यादिवाक्यज्ञानवदित्यनेनापरोक्षविरोधिशाब्दत्वसाधकत्वे सत्प्रतिपक्षः । न चेदमप्रयोजकम्, शाब्दं प्रत्येव शब्दस्य जनकत्वेन लाघवमूलकानुकूलतर्कात् । त्वन्मते तु शब्दादपि प्रत्यक्षस्वीकारेण

कार्यकारणभावद्वयकल्पने गौरवम्। अपि च मनननिदिध्यासनाभ्यां पूर्वमप्युत्पन्नम्। तव मते परोक्षमपि नाज्ञाननिवर्तकमित्यज्ञाननिवृत्तिं प्रति बाधज्ञानत्वेनैव हेतुत्वमिति गौरवम्। मम तु समाध्यभ्यासपरिपाकेणासंभावनादिसकलमलरहितेनान्तःकरणेनात्मनि दृष्टे सति दर्शनमात्रादेवाज्ञाने निवृत्ते न कश्चिद्गौरवावकाशः। 'एषु सर्वेषु भूतेषु गूढोऽत्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः'॥ 'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञः' इत्यारभ्याज्ञाननिवृत्त्यर्थकेन 'मृत्युमुखात्प्रमुच्यते' इत्यन्तेन कठवल्लीस्थमृत्यूपदेशेन संमतोऽयमर्थ इति न कश्चिदत्र विवाद इति। यदि तु मननादेः पूर्वमुत्पन्नं ज्ञानं परोक्षमेवेति न प्रतिबद्धत्वकृतगौरवमिति मतमाद्रियते तदपि श्रवणादिभिर्मनःसंस्कारे सिद्धेऽव्यवहितोत्तरमात्मदर्शनसंभवात्तदुत्तरं वाक्यस्मरणादिकल्पनं महद्गौरवापादकमेव। ननु न वयं केवलेन तर्केण शब्दजन्यज्ञानस्यापरोक्षत्वं वदामः किं तु श्रुत्याऽपि। तथा हि—तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इति श्रुत्या चौपनिषदत्वं पुरुषस्य नोपनिषज्जन्यबुद्धिविषयत्वमात्रं प्रत्यक्षादिगम्येऽप्यौपनिषदत्वव्यवहारापत्तेः। यथा हि द्वादशकपालेऽष्टानां कपालानां सत्त्वेऽपि द्वादशकपालसंस्कृते नाष्टाकपालादिव्यवहारः यथा द्विपुत्रादावेकपुत्रादिव्यहारः, तथाऽत्रापि नान्यत्र तथा

व्यवहार इति । उपनिषन्मात्रगम्यत्वमेव प्रत्ययार्थः । तच्च मनोगम्यत्वेऽनुपपन्नमिति चेन्न । न हि प्रत्ययेनोपनिषद्भिन्नं सर्वं कारणत्वेन व्यावर्त्यते । शब्दापरोक्षवादिना त्वयाऽप्यात्मापरोक्षे मनआदीनां करणत्वस्याङ्गीकारात् । किं तु पुराणादिशब्दान्तरमेव 'श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः' इति स्मरणात्स चार्थो ममापि संमत इति न किंचिदेतत् । प्रमाणान्तरव्यावृत्तौ तात्पर्यकल्पनं चात्मापरोक्षे शब्दस्य प्रमाणत्वे सिद्ध एव वक्तुमुचितम् । शब्दान्तरव्यावृत्तितात्पर्यं तु श्रुत्यादिसंमतत्वात्कल्पयितुमुचितमेव। एवं स्थिते 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' 'मनसैवेदमाप्तव्यम्' इत्यादिश्रुतयोऽप्याञ्जस्येन प्रतिपादिता भवेयुः । यत्तु कैश्चिदुक्तं दर्शनवृत्तिं प्रति मनोमात्रस्योपादानत्वपरायत्ताः श्रुतयो न विरुध्यन्त इति तदतीव विचारासहम् । यतः प्रमाणाकाङ्क्षायां प्रवृत्तास्ताः कथमुपादानपरा भवेयुः । 'कामः संकल्पो विचिकित्सा—' इत्यादिश्रुत्या सावधारणया सर्वासां वृत्तीनां मनोमात्रोपादानकत्वे बोधिते आकाङ्क्षाभावेनोपादानतात्पर्यकत्वेन वर्णयितुं कथं शक्येरन् । पूर्वं द्वितीयवल्ल्यां प्रणवस्य ब्रह्मबोधकत्वेनोक्तेस्तस्याप्यपरोक्षहेतुत्वमिति शङ्कां निवारयितुं मनसैवानुद्रष्टव्यमित्यादि सावधारणवाक्यानीत्येव वर्णयितुं शक्यानि स्युरित्यलमतिवाग्जालेन । वस्तुतस्तु योगिनां समाधौ दूरविप्रकृष्टपदार्थज्ञानं सर्वशास्त्रप्रसिद्धं न परोक्षम्,

तदानीं परोक्षसामग्र्यभावात् । नापि स्मरणं तेषां पूर्वं विशिष्यानुभवात् । नापि सुखादिज्ञानवत्साक्षिरूपम्, अपसिद्धान्तात् । नाप्यप्रमाणकं प्रमासामान्ये कारणनियमात् । नापि चक्षुरादिजन्यं तेषामसंनिकर्षात् । तस्मान्मानसिकी प्रमैव सा वाच्येति मनस इन्द्रियत्वं प्रमाणत्वं च दूरापह्नवमेवेति । येऽपि योगश्रुत्योः समुच्चयं कल्पयन्ति तेषामपि पूर्वोक्तदूषणगणस्तदवस्थ एव । तस्माद्योगजन्यसंस्कारसचिवमनोमात्रगम्य आत्मेति सिद्धम् । न च कामिनीं भावयतो व्यवहितकामिनीसाक्षात्कारस्येव भावनाजन्यत्वेनात्मसाक्षात्कारस्याप्रमाणत्वप्रसङ्गः, अबाधितविषयत्वाद्दोषजन्यत्वाभावाच्च । कामिनीसाक्षात्कारस्य तु बाधितविषयत्वाद्दोषजन्यत्वाच्चाप्रामाण्यं न भावनाजन्यत्वात् । न च भावनासमाधेर्ज्ञापकत्वे प्रमाणान्तरापातः । तस्या मनःसहकारित्वात्प्रमाणनिरूपणानिपुणैर्नैयायिकादिभिरपि योगजप्रत्यक्षस्यालौकिकप्रत्यक्षेऽन्तर्भावः कृतः । योगजालौकिकसंनिकर्षेण योगिनो व्यवहितविप्रकृष्टसूक्ष्मार्थमात्मानमपि यथार्थं पश्यन्ति । तथा च पातञ्जले सूत्रे—'ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा । श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ।' तत्र समाधौ या प्रज्ञाऽस्याः श्रुतं श्रवणं शाब्दबोधः, अनुमननमनुमानं यौक्तिकज्ञानं तद्रूपप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विषयाः । कुतः ? विशेषार्थत्वात् । विशेषो निर्वि-

कल्पोऽर्थो विषयो यस्याः सा तथा तस्या भावस्तथात्वं तस्माच्छब्दस्यापदार्थतावच्छेदकपुरस्कारेणैवानुमानस्य व्यापकत्वावच्छेदकपुरस्कारेणैव धीजनकत्वनियमेन तद्ग्रहणे योग्यविशेष्यमात्रपरत्वादित्यर्थः। अत्र बादरायणकृतं भाष्यम्— श्रुतमागमविज्ञानं तत्सामान्यविषयं न ह्यागमेन शक्यो विशेषोऽभिधातुं कस्मान्न हि विशेषेण कृतसंकेतः शब्द इत्यारभ्य समाधिप्रज्ञानिर्ग्राह्य एव सविशेषो भूतसूक्ष्मगतो वा पुरुषगतो वेति। योगबीजे—'ज्ञाननिष्ठो विरक्तोऽपि धर्मज्ञोऽपि जितेन्द्रियः। विना योगेन देवोऽपि न मोक्षं लभते प्रिये'॥ किं च, 'तदेव सक्तः सह कर्मणेति। लिङ्गं मनो यत्र निषिक्तमस्य' इति श्रुतेः, 'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु' इति स्मृतेश्च देहावसानसमये यत्र रागाद्युद्बुद्धो भवति तामेव योनिं जीवः प्राप्नोतीति योगहीनस्य जन्मान्तरं स्यादेव मरणसमये समुद्भूतवैक्लव्यस्यायोगिना वारायितुमशक्यत्वात्। तदुक्तं योगबीजे—'देहावसानसमये चित्ते यद्यद्विभावयेत्। तत्तदेव भवेज्जीव इत्येवं जन्मकारणम्॥ देहान्ते किं भवेज्जन्म तन्न जानन्ति मानवाः। तस्माज्ज्ञानं च वैराग्यं जपश्च केवलं श्रमः॥ पिपीलिका यदा लग्ना देहे ज्ञानाद्विमुच्यते। असौ किं वृश्चिकैर्दष्टो

ध्यात्मभावनया मोक्ष एवेति न स्याज्जन्मान्तरम्। तदुक्तं भगवता—'प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव' इत्यादिना। 'शतं चैका च हृदयस्य नाड्यः' इत्यादि श्रुतेश्च। न च तत्त्वमस्यादिवाक्यस्यापरोक्षज्ञानजनकत्वे तद्विचारस्य वैयर्थ्यमेवेति शङ्क्यम्, वाक्यविचारजन्यज्ञानस्य योगद्वाराऽपरोक्षज्ञानसाधनत्वात्। अत्र च योगबीजे गौरीश्वरसंवादो महानस्ति ततः किंचिल्लिख्यते। देव्युवाच—'ज्ञानिनस्तु मृता ये वै तेषां भवति कीदृशी। गतिः कथय देवेश कारुण्यामृतवारिधे'॥ ईश्वर उवाच—'देहान्ते ज्ञानिना पुण्यात्पापात्फलमवाप्यते। यादृशं तु भवेत्तत्तद्भुक्त्वा ज्ञानी पुनर्भवेत्॥ पश्चात्पुण्येन लभते सिद्धेन सह सङ्गतिम्। ततः सिद्धस्य कृपया योगी भवति नान्यथा॥ ततो नश्यति संसारो नान्यथा शिवभाषितम्'॥ देव्युवाच—'ज्ञानादेव हि मोक्षं च वदन्ति ज्ञानिनः सदा। न कथं सिद्धयोगेन योगः किं मोक्षदो भवेत्'॥ ईश्वर उवाच—'ज्ञानेनैव हि मोक्षो हि तेषां वाक्यं तु नान्यथा। सर्वे वदन्ति खड्गेन जयो भवति तर्हि किम्॥ विना युद्धेन वीर्येण कथं जयमवाप्नुयात्। तथा योगेन रहितं ज्ञानं मोक्षाय नो भवेत्'। ननु जनकादीनां योगमन्तरेणाप्यप्रतिबद्धज्ञानमोक्षयोः श्रवणात्कथं योगादेवाप्रति-

बद्धज्ञानं मोक्षश्चेति चेत्। उच्यते—तेषां पूर्वजन्मानुष्ठितयोगजसंस्काराज्ज्ञानप्राप्तिरिति पुराणादौ श्रूयते। तथा हि—'जैगीषव्यो यथा विप्रो यथा चैवासितादयः। क्षत्रिया जनकाद्यास्तु तुलाधारादयो विशः॥ संप्राप्ताः परमां सिद्धिं पूर्वाभ्यस्तस्वयोगतः। धर्मव्याधादयः सप्त शूद्राः पैलवकादयः॥ मैत्रेयी सुलभा शार्ङ्गी शाण्डिली च तपस्विनी। एते चान्ये च बहवो नीचयोनिगता अपि। ज्ञाननिष्ठां परां प्राप्ताः पूर्वाभ्यस्तस्वयोगतः॥' इति। किं च पूर्वजन्मानुष्ठितयोगाभ्यासपुण्यतारतम्येन केचिद्ब्रह्मत्वं केचिद्ब्रह्मपुत्रत्वं केचिद्देवर्षित्वं केचिद्ब्रह्मर्षित्वं केचिन्मुनित्वं केचिद्भक्तत्वं च प्राप्ताः सन्ति। तत्रोपदेशमन्तरेणैवात्मसाक्षात्कारवन्तो भवेयुः। तथा हि—हिरण्यगर्भवसिष्ठनारदसनत्कुमारवामदेवशुकादयो जन्मसिद्धा इत्येव पुराणादिषु श्रूयते। यत्तु ब्राह्मण एव मोक्षाधिकारीति श्रूयते पुराणादौ तदयोगिपरम्। तदुक्तं गरुडपुराणे—'योगाभ्यासो नृणां येषां नास्ति जन्मान्तरादृतः। योगस्य प्राप्तये तेषां शूद्रवैश्यादिकक्रमः॥ स्त्रीत्वाच्छूद्रत्वमभ्येति ततो वैश्यत्वमाप्नुयात्। ततश्च क्षत्रियो विप्रः क्रुपाहीनस्ततो भवेत्॥ अनूचानः स्मृतो यज्वा कर्मन्यासी ततः परम्। ततो ज्ञानित्वमभ्येति योगी मुक्तिं क्रमाल्लभेत्॥' इति।

योगे सर्वाधिकारश्रवणाद्योगोत्पन्नतत्त्वज्ञानेन सर्व एव मुच्यन्त इति सिद्धम् । योगिनस्तु भ्रष्टस्यापि न शूद्रादिक्रमः । 'शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते । अथ वा योगिनामेव' इत्यादिभगवद्वचनादित्यलम् ॥ १५ ॥

ज्ञात्वा सुषुम्णासद्भेदं कृत्वा वायुं च मध्यगम् ।
स्थित्वा सदैव सुस्थाने ब्रह्मरन्ध्रे निरोधयेत् ॥१६॥

प्राणमनसोर्लयं विना मोक्षो न सिध्यतीत्युक्तम् । तत्र प्राणलयेन मनसोऽपि लयः सिध्यतीति तल्लयरीतिमाह— ज्ञात्वेति । सदैव सर्वदैव सुस्थाने शोभने स्थाने 'सुराज्ये धार्मिके देशे' इत्याद्युक्तलक्षणे स्थित्वा स्थितिं कृत्वा वसतिं कृत्वेत्यर्थः । सुषुम्णा मध्यनाडी तस्याः सद्भेदं शोभनं भेदनप्रकारं ज्ञात्वा गुरुमुखाद्विदित्वा वायुं प्राणं मध्यगं मध्यनाडीसंचारिणं कृत्वा ब्रह्मरन्ध्रे मूर्धावकाशे निरोधयेन्नितरां रुद्धं कुर्यात् । प्राणस्य ब्रह्मरन्ध्रे निरोधो लयः प्राणलये जाते मनोऽपि लीयते । तदुक्तं वासिष्ठे—'अभ्यासेन परिस्पन्दे प्राणानां क्षयमागते । मनः प्रशममायाति निर्वाणमवशिष्यते ॥' इति । प्राणमनसोर्लये सति भावनाविशेषरूपसमाधिसहकृतेनान्तःकरणेनाबाधितात्मसाक्षात्कारो भवति, तदा जीवन्नेव मुक्तः पुरुषो भवति ॥ १६ ॥

सूर्याचन्द्रमसौ धत्तः कालं रात्रिंदिवात्मकम् ।
भोक्त्री सुषुम्णा कालस्य गुह्यमेतदुदाहृतम् ॥ १७ ॥

प्राणलये कालजयो भवतीत्याह—सूर्याचन्द्रमसाविति। सूर्यश्च चन्द्रमाश्च सूर्याचन्द्रमसौ। 'देवताद्वन्द्वे च' इत्यानङ्। रात्रिश्च दिवा च रात्रिंदिवम्। 'अचतुर—' इत्यादिना निपातितः। रात्रिंदिवमात्मा स्वरूपं यस्य स रात्रिंदिवात्मकस्तं रात्रिंदिवात्मकं कालं समयं धत्तो विधत्तः कुरुतः। सुषुम्णा सरस्वती कालस्य सूर्याचन्द्रमोभ्यां कृतस्य रात्रिंदिवात्मकस्य समयस्य भोक्त्री भक्षिका विनाशिका। एतद्गुह्यं रहस्यमुदाहृतं कथितम्। अयं भावः—सार्धं घटिकाद्वयं सूर्यो वहति सार्धं घटिकाद्वयं चन्द्रो वहति। यदा सूर्यो वहति तदा दिनमुच्यते। यदा चन्द्रो वहति तदा रात्रिरुच्यते। पञ्चघटिकामध्ये रात्रिंदिवात्मकः कालो भवति। लौकिकाहोरात्रमध्ये योगिनां द्वादशाहोरात्रात्मकः कालव्यवहारो भवति। तादृशकालमानेन जीवानामायुर्मानमस्ति। यदा सुषुम्णामार्गेण वायुर्ब्रह्मरन्ध्रे लीनो भवति तदा रात्रिंदिवात्मकस्य कालस्याभावादुक्तं भोक्त्री सुषुम्णा कालस्येति। यावद्ब्रह्मरन्ध्रे वायुर्लीयते तावद्योगिन आयुर्वर्धते। दीर्घकालाभ्यस्तसमाधिर्योगी पूर्वमेव मरणकालं ज्ञात्वा ब्रह्मरन्ध्रे वायुं नीत्वा कालं निवारयति स्वेच्छया देहत्यागं च करोतीति ॥ १७ ॥

द्वासप्ततिसहस्राणि नाडीद्वाराणि पञ्जरे ।
सुषुम्णा शांभवी शक्तिः शेषास्त्वेव निरर्थकाः ॥१८॥

द्वासप्ततीति । पञ्जरे पञ्जरवत्सिरास्थिभिर्बद्धे शरीरे द्वाभ्यामधिका सप्ततिः द्वासप्ततिः द्वासप्ततिसंख्याकानि सहस्राणि नाडीनां सिराणां द्वाराणि वायुप्रवेशमार्गाः सन्ति । सुषुम्णा मध्या नाडी शांभवी शक्तिरस्ति । शं सुखं भवत्यस्माद्भक्तानामिति शंभुरीश्वरस्तस्येयं शांभवी, ध्यानेन शंभुप्रापकत्वात् , शंभोराविर्भावजनकत्वाद्वा शांभवी । यद्वा शं सुखरूपो भवति तिष्ठतीति शंभुरात्मा तस्येयं शांभवी । चिदभिव्यक्तिस्थानत्वाद्ध्यानेनात्मसाक्षात्कारहेतुत्वाच्च । शेषा इडापिङ्गलादयस्तु निरर्थका एव निर्गतोऽर्थः प्रयोजनं यासां ता निरर्थकाः, पूर्वोक्तप्रयोजनाभावात् ॥ १८ ॥

वायुः परिचितो यस्मादग्निना सह कुण्डलीम् ।
बोधयित्वा सुषुम्णायां प्रविशेदनिरोधतः ॥ १९ ॥

वायुरिति । यस्मात्परिचितोऽभ्यस्तो वायुस्तस्मादग्निना जठराग्निना सह कुण्डलीं शक्तिं बोधयित्वा अनिरोधतोऽप्रतिबन्धात्सुषुम्णायां सरस्वत्यां प्रविशेत् वायोः सुषुम्णाप्रवेशार्थमभ्यासः कर्तव्य इत्यर्थः ॥ १९ ॥

सुषुम्णावाहिनि प्राणे सिध्यत्येव मनोन्मनी ।
अन्यथा त्वितराभ्यासाः प्रयासायैव योगिनाम् ॥

सुषुम्णेति । प्राणे सुषुम्णावाहिनि सति मनोन्मनी उन्मन्यवस्था सिध्यत्येव । अन्यथा प्राणे सुषुम्णावाहिन्यसति तु इतराभ्यासाः सुषुम्णेतराभ्यासाः योगिनां योगाभ्यासिनां प्रयासायैव श्रमायैव भवन्तीत्यर्थः ॥ २० ॥

पवनो बध्यते येन मनस्तेनैव बध्यते ।
मनश्च बध्यते येन पवनस्तेन बध्यते ॥ २१ ॥

पवन इति । येन योगिना पवनः प्राणवायुर्बध्यते बद्धः क्रियते तेनैव योगिना मनो बध्यते । येन मनो बध्यते तेन पवनो बध्यते । मनःपवनयोरेकतरे बद्धे उभयं बद्धं भवतीत्यर्थः ॥ २१ ॥

हेतुद्वयं तु चित्तस्य वासना च समीरणः ।
तयोर्विनष्ट एकस्मिंस्तौ द्वावपि विनश्यतः ॥ २२ ॥

हेतुद्वयं तु चित्तस्येति । चित्तस्य प्रवृत्तौ हेतुद्वयं कारणद्वयमस्ति, किं तदित्याह । वासना भावनाख्यः संस्कारः समीरणः प्राणवायुश्च तयोर्वासनासमीरणयोरेकस्मिन्विनष्टे सति क्षीणे सति तौ द्वावपि विनश्यतः । अयमाशयः—वासनाक्षये समीरणचित्ते क्षीणे भवतः । समीरणे क्षीणे चित्त-

वासने क्षीणे भवतः। चित्ते क्षीणे समीरणवासने क्षीणे भवतः। तदुक्तं वासिष्ठे—'द्वे बीजे राम चित्तस्य प्राणस्पन्दनवासने। एकस्मिंश्च तयोर्नष्टे क्षिप्रं द्वे अपि नश्यतः॥' तत्रैव व्यतिरेकेणोक्तम्—'यावद्विलीनं न मनो न तावद्वासनाक्षयः। न क्षीणा वासना यावच्चित्तं तावन्न शाम्यति॥ न यावद्याति विज्ञानं न तावच्चित्तसंक्षयः। यावन्न चित्तोपशमो न तावत्तत्त्ववेदनम्॥ यावन्न वासनानाशस्तावत्तत्त्वागमः कुतः। यावन्न तत्त्वसंप्राप्तिर्न तावद्वासनाक्षयः॥ तत्त्वज्ञानं मनोनाशो वासनाक्षय एव च। मिथः कारणतां गत्वा दुःसाध्यानि स्थितान्यतः॥ त्रय एते समं यावन्न स्वभ्यस्ता मुहुर्मुहुः। तावन्न तत्त्वसंप्राप्तिर्भवत्यपि समाश्रितैः'॥ २२॥

मनो यत्र विलीयेत पवनस्तत्र लीयते।
पवनो लीयते यत्र मनस्तत्र विलीयते॥ २३॥

मन इति। यत्र यस्मिन्नाधारे मनो लीयते तत्र तस्मिन्नाधारे पवनो विलीयत इत्यन्वयः॥ २३॥

दुग्धाम्बुवत्संमिलितावुभौ तौ
तुल्यक्रियौ मानसमारुतौ हि।
यतो मरुत्तत्र मनःप्रवृत्ति-
र्यतो मनस्तत्र मरुत्प्रवृत्तिः॥ २४॥

दुग्धाम्बुवदिति । दुग्धाम्बुवत्क्षीरनीरवत्संमिलितौ सम्यक् मिलितौ तावुभौ द्वावपि मानसमारुतौ मानसं च मारुतश्च मानसमारुतौ चित्तप्राणौ तुल्यक्रियौ तुल्या समा क्रिया प्रवृत्तिर्ययोस्तादृशौ भवतः । तुल्यक्रियत्वमेवाह—यत इति । यतः यत्र । सार्वविभक्तिकस्तसिः । यस्मिन् चक्रे मरुद्वायुः प्रवर्तते तत्र तस्मिन् चक्रे मनःप्रवृत्तिः मनसः प्रवृत्तिर्भवति । यतो यस्मिन् चक्रे मनः प्रवर्तते तत्र तस्मिन् चक्रे मरुत्प्रवृत्तिः वायोः प्रवृत्तिर्भवतीत्यर्थः । तदुक्तं वासिष्ठे—'अविनाभाविनी नित्यं जन्तूनां प्राणचेतसी । कुसुमामोदवन्मिश्रे तिलतैले इवास्थिते । कुरुतश्च विनाशेन कार्यं मोक्षाख्यमुत्तमम् ॥' इति ॥ २४ ॥

तत्रैकनाशादपरस्य नाश
एकप्रवृत्तेरपरप्रवृत्तिः ।
अध्वस्तयोश्चेन्द्रियवर्गवृत्तिः
प्रध्वस्तयोर्मोक्षपदस्य सिद्धिः ॥ २५ ॥

तत्रेति । तत्र तयोर्मानसमारुतयोर्मध्ये एकस्य मानसस्य मारुतस्य वा नाशाल्लयादपरस्यान्यस्य मारुतस्य मानसस्य वा नाशो लयो भवति । एकप्रवृत्तेरेकस्य मानसस्य मारुतस्य वा प्रवृत्तेर्व्यापारादपरप्रवृत्तिरपरस्य मारुतस्य मानसस्य वा प्रवृत्ति-

र्व्यापारो भवति। अध्वस्तयोरलीनयोर्मानसमारुतयोः सतो-रिन्द्रियवर्गवृत्तिरिन्द्रियसमुदायस्य स्वस्वविषये प्रवृत्तिर्भवति। प्रध्वस्तयोः प्रलीनयोस्तयोः सतोर्मोक्षपदस्य मोक्षाख्यपदस्य सिद्धिर्निष्पत्तिर्भवति। तयोर्लये पुरुषस्य स्वरूपेऽवस्थानादि-त्यर्थः। 'तत्रापि साध्यः पवनस्य नाशः षडङ्गयोगादिनि-षेवणेन। मनोविनाशस्तु गुरोः प्रसादान्निमेषमात्रेण सुसाध्य एव॥' योगबीजे मूलश्लोकस्यायमुत्तरः श्लोकः॥ २५॥

रसस्य मनसश्चैव चञ्चलत्वं स्वभावतः।
रसो बद्धो मनो बद्धं किं न सिध्यति भूतले॥२६॥

रसस्येति। रसस्य पारदस्य मनसो मानसस्य स्वभावतः स्वभावाच्चञ्चलत्वं चाञ्चल्यमस्ति। रसः पारदो बद्धश्चेन्मनश्चित्तं बद्धं भवति। ततो भूतले पृथिवीतले किं न सिध्यति? सर्वं सिध्यतीत्यर्थः॥ २६॥

मूर्च्छितो हरते व्याधीन्मृतो जीवयति स्वयम्।
बद्धः खेचरतां धत्ते रसो वायुश्च पार्वति॥ २७॥

तदेवाह—मूर्च्छित इति। ओषधिविशेषयोगेन गतचापलो रसो मूर्च्छितः कुम्भकान्ते रेचकनिवृत्तो वायुर्मूर्च्छित इत्युच्यते। हे पार्वतीति पार्वतीसुबोधायेश्वरवाक्यम्। मूर्च्छितो रसः पारदो वायुः प्राणश्च व्याधीन् रोगान् हरते नाशयति।

भस्मीभूतो रसो ब्रह्मरन्ध्रे लीनो वायुश्च मृतः स्वयमात्मना स्वसामर्थ्येनेत्यर्थः । जीवयति दीर्घकालं जीवनं करोति । क्रियाविशेषेण गुटिकाकारकृतो रसः बद्धो भ्रूमध्यादौ धारणाविशेषेण धृतो वायुश्च बद्धः खेचरतामाकाशगतिं धत्ते विधत्ते करोतीत्यर्थः । तदुक्तं गोरक्षकशतके—'यद्भिन्नाञ्जनपुञ्जसंनिभमिदं वृत्तं भ्रुवोरन्तरे तत्त्वं वायुमयं यकारसहितं तत्रेश्वरो देवता । प्राणं तत्र विलाप्य पञ्चघटिकं चित्तान्वितं धारयेदेषा खे गमनं करोति यमिनां स्याद्वायुना धारणा ॥' इति ॥२७॥

मनःस्थैर्ये स्थिरो वायुस्ततो बिन्दुः स्थिरो भवेत् ।
बिन्दुस्थैर्यात्सदा सत्त्वं पिण्डस्थैर्यं प्रजायते ॥ २८ ॥

मनःस्थैर्य इति । मनसः स्थैर्ये सति वायुः प्राणः स्थिरो भवेत् । ततो वायुस्थैर्याद्बिन्दुर्वीर्यं स्थिरो भवेत् । बिन्दोः स्थैर्यात्सदा सत्त्वं बलं पिण्डस्थैर्यं देहस्थैर्यं प्रजायते ॥ २८ ॥

इन्द्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुतः ।
मारुतस्य लयो नाथः स लयो नादमाश्रितः ॥२९॥

इन्द्रियाणामिति । इन्द्रियाणां श्रोत्रादीनां मनोऽन्तःकरणं नाथः प्रवर्तकः । मनोनाथो मनसो नाथो मारुतः प्राणः । मारुतस्य प्राणस्य लयो मनोविलयो नाथः । स लयो मनोलयः नादमाश्रितो नादे मनो लीयत इत्यर्थः ॥ २९ ॥

सोऽयमेवास्तु मोक्षाख्यो माऽस्तु वाऽपि मतान्तरे ।
मनःप्राणलये कश्चिदानन्दः संप्रवर्तते ॥ ३० ॥

सोऽयमिति । सोऽयमेव चित्तलय एव मोक्षाख्यो मोक्ष-पदवाच्यः । मतान्तरेऽन्यमते माऽस्तु वा । चित्तलयस्य सुषुप्तावपि सत्त्वान्मनःप्राणयोर्लये सति कश्चिदनिर्वाच्य आनन्दः संप्रवर्तते सम्यक् प्रवृत्तो भवति । अनिर्वाच्यानन्दाविर्भावे जीवन्मुक्तिसुखं भवत्येवेति भावः ॥ ३० ॥

प्रणष्टश्वासनिःश्वासः प्रध्वस्तविषयग्रहः ।
निश्चेष्टो निर्विकारश्च लयो जयति योगिनाम् ॥३१॥

प्रणष्टेति । श्वासश्च निःश्वासश्च श्वासनिःश्वासौ प्रणष्टौ लीनौ श्वासनिःश्वासौ यस्मिन् स तथा बाह्यवायोरन्तः प्रवेशनं श्वासः अन्तः स्थितस्य वायोर्बहिर्निःसरणं निःश्वासः । प्रध्वस्तः प्रकर्षेण ध्वस्तो नष्टो विषयाणां शब्दादीनां ग्रहो ग्रहणं यस्मिन् निर्गता चेष्टा कायक्रिया यस्मिन् निर्गतो विकारोऽन्तः-करणक्रिया यस्मिन् एतादृशो योगिनां लयोऽन्तःकरणवृत्तेर्ध्येया-कारा वृत्तिर्जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते ॥ ३१ ॥

उच्छिन्नसर्वसंकल्पो निःशेषाशेषचेष्टितः ।
स्वावगम्यो लयः कोऽपि जायते वागगोचरः ॥३२॥

उच्छिन्नेति । उच्छिन्ना नष्टाः सर्वे संकल्पा मनःपरिणामा यस्मिन् स तथा, निर्गतः शेषो यस्मात्तानि निःशेषाण्यशेषाणि चेष्टितानि यस्मिन् स तथा, स्वेनैवावगन्तुं बोद्धुं शक्यः स्वावगम्यः वाचामगोचरोऽविषयः कोऽपि विलक्षणो लयः जायते योगिनां प्रादुर्भवति ॥ ३२ ॥

यत्र दृष्टिर्लयस्तत्र भूतेन्द्रियसनातनी ।
सा शक्तिर्जीवभूतानां द्वे अलक्ष्ये लयं गते ॥ ३३ ॥

यत्र दृष्टिरिति । यत्र यस्मिन्विषये ब्रह्मणि दृष्टिरन्तःकरण-वृत्तिस्तत्रैव लयो भवति । भूतानि पृथिव्यादीनि इन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि सनातनानि शाश्वतानि यस्यां सा सत्कार्यवादेऽवि-द्यायां कार्यजातस्य सत्त्वात् । जीवभूतानां प्राणिनां शक्तिर्विद्या इमे द्वे अलक्ष्ये ब्रह्मणि लयं गते योगिनामिति शेषः ॥ ३३ ॥

लयो लय इति प्राहुः कीदृशं लयलक्षणम् ।
अपुनर्वासनोत्थानाल्लयो विषयविस्मृतिः ॥ ३४ ॥

लय इति । लय इति प्राहुर्वदन्ति बहवः । लयस्य लक्षणं लयस्वरूपं कीदृशमिति प्रश्नपूर्वकं लयस्वरूपमाह— अपुनरिति । अपुनर्वासनोत्थानात्पुनर्वासनोत्थानाभावाद्विषय-विस्मृतिर्विषयाणां शब्दादीनां ध्येयाकारस्य विषयस्य वा विस्मृ-

वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव ।
एकैव शांभवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव ॥ ३५ ॥

वेदेति । वेदाश्चत्वारः शास्त्राणि षट् पुराणान्यष्टादश सामान्या गणिका इव वेश्या इव, बहुपुरुषगम्यत्वात् । एका शांभवी मुद्रैव कुलवधूरिव कुलस्त्रीव गुप्ता, पुरुषविशेषगम्यत्वात् ॥ ३५ ॥

अन्तर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता ।
एषा सा शांभवी मुद्रा वेदशास्त्रेषु गोपिता ॥ ३६ ॥

चित्तलयाय प्राणलयसाधनीभूतां मुद्रां विवक्षुस्तत्र शांभवीं मुद्रामाह—अन्तर्लक्ष्यमिति । अन्तः आधारादिब्रह्मरन्ध्रान्तेषु चक्रेषु मध्ये स्वाभिमते चक्रे लक्ष्यमन्तःकरणवृत्तिः । बहिर्देहाद्बहिःप्रदेशे दृष्टिः? चक्षुःसंबन्धः । कीदृशी दृष्टिः? निमेषोन्मेषवर्जिता निमेषः पक्ष्मसंयोगः उन्मेषः पक्ष्मसंयोगविश्लेषः ताभ्यां वर्जिता रहिता चित्तस्य ध्येयाकारावेशे निमेषोन्मेषवर्जिता दृष्टिर्भवति । सोक्तैषा मुद्रा शांभवी शंभोरियं शांभवी शिवप्रिया शिवाविर्भावजनिका वा भवति । कीदृशी? वेदशास्त्रेषु गोपिता वेदेषु ऋगादिषु शास्त्रेषु सांख्यपातञ्जलादिषु गोपिता रक्षिता ॥ ३६ ॥

अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी यदा वर्तते
दृष्ट्या निश्चलतारया बहिरधः पश्यन्नपश्यन्नपि ।
मुद्रेयं खलु शांभवी भवति सा लब्धा प्रसादाद् गुरोः
शून्याशून्यविलक्षणं स्फुरति तत्त्वं परं शांभवम् ॥३७॥

शांभवीं मुद्रामभिनीय दर्शयति—अन्तर्लक्ष्येति । यदा यस्यामवस्थायामन्तः अनाहतपद्मादौ यल्लक्ष्यं सगुणेश्वरमूर्त्यादिकं तत्त्वमस्यादिवाक्यलक्ष्यं जीवेश्वराभिन्नमहं ब्रह्मास्मीति वाक्यार्थभूतं ब्रह्म वा तस्मिन्विलीनौ विशेषेण लीनौ चित्तपवनौ मनोमारुतौ यस्य स तथा योगी वर्तते निश्चलतारया निश्चला स्थिरा तारा कनीनिका यस्यां तादृश्या दृष्ट्या बहिर्देहाद्बहिःप्रदेशे पश्यन्नपि चक्षुःसंबन्धं कुर्वन्नपि अपश्यन् बाह्यविषयग्रहणमकुर्वन् वर्तते आस्ते । खल्विति वाक्यालंकारे । इयमुक्ता शांभवी मुद्रा शांभवीनामिका मुद्रयति क्लेशानिति मुद्रा गुरोर्देशिकस्य प्रसादात्प्रीतिपूर्वकादनुग्रहाल्लब्धा प्राप्ता चेत्तदिदमिति वक्तुमशक्यं शांभवं शांभवीमुद्रायां भासमानं पदं पद्यते गम्यते योगिभिरिति पदमात्मस्वरूपं शून्याशून्यविलक्षणं ध्येयाकारवृत्तेः सद्भावाच्छून्यविलक्षणं तस्या अपि भानाभावादशून्यविलक्षणं तत्त्वं वास्तविकं वस्तु स्फुरति प्रतीयते । तथा चोक्तम्—'अन्तर्लक्ष्यमनन्य-

धीरविरतं पश्यन्मुदा संयमी दृष्ट्युन्मेषनिमेषवर्जितमियं मुद्रा भवेच्छांभवी । गुप्तेयं गिरिशेन तन्त्रविदुषा तन्त्रेषु तत्त्वार्थिनामेषा स्याद्यमिनां मनोलयकरी मुक्तिप्रदा दुर्लभा । १ । ऊर्ध्वदृष्टिरधोदृष्टिरूर्ध्ववेधो ह्यधःशिराः । राधायन्त्रविधानेन जीवन्मुक्तो भवेत्क्षितौ ' । २ । ॥ ३७ ॥

श्रीशांभव्याश्च खेचर्या अवस्थाधामभेदतः ।
भवेच्चित्तलयानन्दः शून्ये चित्सुखरूपिणि ॥ ३८ ॥

श्रीशांभव्या इति । श्रीशांभव्याः श्रीमत्याः शांभवीमुद्रायाः खेचरीमुद्रायाश्चावस्थाधामभेदतः अवस्थाऽवस्थितिर्धाम स्थानं तयोर्भेदाच्छांभव्यां बहिर्दृष्ट्या बहिःस्थितिः खेचर्यां भ्रूमध्यदृष्ट्याऽवस्थितिः । शांभव्यां हृदयं भावनादेशः खेचर्यां भ्रूमध्य एव देशः । तयोर्भेदाभ्यां शून्ये देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्ये सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्ये या चित्सुखरूपिणि चिदानन्दस्वरूपिण्यात्मनि चित्तलयानन्दो भवेत्स्यात् । श्रीशांभवीखेचर्योरवस्थाधामरूपसाधनांशे भेदः न तु चित्तलयानन्दरूपफलांश इति भावः ॥ ३८ ॥

तारे ज्योतिषि संयोज्य किंचिदुन्नमयेद् भ्रुवौ ।
पूर्वयोगं मनोयुञ्जन्नुन्मनीकारकः क्षणात् ॥ ३९ ॥

उन्मनीमुद्रामाह—तारे इति। तारे नेत्रयोः कनीनिके ज्योतिषि तारयोर्नासाग्रे योजनात्प्रकाशमाने तेजसि संयोज्य संयुक्ते कृत्वा भ्रुवौ किंचित्स्वल्पमुन्नयेदूर्ध्वं नयेत्। पूर्वः पूर्वोक्तोऽन्तर्लक्ष्यबहिर्दृष्टिरित्याकारको योगो युक्तिर्यस्मिन् तत्तादृशं मनोऽन्तःकरणं युञ्जन् युक्तं कुर्वन् योगी क्षणान्मुहूर्तादुन्मनीकारक उन्मन्यवस्थाकारको भवति॥ ३९॥

केचिदागमजालेन केचिन्निगमसंकुलैः।
केचित्तर्केण मुह्यन्ति नैव जानन्ति तारकम्॥ ४०॥

उन्मनीमन्तराऽन्यस्तरणोपायो नास्तीत्याह—केचिदिति। केचिच्छास्त्रतन्त्रादिविदः आगच्छन्ति बुद्धिमारोहन्त्यर्था एभ्य इत्यागमाः शास्त्रतन्त्रादयस्तेषां जालैर्जालवद्बन्धनसाधनैस्तदुक्तैः फलैर्मुह्यन्ति मोहं प्राप्नवन्ति। तत्रासक्ता बध्यन्त इति भावः। केचिद्वैदिका निगमसंकुलैर्निगमानां निगमोक्तानां संकुलैः फलबाहुल्यैर्मुह्यन्ति। केचिद्वैशेषिकादयस्तर्केण स्वकल्पितयुक्तिविशेषेण मुह्यन्ति। तारयतीति तारकस्तं तारकं तरणोपायं नैव जानन्ति। उक्तोन्मन्येव तरणोपायस्तं न जानन्तीत्यर्थः॥

अर्धोन्मीलितलोचनः स्थिरमना नासाग्रदत्तेक्षण-
श्चन्द्रार्कावपि लीनतामुपनयन्निःस्पन्दभावेन यः।

ज्योतीरूपमशेषबीजमखिलं देदीप्यमानं परं
तत्त्वं तत्पदमेति वस्तु परमं वाच्यं किमत्राधिकम् ॥४१॥

अर्धोन्मीलितेति । अर्धमुन्मीलिते अर्धोन्मीलिते अर्धोन्मीलिते लोचने येन स अर्धोद्घाटितलोचन इत्यर्थः । स्थिरं निश्चलं मनो यस्य स स्थिरमनाः, नासाया नासिकाया अग्रेऽग्रभागे नासिकायां द्वादशाङ्गुलपर्यन्ते वा दत्ते प्रहिते ईक्षणे येन स नासाग्रदत्तेक्षणः । तथाऽऽह वसिष्ठः—'द्वादशाङ्गुलपर्यन्ते नासाग्रे विमलेऽम्बरे । संविद्दृशोः प्रशाम्यन्त्योः प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥' इति । निःस्पन्दस्य निश्चलस्य भावो निःस्पन्दभावः कायेन्द्रियमनसां निश्चलत्वं तेन चन्द्रार्कौ चन्द्रसूर्यावपि लीनतां लीनस्य भावो लीनता लयस्तमुपनयन्प्रापयन् कायेन्द्रियमनसां निश्चलत्वेन प्राणसंचारमपि स्तम्भयन्नित्यर्थः । तदुक्तं प्राक् । मनो यत्र विलीयेतेत्यादिपूर्वोक्तविशेषणसंपन्नो योगी ज्योतिरिवाखिलप्रकाशकं रूपं यस्य स तथा तमशेषबीजमाकाशाद्युत्पत्तिद्वारा सर्वकारणमखिलं पूर्णं देदीप्यमानमतिशयेन दीप्यत इति देदीप्यमानं तत्तथा स्वप्रकाशं परं कायेन्द्रियमनसां साक्षिणं तत्त्वमनारोपितं वास्तविकमित्यर्थः । तदिदमिति वक्तुमशक्यं पद्यते गम्यते योगिभिरिति पदं परमं सर्वोत्कृष्टं वस्तु आत्मस्वरूपम् एति प्राप्नोति । उन्मन्य-

वस्थायां स्वस्वरूपावस्थितो योगी भवतीत्यर्थः । अत्राधिकं किं वाच्यम् ? अपरं वस्तु प्राप्नोतीत्यत्र किं वक्तव्यमित्यर्थः ॥४१॥

दिवा न पूजयेल्लिङ्गं रात्रौ चैव न पूजयेत् ।
सर्वदा पूजयेल्लिङ्गं दिवारात्रिनिरोधतः ॥ ४२ ॥

उन्मनीभावनायाः कालनियमाभावमाह—दिवा नेति । दिवा सूर्यसंचारे लिङ्गं सर्वकारणमात्मानम्, 'एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' इत्यादिश्रुतेः । न पूजयेत् न भावयेत् । ध्यानमेवात्मपूजनम् । तदुक्तं वासिष्ठे—'ध्यानोपहार एवात्मा ध्यानमस्य महार्चनम् । विना तेनेतरेणायमात्मा लभ्यत एव नो ॥' इति । रात्रौ चन्द्रसंचारे च नैव पूजयेन्नैव भावयेत्, चन्द्रसूर्यसंचारे चित्तस्थैर्याभावात् । 'चले वाते चलं चित्तम्' इत्युक्तत्वात् । दिवारात्रिनिरोधतः सूर्यचन्द्रौ निरुध्य । ल्यब्लोपे पञ्चमी । तस्यास्तसिल् । सर्वदा सर्वस्मिन् काले लिङ्गम् आत्मानं पूजयेद्भावयेत् । सूर्यचन्द्रयोर्निरोधे कृते सुषुम्णान्तर्गते प्राणे मनःस्थैर्यात् । तदुक्तम्—'सुषुम्णान्तर्गते वायौ मनःस्थैर्यं प्रजायते' इति ॥ ४२ ॥

अथ खेचरी—

सव्यदक्षिणनाडिस्थो मध्ये चरति मारुतः ।
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन्स्थाने न संशयः ॥ ४३ ॥

खेचरीमाह—सव्येति । सव्यदक्षिणनाडिस्थो वामतदितरनाडिस्थो मारुतो वायुर्यत्र मध्ये चरति यस्मिन्मध्यप्रदेशे गच्छति तस्मिन् स्थाने तस्मिन् प्रदेशे खेचरी मुद्रा तिष्ठते स्थिरा भवति । 'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च' इत्यात्मनेपदम् । न संशयः उक्तेऽर्थे संदेहो नास्तीत्यर्थः ॥ ४३ ॥

इडापिङ्गलयोर्मध्ये शून्यं चैवानिलं ग्रसेत् ।
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तत्र सत्यं पुनः पुनः ॥ ४४ ॥

इडापिङ्गलयोरिति । इडापिङ्गलयोः सव्यदक्षिणनाड्योर्मध्ये यच्छून्यं खं कर्तृ अनिलं प्राणवायुं यत्र ग्रसेत् । शून्ये प्राणस्य स्थिरीभाव एव ग्रासः । तत्र तस्मिन् शून्ये खेचरी मुद्रा तिष्ठते । पुनः पुनः सत्यमिति योजना ॥ ४४ ॥

सूर्याचन्द्रमसोर्मध्ये निरालम्बान्तरे पुनः ।
संस्थिता व्योमचक्रे या सा मुद्रा नाम खेचरी ॥४५॥

सूर्याचन्द्रमसोरिति । सूर्याचन्द्रमसोरिडापिङ्गलयोर्मध्ये निरालम्बं यदन्तरमवकाशस्तत्र । पुनः पादपूरणे । व्योम्नां खानां चक्रे समुदाये । भ्रूमध्ये सर्वखानां समन्वयात् । तदुक्तं पञ्चस्रोतःसमन्वित इति । या संस्थिता सा मुद्रा खेचरी नाम ॥ ४५ ॥

सोमाद्यत्रोदिता धारा साक्षात्सा शिववल्लभा ।
पूरयेदतुलां दिव्यां सुषुम्णां पश्चिमे मुखे ॥ ४६ ॥

सोमादिति। सोमाच्चन्द्राद्यत्र यस्यां खेचर्यां धाराऽमृतधारा उदितोद्भूता सा खेचरी साक्षाच्छिववल्लभा शिवस्य प्रियेति पूर्वेणान्वयः। अतुलां निर्मलां निरुपमां दिव्यां सर्वनाड्युत्तमां सुषुम्णां पश्चिमे मुखे पूरयेत्। जिह्वयेति शेषः॥ ४६॥

पुरस्ताच्चैव पूर्येत निश्चिता खेचरी भवेत्।
अभ्यस्ता खेचरी मुद्राऽप्युन्मनी संप्रजायते॥ ४७॥

पुरस्ताच्चैवेति। पुरस्ताच्चैव पूर्वतोऽपि पूर्येत। सुषुम्णां प्राणेनेति शेषः। यदि तर्हि निश्चिताऽसंदिग्धा खेचरी खेचर्याख्या मुद्रा भवेदिति। यदि तु पुरस्तात्प्राणेन न पूर्येत जिह्वामात्रेण पश्चिमतः पूर्येत तर्हि मूढावस्थाजनिका। न निश्चिता खेचरी स्यादिति भावः। खेचरीमुद्राऽप्यभ्यस्ता सती उन्मनी संप्रजायते चित्तस्य ध्येयाकारावेशात्तुर्याऽवस्था भवतीत्यर्थः॥ ४७॥

भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं मनस्तत्र विलीयते।
ज्ञातव्यं तत्पदं तुर्यं तत्र कालो न विद्यते॥ ४८॥

भ्रुवोरिति। भ्रुवोर्मध्ये भ्रुवोरन्तराले शिवस्थानं शिवस्येश्वरस्य स्थानं शिवस्य सुखरूपस्यात्मनोऽवस्थानमिति शेषः। तत्र तस्मिन् शिवे मनो लीयते। शिवाकारवृत्तिप्रवाहवद्भवति तच्चित्तलयरूपं तुर्यं पदं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिभ्यश्चतुर्थकाख्यं

बाह्यवायुर्यथा लीनस्तथा मध्यो न संशयः ।
स्वस्थाने स्थिरतामेति पवनो मनसा सह ॥ ॥५१॥

बाह्येति । बाह्यो देहाद्बहिर्भवो वायुर्यथा लीनो भवति खेचर्याम् । तस्यान्तः प्रवृत्त्यभावात् । तथा मध्यो देहमध्यवर्ती वायुर्लीनो भवति । तस्य बहिः प्रवृत्त्यभावात् । न संशयः । अस्मिन्नर्थे संदेहो नास्तीत्यर्थः । स्थीयते स्थिरीभूयतेऽस्मिन्निति स्थानं स्वस्य प्राणस्य स्थानं स्थैर्याधिष्ठानं ब्रह्मरन्ध्रं तत्र मनसा चित्तेन सह पवनः प्राणः स्थिरतां निश्चलतामेति प्राप्नोति ॥ ५१ ॥

एवमभ्यसमानस्य वायुमार्गे दिवानिशम् ।
अभ्यासाज्जीर्यते वायुर्मनस्तत्रैव लीयते ॥ ५२ ॥

एवमुक्तप्रकारेण वायुमार्गे प्राणमार्गे सुषुम्णायामित्यर्थः । दिवानिशं रात्रिंदिवमभ्यसमानस्याभ्यासं कुर्वतो योगिनोऽभ्यासाद्यत्र यस्मिन्नाधारे वायुः प्राणो जीर्यते क्षीयते लीयते इत्यर्थः । तत्रैव वायोर्लयाधिष्ठाने मनश्चित्तं लीयते जीर्यत इत्यर्थः ॥ ५२ ॥

अमृतैः प्लावयेद्देहमापादतलमस्तकम् ।
सिध्यत्येव महाकायो महाबलपराक्रमः ॥ ५३ ॥
इति खेचरी ।

ज्ञातव्यम् । तत्र तस्मिन् पदे कालो मृत्युर्न विद्यते । यद्वा सूर्यचन्द्रयोर्निरोधादायुःक्षयकारकः कालः समयो न विद्यत इत्यर्थः । तदुक्तम्—'भोक्त्री सुषुम्णा कालस्य' इति ॥४८॥

अभ्यसेत्खेचरीं तावद्यावत्स्याद्योगनिद्रितः ।
संप्राप्तयोगनिद्रस्य कालो नास्ति कदाचन ॥ ४९ ॥

अभ्यसेदिति । तावत्खेचरीं मुद्रामभ्यसेत् । यावद्योग-निद्रितः, योगः सर्ववृत्तिनिरोधः सैव निद्रा योगनिद्राऽस्य संजाता इति योगनिद्रितः तादृशः स्यात् । संप्राप्ता योगनिद्रा येन स संप्राप्तयोगनिद्रस्तस्य कदाचन कस्मिंश्चिदपि समये कालो मृत्युर्नास्ति ॥ ४९ ॥

निरालम्बं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ।
स बाह्याभ्यन्तरे व्योम्नि घटवत्तिष्ठति ध्रुवम् ॥५०॥

निरालम्बमिति । यो निरालम्बमालम्बशून्यं मनः कृत्वा किंचिदपि न चिन्तयेत् खेचरीमुद्रायां जायमानायां ब्रह्मा-कारामपि वृत्तिं परवैराग्येण परित्यजेदित्यर्थः । स योगी बाह्यभ्यन्तरे बाह्ये बहिर्भवे आभ्यन्तरेऽभ्यन्तर्भवे च व्योम्नचाकाशे घटवत्तिष्ठति । ध्रुवं निश्चितमेतत् । यथाऽऽकाशे घटो बहिरन्तश्चाकाशपूर्णो भवति तथा खेचर्यामालम्बन-परित्यागेन योगी ब्रह्मणा पूर्णस्तिष्ठतीत्यर्थः ॥ ५० ॥

बाह्यवायुर्यथा लीनस्तथा मध्यो न संशयः ।
स्वस्थाने स्थिरतामेति पवनो मनसा सह ॥ ॥५१॥

बाह्येति । बाह्यो देहाद्बहिर्भवो वायुर्यथा लीनो भवति खेचर्याम् । तस्यान्तः प्रवृत्त्यभावात् । तथा मध्यो देहमध्यवर्ती वायुर्लीनो भवति । तस्य बहिः प्रवृत्त्यभावात् । न संशयः । अस्मिन्नर्थे संदेहो नास्तीत्यर्थः । स्थीयते स्थिरीभूयतेऽस्मिन्निति स्थानं स्वस्य प्राणस्य स्थानं स्थैर्याधिष्ठानं ब्रह्मरन्ध्रं तत्र मनसा चित्तेन सह पवनः प्राणः स्थिरतां निश्चलतामेति प्राप्नोति ॥ ५१ ॥

एवमभ्यसमानस्य वायुमार्गे दिवानिशम् ।
अभ्यासाज्जीर्यते वायुर्मनस्तत्रैव लीयते ॥ ५२ ॥

एवमुक्तप्रकारेण वायुमार्गे प्राणमार्गे सुषुम्णायामित्यर्थः । दिवानिशं रात्रिंदिवमभ्यसमानस्याभ्यासं कुर्वतो योगिनोऽभ्यासाद्यत्र यस्मिन्नाधारे वायुः प्राणो जीर्यते क्षीयते लीयते इत्यर्थः । तत्रैव वायोर्लयाधिष्ठाने मनश्चित्तं लीयते जीर्यत इत्यर्थः ॥ ५२ ॥

अमृतैः प्लावयेद्देहमापादतलमस्तकम् ।
सिध्यत्येव महाकायो महाबलपराक्रमः ॥ ५३ ॥
इति खेचरी ।

अमृतैरिति । अमृतैः सुषिरनिर्गतैः पादतलं च मस्तकं च पादतलमस्तकम् । 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्' इत्येकवद्भावः । पादतलमस्तकमभिव्याप्येत्यापादतलमस्तकं देहमाप्लावयेदाप्लावितं कुर्यात् । महानुत्कृष्टः कायो यस्य स महाकायः महान्तौ बलपराक्रमौ यस्येत्येतादृशो योगी सिध्यत्येव । अमृताप्लावनेन सिद्धो भवत्येव ॥ ५३ ॥

शक्तिमध्ये मनः कृत्वा शक्तिं मानसमध्यगाम् ।
मनसा मन आलोक्य धारयेत्परमं पदम् ॥ ५४ ॥

शक्तिरिति । शक्तिः कुण्डलिनी तस्या मध्ये मनः कृत्वा तस्यां मनो धृत्वा तदाकारं मनः कृत्वेत्यर्थः । शक्तिं मानसमध्यगां कृत्वा । शक्तिध्यानावेशाच्छक्तिं मनस्येकीकृत्य तेन कुण्डलीं बोधयित्वेति यावत् । 'प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मरुता सह' इति गोरक्षोक्तेः । मनसाऽन्तःकरणेन मनः आलोक्य बुद्धिं मनसाऽवलोकनेन स्थिरीकृत्येत्यर्थः । परमं पदं सर्वोत्कृष्टं स्वरूपं धारयेद्धारणाविषयं कुर्यादित्यर्थः ॥ ५४ ॥

खमध्ये कुरु चात्मानमात्ममध्ये च खं कुरु ।
सर्वं च खमयं कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥५५॥

खमध्य इति । खमिव पूर्णं ब्रह्म खं तन्मध्ये आत्मानं स्वस्वरूपं कुरु । ब्रह्माऽहमिति भावयेत्यर्थः । आत्ममध्ये

स्वस्वरूपे च खं पूर्णं ब्रह्म कुरु। अहं ब्रह्मेति च भावयेत्यर्थः। सर्वं च खमयं कृत्वा ब्रह्ममयं विभाव्य किमपि न चिन्तयेत्। अहं ब्रह्मेति ध्यानमपि परित्यजेदित्यर्थः ॥ ५५ ॥

अन्तः शून्यो बहिः शून्यः शून्यः कुम्भ इवाम्बरे।
अन्तः पूर्णो बहिः पूर्णः पूर्णः कुम्भ इवार्णवे ॥५६॥

एवं समाहितस्य स्वरूपे स्थितिमाह—अन्तः शून्य इति। अन्तः अन्तःकरणे शून्यः। ब्रह्मातिरिक्तवृत्तेरभावाद्द्वितीयशून्यः। बहिरन्तःकरणाद्बहिरपि शून्यः, द्वितीयादर्शनात्। अम्बरे आकाशे कुम्भो घटो यथाऽन्तर्बहिःशून्यस्तद्वदन्तःकरणे हृदाकाशे वायुपूर्णः ब्रह्माकारवृत्तेः सद्भावाद्ब्रह्मवासत्वाद्वा। बहिः पूर्णोऽन्तःकरणाद्बहिर्हृदवकाशाद्बहिर्वा पूर्णः। सत्तया ब्रह्मातिरिक्तवृत्तेरभावाद्ब्रह्मपूर्णत्वाद्वा। अर्णवे समुद्रे कुम्भो घटो यथा सर्वतो जलपूर्णो भवत्येवं समाधिनिष्ठो योगी ब्रह्मपूर्णो भवतीत्यर्थः ॥ ५६ ॥

बाह्यचिन्ता न कर्तव्या तथैवान्तरचिन्तनम्।
सर्वचिन्तां परित्यज्य न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥५७॥

बाह्यचिन्तेति। समाहितेन योगिनेत्यध्याहारः। बाह्यचिन्ता बाह्यविषया चिन्ता न कर्तव्या। तथैव बाह्यचिन्ताकरणवदान्तरचिन्तनमान्तराणां मनसा परिकल्पितानामाशामोदक-

सौधवाटिकादीनां चिन्तनं न कर्तव्यमिति लिङ्गविपरिणामेनान्वयः। सर्वचिन्तां बाह्याभ्यन्तरचिन्तनं परित्यज्य किंचिदपि न चिन्तयेत्परवैराग्येणात्माकारवृत्तिमपि परित्यजेत्। तत्त्यागे स्वरूपावस्थितिरूपा जीवन्मुक्तिर्भवतीति भावः॥ ५७॥

संकल्पमात्रकलनैव जगत्समग्रं
संकल्पमात्रकलनैव मनोविलासः।
संकल्पमात्रमतिमुत्सृज निर्विकल्प-
माश्रित्य निश्चयमवाप्नुहि राम शान्तिम्॥५८॥

बाह्याभ्यन्तरचिन्तापरित्यागे शान्तिश्च भवतीत्यत्र वसिष्ठवाक्यं प्रमाणयति—संकल्पेति। संकल्पो मानसिको व्यापारः स एव संकल्पमात्रं तस्य कलनैव रचनैवेदं दृश्यमानं समग्रं जगत्। बाह्यप्रपञ्चो मनोमात्रकल्पित इत्यर्थः। मनसो मानसस्य विलासो नानाविषयाकारकल्पना आशामोदकसौधवाटिकादिकल्पनारूपो विलासः संकल्पमात्रकलनैव। मानसः प्रपञ्चोऽपि संकल्पमात्ररचनैवेत्यर्थः। संकल्पमात्रे बाह्याभ्यन्तरप्रपञ्चे या मतिः सत्यत्वबुद्धिस्तामुत्सृज। तर्हि किं कर्तव्यमित्यत आह—निर्विकल्पेति। विशिष्टः कल्पो विकल्पः। आत्मनि कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखित्वसजातीयविजातीयस्वगतभेददेशकालवस्तुपरिच्छेदकल्पनारूपः, तस्मान्निष्क्रान्तो निर्विकल्पस्त-

मात्मानमाश्रित्य धारणादिविषयं कृत्वा हे राम निश्चयमसंदिग्धं शान्तिं परमोपरतिमवाप्नुहि। ततः सुखमपि प्राप्स्यसीति भावः। तदुक्तं भगवता व्यतिरेकेण—'न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्' इति ॥ ५८ ॥

कर्पूरमनले यद्वत्सैन्धवं सलिले तथा।
तथा संधीयमानं च मनस्तत्त्वे विलीयते ॥ ५९ ॥

कर्पूरमिति। यद्वद्यथाऽनलेऽग्नौ संधीयमानं संयोज्यमानं कर्पूरं विलीयते विशेषेण लीयते लीनं भवति अग्न्याकारं भवति। यथा सलिले जले संधीयमानं सैन्धवं लवणं विलीयते लवणाकारं परित्यज्य जलाकारं भवति तथा तद्वत्तत्त्वे आत्मनि संधीयमानं कार्यमाणं मनो विलीयते आत्माकारं भवति ॥ ५९ ॥

ज्ञेयं सर्वं प्रतीतं च ज्ञानं च मन उच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं समं नष्टं नान्यः पन्था द्वितीयकः ॥६०॥

मनसो विलये जाते द्वैतमपि लीयत इत्याह त्रिभिः—ज्ञेयमिति। सर्वं सकलं ज्ञेयं ज्ञानार्हं प्रतीतं च ज्ञातं च ज्ञानं च इदं सर्वं मन उच्यते। सर्वस्य मनःकल्पनामात्रत्वान्मनःशब्देनोच्यते। ज्ञानं ज्ञेयं च समं मनो विलीयते मनसा सार्धं नष्टं यदि तर्हि द्वितीयकः द्वितीय एव द्वितीयकः पन्था मनोविषयो नास्ति। द्वैतं नास्तीति फलितार्थः ॥ ६० ॥

मनोदृश्यमिदं सर्वं यत्किंचित्सचराचरम् ।
मनसो ह्युन्मनीभावाद् द्वैतं नैवोपलभ्यते ॥ ६१ ॥

मनोदृश्यमिति । इदमुपलभ्यमानं यत्किंचिद्यत्किमपि चरं जङ्गममचरं स्थावरं चरं चाचरं च चराचरे ताभ्यां सह वर्तत इति सचराचरं यज्जगत्तत्सर्वं मनोदृश्यं मनसा दृश्यम् । मन:संकल्पमात्रमित्यर्थः । मनःकल्पनासत्त्वे प्रतीतेस्तदभावे चाप्रतीतेर्भ्रम एव सर्वं जगत् , भ्रमस्य प्रातीतिकशरीरत्वात् । न च बौद्धमतप्रसङ्गः, भ्रमाधिष्ठानस्य ब्रह्मणः सत्यत्वाभ्युपगमात् । मनस उन्मनीभावाद्विलयाद् द्वैतं भेदः नैवोपलभ्यते नैव प्रतीयते, द्वैतभ्रमहेतोर्मन:संकल्पस्याभावात् । हि तद्धेतावव्ययम् ॥ ६१ ॥

ज्ञेयवस्तुपरित्यागाद्विलयं याति मानसम् ।
मनसो विलये जाते कैवल्यमवशिष्यते ॥ ६२ ॥

ज्ञेयेति । ज्ञेयं ज्ञानविषयो यद्वस्तु सर्वं चराचरं यद्दृश्यं तस्य परित्यागान्नामरूपात्मकस्य तस्य परिवर्जनाद्विलयं याति सच्चिदानन्दरूपात्माकारं भवति । मनसो विलये जाते सति कैवल्यं केवलस्यात्मनो भावः कैवल्यमवशिष्यते । अद्वितीयात्मस्वरूपमेव शिष्टं भवतीत्यर्थः ॥ ६२ ॥

एवं नानाविधोपायाः सम्यक्स्वानुभवान्विताः ।
समाधिमार्गाः कथिताः पूर्वाचार्यैर्महात्मभिः ॥ ६३ ॥

एवमिति । एवमन्तर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिरित्याद्युक्तप्रकारेण महान् समाधिपरिशीलनशुद्ध आत्माऽन्तःकरणं येषां ते महात्मानस्तैर्महात्मभिः पूर्वे च ते आचार्याश्च पूर्वाचार्या मत्स्येन्द्रादयस्तैः समाधेश्चित्तवृत्तिनिरोधस्य मार्गाः प्राप्त्युपायाः कथिताः । कीदृशाः समाधिमार्गाः ? नानाविधोपायाः नानाविधा उपायाः साधनानि येषां ते तथा सम्यक् समीचीनतया संशयविपर्ययराहित्येन यः स्वानुभव आत्मानुभवस्तेनान्विता युक्ताः ॥ ६३ ॥

सुषुम्णायै कुण्डलिन्यै सुधायै चन्द्रजन्मने ।
मनोन्मन्यै नमस्तुभ्यं महाशक्त्यै चिदात्मने ॥ ६४ ॥

सुषुम्णादिभ्यः कृतकृत्यस्ताः प्रणमति—सुषुम्णायै इति । सुषुम्णा मध्यनाडी तस्यै कुण्डलिन्यै आधारशक्त्यै चन्द्राद्भ्रूमध्यस्थाज्जन्म यस्यास्तस्यै सुधायै पीयूषायै मनोन्मन्यै तुर्यावस्थायै चिच्चैतन्यमात्मा स्वरूपं यस्याः सा तथा तस्यै महति जडानां कायेन्द्रियमनसां चैतन्यसंपादकत्वात्सर्वोत्तमा या शक्तिश्चिच्छक्तिः पुरुषरूपा तस्यै । तुभ्यमिति प्रत्येकं संबध्यते । नमः प्रह्वीभावोऽस्तु ॥ ६४ ॥

अशक्यतत्त्वबोधानां मूढानामपि संमतम् ।
प्रोक्तं गोरक्षनाथेन नादोपासनमुच्यते ॥ ६५ ॥

नानाविधान् समाध्युपायानुक्त्वा नादानुसंधानरूपं मुख्योपायं प्रतिजानीते—अशक्येति । अव्युत्पन्नत्वादशक्यस्तत्त्वबोधस्तत्त्वज्ञानं येषां ते तथा तेषां मूढानामनधीतानां संमतम् । अपिशब्दात्किमुताधीतानामिति गम्यते । गोरक्षनाथेन प्रोक्तमित्यनेन महदुक्तत्वादुपादेयत्वं गम्यते । नादस्यानाहतध्वनेरुपासनेऽनुसंधानरूपं सेवनमुच्यते कथ्यते ॥ ६५ ॥

श्रीआदिनाथेन सपादकोटि-
लयप्रकाराः कथिता जयन्ति ।
नादानुसंधानकमेकमेव
मन्यामहे मुख्यतमं लयानाम् ॥ ६६ ॥

श्रीआदिनाथेनेति । श्रीआदिनाथेन शिवेन कथिताः प्रोक्ताः पादेन चतुर्थांशेन सह वर्तमानाः कोटिसंख्याका लयप्रकाराश्चित्तलयसाधनभेदा जयन्त्युत्कर्षेण वर्तन्ते । वयं तु नादानुसंधानकं नादानुचिन्तनमेव एकं केवलं लयानां लयसाधनानां मध्ये मुख्यतममतिशयेन मुख्यं मन्यामहे जानीमहे । उत्कृष्टानां लयसाधनानां मध्ये उत्कृष्टतमत्वाद्गोरक्षाभिमतत्वाच्च नादानुसंधानमेव अवश्यं विधेयमिति भावः ॥ ६६ ॥

मुक्तासने स्थितो योगी मुद्रां संधाय शांभवीम् ।
शृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमन्तःस्थमेकधीः ॥ ६७ ॥

शांभवीमुद्रया नादानुसंधानमाह—मुक्तासन इति । मुक्तासने सिद्धासने स्थितो योगी शांभवीं मुद्रामन्तर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिरित्यादिनोक्तां संधाय कृत्वा । एकधीरेकाग्रचित्तः सन् दक्षिणे कर्णेऽन्तःस्थसुषुम्णानाड्यां सन्तमेव नादं शृणुयात् । तदुक्तं त्रिपुरासारसमुच्चये—'आदौ मत्तालिमालाजनितरवसमस्तारसंस्कारकारी नादोऽसौ वांशिकस्यानिलभरितलसद्वंशनिःस्वानतुल्यः । घण्टानादानुकारी तदनु च जलधिध्वानधीरो गभीरो गर्जन्पर्जन्यघोषः पर इह कुहरे वर्तते ब्रह्मनाड्याः ॥' इति ॥६७॥

श्रवणपुटनयनयुगलघ्राणमुखानां निरोधनं कार्यम् ।
शुद्धसुषुम्णासरणौ स्फुटममलः श्रूयते नादः ॥६८॥

पराङ्मुखीमुद्रया नादानुसंधानमाह—श्रवणेति । श्रवणपुटे नयनयोर्नेत्रयोर्युगलं युग्मं घ्राणशब्देन घ्राणपुटे मुखमास्यम् । एषां द्वन्द्वे प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावे प्राप्तेऽपि सर्वस्यापि द्वन्द्वैकवद्भावस्य वैकल्पिकत्वान्न भवति । तेषां निरोधनं कराङ्गुलिभिः कार्यम् । निरोधनं चेत्थम्—'अङ्गुष्ठाभ्यामुभौ कर्णौ तर्जनीभ्यां च चक्षुषी । नासापुटौ तथाऽनाम्न्या प्रच्छाद्य करणानि च ॥' इति । चकारात्तदन्याभ्यां मुखं प्रच्छाद्येति समुच्चीयते । शुद्धा प्राणायामैर्मलरहिता या सुषुम्णासरणिः सुषुम्णापद्धतिस्तस्याममलो नादः स्फुटं व्यक्तं श्रूयते ॥ ६८ ॥

आरम्भश्च घटश्चैव तथा परिचयोऽपि च ।
निष्पत्तिः सर्वयोगेषु स्यादवस्थाचतुष्टयम् ॥ ६९ ॥

अथ नादस्य चतस्रोऽवस्थाः प्राह—आरम्भश्चेति । आरम्भावस्था घटावस्था परिचयावस्था निष्पत्त्यवस्था इति सर्वयोगेषु सर्वेषु चित्तवृत्तिनिरोधोपायेषु शांभव्यादिषु व्यवस्था-चतुष्टयं स्यात् । चचैवतथापिचाः पादपूरणार्थाः ॥६९ ॥

अथारम्भावस्था—

ब्रह्मग्रन्थेर्भवेद्भेदो ह्यानन्दः शून्यसंभवः ।
विचित्रः क्वणको देहेऽनाहतः श्रूयते ध्वनिः ॥ ७० ॥

तत्रारम्भावस्थामाह—ब्रह्मग्रन्थेरिति । ब्रह्मग्रन्थेरनाहतचक्रे वर्तमानाया भेदः प्राणायामाभ्यासेन भेदनं यदा भवेत्तदेति यत्तदोरध्याहारः । आनन्दयतीत्यानन्दः आनन्दजनकः शून्ये हृदाकाशे संभवतीति शून्यसंभवो हृदाकाशोत्पन्नो विचित्रो नानाविधः क्वणो भूषणनिनदः स एव क्वणकः । भूषणनिनद-सदृश इत्यर्थः । 'भूषणानां तु शिञ्जितम्' 'निक्वाणो निक्वणः क्वाणः क्वणः क्वणनमित्यपि' इत्यमरः । अनाहतो ध्वनिरनाहतो निर्ह्रादो देहे देहमध्ये श्रूयते श्रवणविषयो भवतीत्यर्थः ॥ ७० ॥

दिव्यदेहश्च तेजस्वी दिव्यगन्धस्त्वरोगवान् ।
संपूर्णहृदयः शून्य आरम्भे योगवान्भवेत् ॥ ७१ ॥

दिव्यदेह इति । शून्ये हृदाकाशे य आरम्भो नादारम्भस्तस्मिन्सति हृदाकाशविशुद्ध्याकाशभ्रूमध्याकाशाः शून्यातिशून्यमहाशून्यशब्दैर्व्यवह्रियन्ते योगिभिः । संपूर्णहृदयः प्राणवायुना सम्यक् पूर्णं हृदयं यस्य स तथा आनन्देन पूर्णे हृदये योगवान् योगी दिव्यो रूपलावण्यबलसंपन्नो देहो यस्य स दिव्यदेहः तेजस्वी प्रतापवान् दिव्यगन्धः दिव्य उत्तमो गन्धो यस्य स तथा अरोगवान् रोगरहितो भवेदिति संबन्धः ॥ ७१ ॥

अथ घटावस्था—

द्वितीयायां घटीकृत्य वायुर्भवति मध्यगः ।
दृढासनो भवेद्योगी ज्ञानी देवसमस्तदा ॥ ७२ ॥

घटावस्थामाह—द्वितीयायामिति । द्वितीयायां घटावस्थायां वायुः प्राणः घटीकृत्य आत्मना सहापानं नादबिन्दू चैकीकृत्य मध्यगो मध्यचक्रगतः कण्ठस्थाने मध्यचक्रम् । तदुक्तमत्रैव जालंधरबन्धे—'मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबन्धनम्' इति । यदा भवेदित्यध्याहारः । तदाऽस्यामवस्थायां योगी योगाभ्यासी दृढमासनं यस्य स दृढासनः स्थिरासनो ज्ञानी पूर्वापेक्षया कुशलबुद्धिर्देवसमो रूपलावण्याधिक्याद्देवतुल्यो भवेत् । तदुक्तमीश्वरोक्ते राजयोगे—'प्राणापानौ नादबिन्दू जीवात्मपरमात्मनोः । मिलित्वा घटते यस्मात्तस्मात्स घट उच्यते ॥' इति ॥ ७२ ॥

विष्णुग्रन्थेस्ततो भेदात्परमानन्दसूचकः ।
अतिशून्ये विमर्दश्च भेरीशब्दस्तथा भवेत् ॥ ७३ ॥

विष्णुग्रन्थेरिति । ततो ब्रह्मग्रन्थिभेदनानन्तरं विष्णुग्रन्थेः कण्ठे वर्तमानाया भेदात्कुम्भकैर्भेदनात्परमानन्दस्य भाविनो ब्रह्मानन्दस्य सूचको ज्ञापकः अतिशून्ये कण्ठावकाशे विमर्दोऽनेकनादसंमर्दो भेर्याः शब्द इव शब्दो भेरीशब्दो भेरीनादश्च तदा तस्मिन्काले भवेत् ॥ ७३ ॥

तृतीयायां तु विज्ञेयो विहायोमर्दलध्वनिः ।
महाशून्यं तदा याति सर्वसिद्धिसमाश्रयम् ॥ ७४ ॥

परिचयावस्थामाह सार्धद्वाभ्याम्—तृतीयायां परिचयावस्थायां विहायोमर्दलध्वनिर्विहायसि भ्रूमध्याकाशे मर्दलस्य वाद्यविशेषस्य ध्वनिरिव ध्वनिर्विज्ञेयो विशेषेण ज्ञानार्हो भवति । तदा तस्यामवस्थायां सर्वसिद्धिसमाश्रयं सर्वासां सिद्धीनामणिमादीनां समाश्रयं स्थानम् । तत्र संयमादणिमादिप्राप्तेः महाशून्यं भ्रूमध्याकाशं याति गच्छति प्राण इति शेषः ॥७४॥

चित्तानन्दं तदा जित्वा सहजानन्दसंभवः ।
दोषदुःखजराव्याधिक्षुधानिद्राविवर्जितः ॥ ७५ ॥

चित्तानन्दमिति । चित्तानन्दं नादविषयान्तःकरणवृत्तिजन्यसुखं जित्वाऽभिभूय सहजानन्दसंभवः सहजानन्दः स्वाभावि-

कात्मसुखं तस्य संभव आविर्भावः स दोषा वातपित्तकफा दुःखं तज्जन्या वेदना आध्यात्मिकादि च जरा वृद्धावस्था व्याधिर्ज्वरादिः क्षुधा बुभुक्षा निद्रा स्वाप एतैर्विवर्जितो रहितस्तदा योगी भवतीति ॥ ७५ ॥

रुद्रग्रन्थि यदा भित्त्वा शर्वपीठगतोऽनिलः ।
निष्पत्तौ वैणवः शब्दः क्वणद्वीणाक्वणो भवेत् ॥७६॥

तदा, कदेत्यपेक्षायामाह—रुद्रेति । यदा रुद्रग्रन्थि भित्त्वा । आज्ञाचक्रे रुद्रग्रन्थिः शर्वस्येश्वरस्य पीठं स्थानं भ्रूमध्यं तत्र गतः प्राप्तोऽनिलः प्राणो भवति तदा निष्पत्त्यवस्थामाह—निष्पत्ताविति । निष्पत्तौ निष्पत्त्यवस्थायाम् । ब्रह्मरन्ध्रे गते प्राणे निष्पत्त्यवस्था भवति । वैणवः वेणोरयं वैणवो वंशसंबन्धी शब्दो निनादः क्वणन्ती शब्दायमाना या वीणा तस्याः क्वणः शब्दो भवेत् ॥ ७६ ॥

एकीभूतं तदा चित्तं राजयोगाभिधानकम् ।
सृष्टिसंहारकर्ताऽसौ योगीश्वरसमो भवेत् ॥ ७७ ॥

तदा तस्यामवस्थायां चित्तमन्तःकरणमेकीभूतमेकविषयीभूतम् । विषयविषयिणोरभेदोपचारात् । तद्राजयोगाभिधानकं राजयोग इत्यभिधानं यस्य तद्राजयोगाभिधानकं चित्तस्यैकाग्रतैव राजयोग इत्यर्थः । सृष्टिसंहारेति । असौ नादानुसंधानपरो

योगी सृष्टिसंहारकर्ता सृष्टिं संहारं च करोतीति तादृशः। अत एवेश्वरसम ईश्वरतुल्यो भवेत् ॥ ७७ ॥

अस्तु वा माऽस्तु वा मुक्तिरत्रैवाखण्डितं सुखम् ।
लयोद्भवमिदं सौख्यं राजयोगादवाप्यते ॥ ७८ ॥
राजयोगमजानन्तः केवलं हठकर्मिणः ।
एतानभ्यासिनो मन्ये प्रयासफलवर्जितान् ॥ ७९ ॥

अस्तु वेति। राजयोगमिति। उभौ प्राग्व्याख्यातौ ॥ ७८ ॥ ७९ ॥

उन्मन्यवाप्तये शीघ्रं भ्रूध्यानं मम संमतम् ।
राजयोगपदं प्राप्तुं सुखोपायोऽल्पचेतसाम् ।
सद्यः प्रत्ययसंधायी जायते नादजो लयः ॥ ८० ॥

उन्मन्यवाप्तय इति। शीघ्रं त्वरितमुन्मन्या उन्मन्यवस्थाया अवाप्तये प्राप्त्यर्थं भ्रूध्यानं भ्रुवोर्ध्यानं भ्रूमध्ये ध्यानं मम स्वात्मारामस्य संमतम्। राजयोगो योगानां राजा तदेव पदं राजयोगपदं तुर्यावस्थाख्यं प्राप्तुं लब्धुं पूर्वोक्तभ्रूध्यानरूपः सुखोपायः सुखसाध्य उपायः सुखोपायः अल्पचेतसामल्पबुद्धीनामपि। किमुतान्येषामित्यभिप्रायः। नादजः नादाज्जातो लयश्चित्तविलयः सद्यः शीघ्रं प्रत्ययं प्रतीतिं संदधातीति प्रत्ययसंधायी प्रतीतिकरो जायते प्रादुर्भवति ॥ ८० ॥

नादानुसंधानसमाधिभाजां
योगीश्वराणां हृदि वर्धमानम् ।
आनन्दमेकं वचसामगम्यं
जानाति तं श्रीगुरुनाथ एकः ॥ ८१ ॥

नादानुसंधानेति । नादस्यानाहतध्वनेरनुसंधानमनुचिन्तनं तेन समाधिश्चित्तैकाग्र्यं तं भजन्तीति नादानुसंधानसमाधिभाजस्तेषां योगिषु योगयुक्तेष्वीश्वराः समर्थास्तेषां हृदि हृदये वर्धत इति वर्धमानस्तं वर्धमानं वचसां वाचामगम्यम् इदमिति वक्तुमशक्यं तं योगशास्त्रप्रसिद्धमेकं मुख्यमानन्दमाह्लादमेकोऽनन्यः श्रीगुरुनाथः श्रीमान् गुरुरेव नाथो जानाति वेत्ति । एतेन नादानुसंधानानन्दो गुरुगम्य एवेति सूचितम् ॥ ८१ ॥

कर्णौ पिधाय हस्ताभ्यां यं शृणोति ध्वनिं मुनिः ।
तत्र चित्तं स्थिरीकुर्याद्यावत्स्थिरपदं व्रजेत् ॥ ८२ ॥

नादानुसंधानात्प्रत्याहारादिक्रमेण समाधिमाह— कर्णावित्यादिभिः । मुनिर्मननशीलो योगी हस्ताभ्यामित्यनेन हस्ताङ्गुष्ठौ लक्ष्येते । ताभ्यां कर्णौ श्रोत्रे पिधाय । हस्ताङ्गुष्ठौ श्रोत्रविवरयोः कृत्वेत्यर्थः । यं ध्वनिमनाहतनिःस्वनं शृणोत्याकर्णयति तत्र तस्मिन्ध्वनौ चित्तं स्थिरीकुर्यादस्थिरं स्थिरं संपद्यमानं कुर्यात् । यावत्स्थिरं पदं स्थिरपदं तुर्याख्यं गच्छेत् ।

तदुक्तम् —'तुर्यावस्थाचिदभिव्यञ्जकनादस्य वेदनं प्रोक्तम्' इति नादानुसंधानेन वायुस्थैर्यमणिमादयोऽपि भवन्ति। उक्तं च त्रिपुरासारसमुच्चये—'विजितो भवतीह तेन वायुः सहजो यस्य समुत्थितः प्रणादः। अणिमादिगुणा भवन्ति तस्यामितपुण्यं च महागुणोदयस्य॥ सुरराजतनूजवैरिरन्ध्रे विनिरुध्य स्वकराङ्गुलिद्वयेन। जलधेरिव धीरनादमन्तः प्रसरन्तं सहसा शृणोति मर्त्यः॥' इति। सुरराज इन्द्रस्तस्य तनूजोऽर्जुनस्तस्य वैरी कर्णस्तद्रन्ध्रे। स्पष्टमन्यत्॥ ८२॥

अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्यमावृणुते ध्वनिम्।
पक्षाद्विक्षेपमखिलं जित्वा योगी सुखी भवेत्॥८३॥

अभ्यस्यमान इति। अभ्यस्यमानोऽनुसंधीयमानोऽयं नादोऽनाहताख्यो बाह्यं ध्वनिं वहिर्भवं शब्दमावृणुते श्रुत्योर्विषयम्। योगी नादाभ्यासी पक्षान्मासार्धादखिलं सर्वं विक्षेपं चित्तचाञ्चल्यं जित्वाऽभिभूय सुखी स्वानन्दो भवेत्॥ ८३॥

श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो महान्।
ततोऽभ्यासे वर्धमाने श्रूयते सूक्ष्मसूक्ष्मकः॥ ८४॥

श्रूयत इति। प्रथमाभ्यासे पूर्वाभ्यासे नानाविधोऽनेकविधो महान् जलधिजीमूतभेर्यादिसदृशो नादोऽनाहतस्वनः श्रूयते आकर्ण्यते। ततोऽनन्तरमभ्यासे नादानुसंधानाभ्यासे वर्धमाने

सति सूक्ष्मसूक्ष्मकः सूक्ष्मः सूक्ष्म एव श्रूयते श्रवणविषयो भवति ॥ ८४ ॥

आदौ जलधिजीमूतभेरीझर्झरसंभवाः ।
मध्ये मर्दलशङ्खोत्था घण्टाकाहलजास्तथा ॥ ८५ ॥

नानाविधं नादमाह द्वाभ्याम्—आदाविति । आदौ वायोर्ब्रह्मरन्ध्रगमनसमये जलधिः समुद्रो जीमूतो मेघो भेरी वाद्यविशेषः । 'भेरी स्त्री दुन्दुभिः पुमान्' इत्यमरः । झर्झरो वाद्यविशेषः । 'वाद्यप्रभेदा डमरुमड्डुडिण्डिमझर्झराः । मर्दलः पणवोऽन्येऽपि' इत्यमरः । जलधिप्रमुखेभ्यः संभव इव संभवो येषां ते तथा मध्ये ब्रह्मरन्ध्रे वायोः स्थैर्यानन्तरं मर्दलो वाद्यविशेषः शङ्खो जलजस्ताभ्यामुत्था इव मर्दलशङ्खोत्थाः । घण्टाकाहलौ वाद्यविशेषौ ताभ्यां जाता इव घण्टाकाहलजाः ॥

अन्ते तु किङ्किणीवंशवीणाभ्रमरनिःस्वनाः ।
इति नानाविधा नादाः श्रूयन्ते देहमध्यगाः ॥ ८६ ॥

अन्ते त्विति । अन्ते तु प्राणस्य ब्रह्मरन्ध्रे बहुस्थैर्यानन्तरं तु किङ्किणी क्षुद्रघण्टिका वंशो वेणुः वीणा तन्त्री भ्रमरो मधुपः तेषां निःस्वना इति पूर्वोक्ता नानाविधा अनेकप्रकारका देहस्य मध्ये गताः प्राप्ताः श्रूयन्ते ॥ ८६ ॥

महति श्रूयमाणेऽपि मेघभेर्यादिके ध्वनौ ।
तत्र सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नादमेव परामृशेत् ॥ ८७ ॥

महतीति । मेघश्च भेरी च ते आदी यस्य स मेघभेर्यादिकस्तस्मिन् । मेघभेरीशब्दौ तज्जन्यनिर्घोषपरौ । महति बहुले ध्वनौ निनादे श्रूयमाणे आकर्ण्यमाने सत्यपि तत्र तेषु नादेषु सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरमतिसूक्ष्मं नादमेव परामृशेच्चिन्तयेत् । सूक्ष्मस्य नादस्य चिरस्थायित्वात्तत्रासक्तचित्तश्चिरं स्थिरमतिर्भवेदिति भावः ॥ ८७ ॥

घनमुत्सृज्य वा सूक्ष्मे सूक्ष्ममुत्सृज्य वा घने ।
रममाणमपि क्षिप्तं मनो नान्यत्र चालयेत् ॥ ८८ ॥

घनमिति । घनं महान्तं नादं मेघभेर्यादिकमुत्सृज्य घने वा नादे रममाणं घनसूक्ष्मान्यतरनादग्रहणपरित्यागाभ्यां क्रीडन्तमपि क्षिप्तं रजसाऽत्यन्तचञ्चलं मनोऽन्यत्र विषयान्तरे न चालयेन्न प्रेरयेत् । क्षिप्तं मनो विषयान्तरासक्तं न समाधीयते, नादेषु रममाणं तु समाधीयत इति भावः ॥ ८८ ॥

यत्र कुत्रापि वा नादे लगति प्रथमं मनः ।
तत्रैव सुस्थिरीभूय तेन सार्धं विलीयते ॥ ८९ ॥

यत्रेति । वा अथ वा यत्र कुत्रापि नादे यस्मिन्कस्मिंश्चिद्घने सूक्ष्मे वा नादे प्रथमं पूर्वं मनो लगति लग्नं भवति

तत्रैव तस्मिन्नेव नादे सुस्थिरीभूय सम्यक् स्थिरं भूत्वा तेन नादेन सार्धं साकं विलीयते लीनं भवतीत्यर्थः। अत्र पूर्ववाक्येन प्रत्याहारो द्वितीयेन धारणा तृतीयेन ध्यानद्वारा समाधिरुक्तः ॥ ८९ ॥

मकरन्दं पिबन्भृङ्गो गन्धं नापेक्षते यथा।
नादासक्तं तथा चित्तं विषयान्न हि काङ्क्षते ॥९०॥

मकरन्दमिति। मकरन्दं पुष्परसं पिबन् धयन् भृङ्गो भ्रमरो गन्धं यथा नापेक्षते नेच्छति तथा नादासक्तं नाद आसक्तं चित्तमन्तःकरणं विषयान् विषिण्वन्त्यवबध्नन्ति प्रमातारं स्वसङ्गेनेति विषयाः स्रक्चन्दनवनितादयस्तान् न काङ्क्षते नेच्छति। हीति निश्चये ॥ ९० ॥

मनोमत्तगजेन्द्रस्य विषयोद्यानचारिणः।
नियमेन समर्थोऽयं निनादनिशिताङ्कुशः ॥ ९१ ॥

मन इति। विषयः शब्दादिरेवोद्यानं वनं तत्र चरतीति विषयोद्यानचारी तस्य मन एव मत्तगजेन्द्रो दुर्निवारत्वात्। तस्य निनाद एवानाहतध्वनिरेव निशिताङ्कुशः तीक्ष्णाङ्कुशः नियमेन परावर्तने समर्थः शक्तः। एतैः श्लोकैः। 'चरतां चक्षुरादीनां विषयेषु यथाक्रमम्। यत्प्रत्याहरणं तेषां प्रत्याहारः

प्रकीर्तितः ' ॥ इन्द्रियाणां विषयेभ्यः प्रत्याहरणं प्रत्याहार इत्युक्तलक्षणः प्रत्याहारः प्रोक्तः ॥ ९१ ॥

बद्धं तु नादबन्धेन मनः संत्यक्तचापलम् ।
प्रयाति सुतरां स्थैर्यं छिन्नपक्षः खगो यथा ॥ ९२ ॥

बद्धं त्विति । नाद एव बन्धः बध्यतेऽनेनेति बन्धः बन्धनसाधनं तेन स्वशक्त्या स्वाधीनकरणेन बद्धं बन्धनमिव प्राप्तम् । नादधारणादावासक्तमित्यर्थः । अत एव सम्यक् त्यक्तं चापलं क्षणे क्षणे विषयग्रहणपरित्यागरूपं येन तत्तथा मनः सुतरां स्थैर्यं प्रयाति नितरां धारणामेति । तत्र दृष्टान्तमाह— छिन्नौ पक्षौ यस्य तादृशः खे गच्छतीति खगः पक्षी यथा । एतेन । ' प्राणायामेन पवनं प्रत्याहारेण चेन्द्रियम् । वशीकृत्य ततः कुर्याच्चित्तस्थैर्यं शुभाश्रये ' ॥ शुभाश्रये चित्तस्थापनं धारणेत्युक्तलक्षणा धारणा प्रोक्ता ॥ ९२ ॥

सर्वचिन्तां परित्यज्य सावधानेन चेतसा ।
नाद एवानुसंधेयो योगसाम्राज्यमिच्छता ॥ ९३ ॥

सर्वचिन्तामिति । सर्वेषां बाह्याभ्यन्तरविषयाणां या चिन्ता चिन्तनं तां परित्यज्य त्यक्त्वा सावधानेनैकाग्रेण चेतसा योगानां साम्राज्यं सम्राजो भावः । योगशब्दोऽर्शआद्यजन्तः । राज-

योगित्वमिति यावत् । इच्छता वाञ्छता पुंसा नाद एवानाहतध्वनिरेवानुसंधेयोऽनुचिन्तनीयः । नादाकारवृत्तिप्रवाहः कर्तव्य इत्यर्थः । एतेन । 'तद्रूपप्रत्ययैकाग्र्यसंततिश्चान्यनिस्पृहा । तद्ध्यानं प्रथमैरङ्गैः षड्भिर्निष्पाद्यते नृप' ॥ 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' इत्युक्तलक्षणं ध्यानमुक्तम् ॥ ९३ ॥

नादोऽन्तरङ्गसारङ्गबन्धने वागुरायते ।
अन्तरङ्गकुरङ्गस्य वधे व्याधायतेऽपि च ॥ ९४ ॥

नादोऽन्तरङ्गेति । नादः अन्तरङ्गं मन एव सारङ्गो मृगस्तस्य बन्धने चाञ्चल्यहरणे वागुरायते वागुरेवाचरति । वागुरा जालम् । यथा वागुरा बन्धनेन सारङ्गस्य चाञ्चल्यं हरति तथा नादोऽन्तरङ्गस्य स्वशक्त्या चाञ्चल्यं हरतीत्यर्थः । अन्तरङ्गं मन एव सारङ्गो हरिणस्तस्य बन्धने नानावृत्त्युत्पादनापनयनमेव मनसो बन्धस्तस्मिन् व्याधायते व्याध इवाचरति । यथा व्याधो वागुराबद्धं मृगं हन्ति एवं नादोऽपि स्वासक्तं मनो हन्तीत्यर्थः ॥ ९४ ॥

अन्तरङ्गस्य यमिनो वाजिनः परिघायते ।
नादोपास्तिरतो नित्यमवधार्या हि योगिना ॥ ९५ ॥

अन्तरङ्गस्येति । यमिनो योगिनोऽन्तरङ्गं मनस्तस्य चपलत्वाद्वाजिनोऽश्वस्य परिघायते वाजिशालाद्वारपरिघ इवा-

चरति नाद इति शेषः । यथा वाजिशालापरिघो वाजिनोऽन्यत्र गतिं रुणद्धि तथा नादोऽन्तरङ्गस्येत्यर्थः । अन्तःकरणाद्योगिना नादस्योपास्तिरुपासना नित्यं प्रत्यहमवधार्याऽवधारणीया । हीति निश्चयेऽव्ययम् ॥ ९५ ॥

बद्धं विमुक्तचाञ्चल्यं नादगन्धकजारणात् ।
मनःपारदमाप्नोति निरालम्बाख्यखेऽटनम् ॥ ९६ ॥

बद्धमिति । नाद एव गन्धक उपधातुविशेषस्तेन जारणं जारणीकरणं नादगन्धकसंबन्धेन चाञ्चल्यहरणं तस्माद्बद्धं नादैकासक्तं पक्षे गुटिकाकृतिं प्राप्तम् अत एव विमुक्तं त्यक्तं चाञ्चल्यमनेकविषयाकारपरिणामरूपं येन । पक्षे विमुक्त-लौल्यं मनःपारदं मन एव पारदं चञ्चलं निरालम्बं ब्रह्म तदेवाख्या यस्य तन्निरालम्बाख्यं तदेव खमपरिच्छिन्नत्वा-त्तस्मिन्नटनं गमनं तदाकारवृत्तिप्रवाहम् । पक्षे आकाशगमनं प्राप्नोति । यथा बद्धं पारदमाकाशगमनं करोति एवं बद्धं मनो ब्रह्माकारवृत्तिप्रवाहमविच्छिन्नं करोतीत्यर्थः ॥ ९६ ॥

नादश्रवणतः क्षिप्रमन्तरङ्गभुजङ्गमः ।
विस्मृत्य सर्वमेकाग्रः कुत्रचिन्न हि धावति ॥ ९७ ॥

नादेति । नादस्यानाहतस्वनस्य श्रवणतः श्रवणात् क्षिप्रं द्रुतमन्तरङ्गं मन एव भुजङ्गमः सर्पश्चपलत्वान्नादप्रियत्वाच्च

भुजङ्गमरूपत्वं मनसः। सर्वं विश्वं विस्मृत्य विस्मृतिविषयं कृत्वैकाग्रो नादाकारवृत्तिप्रवाहवान् सन्कुत्रापि विषयान्तरे न हि धावति नैव धावनं करोति। ध्यानोत्तरैः श्लोकैः 'तस्यैव कल्पनाहीनं स्वरूपग्रहणं हि यत्। मनसा ध्याननिष्पाद्यः समाधिः सोऽभिधीयते॥' इति विष्णुपुराणोक्त-लक्षणः 'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः' इति पातञ्जलसूत्रोक्तलक्षणेन च संप्रज्ञातलक्षणः समाधिरुक्तः॥९७॥

काष्ठे प्रवर्तितो वह्निः काष्ठेन सह शाम्यति।
नादे प्रवर्तितं चित्तं नादेन सह लीयते॥ ९८॥

काष्ठ इति। काष्ठे दारुणि प्रवर्तितः प्रज्वालितो वह्निः काष्ठेन सह शाम्यति ज्वालारूपं परित्यज्य तन्मात्ररूपेणावतिष्ठते यथा तथा नादे प्रवर्तितं चित्तं नादेन सह लीयते। राजसतामस-वृत्तिनाशात्सत्त्वमात्रावशेषं संस्कारशेषं च भवति। तत्र च मैत्रा-यणीयमन्त्रः—'यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयोनावुपशाम्यति। तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यति॥' इति॥ ९८॥

घण्टादिनादसक्तस्तब्धान्तःकरणहरिणस्य।
प्रहरणमपि सुकरं स्याच्छरसंधानप्रवीणश्चेत्॥९९॥

घण्टादीति। घण्टा आदिर्येषां शङ्खमर्दलझर्झरदुन्दुभिजी-मूतादीनां ते घण्टादयस्तेषां नादस्तेषु सक्तः। अत एव

स्तब्धो निश्चलो योऽन्तःकरणमेव हरिणो मृगस्तस्य प्रहरणं नानावृत्तिप्रतिबन्धनमन्तःकरणपक्षे । हरिणपक्षे तु प्रहरणं हननमपि शरवद् द्रुतगामिनो वायोः संधानं सुषुम्णामार्गेण ब्रह्मरन्ध्रे निरोधनम्, पक्षे शरस्य बाणस्य संधानं धनुषि योजनं तस्मिन् प्रवीणः कुशलश्चेत्सुकरं सुखेन कर्तुं शक्यं स्यात् ॥ ९९ ॥

अनाहतस्य शब्दस्य ध्वनिर्य उपलभ्यते ।
ध्वनेरन्तर्गतं ज्ञेयं ज्ञेयस्यान्तर्गतं मनः ।
मनस्तत्र लयं याति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ १०० ॥

अनाहतस्येति । अनाहतस्य शब्दस्यानाहतस्वनस्य यो ध्वनिर्निर्ह्राद उपलभ्यते श्रूयते तस्य ध्वनेरन्तर्गतं ज्ञेयं ज्योतिः स्वप्रकाशचैतन्यं ज्ञेयस्यान्तर्गतं ज्ञेयाकारतामापन्नं मनोऽन्तःकरणं तत्र ज्ञेये मनो विलयं याति परवैराग्येण सकलवृत्तिशून्यं संस्कारशेषं भवति । तद्विष्णोर्विभोरात्मनः परममन्तःकरणवृत्त्युपाधिराहित्यान्निरुपाधिकं पद्यते गम्यते योगिभिरिति पदं स्वरूपम् ॥ १०० ॥

तावदाकाशसंकल्पो यावच्छब्दः प्रवर्तते ।
निःशब्दं तत्परं ब्रह्म परमात्मेति गीयते ॥ १०१ ॥

तावदिति । यावच्छब्दोऽनाहतध्वनिः प्रवर्तते श्रूयते तावदाकाशस्य सम्यक्कल्पनं भवति । शब्दस्याकाशगुणत्वाद्गुण-

गुणिनोर्भेदाद्वा मनसा सह शब्दस्य विलयान्निःशब्दं शब्दरहितं यत्परं ब्रह्म परब्रह्मशब्दवाच्यं परमात्मेति गीयते परमात्मशब्देन स उच्यते । सर्ववृत्तिविलये यः स्वरूपेणावस्थितः स एव परब्रह्मपरमात्मशब्दाभ्यामुच्यत इति भावः ॥ १०१ ॥

यत्किंचिन्नादरूपेण श्रूयते शक्तिरेव सा ।
यस्तत्त्वान्तो निराकारः स एव परमेश्वरः ॥ १०२ ॥
इति नादानुसंधानम् ।

यत्किंचिदिति । नादरूपेणानाहतध्वनिरूपेण यत्किंचिच्छ्रूयते आकर्ण्यते सा शक्तिरेव यस्तत्त्वान्तस्तत्त्वानामन्तो लयो यस्मिन् सः तथा निराकार आकाररहितः स एव परमेश्वरः सर्ववृत्तिक्षये स्वरूपावस्थितो यः स आत्मेत्यर्थः । 'काष्ठे प्रवर्तितो वह्निः' इत्यादिभिः श्लोकैः राजयोगापरपर्यायोऽसंप्रज्ञातः समाधिरुक्तः ॥ १०२ ॥

सर्वे हठलयोपाया राजयोगस्य सिद्धये ।
राजयोगसमारूढः पुरुषः कालवञ्चकः ॥ १०३ ॥

सर्वे इति । हठश्च लयश्च हठलयौ तयोरुपाया हठलयोपाया हठोपाया आसनकुम्भकमुद्रारूपा लयोपाया नादानुसंधानशांभवीमुद्रादयः । राजयोगस्य मनसः सर्ववृत्तिनिरोधलक्षणस्य

सिद्धये निष्पत्तये प्रोक्ता इति शेषः । राजयोगसमारूढः सम्यगारूढः प्राप्तवान् यः पुरुषः स कालवञ्चकः कालं मृत्युं वञ्चयति जयतीति तादृशः स्यादिति शेषः ॥ १०३ ॥

तत्त्वं बीजं हठः क्षेत्रमौदासीन्यं जलं त्रिभिः ।
उन्मनी कल्पलतिका सद्य एव प्रवर्तते ॥ १०४ ॥

तत्त्वमिति । तत्त्वं चित्तं बीजं बीजवदुन्मन्यवस्थाङ्कुराकारेण परिणममानत्वात् । हठः प्राणापानयोरैक्यलक्षणः प्राणायामः क्षेत्रं क्षेत्रे इव प्राणायामे उन्मनीकल्पलतिकोत्पत्तेः । औदासीन्यं परवैराग्यं जलं तस्या उत्पत्तिकारणत्वात् । 'परवैराग्यहेतुकः संस्कारविशेषश्चित्तस्यासंप्रज्ञातः' इति तल्लक्षणात् । एतैस्त्रिभिरुन्मन्यसंप्रज्ञातावस्था सैव कल्पलतिका सकलेष्टसाधनत्वात्सद्य एव शीघ्रमेव प्रवर्तते प्रवृत्ता भवति उत्पन्ना भवति ॥ १०४ ॥

सदा नादानुसंधानात्क्षीयन्ते पापसंचयाः ।
निरञ्जने विलीयेते निश्चितं चित्तमारुतौ ॥ १०५ ॥

सदेति । सदा सर्वदा नादानुसंधानान्नादानुचिन्तनात्पापसंचयाः पापसमूहाः क्षीयन्ते नश्यन्ति । निरञ्जने निर्गुणे चैतन्ये निश्चितं ध्रुवं चित्तमारुतौ मनःप्राणौ विलीयेते विलीनौ भवतः ॥ १०५ ॥

शङ्खदुन्दुभिनादं च न शृणोति कदाचन।
काष्ठवज्जायते देह उन्मन्याऽवस्थया ध्रुवम् ॥१०६॥

उन्मन्यवस्थां प्राप्तस्य योगिनः स्थितिमाहाष्टभिः—शङ्खदुन्दुभीति। शङ्खो जलजो दुन्दुभिर्वाद्यविशेषस्तयोर्नादं घोषं कदाचन कस्मिंश्चिदपि समये न शृणोति। शङ्खदुन्दुभीत्युपलक्षणं नादमात्रस्य। उन्मन्याऽवस्थया देहो ध्रुवं काष्ठवज्जायते। निश्चेष्टत्वादित्यर्थः ॥ १०६ ॥

सर्वावस्थाविनिर्मुक्तः सर्वचिन्ताविवर्जितः।
मृतवत्तिष्ठते योगी स मुक्तो नात्र संशयः॥ १०७॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिमूर्च्छामरणलक्षणाः पञ्च व्युत्थानावस्थाः। ताभिर्विशेषेण मुक्तो रहितः सर्वा याश्चिन्ताः स्मृतयस्ताभिर्विवर्जितो विरहितो यः योगः सकलवृत्तिनिरोधोऽस्यास्तीति योगी तुर्यावस्थावान् स मुक्तो जीवन्नेव मुक्तः। सकलवृत्तिनिरोधे आत्मनः स्वरूपावस्थानात्। तदुक्तं पातञ्जले सूत्रे—'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' इति। स्पष्टमन्यत् ॥ १०७ ॥

खाद्यते न च कालेन बाध्यते न च कर्मणा।
साध्यते न स केनापि योगी युक्तः समाधिना ॥१०८॥

खाद्यत इति। समाधिना युक्तो योगी कालेन मृत्युना न खाद्यते न भक्ष्यते न हन्यत इत्यर्थः। कर्मणा कृतेन

शुभेनाशुभेन वा न बाध्यते जन्ममरणादिजननेन न क्लेश्यते । तथा च समाधिप्रकरणे पातञ्जलसूत्रम्—'ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः' इति । केनापि पुरुषान्तरेण यन्त्रमन्त्रादिना वा न साध्यते साधयितुं शक्यते ॥ १०८ ॥

न गन्धं न रसं रूपं न च स्पर्शं न निःस्वनम् ।
नात्मानं न परं वेत्ति योगी युक्तः समाधिना ॥१०९॥

न गन्धमिति । समाधिना युक्तो योगी न गन्धं सुरभिमसुरभिं वा न रसं मधुराम्ललवणकटुकषायतिक्तभेदात् षड्विधं न रूपं शुक्लनीलपीतरक्तहरितकपिशचित्रभेदात्सप्तविधं न स्पर्शं शीतमुष्णमनुष्णाशीतं वा न निःस्वनं शङ्खदुन्दुभिजलधिजीमूतादिनिनादं बाह्यमाभ्यन्तरं वा न आत्मानं देहं न परं पुरुषान्तरं वेत्तीति सर्वत्रान्वेति । 'आत्मा देहे धृतौ जीवे स्वभावे परमात्मनि' इत्यमरः ॥ १०९ ॥

चित्तं न सुप्तं नो जाग्रत्स्मृतिविस्मृतिवर्जितम् ।
न चास्तमेति नोदेति यस्यासौ मुक्त एव सः ॥ ११० ॥

चित्तमिति । यस्य योगिनश्चित्तमन्तःकरणं न सुप्तम् । आवरकस्य तमसोऽभावात्त्रिगुणेऽन्तःकरणे यदा सत्त्वरजसी अभिभूय समस्तकरणावरकं तम आविर्भवति तदाऽन्तःकरणस्य विषयाकारपरिणामाभावात्तत्सुप्तमित्युच्यते । नो जाग्रत् इन्द्रियै-

रर्थग्रहणाभावात्। स्मृतिश्च विस्मृतिश्च स्मृतिविस्मृती ताभ्यां विवर्जितम्। वृत्तिसामान्याभावादुद्बोधकाभावाच्च स्मृतिवर्जितम्। विस्मृत्यनुकूलसंस्काराभावाद्विस्मृतिवर्जितम्। न चास्तं नाशमेति प्राप्नोति। संस्कारशेषस्य चित्तस्य सत्त्वात्। नोदेत्युद्भवति। वृत्त्यनुत्पादनात्। सोऽसौ मुक्त एव जीवन्मुक्त एव॥ ११०॥

न विजानाति शीतोष्णं न दुःखं न सुखं तथा।
न मानं नापमानं च योगी युक्तः समाधिना॥ १११॥

न विजानातीति। समाधिना युक्तो योगी शीतं च उष्णं च शीतोष्णम्। समाहारद्वन्द्वः। शीतमुष्णं वा पदार्थं न दुःखं दुःखजनकं परकृतं ताडनादिकं न सुखं सुखसाधनं सुरभिचन्दनाद्यनुलेपनादिकम्। तथा चार्थे। मानं परकृतं सत्कारं न अपमानमनादरं च न विजानातीति क्रियापदं प्रतिवाक्यमन्वेति॥ १११॥

स्वस्थो जाग्रदवस्थायां सुप्तवद्योऽवतिष्ठते।
निःश्वासोच्छ्वासहीनश्च निश्चितं मुक्त एव सः॥११२॥

स्वस्थ इति। स्वस्थः प्रसन्नेन्द्रियान्तःकरणः। एतेन तन्द्रा-मूर्च्छादिव्यावृत्तिः। जाग्रदवस्थायामित्यनेन स्वप्नसुषुप्त्योर्निवृत्तिः। सुप्तवत् सुप्तेन तुल्यं कायेन्द्रियव्यापारशून्यो यो योगी

अवतिष्ठते स्थितो भवति । 'समवप्रविभ्यः स्थः' इत्यात्मनेपदम् । निःश्वासोच्छ्वासहीनः बाह्यवायोः कोष्ठे ग्रहणं निःश्वासः, कोष्ठस्थितस्य वायोर्बहिर्निःसारणमुच्छ्वासस्ताभ्यां हीनश्चावतिष्ठत इत्यत्रापि संबध्यते । स निश्चितं निःसंदिग्धं मुक्त एव । जीवन्मुक्तस्वरूपमुक्तं दत्तात्रेयेण—'निर्गुणध्यानसंपन्नः समाधिं च ततोऽभ्यसेत् । दिनद्वादशकेनैव समाधिं समवाप्नुयात् । वायुं निरुध्य मेधावी जीवन्मुक्तो भवेद् ध्रुवम् ॥' इति ॥ ११२ ॥

अवध्यः सर्वशस्त्राणामशक्यः सर्वदेहिनाम् ।
अग्राह्यो मन्त्रयन्त्राणां योगी युक्तः समाधिना ॥११३॥

अवध्य इति । समाधिना युक्तो योगी । सर्वशस्त्राणामिति संबन्धसामान्ये षष्ठी । सर्वशस्त्रैरित्यर्थः । अवध्यो हन्तुमशक्य इत्यर्थः । सर्वदेहिनामित्यत्रापि संबन्धमात्रविवक्षायां षष्ठी । अशक्यः सर्वदेहिभिः बलेन शक्यो न भवतीत्यर्थः । मन्त्रयन्त्राणां वशीकरणमारणोच्चाटनादिफलैर्मन्त्रयन्त्रैरग्राह्यः वशीकर्तुमशक्यः । एवं प्राप्तयोगस्य योगिनो विघ्ना बहवः समायान्ति । तन्निवारणार्थं तज्ज्ञानस्यापेक्षितत्वात्तेऽपि प्रदर्श्यन्ते । दत्तात्रेयः 'आलस्यं प्रथमो विघ्नो द्वितीयस्तु प्रकथ्यते । पूर्वोक्तधूर्तगोष्ठी च तृतीयो मन्त्रसाधनम् । चतुर्थो धातुवादः स्यादिति योगविदो विदुः ॥' इति । मार्कण्डेयपुराणे—'उपसर्गाः प्रवर्तन्ते

दृष्टा ह्यात्मनि योगिनः । ये तांस्ते संप्रवक्ष्यामि समासेन निबोध मे ॥ काम्याः क्रियास्तथा कामान्मनुष्यो योऽभिवाञ्छति । स्त्रियो दानफलं विद्यां मायां कुप्यं धनं वसु ॥ देवत्वममरेशत्वं रसायनवयःक्रियाम् । मेरुं प्रयतनं यज्ञं जलाग्न्यावेशनं तथा ॥ श्राद्धानां शक्तिदानानां फलानि नियमास्तथा । तथोपवासात्पूर्ताच्च देवपित्रर्चनादपि ॥ अतिथिभ्यश्च कर्मभ्य उपसृष्टोऽभिवाञ्छति । विघ्नमित्थं प्रवर्तेत यत्नाद्योगी निवर्तयेत् । ब्रह्मासङ्गि मनः कुर्वन्नुपसर्गैः प्रमुच्यते ॥' इति । पद्मपुराणे—'यदैभिरन्तरायैर्न क्षिप्यतेऽस्य हि मानसम् । तदाऽग्रे समवाप्नोति परं ब्रह्मातिदुर्लभम्' । योगभास्करे—'सात्त्विकीं धृतिमालम्ब्य योगी सत्त्वेन सुस्थिरः । निर्गुणं मनसा ध्यायन्नुपसर्गैः प्रमुच्यते ॥ एवं योगमुपासीनः शक्रादिपदनिःस्पृहः । सिद्ध्यादिवासनात्यागी जीवन्मुक्तो भवेन्मुनिः ॥' इति । 'विस्तरस्य भिया नोक्ताः सन्ति विघ्ना ह्यनेकशः । ध्यानेन विष्णुहरयोर्वारणीया हि योगिना ॥' इति ॥ ११३ ॥

यावन्नैव प्रविशति चरन्मारुतो मध्यमार्गे
यावद्बिन्दुर्न भवति दृढः प्राणवातप्रबन्धात् ।
यावद्ध्याने सहजसदृशं जायते नैव तत्त्वं
तावज्ज्ञानं वदति तदिदं दम्भमिथ्याप्रलापः ॥११४॥

अयोगिनां ज्ञानं निराकुर्वन् योगिनामेव ज्ञानं भवतीत्याह—यावदिति । मध्यमार्गे सुषुम्णायां चरन् गच्छन् मारुतः प्राणवायुः यावत् यावत्कालपर्यन्तं न प्रविशति प्रकर्षेण ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं न विशति । ब्रह्मरन्ध्रं गतस्य स्थैर्याद्ब्रह्मरन्ध्रं गत्वा न स्थिरो भवतीत्यर्थः । सुषुम्णायामसंचरन् वायुरसिद्ध इत्युच्यते । तदुक्तममृतसिद्धौ—'यावद्धि मार्गगो वायुर्निश्चलो नैव मध्यगः । असिद्धं तं विजानीयाद्वायुं कर्मवशानुगम् ॥' इति । प्राणयति जीवयतीति प्राणः स चासौ वातश्च प्राणवातः तस्य प्रबन्धात्कुम्भकेन स्थिरीकरणाद्बिन्दुर्वीर्यं दृढः स्थिरो न भवति प्राणवातस्थैर्ये बिन्दुस्थैर्यमुक्तमत्रैव प्राक्—'मनःस्थैर्ये स्थिरो वायुस्ततो बिन्दुः स्थिरो भवेत्' इति । तदभावे त्वसिद्धत्वं योगिनः । उक्तममृतसिद्धौ—'तावद्बद्धोऽप्यसिद्धोऽसौ नरः सांसारिको मतः । यावद्भवति देहस्थो रसेन्द्रो ब्रह्मरूपकः ॥ असिद्धं तं विजानीयान्नरमब्रह्मचारिणम् । जरामरणसंकीर्णं सर्वक्लेशसमाश्रयम् ॥' इति । यावत्तत्त्वं चित्तं ध्याने ध्येयचित्तं न सहजसदृशं स्वाभाविकध्येयाकारवृत्तिप्रवाहान्नैव जायते नैव भवति प्राणवातप्रबन्धादिति देहलीदीपन्यायेनात्रापि संबध्यते । वायुस्थैर्ये चित्तस्थैर्यमुक्तममृतसिद्धौ—'यदाऽसौ म्रियते वायुर्मध्यमां मध्ययोगतः । तदा बिन्दुश्च चित्तं च म्रियते वायुना सह' । तदभावे

ह्यसिद्धत्वमुक्तममृतसिद्धौ—'यावत्प्रस्यन्दते चित्तं बाह्याभ्यन्तरवस्तुषु। असिद्धं तद्विजानीयाच्चित्तं कर्मगुणान्वितम् ॥' इति। तावद्यज्ज्ञानं शाब्दं वदति कश्चित् तदिदं ज्ञानं कथं दम्भमिथ्याप्रलापः दम्भेन ज्ञानकथनेनाहं लोके पूज्यो भविष्यामीति धिया मिथ्याप्रलापो मिथ्याभाषणं दम्भपूर्वकं मिथ्याभाषणमित्यर्थः। प्राणबिन्दुचित्तानां जयाभावे ज्ञानस्याभावात्संसृतिर्दुर्वारा। तदुक्तममृतसिद्धौ—'चलत्येष यदा वायुस्तदा बिन्दुश्चलः स्मृतः। बिन्दुश्चलति यस्याङ्गे चित्तं तस्यैव चञ्चलम् ॥ चले बिन्दौ चले चित्ते चले वायौ च सर्वदा। जायते म्रियते लोकः सत्यं सत्यमिदं वचः ॥' इति। योगबीजेऽप्युक्तम्—'चित्तं प्रणष्टं यदि भासते वै तत्र प्रतीतो मरुतोऽपि नाशः। न वा यदि स्यान्न तु तस्य शास्त्रं नात्मप्रतीतिर्न गुरुर्न मोक्षः ॥' इति। एतेन प्राणबिन्दुमनसां जये तु ज्ञानद्वारा योगिनो मुक्तिः स्यादेवेति सूचितम्। तदुक्तममृतसिद्धौ—'यामवस्थां व्रजेद्वायुर्बिन्दुस्तामधिगच्छति। यथा हि साध्यते वायुस्तथा बिन्दुप्रसाधनम् ॥ मूर्च्छितो हरति व्याधिं वृद्धः खेचरतां नयेत्। सर्वसिद्धिकरो लीनो निश्चलो मुक्तिदायकः। यथाऽवस्था भवेद्बिन्दोश्चित्तावस्था तथा तथा ॥' ननु 'योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया। ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च

नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ॥' इति भगवदुक्तास्त्रयो मोक्षोपायाः, तेषु सत्सु कथं योग एव मोक्षोपायत्वेनोक्त इति चेन्न, तेषां योगाङ्गेष्वन्तर्भावात् । तथा हि—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इति श्रुत्या परमपुरुषार्थसाधनात्मसाक्षात्कारहेतुतया श्रवणमनननिदिध्यासनान्युक्तानि । तत्र श्रवणमनने नियमान्तर्गते स्वाध्यायेऽन्तर्भवतः । स्वाध्यायश्च मोक्षशास्त्राणामध्ययनम् । स च तात्पर्यार्थनिर्णयपर्यवसायो ग्राह्यः । तात्पर्यार्थनिर्णयश्च श्रवणमननाभ्यां भवतीति श्रवणमननयोः स्वाध्यायेऽन्तर्भावः । नियमविवरणे याज्ञवल्क्येन 'सिद्धान्तश्रवणं प्रोक्तं वेदान्तश्रवणं बुधैः' इति स्पष्टमेव श्रवणस्य नियमान्तर्गतिरुक्ता । 'अधीतवेदं सूत्रं वा पुराणं सेतिहासकम् । पदेष्वध्ययनं यश्च सदाभ्यासो जपः स्मृतः' इति युक्तिभिरनवरतमनुचिन्तनलक्षणस्य सदाभ्यासरूपस्य मननस्यापि नियमान्तर्गतिरुक्ता । विजातीयप्रत्ययनिरोधपूर्वकसजातीयप्रत्ययप्रवाहरूपस्य निदिध्यासनस्य उक्तलक्षणे ध्यानेऽन्तर्भावः । तस्यापि तत्परिपाकरूपसमाधिनाऽऽत्मसाक्षात्कारद्वारा मोक्षहेतुत्वमीश्वरार्पणबुद्ध्या निष्कामकर्मानुष्ठानलक्षणस्य कर्मयोगस्य 'तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः' इति पतञ्जलिप्रोक्ते नियमान्तर्गते क्रियायोगेऽन्तर्भावः । तत्र तप उक्तमीश्वर-

गीतायाम्—'उपवासपराकादिकृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः । शरीरशोषणं प्राहुस्तापसास्तप उत्तमम् ॥' इति । स्वाध्यायोऽपि तत्रोक्तः—'वेदान्तशतरुद्रीयप्रणवादिजपं बुधाः । सत्त्वशुद्धिकरं पुंसां स्वाध्यायं परिचक्षते ॥' इति । ईश्वरप्रणिधानं च तत्रोक्तम्—'स्तुतिस्मरणपूजाभिर्वाङ्मनःकायकर्मभिः । सुनिश्चला भवेद्भक्तिरेतदीश्वरपूजनम् ॥' इति । क्रियायोगश्च परम्परया समाधिनाऽऽत्मसाक्षात्कारद्वारैव मोक्षहेतुरिति समाधिभावनार्थः । 'क्लेशतनूकरणार्थश्च' इत्युत्तरसूत्रेण स्पष्टीकृतं पतञ्जलिना । भज्यते सेव्यते भगवदाकारमन्तःकरणं क्रियतेऽनयेति भक्तिरिति करणव्युत्पत्त्या 'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् । अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥' इति नवधोक्ता साधनभक्तिरभिधीयते । तस्या ईश्वरप्रणिधानरूपे नियमेऽन्तर्भावः । तस्याश्च समाधिहेतुत्वं चोक्तं पतञ्जलिना—'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' इति । ईश्वरविषयकात्प्रणिधानाद्भक्तिविशेषात्समाधिलाभः समाधिफलं भवतीति सूत्रार्थः । भजनमन्तःकरणस्य भगवदाकारतारूपं भक्तिरिति भावव्युत्पत्त्या फलभूता भक्तिरभिधीयते । सैव प्रेमभक्तिरित्युच्यते । तल्लक्षणमुक्तं नारायणतीर्थैः—'प्रेमभक्तियोगस्तु ईश्वरचरणारविन्दविषयकैकान्तिकात्यन्तिकप्रेमप्रवाहोऽविच्छिन्नः' इति । मधुसूदनसरस्वतीभिस्तु 'द्रवीभावपूर्विका मनसो भगव-

दाकारतारूपा सविकल्पकवृत्तिर्भक्तिः' इति । तस्यास्तु 'श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवेहि' इति श्रुतेः, 'भक्त्या मामभिजानाति' इति स्मृतेश्च आत्मसाक्षात्कारद्वारा मोक्षहेतुत्वम् । भक्तास्तु सुखस्यैव पुरुषार्थत्वाद्दुःखासंभिन्ननिरतिशयसुखधारारूपा प्रेमभक्तिरेव पुरुषार्थ इत्याहुः । तस्यास्तु संप्रज्ञातसमाधावन्तर्भावः । एवं च अष्टाङ्गयोगातिरिक्तं किमपि परमपुरुषार्थसाधनं नास्तीति सिद्धम् ॥ ११४ ॥

इति श्रीसहजानन्दसंतानचिन्तामणिस्वात्मारामयोगीन्द्रविरचितायां हठप्रदीपिकायां समाधिलक्षणं नाम चतुर्थोपदेशः ॥ ४ ॥
मूलश्लोकसंख्या ॥ ३९३ ॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥

ग्राह्यमेव विदुषां हितं यतो भाषणं समयदर्श्यसंस्कृतम् ।
रक्ष गच्छति पयो न लेहितं ह्यम्ब इत्यभिहितं शिशोर्यथा ॥ १ ॥
सदर्थद्योतनकरी तमःस्तोमविनाशिनी ।
ब्रह्मानन्देन ज्योत्स्नेयं शिवाङ्घ्रियुगलेऽर्पिता ॥ २ ॥

इति श्रीहठप्रदीपिकाव्याख्यायां ब्रह्मानन्दकृतायां समाधिनिरूपणं नाम चतुर्थोपदेशः ॥ ४ ॥ टीकाग्रन्थसंख्या ॥ २४५० ॥

Printed by A. K. Sitarama Shastri, at the Vasanta Press, Adyar, Madras, India.

THE T.P.H. ORIENTAL SERIES

Sri Bhagavad-Gita: Sanskrit Text and English Translation by Dr. Annie Besant and S'rī Bhagavān Dās, M.A. This Edition contains a word for word translation and an introduction to Sanskrit Grammar. Indian Edition Rs. 2-8; Foreign Edition Rs. 3-8; Presentation Edition—Superior Leather Gilt Rs. 8.

The Yoga Sutras of Patanjali: Sanskrit Text and English Translation by Prof. M. N. Dvivedī. It contains also notes drawn from various authoritative sources, *viz.*, the Bhāṣyas of Vyāsa, Vācaspatimis'ra, Bhoja and Rāmānanda Sarasvatī, and the Yogavārttika of Vijñāna Bhikṣu; besides there is an introduction to its study by George C. Williams. Indian Edition Re. 1-4; Foreign Edition Re. 1-12.

The Twelve Principal Upanishads: Sanskrit Text, English Translation and notes from the commentaries of S'rī S'aṅkarācārya and the gloss of Ānandagiri in THREE Volumes.

Vol. I: Contains nine Upaniṣads, *viz.*, Īs'a, Kena, Kaṭha, Pras'na, Muṇḍaka, Māṇḍūkya, Taittirīya, Aitareya, and S'vetās'vatara Upaniṣads, translated by that eminent Orientalist, Dr. E. Roer. Prof. M. N. Dvivedī has contributed a scholarly preface to these volumes. Indian Edition Rs. 4; Foreign Edition Rs. 5.

Vol. II: Bṛhadāraṇyakopaniṣad, translated by Dr. E. Roer. Indian Edition Rs. 6; Foreign Edition Rs. 7.

Vol. III: Chāndogya and Kauṣītaki-Brāhmaṇa Upaniṣads: Text, translated by Rāja Rājendralāl Mitra and Prof. E. B. Cowell, M.A., respectively. Indian Edition Rs. 5; Foreign Edition Rs. 6.

Yogasarasangraha of Vijñānabhikṣu. Text in Devanāgarī, English Translation by Mahāmahopādhyāya Dr. Gaṅgānātha Jha, M.A., F.T.S. Revised Indian Edition Rs. 2-8; Ex. Edition Rs. 3-8.

Gheranda Samhita: A treatise on Haṭha Yoga. Text and Translation by Sris Candra Vasu. Indian Edition Rs. 2; Ex. Edition Rs. 2-8.

Brahmasutrabhashya of S'rī S'aṅkarācārya with Bhamati of Vācaspati Mis'ra for the Catussutri. (The first four of the Vedānta-sūtras of Bādarāyaṇa.) Text in Devanāgarī, English Translation with Introduction and Notes by Prof. S. S. Sūryanārāyaṇa S'āstrī, M.A., B.Sc. (Oxon.), Bar-at-Law, and Prof. C. Kunhan Rājā, M.A., D.Phil. (Oxon.) Indian Edition Rs. 8; Ex. Edition Rs. 10.

Hatha-Yoga Pradipika of Svātmārāma Svāmin with the commentary of Brahmānanda. Text and translation with Notes by Yogī Srinivasa Iyengar, B.A. Indian Edition Rs. 3; Ex. Edition Rs. 4.

Manameyodaya: A Primer on Mīmāṁsā by Nārāyaṇa Bhaṭṭa; Text in Devanāgarī, English translation, with Introduction and Notes by Prof. C. Kunhan Rājā, M.A., D.Phil. (Oxon.), Head of the Department of Sanskrit and Prof. S. S. Sūryanārāyaṇa S'āstrī, M.A., B.Sc. (Oxon.), Bar-at-Law, Head of the Department of Philosophy, University of Madras. Indian Edition Rs. 5; Ex. Edition Rs. 6.

THEOSOPHICAL PUBLISHING HOUSE

Adyar, Madras, India

हठयोग

एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य एवं हठयोग प्रदीपिका

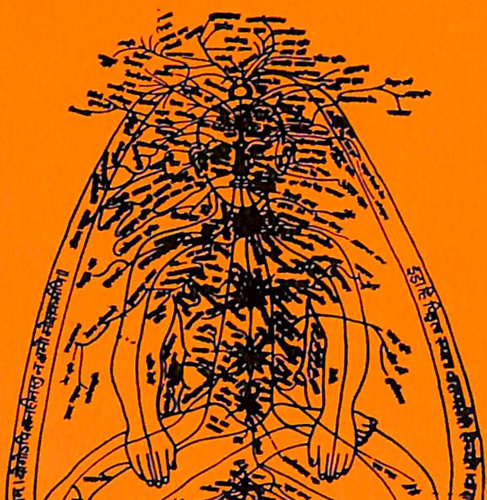

सुरेन्द्र कुमार शर्मा

हठयोग—एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य
एवं
हठयोगप्रदीपिका

—सुरेन्द्र कुमार शर्मा

हठयोग—आत्मस्थिति रूप परम स्वरूप को प्राप्त करने के लिए भारत की प्राचीनतम साधना-पथ का प्रतिनिधित्व करता है। इसी कारण भारतीय दर्शन परम्परा में इसका अपना विशिष्ट स्थान है क्योंकि कायाघट के हठयोगाग्नि में तापन को परमशिवरूप जल की प्राप्ति का साधन माना गया है। इसी यौगिक प्रक्रिया के विभिन्न पक्षों (षट् कर्म, आसन, प्राणायाम, मुद्रा और कुण्डलिनी-जागरण इत्यादि) का विशद विश्लेषण हठयोग-प्रदीपिका का विषय है। प्रस्तुत पुस्तक महायोग और उसके विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालते हुए हठयोगसम्बन्धी भ्रान्तियों को निरस्त करने का प्रयास है। हठयोग के घटक तत्त्वों का पर्यालोचन तथा मूल ग्रन्थ को उपस्थापित करने से पूर्व इस पर विकासात्मक दृष्टि से प्रकाश डाला गया है।

मूल्य : रु० ५०.००

हठयोग : एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य
एवं हठयोगप्रदीपिका

हठयोग : एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य
एवं
हठयोगप्रदीपिका

सुरेन्द्र कुमार शर्मा

ईस्टर्न बुक लिंकर्स
दिल्ली :: (भारत)

प्रकाशक :
ईस्टर्न बुक लिंकर्स
5825, न्यू चन्द्रावल, जवाहर नगर, दिल्ली-110007

प्रथम संस्करण : 1985

मूल्य : रु० 50.00

मुद्रक :
रूबी प्रिंटिंग सर्विस,
मोहन मार्किट, रोहतास नगर,
शाहदरा, दिल्ली-3

गृहस्थानां सहस्रेण वानप्रस्थशतेन च ।
ब्रह्मचारिसहस्रेण योगाभ्यासी विशिष्यते ।।

(ब्रह्माण्ड पुराण)

ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा धर्मज्ञोऽपि जितेन्द्रियः ।
विना योगेन देवोऽपि न मोक्षं लभते प्रिये ।।

(भगवान् शङ्कर)

पुरोवाक्

संस्कृत वाङ्मय विशाल होने के साथ ही साथ इतना विविध है कि इसमें न केवल मानव जीवन अपितु स्थावर जङ्गमात्मक इस विश्व का कोई भी अङ्ग इसके विवेचन से वञ्चित नहीं रहा है। इसके महनीय कलेवर में विकसित विद्याओं एवं कलाओं की संख्या अपरिगणनीय है। जीवन को बहुत सूक्ष्मता से देखने, समझने एवं उसको यथा-सम्भव परिपूर्ण बनाने के लिए प्राचीन भारतीय मनीषियों का योगदान सर्वथा अक्षुण्ण है। विद्याओं एवं कलाओं की विविधता में भी एकसूत्रता पाई जाती है और वह है अध्यात्मप्रवणता जहाँ आकर ही सभी स्रोतों का पर्यवसान होता है। सबका परम लक्ष्य यही है कि हम कौन हैं, हमारा स्वार्थ और परमार्थ क्या है तथा उनकी प्राप्ति हम किस प्रकार कर सकते हैं।

भारतीय वाङ्मय एक वृक्ष के समान है जिसके मूल तो वेद हैं तथा व्याकरण एवं धर्म, अर्थ, कामादि विषयक शास्त्र शाखा प्रशाखाएँ तथा पत्र-पुष्प हैं, पर इसका फल तो दर्शन शास्त्र ही है। इस शास्त्र की दो मुख्य प्रवृत्तियाँ हैं सांख्य और योग। संख्या चर्चा विचारण की व्युत्पत्ति से सांख्य पद सिद्धान्त पक्ष को निरूपित करता है तो 'युज्यते अनुभवपथ मानीयते अनेन' की व्युत्पत्ति से योग का अभिप्राय ज्ञान का अनुभवात्मक अनुष्ठान ही है। वस्तुतः सांख्य और योग ये दोनों ही एक ही सिक्के के दो पहलुओं की तरह दार्शनिक तत्त्वों के दो अनिवार्य पक्ष हैं जिनके बिना दर्शन की दृश्यते अनेन की व्युत्पत्ति समुचित नहीं बनती।

योग को महर्षि पतञ्जलि ने चित्त की वृत्तियों का निरोध कहा है, जिसे गीता में दुर्निग्रह एवं सुदुष्कर माना है। किन्तु वहीं यह बताया गया है कि इन्द्रियनिग्रह के द्वारा मनोनिग्रह सर्वथा सरल हो जाता है। इसी को योग की परम्परा में हठयोग कहते हैं। जिसमें विविध मुद्राओं एवं आसनों के द्वारा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करके चित्त की वृत्तियों का आनायास निरोध सम्पादित हो जाता है। यहाँ यह बात बताना नितराम आवश्यक है कि हठयोग का भी लक्ष्य अन्य दर्शनों की ही भाँति आत्मसाक्षात्कार ही है जिसकी चरम परिणति मोक्ष में होती है।

अपने अन्तेवासी सुरेन्द्रकुमार शर्मा की कृति हठयोग एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य एवं हठयोग प्रदीपिका को स्थालीपुलाकन्याय से ही अवलोकन कर मुझे प्रसन्नता हुई है कि ग्रन्थकार ने हठयोग की उपर्युक्त चेतना को आत्मसात् कर प्रस्तुत ग्रन्थ में उसका सम्यक् निर्वाह किया है। हठयोग के इतिहास का विवेचन अपने आप में एक बहुत ही जटिल कार्य है क्योंकि उसके सूत्र विविध एवं परस्पर विरुद्ध परम्पराओं में उलझे पड़े हैं जिन्हें सुलझाकर एकरूपता में लाना ही परमश्लाघ्य कार्य है जिसे यहाँ कुशलता-पूर्वक सम्पन्न किया गया है। साथ ही हठयोगप्रदीपिका को आधार बनाकर कतिपय उत्कृष्ट आसनों, मुद्राओं और प्राणायाम के प्रकारों का सुस्पष्ट एवं प्रामाणिक निरूपण किया गया है।

अन्त में नादानुसन्धान सहित समाधि की अवस्था का निरूपण भी यहाँ सुबोध शैली में हुआ है। इन सबके प्रायोगिक दिग्दर्शन हेतु आयुर्वेद के ग्रन्थों के समुद्धरण कृति की महत्ता को और उत्कृष्ट बना देते हैं। अपनी प्रथम रचना में ही इतनी सफलता के लिए मैं सुरेन्द्र को बधाई देना चाहता हूँ और कामना करना चाहता हूँ कि वे निरन्तर एक के बाद एक ग्रन्थ के प्रणयन में लगे रहें तथा इस क्षेत्र में यशस्वी हों।

डा० ब्रजमोहन चतुर्वेदी
एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०,
प्रोफेसर संस्कृत-विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-7

भूमिका

सप्त सिन्धु के निवासी प्राचीन ऋषियों व मुनियों की ज्ञानवर्धक, उर्वर एवं कल्पना विचार प्रधान ऋतम्भरा प्रज्ञा ने जिस ज्ञानार्जन की प्रशस्त परम्परा का परिवर्धन कर एक ऐसे दर्शनाङ्कुर को मानव मानस भूमि पर प्रतिष्ठापित किया, जो कालान्तर में विभिन्न धर्म शाखाओं एवं साम्प्रदायिक पत्रों से युक्त महान् दर्शन वृक्ष के रूप में उपस्थापित हुआ, फलस्वरूप समस्त मानव जन को जिससे आध्यात्मिक फल प्राप्त हुआ।

इस प्रकार की विभिन्न मर्त्त्य कल्पना अभौतक सत्ता से सम्बद्ध होकर एक नवीन मार्ग की ओर अग्रसर हुई, जिसे अखण्ड सत्ता के नाम से अभिहित करते हैं और इसकी प्राप्ति ही मानव जीवन की उदात्त भावना का चरम एवं अन्तिम लक्ष्य है, क्योंकि क्लेशमय भौतिक सत्ता से आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति का एकमात्र उपाय यही है। दर्शन शब्द के मूल में भी यही सिद्धान्त दृष्टिगत होता है। 'दर्शन' का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है— दृश्यते अनेन इति दर्शनम्। क्या ? अखण्ड तत्त्व का वास्तविक तात्त्विक स्वरूप। अर्थात् लक्ष्य प्राप्ति ही मोक्ष का नामान्तर है। तच्च्युति—

पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्।

संसृति का मुख्य हेतु है। अत एव सिसृक्षा से उत्पन्न त्रिगुणात्मिक ("जगदाभास") असत्य अथवा प्रातिभासिक सिद्ध नहीं किया जा सकता। यह माया नामक एक सामान्य वस्तु के द्रव्य से बना है, जो बाद में भिन्न प्रकार के सत्त्व, रजस् एवं तमस् नामक कार्य करते हुए अनुमान किया जाता है। माया तत्त्व समग्र कर्मों का कोष है)।[1] माया का यथार्थ ज्ञान दर्शन का ध्येय है। क्योंकि "प्राचीन भारत में पूर्णत्व के अन्वेषण के परिणामस्वरूप द्वैत तथा अनैकान्तिक दृष्टियों के साथ-साथ अद्वैत-दृष्टि का भी विकास हुआ था। दार्शनिक विचार के क्रम विकास की दृष्टि से वैदिक संहिता तथा उपनिषदों का अद्वैतवाद

---

1. भारतीय दर्शन का इतिहास—भाग पञ्चम, पृ०-30

यदि छोड़ भी दिया जाय, तो भी बहुसंख्यक दार्शनिक समीक्षकों में अद्वैत-चिन्तन का प्रभाव दिखाई देता है। प्राचीन मीमांसा शास्त्रों में जिस प्रकार अद्वैत-तत्त्व का अनुसन्धान मिलता है, वह शाङ्करमत से अत्यन्त प्राचीन है। भर्त्तृहरि तथा मण्डनमिश्र का ब्रह्मवाद आचार्य शंकर-प्रचारित अद्वैत से भिन्न होने पर भी, अद्वैतवाद ही है। प्राचीनकाल में शब्दाद्वैतवाद का विद्वत्समाज में अत्यधिक प्रचार रहा। जयन्त की न्यायमञ्जरी में, शान्तरक्षित तथा कमलशील के तत्त्वसंग्रह तथा उसकी टीका में, जैनसाहित्य में, सोमानन्द तथा उत्पलाचार्य की शिवदृष्टि और उसकी टीका आदि ग्रन्थों में, पूर्वपक्ष के रूप में इस मत की चर्चा की गई है। बौद्ध-दार्शनिक समाज में योगाचार-मत अद्वैतवाद है और माध्यमिक मत भी उसी प्रकार का है, उनमें एक है विज्ञानाद्वैतवाद और दूसरा है शून्याद्वैतवाद। प्रसिद्धि है कि कालक्रम से बुद्ध का नाम भी 'अद्वयवादी' पड़ गया था। नैयायिकों के अद्वैतवादी न होने पर भी नैयायिकशिरोमणि उदयनाचार्य ने आत्मतत्त्वविवेक में अद्वैतवाद के ऊपर विशेष श्रद्धा प्रकट की है। शैव तथा शाक्त आगमों में भी अद्वैत की महिमा ही घोषित हुई है। इन्हें तान्त्रिक अद्वैतवाद कहा जा सकता है। ईश्वराद्वयवाद प्रत्यभिज्ञा तथा स्पन्द-साहित्य के माध्यम से प्रचारित हुआ था।··· अद्वैतवाद विभिन्न प्रकार का होने पर भी, सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर प्रतीत होता है कि इन सब में किसी-न-किसी अंश में सोपान-परम्परागत एक क्रम विद्यमान है।"[1] इसी प्रकार विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों में योग परक वैचित्र्य दृष्टिगत होने पर भी मूलतः एवं विशेष रूप से अन्तर्निहित एक ही तत्त्व का बोध होता है और उसी महायोग के चार प्रमुख अङ्गों (मन्त्र, लय, हठ और राज) का विवेचन योग-शास्त्रों में किया गया है।

महायोग के उपर्युक्त अङ्गों में क्रमशः श्रेष्ठता को प्राप्त कर अन्तिम योग राजयोग ही उत्तमोत्तम है तथा इसके तीन प्रकार—(सांख्य, तारक और अमनस्क) निर्दिष्ट हैं। पच्चीस तत्त्वों का ज्ञान सांख्य, बहिर्मुद्रा का ज्ञान तारक और अन्तर्मुद्रा के परिज्ञान से अमनस्क योग होता है। इस प्रकार सांख्य से तारक और तारक से अमनस्क योग श्रेष्ठ है।[2] परन्तु तत्त्व की दृष्टि से शिवयोग और राजयोग एक ही हैं और साधकों का

---

1. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि—डा० गोपीनाथ कविराज, पृ०-1-2, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, सन्-1978
2. मन्त्रो लयो हठो राजा चेति योगाश्चतुर्विधाः। 1/4
   उत्तरोत्तरवैशिष्ट्याद्योगाश्चत्वार एव हि।
   तेष्वेक एव मुख्योऽसौ राजयोगोत्तमोत्तमः॥
   सोऽपि त्रिधा भवेत्सांख्यस्तारकश्चामना इति।
   पञ्चविंशतितत्त्वानां ज्ञानं यत्सांख्यमुच्यते॥
   बहिर्मुद्रापरिज्ञानाद्योगस्तारक उच्यते।
   अन्तर्मुद्रापरिज्ञानादमनस्क इतीरितः॥
   श्लाघ्यः सांख्यात्तारकोऽयममनस्कोऽपि तारकात्।
   राजत्वात्सर्वयोगानां राजयोग इति स्मृतः॥ 1/9-12

   शिवयोगदीपिका, आनन्दाश्रमसंस्कृतग्रन्थावलिः। ग्रन्थाङ्क-139, सन्-1978

साध्य शिवयोग तथा उसका साधन हठयोग कहलाता है। योग (योगाङ्गप्रक्रिया) से ज्ञान और ज्ञान से योग (समाधि) प्रवर्तित होता है तथा बुद्धिमान् पुरुष को इन दोनों की सिद्धि हेतु शरीर की रक्षा करनी चाहिये। महाकवि कालिदास के अनुसार भी—

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।

अतएव शरीर को कफ रहित एवं सुस्थैर्य हेतु हठयोग का ही अवलम्बन करना चाहिये, क्योंकि शरीरियों का कफ केवल हठयोग द्वारा ही नष्ट होता है।[1]

इस प्रकार की प्राचीन भावाभिव्यक्तियों पर अन्वेषकों का दृष्टिपात क्यों नहीं हुआ यह अपने आप में एक रहस्य ही तो है। विचारकों की दृष्टि से प्राचीन हठयोग वास्तव में अस्पृष्ट है। जबकि हठयोग का प्रचलन तान्त्रिक ग्रन्थों के प्रणयन से कई शताब्दी पूर्व था ऐसा कहना अतिशयोक्ति पूर्ण नहीं क्योंकि यह सर्वविदित है कि प्रत्येक सिद्ध को सर्वप्रथम हठयोग का अभ्यास करना चाहिए अथवा हठयोग का अभ्यास उसे तब करना चाहिये जबकि वह अन्य साधनों से अपने लक्ष्य को प्राप्त न कर सकता हो, इसलिए सुस्पष्ट है कि तन्त्र वहाँ से प्रारम्भ होते हैं, जहाँ हठयोग समाप्त होता है[2] (प्रकृत् शब्द हठयोग की प्राचीनता के द्योतक हैं)।

वस्तुतः तात्पर्य यह है कि तन्त्र के भव्य भवन के निर्माण में हठयोग ने सबल नींव प्रदान की तथा इसी भवन की प्रशंसा में प्राचीन आचार्यों ने कई ग्रन्थों का प्रणयन तो किया लेकिन इसके मूल कारण हठयोग के यथार्थ स्वरूप की उपेक्षा के साथ। जिसके फलस्वरूप विभिन्न दर्शनों की विविध विश्लेषणात्मक असङ्गतियों में घृष्ट होता हुआ प्राचीन हठयोग का यथार्थ स्वरूप अपनी मूलस्थिति से अपभ्रष्ट होता रहा। अनेक साम्प्रदायिक आचार्यों ने हठयोग निर्दिष्ट विशिष्ट मुद्राओं के वास्तविक स्वरूप को विकृत कर मुद्रा, मैथुन इत्यादि जैसे गर्हित अर्थों में उपस्थापित किया। इन परिस्थितियों में जबकि हठयोग दर्शन सूर्य को सघन प्रतिक्रिया मेघ ने आच्छन्न कर लिया था कि तभी आदि शंकराचार्य जैसे अद्वितीय, महिमा एवं प्रतिभाशाली व्यक्तित्वयुक्त गोरक्षनाथ रूप चन्दनानिल का आविर्भाव हुआ जिसके तीव्र वेग ने उस असामयिक दुर्दिन को दिग्लीन

---

1. शरीरं कफनाशेन सुस्थैर्यं याति निश्चितम्।
स कफो हठयोगेन विनश्यति शरीरिणाम्॥ शिवयोगप्रदीपिका—2/3

2. It means that every worshipper should practice first Hathayoga or that he should do so only when he fails to achieve his end by other means......It is therefore clear that Tantras begin where Hathayoga ends.—Guhyasamāja Tantra, edited by Benoytosh Bhattacharya, p. xvi-xvii.

कर दिया तथा उसकी सुगन्ध केवल इस मर्त्यभूमि पर ही नहीं प्रत्युत इस विज्ञान प्रधान युग में भी श्री शिव के मस्तकस्थ चन्द्रमण्डल पर विराजित हुई,* क्योंकि उसने सभी धर्मों का समन्वय 36 तत्त्वों में कर, पञ्चभूत निर्मित इस देह में इतने देवी-देवताओं का वास दिखाकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को इस प्रकार से पिण्डस्थ कर दिया कि कायज्ञान एक ऐसे चरमबिन्दु को प्राप्त कर गया जो स्वयं सिद्धियों से युक्त, अत्यन्त गूढ़ और रहस्यमय था। उनकी रचनाओं पर वेद और उपनिषदों के तात्त्विक विचारों, बौद्ध, सांख्य, योग, तन्त्र, अद्वैत, द्वैताद्वैत तथा कश्मीर शैव सम्प्रदाय के मूल तत्त्वों का प्रभाव किसी-न-किसी रूप में परिलक्षित होता है। दर्शन प्रधान ग्रन्थ 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में परमशिव का ज्ञान बुद्धि ज्ञान से भिन्न व समस्त मानवजन के बाह्य एवं आन्तरिक अनुभूति का एक-मात्र आधार है।

इन्हीं मूलभूत सिद्धान्तों के प्रचार और प्रसार का मुख्यतम श्रेय आगे चलकर श्री स्वात्माराम योगीन्द्र प्रणीत हठयोगप्रदीपिका को जाता है. क्योंकि उन्होंने गोरक्ष-नाथ के मूल सिद्धान्त (सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की शरीर में विद्यमानता) को चरितार्थ करने के उद्देश्य से काया योग साधना पद्धति का अवलम्बन कर, उससे प्राप्त मुक्ति का संचार किया। "मुक्ताई से अपने उपदेश में अल्लम प्रभु कहते हैं कि जिस प्रकार एक दूध पीते बालक को माँ के दूध से छुड़ाकर अनेक प्रकार के भोजन दिए जाते हैं, उसी प्रकार वास्तविक शिक्षक, भक्त को बाह्य प्रकार की पूजा में ध्यान केन्द्रित करने की शिक्षा देता है तथा बाद में उनको छुड़वा देता है, जिससे अन्त में वह सब प्रकार के कर्तव्यों से विरक्त हो जाता है तथा सत्य-ज्ञान प्राप्त करता है जिससे उसके सब कर्म नष्ट हो जाते हैं। यहाँ अध्ययन तथा व्याख्यान का यथेष्ट उपयोग नहीं परन्तु सबका शिव से तादाम्य का साक्षात्कार करना आवश्यक है।"[1] अतएव यह सुस्पष्ट है कि हठयोग साधना पद्धति का मुख्यतम उद्देश्य मुक्ति है ऐसा महान् हठयोगी अल्लम प्रभु ने भी स्वीकार किया है तथा इसी तत्त्व की उद्घोषणा करते हुए स्वयं हठयोगप्रदीपिकाकार कहते हैं कि जब तक ध्यान में परम-तत्त्व सहज रूप से नहीं आता, तब तक ज्ञान का उपदेश केवल आलाप मात्र है।[2] इस प्रकार परम साध्य के साधनाङ्गों का युक्तिपूर्ण वर्णन हठयोगप्रदीपिका में परिलक्षित होता है।

इस प्रसङ्ग में यह कथन असङ्गत नहीं कि प्रस्तुत ग्रन्थ में हठयोग के सभी अंगों (विशेष रूप से प्राणायाम) का सविस्तर एवं सुस्पष्ट वर्णन किया गया है, क्योंकि प्राणा-याम श्वास की वह साधन क्रिया है जिसके द्वारा साध्यद्वय सिद्ध होते हैं। प्रथम असाध्य रोगों का नाश एवं द्वितीय कुण्डलिनी शक्ति जागरण द्वारा मुक्ति। प्राणायाम सम्बन्धी

---

* चन्द्रमा पर किए गए सफल प्राणायाम प्रयोग।

1. प्रभु लिङ्ग लीला, पृ०-57-58, भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग-5, एस० एन० दास गुप्ता, पृ०-51
2. हठयोगप्रदीपिका—4/113

विवेचनान्तर्गत यह बताना अत्यावश्यक हो जाता है कि प्राणायाम का प्रयोग अत्यन्त प्राचीन एवं पाश्चात्य जगत् में भी प्रचलित था।[1]

प्रस्तुत ग्रन्थ में हठयोगप्रदीपिका के तुलनात्मकाध्ययनाभावाभाव व सिद्धासन और प्राणायाम को अत्यधिक स्पष्ट करने के उद्देश्य से चित्र भी उपस्थापित किये गए हैं। सिद्धासन की महत्ता को हठयोगमार्गानुगामी आचार्यों ने ही नहीं अपितु अद्वैतवाद के प्रचारक श्री आदिशङ्कराचार्य ने भी स्वीकार करते हुए कहा है कि—जिस (आसन) में सुखपूर्वक, अविच्छिन्न ब्रह्मचिन्तन हो, उसे ही आसन जानो तथा अन्य केवल सुखनाशक ही हैं। जो समस्त भूतों का आदिकारण, विश्व का अविनाशी अधिष्ठान और जिसमें ब्रह्मवेत्ता स्थित रहते हैं उसे सिद्धासन अथवा सिद्धों का आश्रय कहते हैं।[2]

प्रकृत ग्रन्थ सामान्य ज्ञान विवेचन के अतिरिक्त शोध के उद्देश्य से भी लिखा गया है। प्रेरणा स्रोत विषयक प्रसङ्ग में सर्वप्रथम मैं यह बताना चाहूँगा कि सन् 1981-

---

1. The Science of breathing is as old as the world. It is practised not merely for health but for evolving certain occult powers which are latent in all of us. The Chinese, two thousand years before the Christian era, had this science; the Greeks and Romans also practised it. Some of the Roman writers mentioned the practice of holding the breath for medical purposes, because it was believed that thereby they could induce heat in the internal regions of the body and also could strengthen the internal regions. Plato refers to the custom of resorting to breathing in certain ways, and later on, in mediaeval ages, writers have made mention of this science. Kant wrote a work on the power of the mind to control sickness by the mere force of the will, and there is one chapter on this matter alone, that is, treating certain diseases by the holding of the breath. This science therefore must be deeply important not only for the curing of disease but for other more important purposes.—Speeches and writings of Virchand R. Gandhi. The Yoga philosophy—Published by the Trustees Devchand Lalbhai Pustakoddhar Fund, Bombay, 1912.

2. सुखेनैव भवेद्यस्मिन्नजस्रं ब्रह्मचिन्तनम्।
आसनं तद्विजानीयान्नेतरत् सुखनाशनम्॥
सिद्धं यत् सर्वभूतादि विश्वाधिष्ठानमव्ययम्।
यस्मिन् सिद्धाः समाविष्टास्तद्वै सिद्धासनं विदुः॥ अपरोक्षानुभूति—112, 113

82 में **अपर्णा आश्रम मानतलाई** से योगशिक्षा प्राप्त कर, मानव जीवन में योग के महत्त्व का बोध हुआ। परिणामस्वरूप यह निश्चय किया कि भविष्य में योगपरक विशेषानुसन्धानिकाध्ययन एवं आश्रम में दिये गये उपदेशानुसार योग का प्रचार एवं प्रसार का भरसक प्रयत्न करना चाहिये। इसके लिए मैं वहाँ के समस्त शिक्षकों का आभारी हूँ। सहायक ग्रन्थों के सम्बन्ध में (प्राणायाम के चित्र हेतु) कल्याण का योगाङ्क तथा कैवल्य धाम की हठप्रदीपिका ने समय-समय पर मेरा दिशा निर्देश किया।

श्रद्धेय गुरुवर प्रो० ब्रजमोहन चतुर्वेदी संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय का मैं अत्यन्त ऋणी एवं कृतज्ञता का पात्र हूँ जिन्होंने हठयोगप्रदीपिका की अतिप्राचीन टीका उपलब्ध कराई तथा स्वयं अत्यन्त व्यस्त होने पर भी अपने अमूल्य विचारों द्वारा मेरा दिशा निर्देशन किया।

मैं अपने लघु शोध निर्देशक पूज्य गुरु रीडर डा० बलदेवराज शर्मा संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय के प्रति हृदय से कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ जिन्होंने समयाभाव होने पर भी मेरी सहायता की। पुस्तक का शुद्ध व परिमार्जित रूप उन्हीं के अथक प्रयास असीम कृपा व अगाध प्यार का ही फल है।

प्राणायाम के बाहरी चित्र हेतु मित्र सुरेन्द्र सिंह ने जो मेरी मदद की वह अकथनीय है। इस विषय में मैं कुमारी किरण शर्मा का ऋणी हूँ। दिल्ली विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में कार्यरत श्री कल्याण सिंह, श्री हरमन्दिर पाल, श्री रघुबीर सिंह और श्री बनवारी लाल का मैं अत्यन्त आभारी हूँ क्योंकि इनके अथक प्रयासों के कारण ही मुझे सहायक ग्रन्थों की उपलब्धि हो सकी। प्रकाशक श्री श्यामलाल मलहोत्रा (प्रोपराइटर, ईस्टर्न बुक लिंकर्स) का भी मैं आभारी हूँ जिन्होंने अल्प समय में ही इस ग्रंथ को प्रकाशित करने की कृपा की है। इस पुस्तक के निर्माण एवं प्रकाशन में मित्रवर श्री हरीश कौशिक, श्री भगवती प्रसाद, श्री रमण कुमार तथा श्री रमाकान्त तिवारी आदि मित्रों का मैं हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ क्योंकि इनके सतत सहयोग व प्रोत्साहन के द्वारा ही यह कार्य पूर्ण हो रहा है।

अन्त में केवल यही कहना चाहूँगा कि—

यदत्र सौष्ठवं किञ्चित्तद्गुरोरेव मे नहि।
यदत्रासौष्ठवं किञ्चित्तन्ममैव गुरोर्नहि॥

—**सुरेन्द्र कुमार शर्मा**

विषयानुक्रमणी

संकेत-सूची

कठ उ०	—	कठोपनिषद्
घे० सं०	—	घेरण्ड-संहिता
पा० यो० द०	—	पातञ्जल योगदर्शन
भा० पु०	—	भागवत पुराण
म० स्मृ०	—	मनुस्मृति
मै० उ०	—	मैत्रायण्युपनिषद्
यो० कु० उ०	—	योगकुण्डल्युपनिषद्
यो० चू० उ०	—	योगचूडामण्युपनिषद्
यो० तत्त्व० उ०	—	योगतत्त्वोपनिषद्
शा० उ०	—	शाण्डिल्योपनिषद्
शि० सं०	—	शिव-संहिता
शि० स्व०	—	शिवस्वरोदय
ह० प्र०	—	हठप्रदीपिका
ह० यो० प्र०	—	हठयोगप्रदीपिका

अध्याय 1

हठयोग—एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

दर्शन परम्परा के सन्दर्भ में भारतीय दर्शन प्रारम्भ से ही आस्तिक एवं नास्तिक[1] रूपी दो विचारप्रधान धाराओं में विभक्त रहा है। जहाँ एक ओर नास्तिक शब्द रूपी मणिमुकुट धारण करनेवाले जैन, बौद्ध और चार्वाक प्रभृति दर्शनों ने अपनी तर्कपूर्ण शैली से यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि हम सब उस ईश्वर की देन नहीं, वहीं दूसरी ओर ईश्वरीयसत्ताविषयक ज्ञानाऽमृतरस की गागर को धारण करने वाले वेदान्त, न्याय वैशेषिक, अर्वाचीन सांख्य और योग प्रभृति आस्तिक दर्शनों ने अपनी बाण सदृश अकाट्य लेखनी की जिह्वा से प्रस्फुटित तर्कों से यह सिद्ध किया है कि हम सब निरीह प्राणी ईश्वर की देन तथा उसी के वशीभूत केवल कठपुतली मात्र ही हैं। इसी कारण से अनुप्रेरित इन आस्तिक दर्शनों का भारतीय दर्शन साहित्य में ही नहीं अपितु समस्त विश्व दर्शन साहित्य में अनूठा एवं विशिष्ट योगदान रहा है, जिनमें योगदर्शन का अपना अलग एवं उच्चतम स्थान है, क्योंकि योगदर्शन में निर्दिष्ट ऋतम्भरा प्रज्ञा के द्वारा ही प्राचीन भारतीय मनीषियों को वैदिक मन्त्रों का बोध हुआ था।[2]

योग दर्शन में प्रतिपाद्य 'योग' का वर्णन आस्तिक, नास्तिक एवं अन्य संस्कृत साहित्य के ग्रन्थों में बहुलता से प्राप्त किया जा सकता है। जहाँ वैदिक विचारधारा में इसका अर्थ संयोग हेतु हुआ है, गणित शास्त्र में इसका अर्थ मिलाना दृष्टिगोचर होता है। वैयाकरण दृष्टिकोण के अनुसार योग शब्द 'युज्यते अनेन' इस व्युत्पत्ति के अनुसार

---

1. आस्तिक शब्द भारतीय दर्शन परम्परा में वेदों की प्रामाणिकता मानने वालों के लिए प्रयुक्त हुआ है और जो वेदों की प्रामाणिकता में विश्वास नहीं करते वे नास्तिक कहलाते हैं, क्योंकि वेद ईश्वरवादी ग्रन्थ हैं, इसलिए कालान्तर में आस्तिक शब्द ईश्वर में विश्वास करने वालों के लिए तथा जो ईश्वर में विश्वास नहीं करते उनके लिए नास्तिक शब्द का प्रयोग होने लगा।
2. (क) सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा।

ऋग्वेद-10/129/4

'युजिर् योगे' धातु से करण अर्थ में घञ् प्रत्यय करके बना है, जिसका अर्थ संयुक्त होना अथवा मिलाना है। पातञ्जल योगदर्शन में 'युज् समाधौ' धातु से निष्पन्न योगपद का उल्लेख किया गया है, किन्तु भाष्यकार भगवान् व्यास के मन्तव्यानुसार योग एवं समाधि पर्यायवाची हैं।[1]

योग शब्द की व्युत्पत्ति—इस प्रकार शुद्ध तर्क की कसौटी पर परखने से यह प्रतीत होता है कि 'योग' शब्द नाना प्रकार के व्यापक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।[2] फिर भी इसका जो आध्यात्मिक अर्थ है उसमें प्रकार भेद होने पर भी कुछ अंश में मूलतः सामञ्जस्य प्राप्त होता है उसे जीवात्मा और परमात्मा का संयोग, प्राण और अपान का संयोग,

---

(ख) ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्ति स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि
कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः॥ श्वेताश्वतरोपनिषद्—1/3

1. (क) व्यास भाष्य, पृ॰ 1
(ख) योगः समाधि, पृ॰ 3

2. "योगः—1 सम्बन्धः। 2 (क) समुदायशब्दस्य अवयवशक्तिः (त॰दी॰) (नील॰ 4 पृ॰31) (सि॰ च॰ 4, 31)। यथा पाचकादिपदेषु योगः अत्र च पाचकादिपदात् पचति इति व्युत्पत्त्या पाककर्ता बुद्ध्यते इति बोध्यम्। अत्र योगबलं समाख्या इति मीमांसका वदन्ति (वाच॰)। (ख) वैयाकरणास्तु शास्त्रकल्पितावयवार्थमात्रबोधप्रयोजको योगः (शक्तिः)। यथा पाचकादौ इत्याहुः (ल॰म॰ आकांक्षादिवि॰ पृ॰ 12) 3 (क) चित्तवृत्तिनिरोधः इति योगिन आहुः (पा॰ पा॰ 1 सू॰ 2) (ख) क्लेशकर्मविपाकाशयपरिपन्थिचित्तवृत्तिनिरोधो योगः (सर्व॰सं॰पृ॰ 132 पात॰) अत्रेदं बोध्यम्। विषयेष्वलंप्रत्ययवत उदासीनस्य बहिरिन्द्रियेभ्यो व्यावृत्तं मनो यदा आत्ममात्रनिष्ठं भवति तदा तत्कर्मानुगुणप्रयत्नाभावात्कर्म मनसि नोत्पद्यते स्थिरतरं मनो भवति स एव योगः (वै॰ उ॰ 5/2/16)। अथवा आत्मस्थे मनसि षडङ्गयोगेन इन्द्रियादिकं परित्यज्य मनो यदा आत्ममात्रे तिष्ठति तदा मनःकर्मणोनुत्पादः तदा मनो निश्चलं भवति। तदवस्थायां शरीरावच्छेदेन दुःखं न जायते। स आत्मना बाह्यव्यावृत्त-मनसः संयोगो योग उच्यते। षडङ्गानि स्कन्दपुराणे उक्तानि यथा-आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा। ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि भवन्ति षट्॥ (वै॰ सू॰ 5/2-16) (वै॰ वि॰) इति। यद्वा इन्द्रियाणि विषयेभ्यः प्रत्याहृत्येन्द्रियेभ्यो मनः प्रत्याहृत्य साक्षात्कर्तव्ये वस्तुनि मनः प्रणिधानं योगः (नील॰) इति। स च योगो द्विविधः। राजयोगः हठयोगश्च। तत्र राजयोगः पतञ्जलिनोक्तः। हठयोगस्तु तन्त्रशास्त्रोक्तः प्रकारान्तरेणापि। योगो द्विविधः सम्प्रज्ञातः असम्प्रज्ञातश्चेति। तथा योगस्त्रिविधः

चन्द्र और सूर्य का मिलन रज और बिन्दु का मिलन, शिव शक्ति का सामञ्जस्य, चित्त-वृत्ति का निरोध अथवा पूर्वोक्त पाद-टिप्पणी में निर्दिष्ट किसी अन्य प्रकार से भी उसका लक्षण किया जाये परन्तु मूलमें विशेष भेद नहीं है।[1] स्कन्दपुराण के अनुसार जहाँ जीवात्मा और परमात्मा दोनों का जो समान रूपत्व है, वही सर्वसंकल्परहित समाधि कहा

ज्ञान-योगः कर्मयोगः भक्तियोगश्च (भाग० स्क० 11 अ० 20 श्लो० 6) इति। इदं च बोध्यम् 'षष्ठभगवदवतारो दत्तात्रेयः' स च आन्वीक्षिकीमलकार्य प्रह्लादादिभ्य ऊचिवान् (भाग० 1 / 3 / 12)। तेन च स्वसंहितायां योगोनुशिष्टः इति 4 उपायः (5) युक्तिः (6) जीवात्मपरमात्मनोः सम्बन्धः इति केचिद्वेदान्तिन आहुः तदुक्तम् योगं संयोगमित्याहुर्जीवात्मपरमात्मनोः इति (वाच०)। (7) देवतानुसंधानं योगः इति रामानुजीयाः नारद-पञ्चरात्रविदः आहुः (सर्व० पृ० 117 रामा०)। (8) अप्राप्तस्यार्थस्य प्राप्तये पर्यनुयोगो योगः। यथा योगाचारः इत्यादौ इति बौद्धा आहुः। (9) शब्दादीनां प्रयोगः इति वैयाकरणा आहुः (10) भेषजम् इति भिषज आहुः। (11) योगः कर्मसु कौशलम्, इति कर्मकर्तारोङ्गीचक्रुः (12) छलम् (उपाधि) इति व्यवहारशास्त्रज्ञा आहुः। अत्र स्मृतिः योगाधमनविक्रीतं योगदानप्रतिग्रहम्। यस्य वाप्युपधिं पश्येत्तत्सर्वं विनिवर्तयेत्॥ (याज्ञ० अ०2 श्लो० 181टी० मिता० पृ०94) इति। योगः कपटम् इति मनुः (8/165) (13) रविचन्द्रयोगाधीना विष्कम्भादयः सप्तविंशति पदार्थाः इति ज्योतिषज्ञा आहुः। (14)तिथिवारनक्षत्राणां सम्बन्धविशेषः। यथा सिद्धियोगः अमृतसिद्धियोगः अर्धोदययोगः दग्धयोगः इत्यादिः इति मौहूर्तिका आहुः (15) लग्नादिगृहविशेषे स्थितो ग्रहविशेषः। यथा राजयोगः नाभसंयोगः इत्यादिः इति कार्तान्तिका आहुः। (16) यात्रायाम् आलग्नात्केन्द्रत्रिकोणस्थितो बुधजीवशुक्राद्यन्यतमः इति ज्योतिःशास्त्रज्ञा आहुः। तदुक्तम् एको ज्ञ ज्यसितेषु पञ्चमतपः केन्द्रेषु योगस्तथा द्वौ चेत्तेष्वधियोग एषु सकला योगाधियोगः स्मृतः योगे क्षेममथाधियोगगमने क्षेमं रिपूणां वधः (मु० चि०) इति। (17) कामुककामिनीसंमेलनं योगः इत्यालंकारिका वदन्ति। (18) चित्तद्वारेणात्मेश्वरसंबन्धो योगः (सर्व० सं० पृ० 169 नकुली०) (न्याय कोश-पृ० 670 से उद्धृत)

1. योऽपानप्राणयोश्चैव रजसो रेतसस्तथा।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगो जीवात्मपरमात्मनोः।
एवं हि द्वन्द्वजालस्य संयोगो योग उच्यते॥ योगशिखोपनिषद्—1/68

जाता है। जीवात्मा और परमात्मा की अविभागरूप एकता ही परमयोग है।[1] याज्ञवल्क्य-संहिता में जीवात्मा और परमात्मा का संयोग योग कहा गया है।[2] गीता के अनुसार समत्व ही योग है।[3] जबकि पातञ्जल योगदर्शन के अनुसार चित्तवृत्ति का निरोध ही योग कहा गया है।[4] कठोपनिषद् के अनुसार इन्द्रिय, मन और बुद्धि की स्थिर धारणा का नाम योग है।[5] मैत्रायण्युपनिषद् के अनुसार प्राण, मन और इन्द्रियों का एकत्व तथा सर्वभाव का परित्याग ही योग कहलाता है।[6]

अग्निपुराण[7], आदित्यपुराण[8], कूर्मपुराण[9] और लिङ्गपुराण[10] आदि में चित्तवृत्ति के निरोध से ही योग की सम्भावना की अभिव्यक्ति की गई है। उपाध्याय यशोविजय ने द्वात्रिंशिका में कहा है कि सर्वकर्म मल का नाश तथा मोक्ष के साथ संयोग ही योग है[11] आचार्य हेमचन्द्र ने चारों पुरुषार्थों में मोक्ष को प्रमुख पुरुषार्थ मानकर योग को उसका कारण माना है।[12] महाभारत के शान्तिपर्व में योग द्वारा परम लक्ष्य की प्राप्ति बताई गई है।[13]

---

1. यत्समत्वं द्वयोरत्र जीवात्मपरमात्मनोः।
स नष्ट-सर्वसंकल्पः समाधिरभिधीयते॥
जीवात्मपरमार्थोऽयमविभागः परन्तप।
स एव तु परो योगः समासात्कथितस्तव॥—स्कन्द पुराण अध्याय-29
2. संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः—याज्ञवल्क्यस्मृति—2/44
3. समत्वं योग उच्यते।—गीता-2/48
4. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः—पा० योग दर्शन-1/2
5. तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्—कठोपनिषद्—2/3/11
6. एकत्वं प्राणमनसोरिन्द्रियाणां तथैव च।
सर्वभावपरित्यागो योग इत्यभिधीयते॥ मैत्रायण्युपनिषद्—6/25
7. चित्तवृत्तिनिरोधश्च जीवब्रह्मात्मनोः परः।—अग्निपुराण-372
8. योगात् संजायते ज्ञानं योगो मय्येकचित्तता।—आदित्य पुराण
9. मय्येकचित्तता योगो वृत्त्यन्तरनिरोधतः।—कूर्म पुराण -11
10. योगो निरोधो वृत्तेस्तु चित्तस्य द्विजसत्तमाः—लिङ्ग पुराण-8
11. मोक्षेण योजनादेव योगो ह्यत्र निरुच्यते—द्वात्रिंशिका-10/1
12. चतुर्वर्गेऽग्रणी मोक्षो योगस्तस्य च कारणम्।
ज्ञान-श्रद्धान-चारित्ररूपं रत्नत्रयं च सः॥ योगशास्त्र (1/15)।
13. शान्तिपर्व-232/32

महायोग—इन सब परिभाषाओं को देखने पर यह प्रतीत होता है कि स्वाभाविक योग एक ही है अनेक नहीं। यह महायोग के नाम से श्रेष्ठ साधकों में प्रसिद्ध है तथा अवस्था भेद के कारण ही यह मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग रूपी अंगों से प्रकट होता है जैसा कि योगतत्त्वोपनिषद् एवं शिवसंहिता में कहा गया है।[1] इसी कारण से उसे महायोग कहा जाता है।[2]

लिङ्ग पुराण में योग के मन्त्र, स्पर्श, भाव, अभाव एवं महायोग रूपी पाँच भेद स्वीकार किए गए हैं[3] जबकि बोधसार ग्रन्थ में लिखा है कि लय, मन्त्र, हठ, राज, सांख्य और भक्ति योग इन (षट्) सब योगों के अन्दर मतैक्य है। जो मोक्षमार्गगामी हैं, उन सब बुधों ने देखा है कि सबका उद्देश्य मोक्षप्राप्ति है।[4] भारतीय संस्कृत साहित्य में योग (अष्टांग, लय, मन्त्र, हठ, राज, कर्म, सांख्य, ध्यान, भक्ति, तारक, विचार, शब्द, जप, पाशुपत, शैव, अहोरात्र, माहेश्वर, पातञ्जल, भृगु शिव और कापालिकयोग) इत्यादि नामों से जाना जाता रहा है[5] किन्तु मुख्य रूप से इसके केवल चार भेद (मन्त्र, हठ, लय और राजयोग) ही स्वीकार किए गए हैं क्योंकि 'योगाचार्य महर्षियों ने कहा है कि अध्यात्म, आधिदैव और आधिभूत इन भावत्रयों के अनुसार मन, वायु व वीर्य ये तीनों ही एक हैं, इसीलिए मन को वशीभूत करने से वीर्य ओर वायु अपने आप वशीभूत हो जाते हैं। वायु को वशीभूत करने से मन व वीर्य अपने आप ही अधीन हो जाते हैं। और

---

1. (क) योगो हि बहुधा ब्रह्मन् भिद्यते व्यवहारतः।
मन्त्रयोगो लयश्चैव हठोऽसौ राजयोगकः।। योगतत्त्वोपनिषद्-19
(ख) मन्त्रयोगो हठश्चैव लययोगस्तृतीयकः।
चतुर्थो राजयोगः स्यात् स द्विधाभाववर्जितः।। शिवसंहिता-5/14
2. मन्त्रो लयो हठो राजयोगोथभूमिकाः क्रमात्।
एक एव चतुर्धाऽयं महायोगोऽभिधीयते।। योगशिखोपनिषद्-1/129
3. लिङ्ग पुराण-75
4. लये मन्त्रे हठे राज्ञि भक्तौ साङ्ख्ये हरेर्मते।
मतैक्यमस्ति सर्वेषां ये बुधा मोक्षमार्गगाः।। बोधसार
5. "राजयोग, हठयोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, जपयोग, लययोग, मन्त्रयोग शब्दयोग, प्रणवयोग, हंसयोग, तन्त्रयोग, स्वरयोग, ध्यानयोग, भृगुयोग, शिवयोग, पाशुपतयोग, प्रेमयोग, अनासक्तयोग, समाधियोग, ब्रह्मयोग, नामकीर्तनयोग, स्पर्शयोग, बुद्धियोग, अस्पर्शयोग, पुरुषोत्तमयोग, प्रकृति-पुरुषयोग, भावयोग, अभावयोग, क्रियायोग, विज्ञानयोग, गृहस्थयोग, पतिव्रतयोग, सांख्ययोग, कुण्डलिनीयोग, सुषुप्तियोग, स्वप्नयोग, चित्तयोग, इच्छायोग, मानसयोग, अहङ्कार योग, ज्ञानेन्द्रिययोग, कर्मेन्द्रिययोग, पूर्णयोग, कबीरपंथीयोग, स्वामी नारायण योग, बौद्धयोग, जैनयोग, पारसी मत-योग, ईसाई मत योग" इत्यादि
योगदर्शन सम्पादक वेदमूर्ति तपोनिष्ठ, पृष्ठ-17 से उद्धृत।

सुकौशल पूर्ण क्रियाओं के द्वारा वीर्य को वशीभूत करके उर्द्ध्वरेता हो जाने से मन व प्राणवायु अनायास उस योगी के वश में आ जाते हैं। राजयोग में बुद्धि से सम्बन्ध रखने वाली क्रियाओं से अधिक सम्बन्ध रखा गया है। और मन्त्र, हठ व लय इन तीन प्रकार की योगप्रणालियों में मन, वायु तथा वीर्य इन तीनों का सम्बन्ध अधिक रूप से है। इनमें से लययोग में मन की क्रिया का आधिक्य और मन्त्र व हठयोग में वायु धारण तथा रेतोधारण सम्बन्धी क्रियाओं की अधिकता देखी जाती है। शास्त्रों में मन्त्रयोगी के लिए वे सब तो चाहिए, उपरान्त प्राणायामसिद्धि व वायुनिरोध के लिए विशेष व्यवस्था रखी गई है।[1]

हठ—'हठ' में प्रयुक्त हकार और ठकार से अभिप्राय क्रमशः सूर्य नाड़ी और चन्द्र-नाड़ी प्रोक्त है। इस प्रकार सूर्य चन्द्र की एक रूपता ही हठ कहलाती है और इसके द्वारा सर्वदोष उत्पन्न जड़ता नष्ट होती है[1] तथा क्षेत्रज्ञ और परमात्मा की एकता होती है।[2] अतः सूर्य और चन्द्र नाड़ी के परस्पर संयोग को ही 'हठयोग' कहते हैं।[3] यहाँ सूर्य और चन्द्र से अभिप्राय क्रमशः पिङ्गला और इडा नाड़ी है तथा जिनका वास शरीर के दक्षिण एवं वाम भाग में माना गया है।[4] हठयोग के अन्य ग्रन्थों में हकार और ठकार निम्नलिखित पर्यायवाची शब्दों के द्वारा भी जाना जाता है—

ह—सूर्य, रवि, यमुना, शक्ति, रज, प्राण, पवन, अधः और
पिङ्गला नाड़ी।

ठ—चन्द्र, शशि, गंगा, शिव, बिन्दु, अपान, मन, ऊर्ध्व और इडा नाड़ी।

हठ = परस्पर मिलाना जिससे हठात् सिद्धि मिल जाये। गुह्य—समाज में ज्ञान

---

1. श्री धम्मकल्पद्रुम खण्ड 4, पृ०-1131
2. हकारेण तु सूर्यः स्यात् ठकारेणेन्दुरुच्यते।
   सूर्याचन्द्रमसोरैक्यं हठ इत्यभिधीयते।।
   हठेन ग्रस्यते जाड्यं सर्वदोष समुद्भवम्
   क्षेत्रज्ञः परमात्मा च तयोरैक्यं तदा भवेत्—योगशिखोपनिषद् 1/133,34
3. हकारः कीर्तितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते।
   सूर्याचन्द्रमसोर्योगाद्हठयोगो निगद्यते।। हठयोगप्रदीपिका
   —ज्योत्स्ना टीका—1/1
4. (क) मेरोर्वामे स्थिता नाड़ी इड़ा चन्द्रामृता शिवे।
   दक्षिणे सूर्यसंयुक्ता पिङ्गला नाम नामतः।।
   (ख) इड़ा वामे स्थिता नाड़ी शुक्ला चन्द्रस्वरूपिणी।।
   शक्तिरूपा तु सा नाड़ी साक्षादमृतविग्रहा।
   दक्षिणे या पिङ्गलाख्या पुंरूपा सूर्यविग्रहा।। षट्चक्रविवृतिः पृष्ठ-78

प्राप्ति हेतु हठयोग को एक साधन के रूप में स्वीकार किया है।[1] और यह सिद्धों के द्वारा सेवित है।[2]

इस हठयोग की व्याख्या हम इस प्रकार से भी कर सकते हैं कि प्राणायाम आदि क्रिया के अभ्यास से उत्पन्न राजयोग के बिना ही परमात्मा का साक्षात्कार रूप चित्त की वृत्ति का निरोध करना ही हठयोग कहलाता है और वह तन्त्र प्रसिद्ध है।[3] जबकि 'अमर' इत्यादि कोषों में हठ शब्द बलात्कार हेतु प्रयुक्त हुआ है।[4] हठ एवं हठयोग शब्दार्थ हेतु शब्दकल्पद्रुम में इनकी व्याख्या अत्यधिक विस्तार एवं भली-प्रकार से निर्दिष्ट है, जिसमें हठयोग की दो प्रकार की विधियों पर प्रकाश डाला गया है।[5]

---

1. दर्शने तु कृतेऽप्येवं साधकस्य न जायते।
   यदा न सिध्यते बोधिर्हठयोगेन साधयेत्॥ गुह्यसमाज तन्त्र 18/162

2. एवं ध्यात्वा चिरायुस्स्याद् अङ्गजननवर्जितः।
   शिवतुल्यो महात्मासौ हठयोगप्रसङ्गतः॥
   हठज्योतिर्मयो भूत्वा ह्यन्तरेण शिवो भवेत्।
   अतोऽयं हठयोगः स्यात् सिद्धिदः सिद्धसेवितः॥
   योगकर्णिका-12/25-26

2. **हठयोग**—प्राणायामादिक्रियाभ्यासजन्यः राजयोगं विनैव परमात्मसाक्षात्कार-रूपश्चित्तवृत्तिनिरोधः। स च तन्त्रप्रसिद्धः तत्प्रकारस्तु हठदीपिकादावुक्तो द्रष्टव्यः। अत्र विग्रहः हठेन बलात्कारेण योगः चित्तवृत्तिनिरोधः इति।
   न्यायकोश पृ०-1064

3. (क) प्रसभं तु बलात्कारो हठः। अमरकोश पृष्ठ-393
   (ख) हठः स्यात् प्रसभे पृश्न्यां हेठो बाधापि हेठयोः।
   अपष्ठुः पुंसि काले च वामे स्यादन्यलिङ्गकः॥ मेदिनी—पृ०-39

4. हठ, कीलबन्धे। बलात्कृतौ। प्लुतौ। इति कवि-कल्पद्रुमः॥ (भा०-पर०-भक-प्लुतौ अक०-सेट्।) कीले बन्धः कीलबन्धः। हठति छागं कीले बध्नाति इत्यर्थः। कातन्त्रादौ बलात्कारमात्रे। हठति परचक्रं बली। इति दुर्गादासः॥ हठः पुं० (हठ+पुंसीति घः।) बलात्कारः। इत्यमरः। प्रश्नी। इति मेदिनी॥
   हठयोगः। यथा, हठयोगप्रदीपिकायाम्। १/१०।
   "अशेषतापतप्तानां समाश्रयमठो हठः। अशेषयोगयुक्तानामाधारकमठो हठः" ॥)
   हठपर्णी, स्त्री, (हठति प्लवते। इति हठ+अच्। तादृशं पर्णमस्याः। ङीष्।) शैवालः। इति त्रिकाण्डशेषः॥

5. हठयोगः पुं, (हठेन योगः) योगविशेषः। यथा—
   "इदानीं हठयोगस्तु कथ्यते हठसिद्धिदः। कृत्वासनं पवनाशं शरीरे रोगहारकम्॥
   पूरकं कुम्भकञ्चैव रेचकं वायुना भजेत्। इत्थं क्रमोत्क्रमं ज्ञात्वा पवनं साधयेत् सदा॥

'हकार' और 'ठकार' रूपी द्वन्दों को परस्पर मिलाना ही हठ योग कहलाता है क्योकि "हठयोगी लोगों का विचार है कि वैषम्य ही जगत् की उत्पत्ति और दृश्यमानता का मूल कारण है, जिससे जगत् प्रकट होता है। वह जब तक समावस्था में विद्यमान रहता है, तब तक जगत् नहीं रहता। वह अद्वैत या प्रलय की अवस्था है। साम्यभंग होने पर ही वैषम्य, द्वन्द्व अथवा द्वैत भाव का उदय होता है, यही सृष्टि का बीज है। जो दो विरुद्ध शक्तियाँ एक दूसरे का उपमर्दन कर स्थिति-रूप से निष्क्रिय भाव में विद्यमान रहती हैं, वे जब समत्व का त्याग करती हैं, अर्थात् जब उनमें गुण-प्रधान भाव जग उठता है, तब सृष्टि और संहार के व्यापार सूचित होते हैं।

बहिःशक्ति की प्रधानता से सृष्टि और अन्तःशक्ति की प्रधानता से संहार होता है। स्थिति दोनों शक्तियों की समानता का निदर्शन है। इन दोनों शक्तियों के भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न पारिभाषिक नाम रखे गए हैं। शिव-शक्ति तथा पुरुष प्रकृति मूलतः इस आदिद्वन्द्व के ही वाचक हैं। जीव-देह में प्राण और अपान के रूप में इस विरुद्ध अथवा परस्पर-सम्बद्ध शक्तियुगल का ही विकास हमें दिखाई पड़ता है।[1]

इस "हठयोग की साधना से सिद्ध देह की प्राप्ति होती है। इससे प्राप्त शरीर वज्र-लौह के समान कठोर, स्वस्थ, रोगमुक्त एवं दीर्घायु होता है। हठयोगी शरीर के साथ जीवन और मृत्यु का भी स्वामी होता है। उसमें युवावस्था का तेज होता है। उसे इच्छामृत्यु सिद्ध होती है। संहार-मुद्रा धारण करके वह जीवन-त्याग करता है।"[2]

हठ एवं राजयोग में सम्बन्ध—इस प्रकार यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि इन सब भेदों में राजयोग (समाधि) ही श्रेष्ठ है[3] और इस राजयोग की प्राप्ति का एकमात्र

धौत्यादिकर्म्मषट्कञ्च संस्कुर्याद्हठसाधकः। एतन्नाड्यान्तु देवेशि !
वायुपूर्णं प्रतिष्ठितम् ॥
ततो मनो निश्चलं स्यात्तत आनन्द एव हि। हठयोगान्न कालः स्यान्मनः शून्ये
भवेद्यदि ॥
इदानीं हठयोगस्य द्वितीयं भेदवत् श्रृणु।
आकाशे नासिकाग्रे तु सूर्यकोटिसमं स्मरेत् ॥
श्वेतं रक्तं तथा पीतं कृष्णमित्यादिरूपतः।
एवं ध्यात्वा चिरायुः स्यादङ्गाजननवर्जितः ॥
शिवतुल्यो महात्मासौ हठयोगप्रसादतः।
हठाज्ज्योतिर्म्मयो भूत्वा ह्यन्तरेण शिवो भवेत् ॥
अतोऽयं हठयोगः स्यात् सिद्धिदः सिद्धसेवितः॥" इति। योगस्वरोदय ॥
शब्दकल्पद्रुम भाग पञ्चम पृ०-50।

1. भारतीय संस्कृति और साधना, पृष्ठ 255
2. संत काव्य में योग का स्वरूप, पृष्ठ 201
3. "राजत्वात्सर्वयोगानां राजयोग इति स्मृतः।"

उपाय केवल हठयोग ही है तथा ये दोनों अन्योन्याश्रित हैं क्योंकि हठयोग के बिना राजयोग और राजयोग के बिना हठयोग अपने आप में अपूर्ण है।[1] पातञ्जल योगदर्शन के आठ अंगों में से पूर्व के चार अंगों को हठयोग एवं बाद के चार अंगों को राजयोग की श्रेणी में रखकर दोनों को अन्योन्याश्रित कह सकते हैं क्योंकि जिस प्रकार राजयोग अपने आप में साधन ही नहीं अपितु साध्य भी है। उसी प्रकार हठयोग भी अपने आप में पूर्ण लक्ष्य कदापि नहीं हो सकता। क्योंकि सृष्टि, स्थिति और लय का कारण अन्त:करण ही है, उसकी सहायता से जिसका साधन किया जाता है उसको राजयोग कहते हैं। मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार ये अन्त:करण के चार भेद हैं। अन्त:करण दृश्य और आत्मा द्रष्टा है। अन्त:करण रूपी कारण दृश्य से जगत् रूपी कार्यदृश्य का कार्यकारण सम्बन्ध है। दृश्य से द्रष्टा का सम्बन्ध स्थापित होने पर सृष्टि होती है। चित्त वृत्ति का चाञ्चल्य ही इसका कारण है। **वृत्तिजयपूर्वक स्वस्वरूप का प्रकाश करना ही राजयोग कहलाता है।** राजयोग में विचारबुद्धि का प्राधान्य रहता है। विचार शक्ति की पूर्णता द्वारा राजयोग का साधन होता है। राजयोग के ध्यान को ब्रह्मध्यान कहते हैं। इसकी समाधि ही निर्विकल्पक समाधि कहलाती है। राजयोग से सिद्धिप्राप्त महात्मा का नाम जीवन्मुक्त है। महाभावप्राप्त योगी महाबोधप्राप्त योगी वा महालय प्राप्त योगी तत्त्व ज्ञान की सहायता से राजयोगभूमि में अग्रसर होते हैं। राजयोग सब योग साधनों में श्रेष्ठ है और साधन की चरम सीमा है, इसी कारण इसको राजयोग कहते हैं।[2] जबकि

1. हठं बिना राजयोगो राजयोगं बिना हठः।
   न सिध्यति ततो युग्ममानिष्पत्तेः समभ्यसेत्॥ हठयोगप्रदीपिका-2/76
2. सृष्टिस्थितिविनाशानां हेतुता मनसि स्थिता।
   तत्साहाय्यात्साध्यते यो राजयोग इति स्मृतः॥
   अन्तः करणभेदास्तु मनो बुद्धिरहङ्कृतिः।
   चित्तञ्चेति विनिर्दिष्टाश्चत्वारो योगपारगैः॥
   तदन्तःकरणं दृश्यमात्मा द्रष्टा निगद्यते।
   विश्वमेतत्तयोः कार्यकारणत्वं सनातनम्॥
   दृश्यद्रष्ट्रोश्च सम्बन्धात्सृष्टिर्भवति शाश्वती।
   चाञ्चल्यं चित्तवृत्तीनां हेतुमत्र विदुर्बुधाः॥
   वृत्तीर्जित्वा राजयोगः स्वस्वरूपं प्रकाशयेत्।
   विचार बुद्धेः प्राधान्यं राजयोगस्य साधने॥
   ब्रह्मध्यानं हि तद्ध्यानं समाधिर्निर्विकल्पकः।
   तेनोपलब्धिसिद्धिर्हि जीवन्मुक्तः प्रकथ्यते॥
   उपलब्धमहाभावा महाबोधान्विताश्च वा।
   महालयं प्रपन्नाश्च तत्त्वज्ञानावलम्बतः॥
   योगिनो राजयोगस्य भूमिमासादयन्ति ते।
   योगसाधनमूर्द्धन्यो राजयोगोऽभिधीयते॥ श्री धर्मकल्पद्रुम भाग-4 से उद्धृत

यह देखा जाता है कि 'सूक्ष्म शरीर के तीव्र संस्कार से उत्पन्न हुए कर्म्मों के भोग के आश्रय रूपी जीव का स्थूल शरीर बनता है, अर्थात् सूक्ष्म शरीर के भाव के अनुरूप ही स्थूल शरीर का संगठन होता है और सूक्ष्म शरीर व स्थूल शरीर एक ही सम्बन्धयुक्त होकर रहते हैं तब इसमें क्या सन्देह है कि स्थूल शरीर के कार्यों के द्वारा सूक्ष्म शरीर पर आधिपत्य नहीं किया जा सकता है ? फलत: अधिकारी विशेष के लिए स्थूल शरीर प्रधान योग क्रियाओं का आविष्कार योग शास्त्र में किया गया है । जिनके द्वारा साधक प्रथम अवस्था में स्थूल शरीर की क्रियाओं का साधन करता हुआ स्थूल शरीर पर सम्पूर्ण आधिपत्य कर लेता है और क्रमश: उस शक्ति को अन्तर्मुख करके उसके द्वारा सूक्ष्म शरीर को वश में लाकर चित्तवृत्ति निरोध के द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार करने में समर्थ होता है और इसी योग प्रणाली को हठयोग कहते हैं ।''[1] "प्राण, अपान, नाद, बिन्दु, जीवात्मा व परमात्मा के मेल से उत्पन्न होने के कारण स्थूल शरीर का नाम घट है। जलमध्य स्थिति आम कुम्भ की तरह शरीर रूपी यह घट सदा ही जीर्ण रहा करता है । इसलिए योगरूपी अनल के द्वारा दग्ध करके इस घट की शुद्धि करनी चाहिए । जीर्ण भावयुक्त स्थूल शरीर को हठयोग के द्वारा दृढ़ करके सूक्ष्म शरीर को भी योगानुकूल किया जाता है । स्थूल शरीर सूक्ष्मशरीर का ही परिणाम मात्र है। इसलिए जिस प्रकार ककारादि वर्णों के अभ्यास द्वारा क्रमश: शास्त्र ज्ञान लाभ होता है उसी प्रकार जिन सुकौशलपूर्ण क्रियाओं के द्वारा प्रथमत: स्थूल शरीर को वश में लाकर क्रमश: सूक्ष्म शरीर पर आधिपत्य स्थापन पूर्वक चित्तवृत्ति का निरोध किया जा सकता है उन साधनों की हठसंज्ञा होती है ।[2] श्री गोरक्षनाथ विरचित 'अमरौघप्रबोध' के अनुसार प्रभञ्जन विधान में रत ही हठयोग कहलाता है ।[3] संक्षेप में इतना कहना मात्र ही पर्याप्त होगा कि आत्मसाक्षात्कार हेतु राजयोग से निम्न द्वितीय श्रेणी की क्रिया का नाम ही हठयोग है एवं इसका उपदेश

---

1. श्री धर्मकल्पद्रुम—भाग-4—पृष्ठ 1129-30
2. प्राणाऽपाननादबिन्दुजीवात्मपरमात्मनाम् ।
   मेलनाद्घटते यस्मात्तस्माद्वै घट उच्यते ।।
   आमकुम्भमिवाऽम्भ:स्थं जीर्यमाणं सदा घटम् ।
   योगानलेन सन्दह्य घटशुद्धिं समाचरेत् ।।
   हठयोगेन प्रथमं जीर्यमाणामिमां तनुम् ।
   द्रढयन् सूक्ष्मदेहं वै कुर्याद् योगयुजं पुनः ।।
   स्थूल: सूक्ष्मस्य देहो वै परिणामान्तरं यत: ।
   कादिवर्णान् समभ्यस्य शास्त्रज्ञानं यथाक्रमम् ।।
   यथोपलभ्यते तद्वत् स्थूलदेहस्य साधनैः ।
   योगेन मनसो योगो हठयोग: प्रकीर्त्तित: ।। श्री धर्म्मकल्पद्रुम से उद्धृत—4/पृ०-1127-28
3. यस्तु प्रभञ्जनविधानरतो हठस्सः—अमरौघप्रबोध-4

केवल राजयोग हेतु हुआ है।[1] किन्तु इस तथ्य के अतिरिक्त इस हेतु को भी विस्मरण नहीं करना चाहिए कि राजयोग रूपी परम लक्ष्य के साथ-साथ इसका अव्यवहित उद्देश्य देह शुद्धि है और जिसको योगियों की पारिभाषिक भाषा में घट शुद्धि भी कहते हैं।

हठयोग एवं पातञ्जल योग में अन्तर—महायोग (लय, मन्त्र, हठ और राज) के सभी अंगों में महर्षि पातञ्जल की ही प्रणाली प्रचलित है किन्तु प्रत्येक में योग के किसी विशिष्ट स्वरूप का ही निदर्शन है। वास्तव में योग की केवल दो प्रमुख प्रणालियाँ हैं, एक वह जो योगसूत्र द्वारा प्रतिपादित है और जिसका भाष्य व्यास ने किया तथा दूसरी प्रणाली वह है जो गोरक्षनाथ रचित गोरक्षशतक तथा स्वात्मारामयोगी की हठयोगप्रदीपिका में वर्णित है। संक्षेप में दोनों योग प्रणालियों में यह अन्तर है कि जहाँ पातञ्जल योग चित्तानुशासन पर ही सारा प्रयास लगाते हैं वहाँ हठयोग का प्रमुख सम्बन्ध है शरीर उसके स्वास्थ्य शुद्धता एवं रोगरहितता से। इस तथ्य का उद्‌घाटन इसी से हो जाता है कि जहाँ पातञ्जल ने आसन की परिभाषा किसी ऐमी शरीरावस्थिति से की है जो स्थिरसुख हो (स्थिरसुखमासनम्) वहाँ हठयोग सम्बन्धी ग्रन्थ बहुत से आसनों का उल्लेख करते हैं, यथा—मयूरासन, सिद्धासन, पद्मासन, स्वस्तिकासन, इत्यादि जिनसे शरीरस्थ रोगों का निवारण होता है। जहां पातञ्जल योग दर्शन विचारप्रधान दर्शन ग्रन्थ है वहीं हठयोग के ग्रन्थ प्रक्रिया प्रधान होने के साथ-साथ उन पर ज्ञान का भी प्रभाव है। इसके अतिरिक्त हठयोग में कुछ क्रियाओं का भी उल्लेख प्राप्त होता है जिन्हें हठयोग की पारिभाषिक भाषा में षट्कर्म कहते हैं यथा नेति, धौति, बस्ति, त्राटक इत्यादि जिनके विषय में पातञ्जल मौन हैं।[2] इसके अतिरिक्त हठयोग के ग्रन्थों में मुद्रा एवं बन्धों का सविस्तर वर्णन दृष्टिगोचर है तथा मुद्राओं की संख्या पाँच से पच्चीस तक भी मानी गई है।[3] जबकि पातञ्जल योगदर्शन में इन मुद्राओं एवं बन्धों की चर्चा तक नहीं मिलती। हठयोग तथा पातञ्जलयोग में एक यह अन्तर भी है कि जहाँ हठयोग के ग्रन्थों में प्राणायाम एवं नादानुसन्धान की विधि का साङ्गोपाङ्ग विवेचन कर इनके

---

1. (क) श्रीमद्‌गोरक्षनाथेन सदामरौधवर्तिना।
   लयमन्त्रहठाः प्रोक्ता राजयोगाय केवलम्।। वहीं-73
   (ख) केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते। हठयोगप्रदीपिका-1/2
   (ग) मन्त्रे हठे लये चैव सिद्धिमासाद्य यत्नतः।
   पूर्णाधिकारमाप्नोति राजयोगपरो नरः।। योगशास्त्र
2. धर्मशास्त्र का इतिहास भाग-5 पृ0-276
3. (क) पाँच मुद्राएँ—गोरक्षसंहिता-1/56
   (ख) दस मुद्राएँ—हठयोगप्रदीपिका-3/6-7
   (ग) पच्चीस मुद्राएँ—घेरण्ड संहिता-3/1-3

महत्त्व को स्वीकार किया है वही पातञ्जल योग में केवल प्राणायाम का अल्पमात्र ही वर्णन उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त एक अन्य भेद यह भी कहा जा सकता है कि हठयोग के ग्रन्थों में आसन, प्राणायाम और (विशेषकर) मुद्राओं का प्रमुख उद्देश्य है कुण्डलिनी अर्थात् व्यक्ति की वह मार्मिक शक्ति जो सुषुम्ना के मूल में सर्प के समान कुण्डली लगाये रहती है को जगाना और उसे कतिपय (षट्) चक्रों से पार कराकर ब्रह्म-द्वार तक ले जाकर स्थिर करना,[1] जबकि योगदर्शन में चक्रों एवं नाड़ियों का वर्णन यदा-कदा ही दृष्टिगोचर होता है।

इसके अतिरिक्त पातञ्जल योग दर्शन में जहाँ यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि को योग के आठ अंगों के रूप में स्वीकार किया है[2] वहीं पर हठयोग के ग्रन्थ योगांगों की दृष्टि से एकमत नहीं हैं। दतात्रेय-संहिता,[3] मण्डलब्राह्मणोपनिषद्,[4] जाबालदर्शनोपनिषद्[5] वराहोपनिषद्,[6] सिद्धसिद्धान्त संग्रह[7] ने जहाँ योग के आठ अंग स्वीकार किए हैं वहीं पर योगतत्त्वोपनिषद् ने इन्हीं आठ अंगों को हठ-योग के अंग कहा है— "पूर्वोक्त लययोग के बाद अब हठयोग सुनो—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, भ्रूमध्य हरि का ध्यान और समाधि को अष्टांग योग कहते हैं।"[8] सम्भवतः ऐसा प्रतीत होता है कि इन उपनिषदों के रचनाकारों ने पातञ्जल योग प्रणाली का ही अनुगमन किया है, क्योंकि अन्य हठयोग के ग्रन्थों में हठयोग के छः[9] एवं

---

1. हठयोगप्रदीपिका-3/1-4
2. पातञ्जलयोगदर्शन-2/29
3. दत्तात्रेय-संहिता—श्लोकार्धसंख्या-52-56
4. मण्डलब्राह्मणोपनिषद्-1/1
5. जाबालदर्शनोपनिषद्-4-5
6. वराहोपनिषद्-5/11-12
7. सिद्धसिद्धान्त संग्रह-2/49-50
8. स एव लययोगः स्याद्हठयोगमतः शृणु।
   यमश्च नियमश्चैव ह्यासनं प्राणसंयमः॥
   प्रत्याहारो धारणा च ध्यानं भ्रूमध्ये हरिम्।
   समाधिसमताऽवस्था साष्टाङ्गो योग उच्यते॥

   योगतत्त्वोपनिषद्—24-25
9. (क) अमृतनादोपनिषद्-6
   (ख) क्षुरिकोपनिषद्—सम्पूर्ण
   (ग) योगचूडामण्युपनिषद्-2
   (घ) ध्यानबिन्दूपनिषद्-41
   (ङ) गोरक्ष-संहिता-1/6
   (च) योगमार्त्तण्ड-2

सात[1] अंगों की परिकल्पना दृष्टिगोचर होती है। हठयोग के सात (षट्कर्म, आसन, मुद्रा, प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान व समाधि) ही मानना उपयुक्त प्रतीत होता है[2] क्योंकि बिना षट्कर्म किए शरीर का शोधन एवं आसन के लिए सुखपूर्वक बैठना दुष्कर प्रतीत होता है। अत हठयोग के कुछ शास्त्रों में यम-नियम की परिकल्पना का परित्याग कर षट् कर्मों की महत्ता को स्वीकार कर उनका सविस्तर वर्णन दृष्टिगोचर होता है क्योंकि हठयोगियों का लक्ष्य (कलियुग में असम्भव मानी जाने वाली) शारीरिक शक्तियों का विकास कर अद्वैतसिद्धि प्राप्त करना था। जैसा कि भगवान् शंकराचार्य अपने अद्वैत-वेदान्तीय-प्रकरण ग्रन्थ अपरोक्षानुभूति में राजयोग तथा हठयोग विषयक भेद प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि पूर्णतया सभी प्रकार से क्षीण कलमष साधकों को ज्ञान मार्ग से मोक्ष प्राप्ति राजयोग के अन्तर्गत आती है। परन्तु जिन साधकों अथवा मुमुक्षुओं के पाप-कषाय आदि अवशिष्ट हैं, उन्हें हठयोग के अनुपालन से ही मोक्ष मार्ग में सफलता मिल सकती है। अद्वैत-वेदान्तीय-राजयोग के सन्दर्भ में व्यापक व्याख्या देते हुए आदि शंकराचार्य कहते हैं कि बुद्धिमन्दता विषयासक्ति रूपी रस्सी से जकड़े होने के कारण ब्रह्म के प्रत्यक्ष दर्शन में असमर्थ मुमुक्षुओं को चाहिए कि वे चिरकाल तक निर्गुण ब्रह्म की उपासना पद्धति का अभ्यास करते रहें।[3]

(१) यम (2) नियम (3) त्याग (4) मौन (5) देश (6) काल (7) आसन (8) मूलबन्ध (9) देहसाम्य (10) दृक् स्थिति (11) प्राणसंयम (12) प्रत्याहार (13) धारणा (14) आतमध्यान और (15) समाधि रूपी (निदि-ध्यासन हेतु) राजयोग के पन्द्रह अंगों[4] का (पतञ्जलि ने जो अष्टांग योग का वर्णन

---

1. शोधनं दृढ़ता चैव स्थैर्य्यं धैर्य्यं च लाघवम्।
   प्रत्यक्षञ्च निर्लिप्तञ्च घटस्य सप्तसाधनम्॥
   षट्कर्मणां शोधनञ्च आसनेन भवेद् दृढम्।
   मुद्रया स्थिरता चैव प्रत्याहारेण धीरता॥
   प्राणायामाल्लाघवञ्च ध्यानात्प्रत्यक्षमात्मनि।
   समाधिना निर्लिप्तञ्च मुक्तिरेव न संशयः॥ घेरण्ड-संहिता 1/9-11
2. षट्कर्मासनमुद्रा प्रत्याहारश्च प्राणसंयामः।
   ध्यानसमाधी सप्तैवाङ्गानि स्युर्हठस्य योगस्य॥ योगशास्त्र
3. नित्याभ्यासादृते प्राप्तिर्न भवेत्सच्चिदात्मनः।
   तस्माद् ब्रह्म निदिध्यासेज्जिज्ञासुः श्रेयसे चिरम्॥ अपरोक्षानुभूति-101
4. यमो हि नियमत्यागो मौनं देशश्च कालता।
   आसनं मूलबन्धश्च देहसाम्यं च दृक्स्थितिः॥
   प्राणसंयमनं चैव प्रत्याहारश्च धारणा।
   आत्मध्यानं समाधिश्च प्रोक्तान्यङ्गानि वै क्रमात्॥ वही, 102-103

किया है उससे विलक्षण है क्योंकि पतंजलि अमान्य है अवैदिक होने से) सविस्तर वर्णन करते हुए शंकराचार्य कहते हैं कि इन अंगों से युक्त योग का नाम ही राजयोग है। जिनके कषाय स्वल्प क्षीण हुए हों उन्हें यह हठयोग के सहित और जिनका चित्त परिपक्व हो उन्हें यह राजयोग अकेला ही मोक्षसिद्धि देने वाला है। यह गुरु और इष्ट-देवता के भक्तों को, सभी को सुगमता से शीघ्र ही प्राप्त हो सकता है।[1]

हठयोग की प्राचीनता—इस प्रक्रिया प्रधान योग की प्राचीनता के विषय में अगर ऐतिहासिक दृष्टिकोण निकाल दिया जाए तो जब से सृष्टि की उत्पत्ति हुई है तब से ही मनुष्य एवं समस्त जीव-जन्तु किसी-न-किसी रूप में आसन का प्रयोग अवश्य करते रहे हैं क्योंकि जिसमें सुखपूर्वक बैठा जाए वही आसन कहलाता है। यहाँ तक कि गर्भावस्था में भी मनुष्य किसी-न-किसी आसन में अवश्य ठहरता है। घेरण्ड-संहिता में कहा गया है कि संसार में जितने भी जीव-जन्तु हैं, उतनी ही संख्या आसनों की है।[2]

यह प्रक्रिया प्रधान "योग भारतीय परम्परा की एक विशेष देन है। इसका इतिहास भारत के प्रागैतिहासिक काल से सम्बन्धित है। सिन्धु घाटी की सभ्यता में उपलब्ध मुद्राओं एवं पद्मासन की स्थिति में उत्कीर्ण किसी देव विशेष का चित्र"[3] इस बात का परिचायक है कि यह प्रक्रिया प्रधान परम्परा प्रागैतिहासिक काल में भी विद्यमान एवं भारतीय ऋषियों की अक्षय सम्पत्ति थी।

इस योग की प्राचीनता के विषय की चर्चा करते हुए एस०एन० दास गुप्ता के शब्दों को देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय ने इस प्रकार लिखा है कि "योग-क्रियाओं में अलग-अलग सम्प्रदायों ने अलग-अलग परिवर्तनों का समावेश किया, लेकिन इन सम्प्रदायों का सांख्य दर्शन की ओर कोई विशेष झुकाव न था। इस प्रकार योग-क्रियाएँ शैव तथा शाक्त सिद्धान्तों के अनुसार भी विकसित हुईं···वे एक दूसरी दिशा में विकसित हुईं जिसे हठयोग कहते हैं। जिनके बारे में यह कल्पना की गई कि वह लगातार किए जाने वाले स्नायविक व्यायामों के द्वारा—जिनका सम्बन्ध रोग निवारण तथा दूसरी अति प्राकृतिक क्षमताओं के द्वारा···जिनका सम्बन्ध रोग निवारण तथा दूसरी अति प्राकृतिक क्षमताओं के साथ भी

---

1. एभिरङ्गैः समायुक्तो राजयोग उदाहृतः।
किञ्चित्पक्वकषायाणां हठयोगेन संयुतः॥
परिपक्वं मनो येषां केवलोऽयं च सिद्धिदः।
गुरुदैवतभक्तानां सर्वेषां सुलभो जवात्॥ वही––143-144
2. आसनानि समस्तानि यावन्तो जीवजन्तवः घेरण्ड-संहिता, 2/1
3. गोरक्ष-संहिता एक अध्ययन सुरिन्द्रकौर—लघु शोध प्रबन्ध पृ०2

जोड़ा गया—रहस्यात्मक तथा जादुई करामातों को जन्म देता है।···तन्त्र तथा दूसरी उपासना पद्धति के विकास पर भी इन क्रियाओं का प्रभाव अधिक था।···सबसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति कदाचित् पतञ्जलि थे, क्योंकि उन्होंने न केवल अनेक प्रकार की योग-क्रियाओं का संग्रह किया तथा उन विभिन्न मन्तव्यों को बटोरा जिनका सम्बन्ध योग से था या जोड़ा जा सकता था, बल्कि इन सबको सांख्य दर्शन पर कलम भी कर दिया, जिसके फलस्वरूप उन्हें वह रूप प्राप्त हुआ जिनमें वे हमें आज उपलब्ध हैं। वाचस्पति तथा विज्ञानभिक्षु इस बात से सहमत हैं कि पतञ्जलि योग के प्रवर्तक नहीं थे बल्कि एक संग्रहकर्ता थे"[1] अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि इस प्रक्रिया प्रधान(हठ)योग के प्रवर्तक कौन थे ? सामान्यत: योगशास्त्रों में हठयोग के प्रवर्तक के रूप में मार्कण्डेय, भरद्वाज, मरीचि, जैमिनि, पराशर, भृगु व विश्वामित्र आदि पूज्यपाद महर्षियों का नामोल्लेख प्राप्त होता है तथा इन्हीं महर्षियों की अगाध अनुकम्पा से संसार में प्रत्येक युग में हठयोग का विकास होता गया है।[2] दत्तात्रेयसंहिता के अनुसार कपिल आदि मुनि और इनके शिष्यों ने हठयोग किया था। जिसके अन्तर्गत महामुद्रा, महाबन्ध, खेचरी मुद्रा, जालन्धरबन्ध, उड्यानबन्ध, मूलबन्ध, विपरीतकरणी और वज्रोलि के तीन प्रकार वज्रोलि, अमरोलि और सहजोलि आते हैं।[3]

---

1. (क) भारतीय दर्शन का इतिहास···एस०एन० दास गुप्ता, पृ० 237 (भाग 1)
   (ख) भारतीय दर्शन सरल परिचय···देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय-181

2. मार्कण्डेयो भरद्वाजो मरीचिरथ जैमिनि: ।
   पराशरो भृगुश्चापि विश्वामित्रादयस्तथा ।।
   एषां पूज्याङ्घ्रिपद्मानामृषीणां कृपयाऽनिशम् ।
   हठयोगविकाशो वै जगत्यत्र विजृम्भते ।। योगशास्त्र

3. कपिलाद्यास्तु शिष्याश्च हठं कुर्युस्ततो यथा ।
   तद्यथा च महामुद्रा महाबन्धस्तथैव च ।
   तत: स्यात्खेचरी मुद्रा बन्धो जालन्धरस्तथा ।
   उड्डियाणं मूलबन्धो विपरीतकरणी तथा ।
   वज्रोलिरमरोलिश्च सहजोलिस्त्रिधा मता । दत्तात्रेय संहिता श्लोकार्ध संख्या 57-61

हठयोग प्रदीपिकाकार ने वसिष्ठ आदि ऋषियों[1] एवं मत्स्येन्द्रनाथ आदि योगियों के साथ-साथ बत्तीस (32) ऐसे महासिद्धों का नामोल्लेख किया है, जिन्होंने हठयोग विद्या के प्रभाव से मृत्यु रूपी काल दण्ड को काटकर मृत्युञ्जयी की पदवी प्राप्त की है।[2] डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी एक श्लोक उद्धृत करते हुए लिखते हैं कि हठयोग की दो विधियाँ हैं—"एक तो गोरक्षनाथ की पूर्ववर्त्ती जिसका उल्लेख मृकण्डपुत्र या मार्कण्डेय आदि ने किया था और दूसरी गोरक्षनाथ आदि द्वारा उपदिष्ट।[3] किन्तु यह एक गहन अन्वेषण का विषय है कि हठयोग की कौनसी प्रणाली गोरक्षनाथ से पूर्ववर्ती थी क्योंकि स्वयं गोरक्षनाथ लिखते हैं कि 'वायु' और 'बिन्दु' भेद से 'हठ' दो प्रकार का है।[4] ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार इस हठयोग (चक्र एवं नाड़ी वर्णन युक्त होने के कारण यहाँ हठयोग करना अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है) का प्रादुर्भाव ब्रह्मा से हुआ है। इस पुराण के अनुसार एक बार देवादिदेव ब्रह्मा इड़ा आदि छः नाड़ियों को निरुद्ध कर मूलाधार आदि छः चक्रों का लंघन करके प्राणों को ब्रह्मरन्ध्र में स्थापितोपरान्त योगस्थ हो गये।[5] परन्तु हठपरम्परा के अनुसार इसके प्रवर्तक भगवान् शिव हैं। गोरक्षसंहिता में

1. वसिष्ठाद्यैश्च मुनिभिर्मत्स्येन्द्राद्यैश्च योगिभिः। हठयोगप्रदीपिका-1/20
2. श्री आदिनाथमत्स्येन्द्रशाबरानन्दभैरवाः।
   चौरङ्गीमीनगोरक्षविरूपाक्षबिलेशयाः ॥
   मन्थानो भैरवो योगी सिद्धिर्बुद्धश्च कन्थडिः।
   कोरण्डकः सुरानन्दः सिद्धिपादश्च चर्पटिः ॥
   कानेरी पूज्यपादश्च नित्यनाथो निरञ्जनः।
   कपाली बिन्दुनाथश्च काकचण्डीश्वराह्वयः ॥
   अल्लामः प्रभुदेवस्य घोडाचोली च टिण्टिणिः।
   भानुकी नारदेवश्च खण्डः कापालिकस्तथा ॥
   इत्यादयो महासिद्धा हठयोगप्रभावतः ।
   खण्डयित्वा कालदण्डं ब्रह्माण्डे विचरन्ति ते ॥ हठयोग प्र०-1/5-9
3. द्विधा हठः स्यादेकस्तु गोरक्षादिसुसाधितः।
   अन्ये मृकण्डुपुत्राद्यैः साधितो हठसंज्ञकः ॥ नाथ सम्प्रदाय-पृ०-1/138
4. हठोऽपि द्विविधः क्वापि वायुबिन्दुनिषेवणात्—अमरौघ प्रबोध-5
5. सुखं योगासनं कृत्वा बभूव संपुटाञ्जलिः,
   इड़ां सुषुम्नां मेध्यां च पिङ्गलां नलिनीं धुराम्।
   नाड़ीषट्कं च योगेन निरुध्य च प्रयत्नतः,
   मूलाधारं स्वाधिष्ठानं मणिपूरमनाहतम्।
   विशुद्धं परमाज्ञाख्यं षट्चक्रं सन्निरुध्य च।
   लंघनं कारयित्वा च तं षट्चक्रं क्रमाद् विधिः।
   ब्रह्मरन्ध्रं समानीय वायुबद्धं चकार ह। ब्रह्मवैवर्त श्रीकृष्ण खण्ड अध्याय 20

कहा गया है कि यह शास्त्र साक्षात् स्वयं श्री आदिनाथ शिव के मुखारविन्द से ही निकला है ।[1] हठयोग-प्रदीपिका के अनुसार उन सर्वशक्तिमान् श्री आदिनाथ को नमस्कार है जिन्होंने हठयोग विद्या का उपदेश किया ।[2] पादुकापञ्चक और सिद्ध सिद्धान्त-पद्धति में भी सम्बन्धित प्रक्रिया की उत्पत्ति का कारण भगवान् शिव को माना है ।[3]

इस हठयोग की उत्पत्ति ब्रह्मा अथवा शिव के द्वारा हुई । इस प्रकार के उपर्युक्त सन्दर्भों को यह कह कर भले ही टाल दिया जाए कि पौराणिक अथवा नाथ परम्परा से सम्बन्धित प्रत्येक शास्त्र, प्रत्येक विद्या एवं इन ग्रन्थों में वर्णित प्रत्येक सन्दर्भों आदि की उत्पत्ति ब्रह्मा अथवा शिव से मानने की एक अव्यवस्थ परम्परा रही है किन्तु ऐतिहासिक अन्वेषणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि हठयोग के प्रमुख अंग के रूप में प्रतिष्ठित आसनों का उल्लेख सिन्धु घाटी की सभ्यता में विद्यमान था तथा उन आसनों को मुद्राओं पर अंकित करने की भी एक सुदृढ़ परम्परा थी । 1922 में हुए अन्वेषणों से यह सिद्ध किया गया है कि मोहनजोदड़ो के समय इस परम्परा का विकास अपने चरमोत्कर्ष को प्राप्त कर चुका था । इस तथ्य के सन्दर्भ में श्री नीलकण्ठ शास्त्री के शब्द द्रष्टव्य हैं ।[4]

इस प्रकार यह स्पष्ट सिद्ध है कि "सचमुच ये क्रियाएँ बहुत प्राचीन थीं । सिन्धु सभ्यता के ठोस ध्वंसावशेष उदाहरण के लिए पत्थर की मूर्तियाँ तथा मुहरों पर अंकित चित्र अकाट्य रूप से इस बात का सूचन करते हैं कि ये क्रियाएँ इस देश में 3000 ई० पूर्व तक भी प्रचलित थीं । कालक्रम से ये क्रियाएँ बहेतु सामग्री जैसी हो गई जिन्हें तरह-तरह के धार्मिक सम्प्रदायों ने ही नहीं अपितु दार्शनिक सम्प्रदायों तक ने भी अपना लिया था ।[5]

---

1. योगशास्त्रं पठेन्नित्यं किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
   यत्स्वयं चादिनाथस्य निर्गतं वदनाम्बुजात् ।। गोरक्ष-संहिता, 2/100
2. श्री आदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै येनोपदिष्टा हठयोगविद्या—ह०प्र०, 1/1
3. (क) पादुकापञ्चकस्तोत्रं पञ्चवक्त्राद्विनिर्गतम् ।
   षडाम्नायफलप्राप्तं प्रपञ्चे चातिदुर्लभम् ।। पादुकापञ्चक-7
   (ख) शास्त्रेष्वन्येषु सर्वेषु शिवेन कथितः पुरा । सिद्धसिद्धान्तपद्धति 25/22
4. The deer throne of the God and his yogic posture are the most unequivocal features left, and these prove nothing more than the antiquity of yoga, a system of physical discipline and mental magic. It should be observed that the yogic posture of our God is not unique in Mohen Jodaro finds.
   (The cultural Heritage of India—Vol, IV pp. 66-67
5. भारतीय दर्शन सरल परिचय—श्री देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय पृ०-180

श्री वी०आर० रामचन्द्र दीक्षितार ईसवी सन् से 3000 वर्ष पूर्व तथा उससे भी प्राचीन भारत वर्ष में प्रचलित योग साधना को पाशुपत योग साधना का ही प्रारम्भिक रूप मानते हैं।[1] ईसवी सन् से अति प्राचीन सिन्धु सभ्यता के ध्वंसावशेषों, **वेदों और उपनिषदों के**[2] **अतिरिक्त** यदि सूक्ष्म दृष्टि से प्राचीन वैद्यक शास्त्र के ग्रन्थों का पर्यालोचन किया जाय तो उनमें भी हठयोग विषयक सामग्री की उपलब्धि हो सकती है। यह एक अलग चिन्तनीय विषय है कि केचित् अर्वाचीन हठयोगपरम्परानुगामी आचार्यों ने आयुर्वेद ग्रन्थों को अनुपयोगी एवं व्यर्थ बताया है।[3] औषध शास्त्रों की वमन क्रिया तथा अर्वाचीन हठयोग के प्रथम अंग के षट्कर्मों की प्रमुख गजकरणी क्रिया[4] एवं वमन धौति[5] रूपी उपाङ्ग क्रिया में प्रकार भेद होने पर भी मौलिक सामञ्जस्य है क्योंकि दोनों की क्रिया पद्धतियों का एक मात्र लक्ष्य है, शरीर को कफ, पित्त इत्यादि रोगों से दूर करके शरीर को स्वच्छ एवं निरोग बनाना। चरक-संहिता के अध्याय बीस में वर्णित है कि "कफ में वैद्य सम्पूर्ण उपक्रमों में से वमन को प्रधानतम मानते हैं क्योंकि वह आदि से ही आमाशय में अनुप्रविष्ट होकर विकार-सम्बन्धी कफ की जड़ को अशेषत: ऊपर खींच लाता है। वहाँ पर कफ के जीते जाने पर शरीर के अन्तर्गत कफ के विकार शान्त हो जाते हैं जैसे खेत की क्यारी के बन्ध के टूट जाने पर जल से सींचे न जाने के कारण शालि जौ तथा षष्टिक आदि धान्य सूख जाते हैं। पूर्व में कहा गया है कि छाती विशेषत: श्लेष्मा का स्थान है, और यहाँ आमाशय को मुख्य माना है। आमाशय भी यद्यपि कफ स्थानों में गिना गया है परन्तु वह मुख्य नहीं। सुश्रुत में आमाशय को मुख्य माना गया है।

---

1. कल्याण का योगाङ्क—पृ०-237

2. वेदों तथा उपनिषदों में उपलब्ध हठयोग विषयक ज्ञान की समीक्षा आगे की गई है।

3. चरकानुचरणचतुराश्चटुलधिय: सुश्रुतश्रवणलोला:।
   अमनस्कौषधि···वा···ज्या कथमखिलंगतं तत्क्षयो भवति।।
   बिन्दुनादौ महोषध्यौ विद्येते सर्वजन्तुषु।
   तावविज्ञाय सर्वेऽपि म्रियन्ते गुरुवर्जिता:।। अमरौघप्रबोध 12-13,

4. उदरगतपदार्थमुद्वमन्ति पवनमपानमुदीर्य कण्ठनाले।
   क्रमपरिचयवेश्यनाडिचक्रा गजकरणीति निगद्यते हठज्ञै:।। हठयोगप्रदीपिका 2/38

5. भोजनान्ते पिबेद्वारि चाकण्ठपूरितं सुधी:।
   ऊर्ध्वदृष्टिक्षणं कृत्वा तज्जलं वमयेत्पुन:।
   नित्यमभ्यासयोगेन कफपित्तं निवारयेत्।। घेरण्ड-संहिता-1/39

टीकाकार आमाशय से आमाशय का ऊर्ध्वभाग लेते हैं। योगीन्द्रनाथ ने इस सन्दर्भ की टीका करते हुए यहाँ पर भी 'तत्र आमाशयस्य ऊर्ध्वभागे उरोलक्षणे' ऐसा कहा है। अर्थात् वह वहाँ उरस् (छाती) का ही ग्रहण करते हैं। परन्तु यदि आमाशय ही ग्रहण किया जाए तो भी कोई हानि नहीं। आमाशय क्लेदक श्लेष्मा का स्थान है। वमन से क्लेदक श्लेष्मा बाहर निकल जाती है।"[1] वैद्यक शास्त्र के एक अन्य प्रमुख ग्रन्थ योग-तरंगिणी में वमन क्रिया को अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'यवागू को कण्ठपर्यन्त पीकर अथवा दूध, छाछ, दही इनको कण्ठपर्यन्त पीकर तथा उस प्राणी को अप्रिय भोजन तथा कफकारी भोजन कराय दोषों को उत्क्लेशित कर और जिसको स्नेहन स्वेदन कर चुके हैं ऐसे मनुष्य को वमन करावे तो वमन उत्तम होता है।[2] इसी भाव को काश्यप-संहिता में इस प्रकार कहा गया है कि पूर्व की ओर मुख कराकर उत्तम आसन में रोगी को बिठाकर वैद्य उस कषाय को जो न अत्यन्त गाढ़ा हो, न अत्यन्त उष्ण तथा न ही अत्यन्त शीत हो···आलोडन कर पूर्वोक्त ग्रहघ्नी आदि के कल्क के साथ कण्ठपर्यन्त पिलावे।···पार्श्वों को सिकोड़ कर थोड़ा आगे को झुक कर वमन हेतु बैठना चाहिए।[3]

जहाँ घेरण्ड-संहिता एवं हठयोगप्रदीपिका सदृश हठयोग के प्रमुख ग्रन्थों में वमन हेतु जल किस प्रकार का होना चाहिए इसको स्पष्ट नहीं किया गया है, वहीं आयुर्वेद ग्रन्थों में प्रसंगवश इसकी चर्चा करते हुए स्पष्ट कहा गया है कि 'कफ रोगों में पीपल, मैनफल और सेंधा नमक इनके चूर्ण को गरम जल में, पित्त रोगों में परवल अड़ूसा और नीम इनको शीतल जल में तथा अजीर्ण रोगों में गरम जल में सेंधा नमक

---

1. ···वमनं तु सर्वोपक्रमेभ्यः श्लेष्मणि प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः, **तद्ध्यादित** एवामाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं श्लेष्ममूलमपकर्षति, तत्रावर्जिते श्लेष्मण्यपि शरीरान्तर्गताः श्लेष्मविकाराः प्रशान्तिमापद्यन्ते, यथा— भिन्ने केदारसेतौ शालियवषष्टिकादीन्यनभिष्यन्दमानान्यम्भसा प्रशोषमापद्यन्ते तद्वदिति ॥ चरक-संहिता—अध्याय 20/18

2. पीत्वा यवागूमाकण्ठं क्षीरतक्रदधीनि च ।
असात्म्यैः श्लेष्मलैर्भोज्यैर्दोषानुत्क्लेश्य देहिनः ॥
स्निग्धस्विन्नायवमनं दत्तं सम्यक्प्रवर्तते ॥ योगतरङ्गिणी—6/10-11

3. उपविष्टमासने प्राङ्मुखो भिषगालोड्य तं कषायं ग्रहघ्न्यादिकल्कैर्नातिघनोष्ण-शीतमाकण्ठात् पाययेत्,···उपसंगृहीतपार्श्वः स्यादीषन्न्युब्जः ।"
काश्यपसंहिता वा वृद्धजीवकीय तन्त्र, अध्याय-3

डालकर वमन करना चाहिए।[1] और इन सब वमनों में सेंधा नमक सहित देना हितकर माना गया है।[2]

उपर्युक्त वमन हेतु आयुर्वेद ग्रन्थों में जहाँ कण्ठ को ऐरण्ड[3] की कोमल नाल से या "जिनके नख भली प्रकार कटे हुए हैं ऐसी दो अंगुलियों (मध्यमा+तर्जनी) से अथवा नीलोत्पल, कुमुद, सौगन्धिक, इनमें से किसी एक के नाल से स्पर्श करते हुए सुखपूर्वक वमन करने का विधान है[4] वहीं घेरण्ड-संहिता में रम्भादण्ड, हरिद्रादण्ड और वेत्रदण्ड का विधान किया गया है।[5]

इसी प्रकार आयुर्वेद की नस्तक्रिया,[6] अनुवासन बस्ति[7] और उत्तरबस्ति[8] क्रिया को हठयोग की क्रमशः नेति क्रिया, बस्ति क्रिया और वज्रोलि मुद्रा के समकक्ष ही समझना चाहिये क्योंकि इन क्रियाओं की विधियों एवं उनसे प्राप्त लाभों में कोई विशेष भेद नहीं है, यदि आयुर्वेद शास्त्रों में वर्णित क्रियाओं में औषधी विषयक ज्ञान का उल्लंघन कर लिया जाये। इसके अतिरिक्त हठयोगप्रदीपिका में स्पष्ट कहा गया है कि चर्बी प्रधान और श्लेष्म प्रधान व्यक्तियों को ही षट्कर्म (गजकरणी वमनधौति इत्यादि) करने चाहिए। और इन दोषों से रहित व्यक्ति को इन क्रियाओं की आवश्यकता नहीं है तथा षट्कर्मों से कफ इत्यादि दोषों की निवृत्ति अवश्यमेव होती है।[9] इसी भाव की

---

1. कृष्णाराठफलं सिधुंकफे कोष्णजलैः पिबेत्।
   पटोलवासानिम्बैश्चपित्ते शीतं जलं पिबेत्॥
   सश्लेष्मवातपीडायां सक्षीरं मदनं पिबेत्।
   अजीर्णे कोष्णपानीयं सिधुं पीत्वा वमेत्सुधीः॥

   योगतरंगिणी-6/19-20
2. वमनेषु च सर्वेषु सैंधवं मधुना हितम्। वही 6।12
3. कण्ठमेरण्डनालेन स्पृशन्तं वामयेद्भिषक्। वही 6।21
4. नखाभ्यामङ्गुलीभ्यामुत्पलकुमुदसौगन्धिकनालैर्वा कण्ठमभिस्पृशन्।

   चरक संहिता-15/13
5. रम्भादण्डं हरिद्रादण्डं वेत्रदण्डं तथैव च। घेरण्ड-संहिता-1/37
6. काश्यपसंहिता—अध्याय 4
7. योगतरङ्गिणी—8/8-12
8. वही—8/24-30
9. (क) मेदः श्लेष्माधिकः पूर्वं षट्कर्माणि समाचरेत्।
   अन्यस्तु नाचरेत्तानि दोषाणां समभावतः॥ हठयोगप्रदीपिका 2/21
   (ख) षट्कर्मनिर्गतस्थौल्यकफदोषमलादिकः। वही 2/36

अभिव्यक्ति औषधशास्त्रों में भी की गई है।[1] इन क्रियाओं के अतिरिक्त आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में किसी ऐसे आसन का भी उल्लेख प्राप्त होता है जिनका सम्बन्ध जानूओं से था।[2]

इस प्रकार उपर्युक्त प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अर्वाचीन हठयोग के प्रथम अंग के रूप में प्रतिष्ठित षट् कर्मों को ईसवी शताब्दी से पूर्व तथा उसके कुछ समय बाद के आयुर्वेद ग्रन्थों में आये हुये पञ्चकर्मों[3] में स्थान मिल चुका था। इसी भाव को हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि ईसवी शताब्दी से पूर्व षट्क्रमों[4] (हठयोग के प्रथम अंग) का तथा आसनों का प्रयोग सामान्य जन किया करते थे क्योंकि आयुर्वेद के ग्रन्थों का भी यही लक्ष्य था कि ऐसी क्रियाओं एवं औषधियों का प्रयोग करना जिससे सामान्य जन को शारीरिक लाभ एवं मानसिक सुख की प्राप्ति हो सके। सम्भवत: इसी लक्ष्य से प्रभावित होकर गोरक्षनाथ से कई शताब्दी पूर्ववर्त्ती काकचण्डीश्वर-कल्पतन्त्र' में भी जल नेति क्रिया का महत्त्व समझ कर उसका वर्णन करते हुए कहा गया है कि प्रात: काल उठ कर दो पसर जल नासिका छिद्र से जो मनुष्य पान करता है वह

---

1. (क) कफाधिकाश्च ये रोगा:·····················॥
काश्यप-संहिता अध्याय-7

(ख) य एते कफजा रोगा एते सन्तर्पणोद्भवा:।
ते चापतर्पणीया: स्युर्लङ्घनीयास्त एव च॥ वही अ०-7

(ग) बलवंतं कफव्याप्तं हृल्लासादिनिपीडितम्।
तथावमनसात्म्यं च धीरचित्तं च वामयेत्॥ योगतरङ्गिणी 6/2

(घ) अतिबालोऽतिवृद्धो गुल्फप्लीहोर्ध्वरक्तलोम······। काश्यपसंहिता-अ०-7

(ङ) सुकुमारं कृशं बालं वृद्धं भीरुं न वामयेत्॥ योगतरङ्गिणी-6/10

2. (क) वामनं पाययित्वा तु जानुमात्रासने स्थितम्। वही-6/21

(ख) जानुमात्रासनोपविष्टमाप्तैर्ललाटे पृष्ठे पार्श्वयो:···। सुश्रुत चिकित्सा-अ० 33

(ग) उपविष्टमासने············उपसंगृहीतपार्श्व:—
स्यादीषन्न्युब्जः। काश्यपसंहिता-अध्याय-3, पृ०-155

3. वमनं रेचनं नस्यं निरूहश्चानुवासनम्।
एतानि पञ्च कर्माणि कथितानि मुनीश्वरै:॥ योगतरङ्गिणी-9/36

4. धौतिबस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा।
कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि प्रचक्षते॥ ह० प्र०-2/22

बुद्धिमान, नेत्रों में गरुड़ के सदृश, वली और पलित से रहित सभी रोगों से मुक्त होता है।[1] हठयोग के ग्रन्थों के अनुसार इस क्रिया के द्वारा श्लेष्म विकार नष्ट होता है।[2]

यदि सूक्ष्म दृष्टि से ई० शताब्दी के पूर्ववर्त्ती आयुर्वेद के अतिरिक्त ग्रन्थों को देखा जाये तो उन ग्रन्थों में भी आसन से पूर्व कुछ ऐसी क्रियाओं की ओर संकेत किया गया है जिसे परवर्त्ती साहित्य में स्पष्ट शब्दों में षट्कर्म कहते हैं। पातञ्जल योग दर्शनानुसार जिसमें स्थिरता एवं सुख की प्राप्ति हो उसे आसन कहते हैं और साधक का शरीर प्रयत्न की शिथिलता (देह कम्पादि न होना) और अनन्त समापत्तियों (अनन्त विध आसनों को विचार कर उसमें से श्रेष्ठ एवं लाभकारी आसन को स्वीकार करना) के द्वारा ही आसन स्थिर और सुखकर होता है।[3] भोजवृत्ति टीका के अनुसार वह आसन जब स्थिर अर्थात् निष्कम्प सुखरूप और जो व्याकुलता करने योग्य न हो, ऐसा होता है तब वह योगाङ्गता को प्राप्त होता है।[4] जैन आगमों में आसन सम्बन्धी विचार करते हुये स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है कि इन आसनों के अभ्यास के प्रारम्भिक काल में किञ्चित् कष्ट का अनुभव होने के कारण ये 'कायक्लेश' है।[5] आयुर्वेद ग्रन्थों में स्पष्ट

---

1. प्रसृतियुगलमात्रं प्रातरुत्थाय नित्यं पिबति खलु नरो यो घ्राणरन्ध्रेण वारि।
   स भवति मतिपूर्णश्चक्षुषा तार्क्ष्यतुल्यो वलिपलितविहीनः सर्वरोगैर्विमुक्तः।।
   काकचण्डीश्वर कल्पतन्त्रम् उदककल्प 3

2. नासाभ्यां जलमाकृष्य पुनर्वक्त्रेण रेचयेत्।
   पायं पायं व्युत्क्रमेण श्लेष्मदोषं निवारयेत्।। घेरण्ड-संहिता-1/58

3. (क) स्थिरसुखमासनम्। पा० यो० दर्शन 2/46

   (ख) प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्। वही 2/47

   (ग) "अनन्तसमापत्तिभ्याम्' से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि पातञ्जल योग दर्शन के काल से पूर्व ही बहुत आसनों का प्रचलन था जिनका नामोल्लेख करना सम्भवतः पातञ्जल को स्वीकार्य इसलिए नहीं था, क्योंकि अनन्तविध आसनों के नामोल्लेख एवं उनकी प्रक्रिया बताने से उनका दर्शन प्रधान ग्रन्थ केवल प्रक्रिया प्राधान मात्र होकर रह जाता।

4. तद्यदास्थिरं निष्कम्पं सुखमनुद्वेजनीयं च भवति तदा योगाङ्गतां भजते।। भोजवृत्ति टीका 2/46

5. उ० सू०—30/27

उक्त है कि शरीर का कम्पायमान एवं शिथिल होना वात, पित्त एवं कफ विकार के लक्षण है।[1]

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि जिस मनुष्य का शरीर वात-पित्त-कफ त्रिविध दोषों से दूषित रहता है क्या वह आसन में सुखपूर्वक नहीं बैठ सकता? इस प्रश्न का समाधान करते हुए हठयोग प्रदीपिका में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि (पूर्वं षट्कर्माणि समाचरेत्)[2] अर्थात् पहले षट्कर्म करने चाहिएँ इसके अतिरिक्त घेरण्ड-संहिता में भी आसनों से पूर्व षट्कर्म का विधान किया गया है।[3] इस प्रकार यह निर्द्वन्द्व सिद्ध होता है कि जब तक शरीर रूपी घट को दावाग्नि रूपी षट्कर्म में दग्ध नहीं किया जायेगा, तब तक यह शरीर रूपी घट स्थिर सुख आसन रूपी जल हेतु व्यर्थ ही है क्योंकि आसनों से पूर्व अगर षट्कर्म कर लिए जाए तो शरीर किञ्चित् अभ्यास मात्र से ही आसनानुकूल बन जाता है और जिससे साधक को शीघ्र ही आसन सुखदायी होने लगता है।

इन सब उपर्युक्त प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि षट्कर्म की क्रियाओं का चाहे वह आयुर्वेद से सम्बन्धित ही क्यों न हो ईसवी शताब्दी से बहुत पहले प्रचलन था।

हठयोग विषयक ज्ञान एवं उसकी प्राचीनता बिषयक सन्दर्भ की चर्चा करते हुए डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य लिखते हैं कि "बौद्ध धर्म ने योग के सिद्धान्तों को चुपचाप ग्रहण तो कर लिया, परन्तु उनका प्रचार जैसा ईसवी सन् की तीसरी शताब्दी में हुआ वैसा उससे पहले नहीं हुआ। किन्तु बौद्ध लोग निश्चेष्ट होकर नहीं बैठे रहे। उनका एक ऐसा दल था जो छिपकर (राज) योग एवं हठयोग दोनों प्रकार के योगों की साधना किया करता था और उन लोगों ने अपने सामूहिक उन साधनाओं को शास्त्र का रूप देकर एक ऐसी पद्धति का निर्माण किया जो पातञ्जलयोग पद्धति से बहुत कुछ मिलती है, बलिक यों कहना चाहिए कि दोनों में बहुत कम अन्तर है। (राज) योग और हठयोग की मूलभित्ति पर तन्त्रों का निर्माण हुआ और तन्त्रों की सहायता से यह शास्त्र सर्वाङ्ग-पूर्ण बन गया।[4] सेनार्ट का तो यह विचार है कि योग ही बौद्धमत का मूल कारण है

---

1. (क) विषादविजृम्भाविनामवेपथु........वातज्वरानिलाङ्गानि स्युः॥
(चरक-संहिता, निदानस्थान-1/15-21)
(ख) वेपथुर्विषमो वेगः..............................च भवन्त्यनिलजे ज्वरे॥
योगतरङ्गिणी-21/16-17
2. हठ० प्र० 2/21,
3. घे० स० 1/10,
4. कल्याण का योगाङ्क, पृ० 281,

और पुसें बौद्धमत को योग की ही एक शाखा के रूप में स्वीकार करते हैं।[1]

हठयोग सम्बन्धी साधनाओं एवं उसकी निर्धारित क्रियाओं का स्पष्ट दिग्दर्शन इँसवी सन् की तृतीय शताब्दी के गुह्य समाज तन्त्र में उपलब्ध होता है। इस तन्त्र ग्रन्थ में षडाङ्ग योग का वर्णन किया गया है।[2]

11वीं शताब्दी से पूर्व हठयोग के प्रचार का इससे अधिक प्रमाण और क्या हो सकता है कि "नरपतिजयचर्यास्वरोदय" शास्त्र में स्वरोदय ज्ञान का सविस्तार वर्णन दृष्टिगोचर होता है। इस स्वरोदय शास्त्र का ज्ञान राजा के लिये ही नहीं अपितु देवताओं के लिये भी आवश्यक माना गया है। इस ग्रन्थ में स्पष्ट निर्देश है कि जिस राजा के पास स्वर शास्त्र का पारंगत एक भी दैवज्ञ नहीं होता और कदाचित् वह विजय प्राप्त कर भी ले तो उसकी वह विजय घुणों से बनाये हुए अक्षरों के और अंधे से गृहीत पक्षी चटक के समान होती है। उसका राज्य केले के खम्भे के समान निस्सार होता है। स्वरशास्त्र का अभ्यास करने वाला, सत्यवादी और जितेन्द्रिय दैवज्ञ की आज्ञा पालन करने वाले राजा को निरन्तर विजयलक्ष्मी प्राप्त होती है।[3]

सम्भवत: ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्राचीन प्रक्रिया प्रधान योग की परम्परा रूपी ज्ञान गंगा का प्रवाह अनादि काल से ही अनवरत बहता आया था जिससे केवल बौद्ध ही नहीं अपितु जैन दर्शन भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका था। इतिहास स्वयं साक्षी है कि भगवान् महावीर स्वयं यौगिक तथा ध्यान-क्रियाओं में लीन रहे थे और उन्हें उत्कटिकासन में केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई थी।[4] इसके अतिरिक्त वह स्वयं प्रक्रिया प्रधान योगी थे तथा उन्होंने इस प्रक्रिया प्रधान योग का प्रचार और प्रसार भी किया

---

1. संतकाव्य में योग का स्वरूप, पृ० 124,
2. सेवाषडङ्गयोगेन कृत्वा साधनमुत्तमम्।
   साधयेदन्यथा नैव जायते सिद्धिरुत्तमा॥
   प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्रणायामोऽथ धारणा।
   अनुस्मृति: समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते॥ गुह्यसमाजतन्त्र 18/139-40
3. कथञ्चिद्विजयी युद्धे स्वरज्ञेन बिना नृप:।
   घुणवर्णोपमं तत्तु यथान्धचटकग्रह:॥
   यस्यैकोऽपि गृहे नास्ति स्वरशास्त्रस्य पारग:।
   रम्भास्तम्भोपमं राज्यं निश्चितं तस्य भूपते:॥
   स्वरशास्त्रे सदाभ्यासी सत्यवादी जितेन्द्रिय:।
   तस्यादेशस्य य: कर्त्ता जयश्रीस्तं नृपं भजेत्॥

   नरपतिजयचर्यास्वरोदय-1/10-12
4. भारतीय दर्शन में योग—डा० मंगला—पृ०-142

था ।[1] औपपातिकसूत्र में जहाँ वीर, कमल, दण्ड, वज्र इत्यादि आसनों का उल्लेख प्राप्त होता है वहीं आगम शास्त्रों में प्राणायाम विषयक सन्दर्भ की चर्चा दृष्टिगोचर होती है ।[2]

इन सब उपर्युक्त प्रमाणों से यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि ईसवी सन् से कई शताब्दी पूर्व हठयोग के महत्त्वपूर्ण अंग षट् कर्म, आसन और प्राणायाम अपनी विकसित अवस्था को प्राप्त कर चुके थे और अति प्राचीन एवं जन सामान्य प्रिय इन क्रियाओं को विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों और दर्शन ग्रन्थों में भी निबद्ध कर दिया गया था, क्योंकि यह सर्वविदित तथ्य है कि किसी भी शास्त्र का प्रणयन अपने समय में पराकाष्ठा को प्राप्त उपलब्ध मान्यताओं को लेकर ही हुआ करता है । यह एक अलग चिन्तन का विषय है कि महर्षि पातंजल इन क्रियाओं से कितना कुछ ग्रहण कर सके तथा उन्होंने किस प्रकार से इस प्रक्रिया प्रधान योग को दर्शन प्रधान ग्रन्थ के रूप में परिष्कृत एवं परिमार्जित किया जो आज हमें वर्तमान रूप में उपलब्ध होता है ।

यद्यपि हठयोग के सिद्धान्त, ग्रन्थ रूप में पर्याप्त परवर्त्ती हैं, किन्तु जैसाकि हम अपने अध्ययन में स्पष्ट कर चुके हैं कि इसके चिह्न हमें निर्विवाद रूप से सिन्धुघाटी के प्रागैतिहासिक अवशेषों में उपलब्ध होते हैं और वहीं से सम्भवत: वेदों तथा उपनिषदों में यत्र-तत्र अवतरित होकर वेदोत्तर काल में पल्लवित होते हैं ।

---

1. "Mahavira and Gautama were conteporaneous and both of them were undoubtedly great practical yogins and not only their respective traditions, but even their opponents recognise them to be so. As already noted by this time, yoga was not only well-established as a practical discipline and as a system of thought, but it had also become very much popular and already influenced not only religious but also other fields of Indian life. Mahavira and especially Gautama tried to make it even more popular." (Yoga-Historical background Dr. Kenghe pp. 123-24)

2. (क) औपपातिक सूत्र, बाह्यतपोधिकार-30

   (ख) उत्तराध्ययन सूत्र—29/73

क्योंकि 'इसी हठयोग के द्वारा चित्तवृत्तिनिरोध व शान्तिलाभ होता है,[1] इत्यादि प्रमाणों के द्वारा श्रुति ने हठयोग का समर्थन किया है एवं स्मृतियों और परवर्ती कालीन धर्मग्रन्थों ने इसका अनुसरण।

हठयोग परम्परा के मुख्य विषय के रूप में प्रचलित प्राणायाम का प्रयोग वैदिक परम्परा के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में भी अवलोकनीय है। शाब्दिक रूप में प्राणायाम का अर्थ 'प्राण का नियन्त्रण अथवा विराम' माना गया है। ऋग्वेद के दशम मण्डल में इसका प्रयोग अनेक स्थलों पर देखा जा सकता है। एक जगह प्रयुक्त हुआ है कि "प्राणाद्वायुरजायत' अर्थात् आदि पुरुष के प्राण से वायु प्रकट हुई।[2] सम्भवतः ऋग्वेद के दशम मण्डल में 'अपान' की ओर भी निर्देश है।[3] तैत्तिरीय संहिता में प्राणों के पाँच प्रकारों का वर्णन उपलब्ध होता है।[4] जिस पर टिप्पणी करते हुए सायणाचार्य ने उन प्राणों का स्थान निर्धारित करते हुए कहा है कि हृदय में प्राण, गुदा में अपान, नाभि में समान, कण्ठ में उदान और व्यान की सम्पूर्ण शरीर में विद्यमानता है।[5]

अथर्ववेद में 'प्राणा' एवं 'अपाना' का बहुवचन में प्रयोग दृष्टिगोचर होता है।[6] और एक जगह "अष्टायोग" तथा 'षड्योग' का प्रयोग किया गया है।[7] इसके अतिरिक्त एक जगह शरीर में आठ चक्रों की विद्यमानता बताते हुए कहा गया है कि आठ चक्रों वाला तथा नवदरवाजों (छिद्र) वाला यह शरीर ही देवों की अयोध्यापुरी है। उसी इस शरीर पुरी के शिरोभाग में सुनहले वर्ण का एक कोश (ब्रह्मगुहा) अत्यन्त सुखमय है। वह

---

1. "हठाच्चेतसो जयम्" "हठेन लभ्यते शान्तिः" (श्री धर्मकल्पद्रुम, भाग चार पृ० 1127 से उद्धृत)

2. ऋग्वेद, 10/90/13

3. 'अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती' (10/189/2)

4. प्राणापानौ मे पाहि समानव्यानौ मे पाहि उदानव्यानौ मे पाहि। (1/6।3।3)

5. हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिसंस्थितः।
उदानः कण्ठदेशस्थो व्यानः सर्वशरीरगः। सायणाचार्य

6. प्राणा अपाना इह ते रमन्ताम्। अथर्ववेद-8/1/1

7. इमं यवमष्टायोगैः षड्योगेभिरचर्कृषु।
तेना ते तन्वो३ रपोऽपाचीनमप व्यये।। वहीं-6/91/1

ज्योति से समाच्छादित है ।[1] यजुर्वेद और सामवेद संहिता में भी 'प्राण' शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर देखा जा सकता है ।[2] गौतम धर्म सूत्र (1।61) तथा बौधायन धर्मसूत्र में भी प्राणायाम का निर्देश प्राप्त है। उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ईसा से कई शताब्दी पूर्व ही प्राणायाम का इतना विकास हो चुका था कि धार्मिक कृत्यों अथवा प्रायश्चित्तों के रूप में भी इस क्रिया का उपयोग किया जाता था ।[3]

उपनिषदों में तो इस योग की चर्चा प्रसंगवश अनेक स्थलों पर हुई है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में योगी के लिए कौन-सा स्थान योगाभ्यास हेतु उत्तम है—इसी चर्चा करते हुए कहा गया है कि 'योगी को समतल, शुद्ध, कंकड़, अग्नि और बालू से रहित शब्द, जल और आश्रय की दृष्टि से सर्वथा अनुकूल नेत्रों को पीड़ा न देने वाले, गुहा आदि वायुशून्य स्थान में मन को ध्यान में लगाने का अभ्यास करना चाहिए ।[4] इसके अतिरिक्त इस क्रियात्मक योग की चर्चा करते हुए एक जगह षडङ्ग योग की परिकल्पना दृष्टिगोचर होती है। सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो यहाँ हठयोग सम्बन्धी (आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) अंगों का वर्णन अत्यन्त विशिष्ट रूप से दर्शाया गया है ।[5] हठयोग का स्पष्ट संकेत देते हुए अन्यत्र कहा गया है कि 'शरीर का हलका होना, आरोग्य, अलोलुपता, नेत्रों की प्रसन्नतावर्धक शरीर कांति, मधुर स्वर, शुभ गन्ध, इत्यादि योगप्रवृत्ति के प्रथम लक्षणान्तर्गत आते हैं ।[6] इसी भाव को हठयोगप्रदीपिका में भी स्पष्ट

---

1. अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ।। वही-10/2/31

2. वैदिक कोश—पं० भगवद्दत्त, प्रथम भाग, पृ०-337-351

3. धर्मशास्त्र का इतिहास—पी० वी० काणे, भाग पञ्चम।

4. समे शुचौ शर्करावह्निबालुका विवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुःपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ।। श्वेता० 2/10

5. त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा सन्निरुध्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ।।
प्राणान् प्रापीड्येह संयुक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान् मनो धारयेताह प्रमत्तः ।। वही, 2/8-9

6. लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृतिं प्रथमा वदन्ति ।। वही, 2/13

करते हुए इनको हठयोग के लक्षण के रूप में स्वीकार किया है।[1] इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि श्वेताश्वतरोपनिषद् में वर्णित योग प्रवृत्ति के प्रथम लक्षण ही हठयोग के ही लक्षण हैं क्योंकि यह सर्वविदित है कि राजयोग से पहले हठयोग में नैपुण्य परमावश्यक माना गया है। इसके अतिरिक्त कठोपनिषद्[2] तैत्तिरीय,[3] छान्दोग्य,[4] कौषीतकि,[5] इत्यादि उपनिषदों में भी इस योग का बाहुल्य दृष्टिगोचर होता है। हठयोग के घटक तत्त्वों में नाड़ी ज्ञान का अपना एक अलग एवं विशिष्ट स्थान है और इसका वर्णन हमें कठोपनिषद् में भी प्राप्त होता है जहाँ वर्णित है कि हृदय में एक सौ एक प्रधान नाड़ियाँ हैं, जो वहाँ से सब ओर फैली हुई हैं। उनमें से एक नाड़ी, जिसको सुषुम्ना[6] कहते हैं, हृदय से मस्तक की ओर गयी है। भगवान् के परमधाम में जाने का अधिकारी उस नाड़ी के द्वारा शरीर से बाहर निकलकर सबसे ऊँचे लोक में अर्थात् भगवान् के परमधाम में जाकर अमृतस्वरूप परमानन्दमय परमेश्वर को प्राप्त हो जाता है; और दूसरे जीव मरणकाल में दूसरी नाड़ियों के द्वारा शरीर से बाहर निकलकर अपने-अपने कर्म और वासना के अनुसार नाना योनियों को प्राप्त होते हैं।[7] इस प्रकार सूक्ष्म दृष्टि से उपनिषदों में वर्णित तथ्यों का अन्वेषण करने पर यह प्रतीत होता है कि मोक्ष हेतु प्रक्रियात्मक योग को एक प्रमुख साधन के रूप में जाना जाने लगा था।

---

1. वपुःकृशत्वं वदने प्रसन्नता नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले।
अरोगता बिन्दुजयोऽग्निदीपनं नाड़ीविशुद्धिर्हठयोगलक्षणम्॥

हठयोग प्र०—2/78

2. कठोपनिषद्, 2/6 11,/1/2/12
3. तैत्तिरीय, 2/4, 3/1/9,
4. छान्दोग्य, 7/6/1-2
5. कौषीतकि, 3/2, 3, 4
6. सुषुम्णा चर्व्यवल्लीव मेरुश्लिष्टा पुरोगता।
ग्रीवान्तं प्राप्य गलिता तिर्यग्भूता वरानने।
शङ्खिनीनालमालम्ब्य गता सा ब्रह्मसादनम्॥ निगमतत्त्वसारवचन
7. (क) शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति॥

कठोपनिषद्—2/3/16

(ख) हृदयस्य नाड्यः प्राधान्येन शतम्, एका च। एकाधिकशतसङ्ख्याकाः प्रधाननाड्य इति यावत्। तासां मध्ये या मूर्धानमभिनिःसृता तया सुषुम्णाख्यया नाड्याऽन्तकाले ऊर्ध्वमुद्गच्छन्नमृतत्वम्—परमां मुक्तिमधिगच्छति···।
श्रीगोपालानन्दस्वामि विरचित भाष्य पृ०—124

प्राचीन ऋषियों ने सूत्रग्रन्थों की रचना के समय इस योग के महत्त्व को स्वीकारा जिसका प्रबल प्रमाण महर्षि गौतम का न्यायदर्शन[1] तथा महर्षि कणाद का वैशेषिक दर्शन[2] है । देवल धर्मसूत्र में प्राणायाम का उल्लेख एवं परिभाषा प्राप्त होती है, जिसमें प्राणायाम को तीन प्रकार का माना गया है, कुम्भ, रेचन और पूरण ।[3] महर्षि बादरायण के ब्रह्मसूत्र के तृतीय अध्ययन में आसन, ध्यान आदि का वर्णन प्राप्त होता है ।[4] वेदों, उपनिषदों में सूचित तथा दर्शन साहित्य में वर्णित योग साधना का पल्लवित-पुष्पित रूप हमें गीता में भी दृष्टिगोचर होता है, जिसमें योगाभ्यासी का स्थान निश्चित किया गया है[5] तथा योगांग के रूप में प्रतिष्ठित ध्यान का वर्णन प्राप्त होता है ।[6]

मनुस्मृति में जहाँ यम और नियम की चर्चा करते हुए यह निर्दिष्ट है कि जो व्यक्ति यमों का सेवन न करते हुए केवल नियमों का ही पालन करता है, वह पतित होता है ।[7] वहाँ याज्ञवल्क्यस्मृति में पद्मासन का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है जबकि श्री विज्ञानेश्वर की मिताक्षरा व्याख्या में इसे बद्धपद्मासन की संज्ञा दी गई है ।[8] इसके अतिरिक्त याज्ञवल्क्य स्मृति में भी एक ऐसी नाड़ी का वर्णन प्राप्त होता है जो सूर्यमंडल का

---

1. समाधि-विशेषाभ्यासात् । अरण्य-गुहा-पुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः ।
   तदर्थं यम-नियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः ॥
   न्याय दर्शन—4/2/38, 4/2/42
2. अभिषेचनोपवास-ब्रह्मचर्य-गुरुकुलवास-वानप्रस्थ-यज्ञदानप्रोक्षणदिग्-नक्षत्रमन्त्रकाल-नियमाश्चादृष्टाय । वैशेषिक दर्शन, 6/2/2
3. त्रिविधः प्राणायामः । कुम्भो रेचनं पूरणमिति । देवल धर्मसूत्र कृत्यकल्प । मोक्षकाण्ड
4. ब्रह्मसूत्र, 4,1, 7-11
5. गीता, 6।11-14
6. वही, 18।52
7. यमान् सेवेत सततं न नित्यं नियमान् बुधः ।
   यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान्केवलान्भजन् ॥
   आनृशंस्यं क्षमा सत्यमहिंसा दममस्पृहा ।
   ध्यानं प्रसादो माधुर्यमार्जवं च यमा दश ॥
   मनुस्मृति 2/204
8. (क) ऊरुस्थोत्तानचरणः सव्ये न्यस्योत्तरं करम् ।
   उत्तानं किञ्चिदुन्नाम्य मुखं विष्टभ्य चोरसा ॥ याज्ञवल्क्य स्मृति-3/198
   (ख) ऊरुस्थावुत्तानौ यस्य स तथोक्तः बद्धपद्मासनः । मिताक्षरा

भेदन कर ब्रह्मलोक के भी पार पहुंचती है तथा जिसके द्वारा जीव मुक्ति को प्राप्त होता है।[1] इस नाड़ी को कालान्तर में सुषुम्ना के नाम से भी पुकारा गया है।[2] इस नाड़ी के अतिरिक्त याज्ञवल्क्य स्मृति में हमारे शरीर में विद्यमान बहत्तर हजार नाड़ियों का भी उल्लेख प्राप्त होता है,[3] जैसाकि अर्वाचीन हठयोग के प्रमुख ग्रन्थों में वर्णित है।[4]

प्राय: हठयोग के प्रमुख ग्रन्थों में षट्कर्म की त्राटक क्रिया का उल्लेख दृष्टिगोचर होता है। इस क्रिया में किसी वस्तु पर अपना ध्यान लगाकर अश्रुपात पर्यन्त एकटक देखते रहना चाहिए।[5] सम्भवत: अगर सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो महाकवि कालिदास ने भी इस क्रिया के महत्त्व को स्वीकार किया है तथा उन्होंने स्वयं ही लिखा है कि पार्वती ग्रीष्मऋतु में अपने चारों ओर आग जलाकर सूर्य की ओर एकटक देखती रहती थी[6] और जिसका मुख्य ध्येय हठक्रिया द्वारा शिव की प्राप्ति था। इसके अतिरिक्त कालिदास के अन्य ग्रन्थों में हठयोग सम्बन्धी आसन विशिष्ट मुद्राओं का भी वर्णन दृष्टिगत होता है।[7]

पुराण-कालीन युग में भी इन क्रियाओं का महत्त्व बढ़ने लग गया था, जिसका प्रमुख उदाहरण सर्वशिरोमणि भागवत-पुराण है, जिसमें वर्णित है कि मूलाधार से कुण्ड-

---

1. ऊर्ध्वमेक: स्थितस्तेषां यो भित्त्वा सूर्यमण्डलम्।
   ब्रह्मलोकमतिक्रम्य तेन याति परां गतिम्॥ याज्ञवल्क्य-3/167
2. इड़ा वामे स्थिता नाड़ी पिङ्गला दक्षिणे मता।
   तयोर्मध्यगता नाड़ी सुषुम्ना वंशमाश्रिता॥
   पादाङ्गुष्ठद्वये याता शिफाभ्यां शिरसा पुन:।
   ब्रह्मस्थानं समापन्ना सोमसूर्याग्निरूपिणी॥ शारदातिलक
3. द्वासप्ततिसहस्राणि हृदयादभिनि:सृता:।
   हिताहिता नाम नाड्यस्तासां मध्ये शशिप्रभम्॥ याज्ञवल्क्य स्मृति-3/108
4. तेषु नाडीसहस्रेषु द्विसप्ततिरुदाहृता।
   प्रधाना: प्राणवाहिन्यो भवस्तत्र दश स्मृता॥ योगमार्तण्ड-17
5. (क) निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहित:।
   अश्रुसम्पातपर्यन्तमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम्॥ हठयोगप्रदीपिका-2/31

   (ख) निमेषोन्मेषकं त्यक्त्वा सूक्ष्मलक्ष्यं निरीक्षयेत्।
   यावदश्रूणि पतन्ति त्राटकं प्रोच्यते बुधै:॥ घेरण्ड-संहिता-1/53
6. शुचौ चतुर्णां ज्वलतां हविर्भुजां शुचिस्मिता मध्यगता सुमध्यमा।
   विजित्य नेत्रप्रतिघातिनीं प्रभामनन्यदृष्टि: सवितारमैक्षत॥ कुमारसम्भव 5/20
7. द्रष्टव्य—रघुवंश/13वां सर्ग एवं वीरासन हेतु-13/52

लिनी शक्ति को उठाकर सुषुम्ना-मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र तक ले जाना चाहिए। इसकेअतिरिक्त अन्य हठयोग सम्बन्धी क्रियाओं का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[1]

गरुड़ पुराण[2] के अतिरिक्त ब्रह्मपुराण[3] में भी क्रियात्मक योग का वर्णन उपलब्ध होता है तथा इसमें योगाभ्यास का फल भी दर्शाया गया है। शिवमहापुराण में यम नियम सहित आठ अंगों का उल्लेख कर संक्षेप में आसन, प्राणसंरोध, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये ही वास्तव में योग के षडङ्ग माने गए हैं।[4] इसके अतिरिक्त उपरोक्त पुराण में आठ आसनों का भी वर्णन दृष्टिगोचर होता है।[5] अग्निपुराण में आसनों के अतिरिक्त युक्त प्राणायाम से लाभ एवं अयुक्त प्राणायाम से होने वाली हानियों की भी चर्चा की गई है।[6]

कालोपरान्त हठयोग की इन क्रियाओं को इतना अधिक महत्त्व दिया जाने लगा कि जिससे तान्त्रिक सम्प्रदाय भी प्रभावित हुए बिना न रह सका। अनेक तन्त्रग्रन्थों में इन क्रियाओं का महत्त्व प्रकट किया गया है, जिनमें महानिर्वाण तन्त्र इत्यादि मुख्य ग्रन्थ हैं। 11वीं शती के शारदातिलक तन्त्रशास्त्र में नाद, बिन्दु, नाड़ी इत्यादि का पर्याप्त उल्लेख प्राप्त होता है। इसके साथ-साथ षड्चक्र निरूपण एवं कुण्डलिनी शक्ति पर भी प्रकाश डाला गया है।[7]

हठयोग के अन्तर्गत आने वाले शिव तथा शक्ति तत्त्व का निरूपण करते हुए तान्त्रिक ग्रन्थ इस प्रकार व्याख्या करते हैं कि 'शिव' का स्थान सहस्रचक्र है जो कपाल प्रदेश में स्थित है तथाशक्ति का स्थान मूलाधार चक्र है जो कि गुदेन्द्रिय में स्थित हैं।[8]

---

1. भागवतपुराण—स्कन्ध 3 अ० 28, स्कन्ध 11 अ० 15, स्कन्ध 11, अ० 8
2. गरुडपुराण—अध्याय-8
3. ब्रह्मपुराण—योगविधिनिरूपण
4. शिवपुराण—7/2/37-14-16
5. स्वस्तिकं पद्ममध्येन्दुं वीरं योगं प्रसाधितम्।
   पर्यङ्कं च यथेष्टं च प्रोक्तमासनमष्टधा॥ वही—7/2/37-20
6. अग्निपुराण—अध्याय-372, 373
7. शारदातिलक—1/50-57, 25/65
8. Yogic and Tantric Medicine—O.P. Jaggi, p. 121

हठयोग का अर्वाचीन काल

परवर्ती युग में ज्ञान-विज्ञान का ऐसा प्रवाह प्रवाहित हुआ कि मनुष्य को इस तथ्य पर चिन्तन करने के लिए बाध्य होना पड़ा कि इस दुःखमय संसार रूपी सागर को किस प्रक्रिया रूपी नौका के द्वारा शीघ्रता से पार किया जा सकता है। इसी चिन्तन रूपी गंगा का इतना तीव्र प्रवाह बहा कि चारों ओर उसी का स्वर सुनाई देने लगा तथा उसने समस्त धर्मों, दर्शनों एवं विभिन्न सम्प्रदायों के अज्ञान रूपी तटबन्धों का विच्छेदन कर एक ऐसी पद्धति का निर्माण किया जो अनेक प्रकार की सिद्धियों, जादुई करामातों एवं अनेक परम्पराओं का समावेश लिए हुई थी। जिसके फलस्वरूप हठयोग की सत्ता नाथ सम्प्रदाय के दर्शन सिद्धान्तों में अन्तर्भूत होकर नूतन रूप में प्रकट हुई और जिसने आसन, मुद्रा, प्राणायाम, कुण्डलिनी, जागरण एवं धौति, बस्ति, नेति, कुन्जल इत्यादि षट्कर्म रूपी योग के बाह्य अंगों पर इतना अधिक महत्त्व दिया कि उसकी बढ़ती हुई लोकप्रियता से सभी सम्प्रदाय प्रभावित हुए। नाथ सम्प्रदाय के प्रथम आचार्य श्री गोरक्षनाथ (गोरखनाथ) के काल (10वीं श० से 11वीं शती के मध्य)[1] में तथा उनके परवर्ती काल में शैव तथा शाक्त साधनाएँ परस्पर एक दूसरे में समा गई थीं। शिव शक्ति में अभेद सम्बन्ध स्थापित हो गया था। स्वयं गोरक्षनाथ के अनुसार पिण्ड में ब्रह्माण्ड व्यापिनी परासंवित् ही कुण्डलिनी के रूप में स्थित है, जिसका उद्बोधन ही हठयोग का प्रधान लक्ष्य है। हठयोग के अनुयायी ऐसा विश्वास करते थे कि शिव में शक्ति और शक्ति में शिव का वास है, दोनों में अविभाग रूप एकता अर्थात् दोनों एकमेव होकर अनुस्यूत हैं। चन्द्रमा तथा उसकी चन्द्रिका की भाँति शिव और शक्ति अभिन्न हैं।[2]

---

1. (क) गोरक्ष का जन्म 1100 ई० में या इसके कुछ समय बाद हुआ था।—द्रष्टव्य श्री आर०सी० घेरे कृत मराठी ग्रन्थ 'गोरक्षनाथ की जीवनी एवं शिष्यों की परम्परा' (पृष्ठ 224)—धर्मशास्त्र से उद्धृत पृ०-276

   (ख) श्री पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने गोरक्षनाथ का जन्म दसवीं शताब्दी के लगभग ठहराया है—देखिए 'हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय' पृ० 71

   (घ) गोरक्षनाथ का समय यदि दसवीं शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य मान लिया जाए तो कोई हानि नहीं होगी।

   (ग) विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी में—उत्तरी भारत की संत परम्परा-चतुर्वेदी पृ० 56

2. शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः।
   अन्तरं नैव पश्यामि चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ॥
   नानाशक्तिस्वरूपेण सर्वपिण्डाश्रयत्वतः।
   पिण्डाधार इतीष्टाख्या सिद्धान्त इति धीमताम् ॥ सिद्धसिद्धान्त संग्रह 4/37-38

यहाँ यह विचारणीय है कि नाथ से तात्पर्य क्या है ? नाथ वह अनादि धर्म है जो भुवनत्रय की स्थिति का कारण है क्योंकि नाथ के 'ना' शब्द से अनादि रूप अर्थ प्रकटित होता है तथा 'थ' का अर्थ है (भुवनत्रय का) स्थापित होना। श्री गोरक्षनाथ को इसी कारण से नाथ कहा जाता है।[1] क्योंकि "संतों के पूर्व का धार्मिक वातावरण भी विशृंखल था। जैन धर्म का शुद्धाचार धीरे-धीरे तन्त्र एवं योग को स्वीकार कर चुका था। बौद्धों का सम्प्रदाय बदलते-बदलते महायान, वज्रयान एवं सहजयान तक पहुंच चुका था। इन वज्रयानी एवं सहजयानी साधकों में योग की प्रमुखता थी, किन्तु इन्होंने आचरण का एक ऐसा मानदण्ड रखा था, जिसका बाहरी रूप अत्यन्त ही घृणित था। निम्न वर्ग को अपने महायान पर सवार कराकर पार उतारने वाली इनकी क्रान्ति धीरे-धीरे कुण्ठित हो गई थी। सहजयानी सिद्धों में आकर साधना बहुत कुछ लोक-धरातल पर पहुंच गई थी, पर उसका मुद्रा-मैथुन का रूप गर्हित था। इसकी प्रतिक्रिया के रूप में नाथपन्थियों का शुद्धतावादी शैव-सम्प्रदाय संगठित हुआ, जिसके सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साधक गोरक्षनाथ हुए। गोरक्षनाथ ने साधना में वज्रदेह की सिद्धि का आदर्श स्वीकार किया और सिद्धों की साधना में शुद्धता का संचार किया।"[2] श्री "गोरक्षनाथ के नाम पर बहुत से ग्रन्थ चलते हैं, जिनमें अनेक तो निश्चित रूप से परवर्ती हैं और कई सन्देहास्पद हैं। सब मिलाकर केवल इतना ही कहा जा सकता है कि गोरक्षनाथ की कुछ पुस्तकें नाना भाव से परिवर्तित, परिवर्द्धित और विकृत होती हुई आज तक चली आ रही हैं। उनमें कुछ न कुछ गोरक्षनाथ की वाणी अवश्य रह गई है, पर सभी की सभी प्रामाणिक नहीं हैं। गोरक्षनाथ और उनके द्वारा प्रभावित योगमार्गीय ग्रन्थों के अवलोकन से स्पष्ट रूप से पता चलता है कि गोरक्षनाथ ने योगमार्ग को एक बहुत ही व्यवस्थित रूप दिया है। उन्होंने शैव प्रत्यभिज्ञादर्शन के सिद्धान्तों के आधार पर अनेक प्रकार से प्रचलित काया-योग के साधनों को व्यवस्थित किया है, आत्मानुभूति और शैव परम्परा के सामञ्जस्य से चक्रों की संख्या नियत की तथा उन्होंने लोक भाषा को भी अपने उपदेशों का माध्यम बनाया।[3] डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने श्री गोरक्षनाथ के नाम पर प्रचलित ग्रन्थों का ब्यौरा इस प्रकार से दिया है।

1. अमनस्क 2. अमरौघशासनम् 3. अवधूतगीता 4. गोरक्षकल्प 5. गोरक्षकौमुदी 6. गोरक्षगीता 7. गोरक्षचिकित्सा 8. गोरक्षपञ्चक 9. गोरक्षपद्धति 10. गोरक्षशतक

---

1. नाकारोऽनादिरूपं हिथकारः स्थाप्यते सदा।
भुवनत्रयमेवैकः श्रीगोरक्ष नमोऽस्तु ते॥ (राजगुह्य) नाथ सम्प्रदाय पृ०-3
2. संतकाव्य में योग का स्वरूप—पृ०-89
3. नाथ-सम्प्रदाय—107-108

11. गोरक्षशास्त्र 12. गोरक्ष-संहिता 13. चतुरशीत्यासन 14. ज्ञानप्रकाशशतक 15. ज्ञानशतक 16. ज्ञानामृतयोग 17. नाड़ीज्ञानप्रदीपिका 18.महार्थमञ्जरी 19. योगचिन्तामणि 20. योगमार्तण्ड 21. योगबीज 22. योगशास्त्र 23. योगसिद्धान्तपद्धति 24. विवेकमार्तण्ड 25. श्रीनाथसूत्र 26. सिद्धसिद्धान्तपद्धति 27. हठयोग 28. हठसंहिता । इन पुस्तकों में अधिकांश के कर्त्ता स्वयं गोरक्षनाथ नहीं थे।[1] इसके अतिरिक्त आज भी हठयोग से सम्बन्धित ग्रन्थ अप्रकाश्य ही पड़े हुए हैं।[2]

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त हठयोग विषयक उपनिषदों का भी निर्माण कम नहीं हुआ है। इन उपनिषदों से सम्बन्धित काल के विषय में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि इनमें से कुछ 11 वीं शताब्दी से पूर्व एवं कुछ 11वीं शताब्दी के बाद रची गईं।

आचार्य महादेव शास्त्री ने सन् 1920 में मद्रास की अड्यार लाइब्रेरी से 'योग उपनिषद्' नामक ग्रन्थ में 20 उपनिषदों का संग्रह प्रकाशित किया। जिनका नाम इस प्रकार है—

1. अद्वयतारकोपनिषद्
2. अमृतनादोपनिषद्
3. अमृतबिन्दूपनिषद्
4. क्षुरिकोपनिषद्
5. तेजोबिन्दूपनिषद्
6. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्
7. दर्शनोपनिषद्
8. ध्यानबिन्दूपनिषद्
9. नादबिन्दूपनिषद्
10. पाशुपतब्राह्मणोपनिषद्
11. ब्रह्मविद्योपनिषद्
12. मण्डलब्राह्मणोपनिषद्
13. महावाक्योपनिषद्
14. योगकुण्डल्युपनिषद्
15. योगचूडामण्युपनिषद्
16. योगतत्त्वोपनिषद्
17. योगशिखोपनिषद्
18. वाराहोपनिषद्
19. शाण्डिल्योपनिषद्
20. हंसोपनिषद्[3]

इन उपनिषदों में चतुर्विधयोग एवं उनके घटक तत्त्वों के अन्तर्गत कुण्डलिनी, चक्र, नाड़ी, नाद, बिन्दु विभिन्न आसन और प्राणायाम इत्यादि का सविस्तर वर्णन किया

1. इन पुस्तकों से सम्बन्धित ज्ञान हेतु द्रष्टव्य-वही-पृ० 109-111
2. "To-day, due to popularity of the Subject, innumerable books have been published on Hathayoga, but very few can be said to have been based on a sound study of the tradition and literature. Vast traditional literature on the subject is still lying unpublished" Yoga : Historical Background—Dr. Kenghe P.-189
3. कल्याण का योगाङ्क

गया है। अत एव यह निर्विवाद सिद्ध है कि 11वीं शताब्दी एवं उसके परवर्त्ती काल में हठयोग अपनी चरम सीमा को प्राप्त कर चुका था तथा उसके प्राचीन सिद्धान्त ग्रन्थ रूप में निबद्ध हो गये थे। इस हठयोग की परम्परागत ज्ञान गंगा का परम्परा रूपी प्रवाह अनादि काल से ही प्रवाहित होता आया है। सम्भवत. सिन्धु घाटी की सभ्यता से भी प्राचीन, यह एक अलग विषय है कि इसका सम्बन्ध किस मत से रहा होगा। इस परम्परा का प्रवाह ईसवी सन् से कई शताब्दी पूर्व कुछ कम होने लगा था कि तभी ऐसी विभूति (पातञ्जल) का भारतभूमि में प्रादुर्भाव हुआ, जिसने न केवल प्राचीन ऋषियों एवं योगियों के उद्गारों का संकलन किया अपितु उनके उद्गारों को दर्शन का ऐसा रूप दिया जो आज समस्त विश्व में पूजनीय है। इसके अनन्तर सम्प्रदाय-ग्रन्थों, पुराणों एवं तन्त्र ग्रन्थों में भी इस प्रक्रिया-प्रधान योग का उत्थान एवं पतन जुड़ा हुआ है। प्राचीन सभ्यता का यह पौधा बाहरी आक्रमणों के बावजूद 11 वीं शताब्दी के बाद ऐसे महान् वट वृक्ष के रूप में प्रतिष्ठित हुआ कि जिसकी शारीरिक एवं मानसिक रोग निवारणार्थ तथा अलौकिक सिद्धि प्रदायक और आत्मानुभूति रूपी छत्र-छाया के नीचे सभी धर्मों, सम्प्रदायों एवं दर्शनों ने आश्रय लिया।

अर्वाचीन काल में लिखे गए हठयोग से सम्बन्धित घेरण्ड-संहिता, शिव-संहिता, षट्चक्रनिरूपण, शिवस्वरोदय और हठयोगप्रदीपिका इत्यादि प्रमुख ग्रन्थ हैं—इन ग्रन्थों में 14वीं शताब्दी के लगभग की हठयोगप्रदीपिका का अपना अलग एवं विशिष्ट स्थान है।

हठयोगप्रदीपिका

प्रस्तुत पुस्तक से सम्बन्धित आचार्य स्वात्माराम योगीन्द्र के इस ग्रन्थ में समस्त हठयोग विषयक तत्त्व का सार है। यह ग्रन्थ चार उपदेशों में विभक्त है जिसकी कुल श्लोक संख्या (383) है। इस ग्रन्थ की विषयवस्तु संक्षेप में इस प्रकार है—

प्रथम उपदेश—प्राचीन परम्परा का अनुसरण करते हुए 69 श्लोकात्मक प्रथम उपदेश श्री आदिनाथ एवं गुरु गोरक्षनाथ को प्रणाम करने के उपरान्त हठयोग के 33 सिद्धों के नाम कीर्तन से प्रारम्भ होता है। एतदनन्तर हठाभ्यास के लिए उपयुक्त स्थान का निर्देश करके 15 प्रमुख आसनों का लाभ सहित वर्णन तथा योगी के लिए पथ्यकारी और अपथ्यकारी भोजन नियम का सविस्तर विवेचन उपलब्ध होता है। इस उपदेश में यह द्रष्टव्य है कि आसन को हठयोग के प्रथम अंग[1] के रूप में स्वीकार करके ग्रन्थकार

---

1. हठ० प्र०—1/19

ने पातञ्जल योग दर्शन,[1] योगतत्त्वोपनिषद्,[2] एवं जाबालदर्शनोपनिषद्[3], की परम्परा का परित्याग करके किसी अन्य (सम्भवतः पौराणिक अथवा किसी विशिष्ट उपनिषद्) हठ परम्परा का अनुगमन किया है। किन्तु यहाँ यह कहना युक्तिसंगत नहीं होगा कि हठयोगप्रदीपिकाकार ने यम और नियम की उपेक्षा की है। जहाँ पातञ्जल योग दर्शन का आरम्भ यम, नियम से होता है, वहाँ इस ग्रन्थ का आरम्भ आसन से करके यम और नियम की अवहेलना नहीं की गई, अपितु उनका भी वर्णन किया है।

द्वितीय उपदेश—इस उपदेश में श्लोकों की संख्या 78 है। विषयवस्तु की दृष्टि से इसमें प्राणायाम प्रयोजन, षट् कर्म, आहार की उपयोगिता, प्राणायाम का समय, प्राणायाम के आठ प्रकार एवं उनसे प्राप्त होने वाले लाभों का सविस्तर विवेचन और हठयोग एवं राजयोग में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध बताते हुए हठसिद्धि का लक्षण स्पष्ट किया गया है।

तृतीय उपदेश—123 श्लोकों से युक्त इस उपदेश में कुण्डलिनी को जीव की मार्मिक शक्ति बताकर उसे सम्पूर्ण योग का आधार बताया गया है।[4] और कुण्डलिनी जागरण के उपाय स्वरूप दस मुद्राओं तथा उनकी सिद्धि पर्यन्त प्राप्त लाभों का सविस्तर विवेचन दृष्टिगोचर होता है।

चतुर्थ उपदेश—इस उपदेश में समाधि, कुण्डली जागरण, लय आदि की परिभाषा का परिणाम सहित वर्णन करने के उपरान्त शाम्भवी और खेचरी मुद्रा की सिद्धि का स्पष्ट विवेचन किया गया है। अन्त में नादानुसन्धान की चारों अवस्थाओं का निर्देश कर नादश्रवण के परिणामस्वरूप समाधि प्राप्ति एवं उसकी अवस्था का निर्देश 113 श्लोकों में किया गया है।

संक्षेप में यही कहना युक्तियुक्त प्रतीत होता है कि आजकल के समाज में उत्पन्न विविध रोगों के उपशमन हेतु और हठयोग सम्बन्धी समस्त विश्व में व्याप्त भ्रान्तियों को निरस्त करने में प्रस्तुत ग्रन्थ अत्यन्त सहायक सिद्ध होगा क्योंकि भारतीयदर्शनों में बहुधा भौतिक खण्ड सत्ताओं के पीछे एक अभौतिक, परमार्थ, अद्वय, परम लक्ष्य, परमशिवरूपी अखण्ड सत्ता की कल्पना की गई और उपर्युक्त प्रमाणों के मूल में भी यही दर्शाया गया है कि बाह्य योग को चाहे किसी भी नाम से क्यों न पुकारा जाये, मूलतः उसका एक ही लक्ष्य होता है।

—परमार्थतत्त्व

---

1. पा० यो० द०—2/29
2. यो० तत्त्व० उ०—25
3. जा० द० उ०—1/4-6
4. ह० प्र०—3/1

अध्याय-2

हठयोग के लिए स्थान तथा हठयोग के बाधक और साधक तत्त्व

हठविद्या का प्रयोजन

ग्रन्थ के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण करते हुए ग्रन्थकार श्री स्वात्मारामयोगीन्द्र सर्वशक्तिमान् भगवान् श्री आदिनाथ को प्रणाम कर बताते हैं कि यह हठविद्या राजयोग रूपी उच्चतम शिखर पर चढ़ने वालों के लिए सीढ़ी के समान है।[1] इसी विद्या हेतु इस ग्रन्थ की रचना की गई है। हठयोग जहां साधन है वहीं राजयोग साध्य बन जाता है।

सिद्ध परम्परा

हठाभ्यास हेतु स्थान निर्धारण से पूर्व ग्रन्थकार ने अपने पूर्वज सिद्धों का नाम-स्मरण परमावश्यक माना जो आज भी हठयोगसिद्धि की शक्ति से मृत्युञ्जयी होकर ब्रह्माण्ड में विचरण करते हैं। वे सिद्ध हैं—सर्वश्री आदिनाथ, मत्स्येन्द्र, शाबर, आनन्द भैरव, चौरङ्गी, मीन, गोरक्ष, विरूपाक्ष, बिलेशय मन्थान, भैरवयोगी, सिद्धि, बुद्ध, कन्थडि, कोरण्टक, सुरानन्द, सिद्धिपाद, चर्पटी, कानेरी, पूज्यपाद, नित्यनाथ, निरञ्जन, कपाली, बिन्दुनाथ, काकचण्डीश्वर, अल्लाम, प्रभुदेव, घोडाचोली, टिण्टिणि, भानुकी, नारदेव, खण्ड, कापालिक आदि।[2]

'आदि' पद पर टीका करते हुए ज्योत्स्नाटीकाकार लिखते हैं कि आदि पद

---

1. श्री आदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै येनोपदिष्टा हठयोगविद्या।
विभ्राजते प्रोन्नतराजयोगमारोढुमिच्छोरधिरोहिणीव ।।—ह० प्र०, 1/1
2. ह० प्र०, 1/5-9

तारानाथ इत्यादि अन्य सिद्धों के लिए प्रयुक्त हुआ है।[1] इन आचार्यों द्वारा प्रदत्त यह विद्या सर्वदुःखनिवारणार्थ एकमात्र आश्रय रूपी मठ है।

हठयोगाधिकारी

इस विद्या के सन्दर्भ में कहा गया है कि इस विद्या को अत्यन्त गुप्त रखना चाहिए क्योंकि गुप्त रहने पर यह विद्या अत्यन्त शक्तिशाली हो जाती है और प्रकट होने पर शक्तिहीन। शिव-संहिता में भी इसी भाव को किंचित् पाठभेद से व्यक्त किया गया है।[2]

अधिकारी के सन्दर्भ में हठयोगप्रदीपिका पर ज्योत्स्ना टीकाकार लिखते हैं कि जितेन्द्रिय, शान्त, भोगों में अनासक्त, निर्दोष और मुमुक्षु आज्ञाकारी अधिकारी को ही इस विद्या का उपदेश देना चाहिए। याज्ञवल्क्य स्मृति उद्धृत करते हुए आगे कहा गया है कि शास्त्रोक्त कर्मों से युक्त, कामना और संकल्प रहित, यम और नियमों से युक्त, निस्संग, विद्यायुक्त, क्रोधरहित, सत्य, धर्मपरायण, गुरुसेवारत, मातृपितृभक्त, गृहस्थादि आश्रम में स्थित श्रेष्ठ आचारी और विद्वानों ने जिसको भली प्रकार शिक्षा दी गई हो, ऐसा पुरुष योग का अधिकारी होता है।[3]

हठयोग हेतु स्थान का निर्धारण

एतदनन्तर योगाभ्यासी के योगाभ्यास हेतु उत्तम स्थान की चर्चा की गई है, क्योंकि इस परम्परा के अभ्यासी को सर्वप्रथम स्थान, तदुपरान्त क्रमशः काल, आहार, नाड़ी शुद्धि और प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। इसके विपरीत आचरण करने पर अर्थात् दूरदेश में, अरण्य में और राजधानी में बैठकर योगाभ्यास करने से सिद्धि की हानि होती है।[4]

स्थान निर्धारित करते हुए कहा गया है कि हठयोगी को अच्छे राज्य में, धार्मिक देश में, जहाँ से अच्छी भिक्षा उपलब्ध हो सके, उपद्रवों से रहित, ऐसी कुटिया में वास

1. आदिशब्देन तारानाथादयो ग्राह्याः।
2. शिवसंहिता, 207
3. विद्युक्तकर्मसंयुक्तः कामसंकल्पवर्जितः।
यमैश्च नियमैर्युक्तः सर्वसंगविवर्जितः॥
कृतविद्यो जितक्रोधः सत्यधर्मपरायणः।
गुरुशुश्रूषणरतः पितृमातृपरायणः॥
स्वाश्रमस्थः सदाचारो विद्वद्भिश्च सुशिक्षितः॥—ज्योत्स्ना-1/11
4, घे० स०-5/23

करना चाहिए, जो एकान्त में हो, तथा जिसके चार हाथ प्रमाण पर्यन्त पत्थर, अग्नि और जल न हो। पुन: कुटिया के लक्षण को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जिसका द्वार छोटा हो, छिद्र अथवा बिल रहित हो, भूमि समतल हो, अधिक विस्तृत न हो, गोमय लिप्त, कीटरहित, बाहर का मण्डप वेदी और कूपयुक्त हो तथा जो चारदीवारी से युक्त हो।[1]

स्थान के विषय में प्राचीन कालीन श्वेताश्वतरोपनिषद् में वर्णित है कि ऊंचे-नीचे स्थान से रहित शुद्ध, पत्थरों से रहित, अग्नि और बालू से वर्जित इत्यादि निर्वात एकान्त गुफा को साधक योगाभ्यास हेतु अपना आश्रय बनाए।[2]

इस प्रकार के भाव योगतत्त्वोपनिषद् और घेरण्डसंहिता में भी दृष्टिगोचर होते हैं।[3]

हठयोग में बाधक और साधक तत्व

स्थान निर्धारण के पश्चात् योग के बाधक तत्त्वों की चर्चा कर इनके परित्याग का निर्देश दिया गया है, जिनमें अधिक भोजन, अधिक परिश्रम, अधिक बोलना, नियम पालन में आग्रह, अधिक लोकसंगति और मन की चंचलता है।[4] योग में बाधक तथा साधक तत्त्वों का भगवद्गीता में भी स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है जिसमें वर्णित है कि अति अशन करने वाले, न बिल्कुल अशन रहित, न अधिक सोने वाले और न अधिक जागने वालों के लिए योग लाभकारी होता है, अपितु युक्त आहार-विहार, युक्त चेष्टा करने वाले और युक्त सोने और जागने वाले को ही योग लाभकारी होता है।[5] शिव-संहिता में (भोगरूप, धर्मरूप, और ज्ञानरूप) मुख्य तीन विघ्न मानकर गौणों की संख्या अधिक बताकर उनका अन्तर्भाव मुख्यों में कर दिया है।[6] कुलार्णवतन्त्र में इनकी संख्या आठ बताकर इन्हें क्रमश: घृणा, लज्जा, भय, शोक, जुगुप्सा, कुलशील और जाति रूपी पाश कहा गया है।[7]

---

1. ह० प्र०-1/12-13
2. श्वे० उ०—2/10
3. (क) यो० त० उ०, 32-35
   (ख) घे० स०, 5/6-7
4. ह० प्र०, 1/15
5. भग० गी०, 6/16/17
6. शि० सं०—5/3-5
7. Principles of Tantra, 639

ज्योत्स्ना टीका के अनुसार इन (हठप्रदीपिका में वर्णित) छः विघ्नों का परित्याग इसलिए आवश्यक है क्योंकि ये विघ्न काम और चंचलता की वृद्धि के हेतु हैं तथा इनसे योग विशेषकर नष्ट होता है।[1]

एतदनन्तर उत्साह, साहस, धैर्य यथार्थज्ञान, संकल्प और लोकसंग का परित्याग इन छः तत्त्वों को योग में सहायक माना है।[2] क्योंकि इनके द्वारा योग सिद्धि शीघ्र एवं सुनिश्चित हो जाती है। इस पर ज्योत्स्ना टीकाकार लिखते हैं कि विषयों में लगे चित्त को भी रोकना यह उद्यम रूप साहस, साध्य-असाध्य को विचार कर शीघ्र प्रवृत्ति रूप साहस, धैर्य जैसे कि जीवन पर्यन्त में तो सिद्ध होगा ही इस खेद के अभाव को धैर्य कहते हैं और मृगतृष्णा के जल तुल्य विषय मिथ्या हैं, केवल ब्रह्म ही सत्य है, यह वास्तविक (सत्य) ज्ञानरूप तत्त्वज्ञान, निश्चय अर्थात् शास्त्र और गुरु के वाक्यों में विश्वास, श्रद्धा, और योगाभ्यास के विरोधी जनों का परित्याग इन छः वस्तुओं से योग शीघ्र सिद्ध होता है।[3]

इस प्रकार आसनों से पूर्व ग्रन्थकार ने योगी का स्थान निर्धारित करके योग में बाधक एवं साधक तत्त्वों का निरूपण करना भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं समझा है।

---

1. ज्योत्स्ना टीका, 1/15
2 ह० प्र०, 1/16
3. ज्योत्स्ना, 1/16

अध्याय-3

आसन

आसनों की संख्या

हठयोगप्रदीपिकाकार ने पातंजल योग प्रणाली का अनुसरण न करते हुए गोरक्ष संहिता,[1] योगचूडामण्युपनिषद्[2] और विष्णुपुराण[3] का अनुसरण किया है। इन्होंने आसन को प्रथम अंग के रूप में स्वीकार करके इसको शरीर में स्थिरता, आरोग्यता और लघुत्व प्रदान करने वाला बताया है।[4] किन-किन आसनों को विशेष मानकर उनका निरूपण करना चाहिए, इस प्रसंग में कहा गया है कि वसिष्ठ आदि मुनियों तथा मत्स्येन्द्रनाथ अदि योगियों द्वारा स्वीकृत कुछ आसनों का ही वर्णन इस ग्रन्थ में उपलब्ध होता है।

स्वयं हठयोगप्रदीपिकाकार आसनों की कुल संख्या का प्रत्यक्ष रूप से वर्णन नहीं करते परन्तु गोरक्ष-संहिता एवं घेरण्ड-संहिता के अनुसार आसन उतने हैं, जितने इस नश्वर जगत् में जीवजन्तु। उन चौरासी लाख आसनों में से चौरासी श्रेष्ठ हैं तथा उनमें भी बत्तीस विशिष्ट हैं।[5] किन्तु हठयोगप्रदीपिकाकार ने 15 आसनों[6] का और सर्वप्रथम

---

1. गो० सं०, 1/6
2. यो० चू० उ०, 2
3. वि० पु०, 37/16
4. ह०प्र०, 1/19
5. सिद्धं पद्मं तथा भद्रं मुक्तं वज्रं च स्वस्तिकम्।
   सिंहं च गोमुखं वीरं धनुरासनमेव च।।
   मृतं गुप्तं तथा मत्स्यं मत्स्येन्द्रासनमेव च।
   गोरक्षं पश्चिमोत्तानमुत्कटं संकटं तथा।।
   मयूरं कुक्कुटं कूर्मं तथा चोत्तानकूर्मकम्।
   उत्तानमण्डुकं वृक्षं मण्डूकं गरुडं वृषम्।।
   शलभं मकरं चोष्ट्रं भुजंगं योगमासनम्।
   द्वात्रिंशदासनानि तु मर्त्यलोके हि सिद्धिदम्।। घेरण्ड संहिता, प्र।-16
6. स्वस्तिक, गोमुख, वीर, कूर्म, कुक्कुट, उत्तानकूर्म, धनु, मत्स्येन्द्र, पश्चिमतान, मयूर, शव, सिद्ध, पद्म, सिंह और भद्र।

स्वस्तिक आसन का उल्लेख किया है। वैसे भी स्वस्ति शब्द भारतीय समाज में कल्याण-कारी माना गया है, यहाँ यह प्रतीत होता है कि इन आसनों के द्वारा समस्त संसार का कल्याण हो, इसी आशय से अभिभूत होकर ग्रन्थकार ने सर्वप्रथम इस आसन का उल्लेख किया है।

1. स्वस्तिकासन

इस आसन की विधि निरूपित करते हुए कहा गया है कि दोनों पैरों के तलुवों को घुटने और जंघा के मध्य में सम्यक् प्रकार से स्थापित करके, शरीर को सीधा रखकर सन्तुलित बैठना ही स्वस्तिकासन कहलाता है।[1]

इस आसन का उल्लेख अन्य हठयोग के ग्रन्थों में भी प्राप्त होता है। घेरण्ड-संहिता में इस आसन को पाँच आसनों के अनन्तर किंचित् पाठभेद से प्रस्तुत किया गया है।[2] त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्[3] और शाण्डिल्योपनिषद्[4] में भी इसका वर्णन किया गया है, किन्तु शण्डिल्योपनिषद् में इस आसन को प्रथम स्थान प्रदान कर इस आसन की महत्ता को स्वीकारा है।

यह आसन पैरों के तलवों के लिए बहुत उपयोगी है। जिन व्यक्तियों के पैरों में दुर्गन्ध, पसीना और दर्द की शिकायत रहती है, उन व्यक्तियों को यह आसन प्रातःकाल अवश्य करना चाहिए। इस आसन का चालीस दिन पर्यन्त अभ्यास करने से पैरों के तलवों को असीम बल मिलता है। इसके अभ्यासी को चलने में हल्कापन महसूस होता है। जिन व्यक्तियों के पैरों में ज्यादा दर्द होता है, उनको इस आसन का अभ्यास कम से कम 15 मिनट तक अवश्य करना चाहिए।

2. गोमुखासन

दाहिने गुल्फ को वाम भाग की कटिप्रदेश में तथा वाम गुल्फ को दाहिने भाग

---

1. ह० प्र०, 1।21
2. घे० सं०, 2।12
3. त्रि० ब्रा० उ०, 35
4. शा० उ०, 3।1

के कटिप्रदेश में सम्यक् प्रकार से स्थापित करने से जो गोमुखाकृति बनती है, उसे गोमुखासन कहते हैं ।[1]

इस आसन का वर्णन हमें जाबालदर्शनोपनिषद्[2], त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्[3] और घेरण्ड-संहिता[4] इत्यादि हठयोग के अन्य ग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है। केवल घेरण्ड संहिता में शब्दसाम्य को छोड़कर अन्य दोनों ग्रन्थों में यह श्लोक किंचित् पाठ-भेद से प्रयुक्त हुआ है। प्रतीत होता है कि इन ग्रन्थों में अवश्य पूर्ववर्ती का उत्तरवर्ती ग्रन्थ पर प्रभाव पड़ा होगा।

इस आसन का अभ्यास करते समय यह अवश्य ध्यान देना चाहिए कि मेरुदण्ड बिल्कुल सीधा हो जिससे फेफड़ों में प्राणवायु का सम्यक् प्रकार से संचार हो सके। इसी कारण से यह आसन फेंफड़ों से सम्बन्धित समस्त रोगों का नाश करके, फेफड़ों में विद्य-मान वायुग्रन्थियों को अधिक खोलता है, जिससे ज्यादा-से-ज्यादा वायु-ग्रंथियां श्वास का आधिक्य प्राप्त करें। इसके अतिरिक्त यह आसन समस्त शरीर के साथ-साथ पैरों, घुटनों और दोनों जंघाओं के लिए परम उपयोगी सिद्ध है। इस आसन का ब्रह्ममुहूर्त में अभ्यास करने से रक्तशुद्धि होती है। इसके अतिरिक्त इस आसन के निरन्तर अभ्यास के द्वारा मनुष्य को कभी भी क्षय और दमा जैसे रोगों की सम्भावना नहीं हो सकती। यह आसन स्वास्थ्य की दृष्टि से परम उपयोगी माना गया है।

(3) वीरासन

एक पांव को विपरीत जंघा से स्पर्श कराते हुए तथा दूसरे पांव को विपरीत जंघा के ऊपर स्थापित करने को वीरासन कहते हैं ।[5]

घेरण्ड-संहिता के अनुसार एक जंघा पर एक पांव तथा दूसरे पांव को पीछे की ओर बढ़ा देना ही वीरासन कहलाता है।[6] जबकि जाबालदर्शनोपनिषद् के मन्तव्यानुसार

---

1. हठयोगप्रदीपिका, 1।22
2. जाबालदर्शनोपनिषद्, 3।3-4
3. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्, 3
4. घेरण्ड-संहिता, 2/14
5. हठयोगप्रदीपिका, 1/23
6. घेरण्ड-संहिता, 2/15

बाएं पैर को दक्षिण जंघा पर रखकर देह को सीधा करके बैठना ही वीरासन कहलाता है।[1] त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् के अनुसार एक चरण को बांयी जांघ पर और दूसरे को दाहिनी जांघ पर रखने से वीरासन होता है।[2] शाण्डिल्योपनिषद् में भी इसी भाव को व्यक्त किया गया है।[3]

ऐसी कथा प्रचलित है कि इस आसन में लक्ष्मण जी सिद्धहस्त थे और अक्सर वे इसी आसन का उपयोग किया करते थे। इसी कारण से आधुनिक योगविद् इसे लक्ष्मणासन भी कहते हैं। इस आसन के निरन्तर अभ्यास से जंघाओं, पिण्डलियों को तो असीम लाभ मिलता ही है साथ में इससे चित्त में एकाग्रता भी बढ़ती है। कुछ आधुनिक योगियों के द्वारा यह खड़े होकर भी लगाया जाता है क्योंकि खड़े होकर वीरासन के अभ्यास से शरीर को अत्यधिक लाभ मिलता है। किन्तु श्लोक के अन्वयार्थ हेतु इसे बैठकर ही सिद्ध किया जा सकता है। शिकारी अथवा लक्ष्यार्थ भेदन में निपुणता हेतु यह आसन परमावश्यक माना गया है। इसके साथ-साथ इस आसन के निरन्तर अभ्यास से मनुष्य के शरीर में ही नहीं अपितु मस्तिष्क को भी असीम बल मिलता है।

(4) कूर्मासन

इस आसन की विधि निरूपित करते हुए कहा गया है कि दोनों पांवों की एड़ियों से गुदा के विपरीत (दाएं टखने से गुदा के वाम भाग तथा वाम टखने से गुदा के दायें) भाग को दबाकर बैठने को योग के जानकार कूर्मासन कहते हैं।[4]

घेरण्ड संहिता में इसी भाव को इस प्रकार से व्यक्त किया गया है कि दोनों अण्डकोषों के नीचे एड़ियों का अतिक्रमण कराकर सीधा बैठना ही कूर्मासन कहलाता है।[5]

यह आसन पेट, घुटने, जंघा संबंधी समस्त रोगों का निवारण करता है। इस आसन के अभ्यासी को बवासीर जैसे कष्टदायी रोगों की तो सम्भावना ही नष्ट हो जाती है, इसके साथ-साथ यह आसन ब्रह्मचर्य के लिए अति उत्तम माना गया है क्योंकि इसमें बैठने से वीर्य ऊर्ध्वगामी हो जाता है। इस आसन में श्वास-प्रश्वास की स्थिति सामान्य एवं दृष्टि भ्रूमध्य रखनी चाहिए। इसका सबसे अधिक लाभ यह भी

---

1. जाबालदर्शनोपनिषद्, 3/6
2. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिद्, 37
3. शाण्डिल्योपनिषद्, 3/4
4. हठयोग प्र०—1/24
5. घेरण्ड-संहिता, 2/27

है कि इस आसन का अभ्यास यदि कोई व्यक्ति शीतकालीन ऋतु में भी करता है, तो उसे शरीर में उष्णता महसूस होगी। इन सब लाभों के अतिरिक्त यह अपान वायु को ऊर्ध्वगामी करने में सहायक सिद्ध होता है। यदि इसी आसन में पीछे की ओर झुक जाए तो मेरुदण्ड में लचीलापन आता है और आगे की ओर झुकने से जठराग्नि की अभिवृद्धि के साथ-साथ कुण्डलिनी शक्ति जागृत होती है।

(5) कुक्कुटासन

इसकी विधि निर्धारित करते हुए कहा है कि सर्वप्रथम पद्मासन लगाकर दोनों घुटनों और जंघाओं के मध्य से दोनों हाथों को निकाल कर, समस्त शरीर को हाथों से उठाकर, आकाश में स्थित रहना ही कुक्कुटासन कहलाता है।[1]

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्[2] और घेरण्ड-संहिता[3] में इसी भाव को व्यक्त किया गया है कि आकाश में दोनों भुजाओं को दोनों घुटनों और जंघाओं के मध्य से निकालकर, उस पर सम्पूर्ण शरीर का भार वहन करना ही कुक्कुटासन कहलाता है।

इस आसन में योगी की स्थिति मुर्गे सदृश हो जाती है अतएव इस आसन को कुक्कुटासन कहते हैं। ऐसा माना जाता है कि यह आसन 15-20 मिनट साधने से योगी को उतनी शक्ति प्राप्त होती है, जितनी सामान्य जन को कुक्कुट खाने से प्राप्त होती है। इस आसन के निरन्तर अभ्यास से हाथों, जंघाओं, घुटनों और पिण्डलियों को तो असीम बल मिलता ही है साथ में वक्षःस्थल पुष्ट होकर फैलता है। इस आसन से जठराग्नि प्रज्ज्वलित हो जाती है तथा सम्पूर्ण शरीर में स्थिरता उत्पन्न होती है। जिन व्यक्तियों के हाथ कांपते हों उन्हें यह आसन अवश्य करना चाहिए क्योंकि इस आसन में मनुष्य की हथेलियां मजबूत, अंगुलियां पुष्ट एवं मणिबन्ध सुदृढ़ होता है। सम्पूर्ण भुजा में उत्पन्न किसी भी विकृति के निवारणार्थ यह आसन परम उपयोगी माना जाता है।

(6) उत्तानकूर्मासन

पूर्वोक्त बताये गये कुक्कुटासन की अवस्था में दोनों हाथों से ग्रीवा को पकड़ने पर अभ्यासी की जो आकृति बनती है उसे उत्तानकूर्मासन कहते हैं।[4]

---

1. ह० प्र०, 1/25
2. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्, 41
3. घेरण्ड संहिता, 2/26
4. ह० प्र०, 1/26

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्[1] और घेरण्ड-संहिता[2] में इसी आसन को इन शब्दों द्वारा अभिव्यक्त किया गया है कि कुक्कुटासन लगाकर दोनों भुजाओं से दोनों बन्धों को बांधकर कछुए के समान सीधा हो जाना ही उत्तानकूर्मासन कहलाता है।

इस आसन के निरन्तर अभ्यास से कमर पतली, सीना चौड़ा तथा मेरुदण्ड में लचीलापन आता है। कुक्कुटासन से प्राप्त होने वाले लाभों के अतिरिक्त इस आसन के द्वारा नाभिविकृति से उत्पन्न होने वाले दोषों का निवारण शीघ्रता से हो जाता है। जिस प्रकार कछुआ समय पर अपने बाह्य अंगों को समेट लेता है, उसी प्रकार इस आसन के द्वारा योगी बाह्य विषयों से अपना चित्त हटाकर भ्रूमध्य में लगाता है। यह आसन रक्तशोधन करने वाला भी माना गया है। ग्रीवा में उत्पन्न किसी भी विकार को दूर करने में यह परम उपयोगी आसन है। ब्रह्ममुहूर्त में इस आसन का अभ्यास करने से शरीर की दुर्गन्ध जाती रहती है और यदि इस आसन में निर्विकार भाव से शून्य आकाश को देखा जाये तो उससे नेत्रों की ज्योति बढ़ती है। अतएव यह आसन अन्य कई आसनों से ज्यादा महत्वपूर्ण आसन कहा जाता है।

(7) धनुरासन

इस आसन की विधि निरूपित करते हुए कहा गया है कि दोनों पैरों के दोनों अंगूठों को हाथों से पकड़कर कानों तक खींचकर धनुष के समान स्थापित करना ही धनुरासन कहलाता है।[3]

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् के अनुसार दोनों पैरों के अंगूठों को पकड़कर धनुष के आकार में कानों तक धनुष के समान खींचना ही धनुरासन कहलाता है।[4] जबकि घेरण्ड-संहिता में इसकी विधि इस प्रकार से बताई गई है कि दोनों पांवों को भूमि पर सीधे स्थापित करे तथा दोनों हाथों को पीठ की ओर करके पांवों को पकड़ लेने से शरीर जब धनुष के समान बन जाता है तब धनुरासन कहलाता है।[5]

इस आसन के निरन्तर अभ्यास से उदर सम्बन्धी समस्त रोगों का निवारण होता है, जठराग्नि प्रदीप्त होती है। यदि किसी कारणवश किसी की नाभि अपने स्थान

---

1. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्, 42
2. घेरण्डसंहिता, 2/28
3. ह० प्र० 1/27
4. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्, 43
5. घेरण्डसंहिता, 2/16

से हट जाये, तो उसे इस आसन का अभ्यास 4 से 6 मिनट अवश्य करना चाहिए। ऐसा करने से हटी हुई नाभि अपने स्थान को प्राप्त करती है तथा नाभि स्थान से उत्पन्न होने वाली समस्त नाड़ियां इस आसन के द्वारा अपना-अपना कार्य ठीक प्रकार से करती हैं। यह आसन मोटे पेट वालों के लिए अत्यावश्यक माना गया है। इस आसन का अभ्यास करने वालों का मेरुदण्ड अत्यधिक लचीला एवं ग्रीवा सुन्दर बन जाती है। हृदय रोगी को यह आसन वर्जित है।

(8) मत्स्येन्द्रासन

दाहिने पैर को वामजंघा के मूल में स्थापित करके, बायें पैर को घुटने के ऊपर से लाकर भूमि पर स्थापित करने के पश्चात् शरीर को इतना मोड़ें कि विपरीत हाथों से दोनों पांवों को अर्थात् दायें हाथ से बायां पैर और बायें हाथ से दायां पैर पकड़ कर स्थिर रहें। इसे मत्स्येन्द्रासन कहते हैं तथा यह श्री मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा बताया गया है।[1] त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् और घेरण्ड संहिता में भी इस आसन का विस्तारपूर्वक वर्णन उपलब्ध होता है।[2]

इस आसन के अभ्यासी की जठराग्नि प्रदीप्त होती है। वह साधक अनेक प्रकार के प्रचण्ड रोगों से मुक्ति पा जाता है, इसके निरन्तर अभ्यास से कुण्डलिनी शक्ति का जागरण होता है और योगी का चन्द्ररस अपनी चंचलता का त्याग कर स्थिरता को पाता है।[3]

कुण्डलिनी शक्ति हठयोग का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है। यह एक ऐसी शक्ति है, जिसके जागृत होने पर ही योगी की मुक्ति सम्भव है। कुण्डलिनी पद्मतन्तु सदृश और कमल के कन्द के समान ही मूलकन्द की फणाग्र से देखकर, अपनी पूंछ को मुख में दबाकर ब्रह्मरन्ध्र के मुख को ढककर सोई रहती है।[4]

इस शक्ति पर स्वामी विवेकानन्द लिखते हैं कि मेरुदण्ड के तल में जो मूलाधार चक्र है,वह बहुत काम की वस्तु है। यही जगह प्रजनन-शक्ति का बीज या वीर्य का आधार है। इस त्रिकोण स्थान में एक छोटा-सा सांप कुण्डली लगाये बैठा है, योगी लोग उसको

---

1. ह० प्र० 1/28
2. (क) त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्, 48-49
   (ख) घेरण्डसंहिता, 2/21
3. ह० प्र० 1/29
4. योगकुण्डल्युपनिषद्—1/82-83

इस तरह से व्यक्त करते हैं। यह निद्रित सांप ही कुण्डलिनी है, इसको जागृत करना ही समस्त राजयोग का उद्देश्य है।[1]

चन्द्ररस एक ऐसा अमृत है जो मनुष्य के तालु-मूल से स्रवित होता रहता है। उसको नाभि स्थित अग्निस्वरूप सूर्य के द्वारा ग्रसते रहने के कारण ही मनुष्य की आयु क्षीण होती रहती है। अतएव उसकी रक्षा परमावश्यक मानी गई है।[2]

इसके अतिरिक्त यह आसन गुल्फ, प्लीहा यकृत् और पेट के कीटाणु आदि रोगों को नष्ट करता है। भुजबन्ध, जानु, और जंघा सम्बन्धी रोगों में भी लाभकारी है। यह आसन हठयोग प्रवर्त्तक आचार्य मत्स्येन्द्रनाथ के नाम से इसलिए प्रसिद्ध है, क्योंकि मत्स्येन्द्रनाथ इसी आसन का प्रायः प्रयोग करते थे। इस आसन के निरन्तर अभ्यास से नाद श्रवण और समाधि भी लग सकती है।

(9) पश्चिमतानासन

दोनों पैरों को भूमि पर दण्ड की भाँति सामने फैलाकर, दोनों हाथों से दोनों पैरों के अंगूठों को भली प्रकार से पकड़कर, घुटनों पर मस्तक लगाकर रखना ही पश्चिमतानासन कहलाता है।[3]

इसी भाव को त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् में इस प्रकार व्यक्त किया गया है कि दोनों पैरों को जमीन पर फैलाकर दोनों हाथों से पैर के अंगुठों को पकड़कर सिर को घुटनों पर लगाकर रखना ही पश्चिमतानासन कहलाता है।[4]

यह आसन पूर्वोक्त आसनों में अग्रगण्य माना गया है क्योंकि इससे साधक का प्राणवायु मेरुदण्ड स्थित, सुषुम्नावाही हो जाता है। इसके अभ्यास से जठराग्नि प्रदीप्त, उदर पतला और शरीर रोगरहित होता है।[5] प्राणवायु से तात्पर्य मुख्य वायु से है क्योंकि मुख्य वायुओं की संख्या पाँच मानी गई है[6] और इन मुख्य वायुओं में प्राणवायु को सर्वश्रेष्ठ माना गया है।

---

1. सरल राजयोग, पृ० 20
2. ह० प्र०, 3/76
3. ह० प्र०—1/30
4. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्, 50-51
5. ह० प्र०—1/31
6. प्राणाऽपानः समानश्च उदानो व्यान एव च। शिवस्वरोदय-42

यह आसन समस्त शरीर के लिए ही उपयोगी माना गया है क्योंकि इससे सम्पूर्ण शरीर के सभी अङ्ग प्रभावित होते हैं। स्वयं हठयोगप्रदीपिकाकार ने इसके महत्त्व को दर्शाया है कि इसके अभ्यास से प्राणवायु सुषुम्नावाही हो जाता है। सुषुम्नावाही से अभिप्राय समाधि की प्रथम अवस्था अगर मान लिया जाये तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। यह आसन जितना उदर के लिए लाभकारी माना गया है उतना ही मेरुदण्ड के लिए भी। इस आसन के सिद्ध होने पर शरीर की दुर्गन्ध नष्ट हो जाती है तथा शरीर से भीनी-भीनी सुगन्ध का आविर्भाव होता है। इस आसन को यथाशक्तिपूर्वक लगाना ही श्रेयस्कर माना गया है।

10. मयूरासन

दोनों हाथों को भूमि पर भली प्रकार स्थापित करके दोनों कोहनियों को नाभि प्रदेश के दोनों ओर लगाकर दण्ड के समान सीधा अधर में उठने को मयूरासन कहते हैं।[1]

जिस प्रकार मयूर दो पैरों के सहारे अपने सम्पूर्ण शरीर को आकाश में साधे रखता है, उसी प्रकार इस आसन के अभ्यासी को भी दोनों हाथों से ऊपर सम्पूर्ण शरीर को अधर में साधे रखना पड़ता है। इसी कारण इस आसन को मयूरासन कहते हैं। जाबालदर्शनोपनिषद् में इस आसन की विधि को भली प्रकार से बताते हुए कहा गया है कि अपनी दोनों हथेलियों को भूमि पर रखकर कुहनियों के अग्रभाग को नाभि के दोनों पार्श्वों में रखे, फिर सिर और पांवों को ऊंचा उठाकर आकाश में दण्ड के समान स्थित हो, यह मयूर आसन सब पातकों का नाश करने वाला है।[2] त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्[3] और शाण्डिल्योपनिषद्[4] में भी इसका वर्णन इस प्रकार से किया गया है कि हाथ की दोनों हथेलियों को जमीन पर टिका कर रखना और दोनों कोहनियों के नाभि के दोनों तरफ दबा कर बैठना फिर माथे और पैरों को ऊपर उठाकर लकड़ी के समान आकाश में अधर रखना यह मायूरासन है जो सर्वपापों का नाश करने वाला है।

कहीं-कहीं मयूर शब्द की जगह मयूर शब्द प्राप्त होता है।[5] यह आसन कठिन अवश्य है किन्तु इसके लाभ उतने ही अधिक माने गए हैं। स्वयं हठयोग प्रदीपिकाकार ने

---

1. ह० प्र०—1/32
2. जाबालदर्शनोपनिषद्—1/10-11
3. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्—47-48
4. शाण्डिल्योपनिषद्—3/10-11
5. घेरण्डसंहिता—2/25

इसके लाभों का वर्णन करते हुए कहा है कि इस मयूरासन के निरन्तर अभ्यास से शीघ्र ही गुल्म, जलोदर आदि सभी रोगों का नाश होता है, यह आसन त्रिदोषों (वात, पित्त कफ) को दूर करता है। इसका निरन्तर अभ्यास अधिक एवं कुपथ्य को भी अच्छी तरह से पचाता है। तथा जठराग्नि को प्रदीप्त करके विष को भी मस्त करने की सामर्थ्य रखता है।

इस आसन के निरन्तर अभ्यास से कोहनियों, हथेलियों और मणिबन्धों को असीम बल की प्राप्ति होती है। इससे उदरसम्बन्धी समस्त रोगों का निवारण हो जाता है। शरीर का कंपायमान होना बन्द हो जाता है। शरीर में रक्त का प्रवाह ठीक प्रकार से होने लगता है। फेफड़ों तथा नेत्रों के लिए यह अत्यावश्यक माना गया है। इस आसन के अभ्यासी पर विष का प्रभाव नहीं होता। अतएव इस आसन को समस्त हठयोग के ग्रन्थों में अग्रगण्य स्थान प्राप्त होता है।

11. शवासन

मेरुदण्ड को सीधा करके पीठ के बल भूमि पर शव के समान लेट जाना ही शवासन कहलाता है। यह आसन शारीरिक थकान दूर करने के साथ-साथ मानसिक शान्ति प्रदायक माना गया है।[1]

घेरण्डसंहिता में भी इन शब्दों के साथ इस आसन का वर्णन किया गया है कि शव के समान पृथ्वी पर सीधा लेट जाना ही शवासन कहलाता है तथा इसको श्रम का हरण करने वाला बताया गया है।[2]

यह आसन जितना आसान है उतना ही कठिन भी माना गया है। समस्त आसनों, प्राणायामों एवं मुद्राओं से उत्पन्न थकान इसी आसन से दूर हो जाती है। प्राय: योगी लोग इसी आसन का प्रयोग आसनों के उपरान्त करते हैं। यदि अपनी चित्तवृत्ति को बाह्य विषयों से हठाकर चक्रों पर इस आसन में केन्द्रित किया जाय तो शीघ्र ही कुण्डलिनी शक्ति जागृत होकर, चक्रों का भेदन कर, ब्रह्मरन्ध्र की ओर अग्रसर होती है। इस आसन के निरन्तर अभ्यास से अनाहत नाद का भी श्रवण किया जा सकता है। हृदयरोगी के लिए यह आसन परमोपयोगी माना जा सकता है।

शीर्षासन के बाद इस आसन का प्रयोग अवश्य ही करना पड़ता है अन्यथा हानि की ही सम्भावना उत्पन्न हो सकती है।

---

1. ह० प्र०—1/34
2. घेरण्डसंहिता—2/17

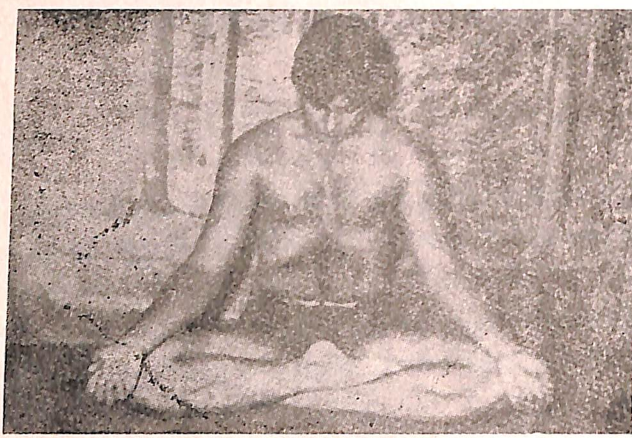

12. सिद्धासन

गुदा तथा लिंगेन्द्रिय के मध्य भाग में एक चरण की एड़ी को दृढतापूर्वक लगाकर, दूसरे पैर की एड़ी को लिंगेन्द्रिय के ऊपर दृढ़ता से रखकर, ठोड़ी को हृदय के ऊपरी भाग पर अच्छी प्रकार स्थापित कर उपरान्त इन्द्रियों को वश में करके, भ्रूमध्य भाग को एक-टक दृष्टि से देखें। मोक्ष द्वार का भेदन करने वाला यह सिद्धासन कहा गया है। इस आसन को कुछ विद्वान् लोग सिद्धासन, अन्य वज्रासन, कुछ मुक्तासन और कोई इसे गुप्तासन के नाम से पुकारते हैं।[1]

इस आसन की चर्चा करते हुए आगे कहा गया है कि जिस प्रकार यमों में मिता-हार और नियमों में अहिंसा का स्थान है वैसे ही समस्त आसनों में सिद्धासन मुख्य है। यदि कोई योगी केवल इसी आसन का अभ्यास करता है तो उसके शरीर की 72 सहस्र नाड़ियों का मल दूर हो जाता है।[2] हठयोग के ग्रन्थों में ऐसा माना गया है कि हमारे शरीर में बहत्तर हज़ार नाड़ियाँ विद्यमान हैं।[3]

इस आसन के सिद्ध होने के पश्चात् अन्य किसी भी आसन की आवश्यकता नहीं है क्योंकि इस आसन को सावधानी पूर्वक करने से प्राणवायु केवल कुम्भक में बन्ध जाता है। इसके निरन्तर अभ्यास से उन्मनी कला स्वयमेव जागृत हो जाती है और तीनों बन्ध (मूलबन्ध, जालन्धर बन्ध और उड्डीयानबन्ध) स्वयं ही लग जाते हैं। यह आसन समस्त आसनों में मुख्य माना जाता है।[4]

13. पद्मासन

बायीं जंघा के ऊपर दाहिना पांव तथा दाहिनीं जंघा पर बाँयाँ पाँव रखकर दोनों हाथों को कमर के पीछे से लाकर दाहिने हाथ में दायें पैर के अंगूठे को तथा बायें हाथ से बायें पैर के अंगूठे को दृढ़ता से पकड़ कर ठुड्डी के कण्ठकूप से लगाये। इसके पश्चात् अपनी दृष्टि को नासाग्र भाग पर स्थिर रखे, तो सब प्रकार की व्याधियों को नष्ट करने

---

1. ह० प्र०—1/37-39
2. वही—1/40-41
3. (क) शिवस्वरोदय—32
   (ख) ध्यानबिन्दूपनिषद्—51
4. ह० प्र०—1/43

वाला यह पद्मासन कहलाता है। तथा दूसरे मत के अनुसार दोनों चरणों को यत्नपूर्वक विपरीत जंघाओं पर दृढ़ता पूर्वक स्थापित करके ठुड्डी को कण्ठकूप से लगायें तत्पश्चात् नाभि के नीचे वाम हथेली पर दक्षिण हथेली को रखकर अंजलि मुद्रा बनाकर बैठें, प्राणवायु को धीरे-धीरे ऊपर उठाकर, नासाग्रदृष्टि रखते हुए जिह्वा को तालु के अग्र-भाग पर स्थापित करें। इसे पद्मासन कहते हैं जो सब प्रकार के रोगों का नाशक है। कोई बुद्धिमान् विरला पुरुष ही इसे प्राप्त करता है, सब लोग इसे सिद्ध नहीं कर सकते।[1]

प्रथम के स्वरूप को देखते हुए उसे बद्धपद्मासन की ही संज्ञा देना अधिक उचित प्रतीत होता है क्योंकि इस प्रकार के पद्मासन का उल्लेख सर्वमान्य नहीं है। पद्मासन के स्वरूप को बताते हुए दूसरा लक्षण सही होता है। योगकुण्डल्युपनिषद् के अनुसार दोनों जाँघों पर एक दूसरे पैर के तलवों को सीधा रखने से पद्मासन कहलाता है जो सब पापों का नाश करने वाला है।[2] त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्[3] के अनुसार दोनों जाँघों पर दोनों पैर के तलवों को रखकर बैठने से पद्मासन होता है जो सब व्याधियों और विषों का नाशक बताया गया है। पद्मासन पर अच्छी तरह से बैठकर दाहिने हाथ से बाएं पैर के अंगूठे को और बायें हाथ से दाहिने पैर के अंगूठे को पकड़ना बद्ध-पद्मासन कहलाता है। जबकि शाण्डिल्योपनिषद् के अनुसार दोनों जंघाओं पर दोनों पैरों के तलवों को रखकर दोनों हाथों से दोनों पैरों के अंगूठे को उल्टी रीति से पकड़ कर रखना, सर्वमान्य पद्मासन है।[4] जाबालदर्शनोपनिषद् ने भी दोनों हाथों से दोनों पैरों के अंगूठे को पीठ के पीछे से लाकर पकड़ने को ही पद्मासन कहा है।[5]

किन्तु बद्ध-पद्मासन के यदि शाब्दिक तत्त्व का अनुशीलन किया जाये तो यही अर्थ निकलता है कि जिस आसन में शरीर बाँधा जाये वही बद्ध-पद्मासन कहलाता है। इसके लाभों की चर्चा करते हुए कहा गया है कि जो योगी इस आसन में स्थित होकर नासिका द्वारा प्राणवायु को ब्रह्मरन्ध्र में ले जाकर रोकता है, वह मुक्त है।[6] प्राणवायु का ब्रह्मरन्ध्र में जाकर ठहरना ही समाधि की अवस्था का द्योतक है। प्राण की प्रशंसा करते हुए शिव-स्वरोदय में कहा गया है कि 'प्राण ही परम मित्र है। प्राण ही परम सखा है और प्राण के सदृश श्रेष्ठ बन्धु कोई नहीं है।[7] प्राणायाम के सिद्ध होने के पश्चात् पद्मासन में ही

---

1. ह० प्र०—1।46-49
2. योगकुण्डल्युपनिषद्—1।5
3. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्—39-40
4. शाण्डिल्योपनिषद्—3/3
5. जाबालदर्शनोपनिषद्—3/5
6. ह० प्र०—1/51
7. शिवस्वरोदय—219

योगी भूमि से ऊपर उठने लगता है।[1] यह आसन पैरों, घुटनों और जंघाओं के लिए बहुत अच्छा माना गया है। इस आसन के सिद्ध होने पर योगी की समाधि स्वयमेव लगने लग जाती है।

14. सिंहासन

दोनों पैरों की एड़ियों को अण्डकोष के नीचे सीवनी नाड़ी के दोनों और अर्थात् बाँयी ऐड़ी को दाहिने पार्श्व में तथा दायीं एड़ी को वाम पार्श्व में स्थापित कर दोनों हाथों को दोनों घुटनों पर रख तथा सभी अंगुलियों को फैला कर मुख को यथाशक्ति खोलकर अपनी दृष्टि को नासाग्र भाग पर स्थिति करना सिंहासन कहलाता है।

यह आसन उत्तम योगियों द्वारा पूजित है, क्योंकि इस आसन में तीनों बन्ध स्वयमेव लग जाते हैं।[2] त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् में भी इसी प्रकार का वर्णन उपलब्ध होता है।[3] जबकि शाण्डिल्योपनिषद् के अनुसार दाहिने गुल्फ के साथ बाएँ गुल्फ को और बायें गुल्फ के साथ दायें गुल्फ को लगाकर बैठना, दोनों हाथों को दोनों बाजुओं पर रखना, दोनों हाथों की अंगुलियों को फैलाकर, भली प्रकार एकाग्र होकर प्रसन्न मुख में नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि रखना, सिंहासन कहलाता है। योगीजन सदा इसकी प्रशंसा करते हैं।[4]

सीवनी नाड़ी पर दबाव पड़ने से ब्रह्मचर्य की रक्षा होती है। अत: ब्रह्मचर्य हेतु यह आसन सबसे श्रेष्ठ माना जाता है। मुख को यथाशक्ति खोलने से यह गले तथा जिह्वा के लिए उपयोगी माना जा सकता है। इससे नेत्रज्योति तो बढ़ती ही है, इसके निरंतर अभ्यास से शरीर में असीम बल, सिंह सदृश साहस भी उत्पन्न होता है। तीनों बन्ध लग जाने से योगी की आयु में वृद्धि, कामदेव सदृश देह की प्राप्ति के साथ-साथ कुण्डलिनी शक्ति को जगाने में भी आसन सहायक सिद्ध हो सकता है।

15. भद्रासन

दोनों पैरों की एड़ियों को अण्डकोष के नीचे सीवनी के पार्श्व भाग में इस प्रकार

---

1. योगतत्त्वोपनिषद्—55
2. ह० प्र० —1/52-54
3. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्—44
4. शाण्डिल्योपनिषद्—3/5-6

से स्थापित करें कि वाम एड़ी सीवनी नाड़ी के वाम और दाहिनी एड़ी सीवनी नाड़ी के दायें भाग पर आये तत्पश्चात् अपने दोनों हाथों से पैरों को भली प्रकार पकड़कर स्थिर रहें। वह भद्रासन सभी रोगों को दूर करने वाला कहा गया है। कुछ सिद्धयोगी इसे गोरक्षासन भी कहते हैं। योगियों को इस प्रकार के हल्के आसनों से उत्पन्न श्रम को दूर करना चाहिए।[1]

शाण्डिल्योपनिषद् के अनुसार लिंगेन्द्रिय के नीचे की सीवनी पर दोनों गुल्फों को जमाकर रखने और हाथों से पैरों के दोनों पार्श्वों को दृढता पूर्वक पकड़ कर निश्चित बैठने से भद्रासन होता है, जो समस्त रोगों और विष आदि का नाश करने वाला है।[2] जाबालदर्शनोपनिषद् के अनुसार दोनों घुटनों को अण्डकोष के नीचे, पार्श्वों में रखने और दोनों हाथों से पार्श्वभाग तथा पाँवों को दृढ़ता से बाँधकर बैठने को भद्रासन कहते हैं, यह भद्रासन विष से उत्पन्न हुए रोगों का नाश करने वाला है।[3] घेरण्ड-संहिता में इस आसन को अधिक स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि दोनों एड़ियों को उलट कर अण्डकोशों के नीचे रखें तथा पीठ की ओर पद्मासन के समान दोनों अंगूठों को पकड़ लें, जालन्धर वन्ध की स्थिति करके नासिका के अग्रभाग को देखें, यह भद्रासन कहलाता है।[4]

इस आसन के निरन्तर अभ्यास से गुदा सम्बन्धी तथा मूत्र सम्बन्धी समस्त रोगों का निवारण होता है। "ब्रह्मचर्य के लिए यह बहुत उपयोगी माना जाता है।" नितम्ब प्रदेश में उत्पन्न सभी दर्दों को यह दूर करता है। इसे बच्चों, युवाओं और वृद्धों के लिए सबसे सरल और उपयोगी माना जा सकता है। यह आसन घुटनों, जंघाओं और पिण्डलियों के लिए भी उपयोगी है।

शाण्डिल्योपनिषद् में कहा गया है कि ये आसन समस्त रोगों के निवारक और विष का शमन करने वाले हैं अशक्य व्यक्ति को भी इन्हें सुखपूर्वक धारण करने का अभ्यास करना चाहिए। इन आसनों की सिद्धि त्रिलोक की सिद्धि के समान है।[5]

---

1. ह० प्र०—1/55-56
2. शा० उ०—3/8
3. जा० द० उ०—3/7
4. घे० सं०—2/9
5. शाण्डिल्योपनिषद्—3

अध्याय-4

नाड़ी-शोधन प्राणायाम

आसनों के पश्चात् हठयोग के सभी ग्रन्थों में यह स्पष्ट किया गया है कि वायु के चलायमान होने पर चित्त भी चंचल होता है तथा वायु के स्थिर हो जाने पर चित्त भी स्थिर हो जाता है और तभी योगी स्थिरता को प्राप्त होता है।[1] जब तक शरीर में वायु की विद्यमानता रहती है तब तक ही जीवन कहलाता है, उसका शरीर से निकल जाना ही मरण है। अत: प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। किन्तु मलयुक्त नाड़ियों में प्राणवायु का गमन सम्यक् प्रकार से नहीं हो सकता और जब तक प्राणवायु का गमन नहीं होता तब तक उन्मनी अवस्था की प्राप्ति असंभव है। उन्मनी अवस्था को स्पष्ट करते हुए हठयोगप्रदीपिकाकार स्वयं लिखते हैं कि जब प्राणवायु सुषुम्ना में प्रवेश करता है तब मन में स्थिरता आ जाती है। मन का सम्यक् रूप से स्थिर रहना ही उन्मनी अवस्था कहलाती है।[2] मलों से व्याप्त सभी नाड़ियां जब निर्मल हो जाती हैं तब साधक समुचित रूप से प्राणवायु को नियंत्रित करने में समर्थ होता है। इसीलिए प्रतिदिन सात्त्विक बुद्धि से नाड़ी-शोधन प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। घेरण्ड-संहिता में कहा गया है कि कुश का आसन, मृगछाला या सिंह छाला कम्बल अथवा स्थल में से किसी प्रकार के आसन पर पूर्व या उत्तर की ओर मुख करके, नाड़ी शुद्ध होने पर प्राणायाम का साधन करना चाहिए।[3] गोरक्षसंहिता के अनुसार प्राण-अपान को संयुक्त करके प्रणव की बारह मात्राओं से पूरक[4] करना चाहिए। इससे सभी दोषों का शोधन

---

1. (क) गोरक्ष-संहिता—1/89
   (ख) ह०प्र०—2/2
2. वही—2/42
3. घेरण्ड-संहिता, 5/32
4. (क) पूरक—श्वास वायु को नासिका द्वारा उदर में भरना पूरक कहलाता है।
   (ख) रेचक—नासिका द्वारा श्वास को निकालना।
   (ग) कुम्भक—श्वास को उदर में रोके रखना कुम्भक कहलाता है।

हो जाता है। यह योगियों के लिए सदा ज्ञातव्य है।[1]

नाड़ी शोधन की प्रक्रिया को निरूपित करते हुए हठयोगप्रदीपिका में कहा गया है कि पद्मासन में बैठकर साधक को चन्द्र नाड़ी (बायीं नासिका) से श्वास को ग्रहण करके अपनी शक्ति के अनुसार श्वास को रोककर सूर्य नाड़ी (दायीं नासिका) से श्वास को छोड़ना चाहिए और पुनः प्राणवायु को सूर्यनाड़ी द्वारा खींचकर धीरे-धीरे करके फिर विधिवत् श्वास को उदर में रोककर चन्द्रनाड़ी से छोड़ देना चाहिए जिससे श्वास का त्याग किया हो उसी नासिकारन्ध्र से श्वास का ग्रहण कर श्वास को तब तक रोकें जब तक श्वास छोड़ने की संवेदना न हो। और तब श्वास को धीरे-धीरे दूसरे नासिका-रन्ध्र से छोड़ें। यदि प्राणवायु को इड़ा से पूरित करें तो उसे कुम्भक कर पुनः दूसरे से छोड़ देना चाहिए और बाद में पिंगला से वायु ग्रहण करके, कुम्भक कर, बायें से छोड़ देना चाहिए। इस प्रकार बायें और दाहिने नासिकारन्ध्र से लगातार प्राणायाम का अभ्यास करने से योगसाधकों के नाड़ी-समूह तीन मास से कुछ अधिक समय में निर्मल हो जाते हैं।[2] उचित रीति से प्राणायाम का अभ्यास करने से सभी रोगों का नाश होता है किन्तु प्राणायाम के गलत अभ्यास से वायु के प्रकोप से हिचकी, दमा, खांसी, सिर, कान और आंखों में पीड़ा तथा अन्य प्रकार के रोगों की उत्पत्ति हो जाती है।[3] और जब नाड़ियां निर्मल हो जाती हैं तब उसके बाह्य लक्षण प्रकट होते हैं, जैसे शरीर निश्चित रूप से पतला और कान्तिमान् हो जाता है। इससे जठराग्नि प्रदीप्त होती है, अन्तः प्रवर्तित नाद का अनुभव होता है तथा आरोग्य लाभ होता है।[4]

षट् कर्म

षट्कर्म उन छः क्रियाओं का नाम है, जिनके द्वारा शरीर का शोधन माना गया है। यह छः शोधन क्रियाएं स्थूलता और कफ वाले व्यक्ति को सबसे पहले करनी चाहिए। किन्तु जिन व्यक्तियों में त्रिदोषों (वात-पित्त-कफ) की समानता हो, उन्हें इन क्रियाओं के अभ्यास की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है। ये छः शोधन क्रियाएं इस प्रकार से हैं—धौति, बस्ति, नेति, त्राटक, नौलि और कपालभाति।[5]

---

1. गोरक्ष-संहिता—2/3
2. ह० प्र०—2/7-10
3. वही—2/16-17
4. वही—2/19-20
5. (क) वही—2/22
   (ख) घेरण्ड-संहिता—1/12

1. धौति

चार अंगुल चौड़ा, पन्द्रह हाथ लम्बा कपड़ा, जल में भिगोकर गुरु के निर्देश के अनुसार धीरे-धीरे निगलना चाहिए। पुन: इसे धीरे-धीरे बाहर निकालना चाहिए—इसे धौति-क्रिया कहते हैं।[1] जबकि घेरण्ड-संहिता के अनुसार अन्तधौति, दन्तधौति, हृद्धौति और मूलशोधन के भेद से धौतिकर्म चार प्रकार का माना गया है। इसके द्वारा योगी स्वशरीर को स्वच्छ एवं सुन्दर बनाते हैं।[2] इस धौतिक्रिया के फलस्वरूप खांसी, दमा, तिल्ली, कुष्ठ तथा अन्य बीस प्रकार के कफ-सम्बन्धी रोगों का नाश होता है।[3] इसके साथ ही क्रमश: नाड़ी समूहों पर नियन्त्रण पाकर साधकगण अपानवायु को ऊपर उठाकर कण्ठनली में लाकर, उदरस्थित पदार्थों (अन्न आदि) का वमन करते हैं। हठ-योग के जानकार इसे गजकरणी कहते हैं।[4]

2. बस्ति

नाभिपर्यन्त जल में स्थित होकर गुदा में एक नली का प्रवेश कराकर उत्कटासन में साधक गुदा का संकोचन कर जल द्वारा अन्दर के भाग का शोधन करे। इसी क्रिया को बस्ति क्रिया कहते हैं।[5] घेरण्ड-संहिता में बस्तिकर्म दो प्रकार का बताया गया है—(1) जलबस्ति और (2) शुष्कबस्ति। जलबस्ति जल में और शुष्कबस्ति स्थल में की जाती है।[6]

इस बस्ति-क्रिया के अभ्यास से गुल्म, प्लीहा, जलोदर तथा वात-पित्त-कफ से उत्पन्न होने वाले सभी दोष नष्ट हो जाते हैं, इससे त्रिदोषों का पूर्णत: निवारण हो जाता है, धातु, इन्द्रिय तथा अन्त:करण की प्रसन्नता होती है, जठराग्नि प्रदीप्त होती है तथा शरीर कामदेव के समान सुन्दर व आकर्षक बन जाता है।

3. नेति

चिकनी और लगभग नौ इंच लम्बी सूत से बनी सूत्र नेति को नासिका में डाल-

1. ह०प्र०—2/24
2. घेरण्ड-संहिता—1/13
3. ह० प्र०—2/25
4, वही—2/38
5. वही—2/27
6· घेरण्ड-संहिता—1/45

कर उसे मुख से बाहर निकालना ही नेति कर्म कहलाता है।[1]

इस क्रिया के अभ्यास से कपालप्रदेश की शुद्धि होती है। यह दिव्यदृष्टिप्रदायिनी है। इससे स्कन्ध प्रदेश से ऊपर होने वाले रोगसमूहों का नाश होता है। घेरण्ड-संहिता के अनुसार आधे हाथ लम्बा डोरा लेकर नासिका में डालकर मुख के द्वारा बाहर निकालना नेति कर्म कहलाता है। इसके साधन से खेचरी मुद्रा की सिद्धि कफ-दोषों की निवृत्ति और दिव्यदृष्टि उपलब्ध होती है।[2]

4. त्राटक

स्थिर दृष्टि से किसी सूक्ष्म लक्ष्य को एकाग्र होकर तब तक देखना जब तक आंख से आंसू न आ जाय। आचार्यों द्वारा यह त्राटक कर्म कहा गया है।[3]

इस त्राटक के द्वारा नेत्र रोगों का नाश होता है तथा तन्द्रा आदि की निवृत्ति होती है। अतः इस त्राटक को सोने की पेटी के समान महत्त्व देकर इसकी रक्षा करनी चाहिए।[4]

इस क्रिया में अपनी दृष्टि को किसी भी सूक्ष्म पदार्थ पर केन्द्रित करना चाहिए। यदि किसी वृक्ष के पत्तों पर अपनी दृष्टि को केन्द्रित किया जाये तो नेत्रों की ज्योति बढ़ती है। इसका अभ्यास धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिए। इसके सिद्ध होने पर मनुष्य की एकाग्रता बढ़ती है तथा वह किसी भी प्राणी को वशीभूत कर सकता है।

5. नौलि

स्कन्ध प्रदेश को (60 डिग्री) आगे की ओर झुकाकर तीव्र वेग वाले भंवर के समान उदर के दायें भाग को वाम भाग तथा वाम भाग को दाहिनी तरफ वेग से घुमाना चाहिए। सिद्धों ने इसे ही नौलिकर्म कहा है।[5]

नौलि क्रिया करने से पूर्व उड्डीयान बन्ध अवश्य लगाना चाहिए। इस क्रिया को करने से पहले सीधे खड़े होकर, दोनों पांवों में एक फुट के लगभग दूरी रख कर, दोनों

---

1. ह० प्र०—2/29
2. घेरण्ड-संहिता—1/50-51
3. ह० प्र०—2/31
4. वही—2/32
5. वही—2/33

हाथों से दोनों पाँवों के घुटनों को दबाते हुए वायु का रेचक करके पेट को पिचका कर मेरुदण्ड से लगाना चाहिए। इस क्रिया के पश्चात् नल तथा नाभि प्रदेश को ऊपर उठाने का अभ्यास करना चाहिए। इस क्रिया के चालीस दिन अभ्यास करने के बाद नल तथा नाभि अपने स्थल से ऊपर की ओर आ जाता है। तत्पश्चात् उस प्रदेश को उदर में भंवर के समान घुमाना चाहिए। इसी क्रिया को नौलि कर्म कहते हैं।

सदा प्रसन्नतावर्धक इस नौलि कर्म के प्रभाव से मन्द हुई जठराग्नि प्रदीप्त होती है तथा पाचन शक्ति में वृद्धि होती है। हठक्रिया में अग्रणी यह अनेक प्रकार के रोगों की नाशक है।[1]

6. कपालभाति

लुहार की धौंकनी के समान शीघ्रतापूर्वक श्वास का रेचक तथा पूरक करने को कपालभाति कहते हैं। इससे कफ आदि रोगों की निवृत्ति होती है।[2]

घेरण्ड-संहिता में इस क्रिया के तीन भेद बताये गये हैं—

(क) **वातक्रम**—इड़ा नाड़ी से वायु का पूरक और पिंगला से रेचन तत्पश्चात्, पिंगला से पूरक तथा इड़ा से रेचक।

(ख) **व्युत्क्रम**—दोनों नासारन्ध्रों से जल को खींचकर मुख से निकालना तथा मुख से पीकर दोनों नासारन्ध्रों से जल को निकालना।

(ग) **शीत्क्रम**—शीत्कार के साथ जल को मुख के द्वारा ग्रहण करके दोनों नासारन्ध्रों से निकालना।

उपर्युक्त निर्दिष्ट षट्क्रियाओं द्वारा मुटापा, कफ, पित्त और वात सम्बन्धी रोग तथा मल इत्यादि दोषों का निवारण करने के पश्चात् ही प्राणायाम करना चाहिए क्योंकि इससे प्राणायाम अनायास ही सिद्ध होता है।

कुछ आचार्यों का ऐसा मत है कि सभी प्रकार के मलों का केवल प्राणायाम से ही नाश हो जाता है। अतः वे अन्य क्रियाओं की आवश्यकता नहीं समझते।[3] सम्भवतः ऐसा प्रतीत होता है कि स्वयं हठयोगप्रदीपिकाकार ने इन षट् कर्मों की उपयोगिता को समझ कर उन षट् कर्मों का सविस्तार विवेचन किया है तथा उन्होंने पहले ही कह दिया है कि "इन षट् क्रियाओं को करने के बाद प्राणायाम अनायास ही सिद्ध हो जाता है।[4]

---

1. ह० प्र०—2/34
2. वही—2/35
3. वही—2/37
4. वही—2/36

प्राणायाम

प्राणायाम द्वारा स्वास्थ्य-सम्पादन की विधि दैवी चिकित्सा है। शरीरस्थ च्यवनप्रक्रिया को अश्विनीकुमार या प्राणायाम ही सम्यक् रोककर पुन: स्वास्थ्य और आयु की वृद्धि कर सकते हैं। शरीरस्थ रसों को फिर से यविष्ट बनाने वाली विधि भी प्राणायाम ही है। प्राचीन ऋषियों ने प्राणविद्या के रहस्य को जानकर जिस योगविधि का आविष्कार किया, अनन्तकाल तक यही विधि अमृततत्त्व और दीर्घ आयुष्म की प्राप्ति के लिए सर्वोत्कृष्ट मानी जाती रहेगी। प्राण की प्रतिष्ठा ही अमृततत्त्व है, प्राण की उत्क्रान्ति ही मृत्यु है। ब्रह्मचर्य ही प्राणप्रतिष्ठा का सर्वोत्तम मार्ग है। सर्व प्रकार की निर्विकारिता ही प्राणों को प्रकृतिस्थ क्षोभरहित रखती है।[1] साधारणत: हमारा चित्त जब संसारमुखी होता है तब श्वास भी बाहर की ओर विचरण करता है। इस श्वास की गति की ओर योगियों ने ध्यान दिया है। जब श्वास हमारी बायीं अथवा दाहिनी नासिका से चलता है तब संसार-वासना स्पन्दित होती है। सब जीवों का श्वासप्रवाह इन्हीं दो नासापुटों से प्रवाहित होता है, अतएव संसार-वासना किसी तरह निवृत्त नहीं होती। इसी कारण योगियों ने ऐसी चेष्टा की है कि श्वास बाहर की ओर गमनागमन न करे। बाहर की ओर गमनागमन करने का पथ इड़ा और पिंगला नाड़ी हैं और साधारणत: अज्ञानी की ज्ञाननाड़ी-सुषुम्ना-पथ बन्द रहता है। योगी इसीलिए इड़ा और पिंगला नाड़ी का द्वार बन्द करके सुषुम्ना मार्ग से प्राण को चलाने की चेष्टा करते हैं, अन्यथा मनुष्य के अन्दर वास्तविक ज्ञान का उदय होना सम्भव नहीं। हमें समस्त ज्ञान नाड़ी-पथ से होता है। ब्रह्मज्ञान भी नाड़ी-पथ से ही होता है, वह ब्रह्मज्ञान प्रवाहिका नाड़ी सुषुम्ना है। उसी से प्राण को चलाना ही प्राणायाम का वास्तविक उद्देश्य है।[2]

प्राणायाम का शाब्दिक अर्थ है···'प्राणस्य आयामो गतिरोध:' अर्थात् प्राण वायु अर्थात् श्वास-प्रश्वास की गति को रोकना ही प्राणायाम कहलाता है। आचार्य पातंजल के अनुसार आसन के सिद्ध होने पर श्वास-प्रश्वास की गति को रोकने का ही नाम प्राणायाम है।[3]

डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल के शब्दों में प्राणायाम के द्वारा प्राणवायु मात्र नहीं, अपितु दशों वायु वश में आ जाते हैं। परन्तु इसके लिए शरीर में वायु के आ जाने

---

1. कल्याण योगांक—पृ० 658
2. कल्याणांक—720
3. पातंजल योगदर्शन—2/49

के सब मार्ग बन्द कर देना आवश्यक होता है। शरीर के रोम-रोम में नाड़ी मुखों का अन्त है, जिनके द्वारा शरीर में पवन आता जाता है। इसी कारण कुछ योग-पन्थों में भस्म धारण आवश्यक बताया गया है। किन्तु वायु के यातायात के प्रधान द्वार नौ हैं। इन नौ द्वारों को बन्द रखना नाथपन्थी भाषा में 'वायुभक्षण' के लिए आवश्यक है। इस प्रकार जब वायु शरीर में व्याप्त हो जाता है तो बिन्दु स्थिर होकर अमृत का आस्वादन होता है और अनाहत नाद सुनाई देने लगता है, तथा स्वयं-प्रकाश आत्म-ज्योति के दर्शन होने लगते हैं।[1] कुम्भक के समय-भेद से प्राणायाम तीन प्रकार का होता है उत्तम मध्यम और कनिष्ठ। उत्तम प्राणायाम में कुम्भक 50 सेकण्ड का होता है, मध्यम 33 सेकण्ड का और कनिष्ठ प्राणायाम 16 सेकण्ड का होता है।

प्राणायाम	पूरक	कुम्भक	रेचक	बाह्य कुम्भक
कनिष्ठ	4	16	8	1
मध्यम	6	33	10 से 12	2
उत्तम	8	50	12 से 16	3

उत्तम प्राणायाम में प्रवेश होने के पश्चात् प्राणतत्त्व सुषुम्ना द्वारा मस्तिष्क में चढ़ने लगता है। आरम्भ में वह पिपीलिका (चींटी) के समान धीरे-धीरे सूक्ष्म परिमाण में ऊपर चढ़ता है। पश्चात् तीनों ग्रन्थिभाग के आगे नाड़ी के शेष भाग की शुद्धि होने पर मेढक की गति से कूदकर ऊपर चढ़ने लगता है और भस्त्रा प्राणायाम द्वारा कुम्भक बढ़ने से ग्रन्थियों के भेदन होने पर विहङ्गम (पक्षी) की तरह उड़कर शीघ्र प्राणतत्त्व सहस्रदलकमल में प्रवेश करता है। जब प्राणतत्त्व मस्तिष्क में जाने लगता है तब मस्तिष्क का शोधन हो जाता है और सहनशीलता भी बढ़ जाती है, जिससे कष्ट मालूम नहीं होता। एकाध वर्ष बाद जब प्राणतत्त्व अधिक वेग से गति करने लगता है तब मन की एकाग्रता होकर आनन्द का अनुभव होने लगता है।[2]

हठयोगप्रदीपिका में प्राणायाम के सम्बन्ध में कहा गया है कि विधिपूर्वक प्राणायाम के अभ्यास से समस्त नाड़ी समूहों के निर्मल होने पर प्राणवायु सुषुम्ना के मुख का भेदन कर उसमें सुखपूर्वक प्रविष्ट हो जाता है, इसका सुषुम्ना में प्रवेश होने पर मन में स्थिरता उत्पन्न होती है। मन का भली प्रकार से स्थिर हो जाना ही मनोन्मनी अवस्था कहलाता है।[3]

---

1. कल्याण का योगांक—पृ० 703
2. वही—पृ० 553
3. ह० प्र०—2/41-42

इसके अनन्तर हठयोगप्रदीपिका में कुम्भक भेद का निरूपण करते हुए कहा गया है कि 'सूर्यभेदन, उज्जायी, सीत्कारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा और प्लाविनी ये आठ प्रकार के कुम्भक होते हैं।[1] गोरक्ष-संहिता के अनुसार प्राणायाम तीन प्रकार का है।[2] योगकुण्डल्युपनिषद् के अनुसार प्राणायाम चार प्रकार का है—सूर्यभेदी, उज्जायी शीतली और भस्त्रिका।[3] शाण्डिल्योपनिषद् के अनुसार रेचक, पूरक और कुम्भक के भेद से प्राणायाम तीन प्रकार का है।[4]

हठयोगप्रदीपिका में प्राणायाम करने से पूर्व कुछ बातों को आवश्यक माना है कि पूरक के अन्त में जालन्धर बन्ध लगाना चाहिए और कुम्भक के अन्त तथा रेचक के प्रारम्भ में उड्डियान बन्ध करना चाहिए। जालन्धर बन्ध के पश्चात् नीचे के प्रदेश (गुदा) का शीघ्रता से आकुञ्च करना चाहिए इसी को मूलबन्ध भी कहते हैं। मूलबन्ध होने से तथा मध्यभाग (उदर) को पीछे की ओर दबाने से अर्थात् उड्डियान बन्ध लगाने पर प्राण सुषुम्ना में प्रवेश करता है।[5]

प्राणायाम के भेदों का निरूपण

1. सूर्यभेदन

योगाभ्यासी को सर्व प्रथम किसी भी प्रकार का आसन बिछाकर, उस पर सुखपूर्वक (कोई भी) आसन लगाना चाहिए। तदनन्तर दाहिने नथुने से बाहरी वायु को धीरे धीरे अन्दर खींचकर, उसे जब तक सम्भव हो सके अधिकाधिक रोककर बायें नथुने से धीरे-धीरे श्वास को छोड़ना चाहिए। इसी को सूर्यभेदी प्राणायाम कहते हैं। यह अभ्यास मस्तकप्रदेश को शुद्ध करता है, वात-सम्बन्धी रोगों का नाशक है, उदर में

1. (क) ह० प्र०—2/44
   (ख) घेरण्ड संहिता—5/55
2. गोरक्ष-संहिता—2/4-6
3. योगकुण्डल्युपनिषद्—21
4. शाण्डिल्योपनिषद्, षष्ठ खण्ड
5. (क) ह० प्र०—2/45-46
   (ख) मूलबन्ध, उड्डियान बन्ध और जालन्धरबन्ध के लिए मुद्रा निरूपण अध्याय द्रष्टव्य है।

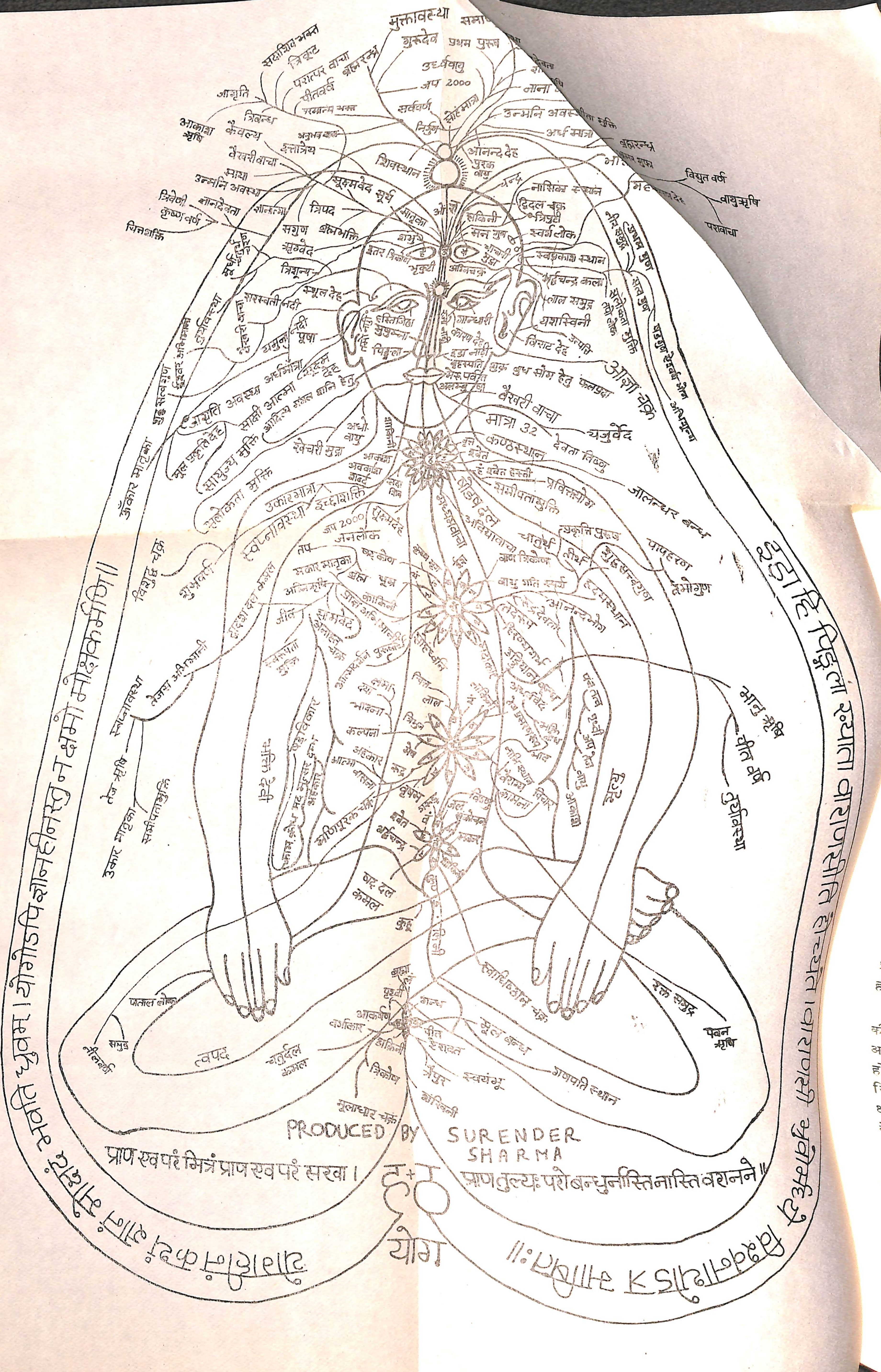

मुक्तावस्था
गुरुदेव प्रथम पुरुष
ऊर्ध्ववायु
जप 2000
सर्ववर्ण
निर्गुण
उन्मनि अवस्था
अर्ध मात्रा
आनन्द देह
शिवस्थान
सूक्ष्मवेद
त्रिपद
सगुण
ऋग्वेद
स्थूल देह
सरस्वती नदी
यमुना नदी
पूषा
गान्धारी
यशस्विनी
विराट देह
पिङ्गला
नासिका स्थान
द्विदल चक्र
हाकिनी
स्वर्ग लोक
लाल समुद्र
आज्ञा चक्र
वैखरी वाचा
मात्रा 32
यजुर्वेद
देवता विष्णु
कण्ठस्थान
जालन्धर बन्ध
सामीपता मुक्ति
सायुज्य मुक्ति
सालोकता मुक्ति
खेचरी मुद्रा
इच्छाशक्ति
उकार मात्रा
स्वप्नावस्था
जनलोक
तप
विशुद्ध चक्र
पापहरण
तमोगुण
मकार मातृका
अग्नि ऋषि
सामवेद
कल्पना
अहंकार
मणिपूरक चक्र
ऊँकार मातृका
भानु ऋषि
पीत वर्ण
तुरियावस्था
स्वाधिष्ठान चक्र
मूल बन्ध
स्वयंभू
गणपति स्थान
चतुर्दल कमल
त्वपद
पाताल लोक
समुद्र
नील वर्ण
पवन ऋषि
मूलाधार चक्र
PRODUCED BY SURENDER SHARMA
प्राण एव परं मित्रं प्राण एव परं सखा।
प्राणतुल्यः परो बन्धुर्नास्ति नास्ति वरानने॥
हठ
योग
इडा हि पिङ्गला ख्याता वाराणसीति होच्यते

उत्पन्न कृमि दोषों को दूर करने वाला है। अतः इस सूर्यभेदन नामक प्राणायाम का उत्तम अभ्यास पुनः पुनः करना चाहिए।[1]

इस प्राणायाम को ग्रीष्म ऋतु में तथा अधिक पित्त वाले व्यक्तियों के लिए निषिद्ध माना गया है। इस प्राणायाम के प्रभाव से कपाल प्रदेश में उत्पन्न श्लेष्म, वातवहा नाड़ियों के विकार, रक्तदोष, उदरसम्बन्धी समस्त रोगों का निवारण होता है। सूर्य अग्नि स्वरूप है। उसी पर इस प्राणायाम का नामकरण हुआ है क्योंकि इस प्राणायाम को करने से शरीर में उष्णता की वृद्धि होती है। घेरण्डसंहिता के अनुसार यह सूर्यभेद संज्ञक कुम्भक वृद्धावस्था तथा मृत्यु का नाश करने वाला है। इससे कुण्डलिनी शक्ति का जागरण होता है और शरीरस्थ अग्नि प्रदीप्त होती है।[2]

2. उज्जायी

मुख को बन्द कर दोनों नासारन्ध्रों से धीरे-धीरे इस प्रकार श्वास लेना चाहिए कि जिससे शब्द उत्पन्न हो, तथा जिससे कण्ठ से लेकर हृदय प्रदेश पर्यन्त उसके स्पर्श का अनुभव हो। पूर्ववत् कुम्भक करने के उपरान्त श्वास का इड़ा नाड़ी से रेचक कर देना चाहिए। इससे कण्ठ में उत्पन्न होने वाले कफ दोष दूर होते हैं तथा जठराग्नि प्रदीप्त होती है तथा नाड़ी सम्बन्धी, जलोदर और धातु सम्बन्धी रोगों का निराकरण होता है। अतः इस प्राणायाम का अभ्यास चलते हुए तथा बैठते हुए भी करना चाहिए।[3]

योगकुण्डल्युपनिषद् के अनुसार इस प्राणायाम के निरन्तर अभ्यास से मस्तिष्क की उष्णता, गले का कफ और अन्य अनेक प्रकार के रोग दूर हो जाते हैं और देह की अग्नि की वृद्धि होती है।[4] इस प्राणायाम के प्रभाव से उदर सम्बन्धी रोगों का निवारण होता है। हृदय की धड़कन न्यून होती है। घेरण्ड-संहिता के अनुसार इससे पूर्ण कार्य सिद्ध हो जाते हैं, कफरोग, क्रूर वायु और अजीर्ण की उत्पत्ति नहीं होती। आमवात, क्षय, कांस, ज्वर, प्लीहा आदि रोगों की उत्पत्ति नहीं होती। यहां तक कि इस प्राणायाम के सिद्ध होने पर जरा-मरण का भी नाश हो जाता है।[5]

---

1. ह० प्र०—2/48-50
2. घेरण्ड संहिता—5/67
3. ह० प्र०—2/51-53
4. योगकुण्डल्युपनिषद्—28
5. घेरण्ड-संहिता—5/70-71

3. सीत्कारी

जिह्वा को दोनों ओष्ठों के मध्य रखकर मुख से सीत्कार करते हुए वायु का पूरक करना चाहिए तथा (वायु का) रेचक केवल नासारन्ध्र से ही करना चाहिए। इस प्रकार के अभ्यास से अभ्यासी कामदेव के समान सुन्दर बन जाता है।

वह योगाभ्यासी योगिनी समूहों द्वारा प्रशंसा प्राप्त करता है, वह सृष्टि और संहार करने में भी समर्थ होता है, और उसे कभी भी भूख-प्यास, निद्रा तथा आलस्य नहीं सताता। इस (प्राणायाम) का अभ्यासी बलयुक्त होकर शरीर पर नियन्त्रण प्राप्त करके सभी प्रकार के उपद्रवों से बचा रहता है और इस भूमिमण्डल में एक विख्यात योगी के रूप में प्रसिद्ध हो जाता है।[1]

इस प्राणायाम के निरन्तर अभ्यास से रक्त की शुद्धि, उदर के रोगों का नाश, आलस्य का निवारण तथा मानसिक स्थिरता की प्राप्ति होती है। इसके अभ्यास से मुख पर पड़ने वाली झाईयां, झुरियाँ तथा पीलापन दूर होता है। यह प्राणायाम पित्तप्रकोप का शमन करके शरीर को सुन्दर बनाता है। भूख, प्यास और गर्मी के समय में यह अत्यन्त लाभकारी प्राणायाम माना जाता है।

4. शीतली

काकचंचुवत् जिह्वा को गोल बनाकर उसे दोनों ओष्ठों के मध्य स्थापित करके श्वास का पूरक करने के पश्चात् कुम्भक का अभ्यास करना चाहिए। तत्पश्चात् धीरे-धीरे बुद्धिमान् योगाभ्यासी को दोनों नासारन्ध्रों के द्वारा वायु को बाहर निकाल देना चाहिए।

इस शीतली कुम्भक के अभ्यास से गुल्म, प्लीहा आदि अनेक रोग, ज्वर, पित्त, भूख, प्यास इत्यादि विकार तथा विष का प्रभाव भी नष्ट हो जाता है।[2]

घेरण्ड-संहिता एवं योगकुण्डल्युपनिषद् में भी इसके लाभों का वर्णन उपलब्ध होता है कि इस प्राणायाम के अभ्यास से अजीर्ण, कफ-पित्त, गुल्म, प्लीहा, तृषा, ज्वर तथा विष सदृश रोगों का नाश होता है।[3]

---

1. ह० प्र०—2/54-56
2. ह० प्र०—2/57-58
3. (क) घेरण्ड-संहिता—5/73
   (ख) योगकुण्ड०—31

इसके अतिरिक्त इससे शरीर में तेजस्विता तथा सुन्दरता की वृद्धि होती है और इससे उदर के कीड़ों का नाश एवं जठराग्नि प्रदीप्त होती है। यह प्राणायाम उच्च-रक्तचाप वालों के लिए बहुत अच्छा माना गया है। किन्तु सर्दी, जुकाम आदि से पीड़ित जनों को इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए।

5. भस्त्रिका

सम्यक् प्रकार से पद्मासन लगाकर, मेरुदण्ड तथा गर्दन को सीधा कर बुद्धिमान् को चाहिए कि मुख को बन्द करके उदरस्थ वायु को किसी भी एक नासारन्ध्र से यत्नपूर्वक इस प्रकार से बाहर निकाल दे कि शब्द करती हुई वायु हृदय, कण्ठ, तथा कपाल प्रदेश का स्पर्श करे। रेचक करने के उपरान्त शीघ्र ही वेगपूर्वक पुनः वायु का हृदय कमल पर्यन्त ग्रहण करना चाहिए। पुनः उपर्युक्त रीति से वायु का रेचक और पूरक करे। इस क्रिया को बार-बार उसी प्रकार से करना चाहिए जिस प्रकार लुहार के द्वारा वेगपूर्वक धौंकनी चलायी जाती है। इसका अभ्यास तब-तक करना चाहिए जब तक शरीर में थकान न आ जाये। थकावट होने पर साधक को दायें नासारन्ध्र से श्वास का ग्रहण करना चाहिए, जब वायु द्वारा उदर पूर्णरूप से भर जाये तब नासिका को मध्यमा तथा तर्जनी अँगुलियों से दृढ़ता रहित धारणा कर विधिपूर्वक कुम्भक कर वामनासारन्ध्र से वायु का रेचक करना चाहिए। इस प्रकार यह भस्त्रिका प्राणायाम वात-पित्त-कफ इत्यादि रोगों का निवारण करता है तथा इससे जठराग्नि प्रदीप्त होती है। इस प्राणायाम के निरन्तर अभ्यास से सुषुम्ना के मुख पर जमें हुए कफ आदि दोषों का नाश होता है फलस्वरूप सुखदायी तथा हितकारी प्राणवायु शीघ्र ही कुण्डली को जगाता है।

इसके अतिरिक्त यह भस्त्रिका प्राणायाम शरीर की तीनों ग्रन्थियों का सम्यक् प्रकार से भेदन करता है। अतः इसका अभ्यास विशेष रूप से करना चाहिए।[1] आरम्भिक काल में इस प्राणायाम का अधिक अभ्यास नहीं करना चाहिए क्योंकि अधिक करने पर फुफ्फुसकोष पर ज्यादा दबाव पड़ने का भय रहता है।

6. भ्रामरी

इस प्राणायाम में वेगपूर्वक भ्रमर के समान आवाज करते हुए दोनों नासारन्ध्रों

---

1. ह० प्र०—2/59-67

से श्वास का पूरक कर भ्रमरी के समान शब्द करते हुए ही श्वास को बाहर निकाल देना चाहिए। यह रेचक क्रिया धीरे-धीरे करनी चाहिए। इसके निरन्तर अभ्यास से श्रेष्ठ साधकों के चित्त आनन्दयुक्त हो जाते है।[1]

स्वामी श्री कृष्णानन्द जी 'प्राणायामविषयक मेरा अनुभव' में लिखते हैं कि "सिद्धासन लगाकर नेत्र बन्द कर लें और भ्रू में लक्ष्य रखें तथा जालन्धर बन्ध लगा हो। इस प्राणायाम के समय जालन्धर बन्ध बराबर लगा रहना चाहिए।" फिर दोनों नासा-पुटों से भ्रमर के नाद के समान स्वरसहित पूरक करें। पश्चात् 3 सेकण्ड कुम्भक करके शनैः शनैः आवाज सहित रेचक करें। इस प्रकार 144 प्राणायाम करें। सुनते हैं कि भ्रामरी और मूर्छा कुम्भक का बौद्ध सम्प्रदाय में अधिक प्रचार था। इस कुंभक की पाँच अवस्थाएं हैं। प्रथमावस्था में कुछ दिन पूरक करके पश्चात् कुम्भक के समय महामुद्रा की जाती है। नियमपूर्वक तीन सेकण्ड का कुम्भक होने पर पुनः सिद्धासन लगा कर रेचक किया जाता है। पहले बायें पैर से, पीछे दाहिने पैर से, पश्चात् दोनों पैर फैला-कर महामुद्रा करके इस प्राणायाम का अभ्यास किया जाता है। दूसरे प्राणायामों के साथ की जाने वाली महामुद्रा में और भ्रामरी के साथ की इस महामुद्रा को कोई-कोई साधक 48 से 72 तक करते हैं। इसलिए एक वर्ष के पश्चात् जानु से 6 इंच आगे और गुल्फ से 10 इंच ऊपर के भाग में कपाल लग जाता है।

पहली अवस्था की सिद्धि होने के बाद दूसरी अवस्था में खेचरी करके 6 सेकण्ड का कुम्भक होता है और एक समय विधि के अनुसार मस्तिष्क को बायें से दाहिनी तरफ घुमाकर जालन्धर बन्ध लगाकर रेचक किया जाता है। इस रीति से 144 कुम्भक में 144 बार मस्तिष्क के घुमाने की क्रिया करनी पड़ती है। इस प्रकार तीसरी, चौथी और पाँचवीं अवस्था में कुम्भक बढ़ाया जाता है, तथा मस्तिष्क भी अधिक समय घुमाया जाता है। मस्तिष्क घुमाने की क्रिया से मस्तिष्क में प्राणतत्त्व चारों और चक्कर लगता हुआ प्रतीत होता है। इस प्राणायाम की क्रिया के बाद नाद बहुत जोर से उठता है। इस-लिए मन की एकाग्रता शीघ्र होती है।[2]

7. मूर्च्छा

श्वास का पूरक करने के बाद दृढ़तापूर्वक जालन्धर बन्ध लगाकर यथाशक्ति कुम्भक करे। पुनः श्वास को धीरे-धीरे बाहर निकाले। यह मूर्च्छना नामक प्राणायाम मस्तिष्क में मूर्च्छा उत्पन्न करने वाला तथा सुखदायी है।[3]

---

1. ह० प्र०—2/68
2. कल्याण का योगांक—पृ० 560-61
3. ह० प्र०—2/69

इस प्राणायाम को एक बार साध लेने पर भ्रामरी वाले सिद्धासन में तथा दूसरे अन्य प्राणायामों को सिद्ध करने वाले शवासन में भी नादानुसन्धान कर सकते हैं। वैसे इस प्राणायाम का अभ्यास भ्रामरी प्राणायाम के सिद्ध हो जाने पर ही करना श्रेयस्कर माना जाता है। इसके सिद्ध होने पर रेचक के समय जब नेत्रों को बन्द कर भ्रूमध्य में ध्यान लगाया जाता है तब वहाँ से प्राण तत्त्व का हल्का नीला (हल्के नीलम नग जैसा) प्रकाश दिखाई देता है। इसके निरंतर अभ्यास से मन शांत होता है। बाह्य विषयों से चित्तवृत्ति हटकर ध्येय विषय पर केन्द्रित होती है और मन आत्मा में रमण करने लगता है। इसके निरंतर अभ्यास से कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होती है तथा योगी समाधि की अवस्था को प्राप्त होता है। कुछ विद्वानों के मतानुसार यह समाधि की प्रथमावस्था कही गई है। यहाँ पर यह बात विशेष ध्यातव्य है कि उच्च रक्तचाप वालों के लिए यह प्राणायाम विर्वजित है।

घेरण्ड-संहिता के अनुसार पूर्वोक्त कुम्भक को करके विषयों से हटाकर मन को भौंहों के मध्य में स्थित आज्ञाचक्र में लगावें और इस पद्म में विद्यमान परमात्मा में लीन कर दें। इस मूर्च्छा कुम्भक की सिद्धि से आनन्द की प्राप्ति होती है, यह सत्य है।[1]

8. प्लाविनी

दोनों नासारन्ध्रों से उदर को पर्याप्त मात्रा में श्वास द्वारा पूर्ण रूप से भर लें, फिर धीरे-धीरे उसका रेचक करें। इसका अभ्यासी अथाह जल में भी कमलपत्र के समान आसानी से उतर सकता है।[2]

यह प्राणायाम उदर सम्बन्धी समस्त रोगों का निवारण करता है, जठराग्नि प्रदीप्त होती है। उदर सम्बन्धी अनावश्यक कीटों का नाश, कब्ज का निवारण तथा वायु सम्बन्धी समस्त रोग इससे दूर होते हैं। इस प्राणायाम में मन की परमात्मा में लीनता, कुण्डलिनी शक्ति का जागरण तथा सिद्धियों की प्राप्ति के साथ-साथ यह प्राणायाम समाधि में भी अत्यन्त सहायक होता है। इसके अतिरिक्त इस प्राणायाम का चालीस दिन अभ्यास करने से शरीर हल्का, वीर्य की वृद्धि तथा रक्त की शुद्धि होती है। उदर में वायु के विद्यमान रहने पर, साधक पानी में कमल पत्र की भाँति विचरण कर सकता है।

घेरण्ड-संहिता में प्राणायाम का आठवाँ भेद 'प्लाविनी' न मानकर 'केवली' प्राणायाम माना है। केवली कुम्भक में श्वास और प्रश्वास के साथ सोऽहं का उच्चारण

1. घेरण्ड-संहिता—5/82
2. ह० प्र०—2/70

आवश्यक है[1] जबकि हठयोग प्रदीपिकाकार ने कुम्भक के दो भेद सहित कुम्भक और केवल कुम्भक माने हैं।[2]

(क) **सहित कुम्भक**—जब प्राणायाम रेचक और पूरक के साथ किया जाए तब वह सहित कुम्भक कहलाता है और जब तक केवल कुम्भक की सिद्धि न हो जाए तब तक सहित कुम्भक का ही अभ्यास करना चाहिए।

(ख) **केवल कुम्भक**—रेचक-पूरक के बिना अपने आप जो उदर में वायु का धारण होता है, वह केवल कुम्भक कहा जाता है। इस केवल कुम्भक की सिद्धि होने पर उस साधक के लिए तीनों लोकों में कुछ भी दुर्लभ नहीं रह जाता। इसका साधक अपनी इच्छानुसार वायु धारण करने में सक्षम होकर राजयोग पद की प्राप्ति करता है। इसके निरन्तर अभ्यास से कुण्डलिनी का जागरण तथा उससे सुषुम्ना नाड़ी मल रहित होती है और हठयोग में सिद्धि की प्राप्ति होती है।[3]

प्राणायाम की समाप्ति कर ग्रन्थकार हठयोग सिद्धि का लक्षण देते हुए कहते हैं कि शरीर में हल्कापन, मुख पर प्रसन्नता, स्वर में सौष्ठव, नयन की तेजस्विता, रोग का अभाव, बिन्दु पर नियंत्रण, जठराग्नि की प्रदीप्ति तथा नाड़ियों की विशुद्धि, ये सब हठसिद्धि के लक्षण हैं।[4]

---

1. घेरण्ड-संहिता—5/83-86
2. ह० प्र०—2/71
3. ह० प्र०—2/72-75
4. वही—2/78

अध्याय-5

मुद्रा-निरूपण

प्राणायाम के सिद्ध होने पर मुद्राओं का अभ्यास कुण्डलिनी जागरण हेतु परमावश्यक है। मुद्राओं के निरूपण से पूर्व मुद्राओं के महत्त्व तथा प्रयोजन की चर्चा यहाँ आवश्यक प्रतीत होती है। शास्त्रों में तो स्पष्ट उक्त है कि बिना प्रयोजन के तो मंद भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता अतएव इनका प्रयोजन बताते हुए ग्रन्थकार ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि ब्रह्मरन्ध्र के द्वार पर प्रसुप्त कुण्डली को जगाने हेतु सब प्रयत्नों द्वारा मुद्राओं का अभ्यास करना चाहिए।[1]

योग तन्त्रों में कुण्डलिनी कोई नवीन वस्तु नहीं है। इसका वर्णन हठयोग के ग्रन्थों तथा उपनिषदों में प्राप्त होता है, इसका दूसरा नाम आधार शक्ति है और वह सभी पदार्थों को आश्रय देती हुई उन सबकी मूल सत्ता के रूप में विद्यमान रहती है। छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि हृदय की 101 नाड़ियाँ हैं तथा उनमें से एक मस्तक में प्रवेश करके अमरता की उपलब्धि कराती है। अन्यों से अमरत्व की प्राप्ति नहीं होती।[2] यह कुण्डलिनी शक्ति चैतन्य सम्पादन करने के कारण निरालम्ब होकर शुद्ध चित्तस्वरूप में स्थित हो जाती है। यदि यह आधारशून्य हो जाएगी तो समस्त संसार की वस्तुएं भी आधारहीन होकर नष्ट हो जायेंगी। ग्रन्थकार के शब्दों में जिस प्रकार पर्वतों तथा वनों से युक्त सम्पूर्ण पृथ्वी का आधार शेषनाग है, उसी प्रकार सभी योग यन्त्रों का आधार कुण्डली है।[3] और जब गुरु के प्रसाद से यह प्रसुप्त कुण्डली जग जाती है, तब

---

1. (क) ह० प्र०—3/5
   (ख) शिव-संहिता—4/14
2. छान्दोग्योपनिषद्—8/6/6
3. ह० प्र०—3/1

सभी पद्म (मूलाधार, स्वाधिष्ठान आदि) तथा सभी ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं।[1] और जब तक यह देह में सोई रहती है तब तक जीव पशु के समान रहता है तथा असंख्य योगाभ्यास करने पर भी उसको ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती।[2] इसके जागरण पर सुषुम्ना मार्ग प्राण हेतु राजपथ के समान सुखदायी हो जाता है। चित्तविषयों से हट जाता है तथा मृत्युभय नष्ट हो जाता है। इस सुषुम्ना नाड़ी के कई पर्यायवाची शब्द हैं जैसे शून्य पदवी, ब्रह्मरन्ध्र, महापथ, श्मशान, शाम्भवी और मध्य मार्ग।[3]

अतः इसी कुण्डलिनी शक्ति को जगाने के लिए ही मुद्राओं का अभ्यास करना चाहिए। इन मुद्राओं की संख्या दस है—महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, उड्यानबन्ध, मूलबन्ध, जालंधर बन्ध, विपरीत करणी, वज्रोली और शक्तिचालन।[4]

जबकि घेरण्ड संहिता में इनकी संख्या पच्चीस और गोरक्ष-संहिता में इनकी संख्या पाँच बताई गई है।[5] शिव-संहिता में मुद्राओं की संख्या दस बताते हुए इनको क्रमशः उत्तमोत्तम कहा है।[6]

हठयोग के अतिरिक्त मुद्राओं का उल्लेख तन्त्र साहित्य में भी प्राप्त होता है। इनका नाम क्रमशः डोम्बि, नटी, रजकी, ब्राह्मणी और चण्डाली है तथा इनकी संख्या पाँच मानी गई है।[7]

1. महामुद्रा

वाम पैर की एड़ी से सीवनी नाड़ी को दबाएँ तथा दाहिने पैर को भूमि पर फैला कर दोनों हाथों से दृढ़ता पूर्वक पकड़ लें तदुपरान्त जालन्धर बन्ध लगाकर वायु को ऊपर की ओर ले जाकर रोकना चाहिए। जिस प्रकार डण्डे की चोट से सर्प दण्ड के समान सीधा हो जाता है उसी प्रकार मुद्राओं के निरन्तर अभ्यास से कुण्डलिनी शक्ति सहसा

---

1. (क) वही—3/2
   (ख) शिव-संहिता—4/13
2. घेरण्ड-संहिता—3/50
3. ह० प्र०—3/3-4
4. वही—3/6-7
5. (क) घेरण्ड-संहिता—3/1-3
   (ख) गोरक्ष-संहिता—1/56
6. शिव-संहित—4/58
7. Studies in the Tantras Part I by Prabodh Chandra Bagchi, Published by the university of Calcutta—1939

सीधी हो जाती है और तब इड़ा और पिंगला मृतवत् हो जाती हैं तथा वायु सुषुम्ना मार्गी हो जाता है। इसके बाद योगी को धीरे-धीरे श्वास का रेचक करना चाहिए, अत्यन्त शीघ्रता से नहीं। श्रेष्ठ योगियों ने इसी को महामुद्रा कहा है। महासिद्धों द्वारा बताई गई इस महामुद्रा के अभ्यास से महाक्लेश आदि दोष तथा मृत्यु का भय समाप्त हो जाता है। इसी कारण विद्वानों में श्रेष्ठों ने इसे महामुद्रा कहा है।

चन्द्र नाड़ी से अभ्यास करने के पश्चात् सूर्य नाड़ी से अभ्यास एवं जब दोनों की संख्या समान हो जाए तब इस मुद्रा को विसर्जित करना चाहिए। इस महामुद्रा के अभ्यासी के लिए पथ्य भोजन तथा अपथ्य भोजन नहीं रह जाता, रसहीन वस्तु भी रसयुक्त हो जाती है तथा विषतुल्य कुत्सितान्न भी अमृत के समान बन जाता है। महामुद्रा के अभ्यास से अभ्यासी के क्षय, कुष्ठ, कोष्ठबद्धता, गुल्म, अजीर्ण तथा अनेक प्रकार के उत्पन्न होने वाले रोग नष्ट हो जाते हैं। इस महामुद्रा को जो कि मनुष्य को महासिद्धि प्रदायक है, प्रयत्नपूर्वक गुप्त तथा किसी अधर्मी को नहीं बतानी चाहिए।[1]

गोरक्ष-संहिता[2] तथा घेरण्ड-संहिता[3] में भी इनके लाभों की चर्चा करते हुए बताया गया है कि इसके निरन्तर अभ्यास से क्षय, कुष्ठ, गुल्म, अजीर्ण आदि रोग नष्ट हो जाते हैं।

2. महाबन्ध

वाम चरण को एड़ी की सीवनी नाड़ी पर लगायें तथा दक्षिण चरण को वाम-जङ्घा पर दृढ़तापूर्वक स्थापित करें। तत्पश्चात् वायु का पूरक करके चिबुक को कण्ठकूप पर दृढ़तापूर्वक रखें। तब मूल बन्ध लगाते हुए मन को सुषुम्ना में लगाना चाहिए। यथाशक्ति कुम्भक करने के पश्चात् धीरे-धीरे वायु का रेचक करना चाहिए। इस प्रकार वायीं ओर से अभ्यास करने के बाद पुनः दायीं तरफ से अभ्यास करना चाहिए।

कुछ आचार्यों के मत को उद्धृत करते हुए हठयोग प्रदीपिकाकार कहते हैं कि जालन्धर बन्ध नहीं लगाना चाहिए अपितु जालन्धर बन्ध की अपेक्षा जिह्वा-बन्ध ही श्रेयस्कर है क्योंकि इससे प्राणों की गति ब्रह्मरन्ध्र की ओर हो जाती है।

यह महाबन्ध निश्चित ही महान् सिद्धियों का प्रदाता है तथा इसके अभ्यास से

---

1. ह० प्र०—3/10-18
2. गोरक्ष-संहिता, प्रथम शतक
3. घेरण्ड-संहिता—3/6-7

सभी नाड़ियों की ऊर्ध्वगामिता रुक जाती है। यह महाबन्ध कालपाश को तोड़ने में सामर्थ्य रखता है, इसके अभ्यास से तीनों धाराओं (इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्ना) का संगम होता है तथा मन भृकुटि (शिव स्थान) में लगने लगता है।[1] योगकर्णिका में कहा गया है कि यह त्रिवेणी सङ्गम को प्राप्त करता है तथा मन केदार में रमण करता है।[2]

3. महावेध

महावेध की महत्ता का वर्णन हठयोगप्रदीपिका[3] तथा घेरण्डसंहिता[4] में इस प्रकार से किया गया है कि जिस प्रकार रूपयौवनसम्पन्ना स्त्री पुरुष के बिना व्यर्थ होती है, उसी प्रकार महामुद्रा तथा महाबन्ध ये दोनों ही महावेध के बिना व्यर्थ ही हैं। इसके अनन्तर इसकी प्रक्रिया निर्धारित करते हुए कहा गया है कि योगी को महाबन्ध लगाकर मन को एकाग्रचित्त कर श्वास को ग्रहण करने के पश्चात् जालंधर बन्ध द्वारा वायु की गति का निरोध करना चाहिए।

तदुपरान्त दोनों हथेलियों को भूमि पर लगाकर सम्पूर्ण शरीर को तुला के समान दोनों हथेलियों पर उठा लेवें। इसके अनन्तर धीरे-धीरे नितम्ब प्रदेश को भूमि पर ताड़न करें। ऐसा करने से प्राणवायु दोनों नासारन्ध्रों को छोड़कर सुषुम्नावाही हो जाता है।

सोम (इड़ा) सूर्य (पिङ्गला) अग्नि (सुषुम्ना) इन तीनों का परस्पर सम्बन्ध होने पर अमरता की प्राप्ति तथा मृतावस्था की उत्पत्ति होने पर अर्थात् इड़ा और पिंगला के निष्क्रिय होने पर वायु का सुषुम्ना से रेचन करना चाहिए।

इस महावेध के अभ्यास से अभ्यासी को महासिद्धियों की प्राप्ति, झुर्रियों, वालों का पकना तथा शरीर का कांपना बन्द होता है। इसलिए श्रेष्ठ साधक इसका अभ्यास करते हैं।

इन तीनों (महामुद्रा, महाबन्ध और महावेध) को अत्यन्त गुप्त रखना चाहिए। ये तीनों वृद्धावस्था और मृत्यु का विनाश करती हैं, इनके अभ्यास से जठराग्नि प्रदीप्त होती है तथा ये अणिमा आदि सिद्धियों की प्रदाता मानी जाती हैं।

प्रतिदिन तीन घंटे तक आठ बार इनका अभ्यास करना चाहिए। ये (साधक को) सभी द्रव्यों को देने वाली और सभी प्रकार के पापों को नष्ट करने वाली हैं। अच्छे

---

1. ह० प्र०—3/19-24
2. योगकर्णिका—8/38
3. ह० प्र०—3/25
4. घेरण्ड-संहिता—3/21

जानकार साधकों को भी इनका अभ्यास प्रारम्भ काल में अल्प मात्रा में ही करना चाहिए।[1]

शिव-संहिता में कहा गया है कि जो साधक प्रतिदिन इन मुद्राओं का चार बार अभ्यास करता है वह केवल छः मास में ही मृत्यु पर विजय पाता है।[2]

4. खेचरी

योग-विज्ञान में यह तथ्य सर्वविदित है कि हमारे तालुमूल में एक विवर से चन्द्र-रसरूपी अमृत स्रवित होता रहता है तथा जो नाभि प्रदेश पर पहुंच कर भस्म हो जाता है, उसका नष्ट होना ही मृत्यु का हेतु है। अतः उसको यत्नपूर्वक नाभि प्रदेश तक न पहुंचने देना ही खेचरी मुद्रा कहलाती है। इस मुद्रा की प्रक्रिया में जिह्वा को इतना दीर्घ करना चाहिए कि वह भृकुटि प्रदेश का स्पर्श करने लगे। तब उसको वापिस मुख में उलट कर उस विवर तक ले जाकर उससे स्रवित होने वाले सार को जिह्वा द्वारा ग्रहण करना चाहिए, ऐसा करने से मृत्यु का भय सदा के लिए समाप्त हो जाता है। स्वयं ग्रन्थकार के अनुसार जिह्वा को उलटकर कपाल-छिद्र में प्रवेश कराने के पश्चात् दृष्टि को भृकुटि पर स्थापित करने से खेचरी मुद्रा कहलाती है। खेचरी मुद्रा की सिद्धि के लिए जिह्वा का छेदन, चालन और दोहन इन तीन क्रियाओं को तब तक करते रहना चाहिए जब तक जिह्वा का स्पर्श भृकुटि पर न हो जाए। जिह्वा की छेदन, चालन और दोहन प्रक्रिया बताते हुए आगे कहा गया है कि स्नुही के पत्ते के समान धार वाले चिकने और निर्मल शस्त्र के द्वारा जिह्वा को रोममात्रा में काट दें। तत्पश्चात् सैन्धव नमक तथा हरड़ के चूर्ण को सात दिन तक कटे हुए भाग पर मलना चाहिए। सात दिन पश्चात् पुनः रोम मात्रा में काट दें। साधक इसी क्रम का षट्मास पर्यन्त प्रति दिन अभ्यास करता रहे। छः मास तक इसी क्रिया को करने से जिह्वा मूल का आवरण हट जाता है।

तदनन्तर जिह्वा को उलटकर कपाल छिद्र में लगाना चाहिए, इसी को खेचरी मुद्रा तथा इसी को व्योमचक्र भी कहते हैं।

जो साधक आधे क्षण भी जिह्वा को विपरीत कर कपाल छिद्र में लगाता है, वह शीघ्र ही विष, रोग, मृत्यु तथा वृद्धावस्था आदि से मुक्त हो जाता है। जो खेचरी मुद्रा को जान जाता है, उसे रोग, मृत्यु, तन्द्रा, निद्रा, भूख, प्यास तथा मूर्च्छा आदि से मुक्ति

---

1. ह० प्र०--3/26-31
2. शिव-संहिता—4/28

मिल जाती है। वह कर्मों में लिप्त तथा काल से भी बाधित नहीं होता। इसमें चित्त भृकुटि रूपी शून्य में विचरण करता है तथा जिह्वा कपाल-कुहर रूपी आकाश में स्थित रहती है, इसी कारण से सिद्ध लोग इसे खेचरी मुद्रा कहते हैं, इस के द्वारा जिस योगी ने जिह्वा को उलटकर कपाल छिद्र को बन्द कर लिया है, उसका बिन्दु कामिनी के द्वारा आलिङ्गित होने पर भी स्खलित नहीं होता अर्थात् उसके बिन्दु की रक्षा होती है। यदि वह बिन्दु कदाचित् स्खलित हो जाए तथा योनि-मण्डल को प्राप्त कर ले तो भी वह बिन्दु योनिमुद्रा के द्वारा निबद्ध होने पर भी शक्ति से खींचकर ऊर्ध्वगामी हो जाता है। जो योगवित् स्थिर रहकर जिह्वा को उलटाकर सोमपान करता है वह अर्धमास में ही मृत्यु पर विजय प्राप्त करता है, इसमें संशय नहीं क्योंकि जिस योगी का शरीर प्रतिदिन सोमद्रव्य से पूर्ण रहता है उसको सर्पदंश का विष नहीं चढ़ता तथा जिस प्रकार अग्नि लकड़ी को और दीपक तेल तथा बाती को नहीं त्यागता, उसी प्रकार सोमद्रव्य से पूर्ण देही को आत्मा नहीं त्यागती। जिह्वा के प्रवेश से उत्पन्न अग्नि से जो चन्द्रद्रव्य स्रवित होता है, उसी को अमरवारुणी कहते हैं और यदि जिह्वा का अग्रभाग सदा कपालछिद्र का चुम्बन कर, उससे स्रवित होने वाले स्राव का ग्रहण करता रहे, तो जिह्वा को क्रमशः लवण, तीखा, खट्टा, दुग्ध, मधु तथा घृत के समान रसों का आस्वादन होने लगेगा।[1] उसके समस्त रोगों का नाश, वृद्धावस्था का निवारण, शस्त्र का प्रभाव नष्ट तथा अणिमा आदि अष्टसिद्धियों की प्राप्ति के साथ-साथ उसके प्रति सिद्धांगनाएँ आकर्षित होती हैं।

जिह्वा को कपाल छिद्र में स्थिर करके ऊर्ध्व स्थित पराशक्ति का चिन्तन करते हुए, प्राणायाम के द्वारा षोडशदल-कमल से स्रवित निर्मल धारा की तरङ्गों के समान चन्द्ररस का जो साधक पान करता है, वह कमल डण्ठल के समान कोमलकाय प्राप्त कर व्याधि रहित होकर दीर्घायु को प्राप्त करता है।

ज्ञान के जनक तथा पांच स्रोतों (दो नाक, दो कान तथा एक मुख) से युक्त छिद्र जो कि ज्ञानयुक्त शून्य है उसी में खेचरी मुद्रा रहती है। जिस प्रकार से सृष्टि का मूल बीज प्रकृति है, देवों में श्रेष्ठ परमात्मा है और अवस्थाओं में एकमात्र अवस्था मनोन्मनी अवस्था है, उसी प्रकार मुद्राओं में एकमात्र खेचरी मुद्रा मानी गई है।[2]

5. उड्डीयान बन्ध

इसके नामकरण विषयक प्रसङ्ग के अनुसार सुषुम्ना नाड़ी में निरुद्ध प्राण-वायु

---

1. घेरण्ड-संहिता—3/31-32
2. ह० प्र०—3/32-53

इस बन्ध के द्वारा ऊर्ध्वगामी किया जाता है, क्योंकि इससे प्राणवायु रूपी पक्षी निरन्तर क्सुषुम्नामार्ग से शून्य में उड़ान भरता रहता है, इसीलिए इसे उड्डीयान कहा जाता है। इस बन्ध की प्रक्रिया निर्धारित करते हुए निर्दिष्ट है कि साधक को रेचक करने के उपरान्त नाभिस्थल को ऊपरी की ओर तथा उदर को नीचे और पीछे की ओर खींचकर मेरुदण्ड के साथ लगाना चाहिए। यह उड्डीयान बन्ध मृत्यु रूपी गज हेतु सिंह के समान है।

योगकुण्डल्युपनिषद् में इसको प्रथम स्थान न देकर द्वितीय स्थान पर रखा गया है।[1]

यदि कोई वृद्ध भी गुरु निर्दिष्ट मार्ग से एवं निरन्तर स्वाभाविक रूप से उड्डीयान बन्ध का अभ्यास करता है तो वह भी युवक सदृश बन जाता है। इस बन्ध के छः मास तक निरन्तर अभ्यास से साधक की मृत्यु पर विजय तथा उसको निश्चित ही मुक्ति प्राप्त होती है।[2]

इसके निरन्तर अभ्यास से नाभिचक्र की गति ठीक होती है, उदर सम्बन्धी समस्त रोगों का निवारण होता है, फेफड़ों को असीम बल की प्राप्ति, वीर्य ऊर्ध्वगामी जठराग्नि प्रदप्ति होती है एवं कुण्डलिनी शक्ति को जगाने में भी यह बन्ध सहायक सिद्ध होता है।

6. मूलबन्ध

दोनों पावों की किसी भी एक एड़ी से गुदेन्द्रिय तथा लिंगेन्द्रिय के मध्य भाग को दबाकर गुदा का आकुंचन करते हुए अपान वायु को ऊपर की ओर खींचना चाहिए। इसी को मूलबन्ध कहते हैं। अर्थात् अधोगामी अपानवायु को जो साधक गुदेन्द्रिय प्रदेश के आकुंचन के द्वारा बलपूर्वक ऊर्ध्वगामी कर लेता है, उसे ही योगीजन मूलबन्ध कहते हैं। इस प्रक्रिया में गुदेन्द्रिय प्रदेश को दबाकर बलपूर्वक बार-बार योनि का आकुंचन तब तक करते रहना चाहिए जब तक अपान वायु ऊर्ध्वगामी न हो जाए।[3]

घेरण्ड-संहिता में इसका निरूपण इस प्रकार से किया गया है कि बायीं एड़ी से गुह्यप्रदेश को संकुचित कर प्रयत्नपूर्वक मेरुदण्ड में नाभिग्रन्थि को लगाकर दबाए और दायीं एड़ी से उपस्थ को दृढ़तापूर्वक दबा ले। यह मूलबन्ध है तथा इससे वृद्धावस्था नष्ट होती है। संसार रूपी सागर से पार होने वाले आकांक्षियों को जनहीन स्थान (निर्जन)में

---

1. योगकुण्डल्युपनिषद्—41
2. ह० प्र०—3/54-59
3. ह० प्र०—3/60-62

छिपकर ही इस मुद्रा का अभ्यास करना चाहिए। इससे मरुत् सिद्धि होती है। अतएव मौन एवं आलस्य रहित होकर इसका अभ्यास करना चाहिए।[1]

इसके लाभों की चर्चा के प्रसङ्ग में कहा गया है कि इसके निरन्तर अभ्यास से प्राण तथा अपान वायु की एकता एवं नाद और बिन्दु में ऐक्य स्थापित होकर योगसिद्धि की प्राप्ति होती है। प्राण और अपान की एकता से मल और मूत्र की अल्पता होती है। यहाँ तक कि वृद्ध भी युवक सदृश बन जाता है।

जब इस बन्ध के अभ्यास से अपान वायु ऊर्ध्वगामी हो जाता है, तब वह वह्नि-मण्डल अर्थात् उदर की जठराग्नि में जा पहुंचता है। अपान वायु से आहत हुई जठराग्नि और अधिक प्रदीप्त हो उठती है। तब अग्नि और अपान वायु प्राण को उष्ण बना देते हैं। इससे देह की अग्नि अत्यन्त प्रदीप्त हो जाती है।

जब प्राणवायु और अपान वायु का घर्षण होता है, तब सोई हुई कुण्डलिनी सन्तप्त होकर जग जाती है तथा दण्ड से आहत हुई सर्पिणी की भांति फुन्कारती हुई सीधी हो जाती है और ब्रह्मनाड़ी में उसी प्रकार प्रवेश करती है जिस प्रकार सर्पिणी अपने बिल में प्रवेश करती है। अतएव योगियों को प्रति दिन मूलबन्ध का अभ्यास करना चाहिए।[2]

इस प्रकार का वर्णन योगकुण्डल्युपनिषद् में भी प्राप्त होता है।[3] इसके अति-रिक्त इस बन्ध के निरन्तर अभ्यास से गुदा सम्बन्धी समस्त रोगों का निवारण तथा उदर सम्बन्धी रोग शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। बवासीर सदृश रोगों की तो यह अचूक दवा है।

7. जालन्धर बन्ध

सभी हठयोग के ग्रन्थों में इस बन्ध की चर्चा की गई है। कुछ प्राचीन योगियों के मतानुसार इस की आवश्यकता नहीं समझी गई क्योंकि उनके मतानुसार जिह्वा बन्ध होने पर जालन्धर बन्ध के समस्त लाभ योगी को प्राप्त हो जाते हैं, अतएव जालन्धर बन्ध की विशेष उपयोगिता दृष्टिगोचर नहीं होती, किन्तु हठयोगप्रदीपिकाकार ने इसके महत्त्व को समझ कर इसकी प्रक्रिया निर्धारित करते हुए कहा है कि 'कण्ठ को संकुचित करने के

1. घेरण्ड-संहिता—3/14-17
2. ह० प्र०—3/63-68
3. योगकुण्डल्युपनिषद्—43-45

उपरान्त ठोड़ी को हृदय-प्रदेश (कण्ठ-कूप) में दृढ़ता पूर्वक स्थापित करने को जालन्धर बन्ध कहते हैं, जो वृद्धावस्था तथा मृत्यु का विनाशक है।[1]

शिव-संहिता में इसके महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए इसे देवताओं के लिए भी दुर्लभ बताया है।[2]

इससे प्राप्त लाभों की चर्चा के प्रसङ्ग में कहा गया है कि यह बन्ध समस्त नाड़ी जाल को बांधता है जिससे निम्नगामी चन्द्ररस का बाध होने पर कण्ठ सम्बन्धी समस्त रोगों का निवारण होता है।

शिव-संहिता में कहा है कि बुद्धिमान पुरुष इस बन्ध के द्वारा अमरवारुणी को पीकर अमरत्व तथा भुवनत्रय में प्रसन्नता को प्राप्त करता है।[3] कण्ठ-सङ्कोच वाले इस बन्ध को लगाने से चन्द्ररस जठराग्नि में नहीं गिरता तथा इससे वायु के विकार भी नहीं होते। यह बन्ध इड़ा और पिङ्गला नाड़ियों में वायु के प्रवाह को दृढ़तापूर्वक रोकता है। यह मध्यचक्र अर्थात् विशुद्ध चक्र है। इससे शरीर के सोलह आधारों का बन्ध होता है। सोलह आधारों के नाम इस प्रकार हैं—(1) अंगुष्ठ (2) गुल्फ (3) जानु (4) ऊरू (5) सीवनी (6) लिङ्ग (7) नाभि (8) ग्रीवा (9) हृदय (10) कण्ठदेश (11) लम्बिका (12) नासिका (13) भ्रू मध्य (14) मस्तक (15) मूर्धा और (16) ब्रह्मरन्ध्र।

इन आधारों का बन्ध परमावश्यक है क्योंकि इसके बिना योगसिद्धि की कल्पना ही व्यर्थ है।

इसके अतिरिक्त इस बन्ध से मन में स्थिरता, मस्तिष्क सन्तुलित एवं विशुद्ध रहता है। कण्ठ सम्बन्धी समस्त रोगों का नाश तथा नेत्र, कर्ण, नासिका और ग्रीवा के लिए भी यह बन्ध उपयोगी है।

महासिद्धों के द्वारा इन तीनों बन्धों (मूलवन्ध, उड्डियान बन्ध और जालंधर बन्ध) का सेवन श्रेष्ठ है तथा योगियों के मतानुसार ये सभी बन्ध हठतन्त्रों के साधन स्वरूप हैं।[4]

8. विपरीतकरणी मुद्रा

दिव्यरूप चन्द्रमण्डल से जो अमृत तत्त्व स्रवित होता है, उस सबको

---

1. ह० प्र०—3/69
2. शिव-संहिता—4/38
3. शिव-संहिता—4/39
4. ह० प्र०—3/75

नाभिमण्डल स्थित अग्निस्वरूप सूर्य ग्रसता रहता है, इसी कारण से शरीर वृद्धावस्था को प्राप्त है।

सूर्य के मुख में वह चन्द्र रस स्रवित न हो, इसकी एक दिव्य क्रिया कही गई है तथा इस क्रिया को गुरु के उपदेश से ही जाना जा सकता है न कि करोड़ों शास्त्रों के समूह से। नाभिमण्डल को ऊपर और तालुमूल को नीचे करने से सूर्यमण्डल ऊपर तथा चन्द्र-मण्डल नीचे की ओर हो जाता है। इसी क्रिया को विपरीत करणी मुद्रा कहते हैं जो कि गुरु के द्वारा ही प्राप्त है।[1]

घेरण्ड-संहिता के अनुसार नाभिमूल में सूर्य नाड़ी और तालुमूल में चन्द्रनाड़ी का वास माना गया है। सहस्रार के अमृतस्राव को सूर्य नाड़ी ग्रहण करती है और उसी से प्राणी की मृत्यु कही गई है। यदि उसी स्राव का पान चन्द्र नाड़ी करें तो जीव को मृत्युभय नहीं सताता। अतः सूर्यनाड़ी को ऊपर तथा चन्द्रनाड़ी को नीचे करना ही विपरीत-करणी मुद्रा कहलाती है।[2]

शिव-संहिता के अनुसार भूमि पर सिर रखकर दोनों पैरों को ऊपर स्थापित करना ही विपरीतकरणी मुद्रा है।[3] इसका प्रतिदिन अभ्यास जठराग्नि को प्रदीप्त करता है। किन्तु यह विशेष ध्यातव्य है कि इसके अभ्यासी को पर्याप्त मात्रा में आहार ग्रहण करना चाहिए अन्यथा प्रदीप्त जठराग्नि शरीरस्थ रक्त, मज्जा आदि धातुओं को जलाने लगती है।

प्रारम्भकाल में एकक्षणपर्यन्त ही नीचे की ओर सिर एवं पांवों को ऊपर की ओर स्थापित करना चाहिए। इसके अभ्यास की वृद्धि प्रतिदिन क्षणमात्रा में ही करनी चाहिए।

इस मुद्रा के छः मास निरन्तर अभ्यास से शरीर की झुर्रियां तथा बालों की श्वेतता नष्ट एवं इसका प्रतिदिन एक प्रहर का अभ्यास साधक को कालजित् बना देता है[4]

9- वज्रोली

योगोक्त नियम रहित स्वेच्छाचारी योगी यदि इस क्रिया को जानता है तो

1. ह० प्र०—3/78
2. घेरण्ड-संहिता—3/33-34
3. शिव-संहिता—4/45
4. ह० प्र०—3/79-81

वह भी योगसिद्धि का अधिकारी होगा। इस मुद्रा की सिद्धि अप्राप्य न सही किन्तु दुष्कर अवश्य मानी गई है। चौदह अंगुल पर्यन्त शीशे, तांबे, स्वर्ण, रजत अथवा रबड़ की पतली नली को लिंगेन्द्रिय के माध्यम से प्रतिदिन एक-एक अंगुल परिमाण से ऊपर की ओर प्रवेश कराना चाहिए। बारह दिन पर्यन्त लिंगेन्द्रिय के शुद्ध होने पर वायु का ग्रहण और त्याग करना चाहिए। दृढ़ अभ्यासानन्तर क्रमशः जल, दूध, तेल, शहद और पारा ग्रहण करना चाहिए। इस अभ्यास में सिद्धहस्त होने पर ही योगी स्वबिन्दु अथवा रज को आकर्षित करें।

इस प्रकार स्वबिन्दु की रक्षा करने वाला साधक मृत्यु पर विजय पाता है क्योंकि बिन्दु का पतन ही मृत्यु और बिन्दु की रक्षा ही जीवन है। बिन्दु को शरीर में धारण करने वाले साधक के शरीर से सुगन्ध उत्पन्न होती है।

सहजोली और अमरोली भेदों से यह दो प्रकार की है। सहज़ोली क्रिया में साधक वज्रोली के उपरान्त गोबर के उत्तम भस्म को जल में मिलाकर अपने सम्पूर्ण अंगों पर लगाते हैं। यह शुभकारी सहजोली क्रिया भोगयुक्त होते हुए भी मुक्ति-दायिनी है।

वज्रोली का सम्यक् अभ्यास करते हुए नासिका प्रदेश से स्रवित होने वाले स्राव का पान ही अमरोली है। ज्योत्स्ना टीका के अनुसार जो पुरुष शिवाम्बुरूप अमरी को नासिका से नित्य पीता है अर्थात् नासिकाछिद्र द्वारा अमरी को अंतर्गत करता है और प्रतिदिन वज्रोली का भली प्रकार अभ्यास करता है उस मुद्रा को कापालिक अमरोली कहते हैं अर्थात् नासिका के छिद्र से पान की अमरी वज्रोली के अनन्तर अमरोली कहलाती है।[1]

यदि कोई साधिका भी इस क्रिया को जानती है तो वह शीघ्र ही भूत-भविष्य को जानने वाली, आकाशगामिनी एवं उसे कार्यसिद्धि की प्राप्ति होती है।[2]

10 शक्तिचालन

भारतीय दर्शनों में जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीयावस्था का उल्लेख प्राप्त होता है। प्रथम तीन सामान्य जन के लिए जहां सुलभ हैं वहीं चतुर्थ तुरीयावस्था की उपलब्धि केवल योगियों को ही होती है। प्रथम तीन अवस्थाओं में कुण्डलिनी (जीव की मार्मिक शक्ति) प्रायः सुप्तावस्था में रहती है और तुरीयावस्था में यह जागृत हो उठती है तभी 'अहं ब्रह्मास्मि' का बोध होता है।

---

1. ज्योत्स्ना टीका—3/97
2. ह० प्र०—3/82-96

घेरण्ड-संहिता के अनुसार यह शक्ति मूलाधार से 4 अंगुल ऊपर 3/1-2 लपेटे खाकर सोई रहती है और जब तक यह सुप्तावस्था में विद्यमान रहती है तब तक जीव पशु के समान इस मर्त्यलोक में विचरण करता है, कोटियोग का अभ्यास करने पर भी उसे ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती।[1]

जिस प्रकार कोई सामान्य जन चाभी से अवरोधक कपाट को खोलता है, उसी प्रकार योगी इस शक्ति के द्वारा मोक्षद्वार का भेदन करता है। डा० गोपीनाथ कविराज के अनुसार 'अरणि-मंथन करने से जिस प्रकार अग्नि प्रज्ज्वलित की जाती है, अर्थात् अरणिस्थ सुप्त अग्नि जिस प्रकार संघर्षण से उद्दीप्त होती है, उसी प्रकार साधन प्रणाली द्वारा प्रसुप्त कुण्डलिनी को जगाना पड़ता है। अग्नि जिस प्रकार प्रकट होते ही ईंधन (काष्ठादि) को दग्ध करती है, उसी प्रकार कुण्डलिनी के चैतन्य होने पर साधना विलुप्त हो जाती है। बाह्य साधनामात्र—अर्थात् विचार, भक्ति या हठ किंवा मन्त्र-योगादि—यह सम्पूर्ण उपासना पुरुषकार-सापेक्ष अथवा कर्त्तृत्वाभिमानजन्य हैं। यह कर्तृत्व-बोध क्रम से कुण्डलिनी-चैतन्य के समान लुप्त हो जाती है, और कर्तृत्व-बोध के लुप्त होने से कुण्डलिनी अधिक जागृत होती है। जिस समय एक बार कुण्डलिनी चेतन होने लगती है, उस समय स्वभाव के नियम से ही सब कार्य स्वयं ही होते जाते हैं। जिस प्रकार अनुकूल स्रोत में नौका छोड़ देने पर उसको समुद्र में पहुंचाने के अन्य प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार कुण्डलिनी को जगाने से और उसके प्रवाह में प्राण व मन को डाल देने से जीव को ब्रह्मावस्था प्राप्त करने के लिए पृथक् उपाय करने की आवश्यकता नहीं रहती। सङ्कोच शक्ति अथवा ऊर्ध्वबिन्दु-स्थित आकर्षण-शक्ति के प्रभाव में अन्तर्मुखगति क्रमशः वृद्धिगत होती है, और अन्त में साम्यावस्था में स्थिर हो जाती है।[2]

स्वामी विवेकानन्द लिखते हैं कि 'प्राणायाम से पहले त्रिकोण-मण्डल को ध्यान में देखने का प्रयत्न करना चाहिए। आंखें बन्द करके इसके चित्र की मन-ही-मन स्पष्ट रूप से कल्पना कर सोचना चाहिए कि इसके चारों ओर अग्निशिखा है और उसके बीच में कुण्डलिनी सोई पड़ी है। ध्यान में इस कुण्डलिनी शक्ति को मूलाधार चक्र में जब स्पष्ट भाव से देख सकोगे, तब उसको जगाने के लिए कुम्भक करके उस वायु के बल से उसके मस्तक पर आघात करो। जिनकी कल्पना शक्ति जितनी अधिक है वे फल भी उतनी शीघ्रता से पाते हैं और उनकी कुण्डलिनी भी उतनी ही शीघ्र जागृत होती है। जितने दिन वह जागृत नहीं है उतने दिन सोचे—वह जग गयी है और इड़ा तथा पिंगला की गति अनुभव करने की चेष्टा करो, जोर देकर उनको सुषुम्ना पथ में चलाने की चेष्टा करो, इससे शीघ्र ही कार्य होगा।'[3]

1. घेरण्ड-संहिता—3/49/60
2. भारतीय संस्कृति और साधना—डा० गोपीनाथ कविराज
3. सरल-राजयोग—स्वामी विवेकानन्द, पृ० 21

हठयोगप्रदीपिकाकार के अनुसार जिस सुषुम्ना मार्ग से उस निरामय ब्रह्मपद की प्राप्ति होती है, यह कुण्डलिनी उसी सुषुम्ना मार्ग को मुख के द्वारा ढककर सोई रहती है। यह शक्ति सर्प के समान कुटिल आकार वाली तथा गङ्गा (इड़ा नाड़ी) और यमुना (पिङ्गला नाड़ी) के मध्य में स्थित है जिसको पुरुषार्थ से ही जगाना चाहिए, क्योंकि वहीं भगवान् विष्णु का परम पद है।

कन्द के ऊपर स्थित इस शक्ति को प्रातः और सायं आधे प्रहर तक पिंगला नाड़ी से पूरक करके परिधान युक्ति से पकड़ कर प्रतिदिन चलाना चाहिए। आगे कन्दस्थान का लक्षण देते हुए कहा है कि लिंगेन्द्रिय तथा नाभि के मध्य एक हाथ ऊंचाई वाला, चार अंगुल परिमाण वाला, कोमल, श्वेत तथा वस्त्र के द्वारा लिपटे हुए के समान कन्द स्थान है। इस कन्द प्रदेश को वज्रासन में स्थित होकर दोनों पैरों के टखनों से दबाना चाहिए। तदनन्तर भस्त्रिका प्राणायाम करना चाहिए, इससे कुण्डलिनी शीघ्रता से जागृत हो जाती है। अथवा नाभिमण्डल स्थित सूर्यनाड़ी का आकुंचन कर इस शक्ति को चलाने का अभ्यास करना चाहिए। इस शक्ति को दो मुहूर्त्त पर्यन्त निर्भय होकर चलाने से यह शक्ति सुषुम्ना में कुछ प्रविष्ट होकर ऊर्ध्वगामी हो जाती है।

जिस साधक ने इस शक्ति को चलायमान कर लिया है, वही राजयोग आदि सिद्धियों को प्राप्त करता है। वह योगी लीला करता हुआ मृत्यु पर विजय पाता है। इस शक्ति चालन के अभ्यास से बहत्तर सहस्र नाड़ियों का मल दूर हो जाता है।[1]

इस प्रकार आदिनाथ शम्भु द्वारा उपदिष्ट ये सभी मुद्राएं साधकों को महासिद्धि प्रदान करने वाली हैं। और जो साधक एकाग्र मन से इन मुद्राओं का अभ्यास करता है, वह अणिमा आदि गुण-ऐश्वर्य के साथ-साथ मृत्यु पर भी विजय पाता है।[2]

1. ह० प्र०—3/97-116
2. शिव-संहिता—4/58

अध्याय-6

समाधि

ध्यान ही जब ध्येयाकार रूप से साक्षी में निर्भासित होने लगता है, चित्त के ध्येयस्वरूपाविष्ट हो जाने के कारण 'अहमिदं चिन्तयामि' (मैं इसका चिन्तन करता हूँ) इत्यादि ज्ञानाकारक वृत्तियों का उदयन होने के कारण जब प्रत्ययात्मक स्वरूप से शून्य-सा हो जाता है, तब वही समाधि कहलाने लग जाता है। अर्थात् ध्यान ही जब ध्येयाकार रूप से प्रतीत होने लग जाए और ज्ञानाकार रूप से उसका अलग निर्भास न हो, तब ध्यान ही समाधि है।[1]

ध्यान में ध्याता, ध्येय और ध्यान का अलग-अलग ज्ञान रहता है और समाधि में इनका पृथक्-पृथक् भान नहीं रहता, केवल ध्येयाकार रूप से ही सबकी प्रतीति होती है। यही समाधि और ध्यान में विभिन्नता है।[2]

जाबालदर्शनोपनिषद् के अनुसार जब मनुष्य परमात्मा को परमार्थत: देख लेता है तब अखिल दृश्य जगत् विलीन हो जाता है।[3]

इस प्रकार एक समय में ब्रह्म के एक रूप का ही साक्षात्कार होता है। आत्मदर्शी मुनि ब्रह्म के अविनाशी प्रत्यक् चैतन्यस्वरूप का ही वरण करते हैं और परिणामी दृश्य स्वरूप का अपलाप करते हैं।[4]

सब प्रकार के सङ्कल्पों से सर्वथा शून्य हो जाने का नाम ही 'समाधि' है, जिस समाधि में मन सर्वथा निश्चल हो जाता है और जीवात्मा और परमात्मा का भेद मिट

---

1. तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधि: (पा० यो०—3/3)
2. कल्याण का योगाङ्क, पृ० 441
3. जाबालदर्शनोपनिषद्, 10 /12
4. कल्याण का योगाङ्क, पृ० 421

जाता है। जीवात्मा का प्रत्यक् चैतन्य में सर्वव्यापी अन्तरात्मा में ब्रह्म के अतीन्द्रिय रूप में स्थित होना ही समाधि है। जीवात्मा के अन्दर यह प्रत्यक् चैतन्य अथवा परमात्मा जिसे निर्विकल्प 'परम अह' भी कहते हैं, क्षुद्र अहम् प्रत्यय से आच्छन्न रहता है, जो देहाभिमान का कारण है। इस क्षुद्र अहम् बुद्धि के निवृत्त हो जाने पर प्रत्यक् चैतन्य अथवा निर्विकल्प 'परम ब्रह्म' का उदय होता है। अत: समाधिलाभ के लिए क्षुद्र अहं बुद्धि की निवृत्ति अवश्य है और वही समाधि है।[1]

सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद् के अनुसार जीवात्मा की एकता के ज्ञान के उदय को ही 'समाधि' कहते हैं।[2]

मुक्तिकोपनिषद् के अनुसार 'मुनियों द्वारा साधित समाधि उस सङ्कल्पशून्य अवस्था का नाम है जिसमें न तो मन की क्रिया है और न बुद्धि का व्यापार है, जो आत्मज्ञान की अवस्था है और जिसमें उस (प्रत्यक् चैतन्य) के अतिरिक्त सबका बाध है'।[3]

अन्नपूर्णोपनिषद् के अनुसार 'इस गुणसमाहार (बाह्य प्रपञ्च) को आत्मा से भिन्न देखने वाले तत्त्वदर्शी पुरुष की आन्तरिक शान्ति से उत्पन्न स्थिति का नाम समाधि है।'[4]

हठयोगप्रदीपिका के अनुसार जैसे नमक पानी में मिल जाने से उसकी उसके साथ एकरूपता हो जाती है, वैसे ही आत्मा और मन की एकरूपता समाधि कही गई है। जीवात्मा और परमात्मा दोनों की एकरूपता और समता हो जाने पर इच्छामात्र का अभाव हो जाता है और वही समाधि कही जाती है।[5]

हठयोगप्रदीपिकाकार ने कुण्डली जागरण तथा उसके परिणाम, लय, शाम्भवी और खेचरी मुद्रा का वर्णन करते हुए इन सभी को समाधि के मार्ग के रूप में निरूपित किया है और अन्त में नादानुसन्धान तथा नादश्रवण के परिणाम स्वरूप समाधि की अवस्था का सविस्तार विवेचन किया है।

कुण्डली

विविध आसन, कुम्भक, और विचित्र मुद्राओं का अभ्यास कुण्डली जागरण

1. कल्याण का योगाङ्क, पृ० 422
2. सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद्—16
3. मुक्तिकोपनिषद्—2/55
4. अन्नपूर्णोपनिषद्—1/29
5. ह० प्र०—4/1-7

हेतु किया जाता है क्योंकि इसके जागने पर प्राण शून्य अर्थात् सुषुम्ना नाड़ी में लीन हो जाता है और जब प्राण शून्य में गमन करता है तो उसके फलस्वरूप चित्त भी शून्य में प्रवेश कर जाता है। तभी साधक क्रिया-कलापों से मुक्त हो जाता है। इसी कारण से नित्यप्रति स्वच्छ स्थान पर बैठकर सुषुम्ना के यथार्थ भेदन को जानकर और प्राण को उसमें प्रविष्ट कराकर ब्रह्मरन्ध्र में उसका निरोध करना चाहिए अतएव जब सुषुम्ना में प्राण चलने लगता है तब मनोन्मनी अवस्था सिद्ध होती है।[1]

लय

हठयोगप्रदीपिका के अनुसार इन्द्रियों का स्वामी मन है, मन का स्वामी वायु है, वायु का स्वामी लय है और लय नाद पर आश्रित है। यह लय मत-मतान्तर में मोक्ष नाम से कही जाने वाली वस्तु हो या न हो, किन्तु यह सत्य ही है कि मन और प्राण के लय होने से किसी अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति होती है। इस लय की प्राप्ति श्वास-प्रश्वास के निरुद्ध, विषय ग्रहण के बन्द, चेष्टारहित और विकाररहित साधकों को ही होती है। जहाँ मन एकाग्र हो वहीं लय होता है। उसी स्थान पर मस्तिष्क और जीवमात्र की शाश्वतशक्ति दोनों उस ब्रह्म में विलीन हो जाते हैं। क्योंकि विषय की विस्मृति ही लय है और उस स्थिति में वासनाओं का सदा अभाव रहता है।[2]

योगतत्त्वोपनिषद् में इस लय योग को अनेक प्रकार का बताया गया है और कहा गया है कि चित्त का लय योग है, यह बहुत तरह का कहा गया है। चलते, बैठते, सोते, खाते निष्कल परमात्मा का ध्यान करना चाहिए।[3]

घेरण्ड-संहिता में लयसिद्धियोगसमाधि की चर्चा करते हुए कहा गया है कि योनिमुद्रा का साधन करके योगी स्वयं में शक्ति की भावना और परमात्मा में पुरुष की भावना करे। पुनः ऐसी भावना करे कि मुझ में और परमात्मा में शक्ति और पुरुष रूप में विहार हो रहा है। फिर आनन्दमय ऐक्य स्थापित करता हुआ यह चिन्तन करे कि 'मैं अद्वैत ब्रह्म हूँ' इससे जो समाधि होती है उसे लयसिद्धि योग कहते हैं।[4]

---

1. ह० प्र०—4/8-20
2. ह० प्र०—4/21-33
3. (क) योगतत्त्वोपनिषद्—23
   (ख) योगकर्णिका—12/4
4. घेरण्ड-संहिता—7/12-13

खेचरी

खेचरी मुद्रा के सम्बन्ध में पहले भी चर्चा की जा चुकी है किन्तु यह मुद्रा समाधि का भी मार्ग है अतः इसका स्थान पुनः निरूपित किया जा रहा है।

जब प्राणवायु इड़ा तथा पिंगला नाड़ियों के मध्यमार्ग अर्थात् सुषुम्ना नाड़ी में संचरण करता है तो उसी स्थान पर खेचरी मुद्रा रहती है क्योंकि इन दोनों नाड़ियों के मध्य रहने वाला शून्य प्राणवायु को ग्रसता रहता है, इस मध्य को व्योमचक्र भी कहा है।

योगचूडामण्युपनिषद् में कहा गया है कि खे का तात्पर्य आकाश है और जिस मुद्रा के द्वारा चित्त आकाशगामी हो जाता है उसको खेचरी मुद्रा कहते हैं।[1]

चन्द्रमण्डल से स्रवित होने वाले अमृत को शिव की प्रिया (गङ्गा) भी कहते हैं। उसको मेरुदण्ड स्थित दिव्य और अनुपम सुषुम्ना के द्वारा पूरित करना चाहिए और जब सुषुम्ना पूर्व की ओर से भी पूरित हो जाए अर्थात् प्राणवायु जब भृकुटि के ऊपर के भाग में गमन करने लगता है, तब खेचरी मुद्रा की सिद्धि होती है और इस सिद्धि के निरन्तर अभ्यास के द्वारा उन्मनी अवस्था उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि भृकुटि के मध्य शिव का स्थान है और वहीं मन लीन हो जाता है और वहीं यह अंतिम स्थान है क्योंकि वहाँ मृत्यु नहीं होती।

मन को निरालम्ब करके किसी भी प्रकार का चिन्तन नहीं करना चाहिए, इससे वह साधक बाह्य और आभ्यन्तर से घट के समान होकर आकाश में स्थित हो जाता है। जैसे-जैसे बाहर की वायु मन्द होकर गति करता है वैसे-वैसे प्राण भी लीन होता जाता है और तब मध्य प्राणवायु मन के साथ (ब्रह्मरन्ध्र में) स्थिरता को प्राप्त होती है।

इस मुद्रा के निरन्तर अभ्यास से साधक को चाहिए कि वह सिर से पैर तक समस्त शरीर को चन्द्ररस रूपी अमृत से भर देवे, इससे साधक महाकाय, महाबल तथा पराक्रम से युक्त हो जाएगा और साधक आकाश में शून्य कुम्भ की भाँति अन्दर से शून्य तथा बाहर से भी शून्य हो जाए तथा समुद्र में भरे हुए कुम्भ की भाँति अन्दर से तथा बाहर से भी पूर्ण हो जाए क्योंकि यह समस्त संसार मन की ही रचना मात्र है तथा समस्त मनोविलास भी मन की ही रचना मात्र है अतएव मन को समस्त काल्पनिक रचनाओं से अलग कर निर्विकल्प (ब्रह्म) का आश्रय लेना चाहिए क्योंकि इससे निश्चित ही शान्ति प्राप्त होगी।

इस खेचरी मुद्रा का तब तक अभ्यास करते रहना चाहिए जब तक योगनिद्रा

---

1. योग० चू० उ०—55

प्राप्त न हो, क्योंकि योगनिद्रा अर्थात् समाधि की प्राप्ति होने पर कभी कालभय नहीं रहता है। इस समाधि में सम्पूर्ण ज्ञेय वस्तु के परित्याग से मन विलीन हो जाता है और मन के विलीन होते ही कैवल्य अर्थात् ब्रह्म ही शेष रह जाता है।[1]

नादानुसन्धान

अब लय से समाधि के ही अङ्गरूप नादानुसन्धान प्रक्रिया का निरूपण किया जा रहा है। 'कठोपनिषद्' में कहा गया है कि जिस काल में योगाभ्यास के बल से पाँच ज्ञानेन्द्रिय, छठा मन और सातवीं बुद्धि लयभाव को प्राप्त हो जाती है, उसको परमगति कहते हैं। मोक्ष, मुक्ति, कैवल्य, ब्राह्मी स्थिति निर्वाण और अमनस्क-स्वरूप प्रतिष्ठा भी इसी को कहते हैं। यही बात शिवसंहिता में भी कही गई है 'जिस काल में सविकल्प समाधि के साधन से, निर्विकल्प समाधि सिद्ध हो जाती है मन दृश्य का चिन्तन छोड़कर वृत्ति-रहित हो जाता है, उस काल में साधक स्वयं पूर्णरूप हो जाता है। यानी 'उपाधि-विलयात् विष्णो' के अनुसार, अज्ञान की कार्यरूप वृत्ति ब्रह्म में लीन हो जाती है और साधक ब्रह्मपद को प्राप्त हो जाता है। जीव ब्रह्म का स्वरूप से तो अभेद है, परन्तु उपाधिकृत भेद है, योगाभ्यास के बल से उस उपाधि का लय कर लेने पर जीवात्मा ब्रह्मपद को प्राप्त हो जाता है। यही बात दक्षिणामूर्ति जी ने वेदान्तडिण्डिम में कही है—

"न जीवब्रह्मणोर्भेदः स्फूर्तिरूपेण विद्यते स्फूर्तिभेदेन मानम्, न जीवब्रह्मणोर्भेदः प्रियरूपेण विद्यते प्रियभेदेन मानम्।" अर्थात् जीव ब्रह्म का स्फुरण रूपी वृत्ति से भेद है, स्वरूप से भेद नहीं। चेतन में अविद्या की जो उपाधि जगत् की सत्यता, स्वरूप का विस्मरण, दृश्य में आसक्ति है, यही जीवदशा है।[2]

भगवान् शङ्कराचार्य जी ने मन के लय का सर्वोत्तम साधन नादानुसन्धान, अपने 'योगतारावली' ग्रन्थ में नीचे के श्लोकों में बताया है कि 'योगशास्त्र के प्रवर्तक भगवान् शिवजी ने मन के लय होने के सवा लक्ष साधन बतलाए हैं, उन सब में नादानुसन्धान सुलभ और श्रेष्ठ है। हे नादानुसन्धान! आपको नमस्कार है आप परमपद में स्थित कराते हैं, आपके ही प्रसाद से मेरा प्राणवायु और मन ये दोनों विष्णु के परमपद में लय हो जाएंगे। योगसाम्राज्य में स्थित होने की इच्छा हो तो सब चिन्ताओं को त्यागकर सावधान हो एकाग्र मन से अनहद नादों को सुनो।

---

1. ह० प्र०—4/42-61

2. कल्याण का योगाङ्क, पृ० 271

सदा शिवोक्तानि सपादलक्षलयावधानानि वसन्ति लोके।
नादानुसन्धानसमाधिमेकं मन्यामहे मान्यतमं लयानाम् ॥
नादानुसन्धान नमोऽस्तु तुभ्यं त्वां मन्महेतुत्वपदं लयानाम्।
भवत्प्रसादात् पवनेन साकं विलीयते विष्णुपदे मनो मे॥
सर्वचिन्तां परित्यज्य सावधानेन चेतसा।
नाद एवानुसन्धेयो योगसाम्राज्यमिच्छता॥[1]

शिव-संहिता में भी मन को लय करने में उत्तमोत्तम साधन नाद ही कहा है।[2]

भगवान् शङ्कराचार्य की भाँति श्री स्वात्माराम योगीन्द्र भी यही मानते हैं कि श्री आदिनाथ के द्वारा प्रोक्त लय के सवा करोड़ विद्यमान प्रकारों में से एक नादानुसन्धान ही मुख्यतम लय है।[3] नादबिन्दूपनिषद् में कहा गया है कि जिस प्रकार बादलों के चले जाने पर सूर्य का उदय होता है, उसी प्रकार प्रारब्ध के समाप्त होने पर तथा आत्मा और ब्रह्म की एकता का चिन्तन करने पर कल्याणकारी, ज्योतिर्मय परमात्मा का नादरूप में साक्षात्कार होता है।[4]

योगी को मुक्तासन में बैठकर, शाम्भवी मुद्रा को सिद्ध करके, एकाग्रचित्त होकर दक्षिण कर्ण से अन्तस्थ नाद को सुनने का प्रयत्न करना चाहिए।[5] जबकि नादबिन्दूपनिषद् में वैष्णवी मुद्रा की ओर संकेत दिया गया है और मुक्तासन की जगह सिद्धासन का उल्लेख है।[6]

इस नाद की चार अवस्थाएँ सभी योगों में मान्य हैं—आरम्भावस्था, घटावस्था, परिचयावस्था और निष्पत्ति अवस्था।

1. आरम्भावस्था—इस अवस्था में जब ब्रह्मग्रन्थि का भेदन होता है तब योगी का मन शून्य होकर उसे परमानन्द की प्राप्ति होती है। तत्पश्चात् शरीर में से विचित्र प्रकार की क्वणक रूपी अनाहत ध्वनि सुनाई देती है जिससे साधक दिव्य शरीर वाला तेजस्वी, दिव्य गन्ध युक्त, अरोगी, आह्लादक हृदय तथा शून्य से युक्त हो जाता है।

2. घटावस्था—इस अवस्था में वायु निरुद्ध होकर सुषुम्नावाही हो जाता है,

---

1. कल्याण का योगाङ्क—271
2. शिव-संहिता—5/30
3. ह० प्र०—4/65
4. नादबिन्दूपनिषद्—30
5. ह० प्र०—4/67
6. नादबिन्दूपनिपद्—31

तब योगी दृढ़ासन होकर, अधिक ज्ञानी और देवतासदृश बन जाता है। इससे साधक की विष्णुग्रन्थि का भेदन होता है, जिससे अतिशून्य में परमानन्द की सूचक भेरी के आघात सदृश शब्द उत्पन्न होने लगते हैं।

शिव-संहिता में कहा गया है कि यह अवस्था प्राणायाम के द्वारा ही संभव है तथा इस अवस्था में प्राण-अपान, नादबिन्दु, जीवात्मा और परमात्मा एक हो जाते हैं।[1]

3. परिचयावस्था—इस अवस्था की प्राप्ति में जीव को शून्य में मर्दल ध्वनि का श्रवण होता है और तब सब प्रकार की सिद्धियों का आश्रय लेकर प्राण महाशून्य में गमन करता है। तब चित्त आनन्द को प्राप्त कर दोष, दुःख, जरा, व्याधि, क्षुधा और निद्रा आदि से रहित होकर सहजानन्द को प्राप्त करता है।

शिव-संहिता में वर्णित है कि इस अवस्था में योगी का प्राणवायु चन्द्र और सूर्य नाड़ी को त्याग कर सुषुम्नावाही होकर निश्चल हो जाता है तथा योगी त्रिकुट कर्मों को देखता हुआ अमरत्व को प्राप्त करता है।[2]

4. निष्पत्त्यवस्था—इस अवस्था की प्राप्ति में प्राणवायु रुद्रग्रन्थि का भेदन कर शिवस्थान को प्राप्त करता है और तब योगी को मिश्रित शब्दों वाली वीणा का स्वर सुनाई देता है। तभी योगी का चित्त एकाग्र होकर राजयोग समाधि हेतु बनता है और योगी ईश्वर सदृश सृष्टि का संहारक और कर्त्ता बन जाता है।

शिव-संहिता में इस अवस्था के द्वारा जीवन्मुक्त होना बताया है।[3]

इस प्रकार ग्रन्थकार ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि मोक्ष हो या न हो, किन्तु यहाँ पर ही एक अखण्ड सुख प्राप्त होता है, लय से उत्पन्न वह सुख राजयोग अर्थात् समाधि के द्वारा प्राप्त होता है। और जो जन राजयोग को नहीं जानते हुए केवल हठ-प्रक्रिया का ही अभ्यास करते हैं, वे साधक फलहीन प्रयास ही करते हैं।

इस नादानुसन्धान से समाधि प्राप्त करने वाले योगीश्वरों के हृदय में एक अनिर्वचनीय आनन्द उत्पन्न होता है।[4] इस नादानुसन्धान की प्रथमावस्था में अनेक प्रकार के महान् नाद सुनाई देते हैं, और बाद में अभ्यास के दृढ़ होने पर सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होते जाते हैं।

प्रथमकाल में समुद्र, मेघ, भेरी, झर्झर ध्वनिसदृश, मध्य में ढोल, शङ्ख, घण्टा तथा घड़ियाल की ध्वनि के समान और अन्त में किङ्किणी, वेणु, वीणा तथा भ्रमर

---

1. शिव-संहिता—3/55-56
2. वही—3/60-65
3. वही—3/67,
4. ह० प्र०—4/68-80

निःस्वन की ध्वनि के समान नाना प्रकार के नादों का श्रवण शरीर के अन्दर से होता है। मेघ, भेरी आदि सुनाई देने वाले महान् ध्वनि वाले नादों में भी सूक्ष्म से सूक्ष्मतर नाद का ही श्रवण करना चाहिए और जिस किसी भी नाद में सर्वप्रथम मन लग जाए, उसमें ही स्थिर होकर उसके साथ ही लीन हो जाना चाहिए।

जिस प्रकार भ्रमर फूलों के रस का पान करता हुआ गन्ध की अपेक्षा नहीं रखता, उसी प्रकार नादासक्त चित्त बाह्य-विषयों की भी उपेक्षा नहीं करता। विषय-उद्यान में विचरण करने वाले मत्त गजेन्द्र रूपी मन को वश में करने के लिए यह नाद तीक्ष्ण अंकुश के समान है। क्योंकि नाद-बन्धन से बांधा गया (चंचल) मन अपनी चंचलता को त्याग कर छिन्न पंखों वाले पक्षी की भाँति शीघ्र ही स्थिरता को प्राप्त करता है।[1]

नादबिन्दूपनिषद् में कहा गया है कि यदि हम मन को हिरण और तरंग की संज्ञा प्रदान करें तो यह नाद उस हिरण को फांसने के लिए जाल का और तरंग को रोकने के लिए तट का काम देता है।[2]

जिस प्रकार काष्ठ से उत्पन्न अग्नि काष्ठ के साथ ही शान्त हो जाती है, उसी प्रकार नाद में प्रवर्तित चित्त भी नाद के साथ लीन हो जाता है। इस प्रकार सभी हठ और लय के उपाय राजयोग की सिद्धि के लिए हैं। राजयोग से युक्त पुरुष मृत्युंजय हो जाता है। इस नादानुसन्धान से सदा पापों के संचय का नाश होता है और तब चित्त और वायु निश्चित रूप में उस निरंजन में विलीन हो जाते हैं और तब शङ्ख और दुंदुभि नाद कभी सुनाई नहीं देते अपितु उन्मनी-अवस्था की उत्पत्ति पर शरीर काष्ठवत् हो जाता है तथा वह साधक सभी अवस्थाओं से मुक्त और चिन्ताओं से रहित होकर मृतवान् रहता है।

समाधि फल

समाधि से युक्त योगी काल के द्वारा खाया नहीं जा सकता, कर्मों के द्वारा बांधा नहीं जा सकता तथा वह गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और न ही शब्द इन सबसे लिप्त होता है। उसका चित्त न तो सोया हुआ और न ही जागा हुआ रहता है। वह स्मृति तथा विस्मृति से दूर हो जाता है। वह योगी शीत-उष्ण, दुःख-सुख, मान-अपमान को नहीं जानता अर्थात् इन सब द्वन्द्वों से निर्लिप्त रहता है। इस अवस्था की प्राप्ति में योगी सब

1. ह० प्र०—4/83-91
2. नादबिन्दूपनिषद्—45

शास्त्रों से अबध्य रहता है। सब देहधारियों से वह अशक्य (बलवान्) और यन्त्र-मन्त्रों से अग्राह्य होता है तथा वह निश्चित रूप में मुक्त हो जाता है।

ग्रन्थ के अन्त में कहा गया है कि जब तक सुषुम्ना में प्राणवायु का संचार नहीं हो जाता, जब तक प्राणवायु के नियन्त्रण से चन्द्ररस स्थिर नहीं हो जाता और जब तक ध्यान में परम-तत्त्व सहज रूप से नहीं आता, तब तक ज्ञान का उपदेश केवल दम्भ और मिथ्या प्रलाप मात्र ही है[1]। इसी अवस्था की प्राप्ति ही हठयोग का परम उद्देश्य ह।

1. ह० प्र०—4/97-113

उपसंहार

अनवरत प्रवाहित हो रही हठयोग की प्रशस्त प्रक्रिया-प्रधान परम्परा से प्रभावित होकर ऋतम्भराप्रज्ञायुक्त जिन भारतीय मनीषियों ने क्रिया एवं अध्यात्मचिन्तन की जिस उत्कृष्ट ज्ञानराशि के द्वारा समस्त मानव जीवन को अत्यधिक उदात्त बनाने की धारणा की, उसी के सङ्कल्प रूपी ज्ञानकण प्राचीन काल से ही भारत भूविमण्डल में आकाश और दिशा के साथ परमाणुओं के शाश्वत संयोग की भाँति इस तरह संयुक्त हुए कि यही प्रक्रिया-प्रधान योग बौद्ध, जैन, तन्त्र इत्यादि योगों के रूप में प्रकटित हुआ। प्राचीन भारतीय संस्कृति रूपी गङ्गा के हठयोग रूपी तीव्रप्रवाही जल ने सभी धर्मों, दर्शनों, सम्प्रदायों एवं मतों के अज्ञान रूपी तटबन्धों का विच्छेदन कर एक ऐसा मुक्तिमार्ग प्रशस्त किया कि जिसका अनुगमन कर विभिन्न दार्शनिकों ने ही नहीं अपितु सामान्य जनों ने भी अपने आपको कृतार्थ किया। इस हठयोग की समस्त मूर्धन्य व्यावहारिक गतिविधियों एवं सैद्धान्तिक मतों का चरम लक्ष्य, परम लक्ष्य की प्राप्ति है, जिसे हम मिथ्या भेद से उत्पन्न अज्ञान के वशीभूत होकर आत्मा, परमात्मा, जीव, ईश्वर, ब्रह्म इत्यादि की कल्पना रूपी कल्मषता से कलङ्कित करते हैं।

किन्तु शोचनीय विषय यह है कि हठयोग की इतनी महत्त्वपूर्ण प्रणाली का निश्चयात्मक ज्ञान अद्यावधि नहीं हो पाया है। हमारे देश में योग की कई प्रणालियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। प्राचीनतम प्रणाली सिन्धु घाटी के अवशेषों में प्राप्त मुद्राओं के माध्यम से होती है। दूसरी प्रणाली बौद्ध योग की है। तीसरी प्रणाली पातञ्जल योग दर्शन के अन्तर्गत आती है। चतुर्थ प्रणाली के रूप में तन्त्र ग्रन्थों में योग सिद्धान्तों की उपलब्धि होती है। एतदनन्तर गोरक्ष प्रचलित पद्धति का दिग्दर्शन होता है। इस पद्धति के समय "भारतीय धर्म साधना की अवस्था विचित्र थी। शुद्धजीवन, सात्त्विक वृत्ति और अखण्ड ब्रह्मचर्य की भावना उन दिनों अपनी निम्नतम सीमा तक पहुंच चुकी थी। गोरक्षनाथ ने निर्मम हथौड़े की चोट से साधु और गृहस्थ दोनों की कुरीतियों को चूर्ण-विचूर्ण कर दिया।"[1]

---

1. नाथसम्प्रदाय—229

योग की इन सब प्रणालियों में क्या-क्या सम्बन्ध रहा है तथा सिन्धु घाटी में उपलब्ध योग की प्रणाली किस प्रकार से उत्तरवर्त्ती प्रणालियों को प्रस्फुटित तथा पल्लवित करने में उत्तरदायी रही है तथा पातञ्जल योग, तन्त्रीय योग और हठयोग का परस्पर कितना अटूट सम्बन्ध रहा है……इस पर मूल स्रोतों के आधार पर गम्भीर इतिहास-परक गवेषणा की अत्यधिक आवश्यकता है।

इसके अतिरिक्त पूर्वोक्त समस्त विवेचन के आधार पर यह निस्संकोच सिद्ध किया जा सकता है कि प्रस्तुत 'हठयोगप्रदीपिका' श्री स्वात्मारामयोगीन्द्र की अनुपम प्रक्रिया प्रधान कृति होने के साथ-साथ दर्शन ग्रन्थों से भी अत्यधिक प्रभावित है। अनेक जटिल प्रसङ्गों यथा प्राणायाम, कुण्डलिनी, आसनों व नादानुसन्धान से प्राप्त लाभों का सविस्तर वर्णन और वज्रोली मुद्रा के द्वारा योगसिद्धि की प्राप्ति जैसे तार्किक विवेचनों के कारण हठयोगप्रदीपिका समस्त प्रक्रिया-प्रधान एवं साधना-प्रधान शास्त्रों में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

पूर्व के अध्यायों में हठयोग के मूल ग्रन्थों उपनिषदों और विभिन्न हठयोग सम्बन्धी ग्रन्थों के द्वारा हठयोग के विभिन्न पक्षों पर किये गए चिन्तन का तुलनात्मक चित्र उपस्थापित करने का विनम्र प्रयास किया गया है।

हठयोग वास्तव में स्वास्थ्यवर्धक है और इसके फलस्वरूप जीवन में निर्वाह सुखपूर्वक होता है, यह इसका इहलौकिक लाभ है। इसके अतिरिक्त कुण्डलिनी शक्ति के जागरण द्वारा यह मानव दुःख के कारण कर्तृत्व भाव का नाशक है और अन्त में जीव की समाधि अवस्था में स्थित परमार्थ सुख और पारलौकिक सुख की प्राप्ति करवाता है। अन्त में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि मोह मुग्ध जो जीव विपरीत ज्ञानकारिणी अविद्या के चक्र में पड़ कर संसार के यथार्थ स्वरूप से भटक रहे थे, उन्हें यह प्रस्तुत ग्रन्थ एक नई दिशा की प्रेरणा प्रदान करेगा। यही मेरी ईश्वर से प्रार्थना है।

मुख्य सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. अथर्ववेद-संहिता—चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी।
2. अथर्ववेद-संहिता—श्रीकण्ठशास्त्री, माधवपुस्तकालय, कमला नगर, दिल्ली।
3. अपरोक्षानुभूतिः—(क) स्वामी विमुक्तानन्द (ख) पं० मनोहरलाल शर्मा।
4. कल्याणयोगाङ्क—गीता प्रेस गोरखपुर, सम्वत् 1992
5. कुमारसम्भव—व्याख्याकार श्री जगदीशलाल शास्त्री, प्रकाशक मोतीलाल बनारसी दास, सन् 1965
6. काकचण्डीश्वरकल्पतन्त्रम्—सम्पादक, श्री कैलाशपति पाण्डेय, प्रकाशक चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, सम्वत् 2039
7. गोरक्ष-संहिता—सम्पादक डा० चमनलाल गौतम, संस्कृति संस्थान ख्वाजा कुतुब (वेद नगर) बरेली (उत्तर प्रदेश) सन् 1982
8. गुह्य समाज तन्त्र—सम्पादक श्री एस. वाग्ची, मिथिलाविद्यापीठ, दरभङ्गा, 1965
9. घेरण्ड-संहिता—वही 6, सन् 1981
10. घेरण्ड-संहिता—सम्पादक, श्रीश चन्द्र वसु, अड्यार मद्रास, 1933
11. जयेन्द्र योग प्रयोग—डा० रमेश कुमार, सम्पादक डा० रुद्रदेव त्रिपाठी, मेघप्रकाशन ब्रह्मपुरी, दिल्ली, सन् 1982
12. दत्तात्रेय-योगशास्त्र—डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी, स्वामी केशवानन्द योग संस्थान, रूप नगर, दिल्ली
13. धर्मशास्त्र का इतिहास—भाग पंचम—डा० पाण्डुरंग काणे, अनुवाद अर्जुन चौबे काश्यप, प्रकाशक हिन्दी समिति उत्तर प्रदेश, लखनऊ, प्रथम संस्करण 1973
14. नरपतिजयचर्यास्वरोदय—सम्पादक पण्डित गणेशदत्त पाठक, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी 1971
15. नाथ और संत साहित्य—डा० नगेन्द्र नाथ उपाध्याय, शोध-प्रबन्ध, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय प्रकाशन
16. नाथ सम्प्रदाय—हजारी प्रसाद द्विवेदी, लोक भारती प्रकाशन, 1966

17. पातञ्जल योग दर्शन—सम्पादक पं० तुलसीराम, प्रकाशक स्वामी प्रेस, मेरठ, सन् 1977
18. पातञ्जल योग दर्शन—व्यास भाष्य, भोजवृत्ति सहित—अनुवादक श्री स्वामी विज्ञानाश्रम, प्रकाशक—श्री मदनलाल लक्ष्मी निवास चंडक, अजमेर नगर, सम्वत् 2018
19. पातञ्जल योगशास्त्र: एक अध्ययन—डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी, इन्दु प्रकाशन, दिल्ली सन् 1978
20. प्रायोगिक योगशिक्षा—कुमारी अरुणा आनन्द, आनन्द प्रकाशन, नौरोजी नगर, दिल्ली, सन् 1982
21. ब्रह्मपुराण—सम्पादक वेदमूर्ति तपोनिष्ठ, प्रकाशक संस्कृति संस्थान, बरेली सन् 1971
22. ब्रह्मसूत्र—श्री सत्यानन्द सरस्वती, प्रकाशन गोविन्द मठ, टेढ़ीनीम, वाराणसी, सम्वत् 2035
23. भगवद् गीता—डा० राधाकृष्णन्, प्रकाशक राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, सन् 1962
24. भागवतपुराण—प्रकाशक पंडित पुस्तकालय, राजा दरवाजा, काशी, सन् 1952
25. भारतीय दर्शन—श्री एस० एन० दास गुप्ता प्रकाशक राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, विद्यालय मार्ग तिलक नगर, जयपुर, 4
26. भारतीय दर्शन की रूपरेखा—एम० हिरियन्ना, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सन् 1965
27. भारतीय दर्शन में योग—डा० मंगला, प्रकाशक मोतीलाल बनारसीदास, सन् 1983
28. मनुस्मृति—प्रकाशक हिन्दी पुस्तक एजेन्सी कलकत्ता, संस्करण 6, सम्वत् 1993
29. याज्ञवल्क्यस्मृति—चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी—1 सन् 1967
30. योगकर्णिका—नाथ अघोरानन्द—सम्पादक श्री एन० एन० शर्मा, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली-7, सन्, 1981
31. योग दर्शन—श्री वेदमूर्ति तपोनिष्ठ वही 20—तृतीय संस्करण 1969
32. योगप्रदीपिका—ब्रह्मचारी याज्ञवल्क्य—मोतीलाल बनारसीदास, सन् 1981
33. योगशास्त्र—आचार्य हेमचन्द्र, प्रकाशक ऋषभ जौहरी, किशनलाल जैन, दिल्ली, सन् 1663
34. विष्णु-पुराण—सम्पादक वेदमूर्ति तपोनिष्ठ, वही-20 सन् 1967
35. वैदिक कोष—श्री भगवद्दत्त—एँग्लो ओरियण्टल, विक्रम सम्वत् 1982
36. शिवमहापुराण की दार्शनिक समालोचना—डा० रमाशंकर त्रिपाठी, प्रकाशक हरिशंकर त्रिपाठी, अस्सी, वाराणसी, 1975

37. शिव-संहिता—श्री रायबहादुर, श्री चन्द्र वसु, प्रकाशक श्री सत्गुरु प्रकाशन, एम० एस० पी० सन् 1981
38. शिवस्वरोदय—अनुवादक पं० हरेकृष्ण शास्त्री, प्रकाशक ठाकुर दास एण्ड सन्स, राजा दरवाजा, वाराणसी, सन्-1980
39. श्री धर्म्मकल्पद्रुम—चतुर्थ खण्ड—श्री स्वामी दयानन्द—प्रथम संस्करण नारायण प्रेस, बनारस, सन्-1917
40. षट्चक्र निरूपण और पादुकापञ्चम—तृतीय संस्करण, सम्पादक श्री तारानाथ विद्यारत्न, प्रकाशक बी०घोष, आगमानुसन्धान समिति, कलकत्ता सन्-1941
41. सन्त काव्य में योग का स्वरूप—डा० रामेश्वर प्रसाद सिंह—प्रकाशन—अनुपम प्रकाशन पटना 1977
42. सरल राजयोग—स्वामी विवेकानन्द, अनुवादक श्री पृथ्वीनाथ शास्त्री, प्रकाशन श्री रामकृष्ण आश्रम, मध्य प्रदेश
43. सिद्धसिद्धान्त पद्धति—सम्पादिका—श्रीमती कल्याणी मलिक, प्रकाशन—पूना ओरियण्टल बुक हाउस, पूना 1954
44. सिद्धसिद्धान्त संग्रह—सम्पादक—श्री गोपीनाथ कविराज, प्रकाशक—श्री जयकृष्ण दास गुप्ता, गोपाल मन्दिर, बनारस, सन्-1925
45. हठयोगप्रदीपिका—संस्करणकर्ता स्वामी दिगम्बर जी, डा० पीताम्बर झा, कैवल्य-धाम श्रीमन्माधव योगमन्दिर समिति, लोनावाला (पूना), सम्वत् 2035
46. हठयोगप्रदीपिका—सम्पादक डा० चमनलाल गौतम, संस्कृति संस्थान वेदनगर, बरेली, उत्तर प्रदेश सन्-1982
47. हठयोगप्रदीपिका—सम्पादक पंचम सिंह, इण्डियन बुक सेन्टर, शक्तिनगर, दिल्ली, एस० एस० पी० सन् 1979
48. हठयोगप्रदीपिका—ब्रह्मानन्द रचित ज्योत्स्ना टीका सहित—सम्पादक श्री खेमराज, श्री वैङ्कटेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बई, सम्वत्-1968
49. अन्नपूर्णोपनिषद्—उपनिषत् संग्रह—सम्पादक प्रो० जगदीशलाल शास्त्री, मोती-लाल बनारसीदास, दिल्ली, सन् 1980
50. अमृतनादोपनिषद्—वही
51. ईशादि नौ उपनिषद्—गीता प्रेस, गोरखपुर, सं०-2010
52. कठोपनिषद्—वही—48
53. कौषीतकि उपनिषद्—वही—48
54. छान्दोग्योपनिषद्—गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० 2023
55. जाबालदर्शनोपनिषद्—वही—48
56. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्—वही
57. ध्यानविन्दूपनिषद्—वही
58. मण्डलब्राह्मणोपनिषद्—वही

59. मैत्रायण्युपनिषद्—वही
60. मुक्तिकोपनिषद्—वही
61. योगकुण्डल्युपनिषद्—वही
62. योगचूडामण्युपनिषद्—वही
63. योगतत्त्वोपनिषद्—वही
64. योगसाधना—वही—45
65. योगशिखोपनिषद्—वही—48
66. शाण्डिल्योपनिषद्—वही
67. श्वेताश्वतरोपनिषद्—वही
68. सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद्—वही

आयुर्वेदग्रन्थ—

69. काश्यप-संहिता—प्रकाशक—चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी—1976
70. चरक-संहिता—सम्पादक—श्री जयदेव विद्यालङ्कार, प्रकाशक—मोतीलाल बनारसीदास, बनारस, सं०-1993
71. योगतरंगिणी—सम्पादक श्री खेमराज श्री कृष्णदास, "श्री वेङ्कटेश्वर" स्टीम प्रेस, बम्बई
72. सुश्रुतसंहिता—सम्पादक श्री भास्कर गोविन्द घाणेकर, प्रकाशक—जयकृष्णदास, हरिदास गुप्त, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, सं०-2007

अप्रकाशित—

73. गोरक्ष-संहिता एक अध्ययन—कुमारी सुरिन्द्र कौर, लघु शोध-प्रबन्ध, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, सन्-1983
74. Guhyasamaja Tantra or Tathagata guhyaka—Edited—Sh. Benoytosh Bhattacharya, Oriental Institute, Baroda-1967
75. Studies in Tantras Part-1—Prabhodh Chandra Bagchi, Published by the university of Calcutta—1939.
76. The Cultural Heritage of India—Vol. IV—Published by Swami Lokeswarananda, Secretary, The Ramakrishna Mission Institute of Culture, Calcutta—1975.
77. Yoga—Historical background—Dr. C. T. Kenghe. Published by Bhattacharya, Bharata Manisha, Pande Haveli, Varanasi-1975.
78. Yogic and Tantric Medicine—Vol. II by O. P. Jaggi, Atma Ram and Sons, Delhi—1979.

प्रथमोपदेशः

श्रीआदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै येनोपदिष्टा हठयोगविद्या ।।
विभ्राजते प्रोन्नतराजयोगमारोढुमिच्छोरधिरोहिणीव ।। 1 ।।

प्रणम्य श्रीगुरुं नाथं स्वत्मारामेण योगिना ।।
केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते ।। 2 ।।

भ्रान्त्या बहुमतध्वान्ते राजयोगमजानताम् ।।
हठप्रदीपिकां धत्ते स्वात्माराम: कृपाकरः ।। 3 ।।

हठविद्यां हि मत्स्येन्द्रगोरक्षाद्या विजानते ।।
स्वात्मारामोऽथवा योगी जानीते तत्प्रसादतः ।। 4 ।।

श्रीआदिनाथमत्स्येन्द्रशाबरानन्दभैरवाः ।।
चौरङ्गी मीनगोरक्षविरूपाक्षबिलेशयाः ।। 5 ।।

मन्थानो भैरवो योगी सिद्धिर्बुद्धश्च कन्थडिः ।।
कोरन्टकः सुरानन्दः सिद्धपादश्च चर्पटिः ।। 6 ।।

कानेरी पूज्यपादश्च नित्यनाथो निरञ्जनः ।।
कपाली बिन्दुनाथश्च काकचण्डीश्वराह्वयः ।। 7 ।।

अल्लामः प्रभुदेवश्च घोडाचोली च टिन्टिणिः ।।
भानुकी नारदेवश्च खण्डः कापालिकस्तथा ।। 8 ।।

इत्यादयो महासिद्धा हठयोगप्रभावतः ।।
खण्डयित्वा कालदण्डं ब्रह्माण्डे विचरन्ति ते ।। 9 ।।

अशेषतापतप्तानां समाश्रयमठो हठः ।।
अशेषयोगयुक्तानामाधारकमठो हठः ।। 10 ।।

हठविद्या परं गोप्या योगिना सिद्धिमिच्छता ।।
भवेद्वीर्यवती गुप्ता निर्वीर्या तु प्रकाशिता ।। 11 ।।

सुराज्ये धार्मिके देशे सुभिक्षे निरुपद्रवे ।।
धनुःप्रमाणपर्यन्तं शिलाग्निजलवर्जिते ।।
एकान्ते मठिकामध्ये स्थातव्यं हठयोगिना ।। 12 ।।

अल्पद्वारमरन्ध्रगर्तविवरं नात्युच्चनीचायतं
सम्यग्गोमयसान्द्रलिप्तममलं निःशेषजंन्तूज्झितम् ।।
बाह्ये मण्डपवेदिकूपरुचिरं प्राकारसंवेष्टितं
प्रोक्तं योगमठस्य लक्षणमिदं सिद्धैर्हठाभ्यासिभिः ।। 13 ।।

एवंविधे मठे स्थित्वा सर्वचिन्ताविवर्जितः ।।
गुरूपदिष्टमार्गेण योगमेव समभ्यसेत् ।। 14 ।।

अत्याहारः प्रयासश्च प्रजल्पो नियमग्रहः ।।
जनसङ्गश्च लौल्यं च षड्भिर्योगो विनश्यति ।। 15 ।।

उत्साहोत्साहसाद्धैर्यात्तत्त्वज्ञानाच्च निश्चयात् ।।
जनसङ्गपरित्यागात्षड्भिर्योगः प्रसिद्ध्यति ।। 16 ।।

अथ यमनियमाः

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं क्षमा धृतिः ।।
दयार्जवं मिताहारः शौचं चैव यमा दश ।। 17 ।।

तपः सन्तोष आस्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम् ।।
सिद्धान्तवाक्यश्रवणं ह्रीमती च तपो हुतम् ।।
नियमा दश सम्प्रोक्ता योगशास्त्रविशारदैः ।। 18 ।।

अथ आसनम्

हठस्य प्रथमाङ्गत्वादासनं पूर्वमुच्यते ।।
कुर्यात्तदासनं स्थैर्यमारोग्यं चाङ्गलाघवम् ।। 19 ।।

वसिष्ठाद्यैश्च मुनिभिर्मत्स्येन्द्राद्यैश्च योगिभिः ।।
अङ्गीकृतान्यासनानि कथ्यन्ते कानिचिन्मया ।। 20 ।।

जानूर्वोरन्तरे सम्यक्कृत्वा पादतले उभे ।।
ऋजुकायः समासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते ।। 21 ।।

सव्ये दक्षिणगुल्फं तु पृष्ठपार्श्वे नियोजयेत् ।।
दक्षिणेऽपि तथा सव्यं गोमुखं गोमुखाकृति ।। 22 ।।

एकं पादं तथैकस्मिन्विन्यसेदूरुणि स्थितम् ।।
इतरस्मिंस्तथा चोरुं वीरासनमितीरितम् ।। 23 ।।

गुदं निरुध्य गुल्फाभ्यां व्युत्क्रमेण समाहितः ।।
कूर्मासनं भवेदेतदिति योगविदो विदुः ।। 24 ।।

पद्मासनं तु संस्थाप्य जानूर्वोरन्तरे करौ ।।
निवेश्य भूमौ संस्थाप्य व्योमस्थं कुक्कुटासनम् ।। 25 ।।

कुक्कुटासनबन्धस्थो दोर्भ्यां सम्बध्य कन्धराम् ।।
भवेत्कूर्मवदुत्तान एतदुत्तानकूर्मकम् ।। 26 ।।

पादाङ्गुष्ठौ तु पाणिभ्यां गृहीत्वा श्रवणावधि ।।
धनुराकर्षणं कुर्याद्धनुरासनमुच्यते ।। 27 ।।

वामोरुमूलार्पितदक्षपादं जानोर्बहिर्वेष्टितवामपादम् ।।
प्रगृह्य तिष्ठेत्परिवर्तिताङ्गः श्रीमत्स्यनाथोदितमासनं स्यात् ।। 28 ।।

मत्स्येन्द्रपीठं जठरप्रदीप्तिं प्रचण्डरुग्मण्डलखण्डनास्त्रम् ।।
अभ्यासतः कुण्डलिनीप्रबोधं चन्द्रस्थिरत्वं च ददाति पुंसाम् ।।29।।

प्रसार्य पादौ भुवि दण्डरूपौ दोर्भ्यां पदाग्रद्वितयं गृहीत्वा ।।
जानूपरि न्यस्तललाटदेशो वसेदिदं पश्चिमतानमाहुः ।। 30 ।।

इति पश्चिमतानमासनाग्र्यं पवनं पश्चिमवाहिनं करोति ।।
उदयं जठरानलस्य कुर्यादुदरे कार्श्यमरोगतां च पुंसाम् 31 ।।

धरामवष्टभ्य करद्वयेन तत्कूर्परस्थापितनाभिपार्श्वः ।।
उच्चासनो दण्डतदुत्थितः स्यान्मयूरमेतत्प्रवदन्ति पीठम् ।। 32 ।।

हरति सकलरोगानाशु गुल्मोदरादीनभिभवति च दोषानासनं श्रीमयूरम् ।।
बहु कदशनभुक्तं भस्म कुर्यादशेषं जनयति जठराग्निं जारयेत्कालकूटम् ।। 33 ।।

उत्तानं शववद्भूमौ शयनं तच्छवासनम् ।।
शवासनं श्रान्तिहरं चित्तविश्रान्तिकारकम् ।। 34 ।।

चतुरशीत्यासनानि शिवेन कथितानि च ।।
तेभ्यश्चतुष्कमादाय सारभूतं ब्रवीम्यहम् ।। 35 ।।

सिद्धं पद्मं तथा सिंहं भद्रं चेति चतुष्टयम् ।।
श्रेष्ठं तत्रापि च सुखे तिष्ठेत्सिद्धासने सदा ।। 36 ।।

योनिस्थानकमङ्घ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसेत्
मेढ्रे पादमथैकमेव हृदये कृत्वा हनुं सुस्थिरम् ॥
स्थाणुः संयमितेन्द्रियोऽचलदृशा पश्येद्भ्रुवोरन्तरं
ह्येतन्मोक्षकपाटभेदजननं सिद्धासनं प्रोच्यते ॥ 37 ॥

मतान्तरे तु

मेढ्रादुपरि विन्यस्य सव्यं गुल्फं तथोपरि ॥
गुल्फान्तरं च निक्षिप्य सिद्धासनमिदं भवेत् ॥ 38 ॥

एतत्सिद्धासनं प्राहुरन्ये वज्रासनं विदुः ॥
मुक्तासनं वदन्त्येके प्राहुर्गुप्तासनं परे ॥ 39 ॥

यमेष्विव मिताहारमहिंसां नियमेष्विव ॥
मुख्यं सर्वासनेष्वेकं सिद्धाः सिद्धासनं विदुः ॥ 40 ॥

चतुरशीतिपीठेषु सिद्धमेव सदाभ्यसेत् ॥
द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधनम् ॥ 41 ॥

आत्मध्यायी मिताहारी यावद्द्वादशवत्सरम् ॥
सदा सिद्धासनाभ्यासाद्योगी निष्पत्तिमाप्नुयात् ॥ 42 ॥

किमन्यैर्बहुभिः पीठैः सिद्धे सिद्धासने सति ॥
प्राणानिले सावधाने बद्धे केवलकुम्भके ॥ 43 ॥

उत्पद्यते निरायासात्स्वयमेवोन्मनी कला ।
तथैकस्मिन्नेव दृढे सिद्धे सिद्धासने सति ।
बन्धत्रयमनायासात्स्वयमेवोपजायते ॥ 44 ॥

नासनं सिद्धसदृशं न कुम्भः केवलोपमः ॥
न खेचरीसमा मुद्रा न नादसदृशो लयः ॥ 45 ॥

अथ पद्मासनम्

वामोरूपरि दक्षिणं च चरणं संस्थाप्य वामं तथा
दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढम् ।
अङ्गुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकयेत्
एतद्व्याधिविनाशकारि यमिनां पद्मासनं प्रोच्यते ॥ 46 ॥

उत्तानौ चरणौ कृत्वा ऊरुसंस्थौ प्रयत्नतः ॥
ऊरुमध्ये तथोत्तानौ पाणी कृत्वा ततो दृशौ ॥ 47 ॥

नासाग्रे विन्यसेद्राजदन्तमूले तु जिह्वया ।।
उत्तम्भ्य चिबुकं वक्षस्युत्थाप्य पवनं शनैः ।। 48 ।।

इदं पद्मासनं प्रोक्तं सर्वव्याधिविनाशनम् ।।
दुर्लभं येन केनापि धीमता लभ्यते भुवि ।। 49 ।।

कृत्वा सम्पुटितौ करौ दृढतरं बध्वा तु पद्मासनं
गाढं वक्षसि सन्निधाय चिबुकं ध्यायंश्च तच्चेतसि ।
वारं वारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोत्सारयन्पूरितं
न्यञ्चन्प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्तिप्रभावान्नरः ।। 50 ।।

पद्मासने स्थितो योगी नाडीद्वारेण पूरितम् ।।
मारुतं धारयेद्यस्तु स मुक्तो नात्र संशयः ।। 51 ।।

अथ सिंहासनम्

गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् ।।
दक्षिणे सव्यगुल्फं तु दक्षगुल्फं तु सव्यके ।। 52 ।।

हस्तौ तु जान्वोः संस्थाप्य स्वाङ्गुलीः सम्प्रसार्य च ।।
व्यात्तवक्त्रो निरीक्षेत नासाग्रं सुसमाहितः ।। 53 ।।

सिंहासनं भवेदेतत्पूजितं योगिपुङ्गवैः ।।
बन्धत्रितयसन्धानां कुरुते चासनोत्तमम् ।। 54 ।।

अथ भद्रासनम्

गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् ।।
सव्यगुल्फं तथा सव्ये दक्षगुल्फं तु दक्षिणे ।। 55 ।।

पार्श्वपादौ च पाणिभ्यां दृढं बध्वा सुनिश्चलम् ।।
भद्रासनं भवेदेतत्सर्वव्याधिविनाशनम् ।। 56 ।।

गोरक्षासनमित्याहुरिदं वै सिद्धयोगिनः ।।
एवमासनबन्धेषु योगीन्द्रो विगतश्रमः ।। 57 ।।

अभ्यसेन्नाडिकाशुद्धिं मुद्रादिपवनक्रियाम् ।।
आसनं कुम्भकं चित्रं मुद्राख्यं करणं तथा ।। 58 ।।

अथ नादानुसन्धानमभ्यासानुक्रमो हठे ।
ब्रह्मचारी मिताहारी त्यागी योगपरायणः ।
अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्र कार्या विचारणा ।। 59 ।।

सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांशविवर्जितः ।।
भुज्यते शिवसम्प्रीत्यै मिताहारः स उच्यते ।। 60 ।।

कट्वम्लतीक्ष्णलवणोष्णहरीतशाक-
सौवीरतैलतिलसर्षपमद्यमत्स्यान् ।
आजादिमांसदधितक्रकुलत्थकोल-
पिण्याकहिङ्गुलशुनाद्यमपथ्यमाहुः ।।61।।

भोजनमहितं विद्यात्पुनरस्योष्णीकृतं रुक्षम् ।।
अतिलवणमम्लयुक्तं कदशनशाकोत्कटं वर्ज्यम् ।।
वह्निस्त्रीपथिसेवानामादौ वर्जनमाचरेत् ।। 62 ।।

तथा हि गोरक्षवचनम्

वर्जयेद्दुर्जनप्रान्तं वह्निस्त्रीपथिसेवनम् ।।
प्रातःस्नानोपवासादि कायक्लेशविधिं तथा ।। 63 ।।

गोधूमशालियवषाष्टिकशोभनान्नं
क्षीराज्यखण्डनवनीतसितामधूनि ।।
शुंठीपटोलकफलादिक पञ्च शाकम्
मुद्गादिदिव्यमुदकं च यमीन्द्रपथ्यम् ।। 64 ।।

पुष्टं सुमधुरं स्निग्धं गव्यं धातुप्रपोषणम् ।।
मनोभिलषितं योग्यं योगी भोजनमाचरेत् ।। 65 ।।

युवा वृद्धोऽतिवृद्धो वा व्याधितो दुर्बलोऽपि वा ।।
अभ्यासात्सिद्धिमाप्नोति सर्वयोगेष्वतन्द्रितः ।। 66 ।।

क्रियायुक्तस्य सिद्धिः स्यादक्रियस्य कथं भवेत् ।।
न शास्त्रपाठमात्रेण योगसिद्धिः प्रजायते ।। 67 ।।

न वेषधारणं सिद्धेः कारणं न च तत्कथा ।।
क्रियैव कारणं सिद्धेः सत्यमेतन्न संशयः ।। 68 ।।

पीटानि कुम्भकाश्चित्रा दिव्यानि करणानि च ।।
सर्वाण्यपि हठाभ्यासे राजयोगफलावधि ।। 69 ।।

इति हठयोगप्रदीपिकायां प्रथमोपदेशः ।।

द्वितीयोपदेशः ॥

अथासने दृढे योगी वशी हितमिताशनः ॥
गुरूपदिष्टमार्गेण प्राणायामान्समभ्यसेत् ॥ 1 ॥

चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत् ॥
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत् ॥ 2 ॥

यावद्वायुः स्थितो देहे तावज्जीवनमुच्यते ॥
मरणं तस्य निश्क्रान्तिस्ततो वायुं निरोधयेत् ॥ 3 ॥

मलाकुलासु नाडीषु मारुतो नैव मध्यगः ॥
कथं स्यादुन्मनीभावः कार्यसिद्धिः कथं भवेत् ॥ 4 ॥

शुद्धिमेति यदा सर्वं नाडीचक्रं मलाकुलम् ॥
तदैव जायते योगी प्राणसंग्रहणे क्षमः ॥ 5 ॥

प्राणायामं ततः कुर्यान्नित्यं सात्त्विकया धिया ॥
यथा सुषुम्नानाडीस्था मलाः शुद्धिं प्रयान्ति च ॥ 6 ॥

बद्धपद्मासनो योगी प्राणं चन्द्रेण पूरयेत् ॥
धारयित्वा यथाशक्ति भूयः सूर्येण रेचयेत् ॥ 7 ॥

प्राणं सूर्येण चाकृष्य पूरयेदुदरं शनैः ॥
विधिवत्कुम्भकं कृत्वा पुनश्चन्द्रेण रेचयेत् ॥ 8 ॥

येन त्यजेत्तेन पीत्वा धारयेदतिरोधतः ॥
रेचयेच्च ततोऽन्येन शनैरेव न वेगतः ॥ 9 ॥

प्राणं चेदिडया पिबेन्नियमितं भूयोऽन्यया रेचयेत्
पीत्वा पिङ्गलया समीरणमथो बध्वा त्यजेद्वामया ॥
सूर्याचन्द्रमसोरनेन विधिनाभ्यासं सदा तन्वतां
शुद्धा नाडिगणा भवन्ति यमिनां मासत्रयादूर्ध्वतः ॥10॥

प्रातर्मध्यन्दिने सायमर्धरात्रे च कुम्भकान् ।।
शनैरशीतिपर्यन्तं चतुर्वारं समभ्यसेत् ।। 11 ।।

कनीयसि भवेत्स्वेदः कम्पो भवति मध्यमे ।।
उत्तमे स्थानमाप्नोति ततो वायुं निबन्धयेत् ।। 12 ।।

जलेन श्रमजातेन गात्रमर्दनमाचरेत् ।।
दृढता लघुता चैव तेन गात्रस्य जायते ।। 13 ।।

अभ्यासकाले प्रथमे शस्तं क्षीराज्यभोजनम् ।।
ततोऽभ्यसेद् दृढीभूते न तादृङ्नियमग्रहः ।। 14 ।।

यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैःशनैः ।।
तथैव सेवितो वायुरन्यथा हन्ति साधकम् ।। 15 ।।

प्राणायामादियुक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत् ।।
अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगसमुद्भवः ।। 16 ।।

हिक्का श्वासश्च कासश्च शिरःकर्णाक्षिवेदनाः ।।
भवन्ति विविधा रोगाः पवनस्य प्रकोपतः ।। 17 ।।

युक्तं युक्तं त्यजेद्वायुं युक्तं युक्तं च पूरयेत् ।।
युक्तं युक्तं च बध्नीयादेवं सिद्धिमवाप्नुयात् ।। 18 ।।

यदा तु नाडीशुद्धिः स्यात्तथा चिह्नानि बाह्यतः ।।
कायस्य कृशता कान्तिस्तदा जायेत निश्चितम् ।। 19 ।।

यथेष्टधारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम् ।।
नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडीशोधनम् ।। 20 ।।

मेदश्लेष्माधिकः पूर्वं षट्कर्माणि समाचरेत् ।।
अन्यस्तु नाचरेत्तानि दोषाणां समभावतः ।। 21 ।।

धौतिर्बस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा ।।
कपालभातिश्चैतानि षट् कर्माणि प्रचक्षते ।। 22 ।।

कर्माष्टकमिदं गोप्यं घटशोधनकारकम् ।।
विचित्रगुणसन्धायि पूज्यते योगपुङ्गवैः ।। 23 ।।

तत्र धौतिः

चतुरङ्गुलविस्तारं हस्तपञ्चदशायतम् ।।
गुरूपदिष्टमार्गेण सिक्तं वस्त्रं शनैर्ग्रसेत् ।।
पुनः प्रत्याहरेच्चैतदुदितं धौतिकर्म तत् ।। 24 ।।

कासश्वासप्लीहकुष्टं कफरोगांश्च विंशतिः ।।
धौतिकर्मप्रभावेन प्रयान्त्येव न संशयः ।।25।।

नाभिदघ्नजले पायौ न्यस्तनालोत्कटासनः ।।
आधाराकुञ्चनं कुर्यात्क्षालनं बस्तिकर्म तत् ।।26।।

बस्तिकर्म

गुल्मप्लीहोदरं चापि वातपित्तकफोद्भवाः ।।
बस्तिकर्मप्रभावेन क्षीयन्ते सकलामयाः ।।27।।

धात्विन्द्रियान्तःकरणप्रसादं
दद्याच्च कान्ति दहनप्रदीप्तिम् ।।
अशेषदोषोपचयं निहन्या-
दभ्यस्यमानं जलबस्तिकर्म ।।28।।

अथ नेतिः

सूत्रं वितस्ति सुस्निग्धं नासानाले प्रवेशयेत् ।
मुखान्निर्गमयेच्चैषा नेतिः सिद्धैर्निगद्यते ।।29।।

कपालशोधिनी चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनी ।।
जत्रूर्ध्वजातरोगौघं नेतिराशु निहन्ति च ।।30।।

अथ त्राटकम्

निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः ।।
अश्रुसम्पातपर्यन्तमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम् ।।31।।

मोचनं नेत्ररोगाणां तन्द्रादीनां कपाटकम् ।।
यत्नतस्त्राटकं गोप्यं यथा हाटकपेटकम् ।।32।।

अथ नौलिः

अमदावर्तवेगेन तुन्दं सव्यापसव्यतः ।।
नतांसो भ्रामयेदेषा नौलिः सिद्धैः प्रचक्ष्यते ।।33।।

मन्दाग्निसन्दीपनपाचनादि सन्धापिका नन्दकरी सदैव ।।
अशेषदोषामयशोषणी च हठक्रियामौलिरियं च नौलिः ।।34।।

अथ कपालभातिः

भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससंभ्रमौ ।।
कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषणी ।।35।।

षट्कर्मनिर्गतस्थौल्यकफदोषमलादिकः ।।
प्राणायामं ततः कुर्यादनायासेन सिद्ध्यति ।।36।।

प्राणायामैरेव सर्वे प्रशुष्यन्ति मला इति ।।
आचार्याणां तु केषाञ्चिदन्यत्कर्म न सम्मतम् ।।37।।

अथ गजकरणी

उदरगतपदार्थमुद्वमन्ति पवनमपानमुदीर्य कण्ठनाले ।।
क्रमपरिचयवश्यनाडिचक्रा गजकरणीति निगद्यते हठज्ञैः ।।38।।

ब्रह्मादयोऽपि त्रिदशाः पवनाभ्यासतत्पराः ।।
अभूवन्नन्तकभयात्तस्मात्पवनमभ्यसेत् ।।39।।

यावद्बद्धो मरुद्देहे यावच्चित्तं निराकुलम् ।।
यावद्दृष्टिर्भ्रुवोर्मध्ये तावत्कालभयं कुतः ।।40।।

विधिवत्प्राणसंयामैर्नाडीचक्रे विशोधिते ।।
सुषुम्नावदनं भित्वा सुखाद्विशति मारुतः ।।41।।

अथ मनोन्मनी

मारुते मध्यसञ्चारे मनःस्थैर्यं प्रजायते ।।
यो मनःसुस्थिरीभावः सैवावस्था मनोन्मनी ।।42।।

तत्सिद्धये विधानज्ञाश्चित्रान्कुर्वन्ति कुम्भकान् ।।
विचित्रकुम्भकाभ्यासाद्विचित्रां सिद्धिमाप्नुयात् ।।43।।

अथ कुम्भकभेदाः

सूर्यभेदनमुज्जायी सीत्कारी सीतली तथा ।।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा प्लाविनीत्यष्ट कुम्भकाः ।।44।।

पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालन्धराभिधः ।।
कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डियानकः ।।45।।

अधस्तात्कुञ्चनेनाशु कण्ठसङ्कोचने कृते ।।
मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः ।।46।।

आपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्राणं कण्ठादधो नयेत् ।।
योगी जराविमुक्तः सन् षोडशाब्दवयो भवेत् ।।47।।

हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिमण्डले ।
उदानः कण्ठदेशस्थो व्यानः सर्वशरीरगः । शिवसंहितायाम् अ० 3 श्लो० 7 ।

अथ सूर्यभेदनम्

आसने सुखदे योगी बद्ध्वा चैवासनं ततः ।।
दक्षनाड्या समाकृष्य बहिःस्थं पवनं शनैः ।।48।।

आकेशादानखाग्राच्च निरोधावधि कुम्भयेत् ।।
ततः शनैः सव्यनाड्या रेचयेत्पवनं शनैः ।।49।।

कपालशोधनं वातदोषघ्नं कृमिदोषहृत् ।।
पुनः पुनरिदं कार्यं सूर्यभेदनमुत्तमम् ।।50।।

योगाभ्यासक्रमं वक्ष्ये योगिनां योगसिद्धये ।
उषःकाले समुत्थाय प्रातःकालेऽथवा बुधः ।। 1 ।।

गुरुं संस्मृत्य शिरसि हृदये स्वेष्टदेवताम् ।
शौचं कृत्वा दन्तशुद्धिं विदध्याद् भस्मधारणम् ।। 2 ।।

शुचौ देशे मठे रम्ये प्रतिष्ठाप्यासनं मृदु ।
तत्रोपविश्य संस्मृत्य मनसा गुरुमीश्वरम् ।। 3।।

देशकालौ च संकीर्त्य संकल्प्य विधिपूर्वकम् ।
अद्येत्यादि श्रीपरमेश्वरप्रसादपूर्वकं समाधि-
तत्फलसिद्ध्यर्थमासनपूर्वकान् प्राणायामादीन् करिष्ये ।
अनन्तं प्रणमेद्देवं नागेशं पीठसिद्धये ।।4 ।।

मणिभ्रात्फणासहस्रविधृतविश्वम्भरा-
मण्डलायानन्ताय नागराजाय नमः ।
ततोऽभ्यसेदासनानि श्रमे जाते शवासनम् ।
अन्ते समभ्यसेत्तत्तु श्रमाभावे तु नाभ्यसेत् ।।5।।

करणीं विपरीताख्यां कुम्भकात्पूर्वमभ्यसेत् ।
जालन्धरप्रसादार्थे कुम्भकात्पूर्वयोगतः ।।6।।

विधायाचमनं कृत्वा कर्माङ्गं प्राणसंयमम् ।
योगीन्द्रादीन्नमस्कृत्य कौर्मीञ्च शिववाक्यतः ।।7।। कूर्मपुराणे ।

नमस्कृत्याथ योगीन्द्रान् सच्छिष्यान्च विनायकम्।
गुरुं चैवाथवा योगी युन्जीत सुसमाहितः ।।8।।

बद्धाभ्यासे सिद्धपीठं कुम्भकाबन्धपूर्वकम् ।
प्रथमे दश कर्तव्या पन्चवृद्ध्या दिने दिने ।। 9 ।।

कार्या अशीतिपर्यन्तं कुम्भकाः सुसमाहितैः।
योगीन्द्रः प्रथमं कुर्यादभ्यासं चन्द्रसूर्ययोः ।।10।।

अनुलोमविलोमाख्यमेतं प्राहुर्मनीषिणः।
सूर्यभेदनमभ्यस्य बन्धपूर्वकमेकधीः ।।11।।

उज्जायिनं ततः कुर्यात्सीत्कारीं शीतलीं ततः।
भस्त्रिकान्च समभ्यस्य कुर्यादन्यन्नवापरान् ।।12।।

मुद्राः समभ्यसेद्बद्धगुरुवक्त्राद् यथाक्रमम् ।
ततः पद्मासनं बद्ध्वा कुर्यान्नादानुचिन्तनम् ।।13।।

अभ्यासं सकलं कुर्यादीश्वरार्पणमादृतः।
अभ्यासादुत्थितः स्नानं कुर्यादुष्णेन वारिणा ।।14।।

स्नात्वा समापयेन्नित्यं कर्म संक्षेपतः सुधीः।
मध्याह्नेपि तथाभ्यस्य किञ्चिद्विश्रम्य भोजनम् ।।15।।

कुर्वीत योगिनां पथ्यमपथ्यन्न कदाचन ।।
एलां वापि लवङ्गं वा भोजनान्तं च भक्षयेत् ।।16।।

केचित्कर्पूरमिच्छन्ति ताम्बूलं शोभनं तथा ।
चूर्णेन रहितं शस्तं पवनाभ्यासयोगिनाम् ।।17।।

भोजनानन्तरं कुर्यान्मोक्षशास्त्रावलोकनम् ।
पुराणश्रवणं वापि नाम सङ्कीर्तनं विभोः ।।18।।

सायं सन्ध्याविधिं कृत्वा योगं पूर्ववदभ्यसेत् ।
यदा त्रिघटिकाशेषो दिवसोऽभ्यासमाचरेत् ।। 19 ।।

अभ्यासानन्तरं कार्या सायंसन्ध्या सदा बुधैः ।।
अर्धरात्रे हठाभ्यासं विदध्यात्पूर्ववद्यमी ।।20।

विपरीतां तु करणीं सायंकालार्धरात्रयोः ।
नाभ्यसेद्भोजनादूर्ध्वं यतः सा न प्रशस्यते ।। 21 ।।

अथोज्जायी ॥

मुखं संयम्य नाडीभ्यामाकृष्य पवनं शनैः ॥
यथा लगति कण्ठात्तु हृदयावधि सस्वनम् ॥ 51 ॥

पूर्ववत्कुम्भयेत्प्राणं रेचयेदिडया ततः ॥
श्लेष्मदोषहरं कण्ठे देहानलविवर्धनम् ॥ 52 ॥

नाडीजलोदराधातुगतदोषविनाशनम् ॥
गच्छता तिष्ठता कार्यमुज्जाय्याख्यं तु कुम्भकम् ॥ 53 ॥

अथ सीत्कारी ॥

सीत्कां कुर्यात्तथा वक्त्रे घ्राणेनैव विजृम्भिकाम् ॥
एवमभ्यासयोगेन कामदेवो द्वितीयकः ॥ 54 ॥

योगिनीचक्रसामान्यः सृष्टिसंहारकारकः ॥
न क्षुधा न तृषा निद्रा नैवालस्यं प्रजायते ॥ 55 ॥

भवेत्सत्त्वं च देहस्य सर्वोपद्रववर्जितः ॥
अनेन विधिना सत्यं योगीन्द्रो भूमिमण्डले ॥ 56 ॥

अथ शीतली ॥

जिह्वया वायुमाकृष्य पूर्ववत्कुम्भसाधनम् ॥
शनकैर्घ्राणरन्ध्राभ्यां रेचयेत्पवनं सुधीः ॥ 57 ॥

गुल्मप्लीहादिकान् रोगान् ज्वरं पित्तं क्षुधां तृषाम् ।
विषाणि शीतलीनाम कुम्भिकेयं निहन्ति हि ॥58॥

अथ भस्त्रिका ॥

ऊर्वोरुपरि संस्थाप्य शुभे पादतले उभे ।
पद्मासनं भवेदेतत्सर्वपापप्रणाशनम् ॥ 59 ॥

सम्यक् पद्मासनं बध्वा समग्रीवोदरं सुधीः ॥
मुखं संयम्य यत्नेन घ्राणं घ्राणेन रेचयेत् ॥ 60 ॥

यथा लगति हृत्कण्ठे कपालावधि सस्वनम् ॥
वेगेन पूरयेच्चापि हृत्पद्मावधि मारुतम् ॥ 61 ॥

पुनर्विरेचयेत्तद्वत्पूरयेच्च पुनः पुनः ॥
यथैव लोहकारेण भस्त्रा वेगेन चाल्यते ॥ 62॥

तथैव स्वशरीरस्थं चालयेत्पवनं धिया ।।
यदा श्रमो भवेद्देहे तदा सूर्येण पूरयेत् ।। 63 ।।

यथोदरं भवेत्पूर्णमनिलेन तथा लघु ।
धारयेन्नासिकां मध्यतर्जनीभ्यां विना दृढम् ।। 64 ।।

विधिवत्कुम्भकं कृत्वा रेचयेदिडयानिलम् ।
वातपित्तश्लेष्महरं शरीराग्निविवर्धनम् ।। 65 ।।

कुण्डलीबोधकं क्षिप्रं पवनं सुखदं हितम् ।
ब्रह्मनाडीमुखे संस्थकफाद्यर्गलनाशनम् ।। 66 ।।

सम्यग्गात्रसमुद्भूतग्रन्थित्रयविभेदकम् ।
विशेषेणैव कर्तव्यं भस्त्राख्यं कुम्भकं त्विदम् ।। 67 ।।

अथ भ्रामरी ।।

वेगाद्घोषं पूरकं भृङ्गनादं भृङ्गीनादं रेचकं मन्दमन्दम् ।।
योगीन्द्राणामेवमभ्यासयोगाच्चित्ते जाता काचिदानन्दलीला ।।68।।

अथ मूर्च्छा

पूरकान्ते गाढतरं बध्वा जालन्धरं शनैः ।।
रेचयेन्मूर्च्छनाख्येयं मनोमूर्च्छा सुखप्रदा ।। 69 ।।

अथ प्लाविनी ।।

अन्तः प्रवर्तितोदारमारुतापूरितोदरः ।
पयस्यगाधेऽपि सुखात्प्लवते पद्मपत्रवत् ।।70।।

प्राणायामस्त्रिधा प्रोक्तो रेचपूरककुम्भकैः ।
सहितः केवलश्चेति कुम्भको द्विविधो मतः ।।71।।

यावत्केवलसिद्धिः स्यात्सहितं तावदभ्यसेत् ।
रेचकं पूरकं मुक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम् ।। 72 ।।

प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुम्भकः ।
कुम्भके केवले सिद्धे रेचपूरकवर्जिते ।। 73 ।।

न तस्य दुर्लभं किञ्चित्त्रिषु लोकेषु विद्यते ।
शक्तः केवलकुम्भेन यथेष्टं वायुधारणात् ।। 74 ।।

राजयोगपदं चापि लभते नात्र संशयः ।
कुम्भकात्कुण्डलीबोधः कुण्डलीबोधतो भवेत् ।। 75 ।।

अनर्गला सुषुम्ना च हठसिद्धिश्च जायते ।
हठं विना राजयोगो राजयोगं बिना हठः ॥
न सिध्यति ततो युग्ममानिष्पत्तेः समभ्यसेत् ॥ 76 ॥

कुंभकप्राणरोधान्ते कुर्याच्चित्तं निराश्रयम् ।
एवमभ्यासयोगेन राजयोगपदं व्रजेत् ॥ 77 ॥

वपुः कृशत्वं वदने प्रसन्नता नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले ।
अरोगता बिन्दुजयोऽग्निदीपनं नाडीविशुद्धिर्हठयोगलक्षणम् ॥78॥

इति हठयोगप्रदीपिकायां द्वितीयोपदेशः ॥ 2 ॥

तृतीयोपदेशः ।

सशैलवनधात्रीणां यथाधारोऽहिनायकः ।
सर्वेषां योगतन्त्राणां तथाधारो हि कुण्डली ॥ 1 ॥

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुंण्डली ।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च ॥2॥

प्राणस्य शून्यपदवी तथा राजपथायते ।
तदा चित्तं निरालम्बं तदा कालस्य वञ्चनम् ॥ 3 ॥

सुषुम्ना शून्यपदवी ब्रह्मरन्ध्रं महापथः ।
श्मशानं शाम्भवी मध्यमार्गश्चेत्येकवाचकाः ॥ 4 ॥

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम् ।
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ॥ 5 ॥

अथ मुद्राभेदाः

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी ।
उड्यानं मूलबन्धश्च बन्धो जालन्धराभिधः ॥ 6 ॥

करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम् ।
इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशनम् ॥ 7 ॥

आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकम् ।
वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्लभं मरुतामपि ॥ 8 ॥

गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरण्डकम् ।
कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा ॥ 9 ॥

अथ महामुद्रा ॥

पादमूलेन वामेन योनिं सम्पीड्य दक्षिणम् ।
प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां धारयेद्दृढम् ॥ 10 ॥

कण्ठे बन्धं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः ॥
यथा दण्डहतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते ॥ 11 ॥

ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत् ॥
तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया ॥ 12 ॥

ततः शनैः शनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः ॥
महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः ॥
इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता ॥ 13 ॥

महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयन्ते मरणादयः ॥
महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः ॥ 14 ॥

चन्द्राङ्गे तु समभ्यस्य सूर्याङ्गे पुनरभ्यसेत् ॥
यावत्तुल्या भवेत्सङ्ख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥ 15 ॥

नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ॥
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमपि जीर्यति ॥ 16 ॥

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ॥
तस्य दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ॥17॥

कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरा नृणाम् ॥
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥18॥

अथ महाबन्धः ॥

पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ॥
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ॥ 19 ॥

पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चुबुकं दृढम् ॥
निष्पीड्य वायुमाकुञ्च्य मनोमध्ये नियोजयेत् ॥20॥

धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः ॥
सव्याङ्गे तु समभ्यस्य दक्षाङ्गे पुनरभ्यसेत् ॥21॥

मतमत्र तु केषाञ्चित्कण्ठबन्धं विवर्जयेत् ॥
राजदन्तस्थजिह्वाया बन्धः शस्तो भवेदिति ॥22॥

अयं तु सर्वनाडीनामूर्ध्वं गतिनिरोधकः ।।
अयं खलु महाबन्धो महासिद्धिप्रदायकः ।।23।।

कालपाशमहाबन्धविमोचनविचक्षणः ।।
त्रिवेणीसङ्गमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः ।।24।।

रूपलावण्यसम्पन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना ।।
महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ।।25।।

अथ महावेधः ।।

महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः ।।
वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कण्ठमुद्रया ।।26।।

समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ सन्ताडयेच्छनैः ।।
पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः ।।27।।

सोमसूर्याग्निसम्बन्धो जायते चामृताय वै ।।
मृतावस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेचयेत् ।।28।।

महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः ।।
वलीपलितवेपन्नः सेव्यते साधकोत्तमैः 29 ।।

एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम् ।।
वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यिणमादिगुणप्रदम् ।।30।।

अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने ।।
पुण्यसम्भारसन्धायि पापौघभिदुरं सदा ।।
सम्यक्शिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनम् ।।31।।

अथ खेचरी ।।

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतिगा ।।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ।।32।।

छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेण वर्धयेत्तावत् ।।
सा यावद्भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः ।।33।।

स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ।।
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ।।34।।

ततः सैन्धवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रकर्षयेत् ।।
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ।।35।।

एवं क्रमेण षण्मासं नित्यं युक्तः समाचरेत् ।।
षण्मासाद्रसनामूलशिलाबन्धः प्रणश्यति ।।36।।

कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत् ।।
सा भवेत्खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ।।37।।

रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति ।।
विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ।।38।।

न रोगो मरणं तन्द्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा ।।
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ।।39।।

पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा ।।
बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ।।40।।

चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता ।।
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता ।।41।।

खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः ।।
न तस्य क्षरते बिन्दुः कामिन्याश्लेषितस्य च ।।42।।

ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः ।।
मासार्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगवित् ।।43।।

नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरे यस्य योगिनः ।।
तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ।।44।।

इन्धनानि यथा वह्निस्तैलवर्त्तिं च दीपकः ।।
तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुञ्चति ।।45।।

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् ।।
कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकाः ।।46।।

कृतार्थौ पितरौ तेन धन्यो देशः कुलं च तत् ।
जायते योगवान्यत्र दत्तमक्षय्यतां व्रजेत् ।।
दृष्टः सम्भाषितः स्पृष्टः पुम्प्रकृत्या विवेकवान् ।
पञ्चकोटिशतापातं पुनाति वृजिनं नृणाम् ।।
ब्रह्मवैवर्ते

गृहस्थानां सहस्रेण वानप्रस्थशतेन च ।
ब्रह्मचारिसहस्रेण योगाभ्यासी विशिष्यते ।।
ब्रह्माण्डे

राजयोगस्य माहात्म्यं को विजानाति तत्त्वतः ।
तज्ज्ञानी वसते यत्र सन्देशःपुण्यभाजनम् ।।
दर्शनादर्चनादस्य त्रिसप्तकुलसंयुताः ।
अज्ञा मुक्तिपदं यान्ति किं पुनस्तत्परायणाः ।।
अन्तर्योगं बहिर्योगं यो जानाति विशेषतः
त्वया मयाप्यसौ बन्द्यः शेषैर्वन्द्यस्तु का पुनः ।।
राजयोग, कूर्म्मपुराणे

एककालं द्विकालं वा त्रिकालं नित्यमेव वा ।
ये युञ्जते महायोगं विज्ञेयास्ते महेश्वराः ।।

गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ।।
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ।।47।।

जिह्वाप्रवेशसम्भूतवह्निनोत्पादितः खलु ।।
चन्द्रात्स्रवति यः सारः स स्यादमरवारुणी ।।48।।

चुम्बन्ती यदि लम्बिकाग्रमनिशं जिह्वारसस्पन्दिनी
सक्षारा कटुकाम्लदग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा ।।
व्याधीनां हरणं जरान्तकरणं शस्त्रागमोदीरणं
तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धाङ्गनाकर्षणम् ।।49।।

मूर्ध्नः षोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठादूर्ध्वास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्तिं परां चिन्तयन् ।। उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामयं यः पिबेन्निर्व्याधिः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जीवति ।।50।।

यत्प्रालेयं प्रहितसुषिरं मेरुमूर्धांतरस्थं
तस्मिंस्तत्त्वं प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम् ।।
चन्द्रात्सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां
तद्बध्नीयात्सुकरणमथो नान्यथा कार्यसिद्धिः ।। 51।।

सुषिरं ज्ञानजनकं पञ्चस्रोतःसमन्वितम् ।।
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन् शून्ये निरञ्जने ।।52।।

एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी ।।
एको देवो निरालम्ब एकाधस्था मनोन्मनी ।।53।।

अथोड्डीयानबन्धः ।।

बद्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः ।
तस्मादुड्डीयनाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ।।54।।

उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः ॥
उड्डीयानं तदेव स्यात्तत्र बन्धोऽभिधीयते ॥55॥

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत् ॥
उड्डीयानो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी ॥56॥

उड्डियानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा ॥
अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते ॥57॥

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः ॥
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥58॥

सर्वेषामेव बन्धानामुत्तमो ह्युड्डियानकः ॥
उड्डियाने दृढे बन्धे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ॥59।

अथ मूलबन्धः ॥

पार्ष्णि भागेन सम्पीडय योनिमाकुञ्चयेद्गुदम् ॥
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽभिधीयते ॥60॥

अधोगतिमपानं वा ऊर्ध्वगं कुरुते बलात्
आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धं हि योगिनः ॥61॥

गुदं पार्ष्ण्या तु सम्पीड्य वायुमाकुञ्चयेद् बलात् ॥
वारंबारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ॥62॥

प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम् ॥
गत्वा योगस्य संसिद्धिं गच्छतो नात्र संशयः ॥63॥

अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः ॥
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥64॥

अपाने ऊर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्निमण्डलम् ॥
तदाऽनलशिखा दीर्घा जायते वायुनाऽऽहता ॥65॥

देहमध्ये शिखिस्थानं तप्तजाम्बूनदप्रभम् ।
त्रिकोणं तु मनुष्याणां चतुरस्रं चतुष्पदाम् ॥
मण्डलं तु पतङ्गानां सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ।
तन्मध्ये तु शिखा तन्वी सदा तिष्ठति पावके ॥

याज्ञवल्क्ये—

ततो यातो वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम् ।
तेनात्यन्तप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा ॥66॥

तेन कुण्डलिनी सुप्ता सन्तप्ता सम्प्रबुध्यते ।
दण्डाहता भुजङ्गीव निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ॥67॥

विलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत् ।
तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्त्तव्यो योगिभिः सदा ॥68॥

अथ जालन्धरबन्धः ॥

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ।
बन्धो जालन्धराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः ॥69॥

बध्नाति हि शिराजालमधोगामि नभोजलम् ।
ततो जालन्धरो बन्धः कण्ठदुःखौधनाशनः ॥70॥

जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसङ्कोचलक्षणे ।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ॥71॥

कण्ठसङ्कोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तम्भयेद्दृढम् ।
मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबन्धनम् ॥72॥

अङ्गुष्ठगुल्फजानूरुसीवनीकण्ठलिङ्गनाभयः ।
हृद्ग्रीवा कण्ठदेशश्च लम्बिका नासिका तथा ॥
भ्रूमध्यं च ललाटं च मूर्धा च ब्रह्मरन्ध्रकम् ।
एते हि षोडशाधाराः कथिता योगिपुङ्गवैः ॥

मूलस्थानं समाकुञ्च्य उड्डीयानं तु कारयेत् ॥
इडां च पिङ्गलां बध्वा वाहयेत्पश्चिमे पथि ॥73॥

अनेनेन विधानेन प्रयाति पवनो लयम् ।
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ॥74॥

बन्धत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितम् ।
सर्वेषां हठतन्त्राणां साधनं योगिनो विदुः ॥75॥

यत्किञ्चित्स्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपिणः ।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डो जरायुतः ॥76॥

तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवञ्चनम् ।
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ॥77॥

अथ विपरीतकरणी ॥

ऊर्ध्वं नाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी ।
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ॥78॥

नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्धिनी ।
आहारो बहुलस्तस्य सम्पाद्यः साधकस्य च ॥
अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात् ॥79॥

अधःशिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ॥
क्षणाच्च किञ्चिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने ॥80॥

वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते ॥
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित् ॥ 81॥

अथ वज्रोली ॥

स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना ।
वज्रोलीं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम् ॥82॥

तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित् ।
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी ॥83॥

मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुञ्चनमभ्यसेत् ॥
पुरुषोऽप्यथवा नारी वज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात् ॥84॥

यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकन्दरे ।
शनैः शनैः प्रकुर्वीत यायुसञ्चारकारणात् ॥85॥

नारीभगे पतद्बिन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत् ।
चलितं च निजं बिन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ॥86॥

एवं संरक्षयेद् बिन्दुं मृत्युं जयति योगवित् ।
मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात् ॥87॥

सुगन्धो योगिनो देहे जायते बिन्दुधारणात् ।
यावद् विन्दुः स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुतः ॥88॥

चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम् ।
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥89॥

अथ सहजोलिः ॥

सहजोलिश्चामरोलिर्वज्रोल्या भेद एकतः ।
जलेषु भस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसम्भवम् ॥90॥

वज्रोलीमैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसोः स्वाङ्गलेपनम् ।।
आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापकयोः क्षणात् ।।91।।

सहजोलिरियं प्रोक्ता श्रद्धेया योगिभिः सदा ।।
अयं शुभकरो योगो भोगयुक्तोऽपि मुक्तिदः ।।92।।

अयं योगः पुण्यवतां धीराणां तत्त्वदर्शिनाम् ।।
निर्मत्सराणां सिध्येत न तु मत्सरशालिनाम् ।।93।।

अथामरोली ।।

पित्तोल्वणत्वात्प्रथमाम्बुधारां विहाग निसारतयान्त्यधारा ।
निषेव्यते शीतलमध्यधारा कापालिके खण्डमतेऽमरोली ।।94।।

अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन् दिने दिने ।।
वज्रोलीमभ्यसेत्सम्यगमरोलीति कथ्यते ।।95।।

अभ्यासान्निःसृतां चान्द्रीं विभूत्या सह मिश्रयेत् ।।
धारयेदुत्तमाङ्गेषु दिव्यदृष्टिः प्रजायते ।।96।।

अथ शक्तिचालनम् ।।

कुटिलाङ्गी कुण्डलिनी भुजङ्गी शक्तिरीश्वरी ।।
कुंण्डल्यरुन्धती चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः ।।97।।

उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुञ्चिकया हठात् ।।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ।।98।।

येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम् ।।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ।।99।।

कन्दोर्ध्वं कुण्डली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम् ।।
बन्धनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित् ।।100।।

कुण्डली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्तिता ।।
सा शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशयः ।।101।।

गङ्गायमुनयोर्मध्ये बालरण्डा तपस्विनी ।।
बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम् ।।102।।

इडा भगवती गङ्गा पिङ्गला यमुना नदी ।।
इडापिङ्गलयोर्मध्ये बालरण्डा च कुण्डली ।।103।।

पुच्छे प्रगृह्य भुजगीं सुप्तामुद्बोधयेच्च ताम् ।।
निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात् ।।104।।

अवस्थिता चैव फणावती सा प्रातश्च सायं प्रहरार्धमात्रम् ।।
प्रपूर्य सूर्यात्परिधानयुक्त्या प्रगृह्य नित्यं परिचालनीया ।।105।।

ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरङ्गुलम् ।।
मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टिताम्बरलक्षणम् ।।106।।

सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद् दृढम् ।।
गुल्फदेशसमीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत् ।।107।।

वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुण्डलीम् ।।
कुर्यादनन्तरं भस्त्रां कुण्डलीमाशु बोधयेत् ।।108।।

भानोराकुञ्चनं कुर्यात्कुण्डलीं चालयेत्ततः ।।
मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ।।109।।

मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयं चालनादसौ ।।
ऊर्ध्वमाकृष्यते किञ्चित्सुषुम्नायां समुद्गता ।।110।।

तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्नायां मुखं ध्रुवम् ।।
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः ।।111।।

तस्मात्सञ्चालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुन्धतीम् ।।
तस्माः सञ्चालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ।।112।।

येन सञ्चालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम् ।।
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ।।113।।

ब्रह्मचर्यरतस्यैव नित्यं हितमिताशिनः ।।
मण्डलाद्दृश्यते सिद्धिः कुण्डल्याभ्यासयोगिनः ।।114।।

कुण्डलीं चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद्विशेषतः ।।
एवमभ्यसतो नित्यं यमिनो यमभीः कुतः ।।115।।

द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधने ।
कुतः प्रक्षालनोपायः कुण्डल्यभ्यसनादृते ।।116।।

इयं तु मध्यमा नाडी दृढाभ्यासेन योगिनाम् ।
आसनप्राणसंयाममुद्राभिः सरला भवेत् ।।117।।

अभ्यासे तु विनिद्राणां मनो धृत्वा समाधिना ।
रुद्राणी वा यदा मुद्राभद्रां सिद्धिं प्रयच्छति ।।118।।

राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा ।
राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापि न शोभते ॥119॥

मारुतस्य विधिं सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत् ।
इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा ॥120॥

इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शम्भुना ।
एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी ॥121॥

उपदेशं हि मुद्राणां यो दत्ते साम्प्रदायिकम् ।
स एव श्रीगुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः ॥122॥

तस्य वाक्यपरो भूत्वा मुद्राभ्यासे समाहितः ।
अणिमादिगुणैः सार्धं लभते कालवञ्चनम् ॥123॥

इति हठप्रदीपिकायां तृतीयोपदेशः ॥3॥

चतुर्थोपदेशः ।

नमः शिवाय गुरवे नादबिन्दुकलात्मने ।
निरञ्जनपदं याति नित्यं यत्र परायणः ।।1।।

अथेदानीं प्रवक्ष्यामि समाधिक्रममुत्तमम् ।।
मृत्युघ्नं च सुखोपायं ब्रह्मानन्दकरं परम् ।।2।।

राजयोगसमाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी ।
अमरत्वं लयस्तत्त्वं शून्याशून्यं परं पदम् ।।3।।

अमनस्कं तथा द्वैतं निरालम्बं निरञ्जनम् ।
जीवन्मुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचकाः ।।4।।

सलिले सैन्धवं यद्वत्साम्यं भजति योगतः ।
तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते ।।5।।

यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते ।
तदा समरसत्वं च समाधिरभिधीयते ।।6।।

तत्समं च द्वयोरैक्यं जीवात्मपरमात्मनोः ।
प्रनष्टसर्वसङ्कल्पः समाधिः सोऽभिधीयते ।।7।।

राजयोगस्य माहात्म्यं को वा जानाति तत्त्वतः ।
ज्ञानं मुक्तिः स्थितिः सिद्धिर्गुरुवाक्येन लभ्यते ।।8।।

दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम् ।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना ।।9।।

विविधैरासनैः कुम्भैर्विचित्रैः करणैरपि ।
प्रबुद्धायां महाशक्तौ प्राणः शून्ये प्रलीयते ।।10।।

उत्पन्नशक्तिबोधस्य त्यक्तनिःशेषकर्मणः ।
योगिनः सहजावस्था स्वयमेव प्रजायते ।।11।।

सुषुम्नावाहिनि प्राणे शून्ये विशति मानसे ।
तदा सर्वाणि कर्माणि निर्मूलयति योगवित् ॥12॥

अमराय नमस्तुभ्यं सोऽपि कालस्त्वया जितः ।
पतितं वदने यस्य जगदेतच्चराचरम् ॥13॥

चित्ते समत्वमापन्ने वायौ व्रजति मध्यमे ।
तदामरोली वज्रोली सहजोली प्रजायते ॥14॥

ज्ञानं कुतो मनसि सम्भवतीह तावत्
प्राणोऽपि जीवति मनो म्रियते न यावत् ।
प्राणो मनो द्वयमिदं विलयं नयेद्यो
मोक्षं स गच्छति नरो न कथञ्चिदन्यः ॥15॥

ज्ञात्वा सुषुम्नासद्भेदं कृत्वा वायुं च मध्यगम् ॥
स्थित्वा सदैव सुस्थाने ब्रह्मरन्ध्रे निरोधयेत् ॥16॥

सूर्याचन्द्रमसौ धत्तः कालं रात्रिन्दिवात्मकम् ॥
भोक्त्री सुषुम्ना कालस्य गुह्यमेतदुदाहृतम् ॥17॥

द्वासप्ततिसहस्राणि नाडीद्वाराणि पञ्जरे ॥
सुषुम्ना शाम्भवी शक्तिः शेषास्त्वेव निरर्थका ॥18॥

वायुः परिचितो यस्मादग्निना सह कुण्डलीम् ॥
बोधयित्वा सुषुम्नायां प्रविशेदनिरोधतः ॥19॥

सुषुम्ना वाहिनि प्राणे सिद्ध्यत्येव मनोन्मनी ॥
अन्यथा त्वितराभ्यासाः प्रयासायैव योगिनाम् ॥20॥

पवनो बध्यते येन मनस्तेनैव बध्यते ॥
मनश्च बध्यते येन पवनस्तेन बध्यते ॥21॥

हेतुद्वयं तु चित्तस्य वासना च समीरणः ॥
तयोर्विनष्ट एकस्मिन्नृतौ द्वावपि नश्यतः ॥22॥

मनो यत्र विलीयेत पवनस्तत्र लीयते ॥
पवनो लीयते यत्र मनस्तत्र विलीयते ॥23॥

दुग्धाम्बुवत्सम्मिलितावुभौ तौ तुल्यक्रियौ मानसमारुतौ हि ॥
यतो मरुत्तत्र मनः प्रवृत्तिर्यतो मनस्तत्र मरुत्प्रवृत्तिः ॥24॥

तत्रैकनाशादपरस्य नाश एकप्रवृत्तेरपरप्रवृत्तिः ॥
अध्वस्तयोश्चेन्द्रियवर्गवृत्तिः प्रध्वस्तयोर्मोक्षपदस्य सिद्धिः ॥25॥

रसस्य मनसश्चैव चञ्चलत्वं स्वभावतः ।।
रसो बद्धो मनो बद्धं किन्न सिद्ध्यति भूतले ।।26।।

मूर्च्छितो हरते व्याधीन्मृतो जीवयति स्वयम् ।।
बद्धः खेचरतां धत्ते रसो वायुश्च पार्वति ।।27।।

मनः स्थैर्ये स्थिरो वायुस्ततो बिन्दुः स्थिरो भवेत् ।।
बिन्दुस्थैर्यात्सदा सत्त्वं पिण्डस्थैर्यं प्रजायते ।।28।।

इन्द्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुतः ।।
मारुतस्य लयो नाथः स लयो नादमाश्रितः ।। 29 ।।

सोऽयमेवास्तु मोक्षाख्यो मास्तु वापि मतान्तरे ।।
मनः प्राणलये कश्चिदानन्दः सम्प्रवर्तते ।। 30 ।।

प्रनष्टश्वासनिश्वासः प्रध्वस्तविषयग्रहः ।।
निश्चेष्टो निर्विकारश्च लयो जयति योगिनाम् ।। 31 ।।

उच्छिन्नसर्वसङ्कल्पो निःशेषाशेषचेष्टितः ।।
स्वावगम्यो लयः कोऽपि जायते वागगोचरः ।। 32 ।।

लयो लय इति प्राहुः कीदृशं लयलक्षणम् ।।
अपुनर्वासनोत्थानाल्लयो विषयविस्मृतिः ।। 33 ।।

अथ शाम्भवी मुद्रा

वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव ।।
एकैव शाम्भवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव ।। 34 ।।

अन्तर्लक्ष्यं वहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता ।।
एषा सा शाम्भवी मुद्रा वेदशास्त्रेषु गोपिता ।। 35 ।।

अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी यदा वर्तते
दृष्ट्या निश्चलतारया बहिरधः पश्यन्नपश्यन्नपि ।।
मुद्रेयं खलु शाम्भवी भवति सा लब्धा प्रसादाद् गुरोः
शून्याशून्यविलक्षणं स्फुरति तत्तत्वं परं शाम्भवम् ।। 36 ।।

श्रीशाम्भव्याश्च खेचर्या अवस्थाधामभेदतः ।।
भवेच्चित्तलयानन्दः शून्ये चित्सुखरूपिणि ।। 37 ।।

अथोन्मनी ॥

तारे ज्योतिषि संयोज्य किञ्चिदुन्नमयेद् भ्रुवौ ॥
पूर्वयोगं मनो युञ्जन्नुन्मनीकारकः क्षणात् ॥ 38 ॥

केचिदागमजालेन केचिन्निगमसङ्कुलैः ॥
केचित्तर्केण मुह्यन्ति नैव जानन्ति तारकम् ॥ 39 ॥

अर्धोन्मीलितलोचनः स्थिरमना नासाग्रदत्तेक्षणः
चन्द्रार्कावपि लीनतामुपनयन्निस्पन्दभावेन यः ॥
ज्योतीरूपमशेषबीजमखिलं देदीप्यमानं परं
तत्त्वं तत्पदमेति वस्तु परमं वाच्यं किमत्राधिकम् ॥ 40 ॥

दिवा न पूजयेल्लिङ्गं रात्रौ चैव न पूजयेत् ॥
सर्वदा पूजयेल्लिङ्गं दिवारात्रिनिरोधतः ॥ 41 ॥

अथ खेचरी ॥

सव्यदक्षिणनाडिस्थो मध्ये चरति मारुतः ॥
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन् स्थाने न संशयः ॥ 42 ॥

इडापिङ्गलयोर्मध्ये शून्यं चैवानिलं ग्रसेत् ॥
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तत्र सत्यं पुनः पुनः ॥ 43 ॥

सूर्याचन्द्रमसोर्मध्ये निरालवान्तरं पुनः ॥
संस्थिता व्योमचक्रे या सा मुद्रा नाम खेचरी ॥ 44 ॥

सोमाद्यत्रोदिता धारा साक्षात्सा शिववल्लभा ॥
पूरयेदतुलां दिव्यां सुषुम्नां पश्चिमे मुखे ॥ 45 ॥

पुरस्ताच्चैव पूर्येत निश्चिता खेचरी भवेत् ।
अभ्यस्ता खेचरी मुद्राप्युन्मनी सम्प्रजायते ॥ 46 ॥

भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं मनस्तत्र विलीयते ।
ज्ञातव्यं तत्पदं तुर्यं तत्र कालो न विद्यते । 47 ॥

अभ्यसेत्खेचरीं तावद्यावत्स्याद्योगनिद्रितः ।
सम्प्राप्तयोगनिद्रस्य कालो नास्ति कदाचन ॥ 48 ॥

निरालम्बं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ।
स बाह्याभ्यन्तरे व्योम्नि घटवत्तिष्ठति ध्रुवम् ।। 49

बाह्यवायुर्यथा लीनस्तथा मध्ये न संशयः ।
स्वस्थाने स्थिरतामेति पवनो मनसा सह ।। 50

एवमभ्यसमानस्य वायुमार्गे दिवानिशम् ।
अभ्यासाज्जीर्यते वायुर्मनस्तत्रैव लीयते ।। 51 ।।

अमृतैः प्लावयेद्देहमापादतलमस्तकम् ।
सिध्यत्येव महाकायो महाबलपराक्रमः ।। 52 ।।

इति खेचरी ।।

शक्तिमध्ये मनः कृत्वा शक्तिं मानसमध्यगाम् ।
मनसा मन आलोक्य धारयेत्परमं पदम् ।। 53 ।।

खमध्ये कुरु चात्मानमात्ममध्ये च खं कुरु ।
सर्वं च खमयं कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ।। 54 ।।

अन्तः शून्यो बहिः शून्यः शून्यः कुम्भ इवाम्बरे ।।
अन्तः पूर्णो बहिः पूर्णः पूर्णः कुम्भ इवार्णवे ।। 55 ।।

बाह्यचिन्ता न कर्तव्या तथैवान्तरचिन्तनम् ।
सर्वचिन्तां परित्यज्य न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ।। 56 ।।

सङ्कल्पमात्रकलनैव जगत्समग्रं
सङ्कल्पमात्रकलनैव मनोविलासः ।
सङ्कल्पमात्रमतिमुत्सृज निर्विकल्प-
माश्रित्य निश्चयमवाप्नुहि राम शान्तिम् ।।57।।

कर्पूरमनले यद्वत्सैन्धवं सलिले तथा ।
तथा सन्धीयमानं च मनस्तत्त्वे विलीयते ।। 58 ।।

ज्ञेयं सर्वं प्रतीतं च ज्ञानं च मन उच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं समं नष्टं नान्यः पन्था द्वितीयकः ।। 59 ।।

मनोदृश्यमिदं सर्वं यत्किञ्चित्सचराचरम् ।
मनसो ह्युन्मनीभावाद्द्वैतं नैवोपलभ्यते ।। 60 ।।

ज्ञेयवस्तुपरित्यागाद्विलयं याति मानसम् ।
मनसो विलये जाते कैवल्यमवशिष्यते ।। 61 ।।

एवं नानाविधोपायाः सम्यक् स्वानुभवान्विताः ।
समाधिमार्गाः कथिताः पूर्वाचार्यैर्महात्मभिः ।। 62 ।।

सुषुम्नायै कुण्डलिन्यै सुधायै चन्द्रजन्मने ।
मनोन्मन्यै नमस्तुभ्यं महाशक्त्यै चिदात्मने ।। 63 ।।

अशक्यतत्त्वबोधानां मूढानामपि सम्मतम् ।
प्रोक्तं गोरक्षनाथेन नादोपासनमुच्यते ।। 64 ।।

श्रीआदिनाथेन सपादकोटिलयप्रकाराः कथिता जयन्ति ।
नादानुसन्धानकमेकमेव मन्यामहे मुख्यतमं लयानाम् ।। 65 ।।

मुक्तासने स्थितो योगी मुद्रां सन्ध्याय शाम्भवीम् ।
श्रृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमन्तस्थमेकधीः ।। 66 ।।

श्रवणपुटनयनयुगलघ्राणमुखानां निरोधनं कार्यम् ।।
शुद्धासुषुम्नासरणौ स्फुटममलः श्रूयते नादः ।। 67 ।।

आरम्भश्च घटश्चैव तथा परिचयोऽपि च ।
निष्पत्तिः सर्वयोगेषु स्यादवस्थाचतुष्टयम् ।। 68 ।।

अथारम्भावस्था ।।

ब्रह्मग्रन्थेर्भवेद्भेदोत्थानन्दः शून्यसम्भवः ।
विचित्रः क्वणको देहेऽनाहतः श्रूयते ध्वनिः ।। 69 ।।

दिव्यदेहश्च तेजस्वी दिव्यगन्धस्त्वरोगवान् ।
सम्पूर्णहृदयः शून्य आरम्भो योगवान् भवेत् ।। 70

अथ घटावस्था ।।

द्वितीयायां घटीकृत्य वायुर्भवति मध्यगः ।
दृढासनो भवेद्योगी ज्ञानी देवसमस्तदा ।।71।।

विष्णुग्रन्थेस्ततो भेदात्परमानन्दसूचकः ।
अतिशून्ये विमर्दश्च भेरीशब्दस्तथा भवेत् ।। 72 ।।

अथ परिचयावस्था ॥

तृतीयायां तु विज्ञेयो विहायोमर्दलध्वनिः ।
महाशून्यं तदा याति सर्वसिद्धिसमाश्रयम् ॥ 73 ॥

चित्तानन्दं तदा जित्वा सहजानन्दसम्भवः ।
दोषदुःखजराव्याधिक्षुधानिद्राविवर्जितः ॥ 74 ॥

रुद्रग्रन्थिं यदा भित्वा शर्वपीठगतोऽनिलः ।
निष्पत्तौ वैणवः शब्दः क्वणद्वीणाक्वणो भवेत् ॥ 75 ॥

एकीभूतं तदा चित्तं राजयोगाभिधानकम् ।
सृष्टिसंहारकर्तासौ योगीश्वरसमो भवेत् ॥ 76 ॥

अस्तु वा मास्तु वा मुक्तिरत्रैवाखण्डितं सुखम् ।
लयोद्भवमिदं सौख्यं राजयोगादवाप्यते ॥ 77 ॥

राजयोगमजानन्तः केवलं हठकर्मिणः ।
एतानभ्यासिनो मन्ये प्रयासफलवर्जितान् ॥ 78 ॥

उन्मन्यवाप्तये शीघ्रं भ्रूध्यानं मम सम्मतम् ।
राजयोगपदं प्राप्तं सुखोपायोऽल्पचेतसाम् ॥
सद्यः प्रत्ययसन्धायी जायते नादजो लयः ॥ 79 ॥

नादानुसन्धानसमाधिभाजां योगीश्वराणां हृदि वर्धमानम् ।
आनन्दमेकं वचसामगम्यं जानाति तं श्रीगुरुनाथ एकः ॥ 80 ॥

कर्णौ पिधाय हस्ताभ्यां यं शृणोति ध्वनिं मुनिः ।
तत्र चित्तं स्थिरीकुर्याद्यावत्स्थिरपदं व्रजेत् ॥ 81 ॥

अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्यमावृणुते ध्वनिम् ॥
पक्षाद्विक्षेपमखिलं जित्वा योगी सुखी भवेत् ॥ 82 ॥

श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो महान् ।
ततोऽभ्यासे वर्धमाने श्रूयते बहुसूक्ष्मकः ॥ 83 ॥

आदौ जलधिजीमूतभेरीझर्झरसम्भवाः ।
मध्ये मर्दलशङ्खोत्था घण्टाकाहलजास्तथा ।। 84 ।।

अन्ते तु किङ्किणीवंशवीणाभ्रमरनिःस्वनाः ।
इति नानाविधा नादाः श्रूयन्ते देहमध्यगाः 85 ।।

महति श्रूयमाणेऽपि मेघभेर्यादिके ध्वनौ ।
तत्र सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नादमेव परामृशेत् ।। 86 ।।

घनमुत्सृज्य वा सूक्ष्मे सूक्ष्ममुत्सृज्य वा घने ।
रममाणमपि क्षिप्तं मनो नान्यत्र चालयेत् ।। 87 ।।

यत्रकुत्रापि वा नादे लगति प्रथमं मनः ।।
तत्रैव सुस्थिरीभूय तेन सार्धं विलीयते ।। 88 ।।

मकरन्दं पिबन् भृङ्गो गन्धं नापेक्षते यथा ।।
नादासक्तं तथा चित्तं विषयान्नहि काङ्क्षते ।। 89 ।।

मनोमत्तगजेन्द्रस्य विषयोद्यानचारिणः ।।
नियमने समर्थोऽयं निनादनिशिताङ्कुशः ।। 90 ।।

बद्धं तु नादबन्धेन मनः सन्त्यक्तचापलम् ।।
प्रयाति सुतरां स्थैर्यं छिन्नपक्षः खगो यथा ।। 91 ।।

सर्वचिन्तां परित्यज्य सावधानेन चेतसा ।।
नाद एवानुसन्धेयो योगसाम्राज्यमिच्छता ।। 92 ।।

नादोऽन्तरङ्गसारङ्गबन्धने वागुरायते ।।
अन्तरङ्गकुरङ्गस्य वधे व्याधायतेऽपि च ।। 93 ।।

अन्तरङ्गस्य यमिनो वाजिनः परिघायते ।।
नादोपास्तिरतो नित्यमवधार्या हि योगिना ।। 94 ।।

बद्धं विमुक्तचाञ्चल्यं नादगन्धकजारणात् ।।
मनः पारदमाप्नोति निरालम्बाख्यखेटनम् ।। 95 ।।

नादश्रवणतः क्षिप्रमन्तरङ्गभुजङ्गमः ।।
विस्मृत्य सर्वमेकाग्रः कुत्रचिन्नहि धावति ।। 96 ।।

काष्ठे प्रवर्तितो वह्निः काष्ठेन सह शाम्यति ।।
नादे प्रवर्तितं चित्तं नादेन सह लीयते ।। 97 ।।

घण्टादिनादसक्तस्तब्धान्तःकरणहरिणस्य ।।
प्रहरणमपि सुकरं शरसन्धानप्रवीणश्चेत् ।।98।।

अनाहतस्य शब्दस्य ध्वनिर्य उपलभ्यते ।।
ध्वनेरन्तर्गतं ज्ञेयं ज्ञेयस्यान्तर्गतं मनः ।।
मनस्तत्र लयं याति तद्विष्णोः परमं पदम् ।। 99 ।।

तावदाकाशसङ्कल्पो यावच्छब्दः प्रवर्तते ।।
निःशब्दं तत्परं ब्रह्म परमात्मेति गीयते ।। 100 ।।

यत्किञ्चिन्नादरूपेण श्रूयते शक्तिरेव सा ।।
यस्तत्त्वान्तो निराकारः स एव परमेश्वरः ।। 101 ।।

सर्वे हठलयोपाया राजयोगस्य सिद्धये ।।
राजयोगसमारूढः पुरुषः कालवञ्चकः ।। 102 ।।

तत्त्वं बीजं हठः क्षेत्रमौदासीन्यं जलं त्रिभिः ।।
उन्मनी कल्पलतिका सद्य एव प्रवर्तते ।। 103 ।।

सदा नादानुसन्धानात् क्षीयन्ते पापसञ्चयाः ।।
निरञ्जने विलीयेते निश्चितं चित्तमारुतौ ।। 104 ।।

शङ्खदुन्दुभिनादं च न शृणोति कदाचन ।।
काष्ठवज्जायते देह उन्मन्यवस्थया ध्रुवम् ।। 105 ।।

सर्वावस्थाविनिर्मुक्तः सर्वचिन्ताविवर्जितः ।।
मृतवत्तिष्ठते योगी स मुक्तो नात्र संशयः ।। 106 ।।

खाद्यते न च कालेन बाध्यते न च कर्मणा ।।
साध्यते न स केनापि योगी युक्तः समाधिना ।। 107 ।।

न गन्धं न रसं रूपं न च स्पर्शं न निःस्वनम् ।।
नात्मानं न परं वेत्ति योगी युक्तः समाधिना ।। 108 ।।

चित्तं न सुप्तं नोजाग्रत्स्मृतिविस्मृतिवर्जितम् ।।
न चास्तमेति नोदेति यस्यासौ मुक्त एव सः ।। 109 ।।

न विजानाति शीतोष्णं न दुःखं न सुखं तथा ।।
न मानं नापमानं च योगी युक्तः समाधिना ।। 110 ।।

स्वस्थो जाग्रदवस्थायां सुप्तवद्योऽवतिष्ठते ।।
निःश्वासोच्छ्वासहीनश्च निश्चितं मुक्त एव सः ।। 111 ।।

अवध्यः सर्वशस्त्राणामशक्यः सर्वदेहिनाम् ।।
अग्राह्यो मन्त्रयन्त्राणां योगी युक्तः समाधिना ।। 112 ।।

यावन्नैव प्रविशति चरन्मारुतो मध्यमार्गे
यावद्विन्दुर्न भवति दृढप्राणवानप्रबन्धात् ।
यावद्ध्याने सहजसदृशं जायते नैव तत्त्वं
तावज्ज्ञानं वदति तदिदं दम्भमिथ्याप्रलापः ।। 113 ।।

इति हठप्रदीपिकायां समाधिलक्षणं नाम चतुर्थोपदेशः ।। 4 ।।

नोट—मुख्य सन्दर्भ ग्रन्थ सूची के क्रम

क्रम संख्या 9 में 6 के स्थान पर 7
,, ,, 31 में 20 के स्थान पर 21
,, ,, 34 में 20 के स्थान पर 21
,, ,, 64 में 45 के स्थान पर 46
,, ,, 65 में 48 के स्थान पर 49 पाठ पढ़ा जाये ।

श्लोकानुक्रमणी

(न)

(प)

(ब)

(भ)

(म)

(य)

(र)

(ल)

(व)

(श)

(श्र)

(ष)

(स)

(ह)

अनुक्रमणी

सांख्य-दर्शन का इतिहास

अनु०—डॉ० शिव कुमार

प्रस्तुत पुस्तिका ए० बी० कीथ की **The Sāṁkhya System** नामक पुस्तक का अनुवाद है। कीथ की यह पुस्तक प्राचीनता, सारगर्भितता, विशदता एवं सर्वाङ्गीण विवेचन के उपरान्त भी आङ्गल भाषा में होने के कारण सांख्य दर्शन के अध्येताओं का यथोचित ध्यान आकर्षित नहीं कर सकी। अतः इसका हिन्दी अनुवाद आवश्यक समझा गया।

विषय की विविधता के आधार पर पुस्तक को आठ अध्यायों में विभक्त किया गया है। **प्रथम अध्याय** में उपनिषदों में उपलब्ध सांख्य का वर्णन है। **दूसरे अध्याय** में सांख्य और बौद्ध दर्शन का ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन है। **तीसरे अध्याय** में विकसनशील महाकाव्यों में सांख्य के स्वरूप का विवेचन है। **चतुर्थ अध्याय** में सांख्य और योग का काल-क्रम की दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन है। **पांचवें अध्याय** में सांख्य के एक प्राचीन परन्तु अनुपलब्ध ग्रन्थ षष्टितन्त्र का विवेचन है। **छठे अध्याय** में ग्रीक और सांख्य दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन है। **सातवें अध्याय** में सांख्य-कारिका और **अन्तिम आठवें अध्याय** में उत्तरवर्ती सांख्य-दार्शनिकों के योगदान का विवेचन है। आशा है प्रस्तुत अनुवाद कीथ के विचारों को हिन्दी माध्यम से सांख्य दर्शन के अध्येताओं तक सुगमता से प्रेषित कर सकेगा।

मूल्य : रु० ५०.००